णमो समणस्स भगवओ महावीरस्स

श्री सौधर्मबृहत्तपोगच्छीय विश्वपूज्य

प्रातःस्मरणीय कल्पप्रभु श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरीश्वर, पट्टप्रभावक चर्चाचक्रवर्ती परमपूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजय धनचन्द्रसूरीश्वर, साहित्यविशारद विद्याभूषण श्रीमद् विजय भूपेन्द्रसूरीश्वर, व्याख्यानवाचस्पति श्रीमद् विजय यतीन्द्रसूरीश्वर, शान्तमूर्ति कविरत्न श्रीमद् विजय विद्याचन्द्रसूरीश्वरगुरुभ्यो नमः ।

सकल–आगम रहस्यवेदी कलिकाल सर्वज्ञ कल्प विद्वन्मान्य प्रातः स्मरणीय

प्रभु श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजी म.सा.

निर्मित

श्री अभिधानराजेन्द्रः

(सकल आगमों के समस्त संकलित शब्दों का ससंदर्भ ज्ञानमय कोष अर्थात् जिनागम कुञ्जी)

तृतीयो भागः

('ए' से 'छोह')

मुनिराज दीपविजय–यतीन्द्रविजयाभ्यां प्रथमा आवृति संशोधिता संपादिता च

❁

प्रस्तुत तृतीय संस्करण प्रकाशन के प्रेरणादाता

बाल गच्छाधिपति–शासन सम्राट–धर्म चक्रवर्ती –राष्ट्रसन्त-श्रुत दिवाकर–स्मित भास्कर–अनेकांत के प्रस्तोता–श्रमण शाश्वत धर्म के प्राण व दिशादर्शक– क्षमा दानेश्वरी–जन जन के वात्सल्य महोदधि– सत्साहित्य विधायक–जीव जगत के अक्षय अभयारण्य-

श्रीमद् विजय जयन्तसेन सूरीश्वरजी महाराज साहब

प्रकाशक

श्री राजेन्द्रसूरि शताब्दि शोध संस्थान, उज्जैन (M.P.)

प्रकाशक:
राजेन्द्रसूरी शताब्दि शोध संस्थान
८७/२ विक्रम मार्ग, टावर चोक,
एस.एम.कॉम्पलेक्ष, फ्रीगंज, **उज्जैन** (M.P.)

प्राप्ति स्थान :

श्री अभिधानराजेन्द्र प्रकाशन संस्था
श्री राजेन्द्रसूरी जैन ज्ञान मन्दिर,
हाथीखाना, रतनपोल, **अहमदाबाद-३८०००१**

राज राजेन्द्र प्रकाशन ट्रस्ट :
शेखनो पाडो, रीलीफ रोड,
अहमदाबाद-३८०००१

राज राजेन्द्र जयंतसेन म्युजियम :
मोहनखेडा तीर्थ मार्ग,
राजगढ़, (M.P.)

पार्श्व पब्लिकेशन :
१०२, नंदन कोम्प्लेक्ष, मीठाखली गाम,
अहमदाबाद-३८०००६

विक्रम संवत् - २०७१
वीर संवत - २५४०
राजेन्द्रसूरि संवत - १०८
तृतीय आवृत्ति इस्वीसन - २०१४

सुकृत् सहयोगी
श्री सौधर्म बृहत्तपोगच्छीय त्रिस्तुतिक जैन श्वेताबर संघ
सुभाष चोक, गोपीपुरा, सुरत

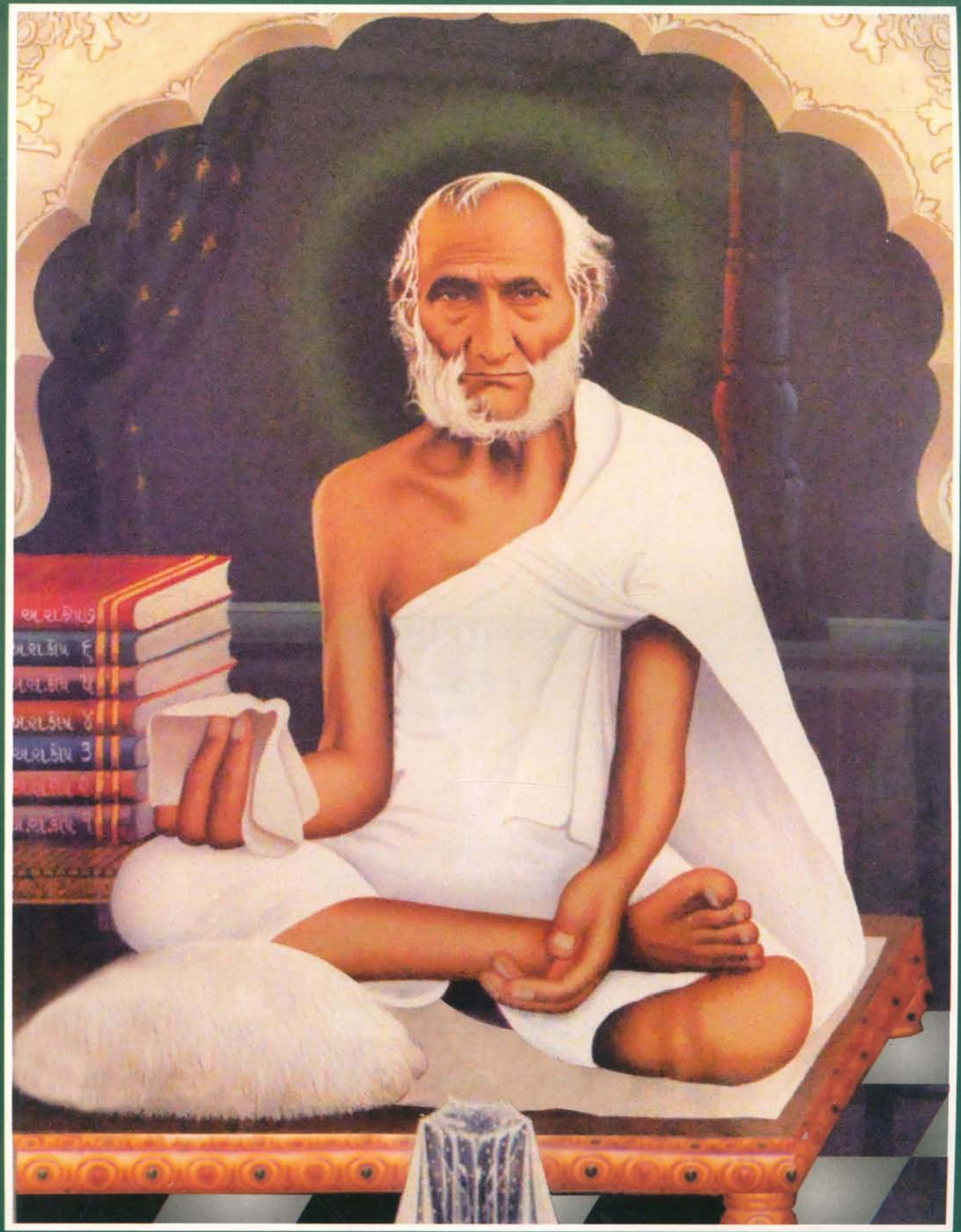
टाईप सेटिंग :
श्रीमद् जयन्तसेनसूरि सत्साहित्य कृते
श्री देवचन्द सुखराम डोलिया
इन्दौर (M.P.)

मुद्रण व्यवस्था :
खुश्बू प्रकाशन
१०३, नंदन कोम्प्लेक्ष, मीठाखली गाँव,
अहमदाबाद-६

मूल्यः संपूर्ण ७ भाग रु : ६०००-००

सुविहितसूरिशक्रचक्रचूडामणि-कलिकालसर्वज्ञकल्प-परमयोगिराज

जगत्पूज्य-गुरुदेव-प्रभुश्रीमद्-विजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज



दृप्तभ्रान्तविपक्षदन्तिदमने पञ्चाननग्रामणी - राजेन्द्राभिधकोशसंप्रणयनात्सन्दीप्तजैनश्रुतः ।
सङ्घस्योपकृतिप्रयोगकरणे नित्यं कृती तादृशः, कोऽन्यः सूरिपदाङ्कितो विजयराजेन्द्रात्परः पुण्यवान ? ॥1॥

श्री अभिधानराजेन्द्रः कोषः
२०१३

अनुक्रमणिका

१.	प्रस्तावना-तृतीय आवृत्ति	४-५
२.	सौधर्म बृहत्तपागच्छीय पट्टावली	६
३.	प्रस्तावना-द्वितीय आवृत्ति	७-११
४.	आभार प्रदर्शन	१२-१३
५.	प्रशांत-वपुषं श्रीराजेन्द्रसूरिं नुमः	१४
६.	श्रीअभिधानराजेन्द्रः-तृतीयो भागः	०१-१३६३

प्रस्तावना

(तृतीय आवृत्ति)

कलिकाल सर्वज्ञ कल्प–प्रभु श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में तब हुए जब मुगल साम्राज्य डाँवाडोल हो चुका था, मराठा परास्त हो चुके थे और इनके साथ ही राजपूत और नवाब सभी अंग्रेजों की कूटनीतिज्ञ चाल के सामने समर्पित हो चुके थे। भारतीय संस्कृति पर कुठाराघात अपनी चरम सीमा पर था। अंग्रेज अपनी योजित शैली में भारत की अन्तरात्मा कुचलने में सफल हो रहा था। भारत के सभी धर्मावलम्बियों में शिथिलाचार जोर पकड़े हुए था। ऐसे असमंजस भरे काल में विविध जीवन–दर्शक साठ ग्रंथों के साथ अभिधान राजेन्द्रः (ज्ञान कोश) लेकर एक देदीप्यमान सूर्य के समान प्रकट हुए। इस ग्रंथ के निर्माण के साथ ही वे एक महान साधक, तपोनिष्ठ, क्रान्तिकारी युगदृष्टा के रूप में समाज और जगत् के असर कारक अप्रतिम पथ प्रदर्शक के रूप में अवतरित हुए।

आचार्य प्रवर का यह ग्रन्थराज भगवान् महावीर की वाणी का गणधरों द्वारा प्रश्रुत आर्षपुरुषों की अर्धमागधी भाषा, जिसमें सभी आगमों का संकलन हुआ है, शताब्दी का शिरमोर व विश्ववन्द्य ग्रन्थ है। यह विश्वकोश आगम साहित्य के संदर्भ ग्रन्थ के रूप में अत्यन्त मूल्यवान है। इस ग्रन्थराज की सुसमृद्ध संदर्भ–सामग्री ने, जिससे संसार सर्वथा अनभिज्ञ था, भारतीय विद्वता का मस्तक ऊँचा किया है और यूरोपीय विद्वानों ने इस ग्रन्थराज की मुक्तकंठ से भरपूर प्रशंसा की है। यह सत्यान्वेषक तथा अनुसन्धानकर्ताओं के लिए मूल्यवान पोषक रहा है। इस ग्रन्थराज के विशद ज्ञान गाम्भीर्य और विद्योदधि श्रीमद् राजेन्द्रसूरिजी की चमत्कारपूर्ण अद्वितीय सृजन–शक्ति के प्रति हर कोई नतमस्तक हुए बिना नहीं रहता। इस ग्रंथराज के अवलोकन करनेवालों को जैन धर्म तथा दर्शन के अपरिहार्य तथ्यों की जानकारी मंत्रमुग्ध किये बिना नहीं रहती। सूरिजी ने अंधकार–युग में अपना मार्ग स्वयं ही प्रशस्त किया और वे जगत् के लिए पथ–प्रदर्शक बने। उनका चारित्रिक बल, उनकी विद्वता और निर्भीकता प्रशंसनीय ही नहीं बल्कि समस्त विद्वज्जगत पर महान अनुग्रह हुआ है। इस महर्द्धिक ग्रन्थराज के निर्माण ने विद्वत्संसार को चमत्कृत ढंग से प्रभावित किया। इसके अनुकरण और इसकी सहायता तथा मार्गदर्शन पाकर अनेक विद्वानों ने पूरी शताब्दी भर

अपने–अपने कोश–निर्माण की भावना में इस ग्रंथराज के बीजरूप में ही रखी है। यह ग्रन्थराज बीसवीं शताब्दी की एक असाधारण घटना ही है। इसने जैन–जैनेतर सभी विद्वन्मण्डल को निरन्तरउपकृत किया है और करता रहेगा।

इस ग्रन्थराज में तमाम जैनागमों के अर्धमागधी भाषा के प्रत्येक शब्द का संकलन किया गया है और प्रत्येक शब्द का संस्कृत अनुवाद, लिंग,व्युपत्ति, अर्थ तथा सूत्रानुसार विवेचन और संदर्भ सहित ज्ञान सुविधापूर्वक दिया है, जो सुगम और अवबोध्य है।

इस ग्रन्थराज ने लुप्तप्राय अर्धमागधी भाषा को पुनरुज्जीवित करने के साथ ही इसे अमरत्व प्रदान किया है। आगम शास्त्र जिज्ञासुओं के लिए उनकी तमाम शंकाओं के समाधान के लिए यह अक्षय भंडार है।

इस ग्रंथराज के प्रथम खण्ड के अनेकांतवाद, अस्तित्ववाद, अदत्तादान, आत्मा (अप्पा), अभय, अभयारण्य, अर्हन्त जैसे विषयों पर संदर्भ सहित विशद व्याख्या के साथ प्रत्येक पाठक को आश्चर्यचकित करे, इतना ज्ञान आकर्षक रूप से व्याख्यायित है, जिनके अर्थबोध को पाकर हर कोई प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता।

इस ग्रंथराज के निर्माण के समय कुछ अक्षरों की अनुपलब्धता के कारण उनके स्थान पर वैकल्पिक अक्षर का उपयोग किया गया था जिससे पाठक–वृंद को पठन करने में जो असुविधा होती रही है उसका इस आवृत्ति में जिन वैकल्पिक अक्षरों का उपयोग किया गया था, उन्हें दूर कर दिया गया है तथा सर्वबोध्य अक्षरों का उपयोग कर लिया गया है। जिनके लिए वैकल्पिक अक्षर उपयोग में लिये गये थे वे हैं– अ, इ,उ, ऊ, ऋ, छ, झ, ठ, ड, ड्ढ, द,द्भ, द्ग, द्व्य, भ, ल, ट्ठ, क्ष, ज्ञ, त्र, द्ध, द्व, क्क, क्त, ह्न। अब इस प्रथम भाग की तृतीय आवृत्ति में वैकल्पिक रूप हटाकरप्रवर्त्तमान प्रचलित अक्षरों का यथास्थान उपयोग कर लिया गया है।

प्रज्ञा–पुरुष के इस ग्रन्थराज के विषय में, इसकी ज्ञान–गरिमा और आध्यात्मिक साधना की अभिव्यक्ति के विषय में कुछ कहना दैदीप्यमान सूर्य को दीपक दिखाने के समान है। अन्त में इतना ही कि यह चिर प्रतिक्षित संशोधित आवृत्ति आपके हाथों में रखते हुए आनंद की अनुभूति हो रही है ।

आचार्य जयन्तसेनसूरि

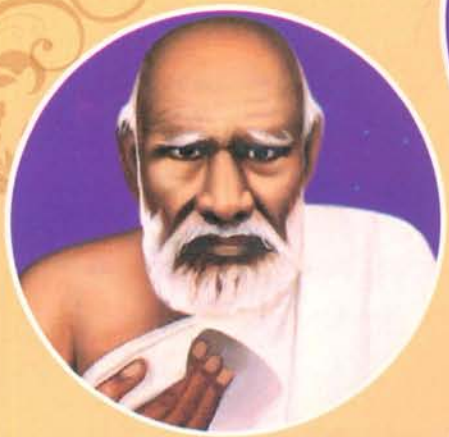
श्री सौधर्म बृहत्तपागच्छीय पट्टावली

श्रीमहावीरस्वामीशासननायक

१ श्रीसुधर्मास्वामी
२ श्रीजम्बूस्वामी
३ श्रीप्रभवस्वामी
४ श्रीसय्यंभवस्वामी
५ श्रीयशोभद्रसूरि
६ श्रीसंभूतविजयजी
श्रीभद्रबाहुस्वामी
७ श्रीस्थूलभद्रस्वामी
८ श्रीआर्यसुहस्तीसूरि
श्रीआर्यमहागिरि
९ श्रीसुस्थितसूरि
श्रीसुप्रतिबद्धसूरि
१० श्रीइन्द्रदिन्नसूरि
११ श्रीदिन्नसूरि
१२ श्रीसिंहगिरिसूरि
१३ श्रीवज्रस्वामीजी
१४ श्रीवज्रसेनसूरिजी
१५ श्रीचन्द्रसूरिजी
१६ श्रीसामन्तभद्रसूरि
१७ श्रीवृद्धदेवसूरि
१८ श्रीप्रद्योतनसूरि
१९ श्रीमानदेवसूरि
२० श्रीमानतुङ्गसूरि
२१ श्रीवीरसूरि
२२ श्रीजयदेवसूरि
२३ श्रीदेवानन्दसूरि
२४ श्रीविक्रमसूरि
२५ श्रीनरसिंहसूरि
२६ श्रीसमुद्रसूरि
२७ श्रीमानदेवसूरि
२८ श्रीविबुधप्रभसूरि
२९ श्रीजयानन्दसूरि
३० श्रीरविप्रभूसरि
३१ श्रीयशोदेवसूरि
३२ श्रीप्रद्युम्नसूरि
३३ श्रीमानदेवसूरि
३४ श्रीविमलचन्द्रसूरि
३५ श्रीउद्योतनसूरि
३६ श्रीसर्वदेवसूरि
३७ श्रीदेवसूरि
३८ श्रीसर्वदेवसूरि
३९ श्रीयशोभद्रसूरि
श्रीनेमिचन्द्रसूरि
४० श्रीमुनिचन्द्रसूरि
४१ श्रीअजितदेवसूरि
४२ श्रीविजयसिंहसूरि
४३ श्रीसोमप्रभसूरि
श्रीमणिरत्नसूरि
४४ श्रीजगच्चन्द्रसूरि
४५ श्रीदेवेन्द्रसूरि
श्रीविद्यानन्दसूरि
४६ श्रीधर्मघोषसूरि
४७ श्रीसोमप्रभसूरि
४८ श्रीसोमतिलकसूरि
४९ श्रीदेवसुन्दरसूरि
५० श्रीसोमसुन्दरसूरि
५१ श्रीमुनिसुन्दरसूरि
५२ श्रीरत्नशेखरसूरि
५३ श्रीलक्ष्मीसागरसूरि
५४ श्रीसुमतिसाधुसूरि
५५ श्रीहेमविमलसूरि
५६ श्रीआनन्दविमलसूरि
५७ श्रीविजयदानसूरि
५८ श्रीहीरविजयसूरि
५९ श्रीविजयसेनसूरि
६० श्रीविजयदेवसूरि
श्रीविजयसिंहसूरि
६१ श्रीविजयप्रभसूरि
६२ श्रीविजयरत्नसूरि
६३ श्रीविजयक्षमासूरि
६४ श्रीविजयदेवेन्द्रसूरि
६५ श्रीविजयकल्याणसूरि
६६ श्रीविजयप्रमोदसूरि
६७ श्रीविजयराजेन्द्रसूरि
६८ श्री विजयधनचन्द्रसूरि
६९ श्री विजयभूपेन्द्रसूरि
७० श्री विजययतीन्द्रसूरि
७१ श्री विजयविद्याचन्द्रसूरि
७२ प्रवर्तमान आचार्य
श्री विजयजयन्तसेनसूरि



राजेन्द्र कोश



धनचन्द्रसूरीश्वरजी म.सा.



मोहनविजयजी म.सा.



राजेन्द्रसूरीश्वरजी म.सा.



भूपेन्द्रसूरीश्वरजी म.सा.



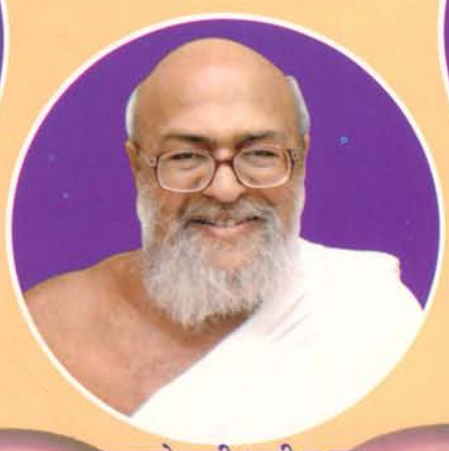
यतीन्द्रसूरीश्वरजी म.सा.



श्री गुलाबविजयजी म.सा.



विद्याचन्द्रसूरीश्वरजी म.सा.



जयन्तसेनसूरीश्वरजी म.सा.

प्रस्तावना

(द्वितीयावृत्ति)

अनादि से प्रवहमान है श्री वीतराग परमात्मा का परम पावन शासन ! अनादि मिथ्यात्व से मुक्त होकर आत्मा जब सम्यक्त्व गुण प्राप्त करती है, तब आत्मिक उत्क्रान्ति का शुभारंभ होता है। सम्यग्दर्शन की उपलब्धि के पश्चात् ही सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का क्रम आत्मा में परिलक्षित होता है।

मतिज्ञान एवं श्रुतज्ञान दोनों ही इन्द्रिय तथा मन से ग्राह्य हैं, अतः इनका समावेश परोक्षज्ञान में होता है, परन्तु अवधिज्ञान, मनः पर्यायज्ञान एवं केवलज्ञान आत्म ग्राह्य हैं ; अतः ये ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान में समाविष्ट हैं।

सम्यक्त्व का सूर्योदय होते ही मिथ्यात्व का घना अंधेरा दूर हो जाता है और आत्मा संपूर्णता की ओर गतिमान होती है। यही सम्यक्त्व आत्मा को परोक्ष ज्ञान से प्रत्यक्ष ज्ञान की ओर अग्रेसर करता है। प्रत्यक्ष ज्ञान की उपलब्धि के लिए यह आवश्यक है कि आत्मा लौकिक भावों से अलग हो कर लोकोत्तर भावों की चिन्तनधारा में स्वयं को डुबो दे ' जिन खोजा तिन पाईयाँ गहरे पानी पैठ।'

संसार परिभ्रमण का प्रमुख कारण है आश्रव और बन्ध। दुःख से मुक्ति के लिए इनको दूर करना आवश्यक है तथा इसके साथ ही संवर और निर्जरा भी आवश्यक है। बन्धन सहज है, पर यदि उसके कारण भाव एवं कारण स्थिति से स्वंय को अलग रखा जाये तो अवश्य ही हम निर्बन्ध अथवा अपुनर्बन्धक अवस्था को प्राप्त कर सकते हैं।

जिनागम में अध्यात्म समाया हुआ है। सहज स्थिति की कामना करनेवालों को चाहिये कि वे जिनवाणी का श्रवण, अध्ययन, चिन्तन, अनुशीलन आदि करते रहें।

कर्म और आत्मा का अनादि से घना रिश्ता है, अतः कर्म आत्मा के साथ ही लगा रहता है, जैसे खदान में रहे हुए सोने के साथ मिट्टी लगी हुई होती है। मिट्टी सुवर्ण की मलिनता है और कर्म आत्मा की। प्रयोग के द्वारा मिट्टी सुवर्ण से अलग की जा सकती है। जब दोनों अलग अलग होते हैं तब मिट्टी मिट्टी रूप में और सुवर्ण सुवर्ण के रूप में प्रकट होता है। मिट्टी को कोई सुवर्ण नहीं कहता और न ही सुवर्ण को कोई मिट्टी कहता है। ठीक इसी प्रकार सम्यग्दर्शन प्राप्त आत्मा सम्यग्ज्ञान के उज्ज्वल आलोक में सम्यक् चारित्र के प्रयोग द्वारा अपने में से कर्म रज पूरी तरह झटक देती है और अपनी मलिनता दूर करके उज्ज्वलता प्रकट कर देती है।

कर्म की आठों प्रकृतियाँ अपने अपने स्वभावानुसार सांसारिक प्रवृत्तियों में रममाण आत्मा को कर्म के फल भुगतने के लिए प्रेरित करती रहती है। जिन्हें स्वयं का ख्याल नहीं है और जो असमंजस स्थिति में है, ऐसे संसारी जीवों की कर्म प्रकृतियाँ विभाव परिणमन करा लेती हैं।

ज्ञानावरणीय कर्म आँखों पर रही हुई पट्टी के समान है। नजर चाहे जितनी सूक्ष्म हो, पर यदि आँखों पर कपड़े की पट्टी लगी हो, तो कुछ भी दिखाई नहीं देता, ठीक इसी प्रकार आत्मा की निर्मल ज्ञानदृष्टि को ज्ञानवरणीय कर्म आवृत कर लेता है। इससे ज्ञानदृष्टि पर आवरण छा जाता है। यह कर्म जीव को उल्टी चाल चलाता है।

दर्शनावरणीय कर्म राजा के पहरेदार के समान है। जिस प्रकार पहरेदार दर्शनार्थी को राजदर्शन से वंचित रखता है, उसे महल में प्रवेश करने से रोकता है, उसी प्रकार दर्शनावरणीय कर्म जीव को आत्मदर्शन से वंचित रखता है। यह जीव को प्रमत्त भाव में आकण्ठ डुबो देता है, अतः जीव अप्रमत्त भाव से सर्वथा दूर रह जाता है। यह जीव के आत्मदर्शन के राजमार्ग को अवरुद्ध कर देता है और जीव को उन्मार्गगामी बनाता है।

मधुलिप्त असि धार के समान है वेदनीय कर्म। यह जीव को क्षणभंगुर सुख का लालची बना कर उसे अनन्त दुःख समुद्र में धकेल देता है

साता का वेदन तो यह अत्यल्प करवाता है , पर असाता का वेदन यह अत्यधिक करवाता है। शहद लगी तलवार की धार को चाटने वाला शहद की मधुरता तो पाता है और सुख का अनुभव भी करता है, पर जीभ कट जाते ही असह्य दुःख का अनुभव भी उसे करना पड़ता है। इस प्रकार वेदनीय कर्म सुख के साथ अपार दुःख का भी वेदन करता है।

मोहनीय कर्म मदिरा के समान है। मदिरा प्राशन करने वाला मनुष्य अपने होश--हवास खो बैठता है, इसी प्रकार मोहनीय कर्म से प्रभावित जीव अपने आत्म--स्वरूप को भूल जाता है और पर पदार्थों को आत्म स्वरूप मान लेता है। यही एक मात्र कारण है जीव के संसार परिभ्रमण का। 'मोह महामद पियो अनादि, भूलि आपकुं भरमत बादि।' यह जीव के सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्र के मार्ग में रुकावट डालता है।

जो मनुष्य इस मोहनीय कर्म के स्वरूप से अनभिज्ञ रहता है और जो इसकी स्थिति का अनुभव नहीं करता, वह अपने जीवन में आत्म विकास से वंचित रह जाता है। अहंकार और ममत्व जब तक हममें विद्यमान हैं। तब तक हम मोहनीय कर्म के बन्धन में जकड़े हुए ही हैं। अहंकार और ममत्व जितना जितना घटता जाता है, उतना ही मोहनीय कर्म का बन्धन शिथिल होता जाता है। यह मोहनीय कर्म समस्त कर्मसत्ता का अधिपति है और सबसे लम्बी उम्र वाला है। इस मोह राजा के निर्देशन में ही कर्म सेना आगे कूच करती है। जीव को भेद विज्ञान से वंचित रखनेवाला यही कर्म है। इसने ही जीव को संसार की भूलभुलैया में भटकाये रखा है।

और बेड़ी के समान है आयुष्य कर्म। इसने जीव को शरीर रूपी बेड़ी लगा दी है, जो अनादि से आज तक चली आ रही है। एक बेड़ी टूटती है, तो दूसरी पुनः तुरंत लग जाती है। सजा की अवधि पूरी हुए बिना कैदी मुक्त नहीं होता, इसी प्रकार जब तक जीव की जन्म जन्म की कैद की अवधि पूरी नहीं होती, तब तक जीव मुक्ति का आनंद नहीं पा सकता।

नाम कर्म का स्वभाव है चित्रकार के समान। चित्रकार नाना प्रकार के चित्र चित्रपट पर अंकित करता है, ठीक इसी प्रकार नाम कर्म चर्तुगति में भ्रमण करने के लिए विविध जीवों को भिन्न--भिन्न नाम प्रदान करता है। इसके प्रभाव से जीव इस संसार पट पर नाना प्रकार के नाम धारण करके देव, मनुष्य, तिर्यंच और नरक गति में भ्रमण करता है।

गोत्र कर्म का स्वभाव कुम्हार के समान है। कुम्हार अनेक प्रकार के छोटे बड़े बर्तन बनाता है और उन्हें विभिन्न आकार प्रदान करता है। गोत्र कर्म भी जीव को उच्च और नीच गोत्र प्रदान करता है, जिससे जीव को उच्च या नीच गोत्र में जन्म धारण करना पड़ता है।

इसी प्रकार अन्तराय कर्म है-- राजा के खजाँची के समान। खजाने में माल तो बहुत होता है पर कुञ्जी खजाँची के हाथ में होती है, अतः खजाने में से याचक कुछ भी प्राप्त नहीं कर सकता। यही कार्य अन्तराय कर्म करता है। इसके प्रभाव से जीव को इच्छित वस्तु उपलब्ध नहीं हो पाती। दान, लोभ, भोग, उपभोग और वीर्य (आत्म शक्ति) के विषय में अन्तराय कर्म के उदय से जीव किसी प्रकार का लाभ प्राप्त नहीं कर सकता। संक्षेप में ही है, जैन दर्शन का कर्मवाद।

इसी प्रकार जिनागमों में आत्मवाद, अनेकान्तवाद, षट्द्रव्य, नवतत्व, मोक्ष मार्ग आदि ऐसे विषयों का समावेश है, जो जीव के आत्म विकास में परम सहायक हैं। द्वादशांगी जिनवाणी का विस्तार है। आत्म कल्याण की कामना करने वालों के लिए द्वादशांगी का गहन अध्ययन् अत्यंत आवश्यक है।

संसारस्थ प्रत्येक जीव को स्व--स्वरूप अर्थात् ईश्वरत्व प्राप्त करने का अधिकार केवल जैन--धर्म--दर्शन ही देता है, अन्य कोई नहीं। ' सर्व धर्मान् परित्यज्य, मामेकं शरण व्रज। ' बुद्धं शरणं गच्छामि ..... धम्मं सरणं गच्छामि।' और केवलिपण्णत्तं धम्मं सरणं पव्वज्जामि। इन तीनों पक्षों के सूक्ष्म एवं गहन अध्ययन से यही निष्कर्ष निकलता है कि अन्तिम पक्ष जीव के लिए केवलीप्रणीत धर्म के दरवाजे खुले रखता है। इस धर्म में प्रवेश करके जीव स्वयं अनन्त ऐश्वर्यवान, केवलज्ञान सम्पन्न बन जाता है। जीव अपने पुरुषार्थ के बल पर परमात्म पद प्राप्त कर सकता है। अन्य समस्त धर्म दर्शनों में जीव को परमात्म प्राप्ति के बाद भी परमात्मा से हीन माना गया है, जब कि जैनधर्मदर्शन में परमात्म पद प्राप्ति के पश्चात् जीव को परमात्म स्वरूप ही माना गया है। यह जैन धर्म की अपनी अलग विशेषता है।

परमज्ञानी परमात्मा की पावन वाणी जीव की इस अनुपम एवं असाधारण स्थिति का स्पष्ट बोध कराती है। प्रमाण, नय, निक्षेप, सप्तभंगी एवं स्याद्वाद शैली से संवृत्त जिनवाणीमय जिनागमों के गहन अध्ययन के लिए विभिन्न संदर्भ ग्रन्थों का अनुशीलन अत्यंत आवश्यक है।

आज से सौ साल पूर्व उचित साधनों के अभाव में जिनागमों का अध्ययन अत्यन्त दुष्कर था। विश्व के विद्वान जिनागम की एक ऐसी कुंजी तलाश रहे थे, जो सारे रहस्य खोल दे और उनकी ज्ञानपिपासा बुझा सके।

ऐसे समय में एक तिरसठ वर्षीय वयोवृद्ध त्यागवृद्ध तपोवृद्ध एवं ज्ञानवृद्ध दिव्य पुरुष ने यह काम अपने हाथ में लिया। वे दिव्य पुरुष थे उत्कृष्ट चारित्र क्रिया पालक गुरुदेवप्रभु श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज। उन्होंनें जिनागम की कुंजी निर्माण करने का जटिल कार्य सियाणा नगरस्थ श्री सुविधिनाथ जिनालय की छत्र छाया में अपने हाथ में लिया। कुंजी निर्माण की यह प्रक्रिया पूरे चौदह वर्ष तक चलती रही और सूरत में कुंजी बन कर तैयार हो गयी। यह कुंजी है 'अभिधान राजेन्द्र'। यह कहना जरा भी अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि आगमों का अध्ययन करते वक्त 'अभिधान राजेन्द्र' पास में हो तो और कोई ग्रन्थ पास में रखने की कोई आवश्यकता नहीं है। जैनागमों में निर्दिष्ट वस्तुतत्त्व जो ' अभिधान राजेन्द्र 'में है, वह अन्यत्र हो या न हो, पर जो नहीं है; वह कहीं नहीं है। यह महान ग्रन्थ जिज्ञासु की तमाम जिज्ञासाएँ पूर्ण करता है।

भारतीय संस्कृति में इतिहास पूर्व काल से कोश साहित्य की परम्परा आज तक चली आ रही है। निघंटु कोश में वेद की संहिताओं का अर्थ स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। ' यास्क ' की रचना ' निरुक्त ' में और पाणिनी के ' अष्टाध्यायी ' में भी विशाल शब्द संग्रह दृष्टिगोचर होता है ये सब कोश गद्य लेखन में हैं।

इसके पश्चात् प्रारंभ हुआ पद्य रचनाकाल। जो कोश पद्य में रचे गये, वे दो प्रकार से रचे गये। एक प्रकार है, एकार्थक कोश और दूसरा प्रकार है — अनेकार्थक कोश।

कात्यायन की ' नाममाला ', वाचस्पति का ' शब्दार्णव ', विक्रमादित्य का 'शब्दार्णव' भागुरी का 'त्रिकाण्ड' और धनवन्तरी का निघण्टु, इनमें से कुछ प्राप्य हैं और कुछ अप्राप्य। उपलब्ध कोशों में अमरसिंह का ' अमरकोश ' अत्यधिक प्रचलित है।

धनपाल का ' पाइयलच्छी नाम माला ' २७९ गाथात्मक है और एकार्थक शब्दों का बोध कराता है। इसमें ९९८ शब्दों के प्राकृत रूप प्रस्तुत किये गये हैं। आचार्य श्री हेमचन्द्रसूरिजीने ' पाइयलच्छी नाम माला ' पर प्रामाणिकता की मुहर लगाई है।

धनञ्जय ने 'धनञ्जय नाम माला ' में शब्दान्तर करने की एक विशिष्ट पद्धति प्रस्तुत की है। 'धर ' शब्द के योग से पृथ्वी वाचक शब्द पर्वत वाचक शब्द बन जाते हैं—जैसे भूधर, कुधर इत्यादि। इस पद्धति से अनेक नये शब्दों का निर्माण होता हैं।

इसी प्रकार धनञ्जय ने ' अनेकार्थ नाममाला ' की रचना भी की है।

कलिकाल, सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य के 'अभिधान चिन्तामणि ', 'अनेकार्थ संग्रह ', निघण्टु संग्रह और ' देशी नाममाला ' आदि कोश ग्रन्थ सुप्रसिद्ध हैं।

इसके अलावा ' शिलोंछ कोश' 'नाम कोश 'शब्द चन्द्रिका ', 'सुन्दर प्रकाश शब्दार्णव ', शब्दभेद नाममाला' ' नाम संग्रह' , शारदीय नाममाला ', शब्द रत्नाकर ', 'अव्ययैकाक्षर नाममाला' शेष नाममाला, ' शब्द सन्दोह संग्रह ', ' शब्द रत्न प्रदीप ', विश्वलोचन कोश ', 'नानार्थ कोश ' पंचवर्ग संग्रह नाम माला', अपवर्ग नाम माला', एकाक्षरी नानार्थ कोश,' 'एकाक्षर नाममलिका', एकाक्षर कोश', ' एकाक्षर नाममाला ', ' द्वयक्षर कोश ', देश्य निर्देश निघण्टु ', 'पाइय सद्दमहण्णव ', अर्धमागधी डिक्शनरी ', जैनागम कोश', ' अल्पपरिचित सैद्धान्तिक कोश', 'जैनेन्द्र सिद्धांत कोश' इत्यादि अनेक कोश ग्रन्थ भाषा के अध्ययनार्थ रचे गये हैं ।

इनमें से कई कोश ग्रन्थ 'अभिधान राजेन्द्र' के पूर्व प्रकाशित हुए हैं और कुछ पश्चात् भी। 'अभिधान राजेन्द्र ' की अपनी अलग विशेषता है। इसी विशेषता के कारण यह आज भी समस्त कोश ग्रन्थों का सिरमौर बना हुआ है। सच तो यह है कि जिस प्रकार सूर्य को दीया दिखाने की आवश्यकता नहीं होती, उसी प्रकार इस महाग्रन्थ को प्रमाणित करने की आवश्यकता नहीं है। सूर्य स्वयमेव प्रकाशित है और यह ग्रन्थराज भी स्वयमेव प्रमाणित है, फिर भी इसकी कुछ विशेषताएं प्रस्तुत करना अप्रासंगिक नहीं होगा।

'अभिधान राजेन्द्र' अर्धमागधी प्राकृत भाषा का कोश है। भगवान महावीर के समय में प्राकृत लोक भाषा थी। उन्होंने इसी भाषा में आम आदमी को धर्म का मर्म समझाया। यही कारण है कि जैन आगमों की रचना अर्धमगामी प्राकृत में की गई। इस महाकोष में श्रीमद् ने प्राकृत शब्दों का

मर्म 'अ' कारादि क्रम से समझाया है , यह इस महाग्रंथ की वैज्ञानिकता है। उन्होंने मूल प्राकृत शब्द का अर्थ स्पष्ट करते वक्त उसका संस्कृत रूप, लिंग, व्युत्पत्ति का ज्ञान कराया है, इसके अलावा उन शब्दों के तमाम अर्थ सन्दर्भ सहित प्रस्तुत किये हैं ।

वैज्ञानिकता के अलावा इसमें व्यापकता भी है जैन धर्म–दर्शन का कोई भी विषय इससे अछूता नहीं रह गया है। इसमें तथ्य प्रमाण सहित प्रस्तुत किये गये हैं। इसमें स्याद्वाद, ईश्वरवाद, सप्तनय, सप्तभंगी, षड्दर्शन, नवतत्त्व, अनुयोग, तीर्थ परिचय आदि समस्त विषयों की सप्रमाण जानकारी है। सत्तानवे सन्दर्भ ग्रंथ इसमें समाविष्ट हैं।

वैज्ञानिक और व्यापक होने के साथ–साथ यह सुविशाल भी हैं। सात भागों में विभक्त यह विश्वकोश लगभग दस हजार रॉयल पेजों में विस्तारित है। इसमें धर्म –संस्कृति से संबधित लगभग साठ हजार शब्द सार्थ व्यख्यायित हुए हैं। उनकी पुष्टि–सप्रमाण व्याख्या के लिए इसमें चार लाख से भी अधिक श्लोक उद्धृत किये गये हैं। इसके सात भागों को यदि कोई सामान्य मनुष्य एक साथ उठाना चाहे, तो उठाने के पहले उसे कुछ विचार अवश्य ही करना पड़ेगा।

इस महाग्रंथ के प्रारंभिक लेखन की भी अपनी अलग कहानी है। जिस जमाने में यह महाग्रंथ लिखा गया, उस समय लेखन साहित्य का पूर्ण विकास नहीं हुआ था। श्रीमद् गुरुदेव ने रात के समय लेखन कभी भी नहीं किया। कहते हैं वे कपड़े का एक छोटा सा टुकड़ा स्याही से तर कर देते थे और उसमें कलम गीली करके लिखते थे। एक स्थान पर बैठ कर उन्होंने कभी नहीं लिखा। चार्तुमास काल के अलावा वे सदैव विहार–रत रहे। मालवा, मारवाड़, गुजरात के प्रदेशों में उन्होंने दीर्घ विहार किये , प्रतिष्ठा–अंजनशलाका, उपधान, संघप्रयाण आदि अनेक धार्मिक व सामाजिक कार्य सम्पन्न किये, जिज्ञासुओं की शंकाओं का समाधान किया और प्रतिपक्षियों द्वारा प्रदत्त मानसिक संताप भी सहन किये। साथ–साथ ध्यान और तपश्चर्या भी चलती रही। ऐसी विषम परिस्थिति में केवल चौदह वर्ष में एक व्यक्ति द्वारा इस ' जैन विश्वकोश ' का निर्माण हुआ, यह एक महान आश्चर्य है। इस महान ग्रंथ के प्रणयन ने उन्हें विश्वपुरुष की श्रेणी में प्रतिष्ठित कर दिया है और विश्वपूज्यता प्रदान की है।

श्रीमद् विजय यशोदेव सूरिजी महाराज 'अभिधान राजेन्द्र' और इसके कर्त्ता के प्रति अपना भावोल्लास प्रकट करते हुए लिखते हैं – आज भी यह (अभिधान राजेन्द्र) मेरा निकटतम सहचर है। साधनों के अभाव के जमानें में यह जो महान कार्य सम्पन्न हुआ है , इसका अवलोकन करके मेरा मन आश्चर्य के भावों से भर जाता है और मेरा मस्तक इसके कर्त्ता के इस भगीरथ पुण्य पुरुषार्थ के आगे झुक जाता है। मेरे मन में उनके प्रति सम्मान का भाव उत्पन्न होता है, क्योंकि इस प्रकार के (महा) कोश की रचना करने का आद्य विचार केवल उन्हें ही उत्पन्न हुआ और इस विकट समय में अपने विचार पर उन्होंने पालन भी किया। यदि कोई मुझसे यह पूछे कि जैन साहित्य के क्षेत्र में बीसवीं सदी की असाधारण घटना कौन सी है, तो मेरा संकेत इस कोश की ओर ही होगा, जो बड़ा कष्ट साध्य एवं अर्थसाध्य है।

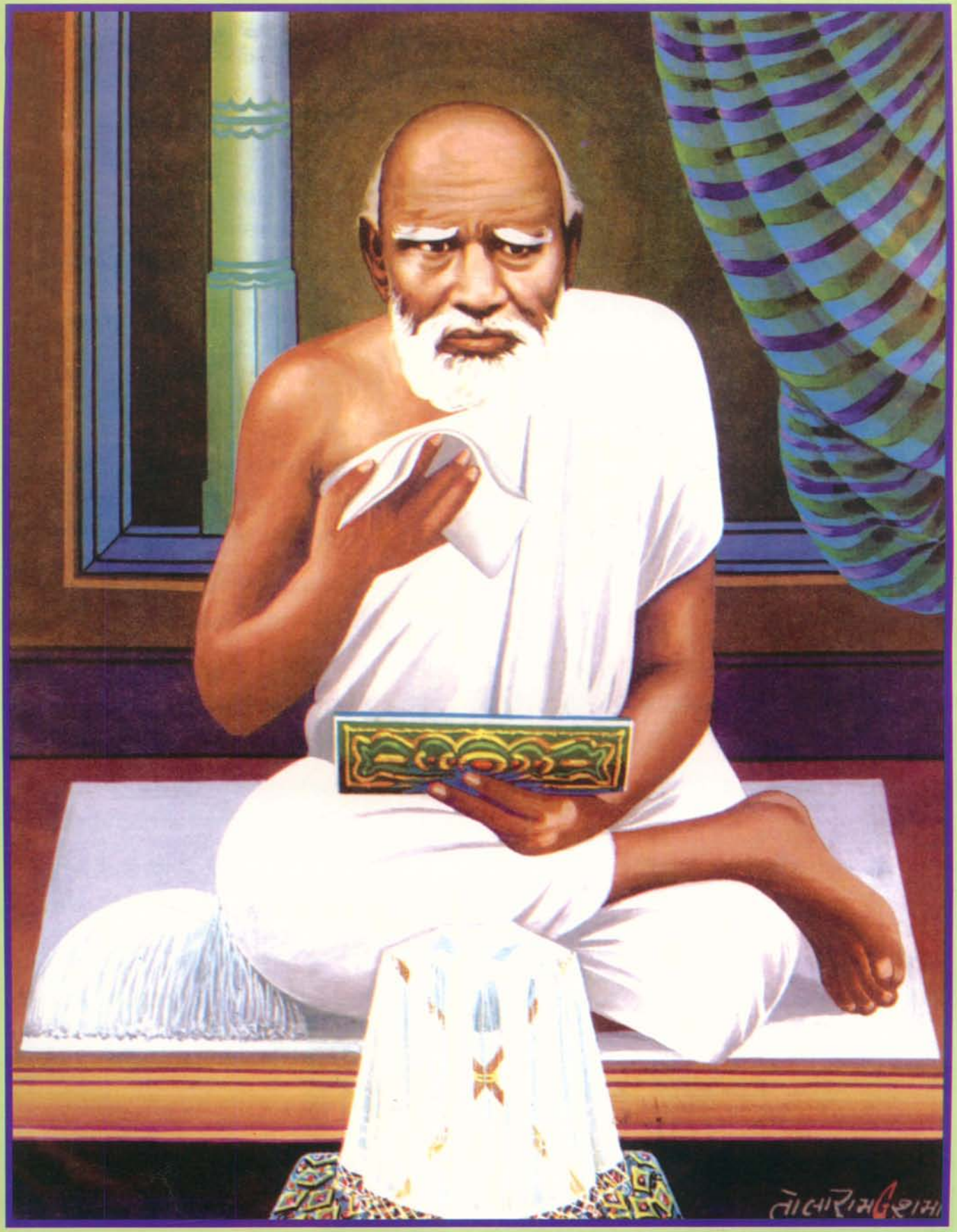
प्रस्तुत बृहद् विश्वकोश को पुनः प्रकाशित करने की हलचल और हमारा दक्षिण विहार दोनों एक साथ प्रारम्भ हुए। बंबई चार्तुमास में हमारा अनेक मुनिजनों और विद्वानों से साक्षात्कार हुआ। जो भी मिला उसने यही कहा कि 'अभिधान राजेन्द्र' जो कि दुलर्भ हो गया है, उसे पुनः प्रकाशित करके सर्वजन सुलभ किया जाये। हमें यह भी सुनना पड़ा कि यदि आपके समाज के पास वर्तमान में इसके प्रकाशन की कोई योजना न हो, तो हमें इनके प्रकाशन का अधिकार दीजिये। हमनें उन्हें आश्वस्त करते हुए कहा कि त्रिस्तुतिक जैन संघ इस मामले में सम्पन्न एवं समर्थ है। 'अभिधान राजेन्द्र' यथावसर शीघ्र प्रकाशित होगा।

श्रीमद् पूज्य गुरुदेव की यह महती कृपा हुई कि हम क्रमशः विहार करते हुए मद्रास पहुँच गये। तामिलनाडू राज्य की राजधानी है यह मद्रास। दक्षिण में बसे हुए दूर–दूर के हजारों श्रद्धालुओं ने इस चार्तुमास में मद्रास की यात्रा की। मद्रास चार्तुमास आज भी हमारे लिए स्मरणीय है। चार्तुमास समाप्ति के पश्चात् पौष सुदी सप्तमी के दिन मद्रास में गुरु सप्तमी उत्सव मनाया गया। गुरु सप्तमी प्रातः स्मरणीय पूज्य गुरुदेव श्री राजेन्द्र सूरीश्वरजी महाराज साहब का जन्म और स्मृति दिन है। गुरु सप्तमी के पावन अवसर पर एक विद्वद् गोष्ठी का आयोजन किया गया। उपस्थित विद्वानों ने अपने प्रवचन में पूज्य गुरुदेव श्री के महान कार्यों की प्रशस्ति करते हुए उनकी समीचीनता प्रकट की और प्रशस्ति में 'अभिधान राजेन्द्र ' का उचित मूल्यांकन करते हुए इसके पुर्नमुद्रण की आवश्यकता पर जोर दिया।

इस ग्रन्थराज का प्रकाशन एक भगीरथ कार्य है। इस महत्त्वपूर्ण कार्य का बीड़ा उठाने का आह्वान मैंने मद्रास संघ को किया। आह्वान होते ही संघ हिमाचल से गुरुभक्ति गंगा उमड़ पड़ी। इस महत्कार्य के लिए भरपूर सहयोग का हमें आश्वासन प्राप्त हुआ। ग्रन्थ की छपाई गतिमान हुई, पर 'श्रेयांसि

श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरपट्टप्रभाकर-चत्राचक्रवर्ति-आगमरहस्यवेदी-श्रुतस्थविरमान्य-

श्रीसौधर्मबृहत्तपोगच्छीय-श्रीमद्विजयधनचन्द्रसूरिजी महाराज



विद्वच्चकोरजनमोदकरं प्रसन्नं, शुभ्रव्रतं सुकविकैरसवद्विलासम् ।
हृद्ध्वान्तनाशकरणे प्रसरत्प्रतापं, वन्दे कलानिधिसमं धनचन्द्रसूरिम् ॥ 1 ॥

बहुविघ्नानि' की उक्ति के अनुसार हमें यह पुनीत कार्य स्थगित करना पड़ा। कोई ऐसा अवरोध इसके प्रकाशन मार्ग में उपस्थित हो गया कि उसे दूर करना आसान नहीं था। प्रकाशन को स्थगित करना सबके लिए दुःखद था, पर मैं मजबूर था। आंतरिक विरोध को जन्म देकर कार्य करना मुझे पसन्द नहीं है।

हमारी इस मजबूरी से नाजायज लाभ उठाया– दिल्ली की प्रकाशन संस्थाओं ने .... उन्होंने इस पुनीत ग्रन्थ को शुद्ध व्यावसायिक दृष्टि से चुपचाप प्रकाशित कर दिया। श्रीमद् गुरुदेव ने जो भी लिखा, स्वान्तःसुखाय और सर्वजन हिताय लिखा, व्यवसायियों के लिए नहीं। यही कारण है कि इसकी प्रथम आवृत्ति में यह स्पष्ट कर दिया कि इसके पुनःप्रकाशन का अधिकार त्रिस्तुतिक सकल संघ को है। ' त्रिस्तुतिक समाज की इस अनमोल धरोहर को प्रकाशित करने से पहले त्रिस्तुतिक समाज को इसके प्रकाशन से आगाह करना आवश्यक था। ऐसा न करके अन्य प्रकाशकों ने एक तरह से नैतिकता का भंग ही किया है।

श्री माण्डवपुर तीर्थ पर अखिल भारतीय श्रीसौधर्मवृहत्तपोगच्छीय श्री जैन श्वेताम्बर त्रिस्तुतिक संघ का विराट अधिवेशन सम्पन्न हुआ। देश के कोने-कोने से गुरुभक्त उस अधिवेशन के लिए उपस्थित हुए। पावनपुण्यस्थल श्री माण्डवपुर भक्तजनों के भक्तिभाव की स्वर लहरियों से गूंज उठा।

अधिवेशन प्रारंभ हुआ। संयमयःस्थविर मुनिप्रवर श्री शान्तिविजयजी महाराज साहब आदि मुनि मण्डल की सान्निध्यता में मैंने संघ के समक्ष विश्व की असाधारण कृत्ति इस ' अभिधान राजेन्द्र' के पुनःप्रकाशन का प्रस्ताव रखा। श्री संघ ने हार्दिक प्रसन्नता व हार्दिक व अपूर्व भावोल्लास के साथ मेरा प्रस्ताव स्वीकार किया और उसी जाजम पर श्रीसंघ ने इसे प्रकाशित करने की घोषणा कर दी। परमकृपालु श्रीमद् गुरुदेव के प्रति श्री संघ की यह अनन्य असाधारण भक्ति सराहनीय है।

और आज अखिल भारतीय श्री सौधर्म बृहत्तपोगच्छीय श्री जैन श्वेताम्बर त्रिस्तुतिक संघ के द्वारा यह कोश ग्रन्थ पुनर्मुद्रित होकर विद्वज्जनों के समक्ष प्रस्तुत हो रहा है, यह हम सबके लिए परम आनंद का विषय है।

इस महाग्रन्थ के पुनर्मुद्रण हेतु एक समिति का गठन किया गया है, फिर भी इस प्रकाशन में अपना अमूल्य योगदान देने वाले श्रेष्ठिवर्य संघवी श्री गगलभाई अध्यक्ष अ.भा.सौ.बृ.त्रिस्तुतिक संघ गुजरात विभागीय अध्यक्ष श्री हीराभाई, मंत्री श्री हिम्मतभाई एवं स्थानीय समस्त कार्यकताओं की सेवाओं को कभी भी भुलाया नहीं जा सकता। इनकी सेवाएं सदा स्मरणीय हैं।

इस कार्य में हमें पंडित श्री मफतलाल झवेरचन्द का स्मरणीय योगदान मिला है। प्रेसकार्य, प्रुफरीडिंग एवं प्रकाशन में हमें उनसे अनमोल सहायता मिली है। हम उन्हें नहीं भूल सकते।

त्रिस्तुतिक संघ के समस्त गुरुभक्तों ने इस प्रकाशन हेतु जो गुरुभक्ति प्रदर्शित की है, वह इतिहास में अमर हो गई है। वे सब धन्यवाद के पात्र हैं, जिन्होंने इस कार्य में भाग लिया है। शुभम्।

नेनावा (बनासकांठा)

दिनांक २–१२–८५

– आचार्य जयन्तसेनसूरि

आभार–प्रदर्शनम् ।

--o--

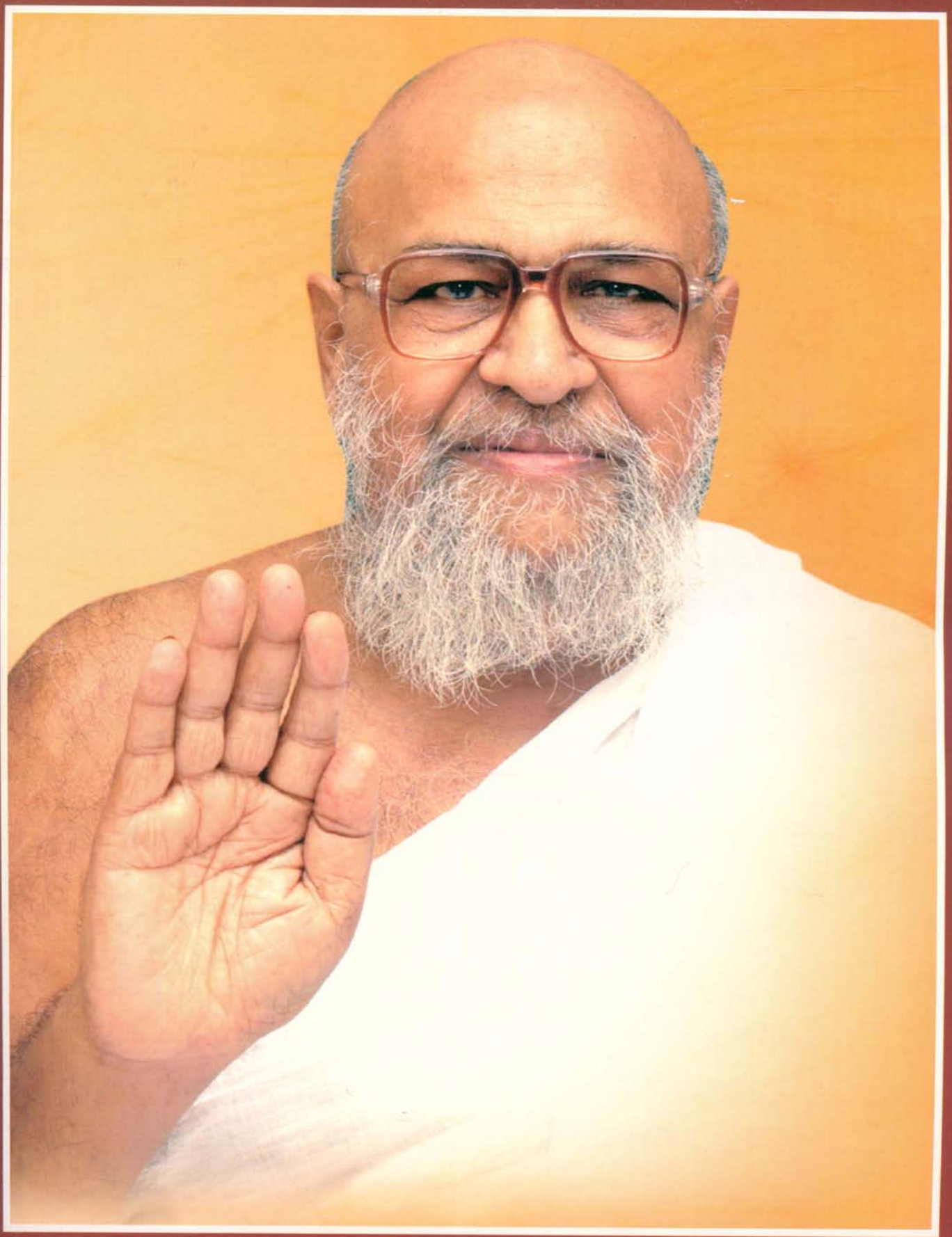
सुविहितसूरिकुलतिलकायमान–सकलजैनागमपारदृश्वा–आबालब्रह्मचारी–जङ्गमयुगप्रधान–प्रातःस्मरणीय–परमयोगिराज–क्रियाशुद्धयुपकारक–श्रीसौधर्मबृहत्तपोगच्छीय–सितपटाचार्य–जगत्पूज्य–गुरुदेव–भट्टारक श्री १००८ प्रभु श्रीमद्-विजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज ने 'श्रीअभिधानराजेन्द्र' प्राकृतमागधी महाकोश का सङ्कलनकार्य मरुधरदेशीय श्री सियाणा नगर में संवत् १९४६ के आश्विनशुक्लद्वितीया के दिन शुभ लग्न में आरम्भ किया। इस महान् संकलनकार्य में समय समय पर कोशकर्त्ता के मुख्य पट्टधर शिष्य श्रीमद्धनचन्द्रसूरिजी महाराज ने भी आपको बहुत सहायता दी। इस प्रकार करीब साढे चौदह वर्ष के अविश्रान्त परिश्रम के फलस्वरूप में यह प्राकृत बृहत्कोष संवत् १९६० चैत्र–शुक्ला १३ बुधवार के दिन श्रीसूर्यपुर (सूरत–गुजरात) में बनकर परिपूर्ण (तैयार) हुआ।

गवालियर–रियासत के राजगढ (मालवा) में गुरुनिर्वाणोत्सव के समय संवत् १९६३ पौष–शुक्ला १३ के दिन महातपस्वी–मुनिश्रीरूपविजयजी, मुनिश्रीदीपविजयजी, मुनिश्रीयतीन्द्रविजयजी, आदि सुयोग्य मुनिमहाराजाओं की अध्यक्षता में मालवदेशीय –छोटे बड़े ग्राम–नगरों के प्रतिष्ठित–सद्गृहस्थों की सामाजिक–मिटिंग में सर्वानुमत से यह प्रस्ताव पास हुआ कि–मर्हुम–गुरुदेव के निर्माण किए हुए 'अभिधानराजेन्द्र' प्राकृत मागधी महाकोश का जैन और जैनेतर समानरूप से लाभ प्राप्त कर सकें, इसलिए इसको अवश्य छपाना चाहिए, और इसके छपाने के लिए रतलाम (मालवा) में सेठ जसुजी चतुर्भुजजीत्–मिश्रीमलजी मथुरालालजी, रूपचंदजी रखबदासजीत्–भागीरथजी, वीसाजी जवरचंदजीत्– प्यारचंदजी और गोमाजी गंभीरचंदजीत्– निहालचंदजी, आदि प्रतिष्ठित सद्गृहस्थों की देख–रेख में श्रीअभिधानराजेन्द्र– कार्यालय और 'श्रीजैनप्रभाकरप्रिन्टिगप्रेस' स्वतन्त्र खोलना चाहिए। कोष के संशोधन और कार्यालय के प्रबन्ध का समस्त–भार दिवंगत पूज्य–गुरुदेव के सुयोग्य–शिष्य–मुनिश्रीदीपविजयजी (श्रीमद्विजयभूपेन्द्रसूरिजी) और मुनिश्रीयतीन्द्रविजयजी को सोंपा जाए। बस, प्रस्ताव पास होने के बाद सं० १९६४ श्रावणसुदी ५ के दिन उक्त कोश को छपाने के लिए रतलाम में उपर्युक्त कार्यालय और प्रेस खोला गया और उक्त दोनों पूज्य– मुनिराजों की देख–रेख से कोश क्रमशः छपना शुरू हुआ, जो सं० १९८१ चैत्र–वदि ५ गुरुवार के दिन संपूर्ण छप जाने की सफलता को प्राप्त हुआ।

इस महान् कोश के मुद्रणकार्य में कुवादिमतमतंगजमदभञ्जनकेसरीकलिकालसिद्धान्तशिरोमणी–प्रातःस्मरणीय–आचार्य–श्रीमद्धनचन्दसूरिजी महाराज, उपाध्याय–श्रीमन्मोहनविजयजी महाराज, सच्चारित्रीमुनिश्रीटीकमविजयजी महाराज, पूर्ण–गुरुदेवसेवाहेवाक–मुनिश्रीहुकुमविजयजी महाराज, सत्क्रियावान्–महातपस्वी–मुनिश्रीरूपविजयजी महाराज; साहित्यविशा–रद–विद्याभूषण–श्रीमद्विजयभूपेन्द्रसूरिजी महाराज, व्याख्यानवाचस्पत्युपाध्याय–मुनिश्रीयतीन्द्रविजयी महाराज, ज्ञानी ध्यानी मौनी महातपस्वी–मुनिश्रीहिम्मतविजयजी मुनिश्री–लक्ष्मीविजयजी, मुनिश्री–गुलाबविजयजी, मुनिश्री–हर्षविजयजी, मुनिश्री–हंसविजयजी, मुनिश्री–अमृतविजयजी, आदि मुनिवरों ने अपने अपने विहार में दरमियान समय समय पर श्रीसंघ को उपदेश दे देकर तन, मन और धन से पूर्ण सहायता पहुँचाई, और स्वयं भी अनेक भाँति परिश्रम उठाया है, अतएव उक्त मुनिवरों का कार्यालय आभारी है।

जिन जिन ग्राम–नगरों के सौधर्मबृहत्तपोगच्छीय–श्रीसंघ ने इस महान् कोषाङ्कन–कार्य में आर्थिक–सहायता प्रदान की है, उनकी शुभसुवर्णाक्षरी नामावली इस प्रकार है –

सुविशाल गच्छाधिपति-शासन सम्राट-धर्म चक्रवर्ती-राष्ट्रसन्त-श्रुत दिवाकर-स्मित भास्कर-अनेकांत के जगदर्शन
श्रमण शाश्वत धर्म के प्राण व दिशादर्शक-क्षमा दानेश्वरी-जन जन के वात्सल्य महोदधि व
प्रेरणा पुंज-सत्साहित्य विधायक-जीव जगत् के अक्षय अभयारण्य



श्रीमद् विजय जयन्तसेन सूरीश्वरजी महाराज साहब

श्रीसौधर्मबृहत्तपोगच्छीय श्रीसंघ–मालवा–

श्रीसंघ–रतलाम, वाँगरोद, राजगढ़,जावरा, वारोदा–बड़ा,झाबुवा,बड़नगर, सरसी, झकणावदा,खाचरोद,मुंजाखेड़ी, कूकसी, मन्दसोर, खरसोद–बड़ी, आलीराजपुर, सीतामऊ चीरोला–बड़ा, रींगनोद, निम्बाहेड़ा, मकरावन, राणापुर, इन्दौर, बरड़िया, पारां, उज्जैन, (भाट) पचलाना, टांडा, महेन्दपुर, पटलावदिया, बाग, नयागाम, पिपलोदा, खवासा, नीमच–सिटी, दशाई, रंभापुर, संजीत, बड़ी–कड़ोद, अमला, नारायणगढ़, धामणदा, बोरी, बरड़ाबदा, राजोद, नानपुर

श्रीसौधर्मबृहत्तपोगच्छीयसंघ–गुजरात–

श्रीसंघ–अहमदाबाद, थिरपुर (थराद्), ढीमा, वीरमगाम, वाव, दूधवा, सूरत, भोरोल, वात्यम, साणंद, धानेरा, वासण, बम्बई, धोराजी, जामनगर, पालनपुर, डुवा, खंभात,

श्रीसौधर्मबृहत्तपोगच्छीय-संघ–मारवाड़–

श्रीसंघ–जोधपुर, भीनमाल, शिवगंज, आहोर, साचोर, कोरटा, जालोर, बागरा, फतापुरा, भेंसवाड़ा, धानपुर, जोगापुरा, रमणिया, आकोली, भारुंदा, मांकलेसर, साथू, पोमावा, देवावस, सियाणा, बीजापुर, विशनगढ़, काणोदर, बाली, मांडवला, देलंदर, खिमेल, गोल, मंडवारिया, सांडेराव, साहेला, बलदूट, खुड़ाला, आलासण, जावाल, राणी, रेवतड़ा, सिरोही, खिमाड़ा, धाणसा, सिरोड़ी, कोशीलाव, बाकरा, हरजी, पावा, मोदरा, गुडाबालोतरा, एंदला का गुड़ा, थलवाड़, भूति, चाँणोद, मेंगलवा, तखतगढ, डूडसी, सूराणा, सेदरिया, थाँवला, दाधाल, रोवाडा, जोयला, धनारी, भावरी, काचोली,

इनके सिवाय दूसरे भी कई गाँवो के संघों की ओर से मदद मिली है, उन सभी का कार्यालय शुद्धान्तःकरण से पूर्ण आभारी है ।

श्रीअभिधानराजेन्द्रकार्यालय,

रतलाम (मालवा)

॥ श्रीः ॥

मत्तभ्रान्तविपक्षदन्तिदमने पञ्चाननग्रामणी–
राजेन्द्राभिधकोशसंप्रणयनात् संदीप्तजैनाऽऽगमः
संघस्योपकृतिप्रयोगकरणे नित्यं कृती तादृशो,
कोऽन्यः सूरिपदाङ्कितोविजयराजेन्द्रात्परोन्योस्तिकः ॥

प्रशान्त-वपुषं श्रीमद् राजेन्द्रसूरिं नुमः

विद्यालङ्करणं सुधर्मशरणं मिथ्यात्विनां दूषणं,
विद्वन्मण्डलमण्डनं सुजनता सद्बोधिबीजपदम् ।
सच्चरित्रनिधिं दयाभरविधिं प्रज्ञावतामादिमम्,
जैनानां नवजीवनं गुरुवरं राजेन्द्रसूरिं नुमः ॥ १ ॥
धुर्य्यो यो दशसंख्येकेऽपि यतिनां धर्मे दृढः संयमे,
सत्वात्मा जनतोपकारनिरतो भव्यात्मनां बोधकः ।
शास्त्राणां परिशीलने दृढमतिर्ध्यानी क्षमावारिधि-
स्तं शान्तं करुणावतारमनिशं राजेन्द्रसूरिं नुमः ॥ २ ॥
वाणी यस्य सुधासमाऽतिमधुरा दृष्टिमहाजञ्जुला,
संव्रज्या सुखशान्तिदा खलु सदाऽन्यायादिदोषापहा ।
बुद्धिर्लोकसुखानुचिंतनपरा कल्याणकर्त्री नृणां,
लोके सुप्रथिपताऽस्ति तं गुरुवरं राजेन्द्रसूरिं नुमः ॥ ३ ॥
य कर्त्ता जिनबिम्बकाञ्जनशलाका नामनेकाऽऽत्मनां,
मूर्तिश्चापि जिनेश्वरस्य शतशः प्रातिष्ठिपन्मन्दिरे ।
जीर्णोद्धारमनेकजैननिलयस्याचीकरच्छ्रावकै-
स्तं सत्कार्यकरं मुदा गुरुवरं राजेन्द्रसूरिं नुमः ॥ ४ ॥
लोके यो विहरन् सदा स्ववचनैर्वैरं मिथो देहिनां,
दूरीकृत्य सहानुभूतिरुचिरां मैत्रीं समावर्धयत् ।
मूढाँश्चापि हितोपदेशवचसा धर्मात्मनः संव्यधाद्,
देशोपद्रवनाशकं तमजित राजेन्दसूरिं नुमः ॥ ५ ॥
यो गङ्गाजलमिर्मलान् गुणगुणान् संधारयन् वर्णिराट्,
यं यं देशमश्चकार गरनैस्तं तं त्वपायीन्मुदा ।
सच्छास्त्रामृतवाक्यावर्षणवशाद् मेघव्रतं योऽधरन्,
तं सज्ज्ञानसुधानिधिं कृतिनुतं राजेन्दसूरिं नुमः ॥ ६ ॥
तेजस्वी तपसा प्रदीप्तवदनः सौम्योऽतिवक्ताचलः,
शास्त्रार्थेषु परान् विजित्य विविधैर्मानिस्तथा युक्तिभिः ।
शिष्यांस्तानकरोत्स्वधर्मनिरतान् यो ज्ञानसिन्धुः प्रभु-
स्ते सूरिप्रवरं प्रशान्त-वपुषं राजेन्द्रसूरिः नुमः ॥ ७ ॥
लोकान्मंदमतीन्स्वधर्मविमुखप्रायान् बहून् वीक्ष्य यो,
जैनाचार्यनिबद्धसर्वनिगमानालोड्य बुद्ध्या चिरम् ।
मर्त्यान् बोधियितुं सुखेन विशदान् धर्मान्महामागधी-
कोशं संव्यत्तनोत्तमच्छमनसा राजेन्द्रसूरिं नुमः ॥ ८ ॥
गुरुवरगुणराजिभ्राजितं सारभूतं,
परिपठति मनुष्यो योऽष्टकं शुद्धमेतद् ।
अनुभवति स सर्वां सम्पदं मानावाना-
मिति वदति मुनीशो वाचको मोहनाख्यः ॥ ९ ॥

—उपाध्याय श्री मोहनविजयजी महाराज

श्री अभिधानराजेन्द्रः

तृतीयो भागः

श्रीसर्वज्ञेभ्यो नमः ।

अभिधानराजेन्द्रः ।

वाणिं जिणाणं चरणं गुरूणं, काऊण चित्तम्मिं सुयप्पभावा
सारं गहीऊण सुयस्स एयं, वोच्छमि भागे तइयम्मि सव्वं ॥१॥

एकार

ए-पुं०(ए)एकारः स्वरवर्णभेदः ''एदैतोः कण्ठतालव्यावित्युक्तेः कण्ठतालव्योः स्थानयोरुच्चार्य्यः । स च दीर्घः द्विमात्रः प्लुतस्तु त्रिमात्रः उदात्तानुदात्तस्वरितभेदैरनुनासिकाननुनासिकभेदाभ्यां च द्वादशविधः । वाच० प्राकृतभाषासूत्रे एकारान्तता भाग-धभाषालक्षणाऽनुरोधात् इति । जी०३ प्रति० एकारान्तः शब्दः प्राकृतशैल्या प्रथमाद्वितीयान्तोऽपि द्रष्टव्यः । यथा ''कयरे आगच्छइ दित्तरूवे'' दश०१ अ० ''ते णं काले णं'' तस्मिन् काले एकारस्य प्राकृतप्रभवत्वादिति । विपा०१ अ० ।

***ए**-अव्य इण् विच् स्मृतौ, असूयायाम्, अनुकम्पायाम्, सम्बोधने, आह्वाने च । मेदिनिः । वाक्यालङ्कारे, ''से जहाणामए'' ए इति वाक्यालंकारे, । अनु० ज्ञा० विष्णो, पुं०(एका०) ''कामसम्बोधने स्यादे-तत्परे ब्रह्मकेवले । ए शब्देनोदिता चान्द्री, गोचरे गोपता वयम्'' इति । एकारः कथ्यते विष्णौ, नगरी-वारिधारयोः । हर्म्ये हरे दिनमुखे, गगने मणिकुट्टिमे । तेज-स्यैकादशाख्यायां, संख्यायामपि दृश्यते । इति च । एका० पापस्य परिवर्जने । आ०म०द्वि० ।

***ऐ**-पुं० ऐकारः स्वरवर्णभेदः ''एदैतोः कण्ठतालव्यावित्युक्तेः कण्ठतालुस्थानयोरुच्चार्यः स च दीर्घः द्विमात्रत्वात्, प्लुतस्तु त्रिमात्रः । द्विमात्रस्य उदात्तानुदात्तस्वरितभेदैः प्रत्येकमनुनासिकाननुनासिकाभ्याश्च षड्विधः एवं प्लुतस्यापीति द्वादश विधः तपरत्वे कारपरत्वे च तत्स्वरूपपरः । वाच० ऐकारस्य प्राकृते सर्वत्र एकारः । तथा च । **''ऐत एत्''** ।८।१।१४८। इति आदौ वर्तमानस्यैकारस्य एत्वं भवति । ''सेलासेत्रं तेलुक्कं । प्रा० ।

***ऐ**-अव्य-आ-इण्-विच्-आह्वाने, स्मरणे, आमन्त्रणे च । महेश्वरे, पुं० । तस्य सर्वगतत्वात्तथात्वम् । वाच० ''ऐः स्वर्णेऽपि च पुल्लिङ्गः शम्भुश्रीपतिवायुषु । शारदायां स्वरे सूर्ये, मूर्छायामैरपि स्मृतः'' । इति । ऐकारः शङ्करे हस्ति-दिङ्भानागेष्विन्द्रबाणयोः । तमालावर्त्तदेशेषु, क्वचित्स्याच्छिखरेगिरेः'' । इति च एका० ।

एइज्झ-न०(ऐतिह्य) इतिह पारम्पर्योपदेशः । अनिर्दिष्टप्रवक्तृकोपदेश इति यावत् । स्वार्थे ष्यञ् पारंपर्य्योपदेशे, यथात्र वटे यक्षः प्रतिवसतीत्यादिपरम्परोपदेशमात्रम् नतु केनाप्येतदुपलभ्य कथितम् । अष्टप्रमाणवादिनः पौराणिका इदं प्रमाणान्तरमुररी-चक्रुः । ''ऐतिह्यमनुमानं च, प्रत्यक्षमपि चागमम् । ये हि सम्यक्परीक्षन्ते, कुतस्तेषामबुद्धिता'' । रामा० वाच० तदेतन्मतं रत्नावतारिकायां निराकृतम् यथा- ऐतिह्यं त्वनिर्दिष्ट प्रवक्तृकप्रवादपारम्पर्यमिति-होचुर्वृद्धाः । यथेह वटे यक्षः प्रतिवसती- ति प्रमाणमनिर्दिष्टप्रवक्तृकत्वेन सांशयिकत्वात् । आप्त-प्रवक्तृकत्वनिश्चये त्वागम इति । रत्ना०१ परि० ।

एइय-त्रि०(एजित) कम्पिते, स्था०३ ठा० जी० ''वाएहिं मंदाय २ एइयाणं'' वातैर्मन्दायन्ति मन्दं मन्दमेजितानां कम्पितानामिति । राज० ।

एई(या)-स्त्री०(एता) **''अजातेः पुंसः''** ८।३।३२। इति सूत्रे एकजातिवाचिनः पुंल्लिङ्गात् स्त्रियां वर्तमानात् ङीर्वा भवति कर्बुरवर्णायाम्, तोपधवर्णवाचित्वात्स्त्रियां ङीप् नश्च । एनी । एईए ए-आए । एइणं एआणं । प्रा० ।

एक(ग)(य)-त्रि०(एक) एण् कन् **''सेवादौ वा''** ८।२।९९। इति सेवादिष्वनादौ यथादर्शनमन्त्यस्यानन्त्यस्य च वा द्वित्वं भवति । प्रा० संख्यानभेदे, कल्प० एकसंख्योपेते द्रव्यादौ, स्था० ४ठा० एकत्वरूपप्रथमसंख्यान्विते च । प्रायशः संख्यावाचकस्य संख्या-संख्येयोभयपरत्वेऽपि एकशब्दस्य भूरिशः एकत्व-संख्यान्वितपरत्वम् । तेन एको घट इत्यादि, न तु घटस्यैकः । क्वचित्तु भावप्रधाननिर्देशपरत्वेन संख्यावाचकत्वमपि ''द्वोक-योर्द्विवचनैकवचने'' पा० इह द्वित्वमेकत्वं च द्व्येकशब्दयोरर्थः । अत्र द्विवचनान्तत्वमेव तथार्थत्वे लिङ्गम् । संख्येयपरत्वे द्व्येकेषामिति स्यात् । द्वन्द्वार्थानां संख्यान्वितानां बहुत्वात्तेन एकद्विवचनशब्दोऽपि एकत्वद्वित्वार्थकः । तत्रार्थे तयोः परिभाषितत्वात् । एकश्च गणनां नोपैति तथा चानुयोगद्वारे ''एक्को गणणं न उवेई'' एकस्तावद्गणनं संख्यान्नोपैति यत एकस्मिन् घटादौ दृष्टे घटादि वस्त्विदं तिष्ठतीत्येवमेव प्रायः प्रतीतिरुत्पद्यते नैकसंख्याविषयत्वेन । अथवाऽऽदानसमर्पणादिव्यवहारकाले एकं वस्तु प्रायो न कश्चिद्गणयतीत्यतोऽसंव्यवहार्य्यत्वादल्पत्वाद्वा नैको गणनसंख्याम-वतरति तस्माद्द्विप्रभृतिरेव गणन संख्येति । तथा- संख्यासंख्येयो--भयपरत्वमेकशब्दस्य द्रव्यप्रमाण-विशेषस्य विभागनिष्पन्नप्रमाणस्य पञ्चसु मानादिभेदेषु, गणिमं द्रव्यप्रमाणमधिकृत्यानुयोगद्वारे उक्तम् ॥

सेकिंतं गणिमे गणिमे जण्णं गणिज्जइ तं जहा-एगो दससयं सहस्सं दससहस्साहं सयसहस्सं दससयसहस्साइं कोडीत्ति

गण्यते संख्यायते वस्त्वनेनेति गणिममेकादि । अथवा गण्यते संख्यायते यत्तद्गणिमं रूपकादि । तत्र कर्मसाधनपक्षमङ्गी कृत्याह । जण्णमित्यादि । गण्यते यत्तद्गणिमम् । कथं गण्यते इत्याह । एगो इत्यादि । अनु० एकाकिनि, स्था०४ ठा०अद्वितीये, वाच० उत्त० आचा० असहाये, नं० स्था० 'एकस्यैकाकिनोऽसहायस्येति' स्था०४ ठा० ''अद्धरत्तकालसमयंसि एगे अबीए सण्णद्ध जाव पहरणे साओ गेहाओ णिग्गच्छई'' (एगेत्ति)

सहायाभावात् । विपा० । प्रश्न० । केवले, स्था०३ ठा० । वाच० । केवलमेकमसहाय-मिति । नं० । तथाच सूत्रकृताङ्गे ॥

अब्भागमितम्मि वा दुहे, अहवा उक्कमितेन भवंति ।
एगस्स गती अ आगती, विदुमंता सरणं ण मन्नई ॥

पूर्वोपात्ताऽसातवेदनीयोदयेनाभ्यागते दुःखे सत्येकाकीत्येव दुःखमनुभवति । न ज्ञातिवर्गेण वित्तेन वा किञ्चित् क्रियते । तथाच । ''सयणस्स वि मज्झगओ, रोगाभिहतो किलिस्सइ इहेगो । सयणो वि य से रोगं, न विरंचइ नेव नासेइ ।१।'' अथवोपक्रमकारणै-रुपक्रान्ते स्वायुषि स्थितिक्षयेण वा भवान्तरे भवान्तिके वा मरणे समुपस्थिते सति एकस्यैवाऽसु मतो गतिरागतिश्च भवति । विद्वान् विवेकी यथावस्थितसंसारस्वभावस्य वेत्ता ईषदपि तावत् शरणं न मन्यते । कुतः सर्वात्मना त्राणमिति । तथाहि ''एकस्य जन्ममरणे गतयश्च शुभाशुभा भवावर्ते । तस्मादाकालिक हितमेकेनैवात्मनः कार्यम् ।१। ''एक्को करेइ कम्मं, फलमवि तस्सिक्कओ समणुहवइ । एक्को जायइ मरइ य, परलोयं एक्कओ जाई'' ।१७।

सव्वे सयकम्म कप्पिआ, अवियत्तेण दुहेण पाणिओ ।
हिंडति भयाउला सढा, जाइजएमरणेहिं भिदूता ॥१८॥

सर्वेऽपि संसारोदरविवरवर्तिनः प्राणिणः संसारे पर्यटन्तः स्वकृतेन ज्ञानावरणीयादिना कर्मणा कल्पिताः सूक्ष्मबादरपर्याप्त-कैकेन्द्रियादिना भेदेन व्यवस्थिताः तथा तेनैव कर्मणैकेन्द्रिया द्यवस्थायामव्यक्तेनापरिस्फुटेन शिरःशूलाद्यलक्षितस्व भा-वेनोपलक्षत्वात् प्रव्यक्तेन च दुःखेनाऽसातावेदनीयस्वभावेन समन्विताः प्राणिनः पर्यटन्त्यरघट्ट-घटीन्यायेन तावत्स्वेव योनिषु भयाकुलाः शठकर्मकारित्वात् शठा भ्रमन्ति । जातिजरामरणै-रभिद्रुता गर्भाधानादिभिर्दुःखैः पीडिता इति सूत्र०१ श्रु०२ अ० ''एगो सयं पच्चणुहोइ दुक्खम्'' तदेवमेकोऽसहायो यदर्थं यत्पापं समर्जितं रहितस्तत्कर्मविपाकजं दुःखमनुभवति न कश्चिद्दुः । खसंविभागं गृह्णातीत्यर्थः । उक्तंच ''मया परिजनस्यार्थे, कृतं कर्म सुदारुणम् । एकाकी तेन दह्येहं, गतास्ते फलभोगिनः'' इत्यादि सूत्र० १ श्रु०५ अ० ''एगस्स जंतो गतिरागती य'' एकस्यासहायस्स जन्तोः शुभाशुभसहायस्स गतिर्गमनं परलोकं भवति तथा आगतिरागमनं भवान्तरादुपजायते कर्मसहायस्यैवेति । उक्तं च ''एकः प्रकुरुते कर्म, भुनक्त्येकश्च तत्फलम् । जायते म्रियते चैकः, एको याति भवान्तरमिति'' सूत्र०१ श्रु०१३ अ०

इक्को करेइ कम्मं, इक्को अणुहवइ दुक्कयविवागं ।
इक्को संसरइ जीओ, जएमरणचउग्गइगुविलं-४४ म०प०।
इक्को हं नत्थि मे कोई, नवाहमवि कस्सई ।
एवं अदीणमणसा, अप्पाणुमणुसासए ॥१३॥
एक्को उप्पज्जए जीवो, इक्को एव विवज्जई ।
इक्कस्स होइ मरणं, इक्को सिज्झइ नीरओ ॥१४॥
इक्को करेइ कम्मं, फलमिव तस्सिक्कओ समणुहवइ ।
इक्को जायइ मरइं, परलोयं इक्कओजायइ ॥१५॥
इक्को मे सासओ अप्पा, नाणदंसणसंजमो ।
सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे संजोगलक्खणा ॥१६॥ महा० प०।

एकश्च द्रव्यतोऽसहायो भावतो रागद्वेषरहितः तथा च-

एगे चरे ठाणमासणे, सयणे एगे समाहिए सिया ।

एकोऽसहायो द्रव्यत एकाकिविहारी भावतो रागद्वेषरहितश्च रेत् । तथा स्थानं कायोत्सर्गादिकमेक एव कुर्यात् । तथाऽऽसनेऽपि व्यवस्थितोऽपि रागद्वेषरहित एव तिष्ठेत् । एवं शयनेऽप्येकाक्येव समाहितो धर्म्मादिध्यानयुक्तः स्याद्भवेत् । एतदुक्तं भवति । सर्वास्वप्यवस्था-नासनशयनरूपासु रागद्वेषविरहात् समाहित एव स्यादिति । सूत्र०१ श्रु०२ अ० ''एगे एग विऊ बुद्धे'' एको रागद्वेषरहिततया ओजा यदिवाऽस्मिन् संसारचक्रवाले पर्यट-न्नसुमान् स्वकृतसुखदुःखफलभाक्त्वेनैकस्यैव परलोकगमन- तया सदैकक एव भवति । तत्रोद्यतविहारी द्रव्यतोऽप्येकको भावतोऽपि गच्छान्तर्गतस्तु कारणिको द्रव्यतो भाज्यो भावत, स्त्वेकक एवेति । सूत्र०१ श्रु०१६ अ० ''एग एव चरे लाढे'' एक एव रागद्वेषविरहितश्चरेदप्रतिनिबद्ध विहारेण विहरेत् सहायवैकल्यतो वैकस्तथाविधगीतार्थो यथोक्तम् । ''ण वा लभिज्जा निउणं सहायं, गुणाहियं वा गुणओ समं वा एको वि पावाइ विवज्जयंतो, विहरेज्ज कामेसु असज्जमाणो १'' उत्त०३ अ० एको राग-द्वेषसहायविरहित इति । कल्प० । ''एगे सहिते चरिस्सामि'' एको मातापित्राद्यभिष्वङ्गवर्जितः कषायरहितो वेति । सूत्र०१ श्रु०२ अ०

अस्य द्विविधत्वं व्यवहारकल्पे

एगेव पुव्वभणिए, कारणनिक्कारणे दुविहभेदे

एक एकाकी द्विविधभेदः पूर्वमोघनिर्युक्तौ भणितस्तद्यथा कारणे निष्कारणे च साम्प्रतमेनामेव विवरीषुः प्रथमतः कारणैकप्रतिपादनार्थमाह -

असिवादी कारणिया, निक्कारणिया य चक्कथूमादि ।
उवएसअणुवएसा दुविहा आहिंडगा हुंति ॥

अशिवादिभिरादिशब्दादवमौदर्यराजद्विषादि परिग्रहः । कारणैरेकाकिनः कारणिकाः चक्रस्तूपादौ आदिशब्दात्प्रति-मानिष्क्रमणादिपरिग्रहस्तेषां वन्दनाय गच्छन्त एकाकिनो निष्कारिणिकाः । व्य०द्वि०८ उ० । एकस्य चातुर्विध्यम् स्थानाङ्गे यथा । ''चत्तारिक्का पण्णत्ता तंजहा दविए एक्कए माउ एक्कए पज्जव एक्कए संगहएक्कए'' एकसंख्योपेतानि द्रव्यादीनि स्वार्थिकक-प्रत्ययोपादानादेककानि । स्था०४ ठा० ।

अस्य च सप्तविधो निक्षेपो यथा-

नामं ठवणा दविए, माउय पयसंगहेक्कए चेव ।
पज्जव भावे य तहा, सत्तेए एक्कगा होंति ॥

इहैक एव एककः तत्र नामैककः एक इति नाम स्थापनैककः एकक इति स्थापना द्रव्यैकक त्रिधा सचित्तादि । तत्र सचित्तमेकं पुरुषद्रव्यमचित्तमेकं रूपकद्रव्यं मिश्रं तदेव कटकादिभूषितं पुरुषद्रव्यमिति । मातृकापदैककमेकं मातृकापदं तद्यथा । उप्पन्नेइवेत्यादि । इह प्रवचने दृष्टिवादे समस्तनयवादबीजभूतानि मातृकापदानि भवन्ति । तद्यथा । उप्पन्नेइ वा विगमेइ वा धुवेइ वा । अमूनि च मातृकापदानि च 'अ आ इ ई' इत्येवमादीनि सकल-व्यवहार शब्दव्यापकत्वान्मातृकापदानि । इह चाभिधेय-वल्लिङ्गवचनानि भवन्तीति कृत्वेत्थमुपन्यासः । संग्रहैकः शालिरिति । अयमत्र भावार्थः । संग्रहः समुदायस्तमप्या-श्रित्यैकवचनगर्भशब्दप्रवृत्तेस्तथा चैकापि शालिः शालिरित्युच्यते । बहवोऽपि शालयः शालिरिति लोके तथा दर्शनात् । अयं चादिष्टानादिष्टभेदेन समान्यविशेषभेदेन द्विधा । तत्रानादिष्टो यथा शालिः आदिष्टो यथा कलमशालिरिति । एवमादिष्टानादिष्टभेदौ उत्तरद्वारेष्वपि यथानुरूपमायोज्यौ । पर्यायैककः एकपर्यायः पर्यायो विशेषो धर्म इत्यनर्थान्तरम् । स चानादिष्टो वर्णादिः । आदिष्टः कृष्णादिरिति । अन्येतु समस्तश्रुतस्कन्धवस्त्वपेक्षयेत्थं व्याच

-क्षते अनादिष्टः श्रुतस्कन्धः आदिष्टो दशवैकालिकाख्य इति। अन्यस्त्वनादिष्टोद शवैकालिकाख्यः आदिष्टस्तु तदध्ययनविशेषो दुमपुष्पिकादिरिति व्याचष्टे। नचैतदतिचारु तस्य दशकालिकाभिधानत एवादेशसिद्धेः। भावैककः एको भाव स चानादिष्टो भाव इति आदिष्टस्त्वौदयिकादिरिति सप्तैते अनन्तरोक्ता एकका भवन्ति। इह च किल यस्माद्दशपर्यायाध्ययनविशेषाः संग्रहैकफेन संग्रहीतास्तस्मात्तेनाऽधिकारः। अन्ये तु व्याचक्षते यतः किल श्रुतज्ञान-क्षायोपशमिके भावे वर्तते तस्माद्भावैककेनाधिकार इति गाथार्थः। दश०१ अ०।

अथ निर्युक्तिविस्तरमाह-

एकस्स उउभावे, कत्तो लिंगं तेण एक्कगस्से वि।
णिक्खेवं काऊणं, णिप्फत्ती होइ तिण्हं तु॥

इह त्रयाणां संख्या प्रथमतो वक्तव्या तत्रैकस्याभावे कुतः संभवति तेन कारणेन प्रथमत एकस्यैव निक्षेपं कृत्वा ततस्त्रयाणां निक्षेपस्य निष्पत्तिः कर्तव्या भवति। यथाप्रतिज्ञातमेव करोति।

नामं ठवणा दविए, माउगपदसंगहेक्कए चेव।
पज्जव भावे य तहा, सत्तेए एक्कगा होंति॥

(अत्रैव) पूर्वं व्याख्यातार्था) ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तमाह -

दव्वे तिविहं मादुक-पदम्मि उप्पण्णभूयविगतादी।
सालित्ति वग्गमीति, वसथोत्तिवसंगहिक्कं तु॥

द्रव्ये द्रव्यविषये एककं त्रिविधं तद्यथा सचित्तमचित्तं मिश्रं वा। सचित्तं पुनरपि द्विपदचतुष्पदापदभेदात् त्रिधा। द्विपदैककमेकः पुरुषश्चतुष्पदैककमेको हस्ती अपदैकको वृक्ष इत्यादि अचित्तैक-कमेकः परमाणुरेकामभरणं मिश्रैककं सालंकार एकः पुरुषः। मातृकापदे तु चिन्त्यमाने एककम् उत्पन्नभूतविगतादिकमुप्पन्नेइ वा विगतेइ वा धुवेइ वा इत्यस्य पदत्रयस्यैकतरमित्यर्थः। आदिशब्दादकाराद्यरात्मिकाया आद्यक्षरात्मिकाया वा मातृकाया एकतरं पदं संग्रहैककं बहुत्वेष्येकवचनं विधेयं यथा शालिरिति वा ग्राम इति वा संघ इति वा।

अथ पर्यायैककादीनि दर्शयति -

दुविकप्पं पज्जाए, आदिट्ठं देवदत्तो त्ति।
आणादिट्ठं एक्को-त्तियपसत्थमियरं व भावम्मि॥

पर्यायैककं द्विविकल्पं द्विप्रकारं तद्यथा-आदिष्टमनादिष्टं च। विशेषणसामान्यरूपं चेत्यर्थः। तत्रादिष्टं यज्ञदत्तो देवदत्त इत्यादि॥ अनादिष्टमेकः कोऽपि मनुष्य इत्यादि। अथवा पर्यायैककं वर्णादिना मन्यते एकः पर्यायः। भावैककं द्विधा। आगमतो नोआगमतश्च। आगमतो ज्ञाता उपयुक्तः। नोआगमतः प्रशस्तमितरत्त्वप्रशस्तमिति द्विधा प्रशस्तमौपशमिकादीनामित रो भावः। अथ प्रसस्तमौदायिको भावः। अत्राप्रशस्त-भावैककेनाधिकारो हस्तकर्मादीनामप्रशस्तभावोदयादेव संभवात् वृ०४ उ०। श्रेष्ठे, अन्यार्थे, वाच०। ''एवमेगे वदंति मोसा'' एके केचनेति। प्रश्न०२ द्वा०। अल्पे, मुख्ये, सत्ये, वाच०। अवधारणे, नि०चू०। सदृशे, उपा०२ अ०। ''एगपएसो गाढे'' अत्रैक-शब्दोऽभिन्नार्थवाची। यथा द्वयोरप्यावयोरेकं कुटुम्बमिति। पं०-सं०। एक शब्दस्य प्राकृते-एक्को -एओ-एगो। प्रा०। एको। ''इक्कंमि जम्मिपए''चंदा०प०। स्त्रियां एक्की ''अण्णयाए एक्कीए मायंगीए'' नि०चू०१ उ०। सो एक्की देउलियं पविस्सई। आ०म०प्र०।

एक(ग)(एकइ)(गइ)अ-त्रि०(एकक) एक-असहायेऽर्थे वा कन्। असहाये, ''तओ झाइज्ज एक्कओ'' तत एककः एकाकी सन् ध्यायेत्। एको भावतो द्रव्यतश्च। भावतो रागद्वेषरहितः द्रव्यतः पशुपण्डकादिरहित इति। उत्त०३ अ०। ''एगओ वा'' कार-णिकावस्थायामसहायो वा पा०। ''तओ भुंजेज्ज एगओ'' ततो भुञ्जीत एकको रागादिरहित इति। दश०५ अ०। एकसंख्योपेतानि द्रव्यादीनि स्वार्थिककप्रत्ययोपादानादेककानि। एकसंख्योपेते द्रव्यादौ, अन्यार्थे, ''संते गइया समणा माहणा वा'' स्था०७ ठा० ''एगइया जत्थ उवस्सयं लभति'' एकका एकतरा इति। स्था०५ ठा० ''जीवेणं गब्भगए समाणे नरएसु अत्थेगइए उववज्जेज्जा अत्थेगइए नो उववज्जेज्जा'' एककः कश्चित् सगर्भजरादिगर्भरूप उत्पद्यते अस्ति अयं पक्षो यदुत एककः कश्चिन्नोपपद्यते इति। तं०।

एक(ग)अ-त्रि०(एकग) एको गच्छतीत्येकगः एकस्मिन् गन्तरि, एकं वा कर्म साहित्यविगमान्मोक्षं गच्छतीत्येकगः। मोक्षगन्तरि, ''रुक्खमुले च एगओ'' एक उक्तरूपः स एवैककः एको वा प्रति माप्रतिपत्यादौ गच्छतीत्येकग एकं वा कर्मसाहित्यविगमान्मोक्षं गच्छति तत्प्राप्तियोग्यानुष्ठानप्रवृत्तेर्यातीत्येकग इति। उत्त०३ अ०।

एक(ग)इ(य)अ-त्रि०(एककिक) एकक एव एककिकः। एकशब्दार्थे, ''एगइआओ पाणाइवाताओ पडिविरया'' एकक एवैककिकः तस्मादेककिकात्। ओ०। स्था०।

एक(इ)(सि)(सिअं)(ग)(गया)आ-अव्य०(एकदा) **''एकदावैकाद्दः सिसियंइ आ'' ८।२।१६२।** इत्येकशब्दात्परस्य दाप्रत्ययस्य सि सिअं इआ इत्यादेशा वा। पक्षे एगआ। प्रा०। एकस्मिन् काले, वाच०। कदाचिदित्यर्थे, एगया गुणसमियस्स'' आचा०। विविक्तदेशकालादौ च, ''इत्थिआ एगताणिमंतंति'' एकदेति विविक्तदेशकालादौ इति, सूत्र०१ श्रु०४ अ०।

एक(ग)ओ(त्तो)(एकदो)-अव्य०(एकतस्) एकतसिल्-**''तो दो तसो वा'' ८।२।१६०।** इति सूत्रेण तसः स्थाने तो दो इत्यादेशौ वा। पक्षे एकओ एकस्मिन्नित्यर्थे, वाच०

***एकत्र**-एकस्मिन्स्थाने, एगतो मिलंति द्रव्यतो ह्येकस्थाने मिलन्ति भावतस्तु परस्परविरोधपरिहारेण सम्मता भवन्तीति। दश०१० अ०। ''एगओ भंडगं कट्टु'' एकत्रायतं सुबद्धं भाण्डकमिति। कल्प०। एकतः एकीभूत संयुज्येत्यर्थः। भ०२० श०१ उ०। ''दो साहम्मिया एगओ विहरंति'' द्वौ साधर्म्मिकावेकत्र एकस्मिन् स्थाने विहरन्ति इति। व्य०द्वि०२ उ०। एकतयेत्यर्थे च। ''एगपओसा हणित्ता'' एकत्वत एकतयेत्यर्थः इति। भ०१२ श०३ उ०। विविक्ते प्रदेशे, प्रत्यासन्ने, दूरतरे च। ''ते एगतो निसीहंति'' एकत एकान्ते विविक्ते प्रदेशे प्रत्यासन्ने दूरतरेवेति। व्य०द्वि०१ उ०।

एक(ग)ओखहा-स्त्री०(एकतःखा) श्रेणिभेदे, ''एगओखहा'' एकस्यां दिश्यङ्कुशाकारे। स्था०७ ठा०। तस्याः स्वरूपं यथा यया जीवः पुद्गलो वा नाड्या वामपार्श्वादिस्तां प्रविष्टस्तद्ग्रैव गत्वा पुनस्तद्वामपार्श्वादावुत्पद्यते सा एकतःखा। एकस्यां दिशि वा मादिपार्श्वलक्षणायां स्वस्याकाशस्य लोकनाडीव्यतिरि-क्तलक्षणस्य भावादिति। इयञ्च द्वित्रिचतुर्वक्रोपेतापि क्षेत्र-विशेषाश्रितेति भेदेनोक्ता। भ०२५ श०३ उ०।

एक(ग)ओणंतय-न०(एकतोनन्तक) अनन्तकभेदे, एकतोऽनन्तकमतीताद्धाऽनागताद्धा वेति। स्था०१० ठा०।

एक(ग)ओपडाग-त्रि०(एकतःपताक) एकत एकस्यां दिशि पताका यत्र तदेकतः पताकम्। एकपताकोपेते, स्थापना त्वियम् ''किं-

एगओ पडागं गच्छइ। दुहओ पडागं गच्छइ'' भ०३ श०४ उ०।

एक्क(ग)ओवंका-स्त्री०(एकतोवक्रा) श्रेणिभेदे, सा च एकत एकस्यां दिशि चूडा वक्रा एकतो वक्रा यथा जीव पुद्गला ऋजुगत्या वक्रं कुर्वन्ति श्रेण्यन्तरेण यान्तीति। भ०२५ श०३ उ०। ''एग-ओवंका'' एकस्यां दिशि वक्रा स्थापना। स्था०७ ठा०।

एक्क(ग)ओवत्त-पुं०(एकतोवृत्त) द्वीन्द्रियजीवविशेषे, जीवा०१ प्रति०।

एक्क(ग)ओसमुवागय-त्रि०(एकतस्समुपागत) स्थानान्तरेभ्य एकत्र स्थाने समागते, ''एगयओ समुवागयाणं'' (एगश्रोत्ति) एकत्र समुपागतानाम्। भ०७ श०१० उ०।

एक्क(ग)ओसहिय-त्रि०(एकतस्सहित) एकत एकस्मिन् स्थाने सहित एकतस्सहितः। एकस्मिन्स्थाने समुदिते, ''एगओ सहियाणं'' भ०७ श०१० उ०। एकस्मिन्स्थाने सहितानां समु-दितानामिति। जं०१ वक्ष०। एकतो मिलिते च। भ०११ श०११ उ०।

एक्कं (गं)गिय-त्रि०(एकाङ्गिक) एकेनाङ्गेन कृते, तथाच सं-क्रममधिकृत्योक्तम् ''एक्केको दुविहो एगंगिओ अणेगंगिओ य'' एकानेकपदकृतेत्यर्थः'' नि०चू०१ उ०। ''एगंगिअ दुग्गतिखंडं न भवतीति'' नि०चू०१६ उ०। अपरिशाटिनि संस्तारकभेदमधिकृत्य चोक्तम् ''जो अपरिसाडी सो दुविहो एगंगिओ अ अणेगंगिओ य ''एगंगिता उ दुविधा संघायाए तरो उ नायव्वो। दोमादी णियमातू, होति अणेगम्मि उ तत्थ'' ''एगंगिओ दुविहो संघातिमो अ-संघातिमो य। दुगतिता वा सकंवियाउवा अणेगम्मिउ एते। नि०चू०।

एक्कं(गं)त-त्रि०(एकान्त) एकः अन्तः निश्चयः शोभा वा। अत्यन्ते, सूत्र०१ श्रु०१० अ०''एगन्तरइया'' एकान्तेन सर्वात्मना रतौ रमणे प्रसक्ता इति। आ०म०प्र०। एक इत्येवमन्तो निश्चयो यत्रासावेकान्तः। एकस्मिन्, 'एगंतमंतं गच्छइ' एक इत्येवमन्तो निश्चयो यत्रासावेकान्तः एक इत्यर्थोऽतस्तमन्तं भूमिभागं गच्छ-तीति। भ०७ श०१ उ०। अवश्यंभावे, पंचा०५ विव०। अवश्यमित्यर्थे, सूत्र०१ श्रु०६ अ०। निश्चये, विशे०। ज्ञा०। सर्वथार्थे, स्था०५ ठा०। प्रश्न०। एक एवान्तो यत्र। निर्जने, रहसि, वाच०। निर्व्यजनप्रदेशे, संथा०। विविक्तप्रदेशे, व्य०प्र०१ उ०। जनरहितप्रदेशे, सूत्र०१ श्रु०६ अ०। जनालोकवर्जिते, भ०८ श०६ उ०। विजने, भ०३ श०२ उ०। ''एगंते य विवित्ते'' आ०म०द्वि०। ''आया एगतमंतमक्कमेज्जा'' आत्मना एकान्तं विजनमन्तभूमिभागमवक्रामेत गच्छेदिति। स्था०३ ठा०। एक एवाहमित्यन्तो निश्चय एकान्तः। एक एवाह मित्येवमेकत्वभावनायाम्'' ''सव्वओ विप्पमुक्कस्स एगंत-मणुपस्सओ'' एक एवाहं इत्यन्तो निश्चयः एकान्तस्तं निश्चयं विचारयत एकत्वभावनां भावयत इति। उत्त०६ अ०।

एक्कं(गं)तओ-अव्य०(एकान्ततस्) एकान्त-तसिल्। एकान्ते इत्याद्यर्थे, वाच०। सर्वथार्थे च। ''वज्जइ अबंभमेगं, ततोयरायंपि थिरचित्ते'' अब्रह्मैथुनमेकान्ततस्तु सर्वथैव (रायंपित्ति) सर्वरजनीमप्यास्तां सर्वदिनमिति'' पंचा०१० विव० ''जम्हा एगंततो अविरुद्धो'' यस्माद् यतो हेतोरेकान्ततस्तु सर्वथैवाविरुद्धो युक्त इति'' पंचा०१७ विव०।

एक्कं(गं)तकूड-त्रि०(एकान्तकुट) एकान्तेन कूटानि दुः-खोत्पत्तिस्था नानि यस्मिन् एकान्तदुःखोत्पादकस्थानेनोपेते नरकादौ, ''एगंत कूडे नरए महंते, कूडेण तत्थ वि समेहताओ''। एकान्तेन कूडानि दुःखोत्पत्ति स्थानानि यस्मिन् तथा तस्मिन्नेवं-भूते नरके महति विस्तीर्णे पतिता प्राणिनस्तेन च कूटेन गल-यन्त्रपासादिना पाषाणसमूह लक्षणेन वा तत्र तस्मिन् विषमे हता इति। सूत्र०१ श्रु०५ अ०। कूटवत् कूटमेकान्तेन कूटमेकान्तकूटम्। एकान्तेन गलयन्त्रपाशादिवद्बन्धके, ''एगंतकूडेण उ से पलेइ'' यथा कूटेन मृगादिर्बद्धः परवशः सन्नेकान्तदुःखभाग्भवति एवं भावकूटेन स्नेहमयेनैकान्ततोऽसौ संसारचक्रवालं पर्य्येति। सूत्र०१ श्रु०१३ अ०।

एगंतचा(या)रिण्-(एकान्तचारिन्) एकान्ते जनरहिते प्रदेशे चरितुं शीलमस्येत्येकान्तचारी। जनरहितप्रदेशे चारिणि, ''एगं-तयारीसमणेपुरासी'' ''एगन्तचारिस्सिह अम्ह धम्मे तवस्सिणो णाभिसमेति पावं'' अस्मदीये धर्मे प्रवृत्तस्यैकान्तचारिणः आरामोद्यानादिष्वेकाकिविहारोद्यतस्य तपस्विनो नाभिसमेति न संबन्धमुपयाति। पापमशुभकर्मेति। सूत्र०२ श्रु०६ अ०।

एगंतणाण-न०(एकान्तज्ञान) नित्यमेवेदमनित्यमेवेदमित्येकपक्ष-स्थापनरूपे मिथ्याज्ञाने, अष्ट०।

एगंतदंड-एकान्तदण्ड-एकान्तेन सर्वथैव परान् दण्डयतीति एकान्तदण्डः। सर्वथैव परेषां दण्डके, भ०७ श०२ उ०।

एगंतदिट्ठि-त्रि०(एकान्तदृष्टि) एकान्तेन तत्वेन जीवादिषु पदार्थेषु दृष्टिर्यस्याः सा एकान्तदृष्टिः। सूत्र०। एकान्तेन निश्चयेन जीवादि तत्वेषु सम्यक्दर्शनं यस्य स एकान्तदृष्टिः। निष्प्रकम्पे सम्यक्त्वे, सूत्र०१ श्रु०१३ अ०। एकान्तवादिनि च। सूत्र०२ श्रु०६ अ०। (तद्वक्तव्यता एगंतवाय शब्दे)

एगंतदिट्ठिय-पुं०(एकान्तदृष्टिक) एकान्तग्राह्यमेवेदं मयेत्येवं निश्चया दृष्टिर्यस्य तथा। एकान्तग्राह्यमेवेदं मयेत्येवं निश्चयदृष्टिके, ज्ञा०२ अ०। भ०॥

एगंतदुक्ख-त्रि०(एकान्तदुःख) एकान्तेनावश्यं सुखलेशरहितं दुःखमेव यस्मिन् नरकादिके भवे स तथा। एकान्तेन सुखलेशरहित दुःखोपेते नरकादिके भवे, सूत्र०१ श्रु०६ अ०। ''एगंतदुक्खं भवमज्झणित्ता'' सूत्र०१ श्रु०५ अ०। ''एगंतदुक्खे जरिए व लोए'' सूत्र०१ श्रु०अ०। तथैकान्तेनोभयतोऽन्तर्बहिश्च ग्लाना अपगतप्रमोदा सदा दुःखमनुभ-वन्तीति। सूत्र०१ श्रु०५ अ०॥

एगंतदूसमा-स्त्री०(एकान्तदुःषमा) दुष्टा समा वर्षो दुःषमा सुसमा षत्वम्'' एकान्तं षडा २ त०। दुःखमदुःषमायाम्। सूत्र०। १ श्रु०३ अ०। (तद्वक्तव्यता ओसप्पिणी शब्दे)

एगंतधार-त्रि०(एकान्तधार) एकान्ता एकाविभागाश्रया धारा यस्य एकधारोपिते चक्षुरादौ, ज्ञा०१ अ०। एकान्ता उत्सर्गलक्षणै-कविभागाश्रया धारेव धारा क्रिया यत्र। भ०६ श०३३ उ०। अपवादपरित्यागेनोत्सर्गक्रियामेवाश्रिते निर्ग्रन्थप्रवचनादौ, ''खुरो इव एगंतधाराए'' क्षुर इवैकान्तधारं द्वितीयधाराकल्पाया अपवादक्रियाया अभावादिति। भ०६ श०३३ उ०। एकत्रान्ते वस्तुविभागे प्रहर्तव्यलक्षणे धारेव धारा परोपताप्रवृत्तिलक्षणो यस्य स तथा एकप्रहर्तव्यप्रवृते चौरादौ, तथा च तस्करवर्णकडधिकृत्य ''खुरिव्वएगंतधाराए'' यथा क्षुर एकधार एवमसौ मोषलक्षणै-कप्रवृत्तिक एवेति भावः। ज्ञा०२ अ०॥

एगंतधी-त्रि०(एकान्तधी) एकान्ताभिनिवेशे, श्रुत्वा शुद्धनयं नयात्र सुधियामेकान्तधीर्युज्यते, सुधियां पण्डितानामेकान्तधीरे-कान्ताभिनिवेशो न युज्यते एकतयाभिनिवेशस्य मिथ्यात्वरूप-त्वात्'' इति। प्रति०।

एगंतपंडिय-पुं०(एकान्तपण्डित) साधौ, ''एगंतपंडिएणं भंते!

मणुस्से नेरइयाउयं पकरेइ'' एकान्तपण्डितः साधुः (मण्णस्सेत्ति) विशेषणं स्वरूपज्ञानार्थमेव अमनुष्यस्यैकान्तपण्डितत्वा-योगात्तदयोगश्च सर्वविरतेरन्यस्याभावादिति। भ०१ श०८ उ०।

एगंतबाल-पुं०(एकान्तबाल) मिथ्यादृष्टौ, अविरते च। ''एगंत-बालेणं भंते ! मणुस्से'' भ०१ श०८ उ०।

एगंतमिच्छा-अव्य०(एकान्तमिथ्या) एकान्तेन मिथ्याभूते, ''एगंतमिच्छेअसाहु'' एकान्तेनैव तत्स्थानतो मिथ्याभूतं मिथ्या-त्वोपहतबुद्धीनां यतस्तद्भवत्यत एवासाधु असद्वृत्तत्वात् न ह्ययं सत्पुरुषसेवितः पन्था येन विष यान्धाः प्रवर्तन्त इति। सूत्र०२ श्रु० २ अ०। (अत्रैगंतादिशब्देषु द्वित्वकवन्त्यपि रूपाणि भवन्ति तानि विस्तरभयान्न प्रदर्श्यन्ते स्वयमूह्यानि)

एगंतमोण-न०(एकान्तमौन) संयमे ''एगंतमोणेण वियागरेज्जा'' केनचित्पृष्टोऽपृष्टो वैकान्तमौनेन संयमेन करणभूतेन व्या-गृणीयादिति'' सूत्र०१ श्रु०१३ अ०।

एगंतर-न०(एकान्तर) एकमन्तरं व्यवधानम्। एकव्यवधाने, वाच०। ''अट्ठोवासा एगंतरेण विहियारणं च आयामं'' एकदिन-व्यवधानेन भोजनरूपे व्रतभेदे, पंचा०१६ विव०। एकान्तरवर्तिनि त्रि० एकान्तरासु जातानां धर्मं विद्यादिमं विधिम्'' वाच० एकस्मादन्य एकान्तरम्। अनन्तरे एकस्मिन्, । तथाच ''वाद्रव्याणाम् ग्रहणविसर्गविधिकृत्य ''एगंतरं च गिण्हई, निसिरइ एगंतरं चेदं'' ''एकान्तरमेव गृह्णाति निसृजत्येकान्तरं चैव'' अयमत्र भावार्थः। प्रतिसमयं गृह्णाति मुञ्चति कथं यथा ग्रामादन्यो ग्रामो ग्रामान्तरं पुरुषाद्वाऽन्यः पुरुषनिरन्तरोऽपि सन् पुरुषान्तर-मेवैकैकस्मा-त्समयादेकक एवैकान्तरोऽनन्तरसमय एवेत्यर्थः। विशे०। एकदिनव्यवधानेन जायमाने ज्वरभेदे, वाच०।

एगंतरइपसत्त-त्रि०(एकान्तरतिप्रसक्त) एकान्तेन सर्वात्मनारतौ रमणे प्रसक्ता एकान्तरतिप्रसक्तासर्वात्मना रतौ प्रसक्ते, राज०।

एगंतलूसग-पुं०(एकान्तलूषक) एकान्तेन जन्तूनां हिंसके एकान्तेन सदनुष्ठानस्य ध्वंसके च, ''आतदंडा एगंतलूसगा गंता ते पावलोगयं'' एकान्तेन जन्तूनां लूषकाः हिंसकाः सदनुष्ठानस्य वा ध्वंसकास्ते। ते एवंभूता गन्तारो यास्यन्ति पापं लोसं पापकर्म-कारिणां यो लोको नरकादिश्चिरकालमिति प्रभूतं कालं तन्निवासिनो भवन्तीति। सूत्र०१ श्रु०२ अ०।

एगंतवदात-त्रि०(एकान्तावदात) शुभ्रे, ''संखेंदुएगंतवादतसुक्कं'' सूत्र०१ श्रु०३ अ०।

एगंतवाइ(न्)-पुं०(एकान्तवादिन्) नित्यानित्याद्येकपक्षा-भ्युपगन्तरि, स्था०। सूत्र०।

एगंतवाय-पुं०(एकान्तवाद) नित्यानित्याद्येकपक्षाभ्युपगमे, स्था० एकान्तवादस्य च मिथ्यात्वम् तदेवेति नियमेनैकान्ताभ्युपगमे सर्व एवैते मिथ्यावादा उक्तन्यायेन नियमेन मिथ्यात्वमित्यभिधानात् कथंचिदभ्युपगमे सम्यग्वाद एवैत इत्युक्तं भवति यत उत्पाद-व्ययध्रोव्यात्मकत्वे वस्तुनः स्थिते तद्वस्तु तत्तपेक्षया कार्य-मकार्यं च कारणमकारणं च कारणे कार्यं सर्व्वासर्व्वकारण कार्यं काले विनाशवदविनाशवच्च तथैव प्रतीतेरन्यथा वा प्रतीतेरत एका-नतरूपस्य वस्तुनोऽभावात्। सम्म०॥ तथाच नित्यानित्याद्येकान्तवादे दोषसामान्यभिहितमिदानीं कतिपयतद्विशेषान्नाम-ग्राहं दर्शयंस्तत्प्ररू-पकाणामसद्भूतोद्भावकतयोद्भूते तथा विधरिपुजनजनितोपद्रवमिव परित्रातुर्धरित्रीपतेस्त्रिजगत्पतेः पुरतो भुवनत्रयं प्रत्ययकारिकारितामा-विष्करोति।

नैकान्तवादे सुखदुःखभोगौ, न पुण्यपापे न च बन्धमोक्षौ।
दुर्नीतिवादव्यसनासिनैवं, परैर्विलुप्तं जगदप्यशेषम्॥२७॥

एकान्तवादे नित्यानित्यैकान्तपक्षाभ्युपगमे न सुखदुःखभोगौ घटेते न च पुण्यपापे घटेते न च बन्धमोक्षौ घटेते, पुनः पुनर्नञ् प्रयोगोत्यन्ता घटमानतादर्शनार्थः। तथाह्येकान्तनित्ये आत्मनि तावत्सुखदुःखभोगौ नोपपद्येते नित्यस्य हि लक्षणाप्रच्यु-तानुत्पन्नस्थिरैकरूपत्वम्। ततो यदात्मा सुखमनुभूय स्वका-रणकलापसामग्री वशाद्दुःखमुपभुङ्क्ते तदा स्वभावभेदाद नित्यत्वापत्त्या स्थिरैकरूपताहानिप्रसङ्गः। एवं दुःखमनुभूय सुखमुपभुञ्जानस्यापि वक्तव्यम्। अथावस्थाभेदादयं व्यवहारो न चावस्थासु भिद्यमानास्वपि तद्वतो भेदः सर्वस्यैव कुण्डलार्जवाद्यवस्था-स्विति चेन्ननु तास्ततो व्यतिरिक्ता अव्य-तिरिक्ता वा व्यतिरेके तास्तस्येति संबन्धाभावेऽतिप्रसङ्गात्। अव्यतिरेके तु तद्वानेवेति तदवस्थितैव स्थिरैकरूपताहानिः। कथंचित्तदेकान्तरूपत्वेऽवस्थाभेदो भवेदिति। किंच सुखदुःख-भोगौ पुण्यपापनिवृत्यैतन्निवर्तनं चार्थक्रिया सा च कूटस्थ- नित्यस्य क्रमेणाक्रमेण वा नोपपद्यत इत्युक्तमयम्। तत एवोक्तं न पुण्यपापे इति पुण्यं दानादिक्रियोपार्जनीयं शुभं कर्म पापं हिंसादिक्रियासाध्यमशुभं कर्म ते अपि न घटेते प्रागुक्तनीतेः। तथा न बन्धमोक्षौ बन्धः कर्मपूद्गलैः सह प्रतिप्रदेशमात्मनो भवद्भ्यः इवायःपिण्डवदन्योन्यसंश्लेषः। मोक्षः कृत्स्नकर्मक्षयस्तावप्येकान्तनित्येन स्याताम्। बन्धो हि संयोगविशेषः स चाप्राप्तानां प्राप्तिरितिलक्षणः प्राक्कालभाविनि अप्राप्तिरन्यावस्था उत्तरकालभाविनि प्राप्तिरन्या तदनयोरप्यवस्थाभेददोषो दुस्तरः कथंचनैकरूपत्वे सति तस्याकस्मिको बन्धनसंयोगः बन्धनसंयोगाच्च प्राक्किं नायं मुक्तोऽमुक्तो वाऽभवत्। किंच तेन बन्धनेनासौ विकृतिमनुभवति न वाअनुभवति चेच्चर्मादिवदनित्यः नानुभवति चेन्निर्विकारत्वे सताऽसता वा तेन गगनस्येव न कोऽप्यस्य विशेष इति बन्धवैफल्यान्नित्यमुक्त एव स्यात्ततश्च विशीर्णा जगति बन्धमोक्षव्यवस्था तथा च पठन्ति ''वर्षातपा-भ्यां किं व्योम्नश्चर्मण्यस्ति तयोः फलम् चर्मोपमश्चेत्सोऽनित्यः खल्वल्पश्चेदसत्फलः'' बन्धानुपपत्तौ मोक्षस्याप्यनुपपत्तिर्बन्धनविच्छेदपर्य्यायत्वान्मुक्तिशब्दस्येति। एवम नित्यै-कान्तवादेऽपि सुखदुःखाद्यनुपपत्ति-रनित्यं हि अत्यन्तोच्छेद धर्मकत्वं तथाभूते चात्मनि पुण्योपादान क्रियाकारिणो निरन्वयं विनष्टत्वात्कस्य नाम तत्फलभूतसुखानुभवः। एवं पापोपादान-क्रिया कारिणोऽपि निरन्वयविनाशे कस्य दुःखसंवेदनमस्तु एवं चान्यः क्रियाकारि अन्यश्च तत्फलभोक्तेत्यसमञ्जसमापद्यते। अथ ''यस्मिन्नेव हि सन्ताने, आहिता कर्मवासना। फलं तत्रैव संधत्ते, कर्पासैरक्तया यथा'' इति वचनान्नासमञ्जसमित्यपि वाङ्मात्रं सन्तानवासनयोरवास्तवत्वेन प्रागेव निर्लोचितत्वात् तथापुण्यपापे अपि न घटेते तयोर्हि अर्थक्रियासुखदुःखोप-भोगस्तदनुपपत्तिश्चानन्तरमेवोक्ता ततोऽर्थक्रियाकारित्वाभावात्तयो-रप्यघटमानत्वम्। किंचानित्यः क्षणमात्रस्थायी तस्मिंश्च क्षणे उत्पत्तिमात्रव्यग्रत्वात्तस्य कुतः पुण्यपापोपादानक्रियार्जनम्। द्वितीयादिक्षणे चावस्थात्वमेव न लभते पुण्यपापोपादानक्रियाभावे च पुण्यपापे कुतो निर्मूलत्वात्तदसत्वे च कुतस्तत्सुखदुःखभोगः। आस्तां वा कथंचिदेतत्तथापि पूर्वक्षणसदृशेनोत्तरक्षणेन भवितव्यमुपादानानु-रूपत्वादुपादेयस्य ततः पूर्वक्षणदुःखिता-दुत्तरक्षणः कथं सुखित उत्पद्यते कथं च सुखितात्ततः स दुःखितः स्याद्विसदृशभागतापत्तेः। एवं पुण्यपापादावापि तस्माद्यत्किंचिदेतत्। एवं बन्धमोक्षयोरप्यसं-भवो लोकेऽपि हि य एव बद्धः स एव मुच्यते निरन्वयनाशाभ्युपगमे च एकाधिकरणत्वाभावात् संतानस्य वा वस्तवत्वात्कु तस्तयोः संभावनामात्रमपीति। परिणामि-

नि चात्मनि स्वीक्रियमाणे सर्वं निबाधमुपपद्यते । परिणामोऽवस्थान्तर्गमनं न च सर्वथा ह्यवस्थानं च सर्वथा विनाशः परिणामात्तद्विदामिष्ट इति वचनात् पात-ञ्जलटीकाकारोऽप्याह । अवस्थितस्य द्रव्यस्य पूर्वधर्मनिवृत्तौ धर्मान्तरोत्पत्तिः परिणाम इति । एवं सामान्यविशेषसदसद-भिलाप्यानभिलाप्यैकान्तवादेष्वपि सुखदुःखाद्यभावः स्वय-मभिरयुक्तैरभ्यूह्यः ॥ अथोत्तरार्द्धव्याख्या । एवमनुपपद्यमानेऽपि सुखदुःखभोगादिव्यवहारपरैः परतीर्थिकैरथ च परमार्थतः शत्रुभिः परशब्दो हि शत्रुपर्य्यायोऽप्यस्ति दुर्नीतिवादव्यसनादिना नीयते एकदशविशिष्टोऽर्थ प्रतीतिविषयमिति नीतिः । नीतयो नयाः दुष्टा नीतयो दुर्नीतयो दुर्नयास्तेषां वदनं परेभ्यः प्रतिपादनं दुर्नीतवाद-स्तत्र यद्व्यसनमत्याशक्तिरौचित्यनिरपेक्षा-प्रवृत्तिरिति यावत् दुर्नीतिवादव्यसनम् । तदेव सद्बोधशिरो-च्छेदन शक्तियुक्त-त्वादसिरिवासिः कृपाणो दुर्नीतवादव्यसनासिना करणभूतेन दुर्नयप्ररूपणहेवाकखड्गेन एवमित्यनुभवसिद्धप्रकारमाह अपिशब्दस्य भिन्नक्रमत्वात्, अशेषमपि जगन्निखिलमपि त्रैलोक्यं तात्स्थ्यात्तद्व्यपदेश इति त्रैलोक्यगतजन्तुजातं विलुप्तं सम्यग्ज्ञानादिभावप्राणव्यपरोपणेन व्यापादितम् । तत्त्राय-स्वेत्याशयः । सम्यग्ज्ञानादयो हि भावप्राणाः प्रावचनिकैर्गीर्यन्तेऽत एव सिद्धेष्वपि जीवव्यपदेशोऽन्यथा हि जीवधातुः प्राण-धारणार्थोऽधीयते तेषां च दशविधप्राणधारणा-भावादजीवतत्त्वप्राप्तिः सा च विरुद्धा तस्मात्संसारिणो दशविध-द्रव्यप्राणधारणा जीवाः सिद्धाश्च ज्ञानादिभावप्राणधारणादिति सिद्धं दुर्नयस्वरूपं चोत्तरकाव्ये व्याख्यातमिति काव्यार्थः स्था०२७ श्लो०।(एकान्तवादस्य मिथ्यात्वम्, अट्ठगशब्दे वर्णितम्) ॥

अधुना सामान्येनैकान्तवादिमतदूषणार्थमाह-

सयं सयं पसंसंता, गरहंता परं वयं ।
जेउ तत्थ विउस्संति, संसारं ते वि उस्सिया ॥२३॥

स्वकं स्वकमात्मीयं च दर्शनमभ्युपगतं प्रशंसन्तो वर्णयन्तः समर्थयन्तो वा तथा गर्हमाणा निन्दन्तः परकीयां वाचं तथा हि सांख्याः सर्वस्याविर्भावतिरोभाववादिनः सर्वं वस्तु क्षणिकं निरन्वयनिरीश्वरं वेत्यादिवादिनो बौद्धान् दूषयन्ति तेऽपि नित्यस्य क्रमयौगपद्याभ्याम-र्थक्रियाविरहात् सांख्यान् एवमन्येऽपि द्रष्टव्या इति । तदेवं य एकान्तवादिनः तुरवधारणे भिन्नक्रमश्च तत्रैव तेष्वेवात्मीयात्मीयेषु दर्शनेषु प्रशंसां कुर्वाणाः परवाचं च विगर्हमाणाः विद्विष्यन्ते विद्वांस इवाचरन्ति तेषु वा विशेषेणोशंति स्वशास्त्रविषदे विशिष्टयुक्तिव्रातं वदन्ति ते चैवं वादिनः संसारचतुर्गतिभेदेन संसृतिरूपे विविधमनेकप्रकारमुत्प्रावल्येन श्रिताः संबद्धास्तत्र वा संसारे उषिता संसारान्तर्वर्तिनः सर्वदा भवन्तीत्यर्थः । २३॥ सूत्र०१ श्रु०१ अ०।

एगंतसड्ढि-त्रि०(एकान्तश्रद्धावत) एकान्तेन श्रद्धावान् एकान्त श्रद्धावान् । एकान्तेन श्रद्धालौ, ''एगंतसड्ढी य अमाइरूवे'' मौनी न्द्रोक्तमार्गे एकान्तेन श्रद्धालुरित्यर्थः। सूत्र०१ श्रु०१३ अ०।

एगंतसमाहि-पुं०(एकान्तसमाधि) आत्यन्तिके भावरूपे ज्ञानादिसमाधौ, ''मंताओ एगंतसमाहिमाहु'' मत्वा अवधार्य एकान्ते नात्यन्तेन च यो भावरूपो ज्ञानादिसमाधिस्तमाहुः संसारोत्तरणाय तीर्थकरगणधरादयः । द्रव्यसमाधयो हि स्पर्शादिसुखोत्पादका अनैकान्तिका अनात्यन्तिकाश्च भवन्त्यन्ते चावश्यमसमाधिमुत्पादयन्ति। सूत्र०१ श्रु०१० अ०।

एगंतसरण्ण-त्रि०(एकान्तशरण्य) सर्वाश्रितहितकारके, ''एगंतसरण्णा अरहंता सरणं'' पं०सू०।

एगंतसुसमा-स्त्री०(एकान्तसुषमा) सुष्ठुसमावर्षः सुसमादित्वात् षत्वम् २ त०। उत्सर्पिणीकालभेदे, नं०। (तद्वक्तव्यता ओसप्पिणी शब्दे)

एगंतसुह-न०(एकान्तसुख) सर्वथा शर्म्मणि, अव्यभिचारिसुखे च। पंचा०७ विव०॥

एगंतसुहावह-त्रि०(एकान्तसुखावह) सर्वथैव शर्मप्रापके, सिद्धिसुखावहे च ''एगंतसुहावहा जयणा'' एकान्तेन सर्वथैव सुखावहा शर्मप्रापिका एकान्तसुखावहा एकान्तसुखं वा सिद्धिसुखं तदावहा यतनेति । मोक्षशर्मावहे अव्यभिचारिसुखावहे च । भावचरणप्रतिपत्तिमधिकृत्य ''भावचरणस्स जायति, एगंतसुहावहा णियमा'' एकान्तसुहावहा मोक्षशर्मावहा अव्य-भिचारिसुखावहा नियमादवश्यवयेति पंचा०७ विव०।

एगंतसोक्ख-न०(एकान्तसौख्य) दुःखलेशैरकलङ्किते सौख्ये ''एगंतसोक्ख समुवेइ मोक्खं'' एकान्तसौख्यं दुःखलेशैर-कलङ्कितं मोक्षं समुपैति मोक्षश्च दुःखमोक्षेणैव संसारस्यनिवृत्त्यैव स्यादिति। उत्त० ३२ अ०।

एगंतहरण-न०(एकान्तहरण) एकान्ते विजने हरणं, एकान्त हरणम्। विजनेकस्यचिन्नयने, तं०॥

एगंतहरणकोला-स्त्री०(एकान्तहरणकोला) एकान्ते विजने हरणं नेतव्यं पुरुषाणां विषयार्थमेकान्तहरणम् । यद्वा एकान्ते दूरग्रामनगरदेशादौ स्वकुटुम्बादि जनरहिते हरणं तत्र पुरुषाणां विषयार्थं लात्वा गमनमित्यर्थः । तत्र कोला वनसूकर तुल्या यथा सूकरः किमपि सारकन्दादिकं भक्ष्यं प्राप्य विजने गत्वा भक्षयति तथा विषयार्थमेकान्ते पुरुषाणां नेत्र्यो योषितो भवन्ति । तं०।

एगंतहिय-त्रि०(एकान्तहित) अतिशयेन हिते, ''से केइ णेगंतहियं धम्ममाहु'' सूत्र०१ श्रु०६ अ०।

एगंतिय-त्रि०(ऐकान्तिक) एकान्तेन भवतीत्यैकान्तिकः एकान्तभाविनि, दर्श०। आव०। अवश्यंभाविनि, विशे०।

एगक्खरिय-त्रि०(एकाक्षरिक) एकं च तदक्षरं च तेन निर्वृत्त-मेकाक्षरिकम् । एकाक्षरोपेते, तदात्मके द्विनामभेदे च। तद्यथा ''से किं तं एगक्खरिए'' एकक्खरिए ह्रीः श्रीः श्री सेत्तं एगक्खरिए यदस्ति वस्तुतत्सर्वमेकाक्षरेण वा नाम्नाऽभिधीयत इति । अनु०।

एगखंधी-त्रि०(एकस्कंध) प्रत्येकमेव स्कन्धोपेते वृक्षादौ, ते पादपाः प्रत्येकमेकस्कन्धाः प्राकृतेचास्य स्त्रीत्वमिति। ''एग-खंधीति'' सूत्रपाठ इति । जी०३ प्रति०।

एगखुर-पुं०(एकखुर) प्रतिपदमेकः खुरः शफो येषान्ते एकखुराः प्रज्ञा०१ पद। एकः खुरश्चरणाधोवर्तिहुडुविशेषोयेषान्ते एकखुराः। उत्त०३६ अ०। चतुष्पदस्थलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकभेदे, प्रज्ञा०१ पद। स्था०। ते चाश्वादय इति। भ०१५ श०१ उ०। तथाच ''चउप्पयथलयरपंचिंदिय-तिरिक्खजोणियाणं एगक्खुराणं इति'' एकखुराणामित्यश्वाश्वादीनामिति सूत्र०२ श्रु०३ अ०॥

एगखंभ-त्रि०(एकस्तम्भ) एकस्तम्भोपेते प्रासादादौ, ''एकखंभे पासायं करेहि । दश०१ अ० अतीर्ष्यालुस्ततः सौधमेकस्तम्भं विधाप्य सः । आ०क०।

एगगंध-त्रि०(एकगन्ध) सुगन्धीतरान्यतरगन्धोपेते, उत्त०१ अ०।

एगगम-पुं०(एकगम) तुल्याभिलापे, ''सेसा एक्कगमाएति'' स्था० २ ठा०।

एगगुण-न०(एकगुण) सिद्धश्रेणिकपरिकर्मश्रुतभेदे, । सम०। (तद्वक्तव्यता 'सिद्धसेणिगपरिकम्म' शब्दे) एकेन गुणनेन गुणनं ताडनं यस्य स एकगुणः । एकेनगुणिते, त्रि०। पोग्गलाणं वग्गणेति एगाएगगुणकालगाणं। एकेन गुणननतामनं यस्य स एकगुणः । स कालो वर्ण्णो येषान्ते एकगुणकालकास्तारतम्येन कृष्ण-तरकृष्णतमादीनां येभ्य आरभ्य प्रथममुत्कर्षबृत्तिर्भवति तस्मिन् स्था०१ ठा०।

एगग्ग-त्रि०(एकाग्र) ''एगग्गो काउस्सग्गम्मि'' एकाग्र एकचित्तः शेषव्यापाराभावादिति । आव०५ अ० ''एगग्गस्स यसंतस्स'' एकमग्रमालम्बनं यस्यासावेकाग्रः । एकावलम्बने, । आ०म०द्वि०। विक्षेपरहितज्ञाने च। वाच०।

***ऐकाग्र**-त्रि० स्वार्थेऽण् एकाग्रचित्ते, एकतानचित्ते, वाच०।

***एकाग्र्य**-त्रि०(एकमग्र्यं) यस्य। एकभावे,एकावलम्बने, वाच०।

***ऐकाग्र्य**-न एकाग्रस्य भावः ष्यञ् अनन्यासक्तचित्तत्वे, एकमात्रावलम्बिचित्तत्वे, वाच०।

एगग्गचित्त-त्रि० एकाग्रचित्त एकाग्रमेककं विषयं चित्तं यस्य सः । एकविषयकचित्ते, घोषणाश्रवणमधिकृत्य ''एगग्गचित्त-उदउत्तमाणसाणं'' एकाग्रं घोषणाश्रवणैकविषयं चित्तं येषान्ते एकाग्रचित्ताः। राज०। एकावलम्बने, ''नाणमेगग्गचित्तो'' दश० ८ अ०४ उ०।

एगग्गजोग-पुं०(एकाग्रयोग) अनालम्बनयोगपरनामधेये योगभेदे, एकाग्रयोगस्यैवापरनामानालम्बनयोग इति। अष्ट०।

(तद्वक्तव्यता जोग शब्दे)।

एगग्गया-स्त्री०(एकाग्रता) एकाग्र-तल्-एकाग्रत्वे, वाच० एकस्मिन् आलम्बनसदृशपरिणामतायाम्, ''तुल्यावेकाग्रताशान्तो दितौ च प्रत्ययाविह'' इहाधिकृतदर्शने तुल्यावेकरूपावलम्बनत्वेन सदृशौ शान्तोदितावतीताधः प्रविष्टवर्तमानाधस्फुरितलक्षणौ च प्रत्ययावेकाग्रता उच्यते। समाहितचित्तान्वयिनी। तदुक्तं शान्तोदितौ हि तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः। द्वा०२४ द्वा०॥

एगचक्खु-त्रि०(एकचक्षुष्) एकं चक्षुरस्येत्येकचक्षुः स्था०३ ठा०। काणे, तथा च प्रश्नव्याकरणे अन्धैकचक्षुषावधिकृत्योक्तम्। एतच्च दोषद्वयं गर्भगतस्योत्पद्यते जातस्य च। तत्र गर्भस्थस्य दृष्टि-भागमप्रतिपन्नं तेजो जात्यन्धत्वं करोति तदेकाक्षिगतं काणत्वं विदधत इति प्रश्न०५ द्वा०। एकचक्षुस्के च क्षुषस्यभेदे च। स्था० ३ ठा०। (तद्वक्तव्यता चक्खु शब्दे)।

एगचक्खुविणिहय-त्रि०(एकचक्षुर्विनिहत) एकं चक्षुर्विनिहतं येषान्ते एकचक्षुर्विनिहताः। विनिहतैकचक्षुस्के, प्रश्न०१ द्वा०।

एगचर-त्रि०(एकचर) एकः सन् चरति चर्-पचा० अच्। सुप्सुपेति समासः। एक एव चरतीत्येकचरः। एकाकिनि, आचा० ५ अ० १ उ०। एकाकीभूत्वा चारिणि, असहायचारिणि, वाच० ''णिब्भ-यमेगचरंति पासेणं'' निर्भयं गतभीकं निर्भयत्वादेवैकचरमिति। सूत्र०१ श्रु०४ अ०।

एगचरिया-स्त्री०(एकचर्या) चरणं चर्यते वा चर्य्या ''चरग-तिभक्षणयोः'' गदमदचरयमश्चानुपसर्ग इत्यनेन कर्मणि भावे वा यत्। आचा०१ श्रु०५ अ०१ उ०। एकस्य चर्या ६ त०। एकाकिविहारप्रतिमाभ्युपगमे, आचा०६ अ०२ उ०। अस-हायगमने, वाच०। ''चारो चरिया चरणं एगट्ठं'' आचा० नि०। एकचर्यानिक्षेपो यथा सा च प्रशस्तेतरभेदे न द्विधा। सापि द्रव्यभावभेदात् प्रत्येकं द्विधा। तत्र द्रव्यतो गृहस्थपाषण्डिका-देर्विषयकषायनिमित्तमेकाकिनो विरहणं भावतस्तु अप्रशस्ता न विद्यते। सा हि रागद्वेषविरहाद्भवति। न च तद्रहितस्याप्रशस्ता वेति। प्रशस्ता तु द्रव्यतः प्रतिमाप्रतिपन्नस्य गच्छतः निर्गतस्य स्थविरकल्पिकस्य चैकाकिनः संघादिकार्यनिमित्तान्निर्गतस्य भावतस्तु पुनः रागद्वेषविरहाद्भवति। तत्र द्रव्यतो भावतश्च-कचर्यानुत्पन्नज्ञानानां तीर्थकृतां प्रतिपन्नसंयमानामन्ये तु चतुर्भङ्गपतितास्तत्राप्रशस्त-द्रव्यैकचर्याहरणम्। तद्यथा पूर्वदेशे धान्यपूरकाभिधाने सन्निवेशे एकस्तापसः प्रथमवय स एव कुमारसदृशविग्रहः षष्ठभक्तेन तद्ग्रामनिर्गमपथे तपस्तेपे। द्वितीयोऽप्युपग्रामगिरिगह्वरेऽष्टमभक्तेन तपः कर्मणा तापनां विधत्ते। तस्मै च ग्रामनिर्गमपथवर्तिने शीतोष्णसहिष्णवे गुणैराकृष्टो लोक आहारादिभिः सपर्ययोपतिष्ठते। स तथालोकेन पूज्यमाने वाग्भिरभिष्ट्यमान आहारादिनोपचर्यमाणो जनमूचे मत्तोऽपि गिरिपरिसरतोऽपि दुष्करकारकस्ततोऽसौ लोकस्तेन भूयो भूयः प्रोच्यमानस्तमेकाकिनं तापसमद्रिकुहरवासिनं पर्यपूजयत। **दुष्करं च** परगुणोत्कीर्तनमिति कृत्वा तस्यापि सपर्यादिकं व्यधात्। तदेवमाभ्यां पूज्याख्यात्यर्थमेकचर्या विदधे। अतोऽप्रशस्तैवमनया दिशाऽन्येप्य-प्रशस्तैकचर्याश्रिता द्रष्टान्ता यथासंभवमायोज्या इति। आचा०१ श्रु०५ अ०१ उ०।

सा च शिथिलकर्मणां भवति तथाह-

इहमेगेसिं एगचरिया होति तत्थि अराइयरेहिं कुलेहिंसुद्धेसणाए सव्वेसणाए सो मेहावी परिव्वए सुब्भिं अदुवा दुब्भिं अदुवा तत्थ भेरवा याणायाणे परिकिलेसंति। ते फासे पुट्ठो अधीरो अहियासिज्जासि त्ति बेमि॥

(इहमेगेसिं इत्यादि) इहास्मिन् प्रवचने एकेषां शिथिल-कर्मणामेकचर्या भवत्येकाकिविहारप्रतिमाभ्युपगमो भवति। तत्र च नानारूपा अभिग्रहविशेषास्तपश्चरणविशेषाश्च भवन्ती त्यतस्तावत्प्राभृतिकाम-धिकृत्याह.(तत्थियरा इत्यादि) तत्र तस्मिन्नेकाकिविहारे इतरे सामान्यसाधुभ्यो विशिष्टतरा इतर-श्चान्तप्रान्तेषु कुलेषु सिद्धैषणया दृशैषणादोषरहितेनाहारादिना सर्वैषणयेति सर्वा आहराद्युद्गमोत्पादन-ग्रासैषणरूपा तया सुपरिविशुद्धेन विधिना संयमे परिव्रजन्ति बहुत्वेऽप्येकदेशतामाह (से मेहावि इत्यादि) स मेधावी मर्यादाव्यवस्थितः संयमं परिव्रजेदिति। किंच (सुब्भिं इत्यादि) स आहारस्तेष्वितरेषु कुलेषु सुरभिर्वा स्यादथवा दुर्गन्धो न तत्र रागद्वेषौ विदध्यात्। किंच (अदुवा इत्यादि) अथवा तत्रैकाकिविहारित्वे पितृवन-प्रतिमाप्रतिपन्नस्य सतो भैरवा भयानका यातुधानादिकृताः शब्दाः प्रादुर्भवेयुः। यदिवा भैरवा वीभत्साः प्राणाः प्राणिनो दीप्तजिह्वादयोऽपरान् प्राणिनः क्लेशायान्त्युपतापयन्ति त्वं तु पुनस्तैः स्पृष्टस्तान् स्पर्शान् दुःखविशेषान् धीरोऽक्षोभ्यः सन्नतिसहस्वेति। आचा०१ श्रु० ६ अ०२ उ०।

यस्य विषयकषायनिमित्तमेकचर्या तस्य न मुनित्वम् अन्ये प्रव्रज्यामप्यभ्युपेत्य केचिद् विषयपिपासार्तास्ताद् कल्का-चारानाचरन्तीति दर्शयितुमाह-

इहमेगेसिं एगचरिया भवति से बहुकोहे बहुमाणे बहु माए बहुलोहे बहुरए बहुणडे बहुसठे बहुसंकप्पे आसव-सक्को पलिओच्छण्णे उट्ठितवादं पवदमाणे मा मे केइ य दक्खु

अण्णाणपडायदोसेणं सययं मूढे धम्मं णामि जाणति अट्टापया माणवकम्मकोविया जे अणुवरया अभिज्झाए परिमोक्ख-माहुआवट्टमेव मणुपरिपट्टंतित्ति ॥

इह मनुष्यलोके एकेषां न सर्वेषां चरणं चर्यते वा चर्या एकस्य चर्या तत्र विषयकषायनिमित्तं यस्यैकचर्या स्यात्स किंभूतः स्यादित्याह(से बहुकोहे इत्यादि) स विषयगृध्नुरिन्द्रिया-नुकूलवर्त्येकचर्याप्रतिपन्नस्तीर्थिको गृहस्थो वा परैः परिभूयमानो बहुक्रोधो यस्येति बहुक्रोधस्तथा वन्द्यमानो मानमुद्वहत इति बहुमानस्तथा कुरु कुचादिभिः कल्कतपसा च बहुमायी सर्वमेतदाहारादिलोभात्करोतीत्यतो बहुलोभः । यत एवमतो बहु-रजो बहुपापो बहुषु चारम्भादिषु रतस्तथा नटवद्भोगार्थं बहून्वेषान्विधत्त इति बहुनटस्तथा बहुभिः प्रकारैः शठो बहुशठ-स्तथा बहवः संकल्पाः कर्तव्या अध्यवशाया यस्य बहुसंकल्प इत्येवमन्येषामपि चौरादीनामेकचर्या वाच्येति। स एवंभूतः किमवस्थः स्यादित्याह (आसव इत्यादि) आश्रया हिंसादयस्तेषु शक्तं सङ्गः आश्रवशक्तं तद्विद्यते यस्या- सावाश्रवशक्ती हिंसाद्यनुसङ्गवानवलितं कर्म तेनावच्छन्नः कर्मावष्टब्ध इति यावत् । सचैवंभूतोऽपि किं ब्रूयादित्याह (उट्ठिय इत्यादि) धर्मचरणायोद्युक्त उत्थितस्तद्वादस्तं प्रवदन् तीर्थिकोऽप्येवमाह यथा अहमपि प्रव्रजितो धर्मचणायोद्यत इत्येवं प्रवदन् कर्मणाऽवच्छाद्यत इति सर्वोत्थितवादी आश्रवेषु प्रवर्त-मानः आजीविकाभयात् कथं प्रवर्तत इत्याह (मामे इत्यादि) मा मां केचनान्येऽद्राक्षुरवद्यकारिणमित्यतः प्रच्छन्नकार्य विदधात्येवं ज्ञानदोषेण वा विदधत्त इति किंवा (सययमित्यादि) सततमनवरतं मूढे मोहनीयोदयादज्ञानाद्वा धर्मश्रुतचारित्राख्यं नाभिजानाति न विवेचयतीत्यर्थः। यद्येवं ततः किमित्याह (अट्टाइत्यादि) आर्ता विषयकषायैः प्रजायन्त इति प्रजा जन्तवो हेमानव मनुजा-स्येवोपदेशार्हत्वान्मानवग्रहणं कर्मण्यष्टप्रकारे वीभत्स्यन्ते कोविदाः कुशला न धर्मानुष्ठान इति के पुनस्ते ये सततं धर्मं नाभिजानन्ति कर्मबन्धकोविदाश्चेत्यत आह (जे अणुवरया इत्यादि) ये केचनानिर्दिष्टस्वरूपा अनुपरताः पापानुष्ठा-नेभ्योऽनिवृत्ता ज्ञानदर्शनचारित्राणि मोक्षमार्ग इत्येषा विद्या ततो विषययेण विद्या परि समन्ततः मोक्षामाहस्ते धर्मं नाभिजानत इति संबन्धः। धर्ममजानानाश्च किमाप्नुयुरित्याह (आवट्टइत्यादि) भावावर्तः संसारस्तमरहट्टघटी-यन्त्रन्यायेनानुपरिवर्तते तास्वेव नरकादिगतिषु भूयो भूयो भवन्तीति यावत् । आचा०१ श्रु०५ अ० १उ०। हिंसकस्य विषयारम्भकस्यैक-चरस्यामुनिभावे दोषोद्भावनतः कारणमाह ।

गामाणुगामं दुइज्जमाणस्स दुज्जा तं दुप्परिक्कंतं भवति। अवियत्तस्स भिक्खुणो वयसा वि एगे चोइया कुप्पंतिमाण वा उण्णयमाणे य णरे महता मोहेण मुज्झति संवाहा बहवे भुज्जो भुज्जो दुरतिक्कमा अजाणओ अप्पा सत्तो एयं ते मा होउ एयंते कुशलस्स दंसणं ॥

ग्रसते बुद्ध्यादिगुणानिति ग्रामः ग्रामादनु पश्चादपरो ग्रामो ग्रामानुग्रामस्तं दूयमानस्यानेकार्थत्वाद्धातूनां विहरत एकाकिनः साधोर्यस्मात्तद्दर्शयति (दुयति) दुष्टं यातं दुर्यातं गमनक्रियाया गर्हा गच्छत एवानुकूलप्रतिकू-लोपसर्गसद्भावादर्हनकस्यैव कृतगतिभेददुष्टव्यन्तरीजङ्घाच्छेदनवत् । तथा दुष्टं पराक्रान्तम् आक्रातं स्थानमेकाकिनो भवति स्थूलभद्रेष्य-सितोपकोषा गृहसाधोरिवेति । यदि वा चतुः प्रोषितभर्तृका गृहायितसाधोरिव तस्य महासत्वतया अक्षोभेऽपि हु पराक्रान्तमेवेति। एतच्च न सर्वस्यैव दुर्यातं दुःखपकराक्रान्तश्च भवतीत्यतो विशिनष्टि अव्यक्तस्य भिक्षोरिति भिक्षणशीलो भिक्षुस्तस्य किंभूतस्याव्यक्तस्य स चाव्यक्तःश्रुतवयोभ्यां स्यात्तत्र श्रुताव्यक्तो येनाचारप्रकल्पो- ऽर्थतो नाधिगतो गच्छगतानां तन्निर्गतानां तु नवमपूर्वतृतीय- वस्त्विति। वयसा वा व्यक्त आ षोडशवर्षाद्गच्छगतानां तन्निर्गतानाञ्च त्रिंशत इति । अत्र चतुर्भङ्गिका श्रुतवयोभ्याम-व्यक्तस्यैकचर्या न कल्पते । संयमात्मविराधनात इत्याद्यो भङ्गः । तथा श्रुतेनाव्यक्तो वयसा च व्यक्तस्तस्याप्येकचर्या न कल्पते । अगीतार्थत्वादुभयवि-राधनासद्भावादिति द्वितीयः । तथा श्रुतेनव्यक्तो वयसा चाव्यक्तस्तस्यापि न कल्पते बालतया सर्वपरिभवास्प-दत्वाद्विशेषतस्तेन कुलिङ्गादीनामिति तृतीयः । यस्तूभयव्यक्तः स सति कारणे प्रतिमामेकाकिविहारित्व-मभ्युद्यतविहारं वा प्रतिपद्यतामस्यापि कारणाभावे एकचर्या नानुमता । यतस्तस्यां गुप्तैर्या भाषैषणादिविषया बहवो दोषाः प्रादुःष्यन्ति । तथा ह्येकाकी पर्यटन् यदीर्यापथं शोधयति ततश्चाद्युपयोगाद्भ्रस्यति तदुपयुक्तश्चेन्नेर्यापथं शोधयेदित्यादिका शेषाऽपि समितयो वाच्याः । अन्यच्चाजीर्णेन वातादिक्षोभेण वा व्याध्याद्युद्भवसंयमात्मविरा-धना प्रवचनहीलना च। तत्र यदि करुणापन्ना गृहस्थाः प्रतिजागरणं कुर्युस्तर्ह्यज्ञानतया षट्कायोपमर्देन कुर्वाणाः संयमबाधामा-पादयेयुरथ न कश्चित्तत्र तथा-भूतकर्तव्योद्यतः स्यात्ततः आत्म-विराधना। तथातीसारादौ मूत्रपुरीषजं बाल्यन्तर्वर्तित्वात्प्रवचन-हीलना । अपिच ग्रामादि-व्यवस्थितः सन् धिग्जात्यादिना केशलुञ्चिताद्यधिक्षेपेणा-विक्षिप्तः सन् परस्परोपमर्दकारि दण्डादण्डभण्डनं विदध्यात्तच्च गच्छगतस्य न संभवति गुर्वाद्युपदेश-संभावत्तदुक्तम् ''अक्कोसहणणमारण-धम्मब्भसणेबालसुलभाणा । भंमण्णइ धीरोजहुत्तराणं अभावम्मि'' इत्येवमादिनोपदेशेन गच्छान्त-र्गतो गुरुणानुशास्यते गच्छनिर्गतस्य तु पुनः दौषा एव केवला इत्युक्तञ्च ''साहम्मिएहिं समुज्जएहिं । एगागीउ य जो विहरे आयंकपउरयाए, छक्कायबहम्मि आवडइ। एगाणियस्स दोसा, इत्थी साणे तहेव पडिणीए । भिक्खविसोहिमव्वय, तम्हा सवि इज्जए गमणं'' इत्यादि गच्छान्तर्वर्तिनस्तु बहवो गुणास्तन्निश्रया परस्यापि बालवृद्धादेरुद्यत-विहाराभ्युपगमात् । यथा ह्रदके समर्थस्तरन्नपरमपि काष्ठादिविलग्नं तारयत्येवं गच्छेऽप्युद्यत-विहार्यपरं सीदन्तमुद्यायति तदेवमेकाकिनो दोषान् वक्ष्य-गच्छान्तर्विहारिणश्च गुणान् कारणाभावे व्यक्तेनापि नैकचर्या विधेया कुतः पुनरव्यक्तेनेति स्थितम् । ननु वसतिसंभवे प्रतिषेधोऽयुक्तो न चास्ति संभवः एकाकिविहारितायाः को हि नाम वालिशः सहायान्विहाय समस्तापायास्पदमेकाकिविहा-रितामभ्युपेयादि-त्यत्रोच्यते न किंचिदपि कर्मपरिणतेरशक्यमस्ति तथा हि स्वातन्त्र्यगदागदकल्पस्य समस्तव्यसनप्रवाहसेतुभूतस्या शेषकल्याण-निकेतनस्य शुभाचाराधारस्य गच्छस्यान्तर्वर्तिनः क्वचित् प्रमादस्खलिते चोदिता अपरिगणय्य सदुपदेशमपर्यालोच्य सद्धर्मविचार्य कषायविपाककटु-कतामनवधार्य परमार्थं पृष्ठतः कृत्वा कुलपुत्रतां वाग्मात्रादपि किंचित्कोपनिघ्नाः सुखैषिणो गणितापदो गच्छान्निर्गच्छन्ति । तत्र चैहिकामुष्मिकापायानवा-प्नुवन्तीत्युक्तं च ''जह सायरम्मि मीणा, संखोहं सायरस्स असहंता । णिंति तओ सुहकामी, णिग्गयमेत्ता विणस्संति ॥ एवं गच्छसमुद्दे, सारणवीचीहिंचोइया संता । णिंति तओ सुहकामी, मीणा व जहा-विणस्संति। ''गच्छम्मि केइ पुरिसा, सउणी जह पञ्जरं तरुणिरुद्धा ।

सारणवारणचोइया, पासत्थगया च विहरंति। ''जहा दिया जोयमय रक्खजायं, सवासया पविउमणं मणागं। तमयाइया तरुणमपत्तजाइं, ढंकाइ अव्वत्तगमं हरेज्जा'' एव-मजातसूत्रावयवः परतीर्थिकध्वांक्षादि-भिर्विलुप्यते गच्छालयान्निर्गतो वाग्मात्रेणापि चोदितः सन्नित्येतद्दर्शयितुमाह (वयसावि एगे इत्यादि) क्वचित्तपःसंयमानुष्ठाने-नावसीदन्तः प्रासादस्खलिता वा गुर्वादिना धर्मेण वचसाऽप्येके अपुष्टधर्माणः अनवगतपरमार्था उक्ताश्चोदिताः कुप्यन्ति एते मानवा मनुजाः क्रोधवशगा भवन्ति। ब्रुवते च कथमहमनेन इयतां साधुनां मध्ये तिरस्कृतः किं मया कृतमथवान्येऽप्येतत्कारिणः सन्त्येव ममाप्येवंभूतोऽधिकारोऽभूद्विग्मे जीवितमित्यादि महामोहोदयेन क्रोधतिमिरान्धादितदृष्टयः उज्झितसमुचिताचार उभयतोऽन्यतो व्यक्ता मीना इव गच्छसमुद्रान्निर्गत्य विनाशमुपयान्ति। यदि वा वचसापि यथा क इमे लुञ्चिता मलोपहतगात्रदृष्टयः प्राक्तनावसर एवास्माभिर्दृष्टव्या इत्यादिनोक्ता एके क्रोधान्धाः कुप्यन्ति मानवाः। अपिशब्दात् कायेनापि स्पृष्टाः कुप्यन्ति, कुपिताश्चाधिकरणा-दिकुर्वन्तीत्येवमादयो दोषा अव्यक्तैकवराणां गुर्वादिनियामका-भावात्प्रादुःष्युरिति। गुरुसान्निध्ये चैवंभूत उपदेशः संभाव्यते। तद्यथा- ''आकुट्टेन मतिमता, तत्त्वार्थविचारणे मतिः कार्या। यदि सत्यं कः कोपः, स्यादनृत किंनु कोपेन'' तथा ''अपकारिणि कोपश्चे-त्कोपे कोपः कथं न ते। धर्म्मा-र्थकाममोक्षाणां, प्रसह्य परिपन्थिनी'' त्यादि किं पुनः कारणं वचसाप्यभिहिता ऐहिकामुष्मिकापकारिणः स्वपरबाधकस्य क्रोधस्यावकाशं ददतीत्याह (उण्णय इत्यादि) उन्नतो मानो-ऽस्येत्युन्नतमान उन्नतं वात्मानं मन्य इति स चैवंभूतो नरो मनुष्यो महता मोहेन प्रबल-मोहनीयोदयेनाज्ञानोदयेन वा मुह्यति कार्याकार्यविचार-विवेकविकलो भवति। स च मोहमोहितः केनचिच्छिक्षणा-र्थमभिहितो मिथ्यादृष्टिना वा वाचा तिरस्कृतो जात्यादिमदस्थानान्यतरसद्भावेनोन्न-तमानमन्दिरारूढः कुप्यति ममाप्येवमयं तिरस्करोति धिग्मे जातिं पौरुषं विज्ञानं चेत्येवमभिमानग्रह- गृहीतो वाग्मात्रादपि गच्छान्निर्गच्छति तन्निर्गच्छतो वाधिकरणादिविडम्बनयात्मानं विडम्बयति। अथवोन्नम्यमानः केनचिद्दुर्विदग्धेनाहो अयं महाकुलप्रसूतः आकृतिमान् पटुप्रज्ञो मिष्टवाक् समस्तशास्त्रवेत्ता सुभगः सुखसेव्यो वेत्यादिना वचसा तथ्येन चोत्प्रास्यमान उन्नतमानो गर्वाध्मातो महता चारित्रमोहेन मुह्यति संसारमोहेन मुह्यत इति तस्य चोन्नतमानतया महामोहेन मुह्यतो मोहाच्च वाग्मात्रेणापि कुप्यतः कोपाच्च गच्छनिर्गतस्या-नभिव्यक्तस्य भिक्षोर्ग्रामानुग्राममेकाकिनः पर्यटतो यत्स्यात्तदाह (संबाहाइत्यादि) तस्याव्यक्तस्यैकचरस्य पर्यटतः संबाधयन्तीति संबाधाः पीडा उपसर्गजनिता नानाप्रकारातङ्कजनिता वा भूयो भूयो बहव्यः स्यु स्ताश्चैकाकिना व्यक्तेन निरवद्यविधिना दुरतिक्रमा दुरतिलङ्घनी याः किंभूतस्य दुरतिक्रमा इत्याह (अजाणओ इत्यादि) तासांनानाप्रका-रनिमि तोत्थापितानां बाधानामतिसहनोपायम-जानानस्य सम्यक्करणसहनफलं वा ऽपश्यतो दुरतिक्रमणीया पीडा भवति ततश्चातङ्कपीडाकुलीभूतः सन्नेषणामपि लङ्घयेत्प्राण्युप-मर्दमप्यनुमन्येत, वाक्कण्टकनुदितः सन्नव्यक्ततया प्रज्वलन्नेतद् भावयेत्। यथा मत्कर्मविपाकापादिता एताः पीडाः परोऽत्र केवलं निमित्तभूतः। किञ्चात्मद्रुहममर्यादं मूढमुज्झितसत्पथं सुतराम-नुकम्पेन नरकार्चिश्चिष्मदिन्धनमित्यादिका भावना आगमापरि-मलितमतेर्न भवेदित्येवत्प्रदर्श्य भगवान्विनेयमाह (एयंतेमाहोउ त्ति) एतदेकचर्याप्रति-पन्नस्य बाधा दुरतिक्रमणीयत्वमजानानस्य पश्यतश्च ते तव मदुपदेशवर्त्तिनो मा भवतु आगमानुसारितया सदा गच्छान्तर्वर्ती भवेदित्यर्थः। सुधर्म्मस्वाम्याह। (एंय इत्यादि) एतद्यत्पूर्वोक्तं तत् कुशलस्य श्रीवर्द्धमानस्वामिनो दर्शनमभिप्रायो यथा व्यक्तस्यैकचरस्य दोषाः सततमाचार्यसमीपवर्तिनश्च गुणा इति। आचा०१ श्रु०५ अ०४ उ०।

एगचरियापरि(री)सह-पुं०[एकचर्यापरि(री) षह] परीषहभेदे अयंच साधुना सोढव्यस्तथा च स्त्रीपरिषहं प्रतिपाद्य अयं चैकत्र वसतस्तथाविधस्त्रीजनसंसर्गतो मन्दसत्वस्य भवतीत्यतोऽनेकस्थेन भाव्यं किन्तु चर्यापरिषहः सोढव्य इति। तमाह -

एग एव चरे लाढे, अभिभूय परीसहे।
गामे वा नगरे वावि, निगमे वा रायहाणिए॥

एक एव रागद्वेषविरहतश्चरेदप्रतिबद्ध विहारेण विहरेत्सहाय-वैकल्यतो वैकस्तथाविधगीतार्थो यथोक्तं ''ण वा लभिज्जा निउ णं सहायं, गुणाहियं वा गुणओ समं वा। एक्को वि पावाइं विवज्जयंतो, विहरेज्ज कामेसु असज्जमाणो'' (लाढे त्ति) लाढयति प्रासुकै षणी-याहारेण साधुगुणैर्वात्मानं यापयतीति लाढः। प्रशंसाभिधायि वा देशीपदमेतत् पठ्यते (एगेचरेलाढंति) तत्र चैकोऽसहायः प्रतिमाप्रतिपन्नादिः स चैको रागादिवैकल्यादाभिभूय निर्जित्य परीषहान् क्व पुनश्चरेदित्याह ग्रामे चोक्तरूपे नगरे वा करविरहितसन्निवेशे अपिः पादपूरणे निगमे वा वणिग्निवासे राजधान्यां वा प्रसिद्धायामुभयत्र वा शब्दानुवृत्तेर्मडंवाद्युप-लक्षणं चैतदाग्रहाभावं चानेनोहेति सूत्रार्थः।

पुनः प्रस्तुतमेवाह-

असमाणे सरे भिक्खू, नो पकुज्झा परिग्गहं।
असंसत्तो गिहत्थेहिं, अणिकेओ परिव्वए॥

न विद्यते समानोऽस्य गृहिष्वाश्रयामूर्छितत्वेनान्यतीर्थिकेषु वा नियतविहारादित्य समानोऽसदृशः। सद्वा समानः साहंकारो न तथेत्य समानः। अथवा समाणो प्राकृतत्वाद सन्निवासन् यत्रास्ते तत्राप्यसन्निहित इति हृदयसन्निहितो हि सर्वः स्वाश्रयस्योदन्तमावहत्ययं तु न तथेत्येवंविधः स चरदेप्रतिबद्धविहारितया विहरेद्भिक्षुर्यतिः कथमेतत्स्यादित्याह नैव कुर्यात्परिग्रहं ग्रामादिषु ममत्वबुद्ध्यात्मकमत्राह च ''ग्रामे कुले वा नगरे च देशे, ममंति भावं न कहिं वि कुज्जा'' इति इदमपि यथा स्यात्तथाह असंसक्तोऽसंबन्धो गृहस्थैर्गृहिभिरनिकेतोऽ-विद्यमानगृहो नैकत्र बद्धास्पदः परिव्रजेत् सर्वतो विहरेत् न नियतदेशादौ गृहिसंपर्क- एकत्र बद्धास्पदत्वे नियतदेशादिविहारितायां वा स्यादपि ममत्वबुद्धिस्तदभावे तु निरवकाशैवेयमिति भाव इति सूत्रार्थः। अत्र शिष्यद्वारमनुसरन् ''असमाणो चरे इत्यादि'' सूत्र-सूचितमुदाहरण माह -

कोल्लइरे वत्थव्वो, दत्तो सीसो य हिंडतो तस्स।
उवहरइ धाइपिंडं अंगुलिजलना य सा देवी॥

कोल्लाइरे कोल्लइरनाम्नि नगरे वास्तव्य आचार्य इति शेषः दत्तः शिष्यश्च हिण्डकस्तस्य उपहरति धात्रीपिण्डमङ्गुलिज्वलनाच्च सा देवीति गाथाक्षरार्थः। भावार्थस्तु सुवृद्धसंप्रदायादवगन्तव्यः। सचायं कोल्लयरे णयरे वत्थव्वा संगमथरो आयरिया दुब्भिक्खे तेहिं संजया विसज्जिया तं नगरं नवभागे का ऊणं जंघावलपरिहाणा विहरंति णगरदेवीया य तेसिं किरउवसंता तेसिं सीसो दत्तो नाम आहिंडओ चिरेणं कालेणं

उ दत्तवाहओ आगतो सो तेसिं पडिस्सयं न पविट्ठो नितया वासित्ति भिक्खा वेलाए उग्गाहियं हिडंताणं संकिलस्सइ कुद्धो सङ्घकुलाईण दावेतित्ति तेहिं नायं एगत्थ सेट्ठिकुले रेवइयाए गहितो दारओ छम्मासा रोव्वंतस्स आयरिएहिं चप्पुडिया कया मा रोवत्ति वाणमंतराए मुक्को तेहिं तुट्ठेहिं पडिलाभिया जहिच्छएणं सो विसज्जितो एयाणि कुलाणित्ति आयरिया सुचिरं हिंडिऊण अंतपंतं गहाय आगया समुद्दिट्ठा आवस्सए आलोयणाए आलोएहिं भणति तुब्भेहिं समं हिंडतो वि धातिपिंडो ते भुत्तो भणति अतिलुहुमाइं पेच्छहत्ति पदुट्ठो देवयाए अङ्गरत्ते वासं अधंकारो य विगुरूवितो एसो हिलेहित्ति आयरिएहिं भणितो अतिहिति सो भणइ अंधकारो त्ति आयरिएहिं अंगुली दाइया सा पज्जलिया आउट्टो आलोएति आयरिया वि से णवभागे कहेंति ततश्च यथा महात्मभिरमीभिः संगमस्थविरैश्चर्यापरिषहोऽध्यासितस्तथान्यैरप्यध्यासितव्य इति। उत्त०३ अ०।

एगचारि(न्)-त्रि०(एकचारिन्) एकः सन् चरति चर णिनि सुप्सुपेति स० असहायचरे, एकचरे, बुद्धिसहचरभेदे, पुं० वाच०। एक एव चरति तच्छीलश्चैकचारी प्रतिमाप्रतिपन्ने एकल्लविहारिणि जिनकल्पादिके, ''बहुजणे वा तह एगचारी'' सच प्रतिमाप्रतिपन्न एकल्लविहारी जिनकल्पादिर्वा स्यात्स च बहुजन एकाकी वा। सूत्र०१ श्रु०१३ अ०।

एगचोर-पुं०(एकचौर) चौरभेदे, एकचौरा ये एकाकिनः सन्तो हरन्तीति। प्रश्न०३ द्वा०।

एगच्च-त्रि०(एकार्च) एका असदृशी अर्चा शरीरं येषान्ते एकार्चाः असदृशशरीरे, अद्वितीयपूज्ये, संयमानुष्ठाने च। ''एगच्चा पुण एगभयंतारो'' एकार्चा अद्वितीयपूज्याः संयमानुष्ठानं वा एका असदृशी अर्चा शरीरं येषान्ते एकार्चा इति। उपा०२ अ०।

एगच्छत्त-एकच्छत्र-एकराजके, एगच्छत्तं ससागरं भुंजिऊण वसुहंति' प्रश्न०२ द्वा०।

एगजडि(न्)-पुं०(एकजटिन्) अष्टाशीतिषु महाग्रहेषु एका-शीतितमे महाग्रहे, सू०प्र०२०। चं०प्र०। कल्प०। स्थानाङ्गटीकायां तु त्र्यशीतितमः 'दो एगजडी' स्था०२ ठा०।

एगजाय-त्रि०(एकजात) रागादिसहायवैकल्यादेकीभूते, स्था० ६ ठा०। खग्गविसाणं व एगजाए, खड्ग आटव्यपशुविशेषः चतुष्पदविशेषः स ह्येकशृङ्गो भवतीत्युच्यते खड्ग विषा-णमिवैकजातो राजादि सहायवैकल्यादेकीभूत इत्यर्थः। प्रश्न० ५ द्वा०।

एगट्ठ-पुं०(एकार्थ) एकः अर्थः प्रयोजनमभिधेयं पदार्थो वा। एकस्मिन्प्रयोजने, एकस्मिन्नभिधेये पदार्थे च। वर्णाः पदं प्रयोगार्हान्विवैकार्थबोधकाः। वाच० एकोऽभिन्नोऽर्थो-ऽस्येत्येकार्थः। बहु० आचा०१ श्रु०५ अ०१ उ०। आ०म०प्र०। अभिन्नार्थे, पंचा०५ विव०। अनन्याभिधेये, पंचा०१३ विव०। एकार्थवाचके शब्दे, स्था०१० ठा०। ''चारो चरिया चरणं दगट्ठं वंजण तहिं छक्कं'' एकोऽभिन्नोऽर्थोऽस्येत्येकार्थः किं तद् व्यञ्जनम्। व्यज्यतेआ-विष्क्रियतेऽर्थोऽनेनेति व्यञ्जनम् आचा० १ श्रु० ५ अ०१ उ०। एकार्थश्च एकाशक्त्योपस्थितार्थकः वाच०। ''पच्चक्खाणं नियमो, चरित्तधम्मो य होंति एगट्ठा'' एकार्था अभिन्नार्था इति पंचा० ५ विव०। ''एक्कस्स य एत्तो नाम इगट्ठिया''एकोऽर्थो येषान्तान्येकार्थिकानीति आ०म०प्र०''नायं आहरणंति दिट्ठंतोवमनिदरिसणं चेव एगट्ठं'' एकार्थमेकार्थिक-जातमिति। दश०१ अ०। ''तत्थुग्गमो बसूई पभवो एमादि होंति एगट्ठा'' पंचा०१३ विव०। एकप्रयोजनयुक्ते, त्रि० वाच०।

एकस्थ-त्रि०(एकस्मिन्) तिष्ठति स्था०। एकत्रस्थिते, एकक्षेत्राश्रिते, ''दो वि तुल्ला एगट्ठा अवि से समणायत्ता'' एकस्थौ वा एक-क्षेत्राश्रितौ सिद्धिक्षेत्रापेक्षयेति भावः। भ०१४ श०६ उ०।

एकार्थ्य-न०एकार्थस्य भावः ष्यञ्-एकशक्त्या विशिष्टैकार्थोप-स्थापने एकार्थीभावे, एकप्रयोजने च। वाच०।

एगट्ठाण-न०(एकस्थान) एकमचलनेनाद्वितीयादिकं स्थानम-ङ्गन्यासमेकरूपे स्थाने, तद्विषयं प्रत्याख्यानमप्येकस्थानमेकमेव वा स्थानं यत्र तत्तथा। पंचा०५ विव०। एकमद्वितीयं स्थानम-ङ्गविन्यासरूपं यत्र तदेकस्थानम्। प्रत्याख्यानभेदे, ध०२ अधि०। तथा चाह ''एगट्ठाणं पचक्खाति चउव्विहंपि आहारं असणं पाणं खाइमं साइमं अन्नत्थणाभोगणं सहसागारीयागारेणं गुरु अब्भुट्ठाणेणं पारिट्ठावणिया-गारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिव-त्तियागारेणं वोसिरत्ति'' आव०६ अ०। ''सत्तेगट्ठाणस्स उ त्ति'' सप्तैकस्थानस्य तु एकस्थानं नाम प्रत्याख्यानं तत्र सप्ताकारा भवन्ति इहेदं सूत्रं एगट्ठाणमित्यादि एगट्ठाणए जं जहा अंगेविगं ठवियं तेण तहाठिएण चेव समुट्ठिसिअव्वं मागारा से सत्त आउट्टणपसारणा णत्थि सेसं जहा एक्कासणए'' पं०व०। आव०। सप्ताकार भवन्ति। एकमचलनेनाद्वितीयादिकं स्थानमङ्गन्यास-मेकरूपं स्थानं तद्विषयं प्रत्याख्यानमप्येकस्थानमेक एव वा स्थानं यत्र तत्तथा। तस्यैकस्थानस्य पुनस्तु शब्दः पुनः शब्दार्थो व्याख्यात एव। ते च यथैवैकाशनके नवरमाकुञ्चनप्रसारण- मिह नास्ति एकस्थानकस्य मुखहस्तवर्जाङ्गावयवाचलन-रूपत्वादिति। पंचा०५ विव०। तथा च अथैकस्थानके तत्र सप्ताकाराः अथ सूत्रम्। ''एकट्ठाणं पच्चक्खाइ'' इत्याद्येका-सनवदाकुञ्चनप्रसारणाकारवर्जमेकमद्वितीयं स्थानमङ्ग-विन्यासरूपं यत्र तदेकस्थानप्रत्याख्यानं यद्यथा भोजन-कालेऽङ्गोपाङ्गं स्थापितं तस्मिंस्तथा स्थापित एव भोक्तव्यम् मुखस्य पाणेश्चाशक्यपरि-हारत्वाच्चालनं न प्रतिषिद्धम्। आकुञ्चनप्रसारणाकारवर्जनं च एकाशनतो भेदज्ञापनार्थम् अन्यथा एकाशनमेव स्थादिति। ध०२ अधि०।

एगट्ठाणज्झयण-न०(एकस्थानाध्ययन) एकलक्षणं स्थानं संख्याभेदः एकस्थानन्तद्विशिष्टजीवाद्यर्थप्रतिपादनपरमऽध्ययनमप्येकस्थानमिति। एकस्थानकाख्यं प्रथममध्ययनमिति च। तत्र सामान्यमाश्रित्य प्रथमाध्ययने आत्मादिवस्त्वेकत्वेन प्ररूपितमिति स्था०२ ठा०।

एगट्ठाणिय-त्रि०(एकस्थानिक) सहजे स्वभावस्थे, ''निंबुच्छु रसो सहजो दुग्गइ चउभागकठिइक्कभागंतो इगट्ठाणए'' यथा निम्बरस एव इक्षुरस एव सहज स्वभावस्थ एकस्थानिकरस उच्यते इति। कर्म०॥

एगट्ठिय-पुं०(एकार्थिक) एकश्चासावर्थश्चाभिधेय एकार्थः। स यस्यास्ति एकार्थिकः। एकार्थवाचके पर्य्यायशब्दे, स्था०१ ठा०। आ०म०प्र०। पंचा०। तदात्मके सामान्यापेक्षया शब्दविशेषरूपे विशेषभेदे,तथाच स्थानाङ्गे दशविधविशेषमधिकृत्य''एगट्ठिएद य'' (एगट्ठिएइयत्ति) एकश्चासावर्थश्चाभिधेयः एकार्थः स यस्यास्ति स एकार्थिकः। एकार्थवाचक इत्यर्थः इतिः रूपप्रदर्शने चः समुच्चये स च शब्दसामान्यापेक्षयैकार्थिको नाम शब्द विशेषो भवति यथा घट इति तथा घट इति तथा अनेकार्थिको यथा गौः- यथोक्तं ''दिशि दृशि वाचि जले भुवि दिवि वज्रे शौ पशौ च गोशब्दः'' इति इहैकार्थिकविशेषग्रहणेनानेकार्थिकोऽपि गृहीतस्तद्विपरीतत्वान्नचेहासौ गण्यते दशस्थानकानुरोधादथ वा

कथंचिदेकार्थिके शब्दग्रामे यः कथञ्चिद्भेदः स विशेषः स्यादिति प्रक्रमः (इयत्ति) पूरणे यथा शक्रपुरन्दर इत्यत्रैकार्थे शब्दद्वये शकनकाल एव शक्रः पूर्दारणकाल एव पुरन्दर एवं भूतनयादेशा-दिति। स्था०१० ठा०। आचाराङ्ग निर्युक्तौ आचारमधिकृत्य ''तस्सेगट्ठियवत्तणं'' तस्य भावाचारस्य एकार्थाभिधायिनो वाच्याः ते च किंचिद्विशेषादेकमेवार्थं विशिंषन्तः प्रवर्तन्त इत्येकार्थिकाः शक्रपुरन्दरादिवत् एकार्थाभिधायिनां च बन्धानुलोम्यादि-प्रतिपत्त्यर्थमुद्घटनम्। आचा०१ उ०।

एकार्थाभिधाने को गुण इत्याह।

बंधाणुलोमया खलु, सुत्तम्मि य लाघवं असंमोहो।
सत्थगुणदीवणा वि य, एगट्ठगुणा हवंतेए॥

एकार्थिकाभिधाने यान्यर्थपदानि गाथादिभिर्बद्धुमिष्यन्ते तेषां बन्धे अनुलोमता भवति अननुकूलाभिधानपरिहारेणानुकूलाऽभिधाने बद्धो भवतीत्यर्थः। अनुकूलेन च विधानेन बद्धे सूत्रस्य लाघवं भवति। तथा विवक्षितार्थस्यासंमोहो निःसंदिग्धप्रतीतिर्यथा शक्र इति वा पुरन्दर इति वा इन्द्र इति वा इत्याद्युक्ते शक्रशब्दार्थस्य तथा शास्ता तीर्थकरस्तस्य गुणास्तेषां दीपना प्रकाशना भवति यथा अहो भगवान् एकैकस्यार्थस्य बहूनि पर्यायनामानि जानातिस्म एते एकार्थिनामभिधाने गुणा भवन्ति। वृ०१ उ०। (एकार्थिकाश्च तत्तच्छब्दे द्रष्टव्याः)।

✱**एकास्थिक**-त्रि० फलं फलं प्रति एकमस्थि येषान्ते एकास्थिकाः शेषाद्वेति कप्रत्ययः एकमस्थिकं फलमध्ये बीजं येषान्ते एकास्थिकाः। प्रत्येकबादर वनस्पतिकायिकवृक्षभेदे, प्रज्ञा० १ पद०। भ०। ''एगट्ठियं एगबीजं जहा अंवगोत्ति'' नि०चू०१ उ०।

तथा वैकास्थिकप्रतिपादनार्थमाह -

से किं तं एगट्ठिया ! एगट्ठिया अणेगविहा पण्णत्ता तं जहा ''निंबंव जंबुकोसं-वसाल अंकोल्लपीलुसेलूया। सल्लइ मोयइ मालूय, वउल पलासे करंजे य॥१॥ पुत्तं जीवअरिट्ठे, विभेलए हरिउए य भल्लाए। उंबेभरिया खीरिणि, बोधव्वे धायइ पियाले॥ पूई य निंबकरए, सण्हा तह सीसवा य असणे य। पुण्णाग नागरुक्खे, सिरवण्णी तहअसोगे य''जे यावन्ने तहप्पगारा एतेसिणं मूलाविअसंखिज्जजीविया कंधावि खंधावि तयावि सालावि पबालादि पत्तापत्ते य जीविया पुप्फा अणेगजीवा फला एगट्ठिया सेत्तं एगट्ठिया॥

अथ के ते एकास्थिका अनेकविधाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा। निबंबे इत्यादि गाथात्रयम् तत्र निम्बाम्रजम्बूकोशम्बाः प्रतीताः। शालः सर्जः। (अंकोल्लत्ति) अंकोठः प्राकृतत्वात्सूत्रे च ठकारस्य लादेशः अंकोल्ल इति वचनात्। पीलुः प्रतीतः शैलुः श्लेष्मान्तकः। शल्लकी गजप्रिया मोचिकीमालकौ देशविशेष-प्रतीतौ। वकुलः केसरः पलाशः किंशुकः करञ्जो नक्तमालः पुत्रजीवको देशविशेषप्रतिबद्धः अरिष्टः पिचुमन्दः विभीतकोऽक्षः हरीतकः कोङ्कणदेशप्रसिद्धः कषायबहुलः भल्लातको यस्य भिल्लातकाऽभिधानानि फलानि लोकप्रसिद्धानि। उम्बेभरिका क्षीरिणी। धातकी प्रियालिपूतिकरञ्जश्लक्षशिंशपाशन-पुन्नागनागश्रीपर्ण्यशोका लोकप्रतीताः (जे यावन्नेतहप्पगारा इति) येऽपि चान्ये तथाप्रकारा एवम्प्रकारास्तत्तद्देशविशेषभाविनस्ते सर्वेऽप्येकास्थिका वेदितव्याः एतेषामेकास्थिकानां मूलान्यप्व-संख्येयप्रत्येकशरीरजीवात्मकानि एव। कन्दा अपि स्कन्धा अपि त्वचोऽपि शाखा अपि प्रवाला अपि प्रत्येकमसंख्येय-प्रत्येकशरीरजीविकाः। तत्र मूलानि यानि कन्दस्याधस्ताद्भूमेरन्तः प्रसरन्ति तेषामुपरि कन्दास्ते च लोकप्रतीताः स्कन्धाः स्थूणाः त्वचः ठल्यः शालाः शाखाः प्रवालाः पल्लवाङ्कुराः ४ (पत्तापत्तेय जीवयत्ति) पत्राणि प्रत्येक जीवकानि एकैकं पत्रमेकैकेन जीवेनाधिष्ठितानीति भावः। पुष्पाण्यनेकजीवानि प्रायः प्रतिपुष्पं प्रतिपत्रं जीवभावात्फला-न्येकास्थिकानि उपसंहारमाह (सेत्तं एगट्ठिया) सुगमम्। प्रज्ञा०१ पद।

अह भंते अत्थिय तंदुयवोरकविट्ठअंवाडगमाउल्लिंग-विल्लआमलगफणसदालिमअंसोट्ठ अवरचरुणगो अणा-दिरुक्खपिप्पलिसतरपिलक्खुकाडंवरियकुच्छुंभरियदेवदारु-तिलगउहच्छतो हसरीससतवण्णदधिवण्णलोद्धवचंदण-झुणणीवकुडी गकलंवाणं। एएसि णं जे जीवा मूलत्ताए वक्कमंति तेणं भंते! एवं एत्थवि मूलादीया दस उद्देसगा तालवग्गसरिसा णयेव्वा जाव वीयं। भ०२२ श०२ उ०।

एगट्ठियदोस-पुं०(एकार्थिकदोष) शब्दान्तरापेक्षयैकार्थिकशब्द इत्येवंरूपे दोषसामान्यापेक्षया दोषाविशेषे, स च स्थानाङ्गे यथा ''दोसे एगट्ठिए इय'' अथवा दोषशब्द इहापि संबध्यते। ततश्चायं न्यायो ग्रहणे शब्दान्तरापेक्षयैकार्थिकः शब्दो नाम यो दोष इति। अयमपि च दोषसामान्यापेक्षया विशेष इति। स्था०१० ठा०।

एगट्ठियपय-न०(एकार्थिकपद) सिद्धश्रेणिकपरिकर्म्मिकश्रुत-विशेषे, स०। (तद्वक्तव्यता सिद्धसेणियपरिकम्मिय शब्दे)

एगट्ठियाणुजोग-पुं०(एकार्थिकानुयोग) एकश्चासावर्थश्चाभिधेयो जीवादिः स येषामस्ति ते एकार्थिकाः शब्दास्तैरनुयोगस्तत्कथन-मित्यर्थः। एकार्थिकशब्दैः कथनरूपे द्रव्यानुयोगभेदे, एकार्थिकाऽनुयोगो यथा जीवद्रव्यं प्रतिप्राणिभूतः सत्व इति एकार्थिकानां वाऽनुयोगो यथा जीवनात्प्राणधारणाज्जीवः प्राणानामुच्छ्वासादीनामस्तित्वात्प्राणी सर्वदा भवनाद् भूतः सदा सत्वात्सत्व इत्यादि। स्था०१० ठा०।

एगणाम(न्)-न०(एकनामन्) नामोपक्रमभेदे,

से किं तं एगणामे एगणामे नामाणि जाणि काणि अदव्वाणं गुणाणं पज्जवएणं च तेसिं आगमनिहसेनाति-यक्खे आसिणासे तेणे एगनामे।

इह येन केनचिन्नाम्ना एकेनापि सता विवक्षितपदार्था अभिधातुं शक्यन्ते तदेकनामोच्यते इति। अनु०। एकं नामयति क्षपयतीत्येकनामः। एकस्य क्षपके, त्रि०।

जे एगणामे से बहुणामे जे बहुणामे से एगणामे इति

यो हि प्रवर्द्धमानशुभाध्यवसायाधिरूढकरण्डकः एकमनन्तानुबन्धिनं क्रोधं नामयति क्षपयति स बहून् मानादीन्नाशयति क्षपयत्यप्रत्याख्यानादीन् वा स्वभेदान्नामयति मोहनीयं चैकं यो नामयति स शेषा अपि प्रकृतीर्नामयति यो वा बहून् स्थिति-विशेषान्नामयति सोऽनन्तानुबन्धिनमेकं नामयति मोहनीयं वातः अस्यैकोनसप्ततिभिर्म्मोहनीयकोटाकोटीभिः क्षयमुपगताऽभिर्ज्ञानावरणीयदर्शनावरणीयवेदनीयान्तरायाणामेकोनत्रिंश-द्भिर्नामगोत्रयोरेकोनविंशतिभिः शेषकोटाकोट्यापि देशोनया मोहनीयक्षपणार्हो भवति नान्यदेत्यतोऽपदिश्यते यो बहु नाम स एव परमार्थत एकनाम इति क्षपकोऽभिधीयते उपशामको वा उपशमश्रेण्याश्रयेणैकबहूपशमतावदेकोपशसता वा वाच्येति। आचा०१ श्रु०३ अ०।

एगणासा-स्त्री०(एकनासा) पश्चिमरूचकवास्तव्यायां स्वनाम-ख्यातायां पश्चिमदिक्कुमार्य्याम्, आव०१ अ० आ०म०प्र०। स्था०। द्वा०। आ०चू०।

एगणिक्खमण-त्रि०(एकनिष्क्रमण) एकनिष्क्रमणोपेते, तथा चावश्यके द्वादशावर्त्तं बन्दनकमधिकृत्य ''एगनिक्खमणं चेव'' एकनिष्क्रमणमावश्यिकया निर्गच्छत इति-आव०३ अ०। एकनिष्क्रमणमवग्रहादावावश्यिक्या निर्गच्छतो द्वितीयवेलायां ह्यग्रहान्न निर्गच्छति पादपतित एव सूत्रं समापयतीति। सम० १ स०।

एगणिसिज्जा-स्त्री०(एकनिषद्या) एकाशनपरिग्रहे, ''से भगवं महावीरे एगदिवसेणं एकनिसिज्जाए चउप्पन्नाइं वागरणाइं वागरित्था'' सम०।

एगत(य)र-त्रि०(एकतर) एक उत्तरद्वयोर्मध्ये जातिगुणक्रियादिभिर्निर्धार्य्ये एकस्मिन्, एकतरो ब्राह्मणः एकतरः शूद्रः एकतरो नील एकतरः शुक्ल इत्यादि। वाच०। ''एत्तो एकतरमवि'' एकतरमपि अन्यतरदपीति, । विपा०७ अ०। ''एगतरे अण्णतरे अभिण्णाय'' आचा०१ श्रु०६ अ०२ उ०। ''अब्भुज्जियमेगयरं'' अभ्युद्यतं प्रयतमेकतरं द्वयोरन्यतरमिति पंचा०। १८ विव०।

एगतलिय-त्रि०(एकतलिक) एकतलोपेते, (तलिंगत्ति) उपान-हस्ताश्च एकतलिकास्तदभावे यावच्चतुस्तलिका अपि गृह्यन्त इति। प्रव०८३ द्वा०।

एगता(या)-स्त्री०(एकता) एकस्वभावः एक-तल्-एकत्वे, वाच०।

एगताणया-स्त्री०(एकानता) विसदृशपरिहारेण सदृशपरिणामधाराबन्धे, ''चित्तस्य धारणादेशे प्रत्ययस्यैकतानाता'' द्वा० २४ द्वा०। अभेदपरिणतौ, अष्ट०।

एगत्त-न०(एकत्व) एकस्य भावेत्व-एकत्वसंख्यायाम्, साम्ये, श्रेष्ठत्वे, वाच०। अभेदे च। स्था०४ ठा०। आव०। एकरूपत्वे, स्था० ७ ठा०। एकवचने च। स्था० १० ठा०(एगत्ति) एकत्वमेकवचनं तदनुयोगो यथा सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग इत्यत्रैकवचनं सम्यग्दर्शनादीनां समुदितानामेवैकमोक्ष-मार्गत्वख्यापनार्थमसमुदितत्वे त्वमोक्षमार्गतेति प्रतिपादनार्थ- मिति। स्था०१० ठा०। ''दो सा एगत्तभावणा'' नि०चू०२० उ०।

एगत्तगय-त्रि०(एकत्वगत) एकत्वभावनाभावितान्तःकरणे, ''णिक्खंते एगत्तगए'' आचा०१ श्रु०६ अ०१ उ०।

एगत्तभावना-स्त्री०(एकत्वभावना) भावनाभेदे, तत्स्वरूपं यथा -

अण्णो देहातो अहं-ताणत्तं जस्स एवमुवलद्धं।
सो किं विसहारिकं, न कुणइ देहस्स लंगे वि॥

अहं देहादन्य इत्येवमेकत्वभावनया यस्य साधोः परिकर्मणां कुर्वतः शरीरादात्मा नानात्वमुपलब्धः स दिव्यादिषु उपसर्ग-वेलायां देहस्य भङ्गेऽपि विनाशेऽपि न किंचिदपि (आहरिक्कमिति) उच्चासं न करोति। गता एकत्वभावना। व्य०प्र०१ उ०। अथैकत्वभावना उत्पद्यते जन्तुरिहैक एव, विपद्यते चैकक एव दुःखी। कर्म्मार्जयत्येकक एव चित्रमासेवते तस्फलमेक एव १ यज्ञीवेन धनं स्वयं बहुविधैः कष्टैरिहोपार्ज्यते तत्संभूय कलत्रमित्रतनयैर्भ्रात्रादिभिर्भुज्यते। तत्तत्कर्मवशाच्च नारकनरस्ववर्वासितिर्यग्भवेष्वेकः सैष सुदुःसहानि सहते दुःखान्यसंख्यान्यहो ॥२॥ जीवो यस्य कृते भ्रमत्यनुदिशं दैन्यं समालम्बते, धर्म्मादभ्र-स्यति वञ्चयत्यतिहितान्न्यायादपक्रामति। देहः सोऽपि सहात्मना न पदमप्येकः परस्मिन् भवे, गच्छत्यस्य ततः कथं वदत भोः साहाय्यमाधास्यति॥३॥ स्वार्थैकनिष्ठं स्वजनं स्वदेह-मुख्यं ततः सर्वमवेत्य सम्यक्। सर्वस्य कल्याणनिमित्तमेकं, धर्मं सहायं विदधीत धीमान्॥४॥ प्रव०६७

अस्याः स्वरूपमुदाहरणञ्च यथा-

जइ वि य पुव्वं ममत्तं, छिन्नं साहूहिं दारमाईसु।
आयरियाइममत्तं, तहा वि संजायए पच्छा॥

यद्यपि च पूर्वं गृहवासकालभावि ममत्वं साधुभिर्दाराःकलत्रं तेष्वादिग्रहणात्पुत्रादिषु छिन्नमेव तथाप्याचार्यादिविषयं ममत्वं पश्चात्प्रव्रज्यापर्यायकाले संजायते। तच्च कथं परिहापयितव्यम्। उच्यते -

दिट्ठिनिवायालावे, अ परोप्परकारिय सपरिपुच्छं।
परिहासमिहो य कहा, पुव्वपवित्ता परिहवेइ॥

गुर्वादिषु ये पूर्वं दृष्टिनिपाताः सस्निग्धावलोकनानि ये च तैः सहालापास्तान् तथा परस्परोपकारितां मिथो भक्तपानदानग्रहणाद्युपकारं प्रतिपृच्छं सूत्रार्थादिप्रतिपृच्छया सहितं परिहासं हास्यं मिथः कथाश्च परस्परवार्ताः पूर्वप्रवृत्ताः सर्वा अपि परिहापयति। ततश्च।

तणुईकयम्मि पुव्वं, बाहिरपेम्मे, सहायमाईसु।
आहारे उवहिम्मि य, देहे य न सज्जए पच्छा॥

सहायः संघाटिकसाधुस्तद्विषये आदिशब्दादाचार्यादिविषये च बाह्यप्रेमणि पूर्वं तनुकीकृते परिहापिते सति ततः पश्चादाहारे उपधौ देहे च न सज्जति न ममत्वं करोति। ततः किं भवतीत्याह -

पुव्व छिन्नममत्तो, उत्तरकालं विवज्जमाणे वि।
साभावियइयरे वा, खुभइ दट्ठुं न संगइ ए॥

पूर्वं छिन्नममत्वाः सर्वेऽपि जीवा असकृदनन्तशो वा सर्वजन्तूनां स्वजनभावेन शत्रुभावेन च संजाता अतः कोऽत्र स्वजनः को वा पर इति भावनया त्रुटितप्रेमबन्धः सन्नुत्तरकालं जिनकल्पप्रतित्त्यनन्तरं व्यापाद्यमानानपि सङ्गति॥ कान् स्वजनान् स्वजातिकानितरान् वा वैक्रियशक्त्या देवादिनिर्मितान् दृष्ट्वा न क्षुभ्यति ध्यानान्न चलति। अत्रदृष्टान्तमाह -

पुप्फपुर पुप्फकेऊ, पुप्फवई देविजुअलयं पसवे।
पुत्तं च पुप्फचूलं, धूअं च सनामियं तस्स।
सह वड्ढियाण रागो, रायत्तं चेव पुप्फचूलस्स।
घरजामातुदगाणं, मिलइ निसि केवलं तेणं।
पव्वज्जा य नरिंदे, अणुपव्वयणं च गेगत्ते।
वीमंसा उवसग्गे, विडेहि समुहिं च कंदयणा।

पुप्फपुरं नयरं तत्थ पुप्फकेऊ राया पुप्फवई देवी सा अन्नया जुयलं पसूया पुप्फचूलो दारओ पुप्फचूला दारिया। ताणिं दोणि सह वड्ढियाणि परोप्परं अईव अणुरत्ताणि। अन्नया पुप्फचूलो राया पव्वइओ अणुरागेणं पुप्फचूलावि भगिणी पव्वइया। सो य पुप्फचूलो अन्नया जिनकप्पं पडिवज्जिउकामो एगत्त भावणाए अप्पाणं भावेइ। इओ य एगेणं देवेणं वीमंसणानिमित्तं पुप्फचूलाए अज्जाए रूवं विउव्विय धुत्ता धरिसिउं पवत्ता। पुप्फचूलो य अणगारो तेणं ओगा-सेणं बोलेइ ताहे सा पुप्फचूला अज्जा जेट्ठज्जे सरणं भवाहित्ति वाहइ सो य भगवं वुच्छिन्नपेमबंधणो 'एगो हं नत्थि मे को वि नाहमन्नस्स कस्सई' इच्चाइ एगत्तभावणं भाविंतो गओ सट्ठाणं। एवं एगत्तभावणाए अप्पाणं भावेयव्वोत्ति। गाथाक्षरयोजना त्वेवं पुष्पपुरे पुष्पकेतू राजा पुष्पवती देवी युगलं प्रसूते वर्तमाननिर्देशस्तत्कालविवक्षया पुत्रं च

पुष्पचूलं दुहितां च तस्य सनामिकां समानाभिधानां तयोश्च सहवर्द्धितयोरऽनुरागो राजत्व चैव पुष्पचूलस्य पुष्प-चूलायाश्च गूहया मात्रे दानम्। सा च तेन भर्त्रा समं केवलं निशि रात्रौ मिलति, प्रव्रज्या च नरेन्द्रपुष्पचूलस्य तदनुरागेणानुप्रव्रजनं च पुष्पचूलायाः। ततो जिनकल्पं प्रतिपित्सुरेकत्वभावनां भावयितुं लग्नो विमर्श- परीक्षां तदर्थं देवेनोपसर्गे क्रियमाणे विटैः संमुखीं पुष्पचूलां कृत्वा धर्षणं कर्तुमारब्धम्। ततः क्रन्दनाः आर्य! शरणं शरणमिति। अथोपसंहारमाह -

एगत्तभावणाए, न कामभोगे गणे सरीरे वा।
सज्जइ वैरग्गगओ, फासेइ अणुत्तरं करणं॥

एगत्वभावनया भाव्यमानो यः कामभोगेषु शब्दादिषु, गणे गच्छे शरीरे वा न सज्जति न सङ्गं करोति किंतु वैराग्यगतः सन् स्पृशत्याराधयति अनुत्तरं करणं प्रधानयोगसाधनं जिनकल्पपरि-कर्मेति। गता एकत्वभावना। एकत्वभावनया चात्मानं भावयन् गुर्वादिषु दर्शनालापादिपूर्वं परिहरति। ततो बादरममत्वे मूलत एव विच्छन्ने देहोपध्यादिभ्योऽप्यात्मानं भिन्नमेव लोकयन् सर्वथा तेषु निरभिष्वङ्गो भवति- ध० ४ अधि०। तथाचाह -

एगंतमेयं अभिपत्थएज्जा, एवं पमोक्खो न मुसंति पासं।
एस प्पमोक्खो अमुसे वरे वि, अकोहणे सच्चरते तवस्सी॥१२॥

एकत्वमसहायत्वमभिप्रार्थयेदेकत्वाध्यवसायी स्यात्। तथाहि जन्मजरामरणरोगशोकाकुले संसारे स्वकृतकर्मणा विलुप्यमानानामसुमतां न कश्चित्त्राणसमर्थः सहायः स्यात्। तथा चोक्तं "एको मे सासओ अप्पा णाणदंसणसंजुओ॥ सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संयोगलक्खणा" इत्यादिकामेकत्वभावनां भावयेदेवमनयैकत्वभावनया प्रकर्षेण मोक्षः प्रमोक्षो विप्रमुक्तसंगता न मृषा अलीकमेतद्भवतीत्येवं पश्य। एष चैकत्वभावनाभिप्रायः प्रमोक्षो वर्त्तते अमृषारूपः सत्यश्चायमेव। तथा वरोऽपि प्रधानो-ऽप्ययमेव भावसमाधिर्वा यदिवा तपस्वी तपोनिष्टप्तदेहोऽक्रोधन. उपलक्षणार्थत्वादमानो निर्मायो निर्लोभः सत्यरतश्च एष एव प्रमोक्षोऽमृषासत्यो वरः प्रधानश्च वर्तत इति। सूत्र०१ श्रु०१ अ०।

एगे चरे ठाणमासणे, समणे एगे समाहिए सिया।
भिक्खू उवहावीरिए, वइगुत्ते अज्झत्तसंवुडो॥१२॥

(एगेचरे इत्यादि) एकोऽसहायो द्रव्यत एकल्लविहारी भावतो रागद्वेषरहितश्चरेत्। तथा स्थानं कायोत्सर्गादिकमेक एव कुर्यात्। तथा आसनेऽपि व्यवस्थितोऽपि रागद्वेषरहित एव तिष्ठेत्। एवं शयनेऽप्येकाक्येव समाहितो धर्मादिध्यान युक्तः स्यात् भवेत्। एतदुक्तं भवति। सर्वास्वऽप्यवस्थानासनशयनरूपासु रागद्वेष-विरहात् समाहित एव स्यादिति। तथा भिक्षणशीलो भिक्षुः। उपधानं तपस्तत्र वीर्यं यस्य स उपधानवीर्यः। तपस्यनिगूहितबलवीर्य इत्यर्थः। तथा वाग्गुप्तः सुपर्यालोचिताभिधायी अध्यात्मं मनस्तेन संवृतो भिक्षुर्भवेदिति॥१२॥ सूत्र०१ श्रु०२ अ०२ उ०।

एगत्तवियक्क-त्रि०(एकत्ववितर्क) एकत्वेनाभेदेनोत्पादादिपर्यायाणामन्यतमैकपर्य्यायालम्बनयेत्यर्थः वितर्कः पूर्वगतः श्रुताश्रयो व्यञ्जनरूपोऽर्थरूपो वा यस्य तदेकत्वविवर्कम्। शुक्लध्यानभेदे, स्था०४ ठा० भ० आव०। (तद्वक्तव्यता 'सुक्कज्झाण' शब्दे)

एगत्ताणुओग-पुं०(एकत्वानुयोग) एकत्वमेकवचनन्तदनुयोग एकत्वानुयोगः। शुद्धवागनुयोगभेदे, स च तथा सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्ग इत्यत्रैकवचनं सम्यग्दर्शना दीनां समुदितानामेवैकमोक्षमार्गत्वख्यापनार्थमसमुदितत्वेत्वमोक्षमार्गतेति प्रतिपादनार्थमिति। स्था०१० ठा०।

एगत्तिय-त्रि०(एकत्विक) एकनरकाद्याश्रिते, एए एगइया सत्त दंडगा भवंति॥ (एगत्तियत्ति) एकत्विका एका नारकाद्याश्रिता इति। भ०१२ श०४ उ०।

एगत्तीकरण-न०(एकत्वीकरण) अनेकावलम्बनत्वस्यैकावलम्बनत्वकरणे, "मणसा एगत्तीकरणेणं" अनेकत्वस्यानेकावलम्बनत्वस्य एकत्वकरणमेकावलम्बनत्वकरणमेकत्वीकरणं तेनेति भ०२ श०५ उ०।

एगत्तीगय- त्रि० (एकत्वगत) संघातमापन्ने, "ताहे से पएसा एगत्तीगया भवंति" एकत्वगताः संघातमापन्ना भवन्तीति। भ०८ श०६ उ०।

एगत्तीभावकरण- न० (एकत्वीभावकरण) अनेकस्य सत एकतालक्षणभावकरणे, भ०८ श०६ उ०। एकाग्रतायाम्, "मणसा एगत्तीभावकरणेणं" अनेकत्वस्य एकत्वस्य भवनमेकत्वीभाव-स्तस्य यत्करणं तत्तथा तेन एकत्वीभावकरणेन आत्मन इति गम्यते मनस एकाग्रतयेत्यर्थः। औप०। तथा च भगवत्याम् योगप्रतिसंलीनतायास्तृतीयप्भेदमधिकृत्योक्तम्॥ "मणस्स एगत्तीभावकरणं" विशिष्टैकाग्रत्वेन एकता तद्रूपस्य भावस्य करणमेकताभावकरणम्। आत्मना वा सहैकता निरालम्बनत्वं तद्रूपो भावस्तस्य करणं यत्तत्तथा। वाक्प्रतिसंलीनताया अपि तृतीयं भेदमधिकृत्य तत्रैवोक्तम् "वइएचा एगत्तीभावकरणं"॥ वाचो वा विशिष्टैकाग्रत्वेन एकतारूपभावकरणमिति। भ०२५ श०७ उ०।

एगत्थ-अव्य० (एकत्र) एक० त्रल्० एकस्मिन्नित्यर्थे, वाच०। "इय एगत्थ लोगं मिलितंति" नि०चू०१ उ०।

एगदंडिन्-पुं० (एकदण्डिन्) एकः केवलः शिखायज्ञोपवीता-दिशून्यो वा दण्डोऽस्यास्तीति इन्। "यदा हृदाऽध्यवसितं परंब्रह्म सनातनम्। तदैकदण्डं संगृह्य, सोपवीतां शिखां त्यजेत्" इम्युक्त-लक्षणे (वाच०) परतीर्थिके परिव्रजकभेदे, संन्यासी तावच्चतुर्विधः कुटीचकबहूदकहंसपरमहंसभेदात्। तत्र कुटीचकबहूदकयो-स्त्रिदण्डधारणम्। हंसस्यैकदण्डधारणम्। परमहंसस्य न दण्डधारणमिति भेदः। वाच०। एकदण्डिकाः पञ्चविंशतितत्व परिज्ञानान्मुक्तिरित्याभिहितवन्तः। सूत्र०१ श्रु०१ अ०३ उ०।

एगदंतसेढि-त्रि०(एकदन्तश्रेणि) एकदन्तस्य श्रेणिः षड्क्तिर्यस्य स तथा। औप०। एकाकारदन्तपङ्क्तौ, जी०३ प्रति०। "एगदंतसेढी विव अणेगदंतो" एकस्य दन्तस्य श्रेणिः पङ्क्तिर्यस्य स तथा स इव परस्परानुपलक्षमाणदन्तविभागत्वात् अनेके दन्ता यस्य स तथा। औप०। एको दन्तो यस्याः सा एकदन्ता सा श्रेणिर्येषां ते तथा त इव दन्तानामपि घनत्वादेकदन्तेव दन्तश्रेणिस्तेषामिति भावः। अनेकदन्तो द्वात्रिंशद्दन्त इति भावः। प्रश्न०४ द्वा०। तं०। जी०।

एगदा(या)-अव्य०(एकदा) कदाचिदित्यर्थे, "एगया समि-यस्स" एकदा कदाचित् गुणसमितस्य गुणयुक्तस्येति आचा० १ श्रु०५ अ०४ उ०। "इत्थिओ एकता णिमंतंति" सूत्र०१ श्रु० ४ अ०"सजणेहिं तस्स पुच्छिस्सु एगचरा वि एगदा" आचा०१ श्रु० ६ अ०२ उ०।

एगदिट्ठि-स्त्री०(एकदृष्टि) एका अभिन्ना अनन्यविषयत्वात् दृष्टिः। अनन्यविषयदर्शने, बहु० तथादृष्टियुक्ते, त्रि० वाच०। "अणिमिसणयणेगदिट्ठीए" एकदृष्टिक एकपुद्गलगतदृष्टिरिति-

पंचा०१८ विव०। काणे च। त्रि०। काणत्वञ्च चक्षुःशून्यैकगोलकवत्त्वमन्धत्वं चक्षुरिन्द्रियशून्यत्वमिति भेदः। काके, पुं०। वाच०।

एगदुक्ख-त्रि०(एकदुःख) एकदुःखोपेते, ''एगे दुक्खे जीवाणं एकमेवान्तिमभवग्रहणसंभवं दुःखं यस्य स एकदुःख इति। स्था० १ ठा०।

एगपएसता-स्त्री०(एकप्रदेशता) एकप्रदेशस्वभावे, ''एकप्रदेशता चेहाखण्डबन्धनिवासता एकप्रदेशस्वभाव एकप्रदेशता। सा चेहैकत्वपरिणतिः। अखण्डाकारबन्धस्य संनिवेशस्तस्य निवासता भाजनत्वं ज्ञातव्यम्। निष्कर्मस्त्वयम् अखण्डतया आकृतीनां सन्निवेशः परिणमनव्यवहारः तस्य भाजनमाधाराधेयत्व-मेकप्रदेशतोच्यते। द्रव्य०१२ अध्या०।

एगपएसोगाढ-त्रि०(एकप्रदेशावगाढ) एकस्मिन् प्रदेशेऽवगाढ-मेकप्रदेशावगाढम्। कर्म०। एकप्रदेशव्यवस्थिते, ''एगपएसोगाढं परमोही लहइ कम्मगसरीरं'' प्रकृष्टो देशः प्रदेशः एकश्चासौ प्रदेशश्च एकप्रदेशः तस्मिन्नवगाढं व्यवस्थितमेकप्रदेशावगाढं परमाणु-द्व्यणुकादि द्रव्यमिति। आ०म०प्र०। स्था०।

एगपक्ख-पुं०(एकपक्ष) एकः पक्षो यस्य। असहाये, कर्म०। एकत्रपक्षे, वाच०। एकः पक्षोऽस्येति एकपक्षाश्रिते, एकान्तिके च। ''इमं दुपक्खं इममेगपक्खं'' इदमस्मदभ्युपगतं दर्शनमेकः पक्षोऽस्येति एकपक्षमप्रतिपक्षतयैकान्तिकमविरुद्धार्था-भिधायितया निष्प्रतिबाधं पूर्वापराविरुद्धमित्यर्थः। तथेदमेकः पक्षोऽस्येत्येकपक्षम्। इहैव जन्मनि तस्य वेद्यत्वात्। तच्चेदम-विज्ञोपचितं परिज्ञोपचितमीर्य्यापथं स्वप्नादिकश्चेत्यक्रिया-वादिनश्चार्वाकबौद्धादयः। सूत्र०१ श्रु०१२ अ०।

एगपत्तय-त्रि०(एकपत्रक) एकं पत्रं यत्र तदेकपत्रकम्। अथवैकं च तत्पत्रं चैकपत्रं तदेवैकपत्रकम्। एकपत्रोपेते, एकपत्रे, न०। ''उप्पले णं भंते! एगपत्तए किं एगजीवे'' एकपत्रकं चेह किशलावस्थाया उपरि द्रष्टव्यम्। भ०११ श०१ उ०।

एगपरिरय-त्रि०(एकपरिरय) एकपर्याये, ''एगपरिरयंति वा एगपज्जायंति वा एगणामभेदं ति वा एगट्ठा तं च जहा कस्सति दव्वस्स एगेव णाम भवति णो वितियंति'' आचू०१ अ०।

एगपिंडिय- त्रि० (एकपिण्डित) एकका: सन्तः पिण्डिता एकपिण्डिताः। एकवर्णेण पिण्डिते, ''एगदुगपिंडियाणंपि'' एक द्विकपिण्डितानामपि पञ्चाप्येककाः सन्तः पिण्डिता एक-पिण्डिताः। अथवा द्विकेन वर्गद्वयेन एक एककी एकश्चतुर्वर्गः। अथवा एको द्विवर्गोऽपरस्त्रिवर्ग इत्येवंरूपेण पिण्डिता एकद्विकपिण्डितास्तेषामेकद्विकपिण्डितानामपीति। 'एगदुग-पिंडिया विहु' एककाः पिण्डिता एकपिण्डिता द्विपिण्डिता द्विकेन वर्गद्वयेन पिण्डिता अपिशब्दात् त्रिकपिण्डिताश्चतुष्कपिण्डिता-श्चेति। व्य०प्र०१ उ०।

एगपुड-त्रि०(एकपुट) एकतले, नि०चू०२ उ०।

एगप्प-पुं०(एकात्मन्) एकस्मिन्नात्मनि,। एक आत्मा स्वरूपं स्वभावो वा यस्याः। एकस्वरूपे, एकस्वभावे, त्रि० स्त्रियां टाप् वाच०। चेतनाचेतनं सर्वमेकात्मविवर्त इत्यात्माद्वैतवादे, तस्य च सूत्रकृताङ्गस्य प्रथमाध्ययनप्रथमोद्देशके द्वितीयोर्थाधिकारः। तथोद्देशार्थाधिकारम-धिकृत्य निर्युक्तिकृत्''पंचमहभूय एक्कप्पए च'' चेतनाचेतनं सर्वमेकात्मविवर्त इत्यात्माद्वैतवादः प्रतिपाद्यत इत्यर्थाधिकारो द्वितीय इति। सूत्र०१ श्रु०१ अ०। (आत्माद्वैतवादस्य निरूपणनिराकरणे एगावादि शब्दे)

एगप्पवाइ(न्)-(एकात्मवादिन्) आत्माद्वैतवादिनि, सूत्र० १ श्रु०१ अ०।

एगप्पवाय-पुं०(एकात्मवाद) आत्माद्वैतवादिनि, सूत्र० १ श्रु० १ अ०।

एगप्पमुह-पुं०(एकप्रमुख) एको मोक्षोऽशेषमलकलङ्क-रहितत्वात्संयमो वा रागद्वेषरहितत्वात् प्रगतं मुखं यस्य स तथा। मोक्षे, तदुपाये वा दत्तदृष्टौ, ''णारभेकच्चणं सव्वए एकप्पमुहे'' आचा०१ श्रु०५ अ०३ उ०।

एगभत्त-न०(एकभक्त) एकं भक्तं भोजनं यत्र। एकाशनके, ''तह एगभत्तं च'' एकभक्तं च एकाशनकं चेति। पंचा०१२ विव०। एकस्मिन् भक्तः। नितान्तभक्ते, त्रि०वाच०।

एगभत्तट्ठ-पुं०(एकभक्तार्थ) एकयोग्ये भक्ते, ''दसुवक्खंडियम्मि एगभत्तट्ठो'' यावद्दशानां योग्यमुपस्कृतं तावदेकभक्तार्थो ग्राह्यः। एकयोग्यं तत्र भक्तं ग्राह्यमिति भावः। व्य०१ उ०।

एगभविय-पुं०(एकभविक) य एकेन भवेन गतेनानन्तरभव एवोत्पत्स्यते तस्मिन्। सूत्रकृताङ्गे द्रव्यपौण्डरीकमधिकृत्य ''एगभविए य बद्धाउए य''॥ एकेन भवेन गतेनानन्तरभवे एव पौण्डरीकेषूत्पत्स्यते स एकभविक इति। सूत्र०२ श्रु०१ अ०। द्रव्यार्द्रकमधिकृत्यापि ''एगभवियबद्धाउया'' एकेन भवेन यो जीवः स्वर्गादिरागत्यार्द्रककुमारत्वेनोत्पद्यते इति। सूत्र०१ श्रु० ६अ० एगभविओ जो अणंतरं उव्वट्टित्ता वितिए भवे भिक्खू होहिति'' नि०चू०१ उ०।

एगभाव-पुं०(एकभाव) एको भावः। अनन्यविषये, रागे, एकस्वभावे, एकाशये, अभिन्नत्वे, अभेदे, तुल्यभावके, त्रि० वाच०। एकस्वभावे, ''तओ पच्छा एगभावे एगभूते सिया'' एको भावः सांसारिकसुखविपर्ययात् स्वाभाविकसुखरूपो यस्यासावेकभावोऽत एव च एकभूत एकत्वं प्राप्त इति- भ० १४ श०४ उ०।

एगभूय-त्रि०(एकभूत) एकत्वं प्राप्ते, भ०१४ श०१ उ०। एकस्मिन् भूते एकासक्ते च। वाच०। अनन्यतया व्यवस्थिते,''एतेगे दुक्खे जीवाणं एगभूते'' एकभूतमनन्यतया व्यवस्थिते प्राणिषु न सांख्यानामिव बाह्यमिति। स्था०१ ठा०। एक इव एकभूतः। एकतुल्ये, ''एगे दुक्खे जीवाणं'' एगभूत इवात्मोपम इत्यर्थ इति। स्था०१० ठा०।

एगमडंब-न०(एकमडम्ब) निवेशविशेषे, ''कारणमेगमडंबे'' कारणमशिवादिलक्षणमधिकृत्य कोऽपि साधुरेकाकी जातः कथमप्येकमडम्बे गतः एकमडम्बं नाम यस्य निवेशस्य सर्वासु दिक्षु च नास्ति कोऽप्यन्यो ग्रामो नगरं वा तस्मिन्नेकमडम्बे गत इति। व्य०३ उ०।

एगमण-त्रि०(एकमनस) एकाग्रचित्ते, ''जाणइ सुहमेगमणो'' एकसना एकाग्रचित्त इति। आव०५ अ०। ''जं तं झुयंति एगमणा'' एकाग्रमनसस्सन्त इत्यर्थः'' संथा०।

एगमेग-त्रि० (एक्कमेक्क एक्केक्क इक्किक्क एक्कैक) सुबन्तस्यैकस्य वीप्सार्थेद्वित्वम् ''एकं बहुव्रीहिवत्'' पा०इति द्विरुक्तएकशब्दो बहुव्रीहिवत् तेन सुब्लोपपुंवद्भावौ। वाच०। **वीप्सात्स्यादेर्वीप्स्ये स्वरे मो वा'' ८।३।१।** इति सूत्रेण वीप्सार्थात्पदात्परस्य स्यादेः स्थाने स्वरादौ वीप्सार्थे पदे परे मो वा भवति। एक्कमेकम्। प्रा०। प्रत्येकपदार्थे वाच०। ''ता एएणं दुवे सूरिया तीसाए मुहुत्तेहिं एगमेगं अद्धमंडलं चरतः'' इति चं०१ पाहु०।

एक्केक्कमसंजुत्तं भत्तट्ठं एगमेगस्स'' एकैकेन संयुक्तमेकः साधुः एकेन सह संयुक्तो यस्मिन्नानयने तदेकैकमिति। औघ०। ''एवमिक्किक्के आलावगा भाणियव्वा'' स्था०२ ठा०।

एगमेक्कपक्ख-पुं०(एकैकपक्ष) उभयगणे, ''एक्कमेक्कपक्खोणाम जो उभयगणो भवतीति''। नि०चू०१५ उ०।

एगरस-त्रि०(एकरस) एक अद्वितीयस्तिक्तादिरसान्यतमो रसो ऽस्येत्येकरसः। तिक्तादिरसान्यतमर सोपेते, उत्त०१ अ०। एकोऽनन्यविषयको रसः रागः अभिप्रायः एकोऽभिन्नः स्वभावो वा अस्य। एकरागे, एकाभिप्राये, अभिन्नस्वभावे च। एको रसो यत्र। एकरागविषये, वाच०।

एगराइया-स्त्री०(एकरात्रिकी) एका रात्रिः प्रमाणमस्या इत्येक-रात्रिकी। सर्वरात्रिक्यां द्वादश्यां भिक्षुप्रतिमायाम्। ''पडिमंठा एगरातीयं'' पंचा०१० विव०। द्वादशी एकरात्रमानेति। ज्ञा०१ अ०। अस्याः स्वरूपं यथा। ''एक्का राइंदियं भिक्खुपडिमं पडिवण्णा'' (एकगराइयंति) एका रात्रिः प्रमाणमस्या इत्येकरात्रिकी ताम्। अस्यां चाष्टमभक्तिको ग्रामादिबहिरीषदवनतगात्रोऽनिमिष- नयनः शुष्कपुद्गलनिरुद्धदृष्टिर्जिन-मुद्रास्थापितपादः प्रलम्बित-भुजस्तिष्ठतीति विशिष्टसंहननादियुक्ता एव चैता प्रतिपद्यन्ते। आहच ''पडिवज्जइ इयाओ संघयणधिइजुओ महासत्तो। पडिमाओ भावियप्पा सम्मं गुरुणा अणुन्नाओ'' इत्यादि। औप०। भ०। सम०। तथाचावश्यकसूत्रम्।

एमेव एगराइअ, अट्ठमभत्तेण ठाणबाहिरिओ।
ईसीपब्भारगए, अणिमिसनयणेगदिट्ठीए।
सा हट्टु दो वि पाए, वग्घारिअपाणिठायए ठाणं।
वग्घारिलंबिअमुओ, सेसदसासुं जहा भणियं। आव०४ अ०।

एगरातियं भिक्खुपडिमं पडिवण्णस्स अणगारस्स निच्चं वोसट्ठकएणं जाव अहियासेति। कप्पति से अट्ठमेणं भत्तेणं अपाणएणं बहिया गामस्स वा जाव रायहाणिए वा ईसी पब्भारगतेणं एव खलु मूलगताए दिट्ठीए अणिमिसनयणे अहापहिगतेहिं सव्विंदिएहिं गुत्तेहिं दो वि पाए साहट्टुवग्घारितपाणिस्स ठाणं ठाइत्तए नवरं उक्कुडुयस्स वालगंड साइयस्स वा डंमातियस्स वा ठाणं ठाइत्तए। तत्थ से दिव्वमाणस्स तिरिक्खाए जोणिआ जाव आधाविध मेव ठाणं ठाइत्तए एगराइंय णं भिक्खुपडिमं समं अणुपालेमाणस्स अणगारस्स इमे त उट्ठाणा अहिताए असुभाए अखमाए अणिस्सेसाए अणणुगामियत्ताए भवंति। तंजधा उम्मयं बालतेज्ञा दीहकालिअं वा रोगातंकं पाउणेज्ञा केवलिपण्णत्ताओ वा धम्माओ भंसेज्ञा एगरातियं णं भिक्खुपडिमं सम्मं अणुपाले-माणस्स अणगारस्स इमे तओ ठाणाहिताए जाव अणुगामियत्ताए भवंति तंजहा ओहिणाणे वा समुप्पज्जेज्ञा मणपज्जवणाणे वा से समुप्पण्णपुव्वे समुप्पज्जेज्ञा। एवं खलु एसा एगरातिइंदिया भिक्खुपडिमा अहाभुत्तं आधाकप्पं अहामग्गं अहातच्चं सम्मं काएणं फासिया पालिता सोहिता तीरिता किट्टिगता आराहिता आणाए अणुपालिया वि भवति। आ०चू०४ अ०।

एगराय-न०(एकरात्र) एका चासौ रात्रिश्चेत्येकरात्रम्। एकस्यां रात्रौ, एगराइं वा दुराइं वा वसमाणे नाइक्कमइ''॥ स्था०५ ठा० ''गामे गामे य एगरायं'' ग्रामे ग्रामे चैकरात्रिं यावदिति। प्रश्न०५ द्वा०। एका रात्रिर्यत्र तदेकरात्रम्। एकरात्रोपेते, त्रि०। ''किमेगराइं करिस्सइ''॥ जिनकल्पापेक्षया एकरात्रिर्यत्र तदेकरात्रमुपाश्रयं वसेत। जिनकल्पो हि एकरात्रमुपाश्रयं शुभमशुभं वा सेवेतेति। उत्त०२ अ०॥

एगरायवासि(न्)-पुं०(एकरात्रवासिन्) अहोरात्रमेव वस्तुं शीले, एकरात्रं ग्रामादौ वस्तुशीले च।''णाए एगरायवासी''॥ ज्ञातः प्रतिमाप्रतिपन्नोऽयमित्येवं जनेनावसितः सन् एकरात्रवासी एकत्र ग्रामादावहोरात्रमेव वस्तुं शीलः। तथा एकं वा एकरात्रं द्विकं वा रात्रिद्वयं ग्रामदौ वस्तुं शीलमिति गम्यमिति। पंचा०१८ द्वा०।

एगरूव-त्रि०(एकरूप) एकं समानं रूपमस्य। तुल्यरूपे, वाच० एकविधाकारे, ''पभू एगवण्णं एगरूवं विउव्वित्तए'' एकरूपं एकविधाकारं स्वशरीरादीति भ०६ श०६। कर्म०। एकस्मिन् रूपे, वाच०।

एगलभि(न्)-त्रि०(एकलम्भिन्) एकलाभवति, तथाचाह '' खज्जूमा य अवस्सा, एगालभी पहाणाओ। तं एगं न विवत्ती, अविसेसे देइ जे गुरूणं तु। अहवा वि एगदव्वं, लभंति जे ते देइ उ गुरूणं'' व्य०प्र०३ उ० (व्याख्या आयरिय शब्दे)

एगलंभिय-त्रि०[(एकला) (म्भि) भिक] एकस्य लाभेन चरति, ''एगलंभिए'' एकलाम्भिकान् अथवा य एकं प्रधानं शिष्यमात्मना लभते गृह्णाति शेषास्त्वाचार्यस्य समर्पयति स एकलाभेन चरतीत्येकलाभिकः। व्य०प्र०३ उ०।

एगल्ल-त्रि०(एक) **''ल्लो नवैकाद्वा ८।२।१६५।** इति सूत्रेण वा ल्लः। सेवादित्वात् कस्य द्वित्वे एक्कल्लो। पक्षे एक्को एओ। प्रा०। एकाकिनि, स्था०७ ठा०।

एगल्लविहार-पुं०(एकविहार) एकाकिनो विचरणे, स्था०७ ठा०। एकाकिविहारनिषेधस्तत्र दोषश्च। तत्र एकाकिविहारे दोषा यथा।

एगागियस्स दोसा, इत्थीसाणे तहेव पडणीए।
भिक्खविस्सेहि महव्वय, तम्हा सवितिज्जए पडणं॥३१॥
गीयत्थो य विहारो, दीओ गीयत्थमीसओ भणिओ।
एत्तो तइयविहारो, णाणुण्णाओ जिणवरेहिं॥३२॥

(एगागियस्सत्ति) एकाकिनोऽसहायस्य विहरतः सतो दोषा दूषणानि भवन्ति तद्यथा (इत्थीसाणेत्ति) स्त्री शुनी अयं च समाहारद्वन्द्वस्तताश्च स्त्रीविषये श्वविषये च। तत्र स्त्रीविषये ''विह विहवा पउत्थव, इयारमलहंति दट्टुमेगागिं। दारपिहुणे य गहणं, इत्थमणिच्छेय दोसाओ'' तथा श्वा कौलेयकस्तद्दोषस्तत-तोऽनेकस्य परिभवः तथा चेति समुच्चयार्थः प्रत्यनीके साधु-प्रद्विष्टविषये स ह्येकाकिनमभिभवत् (भिक्खविसोहिमहव्वयत्ति) इह सप्तमी बहुवचनदर्शनाद्भिक्षाविशुद्धौ विषये दोषा महाव्रतेषु तत्र युगपत् गृहत्रयस्य भिक्षाग्रहणे एकस्योपयोग-करणे अशक्तत्वात्तदशुद्धिस्तत एव च प्राणातिपातविरमण-विराधनानिमित्तप्रश्ने च निःशङ्कतया तद्ग्रहणे मृषावादो विप्रकीर्णद्रव्य-दर्शनेजिघृक्षादिभावाददत्तादानम्। स्त्रीमुखनिरीक्षणादौ मैथुनं तत्र स्नेहात्परिग्रह इति। यस्मादेतेऽसहायस्य दोषास्तस्मात् (सबिइज्जइत्ति) सद्वितीयस्य सप्तमीषष्ठ्योरभेदाद्गमनं भिक्षार्थमटनं यदि च भिक्षाटनमपि ससहायस्यैव युक्तं तदा सुतरां विहारः ससहायस्यैव युज्यते। ससहायो हि सर्वानेतान् प्रायः परिहर्तुं प्रभुर्भवतीति गीतार्थसाधुसंबन्धित्वात् गीतार्थः। च शब्दः समुच्चये भिन्नक्रमश्च। विहारो विचरणमेक इति गम्यते। द्वितीयश्चान्यो विहारो गीतार्थमिश्राणं बहुश्रुतसमन्वितानामगीतार्था-

नामापि साधूनां यः स गीतार्थमिश्रको भणितः। उक्तो जिनैर्विधेयतया इत आभ्यां द्वाभ्यां विहाराभ्यामन्यस्तृतीयो विहारः। एकानेकागीतार्थसाधुरूपो नानुज्ञातो नानुमतो विधेयतया जिनवरैर्जिननायकैर्यतः ''सामण्णगजोगाणं, बाज्झागिहिसन्नि संयुओ होइ। दंसणणाणचरित्ताण, पइलणं पावए एक्को'' इति गाथाद्वयार्थः।

विशेषविषयत्वमेवास्यु स्पष्टयन्नाह॥

ता गीयम्मि इमं खलु, तदण्णलामंतरायविसयं तु।
सुत्तं अवगंतव्वं, णिउणेहिं तं तजत्तीए॥३३॥

ता इति तस्मादेतान्यागमवचनानि सामान्यसाधोरेकाकित्वस्य निषेधकानि सन्ति तस्तादगीते गीतार्थसाधुविषये इदम्। ''एगो वि पावाइं विवज्जयंतो'' इत्येतत्सूत्रमवगन्तव्यमिति योगः। खलुरवधारणार्थः। स च योक्ष्यते। अथ गीतार्थविषयं किमिदं साधुः सामान्यत एव नेत्याह। तस्मादगीतार्थसाधोरन्ये अपरे ये गुणवन्तः साधवस्तेषां यो लाभः प्राप्तिस्तत्र योऽन्तरायो विघ्नः स एव विषयो गोचरो यस्य तत्तथा। अतस्तदन्यान्तरायविषयमेव गीतार्थस्यापि साध्वन्तराप्राप्तविकाकित्वानुज्ञातपरमिदमिति भावोऽन्यथा ससहायतैव युक्ता। यतोऽभिधीयते ''कालम्मि संकिलिट्ठे, छक्कायदयावरो वि संविग्गो। जइ जोगीण लभे पण, गन्नयरेण संवसइ'' पार्श्वस्थावसन्नकुशीलसंसक्तयथाच्छन्दाभिधानानां पञ्चानां साधूनामेकतरेण सह वसतीत्यर्थः। इति शब्दः प्राग्वत्। सूत्रं ''नयालभेत्यादि'' व्रतरूपमवगन्तव्यमवसेयं निपुणैः सद्बुद्धिभिस्तन्त्रयुक्त्यागमिकोपपत्त्योक्तरूपयेति गाथार्थः। पंचा०११ विव०। (कीदृशस्यैकाकिविहारः कथं च तद्योग्यता भवतीत्युवसंपया शब्दे) (एकाकिविहारस्य परिचितादिव्याख्या व्यवहारकल्पे सा चोवसंपया शब्दे) एकाकिविहारे कारणा-न्योघनिर्युक्तौ। तत्र प्रथममेकाकिविहारिणः कतिविधा इत्याह।

एगेव पुव्वभणिए, कारणनिक्कारणे दुविहभेदे।

एक एकाकी द्विविधभेदः पूर्वमोघनिर्युक्तौ भणितः। तद्यथा कारणे निष्कारणे च। सांप्रतमेनामेव विवरीषुः प्रथमतः कारणैक प्रतिपादनार्थमाह -

असिवादी कारणिया, निक्कारणिया य वक्क थूमादी।
ओहावेतो दुविहा, लिंगेन विहारेण वाहोंति॥

अशिवादिभिरादिशब्दादवमौदर्या राजद्विष्टादिपरिग्रहः। कारणैरेकाकिनः कारणिकाः। चक्रस्तूपादौ आदिशब्दात्-प्रतिमानिष्क्रमणादिपरिग्रहस्तेषां वन्दनाय गच्छन्त एकाकिनो निष्कारणिका लिङ्गं नोत्प्रव्रजितुकामा विहारेण पार्श्वस्थविहारेण विहर्तुकामा भवन्ति। ज्ञातव्याः। षड्भ्येते कारणिकाः १ निष्कारणिकाः २ औपदेशिकाः ३ अनौपदेशिकाः ४ लिङ्गं नावधाविनः ५ विहारेणावधाविनश्च ६। प्रायेणैते एकाकिनो विहरन्ति गच्छन्ति। वा उपदेशिका यद्यपि नियमतः ससहायास्तथापि येन गच्छान्निर्गतास्तेन एकाकिनो भण्यन्ते इतरेऽपि पञ्च यद्यपि वृन्देन हिण्डन्ते तथापि गच्छान्निर्गता एकाकिनः प्रोच्यन्ते। तत उक्तम्- षड्भ्येते विहारिण एकाकिनः। व्य० द्वि०८ उ०।

कियन्ति पुनः तान्यशिवादीनि येष्वसावेकाकी भवतीत्याह -

असिवे ओमोदरिए, रायभए क्खुभिय उत्तिमट्ठे य।
फिडियगिला अइसेसि, देवया चेव आयरिए॥११॥

न शिवसशिवं देवतादिजनितो ज्वराद्युपद्रवः। अवमौदरिकं दुर्भिक्षं राज्ञो भयं क्षुभितं क्षोभः संत्रास इत्यर्थः। उत्तमार्थोऽनशनं फिडित इति भ्रष्टो मार्गात् ग्लानो मन्दः अतिशेषोऽतिशययुक्तः देवताचार्यौ प्रतीतौ अयं तावदक्षरार्थः। भावार्थस्य भाष्यकार एकैकं द्वारमङ्गीकृत्य प्रतिपादकः। ''यथोद्देशं निर्देशम्'' इति न्याय-माश्रित्य यो विधिःयतेरसावभिधीयते इहाशिवमेकाकीत्यस्य हेतुत्वं वर्तते तस्मात्तथा कर्त्तव्यं यथा तन्न भवत्येव। केन पुनः प्रकारेण तन्न भवतीति चेदुच्यते -

संवच्छरवारसए ण, होहिइ असिवंति ते तओ णिग्गंति।
सुत्तत्थं कुव्वंता, अइसइमाईहि नाऊणं॥२३॥

संवत्सराणां द्वादशकं २ द्वौ च दश च द्वादश तेन भविष्यत्य-शिवमिति ज्ञात्वा ते इति तदैव तत इति तस्मान् क्षेत्रात् (णिग्गत्ति) निर्गच्छन्ति सूत्रपौरुषीमर्थपौरुषीं च कुर्व्वन्तो निष्पादयन्तो-ऽन्यदेशमभविष्यदशिवं विश्वस्ताः संक्रामन्ति। कथं पुनर्ज्ञायते। अतिशय आदिर्येषां ते अतिशयादयो ज्ञानहेतवः। अतिशयादि-ज्ञानहेतवस्तैः। अतिशयादिप्रतिपादनायाह -

अइसेसदेवया वा, निमित्तगहणं सयं वा सीसो वा।
परिहाणि जाव पत्तं, निग्गमण गिलाण पडिबंधो॥२४॥

अतिशयोऽवध्यादिस्तदभावे क्षपकगुणाकृष्टा देवता कथयति। अथवा ''आयरियाएणं सुत्तत्थे सुणिएण सयमेव णिमित्तं घेत्तव्वं अहवा सीसो गहणधारणासंपन्नो निव्विकारी जो सो गिण्हाविज्जइ जया आयरिओ बुड्ढो भवति तया अविकारिस्स सीसस्स दित्ति। जाहे सो न होज्जाताहे अन्नो कोइ पुच्छिज्जइ ताहे वारसहिं निग्गंत-व्वं। अह वारसहिं ण णायं ताहे एक्कारसहिं जाव जाहे एक्केण वि णायं होज्जा ताहे छम्मासेहिं सुयवाहे णिग्गछंतु। अह वा ण चेव णायं असिवं जायं ताहे णिग्गच्छन्तु। अक्षरव्याख्या। अति-शयनमतिशयः प्रत्यक्षं ज्ञानमवधिमनः पर्यायकेवलाख्यं तेन ज्ञात्वा देवता वा कथयति। भविष्यत्य-शिवमिति निमित्तमनागतार्थपरिज्ञाहेतुग्रन्थस्तस्य ग्रहणं स्वयमेव करोत्याचार्यः शिष्यो वा योग्यो ग्राह्यते निमित्तं (परिहाणिजाव पत्तत्ति) द्वादशकेन यदा न ज्ञानं यदा एकादशकेनेत्येकैकहान्या परिहाणिरिति यावत् प्राप्तमिति तावद् स्थिताः। कथंचिद्यावत् प्राप्तमागतमशिवं तत्र किमिति निर्गमनं निर्गमः कार्यः सर्वैरेवेति कथं तर्हि अतिशयमाश्रित्य एकाकित्वमिति चेत्तदाह। (गिलाणपडिबंधो) ग्लानो मन्दस्तयैव अशिवकारिण्या देवतया कृतः पूर्व्वभूतो वा तेन प्रतिबन्धो न निर्गमः सर्वेषां तस्य पूर्वशिवकारिण्याः स्वतपः प्रतिपादनायाह -

संजयगिहि तदुभय, भद्दिया तह तदुभयस्स।
वियपंता चउबज्झण, उवस्सययतिपरंपराभत्तं॥२५॥

असिवे सदसंवत्थं, लोहं लोणं च तह य विगई य।
एयाइं वा घेज्जा, चउवज्जयणयंति जं भणियं॥२६॥

संयताः साधवस्तेषां भद्रिका न गृहिणामिति प्रथमो भङ्गः। गृहिणां भद्रिका न संयतानामिति द्वितीयः। तथोभयभद्रिकेति तृतीयः। तथोभयभद्रिका नेति चतुर्थः। उभयप्रान्ता अभद्रिका अशोभनेत्यर्थः। सा पुण चउप्पगारो संजयभद्दिगा उ भयवंता संजयपंता उभयभद्दिगा कहं पुण संजयभद्दिगा होज्जा वा गिहिभद्दिगा संजयप्पंता संजए चेव पढमं। (गिण्हत्ति) जहा एते महातवसी य ते चेव पढमं पेलेयव्वा। एतेसु निज्जिएसु अवसेसा णिज्जिया चेव भवंति एत्थ जा होउ सा होउ णिग्गंतव्वं जाहेण णिग्गया केइ णइवाघाएण को वाघाओ पुव्वं गिलाणो होज्जा ताए वा तो हावियाए कोइ संजओ गहिओ जो पंथा वा ण वहति ताहे तत्थ जयणाए अत्थियव्वं। को जयणा इमाणि चत्तारि परिहारियव्वाणि विगई दसविहा वि लोहं लोणं

च सदसवत्थं च जाणि य कुलाणि असिवेण गहियाणि तेसु आहारादीणि ण गिण्हत्ति जाहे सव्वाणि वि गहियाणि होज्ञा ताहे दिट्ठं दिट्ठीएण पाडिंति तो मच्छिया गिण्हंति दिट्ठी य संकमइ (चउवज्ञणत्ति) चतुर्णां वर्जनापरिहारः चतुर्वर्जन आदिकृत्यानां चतुर्षु वर्जनीयक्षेत्रस्य संयतभद्रिकागृहिप्रान्ता इत्यादिषु भङ्गकेषु (विसुउवस्सएयत्ति) ग्लानविधिः विष्वग्भेदेव उपाश्रय आश्रयः कर्त्तव्य इत्यर्थः। ''जो संतो होज्ञा तस्स दूरे ठितस्स भत्तंति परंपरेण दिज्ञंति त्ति परंपराभत्तंति'' त्रयाणां परंपराभक्तमाहारः। तदेको गृह्णाति द्वितीयस्त्वानयति तृतीयोऽवज्ञया ददातीत्यर्थः। अवधूतमवज्ञानम्। यथावधूतानाम-तिग्लानोद्वर्त्तनादिविधि-प्रदर्शनायाह।

उव्वत्तणनिल्लेवण, वीहं ते अणभिओग अभीरुयं।
अगहियकुलेसु भत्तं, गहिए दिट्ठि परिहरिज्ञा ॥२७॥

उद्वर्तनं यदसाधु वर्त्तते निर्लेपनं यदसौ निर्लेपः क्रियते। उपलक्षणं चैतत् तस्य सकाशे स्थातव्यम्। दिवा रात्रौ वा अथ कीदृशेन साधुना कर्तव्यमित्याह(वीहंतोणभियोगत्ति) अनभियोगः विभ्यतीति भयं गच्छति भीरावित्यर्थः। न अभियोगोऽनभियोगः यो भीरुः स तत्र न नियोक्तव्यः। कस्तर्हि करोतीत्याह (अभीरुयत्ति) अभीरुश्च न भीरुरभीरुस्तत्र क्रियते नियुज्यते। च शब्दो वक्ष्या-ऽन्तरादिप्रयत्नप्रदर्शनार्थः। अगृहीतेषु अशिवेन भक्तं ग्राह्यं तदभावे दृष्टिं २ संघातपरिहारः। आह चतुर्वर्जनेत्युक्तं तत्र भङ्गका अपि गृह्यन्त इति। ''जो चितुं उव्वत्तेति वा परियत्तेइ वा सो हत्थस्स अंतरे वत्थं दाऊणं ताहे उव्वत्तेइ वा तव्वत्तेऊणं हत्थे महिड्ढियाए धोवंती जो य वीहेइ सो तत्थायरिएण ण भाणियव्वो। जहा अज्जो तुमं वसाहित्ति जो धम्मस्स ठिओ साहू सो अप्पसा चेव भणति। अहं वसामि।

प्रतिबन्धस्थाने सति कर्तव्यान्तरप्रदर्शनायाह -

पुव्वाभिग्गहबुड्ढी, विवेगसंभाइएसु णिक्खमणं।
ते वि य पडिबंधठिया, इयरेसु वलारयगादुगं ॥२८॥

पूर्वमित्यशिवे काले येऽभिग्रहास्तपः प्रभृतयस्तेषां वृद्धिः कार्या चतुर्थाभिग्रहः षष्ठं करोति। मृते तस्मिन् को विधिरित्याह। (विवेगत्ति) विवेचनं विवेकः विचिर पृथग्भावे परित्याग इति यावत्। कस्यासाविति तदुपकरणस्य अमृते तस्मिन् गमनावसरे च प्राप्ते किं कर्त्तव्यमित्याह। (संभाइएसुणिक्खमिणत्ति) अशेष-समानसमाचारिकेषु विमुच्य गम्यते ते तत्राशिवे कथं स्थिता इत्याह। (ते वि य पडिबंधठियत्ति) न तेषां गमनावसरः कुतश्चित्-प्रतिबन्धात्तदभावे किं कर्तव्यमित्याह (इतरेसु त्ति) असांभोगिके-ष्वित्यर्थः। तदभावे देवकुलिकेषु अतीव सुवला त्कारेण तदभावे शय्यान्तरे यथा भद्रकः मिथ्यादृष्टिः सो य गिलाणो जइ अत्थि अन्ना वसही तहिं ठविज्ञइ असतीए ताइ चेव वसहीए एगपासे चिलिमीली किज्ञइ। वोरं दुहा कज्ञइ जेण गिलाणो णिक्खमइत्ति पविसइ वा तेण अंतेण साहू णो णिग्गच्छतु पडियारगविज्ञंता वा पत्तेहिं अत्थंति जाव सत्थो ण लब्भति ताव जोगवड्ढिं करेंति जो न पोक्कारं करेंतओ सो पोरिसिं करोति एव वच्चति जइ पउणो सो साहू योगहिओ ताहेव वच्चंति। अह कालं करेति ताहे जं तस्स उ करणं तं सव्वं छड्डिजइ ते छड्डित्ता ताहे वच्चंति अह से ण चेव मुक्को ताहे अन्नेसिं संभोइयाणं स कज्ञपडिबंधट्ठियाणं तले णिक्खिप्पति जाहे संभोइया ण होज्ञा ताहेव अन्नसंभोइयाणं जाहे ते ण वि होज्ञा ताहे ण सत्थो समकुसीलादीणं तेसिं बलाविओ वेडिज्ञइ तेसिं देवकुलाणि भुज्ञति साहू वि य सिद्धपुत्ताणं तेसिं असइसाव- गाणं उवणिक्खिवइ पच्छा सिज्झायरे अहाभद्दगेसु वा एवं लभिज्ञइ ताहे वच्चंति। यदि पुनरसौ मुच्यते न आक्रोशति ततः किं कर्तव्यमित्याह -

कूयंते अब्भथणं, समत्थ भिक्खू अणिच्छ तद्दिवसं।
जइ विंदघाइभेओ, तिदुएगो जाव ला दुवमा ॥२९॥

कूज अव्यक्ते शब्दे कूजयत्यव्यक्तं शब्दं कुर्वाणे किं कार्य- मित्याह (अब्भत्थणंति) समर्थः शक्तोऽभ्यर्थ्यते तिष्ठ त्वं यावद्वयं निर्गच्छाम इति निर्गतेषु वक्तव्य इच्छतु भवानहमपि गच्छामि यदीच्छति क्षिप्रं निर्गतो वाऽसौ धर्मनिरपेक्षतया नेच्छति ततः किमित्याह। अथ तद्दिवसमनिच्छति तस्मिंस्तस्य साधोर्गमनं तद्दिवसं स्थित्वा छिद्रं लब्ध्वा न द्रष्टव्याः। तैश्च किं सह निर्गन्तव्यमाहोस्विदन्येनापीत्याह (यदि विंदघातित्ति) वृन्दघातिनी ततो द्विधा भेदस्तथापि न तिष्ठति त्रिधा त्रयस्त्रयो द्वौ द्वौ एकैको यावत्तथा (वालंति) नान्यथेति तदर्थं भेदः। एवमशिवादेकाकी भवति यदि सो कुव्वति ताहे एक्को भन्नइ त्ति जो समत्थो तुमं अत्थ ताहे छिद्दं नाऊणं विइयदिवसे इज्ञासि तस्स मज्ञायाते वि सेज्ञेयव्वा मा मम कज्जे तुमं करंतु जाहे सो वि मल्लीणो ताहे सव्वे एगओ वज्ञंति जाहे तेसिं एगओ वच्चंताणं कोइ विहामो होज्ञा एस वंदघाति जत्थ बहूगा तत्थ पडइ दिट्ठंतो कट्ठसंघातो पलित्तो सो दुहा कतो पच्छा एक्केक्के दारुगं कज्जं ण जलति। एवं ते वि जे गहिया ताहे दुहा कज्जं तिहा जाव तिन्नि तिन्नि जणा एगो पडिस्सय वालो संघामतो हिंडइ। अह तहवि न मूयइ ताहे दो दो हुंति अह दो वि जणा ण मुयइ ताहे एक्केक्को भवति तेसि उपगरणं ण उवहम्मइ एवं ता एकल्लओ दिट्ठो असिवेण छक्केन पुनरुपायेन एकत्वविशेषणे ज्येष्ठा नष्टास्सन्त एकत्रप्रदेशे संह्रियन्त इत्याह -

संगारो राइणिए, आलायणपुव्वपत्तपच्छा वा।
सोम्ममुहिकालरत्तं, जणंतरे एक्क दो वि सए ॥३०॥

संगारः संकेतः पृथग्भावकाले कर्तव्यः। यथा अमुकप्रदेशे सर्वैः संहितव्यमित्युपायस्तं च प्रदेशं प्राप्तानां को विधिरित्याह (राइणिएत्ति) वयोधिकस्य गीतार्थस्य पूर्वप्राप्ते वा लोचना, तदभावे लघोरपि गीतार्थस्य दातव्या। कियत्पुनः क्षेत्रमति-क्रमणीयमित्याह। (सोम्ममुहीत्यादि) अशिवकारिण्या विशेषणानि सौम्यं मुखं यस्या सा। तथा कथमुपद्रवकारिण्या सौम्यमुखीत्वे अनन्तविषयं प्रत्युपद्रवाकरणात् कृष्णमुखी द्वितीयविषयेऽपि न मुञ्चति। रक्ताक्षी तृतीयेऽपि न मुञ्चति यथासंख्यमनन्तरमेव स्थीयते। सौम्यमुखी एक इति एकमन्तरे कृत्वा द्वितीये स्थीयते कृष्णमुख्याम् (दोइत्ति) द्वौ द्वावन्तं कृत्वा चतुर्थे स्थीयन्ते रक्ताक्ष्यां ''ते सिंगारो दिल्लेल्लओ भवति जहा अमुगत्थ मे लाई तत्थ त्ति जाहे मिलीणो भवति ताहे तत्थ जो राइणिओ पुव्वपत्तो वा पच्छापत्तो वा तस्स आलोइज्ञंति सा पुण तिविहाओ धाइया सोम्ममुही कालमुखी रत्तच्छी य जा सा सोम्ममुही तीसे एक्कं सवीयं गम्मइ। कालमुहीए एगोवि स ओ अंतरिज्ञइ रत्तच्छीए दोसविसए अंतरेऊण चउत्थे विसइए ठा इ इति असिवित्ति दारं सम्मत्तं'' अशिवेन यथैकाकी भवति तथा व्याख्यातम्। सांप्रतम् ''उमोयरियत्ति'' यदुक्तं तद्व्याख्यानायाह।

एमेव ओमम्मि वि भेदो, उ अलंभे गोणिदि ट्ठंते ।
राजभयं ति चउद्धा, चरिमट्ठि दुगो होइ गणभेओ ॥३१॥

(एमेवत्ति) अनेनैव प्रकारेण अवमद्वारमपि व्याख्येयम् । यथा अशिवद्वारव्याख्यानं यो विधिरशिवद्वारे सोऽवापीत्यर्थः । चशब्दो बहुसादृश्यप्रतिपादनार्थम् । अवमे दुर्भिक्षे अपिशब्दः सादृश्यसंभवेन तदुच्यते ''संवच्छरबारसएण होहि उवमंति तो न उणीत्ति'' इत्यादि । भेदनं भेद एकैकता तुशब्द एवकारार्थः । कस्मिन् पुनरसौ भवतीत्याह । अलाभे भवत्यप्राप्तावाहारस्येत्यर्थः । यदेको लभते ततो द्वावपि द्वौ वा दृष्ट्वा न किंचिद्विजहाति एकैक एव लभत इत्येवमाहारकैककिनी अत्र दृष्टान्तमाह (गोणिदिट्ठंतेत्ति) गोदृष्टान्तः यथा संहृतानां गवां स्वल्पेन तृणोदकेन तृप्तिः पृथग् भूतानां न स्यात्तथे हापीति (ओमो आरियाएवत्ति) एमेव कामो वारसहिं संवच्छरेहिं आरद्धं जोहे परं ण पुव्वंति ताहे गणभेदं करेति । णाणत्तं गिलाणो ण तहा परिहरिज्जति एत्थ गेणिदिट्ठंतो कायव्वो'' अल्पं गोब्राह्मणं निंदिति ओमेण वि एगागिओ दिट्ठो । साम्प्रतं राजभय द्वारप्रतिपादनायाह । (राजभयंति) राज्ञो भयं राजभयं चशब्दः एवमेवेत्यस्यानुकर्षणार्थः । ''संवच्छर-वारभए इत्यादि'' कियन्तः पुनस्तस्य भेदा इत्याह चतुर्द्धा संख्यायाः प्रकारवचने धा चतुःप्रकारमित्यर्थः । कैः पुनस्ते इति मात्वरिष्ठाः अनन्तरमेवोच्यन्ते किं चतुर्ष्वपि भेदो नेत्याह (चरिमट्ठइत्यादि) चरिमे पश्चिमे द्वये भवति जायते गणभेदो गच्छपृथग्भाव एकैकतेत्यर्थः । ''रायदुट्ठमवि तहेव वारसहिं संवच्छरेहिं होंति''

भेदचतुष्टयस्वरूपदर्शनायाह -

णिव्विसउत्तिय पढमो, विइओ मा देह भत्तपाणं तु ।
तइओ उवगरणहरो, जीवचरित्तस्स वा भेओ ॥३२॥

सुगमं नवरं जीवितभेदकरश्चतुर्थो भेदश्चारित्रभेदकारी वा चतुर्थोभेदो राजा उपकरणहारी जीवितचरित्रहारिणो गणभेदः कार्य इति । ''तं चउव्विहं निव्विसउत्तिय पढमो । बीओ मा देहभत्तपाणं से तइओ उवगरणहारी जीवचरित्तस्स वा भेओ''आह कथं पुनः साधूनां त्यक्तापराधानां राजभयं भवति ''यस्य हस्तौ च पादौ च जीह्वाग्रं च सुयन्त्रितम् । इन्द्रियाणि च गुप्तानि तस्य राजा करोति किम्'' सत्यमेतत्किं तर्हि ॥

अहिमर अणिट्ठ द रिसण, वुग्गाहणया तहा अणायारो ।
अवहरणदिक्खणाए, आणालोए य कुप्पेज्जा ॥३३॥
अंतेउरप्पवेसो, वाइणिमित्तं च सो पहूसेज्जा ।
खुभिओ मालुज्झेणी, पलियणं जो जओ तुरियं ॥३४॥

अभिमुखमाकार्यं मारयति म्रियन्ते चेत्यभिगमः । कुतश्चित्-कोपाद्राजकुलं प्रविश्यापरं व्यापादयन्तीति साधूनां किमाघात- मिति चेदुच्यते । अन्यथा प्रवेशमलभमानः कश्चित्साधुवेषेण प्रविश्य तं कृन्तति ततश्च विकृतत्वात् स राजा साधुभ्यः कुप्येत् कुप्येदिति चैतत् क्रिया प्रतिपदं योजनीया । अभव्यत्वादनिष्टान् प्रसस्तान्मयमानो दर्शनं नेच्छति प्रस्थानादौ च दृष्टा इति कुप्येत् । व्युद्ग्राहणता विशब्दः कुत्सायामुत्प्रावल्येन केनचित्प्रत्यनीकेन व्युद्ग्राहितो यथैते तवानिष्टं ध्यायन्तीति कुप्येत् लोकं प्रत्यनाचारं समुद्देशादौ दृष्ट्वा कुप्येत् । अपहरणं कृत्वा तत्प्रतिबद्धो दीक्षित इति कुप्येत् । आज्ञालोपे वा आज्ञा काचिल्लोपिता न कृता ततश्च कुप्येत् । अन्तःपुरे प्रवेशं कृत्वा केनचिल्लिङ्गधारिणा विकर्म कृतं ततः प्रद्वेषं यावत् वादिना वा केनचित् भिक्षुणा परिभूत इति ततो निमित्तात्स इति राजा प्रद्विष्यात् ''तं पुण रायदुट्ठं कहं होज्जा केणइ लिंगत्थेण अंतेउरे अवरद्धं होज्जा अहवा जधा वा वाइणा वादे 'तस्स पंडियमाणिस्स बुद्धिल्लस्स दुरप्पणो । सुद्धं पाएण अक्कम्म वादी वायुरिवागतो' एवं रायदुट्ठं भविज्जा । णिव्विसए भत्तपाणपडिसेहे उवकरणहारे एत्थ गच्छेण चेव वज्जंति । जत्थ जीयचरित्तभेओ तत्थ एगागिओ होज्जा'' । क्षुभितद्वारं व्याचिख्या-सुराह (खुभियउगालुज्झेणित्ति) क्षुभित एकाकी भवति क्षोभ आकस्मिकसंत्रासस्तत्र (मालुज्झेणि त्ति) माला अहरट्टस्य पतिता उज्जयिनी नगरी तत्र बहुशो मालवा आगत्य मानुषादीन् हरन्ति । अन्यदा च कूपे अहरट्टमाला पतिता तत्र केनचिदुक्तं माला पतिता-ऽन्येन सहसा प्रतिपन्नं मलवा पतिता ततश्च संक्षोभस्तत्र किं भवतीत्याह (पलायणं जो अओ तुरियं) पलायनं नाशनं यः कश्चिद्यत्र व्यवस्थितवान् स तत एव नष्ट इति (मालुज्झेणित्ति) वृतान्तसूचकं वचनं क्षुभिते वा एगागी होज्जा जहा उज्जइणीए अरहट्टमाला पडिया लोगो सव्वो पलाइतो माला वा पडियत्ति एरिसे क्षुभिते एगागी होज्जा जो जओ होज्जाओ सो तओ णासइ'' अधुना यदुक्तं राजद्वारे ''वायणिमित्तं च पडिसेज्जत्ति'' तद्व्याचिख्यासुराह -

तस्स पंडियमाणिस्स, बुद्धिल्लस्स दुरप्पणो ।
सुद्धं पाएण अक्कम्मवादी वायुरिवागतो ॥३५॥

आह चोदकः शोभनं स्थानं तद्व्याख्या ननु क्षुभिततरेणा-ऽन्तरितत्वात् कोऽयं प्रकार इत्यत्रोच्यते निर्युक्तिग्रन्थवशाददोषः यतोऽत्रैव गाथया अन्तेउरे इत्यादिकया राजभयक्षुभितद्वारे उक्ते ततस्तत्रानवसरत्वादिहैव युक्ता व्याख्या । तस्येति तस्य राज्ञो भयहेतोः कथंभूतस्य पण्डितमानिनः पण्डितमात्मानं मन्यते स एव मान्यो ज्ञानलवदुर्विदग्धत्वात् । बुद्धिं लातीति बुद्धिलस्तस्य बुद्धिलस्य दुरात्मनः मिथ्यादृष्टत्वादभद्रत्वाच्छा-सनप्रत्यनीकत्वात्स तथा तस्य किमित्याह मूर्द्धानमुत्तमाङ्गं पादेनाक्रम्य वादी वादलब्धि संपन्नः साधु-र्वायुरिवागतोऽभीष्टं स्थानं प्राप्त इत्यक्षरार्थः । समुदायार्थस्तु स राजा पण्डितंमन्यतया दर्शनं निन्दति तद्वादी वा कश्चित्तत्र साधुवादितेन सभां प्रविश्य न्यायेन पराजितस्तथापि न साधुकारं ददाति प्रभूतत्वात्तथापि निन्दति पुनश्चासौ साधुवादी विद्यादिवादनसभामध्ये शिरसि पादं कृत्वा दर्शनीभूतस्ततश्चासौ परपराभवमसहमानः प्रकर्षेण द्वेषं यायादिति श्लोकार्थः ।

उत्तमार्थद्वारप्रतिपादनायाह -

निब्भवगस्स सगासं, असइ एगाणिउ वि गच्छेज्जा ।
सुत्तत्थ पुच्छगो वा, गच्छे अहवा वि पडियरिओ ॥३६॥

निर्यामयत्याराधयतीति निर्यामकः । आराधकस्तस्य सकाशं मूलमसति द्वितीयाभावे एकाक्यपि कालं कर्तुं कामो गच्छेदिति सूत्रार्थः । प्रच्छको वा गच्छेदुत्तमार्थं स्थिता एकाक्यपि मा भूद्व्यवच्छेदोऽथवापि प्रतिचरितुं प्रतिचरणकरणार्थम् । उत्तिमट्ठे वा सो साहू उत्तिमट्ठं पडिवज्जिउकामो आयरियसगासे य णत्थि णिज्जाओ ताहे अन्नत्थ वच्चेज्जा तो संघाडओ वच्चओ असइ नाहणंगो एगागिओ वच्चेज्जा अहवा उत्तिमट्ठपडिवन्नओ साहू सुत्तो तस्स यदु वुत्तत्थ तदुभयाणि य अउव्वाणि दुमस्स य संकियाणि अन्नस्स य णत्थि ताहे तत्थ पडिपुच्छणाणिमित्तं वच्चेज्जा अहवा उत्तिमट्ठपडियरणेहिं गम्मइ ।

फिडियद्वारं व्याचिख्यासुराह –

फिडियउ य परिरएणं, मंदगई वा वि जाव ण मिलिज्जा ।
सोऊणं च गिलाणं, उसहकज्जे असइ एगो ॥३७॥

फिडितन्ति ते पंथेण वच्चंति तत्थ कोइ पंथाओ उत्तिण्णो अनेण वच्चेज्जा अहवा थेरो तस्स एगंतरा गड्डा वा मोंगरो वा जे समत्था ते उज्झएण वच्चंति । जो असमत्थो सो परिरएणं भमाडेणं वच्चइ ततो जाव ताणं ण मिलइ ताव एगागी होज्जा इदानीं गाथार्थः । फिडितः प्रभ्रष्टः किमुक्तं भवति प्रभ्रष्टगच्छतामेव सर्वेषां पथिद्वयदर्शनात् संजातमाह । अन्येनैव पथा प्रयातस्तत एकाकी भवति (परिरएणत्ति, वा) परिरयो गिर्यादेः परिहरणं तेन वा एकाकी कश्चिदसहिष्णुः मन्दगतिर्वा कश्चित्साधुर्यावन्न मिलतितावदेकाकी भवतीति । उक्तं फिडितद्वारम् । इदानीं ग्लानद्वारमुच्यते (सोउणं च गिलाणंति) गिलाणणिमित्तेण एगागीहोज्जा तस्स ओसहं वा भेसहं वा सेसहं वा आणियव्वं असइसंघाडगस्स ताहे एगागी होज्ज वच्चेज्जा अहवा गिलाणो सुतो ताहे सव्वेहिं गंतव्वं अह अप्पणो आयरिया थेरा ताहे तेसिपासे अत्थियव्वं ताहे संघाडस्स असइ एगागि वच्चेज्जा इदानीम-ऽक्षरगमनिका श्रुत्वाऽन्यत्र ग्लानिसंघाटे एकाकी व्रजति यदि वा स्वगच्छ एव ग्लानः कश्चित्तदर्थ-मौषधादीनामानयनार्थं व्रजत्येकाकी द्वितीयाभावे सति । उक्तं

ग्लानद्वार मथातिशयद्वारम् ।

अइसेसिउ वासेहं, असइ एगाणि उवगच्छेज्जा ।
देवकलिगओउवणा-पारणए खीररुहिरं च ॥

कोई अतिसयसंपन्नो सो जाणइ जहा एयस्स सेहस्स सइणिज्जगा आयगा ताहे सो भणइ एयं सेहं अवणेह जइ अवणेह ताहे एसा ण करेइ पव्वज्जं ततो सो असइ संघाड़स्स एगाणिउवि य हविज्जति । इदानीमक्षरार्थः । अतिशयी वा कश्चिदभिनवप्रव्रजितं द्वितीये- ऽसति एकाकिनमपि प्रवर्त्तयेत् । उक्तमतिशयद्वारम् । इदानीं देवताद्वारम् (देवकलिगत्ति) इह कलिंगेसु जणवएसु कंचणपुरं तत्थायरिया बहुस्सुया बहुआगमा बहुमिस्सपरिवारा ते अन्नया सिस्साणं सुत्तत्थे दाऊणं सन्नाभूमिं वच्चंति । तस्स य गच्छंतस्स पंथे महइमहालयो रुक्खो तस्स य हेट्ठा देवया महिलारूपं विउव्विता कलुणकलुणाणि रोइय सा तेण दिट्ठा एवं विइयदिवसे वि तओ आयरिस्स संका जाया । अहो किसइ मा एवं रोवइत्ति ताहे उव्वत्तेऊण पुच्छिया किं पुण धम्मसीले रुवसि । सो भणइ किं मम थोवं रोइयव्वं आयरियओ भणइ किं कहं वा सा भणइ । अहमेयस्स कंचणपुरस्स देवया एयं च अइरा सव्वं महाजलप्पवाहेण पलाविज्जाहि त्ति तेण रुयामिति । एते य साहुणो एत्थ समवयंति ते य अन्नत्थ गमिस्संति त्ति । अतो रुवामि आयरिएहिं भणियं कहं पुण एयं पि जाणिज्जति । सा भणइ जओ तुब्भं खडओ पारणए दुद्धं लभिस्सइ तं से रुहिरं भविस्सतित्ति । जइ एवं होज्जा तो पडिएज्जह तं च घेत्तुण सव्वसाहूणं पत्तेसु थोवं थोवं दिज्जाह जत्थ देसे तं सभायं जाहि तत्थ ण जलप्पवाहो पभविस्सतित्ति सुणिज्जह ततो एवं ति आयरिएण पडिवन्नं । ताहे वितियदिवसे तहेव लद्धं तहा य संजातं ततो आयरिएहिं सव्वेसिं भत्तए पत्तेयं तं दिन्नं ततो जहासत्तीए पलायंति जत्थ तं पडलं जायं तत्थ मिलिया एवं एगागी होज्जा । उक्तं देवताद्वारम् । अथाचार्यद्वारम् -

चरिमाए संदिट्ठो, उग्गहे उण भत्तए गंठी ।
इह एकयउस्सग्गो, परिच्छया भत्तए सगणं ॥३६॥

चरिमा चतुर्थी पौरुषी तस्यां संदिष्टा उक्ता यदुत त्वयाऽमुकत्र गन्तव्यं सचाभिग्रहिकः साधुः ततश्चासावेवमाचार्येणोक्तः किं करोति सकलमुपकरणं पत्रकपटलादिवोद्गाहयति मात्रकं च तेन गच्छता ग्राह्यमतस्तस्मिन्ग्रन्थिं ददाति मा भूद्भूयः प्रत्युपेक्षणीयं स्यात् एवमसावाभिग्राहिकः संयमे तिष्ठतीति (इह रंति) आभि-ग्रहिकाभावेऽपि कालवेलायां च गमनप्रयोजनमापतितं ततः कृतोत्सर्गः कृतावश्यकः किं करोतित्याह । परीक्षार्थमिति पश्यामः को वा पथि गमनान्तरं प्रवर्तते को वा न प्रवर्तते इति स्वगणमात्र-मयते ते च प्रतिक्रमणानन्तरं तत्रैवान्तर्मुहूर्तमानकालमासते कदाचिदाचार्याः स्वल्पपूर्वां सामचारीं प्ररूपयेयुरपूर्वपदं तत्रस्थान् तानामन्त्रयतेऽसौ भो भिक्षणो मुख्यं मे गमनकार्यमुपस्थितम् ॥

गच्छेज्जा काणुसव्वे, अणुग्गहो कारणाणि दीविंता ।
अमुगो एत्थ समत्थो, अणुग्गहोउभयकिइकम्मं ॥४०॥

कतमस्साधुस्तत्र गमनक्षमस्तत्र आचार्यवाक्श्रवणानन्तरं सर्वेऽपि साधव एवं ब्रुवन्ति अहं गच्छाम्यहं गच्छामीति । अनुग्रहो यं स्तोकं तत आचार्यो वैयावृत्यकरयोगवाहिदुर्बलादीनि दापयित्वा स्वयं प्रदर्श्य इदं भणत्यमुको न कार्ये समर्थः क्षमः । ततश्च योऽसावाचार्येणोक्तोऽयं क्षम इति स भणत्यनुग्रहो मेऽयं ततः को विधिस्ततः संजिगमिषुः साधुराचार्यस्य चैत्यसाधुवन्दनां करोति । यदि पर्यायेण लघुस्ततः शेषाणामपि चैत्यसाधूनां वन्दनां करोति । अथासौ गन्तुमनाः साधूनां रत्नाधिकस्ततस्ते साधवस्तस्य चैत्यसाधुवन्दनां विदधति तदुभयकृतिकर्मवन्दनं ततः सङ्गतस्साधुः किं करोति जिगमिषुः सन् ॥

पोरिसिकरणं अहवा, करणं दोच्चं पुंछणे दोसा ।
सरणसुयसाधुसन्नी, अंतोबहि अनंतभावेणं ॥४१॥

यद्यसौ सूर्योद्गमे यास्यति ततः प्रादोषिकां तत्र पौरुषीं करोति । अथवा रात्रिशेषे यास्यति प्रयोजनवशात्ततस्तत्र पौरुषीमकृत्वैव स्वपिति । एतत्पौरुषीकरणमकरणं वेति । पुनरपि च तेन गच्छताऽऽचार्यः पृच्छनीयः । प्रत्यूषसि यास्याम्यहमिति । अथ न पृच्छत्यतः (दोच्चं पुंछणा दोसत्ति) द्वितीयवारमपृच्छतः दोषा वक्ष्यमाणाः के च तेइत्याह (समरणत्ति) स्मरणमाचार्य्यस्यैव सं जातमेवंविधमन्यथा व्यवस्थितं कार्यमन्यथा कदाचित् संदिष्टम् (सुतत्ति) श्रुतमाचार्यैर्यथा ते तत्राचार्या न विद्यन्ते यन्निमित्तं वासौ प्रेष्यते तद्वा कार्यमन्यथा तत्र नास्ति (साधुत्ति) अथवा विकाले साधुः कस्मिंश्चित्तस्मात्स्थानादागतस्तेन कथितं यथा स आचार्यस्तत्र नास्तीति (सन्नित्ति) अथवा संज्ञी श्रावक आयातः तेनाख्यातम् (अंतोत्ति) अभ्यन्तरतः कस्य प्रतिश्रयस्य केनचिदुल्लपितं यथाऽस्माकमप्येवंविधाः साधवः आसन् ते च ततो गता मृता वा (बहित्ति) बाह्यतः प्रतिश्रयस्य श्रुतमन्यस्मै कथमानं केनचित् (अनभावेणंति) योऽसौ गन्ता सोऽन्यभाव उन्निष्क्रमितुकाम एतच्चाचार्याय तत्संघाटिकेनाख्यातं ततश्चासौ ध्रियते केनचिद्व्याजेन यदि पुनरसौ गन्ता न प्रबोधयत्यतः -

बोहणअप्पडिबुद्धे, गुरुबंदणघट्टणा अपडिबुद्धे ।
निच्चलनिसन्नझाइ, दट्ठुं चिट्ठेव्वलं पुच्छे ॥४२॥

अचेतयति सति तस्मिन् गन्तरि बोधनं गीतार्थः करोति ततः साधुरुत्थायाचार्यस्य समीपं गत्वा च यद्याचार्यो विबुद्धस्ततोऽसौ गुरुवन्दनं करोति । अथाद्यापि स्वपिति ततः घटनाचार्य पादयोः शिरसाद्यनाचलनं क्रियते । अथासौ प्रतिबुद्ध एव

किंतु निश्चलः निष्प्रकम्प उपविष्टो ध्यायी चास्ते ततस्तमेवंभूतं निश्चल-निष्पन्नध्यायितं दृष्ट्वा किं कर्त्तव्यमित्याह (चिट्ठेत्ति) स्थातव्यं तेन गुरुव्याघातेन महाहानिसंभवात् यथा चलोऽसौ ततः पृष्टव्यो भगवन् स एषोऽहं गमिष्यामीति ततश्चासावाचार्येण संदिष्ट इदमेवं त्वया कर्त्तव्यमिति व्रज स चेदानीं गन्तुं प्रवृत्तः इत्येतदेवाह।

अप्पा हि अणुन्नाओ, ससहाउणीति जा पभायं तु।
उवयोगं आसन्ने, करेइ गामस्स सा वय भयए ॥४३॥

संदिष्टः प्राक् पश्चादनुज्ञातो गच्छेति कथं ससहायः कियन्तं कालं यावत् ससहायो व्रजति तावत्प्रभातं जातं सूर्योदय इत्यर्थः। ससहायश्च प्रभातं यावत् व्रजति स्वापदादिभयात् एवमसौ साधुर्व्रजन् ग्रामसमीपं प्राप्तः सन् किं करोतित्याह। उपयोगं करोति विषयमुभयविषयं मूत्रपुरीषपरित्याग इत्यथः। कस्मादेवं चेत् ग्रामसंनिधान एव स्थण्डिलसद्भावात् गवादिसंस्थानात्। अथ रात्रौ गच्छतः कश्चिदपायः संभाव्यते ततः प्रभातं यावत् स्थातव्यम्। तथाचाह।

हिडतेणसावयभया, दारा पिहिया पहं अजाणंतो।
अत्थइ जाव पभायं, वासियभत्तं च से वसभा ॥४४॥

हिमं शीतं स्तेनाश्चौराः स्वापदानि सिंहादीनि एतद्भयात् प्रभातं यावदास्ते यदि पुरस्य द्वाराणि पिहितानि ग्रामस्य फलिहकः पन्थालं वा अजानन् तिष्ठति यावत् प्रभातमिति। एवं च प्रभातं यावत् स्थिते गन्तरि वासिकभक्तं दोषान्नं (से) तस्य वृषभा गीतार्था आनयन्ति। अथ केभ्यस्तदानीयते।

छवणकुलसंखडीए, अणहिंडंते सिणेहपयवज्जं।
भत्तट्ठियस्स गमणं, अपरिणेपगाउये वहइ ॥४५॥

स्थापना कुलेभ्यस्तथा (संखडीएत्ति) सामायिकी भाषा भोजनप्रकरणार्थे तस्य वा के पुनस्तदानयन्त्यत आह (अण-हिंडंतोत्ति) ये भिक्षां पर्यटितवन्तः कस्मात्पुनस्ते भक्तमानयन्ति उच्यते तेषामहिण्डकानां गृहस्था गौरवेण प्रयच्छन्ति। कीदृशं पुनस्तैर्भक्तमानयनीयम् (सिणेहपयवज्जंति) स्नेहेन घृतादिना पयसा क्षीरेण वर्ज्जितं भक्तं गृह्णन्ति न तैलं ग्राह्यम् अमङ्गलत्वात्, न घृतं परितापहेतुत्वात्। न दुग्धं भेदकृत्त्वात् काञ्जिक- विरोधत्वात् काञ्जिकं प्रायोपायित्वाच्च। संयतानां किं पुनस्ते गृह्णन्ति दधिशक्तुकादि तदसौ भुक्त्वा व्रजति। तथा चाह (भत्तट्ठियस्स गमणंति) भुक्तवतस्ततो गमनं भवति अथ न तस्य भक्तं परिजातमित्यतोऽपरिणते भुक्ते सति स गव्यूतमात्रं यावन्मार्गं वहति क्रोशद्वयं च गव्यूतमिति। ओघ०।

(एगागिशब्दे एकाकित्वकारणानि तत्र दोषाश्च द्रष्टव्याः)

एगल्लविहारपडिमा-स्त्री०(एकाकिविहारप्रतिमा) एकाकिनो विहारो ग्रामादिचर्या स एव प्रतिमाऽभिग्रहः एकाकिविहारप्रतिमा। जिनकल्पप्रतिमायाम्, मासिक्यादिकायां भिक्षुप्रतिमायां च। अष्टभिश्च स्थानैः सम्पन्नोऽनगारोऽर्हत्येकाकिविहारप्रतिमाम्। तथा चाह।

अट्ठहिं गणेहिं संपन्ने अणगारे अरिहइ एगल्लविहारपडिमं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए तं जहा सड्ढी पुरिसजाए सच्चे पुरिसजाए मेहावी पुरिसजाए बहुस्सुए पुरिसजाए सत्तिमं अप्पाहिगरणे धिइमं वीरियसंपन्ने।

अष्टाभिः स्थानैर्गुणविशेषैः सम्पन्नो युक्तोऽनगारः साधुरर्हति योग्या भवति। (एगल्लत्ति) एकाकिनो विहारो ग्रामादिचर्या स एव प्रतिमाऽभिग्रहः एकाकिविहारप्रतिमा जिनकल्पप्रतिमा मासिक्यादिका वा भिक्षुप्रतिमा तामुपसंपद्याश्रित्य णमित्यलंकारे विहर्तुं ग्रामादिषु चरितुं तद्यथा (सड्ढित्ति) श्रद्धा तत्वेषु श्रद्धानमा-स्तिक्यमित्यर्थोऽनुष्ठानेषु वा निजोभिलाषस्तद्वत्स कलना किनायकैरप्यचलनीयसम्यक्त्व-चारित्रमित्यर्थः। पुरुषजातं पुरुषप्रकारः १ तथा सत्यं सत्यवादी प्रतिज्ञाशूरत्वात्सद्भ्यो हितत्वाद्वा सत्यम् २ तथा मेधा श्रुतग्रहणशक्तिस्तद्वन्मेधावी अथवा (मेहावइति) मेधावी मर्यादावृत्तिः ३ तथा मेधावित्वाद्बहु प्रचुरं श्रुतमागमः सूत्रतोऽर्थतश्च यस्य तद्बहुश्रुतं तच्चोत्कृष्टतो-ऽसंपूर्णदशपूर्वधरं जघन्यतो नवमस्य तृतीयवस्तुवेदीति ४ तथा शक्तिमत्समर्थं पञ्चविधकृततुलनमित्यर्थस्तथाहि "तवेण सत्तेण सुत्तेण, एगत्तेण बलेण य। तुलणा पंचहा वुत्ता, जिणकप्पं जिणकप्पं पडिवज्जओत्ति" ५ अल्पाधिकरणं निष्कलहः ६ धृतिमच्चित्तस्वास्थ्य-युक्तमरतिरत्यनुलोमप्रतिलोमोपसर्गसहमित्यर्थः ७ वीर्यमुत्साहातिरे-कस्तेन सम्पन्नमिति। इहाद्यानामेव चतुर्णां पदानां प्रत्येकमन्तेपुरुष-जातशब्दो दृश्यते ततोन्तपादानामप्ययं सम्बन्धनीय इति। अयं चैवंविधोऽनगारः सर्वप्राणिनां रक्षणक्षमो भवतीति। स्था०८ ठा०।

(सूत्रम्) जे भिक्खू गणाओ अवक्कम्म एकल्ल-विहारपडिमं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए से य इच्छेज्जा दोच्चं पि तमेव गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए पुणो आलोएज्जा पुणो पडिक्कमेज्जा पुणो छेयपरिहारस्स उवट्ठावेज्जा।२६। एवं गणावच्छेइए।२७। एवं आयरियउवज्झाए।२८।

भिक्खू य गणातो अवक्कम्म इत्यादि॥ अथास्य सूत्रस्य पूर्वसूत्रेण सह कः संबन्धः। तत आह।

निग्गमणं तु अहिकयं, अणुवत्तनिवा हाधिकाराओ।
तं पुण वितिण्णगमणं, इमं तु सुत्तं उभयहा वि॥

अनन्तरसूत्रे पारिहारिकनिर्गमनमधिकृतमुक्तमिहापि तदेव निर्गमनमुच्यते। अथवा अनन्तरसूत्रे तपसोऽधिकारोऽनुवर्त्तते। इदापि स एव तपोऽधिकारः। तत्पुनरनन्तरसूत्रं निर्गमनमभिहितवत्। वितीर्णमनुज्ञातवत् इदं सूत्रं निर्गमनमुभयथापि वितीर्णम- वितीर्णं च भाषते। अनेन संबन्धेनायातस्यास्य सूत्रस्य व्याख्या। भिक्षुः प्रागुक्तशब्दार्थः। चः पुनरर्थाद्वाक्यभेदे स च वाक्यभेदः सुप्रतीतः पूर्वसूत्रवाक्याद्वितीर्णगमनाभिधायिनोऽस्य सूत्र वाक्यस्य वितीर्णगम-नाभिधायितया कथंचिद्भिन्नत्वात्। गणात् गच्छादवक्रम्यविनिर्गत्य एकाकिविहारप्रतिमां एकाकि-विहार योग्यं मासिक्यादिकां प्रतिमामुपसंपद्य विहरेत्। स च गणस्य स्मरति। संभाव्यते चैतत् तथा हि यः सूत्रार्थतदुभयैरव्यक्तो यश्चाविधिना प्रतिमां च प्रतिपद्यते स मा भङ्गमुपैतु इति। ततः स गणं स्मरन् इच्छेत्। द्वितीयमपि वारम्। एकं वारं पूर्वमपि प्रव्रजयाप्रतिपत्तिकालगणमाश्रितवान् इदानीं द्वितीयं वारमतः उक्तं द्वितीयमपि वारं तमेवात्मीयं पूर्वमुक्तगुणव्रतमुपसंपद्य पुनस्त-मेकाकिविहारप्रतिमाभङ्गमालोचयेत्। गुरुसमीपे आलोच्य पुनः पुनरकरणतया तस्मात्स्थानात्प्रतिक्रम्य च यदापन्नं प्रायश्चित्तं छेदं परिहारं वा तस्य छेदस्य परिहारस्य वा करणाय पुनरुपतिष्ठेत इह प्रतिमाप्रतिपन्नेन यत्रैवाकृत्यं समासेवितं तत्रैवाह। दुष्टुकृतं मयेत्यादि चिन्तनतस्तदालोचितं प्रतिक्रान्तं च। गुरुसमक्षं तु द्वितीयवारमिति पुनः शब्दोपपत्तिरेषसूत्रसंक्षेपार्थः।

विस्तरार्थं भाष्यकृदाह।

संथरमाणस्स विही, आयारदसासु वण्णितो पुव्विं।
सो चेव य होइ विही, तस्स विभासा इमा होति॥

संस्तरन् नाम उच्यते यः सूत्रोक्तविधिना प्रतिमाप्रतिपत्तियोग्यतामुपागतः मासिक्यादीनां च प्रतिमानां मध्ये यां प्रतिमां प्रतिपन्नस्तां सम्यक्परिपालयितुं क्षमस्तस्य संस्तरतो विधिः समाचारी। आचारप्रधाना दशा आचारदशास्तासु दशाश्रुत-स्कन्धेष्वित्यर्थः। भिक्षुप्रतिमाध्ययने पूर्वं वर्णितः स एव इहापि अस्मिन्नप्यधिकृतसूत्रव्याख्याप्रस्तावे परिपूर्णो भवति ज्ञातव्यः तस्य प्रस्तावायातत्वात्। तथाहि एकाकिविहारप्रतिमामुपसंपद्य विहरेदित्युक्तं ततः साक्षादुपात्ता एकाकिविहारिप्रतिमेति भवति। तद्विधिप्ररूपणावसरः केवलं सकलभिक्षुप्रतिमाध्ययनं प्रतिपाद्य इति तत एवावधारणीयः। इह पुनस्तस्यैकाकिविहारिप्रतिमाविधि-र्विभाषा कर्त्तव्यः। यथा ईदृशस्य एकाकिविहारि प्रतिमाप्रतिपत्तिः कल्पते अनेन च प्रकारेण प्रतिपद्यते। ईदृशश्च एकाकिविहारि-प्रतिमाया अयोग्य इति। सा इयं वक्ष्यमाणा भवति। तामेवाभिधित्सुराह।

घरसउणिसीहपव्वइय-सिक्खपरिकम्मकरण दो जोहा।
करणेलगच्छखडदुग, गच्छाएमा ततो नीती॥

परिकर्मकरणे द्वौ दृष्टान्तौ तद्यथा गृहेऽवस्थितःशकुनिर्गृह-शकुनिस्तथा सिंहश्च वने व्यवस्थित इति गम्यते तथा (पव्वइयसिक्खत्ति) प्रव्रजनं प्रव्रजितं प्रव्रज्या इत्यर्थः। शिक्षा ग्रहणासेवनरूपं शिक्षाद्विकं एते द्वे द्वारे वक्तव्ये एतच्च शेषद्वाराणा-मर्थग्रहणादीनामुपलक्षणमतस्तान्यपि वक्तव्यानि। ततः परिकर्मकरणं वक्तव्यं तदनन्तरं परिकर्म्मितः परीक्षायां द्वौ योधौ दृष्टान्तत्वेनोपन्यसनीयौ। ततः स्थिरीकरणनिमित्तं तस्योपसर्ग-व्यावर्णनायां सूत्रार्थकरणव्यवस्थितैडकाक्षरूपं क्षपकद्विकज्ञातं वक्तव्यम्। तत एवं कृतपरिकर्म्मा सन् गच्छारामात् सर्वर्तु-कपुष्पफलोपगमारामरूपात् गच्छाद्विनिर्गच्छति। एष द्वारगाथा-संक्षेपार्थः।

सांप्रतमेनामेव विवरीषुः प्रथमतो गृहकुशनिदृष्टान्तं भावयति॥

वासगगयं तु पोसति, चंचूपूरेहि सउणियां सावं।
वारेइ य उड्डंतं, जाव समत्थं न जायं तु॥

शकुनिका पक्षिणी आत्मीयं शावं (वासगगयंति) प्राकृतत्वाद् आद्याकारस्य लोपः आवासो नीममावास एवावासकस्तद्गतं तुरेवकारार्थः। आवासकगतमेव शावं चञ्चूपुरैश्चञ्चूभरणैः पुष्णाति पुष्टीकरोति। यदि कथमप्यसंजातपक्षोऽपि बालचापलेनावासाद्बहिर्जिगमिषुरुड्डीयते ततस्तमुड्डीयमानं वारयति प्रतिषेधयति। सा चैवं तावत्करोति यावत्समर्थो न जायते। गाथायां तु नपुंसकनिर्देशः प्राकृतत्वात्। समर्थस्तु जातः सन्न प्रतिषिध्यते। ततो निरुपद्रवं स्वेच्छया विहरति। भावितः शकुनिदृष्टान्तः॥

संप्रति सिंहदृष्टान्तं भावयति॥

एमेव वणे सीही, सा रक्खइ छावपोयगं गहणे।
खीरमिउपिसियचव्विय, जा खायइ अत्थियाइं पि॥

एवमेव शकुनिकागतेनैव प्रकारेण वने किं विशिष्टे इत्याह गहने अतिशयेन गुपिले स्थिता सती सिंही शावपोतकं शाव एवाति-लघुत्वात् पोतः पोतकः शावपोतकस्तं रक्षयति। व्याघ्रादिभ्यस्तथा क्षीरेण स्तन्येन मृदुचर्वितपिशितेन च तावदात्मीयं शावपोतकं पुष्णाति यावदस्थीन्यपि खादति॥

मारियममारिएहिं, ता तीरावेति छावएहिं तु।
वणमहिसहत्थिवग्घाण, पच्चलो जाव सो जातो॥

वनमहिषादीनां शावकैर्मारितैरमारितैर्वा तावन्तमात्मीयशावं तीरयति समर्थीकरोति यावत्तेषां वनमहिषहस्तिव्याघ्राणां स्वयमेव व्यापादने प्रत्यलः समर्थो जातो भवति। कृता सिंहदृष्टान्तभावना॥

सांप्रतमनयोरेव निदर्शनयोरुपमानार्थमिदमाह -

अकयपरिकम्ममसहं, दुविहा सिक्खा अकोवियमवत्तं।
पडिवक्खेण उवमियो, सउणिगसीहादिछावेहिं॥

न कृतानि परिकर्म्माणि वक्ष्यमाणानि येन स तथा तमकृतपरिकर्माणमकृतपरिकर्मत्वादेवासहमेकाकिविहारप्रतिमां प्रतिपक्षुमसमर्थम्। तथा द्विविधायां शिक्षायां ग्रहणासेवनरूपायामकोविदमनभिज्ञम्। तथा श्रुतेन वयसा वा प्राप्तयोग्यताकं (पडिवक्खेणंति) ये ये प्राक् शकुनिपोतसिंह शावकानां संजातपक्षत्वादयो गुणा उक्तास्तेषां प्रतिपक्षेण प्रातिकूल्येनासंजातपक्षत्वादिना विशिष्टाः शकुनिसिंहादिशावका आदिशब्दात् व्याघ्रादि परिग्रहस्तैरुपमितस्तथाहि यथा शकुनिपोतोऽसंजातपक्षो यद्यावासाद्विनिर्गत्य स्वच्छन्दमापरिभ्रमति ततः स काकढङ्का-दिभ्यो विनाशमाविशति। सिंहपोतकोऽपि यदि क्षीराहारो गुहातो विनिर्गत्य वने स्वेच्छया विरहति ततः सोऽपि वनमहिष-व्याघ्रादिभिरुपहन्यते। एवं साधुरप्यकृतपरिकर्मा द्विविध-शिक्षायामकोविदः श्रुतेन वयसाऽप्राप्तयोग्यताको यदि गच्छादेकाकिविहारप्रतिमाप्रतिपत्तये विनिर्गच्छति ततः स नियमादात्मविराधनां संयमविराधनां च प्राप्नोतीति। तदेवं ''घरसउणिसीहत्ति'' व्याख्यातम्। संप्रति प्रव्रजितशिक्षादीनि द्वाराणि वक्तव्यानि। तत्संग्राहिका चेयं गाथा -

पव्वज्जा सिक्खावय-सत्थग्गहणं व अणियतो वासे।
निप्पत्तियवीहारो, सामायारी ठिती चेव॥

अस्या व्याख्यानं कल्पे सविस्तरमुक्तमत्र तु लेशतोऽर्थमात्रमभिधीयते। प्रथमतस्तावत्प्रव्रज्या भवति। सा च द्विविधा धर्म्मश्रवणतोऽभिसमागमतश्च तत्र या आचार्यादिभ्यो धर्म-देशनामाकर्ण्य संसारादिरज्य प्रतिपद्यते सा धर्म्मश्रवणतः या पुनर्जातिस्मरणादिना सा अभिसमागमतः। प्रव्रजितस्य च शिक्षा-पदं भवति। शिक्षा च द्विधा ग्रहणशिक्षा आसेवनाशिक्षा च। तत्र ग्रहणशिक्षा सूत्रावगाहनम् आसेवनाशिक्षा सामाचार्यभ्यसनं शिक्षापदनन्तरं चार्थग्रहणकरणंतदनन्तरं चानियतो वासो नाना-देशपरिभ्रमणं कर्त्तव्यं गतमन्तरेण नानादेशीयशब्दाकौशलेन नानादेशीयभाषात्मकस्य सूत्रस्य परिस्फुटपूरणार्थनिर्णयकारित्वानुपपत्तेः। तदनन्तरं वाचनाप्रदानादिना गच्छस्य निष्पत्तिर्निष्पादनं कर्त्तव्यम्। तदनन्तरं विहारोऽभ्युद्यतो विहारो जिनकल्पादिप्रतिपत्तिलक्षणः करणीयः। तस्य च विहारस्य या सामाचारी सा वक्तव्या। तथा स्थितिर्जिनकल्पादीनां क्षेत्रे कालादिद्वारेषु चिन्तनीया। तत्र प्रव्रज्या, शिक्षा, पदमर्थग्रहण-मनियतो वासः, निष्पत्तिर्विहारः, सामाचारीति सप्त द्वाराणि प्रतिमायामुपयोगीनि। तत्रापि प्रव्रज्या शिक्षापदमर्थग्रहणं चेति। त्रीणि द्वाराणि प्रतिमां प्रतिपत्तुकामस्य नियमतो भवन्ति शेषाणां भजना तथा चाह -

पवज्जासिक्खावय-मत्थग्गहणं च सेसए भयणा।

सामायारिविसेसे, नवरं वुत्तो उ पडिमाए ॥

प्रव्रज्या प्रव्रजनंशिक्षापदमर्थग्रहणमनियतो वासः शिक्षाद्विकम् अर्थ ग्रहणमर्थपरिज्ञानमित्येतत् त्रयं प्रतिपित्सोर्नियमेन भवति शैषिके अनियतवासिनिष्पत्तिलक्षणद्वारद्विके भजना विकल्पना य आचार्यपदार्हस्तस्य नियमादिदं द्वारद्वयमस्ति शेषस्य तु नास्ती-त्यर्थः। विहारः पुनः प्रतिमाप्रतिपत्तिलक्षणोऽस्त्येव सामाचार्या अपि जिनकल्पिकसामाचारीतो विशेषोऽस्ति नवरं सामाचारी-विशेषः प्रतिमायां प्रतिमागतो दशाश्रुतस्कन्धे भिक्षुप्रतिमा-मध्ययोऽन्य उक्तः प्रतिपादित इति स न पुनरुच्यते। संप्रति परिकर्म करणं वक्तव्यम्। तत्र पर आह ननु तत्परिकर्म किं गच्छ एव स्थितः करोति उत गच्छाद्विनिर्गत्येति। सूरिराह -

गणहरगुणेहिं जुत्तो, जति अन्नो गणहरो गणे अत्थि।
निग्गति गणातो इहरा, कुणति गणे चेव परिकम्मं ॥

यदि नाम गणे गच्छे अन्योऽन्यगणधरः गणधरपदार्ह इत्यर्थः। गणधरगुणयुक्तो विद्यते न च प्रयोजनेनान्यत्र गतस्ततस्तं गणे स्थापयित्वा गणाद्विनिर्गच्छति विनिर्गत्य च परिकर्म करोति। इतरथा तथाविधान्यगणधरयुक्तगणधरत्वाभावे गण एव स्थितः सन्परिकर्म करोति अत्र पर आह। ननु तेन पूर्वं द्विधां शिक्षां शिक्षमाणेनात्मा भावित एव ततः किमिदानीं भावनाभिः परिकर्मणयेत्यत आह।

जइ विहु दुविहा सिक्खा, आइल्ला होति गच्छवासम्मि।
तहवि य एगविहारे, जा जोग्गा तीए भावेति ॥

यद्यपि द्विविधा शिक्षा आद्यसूत्रग्रहणसामाचार्यासेवनलक्षणा भवति गच्छावासे तथापि गच्छावासे योग्यतातः एकाकिविहारे या योग्या शिक्षा तद्योग्यसामाचार्यभ्यासरूपा तया स आत्मानं भावयति तद्भूतसामा-चार्यभ्यासश्च पञ्चभिर्भावनाभिर्भवति। ततस्ताभिर्विशेषतः आत्मानं परिकर्मयति।

तवेण सत्तेण सुत्तेण, एगत्तेण बलेण य।
तुलणा पंचहा वुत्ता, पडिमं पडिवज्जतो ॥

प्रतिमां प्रतिपद्यमानस्य प्रपित्तुकामस्य तुलना परिकर्मणा। पञ्चधा पञ्चप्रकारा प्रोक्ता तद्यथा तपसा सत्वेन सूत्रेण एकत्वेन बलेन च। तत्र तपोभावनाप्रतिपादनार्थमाह -

चउत्थेण उ जतते, छट्ठेहिं अट्ठमेहिं दसमेहिं।
बारसचउदसमेहि य, धीरो धीमं तुलेअप्पा ॥

प्रथमतश्चतुर्थेन यतते। किमुक्तं भवति। प्रथमतो नियमेन त्रीन् वारान् चतुर्थं करोति तत्र यदि त्रिरपि कृते चतुर्थे क्लाम्यति ततस्तावदभ्यस्यति चतुर्थं यावच्चतुर्थं कुर्वन् मनागपि न क्लाम्यमुपयाति। एवं चतुर्थेन यतित्वा त्रीन्वारान्षष्ठं करोति तत्रापि यदि वारत्रयं कृते षष्ठे क्लाममुपैति ततश्चतुर्थवत् षष्ठेऽप्यभ्यासं तावत्करोति यावत्तस्यापि करणे ग्लानिर्नोपपद्यते एवं षष्ठैरात्मानं भावयित्वा अष्टमैर्भावयति। तदनन्तरं दशमैस्ततो द्वादशै-रुपलक्षणमेतत् ततोऽनेन प्रकारेण षोडशादिभिश्च धीरो धृतिमान् आत्मानं तुलयति परिकर्मयति स च तावत्तुलयति। यावत्षण्मासान् सोपसर्गेऽपि न क्षुधाहानिमुपगच्छति उक्तं च -

जाव णब्भत्थो पोरिसिमाई तवो उ तं तिगुणं।
कुणइ छुहा वि जइट्ठा, रिगिनदिसीहेण दिट्ठंतो ॥

एक्केक्कं ताव तवं, करेति जह तेण कीरमाणेणं।
हाणी न होइ जइया वि, होज्ज छम्मास उवसग्गो ॥

तत्र यदुक्तं चतुर्थादिषु तावदभ्यासं करोति यावन्न क्लाम्यति तत्र गिरिनदीसिंहदृष्टान्तः। तथाहि यथा सिंहो गिरिनदीं तरन् परतटे चिह्नं करोति यथा अमुकप्रदेशे वृक्षाद्युपलक्षिते मया गन्तव्य- मिति संचरन् तीक्ष्णे नोदकवेगेनापह्रियते। ततः प्रत्यावृत्त्योत्तरति। एवं प्रमाणतस्तावत्तरणं करोति यावदभग्नः सन् सकलामपि गिरिनदीं शीघ्रं तरति। एवं साधुरपि यदि चतुर्थं षष्ठमष्टमादि वा त्रीन् वारान कृत्वा क्लमं याति ततश्चतुर्थादिकं प्रत्येकं तावदभ्यस्यति यावन्न क्लाम्यतीति। तथा चैनामेव सिंहदृष्टान्त-योजनामाह -

जह सीहो तह साहू, गिरिनदिसीहो तवोधणो साहू।
वेयावच्चकिलंतो, अभिन्नरोमो य आवासे ॥

यथा सामान्येन गुहायां वर्त्तमानः सिंहस्तथा गच्छे वर्त्तमानः साधुर्यथा च गिरिनदीमुत्तरन् अभ्यासकरणे प्रवृत्तः सिंहस्तथा तपोधनः तपः करणाभ्यासप्रवृत्तः साधुः। एवं चतुर्थषष्ठाष्टमादि तपः कुर्वन् स आत्मवैयावृत्यकरो ज्ञातव्यः। कस्मादिति चेदुच्यते। यस्मात्स तपसा पूर्वसंचितं कर्ममलं शोधयन्नात्मन एवोपकारे वर्त्तते। ततः स आत्मवैयावृत्यकरः एवमात्मनो वैयावृत्त्ये अक्रान्तः सन् (आवासेत्ति) अवश्यकरणीयेषु योगेषु न भिन्नरोमा भवति। गतं तपोभावनाद्वारम्।

अधुना सत्वभावनाद्वारमाह -

पढमा उवस्सयम्मि, विइया बाहिं तइया चउक्कम्मि।
सुण्णघरम्मि चउत्थी, पंचमिया तह मसाणम्मि ॥

प्रथमा सत्वभावना उपाश्रये कथमिति चेत् उपाश्रस्यान्तर्निशि प्रतिमया प्रतिदिवसमवतिष्ठते स च तथावतिष्ठमानो मूषि कमार्जारादिस्पर्श-नादिभयं तावद् जयति यावत्तत्स्पर्शनादिभावे रोमोद्भेदमात्रकरमपि भयं नोपजायते। उक्तंच ''छक्कस्स व खइयस्स व, मूसियमादीहि वा निसिचरेहिं। जह न विजायइ रोमुग्गमो वि तह चेव वाडोवा'' द्वितीया सत्वभावना उपाश्रय- स्यबहिरुपच्छन्ने तत्र हि प्रतिमां प्रतिपन्नस्य बहुतरं मार्जारादिभयं संभवति। ततस्तज्जयार्थं द्वितीया। भवसत्वभावना तृतीया सत्वभावना चतुष्के तत्रातिप्रभूततरं त्रिविधं तस्करारक्षिक-स्वापदादिभ्या भयम्। चतुर्थी शून्यगृहे, पञ्चमीका स्मशाने। तत्र हि यथोत्तरं सविशेषा सविशेषतरा त्रिविधा बाधा उक्तं च 'सविसेसतरा बाहिं, तक्करआरक्खिसावयादीया। सुण्ण-घरमसाणेसु य, सविसेसतरा भवे तिविहा' एताभिः पञ्चभिरपि सत्वभावनाभिस्तावदात्मानं भावयति यावद्दिवा रात्रौ वा देवैरपि भीमरूपैर्न चालयितुं शक्यते। उक्तं च ''देवेहिं भेसिया अविदिया वा रातो वा भीमरूवेहिंतो सत्तभावणाए वहति भरं निज्झतो संगलं''। गता सत्वभावना।

संप्रति सूत्रभावनामाह -

उक्कवितोवकवियाइं, सुत्ताइं करेइ सोयव्वाइं।
सुत्तट्ठपोरिसीतो, दिणे य काले अहोरत्ते ॥

सोऽधिकृतप्रतिमाप्रतिपत्तिनिमित्तं परिकर्मकारी साधुः सर्वाण्यपि सूत्राणि उत्कवितोऽपकवितानि करोति। किमुक्तं भवति उपरितनादार-भ्योत्करेणाधोऽवतरति मूलाद्वा समारभ्य क्रमेणोपर्युपर्यवगाहते। एकान्तरिताया एकग्रहणेन सर्वं मूलादारभ्य तावत्परावर्तयति यावत्पर्यन्तः। ततः उपरितनभागा-दारभ्य गुणितं मुञ्चन् सर्वमगुणितं तावत्पश्चादानुपूर्व्या गुणयति

यावन्मूलमित्यादि। ननु पूर्वमपि तस्य स्वाभिधानमिव सर्वमपि श्रुतं पूर्वादिरूपमतिपरिचितमेव ततः कस्मादेवमिदानीमभ्य- स्यति उच्यते कालपरिमाणावबोधनिमित्तम्। तथा हि स तथा सूत्रमाचारनामकन- वमपूर्वगततृतीयवस्तूक्तप्रकारेण परावर्तयति। यथा उच्छ्वासपरिमाणं यथोक्तरूपमवधारयति। तत उच्छ्वास-परिमाणावधारणात् उच्छ्वासनिःश्वासपरिमाणावधारणं तस्मात्ऽस्तोकस्य स्तोकान्मुक्तस्य मुहूर्ताद्धपौरुष्याभ्यां पौरुष्याः पौरुषी-भिर्दिनानामुपलक्षणमेतत् रात्रीणां च दिनरात्रीभ्यां वाऽहोरा- त्राणाम् एवं मुहूर्त्तात् पौरुषीदिनानि अहोरात्रांश्च काले कालविषये जानाति। उक्तं च। ''जइ वि य से वण्णादी, सनाममिव परिचियं सुयं तस्स। कालपरिमाणहेतुं, तहावि खलु तज्झयं कुणति। उस्सासीतो पाणू, ततो य थोवो ततो वि य मुहुत्तो। मुहुत्तेहिं पोरिसीतो, जाणंति नि साय दिवसा य'' उक्ता सूत्रभावना।

सांप्रतमेकत्वभावनामाह -

अण्णो देहातो अहं, नाणत्तं जस्स एवमुवलद्धं।
सो किं वि साहरिक्कं, न कुणइ देहस्स भंगे वि॥

अहं देहादन्य इत्येवमेकत्वभावनया यस्य साधोः परिकर्मणां कुर्वतः शरीरादात्मा नानात्वमुपलब्धः स दिव्यादिषु उपसर्ग-वेलायां देहस्य भङ्गेऽपि विनाशेऽपि किञ्चिदपि (आहरिक्कमिति) उत्रासं न करोति। गता एकत्वभावना।

संप्रति बलभावनामाह -

एमेव य देहबलं, अभिक्खमासेवणाए तं होइ।
लंखकमल्ले उवमा, आसकिसोरे य जोग्गविए॥

एवमेव अनेनैव प्रकारेण बलभावनयापि देहस्तथा भावयितव्यो यथा देहस्य करणीयेषु योगेषु बलं न हानिमुपगच्छति ननु तपसा क्रियमाणेन नियमतो देहबलमुपगच्छति ततः कथमुच्यते बलभावनया तथा देहो भावयितव्यो यथा देहबलं न हानिमुपया-तीति सत्यमेतत् किं तु देहबलं धृतिबलसूचनार्थं ततोऽयं भावार्थो बलभावनया तथा यतेत यथा देहोपचयेऽपि धृतिः समुत्साहवती समुत्साहमतितरां समुपजायते। यथा प्रबलामपि परीषह चमूमंतिसोपसर्गामपि लीलया योधयति। तथा चोक्तं ''कामं तु सरीरबलं, हायति तवभावणा पसुत्तस्स। देहावए वि सत्ती, जह होति धिती तहा जयइ। करिणो परीसहचमू, जइ उव्वेज्जाहि सोवसग्गावि। दद्दुरपहकर वेगा, भय जणणी अप्पसत्थीणं॥ धितिधणियबद्धकच्छो, जा होइ अणाइलो तमव्वहितो। बलभावणाए धीरो, संपुण्णमणोरहो होइ''ततोऽपि च सर्वा अपि भावना धृतिबलपुरस्सराः। विशेषतो धृतिबल- भावना भावयित-व्या। प्रबलदैवाद्युपसर्गोपनिपातेऽपि स्वकार्यं साधयति न खलु धृतेः किंचिदसाध्यमस्ति। आह च। ''धितिबलपुरस्सरातो, हवंति सव्वावि भावणा तोया। तं तु न विज्जइ सत्तं, जं धिइमंतो न साहेइ''। तच्चतपोबलप्रभृतीनामभीक्ष्ण-सेवनया भवंति। अत्रोपमा दृष्टान्तो लंखको मल्लश्च न केवलं लंखको मल्लकश्च दृष्टान्तः किं त्वश्वकिशारश्च किंविशिष्ट इत्याह। यो ज्ञापितः परिकर्म्मित इत्यर्थः। एषां च दृष्टान्तानामियं भावना। लंखकोऽभ्यासं कुर्वन्नभ्यासप्रकर्षवशतो रङ्गावपि नृत्यं करोति। मल्लोऽपि करणानि पूर्वं दुःखेनाभ्यस्यन् कालेन कृताभ्यासः पश्चादयत्नेन प्रतिमल्लं जयति। अश्वकिशोरोऽपि हस्त्यादिभ्यो भयं गृह्णानो दुःखं तत्पार्श्वे प्रथमतः स्थाप्यमानो- ऽभ्यासप्रकर्षवशतो न मनागपि तद्भयं करोति। तथा च सति संग्रामे हस्त्यादिभिश्च परि भवनेऽपि न भङ्गमुपयाति। एषा दृष्टान्तभावना। दार्ष्टान्तिकयोजना त्वियम् एवमभीक्ष्णा- सेवनया तपसा न क्लाम्यति सत्वावष्टम्भतो देवादिभ्यो न विभेति। सूत्रतः सूत्रार्थचिन्तनप्रमाणेन कालं दिनरात्रिगतागतरूपं जानाति। एकत्वभावनातो यथोक्तस्वरूपो निस्सङ्गो भवति। बलभावनातोऽध्वन्य वष्टम्भतः प्राणात्ययेऽपि नात्मानं मुञ्चति। तदेवं परिकर्मकरणं व्याख्यातम्। संप्रति 'दो जोहा' इत्येत- त्व्याख्यातव्यम्। तत्र परिकर्मणि कृते आचार्येण स परीक्षणीयः किमसौ कृतसम्यक्परिकर्म्मा किं वा नेति तत्र द्वे योधनिदर्शने ते एवाह -

पज्जोयमंतीवई खंड-कण्णसाहस्सिमल्ल पारिच्छा।
महकाल छगलसुरघड, ताल पिसाए करे मंसं॥

अवन्तीपतिः प्रद्योतः खण्डकर्णो नाम मन्त्री। अन्यदा राज्ञः पार्श्वे साहस्रिकः साहस्रिकयोधी मल्लः समागतः। तस्य खण्डकर्णे नामात्येन महाकालश्मशाने छागेन सुराघटेन परीक्षा कृता॥ तत्र तालप्रमाणः पिशाचस्तालपिशाचस्तस्य करे हस्ते मांसं दत्तवान्। द्वितीयो मल्ल आगतः सोऽपि तथैव परीक्षितः केवलं स तालपिशाचाङ्गयमगमत्॥ एष गाथा संक्षेपार्थः। भावार्थः कथानकादवसेयस्तच्चेदम्। अवंती जणवए पज्जोयस्स रण्णो मंती खंडकणो नाम अन्नया सहस्संपि जो जुद्धेइ सो आगतो ओलग्गामिति रायाण विण्णवेत्ति रण्णा भणियं ओलग्गाहि ततो सो भणइ मम वित्ती जा सहस्सजोहाणं सा दायव्वा॥ ततो खंडकण्णो चिंतेइ। परिक्खामि ताव एयस्स सत्तं जइ सत्तमंतो। होइ ततो सच्चं सहस्सजोही ततो खंडकण्णेण छगलओ सुरघडओ य दातुं भणितो अज्ज कण्हचउद्दसीए रत्तिं महाकाले मसाणे भक्खेयव्वं। ततो सो महाकालं गंतुं छगलयं उद्दवेत्ता पडलेउं मंसं खाइयं सुरं च पाउमाढत्तो नवरं तालपिसातो आगंतुं हत्थं पसारेति मम वि देहित्ति। ततो सो सहस्सजोही अभीतो पिसायस्स वि देइ। अप्पणो य खायति य रण्णा य पच्चंतियपुरिसा पडियारगा पेसिया ते जहवित्तं पासित्ता रण्णो खंडकण्णस्स य कहेंति। सच्चं सहस्सोही एसोत्ति वित्ती दिण्णा अन्नो वि आगंतुं विण्णवेति ओलग्गामित्ति। सोवि तहेव परिक्खिउमाढत्तो। तालपिसातो आगतो। भीतो नट्ठो परिचारगेहिं रण्णो खंडकण्णस्स य जहावित्तं कहियं। न दिण्णा सहस्सजोहवित्ती''। एवमाचार्योऽपि किमयं कृतसम्यक्परिकर्म्मा किं वा नेति तपःप्रभृतिभिः तं परीक्षेत। कथमिति चेदत आह -

न किलामति दीहेण वि, तवेण न वि तासितो वि वीहेति।
छण्णेवि ठिते वेलं, सहेति पुट्ठो अवितहं तु॥
परपच्छसंथुएहिं, निसिज्जई दिट्ठि एगमाईहिं।
दिट्ठीसुहवण्णेहि य, अब्भत्थवलं समूहंति॥

आचार्यस्तपः कारापणादिना प्रकारेण तं सम्यक्परीक्षेत तद्यदा दीर्घेनापि तपसा न क्लाम्यति तदा स तपःपरिकर्म्मितो ज्ञातव्यः। यदा तु न वित्रासितो मार्जारप्रभृतिश्वापदादिभिर्न विभेति तदा सत्वपरिकर्मितः यदा तु मेघच्छन्ने नभसि वसति- मध्ये वा स्थितः कियद्वतं दिवसस्स कियद्वा गतं रात्रेः कियद्वा शेषमिति दिवसस्स रात्रेर्वा वेलां पृष्टः सन्नवितथां साधयति कथयति तदा ज्ञातव्यः स सूत्रभावनापरिकर्म्मितः। तथा पूर्व- संस्तुता भार्याश्वश्रूश्वशुरादयस्तेषु पूर्वसंस्तुतेषु व-

न्दनार्थमुपागतेषु गाथायां तृतीया सप्तम्यर्थे प्राकृतत्वात्। दृष्टिरागादिभिर्न स्निग्धदृष्ट्यादिभिः आदिशब्दात् मुखविकाशादि परिग्रहः न सज्यते न सङ्गमुपयाति। तदा स एकत्वभावनापरिकर्म्मितो वेदितव्यः। एतदेव व्याचष्टे। दृष्टिमुखवर्णाभ्यां स्निग्धया दृष्ट्या अर्द्धावलोकनेन स्फारीकृतकान्तिमुखवर्णकरणेन च उपलक्षणमेतत्। संभाषादिना च तस्याध्यात्मबलमेकाकित्वभावनाबलं (समूहंति) परिभावयन्ति सूरयः। बलभावनामाह -

उभयतो किसो किसदढो, दढो किसोया वि दोहि वि दढो य।
वीयचरमापसत्था, धितिदेहं समप्पिया भंगा॥

बलचिन्तायां चतुर्भङ्गी तद्यथा उभयतो धृतिदेहाभ्यां कृशः किमुक्तं भवति। शरीरेण कृशो धृत्या च कृशः एष प्रथमो भङ्गः (किस-दढोति) शरीरेण कृशो धृत्या च दृढः एष द्वितीयः (दढो किसो यावित्ति) शरीरेण दृढो धृत्या कृशः एष तृतीयः। द्वाभ्यामपि च शरीरेण धृत्या च दृढः एष चतुर्थः। अत्र द्वितीयचतुर्थौ भङ्गौ धृतिदेहसमाश्रितौ धृतिदेहविषयौ प्रशस्तावेकाकिविहार-प्रतिमायोग्यौ द्वितीयस्य दृढधृत्याश्रयत्वात्। चरमस्य दृढधृतिदेहा-श्रयत्वात्। एते च एकाकिविहारप्रतिपत्तये कृतपरिकर्माणः स्वयमेवात्मानं तुलितमतुलितं वा प्रायो जानन्ति। ज्ञात्वा च प्रतिमाप्रतिपत्तये आचार्यान्विज्ञपयन्ति तथा चाह -

सुत्तत्थझरियसारा, सुत्तेण कालं तु सुट्ठु नाऊणं।
परिचिय परिकम्मेण य, सुट्ठु तुलेऊण अप्पाणं॥
तो विण्णवें ति धीरा, आयरिए एगविहरणमतीओ।
परिएगस्सु य सरीरे, कयकरणा निव्वसट्ठाणे॥

सूत्रार्थयोर्झरणेन क्षरणेन साराः शोभनाः सूत्रार्थझरणसाराः सूत्रेण सूत्रपरिकर्मतः कालं दिवसरात्रिगतमप्रच्छन्नगगनादा- वपि सुष्ठु ज्ञात्वा परिचितेन स्वभ्यस्तेन परिकर्मणा तपः प्रभृतिपरिकर्मणा सुष्ठु आत्मानं तुलयित्वा धीरा महासत्वा एकविहरणमतिका एकाकिविहाराभिप्रायाः पर्याये गृहस्थपर्याये प्रव्रज्यापर्याये च श्रुते पूर्वगते शरीरे च कृतकरणाः कृताभ्या-सास्तीव्रश्रद्धाकाः प्रवर्द्धमानश्रद्धाकास्ततस्तुलनानन्त-रमाचा-र्यादीन् विज्ञपयन्ति। अत्र यो नाचार्यः स आचार्यं विज्ञपयति। यथा भगवन् कृतपरिकर्म्माहमिच्छामि युष्माभिरनुज्ञात एकाकि-विहारप्रतिमां प्रतिपत्तुमिति। यः पुनराचार्यस्स स्वगच्छाय कथयति तथा परिकर्म्मितोऽहमतः प्रतिपद्ये एकाकिविहारप्रतिमा-मिति यदुक्तं। ''परियागसुयसरीरे इति'' तद्व्याख्यानार्थमाह -

एगूणतीसवीसा, कोडी आयारवत्थुदसमं च।
संघयणं पुणआदि-ल्लगाण तिण्हं तु अन्नयरं॥

द्विविधपर्यायो गृहिपर्यायो व्रतपर्यायश्च। तत्र यो जन्मत आरभ्य पर्यायः स गृहिपर्यायः स च जघन्यतः एकोनत्रिंशद्- वर्षाणि कथमिति चेदुच्यते। इदं गर्भाष्टमवर्षप्रव्रजितो विंशतिवर्षपर्यायस्य च दृष्टि-वाद उद्दिष्टः। एकेन वर्षेण योगः समाप्तः। सर्वमीलनेन जातान्येकोनत्रिंशद्वर्षाणि। व्रतपर्यायः प्रव्रज्याप्रतिपत्तेरारभ्य स च जघन्यतो विंशतिवर्षाणि तावत् प्रमाणपर्यायस्येव दृष्टिवादोद्देशभावात्। उत्कर्षतो जन्मपर्यायो वा देशोना पूर्वकोटी एतच्च। पूर्वकोट्यायुष्के वेदितव्यं नान्यस्य। उक्तं च। ''पडिमापडिवण्णस्स उ, गिहिपरियातो जहण्ण- गुणतीसा। जति परियातो तीसा, दोण्हवि उक्कोसदेसूणा''। श्रुतं जघन्यतो नवमस्य पूर्वस्य तृतीयमाचारनामकं वस्तु यावत्तत्र कालज्ञानस्याभिधानात्। उत्कर्षतो यावद्दशमं पूर्वं चशब्दस्यान-उक्तार्थसूचनाद्देशोनमिति द्रष्टव्यम्। तथा चोक्तम् ''आयार-वत्थतइयं, जहन्नगं होइ नवमपुव्वस्स। तहियं कालन्नाणं, दस उक्कोसाणि भिन्नाणि''। संहननं पुनरादिमानां त्रयाणां संहनना-नामन्यतमद्यदा तेन पृष्टं प्रतिमां प्रतिपद्येऽहमिति तदा स स्थिरीकरणनिमित्तमिति वक्तव्यः॥

जइ विसि तीए उवेओ, आयपरे दुक्करं खु वरेग्गं।
आपुच्छणेणुसज्जण -पडिवज्जणगच्छसमवायं॥

यद्यप्यसि भवसि त्वं तथा परिकर्मणया उपेतो युक्तः तथाऽप्यात्मपरेषु आत्मपरविषयेषु आत्मसमुत्थेषु परसमुत्थेषु उभयसमुत्थेषु चेत्यर्थः। परीषहेष्विति गम्यते। दुष्करं खलु वैराग्यं रागनिग्रहणमुपलक्षणमेतत् द्वेषनिग्रहणं चेति हेतोर्भूय आप्रच्छना क्रियते किं त्वया कृता सम्यक्परिकर्मणा किं वा नेति। एवमा प्रच्छनायां कृतायां यदि सम्यक्कृतपरिकर्म्मा ज्ञातो भवति ततस्तस्य विसर्जनमनुज्ञा तस्य क्रियते। अनुज्ञातश्च गच्छसमवायं कृत्वा प्रशस्तेषु द्रव्यक्षेत्रकालभावेषु प्रतिपादनं प्रतिमायाः प्रतिपत्तिं करोति। एष गाथासंक्षेपार्थः।

सांप्रतमेनामेव विवरीषुः पूर्वार्द्धं तावद्व्याख्यानयति॥

परिकम्मितो वि वुच्चइ, किमु य अपरिकम्ममंदपरिकम्मा।
आयपरोभयदोसेसु, होइ दुक्खं खु वेरग्गं॥

परिकर्मितोऽपि सुष्ठु कृतपरिकर्म्मापि उच्यते आपृच्छ्यते इति तात्पर्यार्थः। यथा त्वया कृता सत्परिकर्मणा किं वा न कृतेति किमुत अकृतपरिकर्मा मन्दपरिकर्म्मा वा ते सुतरामाप्रच्छनीया इति भावः। कस्मादेवमाप्रच्छना क्रियते इति चेदत आह। यत आत्मपरोभयदोषेषु आत्मपरोभयसमुत्थेषु परीषहेषु समुत्थितेषु दुःखं खलु भवति। वैराग्यं रागोपशमलक्षणमेतत्। द्वेषोपशमो वा ततो मा भूत् प्रतिपत्तौ कश्चिद्व्याघात इत्याप्रच्छना क्रियते। अथ के ते आत्मपरोभयाः समुत्थाः परीषहा इति तान्प्रतिपादयति।

पढमवीयाइलाभे, रोगे पण्णायिगा य आयाए।
सीउण्हादीउ परे, निसहियादी उ उभए वि॥

प्रथमः परीषहः क्षुद् द्वितीयः पिपासा आदिशब्दात्तत्पर इत्यादिपरीषहपरिग्रहः। तथा लाभपरीषहः रोगपरीषहः प्रज्ञादिकाः प्रज्ञादयः परीषहा आदिशब्दादज्ञानादिपरिग्रहः। एते आत्मनि आत्मसमुत्थाः परीषहाः। तथा शीतोष्णादयः शीतोष्णदंशमशकादिपरीषहाः परे परविषयाः परसमुत्था इत्यर्थः। नैषेधिकीवर्षादयः पुनः परीषहा उभयस्मिन् उभयसमुत्थाः।

संप्रति ''करणेलगच्छगत्ति'' व्याख्यानार्थमुपक्रमते।

एएसु समुप्पण्णेसु, दुक्खं वेरग्गभावणा काउं।
पुव्वं अभावितो खलु, स होइ एलगच्छोओ॥

यः खलु पूर्वमभावितो यथोक्तपरिकर्मणया अपरिकर्मितो भवति। यथा शैक्ष एडकाक्षस्तस्य एतेषु आत्मपरोभयसमुत्थेषु परीषहेषु दुःखं महत्कष्टं वैराग्यभावना। उपलक्षभेतत् द्वेष-निग्रहभावनाश्च कर्तुं न शक्यन्ते एवं रागद्वेषनिग्रहभावनां कर्तुमिति भावः। यस्तु सम्यक्कृतपरिकर्मा भवति स करोत्ययत्नेन वैराग्यभावनां यथा क्षपकस्तथा चाह -

परिकम्मणाए खंवगो, सेह वलामोडिए वि तहगत्ति।
पाभातियउवस्सग्गे, कयम्मि पारेइ सो सेहो॥

पारेहि तं पि भंते, ! देव य अच्छी चवेडपामणया।
काउस्सग्गा कंपण-एलगमए एइ निव्वित्ती ॥

परिकर्मणायामुदाहरणं क्षपकः । बलामोटिकायां श्रुतपर्याय-त्वेन परिकर्मणायामेव प्रतिपत्तावाहरणं शैक्षकः सोऽपि शैक्षकस्तथा क्षपक इव तिष्ठति कायोत्सर्गेणावतिष्ठते। ततो देवतया प्राभातिके उपसर्गे कृते स शैक्षकः पारयति पारयित्वा च क्षयकं ब्रूते। यथा भहन्त ! त्वमपि पारय जातं प्रभातमिति ततो देवतया चपेटाप्रदानेन तस्याक्ष्णोः पातनमकारि तदनन्तरं शैक्षकानुकम्पया देवताराधनार्थं कायोत्सर्गः कृतस्तेन देवताया आकम्पनमावर्जनम भूत्ततः । सद्योमारितस्य एडकस्य प्रदेशयो-रक्ष्णोस्तत्र निर्वृत्तिर्निष्पत्तिः कृता। एष गाथाद्वय संक्षेपार्थः । भावार्थः कथानकादवसेयस्तच्चेदम्''एगो खवगो एगल्लविहारपडिमाए परिकम्मं करेइ सो पडिसं ठितो सुत्तत्थाणि करेति । अन्नो खवगो अप्पसुत्तो आयरियं विन्नवेति । अहंपि परिकम्मं करेमि । आयरिएणं भणियं तुमं सुएणं अपज्जत्तो न पाओग्गोसि वारिज्जमाणो असुणित्ता तस्स जमलतो तहेव पडिमं ठितो। देवया चिंतेइ एस आणाभंगे वट्टत्तित्ति। अङ्गुरत्ते पभायं दंसेति। ततो सेहखवगो पारित्ता भणति । तं खवगं पारेहि । सेह खवगो देवयाए चेवडाए आहतो । दोवि अच्छीणि पडियाणि तं दट्ठुं इयरो तदणुकंपणट्ठा देवयाए आकंपणनिमित्तं धणियं काउसग्गेण ठितो। ततो सा देवया आगता भणति खवग ! संदिसह किं करेमि। खवगेण भणियं कीस ते सेहो दुक्खावितो। देहि से अच्छीणि। ताहे तीए देवयाए भणीयं अच्छीणि अप्पदेसी भूयाणि खवगो भणइ कहवि करेहि । ताहे सज्जो मारियस्स एलगस्स सप्पएसाणि । सेहखवगस्स लाइयाणि'' । सांप्रतमेतस्य निदर्शनोपनयमाह -

भावियमभावियाणं, गुणा गुणण्णाइ विंति तो थेरा।
वितरंति भावियाणं, दव्वादिसु भेयपडिवत्ती ॥

भावितानां कृतपरिकर्मणानां गुणा यथा क्षपकस्य अभावितानां-कृतपरिकर्मणानामगुणा यथा शैक्षकः क्षपकस्य इति एवं भाविता गुणा गुणज्ञाः स्थविराः आचार्यास्तत आपृच्छानन्तरं यान् भावितान् सम्यग् जानन्ति तेषां भावितानां प्रतिमाप्रतिपत्तिं वितरन्ति समनुजानन्ति एतेन ''आपुंछणा विसज्जण'' इत्येत द्व्याख्यात-मधुना पडिवज्जणं इत्येत-द्व्याख्यानायाह। (दव्वादिसु भेय-पडिवत्ती) द्रव्यादौ द्रव्यक्षेत्रकालभावेषु शुभेषु प्रशस्तेषु प्रतिमायाः प्रतिपत्तिर्भवति कथमित्याह -

निरुवसग्गनिमित्तं, उवसग्गं वंदिऊण आयरिए।
आवस्सियं च काउं, निरवेक्खो वच्चए भयवं ॥

पूर्वं समस्तमपि स्वगच्छमागत्य यथार्हं क्षमयित्वा तदनन्तर-माचार्येण सकलस्वगच्छसमन्वितेन सकलसंघसमन्वितेन च शैक्षनिरुपसर्ग-निमित्तमुपसर्गाभावेन सकलमपि प्रतिमानुष्ठानं निर्वहत्वित्येतन्निमित्तं कायोत्सर्गं करोति तद्यथा ''निरुवसग्ग-वत्तियाए सद्धाए मेहाए'' इत्यादि। कायोत्सर्गानन्तरं च सूत्रोक्तविधिना प्रतिमां प्रतिपद्य आचार्यान् वन्दते वन्दित्वा च आवश्यकीं कृत्वा स भाण्डमात्रोपकरणः सिंहगुहातो निरपेक्षं पूर्वापेक्षाविरहितो भगवान् व्रजति आचार्याश्च सकलसंघ-समन्विताः पृष्ठतोऽनुव्रजन्ति। ते च तावद्व्रच्छन्ति यावद्ग्रामस्य नगरस्य वा आघाटस्ततो निरीक्षमाणास्तावदासते यावत्। दृष्टिपथातीतो भवति ततः सर्वे विनिवर्त्तन्ते।

संप्रति वक्ष्यमाणवक्तव्यतासंसूचनाय द्वारगाथामाह -

परिचियकालामंतण- खामणतवसंजमे य संघयणा।
भत्तोवहिनिक्खेवे, आवण्णो लाभगमणे य ॥

परिचितश्रुतः सन् यावन्तं कालं परिकर्म यस्य करोति तस्य तावत्कालो वक्तव्यः तथा स्वगणामन्त्रणं वक्तव्यं तथा तपः संयमः संहननं तथा भक्तमलेपकृदादि उपधिर्यावत्संख्याको जघन्यत उत्कर्षतश्च तावत्संख्याको वक्तव्यः । तथा निक्षेप उपधेर्न कर्तव्यो वसतरेन्यत्र गच्छतेति वाच्यम्। तथा मनसापि यत्प्रायश्चित्तमपन्नं भवति तद्दातव्यम्। तथा सचित्ताचित्तलाभो यथा कर्त्तव्यस्तथा भणनीयः । तथा गमनं विहारस्तद्यस्यां पौरुष्यां कर्त्तव्यं तस्याः कथयितव्यम् । एष द्वारगाथासंक्षेपार्थः । सांप्रतमेनामेव व्याचिख्यासुः प्रथमतः परिचितकालद्वारमाह -

परिचितसुओ उ मग्गसिर-मादि जाते उ कुणति परिकम्मं।
एसो च्चिय सो कालो, पुणरेव गणं उवग्गम्मि ॥

परिचितमत्यभ्यस्तं स्वीकृतं श्रुतं येन स परिचितश्रुतः सन्मार्ग-शीर्षमासमादि कृत्वा यत्परिकर्म करोति। एष एतावत्प्रमाण एव साधोः प्रतिमाप्रतिपित्सोर्जघन्यपदे उत्कर्षतः कालः परिकर्मणाया एतावत्प्रमाणोत्कृष्टपरिकर्मणाकालानन्तरं च यद्यप्यवधानप्रतिमां प्रतिपित्सुस्तथापि अग्रयस्य मुखस्यवर्षा-कालसंबन्धिनः समीपमुपग्रयमाषाढमास इत्यर्थः। तस्मिन्वर्षा-कालयोग्यमुपधिं ग्रहीतुं पुनरेत्यागच्छति । स्वगणमिति एवं तच्चेदमुत्कलितमुक्तमिदानीमेतदेव सविशेषतरं विवृणोति।

जो जति मासे काहिति, पडिमं सो तत्तिए जहण्णेण।
कुणति मुणी परिकम्मं, उक्कोसं भावितो जाव ॥

यो मुनिर्याति (यावत्) मासान् प्रतिमां करिष्यति स तति (तावत्) मासान् जघत्येन परिकर्म करोति तद्यथा मासिकां प्रतिमां प्रतिपित्सुरेकं मासं द्वैमासिकीं द्वौ मासौ त्रैमासिकीं त्रीन् मासान् एवं यावत्सप्तमासिकीं सप्त मासान् एवं च मार्गशीर्षा-दारभ्य सप्तमासिक्याः परिकर्म ज्येष्ठमासे समाप्तिमुपयाति। एतानेव च जघन्यपदे उत्कृष्टकालः। ततः परं प्रतिमानां मासैः परिमाणासंभवात् उत्कर्षतस्तमधिकृत्य पुनः परिकर्मणाकालो यावता कालेन परिपूर्णमागमोक्तेन प्रकारेण भावितो भवति तावान्वेदितव्यः । तत्र जघन्यपद परिकर्मणाकालमधिकृत्य कासांचित्प्रतिमानां तस्मिन्नेव वर्षे प्रतिपत्तिः कासांचिद्वर्षा-न्तरेऽभिधित्सुराह -

तव्वरिसे कासिंची, पडिवत्ती अन्नहिं उवरिमाणं।
आइण्णपइण्णस्स उ, इच्छाए भावणा सेसे ॥

कासांचिदाद्यानां प्रतिमानां तद्वर्षे एव यस्मिन्वर्षे परिकर्म-समारब्धवान् तस्मिन्नेव वर्षे प्रतिपत्तिरुपरितनीनान्यस्मिन्वर्षे । इयमत्र भावना। मासिक्या द्वैमासिक्यास्त्रैमासिक्याश्चतुर्मा-सिक्या वा तस्मिन्नेव वर्षे प्रतिपत्तिः । कस्मादिति चेत्परिकर्मणाकालस्य प्रतिमाकालस्य च आषाढमासपर्यन्ता-दर्वाक् लभ्यमानत्वात् । पाञ्चमासिकी षाण्मासिकी-सप्तमासिकीनामन्यस्मिन्वर्षे परिकर्म अन्यस्मिन्वर्षे प्रतिपत्ति-र्मार्गशीर्षमासादारभ्य परिकर्मकालस्य प्रतिमाकालस्य चाषाढ-मासपर्यन्तादर्वाग् लभ्यमानत्वादिति येन च या प्रतिमा पूर्वमाचीर्णा। तस्याचीर्णप्रतिमस्य तां प्रतिमां प्रति परिकर्मणा इच्छया यदीच्छा भवति ततः करोति नो चेन्नेति । किमुक्तं भवति । चिरकाल कृततया यदि गताभ्यासो भवति ततः करोति परिकर्मणा-

मन्यथातिशेषे येन या प्रतिमां पूर्वं नाचीर्णा तस्य तां प्रति नियामाङ्गावना परिकर्मणा भवति।

सांप्रतमामन्त्रणक्षामण तपःसंयमद्वाराण्याह -

आमंतेऊण गणं, सवालवुड्ढा उ लंखमावेत्ता।
उग्गतवभावियप्पा, संजमपढमेव वितिए वा॥

गणं गच्छं सह बालाः यैस्ते सबालास्ते च ते वृद्धाश्च तैराकुल-मामन्त्र्य समाहूय क्षमयति। यथा यदि किञ्चित्प्रमादतो मया न सुष्ठु भवतां वर्त्तितं तदहं निःशल्यो निष्कषायं क्षमयामीति। ये च पूर्वविरुद्धास्तानेवं सविशेषत क्षमयति। एवमुक्ते ये लघवस्ते आनन्दाश्रुप्रपातं कुर्वाणः भूमिगतशीर्षास्तं क्षमयन्ति ये पुनः श्रुतपर्यायवृद्धास्तान् पादेषु पतित्वा स क्षमयति। उक्तं च ''किंचि पमाएणं, न सुष्ठु मे वट्टियं मए पुव्विं। तं खामेमि अहं खु, निस्सल्लो निक्कसाओ य। आणंदअंसुपायं, कुणमाणा ते वि भूमिगयसीसा। तं खामेंति जहारिहं, जहारिहं, खामिया तेण''। एवं क्षमयतस्तस्य के गुणा इति चेत् उच्यते। निःशल्यता विनय-प्रतिपत्तिर्मार्गस्य प्रकाशनम् अपहृतभारस्येव भार वाहस्य लघुता एकाकित्वप्रतिपत्त्यभ्युपगमः। क्वचिदप्यप्रतिबद्धता। एते प्रतिमासु प्रतिपद्यमानासु क्षमयतो गुणाः। उक्तं च ''खामंतस्स गुणा खलु, निस्सल्लय विणयदीवणा मग्गे। लाघविणं एगत्तं, अपडिबंधो उ पडिमासु''। गतमामन्त्रणाद्वारम्। स एवं च क्षामयि-त्वा भावितात्मा तपोभावनाभावितान्तः उग्रं तपः करोति। गतं तपोद्वारम्। स च तथा प्रतिमां प्रतिपन्नः संयमे प्रथमे वा सामायिकलक्षणे वर्त्तते। द्वितीये वा छेदोपस्थापने। तत्र प्रथमे मध्यमतीर्थकरतीर्थेषु विदेहतीर्थकरतीर्थेषु च द्वितीये भरतादिषु प्रथमपश्चिमतीर्थकरतीर्थेषु एतच्च प्रतिपद्यमान-कानधिकृत्योक्तं, वेदितव्यम्। पूर्वप्रतिपन्नाः पुनः पञ्चानां संयमानामन्यतमस्मिन् संयमे भवेयुः उक्तं च। ''पढमे वा बीए वा, पडिवज्जइ सेजमम्मि पडिमातो। पुव्वपडिपन्नतो पुण, अन्नयरे संजमे हुज्जा'' गतं संयमद्वारम्। अधुना भक्तद्वारमुपथिद्वार चाह -

पगहियमलेवकडं, भत्तजहण्णेण नवविहो उवही।
पाउरणवज्जियस्स उ, इयरस्स दसा वि जावाए॥

भक्तमुपलक्षणमेतत् पानकं च अलेपकृतं कल्पते तथा प्रगृहीतमिहालेपकृद्भिक्षाया उपरितनानां तिसृणां भिक्षाणां मध्यमामध्यमग्रहणे चाद्यन्तयोरपि ग्रहणं ततोऽयमर्थः सप्तसु चउहिं पिण्डैषणासु मध्ये उपरितनीनां चतसृणामन्यतमस्याः पिण्डैषणायाः अभिग्रहः। आद्यानां तिसृणां पिण्डैषणानां प्रतिषेधः एतच्च चूर्णिकारोपदेशात् विवृतम् तथाचाह चूर्णिकृत् ''उपरिल्लहिं पिंडेसणाहिं अन्नयरीए। अभिग्गहो सेसासु तिसु उग्गहो इति''॥ गतं भक्तद्वारमुपधिद्वारमाह। जघन्येनोपधिर्नवविधः। पात्रपात्र-बन्ध-पात्रस्थापना-पात्रकसरिका-पटल-रजस्त्राण-गोच्छक-मुखवस्त्रिका-रजोहरणलक्षण एष च नवविधो जघन्यत उपधिर्यः प्रावरणवर्जीकृत-प्रावरण परिहाराभिग्रहस्तस्य वेदितव्यः। इतरस्य कृतप्रावरणपरिग्रहस्य दशादिको विज्ञेयो यावत् द्वादशविधः। तत्रैकसौत्रिककल्पपरिग्रहे दशविधः सौत्रिककल्पद्वयपरिग्रहे एकादशविधः। कल्पत्रयस्यापि परिग्रहे द्वादशविधः। गतमुपधिद्वारम्।

संप्रति निक्षेपद्वारमाह -

वसहीए निग्गमणं, हिंडंतो सव्वभंडमादाय।
नयनिक्खिवइ जलाइसु, जत्थ से सूरो वयति अत्थं॥

वसतेः सकाशाद्यदि निर्गमनं भवति ततो नवविधोपधि- धारणेनैव भाण्डमुपकरणमात्मीयं वसतौ न निक्षिपति। किंतु सर्वभाण्डमादाय हिण्डते हिण्डमानश्च यत्रैव जलादिषु जले स्थले ग्रामे नगरे कानने वने वा तस्य सूर्यो व्रजत्यस्तं तत्रैव कायोत्सर्गेण अन्यथा वाऽवतिष्ठते न पुनः पदमात्र मुत्क्षिपति। गतं निक्षेपद्वारम्।

अधुना आपन्नलाभगमनद्वाराण्याह।

मणसावि अणुग्घाया, सचित्ते चेव कुणति उवदेसं।
अचित्तजोगगहणं, भत्तं पंथो य तइयाए॥

मनसापि आस्तां वाचा कायेन चेत्यपिशब्दार्थः। यानि प्रायश्चित्तानि आपद्यते तानि सर्वाण्यपि तस्यानुद्घातानि गुरूणि भवन्ति। गतमापन्नद्वारम्। लाभद्वारमाह (सचित्ते- चेत्यादि) लाभो द्विविधः सचित्तस्य अचित्तस्य च तत्र सचित्तस्य प्रव्रजितुं कामस्य मनुष्यस्य अचित्तस्य भक्तपानादेः। तत्र यदा सचित्तस्य लाभ उपस्थितो ज्ञायते यथा नूनमेष प्रव्रजिष्यति वतु स्थास्यति तदा तस्मिन्सचित्ते प्रव्रजितुमुपसंपद्यमानतया संभाविते उपदेशमेव करोति नतु तं प्रव्राजयति। तस्य तामवस्थामुपमतस्य प्रव्रज्यादानानर्हत्वात्। एवकारो भिन्नक्रमः स च तथास्थानं योजितः अचित्तस्य पुनर्योग्यस्य भक्तस्य पानस्य वा ग्रहणं करोति। गतं लाभद्वारम्। गमनद्वारमाह। भक्तं भिक्षाचर्याः पन्थाः पथि विहारक्रमकरणाय गमनं तृतीयस्यां पौरुष्यां नान्यदा। तदा फल्पत्वात् तदेवं भिक्षोः प्रतिमाप्रतिपत्तिविधिरुक्तः।

संप्रति गणावच्छेद्यादिषु तमाह -

एमेव गणायरिए, गणनिक्खिवणम्मि नवरि नाणत्तं।
पुव्वोवहिस्स अहवा, निक्खिवणमपुव्वगहणं तु॥

एवमेव अनेनैव भिक्षुगतेन प्रकारेण(गणित्ति)गणावच्छेदिनि (आयरिएत्ति) आचार्योपाध्याये वक्तव्यं किमुक्तं भवति यथा भिक्षौ प्रतिमां प्रतिपत्तुं प्रतिपन्ने च विधिरुक्तस्तथा गणावच्छेदिनि आचार्योपाध्याये च प्रतिपत्तव्यः। तथा च सूत्रकारोऽपि तत्सूत्रे अतिदेशत आह ''एवं गणावच्छेदं एवं आयरितोवज्झाए'' एवं भिक्षुगतेन सूत्रप्रकारेण गणावच्छेद एवमेव आचार्यश्च उपाध्यायश्च आचार्योपाध्यायम्। तद्यथा ''गणावच्छेयए वा गणातो अवक्कम्मा एगल्लविहारपडिमं उवसंपज्जित्ताणं विहरेज्जा से इयज्जा दोच्चं पि तमेव ठाणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए पुणो आलोएज्जा, पुणो पडिक्कमेज्जा। पुणो छेदस्स परिहारस्स वा उवट्ठाएज्जा। तथा आयरितोवज्झाए य गणातो अस्स एगल्ल-विहारपडिमं उवसंपज्जित्ताणं विहरे इत्यादि''व्याख्याऽप्यस्य सूत्रद्वयस्य तथैव। अथ किमविशेषेण भिक्षाविव प्रतिमा-प्रतिपत्तिविधिरनुसरणीयो यदि वास्ति कश्चिद्विशेषस्तत आह (गणनिक्खेवणं इत्यादि) नवरं नानात्वं भेदो गणनिक्षेपणे। इयमत्र भावना गणा वच्छेदी गणावच्छेदित्वं मुक्त्वा प्रतिमां प्रतिपद्यते आचार्योऽन्यंगण धरं स्थापयित्वेति विशेषः। अथवा इदं भिक्षुगतविधेर्गणावच्छेद्याचार्ययोर्विधिः। नानात्वं गणाच्छेदी आचार्यो वा पूर्वगृहीतमुपधिंनिक्षिप्य अन्यमुपधिं प्रायोग्यमुत्पाद्य प्रतिमां प्रतिपद्यते इत्युक्तम्। समाप्तप्रतिमानुष्ठानस्य गच्छं प्रत्यागमने राजादिभिः क्रियमाणं सत्कारं कोऽपि भिक्षुर्गणा-वच्छेदी आचार्यो वा दृष्ट्वा जातसंवेगः सन् स्वाचार्याणां पुरत आपृच्छनं करोति। यथा भगवन्नहमप्येकाकिविहारप्रतिमां प्रतिपद्य इति। ते चाचार्या विशिष्टश्रुतविदो जानन्ति भाविनं चेति॥ तस्यायोग्यतामुदीक्षमा-

णाः प्रतिषेधनं कृतवन्तः यथा त्वमयोग्यः श्रुतेन वयसा वाऽप्राप्तत्वात् न च परिकर्मणा तद्योग्या त्वया कृतेति। स एवं प्रतिषिध्यमानोऽपि यदा न तिष्ठति तदा सूरेर्वक्तव्यो यदि न स्थास्यसि तर्हि निवङ्क्ष्यासि यथा सा देवी का सा देवीति चेत्। अत आह। (देवीसंगामतो नीति) देवी राज्ञा वार्यमाणाऽपि ततो राज्ञः सकाशाद्विनिर्गच्छति संग्रामे प्रविशतीति प्रतिमाप्रतिपत्तिविधिः।

इदानीं समाप्तिविधिमाह -

तीरियउब्भामणियोग-दरिसणं साहु सन्नि व प्पाहे।
दंडियमोइय असती, सावगसंघो व सक्कारं॥

तीरितायां समाप्तायां प्रतिमायामुत्प्राबल्येन भ्रमन्तीत्युद्भ्रमाः भिक्षाचरास्तेषां नियोगो व्यापारो यत्र स उद्भ्रमनियोगो ग्रामस्तत्र दर्शनात्मनः प्रकटनं करोति। ततः साधुं संयतं संज्ञिनक सम्यग्दृष्टि श्रावकं (अप्पाहेत्ति) सन्देशयति। ततो दण्डिकस्य राज्ञो निवेदनं सत्कारकं करोति। तदभावे भोजिकस्त-स्याप्यभावे श्रावकवर्गस्तस्याप्यभावे संघः साधुसाध्वीवर्गः। इयमत्र भावना। प्रतिमायां समाप्तायां यस्मिन् ग्रामे प्रत्यासन्ने बहवो भिक्षाचराः साधवश्च समागच्छन्ति तत्रागत्यात्मानं दर्शयति। दर्शयंश्च यं साधुं श्रावकं वा पश्यति तस्य सन्देशं कथयति। यथा समापिता मया प्रतिमा ततोऽहमागत इति। तत्राचार्या राज्ञो निवेदयन्ति। यथा अमुको महातपस्वी समाप्ततपः कर्मा संस्तदतिमहता सत्कारेण गच्छे प्रवेशनीय इति। ततः स राजा तस्य सत्कारं कारयि-तव्यस्तदभावे अधिकृतस्य ग्रामस्य नगरस्य वा नायकः तदभावे समृद्धः श्रावकवर्गस्तदभावे साधुसाध्वी-प्रभृतिकः संघो यथाशक्ति सत्कारं करोति। सत्कारो नाम तस्योपरि चन्द्रोदयधारणं नान्दीतूर्यास्फालनं सुगन्धवास प्रक्षेपणमित्यादि। एवंरूपेण सत्कारेण गच्छं प्रवेशयेत्।

सत्कारेण प्रवेशनायामिमे गुणाः -

उब्भावणा पवयणे, सद्धाजणणं तहेव बहुमाणो।
ओहावणा कुतित्थे, जीयं तह तित्थवड्ढी य॥

प्रवेशसत्कारेण प्रवचने प्रवचनस्य उद्भाजनं प्राबल्येन प्रकाशनं भवति। तथा अन्येषां बहूनां साधूनां श्रद्धाजननं यथा वयमप्येवं कुर्म्मो महती शासनस्य प्रभावणा भवति। यथा श्रावक श्राविकाणामन्येषां च बहु मानमुपजायते। शासनस्यो- परि यथा अहो महाप्रतापि पारमेश्वरं शासनं यत्रेदृशा महातपस्विन इति। तथा कुतीर्थे जातावेकवचनम्। कुतीर्थानामपभ्राजना हीलना। तत्र ईदृशां महासत्वानां तपस्विनाम-भावात्। तथा जीतमेतत्कल्प एष यथा समाप्तिप्रतिमानुष्ठानः सत्करणीय इति। तथा तीर्थवृद्धिश्च। एवं हि प्रवचनस्यातिशयमुदीक्षमाणा बहवः संसारात् विरज्यन्ते विरक्ताश्च परित्यक्तसङ्गाः प्रव्रज्यां प्रतिपद्यन्ते ततो भवति तीर्थप्रवृद्धिरिति। तदेवं परिकर्मणाभिधानं प्रतिमा-प्रतिपत्तिः प्रवेशसत्कारश्च भणितः। सांप्रतमधिकृतसूत्रं यत्र योगमर्हति तद्विवक्षुरिदमाह -

एएण सुत्तं न गयं, सुत्तनिवातो इमो उ अव्वत्ते।
उच्चारियसरिसं पुण, परूवियं पुव्वभणियं पि॥

यदेतदनन्तरं परिकर्मणादिकमुक्तं नैतेन सूत्रं गतं व्याख्यातं जातावेकवचनस्य भावात्। नैतेन त्रीणि सूत्राणि व्याख्यातानि। सूत्राणामन्यविषयत्वात्। तथा चाह।''सुत्तनिवातो इमो उ अव्वत्ते'' तुशब्दः पुनरर्थे स च पुनरर्थं प्रकाशयन् हेत्वर्थमपि प्रकाशयति। ततोऽयमधिकृतः सूत्रनिपातो व्यक्तोऽव्यक्त-शब्दविषयः। अव्यक्तो नाम श्रुतेन वयसा वाऽप्राप्तोऽपरिकर्म्मितश्च पूर्वभणितं च समस्तं व्यक्तविषयमतोऽन्यविषयत्वं च प्रागुक्तमिति। नैतेन प्रागुक्तेन सूत्रत्रयं गतमिति। अत्राह। यदेतत्प्राग्व्याख्यातं न तेन यदि सूत्रत्रयं गतं तर्हि तदेतत् कुत आगतम्। सूत्रात्तावन्न भवति सूत्रस्यान्यविषयत्वात्। अन्यस्माच्चेत्तर्हि न वक्तव्यमसंबद्धत्वात् अत आह (उच्चारिय सरिसमित्यादि) परिकर्मणाभिधानं यच्च पूर्वमाचारदशासु भिक्षुप्रतिमागतमुक्तं यथा ''घरसउणीसीह इत्यादि''। तथा ''परिचियकालामंतेणेत्यादि'' च प्राग्भणितमपि प्ररूपितमुच्चरितस्य सदृश-मनुगतमिति कृत्वा किमुक्तं भवति॥ ''एगल्लविहारपडिमं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए'' इत्युक्तमेतच्च सूत्रखण्डे व्यक्तेऽव्यक्ते च समानं ततो यदपि सकलसूत्रो-पनिपातोऽव्यक्तविषयस्तदपि यदेतत्सूत्रखण्डं तत् व्यक्तेऽपि समानमिति। व्यक्तविषयं परि-कर्मणादिकमुक्तमित्यदोषः। यदुक्तमयमधिकृतसूत्रोपनिपातो ऽव्यक्तविषय इति। तत्राव्यक्ते यथा प्रतिमाप्रतिपत्तिसम्भवस्तथोपपादयति।

आगमणे सक्कारं, को यं दट्ठूण जायसंवेगो।
आपुच्छणपडिसेहण, देवी संगामतो नीति॥
संगामे निवपडिमं, देवी काऊण जुज्झति रणम्मि।
वितियवले नरवती, नाउं गहिया धरिसिया य॥

संग्रामे देवी नृपप्रतिमां राज्ञ आकारं कृत्वा युध्यते सा च तथा रणे संग्रामे युध्यमाना द्वितीयबले प्रतिपक्षबले यो नरपतिस्तेन कथमपि ज्ञाता अरे महिला युध्यतीति सन्नाहापेक्षं कृत्वागृहीता चण्डालैर्धर्षापिता मारिता च एषोऽक्षरार्थः। भावार्थः कथानका-दवसेयस्तच्चेदम्। ''एगेण् रण्णा एगस्स रण्णो नगरं वेढियं। रायासु अंतेउरो नगरब्भंतरे अग्गमहिसी भण्णइ। जुज्झामि वारिज्जंती वि रन्ना न ठाति ततो सा सन्नाहिता खंधावारेण समं निगंतु परबलेण समं जुज्झइ महिलित्ति काउं गहिया, चंमालेहिं धरिसाविता मारिया।

दूरेतो पडिमातो, गच्छविहारे वि सो न निम्माते।
निग्गंतुं आसन्ना, नियति लहुओ गुरू दूरे॥

दूरे तावत्प्रतिमाः। किमुक्तं भवति। तद्विषयमिदं सूत्रत्रिकं तस्य प्रतिमाः प्रतिपत्तव्यास्तावत् दूरे विशिष्टश्रुतवयोभ्यामप्राप्ततया तत्सामाचारीपरि-ज्ञानस्य परिकर्मणायाश्चाभावात् गच्छविहारे गच्छसामाचार्यामपि सोऽधिकृतसूत्रत्रयविषयो निर्मातो न परिनिष्ठामुपगतः स आचार्येण वार्यते। स च वार्यमाणोऽपि यदा स्व-गच्छान्निर्गत्य यदि कथमपि बुद्धिपरावर्तनेनासन्नाद्विनिवर्त्तते ततस्तस्य प्रायश्चित्तं लघुकोः मासः। दूरे दूराद्विनिवर्त्तते तत आह -

गच्छं दोसो गच्छा, निग्गंतूणं ठितो उ सुण्णघरं।
सुत्तत्थसुण्णहियओ, संभरइ इमेसि मे गामी॥

स्वमात्मीयं छन्दोऽभिप्रायो यस्य स स्वच्छन्दः सन् गच्छाद्वि-निर्गत्य शून्यगृहे उपलक्षणमेतत्। श्मशाने वा वृक्षमूले वा देवकुलसमीपे वा कायोत्सर्गेण स्थितः स च सूत्रमर्थं वा न किमपि जानाति यच्चिन्तयति। ततः सूत्रार्थशून्यहृदय एकाकी सन् एषां वक्ष्यमाणानामाचार्यादीनां स्मरति। तानेवाह -

आयरियवसभसंघा-डएयकंदप्पमासियं लहुयं।
एगाणिपत्तसुण्णघरे, अत्थमिए पत्थरे गुरुगा॥

आचार्यो गच्छाधिपतित्वं वा यदि स्मरति । यदि वा वृषभ- मथवा संघाटिकं (कंदप्पत्ति) अत्र विभक्तिलोपो मत्वर्थीय- लोपश्च प्राकृतत्वात् । यैर्वा साधुभिः समं गच्छेवसन् कन्दर्प्यहं स च सूर्यादिरूपं कृतवान् । कन्द (र्पकान) र्पकृतान् स्मरति तदा प्रायश्चित्तं मासिकं लघुकं तथा(एकाणियत्ति) एकाकी सन् शून्य गृहे उपलक्षणमेतत् । श्मशानादौ वा दिवसे विभेति तदा चत्वारो लघुमासाः यदि पुनरस्तमिते सूर्ये भयं गृह्णन् प्रस्तरान् पाषणान् (छुहइत्ति) तदा चतुर्गुरुकाः ।

पत्थरे छुहइ रत्ता, गमणे गुरुलहुगदिवसतो हुंति ।
आयसमुत्था एए, देवयकरणं तु वुच्छामि ॥

यदि रात्रौ मार्जारादिश्वापदादिभ्यो विभ्यन् प्रस्तरान् शून्य- गृहादौ च गृहस्यान्तः (छुहइत्ति) प्रवेशयति । यदि वा स्तेनादिभयेन रात्रौ गच्छमागच्छति तदा प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः । यदा पुनर्दिवसे एव शून्यगृहादाववतिष्ठमानो भयात्प्रस्तरान्प्रवेशयति गच्छं वा भयमजीर्य- न्समायाति तदा चत्वारो लघुका मासाः । एते आत्मसमत्था दोषा उक्ताः । इदानीं यद्देवता करोति तद्देवता- करणं वक्ष्यामि । सांप्रत 'मेगाणियसुण्णघरे इत्यादि' यदुक्तं तद्भिक्षुगणावच्छिद्याचार्यभेदेषु प्रत्येकं सविशेषतरं भावयति ॥

पत्थरमणसंकप्पे, मग्गणदिट्ठे य गहियखेत्ते य ।
पडियपरितावियमए, पच्छित्तं होइ तिण्हं पि ॥
मासा लहुतो गुरुतो, चउरो लहुगा य चउर गुरुगा य ।
छम्मासा लहुगुरुगा, छेओ मूलं तह दुगं च ॥

प्रस्ताराणां ग्रहाणाय मनःसंकल्पे मार्गणे तथा ग्रहणबुद्ध्या प्रस्तरे दृष्टे तथा गृहीते तथा क्षिप्ते यस्योपरि प्रक्षिप्तः प्रस्तरस्त-ऽस्योपरि पतिते नवरमपरितापिते अनागाढं परितापिते तथा मृते च त्रयाणामपि भिक्षुगणावच्छेद्याचार्याणां प्रायश्चित्तं वक्ष्यमाणं यथाग्रिमं भवति। तदेवाह (मासो इत्यादि) मासो लघुको गुरुकाः षण्मासाः लघवः षण्मासा गुरुकाश्छेदो मूलं तथा द्विकमनवस्थाप्यपारञ्चितरूपमिति गाथाद्वयसंक्षेपार्थः । भावार्थ-स्त्वयम् । यदि भिक्षुर्भयवशात्प्रस्तरविषयं मनःसंकल्पं करोति गृह्णामि प्रस्तरमिति तदा तस्य प्रायश्चित्तं लघुमासः । प्रस्तरस्य मार्गणे गुरुमासः प्रस्तरे ग्राह्योऽयमिति बुद्ध्या अवलोकिते चत्वारो लघुमासाः गृहीते प्रस्तरे चत्वारो गुरुकाः क्षिप्ते मार्जारादिश्वापदादीनामुपरि प्रस्तरे षण्मासा लघवः । यस्योपरि क्षिप्तस्तस्योपरि पतिते तस्मिन्नपरितापिते षण्मासाः गुरवः ॥ गाढं परितापिते च्छेदः मृते मूलम् । तदेवं भिक्षोर्लघुमासादारब्धं मूले निष्ठितम् । गणावच्छेदिनः प्र-स्तरमनःसंकल्पे प्रायश्चित्तं गुरुको मासः प्रस्तरमार्गणे चत्वारो लघुमासाः प्रस्तरे ग्राह्यबुद्ध्या दृष्टे चत्वारो गुरुकाः । प्रस्तरे गृहीते षण्मासा गुरवः प्रस्तरे घात्यस्यो-परिपतिते छेदः। घात्यवगाढे परितापिते मूलं मृते अनवस्थाप्यं तदेवं गणावच्छेदिनो गुरुमासादारभ्य अनवस्थाप्ये निष्ठितम् । आचार्यस्य प्रस्तरमनःसंकल्पे चत्वारो लघुमासाः प्रस्तरमार्गणे चत्वारो गुरुकाः प्रस्तरे ग्राह्यबुद्ध्या दृष्टे षण्मासा लघवः प्रस्तरे गृहीते गुरवः षण्मासाः क्षिप्ते छेदः घात्यस्योपरि पतिते प्रस्तरे मूलं गाढं परितापिते घात्येऽनवस्थाप्यं मृते पाराञ्चितमिति । संप्रति यदुक्तं । ''देवयकरणं तु वुच्छामि'' इति तत् अन्यच्च विवक्षुर्द्वार-गाथामाह ।

बहुपुत्तपरिसमेहे, उदयग्गे जङ्घ सप्प चउलहुगा ।
अत्थणअवलोगनियट्ट कंटक, गिण्हणदिट्ठे य भावे य ॥

देवताया बहुपुत्रविकुर्वणामन्तरं चोदिते तथा पुरुषमेधे पुरुषयज्ञे तथा उदके उदकप्रवाहे अग्नौ प्रदीपनकरूपे जङ्घे हस्तिनि सर्प्पे च समागच्छति पलायमानादौ चत्वारो लघुका मासाः । तथा देवताया विकुर्वितसंयतीरूपायाः पृष्ठतो लग्नायाः प्रतीक्षणे यावत् कण्टकं पादलग्नमपनयामीत्येवं ब्रुवन्त्याः (अत्थणत्ति) प्रतिश्रवणे तथा अवलोकने तथा दूरादासन्नाद्वा निवर्त्तने कण्टकग्रहणे उपलक्षणमेतत् । कण्टकोद्धरणाय पादग्रहणे पादोत्क्षेपणे च तथा दृष्टे सागारिके मृगपदीरूपे प्रतिसेवे इति परिणते भावे चशब्दात्प्रतिसेवाकरणे च यथायोगं प्रायश्चित्तमिति द्वारगाथासंक्षेपार्थः । सांप्रतमेनामेव गाथां विवरीषुः प्रथमतो बहुपुत्रद्वारं विवृणोति ।

बहुपुत्ति त्थी आगम, दोसु व लद्धेसु थालिविज्झवणा ।
अन्नोन्नं पडिचोयण, वच्च गणं मा छलेपंता ॥

बहुपुत्रा स्त्री देवतारूपा तस्या आगमयोर्द्वयोरुपलब्धयोरु- परितया स्थाली निवेशिता सा पतिता जातमग्नेर्विध्यापनं ततः परं प्रतिचोदना तदनन्तरं तथा उक्तं व्रज गणं गच्छं मा प्रान्तदेव तात्वां छलयिष्यतीति एष गाथाक्षरार्थः । भावार्थस्त्वयम् । ''सम्मद्दिट्ठी देवता इत्थीरूवं बहुयपुत्ते चडयरूवे विउव्वेत्ता पडिमागयस्स साहुस्स समीवमल्लोणा । चेडरूवाणि रोवमाणाणि भणति भत्तं देहेत्ति । सा भणइ खिप्पं रंधेमि जाव ताव मा रोयह । ताहे सा दोन्नि पाहणे जमले ठविउं तेसिं मज्झे अग्गिं पज्जालित्ता तेसिं उवरि पिहडं पाणियस्स भरित्ता मुक्कं । तं पिहडं तइयपत्थरेण विणा पडितं । सो अग्गी विज्झवितो पुणो वि अग्गिं पज्जालिऊण पिहडं पाणियभरियं मुक्कं तहेव पडितं । अग्गी विज्झवितो । एवं तं तियं पि वारं विज्झवितो ततो पडिमा-गतो साहू भणति एत्तिएण विन्नाणेणं तुमं पत्तियाणि चेडरूवाणि निप्फाएसि एवं भणमाणस्स पच्छित्तं चउ लहुयं सा भणइ तुमं कहमेत्तिएण सुएण अप्पायोगो पडिमं पडिवन्नो सिग्घं जाहि गच्छं मा ते पंतदेवया छलेहित्ति'' । गतं बहुपुत्रद्वारम् ।

इदानीं पुरुषद्वारमाह ।

ओवाइयं समिद्धं, महापसुं देमि सेज्ज मज्जाए ।
एत्थेव तानि रिक्खह, दिट्ठे वाडं व समणा वा ॥

स कदाचिदव्यक्त आर्यासमीपे कायोत्सर्गेण स्थितस्तत्र बहवो मनुष्या आर्यवन्दनार्थमागतास्ते च तस्य साधोः समीपदेशे स्थिता ब्रुवते । यथा यदौपयाचितकर्माया भट्टारिकायाः समीपे याचितं यथा यद्यमुकं प्रयोजनमस्माकं सेत्स्यति ततो महापशुं प्रयच्छामः इति तदिदानीं समृद्धं निष्पन्नमित्यर्थः । ततः सद्यः इदानीं महापशुं दद्मः । महापशुर्नाम पुरुषः । ततो गवेषयन्तोऽत्रैव किञ्चिन्मनुष्यं गता गवेषणाय मनुष्याः दृष्टः स प्रतिमाप्रतिपन्नो दृष्ट्वा च कथितं मूलपुरुषाय यथैव श्रमणो दीयतामार्यायै इति एवमुक्ते यदि भयेन वाडं करोति देशीवचनमेतत् न समं करोति नश्यतीत्यर्थः । यदि वा श्रमणोऽहमिति ब्रूते तदा प्रायश्चित्तं चतुर्लघु ।

उदगमएण पलायइ, पवइ रुक्खं व दुरुहए सहसा ।
एमेव सेस एसुं, पडियाररूवेसु सो कुणइ ॥

सो ऽव्यक्तप्रतिपन्नः कायोत्सर्गेण स्थित उदकप्रवाहे नद्यादिगते

समागच्छति । यद्युदकभयेन पलायते यदि वा प्लवते तरति । अथवा सहसा वृक्षमारोहति तदा तस्य प्रायश्चित्तं चतुर्लघु एवमेव अनेनैव प्रकारेण शेषेष्वप्यग्न्यादिसमुत्थितेषु यदि प्रतीकारं करोति चतुर्लघु । इयमत्र भावना । अग्नौ प्रसर्पति सर्पे वा समागच्छति यदि पलायते अन्यं वा प्रतीकारं करोति तदा प्रायश्चित्तं प्रत्येकं चतुर्लघु एतानि च पुरुषमेधोदकाग्निहस्तिसर्परूपाणि देवताकृता-ऽन्यपि संभाव्यन्ते स्वाभाविकानि च तत्र यदि देवताकृतानि यदि वा स्वाभाविकानि सर्वेष्वप्येतेषु प्रत्येकं चतुर्लघु । सांप्रतमत्थण-आलोयणेत्यादि व्याचिख्यासुराह -

जेट्ठ अज्ज पडिच्छाहि, अहं तुब्भेहिं समं वच्चामि ।
इति सकलुणमालत्तो, मुज्झिज्जइ से अथिरभावो ॥

अथ वा देवता संयतीवेषं कृत्वा कायोत्सर्गे समाप्ते विहारक्रमं प्रति प्रस्थितं तमव्यक्तं साधुं प्रतिपन्नं ब्रूयात् । अहो ज्येष्ठार्य ! अहमपि युष्मभिः समं व्रजामि तत्प्रतीक्षस्व तावत् यावत्पादलग्नं कण्टक-मपनयामि इति एवं तथा देवतया कृतसंयतीवेषया सकरुण- मालप्तः स वराकः शैक्षत्वादेवास्थिरभावो मुह्यति मोहमुपगच्छति मुह्यंश्च यदि प्रतीक्षणादि करोति तथा प्रायश्चित्तं तदेवाह ॥

अत्थति अवलोए तिय-लहुगा पुण कंटओ उ मे लग्गति ।
गुरुगा नियत्तमाणे, तह कंटगमग्गणे चेव ॥

तत्र यदि कण्टको मे लग्न इति वचः श्रुत्वा (अत्थतित्ति) प्रतीक्षते तदा प्रायश्चित्तं लघुकाश्चत्वारो लघुमासाः । अथापि तत्संमुखमवलोकते तदापि चतुर्लघु । एतच्च ''आसन्नतो लहुवो'' इति वक्ष्यमाणग्रन्थादवसितम् । अय दूरात्तदा तस्मिन् दूरान्नि-वर्त्तमाने चत्वारो गुरुका गुरुमासास्तथा (कंटगमग्गणे चेवेति) यदि कण्टकमपनेष्यामीति तत्पादलग्नं कण्टकं मृगयते तदापि प्रायश्चित्तं चतुर्गुरु ॥

छेदो कंटकपाय-ग्गहणे छल्लहुछग्गुरू वा ।
चलण मुक्खिवइ दिट्ठम्मि, छग्गुरुगा परिणतो भवति ॥

यदाहं प्रतिसेवे इति तदा छेदः अकरणे प्रतिसेवायाः षट् लघवो लघुमासाः । अथ तस्याः संयत्याः पादं गृह्णाति कण्टकोद्धारणाय तदापि षट् लघु यदि पुनश्चरणं पादमुत्क्षिपति उत्पाटयति कण्टकोद्धारणाय तदा षट् गुरु । पादे उत्पाटिते सति यदि सागारिकं पश्यति तदा तस्मिन्नपि दृष्टे षड् गुरु सागारिकदर्शनानन्तरं यदि भावः परिणतो भवति यदाहं प्रतिसेवे इति तदा छेदः करणे प्रतिसेवाकरणे मूलं एतत्प्रायश्चित्तविधानं भिक्षोरुक्तं गणा-वच्छेद्याचार्ययोः पुनरिदमाह (सत्तद्दत्ति) अत्र पूरणप्रत्ययान्तस्य लोपः प्राकृतत्वात्ततोऽयमर्थः । गणावच्छेदिनः प्रायश्चित्तविधानं द्वितीयाचतुर्लघुकमारब्धं समाप्तमनवस्थाप्यं प्रायश्चित्तं यावदसेयम् । आचार्यस्य प्रथमा चतुर्थगुरुकादारब्धमष्टमं पारञ्चित्तं प्रायश्चित्तं यावत् । एतदेवाह ॥

लहुगा य दोसु दोसु य, गुरुगा छम्मासलहुगुरू छेदो ।
भिक्खुगणायरियाणं, मूलं अणबद्ध पारंची ॥

भिक्षुगणाचार्याणां भिक्षुगणवच्छेद्याचार्याणां यथाक्रमं प्रायश्चित्तविधानं मूलमनवस्थाप्यं पाराञ्चित्तं च यावत्तद्यथा भिक्षौर्द्वयोः प्रतीक्षणेऽवलोकने च चत्वारो मासा लघवः द्वयोर्निवर्तने कण्टकमार्गणे च चत्वारो गुरुकाः (छम्मा-सलहुगुरुत्ति) अत्र दोसु इति प्रत्येकमभिसंबध्यते द्वयोः कण्टकग्रहणे पादग्रहणे च षण्मासा लघवः द्वयोः पादोत्क्षेपे सागारिकदर्शने च षड् गुरु प्रतिसेवाभिप्राये च्छेदः प्रतिसेवाकरणे मूलं गणावच्छेदिनो यथाऽनवस्थाप्यं पर्यन्ते भवति तथा वक्तव्यम् । तच्चैवं गणा-वच्छेदिनः प्रतीक्षणे चत्वारो लघुकाः अवलोकने चत्वारो गुरवः । निवर्त्तने चत्वारो गुरवः कण्टकमार्गणे षट् लघु कण्टकग्रहणे षट् लघु संयतीपादग्रहणे षट् गुरु पादोत्पाटने छेदः । सागारिक-दर्शने छेदः । प्रतिसेवाभिप्राये मूलम् । प्रतिसेवाकरणेऽनवस्था-ऽप्यम् । आचार्यस्य यथा पाराञ्चितमन्ते भवति तथा वक्तव्यं तच्चैवमाचार्यस्य प्रतीक्षणे चतुर्गुरु निवर्तने कण्टकमार्गणे च षट् लघु कण्टकग्रहणे पादग्रहणे च षट् गुरु । पादोत्पाटने छेदः । सागारिकदर्शने मूलं प्रति सेवाभिप्राये मूलम् । प्रतिसेवाकरणे पाराञ्चितमिति ।

संप्रति यदुक्तं ''गुरुगा नियत्तमाण'' इति तत्र विशेषमाह -

आसन्नातो लहुओ, दूरनियत्तस्स गुरुतरो दंडो ।
चोगयसंगामदुगं, नियट्ट खिंसंति अणुग्घाया ॥

संयत्या आसन्नात्प्रदेशान्निवृत्ते लघुको दण्डः चत्वारो लघु-मासा दण्ड इत्यर्थः । दूरान्निवृत्तस्य गुरुतरश्चत्वारो गुरुमासाः । एवमाचार्येण प्ररूपिते चोदकः प्रश्नयति । तत्र चोदकाचार्यनि दर्शनं संग्रामद्विकं निदर्शनं तं च भग्नप्रतिज्ञं निवृत्तं प्रत्यागतं सन्तं ये (खिंसंतित्ति) हीलयन्ति तेषामनुद्घाताश्चत्वारो गुरुका मासा प्रायश्चित्तमित्युत्तरार्द्धसंक्षेपार्थः । इदानीमेतदेवोत्तरार्द्धं विवरीषुः प्रथमतश्चोदकवचनं भावयति ॥

दिट्ठं लोए आलो य, भंगविणिए य अवणियनियत्तो ।
अवराहे नाणत्तं, न रोयए केयणं तुज्झे ॥

प्रागुक्ताचार्यप्ररूपणानन्तरं परः प्रश्नयति । ननु संयत्याः प्रत्यासन्नात्प्रदेशात्प्रतिनिवृत्तस्य गुरुतरेण दण्डेन भवितव्यं दूरात्प्रतिनिवृत्तस्य लघुतरेण न चैतदनुपपन्नं यतो लोकेऽपि दृष्टं तथा ह्येकस्य राज्ञो नागरमपरो राजा वेष्टयितुकामः समागच्छति तं च समागच्छन्तं श्रुत्वा नगरस्वामी भयात्प्रेषयति । तथा यूयं तत्र गत्वा युध्यध्वमिति । तत्रैको भटः परबलमतिप्रभूत-मालोक्यदर्शनमात्र एव भग्नः प्रत्यागतोऽन्यो युध्वा चिरकालं संजातव्रणो भग्नः समागतः अपरः परबलेन सह युध्वाऽसंजात- व्रण एव भग्नः प्रतिनिवृत्तः । तत्रैषां भटानां मध्ये यः आलोकभङ्गी दर्शनमात्रतो भग्नः प्रतिनिवृत्तस्तस्य बहुतरोऽपराधः यः पुनः संजातव्रणो यश्चाव्रणित एतौ द्वावपि भग्नौ सन्तौ प्रतिनिवृत्ता-वित्यपराधिनौ केवलमालोकभङ्गापेक्षयाऽल्पतरापराधो दूरात्प्रतिनिवृत्तत्वादेवं लोके दूरासन्नभेदेनापराधे नानात्वमिदम् उपलब्धं तत एव दृष्टान्तबलेन यन्मयोक्तं संयत्याः प्रत्यासन्नात् प्रदेशात् प्रतिनिवृत्तस्य भूयान् दण्डो दूरात्प्रतिनिवृत्तस्याल्पतर इति । ततः केन कारणेन युष्मभ्यं न रोचते । सूरिराह ॥

अक्खयदेहनियत्तं, बहुदुक्खमएण जं समाणेह ।
एयमहं न रोयति, को ते विसेसो भवे एत्थ ॥

यद्बहुदुःखभयेन परबलेन सह युध्यमानस्य प्रभूतं दुःखं मरण-पर्यवसानं भविष्यतीति भयेन सुकृत्तदेहः सन् निवृत्तः प्रतिनिवृत्तोऽकृत्तदेहनिवृत्तस्तत्समानम् एतन्मह्यं न रोचते विषमत्वात्तथा हि । न सर्वथा अत्राकृत्तचारित्र प्रतिनिवर्त्तते किं तु कृ तचारित्रस्ततो-ऽप्यत्र स उपन्यसनीयो योऽधिकृतस्तदा वान्तिकेन सहमानतामव-लम्बते न चासौ तथेति पर आह । यदेष दृष्टान्तस्तव न भासते ततः कोऽत्रास्मिन् विचारे तव विशेषो भवेत् विशिष्टो दृष्टान्तः स्यात् । सूरिराह -

एसेव य दिट्ठतो, पुररोहे जत्थ वारियं रन्ना।
मा णीह तत्थ निंते, दूरासन्ने य नाणत्ता॥

एष एव भवदुपन्यस्तो दृष्टान्तः पुररोधे सति द्रष्टव्यो यत्र पुररोधे राज्ञा वा वारितं यथा मा कोऽपि पुरान्निर्यासीदिति तत्रैवं निवारिते तत्र निर्गच्छति दूरादासन्नाच्च प्रतिनिवृत्ते यथा नानात्वमपराध-विषयं तथेहापि योजनीयम्। तद्यथा परबलेन नगरे रोधे कृते राज्ञा पटहेन घोषितं यथा यो नगरान्निर्यास्यति स मया निर्ग्राह्य इति ततः कोऽपि निर्गत्य आसन्नात्प्रतिनिवृत्तो ऽपरो दूरात्तत्र तथैतयोरआसन्नात्प्रतिनिवृत्त-स्याल्पतरो राज्ञा दण्डो दूरात्प्रतिनिवृत्तस्य बहुतरः एवं यो दूरात्संयत्याः प्रतिनिवृत्तस्त गरीयान् भावदोष इति चतुर्गुरुकमासन्नात्प्रतिनिवृत्तस्य स्वल्पीयान्भावदोष इति चतुर्लघु। संप्रति ''पुणो आलोएज्जा'' इत्यादि सूत्रं व्याख्यानयति।

सेसम्मि चरित्तस्सा-लोयणया पुणो पडिक्कमणं।
छेदं परिहारं वा, जं आवन्नो तयं पावो॥

यद्यपि प्रतिमाप्रतिपन्नस्य चारित्रविराधनाऽऽसीत् तथापि न चारित्रं सर्वथाऽपगतं किं तु शेषोऽवतिष्ठते व्यवहारनयमतेन देशभङ्गे न सर्वभङ्गाभावात्। ततः शेषे चारित्रस्य सति पुनरा- लोचना पुनः प्रतिक्रमणं न पुनः शब्दो द्वितीयवारापेक्षः। तथा च लोके वक्तारः कृतमिदमेवैकवारमिदानीं पुनः क्रियते इति। अत्र तु प्रथममेवालोचनं प्रथममेव च प्रतिक्रमणं ततः कथं पुनः शब्दो-पपत्तिः। उच्यते यत्रैव स्थाने सोऽकृत्यं कृतवान् तत्रैव स इत्थम-चिन्तयत् आलोचयामि प्रतिक्रमामि च तावदहमेतस्याकृत्यस्य पश्चाद्गुरुसमक्षं भूयः आलोचयिष्यामि प्रतिक्रमयिष्यामि च। एवं च चिन्तयित्वा तथैव अकार्षीत् ततो घटते पुनः शब्दोपादानमिति। यदि वा यदेव तदानीं हा दुष्ठु कारितमित्यादि चिन्तनं तदेवालोचनं तदेव च प्रतिक्रमणं भवति। तदपेक्षया पुनः शब्दोपपत्तिः। यदपि छेदं परिहारं वा प्रायश्चित्तमापन्नस्तत्कमापन्नतममाप्नोति प्रतिपद्यते। संप्रति यदुक्तं ''नियट्टखिंसंत णुग्घाया'' इति तद्व्याख्यानयति॥

एवं सुभपरिणामं, पुणो वि गच्छंति तं पडिनियत्तं।
जे हीलइ खिंसइ वा, पावइ गुरुए चउम्मासे॥

एवं पुनरालोचनाप्रतिपत्त्यादिप्रकारेण शुभपरिणामं शोभना-ऽध्यवसायं पुनरपि गच्छे प्रतिनिवृत्तं सन्तं यो हीलयति खिंसयति वा तत्र यदि असूया निन्दनं तत् यथा समाप्तिं नीता अनेन प्रतिमा सांप्रतमागतो वर्त्तते ततः क्रियतामस्य पूजेति। यत्पुनः प्रकटनं निन्दनं सा खिंसा यथा धिक् तव भ्रष्टप्रतिज्ञस्येत्यादि स प्राप्नोति प्रायश्चित्तं गुरुकान् अनुद्घातान् चतुरो मासान् व्य०प्र०१ उ०॥

एगल्लविहारसामाचारी-स्त्री०(एकाकिविहारसमाचारी) आचार-विनयभेदे, एकाकिविहारप्रतिमां स्वयं प्रतिपद्यते परं च ग्राहयतीति एकाकिविहारसामाचारीति। प्रव०६४ द्वा०॥

सांप्रतमेकाकिविहारसामाचारीमाह।

एगल्लविहारादी, पडिमापडिवज्जती य सयणां वा।
पडिवज्जावे एवं, अप्पाण परं व विगएति॥

एकैकविहार आदिर्यासां ता एकैकविहारादय आदिशब्दात्-प्रतिमागतविशेषनुष्ठानपरिग्रहः। एवंभूताः प्रतिमाः स्वयं प्रतिपद्यन्ते अन्यं च प्रतिपादयन्ति। एवमाचारविनयमात्मानं परं च विनयति व्य० द्वि०१० उ०।

एगवगडा-स्त्री०(एकवगडा) एको वगडः परिक्षेपो यस्याः सा। एकवृत्तिपरिक्षेपायां वसतौ, ''एगवगडाए अंतोबहिया संबद्ध-संबद्धा'' तद्यथा साधुर्वसतेः एगवगडाए इति। एकवृत्ति परिक्षेपाया अन्तर्बहिश्चेति। व्य०७ उ०।

एगवण्ण-त्रि०(एकवर्ण) एको वर्णो रूपं यस्याः। अन्यरूपा-मिश्रितवर्णयुक्ते, एको वर्णः जातिभेदो यत्र। ब्राह्मणादि-वर्णविभागशून्ये कलियुगावशेषस्थलोके, वर्ण्यते अनेन वर्णः एकवर्णः स्वरूप यस्य। एकस्वरूपे, शुक्लादौ रूपे, एकस्मिन् शब्दे च। श्रेष्ठवर्णे श्रेष्ठजातौ च॥ वाच०। वीजगणितोक्ते सजातीये तुल्यवर्णे द्रव्यभेदे च। वाच०। एकः कृष्णादिवर्णान्य-तमो वर्णोऽस्येत्येकवर्णः। उत्त०१ अ०। कालाद्येकवर्णे, भ० ५ श० ७ उ०।

एगवण्णसमीकरण-न०(एकवर्णसमीकरण) एकवर्णौ तुल्यरूपौ समीक्रियते अनेन करणे ल्युट् वीजगणितोक्ते वीजचतुष्टया-ऽन्तर्गतबीजभेदे, वाचस्पतौ अव्यक्तशब्दे तद्गणितप्रकारो दर्शितः प्रथममेकवर्णसमीकरणं वीजं द्वितीयमनेकवर्णसमीकरणं बीजं यत्रैकवर्णयोर्द्वयोर्बहूनां च वर्गदिगतानां समीकरणं तन्मध्यमाहरणम्। यत्र भावितस्य तद्भावितमिति वीजचतुष्टयं वदन्त्याचार्य्या भास्कराचार्याः। अस्योदाहरणम्। एकस्य रूपत्रिंशती षडश्वा अश्वा दशान्यस्य तु तुल्यमूल्याः। ऋणं तथा रूपशतञ्च तस्य तौ तुल्यवित्तौ च किमश्वमूल्यम्। एतच्चाव्यक्त-शब्दे व्याख्यातम्। अत्र तुल्यमूल्यस्याश्वरूपस्यैकाविधस्यैव पृष्टसंख्यान्वितस्य समीकरणात् एकवर्णसमीकरणमित्यनुगतार्था संज्ञा वाच०।

एगवयण-न०(एकवचन) एकोऽर्थ उच्यतेऽनेनोक्तिर्वेति वचनम् एकस्यार्थस्य वचनमेकवचनम्। वचनभेदे, उदाहरणं देवः स्था० २ ठा०। एकवचनं वृक्ष इति। आचा०२ श्रु०। बहुत्वेऽपि कुत्रचिज्जातावेकवचनम् ''इह जयमत्तासे हंता'' अत्र बहुवचन-प्रक्रमेऽपि जात्यपेक्षयैकवचनेन निर्देश इति। आचा०१ श्रु०१ अ०। लोगस्स परियागं जाणइ पासइ, (परियागं) जातवेकवचनमिति पर्य्यायान् विचित्रपरिणामान् इति स्था०१० ठा०।

एगविड-पुं०(एकवित्) एकस्य ज्ञातरि, ''एगे एगविऊ बुद्धे'' एकमेवात्मानं परलोकगामिनं वेत्तीत्येकवित् न मे कश्चिद् दुःखपरित्राणकारी सहायोऽस्तीत्येवमेकवित्। यदि वैकान्तेन विदितसंसारस्वभावतया मौनीन्द्रमेव शासनं तथ्यं नान्यदित्ये वं वेत्तीत्येकान्तवित्। अथवैको मोक्षः संयमो वा तं वेत्तीति। सूत्र० १ श्रु०८ अ०।

एगविह-त्रि०(एकविध) एका विधा प्रकारोऽस्य। एकप्रकारे, भ०३४ श०१ उ०। ''एकविहं केवलं नाणं'' एकविधं भेदविप्र-मुक्तमिति। विशे०।

एगविहारिन्-पुं०(एकविहारिन) एकः सन् विहरतीत्येवं शीलः। वृ०१ उ०। एकाकिविहारिणि जिनकल्पिकादौ, वृ०८ उ० (एतद्वक्तव्यता एगल्लविहार शब्दे)

एगविहिविहाण-त्रि०(एकविधिविधान) एकप्रकारेण व्यवस्थिते, ''लवणादीया समुद्दा संठाणओ एगविहिविहाणा'' एकेन विधिना प्रकारेण विधानं व्यवस्थानं येषां ते तथा सर्वेषां वृत्तत्वात् भ०११ श०६ उ०॥

एगवीसइगुण-पुं०(एकविंशतिरतिगुण) कामशास्त्रप्रतिसद्धे एक

विंशतिसंख्याके रतिगुणे ''एक्कवीसरइगुणप्पहाणा'' एकविंशती रतिगुणाः कामशास्त्रप्रसिद्धाः ॥ विपा०१ अ०।

एगसंसय-त्रि०(एकसंशय) एकाधारे, ''सर्वत्राप्यविरोधेन धर्मौ द्वावेकसंश्रयौ''। एकस्मिन् द्रव्ये संश्रय आधारो ययोस्तौ एकसंश्रयाविति। द्रव्य०४ अध्या०।

एगसमइय-त्रि०(एकसामयिक) एकः समयो यत्रास्त्य-सावेकसामयिकः। एकसमयोपेते, ''एगसमइएण वा विग्गहेण उववज्जेज्जा०'' भ०२४ श०१ उ०।

एगसमय-पुं०(एकसमय) एकस्मिन् समये, णेरइयाणं एगसमये ण वा एकेन समयेन उपपद्यन्त इति योगः भ०१४ श०१ उ०॥

एकसमयट्ठिइ-त्रि०(एकसमयस्थिति) एकं समयं यावत् स्थितिः परमाणुत्वादिना एकप्रदेशावगाढादित्वेन एकगुणकाल-दित्वेनावस्था येषां ते एकसमयस्थितिकास्तेषु स्था०१ ठा०। भ०।

एगसट्ठि-स्त्री०(एकषष्टि) एकाधिका षष्टिः एकाधिक-षष्टिसंख्यायाम्, तत्संख्यान्विते च। ''एकसट्ठिं उउमासा पण्णत्ता'' स०।

एगसरिय-अव्य० (*) झगित्यर्थे, संप्रत्यर्थे च। एक्कसरिअं झगितिसंप्रति एक्कसरिअं झगित्यर्थे संप्रत्यर्थे च प्रयोक्तव्यम्। एक्कसरिअं झगिति सांप्रतं वा। प्रा०८ अ०३ पा०।

एगसरिया-स्त्री०(एकसरिका) एकावल्याम्, एकावली च विचित्रमणिकृता एकसरिकेति। जं०१ वक्ष०।

एगसाडय-त्रि०(एकशाटक) एकवस्त्रे, ''अदुवा एकसाडे'' अथवा शनैः शनैः शीतेऽपगच्छति सति द्वितीयमपि कल्पं परित्यजेत् एकशाटकस्संवृत इति। आचा०१ श्रु०४ अ०२ उ०।

एगसाडिय-त्रि०(एकशाटिक) एकपटे, ''एगसाडियं उत्तरा संगं करेइ'' (एगसाडिअंति) एकपटमुत्तरासङ्गं करोतीति। कल्प०। ''एगसाडिएणं उत्तरासंगकरणेणं'' भ०२ श०१ उ०।

एगसाहिल्लो-देशी० एकस्थानवासिनि, दे०ना०।

एगसि-अव्य०(एकशस्) अल्पाद्यर्थकात् कारकार्थे वीप्सार्थे-शस्। **एकशो डिः। ८।४।४२८।** इति सूत्रेणापभ्रंशे एक-शश्शब्दात्स्वार्थे डिः॥ एक्कसिसीलकलंकि अहं देज्जहिं पच्छित्ताइं जो पुण खंडइ अणुदिअहुतसुपच्छित्ते काइं। प्रा०। अल्प-मल्पमेकमेकं वेत्याद्यर्थे, वाच०। ''वत्तीणामं एक्कसि'' एक्कसिमेकवारं यः प्रवृत्तः स वृत्त इति। व्य० १० उ०।

एक्कसिवलि-देशी० शाल्मलीपुष्पैर्नवफलिकायाम्, दे०ना०॥

एगसिद्ध-पुं०(एकसिद्ध) एकस्मिन्नू समये एकका एव सन्तः सिद्धाः। सिद्धभेदे, प्रज्ञा०१ पद। ल०। ध०। एकस्मिन् २ समये एककाः सन्तो ये सिद्धास्ते एकसिद्धा इति। नं०। एकैकसमये एकैकजीवसिद्धिगमनादेकसिद्धा इति। पा०॥

एगसेल-पुं०(एकशैल) जंबूद्वीपस्थमन्दरपर्वतसमीपस्थे स्व-नामख्याते वक्षस्कारपर्वते, स्था०४ ठा०। धातकीखण्ड-पश्चिमार्धस्थमन्दरपर्वतस्थे स्वनामख्याते वक्षस्कारपर्वते, स्था०२ ठा०। (तयोर्वक्तव्यता वक्खार शब्दे) तथाच ''इहेव जंबूद्दीवे २ पुव्वविदेहे सीताए महानईए उत्तरिल्ले कूले नीलवंतस्स दाहिणेण उत्तरिल्लस्स सीतामुहवणसंडस्स पच्चिछमेणं एगसेलस्स वक्खारपव्वतस्सेति''। ज्ञा०१६ अ०।

एगसेलकूड-पुं०(एकशैलकूट) न० महाविदेहवर्षस्थैकशैलवक्षस्कारपर्वतस्थे स्वनामख्याते कूटे, जं०४ वक्ष०। धातकीखण्डपश्चिमार्द्धस्थमन्दरपर्वतस्थे स्वनामख्याते वक्षस्कार-पर्वते, स्था०२ ठा०। (तद्वक्तव्यता वक्खार शब्दे) महाविदेहवर्षस्थे स्वनामख्याते वक्षस्कारपर्वते च। तद्वक्तव्यता यथा।

कहिणं भंते महाविदेहे वासे एगसेले णामं वक्खारपव्वए पण्णत्ते गोअमा पुक्खलावत्तचक्कवट्टिविजयस्स पुरच्छिमेणं पोक्खलावत्तचक्कवट्टिविजयस्स पच्चिछमेणं णीलवंतस्स दक्खिणेणं सीआए उत्तरेणं एत्थणं एगसेले णामं वक्खारपव्वए पण्णत्ते। चित्तकूडगमेणं णेअव्वो जाव देवा आसंपति चत्तारि कूडा तजहा सिद्धाययणकूडे १ एगसेलकूडे २ पुक्खलावत्तकूडे ३ पुक्खलावइकूडे ४ कूडाणं तं चेव पंचसइअं परियाण जाव एगसेले अ देवे महिए॥ जं०४ वक्ष०॥

एगसेस-पुं०(एकशेष) एकः शिष्यतेऽन्यो लुप्यते यत्र शिषआधारे-घञ्-समासभेदे, तथाच॥

सेकिंत एगसेसे एगसेसे जहा एगो पुरिसो तहा बहवे पुरिसा जहा बहवे पुरिसा तहा एगो पुरिसो जहा बहवे साली तहा एगो साली जहा एगो साली तहा बहवे साली सेत्तं एगससो सेत्तं समासिए॥

सरूपाणामेकशेष एकविभक्तावित्यनेन सूत्रेण समानरूपाणामेकविभक्तियुक्तानां पदानामेकशेषः समासो भवति सति समासे एकः शिष्यतेऽन्ये तु लुप्यन्ते यश्च शेषोऽवतिष्ठते स आत्मार्थे लुप्तस्य लुप्तयोर्लुप्तानां चार्थे वर्तते। अथ एकस्य लुप्त-स्यात्मनश्चार्थे। वर्तमानात्तस्मात् द्विवचनं भवति। यथा पुरुषश्च पुरुषश्चेति पुरुषौ। द्वयोश्च लुप्तयोरात्मनश्चार्थे वर्त्तमानाद्बहुवचनं यथा पुरुषश्च ३ पुरुषाः। एवं बहूनां लुप्तानामात्मनश्चार्थे वर्त-मानादपि बहुवचनं यथा पुरुषश्च ४ पुरुषाः इति। जातिविवक्षायां तु सर्वत्रैकवचनमपि भावनीयमितः सूत्रमनुश्रियते (जहा एगो पुरिसोत्ति) यथैकः पुरुषः एकवचनान्तपुरुषशब्द इत्यर्थः। एके शेषे समासे सति बह्वर्थवाचक इति शेषः (तहा बहवे पुरसत्ति) तथा बहवः पुरुषा बहुवचनान्तः पुरुषशब्द इत्यर्थः। एकशेषे समासे सति बह्वर्थवाचक इति शेषः। यथा चैकशेषे समासे बहुवचनान्तः पुरुषशब्दो बह्वर्थवाचकस्त-थैकवचनान्तोऽपीति न कश्चिद्विशेषः। एतदुक्तं भवति यथा पुरुषश्च इति विधाय एकपुरुषशब्दशेषता क्रियते तदा यथैकवचनान्तः पुरुषशब्दो बह्वर्थान्वेति तथा बहुवचनान्तोऽपि यथा बहुवचनान्तस्तथैकवचनान्तोऽपीति न कश्चिदेकवचनान्तत्व-बहुवचनान्तत्वयोर्विशेषः केवलं जातिविवक्षायामेकवचनं बह्वर्थविवक्षायां तु बहुवचनमिति। एवं कार्षापणशाल्यादिष्वपि भावनीयम्। अयं च समासो द्वन्द्वविशेष एवोच्यते केवलमेकशेषताऽत्र विधीयते इत्येतावता पृथगुपात्त इति लक्ष्यते तत्त्वं तु सकलव्याकरणवेदिनो वदन्तीत्यलमिति विजृम्भितेन॥ अनु०। एकः प्रधानं शेषोऽन्तः। एकान्ते, पुं०। बहु० अतिशयिते, त्रि०। वाच०।

एगस्सय-त्रि०(एकाश्रय) एक आश्रय आधारोऽवलम्बनं वा यस्य। १ अनन्यगतिके, । २ एकाधारवृत्तौ, । ३ वैशेषिकोक्तगुणभेदे च। ते च गुणाः अनेकाश्रितगुणभिन्नाः॥ ''संयोगश्चविभागश्च संख्याद्वित्वादिकास्तथा। द्विपृथक्त्वाद यत्सद्वदेतेऽनेकाश्रिता गुणाः''। अतः शेषगुणाः सर्वे मता एकैकवृत्तयः''॥ भाषाप०। एकस्मिन् आधारे, पुं० वाच०।

एगहक्ख-त्रि०(एकधाख्य) एकप्रकरकाख्योपेते,।

***एगधाक्ष**-त्रि० एकप्राकरजीवोपेते, ''एगे दुक्खे जीवाणं एगभूते,'' पाठान्तरे त्वेकधैवाख्या संशुद्धादिर्व्यपदेशो यस्य नत्वसंशुद्धसंशुद्धा-संशुद्ध इत्यादिकोऽपि व्यपदेशान्तरनिमित्तस्य कषायादेरभावादितिनि। संभवत्येकधाख्य एकधा अक्षो वा जीवो यस्य स तथेति जीवानां प्राणिनामेकभूत एक इवात्मोपम इत्यर्थः। स्था०१ ठा०।

एगहा-अव्य०(एकधा) एकप्रकारे-धा-। एकप्रकारे, वाच०।

एगाइ-त्रि०(एकादि) एक आदिर्यस्याः १ एकत्वसंख्यान्वित-मारभ्य परार्द्धान्तिसंख्यायुक्ते,। २ तत्स्मारके रेखासन्निवेश-विशेषरूपे अङ्के च। वाच०। द्वारनगस्थे स्वनामख्याते राष्ट्रकूटे च। ''इहेव जंबूदीवे भारहे वासे सयदुवारे णामं णयरे होत्था'' - ''तस्स णं सयदुवारस्स णयरस्स अदूरसामंते दाहिणपुरच्छिमे दिसिभाए विजयबद्धमाणे णामं खेडे होत्था'' ''तस्सणं विजयबद्धमाणखेडे एक्काइ णामं रट्ठकूडे होत्था'' इति विपा० राष्ट्रकूटो मण्डलोपजीवी राजनियोगिक इति। विपा०१ अ०। एकाकिन्या निर्ग्रन्थ्या उपाश्रयरक्षणे दोषाः। एकाकिन्या क्षुल्लिकादिकया व्रतिन्य ओपाश्रयरक्षणे दोषमेव दर्शयति।

जत्थ य एगा खुड्डी, एगा तरुणी य रक्खए वसहिं।
गोयम तत्थ विहारे, का सुद्धी बंभचेरस्स॥

यत्र च साध्वीविहारे एकाकिनी क्षुल्लिका एकाकिनी तरुणी वा तु शब्दान्नवदीक्षिता वैकाकिन्युपाश्रयं रक्षति हे गोतम! तत्र साध्वीविहारे ब्रह्मचर्यस्य का शुद्धिः न कापीत्यर्थः ''इत्थ विदोसा कयाई वसहीए एगा खुड्डी किड्डिज्जा कोइ तं अवहरिज्जा वा बलाओ वा कोइ सेविज्जा इच्चाइ बहु दोसा तरुणो वि एगागिणी मोहोदएण फलादिणा च तत्थ सेविज्जा एगागिणिं वा तं दट्ठुण तरुणा समागच्छंति हासाइयं कुव्वंति अंगे वा लग्गंति तओ उड्डाहो भवति। तं फासाओ वा मोहोदओ भवति सीलं भंजिज्ज वा गब्भो वा भवेज्ज तं च जइ गाले महादोसा भवइ अह वट्टइ तो पवयणे महा उड्डाहो भवति। अहवा पुव्वकीलियं समरमाणी वासाइयं वा दट्ठुण गच्छं मुत्तूण एगागिणी तरुणी साहुणी गच्छिज्जा एवमाइ बहुदोसा एवं नवदिक्खियाए वि एगागिणीए एगागिसेहसाहुव्वदोसा नायव्वेति गाथाच्छन्दः।१०।७। अथैकाकिन्या व्रतिन्या रात्रौ वसतेर्बहिर्गमने निर्मर्यादत्वमाह।

जत्थ य उवस्सयाओ, बाहिं गच्छे दुहत्थमित्तं पि।
एगा रत्तिं समणी, का मेरा तत्थ गच्छस्स॥

यत्र च गणे उपाश्रयाद्बहिरेकाकिनी 'रत्तिंति' सप्तम्या द्वितीयेति सूत्रेण सप्तमीस्थाने द्वितीयाविधानात् रात्रौ श्रमणी साध्वी द्विहस्तमात्रमपि भूमिं गच्छेत् तत्र गच्छे गच्छस्य का मयादा। अथवा क्वचिद् द्वितीयादेरिति प्राकृतसूत्रेणात्र सप्तम्यर्थे षष्ठी ततस्तत्र गच्छे का मर्यादा न काचिदपीत्यर्थः। ''इत्थवि दोसाकयाइ परदारसेवका रयणीए एगागिणिं समाणिं दट्ठुण हरिज्जा उड्डाहं वा करेज्जा पच्छन्नं वा रायाई भममाणो संकिज्जा का एसा चोरा वा अवहरंति वत्थाइयं वा गिण्हंति। अहवा कयाई गुरुणीए फरुसचोयणं संभरमाणी पुव्वकीलियं वा रयणीए विसेसं उसंभरमाणी एगागिणी गच्छिज्जा इच्चाइ बहुदोसत्ति'' ॥१०८॥

अथैकाकिश्रमणाधिकारादेवेदमाह।

जत्थ य एगा समणी, एगो समणो य जंपए सोम।
नियबंधुणा वि सद्धिं, तं गच्छं गच्छगुणहीणं॥

यत्र च एकाकिनी श्रमणी एकाकिना निजबन्धुनाऽपि सार्द्धं जल्पति अथवा एकाकी साधुरेकाकिन्या निजभगिन्याऽपि सार्द्धं जल्पति हेसौम्य! हे गौतम! तं गच्छं गच्छगुणहीनां जानीहीति शेषः। यतः एकाकिन्याः श्रमण्याः निजबन्धुनाऽपि सार्द्धमेकाकिनः साधोर्वा निजभगिन्याऽपि सार्द्धं संदर्शनसंभाषणादिना बहुदोषो-त्पत्तिर्भवति कामवृत्तेर्मलिनत्वात् तथाचोक्तम्-''संदंसणेण पीई १ पीओ २ उ रओ ३ रई उ वीसंभो ४ वीसंभाओ पणओ ५ पंचविहवड्ढए पिम्मं'' ॥१॥ जह जह करेमि नेहं, तह तह नेहोमि वड्ढइ तुमंमि। तणनमिओमि वलियं, जं पुच्छसि दुव्वलत्तरो सि २ मित्तिममइयदंसणसंभासणेण संदीविउ मयणवराही। वंभाई गुणरयणे, डहइ अणिमच्छ वि पडायाओ ३ अनिच्छतोऽपि दहति तथा ''मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा,न विविक्तासनो भवेत्। बलवानिन्द्रियग्रामः पण्डितोऽप्यत्र मुह्यति'' ॥१॥ इति गाथाछन्दः॥ ग०३ अ०।

एकाकिन्या निर्ग्रन्थ्या गृहपतिकुलप्रवेशादिनिषेधो यथा

नो कप्पइ निग्गंथीए एगाणियाए गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए निक्खमित्तए वा पविसत्तए वा बहिया वियारभूमिं वा विहारभूमिं वा निक्खमित्तए वा एवं गामाणुगामं वा दूइज्जत्तए वासावासं वा वत्थए॥

एवं यावदेकपार्श्वशायिसूत्रं तावत् सर्वाण्यपि सूत्राण्युल्ला-पयितव्यानि। अथामीषां सूत्राणां संबन्धमाह।

बंभवयरक्खणट्ठाए, अधियारो तु होंति ते सुत्ता।
जो एगपासमायी, विसेसतो संजतीवग्गो॥

ब्रह्मव्रतरक्षणार्थमनन्तरं सूत्रद्वयमुक्तममून्यपि सूत्राणि यावदेकं पार्श्वशायिसूत्रं तावत्सर्वाण्यपि अधिकाराणि तस्यैव ब्रह्मव्रतस्य रक्षणार्थमभिधीयन्ते (विसेसओ संजई वग्गोत्ति) एतेषु सूत्रेषु किंचिन्निर्ग्रन्थानामपि संभवति। तथा एकाकी सूत्रं परं विशेषतः संयतीवर्गमधिकृत्यामूनि सर्वाण्यपि द्रष्टव्यानि। अनेन संबन्धे-नायातानाममीषां प्रथमसूत्रस्य भवेद् व्याख्या न कल्पते। निर्ग्रन्थ्या एकाकिन्या गृह पतिकुलं पिण्डपातप्रतिज्ञया निष्क्रमितुं प्रवेष्टं वा बहिर्विचारभूमौ विहारभूमौ वा निष्कमितुं वा प्रवेष्टुं वा ग्रामानुग्रामं वा व्रजितुं वर्षावासं वा वस्तुमिति सूत्रार्थः।

संप्रति निर्युक्ति विस्तरः।

एगागी वच्चती अप्पा, तमहं वत्ता परिच्चत्ता।
लहुगुरु लहुगा गुरुगा, भिक्खवियारे वसहिगामे॥

एकाकिनी निर्ग्रन्थी यदि भिक्षादौ व्रजति तत आत्मा महाव्रतानि च तथा परित्यक्तानि भवन्ति स्तेनाद्युपद्रवः संभवेत् अतो भिक्षायामेकाकिन्या गच्छन्त्या लघुमासा बहिर्विचारभूमौ गच्छन्त्या गुरुमासा ऋतुबद्धे वर्षावासे वा वसति एकाकिनी गृह्णाति चतुर्लघु ग्रामानुग्राममेकाकिनी व्रजति चतुर्गुरु। इदमेव शेषितं प्रायश्चित्तमुक्तम्। अथ विशेषितमाह।

मासादीया गुरुगा, थेरी खुड्डीविमज्झिमतरुणीणं।
तक्कालविसिट्ठा वा, चउसुं पि चउण्हमासाई।

स्थविराया एकाकिन्या भिक्षादौ व्रजन्त्या मासलघु क्षुल्लिकाया मासगुरु विमध्यमायाश्चतुर्लघु तरुण्याश्चतुर्गुरु। अथवा स्थविरा यद्येकाकिनी भिक्षां याति ततो मासलघु तपसा कालेन च लघुकं बहिर्विचारभूमौ विहारभूमौ वा याति मासलघु कालेन गुरुकं च मतिं गृह्णाति मासलघु। तपसा गुरुकं ग्रामानुग्रामं-

द्रवति मासलघु। तपसा कालेन चतुर्गुरुकम्। एवमेव चतुर्षु स्थानेषु चत्वारि मासगुरूणि तपःकालविशेषितानि कर्तव्यानि। विमध्यमायाश्चतुर्षु स्थानेषु चत्वारि चतुर्लघूनि तपःकालविशेषितानि तरुण्याः स्थानचतुष्टयेऽपि तथैव तपःकालविशेषितानि चत्वाचितुर्गुरूणि।

अथ दोषानाह।

चिट्ठंती वेगागी, किण्हइ दोसे ण इत्थिगा पावे।
आमोसगतरुणेहिं, किं पुण पंथम्मि संका य॥

किमेकाकिनी स्त्री प्रतिश्रये तिष्ठन्ती दोषान्न प्राप्नोति येनैवं भिक्षाटनादिकमेवैकाकिन्याः प्रतिषिध्यते इति शिष्येण पृष्टः सूरिराह। तत्रापि तिष्ठन्ती प्राप्नोत्येव दोषान्। परमामोषकाः स्तेनास्तरुणा वा तत्स्थास्तत्कृता एकाकिन्याः पथि गच्छन्त्या बूयांसो दोषाः भू शङ्का च तत्र भवति। अवश्यमेषा दुःशीला येनैकाकिनी गच्छति। किंच॥

एगागिणिए दोसा, साणा तरुणे तहेव पडिणीए।
भिक्खविसोहि महव्वत, तम्हा सवितिज्जया गमणं॥

एकाकिन्या भिक्षामटन्त्या एते दोषा भवन्ति श्वानः समागत्य दशेयुस्तरुणो वा कश्चिदुपसंगमयेत्। प्रत्यनीको वा हन्यात्। गृहत्रयादानीतायां भिक्षायामनुपयुज्य गृह्यमाणायामेषणाशुद्धिर्न भवति। कोटलविटलप्रयोगादिना च महाव्रतानि विराध्यन्ते। येव एते दोषाः अतः सद्वितीयया निर्ग्रन्थ्या भिक्षादौ गमनं कर्त्तव्यम्॥

द्वितीयपदमाह।

असिवादि मीससत्थे, इत्थी पुरिसे य पूजिते लिंगे।
एसा उ पंथजयणा, भावियवसही य भिक्खा य॥

अशिवादिभिः कारणैः कदाचिदेकाकिन्यपि भवेत् तत्रेयं यतना ग्रामान्तरं गच्छन्ती स्त्री सार्थेन व्रजति तदभावे पुरुष- मिश्रेण स्त्रीसार्थेन तदप्राप्तौ संबन्धिपुरुषसार्थेन व्रजति। अथवा यत्तत्र परिव्राजिकादिलिङ्गं पूजितं तद्विधाय गच्छति एषा पथि गच्छतो यतना भणिता। ग्रामे च प्राप्तायां यानि साधुभावितानि कुलानि तेषु सतिं गृह्णाति भिक्षामपि तेष्वेव कुलेषु पर्यटति। वृ० ५ उ०॥

एगाणउइ-स्त्री० (एकनवति) एकाधिका नवतिः शा० त० एकाधिकनवतिसंख्यायाम्, तत्संख्यान्विते च वाच० ''एक्काणउइपक्खेयावच्चकम्मपडिमाओ पण्णत्ताओ'' सम०॥

एगाणुप्पेहा-स्त्री० (एकानुप्रेक्षा) एकस्यैकाकिनोऽसहायस्यानुप्रेक्षा भावना एकानुप्रेक्षा ''एकोऽहं नास्ति मे कश्चिन्नाहमन्यस्य कस्यचित्। न तं पश्यामिय स्याहं, नासौ भावीति यो मम'' इत्येवमात्मनः एकत्वभावनायाम्, । स्था० ४ ठा०।

एगाभरण-न० (एकाभरण) एकजातीये आभरणे, ''एगाभरणवसणगहियनिज्जोयं कोमुंबियवरतरुणसहस्सं सद्दावेह'' एक एकाद्दश आभरणवसनलक्षणो गृहीतो निर्योगपरिकरो यैस्ते तथेति भ० ६ श० ३३ उ०। ''एगाभरणपिहाणा'' एकाभरणानि एकजातीयहेमरुप्यरत्नाभरणानि पिधानानि च वस्त्राणि यस्याः सा तथेति। दशा० १० अ०।

एगाभोग-पुं० (एगाभोग) अत्र कोपकरणादीनामेकत्र बन्धने, ''एगाभोगपडिग्गह केई स सव्वाणि य पुरतो'' एगाभोगो एगो या योगो भण्णति एगट्ठबंधणेत्ति भणियं भवति होति तं च मत्तगोवकरणाणं एगट्ठंति'' नि० चू० १ उ० (एगाभोगत्ति) एक-त्राभोगः आभोग उपकरणं (एगत्ति) एकत्र करोति एकत्र बघ्नातीत्यर्थ इति। ओघ०।

एगामोस-पुं० (एकामर्ष) एकामर्षणे, ओघ०।

***एकामर्श**-पुं० एकस्मिन् स्पर्शे, ध० ३ अधि०। तथा च धर्मसंग्रहहे प्रत्युपेक्षणदोषमधिकृत्य ''एगामोसा'' एकामर्शो वस्त्रं मध्ये गृहीत्वा तावदाकर्षणं करोति यावस्त्रिभागावशेषे ग्रहणं जातमेकाकर्षणमित्यर्थः। अथवाऽनेकामर्शा आकर्षणे ग्रहणे चाऽनेके आमर्शाः स्पर्शा भवन्ति तद्वस्त्रमनेकधा स्पृशतीत्यर्थ इति। ध० ३ अधि०॥

एगायत-त्रि० (एकायत) एकाकिनि, ''एगा य ताणुक्कमणं करंति'' एकाकिनोऽत्राणा अनुक्रमणं तस्यां गमनं पल्वनं कुर्वन्तीति एकस्मिन दीर्घे च ''एगायते पव्व वमंत लिक्खे'' एकाशिला घटितो दीर्घे इति। सूत्र० १ श्रु० ५ अ०।

एगाययण-न० (एकायतन) ज्ञानादित्रये, अद्वितीये आयतने, ''एगायतणरयस्सइविप्पमुक्कस्स णत्थि मग्गे वि रत्तस्सत्ति'' आङभिविधौ समस्तपापारम्भेभ्य आत्माऽऽथत्यते आनियम्यते तस्मिन् कुशलानुष्ठाने वा यत्रवान् क्रियत इत्यायतनं ज्ञाना दित्रयमेकमद्वितीयमायतनमेकायतनं तत्र रतस्तस्य नास्ति न विद्यते कोऽसौ मार्गो नरकतिर्य्यमनुष्यगमनपद्धतिरिति। आचा० १ श्रु० ५ अ० २ उ०।

एगारं-त्रि० (अयस्कार) अयोविकारं करोति कृ-अण्-उप० स० सत्वम्। **स्थविरविचकिलायस्कारे ८। १। १६६।** इति सूत्रेणादेः स्वरस्य परेण सस्वरव्यञ्जनेन सह एद्भवति। लोहकारे, प्रा०।

एगारस(ह)-त्रि० (एकादशन्) एकाधिका दश नि० आत्० **''संख्यागद्वदेरः ८। १। २१६।** इति प्राकृतसूत्रेण दस्य रः। प्रा०। एकादशसंख्यान्विते, वाच०'' ''एक्कारस उवासगाणं'' एकादश चोपासकानां प्रतिमा भवन्तीति। प्रश्न० ५ द्वा०।

एगारसंगसुत्तत्थधारय-पुं० (एकादशाङ्गसूत्रार्थधारक) एकादशानामङ्गानां सूत्रार्थमवधारयन्तीत्येकादशाङ्गसूत्रार्थधारकाः व्य० ६ उ०। एकादशानामङ्गानां सूत्रार्थयोर्धारके, ''एक्कारसंग-सुत्तत्थधारए सव्वसाहू य'' एकादश च तान्यङ्गानि च एका-दशाङ्गानि एकादशाङ्गानां सूत्रार्थौ एकादशाङ्गसूत्रार्थौ तौ धारयन्ति ये ते तानेकादशाङ्गसूत्रार्थधारकानिति। ओघ०।

एगारसम-त्रि०(एकादशम) एकादशन् पूरणे डटि संख्यापूर्वकादपि क्वचिन्मुट्। यत्संख्या एकादश संख्या पूर्य्यते तादृशसख्यान्विते, वाच०। 'ए कारसमे पव्वे' स्था० ६ ठा०। (एक्कारसमंति) एकादशीं श्रमणभूतप्रतिमामिति। उपा० २ अ०।

एगावन्न-स्त्री० (एकपंचाशत्) एकाधिका पञ्चाशत् शा० त० एकाधिकपञ्चशत्संख्यायाम्, तत्संख्यान्विते च। वाच०। ''नवण्हं बंभचेराणं एक्कावन्नस्स उद्देसणकाला पण्णत्ता''। सम० ५१ स०।

एगावतारि-(न्)-पुं० (एकावतारिन्) एकावतारवति जीवे, तद्विषये पण्डितजगमालगणिकृतप्रश्नो हीरप्रश्ने यथा वनस्पत्यादिषु जीवा एकावतारिणःशास्त्रेउक्तास्तथा मतान्तरीयवृन्दमध्येऽपि कश्चिद् भवति नवेत्यत्रोत्तरमेकान्तेन निषेधो ज्ञातो नास्तीति। हीर०।

एगावली-स्त्री० (एकावली) एकाऽद्वितीयाऽऽवली माला मणिश्रेणी। आभरणविशेषे, सम०। सा च नानामणिकमयी सा-

लेति। औप०। एकावली विचित्रमणिकृता एकसरिकेति। ज्ञा० १ अ०। ''एकावलिकंठलइयवच्छा'' एकावली आभरणविशेषः सा कण्ठे ग्रीवायां लगिता विलम्बिता सती वक्षसि उरसि वर्त्तते येषां तेतथेति। सम०। ''एगावलिं पिणद्धेत्ति'' प्रश्न १ सं० ४ द्वा०।

एगावलीपदिभत्ति-न० (एकावलीप्रविभक्ति) नाट्यभेदे, राज०।

एगावाई(न्)-पुं० (एकवादिन्) एक एवात्मादिरर्थ इत्येवं वदतीत्येकवादी दीर्घत्वं च प्राकृतत्वात्। अक्रियावादिभेदे, उक्तं चैतन्मतानुसारिभिः ''एक एव हि भूतात्मा, भूते भूते व्यवस्थितः। एकधा बहुधा चैव, दृश्यते जलचन्द्रवदिति'' ॥१॥ अपरस्तवा-त्मैवास्ति नान्यदिति प्रतिपन्नस्तदुक्तं ''पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यमुतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति''॥१॥ यदेजति यन्नेजति यद्दूरे यदन्तिके यदन्तरस्य सर्वस्य यत्सर्वस्यास्य बाह्यत इति। तथा ''नित्यशानविवर्त्तोऽयं क्षितितेजोजलादिकः। आत्मा तदात्मकश्चेति संगिरन्ते परे पुन' रति ॥१॥ शब्दाद्वैतवादे तु सर्वं शब्दात्मकमिदमित्येकत्वं प्रतिपन्नः। उक्तञ्च ''अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दत्वं यदक्षरम्। विवर्त्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यत'' इति ॥१॥ अथवा सामान्यवादी सर्वमेवैकं प्रपिपद्यते। सामान्यस्यैकत्वादित्येवमनेकधैकवादे अक्रियावादिता चास्य सद्भूतस्यापि तदन्यस्य नास्तीति प्रतिपादनात्। आत्माद्वैत-पुरुषाद्वैतशब्दाद्वैतादीनां युक्तिभरघटमानानामनस्तित्वाभ्युप-गमाच्च। स्था० ८ ठा० तथा च।

एकात्माद्वैतवादमुद्देशार्थाधिकार प्राप्तं पूर्वं पक्षयितुमाह।

जहा य पुढवी थूभे, एगे नाणाहि दीसइ।
एवं भो कसिणो लोए, विन्नू नाणाइ दीसइ ॥६॥

दृष्टान्तबलेनैद्रार्थस्वरूपावगतेः पूर्वं दृष्टान्तोपन्यासः। यथेयुपदर्शने चशब्दोऽपिशब्दार्थे स च भिन्नक्रम एके इत्यस्यानन्तरं द्रष्टव्यः। पृथिव्येव स्तूपः पृथिव्या वा स्तूपः पृथिवीसंघातावयवी। स चैकोऽपि यता नानारूपः सरित्समुद्रपर्वतनगरसन्निवेशाद्याधारतया विचित्रो दृश्यते। निम्नोन्नतमृदुकठिनरक्तपीतादिभेदेन वा दृश्यते न च तस्य पृथिवी-तत्त्वस्यैतावता भेदेन भेदो भवत्येवमुक्तरीत्या भो इत्यादिपरामन्त्रणं कृत्स्नोऽपि लोकश्चेतनाचेतनरूप एको विद्वान् वर्तते। इतमत्र हृदयम्। एक एव ह्यात्मा विद्वान ज्ञानपिण्डः पृथिव्याद्याकादस्तया नाना दृश्यते न च तस्यात्मन एतावता-ऽऽत्मतत्वभेदो भवति तथाचोक्तमेक एव हि भूतात्मेत्यादि।

अस्योत्तरदानायाह।

एवमेगेति जप्पंति, मंदा आरंभणिस्सिआ।
एगे किच्चा सयं पावं, तिव्वं दुक्खं नियच्छइ ॥१०॥

एवमित्यनन्तरोक्तात्माद्वैतवादोपदर्शनम्। एके केचन पुरुषाः कारणवादिनो जल्पन्ति प्रतिपादयन्ति किंभूतास्ते इत्याह मन्दा जमाः सम्यक्परिज्ञानविकलाः। मन्दत्वं चैषां युक्तिविकलात्मा-ऽद्वैतपक्षसमाश्रयणात्। तथाहि-यद्येक एवात्मा स्यान्नात्मबहुत्वं ततो ये सत्वाः प्राणिनः कृषीबलादय एके केचन आरम्भे प्राण्युपमर्दकारिणि व्यापारे निःश्रिता आसक्ताः संबद्धा अध्युपपन्नास्ते च संरम्भसमारम्भैः कृत्वोपादाय स्वयमात्मना पापमशुभप्रकृतिरूपमसातोदयफलं तीव्रं दुःखं तदनुभवस्थानं वा नरकादिकं (नियच्छतीति) आर्षत्वाद्बहुवचनार्थे एकवचन-मकारि। ततश्चायमर्थो निश्चयेन यच्छन्त्यवश्यतया गच्छन्ति प्राप्नुवन्ति त एवारम्भासक्ता नान्य इत्येतन्न स्यादपि चाशुभे कर्मणि कृते सर्वेषां शुभानुष्ठायिनामपि तीव्रदुःखाभिसंबन्धः स्यादेकत्वादात्मन इति न चैतदेवं दृश्यते। तथाहि य एव कश्चिदसमञ्जसकारी स एव लोके तदनुरूपा विडम्बनाः समनुभवन्नुपलभ्यते नान्य इति। तथा सर्वगतत्वे आत्मनो बन्धमोक्षाद्यभावस्तथा प्रतिपाद्यप्रतिपादकविवेकाभाव-च्छास्त्रप्रणयनाभावश्च स्यादिति। एतदर्थसंवादित्वात्प्राक्तन्येव निर्युक्तिकृद्गाथाऽत्र व्याख्यायते। तद्यथा पञ्चानां पृथिव्यादीनां भूतानामेकत्र कायाकारपरिणतानां चैतन्यमुपलभ्यते। यदि पुनरेक एवात्मा व्यापी स्यात्तदा घटादिष्वपि चैतन्योपलब्धिः स्यान्न चैवं तस्मान्नैक आत्मा। भूतानां चान्योन्यगुणत्वं न स्यादेक-स्मादात्मनोऽभिन्नत्वात्। तथा पञ्चेन्द्रियस्थानां पञ्चेन्द्रियाश्रितानां ज्ञानानां प्रवृत्तौ सत्यामन्येन ज्ञात्वा विदितमन्यो न जानातीत्येतदपि न न्याद्यद्येक एवात्मा स्यादिति। सूत्र० १ श्रु० १ अ०। (विस्तरः पुंडरीयशब्दे दर्शयिष्यते)

तथाच विशेषावश्यके आत्मनो बहुभेदत्वमधिकृत्य॥

संसारीयस्थावर-तसाइभेयं मुणें जीवं॥

तथा संसारीतरस्थावरत्रसादिभेदं संसारिणश्चेतरे सिद्धाः आदि-शब्दाच्च सूक्ष्मबादरपर्याप्तादिभेदपरिग्रह इति। अत्र वेदान्तवादी प्राह। ननु बहुभेदत्वमात्मनोऽसिद्धं तस्य सर्वत्रैकत्वात्। तदुक्तम्। एक एव हि भूतात्मा, भूते भूते प्रतिष्ठितः। एकधा बहुधा चैव, दृश्यते जलचन्द्रवत्। ''यथा विशुद्धमाकाशंतिमिरोपप्लुतो जनः। संकीर्णमिवमात्रा-भिर्भिन्नाभिरभिमन्यते॥ ''तथेदममलं ब्रह्म, निर्विकल्पमविद्यया। कलुषत्वमिवापन्नं, भेदरूपं प्रकाशते। ऊर्द्धमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्। छन्दांसि यस्य पर्णानि, यस्तं वेद स वेदवित्। पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम् उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति यदेजति यन्नेजति यद्दूरे यदन्तिके यदन्तरस्य सर्वस्य यत्सर्वस्यास्यबाह्यत इत्यादि'' इत्येतदेव पूर्वार्द्धेनोत्क्षिप्योत्तरार्द्धेन परिहरन्नाह।

जइ पुण सो एगो च्चिय, हवेज्ज वोमं व सव्वपिंडेसु।
गोयम! तदेगलिंगं, पिंडेसु तहा न जीवो य॥

परः प्राह यदि पुनर्दर्शितन्यायेन स आत्मा सर्वेष्वपि नारकतिर्यग्-नरामरपिण्डेषु व्योमवदेक एव भवेन्न तु संसारीतरादिभेदभिन्नस्तर्हि किं नाम दूषणं स्यादेवमुक्ते भगवानाह। गौतम! तद्यो सर्वेष्वमि पिण्डेषु मूर्तिविशेषेषु स्थितम् एकलिङ्गं वैसदृश्याभावादेकरूप-मेवेति युक्तं तस्यैकत्वं जीवस्त्वेवं विचार्यत्वेन प्रस्तुतो न तथा नैकलिङ्गः सर्वत्र दृश्यते प्रतिपिण्डं तस्य विलक्षणत्वाल्लक्षण- भेदेन च लक्ष्यभेदादिति न तस्यैकत्वमिति॥

अत्र प्रयोगमाह।

नाणा जीवा कुंभा-दओ व्व विलक्खणाइभेयाओ।
तुहदुक्खबंधमोक्खा-भावा य जओ तदेगत्ते॥

नानारूपा भुवि जीवाः परस्परं भेदभाज इत्यर्थः लक्षणादि-भेदादिति हेतुः कुम्भादय इवेति दृष्टान्तः। यच्च न भिन्नं तस्य न लक्षणभेदो यथा नभस इति। सुखदुःखबन्धमोक्षाभावश्च य स्मात्तदेकत्वे तस्माद्भिन्ना एव सर्वेऽपि जीवा इति।

कथं पुनस्तेषां प्रतिपिण्डलक्षणभेद इत्याह॥

जेणोवओडलिंगो, जीवो भिन्नो य सो पइसरीरं।
उवओगोक्करिसा व, गरिसोउत्तेण तेणंतो॥

येन ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणोऽसौ जीवः स चोपयोगः प्रतिशरी-

रंमुत्कर्षापकर्षभेदादनन्तभेदस्तेन भेदादनन्तभेदा एवेति तदेवं भावितं (णाणाजीवा इत्यादि) पूर्वार्द्धमिदानीं सुख-दुःखेत्याद्युत्तरार्द्धं भावयन्नाह ॥

एगत्ते सव्वगय-त्त ओ य न सोक्खादओ नभस्सेव।
कत्ता भोत्ता मंता, न य संसारी जहागासं ॥

एकत्वे जीवानां सुखदुःखबन्धमोक्षादयो नोपपद्यन्ते सर्वगत-त्वान्नभस इव। यत्र तु सुखादयो न तत्सर्वगतं यथा देवदत्त इति। किंच न कर्त्ता न भोक्ता न मन्ता न संसारी जीवः एकत्वात् सर्व-जीवानां, यच्चैकं न तस्य कर्तृत्वादयो यथा नभस इति। अपि च।

एगत्ते नत्थि सुही, बहुयरुवघाउ त्ति देसनिरुओव्व।
बहुतरबद्धत्तणउ य, न य मुक्को देसमुक्को व्व ॥

इदमत्र हृदयं नारकतिर्यगादयोऽनन्ता जीवा नानाविधशरीरमानसा यथा तैर्दुःखिता एव तदनन्तभागवर्तिनस्तु सुखिनः। एवमनन्ता बद्धास्तदनन्त भागवर्तिमस्तु मुक्तास्तेषां चैकत्वेन कोऽपि सुखी प्राप्नोति बहुतरोपघातान्वितत्वाद्यथा सर्वाङ्गरोगग्रस्तोऽङ्गुल्यैकदे-शेन नीरोगो यज्ञदत्तः एवं न कोऽपि मुक्तो घटते बहुतरबद्धत्वाद्यथा सर्वाङ्गकीलितोऽङ्गुल्येकदेशमुक्तस्तस्मादेकत्वे सुखाद्यनुपपत्ते-र्नानात्वं जीवानामिति स्थितम् (विशे०) तथा च नन्द्यध्ययने आत्मवादिमतमुपक्रम्य आत्मवादिनो नाम पुरुषएवेदं सर्वमित्यादि प्रतिपन्नास्तन्मतनिराकरणं च तत्रैव पुरुष एवेदमिति सर्व्वमिति प्रतिपन्नस्तेऽपि महामोहोरगग-रलपूरमूर्च्छितमानसा वेदितव्या-स्तथाहि यदि नाम पुरुषमात्ररूपमद्वैतत्वं तर्हि यदि तदुपलभ्यते सुखितदुःखितत्वादि तत्सर्वं परमार्थतोऽसत्प्राप्नोति ततश्चैवं स्थिते यदेतदुच्यते प्रमाणतोऽधिगम्य संसारनैर्गुण्यं तद्विमुखया प्रज्ञया तदुच्छेदाय प्रवृत्तिरित्यादि तदेतदाकाशकुसुमसौर-भवर्णनोपमानमवसेयम्। अद्वैतरूपे हि तत्वे कुतो नरकादि-भवभ्रमणरूपः संसारो यन्नैर्गुण्यमवगम्य तदुच्छेदाय प्रवत्तिरूप-पद्येत। यदप्युच्यते पुरुषमात्रमेवाद्वैतत्वं यत्तु संसारनैर्गुण्यं भावभेददर्शनं च तत्सर्व्वदा सर्व्वेषामविगानप्रतिपत्तावपि चित्रे निम्नोन्नतभेददर्शनमिव भ्रान्तमवसेयमिति तदप्यचारू एतद्विषय-वास्तवप्रमाणाभावात्। तथाहि नाद्वैताभ्युपगमे किंचिदद्वैतग्राहकं ततः प्रथग्भूतं प्रमाणमस्ति द्वैतत्वप्रशक्तेः नच प्रमाणमन्तरेण निष्प्रतिपक्षा तत्वव्यवस्था भवति माप्राप्तसर्वस्य सर्व्वेष्टार्थ-सिद्धिप्रसङ्गः। तथा भ्रान्तिरपि प्रमाणभूताद-द्वैताद्विन्नाऽभ्युप-गन्तव्या अन्यथा प्रमाणभूतमद्वैतमप्रमाणमेव भवेत्तदव्यति-रेकात्तत्स्वरूपवत्। तथाच कुतस्तत्वव्यवस्था भिन्नायां च भ्रान्तावभ्युपगम्यमानायां द्वैतं प्रसक्तमित्यद्वैतहानिः अपिच यदीदं स्तम्भे भकुम्भाम्भोरुहादिभेददर्शनभ्रान्तमुच्यते तर्हि नियमात्तदपिक्व-चित्सत्यमवगन्तव्यमभ्रान्तदर्शनमन्तरेण भ्रान्ते-रयोगात् न खलु येन पूर्वमाशीविषो दृष्टस्तस्य रज्ज्वामाशी-विषभ्रान्तिरुपजायते तदुक्तम् "नादृष्टपूर्वसर्पस्य रज्ज्वां सर्पमतिः क्वचित्। ततः पूर्वानुसारित्वाद्-भ्रान्तिरभ्रान्तिपूर्विका" १ तत एवमप्यव्याहतो भेदः। अन्यच्च पुरुषाद्वैतरूपतत्वमवश्यं पूर्वं परस्मै निवेदनीयं नात्मने आत्मनो व्यामोहाभावात् विमोहश्चेदद्वैत-प्रतिप्रतिरेव न भवेत्। अथोच्येत यत एव व्यामोहोऽत एव तन्निवृत्त्यर्थं मात्मनोऽद्वैतप्रतिपत्तिरास्थेया तदयुक्तमेवं सति अद्वैतप्रति-पस्याधानेनात्मनो व्यामोहे निवर्त्त्यमानेऽवश्यं पूर्वरूपत्यागो-ऽपररूपस्य चाव्याप्तेर्व्यामूढतालक्षणस्योत्पत्तिरित्यद्वैत-प्रतिज्ञा-हानिः परस्मै च प्रतिपादयन् नियमतः परमभ्युपगच्छेत्परं वाऽ-भ्युपगच्छन् तस्मै चाद्वैतरूपं तत्त्वं निवेदयन् पिता मे कुमार-ब्रह्माचारोत्यादि वदन्निव कथं नोन्मत्तः स्वपराभ्युपगमेनाद्वैतवचसो बाधनादिति यत्किंचिदेतत् (नंदी०) तथाच सम्मति तर्के-ऽद्वैतमात्रस्य तात्विकत्वं निराकृत्विम् तथाहि अपरस्तु कार्य-कारणभावस्य कल्पनाशिल्पिविरचितत्वात् तदुभयव्यतिरिक्त-मद्वैतमात्रं तत्वमित्य-भ्युपपन्नस्तन्मतमपि मिथ्या, कार्यकारणो-भयशून्यत्वात्खरविषाण-वदद्वैतमात्रस्य व्योमोत्पलतुल्यत्वात्। तथाह्यद्वैतप्रतिपादकप्रमाणस्य सद्भावे द्वैतापत्तितो नाद्वैतं प्रमाणाभावे अद्वैतासिद्धेः प्रमेयसिद्धेः प्रमाणंनिबन्धनत्वात्। किंचाद्वैतमिति प्रसज्यप्रतिषेधः पर्युदासो वा प्रसज्यपक्षे प्रतिषेधमात्रपर्यवसानत्वात्तस्य नाद्वैतसिद्धिः प्रधानोपसर्जन-भावेनाङ्गाङ्गिभावकल्पनायां द्वैतप्रसक्तिः द्वितीयपक्षेऽपि द्वैत सप्रसक्तिरेव प्रमाणान्तरप्रतिपन्ने द्वैतलक्षणे वस्तुनि तत्प्रतिषेधे-नाद्वैतसिद्धेः। द्वैतादद्वैतस्य व्यतिरेके च द्वैतप्रसक्तिरेव पररूपव्या-वृत्तस्वरूपाव्यावृत्तात्मकत्वेन तस्य द्विरूपिताप्रसक्तेरव्यतिरेके पुनर्द्वैतप्रसक्तिर्नचाद्वैतस्यापि विद्यमानत्वात् द्वैताव्यावृत्तता- संभवो विद्यमानस्यापि विद्यमानाद्व्यावृत्तिप्रसक्तेरन्यथा सद्रूपभाग् विशेषप्रसक्तिर्भवेत्। प्रमाणादिचतुष्टयसद्भावे च न द्वैतवादान्मुक्ति-स्तदभावे शून्यतावादादि ति नाद्वैतकल्पना ज्यायसी। न च नित्यत्वाद् द्वैतकल्पना भावानामनेकत्वेऽपि युक्तिसंगता सर्वदा सर्वभावानां नित्यत्वे ग्राह्याग्राहकरूपताभावप्रसक्तेस्तद्भावादा-श्रयणं ग्राह्यग्राहकरूपताया विकारिताव्यतिरेकेण योगात् सा च कथञ्चिदेक स्याने-करूपानुषङ्गादिति कथं नानेकान्तसिद्धिः। द्रव्याद्वैतवादे रूपादिभेदाभावप्रसङ्गश्च न च चक्षुरादिसंबन्धात्तदेव द्रव्यं रूपादिप्रतिपत्तिजनकं सर्वात्मना तत्संबन्धस्य तथैव प्रतीतिप्रसक्तेः। रूपान्तरस्य तद्व्यतिरिक्तस्य तत्राभावात्। तत्र द्रव्याद्वैतमपि प्रधानाद्वैतं युक्तमेव सत्वादिव्यतिरेकेण तस्या- भावान्न च सत्वादे स्तदव्यतिरेकादद्वैतं प्रधानस्य सत्वाद्यव्यतिरिकात् द्वैतप्रसक्तेर्महदादिविकारस्य चाभ्युपगमे कथमद्वैतं विकारस्य च विकारिणोऽत्यन्तमभेदेन विकारीति प्रतिपादितं भेदाभेदेऽनेकान्तसिद्धेव्यतिरेके द्वैतापत्तिरिति। (सम्म०) ब्रह्माद्वैत य तात्विकत्वं प्रपञ्चस्य मिथ्यात्व च निराकृतं तद्यथा ब्रह्मवादं वावदूका वदन्ति युक्तं यदेषसकला- पलापी पापीयानपापस्य आत्मब्रह्मण-स्तात्विकस्यसत्वात्। नवसरलसालरसालप्रियालहिंतालतालतमाल-प्रवालप्रमुख-पदार्थसार्थोऽप्यहमहमिकयाप्रतीयमानः कथं न पारमार्थिक स्यादिति वक्तव्यं तस्य मिथ्यारूपत्वात्। तथाहि प्रपञ्चो मिथ्याप्रतीयमानत्वाद्यदेवं तदेवं यथा शुक्तिशकले कलधौतं तथा चायं तस्मात्तथा तदेतदेतस्य न तर्ककार्कश्यं सूचयति। तथाहि मिथ्यात्वमत्र कीदृक्षमाकाङ्क्षितं सूक्ष्मदृशा किमत्यन्ता-सत्त्वमुतान्यस्थान्याका-रततया प्रतीतत्वमाहोश्चिदनिर्वाच्य-त्वमिति भेदत्रयी त्रिनेत्रनेत्रत्रयीव त्रौकते। प्राचि पक्षद्वये तदनङ्गीकारः परीहारः तार्तीयीक विकल्पे तु किमिदमनिर्वाच्यत्वं नाम किं निरुक्तिर्यि रह एव निरुक्तिनिमित्तविरहो निःस्वभावत्वं वा। न प्रथमः कल्पः कल्पनार्हः सरलोऽयं सालोयमिति निश्चितोक्तेरनुभवात्। नापि द्वितीयः निरुक्तेर्हि निमित्तं ज्ञानं वा स्याद्विषयो वा न प्रथमस्य विरहः सरलसालादिसंवेदनस्य प्रतिप्राणि प्रतीतेर्नापि द्वितीस्य यतो विषयः किंभावस्वरूपो नास्त्यभावरूपो वा। प्रथमकल्पना-यामसत्ख्यात्यभ्युपगमप्रसङ्गः। द्वितीयकल्पनायां तु सत्ख्यानिरेवउभावपि न स्त इति चेत् ननु भावाभावशब्दाभ्यां लोकप्रतीति-

सिद्धौ तावभिप्रेतौ विपरीतौ वा । प्रथमपक्षे तावद्यथोभयोरेकत्र विधिर्नास्ति तथा प्रतिषेधोऽपि परस्परविरुद्धयोर्मध्यादेकतरविधिनिषेधयोरन्यतरनिषेध-विधिर्नान्तरीयकत्वात् । द्वितीयपक्षे तु न काचित्क्षतिर्न ह्यलौ-किकविषयसहस्रानिवृत्तावपि लौकिकज्ञान-विषयनिवृत्ति-स्तन्निरूक्तिनिवृत्तिर्वा । निःस्वभावत्वपक्षेऽपि निसः प्रतिषेधार्थत्वे स्वभावशब्दस्यापि भावाभावयोरन्यतरार्थतेति पूर्ववत्प्रसङ्गः । प्रतीत्यगोचरत्वं निःस्वभावत्वमिति चेदत्र विरोधः । प्रपञ्चो न प्रतीयते चेत्कथं धर्म्मितया प्रतीयमानत्वं च हेतुतयोपाददे तथोपादाने वा कथं न प्रतीयते यथा प्रतीयते न तथेचि चेत्तर्हि विपरीतख्यातेरभ्युपगमः स्यात् । किं चेयमनिर्वाच्यता प्रपञ्चस्य प्रत्यक्षेण प्रत्यक्षेऽपि सरलोऽयमित्याद्याकारं हि प्रत्यक्षं प्रपञ्चस्य सत्यतामेव व्यवस्थापयति सरलादिप्रतिनियतपदार्थपरिच्छेदात्मनस्तस्योत्पादादितरेतरविविक्तवस्तूनामेव च प्रपञ्चवचो वाच्यत्वेन सम्मतत्वात् । अथ कथमेतत्प्रत्यक्षं पक्षप्रतिक्षेपकं तद्धि विधायकमेवेति तथा तथा ब्रह्मैव विदधाति न पुनः प्रपञ्चसत्यतां प्ररूपयति । सा हि तदा प्ररूपता स्याद्यदेतर स्मिन्नितरेषां प्रतिषेधः कृतः स्यान्न चैवं निषधे कुण्ठत्वात्प्रत्यक्षस्यति चेत्तदयुक्तं यतो विधायकमिति कोऽर्थः इदमिति वस्तुस्वरूपं गृह्णाति नान्यस्वरूपं प्रतिषेधति । प्रत्यक्षमिति चेन्मैवम् अन्यरूपनिषेधमन्तरेण तत्स्वरूपपरिच्छेदस्याप्यसंपत्तेः पीतादिव्यवच्छिन्नं हि नीलं नीलमिति गृहीतं भवति मेतरथा यदेदमिति वस्तुस्वरूपमेव गृह्णाति प्रत्यक्षमित्युच्यते तदावश्यमपरस्य प्रतिषेधनेऽपि तत्प्रतिपद्यत इत्यभिहितमेव भवति । केवलवस्तुस्वरूपप्रतिपत्तेरेवान्यप्रतिषेधप्रतिपत्तिरूपत्वान् । अपि च विधायकमेव प्रत्यक्षमिति नियमस्याङ्गीकारे विद्यावदविद्याया अपि विधानं तवानुषज्यते सोऽयमाविद्या विवेकेन सन्मात्रं प्रत्यक्षात्प्रतियत्र च निषेधकं तदिति ब्रुवाणः कथं स्वस्थ इति सिद्धं प्रत्यक्षबाधितः पक्ष इति । अनुमानबाधितश्च प्रपञ्चो मिथ्या न भवत्यसद्विलक्षणत्वाद्य एवं स एवं यथात्मा तथा चायं तस्मात्तथेति । प्रतीयमानत्वं च हेतुर्ब्रह्मात्मना व्यभिचारी । स हि प्रतीयते न च मिथ्या अप्रतीयमानत्वे त्वस्य तद्गोचरवचनानामप्रवृत्तेर्मूकतैव तत्र वः श्रेयसी स्यात् । दृष्टान्तश्च साध्यविकलः शुक्तिशकलकलधौतेऽपि प्रपञ्चान्तर्गत-त्वेनानिर्वचनीयताया: साध्यमानत्वात् । किंचेदमनुमानं प्रपञ्चाद्भिन्नमभिन्नं वा । यदि भिन्नं तर्हि सत्यमसत्यं वा । यदि सत्यं तर्हि तद्वदेव प्रपञ्चस्यापि सत्यत्वं स्यात् । अथासत्यं तत्रापि शून्यमन्यथा ख्यातमनिर्वचनीयं वा आद्यपक्षद्वये न साध्यसाधकत्वं नृशृङ्गवच्छुक्तिकलधौतवच्चेति तृतीयपक्षोऽप्यक्षमः । अनिर्व-चनीयस्यासंभवित्वेनाभिहितत्वात् । व्यवहारसत्यमिदमनु-मानमतोऽसत्यत्वाभावान्न च साध्यसाधकमिति चेत् किमिदं व्यवहारसत्यं नाम व्यवहर्तिर्व्यवहारो ज्ञानं तेन चेत्सत्यं तर्हि पारमार्थिकमेव तत्तत्र चोक्तो दोषः । अथ व्यवहारः शब्दस्तेन सत्यम् । ननु शब्दोऽपि सत्यस्वरूपस्तदितरो वा यद्याद्यस्तर्हि तेन यत्सत्यं तत्पारमार्थिकमेवेति तदेव दूषणम् । अथासत्यस्वरूपः शब्दः कथं ततस्तस्य सत्यत्वं नाम । नहि स्वयमसत्यमन्यस्य सत्यत्वव्यवस्थाहेतुरतिप्रसङ्गात् । अथ कूटकार्षापणे सत्यकार्षापणो त्तितक्र यविक्र यव्यवहारजनकत्वेन सत्यकार्षापणव्यवहारवदसत्येऽप्यनुमाने सत्यव्यवहार इति चेत्तर्ह्यसत्यमेव तदनुमानं तत्र चोक्तो दोषः । अतो न प्रपञ्चाद्भिन्नमनुमानमुपपत्तिपदवीमापद्यते नाप्यभिन्नं प्रपञ्चस्वभावतया तस्यापि मिथ्यात्वप्रसक्तेर्मिथ्यारूपं च तत्कथं नाम स्वसाध्यं साधयेदित्युक्तमेव ॥ एवं च प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वासिद्धेः कथं परब्रह्मणस्तात्विकत्वं स्याद्यतो बाह्या-र्थाभावो भवेदिति । रत्ना० १ परि० ।

पुरुषाद्वैतस्य निराकरणं षोडशप्रकरणे यथा

पुरुषाद्वैतं तु यदा, भवति विशिष्टमवबोधमात्रं वा ।
भवभवविगमविभेद-स्तदा कथं युज्यते मुख्यः ॥७॥

द्वयोर्भावो द्विता तस्यां भवं सैव वा द्वैतं पुरुषस्याद्वैतमेकत्वं तु यदा भवत्यङ्गीकरणेन वादिनो विशिष्टं केवलं रागादिवासनारहितमवबोधमात्रं वा बोधस्वलक्षणं वा वेदान्तवादिनः पुरुषाद्वैतं मन्यन्ते । यथाहुरेके ''पुरुष एवेदं सर्वमित्यादि'' तथा ''विद्याविनयसंपन्ने, ब्राह्मणे गवि हस्तिनि । शुनि चैव श्वपाके च, पण्डिताः समदर्शिन'' इति श्रुतिस्मृतिप्रसि द्धिर्विज्ञानवादिनस्तु शेषनीलादिविकल्पशून्यं पारमार्थिकरागादिवासनादि विशेषरहितं बोधस्वलक्षणमात्रमेव प्रतिजानते यथोक्तम् ''चित्तमेव हि संसारो रागादिक्लेशवासितम् । तदैव तैर्विनिर्मुक्तं भवान्त इति कथ्यते'' । भवश्च भवविगमश्च तौ संसारमोक्षौ तयोर्विभेदो भव-भवविगमविभेदस्तदा कथं युज्यते मुख्यसंसारमोक्षयोर्मुख्यो भेदो न युज्यते । अर्थान्तरे ह्यविद्यादौ तत्त्वे भेदके सति तयोर्विशेषो युज्यते इति भावः ॥७॥

कस्मात्पुनः पुरुषाद्वैतं बोधमात्रं वा विशिष्टं भवतीत्याह ।

अग्निजलभूमयो य-त्परितापकरा भवे तु भवसिद्धाः ।
रागादयश्च रौद्रा, असत्यप्रवृत्तास्पदं लोके ॥८॥

अग्निश्च जलं च भूमिश्चाग्निजलभूमयो यद्यस्मात्परितापकराः परमार्थतो दुःखानुभवकरा वैषयिकसुखस्य भावतो दुःख-रूपत्वात् भवे संसारे तु भवसिद्धाः किं पुनर्वहिस्त्रयाणामुपादानेवायोरपि पठितत्वाल्लोकसिद्धत्वाच्च उच्यते-वायु-पदार्थद्रव्यगुणरूपतायां विप्रतिपद्यन्ते वादिनो नाग्निजलभूमिष तेषां द्रव्यरूपेण प्रतीतेरतो न वायुग्रहणं सर्वेन्द्रियानुपलम्भाच्चा-थवाऽग्निसहचरितत्वेनैव वायोर्ग्रहणं यत्र तेजस्तत्र वायुरिति वच-नात् । रागादयश्च रागद्वेषमोहाश्च रौद्रा दारूणास्तीव्रसंक्लेशरूपेणासत्यप्रवृत्त्यास्पदमसत्प्रवृत्तीनां सुन्दर प्रवृत्तीनामास्पदं प्रतिष्ठा लोके सर्वत्रैवानुभवसिद्धा यतो वर्त्तते यदि पुरुषाद्वैतमेव भवेत् प्रत्यक्षसिद्धा बाह्या ज्वलनादयः पदार्था न स्युस्तेषां चैतन्यस्वरूपपुरुषव्यतिरेकेण रूपान्तरोपलब्धेस्तेषां तु बहिर्वर्त्तिनां ज्वलनादीनां पुरुषत्वाङ्गीकरणे सर्वपदार्थानां नाममात्रमेव कृतं स्यात्पुरुष इति न तत्र विप्रतिपत्तिः । विज्ञानाद्वैतमपि यदि भवेत्ततो रागादयोऽनुभवसिद्धाः प्रतिप्राणिनं भवेयुस्तथा च सकल-लोकपरीक्षकविरोधस्तेषां सर्वैरभ्युपगमादनुभवस्य चान्यथाकर्तु-मशक्यत्वादिति ॥८॥

अथ सर्वेऽप्येते बाह्या आन्तराश्च परिकल्पितरूपा एवेत्या शङ्कायामिदमाह ॥

परिकल्पिता यदि ततो, न सन्ति तत्त्वेन कथममी स्युरिति ।
तन्मात्र एव तत्त्वे, भवभवविगमौ कथं युक्तौ ॥९॥

परिकल्पिता अवस्तुसन्तः कल्पनामात्रनिर्म्मितशरीरा बाह्या आन्तराश्च यदि भवताऽभ्युपगम्यन्ते ततः परिकल्पितत्वादेव न सन्ति न विद्यन्ते तत्त्वेन परमार्थेन कथममी पदार्थाः स्युर्भवेयुर्न कथंचिद्भवेयुर्भवताऽप्यनभ्युपगमात् । इत्येवं तन्मात्र एव पुरुष-मात्र एव बोधमात्र एव तत्त्वे परमार्थे भवभवविगमौ संसारमोक्षौ कथं केन प्रकारेण युक्तौ संगतौ न कथंचिदित्यर्थः ॥९॥

कस्मात्पुनः परिकल्पिता एते न सन्तीत्युच्यते परिकल्पनाया एवाभावादित्याह ॥

परिकल्पनाऽपि चैषा, हन्त विकल्पात्मिका न संभवति ।
तन्मात्र एव तत्वे, यदि वा भावो न जात्वस्याः ॥१०॥

परिकल्पनाऽपि च एषा बाह्यान्तराणामर्थानां हन्त ! विकल्पा-त्मिका वस्तुशून्यनिश्चयात्मिका न संभवति न युज्यते निर्वीजत्वात् । युक्तिमाह तन्मात्र एव पुरुषमात्र एव ज्ञानमात्रम् । एवं च तत्वे तदतिरेकेणेतरपदार्था-भावात् । अभ्युपगम्यं परिकल्पना-दूषणान्तरमाह । यदिवा भावोऽसंभवो न नैव जातु कदाचिदप्यस्याः परिकल्पनाया यदि निर्वीजापीयं बाह्यान्तरपदार्थपरिकल्पनेष्यते ततः संसारवन्मुक्ताव पि भवेदियमिति भावस्ततश्च संसारमोक्ष-भेदानुपपत्तिः परिकल्पनावीजसद्भावाभ्युपगमे तु पुरुषबोध-स्वलक्षणव्यतिरिक्तवस्त्वन्तरापत्त्या प्रस्तुताद्वैतपक्ष-द्वयहानिः षो० १६ विव० । (सम्मतावपि शुद्धद्रव्यास्तिकनयमतमधिकृत्य विस्तरेणाद्वैतमतं निरूपितं विस्तरभयान्नास्माभिर्लिख्यते तत्तु तत एवावधार्यम) तत्र नयोपदेशे तथा ॥

जातं द्रव्यास्तिकाच्छुद्धा-दर्शनं ब्रह्मवादिनाम् ।
तत्रैके शब्दसन्मात्रं, चित्सन्मात्रं परे जगुः ॥११०॥

शुद्धात् द्रव्यास्तिकात् ब्रह्मवादिनां दर्शनं जातं तदाह ''वादी-दव्वट्ठियणयपयडीसुद्धासंगहपरूवणाविसओ ति'' तत्रैके ब्रह्म-वादिनः शब्दसन्मात्रमिच्छन्ति अन्ये च चित्सन्मात्रम् । तत्राद्य-मतावलम्बीशब्दस्वभावं ब्रह्म सर्वेषां शब्दानां सर्वेषां चार्थानां प्रकृतिरित्यभ्युपैति तदाह तदभियुक्तो भर्तृहरिः । ''अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम् । विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यत'' इति । अस्यार्थः आदिरुत्पादो निधं विनाशस्तदभा-वादनादिनिधनं ब्रह्मशब्दतत्त्वं शब्दात्मकं वैखर्यात्मशब्देनै वसर्चोल्लेखान्मध्यमाख्य-शब्दसंमृष्टसविकल्पकज्ञानेनैव सर्वार्थग्रहणात् पश्यन्त्याख्यशुद्ध-शब्दात्मकज्ञानेनैव चाखण्डै-कस्वरूपनिश्चयात् सर्वत्रानुस्यूतत्वात् । सर्वोपादानत्वाच्च शब्दतत्त्वमखण्डं ब्रह्मेत्यर्थः । एतदेवाह । ''यदक्षरमकारादि'' एतेनाभिधानरूपो विवर्त्तो दर्शितः । तथा यतो जगतः प्रक्रिया प्रतिनियता व्यवस्था भेदानां संकीर्त्तनमेतदिति । अयं च वर्णक्रम-रूपो वेदस्तदधिगमोपायः प्रतिच्छेदकन्यायेन तस्यावस्थितत्वात् । तच्च परमब्रह्माभ्युदयनिःश्रेयसफलधर्मानु-गृहीतान्तःकरणैरव-गम्यते । अन्यैस्तु प्रयोगादवगम्यते शब्द एव जगतस्तत्त्वं तद्बाधेऽप्यबाध्यमानत्वादहोरात्रवत् ग्रामारामादयः शब्दात्मका-स्तदाकारानुस्यूतत्वात् सुवर्णात्मककुण्डलादित्यादितः शब्द-ब्रह्मसाम्राज्यसिद्धेः । न च प्रमाणाधीना प्रमेयव्यवस्था प्रमाणं च चिदात्मकमेवानुभूयत इति तत्र शब्दरूपत्वासिद्धिर्निराकारस्य ज्ञानस्यार्थग्राहकत्वेन व्यवहारेऽनाश्रयणीयत्वात् साकारस्य च तस्य वाग्रूपतां बिनाऽसंभवात्तदुक्तं ''वाग्रूपता चेद्युत्क्रामेदव-बोधस्य शास्वती । स्यादशाश्वती न प्रकाशेत् सा हि प्रत्यवमर्शि-नीति १ अत एव शब्दार्थसंबन्धो वैयाकरणैरभेदेनैव प्रतिपादितः । युक्तं चैतत्कथमन्यथाऽदृष्टदशरथादीनामिदानींतनानां दशरथा-ऽदिपदाच्छाब्दबोधः शुद्धदशरथत्वादिनोपस्थितेस्तत्रासंभवनीय-त्वात् तथापूर्वकनुभवा भावात् प्रमेयत्वादिना दशरथत्वादि-प्रकारकोपस्थितौ च ततः प्रमेयवानित्याकारकबोधस्यैव संभवात्, न च प्रमेय-वानित्याकारकसंस्कारात् प्रमेयत्वांशे उद्बोधकरहिता शुद्धदशरथ-त्वादिप्रकारकस्मरणोपपत्तिः तत्प्रकारकस्मृतौ तत्प्रकारकानुभवत्वेनैव हेतुत्वादिति वाच्यमन्वयव्यतिरेकाभ्यां शुद्धतत्प्रकारकस्मृतिं प्रति शुद्धतप्रकारकानुभवत्वेनैव हेतुत्व-सिद्धेर्न च प्रमेयाभाववदित्या-दिज्ञानात्संसर्गविधया शुद्धदशरथत्वादिस्वरूपप्रतियोगितत्वलक्षण-संबन्धविषयकात् ज्ञानलक्षणप्रत्यासत्तेः शुद्धदशरथत्वादिप्रकारको मानसानुभवः सुलभः सर्वाज्ञापत्तिभिया सांसर्गिकज्ञानस्यानुपनायकत्व-स्वीकारात् तस्मादत्र दशरथपदवाच्यत्वं भवति दशरथ-पदवृत्तिप्रकारकज्ञानात् । यथा दशरथपदवाच्यत्वेन वाच्यत्वा-संबन्धेन दशरथपदत्वेन वा शाब्दबोधः स्वीकर्त्तव्यस्तथा तुल्यन्यायात् सर्वत्रापीति शब्दानुभवोऽप्यर्थस्य शब्दात्मक एव साक्षीति । न चानवगतचित्तोऽपि रूपं चक्षुषा वीक्षमाणो-ऽभिलापासंसृष्टमेव विषयीकरोतीति नीलादेरशब्दात्मकत्व-सिद्धिः शब्दासंसृष्टार्थानुभवस्य ज्ञानवादिना ज्ञानाभावकाल इव शब्दवादिना शब्दाभावकाले बाह्यार्थस्येवानभ्यु-पगमेन शब्दातिरिक्तग्राह्यासिद्धेर्बाह्यत्वनियतदेशवृत्तित्वादिव घटादाविद्यावशादेव भासत इति न तत्तदाकारैः शब्दब्रह्मभेद-सिद्धिस्तदुक्तम् । ''यथा विशुद्धमाकाशं, तिमिरोपप्लुतो जनः । संकीर्णमिव मात्राभिश्चित्राभिरभिमन्यते । तथेदममलं ब्रह्म, निर्विकल्पमविद्यया । कलुषत्वमिवापन्नं भेदरूपं विवर्त्तत'' इति यदि वा ग्रामारामादिप्रपञ्चो व्यवहारः सत्यः स्वीक्रियते स्वार्थिक-वैलक्षण्यानुभवात्तदाऽविद्या सहितं शब्दब्रह्मैव तदुपादानं वाच्यम् । अद्वैतशास्त्रेणाविद्यानिवृत्तौ च तन्मूलप्रपञ्चविगमे शुद्धं शब्द ब्रह्मैवावशिष्यते स एव मोक्ष इति निरवद्यं केवलं तस्य शब्दा-त्मकत्वे शुद्धशब्दत्वादिधर्मवत्वं निर्द्धर्मकत्वेऽप्यसदा दिव्यावृत्तिवदशब्दा-दिव्यावृत्तौ चोपपत्तिरिति संक्षेपः ।१। द्वितीयमतावलम्बिनो वेदान्तिनस्तन्मते अखण्डमद्वितीयमानन्द-ऐकरूपं स्वप्रकाशं चैतन्यमेव जगतः स्वरूपमनिर्वचनीयस्यैव सर्प्पस्य रज्जुः । कथं तर्हि जीवेश्वरविभाग इति चेदज्ञानरूपादुपाधेः यथा ह्येकस्यैव मुखस्य दर्प्पणोपाधि-संबन्धाद्विम्बप्रतिबिम्बभावः एवं चिन्मात्रस्योक्तोपाधिसंबन्धाज्जी-वेश्वरभावो न तत्वान्तरमस्ति अज्ञानं त्वनाद्यनिर्वचनीयमाया-विद्यादिशब्दाभिधेयं तच्चकेनैवोपपत्तावनेककल्पनानवकाशादेकमेवेत्येके बद्धमुक्तव्यवस्थानिरूपणाय-मानमित्यन्ते तदवस्थाऽतिमूलाज्ञानानि व्यवहारसौकर्याय निरूपयन्ति । तत्रैव मायाविद्याशब्दद्वयनिमित्तं शक्तिद्वयं विक्षेपशक्तिरावरणशक्तिश्च । कार्यजननशक्तिर्विक्षेपशक्तिस्तिरो-धानशक्तिरावरणशक्तिर्यथाऽवस्थारूपस्य रज्जुज्ञानस्य सर्प्पजननशक्ती रज्जुतिरोधानशक्तिश्च । एवं मूलाज्ञानस्वाद्वितीयपूर्णानन्दैकरस-चिदावरणशक्तिराकाशादिप्रपञ्चजनन-शक्तिश्चेति । निवृत्तेचाज्ञाने तन्निमित्ते च जीवेश्वरादिप्रपञ्चे चिन्मात्रमेव शिष्यते । जीवस्त्वज्ञानप्रति बिम्बितं चैतन्यमिति विचारणाचार्याः । रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूवेति'' श्रुतेः । ''एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवदिति'' स्मृतेश्च । नचामूर्तस्य प्रतिबिम्बाभावः शक्यो वक्तुममूर्तानामपि रूपपरिमाणादीनां गुणानामादर्श-मूर्त्तद्रव्य-स्यापि प्रभूतक्षेत्राकाशस्य जानुमात्रे जले विशालरूपेण प्रतिबिम्ब-दर्शनात् प्रतिबिम्बस्यापि च चिद्रूपत्वं प्रत्यक्षशास्त्राभ्यां सिद्धम् । न च घटादिविच्छिन्नाकाशवदविद्यावच्छिन्नं चैतन्यमेव जीवोऽस्तु किं प्रतिबिम्बत्वेनेति वाच्यं तथा सति जीवभावेनावच्छिन्नस्य पुण्यावच्छेदान्तरायोगाद्घटाकाशादौ तथा दर्शनाद्ब्रह्मणः सर्व-

नियन्तृत्वानुपपत्तौ यो विज्ञाने तिष्ठन् विज्ञानमन्तराय-मयतीति श्रुतिव्याकोपप्रसङ्गात् । प्रतिबिम्बपक्षे तु जलगत-स्वाभाविकाकाशे सत्येव प्रतिबिम्बाकाशदर्शनादिगुणी-कृत्यवृत्युपपत्तेर्जीवावच्छे देषु ब्रह्मणोऽपि नियन्तृतादिरूपेणा-वस्थानमुपपद्यत इति न दोषः । अस्मिन् पक्षे बिम्बं चैतन्यं नेश्वरः बिम्बस्यापि प्रतिबिम्बान्तर्द्विगुणीकृत्य वृत्त्ययोगेन प्रतिबिम्बा-त्मकजीवान्तर्यामित्वानुपपत्तेः कार्यानुपाधिभूतस्य शक्तिद्वयस्य व्यापकतया तत्प्रतिबिम्बयोर्जीवेश्वरयोरपि व्यापकत्वा-ज्जीवान्त-र्यामित्वश्रुतेरप्यव्याघातात् । अज्ञानप्रतिबिम्बमित्यत्राज्ञानपदं चाविद्यापरम् अज्ञानप्रतिबिम्बितं चैतन्यं साक्षी स चोक्तशक्ति-द्वयप्रतिबिम्बितो जीव इतीश्वर श्रवियन्तु शुद्धमिति दिग् । एते ज्ञानप्रतिबिम्बितं चैतन्यमीश्वरः बुद्धिप्रतिबिम्बितं चैतन्यं जीवः अज्ञानोपहितं बिम्बचैतन्यं शुद्धमिति संक्षेपः । शारीरक-कारमतमप्युपसंगृहीतं तात्पर्यतोऽभेदात् । अज्ञानावच्छिन्नं चैतन्यं जीव इति वाचस्पतिभिश्राः । तेषामयमाशयः वस्तुतः सजातीयविजातीयभेदशून्यं चैतन्यमनादिसिद्धानिर्वचनीया-ज्ञानोपाध्यवच्छिन्नजीव इत्यज्ञानेश्वर इति द्वैविध्यं प्रतिपद्यते । अज्ञानत्वम् अज्ञानविषयत्वं तदेवेश्वरोपाधिः तच्च व्यापकमिति तदुपहितस्येश्वरस्यापि व्यापकत्वात् सर्वान्तर्यामित्वमुपपद्यते विचारणाचार्यस्त्वनवच्छिन्न-स्येश्वरत्वमवच्छिन्न स्य च जीवत्वं दूषितमिति नात्र दोषस्पर्शः । नत्वेवमज्ञानस्य चैतन्यस्येश्वरत्वेऽहं मां न जानामीत्यनुभवादीश्वरस्य प्रत्यक्षपातः । न ज्ञाततयेश्वरस्य प्रत्यक्षत्वमनापाद्य सर्वस्यैव वस्तुनो ज्ञाततयाऽज्ञाततया वा साक्षिप्रत्यक्षत्वाङ्गी कारादिति वाच्यं न ह्यवज्ञाततयेश्वर-प्रत्यक्षमापद्यते ईश्वरं न जानामीति येनाभ्युपगम-व्याघातापत्तिःस्यात् किंत्वहं मां न जानामीत्यज्ञानं चैतन्यमनुभूयते स चैश्वर इति तस्य स्वरूपेणापरोक्षत्वं स्यादिति चेन्नाहं मां जानामीत्यत्रा-ज्ञाततया जीवस्याखण्डजगज्जीवेश्वरादिभ्रमाधिष्ठानचैतन्यरूपस्य हानेरप्यज्ञानोपहितचैतन्यरूपस्येश्वरस्याभानादज्ञानतास्फु रणे तदुपहितस्येश्वरस्य स्फुरणापत्तेः कर्तुमशक्यत्वात्तस्यायोग्यत्वान्न हि घटस्फुरणे घटोपहिताकाशादेरपि स्फुरणं केनचिदापादयितुं शक्यत इति तत्र विशेष्यस्यायोग्यत्वम् अत्र तु विशेषण-विशेष्ययोर्योग्यत्वमित्यस्ति विशेष इति चेन्न तथाप्युपहितत्व-संबन्धगर्भत्वेनादृष्टवज्ज्ञीवत्वे तेनैवायोग्यताया ध्रैव्यात् । आभासवादिनो वार्तिका चार्यास्तु दर्प्पणादौ मुखान्तरोत्पत्तिं स्वीकुर्वाणाश्चैतन्यस्यानादिभूताज्ञानेऽज्ञानादिरेवाभासः समस्ति तत्त्वसौजीवो जडत्वात् अतस्तत्तादात्म्यापन्नेचैतन्यं जीवः किमात्राभासाङ्गीकारे बीजमिति चेत् चैतन्येऽहंकाराध्यासस्य निरुपाधिकस्येष्टत्वान्निरुपाधिकाध्यासत्वावच्छेदेन च सादृश्यस्या-पेक्षणादाभासतादात्म्यापत्त्या च सादृश्यापन्ने चैतन्येऽहंकारा-ध्याससंभवान्न चाभासाध्यासेऽपि तदपेक्षायामनऽवस्था-पत्तिस्तस्यानादित्वात् । जन्माद्यास एव निरुपाधिके सादृश्यापेक्षणात् । न चाज्ञानाद्यासेनैव सादृश्यापसिः सुवचा जाड्येन हि सादृश्यं वाच्यं तच्च जडतादात्म्यापत्त्या । न चाज्ञानं तादात्म्येनाध्यस्तं किं त्वहं मत्त इति संसर्गेणाध्यस्तमिति अतो नाद्याभासतादात्म्याध्यासेन जाड्यापत्त्या सादृश्ये सत्य-हंकाराध्यासो युज्यते । न चाभासे प्रमाणाभावः आदर्शे मुखमिति स्पष्टमुकान्तरावभासात् एकत्र क्लप्तमन्यत्रापि प्रतिसंधीयत् इति न्यायेनाज्ञानेऽपि चैतन्याभासाङ्गीकारात् । एवमन्तः करणादावपि चैतन्याभासः । अज्ञानगतचैतन्याभासस्तु जीवशब्दप्रवृत्तिनिमित्तं तस्मादात्म्यापन्नचैतन्यजीवत्वादिति विचारणाचार्यास्तु मुखान्तरोत्पत्तिं नेच्छन्ति किं तु मुखेऽधिष्ठानभेदमात्रस्य द्वित्वापरपर्यायस्यादर्शस्थत्वस्य चानिर्वचनीय-स्योत्पत्तिं तावतैव प्रतीत्युपपत्तेर्मुखान्तरकल्पने गौरवात् । न चैवं शुक्तावपि रजतोत्पत्तिर्न स्यात् तादात्म्यमात्रोत्पत्त्यैवेदं रजतमिति-धीनिर्वाहोपपत्तेरिति वाच्यं तथा सति रजतस्यापरोक्षत्वापत्ते-र्मुखं त्वधिष्ठानमपरोक्षमिन्द्रियसन्निकर्षादत एवादर्शे मुखमित्यपरोक्ष-भ्रयोत्पत्तेर्न निर्वचनीयमुखान्तरोत्पत्तिः । न च मुखस्ये-न्द्रियसन्निकर्षभावः कतिपयावयवावच्छेदे न तत्सत्वादासत्ते-र्विशदावभासप्रतिबन्धकत्वेऽपि तत्रादर्शसन्निधानस्योत्तेजक-त्वेन दोषाभावादादर्शादिनाऽभिहितचक्षुषो मुखाभिमुख-विजातीयसंयोगात्तदपरोक्षत्वमित्यपि कश्चित् । ननु किमित्येवं वर्ण्यते मुखमधिष्ठानमिति आदर्श एवाधिष्ठानमस्तु तत्र च मुखाभावाज्ञानेन मुखोत्पत्तिस्तत्संसर्गोत्पत्तिर्वास्तु । आदर्शे मुखमिति प्रतीतेरेवमप्युप-पत्तेर्मुखं यद्यपरोक्षं तर्हि तु संसर्गस्य यदि च नापरोक्षं तर्हि तदुत्पत्तेः स्वीकर्तव्यत्वान्मुखमधिष्ठानं तस्य चानुभयाननुसारित्वादिति चेन्न एवं ह्यधिष्ठानत्वाभिमतस्यो-पाधिकत्वोक्तो सर्वभ्रमाणां सोपाधिकत्वे प्रशक्ते सोपाधिक-निरूपाधिकभूमव्यवच्छेदप्रसङ्गात् । लोहितः स्फटिक इत्यत्रापि शुक्त्यज्ञानाद्रजतभ्रमवज्जपाकुसुमत्वाज्ञानाल्लोहिते तस्मिन् स्फटिकतादात्म्यभ्रमइति सोपाधिकभ्रमत्वासिद्धेः । शक्यं ह्यत्रापि वक्तुं स्फटिको यद्यपरोक्षस्तर्हि तत्संसर्गमात्रमुत्पद्यते यदि नापरोक्षस्तर्हि तदुपपत्तिस्तस्मान्नादर्शोऽधिष्ठानं किं तु मुखमेव तत्र च भेदोऽस्य तेनु मुखान्तरं प्रत्यभिज्ञानाश्च न मुखान्तरोत्पत्तिः स्व क्रियते कथं तर्हि भेदभ्रमोऽपि स्यात् प्रत्यक्षप्रत्यभिज्ञानेना-ज्ञानानिवृत्त्या भेदभ्रमनिवृत्ति-प्रसङ्गादिति चेदुच्यते सो पाकधिकभ्रमनिवृत्तावुपाधिनिवृत्तेः पुष्कलकारणत्वान्नततो भेदभ्रमनिवृत्तिः मुखान्तरोत्पत्तिपक्षे तु सोपाधिकत्वमेव नास्ति । उपाधिर्हि उप समीपे स्थित्वा स्वकीयं धर्ममन्यत्रादधातीत्युच्यते नहि मुखान्तराध्यासे उपाधिरस्ति रजताध्यासवत् भेदाध्यासे दर्प्पणस्योपाधित्वं संभवति अतः सत्यपि प्रत्यभिज्ञाने यावदुपाधिभेदाध्यासानुवृत्तिर्युक्ता तस्मात् मुखमधिष्ठानं तत्र भेदोऽध्यस्यते एवं चाज्ञानादौ प्रतिबिम्बे सत्यपि नाभासान्तरं मानाभावात् । सादृश्यापत्तिस्त्वज्ञानाध्यासेन परिच्छिन्नत्वा-पत्त्याऽहंकाराध्यासापेक्षिता भविष्यति तस्मान्नावभासवादो ज्यायानिति विवरणाचार्याभिप्रायः । अज्ञानोपहितबिम्बचैतन्यमीश्वरः अज्ञान-प्रतिबिम्बितं चैतन्यं जीव इति वाऽज्ञाना नुपहितं शुद्धचैतन्यमीश्वरः अज्ञानोपहितं च जीव इति वा मुख्यो वेदान्तसिद्धान्त एकजीववादाख्य इदमेव दृष्टिसृष्टिवादमाचक्षते । अस्मिंश्च पक्षे जीव एवेश्वरज्ञानवशादुपादानं निमित्तं च दृश्यं च सर्वप्रतीतिः । किं देहभेदाज्जीवभेदा भ्रान्तिः । एकस्यैव स्वकल्पित-गुरुशास्त्राद्युपबृंहितश्रवणमननादिदाढ्यदात्मसाक्षात्कारे सति मोक्षः शुकादीनां मोक्षश्रवणं चार्थवाद इत्याद्यूह्यम् । ननु वस्तुनि विकल्पासंभवात्कथं परस्परविरुद्धमतप्रामाण्यात्तस्मात् किमत्र हेयं किमुपादेयमिति चेत्क एवमाह वस्तुनि विकल्पो न संभवति स्थाणुर्वा पुरुषो वा राक्षसो वेत्यादि विकल्पानां वस्तुनि प्रवृत्तिदर्शनात् अतात्विकी सा कल्पना पुरुषबुद्धिमात्रप्रभवेयं तु शास्त्रीया जीवेश्वरविभागा-दिव्यवस्थेति कथं तत्र विकल्पस्पर्श इति चेन्नूनमतिमेधावी भवान् येनेत्थं वदति अद्वितीया हि प्रधानं फलवत्त्वादज्ञातत्वाच्च प्रमेयंशास्त्रस्य जीवेश्वरविभागादि-कल्पनास्तु पुरुषबुद्धिप्रभवा अपि

शास्त्रेणानूद्यन्ते तत्वज्ञान् उपयोगित्वात् । फलवत्संनिधावफलं तदङ्गमिति न्यायात् भूत-सिद्धस्यापि श्रुत्यानुवादनसंभवादेतेन द्वैतसमानाश्रयविषयत्व-नियमाञ्जडे च प्रमाणाप्रयोजनाभावनाज्ञाना-नङ्गीकारात्तदवच्छिन्न-चैतन्याज्ञानादेव तत्राज्ञानाव्यवहारोपपत्तेः । प्रामाण्यस्य वा ज्ञात-ज्ञापकत्वरूपत्वादन्यथा स्मृतेरपि तदापत्तेरिति वेदान्तेषु सर्वत्रैवं विरोधेऽयमेव परिहारः । तदाह वार्त्तिककारः ''यया यया भवेत्पुंसो व्युत्पत्तिः प्रत्यगात्मनि। सा सैव प्रक्रिया ज्ञेया साध्वी सा चानवस्थिते'' रिति श्रुतेस्तात्पर्यविषयीभूतार्थविरुद्धं मतं हेयमेवेति नाति प्रसङ्गः । स च जीवोऽज्ञानबहुत्ववादिनां हिरण्यगर्भाविरादिभेदेना-ज्ञानैक्येऽपि तत्तच्छक्तिभेदात्तदीयान्तःकरणभेदाद्वा नानेत्यपि वदन्ति। तत्र तत्त्वज्ञानेन शक्तिरन्तःकरणस्य वा निवृत्तिरिति बद्धमुक्तव्यवस्था जीवभेद एव क्रममुक्तिफलानां हिरण्यगर्भाद्युपासनावाक्यानां न तस्य प्राणा इत्यादीनां चाज्जस्ये नोपपत्तिः एकजीवादेस्तूपासनावाक्यानां क्रममुक्तिफलश्रवणमर्थवादमात्रं क्रमेणैव मुक्त्यङ्गीकारे क्रममुक्तिफलानामुपानाबहुत्वेनैकस्यैव फलवत्त्वेऽपीतरेषु तच्छ्रवणस्या-र्थवादतायां आवश्यकत्वात्। फलवत्ता तु तासां सत्वशुद्धिराश्रयणाद्य-धिकारोपयोगात् प्रमातृभेदाङ्गीकारात्तत्तत्फलभोगोत्तरमिममिति विशेषणादेतत्कल्पावच्छेदेन मानवभवानावृत्त्या वा भविष्यति तदेवं व्यवस्थितमेकानेकवादिनां जीवस्वरूपं तत्र चान्तः -करणमध्य-स्यतेऽहमिति रज्ज्वामिव सर्पः केवलस्य तस्य साक्ष्यभास्यत्वात् तत्कार्याकारपरिणतस्यैव साक्षिणो भानमित्यहमाकारेण परिणतस्य तस्याध्यासोऽयमहंकाराध्यास इति गीयते । अयं च न सोपाधिक उपाधेरभावादहमज्ञ इति त्वहंकाराज्ञानयोरेकचैतन्याध्यासाद्गृहत्वा-यसोरेकवह्निसंबन्धा-दयोदहतीतिवत्। तच्चान्तः करणं स्मृतिप्रमाण-वृत्तिसंकल्प-विकल्पाहेवृत्त्याकारेण परिणतं चित्तबुद्धिमनोऽ-हंकारशब्दैर्व्य-वह्रिते इदमेवात्मतादात्म्येनाध्यस्यमानमात्मनि सुखदुःखादि-स्वधर्माध्यासे उपाधिः स्फटिके जपाकुसुमिव लोहित्यावभासे एवं प्राणादयस्तद्धर्म्माश्चाशनीयाः पिपासादयस्तथा श्रोत्रादयो वागादयश्चतद्धर्माश्च बधिरत्वादयोऽध्यस्यन्ते तथा देहस्तद्धर्माः स्थूलत्वादयश्चात्मन्यध्यस्यन्ते तत्रेन्द्रियादीना न तादात्म्याध्यासे-ऽहं श्रोत्रमित्यप्रतीतेः। देहस्तु मनुष्योऽहमिति प्रतीतेस्ता-दात्म्येनाध्यस्यते एवं चैतन्यस्याप्यहंकारादिषु पर्यन्तेष्वध्यासः स्वीकार्यः अध्यासव्यवधानतारतम्याच्च प्रेमतारतम्यम् । तदुक्तं वार्त्तिकामृते ''वित्तात्पुत्रः प्रियः पुत्रात्पिण्डः पिण्डात्तथेन्द्रियः इन्द्रियेभ्यः परः प्राणः प्राणादात्मा परः प्रियः'' तेनान्योन्याध्यासाच्चिदचिद्ग्रन्थिरूपो-ऽयमध्यासः समूहालम्बनभ्रमवदवश्य मत्रेतरेतराध्यासस्यावश्यं-मभ्युपगन्तव्यत्वात् । अयमेव संसारो माया शवलाचिदात्मन आकाशादिक्रमेण लिङ्गशरीरात्मकपञ्चीकृत-भूतोत्पत्तौ केषांचिन्मते तेभ्य एव पञ्चीकृतभूतोत्पत्तौ संप्रदायमते च तेषामेव सयोगविशेषावस्थानां तत्वस्वीकारे तेभ्यो ब्रह्माण्डभूधरादिचतुर्दशभुवनचतुर्विध-स्थूलशरीरोत्पत्तेरत एव सिद्धा-भिधानात् (नयो०) आत्मज्ञानमात्रे प्रत्यज्ञादिप्रसरान्नियम-विध्यादरे च सूत्रमात्रे साधनान्तरप्राप्तेऽर्थे यजेतेत्यादावपि तत्प्रसङ्गोऽत एव न भ्रान्त्या साधनान्तरप्राप्तेरपि नियमविध्यङ्गत्वं यजेतेत्यादावतिप्रसङ्गादेवेतिवाच्यं निर्विशेषात्म-बोधेऽपि ''इतिहासपुराणाभ्यां वेदार्थमुपबृंहयेदि'' त्यादिना पुराणप्राकृत-वाक्यश्रवणादेः प्राप्तत्वाद्वेदान्तश्रवणं नियम्यत इति दोषाभावात्। एतच्च श्रवणाद्यवृत्तं तत्वधीहेतुर्दृष्टार्थत्वात्तदेवं बहुजन्मलब्धपरिपाकवशादसौ तमस्यादिवाक्यार्थविशुद्धं प्रत्यगभिन्नं परमात्मानं साक्षात् कुरुते । नच प्रामाण्यस्योत्पत्तौ स्वतः स्वभङ्गः श्रवणादेः प्रतिबन्धकनिवर्तकत्वात्त-न्निवृत्तेश्च स्वत्वेनोत्पत्तावतिरिक्तानपेक्षणात्। तत्त्वमिति पदयोः परोक्ष-त्वापरोक्षत्वविशिष्टचैतन्यरूपपृथगर्थवाचकयोः श्रूयमाणं सामानाधिक-रण्यम् । न तावत् सिंहो देवदत्त इतवद्गौणमुख्यभावः संभवति तस्यान्नाज्ञातत्वात् । नापि मनो ब्रह्मेतिवदुपासनार्थं श्रुतहास्यश्रुत-कल्पनाप्रसङ्गात् । मुख्यत्वेऽपि न नीलोत्पलादि-वत्सामानाधिकरण्यं गुणगुणिनां भावाद्यसंभवात् निर्गुणा स्थूलादिवचनविरोधाश्च नापि यः सर्पः सा रज्जुरिति वद्बाधीय-मुभयोश्चिद्रूपतया बाधायोगान्मुक्त्य भावप्रसङ्गाच्च । नहि स्ववाधार्थं जीवप्रवृत्तिरुपपद्यते तस्मात्पदार्थयोः परस्पर-व्यावर्तकतया विशेषणविशेष्यभावप्रतीत्यनन्तरं लक्षणया सोऽयं देवदत्त इति तद्विशुद्ध प्रत्यगभिन्नाखण्डपरमात्मप्रतीतेः सा च लक्षणा पदद्वयेऽप्यन्यथाऽखण्डार्थप्रतीत्यनुपपत्तेर्लक्षणाबीजविरोधा-समानाच्च इयं लक्षणा विशेषणं सत्यागाद्वि-शेष्यांशत्यागाच्च जहदजहती । नन्वेवं चैतन्याद्वैतसिद्धावपि कथं प्रपञ्चस्य परमार्थिकत्वाभाव इति चेदुच्यते यदि त्वं पदार्थे भोक्तृत्वादिपारमार्थिकं कथं तत्पदार्थे क्यसिद्धिरे वं तत्पदार्थेऽपि परोक्षत्वादि । यदि पारमार्थिकं कथं त्वं पदार्थैक्यसिद्धिस्तदेवं भोक्तृत्वादेः कल्पितत्वे भोग्यादि कल्पितमेव एवं जगत्कर्तृत्वादेः कल्पितत्वे जगतः कल्पितत्वमित्यपि तत्त्वमस्या-दिवाक्य-सामर्थ्येनैव निरस्तसमस्तपञ्चात्मैक्यसिद्धिः। सोऽयमित्यत्रेव पदाद्वेदभ्रमनिवृत्तेर्महावाक्याश्रयणस्यावश्यकत्वं तदिदमात्मज्ञान-मुत्पन्नमेवानन्तजन्मार्जितकर्मराशिं विनाशयति ''क्षीयन्ते चास्य कर्माणीति श्रुतेः। नच देहनाशप्रसङ्गः प्रारब्धस्याविनाशात्। तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्षेऽप्यसंपत्स्य इति श्रुतेः कर्मविपाकेन प्रारब्धनिवृत्तावप्युक्तशास्त्रेण ज्ञानान्निवर्त्यत्वाभिधानात् ततश्च ज्ञानेन तदानीमेवाज्ञानसर्वात्मना निवर्त्तयितव्ये प्रारब्धप्रतिबन्धाप्यनिवृ-त्तिस्तस्यां चावस्थायां प्रारब्धफलं भुञ्जान सकलसंसारं बाधितानुवृत्त्या पश्यन् स्वात्मारामो विधिनिषेधाधिकारशून्यः संस्कारमात्रःसदाचारः प्रारब्धक्षयं प्रतीक्षमाणो जीवन्मुक्त इत्युच्यतेऽस्य प्रारब्धक्षये संसक्तिकनिरवशेषाज्ञाननिवृत्तौ परममुक्तिर्नानुकेयम-ज्ञाननिवृत्तिर्नासती नाप्यसती नापि सदसती ज्ञानजन्यताद्वैत-प्रसङ्गोद्देश्यत्वविरोधेभ्यश्चास्तु तर्ह्यनिर्वचनीया-जन्यत्वात् । तदुक्तं ''जन्यत्वमेव जन्यस्य, मायिकत्वसमर्पक'' मिति मैवम् अनिर्वचनीयस्य ज्ञाननिवर्त्यत्वनियमेव निवृत्ति-परंपराप्रसङ्गात् सद्वैतीव्याकोप-मङ्गीकृत्य तस्या असत्वा-भिधानेऽपि विनाप्रमाणमद्वैतसंकोच एव दूषणम्। पञ्चम-प्रकाराश्रयणं त्वत्यन्ताप्रसिद्धमस्तु तर्हि चैतन्यात्मिकेति चेन्न जन्यत्वादेव नास्त्येव जन्यत्वमिति चेन्न ज्ञानार्थस्य प्रसङ्गात् चैतन्यस्य सदा सत्वेन प्रयत्नविशेषानुपपत्तेश्च । अत्र केचित् तत्वज्ञानोपलक्षितं चैतन्यमेवाज्ञाननिवृत्तिः तच्च न तत्वज्ञानं प्रागस्ति उपलक्षणत्वस्य संबन्धाधीनत्वात्काकसंबन्धो हि गृहस्य काकोपलक्षितत्वं तदपि न ज्ञानोपलक्षितत्वस्यापि सत्वेऽद्वैतव्याघातात् असत्वे उद्देश्यत्वानुपपत्तेः। मिथ्यात्वे ज्ञाननिवर्त्यत्वापत्ते श्चिन्मात्रत्वे उक्तदोषानतिवृत्तेः । न च तत्वज्ञानानुपलक्षितभिन्नं चैतन्यमेव साऽस्थाभेदं विना तस्यापि दुर्वचत्वादतो दुर्वचस्वरूपेऽयमज्ञान-निवृत्तिस्त्रोच्यते ज्ञानस्य निवृत्तिरूर्ध्वं च रूपान्तरपरिणतोपादानस्येवृत्तद्रूपत्वात्

घटध्वंसो हि चूर्णाकारपरिणता मृदेव। नच चैतन्यस्य रूपान्तरम-ऽस्ति तस्मान्नास्त्येवाज्ञानध्वंसः किंत्वज्ञानस्य कल्पितत्वात्-दत्यन्ताभाव एव तन्निवृत्तिः किं तर्हि तत्वज्ञानस्य साध्यमिति चेन्नास्त्येवाज्ञानात्यन्ताभावबोधात्मकत्ववाधव्यतिरेकेण तदुक्तं ''तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थसम्यग्धीजन्ममात्रतः। अविद्या सह कार्येण नासीदस्ति भविष्यतीति'' शुक्तिबोधेनापि हि रजतात्यन्ताभावबोधरूपो बाध एव क्रियते मिथ्याभूतस्य च बाध एव ध्वंस इत्यभिधीयते तद्वदिहापि द्रष्टव्यम् सचायमधिष्ठानात्मक एव कयं तर्हि सर्वथा सत इच्छाप्रयत्नविति चेत्कण्ठगतचामीकरन्यायेनानवाप्तत्व भ्रमात्पुरुषार्थत्वं तु तत्राभिलषितत्वादेव कृतिसाध्यत्वस्य तत्र गौरवेणाप्रवेशा-चन्द्रामृतपानादौ पुरुषार्थत्वमिष्टमेव। प्रवृत्तिस्तु तत्र कृतिसाध्यत्वज्ञानरूपकारणान्तराभावादिति प्रतिपत्तव्यम्। कथं पुनर्दृष्टिसृष्टिवादं श्रवणादिपरिपाकजन्मना ज्ञानेनाज्ञानातिबाधः तथाहि तस्मिन् मते चैतन्यातिरिक्ति पदार्थानामज्ञातसत्त्वं नातिमिथ्यात्वस्य स्वप्नादिदृष्टान्तसिद्धत्वात्तादृशस्यैव सत्त्व-स्याङ्गीकारात्। एवं च घटादीनां यदा प्रतीतिस्तदा सत्त्वं नान्यदेति न दण्डादिजन्यत्वं किंत्वज्ञानमात्रजन्यत्वं स्वप्नवच्च दण्डाद्युपादानम्। अज्ञानदेहादिकं तु भासमानमेव तिष्ठति अभाव-निश्चयाभावाश्च पुत्राद्यभावकृतरोदनाद्यप्रसङ्गः प्रत्यभिज्ञानमपि भ्रम एव ततश्चाकाशादिक्रमेण सृष्टिः पञ्च। करणं ब्रह्माण्डाद्युत्पत्तिश्चैतन्मतेनास्त्येव घटादेरपरोक्षत्वं तत्तदध्यासादेव अधिष्ठान-स्य स्थानादेः सकलदृष्टिहेतोरङ्गीकाराच्च न बौद्धमतप्रवेशस्तदेव मज्ञानातिरिक्तकारणा भावात् कथं श्रवणादिजन्यं तत्त्वज्ञानमिति। अत्रोच्यते लोकेऽज्ञानातिरिक्तानात्मदृष्टिकारणाभावेऽपि वेदे यागस्वर्गादौ कार्यकारणदायिनां यच्चेष्टाचरणप्रसङ्गात्तस्माद् घटादेरिव स्वर्गनरकादेर्नाज्ञानमात्रजन्यत्वमपि तु विहित निषिद्धक्रियाजन्यत्वमपीति दृष्टाचुश्रविकत्वेऽर्द्धजरतीयं प्रामाणिकं नो वेदनात्मदृष्टिसृष्टेरनवसानप्रसङ्गोऽधिष्ठानज्ञाने तदवसानमिति चेन्न तस्यैव हेतुत्वभावादज्ञानं तद्धेतुरिति चेन्न ततो दृष्टाकारणनिरपेक्षा तदुत्पत्या शमाद्यनुष्ठानप्रसङ्गात्। भ्रान्त्या शमाद्यनुष्ठानमिति चेन्न स्व तद्वेदान्तार्थश्रवणवतां तदभावप्रसङ्गात्। किं च भ्रमे ज्ञानमात्रजन्यत्वं युक्तम्। नन्वधिष्ठानज्ञाने हि रजतभ्रमवच्छुक्तिज्ञाने शुक्त्यज्ञानजन्यत्वं तदवश्यं दृष्टिसृष्टिपक्षे लोकेऽज्ञानातिरिक्तकारणाभावेऽपि वेदे यागादौ स्वर्गादिसाधनता संमतैव ततश्च यागादेः स्वर्गादिसाधनत्वं प्रतीत्य यागमनुतिष्ठता-मुत्पन्नस्य स्वर्गसूक्ष्मरूपस्य वाऽपूर्वस्य साक्षिसिद्धस्य स्वर्ग-जनकत्वमपूर्वस्य साक्षिसिद्धत्वं नानुभूयत इति चेन्नाज्ञात-सत्वानङ्गीकारेण ज्ञानकारणताया इवापूर्वस्य साक्षिसिद्धता-ऽभ्युपगमस्यावश्यकत्वाच्च यागादेः स्वर्गादिजन्मवत् श्रवणमननादिसहजकृतवेदान्तवाक्यात्तत्त्वज्ञानोत्पत्तिरविरुद्धा। दृष्टिसृष्टिवादे इश्वरो नास्तीति तत्त्वमसीत्यत्र कथं तद्वेदप्रतीरिति चेत् कुत एतदवगतं सर्वदाऽप्रतीतेरिति चेत्तर्हि जीवोऽपि नास्त्येव चिद्रूपतया भासमानत्वमप्युभयत्र तुल्यमीश्वरत्वं सदा न भासत इति चेज्जीवत्वेऽपि तुल्यमेतत् उभयमपि तर्हि नास्त्येवेति चेन्न साक्षित्वस्यानुभवसिद्धत्वात् घटकाज्ञाने शक्तिद्वयस्यावश्यकत्वेन तद्भर्मजीवत्वेश्वरत्वयोरनादित्वस्य यौक्तिकत्वात्तयोरभेदानुपपत्तेर्लक्षणयाऽद्वये चिन्मात्रधीर्वक्तव्या तस्माद् दृष्टिसृष्टिवादेऽपि यथोक्तानुष्ठानानुभवस्तत्वज्ञानादखण्डानन्दब्रह्मस्वरूपा मुक्तिर्युक्तिवत्तदेतच्छुद्धद्रव्यास्तिकप्रकृतिकाप्रकृतिकमतद्वयं पर्यायार्थिकनययुक्तिभिर्निर्लोचनीयमवतारणीयं च स्याद्वादे ॥११०॥ नयो०। (पर्य्यायास्तिकनयमतेनाद्वैतवादे दोषाः सम्मतितर्के)

एगासण-न० (एकाशन) एकं सकृदशनं भोजनमेकं चासनं पुताऽचालनतो यत्र तदेकाशनमेकासनं च। प्राकृते द्वयोरपि एगासण मिति रूपम्। प्रत्याख्यानभेदे, अथैकाशनप्रत्याख्यानं तत्राष्टा-वाकाराः स्तद्यथा।

एगासणं पच्चक्खाइ चउव्विहं पि आहारं असणं पाणं खाइमं साइमं अन्नत्थणाभोगेणं सहसागारेणं सागारिआगारेणं आउट्ठण-पसारेणं गुरुअब्भुट्ठाणेणं पारिट्ठावणिआगारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्ति-आगारेणं वोसिरइ॥

एकं सकृदशनं भोजनमेकं चासनं पुताऽचालनतो यत्र तदेकाशनमेकासनं च प्राकृते द्वयोरपि एगासणमिति रूपं तत्प्रत्याख्याति एकाशनप्रत्याख्यानं करोतीत्यर्थः। अत्राद्यान्त्यौ च द्वावाकारौ च पूर्ववत् ''सागारियागारेणं'' सह आगारेण वर्तते इति सागारः स एव सागारिको गृहस्थः। स एवाकारः प्रत्याख्यानापवादः सागारिकाकारस्तस्मादन्यत्र गृहस्थसमक्षं हि साधूनां भोक्तुं न कल्पते प्रवचनोपघातसंभवात्। अत एवोक्तं ''छक्कायदयावंतो, विसंजओ दुल्लहं कुणइ वोहिं। आहारे नीहारे, दुगुंछिए पिंडगहणे य'' ततश्च भुञ्जानस्य यदा सागारिकः समायाति स यदि चलस्तदा क्षणं प्रतीक्षते। अथ स्थिरस्तदा स्वाध्यायादिव्याघातो मा भूदिति ततः स्थानादन्यत्रोपविश्य भुञ्जानस्यापि न भङ्गःगृहस्थस्य तु येन दृष्टं भोजनं न जीर्यति तदादिः (आउंटणपसारेणं) आउण्टणमाकुञ्चनं जङ्घादेः संकोचनं प्रसारणं च तस्यैवाकुञ्चितस्य ऋजुकरणमाकुञ्चने प्रसारणे चासहिष्णुतया क्रियमाणे किंचिदासनं चलित ततोऽन्यत्र (गुरुअब्भुट्ठाणेणं) गुरोरभ्युत्थानार्हस्याचार्यस्य प्राघूर्णकस्याऽभ्युत्थाने प्रतीत्यासमत्यजनं गुर्वभ्युत्थानं ततोऽन्यत्राऽभ्युत्थानं चावश्यं कर्त्तव्य- त्वात्। भुञ्जानेनापि कर्तव्यमिति न तत्र प्रत्याख्यानभङ्गः। (पारिट्ठावणियागारेणं) साधोरेव यथा परिष्ठापनं सर्वथा त्यजनं प्रयोजनमस्य पारिष्ठापनिकमन्नं तदेव आकारः पारिष्ठापनिकाकारस्ततोऽन्यत्र तत्र हि त्यज्यमाने बहुदोषसंभवादा-श्रियमाणे चागमिकन्यायेन गुणसंभवाच्च तस्य गुर्वाज्ञया पुनर्भुञ्जानस्य तु न भङ्गः ''विहिगहिअं विहिभुत्तं, उद्धरिअं जं भवे असणमाई। तं गुरुणाणुन्नायं, कप्पइ आयंबिलाईणं'' श्रावकस्तु खण्डसूत्रत्वादुच्चरति (वोसिरइत्ति) अनेकासनमनेकाशनाद्याहारं च परिहरति ध० २ अधि०। आव०। आ०चू०। एकाशने पण्डितकीर्त्तिगणिकृतप्रश्नो हीरप्रश्ने यथा प्रातःकृतद्विविधाहारैकाशनस्य श्राद्धस्य निशि द्विविधाहार-प्रत्याख्यानं शुध्यति न वेति अत्रोत्तरं शुध्यतीतिबोध्यम्। ही०।

एगाह-पुं० (एकाह) एकमहः टच्-समा० एकशब्दोत्तरत्वा-न्नाह्नाऽऽदेशः। ''रात्राह्नाऽहाः पुंसि'' इति पुंस्त्वम् एकस्मिन् दिवसे, वाच०।(सेज्जं पुण विहं जाणेज्जा एगाहेण वा दुआहेण वा) आचा० २ श्रु० ३ अ० १ उ०।

एगाहच्च-त्रि० (एकाहत्य) एकैवाहत्याऽऽहननं प्रहारो यत्र। एकप्रहारोपेते, ''एगाहच्चं कूडाहच्चं भासरासिं करेमि'' एकैवाहत्याऽऽहननं प्रहारो यत्र भस्मीकरणे तदेकाहत्यं तद्यथा भवत्येवमिति भ० १५ श० १ उ०। ''एगाहच्चं कूडाहच्चं जीवियाओ ववरोवेइ'' एकाहत्या हननं प्रहारो यत्र जीवितव्यपरोपणे तदेकाहत्थं तद्यथा भवतीति भ० ७ श० ६ उ०। निर०।

एगाहिय-त्रि० (एकाधिक) एकेनाधिके, पं० सं०।

एगाहिक-त्रि० एकेनाह्नाऽ प्ररूढे, एकेनाह्नाऽ प्ररूढा एकाहिका इति ज्यो०। रोगभेदे व ''एकाहिका इति वा'' जी० ३ प्रति०। एकाहिकज्वरश्च एकाहानन्तर एकदिनव्यापको ज्वर इति वैद्यके प्रसिद्धम्। वाच०।

एगाहिगम-त्रि० (एकाधिगम) एकदिनगमागमे, ''एगाहिग-मद्धाणे'' एकाधिगमे एकदिनगमागमे अध्वनीति, व्य० ६ उ०।

एगाहिगारिय-त्रि० (ए (ऐ)काधिकारिक) एकधिकारे भव ऐकाधिकारिकः अध्यात्मादित्वादिकण्। एकाधिकारभवे-प्रायश्चित्तभेदे च। तथाच प्रायश्चित्तमधिकृत्य ''एगाहिगारिगाणवि, नाणत्तं के त्तिया व दिज्जं ति'' एकाधिकारिकानि नाम एकस्मिन् शय्यातरपिण्डादावधिकृते दोषेणालोचेचिते एव यानि शेष-दोषसमुत्थितानि प्रयाश्चित्तानि तान्येकाधिकारिकाणि एकाधिकारभवान्यैकाधिकारिकाणि अध्यात्मादित्वादिकणिति व्युत्पत्तेः। तेषामप्येकाधिकारिकाणां नानात्वं न पुनरेका-धिकारिकतया एकत्वमिति॥ व्य० ४ उ०।

एगिंदिय-पुं० (एकेन्द्रिय) एकमिन्द्रियं करणं स्पर्शनलक्षण-मेकेन्द्रियजातिनामकर्मोदयात्तदावरणक्षयोपशमाच्च येषान्ते एकेन्द्रियाः। पृथिवीकायिकादौ, स्था० ५ ठा०। ध०। प्रज्ञा०। आव०। प्रश्न०। सूत्र०। एकेन्द्रियाणां जीवत्वं यथा।

चउरिंदिआइ जीवा, इच्छंति प्पायसो सव्वे।
एगिंदिएसु न बहू, विप्पडिवन्ना जओ मोहो ॥४२॥

तत्र चतुरिन्द्रियादीन् द्वीन्द्रियावसानान् जीवान् इच्छन्ति प्रायः सर्व्वेऽपि वादिनः एकेन्द्रियेषु तु बहवो विप्रतिपन्ना यतो मोहदिरिति गाथार्थः।

ततः किमित्याह।

जीवत्तं तेसि तओ, जह जुज्जइ संपयं तहा वोच्छं।
सिद्धं पि अ ओहेणं, संखेवेणं विसेसेणं ॥४३॥

जीवत्वं तेषामेकेन्द्रियाणां यतस्तथा युज्यते घटते सांप्रतं तथा वक्ष्ये सिद्धमपि चौघेन सामान्येन संक्षेपेण इति गाथार्थः।

आह नणु तेसि दीसइ, दव्विंदिअमो ण एवमेएसिं।
तं कम्मपरिणईओ, न तहा चउरिंदिआणं च ॥४४॥

आह ननु तेषां बधिरादीनां दृश्यते द्रव्येन्द्रियं निर्वृत्त्युपकरण- लक्षणं नैवमेतेषामेकेन्द्रियाणामत्रोत्तरमाह तद्द्रव्येन्द्रियं कर्म परिणतेः कारणान्न तथा तिष्ठत्येवं चतुरिन्द्रियाणामिव श्रोत्रेन्द्रियमपि नास्त्यन्यथा च ते जीवा इति गाथार्थः॥ पं० व०। (एकेन्द्रियाणां जीवत्वं कायशब्देऽपि) ते च पञ्चविधा यथा ''पुढवी आउक्काए, तेऊ वाऊ वणप्फई चेवए। गिंदियपंचविहा'' पृथिवी--अपकायस्तेजोवायुर्वनस्पतिश्चैवमेकेन्द्रियाः पञ्चविधा एकमिन्द्रियं येषां ते एकेन्द्रियाः। पञ्चविधाः पञ्चप्रकारा इति आव० ४ अ०। जी०। एकेन्द्रियभेदा यथा।

कइविहा णं भंते ! एगिंदिया पण्णत्ता ? गोयमा ! पंचविहा एगिंदिया पण्णत्ता तंजहा पुढविकाइया जाव वणस्सइकाइया पुढविकाइया णं भंते ! कइविहा पण्णत्ता ? गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता तंजहा- सुहुमपुढविकाइया य बादरपुढविकाइया य सुहुमपुढवीकाइया णं भंते ! कइविहा पण्णत्ता ? गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता तंजहा पज्जत्तसुहुमपुढवीकाइया य अपज्जत्तसुहुमपुढवी-काइया य। बादरपुढवीकाइया णं भंते ? कइविहा पण्णत्तां एवं चेव। एवं आउकाइया वि एवं चउक्कएणं भेदेणं भाणियव्वा। जाव वणस्सइकाइयाणं। अपज्जत्त-सुहुमपुढवीकाइया णं भंते ! कइकम्मपगडीओ पण्णत्ताओ गोयमा ! अट्ठ कम्मपगडीओ पण्णत्ताओ तं जहा णाणावरणिज्जं जाव अंतराइयं। पज्जत्तसुहुम-पुढवीकाइया णं भंते ! कइ कम्मपगडीओ पण्णत्ताओ ? गोयमा ! अट्ठ कम्मपगडीओ पण्णत्ताओ तंजहा णाणावरणिज्जं जाव अंतराइयं। अपज्जत्तदादर-पुढवीकाइयाणं भंते ! कइ कम्मपगडीओ पण्णत्ताओ गोयमा ! एवं चेव। पज्जत्तबादरपुढवी-काइया णं भंते ! कइ कम्मपगडीओ पण्णत्ताओ एवं चेव। एवं एएणं कमेणं जाव वादरवणस्सइकाइयाणं अपज्जत्ताणं ति। अपज्जत्तसुहुमपुढवीकाइयाणं कइ कम्मपगडीओ बंधंति ? गोयमा ! सत्तविहबंधगा वि अट्ठविहबंधगा वि सत्तबंधमाणा आउयवज्जाओ सत्त कम्मपगडीओ बधंति, अट्ठ बंधमाणा पडिपुण्णाओ अट्ठकम्मपगडीओ बंधंति। पज्जत्तसुहुमपुढवीका-इयाणं भंते ! कइ कम्मपयडीओ ? एवं चेव एवं सव्वे जाव। पज्जत्तबादर-वणस्सइकाइया णं भंते ! कइ कम्मपगडीओ बधंति एवं चेव। अपज्जत्तसुहुमपुढवीकाइयाणं भंते ! कइ कम्म-पगडीओ वेदेंति ? गोयमा ! चउद्दसकम्मपगडीओ वेदेति तं जहा णाणावरणिज्जं जाव अंतराइयं सोइंदियवज्जं चक्खिदियवज्जं घाणिंदियवज्जं जिब्भिंदियवज्जं इत्थि-वेदवज्जं पुरिसवेदवज्जं। एवं चउक्केणं भेदेणं जाव पज्जत्त-बादरवणस्सइकाइयाणं भंते ! कइ कम्मपगडीओ वेदेंति ? गोयमा ! एवं चेव चउद्दसकम्मपगडीओ वेदेंति। सेवं भंते ! भंते ! त्ति॥ कइविहाणं भंते ! अणंत-रोववण्णगा एगिंदिया पण्णत्ता ? गोयमा ! पंचविहा अणंतरोववण्णगा एगिंदिया पण्णत्ता तं जहा पुढविकाइया जाव वणस्सइकाइया। अणंतरोववण्णगा णं भंते ! पुढविकाइया कइविहा पण्णत्ता ? गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता तंजहा सुहुमपुढवीकाइया य बादरपुढवीकाइया य णवरं दुपदेसिए णं भेदेणं जाव वणस्सइकाइया।

सर्वं पाठसिद्धं नवरम् (एवं दुपएण भेएणंति) अनन्तरोप-पन्नकानामेकेन्द्रियाणां पर्याप्तकापर्याप्तकभेदयोरभावेन चतुर्विधभेदस्या सम्भवादिपदेन भेदेनेत्युक्तम्। तथा॥

अणंतरोववण्णगसुहुमपुढवीकाइया णं भंते ! कइ कम्म-पगडीओ ? गोयमा ! अट्ठ कम्मपगडीओ पण्णत्ता तं जहा णाणावरणिज्जं जाव अंतराइयं अणंतरोववण्णगबादरपुढवीका-इया णं भंते ! कइ कम्मपगडीओ पण्णत्ताओ ? गोयमा ! अट्ठ कम्मपगडीओ पण्णत्ताओ तं जहा णाणावरणिज्जं जाव अंतराइयं एवं चेव एवं जाव अणंतरोववण्णगबादरवणस्सइकाइयाणं ति

अणंतरोववण्णगसुहुमपुढवीकाइयाणं भंते ! कइ कम्म-पगडीओ बंधंति ? गोयमा ! आउयवज्जाओ सत्त कम्म-पगडीओ बंधंति एवं जाव अणंतरोववण्णगबादर वणस्सइकाइयत्ति । अणंतरोववण्णगसुहुमपुढवी-काइयाणं भंते ! कइ कम्मपगडीओ वेदेंति ? गोयमा ! चउद्दस कम्मपगडीओ वेदेंति तंजहा णाणावरणिज्जं तहेव पुरिसवेदवज्जं । एवं अणंतरोववण्ण-गबादरवणस्स-इकाइयंति सेवं भंते ! भंते ! त्ति । कइविहा णं भंते ! परंपरोववण्णगा एगिंदिया पण्णत्ता गोयमा ! पंचविहा परंपरोववण्णगा एगिंदिया पण्णत्ता तंजहा पुढवीकाइया चउक्कभेदो जहा ओहियउद्देसए । परंपरोववण्णग अपज्जत्तसुहु-मपुढवीकाइया णं भंते ! कइ कम्मप्पगडीओ पण्णत्ता एवं एएणं अभिलावेणं जहा ओहियउद्देसए तहेव णिरवसेसं भाणियव्वं जाव चउद्दस वेदेंति सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥ अणंतरोगाढा जहा अणंतरोववण्णगा परंपरोगाढा जहा परंपरोववण्णगा अणंतराहारगा जहा अणंतरोववण्णगा परंपराहारगा जहा परंपरोववण्णगा अणंतरपज्जत्तगा जहा अणंतरोववण्णगा परंपरज्जत्तगा जहा परंपरोववण्णगा चरिमा वि जहा परंपरोववण्णगा तहेव एवं अचरिमावि एवं ए एक्कार स उद्देसगा पढमं एगिंदियसयं संमत्तं सेवं भंते ! भंते ! त्ति जाव विहरइ ॥ कइविहा णं भंते ! कण्हलेस्सा एगिंदिया पण्णत्ता ? गोयमा ! पंचविहा कण्हलेस्सा एगिंदिया पण्णत्ता तंजहा पुढवीकाइया जाव वणस्सइकाइया कंण्हलेस्सा णं भंते ! पुढवीकायिा कइविहा पण्णत्ता ? गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता ! तंजहा सुहुमपुढवीकाइया य बादर-पुढवीकाइया य । कण्हलेस्सा णं भंते ! सुहुमपुढवीकाइया कइविहा पण्णत्ता ? एवं एएणं अभिलावेणं चउक्कभे दो जहेव ओहिए उद्देसए जाव वणस्सइकाइय त्ति । कइविहा णं भंत्ते ! अणंत-रोववण्णगा कण्हलेस्सा एगिंदिया पण्णत्ता ? गोयमा ! पंचविहा अणंतरोववण्णगा कण्हलेस्सा एगिंदिया एवं एएणं अभिलावे णं तहेव दुपदो भेदो जाव वणस्स-इकाइयत्ति । कइविहा णं भंते ! परंपरोववण्णगा कण्हलेस्सा एगिंदिया पण्णत्ता ? गोयमा ! पंचविहपरंपरोववण्णगा कण्हलेस्सा एगिंदिया पण्णत्ता? तंजहा पुढवीकाइया एवं एएणं अभिलावेणं चउक्कभेदो जाव वणस्सइकायइत्ति एवं एएणं अभि-लावेणं जहेव ओहिओ परंपरोववण्णगा उद्देसओ तहेव जाव वेदेंति । एवं एएणं अभिलावेणं जहेब ओहिए एगिंदियसए एक्कारस उद्देसगा भणिया तहेव कण्हलेस्ससते विभाणियव्वा जाव अचरिमचरिमकण्हलेस्सा एगिंदिया जहा कण्हलेस्सेहिं भणियं एवं णीललेस्सेहिं विसयं भाणियव्वं सेवं भंते ! भंते ! त्ति एवं काउलेस्सेहिं वि सयं भाणियव्वं णवरं काउलेस्सेत्ति अभिलावो भाणियव्वो कइविहा णं भंते ! भवसिद्धिया पण्णत्ता ? गोयमा ! पंचविहा भवसिद्धिया एगिंदिया पण्णत्ता तं जहा पुढवीकाइया जाव वणस्सइकाइया भेदो चउक्कओ जाव वणस्सइकाइया वि (भ०) कइविहाणं भंते ! कण्हलेस्सा भवसिद्धिया एगिंदिया पण्णत्ता ? गोयमा ! पंचविहा कण्हलेस्सा भवसिद्धिया एगिंदिया पण्णत्ता ? तं जहा पुढवीकाइया जाव वणस्सइकाइया कण्ह-लेस्सा भवसिद्धिया । पुढवीकाइया णं भंते ! कइविहा पण्ता ? गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता ! तंजहा सुहुमपुढवी-काइया य बादरपुढवीकाइया य कण्हलेस्सभवसिद्धिय-सुहुमपुढवीकाइया णं भंते ! कइविहा पण्णत्ता ? गोयमा! दुविहा पण्णत्ता तंजहा पज्जत्तगा य अपज्जत्तगा य एवं वायरा वि । एवं एएणं अभिलावेणं तहेव चउक्कओ भेदो भाणियव्वो (भ०) कइविहा णं भंते ! अणंतरोववण्णगा कण्हलेस्सा भवसिद्धिया एगिंदिया पण्णत्ता ? गोयमा! पंचविहा अणंतरोववण्णगा जाव वणस्सइकाइया । अणंतरोववण्णा कण्हलेस्सा । भवसिद्धियपुढवीकाइया णं भंते ! कइविहा पण्णत्ता ? गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता तंजहा सुहुमपुढवीकाइया य बादरपुढवीकाइया य एवं दुपओ भेदो जहा कण्हलेस्सभवसिद्धिएहिं सयं भणियं एवं णीललेस्सभव-सिद्धिएहिं वि सयं भाणियव्वं सत्तम-मेगिंदियसयं एवं काउलेस्सभवसिद्धिएहिं वि सयं अट्ठममेगिंदियसयं कइविहा णं भंते ! अभवसिद्धिया एगिंदिया पण्णत्ता ? गोयमा ! पंचविहा अभवसिद्धिया पण्णत्ता तं जहा पुढवीकाइया जाव वणस्सइकाइया एवं जहेव भवसिद्धियसयं भणियं एवं णीललेस्स अभव-सिद्धियसयं णवरं णवउद्देसगा चरिमअचरिमउद्देसगवज्जं सेसं तहेव णवममेगिंदियसयं एवं कण्हलेस्सअभव-सिद्धियएगिंदियसयंपि दसममेगिंदियसयं णीललेस्स अभव-सिद्धियएगिंदियेहिं सएहिं एगदसमेगिंदियसयं काउलेस्स-अभवसिद्धियसयं बारसमेगिंदियसयं एवं चत्तारि अभवसिद्धिया सयाणि णव णव उद्देसगा भवंति । भ० ॥

एकेन्द्रियश्रेणिशतकेषु प्रथमशतके ।

कइविहा णं भंते ! एगिंदिया पण्णत्ता गोयमा ! पंचविहा एगिंदिया पण्णत्ता तंजहा पुढवीकाइया जाव वणस्सइ-काइया एवमेते वि चउक्कएणं भेदेणं भाणियव्वा जाव वणस्सइकाइया (भ०) एगिंदिया चउव्विहा पण्णत्ता तं जहा अत्थेगइया समाउया समोववण्णगा जाव अत्थे-गइया विसमाउया विसमोववण्ण-गा।कइविहा णं भंते ! अणंतरोववण्णगा एगिंदिया पण्णत्ता गोयमा ! पंचविहा अणंतरोववण्णगा एगिंदिया पण्णत्ता तं जहा-पुढविकाइया

दुपदो भेदो जहा एगिंदियसएसु जाव वादरवणस्सइकाइया भ०॥

(दुपदो भेदोत्ति) अनन्तरोपपन्नैकेन्द्रियाधिकारादनन्तरोपपन्नानां च पर्याप्तकत्वाभावादपर्याप्तकानां सतां सूक्ष्मा बादराश्चेति द्विपदो भेदः भ०।

अणंतरोववण्णगा एगिंदिया दुविहा पण्णत्ता तं जहा अत्थेगइया समुउया समोववण्णगा अत्थेगइया समुउया विसमोववण्णगा। कइविहा णं भंते ! परंपरोववण्णगा एगिंदिया पण्णत्ता गोयमा ! पंचविहा परंपरोववण्णगा एगिंदिया पण्णत्ता तंजहा-पुढविकाइया भेदो चउक्कओ जाव वणस्सइकाइयत्ति (भ०) एवं सेसा वि अट्ठ उद्देसगा जाव अचरिमो त्ति (पढममेगिं०) णवरं अणंतरा अणंतरसरिसा परंपरा परंपरसरिसा चरिमाया अचरिमाया एवं चेव एवं एते एक्कारस उद्देसगा (भ०) कइविहा णं भंते ! कण्हलेस्सा एगिंदिया पण्णत्ता गोयमा ! पंचविहा कण्हलेस्सा एगिंदिया पण्णत्ता भेदो चउक्कओ जहा कण्हलेस्सा एगिंदियसए जाव वणस्सइकाइय त्ति। एवं एएणं अभिलावेणं जहेव पढमं सेढिसयं तहेव एक्कारस उद्देसगा भाणियव्वा। (बितियमेगिंदि०) एवं णीललेस्सेहिं वि (ततियं सयं ३) काउलेस्सेहिं वि सयं एवं चेव (चउत्थं सयं ४) भवसिद्धियएगिंदिएहिं सयं (पंचम सयं ५) कइविहा णं भंते ! कण्हलेस्सा भव सिद्धिया एगिंदिया एवं जहवे ओहिय उद्देसओ (छट्ठं सयं ६) कइविहाणं भंते ! अणंतरोववण्णगा कण्हलेस्सा भवसिद्धिया एगिंदिया पण्णत्ता ? जहेव अणंतरोववण्णगा उद्देसओ ओहिओ तहेव। कइविहा णं भंते ! परंपरोववण्णगभवसिद्धिया एगिंदिया पण्णत्ता गोयमा ! पंचविहा परंपरोववण्णगकण्हलेस्सभवसिद्धियएगिंदिया पण्णत्ता ओहिओ भेदो चउक्कओ जाव वणस्सइकाइय त्ति। णीललेस्सभवसिद्धिय-एगिंदिएसु (सत्तमसयं सम्मत्तं ७) एवं काउलेस्सभवसिद्धिय-एगिंदिएहिं वि सयं (अट्ठमं सयं ८) जहा भवसिद्धिएहिं चत्तारि सयाणि भणियाणि एवं अभवसिद्धिएहिं वि चत्तारि सयाणि भाणियव्वाणि णवरं चरिमअचरिमवज्जा णवउद्देसगा भाणियव्वा सेसं तं चेव एवं एयाइं बारसएगिंदियसेढीसयाइं भाणियव्वाइं भ० ३४ श० १ उ०।

एगिंदियरयण-न० (एकेन्द्रियरत्न) पृथिवीरूपे रत्ने, ।

एगमेगस्स णं रन्नो चाउरंतचक्कवट्टिस्स सत्त एगेंदिय-रयणा पण्णत्ता तं जहा चक्करयणे छत्तरयणे चम्मरयणे दंडरयणे असिरयणे मणिरयणे काकणिरयणे।

रत्नं निगद्यते तत् जातौ जातौ यदुत्कृष्टमिति वचनात् चक्रादि-जातिषु यानि वीर्यत उत्कृष्टानि तानि चक्ररत्नादीनि मन्तव्यानि। तत्र चक्रादीनि सप्तैकेन्द्रियाणि पृथिवीरूपाणि तेषाञ्च प्रमाणं ''चक्कं छत्तं दंडो, तिण्णि वि एयाइं वामतुल्लाइं। चम्मं दुहत्थदीहं, वत्तीसं अंगुलाइं असी ॥१॥ चउरंगुलो मणी पुण, तस्सद्धंचेव होइ वित्थिण्णो। चउरंगुलप्पमाणा, सुवण्णवरकागणी नेया'' ॥२॥ स्था० ७ ठा०।

एगिंदियसंसारसमावण्ण-पुं० (एकेन्द्रियसंसारसमापन्न) एकं-स्पर्शनलक्षणमिन्द्रियं येषान्ते एकेन्द्रियाः पृथिव्यम्बुतेजोवायु-वनस्पतयस्ते च ते संसारसमापन्नजीवाश्च एकेन्द्रियसंसार-समापन्नजीवाः संसारसमापन्नजीवविशेषे,

ते च पञ्चविधास्तद्यथा

से किं तं एगिंदियसंसारसमावण्णजीवा पण्णत्ता ? एगिंदियसंसारसमावण्णजीवपण्णवणा पंचविहा पण्णत्ता तंजहा पुढवीकाइया आउकाइया तेउकाइया वाउकाइया वणस्सइकाइया।

अथ का सा एकेन्द्रियसंसारसमापन्नजीवप्रज्ञाप ना ? सूरिराह एकेन्द्रियसंसारसमापन्नजीवप्रज्ञापना पञ्चविधा प्रज्ञप्ता एके-न्द्रियाणां पञ्चविधत्वात्॥ प्रज्ञा० १ पद।

एगूणचत्तालिस-स्त्री० (एकोनचत्वारिंशत्) एकेनोना चत्वारिंशत् एकोनचत्वारिंशत्संख्यायाम्, तत्संख्यान्विते च। एवं एकोनविंश-त्यादयोऽपि एकोनतत्संख्यासंख्येययोः स्त्री०। वाच०। ''नमिस्स णं अरहओ एगूणचत्तालीसं अहोहियसया होत्था''। सम० ३९ स०।

एगूणणउइ-स्त्री० (एकोननवति) एकोननवतिसंख्यायाम्, तत्संख्या-न्विते, च। वाच०। ''एगूणणउएहिं अद्धमासेहिं'' सम० ८९ स०।

एगूणतीस-स्त्री० (एकोनत्रिंशत्) एकोनत्रिंशत्संख्यायाम्, तत्संख्यान्विते च। वाच०। ''एगूणतीसविहे पावसुयपसंगेणं पण्णत्ते'' सम० २८ स०।

एगूणपन्न-स्त्री० (एकोनपञ्चाशत्) एकोनपञ्चाशत्संख्यायाम्, तत्संख्यान्विते च। वाच०। ''एगूणपन्नराइंदिएहिं'' सम० ४९ स०। स्था०।

एगूणवीस (इ)-स्त्री० (एकोनविंशति) एकोनविंशतिसंख्यायाम्, तत्संख्यान्विते, च। वाच०। ''एगूणवीसणायज्झयणा पण्णत्ता'' सम० १९ स०। ''गूणवीसइमे पव्वे'' स्था० ६ ठा०।

एगूणवीसइमपव्व-न० (एकोनविंशतितमपर्वन्) फाल्गुनकृष्ण-पक्षे, स्था० ६ ठा०। (तस्य पर्वत्वमवमरात्रत्वे चावडरात्रशब्दे)

एगूणसट्ठि-स्त्री० (एकोनषष्टि) एकोनषष्टिसंख्यायाम्, तत्सं-ख्यान्विते, च वाच०। ''एगूणसट्ठिराइंदियाइं'' सम० ५८ स०।

एगूणसत्तरि-स्त्री० (एकोनसप्तति) एकोनसप्ततिसंख्यायाम्, तत्संख्यान्विते च। वाच०। ''एगूणसत्तरिं वासा वासहरपव्वया पण्णत्ता'' सम० ६८ स०।

एगूणासीइ-स्त्री० (एकोनाशीति) एकोनाशीतिसंख्यायाम् तत्-संख्यान्विते च। वाच०। ''एगूणासीइं जोयणसहस्साहिं'' सम०। ७९ स०।

एगोरुय-पुं० (एकोरुक) अष्टादशानामन्तरद्वीपानाम्प्रथमेऽन्तरद्वीपे, तत्स्थे मनुष्ये च। इह एकोरुकादिनामानो द्वीपाः परन्तात्स्थ्यात तद्व्यपदेश इति न्यायान्मनुष्या अप्येकोरुकादय उक्ताः। यथा पञ्चालदेशनिवासिनः पुरुषाः पञ्चाला इति। जी० ३ प्रति०।

एगोरुयदीव-पुं० (एकोरुकद्वीप) अष्टादशान्तरद्वीपानाम्प्रथमे स्वनामख्याते ऽन्तरद्वीपे, जी० २ प्रति० (तद्वक्तव्यता विस्तरेणा-ऽन्तरदीव शब्दे)

एगोवणीय-न० (एकोपनीत) एकेन समीपानीते, ''एगस्स भुंजमाणस्स, उवणीयं तु गेण्हइ। न गेह्ण दुगमादीणं, अवियत्तं तु मा भवे'' ॥ एकस्य भुञ्जानस्य उपनीतं भगवान् गृह्णाति न द्विकादीनां द्वयोस्त्रयाणां पञ्चानां वा उपनीतं न गृह्णाति कस्मादिति चेत् मा भूदप्रीतिहेतोः व्य० १० उ०।

एन(य)-पुं०(एज) एजयतीत्येजः वायौ, ''पहुएजस्स दुगुंछणाए (दुगुंछणएत्ति) जुगुप्सा प्रभवतीति प्रभुः समर्थः योन्यो वा कस्य वस्तुनः समर्थ इति एजृ कम्पने एजयतीत्येजो वायुः कम्पन-शीलत्वात्तस्यैजस्य जुगुप्सा निन्दा तदा सेवनपरिहारो निवृत्ति- रिति यावत् तस्यां तद्विषये प्रभुर्भवति वायुकायसमारम्भनिवृत्तौ सक्तो भवतीति यावत्। आचा० १ श्रु० १ अ०।

एज (यं) त-त्रि० (एजत्) कम्पमाने, स्था० ७ ठा०।

एज (यं) णं-न० (एजन) एजृ कम्पने, ल्युट् कम्पने, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ''निरेयणं ज्झाणं'' निष्प्रकम्प्यं ध्यानमिति आव० ४ अ०। चलने च। यदेजयति यन्नेजयति आ० म० द्वि०। विशे०। तथा च द्रव्यक्रियामधिकृत्य सूत्रकृताङ्गे ''दव्वेकिरिएयणया'' तत्र द्रव्यविषये या क्रिया एजनता एजृ कम्पने जीवस्याजीवस्य वा कम्पनरूपा चलनस्वभावा सा द्रव्यक्रियेति। सूत्र० २ श्रु० २ अ०।

एज(य)णा-स्त्री० (एजना) कम्पने, चलने च सूत्र० २ श्रु० २ अ०। तस्या भेदा यथा।

कइविहा णं भंते ! एयणा पण्णत्ता ? गोयमा ! पंचविहा एयणा पण्णत्ता,तं जहा दव्वेयणा खेत्तेयणा कालेयणा भवेयणा भावेयणा ॥

''योऽयं निषेधः सोऽन्यत्रैकस्मात्परप्रयोगादेजनादिकारणेषु मध्ये परप्रयोगेणैवैकेन शैलेश्यामेजनादि भवति न कारणा-ऽन्तरेणेति भावः (इत्युपक्रम्याह) (दव्वेयणत्ति) द्रव्याणां नारकादिजीव-सम्यक्त्वपुद्गलद्रव्याणां नारकादिजीवद्रव्याणां वैजना चलना द्रव्यैजना (खेत्तेयणत्ति) क्षेत्रे नारकादिक्षेत्रे वर्तमानानामेजना क्षेत्रैजना (कालेयणत्ति) काले नारकादिकाले वर्तमानानामेजना कालैजना (भवेयणत्ति) भवे नाराकादिभवे वर्तमानानामेजना भवैजना (भावेयणत्ति) भावे औदयिकादिरूपे वर्तमानानां नारकादीनां तद्गतपुद्गलद्रव्याणां वैजना भावैजना ॥

दव्वेयणाणं भंते ! कइविहा पण्णत्ता ? गोयमा ! चउव्वि हा पण्णत्ता तं जहा णेरइयदव्वेयणा तिरिक्खम-पुस्सदेवदव्वेयणा से केणट्ठेणं भंते ! एवं बुचइ णेरइय-दव्वेयणा गोयमा ! जेणं णेरइया णेरइयदव्वे वट्टिंसु वा वट्टंति वा वट्टिस्संति वा तेणं तत्थ णेरइया णेरइयदव्वे वट्टमाणा णेरइयदव्वेयणं एयंसु वा एयंति वा एयस्संति वा से तेणट्ठेणं जाव दव्वेयणा। से केणट्ठेणं भंते ! एवं बुचइ तिरिक्खजोणिय एवं चेव तिरिक्ख-जोणियदव्वेयणं माणियव्वं सेसं तं चेव। एवं जाव देवदव्वेयणा ॥

(नेरइयदव्वे वट्टिंसुत्ति) नैरयिकलक्षणं यज्जीवद्रव्यपर्याययोः कथञ्चिदभेदात् नारकत्वमेवेत्यर्थः ॥ तत्र (वट्टिंसुत्ति) वृत्तवन्त (नेरइयदव्वेयणंति) नैरयिकजीवसम्यकत्वपुद्गल द्रव्याणां नैरयिकजीव-द्रव्याणां वैजना नैरयिकद्रव्यैजना ताम् ॥ (एयंसुत्ति) कृतवन्तोऽनु-भूतवन्तो वेत्यर्थः ॥

खेत्तेयणा णं भंते ! कइविहा पण्णत्ता ? गोयमा ! चउव्विहा पण्णत्ता तं जहा णेरइयखेत्तेयणा जाव देवखेत्तेयणा। से केणट्ठे णं भंते ! एवं बुचइ णेरइय-खेत्तेयणा ? एवं चेव। णेरइयखेत्तेयणा भाणियव्वा एवं जावदेवखेत्तेयणा एवं कालेयणा वि एवं भावेयणा वि। एवं जाव देवभावेयणा वि। भ० १७ श० ३ उ०।

दण्डकक्रमेण जीवानां सैजत्वनिरैजत्वं यथा

जीवाणं भंते ! किं सेया णिरेया ? गोयमा ! जीवा सेया वि णिरेया वि। से केणट्ठेणं भंते ! एवं बुचइ जीवा सेया वि णिरेया वि ? गोयमा ! जीवा दुविहा पण्णत्ता तं जहा संसारसमावण्णगा **य असंसारसमावण्णगाय तत्थ णं जेते असंसारसमावण्णगा तेणं सिद्धा। सिद्धाणं दुविहा पण्णत्ता तं जहा अणंतरसिद्धा य परंपरसिद्धा य। तत्थ णं जेते परंपरसिद्धा तेणं णिरेया तत्थ णं जेते अणंतरसिद्धा तेणं सेया तेणं भंते ! किं देसेया सव्वेया ? गोयमा ! णो देसेया सव्वेया तत्थ णं जेते संसारसमावण्णगा ते दुविहा पण्णत्ता तं जहा सेलेसीपडिवण्णगा स असेलेसी-पडिवण्णगा य। तत्थ णं जे ते सेलेसीपडिवण्णगा तेणं णिरेया। तत्थ णं जे ते असेलेसीपडिवण्णगा ते णं सेया। ते णं भंते ! किं दे सेया सव्वेया ? गोयमा ! देसेया वि सव्वेया वि। से तेणट्ठेणं जाव णेरइया वि।**

(जीवाणमित्यादि सेयत्ति) सहैजेन चलनेन सैजाः (निरेयत्ति) निश्चलनाः (अणंतरसिद्धायत्ति) न विद्यतेऽन्तरं व्यवधानं सिद्धत्व-स्य येषां तेऽनन्तरास्ते च ते सिद्धाश्चेत्यनन्तरसिद्धा ये सिद्धत्वस्य प्रथमसमये वर्त्तन्ते ते च सैजाः सिद्धिगमनसमयस्य सिद्धत्व-प्राप्तिसमयस्य चैकत्वादिति। परम्परसिद्धास्तु सिद्धत्वस्य द्व्यादिसमयवृत्तयः (देसेयत्ति) देशैजा देशतश्चलाः (सव्वेयत्ति) सर्वैजाः सर्वतश्चलाः (नोदेसेयासव्वेयत्ति) सिद्धानां सर्व्वात्माना सिद्धौ गमनात्सर्व्वैजत्वमेव। ''तत्थ णं जे ते सेलेसीपडिवण्णगा तेणं निरेयत्ति''। निरुद्धयोगत्वेन स्वभावचलत्वात्तेषाम्। (देसेया वि सव्वेयावित्ति) ईलिकागत्योत्पत्ति-स्थानं गच्छन्तो देशैजाः प्राक्तनश रीरस्थस्यदेशस्य विवक्षया निश्चलत्वात्। गेन्दुकगत्या तु गच्छन्तः सर्वैजाः सर्वात्मना तेषां गमनप्रवृत्तत्वादिति (जीवः सदा एजते न वा तत्र किं किं बन्धक इति इरीया वहिया शब्देऽस्माभिरदर्शि)

णेरइयाणं भंते ! किं देसेया सव्वेया ? गोयमा ! देसेया वि सव्वेया वि। से केणट्ठे णं जाव सव्वेया वि ? गोयमा ! णेरइया दुविहा पण्णत्ता तं जहा विग्ग-हगइसमावण्णगा य अविग्गहगइसमावण्णगा य तत्थ णं जे ते विग्गहगइ समावण्णगा ते णं सव्वेया। तत्थ णं जे ते अविग्गह-गइसमावण्णगा ते णं देसेया से तेणट्ठेणं जाव सव्वेया वि। एवं जाव वेमाणिया ॥

(विग्गहगइसमावन्नगत्ति) विग्रहगतिसमापन्नका ये मृत्वा विग्रहगत्योत्पत्तिस्थानं गच्छन्ति। (अविग्गहगइसमावण्णगत्ति) अविग्रहगतिसमापन्नका विग्रहगतिनिषेधादृजुगतिका अवस्थिताश्च तत्र विग्रहगतिसमापन्नागेन्दुकगत्या गच्छन्तीतिकृत्वा सर्वैजाः विग्रहगतिसमापन्न गेन्दुकगत्या गच्छन्तीतिकृत्वा सर्वैजाः अविग्रहगतिसमापन्नकास्त्ववस्थिता एवेह विवक्षिता इति सम्भाव्यते ते च देहस्था एव मारणान्तिकसमुद्यता देशेने-लिकागत्योत्पत्तिक्षेत्रं स्पृशन्तीति देशैजाः। स्वक्षेत्रावस्थिता वा हस्तादिदेशानामेजनादिति॥

परमाणुपुद्गलानां सैजत्वनिरेजत्वादि यथा।

परमाणुपोग्गलेणं भंते ! किं सेए णिरेए ? गोयमा ! सिय सेए सिय णिरेए। एवं जाव अणंतपदेसिए। परमाणुपोग्गलाणं भंते ! किं सेया णिरेया ? गोयमा ! सेया वि णिरेया वि एवं जाव अणंतपदेसिया॥

(सएत्ति) चलः (निरेएत्ति) निश्चलः।

अथ परमाण्वादीनेव सैजत्वादिना निरूपयन्नाह॥

परमाणुपोग्गलेणं भंते ! किं देसेए सव्वेए णिरेए ? गोयमा ! णो देसेए सिय सव्वेण सिय णिरेए दुपदेसिएणं भंते ! खंधे पुच्छा ? गोयमा ! सिय देसेए सिय सव्वेए सिय णिरेए एवं जाव अणंतपदेसिए। परमाणुपोग्गला णं भंते ! किं देसेया सव्वेया णिरेया ? गोयमा ! णो देसेया सव्वेया वि णिरेया वि। दुपदेसिया णं भंते ! खंधा पुच्छा ? गोयमा ! देसेया वि सव्वेया वि णिरेया वि एवं जाव अणंतपदेसिया॥ भ० २५ श० ४ उ० २५।

एज्जण-न०(एजण) आगमने, (एज्जणत्ति) सिंहस्य कूपसमीपागमनमिति। व्या० ३ उ०।

ए(इ)ज्जमाण-त्रि० (एज्यमान) कम्प्यमाने, ''मंदायं मंदायं एइज्जमाणाणं'' एज्यमाना विकम्पनवशादेव प्रकर्षत इतस्ततो मनाक् चलनेन प्रलम्बमानानीति'' आ० म० द्वि०। एज्यमानानि कम्पमानानीति'' - जी० ३ प्रति०।

एज्झमाण-त्रि० (एजमान) आगच्छति गच्छति च। ''महावायं वा एज्झमाणं पासति'' महावातं वा (एज्झमाणमिति) आयान्तं गच्छन्तं वा पश्यतीति। राज०।

एण-पुं०(एण)स्त्री०इ ण तस्य नेत्त्वस्। कृष्णवर्णे मृगे, स्त्रियांङीष्। एणा हरिणा कमला मया कुरङ्गा य सारङ्गाः। को०।

एणस-न०(एनस्) गच्छति प्रायश्चित्तेन क्षमापणेन वा आगसि अर्थे इण् असुन् नुट् च। अपराधे, ईश्वराज्ञालङ्घनरूपनिषिद्धाचरणापराधजन्यत्वात् पापे च। वाच०।

एणग-पुं० (एणक) स्वार्थे कन् कृष्णवर्णे मृगे, शब्दर०।

एणि(णे)ज्ज-त्रि० (ऐणेय) एण्या इदम् ढक्। कृष्णमृगच र्मादौ, ''ऐणेयरौरवाजानि अजिनानि'' गोभिरतिबन्धभेदे, हेम०। 'मृगमांसे एणिज्जरसए य'' विपा० ८ अ०।

एणि(णे)ज्जय-पुं० (ऐणेयक) श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य सकाशं प्रव्रजिते राजर्षिभेदे, तथाच स्थानाङ्गे भगवतो महावीर-सकाशे प्रव्रजितानष्टौ राज्ञोऽधिकृत्य 'एणिज्जए य रायरिसी'' ऐणेयको गोत्रतः स च केतक्यर्द्धजनपदश्चेताम्बीनगरीराजस्य प्रदेशिनाम्नः श्रमणोपासकस्य निजकः कश्चिद्राजर्षिस्तथा सोऽयमामलकल्पनागर्याः स्वामी यस्यां हि सूर्यकाभो देवः-सौधर्म्माद्देवलोकाद्भगवतो महावीरस्य वन्दनार्थमवततार नाट्यविधिञ्च उपदर्शयामास यत्र च प्रदेशिराजचरितं भगवता प्रत्यापादीति॥ स्था० ८ ठा०। एणेज्जगस्स सरीरगअं अणुप्प-विसामि इति'' भ० १५ श०१ उ०।

एणी-स्त्री० (एणी) हरिण्याम्, प्रश्न० ४ द्वा० ''एणीकुरुविंद-वत्तवट्टाणुपुव्वजंघे''एणी हरिणी तस्या इव कुरुविन्दस्तृणविशेषः वर्त्रश्चसूत्रबलनकंते इव च वृत्ते वर्तुले आनुपूर्व्येण तनुके चे ति गम्यं जङ्घे प्रसृते यस्य स तथा। औप०। तं०। जी०। स्नायौ च ''एणीकुरुविंदावत्तवट्टाणुपुव्वजंघे'' अन्ये त्वाहुः एण्यः स्नायवः कुरुविन्दा कुटिलकाभिधानो रोगविशेषः ताभिस्त्यक्ते शेषं तथैवेति। औप०।

एणीपएणीणिम्मिय-त्रि० (एणीप्रैणीनिर्मित) एणीप्रैणीचर्म-निर्मिते वस्त्रादौ, ''एणीपएणीणिम्मिय'' एणी हरिणी प्रैणी च तद्विशेष एव तच्चर्मनिर्मितानि यानि वस्त्राणि तानि एणीप्रैणी-निर्मितान्युच्यन्ते श्रूयन्ते च निशीथे कालमृगाणि चेत्यादि-भिर्वचनैर्मृगचर्मवस्त्राणीति। प्रश्न० ४ द्वा०।

एण्हि (एताहे) इदानीम्- अव्य०''**एण्हिं एत्ताहे इदानीमः**'' ८।२।१३४। इति प्राकृत सूत्रेणेदानीम एतावादेशौ वा भवतः प्रा० अधुनेत्यर्थे, ''एण्हि पि आनघाये'' इदानीमधुनापीति'' पंचा ६ विव०।

एत (य)-पुं० (एत) इण तन्। कुर्व्वरवर्णे। तद्वति त्रि०। आ-इण्। कर्त्तरि क्त। आगते, त्रि०। वाच०।

एत (य) द्-त्रि०(एतद्)अदादि-तुक् च। बुद्धिस्थे समीपवर्तिनि, ''इदमस्तु सन्निकृष्टं समीपवर्ति चैतदो रूपम्। अदसस्तु विप्रकृष्टं तदतिपरोक्षे विजानीयात् इत्युक्ते'' समीपवर्तिबुद्धिस्थोपलक्षितधर्म्मविच्छिन्ने एतदो वृत्तिः। क्रियाविशेषणत्वेऽस्य क्लीवता। **अन्त्यव्यञ्जनस्य ८।१।११** इति प्राकृतसूत्रेणान्त्य व्यञ्जनस्य लुक् 'एयगुणाः' एतद् गुणाः। **'एयं खु हसइ' सौ वैतत्तदः ८।३।३** इति प्राकृतसूत्रेणैतदोऽकारात्परस्य स्यादेः सेर्वाऽः। एसो एस। **वैसेणमिणमो सिना ८।३।८५** इति प्राकृतसूत्रेण सिना सह एस इणम् इणमो इत्यादेशा वा भवन्ति। ''सव्वस्स वि एस गई'' सव्वाण वि पत्थिवाण एस मही। एससहावो च्चिअ ससहरस्स एस सिरं इणं इणमो। पक्षे एअं एसा एसो। **तदश्च तः सोऽ क्लीवे ८।३।८६** इति प्राकृत सूत्रेण तकारस्य सौ परेऽक्लीवे सो भवति। सो पुरिसो सा महिला एसो पिओ। एसा मुद्धा सावित्येव एए धन्ना ताए आओ महिलाओ अक्लीव इति किम् तं एअं धणं। टा विभक्तौ **''इदकिमेतत्किंयत्तद्भ्यष्टो डिणा'' ८।३।६९** इति प्राकृत सूत्रेण टास्थाने डित् इणादेशः। एदिणा एदेण पञ्चम्येकवचने डसि **''वैतत्तदो ङसेस्तोत्ताहे'' ८।३।८२** इति प्राकृतसूत्रेणैतदः परस्य ङसेः स्थाने त्तो त्ताहे इत्येतावादेशौ वा। **त्थे च तस्य लुक् ८।३।८३** इति प्राकृतसूत्रेण त्थे परे त्तो त्ताहे इत्येतयोश्च परयोरेतदो लुक् एत्तो एत्ताहे पक्षे एआओ एआउ एहाहिन्तो एआ। ङसिआमि च **''वेदंतदेतदो ङसाम्भ्यां सेसिमौ'' ८।३।८१** इति सूत्रेण ङस आम् इत्येताभ्यां सह यथासंख्यमेतदः से सिम् इत्यादेशौ वा। से अहिअं। एतस्या हितमित्यर्थः। सिं गुणाः सिं शीलम् एतेषां गुणाः शीलं वेत्यर्थः। पक्षे एअस्स एएसिं एआणं। ङौ

''एअस्सिं **''आमो डे :सिंः'' ८।३।६१** इति प्राकृतसूत्रेणामो डेः सिमित्यादेशः एएसिं। **एरदीतौ म्मौ वा ८।३।८४** इति प्राकृतसूत्रेणैतद एकारस्य ङ्यादेशे म्मौ परे अदीतौ वा भवत। अयम्मि इअम्मि एयम्मि। प्रा० स्त्रियां टाप् एआहिं विज्ञाहिं। आ० क०। 'एतं तुलमण्णेसिं' एतां तुला यथोक्तलक्ष णामन्वेषयेत् गवेषयेत्॥ आचा०१ श्रु० १० ७ उ०। वाच०।

एत (य)कम्म-न० (एतत्कर्मन्)एतद् व्यापारे। विपा० १ अ०।

***एतत्काम्य**-त्रि० एतदेव काम्यं कमनीयं यस्य स तथा। एतत्कमनीये, ''एतकम्मे एयपहाणे एयविज्जे एयसमायारे, ''एयप्पगारं भासं सावज्जं णो भासेज्जा'' एवं प्रकारामसावद्यां भाषामिति एव- मादिकां सावद्यां भाषान्नो भाषते इति च वृत्तिः। आचा०। २ श्रु० ४ अ० २ उ०।

एत (य) प्पहाण-त्रि० (एतत्प्रधान) एतन्निष्ठे, विपा० १ अ०।

एत (य) समायार-त्रि० (एतत्समाचार) एतज्जीवितकल्पे, विपा० १ अ०।

एता (या) रि (स) एता (या) रिस-त्रि० एता (या) रिच्छ एतादृश् एतादृश एतादृक्ष) एतदि दृश्०-क्विप्-टक् सक्-आदन्तादेशः। दृशेः **क्विप् टकसक् : ८।१।१४२** इति प्राकृतसूत्रेण क्विप् टक् सक् इत्येतदन्तस्य दृशेर्धातोरिसादेशः। प्रा०। एतभुल्यदर्शने, वाच०। एयारिसे महादोसे'' एता-इशाननन्तरोदितरूपान् महादोषान् ज्ञात्वेति। दश० ४ अ०। टगन्तस्य स्त्रियां ङीष। वाच०। ''एयारिसीए इड्ढीए'' एतादृश्या समीपतरवर्तिन्या ऋद्धयेति॥ उत्त० २२ अ०।

एता (या) रूव-त्रि० (एतद्रूप) अकृत्रिमोपलभ्यमानस्वरूपे, ''इमेया रूवे उराला माणुस्सरिद्धी'' इयं प्रत्यक्षा एतद्रूपा उपलभ्यमान-स्वरूपैव अकृत्रिमेत्यर्थः। विपा० १० अ०। ''एयारूवा दिव्वा देवड्ढी'' इयं प्रत्यक्षासन्ना एतदेव रूपं यस्या न कालान्तरादावपि रूपान्तरभाग् सा तथेति स्या० ४ ठा०।

एता (या) वंति- देशी० एतावन्त इत्यर्थे, ''एआवंति सव्वावति लोगंसि'' एतावन्तीत्यादि ''एआवंती सव्वावंतीति'' एतौ शब्दौ मागधदेशीभाषा-प्रसिद्ध्या एतावन्तः सर्वेऽपीत्येतत्पर्यायाः। आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ०।

एतोवम-त्रि० (एतदुपम) एषाऽनन्तरोक्तो पमा यस्य स एतदुपमः एतत्सदृशे, ''एतोवमे सवणे नायपुत्ते'' सूत्र० १ श्रु० ६ अ०।

एत्तहे-अव्य० (इत्तस्) इदम्-तसिल्-इशादेशः। **''पश्चादेवमेवेदानीं प्रत्युतेतसः पच्छइ एम्बई जि एम्बहिं पच्चुलिउ एतहे, ८।२।४२०।** इति प्राकृतसूत्रेणापभ्रंशे इतस् एत्तहे इत्यादेशः। प्रा०अस्मादित्यर्थे, वाच०।

***अत्र**-अव्य० **''इदम एतद् त्रल्-त्रस्य डेत्तहे'' ८।४।४३६।** इति प्राकृतसूत्रेणप्रत्ययस्य डेत्तहे इत्यादेशः। प्रा० अस्मिन्नित्यर्थे, एतस्मिन्नित्यर्थे, च वाच०।

एतिअ-त्रि०(एतिल्ल)(एद्दह इयत्)इदम्परिमाणमस्य इदम्-वतुप्। **इदं किमश्च डेत्तिअ डेत्तिल डेद्दहाः ८।२।१५७।** इति प्राकृतसूत्रेण इदमशब्दात्परस्यातोर्मावतो वा मित् एत्तिअ एतिल्ल एद्दह इत्यादेशा एतल्लुक् च। प्रा०। एतावदर्थे, स्त्रियां ङीष्। वाच०।

एत्तिअ-त्रि०(एत्तिल-एद्दहअ-एतावत्) **इदं किमश्चडेत्तिअ डेत्तिल डेद्दहाः। ८।२।१५७** इति प्राकृतसूत्रेणैतच्छब्दात्परस्या-तोर्डावतोर्वा एत्तिअ एत्तिल्ल एद्दह इत्यादेशा एतल्लुक् च। **यत्तदेत्तदोऽतोरिति अएतल्लुक् च ८।२।१५६** इति प्राकृतसूत्रे-णैतच्छब्दात्परस्य डावदेरतोः परिमाणार्थस्य इतिअ इत्यादेशः प्रा० एतत्परिमाणे, स्त्रियां ङीष् वाच०।

एत्तो-अव्य० (इतः) अस्मादित्यर्थे, - ''एत्तो परिग्गहो'' इतश्चतुर्थी-श्रवणद्वारादनन्तरमिति, प्रश्न० ५ द्वा०।

एत्थ-अव्य० (अत्र) **इदम्-त्रल्-एच्छय्यादौ ८।१।५७** इति प्राकृतसूत्रेणैकारादेशः। प्रा०। अस्मिन्नित्यर्थे, वाच०। ''के ए त्थखत्ता उवजोइया वा'' केचिदत्रास्मिन् यज्ञपाटके इति। उत्त०। १२ अ०।''एत्थ णं माणिभद्दे णामं चेइए होत्था'' अत्रास्मिन्निति सू० प्रा० १ पाहु०।

एत्थ-अव्य०(एतत्)दिग्देशकालवृत्तेरेतच्छब्दात् प्रथमापञ्चमी-सप्तम्यर्थे त्रल्। **त्थे च तस्य लुक् ८।३।८३।** इति प्राकृत सूत्रेणै तदो लुक्। प्रा०। प्रथमाद्यर्थयुक्तैतच्छब्दार्थदिगादौ, वाच०।

एत्थु-अव्य० (अत्र) **इदम् एतद् त्रल्-एत्थुकुत्रात्रे ८।४।४०५** इति प्राकृतसूत्रेणापभ्रंसेऽत्र इत्येतस्य अशब्दस्य डित् एत्थु इत्यादेश। प्रा०। अस्मिन्नित्यर्थे, एतिस्मिन्नित्यर्थे च वाच०।

एत्तुल्ल-त्रि० (इयान्) एतत्परिमाणे, वाच०। **अतो डेत्तुल्ल ८।४।४३५** इति प्राकृतसूत्रेणापभ्रंसे यदेतद्भ्यः परस्यातो प्रत्ययस्य डेत्तुल्ल इत्यादेशः। प्रा०।

एमेव-अव्य०(एवमेव)**यावत्तावज्जीवितावर्तमानावटप्रावारक-देवकुलैवमेवमेव वः ८।१।२७१।** इति प्राकृतसूत्रेणान्तर्वर्त्तमानस्य वकारस्य लुक्। प्रा०। एवम्प्रकारेणैवेत्यर्थे, वाच०।

एम्ब-अव्य० (एवम्) **एवं परं समं ध्रुवं मा मनाक् एम्ब परसमाऽणु ध्रुवु मं मणाउ ८।४।४१८।** इति प्राकृतसूत्रेणैवम् अपभ्रंशे एम्ब इत्यादेशः। प्रा०। एवम् प्रकारेणेत्यर्थे, वाच०।

एम्बइ-अव्य० (एवमेव) **'पश्चादेवमेवेदानीं प्रत्युते तसः पच्छइ एम्बइ जि एम्बहिं पच्चुलिउए तहे, ८।४।४२०** इति प्राकृतसूत्रेणापभ्रंशे एवमेवेत्यस्य एम्बइ इत्यादेशः। प्रा०। एवम्प्रकारेणैवेत्यर्थे, वाच०।

एम्बहिं-अव्य० (इदानीम्) **'पश्चादेवमेवेदानीं प्रत्युते तसः पच्छइ एम्बइ जि एम्बहिं पच्चुलिउए तहे, ८।४।४२०** इत्यादि प्राकृतसूत्रेणेदानीमः एम्बहिं इत्यादेशः। प्रा०। अधुनेत्यर्थे, वाच०।

एरंड-पुं० (एरण्ड) ईरयति वायुं मलं वाऽधः ईर् अण्डच् निपात-नात्गुणश्च। एरण्डाभिधाने वृक्षे, स्था० ४ ठा०। तृणभेदे, प्रज्ञा० १ पद।''एरंडेणेरंडे एरण्डेन वा हिमिक्कितेन वेति'' वृ० ३ उ०। तथा चाचाराङ्गे द्रव्यसारमधिकृत्य ''धणे एरंडे वइरे'' स्थूलानां मध्ये एरण्डो भेंडो वा प्रकर्षभूत इति, आचा०१श्रु०५अ०१उ०। प्रज्ञापनायामुत्कारिका-भेदमधिकृत्य। ''एरंडवीयाण वा' प्रज्ञा० ११ पद। एरण्ड इव एरण्डः। श्रुतादिभिर्हीने, स्था० ४ ठा०। पिप्पल्यां स्त्री० टाप् गौ० ङीष् वा। वाच०।

एरंडइय-त्रि० (एरण्डकित) हमक्कयिते, ''एरंडए साणे एरंडइय-साणेति हमक्कयित'' इति। वृह० १ उ०।

एरंडपरियाय-पुं०(एरण्डपर्याय) एरण्डस्येव पर्याया धर्मा अबहलच्छा-यत्वासेव्यत्वादयो यस्य स एरण्डपर्य्यायः। अबहलच्छायत्वाद्येरण्ड-धर्मयुक्ते, स्था०४ ठा०।

एरंडपरिवार-पुं०(एरण्डपरिवार) एरण्डकल्पनिर्गुणपरिकरे एरंण्डामेगे एरंडपरिवारे, एरंडपरिवार' एरण्डकल्पनिर्गुणसाधु-परिकरत्वादिति। स्था०४ ठा०।

एरंडमज्झयार-त्रि०(एरण्डमध्याकार) एरण्डमध्यवन्निर्गुणे, ''एरंडमज्झयारे एरंडेणामहोइ दुमराया'' स्था०४ ठा०।

एरंडमिंजिया-स्त्री०(एरण्डमिञ्जिका) एरण्डफले, (एरंडमिंजियाइ वा) एरण्डमिञ्जिया एरण्डफलमिति। भ०७ श०१ उ०।

एरंडसगडिया-स्त्री०(एरण्डशकटिका) एरण्डकाष्ठमय्यां शकटिकायाम्, ज्ञा०१ अ०।

एरणवय-पुं०(एरण्यवत) हिमवन्महाहिमवतोर्मध्ये जम्बूद्वीपस्य उत्तरतः स्थिते वर्षभेदे, स्था०२ ठा०। सम० एरण्यवते जात एरण्यवतो वाऽस्यनिवास इति तत्र जातः सोऽस्य निवास इति वाऽस्य निवास इति तत्र जातः सोऽस्य निवास इति वाऽण् प्रत्येय ऐरण्यवतः ऐरण्यवतवर्षजाते, ऐरण्यवतवर्षनिवासिनि च। अनु० दोए-रण्णवय'' स्था०२ ठा०।

एरवई-स्त्री०(ऐरावती) स्वनामख्याते नदीभेदे, ''अह पुण एवं जाणिज्जा एरवई कुणालाए। जत्थ चक्किया एगं पायं जले किच्चा एगं पायं थले किच्चा'' ऐरावती नामनदी कुणालाया नगर्य्याः समीपे जङ्घार्द्धप्रमाणेनोद्वेगेन वहति तस्यामन्यस्यां वा यत्रैवं चक्रिया शक्नुयात् उत्तरीतुमिति शेषः। कथमित्याह एकपादं जले कृत्वा एकं पादं स्थले आकाशे कृत्वेति। वृ० ५ उ०। (एतस्याः सन्तरणादिवक्तव्यता णईसंतरण शब्दे)

एरवय-न०(एरवत) जम्बूद्वीपस्थे वर्षभेदे, सम०। ध०। स्था०। जं०। जम्बूद्वीपस्य दक्षिणे भागे भरतमहाहिमवतस्तस्यैवोत्तरेभागे ऐखतं शिखरिणः परत इति। स्था०२ ठा०। स्वनामख्याते दीर्घवैताढ्य पर्वते, पुं०। स्था०१० ठा०। ऐरवते जात ऐरवतो वाऽस्य निवास इति तत्र जातः ''सोऽस्य निवास'' एति वाऽण्प्रत्यये ऐरवतः ऐरवतजाते, ऐरवतनिवासिनि च। अनु०''तत्थ खलु इमे दुवे सूरिया पण्णत्ता। तं जहा भारहे चेव सूरिए एरवए चेव सूरिए'' चन्द्र० प्र०१ पाहु०।

एरवयकूड-न०(ऐरवतकूट) जम्बूमन्दरोत्तरस्थैरवतदीर्घवैता-ढ्यपर्वतस्थे कूटभेदे, स्था०१० ठा०शिखरवर्षधरपर्वतस्थे कूटभेदे, स्था०२ ठा०।

एरावई-स्त्री०(ऐरावती) जम्बूमन्दरदक्षिणेन सिन्धुं महानदीं समाप्नुवत्यां स्वनामख्यातायाम्महानद्याम्, स्था०५ ठा० पञ्चा-लदेशस्थे नदीभेदे, ईशः सन्त्यस्य भूम्ना मतुपो मस्य वः इरावान् मेघः तत्र भवा अण् विद्युति, ऐरावतयोषायां च मेदि०। वाच०।

एरावण-पुं०(ऐरावण) इरा सुरा वनमुदकं यत्र तत्र भवः अण् पूर्वपदादिति णत्वम्। इन्द्रगजे ऐरावते, वाच०। उपा०। कल्प०। जी०। ''सक्को य देवराया एरावणं विलगो'' आ०म०द्वि०। आव०। स च शक्रस्य देवेन्द्रस्य कुञ्जरानीकाधिपतिः ''एरावणे हत्थिराया कुंजराणीयाहिवई'' स्था०५ ठा०। ''हत्थीसु एरावणमाहुणाए'' हस्तिषु करिवरेषु मध्ये यथा ऐरावतं शक्रेवाहनं ज्ञातं प्रसिद्धं दृष्टान्तभूतं वा प्रधानमाहुस्तज्ज्ञा इति सूत्र०१ श्रु०५ अ० अत्रार्थे ऐरावणशब्दे ऐरावत शब्दश्च तत्रैरावणशब्दस्य प्राकृते एरावण इति ऐरावतशब्दस्य एरावय इति कथमेरावणो ? ऐरावण-शब्दस्य एरावओ इति तुऐरावतस्येति। प्रा०। गुच्छात्मके वनस्पतिभेदे, प्रज्ञा०१ पद। ऐरावतह्रदवासिनि स्वनामख्याते देवे च, जी०३ प्रति०।

एरावणह्रह-पुं०(ऐरावतह्रद) जम्बूमन्दोत्तरस्थे उत्तरकुरुस्थिते महाह्रदे स्था०५ठा०(ऐरावतह्रदवक्तव्यता उत्तरकुरुशब्दे उक्ता)

एरावणवाहण-पुं०(ऐरावणवाहन) ऐरावणो हस्ती स वाहनं यस्य स तथा शक्रे, ''एरावणवाहणे सुरिंदो''उपा०२ अ०कल्प०। ऐरावणनाम्नो गजपतेस्तद्वाहनस्य सत्वादिति, जी०३ प्रति०।

एरावय-त्रि०(ऐरावत) लकुचद्रुमे, । मेदि०। पञ्चकलामात्राप्रस्तारे आदिलघुके अन्त्यगुरुद्वयके,प्रथमे भेदे,पुं०ऋजुदीर्घे शत्रुधनुषि मेदि०। इरावत्थाः नद्याः सन्निकृष्टो देशः अण्। मरुस्थलभेदे, न०। वाच०। ऐरावतह्रदवासिनि स्वनामख्याते देवे च, जी०३ प्रति०।

एरि(लि)क्ख-त्रि० (ईदृक्ष) अयमिव पश्यति इदम् दृश् कर्म- कर्तरि कड् इशादेशः दीर्घः॥ वाच०॥ **दृशेःक्खिप्टक्सकः ८।१।१४२।** इति सूत्रेण ऋतोरिकारादेशः। **''एत्पीयूषापीड-विभीतककीदृशे दृशे'' ८।१।१०५।** इति प्राकृतसूत्रेणेत एत्वम् प्रा०। एवं विधदर्शनवति, वाच० 'अक्खाइसेणाणमणेलिसं' ज्ञान-मनन्यसदृशमाख्यातीति'' आचा०१ श्रु०६ अ०१ उ०। ''सूयेण एरिसं भत्तं कयं'' आ०म०द्वि० ''एरिसगुणजुत्ताणं ताणं'' ईदृशगुणयुक्तानामुक्तवक्ष्यमाण-भक्षणान्वितानां तासां नारीणामिति। तं०। ''एरिसा जावई एसा'' येयमीदृक्षा वागिति, सूत्र०१ श्रु०३ अ०।

एलकक्ख(च्छ) न०(एलकाक्ष) पुरभेदे,''तस्स कहं एलकच्छं नामं तं पुव्वं दसन्नपुरं नगरं आसी तत्थ सावियाए एगस्स मिच्छद् दिट्ठस्स दिन्ना वेयालिया आवस्सयं करेइ। पच्चक्खाइया सो भणति किं रत्तिं उट्ठित्ता कोइ जेमइ एवं उप्पासेइ अन्नया सो भणति अहं पि पच्चक्खामि। सा भणति भंजिहिसि सो भणति किं अन्नया वि अहरंति उट्ठिता जेमेमि दिन्नं देवआ चिंतेइ सावियं उप्पासेइ अज्ज णं उवलभाति तस्स भगिणी तत्थेव वसति तीसे रत्तिं रूवेण पेहेण य गहाय आगया पक्खइओ सावियाए वारितो भणइ तुब्भव्वएहिं आलपालेहिं किं मम देवयाए पहारो दिन्नो दो वि अच्छिण्णो लगा भूमीए पडिया सा मम अयसो होतित्ति काउस्सग्गयट्ठिया अङ्गुरत्ते देवया आगया भणति किं साविए सा भणति मम एएण अयसोत्ति ताहे अन्नस्स एलगस्स अच्छीणि सप्पएसाणि तक्खणमारियस्स आणेत्ता लाइआयाणि ततो से सयणे भणति तुब्भत्थाणि एलगस्स जारिसाणित्ति तेण सव्वं कहियं सङ्घजाओ जणो कोउहल्लेण एइ पेच्छगो सव्वत्थरज्ज फुट्टं भन्नइ कओ एसि जत्थ सो एलकच्छओ अन्ने भणंति सोचेव राया ताहे दंसणपुरस्स एलकच्छं नामं जायं आव०४ अ०। (आणिस्सिओवहाणशब्देऽपि एषा कथोक्ता)

तथाचावश्यककथयाम॥

गजाग्रपदवन्दारु-रेलकच्छपुरे ययौ॥
तद्दशार्णपुरं पूर्व-मासीत्तस्मिन्नुपासिका॥१०॥
चक्रे वैकालिकं नित्यं, प्रत्याख्याति स्म चाथ सा।
उपाहसत्पतिस्तस्याः सायं भुक्तः परोऽपि किम्॥११॥
निश्यद्यात्सोऽपि भुक्तवह, प्रत्याख्याम्यहमप्यतः।
भंक्ष्यसि त्वं तयेत्यूचे, न भंक्ष्यामीति सोऽवदत्॥१२॥

देवताऽचिन्तयच्छ्राद्धा-मसावुपहसत्यदः।
निशीथे स्वसृरूपेणा-भ्यागादादाय लाभनं ॥१३॥
खादन्निषिद्धः पत्न्योचे, किं मेतद्वालजालकैः।
देवता तं प्रहृत्याथ-दृग्गोलौ च व्यापातयत् ॥१४॥
मा भून्ममायशः श्राद्धा, कायोत्सर्गेऽथ सा स्थिता।
देवता स्माह तां श्राद्धां-प्युवाचैवं ममायशः ॥१५॥
साधानीयादधौ सद्यो, मारितैडस्य चक्षुषी।
एडकाख्यस्ततः ख्यातः स श्राद्धः प्रत्ययादभूत् ॥१६॥
लोकः समेति तं द्रष्टु-मेडकाक्षं कुतूहलात्।
एडकाक्षं पुरमपि-तन्नाम्ना तदभूत्ततः ॥१७॥

एलग(य)-पुं०(एडक) स्त्री० इल-ण्वुल्-डस्य लः चतुष्पद-स्थलचरपञ्चेन्द्रियतिर्य्यग्योनिकविशेषे, प्रज्ञा० १ पद। एलकागडुरिका इति। प्रव०४ द्वा०। एडकोऽजविशेष इति- प्रव० ८४ द्वा०। प्रज्ञा०। एडका उरभ्रा इति। जं०२ वक्ष०। उपा०। स्था०। उण्णकप्पा सा उवा उण्णति एलालाडाणं गडुरा भण्णति। नि०चू० ३ उ०। वनच्छागे, पृथुशृङ्गे मेषे, मेषमात्रे च दश०५ अ०।

एलगमूग-पुं०(एलकमूक)मूकभेदे, यश्चैलक इवाव्यक्तं मूकतया शब्दामात्रमेव करोति स एलकमूक इति। ध०३ अधि०।

एगलमूग-त्रि०(एण)(ल)(मूक) श्रुतिरहित एडो वधिरश्चासौ मूकः वाक्श्रुतिशक्तिरहिते, वाच०। एलवन्मूक एलमूकः सूत्र० २ श्रु० २ अ०। अजाभाषानुकारिणि, मूकभेदे, दश०५ अ०। सो एलगो जहा पुण वुव्वुअई एलमूओ उ। आव०४ अ०। एलमूगो भासइ एलगो जहा वुडवुडति जहा पुण वुव्वुअई एलमूगो भासइ अंतरे अंतरें खलतीति। नि०चू०११ उ०। ''ततो विप्पमुच्चमाणे भुज्जो भुज्जो एलमूयत्ताए'' तस्मादपिस्थानादायुषाः क्षयाद्विप्रमुच्य-मानाश्च्युताः किल्विषिकबहुलास्तत्कर्मशेषेणैलवन्मूका एलमूकास्तद्भावेनोत्पद्यन्ते किल्विषिकस्थानाश्च्युतः सन्नन्तरभवे वा मानुषत्वमवाप्य यथैलमूकोऽव्यक्तवाक् समुत्पद्यत इति। सूत्र०२ श्रु०२ अ०। एडमूकत्वकारणम् मृषावादेन किल्विषि-कत्वप्राप्तिमभिधाय यथा।

तओ वि से चइत्ताणं, लब्भई एलमूयगं।
नरगतिरिक्खजोणिं व, बोही जत्थ सुदुल्लहा ॥४८॥

ततोऽपि देवलोकादसौ च्युत्वा लप्स्यते एलमूकतामजा-भाषानुकारित्वं मानुषत्वे तथा नरकं तिर्यग्योनिं वा पारंपर्येण लप्स्यते बोधिर्यत्र सुदुर्लभः सकलसन्निबन्धना यत्र जिनधर्म-प्राप्तिर्दुरापा इह च प्राप्नोत्येलमूकतामिति वाच्ये असकृद्भाव-प्राप्तिख्यापनाय लप्स्यत इति भविष्यत्कालनिर्देश इति सूत्रार्थः ॥ दश०५ अ०॥

एला-स्त्री०(एला) इल्-अच्-स्वनामख्याते वल्लयात्मके वनस्पति भेदे, प्रज्ञा०१ पद।

एलावच्च-पुं०(ऐलापत्य) इलापतेरपत्यमैलापत्यः प्रत्युत्तर-पदयमादितो ञ्योणपवादे वाश्वे इति ञ्य प्रत्ययः। नं०। मण्डवस्य मूलगोत्रस्य सप्तसु गोत्रभेदेष्वन्यतमे गोत्रे, स्था०७ ठा०। थेरस्स णं अज्जथूलभद्दस्स गोयमगुत्तस्स अंतेवासी थेरे अज्ज महागिरी एलावच्चसगोत्ते'' कल्प०। ''एलावच्चसगोत्तं वंदामि महागिरिं सुयत्थिं च'' नं० (एलावच्चेत्यादि) इह यः स्वापत्यसंतानस्य स्वव्यपदेशकारणमाद्यः प्रकाशकः पुरुषः तदपत्यसन्तानो गोत्रामिलापतेः अपत्यमैलापत्यः पत्युत्तरपदयमादित्या तो ञ्योणपवादे वाश्व इति त्यप्रत्ययः। एलापत्येन सह गोत्रेण वर्त्तते यः स एलापत्येन सह गोत्रेण वर्त्तते यः स एलापत्यसगोत्रस्तं वन्दे महागिरिम्। पक्षस्य पञ्चदशसु रात्रिषु स्वनामख्यातायां तृतीयस्यां रात्रौ, स्त्री० चन्द्र०१४ पाहु०।

एलासाढ-पुं०(एलाषाढ) अवन्त्यां जिनोद्यानसमागतानां धूर्तानामधिपे स्वनामख्याते धूर्ते, ग०२ अधि०। ''एलासाढेण भणियं अहं भेकहायामि'' नि०चू०१ उ०।

एलुग-न०(एलुक) इल० उक् गन्धद्रव्यभेदे, भद्रादार्वेलुकाख्ये च सर्वेषु लवणेषु च, सुश्रु,। वाच०। देहल्याम्, पुं०जी०३ प्रति०। व्य०। ''हंसगब्भमये एलुगे'' हंसगर्भो रत्नाविशेषस्तन्मय एलुको देहलीति। जी०३ प्रति०। ''गिहेलुगंसि वा गिहेलुक उंवर इति'' आचा०२ श्रु०।

साधुना चैलुकात्परतो न प्रवेष्टव्यम् तथा चाह।

णो से कप्पति अंतो एलुएस्स दो वि पाए साहदुदलय-माणीए पडिग्गहित्तए अहं पुण एवं जाणेज्जा एगं पायं अंतो किच्चा एगं पायं वाहिं किच्चा एलुयविक्खंभइत्ता पयाए एसणाए एसमाणे लभेज्जा आहारेज्जा ॥

सांप्रतमेलुगविक्खंभणे दोसा इत्यस्य व्याख्यामाह।

गच्छगयनिग्गए वा, लहुगा गुरुगा य एलुगा परतो।
आणादिणो य दोसा, दुविहा य विराहणा इणमो ॥

एलुकात् परतः साधुरतिगच्छति उपलक्षणमेतत्। यदि साधु- रेलुकं बिष्कम्भयति आसन्ने वा प्रदेशे एलुकस्य तिष्ठति तथागतस्य प्रायश्चित्तं चत्वारो लघुकाः गच्छनिर्गतस्य चत्वारो गुरुकाः। तथा आज्ञादय आज्ञाभङ्गादयो दोषाः। द्विविधा च विराधना आत्मविराधना संयमविराधना च। इयं वक्ष्यमाणा तामेवाह।

संकग्गहणे इच्छा, दुन्निविट्ठा अवाउडा।
निहरणुक्खणण विरेगो, णे अ विहित पाहुडए ॥
बंधवह उद्दवणे य, खिंसण असीयावणे चेव।
उव्वेयगकुरुडिय, दीणे अ विदिण्णवज्जणया ॥

एलुकात्परतो यदि गच्छति तदा स्तैन्ये मैथुने वा लोकस्य शङ्का स्यात्तदनन्तरं च ग्रहणं तथा यस्या गृहमभ्यन्तरं प्रविष्ट- स्तस्या विषयेऽस्य साधोः किं तु येन इच्छा येनाभ्यन्तरं गत इति लोकस्य शङ्का स्यात्तथा दुर्निविष्टा अप्रावृता वा मध्ये अगारी स्याल्लज्जा स्यात् दोषाश्चान्ये शङ्कादयः तथा मध्ये गृहस्वामी हिरण्यादेर्निधानं करोति उत्खननं वा परस्परं विरेचनं तत्र स्तेनोऽयमिति शङ्कास्यात्तथा अतिभूमिप्रवेशनं तीर्थकृद्भिर्गृहस्थै-श्रावितीर्णमननुज्ञातं ततोऽदत्ता-दानदोषः तस्मात्कस्मादतिभूमिमेष प्रविष्ट इति गृहस्थः प्राभृतमधिकरणं कुर्यात्तथा बन्धं निगडादिभिः ताडनडपद्रावणं जीविता व्यपरोपणं तथा खिंसना हीलना यथैते वराका अलभमाना अतः प्रविशन्ति (असियावणाचेवत्ति) ''आसीयावण्णा'' नाम निष्काशयितु-मासादनं किमुक्तं भवति गले गृहीत्वा बहिर्वने निक्षिपति तथा स व्रतीधिग् इव प्रविष्टस्ता-सामगारीणामुद्वेजको भवति। तथा कुरुण्डितो नाम उपवारक इत्युच्यते तं शङ्कमाना गृहिणो वधबन्ध-नादीनि कुर्युरेतैः कारणैरवितीर्णस्याति भूमिप्रवेशनस्य वर्जना एष द्वारगाथा-समासार्थः।

सांप्रतमेतदेव विवरीषुः प्रथमतः शङ्काद्वारमाह।

पच्छित्ते आदेसा, संकियनिस्संकिए य गहणादी।
तेउण्णं व चउत्थे, संकियगुरुगा निसंकिए मूलं॥

एलुकात्परतः प्रवेशे स्तैन्यविषये चतुर्थे चतुर्थव्रतविषये वा शङ्का स्यात् तस्यां च शङ्कायां सत्यां निश्शङ्किते चः जनस्य जाते प्रायश्चित्तविषये चतुर्थे चतुर्थव्रतविषये वा आदेशौ प्रकारौ। तावेव च दर्शयति। शङ्किते चत्वारो गुरुका निःशङ्किते मूलमिति। तथा ग्रहणादयश्च शङ्कायां दोषास्तानेव कथयति।

गेण्हण कड्ढण ववहार, पच्छकडुड्डाह तह य निव्विसए।
किं उ हु इमस्स इच्छा, अब्भंतरमइगतो जाए॥

ग्रहणं स्तेनः परदारको वेति बुद्ध्या प्रतिग्रहणं ततो राजकुलं प्रति कर्षणं तद्वदनन्तरं राजकुले व्यवहरणं ततः पश्चात्कृतकरणं व्रतमोचनमित्यर्थः एवं च सति महान्प्रवचनस्योड्डाहः। तथा निर्विषय आज्ञाऽप्येतद्द्वारगाथायां तु ग्रहणे इति कर्षणा-दीनामुपलक्षणं गतं ग्रहणद्वरम्। इच्छाद्वारमाह किं तु इति वितर्के हुरिति निश्चितं यस्या गृहमभ्यन्तरमतिगतस्तस्या विषये अस्य साधोरिच्छा येनायमभ्यन्तरं सहसा प्रविष्ट इति। अधुना दुर्निविष्टा अप्रावृतेति पदद्वयं व्याख्यानयति। मध्ये आगारी दुर्निविष्टा वा भवेत् अप्रावृता वा ततः सहसा साधोरभ्यन्तरप्रवेशे साऽपि लज्जिता भवेत् शङ्का वा तस्याः समुद्भवेत्तामेवाह॥

किं मन्ने घेत्तुकामो, एस ममं जेण तेत्तिए दूरं।
अन्नो वा संकेज्जा, गुरुगा मूलं तु निस्संके॥

आउत्थपरा वा वि, उभयसमुत्था व होज्जा दोसाओ।
उक्खणनिहणविरेगं, तत्थ किची करेज्जाहि॥

किं मन्ये एष संयतो मां ग्रहीतुकामो येन एतद् दूरमागच्छति। अन्यो वा एवं शङ्केत तत्र शङ्कायां सत्यां तस्य प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुका निःशङ्किते तस्य वा जाते मूलं प्रायश्चित्तम् आत्मोत्थः परस्मात् उभयसमुत्था दोषा भवेयुः 'संप्रति निहणुक्खणणेत्यादि' व्याख्यानयति (उक्खणणेत्यादि) तत्र गृहस्थो गृहमध्ये हिरण्यादेरुत्खननं वा कुर्यात् निधानं परस्परं विवेकं वा विरेचनं किंचित्कुर्यान्ततः किमित्याह॥

दिट्ठं एएण इमं, साहेज्जा मा उ एस अन्नेसिं।
तेणोत्ति व एसो उ, संका गहणादि कुज्जाए॥

दृष्टमेतेन साधुनां इदं हिरण्यादि उत्खन्यमानादिकं ततो मा एष अन्येषां कथयेत् यदि वा एष स्तेन इति शङ्कायां ग्रहणा-दिग्रहणवधबन्धादि कुर्यात्। सांप्रतमवितीर्णपदव्याख्यानार्थ-माह।

तित्थगरगिहत्थेहिं, विअतिभूमिपविसण पदिण्णं।
कीसे दूरमतिगतो, असंखडं बं धवहमादी॥

तीर्थकरेण गृहस्थेन द्वाभ्यामप्यतिभूमिप्रवेशमदत्तं तीर्थकरेणा-दत्तमतिभूमिं न गच्छेज्जा इत्यादिवचनात् गृहस्थेना-त्मीकरणात् प्राभृतादिद्वारकलापमाह कस्मादेतद्दूरमयमागत इति गृहस्थोऽसंखडं कलहं कुर्यादितिरोषाद्बन्धवधादिकम्।

संप्रति खिंसाद्वारमाह।

खिंसेज्ज व जह एए, अलभंत वरागअंते पविसंति।
गलए घेत्तूण वणम्मि, निच्छुभेज्जाहि बाहिरतो॥

खिंसेत् हीलयेत् गृहस्थो यथा एते वराका अलभमाना मध्ये प्रविशन्ति। आसियावणद्वारमाह गलके गृहीत्वा बहिर्वने निक्षिपेत्।

उद्वेजकद्वारमाह॥

ता उय आगारीतो, वीरल्लेणेव तासिया सउणी।
उव्वेगं गच्छेज्जा, कुरुंडितो नाम उववरओ॥

यथा वीरल्लेण त्रासिता शकुनिका उद्वेगं गच्छन्ति तथा ता अप्यार्याः सहसान्तःप्रविष्टेन साधुना त्रासिताः सत्य उद्वेगं गच्छेयुः। कुरुण्टितद्वारमाह। कुरुण्टितो नाम उपवारकस्तदाशङ्क्या वधबन्धनादि कुर्यात्।

अहवा भणेज्ज एते, गिहिवासम्मि वि अदिट्ठकल्लाणा।
दीणा अदिण्णदाणा, दोसा ते णाउ नो पविसे॥

अथवा ब्रूयात् गृहवासेऽप्येते अदृष्टकल्याणा दीना अदत्तदाना आसीरन् तेन मध्ये प्रविशन्ति। उपसंहारमाह। एतान् दोषान् ज्ञात्वा नो मध्ये प्रविशेत्। अत्र चोदकः प्राह। यदि एलुकविष्कम्भे एते दोषा अन्तः प्रविष्टे सविशेषास्तत एलुकविष्कम्भसूत्रमफलं स्यात्तत आह।

उस्सरविखंभमवि जति, दोसा अतिगयम्मि सविसेसा।
तह वि अफलं न सुत्तं, सुत्तनिवातो इमो जम्हा॥

यद्यपि उत्स्वरविष्कम्भे दोषा अतिगते मध्यप्रवेशे सविशेषा-स्तथाऽपि सूत्रफलं न भवति। यस्मादयं सूत्रनिपातः सूत्रविषयत्व-मेव दर्शयति।

उज्जाणघडासत्थे, सेणासंवट्टवयपवादी वा।
बहिनिग्गमणा जण्णे, भुंजइ यजत्थ हि पहियवग्गो॥

औद्यानिक्यां निर्गतो यत उद्याने भुङ्क्ते घटाभोज्यं नाम महत्तरा तु महत्तरादिबहिरावासितः सार्थो वणिक्सार्थः। सेना स्कन्धावारः संवार्ता नाम यत्र विषमादौ भयेनालोकः संवर्तीभूतस्तिष्ठति व्रजिका गोकुलं प्रपा पानीयशाला सभा ग्रामजनसमवा-यस्थानमेतेषु स्थानेषु ये भुञ्जते जनास्तथा बहिर्निगमने यज्ञ- पाटवा यत्र वा पथिकवर्गो भुङ्क्ते एतेषु स्थानेषु प्रतिमाप्रतिपन्नो हिण्डते न विधिना ग्रहीतव्यम्।

पासट्ठितो एलुगम-त्तमेव पासति न वेयरे दोसा।
निक्खमणपवेसणे वि य, अप्पडियादी जे एवं॥

तत्र गत्वा निष्क्रमणप्रवेशौ वर्जयित्वा ईषदेकपार्श्वे तिष्ठति यथा एलुकमात्रं पश्यति नोत्क्षेपनिक्षेपविरेचनानि ततो वधबन्धादयः प्रागुक्तदोषाः परिहृता भवन्ति। तथा निष्क्रमणे प्रवेशे च य अप्रतीत्यादयो दोषास्तेऽप्येवं परित्यक्ताः।

उज्जाणघडाईणं, असतीप्पेसट्ठितो अ गंभीरे।
निक्कमणप्रवेसे मो-त्तूण एलुगविक्खंभमेतम्मि॥

औद्यानिकी घटादीनामसत्यभावे यः शालायाः प्रमुखे कोष्ठको विशालो यत्र दूरस्थितैरपि एलुक उत्क्षेपनिक्षेपौ च दृश्येते मण्डपे वा यत्र परिवेषणं रसवत्यां वा महानसे गम्भीरेऽति प्रकाशे तत्रापि निष्क्रमणप्रवेशौ वर्जयित्वा यत्र उत्क्षेपनिक्षेपौ न दृश्येते एलुकविष्कम्भमात्रे क्षेत्रे एकपार्श्वे स्थित्वा भिक्षामादत्ते एष एलुकसूत्रस्य विषयः। व्य०१० उ०।

एल्लुगविक्खंभ-स्त्री०(एलुकविष्कम्भ) उदुम्बरस्याऽऽक्रमणे, वृ०१ उ०।

एव-अव्य०(एव) इण्-वन्-सादृश्ये, अनियोगे, चारनियोगे, विनिग्रहे,

परिभवे, ईषदर्थे च। वाक्यभूषणे, वाच०। एवेति गाथालङ्कारमात्र इति विशे०। अवधारणे, दर्श०। पंचा०। दशा०। ''अवंभपरिग्गहे चेव'' एकशब्दोऽवधारणे इति प्रश्न० १ द्वा०। ''यमिच्चं चेव आहडं'' ''दुक्खमेव विजाणिया'' एवकारोऽवधारण इति। सूत्र०१ श्रु०१ अ०। विशेष्य-सङ्गतोन्ययोगव्यवच्छेदे। यथा पार्थ धनुर्द्धर इत्यादौ पार्थान्य- पदार्थे प्रशस्तधनुर्द्धरत्वम् व्यवच्छिद्यते। विशेषणसंगतः अयोगव्यवच्छेदे, यथा शङ्खः पाण्डुर एवेत्यादौ शङ्खे पाण्डुरत्वायोगो व्यवच्छिद्यते। क्रियासंगतः अत्यन्तायोगन्यवच्छेदे, यथा नीलं सरोजं भवत्येवेत्यादौ सरोजे नीलत्वात्यन्तायोगो व्यवच्छिद्यते। वाच०।

एव(वं)-अव्य०(एवम्) **इण् -वा वमु- ''मांसादेर्वा ८।१।२६।** इति प्राकृतसूत्रेणानुस्वारस्य वा लुक्। प्रा०। उपप्रदर्शने, ''एवमेयाणि जंपंता'' एवमित्यनन्तरोक्तस्योपप्रदर्शने इति। ''एवमेगेणियायट्ठी'' एवमिति पूर्वोक्तार्थोपप्रदर्शने, इति। सूत्र०१ श्रु०१ अ०। ''एवं आउली करिंति'' इहैवं शब्दः पूर्वोक्ता-भिलापसंसूचनार्थ इति। भ०१ श०६ उ० ''एवं सेहे वि अपुट्ठे'' एवमिति प्रक्रान्तपरामर्शार्थ इति सूत्र०१ श्रु०२ अ०। प्रकारे, एवं शब्दः प्रकारवचन इति। आ०म०द्वि०। प्रश्न०। व्य०। दर्श०। पं० वं०। दर्श०। एवमिति प्रकृतपरामर्शप्रकारेवार्थोपदेशनिर्देशनिश्चया-ऽङ्गीकारवाक्यार्थेषु, समुच्चयार्थे, समन्वये, परकृतौ, प्रश्ने च। मेदि०। वाच०। अपरिणामे, पृथग्भावे, एकत्वे, अवधारणे च। तथा च व्यवहारकल्पे ''अपरीमाणेपिहब्भावे, एगत्ते अवधारणे। एवसद्दो उ एएसिं'' इति। एवं शब्दोऽपरिमाणे पृथग्भावे एकत्वे अवधारणे तत्रापरिमाणे यथा एवमन्येऽपीत्यादौ पृथद्भावे तथा घटात्पटः पृथक्। एवमाकाशास्तिकायवत् धर्म्मास्तिकायोऽपीति। एकत्वे यथाऽयमेतद्व्रण एवमेषोऽपि। अत्र ह्येवंशब्दस्तयोरेकरूपतामभिद्योतयति अवधारणे यथा केनापि पृष्टमिदमित्थं भवति। इतरः प्राह एवं। इत्थमेवेति भावः। एवमेवं-शब्द एतेष्वर्थेषु वर्त्तते इति। व्य०४ उ०।

एवइय-त्रि०(एतावत) एतत्परिमाणे, वाच०। ''एवइयं वा एव- खुत्तो वा एवइयंति'' तां विकृतिमेतावतीमिति। कल्प०।

एवंकरण-न०(एवंकरण) एकम्प्रकारेण करणे, ''एवं करणया एत्तिकट्ठु'' भ०३ श०१ उ०।

एवंभूय-पुं०(एवंभूय) सप्तमे नयभेदे, तत्स्वरूपं यथा।

वंजण अत्थतदुभयं-एवंभूओ विसेसेइ॥

(वंजण अत्थे इत्यादि) यत्क्रियाविशिष्टशब्देनोच्यते तामेव क्रियां कुर्व्वद्वस्तवेवंभूतमुच्यते एवं शब्देनोच्यते चेष्टा क्रियादिकः प्रकारस्तमेवंभूतं प्राप्तमिति कृत्वा ततश्चैवंभूतवस्तुप्रतिपादको नयोऽप्युपचारादेवं भूतः। अथवा एवं शब्देनोच्यते चेष्टा क्रियादिकः प्रकारस्तद्विशिष्टस्यैव वस्तुनोऽभ्युपगमात्तमेवंभूतः प्राप्त एवंभूत इत्युपचारमन्तरेणापि व्याख्यायते स एवंभूतो नयः। किमित्याह व्यज्यतेऽर्थोऽनेनेति व्यञ्जनं शब्दः अर्थस्तु तदभिधेयवस्तुरूपः व्यञ्जनं चार्थश्च व्यञ्जनार्थौ तौ च तौ तदुभयं चेति समासः। व्यञ्जनार्थशब्दयोर्व्यस्तनिर्द्देशः प्राकृतत्वात्तद्व्यञ्जनार्थं तदुभयं विशेषयति नैयत्येन स्थापयति। इदमत्र हृदयं शब्दमर्थनार्थं च शब्देन विशेषयति। यथा घट चेष्टायां घटते योषिन्मस्तका-द्यारूढश्चेष्टत इति घट इत्यत्र तदैवासौ घटो यदा योषिन्मस्तका-द्यारूढतया जलाहरणचेष्टावान्नान्यदा घटध्वनिरपि चेष्टां कुर्वत एव तस्य वाचको नान्यदेत्येवं चेष्टावस्थातोऽन्यत्र घटस्य घटत्वं घटशब्देन निवर्त्यते घटध्वनेरपि तदवस्थातोऽन्यत्र घटेन स्ववाचकत्वं निवर्त्यत इति भाव इति गाथार्थः। अनु०।

एवं जह सद्दत्थो, संभूओ तह अन्नहाभूओ।
तेणेवंभूयनओ, सद्दत्थपरो विसेसेण॥

एवं यथा घटचेष्टायामित्यादिरूपेण शब्दार्थो व्यवस्थितः (तहत्ति) तथैव वर्त्तते घटानिकोऽर्थः स एवं सन् भूतो विद्यमानः (अन्नहाभूओ त्ति) यस्त्वन्यथा शब्दार्थोल्लङ्घनेन न वर्त्तते स तत्वतो घटाद्यर्थोऽपि न भवति किंत्वेवंभूतोऽविद्यमानः येनैवं मन्यते तेन कारणेन शब्दनयसमभिरूढनयाभ्यां सकाशादेवं-भूतनयो विशेषणशब्दार्थतत्परः। अयं हियोषिन्मस्तकारूढं जलाहरणक्रियानिमित्तं घटमानमेव चेष्टमानमेव घटं मन्यते न तु गृहकोणादि व्यवस्थितम्। अवचेष्टनादित्येवं विशेषतः शब्दार्थतत्परोऽयमिति। वंजणमत्थतदुभयं एवंभूओ विसेसेइ इति'' निर्युक्तिगाथादलं व्याचिख्यासुराह॥

वंजणमत्थे णत्थं, व वंजणेणोभयं विसेसेइ।
जइ घडसद्दं चेट्ठा व या तहा तं पि तेणेव॥

व्यज्यतेऽर्थोऽनेनेति व्यञ्जनं वाचकशब्दो घटादिस्तं चेष्टावता एताद्वाच्येनार्थेन विशिनष्टि स एव घटशब्दो यश्चेष्टावन्तमर्थं प्रतिपादयति नान्य इत्येवं शब्दमर्थेन नैयत्ये व्यवस्थापयतीत्यर्थः। तथाऽर्थमप्युक्तलक्षणमभिहितरूपेण व्यञ्जनेन। विशेषयति चेष्टाऽपि सैव या घटशब्दवाच्यत्वेन प्रसिद्धा योषिन्मस्तका- रूढस्य घटस्स जलाहरणादिक्रियारूपा न तु स्थानभरण- क्रियात्मिका इत्येवमर्थं शब्देन नैयत्ये स्थापयतीत्यर्थः। इत्येवमुभयं विशेषयति। शब्दमर्थेनार्थं नैयत्ये स्थापयतीत्यर्थः। एतदेवाह (जहघडसद्दमित्यादि) इदमत्र हृदयं यदा योषिन्मस्तका-रूढचेष्टावानार्थो घटशब्देनोच्यते तदा स घटलक्षणोऽर्थः स च तद्वाचको घटशब्दः अन्यदा तु वस्त्वन्तरस्यैव तच्चेष्टभावादघटत्वं घटध्वनेश्चावाचकत्वमित्येवमुभयविशेषक एवं भूतनयमिति।

एतदेव प्रमाणतः समर्थयन्नाह॥

सद्दवसादभिधेयं, तप्पच्चइ वप्प इव कुंभो व्व।
संसयविवज्जएग त्तसंकराइप्पसंगाओ॥

यथा अभिधायकः शब्दस्तथैवाभिधेयं प्रतिपत्तव्यमिति प्रतिज्ञा तत्प्रतययत्त्वात्तथा एवार्थस्तः प्रत्ययसंभूतेरिति हेतुः प्रदीपवत् कुम्भवद्वेति दृष्टान्तः। विपर्यये बाधकमाह (संसयेत्यादि) इदमुक्तं भवति प्रदीपशब्देन प्रकाशवानेवार्थोऽभिधीयते अन्यथा संशयादयः प्रसञ्जेरंस्तथा हि यदि दीपनक्रियाविकलोऽपि दीपस्तर्हि दीपशब्दे समुच्चरिते किमनेन प्रदीपेन प्रकाशवानर्थोऽभिहितः किं वा प्रकाशकोऽप्यन्धोपलादिरिति संशयः अन्धोपलादिरवानेनाभिहितो न दीप इति विपर्ययः। तथा दीप इत्युक्तेऽप्यन्धोपलादौ चोक्ते दीपे प्रत्ययात्पदार्थानामेकत्वं साङ्कर्य वा स्यात्तस्माच्छब्दवशादेवाभिधेयम-भिधेयवशाच्च शब्द इति। विशे०। (समभिरूढनयादिवक्तव्यता नयशब्दे) शब्दाभिधेयक्रियापरिणतिवेलाया-मेव तद्वस्त्वितिभूतः। एवंभूतः प्राह यथा संज्ञाभेदाद्भेदवद्वस्तु तथा क्रियाभेदाद- सा च क्रिया तद्भेत्री यदैव तामाविशति तदैतन्निमित्तं

तत्तद्व्यपदेशमासादयति नान्यदेत्यभिप्रसङ्गात् । तथाहि यदा घटते तदैवासौ घटो न पुनर्घटितवान् घटिष्यते वा घट इति व्यपदेष्टुं युक्तः सर्ववस्तूनां घटतापत्तिप्रसङ्गादपि च चेष्टासमये एव चक्षुरादिव्यापार-समुद्भूतशब्दानुविद्धप्रत्ययमास्कन्दति चेष्टावन्तः पदार्था यथा-ऽवस्थितार्थप्रतिभास एव च वस्तूनां व्यवस्थापको नान्यथा-भूतोऽन्यथा चेष्टावत्तया शब्दानुविद्धाध्यक्षप्रत्यये प्रतिभासऽस्याभ्युपगमेप्रत्प्रत्ययस्य निर्विषयतया भ्रान्तस्यापि वस्तु-व्यवस्थापकत्वे सर्वः प्रत्ययः सर्वस्यार्थस्य व्यवस्थापकः स्यादित्यतिप्रसङ्गः तन्न घटनसमयात्प्राक् पश्चाद्वा घटस्त-द्व्यपदेशमासादयतीत्येवं भूतनयमतमुक्तं च''एकस्यापि ध्वनेर्वान्यं सदा तन्नोपपद्यते। क्रियाभेदेन भिन्नत्वादेवंभूतोऽभिमन्यत'' इति (सम्म०) एवंभूतनयं प्रकाशयन्ति शब्दानां स्वप्रवृत्ति-निमित्तभूतक्रियाविष्टमर्थं वाच्यत्वेनाभ्युपगच्छन्नेवंभूत इति समभिरूढनयो हीन्दनादिक्रियायां सत्यामसत्यां च वासवादेरर्थ-स्येन्द्रादिव्यपदेशमभिप्रैति पशुविशेषस्य गमनक्रियायां सत्यामसत्यां च गोव्यपदेशवत्तथा रूढेः सद्भावात् एवंभूतः पुनरिन्दनादिक्रियापरिणतमर्थं तत्क्रियाकाले इन्द्रादिव्यप-देशभाजमभिमन्यते न हि कश्चिदक्रिया-शब्दोऽस्यास्ति गौरश्व इत्यादिजातिशब्दाभिमतानामपि क्रिया-शब्दत्वात् । गच्छतीति गौराशुगामित्वादश्व इति शुक्लो नील इति गुणशब्दाभिमती अपि क्रिया शब्दा एव शुचिभवनात् शुक्लो नीलनान्नील इति देवदत्तो यज्ञदत्त इति यदृच्छाशब्दाभिमती अपि क्रिया शब्दा एव देव एनं देयात् यज्ञ एनं देयादिति। संयोगिद्रव्यशब्दाः समवायिद्रव्यशब्दा-श्चाभिमताः क्रियाशब्दा एव दण्डोऽस्यास्तीति दण्डी । विषाण-मस्यास्तीति विषाणीत्यस्ति क्रियाप्रध्यनत्वात् पञ्चतयी तु शब्दानां व्यवहारमात्रान्न निश्चयादित्ययं नयः स्वीकुरुते । उदाहरन्ति यथेन्दनमनुभवन्निन्द्रः शकनक्रियापरिणतः शक्रः पुरदारणप्रवृत्तः पुरन्दरइत्युच्यत इति। रत्ना०।

एवम्भूतस्तु सर्वत्र, व्यञ्जनार्थविशेषणः।
रागचिह्नैर्यथा राजा, नान्यदा राजशब्दभाक् ॥३०॥

एवंभूतस्त्विति सर्वत्र, व्यञ्जनं शब्दस्तेनार्थं विशेषयति यः स एवंभूत ''वंजणअत्थतदुभयं एवंभूओ विसेसे'' इति निर्युक्तिकारः व्यञ्जनार्थयोरेवंभूतः इति तत्वार्थभाष्यं पदानां व्युत्पञ्जय-र्थान्वयनियतार्थबोधकत्वाभ्युपगन्तृत्वमेवंभूतत्वमिति निष्क-र्षः । नियमश्च कालतो देशतश्चेति न समभिरूढातिव्याप्तिरयं चास्याभिमानः यदि घटपदव्युत्पत्त्यर्थाभावात्कूटपदार्थोऽपि न घटपदार्थस्तदा जलाहरणादिक्रिया विरहकालेऽपि घटो न घट-पदार्थः धात्वर्थविरहाविशेषादिति व्यञ्जनार्थविशेषकत्वमस्य यदुक्तं तदुदाहरति। चिह्नैश्छत्रचामरादिभिर्यथा राजन् शोभमानः सभायामुपविष्टो राजोच्यतेऽन्यदा छत्रचामरादिशोः भाविरहकाले राजशब्दभाग् राजशब्दवाच्यो न भवति राजपदव्युत्प-त्तिनिमित्ता-भावादित्यर्थः । नन्वेतन्मते व्यत्पत्तिनिमित्तमेव प्रवृत्तिनिमित्तमिति केनचिद्रूपेण तदतिप्रशक्तवाच्यमन्यथा तु गच्छतीति गौरिति व्युत्पत्त्या गच्छन्नश्वादिरपि गौः स्यात्तथाच छत्रचामरादिविरहकाले तत्प्रयुक्तरा-जताभावेऽप्रीतरातिशायि पुण्यादिप्रयुक्तराजत्वस्यानतिप्रशक्तस्याव्या-हतत्वात्कथं न राजशब्दवाच्यत्वमिति चेत्सत्यं प्रसिद्धार्थं पुरस्कारेण प्रवृत्त-स्यैवंभूतनयस्य स्वार्थातिप्रसङ्गे न दूषणं किं तु तन्निवार-कनयान्तरोपस्थापकत्वेन भूषणमेवं । नयो०। सूत्र०। अष्ट०। स्था०। रत्नावतारिकायामेवंभूताभासमाचक्षते क्रियानाविष्टं वस्तु शब्दवाच्यतया प्रतिक्षिपंस्तु तदाभास इति क्रियाविष्टं वस्तुध्वनीनामभिधेयतया प्रतिजानानोऽपि यः परामर्शस्तदनाविष्टं न तेषां तथा प्रतिक्षिपति नत्वपेक्षातः स एवंभूत नयाभासः प्रतीतिविघातात् उदाहरन्ति। यथा विशिष्टचेष्टाशून्यं घटाख्यं वस्तु न घटशब्दवाच्यं घटशब्दप्रवृत्तिनिमित्तभूतक्रियाशून्य-त्वात्पटवदित्यादिरिति। अनेन हि वचसा क्रियानाविष्टस्य घटादेर्वस्तुनो घटादिशब्दवाच्यतानिषेधः क्रियते स च प्रमाणबाधित इति तद्वचनमेवंभूतनयाभासोदाहरणतयोक्तम् । स्या०। अस्य च मिथ्यादृष्टित्वं एवमेवंभूताभिप्रायमुपवर्ण्योक्तम् सूत्रकृताङ्गे एवंभूताभिप्रायस्त्वयं यदैव शब्दप्रवृत्तिनिमित्तं चेष्टादिकं तस्मिन्घटादिके वस्तुनि तदैवासौ युवतिमस्तकारूढ उदकाद्याहरण-क्रियाप्रवृत्तो घटो भवति न निर्व्यापार एव एवं भूतः तस्यार्थस्य समाश्रयणादेवंभूतोऽभिधानो नयो भवति तदयमप्यनन्त-धर्माध्यासितस्य वस्तुनो नाश्रयणान्मिथ्यादृष्टिः । रत्नावल्यवयवे पद्मरागादौ। कृतरत्नावलीव्यपदेशपुरुषवदिति॥ आ० चू०। आ० म०॥

एवखुत्तो-अव्य० (एतावत्कृत्वस्) एतावतो वारान् कृत्वेत्यर्थे, कल्प०।

एवडु-त्रि० (इयत्) **वैदकिमोर्यादेः ८ । ४ । ४०८** । इति प्राकृतसूत्रेणेदमोऽत्वमियतो यकारादेरवयवस्य वा डित् एवडु इत्यादेशः प्रा०। एतावदर्थे, वाच०।

एवमाइ-त्रि० (एवमादि) एवम्प्रकारे, ''एवमाइ करेइ एवमा-इओवेयणा'' आ एवम्प्रकारा वेदना इति (प्रश्न०) ''एवमाईणि णामधेज्जाणि'' एवमादीन्येवं प्रकाराणि उक्तस्वरूपाणीत्यर्थ इति। प्रश्न० अघ० १ द्वा० ३ अ०।

एस-एष्य कर्मणि-एयत्-वाञ्छनीये भाविनि, ''एसो न तावजायइ'' एष्यो भावी न तावज्जायते इति। आव० ५ अ० एष्यत्काले। विशे०।

एसंतभद्द-त्रि० (एष्यद्गद्र) कल्याणानुबन्धिनि ''एष्यदभद्रां समाश्रित्य पुंसः प्रकृतिमीदृशीम्'' एष्यदभद्रामिति ईदृशीं संक्लेशायोगविशिष्टा-मेष्यदभद्रां कल्याणानुबन्धिनीं पुंसः प्रकृतिं समाश्रित्येति। द्वा० १४ द्वा०।

एसकाल-पुं० (एष्यत्काल) आगामिनि काले, ''वारसएहिं एसकालो'' द्वादशभिर्वर्षे रेष्यत्कालः परित्याज्य इति वर्तते । तत एवापाय-संभवादिति। दश० १ अ०।

एसज्ज-न० (ऐश्वर्य्य) प्रभुत्वे, वाच०। ''रिसभेण उ एसज्जं'' एसज्जंति ऐश्वर्य्यमिति। स्था० ७ ठा०।

एसण-न० (एषण) ग्रहणे, ''विय उस्सेसणं चरे'' एषाणाय ग्रहणाय चरेदिति। गवेषणे, एसणंति चतुर्थ्यर्थे द्वितीया ततश्चैषणाय गवेषणार्थं, चरेदिति। उत्त० २ अ०। एषते शत्रुहृदयम् ल्यु० लोहमयबाणे, पुं० हलायुधः॥

एसणघाय-पुं० (एषणघात) एषणाय घातः प्रेरणमेषणघातः एषणाप्रेरणे, ''दुविहा विहारसोही, य एसणघातो य जायपरिहाणी'' एषणाया घातः प्रेरणमेषणघातः स च स्यात्-तथाहि

भवत्युपधिपात्रादिकमन्तरेण एषणघातः तत एषणाप्रेरणे यत्प्रायश्चित्तं तदापद्यत इति व्य० १ उ०।

एसणा-स्त्री० (एषणा) इष इच्छायाम् णिच्भावे-युच-प्रेरणायाम्, पुत्रलोकवित्तकामनायाश्च वाच०। अन्वेषणायाम्, 'णो लोयस्से सणंचरे' लोकस्य प्राणिगणस्यैषणाऽन्वेषणेति आचा० ४ श्रु० १ अ० १ उ० प्राप्तौ, ''मच्छेसणं झियायंति'' मत्स्यप्राप्तिं ध्यायन्तीति 'विसएसणं जिझयायंति विषयाणां शब्दादीनां प्राप्तिं ध्यायन्तीति च। सूत्र० १ श्र० ११ अ०। प्रार्थनायाम्, ''एवं कामेसणं विन्नू'' कामानां शब्दादीनां विषयाणां या गवेषणा प्रार्थना तस्यां कर्त्तव्यतायां विद्वान् निपुण इति सूत्र० १ श्रु० २ अ०। 'घायमेसंति तं तहा' घातं चान्तशस्तथा सन्मार्गविराधनातया उन्मार्गगमनं चैषन्त्यन्वेषयन्ति दुःखमरणे शतशः प्रार्थयन्तीति सूत्र० १ श्रु० ११ अ०। 'णिवायमेसंति'' निवातमेषयन्ति घङ्गशालादिवस-तीर्वातायनादिरहिताः प्रार्थयन्तीति। आचा० २ श्रु० ६ अ० २ उ० वाचनायाम्, 'कडेसु घासमेसेज्जा'' ग्रस्यत इति ग्रास आहार-स्तमेवंभूतमन्वेषयेत् मृगयेत् याचेदित्यर्थ इति। सूत्र० १ श्रु० १ अ०। एषणमेषणा अशनादेर्ग्रहणकाले, शङ्कादिभिः प्रकारै-रन्वेषणे, प्रव० ६७ द्वा०। उद्गमादिदोषविप्रमुक्ते भक्तपानादिगवेषणे, स्था० ६ ठा०। गृहिणा दीयमानपिण्डादेर्ग्रहणे, स्था० ३ ठा०। एष्यतइत्येषणा उत्त० १ अ० शुद्धाहारादौ, च (चरंतमेसणं) एषणायां चरन्तं परिशुद्धाहारादिना वर्त्तमानमिति। आचा० २ श्रु०।

(१) एषणायाः भेदाः।
(२) पिण्डोपसंहारः एषणायाः अपक्षेपनिराकरणम्।
(३) एषणानिक्षेपः।
(४) एषणाया विस्तरतो भेदनिरूपणम्।
(५) ग्रहणैषणादिनिक्षेपः।
(६) एषणायाः शङ्कितादिदोषाणामपि बहुभेदत्वम्।
(७) विस्तरेण ग्रासैषणानिक्षेपादिकम्।
(८) एषणासमितेन अनेषणीयपरिहारः।
(९) पुराऽऽयातान्यभिक्षुकसंभवे विधिः।
(१०) ग्रासैषणाविधिः।
(११) शतसहस्रगच्छे एषणादोषपरिहारप्रकारः।
(१२) एषणादोषप्रायश्चित्तम्।
(१३) पिण्डैषणापिण्डग्रहणप्रकारः।
(१४) एषणायां कर्त्तव्यतानिरूपणम्।

(१) एषणायाः भेदाः -

सा च त्रिविधा गवेषणग्रहणग्रासैषणाभेदात्। स्था० ५ ठा० तथा च पिण्डनिर्युक्तेरादावियमधिकारसंग्रहगाथा॥

पिंडुग्गम उप्पाय-णैसणासंजोयणाषमाणं च।
इंगालधूमकारक-अट्ठविहा पिंडनिज्जुत्ती॥

एषणमेषणा सा वक्तव्या एषणाभिधा तद्यथा गवेषणैषणा ग्रहणैषणा ग्रासैषणा च। तत्र गवेषणे एषणा अभिलाषो गवेषणैषणा। एवं ग्रहणैषणाग्रासैषणे अपि भावनीये। तत्र गवेषणैषणा उद्गमोत्पादनाविषयेति तद्ग्रहणेनैव गृहीता। ग्रासैषणा त्वभ्यवहारविषया ततः संयोजनादिग्रहणेन सा ग्रहीष्यते तस्मादिहपारिशेष्यादेषणाशब्देन ग्रहणैषणा गृहीता द्रष्टव्या। ग्रहणैषणाग्रहणेन च ग्रहणैषणा गता दोषा वेदितव्यास्तथा विवक्षणात्ततोऽयं भावार्थः उत्पादनादोषाभिधानानन्तरं ग्रहणैषणा गता दोषाः शङ्कितम्रक्षितादयोऽभिघातव्याः।

(२) पिण्डस्योपसंहारमेषणायाश्चापक्षेपं चिकीर्षुरिदमाह॥

संखेवपिंडियत्थो, एसो पिंडो मए समक्खाओ।
फुडवियडपायडत्थं, बोच्छामी एसणं पत्तो॥७३॥

एवं पूर्वोक्तेन प्रकारेण संक्षेपपिण्डितार्थं संक्षेपेण समासेन सामान्यरूपतयेत्यर्थः पिण्डित एकत्र मीलितस्तात्पर्यमात्र-व्यवस्थितोऽर्थोऽभिधेयं यस्य स तथा रूपपिण्डो मया व्याख्यातः इत ऊर्द्धमेषणामेषणाभिधायिकां गाथासंततिं स्फुटवि कट-प्रकटार्थां स्फुटो निर्मलो न तात्पर्यानवबोधेन कश्मलरूपो विकटः सूक्ष्ममतिगम्यतया दुर्भेदः प्रकटस्तथाविधविशिष्ट-वचनरचना-विशेषतः सुखप्रतिपाद्या याऽक्षरा एष्वव्याख्यातेष्वपि प्रायः स्वयमेव परिस्फुरन्निव लक्ष्यते सप्रकट इति भावार्थः प्रायः स्वयमेव परिस्फुरन्निव लक्ष्यते सप्रकट इति भावार्थः अर्थोऽभिधेयं यस्याः स तथा तां वक्ष्ये तत्र तत्वभेदपर्यायै-र्व्याख्येयेति प्रथमतः सुखा-वबोधार्थमेषणाया एकार्थिकान्या-भिधित्सुराह॥

एसणगवेसणमग्ग-णा य उग्गोवणा य बोधव्वा।
एए उ एसणाए, नामा एगट्ठिया होंति॥

एषणा गवेषणा मार्गणा उद्गोपना। एतानि चशब्दादन्वेषणा-प्रभृतीनि च एषणाया एकार्थिकानि नामानि भवन्ति। तत्र इषु इच्छायाम् एषणं एषणा इच्छा गवेषणमार्गणे गवेषणं गवेणा मार्गणं मार्गणा उद्गोपनमुद्गोपना पिण्ड०।

(३) एषणाया निक्षेपो यथा॥

नामं ठवणा दविए, भावम्मि य एसणा मुणेयव्वा।
दव्वम्मि हिरण्णाई, गवेसणामुंजणाभावे॥६२२॥

नामस्थापने सुगमे द्रव्यविषयां यदा हिरण्यादिगवेषणां करोति कश्चिद्भावे भावविषया त्रिविधा गवेषणैषणा अन्वेषणैषणा ग्रहणैषणा पिण्डादीनामेषणा भुञ्जानैषणा वेति सा च गवेषणैषणा ओघ०। तथाच दशवैकालिके क्षुण्णत्वान्नामस्थापने अनादृत्य द्रव्यैषणामाह॥

दव्वेसणा उ तिविहा, सचित्ताचित्तमीसदव्वाणं।
दुपयचउप्पयअपया, नरगयकरिसावणदुमाणं॥२॥

द्रव्यैषणा तु त्रिविधा भवति सचित्ताचित्तमिश्रद्रव्याणामेषणा द्रव्यैषणा। सचित्तानां द्विपदचतुष्पदापदानां यथासंख्यम् नरगजद्रुमाणामिति कार्षापणाग्रहणदचित्तद्रव्यैषणालंकृतद्वि-पदादिगोचरमिश्रद्रव्यैषणा च द्रष्टव्येति गाथार्थः। भावैषणामाह

भावेसणा उ दुविहा, पसत्थअपसत्थगा य नायव्वा।
नाणाईण पसत्था, अपसत्था कोहमाईणं॥३॥

भावैषणा तु पुनर्द्विविधा प्रशस्ता अप्रशस्ता ज्ञातव्या। एतदेवाह ज्ञानादीनामेषणा प्रशस्ता अप्रशस्ता क्रोधादिनामेषणेति गा-थार्थः। प्रकृतयोजनामाह।

भावस्सुवगरित्ता, एत्थं दव्वेसणाए अहिगारो।
तिई पुण अत्थजुत्ती, वत्तव्वा पिंडनिज्जुत्ती॥४॥

भावस्याज्ञानादेरुपकारित्वादत्र प्रक्रमे द्रव्यैषणयाधिकारः तस्याः पुनर्द्रव्यैषणाया अर्थयुक्तिर्हेयेतररूपार्थयोजना वक्तव्या पिण्ड-निर्युक्तिरिति गाथार्थः दश० ५ अ०। तथा च विस्तरेण भेदानभिधि-त्सुराह।

नामं ठवणा दविए, भावम्मि य एसणा मुणेयव्वा।
दव्वे भावे एक्के-क्कया उ तिविहा मुणेयव्वा ॥७४॥

एषणा चतुर्विधा ज्ञातव्या। तद्यथा नामैषणा स्थापनैषणा तथा द्रव्ये द्रव्याविषया एषणा भावे भावविषया च। तत्र नामैषणा एषणा इति नाम। यद्वा जीवस्याजीवस्य वा एषणा शब्दान्वर्थरहितस्य एषणा इति नाम क्रियते सा नामनामवतोरभेदोपचारात्। यद्वा नाम्ना एषणा नामैषणा इति व्युत्पत्तेर्नामैषणेत्यभिधीयते। स्थापनैषणा एषणावतः साध्वादेः स्थापना इह एषणा साध्वादेरभिन्ना तत उपचारात्साध्वादिरेव एषणेत्यभिधीयते ततः स्थाप्यमानस्था-पनैषणा स्थाप्यते इति स्थापना स्थापना चासौ एषणा च स्थापनैषणा। द्रव्यैषणा द्विधा आगमतो नो आगमतश्च। तत्रागमत एषणाशब्दार्थस्य ज्ञाता तत्र चानुपयुक्तः "अनुपयोगो द्रव्यमिति" व वनान्नाआगमतस्त्रिधा तद्यथा ज्ञशरीरद्रव्यैषणा भव्य-शरीरद्रव्यैषणा ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तद्रव्यैषणा च। यत्र एषणाशब्दार्थज्ञस्य यत् शरीरमपगत-जीवितं सुसिद्धशिला-तलादिगतं तत्र भूतभावनया ज्ञशरीरद्रव्यैषणा। यस्तु बालको नेदानीमेषणाशब्दार्थमवबुध्यते अथवा यत्पानेनैव शरीर-समुच्छ्रयेण परिवर्द्धमानेन मोक्ष्यते स भाविभावकरणत्वा-द्द्रव्यशरीरद्रव्यैषणा। ज्ञशरीरभव्यशरीर-व्यरिरिक्ता तु द्रव्यैषणा सचित्तादिद्रव्यविषया। भावैषणाऽपि द्विधा आगमतो नोआ-गमतश्च। तत आगमत एषणाशब्दार्थस्य परिज्ञाता तत्र च उपयुक्तः "उपयोगो भावनिक्षेप" इति वचनात् नोआगमतो गवे-षणैषणादिमेदात्त्रिया तत्र नामैषणा स्थापनैषणा द्रव्यैषणा आगमतो नोआगमतश्च ज्ञशरीरभव्यशरीर-रूपां भावैषणां त्वागमतः सुज्ञान-त्वादनादृत्य शेषां द्रव्यैषणां च व्याचिख्यासुरिदमाह (दव्वेत्यादि) द्रव्ये द्रव्यविषया भावे च भावविषया एकैका त्रिधा त्रिप्रकारा ज्ञातव्या। तत्र द्रव्यविषया त्रिधा सचित्तादिभेदात्। तद्यथा सचित्तद्रव्यविषया अचित्तद्रव्यविषया मिश्रद्रव्यविषया च। भावविषयाऽपि त्रिधा गवेषणादिभेदात् तद्यथा गवेषणैषणा ग्रहणैषणा ग्रासैषणा च। तत्र द्रव्यैषणाऽपि सचित्तद्रव्यविषया त्रिधा तद्यथा द्विपदविषया चतुष्पदविषया अपदविषया च। तत्र प्रथमतो द्विपदद्रव्यविषयामेषणामाह।

जम्मं एसइ एगो, सुयस्स अन्नो तमेसए नट्ठं।
सत्तुं एसइ अन्नो, एसो अन्नो परो मच्चुं ॥७५॥

इह यद्यपि एषणादीनि चत्वारि नामानि प्राक् एकार्थिकान्युक्तानि तथाऽपि तेषां कथंचिदर्थभेदोऽप्यस्ति। तथा ह्येषणा इच्छामात्रमभिधीयते तच्च गवेषणादावपि विद्यते। अत एव गवेषणादय एषणायाः पर्याया उक्ताः। गवेषणादीनां तु परस्परं नियतोऽप्यर्थभेदोऽस्ति तथाहि गवेषणमनुपलभ्यमानस्य पदार्थस्य सर्वतः परिभावनं मार्गणं निपुणबुद्ध्या अन्वेषणम्। उद्भोपनं विवक्षितस्य पदार्थस्य जनप्रकाशं चिकीर्षा तत एतेषां क्रमेणोदाहरणान्याह एकः कोऽप्यनिर्दिष्टनामा देवदत्तादिकः संतत्यादिनिमित्तं सुतस्य जन्म उत्पत्तिमेषते इच्छति इदमेषणाया उदाहरणम्। अन्यः पुनः कोऽपि यज्ञदत्तादिकः सुतं क्वापि नष्टमेषते गवेषयते गवेषणाया उदाहरणम्। अन्यः कोऽपि विष्णुमित्रादिकः पदेन पदानुसारेण धूलीबहुलभूमिसमुत्थचरणप्रतिबिम्बा-नुसारेणेत्यर्थः शत्रुमेषते मृगयते इदं मार्गणाया उदाहरणम्। अन्यः पुनस्तस्य शत्रोर्मृत्युं मरणमेवते उद्भोपयति सर्व्वजनप्रकाशं मृत्युमभिधातुमभिलषतीत्यर्थः इदमुद्भोपनाया उदाहरणम्। तदेवमुक्ता सचित्तद्विपदद्रव्यविषया एषणा। संप्रति सचित्त-चतुष्पदापदविषयां मिश्रविषयामचित्तविषयां च प्रतिपादयति।

एमेव सेसएसु वि, चउप्पयापयअचित्तमीसेसु।
जो जत्थ जुज्जए ए-सणा उ तं तत्थ जोएज्जा ॥७६॥

एवमेव द्विपदेष्वपि द्विपदेभ्यो व्यतिरिक्तेष्वपि चतुष्पदाऽपदाचित्तमिश्रेषु गवादिवीजपूरकादिद्रम्मादिकटककेयूराद्याभरणविभूषितसुतादिरूपेषु द्रव्येषु विषयेषु या यत्रैषणा इच्छा गवेषणा मार्गणादिरूपा युज्यते घटते तां तत्र पूर्वोक्तगाथानुसारेण योजयेत्। यथा कोऽपि दुग्धाभ्यवहाराय गामिच्छति। कोपि पुनस्तामेव क्वापि नष्टां गवेषयते अन्यः पुनस्तामेव गां परास्कन्दिभिरपबिहयमाणांगवादिपदप्रतिबिम्बानुसारेण मृगयत्ते कोपि पुनः स्वशौर्यप्रकटनाय जनप्रकाशं व्याघ्रमपगतासुं चिकीर्षति एवमपदादिष्वपि भावना कार्या। उक्ता द्रव्यैषणा।

सांप्रतं भावैषणां त्रिप्रकारामभिधित्सुराह।

भावेसणा उ तिविहा, गवेसणहणेसणा उ बोधव्वा।
घासेसणा उ कमसो, पन्नत्ती वीयरागेहिं ॥

भावो ज्ञानदिरूपरिणामविशेषः तद्विषय एषणा भावैषणा यथा ज्ञानदर्शन चारित्रमेकदेशतः समूलघातं व्याघातो न भवति तथा पिण्डादे रेषणामति भावः। साऽपि त्रिधा त्रिप्रकारा क्रमशः क्रमेण प्रज्ञप्ता वीतरागैः केन क्रमेणेत्यत आहगवेसणेत्यादि पूर्वं गवेषणैषणा ततो ग्रहणैषणा ततो ग्रासैषणा।

कस्मात्पुनरित्थं गवेषणादीनां क्रम इत्याह।

अगविट्ठस्स उ गहणं, न होइ न य अगहियस्स परिभोगो।
एसणतिगस्स एसा, नायव्वा आणुपुव्वीउ ॥

इह न गवेषितस्यापरिभावितस्य पिण्डादेर्ग्रहणं न्याप्यं नाप्यगृहीतस्य परिभोगः ततः एषणात्रिकस्य ए, षपूर्वो क्त आनुपूर्वी-क्रमो ज्ञातव्यः। डिं०। (गवेषणानिक्षेपादि गवेसणा शब्दे)

(५) ग्रहणैयणादीभिक्षेपस्तत्र ग्रहणैषणामाह।

गहणेसणाइदोसे, आईपरसमुट्ठिए वोच्छं।

ग्रहणैषणादोषांस्त्वात्मपरसमुत्थितान् तानहं वक्ष्ये ॥ तत्र ये आत्मसमुत्थास्तान् विभागतो दर्शयति।

दोन्नि य साहुसमुत्था, संकिय तह भावओ अपरिणयं च।
सेसा अट्ठ वि नियमा, गिहिणो य समुट्ठिए जाण ॥

द्वौ दोषौ साधुसमुत्थितौ तद्यथा शङ्कितं भावतोऽपरिणतं च। एत-च्च द्वयमपि वक्ष्यमाणस्वरूपं शेषानष्टावपि दोषान् गृहिणः समुत्थितान् जानीहि। संप्रति ग्रहणैषणाया निक्षेपमाह।

नामं ठवणा दविए, भावे गहणेसणा मुणेयव्वा।
दव्वे वानरजूहं, भावम्मि य दसविहा होति ॥

तद्यथा नामग्रहणैषणा स्थापनाग्रहणैषणा च। द्रव्यग्रहणैषणा भावग्रहणैषणा च। सा तत्र नामस्थापने ग्रहणैषणाऽपि याव-द्द्रव्यशरीररूपा तावत् गवेषणावद्वक्तव्या। ज्ञशरीरभव्य-शरीरव्यतिरिक्तां तु द्रव्यग्रहणैषणामाह। द्रव्ये द्रव्यग्रहणै-षणायामुदाहरणं वानरयूथम्। भावग्रहणैषणा द्विधा। तद्यथा आगमतो ज्ञाता तत्र चोपयुक्तो नोआगमतस्तु द्विधा तद्य था प्रशस्ता अप्रशस्ता च। तत्र प्रशस्ता सम्यग्ज्ञानादिविषया अप्रशस्ता शङ्कितादिदोषदुष्टभक्त पानादिविषया। सा च दशविधा वक्ष्यमाणभेदैर्दशप्रकारा। पिं०। ओघनिर्युक्तौ तु।

गहणेसणम्मि एत्तो, वोच्छं अप्पक्खरमहत्थं ॥९०॥

सुगमा तत्र यदुक्तमत उर्द्धं ग्रहणैषणां वक्ष्यामि तत्प्रतिपादना-याह।

नामं ठवणा दविए, भावे गहणेसणा य बोधव्वा ।
दव्वे वानरजूहं, भावम्मि य ठाणमाई णि ॥९९॥

याऽसौ ग्रहणैषणा सा चतुर्विधा नामग्रहणैषणा स्थाप-नाग्रहणैषणा द्रव्यग्रहणैषणा भावग्रहणैषणा च ज्ञेया । नाम-ग्रहणैषणा सुगमा । तत्र स्थापनाग्रहणैषणा द्विविधा सद्भावस्थापना ग्रहणैषणां कुर्वन् देशतः असद्भवस्थापनाग्रहणैषणा अक्षादिषु तत्र द्रव्यैषणा आगमतो नो आगमतश्च । आगमतो ग्रहणैषणापदार्थज्ञा तत्र वाऽपयुक्तः नोआगमतो ज्ञशरीरभव्यशरीरोभयव्यतिरिक्ता तथा ज्ञशरीरे भव्यशरीरे ज्ञभव्यशरीरव्यतिरिक्तग्रहणैषणायां वानरयूथं भावग्रहणैषणायां तु स्थानादीनि भवन्ति । एतदुक्तं भवति भावग्रहणैषणां कुर्व्वन् स्थाने विवक्षिते तिष्ठति दातृप्रभृतीनि च परीक्षते भावग्रहणैषणायाम् । तत्र द्रव्यग्रहणैषणायामिदं व्याख्यानकम् ''एगो णं तत्थ वानरजूहं परिभमइ काले ण य पडिसाडियपंडपतं जायं उण्हकाले य ताहे जूहवई भणइ अन्नं वणं गच्छामो तत्थ तेसिं जूहवई अन्नवणपरिक्खणत्थं दुन्नि व स तिन्नि व पंवे व सत्त पयट्टशवच्चह वणंतरे जोण्ह ताहे गया एगं वणसडं पासति पउरफलपुप्फं तस्स वणस्स मज्झे एगो महद्दहो तो तं दट्ठूणं हट्ठतुट्ठा गया जूहवइणो साहंति । ताहे सो जूहवई सव्वेसिं समं आगओ तहि तं वण भक्खेणं रुक्खं पलोएइ ताहे तं वणं सुद्धं तेण भणिया खायह वणफलाइ जाहि ते तत्थ धाया पणियं गया ताहे सो जूहवई दहस्स परिसरंतेहं पलोएइ जाव उयरं ताणि पदाणि दीसंति उत्तरंताणि न दीसंति ताहे सो भणइ एस दहो सावओ ता मा एत्थत्थनीरे पासत्थे वाउयरिय पाणिय पियह किं तु नालेण । तत्थ जेहिं सुयं वयणं तस्स तं पुप्फफलाणं आभोगिणो जाया जेहिं ण सुयं तस्स ते रुक्खेहिंतो तम्मि दहे जे पाओ देंति ण चेव उत्तरंति ते अ णाभोगिणो जाया एवं चेव आयरिओ ताणं साहूणं आहाकम्मुद्देसियाणि समोसरणण्हवणादिसु परिहरावेइ उवायणं फासुयं गेण्हावेइ जहा नत्थि लिज्जंति आहाकम्माइणा तधा करेइ । तत्थ पुव्वकयाणि खीरदधिघयमाईणि तारिसाणि गिण्हावेइ अकयअ-कारियसंकप्पियाणि तत्थ ये आयरियाणं सुणेंति ते परिहारंति ते च अचिरेण कालेण कम्मक्खयं करेहिंति जे ण सुणेंठि ते न भणंति एए उदाहारया असत् विकल्पा किं कारणं एवं ण घेप्पइ तिविहि णं सुयं पुणो ते अण्णेनाणं जाइयव्वमरियव्वगाणं अभागिणो जाया'' ओघ० ॥

इदानीममुमेवार्थं गाथाभिः प्रदर्शयन्नाह ।

पडिसडियपंडुपत्तं, वणसंडं दट्ठु अन्नहिं पेसे ।
जूहवई पडियरए, जूहेण स संतयं गच्छो ॥
सयमेवालोए उ, जूहवई तं वणं समंतेण ।
वियरइ तेसि पयारं, वारिऊण यतो दहं गच्छे ॥
उयरंते पि य दिट्ठं, नीहारं तं न दीसई ।
नालेण पियह पाणिं, यं न एस निक्कारणो दहो ।

विशालशुङ्गो नाम पर्वतस्तत्रैकस्मिन् वनखण्डे वानरयूथमभि रमते । अथ च तत्रैव पर्वते द्वितीयमपि वनखण्डं सर्वर्तुपुष्पफल-समृद्धं समस्ति परं तन्मध्यभागवर्तिनि ह्रदे शिशुभारोऽवतिष्ठते स यत्किमपि मृगादिकं पानीयाय प्रविशति तत्सर्वमाकृष्य भक्षयति । अन्यदा च तद्वनखण्डं परिशटितपाण्डुपत्रमपगतपुष्प-फलमवलोक्य यूथाधिपतिरन्यस्य वनखण्डस्य निर्वाहसमर्थस्य गवेषणाय वानरयुगलं प्रेषितवान् । गवेषयित्वा च तेन यूथा-धिपतेर्निवेदितमस्ति नवं वनखण्डम् । क्व प्रदेशे सर्वर्तुपुष्प-फलपत्रसमृद्धमस्माकं निर्वाहयोग्यं ततो यूथाधिपतिः सह यूथेन तत्र गतवान् परिभावयितुं च प्रवृत्तः समन्ततस्तद्वनखण्डं ततो दृष्टस्तन्मध्ये जलपरिपूर्णोह्रदः परं तत्र प्रविशन्ति स्वापदानां पदानि दृश्यन्ते न निर्गच्छन्ति । यूथमाहूय यूथाधिपतिरुवाच माऽत्र यूयं प्रविश्य पिबत पानीयं किंतु तटस्थिता एव नालेन पिबत यतो नैष ह्रदो निष्कारणो निरुपद्रवस्तथा हि मृगादीनामत्र पदानि प्रविशन्ति दृश्यन्ते न निर्गच्छन्तीति एवं चोक्ते यैस्तद्वचः कृतं ते वने स्वेच्छाविहारसुखभागिनो जाता इतरे विनष्टाः । उक्ता द्रव्य-ग्रहणैषणा । संप्रति भावग्रहणैषणा वक्तव्या तया चाधिकारो ऽप्रशस्तया पिण्डदोषाणां वक्तुं प्रकान्तत्वात् सा च शङ्किता-दिभेदाद्दशप्रकारा ततस्तानेव शङ्कितादीन् भेदान् दर्शयति ॥

संकियमक्खियनिक्खित्त, पिहियसंहरिय दायगुम्मिस्से ।
अपरिणयलित्तछड्डिय, एसणदोसा दस हवंति ॥

शङ्कितं संभाविताधाकर्मादिदोषं, मक्षितं सचित्तपृथिव्यादिना गुण्ठितम् । निक्षिप्तं सचित्तस्योपरि स्थापितम् । पिहितं सचित्तेन स्थगितम् । संहृतमन्यत्रक्षिप्तम् । दायकदोषदुष्टा । उन्मिश्रापुष्पादिसन्मिश्रम् । अपरिणतमप्रासुकीभूतम् । लिप्तं छर्दितं भूमौ विछडितम् । एते दश एषणादोषाः भवन्ति । (एतेषां वक्तव्यता तत्तच्छब्दे)

तत्र शङ्कितपदं व्याचिख्यासुराह ॥

संकाए चउभंगो, दोसु वि गहणे य भुंजणे लग्गो ।
जं संकियमावन्नो, पणवीसा चरिमए सुद्धो ॥

शङ्क्न्यां शङ्किते चतुर्भङ्गी चत्वारो भङ्गाः सूत्रे च पुंस्त्वनिर्देश आर्षत्वात् । सा चेयं चतुर्भङ्गी ग्रहणे शङ्कितो भोजने चैति प्रथमोभङ्गः । ग्रहमे शङ्कितं न भोजने इति द्वितीयः । भोजने शङ्कितो न ग्रहणे इति तृतीयः । न ग्रहणे न भोजने इति चतुर्थः । अत्र दोषानाह (दोसुवीत्यादि) द्वयोरपि शङ्कितस्य ग्रहणभोजनयोरपि यो वर्तते यश्च ग्रहणयति । ग्रहणे अर्थापत्त्या न भोजने तथा भोजने सामर्थ्यान्न ग्रहणे स सर्वोऽपि लग्नो दोषेण संबद्धः । केन दोषेणेत्याह (जं सकियमित्यादि) षोडशोद्गमदोषाणामथैषणादोषरूपाणां पञ्च-विंशतिदोषेण शङ्कितं संभावितमापन्नो वर्तते तेन दोषेण संबद्धः । इदमुक्तं भवति यदाधाकर्मत्वेन शङ्कितं तद् गृह्णानो भुञ्जानो वाऽऽधाकर्मदोषेण संबध्यते यदि पुनरौद्देशकत्वेन तत औद्दे-शिकेनेत्यादि । चरमे चतुर्थभङ्गे पुनर्वर्तमानः शुद्धो न केनापि दोषेण संबध्यते इत्यर्थः । इह 'पणवीसा' इत्युक्तं ततस्तानेव पञ्च-विंशतिदोषानाह ।

उग्गमदोसा सोलस, आहाकम्माइ एसणा दोसा ।
नवमक्खियाइ एए, पणवीसा चरिउए सुद्धे ॥

आधाकर्म्मादयः षोडश उद्गमदोषा नव च भ्रक्षितादयः एष-णादोषा एते मिलिताः पञ्चविंशतिः चरमे तु भङ्गे न ग्रहणे न

भोजने इत्येवंरूपे वर्तमानो यतिः । यत इहाशुद्धमपि छद्मस्थपरीक्षया निः शङ्कितं गृहीतं शुद्धं भवतीत्येतदेवोपदर्शयति ॥

छउमत्थो सुयनाणी, उवउत्तो उज्जुओ पयत्तेण ।
आवन्नो पणवीसं, सुयनाणपमाणओ सुद्धो ॥

छद्मस्थः श्रुतज्ञानी ऋजुको मायारहितः प्रयत्नेन यथागमादरेण गवेषयन् पञ्चविंशतेर्दोषाणामन्यतमं दोषमाप्तोऽपि श्रुत-ज्ञानप्रमाणतः आगमप्रामाण्यतः शुद्धः। एनमेवार्थं स्पष्यति।

ओहो सुओवउत्तो, सुय नाणी जइवि गिण्हइ असुद्धं।
तं केवली वि भुंजइ अपड णसुयं भवे इयरहा॥

''ओहो'' इत्यत्रप्रथम तृतीयार्थे तत ओघेन सामान्येन श्रुतेपिण्ड-निर्युक्त्यादिरूपे आगमने उपयुक्तः स तु तदनुसारेण कल्प्याकल्प्यं परिभावयन् श्रुतज्ञानी यद्यपि कथमप्यशुद्धं गृह्णाति तथाऽपि ततः केवल्यपि केवलज्ञान्यपि भुङ्क्ते इतरथा श्रुत-ज्ञानमप्रमाणं भवेत्। तथा हि छद्मस्थः श्रुतज्ञानवलेन शुद्धं गवेषयितुमीष्टे न प्रकारान्तरेण। ततो यदि केवली श्रुतज्ञानिना यथागमं गवेषयितमप्यशुद्धमिति कृत्वा न भुञ्जीत ततः श्रुतेऽनाश्वासः स्यादिति न कोऽपि श्रुतं प्रमाणत्वेन प्रपद्येत श्रुतज्ञानस्य चाप्रामाण्ये सर्वक्रियाविलोपप्रसङ्गः। श्रुतमन्तरेण छद्मस्थानां क्रियाकाण्डस्य परिज्ञाना संभवात्। ततः किमित्याह।

सुत्तस्य अप्पमाणे, चरणाभावो तओ य मोक्खस्स।
मोक्खस्स वि य अभावे, दिक्खपवित्तीनिरत्था उ॥

सूत्रस्याप्रामाण्ये चरणस्य चारित्रस्याभावः श्रुतमन्तरेण यथावत्सावद्येतरविधिप्रतिषेधपरिज्ञानासंभवात्। चरणाभावे च मोक्षाभावो मोक्षाभावे च दीक्षानिरर्थिका तस्या अनल्पार्थत्वात्। संप्रति ग्रहणे शङ्कितो भोजने च इत्यस्य प्रथमभङ्गस्य संभवमाह।

किं नुहख द्धा भिक्खा, दिज्जह न य तरइ पुच्छिउं हरिमं।
इइ संकाए घेत्तुं, न भुंजइ संकिओ चेव॥

कोऽपि साधुः स्वभावतो लज्जावान् भवति। तत्र क्वापि गृहे भिक्षार्थं प्रविष्टः सन् प्रचुरां भिक्षां लभमानः स्वचेतसि शङ्कते किमत्र प्रचुरा भिक्षा दीयते। न च लज्जया। प्रष्टुं शक्नोति तत एवं शङ्कया गृहीत्वा शङ्कित एव तद् भुङ्क्ते इति प्रथम भङ्गे वर्तते।

संप्रति ग्रहणे शङ्कितो न भोजने इत्यस्य संभवमाह।

हियएण संकिणा गहि-या अन्नेण सोहिया सा य।
एगयं पहेणगं वा, सोउं निस्संकियं भुंजे।

इह केनापि साधुना लज्जादिना प्रष्टुमशक्नुवता प्रथमतः शङ्कितेन हृदयेन या गृहीता भिक्षा सा अन्यसंघाटकेन शोधिता यथा प्रकृतं प्रकरणं किमपि प्राघूर्णभोजनादिकं यदि वा प्रहेणकं कुतश्चिदन्यस्माद् गृहादायातमिदि। ततो द्वितीयसंघाटकादेतत् श्रुत्वा यो निःशङ्कितो भुङ्क्ते स द्वितीये भङ्गे वर्तते।

तृतीयस्य भङ्गस्य संभवमाह।

जारिसए व्विय लद्धा, खद्धा भिक्खा मए असुयगेहे।
अन्नेहि वि तारिसिया, वियडंतनिसामणे तइए॥

इह कोऽपि साधुर्लब्धप्रचुरभिक्षाको विकटयतो गुरोरग्रतः सम्यगालोचनाश्रवणे सति शङ्कते यादृश्येव मया भिक्षा प्रचुरा लब्धा तादृश्येवान्यैरपि संघाटकैस्तत्र न मे तदाधाकर्मादिदोषदुष्टं भविष्यतीति भुञ्जानो यतिस्तृतीय भङ्गे वर्तते।

अत्र पर आह।

जइ संका दोसकरी, एवं सुद्धम्मि होइ अविसुद्धं।
निस्संकामसियंति य, अणेसणिज्जम्मि निद्दोसं॥

यदि शंङ्का दोषकरी तत एवं सति इदमायातं शुद्धमपि शङ्कितं सत् अशुद्धं भवति। शङ्कादोषदुष्टत्वात्। तथा अनेषणीयमपि निःशङ्कितमन्वेषितं शुद्धं प्राप्नोति शङ्करहितत्वात् न चैवं युक्तं स्वभावतः शुद्धस्याशुद्धस्य वा शङ्काभावाभावमात्रेण अन्यथा कर्तुमशक्यत्वात्। अत्राचार्य आह सत्यमेतत्तथाहि।

अविसुद्धो परिणामो, एगयरे अवडिओ य पक्खम्मि।
एसिं पि कुणइ णेसिं, अणेसिमेसि वि सुद्धो उ॥

अविशुद्धः परिणामः। अध्यवसायः किंरूपो विशुद्ध इत्याह। एकतरस्मिन्नपि शुद्धमेवेदं भक्तादिकं यदि वा अशुद्धमे-वेत्यन्यतरस्मिन्नपि पक्षेऽपतन् (एसिं पित्ति) एषणीयमशुद्धं विशुद्धस्तु परिणामो यथोक्तागमविधिना गवेषयतः शुद्ध-मेवेदमित्यध्यवसायः। अनेषणीयमपि स्वभावतोऽशुद्धमपि शुद्धं करोति श्रुतज्ञानस्य प्रामाण्यत्तस्मान्न कश्चित् प्रागुक्तो दोषः। तदेवमुक्तं शङ्कितद्वारमधुना भ्रक्षितद्वारमाह।

दुविहं च मक्खियं खलु, सचित्तं चेव होइ अचित्तं।
सचित्तं पुण तिविहं, अचित्तं होइ दुविहं तु॥

म्रक्षितं द्विधा तद्यथा सचित्तमचित्तं च सचित्तम्रक्षितं चेत्यर्थः। तत्र यत्सचित्तेन पृथिव्यादिनाऽवगुण्ठितं तत्सचित्तं यत्पुनरचित्तेन पृथिवीरजःप्रभृतिनाऽवगुण्ठितं तदचित्तं तत्र सचित्तं सचित्तम्रक्षितं च। अचित्तमचित्तम्रक्षितम्। पुनस्त्रेधा एतदेव व्याख्यानयति।

पुढवीआउवणस्सइ, तिविहं सचित्तमक्खियं होइ॥
अचित्तं पुण दुविहं, गरहियमियरे य भयणा उ॥

शचित्तम्रक्षितं त्रेधा तद्यथा पृथ्वीम्रक्षितम् अप्कायम्रक्षितं वनस्पति-कायम्रक्षितं च। तत्रैव पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् पृथिव्य दिम्रक्षितं पृथिवीत्याद्युक्तम्। अचित्तमचित्तम्रक्षितं पुन-र्द्विधा तद्यथा गर्हितं वसादिना लब्धमितरत्पूतादिना॥ अत्र च कल्प्याकल्प्यविधौ भजना विकल्पना सा चाग्रे वक्ष्यते। संप्रति सचित्तपृथिवीकायम्रक्षितं प्रपञ्चतो भावयति॥

सुक्खेण ससरक्खेण, मक्खियमोल्लेण पुढविकाएणा॥
सव्वं पि मक्खियत्तं, पत्तो आउम्मि वोच्छामि।

इह सचित्तपृथिवीकायो द्विधा तद्यथा शुष्क आर्द्रश्च। तत्र शुष्केण सरजस्केनातीवश्लक्ष्णतया भस्मकल्पेन यत् देहमात्रं हस्तो वा म्रक्षितो यच्चार्द्रेण पृथिवीकायेन सचित्तेन मृक्षितं तत्सर्वं हस्तादिम्रक्षितं सचित्तपृथिवीकायमृक्षितनवगन्तव्यम्। तत ऊर्द्धमप्कायविषये मक्षितं वक्ष्यामि॥

पुरपच्छकम्म ससणि-द्धुदउल्ले चउर आउभेया उ।
उक्कडरसावलित्तं, परित्तणत्तं महिरुहेसु॥

अप्काये अप्कायमृक्षिते चत्वारो भेदाः तद्यथापुरः कर्म पश्चात्कर्म सस्निग्धमुदकार्द्रं च। तत्र भक्तादेर्दानात्पूर्वं यत्साध्वर्थं कर्म हस्तपात्रादेर्जलप्रक्षालनादि क्रियते तत्पुरः कर्म। यत्पुनर्भक्तादेद-नात्पश्चात्। क्रियते तत्पश्चात्कर्म। सस्निग्धमीषद्वक्ष्य-माणजलखरण्टितं हस्तादि उदकार्द्रस्पृष्टो लभ्यमानजलसंसर्गः। संप्रति वनस्पतिकायमृक्षितं प्रपञ्चयति (उक्कडेत्ति) उत्कृष्टरसानि प्रचुरर-सोपेतानि यानि परीतानां प्रत्येकवनस्पतीनां भूतफलादीनामनन्ता-नामनन्तकायिकानां च पनसफलादीनां सद्यःकृत्तानि श्लक्ष्णखण्डानि इति सामर्थ्याद्गम्यते तैः सलिलं

खरण्टितं यत् हस्तादि तन्महीरुहेषु अत्र तृतीयार्थे सप्तमी महीरुहैर्मृक्षितमवसेयं परित्ताणत्तमित्यत्र प्राकृतत्वा-द्विभक्तिवचनव्यत्यय इति षष्ठीबहुवचनं व्याख्यातम्॥

सेसेहि य काएहिं, तिहि बि तेउसमीरणतसेहि।
सिचत्तं मीसं वा, न मक्खिअत्थि उल्लं व॥

शेषैस्तेजःसमीरणत्रसरूपैस्त्रिभिरपि सचित्तरूपमिश्ररूपमा-र्द्रतारूपं वा म्रक्षितं न भवति। सचित्तादितेजस्कायादिसंसर्गेऽपि लोकम्रक्षितशब्द-प्रवृत्त्यदर्शनात् अचित्तैस्तु तैर्भस्मादि-रूपैःपृथिवीकायादौ न च म्रक्षितत्वसंभव इति न तस्य प्रतिषेधः। वातकायेन सचित्तेनापि न मूक्षितत्वं घटते तथा लोके प्रतीत्यभा-वात्। संप्रति सचित्तपृथिवीकाया-दिभिर्मूक्षिते हस्तपात्रे आश्रित्य भङ्गान् कल्प्याकल्प्यविधिं च प्रतिपादयति।

सचित्तमक्खितम्मि, हत्थपत्ते य होइ चउभंगो।
आइतिए पडिसेहो, चरिडे भंगे अणुन्ना उ॥

सचित्तैः पृथिवीकायादिभिर्मूक्षिते हस्तपात्रे च चतुर्भङ्गी चत्वारो भङ्गाः सूत्रे च पुंस्त्वनिर्देश आर्षत्वात्। ते च चत्वारा भङ्गा अमी तद्यथा हस्तो मूक्षितो पात्रं च, हस्तो मूक्षितो न पात्रं, पात्रं मूक्षितं न हस्तो, हस्तो न नापि पात्रं, तत्रादिमे भङ्गत्रिके प्रतिषेधो न कल्पते ग्रहीतुमिति भावः। चरमे भङ्गे पुनरनुज्ञातो यस्तीर्थकरगणधरैस्तत्र दोषाभावात्। अचित्तमूक्षितमाश्रित्य कल्प्याकल्प्यविधिमाह।

अचित्तमक्खियम्मि उ, सुविभंगेसु होइ भयणा उ।
अगरहेण उ गहणं, पडिसेहो गरहिए होइ॥

अचित्तमक्षितेऽपि हस्तपात्रे अधिकृत्य प्राग्वत् चत्वारो भङ्गास्तत्र च चतुर्ष्वपि भङ्गेषु विभजना विकल्पना तामेवाह अगर्हितेन लोकनिन्दितेन घृतादिना म्रक्षिते ग्रहणं, गर्हितेन तु वसादिना मूक्षिते भवति प्रतिषेधः। तत्रापि चतुर्थो भङ्गः शुद्ध एवेति ग्रह-णम्। अगर्हितमूक्षितमप्यधिकृत्य विशेषमाह।

संसज्जिमिहि वज्जं, अगरहिएहिं पि गारेसदवेहिं।
महुघयतिल्लगुलेहि य, मा मच्छिपिपीलियाघाओ॥

संसक्तिमद्भ्यां तन्मध्यनिपतितजीवयुक्ताभ्यां गोरसद्रवाभ्यां दद्ध्यादियामकाभ्यामगर्हिताभ्यामपि मूक्षितं मूक्षिताभ्यां हस्तपात्राभ्यां वा दीयमानं वर्ज्यं परिहार्यं न ग्रहीतव्यमित्यर्थः। तथा मधुघृततैलद्रवगुडैरगर्हितैरपि मूक्षितं मूक्षिताभ्यां वा हस्तपात्राभ्यां दीयमानं वर्ज्यं कुत इत्याह (मा मच्छि-पिपीलियाघाओ त्ति) मा मक्षिकापिपीलिकानामुपलक्षणमेतत् पतङ्गादीनां वातादीनां वशतो लग्नानां घातो विनाशो मा भूदिति कृत्वा एतच्चोक्तानुष्ठानजिनकल्पिका-द्यधिकृत्योक्तमवसेथं स्थविरकल्पिकास्तु यथाविधियतनया घृताद्यपि गुडा-दिमूक्षितमशोकवर्क्याद्यापि च गृह्णन्ति। संप्रति गर्हिता-गर्हितविशेषमाह।

मंसवस सोणियासव, लोए वा गरहिए विवज्जाउ।
उभओ विगरहिएहिं, मुत्तुच्चारेहि छिन्नं पि॥

मांसवसाशोणितासवैरत्र सूत्रे विभक्तिलोप आर्षत्वात् लोके गर्हितैरपि वा शब्दः पूर्वापेक्षया समुच्चये मूक्षितं वर्जयेत्। तथा उभयस्मिन्नपि लोके लोकोत्तरे च गर्हिताभ्यां मूत्रोच्चाराभ्यां माऽऽस्तां मूक्षितं स्पृष्टमपि वर्जयेत्। उक्तं मूक्षितद्वारम्।

अथ निक्षिप्तद्वारमाह।

सचित्तमीसएसु, दुविहं काएसु होइ निक्खित्तं।
एक्केक्कं तं दुविहं अणंतरं परंपरं चेव॥

इह कल्पनीयं निक्षिप्तं द्विविधा सचित्तेषु मिश्रेषु च। एकैकमपि द्विधा। तद्यथा अनन्तरं परंपरं च। तत्रानन्तरमव्यवधानेन परंपरं व्यवधानेन यथा सचित्तपृथिवीकायस्योपरि स्थापनिका तस्या उपरि देयं वस्त्विति। इह परिहार्यापरिहार्यविभागं विना सामान्यतो निक्षिप्तं सचित्ताचित्त-मिश्ररूपभेदात्रि धा। तत्र च त्रयश्च-तुर्भङ्ग्यस्तद्यथा। सचित्ते सचित्तं १ मिश्रे सचित्तं २ सचित्ते मिश्रं ३ मिश्रे मिश्रमित्येका चतुर्भङ्गी। तथा सचित्ते सचित्तम् १ अचित्ते सचित्तं २ सचित्ते अचित्तम् ३ अचित्ते अचित्तम् इति ४। द्वितीया चतुर्भङ्गी। तथा मिश्रे मिश्रम् १ अचित्ते मिश्रं २ मिश्रे अचित्तम् ३ अचित्ते अचित्तम् ४ इति तृतीया चतुर्भङ्गी। संप्रत्य-स्यैवानन्तरपरंपरविभागमाह॥

पुढवीआउक्काए, तेऊवाऊवणस्सइतसाणं।
एक्केक्कदुहाणंतर-परंपराणम्मि सत्तविहो॥

पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिकायानां सचित्तानां प्रत्येकं सचि-त्तपृथिव्यादिषु निक्षेपः संभवति। तत्र पृथिवीकायस्य निक्षेपः षोढा। तद्यथा पृथिवीकायस्य पृथिवीकाये निक्षेप इत्येको भेदः। पृथिवीकायस्याष्काये इति द्वितीयः। पृथिवीकायस्य तेजस्काये इति तृतीयः। वातकाये इति चतुर्थः। वनस्पतिकाये इति पञ्चमः। त्रसकाये इति षष्ठः। एवमप्कायादीनामपि निक्षेपः प्रत्येकं षोढा भावनीयः सर्वसंख्यया षट्त्रिंशद्भङ्गाः। एकैकोऽपि च भेदो द्विधा तद्यथा अनन्तरपरम्परया च। अनन्तरपरंपरव्याख्यानं च प्रागेव कृतम्। केवलमग्निकाये पृथिव्यादीनां निक्षेपः सप्तधा एतच्च स्वयमेव वक्ष्यति। संप्रति पृथिवीकाये निक्षेपस्य यदुक्तं पूर्वं षोढात्वं तत्सूत्रकृत् साक्षाद्दर्शयति।

सचित्तपुढविकाए, सचित्तो चेव पुढविनिक्खत्तो।
आऊतेउवणस्सइ-समीरणतसेसु एमेव॥

सचित्ते पृथिवीकाये सचित्तपृथिवीकायो निक्षिप्तः एवमेव पृथिवीकाये इव अप्तेजोवनस्पतिसमीरणत्रसेषु सचित्त एव पृथिवीकायो निक्षिप्त इति पृथिवीकायनिक्षेपः षोढा एवं शेषकायेष्वपि दर्शयन्नाह।

एमेव सेसयाण वि, निक्खेवो होइ जाव काएसु।
एक्केको सट्ठाणे, परट्ठाणे पंच पंचेव॥

एवमेव पृथिवीकायस्येव शेषाणामप्कायादीनां निक्षेपो भवति जीवनिकायेषु पृथिव्यादिषु तत्र एकैको भङ्गः स्वस्थाने शेषाः पञ्च पञ्च परस्थाने। तथाहि पृथिवीकायस्य पृथिवीकाये निक्षेपः स्वस्थाने अप्कायादिषु शेषेषु पञ्चसु परस्थानेषु। एवम-प्कायादीनामपि भावनीयम्। ततः स्वस्थाने एकैको भङ्गः परस्थाने पञ्च पञ्च तदेवं प्रथमचतुर्भङ्गिकायाः सचित्ते सचित्तमित्येवंरूपे प्रथमे भङ्गे षड्विंशतिभेदाः। संप्रति प्रथमचतुर्भङ्ग्या एवं शेषं भङ्गत्रयं द्वितीयतृतीयचतुर्भङ्ग्यौ चातिदेशतः प्रतिपादयति।

एमेव मीसएसु वि, मीसाणसचेय ऐसु निक्खेवो।
मीसाणं मीसेसु य, दोण्हं पि य होइ चित्तेसु॥

एवमेव सचित्तेष्विव मिश्रेष्वपि मिश्रपृथिव्यादिनिक्षेपः षट्त्रिंशत् भेदोऽवगन्तव्यः। एतेन प्रथमचतुर्भङ्गो व्याख्यातः। एवमेव मिश्राणां पृथिव्यादीनां मिश्रेषु पृथिव्यादिषु निक्षेपः षट्त्रिंशद्भेदः। अनेन

प्रथमचतुर्भङ्ग्याश्चतुर्थो भङ्गो व्याख्यातः सर्वसंख्यया प्रथम-चतुर्भङ्ग्यां चतुश्चत्वारिंशद्भङ्गशतम्। एवमेव द्वयोरपि सचित्त-मिश्रयोरचित्तेषु निक्षिप्यमाणयोर्ये द्वे चतुर्भङ्ग्यौ प्रागुक्ते तथाऽपि प्रत्येकं चत्वारिंशद्भङ्गशतं भवति सर्वसंख्यया भङ्गानां शतानि चत्वारि द्वात्रिंशदधिकानि भवन्ति। उक्ता निक्षेपस्य भेदाः। सं-प्रत्यस्यैव निक्षेपस्य पूर्वोक्तचतुर्भङ्गी त्रयमधिकृत्य कल्प्या-कल्प्यविधिमाह।

जत्थ उ सचित्तमीसे, चउभंगो तत्थ चउसु वि भंगेसु।
तंतु अणंतरइयं, परित्ताणं तं च वणकाए॥

यत्र निक्षेपे सचित्तमिश्रे आदिचतुर्भङ्गी भवति। प्रथमा चतुर्भङ्गी भवतीत्यर्थः। तत्र चतुर्ष्वपि भङ्गेषु अपिशब्दात् द्वितीय-तृतीयचतुर्भङ्ग्योरपि आद्येषु त्रिषु विभङ्गेषु वर्तमाननन्तरं परंपरा वा वनस्पतिविषये प्रत्येकमनन्तं वा तत्सर्वमग्राह्यं सामर्थ्यात्। द्वितीयतृतीयचतुर्भङ्ग्याश्चतुर्थे चतुर्थभङ्गे वर्तमानं गाह्यां तत्र दोषाभावात्। संप्रति सचित्तादिभिस्त्रिभिरपि मतान्तरेणैकमेव चतुर्भङ्गीकल्प्या-कल्प्यविधिं प्रदर्शयति।

अइव ण सचित्तमीसो, से एगओएगउ अचित्तो।
एत्थं चउक्कभंगो, तत्थाइचित्तए कहा नत्थि॥

अथवेति प्रकारान्तरताद्योतको णमिति वाक्यालङ्कारे इह चतुर्भङ्गीप्रतिपक्षपदोपस्थित्या (से) तस्य भवति। तत्र एकस्मिन् पक्षे सचित्तमिश्रे एकचतुष्पक्षे अचित्तः। ततः प्रागुक्तक्रमेण चतु-र्भङ्गी भवति तद्यथा सचित्तमिश्रे सचित्तमिश्रं सचित्तमिश्रे अचित्तम् अचित्ते अचित्तमिति। अत्रापि प्रागिव एकैकस्मिन् भङ्गे पृथिवीतेजोवा-युवनस्पतिभेदात्। तत्र षट्त्रिंशद् भेदाः सर्वसंख्यया चतुश्चत्वारिंशदधिकं शतं तत्रादित्रिके आदिमे भङ्गत्रये कथा नास्ति ग्रहणे वार्ता न विद्यते सामर्थ्याच्चतुर्थो भङ्गः कल्पते। तदेवं ''पुढवीत्यादि'' स्थलमाद्ययोः पूर्वार्द्धम् व्याख्यातं। संप्रति ''एक्केक्के दुहाणंतरमि'' त्यवयवं व्याचिख्यासुर्द्वितीयचतुर्भङ्ग्याः सत्कस्य तृतीयस्य भङ्गस्य सामान्यतोऽशुद्धस्य विषये विशेषं विभणिषुरनन्तरपरंपरया वा मार्गणां करोति।

जं पुण अचित्तदव्वं, निक्खिप्पइ चेयणेसु दव्वेसु।
तह मग्गणा उ इणमो, अणंतरपरंपरं होइ॥

यत् किमपि अचित्तं द्रव्यमोदनादि चेतनेषु स चित्तेषु मिश्रेषु वा निक्षिप्यते तत्रेयमनन्तरं परंपरया वा मार्गणा परिभावनं भवति।

ओमाहिगादणंतर-परपिठरगाइपुढवीए।
नवणीयाइ अणंतर-परंपरा ताव माइंसु॥

अवमाहिगादि पक्वान्नं मण्डकप्रभृति पृथिव्यामनन्तरनिक्षिप्तं पृथिव्या एवोपरि स्थिते पिठरकादौ यन्निक्षिप्तमवगाहिमादि तत्परंपरानिक्षेप उक्तः। सम्प्रत्यप्कायमाश्रित्य ''नवणीए'' इत्यादि नवनीतादि प्रक्षणस्थानीभूतघृतादिसचित्तादिरूपे उदके निक्षिप्तमनन्तरनिक्षिप्तं तदेव नवनीतादि वा अवगाहिमादि वा जलमध्यस्थिेषु नावादिषु स्थितं परंपरनिक्षिप्तम्। सम्प्रति तेजस्कायमधिकृत्यानन्तरे परंपरे व्याख्यानयन् ''अगणिम्मि सत्तविहो'' इत्याद्यवयवं व्याख्यानयति॥

विज्झायमम्मुरिंगा-लडेव अप्पत्तपत्तसमजाले।
वोक्कंते सत्त दुगं, जंतोलित्ते य जयणाए॥

इह समिधा वह्निस्तद्यथा विध्यातो, मर्मुरो, ऽङ्गारः, अप्राप्तः, प्राप्तः, समज्वालो व्युत्क्रान्तश्च। तत्र यः स्पष्टतया प्रथमं नोपलभ्यते। पश्चात्त्विन्धनप्रक्षेपे वृद्धिमपि गच्छति स व्युत्क्रान्तः। एते सप्त भेदास्तेजस्कायस्य। तत्र एकैकस्मिन् भेदे द्विकं तद्यथा अनन्तरनिक्षिप्तं परंपरनिक्षिप्तं च। तत्र यत् विध्यातादिरूपे वह्नौ मण्डकादि प्रक्षिप्यते तत् अनन्तरनिक्षिप्तम् यत्पुनरग्नेरुपस्थापिते पिठरादौ क्षिप्तं तत्परंपरनिक्षिप्तम् तत्र सप्तानां भेदानां मध्ये यमेव तमेवाधिकृत्य यन्त्रेषु रसपाकस्थाने कटहादौ अवलिप्ते मृत्तिकाखरण्टिते यतनया परिसाटिपरिहारेण ग्रहणमिक्षुरसस्य कल्पते। संप्रत्येनामेव गाथां व्याख्यानयन् प्रथमतो विध्यातादीनां स्वरूपं गाथाद्वयेनाह।

विज्झाउं ति न दीसइ, अग्गी दीसेइ इंधणे बूढो।
आपिंगलअगणिकणा, मम्मुरनिज्जालइंगाले॥
अप्पत्ता उ चउत्थे, जाला पिठरं तु पंचमे पत्ता।
छट्ठ पुण कन्नसमा, जालासमइत्थिया चरिमे॥

सुगमं नवरं (अप्पत्ता उ चउत्थे जाला इति) चतुर्थे अप्राप्ताख्ये भेदे पिठरमप्राप्ता ज्वाला द्रष्टव्याः। पञ्चमेत्यत्राप्यक्षरगमनिका कार्या। संप्रति (जं तोलिते य जयणाए) इत्यवयवं व्याचिख्या-सुराह॥

यं सो लित्तकडाहे, परिसाडी नत्थि तं पि य विसालं।
सो वि य अचिरबूढो, इच्छुरसो नाइउसिणो य॥

इह यदीति सर्वत्राध्याह्रियते यत् यदि कटाहः पिठरविशेषः पिठरः पार्श्वेषु मृत्तिकया वा लिप्तो भवति। दीयमाने चेक्षुरसे यदि परिसाटिर्नोपजायते तदपि च कटाह रूपं भाजनं यदि विशालं विशालमुखं भवति। सोऽपि चेक्षुरसोऽचिरक्षिप्त इति कृत्वा यदि नात्युष्णो भवति तदा स दीयमान इक्षुरसः कल्पते। इह यदि दीयमानस्येक्षुरसस्य कथमपि विन्दुर्बहिः पतति तर्हि स लेप एव वर्त्तते न तु चुल्लीमध्यस्थिततेजस्कायमध्ये पतति ततः पार्श्वावलिप्त इति कटाहस्य विशेषणमुक्तम्। तथा विशालमुखादा-कृष्यमाण उदश्वनः पिठरस्य कर्णे न लगति। ततो न पिठरस्थ भङ्ग इति न तेजस्कायविराधनेति विशालग्रहणम्। अनत्युष्णग्रहणे तु कारणं स्वयमेव वक्ष्यति। संप्रत्युदकमधिकृत्य विशेषमाह।

उसिणोदगं पि घेप्पइ, गुडरसपरिणामियं न अच्छुसियं।
जंतु अघट्टियकंतं, फड्डिय पडणं पि मा अग्गी॥

उष्णोदकमपि गुडरसपरिणामितमनत्युष्णं गृह्यते। किमुक्तं भवति यत्र कटाहे गुडः पूर्वं क्वथितो भवति तस्मिन् निक्षिप्तं जल-मीषत्तप्तमपि कटाहसंसक्तगुडरसमिश्रणात् सत्वरं सचित्तीभवति। ततस्तदनन्तरमपि कल्पते। अत्रापि पार्श्वावलिप्तकटा-हस्थितमपरिसाटिं मत्वेति विशेषणद्वय-मनुपात्तमपि द्रष्टव्यम्। तथायत् अघटितकर्णं न यस्मिन् दीयमाने पिठरस्य कर्णावुदश्वनेन प्रविशता निर्गच्छता वा घट्येते तद्दीयमानः कल्प्यते इत्याह (फड्डियपडणं पि मा अग्गी) उदश्वनेन प्रविशता निर्गच्छता वा पि ठरस्य कर्णयोर्घट्यमानयोर्ले पस्योदकस्य वा पतनेन नाग्नि-र्विराद्यतेति कृत्वा एतेन वक्ष्यमाणः षोडश-भङ्गानामाद्यो भङ्गो दर्शितः। संप्रति तानेव षोडशभङ्गान् दर्शयति।

पासोलित्तकडाहे, नच्छुसिणो अपरिसाडिघट्टंते।
सोलसभंगविगप्पो, पढमे णुन्ना न सेसेसु॥

पार्श्वावलिप्तः कटाहः अनत्युष्णो दीयमान इक्षुरसादिः अपरिसाटिः परिसाट्यभावः (अघट्टंते इति) उदश्वनेन पिठरकर्णाघट्टने इत्यन्तानि

चत्वारि पदान्यधिकृत्य षोडश भङ्गा भवन्ति। भङ्गानां च नयनार्थमियं गाथा।

एय समदुग अब्भा, सेसा भंगाण तेसि महरयणा।
एगंतरियं लहु गुरु-लहुगुरुगा य वामेसु ॥

अस्य व्याख्या इह यावतां पदानां भङ्गा आनेतुं चिन्त्यन्ते।

२
२
२
२

तावन्तो द्विका ऊर्द्धाधः क्रमेण स्थाप्यन्ते। ततः प्रथमो द्विको द्वितीयेन द्विकेन गुण्यते जाताश्चत्वारस्तेस्तृतीयोद्विको गुण्यते जाता अष्टौ तैरपि चतुर्थो द्विको गुण्यते जाताः षोडश एतावन्तश्चतुर्णां पदानां भङ्गा भवन्ति। तेषां च पुनर्भङ्गानामेषा रचना प्रथमषड्क्तावेकान्तरितम्। लघु गुरु प्रथमं लघु ततो गुरु पुनर्लघु पुनर्गुरु एवं यावत् षोडशो भङ्गाः। ततः प्रज्ञापकापेक्षया वामेषु वामपार्श्वेषु द्विगुणा लघुगुरवः। तद्यथा द्वितीयषड्क्तौ प्रथमं द्वौ लघू ततो द्वौ गुरू ततो भूयोऽपि द्वौ लघू एवं यावत् षोडशो भङ्गाः। तृतीयषड्क्तौ प्रथमं चत्वारो लघवस्तताश्चत्वारो गुरवस्ततः पुनश्चत्वारो गुरवः चतुर्थषड्क्तौ प्रथममष्टौ लघवः। ततोऽष्टौ गुरवः। स्थापना।

।।।।	।ऽ।।	ऽ।।।	ऽऽ।।
।।।ऽ	।ऽ।ऽ	ऽ।।ऽ	ऽऽ।ऽ
।।ऽ।	।ऽऽ।	ऽ।ऽ।	ऽऽऽ।
।।ऽऽ	ऽऽऽ	ऽ।ऽऽ	ऽऽऽ

अत्र ऋजवोऽशाः शुद्धाः वक्राश्च शुद्धाः। इह षोडशानां भङ्गानामाद्यो भङ्गोऽनुज्ञातः शेषेषु पञ्चदशसु भङ्गेषु सम्प्र-त्युष्णग्रहणे दोषानाह।

दुविहविराहण उसिणे, छड्डुणहाणी य भाणभे ओ य।
वाउक्खित्ताणंतर-परंपरा य पाडयवत्थि ॥

उष्णेऽत्युष्णे इक्षुरसादौ दीयमाने द्विधा विराधना आत्मविराधना परविराधना च। तथाहि यस्मिन् भाजने तप्तस्ततोऽत्युष्णं गृह्णाति। तेन तप्तः सत् भाजनं हस्तेन साधुर्गृह्णन् दह्यते इत्यात्मविराधना। येनापि स्थानेन दात्री ददाति तेनाप्यत्युष्णे न सा दह्यत इति। तथा (छड्डुणे हाणीयत्ति) अत्युष्णमिक्षुरसादि कष्टेन दात्री दातुं शक्नोति कष्टेन च दाने कथमपि साधुसत्कभाजनाद्बहिरुद्गमने हानि-र्दीयमानस्येक्षुरसादेः। तथा (भाणभेओ इत्ति) तस्य भाजनस्य साधुना वा नयनायोत्पाटितस्य एतद्ग्रहणादेर्दात्र्या वा दाना-योत्पाटितस्योदश्वनस्य गण्डरहिस्यात्युष्णतया ऋगिति भूमौ मोचने भङ्गः स्यात्। तथा च षडजीवनिकायविराधनेति। संयमविराधना संयमप्रतिकायमधिकृत्यानन्तरपरंपरे दर्शयन्ति। वातोत्क्षिप्ताः समीरणोत्पाटिताः पपण्टिताः पपण्टिका शालिपर्पटिका अनन्तरं निक्षिप्तं परंपरनिक्षिप्तम् (वत्थित्ति) विभक्तिलोपाद्वस्तौ उपलक्षणमेतत् समीरणापूरितवस्तिप्रभृति व्यवस्थितं मण्डकादि। संप्रति वनस्पतिविषयं द्विविधमपि निक्षिप्तमाह।

हरियाइ अणंतरिया, परंपरं पिठरगाइसु वराणम्मि।
पूपाइ पिट्ठिणंतर-भरये कुउवाइसु इयरा ॥

वने वनस्पतिविषये अनन्तरनिक्षिप्त हरितादिषु सचित्तव्रीहिकाप्रभृतिषु अनन्तरिता निक्षिप्ता अपूपादय इति शेषः। हरितादीनामेवोपरिस्थितेष्वपि पिठरादिषु निक्षिप्ताः अपूपादयः परंपरनिक्षिप्तम्। तथा वलीवर्दादीनां पृष्ठे अनन्तरनिक्षिप्ता अपूपादयः त्रसेष्वनन्तरनिक्षिप्तं वलीवर्दादिपृष्ठ एव भरके कुतुपादिषु वा भाजनेषु निक्षिप्ता मोदकादयः परंपरनिक्षिप्तम् इह सर्वत्रानन्तरनिक्षिप्तं न ग्राह्यं सचित्तसङ्घट्टनादिदोषसम्भवात्। परंपरनिक्षिप्तं तु सचित्तसंघट्टनादि परिहारेण यतनया ग्राह्यमिति संप्रदायः। उक्तं निक्षिप्तद्वारम्।

अथ पिहितद्वारमाह।

सचित्ते अचित्ते, मीसगपिहियम्मि होइ चउभंगो।
आगतिगे पडिसेहो, चरिमे भवम्मि भयणा उ ॥

इह सचित्त इत्यादौ सप्तमी तृतीयार्थे ततोऽयमर्थः सचित्तेन अचित्तेन मिश्रेण वा पिहिते चतुर्भङ्गी भवति। अत्र जातावेकवच-नम्। तत्र तिस्रश्चतुर्भङ्ग्यो भवन्तीति द्रष्टव्यम्। तत्रैका सचित्तमिश्रपदाभ्यां, द्वितीया सचित्ताचित्तपदाभ्यां, तृतीया मिश्राचित्तपदाभ्याम्। तत्र सचित्तेन सचित्तं पिहितं, मिश्रेण, सचित्तं सचित्तेन मिश्रं, मिश्रेण मिश्रमिति प्रथमा चतुर्भङ्गी। तथा सचित्तेन सचित्तं पिहितम्। अचित्तेन सचित्तं। सचित्तेनाचित्तम् अचित्तेनाचित्तमिति द्वितीया चतुर्भङ्गी। तथा मिश्रेण मिश्रं पिहितं, मिश्रेणाचित्तम्। अचित्तेन मिश्रम्। अचित्तेनाचित्तमिति। तृतीया। तत्र गाथापर्यन्तं तुशब्दवचनात्प्रथमचतुर्भङ्ग्यां सर्वेष्वपि भङ्गेषु न कल्पते द्वितीयतृतीयचतुर्भङ्गिकायास्तु प्रत्येकमादिमेषु त्रिषु भङ्गेषु न कल्पते इत्यर्थः। चरमे तु भङ्गे 'जनसोवगुरुणेत्यादिना' स्वयमेव वक्ष्यते। संप्रति चतुर्भङ्गीत्रयविषयावान्तरभङ्गकथनेऽतिदेशमाह॥

जह चेव उ निक्खित्ते, संजोगा चेव होंति भंगा या।
एमेव य पिहियम्मि वि, नाणत्तमिणं तइयभंगे ॥

यथैव निक्षिप्ते निक्षिप्तद्वारे सचित्ताचित्तामिश्राणां संयोगाः प्रागुक्ता यथैव सचित्तपृथिवीकायस्योपरि निक्षिप्त इत्येवं स्वस्थानपरस्थानापेक्षया चतुर्भङ्गीत्रयसङ्गेष्वेकैकस्मिन् भङ्गे षट्त्रिंशद्भेदाः सर्वसंख्यया चत्वारि शतानि द्वात्रिंशदधिकानि। तथात्रापि पिहितद्वारे द्रष्टव्याः। तथाहि प्रागिवात्रापि चतुर्भङ्गीत्रयम् एकैकस्मिंश्च भङ्गे सचित्तपृथिवीकायं सचित्तपृथिवीकायेन पिहितम्। सचित्तपृथिवीकायेनावष्टब्धंमण्डकादि सचित्त-पृथिवीकायानन्तरपिहितं, सचित्तपृथिवीकायगर्भपिठरादिपिहितादिरूपतया स्वस्थानपरस्थाने अधिकृत्य षट्त्रिंशत् भेदाः सर्वसंख्यया चत्वारि शतानि द्वात्रिंशदधिकानि भङ्गानाम्। नवरं द्वितीयतृतीयचतुर्भङ्ग्योः प्रत्येकं तृतीये तृतीये भङ्गे अनन्तरपरंपरमार्गणाविधौ निक्षिप्तद्वारादिकं वक्ष्यमाणनानात्वमवसेयं निक्षिप्ते अनेन प्रकारेणानन्तरपरंपरमार्गणा कृता अत्र त्वन्येन प्रकारेण करिष्यते इति भावः। तत्र सचित्तपृथिवीकायेनावष्टब्धं मण्डकादि सचित्तपृथिवीकायानन्तरपिहितं सचित्तपृथिवीका-यगर्भपिठरादिपिहितंसचित्तपृथिवीकायपरंपरमोदकादि सचित्ताप्कायानन्तरपिहितं हिमादिगर्भपिठरादिना पिहितं सचित्ताप्कायानन्तरपिहितं सचित्ततेजस्कायादिपिहितमनन्तरपरंपरञ्च गाथाद्वयेनाह।

अंगारधूवियाई, अणंतरो परंपरो सरावाई।
तत्थेव अइरवाऊ, परपरं वत्थिणं पिहियं ॥
अइरं फलाइपिहियं, वणम्मि इयरं तु छव्वपिठराई।
कत्थइ संचाराई, अणंतरो णंतरो छट्ठे ॥

इह यदा स्थाल्यादौ संस्वेदनादीनां मध्ये अङ्गारं स्थापयित्वा हिंग्वादिना वासो दीयते तदा तेनाङ्गारेण केषाञ्चित् संस्वेदनादीनां

संस्पर्शोऽस्तीति ता अनन्तरपिहिताः ॥ आदिशब्दाच्चणकादिकंमुर्मुरादिक्षिप्तमनन्तरपिहितमवगन्तव्यम्। अङ्गारभूतेन शरावादिना स्थगितं पिठरादि परंपरपिहितम्। तथा तत्रैव अङ्गारधूपितादौ (अइरत्ति) अतिरोहितमनन्तरपिहितं वायौ द्रष्टव्यं 'यत्राग्निस्तत्र वायुरिति वचनात् समीरणे भृते न तु वस्तिना उपलक्षणमेतत् वस्तिदृतिप्रभृतिना पिहितं परंपरपिहितमवसेयम्। यथा वने वनस्पतिकायविषये फलादिना (अइरत्ति) अतिरोहितेन पिहितमनन्तरपिहितम् ॥ छव्वपिठरादौ छव्वकस्थाल्यादौ स्थितेन फलादिना पिहितं (झरंति) परंपरपिहितम्। तथा त्रसे त्रसकायविषये कच्छपेन संचारादिना वा कीटिकापङ्क्त्यादिना यत्पिहितं तत् अनन्तरपिहितम्। कच्छपसंचारादिगर्भपिठरादिना पिहितम्। इहानन्तरपिहितमकल्प्यं परंपरपिहितं तु भजनया ग्राह्यम्। यदुक्तं ''चरमे भङ्गम्मि भयणाउ'' इति तद्व्याख्यानय-न्नाह।

गुरु गुरुणा गुरु लहुणा य, लहुयं गुरुएण दो विलहुयाई।
अचित्तेण वि पिहिए, चउभंगो दोसु आगइयं ॥

अचित्तेनापि अचित्ते देयवस्तुनि पिहिते चतुर्भङ्गी चत्वारो भङ्गास्तद्यथा गुरु गुरुणा पिहितमित्येको भङ्गः। गुरु लघुनेति द्वितीयः। लघु गुरुणेति तृतीयः (दो वि लहुयाइत्ति) लघु लघुना पिहितमिति चतुर्थः। एषु च चतुर्षु भङ्गेषु मध्ये द्वयोः प्रथमतृतीयभङ्गयोरग्राह्यां गुरुद्रव्यस्योत्पाटने कथमपि तस्य पाते पादादिभङ्ग संभवात् ततः पारिशेष्यात् द्वितीयचतुर्थयोर्भङ्ग -योर्याह्यमुक्तदोषाभावात्। देयवस्त्वाधारस्य पिठरादेर्गुरुत्वेऽपि ततः करोटिकादीनां दानसंभवात्। उक्तं पिहितद्वारम्।

अथ संहृतद्वारमाह।

सचित्ते अचित्ते, मीसगसंहरणे य चउभंगे।
आइतिए पडिसेहो, चरिमे भंगम्मि भयणा उ ॥

इह येन मात्रकेण कृत्वा भक्तादिकं दातुमिच्छति दात्री तत्र यद्दातव्यं किमपि सचित्तमचित्तं मिश्रं वाऽस्ति ततस्तदन्यत्र स्तीम्यादौ क्षिप्त्वा तेनान्यत्र ददाति तच्च कदाचित्सचित्तेषु पृथिव्यादिषु मध्ये क्षिपति कदाचिदचित्तेषु कदाचिन्मिश्रेषु क्षपणा च संहरणमुच्यते। ततः संहरणे सचित्ताद्यधिकृत्य चतुर्भङ्गी। अत्र जातावेकवचनं मिश्रचतुर्भङ्गी अत्र जातावेकवचनात्तिस्रश्चतुर्भङ्ग्यो भवन्तीत्यर्थः। तथाहि एका चतुर्भङ्गी सचित्तमिश्रपदाभ्यां, द्वितीया सचित्ताचित्तपदाभ्यां, मिश्राचित्तपदाभ्यां तृतीयेति। तत्र सचित्ते सचित्तं संहृतं, मिश्रे सचित्तं, सचित्ते मिश्रं, मिश्रे मिश्रमिति प्रथमा चतुर्भङ्गी। तथा सचित्ते सचित्तं संहृतमचित्ते सचित्तं सचित्ते अचित्तम्, अचित्ते अचित्तमिति द्वितीया। मिश्रे मिश्रं संहृतम्, अचित्ते मिश्रं, मिश्रे अचित्तम्, अचित्ते अचित्तमिति तृतीया। अत्र गाथापर्यन्तं तुशब्दसामर्थ्यात्प्रथमचतुर्भङ्गिकायाः सर्वेष्वपि भङ्गेषु प्रतिषेधः। द्वितीयतृतीयचतुर्भङ्गिकयोस्तु आदिकेष्वादिमेषु त्रिषु त्रिषु भङ्गेषु प्रतिषेधश्चरमे भजना।

अधुना चतुर्भङ्गीत्रयसत्कावान्तरभङ्गकथने अतिदेशमाह॥

जह चेव उ निक्खित्ते, संजोगा चे होंति भंगा य।
तह चेव उ साहरणे, नाणत्तमि णं तइयभंगे ॥

यथैव निक्षिप्ते निक्षिप्तद्वारे सचित्ताचित्तमिश्रपदानां संयोगाः कृता यथैव च सचित्तः पृथिवीकायः सचित्तपृथिवीकायस्योपरि निक्षिप्त इत्येवं स्वस्थानपरस्थानापेक्षया चतुर्भङ्गीत्रयभङ्गेष्वेकैकस्मिन् भङ्गे षट्त्रिंशत् षट्त्रिंशत् भङ्गा उत्काः सर्वसंख्यया चत्वारि शतानि द्वात्रिंशदधिकानि भङ्गानां तथा त्रापि संहृतद्वारे द्रष्टव्याः। तथाहि प्रागिवात्रापि चतुर्भङ्गीत्रयमेकैकस्मिश्च भङ्गे सचित्तः पृथिवीकायः मध्ये संहृत इत्यादिरूपतया स्वस्थानपरस्थाने अधिकृत्य षट्त्रिंशत् षट्त्रिंशद्भेदाः सर्वसंख्यया भङ्गानां चत्वारि शतानि द्वात्रिंशदधिकानि नवरं द्वितीयतृतीयचतुर्थङ्गिकयोः प्रत्येकं तृतीये भङ्गे अनन्तरपरंपरमार्गणाविधौ निक्षिप्तद्वारादाविदं वक्ष्यमाणं नानात्वमवसेयम्। निक्षिप्तद्वारे अन्येन प्रकारेणानन्तरमार्गणा कृता अन्यत्र संहृतद्वारे अन्यथा करिष्यते इति भावः तदेवान्यथात्वं दर्शयन् संहरणलक्षणमाह॥

मत्तेण जेण दाहिइ, तत्थ अदिन्नं तु होज्ज असणाइ।
बुंतुं यं तह ते मा, देइ अह होइ साहरणं।

येन मात्रकेण दास्यति दात्री तत्रादेयं किमप्यस्ति अशनादिकं भक्तादि सचित्तं पृथिवीकायादिकं वा ततस्तत् अदेयमत्र स्थानान्तरे क्षिप्त्वा ददाति (अहत्ति) एतत्संहरणम्। तत तल्लक्षणा नुसारेणानन्तर-परंपरमार्गणाऽनुसारणीया। तद्यथा सचित्त-पृथिवीकायमध्ये यदा सहरति तदाऽनन्तरसचित्तपृथिवीकाये संहृतम्। यदा तु सचित्तपृथिवीकायस्योपरिस्थिते पिठरादौ संहरति तदा परंपरया सचित्तपृथिवीकाये संहृतमेवमप्कायादिष्वपि भावनीयम्। अन्तरसंहृते न ग्राह्य परंपरसंहृते पृथिवीकायादिषु घट्टने ग्राह्यमिति। संप्रति द्वितीयतृतीयचतुर्थङ्गीसत्कं तृतीयं भङ्गमाश्रित्य येषु वस्तुषु मा (पा) त्रकस्थितमदेयं वस्तु संहरति तान्युपदर्शयति।

भूमाइएसु तं पुण, साहरणं होइ छसु निकाएसु।
जं तं दुहा अचित्तं, साहरणं तत्थ चउभंगो।

तत् पुनर्मात्रकस्थितस्यादेयस्य वस्तुनः संहरणं भूम्यादिकेषु सचित्तपृथिवीकायादिषु षट्सु जीवनिकायेषु भवति जायते। तत्र चानन्तरोक्त एव कल्प्याकल्प्यविधिरवधारणीयः। तथा यत्संहरणं द्विधाऽपि आधारापेक्षया च अचित्तमचित्तसचित्ते यत्संन्हियते इत्यर्थः। तत्र चतुर्भङ्गी चत्वारो भङ्गास्तानेवाह।

सुक्खे सुक्खं पढम, सुक्खे उल्लं तु विइयओ भंगो।
उल्ले सुक्खं तइओ, उल्ले उल्लं चउत्थो उ।

शुष्के शुष्कं सद्वृतमिति प्रथमो भङ्गः। शुष्के आर्द्रमिति द्वितीयः। आर्द्रे शुष्कमिति तृतीयः। आर्द्रे आर्द्रामिति चतुर्थः।

एक्केक्के चउभंगो, सुक्खाईएसु चउसु भंगेसु।
थोवे थोवं थोवे, बहुं च विवरीय दो अन्ने।

शुष्कादिषु शुष्के शुष्कसंहृतमित्यादिषु चतुर्षु भङ्गेषु मध्ये एकैकस्मिन् भङ्गे चतुर्भङ्गी तद्यथां स्तोके शुष्के स्तोकं शुष्कं स्तोके शुष्के बहु शुष्कं (विवरीय दो अन्नेत्ति) एतद्विपरीतौ द्वौ अन्यौ भङ्गौ द्रष्टव्यौ। तद्यथा शुष्के बहुकं स्तोके शुष्कम्। बहुके शुष्के बहु शुष्कमिति। एवं शुष्के आर्द्रमित्यादिष्वपि त्रिषु भङ्गेषु स्तोके स्तोकमित्यादिरूपा चतुर्भङ्गी प्रत्येकं भावनीया। सर्वसंख्यया षोडश भङ्गाः। अत्र कल्प्यविधिमाह।

जत्थ उ थोवे थोवं, शुक्खे उल्लं व होइ तं गिज्झं।
जइ तं तु समुक्खित्तं, थोवाभारं दलइ अन्नो।

यत्र तु भङ्गे स्तोकं तुशब्दाद्बाहुके च संहृतं भवति तदपि शुष्के शुष्कं कल्पते एव अथवा शुष्के आर्द्रं वाशब्दादार्द्रे शुष्कमार्द्रे आर्द्रं वा तदा

तत् ग्राह्यं न शेषम्। कुत इत्याह (जइ इत्यादि) यदि तत् अदेयं वस्तु स्तोकाभारं बहुभाररहितमन्यत्र समुत्क्षिपत्ये तद्दाति तर्हि तदार्द्रं कल्पते नान्यथा बहु। किंच सन्हियमाणं बहु भारं भवति। ततः शुष्के शुष्कमित्यादिषु चतुर्ष्वपि भङ्गेषु प्रत्येकं स्तोके स्तोकमिति। प्रथमतृतीयौ भङ्गौ कल्पेते न द्वितीयचतुर्थौ तत्र दोषानाह।

उक्खेवे निक्खेवे, महल्लमाणम्मि लुद्धवहमाहो।
अवियत्तं वोच्छेउ, छक्कायबहो य गुरुमत्ते।

महति भाजने प्रभूतादेयवस्तुभारयुक्ते गुरुमात्रकरूपे उत्क्षेपे उत्पाट्यमाने (निक्खेवेत्ति), निक्षिप्यमाणे दात्र्याः पीडा भवति। तथा लघ्वयं न परपीडां गणयतीति निन्दा तथा तद् भाजनं कदाचिदुष्णभक्तादिभृतं स्यात्ततस्तस्योत्पाटने कथमपि तस्य च विधिनाशो दात्र्याः साधोर्वा दाहः स्यात्। तथा मुण्डस्य भिक्षादानायोत्पाटितमिदं भ्रममित्येवं खेदवशतः कदाचि-दप्रीतिरूपजायते ततस्तत्र द्रव्यस्य द्रव्यवच्छेदः। तथा महति भाजने भग्ने तन्मध्ये स्थिते भक्तादौ सर्वतो विसर्पति भूम्यादिस्थित-पृथिवीकायादिजन्तुविनाशः। यत एवमेते दोषास्ततः स्तोके बहुकं बहुके बहुकमिति द्वौ भङ्गौ सर्वत्रापि न कल्पेते। एतदेवाह।

थोवे थोवं छूडं, सुक्के उल्लं तु आइन्नं।
बहुयं तु अणाइन्नं, कडदोसो त्ति काऊणं।

स्तोके स्तोकम् उपलक्षणमेतत्। बहुके वा स्तोकं यन्निक्षिप्तं तदपि शुष्के शुष्कं कल्पते एव ततः। शुष्के आर्द्रं तुशब्दात् आर्द्रे शुष्कम् आर्द्रे आर्द्रं च तत् भवति। आचीर्णं कल्पते इति भावः। यत्तु बहुकं स्तोके बहुके वा संहियते तत् अनाचीर्णं कुत इत्याह। स बहुकसंहारः कृतदोषोऽनन्तरगाथायामुक्तदोष इति कृत्वा, उक्तं संहृतद्वारम्। अथ दायकद्वारं गाथाषड्केनाह।

बाले बुड्ढे मत्ते, उन्मत्ते, वेविए य जरिए य।
अंधेल्लए पगरिए, आरूढे पाउयाहिं च।
हत्थन्दुनियलबद्धे, विवज्जए चेव हत्थपाएहिं।
तेरासिगुव्विणी बा-लवच्छभुंजंति फसुलें ती॥
भज्जंती य दलंती य, कड्डंती चेव तह य पीसंती।
पिंजंती सेवंती, कन्नंति य मद्दमाणी य।
छक्कायवग्गहत्था, समणट्ठा निक्खिवित्तु ते चेव॥
तं वा वोगाहंती, संघट्टंती रभंती य॥
संसत्तेण य दव्वेण, लित्तहत्था य लित्तमत्ता य।
उव्वत्तंती साहा-रणं व दिंती य चोरियं॥
पाहुडियं व ठवंती, सपच्चवाया परं च उट्ठिस्स।
आभोगमणाभोगे-ण दलंती वज्जणिज्जाए॥

बालादौ या वर्जनीया इति क्रियायोगः। तत्र बालो जन्मतो वर्षाष्टकास्यान्तर्वर्ती? बृद्धः सप्ततिवर्षाणां मतान्तरापेक्षया षष्टिवर्षाणां वा उपरिवर्ती २ मत्तः पीतमदिरादिः ३ उन्मत्तो दृप्तो ग्रहगृहीतो वा ४ वेपमानः कम्पमानशरीरः ५ ज्वरितो ज्वर-रोगपीडितः ६ अन्धश्चक्षुर्विकलः ७ प्रगलितो गलत्कुष्ठः ८ आरूढपादुकयोः काष्ठयोपानहोः। ९। तथा हस्तान्दुना करविषयंकाष्ठबन्धनै १० र्निगडेन च पादविषयलोहमयबन्धनेन बद्धः ११ हस्ताभ्यां १२ पादाभ्यां वर्जितस्थितत्वात्॥ १३ त्रैराशिको नपुंसकः १४। गुर्व्वी आपन्नसत्वा।१५। बाल-वत्सशून्योपजीविविशिशुका १५ भुञ्जाना भोजनं कुर्वती १६ फसुलंती दध्यादि मन्थन्ती।१७। भर्जयन्ती चुल्ल्यां कडि-ल्लकादिचनकादि स्फोटयन्ती। १८ दलन्ती घरट्टेन गोधूमादि चूर्णयन्ती १९ कण्डयन्ती उदूखले तण्डुकलादिकं छण्टयन्ती। २० पिषन्ती शिलया तिलामलकादिप्रमृञ्जन्ती २१ पिञ्जयन्ती पिञ्जनेन रुतादिकं विरलं कुर्वती। २२ सेवन्ती कार्प्पासं लोठिन्यां लोठयन्ती २३ कृन्तन्ती कर्त्तनं कुर्व्वती। २४। प्रमृज्यन्ती रुतकसाभ्यां पौनःपुन्येन विरलं कुर्वती २५ षट्कायव्यग्रहस्ता षट्कायुक्तहस्ता २६ यथा श्रमणस्य भिक्षामादाय तानेव षट्कायान् भूमौ निक्षिप्य ददती २७ तानेव षटकायानवगाहमाना पादाभ्यां चालयन्ती। २८। संघट्टयन्ती तानेव षट्कायान् शेषशरीरावयवेनैव स्पृशन्ती।२९। आरभमाणा तानेव षट्कायान् विनाशयन्ती। ३०। संसक्तेन दध्यादिना द्रव्येण लिप्तहस्ता खरण्टितहस्ता।३१। तथाऽनेनैव द्रव्येण दध्यादिना संसक्तेन लिप्तमात्रा खरण्टितमात्रा।३२। साधारणं बहूनां सत्कं ददती ३४ यथा चोरितं ददती ३५ अग्रकूरादिनिमित्तं मूलस्थाल्यामाकृष्य स्थगनिकादौ मुञ्चन्ती ३६ संप्रत्यपाया संभाव्यमानापाया दात्री ३७ तथा विवक्षितसाधुव्यतिरेकेण परमन्यं साध्वादिकमुद्दिश्य यत् स्थापितं तद्ददती ३८ तथाऽऽभोगेन साधूनामित्थं न कल्पत इति परिज्ञाप्योपपत्त्या शुद्धं ददती ३९ अथवा अनाभोगेनाशुद्धं ददती ४० सर्वसंख्यया चत्वारिंशद्दोषाः। इह मूक्षितादिद्वारेषु ''संसज्जिमेहिवज्ज अगारिहिएहिं पि गोरसदावेहिं'' इत्यादिग्रन्थेन संसक्तादिदोषाणामभिधानेऽपि यद्भूयोऽप्यत्र'' संसत्तेण यदव्वेण लित्तहत्थाय लित्तमत्ताये'' त्याद्यभिधानं तदशेषदाय-कदोषाणामेकत्रोपदर्शनार्थमित्यदोषः। संप्रत्येतेषामेव दायका-नामपवादमधिकृत्य वर्जनावर्जनविभागमाह

एएसि दायगाणं, गहणं केसिं वि होइ भइयव्वं।
केसिं वीअग्गहणं, तव्विवरीए भवग्गहणं॥

एतेषां बालादीनां दायकानां मध्ये केषाञ्चिन्मूलत आरम्भ पञ्चविंशतिसंख्यानां ग्रहणं भजनीयं कदाचित्तथाविधं महत्प्रयोजन-मुद्दिश्य कल्पते शेषकालं नेति। तथा केषा-ञ्चित्षट्कायव्यग्रहस्तादीनां पञ्चदशानां हस्तादग्रहणं भिक्षायाः तद्विपरीतेषु बलादिविपरीतेषु दातरि ध्रुवो ग्रहणं संप्रति बालादीनां हस्तादितो भिक्षाया ग्रहणे ये दोषाः संभवन्ति ते दर्शनीयास्तत्र प्रथमतो बालमधिकृत्य दोषानाह-

केलुट्ठिगअप्पाहि-ऊणं दिन्ने व नग्गहणपज्जत्तं।
खंतियमग्गणदिन्ने, उड्डाहं पउसचारभडा॥

काचिदभिनवा श्राद्धिका श्रमणेभ्यो भिक्षां दद्यादिति निज-पुत्रिकां (अप्पाहिऊणं ति) संदिश्य भक्तं गृहीत्वा क्षेत्रं जगाम। गतायां तस्यां कोऽपि साधुः संघाटको भिक्षामागतः तया च बालिकया तस्मै तन्दुलौदनो वितीर्णः सोऽपि च संघाट-कमुख्यसाधुस्तां बालिकां मुग्धतरामवगत्य लाम्पट्यतो भूयो भूय उवाच पुनर्देहि पुनर्देहीति ततस्तया समस्तोऽप्योदनो दत्तस्तत एव

मुग्दघृततकदध्यादिकमपि। अपराह्णे च समागता जननी उपविश्य भोजनाय भणिता निजपुत्रिका। देहि पुत्रि! मह्यमोदनमिति। साऽवोचत् दत्तः समस्तोऽप्योदनः साधवे। साऽब्रवीत् शोभनं कृतव ती। मुग्दान् मे देहि सा प्राह मुद्गा अपि साधवे सर्वे प्रदत्ताः। एवं

यत् यत् किमपि सा याचते तत्तत्सर्वं साधवे दत्तमिति । ततः पर्यन्ते काञ्जिकमात्रं यावत्तदपि बालिका भणति साधवे दत्त-मिति । ततः साऽभिनवश्राद्धिका रुष्टा सती पुत्रिकामेवमपवदति किमिति त्वया सर्वं साधवे दत्तं सा ब्रूते स साधुर्भूयो भूयो याचते ततो मया सर्वमदायि ततः सा साधोरुपरि कोपावेशमाविशन्ती सूरीणामन्तिकमगमत् । अचकथच्च सकलमपि साधुवृत्तान्तं यथा भवदीयो यः साधुरित्थमित्थं मत्पुत्रिकायाः सकाशात् याचित्वा याचित्वा सर्वमोदनादिकमानीतवानिति । एवं तस्यां महता शब्देन कथयन्त्यां शब्दश्रवणतः प्रातिवेशिकजनोऽन्योऽपि च परंपरया भूयान्मिलितो ज्ञातश्च सर्वैरपि साधुवृत्तान्तस्ततो विदधति तेऽपि कोपावेशिनः साधूनामवर्णवादम्, नूनममी साधुवेषविडम्बिन-श्चारभटा इव लुण्ठका न साधुसद्वृत्ता इति ततः प्रवचनार्ण्ण-ववादापनोदाय सूरिभिस्तस्याः सर्वजनस्य च समक्षं स साधु-र्निर्भत्स्योपकरणं च सकलमागृह्य सर्वजनैर्निष्काशितः । तत एवं तस्मिन्निष्काशिते श्राविकायाः कोपः शममगमत् । ततः सूरीणां क्षमाश्रमणमादायोक्तवती भगवन् ! मा मन्निमित्तमेष निष्काश्यतां क्षमस्वैकं ममापराधमिति । ततो भूयोऽपि यथावत्साधुः शिक्ष-यित्वा प्रेषितः सूत्रं सुगमम् । नवरं (उड्डाहपओसचारभडा इति) लोके उड्डाहस्ततो लोकस्य प्रद्वेषभावतश्चारभटा इव लुण्ठका अमी न साधव इत्यवर्णवादः । यत एवं बालाद्भिक्षाग्रहणे दोषास्ततो बालान्न ग्राह्यमिति ।

संप्रति स्थविरदायकदोषानाह-

थेरो गलंतलालो, कंपणहत्थो पडिज्ज वा देतो ॥
अपहुत्ति य अच्चित्तं, एगयरे वा उभयओ वा ।

अत्यन्तस्थविरो हि प्रायो गलल्लालो भवति । ततो देयमपि वस्तु लालया खरण्टितं भवतीति तद्ग्रहणे लोके जुगुप्सा । तथा कम्पमानहस्तो भवति । ततो हस्तकम्पनेचाशब्दोऽयं वस्तु भूमौ निपतति तथा च षड्जीवनिकायविराधना । स्वयं वा स्थविरो ददत् निपतेत् तथा च सति तस्य पीडा भूम्याश्रितषड्जीवनिकायविराधना च । अपि च प्रायः स्थविरो गृहस्याप्रचुरस्वामी भवति ततस्तेन दीयमानेन प्रचुर एष इति विचिन्त्य गृहे स्वामित्वेन नियुक्तस्य चित्तं प्रद्वेषः स्यात् । स च एकतरस्मिन् साधौ गृद्धे वा यद्वा उभयोरपीति ।

मत्तोन्मत्तावाश्रित्य दोषानाह ।

अवयासभाणभेओ, वमणं असुइ त्ति लोगगरहा य ।
पंतावणं च मत्ते, वमणविवज्जा य उम्मत्ते ।

मत्तः कदाचिन्मत्ततया साधोरालिङ्गनं विदधाति भाजनं वा भिनत्ति । यद्वा कदाचित्पीतमासवं ददानो वमति वमंश्च साधुं-साधुपात्रं वा खरण्टयति । ततो लोके जुगुत्सा धिग् इमे साध-वोऽशुचयो ये मत्तादपीत्थं भिक्षां गृह्णन्तीति । तथा कोऽपि मत्तो मदवशनिर्बलतया रे मुण्ड ! किमत्रायात इति ब्रुवन् घातमिति विदधाति तत एवं यतो मत्तेऽपायादयो दोषास्तस्मान्न ततो ग्राह्यम् । येन त एवालिङ्गनादयो दोषा वमनवर्जा उन्मत्तेऽपि तस्मात्तत्तोऽपि न ग्राह्यम् ।

संप्रति वेपितज्वरितावाश्रित्य दोषानाह ।

वेवियपरिसामणया, पासे वत्थु भेज्ज भाणभेओ वा ।
एमेव य जरियम्मि वि, जरसंकमणं च उड्डाहो ।

वेपितात्तु दातुः सकाशाद्भिक्षाग्रहणे देयवस्तुनः परिसातनं भवति यद्वा पार्श्वे साधुभाजनाद्बहिः स वेषितो देयं वस्तु क्षिपेत् यद्वा येन स्थाल्यादिना भाजनेन कृत्वा भिक्षामानयति तस्यम भूमौ निपाते भेदः स्फोटनं स्यात् एवमेव ज्वरितेऽपि दोषा भावनीयाः । किंच ज्वरिताद्ग्रहणे ज्वरं संक्रमेण साधोर्भवेत् । तथा जने उड्डाहो यथा अहो अमी आहारलम्पटा यदित्थं ज्वरपीडितादपि भिक्षा गृह्णन्ती-ति ।

अन्धगलत्कुष्ठावाश्रित्य दोषानाह ।

उड्डाहकायपडणं, अंधे भेओ य पासछुहणं च ।
तद्दोसी संकमणं, गलितभिसमिन्नदेहे य ॥

अन्धाद्भिक्षाग्रहणे उड्डाहः । स चायमहो अमी औदरिका यदन्धादपि भिक्षां दातुमशक्नुवतो भिक्षां गृह्णन्तीति । तथा अधोऽपश्यन् पादाभ्यां भूम्याश्रितषड्जीवनिकायघातं विदधा-ति । तथा लोष्टादौ स्खलितः सन् भूमौ निपतेत् । तथा च सति भिक्षादानायोत्पाटितहठगृहीत-स्थाल्यादिभाजनभङ्गः । तथा स देयं वस्तु पार्श्वे भाजनबहिस्तात् प्रक्षिपेददर्शनात् तस्मादन्धादपि न ग्राह्यम् । तथा त्वग्दोषिनि किं विशिष्टे इत्याह । गलितं भृशं भिन्नदेहमत्रार्षत्वात् व्यत्यासेन पदयोजना सा चैवं भृशमतिशयेन गलितमर्द्धपक्वं रुधिरं च बहिर्वहनाभिन्नश्च स्फुटितो देहो यस्य स तथा तस्मिन् तद्दोषसंक्रमणं कुष्ठव्याधिसंक्रान्तिः स्यात् तस्मात्ततोऽपि न ग्राह्यम् ।

संप्रति पादुकारूढादिचतुष्टयदोषानाह ।

पाउयदुरूढपडणं, बद्धे परियाव असुइखिंया य ।
करछिन्ना सुइखिंसा, तेव्वि य पायम्मि पडणं च ॥

पादुकारूढस्य भिक्षादानाय प्रचलतः कदाचिद्दुःस्थितत्वात् पतनं स्यात् । तथा बद्धे दातरि भिक्षां प्रयच्छति परितापो दुःखं तस्य भवेत् । तथा (असुइत्ति) तत्र पुरीषोत्सर्गादौ जलेन तस्या-शौचकरणासंभवात् । ततो भिक्षाग्रहणे लोके जुगुप्सा यथामी अशुचयो यदेतस्माद-प्यशुचित्वयुक्तात् भिक्षामाददते इति । एवं छिन्नकरेऽपि भिक्षां प्रयच्छति लोके जुगुप्सा तथा हस्ताभावेन शौचकरणासंभवात् । एतच्चोपलक्षणं तेन हस्ताभावे येन कृत्वा भाजनेन भिक्षां ददाति यद्वा देयं वस्तु तस्य पतनमपि भवति । तथा च सति षड्जीवनिकायव्याघातः । एत एव दोषाः यदि विच्छिन्नपादेऽपि दातरि द्रष्टव्याः केवलं पादाभावेन तस्य भिक्षादानाय प्रचलतः प्रायो नियमतः पतनं पातो भवेत्तथा च सति भूम्याश्रितकीटिकादिकसत्वव्याघातः ।

संप्रति नपुंसकमधिकृत्य दोषानाह ।

आयपरोभयदोसा, अभिक्खगहणम्मि खोभणनपुंसे ।
लोकदुगुंछा संका, एरिसया नूणमेए वि ॥

नपुंसके भिक्षां प्रयच्छति आत्मपरोभयदोषः । तथाहि नपुंसकादभीक्ष्णं भिक्षाग्रहणे अतिपरिचयो भवति अतीव परिचयाच्च तस्य नपुंसकस्य साधोर्वा क्षोभो वेदोदयरूपः समुपजायते । ततो नपुंसकस्य साधुलिङ्गाद्यासेवनेन द्वयस्यापि मैथुनसेवया कर्मबन्धः । अभीक्ष्णग्रहणशब्दोपादानाच्च कदाचिद्भिक्षाग्रहणे दोषाभावमाह । परिचयाभावात् । तथा लोके जुगुप्सा यथैते नपुंसकादपि निकृष्टाद्भिक्षामाददते इति । साधूनामप्युपरि जनस्य शङ्का भवति तस्माद्यथैतेऽपि साधवो नूनमीदृशा नपुंसकाः कथमन्यथाऽनेन सह भिक्षाग्रहण-व्याजतोऽतिपरिचयं विदधते इति । संप्रति गुर्विणीबालवत्से आश्रित्य दोषानुपदर्शयति ॥

गुव्विणिगब्भे संघ-दृणा उ उट्ठंतवेसमाणीए।
वालाई मंसेडुग, मज्जाराई विराहिजा।

गुर्विण्या भिक्षादानार्थमुत्तिष्ठन्त्या भिक्षां दत्त्वा स्थाने उपविशन्त्याश्च गर्भे तस्य संघट्टनं संचलनं भवति। तस्मान्न ततो ग्राह्यम् (बालाई मंसेडुगति) अत्रार्षत्वाद्व्यत्यासेन पदयोजना (बालमिति) शिशुं भूमौ मञ्चिकादौ वा निक्षिप्य यदि भिक्षां ददाति तर्हि तं बालं मार्जारादयो विडालसारमेयादयो मांसेण्डुकादि मांसखण्डं शशकशिशुरिति वा कृत्वा विराधयेत् विनाशयेत्। तथा आहारखरण्टितौ शुष्कौ हस्तौ भवतस्ततो भिक्षां दत्त्वा पुनर्दात्र्या हस्ताभ्यां गृह्यमाणस्य बालस्य पीडा भवेत् ततो बालवत्सातोऽपि न ग्राह्यम्।

भुञ्जानां मथ्नन्तीं चाश्रित्य दोषानाह।

भुंजंती आयमणे, उदगं वोडी य लोगगरहा य।
घुसुलंती संसत्ते, करम्मि लित्ते भवे रसगा।

भुञ्जाना दात्री भिक्षादानार्थमाचमनं करोति आचमने च क्रियमाणे उदकं विराध्यते। अथ न करोत्याचमनं तर्हि लोके वोटिरिति कृत्वा गर्हा स्यात् तथा (घुसुलंती) दध्यादि मथ्नन्ती यदि तद्दध्यादिसंसक्तं मथ्नाति तर्हि तेन संसक्तदध्यादिना लिप्ते करे तस्य भिक्षां ददत्यास्तेषां रसजीवानां वधो भवति ततस्तस्या अपि हस्तान्न कल्पते।

संप्रति पेषणादिदोषानुपदर्शयति।

दगल्लीए संघट्टम, पीसेण कंडदलभज्जणे महणं।
पिंजंतरुंजणाई, दिन्ने लित्ते करे उदगं।

पेषणकण्डनदलनानि कुर्वतीनां हस्ताद्भिक्षाग्रहणे उदक-बीजसंघट्टनं स्यात् तथाहि पिषन्ती यदा भिक्षादानायोत्तिष्ठति तदापिष्यमाण-तिलादिसत्काः काश्चिन्मक्षिकाः सचित्ता अपि हस्तादौ लगिताः संभवन्ति ततो भिक्षादानाय हस्तादिप्रस्फोटने भिक्षां वा ददत्या भिक्षासंपर्कं ततस्तासां विराधना भवति भिक्षां च दत्त्वा *भिक्षावयवखरण्टितौ हस्तौ जलेन प्रक्षालयेत्। ततः पेषणे* उदकबीजसंघट्टना। एवं कण्डनदलनयोरपि यथायोगं भावनीयम्। तथा भर्जने भिक्षां ददत्या वेलालग्नेन कमिल्लक्षिप्तगोधूमादीनां दहनं स्यात्। तथा पिञ्जनं रुञ्जनमादिशब्दात्कर्तनप्रमर्दने च कुर्वती भिक्षां दत्त्वा भिक्षावयवखरण्टितौ हस्तौ जलेन प्रक्षालयेत् ततस्तत्राप्युदकं विनश्यतीति न ततो भिक्षा कल्पते।

संप्रति षट्कायव्यग्रहस्तादिपञ्चकस्वरूपं गाथाद्वयेनाह।

लोणदगअगणिवत्थी, फलाइ मच्छाइ सजीयहत्थम्मि।
पाएणोगाहणया, संघट्टणसेसकाएणं॥
खणमाणी आरभये, मज्जणधोयइ सिंचए किंचि।
छक्कायविसरणमाई, छिंदइ छट्टे फुरफुरंते॥

इह सा षट्कायव्यग्रहस्ता उच्यते यस्या हस्ते सजीवं लवण-मुदकमग्निर्वायुपूरितो वा वस्तिः फलादिकं बीजपूरादिकं मत्स्या दयो वा विद्यन्ते ततः सा यद्येतेषां सजीवलवणादीनामादानं तदपि श्रमणभिक्षादानार्थं भूम्यादौ निक्षिप्तं तर्हि न कल्पते। तथा अवगाहना नामादयस्तेषां षड्जीवनिकायानां पादे संघट्टनं शेषकायेन हस्तादिनां संमर्दनं संघट्टनमारभमाणा कुश्यादिना भूम्यादि खनन्ती। अनेन पृथिवीकायारम्भ उक्तः. ययद्वा मज्जन्ती शुद्धेन जलेन स्नान्ती अथवा धावन्ती शुद्धेनोदकेन वस्त्राणि प्रज्ञालयन्ती यदि वा किञ्चिद्वक्ष-वल्ल्यादिकं संवन्ती एते नाप्कायारम्भो दर्शितः। पलक्षणमेतत् ज्वलयन्ती वा फूत्कारेण वैश्वानरं वस्त्यादिकं वा सचित्तवातभृतमितस्ततः प्रक्षिपन्ती एतेनाग्निवास्तुसमारम्भ उक्तः। तथा शोकादेश्छेदविशारणे कुर्वती। तत्र छेदः पुष्पफलादेः खण्डनं विशरणं तेषामेव खण्डनां शोषणायोन्मोचनाम्। आदिशब्दात्तन्दुलमुद्गदीनां शोधना-दिपरिग्रहः। तथा छिन्दन्ती षष्ठान् त्रसकायान्। मत्स्यादीन् फुरफुरन्ते इति पोस्फूर्यमाणान् पीडयोद्वेल्ल इत्यर्थः। अनेन त्रसकायारम्भ उक्तः। इत्थं षड्जीवनिकायमारभमाणाया हस्तान्न कल्पते।

संप्रति षट्कायग्रहस्त इति पदस्य व्याख्याने मतनान्तरमुप-दर्शयति।

छक्कायवग्गहत्था, केई कोलाइकन्नलइयाई।
सिद्धत्थगपुप्फाणि य, सिरम्मि दिन्नाइ वज्जंति।

केचिदाचार्याः षट्कायव्यग्रहस्तेति वचनतः कोलादीनि वदरादीनि आदिशब्दात्करीरादिपरिग्रहः। (कन्नलयाइति) कर्णे पिनद्धानि तथा सिद्धार्थकपुष्पाणि शिरसि दत्तानि वर्जयन्ति। हस्तग्रहणं हि तस्य पदस्य विशेषो दुरुपपादः।

अन्ने भणंति दससु वि, एसणदोसेसु नत्थि तग्गहणं।
तेण न वज्जं भन्नइ, तणुगहणं दायगहणो य।

अन्ये त्वाचार्यदेशीया भणन्ति। यथा दशस्वपि शङ्कितादिषु एषणादोषेषु मध्ये तद्ग्रहणं षट्कायव्यग्रहस्तेत्युपादानमस्ति तेन कारणेन लोकादियुक्तदशभिक्षाग्रहणं न वर्ज्यं तदेतत्पापीयो यत आह भण्यते अत्रोत्तरं दीयते। यत्तु दायकग्रहणादेषणादोषमध्ये षट्कायव्यग्रहस्तेत्यस्य ग्रहणं विद्यते तत्कथमुच्यते न तद्ग्रहण-मिति।

संप्रति संसक्तिमद्दात्र्यादिदोषानाह।

संसज्जिमंदि देसे, संसज्जमदव्वलित्तकरमत्ता।
संचाए यत्तणाउ, उक्खिप्पंते वि ते चेव॥

संसक्तिमति संसक्तिमद्द्रव्यवति देशे मण्डले संक्तिमता द्रव्येण लिप्तः करो मात्रं वा यस्याः सा तथाविधा दात्री भिक्षां ददती करविलग्नान् सत्वान् हन्ति। तस्मात्सा वर्ज्यते तथा महतः पिठरादेरपर्वतनं संचारः। सूचनात्सूत्रमिति संचारिमत्कीटा-दिसत्वव्याघातः इदमुक्तं भ वति महत्पिठरं यदा तदा वा नोत्पाट्यते नापि यथा तथा वा संचार्यते महत्त्वादेव किं तु प्रयोजनविशेषोत्पत्तौ सकृत् ततस्तदाश्रित्य प्रायः कीटिकादयः सत्वाः संभवन्ति। ततो यदा तत्पिठरादिकमुद्वर्त्य किं चिद्दाति तदा तदाश्रितजन्तुव्या-पादः। एते च दोषा उत्पाट्यमानेऽपि महति पिठरादौ। तत्रापि हि भूयो निक्षिप्यमाणे हस्तसंस्पर्शतो वा संचारिमत्कीटिकादि सत्वव्याघातः। अपि च तथाभूतस्य महत उत्पाटने दातुः पीडाऽपि भवति। तस्मान्न तदुत्पाटनेऽपि भिक्षा कल्पते।

संप्रति साधारणं चोरितं वा ददत्या दोषानाह॥

साधारणं बहूणं, तत्थ उ दोशा जहेव अणिसट्ठे।
चोरियए गहणाई, भयए सुण्हाइ वा देंते॥

बहूनां साधारणं यदि ददाति तर्हि तत्र यथा प्राक् अनिसृष्टे दोषा

उक्तास्तथैव द्रष्टव्याः । तथा चौर्येण भृतककर्मकरैःस्नुषादौ वा ददति ग्रहणादयो ग्रहणबन्धनताडनादयो दोषा द्रष्टव्या-स्तस्मात्ततोऽपि न कल्पते । संप्रति प्राभृतिकास्थापनादिद्वार-त्रयदोषानाह ॥

पाहुड ठाविय दोसा, तिरिउड्ढमहे तिहा अवायाउ ।
धम्मियमाईठवियं, परप्परं संति यं वा वि ॥

प्राभृतिकाश्चाञ्चल्यादिनिमित्तं संस्थाप्य या ददाति भिक्षां तत्रदोषाः प्रवर्तनादयः । संप्रत्यपायेति द्वारम् । अपायास्त्रिविधा तद्यथा तिर्यक् ऊर्ध्वमधश्च तत्र तिर्यग्गवादिभ्य ऊर्ध्वमुत्तरं काष्ठादेरधः सर्प-कण्टकादेः इत्थं च त्रिविधानामप्यपायानामन्यतममपायं बुद्ध्या संभावयन् ततो भिक्षां गृह्णीयात् ''परंचोद्देशेति'' ॥ यदुक्तं तत्राह धार्मिकाद्यर्थम्-परसाधुकार्पटिकप्रभृतिनिमित्तं यत्स्थापितं तत्पर-स्य परमार्थतः संबन्धीति न तद् गृह्णीयात् । तद्ग्रहणे अदत्ता-दानदोषसंभवात् । यद्वा परसत्कं मुञ्चति परस्य ग्लानादेःसत्कं यद्दाति तदपि स्वयमादातुं न कल्पते अदत्तादानदोषात् किन्तु यस्मैग्लानाय दापितं तस्मै नीत्वा दातव्यं स चेन्न गृह्णाति तर्हि भूयोऽपि दात्र्याः समानीय समर्प्पणीयम्। यदि पुनरेवं दात्री वदति यदि ग्लानादिको न गृह्णाति तर्हि स्वयं ग्राह्यमिति तर्हि ग्लानाद्यग्रहणे तस्य कल्पत इति।

संप्रत्याभोगानाभोगदायकस्वरूपमाह ।

अणुकंपापडणीयट्ठं, याचते कुणइ जाणमाणो वि ।
एसणदोसे वि इऊ, कुणइ उ असढो अ याणंतो ॥

सदैवैते महानुभावा यतयोऽन्नाप्रान्तमशनमश्नन्ति तस्मात्करोति तेषां शरीरोषष्टम्भाय घृतपूरादीनामित्येवमनुकम्पया यदि वा मयैतेषामनेषणीयाग्रहणनियमभङ्गो भक्तव्य इति प्रत्यनीकार्थतया जनान्नपि तान् आधाकर्मादिरूपानेषणादोषान् करोति द्वितीयः सुकरोऽत्यजमानोऽशठभावम् । तदेव व्याख्यानयति चत्वारिंशदपि बालाद्विराणि । संप्रति यदुक्तं ''एएसि दायगाणं गहणं केसिं वि होइ भइयव्वमित्यादि'' तद्व्याचिख्यासुः प्रथमतो बालमाश्रित्य भजनामाह ॥

भिक्खामित्ते अवियल-णा उ बालेण दिज्जमाणम्मि ।
संदिट्ठे वा गहणं, अइबहुयवियालणे णुन्ना ।

मातुः परोक्षे भिक्षामात्रे बालेन दीयमाने अविचारणा कल्पते इदं न वेति विचारणाया अपि भावः किंतु ग्रहणं भिक्षाया भवति। अतिबहुकेतु बालेन दीयमाने किमद्य त्वं प्रभूतं ददासीति विचारणे सति अनुज्ञा पार्श्ववर्तिमात्रादिसत्कमुत्कलना भवति तदा ग्राह्यं नान्यथा । संप्रति स्थविरमत्तविषयां भजनामाह ।

थेरपहु थरथरंते, घरिए अन्नेण दढसरीरे वा ।
अव्वत्तमत्तसड्ढे, अविब्भले वा असागरिए ।

स्थविरो यदि प्रभुर्भवति (थरथरंति त्ति) कम्पमानो यदि अन्येन विधृतो वर्तते स्वरूपेण वा दृढतरशरीरो भवति तर्हि ततः कल्पते । यथा अव्यक्तं मनाक् यो मत्तः सोऽपि च यदि श्राद्धोऽविह्वल-श्चापरवशश्च भवति । तस्मादेवंविधान्मत्तात् तत्र सागरिको न विद्यते तर्हि कल्पते नान्यथा । उन्मत्तादिचतुष्कविषयां भजनामाह ।

सुइभद्दगदित्ताई-दढगहो वेविए जरम्मि सिवे ।
अन्नघरियं तु सढो, देयं धन्नेण वा धरियं ।

उन्मत्तो दृप्तादिर्दृप्तो ग्रहगृहीतादिः स चेत् शुचिर्भद्रकश्च भवति तदा तद्वस्तात्कल्पते नान्यदा । वेपितोऽपि यदि दृढहस्तो भवति न हस्तेन गृहीतं किमपि तस्य पतति तदा तस्मादपि कल्पते। ज्वरितादपि ग्राह्यम् । ज्वरे सिवे सति । अन्धोऽपि यदि देयं वस्तु अन्येन पुत्रादिना धृतं ददाति स्वरूपेण श्राद्धैश्च यदि वा स एवान्धोऽन्येन विधृतः सन् देयं ददाति तर्हि ततो ग्राह्यं नान्यथा पूर्वोक्तदोषप्रसङ्गात् । त्वग्दोषादिपञ्चविषयां भजनामाह ।

मंगलपसुत्तिकुट्ठी, असागरिए पाउया गए अयले ।
अमट्ठेट्ठेसवियारे, इयरविद्धे असागरिए ।

मण्डलानि वृत्ताकारहदविशेषरूपाणि प्रसूतिर्नखादि-विदारणेऽपि चेतनाया असंभवात्तद्रूपो यः कुष्ठो रोगविशेषः सोऽस्यास्तीति मण्डलप्रसूतिकुष्ठी स चेदसागारिके सागारिकाभावे ददाति तर्हि ततः कल्पते न शेषकुष्ठिनः सागारिके वा पश्यति पादुकारूढोऽपि यदि भवत्यचलस्थानस्थितस्तदा कारणे सति कल्पते । तथा क्रमयोः पादयोर्बद्धो यदि सविचार इतश्चेतश्च पीडामन्तरेण गन्तुं शक्तस्ततो बद्धादपि तस्मात्कल्पते। इतरस्तु य इतश्चेतश्च गन्तुमशक्तः स चेदुपविष्टः सन् ददाति न च कोऽपि च तत्र सागारिको विद्यते तर्हि ततोऽपि कल्पते हस्तबद्धस्तु भिक्षां दातुमपि न शक्नोति तत्र प्रतिषेध एव न भजना उपलक्षणमेतत् । तेन छिन्नकरोऽपि यदि सागारिकाभावे ददाति तर्हि न कल्पते छिन्नपादो यद्युपविष्टः सन् सागरिकासंपाते प्रयच्छति ततस्ततोऽपि कल्पते । नपुंसकादिसप्तकविषयां भजनामाह ।

पिंडग अप्पडिसेवी, वेलाथणजीविधेरियरसव्वं ।
उक्खित्तमणावाए, अकिंचिलग्गे ठवंतीए ॥

नपुंसको यदि अप्रतिसेवी लिङ्गाद्यनासेवकस्तर्हि ततः कल्पते तथा आपन्नसत्वोऽपि यदि (वेलत्ति) सूचनात्सूत्रमिति न्यायात् वेला मासप्राप्ता न भवति । नवममासगर्भा यदि भवतीत्यर्थः तर्हि स्थविरकल्पिकैः परिहार्या । अर्थात्तद्विपरीताया हस्ता-त्स्थविरकल्पिकानामुपकल्पते इति द्रष्टव्यम् । तथा याऽपि बालवस्ता स्तन्यमात्रोपजीविशिशुका सा स्थविरकल्पिकानां परिहार्या न ततः स्थविरकल्पिकानामपि कल्पते किमपीति भावः । यस्यास्तु बाल आहारेऽपि लगति तस्या हस्तात्कल्पते । स हि प्रायः शरीरेण महान् भवति ततो न मार्जारादिविराधना-दोषप्रसङ्गः । ये तु भगवन्तो जिनकल्पिकास्ते मूलतएवापन्नसत्वां बालवत्सां च सर्वथा परिहरन्ति । एवं भुञ्जाना-भर्जमानादलन्तीष्वपि भजना भावनीया । सा चैवं भुञ्जाना अनुच्छिष्टा सती यावद्यापि न कवलं मुखे प्रक्षिपति तावत्तद्धस्तात्कल्पते । भर्जमानाऽपि यत्सचित्तं गोधूमा-दिकडिल्लकेक्षिप्तं तद्भ्रष्टोत्तारितमन्यच्च नोऽद्यापि हस्तेन गृह्णाति अत्रान्तरे यदि साधुरायातो भवति सा चेदद्याति तर्हि कल्पते । तथा दलयन्ती सचित्तमुद्नादिना दल्यमानेन सह घरट्टं मुक्तवती अत्रान्तरे च साधुरायातस्ततो यद्युत्तिष्ठति अचेतनं चा भ्रष्ट मुद्नादिकं दलयति तर्हि तद्धस्तात्कल्पते । कण्डयन्त्याः कण्डनायोत्पाटितं मुशलं न च तस्मिन् मुशले किमपि काञ्ज्या बीजं लग्नमस्ति अत्रान्तरे च समायातः साधुस्ततो यदि साऽनपाये प्रदेशे मुशले स्थापयित्वा भिक्षां ददाति तर्हि कल्पते पिषन्त्यादिविषयां भजनामाह ॥

पीसंती निप्पिट्ठे, फासं वा फुसुअणे असंसत्तं ।
कत्तण असंखचुन्नी, छिन्ने वा जा अवोक्खलिणी ॥
उव्वट्टेण असंस-त्तेण वि अद्विल्लए न घट्टेइ ।

पिंजणपमद्दणेसु य, पच्छाकम्मं जहा नत्थि ॥

पिषन्ती निष्पिष्टे पेषणपरिसमाप्तौ प्रासुकं वा पिषन्ती यदि ददाति तर्हि तस्या हस्तात्कल्पते । तथा फुसुकरणे असंसक्तं दध्यादि मन्थन्त्याः कल्पते । तथा कर्तने या अशंखचूर्णशखचूर्ण-खरण्टितहस्तं कृन्तति । इह काचित् स्विन्नस्यातिशय-स्वेदताऽपनोदाय शंखचूर्णेन हस्तौ जङ्घां च खरण्टयित्वा कृन्तति तत उच्यते । अशंखचूर्णमिति । अथवा चूर्णमपि शंखचूर्णमपि अग्रहस्तात्कृन्तन्ती या (अवोक्खलिणी) अभुक्षाशीलानां जलेन हस्तौ प्रक्षालयतीति भावः । तस्या हस्तात्कल्प्यते । तथा उद्वर्त्ततेन कार्प्पासलोठने (असंसक्तेण वा वित्ति) असंसक्तेनागृहीतकार्पासेन हस्तेनोपलक्षिता सती यदि उत्तिष्ठति (अट्टिल्लयत्ति) अर्थिकान् कार्पासिकानित्यर्थः । न घट्टयति तदा तद्धस्तात्कल्पते । पिञ्जनप्रमर्द्दनयोरपि पश्चात्कर्म न भवति । तथा ग्राह्यमिति ।

सेसेसु य पडिवक्खे, न संभवइ कायगहमाईसु ।
पडिवक्खस्स अभावे, नियमाउ भवे तदग्गहणं ॥

शेषेषु कायेषु (कायगहणमाईसु) षट्कायव्यग्रहस्तादिषु प्रतिपक्ष उत्सर्गापेक्षयाऽपवादरूपो न विद्यते न संभवति ततः प्रतिपक्षस्याभावो नियमात् भवति । तथा ग्रहणमिति । उक्तं दायकद्वारम् । अथोन्मिश्रद्वारमाह ।

सचित्ते अचित्ते, मीसगउम्मीसगम्मि चउभंगो ।
आइतिए पडिसेहो, चरिडे भंगम्मि भयणा उ ॥

इह यत्रोन्मिश्रयते ते द्वे अपि वस्तुनी त्रिधा । तद्यथा सचित्ते अचित्ते मिश्रे च । तत उन्मिश्रके मिश्रकतश्चतुर्भङ्गी अत्र जातावेकवचनं ततस्तिसस्रश्चतुर्भङ्ग्यो भवन्तीति वेदितव्यम् तत्र प्रथमा सचित्तमिश्रपदाभ्यां द्वितीया सचित्ताचित्तपदाभ्यां तृतीया मिश्राचित्तपदाभ्यामिति । तत्र सचित्तमिश्रपदाभ्यामियं सचित्ते सचित्तम् । मिश्रे सचित्तम् । सचित्ते मिश्रम् । मिश्रे मिश्रमिति । द्वितीया त्वियं । सचित्ते सचित्तम् । अचित्ते सचित्तम् । सचित्ते अचित्तम् । अचित्ते अचित्तमिति । तृतीया इयं मिश्रे मिश्रम्, अअचित्ते मिश्रं, मिश्रे अचित्तम्, अचित्ते अचित्तमिति । तत्र गाथापर्यन्ते तुशब्दस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वादाद्यायां चतुर्भङ्गिकायां सकलायामपि प्रतिषेधः विशेषचतुर्भङ्गीद्वये प्रत्ये-कमादित्रिके आदिमेषु त्रिषु भङ्गेषु प्रतिषेधश्चरमे तु भङ्गे भजना वक्ष्यमाणा ।

अत्रैवातिदेशं कुर्वन्नाह ।

जह चेव य संजोगा, कायाणं हट्ठओ य साहरणे ।
तह चेव य उम्मीसे, होइ विसेइमो तत्थ ॥

यथा चैवाधः प्राक् संहरणद्वारे कायानां पृथिवीकायानां सचित्ताचित्तमिश्रभेदभिन्नानां स्वस्थानपरस्थानाभ्यां संयोगभङ्गाः प्रदर्शिता द्वात्रिंशदधिकचतुःशतसंख्याप्रमाणास्तथैवोन्मिश्रेऽपि उन्मिश्रद्वारेऽपि दर्शनीयास्तद्यथा । सचित्तः पृथिवीकायः सचित्तपृथिवीकाये उन्मिश्रे उन्मिश्रद्वारेऽपि दर्शनीयास्तद्यथा सचित्तः पृथिवीकायः सचित्ताप्काय उन्मिश्रे इत्येवं स्व-स्थानपरस्थानापेक्षया षट् त्रिंशत्संयोगाः एकैकस्मिंश्च संयोगाः सचित्तमिश्रपदाभ्यां संचित्ताचित्तपदाभ्यां मिश्राचित्त पदाभ्यां च प्रत्येकं चतुर्भङ्गीति द्वादशभिर्गुणिता जातानि चत्वारि शतानि द्वात्रिंशदधिकानि न तु संहिते उन्मिश्रे च । सचित्तादिवस्तुनः सचित्तादिवस्तुनिक्षेपान्नास्ति परस्परं विशेषः । अत आह तत्र तयोः संहृतोन्मिश्रयोर्भवति परस्परमर्थविशेषे वक्ष्यमाणः । तमेवाह ।

दायव्वमदायव्वं च, दोइ दव्वाइ देइ मीसाइं ।
ओयणकुसुयाईणं, साहरणतयन्नहिं छोढुं ॥

दातव्यं साधुदानयोग्यमितरददातव्यं तच्च सचित्तं मिश्रं तुषादिर्वा ते द्वे अपि द्रव्ये मिश्रयित्वा यहदाति यथौदनं कुषितेन दध्यादिना मिश्रयित्वा तत उन्मिश्रे एवंविधमुन्मिश्रलक्षणमित्यर्थः । संहरणं तु यद्भाजनस्थमदेयं वस्तु तदन्यत्र क्वापि स्थगनिकादौ संहृत्य ददाति । ततोऽयमनयोः परस्परं विशेषः द्वितीयतृतीय-चतुर्भङ्गीसत्कचतुर्भङ्गीभजनामाह ।

तं पि य सुक्खे सुक्खं, भंगा चत्वारि जहे व साहरणे ।
अप्पबहुए वि चउरो, तहेव आइन्नणाइन्ने ॥

यदि च तदचित्तं मिश्रयति तदपि तत्रापि शुष्के शुष्कं मिश्रितमित्येवं भङ्गाश्चत्वारो यथा संहरणे । तद्यथा शुष्कमुन्मिश्रं शुष्के शुष्केआर्द्रमार्द्रे शुष्कमार्द्रे आर्द्रमिति । तत एकैकस्मिन् भङ्गे संहरणे इव अल्पबहुत्वे अधिकृत्व चत्वारश्चत्वारो भङ्गाः । तद्यथा स्तोके शुष्के स्तोकं शुष्कं, स्तोके शुष्के बहुकं शुष्कमिति । एवं शुष्के आर्द्रमित्यादादपि भङ्गत्रिके प्रत्येक चतुर्भङ्गी भावनीया सर्वसंख्यया भङ्गा षोडश । तथा तथैव संहरणे इव आचीर्णानाचीर्णे कल्प्यमुन्मिश्रे ज्ञातव्याः । तद्यथा शुष्के शुष्कमित्यादीनां चतुर्णा भङ्गाना प्रत्येकं यौ द्वौ द्वौ भङ्गौ स्तोके स्तोकमुन्मिश्रं बहुके स्तोकमित्येवंरूपौ तौ कल्प्यौ दातृपीडादिदोषाभावात् स्तोके बहुकं बहुके बहुकमित्येवंरूपौ तु यौ द्वौ भङ्गौ तावकल्प्यौ तत्र दातृपीडादिदोषसंभवात् शेषानुभांवा यथासंभवं संहरण इव द्रष्टव्याः । उक्तमुन्मिश्रद्वारम् ।

इदानीमपरिणतद्वारमाह ॥

अपरिणयं पि य दुविहं, दव्वे भावे य दुविहमिक्केक्कं ।
दव्वम्मि होइ छक्कं, भावम्मि य होइ सत्तिमलगा ॥

अपरिणतमपि द्विविधं तद्यथा द्रव्ये द्रव्यत्वविषयं भावे भावत्यविषयं द्रव्यरूपमपरिणतं भावत्वमपरिणतं चेत्यर्थः । पुनरप्येकैकं दातृगृहीतृसंबन्धात् द्विधा । तद्यथा द्रव्यापरिणतं दातृसत्कं च एवं भावापरिणतमपि । तत्र द्रव्यापरिणतस्वरूपमाह ।

जीवत्तम्मि अविगए, अपरिणयं परिणयं गए जीवे ।
दिट्ठंतो दुद्धदही, इय अपरिणयं परिणयं तं व ॥

जीवत्वे सचेतनत्वे अविगते अभूष्टे पृथिवीकायादिकं द्रव्यमपरिणतमुच्यते गते तु जीवे परिणतम् । अत्र दृष्टान्तो दुग्धदधिनी । यथाहि दुग्धत्वात्परिभूष्टं दधिभावमापन्नं परिण-तमुच्यते दुग्धभावे वाऽवस्थिते अपरिणतमेवं पृथिवीकाया-दिकमपि स्वरूपेण सजीवं सजीवत्वात्परिभूष्टमपरिणतमुच्यते जीवेन च विप्रमुक्तं परिणतमिति । ते च यदा दातुः सत्तायां वर्तन्ते तदा दातृसत्कं यदा तु ग्रहीतुः सत्तायां तदा ग्रहीतृसत्कमिति ।

संप्रति दातृविषयं भावापरिणतमाह ।

दुग्गमाइसामन्नं, जइ परिणमइ तत्थ एगस्स ।
देमि त्ति न सेसाणं, इय अपरिणयं भावओ एयं ॥

एवं द्विकादिसामान्ये भ्रात्रादिद्विकादिसाधारणे देयवस्तुनि यद्येकस्य कस्यचिद्ददामीत्येवं भावः परिणमति शेषाणान्नैतत् तद्भावतोऽपरिणमतां तद्भावापेक्षया देयतयाऽपरिणतमित्यर्थः । अथ

साधरणानिसृष्टस्य दातृभावपरिणतस्य च कः परस्परं प्रतिविशेषः उच्यते साधारणा निसृष्टं दायकपरोक्षत्वे दातृभावापरिणतं तु दायकसमक्षत्वे इति। संप्रति गृहीतविषयं भावापरिणतमाह।

एगेण वा वि तेसिं, मणम्मि परिणामियं न इयरणं।
तं पि हु होइ अगेज्झं, सब्भिलगा सामिसाहू य॥

एकेनापि केनचित् अग्रेतनेन पाश्चात्येन वा एषणीयमिति मनसि परिणमितं न इतरेण द्वितीयेन तदपि भावतोऽपरिणतमपि कृत्वा साधूनामग्राह्यं शङ्कितत्वात्कलहादिदोषसंभवाच्च। संप्रति द्विविधस्यापि भावापरिणतस्य विषयमाह (सब्भिलगेत्यादि) तत्र दातृविषयं भावापरिणतं भूतृविषयं स्वामिविषयं च ग्रहीतृविषयं भावापरिणतं साधुविषयम्। उक्तमपरिणतद्वारम्। संप्रति लिप्तद्वारं वक्तव्यं तत्र लिप्तं यत्र दध्यादिद्रव्यलेपो लगति तच्च न ग्राह्यम्।

घेत्तव्वमलेवकमं, लेवकडे मा हुं पच्छकम्माई।
न य रसगेहि पसंगो, इइ वुत्ते चोयगो भणइ॥

इह साधुना तदेव ग्रहीतव्यमलेपकृत् बल्लचनकादि मा भूवन् लेपकृति गृह्यमाणे पश्चात्कर्मादयो दध्यादिलिप्तहस्ता-दिप्रक्षालनादिरूपा दोषाः आदिशब्दात्कीटिकादिसंसक्त-वस्त्रादिप्रोञ्छनादिपरिग्रहः। अतो लेपकृन्न ग्रहीतव्यम्। अलेपग्रहणे गुणमाह। न च सदैवालेपकृतो ग्रहणे रसगृद्धिप्रसङ्गो रसाभ्य-वहारलाम्पट्यवृद्धिस्तस्मात्तदेव साधुभिः सदैवाभ्यवहार्यम्। एवमुक्ते सति चोदको भणति।

जइ पच्छ कम्मदोसा, हवंति मा चेव भुंजउ सययं।
तवनियमसंजमाणं, चोयगहाणी खमंतस्स॥

यदि लेपकृद्ग्रहणे पश्चात्कर्मदोषाः पश्चात्कर्मप्रभृतयो दोषा भवन्ति ततस्तन्न गृह्यते तर्हि मा कदाचनापि साधुर्भुङ्क्ताम्। एवं हि दोषाणां सर्वेषां मूलत एवोत्थानं निषिद्धं भवति। सूरिराह हे चोदक! सर्वकालं क्षमापयतोऽनशनतपोरूपं क्षपणं कुर्वतः साधोश्चरमकालभवे तपोनियमसंयमानां हानिर्भवति तस्मान्न यावज्जीवं क्षपणं कार्यम्। पुनरपि परः प्राह यदि सर्वकालं क्षपणं कुर्तमशक्तस्तर्हि षण्मासक्षपणं कृत्वा पारणकमलेपकृता विलु-म्पम्। गुरुराह यद्येवं कुर्वन् तपःसंयमयोगान् कर्तुं शक्नोति तर्हि करोतु न कोऽपि तस्य निषेधः। ततो भूयोऽपि चोदको ब्रूते। यद्येवं तर्हि षण्मासान् उपोष्याचाम्लेन भुङ्क्तांन तेन तच्छक्नोति तत एकदिनहान्या तावत्परिभावयेत् यावच्चतुर्थमुपेक्ष्याचाम्लेन पारणकं करोति एवं "मप्यसंस्तरेणत्ति" सदैवालेपकृतं गृह्णीयात्। अमुमेव गाथया निर्दिशति।

लित्तंति भाणिऊणं, छम्मासा हायए चउत्थं तु।
आयंविलस्स गहणं, असंथरे अप्पलेवं तु।

लिप्तं सदोषमिति भणित्वा अलेपकृतभोक्तव्यं तीर्थकरगणधरैरनुज्ञा-तमिति गुरुवचनम् अत्र चोदक आह। यावज्जी वमेवनभुङ्क्ता न चेत् यावज्जीवमभोजने न शक्नोति तर्हि षण्मासानुपोष्य आचाम्लेन भुङ्क्तां न चेदेवमपि शक्नोति तत एकादिनाऽपि हान्या तावदात्मानं तोलयेत् यावच्चतुर्थमुपोष्या-चाम्लस्य ग्रहणं करोतु एवमष्यसंस्तरेण अशक्तौ अल्पलेपं गृह्णन् पानमेव गाथाद्वयेन विवृणोति

आयंविल पारणए, छम्मासनिरंतरं तु खविऊणं।
जइ न तरइ छम्मासे, एगदिणुण्णं तओ कुणइ।
एवं एक्केक्कदिणं, आयंविलपारणं ठवेऊण।
दिवसे दिवसे गिण्हउ, आयंविलमेव निल्लेवं।

यदि सर्वकाले क्षपणं कर्तुमशक्तस्तर्हि षण्मासान्निरन्तरं क्षपयित्वा पारणके आचाम्लं करोतु। यदि षण्मासानुपवस्तुं न शक्नोति तत एकदिनोनं तु करोतु। एवं षण्मासावधिरेकैकदिनं परित्य-ज्याचाम्लेन पारणकं ताचत्करोतु यावच्चतुर्थमेवमप्यशक्तौ प्रतिदिनं निर्लेपमाचाम्लमेव गृह्णातु।

जइ से न जोगहाणी, संपइए से व होइ तो खमओ।
खमणंतरेण आयं-विलं तु नियय तवं कुणइ।

यदि (से) तस्य साधोः संप्रति दात्री एष्यति वा कालेन योगहानिः संप्रत्युपेक्षणादिरूपसंयमयोगभ्रंशो न भवति तर्हि भवानुक्षपकः षण्मासाद्युपकर्ता तत्र च क्षपकमानानामेकैकदिनहान्या पूर्वोक्तस्वरूपा-णामनन्तरं यावत्षण्मासावधिरूपोऽयं करोतु एवमप्यशक्तौ नियतं सदैव आचाम्लरूपं तपः करोतु केवलं संप्रति सेवार्तसंहननानां नास्ति तादृशी शक्तिरिति न तथोपदेशो विधी-यते। पुनरपि पर आह॥

हिट्ठावणिकोसलगा, सोवीरगत्तरभोयणो मणुया।
जइ ति विजयंति तहा, किं नाम जई न जावेंति॥

अधो वा मम ये महाराष्ट्राः कोशलकाः कोशलदेशोद्भवाः सदैव सौवीरकक्तरमात्रभोजिनस्तेऽपि च सेवार्त्तसंहननास्ततो यदि तेऽपीत्थं यापयन्ति यावज्जीवं तर्हि तथा सौवीरकमात्रभोजनेन किन्न यतयो मोक्षगमनकटिबद्धकक्षा यापयन्ति तैः सुतरामेव यापनीयं प्रभूतगुणसंभवात्। अत्र सूरिराह॥

तिय सीयं समणेणं, तिय उण्हं गिहीण्ण तेणणुन्नायं।
तक्काईणं गहणं कठरमाईसु मइयव्वं॥

त्रिकं वक्ष्यमाणं शीतं श्रमणानां तेन प्रतिदिवसमाचाम्लकरणे तक्राद्यभावत आहारपाकासंभवेनाजीर्णादयो दोषाः प्रादुःष्यन्ति तदेवं त्रिकमुक्तं गृहिणां तेन सौवीरकमात्रभोजनेऽपि तेषा-माहारपाकभावतो नाजीर्णादिदोषा जायन्ते ततस्तेषां तथा प्रयततामपि न कश्चिद्दोषः साधूनां तूक्तनीत्या दोषास्तेन कारणेन तक्रादिग्रहणं साधूनामनुज्ञातम्। इह प्रायो यतिना विकृति-परिभोगपरित्यागे न सदैवात्मशरीरं यापनीयं कदाचिदेव च शरीरस्यापाटवे संयमयोगवृद्धिनिमित्तं बलाधोमाय-विकृति-परिभोगः। तथा चोक्तं सूत्रे "अभिक्खणं निव्विगइं गया य इत्ति" निर्विकृतिपरिभोगे च तक्राद्येवोपयोगीति तक्रादिग्रहणं कठरादिषु घृतवटिकोन्मिश्रती मनादिषु ग्रहणं भाज्यं विकल्पनीयम्। ग्लानत्वादिप्रयोजनोत्पत्तौ कार्यं न शेषकालमिति तेषां बहु-लेपत्वात् गृद्ध्यादिजनकत्वाच्च। अथ किं तत्रिकमित्यत आह॥

आहार उवहि सेज्जा, तिन्नि वि उण्हा गिहीण सीए वि।
तिन्नि उ जीरइ तेसिं, उहउ उसिणेण आहारो॥

आहार उपधिः शय्या त्रीण्यपि गृहिणां शीतेऽपि शीतलेऽपि उष्णानि भवन्ति ततो जीर्यते विग्रहमन्तरेणापि (उहउत्ति) उभयतो बाह्यतोऽभ्यन्तरतश्चोष्णेन तापेनाहारो जीर्यते। तत्राभ्यन्तरो भोजनवशात् बाह्यः शय्योपधिवशात्॥

एयाई वि य तिन्नि वि, जईण सीयाइं होंति गिण्हे वि।
तेणुवहम्मइ अग्गी, तओ य दोसो अजीण्णइ॥

एतान्येव आहारोपधिशय्यारूपाणि त्रीणि यतीनां ग्रीष्मेऽपि

ग्रीष्मकालेऽपि शीतानि भवन्ति तत्राहारस्य शीतता भिक्षाचर्यायां प्रविष्टस्य बहुकगृहेषु स्तोकास्तोकलभेन वृहद्वेलालगताद् उपधेरेकमेकवारं वर्षमध्ये वर्षाकालादर्वाक् प्रक्षालनेन मलिनत्वात्। शय्यायास्तु प्रत्यासन्नाग्निकरणाभावेन तेन कारणेन ग्रीष्मकालेऽप्याहारादीनां शीतत्वसंभवरूपेणोपहन्यते। अग्निर्जठरो वह्निः। तस्माच्चाग्न्युपघातौ दोषाः (अजीण्णाइत्ति) अजीर्णवुभुक्षामान्द्यादयो जायन्ते। ततस्तक्रादिग्रहणं साधूनामनुज्ञातं तक्रादिनापि हि जाठरोग्निरुद्दीप्यते तेषामपि तथा स्वभावत्वात्। संप्रत्यलेपानि द्रव्याणि प्रदर्शयति।

ओयणमंडगसत्तुय-कुम्मासरायमासकलवल्ला।
तुयरि मसूरि मुग्गा-मासा य अलेवकडा सुक्खा॥

ओदनस्तन्दुलादिभक्तं मण्डका कणिक्कमयाः प्रतीता एव। शक्तवो यवाः क्षोदरूपाः। कुल्माषा उडदाः राजभाषा सामा-न्यतश्चवलाः श्वेतचवलिका वा। कला वृत्तचनकाः सामान्येन वा चनकाः। तुवरा आढकी। मसूरा द्विदलविशेषाः। मुद्गा माषाश्च प्रतीताः। चकारादन्येऽप्येवंविध-धान्यविशेषाः शुष्का अनार्द्रा अलेपकृताः। संप्रत्यल्पलेपानि द्रव्याणि प्रदर्शयति॥

उद्धिअपेअकंडु, तक्कोल्लुणसूवकंजिकढियाइं।
एए उ अप्पलेवा, पच्छा कम्मं तहा भइयं॥

उद्धेद्या वस्तुलप्रभृतिशाकभर्जिका पेया यवागूः कण्डुः कोद्रवौदनः। तक्रं तक्राख्यम् उल्लणं येनौदनमनार्द्रीकृत्योपयु-ज्यते। सूपो राद्धमुद्गदाल्यादिः काञ्जिकं सौवीरं क्वथितं तीम-नादि। आदिशब्दादन्यस्यैवंविधस्य परिग्रहः। एतानि द्रव्या-ण्यल्पलेपानि। एतेषु पश्चात्कर्म भाज्यं कदाचिद्भवति। कदाचिन्नेति भावः। संप्रति बहुलेपानि द्रव्याणि दर्शयति॥

खीरदहिजादिकड्ढुर, तेल्लघयं फाणियं सपिंडरसं।
इच्चाई बहुलेवं-पच्छा कम्मं तहिं नियमा॥

क्षीरं दुग्धं दधि प्रतीतं क्षीरपेया कड्ढुरं प्रागुक्तस्वरूपं तैलं घृतं च प्रतीतं फाणितं गुडपानकं सपिण्डरसम् अतीचारसाधिकं खर्जूरादि इत्यादि द्रव्यजातं बहुलेपं द्रष्टव्यम्। तत्र च पश्चात्कर्म नियमतः। अत एव यतयो दोषभीरवस्तानि न गृह्णन्ति। यदुक्तं "पच्छाकम्मं तहिं भइयंति"। संप्रति तामेव भजनामष्टभङ्गिकया दर्शयति।

संसट्ठेयरहत्थो, मत्तो वि य दव्वसावसेसियरं।
एएसु अट्ठभंगा, नियमा गहणं तु एएसु॥

दातुः संबन्धी हस्तः संसृष्टोऽसंसृष्टो वा भवति। येन च कृत्वा भिक्षां ददाति तदपि मात्रं संसृष्टमसंसृष्टं वा द्रव्यमपि साव-शेषमितरद्वा असावशेषम्। एतेषां च त्रयाणां पदानां संसृष्टहस्तासंसृष्टमात्र-सावशेषद्रव्यरूपाणां सप्रतिपक्षाणां परस्परं संयोगतोऽष्टो भङ्गा भवन्ति ते चामी। संसृष्टो हस्तः संसृष्टं मात्रं सावशेषं द्रव्यम्॥१॥ संसृष्टो हस्तः संसृष्टं मात्रं निरवशेषं द्रव्यम्॥२॥ संसृष्टो हस्तोऽसंसृष्टं मात्रं सावशेषं द्रव्यम्॥३॥ संसृष्टो हस्तोऽसंसृष्टं मात्रं निरवशेषं द्रव्यम्॥४॥ असंसृष्टो हस्तः संसृष्टं मात्रं सावशेषं द्रव्यम्॥५॥ असंसृष्टो हस्तः संसृष्टं मात्रं निरवशेषं द्रव्यम्॥६॥ असंसृष्टो हस्तः असंसृष्टं मात्रं सावशेषं द्रव्यम्॥७॥ असंसृष्टो हस्तोऽसंसृष्टं मात्रं निरवशेषं द्रव्यम्॥८॥ एतेषु चाष्टसु भङ्गेषु मध्ये नियमान्निश्चयेन ओजस्सु विषमेषु भङ्गेषु प्रथम-तृतीयपञ्चमसप्तमेषु ग्रहणमादानं कर्तव्यम् न समेषु द्वितीय-चतुर्थषष्ठाष्टमरूपेषु। इयं चात्र भावना। इह हस्तो मात्रं वा द्वे वा स्वयोगेन संसृष्टे भवतोऽसंसृष्टे वा न तद्वशेन पश्चात्कर्म संभवति किं तर्हि द्रव्यवशेन तथा हि यत्र द्रव्यं सावशेषं तत्रैते साध्वर्थं खरण्टिते अपि न दात्री प्रक्षालयति भूयोऽपि परिवेषसंभवात्। यत्र तु निरवशेषं द्रव्य तत्र साधुदानानन्तरं नियमतस्तद्द्रव्या-धारस्थाली हस्तं मात्रं वा प्रक्षालयति। ततो द्वितीयादिषु भङ्गेषु द्रव्ये निरवशेषे पश्चात्कर्मसंभवान्न कल्पते प्रथमादिषु न पश्चात्कर्मसंभवस्ततः कल्पते इति। उक्तं लिप्तद्वारम्। अथ छर्दितद्वारमाह॥

सच्चित्ते अच्चित्ते-मीसग तह छड्डणे य चउभंगे।
चउभंगे पडिसेहो, गहणे आणाइणो दोसा॥

छर्दितमुज्झितं त्यक्तमिति पर्यायाः तच्च त्रिधा तद्यथा सचित्त-मचित्तं मिश्रं च तदपि च। कदाचिच्छर्द्यते सचित्ते सचित्तमध्ये कदाचिदचित्ते कदाचिन्मिश्रे तत एवं छर्दिते सचित्ताचित्तमिश्रद्रव्यणामाधारभूताना-धेयभूतानां च संयोगतश्चतुर्भङ्गी भवति। अत्र जातावेकवचनं ततोऽयमर्थस्तिस्रश्चतुर्भङ्ग्यो भवन्ति। तद्यथा सचित्तमिश्रपदाभ्यामेका सचित्ताचित्तपदाभ्यां द्वितीया मिश्राचित्तपदाभ्यां तृतीया। तत्र सचित्ते सचित्ते छर्दितं, मिश्रे सचित्तं, सचित्ते मिश्रं, मिश्रे मिश्रमिति। प्रथमा। सचित्ते सचित्तम्, अचित्ते सचित्तं, सचित्ते अचित्तम्, अचित्ते अचित्तमिति द्वितीया। मिश्रे मिश्रम् अचित्ते मिश्रं, मिश्रे अचित्तम्, अचित्ते अचित्तमिति तृतीया। सर्व संख्यया द्वादश भङ्गाः। सर्वेषु च भङ्गेषु सचित्तपृथिवीकाय-मध्ये छर्दित इत्यादिरूपतया स्वस्था-नपरस्थानाभ्यां षट्त्रिंशत् षट्त्रिंशद् विकल्पास्ततः षट्त्रिंशत् द्वादशभिर्गुणितानि जातानि चत्वारि शतानि द्वात्रिंशदधिकानि। एतेषु च सर्वेषु भङ्गेषु प्रतिषेधो भक्तादिग्रहणे निवारणम्। यदि पुनर्ग्रहणं कुर्यात्तत आज्ञादय आज्ञानवस्थामिथ्यात्व-विराधनारूपदोषाः। इहाद्यन्तग्रहणेमध्यस्यापि ग्रहणमिति न्यायादौद्दे-शिकादिदोषदुष्टानामपि भक्तादीनां ग्रहणे आज्ञादयो दोषा द्रष्टव्याः। संप्रति छर्दितग्रहणे दोषानाह।

उसिणस्स छड्डणे दें-ते उवडज्झेज्ज कायदाहो वा।
सीयपडणम्मि काया, पडिए महु विंदुआहरणं॥

उष्णस्य द्रव्यस्य छड्डने समुज्झने ददमानो वा भिक्षां दह्येत भूम्याश्रितानां वा कायानां पृथिव्यादीनां दाहः स्यात्। शीतद्रव्यस्य भूमौ पतने भूम्याश्रिताः कायाः पृथिव्यादयो विराध्यन्तेऽत्र पतिते मधुविन्दूदाहरणम्। वारवतपुरं नाम नगरं तत्राभयसेनो नाम राजा तस्यामात्यो वारत्तकोऽन्यदा चात्वरितमचपलमसंभ्रान्तमेषणासमि-तिसमितो धर्मघोषनामा संयतो भिक्षामटन् तस्य गृहं प्राविशत्। तद्भार्या च तस्मै भिक्षादानाय प्रभूतघृतखण्डसन्मिश्रपायसभृतस्थालीमुत्पा-टितवती। अत्रान्तरे चकथमपि ततः खण्डमिश्रो घृतविन्दुर्भूमौ निपतितः। ततो भगवान् धर्मघोषो मुक्तिपदैकनिहितमानसो जलधिरि वगम्भीरो मेरूविरनिष्प्रकम्पो वसुधेव सर्वसहःशङ्ख इव रागादिभिररञ्जनो महासुभट इव कर्मरिपुविदारणनिबद्धकक्षो भगवदुपदिष्टभिक्षाग्रहणविधि-विधानकृतोद्यमो भिक्षेयं छर्दितदोषदुष्टा तस्मान्न मे कल्पते इति परिभाव्य ततो निर्जगाम। वारत्तकेन चामात्येन मत्तवारणस्थि तेन दृष्टो भगवान् निर्गच्छन् चिन्तयति च स्वचेतसि किमनेन भगवता न गृह्यतेऽस्मद्गृहे भिक्षेति। एवं च यावच्चिन्तयति तावत्तुभूमौ निपतितं खण्डयुक्तं घृतविन्दुं मक्षिकाः समागत्याऽश्रयन् तासां च

भक्षणाय प्रधाविता गृहगोधिका गृहगोधिकाया अपि विघाताय चलितः सरटः तस्यापि च भक्षणाय प्रधावतिस्म मार्जारी तस्या अपि च वधाय प्रधावितः प्राघूर्णकश्च तस्यापि च प्रतिद्वन्द्वी प्रधावितोऽन्यो वास्तव्यश्च ततो द्वयोरपितयोः शुनोरभूत्परस्परं कलहस्ततः स्वस्वसारमेय-पराभवदूरनमस्कृतयोः प्रधावितयोर्द्वयोरपि तत्-स्वामिनोरभूत्परस्परं महद्युद्धम् । एतच्च सर्वं वारत्तकामात्येन परिभावितं ततश्चिन्तयति स्वचेतसि घृतादेर्विन्दुमात्रेऽपि भूमौ निपतिते यतः एवमधिकरणप्रवृत्तिरत एवाधिकरणभीरुर्भगवान् घृतविन्दुं भूमौ निपतितमवलोक य भिक्षां न गृहीतवान् । अहो सुदृशे भवति प्राप्तधर्मा को हि नाम भगवन्तं सर्वज्ञमन्तरेणेत्थमनपायिनं धर्ममुपदेष्टुमीशो न खल्वन्धो रूपविशेषं जानाति । एवमसर्वज्ञोऽपि नेत्थं सकलकालमनपायं धर्ममुपदेष्टुमलम् । तस्माद्भगवानेव सर्वज्ञः । एवं च मे जिनो देवता तदुक्तमेव वाऽनुष्ठानं मयाऽनुष्ठा-तव्यमित्यादि विचिन्त्य संसारविमुखज्ञो मुक्तिवनिताश्लेष-सुखलम्पटसिंह इव गिरिकन्दरया निजप्रसादाद्विनिर्गत्य धर्मघोषस्य साधोरूपकण्ठं प्रव्रज्यामग्रहीत् । स च महात्मा शरीरेऽपि निःस्पृहो यथोक्तभिक्षाग्रहणा दिविधिसेवी संयमानुष्ठानपरायणः स्वाध्याये भावितान्तःकरणो दीर्घकालं संयममनुपाल्य जातप्रततकर्मा समुच्छलितदुर्निवार्यप्रसरः क्षपकश्रेणिमारुह्य घातितकर्मचतुष्टयं समूलघातं हत्वा केवलज्ञानलक्ष्मीमासादितवान्, ततः कालक्रमेण सिद्ध इति । उक्तमेषणाद्वारम् । पिं० । ध० । दर्श० । ग० । पं० व० । पंचा० । महा० । स्था० । आचा० । प्रव० । (एषणायाः शङ्कितादयो दश दोषास्ते चाचाराङ्गे पिण्डाधिकारे एवैषणादोषमधिकृत्यो-क्तास्ते च गोयरचरियाशब्दे व्याख्यास्यन्ते)

(६) एतेषां शङ्कितादिदोषाणामपि बहुभेदत्वं यथा शङ्कितं शङ्कितदोषः अत्र चत्वारो भेदाः शङ्कितग्राही शङ्कितभोजी निशङ्कितग्राही शङ्कितभोजी २ शङ्कितग्राही निःशङ्कितभोजी ३ निःशङ्कितग्राही निश्शङ्कितभोजी ४ म्रक्षितं द्वेधा सचित्ताचित्तम्रक्षितं वा । आद्यं त्रिधा पृथिव्यव्वनस्पतिभेदात् । ततः पृथिवीम्रक्षितं चतुर्द्धा सरजस्कं सचित्तं पृथिवीरजोगुण्ठितं तच्च तन्म्रक्षितं च सरजस्कम्रक्षितं मिश्रसचित्तासचित्तरूपः कर्दमस्तेन म्रक्षितं मिश्रकर्दममम्रक्षितं मिश्रोऽपरिणतसचेतनकर्दमस्तेन म्रक्षितमिति मिश्रकर्दममम्रक्षितम् । ऊषमृत्तिका हरितालहिङ्गुलकास्ततः शिलाञ्जनलवणगैरिकाश्चेत्यादिका ऊषरकादि पृथ्वीकायम्रक्षितं च अप्कायम्रक्षितं पुरःकर्म पश्चात्कर्म सस्निग्धोदकार्द्ररूपं चतुर्भेदं दानात्पूर्वं हस्तमात्रकायक्षालने पुरःकर्म दानानन्तरं क्षालने पश्चात्कर्म सस्निग्धभीषदुदकयुक्तमुदकार्द्रमुदकविन्दुयुक्तम् । वनस्पतिम्रक्षितं द्विधा प्रत्येकानन्तभेदात् प्रत्येकं म्रक्षितं त्रिधा पृष्टं आमं तन्दुलक्षोदविकुकुसा प्रतीता उत्कृष्टकलिङ्गाम्रवालुक्या-दिफलागदीनां शुक्लीकृतानि खण्डानि अम्लिकापत्रसमुदायो वा ऊदूखलखरण्डतैर्म्रक्षितं प्रत्येकवनस्पतिम्रक्षितं कुट्टितानन्तम्रक्षितं द्वितीयस्य पश्यतोऽपि भावापरिणतत्वेन । गृहीतभावापरिणतं तु अनन्तम्रक्षितम् अचित्तम्रक्षितं द्विधा गर्हितागर्हितभेदात् गर्हि-तैर्मांसवसाशोणितसुरामूत्रोच्चारादिभिः शिष्टजनस्याभक्ष्या-पेयैर्म्रक्षितं गर्हिताचित्तम्रक्षितम् संभजन्ति विगलन्ति सले-पत्वात्कीटिकामक्षिकादयो येषु दध्यादिषु तानि संसक्तानि तैः १ अगर्हितैरचित्तैर्म्रक्षितमर्हितसंसक्ताचित्तम्रक्षितं २ निक्षिप्तं सचित्तादौ न्यस्तं ३ पिहितं सचित्तादिभिः स्थगितं ४ संहृतं येन हस्तमात्रा कणदात्री साधोरशनादिकं दास्यति तत्र शिष्यादिकं वा यदि स्यात्तदन्यत्र सचित्तेऽचित्ते वा क्षिप्त्वा तेन यद्ददाति तत्संहृतं ५ दायकदोषा बालादिभिर्दीयमाने ६ उन्मिश्रं सचित्तादिभिर्मिश्रितम् ७ । अपरिणतं द्वेधा द्रव्यभावभेदात् तत्र सचितं वस्तु दीयमान द्रव्यापरिणतं भावापरिणतं द्विधा दातृग्रहीतृभेदात् द्वयोः साधारणेऽन्नादावेकेन दीयमाने द्वितीयस्य भावोऽपरिणतो न दानपरिणामवान् तद्दातृभावापरिणतम् । अत्राह अनिसृष्टस्य भावापरिणतस्य च को विशेषः । उच्यते द्वितीयादीनां परोक्ष-मेकस्याददतो निसृष्टं भवति भावापरिणतं तु यत्र द्वयोः साध्वोर्भिक्षार्थं गतयोरेकस्य मनसि तदन्नादिकमशुद्धं परिणतम् अन्यस्य च तदेव शुद्धमिति ८ । लिप्त० दोषः दध्याद्युपलिप्तेन हस्तेन मात्रकेण चान्नादिषु ग्रहणे पश्चात् कर्मादिसंभवात् तथाचोक्तम् ''घित्तव्वभिलेवकड-माहु पुरकम्म पच्छकम्माइ । न य रसगेहि पयं, सामुत्ते वत्तपीडा य'' ९ छर्दितम् दीयमानस्यान्नादेः पृथ्वीकायादिसंसत्कादि छर्दितम् १० ॥ जीत० । ग्रासैषणानिक्षेपे ग्रहणैषणां प्रतिपाद्योक्तम् । साम्प्रतं ग्रासैषणाउच्यते तथाचाह ।

दव्वे भावे घासे-सणा उ दव्वम्मि मच्छआहरणं ।
गलमंसुंडगमक्खण, गलस्स पुच्छेण घट्टणया ८१५ ।

सा च ग्रासैषणा द्विविधा द्रव्यतो भावतश्च तत्र द्रव्यतो भत-स्योदाहरणम् ''एगो किल मच्छबन्धो गुले मंसापिडं दाऊण दहे छड्डति तं च एगो मच्छो जाणइ जहा एस गलो त्ति सो परिसरं तेण मंसं खाइ जेण ताहे पराहुतो घेप्पए गलमाहणइ मच्छबंधो जाणइ एस गहिओत्ति । एवं तेण सव्वं खइयं मंसं सा य मच्छबंधो खइएण मंसेण अट्ठिए लट्ठो अत्थइ तत्थ आहरणं दुविहं चरियं कप्पियं च । तं च मच्छबंधं ओहयमणसंकप्पं झायंतं दट्ठु मच्छो भणइ अहं पडत्तो चरतो गहिओ वलाए गाहे ताएयहे सा उक्खित्ता पच्छा गिलइ ताहे अहं वा कातीसमूहे पडिओ एवं विइयं पि तिइयं पि उग्गलित्तो ताहे मुक्को अनया समुद्दे अहं गओ तत्थ मच्छबंधा बलया महाइ करेंति कडएहिं ताहे समुद्दवेलापाणिएणं सह अहं तत्थ वंकीकए कडे पविट्ठो ताहे तस्स कडगस्स अणुसारेण अतिगतो एवंति निराबलया मुहाओ मुक्को जालतो एक्कवीसं वाराउ फिडिओ किहि पुण जाहे जाले बूडं भवति ताहे हं भूमिं घेत्तूण अच्छामि तहा एक्कम्मि जिन्नोदयम्मि दहे अत्थिया अम्हे किं कह वि ण मायं जहा एसो दहे सुक्किहित्ति ताहे सो दहो सुक्को मच्छाणं धले गती णत्थि ते सव्वे सुक्कंते पाणिए मया केइ जीमंति तत्थ कोइ मच्छबंधो आगओ सो हत्थेण गहाय सूलए पोएत्ति ताहे मण्णं ते तं अहं पि अचिरा विज्झाहामि जाव ण विज्झामि ताव उवायं चिंतेमि ताहे तेसिं मच्छाणं अन्तरालं सूलं मुहे गहिऊण ठिओ सो जाणइ एए सव्वे पोइल्लयासो गंतूण अन्नाहिं दोहं धोवइ । तत्थ अहं मच्छयं घयं करेंतो वे बुड्डाणो पाणिए पविट्ठो तं एयारिसं मनसत्तं च हाविइच्छसि गलेघित्तुं अहो ते निल्लज्जत्तणंति'' ओघ० ॥

(७) विस्तरेण ग्रासैषणा निक्षेपादिकं तत्र ।

संयोजनादीनि द्वाराणि वक्तव्यानि तानि च ग्रासैषणारूपाणीति प्रथमतो ग्रासैषणाया निक्षेपमाह ।

नामं ठवणा दविए, भावे घासेसणा मुणेयव्वा ।
दव्वे मच्छाहरणं, भावम्मि य होइ पंचविहा ॥

ग्रासैषणा चतुर्द्धा । तद्यथा नामग्रासैषणा स्थापनाग्रासैषणा द्रव्ये

द्रव्यविषया ग्रासैषणा भावे भावविषया ग्रासैषणा । स्थापना ग्रासैषणा द्रव्यग्रासैषणाऽपि यावद्द्रव्यशरीररूपा ग्रहणैषणा भावनीया । ज्ञशरीरव्यतिरिक्तायां तु ग्रासैषणायां मत्स्य उदाहरणं दृष्टान्तः । भावविषया पुनर्ग्रासैषणा द्विधा । तद्यथा आगमतो नो आगमतश्च । तत्रागमतो ज्ञातस्तत्र चोपयुक्तः । नो आगमतो द्विधा प्रशस्ता अप्रशस्ता च । तत्र प्रशस्ता संयोजनादिदोषरहिताऽप्रशस्ता संयोजनादिरूपा तामेव निर्दिशति । ''भावम्मि य'' इत्यादि भावे भावविषया पुनर्ग्रासैषणा पञ्चविधा संयोजनादिभेदात्पञ्चप्रकारा । तत्र द्रव्यग्रासैषणोदाहरस्य संबन्धमाह ॥

चरियं च कप्पियं वा, ओहरणं दुविहमेव नायव्वं ।
अत्थस्स साहणत्था, इंधणमिव ओयणट्ठाय ॥

इह विवक्षितस्यार्थस्य साधनार्थं प्रतिपादनार्थं द्विविधमुदाहरणं ज्ञातव्यम् । तद्यथा चरितं संकल्पितं च कथमिव विवक्षितस्यार्थस्य प्रसाधनायोदाहरणं भवतीत्यत आह । इन्धनमिव ओदना-र्थमिन्धनमिव ओदनस्येति भावस्तत्र प्रस्तुतस्यार्थस्य प्रसा-धनार्थमिदं कल्पितमुदाहरणम् । कोऽप्येको मत्स्यसंबन्धी मत्स्य-ग्रहणनिमित्तं सरो गतवान् गत्वा च तेन तदवस्थानाग्रभागे मांसपेसीसगेतो गलः सरो मध्ये प्रचिक्षिपे तत्र च सरसि परिणत-बुद्धिरेको महादक्षो जीर्णमत्स्यो वर्तते स गलगतमांसगन्धमाघ्राय तद्भक्षणार्थं गलस्य समीपमुपागत्य यत्नतः पर्यन्ते सकलमपि मांसं खादित्वा पुच्छेन च गलमाहत्य दूरतोऽपचक्राम । मत्स्यबन्धी च गृहीतो गलेन मत्स्य इति विचिन्त्य गलमाकृष्टवान् न पश्यति मत्स्यं पुनः मांसपेसीसहितं गलं प्रचिक्षेपं तथैव स मत्स्यो मांसं खादित्वा पुनश्च गलमाहत्य पलायितवान् । एवं त्रीन् वारान् मत्स्यो मांसं खादितवान् न च गृहीतो मत्स्यबन्धिना ।

अह मंसम्मि पहीणे, झायंतं मंच्छियं भण्इ मच्छो ।
किं झायसि तं एवं, सुण ताव जहा अहिरिओसि ॥

अथ मांसे प्रक्षीणे ध्यायन्तं मात्स्यिकं मत्स्यो भणति यथा किं त्वमेव ध्यायसि चिन्तयसि शृणु तावत् यथा त्वमह्रीको निर्लज्जो भवसि ॥

तिवलागे मुहामुक्को, तिक्खुत्तो बलयामुहे ।
तिसत्तखुत्तो जालेणं, सइंछिन्नोदए दहे ॥

अहमेकदा त्रीन् वारान् वलाकाया मुखादुन्मुक्तस्तथा हि कदाचिदहं वलाकया गृहीतस्ततस्तया मुखे प्रक्षेपार्थं-मूर्ध्वमुक्षिप्तस्ततो मया चिन्तितं यद्यहमृजुरेवास्याः मुखे निपतिष्यामि तर्हि पतितोऽहमस्मन्मुखे *इति न मे प्राणकौशलं तस्मात्तिर्यक्पतामीति एवं विचिन्त्य दक्षतया* तथैव कृतं परिभ्रष्टस्तस्या मुखात् । ततो भूयोऽपि तयोर्ध्वमुत्क्षिप्तस्तथैव चद्वितीयमपि वारं मुखात्परिभ्रष्टः । तृतीयवेलायां तु जले निपतितस्ततो *दूरं पलायितस्तथा त्रिःकृत्वस्त्रीन् वारान् वलाफाया मुखे वलाकामुखे* भ्राष्ट्रिरूपे निपतितो दक्षतया शीघ्रं वेलयैव सह विनिर्गतः । तथा त्रि-:सप्तकृत्व एकविंशतिवारान् मात्स्यिकेन प्रक्षिप्ते जाले पतितोऽपि यावन्नाद्यापि स मत्स्यबन्धी संकोचयति जालं तावत् येनैव यथा प्रविष्टस्तेनैव ततो जालाद्विनिर्गतः । ''जालेनेति'' तृतीया पञ्चम्यर्थे द्रष्टव्या । तथा सकृत् एकवारं मात्स्यिकेन ह्रदजलमन्यत्र संचार्य तस्मिन् ह्रदे छिन्नोदके बहुभिर्मृत्स्यैः सहाहं गृहीतः । स च सर्वानापि तान् मत्स्यानेकत्र पिण्डीकृत्य तीक्ष्णायःशलाकया प्रोतयति । ततो ऽहं दक्षतर्या यथा स मात्स्यिको न पश्यति तथा स्वयमेव तामयःशलाकां वदनेन लगित्वा स्थितः । स च मात्स्यिकस्तान् मत्स्यान् कर्दमलिप्तान् प्रज्ञालयितुं सरसि जगाम तेषु च प्रक्षाल्यमानेष्वन्तरमवज्ञाय झटित्येव जलमध्ये निमग्नवान् ॥

एयारिसं मम सत्तं, सठं घटियघट्टणं ।
इच्छसि गलेण घेत्तुं, अहो ते अहिरीयया ॥

एतादृशं पूर्वोक्तस्वरूपं मम सत्त्वं शठं कुटिलं घटितस्य धारादिकृतस्योपायस्य घट्टनं चालकत्वमिच्छसि मां गलेन गृहीतुमित्यहो ते तव अह्रीकता निर्लज्जतेति । तदेवमुक्तो द्रव्यग्रासैपाणायां दृष्टान्तः । संप्रति भावग्रासैषणायामुपनयः क्रियते । मत्स्यस्थानीयः साधुर्मांसस्थानीयं भक्तपानीयं मात्स्यिकस्थानीयो रागादिदोषगणः यथा न छलितो मत्स्य उपायशतेन तथा साधुरपि भक्तादिकमभ्यवहरन्नात्मान-ममनुशास्तिप्रदानेन रक्षयेत् ।

तामेवानुशास्ति प्रदर्शयति ॥

बायालीसेसणसं-कडम्मि गहणम्मि जीव न हु छलिओ ।
इण्हिं जह न छलिज्जसि, भुंजंतो रागदोसेहिं ॥

इह एषणाग्रहणेन एषणागता दोषा अभिधीयन्ते ततोऽयमर्थः द्विचत्वारिंशत्संख्या ये एषणादोषा गवेषणाग्रहणैषणादोषास्तैः संकटे विषमे ग्रहणे भक्तपानादीनामादाने हेजीव ! त्वं नैव छलितस्तत इदानीं संप्रति भुञ्जानो रागद्वेषाभ्यां यथा न छल्यसे तथा कर्त्तव्यम्।

संप्रति तामेव भावग्रासैषणां प्रतिपादयति ।

घासेसणा उ भावे, होउ पसत्था तहेव अपसत्था ।
अपसत्था पंचविहा, तव्विवरीया पसत्था उ ॥

भावे भावविषया ग्रासैषणा द्विविधा तद्यथा प्रशस्ता अप्रशस्ता च । तत्र प्रशस्ता पञ्चविधा संयोजनातिबहुकाङ्गार-धूमनिष्कारणरूपा । तद्विपरीता संयोजनादिदोषरहिता प्रशस्ता पिं० (संयोजनादि वक्तव्यता संजोजणा शब्दे) (भोजने कारण-माहारप्रमाणं च आहारशब्दे) (अङ्गारधूमदोषा अंगारधूमा-दिशब्दे)

तथा च-

गवेसणोए गहणे, परिभोगेसणा जहा ।
आहारोवहिसज्जाए, एए तिन्नि विसोहिए ॥११॥

गवेषणायामेषणा गवेषणैषणा गौरवि एषणा गवैषणा *विशुद्धाहारदर्शनविचारणा प्रथमा एषणा १* द्वितीया ग्रहणैषणा विशुद्धाहारस्य ग्रहणं ग्रहणैषणा २ तृतीया परिभोगैषणा परि समन्तात् भुज्यन्ते आहारादिकमस्मिन्निति परिभोगो मण्डलीभोजनसमयस्तत्रैषा विचारणा परिभोगैषणा एता-स्तिस्रोऽपि एषणा आहारोपधिशय्यासु विशोधयेत् केवलमाहारे एव एता एषणा न भवेयुः किं तु आहारे उपधौ वस्त्रपत्रादौ शय्या उपाश्रयः संस्तारकादिस्तत्र सर्वत्रैषणा विधेया इत्यर्थः

उग्गमउप्पायणं पढमे, बिइए सोहिज्ज एसणं ।
परिभोगं चउत्थं च, विसोहिज्ज जयं जयी ॥१२॥

(जयं इति) यत्नवान् (जयीति) यतिः साधुः (प्रथमे इति) प्रथमायां गवेषणायामुद्गमोत्पादनादोषान् विशोधयेत् विशेषेण विचारयेत् पुनः साधुर्द्वितीयायां ग्रहणैषणायां शङ्कितादिदोषान्

विचारयेत् पुनस्तृतीयायां परिभोगैषणायां चतुष्कं दोषचतुष्टयं विशोधयेत् १२ इति गाथार्थः । अत्र प्रथमायां गवेषणैषणायां द्वात्रिंशद्दोषा भवन्ति तद्यथा प्रथमं षोडश उद्गमदोषाः उद्गमशब्देन आधाकर्मकादि षोडश दोषाः । तथा प्रथमैषणायामेव उत्पादनादिदोषाः भवन्ति । उत्पाद्यन्ते साधुना ये ते उत्पादनाः साधोः सकाशादेव षोडश दोषा उत्पद्यन्ते । ते च धात्रीप्रमुखाः एवं द्वात्रिंशद्दोषा द्वितीयायामेषणायां ग्रहणैषणायां शङ्कितादि दश दोषाः । उभयतो दायकाद् ग्राहकाच्च भवन्ति उत्त० २४ अ० । (गवेषणायां द्वात्रिंशद्दोषाः तत्रोद्गमदोषा आधाकर्मिकादयः षोडश ते च उग्गमशब्दे-उत्पादनाया धात्री प्रमुखाः षोडश ते च उप्पायणाशब्दे) अथ ग्रहणैषणाया दश दोषाः कथ्यन्ते । यदा दायकः शङ्कां कुर्व्वन् ददाति साधुरपि जानाति असौ दायकः शङ्कां करोति एवं सति आहारं गृह्णाति तदा प्रथमः शङ्कितो दोषः १ द्वितीयो म्रक्षितो दोषः स द्विविधः य दा सचित्तेनखरण्टितः आहारः अचित्तेन खरण्टितश्चाहारो भवति तदा म्रक्षितदोष उक्तः उच्यते २ यदा पृथिव्यां जले अग्निवनस्पतिमध्ये त्रसजीवानां मध्ये निक्षिप्तमाहारं ददाति तदा निक्षिप्तस्तृतीयो दोषः ३ यदा अचित्तमाहारमपि सचित्तेन आच्छादितं स्यात्तदा पिहितदोषश्चतुर्थः ४ पिहितदोषस्य चतुर्भङ्गी सचित्तमाहारं सचित्तेन पिहितम्, अचित्ते सचित्तेन पिहितम्, सचित्तमचित्तेन पिहितमचित्तमचित्तेन पिहितमेवं चतुर्भङ्ग्या अचित्त आहारः अचित्तेन पिहितः । अत्र कोऽपि न दोषः यदा वृहद्भाजने स्थितमाहारं तत्रस्थभाजनेन दातुमशक्यत्वेन तद्भाजने परत्रोत्तार्य अथवा तस्माद्भाजनादपरस्मिन् भाजने उत्तार्य आहारं ददाति स संहृतदोषः पञ्चमः ५ यदा असमर्थः पण्डकः शिशुः स्थविरः अन्ध उन्मत्तो मत्तो ज्वरपीडितः कम्पमानशरीरो निगडबद्धो हड्डे क्षिप्तो गलितहस्तश्चिन्नपादः एतादृशो वा दाता ददाति तदा दायकदोषः । पुनर्यदा कश्चिद्दायको दायिका वा अग्निं प्रज्वालयन् अरहट्टकं भ्रामयन् घरट्टके चान्नपेषणं कुर्वन् मुसलेन खण्डयन् शिलायां लोष्टके वर्त्तयन् चरष्यां कार्पासादिकं लोढयन् रुतं वा पिञ्जयन् सूपकेण धान्यमाच्छोटयन् फलादिकं विदारयन् प्रमार्जने रजः प्रमार्जयन् इत्याद्यारम्भं कुर्वन् तथा भोजनं कुर्वन् स्त्री च या सम्पूर्णगर्भस्थिता भवति पुनर्या च स्त्री बालं प्रति स्तन्यं पाययन्ती पुनस्तं बालं रुदन्तं मुक्त्वा आहारदानाय उत्तिष्ठति पुनर्यः षट्कायसम्मर्दनं सङ्घट्टनं वा कुर्वन् साधुं दृष्ट्वा हण्डिकोपरिस्थमग्रपिण्डमुत्तारयति इत्यादयो बहवो दायकदोषा इति षष्ठो दायकदोषः ॥६॥ यदा अनाभोगेन अविचार्य व शुद्धा-शुद्धमाहारं संमील्य ददाति तदा सप्तम उन्मिश्रितदोषः ॥७॥ यदा द्रव्येण अपरिणतमाहारं भावेन उभयोः पुरुषयोराहारं वर्तते तन्मध्ये एकस्य साधवे दातुं मनोऽस्ति एकस्य च नास्ति तदाहार-मपरिणतदोषयुक्तं स्यात् अपरिणतदोषश्चाष्टमः ॥८॥ यदा दधिदुग्धक्षैरीय्यादिद्रव्यं येन द्रव्येण दर्वीकरो वा लिप्तः स्यात्तदा पश्चात्कर्मत्वेन लिप्तपिण्डो नवमो दोषः स्यात् ॥९॥ यदा सिक्थानि घृतदधिदुग्धादिविन्दून् पातयन् आहारं ददाति तदा छर्दितो दशमो दोषः स्यात् ॥१०॥ इति ग्रहणैषणायां दायकग्राहकयोरन्योन्यं दोषसम्भवः ।

अथ परिभोगैषणायां ग्रासैषणायाः पञ्च दोषाः सम्भवन्ति तद्यथा यदा क्षीरखण्डघृतादिद्रव्यं सम्मील्य रसलौल्येन भुङ्क्ते तदा संयोजनादोषः प्रथमः ।१। यदा सिद्धान्ते पुरुषस्याहार उत्कोऽस्ति तस्मादाहारप्रमाणात्स्वादुलोभेन अधिकमाहारं करोति तदा अप्रमाणो द्वितीयो दोषः ।२। यदा सरसाहारं कुर्वन् धनवन्तं दातारं वर्णयति तदा इङ्गालदोषस्तृतीयः ।३। विरसमाहारं कुर्वन् दरिद्रं कृपणं वा निन्दति तदा चतुर्थो धूमदोषः ।४। यदा तपः-स्वाध्यायवैयावृत्त्यादिकारणषट्कं विना बलवीर्यार्थं सरसाहारं करोति तदा पञ्चमोऽकारणदोषः ।५। एते पञ्च दोषाः परिभोगैषणायाः ज्ञेयाः । एवं सर्वे ।४७। सप्तचत्वारिंशद्दोषा भवन्ति परिभोगैषणायां चतुष्कं दोषचतुष्टयं सूत्रे उक्तं तत्तु इङ्गालधूमयोः मोहनीयकर्म्मोदयादेव दायकस्य प्रशंसावतो निन्दावतश्च प्रादुर्भावात् एकत्वमेव अङ्गीकृतं तस्माच्चत्वारि एव दोषा गृहीताः एवं । ४६। षट्चत्वारिंशद्दोषा भवन्ति अथवा परिभोगैषणायां परिभोगसमये आसेवनासमये पिण्डं (१) शय्या (२) वस्त्रं (३) पात्रं (४) एतच्चतुष्कं विशोधयेत् । अयमपि अर्थो विद्यते इत्यनेन "उग्गमुप्पायणं पढमे" इति गाथार्थः ॥१२॥ एषणासमितेन चानेषणा परिवर्जनीया उत्त० २४ अ० ।

तथा चोत्तरगुणानधिकृत्याह ॥

संवुमे से महापन्ने, धीरे दत्तेसणं चरे ।
एसणासमिए णिच्चं, वज्जयंते अणेसणं ॥१३॥

आश्रवद्वाराणां रोधेनेन्द्रियनिरोधेन च संवृतः स भिक्षुर्महती प्रज्ञा यस्यासौ महाप्रज्ञो विपुलबुद्धिमित्यर्थः । तदनेन जीवाजीवादिपदार्थाभिज्ञता वेदिता भवति । धीरोऽक्षोभ्यः क्षुत्पि-पासादिपरीषहैर्न क्षोभ्यते । तदेव दर्शयति । आहारोपधिशय्यादि के स्वस्वामिना तत्संदिष्टेन वा दत्ते सत्येषणां चरत्येषणीयं गृह्णातीत्यर्थः । एषणाया एषणायां वा गवेषणाग्रहणैषणा-ग्रासरूपायां त्रिविधायामपि सम्यगितः समितः स साधु-र्नित्यमेषणासमितः सन्ननेषणां परिवर्जयन् परित्यजन्संयममनुपालयेत् । उपलक्षणार्थत्वादस्य शेषाभिरपीर्यासमित्यादिभिः समितो द्रष्टव्य इति ॥१३॥

अनेषणीयपरिहारमधिकृत्याह ॥

भूयाइं च समारब्भ, तमुद्दिस्सा य जं कडं ।
तारिसं तु ण गिण्हेज्जा, अन्नपाणं सुसंजए ॥१४॥

अभूवन् भवन्ति भविष्यन्ति च प्राणिनस्तानि भूतानि प्राणिनः समारम्भ संरम्भसमारम्भारम्भैरुपतापयित्वा तं साधुमुद्दिश्य साध्वर्थं यत्कृतं तदकल्पितमाहारोपकरणादिकं तादृशमा-धाकर्मदोषदुष्टं सुसंयतः सुतपस्वी तदन्नं पानकं वा न भुञ्जीत । तुशब्दस्यैवकारार्थत्वान्नैवाभ्यवहरेदेवं तेन मार्गोऽनुपालितो भवति ॥१४॥ सूत्र० १ श्रु० ११ अ० ।

तथाचोत्तराध्ययने ।

परिवाडिए न चिट्ठेज्जा, भिक्खुदत्तेसणं चरे ।
पडिरूवेण एसित्ता, मियं कालेण भक्खए ॥३२॥

परिपाटिर्गृहपङ्क्तिस्तस्यां न तिष्ठेत् न पङ्क्तिस्थगृहभिक्षोपादानायैकत्रावस्थितो भवेत् तत्र दायकदोषोऽनवगमप्रसङ्गात् । यद्वा पङ्क्त्यां भोक्तुमुपविष्टपुरुषादिसंबन्धिन्यां न तिष्ठेदप्रीत्यदृष्टकल्याणतादिदोषसंभवात् । किंच भिक्षुर्यतिर्दत्तं दानं तस्मिन् गृहिणा दीयमाने एषणां तद्गतदोषान्वेषणात्मिकां चरेदासेवेत । चरतिरासेवायामपि वर्तत इति वचनात् । अनेन ग्रहणैषणोक्ता किं

विधाय दत्तैषणां चरेत् प्रतिरूपेण प्रधानेन रूपेणेति गम्यम्। यद्वा प्रतिः प्रतिबिम्बं चिरन्तनमुनीनां यद्रूपं तेनोभयत्र पतद्ग्रहादिधारणात्मकेन सकलान्यधार्मिकविलक्षणेन ननु वस्त्रं छत्रं छात्रं पात्रं यष्टिं चर्चयेत् भिक्षुः वेषेण परिकरेण च कियताऽपि बिना न भिक्षाऽपि इत्यादिवचनाकर्ण्य-नाद्विभूषात्मकं नैषयित्वा गवेषयित्वाऽनेन च गवेषणाविधि-रुक्तः। ग्रासैषणाविधिमाह मितं परिमितमदन्ति बहुभोजनात् स्वाध्यायविधातादिबहुदोषसंभवात् कालेनेति "नमोक्कारेण पारित्ता, करित्ता जिणसंथवं। सज्झायं पट्ठवित्ताणं, बीस-मिञ्जक्खणं मुणी" १ इत्यद्यागमोक्तप्रस्तावेनाहृताबलम्बित-रूपेण वा भक्षयेत् भुञ्जीतेति सूत्रार्थः ॥१०॥

(९) यत्र पुरायातान्यभिक्षुकसम्भवस्तत्र विधिमाह।

नाइदूरमणासन्ने, नन्नेसिं चक्खुफासओ।
एगो चिट्ठेज्ज भत्तट्ठा, लंघित्ता तं नइक्कमे।

नातिदूरं सुब्व्यत्ययान्नातिदूरेऽतिविप्रकर्षवति देशे तिष्ठेदिति संबन्धः। तत्र च निर्गमावस्थानानवगमप्रसङ्गादेषणाशुद्ध्य-संभवाच्च। तथा (अनासन्नेत्ति) प्रसज्यप्रतिषेधार्थत्वान्नञो नासन्ने प्रस्तावान्नातिनिक-टवर्तिनि भूभागे तिष्ठेत्तत्र पुरा प्रविष्टापरभि-क्षुकाप्रीतिप्रसक्ते नान्येषां भिक्षुकापेक्षया परेषां गृहस्थानां चक्षुःस्पर्शत इति सप्तम्यर्थे तसिस्ततश्चक्षुःस्पर्शे दृग्गोचरे चक्षुःस्पर्शगोचरगतः तिष्ठेदासीत् किन्तु विविक्तप्रदेशस्थो यथा न गृहिणो विदन्ति यदुतैष भिक्षुकनिष्क्रमणं प्रतीक्षत इति एक इति किममी प्रम पुरतः प्रविष्टा इति तदुपरि द्वेषरहितो भक्तार्थं भोजननिमित्तं न च लङ्घयन्ति। तमुल्लङ्घ्य तमिति भिक्षुकं नाति क्रामेत् प्रविशेत् तत्रापि तदप्रीत्यपवादादिसंभवादिह तं मितं कालेन भक्षयेदिति भोजनविधिमभिधाय यत्पुनर्भिक्षाटनाभिधानं तदम्लानादिनिमित्तं स्वयं वा बुभुक्षावेदनीयमसहिष्णोः पुनर्भ्रमणमिति न दोषायेति ज्ञापनार्थम्। उक्तं च "जइ तेण संथरे ततेउ कारणमुप्पन्ने भत्तपाणं गवेसये" इत्यादि सूत्रार्थः ॥१६॥

पुनस्तद्व्रतविधिमेवाभिधित्सुराह।

नाइउच्चे व नीए वा, नासन्ने नाइदूरओ।
फासुयं पक्खडं पिंडं, पडिगाहेज्ज संजये।

नात्युच्चे प्रासादोपरिभूमिकादौ नीचे वा भूमिगृहादौ तत्र तदुत्क्षेपनिक्षेपनिरीक्षणासंभवाद्दायकापायसंभवाच्च। यद्वा नात्युच्चः उच्चस्थानस्थित्वेन ऊर्ध्वीकृतन्धरतया वा द्रव्यतो भावतस्त्वहो अहं लब्धिमानिति मदाध्मातमानसो नीचोऽत्यन्तावनतकन्धरो वा निम्नस्थानस्थिरो वा द्रव्यतो भावतस्तु न मयाऽद्यकिंचित्कुतोऽ-प्यवाप्तमिति दैन्यवान् उभयत्र वा समुच्चये तथा नासन्ने समीपवर्तिनि नातिदूरे अतिविप्रकर्षवति प्रदेशे स्थित इति गम्यते यथायोगं जुगुप्साशङ्कैषणाशुद्ध्यसंभवादयो दोषाः अथवा अत एवानासन्नो नातिदूरगतः प्रगता असव इति सूत्रत्वेन मतुब्लोपादसुमन्तः सहजसंसक्तिजन्मानो यस्मात्तत्प्रासुकं परेण गृहिणाऽऽत्मार्थं परार्थं वा कृतं निर्वर्तितं परकृतं किं तत्पिण्डमाहारं प्रतिगृह्णीयात् स्वीकुर्यात् संयतो यतिरिति सूत्रार्थः।१०

(१०) इत्थं सूत्रद्वयेन गवेषणाग्रहणैषणाविषयविधिमुक्त्वाग्रासैषणा-विधिमाह।

अप्पपाणप्पबीयम्मि, पडिच्छन्नम्मि संवुडे।
समयं संजए भुंजे, जयं अप्परिसाडियं ॥२८॥

अल्पशब्दो भावाभिधायी तथेहापि सूत्रत्वेन मत्वर्थीयलो-पात्प्राणाः प्राणिनस्ततश्चाल्पा अविद्यमानाः प्राणिनो यस्मिं-स्तदल्पप्राणं तस्मिन्नवस्थितागन्तुकजन्तुविरहिते उपाश्रयादाविति गम्यते। तथाऽल्पानि अविद्यमानानि बीजानि शाल्यादीनि यस्मिंस्तदल्पबीजं तस्मिन्नुपलक्षणत्वाच्चास्य सकलैकेन्द्रिया-दिरहिते। ननु चाल्पप्राण इत्युक्तेऽल्पबीज इति गतार्थं बीजादीनामपि प्राणित्वादुच्यते मुखनासिकाभ्यां यो निर्गच्छति वायुः च चेह लोके रूढितः प्राणो गृह्यते अयं च द्वीन्द्रियादीनामेव संभवति न बीजाद्येकेन्द्रियाणामिति कथं गतार्थता तत्रापि प्रतिच्छन्ने उपरि प्रावरणान्विते अन्यथा संपातिमसत्त्वसंपातसंभवात् संवृते पार्श्वतः कटकुड्यादिना संकटद्वारे अटव्यां कण्डादिषु वा अन्यथा दानादियाचने दानादानयोः पुण्यबन्धप्रद्वेषादिदर्शनात् संवृतो वा सकलाश्रवविरमणात् समकमन्यैः सह नत्वेकाक्येव रसलम्पटतया समूहासहिष्णुतया वा अत्राह। "साहवो तो चियत्तेणं, निमंतेज्ज जहक्कमं। जइ तत्थ केइ इच्छेज्जा, तेहिं सद्धिं तु भुंजइत्ति" गच्छस्थितसामाचारी चेयं गच्छे एव जिनक-ल्पिकादीनामपि मूलत्वख्यापनायोक्ता उक्तं हि "गच्छे चिय निम्माउ" इत्यादि। यद्वा (समयंति) सममेव समकं सरसविरसादिष्वभिष्वङ्गादिविशेषरहितं सम्यग्यतः संयतो यतिरित्यर्थः भुञ्जीताश्नीयात् (जयंति) यतमानः (अप्परिसाडियंति) परिसाटिविरहितमिति सूत्रार्थः ॥२८॥ उत्त० १ अ०।

(११) शतसहस्रगच्छे एषणादोषपरिहारप्रकारो यथा।

णोअगजिणकालम्मि, किह परिहरणा जहेव अणुजाणे।
अइगमणम्मि य पुच्छा, निक्कारणकारणे लहुगा ॥

नोदकः प्रश्नयति यदि शते केष्वपि गच्छेषु सांप्रत-मित्थमाधाकर्मादयो दोषा जायन्ते तर्हि जिनस्तीर्थकरस्तस्य काले सहस्रेषु गच्छेषु साधवं कथमाधाकर्मादीनां परिहरणं कृतवन्त इति। सूरिराह यथैवानुयाने रथयात्रायां सांप्रतमपि परिहरन्ति तथा पूर्वमपि परिहृतवन्तः (अतिगमणम्मि य पुच्छत्ति) शिष्यः पृच्छति किमनुज्ञाने अतिगमनं प्रवेशनं कर्तव्यम् उत नेति आचार्यः प्राह (निक्कारणकारणे लहुगत्ति) निष्कारणे यदि गच्छति तदा चत्वारो लघवः कारणे यदि न गच्छति तदाऽपि चत्वारो लघवः। अथैतदेव भावयति।

एहाणाणुजाणमाइं, मुजजंति जह संपयं समोसरिया।
सतसो सहस्ससो वा, तह जिणकाले विसोहिंसु ॥

स्नानं वर्षतः प्रतिनियतदिवसभावी भगवत्प्रतिमायाः स्नाने पर्वविशेषः अनुयानं रथयात्रा तदादिषु कार्येषु सांप्रतमपि शतशः शतसंख्या सहस्रशः सहस्रसंख्याः साधवः समवसृताः। संयते यथा यतन्ते आधाकर्मादिदोष-शोधनायां प्रयत्नं कुर्वते तथा-जिनकालेऽपि ते भगवन्तः एषणाशुद्धिं कृतवन्त इत्यर्थः। भूयोऽपि परः प्राह। ननु च स सर इव सागरः खद्योत इव प्रद्योतनः मृग इव मृगेन्द्रः इत्यादि तदिदंयुगीनसमवसरण-सत्कमेषणाशुद्ध्युपमानं तीर्थकरकालभाविनीमेषणाशुद्धिमुपमा-तुमभिधीयमान हीनत्वान्न समीचीनम् अत आह "पच्चक्खेण परोक्खं, साहिज्जइ" न चेयं सर इव सागर इत्यादिवद्धीनोपमा तीर्थकरकालेऽपि सहस्रसंख्या एव साधव एकत्र क्षेत्रे समवसरन्ति स्म एतावन्तश्च ते सांप्रतमपि स्नानानुयानादौ पर्वणि समवसरन्त उपलभ्यन्ते शोधयन्तश्चैषणां ततोऽनुमीयते तीर्थकरकालेऽप्येवमेव दोषान् शोधितवन्त इति। "नेव एसहीणुवमा जं पुरिसजगे तईए वोच्छिन्नो सिद्धिमग्गे" इह प्रत्यक्षेणोपमानवस्तुना परोक्षमुपमेयं साक्षादनुपलभ्यमानमपि साध्यते शास्त्रे

लोकेऽवस्थितिः ततोऽत्रापि प्रत्यक्षमाणेन सांप्रतकालीनसमवसरण-सक्तेनैषणाशोधनेन परोक्षमपि तीर्थकरकालभाविसमवसरणसा-धूनामेषणाशोधनं साध्यते इति ''नेव एसहीणुवसत्ति'' अपि च श्रीमन्महावीरस्वामी श्री-सुधर्मस्वामी जम्बूस्वामी चेति त्रीणि पुरुषयुगानि यावदनगाराणां निर्वाणपदवीगमनवत्तृतीये च पुरुषयुगे निर्वृते सति सिद्धमार्गः क्षपकश्रेणिकेवलोत्पत्त्यादिरूपो व्यवच्छिन्नः न पुन-र्ज्ञानदर्शनचारित्ररूपः शास्त्रपरिभाषितस्तस्यैदानीमप्यनुवर्त-मानत्वात्ततश्च यदि तेषां साधूनामुद्गमादिदोषशोधनं नाभविष्यत् ततस्ते सिद्धमार्गमपि नासादयिष्यन् अतो निश्चीयते तेऽपि भगवन्त इत्थमेवैषणाशुद्धिं कृतवन्त इति। वृ० १ उ०।

(१२) विस्तरेण दश स्वेषणादोषेषु प्रायश्चित्तमाह।

ससरक्खे ससणिद्धे, पणगं लहुगा दुगुंछसंसत्ते।
उक्कुट्ठणंते गुरुगो, सेसे सव्वेसु मासलहू॥

शङ्किते पञ्चविंशतेर्दोषाणां मध्ये यच्छङ्कितं तन्निष्पन्नमापद्यते। प्रायश्चित्तं प्रक्षिते सरजस्केन सचित्तमिश्रपृथिवीकायरजोप्रक्षितेन हस्तेन मात्रकेण वा भिक्षां गृह्णतः पञ्च रात्रिन्दिवानि। सचित्त-मिश्राप्कायस्निग्धेन हस्तकेन मात्रकेण वा भिक्षामाददानस्य पञ्च रात्रिंदिवानि, अचित्तेन जुगुप्सितेन विष्ठामूत्रमद्यमांसल-शुनघलाण्डुप्रभृतिना प्रक्षितेन गृह्यमाणे चत्वारो गुरुकाः, गुडघृततैलादिभिरपि कीटिकासंसक्तैर्प्रक्षितमाददानस्य चत्वारो लघवः। पुरःकर्मणि पश्चात्कर्मणि च चतुर्लघुकाः। अन्ये मासलघु प्रतिपन्नवन्तः। उत्कुट्टिते अनन्तेसचित्ते वनस्पतिकायिके मासगुरु चूर्ण्णेऽप्यनन्ते सचित्ते मासगुरु ''सेसेसु सव्वेसु मासलहु'' परीते प्रत्येके कुट्टिते चूर्णिते वा प्रत्येकं मासगुरु, मिश्रे परीते सर्वत्र मासलघु अनन्ते मासगुरु। तथा मृत्तिकालिप्तहस्ते यावन्तः सेटिकादयो मृत्तिकाया भेदास्तेषु सर्वेषु मासलघु। निक्षिप्ते प्रायश्चित्तमाह।

चउलहुगा चउगुरुगा, मासो लहुगुरुयपणगलहुगुरुगं।
वुच्छंति परितणंतर, मीसे वीए य अणंतपरे य॥

प्रत्येकं सचित्तानन्तरप्रतिष्ठितमाददानस्य चत्वारो लघुकाः प्रत्येकसचित्तपरंपरप्रतिष्ठितमपि चत्वारो लघवः अनन्त-सचित्तानन्तरप्रतिष्ठितमादानस्य चत्वारो गुरुकाः। अनन्त-सचित्तपरंपरप्रतिष्ठितमपि गृह्णतश्चत्वारो गुरुकाः प्रत्येकमिश्रा-नन्तरप्रतिष्ठितं परप्रतिष्ठितं वा गृह्णतो मासलघु। अनन्तरं परंपरया वा प्रतिष्ठितमाददानस्य मासगुरु। बीजेषु परितेष्वनन्तरं वा प्रतिष्ठितं गृह्णतः पञ्चरात्रिंदिवानि लघुकानि। अनन्तेषु गुरुकानि। अन्ये तु ब्रुवते प्रत्येकमिश्रेऽनन्तरं परं वा प्रतिष्ठितमाददानस्य लघु रात्रिंदिवसपञ्चकम्। अनन्ते अनन्तरं परं वा प्रतिष्ठितं गृह्णतो गुरुकमिति। तथा परे प्रत्येके सचित्तमनन्तरप्रतिष्ठितं गृह्णतश्च-तुर्लघवः परंपरप्रतिष्ठितं मासलघु। तथा प्रत्येके मिश्रे अन-न्तरप्रतिष्ठितमाददानस्य लघुको मासः परंपरप्रतिष्ठितं गृह्णतो लघु रात्रिंदिवपञ्चकम्। अनन्ते मिश्रेऽनन्तरं प्रतिष्ठिते मासगुरु परंपरप्रतिष्ठिते गुरु रात्रिंदिवपञ्चकमिति। उक्तं च ''पुढवी आऊ तेऊ, परित्ते चेव तह य वणकाये। चउ लहु अणतरम्मि, सचित्ते परंपरे मासो। मासाणंतरलहुगो, लघुपणगपरंपरे परित्तेसु। एए चेव य गुरुगा, होंति अणंते पइट्ठाणे'' इति त्रसकाये अनन्तरप्रतिष्ठितं गृह्णतश्चतुर्लघुकं परंपरप्रतिष्ठितं गृह्णतो मासलघु त्रसकाये ''चतुलहुगा अनंतरपरंपरट्ठिए लहुगो'' इतिवचनात् एवं षड्जीवनिकायेषु प्रत्येकेऽनन्ते मिश्रे च पृथिव्यादौ बीजे च प्रत्येके अनन्ते मिश्रे चानन्तरं परंपरं च प्रतिष्ठितमाददानस्य प्रायश्चित्तमिति।

अधुना पिहितं संहरणं चाधिकृत्य प्रायश्चित्तमाह।

एमेव य पिहियम्मि, लहुगा दव्वम्मि चेव अपरिणए।
वीसुम्मिस्से पणगं, अणंतवीए य पणगगुरु॥

एवमेव अनेनैव प्रकारेण पिहितेऽपि प्रायश्चितं वक्तव्यं किमुक्तं भवति यथा निक्षिप्ते प्रायश्चित्तमुक्तमेवं येन द्रव्येण सचित्तेनाचित्तेन मिश्रेण वाऽनन्तरं परक चापि धीयते तत्रापि द्रष्टव्यं नवरमचित्तेन गुरुकेण पिहिते गृह्णतश्चतुर्गुरुकं संहरणे येन मात्रकेण भिक्षां दातुकामस्तत्र यदि किंचित्प्रक्षिप्तं वर्तते तदन्यत्र संहृत्य ददाति तच्च संह्रियमाणामद्यापि अपरिणतं तस्मिन्नपरिणते द्रव्ये संहते गृह्णतश्चत्वारो लघुकाः। दायके प्रगलिते नपुंसके चत्वारो गुरु-काः। पिञ्जनकर्तनश्लक्ष्णखण्डकरणम-र्दनप्रवृत्तेषु प्रत्येकं मासलघु। शेषेषु दायकदोषेषु चत्वारो लघुकाः। उन्मिश्रे सचित्तानन्तमिश्रे चतुर्गुरु। मिश्रानन्तमिश्रे मासगुरु। सचित्त-प्रत्येकमिश्रे चतुर्लघु। प्रत्येकमिश्रमिश्रे मासलघु। विष्वक् उन्मिश्रे प्रत्येकबीजोन्मिश्रे लघु रात्रिं दवपञ्चकम्। अनन्तबीजोन्मिश्रे गुरु रात्रिंदिवपञ्चकम्। अपरिणते द्रव्यापरिणते कायनिष्पन्ने ये कायाः प्रत्येकरूपा अनन्तरूपा वा अपरिणता तन्निष्पन्नमित्यर्थः। तत्र पृथिव्यादिष्वपरिणतेषु चतुर्लघुकम्। अनन्तेष्वपरिणतेषु चतुर्गुरु। उक्तंच ''दव्वापरिणते चउलहुपुढवादीचउगुरु अनंतेसु। भावापरिणते ''दोण्हं तु भुंजमाणेणमेगो तत्थ निमंतए'' इत्येवं रूपेषु लघुको मासः ''भावापरिणते लघु गो'' इति वचनात् लिप्ते आद्येषु त्रिषु भङ्गेषु चत्वारो लघुकाश्चरमभङ्गेऽनेषणायां चतुर्गु-रवः। छर्दिते आद्येषु त्रिषु भङ्गेषु प्रत्येकं चतुर्लघुकं चरमभङ्गे नाचीर्णम्।

सजोगसइंगाले, अणंतमीसे चउगुरु होंति।
वीसुम्मीसे मासो, सेसे लघुका य सव्वेसु॥

संयोजना द्विविधा अन्तर्बहिश्च। तत्रान्तःसंयोजनायां चत्वारो लघवः बहिः संयोजनायां चत्वारो गुरुका अन्ये चान्तर्बहिर्वा संयोजनायां चत्वारो गुरुका इति प्रतिपन्नाः। प्रमाणाति-रिक्तमाहारयति चत्वारो लघवः (सइंगालेत्ति) साङ्गारे आहार्यमाणे चत्वारो गुरुकाः, सधूमे चतुर्लघु निष्कारणे चतुर्लघु सचि-त्तानन्तमिश्रे चतुर्गुरुकम्। एतच्च प्रागेव स्वस्थानेऽभिहितम्। तथा विष्वगुन्मिश्रे पृथिवीकायादिभिः प्रत्येकैर्मिश्रे लघुको मासोऽनन्तैरुन्मिश्रे गुरुकः (सेसे लहुगा उ सव्वेसुत्ति) शेषेषु सर्वेष्वपि ग्रहणैषणाभेदेषु ग्रासैषणाभेदेषु चत्वारो लघुकास्ते च तथैव योजिताः। वृ० १ उ०।

(१३) पिण्डैषणा च पिण्डग्रहणप्रकाराश्चाह सप्त तथा चाह।

सत्त पिंडेसणाओ पण्णत्ताओ सत्त पाणेसणाओ पण्णत्ताओ॥

पिण्डं समयभाषया भक्तं तस्यैषणा ग्रहणप्रकाराः पि-ण्डैषणास्ताश्चैताः ''संसट्ठमसंसट्ठा, उद्धडं तहप्पलेविया चेव ३। उग्गहिया ५ एग्गहिया, ६ उज्झियधम्मा, य सत्तमिया'' ॥१॥ त-त्रासंस्पृष्टा हस्तमात्राभ्यां चिन्तनीया। ''असंसट्ठे मत्ते खरंडियत्ति वुत्तं भवइ''॥ एवं गृह्णतः प्रथमा भवति गाथायां तु सुख-मुखोच्चारणार्थोऽन्यथापाठः। संस्पृष्टा ताभ्यामेव चिन्त्या ''संसट्ठे

हत्थे संसट्ठे मत्ते खरंडिए त्ति वुत्तं भवइ'' ॥ एवं गृह्णतो द्वितीया। उद्धता नाम स्थाल्यादौ स्वयोगेन भोजनजातमुध्दृतं ततः ''असंसट्ठे हत्थे असंसट्ठे मत्ते संसट्ठे वा मत्ते सं सट्ठे वा हत्थे'' ॥ एवं गृह्णतस्-तृतीया। अल्पलेपा नाम अल्पशब्दोऽभाववाचकः निर्लेपं पृथुकादिगृह्णतश्चतुर्थी। अवगृहीता नाम भोजनकाले शरावा-दिषूपहृतमेवं भोजनजातं यत्नतो गृह्णतः पञ्चमी। प्रगृहीता नाम भोजनवेलायां दातुमभ्युद्यतेन करादिना प्रगृहीतं यद्भोजनजातं भोक्तुं वा स्वहस्तादिना तद्गृह्णत इति षष्ठी। उज्झितधर्मा नाम यत्परित्यागार्हं भोजनजातमन्ये च द्विपदादयो नावकाङ्क्षन्ति तदर्द्धत्यक्तं वा गृह्णत इति हृदयं सप्तमीति। पानकैषणा एता एव नवरं चतुर्थ्यां नानात्वं तत्र ह्यायामसौवीरकादिनिर्लेपनं विज्ञेयमिति स्था० ७ ठा०। आव०। प्रव०। नि० चू०। पंचा० (तथा चाचाराङ्गे पिण्डाधिकार एव सप्तपिण्डैषणा अधिकृत्य सूत्रमाह। तच्च पिंडेसणाशब्दे द्रष्टव्यम्)

(१४) एषणायां कर्तव्यम् तथा चाह -

भिक्खू मुयच्चे कयदिट्ठधम्मे,
गामं च णगरं च अणुप्पविस्सा।
से एसणं जाणमसेसणं च,
अन्नस्स पाणस्स अणाणुगिद्धे ॥

स एवं मदस्थानरहितो भिक्षणशीलो भिक्षुः तं विशिनष्टि। मृतं च स्नानविलेपनादिसंस्काराभावादर्चा तनुः शरीरं यस्य स मृतार्चः। यदि वा मोदनं मुत् तद्भूता शोभनाऽर्चा पद्मादिका लेश्या यस्य स भवति मुदर्चः। प्रशस्तदर्शलेश्यः। तथा दृष्टोऽवगतो यथावस्थितो धर्मः श्रुतधर्मचारित्राख्यो येन स तथा चैवं भूतः क्वचिदवसरे ग्रामं नगरमन्यद्वा मठदिकमनुप्रविश्य भिक्षार्थमसावुत्तमधृतिसंहननोपपन्नः सन्नेषणागवेषणग्रहणैषणादिकां जानन् सम्य-गवच्छन्ननेषणां चोद्गमदोषादिकां तत्परिहारां विपाकं च सम्यगवच्छन्नन्नस्य पानस्य वा न तु गृद्धोऽनध्युपपन्नः सम्यग्वि-हरेत्। तथा हि स्थविरकल्पिकां द्विचत्वारिंशद्दोषरहितां भिक्षां गृह्णीयुर्जिनकल्पिकानां तु पञ्चस्वभिग्रहो द्वयोर्ग्रहस्ताश्चेमाः 'संट्ठमसंसट्ठा उद्धड तह होंति अप्पलेवाय। उग्गहिया पग्गहिया उज्झियधम्मा य सत्तमिया अथवा यो यस्याभिग्रहः स तस्यैषणा अपरा त्वनेन्नणेत्येवमेषणानेषणाभिज्ञः क्वचित्प्रविष्टः सन्नाहारादावमूर्च्छितः सम्यक् शुद्धां भिक्षां गृह्णीयादिति। सूत्र० १ श्रु० १३ अ०।

एसणाअसमिय-पुं० (एषणाऽसमित)असमाधिस्थानभेदे, ''एसणाए असमिएया विभवइ'' तथा ''एसणासमिए असमिएया वि भवतिति'' एषणायां समितश्चापि संयुक्तोऽपि नानैषणां परिहरति प्रतिप्रेरितश्चासौ साधुभिः सह कलहायते एषणीयतां परिहरन् जीवोपरोधे वर्त्तते एवं चात्मपरयोरसमाधिकरणादसमा-धिकस्थानमिदं विंशतितममिति। दशा० १ अ०। ''अणेसणं णपरिहरति पडिवोदितो साधूहिं समं मंडइ अपरिहरंतो य कायाणमुबरोधे वड्ढंती वड्ढंतो य अप्पाणं चेव असमाहीए जोजयतीति'' आव० ४ अ०।

एसणागोयर-पुं० (एषणागोचर) उद्गमादिदोषविप्रमुक्तभक्तपानादिगवेषणारूपा तत्प्रधानो यो गौरिव मध्यस्थतया भिक्षार्थं चरणं स एषणागोचरः। एषणाप्रधानायां गोचर-चर्य्यायाम्, वृह० ६ उ० ''तिंतिणिए एसणागोयरस्स पलिमंथू'' तिन्तिणिकोऽलाभे सति खेदाद्यत्किंचनाभिधार्यं स च खेदप्रधानत्वादेषणा उद्गमादिदोषविमुक्तपा नादिगवेषण-ग्रहणलक्षणा तत्प्रधानो यो गोचरो गौरिव मध्यस्थया भिक्षार्थं चरणं स एषणागोचरस्तस्य परिमन्थुः। सखेदो हि अनेषणीयमपि गृह्णातीति भावः। स्था० ६ ठा०।

एसणादोस-पुं० (एषणादोष) एषणमेषणाऽशनादेर्ग्रहणकाले शङ्किता दिभिः प्रकारैरन्वेषणं तद्विषया दोषा एषणादोषाः। प्रव० ६७ द्वा०। एषणायाः शङ्कितादिके दोषे, एषणा गृहिणा दीयमानपिण्डादेर्ग्रहणं तद्दोषाः शङ्कितादयो दशेति। स्था० ३ ठा० (ते च एसणा शब्दे)

एसणाविसोहि-स्त्री० (एषणाविशुद्धि) विशुद्धिभेदे, स्था० १० ठा०। (तद्वक्तव्यता विसोहि शब्दे)

एसणासमिइ-स्त्री० (एषणासमिति) एषणमेषो गवेषणं तं करोतीति णिचततः स्त्रीलिङ्गे भावे युटि एषणा। उत्त० २४ अ०। एषणायामुद्गमादिदोषवर्जनतः समितिरेषणासमितिः पा०। एषणमेषणा गवेषणग्रहणग्रासैषणभेदाः शङ्कितादिलक्षणा वा तस्यां समितिरेषणा समितिः। समितिभेदे, उक्तं च एषणा-समितिर्नाम गोचरगतेन मुनिना सम्यगुपयुक्तेन नवकोटीपरिशुद्धं ग्राह्यमिति- (स्था० ५ ठा०। आव०। गवेषणग्रहणग्रासैषणादोषैरदूषितस्यान्नपानादे रजोहरणमुखवस्त्रिकाद्यौधि-कोपधेः शय्यापीठफलकचर्मदण्डाद्यौपग्रहि कोपधेश्च विशुद्धस्य यद् ग्रहणम् एषणासमितिर्यदाह ''उत्पादनोद्गमैषण-धूमा-ङ्गारप्रमाणकारणतः। संयोजनाश्च पिण्डं, शोधयतामेषणास मिति'' रिति। ध० २ अधि०। प्रव०। ''सुत्तानुसारेण रयहर-णवत्थपादासणपाणणिलओ सहस्सेसणं एसणासमिति'' ''दिट्ठमणेसियगहणे दिट्ठमणेसियगहणे त्ति एस एसणासमिति एसणासमितिए उवउत्तेण दिट्ठमणेसणिज्जं पच्छा दिट्ठं ण सक्किओ गहणजोग्गो णियत्तेउं एवं सहसक्कारो एषणासमितिए भवतीति'' नि० चू० १ उ०। एषणासमितिर्द्विचत्वारिंशद्दोषवर्जनेन भक्तादिग्रहणे प्रवृत्तिरिति। सम०। एषणासमितावुदाहरणं यथा ''वसुदेवपुव्वं जम्मं आहरणं एसणासमितिए णगहनंदिग्गामे (गोयरग्गामे इति पाक्षिक सूत्रवृत्तौ) गोयम धिज्जाइ चक्कयरो तस्स य धारि-णिभज्जागब्भो ताए कओ वि पाहुओ धिज्जाई मओ छम्मा-सगब्भधिज्जाइणी जाते माउलसंबुड्ढणकम्मकरण-वेलापारणय-एण नत्थि तुह इत्थ किंचि तो वेतामाउलो तं च मा सुण लोगस्स तुमं धुया ओ तिन्न तेसिलेट्ठयरं दाहामि करेमि कम्मं पकम्मो उ पत्तो य विवाहो सा नेच्छई विसन्नो माउलोवेइ द्वितीय दीहामि सा वि य तहेव नेच्छई ततियं पि नेच्छइ सा वि निधिन्नंदिवचणआयरियाणं सगासे निक्खंतो जाओ छट्ठक्खमओ गेण्हति य। अभिग्गहमिमं तु बालगिलाणादीणं वेयावच्चं मए उ कायव्वं तं कुणइ तिव्वसड्ढो खायजसो सक्कगुणकि त्ती असद्दहणे देवस्स आगमो कुप्पति दो समणरूवो अतिसारगहियमग्गो अडिवितिओ अतिगओ वितिओ वेइ मिलाणो पडिओ वेयावच्चं तु सद्देह जोओ सो उट्ठेतु अखिप्पं सुयं च तं नंदिसेणेणं छट्ठो व-वासपारणमाणीयं कवलघेत्तुकामेणं तं सुयमेत्तं रहसु ठिओ य भणकेण कज्जति पाणगदव्वं त तहिं जणच्छीवेइ तेण कज्जति। निग्गंथं हिंडइ ततो कुणइ अणेसणं निविया पेल्लेइ इति। एक्कवारं वित्तियं च हिंडितो

न लद्धं ततियवारम्मि अणुकंपाए चरंतो ततो गतो तस्सगासं तु खरफरसुनिट्ठुरेहिं अक्कोसई सो गिलाणओ सद्धो हेमंदमग्ग ! फुक्कियनूससितनाममेत्तेण साबहुवकारित्ति। अहं नाम हंसमुद्दिसिउमाओ एयाइ अवत्थाए तं अच्छसि भत्तलोभिल्लो अमियमिव मण्णमाणे तं फसगिरं तु सो तु संभंतो चलणगतो खामेती धुवति यत असुइमललितं उट्ठेह वयामो त्ति तह कहामि जहा हु अचिरेण होहिह। निरुप्प तुब्भे वेत्ता न तरामि गंतुं जे आरुहतापट्ठीए आरूढो तो पयारं च परामासुइदुग्गंधिमुयतीपट्ठीए फरुसं च वेति गिरिं धिं मुंडिय वेगविधाओ कओ त्ति। दुक्खविओ इय बहुविहमुक्कोसति पदेसो वि भगवं तु न गणेइ फरुसगिरं न पत्तं चिङ्कसइत्ता रसं गंधं चंदणमिव मन्नंतो मिच्छामि दुक्कडं भणति। चिंतेह किं करेमि किह दुसमाही हवेज्ज साहुस्स इय बहुविहप्पआरेण चिंतितो जाहे खोभेउ ताहे अभित्थुणंतो तओ आगतो य इयरो उ आलोएइ गुरुहिं धन्नोत्ति ततो य अणुसट्ठो जह तेणं न विपेल्लिय एसणाए जइयव्वं। अहवा वि इमं अन्नं आहरणं दिट्ठि वा दीयं जह केइ पंच संजया तए छुहह किलंतसुमहमद्धाणं उत्तिन्ना वेयालियपत्तगामं च ते एगं मग्गंति पाणगं ते लोगो य अणेसणंतेहि कुणति न गहिय न लद्धमियरं कालगयतिसाभिभूया य आव० ४ अ०। आवश्यकचूर्णौ तु ''एसणासमितीए नंदिसेणो अणगारो मगधाजणवए सालिग्गामो तत्थेगो गाहावती तस्स पुत्तो नंदिसेणो तस्स गब्भत्थस्स पिता मतो माता छम्मासियस्स मातुपिताए संवड्ढितो। अण्णदा णंदिबद्धणो अणगारो साधुसंपरिवुडो विहरमाणो तं गाममागओ उज्जाणे ठितो। साधुभिक्खस्स गतो नंदिसेणो भणति। के तुब्भे केरिसो वा तुब्भ धम्मं साधुहिं भणितो आयरिया जाणंति उज्जाणे तत्थ गंतुं पुच्छाहि गतो पुच्छित्ता पव्व-इतो। छट्ठक्खमओ जातो। अभिग्गहं गेण्हति। वेयावच्चं मए कायव्वंति। सक्को गुणग्गहणं करेति। अदीणमणसो वेयावच्चे अब्भुट्ठितो। जो जं दव्वं इच्छति साहू तं तस्स सो देति। एगो देवो मिच्छादिट्ठी असद्दहंतो आगतो साधु रूवं विउव्वित्ता उब्भंडल पडिस्सयं आगतो नंदिसेणस्स छट्ठस्स पारणगा पढमे कवले उक्खित्ते देवक्खमणो तं पत्तो भणति। वितिउ निसाए पडितो। अंतरंतो ठितो बाहिं जइ कोइ सद्दहति वेयावच्चं तुरितं घेत्तूण पाणगं जातु। नंदिसेणो अपारितो चेव पाणगस्स गामं अतिगतो भिक्खू तो हिंडंतो देवाणुभावेणं न लभति। चिरस्स लद्धं गहाय गतो साहुं न पेच्छति वाहरति। चिरेण वायादिणा देवेण अतिसारजुत्तो साहू विउव्वितो भणति एएणं धिं मुंडए चिरस्स आगतो वेयावच्चे वि कवडबुद्धी भणति मिच्छादुक्कडंति। पाणगं चिरेण लद्धंति। भणति किह ते गामं नेमि। किं अंसेण पिट्ठीएत्ति। भणति अंसेणं अंसे कातुं पट्ठितो असुभकलमलं मुयति गुरुगं च। अप्पगं करेति भणति य मत्तरखलखला विज्जामि। पुणो तुराहित्ति। एवं बहुसो विक्खोभवेउ जाहे ण तरति खामेतुं ताहे सो तुट्ठो संमत्तं पडिवण्णो वंदित्ता पडिगतो। एस एसमसमितो। अहवा इमं दिट्ठिवातियं पंच संजता। महल्लाओ अट्ठाणाओ तण्हा छुहा किलंता निग्गता। वेयाले गामं अतिगतो पाणगं मग्गंति। असेसणं लोगो करेति। न लद्धं कालगता पंच वि एते एसणाए। आ० चू० ४ अ०।

एसणासमिय-पुं० (एषणासमित) एषणायाम् उत्पादन-ग्रहणग्रासविषयायां सम्यगितः स्थितः समितः एषणासमितः। एषणायां सम्यक् स्थिते, निर्दोषाहारग्राहिणि, उत्त० ६ अ०। ''एसणासमिए णिच्चं वज्जयंते अणेसणं'' एषणायां गवे-षणग्रहणैषणग्रासरूपायां त्रिविधायामपि सम्यगितः समितः साधुर्नित्यमेषणासमितः सन्ननेषणां परिवर्जयन् परित्यजन् संयममनुपालयेदिति। सूत्र० १ श्रु० ११ अ०। तथा च।

एसणासमिओ लज्जू, गामे अणियओ चरे।
अप्पमत्तो पडत्तेहिं, पिंडवायं गवेसए॥

एषणासमितिनिर्दोषाहारग्राही ग्रामे नगरे वा अनियतो नित्यवासरहितः सन् चरेत् संयममार्गे प्रवर्त्तेत। कीदृशः साधुर्लज्जूर्लज्जालुः लज्जासंयमस्तेन सहितः। पुनः कीदृशः अप्रमत्तः प्रमादरहितः। पुनः साधुः (प्रमत्तेहिं इति) प्रमत्तेभ्यो गृहस्थेभ्यः पिण्डपातं भिक्षां गवेषयेत् गृह्णीत प्राकृत-त्वात्पञ्चमीस्थाने तृतीया उत्त० ६ अ०। तदात्मके समाधिभेदे च। स्था० १० ठा०।

एसणिज्ज-त्रि० (एषणीय) इष-एष वा कर्मणि अनीयर् आशास्ये, गम्ये च वाच०। एष्यते गवेष्यते उद्गमादिदोषविकलत-यासाधुभिर्यत्तदेषणीयम् कल्पे,। स्था० ३ ठा०। ''फासुयस्स एसणिज्जस्स उंछस्स सामुदाणियस्स णो सम्मं गवेसइत्ता भवइ''। एष्यते गवेष्यते उद्गमादिदोषरहित-तयेत्येषणीयः कल्पस्तस्येति। स्था० ४ ठा०। ''एसणिज्जमिति संकितमक्खियादिदोसविमुक्कमिति'' पं० चू०। ''एसणिज्ज तु दसदोसविप्पमुक्कं ति'' पं० भा०।

एसणोपघात-पुं० (एषणोपघात) एषणया शङ्कितादिभेदया योघा तः स एषणोएघातः। उपघातभेदे, स्था० १० ठा०। एषणोपघात एषणया तद्दोषैर्दशभिः शङ्कितादिभिरूपघात इति स्था० ५ ठा०।

एसमाण-त्रि० (एषयत्) अन्वेषति, ''एसणाए एसमाणं परोवदेज्जा'' एतया अनन्तरोक्तया वस्त्रैषमया वस्त्रमन्वेषयन्तं साधुं परो वदेत्। आचा० २ श्रु० ५ अ० १ उ०।

एसित्तए-अव्य० (एषितुम्) अन्वेष्टुमित्यर्थे, ''संथारगमे सित्तए'' संस्तारकमन्वेष्टुमिति० आचा० २ श्रु० २ अ० १ उ०।

एसित्ता-अव्य० (एक्षित्वा) अन्विष्येत्यर्थे, ''पिंडवायं एसित्ता'' पिण्डपातं भिक्षामेक्षित्वाऽन्विष्येति। आचा० २ श्रु० १ अ० २ उ०।

***एषित्वा**-अव्य० निर्दोषमाहारं गृहीत्वेत्यर्थे ''पडिरुवेण एसित्ता'' आहारं निर्दोषं गृहीत्वेति। अन्विष्येत्यर्थे, उत्त० १ अ०।

एसिय-पुं० (एषिक) एषितुं शीलमस्येत्येषिकः। मृगलुब्धक हस्तितापसादौ, पाखण्डिके च। (एसिया वेसिया सुद्दा) एषितुं शीलमित्येषिका मृगलुब्धका हस्तितापसाश्च मांसहेतोर्मृगान् हस्तिनश्च एष्यन्ति तथा कन्दमूलफलादिके च। तथा ये चाऽन्येपाखण्डिका नानाविधैरुपायैर्भक्ष्यमेष्यन्त्यन्यानि वा विषयसाधनानि ते सर्वेऽप्येषिका इत्युच्यन्ते। सूत्र० १ श्रु० ६ अ०। जातिभेदे, (एसियकुलाणि वा) एसियंति गोट्ठा इति'' आचा० २ श्रु० १ अ० २ उ०।

***एषित**-त्रि० एषणीये, एषयन्ति एषणीयमुद्गमादिदोषरहितमिति आचा० ०२ श्रु० १आ० ११ उ० (एसियस्सत्ति) एषणीयस्य गवे-षणाविशुद्धया गवेषितस्येति भ० ७ श० १ उ०। एषितं प्रासुकमित्यर्थ इति व्य० द्वि० ४ उ०। एषितमन्वेषितं भिक्षाचर्य्याविधिना प्राप्तमिति

सूत्र० २ श्रु० १ अ०।

एसिया-अव्य० (एषित्वा) अन्वेष्यत्यर्थे, ''सुविसुद्धमेसिया'' सुविशुद्धमुत्पादनादोषरहिततयैषणादोषपरिहारेणैषित्वाऽन्वि-ष्येति। आचा० १ श्रु० ०६ अ० ४ उ०।

एहंत-त्रि० (एधयत्) अनुभवति, ''दीसंति दुहमेहंता'' दुःख-क्लेशलक्षणमेधयन्तोऽनेकार्थत्वादनुभवन्त इति। दश० ६ अ०।

एहिय-त्रि० (ऐहिक) इह भवः कालाट्ठञ्, इहलोकभवे, गृहीतशरीर-सम्बधिनि स्रक्चन्दनादिसुखानुभवादौ च वाच०। ऐहिकमेव चक्रं सांसारिकसुखहेत्वादिति। आ० म० प्र०।

ऐ-अव्य० (अयि) इण् इन। **अयौ वैत् ८। १। १६६।** इति प्राकृतसूत्रेणा-यिशब्दे आदेः स्वरस्य परेण सस्वरव्यञ्जनेन सह वा ऐकारः। प्रा०। प्रश्ने, अनुनये, सम्बोधने, अनुरागे च। वाच०। ''ऐवीहेमि'' अइउम्मत्तिए वचनादैकारस्यापि प्राकृते प्रयोगः प्रा०।

इति श्रीमत्सौधर्मवृहत्तपागच्छीय-कलिकालसर्वज्ञ-श्रीमद्भट्टारक-जैन श्वेताम्बराचार्यश्रीश्री १००८ श्री विजयराजेन्द्रसूरिविरचिते अभिधानराजेन्द्रे एकारादिशब्दसङ्कलनं समाप्तम्-

ओकार

ओ-अव्य० (अव-अप-उत्) अवादिप्रकरणोक्तार्थेषु, **''अवापोते च ८।१। १७२** अवापयोरुपसर्गयोरुत इति विकल्पार्थनिपाते च आदेः स्वरस्य परेण सस्वरव्यञ्जनेन सह ओद् वा भवति। ओअरइ अवअरइ। ओआसो अवआसो। अप। ओसरइ। अवसरइ। ओसारिअं। अवसारिअं। उत्-ओवणं उअवणं। ओघणो। उअघणो। क्वचिन्न भवति अवगअं। अवशब्दो उअरवी प्रा०। अव-अधःशब्दार्थे, वोसिरामि। विशे०।

***ओ**-अव्य० उ-विच्। संबोधने, आह्वाने, स्मरणे, अनुकल्पने, च मेदि०। प्राकृते ऽपि ओ सूचना पश्चात्तापे, ॥३॥ ओ इति सूचनापश्चात्तापयोः प्रयोक्तव्यम् सूचनायाम् ''ओ अविण-अतत्तिल्ले'' पश्चात्तापे-''ओ नमए छायाइतिआए'' विकल्पे तु उतादेशेन ओकारेणैव सिद्धम्। ''ओविरएमि न हअले'' प्रा०। ओ इति निपातः। पादपूरणे, पंचा ०३ विव०। ''सामाईयमोत्तायं तु यं विण्णं'' ''पंचा० १ विव०। सुहुमे परमुस्सक्कणमवस-क्कणमोयपाहुमिया'' पंचा० १७ विव०।

***ओ**-पुं० रक्षणे, शेषे, मन्त्रे, श्रुतावपि ब्रह्माणि, शीतांशौ, पङ्के, दायादे, त्रिदिवेशे, पयोवाहे, यवे, वेधे, नदे, योनौ, सरसिजे, तोये, रुद्रस्वामिनि, मातरि, एका०।

ओअक्ख-दृश्-धा०भ्वा०-पर-सक०। प्रेक्षणे **''दृशो निअच्छपेच्छावयच्छावयज्झ वज्ज सव्वव देक्खौ अक्खा वक्खावअक्ख पुलोअ पुलअ निआवआस पासाः'' ८। ४।१८१।** इति दृशेरोअक्खादेसः। ओअक्खइ। पासइ पश्यति प्रा०।

ओअग्ग-वि-आप्-धा०स्वा०-उभ० **व्यापेरोअग्गः ८। ४। १४१।** इति व्याप्नोतेरोअग्ग इत्यादेशो वा भवति। ओअग्गइ० वावेइ। प्राप्नोति प्रा०।

ओअद-आ-छिद्-धा०रुधा० हस्तादिनाऽऽकर्षणे, । **आङा ओ अन्दोद्दालौ ८। ४।१२ ५।** इति आङा युक्तस्य छिदेरोअंदादेशः। ओअंदइ। आछिंदइ। आच्छिनत्ति। प्रा०।

ओआस-पुं० (अवकाश) **अव्-कश्-घञ्-अवापोते च ८। १। १७२।** इति सस्वरव्यञ्जनेन सह ओत् प्रा०। आश्रये, पं० व० १ द्वा०।

ओआसविवज्जिअ-त्रि० (अवकाशविवर्जित) आश्रयरहिते, ''चत्तम्मि घरावासे, ओआसविवज्जिओ पि वासत्तो'' पं० व० १ द्वा०

ओइण्ण-त्रि० (अवतीर्ण) गन्तुमुपक्रान्ते, ''विसमं मग्गमो इण्णो, अक्खे भग्गमि सोयइ'' उत्त० ५ अ०।

ओउ-पुं०स्त्री० (ओतु) अव्-तुन्-ऊठ् गुणः। विडाले, माजरि, आ-वे-तुन्-वा संप्रसारणम्। तिरश्चीनसूत्रे, वाच०।

ओउय-न० (आर्तव) ऋतौ यदुचितं तदार्त्तवम्। ऋतूचिते, ''अग-हरुव्वरपवरधूवणओउयमल्लाणुलेवणविही'' ज्ञा० १७ अ०।

ओऊल-न० (अवचूल) हस्त्यादेः कटन्यस्ताधोमुखकूर्चके, ''पलंवओऊलमहुपरकयंधयारं'' ज्ञा० १६ अ०।

ओं-पुं० (ॐ) अश्च अश्च आश्च उश्च म् च द्वन्द्वः। परमेष्ठिपञ्चके, ''ॐ भूर्भुवःस्वः तत्सवितुर्वरेण्यं,'' ओमिति परमेष्ठिपञ्चकमाह। कथमिति चेदुच्यते। अ इति अर्हत आद्याक्षरम्। अ इत्यशरीरा इत्यस्य सिद्धवाचकस्याद्याक्षरम्। आ इत्याचार्यस्याद्याक्षर, उ इत्युपाध्याय-स्याद्याक्षरम् म् इति मुनीत्यस्याद्याक्षरम् अअआउम् इति ततः सन्धिवशात् ओं इति। पदैकदेशे पदसमु-दायोपचारादेवमुक्तिः॥ ओमित्यनेन ''आयट्टकला अरिहंता, निउणा सिद्धा य लोड्डकरसूरी। उवज्झाय विसुद्धकला, दीहकला साहुणो भणिया ॥१॥'' इति गाथोक्तरहस्येन परमेष्ठिपञ्चकमेव महानन्दार्थिना ध्येयमिति॥ परमतत्त्वे यतः अक्षपादाः स्वं देवमीश्वरं प्रणिदधानाः प्रार्थनापुरः सरमेवमभिदधति। (ओंभूर्भुवेत्यादि) ओमिति सर्वविद्यानामाद्यबीजं सकलागमोपनिषद्भूतं सर्वविघ्नविघातनिघ्नमखिलदृष्टादृष्टफलसंक-ल्पकल्पद्रुमोपममित्यस्य प्रणिधानस्यादावुपन्यस्तं परममङ्गलम् न चैतद्व्यतिरिक्तमन्यत्तत्त्वमस्ति इति॥ ओमित्यक्षरं छान्दसमादिभूतत्वा-त्तस्य किंविशिष्टस्य भूर्भुवः स्वस्तद्भुवनत्रयव्यापि तर्हि किंचि-दभिधेयसत्तासमाविष्टं वस्तु गुरुसंप्रदाययुक्तान्विष्यमाणमत्र ओकारो शब्दपर्यायेणावाप्यते सर्ववादिभिरविगानेनास्य सकलभुवनत्रयकमला-धिगमे बीजतयोपवर्णितत्वादिति परिभावनीयमेतत्। गा०। अश्च उश्च मश्च तेषां समाहारः। विष्णु महेश्वरब्रह्मरूपत्रयात्मके ईश्वरे,। ब्रह्मोकारोऽत्र विज्ञेयः अकारो विष्णुरुच्यते। महेश्वरो मकारस्तु त्रयमेकत्र तत्त्वतः। पं० वं० ४ द्वा० ३२ पत्र०। प्रणवे,। आरम्भे,। स्वीकारे,। अनुमतौ, अपाकृतौ, अस्वीकारे, मङ्गले, शुभे ज्ञेये, ब्रह्मणि च। वाच०।

ओं कार-पुं० (ओंकार) ओम्-स्वरूपेकारप्रत्ययः। प्रणवे, स्तुवीत कृतं सर्वमित्युक्तेश्च ओंकारस्य सर्वकर्मारम्भादौ पाठ्यत्वात् आरम्भसाधनत्वेन आरम्भे,। समानां समावयवानां प्रथमावयवे च। बुद्धिशक्तिभेदे च स्त्री०। वाच०।

ओक-पुं० (ओक) उच्-घ-चस्य कः। पक्षिणि, वृषले, आश्रये च। उच् भावे घञ् कुत्वम्। समवाये। वाच०।

***ओक्य**-ओकाय हितं यत् निवासाय हिते,। त्रि० वाच०।

***ओकस्** -न० उच्-असुन् न्यङ्क्वादित्वात्कुत्वम्। गृहे, आश्रयमात्रे च। वनौकसः त्रिदिवौकसः इत्यादि। वाच०। ''कुलपत्यर्पिते वर्षास्तस्थौ स्वामी तृणौकसि। गावो बहिस्तृणानाप्ता वर्षारम्भे क्षुधातुराः'' आ० क०।

ओकुंजिय-न० (अवकूजित) ऊर्द्धं तिर्यग्बाहुमिति करणे, ''उड्ढ एतिरियं हुत्ति करणं ओ अवकुंजियं''। नि० चू० १७ उ०।

ओक्खल-न० (उदखल) उद्-ऊर्द्धं खं लाति। ला-क पृषो-नि० **न वा मयूख-लवण-चतुर्गण-चतुर्थ-चतुर्दश-चतुर्वारि- सुकुमार-कुतूहलोदूखलोलूखले ८। १। १७१।** इति आदेः स्वरस्य परेण सस्वरव्यञ्जनेन सह ओद् वा। ओक्खलं। उलूखलं। तैलादित्वात्खद्वित्वे **'द्वितीयतुर्ययोरुपरिपूर्वः' ८। २। ९०।** इति द्वितीयस्योपरि प्रथमः। तन्दुलादिसाधने गृहोपकरणे, प्रा०।

ओगसण-न० (अपकसन) हसने, वृ० ६ उ०।

ओगहिय-न० (अवगृहीत) येन केनचित्प्रकारेण दायकेनात्ते भक्तादौ।

तिविहे ओगहिए पण्णत्ते तं जहा जं च ओगिण्हइ। जं च साहरई जं च आसगंसि पक्खिवइ॥

अवगृहीतं नाम येन केनचित्प्रकारेण दायकेनात्तं भक्तादि यदिति भक्तम्। चकाराः समुच्चयार्थाः। अवगृह्णाति आदत्ते हस्तेन दायकस्तदवगृहीतमेतच्च षष्ठी पिण्डैषणेति एवं च वृद्धव्याख्या परिवेषकः पिटकायाः कूरं गृहीत्वा यस्मै दातुकामः तद्भाजने क्षेप्तुमुपस्थितस्तेन च भणितं मा देहि अत्रावसरे प्राप्तेन साधुना धर्मलाभितं ततः परिवेषको भणति प्रसारय साधो ! पात्रं ततः साधुना प्रसारिते पात्रे क्षिप्तमोदनम्। इह च संयतप्रयोजनगृहस्थेन हस्त एव परिवर्तितो नान्यद्भमनादि कृतमिति जघन्यमाहृतं जात-मिति। इह च व्यवहारभाष्यश्लोकः। ''भुंजमाणस्स उक्खित्तं, पडिसिद्धं च तेण उ। जहन्नोवहडंतं तु, हत्थस्स परियत्तणेति'' ॥ तथा चच्च परिवेषकः स्थानादविचलन् संहरति भक्तभाजना-द्भोजनभाजनेषु क्षिपति तच्चावगृहीतमिति प्रक्रमः श्लोको-ऽत्र। ''अह साहारमाणं (परिवेषयन्नित्यर्थः) तु, वट्टंतो जो उ दायओ। दलेज्जा चलिओ तत्तो, छड्डा एसा वि एसणत्ति'॥ तथ यच्च भक्तामास्यके पिठरादिमुखे क्षिपति तच्चावग-हीतमिति। एवं चात्र वृद्धव्याख्या कूरमवसादननिमित्तं कलिंजादि भाजने विशालोत्तानरूपे क्षिप्तं ततो भक्तिकेभ्यो दत्तं ततो भक्तशेषं यद्भूयः पिठरके प्रकाशमुखे क्षिपति दद्यात् परिवेषयतीति वा प्रकाशमुखे भाजने तत्तृतीयमवगृहीतम्। श्लोकोऽत्र। ''भुत्तसेसं तु जं भूओ, छुवंती पिठरोदये। संवट्टंती अन्नस्स, आसगंसि पएसएत्ति ॥१॥, ननु आस्ये मुखे यत्प्रक्षिपतीति मुख्येऽर्थे सति किं पिठरादिमुखे इति व्याख्यायत इत्युच्यते अस्य प्रक्षेपव्याख्यानमयुक्तमिति जुगुप्साभावादिति। आह च। ''पक्खेवए दुगुंच्छा आएसो कुडमुहाईसुत्ति'' स्था० ३ ठा०।

ओगाढ-त्रि० (अवगाढ) अव-गाह-क्त। आश्रिते, स्था० १० ठा०। अवस्थिते, स्था० १ ठा०। व्यवस्थिते, आ० म० प्र०। व्याप्ते, ज्ञा० १६ अ०। स्थिते, आचा० २ श्रु०। निमग्ने, स्था० २ ठा०।

ओगाढरुइ-स्त्री० (अवगाढरुचि) अवगाढः साधुप्रत्यास-न्नीभूतस्तस्य साधूपदेशाद् रुचिरवगाढरुचिः। धर्मध्यानस्य चतुर्थे, । लक्षणे, । स्था० ४ ठा०।

ओगाहइत्ता-अ० (अवगाह्य) उदकमेव आत्माभिमुखमाकृष्येऽर्थे ''ओगाहइत्ता चलइत्ता आहारे पाणभोयणे'' द० ५ अ०।

ओगाहंत-त्रि० (अवगाहत्-अवगाहमान) अवगाहनां कुर्वति, ''सूरूदयपच्छिमाए ओगाहंतीए पुव्वं उण्ह'' अवगा-हन्त्यामागच्छन्त्यामित्यर्थः। आव० २ अ०। ''ते चोगाहंती संघट्टंती रमंती य''। तानेव षट्कायानवगाहमाना पादाभ्यां चालयन्ती। पिं०।

ओगाहणसेणियापरिकम्म-न० (अवगाहनश्रेणिकापरिकर्मन्) दृष्टिवादान्तर्गतपरिकर्मभेदे, सम०।

ओगाहणा-स्त्री० (अवगाहना) अवगाहन्ते आसते यस्यां साऽवगाहना। क्षेत्रप्रदेशे, स्था० १ ठा०। अवगाहन्ते अवतिष्ठन्ते जीवा अस्यामित्यवगाहना। नारकादितनुसमवगाढे क्षेत्रे, । अनु०। आधारैकभूते क्षेत्रे, सम०। अवगाहन्ते आसते यस्या-माश्रयन्ति वा यां जीवाः साऽवगाहना स्था० ४ ठा०। अवगाहन्ते क्षेत्रं यस्यां स्थिता जन्तवः साऽवगाहना। आ०म० प्र०। उत्त० ३६ अ०। आवगाह्यते जीवने आकाशोऽनयेति अवगाहना औणादिकः प्रत्ययः। प्रव० १ द्वा०। औदारिकादौ शरीरे, सम०।

(१) अवगाहनाया भेदाः।
(२) औदारिकशरीरावगाहनामानम्।
(३) पृथ्व्यादीनामौदारिकावगाहनामानम्।
(४) द्वित्रिचतुरिन्द्रियाणामौदारिकावगाहना।
(५) तिर्यक्पञ्चेन्द्रियौदारिकशरीरावगाहना।
(६) मनुष्यपञ्चेन्द्रियौदारिकशरीरावगाहना।
(७) वैक्रियशरीरस्यावगाहनामानम्।
(८) पृथ्व्यादीनां वैक्रियशरीरावगाहना।
(९) पञ्चेन्द्रियतिरश्चां वैक्रियशरीरवगाहनामानम्।
(१०) असुरकुमारादीनां वैक्रियशरीरावगाहना।
(११) आहारकशरीरस्यावगाहनामानम्।
(१२) तैजसशरीरस्यावगाहनामानम्।
(१३) निगोदजीवस्यावगाहनामानम्।
(१४) एकत्र एक एव धर्मास्तिकायादिप्रदेशावगाढः।
(१५) धर्मास्तिकायादेरवगाढानवगाढस्य चिन्ता।

(१) अवगाहनाथाः भेदास्तद्यणा-

चउव्विहा ओगाहणा पण्णत्ता तं जहा दव्वोगाहणा खेत्तोगाहणा कालीगाहणा भावोगाहणा॥

अवगाहन्ते आसते यस्यामाश्रयन्ति वा यां जीवाः साऽवगाहना शरीरं द्रव्यतोऽवगाहना द्रव्यावगाहना। एवं सर्वत्र। तत्र द्रव्य-तोऽनन्तद्रव्या क्षेत्र तोऽसंख्येयप्रदेशावगाढा। कालतोऽसंख्ये-यसमयस्थितिका भावतो वर्णाद्यनन्तगुणेति। अथवा अवगाहना विवक्षितद्रव्यस्याधारभूता आकाशप्रदेशस्तत्र द्रव्याणमवगाहना द्रव्यावगाहना। क्षेत्रमेवावगाहना क्षेत्रावगाहना। कालस्यावगहाना समयक्षेत्रलक्षण कालावगहाना। भाववतां द्रव्याणमवगाहना भावावगहाना भावप्राधान्यादिति। आश्रयणमात्रं वा अवगा-हना। तत्र द्रव्यस्य पर्यायैरवगाहना श्रयणं द्रव्यावगाहना। एवं क्षेत्रस्य कालस्य भावानां द्रव्येणेति अन्यथा चोपयुज्य व्या-ख्येयमिति स्था० ०४ ठा०।

नवविहा जीवोवगाहना पण्णत्ता तं जहा पुढ-विकाइयओगाहणा आउकाइय जाव वणस्सइका-इयओगाहणा बेंदियोगाहणा तेंदियोगाहणा चउरिं-दियोगाहणा पंचेंदियोगाहणा॥ स्था० ९ ठा०।

(२) सामान्यत औदारिकशरीरावगाहनामानम्।

ओरालियसरीरस्स णं भंते ! के महालिया सरीरोगाहणा पण्णत्ता ? गोयमा ! जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं सातिरेगं जोयणसहस्सं। एगिंदियउरालियस्स वि एवं चेव जहा ओहियस्स॥

औदारिकस्य जघन्यतोऽवगाहना अङ्गुलासंख्येयभागा स चोत्पत्तिप्रथमसमये पृथिवीकायिकादीनां वाऽवसातव्या। उत्कर्षतः सातिरेकं योजनसहस्रमेषा लवणसमुद्रगो तीर्थादिषु पद्मनालाधिकृत्यावसातव्या। अन्यत्रैतावत् औदारिकशरीर स्यासंभवात्। एवमेकेन्द्रियसूत्रेऽपि तथा चाह। ''एगिंदिय उरालियस्स एवं चेव जहा ओहियस्स इति'' प्रज्ञा० २१ पद

(३) औदारिकपृथिव्यादीनामवगाहनामानम्।

पुढविकाइयएगिंदियओरालियसरीरस्स णं भंते ! के महालिया पुच्छा । गोयमा ! जहन्नेण वि उक्कोसेण वि अंगुलस्स असंखेज्जइभागं एवं अपज्जत्तयाणं वि पज्जत्तयाण वि। एवं सुहुमाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं वायराण पज्जत्तापज्जत्ताण वि। एवं एसो णवभेओ जहा पुढविकाइयाणं तहा आउकाइयाण वि। तेउकाइयाण वि वाउकाइयाण वि। वणस्सइकाइयओरालियसरीरस्य णं भंते ! के महालिया सरीरोगाहणा पण्णत्ता ? गोयमा ! जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं सातिरेगं जोयण हस्सं। अपज्जत्ताणं जहण्णेण वि उक्कोसेण वि अंगुलस्स असंखेज्जइभागं। पज्जत्तगाणं जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं। उक्कोसेणं सातिरेगं जोयणसहस्सं। बादराणं जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं जोयणसहस्सं सातिरेगं। पज्जत्ताण वि एवं चेव। अपज्जत्ताणं जहण्णेण वि उक्कोसेण वि अंगुलस्स असंखेज्जइभागं। सुहुमाणं पज्जत्तापज्जत्ताण य तिण्ह वि जहण्णेण वि उक्कोसेण वि अगुलस्स असंखेज्जइभागं।

पृथिव्यप्तेजोवायूनां सूक्ष्माणां बादराणां प्रत्येकं पर्याप्ता-नामपर्याप्तानां चौदारिकशरीरस्य जघन्यत उत्कर्षतश्चावगहाना अङ्गुलासंख्येयभागः। प्रत्येकं च नव सूत्राणि तेषामौघि-कसूत्रमौघिकपर्याप्तसूत्रम्। तथा सूक्ष्मसूत्रं सूक्ष्मापर्याप्तकसूत्रं सूक्ष्मपर्याप्तकसूत्रमेवं बादरेऽपि सूत्रत्रिकमिति। एवं वनस्पतिकायिकानामपि च सूत्राणि। नवरमौघिकं वनस्पतिसूत्रे औधिकवनस्पतिपर्याप्तकसूत्रे बादरसूत्रे बादरपर्याप्तसूत्रे जघन्यतोऽङ्गुलासंख्येयभाग उत्कर्षतः सातिरेकं योजनसहस्रं तच्च पद्मनालाद्यधिकृत्य वेदितव्यम्। शेषेषु तु जघन्यत उत्कर्षतो वाऽङ्गुलासंख्येयभागः॥

(४) द्वित्रिचतुरिन्द्रियौदारिकाणामवगाहनामानम्।

बे इंदिय उरालियसरीरस्य णं भंते ! के महालिया सरीरोगाहणा पण्णत्ता ? गोयमा ! जहण्णेणं अंगुलस्य असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं वारसजोयणाइं। एवं सव्वत्थ वि अपज्जत्तयाणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं जहण्णेण वि उक्कोसेण वि पज्जत्तगाणं। जहेव ओरालियस्स ओहियस्स। एवं तेइंदियाणं तिण्णि गाउयाइं चउरिंदियाणं चत्तारि गाउयाइं।

द्वित्रिचतुरिन्द्रियाणां प्रत्येकं त्रीणि २ सूत्राणि तद्यथा औधिकसूत्रं पर्याप्तसूत्रमपर्याप्तसूत्रं च। ततौधिकसूत्रे पर्याप्तसूत्रे च द्वीन्द्रिया-णामुत्कर्षतो द्वादश योजनानि। त्रीन्द्रियाणां त्रीणि गव्यूतानि। चतुरिन्द्रियाणां चत्वारि गव्यूतानि। अपर्याप्तसूत्रे तु जघन्यत उत्कर्षतश्चाङ्गुलासंख्येयभागः।

(५) तिर्यक्पञ्चेन्द्रियौदारिकशरीरावगाहनामानम्।

पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं उक्कोसेणं जोयणसहस्सं ३। एवं सम्मुच्छिमाणं ३। गब्भवक्कंतियाण वि ३। एवं चेव णवओ भेदो भाणियव्वो। एवं जलयराण वि जोयणसहस्सं णवओ भेदो। थलयराण वि णवओ भेदो उक्कोसेणं छगाउयाइं। पज्जत्ताण वि एवं चेव ३। सम्मुच्छिमाणं पज्जत्ताण य उक्कोसेणं गाउयपुहत्तं ३। गब्भवक्कंतियाणं उक्कोसेणं छ गाउयाइं। पज्जत्ताण य ओहिय च उप्पयपज्जत्तयगब्भवक्कंतियपज्जत्तयाण य उक्कोसेणं छ गाउयाइं सम्मुच्छिमाणं पज्जत्ताणं गाउयपुहत्तं उक्कोसेणं एवं उरपरिसप्पाण वि। ओहियगब्भवक्कंतियपज्जत्तयाणं जोयणसहस्सं। सम्मुच्छिमाण जोयणपुहत्तं भुयपरिसप्पाणं ओहियगब्भ-वक्कंतियाण वि उक्कोसेणं गाउयपुहत्तं, सम्मुच्छिमाणं धणुपुहत्तं, खहयराण ओहियग-ब्भवक्कंतियाणं सम्मुच्छिमाण य तिण्ह वि उक्कोसेणं धणुपुहत्तं। इमाओ संगहणिगाहाओ जोयण-सहस्सछगाउयाइं, तत्तो य जोयणसहस्सं। गाउयपुहत्त भुयपरि-धणुहे पुहत्तं च पक्खीसु।१। जोयण-सहस्सगाउय-पुहत्तं तत्तो य जोयणपुहत्तं। होण्हं धणुपुहत्तं, सम्मुच्छिमे होति उच्चत्तं॥

तथा सामान्यतस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां जलचराणां सामान्यतः स्थल-चराणां चतुष्पदानामुरःपरिसर्पाणां भुजपरिसर्पाणां खचरपपञ्चेन्द्रिय-तिरश्चां च प्रत्येकं नव नव सूत्राणि। तद्यथा त्रीणि अधिकानि। त्रीणि संमूर्च्छिमविषयाणि। त्रीणि गर्भव्यु-त्क्रान्तिकविषयाणि। तत्रापर्याप्तेषु स्थानेषु सर्वेष्वपि जघन्यत उत्कर्षतो वाऽङ्गुलासंख्येयभागः। शेषेषु तु स्थानेषु जघन्यतोऽङ्गुलासंख्येयभागः। उत्कर्षतः सामान्यतस्ति-र्यक्पञ्चेन्द्रियेषु जलचरेषु चोत्कर्षतो योजनसहस्रं सामान्यतः स्थलचरेषु चतुष्पदस्थलचरेषु गर्भव्युत्क्रान्तिकेषु षट् गव्यूतानि संमूर्च्छिमेषु गव्यूतपृथक्त्वम् उरः परिसर्पेष्वौधिकेषु गर्भव्युत्क्रान्तिकेषु च योजनसहस्रं संमूर्च्छिमेषु योजनपृथक्त्वं भुजपरिसर्पेष्वौधिकेषु गर्भव्युत्क्रान्तेषु च गव्यूतपृथक्त्वम्। संमूर्च्छिमेषु धनुः पृथक्त्वं खचरेष्वौधिकेषु गर्भव्युत्क्रान्तेषु संमूर्च्छिमेषु च सर्वेषु स्थानेषु धनुः पृथक्त्वम् अत्रेमे संग्रहगाथे (जोयणसहस्समित्यादि) गर्भव्युत्क्रान्तानां जलचराणामुत्कर्षतः शरीरावगाहना योजनसहस्रं चतुष्पदस्थलचराणां षट् गव्यूतानि। उरःपरि-सर्पस्थलचराणां षट् गव्यूतानि। उरःपरिसर्पस्थलचराणां योजनसहस्रं भुजपरिसर्पस्थलचराणां गव्यूतनपृथक्त्वं पक्षिणां धनुः पृथक्त-वम्। तथा संमूर्च्छिमानां जलचरणामुत्कर्षतः शरीरावगाहनायाः प्रमाणं योजनसहस्रं चतुष्पदस्थलचराणां गव्यूतपृथक्त्वं, पक्षिणां धनुःपृथक्त्वम्। तथा संमूर्च्छिमानां जलचराणामुत्कर्षतः शरीरावगाहनायाः प्रमाणं योजन-सहस्रंश्चतुष्पदस्थलचराणां गव्यूतपृथक्त्वम्, पक्षिणां धनुः-पृथक्त्वमुरः परिसर्पस्थलचराणां योजनपृथक्त्वं, भुजपरि-सर्पस्थलचराणां च धनुः पृथक्त्वमिति। उक्तं तिर्यक् पञ्चेन्द्रि-यौदारिकशरीरावगाहनामानम्।

(६) इदानीं मनुष्यपञ्चेन्द्रियौदारिकशरीरावगाहनामानमाह -

मणुस्सोरालियसरीरस्स णं भंते ! के महालिया सरीरोगाहणा पण्णत्ता ? गोयमा ! जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं तिन्नि गाउयाइं। अपज्जत्ताणं जहन्नेण वि उक्कोसेण वि अंगुलस्स असंखेज्जइभागं। सम्मुच्छिमाणं जहन्नेण वि उक्कोसेण वि अंगुलस्स असंखेज्जइभागं। गब्भवक्कंतियाणं पज्जत्ताण य जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं। उक्कोसेणं तिण्णि गाउ-

याइं ॥

कण्ठ्यम्। नवरं त्रीणि गव्यूतानि देवकुर्याद्यपेक्षया तदेवमौदारिकशरीरस्य विषयः संस्थानानि प्रमाणानि चोक्तानि।

(७) संप्रति वैक्रियशरीरस्यावगाहनामानमाह -

वेउव्वियसरीरस्य णं भंते ! के महालिया सरीरोगाहणा पण्णत्ता ? गोयमा ! जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं सातिरेगं जोयणसयसहस्सं। वाउक्काइयएगिंदियवेउव्वियसरीरस्स णं भंते ! के म हालिया सरीरोगाहणा पण्णत्ता ? गोयमा ! जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेण वि अंगुलस्स असंखेज्जइ-भागं। णेरइयपंचिंदियवेउव्वियसरीरस्स णं भंते ! के महालिया सरीरोगाहणा पण्णत्ता ? गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता तं जहा भवधारणिज्जा य उत्तरवेउव्विया य ! तत्थ णं जा सा भवधारणिज्जा सा जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं पंच धणुसयाइं। तत्थ णं जा सा उत्तरवेउव्विया सा जहन्नेणं अंगुलस्स संखेज्जइभागं उक्कोसेणं धनुस्सहस्सं।

(वेउव्वियसरीरस्स णमित्यादि) जघन्यतोऽङ्गुलासंख्येयभागं नैरयिकादीनां भवधारणीयस्यापर्याप्तावस्थायां वातकायस्य वा उत्कर्षतः सातिरेकं योजनशतसहस्रं देवानामुत्तरवैक्रियस्य मनुष्याणां वा (एगिंदिगवेउव्वियसरीरस्स णमित्यादि) अत्र एकेन्द्रियो वातकायोऽन्यस्य वैक्रियलब्ध्यसंभवात्। तस्य जघ-न्यत उत्कर्षतो वाऽवगाहनामानमङ्गुलासंख्येयभाग-प्रमाणमेतावत्प्रमाणं विकुर्वणायामेव तस्य शक्तिसंभवात्। सामान्य नैरयिकसूत्रे भवधारणीया भवो धार्यते यया सा भवधारणीया कृद्बहुलमिति वचनात्करणे अनीयप्रत्ययः। उत्कर्षतः पञ्च धनुःशतानि उत्तरवैक्रियधनुःसहस्रं सप्तमनरकपृथिव्यपेक्षया अन्यत्रैतावत्या भवधारणीयाया उत्तर-वैक्रियाया वा शरीरावगाहनाया अप्राप्यमाणत्वात्।

(८) संप्रति पृथिव्यादीनां वैक्रियशरीरावगाहनामानमाह।

रयणप्पभ पुढविणेर याणं के महालिया सरीरोगाहणा पण्णत्ता ? गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता तं जहा भवधारणिज्जा य उत्तरवेउव्विनाय तत्थ णं जा भवधारणिज्जा सा जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं सत्तधणूइं तिण्णि रयणीओ छच्च अंगुलाइं। तत्थ णं जा सा उत्तरवेउव्विया सा जहन्नेणं अंगुलस्स संखेज्जइबागं उक्कोसेणं पन्नरसधणूइं अड्ढाइज्जाओ रयणीओ सक्करप्पभाए पुच्छा गोयमा ! जाव तत्थ णं जा सा भवधारणिज्जा सा जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं पन्नरसधणूइं अड्ढाइज्जाओ रयणीओ। तत्थ णं जा सा उत्तरवेउव्विया या जहन्नेणं अंगुलस्स संखेज्जइभागं उक्कोसेणं एक्कतीसं धणूइं एक्का य रयणी। वालुयप्पभाए पुच्छा, भवधारणिज्जा एक्कतीसधणूइं एक्का य रयणी। उत्तरवेउव्विया छावट्ठिधसणूइं दोण्णि य रयणीओ। पंकप्पभाए पुच्छा, भवधारणिज्जा वाव-ट्ठिधणूइं दोन्नि य रयणीओ। उत्तरवेउव्विया पणवीसं धणुसतं। धूमप्पभाए भवधारणिज्जा पणवीसं धणुसतं। उत्तरवेउव्विया अड्ढाइज्जाइं धणुसयाइं। तमाए भव-धारणिज्जा अड्ढाइज्जाइं धणुसयाइं। उत्तरवेउव्विया पंचधणुसयाइं। अहेसत्तमाए भवधारणिज्जा पंचधणु-सयाइं। उत्तरवेउव्विया धणुसहस्सं। एवं उक्कोसेणं जहन्नेणं भवधारणिज्जा अंगुलस्स असंखेज्जइभागं। उत्तरवेउव्विया अंगुलस्स संखेज्जइभागं॥

अङ्गुलासंख्येयभागप्रमाणता प्रथमोत्पत्तिकाले वेदितव्या। उत्कर्षतः सप्त धनूंषि त्रयो हस्ताः षट् चाङ्गुलानि पर्या-प्तावस्थायामिदं चोत्कर्षतः शरीरावगाहनामानं त्रयोदशे प्रस्तटे द्रष्टव्यं शेषेषु त्ववर्क्तनेषु प्रस्तटेषु स्तोकं स्तोकतरम्। तचैवं रत्नप्रभायाः प्रथमे प्रस्तटे त्रयो हस्ता उत्कर्षतः शरीरप्रमाणम् द्वितीये प्रस्तटे धनुरेकमेको हस्तः सार्द्धानि चाष्टाङ्गुलानि। तृतीयै प्रस्तटे धनुरेकं त्रयो हस्ताः सप्तदशाङ्गुलानि। चतुर्थे द्वे धनुषी द्वौ हस्तौ सार्धमेकमङ्गुलम्। पञ्चमे त्रीणि धनूंषि दशाङ्गुलानि। षष्ठे त्रीणि धनूंषि द्वौ हस्तौ सार्धान्यष्टादशाङ्गुलानि। सप्तमे चत्वारि धनूंषि त्रयो हस्ताः सार्धान्येकादशाङ्गुलानि। नवमे पञ्च धनूंषि एको हस्ता विंशतिरङ्गुलानि। दशमे षट्धनूंषि सार्धानि चत्वार्यङ्गुलानि। एकादशे षट् धनूंषि द्वौ हस्तौ त्रयोदशाङ्गु-लानि। द्वादशे सप्त धनूंषि सार्धान्येकविंशतिरङ्गुलानि। त्रयोदशे सप्त धनूंषि त्रयो हस्ताः षट् परिपूर्णान्यङ्गुलानि। एष चायं तात्पर्यार्थः। प्रथम प्रस्तटे यच्छरीरावगाहनापरिमाणं त्रयो हस्ता इति तस्योपरि प्रस्तटक्रमेण सार्द्धानि षट् पञ्चाशदङ्गुलानि प्रक्षिप्यन्ते ततो यथोक्तं प्रस्तटेषु शरीरावगाहनापरिमाणं भवति। उक्तं च। ''रयणाए पढमपयरे, हत्थतिगदेहउस्सेहभणिओ। छप्पन्नंगुलसड्ढा, पयरे पयरे हवइ वुड्ढी'' १ (तत्थ णं जा सा उत्तरवेउव्विया इत्यादि) जघन्यतोऽङ्गुलसंख्येयभागं प्रथमसमयेऽपि तस्या अङ्गुलसंख्येयभागप्रमाणाया एव भावात्। न त्वसंख्येयभागप्रमाणा। आह च। संग्रहणिमूलटीकाकारो हरिभद्रसूरिः - उत्तरवैक्रिया तु तथाविधप्रयत्नभावादाद्यसमये अङ्गुलसंख्येयभागमात्रे च उत्कर्षतः पञ्चदशधनूषि अर्द्धतृतीयहस्ता इदं च उत्तरवैक्रियशरीरावगाहनापरिमाणं त्रयोदशे प्रस्तटेऽवसातव्यं शेषेषु प्रस्तटेषु प्रागुक्तं भवधारणीयमानापेक्षया द्विगुणं प्रत्येतव्यम्। शर्करप्रभायां भवधारणाया उत्कर्षतः पञ्चदशधनूंषि अर्द्धतृतीयहस्ता इदं चोत्कर्षतो भवधारणीयावगाहना परिमाणमेकादशे प्रस्तटेऽवसातव्यम्। शेषेषु प्रस्तटेष्विदं शर्करायाः प्रथमे प्रस्तटे सप्त धनूंषि त्रयो हस्ताः षट् चाङ्गुलानि। द्वितीये प्रस्तटेऽष्टौ धनूंषि द्वौ हस्तौ नव चाङ्गु-लानि। तृतीये नव धनूंषि एकोहस्तो द्वादशाङ्गुलानि। चतुर्थे दश धनूंषि पञ्चदशाङ्गुलानि। पञ्चमे दश धनूंषि त्रयो हस्ताः अष्टादश अङ्गुलानि। षष्ठे एकादश धनूंषि द्वौ हस्तावेकविंशतिरङ्गुलानि। सप्तमे द्वादश धनूंषि द्वौ हस्तौ। अष्टमे त्रयोदश धनूंषि एको हस्तस्त्रीणि अङ्गुलानि। नवमे चतुर्दश धनूंषि षट् चाङ्गुलानि। दशमे चतुर्दश धनूंषि त्रयो हस्ता नव चाङ्गुलानि। एकादशे सूत्रोक्तमेव परिमाणम्। अत्रापीदं तात्पर्यम्। प्रथमे प्रस्तटे यत्परिमाणमुक्तं तस्योपरि प्रथमे प्रस्तटे क्रमेण त्रयो हस्तास्त्रीणि चाङ्गुलानि प्रक्षेप्तव्यानि। ततो यथोक्तं प्रस्तटे परिमाणं भवति। ''सो चेव य वीयाए, पढमे पयरम्मि

होइ उस्सेहो । हत्थतियं तिन्नि अंगुल-पयरे पयरे य वुड्ढीओ ॥१॥ एक्कारसमे पयरे, पन्नरस धणूणि दाण्णि रयणीओ । वारसयअंगुलाइं, देहपमाणं तु विन्नेयं ॥२॥'' गाथाद्वायस्यापीयमक्षरगमनिका य एव प्रथमपृथिव्यास्त्रयोदशे प्रस्तटे उत्कर्षत उत्सेधो भणितः सप्त धनूंषि त्रयो हस्ताः षट् चाङ्गुलानीति स एव द्वितीयस्यां शर्करप्रभायां पृथिव्यां प्रथमे प्रस्तटे उत्सेधो भवति ज्ञातव्यः । ततः प्रतरे प्रतरे वृद्धिरवसेया । त्रयो हस्तास्त्रीणि चाङ्गुलानि । तथा च सत्येकादशे प्रस्तटे उत्कर्षतो भवधारणीयशरीरपरिमाणमायाति । पञ्चदश धनूंषि द्वौ हस्तौ द्वादशाङ्गुलानीति। उत्तरवैक्रियोत्कर्षपरिमाणमाह। एकविंश-तिधनूंषि एको हस्तः । इदं च एकादशे प्रस्तटे वेदितव्यम् । शेषेषु तु प्रस्तटेषु स्वस्वधारणीयापेक्षया द्विगुणमवसेयम् । तथा तृतीयस्यां वालुकप्रभायां पृथिव्यामुत्कर्षतो भवधारणीया । एकत्रिंशत् धनूंषि एको हस्त एतच्च नवमप्रस्तटमधिकृत्योक्तमवसेयम्। शेषेषु प्रस्तटेष्वेवम्। तत्र प्रथमप्रस्तटे भवधारणीया पञ्चदश धनूंषि द्वौ हस्तौ द्वादशाङ्गुलानि। द्वितीये प्रस्तटे सप्त धनूंषि द्वौ हस्तौ सार्धानि सप्ताङ्गुलानि। तृतीये एकोनविंशतिधनूंषि द्वौ हस्तौ त्रीण्यङ्गुलानि। चतुर्थे एकविंशतिधनूंषि एको हस्तः सार्धानि द्वाविंशतिरङ्गुलानि । पञ्चमे त्रयोविंशतिधनूंषि एको हस्तोऽष्टादश चाङ्गुलानि । षष्ठे पञ्चविंशति धनूंषि एको हस्तः सार्धानि त्रयोदशाङ्गुलानि सप्तमे सप्तविंशतिधनूंषि एको हस्तो नव चाङ्गुलानि । अष्टमे एकोनत्रिंशद्धनूंषि एको हस्तः सार्धानि चत्वार्यङ्गुलानि । नवमे यथोक्तरूपं परिमाणम् । अत्रापि चायं भावार्थः । प्रथमप्रस्तटेषु यत्परिमाणमुक्तं तत्तस्योपरि प्रस्तटे प्रस्तटे सप्त हस्ताः सार्धानि च एकोनविंशतिरङ्गुलानि क्रमेण प्रक्षेप्तव्यानि । ततो यथोक्तं प्रस्तटेषु परिमाणं भवति । उक्तं च । ''सो चेव य तइयाए, पढमे पयरम्मि होइ उस्सेहो । सत्तरयणी उ अंगुल, उणवीसं सङ्खवुड्ढी य ॥१॥ पयरे पयरे य तहा, नवमे पयरम्मि होइ उस्सेहो । धणुआणि एगतीसं, एकारयणी य नायव्वा ॥२॥'' अस्यापि गाथाद्वयस्येयमक्षरगमनिका य एव द्वितीयस्याः शर्करप्रभायाः एकादशप्रस्तटे भवधारणीयाया उत्कर्षत उत्सेध उक्तः पञ्चदश धनूंषि द्वौ हस्तौ द्वादश चाङ्गलानि स एव तृतीस्या वालुकाप्रभायाः पृथिव्याः प्रथमे प्रस्तटे उत्सेधो भवति ततः प्रतरे प्रतरे वृद्धिरवसेया । सप्त हस्ताः सार्धानि चैकोनविंशतिरङ्गु-लानि । तथा च सति नवमे प्रस्तटे यथोक्तं भवधारणीयावगाहनामानं भवति । एकत्रिंशद्धनूंषि एको हस्त इति । उत्तरवैक्रियोत्कृष्ट-परिमाणमाह । । द्वाषष्टिधनूंषि द्वौ हस्तौ एतच्च नवमप्रस्तटा-पेक्षमवसेयम् । शेषेषु तु प्रस्तटेषु निजनिजभवधारणी-यप्रमाणापेक्षया द्विगुणमिति । चतुर्थ्यां पङ्कप्रभायाः पृथिव्याः उत्कर्षतो भवधारणीया द्वाषष्टिधनूंषि द्वौ हस्तौ इदं च सप्तमे प्रस्तटे प्रत्येयं शेषेषु तु प्रस्तटेष्वेवं पङ्कप्रभायां प्रथमे प्रस्तटे एकत्रिंशद्ध-नूंषि एको हस्तः । द्वितीये षट्त्रिंशत् धनूंषि एको हस्तः विंशतिरङ्गुलानि । तृतीये एकचत्वारिंशद्धनूंषि द्वौ हस्तौ षोडशाङ्गुलानि । चतुर्थे षट्चत्वारिंशद्धनूंषि त्रयो हस्ता द्वा-दशाङ्गुलानि। पञ्चमे द्विपञ्चाशत् धनूंषि अष्टावङ्गुलानि। षष्ठे सप्तपञ्चाशत् धनूंषि एको हस्तः चत्वार्यङ्गुलानि। सप्तमे यथोक्तरूपं परिमाणमत्रापि चैष भावार्थः प्रथमे प्रस्तटे यत्परिमाणमुक्तं तस्योपरि प्रस्तटे प्रस्तटे क्रमेण पञ्च धनूंषि विंशतिरङ्गुलानीत्येवंरूपा वृद्धिरवगन्तव्या । ततः पृथमे प्रस्तटे सूत्रोक्तपरिमाणं भवति। उक्तं च। ''सो चेव चउत्थीऐ, पढमे पयरम्मि होइ उस्सेहो । पंचधणुवीसअंगुल, पयरे पयरे य वुड्ढी य ॥१॥ जो सत्तमए पयरे, नेरइयाणं तु होइ उस्सेहो ॥ छावट्ठीधणुयाइं, दोण्णि य रयणी य बोधव्वा'' ॥२॥ अस्यापि गाथाद्वय-स्याक्षरगमनिका प्राग्वद्भावनीया ॥ उत्तरवैक्रियोत्कर्षपरिमाणं पञ्चविंशतिधनुःशतं तच्च सप्तमे प्रस्तटे। शेषेषु तु प्रस्तटेषु स्वस्वभवधारणीयापेक्षया द्विगुणमिति। पञ्चम्यां धूमप्रभायां पृथिव्यां भवधारणीयोत्कर्षतः पञ्चविंशद्धनुःशतं, तच्च पञ्चमं प्रस्तटमधिकृत्योक्तमवसेयम्। शेषेषु प्रस्तटेविष्वदम्। प्रथमे प्रस्तटे द्वाषष्टिधनूंषि द्वौ हस्तौ। द्वितीयेऽष्टसप्ततिधनूंषि एका वितस्तिः। तृतीये त्रिनवति धनूंषि त्रयो हस्ताः। चतुर्थे नवोत्तरं धनुःशतं एको हस्त एका च वित-स्तिः। पञ्चमे सूत्रोक्तपरिमाणम्। अत्रापि चायं तात्पर्यार्थः। यत्प्रथमे प्रस्तटे परिमाणमुक्तं तदुपरि प्रस्तटे प्रस्तटे क्रमेण पञ्चदश धनूंषि सार्धहस्तद्वयाधिकानि प्रक्षेप्तव्यानि। तथा च सति यथोक्तं पञ्चमे प्रस्तटे परिमाणं भवति। उक्तं च। ''सो चेव य पंचमीए पढमे पयरम्मि होइ उस्सेहो। पन्नरसधणूण दो हत्थ, सङ्खपयरेशु वुड्ढीय ॥१॥ तह पंचमए परये, उस्से हो धणुसत्तं तु पणवी-सं।'' अस्याः सार्धगाथायाः अक्षरगमनिका प्राग्वत् कर्त्तव्या। उत्तर-वैक्रियोत्कर्षपरिमाणमर्धतृतीयानि धनुः शतानि। एतानि च प्रथमे प्रस्तटे वेदितव्यानि। शेषेषु प्रस्तटेषु स्वस्वभवधारणीया द्विगुणमिति। षष्ठ्यां तमःप्रभायां पृथिव्यामुत्कर्षतो भवधारणी-या। अर्धतृतीयानि धनुःशतानि। तानि च तृतीये प्रस्तटे प्रत्येतव्या-नि। प्रथमे तु प्रस्तटे पञ्चविंशतिधनुःशतं, द्वितीये सार्ध-सप्ताशीत्यधिकं धनुःशतं, तृतीये तु सूत्रोक्तमेव परिमाणं भवति। उक्तं च। ''सो चेव य छट्ठीए, पढमे पयरम्मि होइ उस्सेहो। छावट्ठिधणुयसड्ढा, पयरे पयरे य वुड्ढीए ॥१॥ छट्ठीए तइयपयरे, दो सयपन्नासया होंति''। अस्याप्युत्तरार्धपूर्विकाया गाथाया अक्षरगमनिका प्राग्वत् कर्तव्या। उत्तरवैक्रियोत्कर्षपरिमाणं पञ्च धनुःशतानि तानि च तृतीये प्रस्तटे वेदितव्यानि। आद्ययोस्तु द्वयोः प्रस्तटयोः स्वस्वभवधारणीयापेक्षया द्विगुणमवबोद्धव्यम्। अथ सप्तम्यां तु पृथिव्यां भवधारणीया उत्कर्षतः पञ्चधनुःशतानि उत्तरवैक्रियधनुःसहस्रं सर्वत्र भवधारणीया जघन्यतोऽङ्गुला-संख्येयभागप्रमाणा उत्तरवैक्रियसंख्येयभागप्रमाणेति।

(६) पञ्चेन्द्रियतिरश्चां वैक्रियशरीरावगाहनामानम्।

तिरिक्खजोणियपंचिंदियवेउव्वियसरीरस्स णं भंते ! केम हालिया सरीरोगाहणा पण्णत्ता ? गोयमा ! जहन्नेणं अंगुलस्स संखेज्जइभागं। उक्कोसेणं जोयणसतपुहत्तं ॥ तिर्यक्पञ्चेन्द्रियस्य वैक्रियशरीरावगाहना उत्कर्षतो यो-जनशतपृथक्त्वं तत ऊर्ध्वं करणशक्तेरभावात्। मनुष्याणां यथामनुस्सपंचिंदियवे-उव्वियसरीरस्य णं भंते ! के महालिया सरीरोगाहणा पण्णत्ता ? गोयमा ! जहन्नेणं अंगुलस्स संखेज्जइभागं। उक्कोसेणं सातिरेकं जोयणसतसहस्सं ॥

मनुष्याणां सातिरेकं योजनशतसहस्रं, विष्णुकुमारप्रभृतीनां तथा श्रवणात्। जघन्या तूभयेषामप्यङ्गुलसंख्येयभागप्रमाणा। न त्वसंख्येयभागमाना। तथा रूपप्रयत्वात्संभवात्।

(१०) असुरकुमारादीनां वैक्रियशरीरावगाहनामानम्।

असुरकुमारेणं भवणवासिदेवपंचिंदियवेउव्वय रीरस्स णं भंते !

के महालिया सरीरोगाहणा पण्णत्ता ? गोयमा ! असुरकुमाराणं देवाणं दुविहा सरीरोगाहणा पण्णता तं जहा भवधारणिज्जा य उत्तरवेउव्विया य । तत्थ णं जा सा भवधारणिज्जा सा जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं सत्त रयणीओ । तत्थ णं जा सा उत्तरवेउव्विया सा जहन्नेणं अंगुलस्स संखेज्जइभागं उक्कोसेणं जोयणसयसहस्सं । एवं जाव थणियकुमारा । एवं ओहियाण वाणमंतराणं । एवं जोइसियाण वि सोहम्मीसाणगदेवाणं एवं चेवउत्तरवेउव्विए जाव अच्चुओ कप्पो । नवरं सणंकुमारभवधारणिज्जा जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं छ रयणीओ । एवं माहिंदे वि बंभलोयलंतगेसु पंच रयणीओ महा-सुक्कसहस्सारेसु चत्तारि रयणीओ । आणयपाणय-आरणअच्चुए य तिन्नि रयणीओ गेविज्जगकप्पातीतवेमाणि य देवपंचिंदियवेउव्वियसरीरस्स णं भंते ! के महालिया सरीरोगाहणा पण्णत्ता ? गोयमा ! गेविज्जगदेवाणं एगा भवधारणिज्जा सरीरोगाहणा पण्णत्ता सा जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभाग उक्कोसेणं दो रयणीओ । एवं अणुत्तरोववाइयदेवाण वि नवरं एक्का रयणी ॥

असुरकुमारादीनां स्तनितकुमारपर्यवसानानां व्यन्तराणां ज्योतिष्काणां सौधर्मेशानदेवानां प्रत्येकं जघन्या भवधारणीया वैक्रियशरीरावगाहना अङ्गुलासंख्येयभागप्रमाणा । सा चोत्पत्तिसमये द्रष्टव्या । उत्कृष्टाः सप्त रत्नयः उत्तरवैक्रिया जघन्या अङ्गुलसंख्येयभागमात्रा उत्कृष्टा भोजनशतसहस्रम् (उ-त्तरवेउव्विया जाव अच्चुओ कप्पोत्ति) उत्तरवैक्रियासंभवात् । एतच्च प्रागेवोक्तं सर्वत्र जघन्यतोऽङ्गुलासंख्येयभागमाना उत्कर्षतो योजनलक्षम् । बवधारणीया तु विचित्रा ततस्तां पृथगाह (नवरमित्यादि) नवरमयं भवधारणीयां प्रति विशेषः सनत्कुमारे कल्पे जघन्यतोऽङ्गुलासंख्येयभागः उत्कर्षतः षट् रत्नयः (एवं माहिंदे वि इति) एवमुक्तेन प्रकारेण जघन्या उत्कृष्टा च भवधारणीया महेन्द्रकल्पेऽपि वक्तव्या । एतच्च समसागरोपमस्थितिकान् देवानधिकृत्योक्तमवसेयं द्व्यादिसागरोपमस्थितिष्वेव येषां सनत्कुमारमाहेन्द्रकल्पयोर्द्वे सागरोपमस्थिती तेषामुत्कर्षतो भवधारणीया परिपूर्णसप्तहस्तप्रमाणा येषां त्राणि सागरोपमाणि तेषां षट् हस्ताश्चत्वारश्च हस्तस्यैकादशभागाः । येषां चत्वारि सागरोपमाणि तेषां षट् हस्तास्त्रयो हस्तस्यैकादशभागाः । येषां पञ्चसागरोपमाणि तेषां षट् हस्ताः द्वौ च हस्तस्यैकादशभागौ । येषां षट् सागरोपमाणि तेषां षट् हस्ता एकस्य हस्तस्यैकादशभागाः । येषां तु परिपूर्णानि सप्तसागरोपमाणि स्थितिस्तेषां परिपूर्णा षट् हस्ता भवधारणीया । उक्तं च ''अइरयिगंठिइजेसिं, सणंकुमारे तहेव माहिंदे । रयणीछक्कं तेसिं, भागचउक्काहियं देहो ।१। तत्तो अयरे अयरे, भागो एक्कंकओ पडइ जाव । सागरसत्तठिईणं, रयणीछक्कं तणुपमाणं ॥२॥'' इह जघन्या भवधारणीया सर्व-त्राप्यङ्गुलसंख्येयभागप्रमाणा । सा च प्रतीतेति लाघवार्थोत्कृ-ष्टां प्रतिपादयति । (बंभलोगलंतगेसु पंच रयणीओ इति) इह यद्यपि ब्रह्मलोकस्योपरि लान्तको न समश्रेण्या तथापीह शरीर-प्रमाणाचिन्तायामिदं द्विकं विवक्ष्यते द्विकपर्यन्त एव हस्तस्य त्रुटिततया लभ्यमानत्वात् एवमुत्तरत्रापि द्विकचतुष्कादिपरिग्रहे कारणं वाच्यम् । तत्र ब्रह्मलोकलान्तकयोरुत्कर्षतया भव-धारणीयाः पञ्च रत्नयः एतच्च लान्तके चतुर्दशसागरोपस्थितिकान् देवानधिकृत्य प्रतिपादितमवसेयं शेषसागरोपमस्थितिष्वेवं येषां ब्रह्मलोके सप्तसागरोपमाणि स्थितिस्तेषां षट् रत्नयः परिपूर्णा भवधारणीया । येषामष्टौ सागरोपमाणि तेषां पञ्च हस्ता षट् हस्तस्यैकादशभागाः । येषां नवसागरोपमाणि तेषां पञ्च हस्ताः पञ्च हस्तस्यैकादशभागाः । येषां दशसागरोपमाणि तेषां पञ्च हस्ताश्चत्वारश्चैकादशभागा हस्तस्य । लान्तकेऽपि येषां दशसागरोपमाणि स्थितिस्तेषामेतावती भवेद् धारणीयोत्कर्षतो येषामेकादशसागरोपमाणि लान्तकस्थितिस्तेषां पञ्च हस्तास्त्रयो हस्तस्येकादशभागाः । येषां द्वादशसागरोपमाणि तेषां पञ्च हस्ता द्वौ च हस्तस्यैकादशभागौ । येषां त्रयोदशसागरोपमाणि तेषां पञ्च हस्ता एको हस्तस्यैकादशभागः । येषां चतुर्दशसागरोपमाणि स्थितिस्तेषां परिपूर्णा पञ्च हस्ता भवधारणीया (महा-सुक्कसहस्सारेसु चत्तारि रयणीओ त्ति) महाशुक्रसहस्रारयोश्चतस्रो रत्नयः उत्कर्षतो भवधारणीया । एतच्च सहस्रारगतान् अष्टा-दशसागरोपमस्थितिकान् देवानधिकृत्योक्तं वेदितव्यम् । शेषसागरोपमस्थितिष्वेवम् । येषां महाशुक्रे कल्पे चतु-र्दशसागरोपमाणि स्थितिस्तेषामुत्कर्षतो भवधारणीया परिपूर्णाः पञ्च हस्ताः । येषां पञ्चदशसागरोपमाणि तेषां चत्वारो हस्तास्त्रयश्च हस्तस्यैकादशभागाः । येषां षोडशसागरोषमाणि तेषां चत्वारो हस्ता द्वौ च हस्तस्यैकादशभागौ । येषां सप्तदशसागरोपमाणि तेषां चत्वारो हस्ता एको हस्तस्यैकादशभागः । सहस्रारेऽपि येषां सप्तदशसागरोपमाणि तेषामेतावती भवधारणीया । येषां पुनः सहस्रारे पूरिपूर्णान्यष्टादशसागरोपमाणि स्थितिस्तेषां परि-पूर्णाश्चत्वारो हस्ता भवधारणीया (आणयपामयआरणअच्चुएसु तिन्नि रयणीओ त्ति) आनतप्राणतारणाच्युतेषु तिस्रो रत्नय उत्कृष्टा भवधारणीया एतच्चाच्युते कल्पे द्वाविंशतिसागरोपमस्थितिकान् देवानधिकृत्योक्तं द्रष्टव्यं, शेषसागरोपमस्थितिष्वेवम् । येषामानतेऽपि कल्पपरिपूर्णानि किञ्चित्समधि-कानि वाऽष्टादशसागरोपमाणि स्थितिस्तेषां परिपूर्णाश्चत्वारो हस्ताः उत्कृष्टा भवधारणीया । येषां पुनरेकोनविंशतिसागरोपमाणि तेषां त्रयो हस्तास्त्रयश्च हस्तस्यैकादशभागाः । प्राणतेऽपि कल्पे येषामेकोनविंशतिसागरोपमाणि स्थितिस्तेषामेतावती च भवधारणीया । येषां पुनः प्राणते कल्पे विंशतिसागरोपमाणि स्थितिस्तेषां त्रयो हस्ता द्वौ च हस्तस्यैकादशभागौ । येषामारणेऽपि कल्पे विंशतिसागरोपमाणि स्थितिस्तेषामेतावती भवधारणीया । येषां पुनरारणेऽपि कल्पे एकविंशतिसागरोपमाणि स्थितिस्तेषां त्रयो हस्ता एकस्य हस्तस्यैकादशभागा भवधारणीया । अच्युतेऽपि कल्पे येषामेकविंशतिःसागरोपमाणि स्थितिस्तेषामतावत्येव भवधारणीया येषां पुनरच्युते कल्पे द्वाविंशतिसागरोपमाणि स्थितिस्तेषामुत्कर्षतो भवधारणीया । परिपूर्णास्त्रयो हस्ताः ''गेविज्जकप्पातीतेत्यादि'' भावितम् । नवरम् (उक्कोसेणं दो

रयणीओत्ति) एतन्नवमेग्रैवेयके एकत्रिंशत्सागरोपमस्थितिकान् देवान् प्रतिद्रष्टव्यं। शेषसागरोपमस्थितिष्वेवम्। प्रथमे ग्रैवेयके येषां द्वाविंशतिसागरोपमाणि स्थितिस्तेषां त्रयोहस्ता भवधारणीया। येषां पुनस्तत्रैव त्रयोविंशतिसागरोपमाणि स्थितिस्तेषां द्वौ हस्तौ अष्टौ हस्तस्यैकादशभागाः। द्वितीयेऽपि ग्रैवेयके येषां त्रयोविंशतिसागरोपमाणि स्थितिस्तेषामेतावती भवधाणीया। येषां पुनस्तत्र चतुर्विंशतिसागरोपमाणि स्थितिस्तेषां द्वौ हस्तौ सप्त च हस्तस्यैकादशभागा भवधारणीया। तृतीयेऽपि ग्रैवेयके येषां चतुर्विंशतिसागरोपमाणि स्थितिस्तेषामेतावत्येव भवधारणीया। येषां पुनः पञ्चविंशतिसागरोपमाणि तत्र स्थितिस्तेवां द्वौ हस्तौ षट् हस्तस्यैकादशभागा भवधारणीया। चतुर्थेऽपि ग्रैवेयके येषां पञ्चविंशतिसागरोपमाणि स्थितिस्तेषामेतावती भवधारणीया। येषां पुनस्तत्र षड्विंशतिसागरोपमाणि स्थितिस्तेषां द्वौ हस्तौ पञ्च हस्तस्यैकादशभागाः। पञ्चमेऽपि ग्रैवेयके येषां षड्विंशतिसागरोपमाणि तेषामेतावती। येषां तु तत्र सप्तविंशतिसागरोपमाणि तेषां द्वौ हस्तौ चत्वारो हस्तस्यैकादशभागाः भवधारणीया। षष्ठेऽपि ग्रैवेयके येषां सप्तविंशतिसागरोपमाणि तेषामेतावत्येव भवधारणीया। येषां पुनस्तत्राष्टाविंशतिसागरोपमाणि स्थितिस्तेषां द्वौ हस्तौ त्रयो हस्तस्यैकादशभागाः भवधारणीया। सप्तमेऽपि ग्रैवेयके येषामष्टाविंशतिसागरोपमाणि तेषामेतावती। येषां पुनस्तत्र एकोनत्रिंशत्सागरापेमाणि तेषां भवधारणीया। द्वौ हस्तौ द्वौ च हस्तस्यैकादशभागौ। अष्टमेऽपि ग्रैवेयके येषां स्थितिरेकोनत्रिंशत्सागरोपमाणि तेषामेतावत्प्रमाणा येषां पुनस्तत्र त्रिंशत्सागरोपमाणि स्थितिस्तेषां द्वौ हस्तौ एकस्य हस्तस्यैकादश भागाभवधारणीया। नवमेऽपि ग्रैवेयके येषां स्थितिरित्रशत्सागरोपमाणि तेषां भवधारीणीया एतावत्प्रमाणा। येषां पुनरेकत्रिंशत्सागरोपमाणि तत्र स्थितिस्तेषां परिपूर्णौ द्वौ हस्तौ भवधारणीया (एवं अणुत्तरे इत्यादि) एवं ग्रैवेयकोक्तेन प्रकारेण अनुत्तरोपपातिकदेवानामपि सूत्रं वक्तव्यं नवरमुत्कर्षतो भवधारणीया। एका रत्निर्हस्तोवक्तव्यः। एतच्च त्रयास्त्रिंशत्सागरोपमस्थितिकान् प्रति ज्ञातव्यं येषां पुनर्विजयादिषु चतुर्षु विमानेषु एकत्रिंशत्सागरोपमाणि स्थितिस्तेषां परिपूर्णौ द्वौ हस्तौ भवधारणीया। येषां पुनस्तत्रैव मध्यमा द्वात्रिंशत्सागरोपमाणि स्थितिस्तेषां एको हस्त एकस्य हस्तस्यैकादश भागो भवधारणीया। येषां पुनस्तत्र सर्वार्थसिद्धे महाविमाने त्रयास्त्रिंशत्सागरोपमाणि तेषामेको हस्तो भवधारणीया। जघन्या सर्वत्राङ्गुलासंख्येयभागमात्रा। तदेवमुक्तानि वैक्रियशरीरस्यापि विधिसंस्थानावगाहनाप्रमाणानि॥

(११) आहारकशरीरस्यावगाहना मानं यथा।

आहारगसरीरस्स णं भंते! के महालिया सरीरोगाहना पण्णत्ता? गोयमा! जहण्णेणं देसूणा रयणी उक्कोसेणं पडिपुणा रयणी॥

(जहन्नेणं देसूणा रयणीइति) आहारकशरीरस्य जघन्यतोऽवगाहना देशोना किञ्चिदूनारत्निर्हस्तः तथाविधप्रयत्नभावप्रारम्भसमयेऽपि तस्या एतावत्या एवाभावात्। तदेवमुक्तान्याहारक-शरीरस्य विधिसंस्थावगाहनामानानि॥

(१२) तैजसशरीरस्यावगाहनामानमाह॥

जीवस्स णं भंते! मारणंतियसमुग्घाएणं समोहयस्स तेयासरीरस्स के महालिया सरीरोगाहना पण्णत्ता? सरीरप्पमाणमित्ता विक्खंभबाहल्लेणं। आयामेणं जहन्नेणं अंगुलस्य असंखेज्जइभागो उक्कोसेणं लोगंताओ लोगंते। एगिंदियस्स णं भंते। मारणंतियसमुग्घाएणं समोहयस्स तेया सरीरस्स के महालिया सरीरोगाहणा पण्णत्ता? गोयमा! एवं चेव जाव पुढवी आउ तेउ वाउ वणस्सइ-काइयस्स। वेइंदियस्स णं भंते! मारणंतियसमुग्घाएणं समोहयस्स तेया सरीरस्स के महालिया सरीरोगाहणा पण्णत्ता? गोयमा! सरीरप्पमाणमित्ता विक्खंभबाहल्लेणं। आयामेणं जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं। उक्कोसेणं तिरियलोगाओ लोगंतो एवं जांव चउरिंदियस्स॥

जीवस्स नैरयिकत्वादिविशेषणाविवक्षायां सामान्यतः संसारिणो, णमिति वाक्यालङ्कारे। मारणान्तिकसमुद्घातेन वक्ष्यमाणलक्षणेन समवहतस्य सत्ता (के महालिया इति) किं महती किं प्रमाण-महत्त्वा शरीरावगाहना। शरीरमौदारिकादिकमप्यस्ति त आह। तेजसः शरीरस्य प्रज्ञप्ता? भगवानाह। गौतम! शरीरप्रमाणमात्रा विष्कम्भबाहुल्येन। विष्कम्भश्च बाहुल्यं च विष्कम्भबाहुल्यं समाहारो द्वन्द्वस्तेन विष्कम्भेन बाहुल्येन चेत्यर्थः। तत्र विष्कम्भ उदरादिविस्तारः बाहुल्यमुरः पृष्ठस्थूलता आयामो दैर्ध्यम। तत्र आयामेन जघन्यतोऽङ्गुलस्यासंख्येयभागः। अङ्गुलासंख्येयभागप्रमाणा। इयं च एकेन्द्रियस्यैकेन्द्रियेत्यासन्नमुत्पाद्यमानस्य द्रष्टव्या। उत्कर्षतो लोकान्ताल्लोकान्तः। किमुक्तं भवति। अधोलोकान्तादारभ्य यावदूर्ध्वलोकान्तः ऊर्ध्वलोकान्तादारभ्य यावदधोलोकान्तस्तावत्प्रमाणा इति। इयं च सूक्ष्मस्य बादरस्य एकेन्द्रियस्य वेदितव्या न शेषस्यासम्भवात्। एकेन्द्रिया हि सूक्ष्मा बादराश्च यथायोगं समस्तेऽपि लोके वर्तन्ते न शेषास्ततो यदा सूक्ष्मो बादरो वा एकेन्द्रियोऽधोलोके वर्तमानः उर्ध्वलोकान्ते सूक्ष्मतया बादरतया वोत्पत्तुमिच्छन्ति उर्ध्वलोकान्ते वा वर्तमानः सूक्ष्मो बादरो वा अधोलोकान्ते सूक्ष्मतया बादरतया चोत्पत्स्यते तदा तस्य मारणान्तिकसमुद्घातेन समवहतस्य यथोक्तप्रमाणा तैजसशरीरावगाहना भवति। एतेन पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिसूत्राण्यपि भावितानि द्रष्टव्यानि। तथा हिसूक्ष्मपृथिवीकायिकेऽधोलोके उर्ध्वलोके वा वर्तमानो यदा सूक्ष्मपृथिवीकायिकादितया बादरवायुकायिकतया वा उर्ध्वलोकेऽधोलोके वा समुत्पत्तुमिच्छति तदा भवति तस्य मारणान्तिकसमुद्घातेन समवहतस्योत्कर्षतो लोकन्तात् लोकान्तं यावत्तैजसशरीरावगाहना। एवमप्कायिकादिष्वपि भाव्यम्। द्वीन्द्रियसूत्रे आयामेन जघन्यतोऽङ्गुलासंख्येयभागप्रमार्णो, यदा अपर्याप्तो द्वीन्द्रियोऽङ्गुलासंख्येयभागप्रमाणौदारिकशरीरः स्वप्रत्यासन्नप्रदेशे एकेन्द्रियादितयोत्पद्यते तदाऽवसेया। अथवा यस्मिन् शरीर स्थितः सन् मारणान्तिकसमुद्घातं करोति तस्मात् शरीरात् मारणान्तिकसमुद्घातवशाद्बहिर्विनिर्गततैजसशरीरस्यायामविष्कम्भविस्तारैरवगाहना चिन्त्यते न तच्छरीरसहितस्य, अन्यथा भवनपत्यादेर्यज्जघन्यतोऽङ्गुलासंख्येयभागत्वं वक्ष्यते तद्विरुध्येत। भवनपत्यादिशरीराणां सप्तादिहस्तप्रमाणत्वात्। ततो महाकायोऽपि द्वीन्द्रियो यदा स्वप्रत्यासन्ने देशे एकेन्द्रियतयोत्पद्यते तदाऽप्यङ्गुलासंख्येयभागप्रमाणा वेदितव्या। उत्कर्षतस्तिर्यग्लोकाल्लोकान्तः।

किमुक्तं भवति। तिर्यग्लोकादधोलोकान्त ऊर्ध्वलोकान्तो वा यावता भवति तावत्प्रमाणा इत्यर्थः। कथमेतावत्प्रमाणेति चेदुच्यते इह द्वीन्द्रिया एकेन्द्रियेष्वप्युत्पद्यन्ते। एकेन्द्रियाश्च सकललोकव्यापिनस्ततो यदा तिर्यग्लोकस्थितो द्वीन्द्रियाः ऊर्ध्वलोकान्ते अधोलोकान्ते वा एकेन्द्रियतया समुत्पद्यते तदा भवति तस्य मारणान्तिकसमुद्घात समवहतस्य यथोक्त प्रमाणा तैजसशरीरावगाहना। तिर्यग्लोकग्रहणं च प्रायस्तेषां तिर्यग्लोकस्वस्थानमिति कृतमन्यथा अधोलोकैकदेशेऽप्यधोलौकिकग्रामादौ ऊर्ध्वलोकैकदेशेऽपि पण्डकवनादौ द्वीन्द्रियाः सम्भवन्ति इति तदपेक्षयाऽतिरिक्तापि तैजसशरीरावगाहना द्रष्टव्या। एवं त्रिचतुरिन्द्रियसूत्रे अपि भावनीये॥

नेरइयस्स णं भंते ! मारणंतियसमुग्घाएणं समोहयस्स तेयासरीरस्स के महालिया सरीरोगाहणा पण्णत्ता ? गोयमा ! सरीरप्पमाणमेत्ता विक्खंभबाहल्लेणं आयामेणं जहन्नेणं सातिरेगं जोयणसहस्सं उक्कोसेणं अहे जाव अहे सत्तमा पुढवी तिरियं जाव सयंभुरमणे समुद्दे उड्ढं जाव पंडगवणे पुक्खरयणीओ पंचिंदियतिरिक्खजोणियस्स णं भंते ! मारणंतियसमुग्घाएणं समोहयस्स तेयासरीरस्स के महालिया सरीरोगाहणा पण्णत्ता ? गोयमा ! जहा बेइंदियसरीरस्स॥

नैरयिकसूत्रे आयामेन जघन्यतो यत्सातिरेकं योजनसहस्रमुक्तं तदेवं परिभावनीयम्। इह वलयामुखादयश्चत्वारः पातालकलशा लक्षयोजनावगाहयोजनसहस्रबाहल्यठिक्करिकास्तेषामधस्त्रिभागो वायुपरिपूर्ण उपरितनत्रिभाग उदकपरिपूर्णो मध्यस्त्रिभागो वायूदकयोरुत्सरणापसरणधर्मस्तत्र यदा कश्चित्सौधर्मान्तकादिषु नरकेन्द्रकेषु वर्तमानो नैरयिकपातालकलशप्रत्यासन्नवर्तीच स्वायुः क्षयादुद्वृत्यापातालकलशकुड्यं योजनसहस्रबाहुल्यं भित्वा पातालकलशमध्ये द्वितीये तृतीये वा त्रिभागे मत्स्यतयोत्पद्यते तदा भवति सातिरेकयोजनसहस्रमाना नैरयिकस्य मारणान्तिकसमुद्घातसमवहतस्य जघन्या तैजसशरीरावगाहना। उत्कर्षतो यावदधःसप्तमपृथ्वीतिर्यक् यावत्स्वयंभूरमणपर्यन्तमूर्ध्वं यावत्पण्डकवने पुष्करिण्यस्तावद् द्रष्टव्या। किमुक्तं भवत्यधः सप्तमपृथिव्या आरभ्य तिर्यक् यावत्स्वयंभूरम णपर्यन्त ऊर्ध्वं यावत्पण्डकवने पुष्करिण्यस्तावत्प्रमाणा एतावती च तदा लभ्यते यदाऽधः सप्तमपृथिवीनारकः स्वयंभूरमणसमुद्रपर्यन्तं मत्स्यतयोत्पद्यते पण्डकवने पुष्करिणीषु चेति तिर्यक्पञ्चेन्द्रियस्योत्कर्षतस्तिर्यग्लोकान्तोऽत्रापि भावना द्वीन्द्रियवत्कर्तव्या तिर्यक्पञ्चेन्द्रियेषूत्पादसम्भवात्।

मणुस्सस्स णं भंते! मारणंतियसमुग्घाएणंसमोहयस्स तेयासरीरस्स केमहालिया सरीरोगाहना पण्णत्ता ? गोयमा! समयखित्ताओ लोगंतो। असुरकुमारस्सणं भंते ! मारणंतियसमुग्घाएणं समोहयस्स तेयासरीरस्स के महालिया सरीरोगाहणा पण्णत्ता ? गोयमा ! सरीरप्पमाणमित्ता विक्खंभबाहल्लेणं आयामेणं जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं अहे जाव तच्चाए पुढवीहेठिल्ले चरिमंते तिरियं जाव सयंभूरमणसमुद्दस्स बाहिरिल्ले वेइयंते उड्ढं जाव इसीपभारा पुढवी। एवं जाव थणियकुमारो वाणमंतरजोइसियसोहम्मीसाणगा य एवं चेव। सणंकुमारदेवस्स णं भंते ! मारणंतियसमुग्घाएणं समोहयस्स तेयासरीरस्स के महालिया सरीरोगाहणा पण्णत्ता ? गोयमा ! सरीरप्पमाणमित्ता विक्खंभबाहल्लेणं। आयामेणं जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं। उक्कोसेणं अहे जाव महापातालाणं दोच्चे तिभागे तिरियं जाव सयंभूरमणसमुद्दे। उड्ढं जाव अच्चुओ कप्पो। एवं जाव सहस्सारदेवस्स। आणयदेवस्स णं भंते। मारणंतिय-समुग्घाएणं समोहयस्स तेयासरीरस्स के महालिया सरीरोगाहणा पण्णत्ता ? गोयमा ! सरीरप्पमाणमित्ता विक्खंभबाहल्लेणं। आयामेणं जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं। उक्कोसेणं जाव अहो लोइयगामा। तिरियं जाव मणुस्सखेत्ते उड्ढं जाव अच्चुओ कप्पो। एवं जाव आरणदेवस्स अच्चुयदेवस्स वि एवं चेव नवरं उड्ढं जाव सगाइं विमाणइं। गेविज्जगदेवस्स णं भंते ! मारणंतियसमुग्घाएणं समोहयस्स तेयासरीरस्स के महालिया सरीरोगाहणा पण्णत्ता ? गोयमा ! सरीरप्पमाणमेत्ता विक्खंभेणं बाहल्लेणं आयामेणं जहन्नेणं विज्जाहरसेढीओ उक्कोसेणं जाव अहो लोइयगामा। तिरियं जाव मणुस्सखेत्ते। ०जाव सगाइं विमाणाइं अणुत्तरोववाइयस्स वि एवं चेव॥

मनुष्यस्योत्कर्षतः समयक्षेत्रात् समयप्रधानं क्षेत्रं मयूरव्यंसकादित्वान्मध्यमपदलोपी समासः। यस्मिन अर्धतृतीये द्वीपप्रमाणे सूर्यादिक्रियाव्यङ्ग्यः समयो नाम कालद्रव्यमस्ति तत्स मयक्षेत्रं मानुषक्षेत्रमिति भावः तस्माद्यावदध ऊर्ध्वं वा लोकान्तस्तावत्प्रमाणा मनुष्यस्याष्येकेन्द्रियेषत्पादसंभवात्। समयक्षेत्रग्रहणं समयक्षेत्रादन्यत्र मनुष्यजन्मनः संहरणस्य वा संभवेनातिरिक्ताया अवगाहनाया असंभवात् असुरकुमारादिस्तनितकुमार पर्यवसाना भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कसौधर्मेशानदेवानां जघन्यतोऽङ्गुलासंख्येयभागः कथमिति चेदुच्यते। एते ह्येकेन्द्रियेषूत्पद्यन्ते ततो यदा ते स्वाभरणेष्वङ्गादिषु कुण्डलादिषु वा ये मणयः पद्मरागादयः तेषु गृधा मूर्च्छितास्तदध्यवसायिनस्तेष्वेव शरीरस्थेष्वाभरणादिषु पृथिवीकायिकत्वेनोत्पद्यते तदा भवति जघन्यतोऽङ्गुलासंख्येयभागप्रमाणा तैजसशरीरावगाहना। अन्ये त्वन्यथाऽव भावनिकां कुर्वन्ति सा च नातिश्लिष्टेति न लिखिता न च दूषिता कुमार्ग न हि तित्यक्षुः पुनस्तमनुधावतीति न्यायानुसरणात्। उत्कर्षतो यावदधस्तृतीयस्याः पृथिव्या अधस्तनश्चरमान्तस्तिर्यक यावत्स्वयंभूरमणसमुद्रस्य बाह्यो वेदिकान्तः ऊर्ध्वं यावदीषत्प्राग्भारा पृथिवी तावद्द्रष्टव्या कथमिति चेतदुच्यते। यदा भवनपत्यादिको देवस्तृतीयस्थाः पृथिव्या अधस्तनं चरमान्तं यावत्कुतश्चित् प्रयोजनवशात् गति भवति तत्र च गतः सन् कथमपि स्वायुःक्षयान्मृत्वा तिर्यक्स्वयंभूरमण

समुद्रबाह्यवेदिकान्ते यदि वा ईषत्प्राग्भाराभिधपृथिवीपर्यन्तं पृथिवीकायिकतयोत्पद्यते तदा भवत्युत्कर्षतो यथोक्ता, तथा तैजसशरीरावगाहना सनत्कुमारदेवस्यापि जघन्यतोऽङ्गुलासंख्येयभागप्रमाणा तैजसशरीरावगाहना। कथमिति चेदुच्यते इह सनत्कुमारादय एकेन्द्रियेषु विकलेन्द्रियेषु वा नोत्पद्यन्ते तथा भवस्वाभाव्यात् किन्तु तिर्यक् पञ्चेन्द्रियेषु मनुष्येषु वा ततो यदा मन्दरादिषु पुष्करिण्यादिषु जलावगाहं कुर्वन्तः स्वभवायुः क्षयात्तत्रैव प्रत्यासन्ने देशे मत्स्यतयोत्पद्यन्ते तदाऽङ्गुलासंख्येयभागप्रमाणा द्रष्टव्या। अथवा पूर्वसम्बन्धिनीं मनुष्यस्त्रियं मनुष्येणोपभुक्तामुपलभ्य गाढानुरागादिहागत्य परिष्वजते परिष्वज्य च तदवाच्यप्रदेशे स्वावाच्यं प्रक्षिप्य कालं कृत्वा तस्या एव गर्भे पुरुषबीजे समुत्पद्यते तदा लभ्यते ततोऽधः पातालकलशानां लक्षयोजनप्रमाणावगाहनां द्वितीयत्रिभागं यावत्तिर्यक् यावत्स्वयंभूरमणपर्यन्तमूर्ध्वं यावदच्युतकल्पस्तावदवगन्तव्या। कथमिति चेदुच्यते इह सनत्कुमारादिदेवानामन्यदैव निश्रया अच्युतकल्पं यावद्गमने भवति न च तत्र वाप्यादिषु मत्स्यादयः सन्ति तत इह तिर्यग्मनुष्येषूत्पत्तव्यम्। तत्र यदा सनत्कुमारदेवोऽन्यदैव निश्रया अच्युतकल्पं गतो भवति तत्र च गतः सन् स्वायुःक्षयात्कालं कृत्वा तिर्यक् स्वयंभूरमणपर्यन्ते यदि वाऽधःपातालकलशानां द्वितीये विभागे वायूदकयोरुत्सरणापसरणभाविनि मत्स्यादितयोत्पद्यते तदा भवति तस्य तिर्यगधो वा यथोक्तक्रमेण तैजसशरीरावगाहनेति (एवं जाव सहस्सारदेव-स्सत्ति) एवं सनत्कुमारदेवगतेन प्रकारेण जघन्यत उत्कर्षतश्च तैजसशरीरावगाहना तावद्वाच्या यावत्सहस्रारदेवभावनाऽपि च सर्वत्रापि च समाना आनतदेवस्यापि जघन्यतोऽङ्गुलासंख्येयभागप्रमाणा तैजसशरीरावगाहना नन्वानतादयो देवा मनुष्येष्वेवोत्पद्यन्ते। मनुष्याश्च मनुष्यक्षेत्र एवेति कथमङ्गुलासंख्येयभागप्रमाण उच्यते। इह पूर्वसम्बन्धिनीं मनुष्यस्त्रियमन्येन मनुष्येणोपभुक्तामानतदेवः कश्चनाप्यवधिज्ञानत उपलभ्यासन्नमृत्युतया विपरीतस्वभावत्वात् सत्वचरितवैचित्र्यात् कर्मगतेरचिन्त्यत्वात् कामवृत्तेर्मलिनत्वाच्च। उक्तं च। "सत्वानां चरितं चित्रं, विचित्रा कर्मणां गतिः। मलिनत्वं च कामानां, वृत्तिः पर्यन्तदारुणा" इति। गाढानुरागादिहागत्य कुतोऽपि गूढान्तां परिष्वज्य तदवाच्यप्रदेशे स्वावाच्यं प्रक्षिप्यातीव मूर्च्छितं स्वायुःक्षयात्कालं कृत्वा यदा तस्या एव गर्भे मनुष्यबीजे मनुष्यत्वेनोत्पद्यते। मनुष्यबीजं च जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तमुत्कर्षतो द्वादश मुहूर्तान् यावदवतिष्ठति। उक्तं च। "मणुस्सवीएणं भंते! कालाओ केव चिरं होइ? गोयमा! जहन्नेणं अंतो मुहुत्तं उक्कोसेणं वारस मुहुत्ता इति"। ततो द्वादशमुहूर्ताभ्यन्तरे उपभुक्तां परिष्वज्य मृतस्य तत्रैवोत्पत्तिर्मनुष्यत्वेन द्रष्टव्या। उत्कर्षतोऽधो यावदधोलौकिका ग्रामास्तिर्यग् यावन्मनुष्यक्षेत्रमूर्ध्वं यावदच्युतः कल्पस्तावदवसेया। कथमिति चेदुच्यते। इह यदानतदेवः कस्याप्यन्यस्य निश्रया अच्युतकल्पं गतो भवति स च तत्र गतः सन् कालं कृत्वाऽधो लौकिकग्रामेषु यदि वा मनुष्यक्षेत्रपर्यन्तं मनुष्यत्वेनोत्पद्यते तदा लभ्यते। एवं प्राणतारणाच्युतकल्पदेवानामपि भावनीयं तथा चाह।" "एवं जाव आरणदेवस्स अच्चुयदेवस्स एवं चेव नवरं उड्ढं जाव सयाइं विमाणाइं" इति अच्युतदेवस्यापि जघन्यत उत्कर्षतश्च तैजसशरीरावगाहना। एवमेव एवं प्रमाणैव परं सूत्रपाठे। "उड्ढं जाव सयाइं विमाणाइं" इति वक्तव्यम्। न तु "उड्ढं जाव अच्चुओ कप्पो" इति। अच्युतदेवो हि यदा चिन्त्यते तदा कथमूर्ध्वं यावदच्युतकल्प इति घटते तस्य तस्य विद्यमानत्वात् केवलमच्युतदेवोऽपि कदाचिदूर्ध्वं स्वविमानपर्यन्तं यावद्गच्छति तत्र च गतः सन् कालमपि करोति तत उक्तम् "उड्ढं जाव स याइं विमाणाइं" इति। ग्रैवेयकानुत्तरसुरा भगवद्वन्दनादिकमपि तत्रस्था एव कुर्वन्ति तत इहागमनासंभवादङ्गुलासंख्येयभागप्रमाणना न लभ्यते। किन्तु यदा वैताढ्यगतासु विद्याधरश्रेणिषूत्पद्यन्ते तदा स्वस्थानादारभ्याधो यावद्विद्याधरश्रेणयस्तावत्प्रमाणा जघन्या तैजसशरीरावगाहना। अतोऽपि मध्ये जघन्यतराया असंभवात्। उत्कृष्टा यावदधोलौकिका ग्रामास्ततोऽप्यध उत्पादासंभवात्। तिर्यग् यावन्मनुष्यक्षेत्रपर्यन्तस्ततः परं तिर्यगप्युत्पादाभावात्। यद्यपि हि विद्याधरा विद्याधर्यश्च नन्दीश्वरं यावद्गच्छन्ति अर्वाक् संभोगमपि कुर्वन्ति तथापि मनुष्यक्षेत्रात्परतो गर्भे मनुष्येषु नोत्पद्यन्ते ततस्तिर्यग् यावन्मनुष्यक्षेत्रमित्युक्तम्। प्रज्ञा २१ पद। स्था ०। (सिद्धानामवगाहनासिद्धशब्दे वक्ष्यामिउत्पलजीवानामवगाहनाऽत्रैवोक्तापर्याप्तानां संज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकस्य नैरयिकेषूपपन्नस्यावगाहना उववायशब्दे)

(१३) अथ जीवप्रदेशपरिमाणनिरुपणपूर्वकं निगोदादीनामवगाहनामानमभिधित्सुराह।

लोगस्स य जीवस्स य, होंति पएसा असंखया तुल्ला।
अंगुलअसंखभागो, निगोयजीयगोलगोगाहो ॥१३॥

लोकजीवयोः प्रत्येकमसंख्येयाः प्रदेशा भवन्ति ते च परस्परेण तुल्या एव। एषां च संकोचविशेषात्। अङ्गुलासंख्येयभागो निगोदस्य तज्जीवस्य गोलकस्य चावगाह इति। निगोदादिसमावगाहनतामेव समर्थयन्नाह।

जम्मि, जीओ तमेव, निगोयतो तम्मि चेव गोलो वि।
निप्पज्जइ जं खेत्ते, तो ते तुल्लावगाहणया ॥१४॥

यस्मिन् क्षेत्रे जीवोऽवगाहते तस्मिन्नेव निगोदो निगोदव्याप्त्या जीवस्यावस्थानात्। (तोत्ति) ततस्तदनन्तरं तस्मिन्नेव गोलोऽपि निष्पद्यते विवक्षितनिगोदावगाहनातिरिक्तायाः शेषनिगोदावगाहनाया गोलकान्तरप्रवेशेन निगोदमात्रत्वाद् गोलकावगाहनाया इति। यद्यस्मात्क्षेत्रे आकाशे ततस्ते जीवनिगोदगोलास्तुल्यावगाहनकाः समावगाहनका इति। अथ जीवाद्यवगाहनासमता सामर्थ्येन यदेकत्र प्रदेशे जीवप्रदेशमानं भवति तद्विभणिषुस्तत्प्रस्थापनार्थं प्रश्नं कारयन्नाह।

उक्कोसपयपएसे, किमेगजीवप्पएसरासिस्स।
होज्जेगनिगोयस्स व, गोलस्स व किं समोगाढं ॥१५॥

तत्र जीवमाश्रित्योत्तरम्।

जीवस्स लोगमेत्तस्स, सुहुमओगाहणावगाढस्स।
एक्केक्कम्मि पएसे, होंति पएसा असंखेज्जा ॥१६॥

ते च किल कल्पनया कोटिशतसंख्यस्य जीवप्रदेशराशेः प्रदेशदशसहस्रे स्वरुपजीवावगाहनया भागे हृते लक्षमाना भवन्तीति। अथ निगोदमाश्रित्याह।

लोगस्स हिए भागे, निगोयओगाहणाइ जं लद्धं।
उक्कोसपए तिगयं, एत्तियमेक्केक्कजीवाओ ॥१७॥

लोकस्य कल्पनया प्रदेशकोटिशतमानस्य हृते भागे निगोदावगहनया कल्पनातः प्रदेशदशसहस्रिमानया यल्लब्धं तश्च

किल लक्षपरिमाणमुत्कृष्टपदेऽतिगतमवगाढमेतावदेकैकजीवानन-न्तजीवात्मकनिगोदसंबन्धिनः एकैकजीवसत्कमित्यर्थोऽनेन निगोदस-त्कमुत्कृष्टपदे यदवगाढं तद्दर्शितम् । अथ गोलकसत्कं यत्तत्रावगाढं तद्दर्शयति।

एवं दव्वट्ठाओ, सव्वेसिं एक्कगोलजीवाणं ।
उक्कोसपयमइगया, हों ति पएसा असंखगुणा ॥१८॥

यथा निगोदजीवेभ्योऽसंख्येयगुणास्तत्प्रदेशा उत्कृष्टपदेऽतिगता एवं द्रव्यार्थात् द्रव्यार्थतया न तु प्रदेशार्थतया (सव्वेसिंति) सर्वेभ्यः । (एक्कगोलजीवाणंति) एकगोलगतजीवद्रव्येभ्यः सकाशात् उत्कृष्टपद-मतिगता भवन्ति । प्रदेशा असंख्यातगुणाः । इह किल अनन्तजीवोऽपि निगोदः कल्पनया लक्षजीवः । गोलकश्चासंख्यातनिगोदोऽपि कल्पनया लक्षनिगोदस्ततश्च लक्षस्य लक्षगुणने कोटिसहस्रसंख्याकल्पनया गोलके जीवा भवन्ति । तत्प्रदेशानां च लक्षं लक्षमुत्कृष्टपदेऽतिगतमतश्चैक-गोलकजीवेभ्यः सकाशादेकत्र प्रदेशेऽसंख्येयगुणा जीवप्रदेशा भवन्तीत्युक्तम् । अथ तत्र गुणकारणराशेः परिमाणनिर्णयार्थमुच्यते।

तं पुण केवइएणं, गुणियमसंखेज्जयं भवेज्जाहि ।
भण्णइ दव्वट्ठाए, जावइया सव्वयोलत्ति ॥१९॥

तत्पुनरननन्तरोक्तमुत्कृष्टपदातिगतजीवप्रदेशराशेः सम्बन्धि किय-ता किं परिमाणेन संख्येयराशिना गुणितं सत् (असंखेज्जायंति) असंख्येयकसंख्यातगुणनाद्वारा यातं भवेत्स्यादिति। भण्यते अत्रोत्तरम् । द्रव्यार्थतया न तु प्रदेशार्थतया यावन्तः सर्वगोलकाः सकललोकगोल-कास्तावन्त एवेति गम्यं, स चोत्कृष्टदगतैकजीवप्रदेशराशिर्मन्तव्यः । सकलगोलकानां तत्तुल्यत्वादिति ॥

किं कारणमोगाहणतुल्लत्ता जियनिगोयगोलाणं ।
गोला उक्कोसपएक्क जियपएसेहिं तो तुल्ला ॥२०॥

(किं कारणंति) कस्मात्कारणात् यावन्तः सर्वगोलास्तावन्त एवोत्कृष्ट-पदगतैकजीवप्रदेशा इति प्रश्नः । अत्रोत्तरमवगाहना तुल्यत्वात् केषामित्याह। जीवनिगोदगोलानामवगाहनातुल्यत्वं चैषामङ्गुलासंख्येय-भागमात्रावगाहित्वादिति। यस्मादेवं (लोत्ति) तस्माद्गोलाः सकललोक-संबन्धिन उत्कृष्टपदे ये एकस्य जीवस्य प्रदेशास्ते तथा तैरुत्कृष्टपदैकजीव-प्रदशैस्तुल्या भवन्ति। एतस्यैव भावनार्थमुच्यते।

गोलेहिं हिए लोगे, आगच्छइ जं तमेगजीवस्स ।
उक्कोसपयगयपए-सरासितुल्लं भवइ जम्हा ॥२१॥

गोलैर्गोलावगाहनाप्रदेशैः कल्पनया दशसहस्रसंख्यैः हृते विभक्ते हृतविभाग इत्यर्थः । लोकप्रदेशराशौ कल्पनयैककोटिशतप्रमाणे आगच्छति लभ्यते । यत्सर्वगोलकसंख्यानं कल्पनया लक्षमित्यर्थः तदेकजीवस्य संबन्धिना पूर्वोक्तप्रकारतः कल्पनया लक्षप्रमाणै-वोत्कृष्टपद गतप्रदेशराशिना तुल्यं भवति । यस्मात्तस्माद्गोला उत्कृष्टपदैकजीवप्रदेशैस्तुल्या भवन्ति ॥ प्रकृतमेवेति । एवं गोलकानामुत्कृष्टपदगतैकजीवप्रदेशानां च तुल्यत्वं समर्थितम्। पुनस्तदेव प्रकारान्तरेण समर्थयति ॥

अहवा लोगपएसे, एक्केके उवयगोलमेक्केक्कं ।
एवं उक्कोसपए-क्कजियपएसेसु मायत्ति ॥२२॥

अथवा लोकस्यैव प्रदेशे एकैकस्मिन् स्थापय निधेहि । विवक्षित-समत्बबुभुत्सोर्गोलकमेकेकं ततश्च एवमुक्तन्यासस्थापने उत्कृष्ट पदे ये एकजीवप्रदेशास्ते तथा तेषु तत्परिमाणेष्वाकाशप्रदेशेष्वित्यर्थः मान्ति गोला इति गम्यं यावन्त उत्कृष्टपदे एकजीवप्रदेशास्तावन्तो गोलका अपि भवन्तीत्यर्थस्ते च कल्पनया किल लक्षमाना उभयेऽपीति भ०११ श०१० उ०। (टीकोक्ता अपि गाथाः सार्थकत्वात्स्थूलाक्षरैर्व्याख्याताः) प्रज्ञा० (परमाणुपुद्गलादीनामसिधारादिषु पुग्गलशब्देकेवली यस्मिन्नाकाश-प्रदेशेष्ववगाढस्तत्रैव हस्ताद्यवगाह्य स्थातुं शक्त इति केवलिशब्दे) (१४) एकत्रैक एव धर्मास्तिकायादिप्रदेशा अवगाढाः । यथा।

जत्थ णं भंते ! एगे धम्मत्थिकायपदेसे ओगाढे तत्थ केवइया धम्मत्थिकायपदेसा ओगाढा णत्थि एक्को वि, केवइया अहम्म-त्थिकायपदेसा ओगाढा एक्को, केवइया आगासत्थिकायपदेसा एक्को, केवइया जीवत्थिकायपदेसा अणंता । केवइया पोग्गलत्थिकायपदेसा अणंता । केवइया अद्धा समया ? सिय ओगाढा सिय णोओगाढा। जइ ओगाढा अणंता। जत्थ णं भंते ! एगे अहम्मत्थि कायपदेसे ओगाढे तत्थ केवइया धम्मत्थिकाय-पदेसा ओगाढा? एक्को। केवइया अहम्मत्थि कायपदेसा ? णत्थि एक्को वि । सेसं जहा धम्मत्थिकायस्स । जत्थ णं भंते ! एगे आगासत्थिकायपदेसे ओगाढे तत्थ केवइया धम्मत्थिकायपदेसा ओगाढा ? सिय ओगाढा सिय णोओगाढा, जइओगाढा एक्को, एवं अहम्मत्थिकायपदेसा वि । केवइया आगासत्थिकाय० ? णत्थि एक्को वि । केवइया जीवत्थि० ? सिय ओगाढा सिय णो ओगाढा । जइ ओगाढा अणंता, एवं जाव अद्धा समया । जत्थ भंते । एगे जीवत्थिकायपदेसे तत्थ केवइया धम्मत्थिकायपदेसे एक्को, एवं अहम्मत्थिकायपदेसा वि एवं आगासत्थिकायपदेसा वि । केवइया जीवत्थिकाय० ? अणंता सेसं जहा धम्मत्थि-कायस्स । जत्थ णं भंते ! पोग्गलत्थिकायपदेसे ओगाढे तत्थ केवइया धम्मत्थिकायपदेसे ? एवं जहा जीवत्थिकायपदेसे तहेव णिरवसेसं जत्थ णं भंते ! दो पोग्गलत्थिकायपदेसा ओगाढा तत्थ णं केवइया धम्मत्थिकाय० ? सिय एक्को, सिय दोण्णि, एवं अहम्मत्थिकायस्स वि एवं आगासत्थिकायस्स वि सेसं जहा धम्मत्थिकायस्स । जत्थ णं भंते ! तिण्णि पोग्गलत्थिकाय-प्पदेसा ओगाढा तत्थ केवइया धम्मत्थिकायपदेसा ओगाढा ? सिय एक्को सिय दोण्णि सिय तिण्णि एवं अहम्मत्थिकायस्स वि। एवं आगासत्थिकायस्स वि । सेसं जहेव दोण्हं । एवं एक्केक्को वड्ढेयव्वो पएसो आदिल्लेहिं तिण्णि आत्थिकाएहिं सेसेहिं जहेव दोण्हं जाव दसण्हं सिय एक्को, सिय दोण्णि, सिय तिण्णि, जाव सिय दस । संखेज्जाणं सिय एक्को सिय दोण्णि, जाव सिय दस सिय संखेज्जा । असंखेज्जाणं सिय एक्को जाव सिय संखेज्जा सिय असंखेज्जा, जहा असंखेज्जा एवं अणंता वि।

(जत्थ णं भंते ! इत्यादि) यत्र प्रदेशे एको धर्मास्तिकायस्य प्रदेशोऽवगाढस्तत्रान्यः प्रदेशो नास्तीति कृत्वाऽऽह (नत्थि एकोवित्ति) धर्मास्तिकायप्रदेशस्थाने अधर्मास्तिकायस्य प्रदेशस्य विद्यमानत्वादाह (एक्कोत्ति) एवमाकाशास्तिकायस्याप्येक एव जीवास्तिकायपुद्गलास्तिकाययोः पुनरनन्ताः प्रदेशा एकैकस्य धर्मास्तिकायप्रदेशस्य स्थाने सन्ति तैःप्रत्येकमनन्तैर्व्याप्तोऽसावत उक्तम् । (अणंतत्ति) अद्धासमयास्तु मनुष्यलोक एवं सन्ति न परतोऽतो धर्मास्तिकायप्रदेशे तेषामवगाहोऽस्ति नास्ति च । यत्रास्ति तत्रानन्तानां भावना तु प्राग्वदेतदेवाह । अद्धासमयेत्यादि । जत्थ णमित्यादीन्यधर्मास्तिकायसूत्राणि षड् धर्मास्तिकायसूत्राणीव वाच्यानि । आकाशास्तिकायसूत्रेषु (सियओगाढा सियनोओगाढत्ति) लोकालोकरुपत्वादाकाशस्य लोकाकाशेऽवगाढा । अलोकाकाशे तु न तदभावात् जित्थ णं भंते ! दो पोग्गत्थिकावप्पदेसेत्यादिसियएक्कोसियदोण्णित्ति) यदा एक आकाशप्रदेशे द्व्यणुकः स्कन्धोऽवगाढः स्यात्तदा तत्र धर्मास्तिकायप्रदेश एक एव यदा तु द्वयोराकाशप्रदेशयोरसाववगाढः स्यात्तदा तत्र द्वौ धर्मप्रदेशावगाढौ स्यातामित्येवमवगाहनाऽनुसारेणाधर्माकाशास्तिकाययोरपि स्यादेकः स्याद् द्वाविति भावनीयम् (सेसं जहा धम्मत्थिकायस्सत्ति) शेषमित्युक्तापेक्षया जीवास्तिकायपुद्गलास्तिकायाद्धासमयलक्षणत्रयं यथा धर्मास्तिकायप्रदेशवक्तव्यतायामुक्तं तथा पुद्गलप्रदेशद्वयवक्तव्यतायामपि पुद्गलप्रदेशद्वयस्थाने तदीया अनन्ताः प्रदेशा अवगाढा इत्यर्थः । पुञ्जप्रदेशत्रयसूत्रेषु (सिय एक्को इत्यादि) यदा त्रयोऽप्यणव एकत्रावगाढस्तदा तत्रेको धर्मास्तिकायप्रदेशोऽवगाढो यदा तु द्वयोः तदा द्वाववगाढौ। यदा तु त्रिषु तदा त्रय इति । एवमधर्मास्तिकायस्याकाशास्तिकायस्य च वाच्यम (सेसं जहेव दोण्हंति) शेषं जीवपुञ्जलाद्धासमयाश्रितं सूत्रत्रयं यथैव द्वयोः पुद्गलप्रदेशयोरवगाहचिन्तायामधीतं तथैव पुद्गलप्रदेशत्रयचिन्तायामप्यध्येयं पुद्गलप्रदेशत्रयस्थाने अनन्ता जीवप्रदेशा अवगाढा इत्येवमध्येयमित्यर्थः (एवं एकेक्को वड्ढेयव्वो) यथा पुद्गलप्रदेशत्रयावगाहचिन्तायां धर्मास्तिकायादिसूत्रत्रये एकैकः प्रदेशो वृद्धि नीतः एवं पुद्गलप्रदेशचतुष्टयाद्यवगाहचिन्तायामप्येकैकस्तत्र वर्धनीयस्तथा हि "जत्थ णं भंते ! चत्तारि पुग्गलत्थिकायप्पदेसा अवगाढा तत्थ केवइया धम्मत्थिकायप्पएसा ओगाढा। सिय एक्को सिय दोणिण सिय तिण्णि सिय चत्तारि" इत्यादि भावना चास्य प्रागेव (सेसेहिं जहेव दोण्हंति) शेषेषु जीवास्तिकायादिषु त्रिषु सूत्रेषु पुद्गलप्रदेशचतुष्टयचिन्तायां तथा वाच्यं यथा तेष्वेव पुद्गलप्रदेशद्वयावगाहचिन्तायामुक्तं तच्चैवम् "जत्थ णं भंते ! चत्तारि पुग्गलत्थिकायप्पदेसा ओगाढा तत्थ केवइया जीवत्थिकायप्पदेसा ओगाढा अणंतेत्यादि इति जहा असंखेज्जा एवं अणंता वेति" । अस्यायं भावार्थः । "जत्थ णं भंते ! अणंता पोगलत्थिकायप्पएसा ओगाढा तत्थ केवइया धम्मत्थिकायप्पदेसा ओगाढा सिय एक्को सिय दोण्णि जाव सिय असंखेज्जा" । एतावदेवाध्येयं न तु सिय अणंतत्ति । धर्मस्तिकायाधर्मास्तिकायलोकाकाशप्रदेशानामनन्तानाम भावादिति ॥

अथ प्रकारान्तरेणावगाहद्वारमेवाह-

जत्थ णं भंते एगे अद्धासमए ओगाढे तत्थ केवइया धम्मत्थिकायप्पदेसा एक्को । केवइया अधम्मत्थिकायप्पदेसा एक्को केवइया आगासत्थि० एक्को केवइया जीवत्थकायप्पदेसा अणंता एवं जाव अद्धा समया । जत्थ णं भंते ! धम्म-त्थिकाये ओगाढे तत्थ केइया धम्मत्थिकायपदेसा ओगाढा णत्थि एक्को वि केवइया अहम्मत्थिकायप्पदेसा असंखेज्जा केवइया जीत्थिकाय० अणंता एवं जाव अद्धा समया । जत्थ णं भंते ! अहम्मत्थिकाए ओगाढे तत्थ केवइया धम्मत्थिकायप्पदेसा असंखेज्जा । केवइया अहम्मत्थिकायप्पदेसा णत्थि एक्को वि । सेसं जहा धम्मत्थिकायस्स । एवं सव्वे सट्ठाणे णत्थि एक्को वि भाणियव्वं । परट्ठाणे आदिल्ला तिण्णि संखेज्जा भाणियव्वा । पच्छिल्ला तिण्णि अणंता भाणियव्वा। जाव अद्धा समओत्ति । जाव केवइया अद्धा समया ओगाढा। णत्थि एक्को वि । जत्थ णं भंते ! एगे पुढवीकाइए ओगाढे तत्थ णं केवइया पुढवीकाइया ओगाढा असंखेज्जा । केवइया आउकाइया ओगाढा असंखेज्जा । केवइया तेउकाइया ओगाढा असंखेज्जा । केवइया वाउकाइया ओगाढा असंखेज्जा । केवइया वणस्सइकाइया ओगाढा अणंता । जत्थ णं भंते ! एगे आउकाइए ओगाढे तत्थ केवइया पुढवीकाइया असंखेज्जा । केवइया आउकाइया असंखेज्जा । एवं जहेव पुढवीकाइयाणं वत्तव्वं तहेव सव्वे णिरवसेसं भाणियव्वं । जाव वणस्सइकाइयाणं जाव केवइया वणस्सइकाइया ओगाढा अणंता ।

(जत्थ णमित्यादि) धर्मास्तिकायशब्देन समस्ततत्प्रदेशसंग्रहात्प्रदेशान्तराणां वाऽभावात् उच्यते । यत्र धर्मास्तिकायोऽवगाढस्तत्र नास्त्येकोऽपि तत्प्रदेशोऽवगाढः । अधर्मास्तिकायाकाशास्तिकाययोरसंख्येयाः प्रदेशा अवगाढा । असंख्येयप्रदेशत्वाद धर्मास्तिकायलोकाकाशयोः जीवास्तिकायसूत्रे चानन्तास्तत्प्रदेशा अनन्तप्रदेशत्वाज्जीवास्तिकायस्य । पुद्गलास्तिकायसूत्राद्धासूत्रयोरप्येवमेव । तदाह (एवंजाव अद्धासमयत्ति) अथैकस्य पृथिव्या-दिजीवस्य स्थाने कियन्तः पृथिव्यादिजीवा अवगाढा इत्येवमर्थं "जीवमोगाढत्ति" द्वारं प्रतिपादयितुमाह (जत्थ णं भंते ! एगे पुढविकाइए इत्यादि) एकपृथिवीकायिकावगाहे असंख्येयाः प्रत्येकं पृथिवीकायिकादयश्चत्वारः सूक्ष्मा अवगाढाः। यदाह । "जत्थ एगो तत्थ नियमा असंखेज्जत्ति" वनस्पतयस्त्वनन्ता इति । भ०१३ श०४ उ०।

(१५) (धर्मास्तिकायादेरवगाढाऽनवगाहत्वचिन्ता कृतयुगादिविशेषणेन जुम्मशब्दे) अवगाहभावे युच् । अवस्थाने, विशे० । अवग्रहणपरिच्छेदे, । स च परिच्छेदोऽपायादिभेदादनेकविधः । प्रज्ञा० १५ पद० ।

ओगाहणानाम-न०(अवगाहनानामन्) अवगाहते यस्यां जीवः साऽवगाहना शरीरमौदारिकादि तस्या नाम । औदारिकादिशरीरनामकर्मणि, भ०६ श०८ उ० । अवगाहना शरीरमौदारिकादि पञ्चविधं तत्करणं कर्माप्यवगाहना तद्रुपं नामकर्मावगाहनानाम । औदारिकादिशरीरनामकर्मणि, स० ॥

अवगाहनानाम-पुं० अवगाहमारूपो नाम परिणामः । अव गाहनात्मके परिणामे, भ०६ श०८ उ० ।

ओगाहणाणामनिहत्ताउय-न०(अवगाहनानामनिधत्तायुष्) अवगाहनानाम्ना सह यन्निधत्तमायुस्तदवगाहनानामनिधत्तायुः। आयुर्बन्धभेदे, भ०६ श०८ उ०। स्था०। स०। प्रज्ञा०।

ओगाहणारुइ- पुं स्त्री०(अवगाहनारुचि) अवगाढरुच्यपरनामके धर्मध्यानस्य चतुर्थे लक्षणे, "ओगाहणारुईण य पवादभंगगुरुविलं सुत्तमत्थतो सारुणसंवेगमावन्नं सद्धो झायति"। आ० च०४ अ०॥

ओगाहित्ता-अवगाह्य- अव्य० आक्रम्येत्यर्थे, भ०५ श०४ उ०।

ओगाहिमय-अवगाहिमक-न० अवगाहेन स्नेहवोलनेन निर्वृत्तमवगाहिमं-"भावादिम" इतीमः। ध०२ अधि०। तदेवावगाहिमकम्पक्वान्ने, पञ्चा०५ विव०। प्रव०। बृ०। अस्य विकृतित्वविचारः यत्तापिकायां घृतादिपूर्णायां चलाचलं खाद्यकादि पच्यते तस्यामेव तापिकायां तेनैव घृतेन द्वितीयं तृतीयं च खाद्यकादिवि-कृतिः ततः परं पक्वान्नानि अयोगवाहिनां निर्विकृतिप्रत्याख्या नेऽपि कल्पन्ते। अथैकेनैव पूपकेन तापिका पुर्यते तदा द्वितीयं पक्वान्नं निर्विकृतिप्रत्याख्यानेऽपि कल्पते लेपकृतं तु भवतीत्येषा वृद्धसामाचारी। ध०२ अधि०। तदुक्तं निशीथे "चलचलओगाहिमं च जं पक्कं" "आदिमे जे तिण्णि घाणाएयत्ति ते चलचलेत्ति तेण तेऽचलचलेत्ति तवण्णटमं जं घयं खित्तं। तव्वअणअपस्कितंती आदिमे जे तिण्णि घाणा पयति ते चलचलेत्ति तेण ते अचलचल-ओगाहिमं भण्णति। तत्थ तधा जे सेसा पच्चंति ते ण चलेति अतो तेण आतिल्ला तिण्णि घाणो मोत्तुं सेसा पचक्खाणिस्स कप्पांति जति अण्णं घयं ण परिकप्पति जोगवाहिस्स पुण सेसगा वि गता"। नि० चू०४ उ०। ध०। पक्वान्नाद्याश्रित्य चैवमुक्तं "वासासु पन्नरदिवसं, सीउण्हकाले सु मासदिणवीसं। उग्गाहिमं जईणं, कप्पइ आरब्भ पढमदिणे" केचित्स्था गाथाया अलभ्यमानस्थानत्वं वदन्तो यावद्गन्धरसादिना न विनश्यति तावदवगाहिमं शुद्ध्यतीत्याहुः। ध०२ अधि०। ल० प्र०। पं० व०। आव०।

ओगिज्झिय-अवगृह्य-अ०अव्-ग्रह्-ल्यप्-आश्रित्येत्यर्थे, "ओगिज्झिगय ओगिज्झिगयत्ता उवणिमंतेज्ञा" आचा०१ श्रु०३ अ०३ उ०॥

ओगिण्हइत्ता- अव्य० (अवगृह्य) श्रव्-गृह्-ल्यप्-अनुज्ञापूर्वकं गृहीत्वेत्यर्थे, अहापडिरुवं ओगिण्हइ ओगिण्हइत्ता संजमेणं अप्पाणं भावेमाणो" ज्ञा०१ अ०॥

ओगिण्हण-न०(अवग्रहण) अवगृह्यतेऽनेनेति अवग्रहणं करणेऽनट्। व्यञ्जनावग्रहप्रथमसमयप्रविष्टशब्दादिपुद्गलादानपरिणामे। नं०। भावेल्युट्। प्रतिरोधे, अनादरे, मेदि०। ज्ञाने च वाच०।

ओगिण्हणया-स्त्री०(अवग्रहणता) अवग्रहणस्य भावोऽवग्रहणता। मतिभेदावग्रहे, नं०। मनोविषयीकरणे च "सुयाणं धम्माणं ओगिण्हणयाए ओवहारणयाए अब्भुट्ठेयव्वं" स्था०८ ठा०।

ओगुंडिय-स्त्री०(अवगुण्डित) मलदिग्धगात्रे, वृ०१ उ०॥

ओगूहिय-न०(अवगूहित) आलिङ्गिते, ज्ञा०६ अ०॥

ओग्गाल-रोमन्थि-रोमन्थ-ना-धा-णिच्-आत्मभुक्तस्य घासादेः पशुभिरुद्गीर्य चर्वणे, वाच०। "रोमंथेरोग्गालवग्गोलौ"८। ४। ४३। रोमन्थेर्नामधातोर्ण्यन्तस्य एतावादेशौ भवत इति ओग्गालादेशः। ओग्गालइ वग्गोलइ रोमंथइरोमन्थयते। प्रा०॥

ओघ-पुं०(ओघ) संघाते, "मेघो घरिसियं गंभीरमहुरसद्दं"।रा०। सामान्ये, ओघुवक्कमिओ। संसारे, "एते ओघं तरिस्संति समुद्दं ववहारिणो" सूत्र०१ श्रु०३ अ०। अविच्छेदे, अवितुटितत्वे च प्रश्न०४ द्वा०॥

ओघसण्णा-स्त्री०(ओघसंज्ञा) मतिज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमात् शब्दाद्यर्थगोचरसामान्यावबोधक्रियायाम् प्रज्ञा०७ पद॥

ओघ (घ्घ) सिय-नं०(अवघर्षित) अवघर्षणमवघर्षितं भावे क्तप्रत्ययः। भूत्यादिना निर्मार्जने, "अण्णोग्घसियणिम्मलाए छा-याए। रा०॥

ओघादेस-पुं०(ओघादेश) सामान्यतः आदेशने, "ओघादेशेणसिय कमजुम्मा" भ०२५ श०३ उ०॥

ओ (ङ) घ-निद्रा-अदा० अक-शयने, निद्रातेरोहीरौं धौ८।४। १२। इति निपूर्वस्य द्रातेरोंघादेशः : ओंघइ निद्राति। प्रा०॥

ओचित्तयच-न० (औचित्य) उचितस्य भावः। न्यायप्रधानत्वे, उचितवृत्तौ, द्वा०१८ द्वा०। "औचित्यमेकमेकत्र, गुणानां कोटिरेकतः। विषायते गुणग्राम, औचित्यपरिवर्जितः" ध०१ अधि०। अनौचित्यपरिहारे, "विधिसेवादानादौ, सूत्रानुगता तु सा नियो-गेन। गुरुपारतन्त्र्ययोगादौचित्या चैव सर्वत्र षो०५ विव०॥

ओचित्तय (च) जोग-पुं० (औचित्ययोग) औचित्यव्यापारे,। षो०१ विव०।

ओचूल-पुं० स्त्री०(अवचूल) अधोमुखचूलायाम्, वि०२ अ०। प्रलम्बमानगुच्छे,। औ०।

ओचूलगवत्थणियत्थ-त्रि०(अवचूलकवस्त्रनिवसित)अवचूला अधोमुखाश्चूला यत्र तदवचूलं मुत्कलाञ्चलं यथा भवतीत्येवं वस्त्रं निवसितं येन स तथा। मुत्कलाञ्चलतया निवसि तवस्त्रे,। "सरसस्स उल्लपडसाडए ओचूलगवत्थनियत्थे"। ज्ञा०१६अ०।

ओच्छिण्ण-त्रि०(अवच्छिन्न) अवष्टब्धे, "पलिओच्छण्णे उठितवादं पवदमाणे"। अवलितं कर्म तेनावच्छिन्नः कर्मावष्टब्ध इति यावत्। आचा०१ श्रु०५ अ०१ उ०॥

ओच्छिण्णपलिच्छीण-त्रि०(अवच्छिन्नपरिच्छिन्न) अत्यन्तमाच्छादिते,। "पत्तेहि य पुप्फेहि य ओच्छिण्णपलिच्छीणा" जी०३ प्रति०।

ओज्जगर-पुं० (निर्जर) वा निद्गरि ना।८।१।१८। इति निर्द्गरिशब्दे नकारेण सह इत ओकारो वा भवति। ओज्द्गरो। निर्द्गरो गिरिप्रस्रवणे, प्रा०।

ओणय-न०(अवनत) अवनतिरवनतं भावे क्तः। उत्तमाङ्गप्रधाने प्रणमने, "दुओणयं" प्रव०२ द्वा०। "कइ ओणयं कइ सिरं" आव० २ अ०।

ओणमणी-स्त्री०(अवनमनी) अलौकिकावनमनसाधने विद्याभेदे, "ओणामणीय अणामित्ता गहियाणि पज्जत्तगाणि"। नि०चू०१ उ०।

ओणमिअ-अव्य०(अवनम्य) अवनतंकृत्वेत्यर्थे। "ओणमिय-उण्णमियणिज्द्गएज्ञा"। आचा०२ श्रु०॥

ओणमिद्गण-अव्य०(अवनम्य) अवनतंकृत्वेत्यर्थे,। "तं च सिवो ओणमिऊं ण पडिच्छइ" नि० चू०१ उ०।

ओत्तरिय-त्रि०(अवतारित) शरीरात् पृथक् कृते, ज्ञा०४ अ०।

ओत्थय-त्रि०(अवस्तृत) आच्छादिते,। हारोत्थयसुकयरइ-

यवत्थे० । ज्ञा० । "सम्मं ततो ओत्थयं गयणं" । आ०म०द्वि० ।

ओदइय-पुं०(औदयिक) उदयः कर्मणां विपाकः स एवौदयिकः। क्रियामात्रे भावभेदे, उदयेन निष्पन्ने औदयिको भावः । नारकत्वादिपर्यायविशेषे, भ०७श०१४उ० । सूत्र० । कर्मोदयापादितगत्याद्यनुभावलक्षणे भावभेदे, सूत्र०१३अ० । अनु० । आचा० । कर्म० । आ०म०द्वि० । उत्त० ।

से किं तं ओदइए ओदइए दुविहे पन्नत्ते तं जहा उदए य उदयनिप्पन्ने अ अनु० ।।

औदयिको द्विविधः उदय उदयनिष्पन्नश्च । तत्रोदयोऽष्टानां कर्मप्रकृतीनामुदयः शान्तावस्थापरित्यागेनोदीरणावलिकामतिक्रम्य उदयावलिकायामात्मीयरूपेण विपाक इत्यर्थः । अत्र चैवं व्युत्पत्तिः उदय एव औदयिकः । (स्था०) विनयादेराकृतिगणतयोदयशब्दस्य तन्मध्यपाठाभ्युपगमात् । विनयादिभ्य इति स्वार्थे इकण् प्रत्ययः । पं०सं०२द्वा० । उदयनिष्पन्नस्तु कर्मोदयजनितो जीवस्य मानुषत्वादिपर्यायस्तत्र च उदयेन निर्वृत्तस्तत्र भव इत्यौदयिकः इत्येवं व्युत्पत्तिरिति । स्था०६ ठा० ।

एतदेव सूत्रकृदाह-

से किं तं उदए उदए अट्ठण्हं कम्मपयडीणं उदएणं सेत्तं उदए । से किं त उदयनिप्पन्ने उदयनिप्पन्ने दुविहे पण्णत्ते तं जहा जीवोदयनिप्पन्ने अ अजीवोदयनिप्पन्ने अ ।।

औदयिको भावो द्विविधः अष्टानां कर्मप्रकृतीनामुदयस्तत्र निष्पन्नश्च । अयं चार्थः प्रकारद्वयेन व्युत्पत्तिकरणादायेव दर्शितः ।उदयनिष्पन्नः पुनरपि द्विविधो जीवे उदयनिष्पन्नः जीवोदयनिष्पन्नः । अजीवे उदयनिष्पन्नः अजीवोदयनिष्पन्नः ।

से किं तं जीवोदयनिप्पन्ने अणेगविहे पण्णत्ते तं जहा णेरइए तिरिक्खजोणिए मणुस्से देवे पुढविकाइए जाव तसकाइए कोहकसाई लोहकसाई इत्थीवेदए पुरिसवेदए णपुंसगवेदए कण्हलेसे जाव सुक्कलेसे मिच्छादिट्ठी अविरए अण्णणी आहारए छउमत्थे सजोगी संसारत्थे असिद्धे सेत्तं जीवोदयनिप्पन्ने ।।

जीवोदयनिष्पन्नस्योदाहरणानि (नेरइए इत्यादि) इदमुक्तं भवति कर्मणामुदयेनैव सर्वेऽप्येते पर्याया जीवे निष्पान्नास्तद्यथा नारकस्तिर्यङ्मनुष्य इत्यादि । अत्राह । ननु यद्येवमपरेऽपि निद्रापञ्चकवेदनीयहास्यादयो बहवःकर्मोदयजन्या जीवे पर्यायाः सन्ति किमिति नारकत्वादयः कियन्तोऽप्युपन्यस्ताः सत्यमुपलक्षणत्वादमीषामन्येऽपि संभविनो द्रष्टव्याः । अपरस्त्वाह । ननु कर्मोदयजनितानां नारकत्वादीनां भवत्विहोपन्यासो लेश्यास्तु कस्यचित् कर्मण उदये भवन्तीत्येतन्न प्रसिद्ध तत्किमितीह तदुपन्यासः । सत्यं किं तु योगपरिणामो लेश्याः । योगस्तु त्रिविधोऽपि कर्मोदयजन्य एव ततो लेश्यानामपि तदुभयजन्यत्वं न विहन्यते । अन्ये तु मन्यन्ते कर्माष्टकोदयात संसारस्थत्वासिद्धत्ववल्लेश्यावत्वमपि भावनीयमित्यलं विस्तरेण । तदर्थिना तु गन्धहस्तिवृत्तिरनुसर्तव्येति सेत्तं जीवोदयनिष्पन्नेति निगमनम् ।

अथाजीवोदयनिष्पन्नं निरूपयितुमाह-

से किं तं अजीवोदयनिप्पन्ने २ अणेगविहे पण्णत्ते तं जहा उरालिअं वा सरीरं उरालिअसरीरप्पयोगपरिणाडिअं चस दव्वं वेउव्विअं वा सरीरं तेअगं सरीरं कम्मगं सरीरं च भाणिअव्वं । पओगपरिणामिए वण्णे गंधे रसे फासे सेत्तं अजीवोदयनिप्पण्णे सेत्तं उदयनिप्पण्णे सेत्तं उदइए ।

विशिष्टाकारपरिणतं तिर्यङ्मनुष्यदेहरूपमौदरिकं शरीरम् । (उरालिय-सरीरप्पओगे इत्यादि) औदारिकशरीरप्रयोगपरिणमितं द्रव्यमौदारिकशरीरस्य प्रयोगो व्यापारस्तेन परिणमितं स्वप्रयोगित्वात् गृहीतं तत्तथा । तच्च वर्णगन्धरसस्पर्शानां पानादिरूपं स्वत एवोपरिष्टाद्दर्शयिष्यति वाशब्दः परसमुच्चये एतद्वियथमप्यजीवे पुद्गलद्रव्यलक्षणे औदारिकशरीरनामकर्मोदयेन निष्पन्नत्वादजीवोदयनिष्पन्न औदयिको भाव उच्यते । एवं वैक्रियशरीरादिष्वपि भावना कार्या । नवरं वैक्रियशरीरनामकर्माद्युदयजन्यत्वं यथास्वं वाच्यमिति औदारिकादिशरीरप्रयोगेण यत्परिणमति द्रव्यं तत् स्वत एव दर्शयितुमाह । (पओगपरिणामिए वण्ण इत्यादि) पञ्चानामपि शरीराणां प्रयोगेण व्यापारेण परिणमितं गृहीतं वर्णादिकं शरीरे वर्णादिसंपादकं द्रव्यमिदं द्रष्टव्यम् उपलक्षणत्वाच्च वर्णादीनामपरमपि यच्छरीरे संभवत्यानापानादिं तत्स्वत एव दृश्यमिति । अत्राह । ननु यथा नारकत्वादयः पर्याया जीवे भवन्ति जीवोदयनिष्पन्ने औदयिके पठयनो एवं शरीराण्यपि जीव एव भवन्त्यतस्तान्यपि तत्रैव पठनीयानि स्युः । किमित्यजीवोदयनिष्पन्नैः धीयन्ते, अस्त्वेतत्किन्त्वौदारिकादिशरीरनामकर्मोदयस्य मुख्यतया शरीरपुद्गलेष्वेव विपाकदर्शनात्तन्निष्पन्न औदयिको भावः शरीरलक्षणे जीव एवं प्राधान्याद्दर्शित इत्यदोषः सेत्तमित्यादिनिगमनत्रयम् । उक्तो द्विविधोऽप्यौदयिकः । अनु० ।

एते चौदयिकभावभेदा एकविंशतिरिति दर्शयन्नाह ।

चउगइचउक्कसाया, लिंगतिग लेसछक्कमन्नाणं ।
मिच्छत्तमसिद्धत्तं, असंयमो तह चउत्थम्मि ।।

एते सर्वेऽपि गत्यादयो भावाश्चतुर्थे औदयिके भावे भवन्ति । तथा हि चतस्रो नरकादिगतयो नरकगत्यादिनामकर्मोदयादेव जीवे प्रादुः षन्ति कषाया अपि क्रोधादयश्चत्वारः कषायमाहेनीयकर्मोदयात् लिङ्गत्रिकमपि स्त्रीवेदादिरूपं स्त्रीवेदपुंवेदनपुंसकवेदं मोहनीयकर्मोदयात् । लेश्याषट्कं तु योगपरिणामो लेरया इत्याश्रयणेन योगत्रिकजनककर्मोदयात् । येषां तु मते कषायनिष्पन्दो लेश्यास्तदभिप्रायेण कषायमोहनीयकर्मोदयात् । येषां तु कर्मनिष्पन्दो लेश्यास्तन्मते संसारित्वासिद्धत्ववदष्टप्रकारकर्मोदयादिति । अज्ञानमपि विर्पयस्तवोधरूपमत्यज्ञानादिकं ज्ञानावरणमिथ्यात्वमोहनीयोदयात् । यत्तु पूर्वमस्यैव मत्याद्यज्ञानस्य ज्ञायोपशमिकत्वमुक्तं तद्वस्त्ववबोधमात्रापेक्षया सर्वमपिहि वस्त्ववबोधमात्रं विपर्यस्तं चाज्ञानावरणीयकर्मक्षयोपशम एव भवति । यत्पुनस्तस्यैव विपर्यासलक्षणमज्ञानत्वं तत् ज्ञानावरणमिथ्यात्वमोहनीय एव संपद्यते इत्येकस्यैवाज्ञानस्य क्षायोपशमिकत्वमौदयिकत्वं च न विरुध्यत इत्येवमन्यत्रापि विरोधपरिहारः कर्तव्य इति । मिथ्यात्वमपि मिथ्यातवमोहनीयोदयात् असिद्धत्वं कर्माष्टकोदयात् । असंयमोऽविरतत्वं तदष्यप्रत्याख्यानावरणकषायोदयात् उपजायत इति । ननु निद्रापञ्चकासातादिवेदनीयहास्यरत्यरतिप्रभृतयः प्रभूततरभावा अन्येऽपि

कर्मोदयजन्याःसन्ति तत्किमित्येतावन्त एवेति निर्दिष्टाः । सत्यमुपलक्षणमात्रत्वादमीषां संभविनोऽन्येऽपि द्रष्टव्याः । केवलं शास्त्रेषु प्राय एतावन्त एव निर्दिष्टाः दृश्यन्ते इत्यत्राप्येतावन्त एव प्रदर्शिता इति अदोष इति । प्रव०२२१ द्वा० । सूत्र० ।

ओद (य) ण-न० (ओदन) उद्-युच्-नलोपो गुणश्च । कूरे, उपा० १ अ० । पंचा० । कोद्रवौदनादौ, । आचा०१ श्रु०६ अ० । तण्डुलादिभक्ते, । वृ०१ उ० । शाल्यादिभक्ते, । पिं० । "सूओ१ दणे२ जवण्णं ।३।" इति व्यञ्जनभेदत्वं तस्य । स्था०३ ठा० । (कूरविधानान्यायंविलशब्दे उक्तानि) उष्णाढ्य ओदनः प्रशस्यते न शीतः । सूत्र०२ श्रु०३ अ० ॥

ओद (य) णविहि-पुं०(ओदन विधि) कोद्रवादिधान्यनिष्पाद्ये ओदनप्रकारे, । दर्श० (अस्य विधिः आणंदशब्दे)

ओदरिय-त्रि०(औदरिक) उदरे प्रवृत्तः ठक् । आद्यूने, उदरमात्रपूरणापेक्षके, विजिगीषा विवर्जिते, अमरः । विजिगीषा विगानेच्छा निन्देच्छा तस्याः स्वोदरपूरणासक्ततया त्याग एवास्य प्रवृत्तिः । वाच० । जीविकार्थं प्रव्रजिते, "ओदरिया णाम जीविताहेतुं पव्वइया" नि० चू०१ उ० । औदरिकानां यत्रागतास्तत्र रूपकादिकं प्रक्षिप्य समुद्विशन्ति । समुद्देशनानन्तरं भूयोऽप्यग्रतो गच्छन्ति । वृ०१ उ० ।

औदर्य्य-त्रि० उदरे भवः यत् उदर्य्यः ततः स्वार्थे अण । उदरभवेऽनलादौ, अभ्यन्तरप्रविष्टे च । वाच० ।

ओदहण-न०(अवदहन) दग्धने, ज्ञा०१३ अ० ।

ओदासिण्ण-न०(औदासीन्य) उदासीनस्य भावः ष्यञ् । शुभाशुभयोरुपेक्षायाम् तात्स्थ्ये, राहित्ये, रागनिवृत्तौ च । औदास्यमप्यत्र वाच० ।

ओप्प-धा०(अर्पि) समर्पणे, "वार्प्पो" ८।१।६३। अर्पयतौ धातौ आदेरस्य ओत्वं वा भवति । ओप्पेइ । अप्पेइ । ओप्पिअं । अप्पिअं । प्रा० ।

ओबद्धपीठफलय-पुं०(अवबद्धपीठफलक) यः पक्षस्याभ्यन्तरे पीठफलकादीनां बन्धनानि मुक्त्वा प्रत्युपेक्षणं न करोति यो वा नित्यावस्तृतसंस्तारकः सोऽवबद्धपीठफलकः । सर्वतोऽवसन्ने, "ओबद्धपीठफलगं ओसण्णमंजयं वियाणाहि" । व्य०१ उ० ।

ओबुज्द्गमाण-त्रि०(अवबुध्यमान) विजानाने, "ओबुज्द्गमाणे इह माणवेसु" । स्वर्गापवर्गौ तत्कारणानि चावबुध्यमानोऽनाबाधकज्ञानसद्भावात् इहेति मर्त्यलोके मानवेषु विषयभूतेषु धर्ममाख्याति । आचा०६ अ०१ उ० ।

ओभावणा-अपभ्राजना-स्त्री० लोकप्रवादे, ओभावणा मा मे भून्नन्वसावप्यस्ति विद्वान् किमन्येषां वन्दनकं प्रयच्छतीत्येवंभूताऽपभ्राजना मम मा भेदित्यर्थः । प्रव०२ द्वा० ।

ओभास-पुं०(अवभास) अष्टाशीतिमहाग्रहाणां पञ्चषष्टितमे ग्रहे, सू० प्र०२० पाहु० कल्प० । षट्षष्टितमे, इति चं०प्र०२० पाहु० संप्तषष्टितमे वा महाग्रहे, । "दो ओभासा"।स्था०२ ठा० ॥

ओभा (हा) सण-न०(अवभासन) ईषदुद्योतने, भ०७श०८ उ० । आविर्भावे, प्राप्यमाणतायाम् सूत्र०१ श्रु०१२ अ० ॥ देशतः खद्योतवत्सर्वतः प्रदीपवत् द्योतते, । देशतः फडडुकावधिना सर्वतोऽभ्यन्तरावधिना ज्ञाने च । स्था०२ ठा० ॥

अदमाषण-न० याचने, व्य० द्वि०८ उ० ॥

ओभा (हा) सणभिक्खा-स्त्री०(अवभाषणभिक्षा) विशिष्टद्रव्ययाचनं समयपरिभाषया । "ओहासणंति भण्णइ" तत्प्रधाना भिक्षा । विशिष्टद्रव्ययाचनेन भिक्षणे, आव०४ अ० । ध० ।

ओभा (हा) समाण-त्रि०(अवभासयत्)उद्भासयति, ।

"ओभासमाणे दवियस्स वित्तं, णाणिक्कसे बहिया आसु पन्नो" अवभासयन्नुद्भासयन् सम्यगनुतिष्ठन् द्रव्यस्य मुक्तिगमनयोग्यस्य तत्साधो रागद्वेषरहितस्य सर्वज्ञस्य व्यावृत्तमनुष्ठानं तत्सदनुष्ठानतोऽवभासयेत् धर्मकथिकः कथनतो बोद्भासयेदिति । सूत्र०१ श्रु०१४ अ० ।

ओभासमाणवीइ-स्त्री०(अवभासमानवीचि) शोभमानतरङ्गे, भ० ११ श० ६ उ० ।

ओभासिज्जमाण-त्रि० (अवभाष्यमाण) याच्यमाने, । "सेज्जापरस्स जे पुरपच्छडसंथुता तेपरघरेसु ओभासिज्जमाण एवं करेज्जा" । नि० चू०२ उ० ।

ओभासिय-त्रि० (अवभाषित) याचिते, व्य० द्वि०६ उ० । प्रा-थिते, ।ओ० अवभाषणभवभाषितं भावे क्तः । याचने, वृ०१ उ० ओभुग्ग-अवभुग्न-त्रि० वक्रे, "रोसागयधमधमिं तमारुयणिद्धुरस्वरफरुसकुसिरओ भुग्गणासियपुभगा" । ज्ञा०८ अ० ।

ओम-त्रि०(अवम) ऊने, स्था०३ठा० । न्यूने, । "आमंओमं भुंजीया" । आ०म०प्र० । हीने, मिथ्यादर्शनाऽविरत्यादिके, । आचा०१ श्रु०३ अ०३ उ० । वाले, ओ० । लघुतरे, व्य० द्वि०८ उ० । लघुपर्याये, । ओ० । स्था० । "ओमोति वरिसारेणं" । अवमो नाम आराति वर्षारितो यस्य प्रव्रज्यावर्यावेण त्रीणि वर्षाणि नाद्यापि परिपूर्णानीत्यर्थः । व्य०प्र०३उ० । दुर्भिक्षे, न० "अचिए ओमे" । दीर्घदुर्भिक्षमित्यर्थः । लि०चू०३उ० ॥ "ओमेविगम्ममाणे ओमोदरियाए अस्स विसयं गंतव्वं" ॥ नि० चू०१ उ० ॥

ओमंथ-त्रि० (अवमन्थ) अवाङ्मुखकरणे, । वृ०१ उ० ॥

आमंथिय-त्रि०(अवमथित) अधोमुखीकृते, "ओमंथियणयणवयणकमला" अधोमुखीकृतानि नयनवदनरूपाणि कमलानिय-या सा तथा विपा०२ अ० । ज्ञा० ।

ओमकोट्ठया-अवमकोठता-स्त्री० रिक्तोदरतायाम्,स्था०४ ठा

ओमचेलय-अवमचेलक-पुं० अवमानि असाराणि चेलानि वस्त्राणि यस्य स अवमचेलकः । मलाविलत्वेन जीर्णत्वेन त्याज्य-प्रायवस्त्रधारिणि, ओमचेलगा य सुपिसायभूया गच्छखला हि किमिहं विओसि, उत्त०१२ अ० ।

आमचेलिय-पुं०(अवमचेलिक) अवमं च चेलं चावमचेलं प्रमाणतः परिणामतो मूल्यश्च तद्यस्यास्त्यसाववमचेलिकः । एक कल्पपरित्यागात् विकल्पधारिणि, "अदुवा संतदुतरे अदुवा ओमचेलए अदुवा एगसाडे" आचा०१ श्रु०७अ०३उ० । असा रवस्त्राधारिणि । आचा०१ श्रु०३ अ०१ उ० ॥

ओमद्दय अवमात्यय-पुं० दुर्भिक्षापगमे, पंचा०१३ विव० ।

ओमञ्जणपुरक्खार-पुं०(अवमञ्जनपुरस्कार) न्यूनजनपूजायाम्, "ओमञ्जणपुरक्खारे" इति पञ्चमं स्थानं प्रत्युपेक्षणीयम् । व्याख्याऽन्यत्र दश०१ चू० ॥

ओमज्झायण-पुं०(अवमज्झा (द्या) यन) ऋषिभेदे,यस्य गोत्रे पुष्यनक्षत्रम्, जं०७ वक्ष०। सू०प्र०। चं० प्र०॥ ओमत्त-अवमत्व-न० ऊतायाम्- भ०१८ श०३ उ०। हीनत्वे, व्य० प्र०१ उ०॥

ओमदोस-पुं०(अवमदोष) संखडीशब्दे दर्शयिष्यमाणे संखड्यां स्तोकसंस्कृतत्वेनानेषणीयपरिभोगात्मके दोषे, आचा०२श्रु०१ अ०३ उ०॥

ओमरत्त-पुं० (अवमरात्र) अवमा हीना रात्रिरवमरात्रः समासान्ते टचि "रात्राह्नाहाः पुंसि" इति पुंस्त्वम्। दिनक्षये, "छओमरत्ता पण्णत्ता तं जहा तइए पव्वे सत्तमे पव्वे एक्कारसमे पव्वे पण्णरसमे पव्वे एगूणवीसइमे पव्वे तेवसिइमे पव्वे" स्था०४ ठा० कर्ममासा-पेक्षया एकैकस्मिन् ऋतौ लौकिकमेकैकं चन्द्रर्तुमधिकृत्य व्यवहारत एकैकोऽवमरात्रौ भवति। सकले तु कर्मसंवत्सरे षडवमरात्रास्तथा चाह।

ता सव्वे वि णं एते चंदउडू दुवे मासा तिचउपण्णेणं ।आदाणेणं गणिज्जमाणा सातिरेगाइं एगूणसट्ठि एगूणसट्ठि राइंदिवाइं राइंदियग्गेणं आहितेति वदेज्जा तत्थ खलु इमे छ ओमरत्ता पण्णत्ता तं जहा ततिए पव्वे सत्तमे पव्वे एक्कारसमे पव्वे पन्नरसमे पव्वे एकूणवीसतिमे पव्वे तेवीसतिमे पव्वे।

तत्र कर्मसंवत्सरे चन्द्रसंवत्सरमधिकृत्य व्यवहारतः खल्विमे वक्ष्यमाणक्रमाः षट् अवमरात्राः प्रज्ञप्तास्तद्यथा तइए पव्वेत्यादि सुगमम्। सू० प्र०१२ पाहु०॥

एसा तिहिनिप्पत्ती, भणिया मे वित्थरं य पहिऊणं।
वोच्छामि ओमरत्तं, उल्लिंगितो समासेण॥

एषा अनन्तरोदितस्वरूपा तिथिनिष्पत्तिर्मया विस्तरं प्रहाय परिहृत्य भणिता प्रतिपादिता। संप्रति समासेन संक्षेपेण उल्लिङ्गन् किंचिन्मात्रतया प्रतिपादयन् अवमरात्रान् वक्ष्यामि। ननु कालः सर्वदानादिप्रवाहपतितयाप्रतिनियतस्वभाव एव परावर्तते न तस्य कापि हानिर्नापि कश्चिदपि स्वरूपोपचयः। ततः कथमव-रात्रतासंभव इत्यत आह।

कालस्स नेव हाणी, न वि वुड्ढी वा अवट्ठिओ कालो।
जायइ वुड्ढवुड्ढी, मासाणं एक्कमेक्काओ।

कालस्य सूर्यादिक्रियोपलक्षितस्यानादिप्रवाहपतितप्रतिनियतस्व-रूपतो न हानिर्नापि कश्चिदपि स्वरूपोपचयः किं तु सदा तथा जगत्स्वाभाव्यादवस्थित एव। तथा प्रतिनियतरूपतया कालः केवलं यो जायते जायमाने प्रतीयते वृद्ध्यपवृद्धी मासानांते एकमेकस्मात् एकस्यान्यतरस्य सूत्रे द्वितीया प्राकृतत्वात् भवति हि प्राकृतलक्षणव-शाद्व्यत्ययः स्वादिविभक्तीनां यदाह पाणिनिः स्वप्राकृतलक्षणे "व्यत्ययोऽप्यासामिति" एकस्मादन्यतरस्मान् मासात् अत्र स्थाने पः कर्मधारय इत्यनेन पञ्चमी ततोऽयमर्थ एकमपरं मासमधिकृत्यैकस्या-नयतरस्य मासस्य वृद्ध्यपवृद्धी भवतः। किमुक्तं भवति। कर्ममासात्सूर्यमासकालचिन्तायां वृद्धिः स्वरूपापेक्षया तु त्रयोऽपि मासास्तदप्रतिनियतस्वरुपभावाः परा-वर्तन्ते न तु कश्चित् कालस्य वृद्धिनिसंभवः। संप्रति ते एव वृद्धिनिमपेक्ष्य चन्द्रमासे कर्ममासमपेक्ष्य मासचिन्तायां कालस्य हानिं दर्शयति।

चंदउडू मासाणं, अंसा जे दिस्सए विसेसम्मि।
ते ओमरत्तभागा, भवंति मासस्स नायव्वा।

इह कर्मसासपरिपूर्णत्रिंशदहोरात्रप्रमाणश्चन्द्रमास एकोनत्रिंशदहोरात्रो द्वात्रिंशच्च द्वाषष्टिभागा अहोरात्रस्य। ततश्चन्द्रमासपरिमाणस्य ऋतुमासस्य कर्ममासपरिमाणस्य चेत्यर्थः। परस्परं विश-लेषः क्रियते विश्लेषे च कृते सति ये अंशा उद्धरिता दृश्यन्ते त्रिंशद्द्वाषष्टिभागरूपास्ते अवमरात्रस्य भागास्तद्व्यवमरात्रं परिपूर्णं भवति। मासद्वयपर्यन्ते ततस्तस्य सत्कास्ते भागा मासस्यावसाने द्रष्टव्याः। किमुक्तं भवति एकस्मिन् कर्ममासे परिपूर्णे सति त्रिमासद्वयमपर्यन्तेषु शतद्वाषष्टिभागा अवमरा त्रस्य संबन्धिनः प्राप्यन्ते इति। यदि मासपर्यन्ते एतावतोऽवमरात्रा भागाः प्राप्यन्ते ततः प्रतिदिवसं कति प्राप्यन्ते इति। यदि मासपर्यन्ते एतन्निरूपणार्थमाह।

वावट्ठिभागमेगं, दिवसेः संजाइ ओमरत्तस्स।
वावट्ठिएहि दिवसेहि, ओमरत्तं तओ भवइ।

एकस्मिन् एकस्मिन् एकैकस्मिन् दिवसे कर्ममाससंबन्धिनि अवमरात्रस्य संबंधी द्वाषष्टिभागः एकैकः संजायते। सूत्रे च नपुंसकता प्राकृतत्वात् कथमेतदवसीयत इति चेदुच्यते त्रैरात्रं केवलात। तथाहि यत एकैकस्मिन् दिवसे एकैको द्वाषष्टिभागोऽवमरात्रस्य संबंधी प्राप्यते ततो द्वाषष्टया दिवसैरेकोऽवमरात्रौ भवति। किमुक्तं भवति। दिवसे दिवसे अवमरात्रसत्कैकद्वाषष्टिभागवृद्ध्या द्वाषष्टितमे दिवसे त्रिषष्टितमा तिथिः प्रवर्तत इति। एवं च सति य एकषष्टितमोऽहोरात्रस्तस्मिन्नेकषष्टितमा द्वाषष्टितमा च तिथिर्निधनमुपगतेति द्वाषष्टितमा तिथिर्लोके पतितेति व्यवहृयते। यथा चाह-

एक्कम्मि अहोरत्ते, दो वि तिहिनिहणमेज्जासु।
सोत्थ तिही परिहायइ, सुहुमेण हविज्ज सो चरिमो॥

एकैकस्मिन्नहोरात्रे तिथिसक्तो द्वाषष्टिभागो द्वाषष्टिहानिमुपगच्छन् यस्मिन्नेकषष्टितमे अहोरात्रे द्वे अपि एकषष्टितमारुपे तिथी निधनमायातः द्वाषष्टितमा तिथिरत्र एकषष्टितमे अहोरात्रैः परिहीयते। एवं च सति सूक्ष्मेण द्वाषष्टितमरूपतया अतिश्लेक्ष्णेन एकैकेन भागेन परिहीयमानाया द्वाषष्टितमायास्तिथेः स एकषष्टितमो दिवसश्चरमपर्यवसानसर्वात्मना निधनमुपगतेति भावः। संप्रति वर्षाहिमगीष्मकालेषु चतुर्मासप्रमाणेषु प्रत्येकं कस्मिन् पक्षे अवमरात्रं भवतीत्येतन्निरूपयति।

तइयम्मि ओमरत्तं, कायव्वं सत्तमम्मि पक्खम्मि।
वासहिमगिण्हकाले, चाउम्मासे विधीयंते॥

इह कालस्त्रिधा तद्यथा। वर्षाकालो हिमसंबन्धी शीतकाल इत्यर्थः ग्रीष्मकालश्च एते च त्रयोऽपि चतुर्मासकप्रमाणाः। वर्षाकालस्य चतुर्मास-प्रमाणस्य श्रावणदेस्तृतीये पर्वणि प्रथमोऽवमरात्रः। तस्यैव वर्षाकालस्य संबन्धिनि सप्तमे पर्वणि द्वितीयोऽवमरात्रस्तदनन्तरशीतकालस्य तृतीये पर्वणि मूलापेक्षया एकादशे तृतीयोऽवमरात्रस्तस्यैव शीतकालस्य सप्तमे पर्वणि मूलात्पञ्चदशे चतुर्थस्तदनन्तर ग्रीष्मकालस्य सप्तमे पर्वणि मूलापेक्षया त्रयोविंशतितमे षष्ठः। इह आषाढाद्या लोके ऋतवः प्रसिद्धिमै-यरुस्ततो लौकिकव्यवहारमपेक्ष्याषाढादारभ्य प्रतिदिवसमेकैकद्वा-षष्टिभागहान्या वर्षाकालादिगतेषु तृतीयादिपर्वसु यथोक्ता अवमरात्री-भूतया तया सह का तिथिः परिसमाप्तिमुपैतीति शिष्यः प्रश्नं कारयति॥

पाडिव य ओमरत्ते, कइया विइया समप्पि होइ तिही।
विइयाए तिइयाए, ओमरत्ते चउत्थी उ॥
सेसासु चेव काहिइ, तिहीसु ववहारगणियदिट्ठासु।
सुहुमेण परिल्लतिही, संजायइ कम्मि पव्वम्मि॥

इह प्रतिपदमारभ्य यावत्पञ्चदशी तावत्यस्तिथयस्तासांच मध्ये प्रतिपद्यवमरात्रीभूतायां सत्यां कस्मिन् पर्वणि पक्षे द्वितीया तिथिः समाप्स्यति प्रतिपदा सह एकस्मिन्नहोरात्रे समाप्तिमेष्यति तृतीयायां वा तिथावववमरात्रिसंपन्नायां कस्मिन् पर्वणि चतुर्थी तृतीयया सह निधनमुपयास्यति। एवं शेषास्वपि तिथिषु व्यवहारगणितदृ-ष्टासु लोकप्रसिद्धयवहारगणितपरिभावितासु पञ्चमीषष्ठीसप्तम्यष्टमीदशम्ये-कादशीद्वादशीत्रयोदशीचतुर्दशीरूपासु शिष्यःप्रश्नं करिष्यति यथा सूक्ष्मेण प्रतिदिवसमेकैकेन द्वाषष्टितमरूपेण शुक्लेन भागेन परिहीयमानायाः परिहीयमानायां तिथौ पूर्वस्या अवमरात्रीभूतायास्तिथेरानन्तर्येण परा तिथिः कस्मिन् पर्वणि गते संजायते समाप्ता। एतदुक्तं भवति। चतुर्थ्यां तिथाववमरात्रीभूतायां कस्मिन् पर्वणि पञ्चमी समाप्तिमुपैति। पञ्चम्यां वा षष्ठी एवं यावत् पञ्चदश्यां तिथाववमरात्रीभूतायां कस्मिन् पर्वणि प्रतिपद्रूपा तिथिः समाप्तेति। एवं शिष्यस्य प्रश्नमवधार्य निर्वचनमाचार्य आह-

रूवाहिगा उओ वा, विगुणा पञ्चा हवंति कायव्वा।
एमेव हवइ जुम्मे, एक्कतीसाजुया पव्वा॥

इह याः शिष्येण प्रश्नं कुर्वता तिथय उद्दिष्टास्ता द्विविधास्तद्यथा ओजोरूपा युग्मरूपाश्च। ओजोविषयं समं युग्मं तत्र च या ओजोरूपास्ताः प्रथमतो रूपाधिकाः क्रियन्ते ततो द्विगुणास्तथा च सति तस्यास्तस्यास्तिथेर्युग्मपर्वाणि निर्वचनरूपाणि समागता-नि भवन्ति। (एमेव हवइ जुम्मे इति) या अपि युग्मरूपास्तिथयस्तास्वपि एवमेव पूर्वोक्तेनैव प्रकारेण करणं प्रवर्तनीयं नवरं द्विगुणी-करणानन्तर-मेकत्रिंशद्युक्ताः सत्यः पर्वाणि निर्वत्तनरूपाणि भवन्ति इयमत्रभावनाऽयं प्रश्नः कस्मिन्पर्वणि प्रतिपद्यवमरात्रीभूतायां समुपयातीति तदा प्रतिपत् किलोद्दिष्टा सा च प्रथमातिथिरित्येको ध्रियते सरूपाधिकः क्रियते जाते द्वे रूपे ते अपि द्विगुणीक्रियेते जाताश्चत्वार आगतानि चत्वारि पर्वाणि। ततोऽयमर्थो युगादितश्चतुर्थे पर्वणि प्रतिपद्यवमरात्रीभूतायां द्वितीया समाप्तिमुपयातीति युक्तं चैतत्तथा हि प्रतिपद्युद्दिष्टायां चत्वारि पर्वाणि लब्धानि पर्व च पञ्चदशतिथ्यात्मकं ततः पञ्चदश चतुर्भिर्गुण्यन्ते जाता षष्टिः प्रतिपदि द्वितीया समापयतीति द्वे रूपे तत्राधिके प्रक्षिप्ते जाता द्वाषष्टिः सा च द्वाषष्ट्या भज्यमाना निरंशं भागं प्रयच्छति लब्ध एकक इत्यागतः प्रथमोऽवमवरात्र इत्यविसंवादिकरणम्। यदा तु कस्मिन् पर्वणि द्वितीयायामवमरात्रीभूतायां तृतीया समाप्नोतीति प्रश्नस्तदा द्वितीया किल परेणोद्दिष्टेति द्विको ध्रियते। सरूपाधिकः क्रियते जातानि त्रीणि रूपाणि तानि द्विगुणीक्रियन्ते जाताः षट् द्वितीया च तिथिः समेति षट् एकत्रिंशद्युताः क्रियन्ते जाताः सप्तत्रिंशत् आगतानि निर्वचनरूपाणि सप्तत्रिंशत्पर्वाणि। किमुक्तं युगादितः सप्तत्रिंशत्तमे पर्वणि गते द्वितीयायामवमरात्रीभूतायां तृतीया समाप्नोतीति इदमपि करणं समीचीनम्। तथा हि। द्वितीयायामुद्दिष्टायां सप्तत्रिंशत्पर्वाणि समागतानि। ततः सप्तत्रिंशत् पञ्चदशभिर्गुण्यन्ते जातानि पञ्चशतानि पञ्चपञ्चा-शदधि-कानि। द्वितीया नष्टा तृतीया जातेति त्रीणि रूपाणि तत्र प्रक्षिप्यन्ते जातानि पञ्चशतान्यष्टापञ्चाशदधिकानि। एषोऽपि राशिर्द्वाषष्ट्या भज्यमानो निरंशं भागं प्रयच्छीति लब्धाश्च नवेत्यागतो नवमोऽवमरात्र इति समीचीनं करणम्। एवं सर्वास्वपि तिथिषु करणभाव-नाकरणसमीचीनत्वीभावना अवमरात्रसंख्या च स्वयं भावनीया। पर्वनिर्देशमात्रं क्रियते तत्र तृतीयायां चतुर्थी समाप्तेत्यष्टमे पर्वणि चतुर्थ्या पञ्चमी एकचत्वारिंशत्तमे पर्वणि पञ्चम्यां षष्ठी द्वादशे पर्वणि षष्ठ्यां सप्तमी पञ्चत्वारिंशत्तमे पर्वणि सप्तम्यामष्टमी षोडशे अष्टम्यां नवमी एकोनपञ्चाशत्तमे नवम्यां दशमी विंशतितमे दशम्यामेकादशी त्रिपञ्चाशत्तमे एकादश्यां द्वादशी चतुर्थितितमे द्वादश्यां त्रयोदशी सप्तपञ्चाशत्तमे त्रयोदश्यां चतुर्दशी अष्टाविंशतितमे चतुर्दश्यां पञ्चदशी एकषष्टितमे पञ्चदश्यां प्रतिपत् द्वात्रिंशत्तमे इति एवमेता युगपूर्वार्धे एवं युगोत्तरार्धेऽपि द्रष्टव्याः। ज्यो०५ पाहु०। सू० प्र०। चं० प्र०।

ओमराइणियभाव-पुं०(अवमरालिकभाव) अवमो लघुः स चासौ रालिकश्च गुणरत्नव्यवहारी तस्य भावोऽवमरालिकभावः। न्यूनपर्यायतायाम्, पंचा०१६ विव०॥

ओमराइणियभावकिरिया-स्त्री०(अवमरालिकभावक्रिया) अ मवरालिक-भावो न्यूनपर्यायता तस्य या क्रिया करणं सा तथा लघुतापादने, पंचा ०१६ विव०।

ओमाण-न०(अपमान) अवमदर्शित्वे, सूत्र०१ श्रु० अ०।

"भिक्खालसिए एगे एगे ओमाणभीरुए" अपमानभीरुः अपमानात् भीरुः अपमानभीरुः। उत्त० २६ अ०।

अवमान-न० अवमीयते परिच्छिद्यते खाताद्यनेनेति अवमानम्। हस्तदण्मादौ, अवमीयते परिच्छिद्यते हस्तादिना यत्तदवमानम्। खातादौ, करणकर्मसाधनद्वयव्युत्पत्तिः।

तत्र कर्मसाधनपक्षमधिकृत्य तावदाह -

से किं तं ओमाणे जण्णं ओमिणिज्जइ तं जहा हत्थेण वा दंडेन वा धनुक्केण वा जुगेण वा नालिआए वा अक्खेण वा मुसलेण वा, दंडधणूजुगनालिआ य, अक्खं मुसलं च चउत्थं। दस नालिअं च रज्जुं, विआणओमाणसण्णाए॥ वत्थम्मि हत्थमेज्जं, खित्ते दंडं धणुं च पत्थम्मि। खायं च नालिआए, विआणतो माणसण्णाए। एएणं अवमाणप्पमाणेणं किं पओअणं ? एएणं अवमाणपमाणेण खायचि-अकरकचियकडपडमिति परिक्खेवसंसियाणं दव्वाणं अवमाणपमाणं निव्वित्तिलक्षणं भवइ सेत्तं अवमाणे॥

यदवमीयते खातादि तदवमानं केनावमीयते इत्यादि "हत्थेण वा दंडेन वा इत्यादि" तत्र हस्तो वक्ष्यमाणस्वरूपश्चतुर्विंशत्यङ्गुलमानोऽनेनैव हस्तेन चतुर्भिर्हस्तैः निष्पन्ना अवमानविशेष दण्डधनुयुगनालिकाक्ष-मुसलरूपा षट् संज्ञा लभन्ते। अत एवाह "दण्डं हस्तो दण्डं, धनुर्युगं नालिकं चाक्षमुसलं च" करणसाधनपक्षमङ्गीकृत्यावमानसंज्ञया विजानीहीति संबन्धः। दण्डादिकं प्रत्येकं कथंभूतमित्याह। चतुर्हस्तं दशभिर्नालिकाभिर्निष्पन्नां रज्जुं च विजानीह्यवमानसंज्ञयेति गाथार्थः। ननु यदि दण्डादयः सर्वे चतुर्हस्तप्रमाणास्तर्ह्येकेनै व दण्डाद्यन्यतरोपा-दानेन् चारितार्थत्वात्किमिति षणामप्युपादानम्। उच्यते मेयवास्तुषु

भेदेन व्याप्रियमाणत्वात् तथा चाह "वत्थुम्मि गाहा" वास्तुनि गृहभूमौ मीयतेऽनेनेति मेयं मानमित्यर्थः । लुप्तद्वितीयैकवचनत्वेन हस्तं विजानीहीति संबन्धः । हस्तेनैव वास्तुमीयत इति तात्पर्यम् क्षेत्रे कृषिकर्मादिविषयभूते चतुर्हस्तं वंशलक्षणं दण्डमेव मानं विजानीहि । धनुरादीनां चतुर्हस्तत्वे समानेऽपि रूढिवशात् दण्डसंज्ञा । प्रसिद्धेनैवावमानप्रमाणेन विशेषेण क्षेत्रं मीयते इति हृदयम् । पथि मार्गविधाने धनुरेव मानम् । मार्गे गव्यूत्यादिपरिच्छेदो धनुःसंज्ञा प्रसिद्धेनैवावमानविशेषेण क्रियते न दण्डादिभिरिति भावः । खातं कूपादिनालिकयेव यदि विशेषरूपया मीयते इति गम्यते । एवं युगादिरपि यस्य यत्र व्यापारो रुढस्तत्र वाच्यस्तत्कथंभूतं हस्तदण्डादिकमित्याह । अवमानसंज्ञयोपलक्षितमिति गाथार्थः । एतेनावमानप्रमाणेन किं प्रयोजनमित्यादिभावितार्थमेव । नगरं ख्यातं कूपादिचितं त्विष्टिकादिरचितं प्रासादपीठादिककचितं करपत्रविदारितं काष्ठादि कटादयः प्रतीता एव । परिक्षेपो भित्यादेरेव परिधिर्नगरपरिखादिर्वा एतेषां खातादिसंज्ञितानामभेदेऽपि भेदविकल्पनया खातादिविषयाणां द्रव्याणां खातादीनामेवेति तात्पर्यम् । अवमानमेव प्रमाणं तस्य निर्वृत्तिलक्षणं भवतीति तदेतदवमानमिति निगमनम् । अनु० । आ०म०प्र० । स्था० । प्रवेशे च। "णिति ओमाणाइं" नित्वम् (ओमाणंति) प्रवेशः स्वपक्षपरपक्ष-योर्येषां तानि । आचा०२श्रु०१अ०१उ०।

ओमिय-त्रि०(अवमित) परिच्छिन्ने, सू०प्र०९पाहु०।

ओमुद्धग-त्रि०(अवमूर्द्धक) अधोमुखे, "ओमुद्धगा धरणितले पडंति" सूत्र०१ श्रु०५ अ०।

ओमुयंत-त्रि० (अवमुञ्चत्) परिदधति, कल्प०।

ओमोय-पुं०(अवमोक) अवमुच्यते परिधीयते यः स अवमोकः आभरणे, भ०११ श०११ उ०।

ओमोयरिय-न०(अवमौदरिक) अवममूनमुदरं यस्मिंस्तदव-मोदरं तत्र भवमवमौदरिकम् । बाह्यतपोभेदे, उत्त०३० अ० । आचा० । न्यूनोदरतायाम्, आचा०१ श्रु०६ अ०२ उ० । दुर्भिक्षे, ओ० । व्य० । "असिवे ओमोयरिए रायदुट्ठे भए य गेलण्णे" । नि० चू०१ उ० ।

ओमोयरिया-स्त्री० (अवमोद (रता) रिका) अवममूनमुदरं यस्य सोऽवमोदरः । अवमं चोदरमवमोदरं तद्भावोऽवमोदरता । प्राकृत-त्वात् । अवमोदरस्य वा करणमवमोदरिका । व्युत्पत्तिरेवेयमस्य प्रवृत्तिस्तूनतामात्रे । बाह्यतपोभेदे, स्था०३ ठा० । आच० । सा च द्रव्यस्य उपकरणभक्तपान-विषया प्रतीता भावतस्तु क्रोधादि-त्यागः । स्था०६ ठा० । पा० । (विशेषतो वर्णनं साक्षात्सूत्रेरेव व्यासेन ऊनोदरताशब्देऽदर्शि । ऊनोदरता-शब्दस्यैतत्पर्यायत्वात्) धर्मधर्मिणोरभेदात्साधौ च । "चउब्बीसं कुक्कुडीअंडगप्पमाणे जाव आहारमाणे ओमोयरिया" अवमोदरिका भवति धर्मधर्मिणोरभेदाद् वा अवमोदरिका साधुर्भवतीति गम्यम् भ०७ श०१ उ०।

ओम्बाल-धा० (छद्-णिच्) छादने, छदेर्णेर्णुमनूमसन्नूमढक्कौम्बालपव्वालाः ८।४।२। छदेर्ण्यन्तस्यैते षमादेशा भवन्ति इत्योम्बालादेशः । ओम्बालइ। छादयति । प्रा० ॥

प्लव-इ-णिच्-धा० प्लवने । प्लावेरोम्बालपव्वालौ ८।४।४१। इति प्लवतेर्ण्यन्तस्य एतावादेशौ वा भवतः । ओम्बालइ। प्लावयति । प्रा० ।

ओय-न०(ओकस्) निवासे, संभलिविणोयकेयणवेलवणं । व्य० द्वि०५ उ०।

ओज-त्रि०ओज-अच्-एके, असहाये, सूत्र०१ श्रु०४ अ० । आचा० । द्रव्यतः परमाणौ, भावतस्तु रागद्वेषवियुते, । "ओएसयाणरज्जेज्जा भोगकामी पुणो विरज्जेज्जा" सूत्र०१ श्रु०४ अ० । आचा० । खेत्तोयं कोलायं, करणमिणं साहओ उवाओ यं । कत्तत्तियजोगितियइय कमजोगी वियाणाहि" । योन रागे न द्वेषे किं-तु तुलादण्डवद्द्वयोरपि मध्ये प्रवर्तते स ओजो भण्यते । क्षेत्रेऽध्वादौ ओजाः क्षेत्रौजाः । काले अवमौदर्यादौ ओजाः कालौजाः। क्षेत्रे काले च प्रतिसेवमानो न रागद्वेषाभ्यां दूष्यत इत्यर्थः । वृ०१ उ० । रागद्वेषरहिते चित्ते । दशा०५ अ० । विषमराशौ । पुं० । इह गणितपरिभाषया समराशिर्युग्म इत्युच्यते विषमस्तु ओजः । स्था०४ ठा० ।

ओजस्-न०-असुन्-*बलोपे गुणः* । मानसावष्टम्भे, नि० । ज्ञा० । शारीरे, । विद्यादिसत्के वा बले, । आचा१ श्रु०३ अ०१ उ० । प्रकाशे, चं० प्र०५ पाहु० । सू० प्र० । दाहापनयनादिस्वकार्यकरणशक्तौ, ज्ञा०१० अ० । शस्त्रादिकौशल्ये, धातुतेजसि, । ज्ञानेन्द्रियाणां पाटवे, गौड्यां रीत्याम् "भ्रमरैः फलपुष्पेभ्यो, यथा संभ्रियते मधु । तद्वदोजः शरीरेभ्यो, धातुभिः श्रियते नृणां हृदि तिष्ठति यच्छुद्धमीषदुष्णं सपित्तकम् । ओज शरीरे संख्यातं, तन्नाशाभासमृच्छति" । इत्युक्तलक्षणे धातुरसपोषके वस्तुभेदे, । वाच० । शुक्रशोणितसमुदाये, तं० । उत्पत्तिदेशे आहतयोग्यपुद्गलसमूहे, प्रज्ञा०८ पद । आर्तवे, स्त्रीसंबन्धिनि रक्ते, । "अप्पसुक्कं बहू ओयं इत्थी तत्थप्प जायइ । अप्पओयं बहू सुक्कं पुरिसो तत्थ जायइ" स्था०४ ठा० । रसस्याङ्गित्वमासस्य धर्माः शौर्यादयो यथा । एवमाधुर्यमोजोऽथ प्रसाद इति ते त्रिधा । इति गुणान् विभज्य तत्तल्लक्षणमुक्तम् । ओजश्चित्तस्य विस्ताररूपं दीप्तत्वमुच्यते । वीरवीभत्सरौद्रेषु क्रमेणाधिक्यमस्य तु" इति तद्व्यञ्जकवर्णादयश्च तत्रोक्ताः "वर्गस्याद्यतृतीयाभ्यां युक्तौ वर्णौ - तदन्तिमौ । उपर्य्यधो द्वयोर्वास्यात् रेफः टठडढैः सह । शकारश्च षकारश्च तस्य व्यञ्जकतां गताः । तथा समासबहुला घटनौद्धत्यशालिनी" इति । वाच० ।

ओयंसि (ण्)-त्रि०(ओजस्विन्) ओजो मानसावष्टम्भस्तद्वानोजस्वी । ज्ञा०१ अ० । नि० । मानसावष्टम्भयुक्ते, । भ०२५श०३ उ० । मानस-बलोपेते, स० ॥ आचा० । "आरोहपरिणाह चियमंसो इंदियापतिपुरस्तं" अह उउ तेउ पुण होइ अणो तप्पया देहो" आरोहो नामशारीरेण नातिदैर्घ्यनातिह्रस्वता परिणाहो नातिस्थौल्यं नातिदुर्बलता अथवा आरोहः शरीरोच्छ्रयः परिणाहो बाह्वोर्विष्कम्भ एतौ द्वावपि तुल्यौ न हीनाधिकप्रमाणौ । (चियमंसोत्ति) भावप्रधानत्वान्निर्देशस्य चितमांसत्वं नाम वपुषि पांशूलिका नावलोक्यते । तथा इन्द्रियाणि च परिपूर्णानि न चक्षुःओत्राद्यवयवविकलतेति भावः । अथैतदारोहादिकमोज उच्यते तद्यस्यास्तीति ओजस्वी । वृ०१उ० । "ओयंसी ओयंसीति वा तेअंसी तेअंसीति वा" आचा०१श्रु०२अ०६उ०।

ओयप्पएसिय-त्रि०(ओजःप्रदेशिक) विषमसंख्यप्रदेशनिष्पन्ने, भ०२५ श०३ उ०।

ओयभूय-त्रि०(ओजोभूत) रागद्वेषविरहिते, । वृ०१ उ०।

ओयरिय-त्रि०(औदरिक) उदरभरणैकचित्ते, तृ०१ उ०।

ओयल्ल-त्रि०(अपदीर्ण) कुण्ठीभूते, ज्ञा०१४ अ०।

ओयविय-त्रि०(ओयविय) विशिष्टपरिकर्मणा परिकार्मिते, आ० म० प्र०। ज्ञा० । जी० । "ओयवियखोमदुगुल्लपडिच्छयणे" । शयनीयानि (ओयवियत्ति) विशिष्टपरिकर्मितं क्षौमं कार्पासिकं दुकूलं वस्त्रं तदेव पट्ट ओयवियक्षौमदुकूलपट्टः स प्रतिच्छदनमाच्छादनं यस्य तत्तथा । रा० । जी० । प्रज्ञा० ।

ओयसंठिइ-स्त्री०(ओजःसंस्थिति) ओजसः प्रकाशस्य संस्थितिरवस्थानम् । प्रकाशावस्थाने, कथमोजसः संस्थितिराख्याता तद्विषयं प्रश्नसूत्रमाह ।

ता कहं तेतोयसंठिती अहिताति वदेज्जा । तत्थ खलु इमातो पणुवीस पडिवत्तीओ पण्णत्ता तो तं जहा तत्थेगे एवमाहंसु ता अणुसमयमेव सूरियस्स ओया अन्ना उप्पज्जाति अण्णावेती आहिताति वदज्जे । १ एगे पुण एवमाहंसु ता अणुमुहुत्तमेव सूरियस्स ओया अण्णा उप्पज्जति अण्णा वेति आहिता० २ एवं एएणं अभिलावेणं ता अणुराइंदितमेव सूरि०३ ता अणुपक्खमेव सूरि०४ ता अणुमासमेव सूरि०५ ता अणुउ-उमेव सूरि०६ ता अणुअयणमेव सूरिय०७ ता अणुसंवच्छ-रमेव सूरि०८ ता अणुवाससमेव सूरि०९ ता अणुवाससयमेव सूरि०१० ता अणुवाससहस्समेव सूरि०११ ता अणुवास-सयसहस्समेव सूरि०१४ ता अणुपुव्वसहस्समेव सूरि०१५ ता अणुपुव्वसत-सहस्समेव सूरि०१६ ता अणुपलितोवममेव सूरि०१७ ता अणुपलितोवमसयमेव सतसूरि०१८ ता अणुपलितोवम-सहस्समेव सूरि०१९ ता अणुपलितोवमस-तसहस्समेव सूरि ०२० ता *अणुसागरोवममेव सूरि०२१ ता अणुसागरावमसतमेव* सूरि०२२ ता अणुसागरोवमसह-स्समेव सूरि०२३ ता अणुसागरोवमसतसहस्समेव सूरि० एगे एव०२४ एगे पुण ता अणुउस्सप्पिणी २ मेव सूरियस्स ओआ अण्णा उपज्ज इ अण्णा वित्ति आहियाति वएज्जा एगे एवमाहंसु ॥२५॥

(ता कहं तेओयत्ति) ता इति पूर्ववत् कथं केन प्रकारेण किं सर्वकालमेकरूपावस्थायितया उतान्यथा ओजसः प्रकाशस्य संस्थितिरवस्थानमाख्याता इति वदेत् । एवमुक्ते भगवानेतद्विषये यावत्यः प्रतिपत्तयः सम्भवन्ति तावतीः कथयति (तत्थेत्यादि) यत्र ओजसः संस्थितौ विषये खल्विमाः पञ्चविंशतिः प्रतिपत्तयः प्रज्ञप्तास्तद्यथा । तत्र तेषां पञ्चविंशतेः परतीर्थिकानां मध्ये एके वादिन एवमाहुः । ता इति पूर्ववत् । अनुसमयं प्रतिक्षणमेव सूर्यस्यौजोऽन्यदुत्पद्यते अन्यदपैति । किमुक्तं भवति प्रतिक्षणं सूर्यस्यौजः प्राक्तनं भिन्नप्रमाणं विनश्यति । अन्यदेव प्राक्तनाद्विन्नात्प्रमाणमोज उत्पद्यते सूत्रे च ओजःशब्दस्य स्त्रीत्वेन निर्देशः प्राकृतत्वादार्षत्वाद्वा:, अत्रोपसंहारः, ता एगे एवमा हंसु १ एके पुनरेवमाहुः । ता इति पूर्ववत् अनुमुहूर्तमेव सूर्यस्यौजोऽन्यदुत्पद्यते अन्यत्प्राक्तनमपैति इत्याख्यातमिति वदेत् । अत्रोपसंहारः एगे एवमाहंसु २ "एवमित्यादि" एवमुक्तेन प्रकारेण एतेन वक्ष्यमाणेन प्रतिपत्तिजातेन नेतव्यन्तानेवाभिलापविशेषान् दर्शयति । "ता अणुराइंदियमेवेत्यादि" सुगमं नवरं रात्रिदिवसमित्येवं सर्वत्र विग्रहभावना करणीया पाठः पुनरेवं सूत्रस्य वेदितव्यः ॥ "एगे एवमाहंसु ता अणुराइंदियमेव सूरियस्स ओया अण्णा उववज्जइ अण्णा अवेइ आहियत्ति वएज्जा एगे एवमाहंसु ३ एगे पुण एवमाहंसु ता अणुपक्खमेव सूरियस्स ओया अण्णा उप्पज्जइ अन्ना अवेइ आहियत्ति वएज्जा एगे एवमाहंसु ४ एगे पुण एवमाहंसु ता अणुमासं एव सूरियस्स ओयाअण्णा उप्पज्जइ अन्ना अवेइ आहियत्ति वएज्जा एगे एवमाहंसु ५ एगे पुण एवमाहंसु ता अणुउउमेव सूरियस्स अण्णा ओया उप्पज्जइ अन्ना अवेति आहियत्ति वएज्जा एगे एवमाहंसु ६ एगे पुण एवमाहंसु ता अणुअयणमेव सूरियस्स ओया अण्णा उप्पज्जइ अण्णा अवेइ आहियत्ति वएज्जा एगे एवमाहंसु ७ एगे पुण एवमाहंसु ता अणुसंवच्छरमेव सूरियस्स अन्ना ओया उप्पज्जइ अन्ना अवेति आहियत्ति वएज्जा एगे एवमाहंसु।८। एगे पुण एवमाहंसु ता अणुवासमेव सूरियस्स ओआ अण्णा उप्पज्जइ अण्णा अवेइ आहियत्ति वएज्जा एगे एवमाहंसु ९ एगेपुण एवमाहंसु ता अणुवाससस्त्ययमेव सूरियस्स ओआ अण्णा उप्पज्जइ अण्णा अवेइ आहियत्ति वएज्जा एगे एवमाहंसु १० एगे पुण एवमाहंसु ता अणुवाससहस्समेव सूरियम्स ओया अण्णा उप्पज्जइ अण्णा अवेइ आहियत्ति वएज्जा एगे एवमाहंसु ११ एग पुण एवमाहंसु ता अणुवाससयसहस्समेव सूरियस्स अण्णा ओआ उप्पज्जइ अण्णा अवेइ आहियत्ति वएज्जा एगे एवमाहंसु १२ एगे पुण एवमाहंसु अणु पुव्वमेव सूरियस्स अण्णा ओय उप्पज्जइ अण्णा अवेइ आहियत्ति वएज्जा एगे एवमाहंसु १३ एगे पुण एवमाहंसु ता अणुपुव्वसयमेव सूरियस्स ओया अण्णा उप्पज्जइ अण्णा अवेइ आहियत्ति वएज्जा एगे एवमाहंसु १४ एगे पुण एवमाहंसु ता अणुपुव्वसहस्समेव सूरियस्स ओया अण्णा उप्पज्जइ अण्णा अवेइ आहियत्ति *वएज्जा एगे एवमाहंसु १५ एगे पुण एवमाहंसु ता अणुपुव्वसयहसहस्समेव* सूरियस्स ओया अण्णा उप्पज्जइ अण्णा अवेइ आहियत्ति वएज्जा एगे एवमाहंसु १६एगे पुण एवमाहंसु ता अणुपलिओवममेव सूरियस्स ओया अण्णा उप्पज्जइ अन्ना अवेइ आहियत्ति वएज्जा एगे एवमाहंसु १७ एगे पुण एवमाहंसु ता अणुपलिओवमसयमेव सूरियस्स ओया अण्णा उप्पज्जइ अणा अवेइ आहियत्ति वएज्जा एगे एवमाहंसु १८ एगे पुण एवमाहंसु ता अणुपलिओवमसहस्समेव सूरियस्स अण्णा ओया उप्पजइ अण्णा अवेइ आहियत्ति वएज्जा एगे एवमाहंसु १९ एगे पुण एवमाहंसु ता अणुपलिओवमसयसहस्समेव सूरियस्स ओया अण्णा उप्पज्जइ अण्णा अवेइ आहियत्ति वएज्जा एगे एवमाहंसु २० एगे पुण एवमाहंसु ता अणुसागरोवममेव सूरियस्स ओया अन्ना उप्पजइ अण्णा अवेइ आहियत्ति वएज्जा एगे एवमाहंसु २१ एगे पुण एवमाहंसु ता अणुसागरोवमसयमेव सूरियस्स अण्णा ओया उप्पजइ अण्णा अवेइ आहियत्ति वएज्जा एगे एवमाहंसु २२ एगे पुण एवमाहंसु ता *अणु-सागरोवमसहस्समेव सूरियस्स* ओया अण्णा उप्पज्जइ अण्णा अवेइ आहियत्ति वएज्जा एगे एवमाहंसु २३ एगे पुण एवमाहंसु ता अणु *सागरोवमसयसहस्समेव सूरियस्स ओया अण्णा* उप्पजइ अण्णा अवेइ आहियत्ति वएज्जा एगे एवमाहंसु २४ एगे पुण एवमाहंसु

ता अणुउसप्पिणि २ मेव सूरियस्स ओया अण्णा उप्पज्जइ अण्णा अवेइ आहियत्ति वएज्जा एगे एवमाहंसु" २५ एताश्च प्रतिपत्तयः सर्वा अपि मिथ्यारूपाः अत एतासामपोहेन भगवान् स्वमतमुपदर्शयति।

वयं पुण एवंवयामो ता तीसं मुहुत्तं सूरितस्स ओयातो अव-ट्ठिताओ भवति तेण परं सूरियस्स ओता अणवट्ठिता भवति छम्मासे सूरिये ओमं णिव्वुड्ढितिछम्मासे सूरिए ओयं अभिव-ड्ढेति तिक्खममाणेसूरिए ओयं निव्वुड्ढेति पविसमाणे सूरिए ओयं आभिवड्ढेति तत्थ णं को हेतू ति वदेज्जा ॥

(वयं पुण इत्यादि) वयं पुनरेवं वक्ष्यमाणप्रकारेण वदामस्तमेव प्रकारमाह (ता तीसमित्यादि) ता इति पूर्ववत् जम्बूद्वीपे प्रतिवर्ष परिपूर्णतया त्रिंशतं त्रिंशन्मुहूर्तान् यावत्सूर्यस्य ओजः प्रकाशोऽवस्थितं भवति। किमुक्तं भवति सूर्यसंवत्सरपर्यन्ते यदा सूर्यः सर्वाभ्यन्तरे मण्डले चारं चरति तदा सूर्यस्य जम्बूद्वीपगतौजः परिपूर्णप्रमाणां त्रिंशन्मुहूर्तान् यावत्सूर्यस्य ओजः प्रकाश उद्व-वति (तेण परंति) ततः परं सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलात् परमित्यर्थः। सूर्यस्यओजोऽनवस्थितं भवति। कस्मादनवस्थितं भवतीति चेदत आह (छम्मासे इत्यादि) यस्मात्कारणात्सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलात् परतः प्रथमात् सूर्यसंवत्सरसत्कान् षण्मासान् यावत्सूर्यो जम्बूद्वीपगतमोजः प्रकाशं प्रत्यहोरात्रमेकैकस्य त्रिंशदधिकाष्टादशशतसंख्यभागसत्कस्य भागस्य हापनेन निर्वेष्टयति हापयति। तदनन्तरं द्वितीयान् षण्मासान् सूर्यसंवत्सरसत्कान् यावत्सूर्यः प्रत्यहोरात्रमेकैकत्रिंशदधिकाष्टादशशत-संख्यभागसत्कभागवर्धनेन ओजः प्रकाशमभिवर्धयति। एतदेव व्यक्तं व्याचष्टे। (निक्खममाणे इत्यादि) सुगमं। तेनोच्यते सर्वाभ्यन्तरे मण्डले परिपूर्णतया त्रिंशन्मुहूर्तान् यावत् अवस्थितं सूर्यस्य ओजः ततः परमनव-स्थितमिति। एतदेव वैतत्येन विभावयिषुः प्रश्नसूत्रमुपन्यस्यति (तत्थेत्यादि) तत्र एवंविधायां वस्तुव्यवस्थायां को हेतुः का उप-पत्तिः इति वदेत् भगवानाह।

**ता अयणं जबुद्दीवे दीवे जाव परिक्खेवेणं ता जता णं सूरिए सव्वब्भंतरं मंडलं उवसंकामेत्ता चारं चरति। तता णं उत्तम-कट्ठा पत्ता अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवति। जहण्णिया दुवालसमुहुत्ता राती भवति से णिक्खमणाणे सूरिए णवसंवच्छरं अयमाणे पढमंसि अहोरत्तंसि अब्भंतराणंतरं मंडलं जाव चारं चरति ता जता णं एगभागं ओत्ताए एगेणं रातिंदिएणं दिवसखेत्तस्स णिबुड्ढेत्ता एति खेएस्स अभिवड्ढित्ता चारं चरति अट्ठारसहिं तीसेहिं सएहिं मंडलं छेत्ता तता णं अट्ठारसमुहूत्ते दिवसे भवति दोहिं एगट्ठि भागे ऊणे दुवालसमुहुत्ता राती भवति। दोहिं अहिया से णिक्खममाणे सूरिए दोचंसि अहोरत्तंसि अब्भंतरं तच्च मंडलं जाव चारं चरति ता जया णं सूरिए अब्भंतरं तच्च मंडलं जाव चारं चरति। तता णं दो भागे उयाए दोहिं रातिंदिएहिं दिवसखेत्तस्स णिव्वुड्ढित्ता रातिक्खेत्तस्स अभिवड्ढित्ता चारं चरति अट्ठारसहिं तीसेहिं सतेहिं मंडलं छेत्ता तता णं अट्ठा रसदिवसे चउहिं ऊणे दुवालसराती भवति। चउहिं अहिता एवं खलु एएणं उवाएणं णिक्खममाणे सूरिते तता णं तएतो तताणंतरं मंमलातो मंडलं संकममाणे २ एगमेगं भागं ओयाए एगमेगं मंडले एगमेगेणं रातिंदिएणं दिवसे खेत्तस्स णिव्वुड्ढेमाणे १ अभिव-ड्ढेमाणे १ सव्वबाहिरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति ता जता णं सूरिए सव्वब्भंतरातो मंडलातो सव्वबाहिरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति तता णं सव्वब्भंतरं मंडलं पणिहाए एतेणं ते सीतेणं रातिंदिवसं तेणं एगंते सीतं ता एगसयं उयाए दिवसखेत्तस्स णिव्वुड्ढित्ता रातिखेत्तस्स अभिवड्ढित्ता चारं चरति अट्ठारसहिं तीसेहिं मंडल छेत्ता तता णं उत्तमकट्ठपत्ते उक्कोसं अट्ठारसमुहुत्ता राती भवति जहण्णिए दुवालसमुहुत्ते दिवसे भवति एसणं पढमे छम्मासे एसणं जाव पज्जवसाणो से पविसमाणे सूरिए दोचं छम्मासं अयमाणे पढमंसि अहोर-त्तंसि बाहिएणंतरं मंडलं उवसकमित्ता चारं चरति। ता जता णं सूरिए बाहिएणंतरं मंडलं जाव चारं चरति तता णं एगं भागं ओआए एगेणं रातिंदिएणं रातिखेत्तस्स णिव्वुड्ढित्ता दिवसखेत्तस्स अभिवड्ढित्ता चारं चरति। अट्ठारसहिं तीसेहिं सएहिं मंडलं छेत्ता तता णं अट्ठारसमुहुत्ता राती दोहिं ऊ णा दुवालसमुहुत्ते दिवसे दोहिं अहिए से पविसमाणे सूरिए दोच्च-सिं अहोरत्तंसि बाहिरं तच्चं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति ता जता णं सूरिए बाहिरं तच्चं मंडलं जाव चारं चरति। तता णं दो भाए ओयाए दोहिं रातिंदिएहिं रातिखेत्तस्स निव्वुड्ढित्ता दिवसखेत्तस्स अहिवड्ढित्ता चारं चरति। अट्ठारसहिं तीसेहिं सएहिं मंडलं छेत्ता तता णं अट्ठारसराती चउऊणा दुवाल-समुहुत्ते दिवसे चउअहिए एवं खलु एएणं उवाएणं पविसमाणे सूरिए तताणंतरातो तताणंतरं मंडलाओ मंडलं संकममाणे१ एगमेगं भागं उयाए एगमेगं मंडलं गमेगेणं रातिंदिएणं रातिखेत्तस्स णिव्वुड्ढेमाणे १ दिवसखेत्तस्स अभिवड्ढेमाणे १ सव्वब्भंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति। ता जता णं सूरिए सव्वबाहिरातो मंडलातो सव्वब्भंत-रमंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति तता णं सव्वबाहिरं मंडलं पणिहाए एगेणं तीसेणं रातिंदियसत्तेणं एगंते तीसभागसतं। ओताए रातिखेत्तस्स णिव्वुड्ढेता दिवसे खेत्तस्स अभिवड्ढेता चारं चरति अट्ठारसहिं तीसेहिं मंडलं छेत्ता तता णं उत्तमकट्ठपत्ते उक्कोसे अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवति जहण्णिया दुवालसमुहुत्ता राती भवति एसणं दोच्चे छम्मासे एसणं जाव पज्जवसाणे एसणं आदिच्चेसंवच्छरे एसणं आइच्चसंवच्छरस्स जाव पज्जवसाणे (छट्ठं पाहुडं सम्मत्तं) ता

के ते सूरिए चरयति आहितेति वदेज्जा तत्थ खलु इमा ता वीसं पडिवत्तीओ पण्णत्ताओ तत्थ खलु एगे एवमाहंसु ता मंदरेणं पव्वते सूरियं चरयति आहितेति वदेज्जा एगे एव०१ एगे पुण ता मेरूणं पव्वते सूरितं चरयति ।२। आहिएति एवं एतेणं अभिलावेणं जाव वीसतिमापडिवत्ती जाव ता पव्वतरायाणं पव्वते सूरित चरयति। आहितेति वदेज्जा एगे एवमाहंसु वयं पुण एवं वयामो ता मंदरे वि य वुच्चति मेरु वि य वुच्चति एवं जाव पव्वतराया य वुच्चति। ता जेणं पोग्गला सूरियस्स लेसं फुसंति तेणं पोग्गला सूरियं चरति। अण्णट्ठावि णं पुग्गला सूरियं चरति। चरिमल्ले संतरगतावि णं पोग्गला सूरियं चरयति। आहितेति वदेज्जा ॥

(ता अयणमित्यादि) इदं जम्बूद्वीपवाक्यं पूर्ववत् परिपूर्णं पठनीयं व्याख्यानीयं च (ता जया णमित्यादि) तत्र यदा सूर्यः सर्वाभ्यन्तरमण्डलमुपसंक्रमे चारं चरति तदा उत्तमकाष्ठा प्राप्ता। उत्कर्षतोऽष्टादशमुहूर्तो दिवसो भवति। जघन्या च द्वादशमुहूर्ता रात्रिः। सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलादुक्ताप्रकारेण निष्क्रामन् सूर्यो नवं संवत्सरमाददानो नवस्य संवत्सरस्य प्रथमेऽहोरात्रे अभ्यन्तरानन्तरं द्वितीयमण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति (ता जया णमित्यादि) तत्र यदा सूर्यः सर्वाभ्यन्तरानन्तरं द्वितीयमण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति तदा एकेन रात्रिन्दिवेन सर्वाभ्यन्तरमण्डलगतेन प्रथमक्षणादूर्ध्वं शनैः शनैः कलामात्रहापनेनाहोरात्रपर्यन्ते एकभागमोजसः। प्रकाशस्य दिवसगतक्षेत्रगतस्य निर्वेष्ट्य हाथयित्वा तमेव चैकं भागं रजनिक्षेत्रस्याभिवर्धयित्वा चारं चरसि। कियत्प्रमाणं पुनर्भागं दिवसक्षेत्रगतस्य प्रकाशस्य हापयित्वा रजनिक्षेत्रस्य वर्धयित्वा तत आह। मण्डलस्य अष्टादशभिस्त्रिंशदधिकैः स्थित्वा किमुक्तं भवति। द्वितीयमण्डलमष्टादशभिस्त्रिंशदधिकैर्भागशतैर्विभज्य तत्सत्केमेकं भागमिति। कस्मात्पुनर्मण्डलस्याष्टादशशतानि त्रिंशदधिकानि भागानां परिकल्पन्ते। उच्यते इहैकैकं मण्डलं द्वाभ्यां सूर्याभ्यामेकेनाहोरात्रेण परिभ्रम्यापूर्यते अहोरात्रश्च त्रिंशन्मुहूर्तप्रमाणः प्रतिसूर्यं वाऽहोरात्रगणने परप्रार्थतो द्वौ अहोरात्रौ भवतः। द्वयोश्चाहोरात्रयोः षष्टिर्मुहूर्ताः ततो मण्डलं प्रथमतः षष्ट्या भागैर्विभज्यते निष्क्रामन्तौ च सूर्यौ प्रत्यहोरात्रं प्रत्येकं द्वौ द्वौ मुहूर्तकषष्टिभागौ हापयतः। प्रविशन्तौ च अभिवर्धयतः। यौ च द्वौ मुहूर्तैकषष्टिभागौ समुदितौ। एकसार्द्धत्रिंशत्तमो भागस्ततः षष्टिरपि भागाः सार्द्धया त्रिंशता गुण्यन्ते जातान्यष्टादशशतानि त्रिंशदधिकानि भागानाम्। एवं निष्कामन् सूर्यः प्रतिमण्डलं त्रिंशदधिकाष्टादशशतसंख्यानां भागानां सत्कमेकैकं भागं दिवसक्षेत्रगतस्य हापयन् रजनिक्षेत्रस्याभिवर्द्धयन् तावद्वक्तव्यो यावत्सर्ववादरमण्डले त्र्यशीत्यधिकं भागशतं दिवसक्षेत्रगतस्य प्रकाशस्य हापयिता रजनिक्षेत्रस्य चाभिवर्धयिता भवति। त्र्यशीत्यधिकं च भागशतमष्टादशशतानां त्रिंशदधिकानां दशमो भागस्ततः सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलात् सर्वबाह्यमण्डले जम्बूद्वीपचक्रवालदशभागस्त्रुट्यति रजनिक्षेत्रस्याभिवद्धते इति यत् प्रागाभिहितं तदपि समीचीनं जातमिति। एवमभ्यन्तरं प्रविशन् प्रतिमण्डलष्टादशशतभागानां त्रिंशदधिकानां सत्कमेकैकं भागमभिवर्धयन् तावद्वक्तव्या यावत्सर्वाभ्यन्तरे मण्डले त्र्यशीत्यधिकं भागशतं दिवसक्षेत्रगतस्य प्रकाशस्याभिवर्धयति। रजनिक्षेत्रस्य च हापयति त्र्यशीत्यधिकं च भागशतं जम्बूद्वीपचक्रवालस्य दशमभागः। ततः सर्वबाह्यान्मण्डलात्सर्वाभ्यन्तरे मण्डले दिवसक्षेत्रगतस्य प्रकाशस्यैको दशमश्चक्रवालभागोऽभिवर्धते रजनिक्षेत्रस्य त्रुट्यतीति यत् प्रागवादि तदविरोधे इति सूत्रं तु "तया णं अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे इत्यादिकं" सकलमपि प्राभृतपरिसमाप्तिं यावत् सुगमम्। नवरमेवमत्रोपसंहारो यत एवं सूर्यचारस्ततः प्रतिसूर्यं सूर्यसंवत्सरपर्यन्ते सर्वाभ्यन्तरे मण्डले त्रिंशतं त्रिंशन्मुहुर्तान् यावदवस्थितं परिपूर्णमोजः ततः परमनवस्थितम्। सर्वाभ्यन्तरे च मण्डले त्रिंशतं मुहूर्तान् यावत्परिपूर्णमवस्थितमोज उच्यते व्यवहारतो निश्चयतः पुनरस्तत्रापि क्षणादूर्ध्वं शनैः शनैः हीयमानमवसेयम्। प्रथमक्षणादूर्ध्वं सूर्यस्य सर्वाभ्यन्तरानन्तरं द्वितीयमण्डलाभिमुखं चारचरणादिति (षष्ठं प्राभृतं समाप्तम्) तदेवमुक्तं षष्ठं प्राभृतं संप्रति सप्तममारभ्यते। तस्य चायमर्थाधिकारः कस्ते तव मतेन भगवन्। सूर्यं चरयतीति तत एतद्विषयं प्रश्नसूत्रमाह। "ता के इत्यादि" ता इति पूर्ववत्। कस्ते तव मतेन भगवन्! सूर्य चरयति चरयन् चर ईप्सायां आप्तुमिच्छन् स्वप्रकाशत्वेन स्वीकुर्वन् आख्यात इति वदेत् एवमुक्ते भगवानेतद्विषये यावत्यः परतीर्थिकानां प्रतिपत्तयः तावतीः कथयति (तत्थेत्यादि) तत्र सूर्यः प्रतिचरन् विषये खल्विमा विंशतिप्रतिपत्तयः प्रज्ञप्ताः। तद्यथा तत्र तेषां विंशते अपरतीर्थिकानां मध्ये एके प्रथमा एवमाहुः। मन्दरपर्वतः सूर्यं चरयति मन्दरपर्वतो सूर्येण मण्डलं परिभ्रम्य सर्वतः प्रकाश्यते ततः सूर्यः प्रकाशयन् चरयतील्युच्यते। अत्रोपसंहारः (एगे एवमाहंसु) एके पुनरेवमाहः। मेरुपर्वतः सूर्यं चरयन् आख्यात इति वदेत् अत्राप्युपसंहारः (एगे एवमाहंसु) एवमित्यादि। एवमुक्तप्रकारेण लेश्या-प्रतिहतिविषयप्रतिपत्तिवत् तावन्नेतव्या यावद्विंशतितमा प्रतिपत्ति सा चैवं (पव्वयरायाणमित्यादि) पर्वतराजः पर्वतः सूर्यं चरयन् आख्यात इति वदेत् एके एवमाहुरिति किमुक्तं भवति यथा प्राक् लेश्याप्रतिहतिविषयविंशतिप्रतिपत्तयो येन क्रमेणोक्ताः तेन क्रमेणात्रापि वाच्याः। सूत्रपाठोऽपि प्रथमप्रतिपत्तिगतपाठानुसारेण स्वयमन्यूनातिरिक्तः परिभावनीयो ग्रन्थगौरवभयात्तु न लिख्यते तदेवमुक्ताः परतीर्थिकप्रतिपत्तयः। संप्रति भगवान् स्वमतमुपदर्शयति (वयं पुण इत्यादि) वयं पुनरेवं वक्ष्यमाणप्रकारेण वदामस्तमेव प्रकारमाह (ता मंदरे वि इत्यादि) ता इति पूर्ववत्। योऽसौ पर्वतः सूर्यं चरयन् आख्यातः स मन्दरोऽप्युच्यते यावत्पर्वतराजोऽप्युच्यते। एतच्च प्रागेव भावितं ततो भिन्नभिन्नविषयतया प्रवृत्ताः प्राक्तन्यः प्रतिपत्तयः सर्वा अपि मिथ्यारूपा अवगन्तव्याः। अपि च न केवलं मेरुरेव सूर्यं चरयति किंत्वन्येऽपि पुरुलास्तथाचाह (ता जे णमित्यादि) ता इति पूर्ववत् ये णमिति वाक्यालङ्कारे पुद्गला मेरुगता अमेरुगता वा सूर्यस्य लेश्याः स्पृशन्ति ते पुद्गलाः स्वप्रकाशकत्वेन सूर्यं चरयन्ति। ईप्सितं हि सूर्येण प्रकाश्यते। ततो लेश्याः पुद्गलैः सह संबन्धात्परंपरतया तैः सूर्यं स्वीकुर्वन्तीत्युच्यन्ते। ये च प्रकाश्य मानपुद्गलाः पुद्गला स्कन्धान्तर्गता मेरुगता वा सूर्येण प्रकाशिता अपि सूक्ष्मत्वाच्चक्षुःस्पर्शमुपगच्छन्ति तेऽपि प्रागुक्तयुक्त्या सूर्यं चरयन्ति येऽपि च चरमलेश्यान्तर्गताः चरमलेश्या विशेषसंस्पर्शिनः पुद्गलास्तेऽपि सूर्यं चरयन्ति तेषामपि सूर्येण प्रकाश्यमा-

नत्वात्। (इति सप्तमं प्राभृतं समाप्तम्) चं० प्र०७ पाहु०।

ओयाय-त्रि०(उपयात) उपागते, "पोयवहणेणं लवणसमुहं ओयाए"। ज्ञा०१अ०।

ओयारग-त्रि०(अवतारक) प्रवर्त्तके, "मोक्खपहोयारगा" मोक्षपथावतारकौ सम्यग्दर्शनादिषु प्राणिनां प्रवर्त्तकावित्यर्थः।सम०। ओयावइत्ता-ओजयित्वा-अव्व० ओजो बलं शरीरं विद्यादिसत्कं वा तत्कृत्वा प्रदर्श्य दीयतेऽस्मा ओजयित्वेत्यभिधीयते। प्रव्रज्याभेदे, स्था०४ ठा०।

ओयाहार-पुं०(ओजाहार) भावाहारभेदे, सूत्र०२ श्रु०३अ०। (सरीरेणोयाहारो इति तल्लक्षणमाहारशब्दे-व्याख्यातम्)।

ओरस-धा०(अवतृ) भ्वा०-प० अवतरणे, "अवतरेरोहओर-सौ" ८।४।४५। इति ओरसादेशः। ओरसइ ओअरइ। अवतरति। प्रा०।

उपरस-त्रि० उपगतो जातो रसः पुत्रस्नेहलक्षणो वा यस्या सावु-परसः अपत्यस्नेहयुक्ते, स्था१० ठा०॥

ओरस-त्रि० उरसि वा हृदये स्नेहाद्वर्त्तते यःस औरसः।स्था०१० ठा०। स्वयमुत्पादिते पुत्रादौ, उत्त०१ अ०। सूत्र०।

ओरस (उरस्स)बलसमण्णगय-त्रि०(औरस-(उरस्य) बलसम-न्वागत) उरसि भवमुरस्यम् (औरसं) तच्च तद्बलं च उरस्यबलं तत्समन्वागतः समनुप्राप्तः उरस्यबलसमन्वागतः। अन्तरोत्साहवीर्ययुक्ते। जी०३ प्रति०।

ओराल-(उदार) ओराल-त्रि०। प्रधाने "ओरालकित्तिवं तसद्दसि लोगा"। स्था०१० ठा०। चन्द्र०। बहुजन्मान्तरसंचिते कर्मणि, सूत्र०१ श्रु०१० अ०। आशंसादोषरहिततयोदारचित्तयुक्ते, स्थूले द्वीन्द्रियादौ, स्था०४ ठा० "से किं तं उरालातसापाणा चउव्विहा पन्नत्ता तं जहा बेइंदिया तेइंदिया चउरिंदिया पंचेंदिा"। जी०१प्रति०। "ओरालं जगतो जोगं विवज्जा संपलितिय" (ओरालमिति) स्थूलमुदारं जगत औदारिकजन्तुग्रामस्य योगं व्यापारं चेष्टामवस्थाविशेषमित्यर्थः। सूत्र०१श्रु०१अ०। "ओरालपोग्गलाणि चलेज्जा" उदारा बादराणि पतेयुर्विश्रसापरि-णामात्ततो विचटेयुरन्यतो वाऽऽगत्य लगेयुर्यन्त्रयुक्तमहोपलवत्। स्था०३ठा०। भीष्मे, उग्रादिविशेषणविशिष्टतपः करणतः पार्श्वस्-थानामलससत्वानां भयानके, चं० प्र०१ पाहु०।

ओरालिय-न०(औदारिक) उदारं प्रधानं प्राधान्यं चास्य तीर्थकरगणधरशरीरापेक्षया ततोऽन्यस्यानुत्तरसुरशरीरस्यापि अनन्तगुणहीनत्वात्। यदा उदारं सातिरेकयोजनसहस्रमानत्वात्। शेषशरीरापेक्षया बृहत्प्रमाणं वृत्ता चास्य वैक्रियं प्रतिभवधारणीयं सहस्रशरीरापेक्षया द्रष्टव्या। अन्यथोत्तरवैक्रियं योजनलक्षमानमपि लभ्यते। उदारमेवौदारिकं विनयादिभ्य इकण् प्रत्ययः (कर्म०) अथवा स्वल्पप्रदेशोपचितत्वात् वृहत्वाच्च भाण्डवदिति अथवा मांसास्थिस्नायुबद्धं यच्छरीरं तत्समयपरिभाषया उरालमिति प्राकृतत्वादोरालियम् (स०) औदारिकशरीरनामकर्मोदयादुदारपुद्गलनिवृत्ते केवल मेकेन्द्रियाणामस्थ्यादिविरहिते वा शरीरभेदे,। स्था०२ ठा०। आव०। कर्म०। इह प्रसिद्धसिद्धान्तसंदोहविवरणप्रकरणप्रमाणग्रन्थनावासुधामधवलयशःप्रसरधवलितसकलवसुन्धरावलयप्रभुश्रीहरिभद्रसूरिदर्शिता व्युत्पत्तिर्लिख्यते। "तत्थ ताव उ दारं उरालं, उरलं ओरालं वा तित्थयरगणधरसरीराइं पडुच्च उदारं वुच्चइ तत उ उदारतरमन्नमन्थितिकाउं" उदारं नाम प्रधानं उरालं नाम विस्तरालं "विसालंति वा जं भणियं होइ कहं साइरेगजोयणसहस्समवट्ठियप्पमाणमोरलियं अन्नमिहहमित्तं नत्थि वेउव्वियं हुज्जलक्खमियं अवट्ठियं पंचधणुसयाइं अहेसत्तमाए इत्थं पुण अवट्ठियपमाणं अइरेगं जोयणसहस्सं" वनस्पत्यादीनामिति उरालं नाम स्वल्पप्रदेशोपचितत्वाच्च भिण्डवत्। उरालं नाम मांसास्थिस्नाय्वाद्यवयवबहुत्वात् श्रीपूज्या अप्याहुः तत्थोदारमुरालमुरलं उरलमहवमहल्लगतेण। ओरालियंति पठमं, पडुच्च तित्थेसरसरीरं।१। भण्णइ य तहोरालं, वित्थरवंतं वणप्फतिं पप्प। पयई इ नत्थि अन्नं, इहहमित्तं विसालंति।२। उरलं घेवपएसो, चियं पिडल्लग जहा भिंडं। मंसट्ठिण्हाउवद्धं, उरालं समयपरिभासी।३। सर्वत्र स्वार्थिक इकप्रत्ययः। उदारमेव उरालमेव उरलमेव ओरालमेव औदारिकं पृषोदरादित्वादिष्टरूपनिष्पत्तिः। कर्म०। दशा०। अनु०। जी०। सूत्र०। प्रज्ञा०। स्था०। प्रव०। आचा०। संप्रत्यौदारिकशरीरस्य जीवजातिभेदतोऽवस्थाभेदतश्च भेदानभिधित्सुराह-

उरालियसरीरेणं भंते ? कइविहे पण्णत्ते ? गोयमा ! पंचविहे पण्णत्ते तं जहा एगिंदियउरालियसीरे जाव पंचिदियउरालियसरीरे। एगेंदियउरालियसरीरेणं भंते ! कइविहे पण्णते ? गोयमा ! पंचविहे पण्णत्ते तं जहा पुढविकाइय एगिंदियउरालियसरीरे जाव वणस्सइकाइय एगिंदियउरालियसरीरे पुढवीकाइय एगिंदियउरालिसरीरेणं भंते ! कइविहे पण्णत्ते ? गोयमा ! दुविहे पण्णत्त तं जहा सुहुमपुढविकाइय एगिंदियउरालियसरीरे य बादरपुढविकाइय एगिंदियउरा-लियसरीरे य सुहुमपुढविकाइय एगिंदियउरालियसरीरेणं भंते ! कतिविहे पण्णते ? गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते तं जहा पज्जत्तगसुमुहपुढविकाइय एगिंदियउरालियसरीरे य अपज्जत्तगसुहुमपुढविकाइय एगिंदियउरालियसरीरे य। बादरपुढविकाइया वि एवं चेव एवं जाव वणस्सइकाइय एगिंदियउरालियसरीरे येति। वेइंदियउरालियसरीरेणं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ? गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते तं जहा पज्जत्ता वेइंदिय-उरालियसरीरे य। अपज्जत्ता बेइंदियउरालियसरीरे य। एवं तेइंदियचउरिंदिया वि। पंचिदियउरालियसरीरेणं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ? गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते तं जहा तिरिक्खजोणियपंचिदियउरालियसरीरे य मणुस्सपंचिदियउरालियसरीरे य। तिरिक्खजोणियपंचिंदियउरालियसरीरेणं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ? गोयमा ! तिविहे पण्णत्ते तं जहा। जलयरतिरिक्खजोणियपंचिदियउरालियसरीरे य। थलयरतिरिक्खजोणियपंचिंदियउरालियसरीरे य। खहयरतिरिक्खजोणियपंचिंदियउरालियसरीरे य जलयरतिरिक्खजोणियपंचिंदियउरालियसरीरेणं भंते ! कतिविहे पन्नत्ते ? गोयमा ! दुविहे पन्नत्ते। तं जहा सम्मुच्छिमजलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियउरालि-

यसरीरे य गब्भवक्कंति य जलयरपंचिंदिय०। सम्मुच्छिमजलयरतिरिक्खजोणियपंचिंदियउरालियसरीरेणं भंते ! कतिविहे पन्नत्ते ? गोयमा ! दुविहे पन्नत्ते तं जहा पज्जत्तगसम्मुच्छिमपंचिंदियतिरिक्खजोणियउरालियसरीरे य। अपज्जत्तगसम्मुच्छिमपंचिंदियतिरिक्खजोणियउरानिलयसरीरे य एवं गब्भवक्कंतिए वि। थलयरतिरिक्खजोणियपंचिंदियउरालियरीरेणं भंते ! कतिविहे पन्नत्ते ? गोयमा ! दुविहे पन्नत्ते तं जहा चउप्पयथलयरतिरिक्खजोणियपंचिंयउरालियसरीरे य परिसप्पथलरतिरिक्खजोणियपंचिंदियउरालियसरीरे य। चउप्पयथलयरतिरिक्खजोणियपंचिंदियउरालियसरीरेणं भंते ! कतिविहे पन्नत्ते ? गोयमा ! दुविहे पन्नते। तं जहा सम्मुच्छिमचउप्पयथलयरतिरिक्खजोणियपंचिंदियउरालियसरीरे य गब्भवक्कंतियचउप्पयथलयरतिरिक्खजोणियपंचिंदियउरालियसरीरे य। सम्मुच्छिमचउप्पयउरालियसरीरे दुविहे पन्नते तं जहा। पज्जत्ता सम्मुच्छिम चउप्पयथलयरतिरिक्खजोणियपंचिंदियउरालियसरीरे य। अप्पज्जत्ता सम्मुच्छिमचउप्पययलयरतिरिक्खजोणियपंचिंदियउरालियसरीरे य। एवं गब्भवक्कंतिए वि परिसप्पथलयरतिरिक्खजोणियपंचिंदियउरालियसरीरेणं भंते ! कतिविहे पन्नत्ते ? गोयमा ! दुविहे पन्नते। तं जहा। उरपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियउरा लियसरीरेय। भुयपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खरिक्खजोणियउरालियसरीरे य। उरपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियउरालियसरीरेणं भंते ! कतिविहे पन्नत्ते ? गोयमा ! दुविहे पन्नते। तं जहा। सम्मुच्छिमउरंपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियउरासियसरीरे य गब्भवक्कंति य उर परिसप्पथलयर०। सम्मुच्छिमे दुविहे पन्नत्ते। तं जहा। अपज्जत्ता सम्मुच्छिमउरपरिसप्पथलयरतिरिक्खजोणियपंचिंदियउरालियसरीरे य। पज्जत्ता सम्मुच्छिमउरपरिसप्प थलयरतिरिक्खजोणियपंचिंदियउरालियसरीरे य। एवं गब्भवक्कंतिए वि। उरपरिसप्पचउभेदो। एवं भुयपरिसप्पा वि। सम्मुच्छिमगब्भवक्कंति य पज्जत्ता य अपज्जत्ता य। खहयरा दुविहा पण्णत्ता। तं जहा। सम्मुच्छिमा य गब्भवक्कंतिया य। सम्मुच्छिमा दुविहा। पज्जत्ता य अपज्जत्ता य। गब्भवक्कंतिया वि। पज्जत्ता य अपज्जत्ता य। मणुस्सपंचिंदियउरालियसरीरेणं भंते ! कतिविहे पन्नत्ते ? गोयमा ! दुविहे पन्नते। तं जहा। सम्मुच्छिममणुस्सपंचिंदियउरालियसरीरे य। गब्भवक्कंतियमणुस्सपं चिंदियउरालियसरीरे य। गब्भवक्कंतियमणुस्स पंचिंदियउरालियसरीरेणं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ? गोयमा ! दुविहे पण्णते। तं जहा। पज्जत्तगब्भवक्कंतियमणुस्सपंचिंदियउरालियसरीरे य। उपज्जत्तगगब्भवक्कंतियमणुस्सपंचिंदिय उरालियसरीरेण य॥

औदारिकशरीरमेकद्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियभेदात्पञ्चधा। एकेन्द्रियौदारिकशरीरमपि पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पत्येकेन्द्रियभेदात्पञ्चविधम्। पृथिवीकायिकैकेन्द्रियौदारिकशरीरमपि सूक्ष्मेतरभेदाद् द्विधा। पुनरेकैकं द्विधा। पर्याप्तापर्याप्तभेदात्। एवमप्तेजोवायुवनस्पत्येकेन्द्रियौदारिकशरीराण्यपि प्रत्येकं। चतुर्विधानीति सर्वसंख्ययैकेन्द्रियौदारिकशरीराणि विंशतिधा। द्वित्रिचतुरिन्द्रियौदा-रिकशरीराणि प्रत्येकं पर्याप्तापर्याप्तभेदात् द्विभेदानि। पञ्चेन्द्रियौदारिकशरीरं द्विविधतिर्यन्मनुष्यभेदात् तिर्यक्पञ्चेन्द्रियौदारिकशरीरं त्रिधा जलचरस्थलचरखेचरभेदात्। जलचरतिर्यकपञ्चेन्द्रियौदारिकशरीरं द्विविधं संमूर्च्छिमगर्भव्युक्रान्तिकभेदात्। एकैकमपि पुनर्द्विभेदं, पर्याप्तापर्याप्तभेदात्। स्थलचरतिर्यकपञ्चेन्द्रियौदारिकशरीरमपि द्विविधम्। चतुष्पदपरिसर्प्पभेदात्। चतुष्पदस्थलचरतिर्यगपञ्चेन्द्रियौदारिकशरीरमपि द्विविधम संमूच्छिमगर्भव्युत्क्रान्तिकभेदात्। पुनरेकैकं द्विधापर्याप्तापर्याप्तभेदात्। परिसर्पस्थलचरतिर्यक्पञ्चेन्द्रियौदारिकशरीरमपि उरः परिसर्पभुजपरिसर्पभेदतो द्विविधम्। पुनरेकैकं द्विधा संमूर्च्छिमगर्भव्युत्क्रान्तिभेदात्। तत्रापि पुनः प्रत्येकं द्वैविध्यं पर्याप्तापर्याप्तभेदात्॥ सर्वसंख्ययाऽष्टभेदम्। परिसर्पस्थलचरतिर्यक्पञ्चेन्द्रियौदारिशरीरखेचरतिर्यक्पञ्चेन्द्रियौरिकशरीरसंमूर्च्छिमगर्भव्युत्क्रान्तिकभेदात् द्विभेदम्। पुनरेकै कं द्विधा। पर्याप्तापर्याप्तभेदादिति सर्वसंख्यया तिर्यक्पञ्चेन्द्रियौदारिकशरीरं विंशतिभेदम्। मनुष्यपञ्चेन्द्रियौदारिकशरीरं समूर्च्छिमगर्भव्युत्क्रान्तिकभेदात् द्विभेदम्॥ पुनरेकैकं द्विधा पर्याप्तापर्याप्तभेदादेवमौदारिकभेदा उक्ताः। प्रज्ञा०२१ पद (अवगाहनाप्यसावगाहनादिशब्देषु) शरीरन्तरैः सह संयोगश्च सरीरशब्दे वक्ष्यते शरीरतद्वतोभेदोपचारात् मत्वर्थीयलोपाद्वा औदरिकशरीरवति जीवे,। वीपा०१श्रु०३अ० घटित-रूपे द्रविणे,। "घडियरूवं दविणं ओरालियंति भण्णइ"। नि०चू०१ उ०॥ औदरिकस्य मनुष्यतिर्यकशरीरस्येमौदरिकम्। अस्वाध्यायिकभेदे, स्था०१०ठा०। (तत्स्वरूपम् असज्द्गाय शब्दे)

ओरालियंगोवंगणाम-न०(औदारिकाङ्गोपाङ्गनामन्) अङ्गोपाङ्गनामकर्मभेदे,। यदुदयादौदारिकशरीरत्वेन परिणतानां पुद्गलानामङ्गविभागपरिणतिरुपजायते तदौदारिकाङ्गोपाङ्गनाम कर्म०।

ओरालियकायजोग-पुं०(औदारिककायजोग) औदारिकमेव चीयमानत्वात् कायस्तेन सहकारिकारणभूतेन तद्विषयो वा योगः औदारिककाययोगः। काययोगभेदे,। कर्म०।

ओरालियणाम-न०(औदारिकनामन्) औदारिकनिबन्धनं नाम औदारिकनाम शरीरनामभेदे, यदुदयवशादौदारिकशरीरप्रायोग्यान् पुद्गलानादाय औदारिकशरीररूपतया परिणमय्य च जीवप्रदेशैः सहान्योन्यानुगमरुपतया संबन्धयति तदौदारिकशरीरनामेत्यर्थः कर्म०।

ओरलियदुग-न०(औदारिकद्विक) औदारिकशरीरमौदारिकाङ्गोपाङ्गमित्येवं लक्षणे द्विके, कर्म०।

ओरालियपरदारगमण-न०(औदारिकपरदारगमन) परस्त्र्यादिगमनलक्षणे परदारगमनभेदे,। आव०६ अ०।

ओरालियबंधण-न०(औदारिकबन्धन) यदुदयादौदारिकपुद्गलानां पूर्वगृहीतानां गृह्यमाणानां च परस्परं तैजसादिशरीरपुद्गलैश्च सह बन्धस्तस्मिन्। बन्धनभेदे, । कर्म०।

ओरालियमीसकायजोग-पुं०(औदारिकमिश्रकाययोग) औदारिकं मिश्रं यत्र कार्मणेनेति गम्यते स औदारिकमिश्रः। उत्पत्तिदेशे हि पूर्वभवादनन्तरमागतो जीवः प्रथमसमये कार्मणेनैवकेवलेनाहारयति ततः परमौदारिकस्याप्यारब्धत्वादौदारिकेण कार्मणमिश्रेण यावच्छरीरस्य निष्पत्तिः। यदाह सकलश्रुताम्भोनिधिपारदृश्वाऽनुग्रहकाम्यया निर्मितानेकशास्त्रसंबन्धः श्रीभद्रबाहुस्वामी "जोएण कम्मएणं, आहारेई अणंतरं जीवो। तेण परंमीसेण, जीवसरीरस्स णिप्पत्ती" केवलिसमुद्घातावस्थायां तु द्वितीयषष्ठसप्तमसमयेषु कार्मणेन मिश्रमौदारिकं प्रतीतमेव। मिश्रौदारिकयोगः सप्तमषष्ठद्वितीयेष्विति वचनात्। औदारिकमिश्रश्चासौ कायश्च तेन योगः औदारिकमिश्रकाययोगः। काययोगभेदे, कर्म०।

ओरालियमीससरीरकायप्पओग-औदारिकमिश्रशरीरकाय प्रयोग-पुं औदारिकमुत्पत्तिकालेऽसंपूर्णे सन्मिश्रं कार्मणेनेति औदारिकमिश्रं तदेवौदारिकमिश्रकं तल्लक्षणं शरीरमौदारिकमिश्रकशरीरं तदेव कायस्तस्य यः प्रयोग औदारिकमिश्रकशरीरस्य वा यः कायप्रयोगः स औदारिकमिश्रकशरीरकायप्रयोगः। कायप्रयोगभेदे, अयं पुनरौदारिकमिश्रकशरीरकायप्रयोगेऽपर्याप्तकस्यैव वेदितव्यः। यत आह। "जोएण कम्मएणं, आहारेई अणंतरं जीवो। तेण परं मीसेणं, जावसरीरस्स निप्पत्ती ।१। एवं तावत्कार्मणेनौदारिकशरीरस्य मिश्रतोत्पत्तिमाश्रित्य तस्य प्रधानत्वात्। यदा पुनरौदारिकशरीरो वैक्रियलब्धिसंपन्नो मनुष्यः पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकः पर्याप्तबादर वायुकायिको वा वैक्रियं करोति तदौदारिककाययोग एव वर्तमानप्रदेशान्निक्षिप्य वैक्रियशरीरयोग्यान् पुद्गलानुपादाय यावद्वैक्रियशरीरपर्याप्तिपर्याप्तिं गच्छति तावद्वैक्रियेणौदारिकशरीरस्य मिश्रता प्रारम्भकत्वेन तस्य प्रधानत्वादेवमाहारकेणाप्यौदारिकशरीरस्य मिश्रता वेदितव्येति। भ०८ श०१ उ०।

ओरालियमीससरीरकायप्पओगपरिणय-त्रि०(औदारिकमिश्रशरीरकायप्रयोगपरिणत) औदारिकमिश्रशरीरे कायप्रयोगेण परिणतं यत्तत्था। कायप्रयोगपरिणतभेदे, । भ०८श०१उ०।

ओरालियसंघायणाम-औदारिकसंघातनामन्-न० संघातनामभेदे, । यदुदयादौदारिकपुद्गला ये यत्र योग्यास्तानुत्तरत्र संघातयति। यथा शिरोयोग्यान् शिरसि पादयोग्यान् पादयोः शेषाङ्गयोग्यान् शेषाङ्गेषु तदौदारिकसंघातनाम। कर्म०।

ओरालियसरीर-न० (औदारिकशरीर) उदारा स्फारतामात्रसारा वैक्रियादिशरीरापेक्षया स्थूला इत्यर्थः। तैरित्थंभूतैः पुद्गलैर्निष्पन्नमौदारिकशरीरम्। शरीरभेदे, कर्म०।

ओरालियसरीप्पओगणाम-न० (औदारिकशरीरप्रयोगनामन्) औदारिकशरीरप्रयोगस्य संपादके नामभेदे, भ०८श०९उ०।

ओरालियसरीरप्पओगबंध-पुं०(औदारिकशरीरप्रयोगबन्ध) औदारिकशरीप्रयोगस्य संघारूपे शरीरबन्धभेदे, । भ०७श९उ०।

ओरुहमाण-अवरोहयत्-त्रि० उत्तारयति, स्था०५ ठा०।

ओरोह-पुं०(अवरोध) अन्तःपुरे, वृ०१उ०। प्रतोलीद्वारेऽभ्यन्तरद्वारे, रा०। औ०। संघाते, । "पहकरओरोहसंघाया"। इति देशीलनाममालावचनात्। जी०३ प्रति०।

ओलवणदीव-पुं०(अवलम्बनदीप) श्रङ्खलाबद्धदीपे, भ०११ श० ११ उ०। ज्ञा०।

ओलंबिय-त्रि०(अवलम्बित) दत्तावलम्बे, । "सा भणइ ओलं-बितति अम्हेहिं" नि०चू०१उ०। रज्ज्वा बन्ध्वा गर्तादाववतारिते, औ०। कूपनदीप्रभृतिषु उल्लम्बिते, कुत्सितमारेण मारिते दशा०६अ०। "जिब्भुपाडियं ओलंबियं" करे।सूत्र०।२श्रु०२अ०।

ओलग्ग-त्रि०(अवरुग्ण) भग्नमनोवृत्तौ, । विपा०१श्रु०२ अ०नि०। ग्लाने, दुर्बले च। ज्ञा०१ अ०।

ओलग्गसरीर-त्रि०(अवरुग्णशरीर) अवरुग्णं ग्लानं दुर्बलं च शरीरं यस्स स तथा। ज्ञा०१ अ०। भग्नदेहे, विपा०१ श्रु०२ अ०। ज्ञा०। नि०।

ओलोयणा-स्त्री०(अवलोकना) गवेषणायाम्, व्य०४ उ०।

ओलि(ली)स्त्री०आलि(ली) ओदाल्या पङ्क्तौ ८।१।८३। आलिशब्दे पङ्क्तिवाचिनि आत ओत्वं भवति। ओली। पङ्क्तौ, । पङ्क्तावितिं किं आली सखी। प्रा०। वृ०।

ओलिंपमाण-त्रि०(अवलिम्पत्) अवलेपं कुर्वति, । आचा०।२श्रु०।

ओलिज्ज्गमाण-त्रि०(अवलिह्यमान) आस्वाद्यमाने, कल्प०।

ओलित्त-त्रि०(अवलिप्त) द्वारदेशे पिधानेन सह गोमयादिनाकृ-तालेपे, । वृ०२ उ०। भ०। स्था०। आचा०।

ओलुंड-धा०(विरिचइ) ण्यन्तः। विरेचने, । **विरिचेरोलुण्डोलुण्डप्रहुत्थाः ८।४।२६।** विरेचयतेर्ण्यन्तस्य ओलुण्डादयः आदेशा भवन्ति। ओलुण्डइ। विरेआइ। विरेचयति। प्रा०।

ओलोट्टमाण-त्रि०(अपवर्तमान) यतो गतस्तत्रैव पुनरागच्छति तस्मिन्, । "लोदआएहुए" प्रश्न० अध०४ अ०।

ओवइय-न०(अवपतित) अप्-पत्-भावे क्तः निपतने, औ०। अवतीर्णे, । औ०। कर्तरि क्तः। अवतीर्णे, औ०।

औपचयिक-त्रि० उपचयनिर्वृत्ते उपचिते, प्रश्न०अध०४ अ०।

ओवगारियलेण-न०(औपकारिकलयन) प्रासादादिपीठकल्पे आश्रये, भ०१३ श०६ उ०।

ओवग्गहिय-त्रि०(औपग्रहिक) उपष्टम्भप्रयोजने, "तासिं च णं उवग्गहिए अणंताणुबंधी कोहमाणमायालोभे" भ०९श०३१उ०। उप आत्मनः समीपे संयमोऽवष्टम्भार्थं वस्तुनो ग्रहणमुपग्रहः स प्रयोजनमस्येत्यौपग्राहिकः। उपाधिभेदे, आपन्ने संयममात्रार्थं यो गृह्यते न पुनर्नित्यमेव स औपग्रहिक इत्यर्थः। प्रव०६० द्वा० "ओहेण जस्स गहणं भोगा पुण कारणा सओ होहि। जस्स उ दुगं पि नियमा, कारणसो उवग्गहिओ" यस्य तु पीठकादेर्द्वयमपि ग्रहणं भोगश्चेत्येतन्नियमात्कारणतो निमित्तेन स्नेहादिना स पीठकादिरौपग्रहिकः कदाचित्कप्रयोजननिर्वृत्त इति गाथार्थः। पं०व०। ध० (तस्यजघन्यमध्यमोत्कृष्टत्वमुवहि शब्दे)॥

ओवघाइय-नं०(औपघातिक) उपघातनिर्वृत्ते तत्फले वा वचने

यथा चौरस्त्वमिति "सुयं वा जइ वा दिट्ठं न लविज्जोवघाइयं" द०८ अ०॥

ओवट्टणा-स्त्री०(अपवर्तना) भागहरणे, विशे०।

ओवड्ढोमोयरिया-स्त्री०(उपार्धावमौदरिका) द्वात्रिंशतोर्ध्वषोडश एवं च द्वादशानामर्धसमीपवर्तित्वादुपार्द्धावमौदरिका । द्वादशभिरिति द्वादशकवलाहाररूपेऽवमौदरिकाभेदे, तद्वता सहाभेदोपचारात् साधौ च दुवालसकुक्कुडिअंडगप्पमाणमेत्ते कवले आहारमाहारेमाणे ओवड्ढोमोयरिया" उपार्द्धावमौदरिकेति रूपम् ।भ०७श०१उ०॥

ओवड्ढि-स्त्री०(अपवृद्धि) ह्रासे, नि० चू०२० उ०।

ओवणिहिय-त्रि० [ओपनिधि(निहिति)क] उपनिधिः प्रत्या-सन्नं यद्यथा कथंचिदानीतं तेन चरतीति । तद्ग्रहणायेत्यर्थः इत्यौपनिधिकः । उपनिहितमेव वा यस्य ग्रहणविषयतयाऽस्ति स प्रज्ञादेराकृतिगणत्वेन मत्वर्थीये ण प्रत्यये औपनिहित इति । स्था०५ ठा० । उपनिहितं यथाकथंचित्प्रत्यसन्तीभूतं तेन चरति यः स औपनिहितिकः । भिक्षाचरकभेदे, औ०।

ओवणिहिया-स्त्री०(औपनिधिकी) उपनिधिर्निक्षेपो विरचनं प्रयोजनमस्य इत्यौपनिधिकी(औ०) प्रयोजनार्थे इकण प्रत्ययः। सामयिकाध्ययनादिवस्तूनां (आणुपुव्वी शब्दोक्त) पूर्वानुपूर्व्यादिविस्तारप्रयोजनायामानुपूर्व्याम् (द्रव्यानुपूर्व्यादीनामौपनिधिकीत्वम् आणुपुव्वीशब्दे दर्शितम्)

ओवतिणी-स्त्री०(अवपतिनी) विद्याभेदे, यां हि जपतः स्वत एव पतत्यन्यं वा पातयति। सूत्र०२ श्रु०२ अ०।

ओवत्तिय-त्रि० (अपवर्तित) क्षिप्ते, ज्ञा०१ अ०।

ओवत्तिय- अव्य०(अपवर्त्य) अपवर्तनेन अग्निविक्षिप्तेन भाजने-नान्येन वा इत्येवमादिलक्षणेन कर्त्र्यर्थे, दश०५अ०।

ओवत्थाणिया-स्त्री०(औपस्थानिकी) चेटीभेदे, या आस्थानगतानां समीपे वर्तन्ते भ०११श०११उ०।

ओवमिय-न०(औपमिक) उपमया निर्वृत्तमौपमिकम् । गणितस्याविषये कालभेदे, उपमानमन्तरेण यत्कालप्रमाणमनतिशयिना ग्रहीतुं न शक्यते तदौपमिकमिति भावः। अनु०। भ०। स्था०। जं०। "से किं तं ओवमिए २ दुविहे पण्णत्ते तं जहा पलिओवमे अ सागरोपमे अ" अनु०। उपमया निर्दिष्टः ठक्। उपमया निर्दिष्टे, वाच०।

ओवम्म-न० उपमायाम्, स्था०८ ठा०।

ओवम्म-न०(औपम्य) उपमीयते सदृशतया वस्तु गृह्यतेऽनयेत्युपमा सैवोपम्यम् अनु०। ध०। प्रसिद्धाधर्म्यात्साध्यसाधनरूपे प्रमाणभेदे, यथा गौर्गवयस्तथा । अत्र च संज्ञासंज्ञिसंबन्धप्रतिपत्तिरूपमानार्थः । सूत्र०१श्रु०१०अ०। (अस्य प्रमाण्यविचार उवमाणशब्दे कृतः)

तद्भेदा इमे।

से किंतं ओवम्मे ? ओवम्मे दुविहे पण्णत्ते तं जहा साहम्मोवणीए अ वेहम्मोवणीए अ । से किं तं साहम्मोवणीए ? साहम्मोवणीए तिविहे पण्णते । तं जहा । किंचिसाहम्मोवणीए पायसाहम्मोवणिए सव्वसाहम्मोवणीए । से किं तं किंचिसाहम्मोवणीए २ अणेगविहे जहा मंदरो तहा सरिसवो जहा सरिसवो तहा मंदरो जहा ससुद्दो तहा गोप्पयं जहा गोप्पयं तहा समुद्दो जहा आइच्चो तहा खज्जोतो जहा खज्जोतो तहा आइच्चो जहा चंदो तहा कुमुदो जहा कुमुदो तहा चंदो । से किं तं पायसाहम्मोवणीए २ अणेगविहे गौ तहा गवओ जहा गवओ तहा गौ सेत्तं पायसाहम्मोवणीए । से किं तं सव्वसाहम्मोवणीए सव्वसाहम्मे *ओवम्मे नत्थि तहा वि तेणे व तस्स तोवम्मं कीरइ जहा अरिहंतेहिं अरिहंतसरिसं कयं चक्कवट्टिणा चक्कवट्टिसरिसं कयं* बलदेवेण बलदेवसरिसं कयं वासुदेवेण वासुदेवसरिसं कयं साहुणा साहुसरिसं कयं सेत्तं सव्वसाहम्मे सेत्तं साहम्मोवणीए।

तच्च द्विविधं साधर्म्येणोपनीतमुपनयो यत्र तत्साधर्म्योपनीतम् । वैधर्म्येणोपनीतमुपनयो यत्र तद्वैधर्म्योपनीतम्। तत्र साधर्म्योपनीतं त्रिविधं किंचित्साधर्म्यादिभेदात् किंचित्साधर्म्यं च । मन्दरसर्षपादीनाम् तत्र मन्दरसर्षपयोर्द्वयोरपि मूर्तत्वं सादृश्यम्। समुद्रगोष्पदयोः सोदकत्वमात्रम्। आदित्यखद्योतयोराकाशगमनोद्योतकत्वरूपम् । चन्द्रकुमुदयोः शुक्लत्वमिति (से किं तं पायसाहम्मेत्यादि) खुरककुदविषाणलाङ्गलादेर्द्वयोरपि समानत्वन्नवरं सकम्बलो गौर्वृत्तकण्ठस्तु गवय इति प्रायः साधर्म्यता। सर्वसाधर्म्यं तु क्षेत्रकालादिभिर्भेदात् न कस्यापिकेनचित्साधर्म्यं संभवति संभवे त्वेकताप्रसङ्गः। तर्हि उपमानस्य तृतीयभेदोपन्यासोऽनर्थक एवेत्याशङ्क्याह। तथापि तस्य विवक्षितस्यार्हदादेस्तेनैवार्हदादिना औपम्यं क्रियते। तद्यथा अर्हता अर्हत्सदृशं कृतं तत्किमपि सर्वोत्तमं तीर्थप्रवर्तनादिकार्यमर्हता कृत यदर्हन्नेव करोति नापरः कश्चिदिति भावः एवं च स एवोपमीयते। लोकेऽपि हि केनचिदत्यद्भुते कार्ये कृते वक्तारो दृश्यन्ते तत्किमपीदं भवद्भि कृतं यत् भवन्त एव कुर्वन्ति नान्यः कश्चिदिति। एवं चक्रवर्तिवासुदेवादिष्वपि वाच्यम्।

से किं तं वेहम्मोवणीए २ तिविहे पण्णत्ते तं जहा। किंचि वेहम्मे पायवेहम्मे सव्वेहम्मे से किं तं किंचि वेहम्मे २। जहा सामलेरो न तहा बाहुलेरो जहा बाहुलेरो न तहा सामलेरो सेत्तं किंचिवेहम्मे । से किं तं फायवेहम्मे २ जहा वायसो न तहा पायसो जहा पायसो न तहा वायसो । सेत्तं पायवेहम्मे से किं तं । सव्ववेहम्मे सव्ववेहम्मे ओवम्मे नत्थि तहा वि तेणेव तस्स तोवम्मं कीरइ जहा णीएणं णीअसरिसं कयं दोसण दाससरिसं कयं काकेण काकसरिसं कयं साणेण साणसरिसं कथं पाणेण पाणसरिसं कयं सेत्तं सव्ववेहम्मे सेत्तं वेहम्मोवणीए सेत्तं ओवम्मे ।

यथेति यादृशः शबलाया गोरपत्थं शाबलेयो न तादृशो बहुलाया अपत्यं बाहुलेयो यथाचायं न तथा इतरः अत्र च शेषधर्मैस्तुल्यत्वाद्विन्ननिमित्तजन्मादिमात्रतस्तु बैलक्षण्यात्किंचिद्वैधर्म्यं भावनीयम् (से किं तं पायवेहम्मे इत्यादि) अत्र वायसपायसयोः सचेतनत्वाचेतनत्वादिभिर्बहुभिर्धर्मैर्विसंवादात् अभिधानगतवर्णद्वयेन सत्वादिमात्रतश्च साम्यात्प्रायो वैधर्म्यता भावनीया । सर्ववैधर्म्यं तु न कस्यचित्केनापि संभवति सत्वप्रमेषत्वादिभिः सर्वभावानां समानत्वेऽसत्वप्रसङ्गात्तथाऽपितृतीय-

भेदोपन्यासवैयर्थ्यमाशङ्क्याह। तथापि तस्य तेनैवौपम्यं क्रियते यथा नीचेन नीचसदृशंकृतंगुरुघातादीत्यादि। आहनीचेन नीचसदृशं कृतमित्याद्युक्तवता साधर्म्यमेवोक्तं स्यान्न वैधर्म्यंसत्यं किं तु नीचोऽपि प्रायो नैवंविधं पापमाचरति किं पुनरनीचः ततः सकलजगद्विलक्षणप्रवृत्तत्वविवक्षया वैधर्म्यमिह भावनीयम्। एवं दासाद्युदाहरणेष्वपि वाच्यम्। सेत्तं सव्ववेहम्म इत्यादि। निगमत्रयम्। अनु०। नि० चू०

ओवम्मसच्च-न०(औपम्यसत्य) उपमैवौपम्यं तेन सत्यमौपम्यसत्यम्। सत्यभेदे, । यथा समुद्रवत्तडागं देवाऽयं सिंहः। स्था०१० ठा०। प्रश्न०। प्रज्ञा०॥

ओवम्मसंखा-स्त्री०(औपम्यसंख्या) संख्यानं संख्या परिच्छेदो वस्तुनिर्णय इत्यर्थः। औपम्येन उपमाप्रधाना संख्या औपम्यसंख्या। संख्याभेदे, भ०।

ओवयंत-त्रि०(अवपतत्) ऊर्ध्वादधोभागेऽवतरति, "उत्तरत्ति देवहि यदेवीहिय ओवयंत्तेहि" अवपतद्भिःस्वर्गाद्भुवमागच्छद्भिः। कल्प,।

ओवयमाण-त्रि०(अवपतत्) व्योमाङ्गणादवतरति, ज्ञा०१ अ०॥

ओवयाइयय-पुं०(औपयाचितक) उपयाचिते देवराधने भव औपयाचितकः। पुत्रभेदे, स्था०१० ठा०॥

ओवयाण-न०(अवप्रदान) प्रेङ्खणके, ज्ञा०१ अ०॥

ओवयारियविणय-पुं०(औपचारिकविनय) उपचारो लोकव्यवहारः पूजा वा प्रयोजनमस्येत्यौपचारिकः स चासौ विनयश्च। भक्तिरूपे, । पंचा ०६ विव०। प्रतिरूपयोग्यव्यापारात्मके विनयभेदे, दश०९ अ०॥

ओववाइय-पुं०(औपपातिक) उपपातः प्रादुर्भावो जन्मान्तर-संक्रान्तिः। उपपाते भव औपपातिकः। संसारिणि, आचा०१ श्रु०१ अ०१ उ०॥ उपपाताज्ञाता उपपातजाः। अथवा उपपति भवा औपपतिकाः। देवनारकेषु, दश०४ अ०। आचा०। विशे०। उपपातेन भवे, उत्त०५ अ०। उपपातेन निर्वृत्ते वा पदार्थमात्रे, न०। उपपातजन्मनिमित्ते देवनारकाणां संबन्धिनि वैक्रियशरीरे, नं०। पं० सं०१ द्वा०। आचाराङ्गसंबन्धिनि प्रथमे उपाङ्गे, सूत्र० २ श्रु०२ अ०। औ०। "श्रीवर्धमानमानम्य प्रायोऽन्यग्रन्थवीक्षिता औपपातिकशास्त्रस्य, व्याख्या काचिद्विधीयते" अथौपपातिकमिति कः शब्दार्थः उच्यते। उपपतनमुपपातो देवनारकजन्म सिद्धिगमनं चातस्तमधिकृत्य कृतमध्ययनमौपपातिकमिदं चोपाङ्गं वर्तते। आचाराङ्गस्य हि प्रथममध्ययनं शस्त्रपरिज्ञा तस्याद्योद्देशके सूत्रमिदम् "एवमेगेसिं नोनायं भवइ अत्थि वा मे आया उववाइए नत्थि वा मे आया उववाइए के वा अहं आसी के वा इह चुए पेच्चा इह भविस्सामीत्यादि" इह च सूत्रे यदौपपातिकत्वमात्मनो निर्दिष्टं तदिह प्रश्च्चत इत्यर्थतोऽङ्गस्य समीपभावेनेदमुपाङ्गम्। इति व्युत्पत्तेः। औ०।

ओवसग्गिय-पुं०(औपसर्गिक) उपसर्गाय प्रभवति सन्तापा ०ठक्। उपसर्गसमर्थे रोगभेदे,। वातादिसंनिपाते, दैवारिष्टसूचके ग्रहदौस्थ्यादौ च वाच०। उपसर्गेण निर्वृत्तम् प्रपरेत्यादिके नामभेदे, आ० म० द्वि०। विशे०। परीत्यौपसर्गिकमुपर्सेगषु पठितत्वात्। अनु०॥

ओवसमिय-पुं०(औपशमिक) उपशमो भस्मच्छन्नाग्निरिवानु द्रेकावस्थाप्रदेशतोऽप्युदयाभावः। द्विविधस्याप्युदयस्य विष्कम्भणम्(कर्म०) इति यावत्। इत्थं भूतश्चोपशमः सर्वोपशम उच्यते। स च मोहनीयस्यैव कर्मणो न शेषस्य। "सव्वोवसमो मोहस्सेव उ" इति वचनात्तत्र चैवं शब्दव्युत्पत्तिरुपशम एवौपशमिकः स्वार्थ इकणप्रत्ययः। यद्वा उपशमेननिर्वृत्त औपशमिकः क्रोधाद्युदयाभावफलरूपे जीवस्य परमशान्तावस्थालक्षणपरि-णामविशेषे,। अयं च षण्णां भावानां प्रथमो द्वितीयो वा। प्रव०२२१ द्वा०। पं० सं०। आ० म० द्वि०।

औपशमिकस्य द्वैधं निर्दिदिक्षुराह-

से किं तं उवसमिए १ दुविहे पण्णत्ते। तं जहा। उवसमे अ उवसमनिप्पण्णे अ। से किं तं उवसमे १ मोहणिज्जस्स कम्मस्स उवसमेणं सेत्तं उवसमे। से किं तं उवसमनिप्पणे १ अणेगविहे पण्णत्ते तं जहा उवसंतकोहे जाव उवसंत लोभे उवसंतपेज्जे उवसंतदोसे उवसंतदंसणमोह णिज्जे उवसंतमोहणिज्जे उवसमिआसम्मत्तलद्धी उवसमिआचरित्तलद्धी। उवसंतकसाया छउमत्थवीतरागो सेत्तं उवसमणिप्पण्णे सेत्तं उवसमिए।

औपशमिको द्विविध उपशमस्तन्निष्पन्नश्च उपशमनिष्पन्ने तु(उवसंतके हे इत्यादि) इहोपशान्तक्रोधादिव्यपदेशात्कापि याचनाविशेषाः कियन्तोऽपि दृश्यन्ते। तत्र मोहनीयस्योपशमेन दर्शनमोहनीयं चारित्रमोहनीयं चोपशान्तं भवति। तदुपशान्तता-यां च स्वेच्छया देशाः संभवन्ति ते सर्वेऽप्यत्रादुष्टा न दोषा इति भावनीयम्। (सेत्तमित्यादि) निगमनद्वयं निर्दिष्टो द्विविधोऽप्यौप-शमिकः। अनु०। द्विभेदोऽयम्। (सम्मंचरणं पढमभावेत्ति) इह यथासंख्यं दर्शनमोहनीयचारित्रमोहनीयकर्मोपशमभूतं सम्यक्त्वं चरणं च प्रथमे आद्ये भावे औपशमिकलक्षणे भवतीति शेषः। इति निरूपितौ द्वौ भेदावौपशमिकभावस्य। कर्म०। प्रव०।

ओवसमियसम्मत-न०(औपशमिकसम्यक्त्व) उपशम उदीर्णस्य मिथ्यात्वस्य क्षये सति अनुदीर्णस्य उपशमे विपाकप्रदेशवेदनरूपस्य द्विविधस्यापि उदयस्य विष्कम्भणं तेन निर्वृत्तमौपशमिकम्। कर्म०। भस्मच्छन्नाग्निवत् मिथ्यात्वमोहनीयस्यानन्तानुबन्धिनां च क्रोधमानमायालोभानामनुदयावस्था उपशमः प्रयोजनं प्रवर्तकमस्य औपशमिकं तच्च तत्सम्यक्त्वं च। सम्यक्त्वभेदे, तच्चानादिमिथ्यादृष्टेः करणत्रयपूर्वकमान्तर्मुहूर्तिकं चतुर्गतिकस्यापि संज्ञिपर्याप्तपञ्चेन्द्रियस्य जन्तोर्ग्रन्थिभेदानन्तरं भवतीत्युक्तप्रायम्। यद्वा उपशमश्रेण्यारूढस्य भवति। यदाह। "उवसमसेढिगयस्स उ, होइ उवसामिअं तु सम्मत्तं। जीवा अकयति पुंजो, अखवि अमित्था लहइ सम्मत्ति"। ग्रन्थिप्रदेशं यावत्तु अभव्योऽपि संख्येयमसंख्येयं वा कालं तिष्ठति तत्र स्थितश्च भव्यो द्रव्यश्रुतं भिन्नानि दशपूर्वाणि यावल्लभते। जिनर्द्धिदर्शनात् स्वर्गसुखार्थि-त्वादेव दीक्षाग्रहणे तत्संभवात्। अत एव भिन्नदशपूर्वान्तं श्रुतं मिथ्याश्रुतमपि स्यादित्यन्यदेतत्। ध० २ अ०। एतत्सर्वं सम्मत्त शब्दे सोपपत्तिकमुपपादयिष्यामि)

ओवहिय-पुं०(औपधिक) मायित्वेन प्रच्छन्नचारिणि, ज्ञा०२ अ०। प्रश्न०।

ओवाइय-न०(औपपातिक) उपपतनमुपपातो देवनारकजन्म-

सिद्धिगमनं च। तदधिकृतमध्ययनमौपपातिकं प्राकृतात्वाद्वर्णलोपः। आचाराङ्गस्योपाङ्गे, पा०।

आवपातिक-पुं० अवपातः सेवा सा प्रयोजनमस्येति आवपातिकः। सेवके, तल्लक्षणे पुत्रभेदे, स्था०१० ठा०।

ओवाई-स्त्री०(अवपायी) पोताकीप्रतिपक्षभूतायां परिव्राजकमन्थिन्यां विद्यायाम् "ततो पोयागिं मुयइ इयरो तासिं ओयाइं"आ० म० द्वि०।

ओवाडण-न०(अवपातन) विदारणे, ज्ञा०१६ अ०। स्था०। ओवाय-अवपात-पुं० गर्तादौ, दश०४ अ०। आचा०। सद्गुरूणां सेवायाम्, स्था०३ ठा०। ज्ञा०। गर्तविशेषे, प्रश्न०। प्रपातस्थाने यत्र चलन् जनः सप्रकाशेऽपि पतति। जं०२ वक्ष०।

ओवायपव्वज्जा-स्त्री०(अवपातप्रव्रज्या) अवपात सद्गुरुणं सेवा ततो या प्रव्रज्या साऽवपातप्रव्रज्या। प्रव्रज्याभेदे, स्था०४ ठा०।

ओवायवं-त्रि०(अवपातवत्) वन्दनशीले, निकटवर्तिनि च। दश०६ अ०।

ओवारि-न०(अपवारि) दीर्घतरधान्यकोष्ठागारविशेषे, अनु०।

ओवाहिय-त्रि०(औपाधिक) उपाधिरेव विनयादित्वात् स्वार्थे ठञ्। साध्यसमव्यापकत्वरूपे उपाधौ,वाच०। उपाधेरागतमौपा-धिकम्। समवाय संबन्धलक्षणेनोपाधिनाऽऽत्मनि समवेत ज्ञानादौ, आत्मनः स्वयं जडरूपत्वात्समवायसंबन्धोपढौकिते, स्था०। उपाधिना निर्वृत्तः वा ठञ्। उपाधिकृते, स्त्रियां ङीष्। "रूढं संकेतवन्नाम सैव संज्ञेति कीर्त्यते। नैमित्तिकी पारिभाषिक्यौषधिक्यपि तद्विदा" वाच०।

ओविय-त्रि०(ओपित) उज्ज्वालिते, ज्ञा०१६ अ०। खचिते, आ०म०प्र०। परिकर्मिते, भ०६ श०३३ उ०। औ०। रा०।

ओवीलय-पुं०(अपव्रीडक) लज्जयाऽतीचारान् गोपायन्तमुपदेशविशेषैरप-व्रीडयति विगतलज्जं करोतीति अपव्रीडकः आलोचनाकारयितरि योग्ये गुरौ, अयं ह्यालोचकस्यात्यन्तमुपकारको भवति। पंचा०१५ विव०।

ओस-पुं०(अवश्याय) स्नेहे, "उदगं वा ओसं वा हिमं वा" दश० ४ अ०। विशे०। आचा०। "अवश्यायो रजन्यां यः स्नेहः पतति। उदकसूक्ष्मतुषारे, अप्कायभेद एषः। आचा०२ श्रु०१ अ०॥

ओसक्कइत्ता-अव्य०(अवष्वष्क्य) पृष्टतो गत्वेत्यर्थे, आ०म० प्र० "ओसक्कइत्ता" विवादे अवष्वष्क्य अपसृत्यावसरलाभाय-कालहरणं कृत्वा यो विधीयते स तथोच्यते। विवादभेदे, स्था०७ ठा०॥

ओसक्कंत-त्रि०(अवष्वष्कत्) अपसरणं कुर्वति, ग०२अधि०॥ **ओसक्कण**-न०(अवष्वष्कण) स्वयोगप्रवृत्तिकालावधेरेव अर्वाक्करणमवष्वष्कणम्। ध०३अधि०। स्वयोगप्रवृत्तिनियतकालावधेरर्वाक्करणे, पिं०। विवक्षित-विध्वंसमादिकालस्य ह्रासकरणे, अर्वाक्करणे, वृ०१ उ०। (अवष्वष्कणे प्राभृतिकदोषे इति तत्स्था-न एवास्य स्वरूपमाख्यास्यते) अपसर्पणे, पंचा०१३ विव०। ज्वलदुल्मुकानां प्रज्वलनार्थमुदीरणे, वृ०२ उ०।

ओसक्किय-अव्य०(अवष्वष्क्य) अतिदाहभयादुल्मुकान्युत्सा-र्य्येत्यर्थे, *दश०४ अ०॥*

ओसचारण-पुं०(अवश्यायचारण) अवश्यायमाश्रित्य तदाश्रयजीवानुप-रोधेन याति। चारणभेदे, ग०२अ०।

ओसण्ण-पुं०(अवसन्न) सामाचारीविषये अवसीदति प्रमाद्यति यः सोऽवसन्नः। प्रव०२ द्वा०। व्य०। सूत्र०। आव०। अवसन्न इव आन्त इवावसन्नः। आलस्यादनुष्ठानात् सम्यक्करणात् (भ०६ श०७ उ०) अवसीदति स्म। क्रियाशैथिल्यान्मोक्षमार्गे श्रान्त इवावसन्नः। ध०२ अधि०। विवक्षितानुष्ठानालसे, आवश्यकस्वाध्यायप्रत्युपेक्षण-ध्यानादीनामसम्यक्कारिणि, ज्ञा०६ अ०। आवश्यकादिष्वनुद्यमे, व्य० द्वि०३ उ०॥

तद्भेदो यथा-

दुविहो खलु ओसन्नो, देसे सव्वे य होति नायव्वो।
देसोसन्नो तहियं आवासाई इमो होई॥

अवसन्नो खलु भवति द्विविधो ज्ञातव्यः। तद्यथा देशे देशतः तत्र देशावसन्न आवश्यकाद्यविकृत्यायां वक्ष्माणो भवति। तमेवाह-

आवासगसज्झगाए, पडिलेहणदुगाणभिक्खभत्तट्ठे।
आगमणे निग्गमणे, ठाणे निसीयणतुयट्टे॥

आवश्यकादिष्ववसीदन् देशतोऽवसन्न इत्यायातो गाथाक्षरयोजनार्थः। भावार्थस्त्वयम्। आवश्यकमनियतकालं करोति। यदि वा हीनं हीनका-योत्सर्गादिकरणात्। अतिरिक्तं वा अनुपेक्षार्थमधिककायोत्सर्गकरणात्। अथवा यद्दैवसिके आवश्यक के कर्तव्यं तत् रात्रिके करोति। रात्रिके कर्तव्यं दैवसिके। तथा स्वाध्यायं सूत्रपौरुषीलक्षणं वा। अत्र छर्दितं "कुरु त्वमिति" गुरुणोक्ते गुरुसन्मुखीभूय किंचिद्यदनिष्टं जल्पित्वा अप्रियेण करोति न करोति वा सर्वथा विपरीतं वा करोति। कालिकवेलायामुत्कालिकं वा कालवेलायां प्रतिलेखनामपि वस्त्रादीनामावर्तनादिभिरुणामतिरि-क्तां वा विपरीतां वा दोवैर्वा संसक्तां करोति तथा ध्यानं धर्मध्यानं शुक्लध्यानं वा यथा कालं न ध्यायति। तथा भिक्षां न हिण्डते गुरुणा वा भिक्षानियुक्तो गुरुसन्मुखं किंचिदनिष्टं जल्पित्वा हिण्डते तथा भक्त विषयं प्रयोजनं सम्यक् न करोति न मण्डल्यां समुद्दिशति। काकशृगालादिभाक्षितं वा करोति। अन्ये तु व्याचक्षते (अत्तट्ठत्ति) अभक्तार्थग्रहणं सकलप्रत्याख्यानोपलक्षणं ततोऽयमर्थः। प्रत्याख्यानं करोति गुरुणा वा भणितो गुरुमुखं किंचिदनिष्ट-मुक्त्वा करोति आगमने नैषेधिकीं न करोति निर्गमने आवश्यिकीं च स्थाने ऊर्ध्वस्थाने निषीदने उपवेशने त्वग्वर्तने शयने एतेषु क्रियमाणेषु न प्रत्युपेक्षणां करोति। नापि प्रमार्जनां करोति। अथवा प्रत्युपेक्षणप्रमार्जने दोषदुष्टे॥

सांप्रतमावश्यकद्वारं व्याख्यनयति-

आवस्सयं अणियतं, करेइ हीणाइतित्तविवरीयं।
गुरुवयणेण नियोगे, वलाइ इणमो उ ओसन्नो॥

आवश्यकमनियतमानियतकालं यदि वा हीनमथवाऽतिरिक्तं विपरितं वा करोति गुरुराचार्यस्तस्य वचनं गुरुवचनं तेन नियोगो व्यापारस्तस्मिन् सति सन्मुखो वलति। किमुक्तं भवति। गुरुण भिक्षादिषु नियुक्तः सन् गुरुसंमुखमेव किंचिदनिष्टं भाषमाणो वलनेन गुरुवचस्तथैवानुतिष्ठति। एकदेशतोऽवसन्नः। अत्र प्रायश्चित्तविधिः पार्श्वस्थस्यैवानुसरणीयः। *यदुक्तं "गुरुमन्मुखो वलते" इति तत्तद्विशेषं विवृणोति॥*

जह उ वहन्नो वलवं, भंजति समिलं तु सो वि एमेव।
गुरुवयणं अकरेंतो, वलाइ कुणतीव उस्सोढुं ॥

यथा बलवान् वलीवर्दः प्रेरितः सन् दुःशीलत्तया संमुखं व्यावर्त्यमानः समिलां भनक्ति। एवमेव अनेनैव प्रकारेण सोऽप्यवसन्नो गुरुवचनमकुर्वन् संमुखो बलते न पुनः करोति। ततः कार्यं करोति वा उत्सह्य उच्छशब्दोऽत्र निषेधार्थं आसाद्य इत्यर्थः। किमुक्तं भवति। गुरुसन्मुखं किंचिदनिष्टमुक्त्वाऽमर्षं करोतीति उक्तो देशतोऽवसन्नः। सर्वतोऽवसन्नमाह।

ओबद्धपीठफलगं, ओसण्णं संजयं वियाणाहि।
ठावियगरहियभोई, एमेवेया पडिवत्तिओ ॥

यः पक्षस्याभ्यन्तरे पीठफलकादीनां बन्धनानि मुत्का प्रत्युपेक्षं न करोति यो वा नित्यविस्तृतसंस्तारकः सोऽवबद्धपीठफलकः। तं संयतं सर्वतोऽवसन्नं तद्विजानीहि। यथा यः स्थापितकभोजी स्थापनादोषदुष्टप्राभृतिकभोजी रचितकं नाम कांस्यपात्रादि देयबुद्ध्या वैविक्त्येन स्थापितं तद् भुङ्क्ते इत्येवं शीलो रचितकभोजी तमपि सर्वतोऽवसन्नं जानीहि। एवममुना प्रकारेण एता अवसन्नविषये प्रतिपत्तयो वेदितव्याः।

अधुना प्रायश्चित्तविधिमाह-

सामायारी वितहं, ओसन्नो जं च पावए जत्थ।
सम्पत्तो व अलंदो, नडरूवी एलगो वेव ॥

सामाचारी ज्ञानादिसामाचारी " काले विणए " इत्यादिरूपां यदि वा सूत्रमण्डल्यर्थं मण्डल्यादिगतां सामाचारीं वितथा कुर्वन्। यत्र स्थाने यत्प्रायश्चित्तं प्राप्नोति तत्र तस्य स्वस्थाननिष्पन्नं प्रायश्चित्तमिति। गतमवसन्नसूत्रम्। व्य० प्र० १ उ०। " जे भिक्खू ओसण्णं वंदइ वंदंतं वा साइज्जइ "। जे भिक्खू ओसण्णं पसंसइ पसंसंतं वा साइज्जइ नि० चू० १३ उ०। शिथिले, ग० १ अधि०। शिथिलतां गते, व्य० ३ उ०। मग्ने,। सूत्र० १ श्रु० २ अ०। श्रान्ते,। भ० १० श० ४ उ०।

***उत्सन्न**–त्रि० (प्राचुर्ये,। प्रश्न० १ द्वा०। प्रायोऽर्थे, कल्प०। आव०।

ओसण्णचरणकरण–पुं० स्त्री० (अवसन्नचरणकरण) अवसन्ने शिथिलतां गते चरणकरणे व्रतश्रमणधर्मादिपिण्डविशोधितमित्यादिरूपे यस्य सोऽवसन्नचरणकरणः। शिथिलचरणकरणे, व्य० प्र० ३ उ०।

ओसण्णदोस–पुं० (अवसन्नदोष) हिंसादीनामन्यतरस्मिन्, अवसन्नं प्रवृत्तेःप्राचुर्यं बाहुल्यं यत्स एव दोषः। अथवा ' ओसन्नमिति ' बाहुल्येनानुपरतत्वेन दोषो हिंसादीनां चतुर्णामन्यतरोऽवसन्न दोषः। धर्मध्यानस्य प्रथमे लक्षणे, स्था० ४ ठा०। ग०।

ओसण्णविहारि (ण्)–पुं० (अवसन्नविहारिन्) आजन्मशिथिलाचारे, भ० १० श० ४ उ०।

ओसत्त–त्रि० (अवसक्त) संबद्धे, ज्ञा० ३ अ०।

ओसप्पिणी–स्त्री० (अवसर्पिणी) अवसर्पयति भावानित्येवं शीलाऽवसर्पिणी। भ० ५ श० १ उ०। अवसर्पति हीयमानारकतया अवसर्पयति वाऽऽयुष्कशरीरादिभावान् हापयतीत्यवसर्पिणी। स्था० १ ठा०। अवसर्पन्ति क्रमेण हानिमुपपद्यन्ते शुभा भावा अस्यामित्यवसर्पिणी। (सागरोपमशब्दे वक्ष्यमाणस्वरूपाणां सागरोपमाणां) सूक्ष्माद्धासागरोपमाणां परिपूर्णादिसागरोपमकोटाकोट्यात्मके कालविशेषे,। अवसर्पिण्यां च समस्ता अपि शुभा भावाः क्रमेणानन्तगुणतया हीयन्ते। अशुभा भावाः क्रमेणानन्तगुणतया परिवर्धन्ते। जो० १ पाहु०। नं०। अनु०। विशे०। " दससागरोवमकोडाकोडीओ कालो ओसप्पिणी ए "। स्था० १० ठा०। अत्र षडरकाः " छव्विहा ओसप्पिणी पण्णत्ता तंजहा सुसमसुसमा जाव दुस्समदुस्समा " स्था० ४ ठा०।

(१) अवसर्पिण्या भेदाः।
(२) सुषमादीनां प्रमाणम्।
(३) सुषमसुषमास्वरूपम्।
(४) भेरुतालादिवृक्षवर्णनम्।
(५) वनश्रेणिवर्णनं तत्र कल्पवृक्षस्वरूपवर्णनं च।
(६) तत्कालभाविमनुष्यादिस्वरूपम्।
(७) मनुष्यादीनां भवस्थितिः।
(८) द्वितीयारकस्वरूपम्।
(९) तृतीयारकस्वरूपं तत्र जगद्व्यवस्थावर्णनं च।
(१०) चतुर्थारकस्वरूपनिरूपणम्।
(११) पञ्चमारकस्वरूपम्।
(१२) षष्ठारकस्वरूपकथनम्।
(१३) भरतभूमिस्वरूपम्।

(१) अवसर्पिण्या भेदाः।

जंबूद्दीवे णं भंते ! दीवे भारहे वासे कतिविहे काले पण्णत्ते ? गोयमा ! दुविहे काले पण्णत्ते तं जहा उस्सप्पिणीकाले अ ओसप्पिणीकाले अ। ओसप्पिणीकाले णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ? गोयमा ! छव्विहे पण्णत्ते तं जहा सुसमसुसमाकाले सुसमाकाले सुसमदुस्समा काले दुस्समसुसमाकाले दुस्समाकाले दुस्समदुस्समाकाले।

अवसर्पिणीकालः कतिविधः प्रज्ञप्तः गौतम ! षड्विधः प्रज्ञप्तस्तद्यथा सुष्ठु शोभनाः समाः वर्षाणि यस्यां सा सुषमा " निर्दुःसुदेःसमसुतेरिति " षत्वं सुषमा चासौ सुषमा च सुषमसुषमा द्वयोः समानार्थयोः प्रकृष्टार्थवाचकत्वादत्यन्तसुषमा एकान्तसुखस्वरूपोऽस्या एव प्रथमारके इत्यर्थः। सो चासौ कालश्चेति। द्वितीयः सुषमाकालः। तृतीयः सुषमदुःषमा दुष्टाः समा अस्यामिति दुःषमा। सुषमा चासौ दुःषमा च सुषमदुःषमा। सुषमानुभावबहुलाल्पदुःषमानुभावेत्यर्थः। चतुर्थो दुःषमसुषमा। दुःषमा चासौ सुषमा च दुःषमसुषमा। दुःषमानुभावबहुलाल्पसुषमानुभावेत्यर्थः। पञ्चमो दुःषमा। षष्ठो दुःषमदुःषमाकालः। निरुक्तं तु सुषमसुषमावत्।

(२) सुषमादीनां प्रमाणमित्थम्।

एएणं सागरोवमप्पमाणेणं चत्तारि सागरोवमकोडाकोडीओ कालो सुसमसुसमा। १। तिण्णि सागरोवमकोडाकोडीओ कालो सुसमा २ दो सागरोवमकोडाकोमीओ कालो सुसमदुस्समा ३ एगा सागरोवमकोडाकोडी वायालीसाए वाससहस्सेहिं ऊणिआकालो दुस्समसुसमा ४ एक्कवीसं वाससहस्साइं कालो दुस्समा ५ एक्कवीसं वास सहस्साइं कालो दुस्समदुस्समा ६ पुणरवि ओसप्पिणीए एक्कवीसं वाससहस्साइं। कालो दुस्समदुस्समा। एवं पडिलोम णेअव्वं जाव चत्तारि सागरोवमकोडाकोडीओ

कालो सुगमसुगमा । दससागरोवमकोडाकोमीओ कालो ओसप्पिणी।

एतेन सागरोपमप्रमाणेनान्यूनाधिकेनेत्यर्थः । चतस्रः सागरोपमकोटाकोट्यः कालः सुषमसुषमा प्राग्वर्णितान्वर्था। अयमर्थः। चतुःसागरोपमकोटीलक्षणः कालः प्रथमारक इत्युच्यते (वायालीसत्ति) या च सागरोपमकोटाकोट्येकाद्विचत्वारिंशत्सहस्रैरूनैवोनिका असौ कालश्चतुर्थोऽरः सा दुःषमासप्तकैरेकविंशतिसहस्रैश्च वर्षाणां पूरणीया। तेन पूर्णकोटाकोट्येका भवति। अवसर्प्पिणीकालस्य दशसागरकोटाकोटापूरिका भवतीत्यर्थः । एवं प्रतिलोमेति पश्चानुपूर्व्या ज्ञेयम् । उक्तं भरतकालस्वरूपम् ।

(३) अथ काले भरतस्वरूपं पृच्छन्नाह । तत्रावसर्पिण्या वर्तमानत्वेनादौ सुषमसुषमायां प्रश्नः ।

जंबुद्दीवे णं भंते ! दीवे भरहे वासे इमीसे ओसप्पिणीए सुसमसुसमाए समाए उत्तमकट्ठपत्ताए भरहस्स वासस्स केरिसए आयारभावपडोयारे होत्था ? गोयमा ! बहुसमरमणिज्जभूमिभागे होत्था से जहाणामए आलिंगपुक्खरेइ वा जाव णाणामणिपंचवणेहिं। तणेहि य मणीहि य उवसोभिए। तं जहा किण्हेहिं भाव सुक्किल्लेहिं एवं वणो गंधो फासो सद्दो अ तणाण य मणीण य भाणिअव्वो जाव तत्थ णं बहवे मणुस्सा मणुस्सीओ अ आसयंति सयंति चिट्ठंति णिसीअंति तुअट्टंति हसंति रमंति ललंति । तीसे णं समाए भरहे वासे बहवे उद्दाला कुद्दाला समुद्दाला कयमाला णट्टमाला दंतमाला सिंगमाला संखमाला सेअमाला णामं दुमगणा पण्णत्ता ? कुसविकुसविसुद्धरूक्खमूला मूलमंतो कंदमंतो जाव बीअमंतो पत्तेहि अ पुप्फेहि अ फलेहि अ अउच्छण्णपमिच्छण्णा सिरीए अईवोवसोभेमाणा चिट्ठंति।

जम्बूद्वीपे भदन्त ! द्वीपे भरतक्षेत्रेऽस्यामवसर्पिण्यां संप्रति यावर्तमानेति शेषः । सुषमसुषमानाम्न्यां समायां कालविभागलक्षणायां अरके इत्यर्थः । किंलक्षणायामित्याह । उत्तमकाष्ठां प्रकृष्टामवस्थां प्राप्तायां " क्वचिदुत्तमकट्ठपत्ताए इति " पाठस्तत्रोत्तमान् सत्कालापेक्षयोत्कृष्टान् अर्थान् वर्णादीन् प्राप्ता उत्तमार्थप्राप्ता तस्यां भरतस्य वर्षस्य कीदृश आकारभावप्रत्यवतारः (होत्थेत्ति) अभवत्। सर्वमन्यत्प्राख्याख्यातार्थं नवरमत्र मनुष्योपभोगाधिकारे शयनमुभयथापि संगच्छते निद्रासहितत्वभेदात्। अथ सविशेषमनुजिघृक्षुणा गुरुणा पृष्टमपि शिष्यायोपदेष्टव्यमिति प्रश्नपद्धतिरहितं प्रथमारकानुभावजनितभरतभूमिसौभाग्यसूचकं सूत्रचतुर्दशकमाह (तीसेणमित्यादि) तस्यां समायां भरतवर्षे बहवे उद्दालाः कोद्दालाः समुद्दालाः कृतमालाः दन्तमालाः शृङ्गमालाः शङ्खमालाः श्वेतमाला नाम द्रुमगणा द्रुमजातिविशेषसमूहाः प्रज्ञप्तास्तीर्थकरगणधरैः । हे श्रमण ! आयुष्मन् ते च कथंभूता इत्याह । कुशाः दर्भाः विकुशा विल्वजादयस्तृणविशेषास्तैर्विशुद्धं रहितं वृक्षमूलं तदधोभागो येषां ते तथा । *इह मूलं शाखादीनामपि आदिमो भागो लक्षणाया प्रोच्यते यथा शाखामूलमित्यादि। तथा सकलवृक्षसत्कमूलप्रतिपत्तये वृक्षग्रहणं मूलमन्तः कन्दमन्त इति पदद्वयं यावत्पदसंग्राह्यं च* जगतीवनगततरुगणबद्ध्याख्येयम्। पत्रैश्च पुष्पैश्च फलैश्च अवच्छन्नप्रतिच्छन्ना इति प्राग्वत् । श्रिया अतीवोपशोभमानास्तिष्ठन्ति वर्तन्ते इति भावः ।

(४) तत्र भेरुतालादिवृक्षनिरुपणायाह–

तीसेणं समाए भरहे वासे तत्थ तत्थ बहवे भेरूतालवणाइं हेरुतालवणाइं सेरूतालवणाइं सालवणाइं सरलवणाइं सत्तिवण्णवणाइं पूअफलिवणाइं खज्जूरीवणाइं णालिए रिवणाइं कुसविकुसविसुद्ध रुक्खमूलाइं जाव चिट्ठति । तीसेणं समाए भरहे वासे तत्थ तत्थ बहवे सरिआगुम्माणे मालिआगुम्मा कोरंटयगुम्मा बंधुजीवगगुम्मा वीअगुम्मा वाणगुम्मा कणइरगुम्मा कुज्जायगुम्मा सिंदुवारगुम्मा जोई गुम्मा मोरग्गगुम्मा जूहिआगुम्मा मल्लिआगुम्मा वासंतिआगुम्मा वत्थुलगुम्मा बालगुम्मा आगम्मिगुम्मा चंपगगुम्मा जावीगुम्मा णवणीआगुम्मा कुंदगुम्मा महाजाईगुम्मा रम्मामहामेहणिकुरंबभूआदसद्धवणं कुसुमं कुसुमेंति जेणं भरहे वासे बहुसमरमणिज्जं भूमिभागं वा या विदुअग्गसालामुक्कपुप्फमुंजो वयारकलिअं करेंति । तीसेणं समाए भरहे वासे तत्थ तत्थ तहिं तहिं बहुईओ पउमलयाओ जाव सामलयाओ णिच्चं कुसुमिआओ जाव लयावण्णाओ ।

तस्यां समायां बहूनि सूत्रे पुंस्त्वनिर्देशः प्राकृतत्वात् भेरुतालादयो वृक्षविशेषाः ' क्वचित्पभवालवणा इति ' पाठस्तत्र पभवालास्तरुविशेषाः सालः सर्जः सरलो देवदारुः सप्तपर्णः प्रतीतस्तेषां वनानि पूगफली क्रमुकतरु : खर्जूरीनारिकेरे प्रतीते तासां वनानि शेषं प्राग्वत् (तीसेणमित्यादि) तस्यां समायां बहवः सेरिकागुल्माः नवमालिकागुल्माः बन्धूजीवकगुल्मा यत्पुष्पाणि मध्याह्ने विकसन्ति मनोवगुल्माः बीजकगुल्माः बाणगुल्माः कुज्जगुल्माः सिन्दुवारगुल्माः जातिगुल्माः मुद्गरगुल्माः यूथिकागुल्माः मल्लिकागुल्माः वासन्तिकगुल्माः वस्तुलगुल्माः सेवालगुल्माः अगस्त्यगुल्माः चम्पकगुल्माः जातिगुल्माः नवनीतिकागुल्माः कुन्दगुल्मा महाजातिगुल्माः । गुल्मा नाम ह्रस्वस्कन्धबहुकाण्डपत्रपुष्पफलोपेताः । एषाञ्च केचित् प्रतीताः । केचिद्देशविशेषतोऽवगन्तव्याः । रम्याः महामेघनिकुरम्बभूताः । दशार्धवर्णं पञ्चवर्णं कुसुमं जातावेकवचनं कुसुमरसमूहं कुसुमयन्ति उत्पादयन्तीति भावः " ये णमिति " प्राग्वत्। भरते वर्षे इति षष्ठीसप्तम्योरर्थे प्रत्यभेदात् भरतस्य वर्षस्य समरमणीयं भूमिभागं वातविधूता वायुकम्पिता या अग्रशालास्ताभिर्मुक्तो यः पुष्पपुञ्जः स एवोपचारः पूजा तेन कलितं युक्तं कुर्वन्तीति (तीसेणमित्यादि) सर्वमेतत् प्राग्वत् ।

(५) अथात्रैव वनश्रेणिवर्णनायाह ।

तीसे णं समाए भरहे वासे तत्थ तत्थ तहिं तहिं बहुईओ वणराईओ पण्णत्ताओ किण्हाओ, किण्हाभासाओ जाव मनोहराओ रतमत्तछप्पयकोरगभिंगारगकोडलगजीवं जीवगनंदीमुहकविलपिंगलक्खगकारंडचक्कवागकलहंससारसअणेगस उणगणमिहुणविअरिआओ सद्दुण्णइयमहुरसरणाइआओ संपिंडिअणाणाविहगुच्छवावीपुक्खरिणीदी–

हिआसुअसुणिविचित्तअब्भिंतरसाहुणिरोगकसव्वोउअपुप्फलसमिद्धिओ पिंडिमजातपासादिआओ तीसे णं समाए भरहे वासे तत्थ तत्थ तहिं तहिं मतंगा णामं दुमगणा पण्णत्ता। जहा से चंदप्पभा जाव छण्णपडिच्छण्णा चिट्ठंति। एवं जाव अणिगणा णाम दुमगणा पण्णत्ता।

तत्र तत्र प्रदेशे तस्य देशस्य तत्र तत्र प्रदेशे बहवो वनराजयः प्रज्ञप्ताः इहानेकजातीयानां वृक्षाणां पङ्क्तयो वनराजयः ततः पूर्वोक्तसूत्रेभ्योऽस्य भिन्नार्थतेति न पौनरुक्त्यं ताश्च कृष्णाः कृष्णावभासा इत्यादिविशेषेण जातं प्राग्वत्। यावन्मनोहारिण्यः। यावत्पदसंग्रहश्चायं " णीलो भासाओ हरिआओ हरिओ, भासाओ सीआओ सीओ भासाओ णिद्धाओ णिद्धो भासाओ तिव्वाओ तिव्वो भासाओ किण्हाओ किण्हच्छायाओ णीलाओ णीलच्छायाओ हरिआओ हरिअच्छायाओ सीआओ सीअच्छायाओ णिद्धाओ णिद्धच्छायाओ तिव्वाओ तिव्वच्छायाओ घणकडिअकडच्छायाओ " वाचनान्तरे " घणकडिअकडच्छायाओ महामेहणिकुरंबभूयाओ रम्माओ " इति एतत्सूत्रं प्राक् पद्मवरवेदिकावनवर्णनाधिकारे निखिलमपि यत्पुनर्लिखितं तदतिदेशदर्शितानां सूत्रे साक्षाद्दर्शितानां च वनवर्णकविशेषणपदानां विभागज्ञापनार्थमिति सूत्रे कानिचिदेकदेशग्रहणेन कानिचित्सर्वग्रहणेन कानिचित्क्रमेण कानिचिदुत्क्रमेण साक्षाल्लिखितानि सन्ति तेन मा भूद्वाचयितृणां व्यामोह इति सम्यक् पाठज्ञापनाय वृत्तौ पुनर्लिख्यते। " रयमत्तछप्पयकोरगभिंगारगकोडलगजीवं जीवगनंदीमुहकविलपिंगलक्खगकारंडवचक्कवायकलहंससारसअणेगसउणगणमिहुणविअरिआओ सद्दुण्णइअमहुरसरणादिआओ संपिंडिअदरिअभमरमहुकरपहकरपरिलिंतमत्तछप्पयकुसुमासवलोलमहुरगुमगुमेतगुंजंतदेसगामाओ (णाणाविह गुच्छत्ति) णाणाविहगुच्छगुम्ममंडवगसोहिआओ वावीपुक्खरिणीदीहिआसु (असुअसुणित्ति) असुणिवेसे अरम्मजालघरय (ओविचित्तत्ति) विचित्तसुहकेउभूआओ (अब्भिमिति) अब्भिं तरपुप्फफलाओ बाहिरपत्तो वणाओ पत्तेहि अपुप्फेहि अ उच्छण्णपरिच्छ–ण्णाओ 'साहुत्ति' साहुफलाओ (णिरोगकत्ति) णिरोगयाओ सव्वाओ अपुप्फफलसमिद्धाओ (पिंडिमत्ति) पिंडिमनाहारिमं सुगंधिसुहसुरभिमणं हरं च महयागं धव्वुणिं मुअंत्तीउ जाव पासादीआउ ४ इति। व्याख्या प्राग्वत् नवरं (रतमत्ताः) सुरतोन्मादिनो ये षट्पदाद्या जीवा इत्यादि। एवमेव हि सूत्रकाराः पदैकांशग्रहणतः। " एवं जाव तहेव इच्चाइवण्णओ सेसं जहा इत्यादि " पदाभिव्यङ्ग्यैरिति देशैर्दर्शितविवक्षणाय वाच्याः सूत्रे लाघवं दर्शयन्ति। यत उक्तं निशीथभाष्ये षोडशोद्देशे " कत्थइ देसग्गहणं, कत्थइ भणंति निरवसेसाइं। उक्कमकमजुत्ताइं, कारणवसओ निरुत्ताइं " अथात्र वृक्षाधिकारात्कल्पद्रुमस्वरूपमाह (ती सेणं इत्यादि) तस्यां समायां भरते वर्षे तत्र तत्र देशे तस्मिन् तस्मिन् प्रदेशे मत्तं मदस्तस्याङ्गं कारणं मदिरारूपं येषु ते मत्ताङ्गा नाम द्रुमगणाः प्रज्ञप्ताः। कीदृशास्ते इत्याह। यथा ते चन्द्रप्रभादयो मद्यविधयो बहुप्रकाराः। सूत्रे चैकवचनं प्राकृतत्वात्। यावच्छब्दप्रतिच्छब्दास्तिष्ठन्ति एवं यावदनग्ना नाम द्रुमगणाः प्रज्ञप्ता इति। अत्र सर्वो यावच्छब्दाभ्यां सूचितो मत्ताङ्गादिद्रुमवर्णको जीवाभिगमोक्तानुसारेण भावनीयः। स चायं " जहा से चंदप्पभामणिसिलागवरसीधुवरवारुणिसुजायपत्तपुप्फफलचोअणिज्जा। ससारबहुदव्वजुत्तिसंभारकालसंधिआसवासेहुमेरगरिट्ठाभदुद्धजातिपरूढतल्लगसताउ खज्जूरमुद्दिआ सारकाविसायणसुपक्करेवा अरसबरसुरावण्णगंधरसफरिसजुत्तबलविरिअपरिणामा मज्ज विही बहुप्पगारा तहेव ते मत्तंगा वि दुमगणा अणेगबहुविविहवीससा परिणया एमज्जविहीए उववेया फलेहिं पुण्णा वीसं दंति कुसविसुद्धरुक्खमूला। यावच्छब्दप्रतिच्छब्दा सिरीई अईव उवसोभेमाणा २ चिट्ठंतित्ति "। अत्र व्याख्या। " इदं च संकेतवाक्यमपरेष्वपि व्याख्यास्यमानकल्पद्रुमसूत्रेषु बोध्यम् चन्द्रस्येव प्रभा आकारो यस्याः सा चन्द्रप्रभा। मणिशिलाकेव मणिशिलाकावरा च तत् साधु च वरा चासौ वारुणी च वरवारुणी तथा सुजातानां सुपरिपाकागतानां पुष्पाणां फलानां चोयस्य गन्धद्रव्यस्य सो निर्यासो रसस्तेन साराः। तथा बहूनां द्रव्याणामुपबृंहकाणां युक्तयो मीलनानि तासां संभारःप्राभृत्यं येषु ते तथा काले स्वस्वोचिते सन्धिस्तदङ्गभूतानां द्रव्याणां संधानंयोजनमित्यर्थः तस्माज्जायन्ते इति कालसन्धिजा एवं विधाश्च ते आसवाः। किमुक्तं भवति। पत्रादिवासकद्रव्यभेदात् अनेक प्रकारो ह्यासवः। पत्रासवादिरानननिर्दिष्टो भवतीति ततः पदद्वयपदद्वयमीलनेन विशेषण समासः। मधुमेरकौ मद्यविशेषौ रिष्टा भरिष्टा रत्नवर्णाभा याःशास्त्रान्तरे जम्बूकफलफलिकेति प्रसिद्धा दुग्धजातिः आस्वादतः क्षीरसदृशी प्रसन्ना सुराविशेषः। तल्लकोऽपि सुराविशेषः। शतायुर्नाम या शतवारं शोधिताऽपि स्वस्वरूपं न जहाति। सारशब्दस्य प्रत्येकं योजनात् खर्जूरसारनिष्पन्न आसवविशेषः। सुपक्वः परिपाकागतो यः क्षोदरस इक्षुरसस्तन्निष्पन्ना वरसुरा एते सर्वेऽपि मद्यविशेषाः। पूर्वकाले लोकप्रसिद्धा इदानीमपि शास्त्रान्तरतो लोकतो या यथास्वरूपं वेदितव्याः। कथंभूता एते मद्यविशेषा इत्याह वर्षेण न प्रस्तावादतिशायिना एवं गन्धेन रसेन स्पर्शेन च युक्ताः सहिता बलहेतवो वीर्यपरिणामा येषां ते तथा बहवः प्रकारा जातिभेदेन येषां ते बहुप्रकाराः तथैवेति पदभिन्नक्रमेण योजनात्। तथा स्वरूपेणैव न त्वन्यादेशेन मद्यविधिना मद्यप्रकारेणोपपेतास्ते मत्ताङ्गा अपि द्रुमगणा इति भावः। अन्यथा दृष्टान्तयोजना न सम्यग् भवति। इति किंविशिष्टेन मद्यविधिनेत्याह। अनेको व्यक्तिभेदात् बहुप्रभूतं यथा स्यात्तथाविविधो जातिभेदान्नानाप्रकारो जातिभेदतो नानाविध इति भावः। स च केनापि कल्पपालादिना निष्पादितोऽपि संभाव्यते तत आह विस्रसया स्वभावेन तथाविधक्षेत्रादिसामग्रीविशेषेजनिते परिणतो न पुनरीश्वरादिना निष्पादित इति। तत्र पदत्रयस्य पदद्वयपदद्वयमीलनेन कर्मधारयः। सूत्रे च स्त्रीत्वनिर्देशः प्राकृतत्वात्। ते च मद्यविधिनोपतेता न तालादिवृक्षा इवाङ्गरादिषु किं तु फलादिषु। तथा चाह। फलेषु पूर्णाः मद्यविधिभिरिति गम्यम्। सप्तम्यर्थे तृतीया प्राकृतत्वात्। यत् विष्यन्दन्ति स्रवन्ति सामर्थ्यात्तानेवानन्तरोदितान्मद्यविधीन् क्वचिद्विगसंतीति पाठः। तत्र विकसन्तीति व्याख्येयम्। किं मुक्तंभवति। तेषां फलानि परिपाकगतमद्यविधिभिः पूर्णानि स्फुटित्वा स्फुटित्वा तान् मद्यविधीन्मुञ्चन्तीति भावः। शेषं तथैव।

अथ द्वितीयकल्पवृक्षजातिस्वरूपमाख्यातुमा-

तीसे णं समाए तत्थ तत्थ तहिं तहिं बहवे भिंगा णामं दुमगणा पण्णत्ता। ता समया सो जहा से वारगघडगकलसकडगकक्करिपायकांचणिउदंकबद्धणिसुपइट्ठगविट्ठरपारीचसकभिंगारकरोडिसरगपरगपत्तीथालणल्लगचवलिअवमद

दगवारगविचित्तवट्टगमणिवट्टगसुत्तिवापीणया कंचणमणिरयणमत्तिचित्ता भायणविही य बहुप्पगारा तहेव ते भिंगा वि दुमगणा। अणेगबहुविहवीससा परिणयाए भायणविहीए उववेअफलेहिं पुण्णा विव विसंतीति।

तस्यां समायां तत्रेत्यादि प्राग्वत् भूतं भरणं पूरणमित्यर्थः। तत्राङ्गानि कारणानि न हि भरणक्रियाभरणीयं भाजनं वा भवतीति तत्संपादकत्वात्। वृक्षा अपि भृताङ्गाः। प्राकृतत्वाच्च भिंगा उच्यन्ते। यथा सेवारको मरुदेशप्रसिद्धनामा मङ्गल्यघटः घटको लघुर्घटः कलशो महाघटः कटकः प्रतीतः। कर्करी स एव सविशेषः। पादकाञ्चनिका पादधावनयोग्या काञ्चनमयी पात्री उदङ्को येनोदकं मुच्यते वार्द्धनी लन्तिका यद्यपि नामकोशे करककर्करीवार्द्धनीनां न कश्चिद्विशेषस्तथापीह संस्थानादिकृतो विशेषो लोकतोऽवसेय इति सुप्रतिष्ठकः पुष्पपात्रविशेषः पारी स्नेहभाण्डं चषकः सुरापानपात्रं भृङ्गारः कनकालुकः शरको मदिरापात्रं पात्रीस्थले प्रसिद्धे दकवारको जलघटः विचित्राणि विविधचित्रोपेतानि वृत्तकानि भोजनक्षणोपयोगिघृतादिपात्राणि तान्येव मणिप्रधानानि वृत्तकानि मणिवृत्तकानि शुक्तिश्चन्दनाद्याधारभूता शेषा 'विद्रुरकरोडिनल्लकचपलितावमददगवारग' पीनकालोलतो विशिष्टसंप्रदायाद्वाऽवगम्याः काञ्चनमणिरत्नानां भक्तयो विच्छित्तयस्ताभिः चित्रा भाजनविधयो भाजनप्रकारा बहुप्रकारा एकैकस्मिन् विधाववान्तरा नेकभेदभावात्। तथैवेति पूर्ववत्। ते भृताङ्गा अपि द्रुमगणा "अणेगेति" पूर्ववत्। भाजनविधिनोपपेताः फलैः पूर्णा इव विकसन्ति। अयमर्थस्तेषां भाजनविधयः फलानीव शोभन्ते। अथवा इवशब्दस्य भिन्नक्रमेण योजना तेन फलैः पूर्णा भाजनविधिना वोपपन्ना दृश्यन्त इति।

अथ तृतीयकल्पवृक्षस्वरूपमाह।

तीसेणं समाए तत्थ तत्थ तहिं तहिं बहवे तुडिअंगा णामं दुमगणा पण्णत्ता। समणाउसो जहा से आलिंगमुइंगपणवपडहदद्दरगकरडिडिंडिमभंभाहोरंभकणियखरमुहिमुगुंदसंखिअपिरलीवच्चकपरिवाइणिवंसवेणुघोसविवंचिमहतिकच्छविमिरिआतलतालकंसतालसुसंप उत्ता। आतोज्जविहीनिउणगंधव्वसमयकुसलेहिं फंदिआ तिट्ठाणकरणसुद्धा तहेव ते तुडिअंगा वि दुमगणा। अणेगबहुविहवासंसा परिणयाए ततवितघणसुसिराए आतोज्जविहीए उववेआ फलेहिं पुण्णा विव विसंट्ठंति कुसविकुसं जाव चिट्ठंतीति।

यथा ते आलिङ्ग्यो नाम यो वादकेन मुरज आलिङ्ग्य वाद्यते हृदि धृत्वा वाद्यते इत्यर्थः मृदङ्गो लघुमर्दलः पणवो भाण्डपटहो लघुपटहो वा पटहः स्पष्टः दर्दरकः यस्य चतुर्भिश्चरणैरवस्थानं भुवि सगाधो चर्मावनद्धो वाद्यविशेषः। करटी सुप्रसिद्ध। डिमः प्रथमप्रस्तावनासूचकः पणवविशेषः भम्भा ढक्का निःस्वनानि इति संप्रदायः होरम्भा महाढक्का महानिःस्वनानीत्यर्थः। क्वणिता काचिद्वीणा खरमुखी काहली मुकुन्दो मुरजविशेषो योऽतिलीनं प्रायो वाद्यते। शङ्खिका लघुशङ्खरूपा तस्याः स्वरो मनाक् तीक्ष्णो भवति न तु शङ्खस्येवातिगम्भीरः पिरलीवच्चकौ तृणरूपवाद्यविशेषौ। परिवादिनी सप्ततन्त्री विणा वंशः प्रतीतः वेणुर्वंशविशेषः। सुघोषा वीणाविशेषः विपञ्चीतितन्त्री वीणा महती सप्ततन्त्रिका सा कच्छपी भारती वीणा। रिगसिगिका घर्ष्यमाणवादित्रविशेषः। इति श्राद्धविधिवृत्तौ एते कथंभूता इति। तलं हस्तपुटं तालाः कांस्यतालाश्च प्रतीताः एतैः सुसंप्रयुक्ताः सुष्ठु अतिशयेन सम्यग्यथोक्तनीत्या प्रयुक्ताः संबद्धाः यद्यपि हस्तपुटं न कश्चित्तूर्यविशेषः तथापि तदुत्थितशब्दप्रतिकृतिः शब्दशब्दो लक्ष्यते। एतादृशा आतोद्यविधयस्तूर्यप्रकाराः निपुणं यथा भवन्ति एवं गन्धर्वसमये नाट्यसमये कुशलास्तैः स्पन्दिता व्यापारत इति भावः। पुनः किंविशिष्टा इत्याह। त्रिषु आदिमध्यावसानेषु स्थानेषु करणेन क्रियया यथोक्तवादनक्रियया शुद्धा अवदाता न पुनरस्थानव्यापारणरूपदोषलेशेनापि कलङ्किताः तत्र त्रुटिताङ्गा अपि द्रुमगणास्तथैव तथा प्रकारेण नत्वन्यादृशेन। ततं वीणादिकं विततं पटहादिकं घनं कांस्यतालादिकं सुषिरं वंशादिमेतद्रूपेण सामान्यतश्चतुर्विधेन आतोद्यविधिनोपपेताः शेषं प्राग्वत् इति।

अथ चतुर्थकल्पवृक्षस्वरूपमाह-

तीसेणं समाए तत्थ तत्थ तहिं तहिं बहवे दीवसिहा णामं दुमगणा पण्णत्ता? समणाउसो जहा सेसं भाविसमए नवनिहिवइणो दीविआचक्कबालविंदपभूयवट्टिपलित्तणाहे धणिउज्जालिए तेमिरमद्दए कणगनिगरकुसुमिअपालिअत्त गवणप्पगासे कंचणमणिरयणविमलमहरिहतवणिज्जुज्जलविचित्तदंडाहिं दीविआहिं सहसा पज्जालि उस्सप्पिअनिद्धते अदिप्पंतविमलगहगणसमप्पहाहिं वितिपरकरसूरपसरिउज्जो अ विल्लिआहिं जालुज्जलपहसिअभिरामाहिं सोभमाणाहिं सोभमाणं तहेव ते दीवसिहा वि दुमगणा अणेगबहुविविहवीससा परिणयाए उज्जोअविहीए उववेआ फलेहिं पुण्णा कुसविकुसं जाव चिट्ठंतीति।

तस्यां समायां दीपशिखा इव दीपशिखास्तत्कार्यकारित्वात्। अन्यथा व्याघातकालत्वेन तत्राग्नेरभावात् दीपशिखानामप्यसंभवात्। योजना प्राग्वत्। यथा तत्संध्यारूपो विरूढ उपरिं समयवर्तित्वेन मन्दो रागस्तत्समये तदवसरे नवनिधिपतेश्चक्रवर्तिन इव ह्रस्वा दीपा दीपिकास्तासां चक्रवालं सर्वतः परिमण्डलरूपं वृन्दं कीदृगित्याह। प्रभूता भूयस्यः स्थूरा शिववर्तीर्या दशा यस्य तत्तथा। पर्याप्तः परिपूर्णः स्नेहस्तैलादिरूपो यस्य तत्तथा। धणिअमित्यर्थमुज्ज्वालितमत एव तिमिरमर्दकम्। पुनः किं विशिष्टमित्याह। कनकनिकरः सुवर्णराशिः कुसुमितं च तत् पारिजातकवनं च पुष्पितसुरतरुविशेषवनं ततो द्वन्द्वस्तत्प्रकाशः प्रभाआकारो यस्य तत्तथा। एतावता समुदायविशेषणमुक्तमिदानीं समुदायसमुदायिनोः कथंचित् भेद इति ख्यापयन् समुदायविशेषणमेव विवक्षुः समुदायिविशेषणान्याह। लोकेऽपि वक्तारो भवन्ति। यदि जन्ययात्रा महर्द्धिकजनैराकीर्णेति (कंचणेत्यादि) काभिः शोभमानमिति संबन्धः। कथंभूताभिः दीपिकाभिरत आह काञ्चनमणिरत्नमालाविमलाः स्वाभाविकागन्तुकमलरहिता महार्हा महोत्सवार्हाः। तपनीयं सुवर्णविशेषस्तेनोज्वला दीप्ताः विचित्रवर्णा दण्डा यासां तास्तथा ताभिः सहसा एककालं प्रज्वालिताश्च ता उत्सर्पिताश्च वर्त्युत्सर्पणेन। तथा स्निग्धं मनोहरं तेजो यासां तास्तथा दीप्यमानो रजन्यां भास्वान् विमलोऽत्र धूल्याद्यपगमेन ग्रहगणो ग्रहसमूहस्तेन समा प्रभा यासां ता-

स्ताभिः। ततः पदद्वयपदद्वयमीलनेन कर्मधारयः। तथा वितिमिराः करा यस्यासौ वितिमिरकरो निरन्धकारकिरणः स चासौ सूरश्च तस्येव यः प्रसृत उद्योतः प्रभासमूहस्तेन (चिल्लिआहिं ति) देशीयपदमेतत्। दीप्यमानाभिरित्यर्थः। ज्वाला एव यदुज्ज्वलं प्रहसितं हासस्तेनाभिरामा रमणीयास्ताभिः अत एव शोभमानम्। तथैव ते दीपशिखा अपि द्रुमगणा अनेकबहुविविधविस्रसा परिणतेनोद्योतविधिनोपपेताः। यथा दीपशिखा रात्रौ गृहान्तरूद्योतन्ते दिवा गृहादौ तद्वदेते द्रुमा इत्याशयः। एवं च वक्ष्यमाणज्योतिषिकाख्यद्रुमेभ्यो विशेषः कृतोऽपि भवतीति शेषं प्राग्वत्।

अथ पञ्चमकल्पवृक्षस्वरूपमाह।

तीसे णं समाए तत्थ तत्थ बहवे जोइसिआ णामं दुमगणा पण्णत्ता। समणाउसो जहा से अइरूग्गयसरयसूरमंडलपगंत-उक्कासहस्सदिप्पंतविजुज्जालहुअवहणिद्धूमजलिअणिद्धंतधो-अतत्ततवणिज्जकिंसुआसोअजपाकुसुमवियसि अपुंजमणिरय-णकिरणजच्चहिंगुलस्यणिगररूवाइरेगरूवा तहेव तेजोइसिआ वि दुमगणा। अणेगबहुविविहवीससा परिणया य उज्जोअविहीए उववेया सुहलेसा मंदलेसा मंदयवलेसा कूमा इव ठाणट्ठिआ अन्नोन्नसमोगाढाहिं लेसाहिं साए पहाए तिप्पएसे सव्वओ समंताओ हासें ति उज्जोअंति पभासंति कुसुमं जाव चिट्ठंतीति।

अत्र व्याख्या। तस्यां समायां तत्थेत्यादि पूर्ववत्। ज्योतिषिका नाम द्रुमगणाः प्रज्ञप्ता इत्यन्वययोजना। अन्वर्थस्त्वयं ज्योतींषि ज्योतिष्का देवास्त एव ज्योतिषिकाः। अत्र मन्तावरणस्वार्थे इक्प्रत्ययः। उणादयो व्युत्पन्नानि नामानि इत्युव्युत्पत्तिपक्षाश्रयणाद्धि सप्रत्ययान्तत्वाभावादिकारलोपाभावश्च संभाव्यते। जीवाभिगमवृत्तौ ज्योतिषिका इति संस्कारदर्शनात्। तत्रापि प्रधानाप्रधानयोः प्रधानस्यैव ग्रहणं तेनात्र ज्योतिषिकशब्देन सूर्यो गृह्यते तत्सदृशप्रकाशकारित्वने वृक्षा अपि ज्योतिषिकाः। ज्योतिर्वह्निदिनेशयोरिति वचनात्। ज्योतिःशब्दः सूर्यवाचको वह्निवाचको वा शेषस्वार्थिकप्रत्ययादिकं तथैव। ते च किंविशिष्टा इत्याह। तथा ते अचिरेत्यादिना हुतवह इत्यन्तेन संबन्धः। अचिरोद्गतं शरत्सूर्यमण्डलं यथा वा पतदुल्कासहस्रं प्रसिद्धं यथा वा दीप्यमाना विद्युत् यथा वा उद्गता ज्वाला यस्य स उज्ज्वालस्तथा निर्धूमो धूमरहितो ज्वलितो दीप्तो यो हुतवहो दहनः सूत्रे पदोपन्यासव्यत्ययः प्राकृतत्वात्। ततः सर्वेषामेषां द्वन्द्वः। एते च कथंभूता इत्याह। निष्मिततरमग्निसंयोगेन यद्धौतं शोधितं तप्तं च तपनीयं ये च किंशुकाशोकजपाकुसुमानां विकसितानां पुञ्जा ये च मणिरत्नकिरणाः। यश्च जात्यहिङ्गुलकनिकरस्तद्वपेभ्योऽतिरेकेणातिशयेन यथायोग्यं वर्णतः प्रभया च रूपं स्वरूपं येषां ते तथा। ततः पूर्वपदेन विशेषणसमासः। तथैव ते ज्योतिषिका अपि द्रुमगणाः अनेकबहुविधविस्रसा परिणतेनोद्योतविधिनोपपेता यावतिष्ठन्तीति संटङ्कः। ननु यदि सूर्यमण्डलादिवत्तेजप्रकाशकास्तर्हि तद्वत्ते दुर्निरीक्ष्यत्वतीव्रत्वजङ्गमत्वादिधर्मोपेता अपि भवन्तत्याह। सुखलेश्या सुखकारिणीलेश्यास्तथामन्दलेश्यास्तथा मन्दातपस्य जनितप्रकाशस्य लेश्या येषां ते तथा सूर्यानिलाद्यातपस्य तेजो यथा दुःसहं न तथा तेषामित्यर्थः। तथा कूटानीव पर्वतादिशृङ्गाणीव स्थानस्थिताः स्थिरा इति समयक्षेत्रबहिर्वर्ती ज्योतिष्का इव तेऽवभासयन्तीति भावः। तथा अन्योऽन्यं परस्परं समवगाढाभिर्लेश्याभिः सहिता इति शेषः किमुक्तं भवति। यत्र विवक्षितज्योतिषिकाख्यतरूलेश्या अवगाढा तत्रान्यस्य लेश्या अवगाढा यत्रान्यतरूतललेश्या अवगाढा तत्र विवक्षिततरूलेश्या अवगाढा इति " साए पभाए इत्यादि पभाए संतीत्यन्तं " सूत्रं विजयद्वारतोरणसंबन्धिरत्नकरण्डकवर्णने व्याख्यातमिति। कुशविकुशेत्यादि पूर्ववत्। एषां च बहुव्यापी दीपशिखावृक्षप्रकाशापेक्षया तीव्रश्चप्रकाशो भवतीति पूर्वेभ्यो विशेषः।

अथ षष्ठकल्पवृक्षस्वरूपमाह।

तीसे णं समाए तत्थ तत्थ बहवे चित्तंगा णामं दुमगणा पण्णत्ता। समणाउसो जहा से पेच्छाघरे विचित्ते रम्मे वरकुसुमदाममालुज्जले भासंतमुक्कपुप्फपुंजोवयारकलिए विरल्लिअविचित्तमल्लसिरिसमुद्दप्पगब्भे गतिमवेल्लिसंघाइमेण मल्लेण छेअसिप्पिविभागरइएणं सव्वओ चेव समणुबद्धे पविरललंबंतविप्पइट्ठपंचवणेहिं कुसुमदामेहिं सोभमाणे वणमाले कयग्गए चेव दिप्पमाणे तहेव ते चित्तंगा वि दुमगणा अणेगबहुविविहवीससा परिणयाए मल्लविहीए उववेआ कुसविकुसं जाव चिट्ठंतीति।

तस्यां समयामित्यादि प्राग्वत् नवरं ' चित्तंगा ' इति चित्रस्यानेकप्रकारस्य विवक्षायाः प्राधान्यान्माल्यस्याङ्गकरणं तत्संपादकत्वात् वृक्षा अपि चित्राङ्गाः। यथा तत्प्रेक्षागृहं विचित्रं नानाचित्रोपेतमत एव रम्यं रमयति द्रष्टृणां मनांसि इति बाहुलकात्कर्तरि यप्रत्ययः। किं विशिष्टमित्याह। वरकुसुमदाम्नां मालाः श्रेणयस्ताभिरूज्ज्वलं देदीप्यमानत्वात्। तथा भास्वान् विकसिततया मनोहरतया च देदीप्यमानो मुक्तो यः पुञ्जोपचारस्तेन कलितं तथा विरल्लितानि तनु विस्तारे इत्यस्य स्तेनस्तडतद्वत् विरल्ला इत्यनेन विरल्लादेशे कृते क्तप्रत्यये च विरल्लितानि विरलीकृतानि विचित्राणि यानि माल्यानि ग्रन्थितपुष्पमालास्तेषां यः श्रीसमुदायः शोभाप्रकर्षस्तेन प्रगुल्लमतीव परिपुष्टम्। तथा ग्रन्थितं यत्सूत्रेण ग्रन्थितं वेष्टितं यतः पुष्पमुकुटमिन्दोरूपर्युपरिशिखराकृत्या मालास्थापनं पूरितं यल्लघुच्छिद्रेषु पुष्पनिवेशेन पूर्यते संघातिमं यत्पुष्पं पुष्पेण परस्परं नालप्रवेशेन संयोज्यते ततः समाहारद्वन्द्वे एवं विधेन माल्येन छेकशिल्पिना परमदक्षेण कलावता विभागरचितेन विभक्तिपूर्वककृत्येन यद्यत्र योग्यं ग्रन्थितादि तत्प्रयत्नेन सर्वतः सर्वासु दिक्षु समनुबद्धम्। तथा प्रविरलैर्लम्बनानैस्तत्र प्रविरलत्वं मनागप्यसंहतत्वमात्रेण भवति ततो विप्रकृष्टत्वप्रतिपादनायाह। विप्रकृष्टैर्बृहदन्तरालैः पञ्चवर्णैः ततः कर्मधारयः कुसुमदामभिः शोभमानं वनमाला वन्दनमाला वन्दनमालाकृता अग्रभागे यस्य तत्तथा। तथाभूतं सद्दीप्यमानं तथैव चित्राङ्गा अपि नाम द्रुमगणाः। अनेकबहुविविधविस्रसा परिणतेन माल्यविधिनोपपेताः " कुसविकुसविसुद्धमूलादि " प्राग्वत्।

अथ सप्तमकल्पवृक्षस्वरूपमाह।

तीसेणं समाए तत्थ तत्थ बहवे चित्तरसा णाम दुमगणा पणत्ता समणाउसो जहा से सुगंधवरकमलसालितंदुलविसिट्ठणिरूवहयदुद्धरद्धे सारयघयगुलखंडमहुमोलिए अइरसे परमरमणे होज्जा उत्तमवण्णगंधपंते। अहवा रण्णो चक्कवट्टि -

स्स होज्ज णिउणेहिं सूयपुरिसेहिं संजिए चउकप्पसेअसित्ते इव उदगे कलमसालिणिव्वत्तिए विपक्के सवप्फमिउविसयसगलसित्ते। अणेगसालणगसंजुत्ते अहवा पडिपुण्णदव्वुवक्खमे सुसक्खए वण्णगंधरसफरिसजुत्तबलविरिअपरिणामे इंदिअबलपुट्ठिविवद्धणे खुप्पिवासमहण पहाणगुलकाढिअखंडमच्छंडिओवणीएव्वमो-अगेसएहसमिइगब्भे हवेज्ज परमइट्ठगसंजुत्ते तहेव ते चित्तरसा वि दुगमणा। अणेगबहुविविहविस्ससा परिणयाए भोअणविहीए उववेआ कुसविकुसं जाव चिट्ठंतीति।

तस्यां समायामित्यादियोजना प्राग्वत्। नवरं चित्रो मधुरादिभेदभिन्नत्वेनानेकप्रकार आस्वादयितृणामाश्चर्यकारी वा रसो तेषां ते तथा। यथा तत्परमान्नपायसं भवेदिति संबन्धः। किंविशिष्टमिह ये सुगन्धाः प्रवरगन्धोपेताः समासान्तविधेरनित्यत्वादत्रेदं रूपस्य समासान्तस्याभावो यथा सुरभिगन्धेन वारिणेति वराः प्रधाना दोषरहिताः क्षेत्रकालादिसामग्रीसंपादितात्मलाभा इति भावः। कलमशालेः शालिविशेषस्य तण्डुला निस्तुषितकणाः। यच्च विशिष्टं विशिष्टगवादिसंबन्धिनिरूपहतमिति पाकादिभिरविनाशितं दुग्धं तैराद्धं पक्वं परमकलमशालिभिः परमदुग्धेन च यथोचितमात्रेण केन निष्पादितमित्यर्थः।तथा शारदं घृतं गुडखण्डं मधु वा शर्करा परपर्यायं मेलितं यत्र तत्तथा क्तान्तस्य परनिपातः प्राकृतत्वात्। सुखादिदर्शनाद्वा। अत एवातिरसमुत्तमवर्णगन्धवत्। यथा वा राज्ञश्चक्रवर्तिन ओदन इव भवेदित्यर्थः। निपुणैः सूपपुरुषैः सूपकारैः संज्ञितो निष्पादितः चत्वारः कल्पा यत्र स चासौ सेकश्च चतुष्कल्पसेकस्तेन सिक्तः रसवती शास्त्राभिज्ञा हि ओदनेषु सौकुमार्योत्पादनाय सेकविषयांश्चतुरः कल्पान् विदधति। स च ओदनः किंविशिष्ट इत्याह। कलमशालिनिर्वर्तितः कलमशालिमय इत्यर्थः। विपक्वो विशिष्टपरिपाकमागतः सबाष्पानि बाष्पं मुञ्चन्ति। मृदूनि कोमलानि चतुष्कल्पसेकादिना परिकर्म्मितत्वात् विशदानि सर्वथा तुषादिमलापगमात्। सकलानि पूर्णानि सिक्तानि यत्र स तथा। अनेकानि शालनकानि पुष्पफलप्रभृतीनि प्रसिद्धानि तैः संयुक्तः अथवा मोदक इव भवेदिति किं विशिष्ट इत्याह। परिपूर्णानि समस्तानि द्रव्याणि एलाप्रभृतीनि उपस्कृतानि नियुक्तानि यत्र तत्तथा निष्ठान्तस्य परनिपातः सुखादिदर्शनात्। सुसंस्कृतो यथोक्तमात्राग्निपरितापादिना परमसंस्कारमुपनीतः वर्णगन्धरसस्पर्शाः सामर्थ्यादतिशायिनस्तैर्युक्ता बलवीर्यहेतवश्च परिणामा आयतिकाले यस्य स तथा। अतिशायिभिर्वर्णादिभिः बलवीर्यहेतुपरिणामैश्चोपेता इति भावः। तत्र बलं शारीरं वीर्यमान्तरोत्साहः। तथा इन्द्रियाणां चक्षुरादीनां बलं स्वस्वविषयग्रहणपाटवं तस्य पुष्टिरतिशायी पोषस्तां वर्धयति। नन्द्यादित्वादनः। तथा क्षुत्पिपासामथन इति व्यक्तम्। तथा प्रधानः क्वथितो निष्पक्वो गुडस्तादृशं वा खण्डं तादृशी वा मत्स्यण्डी खण्डशर्करा तादृशं वा घृतं तान्युपनीतानि योजितानि यस्मिन् तथा निष्ठान्तस्य परनिपातः सुखादिदर्शनात्। तथा श्लक्ष्णा सूक्ष्मा निर्वस्त्रगालितत्वेन समिता गोधूमचूर्ण तद्वद्भस्तन्मूलदलनिष्पन्न इति भावः। परम इष्टकमत्यन्तवल्लभं तदुपयोगिद्रव्यं तेन संयुक्त एतद्व्यक्तिः संप्रदायगम्या। तथैव ते चित्ररसा अपि द्रुमगणा अनेकबहुविविधविस्रसापरिणतेन भोजनविधिनोपपेताः इत्यादि प्राग्वत्।

अथाष्टमकल्पवृक्षस्वरूपमाह।

तीसे णं समाए तत्थ तत्थ बहवे मणिअंगा णामं दुमगणा पण्णत्ता। समणाउसो जहा से हारद्धहारवेट्टणयमउडकुंमलवासुत्तगहेमजालमणिजालकण्णगजालगसुत्तउचिअकमगखुड्डय-एकावलिकंठसुत्तगमगरिअउरत्थगेविज्जसोणिसुत्तगचूलामणिकणगतिलगपुप्फासिद्धत्थयकण्णवालिससिसूरउसहचक्कगतल-मंगयतुडिअंहत्थमालगहरिसयकेयूरवलयएलंबअंगुलिज्जगवलक्खदीणारमालिआकंचिमेहलकलावण्यरगपारिहेरगपायजालघंटिआखिंखिणिरयणीरूजालखुड्डिअवरणेउरचलणमालिआ कणगणिगलमालिआ कंचणमणिरयणभत्तिचित्ता तहेव ते मणिअंगा वि दुमगणा अणेगा जाव भूसणविहीए उववेआ जाव चिट्ठंतीति।

तस्यां समायामित्यादि प्राग्वात् नवरं मणिमयानि आभरणान्याधाराधेयोपचारान्मणीनि तान्येव अङ्गानि अवयवा येषां ते मण्यङ्गा भूषणसंपादका इत्यर्थः। यथा ते हारोऽष्टादशसरिकः अर्धहारो नवसरिकः। वेष्टनकः कर्णाभरणविशेषः मुकुटकुण्मले व्यक्ते वासुत्तगं हेमजालं सच्छिद्रसुवर्णालङ्कारविशेषः। एवं मणिजालककनकजालके अपि परं कनकजालकस्य हेमजालतो भेदो रूढिगम्यः। सूत्रं कण्ठैकक्षककृतं सुवर्णसूत्रम्। उचितकटकानि योग्यवलयानि क्षुद्रकमङ्गुलीयकविशेषः। एकावली च विचित्रमणिककृता एकसूत्रिका च कण्ठसूत्रं प्रसिद्धं मकरिकामकराकार आभरणविशेषः। उरस्थं हृदयाभरणविशेषः। ग्रैवेयं ग्रीवाभरणविशेषः। अत्र सामान्यतो विवक्षया ग्रैवेयमिति जीवाभिगमवृत्त्यनुसारेणोक्तम्। अन्यथा हेमव्याकरणादावलङ्कारविवक्षायां ग्रैवेयकमिति स्यात्। एवमन्यत्रापि तत्तद्वृत्त्यनुसारेण ज्ञेयं श्रोणिसूत्रकं कटिसूत्रकं चूडामणिनार्म सकलनृपरत्नसारो नरामरेन्द्रमौलिस्थायी। अमङ्गलमयप्रमुखदोषहृत् परममङ्गलभृत् आभरणविशेषः। कनकतिलकं ललाटाभरणं पुष्पकं पुष्पाकृतिललाटाभरणं। सिद्धार्थकं सर्षपप्रमाणस्वर्णकणरचितसुवर्णमणिमयं। कर्णपाली कर्णोपरितनविभागभूषणविशेषः। शशिसूर्यवृषभाः स्वर्णमयचन्द्रिकादिरूपा आभरणविशेषाः। चक्रकं चक्राकारः शिरोभूषणविशेषः तलभङ्गकं त्रुटिकानि च बाह्वाभरणानि अनयोर्विशेषस्तु आकारकृतः। हस्तमालकं हर्षकम केयूरमङ्गदम्। पूर्वस्माद्याकृतिकृतो विशेषः। वलयं कङ्कणम्। प्रालम्ब झुंबनकम्। अङ्गुलीयकंमुद्रिकावलक्षं रूढिगम्यम्। दीनारमालिका सूर्यमालिका दीनाराद्याकृतिमणिकमाला। काञ्ची मेखला। कलापाः स्त्रीकट्याभरणविशेषः विशेषश्चैषां रूढिगम्यः। प्रतरकं वृत्तप्रतल आभरणविशेषः। पारिहार्यं वलयविशेषः। पादेषु जालाकृतयो घण्टिका घर्घरिकाः। किङ्किण्यः क्षुद्रघण्टिकाः। रत्नोरुजालं रत्नमयम्। जङ्घयोः प्रलम्बमानं संकलकं संभाव्यते। क्षुद्रिकावराणि नूपुराणि व्यक्तानि चरणमालिका संस्थानविशेषकृतपादाभरणम् (लोके पागमां इति प्रसिद्धम्) कनकनिगमः निगमाकारः पादाभरणविशेषः सौवर्णः (संभाव्यन्ते च कमला इति प्रसिद्धाः) एतेषां मालिका श्रेणिः। अत्र च व्याख्यातव्यतिरिक्तं भूषणस्वरूपं लोकतो गम्यम्। ईत्यादिका भूष-

णविधियो मण्डनप्रकाराः बहुप्रकाराः अवान्तरभेदात्। ते च किं विशिष्टा इत्याह काञ्चनमणिरत्नभक्तिचित्रा इति व्यक्तम्। तथैव तथा प्रकारेण भूषणविधिनोपपेतास्ते मण्यङ्गा इति तात्पर्यार्थः। शेषं प्राग्वत्।

अथ नवमकल्पवृक्षस्वरूपमाह -

तीसे णं समाए तत्थ तत्थ बहवे गेहागारा णामं दुमगणा पण्णत्ता। समणाउसो जहा से पागारट्टालयचरियदारगोपुरपासायागासतलमंडलएगसालगविसालगतिसालगचउसालगगब्भघरमोहणघरवलभीहरचित्तमालयघरभत्तिघरवट्टतंसचउरंसणंदिआवत्तसंठिआ पंडुतरतलमुंडमालहम्मिअं अहवा णं धवलहरअद्धमागहविब्भमसेलद्धसेलसंठिअकूमागारद्धसुविहिकोट्ठगअणेगघरसरणलेण आवणा विडंगजालबिंदणिज्जूहअपवरगचंदसालिआ रूववित्तिकहिआ भवणविही बहुविकप्पा तहेव ते गेहागारा वि दुमगणा अणेगबहुविविहवीससा परिणयाए सुहारूहणसुहोत्तारए सुहणिक्खमणपवेसाए दद्दरसोपाणपंतिकलिआए पइरिक्कसुहविहाराए मणोणुकूलाए भवणविहीए उववेया जाव चिट्ठंतित्ति।

तस्यां समायामित्यादि प्राग्वत्। गेहाकारानाम द्रुमगणाः प्रज्ञप्ताः। यथा ते प्राकारो वप्रः अट्टालकः प्राकारो परिवर्त्याश्रयविशेषः चरिका नगरप्राकारान्तरालेष्टहस्तप्रमाणो मार्गद्वारं व्यक्तं गोपुरं पुरद्वारं प्रासादो नरेन्द्राश्रयः आकाशतलं कूटाद्याच्छिन्नकुट्टिमं मण्डपः छायाद्यर्थं पटादिमय आश्रयविशेषः। एकशालकद्विशालकत्रिशालकचतुःशालकादीनि भवनानि। नवरं गर्भगृहं सर्वतो वर्ति गृहान्तरमभ्यन्तरगृहमित्यर्थः। अन्यथोत्तरत्र वक्ष्यमाणेनावरकेण पौनरूक्त्यं स्यात् मोहनगृहं सुरतगृहं बलभीच्छदिराधारस्तत्प्रधानं गृहं वृत्तं वर्तुलाकारम्। त्र्यस्रं त्रिकोणं चतुरस्रं चतुष्कोणं नन्द्यावर्तः प्रासादविशेषस्तद्वत्संस्थितानि नन्द्यावर्ताकाराणि गृहाणि पश्चाद् द्वन्द्वः पाण्मुरतलं शुद्धामयतलं मुण्डमालहर्म्यम् उपर्यनाच्छादितं शिखरादिभागरहितं हर्म्यम्। अथवा णमिति प्राग्वत् धवलं गृहं सौधम् अर्द्धमागधविभ्रमाणि गृहविशेषाः। शैलसंस्थितानि पर्वताकाराणि गृहाणि अर्द्धशैलसंस्थितानि तथैव कूटाकारेण शिखराकृत्याद्यानि सुविधिकोष्ठकानि सुसुत्राण्यपूर्वकरचितोपरितनभागविशेषाणि अनेकानि गृहाणि सामान्यतः शरणानि तृणमयानि लयनानि पर्वतनिकुट्टितगृहाणि। सामान्यतः शरणानि आपणा हट्टाः। इत्यादिकाः भवनविधयो वास्तुप्रकारा बहुविकल्पा इत्यन्वयः। कथंभूता इत्याह। विटङ्कः कपोतपाली जालवृन्दो गवाक्षसमूहः। निर्यूहः द्वारोपरितनपार्श्वविनिर्गतदारु अपवरकः प्रतीतः। चन्द्रशालिका शिरोगृहम्। एवं रूपाभिर्विभक्तीभिः कथिताः। तथैव भवनविधिनोपपेतास्ते गेहाकारा अपि द्रुमगणास्तिष्ठन्तीति। संबन्धः किं विशिष्टेन विधिनेत्याह। सुखेनारोहणमूर्ध्वगमनं सुखेनावतारोऽधस्तादवतरणं यस्य स तथा। सुखेन निष्क्रमणं निर्गमः प्रवेशश्च यत्र स तथा। कथमुक्तं स्वरूपमित्याह। दर्दरसोपानपङ्क्तिकलितेन अत्र हेतौ तृतीया। तथा प्रतिरिक्ते एकान्ते सुखो विहारोऽवस्थानशयनादिरूपो यत्र स तथा। मनोऽनुकूलेनेति व्यक्तं शेषं प्राग्वत्।

अथ दशमकल्पवृक्षस्वरूपमाह -

तीसे णं समाए तत्थ तत्थ बहवे अणिगणा णामं दुमगणा पण्णत्ता। समणाउसो जहा से अइणगखोमतणुलकंबलदुगूलकोसेज्जकालमिगपट्टअंसुअचीणअंसुअपट्टाआभरणचित्तसिलक्खणगकल्लाणगभिंगणीलकज्जलवहुवण्णरत्तपीअसुक्किल्लसक्खयमिगलोमं हेमप्परत्तग अवरुत्तरसिंधुउसभदविलवंगकलिंगतलिणतंतुममयत्तिचित्तवत्थहिवीबहुप्पगारा वरपट्टणुग्गया वण्णरागकलिआ तहेव ते अणगणा वि दुमगणा। अणेगबहुविविहवीससा परिणयाए वत्थविहीए उववेआ कुसविकुसं जाव चिट्ठंति।

वाक्ययोजना पूर्ववत्। नामार्थस्तु विचित्रवस्त्रदायित्वात्। न विद्यन्ते नग्नास्तात्कालीनजना येभ्यस्ते अनग्नाः। यच्च प्राक्तनेषु बहुषु जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिसूत्रादर्शेषु (आयाणा इति) दृश्यते स लिपिप्रमादः संभाव्यते। प्रस्तुतसूत्रालापकविस्तारोपदर्शके जीवाभिगमे एतादृशपाठस्यादर्शनात्। आजिनकं चर्ममयं वस्त्रं। क्षौमं सामान्यतः कार्पासिकं। अतसीमयमित्यन्ये। तनुं शरीरं सुखस्पर्शतया लाति अनुगृण्हातीति तनुलं तनुसुखादिकम्बलः प्रतीतः। अणुअकंबल इति पाठे तु तनुकः सूक्ष्मोर्णाकम्बलः। दुकूलं गौडविषयविशिष्टकार्पासिकं अथवा। दुकूलो वृक्षविशेषस्तस्य वल्कं गृहीत्वोदूखले जलेन सह कुट्टयित्वा बुसीकृत्य च वीयते यत्तद्दुकूलं कौशेयं च सरितन्तु निष्पन्नं। कालमृगपट्टः कालमृगचर्म। अंशुकचीनांशुकानि नानादेशेषु प्रसिद्धानि। दुकूलविशेषणरूपाणि। पूर्वोक्तस्येव वस्त्रस्य यान्यभ्यन्तरहारिभिर्निष्पाद्यन्ते सूक्ष्मतराणि भवन्ति तानि चीनांशुकानि वा पट्टानि पट्टसूत्रनिष्पन्नानि आभरणैश्चित्राणि विचित्राणि आभरणचित्राणि। श्लक्ष्णानि सूक्ष्मतन्तुनिष्पन्नानि कल्याणकानि परमलक्षणोपेतानि। भृङ्गः कीटविशेषः स इव नीलम्। तथा कज्जलवर्णे बहुवर्णे विचित्रवर्णे रक्तपीतशुक्लसंस्कृतं परिकर्मितं यन्मृगलोमहेम च तदात्मकं कनकरसच्छुरितत्वादिधर्मयोगात्। रक्तकः कम्बलविशेषो जीणादि पश्चाद् द्वन्द्वः। एते च कथंभूता इत्याह। अपरः पश्चिमदेशः उत्तर उत्तरदेशः सिन्धुदेशविशेषः। (उसभत्ति) संप्रदायगम्यं। द्रविडवङ्गकलिङ्गा देशविशेषाः। एतेषां संबन्धिनस्तत्र देशोत्पन्नत्वेन ये ते तथा। तलिनतन्तवः सूक्ष्मतन्तवः तन्मया या भक्तयो विच्छित्तयो विशिष्टरचनास्ताभिश्चित्राः इत्यादिका वस्त्रविधयो बहुप्रकारा भवेयुर्वर-पत्तनं तत्तत्प्रसिद्धपत्तनं तस्मादुद्गता विनिर्गता विविधैर्वर्णैर्विविधैरागैर्ञ्जिष्ठरागादिभिः कलितास्तथैव ते नग्नका अपि द्रुमगणाः। अनेकबहुविविधविस्रसा परिणतत्वेन वस्त्रविधिनोपपेता इत्यादि। अत्र चाधिकारे जीवाभिगमसूत्रादर्शे क्वचित् क्वचित् किंचिदधिकपदमपि दृश्यते। तत्तु वृत्तौ व्याख्यातं स्वयं पर्यालोच्यमानमपि च नार्थप्रदमिति न लिखितम्। तेन तत्संप्रदायादवगन्तव्यं तमन्तरेण सम्यक् पाठशुद्धेरपि कर्तुमशक्यत्वादिति उक्तं सुषमसुषमायां कल्पद्रुमस्वरूपम्।

(६) अथ तत्कालभाविमनुजस्वरूपं पृच्छन्नाह-

तीसे णं भंते ! समाए भरहे वासे मणुआणं केरिसए। आयारभावपमोयारे पण्णत्ते। गोयमा ? ते णं मणुआ सुप्पइट्ठिअकुम्मचारूचलणा जाव लक्खणवंजणगुणोववेआ

सुजायसुविभत्तसंगयंगा पासादीआ जाव पडिरूवा।

तस्यां समायां भदन्त ! भरतवर्षे मनुजानां प्रक्रमादयुग्मिनां कीदृशक आकारभावप्रत्यवतारः प्रज्ञप्तः। भगवानाह गौतम ! ते मनुजाः सुप्रतिष्ठिताः सत्प्रतिष्ठानवन्तः संगतनिवेशा इत्यर्थः। कूर्मवत् कच्छपवत् उन्नततत्वेन चारवश्चरणा येषां ते तथा ननु मानवा मौलितो वर्ण्या देवाश्चरणतः पुनरिति कविसमयान्मनुजजन्मिनां युग्मिनां पादादारभ्य वर्णनं कथं युक्तिमदित्युच्यते। वरेण्यपुण्यप्रकृतिकत्वेन ते देवत्वेन वाभिमता इति न कदाचिदनुपपत्तिरिति। अत्र यावच्छब्दसंग्राह्य " मुद्धसिरया " इत्यन्तं जीवाभिगमादिप्रसिद्धं सूत्रं चैतत्।

रत्तुप्पलपत्तमउअसुकुमालकोमलतला णगणगरमगरसागरचक्कंकहरंकलक्खणकिअचलणा अणुपुव्वसुसाहयंगुलीआ। उण्णयतणुतंबणिद्धणक्खा संठिअसुसिलिट्ठगूढगुप्फा एणीकुरूविंदवत्तवट्टाणुपव्वजंघा समुग्गनिमग्गगूढजाणू गयसस-णसुजायसण्णिभोरू वरवारणमत्ततुल्लविक्कमविमला सिअगई पमुइअवरतुरगसीहवरवट्टिअकडी वरतुरगसुजायगुज्झदेसा आइण्णहउव्व निरूवलेवा साहयसोणंदमुसलदप्पणा णिगरिअवरकणगछरूसरिसवरवइरवलिअमज्झा झसविहगसुजा-पवीणकुच्छी झसोअरा सुइकरणा गंगावत्तपयाहिणावत्ततरंगभंगुररविकिरणतरूण वाहिअकोसायंतपउमगंभीरविअडणाभा उज्जुअसमसहिअजच्चतणुकसिणसिणिद्धआदेज्जलडहसूमालमउअरमणिज्जरोमराई संणयपासा संगयपासा सुंदरपासा सुजायपासा मिअमाइअपीणरइपासा अकरडुंअकणगरूअगणिम्मलसुजायणिरूवहयदेहधारी पसत्थवत्तीसलक्खणधरा कणगसिलायलुज्जलपसत्थसमतलउवइअवक्खा जुअसणिभपीणरइअपीवरपउट्ठसंट्ठिअसुसिलिट्ठघणथिरसुबद्धसंधिपुरवरफलिहवट्टिअभुजा भुजगीसरविउलभोगआयाणफलिहउच्छूढदीहवाहू रत्ततलोवइअमउलमंसलसुजायपसत्थलक्खणअछिद्दजालपाणी पीवरकोमलवरंगुलीआ आयंवतलिणसुइरूइलणिद्धणखा चंदपाणिलेहा सूरपाणिलेहा संखपाणिलेहा चक्कपाणिलेहा दिसासोवत्थियपाणिलेहा चंदसुरसंखचक्कादिसा सोवत्थिअपाणिलेहा अणेगवरलक्खणुत्तमपसत्थसुइरइयपाणिरेहवरमहिसवराहसीहसद्दूलउसहणागवरपमिपुण्णविपुलखंधा चउरंगुलसुप्पमाणकंबुवरसरिसगीवा मंसलसंठिअपसत्थसद्दूलविपुलहणुआ अवट्ठिअसुविभत्तचित्तमंसूउअचिअसिलप्पवालबिंबफलसण्णिभाधरोट्ठा पंडुरयससिसगलविमलणिम्मलसंखगोखीरफेणकुंददगरयमुणालिआ धवलदंतसेढी अखंडदंता अफडिअदंता सुजायदंता अविरलदंता एगदंतसेढीव्वअणेगदंत्ता हुअवहणिद्धंतधोअतत्त तवणिज्जरत्ततालुजीहा गरुलायतउज्जुतुंगणासा अवदालिअपोंडरीकणयणा कोआसीयधवलपत्तलच्छीआणा मिअचावरूइलकिण्हब्भराइसंठिअसंगयआययसुजायतणुकिसिणणिद्धभुमआ अल्लीणपमाणजुत्तसवणा सुस्सवणा पीणमंसकलकपोलदेसभागा णिव्वगसमलट्ठमट्ठचंदद्धसमणिलाडा उडुवइयडिपुण्णसोमवयणा घणणिविअसुबद्धलक्खणुण्णकूडागारणिभपिंडिअगा सिच्छत्तागारूत्तमंगदेसा दाडमपुप्फप्पगासतवणिज्जसरिसणिम्मलसुजायके संते सभूमी सामलीवोंडघणणिचिआ छोडिअमिउविसयपसत्थसुहुमलक्खणसुगंधसुंदरभुअमोअगभिंगणीलकज्जलुज्जलपहिट्ठभमरगणणिद्धणिकुरूंवणिचिअपयाहिणावत्तमुद्धसिरआ।

अत्र व्याख्या। रक्तं लोहितमुत्पलपत्रवन्मृदुकं मार्दवगुणोपेतमकर्कशमित्यर्थः। तच्चासुकुमारमपि संभवति। यथा घृष्टमृष्टपाषाणप्रतिमा। तत आह। सुकुमारेभ्योऽपि शिरीषकुसुमादिभ्योऽपि कोमलं सुकुमालं तलं पादतलं येषां ते तथा नगो गिरिः नगरमकरसागरचक्राणि स्पष्टानि अङ्कधरइचन्द्रः अङ्कस्तस्यैव लाञ्छनं यस्यो के मृगादिव्यपदेशं लभते। एवं रूपैर्लक्षणरूक्तवस्त्वाकारपरिणताभिः रेखाभिरङ्कितानि चलना येषां ते तथा। पूर्वस्या अनुलघव इति गम्यते अनुपूर्वाः किमुक्तं भवति। पूर्वस्या उत्तरोत्तरा नखं नखेन हीनाः " णहणहेणहीनाउ " इति सामुद्रिकशास्त्रवचनात्। अथवा आनुपूर्व्येण परिपाट्यावर्धमाना हीयमाना वा इति गम्यते। सुसंहता अविरला अङ्गुल्यः पादाग्रावयवा येषां ते तथा। अत्रानुपूर्व्येति विशेषणात् पादाङ्गुलीग्रहणं तासामेव नखं नखेन हीनत्वात्। उन्नता मध्ये तुङ्गास्तनवः प्रतलास्ताम्रा रक्ताः स्निग्धाः स्निग्धकान्तिमन्नखाः पादगता इति सामर्थ्यलभ्यम्। तद्वर्णनाधिकारात् येषां ते तथा। णक्खेत्यत्र द्वित्वं सेवादित्वात्। संस्थितौ सम्यक् स्वरूपप्रमाणतया स्थितौ सुश्लिष्टौ सुघनौ सुस्थिरावित्यर्थः। गूढौ गुप्तौ मांसलत्वादनुपलक्ष्यौ गुल्फौ घुटिकौ येषां ते तथा। एणी हरिणी तस्या इह जङ्घा ग्राह्या। कुरूविन्दस्तृणविशेषः। वर्तं च सूत्र वलनकम्। एतानीव वृत्ते वर्तुले आनुपूर्व्वेन क्रमेण उर्ध्वं स्थूलत रेइति शेषः जङ्घे येषां ते तथा। औपपातिकवृत्तौ तु अन्ये त्वाहुः। एण्यस्तापः कुरूविन्दकुटिलिकाभिधानो रोगविशेषस्ताभिस्त्यक्ते इत्यपि व्याख्यातमस्ति वृत्तेत्यादि। तथैव समुद्गकः समुद्गकाख्यभाजनविशेषः तस्य तत्पिधानस्य च संधिस्तन्निमग्ने गूढे मांसलत्वादनुपलक्ष्ये जानुनी येषां ते तथा। क्वचित् " समुग्गणिमग्गगूढजाणू " इति पाठस्तत्रसमुद्गकस्वेव पक्षिविशेषस्येव निसर्गतो गूढे स्वभावतो मांसलत्वादनुन्नते न तु शोफादिविकारतः शेषं तथैव गजस्य हस्तिनः श्वसनः शुण्डादण्डः सुजातः सुनिष्पन्नः तस्य संनिभावूरू येषां ते तथा। सुजातशब्दस्य विशेषणस्य परनिपातः प्राकृतत्वात्। मत्तो वरः प्रधानो भद्रजातीयत्वाद्वारणो हस्ती तस्य विक्रमश्चङ्क्रमणं तद्वद्विलसितः विलासः संजातोऽस्या इति तारकादित्वादितच्प्रत्ययः। विलासवतीः गतिर्गमनं येषां ते तथा अत्रापि मत्तशब्दस्य विशेष्यात् परनिपातः प्राकृतत्वात्। प्रमुदितो रोगाद्यभागेनातिपुष्टो यौवनप्राप्त इति गम्यते। एवंविधो यो वरतुरगः सिंहवरश्च तद्वद्वर्तिता वृत्ता कटी येषां ते तथा वरतुरगस्येव सुजातसुगुप्तत्वेन सुनिष्पन्नो गुह्यदेशो येषां ते तथा। आकीर्णहय इव जात्याश्व इव निरूपलेपाः। जात्याश्वो हि मूत्राद्यनुपलिप्तगात्रो भवती-

ति सौहृत्तं सौनन्दं नाम ऊर्ध्वीकृतमुदूखलाकृतिकाष्ठं तद्य मध्ये तनु उभयोः पार्श्वयोर्वृहत्। अथवा संहृतं संक्षिप्तमध्यं सौनन्दं रामायुधं मुसलविशेष एव मुसले सामान्यतः। दर्पणशब्देनेहावयवे समुदायोपचाराद्दर्पणं गण्डो गृह्यते। तथा निगरितं सारीकृतं वरकनकं तस्य त्सरूः खड्गादिमुष्टिस्तैः सदृशं तेषामिवेत्यर्थः। तथा वरवज्रस्येव सौधर्म्येन्द्रायुधस्येव क्षामो, वलितो वलयः संजाता अस्येति वलितो वलित्रयोपेतो मध्यो मध्यभागो येषां ते तथा। झषस्येवानन्तरोक्तस्येवोदरं येषां ते तथा। शुचीनि पवित्राणि निरूपलेपानीति भावः करणानि चक्षुरादीनिन्द्रियाणि येषां ते तथा। अत्र च "पम्हविअमणाभा" इति पदं क्वचिद्वाचनान्तरे प्रसिद्धमपि उत्तरपदेन मा पुनरुक्ताभासो भूयादिति न व्याख्यातम्। गङ्गाया आवर्तकः पयसां भ्रमः स इव प्रदक्षिणावर्ता न तु वामावर्ताः तरङ्गा इव तरङ्गास्तिस्रो वलयस्ताभिः भङ्गुरा भुग्ना रविकिरणैस्तरूणैरभिनवैर्बोधितमुद्रिक्तीकृतं सत् अकोशायमानं बिकचीभवदित्यर्थः। पद्मं तद्वद्गभीरा विकटा विशाला नाभिर्येषां ते तथा। विशेषणस्य परनिपातः प्राग्वत्। अस्माच्च निर्देशादनाम्न्यपि समासान्तः। ऋजुका अवक्रा समा न क्वापि दन्तुरा संहिता संततिरूपेण स्थिता न त्वपान्तरालव्यवच्छिन्ना सुजाता सुजन्मा न तु कालादिदैगुण्यतो दुर्जन्मा। अत एव जात्या प्रधाना तन्वी न तु स्थूला कृष्णा न तु मर्कटवर्णा। स्निग्धा चिक्कणा आदेया दर्शनपथमुपगता सती पुनः पुनराकाङ्क्षणीया। उक्तमेव विशेषणद्वारेण समर्थयते (लडहत्ति) सलवणिमा अत आदेया सुकुमारा मृद्वी अतिकोमला रमणीया रम्या रोमराजिर्येषां ते तथा। सम्यक् अधोऽधः क्रमेण नते पार्श्वे येषां ते तथा। संगते देहप्रमाणोचिते पार्श्वे येषां ते तथा। अत एव सुन्दरपार्श्वाः सुजातपार्श्वा इति पदद्वयं व्यक्तम्। तथा मिते परिमिते मात्रिके मात्रोपते। एकार्थपदद्वययोगादतीवमात्रान्विते नोवितप्रमाणे अन्यूनाधिके पीन उपचिते रतिदे पार्श्वे येषां ते तथा। अविद्यमानं मांसलत्वेनानुपलक्ष्यमाणं करण्डुकं पृष्ठवंशास्थिकं यस्य देहस्य सोऽकरण्डुकः। अत्राल्पत्वेनाभावविवक्षणात् एवं निर्देशः। अनुदराकन्येत्यादिवत्। अथवा अकरण्डुकमेवेति व्याख्येयं कनकस्येव रुचको रूचिर्यस्य सः। निर्मलः स्वाभाविकागन्तुकमलरहितः। सुजातो वीजाधानादारभ्यजन्मदोषरहितः। निरूपद्रवो ज्वरादिदंशाद्युपद्रवरहितः। एवंविधो यो देहस्तद्धारयन्तीत्येवंशीलास्तथा कनकशिलातलवदुज्ज्वलं प्रशस्तं समतलविषममुपचितं मांसलं विस्तीर्णमूर्ध्वाधोपेक्षया पृथुलं दक्षिणोत्तरतो यक्ष उरो येषां ते तथा। श्रीवत्सो लाञ्छनविशेषः तेनाङ्कितं वृक्षो येषां ते। युगसंनिभौ वृत्तत्वेनायतत्वेन च यूपतुल्योपनीतौ मांसलौ रतिदौ पश्यतां सुभगौ पीवरप्रकोष्ठकावकृशकलाचिकौ तथा। संस्थिताः संस्थानविशेषवन्तः सुश्लिष्टाः सुघना विशिष्टाः प्रधानाः घना निविडाः स्थिरा नातिश्लथाः। सुबद्धाः स्नायुभिः सुष्ठु नद्धाः संधयोऽस्थिसंधाना नि ययोस्तौ तथा पुरवरपरिघवन्महानगरार्गलावद्वर्तिनौ वृत्तौ भुजौ येषां ते तथा। ततः पदद्वयमीलनेन कर्मधारयः पुनर्बाहुमेवायामतो विशिनष्टि। भुजगेश्वरो भुजगराजस्तस्य विपुओ यो भागः शरीरं तथा आदीयते। द्वारस्थगनार्थं गृह्यत इत्यादानः स चासौ परिघोऽर्गला "उच्छूढत्ति" स्वस्थानादवक्षिप्तो निष्कासितो द्वारपृष्ठभागे दत्त इत्यर्थः। विशेषणव्यस्तता चार्षत्वात्। ततः पूर्वपदेन कर्मधारयः तद्वद्दीर्घौ बाहू येषां ते तथा। न चात्रानन्तरोक्तविशेषणेन पौनरूक्त्यमाशङ्कनीयम्। अत्रा यामतादर्शनीयप्रस्तुतविशेषस्य विशेष्यदर्शनात्। रक्ततलावरूणावधोभागे उपचितावुन्नतौ औपयिकौ वोचितौ अवपतितौ वा क्रमेण हीयमानोपचयौ मृदुलौ मांसलौ सुजाताविति पदत्रयं प्राग्वत्। प्रशस्यलक्षणौ अच्छिद्रजालौ अविरलाङ्गुलिसमुदायौ पाणी हस्तौ येषां ते तथा। "पीवरकोमलवरङ्गुलीआ" इति व्यक्तम्। आताम्रा ईषद्रक्ताः तलीनाः प्रतलाः शुचयः पवित्राः रूचिरा मनोज्ञाः स्निग्धा अरूक्षा नखा येषां ते तथा नखशब्दे द्विर्भावस्तु प्राग्वत्। चन्द्र इव चन्द्राकारा पाणिरेखा येषां ते तथा। एवमन्यान्यपि त्रीणि पदानि "दिसासोवत्थिअत्ति" दिक्सौवस्तिको दिक्प्रोक्षुकः दिक्प्रधानः स्वस्तिको दक्षिणावर्तः स्वस्तिक इत्यन्ये स पाणौ रेखा येषां ते तथा। एतदेवानन्तरोक्तविशेषणपञ्चकं तत् प्रशस्तता प्रकर्षप्रतिपादनाय संग्रहवचनेनाह। "चंदसूरेत्ति" गतार्थम्। ननु इयन्त्येव लक्षणानि तेषां शरीरस्थानीत्याह। अनेकैः प्रभूतैर्वरैः प्रधानैर्लक्षणैरूत्तमाः प्रशंसास्पदीभूताः शुचयः पवित्रा रचिताः स्वकर्मणा निष्पादिताः पाणिरेखा येषां ते तथा। वरमहिषैः प्रधानसैरिभैः। वराहो वनशूकरः। सिंहः केसरी शार्दूलो व्याघ्रः वृषभो गौः नागवरः प्रधानगजः एषामिव परिपूर्णः स्वप्रमाणेनाहिनो विपुलो विस्तीर्णः स्कन्धांशदेशो येषां ते तथा। चतुरङ्गुलं स्वाङ्गापेक्षया चतुरङ्गुलप्रमितं सुष्ठु शोभनं प्रमाणं यस्याः सा तथा। कम्बुवरसदृशा छन्नतया वलित्रययोगेन च प्रधानशङ्खसंनिभा ग्रीवा येषां ते तथा। विवेकविलासे तु प्रतिमाया एकादशाङ्गस्थानसंख्यायां चतुःपञ्च चतुर्वेदि,इति श्लोके ग्रीवायास्त्र्य ङ्गुलमानमिति। मांसलं पृष्टं तथा संस्थितं संस्थानं तेन प्रशस्तसंकुचितं कमलाकारत्वात्। शार्दूलस्येव व्याघ्रस्येव विपुलं विस्तीर्णं हनुकं येषां ते अवस्थितान्यवर्द्धिष्णूनि सुविभक्तानि परस्परं शोभमानविभागानि। न तु पुनर्नरुजाताभीरस्येव व्यादानमात्रलक्षवदनविवरस्य कूर्चकेशपुञ्जा इव पुञ्जीभूतानि चित्राणि अतिरम्यतयाद्भुतानि श्मश्रूणि कूर्चकेशा येषां ते तथा श्मश्रूणामभावे षण्ढभावे प्रतिपत्तिः। हीयमानत्वे चेन्द्रलुप्तिकत्ववार्द्धकप्रतिपत्तिः। वर्धमानत्वे च संस्कारकजनाभावाद्गहनभूतानि तानि स्युरित्यवस्थितत्वम्। ' उअचिअत्ति ' परिकर्मितं पच्छिलारूपं प्रवालं आयतविद्रुमखण्डमित्यर्थः। न तु मणिकादिरूपं तस्यैत दुपमानानुपपत्तेः। बिम्बफलं पक्वगोहलाफलं तयोः संनिभो रक्ततयोन्नतमध्यतया अधरोष्ठोऽधस्तनो दन्तच्छदो येषां ते तथा पाण्डुरं यच्छशिशकलं चन्द्रमण्डलखण्डमकलङ्कः चन्द्रमण्डलभाग इत्यर्थः। विमलानां मध्ये निर्मलश्च यः शङ्खो गोक्षीरफेनश्च प्रतीतः। कुन्दं च कुन्दकुसुमन्दकरजश्च वाताहतजलकणः। मृणालिका च पद्मिनीमूलं तद्वद्धवला दन्तश्रेणिर्दर्शनपङ्क्तिर्येषां ते तथा। अखण्डदन्ताः परिपूर्णादशनाः अस्फुटितदन्ताः अजर्जरदन्ताः अत एव सुजातदन्ताः जन्मदोषरहितदन्ता अविरलदन्ता निरन्तरालदन्ता एकाकारा दन्तश्रेणिर्येषां ते तथा। त इव परस्परानुपलक्ष्यमाणदन्तविभागत्वात् अनेके द्वात्रिंशद्दन्ता येषां ते तथा। एवं नाम तेऽविरलदन्ता यथा अनेकदन्ता अपि सन्तः एकाकारपङ्क्तय इव लक्ष्यन्त इति भावः। हुतवहेनाग्निना निर्धमातं निर्दग्धं सत् धौतं शोधितमलं तप्तं सतापं तपनीयं सुवर्णविशेषस्तद्वद्रक्ततलं लोहितरूपं तालु च काकुदं जिह्वा च रसना येषां ते तथा। गरूडस्येव पक्षिराजस्येव यथा दीर्घा ऋज्वी सरला तुङ्गा उन्नता न तु मुद्गलाजातीयस्येव चिपिटा नासा नासिका येषां ते तथा। अवदा-

लितं रविकरैर्विकासितं यत्पुण्डरीकं श्वेतपद्मं तद्वन्नयने येषां ते तथा। " कोः कासीइअतिविकसेको आसविसपवि " त्यनेन कोकसिते धवले च क्वचिद्देशे पक्ष्मले पक्ष्मवती अक्षिणी नेत्रे येषां ते तथा आनामितमीषन्नामितमारोपितमिति भावः। यच्चायं च धनुस्तद्वद्रुचिरे संस्थानविशेषभवतो रमणीये कृष्णराजीइवावस्थिते संगते यथोक्तप्रमाणोपपन्ने आयते दीर्घे सुजाते सुनिष्पन्ने तन् तनुके श्लक्ष्णपरिमितबालपङ्क्त्यात्मकत्वात् कृष्णे कालिमोपेते स्निग्धच्छाये भ्रुवौ येषां ते तथा। आलीनौ मस्तकमित्तौ किंचिल्लग्नौ न तु टप्परौ प्रमाणयुक्तौ स्वप्रमाणोपेतौ श्रवणौ कर्णौ येषां ते तथा। अत एव सुश्रवणा इति स्पष्टम्। अथवा सुष्ठु श्रवणः शब्दोपलम्भो येषां ते तथा। पीनौ पुष्टौ यतो मांसलौ उपचितौ क पोलौ तल्लक्षणो देशभागो मुखावयवो येषां ते तथा। वर्ण्य विस्फोटकादिक्षतरहितं समविषमं लष्टं मनोज्ञं मृष्टमसृणं चन्द्रार्द्धसमम्। अष्टमीचन्द्रसदृशं ललाटं येषां ते तथा। सूत्रे निडालेति प्राकृतलक्षणवशात्। प्रतिपूर्णः पौर्णमासीय उडुपतिश्चन्द्रः स इव सोमं सश्रीकं वदनं येषां ते तथा। पदव्यत्यये प्राकृतता एव हेतुः घनवन्निचितं निबिडं सुबद्धं सुष्ठु स्नायुनद्धं लक्षणोन्नतं प्रशस्तलक्षणं कूटस्य गिरिशिखरस्याकारेण निभं सदृशं पिण्डिकेव पाषाणपिण्डिकेव वर्तुलत्वेन च पिण्डिकायमानमग्रशिर उष्णीषलक्षणं येषां ते तथा। छत्राकारः छत्रसदृश उत्तमाङ्गरूपो देशो येषां ते तथा। दाडिमपुष्पस्य प्रकाशेनारूणिम्ना। तथा तपनीयेन च सदृशी निर्मला सुजाता केशान्ते बालसमीपकेशभूमिः केशोत्पत्तिस्थानभूता मस्तकत्वक् येषां ते तथा। शाल्मल्या वृक्षविशेषस्य यद्बोण्डफलं तद्वद् घना निचिता अतिशयेन निविडा छोटिता अपि युग्मिनां परिज्ञानाभावेन केशपाशाकरणात्। परं छोटिता अपि तथा स्वभावेन शाल्मली वोण्डाकारवद् घना निचिता एवावतिष्ठन्ते। तेनैतद्विशेषणोपादानम्। तथा मृदवोऽखराः विशदा निर्मलाः प्रशस्ताः प्रशंसास्पदीभूताः। सूक्ष्माः श्लक्ष्णाः लक्षणं विद्यन्ते येषां ते लक्षणवन्तः अभ्रादित्वादप्रत्ययः। सुगन्धाः परमगन्धोपेताः। अत एव सुन्दराः। तथा भुजमेचको रत्नविशेषः। भृङ्गो नीलकीटः। अस्य ग्रहणं तु नीलकृष्णयोरैक्यात्। नीलो मरकतमणिः कज्जलं प्रतीतं प्रहृष्टः पुष्टो भ्रमरगणः स चात्यन्तं कालिमोपेतः स्यादिति ते इव स्निग्धाः निकुरम्बभूताः सन्तो निचिता न तु विकर्णाः सन्तः कुञ्चिताः ईषत्कुटिलाः कुण्डलीभूता इत्यर्थः। प्रदक्षिणावर्ताश्च मूर्द्धनि शिरोजा बाला येषां ते तथा। इत्येतत्पर्यन्तमतिदेशसूत्रम्। अथ मूलसूत्रमनुश्रियते लक्षणानि स्वस्तिकादीनि व्यञ्जन–मषीतिकलादीनि। गुणाः क्षान्त्यादय स्तैरूपेताः। सुजातं पूर्ववत्। सुविभक्ताङ्गप्रत्यङ्गानां यथोक्तवैविक्त्यसद्भावात्। संगतं प्रमाणोपपन्नं न तु षडङ्गुलिकादिवन्न्यूनाधिकमङ्गं देहो येषां ते तथा। प्रासादीया इति पदचतुष्कं गतार्थमिति।

अथ युगलधर्मे समानेऽपि माभूत्पङ्क्तिभेद
इति युग्मनीरूपं पृच्छति।

तीसे णं भंते ? समाए भरहे वासे मणुईणं केरिसए आगारभावपडोआरे पण्णत्ते गोयमा ! ता उग्गं मणुईओ सुजायसव्वंगसुंदरीओ पहाणमहिलागुणेहिं जुत्ता अइक्कंतविसप्पमाणमउअसुकुमाला कुम्मसंठिआ विसिट्ठचलणा उजुमउअपीवरसुसंहयंगुलीओ अब्भुण्णयरइअतलिणितंवसुइणिद्धणक्खा रोमरहिअवट्टलट्ठसंठिअअजहण्णपसत्थलक्खणअकोप्पजंघजुअलासुणिम्मिअसुगूढसुजाणुमंडलसुबद्धसंधी कयलीखंभाइरेकसंठिअणिव्वणसुकुमालमउअमंसलअविरलसमसहिअसुजायवट्टपीवरणिरंतरोरूअट्ठावयवीइपट्टसंट्ठिअपसत्थवित्थिण्णपिहुलसोणिवयणायामप्पमाणदुगुणिअविसालमंसलसुवद्धजहणवरधारिणीओ वज्जविराइअपसत्थलक्खणनिरोदरतिवलिअवलिअतणुणमिअमज्झिमाओ उज्जुअसमसहिअजत्तणुकसिणणिद्धआइज्जलमहसुजायसुविभत्तकं तसोभंतरूइलरमणिज्जरोमराई गंगावत्ततयपयाहिणावत्ततरंगभंगुररविकिरणतरूणवोहिअकोसायंतपउमगंभीरविअडणाभा अणुब्भडपसत्थपीणकुच्छी सण्णयपासा सगयपासा सुजायपासा मिअमाइअपीणरइयपासा अकरंडुअकणगरूअगणिस्सलसुजायणिरूवहयगायलट्ठीकं चणकलसप्पमाणसमसंहिअसु, पट्ठचुच्चुओमलगजमलजुयलवट्टियअब्भुन्नयपीणरइयपीवरपहुअएओ भुअंगअणुपुव्वतणुअगोपुच्छवट्टसमसंहिअणमिवआइज्जललिअबाहू तंबणहा मंसग्गहत्था पीवरकोमलवरंगुलीआणिद्धपाणिरेहा रविससिसंखचक्कसोत्थियसुविभत्तसुविरइयपाणिलेहा पीणुण्णयकक्खवक्खवत्थिप्पएसा पडिपुण्णगलकपोला चउरंगुलसुप्पमाणकंबुवरसरिसगीवा मंसलसंठिअपसत्थहणुगा दाडिमपुप्फप्पगासपीवरपलंबकुं चिअवराधरा सुंदरूत्तरोट्ठादहिदगरयचंदकुं दवासंतिमउलधवलअच्छिद्दविमल दसणा रत्तुप्पलरत्तमउअसुकुमालतालुआजीहा करवीरमउलअकुडिलअब्भुग्गयउज्जुत्तंगणासा सारयणवकमलकुमुअकुवलयदलणिअरसरिसलक्खणपसअत्थज्झिम्मकंतणयणा पत्तलधवलायतआयंबलोअणाओ आणामिअचावरूइलकिण्हब्भराइसंगयसुजायभुमगा उल्लाणपमाणजुत्तसवणा पीणमट्ठगंडलेहा। चउरंसपसत्थसमणिडाला कोमुइरयणि अरविमलपडिपुण्णसोम्मवयणा छत्तुण्णयउत्तिमंगा अकविलसु-सिणिद्धसुगंधदीहसिग्या छत्त १ ज्झय २ जूअ ३ थूभ ४ दामणि ५ कमंडलु ६ कलस ७ वावि ८ सोत्थिअ ९ पडाग १० जव ११ मच्छ १२ कुम्भ १३ रहवर १४ मगरज्झय १५ अंक १६ थाल १७ अंकुस १८ अट्ठावय १९ सुपइट्ठग २० मयूर २१ सिरिआभिसेस २२ तोरण २३ मेइणि २४ उदहि २५ वरभवण २६ गिरि २७ वरआयंस २८ सलीलगय २९ उसभ ३० सीह ३१ चामर ३२ उत्तमपसत्थवत्तीसलक्खणधरीओ। हंससरिसगइ उ कोइलमहुरगिरसुस्सराओ कंतसव्वस्स अणुमयाओ ववगयवलिपलिअवगंदुव्वण्णवाहिदोहगासोगमुक्का उच्चत्तेण य णराणं थोगूणमूसिआ उ सभावसिंगारूवेसा संगयगयहसिअभणिअचिट्ठिअविलाससंलावणिउणजुत्तोवयारकुसला सुंदरयणजहणवयणकरचलणणयणलावण्णरूवजो–

व्वणविलासकलिआ णंदणवणविअरचारिणा उव्वअच्छरा ओ भरहवासमाणुमच्छाओ अच्छेरगपेच्छणिज्जाओ पासाईआओ जाव पडिरूवाओ ते णं मणुआ ओहस्सरा हंसस्सरा कोंचस्सरा णंदिस्सरा णंदिघोसा सीहस्सरा सीहघोसा सुस्सरा सुस्सरणिग्घोसा छायाउज्जोइअगमंगा वज्जरि सहनारायसंघयणा समचउरंससंठाणसंठिआ छविणिरातं का अणुलोमवाउवेगा कंकग्गहणा कवोयपरिणामा सउणिपोसा पिट्ठंतरोरूपरिणया छद्धणुसहस्समूसिआतेसिणं मणुआणं वेच्छप्पण्णपिट्ठकरंडुअसया पण्णत्ता। समणाउसो पउमुप्पलगंधसरिसणासीससुरभिवयणा ते णं मणुअपगईउवसंतपगई पय णुकोहमाणमायालोभा मिउमद्दवसंपन्ना अल्लीणा भद्दगा विणीआ अपिच्छा असण्णिहिसंचय विमवंतरपरिवसणा जहिच्छिअकामकामिणी तेसि णं भंते ! मणुआणं केइकालस्स आहारट्ठे समुप्पज्जइ गोयमा ! अट्ठमभत्तस्स आहारट्ठे समुप्पज्जइ पुढवीपुप्फलाहाराणं ते मणुआ पण्णत्ता समणाउसो तीसे णं भंते ! पुढवीए केरिसअ आसाए पण्णत्ते ? गोअमा ! से जहा णामए गुलेइ वा खंडइ वा सक्कराइ वा मच्छंडिकाइ वा पप्पडमोअएइ वा मिसेइ वा पुप्फुत्तराइ वा पउमुत्तराइ वा विजयाइ वा महाविजयाइ वा आकासिआइ वा अदंसिआइ वा आगासफलोवमाइ वा उमाइ वा अणोवमाइ वा भवेए असाए णो इणट्ठे समट्ठे सा णं पुढवी इतो इट्ठतरिआ वेव जाव मणापत्तरिआ वेव आसाएणं पण्णत्ता।

तस्यां समायां भदन्त ! भरते वर्षे मनुजीनां प्रस्तावाद् युष्मिनीनां कीदृशाकारभावप्रत्यवतारः प्रज्ञप्तः। गौतमेत्यादि प्राग्वत्। ता मनुज्यः सुजातानि यथोक्तप्रमाणोपेततया शोभनजन्मानि सर्वाण्यङ्गानि शिरः प्रभृतीनि यासां ता अत एव सुन्दर्यश्च सुन्दराकाराः। अत्र पदद्वयस्य कर्मधारयः तथा प्रधाना ये महिलागुणाः स्त्रीगुणाः प्रियंवदत्वस्वभर्तृचित्तानुवर्तकत्वप्रभृतयस्तैर्युक्ताःअनेनान्तरोक्तविशेषणद्वयेन सामान्यतो वर्णने कृतेऽपि तासां तद्भर्तृणां च प्राचीनदानफलोद्भवनाय विशिष्य वर्णयति अतिकान्तौ अतिरम्यावत एव विशिष्टस्वप्रमाणौ स्वशरीरानुसारिप्रमाणौ न न्यूनाधिकमात्रावित्यर्थः। अथवा विसर्प्पतावपि संचरन्तावपि मृदूनां मध्ये सुकुमारौ कूर्म्मसंस्थितावुन्नतत्वेन कच्छपसंस्थानौ विशिष्टौ मनोज्ञौ चलनौ पादौ यासां तास्तथा। ऋजवः सरलाः मृदवः कोमलाः पीवराः अदृश्यमानस्नसादिसन्धिकत्वेनोपचिताः सुसंहताः श्लिष्टा निर्विवरा इत्यर्थः। अङ्गुल्यः पादाङ्गुलयो यासां तास्तथा अभ्युन्नता उन्नता रतिदाः सुखदा दृष्टृणामथवा मृगरमणादन्यत्राप्यनुषङ्गलोपवादिमताश्रयणाद्रञ्जिता इव लाक्षारसेन तलिनाः प्रतलास्ताम्रा ईषद्रक्ताः शुचयः पवित्राः स्निग्धाः चिक्कणाः नख्रा यासां तास्तथा "णक्खे त्यत्र" द्विर्भावः प्राग्वत् रोमरहितं निर्लोमकं वृत्तं वर्तुलं लष्टं संश्लिष्टं मनोज्ञसंस्थानं क्रमेणोर्ध्वं स्थूरं स्थूरतरमिति भावः। अजघन्यान्युत्कृष्टानि प्रशस्तानि लक्षणानि यत्र तत्तथा एतादृशमकोऽप्यमद्वेष्यमतिसुभगत्वेन जङ्घाजुगलं यासां तास्तथा सुष्ठुतरां मिते परिमाणोपेते सुगूढे अनूपलक्ष्ये ये जानुमण्डले तयोः सुबद्धे दृढस्नायुकत्वादश्लथसन्धी सन्धाने यासां तास्तथा कदलीस्तम्भादतिरेकेणातिशयेन संस्थितं संस्थानं ययोस्ते निर्व्रणे विस्फोटकादिक्षतरहिते सुकुमारे मृदुकेअत्यर्थकोमले मांसले मांससंपूर्णे न तु काकजङ्घावद् दुर्बले अविरले परस्परासन्ने समे प्रमाणतस्तुल्ये सहिके क्षमे सुजाते सुनिष्पन्ने वृत्ते वर्तुऽले पीवरे सोपचये निरन्तरे परस्परनिर्विशेषे ऊरू सक्थिनी यासां तास्तथा वीतिर्विगतेति कोघुणाद्यक्षत इति भावः। एवंविधोऽष्टापदो द्यूतफलकः विशेषणव्यत्ययः प्राकृतत्वात्। यद्वा पृष्टसंस्थिता प्रधानसंस्थाना प्रशस्ता विस्तीर्णा पृथुला अतिविपुला श्रोणिः कटेरग्रभागो यासां तास्तथा। वदनायामप्रमाणस्य मुखदीर्घत्वस्य द्वादशाङ्गुलप्रमाणस्य तस्माद् द्विगुणितं द्विगुणं चतुर्विंशत्यङ्गुलं विशालं विस्तीर्णं मांसलं पुष्टं सुबद्धं श्लथं जघनवरं प्रधानकटिपूर्वभागं धारयन्तीत्येवं शीलाः अत्रापि विशेषणस्य परनिपातः प्राग्वात्। वज्रवद्विराजितं क्षामत्वेन तथा प्रशस्तलक्षणं सामुद्रिकप्रशस्यगुणोपेतं निरूदरं विकृतोदररहितम् अथवा निरूदरमल्पत्वेनाभावविवक्षणात्। तिस्रो वलयो यत्र तत्त्रिवलिकम्। तथा वलितं संजातबलं न च क्षामत्वेन दुर्बलमाशङ्क्यं तनु कृशं नतं नम्रं तनुनतमीषन्नम्रमित्यर्थः। ईदृशं मध्यं यासां तास्तथा स्वार्थे कप्रत्ययः। ऋजुकानामवक्राणां समानां तुल्यानां न क्वापि दन्तुराणां संहितानां सन्ततानां न त्वपान्तरालव्यवच्छिन्नानां स्वभावजानां प्रधानानां वा तनूनां सूक्ष्माणां कृष्णानां कालानां न तु मर्कटवर्णानां स्निग्धानां सतेजस्कानाम् आदेयानां दृष्टिसुभगानां (लडहत्ति) ललितानां सुजातानां सुविभक्तानां कान्तानां कमनीयानामत एव शोभमानानां रूचिररमणीयानामतिमनोहराणां रोम्णां राजिरवलिर्यासां तास्तथा। "गंगावत्तेति" पदं प्राग्वत्। अनुद्भटावनुल्वणौ प्रशस्तौ पीनौ कुक्षी यासां तास्तथा। सन्नतपार्श्वादिविशेषणानि प्राग्वत्। काञ्चनकलशयोरिव प्रमाणं ययोस्तौ। तथा समौ परस्परतुल्यौ नैकोहीन एकोऽधिक इति भावः। संहितौ संहतौ अनयोरन्तराले मृणालसूत्रमपि न प्रवेशं लभते इति भावः। सुजातौ जन्मदोषरहितौ स्पष्टचूचुकामेलकौ मनोज्ञस्तनमुखशेखरौ यमलौ समश्रेणिकौ युगलौ युगलरूपौ वर्तितौ वृत्तौ अभ्युन्नतौ परस्पराभिमुखमुन्नतौ। पीनां पुष्टां रतिं पत्युर्दत्तामिति पीवररतिदौ पीवरौ पुष्टौ पयोधरौ यासां तास्तथा। भुजङ्गवदानुपूर्व्येण क्रमेणाधोऽधोभागे इत्यर्थः। तनुकौ अत एव गोपुच्छवद्वृत्तौ समौ परस्परं तुल्यौ संहितौ मध्यकायापेक्षया विरलौ नतौ नम्रौ स्कन्धदेशस्यानतत्वात्। आदेयावतिसुभगतयोपादेयौ ललितौ मनोज्ञचेष्टाकलितौ बाहू यासां तास्तथा। पीवेति प्राग्वत्। स्निग्धपाणिरेखा इति व्यक्तम्। रविशशिशंखचक्रस्वस्तिका एव सुविभक्ताः सुप्रकटाः सुविरचिताः सुनिर्मिता पाणिरेखा यासां तास्तथा। पीना उपचितावयवा उन्नता अभ्युन्नताः कक्षावक्षोवस्तिप्रदेशा भूजमूलहृदय गुह्यप्रदेशा यासां तास्तथा। परिपूर्णा गलकपोला यासां तास्तथा। "चउरंगुलेति" पूर्ववत्। मंसलेति च वक्तव्यं। दाडिमपुष्पप्रकाशो रक्त इत्यर्थः। पीवर उपचितः प्रलम्ब ओष्ठापेक्षया ईषल्लम्बमानः। कुञ्चित आकुञ्चितो मनाग् बलित इत्यर्थः। वरः प्रधानोऽधरोऽधस्तनदशनच्छदो यासां तास्तथा। सुन्दरोष्ठा इति कण्ठ्यं दधिप्रतीतं दकरज उदककणश्चन्द्रः प्रतीतः। कुन्दं कुसुमं वासन्तीमुकुलवनस्पतिविशेषकलिका तद्वद्धवला। जम्बूद्वीप प्रज्ञप्तिप्रश्न-

व्याकरणाद्यादर्शेष्वदृष्टोऽपि धवलशब्दो जीवाभिगमवृत्तौ दर्शनाल्लिखितोऽस्ति । अच्छिद्रा अविरला विमला निर्मला दशना दन्ता यासां तास्तथा । रक्तोत्पलयद्रक्तं मृदु सुकुमारमतिकोमलं तालु जिह्वा च यासां तास्तथा । करवीरकलिकावत् नासापुटद्वयस्य यथोक्तप्रमाणतया संवृताकारतया वाऽकुटिला अवक्रा अभ्युद्गता भुजयद्वयमध्यतो विनिर्गता । अत एव ऋज्वी सरला सती तुङ्गा उच्चा न तुगवादिशृङ्गवद् वक्रा सती तुङ्गेत्यर्थः । एवंविधा नासा यासां तास्तथा । शरदि भवं शारदं नवं कमलं रविबोध्यं कुमुदं चन्द्रबोध्यं कुवलयं तदेव नीलमेषां यो दलनिकरः पत्रसमूहस्तत्सदृशे लक्षणप्रशस्ते । अजिह्मे अमन्दे भद्रभावतया निर्विकारचपल इत्यर्थः । कान्ते नयने यासां तास्तथा । एतेन तदीयदृशामजितसुभगत्वमायतत्वं सहजचपलत्वं चाह । स्त्रीणामङ्गे हि नयनसौभाग्यमेव परमशृङ्गाराङ्गमिति पुनस्तद्विशेषणेन विशिनष्टि । पत्रले पक्ष्मवती न तु रोगविशेषाद्गतरोमके क्वचित्धवले कर्णान्तवर्तिनी क्वचित्क्वचित्ताम्रे लोचने यासां तास्तथा (आणामिअत्ति) अलीणविशेषणे प्राग्वत् । पीना मांसलतया न कूपाकारा मृष्टाः शुद्धा न तु श्यामच्छायामापन्ना गण्डलेखा कपोलपाली यासां तास्तथा । चतुर्षु अस्रेषु कोणेषु दक्षिणोत्तरयोः प्रत्येकमूर्ध्वाधोभागरूपेषु प्रशस्तमहीनाधिकलक्षणत्वात् सममविषमं ललाटं यासां तास्तथा । कौमुदी कार्तिकी पौर्णिमा तस्या रजनिकरश्चन्द्रस्तद्वद्विमलं प्रतिपूर्णमहीनं सौम्यमक्रूरं न तु थूककान्तानामिव भीषणं वदनं यासां तास्तथा । ठत्रोन्नतोत्तमाङ्गा इति प्रतीतम् । अकपिलाः श्यामाः सुस्निग्धाः स्थूला भावादभ्यङ्गनिरपेक्षतया निसर्गचिक्कणा सुगन्धा दीर्घा न तु पुरुषकेशा इव निकुरम्बभूताः । नापि धम्मिल्ला विपरिणाममापन्नाः । संयमविज्ञानाभावात् शिरोजा यासां तास्तथा । छत्रं १ ध्वजः २ यूपः स्तंभविशेषः ३ स्तूपः पीठः ४ दामिणीति रूढिगम्यं ५ कमण्डलुस्तापसपानीयपात्रं ६ कलसः ७ वापी ८ स्वस्तिकः ९ पताका १० यवः ११ मत्स्यः १२ कूर्मः १३ रथवरः १४ मकरध्वजः कामदेवस्तत्संसूचकं सूचनीये सूचकोपचाराल्लक्षणमिति । तच्च सर्वकालमविधवात्वादिसूचकम् १५ अङ्कश्चन्द्रबिम्बान्तर्वर्ती मृगावयवः १६ क्वचिदङ्कस्थाने शुक इति दृश्यते । स्थालम् १७ अङ्कुशः १८ अष्टापदं पूतफलकं १९ सुप्रतिष्ठकं स्थापनकं २० मयूरः २१ श्रियोऽभिषेको लक्ष्म्यभिषेकः २२ तोरणं २३ मेदिनी २४ उदधिः २५ वरभवनं प्रधानगृहं २६ गिरिः २७ वरादर्शो वरदर्पणः २८ सलीलगजो लीलावान् गजः २९ ऋषभो गौः ३० सिंहः ३१ चामरं ३२ एतान्युत्तमानि प्रधानानि प्रशस्तानि सामुद्रिकशास्त्रेषु प्रशंसास्पदीभूतानि द्वात्रिंशल्लक्षणानि धरन्ति यास्तास्तथा हंसस्य सदृशी गतिर्यासां तास्तथा । कोकिलायाः आम्रमञ्जरीसंस्कृतत्वेन पञ्चमस्वरो द्वारमयी या मधुरा गीस्तद्वत् सुष्ठु शोभनः स्वरो यासां तास्तथा । कान्ताः कमनीयाः सर्वस्य तत् प्रत्यासन्नवर्तिनो लोकस्यानुमताः समता न कस्यापि मनागपि द्वेष्या इति भावः । बलिः शैथिल्यसमुद्भवश्चर्मविकारः । पलितं पाण्डुरः कचः व्यपगतानि वलिपलितानि याभ्यस्तास्तथा । तथा विरूद्धमङ्गं व्यङ्गं विकारवानवयवः । दुर्वर्णो दुष्टशरीरच्छविः व्याधिदौर्भाग्यशोकाः तैर्मुक्ताः । पश्चाद्विशेषणद्वयकर्मधारयः उच्चत्वेन च नराणां स्वभर्तृणां स्तोकोनं यथा स्यात्तथोच्छिताः । किंचित्न्यूनत्रिंगव्यूतोच्छ्रू इत्यर्थः । न हि ऐदंयुगीनमनुष्यपत्न्य इव स्वभर्तुः समोच्चत्वादधिकोचत्वा भवेयुः । किमुक्तं भवति तथा हि संप्रति पुरुषस्य अन्यूनोच्चत्वादयो लोके उपहासपात्रं स्यान्न तथा । तेषां मनुष्याणामिति । तथा स्वभावत एव शृङ्गारः शृङ्गाररूपश्चारुः प्रधानो वेषो यासां तास्तथा । प्रायो निर्विकारमनस्कत्वेनादृष्टपूर्वकत्वेन च तासां सीमन्तोन्नयनाद्यौपाधिकशृङ्गाराभावात् । संगतमुचितं गतं गमनं हंसीगमनवत् । हसितं हसनं कपोलविकासिप्रेमसंदर्शि च भणितं भणनं गम्भीरकन्दर्पकोद्दीपि च चेष्टनं सकामभङ्गप्रत्यङ्गोपाङ्गदर्शनादिविलासो नेत्रचेष्टा । संलापः पत्था सह सकामं स्वहृदयप्रत्यर्पणक्षमं परस्परसंभाषणं तत्र निपुणास्तथा युक्ताः संगता ये । उपचारा लोकव्यवहारास्तेषु कुशलाः । ततः पदद्वयकर्मधारयः एवं विधविशेषणाश्च स्वपतिं प्रतिद्रष्टव्याः । न तु परपुरुषं प्रति तथा विधकालस्वभावात् प्रतनुकामतया परपुरुषं प्रति तासामभिलाषासंभवात् । एवं च युष्मिपुरुषाणामपि परस्त्रीं प्रति नाभिलाष इति प्रतिपत्तव्यम् । नन्वेयं सति प्रथमं भगवतः सुनन्दापाणिग्रहणं कथमुचितं मृतेऽपि पुंसि तस्याः परसंबन्धित्वाविरोधात् । उच्यते मा ब्रूहि निषिद्धबिरुद्धाचरणस्यः भगवतः श्रवणाश्रव्यमनपवादं कन्यावस्थायामेव तस्याः पाणिग्रहणकरणात् । यतः " पढमो अकालमच्चू, तहिं तालफलेण दारओ पहओ । कण्णा य कुलगरेणं, सिट्ठे गहिआ उसभपत्ती " । एवं तर्हि सहजातयोः सुमङ्गलायाः पाणिग्रहणं कथं सत्यम् । तदानीं तनलोकाचीर्णत्वेन तदानीं तस्या अविरुद्धत्वादिति । पूर्वोक्तमेवार्थं संपीड्याह सुन्दरेत्यादिव्यक्तमेव । नवरं जघन्यं पूर्वकोटीभागः लावण्यमाकारस्य स्पृहणीयताविलासः । स्त्रीणां चेष्टाविशेषः । आह च । " स्थानासनगमनानां, हस्ततालुनेत्रकर्मणां चैव । उत्पद्यते विशेषो, यः श्लिष्टः स तु विलासः स्यात् " । नन्दनवनं मेरोर्द्वितीयवनं तस्य विचरमवकाशो वृक्षरहितभूभागः तत्र चारिण्य इव अप्सरसो देव्यः । भरतवर्षे मानुषरूपा अप्सरसः आश्चर्यमद्भुतमिति प्रेक्षणीयाः । प्रासादीया इत्यादि । संप्रति स्त्रीषुंससाधारण्येन तत्कालभाविमनुष्यस्वरूपं विवक्षुरिदमाह । (तेणं मणुआ इत्यादि) ते सुषमसुषमाभाविनो मनुष्या ओघः प्रवाही स्वरो येषां ते तथा । हंसस्येव मधुरः स्वरो येषां ते तथा । क्रौञ्चस्येवाप्रयासविनिर्गतोऽपि दीर्घदेशव्यापी स्वरो येषां ते तथा । नन्दी द्वादशविधतूर्यसमुदयस्तस्य इव शब्दोऽन्तः तिरोधायी स्वरो येषां ते तथा । नन्द्या इव धोपोऽनुनादो येषां ते तथा । सिंहस्येव बलिष्ठस्वरो येषां ते तथा । एवं सिंहघोषाः उक्तविशेषणानां विशेषणद्वारहेतुमाचष्टे । सुस्वरानिर्घोषाः छायया प्रभयोद्योतितान्यङ्गान्यवयवा यस्य तदेवंविधमङ्गं शरीरं येषां ते तथा । मकारो लाक्षणिकः । वज्रऋषभनाराचं नाम सर्वोत्कृष्टमाद्यं संहननं येषां ते तथा । समचतुरस्रं संस्थानं सर्वोत्कृष्टा आकृतिविशेषास्तेन संस्थिताः छव्यां त्वचि निरातङ्काः निरोगा दद्रुकुष्ठकिलासादित्वग्दोषरहितवपुष इत्यर्थः । अथवा (छवीति) छविमन्तः । छविछविमतोरभेदोपचारादार्षत्वेनमतुबलोपाद्वा । यथा मरीचिरित्यत्र मलयगिरीयावश्यकवृत्तौ उदात्तवर्णसुकुमारत्वयुक्ता इत्यर्थः । पश्चान्निरातङ्कपदेन कर्मधारयः । अनुलोमोऽनुकूलो वायुवेगः शरीरान्तर्वर्ती वातजवो येषां ते तथा । वायुगुल्मरहितोदरमध्यप्रदेशाः सति गुल्मे प्रतिकूलो वायुवेगो भवतीति भावः । कङ्कः पक्षिविशेषस्तस्येव ग्रहणी गुदाशयो नीरोगवर्चस्कतया येषांते तथा कपोतस्येव पक्षिविशेषस्येव परिणाम आहारपरिपाको येषां ते तथा । कपोतस्यहि जाठराग्निः पाषाणलवानपि जरयतीति लौकिकश्रुतिरेवं तेषामपि अत्याहारग्रहणेऽपि न जातु कदाचिदपि अजीर्णदोषादयः । शकुनेरिव पक्षिण

इव पुरीषोत्सर्गे निर्लेपतया पोसोऽपानदेशो येषां ते तथा। पुंस उत्सर्गे पुरीषमुत्सृजन्त्यनेनेति व्युत्पत्तेः तथा। पृष्ठभागान्तरे पृष्ठोदरयोरन्तराले पार्श्वे इत्यर्थः। ऊरू च सक्थिनी च इति द्वन्द्वः। एतानि परिणतानि परिनिष्ठिताङ्गतानि येषां ते तथा। क्तान्तस्य परनिपातः सुखादिदर्शनात्। ततः पदद्वयकर्मधारयः। यथोचितपरिणामे तानि संजानाती-त्यर्थः। षड्धनुः सहस्रोच्छ्रिता अत्रापि मकारोऽलाक्षणिकः। उत्सेधाङ्गुलतस्त्रिगव्यूतप्रमाणकाया इत्यर्थः। यच्च युग्मिनीनां किंचिदूनत्रिगव्यूतमप्रमाणोच्चत्वमुक्तंतदन्यतया न विवक्षितमिति भावः। अथ तेषां वपुषि पृष्ठकरण्डुकसंख्यामाह (तेसिणमित्यादि) तेषां मनुष्याणां द्वे षट्पञ्चाशदधिके पृष्ठकरण्मुकशते पाठान्तरेण पृष्ठकरण्डकशते वा प्रज्ञप्ते पृष्ठकरण्डुकानि च पृष्ठवंशवल्युन्नताः अस्थिखण्डाः पंशुलिका इत्यर्थः। हे श्रमणेत्यादि प्राग्वत्। पुनस्तानेव विशिनष्टि (पउमुप्पलइत्यादि) तेणमिति पूर्ववत्। मनुजाः पद्मं कमलमुत्पलं च नीलोत्पलम्। अथवा पद्मं पद्मकाभिधानं गन्धद्रव्यम् उत्पलं कुष्ठं तयोर्गन्धेन परिमलेन सदृशः समो यो निःश्वासस्तेन सुरभि सुगन्धि वदनं येषां ते तथा। प्रकृत्या स्वभावेन उपशान्ता न तु क्रूराः। प्रकृत्या प्रतनवोऽतिमन्दीभूताः क्रोध-मानमायालोभा येषां ते तथा। अतएव मृदु मनोज्ञं परिणामसुखावहमिति भावः। यन्मार्दवं तेन संपन्नाः न तु कपटमार्दवोपेताः। अलीना गुरुजनमाश्रिता अनुशासनेऽपि न गुरुषु द्वेषमापद्यन्ते इत्याशयः। अथवा आसमन्तात् सर्वासु क्रियासु लीना गुप्ता नोल्वणचेष्टाकारिण इत्यर्थः। भद्रकाः कल्याणभागिनः। भद्रगा वा भद्रहस्तिगतयः। विनीता बृहत्पुरुषविनयकरणशीलाः। अथवा विनीता इव विजितेन्द्रिया इव अल्पेच्छा मणिकनकादिप्रतिबन्धरहिताः। अत एव न विद्यते सन्निधिः पर्युषितखाद्यादेः संचयो धारणं येषां ते तथा विटपान्तरेषु शाखान्तरेषु प्रासादाद्याकृतिषु परिवसनमाकालमावासो येषां ते तथा। यथेप्सितान् कामान् शब्दान् कामयन्ते अर्थात् भुञ्जते इत्यर्थः। एवं शीला येषां ते तथा इति। अत्र जीवाभिगमादिषु युग्मिवर्णनाधिकारे आहारार्थप्रश्नोत्तरसूत्रं दृश्यते। अत्र च कालदोषेण त्रुटितं संभाव्यते अत्रैवोत्तरत्र द्वितीयतृतीयारकवर्णनकसूत्रे आहारार्थसूत्रस्य साक्षाद् दृश्यमानत्वादिति तेनावस्थापनाशून्यार्थं जीवाभिगमादिभ्यो लिख्यते (तेसिणं भंते! मणुआणमित्यादि) तेषां भदन्त! मनुजानां (केवइकालस्सत्ति) सप्तम्यर्थे षष्ठी। कियति काले गते भूय आहारार्थं समुत्पद्यत इति। यद्यपि सरसाहारित्वेनैतावत्कालं तेषां क्षुद्वेदनोदयाभावात् एवाभक्तार्थता न निर्जरार्थं तपः तथाप्यभक्तार्थत्वसाधर्म्यादष्टमभक्तमिति। अष्टमभक्तं चोपवासत्रयस्य संज्ञा इति। अथैते यदाहारयन्ति तदाह (पुढवीपुप्फेत्यादि) पृथिवी भूमिः फलानि च कल्पतरुफलाहारो येषां ते तथा। एवंविधास्ते मनुजाः प्रज्ञप्ताः। हे श्रमणेत्यादि पूर्ववत्। अथानयोराहारयोर्मध्ये पृथिवीस्वरूपं पृच्छन्नाह (तीसेणमित्यादि) तस्याः पृथिव्याः कीदृशः आस्वादः प्रज्ञप्तो वा युग-लधर्मिणामनन्तरपूर्वसूत्रे आहारत्वेनोक्तेत्यध्याहार्यं भगवानाह गौतम! तद्यथा "नामए इत्यादि" प्राग्वत्। गुड इक्षुरस क्वाथ इति। इति वा शब्दः प्राग्वत्। खण्डं गुडविकारः। शर्करा काशादिप्रभवा। मत्सण्डिका खण्डशर्करा। पुष्पोत्तरापद्मोत्तरे शर्करादावेव अन्ये तु पर्पटमोदकादयः खाद्यविशेषा लोकतोऽवसेयाः। एषां मधुरद्रव्यविशेषाणां स्वामिना निर्दिष्टेषु नामसु एतादृशरसा पृथिवी भवेत्। कदाचिदिति विकल्पारूढमतिर्गौतम आहभवेदेतद्रूपः पृथिव्या आस्वादः। स्वाम्याह गौतम! नायमर्थः समर्थः सा पृथिवी इतो गुडशर्करादेरिष्टतरिका एव स्वार्थे कप्रत्ययः यावत् करणात् कान्ततरिका चेव प्रियतरिका चेवेति परिग्रहः। मन आपत्तरिका एव आस्वादेन प्रज्ञप्ता इति।

अथ पुष्पफलानामास्वादं पृच्छन्नाह-

तीसे णं भंते! पुप्फफलाणं केरिसए आसाए पण्णत्ते? गोयमा! से जहा णामए रण्णो चउरंतचक्कवट्टिस्स कल्लाणे भोअणजाए सयसहस्सनिप्पन्ने वण्णेणुववेए आसायणिज्जे विसायणिज्जे भवे एआरूवे णो इणट्ठे समट्ठे तेसि णं पुप्फफलाणं एतो इट्ठतरा चेव जाव आसाए पण्णत्ते।

तेषां पुष्पफलानां कल्पद्रुमसंबन्धिनां कीदृशक आस्वादः प्रज्ञप्तो यानि पूर्वसूत्रे युग्मिनामाहारत्वेन व्याख्यातानीति गम्यम्। भगवानाह- गौतम! तद्यथा नामराजः स च लोके राजा कतिपयदेशाधीशोऽपि स्यादत आह। चतुर्थं तेषु समुद्रत्रयहिमवत्परिच्छिन्नेषु चक्रेण वर्तितुं शीलमस्येति चतुरन्तचक्रवर्ती अतः समृद्ध्यादौ वेत्यनेन दीर्घत्वम्। अनेन वासुदेवतो व्यावृत्तिः कृता तस्य कल्याणमेकान्तसुखावहं भोजनविशेषः। शतसहस्रनिष्पन्नं लक्षव्ययनिष्पन्नं वर्णनातिशायिनेति गम्यते। अन्यथा सामान्यभोजनस्यापि वर्णमात्रवत्ता संभवत्येवेति किमाधिक्यवर्णनमुपपेतं युक्तं यावदतिशायिना स्पर्शनोपपेतं यावद्वन्धेन रसेन वातिशायिनोपपेतम्। आस्वादनीयं सामान्येन विस्वादनीयं विशेषतस्तद्रसमधिकृत्य दीपनीयमग्निवृद्धिकरं दीपयति जाठराग्निमिति दीपनीयं बाहुलकात्कर्तर्यनीयप्रत्ययः। एवं दर्पणीयमुत्साहवृद्धिहेतुत्वात्। मदनीयं मन्मथजनकत्वात्। बृंहणीयं धातूपचयकारित्वात्। सर्वाणि इन्द्रियाणि गात्रं च प्रल्हादयतीति सर्वेन्द्रियगात्रप्रल्हादनीयं वैशद्यहेतुत्वात् तेषामेवमुक्तम्। गौतम आह-भगवन्! भवेदेतद्रूपस्तेषां पुष्पफलानामास्वादः। भगवानाह-गौतम! नायमर्थः समर्थः तेषां पुष्पफलानामितश्चक्रवर्तिभोजनादिष्टतरकादिरेवास्वादः। अत्र कल्याणभोजनसंप्रदायः। एवं चक्रवर्तिसंबन्धिनीनां पुण्ड्रेक्षुचारिणीनामनातङ्कानां गवां लक्षस्यार्द्धार्द्धक्रमेण पीतगोक्षीरस्य पर्यन्ते यावदेकस्याः गोः संबन्धि यत् क्षीरं तत्प्राप्तकलमशालिपरमान्नरूपमनेक-संस्कारकद्रव्यसन्मिश्रं कल्याणं भोजनमिति प्रसिद्धं चक्रिणं स्त्रीरत्नं च विना अन्यस्य भोक्तुर्दुर्जरं महदुन्मादकं चेति।

अथैते उक्तस्वरूपमाहारमाहार्य क्व वसन्तीति पृच्छति।

ते णं भंते! तमाहारमाहारेत्ता कहिं वसहिं उवेंति? गोअमा! रुक्खगेहालया णं ते मणुआ पण्णत्ता समणाउसो! तेसि णं भंते! रुक्खाणं केरिसए आयारभावपडोआरे पण्णत्ते? गोअमा! कूडागारसंठिआ पेच्छा छत्तज्झयतोरणथूभगोउरवेइआ चोप्फालअट्टालगपासायहम्मिअगवक्खवालग्गपोइआ वलभीघरसंठिआ अण्णे इत्थं बहवे वरभवणविसिट्ठसंठाणसंठिआ दुमगणा सुहसीअलच्छाया समणाउसो! अत्थि णं भंते! तीसे समाए भरहे वासे गेहाइ वा गेहावणाइ वा गोयमा! णो इणट्ठे समट्ठे रुक्खगेहालया णं ते मणुआ पण्णत्ता समणाउसो!।

ते भदन्ते ! मनुजास्तमनन्तररोदितस्वरूपमाहारमाहार्य्य क्वसतौ कस्मिन्नुपाश्रये उपयान्ति उपगच्छन्ति। भगवानाह- गौतम ! वृक्षरूपाणि गृहाणि आलया आश्रया येषां ते तथा। एवं विधास्ते मनुजाः प्रज्ञप्ताः हे श्रमणेत्यादि पूर्ववत्। अथैते गेहा काराः वृक्षाः किं स्वरूपा इति पृच्छति " तेसि णं भंते ! रुक्खाणमि " त्यादिप्रश्नसूत्रपदयोजना सुलभा आकार-भावप्रत्यवतारः प्राग्वत्। भगवानाह गौतम ! ते वृक्षाः कूटं शिखरं तदाकारसंस्थिताः। प्रेक्षा इति पदैकदेशे समुदायोपचारात्। प्रेक्षागृहं नाट्यगृहं द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसंबध्यते इति संस्थितशब्दः सर्वत्र योज्यः। तेनोत्प्रेक्षागृहं संस्थिता इति व्याख्येयप्रेक्षागृहाकारेण संस्थानवन्त इत्यर्थः। एवं छत्रध्वजतोरणस्तूपगोपुरवेदिका चोप्पफालं अट्टालकं प्रासादहर्म्यगवाक्षवालाग्रपोतिकावलभीगृहसंस्थिताः तत्र छत्राद्याः प्रतीताः। गोपुरं पुरद्वारं वेदिका उपवेशनयोग्या भूमिः। चोप्पफालं नाम मत्तवारणम्। अट्टालकः प्राग्वत्। प्रासादो देवतानां राज्ञां वा गृहम्। उच्छ्रयबहुला वा प्रासादाः ते चोभयेऽपि पर्यन्तशिखराः। हर्म्यं शिखररहितं धनवतां भवनं गवाक्षः स्पष्टः। वालाग्रपोतिका नाम जलस्योपरिप्रासादा वलभी छदिराधारस्तत्प्रधानं गृहम्। अत्रायमाशयः। केचिद्वृक्षाः कूटसंस्थिताः तदन्ये प्रेक्षागृहसंस्थिताः तदपरे छत्रसंस्थिताः। एवं सर्वत्र भाव्यम्। अन्ये अत्र सुषमसुषमायां भरते वर्षे बहवो वरभवनं सामान्यतो विशिष्टगृहं तस्येव यद्विशिष्टं संस्थानं तेन संस्थिताः शुभा शीतला छाया येषां ते तथा। एवंविधा द्रुमगणाः प्रज्ञप्ताः। हे श्रमणेत्यादि पूर्ववत् प्राग्गेहाकारकल्पद्रुमस्वरूपवर्णके उक्तेऽपि एते परमपुण्यप्रकृतिका युष्मिन एषु सौन्दर्याश्रयेषु वसन्तीति ज्ञापनार्थं पुनस्तद्वर्णकरसूत्रारम्भः सार्थक इति। ननु तदा गृहाणि न सन्त्यपि वा गृहाणि धानीयन्ति न्ति न तेषामुपभोगाय यान्तीत्याशंकमानः पृच्छति (अत्थि णमित्यादि) अस्तीत्यस्य त्यादिप्रतिरूपकाव्ययस्य वचनत्रयसदृशरूपत्वेन सति व्याख्येयं सन्ति भदन्त ! तस्यां समायां भरतवर्षे गेहानि वा प्रतीतानि गृहेषु आतपनानि वा उपभोगार्थमागमनानि उत्तरसूत्रं प्राग्वत् एतेन तदा मनुष्यादिप्रयोगजन्यगृहाभावस्तत एव तेषामुपभोगार्थः तत्रापतनाभावश्चोक्तः।

अत्थि णं भंते ! तीसे समाए भरहे वासे गामाइ वा जाव सण्णिवेसाइ वा। णो इणट्ठे समट्ठे जहिच्छियकामगामिणो भंते ! मणुआ पण्णत्ता अत्थि णं भंते ! असीइ वा मसीइ वा किसीइ वा वणिएत्ति वा पणिएत्ति वा वाणिज्जेइ वा। णो इणट्ठे समट्ठे ववगयअसिमसिकिसिवणिअपणिअवाणिज्जा णं ते मणुआ पण्णत्ता समणाउसो ! अत्थि णं भंते ! हिरण्णेइ वा सुवण्णेइ वा कंसेइ वा दूसेइ वा मणिमोत्तिअसंखसिलप्पवालरत्तरयणसावइज्जेइ वा हंता अत्थि णो चेव णं तेसिं मणुआणं परिभोगत्ताए हव्वमागच्छ।

उक्तवक्ष्यमाणेषु एषु युग्मिसूत्रेषु प्रश्नोत्तरालापकवाक्ययोजना प्राग्वत् नवरं ग्रामावृत्या वृताः करणा ग्राम्या वा यावत् करणान्नगरादिपरिग्रहः तत्र नगराणि चतुर्गोपुरोद्भासीनि न विद्यते करो येषु तानि नकराणि वा कररहितानि नखादिनिपातनाद्रूपसिद्धिः निगमाः। प्रभूतवणिग्वर्गावासाः प्रांसुप्राकारनिबद्धानि क्वचिन्नद्यद्रिवेष्टितानि वा खेटानि क्षुल्लप्राकारवेष्टितानि अभितः पर्वतवृतानि वा खर्वटानि अर्द्धतृतीयगव्यूतान्तर्ग्रामरहितानि ग्रामपञ्च शत् उपजीव्यानि वा मडम्बानि पत्तनानि जलस्थलपथयुक्तानि रत्नयोनिभूतानि वा सिन्धुवेलावलयपर्यन्तानि द्रोणमुखानि आकराः हिरण्याकरादय आश्रमास्तापसाश्रयाः। संबाधाः शैलशृङ्गस्थायिनो निवासाः यत्र समागतप्रभूतजननिवेशा वा राजधान्यो यत्र नगरे पत्तने अन्यत्र वा स्वयं राजा वसति संविनेशो यत्र सार्थकटकादेरावासा भवन्ति। अत्रोत्तरम् नायमर्थः समर्थः। अत्रार्थे विशेषणद्वारहेतुमाह। यथेप्सित इच्छामनतिक्रम्य काममत्यर्थं गामिनो गमनशीलास्ते मनुजाः अत्रात्यर्थं कथनेन तेषां सर्वदा स्वातन्त्र्यमुक्तम्। ग्रामनगरादिव्यवस्थायां तु नियताश्रयत्वेन तेषामिच्छानिरोधः स्यात्। जीवाभिगमे तु " जहिच्छिअकामगामिनो " इत्यस्य स्थाने " जनेच्छिअकामगामिणो " इति पाठस्तत्रायमर्थः। यद्यस्मान्नेच्छितकामे गामिनः न इच्छितमिच्छाविषयीकृतं नेच्छितं नायं नञ् किंतु नशब्द इत्यनादेशाभावः यथा नैकेषस्य पर्याया इत्यत्र नेच्छितमिच्छाया विषयीकृतं कामं स्वेच्छां गच्छतीत्येवंशीला नेच्छितकामगामिनस्ते मनुजाः इति यद्यपि गृहसूत्रेणैवार्थापत्या ग्रामाद्यभावः सूचितः तथाप्यव्युत्पन्नविनेयजनव्युत्पत्त्यर्थमेतत्सूत्रोपन्यासः (अत्थिणमित्यादि) अत्रासिः खड्गो यमुपजीव्य स न सुखवृत्तिको भवति। अस्याः साहचर्यलक्षणाया असिशब्देनात्र अस्युपलक्षिताः पुरुषा गृह्यन्ते एवमग्रेतनविशेषणेष्वपि यथायोग्यं ज्ञेयम्। यदुपजीवनेन लेखककला, कृषिः कर्षणं, वणिक् पण्याजीवः, पणितं क्रयाणकं, वाणिज्यं सत्यानृतमर्पणग्रहणादिषु न्यूनाधिकार्पणमित्यर्थः। अत्राह नायमर्थः समर्थः। यतस्ते व्यपगतानि असिमषीकृषिवणिक्पणितवाणिज्यानि येभ्यस्ते तथा। मनुजाः प्रज्ञप्ताः। इति (अत्थिणमित्यादि) हिरण्यं रूप्यमघटितसुवर्णं वा सुवर्णं घटितं कांस्यं प्रतीतं, दूष्यं वस्त्रजातिः। मणिश्चन्द्रकान्तादिः। मौक्तिकं व्यक्तं, शङ्खो दक्षिणादिः, शिला गन्धपेषणादिका, प्रवालं प्रतीतं, रक्तरत्नानि पद्मरागादीनि। स्वापतेयं रजतसुवर्णादिद्रव्यम्। ननु यदि हिरण्यं रूप्यं तदा रूप्यखानौ तत्संभवः यदि वा घटितसुवर्णं तदा सुवर्णखानौ परं घटितं सुवर्णं, तथा ताम्रत्रपुसंयोगजं कांस्यं तथा तन्तुसन्तानसंभवं दुष्यं, तत्र कथं संभवेयुः। शिल्पिप्रयोगजन्यत्वात्तेषां न च तान्यत्रातीतोत्सर्पिणीसत्कनिधानगतानि संभवन्तीति वाच्यं सा हि सपर्यवसितप्रयोगबन्धस्यासंख्येयं कालं स्थितेरसंभवात्। एगोरुगोत्तरकुरुसूत्रयोरेतदालापकस्याकथनप्रसङ्गात। उच्यते संहरणप्रवृत्तक्रीडाप्रवृत्तदेवप्रयोगात्। तानि संभवन्तीति संभाव्यते। इहोत्तरं हन्तीति वाक्यारम्भे कोमलामन्त्रणे वा अस्ति हिरण्यादिकमिति शेषः। नैव तेषां मनुजानां परिभोग्यतया (हव्वमिति) कदाचिदागच्छति।

अत्थि णं भंते ! भरहे राया इइ वा जुवराया ईसरतलवरमाडंविअकोडुंबिअइब्भसेट्ठिसेणावइसत्थवाहाइ वा णो इणट्ठे समट्ठे ववगयइड्ढिसक्काराणं ते मणुआ। अस्ति राजा इति वा चक्रवर्त्यादिः। युवराजा राज्यार्ह इति यावत्। ईश्वरो भोगिकादिः। अणिमाद्यष्टविधैश्वर्ययुक्तो वा तलवरः सन्तुष्टनरपतिप्रदत्तसौवर्णपट्टालङ्कृतशिरस्कश्चौरादिशुद्ध्यधिकारी " मांडविय " पूर्वोक्तमडम्बाधिपः कौटुम्बिकः कतिपयकुटुम्बप्रभुः इभ्यो यद् द्रव्यनिचयं तैरिभो हस्त्यपि न दृश्यते। इभो हस्ती तत्प्रमाणं द्रव्यमर्हतीति निरुक्तादिभ्यः। श्रेष्ठी देवताध्यासितसौवर्णपट्टालङ्कृतशिराः पुरा ज्येष्ठो वणिग्विशेषः। सेनापति-

र्यदायत्ता नृपेण चतुरङ्गसेना कृता भवति। सार्थवाहो यो गणिमादिक्रया-णकं गृहीत्वा देशान्तरं गच्छन् सहचारिणामध्वसहायो भवति। अत्रोत्तरं नायमर्थः समर्थः। व्यपगता ऋद्धिर्विभवैश्वर्यं सत्कारश्च सेव्यतालक्षणो येभ्यस्ते तथा।

अत्थि णं भंते ! भरहे वासे दासेइ वा पेसेइ वा सिस्सेइ वा भयगेइ वा भाइल्लाएइ वा कंमारएइ वा णो इणट्ठे समट्ठे ववगय आभिओगाणंति मणुआ पन्नत्ता। समणाउसो ! अत्थि णं भंते ! तीसे समाए भरहे वासे मायाइ वा पियाइ वा भायभगिणिभज्ज-पुत्तधूआसुण्हाइ वा हंता अत्थि णो चेव णं तिव्वो पेमबंधणं समुप्पज्जइ।

आसरणं क्रयः क्रीतः गृहददासीपुत्रो वा प्रेष्यः प्रेषणार्हो जनो दूतादिः। शिष्य उपाध्यायस्योपासकः शिक्षणीय इत्यर्थः। भृतकानि यत्काल-मवधिं कृत्वा वेतनेन कर्मकरणाय धृतः दुष्कालादौ निःश्रितो वा भागिको द्वितीयाद्यंशग्राही कर्मकरः गणपुञ्जाद्यपनेता। अत्राह नायमर्थः। स०। यतस्ते मनुजा व्यपगताभियोगिकं कर्म येभ्यस्ते तथा। अत्राभियोग्य-शब्दात् कर्मणि यप्रत्यये व्यञ्जनात्पश्चमस्थायाः स्वरूपे वा इत्यनेनै-कस्य यकारस्य लोप इति (अत्थिणमित्यादि) माता या प्रसूते। पिता यो बीजं निषिक्तवान्। भ्राता यः सहजातः। भगिनी सहजाता। भार्या भोग्या। पुत्रो जन्यः, धूता दुहिता। स्नुषा पुत्रवधूः। अत्र भगवानाह-हन्तेत्यादिनेव चः पुनरर्थे तेषां मनुजानां तीव्रमुत्कटं प्रेमबन्धनं समुत्पद्यते। तथाविधक्षेत्रस्वभावात् प्रतनुप्रेमबन्धास्ते युष्मिन इति ननु चतुर्षु कुटुम्बमनुष्येषु स्नुषासंबन्धो यथा आपेक्षिकस्तथा भ्रातृव्यभागि-नेयादिसंबन्धः कथं न संभवी। उच्यते कुबेरदत्ता स्वकभाववत् सोऽप्युपलक्षणाद् ग्राह्यः। परं स्फुटव्यवहारत्वेनेमे एव संबन्धाः।

अत्थि णं भंते ! भरहे वासे अरीइवा घायएइ वा वहएइ वा पडिणीएइ वा पच्चामित्तेइ वा णो इणट्ठे समट्ठे ववगयवेराणुसया णं ते मणुआ पण्णत्ता। समणाउसो !

अरिः सामान्यतः शत्रुः वैरिको जातिनिबद्धवैरोपेतः। घातको योऽ-न्येन घातयति वधकः। स्वयं हन्ता व्यथको वा चपेटादिना तामकः। प्रत्यनीकः कार्योपघातकः। प्रत्यमित्रो यः पूर्वं मित्रं भूत्वा पश्चादमित्रो जातः अमित्रसहायो वा। इहाचार्यः नायमिति यतो व्यपगतो वैरजन्यो-ऽनुशयः पश्चात्तापो येभ्यस्ते तथा। वैरं कृत्वा हि तदुत्थफलविपाके पुमाननुशते इति।

अत्थि णं भंते ! भरहे वासे मित्ताइ वा वइंसाइ वा णायएइ वा संघाटिएइ वा सहाइ वा सुहीइ वा संगएइति वा हंता अत्थि णो चेव णं तेसिं मणुआणं तिव्वे रागबंधणे समुप्पज्जइ।

अत्र मित्रं स्नेहास्पदवयस्यः समानवयाः गाढतरस्नेहास्पदं ज्ञातकः स्वज्ञातीयः। यद्वा ज्ञातकः संवासादिना ज्ञातसहजपरिचित इत्यर्थ। संघाटिकः सहचारी। सखा समानखाद न पानोद्गाढतमस्नेहास्पदम्। सुहृद् यः मित्रमेव सकलकालमव्यभिचारी हितोपदेशदायी च। साङ्गतिकः संगतिमात्रघटितः। हंतेत्यादि पूर्ववत्। न चैवं तेषां मनुजानां तीव्रं रागरूपं बन्धनं समुत्पद्यते।

अत्थि णं भंते ! भरहे वासे आवाहाइवा वीवाहाइवा जणाइ वा सद्धाइ वा थालीपागाइ वा मितपिंडनिवेदणाइ वा णो इणट्ठे समट्ठे ववगयआवाहवीवाहजणसद्धथालीपागमितपिंडनिवेदणा णं ते मनुआ पण्णत्ता समणाउसो !।

अत्र चाह। आहूयन्ते स्वजनास्ताम्बूलदानाय यत्र स आवाहः। विवाहात्पूर्वं ताम्बूलदानोत्सवः। विवाहः परिणयनं। यज्ञः प्रतिदिवसं स्वस्वेष्टदेवतापूजा। श्राद्धं पितृक्रिया। स्थालीपाकः संप्रदायगम्यः। मृतपिण्डनिवेदनानि मृतेभ्यः श्मशाने तु तृतीयनवमादिषु दिनेषु पिण्ड-समर्पणानि। अत्रोत्तरं नायमर्थः समर्थः। व्यपगताऽऽवाहविवाहयज्ञश्रा-द्धस्थालीपाकमृतपिण्डनिवेदनास्ते मनुजाः प्रज्ञप्ताः।

अत्थि णं भंते ! भरहे वासे इंदमहाइ वा खंदणागजक्खभू-अअवडतडागदहणदीरूक्खपव्वयथूभचेइअमहाइ वा णो इणट्ठे समट्ठे ववगयमहिमा णं ते मणुआ पण्णत्ता।

इन्द्रः प्रतीतः तस्य महः प्रतिनियतदिवसभावी उत्सवः। एवमग्रेऽपि। स्कन्दः कार्तिकेयः। नागो भवनपतिविशेषः। यक्षभूतौ व्यन्तरविशेषौ। (अवडत्ति) अवटः कूपः। तडागः सरः। ह्रदनदीवृक्षपर्वताः प्रतीताः। स्तूपः पीठविशेषः। चैत्यं चेष्टदेवतायतनम्। अत्राह। व्यपगतमहिमानस्ते मनुजाः प्रज्ञप्ताः।

अत्थि णं भंते ! भरहे वासे णडपेच्छाइ वा णट्टजल्लमल्लमुट्ठि-अवेलंवगकहगपवगलासगपेच्छाइ वा णो इणट्ठे समट्ठे ववगय-कोउहल्लाणं ते मणुआ पण्णत्ता समणाउसो !।

नटा नाटयितारः तेषां प्रेक्षणकं कौतुकदर्शनोत्सुकजनमेलकः। एवमग्रेऽपि। नृत्यन्ति स्म नृत्ताः कर्तरि क्तप्रत्ययः नृत्तविधायिनः। जल्ला-वरत्राखेलकाः। मल्ला भुजयुद्धकारिणः। मौष्टिका मल्ला एव ये मुष्टिभिः प्रहरन्ति। विडम्बका विदूषकाः मुखविकारादिभिर्जनहास्योत्पादकाः। कथकाः सरसकथाकथनेन श्रोतृरसोत्पत्तिकारकाः। प्लवका ये जम्पा-दिभिर्गर्तादिकमुत्प्लवन्ते गर्तादिलङ्घनकारिण इत्यर्थः। अथवा तरन्ति नद्यादिकं ये इति लासका ये रासकान् ददति तेषां प्रेक्षा उपलक्षणादा-ख्यायकप्रेक्षादिग्रहः। अत्रोत्तरं नायमर्थः समर्थः। यतो व्यपगतकुतूहला-स्ते मनुजाः प्रज्ञप्ताः।

अत्थि णं भंते ! भरहे वासे सगडाइ वा रहाइ वा जाणाइवा जुग्गगिल्लिथिल्लिसिविअसंदमाणीआइ वा णो इणट्ठे समट्ठे पायचारविहारा णं ते मणुआ पण्णत्ता समणाउसो।

अत्र शकटानि प्रतीतानि। रथाः क्रीडारथादयः। यायन्ते गम्यन्ते एभिरिति व्युत्पत्त्या यानानि उक्तवक्ष्यमाणातिरिक्तानि गन्त्र्यादीनि। युग्यं पुरूषोत्क्षिप्तमाकाशयानं जम्पानमित्यर्थः (गिल्लित्ति) पुरूषद्वयोत्क्षिप्ता डोलिका (थिल्लित्ति) वेसरादिद्वयनिर्मितो यानविशेषः शिबिका प्रतीता। स्यन्दमानिका पुरूषायामप्रमाणा शिबिकाविशेषः। अत्र प्रतिवचनं नायमित्यादि पादचारेण न तु शकटादिचारेण विहारो विचरणं येषां ते तथा। मनुजा इति।

अत्थि णं भंते ! भरहे वासे गावीइ वा महिसीइ वा अयाइ वा एलगाइ वा हंता अत्थि णो चेव णं तेसिं मणुआणं परिभोगतए हव्वमागच्छति।

अत्र गो महिष्यजाः स्पष्टाः। एडका उरभ्रा आह। न च तेषां मनु-

ष्याणां परिभोग्यतया कदाचिदागच्छन्ति नैतासां दुग्धादि तेषामुपभोग्यमिति यावत्।

अत्थि णं भंते ! भरहे वासे आसाइ हत्थिउट्टगोणगवयअयएलगपसयमिअवराहरूरूसरभचमरसंवरकुरंगगोकण्णमाइआ हंता। अत्थि णो चेव णं तेसिं परिभोगत्ताए हव्वमागच्छंति।

अत्राश्वाः हस्तिनः उष्ट्राः प्रतीताः। गोणा गावः गवयो वनगवः। अजैडकौ स्पष्टौ। प्रश्नया विखुरा आटव्यपशुविशेषाः। मृगवराहौ व्यक्तौ। रूरवो मृगविशेषाः। शरभा अष्टापदाः। चमरा अरण्यगवा यासां पृच्छकेशाश्चामरतया भवन्ति। शम्बरा येषामनेकशाखे शृङ्गे भवतः। कुरङ्गगोकर्णौ मृगभेदौ। शृङ्गवर्णादिविशेषाश्च सामर्थ्याद्गम्याः। अत्रोत्तरं हन्तेति कोमलामन्त्रणे सन्ति न चैव तेषां प्रथमसमाभाविनां मनुष्याणां यथासंभवमारोहणादिकार्येषूपयुज्यन्ते।

अथ श्वापत्प्रश्नसूत्रमाह।

अत्थि णं भंते ! भरहे वासे सीहाइ वा वग्घाइ वा विगदीविगच्छतरच्छसिआलाइ वा वेरालसुणगकोकंतिअकोलसुणगाइ वा हंता अत्थि णो चेव णं तेसिं मणुआणं आवाहं वा पवाहं वा छविच्छेअं वा उप्पाएंति पयडिभद्दयाणं ते सावयगणा पण्णत्ता। समणाअसो !।

अत्र सिंहाः केसरिणः। व्याघ्राः प्रतीताः। वृकाः ईहामृगाः। द्वीपिनश्चित्रकाः। ऋक्षाः अच्छभल्लाः। तरक्षवो मृगादनाः। शृगाला व्यक्ताः। विडाला मार्जाराः। श्वनकाः श्वानः। कोकन्तिका लोमटिका ये रात्रौ कोको इत्येवं रवन्ति। कोलशुनका महासूकराः। अत्रोत्तरं सन्ति परं नैव तेषां मनुजानामाबाधां वा ईषद्बाधां वा प्रबाधां वा विशेषेण बाधां छविच्छेदं वा चर्मकर्तनमुत्पादयन्ति। यतः प्रकृतिभद्रकास्ते श्वापदगणाः प्रज्ञप्ताः।

अत्थि णं भंते ! भरहे वासे सालीति वा वीहिगोहूमजवजवा कलमसूरमुग्गमासतिलकुलत्थिणिप्फावं आलिसंदगअयसिकुसुंभकोद्दवकंगुवरगरालगसणसरिसवमूलगवीआइ वा हंता अत्थि णो चेव णं तेसिं मणुआणं परिभोगत्ता ए हव्वमागच्छंति।

अत्र शालयः कलमादिविशेषाः। व्रीहयः सामान्यतः। गोधूमयवौ प्रतीतौ। यवयवा यवविशेषाः (कलत्ति) कलास्त्रिपुटाख्या वृहच्चणका वा मसूरा मालवादिदेशप्रसिद्धाः धान्यविशेषाः। मुद्गमाषतिलाः। कुलत्थाश्च पलकतुल्याश्चिपिटा भवन्तिनिष्पावा वल्लाः (आलिसंदगत्ति) चपलकाः अतसी धान्यं यस्य तैलमतसीतैलमिति प्रतीतम् कुसुंभत्ति) लट्ठकेणाः यत्पुष्पैर्वस्त्रादिरागः समुत्पाद्यते। कोद्रवाः प्रतीताः। कङ्गवः पीततण्डुलाः। (वरगत्ति) वरगो धान्यविशेषः सपादलक्षादिषु प्रसिद्धः। रालकः कङ्कुविशेष एव स चायं वृहच्छिराः। कङ्कुरल्पशिरालकः। शणं त्वक्प्रधाननालो धान्यविशेषः। सर्षपाः प्रतीताः। मूलकवीजकादिकाः रूढितोऽवसेयाः सन्त्येते परं न च ते उपभोगमागच्छन्ति कल्पद्रुमपुष्पफलाना हारकत्वात्तेषामिति।

अत्थि णं भंते ! भरहे वासे गत्ताइ वा दरी ओवाय पवायविसमविज्जालाइ वा णो इणट्ठे समट्ठे भरहे णं वासेबहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते। से जहाणामए आलिंगपुक्खरेइ वा।

अत्र गर्ता महाखण्डाः। दरी मूषिकादिकृता लध्वीखण्डा। अवपोतः प्रपातस्थानम्। यत्र चलन् जनः सप्रकाशेऽपि पतति। प्रपातो भृगुः यत्र जनः कांचित्कामनां कृत्वा प्रपतति। विषमं दुरारोहावरोहस्थानम्। जलं स्निग्धकर्दमाविलस्थानं यत्र जनोऽतर्कित एव पतति। नायमर्थः समर्थ इत्यादि न सन्तीत्यर्थः भारते वर्षे बहुसमरमणीयो भूमिभागो यतः प्रज्ञप्तः। "से जहाणामए" इत्यादि वर्णकं प्राग्वत् ज्ञेयम्।

अत्थि णं भंते ! भरहे वासे ठाणूइ वा कंटगतणकयवराइ वा पत्तकवयराइ वा णो इणट्ठे समट्ठे ववगयठाणुकंटगभणकयवरपत्तकयवराणं सा समा पण्णत्ता।

अत्र स्थाणुरूर्ध्वकाष्ठं कण्टकः स्पष्टः। तृणान्येव कचवरः पत्राण्येव कचवरः। अत्राह नेत्यादि। यतो व्यपगतस्थाणुर्यावत्पत्रकचवरा सा सुषमसुषमानाम्नी समारकः प्रज्ञप्तः।

अत्थि णं भंते ! भरहे वासे डंसाइ वा डसगाइ वा जूआइ वा लिक्खाइ वा ढिंकुणाइ वा पिसुआइ वा णो इणट्ठे समट्ठे ववगयसमसगजूअलिक्खढिंकुणपिसुअउवद्दवविरहिआणं सा समा पण्णत्ता।

अत्र दंशमशकयूकालिक्षाः स्पष्टाः। ढिङ् कुणा मत्कुणाः यदाहुः। श्रीहेमसूरयो देश्यां "मक्कुणए ढिंकुणढंकुणा तहा ढंकणापिहाणीए इति" *पिशुकाश्चञ्चटा अत्राचार्यः। व्यपगतदंशमशकयूकालिक्षा तथा ढिङ्कुणा* पिशुकोपद्रवविरहिताः पश्चात्कर्मधारयः सा समा प्रज्ञप्ता। अत्र सूत्रे *व्यपगतेत्यादिविशेषणस्य कर्मधारयं विना व्याख्यानं करणे प्रस्तुतमूलादर्शे "विरहिअत्ति" पदं प्रमादापतितमिति ज्ञेयम्।* तदर्थस्य तत्वतो व्यपगतपदेनैवोक्तत्वात्।

अत्थि णं भंते ! भरहे वासे अहाइ वा अयगराइ वा हंता अत्थि णो चेव णं तेसिं मणुआणं आवाहं वा जाव पगइभद्दयाणं ते वालगणा पण्णत्ता।

अत्राह ये सामान्यतः सर्प्पाः अजगराः महाकायसर्पाः शेषं पूर्ववत्। यतः प्रकृतिभद्रकास्ते व्यालगणाः सरीसृपजातीयगणाः प्रज्ञप्ता इति। अग्रे ग्रहयुद्धसूत्रं जीवाभिगमादिषु साक्षाद् दृष्टमपि एतत्सूत्रादर्शेषु न दृष्टमिति व्याख्यायामप्यलेखि।

अत्थि णं भंते ! भरहे वासे डिंवाइ वा कलहवोलखारवइरमहाजुद्धाइ वा महासंगामाइ वा महासत्थपडणाइ वा महापुरिसपडणाइ वा णो इणट्ठे समट्ठे ववगयवेराणुबंधा णं ते मणुआ पण्णत्ता।

अत्र डिंबडमरौ पूर्ववत् कलहो वचनादिः। बोलो बहूनामार्तानामव्यक्ताक्षरध्वनिकलकलः क्षारः परस्परं मत्सरः। वैरं परस्परमसहमानतया हिंस्यहिंसकताध्यवसायः। महायुद्धानि व्यवस्थाहीनमहारणाः महासंग्रामाश्चक्रादिव्यूहरचनोपेततयासंव्यवस्था महारणाः। महाशस्त्राणि नागबाणादीनि तेषां निपतनानिं हिंसाबुध्या वैरिषु मोचनानि। महाशस्त्रत्वं चैतेषामद्भुतविचित्रशक्तिकत्वात्। तथा हि नागबाणा धनुष्यारोपिता बाणाकारा मुक्ताश्च सन्तो जाज्वल्यमानाः सद्यश्चोल्कादण्ड-

रूपास्ततः परशरीरे संक्रान्ता नागमूर्तीभूय तद्वात्रमश्नुवन्ते। तामसवाणास्तु सकलरणव्यापिमहान्धतमसरूपतया पवनबाणाश्च तथाविधपवनस्वरूपतया वह्निबाणाश्च तादृशवह्निप्रकारेण ते प्रतिवैरिवाहिनीषु विघ्नोत्पादका भवन्ति। एवमन्येऽपि स्वस्वनामानुसारेण स्वस्वजन्यकार्यमुत्पादयन्ति। उक्तं च " चित्रं श्रेणिकबाणास्ते, भवन्ति धनुराश्रिताः। उल्कारूपाश्च गच्छन्तः, शरीरे नागमूर्तयः। क्षणं बाणाः क्षणं दण्डाः, क्षणं पाशत्वमागताः। अमराद्यस्त्रभेदास्ते, यथा चिन्तितमूर्तयः " । महापुरुषाश्छत्रपत्यादयस्तेषां पतनानि कालधर्मनयनानि । तत एव महारुधिराणि छत्रपत्यादिसत्करूधिराणि तेषां निपतनानि प्रवाहरूपतया वाहनानि । अत्रोत्तरं नेत्यादि । यतस्तद्व्यपगतो वैरस्यानुबन्धः सन्तानभावेन प्रवर्ती येभ्यस्ते तथा मनुजाः प्रज्ञप्ताः ।

अत्थि णं भंते ! मरहे वासे अब्भूआणि वा कुलरोगाइ वा गामरोगाइ वा मंडलरोगाइ वा पेट्टसीसवेअणाइ वा कण्णोट्ठअच्छिणहदंतवेअणाइ वा कासाइ वा सासाइ वा सोसाइ वा दाहाइ वा अरिसाइ वा अजिणगाइ वा उदओदराइ वा पंडुरोगाइ वा भगंदराइ वा एगाहिइ वा वेगाहिइ वा तेआहिआइ वा चउत्थहिआइ वा इंदग्गहाइ वा धणुग्गहाइ वा खंदग्गहाइ वा कुमारग्गहाइ वा जक्खग्गहाइ वा भुअग्गहाइ वा मत्थसूलाइ वा हिअयपोट्टकुच्छिजोणिसूलाइ वा गाममारीइ वा जाव सण्णिवेसमारीइ वा पाणिक्खया जणक्खया कुलक्खया वसणपूअमणारिआ णो इणट्ठे समट्ठे ववगयरोगायंका णं ते मणुआ पण्णत्ता समणाउसो !

अत्र दुष्टा जनधान्यादीनामुपद्रवहेतुभूताः सत्त्वाः । उन्दुरुशलभप्रमुखा ईतय इत्यर्थः । कुलरोगा ग्रामरोगा मण्डलरोगा यथोत्तरं बहुस्थानव्यापिनः (पेट्टत्ति) देशत्वादुदरं शीर्षं मस्तकं तद्वेदना कर्णोष्ठाक्षिनखदन्तवेदनाः कण्ठ्याः कासश्वासौ व्यक्तौ । शोवः क्षयरोगः दाहः स्पष्टः । अर्शो गुदाङ्कुरः । अजीर्णं व्यक्तं दकोदरं जलोदरं पाण्डुरोगभगन्दरौ प्रतीतौ । एकाहिको यो ज्वर एकदिनान्तरित आयाति । एवं द्विदिनान्तरितो द्व्याहिकः । त्रिभिर्दिनैरन्तरितः त्र्याहिकः चतुर्थेन दिनेनान्तरितश्चतुर्थाहिकः । इन्द्रग्रहादयस्तुउन्मत्ततादिहेतवो व्यन्तरादिदेवकृत्तोपद्रवाः धनुर्ग्रहःसंप्रदायगम्यः । मस्तकशुलादीनि प्रतीतानि । ग्रामे उक्तस्वरूपे मारियुगपद्रोगविशेषादिना बहूनां कालधर्मप्राप्तिः । एवमग्रेऽपि यावत्करणान्नगरमारिप्रभृतिपरिग्रहः प्राणिक्षयो गवादिक्षयः । जनक्षयो मनुष्यक्षयः । कुलक्षयो वंशक्षयः । एते च कथंभूता इत्याह । व्यसनभूता जनानामापद्भूताः । अनार्याः पापात्मकाः अत्र विभक्तिलोपमकारागमौ प्राकृतत्वात् । अत्राह नेत्यादि । व्यपगतो रोगश्चिरस्थायी कुष्ठादिरातङ्क आशुघाती शूलादिर्येभ्यस्ते तथा मनुजाः । प्रज्ञप्ताः । हे श्रमण ! हे आयुष्मान् ! ।

(७) अथैषां भवस्थितिं पृच्छति।

तीसे णं भंते ! समाए मरहे वासे मणुआ णं केवइअं कालं ठिई पण्णत्ता। गोयमा ! जहण्णेणं देसूणाइं तिण्णिपलिओवमाइं उक्कोसणं तिण्णिपलिओवमाइं ।

प्रापकं सूत्रमेतत्। नवरं देशोनानि त्रीणि पल्योपमानि स्थितिर्युग्मिनीप्रतीत्यमेतव्याख्यानं देशश्चात्र पल्योपमासंख्येयभागरूपो ज्ञेयो यदुक्तं जीवाभिगमे देवकुरुत्तरकुरुस्त्रियमधिकृत्य " देवकुरुउत्तरकुरुअकम्मभूमगमणुस्सित्थीणं भंते ! केवइअं कालं ठिई पण्णत्ता। गोयमा ! देसूणाइं तिण्णिपलिओवमाइं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणगाइं उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाइं " ।

अथावगाहनां पृच्छन्नाह।

तीसे णं भंते ! समाए मरहे वासे मणुआणं सरीरा केवइआ उच्चत्तेणं पण्णत्ता गोयमा ! देसूणाइं तिण्णिगाउआइं उक्कोसेणं तिण्णिगाउआइं तेणं भंते ! मणुआ किंसंघयणी पण्णत्ता गोयमा ! वइरोसभणारायसंघयणी ।

सुगमं नवरं देशोनास्त्रयः क्रोशा अधियुग्मिनीप्रत्ययः " उच्चत्तेणं णराछग्घणूझुसियाउ " इति वचनात् यद्यपि छग्गुसहमपूसिआउ – इति पूर्वसूत्रेणैतेषामवगाहना लभ्यते तथाऽपि जघन्योत्कृष्टविधानार्थं पुनरवगाहनासूत्रारम्भ इति (तेणमित्यादि) अत्र किं च तत् संहननं चेति कर्मधारयः । पश्चादस्त्यर्थ इतिः । प्रत्ययः गौतमेत्यादि वज्रर्षभनाराचसंहनिनस्ते मनुजा इति ।

एतेसि णं भंते ! मणुआणं सरीरा किं संठिआ पण्णत्ता गोयमा ! समचउरस्ससंठाण संठिआ तेसि णं मणुआणं वि छप्पण्णा पिट्ठकरंडयसया पण्णत्ता समणाउसो ! ।

सुगमं नवरं किं संस्थितं संस्थानं येषां ते तथा यद्यऽपि पूर्ववर्णकसूत्रे विशेषणद्वारा एषां संहननादिकमाख्यातं तथापि सर्वेषामपि तत्कालभाविनामेकसंहननादिमात्रताख्यापनार्थमस्य सूत्रस्य प्रश्नोत्तरपद्धत्यादिनिर्देशेन न पौनरुत्यमाशङ्कनीयम् । गत एवाग्रवर्तिनि पृष्ठकरण्डकसूत्रे " तीसेणं भंते ! मणुआणमि " त्यत्र " केवइया पिट्ठकरंडगसया पण्णत्ता गोअमा ! " इति प्रश्नसूत्रांशोऽध्याहार्य इति (तेसिणमित्यादि) तेषां पृष्ठकरण्डकशतानि पूर्वोक्तरूपाणि कियन्ति अत्र भगवानाहद्वे षट् पंचाशदधिके स्पृष्ठकरण्डकशते प्रज्ञप्ते इत्यर्थः ।

ते णं भंते ! मणुआ कालमासे कालं किच्चा कहिं गच्छंति कहिं उववज्जंति गोयमा ! छम्मासावसेसाउआ णं जुअलगं पसवंति एगूणपण्णसयराइंदिआइं संरक्खेंति संगोवेंति कासित्ता छीइत्ता जंभाइत्ता अकिलिट्ठा अव्वहिआ अपरिआविआ कालमासे कालं किच्चा देवलोएसु उववज्जंति देवलोए अ परिग्गहा णं ते मणुआ य देवलोए अपरिग्गहा णं ते मणुआ पण्णत्ता ।

ते मनुजाः कालस्य मरणस्य मासो यस्मिन् कालविशेषः अवश्यकालधर्मः तस्मिन् कालं कृत्वा मासस्योपलक्षणत्वात् कालदिवसे इत्याद्यपि द्रष्टव्यं, क्व गच्छन्ति क्वोत्पद्यन्ते इति प्रश्नद्वयेऽपि "देवलोएसु उववज्जंती" त्येकमेवोत्तरं गमनपूर्वकत्वादुत्पादस्योत्पादाभिधानं गमनं सामर्थ्यादवगतमेवोत्पातशय्याया इति । अथ वा गतिर्देशान्तरप्राप्तिरपि भवतीति क्व गच्छन्तीत्येतदेव पर्यायेणाचष्टे उत्पद्यन्ते उत्पत्तिधर्माणो भवन्ति। अत एवोत्तरसूत्रे ' उववज्जती ' त्येवोक्तः स्वाम्याहगौतमेति । षण्मासावशेषायुषः कृतपरभवायुर्बन्धा इति गम्यं युगलकं प्रसुवत इति । एतेनैषामायुस्त्रिभागादौ परभवायुर्बन्धाभावमाह । तच्चैकोनपञ्चाशतं रात्रिन्दिवान्यहोरात्राणि यावत् संरक्षन्ति । उचितोपचारकरणतः पालयन्ति संगोपायन्ति अनाभोगेन हस्तखलकृष्टेभ्यः संरक्ष्य संगोप्य

चकासित्वा कासं विधाय क्षुतं विधाय जृम्भयित्वा जृम्भां विधाय अक्लिष्टाः स्वशरीरोत्थक्लेशवर्जिता अव्यथिता परेणानापालितदुःखा अपरितापिताः स्वतः परतो वा अनुपजातकायमनः परितापाः। एतेन तेषां सुखमरणमाह। कालमासे कालं कृत्वा देवलोकेषु ईशानान्तं सुरलोकेषूत्पद्यन्ते। स्वसभानायुष्कसुरेष्वेव तदुत्पत्तिसंभवात्। अत्र कालमास इति कथनेन तत्कालभाविमनुजानामकालमरणभावमाह। अत्पर्याप्तकान्तर्मुहूर्तकालानन्तरमनपवर्तनीयायुष्कत्वात्। अत्राह कश्चित्। ननु सर्वथा वर्तमानभवायुः कर्मपुद्गलपरिशाटकालस्यैव मरणकालत्वात्। कथमकालमरणमुपपद्यते। यदभावो वर्तमानसमयो निरूप्यते इति चेत्सत्ये द्विधा ह्यायुर्नरतिरश्चामपवर्तनीयमनपवर्तनीयं च। तत्राद्यं बहुकालवेद्यं तत्तथाऽध्यवसायजोगजनितश्लथबन्धनबद्धतयोदीर्णसर्वप्रदेशामतपवर्तनाकरणवशादल्पायुः। कालेन रज्जुदहनन्यायेन क्लिन्नवासो न्यायेन मुष्टिजलन्यायेन वा युगपद्वेद्यते। इतरस्तु गाढबन्धनबद्धतया न प्रवर्तनायोग्यं क्रमेणावेद्यते। तेन बहुषु वर्तमानारकोचितमनप्रवर्तनीयमायुः क्रमेणानुभवत्सु सत्सु यावदेकस्य कस्यचिदायुः परिवर्तते तदा तस्य लोकैरकालमरणमिति व्यपदिश्यते" पढमो अकालमच्चू" इत्यादिवत्। ते चान्यदाऽकालमरणस्यापि संभवान्न तदानीं तन्निषेध इति न दोष इति। अथ कथं तद्देवलोकेषूत्पद्यन्ते इत्याह। यतो देवलोको भवनपत्याद्याश्रयस्तस्य तथाविधकालस्वभावात्। तद्योग्यायुर्बन्धेन परिग्रहोऽङ्गीकारो येषां ते तथा। देवलोकगामिन इत्यर्थः। एषा चैकोनपञ्चाशद्दिन वधिपरिपालने केचिदेवमवस्थामाहुः। " सप्तोत्तानशया लिहन्ति दिवसान्, स्वाङ्गुष्ठमार्यास्ततः कौरिङ्गन्ति *पदैस्ततः कलगिरो यान्ति स्खलद्भिस्ततः। स्थेयोभिश्च ततः कलागणभृतस्तारुण्यभोगोद्धताः, सप्ताहेन ततो भवन्ति सुदृगादानेऽपि* योग्यास्ततः " अत्र व्याख्या आर्याः सप्तदिवसान् जन्मदिवसादि कात्यावत् उत्तानशयाः सन्तः स्वाङ्गुष्ठं लिहन्ति ततो द्वितीयसप्तके पृथिव्यां रिङ्गन्ति ततस्तृतीयसप्तके कलगिरोऽव्यक्तवाचो भवन्ति ततश्चतुर्थसप्तके स्खलद्भिः पदैः यान्ति। ततः षष्ठसप्तके कलागणभूतो भवन्ति। ततः सप्तमसप्तके तारुण्यभोगोद्धताः भवन्ति। केचिच्च सुहगादानेऽपि सम्यक्त्वग्रहणेऽपि योग्या भवन्तीति क्रमः। इदं चावस्थाकालमानं सुषमायामादौ ज्ञेयम् ततः परं किंचिदधिकमपि संभाव्यते इति। अत्र प्रस्तावात् कश्चिदाह। अथ तदाग्निसंस्कारदेरप्रादुर्भूतत्वेन मृतकशरीराणां का मतिरित्युच्यते। भारुण्डप्रभृतिपक्षिणस्तानि तथा जगतस्वाभाव्यात् नीमकाष्ठमिवोत्पाद्य मध्ये समुद्रं क्षिपन्ते। यदुक्तं। श्रीहेमाचार्यकृतऋषभचरित्रे " पुरा हि मृतमिथुनानां, शरीराणि महाखगाः। नीडकाष्ठमिवोत्पद्य, सद्यश्चिक्षिपुरम्बुधौ। १।" किंचात्र श्लोकेअम्बुधावित्युपलक्षणं तेन यथायोगं गङ्गाप्रभृतिनदीष्वपि ते तानि क्षिपन्तीति ज्ञेयम्। ननु चोत्कृष्टतोऽपि धनुःपृथक्त्वमानशरीरैस्तैरुत्कृष्टप्रमाणानि तानि कथं सुवहानि इत्यत्रापि समाधीयते। युग्मिशरीराणामम्बुधिक्षेपस्य महारागकृतत्वेन बहुषु स्थानेषु प्रतिपादनादवशीयते। यत्परं " काधणुहंतमि " त्यत्र सूत्रे जात्यपेक्षया एकवचननिर्देशस्तेन क्वचिद्बहुवचनं व्याख्येयं तथा वसतिपक्षिशरीरमानस्य यथासंभवमरकापेक्षया बहु बहुतरबहुतमधनुःपृथक्त्वरूपस्यापि संभावात्ततः कालवर्तियुग्मिनरहस्तादिशरीरापेक्षया बहुधनुःपृथक्त्वपरिमाणशरीरैस्तैर्न किंचिदपि तानि दुर्वहानीति न काप्यनुपपत्तिः संभाव्यते। तत्त्वं बहुश्रुतगम्यम्। एवं च सूत्रे एकनचननिर्देशेऽपि बहुवचनेन व्याख्यातम्। श्रीमलयगिरिपादैरपि श्रीबृहत्संग्रहणीवृत्तौ देवानामाहारोच्छ्वासान्तकालमानाधिकारे "दसवासहस्साइं, समयाई जाव सागरं ऊणं। दिवसमुहुत्तपुहुत्ता, आहारस्स समासेणं" इत्यस्या गाथाया अर्थकथनावसरे कृतमस्तीति सर्वं सुस्थमिति।

अथ तदा मनुजानामेकत्वमुत नानात्वमिति प्रश्नयन्नाह।

तीसेणं भंते ! समाए भरहे वासे कइविहा मणुस्सा। आणुसज्जित्या गोयमा ! छव्विहा तं जहा पम्हगंधा १ डिअगंधा २ अममा ३ तेअतली ४ सहा ५ सणिचारी ६।

तस्यां समायां भगवान् ! भरते वर्षे कतिविधा जातिभेदे कति प्रकारा मनुष्या अनुषक्तवन्तः तत्कालान्तरमनुवृत्तवन्तः। सन्ततिभावेन भवन्ति स्मेत्यर्थः। भगवानाह-गौतम ! षड्विधारतद्यथा। पद्मगन्धाः १ मृगगन्धाः २ अममाः ३ तेजस्तलिनः ४ सहाः ५ शनैश्चारिणः ६ इमे जातिवाचकाः शब्दाः संज्ञाशब्दत्वेन रूढा। यथा पूर्वमेकाकारापि मनुष्यजातिस्तृतीयारकप्रान्ते श्रीऋषभदेवेन उग्रभोगराजन्यक्षत्रियभेदैश्चतुर्द्धा कृता। तथाऽत्राप्येवं षड्विधा सा स्वभावत एवास्तीति। यद्यपि श्री अभयदेवसूरिपादैः पञ्चमाङ्गषष्ठशतसप्तमोद्देश्यके पद्मसमगन्धयः मृगमदगन्धयः ममकाररहिताः तेजश्च तलं च रूपं येषामस्तीति तेजस्तलिनः सहिष्णवः समर्थाः। शनैर्मन्दमुत्सुकत्वाभावाच्चरन्तीत्येवं शीला इत्यन्वर्थता व्याख्यातास्ति। तथापि तथाविधसंप्रदायाभावात् असाधारणव्यञ्जकाभावे नैतेषां जातिप्रकाराणां दुर्बोधत्वं जीवाभिगमवृत्तौ च सामान्यतो जातिवाचकतया व्याख्यानदर्शनाच्च न विशेषतो *व्यक्तिकृतेति प्रथमारकः।*

(८) अथ द्वितीयारकव्याख्या।

तीसे णं समाए चउहिं सागरोवमकोडाकोडीहिं काले वीइक्कंते अणंतेहिं चण्णपज्जवेहिं अणंतेहिं गंधपज्जवेहिं अणंतेहिं रसपज्जवेहिं अणंतेहिं फासपज्जवेहिं अणंतेहिं संघयणपज्जवेहिं अणंतेहिं संठाणपज्जवेहिं अणंतेहिं उच्चत्तपज्जवेहिं अणंतेहिं आयुपज्जवेहिं अणंतेहिं गुरुलहुपज्जवेहिं अणंतेहिं अगुरुलहुपज्जवेहिं अणंतेहिं उट्ठाणकम्मबलवीरिअपुरिसक्कारपज्जवेहिं अणंतेहिं गुणपरिहा णीए परिहायमाणे परिहायमाणे। एत्थ णं सुसमसुसमाणामं समा काले पडिवज्जिंसु समणाउसो !।

तस्यां सुषमसुषमानाम्न्यां समायां चतसृषु सागरोपमकोटाकोटीषु काले व्यतिक्रान्ते सति सूत्रे च तृतीयानिर्देशः आर्षत्वात्। अथवा चतसृभिः सागरोपमकोटाकोटीभिः कालमिते गमिते वा एतेनेत्यादि शब्दाध्याहारेण योजना कार्या। अत्र च पक्षे करणे तृतीया ज्ञेया। अत्रान्तरे सुषमानाम्ना समाकालः प्रतिपन्नवान् लगति स्मेति वाक्यान्तरसूत्रयोजना सुषमाद्योत्सर्पिण्यामपि भवेदित्याह। अनन्तगुणपरिहायमाणं अनन्तगुणपरिहायमाणं हानिमुपगच्छन् हानिमुपगच्छन् सूत्रे च द्विर्वचनमनुसमयं हानिरिति हानेः पौनःपुन्यज्ञापनार्थम्। अथ कालस्य नित्यद्रव्यत्वेन हानिरुपपद्यते। अन्यथाऽहोरात्रं सर्वदा त्रिंशन्मुहूर्तात्मकमेव न स्यादित्यत आह। अनन्तैर्वर्णपर्यायैरित्यादिवर्णाः श्वेतपीतरक्तनीलकृष्णभेदात् पञ्च। कपिशादयस्तु तत्संयोगजास्ततः। श्वेतादेरन्यतमवर्णस्य पर्ययबुद्धिकृता निर्विभागाभागा एकगुणाश्च तत्वादयः। सकलजीवराशेरनन्तगुणाधिकास्तैरनन्ता ये गुणा अनन्तरोक्तस्वरूपाभागास्तेषां

परिहानिरपचयस्तया प्रकारभूतया इत्यर्थः। हीयमानः हीयमानः सुषमा कालविशेष इति योज्यम्। एवमग्रेऽपि योजना कार्या। अथ यथैषामनन्तत्वमनुसमयमनन्तगुणहानिश्च तथा दर्श्यते। "तीसे णं समाए उत्तमकट्ठपत्ताए" इति प्रागुक्तबलात्। प्रथमसमये कल्पद्रुमपुष्पफलादिगतो यः श्वेतो वर्णः स उत्कृष्टः तस्य केवलिप्रज्ञप्ता छिद्यमाना यदि निर्विभागा भागाः क्रियन्ते तर्हि अनन्ता भवन्ति तेषां मध्यादनन्तभागात्मक एको राशिः प्रथमारकद्वितीयसमये वर्त्तयति एवं तृतीयादिसमयेष्वपि वाच्यम्। यावत्प्रथमारकान्तसमयः। एषैव रीतिरवसर्पिणीचरमसमयं यावत् ज्ञेया। अत एवानन्तगुणपरिहाणीत्यत्र अनन्तगुणानां परिहाणिरिति षष्ठीतत्पुरुष एव विधेयो न तु अनन्तगुणा चासौ परिहाणिश्चेति कर्मधारयः। गुणशब्दैश्च भागपर्यायवचनोऽनुप्रयोगद्वारवृत्तिकृता एक गुणकालकपर्यवविचारे सुस्पष्टमाख्यातः आह। एवं सति श्वेतवर्णस्यासन्न एव सर्वथोच्छेदस्तथा च सति श्वेतवस्तुनोऽश्वेतत्वप्रसङ्ग। एतच्च जातिपुष्पादिषु प्रत्यक्षविरुद्धम्। उच्यते। आगमेऽनन्तकस्यानन्तभेदत्वात्। हीयमानभागानामनन्तकमल्यं ततो मौलराशेः भागानन्तकं बृहत्तरमवगन्तव्यम्। यदि नाम सिद्धस्यापि भव्येषु लोकेषु न तेषामनन्तकालतोऽपि निर्लेपता आगमेऽभिहिता किं पुनः सर्वजीवेभ्योऽनन्तगुणानामुत्कृष्टवर्णगतभागानां न च ते संख्याता एव सिद्ध्यन्ति इमे तु प्रतिसमयेऽनन्ता हीयन्ते इति महदृष्टान्तवैषम्यमिति वाच्यं यतस्तत्र यथा सिध्यतां भव्यानां संख्याकानां तथा सिद्धेः कालोऽनन्तः। एवमन्यत्रापि यथा प्रतिसमयमनन्तानामेषां हीयमानता। तथा हानिकालोऽवसर्पिणी- प्रमाण एव ततः परमुत्सर्पिणीप्रथमसमयादौ तान्येव क्रमेण वर्द्धन्ते इति सर्वं सम्यगेव। पीतादिषु गन्धरसस्पर्शेषु च यथासंभवमागमाविरो धेन भावनीयं, तथा अनन्तैः संहननपर्यवैरिति संहननानि अस्थिनिचयरचनाविशेषरूपाणि। वज्रऋषभनाराचऋषभनाराचनाराचार्द्धनाराचकीलिकासैवार्तभेदात् षट्। प्रस्तुते चारके आद्यमेव ग्राह्यम्। ऋषभनाराचादीनामभावात्। अन्यत्र यथासंभवं तानि ग्राह्याणि तत्पर्यवा अपि तथैव हापयनीयाः। संहननैश्च शरीरे दार्ढ्यमुपजायते। तच्च सर्वोत्कृष्टं सुषमसुषमाद्यसमये ततः परमनन्तैः पर्यवैः समये समये हीयते इति। तथा संस्थानानि आकृतिरूपाणि। समचतुरस्रन्यग्रोधसादिकुब्जकवामनहुण्डभेदात्षोढा। तच्च तत्र प्रथमं प्रथमे समये सर्वोत्कृष्टं ततः परं तथैव हीयते। इति तथोच्चत्वं शरीरोत्सेधस्तच्च तत्र प्रथमे समये त्रिगव्यूतप्रमाणमुत्कृष्टं ततः परं तत्प्रमाणतारतम्यरूपाः पर्यवाः अनन्ताः समये समये हीयन्ते। ननु उच्चत्वं हि शरीरस्य स्वावगाढमूलक्षेत्रादुपरितनोपरितननभःप्रदेशावगाहित्वं तत्पर्यवाश्च एकद्वित्रिप्रतरावगाहित्वान्तादयोऽसंख्याता एवमवगाहसंख्या तत्प्रदेशात्मकत्वात्। तर्हि कथमेषामनन्तत्वं कथं चानन्तभागपरिहाण्या हीयन्ते इति चेदुच्यते। प्रथमारके प्रथमसमयोत्पन्नमुत्कृष्टं शरीरोच्चत्वं भवति। ततो द्वितीयादिसमयोत्पन्नानां यावतामेकनभःप्रतरावगाहि च लक्षणपर्यवाणां हानिस्तावत्पुद्गलानन्तकं हीयमानं द्रष्टव्यम्। आधारहीनाबाधेयहानेरावश्यकत्वादिति। तेनोच्चपर्यवाणामप्यनन्तत्वं सिद्धम नभःप्रतरावगाहस्य पुद्गलोपचयसाध्यत्वात्। तथा आयुर्जीवितं तदापि। तत्र प्रथमसमये त्रिपल्योपमप्रमाणमुत्कृष्टं तदनन्तरं तत्पर्यवा अपि अनन्ताः प्रतिसमयं हीयन्ते। ननु पर्यवा एकसमयोना द्वितीयोना यावदसंख्यातसमया उत्कृष्टा स्थितिरिति स्थितिः स्थानतारतम्यरूपा असंख्याता एव आयुःस्थितेरसंख्याते समयात्मकत्वात् तर्हि कथं सूत्रेऽनन्तैरायुःपर्यवैरित्युक्तम्। उच्यते प्रतिसमयं हीयमानस्थितिस्थानकारणीभूतानि अनन्तानि आयुःकर्मदलिकानि परिहीयन्ते। ततः कारणहानौ कार्यहानेरावश्यकत्वात् तानि च भवस्थितिकारणत्वादायुःपर्यवा एव। अतस्ते अनन्ता इति। यथा अनन्तैर्गुरुलघुपर्यवैरिति गुरुलघुद्रव्याणि बादरस्कन्धद्रव्याणि। औदारिकवैक्रियाहारकतैजसरूपाणि तत्पर्यवास्तत्र प्रकृते वैक्रियाहारकयोरनुपयोगस्तेनौदारिकशरीरमाश्रित्योत्कृष्टवर्णादयस्तत्राद्यसमये बोध्याः। ततः परं तथैव हीयन्ते तैजसमाश्रित्य कपोतपरिणामकजाठराग्निरूत्कृष्टस्तत्रादिसमये तदनन्तरं मन्दमन्दतरादिवीर्यकत्वात् रूप इति। तथा अनन्तैरगुरुलघुपर्यवैरिति। अगुरुलघुद्रव्याणि सूक्ष्मद्रव्याणि प्रस्तुते च पौद्गलिकानि मन्तव्यानि। अन्यथा पौद्गलिकानां धर्मास्तिकायादीनामपि पर्यवहानिप्रसङ्ग। तानि च कार्मणमनोभावादिद्रव्याणि। तेषां पर्यवैरनन्तैस्तत्र कार्मण्यस्य सातवेदनीयशुभनिर्माणसुस्वरसौभाग्यादेयादिरूपस्य बहु स्थितिमनुगृह्य प्रदेशकत्वेन मनोद्रव्यस्य बहुग्रहणासंदिग्धग्रहणं झटिति ग्रहणबहुधारणादिमत्तया भाषाद्रव्यसोदात्तत्वं गम्भीरोपनीतरागत्वेप्रतिनादविधायितादिरूपतया च तत्रापि समये उत्कृष्टता। ततः परं क्रमेणानन्ताः पर्यवा हीयन्ते। अनन्तैरूत्थानदिपर्यवैः तत्रोत्थानमूर्ध्वभवनं कर्मोत्क्षेपणादि गमनादि वा बलं शारीरं प्राणाः। वीर्यं जीवोत्साहः। पुरुषकारः पौरुषाभिमानः पराक्रमश्च स एव साधिताभिमतप्रयोजनः। अथवा पुरुषकारः पुरुषक्रिया सा च प्रिया स्त्री क्रियते प्रकर्षवतीति तत्स्वभावत्वादिति विशेषेण तद्ग्रहणं पराक्रमस्तु शत्रुवित्रासनं तत एते प्राक्तनसमये उत्कृष्टास्ततः परं प्रतिपाद्याः तथैव हीयन्ते। तथा " संघयणं संठाणं, उच्चत्तं आउअं च मणुआणं। अणुसयं परिहायइ, ओस्सप्पिणी कालदोसेणं॥ १॥ कोहमयमायलोभा, उसभं वड्ढए अ मणुआणं। कूडतुलकूडमाणं, तेणाणुमाणेण सव्वं पि॥ २॥ विससा अज्जतुला उ, विसमाणि अ जणवएसु माणाणं। विसमाए य कुलाइं, तेण उ विसमाइं वासाइं॥ ३॥ विसमेसु अ वासेसु, होंतिअ साराइं ओसहिवलाइं। ओसहिदुव्वल्ले ण य, आउं परिहायइ णराणं"॥ ४॥ इति तण्डुलवैकारिके अवसर्पिणीकालदोषेण हानिरुक्ता। सा बाहुल्येन दुःषमामाश्रित्य शेषारकेषु तु यथासंभव ज्ञेयेति। ननु निर्द्रव्यस्यापिकालस्य कथं हानिरिति परकृतासंभवाशङ्कानिवारणार्थं वर्णादिपर्यवाणां हानिरूक्ता ते च पुद्गलधर्मास्तर्हि अन्यधर्म हीयमाने विवक्षितः कालः कथं हीयत इति महदसंगतं तथा सति वृद्धया वयोहानौ युवत्या अपि वयोहानिप्रसङ्ग इति चेन्न कालस्य कार्यवस्तुमात्रे कारणत्वाङ्गीकरात् कार्यगता धर्माः कारण उपचर्यन्ते कारणत्वसंबन्धादिति।

अथ प्रस्तुतारकस्य रूपप्रश्नायाह।

जंबुद्दीपे णं भंते! दीवे इमीसे ओसप्पिणीए सुसमाए उत्तमकट्ठपत्ताए भरहस्स वासस्स केरिसए आयारभावपडोयारे होत्था गोयमा? बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे होत्था। से जहाणामए आलिंगपुक्खरेइ वा तं चेव जं सुसमसुसमाए पुव्ववण्णिअं णवरं णाणत्तं चउधणुसहस्सभूसिआ एगे अट्ठावासे पिट्ठकरंडुगसए छट्ठभत्तस्स आहारट्ठे चउसट्ठिं राइंदिआइं संरक्खंति दो पलिओवमाइं आउसेसं तं चे

प्रायः सूत्रं गतार्थमेव नवरं केवलं नानात्वं भेदः स चायं चतुर्धनुःसहस्रोच्छ्रिताः क्रोशद्वयोच्चास्ते मनुजाः इति योगः मकारोऽलाक्षणिकः अष्टाविंशत्यधिकमेकं पृष्ठकरण्डुकशतं प्रथमाकरोक्तपृष्ठकरण्डुकानामर्द्धमिति यावत् तेषां मनुजानामिति योगः षष्ठभक्तेऽतिक्रान्ते आहारार्थः समुत्पद्यते इति योगसूत्रे सप्तम्यर्थे षष्ठी सूत्रत्वात् चतुःषष्टिं रात्रिन्दिवानि यावत् संरक्षन्ति । अपत्यानि ते मनुजा इति योगः तत्र सप्तावस्थाक्रमः पूर्वोक्त एव नवरमेकैकस्या अथाऽवस्थायाः कालमानं नव दिनानि अष्टौ घट्यश्चतुस्त्रिंशत्पलानि । सप्तदश चाक्षराणि किंचिदधिकानीति चतुःषष्टौ सप्तभिर्भाग एतावत एव लाभात् । यच्च पूर्वेभ्योऽधिकोऽपत्यसंरक्षणकालस्य हीयमानत्वेनोच्छ्रादीनां हीयमानत्वादभूयसाऽनेहसा व्यक्तताभवनादिति एवमग्रेऽपि ज्ञेयम् द्वे पल्योपमे आयुः तेषां मनुजानामिति योगः एवमन्यत्रापि यथासंभवमध्याहारेण सूत्राक्षरयोजना कार्या । अन्यत्सर्वं सुषमसुषमोक्तमेवेति । अत्रापि यथोक्तमायुःशरीरोच्छ्रायादिकं सुषमायामादौ ज्ञेयं ततः परं क्रमेण हीयमानमिति ।

अथात्र भगवान् स्वयमेवापृष्टानपि मनुष्यभेदानाह ।

तीसे णं समाए चउव्विहा मणुस्सा अणुसंजिंत्था तं जहा एका १ पउरजंघा २ कुसुमा ३ सुसमणा ४ ।

अत्रान्वययोजना प्राग्वत् । एकाः १ प्रचुरजङ्घा २ कुसुमाः ३ सुशमनाः ४ एतेऽपि प्राग्वज्जातिशब्दा ज्ञेयाः । अन्वर्थता चैवम् । एकाः श्रेष्ठाः संज्ञाशब्दात्वान्न सर्वादित्वं । प्रचुरं जङ्घाः पुष्टजङ्घा न तु काकजङ्घा इति भावः । कुसुमसदृशत्वात् सौकुमार्यादिगुणयोगेन कुसुमाः पुंस्यपि कुसुमशब्दः । सुष्ठुतिशयेन शमनं शान्तेर्भावो येषां ते तथा प्रचुरतनुकषायत्वात् । अत्र पूर्वोक्तषट्प्रकारमनुष्याणां भावादेतेऽन्ये जातिभेदाः गतो द्वितीयारकः ।

(६) अथ तृतीयारकव्याख्या ।

तीसे णं समाए तिहिं सागरोवमकोडाकोडीहिं काले वीइक्कंते अणंतेहिं वण्णपज्जवेहिं जाव अणंतगुणपरिहाणीए परिहायमाणी परिहायमाणी एत्थ णं सुसमदुस्समाणामं समा कालेपमिवज्जिंसु समणाउसो ! ।

व्याख्या पूर्ववत् । नवरं परिहायमाणी इत्यत्र स्त्रीलिङ्गनिर्देशः समाविशेषणार्थस्तेन समाकाले इतिपदद्वयं पृथक् मन्तव्यम् । अयमेवाशयः सूत्रकृता " साणंसमे " त्युत्तरसूत्रं प्रादुश्चके इति । अथास्या एव विभागप्रदर्शनार्थमाह ।

सा णं समा तिहा विभज्जइ तं पढमे तिभाए १ मज्झिमे तिभाए २ पच्छिमे तिभाए ३ ।

सा सुषमदुष्षमानाम्नी समा तृतीयारकलक्षणा त्रिधा विभज्यते त्रिभागीक्रियते । तद्यथा प्रथमतृतीये भागे मयूरव्यंसकादित्वात् पूरणप्रत्ययलोपः । एवमग्रेऽपि अयं भावः द्वयोः सागरोपमकोटाकोट्योः त्रिभिर्भागे यदागतं तदेकैकस्य भागप्रमाणं तच्चेदं षट्षष्टिः कोटीलक्षाणां षट्षष्टिः कोटीसहस्राणां षट्कं कोटिः शतानि षट्षष्टिः कोटीनां षट्षष्टिः लक्षाणां षट् षष्टिः सहस्राणां षट्कंशतानां षट्षष्टिश्च सागरोपमाणां द्वौ च सागरोपमत्रिभागौ स्थापना चेयम् । ६६६६६६६६६६६६६२ इति ।

अथाद्यभागयोः स्वरूपप्रश्नायाह-

जंबुद्दीवे णं भंते ! दीवे इमीसे ओसप्पिणीए सुसमदुस्समाए समाए पढममज्झिमेसु तिभाएसु भरहस्स वासस्स केरिसए आयारभावपडोआरे पुच्छा, गोअमा ! बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे होत्था सो चेव गमो णेअव्वो णाणत्तं दो धणुसहस्साइं । उड्ढं उच्चत्तेणं तेसिं णं च मणुआणं चउसट्ठिपिट्ठकरंडुगा चउत्थभत्तस्स आहारत्थे समुप्पज्जइ ठिई पलिओवमएगूणा–सीइराइंदिआइं संरक्खंति संगोवेतिं जाव देवलोगपरिग्गहिआणं ते मणुआ पण्णत्ता समणाउसो ! ।

"जंबुद्दीवेणमित्यादि" सर्वं गतार्थं नानात्वमित्ययं विशेषः । द्वे धनुःसहस्रे ऊर्ध्वोच्चत्वेन क्रोशोच्चा इत्यर्थः । तेषां च मनुष्याणां चतुःषष्टिपृष्ठकरण्डुकानि अष्टाविंत्यधिकशतस्यार्धीकरणे एतावत एव लाभात् । चतुर्थभक्तेऽतिक्रान्ते आहारार्थः । समुत्पद्यते । एकदिनान्तरित आहार इत्यर्थः । स्थितिः पल्योपमैकोनाशीतिरात्रिंदिवानि संरक्षन्ति संगोपायन्ति अपत्ययुगलकमित्यर्थः । तत्रावस्थाक्रमः तथैव नवरमेकैकस्या अवस्थायाः कालमानमेकादश दिनानि सप्तदशघट्यः अष्टौ पलानि । चतुस्त्रिंशच्चाक्षराणि किंचिदधिकानि । एकोनाशीतेः सप्तभिर्भागे एतावत एव लाभात् । अस्यां च भिन्नजातिमनुष्याणामणुष्यंजना नास्ति तदा तेषामसंभवादिति संभाव्यते । तत्वं तु तत्वविद्वेद्यम् । यत्तु " उग्गामोगारायन्नखत्तिअ संगहो भवे चउहा " इत्युक्तम् । तदरकान्त्यभागभावित्वेन नेहाधिक्रियते । न त्वस्याः समायाः त्रिधा विभजनं किमर्थमुच्यते । यथा प्रथमारकादौ त्रिपल्योपमायुषस्त्रिगव्यूतोच्छ्रयास्त्रिदिनान्तरितभोजना एकोनपञ्चाशद्दिनानि कृतापत्यसंरक्षणास्ततः क्रमेण कालपरिहाण्या द्वितीयारकादौ द्विपल्योपमायुषः द्विगव्यूतोच्छ्रया द्विदिनान्तरितभोजनाश्चतुःषष्टिदिनानि कृतापत्यसंरक्षणास्ततोऽपि तथैवं परिहाण्या तृतीयाकारदौ एकपल्योपमायुष एकगव्यूतोच्छ्राया एकदिनान्तरितभोजना अशीतिदिनानि कृतापत्यसंरक्षणास्तदनन्तरमपि त्रिधा विभज्य तृतीयारकप्रथमत्रिभागद्वयं यावत् तथैव नियतपरिहाण्या हीयमानयुग्मिमनुजा अभूवन्नन्तिमत्रिभागेषु सा परिहाणिरनियता जातेति सूचनार्थं त्रिभागकरणं सार्थकमिति संभाव्यते । अन्यथागमसंप्रदायत्रिभागकरणे हेतुरवगन्तव्य इति ।

अथ तृतीयारकस्वरूपप्रश्नायाह ।

तीसे णं भंते ! समाए पच्छिमे तिभागे भरहस्स वासस्स केरिसए आयारभावपडोयारे य होत्था गोयमा ! बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे होत्था से जहाणामए आलिंगपुक्खरेइ वा जाव मणीहिं उवसोभिए तं जहा कित्तिमेहिं चेव अकत्तिमेहिं चेव ।

(तीसेणमित्यादि) यदेव दक्षिणार्धभरतस्वरूपप्रतिपादनाधिकारे व्याख्यातं तदत्र सूत्रे निरवशेषं ग्राह्यं नवरमत्र कृष्यादिकर्माणि प्रवृत्तानीति कृत्तिमैस्तृणैरकृत्तिमैर्मणिभिरित्युक्तम् ।

अथात्रैव मनुजानां स्वरूपं पृच्छन्नाह-

तीसे णं भंते ! समाए पच्छिमे तिभागे भरहे वासे मणुआणं केरिसए आयारभावपडोआरे होत्था गोयमा ! तेसि णं मणुआणं छव्विहे संघयणे छव्विहे संठाणे बहूणि धणुसयाणि उड्ढं उच्चत्तेणं जहण्णेणं संखिज्जाणि वासाणि उक्कोसेणं असंखिज्जाणि वासाणिं आउअं पालेंति पा–

लेंतित्ता अप्पेगइया णिरयगामी अप्पेगइया तिरिअगामी अप्पेगइया मणुस्सगामी अप्पेगइया देवगामी अप्पेगइया सिज्झंति जाव सव्वदुक्खाणमंतं करेंति।

व्याख्या प्राग्वदनुसरणीया।

अथ यथास्मिन् जगद्व्यवस्थाऽभूत्तदाह।

तीसे णं समाए पच्छिमे तिभाए पलिओवमट्ठभागावसेए एत्थ णं इमे पण्णरसकुलगरा समुप्पज्जित्था। तं जहा सुमई १ पडिस्सुई २ सीमंकरे ३ सीमंधरे ४ खेमंकरे ५ खेमंधरे ६ विमलवाहणे ७ चक्खुम ८ जसस्समं ९ अभिचंदे १० चंदाभे ११ पासेणइ १२ मरूदेवे १३ णाभी १४ उसमे १५ त्ति। (कुलकराणां सव्याख्यानं वर्णनं कुलगर शब्दे करिष्यामि)

(ऋषभचरित्रम् उसह शब्दे उक्तम्)

(१०) अथ चतुर्थारिकस्वरूपं निरूप्यते।

तीसे णं समाए दोहिं सागरोवमकोडाकोडीहिं काले वीइक्कंते अणंतेहिं वण्णपज्जवेहिं तहेव जाव अणंतेहिं उट्ठाणकम्मबल-वीरिया जाव परिहीयमाणे परिहीयमाणे एत्थ णं दुस्समसुसमा-णामं समा कालो पडिवज्जिंसु समणाउसो!।

तस्यामनन्तरव्यावर्णितायां समायां द्वाभ्यां सागरोपमकोटाकोटीभ्यां द्वेसागरोपमकोटाकोटी इत्येवं प्रकारेण काले व्यतिक्रान्ते अनन्तैर्वर्णपर्य-वैस्तथैव द्वितीयारकप्रतिपत्तिक्रमवत् ज्ञेयम्। यावदनन्तैरुत्थानबलवी-र्यपुरूषाकारपराक्रमैरनन्तगुणपरिहाण्या हीयमानोऽतिक्रान्तो दुष्षमसु-ष्मानाम्ना समा कालःप्रत्यद्यत। हे श्रमण! हे आयुष्मन्! अथ पूर्वारक-वद्भतस्वरूपं प्रष्टुमाह-

अथ तत्र मनुष्यस्वरूपप्रश्नमाह।

तीसे णं भंते! समाए भरहस्स वासस्स केरिसए आयारभा-वपडोआरे पण्णत्ते? गोअमा! बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते। से जहाणामए आलिंगपुक्खरेइ वा जाव मणीहिं उवसोभिए तं जहा कत्तिमेहिं चेव अकत्तिमेहिं चेव तीसेणं भंते! समाए भरहे मणुआणं केरिसए आगारभावपडोयारे पण्णत्ते? गोअमा! तेसिं मणुआणं छव्विहे संघयणे छव्विहे संठाणे बहूहिं धणूहिं उड्ढं उच्चत्तेणं जहण्णेणं अंतो मुहुत्तं उक्कोसेणं पुव्वकोडि आउअं पालें ति पालेंतित्ता अप्पेगइआ णिरयगामी जाव देवगामी अप्पेगइआ सिज्झंति जाव सव्वदुक्खाणमंतं करेंति। तीसेणं समाए तउवंसा समुप्पज्जित्था तं जहा अरहंतवंसे चक्कवट्टिवंसे दसारवंसे तीसेणं समाए तेवीसं तित्थयरा एक्कारस चक्कवट्टी णव बलदेवा णव वासुदेवा समुप्पज्जित्था।

इदं च सूत्रद्वयमपि प्रायः पूर्वसूत्रसदृशं गमैकत्वात् सुगमम्। नवरं जघन्येनान्तर्मुहूर्तमायुस्तत्कालीनमनुष्या उत्कृष्टं पूर्वकोटिमायुः पालयन्ति च पञ्चस्वपि गतिष्वतिथौ भवति। अथ पूर्वसमातो विशेषमाह (तीसेणमित्यादि) तस्यां समायां ये वंशा एव वंशाः प्रवाहा आवलिका इत्येकार्थाः। ननु सन्तानरूपाः परम्परा परस्परं पितृपुत्रपौत्रप्रपौत्रादिव्य-वहारामावात् समुत्पद्यन्ते। तद्यथा अर्हद्वंशः चक्रवर्तिवंशः। दशार्हाणां बलदेववासुदेवानां वंशःयदत्र दशार्हशब्देन द्वयोः कथनं तदुत्तरसूत्र-बलादेव। अन्यथा दशार्हनशब्देन वासुदेवा एव प्रतिपाद्या भवन्ति। "अह पंच दसाराणमिति" वचनात्। यत्तु प्रतिवासुदेववंशो नोक्तस्तत्र प्रायोऽ-ङ्गानुयायीन्युपाङ्गानीतिस्थानाङ्गे वंशत्रयस्यैव प्ररूपणात्। येन हेतुना तत्रैवं निर्देशस्तत्रायं वृद्धभावः। प्रतिवासुदेवानां वासुदेववध्यत्वेन पुरूषोत्तमत्वाविवक्षणात्। एवमेवार्थं व्यनक्ति। तस्यां समायां त्रयोविंश-तिस्तीर्थकराः एकादश चक्रवर्तिनः। ऋषभभरतयोस्तृतीयारके भवनात् नव बलदेवाः नव वासुदेवाः ज्येष्ठबन्धुत्वात् प्रथमं बलदेवग्रहणमुपलक्ष-णात्प्रतिवासुदेववंशोऽपि ग्राह्यः समुत्पद्यन्तश्च गतश्चतुर्थारकः।

(११) अथ पञ्चमारकः।

तीसे णं समाए एक्काए सागरोवमकोडाकोडीए वायालीसाए वाससहस्सेहिं ऊणिआए काले वीइक्कंते अणंतेहिं वण्णपज्जवेहिं तहेव जाव परिहाणीए परिहीयमाणे परिहीयमाणे एत्थ णं दुस्स-माणामं समा काले पडिवज्जिस्सइ समणाउसो!।

तस्यां समायामेकया सागरोपमकोटाकोट्या द्विचत्वारिंशद्वर्षसहस्रै-रूनतयोन्नीभूतया अनयैव प्रत्येकमेकविंशतिसहस्रवर्षप्रमाणयोः पञ्चमषष्ठारकयोः पूरणात् काले व्यतिक्रान्तेः अनन्तैर्वर्णादिपर्यवैस्तथैव यावत्परिहाण्या परिहीयमाणः परिहीयमाणः अत्र समये दुष्षमानाम्ना समा कालः प्रतिपत्स्यते। वक्तुरपेक्षया भविष्यत्कालप्रयोगः।

अथाऽत्र भरतस्य स्वरूपं पृच्छन्नाह-

तीसे णं भंते! समाए भरहस्स वासस्स केरिसए आगारभा-वपडोआरे भविस्सइ गोअमा! बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे भविस्सइ। से जहाणामए आलिंगपुक्खरेइ वा मुइंगपुक्खरेइ वा जाव णाणामणिपंचवण्णेहिं कत्तिमेहिं चेव अकत्तिमेहिं चेव।

(तीसेणमित्यादि) सर्वं प्राग्व्याख्यातार्थं नवरं भविष्यतीति प्रयोगः पृच्छकापेक्षया अत्र भूमौ बहुसमरमणीयत्वादिकं चतुर्थारकतो हीयमानं हीयमानं नितरां ज्ञातव्यम्। ननु स्थाणुबहुले कण्टकबहुले विसमबहुले इत्यादिनाऽधस्तनसूत्रेण लोकप्रसिद्धेन च विरुध्यते। मैवमतिचारितच-तुरश्रिन्तयेः यतोऽत्र बहुलशब्देन स्थाण्वादिबाहुल्यं सूचितम्। न च षष्ठारक इवैकान्तिकत्वं तेन च क्वचिद्गङ्गातटादौ आरामादौ वैताढ्यगिरिकुञ्जादौ वा बहुसमरणीयत्वादिकमुपलभ्यत एवेति न विरोधः।

अथ तत्र मनुजरूपं प्रष्टुकाम आह-

तीसे णं भंते! समाए भरहे वासे मणुआणं केरिसए आयार-भावपडोयारे पण्णत्ते? गोअमा! तेसिं मणुआणं छव्विहे संघयणे छव्विहे संठाणे बहुईओ रयणीओ उड्ढं उच्चतेणं। जहण्णेणं अंतो मुहुत्तं उक्कोसेणं साइरेगं वाससयं आउअं पालें ति पालेंतित्ता अप्पेगइआ णिरयगामी जाव सव्वदुक्खाणमंतं करेंति।

(तीसेणमित्यादि) पूर्वं व्याख्यातार्थमेतत्। नवरं बाह्यरत्नयो हस्ताः सप्तहस्तोच्छ्रयत्वात्तेषां यद्यपि नाभकोशे बद्धमुष्टिको ह-

स्तो रविरुक्तस्तथापि समपरिभाषया पूर्ण इति ते मनुजा जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तं उत्कर्षेण सातिरेकं त्रिंशदधिकं वर्षशतमायुः पालयन्ति। अप्येका नैरयिकगतिगामिनः यावत् सर्वदुःखानामन्तं कुर्वन्ति। अत्र चान्तक्रिया चतुर्थारकजातपुरुषजातमपेक्ष्य तस्यैवं पञ्चसमये सिद्ध्यमानत्वाज्जम्बूस्वामिन इव न च संहरणं प्रतीत्येदं भावनीयम्। तथा च सति प्रथमषष्ठारकादावपि एतत् सूत्रपाठ उपलभ्यत एवेति आह। अत्र पालयन्ति अन्तं कुर्वन्तीत्यादौ भविष्यत्कालप्रयोगे कथं वर्तमाननिर्देशः। उच्यते सर्वासु अवसर्पिणीषु पञ्चमसमासु इदमेव स्वरूपमिति नित्यप्रवृत्तवर्तमानलक्षणप्रयोगः। यथा द्वे सागरोपमे शत्रो राज्यं कुरुते इत्यादौ तर्हि दुष्षमा समा कालः प्रतिपत्स्यते इत्यादि प्रयोगः कथमिति चेदुच्यते। प्रज्ञापकपुरुषापेक्षयैतत्प्रयोगस्यापि साधुत्वात्।

पुनरपि तस्यां किं किं वृत्तमित्याह।

तीसे णं समाए पच्छिमे तिभागे गणधम्मे पाखंडधम्मे रायधम्मे जायतेए अ धम्मचरणे अ वोच्छिज्जिस्सइ।

तस्या दुष्षमानाम्न्याः समायाः पश्चिमे त्रिभागे वर्षसहस्रसप्तकप्रमाणे अतिक्रामति सति न तु अवशिष्टे तथा सति एक विंशतिसहस्रवर्षप्रमाणश्रीवीरतीर्थस्याव्युच्छित्तिकालस्यापूर्तेः गणः समुदायो निजजातिरिति यावत्। तस्य धर्मः स्वस्वप्रवर्तितो व्यवहारो विवाहादिकः। पाखण्डाः शाक्यादयस्तेषां धर्मः प्रतीत एव। राजधर्मो निग्रहानुग्रहादिः। जाततेजा अग्निसहितोऽतिस्निग्धे सुषमसुषमादौ, नातिरूक्षे दुष्षमदुष्षमादौ चोत्पद्यत् इति चकारादग्निहेतुको व्यवहारो रन्धनादिरपि चरणधर्मश्चारित्रधर्मः। चशब्दादच्छव्यवहारश्च। अत्र धर्मपदव्यत्ययः। प्राकृतत्वात्। विच्छेत्स्यति विच्छेदं प्राप्स्यति सम्यक्त्वधर्मस्तु केषांचित्संभवत्यपि विलवासिनां हि अतिक्लिष्टत्वेन चारित्रभावः अत एवाह। प्रज्ञप्तौ "उसण्णं धम्मसन्नप्पभट्ठा" इति उसन्नमिति प्रायो ग्रहणात्। क्वचित् सम्यक्त्वं प्राप्यतेऽपीति भावः गतः पञ्चमोऽरकः।

(१२) अथ षष्ठारकः उपक्रम्यते।

तीसे णं समाए एक्कवीसाए वाससहस्सेहिं काले वीइक्कंते अणंतेहिं वण्णपज्जवेहिं गंधरसफासपज्जवेहिं जाव परिहीयमाणे परिहीयमाणे एत्थ णं दूसमदूसमाणामं समा काले पडिवज्जिस्सइ समणाउसो!।

तस्यां समायामेकविंशत्या वर्षसहस्रैः प्रमिते काले व्यतिक्रान्ते अनन्तैर्वर्णपर्यवैरेव गन्धरसस्पर्शपर्यवैर्यावत् परिहीयमाणः परिहीयमाणः दुष्षमदुष्षमानाम्ना समा कालः प्रतिपत्स्यते। हे श्रमण! हे आयुष्मान्!

अथ तत्र भरतस्वरूपप्रश्नायाह।

तीसे णं भंते! समाए उत्तमकट्ठपत्ताए भरहस्स केरिसए आयारभावपडोआरे भविस्सइ। गोअमा! काले भविस्सइ हाहाभूए भंभाभूए कोलाहलभूए समाणुभावेणं य खरफरूसधूलिमइला दुव्विसहा वाउला भयंकरा य वाया संवट्टगा य वोहित्ति इह अभिक्खणं धूमाहिंति अ दिसा समंता रअस्सला रेणुकलुसतमपडलणिरालोआ समयरूक्खयाए णं अहिअं चंदा सीअं मोच्छिहिंति अहिअं सूरिआ तविस्संति।

तस्यां समायामुत्तमकाष्ठाप्राप्तायामुत्तमावस्थागतायामित्यर्थः परमकाष्ठाप्राप्तायां वा भरतस्य कीदृशः क आकारभावस्याकृतिलक्षण-पर्यायस्य प्रत्यवतारोऽवतरणम् आकारभावः प्रत्यवतारः प्रज्ञप्तः। भगवानाह। गौतमेत्यामन्त्र्य वक्ष्यमाणविशिष्टः कालो भविष्यति कीदृश इत्याह। हाहाभूतः हाहा इत्येतस्य शब्दस्य दुःखार्तलोकेन करणं हाहोच्यते। तदभूतः प्रायो यः कालः स हाहाभूतः। भम्मा इत्यस्य दुःखार्तगवादिभिः करणं भम्मोच्यते। तद्भूतो यः स भम्भाभूतः द्वावप्यनुकरणशब्दाविमौ। भम्मा वा भेरी सा वान्तःशून्या ततो भम्भे च यः कालो जनक्षयात्तच्छून्यः स भम्भाभूत इत्युच्यते। कोलाहल इहार्तशकुनसमूहध्वनिः। तं भूतः प्राप्तः कोलाहलभूतः समानुभावेन कालविशेषसामर्थ्येन च चकारोऽत्र वाच्यान्तरदर्शनार्थः। णमित्यलङ्कारे खरपरूषा अत्यन्तकठोरा। धूल्या च मलिना ये वातास्ते तथा। दुर्विषहा दुस्सहाः। व्याकुलाः असमञ्जसा इत्यर्थः। भयङ्कराः चः विशेषणसमुच्चयसूचकः। वास्यन्तीत्यनेन संबन्धः। संवर्तकाश्च तृणकाष्ठादीनामपहारका वातविशेषाश्च तेऽपि वास्यन्तीति इहास्मिन् काले अभीक्ष्णं पुनः पुनर्धूमायिष्यन्ते च। धूममुद्गमिष्यन्तीति दिशः किंभूतास्ता इत्याह। समन्तात् सर्वतो रजस्वला रजोयुक्ताः अत एव रेणुना रजसा कलुषा मलिनास्तथा। तमः पटलेनान्धकारवृन्देन निरालोका निरस्तप्रकाशा निरस्तदृष्टिप्रसरा वा। ततः पदद्वयकर्मधारयः। समया रूक्षतया च कालरूक्षतया चेत्यर्थः अहितं अधिकं चापथ्यं चन्द्राः शीतं हिमं मोक्ष्यन्ति स्रक्ष्यन्ति। तथैव सूर्यास्तपन्ति तापं मोक्ष्यन्तीत्यर्थः। कालरौक्ष्येण शरीररौक्ष्यं तस्माच्चाधिकशीतोष्णपराभव इति।

अथ पुनस्तत्स्वरूपं भगवान् स्वयमेवाह।

अदुत्तरं च णं गोअमा! अभिक्खणं अरसमेहा विरसमेहा खारमेहा अग्गिमेहा विज्जमेहा विसमेहा अजवणिजोदगा वाहिरोगवेदणोदीरणपरिणामसलिला अमणुण्णपाणिअगा चंडानिलयपहत्ततिक्खधाराणिवातपउरवासिहिंति जे णं भरहे वासे गामागारणगरखेडकव्वडमडंवदो णमुहपट्टणा समगयभणवयचउप्पयगवेलए खहयरे खहसंघे गामारण्णप्पयारणिरए तसे अ पाणे वहुप्पयारे रूक्खगुच्छगुम्मलयवल्लिप्पवालंकुरमादीए तणवणस्सइकाइए ओसही ओ अ विद्धं सेहिंति पव्वयगिरिडुंगरूत्थलभट्टिमाढीए। वेअड्ढगिरिवज्जे विरावेहिंति सलिलविलविससमगड्डणिगुण्णयाणि अ गंगासिंधुवज्जाइ समीकरेहिंति।

अथापरं च हे गौतम! अभीक्ष्णं पुनः पुनः अरसा अमनोज्ञा रसवर्जितजला ये मेघास्ते तथा। विरसा विरुद्धरसा ये मेघास्ते तथा। एतदेवाभिव्यज्यते। क्षारमेघाः सर्जादिक्षारसमानजलोपेतमेघाः। करीषसमानरसजलोपेतमेघाः। (खट्टमेहत्ति) क्वचिद्दृश्यते। तत्राम्लजला मेघाः। अग्निमेघाः अग्निवद्दाहकारिजला इत्यर्थः। विद्युत्प्रधाना एव जलवर्जिता इत्यर्थः। विद्युन्निपातवन्तो वा विद्युन्निपातकार्यकारिजलनिपातवन्तो वा मेघाः। विषमेघाः। जनमरणहेतुजलाः। अत्र "असणि मेहा" इत्यपि पदं क्वचित् दृश्यते। तत्रायमर्थः। करकादिनिपातवन्तः पर्वतादिदारणसमर्थजलत्वेन वा वज्रमेघाः। अयापनीयं न यापना प्रयोजकमुदकं येषां ते तथा। असमाधानकारिजला इत्यर्थः। क्वचिदपि (वणिजोदगा इति) तत्रायातव्यजला इत्यर्थः। एतदेव *व्यनक्ति। व्याधिरोगवेदनोदरणापरिणामसलिलाः। व्याधयः स्थिराः।*

कुष्ठादयो रोगाः । सद्योद्यातिशूलादयः तदुत्थाया वेदनाया योदीरणा अप्राप्तसमये उदयप्रापणा सैव परिणामः परिपाको यस्य सलिलस्य तत्तथा । तदेवंविधं सलिलं येषां ते तथा । अत एवामनोज्ञपानीयकाः । चण्डाऽनिलेन प्रहतानामाच्छोटितानां तीक्ष्णानां वेगवतीनां धाराणां निपातः । स प्रचुरो यत्र वर्षे स तथा । तं वर्षे वर्षिष्यन्ति करिष्यन्तीत्यर्थः । ग्रन्थान्तरे तु एते क्षीरमेघादयो वर्षशतोनैकविंशतिवर्षसहस्रप्रमाणदुष्षमाकालातिक्रमे वर्षिष्यन्तीति । अतस्तेन वर्षणेनारभ्य मेघादयः किं करिष्यन्तीत्याह (जेणं भरहेत्यादि) येन वर्षणेन करणभूतेन पूर्वोक्तविशेषणा मेघा विध्वंसयिष्यन्तीति संबन्धः । भरतवर्षे ग्रामाद्या आश्रमान्ताः प्राग्व्याख्याताार्थाः । तत्र गतं जानपदं मनुष्यलोकं तथा चतुष्पदा मनुष्यादयो गोशब्देन गोजातीया एडका उरभ्रास्तान् तथा खचरान् वैताढ्यवासिनो विद्याधरान् तथा पक्षिसंघान् तथा ग्राम्यारण्ययोर्यः प्रचारस्तत्र निरतानासक्तान् । त्रसांश्च प्राणान् द्वीन्द्रियादीन् बहुप्रकारान् । तथा वृक्षानाम्राहीन् गुच्छान् वृन्ताकीप्रभृतीन् गुल्मान् नवमालिकादीन् लता अशोकलताद्याः वल्लीः वालुक्यादिकाः प्रवालान् पल्लवाङ्कुरान् अङ्कुरान् शल्यादिबीजसूचीत्यादीन् तृणवनस्पतिकायिकान् बादरवनस्पतिकायिकान् सूक्ष्मवनस्पतिकायिकानां तैरूपघातासंभवात् । तथा औषधीश्च शाल्यादिकाश्चोऽभ्युच्चये (पव्वएइत्यादि) यद्यपि पर्वतादयोऽन्यत्रैकार्थतया रूढास्तथापीह विशेषोदृश्यस्तया हि पर्वतनादुत्सवविस्तारणात् । पर्वताः क्रीडापर्वताः । उज्जयन्तवैभारादयः । गृह्णन्ति शब्दायन्ते जननिवासभूतत्वेनेति गिरयः गोपालगिरिचित्रकूटप्रभृतयः । डुङ्गानि शिलावृन्दानि चोरवृन्दानि वा सन्त्येषु इत्यस्त्यर्थे रप्रत्ययः डुङ्गराः शिलोच्चयमात्ररूपाः । उत् उन्नतानि स्तलानि धूल्युच्छ्रयरूपाणि (भट्टित्ति) भ्राष्ट्राः पांस्वादिवर्जिताः भूमयः । तत एतेषां द्वन्द्वस्ते आदिर्येषां ते तथा तान् आदिशब्दात् प्रासादशिखरादिपरिग्रहः । मकारोऽलाक्षणिकः चशब्दो मेघानां क्रियान्तरद्योतकः विद्रावयिष्यन्तीति क्रियायोगः । अत्रार्थेऽपवादसूत्रमाह वैताढ्यगिरिवर्जान् पर्वतादीनित्यर्थः । शाश्वतत्वेन तस्याऽविध्वंसात् । उपलक्षणादृषभकूटं शाश्वतप्रायश्रीशत्रुंजयगिरिप्रभृतींश्च वर्जयित्वा तथा सलिलविलानि भूनिर्झराः विषमगर्ताश्च दुःपूरश्वभ्राणि कश्चिद्दुर्गपदमपि दृश्यते । तत्र दुर्गाणि च खातवलयप्राकारादिदुर्गमाणि निम्नानि च तान्युन्नतानि निम्नोन्नतानि उच्चावचानीत्यर्थः । पश्चाद् द्वन्द्वः । तानि च कर्मभूतानि शाश्वतनदीत्वात् गङ्गासिन्धुवर्ज्यानि समीकरिष्यन्ति ।

(१३) अथ तत्र भरतभूमिस्वरूपप्रश्नमाह ।

तीसे णं भंते ! समाए भरहस्स वासस्स भूमीए केरिसए आगारभावपडोआरे भविस्सइ । गोयमा ! भूमी भविस्सइ इंगालभूआ मुम्मुरभूआ छारिअभूआ तवेलुअभूआ तत्तसमजोइभूआ धूलिबहुला रेणुबहुला पंकबहुला पणयबहुला चलणिबहुला बहूणि धरणिगोअराणं सत्ताणं दुन्निक्कमाया वि भविस्सइ ।

तस्यां भदन्त ! समायां भरतस्य भूमेः कीदृशक आकारभावप्रत्यवतारो भविष्यति । भगवानाह गौतम ! भूमिर्भविष्यति । अङ्गारभूता ज्वालारहितवह्निपिण्डरूपा मुर्मुरभूतविरलाग्निकणरूपाक्षारिकभूता भस्मरूपा तप्तकवेच्छकभूता वह्निप्रतप्तकवेल्लुकरूपा । तप्तसमज्योतिर्भूता तप्तेन भावे क्तप्रत्ययविधानात् तापेन समा तुल्या ज्योतिषा वह्निना भूता जाता या सा तथापदव्यत्ययः । एवं समासश्च प्राकृतत्वात् । धूलिबहुलेत्यादौ धूलिः पांसुः रेणुः वालुका पङ्कः कर्दमः । पनकः प्रतलः कर्दमः । चलनप्रमाणकर्दमश्चलनीत्युच्यते । अत एव बहूनां धरणिगोचराणां सत्वानां दुःखेन नितरां क्रमः क्रमणं यस्यां सा । दुर्निष्क्रमा दुरतिक्रमणीयेत्यर्थः । चः समुच्चये अपिशब्देन दुर्निषदादि परिग्रहः । अत्र बहूनामित्यादितः प्रारभ्य भिन्नवाक्यत्वेनोत्तरसूत्रवर्तिना भविष्यति पदेन पौनरुक्त्यम् ।

अथ तत्र मनुष्यस्वरूपं पृच्छति ।

तीसे णं भंते ! समाए भरहे वासे मणुआणं केरिसए आयारभावपडोयारे भविस्सइ । गोयमा ! मणुआ भविस्संति दुरूवा दुव्वण्णा दुग्गंधा दुरसा दुप्फसा अणिट्ठा अकंता अप्पिआ असुभा अमणुन्ना अमणोमा हीणस्सरा दीणस्सरा अकंतस्सरा अप्पिअस्सरा अमणुण्णस्सरा अणादेज्जवयणपच्चायाता णिलज्जा कूडकवडकलहवहबंधवेरनिरया मज्जायातिक्कमप्पहाणा अकज्जणिच्चुज्जाया गुरुणिओगवियणरहिआ य विकलरूवा परूढणहकेसमंसुरोमा काला खरफरूससमावण्णपुट्ठसिराकविलपलिअकेसा बहुण्हाउसंपिणद्धदुद्दंसिणज्जरूवा संकुडिअवलीतरंगपरिवेट्ठिअंगमंगा जरापरिणयव्वथेरगणरा पविरलपडिसाडिअदंतकेससेढ । उब्भडघडयमुहा विसमणयणा वंकणासा वंकवलिविगयभीसणमुहा दड्ढकिट्ठिभसिधूमफुडिअफरूसच्छवी चित्तलंगमंगा कच्छूखसराभिभूआ खरतिक्खणक्खकंडूअविकयतणू ढोलग्गतिविसमसंधिबंधणा उक्कुडिअट्ठिअविभत्तदुव्वलकुसंघयणकुप्पमाणकुसंठिआ कुरूवा कुट्ठाणासणकुसेज्जकुभोइणो असुइणेगव्वाहिपीलिअअंगा खलंतविब्भलगई णिरूच्छाहा सत्तपरिवज्जिआ विगयचेट्ठा नट्ठतेआ अभिक्खणं सीउण्हरखफरूसवायविज्झडिअमलिणपंसुरओगुंडिअंगमंगा बहुकोहमाणमायालोभा बहुमोहा असुभदुक्खभागी ओसण्णधम्मसण्णसम्मत्तपरिभट्ठा उक्कोसेणं रयणिप्पमाणमेत्ता सोलसवीसइवासपरमाउसो । बहुपुत्तणत्तुपरिवालपणयबहुला गंगासिंधूओ महाणईओ वेअड्ढं च पव्वयं नीसाए वावत्तरिणिगोआ वीअंवीअमेत्ता विलवासिणो मणुआ भविस्संति ।

(तीसेणमित्यादि) प्रश्नसूत्रं प्राग्वत् निर्वचनसूत्रे गौतम ! मनुजा भवन्ति कीदृशा इत्याह । दुरूपाः दुःस्वभावा । दुर्वर्णाः कुत्सितवर्णाः । एवं दुर्गन्धाः । दूरसाः रोहिण्यादिवत् कुत्सितरसोपेताः । दुःस्पर्शाः । कर्कशादिकुत्सितस्पर्शाः । अनिष्टा अनिच्छाविषयाः । अनिष्टमपि किंचित्कमनीयं स्यादित्यत आह । अकान्ताः अकमनीयाः । अकान्तमपि किंचित् कारणवशात्प्रीतये स्यादतोऽप्रिया अप्रीतिहेतवः । अप्रियत्वं च तेषां कुत इत्याह । अशुभा अशोभनभावरूपत्वात् । अशुभत्वं च विशेषत आह । न मनसा सातवेदनेन शुभतया ज्ञायन्ते इत्यमनोज्ञाः । अमनोज्ञतया अनुभूतमपि स्मृतिदशायां दशाविशेषेण किंचिन्मनोज्ञं स्यादत आह । अमनोमाः न मनसा अम्यन्ते गम्यन्ते पुनः स्मृत्या इत्यमनोमाः । ए-

कार्थिका वा एते शब्दा अनिष्टताप्रकर्षवाचका इति मूर्त्या अनिष्टादिविशेषणोपेता अपि केचिदुड्डम्बा इव सुस्वराः स्युरित्याह। हीनो ग्लानस्येव स्वरो येषां ते तथा। दीनो दुःखितस्येव स्वरो येषां ते तथा। अनिष्टादिशब्दा उक्तार्था एवात्र स्वरेण योजनीयाः। अनादेयवचनप्रत्याजाता अनादेयमशुभगत्वादग्राह्यं वचनं वचः प्रत्याजातं च जन्म येषां ते तथा। निर्लज्जाः व्यक्तम्। कूटं भ्रान्तिजनकंद्रव्यं कपटं परवञ्चनाय वेषान्तरकरणं कलहः प्रतीतः। वधो हस्तादिभिस्तामनं बन्धो रज्जुभिः संयमनं वैरं प्रतीतं तेषु निरताः मर्यादातिक्रमे प्रधाना मुख्याः अकार्यनित्योद्यताः गुरुणां मात्रादिकानां नियोग आज्ञा तत्र यो विनयरूपमित्यादिरूपस्तेन रहिताः चः पूर्ववत्। विकलमसंपूर्णं काणं चतुरङ्गुलिकादिस्वभावत्वाद्रूपं येषां ते तथा। प्ररूढा गर्ता सूकराणामिवाजन्मसंस्काराभावात्। वृद्धिं गता नखाः केशाः श्मश्रुरोमाणि च येषां ते तथा। कालाः कृतान्तसदृशाः क्रूरप्रकृतित्वात् कृष्णा वा खरपरूषाः स्पर्शतोऽतीव कठोराः श्यामवर्णा नीलीकुण्डे निक्षिप्तोक्षिप्ता इव ततः कर्मधारयः क्वचिद् ध्मानवर्णा इत्यपि पदं दृश्यते तत्रानुज्ज्वलवर्णा इत्यर्थः स्फुटितशिरसः स्फुटितानीव स्फुटितानि दाडिमवत् शिरांसि मस्तकानि येषां तथा। कपिलाः केचन पलिताश्च शुक्लाश्च केचन केशाः येषां ते तथा। बहुस्नायुभिः प्रचुरस्नायुभिः संपनिद्धं बद्धमत एव दुःखेन दर्शनीयं रूपं येषां ते तथा। संकुटितं संकुचितं वल्यो निर्मांसत्वग्विकारास्त एव तदनुरूपाकारत्वात्तरङ्गा वीचयः तैः परिवेष्टितानि अङ्गान्यवयवा यत्र तमेवं विधमङ्गं शरीरं येषां ते तथा। क इवेत्याह। जरा परिणता इव स्थविरकनरा जरा व्यालाः स्थविरतरा इवेत्यर्थः। स्थविराश्चान्यथापि व्यपदिश्यन्ते इति जरापरिणतग्रहणम्। प्रविरला सान्तरालत्वेन परिशाटिता च दन्तानां केशानां केषांचित् पतितत्वेन दन्तश्रेणिर्येषां ते तथा उद्भटं विकरालंघटवन्मुखं तुच्छदशनच्छदत्वाद्येषांते तथा क्वचित् ' तुब्भडघडोमुहा ' इति पाठस्तत्र उद्भटे स्पष्टे घटोन्मुखे कृकाटिकावदने येषां ते तथा। विसमे नयने येषां ते तथा। वक्रा नासा येषां ते तथा। ततः पदद्वयकर्मधारयः। वक्त्रं पाठान्तरेणव्यङ्गं सलाञ्छनं वलिभिर्विकृतं वीभत्सं भीषणं भयजनकं मुखं येषां ते तथा। दद्रुकिट्टिभसिध्मानि क्षुद्रकुष्ठविशेषास्तत्प्रधाना स्फुटिता परूषा च छविः शरीरत्वग् येषां ते तथा। अत एव चित्रलाङ्गा कर्बुरावयवशरीराः कच्छूः पामा तया कसरैश्च खसरैरभिभूता व्याप्ता ये ते तथा। अत एव खरतीक्ष्णनखानां कठिनतीव्रनखानां कण्डूयितेन खर्जूकरणेन विकृता कृतव्रणा तनुः शरीरं येषां ते तथा। टोलाकृतयो प्रशस्तकाराः क्वचित् टोलग इति पाठस्तत्र टोलगतय उष्ट्रादिसमप्रचाराः तथा। विषमाणि दीर्घह्रस्वभावेन सन्धिरूपाणि बन्धनानि येषां ते विषमसन्धिबन्धनाः तथा उत्कुटुकानि यथास्थानमनिविष्टानि अस्थिकानि कीकसानि विभक्तानीव च दृश्यमानान्तरालानि येषां ते तथा। अत्र विशेषणपदव्यत्ययः प्राग्वत्। अथवा उत्कुटुकस्थितास्तथा स्वभावत्वात् विभक्ताश्च भोजनविशेषरहिता येषां ते तथा। दुर्बला बलहीना कुसंहननाः सेवार्तसंहननाः कुप्रमाणहीनाः कुसंस्थिताः। दुःसंस्थानाः ततः एषा टोलाकृत्यादिपदानां कर्मधारयः अत एव कुरूपाः कुमूर्तयः तथा। कुस्थानासनाः। कुशय्याः कुत्सितशयनाः। कुभोजिनो दुर्भोजनास्ततः एभिः पदैः कर्मधारयः। अशुचयः स्नानब्रह्मचर्यादिवर्जिताः। अश्रुतयो वा शास्त्रवर्जिताः। अनेकव्याधिपरिपीडिताङ्गा स्खलन्ती विह्वला च चार्दवितर्दा गतिर्येषां ते तथा। निरुत्साहाः सत्वपरिवर्जिताः। विकृतचेष्टाः नष्टतेजसः। स्पष्टानि अभीक्ष्णं शीतोष्णखरपुरूषपातैः(विज्झडिअं) मिश्रितं व्याप्तमि त्यर्थः। मलिनं पांशुरूपेण रजसा न तु पौष्परजसावगुण्ठितान्युद्धूलितानि अङ्गान्यवयवा यस्य एतादृशमङ्गं येषां ते तथा। बहुक्रोधमानमायालोभाः। बहुमोहाः न विद्यते शुभमनुकूलवेद्यं कर्म येषां ते तथा। अत एव दुःखभागिनः ततः कर्मधारयः (उसण्णंति) बाहुल्यने धर्मसंज्ञा धर्मश्रद्धां सम्यक्त्वं च ताभ्यां परिभ्रष्टाः। बाहुल्यग्रहणे न यथा सम्यक् दृष्टत्वमेषां कदाचित्सं-भवति। तथाधस्तनग्रन्थे व्याख्यातम्। उत्कर्षेण रत्नैर्हस्तम्य यच्चतुर्वि-शत्युङ्गुललक्षणं प्रमाणं तेन मात्रा परिमाणं येषां ते तथा। इह कदाचित् षोडश वर्षाणि कदाचिच्च विंशतिवर्षाणि परममायुर्येषां ते तथा। श्रीवीर-चरित्रेषु तु षोडश स्त्रीणां वर्षाणि विंशतिः पुंसां परमायुरिति। बहूनां पुत्राणां नप्तॄणां पौत्राणां यः परिवारस्तस्य प्रणयः स बहुलो येषां ते तथा। अपि नाल्पायुष्कत्वेऽपि बह्वपत्यता तेषामुक्ता अल्पेनापि कालेन यौवनसद्भावादिति। ननु तदानीं गृहाद्यभावेन क्व ते वसन्तीत्याह। गङ्गासिन्धुमहानद्यो वैताढ्यं च पर्वतं निश्रां कृत्वा (वावत्तरिति) द्वासप्ततिस्थान-विशेषताश्रिता निगोदाः कुटुम्बानि द्विसप्ततिसंख्या चैवं वैताढ्यादर्वाग्-ङ्गायास्तटेये नवनवविलसंभवादष्टादश एवं सिन्ध्वा अपि अष्टादश एषु च दक्षिणार्धे भरतमनुजा वसन्ति। वैताढ्येन परतो गङ्गातटद्वयेऽष्टादश एवं तत्रापि सिन्धुतटद्वये अष्टादश एतेषु चोत्तरार्धभरतवासिनो मनुजा वसन्ति। बीजमिव बीजं भविष्यतां जनसमूहानां हेतुत्वान् बीजस्येव। मात्रा परिमाणं येषां ते तथा। स्वल्पाः स्वरूपत इत्यर्थः। विलवासिनो मनुजा भविष्यन्तीति पुनः सूत्रं निगमनवाक्यत्वेन न पुनरुक्तमवसातव्यम्।

अथ तेषामाहारस्वरूपं पृच्छन्नाह-।

ते णं भंते ! मणुआ किमाहारमाहारिस्संति ? गोअमा ! तेणं कालेणं तेणं समएणं गंगासिंधुओ महाणईओ रहपहमित्तवित्थराओ अक्खसोअप्पमाणमेत्तं जलं वोज्झिहंति सेविअणं जले बहुमच्छकच्छभाइण्णं णो चेव णं आउबहुले भविस्सइ।

ते भगवन्! मनुजाः किमाहारमाहरिष्यन्ति। किं भोक्ष्यन्ते ? भगवानाह गौतम ! तस्मिन् काले एकान्तदुष्षमालक्षणे तस्मिन् समये षष्ठारकप्रान्त्यरूपे गङ्गासिन्धुमहानद्यो रथपथः शकटचक्रद्वयप्रमितो मार्गस्तेन मात्रा परिमाणं यस्य स तादृशो विस्तरः प्रवाहव्यासो ययोस्ते यथा। अक्षं चक्रनाभिक्षेप्यकाष्ठं तत्र स्त्रोतो धुरः प्रवेशरन्ध्रं तदेव प्रमाणं तेन मात्रावगाहनो यस्य स तथाविधं जलं वक्षतः इव प्रमाणेन गम्भीरं जलं धरिष्यन्त इत्यर्थः। तनु क्षुल्लहिमवतोरेकव्यवस्थाराहित्येन तद्गत-पद्महृदनिर्गतयोरनयोः प्रवाहस्य नैयत्येनोक्तरूपौ कथं संगच्छेते। उच्यते गङ्गाप्रपातकुण्डनिर्गमादनन्तरं क्रमेण कालानुभावजनितभरत-भूमिगततापवशादपरजलशोषे समुद्रप्रवेशे तयोरुक्तमात्रावशेषजलवाहित्वमिति। न काप्यनुपपत्तिरिति। तदपि च जलबहुमत्स्यकच्छपाकीर्णं न चैवम् अच्छलं बह्वप्कायं सजातीयापराप्कायपिण्डबहुलमित्यर्थः। ततस्ते मनुजाः सूरोद्गमनमुहूर्तसूरास्तमयेन मुहूर्ते च यकार-

सोपोऽत्र प्राकृतत्वात्। चकारौ परस्परं समुच्चयार्थौ विलेभ्यो निर्द्धाविष्यन्ति। शीघ्रया गत्या निर्गमिष्यन्ति। मुहूर्तात्परतोऽतितापातिशीतयोरसहनीयत्वात्। विलेभ्यो निर्द्धाव्य मत्स्यकच्छपानां स्थलानि। ततः भूमिः णिजन्तत्वात् द्विकर्मकत्वं ग्राहयिष्यन्ति प्रापयिष्यन्ति। ग्राहयित्वा च शीतातपतप्तैः रात्रौ शीतेन दिवा तपनेन तप्तैः रसशोषं प्रापितैराहारयोग्यतां प्रापितैरित्यर्थः। अतिसरसानां तज्ञठराग्निना परिपच्यमानत्वाद् मत्स्यकच्छपैरेकविंशतिवर्षसहस्राणि यावद्वृत्तिमाजीविकां कल्पयन्तो विदधाना विहरिष्यन्ति। व्याख्यातस्येदम्।

तए णं ते मणुआ सुरूगमणा मुहुत्तंमि अ सूरत्थमुहुत्तंमि अ विलेहितो णिद्धाइस्संति विलेहिंतो णिइत्ता मच्छकच्छभेयलाइं गाहिहिंति गाहिहिंतित्ता सीयातवेहिं इक्कवीसं वाससहस्साइं वित्तिं कप्पेमाणा विहरिस्संति।

अथ तेषामस्तित्वरूपं पृच्छन्नाह-

ते णं भंते ! मणुआ णिस्सीला णिव्वया णिग्गुणा णिम्मेरा णिप्पच्चक्खाणपोसहोववासा उसण्णं मंसाहारा मच्छाहारा खोड्डाहारा कुणवाहारा कालमासे कालं किच्चा कहिं गच्छंति कहिं उववज्जिहिंति गोयमा ! उसण्णं णरगतिरिक्खजोणिएसु उववज्जिहिंति।

ते मनुजा भगवन्! निश्शीला गताचारा निर्व्रता महाव्रताणुव्रतविकलाः। निर्गुणा उत्तरगुणविकलाः निर्मर्यादाः अविद्यमानकुलादिमर्यादाः। निष्प्रत्याख्यानपौषधोपवासा असत्पौरुष्यादिनियमा अविद्यमानाष्टम्यादिपर्वोपवासाश्चेत्यर्थः। ' उसण्णं ' प्रायो मांसाहाराः कथमित्याह। मत्स्याहारा यतः तथा क्षौद्राहाराः मधुभोजिनः क्षुद्रं वा तुच्छावशिष्टं। तुच्छं धान्यादिकडाहारो येषां ते तथा। इदं विशेषणं सूपपन्नमेव। पूर्वविशेषणे प्रायो ग्रहणात्। केषुचिदादर्शेषु अत्र। ' गडडाहारा ' इति दृश्यते। स लिपिप्रमाद एव संभाव्यते पञ्चमाङ्गे सप्तमशते षष्ठोद्देशे दुष्षमदुष्षमावर्णने दृश्यमानत्वात्। अथवा यथासंप्रदायमेतत्पदं व्याख्येयम्। कुणपः शवस्तद्रसोऽपि वसादिः। कुणपस्तदाहाराः कालमासे इत्यादिकं प्राग्वत्। निर्वचनसूत्रमपि प्राग्वत् नवरम् ' उसण्णमिति ' ग्रहणात्। कश्चित् क्षुद्राहारवान् देवलोकगम्येऽपि अक्लिष्टाध्यवसायात्।

अथ ये तदानीं क्षीणावशेषाश्चतुष्पदास्तेषां का गतिरिति पृच्छति।

तीसे णं भंते ! समाए सीहा वग्घाविगा दीविआ अच्छाततरस्सपरस्सरासरभसियालाछिरालासुणगा कोलसुणगा सासगा चिल्लगा उसण्णं मंसाहारा मच्छाहारा खोड्डाहारा कुणवाहारा कालमासे कालं किच्चा कहिं गच्छीहिंति कहिं उववज्जिंति ! गोयमा ! उसण्णं णरगतिरिक्खजोणिएसु उववज्जिहीति तेणं भंते ! ढंका कंका पिलगा मग्गुगा सिही उसण्णं मंसाहारा जाव कहिं गच्छिहिंति कहिं उववज्जिहिंति गोयमा ! उसण्णरगतिरिक्खजोणिएसु जाव उववज्जिहिंति।

तस्यां भगवन् ! समायां चतुष्पदाः सिंहादयः प्राग्याख्यातार्थाः श्वापदाः। प्रायो मांसाहारादिविशेषणविशिष्टाः क्व गमिष्यन्ति क्व उत्पत्स्यन्ते। भगवानाह गौतम ! प्रायः नरकतिर्यग्योनिकेषूत्पत्स्यन्ते प्रायो ग्रहणात्। क्वचिदमांसादिदेवयोनावपि नवरं चिल्लगा खरविशेषा इति।

अथ तदानींतनपक्षिगतिं प्रश्नयति। " तेणमित्यादि " कथ्यं नवरं " तेणमिति "। क्षीणावशिष्टा ये पक्षिणः इति तच्छब्दवलात् ग्राह्यम्। ढङ्काः काकविशेषाः कङ्काः दीर्घपादाः। पिलका रूढिगम्याः। मद्गुका जलवायसाः। शिखिनो मयूरा इति गतः षष्ठारकः तेन चावसर्पिण्यपि गता। जं० २ वक्ष०। सा त्रिविधा।

तिविहा ओसप्पिणी पण्णत्ता। तं जहा। उक्कोसा मज्झिमा जहुन्ना। एवं छप्पियसमाओ भाणियव्वाओ जाव सुसमसुसमा।

कालविशेषनिरूपणायाह " तिविहेत्यादि "। सूत्राणि चतुर्दश कण्ठ्यानि नवरमवसर्पिणी। प्रथमे अरके उत्कृष्टा चतुर्षु मध्यमा पञ्चिमे जघन्या एवं सुषमसुखमादिषु प्रत्येकं त्रयं त्रयं कल्पनीयम्। स्था० ३ ठा०। स्थानाङ्गेऽपि " जंबुद्दीवे भरहे ए रबएसु वासेसु ती आए ओसप्पिणीए "। तथा सुखमा सुखमसुखमा " मणुस्सा णं आउ सरीरमाणं "। स्थानाङ्गस्य द्विस्थाने त्रिस्थाने सूत्रं तस्य परमार्थः कालादिशब्दे गतमस्ति नात्र लिखितं तेन। स्था० ३ ठा०।

तिविहा ओसप्पिणी पण्णत्ता तीता पडुप्पंता अणागया स्था० ३ ठा०।

ओसप्पिणी उस्सप्पिणी–स्त्री० (अवसर्पिण्युत्सर्पिणी) अवसर्पिणीयुक्ता उत्सर्पिणी अवसर्पिण्युत्सर्पिणी। विंशतिसागरोपमकोटाकोटीलक्षणे कालचक्रे, " विंसं सागरोवमकोडाकोडीओ कालेओ ओसप्पिणी उस्सपिणी "। जं० २ वक्ष०।

ओसप्पिणीकाल–पुं० (अवसर्पिणीकाल) अवसर्पिणी चासौ कालश्च अवसर्पिणीलक्षणे कालभेदे, जं० २ वक्ष०।

ओसप्पिणीगंडिया–स्त्री० (अवसर्पिणीगण्डिका) अवसर्पिण्येकवक्तव्यतार्थाधिकारानुगतायां गण्डिकायाम्। सं०।

ओसर–पुं० (अवसर) अन्तरे, नि० अवसरो विभागः। पर्याय इत्यनर्थान्तरम्, विशे० क्षणे,। सूत्र० १ श्रु० २ अ०।

ओसर–न० उस्रे भवः अण्–पांशुलवर्णे, राजनि०। वा०।

ओसरण–न० (अवसरण) बहूनां साधूनामेकत्र मीलके, बृ० ६ उ०। मेलापके, सूत्र० १० श्रु० १२ अ०। देवसंस्कृतव्याख्यानभूमौ, पंचा० ६ विव०।

ओसरणक्कम–पुं० (अवसरणक्रम) समवसरणन्याये, पञ्चा० ८ विव०।

ओसरणाइ–पुं० (अवसरणादि) जिनसमवसरणप्रभृतौ, आदिशब्दात्समवसरणसंबन्धिमहेन्द्रध्वजचामरतोरणादिपरिग्रहः। पञ्चा० १२ विव०।

ओसह–न० (औषध) ओषधेरिदम्। ओषधेरजातौ। पा० सूत्रेणाण्। ओषधिजाते अन्नादौ,। वाच०। एकद्रव्यरुपे, ज्ञा० १३ अ०। औ० प्रश्न विपाः। केवलद्रव्यरूपे बहिरूपयोगिनि,। गच्छ० १ अधि०। ध० २० एकद्रव्याश्रये,। दशा० १० अ०। अगदे, बृ० ३ उ०। बहुद्रव्यसमुदाये, नि० चू० २ उ०। एलाद्यचूर्णकादौ, नि० चू० १ उ० ज्ञा०। महातिक्तकघृतादौ, भ० ७ श० १० उ०। त्रिकटुकादौ,। ज्ञा० ८ अ०। त्रिफलादौ, च०। औ० चिकित्साङ्गे, " बहुकल्पं बहुगुणं संपन्नं योग्यमौषधम् " स्था० ४ ठा०। स्वार्थेऽण्। ओषधौ च। वाच०।

ओसहभेसज्ज–(औषधभैषज्य)उपा०

ओस (हि) ही–स्त्री० [ओष (धी) धि] ओषः पाको धीयतेऽत्र ओष्–धा० किः जातिविषयत्वात् स्त्रीत्वे वा ङीष् । ओषधी च । वाच० । फल–पाकान्ते शाल्यादौ, । जीवा० १ प्रति० । प्रत्येकशरीरबादरवनस्पतिकायिकभेदे, । तद्भेदा, यथा–

से किं तं ओसहीओ ? ओसहीओ अणेगविहाओ पण्णत्ताओ । तं जहा । सालीवीहीगोहूमजवा कलमसूरतिलमुग्गा । मासणिप्फावकुलत्थअलिसंदसतीणएलिंघा । १ ।

अयसीकुसुंभकोद्दव–कंगूरालगवरट्टकोद्दूसा । सणसरिसव–मूलगवीया–जेयावण्णे तहप्पगारा । सेतं ओसहीओ ।

टीका नास्ति । प्रज्ञा० १ पद० । तं० उत्त० जं० आ० म० प्र० पंचा० भ० सूत्र० । (कृत्स्नौषधिभक्षणनिषेधसूत्रं तदग्रहणशब्दे निषेधश्चरगोयरचरियाशब्दे) पुष्कलाख्यविजयक्षेत्रयुगले, पुरीयुगले, । "दो पुक्खवला" । तत्र " दो ओसहीओ " स्था० २ ठा० ।

ओसहिबल–न० (ओषधिबल) गोधूमादिवीर्ये, । तं० " तं चसिवालग्गही अणोसहिबलो अ परिहत्थो " आव० ४ अ० ।

ओसहिवीरय–न० (ओषधिवीर्य) शल्योद्धरणसंरोहणविषा-पहारमेधाकरणादिके ओषधीनां वीर्ये, । सूत्र० १ श्रु० १ अ० ।

ओसहुव्वरियतिल्ल–न० (औषधोर्वरिततैल) तैलपक्वौषधितरिकायाम्, । ध० २ अधि० ।

ओसा–पुं० (अवश्याय) लेहे, बादराप्कायिकभेदे, जी० १ प्रति० । प्रज्ञा० । दशा० ।

ओसाण–न० (अवसान) अन्ते, । स्था० ४ ठा० । गुरोरन्तिके, । ध० ३ अधि० । गुरोरन्तिके स्थाने, । ओसाणमिच्छे मणुए समाहिं, अणोसिंए णंतकरित्ति णच्चा । सूत्र १ श्रु० ४ अ० ।

आवश्यानक–न० स्वनामख्याते स्थाने ० यत्र ब्रह्मदत्तो भ्रान्तः ।

" कपिंहिगिरितडागं पाहत्थिणपुरं च सा एत्थं ससकगं नंदिओसाणं वीसं पासा य समकरगं " । उत्त० १५ उ० ।

ओसायण–न० (अवसादनण) पुद्गलानां परिशाटने, विशे० ।

ओसारिंधणभर–पुं० (अपसारितेन्धनभर) अपनीतदाह्यसङ्गाते, । " ओसारिइंधणभरो, जह परिहाइ कमसो हु आसे । " आव० ४ अ० ।

ओसारिय–त्रि० [अप (व) सारिय, अपसारित] अप् सृ णिच् क्त–अवापोते च० ८ भ० ७२ । इति अवापयोरूपसर्गयोरादेः स्वरस्य परेण सस्वरव्यञ्जनेन सह ओत् प्रा० ।

***अपसारित**–त्रि० अपनीते, । आव० ४ अ० । अवलम्बिते, । ज्ञा० १६ अ० । औ० । " ओसारियपक्खरे " अवसारिता अवलम्बिताः पक्षास्तनुत्राणविशेषा येषां ते तान् । विपा० २ अ० । "ओसारियजमलजुगलघंटं" अवसारितमवलम्बितं जमलं समं युगलं द्विकं घण्टयोर्यत्र तत्तथा । औ० । भ० ।

ओसिअंत–त्रि० (अवसीदत्) **पानीयादिष्वित् ८ । १ । १०१ ।** इति इकारस्य इत्वम् । श्राम्यति, । प्रा० ।

ओसिंचिइत्त–त्रि० (अपसिञ्चयितृ) उष्णद्रव्येणापसेककर्तरि, । " उसिणोदगवियडेण वा कायं ओसिंचित्ता भवति " । सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

ओसिय–त्रि० (अवसित) पर्यवसिते, उपशान्ते, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० । जिते, । विशे० ।

ओसुक्क–धा० (तिज्) तीक्ष्णीकरणे, चुरा–उभ० सक० सेट । **ति जेरोसुक्कः । ८ । ४ । १०४ ।** तिजेरोसुक्क इत्यादेशो वा । " ओसुक्कइ, तेअणं " प्रा० ।

ओसोवणी–स्त्री० (अवस्वापिनी) विद्याभेदे, । सूत्र० २ श्रु० २ अ० । कल्प० ।

ओह–पुं० (ओघ) उच्–पृषो० घ० संसारसमुद्रे, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । सामान्यप्रकारे, । द्र० सूत्र० विसे० । व्य० सामान्ये, । आ० म० द्वि० । पंचा० । ओघः समासः सामान्यमित्यनर्थान्तरम् । नि० चू० १६ उ० । ओघः संक्षेपः स्तोकः, नि० चू० २ उ० । सामान्यशास्त्राभिधाने, आ० म० प्र० । प्रवाहे, । जं० १ वक्ष० सङ्गे, । को० । ओघो द्विधा द्रव्यभावभेदात् । द्रव्यौघौ नदीपूरादिकः । भवौघोऽष्टप्रकारं कर्म संसारो या तेन हि प्राण्यनन्तमपि कालमुह्यते ॥ १ ॥ आचा० २ अ० ३ उ० द्रुतनृत्यादौ, । आध्यात्मिके तुष्टिभेदे । परंपरायाम् । उपदेशे च । मेदि० । वाच० ।

***ओह**–धा० (अव् तृ) अवतरणे, । भ्वा० प० अक० । **अवतरेरोहओरसौ । ८ । ४ । ८५** अवतरतेरोहादेशः । ओहइ । ओहरइ । अवतरति । प्रा० ।

ओहंजलिया–देशी० चतुरिन्द्रियजीवविशेषे जी० १ प्रति० । प्रज्ञा० उत्त० ।

ओहंतर–पुं० (ओघन्तर) ओघं संसारसमुद्रं तरितुं शीलमस्य स तथा । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । ज्ञानदर्शनचारित्रवोहिस्थत्वेन । आचा० २ अ० ३ उ० । संसारतरणशीले, । सूत्र० १ श्रु० १ अ० । " एस ओहंतरे मुणी " २ अ० । इति प्रान्तरूक्षाहारसेवनेन कर्मादिशरीरं धुन्वानो भावतो भवौघं तरति कोऽसौ मुनिः स एव भवौघं तरति यो मुक्तः स बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहरहितः कश्च परिग्रहान्मुक्तो भवति । यो भावतः शब्दादिविषयाभिष्वङ्गाद्वितरः ततश्च यो मुक्तत्वेन वा विख्यातो मुनिः स एव भवौघं तरति तीर्ण एवेति वा इति । आचा० २ अ० ६ उ० ।

ओहट्टय–त्रि० (अपघट्टक) यदृच्छया प्रवर्तमानायाः स्त्रिया हस्तग्रहादिना निवर्तके, । " अणोहट्टियाए " । ज्ञा० १६ अ० । वाचा निवारके, । ज्ञा० १८ अ० ।

***अपहर्तृक**–त्रि० अकार्य्ये प्रवर्तमानस्य हस्त गृहीत्वाऽपहारके व्यावर्तके, । ज्ञा० ८ अ० ।

ओहणिज्जुत्ति–स्त्री० (ओघनिर्युक्ति) ओधसामाचारीप्रतिपादके ग्रन्थविशेषे, । तत्र हि " णमो अरिहंताणं णमो सिद्धाणं नमो आयरियाणं नमो उवज्झायाणं नमो लोए सव्वसाहूणं एसो पंचणमुक्कारो " इति नमस्कारमुच्चार्य " दुविहोवक्कमकालो, सामायारी अहा उ पंचेव । सामायारी तिविहा ओहे दसहा पयविभावे " इत्युपक्रम्य कालभेदमुपदर्श्य । तत्रौघसमाचारी तावदभिधीयते । अस्याश्च महार्थत्वात् । कथंचिच्छास्त्रान्तरत्वादादोववार्चाया मङ्गलार्थं संबन्धादित्रयप्रतिपादनार्थं च गाथाद्वयमाहुः " अरंहते वंदित्ता, चोद्दसपुव्वी तहेव दसपुव्वी । एक्कारसंगसुत्तत्थधारएसव्वसाहूया " अर्हन्तः वन्दित्वा चतुर्दशपूर्विणः तथा । एवं दशपूर्विणः एकादशाङ्गसूत्रार्थधारकान् सर्व्वसाधूंश्च एतावन्ति पदानि आद्यगाथासूत्रे द्वितीयगाथासूत्रपदान्युच्यन्ते ओघेन तु निर्यु–

किं वक्ष्ये। चरणकरणानुयोगात् अल्पाक्षरां महार्थामनुग्रहार्थे सुविहितानामेतावन्ति पदानि।

अधुना कृतमङ्गल सन् संबन्धाभिधेयप्रयोजनत्रयप्रदर्शनार्थे द्वितीयं गाथासूत्रमाह-

ओहेण निज्जुत्ती, वोच्छं चरणकरणाणुओगाओ।
अप्पक्खरं महत्थं, अणुग्गहत्थं सुविहियाणं॥

ओघः संक्षेपः समासः सामान्यमित्येकोऽर्थः तेन ओघेन निर्युक्तिं वक्ष्ये। इति योगः तदनेन गाथाखण्डनकेन संबन्धः प्रतिपादितः। क्रियानन्तर्यलक्षणः तथा च व्यासक्रियायाः समासक्रियानन्तरभूता वर्तते अतः क्रियानन्तर्यलक्षणः संबन्धः एवं कार्यकारणलक्षणेऽपि द्रष्टव्यः। कार्यमोघनिर्युक्तयर्थपरिज्ञानमनुष्ठानं च कारणं तु वचनरूपापन्ना ओघ। निर्युक्तिरेव एवं साध्यसाधनादयोऽपि द्रष्टव्याः। इतिशब्दो विशेषणे किं विशिनष्टि। ओघेन वक्ष्ये तुशब्दात्किञ्चिद्विस्तरतोऽपि "पुरिसमित्यादि" निर्युक्तिं वक्ष्य इति निराधिक्ये योजनं युक्तिः सूत्रार्थयोर्योगो नित्यव्यवस्थित एवास्ते वाच्यवाचकतयेत्यर्थः अधिका योजना नियुक्तिरुच्यते नियता निश्चिता योजनेति। ततश्च निर्युक्तियुक्तिरित्येवं वक्तव्ये एकस्य युक्तिशब्दस्य लोपं कृत्वा एवमुपन्यासः। यथोष्ट्रमुखी कन्येति 'वोच्छमिति' वक्ष्येऽभिधास्ये इति। यदुक्तं भवति। कुतो वक्ष्यत इत्यत आह। चरणकरणानुयोगात् चर्यत इति चरणं वक्ष्यमाणलक्षणं व्रतादि क्रियत इति करणं पिण्डविशुद्ध्यादि चरणं च करणं च चरणकरणे तयोरनुयोगश्चरणकरणानुयोगः अनुयोजनमनुयोगः अनुरूपो योगोऽनुयोगः। अनुकूलो वा योगोऽनुयोगः। अथवा अणु सूत्रं महानर्थः। ततो महतार्थस्य अणुना सूत्रेण योगोऽनुयोगः तस्माच्चरणकरणानुयोगात् निर्युक्तिं वक्ष्ये चरणकरणात्मिकामेवेति गम्यते। यथा मृदो घटं करोति मृदात्मकमेव तद्वदत्रापीति अथवा। चरणं च तत्करणं च तस्यानुयोगः तस्माच्चरणकरणानुयोगान्निर्युक्तिं वक्ष्य इति तदनेनावयवेनाभिधेयमुक्तम् चरणकरणनिर्युक्तिरभिधीयते किं स्वरूपां निर्युक्तिं वक्ष्य इत्यत आह। अल्पान्यक्षराणि यस्याः सा अल्पाक्षरा तामल्पाक्षरामथवा क्रियाविशेषणमेतत्कथं वक्ष्ये इत्यत आह। अल्पाक्षरं स्तोकाक्षरं वक्ष्ये प्रभूताक्षरमित्यर्थः किमल्पाक्षरमेव नेत्याह। महार्थं वक्ष्ये अथवा महानर्थो यस्याः सा महार्था तां महार्थर्थो वक्ष्ये तदनेनाभिधेयविशेषणं प्रतिपादितं भवति अल्पाक्षरामहार्थामित्यनेन चतुर्थङ्गिका प्रतिपादिता भवति। एकमल्पाक्षरं प्रभूतार्थे भवति, तथान्यत् प्रभू ताक्षरं अल्पार्थं तथा प्रभूतार्थं प्रभूतार्थमल्पाक्षरमल्पार्थं भवति किं निमित्तं वक्ष्य इत्याह। अनुग्रहार्थमनुग्रह उपकारोऽभिधीयते अर्थशब्दः प्रयोजनवचनं ततः उपकारः प्रयोजनं वक्ष्ये तदनेन प्रयोजनं प्रतिपादितं द्रष्टव्यम्। केषां वक्ष्य इत्यत आह। सुविहितानां शोभनं विहितमनुष्ठानं येषामिति सुविहिताः साधवस्तेषां सुविहितानामनुग्रहार्थमोघनिर्युक्तिं वक्ष्य इति योगः ओ०।

अधुना भाष्यकृदेकैकमवयवं व्याख्यानयति तत्र तत्वभेदपर्यायैर्व्याख्येति पर्यायतो व्याख्यां कुर्वन्निदानीं गाथाद्वयमाह।

ओहे पिंडसमासे, संखेवे चेव होंति एगट्ठा।
णिज्जुत्तिय अत्थाउ, जं बद्धा तेण णिज्जुत्ती॥

ओघःपिण्डो भवतीति योगः पिण्डनं पिण्डः संघातरूप इत्यर्थः। (समासेत्ति) समसनं समासः। असु क्षेपणे समेकीभावन असनं क्षेपणमित्यर्थः। तथा च समासेन सर्व एव विशेषा गृह्यन्ते। ओघः समासो भवतीति योगः। एवं भवतीति क्रिया सर्वत्र मीलनिया (संखेवेत्ति) संक्षेपणं संक्षेपः समेकीभावेन प्रेरणमित्यर्थः। चशब्दः उक्तसमुच्चये कदाचिदनुक्तसमुच्चये एव शब्दः प्रकारवाचकः। एवमेतेषामपि पिण्डादीनां ये पर्यायास्ते मीलनीया इति निर्युक्तिपदव्याख्यानार्थमाह (णिज्जुत्तिय) इत्यादि निराधिक्ये योजनं युक्ति आधिक्येन युक्ता निर्युक्ताः अर्थत इत्यर्थः। ओ०।

अधुनाल्पाक्षरां महार्थामिति यदुक्तं तद्व्याख्यानायाह-

अप्पक्खरं महत्थं, महक्खरप्पत्थं दोसु वि महत्थं।
दोसु वि अप्पं च तहा, भणिअं सत्थं चउवियप्पं॥

अत्र चतुर्भङ्गिका अल्पान्यक्षराणि यस्मिन् तदल्पाक्षरं स्तोकाक्षरमित्यर्थः। (महत्थंति) महानर्थो यस्मिन् महार्थं प्रभूतार्थमित्यर्थः। तत्रैकं शास्त्रं अल्पाक्षरं भवति महार्थं च प्रथमो भङ्गः। अथवान्यत्किंभूतं भवति (महक्खरप्पत्थंति) महाक्षरं प्रभूताक्षरं भवति। अल्पार्थं स्वल्पार्थमिति हृदयं द्वितीयो भङ्गः। अथवान्यत्किंभूतं भवति (दोसु वि महत्थं) द्वयोरपीति अक्षरार्थयोः श्रुतत्वादक्षरार्थोभयं परिगृह्यते। एतदुक्तं भवति। प्रभूताक्षरं प्रभूतार्थं च तृतीयो भङ्ग तथान्यत् किंभूतं भवति तदाह (दोसु वि अप्पं च तहा) द्वयोरपि अल्पमक्षरार्थयोः एतदुक्तं भवति। अल्पाक्षरमल्पार्थं चेति तथेति तेन आगमोक्तेन प्रकारेण भणितमुक्तं शास्त्रं चतुर्विधमित्यर्थः।

अधुना चतुर्णामपि भङ्गिकानां मुदाहरणदर्शनार्थमिदं गाथासूत्रमाह-

सामायारीआहे, णायज्झयणा य दिट्ठिवाओ य।
लोइयकथासादी, अणुक्कमाकारगा चउरो॥ १४॥

ओघसामाचारी प्रथमभङ्गके उदाहरणं भवति। ततः प्रभूताक्षरत्व मल्पार्थं चेति द्वितीयः कृतः ज्ञाताध्ययनादिषष्ठाङ्गे प्रथमश्रुतस्कन्धेषु कथानकान्युच्यन्ते। ततः प्रभूताक्षरत्वमल्पार्थं चेति द्वितीयभङ्गके ज्ञाताध्ययनाभ्युदाहरणं चशब्दादन्यच्च यदस्यां कोटौ व्यवस्थितं दृष्टिवादश्च तृतीयभङ्गक उदाहरणमाख्यातोऽसौ प्रभूताक्षरः प्रभूतार्थश्च चशब्दात्तदेकदेशोऽपि चतुर्भङ्गोदाहरणप्रतिपादनार्थमाह (लोइयकथासादिति) लौकिकं चतुर्भङ्गोदाहरणं किंभूतं कथासादि आदिशब्दाच्छिवभद्रादिग्रहः (अणुक्कम्मत्ति) अनुक्रमादिति अनुक्रमेण परिपाट्येव तृतीयार्थे पञ्चमी कारकाणि कुर्व्वन्तीति कारकाण्युदाहरणान्युच्यन्ते चत्वारीति। यथासंख्येनैवेति। अनुग्रहार्थं सुविहितानामिति यदुक्तं तद्व्याख्यानायोदाहरणगाथा।

बालाईणणुकंपा, संखडिकरणंमि होइ अगारीणं।
ओमे य बीयभत्तं, रन्नादीनं जणवयस्स॥ १५॥

एवमित्युपन्यासाय यथेति गम्यते ततोऽयमर्थो भवति। यथा ह्यङ्गारिणामनुकम्पा भवतिबालादीनामुपरिसंखडिकरणे एवं स्थविरैः साधूनामनुकम्पार्थमुद्दिष्टा ओघनिर्युक्तिरिति संबन्धः। अधुनाक्षरगमनिका बालाःशिशवोऽभिधीयन्ते ते आदिर्येषां आदिशब्दात्कर्मकरादिपरिग्रहः। तेषां बालादीनामुपर्यनुकम्पा देयेत्यर्थः। संखडि करणं संखड्यन्ते प्राणिनो यस्यां सा संखडिः अनेकसत्वव्यापत्तिहेतुरित्यर्थः कृतिः करणं संखड्याः करणं संखडिकरणं तस्मिन् संखडिकरणे यथानुकम्पा भवति केषामित्याह। अगारिणां अगारं विद्यते येषान्ते अगारिणस्तेषामगारिणाम्। तथा हि य-

द्भोजनं प्रहरत्रयादेशो भवति तस्मिन्। यदि बालादीनां प्रथमालिका न दीयन्ते ततोऽतिबुभुक्षाक्रान्तादीनां केषांचिन्मूर्च्छागमनं भवति। केचित्पुनः कर्मादिकर्तुं न शक्नुवन्ति ततोऽनुकम्पार्थं प्रथमालिकाप्यसौ गृहपतिं प्रयच्छति। अस्यैव दर्शनार्थं दृष्टान्तरमाह। (ओमेइत्यादि)। अवमं दुर्भिक्षं तस्मिन्नवमे बीजानि शाल्यादीनि भक्तमन्नं बीजानि व भक्तं च बीजभक्तम्। एक वद्भावः। राज्ञा नरपतिना दत्तं स्वीकृतं कस्य तदाह। जनपदस्य कस्यचिद्राज्ञो विषये दुर्भिक्षं प्रभूतवार्षिकं संजातं ततस्तेन दुर्भिक्षेण सर्वमेव धान्यं क्षयं नीतं लोकश्च विषण्णः। तस्मिन्नवसरे राज्ञा किं चिन्तितं सर्वमेव राज्यं मम जनपदायत्तं। यदि जनपदो भवति ततः कोष्ठागारादीनां प्रभवः जनपदाभावे तु सर्वाभावः। ततस्तत्संरक्षणार्थं बीजनिमित्तं भक्तनिमित्तं च कोष्ठागारादिधान्यं ददामिति एवमनुचिन्त्य दापितं जनपदस्य लोकस्य प्रसन्नः संजातः पुनर्द्विगुणं त्रिगुणं प्रेषितं राज्ञ इति। अयं दृष्टान्तः।

अधुना दार्ष्टान्तिकप्रतिपादनार्थमाह-

एवं थेरेहि इमा, अपावमाणाणं पयविभागं तु।
साहूणणुकंपट्ठा, उवइट्ठा ओहनिज्जुत्ती ॥ १६ ॥

एवमित्युपनयग्रन्थः यथा गृहपतिना बालादीनामनुकम्पार्थं भक्तं दत्तं राज्ञा च बीजभक्तमनुग्रहार्थमेव दत्तं एवं स्थविरैः ओघनिर्युक्तिः साधूनामनुग्रहार्थं निर्व्यूढेति। स्थविरा भद्रबाहुस्वामिनस्तैरात्मनि गुरुषु च बहुवचनमिति बहुवचनेन निर्देश कृतः (इमेत्ति) इयं वक्ष्यमाणलक्षणा प्रतिलेखनादिरूपा किमर्थं निर्व्यूढा। तदाह। (अपावमाणाणमित्यादि) अप्राप्नुवतां अनासादयतां किमप्राप्नुवतामित्याह पदविभागं वर्त्तमानकालापेक्षया कल्परूपं चिरं रूपं चिरन्तनकालापेक्षया तु दृष्टिवादव्यवस्थितं पदविभागसामाचारीमित्यर्थः। तु शब्दाद्दशधा सामाचारी च अप्राप्नुवतां केषामनुकम्पार्थं निर्व्यूढा तदाह। साधूनां ज्ञानभिरूपाभिः पौरूषेयीभिः क्रियाभिः मोक्षं साधयन्तीति साधवस्तेषां साधूनां किमनुकम्पार्थम्। अनुकम्पा कृपादय इत्येकोर्थः तथा अर्थः प्रयोजनं उपदिष्टा कथिता ओघनिर्युक्तिः सामान्यार्थप्रतिपादिकेतीत्यर्थः।

अथः केयमोघनिर्युक्तिः या स्थविरैः प्रतिपादिता तां प्रतिपादयन्नाह-

पडिलेहणं च पिंडं, उवहिपमाणं अणायतणवज्जं।
पडिसेवणमालोयण, जह य विसोही सुविहियाणं ॥ १७ ॥

एवं संबन्धे कृते सत्याह परः। ननु पूर्वं मभिहितमर्हतो वन्दित्वौघनिर्युक्तिं वक्ष्ये तत्किमर्थं वन्दनादिक्रियामकृत्वैवौघनिर्युक्तिं प्रतिपादयतीत्यत्रोच्यते। अविज्ञायैव परमार्थं भवतः तच्चोत्पद्यते। इह हि वन्दनादि-

क्रिया प्रतिपादितैव असाधारणनामोद्देशात् एव तथा हि अशोकादष्ट-

महाप्रतिहार्यादिरूपां पूजामर्हत्यर्थतः तदनेनैव स्तवोऽभिहितः एवं चतुर्दशपूर्वधरादयो योजनीयाः। अलं प्रसङ्गेन प्रकृतं प्रस्तुमः (पडिलेहणंति) लिख अक्षरविन्यासे प्रतिलेखनं प्रतिलेखना तां वक्ष्याम इति। एतदुक्तं भवति आगमानुसारेण या निरूपणा क्षेत्रादेः सा प्रतिलेखनेति। चशब्दात्प्रतिलेखकं प्रतिलेखनीयं वक्ष्ये। अथवा अनेकाकारां प्रतिलेखनां च वक्ष्ये। उपधिभेदात्। (पिंडंत्ति) पिण्डनं पिण्डः। संघातरूपस्तं वक्ष्य इति प्रत्येकं भीलनीयं विवक्षितशोधिमित्यर्थः (उवहिपमाणमिति) उपदधातीत्युपधिः उपसामीप्येन संयमं धारयति पोषयति चेत्यर्थः। स च पात्रादिरूपः तस्य प्रमाणं तच्च गणनाप्रमाणं प्रमाणप्रमाणं च। (अणायतणवज्जति) नआयतनमनायतनं तद्वर्ज्यं त्याज्यमित्येतच्च वक्ष्ये। तच्चानायतनं पशुपण्डकः संशक्तं यद्वर्तते तद्विपरीतमायतनं (पडिसेवणत्ति) प्रतिसेवना एतदुक्तं भवति संयमानुद्यमात्। प्रतीपसंयमानुद्यमात्तदासेवना तां (आलोयणत्ति) आलोचनमालोचमाने परे मर्यादया लोचनं दर्शनमार्यादेः। आलोचनेत्यभिधीयते। किमालोचनमेव नेत्याह (जह य इत्यादि) यथा येन प्रकारेणविशोधिः विशेषेण शोधिः विशोधिः एतदुक्तं भवति। शिष्येणालोचिते अपराधे सति तद्योग्यं यन्प्रायश्चित्तप्रदानं सा विशोधिरभिधीयते। तां विशोधिं केषां संबन्धिनीं विशोधिं तदाह। सुविहितानाम् शोभनं विहितमनुष्ठानं येषां ते सुविहितास्तेषां संबन्धिनी यथा विशोधिस्तथा वक्ष्ये। चशब्दः समुच्चये किं समुच्चिनोति कारणप्रतिसेवने अकारणप्रतिसेवने च। यथा शोधिस्तथा वक्ष्य इति। अत्राह यथैषां द्वारेण इत्थं क्रमोपत्न्यासे किं प्रयोजनमित्यत्रोच्यते। यत्प्रतिलेखनाद्वारस्य पूर्वमुपन्यासः कृतस्तत्रैतत्प्रयोजनं सर्वविवक्षया प्रतिलेखनाद्वारमुपन्यस्तं प्रतिलेखनोत्तरकालपिण्डस्य ग्रहणं भवति। अतः पिण्डस्योपन्यास अशेषदोषः विशुद्धपण्डो ग्राह्यः। इति तदनन्तरमुपधिद्वारस्योपन्यासः क्रियते किमर्थमितिचेत्स हि पिण्डः न पात्रबधादिमन्तरेण ग्रहीतुं शक्यते। अत उपाधिप्रमाणं तदनन्तरमभिधीयते। स च गृहीतुं उपधिपिण्डश्च न वसतिमन्तरेणोपभोक्तुं शक्यते। अतो नायतनवर्ज्यमित्यस्य द्वारस्योपन्यासः क्रियते प्रतिलेखनां कुर्वतः पिण्डग्रहणमुपधिप्रमाणम् अनायतनमायतनवर्जनं गच्छतः कदाचित् क्वचित् कश्चित् अतिचारो भवतीत्यतोऽतिचारद्वारं क्रियते स चातिचारोऽवश्यमालोचनीयो भावशुद्ध्यर्थमतः आलोचनोत्तरकालं प्रायश्चित्तं तद्योग्यं यतो दीयते। अतो विशुद्धिद्वारस्योपन्यासः कृतः। इत्यलमतिविस्तरेण। ओ० (प्रतिलेखनादिशब्देषु तद्विधानम्) ग्रन्थमानम् ।ओ०।

एसा सामायारी, कहिया भे धीरपुरिसपन्नत्ता।
संजमसमत्तवड्ढगाणं, णिग्गंथाणं महरिसीणं।

सुगमा।

७एवं सामायरा, जुंजंता चरणकरणमावुत्ता।
साहू खवंति कम्मं, अणेगभवसंचियमणंतं १२३२

सुगमा।

एसा अणुग्गहत्था, पुडवियडविसुद्धवंजणा इणमो।
एकारसहिं सएहिं, तें तीसहिएहिं संगहिया।

११३३ सुगमा। ओ०।

ओहणिप्पण्ण–पुं० (ओघनिष्पन्न) ओघः सामान्यमध्ययनादिकं।

श्रुताभिधानं तेन निष्पन्न ओघनिष्पन्नः निक्षेपभेदे,

से किं तं ओघनिप्पण्णे ओघनिप्पण्णे चउव्विहे पण्णत्ते तं जहा अज्झयणे अक्खीणे आए खवणा।

ओघनिष्पन्नश्चतुर्विधः प्रज्ञप्तस्तद्यथा अध्ययनमक्षीणमायः क्षपणा एतानि चत्वारि अपि सामायिकचतुर्विंशतिस्तवादिश्रुतिविशेषाणां सामान्यानि। यथा हि सामायिकमध्ययनमुच्यते यदि वा अक्षीणं निगद्यते इदमेव यः प्रतिपद्यते एतदेव क्षपणाभिधीयते। एवं चतुर्विंशतिस्तवादिष्वभिधानीयम्। अनु० द्वार०।

ओहबल–पुं० (ओघबल) ओघेन प्रवाहेण बलं यस्य न तु क-

थयतो बलं हानिरूपजायते इति भावः । रा० । अव्यवच्छिन्नबलत्वात् प्रवाहबलिः । स० । औ० । प्रश्न० ।

ओहय–त्रि० (उपहत) विनाशिते, औ० ।

ओहयकंटय–पु० (अपहतकण्टक) न० इह देशोपद्रवकारिणश्चारटाः कण्टका इव कण्टकास्ते अपहताः । अवकाशनासीदनेन स्थगिता यस्मिन् तत् अपहतकण्टकम् । निरवकाशीकृतचारटे राज्ये, रा० । उपहता राज्यापहारात् कण्टका दायादा यत्र राज्ये तत्तथा । स्था० ६ ठा० । कण्टकाः प्रतिस्पर्धिनो गोत्रजाः अपहता विनाशेन निहता यत्र तत्तथा । राज्यापहारात् विनाशितस्वगोत्रजवैरिके राज्ये, । ज्ञा० १ अ० । सूत्र० औ० ।

ओहयमणस्संकप्प–पुं० (उपहतमनःसंकल्प) उपहतः कलुषीभूतो मनःसंकल्पो यस्य । कलुषितपरामर्शे, । कल्प० । विपा० ।

ओहयसत्तु–न० (अपहतशत्रु) प्रत्यनीका राजानः शत्रवस्ते अपहताः स्वावकाशमलभमानीकृताः यत्र तत् अपहतशत्रु । निरवकाशशत्रुके राज्ये, रा० ।

***उपहतशत्रु**–न० उपहता विनाशेन निहताः शत्रवोऽगोत्रजाः यत्र विनष्टागोत्रजप्रतिस्पर्द्धिनि, ज्ञा० १ अ० । स्था० ।

ओहयहय–त्रि० (उपहतहत) उपसामीप्येन मुद्गरादिना हता उपहताः पुनरप्युपहताः एव खड्गादिना हता उपहतहताः । पूर्वं मुद्गरादिना पश्चात्खड्गादिना हते, " ओहयहए य तहियंणिस्सण्णे कप्पणीहि कप्पंति " सूत्र० १ श्रु० ५ अ० ।

ओहर–न० (उपगृह) आश्रयविशेषे, " वत्थोहरपरिमंडणट्ठाए " प्रश्न० १ द्वा० ।

ओहरिय–अ० (अपहृत्य) तिरश्चीनो भूत्वेत्यर्थे, " अवउज्झिया । ओहरिया आहडुदलएज्जा " आचा० । अगणिंउसिक्किया णिसिक्किया आहट्टूदलएज्जा ओहरियअग्निकायोपरि व्यवस्थितं पिठरकादिकमाहारभाजनमपवृत्य तत आहृत्य गृहीत्वाऽऽहारं दद्यात् । आचा० २ श्रु० १ अ० ७ उ० ।

ओहसण्णा–स्त्री० (ओघसंज्ञा) मतिज्ञानाद्यावरणक्षयोपशमाच्छब्दाद्यर्थगोचरः सामान्यावबोधक्रियैव संज्ञायतेऽनयेति ओघसंज्ञा । दर्शनोपयोगरूपे सामान्यप्रवृत्तिरूपे वा संज्ञाभेदे, स्था० १० ठा० ।

ओहसत्ति–स्त्री० (ओघशक्ति) ओघोद्भवा शक्तिरोघशक्तिः सर्वेषां द्रव्याणां निजनिजगुणपर्याययोः शक्तिमात्रे, गुणपर्याययोः शक्तिमात्रमोघोद्भवादिमा ' गुणेति ' सर्वेणां द्रव्याणां निजनिजगुणपर्याययोः शक्तिमात्रमोघशक्तिःआदिमा प्रथमभेदरूपा कथ्यते ।

अत्र दृष्टान्तः ।

ज्ञायमाना तृणत्वेनाज्यशक्तिरनुमानतः ।
किंच दुग्धादिभावेन, प्रोक्ता लोकसुखप्रदा ॥

यथा आज्यशक्तिर्धृतशक्तिः तृणत्वेन तृणभविन अनुमानप्रमाणतो ज्ञायमानापि लोकानामग्रतः कथयितुं न शक्यते । यदि तृणपुद्गलेषु घृतशक्तिर्नास्ति तदा तृणाहारेण धेनुर्दुग्धं कथं दत्ते । तद्दुग्धान्तर्भूता घृतशक्तिः कुत आगता इत्थमनुमीयमाना तृणभावेन घृतशक्तिः ज्ञातापि लोकानां पुरतः प्रकाशयितुमशक्या । तस्मात् तृणाभावेन या शक्तिः सा ओघशक्तिः इत्येकदृष्टान्तः । किंचानुमीयमानौघशक्तिराद्या पुनर्व्यवहारादेशं लभ्यते । तथाह तृणजन्यदुग्धादिभावेन दुग्धदध्यादिभावेन परिणमिता घृतशक्तिः प्रकाश्यमाना लोकसुखप्रदा । लोकचित्तगम्या भवेत् । ततः सा शक्तिः द्वितीया समुचितशक्तिः कथ्यते । अत्रायं विवेकः । अनन्तरकारणमध्ये समुचितशक्तिः परम्पराकारणमध्ये ओघशक्तिरिति । ओघशक्तौ तु तृणानि धेनुरश्नाति पुष्टा सती धेनुर्दुग्धं ददाति धेनुदुग्धेन दधि जायते दुग्धकारणकलापेन घृतं एवमोघेन घृतशक्तिः स्फुटीभवति । तथान्यत्र दुग्धदध्यादिर्घृतमेवेति व्यवहारयोग्यत्वं लोकप्रसिद्धमेवेति । अथ च घृतशक्तिसमुचितशक्त्योरन्यकारणता प्रयोजनतेति । नामान्तरद्वयमपि ग्रन्थान्तरात्कथितमिति ज्ञेयम् । अथ आत्मद्रव्यमध्ये एतच्छक्तिद्वयं विविनक्ति ।

प्राक् पुद्गलपरावर्ते, धर्मशक्तिर्यथौघजा ।
अन्त्यावर्ते तथा ख्याता, शक्तिः समुचिताङ्गिनाम् ॥

यथाङ्गिनां प्राणिनां भव्यानां प्राक् पुद्गलपरावर्ते प्रथमपुद्गलपरावर्ते जात्येकवचनमर्थात् अनन्तेषु पुद्गलपरावर्तेषु सा कुतः प्राप्स्यते यतो " नासतो विद्यते भाव " इत्यादिवचनात् । तथा पुनः अन्त्यावर्ते चरमपुद्गलपरावर्ते धर्मशक्तिः समुचिता चरमपुद्गलपरावर्तकालो धर्मयौवनकालश्च कथ्यते । उक्तंच " अचरमपरियट्टेसु, कालो भववालकालगो भणिओ । चरमो उ धम्मजुव्वण, कालो तहवन्नभेओत्ति । " एतद्विंशत्यां पठितमिति । द्र० ।

ओहसामायारी–स्त्री० (ओघसामाचारी) ओघः सामान्यं तद्विषया सामाचारी । सामान्यतः संक्षेपाभिधानरूपौघनिर्युक्तिप्रतिपादितक्रियाकलापे, क्वचित् वाच्यवाचकयोरभेदादोघनिर्युक्तौ च । इह च सांप्रतकालप्रव्रजितानां तावत् श्रुतविज्ञानशक्तिविकलानामायुष्कह्रासविषये समपेक्ष्य ओघसामाचारी नवमात्पूर्वात्तृतीयवस्तुना आचाराभिधानात्तत्रापि विंशतितमात्प्राभृतात्तत्राप्योघप्राभृतप्राभृतात् (भद्रबाहुस्वामिना) निव्यूढा इयं च प्रथमदिवस एव दीयते प्रतिदिवसक्रियोपयोगिनीत्यादिति (त्रिविधसामाचारीभेदेषु) प्रथमोक्ता, ध० ३ अधि० । प्रव० । ओ० ।

ओहसिय–त्रि० (उपहसित) उप–हस्–क्त–**ऊचोपे ८ । १ । १७३ ।** उपशब्दे आदे स्वरस्य परेण सस्वरव्यञ्जनेन सह ऊत् ओचादेशौ वा भवत इति उप ओत्वम् । जातोपहासे, प्रा० ।

ओहसुय–न० (ओघश्रुत) उत्सर्गश्रुते, नं० ।

ओहसुयसमायारग–पुं० (ओघश्रुतसमाचारक) ओघश्रुतं समाचरन्ति ये ते ओघश्रुतसमाचारकाः । उत्सर्गश्रुतसमाचारकेषु नागार्जुनादिषु, । नं० ।

ओहस्सर–त्रि० (ओघस्वर) ओघेन प्रवाहेन स्वरो यासां (येषां) ता (ते) ओघस्वराः । प्रवाहिस्वरे, जी० ३ प्रति० । तं० " ताओणं घंटा ओहस्सराओ मेहस्सराओ " रा० ।

ओहाडण–न० (अवघाटन) आच्छादके, व्य० १ उ० ।

ओहाडिणी–स्त्री० (अवघाटिनी) आच्छादनहेतुकम्बलोपरिस्थाप्यमानमहाप्रमाणकलिं च स्थानीयेऽर्थे, " ओहाडिणीहारगहणं महतुजुल्लुकं तु पुच्छनी " । रा० इति । मूलटीकाकारः । जी० ३ प्रति० जं० ।

ओहाडिय–त्रि० (अवघाटित) पिहिते, " ओहाडियग्गदाराए " अवघा–टितं चिलिमिलिकया पिहितं द्वारमग्रद्वारं यासां ता अवघाटिताग्रद्वाराः । बृ० १ उ० । " ओहारियमव्वत्तं, च होइ पाएण

चितं तु " " ओहाडियंति " स्थगितं विषादिना तिरस्कृतस्वभावम् । आव० ५ अ० ।

ओहाण–न० (अवधान) उपयोगे, । ध० ३ अधि० आत्मनोऽर्थसाक्षात्करणव्यापारे, । आ० म० प्र० । चित्तं चेतना संज्ञानमुपयोगोऽवधानमिति पर्यायाः । आव० ६ अ० ।

अवधावन–न० विहारावधावनेन लिङ्गावधावनेन वा द्विविधे गणावक्रमणे । " अब्भुज्जतं ओहाणे, एक्केक्कदुभेदओ होज्ज वक्कमणं " नि० चू० १६ उ० ।

ओहाणुप्पेहि (ण्)–त्रि० (अवधावनोत्प्रेक्षिन्) अवधावनमपसरणं संयमत्तात्प्राबल्येन प्रेक्षितुं शीलं यस्य तथाविधः । उत्प्रव्रजितुकामे, द० १ चूलि० ।

ओहाम–धा० (तूल) भ्वा० पर० सक० सेट्–इयत्तापरिच्छेदे, **तुलेरोहामः ८ । ४ । २५** । इति तूलेर्ण्यन्तस्य ओहाम इत्यादेशो वा भवति । ओहामइ । तुलइ तूलति । प्रा० आ० चू० ।

ओहारयित्ता–त्रि० (अवधारयितृ) शङ्कितस्याप्यर्थस्य निःशङ्कितस्यैवमेवायमित्यर्थवक्तरि, ।

***अवहारयितृ**–त्रि० परगुणानामवहारकारिणि, यथा अदासादिकमपि परं भणति दासस्त्वं चौरस्त्वमित्यादि "अभिक्खणं ओहारयित्ता भवइ" । असमाधिस्थानमेकादशम् । स० २० स० दशा० ।

ओहारण–न० (अवधारण) तत्तदाशङ्कितान्ययोगव्यवच्छेदादिफले निश्चये, आव० ६ अ० विशे० (णय शब्देऽस्योदाहरणानि) सर्वं वाक्यं सावधारणमामनन्ति नं० । आ० म० प्र० ।

ओहारणी–स्त्री० (अवधारणी) अवधार्यतेऽवगम्यते अनयेत्यवधारणी । भ० २ श० ६ उ० अशोभन एवायमित्यादिरूपायाम् जी० ४ प्रति० अवबोधबीजभूतायाम्, प्रज्ञा० १० पद० निश्चयात्मिकायां वा भाषायाम् " मुसं परिहरे भिक्खू न य ओहारणिंवए " उत्त० १ अ० " ओहारणिं अप्पियकारिणिं च भासं न भासिज्ज सया स पुज्जो " द० ८ अ० ३ उ० (इति तद्भाषणनिषेधः से भूणं भंते ! मणामीति ओहारिणी भासा इत्यादिभासाशब्देऽस्याः स्वरूपभावेदिष्यते) ।

ओहाव–धा० (आ–क्रम्) आक्रमणे, भ्वा–उभ० **आक्रमेरोहावोत्थारच्छुं दाः ८ । ४ । १६०** आक्रमेरेते त्रय आदेशा वा भवन्ति इति आक्रमेरोहावादेशः । ओहावइ अक्कमइ आक्रामति । प्रा० ।

ओहावण–न० (अवधावन) व्रतपर्यायादवाङ्मुखीभवने, । व्य० १ उ० । उत्प्रव्राजने, । व्य० ३ उ० । अवसरणे, द० १ चूलि० ।

निग्गमणमवक्कमणं, निस्सरणपलायणं च एगट्ठा ।
लोट्टणलुट्टणपलोट्टण–ओहावणं चेव एगट्ठा ॥

निर्गमनमपक्रमणं निस्सरणं पलायनमित्येकार्थाः । लोटनं लुट्टनं प्रलोटनमवधावनमिति चैकार्थाः । तत्र लोटनमिति लुउविलोठने इत्यस्यैव प्रपूर्वस्य पर्यायशब्दैरप्यधिकृतशब्दार्थप्रतीतिरुपजायते । तत्वभेदपर्यायैर्व्याख्येति वचनमप्यस्ति । ततस्तदुपन्यास इति व्य० १ उ० । गणादवधावेत्पुनस्तत्रैवागच्छेत् तत्र प्रायश्चित्तम् । व्य०, अ० ।

भिक्खू य गणाओवक्कम्म अहाणुपेहो वजेज्जा से अहच्च अणेधाइतो से य इच्छेज्जा दोच्चं पि तमेव गणं उवसंपज्जित्ता णं विहउत्तरा तत्थ णं थेराणं इमेयारूवे वियाए समुपज्जित्ता इमणं अज्जो जाणह किं परिसेविअपरिसेवी से य पुच्छियव्वे किं परिसेवी अपरिपसेवि से य वएज्जा परिसेविपरिहारपत्ते जे से पमाणं वयति से पमाणे घेतव्वे से किं एव माहु भंते ! सच्चपइण्णववहारस्स ।

भिक्षुश्च गणाद्गच्छादपक्रम्य अवधावनमसंयमगमनं तदनुप्रेक्षा व्रजेत् । स चानवधावित एव असंयमगत एव सन् इच्छेत् इति द्वितीयमपि वारं तमेव गणमुपसंपद्य विहर्तुं तत्र स्थविराणामयं वक्ष्यमाणस्तद्रूपोऽनन्तर एवोच्यमानरूपो विवादः समुत्पद्यते । इद भो आर्या ! जानीत किमयं प्रतिसेवी किंवा नेति तत्र स प्रष्टव्यः । किं प्रतिसेवी किं वा नेति । तत्र स प्रष्टव्यः । किं स प्रतिसेवी अप्रतिसेवी वा कृतप्रतिसेवानाकः । तत्र यदि स वदेत्प्रतिसेवी ततः परिहारं प्राप्तः प्रायश्चित्तं प्राप्तः स्यादथ वदेत् । न प्रतिसेवी तर्हि नो परिहारं प्राप्तो भवति । यत्स प्रमाणं वदति तस्मात्प्रमाणो ग्रहीतव्यः सत्योऽसत्यो वा । अथ कस्मादेवमाहुर्भदन्त ! सूरिराह । सत्यप्रतिज्ञाव्यवहारास्तीर्थकृद्भिर्दर्शिता इति कृता एषा सूत्राक्षरगमनिका संप्रति निर्युक्तिभाष्यविस्तरः ।

सो पुण लिंगेण समं, ओहावइ मोच्छु लिंगमहवा वि ।
किं पुण लिंगेण समं, ओहावइ मेहिं कज्जेहिं ॥

स पुनरवधानानपेक्षः कोऽपि लिङ्गेन सममवधावेत । अथवा कोऽपि मुक्त्वा लिङ्गं तत्र शिष्यः प्राह । किं केन कारणेन पुनर्लिङ्गेन सममेव धावति सूरिराह । एतैर्वक्ष्यमाणैः कार्यैः कारणैः " कज्जंति वा कारणं ति वा एगट्ठमिति " वचनात् तान्येव कारणान्यभिधित्सुराह–

जइ जीवेहिंति भज्जाइ, जइ वावितं धणं धरइ जइ बोच्छं ।
तो लिंगमोच्छसंका, पविट्ठे तत्थेव उवहम्मे ॥

यदि भार्य्यादयो मे जीविष्यन्ति जीवतो द्रक्ष्यमीति भावः । यदिवा तन्मे पितृपितामहोपार्जितं स्वभुजोपार्जितं वा धनं धरति विद्यमानमवतिष्ठते यदि वा वक्ष्यन्ति मुञ्च व्रतं भुङ्क्ष्व विपुलान्भोगानिति तदाहं लिङ्गं मोक्ष्यामि नान्यथा । एवं शङ्कया व्रजतस्तस्य संघाटको दातव्यः किं कारणमिति चेत् उच्यते । कदाचित्तेन संघाटकेनान्येन वाऽनुशिष्यमाणः प्रतिनिवर्तेतापीति हेतोः । तथा संघाटके प्रतिनिवृत्ते सति किमुत प्रव्रजामि । किंवा नेति शङ्काप्रविष्टो रात्रौ व्युषितो भवेत् तदेव कारणमभिधित्सुराह–

गच्छंमि केइ पुरिसा, सीयंते विसयमोहियमयिया ।
ओहावंताणगणा, चउव्विहा तेसिमा सोही ॥

गच्छे केचित्पुरुषा विषयमोहितमतिका रूपादिकविषयविपर्यासितमतयो गणात् गच्छादवधावन्ति । तेषां तथा गणादवधावतां केनापि समनुशिष्टानामथवा न सुन्दरं वयं कुर्म इति । स्वयमेव परिभाव्य विनिवृत्तानामियं वक्ष्यमाणा चतुर्धा चतुःप्रकारा शोधिः प्रायश्चित्तं भवति । तामेवाह–

दव्वे खेत्ते काले, भावे सोही उ तत्थिमा दव्वे ।
राया जुवे अमच्चे, पुरोहियकुमारकुलपुत्ते ॥

द्रव्ये द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतः भावतश्च । तत्र तासु चतसृषु शोधिषु मध्ये द्रव्ये द्रव्यविषया इयं वक्ष्यमाणा अन्ये पुनरिदं वदन्ति द्विविधा द्रष्टव्या शोधिः । सचित्तविषया अचित्तविषया च । तत्र सचित्तविषया " छक्कायचउसु लहुगा " इत्यादिका पूर्ववर्णिता । अचित्तविषया उद्गमोत्पादादिकौघनिष्पन्ना । यद्वा

कल्पिकं यच्च कल्पनीयमपि सूत्रेण प्रतिविद्धं तं तद्विषया। सर्वापि शोधिः द्रव्यत इति भाष्यकारः। संप्रति ज्ञातां द्रव्यशोधिमाह " राया इत्यादि."

राजा प्रतीतः तस्मिन् युवराजे अमात्ये पुरोहिते कुमारे कुलपुत्रे द्रव्यशोधिरिति वाक्यशेषः। कथमेतद्विषमा द्रव्यशोधिरत आह।

एएतिं रिद्धिं तो, दट्ठुं लोभाउ संनियत्तंते।
पणगादीया सोधी, बोधव्वा मासलहुअंता॥

एतेषां राजादीनां ऋद्धिं दृष्ट्वा अहो धर्मस्य फलं साक्षादुपलभ्यते तस्मादहमपि करोमि। धर्ममिति लोभाद्भोगाभिष्वङ्गरूपात् सन्निवर्तमाने षष्ठीसप्तम्योरर्थं प्रत्यभेदात्। सम्यग्निवर्तमानस्य बोधव्या शोधिः। पञ्चकादिमासलघुपर्यन्ता। तद्यथा राजानं स्फीतिमन्तमुपलभ्य अहो धर्मप्रभावतः कथमेषः स्फीतिमान्। तस्मान्न त्यजामि धर्ममिति प्रतिनिवर्तमानस्य पञ्चरात्रिन्दिनानि। अमात्यं दृष्ट्वा पञ्चदश, पुरोहितं विंशतिः, कुमारं पञ्चविंशतिः। कुलपुत्रं मासलघुकमिति।

चोएती कुलपुत्ते, गुरुगतरं राइणो उ लहुगतरं।
पच्छित्तं किं कारणं, भणियं सुण चोयग इमं तु॥

चोदयति परः किं कारणं केन कारणेन कुलपुत्रेऽल्पर्द्धिके दृष्टे निवर्तमानस्य गुरुकतरं प्रायश्चितं भणितं, राज्ञो महर्द्धिकस्य दर्शनेन प्रतिनिवर्तमानस्य लघुकतरमत्र सूरिराह। चोदकाय येन कारणेनेत्थं प्रायश्चित्तं नानात्वं तत्कारणमिदं वक्ष्यमाणं शृण्वेतदेवाह-

दीसइ धम्मस्स फलं, पेच्चत्थं तत्थ उज्जमं कुणिमो।
इड्ढीसु पइणवीसु वि, सज्जंते होइ नाणत्तं॥

दृश्यते खलु धर्मस्य फलं साक्षात् तस्मादत्र धर्मे वयमुद्यमं कुर्मः। एवमृद्धिषु राजसंबन्धिप्रभृतिषु प्रभूतास्वपि यथाक्रमं हीममानतरास्वपि सज्यते सङ्गममुपयाति। यथा यथाल्पतरा स्वपि ऋद्धिषु सङ्गममुपपद्यते। तथा तथा लक्ष्यते तीव्रातीव्रतरा तस्य भोगासक्तिरित्युक्तप्रकारेण भवति। प्रायश्चित्तनानात्वमिति। अपरे त्वियं भावशोधिरिति प्रतिपन्ना संप्रति क्षेत्रतः शोधिमभिधित्सुराह-

खेत्ते निवपहनगरद्वारे उज्जाणा सीमहिक्कंते।
पणगातीईआ लहुओ, एएसु च सन्नियत्तंते॥

क्षेत्रे क्षेत्रविषयां एतेभ्यः सन्निवर्तमाने इत्यत आह (निवपहेत्यादि) अत्रापि सप्तमी पञ्चम्यर्थे। ततोऽयमर्थः। नृपपथान्नगरद्वारादुद्यानादुद्यानात्परतः सीम्नोर्वा तथा सीम्नः सीमातिक्रमतः किंप्रमाणा शोधिरत आह। पञ्चकादिका यावल्लघुको मासः। इयमत्र भावना। राजपथात्पञ्चरात्रिन्दिनानि नगरद्वाराभिवर्तमानस्य दश, उद्यानात्पञ्चदश उद्यानात्परतः सीम्नोर्वा निवर्तमानस्य विंशतिरहोरात्राः सीम्नो भिन्नमासः सीमानमतिक्रम्य मासलघुः।

संप्रति कालतः शोधिमाह-

पढमेदिणनिवत्तंते, लहुओ दसहिं सपदं भवे।
काले संयोगे पुण, एत्तो दव्वे य खेत्ते य॥

यदि प्रथमे दिवसे निवर्तते ततस्तस्मिन् प्रथमे दिवसे निवर्तमाने लघुको मासलघु प्रायश्चित्तम्। एवं यावत् दशभिर्दिवसैः स्वपदं दशमं प्रायश्चित्तम् भवति। तद्यथा द्वितीये दिवसे निवर्तमानस्य मासगुरु तृतीये दिवसे चतुर्मासलघु। चतुर्थे चतुर्मासगुरु। पञ्चमे षट्लघु षष्ठे षड्गुरु। सप्तमे छेदः। अष्टमे मूलम्। नवमे अनवस्थाप्यम्। दशमे पाराञ्चितमिति। एषा काले कालविषया शोधिः भावतो वक्ष्यमाणा। संप्रत्यत ऊर्ध्वं द्रव्ये क्षेत्रे काले च यः संयोगस्तस्मिन् वक्ष्ये प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति।

दव्वस्स य खेत्तस्स य, संजोगे होइ मा पुण विसोही।
रायाणं रायपहे, दट्ठुं जासीमतिक्कंतो॥
पणगादीआ मासो, जुवरायं निवपहाइ दट्ठूणं।
दसराइंदियमाई, मासगुरु होइ अंतंमि॥

द्रव्यस्य क्षेत्रस्य च संयोगे संबन्धे पुनरियं वक्ष्यमाणा भवति विशोधिस्तामाह। (रायाणमित्यादि) येषां हि राजादिकं द्रव्यं नृपपथादिकं क्षेत्रमधिकृत्योच्यते इतीयं द्रव्यक्षेत्रसंयोगजा विशोधिः। तत्र यदि राजानं राजपथे दृष्ट्वा निवृत्तः। ततस्तस्य पञ्चकं पञ्चरात्रिन्दिवं प्रायश्चित्तमेवं क्षेत्रं राजपथमादिं कृत्वा राज्ञि च द्रव्ये पञ्चकादिप्रायश्चित्तं क्रमेण तावद्वक्तव्यं यावत्क्षेत्रतः सीमातिक्रान्ते राज्ञि प्रायश्चित्तं यावन्मासस्तद्यथा नगरद्वारे राजानं दृष्ट्वा निर्वतमानस्य दशरात्रिन्दिवानि उद्यानान्निवर्तमानस्य पञ्चदश उद्यानस्य सीम्नश्चान्तरा, तु विंशतिकं सीम्नो निवर्तमानस्य मासलघु। युवराजं द्रव्यं नृपपथादि क्षेत्रमेतद्दृष्ट्वा निर्वतमानस्य दशरात्रिन्दिवानि नगरद्वारे पञ्चदश उद्याने विंशतिरुद्यानसीम्नोरपान्तराले पञ्चविंशति सीम्नि मासलघु सीमातिक्रमेण मासगुरु।

सचिवे पण्णदसादि, लघुगतं वीसमादि उ पुरोहे।
अंतम्मि चउगुरुगं, कुमारमिन्नादिआ छेओ॥

सचिवे राजपथादिषु क्रमेण पञ्चदशादि चतुर्लघुपर्यन्तम्। तद्यथा राजपथे सचिवं दृष्ट्वा निर्वतमानस्य पञ्चदश रात्रिन्दिवानि नगरद्वारे विंशतिउद्याने सीम्नोरन्तराले मासलघु। सीम्नि मासगुरु। सीमातिक्रमे चतुर्मासलघु। तथा पुरोधसि विंशत्यादि प्रायश्चित्तमन्ते चतुर्गुरुकम्। तद्यथा राजपथे पुरोधसं दृष्ट्वा निवर्तमानस्य विंशतिरहोरात्रं नगरद्वारे पञ्चविंशतिउ द्याने मासलघु। उद्यानसीम्नोरपान्तराले मासगुरु। सीम्नि चतुर्मासगुरु। कुमारे भिन्नमासादि यावत् षट्लघु। तद्यथा राजपथे कुमारं दृष्ट्वा निवर्तमानस्य भिन्नो मासः। पञ्चविंशतिरात्रो, रात्रावित्यर्थः। नगरद्वारे मासलघु। उद्याने मासगुरु उद्यानसीम्नोरपान्तराले चतुर्मासलघु। सीम्नि चतुर्मासगुरु। सीमातिक्रमेण मासलघु।

कुलपुत्ते मासादी, छग्गुरगं होइ अंतिमेट्ठाणे।
एत्तो य दव्वकाले, संयोगमिमं तु वोच्छामि॥

कुलपुत्रे मासादिमासलध्वादिप्रायश्चित्तं क्रमेण तावद्द्रष्टव्यं यावदन्तिमस्थानं षड्गुरुकं भवति। तद्यथा राजपथे कुलपुत्रं दृष्ट्वा निवर्तमानस्य मासलघु। नगरद्वारे मासगुरु। उद्याने चतुर्लघु। उद्यानसीम्नोरपान्तराले चतुर्गुरु। सीम्नि षण्मासलघु। सीमातिक्रमेण मासगुरु। तदेव द्रव्यक्षेत्रसंयोग उक्तम्। इत ऊर्ध्वं द्रव्ये काले च संयोगमिमं वक्ष्यमाणं वक्ष्यामि यथा प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति।

रायाणं तद्दिवसं, दट्ठूण नियत्ते होइ मासलहुं।
दसहिं दिवसेहिं सपयं जुयरण्णादि तवो वोच्छं॥

राजानं दृष्ट्वा तस्मिन् दिवसे यदि प्रतिनिवर्तते। तेन तु अव-

धानानन्तरं तत्क्षणमेव तदा तस्य मासलघु प्रायश्चित्तम् । एवं क्रमेण तावद्वक्तव्यं यावद्दशभिर्दिवसैः स्वपदं दशमं प्रायश्चित्तं भवति । तद्यथा द्वितीये दिवसे राजानं दृष्ट्वा निवर्तमानस्य मासगुरु । तृतीये दिवसे चतुर्गुरु । पञ्चमे षण्मासलघु । षष्ठे षण्मासगुरु । सप्तमे छेदः । अष्टमे मूलं । नवमे–ऽनवस्थाप्यम् । दशमे पाराञ्चितम् । सांप्रतमत ऊर्ध्वं युवराजादिमधि–कृत्य वक्ष्यामि । प्रतिज्ञातमेव करोति ।

मासगुरु चउलहुया, चउगुरु छल्लहु छग्गुरुकमादी ।
नवहिं अट्ठहिं सत्तहिं, छहिं पंचहिं चेव चरमपयं ॥

युवराजामात्यपुरोहितकुमारकुलपुत्रेषु यथाक्रमं प्रथमदिवसे मासगुरु चतुर्लघुकं चतुर्गुरुकं षट्लघु षट्गुरुकादि कृत्वा यथाक्रमं नवभिरष्टभिः सप्तभिः षड्भिः पञ्चभिश्च दिवसैश्चरमं पाराञ्चितं वक्तव्यम् । तद्यथा प्रथमे दिवसे युवराजं दृष्ट्वा निवर्तमानस्य मासगुरु । द्वितीये दिवसे चतुर्मासलघु । तृतीये दिवसे चतुर्मासगुरु । चतुर्थे दिवसे षण्मासलघु । पञ्चमे दिवसे षण्मासगुरु । षष्ठे छेदः । सप्तमे मूलमष्टमेऽनवस्थाप्यं नवमे पाराञ्चितम् । तथा अमात्यं दृष्ट्वा प्रथमे दिवसे निवर्तमानस्य चतुर्मासलघु । द्वितीये दिवसे चतुर्मासगुरु । तृतीये षण्मासलघु । चतुर्थे षण्मासगुरु । पञ्चमे छेदः । षष्ठे मूलं । सप्तमे अनवस्थाप्यम् । अष्टमे पाराञ्चितमिति । तथा पुरोहितं दृष्ट्वा प्रथमे दिवसे निवर्तमानस्य चतुर्मासगुरु । द्वितीये षण्मासलघु । तृतीये षण्मासगुरु । चतुर्थे छेदः । पञ्चमे मूलं । षष्ठे अनवस्थाप्यं । सप्तमे पाराञ्चितम् । यथा कुमारं दृष्ट्वा प्रथमे दिवसे निवर्तमानस्य षण्मासलघु । द्वितीये दिवसे षण्मासगुरु । तृतीये छेदः । चतुर्थे मूलम् । पञ्चमे अनवस्थाप्यम् । षष्ठे पाराञ्चितम् । तथा कुलपुत्रकं प्रथमे दिवसे दृष्ट्वा निवर्तमानस्य षण्मासगुरु । द्वितीये छेदः । तृतीये मूलम् । चतुर्थे अनवस्थाप्यम् । पञ्चमे पाराञ्चितमिति । उपसंहारमाह-

दव्वे खेत्ते काले, भणिया सोही उ भावइणमण्णा ।
दंमियभूणगसंकंते भोइया विवण्णभुंजणे दोसु ॥

इत्येवमुक्तेन प्रकारेण प्रत्येकं संयोगतश्च दव्ये क्षेत्रे काले च भणिता शोधिरिदानीं भावत इत्ययमन्ये द्रव्यक्षेत्रकालव्यतिरिक्ता भण्यन्ते इति वाक्यशेषः । प्रतिज्ञातमेव कुर्वन् द्वारसंग्रहमाह । दण्मिते राज्ञा भूणके देशीपदमेतत् बालकेषु पुत्रादावित्यर्थः । मृते इति वाक्यशेषः । तथा संक्रान्ते परपुरुषं गते विपन्ने मृते कलत्रे इति गम्यते । तथा (दोसुत्ति) तृतीयार्थे सप्तमी । यथा " तिसु तेसु अलंकिया पुहवी " इत्यत्र ततोऽय–मर्थः । द्वाभ्यां पुरुषाभ्यां स्त्रीभ्यां वा वक्ष्यमाणस्वरूपाभ्यां भोजने भावतः शोधिर्भवति । तत्र यथोद्देशं निर्देश इति प्रथमतो दण्डितादिद्वारत्रयमाह-

दंडिय सो उ नियत्ते, पुत्तादिमए व चउलहू हुंति ।
संकंतमयाए वा, भोएते चउगुरू हुंति ॥

यत्र स संप्रस्थितः तत्र ते मनुष्याः कस्मिंश्चिदपराधे राज्ञा दण्डिताः । यदि वा तेषां पुत्रादिकं किमपि मृतं अथवा द्वयमपीदं जातं ततो दण्डित–वान् यदि वा पुत्रादीन् मृतानथवा उभयमपि श्रुत्वा निवर्तते । ततो निवृत्ति–निवृत्तस्य प्रायश्चित्तं चत्वारो लघुमासा भवन्ति । तथा भोजिका नाम भार्या सान्यपुरुषं संक्रान्ता । अथवा मृता श्रुता ततोऽन्यपुरुषसंक्रान्तायां मृतायां वा भोजिकायां निवर्तमानस्य चत्वारो गुरुका गुरुमासा भवन्ति । संप्रति (भुंजणे दोसुत्ति) व्याख्यानयति ।

अह पुण भुंजेज्जाही, होहि उ वग्गेहि तवो समयं तु ।
इत्थीहिं पुरिसेहिं, तवोहियं आरोवणा इणमो ॥

अथ पुनस्तत्र गतः सन् द्वाभ्यां वर्गाभ्यामेतदेव व्यक्तमाचष्टे । स्त्रीभ्यां पुरुषाभ्यां वा समकं सार्धं तु शब्दो वाल्पप्रमाणं समस्तविशेषसूचकः । भुञ्जीत तत्र इयमनन्तरमुच्यमाना आरोपणा प्रायश्चित्तं । तमेवाह-

लहुगा य दोसु दोसु य, गुरुगा छम्मासगुरु लहूछेदो ।
निक्खिवणं चिय मूलं, जं सेवइ तं समावज्जे ॥

सेव्यते स्त्रीनपुसकादिकं तन्निष्पन्नमपि प्रायश्चित्तं तस्य भवति एष गाथासंक्षेपार्थः । सांप्रतमेनामेव विवरीषुः प्रथमतो " लहुगा य दोसु स गुरुगा " इति व्याख्यानयति ।

पुरिसे य नालबद्धे, अणुव्वतो पासएण चउलहुगा ।
एयासुं वि य थीसुं, अनालबद्धे य चउगुरुगा ॥

अत्रापि सर्वत्र सप्तमीतृतीयार्थे पुरुषेण नालबद्धेन तुशब्दो विशेषणार्थः । स चैतद्विशिनष्टिः । मिथ्यादृष्टिना अथवाऽणुव्रतोपसकेन नालबद्धेन एताभ्यां द्वाभ्यां पुरुषाभ्यां चशब्दस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वात् । दर्शनामात्र–श्रावकेण च सार्धं भुञ्जानस्य प्रायश्चित्तं चत्वारो लघुका व्याख्यातम् "लघुकायदोसु तिगुरुगा" इति व्याख्यानयति । "एयासुं वि य थीसुमिति" । एताभ्यामेव स्त्रीभ्यां किमुक्तं भवति । नालबद्धमिथ्या-दृष्टिस्त्रिया नालबद्धाणुव्रतोपासकस्त्रिया वा सार्धं भुञ्जानस्य चतुर्गुरुका 'अनालबद्धे य चउगुरुगा' इति । अनालबद्धमिथ्यादृष्टिपुरुषेण अनालबद्धाणुव्रतोपासकेन वा समं भुञ्जानस्य चतुर्गुरुका इति व्याख्यापनार्थमाह ।

अनालदंसणित्थिसु, दिट्ठभट्ठपुरिसे छल्लहुया ।
दिट्ठित्ति पुन अदिट्ठे, मेहुणभोजीए छग्गुरुगा य ॥

अनालबद्धा दर्शनमात्रश्राविका यश्च पूर्वं दृष्टः सन् तदानीमाभाषितः पुरुषस्तेन च समं भुञ्जानस्य षट्लघुकाः । तथा (दिट्ठित्ति) पदैकदेशे पदसुमदायोपचारात् । पूर्वं या दृष्टा भाषिता तथा अदृष्टाऽभाषिता तेन पुरुषेण तथा (मेहुणत्ति) मैथुनवया मैथुनजीवया वेश्यया इत्यर्थः । तथा भोजिकया भार्यया एतैः चतुर्भिः सह भुञ्जानस्य षण्मासगुरुवः ।

संप्रति छेद इति व्याख्यानार्थमाह-

अदिट्ठभट्ठासुं थीसुं, संभोइए संजती छेदो ।
अमणुण्ण संजतीए, मूलं थीभावसंबंधो ॥

पूर्वमदृष्टाभिस्तदानीमाभाषिताभिः स्त्रीभिः सह तथा सांभोगिके संयत्याऽपि च समं भुञ्जानस्य छेदः । तथा असांभोगिकसंयत्या सह भोजने । तथा स्त्रीस्पर्शसंबन्धे च मूलं प्रायश्चित्तम् ।

सांप्रतमत्रैव व्याख्यानान्तरमाह ।

अहवा वि पुव्वसंथुय–पुरिसेहिं सिद्धचउलहू हुंति ।
पुरिसं थुहइत्थीए, पुरसेयरदोसु वि गुरुगा ॥

अथवेति प्रकरान्तरोपदर्शनेन पूर्वसंस्तुतपुरुषैः सह पूर्वसंस्तुतस्त्रिया च समं भुञ्जानस्य चत्वारो लघुका लघुमासा भवन्ति । एतेन (लहुगा य दोसुत्ति) व्याख्यातम् । तथा पुरुषेतराभ्यां पुरुषस्त्रीभ्यां द्वाभ्यामपि च भुञ्जानस्य गुरुकाश्चत्वारो गुरुमासाः । अनेन " दोसु य गुरुगा " इति व्याख्यातम् ।

पच्छा संथुयइत्थी--ए छलहु मेहुणीए चउगुरुगा।
समणुण्णेयरसंजति, छेदो मूलं जहा कमसो ॥

पश्चात्संस्तुतया सह भुञ्जानस्य षट् लघवः। मैथुनक्या मैथुन–जीवनया पण्याङ्गनया इत्यर्थः। मनोज्ञसंयत्या सह भुञ्जानस्य छेदः। अमोज्ञया संयत्या सह मूलम्। पुनः प्रकारान्तरमाह।

अहवा पुर संथुए तरपुरिसत्थी सो स सो स वादीसु।
समणुन्नेयरसंजइ, अट्ठेकंतीए मूलं तु ॥

अस्य व्याख्यानं कल्पाध्ययनचूर्णितः कर्तव्यम्। संप्रति यदुक्तं प्राक् "संवणं सेवते दुविहं ति" तद्व्याख्यानार्थमाह-

थीविग्गहकिलिवं वा, मेहुणकम्मं व चेयणमचेयं।
मूलुग्गमकोडिदुगं, परित्तणंतकाएमादी ॥

स्त्रीविग्रहो नाम स्त्रीशरीरं क्लीवो नपुंसकम्। एतद् द्विकं यत्सेवते। अथवा (मेहुणत्ति) मैथुनं (कम्मत्ति) हस्तकर्म। अथवा सचित्तमत्तित्तं वा यत्प्रतिसेवते। यदि वा मूलगुणविषयं यदिवा उद्गमकोटि विशुद्धिकोटि अथवा (परीतमिति) प्रत्येकशरीरम् (अनंतत्ति) अनन्तकायमेवमादि द्विविधं द्रष्टव्यम्। आदिशब्दात्तिर्यग्योनिकं मानुषिकं वा मैथुनमित्यादिकं द्विपरिग्रहः।

एएसिं तु पयाणं, जं सेवइ पावई तमारुयणं।
अन्नं तु जमावज्जे, पावइ तं तत्थ तहियं तु ॥

एतेषामनन्तरोदितानां स्त्रीविग्रहक्लीवादीनां पदानां मध्ये यत्सेवते नामारोपणं तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तं प्राप्नोति। अन्यच्च यदा पद्यते संयमविराधना प्रत्ययं प्रायश्चित्तं तदपि तत्र प्राप्नोति।

तत्तो य पडिनियत्ते, सुहुमं परिनिव्ववंति आयरिया।
भरियं महातलागं, गलफलदिट्ठंतो चरणम्मि ॥

ततस्तस्मात् अवधावनाप्रतिनिवृत्तात्। यथा सूक्ष्मन्ते जानन्ति सूरयोऽस्माकमुपरि तथैव सस्नेहा वर्तन्ते। इत्येवमतिकोमलेनोपायेनाचार्याः परिनिर्वापयन्ति। सुखापयन्ति। येन ते सर्वमालोचयन्ति तेनानन्तरमेवं वदेयुः। यथा चारित्रमस्माकं सर्वं गलितमस्मभ्यं व्रतानि दत्थ। एवमुक्ते सूरिभिः चरणे चरणविषये भरितं महातमागमतिचरणादेव कस्मिंश्चित्प्रदेशे पालीभेदात् गलदुदकं तत्क्षणादेव पतितेन फलेन तत्प्रदेशापूरणान्निरुद्धोदकं दृष्टान्तः करणीयः। इह "सुहुमं परिनिव्ववंती" त्युक्तम्। तच्च सूक्ष्मं परिनिर्वापणं द्विविधं। तद्यथा। लौकिकं लोकोत्तरिकं च। तत्र लौकिकं यथा रौहिणिकचौरस्याभयकुमारेण कृतम्। तच्चैवं "रायगिहं नगरं तत्थ रोहिणेओ चारो वाहिं दुग्गे ट्ठितो सगलं नगरं मूसइ। न कोइ तं घेत्तुं सक्कइ। अन्नया वद्धमाणसामी समोसढो तित्थगरवयणं सोउं चोरिउं न कहामित्ति कण्णे ठएइ तस्सेवं वोलमाणस्स। कंटकोपायलग्गो तं जाव एगेण हत्थेण उद्धरइ। ताव तित्थगरो इमं गाहत्थं पण्णवेइ "अमिला य मल्लदामा, अणिमिसनयणाय नीरजसरीरा। चउरंगुलेण भूमिं, न छिवंति सुरा जिणो कहए" सुरा देवाश्चतुर्निकायभाविनोऽपि अम्लानमाल्यदामानस्तथा न विद्यते निमेषो येषां ते। तथा अनिमेषे नयने येषां ते अनिमेषनयनाः। तथा नीरजा निर्मलं शरीरं येषां ते नीरजाः शरीराः। चतुरङ्गुलेन चतुर्भिरङ्गलैः भूमिं न स्पृशन्तीतिः। जिनः सर्वज्ञः कथयति। अनेन सर्वतीर्थकृतामविसं वादिवचनतामावेदयति। एवं "सो उ कंटगं उद्धरित्ता पुणो कण्णे ठवेउं गतो अन्नया सो रोहिणेयो रायगिहमतिगतो रत्तिं चोरोत्ति गहितो न य तज्जइ रोहिणेओ उयाहु अन्नो चोरो ततो पिट्ठिउमाढत्तो भण्णइ य अक्खाहि सव्वं तुमं रोहिणातो न वत्ति। जइ रोहिणेओ तोसिया तो मुयामो। एवं सो स नीतिसत्थपविट्ठाहिं अट्ठारसहिं कारणेहिं एक्केक्काउं पुच्छिज्जइ। सो न कहेइ कहाकहं रोहिणेओ चोरोत्ति। ताहे अट्ठारसमा सुहुमा कारणा करिउ माढ त्तामज्जं पाइत्तो मत्तो निव्वेयणो जातो ताहे देवलोगभवणसरिसं भवणं काउं। तत्थ महरिहे सयणिज्जे तिवज्जा ठितो ततो पडिबोहिवेलाए निव्वत्तिज्जमाणे ताहिं भणइ। तुमं देवलोए उववण्णो देवलोएय एसो अणुभावो जो पुच्छित्तो पुव्वभवं सम्मं अक्खाति सो चिरट्ठिती देवतो अत्थत्ति जो न अक्खाइ सो तक्खणं पाडति तो मा अम्हे अणाहा काहिसि सव्वं अक्खाहि। ततो रोहिणीएण तित्थयरवयणं संभरित्ता चिंतियं। अदूतिवयणा तित्थगरा सामिणा भणियं। 'अभिलाय इत्यादि' इमं सव्वं वि तहं दीसइ। तो कयगं एयंति भणइ नाहं रोहिणेतो ततो मुक्को रोहिणिएण चिंतियं। अहो एगस्स वि सामिणो वयणस्स केरिसं माहप्पं। अहं जीवियसुहआभोगी जातो जइ पुण निग्गंथं पावयणं सुणोमि। तो जह लोए य सुहिओ भवामित्ति चिंतिऊण पव्वइओ"। उक्तं सूक्ष्मं लौकिकं परिनिर्वापणं तथाचाह-

सुहुमाइ कारणा खलु, लोए एमादि उत्तरे इणमो।
मिच्छदिट्ठीहिं कया, किंतु हु मे तत्थ उवसग्गो ॥

सूक्ष्मा खलु कारणयतना एवमादिका एवं प्रभृति आदिशब्दात्प्रभूतान्येवंविधो दृष्टान्तः सूचकः। उत्तरे लोकोत्तरे इयं वक्ष्यमाणस्वरूपा कारणता तामेवाह। मिथ्यादृष्टिभिः किंतु कृता मे भवतस्तत्र गतस्योपसर्गाः किमुक्तं भवति। न तव वत्स! विरूपाचरणे किमपि चित्तं केवलं यदि मिथ्यादृष्टिभिः बलात्कारेण किमपि कारितः स्यात्। तत्र किं प्रतिसेवितं किं वा न प्रतिसेवितमिति एवमुक्ते सति यत्करोति तदाह-

अवि संधरति सिणेहो, पोराणो आइओ निप्पिवासाइ।
इह गोरवमारुवितो, कहेइ सव्वं जहा वत्तं ॥

अपीति संभावने संभावयामीत्येतत पुराणायामवस्थायां भवः पौराणः स्नेहः आयातोऽद्यापि निष्पिपासया मदी निष्पिपासया मदीया वैय्यावृत्यादिपियासाव्यतिरेकेणापि धरति विद्यते इति। एवं गौरवमारोपितः सन् किमेतेषां कुर्मो जीवितमपि मदीयमेतेवामेवेति। मत्वाऽतो यथावृत्तं समस्तमपि कथयति। एतदेव स्पष्टतरमाचष्टे।

एवं भणितो संतो, उन्नुइत्तो सो कहेइ सव्वं तु।
जं जेणं समणुभूयं, जं वा से तहिं कयं तेहिं ॥

एवं पूर्वप्रदर्शितेन प्रकारेण भणितः सन् (उन्नुइत्तोत्ति) देशीपदमेतत्। गर्वे वर्तते अतोऽयमर्थः। अहमेव गुरूणां मान्यो नान्य इति गौरवमारोपितः। सर्वमेव तुरवधारणे यदनेन स्वयं समनुभूतं यद्वा (से) तस्य तैर्मिथ्यादृष्टिभिः कृतं तत्समस्तमेव कथयति। तत्र यदि सोऽगीतार्थो भवति तत इदं ब्रूते।

ण्हणादीणि कयाइं, देह वए मज्झं वएतु अगीतो।
पुव्वं च उवसग्गो, किलिट्ठभावो अहं आसि ॥

मया स्नानादीनि स्नानाङ्गरागादीनि तथा पूर्वमुपसर्गादुपसर्गेष्वनारब्धेष्वहं संक्लिष्टपरिणामोऽभवमुपसर्गप्रारम्भसमकालमेव पुनर्विशुद्धपरिणामो जात इति। तत एतेन कारणेन मह्यं ददत।

यूयं व्रतानि ममारोपयतेति भावः। इति अगीतोऽगीतार्थो ब्रूते। एवं तनोक्ते यदाचार्येण वक्तव्यं तदाह।

वेसकरणं पमाणं, न होइ नइ मज्जणं नलंकारो।
अणुमणनं किंय सेवी, अणणुमएणं असेवी उ॥

वत्स! न वेषकरणं न च मज्जनं नालङ्कारः प्रमाणं यथाक्रममप्रतिसेवना वा किंतु (सोइज्जएणंति) यदि स्नानादिविषये अनुमननं कृतं तेन सेवी प्रतिसेवनाकारी भवति। अननुमतेन तु असेवी प्रतिसेवी। अन्यच्च।

जो सो विसुद्धभावो, उप्पण्णो तेण ते चरित्तप्पा।
धरितो निमज्जमाणा, जलेण नावा कुविंदेण॥

योऽसौ विशुद्धभावस्तत उपसर्गप्रारम्भसमये समुत्पन्नस्तेन तव चरित्रात्मा धारितः। यथा कुविन्देन कौलिकेन निमज्जन्ती नौरिति।

जह वा महातलागं, भरितमिज्जंतमुपरिपालीयं।
तज्ञाएण निरुद्धं, तक्खणपडितेण तालेणं॥

यथेति दृष्टान्तोपन्यासे वा इति दृष्टान्तान्तरसमुच्चये महातडागं भरितमिति वर्षे पानीयेन परिपूर्णं भृतमिति भरणादेव चोपर्यये कस्मिन् प्रदेशे भिद्यमानपालीकं (तज्ञातेणेत्ति) प्राकृतत्वात्। तृतीया पञ्चम्यर्थे ततोऽयमर्थस्तत्पाल्यां जातस्तज्ञातः। तस्मात्तालात्तालवृक्षाद्यस्मिन् क्षणे उदकगलनेन पालीभेत्तुमारब्धस्तत्क्षणे तस्मिन्नेव प्रदेशे पतितेनेति। तालफलेनेति गम्यते। उदकं गलत् तेन विरुद्धमेव दृष्टान्तोऽयमर्थोपनयः।

एवं चरणतलागं, जाइकियउवसग्गवीचिवेगेहिं।
भज्जंत तुमे धरियं, धिइबलवेरग्गतालेणं॥

एवं महातडागदृष्टान्तगतप्रकारेण चरणमेव तडागं जातयः। स्वजनास्तैः कृता ये उपसर्गास्त एव वीचिवेगाः कल्लोलवेगास्तैर्जातिकृतोपसर्गवीचिवेगैर्भिद्यमानं त्वया धृतिबलं च वैराग्यं च धृतिबलवैराग्यं तदेव तालोऽवयवे समुदायोपचारात्। तालफलं तेन धृतबलवैराग्यतालेन धारितं केवलमवधानतः प्रायश्चित्तभाक् जातं तीर्थकराज्ञाभङ्गात्तदेवाह।

पडिसेहियगमणम्मि, आवण्णो जेण तेण संसट्ठो।
संघाडगतिहवुच्छो, उवहिग्गहणे ततो विवादो॥

प्रतिषिद्धं खलु भगवता तीर्थङ्करेणावधावनानुत्प्रेक्षिगमनं तस्मिन् प्रतिगमने कृते। तथा कारणेन स्त्रीवादित आपन्नं प्रायश्चित्तस्थानं तेन संसृष्टः कर्मसंबन्धेन ततस्तद्विशोधनाय तस्मै दीयते प्रायश्चित्तम्। अथ योऽसौ द्वितीयः। संघाटकप्रेषितस्तेन कियच्चिरं स प्रतीक्षणीयस्तत आह (संघाडगेत्यादि) संघाटक आह। त्रीन् दिवसान् यावत्प्रतीक्षते इह त्र्यहग्रहणं मध्यतो भवितुमर्हति ततः उपधिग्रहणं कर्तव्यं तदीय उपधिर्याचित्वा उपग्रहणीयः। ततो (विवादोत्ति) यत्र सोऽवधावितस्ततः प्रतिनिवृत्तस्य सहायैर्यदि विवादो वक्ष्यमाणस्वरूपः क्रियते। तदा सप्रमाणयितव्यमिति।

संप्रत्येतदेवोत्तरार्द्धं व्याचिख्यासुराह-

एगाहतिहे पंचाह इच्छित्तो निवत्तिओ सहायाणं।
सव्वा उ अणिच्छंते, भणंति उवहिं पि तो देहि॥

जघन्यत एकाहे एकस्मिन् दिवसे मध्यतः त्र्यहे तत्कर्षतः पञ्चाहे प्रतीक्षिते यदि स निवर्तितुं नेच्छति ततः "सहायाणमिति" *तं ब्रुवते। कियच्चिरमस्माभिरवस्थातव्यमिहि व्रजाम एवमुक्ते यदि* सोऽभिधत्ते नाहं व्रजामि। ततस्तस्मिन् प्रत्यागमच्छति। यदि नागच्छति तर्हि उपधिमपि तावद्देहि मा उपधेरप्युपहतोऽभूदिति।

न वि देमित्ति य भणिए, गएसु जइ सो ससंकितो सुवति।
उवहम्मइ नीसंके, न हम्मए अपडिवज्झंते॥

यदि उपाधेर्याचने कृते स ब्रूते। नापि नैव ददाम्युपधिमहमिति। तत एवं भणिते संघाटको गच्छति। संघाडगतिगेति व्याख्यातमधुना (वुच्छो उवहिग्गहणा) इता तद्व्याख्यानयति। 'गएसु' इत्यादि। गतेषु तेषु सहायेषु यदि स शङ्कितः। शङ्कनं शङ्कितं सह शङ्कितं यस्य येन वा सः। तथा का पुनः शङ्केत्युच्यते। किं व्रजामि किं वा नेति। एवंरूपशङ्कोपेतः स्वपिति रात्रौ तदा स उपधिरुपहन्यते। अथ निःशङ्कितः सन् स्वपिति यथा नियमात्मयोगात् प्रव्रजितव्यमिति। तदा नोपहन्यते। अथ निःशङ्क उषित्वा यदि वा यस्मिन् दिने सहायागतास्तद्दिवसमेवानुषित्वा यदि निवृत्य व्रजिकाद्विष्वप्रतिबध्यमान आगच्छति। न चान्तरा रात्रौ दिवसे वा स्वपिति तदा तस्मिन्नप्रतिबध्यमानेनोपहन्यते। अथ स्वपिति तर्ह्युपहन्यते।

संवेगसमावन्नो, अणुवहयं घेत्तुं एति तं चेव।
अह होज्जाहि उवहतो, सो वि य जइ होज्ज गीयत्थो॥
तो अन्नं उप्पाए, तं चोवहिं विगंचिओ होइ।
अप्पडिवज्झंते उ, सुचिरेण वि न हु उवहम्मे॥

संवेगो मोक्षाभिलाषस्तं समापन्नस्तमेव गुरुप्रदत्तमुपधिमनुपहतं गृहीत्वा एति समागच्छति। अथ भवेत्कथमप्युपहतः सोऽपि च साधुर्यदि स्यात् गीतार्थस्ततस्तमुपहतमुपधिं (विगंचिओत्ति) परिस्थाप्यान्यमुपधिमुत्पाद्यए तिसमायाति। अथ स्यादगीतार्थस्तर्हि तेनोपधिरन्येनोत्पादनीयोऽगीतार्थतत्वेनान्येनोत्पादने योग्यताभावात्। किंतु तेनैवोपधिना गन्तव्यं। समागतस्य चान्यमुपधिमाचार्याः समर्पयन्ति। प्राक्तनं च साधुभिः परिस्थापयन्ति। संप्रति (अप्पडिवज्झंते) इत्यादि अप्रतिबध्यमाने। कर्मकर्तर्ययं प्रयोगः। क्वचिदपि प्रतिबन्धमकुर्वति। पुनः सुचिरेणापि कालेन हु निश्चितं नोपहन्यते उपधिं क्वचनापि प्रतिबन्धाकारणतः सततोद्यत्वात्। संप्रति विवाद इति व्याख्यानयति।

गंतूण तेहिं कहियं, स यावि आगंतु तारिसं कहए।
तो तं होइ पमाणं, विसरिसकहणे विवादो ओ॥

यौ सहायौ तस्य प्रेषितौ ताभ्यां गत्वा गुरुसमीपं तस्य प्रतिसेवनमप्रतिसेवनं वा कथितं स चापि कृतावधावन साधुरागत्य तादृशं कथयति। ततस्तद्भवति प्रमाणमुभयेषामप्यविसंवादात्। अथ विसदृशं कथयति। ततो विवादः सहाया ब्रुवते। एष प्रतिसेवीति तत्र सत्यप्रतिज्ञा खलु व्यवहार इति। स एव प्रमाणीक्रियते न सहायाः तदेवं प्रतिसेवनामधिकृत्य विवादो दर्शितः संप्रति मज्जनादिकमधिकृत्याह-

अहवा वेंति अगीया, मज्जणमादीहिं एस गिहिभूतो।
तं तु न होइ पमाणं, सो चेव तहिं पमाणं तु॥

अथवेति प्रकारान्तरोपप्रदर्शने अगीतार्था ब्रुवते मज्जनादिभिर्मज्जनाङ्गरागधूपाधिवासादिभिरेष गृहिभूतो जातः स पुनरेवमाह। नाहं स्नानादिकं कृतवान्। यदि वा बलादहं स्वजनै स्नानादिकं कारितो न पुनस्तेषु *स्नानादिष्वनुरागवान् जात इति तत्रैव भूत विवादं यातं सहाया ब्रुवते तत्र भवति प्रमाण*

किं तु स एव तत्र प्रमाणमिति। एतदेव प्रविकटयिषुराह-

पडिसेवि य पडिसेवि, एवं थेराणं होइ उ विवादो।
तत्थ वि होइ पमाणं, स एव पडिसेवणा न खलु॥

स्थविरा अवेक्षन्ते एष प्रतिसेवी स प्राह। नाहं प्रतिसेवी एवं स्थविरैः सह गाथायां षष्ठी तृतीयार्थे विवादो भवति। तत्रापि प्रतिसेवनाविषयेऽपि भवति। स एव प्रमाणं न पुनः खलु सहायैरूच्यमाना प्रतिसेवना तेषां पुनरगीतार्थानां पुरतः सूरय एतदभिदधति।

मज्जणगंपरिवारणादि जह नेच्छतो अ दोसा य।
अणुलोमा उवसग्गा, एमेव इमं पिपासाओ॥

यथा अनिच्छतोऽनभिलषतोऽनुलोमा अनुकूलाः उपसर्गाः के ते इत्याह। मज्जनं स्नानं गन्धः पटवासादिरूपः परिवारणस्त्रिया बलात्कारेणोपभोग आदिशब्दादेवंविधान्योपसर्गपरिग्रहः। एते यथा। अदोषास्तद्विषयानुमननाभावात्। एवमिदमप्यधिकृतावधावितसाधुविषयं मज्जनादिपाश्यमस्तदप्यनुरागाभावतो निर्दोषमिति भावः। एतदेव भावयति।

जह चेव य पडिलोमा, अपडु स्संतस्स होंति दोसाय।
एमेव य अणुलोमा, होंति असायज्झंणे अफला॥

यथेति दृष्टान्तोपन्यासे। च शब्दो दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः साम्यावधारणार्थः। यथा चैवं प्रतिलोमाः प्रतिकूलाः उपसर्गाः प्रद्वेषतः प्रद्वेषमागच्छो भवन्त्यदोषाय एवमेव अनेनैव प्रतिकूलोपसर्गगतेन प्रकारेण अनुलोमा अपि स्वजनैः क्रियमाणा मज्जनादय उपसर्गा "असाइज्जमाणे" अननुमनने भवन्त्यफला। अन्यच्च।

सोहीणभोगभागी, अवि महती निज्जरा उ एयस्स।
सुहुमो वि कम्मबंधो, न होइ उ नियत्तभावस्स॥

अपीति गुणान्तरसमुच्चये स्वजनक्रियमाणमज्जनाङ्गरागाद्यनास्वादनादेष स्वाधीनभोगत्यागी स्वाधीनभोगत्यागाच्चैतस्य महती निर्जरा पुराणकर्मनिर्जरणं प्रवृद्धप्रवृद्धतरशुभाशयसंभवात्। नचाप्यभिनवकर्मसंगलनं यत आह। ननु निवृत्तपरिणामस्य सतः सूक्ष्मोऽपि कर्मसंबन्धो भवति। कर्मोपचयहेतोर्दुष्टाध्यवसायस्याभावात्। व्य० प्र० २ उ०। (आचार्य उपाध्यायो वाऽवधावन् य वदेत्स आचार्यपदेस्थापयितव्य इति आयरियशब्दे उक्तम्) (गणादपक्रम्येच्छेदन्यं गणमुपसंपद्य विहर्तुमिति उपसंपच्छब्दे) (अवधावितुकामेनाष्टादशस्थानानि प्रत्युपेक्षणीयानीति अङ्गारसट्ठाणशब्दे)।

जया ओहाविओ होइ, इन्दो वा पडिओ छमं।
सव्वधम्मपरिब्भट्ठो, स पच्छा परितप्पइ॥ २॥

यदा अवधावितोऽपसृतो भवति। संयमसुखविभूतेरुत्प्रव्रजित इत्यर्थः। इन्द्रो वेति देवराज इव पतितः क्ष्मां गतः स्वविभवभ्रंसेन भूमौ पतित इति भावः। क्ष्मा भूमिः सर्वधर्मपरिभ्रष्टः सर्वधर्मेभ्यः क्षान्त्यादिभ्यः आसेवितेभ्योऽपि यावत् प्रतित्तमनमुपालनात् लौकिकेभ्योऽपि वा गौरवादिभ्यः परिभ्रष्टः सर्वतः च्युतः स पतितो भूत्वा पश्चान्मनाग् मोहावसाने परितप्यते। किमिदमकार्यं मयानुष्ठितमित्यनुतापं करोतीति सूत्रार्थः।

जया अ वंदिमो होइ, पच्छा होइ अवंदिमो।
देवया व चुअट्ठाणा, स पच्छा परितप्पई॥ ३॥

यदा वन्द्यो भवति। श्रमणपर्यायस्थो नरेन्द्रादीनां पश्चाद्भवति। उज्झिष्कान्तः सन्नवन्द्यः। तथा च देवता इव काचिदिन्द्रवर्जा स्थानच्युता सती। स पश्चात्परितप्यत इत्येतत्पूर्ववदिति सूत्रार्थः। तथा।

जया य पुइमो होइ, पच्छा होइ अपूइमो।
राया व रज्जपब्भट्ठो, स पच्छा परितप्पई॥ ४॥

यदा य पूज्यो भवति वस्त्रभक्तादिभिः श्रामण्यसामर्थ्याल्लोकानां पश्चाद्भवत्युत्प्रव्रजितः सन्नपूज्यो लोकानामेव। तदा राजेव राज्यप्रभ्रष्टः। महतो भोगाद्विप्रमुक्तः स पश्चात्परितप्यत इति पूर्ववदेवेति सूत्रार्थः। तथा।

जया य माणिमो होई, पच्छा होइ अमाणिमो।
सिद्धिव्व कव्वडे छूढो, स पच्छा परितप्पई॥ ५॥

यदा च मान्यो भवत्यभ्युत्थानाज्ञाकरणादिना माननीयः शीलप्रभावेन पश्चाद्भवत्यमान्यस्तत्परित्यागेन तदा श्रेष्ठीव कर्बटिमहाक्षुद्रसंनिवेशे क्षिप्तः सन् पश्चात्परितप्यत एतत् समानं पूर्वेणेवेति सूत्रार्थः।

जया य थेरओ होइ, समइक्कंतजुव्वणो।
मच्छोव्व गलिं गीलित्ता, य पच्छा परितप्पई॥ ६॥
जया य कुकुडुंबस्स, कुतत्तीहिं विहम्मई।
हत्थीव बंधणे बद्धो, स पच्छा परितप्पई॥ ७॥

यदा च स्थविरो भवति स त्यक्तसंयमो वयःपरिणामेन एतद्विशेषप्रतिपादनायाहसमतिक्रान्तयौवनः एकान्तस्थविर इति भावः। तदा विपाककटुकटुकत्वाद्भोगानां मत्स्य इव गलं बडिशं गलित्वाभिगृह्य तथाविधकर्म्मलोहकण्टकविद्धः सन् स पश्चात्परितप्यत एतदपि समानं पूर्वेणेवेति सूत्रार्थः। एतदेव स्पष्टयति।

पुत्तदारपरिकिण्णो, मोहसंताणसंतओ।
पंकोसण्णो जहा नागो, स पच्छा परितप्पई॥ ८॥

पुत्रदारपरिकीर्णो विषयसेवनात् पुत्रकलत्रादिभिः सर्वतो विक्षिप्तः मोहसन्तानसन्ततो दर्शनीयमोहनीयकर्मप्रवाहेण व्याप्तः। पङ्कावसन्नो यथा नागः कर्दमावमग्नो वनगज इव स पश्चात्परितप्यते। हाहा किं मयेदमसमञ्जसमनुष्ठितमिति सूत्रार्थः। कश्चित्सचेतनतर एवं च परितप्यत इत्याह-

अज्ज याहं गती हुंतो, भाविअप्पा बहुस्सुओ।
जइ हं रमंतो परिआए, सामण्णे जिणदेसिए॥ ९॥

अद्य तावदहमद्यास्मिन् दिवसे। अहमित्यात्मनिर्देशे गणी स्या माचार्यो भवेयम्। भावितात्मा प्रशस्तयोगभावनाभिः बहुश्रुत उभयलोकहितबद्धागमयुक्तो यदि किं स्यादित्याह। यद्यहमरमिष्यं पर्याये प्रव्रज्यारूपे सोऽनेकभेद इत्याह। श्रामण्ये श्रमणानां संबन्धिनि सोऽपि शाक्यादिभेदभिन्न इत्याह। जिनदेशिते निर्ग्रन्थसंबन्धिनीति सूत्रार्थः। अवधानोत्प्रेक्षिणः स्थिरीकरणार्थमाह -

देवलोगसमाणो अ, परिआओ महेसिणं।
रयाणं अरयाणं च, महानरयसारिसो॥ १०॥

देवलोकसमानस्तु देवलोकसदृश एव पर्यायः। प्रव्रज्यारूपः। महर्षीणां सुसाधूनां रतानां सक्तानां पर्याय एवेति गम्यते। एतदुक्तं भवति। यथा देवलोके देवाः प्रेक्षणकादिव्यापृता अदीनमनसस्तिष्ठन्त्येवं सुसाधवोऽपि ततोऽधिकं भावतः प्रत्युपेक्षणादि क्रियायां व्यापृता उपादेयविशेषत्वात्। प्रत्युपेक्षणादेरिति। देवलोकसमान एव पर्यायो महर्षीणां रतानामिति। अरतानां च भावतः स्वामाचार्यमसक्तानां च शब्दादिविषयाभिला-

षिणां च भगवल्लिङ्गविडम्बकानां क्षुद्रसत्वानां महानरकसदृशो रौरवतुल्यस्तत्कारणत्वान्मानसदुःखातिरेकात्तथा विडम्बनाच्चेति सूत्रार्थः। एतदुपसंहारेणोपनिगमयन्नाह-

अमरोवमं जाणिअ सुक्खमुत्तमं,
रयाण परिआइं तहा रयाणं।
निरओवमं जाणिअ दुक्खमुत्तमं,
रमिज्ज तम्हा परिआइं पंडिए॥ ११॥

अमरोपममुक्तन्यायाद्देवसदृशं ज्ञात्वा विज्ञाय सौख्यमुत्तमं प्रशमसौख्यं केषामित्याह। रतानां पर्याये सक्तानां सम्यक् प्रत्युपेक्षणादिक्रियाद्यङ्गे श्रामण्ये। तथा अरतानां पर्याय एव किमित्याह। नरकोपमं नरकतुल्यं ज्ञात्वा दुःखमुत्तमं प्रधानमुक्तन्यायाद्यस्मादेवं रतारतविपाकस्तस्मात् रमेत शक्तिं कर्यात् क्रेत्याह। पर्याये उक्तस्वरूपे पण्डितः। शास्त्रार्थज्ञ इति सूत्रार्थः पर्यायच्युतस्यैहिकं दोषमाह-

धम्माउ भट्ठं सिरिओववेअं,
जण्णग्गिविज्झाअमिवप्पतेअं।
हीलंति णं दुव्विहिअं कुसीला,
दाढुद्धिअं घोरविसं व नागं॥ १२॥

धर्मात् श्रमणधर्मतः भ्रष्टं च्युतं श्रियोपेतं तपोलक्ष्म्या अपगतं यज्ञाग्निमग्निष्टोमाद्यनलं विध्यातमिव यागावसाने अल्पतेजसमल्पशब्दोऽभावे तेजः शून्यं भस्मकल्पमित्यर्थः। हीलयन्ति कदर्थयन्ति पतितस्त्वमिति पङ्क्तयपसरणादिना एनमुन्निष्क्रान्तं दुर्विहितमुन्निष्क्रमणादेव दुष्टानुष्ठायिनं कुशीलास्तत्सङ्गोचिता लोकाः स एव विशेष्यते " दाढुद्धियंति " प्राकृतशैल्या उद्धृत दंष्ट्रमुत्खातदंष्ट्रं घोरविषमिव रौद्रविषमिव नागं सर्पं यज्ञाग्निसर्पोपमानं लोकनीत्या प्रधानभावादप्रधानभावाख्यापनार्थमिति सूत्रार्थः। एवमस्य भ्रष्टशीलस्यौघत ऐहिकं दोषमभिधाय ऐहिकामुष्मिकमाह-

इहेव धम्मो अयसो अकित्ती,
दुण्णामधिज्जं च पिहुज्जणंमि।
चुअस्सधम्मा उ अहम्मसेविणो,
संभिन्नचित्तस्स य हिट्ठओ गई॥ १३॥

इहैवेह लोके एवाधर्मः इत्ययमधर्मः फलेन दर्शयति। यदुतायशः अपराक्रमकृतं न्यूनत्वं तथा अकीर्तिरदानपुण्यफलप्रवादरूपा। तथा दुर्नामधेयं च पुराणः पतितः इति कुत्सितनामधेयं च भवति। क्रेत्याह। पृथग्जने सामान्यलोकेऽप्यास्तां विशिष्टलोके कस्येत्याह। च्युतस्य धर्मात्प्रव्रजितस्येति भावः। तथा अधर्मसेविनः कलत्रादिनिमित्तं षट्कापोपमर्दकारिणः। तथा संभिन्नवृत्तस्य चाखण्डनीयखण्डितचारित्रस्य च क्लिष्टकर्मबन्धात् अधस्ताद्गतिर्नरकेषूपपात इति सूत्रार्थः। अस्यैव विशेषप्रत्यपायमाह-

भुंजित्तु भोगाइं पसज्झ चेअसा,
तहाविहं कट्टु असंजमं बहुं।
गइं च गच्छे अणहिज्जिअं दुहं,
वोहीअ से नो सुलभा पुणो पुणो॥ १४॥

स उत्प्रव्रजितो भुक्त्वा भोगान् शब्दादीन् प्रसह्य चेतसा धर्मनिरपेक्षतया प्रकटेन चित्तेन तथाविधमज्ञोचितमधर्मफलं कृत्वाभिनि वर्त्यासंयमं कृष्याद्यारम्भरूपं बहुमसंतोषात् प्रभूतं स इत्थंभूतो मृतःसन् गतिं च गच्छत्यनभिध्यातां अभिध्याता इष्टानानिष्टामित्यर्थः। काचित्सुस्वाप्येवंभूता भवत्यत आह। दुःखां प्रकृत्यैवासुन्दरां दुःखजननीं बोधिश्चास्य जिनधर्मप्राप्तिश्चास्योन्निष्क्रान्तस्य न सुलभा पुनः पुनः प्रभूतेष्वपि जन्मसु दुर्लभैव प्रवचनविराधकत्वादिति सूत्रार्थः। यस्मादेवं तस्मादुत्पन्नदुःखोऽप्येतदनुचिन्त्य नोत्प्रव्रजेदित्याह-

इमस्स ता नेरइअस्स जंतुणो,
दुहोवणीअस्स किलेसवत्तिणो।
पलिओवमं झिज्झइ सागरोवमं,
किमंग पुण मज्झ इमं मणोदुहं॥ १५॥

अस्य तावदित्यात्मन एव निर्देशः नारकस्य जन्तोर्नरकमनुप्राप्तस्येत्यर्थः। दुःखोपनीतस्य सामीप्येन प्राप्तदुःखस्य क्लेशवृत्तेः एकान्तक्लेशचेष्टितस्य सतो नरक एव पल्योपमं क्षीयते सागरोपमं च। यथा कर्मप्रत्ययं किमङ्ग पुनर्ममेदं संयमारतिनिष्पन्नं मनोदुःखं तथाविधक्लेशदोषरहितमेतत् क्षीयत एवैतत् चिन्तनेन नोत्प्रव्रजितव्यमिति सूत्रार्थः। विशेषेणैतदेवाह-

न मे चिरं दुक्खमिणं भविस्सइ,
असासया भोगपिवासजंतुणो।
न चे सरीरेण इमेणविस्सई,
अवस्सई जीविअपज्जवेण मे॥ १६॥

न मम चिरं प्रभूतकालं दुःखमिदं संयमारतिलक्षणं भविष्यति किमित्यत आह। अशाश्वती प्रायो यौवनकालावस्थायिनी भोगपिपासा विषयतृष्णा जन्तोः प्राणिनः अशाश्वतीत्व एव कारणान्तरमाह। न चेच्छरीरेणानेनापयास्यति न यदि शरीरेणानेन करणभूतेन वृद्धस्यापि सतोऽपयास्यति। तथापि किमाकुलत्वं यतोऽपयास्यति जीवितपर्ययेण जीवितस्यापगमेन मरणेनेत्येवं निश्चिन्तः स्यादिति सूत्रार्थः। अस्यैव फलमाह।

जस्सेवमप्पा उ हविज्ज निच्छिओ,
चइज्ज देहं न हु धम्मसासणं।
तं तारिसं नो पइलंति इंदिआ,
उविंति वाआ व सुदंसिणं गिरिं॥ १७॥

यस्येति साधोः एवमुक्तेन प्रकारेण आत्मा तुशब्दस्यैवकारार्थत्वात्। आत्मैव भवेन्निश्चितो दृढः। स त्येजेद्देहं क्वचिद्विघ्ने उपस्थिते न तु धर्मशासनं न पुनर्धर्माज्ञामिति तं तादृशं धर्मे निश्चितं न प्रचालयन्ति। संयमस्थानान्न कम्पयन्तीन्द्रियाणि चक्षुरादीनि निदर्शनमाह। उत्पतद्वाता इव संपतत्पवना इव सुदर्शनं गिरिं मेरुं एतदुक्तं भवति। यथा मेरुं वाता न चालयन्ति। तथा तमपीन्द्रियाणीति सूत्रार्थः। उपसंहरन्नाह।

इच्चेव संपस्सिअ बुद्धिमं नरो,
आयं उवायं विविहं विआणिआ।
काएण वाया अदु माणसेणं,
तिगुत्तिगुत्तो जिणवयणमहिट्ठिज्जा सित्तिबेमि॥ १८॥

इत्येवमध्ययनोक्तं दुःप्रजीवित्वादि संप्रेक्ष्यादित आरभ्य य-

यथावद् दृष्ट्वा बुद्धिमान्नरः। सम्यक् बुद्ध्यपेतः। आयमुपायं विविधं विज्ञाय आयः सम्यग्ज्ञानादेः उपायस्तत्साधनप्रकारः कालविनयादिः विविधो-ऽनेकप्रकारस्तं ज्ञात्वा किमित्याह। कायेन वाचा अथ मनसा त्रिभिरपि करणैर्यथाप्रवृत्तैः त्रिगुप्तिगुप्तः सन् जिनवचनमर्हदुपदेशमधितिष्ठेत्। यथा-शक्ति तदुक्तैकक्रियापालनपरो भूयात्। भावाय सिद्धौ तत्वतो मुक्तिसिद्धेः। ब्रवीमीति पूर्ववदेवेति सूत्रार्थः। दश० १ चूलि०।

ओहाविय–त्रि० (अवधावित) अपसृते, । संयमसुखविभूतेरुत्प्र-व्रजिते,। दश० १ चूलि०।

***अपभ्राजित**–त्रि०। ग्लानिमापादिते, " ओहावितो न कुव्वइ, पुणो वि सो तारिसं अतीयारं " व्य० द्वि० ८ उ०।

ओहावैत–त्रि० (अवधावत्) प्रव्रज्यादेरपसर्पति, ओ०। " ओहवेंता दुविहा, लिंगे विहारे य होंति नायव्वा " अवधाविनो द्विविधाः। लिङ्गेन विहारेण च। लिङ्गेनोत्प्रव्रजितुकामा विहारेण पार्श्वस्थविहारेणोत्प्रव्रजि-तुकामा भवन्ति ज्ञातव्याः। व्य० ८ उ०।

ओहि–पुं० (अवधि) अव–धा० कि:। अधो विस्तारभावेन धावतीत्य-वधिः। उत्त० १८ अ०। रूपिष्वेव द्रव्येषु परिच्छेदकतया प्रवृत्तरूपायां मर्यादायाम्, कर्म०। स्था०। स०। अभिविधौ, च। अवधिश्च द्विधा। अभिविधिर्मर्यादा च। प्रव० ३५ द्वा०।

(१) अवधिशब्दस्य व्युत्पत्तिर्लक्षणं च।
(२) अवधिभेदाः संख्यातीताः भवन्ति।
(३) चतुर्दशविधौ निक्षेपो द्वारसंग्रहश्च तत्र जघन्यादिभेदाः।
(४) नामादिसप्तविधौ निक्षेपः।
(५) भवप्रत्ययिकादितो द्वैविध्यम्।
(६) अवधेरानुगमिकादि षट् भेदाः।
(७) अवधिप्ररूपणे दण्डकः।
(८) अवधिक्षेत्रप्रमाणं पनकजीवस्यावगाहना अग्निजीवप्रमाणं च।
(९) अवधिविषयस्य द्रव्यस्य मानम्।
(१०) क्षेत्रकालयोर्विषयत्वमानम्।
(११) भवप्रत्ययो देवनारकाणाम्।
(१२) पृथ्वीसुरादिविषयचिन्तनम्।
(१३) अवधेः संस्थानम्।
(१४) ज्ञानदर्शनविभङ्गलक्षणद्वारद्वयम्।
(१५) देशतः सर्वतश्चावधिनिरूपणम्।
(१६) क्षेत्रगत्यादिद्वाराणि।
(१७) अवधेः संक्षेपप्ररूपणा प्रस्तावना च।

(१) व्युत्पत्तिर्लक्षणञ्च।

अवशब्दोऽधः शब्दार्थः अव अधो विस्तृतं वस्तु धीयते परिच्छिद्यते-ऽनेनेत्यवधिः। यद्वा अवधिर्मर्यादा रूपिष्वेव द्रव्येषु परिच्छेदकतया प्रवृ-त्तिरूपा तदुपलक्षितं ज्ञानमप्यवधिः। यद्वा अवधानमात्मनोऽर्थः साक्षा-त्करणव्यापारोऽवधिः। आ० म० प्र०। प्रव० " द्रव्याणि मूर्तिमन्त्येव, विषयो यस्य सर्वतः। नैयत्यरहितं ज्ञानं, तत्स्यादवधिलक्षणमि " त्युक्तलक्षणे मूर्तद्रव्यविषये,। प्रत्यक्षज्ञाने, गच्छ० २ अधि०। स्था०। पा०। अनु०।

अथ अवधिव्युत्पादनार्थमाह-

तेणावही य एतम्मि, दावहाणं तओवही सो य।
मज्जाया जंतीए, दव्वाइ परोपरं मुणइ॥

(तओवहि त्ति) ततःकरणादवधिरित्युच्यते। यतः किमित्याह।

(तेणावहीएत्ति) अवशब्दस्याव्ययत्वेनानेकार्थत्वादधोऽधो विस्तृतं धीयते परिच्छिद्यते रूपि वस्तु तेन ज्ञाननेत्यवधिः। अथवा अव मर्यादया एतावत्क्षेत्रं पश्यन् एतावन्ति द्रव्याण्येतावन्तं कालं पश्यतीत्यादिपर-स्परनियमितक्षेत्रादिलक्षणया धीयते परिच्छिद्यते रूपि वस्तु तेनेत्यवधिः (तम्मिवत्ति) अथवा अवशब्दस्यार्थद्वयम्। तथैवावधीयते जीवेन तस्मिन् वस्त्वित्यवधिः अकारस्य दर्शनाद् (अवहाणंति) वाशब्दोऽनुवर्तते ततश्च अथवा अवधानमवधिः। साक्षादर्थपरिच्छेदनमित्यर्थः। अथवाऽवधीयते तस्माज्जीवेन साक्षाद्वस्त्वित्यवधिरित्युपलक्षणव्याख्यानात्स्वयमेव द्रष्टव्यम् (सो य मज्जायत्ति) स चोक्तस्वरूपोऽवधिर्मर्यादयार्थपरिच्छेदने प्रवर्तमानत्वादुपचारतो मर्यादा एतदेवाह (जंतीएतयादि) पुँल्लिङ्गोऽप्य-वधिशब्दः प्राकृतत्वात् स्त्रीत्वे निर्दिष्टस्ततश्च यद्यस्मात्कारणात्तेनानन्त-रोक्तेनावधिना जीवो द्रव्यादि (मुणत्ति) जानाति। कथंभूतं सदित्याह। परस्परनियमितमिति शेषः। वक्ष्यति च। " अंगुलमावलियंतो, आवलिया अंगुलप्पुहुत्तं हत्थम्मि। मुहुत्तंतो दिवसंतो, गाउयम्मि बोधव्वो " इत्यादि तस्मादनया परस्परोपनिबन्धलक्षणया मर्दया यतो जीवस्तेनावधिना द्रव्यादिकं मुणति। ततोऽवधिरप्युपचारान्मर्यादेति भावः। अवधिश्चासौ ज्ञानं चेत्यवधिज्ञानमिति प्रक्रमलब्धेन ज्ञानशब्देन समास इति विशे०। आ० चू०। पं० सं०। अवधिज्ञानावरणविलयविशेषसमुद्भवं भवगुणप्रत्ययं रूपि द्रव्ये गोचरमवधिज्ञानमिति। अवधिज्ञानावरणस्य विलयविशेषः क्षयोपशमभेदस्तस्मात्समुद्भवति। यतः सुरनारकजन्मलक्षणो गुणः सम्यग्दर्शनादिस्तौ प्रत्ययौ हेतु यस्य तत्तथा। तत्र भवं प्रत्ययं सुरनारकाणां गुणप्रत्ययं पुनर्नरतिरश्चां रूपि द्रव्यादि पृथ्वी आपः पावकपवनान्धका-रच्छायाप्रभृतीनि तदालम्बनमवधिज्ञानम्। रत्ना०।

(२) तत्रावधिभेदाः संख्यातीता भवन्तीति दर्शयति।

संखाइयाओ खलु, ओहिण्णाणस्स सव्वपयमीओ।
काइ भव्वपव्वइया, खओवसमियाउ काओ वि॥

संख्यानं संख्या तामतीता अतिक्रान्ताः संख्यातीताः असंख्येया इत्यर्थः। प्रकृतयोऽशाः भेदाः सर्वाश्च ताः प्रकृतयश्च सर्वप्रकृतयः ततश्च पूर्वोक्तशब्दार्थस्यावधिज्ञानस्य क्षेत्रकालो विषयभूतावाश्रित्य सर्वा अप्यसंख्येयाः प्रकृतयो भेदा भवन्ति। तथा ह्यवधेर्जघन्यतोऽङ्गुला-संख्येयभागादारभ्य प्रदेशान्तरया वृद्ध्या उत्कृष्टतो लोकेऽपि लोकप्रमा-णान्यसंख्येयखण्डानि क्षेत्रविषय इति वक्ष्यते। कालोऽपि जघन्यत आवलिकासंख्येयभागादारभ्य समयोत्तरया वृद्ध्या उत्कृष्टतोऽसंख्येयो-त्सर्पिणीलक्षणो विषय इत्यभिधास्यते। एवं च विषयभेदाद्विषयिणोऽपि भेद इति न्यायात् क्षेत्रकाललक्षणविषयस्यासंख्येयभेदत्वादवधेरप्य-संख्येया भेदा भवन्ति। खलुशब्दश्चेह विशेषणार्थः। किंविशिनष्टीति चेदुच्यते। क्षेत्रकालावेवाङ्गीकृत्यावधेरसंख्येयाः प्रकृतयो भवन्ति। द्रव्यभावौ त्वाश्रित्यानन्ता अपि ताः प्राप्यन्ते तद्यथा। " तेयाभासा दव्वाणमंतरा एत्थ लभइ पट्ठवओ " इत्यादि वचनात्तैजसभास्वाद्द्रव्यापा-न्तरालवर्तिअनन्तप्रदेशिकात् द्रव्यादारभ्य विचित्रवृद्ध्या सर्वमूर्तद्रव्या-ण्युत्कृष्टविषयपरिमाणमवधेर्वक्ष्यते। प्रतिवस्तुगतासंख्येयपर्यायरूपं च भावतो विषयमानमभिधास्यते। अतः सर्वमपि पुद्गलास्तिकायमवधि-ग्राह्यांश्च तत्पर्यायानाश्रित्यानन्तोऽवधिविषयः सिद्धो भवति। ज्ञेयभेदाच्च ज्ञानभेद इति। द्रव्यभावलक्षणविषयापेक्षया अवधेरन्ता अपि प्र–

कृतयो भवन्ति। तर्हि (संखाइयाओ खल्वित्ति) विरुध्यते इति चेन्नैवम्। अनन्तस्यापि संख्यातीतत्वात् व्यभिचारादतः संख्यातीतशब्देनासंख्याता अनन्ताश्च प्रकृतयो गृह्यन्त इत्यविरोधः। एतासु च प्रकृतिषु मध्ये काश्चनान्यतमा भवप्रत्यया: भवो नारकादिजन्म स पक्षिणां गगनोत्पतनलब्धिरिवोत्पत्तौ प्रत्ययः कारणं यासां ता भवप्रत्ययाः। ताश्च नारकामराणामेव कांश्चन पुनरन्यतमाः क्षयोपशमेन निर्वृत्ताः क्षायोपशमिकाः। तपःप्रभृतिगुणपरिणामाविर्भूतक्षयोपशमप्रत्यया इत्यर्थः। एताश्च तिर्यङ्मनुष्याणामिति आह। क्षायोपशमिकभावेऽवधिज्ञानं पठ्यते। नारकादिभवश्चौदयिकः स कथं तत्प्रकृतीनां प्रत्ययः स्यादित्यत्रोच्यते। मुख्यतस्ता अपि क्षयोपशमनिबन्धना एव केवलं सोऽपि क्षयोपशमस्तस्मिन्नारकामरभवे सत्यवश्यं भवतीति कृत्वा भवप्रत्ययास्ता उक्ता इति। अथ सामान्यरूपतयोद्दिष्टानां संख्यातीतानामवधिप्रकृतीनां वाचः क्रमवर्तित्वात्। आयुषश्चाल्पत्वाद्यथावद्भदेन प्रतिपादनसामर्थ्यमात्मनोऽपश्यन्नाह-

कत्तो मे वन्नेउं, सत्ती ओहिस्स सव्वपयडीओ।
चउदसविहनिक्खेवं, इड्ढीपत्ते य वोच्छामी॥

कुतो मम वर्णयितुं शक्तिरवधेः सर्वप्रकृतीरायुषः परिमितत्वाद्वाचः क्रमवर्तित्वात्। तथापि विनेयगणानुग्रहार्थं चतुर्दशविधश्चासौ निक्षेपश्च चतुर्दशविधनिक्षेपस्तमवध्यादिकं चतुर्दशविधनिक्षेपं वक्ष्यामि। आमर्षौषध्यादिका ऋद्धिः प्राप्ता यैस्ते प्राप्तर्धयस्तां च वक्ष्यामि। इह गाथाभङ्गभयाद्व्यत्ययोऽन्यथा निष्ठान्तस्य बहुव्रीहौ पूर्वनिपात एव भवतीति। निर्युक्तिगाथाद्वयार्थः। अत्र प्रथमगाथापूर्वार्धव्याख्यानार्थं भाष्यम्।

तस्स जमुक्कोसयखेत्तकालसमयप्पएसपरिमाणं।
तण्णेयपरिच्छिन्नं, तं चिय से पयडिपरिमाणं॥
संखाई यमणंतं, च तेण तमणंतपयडिपरिमाणं।
पेच्छइ पोग्गलकायं, जमणंतं पएसपज्जायं॥

तस्यावधेरसंख्येयाः प्रकृतयः कुत इत्याह। यतः (तं चिय से पयडिपरिमाणंति) (से) तस्यावधेस्तदेव प्रकृतीनां भेदपरिमाणं यत्किमित्याह। यदुत्कृष्टं क्षेत्रप्रदेशपरिमाणं यच्चोत्कृष्टं कालसमयपरिमाणमित्येवं यथासंभवं संबन्धः। क्षेत्रस्यैव प्रदेशानां युज्यमानत्वाद्यथाभङ्गभयाच्च समयनिर्देशादनन्तरप्रदेशनिर्देशः आह। ननूत्कृष्टं क्षेत्रप्रदेशकालसमयपरिमाणमनन्तमपि भवति। नेत्याह। तज्ज्ञेयपरिच्छिन्नं भावप्रधानोऽयं निर्देशस्ततश्च तस्यावधेर्ज्ञेयं तद्भावस्तज्ज्ञेयत्वं तेन परिच्छिन्नं नैयत्येव्यवस्थापितं तच्च वक्ष्यमाणप्रकारेणाङ्गुलासंख्येयभागादारभ्य यावदसंख्येयलोकाकाशप्रदेशास्तथावलिका असंख्येयभागादारभ्य यावदसंख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिणीसमयानीति। एतच्च क्षेत्रप्रदेशकालसमयानामसंख्येयपरिमाणमतः क्षेत्रकालक्षणा ज्ञेयापेक्षयाऽवधेरसंख्येयाः प्रकृतय इति। अथ खलुशब्देन विशेषणार्थेन सुचितास्तस्यानन्ताः प्रकृतीर्दर्शयति (संखाईत्यादि) संख्यातीतं न केवलमसंख्येयमुच्यते। किं तर्हि अनन्तं च तस्यापि संख्यातीतत्वाद्व्यद्यभिचारात्तेन तदवधिज्ञानमनन्तप्रकृतिपरिमाणमपि भवति। यद्यस्मात्तत्प्रेक्षते पश्यति। समस्तमपि पुद्गलास्तिकायं कथं भूतमित्याह। अनन्तदेशमनन्तपर्यायं च सत्यनन्तद्रव्यपर्यायलक्षणक्षयापेक्षयाऽवधेरनन्ताः प्रकृतय इति।

अथ प्रथमनिर्युक्तिगाथोत्तरार्धं व्याचिख्यासुराह।

भवपच्चइया नारयमुराण पक्खीण वा नभोगमणं।
गुणपरिणामनिमित्ता, सेसाणखओवसमियाओ॥

गतार्थैव नवरं (पक्खीणवत्ति) वाशब्द इवार्थे नभोगमनमिवेत्यत्र संबध्यते। अथाक्षेपपरिहारायाह-

ओहीखओवसमिए, भावे भणिओ भवो तहोदइए।
तो किह भवपच्चइओ, वोत्तुं जुत्तोवही दोण्हं॥
सो वि हु खओवसमिओ, किंतु स एव ओवसमलाभो।
तम्मिसअहोअवस्सं, भण्णइ भवपच्चओ तो सो॥

व्याख्यातार्थे एव नवरं (दोण्हत्ति) सुरनारकाणां सोऽपि सुरनारकावधिः (खओवसमओत्ति) क्षयोपशमादेव स च तस्मिन् सुरनारकभवे सत्यवश्यं भवत्यतोऽसौ सुरनारकावधिर्भवप्रत्ययो भण्यते। ननु कर्मणः क्षयोपशमादयः किं भवादिनिमित्ता भवन्तीत्याह-

उदयखयखओवसमो-वसमा वि य जं च कम्मणो भणिया।
दव्वं खित्तं कालं, भवं च भावं च संपप्पा॥

यतः सक्चन्दनाहिविषादिद्रव्यादीनि प्राप्य प्राणिनां सुखदुःखोदयादयस्तीर्थकरगणधरैरागमे भणिताः। प्रत्यक्षतो दृश्यन्ते च। अतः सुरनारकाणां तद्भवमपेक्ष्यावधिः क्षयोपशमिकोऽप्यवश्यं भवतीति। अथ द्वितीयनिर्युक्तिगाथाव्याख्यानभाष्यम्।

इयसव्वपयडिमाणं, किह कमवसवण्णवत्तिणीवाया।
वोच्छित्ति सव्वं सव्वा-उ णाइसंखिज्जकालेण॥

गतार्थैवेति गाथा समाप्तार्थः आह-

(३) चतुर्दशविधो निक्षेपो द्वारसंग्रहश्च तत्र जघन्यादिभेदाः।

अथ चतुर्दशविधं निक्षेपं दर्शयामि।

ओहिखेत्तपरिमाणे, संठाणे आणुगामिए।
अव्वट्ठिए चले तिव्व-मंदपयमि वाउप्पयाइ य॥
णानदंसणविब्भंगे, देसे खित्ते गई इय।
इड्ढिपत्ताणुओगे य, एमेया पडिवत्तिओ॥

इहावध्यादीनि गतिपर्यन्तानि चतुर्दश द्वाराणि। ऋद्धिस्तु चशब्दसमुच्चितत्वात् पञ्चदशचतुर्दश विधिनिक्षेपस्योपरिष्टात्पश्चाद्वक्ष्यते। तत्रावधिर्नामस्थापनादिभेदभिन्नो वक्तव्यः॥ १॥ तथा अर्थवशाद्विभक्तिविपरिणाम इत्यवधिजघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदभिन्नं क्षेत्रपरिमाणं वक्तव्यम्॥ २॥ तथाऽवधेः संस्थानं वाच्यम्॥ ३॥ तथाऽनुगमनशील आनुगामिकोऽवधिः सप्रतिपक्षो वाच्यः॥ ४॥ तथा द्रव्यादिषु कियन्तं कालमप्रतिपतितः सन्नुपयोगतो लब्धितश्चास्ते इत्येवमवस्थितोऽवधिर्वक्तव्यः॥ ५॥ तथा वर्धमानतया हीयमानतया चञ्चलोऽनवस्थितोऽवधिर्वक्तव्यः॥ ६॥ तथा तीव्रो मन्दो मध्यमश्चावधिर्वक्तव्यः॥ ७॥ तथा तीव्रो विशुद्धः मन्दोऽविशुद्धः इतरस्तूभयप्रकृतिः। तथा द्रव्याद्यपेक्षया एककाले प्रतिपातोत्पादौ अवधेर्वक्तव्यौ॥ ८॥ तथा ज्ञानदर्शनविभङ्गा वाच्याः॥ ९॥ किमत्र ज्ञानं किं वा दर्शनं को वा विभङ्गः परस्परतश्चामीषामल्पबहुत्वं चिन्तनीयम्॥ १०॥ ततश्च ज्ञानदर्शनविभङ्गैर्द्वारत्रयम्॥ ११॥ तथा (देसेत्ति) कस्यादेशविषयः सर्वविषयोऽवधिर्वक्तव्यः॥ १२॥ गतिरिति चेत्तत्र इतिशब्द आद्यर्थस्ततश्च "गइइंदियकाए" इत्यादि द्वारकलापोऽवधिर्वक्तव्यः॥ १३॥ तथा प्राप्त्यद्धर्त्यनुपयोगश्च व्याख्यानरूपः

कार्यः ॥ १४ ॥ एवमनेन प्रकारेणैता अनन्तरोक्ताः प्रतिपत्तयः । प्रतिपादनानि परिच्छित्तय इत्यर्थः । कथं पुनरस्यायं निक्षेपश्चतुर्दशविध इत्याह भाष्यकारः ।

गइपञ्जत्ता चोद्दस, रिद्धी व समुद्धियत्ति पंचदसी ।
ओहीपयं पि व मोत्तुं, सेयरमणुणामिउं काउं ॥
केई चोद्दसभेयं, भणंति ओहित्ति न पयडिजम्हा ।
पयडीण य निक्खेवो, जं भणिओ चउद्दस विहोत्ति ॥

अवध्या याः गतिपर्यन्ताश्चतुर्दश निक्षेपाः ऋद्धिस्तु चतुर्दशविधनिक्षेपमध्ये न भवति । किं तर्हि "इड्ढिपत्तेयवोच्छामी" त्यत्र चसमुचितत्वात् । पृथग्भूता पञ्चदशी । अथवा (ओहीखेत्तपरिमाणे) इत्यत्राद्यमवधिपदं मुक्त्वा अनुगमनशीलमनुगामुकं सेतरं सप्रतिपक्षं कृत्वा अनुगामिकमनुगामुकसहितमर्थतो गणयित्वेत्यर्थः । केचनाप्याचार्याश्चतुर्दशविधनिक्षेपं पूरयन्ति । किमिति । ते एवं व्याख्यानयन्तीत्याह (ओहीत्यादि) अवधिर्यस्मान्न प्रकृतिः किंत्ववधेरेवेह प्रकृतयो विचारयितुं प्रक्रान्ताः कुत इत्याह । यतः प्रकृतीनामेव चतुर्दशविधो निक्षेप उक्तः । अविरुद्धं चैतदपि व्याख्यानमत्र च पक्षेऽवधिशब्दःसर्वत्र विशेषणतयैव योजनीयोऽवधेः क्षेत्रपरिमाणमवधेः संस्थानमित्यादीनीति गाथाद्वयार्थः । विशे० ।

प्रकारान्तरतो द्वारसंग्रहः ।

भेदविसयसंठाणे, अब्भितरबाहिरे य देसोही ।
ओहिस्सयखयबुड्ढी, पडिवायं चेव पडिवादी ॥

अवधिरवधिज्ञानस्य प्रागनिरूपितशब्दार्थस्य प्रथमं भेदतो वक्तव्यस्ततो विषयस्तदनन्तरं संस्थानमवधिना द्योतितस्य क्षेत्रस्य यस्तत्रादिरूप आकारविशेषः सोऽवधिनिबन्धन इत्यवधेः संस्थानत्वेन व्यपदिश्यते । तथा द्विविधोऽवधिर्वक्तव्यस्तद्यथा । आभ्यन्तरो बाह्यश्च । तत्र योऽवधिः सर्वासु दिक्षु स्वद्योत्यक्षेत्रं प्रकाशयति । अवधिमता च सह सातत्येन ततः स्वद्योत्यं क्षेत्रं संबद्धं सोऽभ्यन्तरावधिरेतद्विपरीतो बाह्यावधिः । स च द्विधा तद्यथा । अन्तर्गतो मध्यगतश्च । प्रज्ञा० ३२ पद । यदा अवधिना द्योतितं क्षेत्रमवधिमता संबद्धं भवति । तदा सोऽभ्यन्तरावधिर्भवतः । सर्वदिगुपलब्धक्षेत्रमध्यवर्तित्वात् । एष चेह न ग्राह्योऽभ्यन्तरावधावस्यान्तर्भावात् । यदा तु तदुद्योतितं क्षेत्रमपान्तराले व्यवच्छिन्नत्वात् अवधिमता संबन्धं न भवति । तदा बाह्योऽवधिरेष चेह ग्राह्यः । प्रस्तुतत्वात् तथा (देसोहीइत्ति) देशावधिर्वक्तव्य उपलक्षणमेतत् । प्रतिपक्षभूतसर्वावधिश्च । अथ किंस्वरूपो देशावधिः । किंस्वरूपो वा सर्वावधिरिति । उच्यते इहावधिस्त्रिविधो भवति । तद्यथा सर्वजघन्यो मध्यमः सर्वोत्कृष्टश्च । तत्र यः सर्वजघन्यः स द्रव्यतोऽनन्तानि तैजसभाषणान्तरालवर्तीनि द्रव्याणि क्षेत्रतोऽङ्गुलसंख्येयभागं क्षेत्रं कालतोऽतीतमनागतं चावलिकायाः संख्येयं भागम् । इहावधिक्षेत्रं कालं च स्वरूपतः साक्षान्न जानाति । तयोरमूर्तत्वादवधेश्च रूपिविषयत्वात् "रूपिष्ववधेरिति" वचनात् । इह क्षेत्रकालदर्शनमुपचारतो वेदितव्यम् । किमुक्तं भवत्येतावति क्षेत्रे काले च यानि द्रव्याणि तानि जानातीति । भावतोऽनन्तान् पर्यायान् जानाति । प्रतिद्रव्यं जघन्यपदेऽपि चतुर्णां रूपरसगन्धस्पर्शरूपाणां पर्यायाणामवगमात् । " दो पज्जवे दुगुणिए सव्वजहन्नउ पिच्छए तेउवन्नाइया चउरो " इति वाचनात् । द्रव्याणां चानन्तत्वात् । अत ऊर्ध्वं तु प्रदेशवृद्ध्यासमयवृद्ध्या च प्रबर्द्धमानोऽवधिर्मध्यमो वेदितव्यः । स च तावत् यावत् सर्वोत्कृष्टपरमावधिर्न भवति सर्वोत्कृष्टपरमावधिर्द्रव्यतः सर्वाणि रूपिद्रव्याणि जानाति क्षेत्रतो लोकालोकमात्राणि खण्डानि । कालतोऽतीतानागताश्चासंख्येया उत्सर्पिण्यवसर्पिणीभावतोऽनन्तान् पर्यायान् । प्रतिद्रव्यं संख्येयानामसंख्येयानां च पर्यायाणामवगमात् । " एगं दव्वं पेच्छं, खंधमणुं वा पज्जवे तस्स । उक्कोसमसंखेज्जे, संखेज्जे पेच्छ एक्कोइ " इति वचनात् । तत्र सर्वजघन्यो मध्यमश्च देशावधिः सर्वोत्कृष्टस्तु परमावधिः सर्वावधिः तथाविधे क्षयवृद्धी वक्तव्ये । किमुक्तं भवति । हीयमानकः प्रवर्द्धमानकश्चावधिर्वक्तव्य इति प्रज्ञा० ३३ पद ।

(४) पुनर्नामादिसप्तविधौ निक्षेपः ।

अथ प्रथमव्याख्याभिमताद्यद्वारव्याचिख्यासया प्राह ।

नामं ठवणा दविए, खेत्ते काले भवे य भावे य ।
एसो खलु ओहिस्स, निक्खेवो होइ सत्तविहो ॥

नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभवभावभेदादेष खल्ववधिनिक्षेपः । सप्तविधो भवतीति । निर्युक्तिगाथासंक्षेपार्थः । अथ विस्तरार्थं विभणिषुर्भाष्यकारः प्राह-

ओहित्ति जस्स नामं, जह मज्जायावहित्ति लोगम्मि ।
ठवणाविहिनिक्खेवो, होइ जहक्खाइ विन्नासो ॥

यस्य जीवादिपदार्थस्यावधिरिति नाम क्रियते । असौ नाम्ना नाममात्रेणावधिर्नामावधिरुच्यते । यथा लोके मर्यादावधिरभिधीयते । स्थापनया स्थापनामात्रेणावधिः स्थापनावधिर्भवति । कोऽयमित्याह । निक्षेपो विन्यासोऽवधेरेव वस्त्वन्तरे इति गम्यते । क्व यथेत्याह । यथाऽक्षादौ विन्यासो निक्षेपोऽवधिरक्षादिविन्यास इति । प्रकारान्तरेण नामस्थापनावधी प्राह-

अहवा नामं तस्सेव जममिहाणं सपज्जओ तस्स ।
ठवणागारविसेसो, तद्दव्वं खित्तसामीणं ॥

अथवा (नामंति) नामावधिरुच्यते । यत्किमित्याह । तस्यैव प्रकृतस्यावधिज्ञानस्य यदवधिरिति वर्णावलीमात्ररूपमभिधानं संज्ञेति । नामैवावधिर्नामावधिरिति कृत्वा तद्भावधिरित्यभिधानं तस्यावधिज्ञानस्य वचनरूपः स्वपर्याय इति मन्तव्यम् । स्थापनावधिस्त्वाकारविशेषो भण्यते । केषामित्याह । तस्यावधिज्ञानस्य द्रव्यं विषयभूतं भूभूधरादिक्षेत्रं तु भरतादिस्वामित्वाधारभूतसाध्वादिरेतेषामाकारविशेषः स्थापनावधिः । विषविषयभावादिसंबन्धित्वेनैतेषामाकारेऽवधिः । स्थाप्यत इति भावः । पूर्वं मर्यादाऽक्षादावविधिज्ञानासंबन्धेऽपि नामस्थापने प्रोक्ते । अत्र त्वभिधानद्रव्याद्याकारयोरवधिज्ञानसंबन्धयोस्ते अभिहिते इति विशेष इति । अथ द्रव्यावधिरुच्यते । स च द्विविध आगमतो नो आगमतश्च । तत्रागमतोऽवधिपदार्थज्ञस्तत्र चानुपयुक्तोऽनुपयोगो द्रव्यमिति वचनात् द्रव्यावधिः । नो आगमतो ज्ञशरीरद्रव्यावधिश्च ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं तु द्रव्यावधिं भाष्यकारः स्वयमेवाह ।

दव्वोही उप्पज्जइ, जत्थ तओ जं च पासए तेणं ।
जंवोवगारि दव्वं, देहाइ तदुब्भवे होइ ॥

तद्द्रव्यं द्रव्यावधिर्भण्यते (उपज्जइ जत्थ तओयंत्ति) यत्र विपुलाऽचलशिलादौ कायोत्सर्गादिस्थितस्य साध्वादेस्तत्कोऽसौ अवधिरुत्पद्यते । यद्वा भूभूधरादिकं रूपि द्रव्यं तेनावधिना साध्वादिः पश्यति तत् द्रव्यावधिरुच्यते । यद्वा तस्यावधेरुद्भवे-

उत्पत्तौ सहकारित्वेनोपकारकं देहादिद्रव्यं तत्सर्वं द्रव्यावधिरभिधीयते। इदमुक्तं भवति। इहाधारभूतशिलादिद्रव्याण्युत्पद्यमानस्यावधेः सहकारिकारणानि भवन्ति। कारणं च " भूतस्य भाविनो वा, भावस्य हि कारणं च यल्लोके। न द्रव्यं तत्वज्ञैः, सचेतनाचेतनं गदितमिति " वचनात् द्रव्यमुच्यते। अतोऽन्यान्यपि तपःसंयमादीन्यवध्युत्पत्तिकारणानि द्रव्यावधित्वेनावसेयानीति।

अत्र क्षेत्रकालावधी प्राह-

खेत्ते जत्थुप्पज्जइ, कहिज्जए पेच्छए व दव्वाइं।
एवं यजत्थ य काले, तउ पेच्छइ खित्तकाले सो॥

यत्र नगरोद्यानादिक्षेत्रे स्थितस्यावधिरुत्पद्यते। स क्षेत्रेऽधिकरणभूतेऽवधिः क्षेत्रावधिरुच्यते। क्षेत्रस्याधारत्वेन प्राधान्यविवक्षया क्षेत्रेण व्यपदेश इति भावः। यत्र वा क्षेत्रेऽवधिः कथ्यते प्रज्ञापकेन स्वरूपतः प्ररूप्यते। यत्र वा क्षेत्रे व्यवस्थितानि द्रव्याणि अवधिज्ञानी प्रेक्षते। तत्प्राधान्यविवक्षया तेन व्यपदेशात् क्षेत्रावधिरभिधीयते। एवं यत्र प्रथमपौरुष्यादौ कालेऽवधिरुत्पद्यते। यत्र वा प्रज्ञापकेन प्ररूप्यते यत्कालं विशिष्टानि वा द्रव्याण्यवधिज्ञानी पश्यति। तत्प्राधान्यविवक्षया तेन व्यपदेशात्स कालावधिरुच्यते। ननु किमिति क्षेत्रकालावस्थितानि द्रव्याणि पश्यत्यसावुच्यते। किं क्षेत्रकालावेव साक्षादेव न पश्यतीत्याशङ्क्याह। ननु पश्यति क्षेत्रकालावसौ तयोरमूर्तत्वादवधेश्च मूर्तविषयत्वाद्वर्तनारूपं तु कालं पश्येत्। द्रव्यपर्यायत्वात्तस्येति।

अथ भवभावावधी निरूपयितुमाह-

जम्मि भवे उप्पज्जइ, वड्ढइ पेच्छइ च जं भवोही सो।
एमेव य भावोही, वड्ढई य तओ खओवसमे॥

यस्मिन्नारकादिभवेऽवधिरवश्यमुत्पद्यते। यत्र वा भवे उत्पन्नोऽसावधिर्वर्तते। नारकादिभव एवायं वा स्वकीयं परकीयं वा अतीतमनागतं वा एकादिकमसंख्याततमं वा तं भवं पश्यति। स भवावधिः। भवे आधारभूते विषयभूते वा ऽवधिरिति कृत्वा एवमेव भावावधिरपि वक्तव्यः। यस्मिन् क्षयौपशमिके भावेऽवधिरुत्पद्यते। यत्र वा क्षायोपशमिक एव भावे उत्पन्नोऽसौ वर्तते। यं वा औदयिकादिभावपञ्चकान्यतरभावान् पश्यति स भावावधिरित्यर्थः। भावे अवधिर्भावावधिरिति कृत्वा स त्ववधिः। क्व भावे वर्तत इति। कथ्यतामित्याह। वर्तते च तत्कोऽसावधिः क्षायोपशमिके भाव इति। तदेवं प्रथमव्याख्याने द्वारतया समायातस्यावधेर्नामादिनिक्षेपोऽयमुक्तो द्वितीयव्याख्याने तु विशेषणतया समायातस्यास्यैषोऽभिहित इति। विशे०। आ० चू०।

(५) भवप्रत्ययिकादितो द्वैविध्यम्।

से किं तं ओहिणाणपच्चक्खं ओहिनाणपच्चक्खं दुविहं पण्णत्तं। तं जहा भवपच्चइयं च खओवसमियं च। से किं तं भवपच्चइयं च भवपच्चइयं दुण्हं तं जहा। देवाण य नेरइयाण य। से किं तं खओवसमियं खओवसमियं दुण्हं तं जहा मणूसाण य पंचिंदियतिरिक्खजोणियाण को हेऊखाओवसमियं क्खाओवसमियं तथा वरणिज्जाणं कम्माणं उद्दिण्णाणं खएणं अणुदिण्णाणं उवसमेणं ओहिनाणं समुप्पज्जइ। अहवा गुणपडिवन्नस्स अणगारस्स ओहिनाणं समुप्पज्जइ।

अथ किं तदवधिज्ञानप्रत्यक्षम्। अवधिज्ञानप्रत्यक्षं द्विविधं प्रज्ञप्तम् तद्यथा। भवप्रत्ययं च क्षायोपशमिकं च। तत्र भवन्ति कर्मवशवर्तिनः प्राणिनोऽस्मिन्निति भवो नारकादिजन्म पुंनाम्नीति। अधिकरणे घ प्रत्ययः। भव एव प्रत्ययः कारणं यस्य तद्भवप्रत्ययं प्रत्ययशब्दश्चेह कारणपर्यायः वर्तते च प्रत्ययशब्दः कारणत्वे यत उक्तं। " प्रत्ययाः शपथज्ञानहेतुविश्वासनिश्चये " च शब्दः स्वगतदेवनारकाश्रितभेदद्वयसूचकः। तौ च द्वौ भेदावनन्तरमेव वक्ष्यति। यथा क्षयश्चोपशमश्च क्षयोपशमौ ताभ्यां निवृत्तं क्षायोपशमिकम्। चशब्दः स्वगतानेकभेदसूचकः। तत्र यद्येषां भवति। तत्तेषामुपदर्शयति। (दोण्हमित्यादि) द्वयोर्जीवसमूहयोर्भवप्रत्ययं तद्यथा देवानां नारकाणां च तत्र दीव्यन्ति निरुपमक्रीडामनुभवन्तीति देवाः। तथा नरान् कायन्ति शब्दयन्ति योग्यतायां अनतिक्रमेणाकारयन्ति जन्तून् स्वस्थाने इति नरकाः। तेषु भवा नारकाः। तेषां चशब्द उभयत्रापि स्वगतानेकभेदसूचकः। ते च संस्थानचिन्तायामग्रे दर्शयिष्यन्ते। अत्राह परः। नन्ववधिज्ञानं क्षायोपशमिके भावे वर्तते। नारकादिभवश्चौदयिके तत्कथं देवादीनामवधिज्ञानं भवप्रत्ययमिति व्यपदिश्यते। नैष दोषः। यतस्तदपि परमार्थतः क्षायोपशमिकमेव केवलं सः क्षयोपशमो देवनारकभवेष्ववश्यंभावी। पक्षिणां गगनगमनलब्धिरिव ततो भवप्रत्ययमिति व्यपदिश्यते नैष दोषः। यतस्तदपि उक्तं च। चूर्णौ ननु " ओही खओवसमिए भावे नरगाइभवे से उदइए भावे तओ कहं भवे पच्चइओ भण्णइ उच्यते सो वि खओवसमिओ चेव किंतु सो खओवसमो नारगदेवभवेसु अवस्सं भवइ को इह दिट्ठंतो पक्खीणं आगासगमणं च तओ भवपच्चइ " (ओभण्णइत्ति) यथा द्वयोः क्षायोपशमिकम् तद्यथा मनुष्याणां च पञ्चेन्द्रियाणां तिर्यग्योनिजानां चात्रापि चशब्दौ प्रत्येकं स्वगतानेकभेदसूचकौ पञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्याणां चावधिज्ञानं नावश्यम्भावि। ततः समानेऽपि क्षायोपशमिकत्वे भवप्रत्ययादिदं भिद्यते। परमार्थतः पुनः सकलमप्यवधिज्ञानं क्षायोपशमिकं संप्रति क्षायोपशमस्वरूपं प्रतिपादयति। (को हेऊ खाओवसमियंति) को हेतुः निमित्तं यद्वशात्तदवधिज्ञानं क्षायोपशमिकमित्युच्यते। अत्र निर्वचनमभिधातुकाम आह (खाओवसमियमित्यादि) क्षायोपशमिकं येन कारणेन तदावरणीयानामवधिज्ञानावरणीयानां कर्मणामुदीर्णानां क्षयेणानुदीर्णानामुदयावलिकामप्राप्तानामुपशमेन विपाकोदयविष्कम्भणलक्षणेनावधिज्ञानमुत्पद्यते। तेन कारणेन क्षायोपशमिकमित्युच्यते। क्षयोपशमश्च देशघातिरसस्पर्द्धकानामुदये सति भवति। न सर्वघातिरसस्पर्धकानाम्। नं०। तत्रावधिज्ञानावरणकर्मप्रकृतीनां तथाविधविशुद्धाध्यवसायभावतः सर्वघातिषु रसस्पर्धकेषु देशघातिरूपतया परिणमितेषु देशघातिरसस्पर्धकेष्वपि वातस्निग्धेषु अल्परसीकृतेषु उदयावलिकाप्राप्तस्यांशस्य क्षये अनुदीर्णस्य चोपशमे विपाकोदयविष्कम्भरूपे जीवस्यावध्यादयो गुणाः प्रादुःसन्ति उक्तं च। " निहिएसु सव्वघाई, रसेसु फड्डेसु देशघाईणं। जीवस्स गुणा जायंति ओहिमणचक्खुमाईया। १। अत्र निहितेष्विति देशघातिरसस्पर्द्धकतया व्यवस्थितेषु शेषं सुगमम्। सर्वघातिनि च रसस्पर्द्धकान्यवधिज्ञानावरणी-यस्य देशघातिरसस्पर्द्धकतया परिणमयति। कदाचिद्विशिष्टगुणप्रतिपत्तिमन्तरेण कदाचित्पुनर्विशिष्टगुणप्रतिपत्त्या विशिष्टगुणप्रतिपत्तिमन्तरेण कथमिति चेदुच्यते। इह यथा दिवसकरमण्डलस्य घनपट-लाच्छादितस्य कथञ्चिद्विधसा परिणामेन घनपटलपुद्गलानां निस्नेहीभूय परिक्षयतः समुपजातेन रन्ध्रेण तिमिरनिकरो-

पसंहारहेतवो भानवः स्वावपातदेशास्पदं द्रव्यमुद्योतयन्ति। तथा प्रकृतिमासुरस्यात्मनो मिथ्यात्वादिहेतूपचयोपजनिताऽवधिज्ञानावरणपटलतिरस्कृतस्वरूपस्य संसारे परिभ्रमतः कथञ्चिदेवमेवतथाविधशुभाध्यवसायप्रवृत्तितोऽवधिज्ञानावरणसंबन्धिनां सर्वघातिरसस्पर्द्धकानां देशघातिरसस्पर्धकया जालानामुदयावलिकाप्राप्तस्यांशस्य परिक्षयतोऽनुदयावलिकाप्राप्तस्योपशमतः समुद्भूतेन क्षयोपशमरूपेण रन्ध्रेण विनिर्गतोऽवधिज्ञानालोकः प्रसाधयति। स्वकार्यं कदाचित्पुनर्विशिष्टगुणप्रतिपत्तितः सर्वघातीनि रसस्पर्द्धकानि देशघातीनि भवन्ति। तथा चाह (अहवेत्यादि) अथवेति प्रकारान्तरोपदर्शनेन प्रकारान्तरता च गुणप्रतिपत्तिमन्तरेणेत्यपेक्ष्य द्रष्टव्या। गुणाः मूलोत्तररूपाः तान् प्रतिपन्नो गुणप्रतिपन्नः। अथवा गुणैः प्रतिपन्नः पात्रमिति कृत्वा गुणैराश्रितो गुणप्रतिपन्नः अनेन पात्रतायां सत्यां स्वयमेव गुणा भवन्तीति। प्रतिपादयति उक्तञ्च। " नोदन्वानर्थितामेति, न चाम्भोभिर्न पूर्यते। आत्मा तु पात्रतां नेयः, पात्रमायान्ति संपदः। १। अगारं गृहं न विद्यते अगारं यस्यासावनगारः। परित्यक्तद्रव्यभावग्रह इत्यर्थः। तस्य प्रशस्तेष्वध्यवसायेषु वर्तमानस्य सर्वघातिरसस्पर्द्धकेषु देशघातिरसस्पर्धकतया जातेषु पूर्वोक्तक्रमेण क्षयोपशमभावतोऽवधिज्ञानमुपजायते। मनःपर्यायज्ञानावरणीयस्य तु विशिष्टसंयमाप्रमादादिप्रतिपत्तावेव सर्वघातीनि रसस्पर्धकानि देशघातीनि भवन्ति। तथा स्वभाव्यात्तच्च तथा स्वभाव्यं बन्धकाले तथा रूपाणामेव तेषां बन्धनात् ततो मनःपर्यवज्ञानं विशिष्टगुणप्रतिपन्नस्यैव वेदितव्यम्। मतिश्रुतावरणाचक्षुर्दर्शनावरणान्तरायप्रकृतीनां पुनः सर्वघातीनि रसस्पर्द्धकानि। येन तेन वाध्यवसायेनाध्यवसायानुरूपं देशघातीनि स्पर्धकानि भवन्ति। तेषां तथा स्वभाव्यात् ततो मतिज्ञानावरणादीनां सदैव देशघातिनामेव रसस्पर्द्धकानामुदयः। सदैव च क्षयोपशमः। उक्तञ्च। पञ्चसंग्रहमूलटीकायाम् मतिश्रुतावरणाचक्षुर्दर्शनावरणान्तरायप्रकृतीनां च सदैव देशघातिरसस्पर्द्धकानामेवोदयः। ततस्तासां सदैवौदयिकक्षायोपशमिकौ भावाविति कृतं प्रसङ्गेन। नं०। स्था०। प्रज्ञा०। भ०।

(६) आनुगामिकादि षट् भेदाः।

तं समासओ छव्विहं पण्णत्तं। तं जहा आणुगामियं १ अणाणुगामियं २ वड्ढमाणयं ३ हीयमाणयं ४ पडिवाईयं ५ अप्पडिवाईयं ६।

एतेषां षण्णां भेदानामर्थाः। सभेदाः अनुगामिकादिशब्देषूक्ताः वक्ष्यन्ते च नवरमिह।

अणुगामिओ य ओही, नेरइयाणं तहेव देवाणं।
अणुगामि अणणुगामी, मीसो य मणुस्सतेरिच्छे॥

अनुगमनशील आनुगामुको यःसमुत्पन्नोऽवधिः स स्वामिनं देशान्तरमिव्रजन्तमनुगच्छति। लोचनवदसौ आनुगामुक इत्यर्थः। ईदृश एवावधिर्भवति केषामित्याह। नारकाणां तथादेवानां चेति। तथा आनुगामुक उक्तस्वरूपः अनानुगामुकस्त्ववस्थितशृङ्खलानि यन्त्रितप्रदीपवद्विपरीतः यस्य तूत्पन्नस्यावधेर्देशो व्रजति। स्वामिना सहान्यत्र देशस्तु प्रदेशान्तरचलितपुरुषस्योपहतैकलोचनवदन्यत्र न व्रजति। असौ मिश्र उच्यते। एष त्रिविधोऽप्यवधिर्मनुष्यतिर्यक्षु च भवतीति। निर्युक्तिगाथार्थः। अथ भाष्यम्।

अणुगामिओणुगच्छंवं लोयणं जहा पुरिसं इयरो य नाणुगच्छइ ठियपइव्वो व्व गच्छंतं। उभयसहावो मीसो देसो जस्साणुजाइ नो अन्नो कासइ गयस्स कत्थइ एगं उवहम्मइ जहत्थिं।

गतार्थे एव उक्तमानुगामुकद्वारम्।

अथावस्थितद्वारमुच्यते। अवस्थितं चावधेराधारभूतक्षेत्रत उपयोगतो लब्धितश्च चिन्तनीयम्। तत्र क्षेत्रत उपयोगतश्चाह-

खित्तस्स अवट्ठाणं, तेत्तीसं सागराउ कालेणं।
दव्वे भिन्नमुहुत्तो, पज्जवलंभे य सत्तट्ठ॥

अवधेराधारपर्यायेण क्षेत्रस्यावस्थानं त्रयस्त्रिंशदेव सागरोपमानि कालेन कालमाश्रित्य भवन्ति। इदमुक्तं भवति। अनुत्तरसुरा यत्र क्षेत्रे जन्मसमये अवगाढास्तत्रैवाभवक्षयमवतिष्ठन्तेऽतस्तत्संबन्धिनोऽवधेरेकत्र क्षेत्रे त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमलक्षणकालमवस्थानं संपद्यते। उपयोगस्त्ववधेःसुरनारकपुद्गलादिके द्रव्ये द्रव्यविषयमुपयोगमाश्रित्य तत्रान्यत्र वा क्षेत्रे भिन्नमुहूर्तमेवावस्थानं न परतः सामार्थ्याभावादिति। तत्रैव द्रव्ये ये पर्यवाः पर्यायधर्मास्तल्लाभे पर्यायात्पर्यायान्तरं च सञ्चरतोऽवधेस्तदुपयोगे सप्ताष्टौ वा समयानवस्थानं न परतः। अन्ये तु व्याचक्षते। पर्यायात् द्विधा गुणाः पर्यायाश्च तत्र सहवर्तिनो गुणाः शुक्लादयः क्रमवर्तिनस्तु पर्याया नवपुराणादयस्तत्र गुणेष्वष्टौ समयानवध्युपयोगावस्थानं पर्यायेषु सप्तसमयानीति स्थूलं हि द्रव्यं तेन तत्रान्तर्मुहूर्तं तदुपयोगस्थितिगुणास्ततः। सूक्ष्मास्तेनैतेष्वष्टौ समया न गुणेभ्योऽपि पर्यायाः सूक्ष्मा इति। तेषु सप्तसमयान् यावदिति भावः। अथ लब्धितोऽवध्यवस्थानमाह-

अद्धाए अवट्ठाणं, छावट्ठिं सागराउ कालेणं।
उक्कोसगं तु एयं, एक्कोसमओ जहन्नेणं॥

इहाद्धाशब्देनावधिज्ञानावरणक्षयोपशमलाभरूपा या लब्धिरभिप्रेता सा च तत्रान्यत्र वा क्षेत्रे तेष्वन्येषु वा द्रव्यादिषु युक्तस्य वा भवति। अथैतस्यावधिज्ञानावणक्षयोपशमलाभरूपाया लब्धेर्निरन्तरमवस्थानं वक्ष्यमाणभाष्ययुक्त्या षट्षष्टिः सागरोपमाणि कालेन कालमाश्रित्य भवन्ति। तुशब्दस्य विशेषणार्थत्वान्नरभवसंबन्धिना कालेनैतान्यधिकानि द्रष्टव्यानि। इदं चाबाधद्रव्यादिषूपयोगस्य लब्धेश्चान्तर्मुहूर्तादिकमवस्थानमुत्कृष्टं द्रष्टव्यम्। जघन्यतस्त्वेक एव समयो मन्तव्यः। तत्र नरतिरश्चां समयादूर्ध्वमवधिः प्रतिपातादनुपयोगाद्वाऽसौ विज्ञेयो देवनारकाणां तु येषां भवस्य चरमसमये सम्यक्त्वलाभाद्विभङ्गज्ञानमवधिरूपतया परिणमति। ततः परं च मृतानां तदविधज्ञानं च प्रच्यवते तेषामेष द्रष्टव्यः। इति निर्युक्तिगाथाद्वयार्थः। ७१७। अत्र भाष्यम्।

आहारे उवभोगे, लद्धीए वा हविज्ज वत्थाणं।
आहारो से खित्ते, तेत्तीसा सागरा तत्थ॥
विजयाइसूववाए, जत्थो गाढो भवक्खओ जाव।
खित्ते व तिट्ठइ तहिं, दव्वेसु देहसयणेसु॥

आधारोपयोगलब्धिविषयमवधेरवस्थानं भवेत्तत्राधारः (से) तस्यावधेः क्षेत्रं मन्तव्यं (तत्थत्ति) तत्राधारभूते क्षेत्रे त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यवधेरवस्थानमिति शेषः। कः पुनः क्षेत्रे एतावन्तं कालमवधिरवतिष्ठत इत्याह। विजयादिष्वनुत्तरविमानेषूपपा

ताद्भक्षयं यावद्यत्र क्वापि (खेत्तेत्ति) शयनीयाक्रान्तक्षेत्रे देवोऽवगाढोऽवतिष्ठते (तहिंति)। तत्र क्षेत्रे अस्यावधिः त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यवस्थानं द्रष्टव्यम्। क्षेत्रस्योपलक्षणत्वाद्द्रव्येषु च देहशयनीयेष्ववधेरेतावन्तं कालमवस्थानमवसेयमिति। अथोपयोगतो द्रव्यगुणपर्यायेष्ववधेरवस्थानमाह-

दव्वे भिन्नमुहुत्तं, तत्थ णत्थ हविज्ज खेत्तम्मि।
उवओगो न उपरओ, सामत्थाभावतो तस्स॥
दव्वे तत्थेव गुणा, संचरओ सत्तवट्ठवासमया।
अण्णे पुण अट्ठगुणा, भणंति तप्पज्जवे सत्त॥

गतार्थैव। नवरं तत्र विवक्षिते क्षेत्रे अन्यत्र वा गतस्यावधिमतो द्रव्यविषयेऽन्तर्मुहूर्तमेवोपयोगो भवति (दव्वेत्यादि) तत्रैव विवक्षिते द्रव्ये (गुणत्ति) गुणेष्वपरापरेषु सञ्चरतः सप्ताष्टौ वा समया नावधेरूपयोगो भवति। अन्ये त्वाहुर्गुणेष्वष्टौ पर्यायेषु सप्त समयानिति। किमित्येवमि-त्याह-

जह जह सुहुमं वत्थुं, तह तह थोवोवओगया होइ।
दव्वगुणपज्जवेसुं, तह पत्तेयं पि नायव्वं॥

गतार्थैवं। अथ लब्धितोऽवस्थानमाह-

नत्थ णत्थ य खित्ते, दव्वे गुणपज्जवोवओगे य।
चिट्ठइ लद्धी सा पुण, नाणावरणक्खओवसमो॥
सा सागरोवमाई, छावट्ठिं होइ साइरेगाइं।
विजयाइ सु दो वारे, गयस्स नरजम्मणा समयं॥

गतार्थ। अथोपलब्धिविषयं जघन्यमवस्थानमाह।

सव्वजहण्णो समओ, दव्वाईसु होइ सव्वजीवाणं।

अत्र नरतिरश्चां समयादूर्ध्वमवधेः प्रतिपातादनुपयोगाद्वा। उभयोपलब्ध्यो समयमवस्थानं परोऽवगच्छत्येव। अतः सुरनारकविषयमेतत्पृच्छन् गाथार्द्धमाह-

स पुण सुरनारगाणं, हविज्ज किह खित्तकालेसु॥

स पुनः सुरनारकाणां द्रव्यादिष्ववधिर्लब्ध्युपयोगयोर्जघन्यतः कथं समयावस्थानं क्षेतिष्ठतां सुरनारकाणामित्याह (खेत्तकालेसुत्ति) तयोरेव निजक्षेत्रकालयोः तिष्ठतामिदमुक्तं भवति। अन्यत्र नरतिर्यक्संबन्धिन्याधारभूते क्षेत्रे स्वायुष्करूपे च काले गतानाममीषामपि भवति। द्रव्यादिष्ववधेः समयावस्थानं केवलम्। ते तत्र गताः सुरनारका न भवन्त्येव। किंतु नरतिर्यञ्चएवेत्यत उक्तम्। तस्मिन्नेव स्वाधारभूते क्षेत्रे स्वायुष्कक्षणे च काले तिष्ठतामिति। तत्र हि तिष्ठतां सुरनारकाणामवधेः प्रतिपाताभावात्समयमात्रावस्थानासंभव एवेति भावः। अत्र सूरिराह।

चरमसमयम्मि सम्मं, पमिवज्जं तस्स जं चिय विभंगं।
तं होइ ओहिनाणं, गयस्स वीयम्मि तं पमइ॥

व्याख्यातार्थैवेति गाथानवकार्थः। ७२६। उक्तमवस्थितद्वारम्।

अथ चलद्वारमभिधित्सुराह-

वुड्ढी वा हाणी वा, चउव्विहा होइ खेत्तकालाणं।
दव्वेसु होइ दुविहा, छव्विह पुण पज्जवे होइ॥

चलद्वारमिदमुच्यते। चलश्चावधिर्द्रव्यादिविषयमङ्गीकृत्य वर्धमानको हीयमानको वा भवति। वृद्धिहानी च षड्विधे सामान्येनागमे प्रोक्ते। तद्यथा। अनन्तभागवृद्धिः १ असंख्यातभागवृद्धिः २ संख्यातभागवृद्धिः ३ असंख्यातगुणवृद्धि ४ संख्यातगुणवृद्धिः ५ अनन्तगुणवृद्धिः ६ अनन्तभागहानिः १ असंख्यातभागहानिः २ संख्यातभागहानिः ३ संख्यातगुणहानिः ४ असंख्यातगुणहानिः ५ अनन्तगुणहानिः ६ एतयोश्च षड्विधवृद्धिहान्योश्च मध्यादवधिविषयभूते क्षेत्रकालयोराद्यन्तपदद्वयवर्जिता चतुर्विधा वृद्धिर्हानिर्वा भवति। अनन्तभागवृद्धिरनन्तगुणवृद्धिर्वा तथा अनन्तभागहानिरनन्तगुणहानिर्वा क्षेत्रकालयोर्न संभवति। अवधिविषये विषयभूतक्षेत्रस्यानन्त्याभावात् कालस्याप्यवधिविषयभूतस्यानन्तत्वाप्रतिपादनात्तदिदमत्र हृदयं यावत्क्षेत्रं प्रथमावधिज्ञानिना दृष्टं ततः प्रतिसमयमसंख्यातभागवृद्धिं कश्चित्पश्यति कोऽपि संख्यातभागवृद्धिमन्यस्तु संख्यातगुणवृद्धिम्। अपरस्तु असंख्यातगुणवृद्धिं क्षेत्रं पश्यति। एवं हीयमानमपि वाच्यम्। एवं क्षेत्रे वृद्धिर्वा हानिर्वा चतुर्धा भवति। इत्थं कालेऽपि चतुर्धा वृद्धिहान्योश्चातुर्विध्यं भावनीयम्। द्रव्येषु पुनरवधिभूतेषु द्विविधा वृद्धिर्हानिर्वा भवति। इदमुक्तं भवति। अवधिज्ञानिना यावन्ति द्रव्याणि उपलब्धानि प्रथमं ततः परं तेभ्योऽनन्तभागाधिकानि कश्चित्पश्यति। अपरस्तु तेभ्योऽनन्तगुणान्येव तानि पश्यति। न त्वसंख्यातभागाधिक्यादिना वृद्धानि वस्तुस्वाभाव्यादपरस्ततः परं पूर्वोपलब्धेभ्योऽनन्तभागहीनानि द्रव्याणि पश्यत्यन्यस्त्वनन्तगुणहीनान्येव तानि तेभ्यः पश्यति। न त्वसंख्यातभागहीनत्वादिना हीनानि पश्यति। तथा स्वाभाव्यादिति पर्यायेषु पुनः पूर्वोक्ता षड्विधापि वृद्धिर्हानिर्वा भवतीति निर्युक्तिगाथासंक्षेपार्थः। ७२७।

अथ विस्तरार्थं भाष्येणाह-

वुड्ढी वा हाणी वा, णंतासंखिज्जसंखभागाणं।
संखिज्जासंखिज्जाणंतगुणा वेति छब्भेया॥

अनन्तश्चासंख्येयश्च संख्येयश्च ते तथा। ते च ते भागाश्च तेषां वृद्धिर्हानिर्वेत्येवं त्रिविधे प्रत्येकं वृद्धिहानी भवतोऽपरमप्यनयोः प्रत्येकं त्रैविध्यमित्याह (संखिज्जेत्यादि) गुणशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते। ततश्च संख्यातगुणा अनन्तगुणाश्चेत्येवं त्रिविधे प्रत्येकंवृद्धिर्हानिश्चेत्थं वृद्धिहान्योः प्रत्येकं पूर्वदर्शितं षड्विधत्वं भावनीयमिति। तदेवं वृद्धिहान्योः प्रत्येकं षड्विधत्वं सामान्येनोपदर्श्येदानी क्षेत्रकालयोर्वृद्धिहान्योश्चातुर्विध्यस्य भावार्थं दर्शयन्नाह-

पइसमयमसंखिज्जइ, भागहियं कोइ संखभागहियं।
अन्नो संखेज्जगुणं, खित्तमसंखिज्जगुणमण्णो॥
पेच्छइ विवड्ढमाणं, हायंतं वा तहेयकालं पि।
नाणंतवुड्ढिहाणी, पेच्छइ जं दो वि नाणं तं॥

गतार्थे इव। नवरं क्षेत्रकालयोर्नानन्ते वृद्धिहानीकृत इत्याह (पेच्छइत्यादि) यद्यस्मात् द्वावपि क्षेत्रकालौ नानन्तौ अवधिज्ञानी पश्यति। पूर्वोक्तयुक्तेरिति। अथ द्रव्यविषये प्रत्येकं द्विविधवृद्धिहानी पर्यायविषयां तु वृद्धिं हानिं च प्रत्येकं षड्विधामाह "दव्वमणंतं सहियं, इति अनन्ततमोऽशो भागोऽनन्तांशस्तेनाधिकं द्रव्यं कश्चितपश्यतीति। एतेषां च द्रव्यक्षेत्रकालभावानां परस्परसंयोगे चिन्त्यमाने एकस्य वृद्धवेवापरस्य वृद्धिर्न त्वैकस्य हानौ अन्यकस्य वृद्धिः। एकस्य हानावेवापरस्य हानिर्न त्वेकस्य वृद्धौ अपरस्यहानिर्भवति। अपरं चैकस्य द्रव्यादेर्भागेन वृद्धौ हानौ वा जायमानायामपरस्यापि भङ्गेनैव वृद्धिहानी प्रायो न तु गुणकारेण गुणकारेणाप्येकस्य वृद्धिहान्योः प्रवर्तमानयोरपरस्यापि प्रायस्तेनैव ते प्रवर्त्तते इति दर्शयन्नाह-

वुड्ढीए चिय वुड्ढी, हाणीए न उ विवज्जासो ।
भागे भागो गणणा, गुणो दव्वाइ संयोगे ॥

इह वृद्धिहानी समाश्रित्य द्रव्यक्षेत्रकालभावानां परस्परं संयोगे चिन्त्यमाने एकस्य द्रव्यादेर्वृद्धावेव तदपरस्य वृद्धिर्जायते। एकस्य हानावेव च तदन्यस्य हानिः प्रवर्तते। न च (विवज्जासोत्ति) न तूक्तस्य विपर्यासो विपर्ययो मन्तव्यः । एकस्य द्रव्यादेर्हानौ अपरस्य वृद्धिः । तथैकस्य द्रव्यादेर्वृद्धौ अन्यस्य हानिरित्येवं लक्षणो विपर्ययः । कदाचिदपि न भवतीत्यर्थः । अथवा गाथार्द्धमिदमन्यथा व्याख्यायते । एवकारस्य भिन्नक्रमेण योजनात्तद्यथा । एकस्य द्रव्यादेर्वृद्धौ तदपरस्य वृद्धिरेव न तु हानिलक्षणो विपर्यासो भवति । " काले चउण्हवुड्ढित्ति " वचनादेकस्मिन् वर्धमानेऽपरस्यावस्थानं तु स्यादपि " कालो भइयव्वो खित्तवुड्ढीएत्ति " वचनात्तथा एकस्य हानिरेव न तु वृद्धिलक्षणो विपर्यासः। अवस्थानं तु स्यादपीति (भागे भागोत्ति) एकस्य क्षेत्रादेरसंख्याततमादिकेभागे वर्द्धमाने तदपरस्यापि भाग एव वर्धते। अवस्थानं वा भवति। न तु गुणकारेण वृद्धिः । तथा गुणकारेणाप्येकस्य वृद्धौ जायमानायामपरस्यापि तेनैवासौ भवत्यवस्थानं वा जायते। न तु भागेन वृद्धिः । प्रायेण चैतत् द्रष्टव्यं क्षेत्रादेर्भागेन वृद्धावपि द्रव्यादेर्गुणकारेण वृद्धिसंभवादिति। अथ परःप्रेरयति।

कह खित्तासंखभागाइ संभवे संभवो न दव्वेत्ति ।
किह वा दव्वाणंते, पज्जवसंखिज्जभागाइ ॥

मनु कथं क्षेत्रस्यासंख्येयभागादिवृद्धौ सत्यां तदाधेयद्रव्याणामप्यसंख्येयभागादिवृद्धेर्न संभवः। कथं वा द्रव्यानन्त्ये द्रव्यस्यानन्तभागवृद्धौ जायमानायां पर्यायाणामसंख्येयभागादिवृद्धिर्द्रव्यानन्तगुणवृद्धौ वा पर्यायाणामसंख्यातगुणादिवृद्धिः प्रतिपाद्यते। इदमुक्तं भवति। क्षेत्राधाराणि हि द्रव्याणि द्रव्याधाराश्च पर्यायाः ततो यादृश्येवाधारस्य वृद्धिर्हानिर्वा तादृश्येवाधेयस्यापि युक्ता तत्कथमिह वैचित्र्यं क्षेत्रस्य चतुर्विधे वृद्धिहानी द्रव्यस्य द्विविधे पर्यायाणां तु षड्विधे इति। अत्र सूरिराह।

खेत्ताणुवत्तिणो पोग्गला गुणा पोग्गलाणुवत्ती य ।
सामन्ना विन्नेया, न उ ओहिनाणविसयम्मि ॥

क्षेत्रानुवर्तिनः पुद्गलाः परमाणुस्कन्धादयः गुणास्तत्पर्यायाः पुद्गलानुवर्तिनः इत्येवमेते सामान्याः सामान्येन विज्ञेयाः । कस्य किल हन्त नैतदभिमतम्। अनभिमतप्रपिषेधं त्वाह। न त्ववधिज्ञानविषयत्वेनैवमेते अभिप्रेताः। इदमत्र हृदयम्। अस्त्येवैतत्सामान्येन को वै न मन्यते। यदुत सामान्यतः समस्तलोकाकाशस्यासंख्येयतमादिके भागे समस्तपुद्गलास्तिकायस्याप्यसंख्येयतमादिक एव भागः स्वरूपेण वर्तते समस्तपुद्गलास्तिकायस्यान्त्यतमादिके भागे समस्ततत्पर्यायराशेरप्यनन्ततमादिभागो वर्तते। अतः क्षेत्रस्यासंख्येयादिभागवृद्धिहान्योरपि तदनुवृत्या तथैव वृद्धिहानी स्याताम्। द्रव्यस्यानन्ततमादिवृद्धिहान्योस्तत्पर्यायाणामपि तदनुवृत्या तथैव वृद्धिहानी भवेताम्। परं किं तत्रावधिज्ञानविषयभूतस्य क्षेत्रादेर्वृद्धिहानी चिन्तयितुमभिप्रते। ननु सामान्येन स्वरूपस्थस्य एव च विशेषिते ये वृद्धिहानी ते अवधिज्ञानावरणक्षयोपशमाधीनत्वाद्विचित्रे अतो यथोक्तप्रकारेणैवैते अत्र युक्ते नान्यथेति। एतद्गाथोक्तमेवार्थं प्रपञ्चयन्नाह।

दव्वाइं संखेत्ता, उ णंतगुणो पज्जवासदव्वाओ ।
नियया हारा हीणा, तेसिं वुड्ढी य हाणी य ॥
न उ नियया हारवसा, ओहिनिबंधो जओ परित्तो सो ।
चित्तो तह ण हाविय, आणागज्झो य पाएण ॥

इह स्वरूपेण तावत्समस्तपुद्गलास्तिकायलक्षणानि द्रव्याधारभूतात्स्वक्षेत्रादनन्तगुणा निवर्तन्ते इति लिङ्गव्यत्ययेनात्रापि योज्यते। एकैकाकाशप्रदेशेऽनन्तस्य परमाणुद्व्यणुकादिद्रव्यस्यावगाहनात्पर्यवापर्यायाः पुनः स्वाश्रयभूतात् द्रव्यादनन्तगुणाः एकैकस्य परमाण्वादेरनन्तपर्यायत्वादित्येवंभूतं क्षेत्रादिनां स्वरूपं वर्तत इति। स्वरूपकथनमात्रं तावत्कृतं प्रकृतोपयोग्याह (निययाहारेत्यादि) द्रव्यस्य निजकाधारः क्षेत्रं पर्यायाणां तु निजकाधारो द्रव्याणि तदधीना च तेषां द्रव्यपर्यायाणां सामान्येन वृद्धिर्हानिश्च भवति । क्षेत्रस्य चतुर्विधायां वृद्धौ हानौ वा द्रव्यस्यापि तथैव ते प्राप्नुतः। द्रव्यस्य द्विविधायां वृद्धौ हानौ वा पर्यायाणामपि तथैव ते युज्येते। इत्येवं यथा परः प्रतिपादयति तथा वयमपि स्वरूपस्थितिसामान्यचिन्तायां मन्यामहे। नाऽत्र विवाद इति भावः। परं किन्तु (न उ नियतेत्यादि) न तु निजकाधारवशादवधिनिबन्धोऽवधिविषयो वर्धते हीयते वा यतः परीतः प्रतिनियतोऽसौ यथोक्तरूपेण क्षायोपशमनियमितोऽसौ चित्रक्षायोपशमाधीनत्वाच्चित्रोऽनेकरूपो यथा युक्तया घटते तथैवायं प्रवर्तते। तामुल्लङ्घ्यान्यथापि वा वर्तत इति नात्रैकान्तः आज्ञाग्राह्यश्च प्रायेणायमित्याज्ञैवात्र प्रमाणं किं स्वेच्छाप्रवृत्तशुष्कतर्कयुक्त्योपन्यासेन प्रायो ग्रहणाद्यथासंभवं युक्तिरपि वाच्येति गाथानवकार्थः। गतं चलद्वारम्।

अथ तीव्रमन्दद्वारमभिधित्सुराह-

फड्डा य असंखेज्जा, संखेज्जेया वि एगजीवस्स ।
एगप्फड्डवओगे, नियमा सव्वत्तत्थ उवउत्तो ॥
फड्डा य आणुगामी, अणाणुगामी य मीसया चेव ।
पडिवाइयपडिवाई, मीसा य मणुस्सतेरिच्छे ॥

अपवरकादिजालकान्तरस्थप्रदीपप्रभानिर्गमस्थानानि चावधिज्ञानावरणे क्षयोपशमजन्यान्यवधिज्ञाननिर्गमस्थानानीह फड्डकान्युच्यन्ते। तानि चैकजीवस्य संख्येयान्यसंख्येयान्यपि च भवन्ति। तत्र चैकफड्डकोपयोगो जन्तुर्नियमात्सर्वत्र सर्वैरपि फड्डकैरुपयुक्तो भवत्येकोपयोगत्वाज्जीवस्यैकलोचनोपयोगे द्वितीयलोचनोपयुक्तवदिति। एतानि च फड्डकानि त्रिधा भवन्ति । तद्यथा अनुगमशीलान्यानुगामुकानि यत्र देशे तिष्ठतोऽवधिमतो जीवस्योत्पन्नानि ततोऽन्यत्रापि व्रजतस्तस्यानुयायिनीत्यर्थः। एतद्विपरीतानि त्वनानुगामुकानि आनुगामुकानुगामुकोभयस्वरूपाणि तु मिश्राणि कानिचिद्देशान्तरानुयायीनि कानिचिन्नेत्यर्थः। एतानि प्रत्येकं च पुनस्त्रिधा भवन्ति। तद्यथा प्रतिपतनशीलानि प्रतिपातीनि कियन्तमपि कालं स्थित्वा ततो ध्वंसनस्वभावानीत्यर्थः। तद्विपरीतानि त्वप्रतिपातीनि आमरणान्तभावीनीत्यर्थः। प्रतिपात्यप्रतिपात्युभयरूपाणि तु मिश्राणि कानिचित्प्रतिपातीनि कानिचिन्नेत्यर्थः। एतानि च मनुष्यतिर्यक्षु योऽवधिस्तस्मिन्नेव भवन्ति। न देवनारकावधाविति। आह। ननु तीव्रमन्दद्वारे प्रस्तुते फड्डकावधिस्वरूपं प्रतिपादयतः प्रक्रमविरोध इत्यत्रोच्यते । प्रायोऽनुगामुकाऽप्रतिपातीनि फड्डकानि तीव्रविशुद्धियुक्तत्वात्तीव्राणि भण्यन्ते । अननुगामिप्रतिपातीनि त्वविशुद्धत्वान्मन्दान्युच्यन्ते ।

मिश्राणि तु मध्यमानीत्यतस्तीव्रमन्दद्वारमिदमित्यदोषः। अपरस्त्वाह। अनुगामुकाप्रतिपातिफड्डुकानां कः परस्परं विशेषः। अननुगामुकप्रतिपातिफड्डुकानां चान्योऽन्यं को भेद इत्यत्राभिधीयते अप्रतिपातिफड्डुक- मनुगाम्येव भवति अनुगामुकं त्वप्रतिपाति प्रति पाति च भवतीति विशेषः। तथा प्रतिपाति पतत्येव पतितमपि च देशान्तरे गतस्य कदाचिज्ज्ञायते। न चेत्थमनानुगामिकमिति निर्युक्तिगाथाद्वयसंक्षेपार्थः। ७३७।

विस्तरार्थं तु भाष्यकार एवाह-

जालंतरत्थदीपप्पहोवमो फड्ड गावही होइ।
तिव्वो विमलो मंदो, मलीमसो मीसरूवो य॥

अपवरकजालकान्तरस्थप्रदीपप्रभोपमः फड्डुकावधिर्भवति। तत्र च विशुद्धक्षयोपशमजन्यफड्डुकप्रभावोऽवधिर्विमलः स च तीव्र उच्यते। अविशुध्दक्षयोपशमप्रवर्तितश्च। मलीमसः। स च मन्दोऽभिधीयते। मध्यमक्षयोपशमाविष्टस्तत्फड्डुकसमुत्थस्तु मिश्ररूपस्तीव्रमन्दस्वरूप इत्यर्थः। अत एव तीव्रमन्दद्वारमिदमुच्यते। "एगफड्डेवगओगे" इत्युत्तरार्धं व्याचिख्यासुराह।

उवओगं एगेण, वि दिंतो सो फड्ड एहिं सव्वेहिं।
उवउञ्जइ जुगवंचिय, जह समयं दोहिं नयणेहिं॥

गतार्था। अथ प्रेर्यमुत्थाप्य परिहरन्नाह-

किह नोवओबहूया, भण्णइ न विसेसओ स सामण्णो।
तग्गहविसेसविमुहो, खंधावारोवओगोव्व॥

नन्वेवं सत्यवधिमतः कथं नोपयोगबहुता अनेकैः फड्डुकैरुपयुज्यमानत्वादत्रोक्तमेवोत्तरमेकस्मिन्समये जीवस्यैक एवोपयोगो भवति। तत्स्वाभाव्यान्नयनद्वयोपयोगवत्तदनेकफड्डुकै रुपयुज्यमानस्यापि न तस्योपयोगबहुता अथवा भण्यते। अत्रोत्तरम्। अनेकवस्तुविषयोपयोगे ह्येतत्स्याद्यथा। एते हस्तिनो दक्षिणतस्त्वमी वाजिनो वामतस्तु रथाः पुरतः पदातय इत्यादि। न चेहानेकवस्तुविशेषोपयोगोऽस्ति किं तर्हिसामान्योपयोग एव ग्राह्यवस्तुगतविशेषवैमुख्यान्नयनद्वयेन स्कधावारोपयोगवदयं चैक एवोपयोग इति न तद्बहुतेति।

फड्ड्याआणुगामीत्यादिविवृण्वन्नाह-

अणुगामिनिययसुद्धा, इं सेयराई य मीसयाई व।
एक्केक्क सो विभिन्नाइं, फड्डुाइं विचित्ताइं॥

इह तावत्फड्डु ानि त्रिधा भवन्ति। तद्यथा अनुगामीनि १ नियतान्यप्रतिपातीनीत्यर्थः २ शुद्धानि तीव्राणीत्यर्थः ३ (सेयराइयत्ति) सेतराणि चैतानि भवन्ति। तद्यथा अनुगामिभ्य इतराण्यननुगामीनि ४ अप्रतिपातिभ्य इतराणि प्रतिपातीनि ५ तीव्रेभ्य इतराणि मन्दानि ६ (मीसयाईवत्ति) मिश्राणि चैतानि। अनुगाम्यादीनि भवन्ति। तद्यथा। अनुगाम्यननुगामीनि ७ प्रतिपात्यप्रतिपातीनि। तीव्रमन्दानीति ८ (एक्केक्कसोभिन्ना इति) *एतानि चानुगाम्यादीन्येकैकशो विभिन्नानि भवन्ति। तद्यथा।* अनुगामीनि। प्रतिपात्यप्रतिपातिमिश्रभेदात्त्रिधा एवमनुगामीन्यपि त्रिधा। *अनुगाम्यननुगामीन्यप्येवं पुनरप्यनुगाम्यादीनि। फड्डुकानि* तीव्रमन्दमध्यमभेदात्प्रत्येकं त्रिधा वक्तव्यानि। तद्यथा अनुगामीनि तीव्रमन्दमध्यमानि। एवमननुगामीन्यपि एवमनुगाम्यननुगामीनीति (विचित्ता इति) एतानि च जघन्यमध्यमादिभेदाद्विचित्राणि नाना *प्रकाराणि। अवस्थितानुगामिकयोर्भेदः अत्र प्रेरकः प्राह-*

नियया णुगामियाणं, को भेओ को व तव्विवक्खाणं।
नियओ अणुजाइ नियमा, नियओ नियओ व्व अणुगामी॥
चयइच्चियपडिवाई, अणाणुगामी चुओ पुणो होइ।
नरतिरिगहणं पाउं-जत्तेसु विसोहिसंकिलेसा॥

नियतानुगामिनोरप्रतिपात्यनुगामिनोः फड्डुकयोरित्यर्थः। को भेदो न कश्चिदिति पराभिप्रायको वाऽनुगाम्यप्रतिपात्यविवक्षयोरनुगामिप्रतिपातिनोर्भेदः। अत्रोत्तरमाह। यो नियतोऽप्रतिपाती स चलद्वीपिकेव नियमादन्यत्र गच्छन्तमनुयात्यनुगच्छत्येव यो रुच्यनुगामी स नियतो वा स्यादनियतो वा अप्रतिहतलोचनवदप्रतिपाती वा स्यादुपहतलोचनवत्प्रतिपाती वा स्यादित्यर्थः। प्रतिपक्षभेदमाह (चयइच्चियेत्यादि) च्यवत एव प्रतिपात्येव प्रतिपाती च्युतोऽपि च देशान्तरे जायत इत्यत्र संबध्यते। अनानुगामुकस्तु नैवं स्वरूपो यतोऽसौ यत्र देशे तिष्ठतः समुत्पन्नस्तत्रैव तिष्ठतश्चयवते न वा च्युतोऽपि च देशान्तरे पुनरप्युत्पत्तिप्रदेशे समायातस्य भवतीति प्रतिपात्यनानुगामुकयोभेदः (नरेत्यादि) इह तीव्रमन्दद्वारमिदं तीव्रमन्दता च फड्डुकानां विशुद्धिसंक्लेशवशाज्ज्ञायते। विशुद्धिसंक्लेशाश्च तथाविधाः। प्रायस्तिर्यङ्मनुष्येष्वितीह फड्ड्याआणुगामीत्यादि गाथा पर्यन्तं (मणुस्सतिरिच्छेत्तिं) नरतिर्यग्ग्रहणं कृतमिति।

अथ प्रर्यान्तमुत्थाप्य परिहरन्नाह-

गहणमणुगामिमाईण किंकयतिव्वमंदचिंताए।
पायमणुगामिनियता, तिव्वा मंदा य ज इयरे॥

ननु चास्यतीव्रमन्दद्वारवर्तितीव्रमन्दचिन्तायां प्रस्तुतायां किमित्यनुगामिकादिफड्डुकग्रहणं कृतमप्रस्तुतैव फड्डुकप्ररूपणेति भावः। प्रतिविधानमाह (पायमित्यादि) अनुगामीन्यप्रतिपातीनि न फड्डुकानि यस्मात् प्रायस्तीव्राणि भवन्ति। इतराणि त्वनुगामीनि प्रतिपातीनि च प्रायो मन्दानि मिश्राणि तूभयस्वभावान्यतः फड्डुकप्ररूपणायामिति तीव्रमन्द- *द्वारता गम्यत एवेति।*

अथ मतान्तरमुपदर्श्य तस्याप्यविरुद्धतामाह-

अन्ने पमिवाउप्पा, य दारएआणुगामियाईणि।
नरतिरियग्गहणेणं, अहवा दोसुं पि न विरुद्धं॥

अन्ये त्वाचार्याः। " फड्ड्यअसंखेज्जा " इत्यादिगाथया तीव्रमन्दद्वारमभिधाय अनन्तरमेव वक्ष्यमाणे प्रतिपातोत्पादद्वारमेव। " फड्ड्याआणुगामीत्यादि " गाथोक्तानुगामुकादीनिदानीमाचक्षते केन कारणेन त एवमाचक्षते इत्याह (नरतिरियग्गहणेणंति) इदमुक्तं भवति। प्रतिपातोत्पादयोस्तिर्यङ् मनुष्यावधेरेव घटनात्तथैवद्विषयमेव प्रतिपातोत्पादद्वारमतो नरतिर्यग्ग्रहणादेतेऽप्यनुगामिकादयो भेदाः। प्रतिपातोत्पादद्वारान्तर्भाविन एवेत्याचार्याभिप्रायः। अथवा द्वयोरपि तीव्रमन्दाप्रतिपातोत्पादद्वारयोरिदमनुगामुकादिभेदकथनमर्थतो न किंचिद्विरुद्धम्। तीव्रमन्दस्वरूपे प्रतिपातोत्पादवति चावधौ अनुगामुकादिभेदानां घटनादिति गाथाष्टकार्थः॥ ७४७॥ गतं तीव्रमन्दद्वारम्।

अथ प्रतिपातोत्पादद्वारमाह-

बाहिरलंभे भज्जो, दव्वे खेत्ते य कालभावे य।
उप्पापडिवाओ वि य, तदुभयं चेगसमएणं॥

अवधिमतो बहिः बाह्योऽवधिस्तस्य लाभः प्राप्तिरुत्पत्तिस्तस्मिन् बाह्यावधिलाभे भाज्यो भजनीयः कोऽसावित्याह। उत्पादः प्रतिपात-स्तदुभयं चैकसमयेन क्व विषये उत्पादादय इत्याह। द्रव्यक्षेत्रकालेष्विति निर्युक्तिगाथासंक्षेपार्थः।

अथ भाष्यम्।

बाहिरओ एगदिसो, पल्लोही वाहवा असंबद्धो।
दव्वाइसु भयणिज्जा, तत्तुप्पायादओ समयं॥

इह बाह्यावधिरुच्यते। क इत्याह। योऽवधिमत एकस्यां दिशि भवति। अथवा अनेकास्वपि दिक्षु यः फड्डुकावधेरन्योन्यविच्छिन्नः सान्तरो भवति। सोऽपि बाह्यावधिस्तद्यथा। अथवा सर्वतः परिमण्डलाकारोऽ-प्यवधेर्योऽवधिमतो जीवस्याङ्गुलमानादिना क्षेत्रव्यवधानेन सर्वतोऽसं-बद्धः सोऽपि बाह्यावधिस्तद्यथेति। तावत् भाष्यकारचिरन्तनटीकाकृ-तामभिप्रायः। आवश्यकचूर्णिकारस्त्वाह " बाहिरलंभो नाम जत्थ सेढियस्स ओहिनाणं समुप्पन्नं तम्मिट्ठाणे से ओहिनाणं न किंचि पासइ तं पुण ट्ठाणं जाहे अंतरियं होइ तं जहा। अंगुलेण वा अंगुलपुहुत्तेण वा विहत्थीए वा विहत्थीपुहुत्तेण वा एवं जाव संखेज्जेहिं वा असंखेज्जेहिं वा जोयणेहिं ताहे पासइ एस बाहिरलंभो भण्णइ"। अनेन भाष्योक्तस्तृती-यपक्ष एव लिखितः। आद्यपक्षद्वयं तु किमुपलक्षणव्याख्यानाच्चूर्णौ द्रष्ट-व्यमाहोस्विदन्यत्किञ्चित्कारणमिति केवलिनो विदन्तीति। तत्र चैवंविधे बाह्यावधौ एकस्मिन् समये द्रव्यक्षेत्रकालभावेषु विषये उत्पादादयो भजनीया इति कथं भजनीया इत्याह-

उप्पाओ पमिवाओ, उभयं वा होज्ज एगसमयेणं।
कहमुभयमेगसमये, विभागओ तं न सव्वस्स॥

इह कदाचिदेकस्मिन् समये उत्पादो भवति। पूर्वः स्वल्पद्रव्यादिविषयो बाह्यावधेरुत्पन्नः सन् वर्धत इत्यर्थः। अधिकान् द्रव्यक्षेत्रकालभावान् पश्यतीति भावः। कदाचित्त्वेकस्मिन् समये हीयतेऽसौ पूर्वदृष्टेभ्यो द्रव्यादिभ्यो हीनास्तान्पश्यतीत्यर्थः। कदाचित्तूत्पादप्रतिपातलक्षणमु-भयमपि एकस्मिन् समये भवेद्यतो बाह्यावधेर्देशावधिरयं ततश्च यदैवैकतो दिक्त्वे बाह्यावधौ तिरश्चीनं सङ्कोचलक्षणः प्रतिपातस्तदैवाग्रतो वृद्धि-रूप उत्पादो भवति। यदा वाऽग्रतः सङ्कोचस्तदैव तिरश्चीनविस्तरः। एवं सान्तरानेकदिक्त्वेऽपि बाह्यावधौ यदैवैकस्यां दिशि अधिकस्योत्पाद-स्तदैवान्यस्यां प्रतिपातः। एवं वलयाकारे सर्वतो दिक्त्वेऽपि बाह्यावधौ यत्रैव समय एकस्मिन् देशे वलयस्य विस्ताराधिक्यलक्षण उत्पादस्तत्रैव समये अन्यस्यां दिशि वलयस्य सङ्कोचलक्षणः प्रतिपात इत्यादिप्र-कारेणोत्पादादयोऽत्रैकस्मिन् समये भजनीयाः। अत्र परः प्राह (कहमु-भयमित्यादि) कथमुत्पादप्रतिपातविरुद्धधर्मद्वयलक्षणमुभयमेकस्यैक-स्मिन् समये युक्तं न घटते एव एतदिति पराभिप्रायः। अत्रोत्तरमाह (विभागओ तं न सव्वस्सति) इदमुक्तं भवति। यदि हि सर्वस्याप्यवधे-र्युगपदेवोत्पादप्रतिपातावभ्युपगम्येयातां तर्हि स्याद्विरोधः। एतच्च नास्ति विभागतो देशतस्तदभ्युपगमात्कथमित्याह-

दावानलोव्व कत्थइ, लग्गइ विज्झाइ समयमंतत्तो।
तह कोइ ओहिदेसो, संजायइ नासए विइओ॥ ७५०॥

यथा हि दावानलो यदैवैकतः शुष्ककुशस्तम्बादौ लगति दीप्यते। तदैवान्यतो दग्धशुष्कतृणादिके देशे विधमति निर्वाति। तथा अस्यातिबाह्यावधेः सदेशत्वात्कोऽपि देशे जायते वृद्धिमासादयति। अन्यस्तु कोऽपि देशः तस्मिन्नेव समये नश्यति हीयत इति। नेहोत्पा-दप्रतिपातौ युगपद्विरुध्येते। इति गाथात्रयार्थः। अथैतावेवोत्पादप्रति-पातौ अभ्यन्तरावधौ निरूपयितुमाह-

अब्भिंतरलद्धीए, तदुभयं नत्थि एगसमएणं।
उप्पापडिवाओ वि य, एगयरो एगसमयेणं॥

यस्य नैरन्तर्येण सर्वतो भाविनोऽवधेस्तद्वान् जीवोऽभ्यन्तरे वर्तते। असौ अभ्यन्तरावधिरुक्तः तल्लब्धौ तत्प्राप्तौ पुनस्तदुभयं प्रतिपातोत्पा-दद्वयं युगपदेकसमये नास्ति। अयं हि अभ्यन्तरावधिः प्रदीपप्रभापटल-वदवधिमता जीवेन सह सर्वतो नैरन्तर्येण संबन्धो खण्डो देशरहित एकस्वरूपः। अत एवायं संबन्धावधिर्देशावधिश्चोच्यते। तथा चोक्तं चूर्णौ। " तत्थ अब्भिंतरलद्धि नाम जत्थ सेढियस्स ओहिनाणं समुप्पण्णं ततो ठाणाओ आरब्भ सो ओहिनाणी निरंतरसंबद्धं संखेज्जं वा असंखेज्जं वा खित्तओ ओहिणा जाणइ पासइ एस अब्भिंतरलद्धित्ति "। अस्मिंश्चैवं-विधे एकस्मिन्नखण्डेऽभ्यन्तरावधौ एकस्मिन् समये प्रतिपादोत्पातयो-रेकतर एव भवति। न तु युगपदेवोभयं सदेशत्वप्रसङ्गादेकस्यैकदा विरु-द्धधर्मयोगाच्च। तथा हि निरावरणे सर्वतः प्रसृते प्रदीपप्रभापटले एकस्मिन् समये सङ्कोचविस्तरयोरेकतर एव भवति। न त्वेकस्यां दिशि संकोचोऽ-न्यस्यां तु विस्तर इत्येवं युगपदेकसमये सङ्कोचविस्तरौ भवतः एवमत्रापीति भावः। एतदेवाह (उप्पापडिवाओ वि येत्यादि) इति निर्युक्तिगाथार्थः।

अथ भाष्यम्।

अब्भिंतरलद्धी सा, जत्थ प्पइ वप्पभव्वसव्वत्तो।
संबद्धमोहिनाणं, अब्भिंतरओवहीनाणी॥

गतार्थैव। नवरं संबद्धमिति। अथावधिज्ञानं जीवे संबद्धं सर्वतो भवति। अवधिज्ञानो त्ववधिज्ञानस्याभ्यन्तरतो भवतीति। अथात्रोत्पादप्रति-पातविधिमाह-

उप्पाओ विगमो वा, दीवस्स व तस्स नोभयं समयं।
न भवणनासो समयं, वत्थुस्स जमेगधम्मेणं॥

अभिहितार्थैव। नवरं यद्यस्माद्वस्तुनो द्रव्यस्य एकेन धर्मेण स्वभावेन समकं युगपन्नैव भवननाशौ उत्पादव्ययौ कदाचनापि भवतः। न ह्यङ्गुलि-द्रव्यं येनैव ऋजुत्वधर्मेण ऋजु प्राञ्जलं भवति। तेनैव विनश्यतीति युज्यते। विरुद्धत्वाद्धर्मान्तरेण त्वेकस्यैककालमपि युज्यते। उत्पाद-व्ययौ यथा तदेवाङ्गुलिद्रव्यं यस्मिन्नेव समये ऋजुतयोत्पद्यते। तस्मिन्नेव समये वक्रतया विनश्यति। द्रव्यतया त्ववस्थितमेवास्त इति तदेवाह।

उप्पायव्वयधुवया, समयं धम्मंतरेण न विरुद्धा।
जह रिउवक्कंगुलिता, सुरनरजीवत्तणाइं वा॥
उप्पज्जइ रिउयाए, नासइ वक्कत्तणेण तस्समयं।
न उ चेव तम्मि रिउया, नासो वक्कत्तभवणं च॥

गतार्थ एव। नवरं तत्प्रत्ययः प्रत्येकमभिसंबध्यते। तथा ऋजुता वक्रता अङ्गुलिता चेत्येतत्त्रितयमपि युगपद्धर्मान्तरेण न विरुद्धं यदि वा यथा कोऽपि मृतः साधुर्यस्मिन्नेव समये देवत्वेनोत्पद्यते। तस्मिन्नेव समये नरत्वेन विनश्यति। जीवत्वेन पुनरवतिष्ठते। एवमिहापि युगपद्धर्मान्तरेणोत्पादादयो न विरुध्यन्ते। न त्वेकेनैव धर्मेण युगपत्ते युज्यन्ते। तदेवाह (न उ तम्मि इत्यादि) न पुनरेतत् युज्यते किमित्याह (रिउयेत्यादि) यस्मिन्नेव स-

मये अङ्गुलया ऋजुता जायते। तस्मिन्नेव समये तस्या ऋजुताया नाशो भाविवक्रत्वस्य भवनं चेति। एवं हि ऋजुता ऋजुत्वधर्मेणोत्पद्यते। तेनैव च धर्मेण तस्मिन्नेवोत्पत्तिसमये सा विनश्यतीत्यभ्युपगतं भवति। दूरविरुद्धं चैतत्कथमित्याह-

लद्धत्तलाभनासो, जुज्जइ लाभो य तस्स समएणं।
जइ तम्मि चेव नासो, निव्वविणट्ठे कुओ भवणं॥
सव्वुप्पायाभावो, तदभावे य विगमो भवे कस्स।
उप्पायवयाभावे, कावट्ठिई सव्वहा सुण्णं॥

लब्धः आत्मनो लाभः सत्ता येन तल्लब्धात्मलाभं प्राप्तस्वसत्ताकं तस्यैवेत्थंभूतस्य वस्तुनो नाशो युज्यते। न ह्यानासादितसत्ताकस्य खरविषाणस्य विनाश इति वक्तुं युज्यते। आत्मलाभश्च तस्य वस्तुनः समयेन भवति। यदि च यस्मिन्नेव समये ऋजुत्वधर्मेण ऋजुता समुत्पद्यते। तस्मिन्नेव समये तेनैव धर्मेण सा विनश्यतीत्यभ्युपगम्यते। तर्हि एवं सर्वदैवोप्यत्थभावानित्यविनष्टे कदाचिदप्यनवाप्तात्मलाभे वस्तुनि कुतो भवनं सत्तारूपं न कुतश्चिदित्यर्थः। ततः किमित्याह। "सव्वुपायेत्यादि"। तत इत्थं सर्वदैव विनाशाघ्रातत्वान्नित्यमेव वस्तूनामुत्पादाभावः प्रसृजति। तथा च सति कस्य विगमो विनाशो युज्यते। इतरथा तु कस्य विनाश इति भावः। उत्पादव्ययाभावे च (कावट्ठिइत्ति) काव-स्थितिस्तथा हि। यदुत्पादव्ययशून्यं तस्यावस्थितिरपि नास्ति यथा खरविषाणस्य तच्छून्यं च वस्तूक्तयुक्तेर्भवतः समापततः कुतस्तस्याव-स्थितिरिति। एवं च सति सर्वथा शून्यं जगत्त्रयमिदं प्राप्नोति। तथा ह्युत्पादव्ययध्रौव्यरहितं वस्तु नास्त्येव सत्त्वाद्ययोगात्। खरविषाण-वदिति अग्रेतननिर्युक्तिगाथासंबन्धं भाष्यकारः स्वत एव कुर्वन्नाह-

दव्वाईणं तिण्हं, पुव्वं भणिओ परोप्परनिबंधो।
इह दव्वस्स गुणेणं, भणइ दव्वासिओ जं सो॥

अत्रैव पूर्वं " संखेज्जमाणो दव्वे भागो लोगपलियस्स बोधव्वो "। इत्यादिना द्रव्यक्षेत्रकाललक्षणत्रयस्य परस्परनिबन्धोऽभिहितः। इह तूत्पादप्रतिपातद्वारमेव प्रसङ्गतो द्रव्यस्यैव गुणेन सहायमुच्यते। न तु क्षेत्रकालयोर्यतो द्रव्याश्रितोऽसौ। ननु क्षेत्रकालाश्रित इति गाथासम-कार्यः। तदेवाह। ७५७।

दव्वा उ असंखेज्जे, संखेज्जेया वि पज्जवे लहइ।
दो पज्जवे दुगुणिए, लहइ एगाउ दव्वाउ॥

इह परमाण्वादिद्रव्यमेकं पश्यन्नवधिज्ञानी तत्पर्यायानेकगुणकाल-कादीनुत्कृष्टतोऽसंखेयान् विमध्यमतः संख्येयान् लभते प्राप्नोति पश्यतीति तात्पर्यम्। जघन्यतस्तु द्वौ पर्यायौ द्विगुणितौ एकस्मात् द्रव्यात् लभते। सामान्यतो वर्णगन्धरसस्पर्शलक्षणांश्चतुरः पर्यायान् जघन्यत एकस्मिन् द्रव्ये पश्यति। न त्वेकगुणकालकादीन् बहूनित्यर्थः। एकद्रव्य-गतानुत्कृष्टतोऽप्यनन्तपर्यायान्न पश्यति। किं त्वसंख्येयानेव अनन्तेषु अनन्तांस्तान्पश्यत्येवेति निर्युक्तिगाथार्थः। अथ भाष्यम्।

एगं दव्वं पिच्छं, खंधं मणुं वा सपज्जवे तस्स।
उक्कोसमसंखिज्जे, पेच्छएक्कोइ संखेज्जे॥
दो पज्जवे दुगुणिए, सव्वजहण्णेव पेच्छये ते य।
वण्णाईया चउरो, नाणं ते पिच्छइ कया॥

गतार्था एव। अवसितमुत्पादप्रतिपातद्वारम् विशे०। स्था०।

(७) अवधिप्ररूपणे दण्डकः।

णेरइयाणं भंते! ओही किं आणुगामिए अणाणुगामिए पवड्ढ-माणए हियमाणए पडिवाइए अपडिवाइए अवट्ठिए अणवट्ठिए। गोयमा! अणुगामिए नो अणाणुगामिए नो वड्ढमाणए नो पडिवाई अपडिवाई अवट्ठिए नो अणवट्ठिए। एवं जाव थणियकुमाराणं पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा। गोयमा! अणुगामिए वि जाव अणवट्ठिए वि। एवं मणूसाण वि वाणमंतरजोइसियवेमा-णियाणं जहा णेरइयाणं।

आनुगामिकादिचिन्तायां नैरयिकभवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कवैमानिका अनुगामिका प्रतिपात्यवस्थिताऽवधयो न त्वनानुगामिका वर्धमानहीय-मानप्रतिपात्यनवस्थितावधयस्तथाभवस्वाभाव्यात् तिर्यक्पञ्चेन्द्रि-याणां त्वष्टधावधिरिति। प्रज्ञा० ३३ पद।

(८) अवधिक्षेत्रप्रमाणं पनकजीवस्थावगाहना अग्निजीवप्रमाणं च।

अथवाऽवधिक्षेत्रप्रमाणमभिधित्सुर्भाष्यकार एव प्रस्तावनामाह-

ओहिस्स खेत्तमाणं, जहण्णमुक्कोसमज्झिमं तत्थ।
पाएण तदादीए, जं तेण जहन्नओ वोच्छं॥

अवधेर्यद्विषयभूतं क्षेत्रं तस्य मानं प्रमाणं जघन्यमुत्कृष्टं मध्यमं च भवति। तत्र प्रायो यद्यस्मादादौ प्रथमतस्तज्जघन्यं क्षेत्रं भवति। जघन्य-क्षेत्रविषयावधिः प्रायेणादौ समुत्पद्यते। तेन कारणेन जघन्यमेव क्षेत्रप्रमा-णमादौ वक्ष्ये इति गाथाषट्कार्थः। यथाप्रतिज्ञातमेवाह-

जावइया तीसमया-हारगस्स सुमुहस्स पणगजीवस्स।
ओगाहणा जहन्ना, ओहीखेत्तं जहन्नं तु॥

यावती यावत्प्रमाणा त्रीन् समयानाहारयतीति त्रिसमयाहारकस्तस्य सूक्ष्मनामकर्मोदयात्सूक्ष्मस्तस्य पनकश्चासौ जीवश्च पनकजीवो वनस्प-तिविशेषस्तदवगाहन्ते यस्यां प्राणिनः सावगाहना तनुरित्यर्थः। जघन्या सर्वस्तोका अवधेः क्षेत्रमवधिक्षेत्रं जघन्यं सर्वस्तोकं तुशब्दोऽवधारणे तस्य चैवं प्रयोगः अवधेर्विषयभूतं क्षेत्रं जघन्यमेतावदेवेति निर्युक्तिगाथा-संक्षेपार्थः। अथ सांप्रदायिकार्थव्याख्यानपरं भाष्यम्।

जो जोयणसाहस्सो, मच्छो नियए सरीरदेहम्मि।
उववज्जंतो पढमे, समए संखिवइ आयामं॥
पतरमसंखिज्जंगुल-भागतणुं मच्छदेहवित्थिण्णं।
वीए तइए सूइं, संखि वि उ होइ तो पणओ॥
उववायाओ तइए, समए जं देहमाणमेयस्स।
तण्णेयदव्वभायण-मोहिक्खित्तं जहण्णं तं॥

यो मत्स्यो योजनसहस्रो योजनसहस्रायामः स्वदेहस्यैव बाह्य-देशेऽनुत्पद्यमानः प्रथमे समये आयामं संक्षिपति। तं च संक्षिपन् प्रतरं करोतीतिशेषः। कथंभूतमित्याह (असंखेज्जंगुलभागतणुंति) बाहुल्येनाङ्गुलासंख्येयभागसूक्ष्ममित्यर्थः। पुनरपि तत्कथंभूत-मित्याह। मत्स्यदेहविस्तीर्णशरीरान्तःसंबन्धत्वादूर्ध्वाधस्तिर्यक् यावान्मत्स्यदेहस्य विस्तरस्तावांस्तज्जीवप्रदेशप्रतरस्यापीत्यर्थः। एवं चायामतो विष्कम्भतश्च मत्स्यशरीरपृथुत्वतुल्योऽङ्गुला-

संख्येयभागबाहुल्यश्चायं प्रतरो भवतीत्येष प्रथमसमयव्यापारः। ननु च प्रथमे समये आयामं संक्षिपतीत्येतदेवोक्तं यथोक्तप्रतरकरणं तु कुतो लभ्यत इति चेदुच्यते। अनन्तरं द्वितीयसमये तत्संक्षेपस्य भणनात्तस्य च करणपूर्वकत्वादिति "वीएत्ति संखिवि उ मि" त्यत्रापि संबन्ध्यते ततो द्वितीयसमये तं प्रतरमुभयतः संक्षिप्याङ्गुलासंख्येयभागबाहुल्यं मत्स्यशरीरपृथुत्वायामां सूचिं करोतीत्यध्याहारः। अत्राप्यनन्तरतृतीयसमये सूचिसंक्षेपाभिधानात् तस्य च तत्करणापूर्वकत्वात् सूचीकरणमध्याह्रियते। (तईएत्ति) ततस्तृतीयसमये तामपि सूचिं संक्षिप्याङ्गुलासंख्येयभागमात्रावगाहनो भूत्वा निर्जीर्णमत्स्यभवायुरुदीर्णपरभवायुश्चाविग्रहगत्या मत्स्यशरीरस्यैवैकदेशे पनकःसूक्ष्मवनस्पतिजीवविशेषो भवति। अस्मादुत्पादसमयात् तृतीयसमये यद्देहमानमेतस्य पनकस्य तत्किमित्याह (ओहिखित्तं जहण्णं तमिति) तज्जघन्यमवधेर्विषयभूतं क्षेत्रं किं स्वरूपं तत् ज्ञेयम्। द्रव्यभाजनं तस्यावधेर्ज्ञेयानि ग्राह्याणि यानि द्रव्याणि तेषां भाजनमाधारभूतमतेन तज्ज्ञेयद्रव्याधारत्वेनैव क्षेत्रमवधेर्विषय उच्यते। ननु साक्षात्तस्यामूर्तत्वादवधेस्तु मूर्तविषयत्वादिति एतद्व्याख्यातार्थसंवादि चोक्तं वृद्धैः "योजनसहस्रमानो, मत्स्यो मृत्वा स्वकायदेशे यः। उत्पद्यते हि सूक्ष्मः, पनकत्वेनेह स ग्राह्यः ॥१॥ संहृत्य चाद्यसमये, स ह्यायामं करोति च प्रतरम्। संख्यातीताख्याङ्गुलविभागबाहुल्यमानं तु॥ २॥ स्वकतनुपृथुत्वमात्रं, दीर्घत्वेनापि जीवसामर्थ्यात्। तमपि द्वितीये समये, संहृत्य करोत्यसौ सूचिम्॥ ३॥ संख्यातीताख्याङ्गुलविभागविष्कम्भमाननिर्दिष्टाम्। निजतनुपृथुत्वदैर्ध्यां, तृतीयसमये तु संहृत्य॥ ४॥ उत्पद्यते च पनकः, स्वदेहदेशे स सूक्ष्मपरिणामः॥ समयत्रयेण तस्यावगाहना यावती भवति॥ ५॥ तावज्जघन्यमवधेरालम्बनवस्तुभाजनं क्षेत्रम्। इदमित्थमेव मुनिगणसुसंप्रदायात्समवसेयम्॥ ६॥ अत्र परः पृच्छति।

किं मच्छोत्तिमहल्लो, किंतिसमयओदकीस वा सुहुमो।
गहिओ कीस व पणओ, किं व जहण्णावगाहणओ॥

किमिति मत्स्योऽतिमहान् गृह्यते। किं वा त्रिसमयाहारकः तृतीयसमये निजशरीरदेशोत्पत्तिमात्रो गृह्यते। किं वा सूक्ष्मः किमिति वा पनको जघन्यावगाहनको वा गृहीत इति।

अत्रोत्तरमाह।

मच्छो महल्लकाउं, संखित्तो जो य तीहिं समएहिं।
सो किर पयतविसेसेण सुहुमो व गाहणं कुणइ॥
सण्हयरासन्नयरो, सुहुमो पणओ जहन्नदेहो य।
सुबहु विसेसविसिट्ठो, सण्हयरो सव्वदेहेसु॥

यो हि योजनसहस्रायामो महाकायो मत्स्यस्त्रिभिश्च समयैरात्मानं संक्षिपति। स किल प्रयत्नविशेषादतिसूक्ष्मामवगाहनां कुरुते नान्यः अनेन किमिति। मत्स्यो महान् गृह्यते। तृतीयसमयसंक्षिप्तश्चेत्येतस्योत्तरमादायि। दूरे च गत्वाऽन्यत्र यद्युत्पद्यते विग्रहेण च गच्छति तदा जीवप्रदेशाः किंचिद्विस्तरं यान्तीत्यवगाहना स्थूलतरा स्यादित्यविग्रहगत्या स्वशरीरदेश एवोत्पादित इत्येतत्स्वयमेव द्रष्टव्यमिति। "कीसवासुहुमो" इत्यादेरुत्तरमाह "सण्णयरा" इत्यादि। श्लक्ष्णादपि श्लक्ष्णतरस्तावद्भवति कः पनकः कथंभूतः सूक्ष्म जघन्यदेहश्च जघन्यावगाहनश्चेत्यर्थः। वस्तुतोऽर्थतात्पर्यमाह (सुबहु इत्यादि) "जो जोयणसाहस्सो" इत्याद्युक्तप्रकारेण सुबहुविशेषणविशिष्टो गृह्यमाणपनकजीवः सूक्ष्मतरः सूक्ष्मतमश्च सर्वदेहेभ्यो भवति इति। अथ किं त्रिसमयाहारक इत्यस्योत्तरमाह -

पढमविईए अतिसङ्घण्हो, जमइत्थूलो चउत्थयाईसु।
तइयसमयम्मि जोगो, गहिओ तो तिसमयाहारो॥

यस्मात्प्रथमद्वितीययोः समययोरतिसूक्ष्मो भवति। चतुर्थादिषु च अतिस्थूलः संपद्यते। तृतीयसमये तु योग्योऽतस्त्रिसमयाहारकग्रहणमिति। अत्र केषांचिन्मतमुद्भावयन्नाह -

केई दो झससमया, तइओ पणगत्तणोववायम्मि।
अह तिसमइओ आहारओ य सुहुमो य पणओ य॥
उववाए चेव तओ, जहन्नो न सेससमएसु।
तो किर तद्देहसमा, णमोहिखित्तं जहन्नं तु॥

त्रिसमयाहारकत्वविषये केचनाचार्या व्याचक्षते। यदुत द्वौ तावज्झषस्य मत्स्यसंबन्धिनौ आद्यसमयौ गृह्येते। आयामसंहारप्रतरकरणलक्षणः प्रथमः सूचिं तु यत्र करोति स द्वितीयः। तृतीयसमयस्तु तां संक्षिप्य पनकत्वेनोत्पादो भवति। ततश्च त्रयः समया यस्यासौ त्रिसमयः अविग्रहेणोत्पत्तेराहारकश्च। एवं च सति प्रत्युतातिसूक्ष्मश्च पनकश्चायं सिद्धो भवति। तथा च स "तिसमयाहारगस्स सुहुमस्स पणगजीव स्सेति" निर्युक्तिकारवचनमाराधितं भवति। किं चेह यथा सूक्ष्मः सूक्ष्मतरोऽसौ भवति। तथा कर्तव्यम् एतच्चास्मिन् व्याख्याने स विशेषः सिद्ध्यतीति दर्शयति (उववाए चेवेत्यादि) उत्पादसमय एव यतो यस्मात्तत्कोऽसौ पनकजीवो जघन्य इति। जघन्यावगाहनो भवति। न शेषेषु समयेषु द्वितीयादिष्वीषन्महत्वाज्जघन्यावगाहनाश्च निर्युक्तौ प्रोक्तास्ततोऽतिसूक्ष्मत्वसिद्धेस्तस्यानन्तरोक्तस्वरूपस्य देहस्तद्देहस्तत्समानमेवमेतद् किलावधिविषयभूतं जघन्यं क्षेत्रं भवतीति। अत्र भाष्यगाथामन्तरेणापि पूर्वटीकाकारलिखितं प्रतिविधानमुच्यते। तच्चैवं न युक्तमिदं केषांचिद्व्याख्यानं त्रिसमयाहारकत्वस्य पनकविशेषणत्वेनोक्तत्वान्मत्स्यसमयद्वयस्य च पनकसमयत्वायोगाद्योऽपीत्थमपि जघन्यावगाहनालाभलक्षणो गुण उद्भाव्यते। सोऽपि न युक्तो यस्मान्नेहातिसूक्ष्मेणातिमहता वा किंचित्प्रयोजनं किं तर्हि योग्यो न योग्यश्च स एव तद्धेतभिर्दृष्टो यः प्रथमं जघन्यावगाहनस्तस्मिन्नेव भवे समयत्रयमाहारं गृह्णातीत्यलं विस्तरेणेति गाथानवकार्थः। तदेवमवधिविषयभूतस्य जघन्यक्षेत्रस्य परिमाणमुक्तमथोत्कृष्टस्य तदाह-

सव्वबहुअगणिजीवा, निरंतरं जत्तियं भरिज्जंसु।
खेत्तं सव्वदिसागं, परमोही खेत्तनिद्दिट्ठो॥

सर्वेभ्यो विवक्षितकालावस्थायिभ्योऽनलजीवेभ्य एव बहवः सर्वबहवः। न तु भूतभाविभ्यो नापि च शेषजीवेभ्यः कुतोऽसंभवादेवेति। अग्रयश्च ते जीवाश्च अग्रिजीवाः सर्वबहवश्च ते अग्रिजीवाश्च सर्वबह्वग्रिजीवा निरन्तरं सततं नैरन्तर्येणेत्यर्थः। यावदिति यत्प्रमाणं क्षेत्रमाकाशं वक्ष्यमाणविशिष्टसूचीरचनया रचिताः सन्तो भूतवन्तो व्याप्तवन्तः कालभूतनिर्देशश्चाजितस्वामिकाल एव वक्ष्यमाणयुक्त्या प्रायः सर्वबहवोऽनलजीवा भवन्त्यस्यामवसर्पिण्यामित्यस्यार्थस्य ख्यापनार्थः। इदं चानन्तरोक्तविशेषणं क्षेत्रमेकदिशमपि भवत्यत आह (सव्वदिसागंति) सर्वदिशो यत्र तत्सर्वदिशम् अनेन वक्ष्यमाणन्यायेन सर्वतः सूचीभ्रमणप्रमितं तदाह। परमश्चासाववधिश्च परमावधिः

क्षेत्रमनन्तरव्यावर्णितं प्रभूतानलजीवप्रमितमङ्गीकृत्य निर्दिष्टः । प्रतिपादितो महामुनिभिः । ततश्चावधेः पर्यायेणैतावत्क्षेत्रमुत्कृष्टतो विषय-मित्युक्तंभवति । इति निर्युक्तिगाथाक्षरार्थः । भावार्थं तु सांप्रदायिकार्थ-प्रतिपादकभाष्यमुखेन भाष्यकार एवाह-

अव्वाघाए सव्वासु कम्मभूमीसु जं तदारम्भा ।
सव्ववहवो मणुस्सा, होंति अजियजिणिंदकालम्मि ॥

अव्याघाते ऽनलजीवोत्पत्तेर्महावृष्ट्यादिव्याघाताभावे सर्वासु समस्तमरतैरावतविदेहणलक्षणासु पञ्चदशसु कर्मभूमिषु सर्वबहवो बादराग्निजीवा भवन्ति । इति प्रक्रमाल्लभ्यते । किमविशेषेण सर्वदैव एतास्वेते भवन्ति नेत्याह । अजितजिनेन्द्रकाले अजितजिनेन्द्रस्योपलक्षणत्वादवसर्पिण्या द्वितीयतीर्थङ्करकाले इत्यर्थः । किमिति तत्रैते बहवो भवन्तीत्याह । (जमित्यादि) यद्यस्मात्तदारम्भात्तेषां बादराग्निजीवानां संधुक्षणज्वालनाद्यारम्भपराः सर्वबहवः सर्वेभ्योऽप्यतीतानागतेभ्यो बहवः प्रचुरा गर्भजमनुष्याः स्वभावादेवेति आह । किमेतैरेव बादराग्निजीवैः सर्वबह्वग्निजीवपरिमाणं पूर्यते । आहोश्वित् सूक्ष्माग्निभिः सह यदि तैः सह सदा ते अविशिष्टा अपि गृह्यन्ते । आहोश्वित्क्वचिदेव विशिष्टा इत्याह-

उक्कोसया य सुहुमा, जया तया सव्वबहुगमगणीणं ।
परिमाणं संभवओ, तं छद्ठा पूरणं कुणइ ॥

उत्कृष्टाश्च सूक्ष्माग्निजीवाः स्वभावत एव कथमपि यदा संभवन्ति । तदैवैतैर्बादराग्निजीवैः सह सर्वबह्वग्निजीवानां परिमाणं भवति । इदमत्र हृदयम् । अनन्तानन्तास्ववसर्पिणीषु मध्ये स एव कश्चिद्धि तीर्थकरकालो गृह्यते । यत्र सूक्ष्माग्निजीवा उत्कृष्टपदिनः प्राप्यन्ते । ततश्च तैर्बादरैः सूक्ष्मैश्चाग्निजीवैरुत्कृष्टपदिभिर्मीलितैः सर्वबह्वग्निजीवानां परिमाणं भवति । तच्च संभवमात्रमाश्रित्य बुद्ध्या षोढा षट्प्रकाररचनया व्यवस्थाप्यन्ते । ततश्च बहुतरक्षेत्रपूरणं करोति तत्र पञ्चानादेशाः । षष्ठः श्रुतादेश इति एतदेवाह-

एक्केकागासपएसे जीवरयणाए सावगाहे य ।
चउरं संघणपयरं, सेड्ढीछट्ठो सुयाएसो ॥

तैः सर्वैरप्यग्निजीवैः समचतुरस्रो घनो द्विभेदः स्थाप्यते । कथमित्याह । एकैकाकाशप्रदेशे एकैकाग्निजीवरचनया स्वावगाहे च देहासंख्येयाकाशप्रदेशलक्षण एकैकाग्निजीवरचनयेति । अत्र स्थापना ।

०	०	०
०	०	०
०	०	०

एतेषां नवानामग्निजीवानां प्रत्येकमेकैकाकाशप्रदेशैर्व्यवस्थापितानामधस्तादुपरिष्टाच्चान्योऽपि नव नव जीवा इत्यमेव स्थाप्यन्ते ।

०	०	०
०	०	०
०	०	०

एष कल्पनया सप्तविंशत्या सद्भावतस्त्वसंख्येयैरग्निजीवैरेकैकाकाशप्रदेशव्यवस्थापितैर्घनो मन्तव्यः । द्वितीयोऽपि घन इत्थमेव द्रष्टव्यः । केवलमिहासंख्येयाकाशप्रदेशेष्वेकैकजीवो व्यवस्थाप्यते । एवमेकैकाकाशप्रदेश एकैकजीवस्थापनया असंख्येयप्रदेशात्मकस्वावगाहस्थापनया च प्रतरोऽपि द्विभेदः । सूचिरपि द्विभेदा तत्र घनप्रतरपक्षश्चतुर्भेदः । पञ्चमश्चैकाकाशप्रदेशस्थापितैकैकजीवलक्षणसूचिपक्षोऽपि न ग्राह्यो दोषद्वयानुषङ्गात् । तथा हि पञ्चविधयाऽप्यनया स्थापनया स्थापिता अग्निजीवाः षट्स्वपि दिक्ष्वधिज्ञानिनोऽसत्कल्पनया भ्राम्यमाणाः स्तोकमेव क्षेत्रं स्पृशन्तीत्येको दोषः । एकैकाकाशप्रदेशे एकैकजीवस्थापनायामागमविरोधश्च द्वितीयदोषः । *असंख्येयाकाशप्रदेशानन्तरेणागमे जीवावगाहनिषेधादसत्कल्पनया* प्रदेशावगाहोऽप्यस्त्विति चेन्नैवं कल्पनापि सति संभवेऽविरोधिन्येव कर्तव्या । किं विरोधेनेत्यालोच्याह (छट्ठोसुयाएसोत्ति) असंख्येयाकाशप्रदेशलक्षणस्वावगाहे षड्वक्ष्यामेकैकजीवस्थापनेन यः सूचिलक्षणः षष्ठः पक्षोऽयं श्रुते आदिष्टत्वागाह्यः शेषास्तु पञ्चानादेशाः सम्भवोपदर्शनमात्रेणोक्तत्वात्परिहार्याः इयं हि यथोक्तसूचिरेकैकजीवस्यासंख्येयाकाशप्रदेशावगाहे व्यवस्थायितत्वाद्बहुतरं क्षेत्रं स्पृशतीत्येको गुणः अवगाहविरोधाभावस्तु द्वितीयः । ततश्चैषाग्निजीवसूचिरवधिज्ञानिनः षट्स्वपि दिक्ष्यसत्कल्पनया भ्रामिता सती अलोके लोकप्रमाणान्यसंख्येयखण्डानि स्पृशत्यत एतावदुत्कृष्टक्षेत्रमवधेर्विषय इत्युक्तं भवतीत्यादि स्वयमेव वक्ष्यतीति । अत्र कश्चिदाह-

घणपयरसेढिगणियं,
ननु तुल्लं चिय विगप्पणा कीस ।
छट्ठा कीरइ मण्णइ,
पुरिसपरिक्खेवओ भेओ ॥

नन्देकैकाकाशप्रदेशावगाढजीवघनप्रतरश्रेण्याक्रान्ताकाशप्रदेशानां संख्यारूपं गणितं तुल्यदेव तथाऽसंख्येयाकाशप्रदेशावगाढजीवघनप्रतरश्रेण्याक्रान्ताकाशप्रदेशानामपि गणितं स्थाने परस्परं तुल्यमेव । तथा हि । यावत एवैकैकाकाशप्रदेशावगाहिनां जीवानां घनाकाशप्रदेशानाक्रामन्ति प्रतरोऽपि तेषां तावत एव नाक्रामति सूचिरपि तेषां तावत एव तान् स्पृशति । संवृत्तप्रसारितनेत्रपट्टाक्रान्ताकाशप्रदेशवदित्येवमसंख्येयाकाशप्रदेशावगाढजीवघनप्रतरश्रेण्याक्रान्ताकाशप्रदेशानामपि स्वस्थाने गणिततुल्यता भावनीयेत्यतोऽवगाहभेदद्वयभिन्नो घन एवास्तु । प्रतरो वा सूचिर्वेति । षोढा तु विकल्पना षट्भेदानां कल्पनं किमिति । क्रियते न युक्तेयमित्यभिप्रायः । अत्र सूरिराह । भण्यते उत्तरं किमित्याह । (पुरिसपरिक्खेवओ भेओत्ति) अस्त्यस्याः षड्विधकल्पनायाः भेदः कथमित्याह । पुरुषपरिक्षेपतः इदमुक्तं भवति नेह घना द्यक्रान्ताकाशप्रदेशानां संख्यासमत्वविषयत्वे चिन्त्ये । इति किं तर्हि घनादीनां मध्याद्यः कश्चिद्वचनाविशेषोऽवधिज्ञानिनः सर्वासु दिक्षु भ्रम्यमाणो बहुतरं क्षेत्रं स्पृशति स एवेह ग्राह्यः । एवं च सत्यस्त्यमीषां भेदस्तथा ह्येकैकप्रदेशावगाढजीवघनो भ्रम्यमाणो यावत्क्षेत्रं स्पृशति । तस्मादसंख्येयप्रदेशावगाढजीवघनोऽसंख्येयगुणं स्पृशति । ततोऽप्येकैकप्रदेशावगाढजीवप्रतरोऽसंख्येयगुणं, तस्मादप्यसंख्येयप्रदेशावगाढजन्तुप्रतरोऽसंख्येयगुणं, ततोऽप्येकैकप्रदेशावगाढं जीवसूचिरसंख्येयगुणं, तस्मादप्यसंख्येयाकाशप्रदेशावगाढैकैकाग्निजीवसूचिरवधि ज्ञानिनः सर्वासु दिक्षु भ्रम्यमाणा असंख्येयगुणं क्षेत्रं स्पृशति । तच्चालोके लोकप्रमाणान्यसंख्येयाकाशखण्डानि । अत एव तावदवधिरुत्कृष्टक्षेत्रविषय इत्युक्तमेवार्थं भाष्यकारः प्राह ।

नियया वगाहणाग्गि-जीवसरीरावली समं तेणं ।
भामिज्जइ ओहिन्नाणि देहपज्जतओ साइ ॥
अइगंतूण अलोगं, लोगागासप्पमाणमित्ताइ ।
ठाइं व अंसंखेज्जाइं इमो हि खेत्तमुक्कोसं ॥

निजका आत्मीया एकैकस्यासंख्येयप्रदेशात्मिकाऽवगाहना येषां तानि तथा तानि च तानि अग्निजीवशरीराणि च तेषामवली पङ्क्तिः । *सूचिरवधिज्ञानिनो देहपर्यन्तात्समन्तात्सर्वासु*

दिक्षु बुद्ध्या भ्राम्यति। स चालोकालोकप्रमाणमात्राण्यसंखेयान्याकाश-खण्डानीति गम्यते। अतीत्य गत्वा स्पृष्ट्वा वा इति तिष्ठत्युपरमते। इदम-वधेरुत्कृष्टक्षेत्रविषय इति। आह। ननु रूपिद्रव्याण्ये वावधिः पश्यतीति। गीयते क्षेत्रं त्वमूर्तत्वात्कथं तद्विषय इत्याह-

सामत्थमेत्तमेयं, जई दट्ठव्वं हविज्ज पिच्छेज्ज।
न य तं तत्थ च्छिज्जओसो रूविनिबंधनो भणिओ॥

यदवधेरेतावत्क्षेत्रं विषय उच्यते। तदेतत्तस्य सामर्थ्यमात्रमेव कीर्त्यते। कोऽर्थ इत्याह। यद्येतावत्क्षेत्रे द्रष्टव्यं किमपि भवेत्तत्तदा पश्येदवधि-ज्ञानी न च तद् द्रष्टव्यं तत्रालोके समस्ति। यतोऽयमवधिस्तीर्थकरगण-धरैः रूपिद्रव्यनिबन्धनो भणितः। तच्च रूपिद्रव्यमलोके नास्त्येवेति आह। यद्येवं लोकप्रमाणोऽवधिर्भूत्वा यस्य पुरतो विशुद्धिवशतो लोकाद्बहिर-प्यसौ वर्धते। तस्य तद् वृद्धेः किंफलं लोकाद्बहिर्द्रष्टव्याभावात् इत्याश-ङ्क्याह।

बद्धंतो उण वोहि, लोयत्थं चेव पासइ दव्वं।
सुहुमयरं सुहुमयरं, परमोही जाव परमाणुं॥

लोकात्पुनः बहिर्विशुद्धिवशाद्वर्धमानोऽवधिर्लोकस्थमेवाधिकतरं च पश्यति। कथंभूतं सूक्ष्मं सूक्ष्मतरं सूक्ष्मतमं च। यावत्परमावधिः सर्वसू-क्ष्मं परमाणुमपि पश्यतीति तद्वृद्धेस्तात्त्विकं फलमिति। अलोके तु लोक-प्रमाणासंख्येयत्वं खण्डेषु द्रव्यदर्शनसामर्थ्यमेव तस्येति। अन्यकर्तृकीयां प्रक्षेपगाथा सोपयोगेति च व्याख्यातेति। तदेवं जघन्यमुत्कृष्टं वाऽभिहि-तमवधेर्विषयभूतं क्षेत्रमेतस्माच्चान्यत्सर्वं विमध्यममिति सामर्थ्यात् गम्यत एव। केवलं यद्यत्र विमध्यमे क्षेत्रविशेषे कालमानं भवति। यावति च काले यद्विमध्यमं क्षेत्रं भवतीति तदभिधित्सुः प्रस्तावनामाह-

भणियं जहण्णमुक्कोसयं च खेत्तं विमज्झिमं सेसं।
एयस्स कालमाणं, वोच्छं जं जम्मि खेत्तम्मि॥

गतार्थैव। नवरमुपलक्षणत्वादिह यावति काले यद्विमध्यमं क्षेत्रं भवतीत्यभिधास्यत इति द्रष्टव्यमिति गाथानवकार्थः।

यथा प्रतिज्ञातमेवाह।

अंगुलमावलियाणं, भागमसंखिज्ज दोसु संखेज्जा।
अंगुलमावलियंतो, आवलिया अंगुलपुहुत्तं॥
हत्थम्मि मुहुत्तंतो, दिवसंतो गाउयम्मि बोधव्वो।
जोयणदिवसपुहुत्तं, पक्खंतो पण्णवीसाओ॥
भरहम्मि अद्धमासो, जंबुद्दीवम्मि साहिओ मासो।
वासं च मणुयलोए, वासपुहुत्तं व रुयगम्मि॥

अङ्गुलं क्षेत्राधिकारात् प्रमाणाङ्गुलं गृह्यते। अवध्यधिकारादुच्छ्रया-ङ्गुलमिति च केचिदिति। असंख्येयसमयसंघातात्मकः कालविशेष आवलिका। अङ्गुलं चावलिका चाङ्गुलावलिके तयोरङ्गुलावलिकयोर्भा-गमसंख्येयम् पश्यत्त्वावधिज्ञानी एतदुक्तं भवति। क्षेत्रमङ्गुलासंख्येयभाग-मात्रं पश्यन् कालत आवलिका असंख्येयमेव भागं पश्यत्यतीतमनागतं चेति क्षेत्रकालदर्शनं चोपचारेणोच्यते। अन्यथा हि क्षेत्रव्यवस्थितानि दर्शनयोग्यानि द्रव्याणि तत्पर्यायांश्च विवक्षितकालान्तर्वर्तिनः पश्यत्य-वधिर्न तु क्षेत्रकालौ मूर्तद्रव्यालम्बनत्वात्तस्येति। एवमुत्तरत्रापि सर्वत्र द्रष्टव्यम्। क्रिया चेह गाथात्रयेणाध्याहारा दृश्यते (दोसु संखेज्जत्ति) द्वयोरङ्गुलावलिकयोः संख्येयौ भागौ पश्यति। अङ्गुलसंख्येयभागमात्रं पश्यन्नावलिकायाः संख्येयमेव भागं पश्यतीत्यर्थः। (अंगुलमाव-लियंतोत्ति) अङ्गुलं पश्यन् क्षेत्रतः कालतः आवलिकान्तर्भिन्नामावलिकां पश्यतीत्यर्थः। (आवलिया अंगुलपुहु-त्तंति) कालतः आवलिकां वीक्ष्यमाणः क्षेत्रतोऽङ्गुलपृथक्त्वं पश्यति। पृथक्त्वं च समयपरिभाषा द्विप्रभृत्या नवभ्यः सर्वत्र द्रष्टव्यमिति (हत्थंमि मुहुत्तंतोत्ति) क्षेत्रतो हस्तप्रमाणक्षेत्रविषयोऽवधिः कालतो मुहूर्तान्तर्भिन्नं मुहूर्तं पश्यतीत्यर्थः (दिवसंतो इत्यादि) कालतो दिवसान्तर्भिन्नं दिवसं वीक्ष्यमाणः क्षेत्रतो गव्यूतविषयो बोद्धव्यः (जोयणदिवसपुहुत्तंति) योजनक्षेत्रविषयोऽ-वधिः कालतो दिवसपृथकक्त्वं पश्यति (पक्खंतो इत्यादि) कालतः पक्षान्तर्भिन्नं पक्षं पश्यन् क्षेत्रतः पञ्चविंशतियोजनानि पश्यति (भरहम्मि इत्यादि) भरतक्षेत्रविषयेऽवधौ कालतोऽर्द्धमासस्तद्विषयत्वेन बोद्धव्यः। जम्बूद्वीपविषये तु साधिको मासः अर्धतृतीयद्वीपसमुद्रलक्षणे मनुष्यलोके तु वर्षं संवत्सरःरुचकाख्यबाह्यद्वीपविषयेऽवधौ वर्षपृथक्त्वं तद्विषयत्वेनावगन्तव्यम्। वर्षसहस्रमित्यन्ये। इति निर्युक्तिगाथात्रयार्थः।

अथ भाष्यम्।

खेत्तमसंखेज्जंगुलभागं पासत्तमेव कालेण।
आवलिए भागं भूयमणागयं च जाणाइ॥
तत्थेव य जे दव्वा, तेसिं चिय जेहवन्निपज्जाया।
इय खेत्ते कालम्मि य, जोएज्जा दव्वपज्जाए॥
संखेज्जंगुलभाए, आवलियाए वि मुणइ तइ भागं।
अंगुलमिह पेच्छंतो, आवलियंतो मुणइ कालं॥
आवलियं मुणमाणो, संपुण्णं खेत्तमंगुलपुहुत्तं।
एवं खेत्ते काले, काले खेत्तं च जोएज्जा॥

गतार्था एव। नवरं "मणागयं" चेत्यनागम्। आह। नन्वमूर्तौ क्षेत्रकालौ कथमवधिः पश्यति। मूर्तालम्बनत्वात्तस्येत्याह। (तत्थेव ये इत्यादि) इदमत्र हृदयम्। अङ्गुलासंख्येयभागादिकं क्षेत्रं पश्यतीति कोऽर्थस्तत्रैवै-तावति क्षेत्रप्रस्तुतावधिदर्शनयोग्यानि पुद्गलद्रव्याणि तान्येवासौ पश्यति। आवलिकासंख्येयभागादिकं कालं पश्यतीत्यत्रापि च कोऽर्थस्तेषामेव पुद्गलद्रव्याणां ये प्रस्तुतावधेर्दर्शनयोग्याः पर्यायास्तान् भूतेऽनागते चैता-वति कालेऽसौ वीक्ष्यते। इत्येवं सर्वत्र क्षेत्रे काले चावधेर्विषयत्वेनोक्तम्। यथासंख्यं क्षेत्रगतानि योग्यरूपिद्रव्याणि कालगतांस्तद्योग्यांस्तत्पर्या-यानायोजयेत्। क्षेत्रकालौ तु मन्दाः क्रोशन्तीत्यादिन्यायेनोपचारत एवोच्येते। इति भाष्यगाथाचतुष्टयार्थः।

संखेज्जम्मि उ काले, दीवसमुद्दा वि होंति संखेज्जा।
कालम्मि असंखेज्जा, दीवसमुद्दा वुभइयव्वा॥

संख्यायत इति संख्येयः स च संवत्सरमासादिरुपोऽपि भवत्यतस्तु शब्दो विशेषणार्थः कृतः। किं विशिनष्टि। संख्येयोऽत्र वर्षसहस्रात्परतो गृह्यते। अत एव पूर्वगाथायां "वाससहस्सं व रुयगमिति" पाठान्तरं तस्मिन् वर्षसहस्रात्परतो वर्तिनि संख्येये काले ऽवधिविषयप्राप्ते सति क्षेत्रतस्तस्यैवावधे-

र्विषयतया द्वीपसमुद्रास्तेऽपि भवन्ति संख्येयाः। अपिशब्दान्महानेकोऽपि तदेकदेशोपीऽति। तथा काले संख्येये पल्योपमादिलक्षणेऽवधिविषये सति तस्मै वा संख्येयकालपरिच्छेदकस्यावधिः क्षेत्रतः परिच्छेदकतया द्वीपसमुद्राश्च भक्तव्या विकल्पयितव्याः। कदाचिदसंख्येयाः यदिह कस्यचिन्मनुष्यस्यासंख्येयद्वीपसमुद्रविषयोऽवधिरुत्पद्यते। कदाचित् महान्तः संख्येया कदाचित्वतिमहनेकः कदाचित्तु तदेकदेशोऽपि स्वयंभूरमणतिरश्चोऽवधिर्ज्ञेयः स्वयंभूरमणाविषयमनुष्यबाह्यावधिर्वा योजनापेक्षया तु सर्वपक्षेषु असंख्येयमेव क्षेत्रं द्रष्टव्यमिति निर्युक्तिगाथार्थः। अथ भाष्यम्।

काले असंखए दीवसागराखुड्डया असंखेज्जा।
भयणिज्जा य महल्ला, खेत्तं पुण तं खेत्तकालाओ॥

गतार्थैव। एवं तावत्परिस्थूरन्यायमङ्गीकृत्य क्षेत्रवृद्धौ कालवृद्धिरनियता कालवृद्धौ तु क्षेत्रवृद्धिर्भवत्येवेति प्रतिपादितम्। सांप्रतं द्रव्यक्षेत्रकालभावापेक्षया यद्वृद्धौ यस्य वृद्धिर्भवति। यस्य वा न भवत्यमुमर्थं प्रतिपादयन्नाह।

काले चउण्हवुड्ढी, कालो भइयव्वखेत्तवुड्ढीए।
वुड्ढीए दव्वपज्जव–भइअव्वा खेत्तकालाओ॥

काले अवधिगोचरे वर्धमाने सतीति गम्यते (चउण्हवुड्ढीत्ति) नियमात्क्षेत्रादीनां चतुर्णामपि वृद्धिर्भवति। कालात्सूक्ष्मसूक्ष्मतरसूक्ष्मतमत्वात् क्षेत्रद्रव्यपर्यायाणाम्। तथाहि कालस्य समयेऽपि वर्द्धमाने क्षेत्रस्य प्रभूतप्रदेशा वर्धन्ते। तद्वृद्धौ चावश्यंभाविनी द्रव्यवृद्धिः प्रत्याकाशप्रदेशं देशद्रव्यप्राचुर्याद्द्रव्यवृद्धौ च पर्यायवृद्धिर्भवत्येवं प्रतिद्रव्यं पर्यायबाहुल्यादिति। यद्येवं काले वर्धमाने शेषस्त्व क्षेत्रादित्रयस्य वृद्धिर्भवतीत्येवमेव वक्तुमुचितं कथं चतुर्णामप्ययुक्तम्। सत्यं किंतु सामान्यवचनमेतत् तथाहि। देवदत्ते भुञ्जाने सर्वमपि कुटुम्बं भुङ्क्ते इत्यादि। अन्यथा ह्यत्रापि देवदत्ताच्छेषमपि कुटुम्बं भुङ्क्ते इति वक्तव्यम् स्यादित्यदोषः (कालो भइयव्वो खेत्तवुड्ढीएत्ति) क्षेत्रस्यावधिगोचरस्य। वृद्धवाधिक्ये सति कालो भक्तव्यो विकल्पनीयो वर्द्धते वा न वा प्रभूते क्षेत्रवृद्धिगते वर्द्धते कालो न स्वल्प इति भावः। अन्यथा हि यदि क्षेत्रस्य प्रदेशादिवृद्धौ कालस्य नियमेन समयादिवृद्धिः स्यात्तदाङ्गुलमात्रादिकेऽपि वर्धिते क्षेत्रकालस्यासंख्येया उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यो वृद्धेरस्तथा च वक्ष्यति (अंगुलसेढीमत्ते, उसप्पिणीओ असंखेज्जत्ति) ततश्च आवलिकया "अंगुलपुहुत्तमि" त्यादि सर्वं विरुध्येत। तस्मात् क्षेत्रवृद्धौ कालवृद्धिर्भजनीयैव। द्रव्यपर्यायास्तु तद्वृद्धौ नियमाद्वर्द्धन्त एवेति स्वयमेव दृश्यमिति (वुड्ढीए दव्वपज्जवेत्यादि) द्रव्यपर्याययोर्वृद्धौ सत्यां क्षेत्रकालौ भक्तव्यौ विकल्पनीयौ वर्द्धते वा न वा। तथाह्यवस्थितयोरपि क्षेत्रकालयोस्तथा शुभाध्यवसायतः क्षयोपशमवृद्धौ द्रव्यं वर्धत एव तद्वृद्धौ च पर्यायवृद्धिर–वश्यं भाविन्येव प्रतिद्रव्यं पर्यायानन्त्या जघन्यतोऽपि वैकैकद्रव्यादप्यबधेः पर्यायचतुष्टयलाभादिति। पर्यायवृद्धौ च द्रव्यवृद्धिर्भाज्या भवति वा न वेति स्वयमेव द्रष्टव्यम्। अवस्थितेऽपि द्रव्ये तथाविधक्षयोपशमवृद्धौ पर्याया वर्धन्त इति निर्युक्तिगाथार्थः।

अथ भाष्यम्।

कालं पवड्ढमाणं, सव्वं दव्वादआं पवड्ढंति।
खेत्ते कालो भइओ, वड्ढंति उ दव्वपज्जाया॥

भयणाए खेत्तकाला, परिवड्ढंतेसु दव्वभावेसु।
दव्वे वड्ढइ भावो, भावे दव्वं तु भयणिज्जा॥

द्वे अपि व्याख्यातार्थे। अत्रोत्तरगाथासंबन्धनार्थं विनेयमुखेन प्रश्नं कारयति।

अण्णोण्णनिबद्धाणं, जहण्णयाईणखित्तकालाणं।
समयप्पएसमाणं, किं तुल्लं होज्ज हीणहियं॥

अन्योन्यनिबद्धयोर्जघन्यादिरूपयोः क्षेत्रकालयोः समयप्रदेशमानं किं तुल्यं भवेद्धीनमधिकं वेति। इदमुक्तंभवति। "अंगुलमावलियाणंतागमसंखेज्जेत्यादि" ना ग्रन्थेन परस्परसंबन्धत्वेनावधिविषयतया प्रोक्तयोर्जघन्ययोर्मध्यमयोरुत्कृष्टयोश्च क्षेत्रकालयोः संबन्धिनां प्रदेशानां च समयानां संख्यामाश्रित्य यन्मानं तत्परस्परं किं तुल्यमधिकं हीनं वा भवेदिति प्रश्नः। अत्रोच्यते सर्वत्र प्रतियोगिनः खल्वावलिकासंख्येयभागादेः कालादसंख्येयगुणमेव क्षेत्रं यतः प्राह–

सुहुमो य होइ कालो, तत्तो सुहुमयरं हवइ खेत्तं।
अंगुलसेढीमित्ते, उसप्पिणीओ असंखेज्जा॥

सूक्ष्मस्तावत्कालो भवति यस्मादुत्पलपत्रशतभेदे प्रतिपत्रभेदमसंख्येयाः समया लगन्तीत्यागमे प्रतिपाद्यते। न चातिसूक्ष्मत्वेन ते पृथग्विभाव्यन्ते। तथापि ततः कालात्सूक्ष्मतरं भवति। क्षेत्रं यस्मादङ्गुलश्रेणिमात्रे क्षेत्रे प्रतिप्रदेशं समयगणनया प्रतिप्रदेशपरिमाणमवसर्पिण्योऽसंख्येयास्तीर्थकृद्भिरुक्ताः। इदमुक्तं भवति अङ्गुलश्रेणिमात्रे क्षेत्रे यः प्रदेशराशिः स प्रतिसमयं प्रदेशापहारेणापह्रियमाणोऽसंख्येयावसर्पिणीभिरपह्रियते। इति निर्युक्तिगाथार्थः।

अथ भाष्यम्।

खेत्तं बहुयरमंगुलसेढीमित्ते पएसपरिमाणं।
जमसंखेज्जासप्पिणि, समयसमं थोवओ कालो॥

गतैवार्थैव आह। ननु कालात् क्षेत्रं सूक्ष्ममित्यवगतम्। क्षेत्राच्तु द्रव्यभावौ कथंभूतावितिं। कथ्यतामित्याशङ्क्य कालात् क्षेत्रद्रव्यभावानां यथोत्तरं सूक्ष्मत्वोपदर्शनार्थमाह–

कालो खित्तं दव्वं, भावो य जहुत्तरं सुहुमभेया।
थोवा असंखाणंता, संखाइजमोहि विसयम्मि॥

कालादयो यथोत्तरं सूक्ष्मभेदाः समनुमीयन्ते। कुतो यतः सर्वत्रावधिविषयस्वप्रतियोगिक्षेत्राद्यपेक्षया स्तोकः कालो भणितः। ततः क्षेत्रमसंख्येयगुणं ततोऽपि द्रव्यमनन्तगुणं पर्यायास्तु "दव्वाओ संखेज्जे, संखेज्जाये विपज्जेव लहइ" इति वचनात्। द्रव्यादसंख्येयगुणावेति। एतदेव व्यक्तीकृत्य भावयति।

सव्वमसंखेज्जगुणं, कालाओ खेत्तमोहिविसयम्मि।
अवरोप्परसंबद्धं, समयपएसप्पमाणेणं॥
खेत्तप्पएसेहिंतो, दव्वमनंतगुणियं पएसेहिं।
दव्वेहिंतो भावो, संखगुणो संखगुणिओ वा॥

गाथाद्वयमपि गतार्थम्। नवरं यस्मात्सर्वमप्यङ्गुलासंख्येयभागादिकं क्षेत्रं प्रदेशैरावलिकासंख्येयभागादेः कालादेस्तत्समयानाश्रित्यासंख्येयगुणमवधिविषये प्रोक्तम्। क्षेत्रप्रदेशेभ्यस्तद्द्रव्यं प्रदेशैरनन्तगुणमित्यादि। तस्मात्कालादयः स्तोकादितया अनुमेया इति। अथ पूर्वोक्तस्य निर्गमनार्थमुत्तरस्य च प्रस्तावनामाह–

भणियं खेत्तपमाणं, तम्हाणमियं भणामि दव्वमआं।
तं केरिसमारंभे, परिणित्थणे वि मज्झेव॥

भणितं जघन्यादि-भेदं त्रिविधमवधिक्षेत्रप्रमाणम्। विशे०।

(६) अवधिविषयस्य द्रव्यस्य मानम्।

साम्प्रतं तस्य जघन्यादिभेदस्य क्षेत्रस्य यदङ्गुलासंख्येयभागादिकं मानं तेन मितं परिच्छिन्नं द्रव्यमत ऊर्ध्वं भणामि। द्रव्यावस्थानापेक्षमेव क्षेत्रस्य भणनात्। अन्यथा हि मूर्तविषये अवधौ प्रक्रान्ते किममूर्तं क्षेत्रभणनेनेति भावः। तच्च द्रव्यमारम्भे प्रस्तावने कीदृशमवधेर्विषयो भवति। परिनिष्ठानेऽवसाने विमध्ये वा कीदृशमित्येवं भणामि। इति गाथापञ्चकार्थः। स्वप्रतिज्ञातमेवाह।

तेयाभासादव्वाणमंतरा एत्थ लभइ पट्ठवओ।
गुरुलहुआ गुरुलहुयं, तं पि य तेणावतिट्ठाई॥

तैजसं च भाषा च तैजसभाषे तयोर्द्रव्याणि तेषां तैजसभाषाद्रव्याणामन्तरादपान्तराले (एत्थत्ति) अत्रान्यदेव तदयोग्यं द्रव्यं लभते पश्यति। प्रस्थापकोऽवधिज्ञानप्रारम्भकोऽवधिप्रतिपातीति यावत्। किं विशिष्टं तदित्याह। गुरुलघ्वगुरुलघु वेति। गुरुलघुपर्यायोपेतं गुरुलघु, अगुरुलघुपर्यायोपेतं त्वगुरुलघ्विति। तत्र तैजसद्रव्यासन्नं गुरुलघुभाषाद्रव्यासन्नमगुरुलघ्विति। तदपि चावधिज्ञानं तदावरणोदयात्प्रतिपतत्तेनौक्तस्वरूपद्रव्येणोपलब्धेन सता निष्ठां याति प्रतिपततीत्यर्थः। अपि शब्देन चैतज्ज्ञापयति प्रतिपातिन्यवधिज्ञानेऽवं न्यायो न चेतदवश्यं प्रतिपतत्येवेति निर्युक्तिगाथार्थः।

अथ भाष्यम्।

पट्ठवओ नामावहि, नाणस्सारंभओ तयाईओ।
उभया जोग्गं पेच्छइ, तेयाभासंतरे दव्वं॥
गुरुलघुतेयासन्नं, भासासण्णमगुरुं च पासेज्जा।
आरंभे जं दिट्ठं, दट्ठूणं पडइ तं चेव॥

गाथाद्वयमपि गतार्थम्। नवरं नामेति शिष्यामन्त्रणे तैजसद्रव्या सन्नं गुरुलघुभाषाद्रव्यासन्नं त्वगुरुलघुपश्येदिति। तैजसभाषाद्रव्याणामन्तरे तद्योग्यं द्रव्यं पश्यतीत्युक्तम्। अतो विनेयः पृच्छति।

तेयाभासाजोग्गं, किमजोग्गं वा तयंतराले जं।
ओरालियाइतणुवग्गणाक्कम्मेणं तयं सज्झं॥

यत्तैजसशरीरभाषाया योग्यमुचितं द्रव्यमयोग्यं वा तदन्तराले यदुक्तं तत्किं कतमस्वरूपं कियत्प्रदेशं वेति। कथ्यतामत्रोच्यते। हन्त? परमाणुद्व्यणुकत्र्यणुकादि स्कन्धोपचयादौ नारकादिशरीरवर्गणाप्ररूपणक्रमेणैव तत्साध्यं प्ररूपयितुं शक्यं नान्यथा इत्यर्थः। विशे०। (वग्गणाशब्दे शरीरवर्गणादि प्ररुपणा)

प्रकृतं स्मरयन्नाह।

भणियं तेयाभासा, विमज्झदव्वावगाहपरिमाणं।
ओहिन्नाणारंभो, परिनिट्ठाणं च तं जेसु॥

तदेवं भणितं प्रतिपादितं किमित्याह। तैजसभाषयोर्विमध्ये अन्तरलियानि तद्योग्यद्रव्याणि तेषामवगाहपरिमाणमुपलक्षणत्वादनन्तपरमाणुप्रचितस्कन्धात्मकत्वादिकं तत्स्वरूपं चोक्तं येषु द्रव्येषु किमित्याह। येष्ववधिज्ञानस्यारम्भः प्रथमोत्पत्तिलक्षणः परिनिष्ठानं च इति पतनं तत्समयप्रसिद्धं येषु इदमुक्तं भवति। "तेयाभासादव्वाणमंतरा एत्थ लभइ पट्ठवओ" इत्युपजीव्य पूर्वं विनयेन पृष्टं तैजसभाषान्तराले यद्योग्यं द्रव्यं तत्कतमस्वरूपं कतिप्रदेशावगाढं चेति। अस्य शिष्यप्रश्नस्य गुरुणा औदारिकवर्गणाः प्ररूपयता दत्तमुत्तरमिति। इह च गुरुलघ्वगुरुलघु च द्रव्यमवधेः प्रथमं पश्यतीति पूर्वमुक्तम्। तत्र गुरुलघुद्र-व्यारम्भस्य चावधेर्यत्स्वरूपं भवति। तद्दर्शयन्नाह-

गुरुलघुदव्वारद्धो, गुरुलघुदव्वाइं पिच्छियं पच्छा।
इयराइं कोइ पेच्छइ, विसुद्धमाणो कमेणेव॥
अगुरुलघुसमारद्धो, उड्ढं वड्ढइ कमेण सो नाहो।
वड्ढंतो चिय कोइ, पिच्छइ इयराइ सयण्हं॥

गुरुलघुद्रव्यारब्धोऽवधिस्तैजसप्रत्यासन्नद्रव्यारब्ध इत्यर्थः। किमित्यत्रोच्यते। वर्धमानोऽधस्तात्तान्येव गुरुलघून्यौदारिकादिद्रव्याणि दृष्ट्वा कश्चित्पश्चाद्विशुद्धमानक्रमेणैवागुरुलघूनि भाषादिद्रव्याणि पश्यति। यस्तु न विशुद्धिमासादयति। स तेष्वेव गुरुलघुद्रव्येषु कियन्तं कालं स्थित्वा ततः प्रतिपतति। यस्त्वगुरुलघुद्रव्यव्ययसमारब्धोऽवधिर्भाषाद्रव्यारब्ध इत्यर्थः। स ऊर्ध्वमेव क्रमेण वर्धते नाधस्तादुपरिवर्तीन्येवागुरुलघूनि भाषादिद्रव्याणि पश्यति। कश्चित्तथाविधशुद्धमाने वर्धमान एव (सयण्हमित्ति) युगपदितराण्यपि गुरुलघून्यौदारिकादीनि पश्यति। विशे०।

(अगुरुलघुशब्दे गुरुलघ्वादिप्ररुपणा कृता)

(१०) क्षेत्रकालयोर्विषयत्वमानमाह-

ननु पूर्वं कर्मद्रव्यदर्शिनः प्रत्येकं लोकपल्योपमभागाः संख्येया विषयत्वेनोक्ताः। अत्र तु कार्मणशरीरदर्शिनः किमिति स्तोकौ क्षेत्रकालौ विषयत्वेनोक्तौ। अत्रोच्यते। पूर्वं कर्मद्रव्याणि कर्मवर्गणागतानि जीवेन शरीरतथाऽबद्धान्युक्तानि। अत्र तु तद्रूपतया बद्धानि गृहीतानि अबद्धेभ्यश्च बद्धानि बादराणि भवन्ति। अच्युततन्तुभ्योऽच्युततन्तुषु तथादर्शनादतोऽत्र कार्मणशरीरदर्शिनः स्तोकौ क्षेत्रकालौ विषयत्वेनोक्ताविति।

अत्र भाष्यम्।

एयाइं जओ कम्म य, दव्वेहिंतोत्ति थूलतरयाइं।
तेयाइयाइं तम्हा, थोवयरा खित्तकालत्थ॥

एतानि यतस्तैजसादीनि तैजसशरीरकार्मणशरीरतैजसवर्गणाद्रव्यभाषाद्रव्याणीत्यर्थः। कार्मणशरीरयोग्यवर्गणाद्रव्येभ्योऽतिस्थूलतराणि बादराणि तस्मात्तौ कतरौ क्षेत्रकालावत्र प्रोक्ताविति। प्रागेव भावितमिति भाष्यनिर्युक्तिगाथार्थः। आह ननु यथा जघन्यमध्यमावधी निर्दिष्टन्यायेनासर्वरूपिद्रव्यविषयावुक्तौ तथोत्कृष्टावधिरपि आहोस्वित्सर्वमपि रूपिद्रव्यमसौ पश्यतीत्याशङ्क्याह-

एगपएसोगाढं, परमोही लहइ कम्मगसरीरं।
लहइ य अगुरुलहुयं, तेयसरीरे भवपुहुत्तं॥

एकस्मिन्नाकाशप्रदेशेऽवगाढं स्थितमेकप्रदेशावगाढं परमाणुद्व्यणुकाद्यनन्ताणुस्कन्धपर्यन्तं सर्वमपि द्रव्यम्। परमश्चासावधिश्च परमावधिरुत्कृष्टावधिरित्यर्थः। लभते पश्यति। तथा कार्मणशरीरं च लभते। आहैकप्रदेशावगाढमिति। सामान्योक्तौ कथं परमाणुद्व्यणुकादिकं द्रव्यं गम्यते। यावता एकप्रदेशावगाढं कार्मणशरीरमित्युपात्तमेव कस्मान्न योज्यते। नैवं कार्मणशरीरस्यासंख्येयप्रदेशावगाहित्वेनैकप्रदेशावगाहत्वासंभवादिति। अगुरुलघु च द्रव्यं सर्वमपि परमावधिः पश्यति। चशब्दात् गुरुलघु च सर्वं पश्यति। जात्यपेक्षं चैकवचनमन्यथा ह्येकप्रदेशावगाढानि कार्मणशरीराण्यगुरुलघूनि गुरुलघूनि च सर्वाण्यपि द्रव्याण्यसौ पश्यतीत्यवगन्तव्यमिति। तथा तैजसशरीरविषयेऽवधौ कालतो भवपृथक्त्वं परिच्छेद्यतयाऽवगन्तव्यम्। एतदुक्त

भवति। यस्तैजसशरीरं पश्यति स कालतो भवं पृथक्त्वं च द्वाभ्यामारभ्यानवभ्यः सर्वत्र द्रष्टव्यम्। इह च य एव हि प्राक् तैजसं पश्यतः पल्योपमसंख्येयभागरूपोऽसंख्येयः कालोऽभिहितः। स एवानेन भवपृथक्त्वेन विशेष्यते। इदमपि च भवपृथक्त्वं तेनासंख्येयकालेन विशेष्यते। भवपृथक्त्वमध्य एव स पल्योपमासंख्येयभागः कालो नाधिकः एतन्मध्य एव च भवपृथक्त्वं न बहिस्तादिति। आह। नन्वेकप्रदेशावगाढस्य परमाण्वादेरतिसूक्ष्मत्वात्तदुपलम्भे बादराणां कार्मणशरीरादीनामुपलम्भो गम्यत एवेति व्यर्थस्तेषां पृथगुपन्यासोऽथवा एकप्रदेशावगाढमित्ययि न वक्तव्यम्। रूपगतं लभते सर्वमित्यस्य वक्ष्यमाणत्वादत्रोच्यते। यः सूक्ष्मं परमाण्वादि पश्यति तेन बादरं कार्मणशरीराद्यवश्यमेव द्रष्टव्यं यो वा बादरं पश्यति तेन सूक्ष्ममवश्यं ज्ञातव्यमित्ययं न कोऽपि नियमो यस्मा " तेयाभासा दव्वाणमंतरेत्यादि "। वचनादुत्पत्तावगुरुलघुद्रव्यं पश्यन्नप्यवधिर्न गुरुलघूपलभ्यते। अन्यद्वातिस्थूलमपि घटादिकं च मनः पर्यायज्ञानी मनोद्रव्याण्यपि सूक्ष्माणि पश्यति चिन्तनीयं घटादिस्थूलमपि न पश्यति। एवं विज्ञानविषयवैचित्र्यसंभवे सति संशयव्यवच्छेदार्थमेकप्रदेशावगाढग्रहणे सत्यपि विशेष्यविशेषणोपादानमदोषायैवेति। अथ च एकप्रदेशावगाढग्रहणेन परमाण्वादिद्रव्यं गृहीतम्। शेषं तु कार्मणवर्गणापर्यन्तं कार्मणशरीरग्रहणेनोपलक्षितं कर्मवर्गणोपरितनद्रव्यं तु सर्वमप्यगुरुलघुग्रहणेन संगृहीतम्। च शब्दसूचितागुरुलघुग्रहणे। ननु घटपटभूमूधरादिकं गृहीतमित्येवं समस्तपुद्गलास्तिकायविषयत्वं परमावधेराविष्कृतं भवति। एवं च सति रूपगतं लभते सर्वमित्येतद्वक्ष्यमाणमस्यैव नियमार्थं द्रष्टव्यमेवेत्येतदेव हि रूपगतं नान्यदित्यलं प्रपञ्चेनेति निर्युक्तिगाथार्थः।

अथ भाष्यम्।

एगपएसोगाढं, पेच्छइ पेच्छइ कम्म यत्तणुं पि।
अगुरुलहू दव्वाणि य, वसद्दओ गुरुलहूइं पि॥
ते य सरीरं पासं, पासइ सो भवपुहुत्तमेगभवे।
णेगेसुं बहुतरए, समरिञ्ज न उ ण सई सव्वे॥

गतार्थे एव। नवरम् (एगभवेत्ति) एकस्मिन् विवक्षितभवे समुपन्नेऽवधौ अतीतमनागतं च पथग्भवपृथक्त्वं पश्यति (णेगेसुमित्यादि) यदि पुनस्तस्याप्यातीतभवपृथक्त्वस्य मध्ये अनेकेषु भवेष्वधिज्ञानमुत्पन्नं स्यात्तदा तेन पूर्वावधिना दृष्टान् भवपृथक्त्वादधिकानपि च बहुतरानतीतानागतभवान् स्मरेत्। स्मृतिज्ञानेन जानीयात्। न तु पृथक्त्वान्तर्वर्तिन इव तान् सर्वान् साक्षादवधिज्ञानेन पश्यति। भवपृथक्त्वमात्रमेव साक्षात्पश्यतीति भावः।

अत्र प्रेरकः प्राह-

एगपएसोगाढे, भणिए किं कम्म यं पुणो भणियं।
एगपएसोगाढे, दिट्ठे का कम्मए चिंता॥
अगुरुलहुगहणं पि य, एगपएसावगाहओ सिद्धं।
सव्ववासिद्धमिओ, रुवगयं भणइ सव्वं पि॥

गतार्थैव। नवरमेकप्रदेशावगाढे भणिते किमिति। कार्मणशरीरं पुनरप्यवधिविषयत्वेन भणितम्। कुतः कारणात्पुनर्न भणनीयमित्याह (एगपएसोगाढे दिट्ठे इत्यादि) शेषमनिगूढार्थमेवेति। अत्र गुरुराह-

एगोगाढे भणिए, विसेसओ सेसए जहारंभे।
सण्हयरं पिच्छंतो, थूलयरं न मुणइ घडाई॥
जह वा मणो विओ नत्थि दंसणं सेसए ति थूले वि।
एगोगाढे गहिए, तह सेसे संसओ होज्जा॥

उपसंहरन्नाह-

इय नाणविसयवइ चित्त संभवे संसयावणो यत्थ।
भणिए वेगोगाढे, केइ विसेसे पयस्संति॥

केचित्कार्मणशरीरागुरुलघ्वादीन् विशेषान् प्रदर्शयन्ति भद्रबाहुस्वामिन इति। प्रकारान्तरेण समाधानमाह-

एगोगाढग्गहणे, णुगादओ कम्मियं ति जा सव्वं।
तदुवरिं अगुरुलहूइं, च सद्दओ गुरुलहूइं पि॥
एवं वा सव्वाइं, गहियाइं तेसि हेवनियमत्थं।
सव्वरुयगयंति य, एवं चिय नावरमउत्थि॥

नियममेव दर्शयति (एवंचिय इत्यादि) एतदेव परमाण्वादिकं रूपगतं परं किमपि रूपगतमस्तीति गाथानवकार्थः। तदेवं परमावधेर्द्रव्यतो विषय उक्तः। अथ क्षेत्रकालौ तद्विषयभूतौ प्राह-

परमोहि य संखेज्जा, लोगमित्ता समा असंखेज्जा।
रुवगयं लहइ सव्वं, खेत्तोवमियं अगणिजीवा॥

परमश्चासाववधिश्च परमावधिः। क्षेत्रतोऽसंख्येयानि लोकमात्राणि खण्डानीति गम्यते। लभत इति संबन्धः। कालतस्तु समा उत्सर्पिण्यवसर्पिणीरसंखेख्येया एव लभते। द्रव्यतस्तु रूपगतं मूर्तद्रव्यजातं सर्वं परमाण्वादिभेदभिन्नं पुद्गलास्तिकायमित्यर्थः। लभते पश्यति। भावतस्त्वसंख्येयांस्तत्पर्यायानिति। यदुक्तमसंख्येयानि लोकमात्राणि खण्डानि परमावधिः पश्यतीति तदसंख्येयकं नूनमधिकं च संभवेदतो नियतमानार्थमाह। उपमानमुपमितभावे निष्ठाप्रत्ययः क्षेत्रस्योपमितं क्षेत्रोपमितं प्रागभिहिता एवाग्निजीवाः। इदमुक्तं भवति। उत्कृष्टावधेर्विष-यत्वेन क्षेत्रतो येऽसंख्येया लोकाः प्रोक्तास्ते प्रागभिहितस्वावगाहनाव्यवस्थापितोत्कृष्टसंख्येयसूक्ष्मबादराग्निजीवसूच्या परमावधिमतो जीवस्य सर्वतो भ्रम्यमाणया यत्प्रमाणं क्षेत्रं व्याप्यते तत्प्रमाणाः समवसेया इति। आह। ननु रूपगतं लभते सर्वमित्येतदनन्तरगाथायामर्थतोऽभिहितमेवेति किमर्थं पुनरत्राभिहितमत्रोच्यते। विस्मरणशीलस्य प्रेर्यमिदम् अप्रतिविहितत्वादथवा। अत्र रूपगतमित्येतत्प्रस्तुतक्षेत्रकालद्वयविशेषणतया व्याख्यायते। तद्यथा। लोकमात्रासंख्येयखण्डासंख्यातोत्सर्पिण्यवसर्पिणीलक्षणं प्रस्तुतक्षेत्रकालद्वयं रूपगतं रूपिद्रव्यानुगतमेव लभते। नतु केवलं क्षेत्रकालयोरमूर्तत्वादवधेस्तु रूपिद्रव्यविषयत्वादिति निर्युक्तिगाथार्थः।

अथ भाष्यम्।

खित्तमसंखेज्जाइं, लोगसमाइं समा उ कालं च।
दव्वं तु सव्वरुवं, पासइ तेसिं वएज्जाए॥

क्षेत्रमवधिः पश्यति कियदित्याह। असंख्येयानि लोकसमानि लोकतुल्यानि खण्डानीति गम्यते। कालं चासौ पश्यति। कियन्तमित्याह। समा उत्सर्पिणीः असंख्येया इति लिङ्गव्यत्ययेनात्रापि संबध्यते। द्रव्यं तु सर्वरूपं पश्यति। भावं तु तेषामेव रूपिद्रव्याणां पर्यायान् वक्ष्यमाणसंख्येयान् जानाति।

अथ प्रेरकः प्राह -

खेत्तोवमाणमुत्तं, जमगणिजीवेहिं किं पुणो भणियं ।
तं चिय संखाइयायं, लोगमित्ताइ निद्दिट्ठं ॥

आह । ननु यदाग्निजीवैः क्षेत्रोपमानमक्षेत्रोपमितं तन्निर्युक्तिकृता " सव्वबहुअगणिजीवा निरंतरं जत्तियं भरिज्जंसु " इत्यादिगाथायां प्रागेवोक्तं प्रतिपादितं किमर्थं पुनरप्यत्र " खेत्तोवमिअं अगणिजीवा " इत्यनेन गाथावयवेन भणितम् । अत्रोत्तरमाह । (तं चियेत्यादि) तदेव प्रागुक्तमग्निजीवैः क्षेत्रोपमानं क्षेत्रोपमितमिह परमो हि " असंखेज्जा " इत्यादिवचनादलोके लोकमात्राणि संख्यातीतानि खण्डानि भवन्तीति नियतमानतया निर्दिष्टम् । न पुनरपूर्वतयेति भावः । इह " रुवगयलहइ सव्वमि " त्येतद्भाष्यकृता " दव्वं तु सव्वरूवं पासइ " इति वचनादवधेर्द्रव्यतो विषयप्रतिपादनपरं व्याख्यानम् । अथ " एगपएसोगाढमि " त्यादिनैव द्रव्यतोऽवधिविषयस्योक्तत्वात् क्षेत्रकालयोरेव विशेषत्वलक्षणेन प्रकारान्तरेण व्याख्यातुमाह-

अहवा दव्वं भणिअं, इह रुवगयं ति खेत्तकालदुगं ।
रुवाणगयं पेच्छइ, न य तं चिय तं जओ अमुत्तं ॥

अथवा " एगपएसोगाढं परमोही लहइ कम्मगसरीर " मित्यादिनैवावधिविषयभूतं द्रव्यं भणितमतो रूपगतं लभते । सर्वमित्येतदवधेर्द्रव्यतो विषयाभिधायकतया न व्याख्यायते । तर्हि कथमिदं नीयत इत्याह (इहेत्यादि) इह यदसंख्येयलोकखण्डासंख्यातोत्सर्पिण्यवसर्पिणीलक्षणं क्षेत्रकालद्वयमवधिविषयत्वेनोक्तं तदूरूपगतमिति रूपगतं लभते । सर्वं कोऽर्थ इत्याह । रूपानुगतं तत्स्वरूपिद्रव्याणां दर्शनात् रूपिद्रव्यसंबन्धमेव प्रेक्षते । न पुनस्तदेव क्षेत्रकालद्वयं केवलं पश्यति । यतस्तदमूर्तमूर्तविषयश्चावधिरिति । अथ विनेयानुग्रहार्थं प्रासङ्गिकं किञ्चिदभिधित्सुरवक्ष्यमाणं च संबन्धयितुमाह-

परमोहिन्नाणविओ, केवलिमत्तो मुहुत्तमित्तेण ।
मणुयक्ख ओवसमिओ, भणिओ तिरियाण वोच्छामि ॥

परमावधिज्ञानेन वेत्तीति परमावधिज्ञानवित् तस्य परमावधिज्ञानविदः । परमावधौ समुत्पन्ने सति किलान्तर्मुहूर्तेनाश्यमेव केवलज्ञानमुत्पद्यते । केवलज्ञानसूर्यस्य ह्युदयपदवीमासादयतः प्रथमप्रभास्फोटकल्पं परमावधिज्ञानमतस्तदनन्तरमवश्यं भवत्येव केवलज्ञानभास्करोदयमिति । तदेवं भणितो मनुष्यसंबन्धी क्षायोपशमिकोऽवधिरिदानीं तिरश्चामनुवक्ष्यामीति गाथाचतुष्टयार्थः । यथाप्रतिज्ञातमेवाह-

आहारंतपलंभो, उक्कोसेणं तिरिक्खजोणीसु ।
गाउय जहण्णमोही, नरएसु य जोयणुक्कोसो ॥

आहारकतैजसयोरूपलक्षणत्वाद्यान्यौदारिकवैक्रियाहारकतैजसद्रव्याणि यानि च तदन्तरालेषु तदयोग्यानि द्रव्याणि तेषां लाभः परिच्छेदः उत्कृष्टस्तिर्यग्योग्यानि मत्स्यादिषु भवन्ति । एतद्द्रव्यानुसारेण क्षेत्रकालभावाः स्वयमभ्यूह्या इति । तदेवं यदुक्तम् । " काउं भवपच्चइया खओवसमियाउकाओ वि " तत्र क्षायोपशमिकप्रकृतयोऽभिहिताः । विशे० ।

(११) भवप्रत्ययाद्देवनारकाणाम् ।

अथ भवप्रत्ययाः प्रतिपाद्यास्ताश्च सुरनारकाणां भवन्ति । तत्राल्पवक्तव्यत्वात्प्रथमं नारकाणामाह (गाउएत्यादि) नरकेषु पुनर्नारकाणामुत्कृष्टावधिः । क्षेत्रतो योजनं पश्यति

जघन्यतस्तु गव्यूतं तत्र योजनप्रमाणो रत्नप्रभायां गव्यूतमानस्तु सप्तमपृथिव्यां द्रष्टव्यमिति निर्युक्तिगाथार्थः ।

अथ भाष्यम् ।

ओरालिय वेउव्विय, आहारगतेयगाइ तिरिएसु ।
उक्कोसेणं पिच्छइ, जायं च तदंतरालेसु ॥
भणिओ खओवसमिओ, भवपच्चइओ सचरिमपुढवीए ।
गाउयमुक्कोसेणं, पढमाए जोयणं होइ ॥

गतार्थे एव । नवरं भणितः क्षायोपशमिकोऽवधिः । अथ भवप्रत्ययो भण्यते (स चरिमपुढवीएत्ति) सचरमायां सप्तमपृथिव्यामुत्कृष्टतो गव्यूतं प्रथमायां योजनं भवतीति । विशे० ।

णेरइया णं भंते ! केव तियं खित्तं ओहिणा जाणंति पासंति ? गोयमा ! जहन्नेणं अद्धगाउयं उक्कोसेणं चत्तारि गाउया तं ओहिणा जाणंति पासंति।

' नेरइयाणमित्यादि ' सुगमं नवरं जघन्येनार्द्धगव्यूतमिति । सप्तमपृथिव्या जघन्यपदमपेक्ष्य उत्कर्षतश्चत्वारि गव्यूतानि रत्नप्रभायां गव्यूतपदमाश्रित्य ।

(१२) अधुना प्रतिपृथिवीविषयं चिन्तयन्नाह-

रयणप्पभावपुढविणेरइया णं भंते ! केवइयं खेत्तं ओहिणा जाणंति पासंति ? गोयमा ! जहन्नेणं अद्धट्ठाइं गाउयाइं उक्कोसेणं चत्तारि गाउयाइं । ओहिणा जाणंति पासंति । सक्करप्पभा पुढवी णेरइया जहण्णेणं । तिन्नि गाउयाइं उक्कोसेणं अद्धट्ठाइं ओहिणा जाणंति पासंति । वालुयप्पभापुढविणेरइया जहन्नेणं अड्ढाइज्जाइं गाउयाइं उक्कोसेणं तिन्नि गाउयाइं ओहिणा जाणंति पासंति । पंकप्पभा पुढविणेरणिया जहण्णं दोण्हि गाउयाइं उक्कोसेणं अड्ढाइज्जाइं गाउयाइं ओहिणा जाणंति पासंति । धूमप्पभापुढविणेरइयाणं पुच्छा, गोयमा ! जहन्नेणं दिवड्ढं गाउयं उक्कोसेणं दो गाउयाइं ओहिणा जाणंति पासंति । तमापुढवि पुच्छा, गोयमा ! जहन्नेणं गाउयं उक्कोसेणं दिवड्ढं गाउयं ओहिणा जाणंति पासंति । अहे सत्तमाए पुच्छा, गोयमा ! जहण्णं अद्धगाउय उक्कोसेणं गाउयं ओहिणा जाणंति पासंति । प्रज्ञा० ३५ पद । विशे० ।

तदेवं सामान्येन नारकजातिमधिकृत्याभिहितमुत्कृष्टमवधिक्षेत्रप्रमाणम् । अथ तदेव रत्नप्रभादिपृथिवीविभागेनाह-

चत्तारिगाउआइं, अद्धट्ठाइं तिगाउयं चेव ।
अड्ढाइज्जा दोन्निय, दिवड्ढमेगं च नरएसु ॥

इह रत्नप्रभायां नरकावासेषु नारकाणां चत्वारि *गव्यूतान्युत्कृष्टमव*धिक्षेत्रप्रमाणं भवति । शर्कराप्रभायां त्वर्द्धं चतुर्थस्य येषु तान्यर्द्धचतुर्थानि गव्यूतानि, बालुकाप्रभायां गव्यूतत्रयं, पङ्कप्रभायामर्द्धं तृतीयस्य येषु तान्यर्द्धतृतीयानि गव्यूतानि, धूमप्रभायां द्वे गव्यूते, तमायां द्वितीयस्यार्द्धं यत्र तद्व्यर्धं गव्यूतं, सप्तमपृथिव्यां पुनर्नरकेषु नारकाणामेकगव्यूतमुत्कृष्टमवधिक्षेत्रप्रमाणं भवतीति निर्युक्तिगाथार्थः । सप्तस्वपि पृथिवीषु प्रत्येकमुत्कृष्टादवधिक्षेत्रप्रमाणादर्द्धगव्यूते अपनीते जघन्यमवधिक्षेत्रप्रमाणं भवति । तच्च निर्युक्तिकृता नोक्तमतो भाष्यकारः प्राह-

अद्धट्ठाईयाइं, जहण्णयं अद्धगाउयं ताह ।
जं गाउयं तिभणियं, तंपइ उक्कोसयजहण्णं ॥

अर्द्धोत्कृष्टानि सार्धानि त्रीणि गव्यूतानि रत्नप्रभायां जघन्यमवधिक्षेत्रप्रमाणं शर्कराप्रभायां त्रीणि गव्यूतानि । वालुकाप्रभायामर्द्धतृतीयानि, पङ्कप्रभायां द्वे । धूमप्रभायां सार्द्धं, तमायां गव्यूतं, सप्तमपृथिव्यामर्धगव्यूतं, जघन्यमवधिक्षेत्रप्रमाणम् । उक्तं च । अत्र च पूर्वम् (रयणप्पभेत्यादि) आह । यद्येवमर्धगव्यूतं जघन्यमवधिक्षेत्रं तर्हि " गाउयजहण्णमोही नरएसुय " इत्येतद् व्याहन्यत इत्याह (जं गाउयमित्यादि) यत् गव्यूतं जघन्यमुक्तं तदुत्कृष्टमध्ये यज्जघन्यं तत्प्रति तदाश्रित्योक्तमित्यदोषः । इदमुक्तं भवति । सप्तस्वपि पृथिवीषु यद्गव्यूतचतुष्टयादिकमुत्कृष्टमवधिक्षेत्रं तन्मध्ये सप्तमपृथिवीनारकाणां गव्यूतलक्षणमवधिक्षेत्र स्वस्थानमुत्कृष्टमपि शेषपृथिव्युत्कृष्टापेक्षया सर्वस्तोकत्वाज्जघन्यमुक्तमिति । गाथार्थः । विशे० ।

असुरादिविषयक्षेत्रज्ञानम् ।

असुरकुमाराणं भंते ! ओहिणा केवतियं खेत्तं जाणंति पासंति । गोयमा ! जहण्णेणं पणवीसं जोयणाइं उक्कोसेणं असंखेज्जे दीपसमुद्दे ओहिणा जाणंति पासंति । नागकुमाराणं जहन्नेणं पणवीसं जोयणाइं उक्कोसेणं असंखेज्जे दीवसमुद्दे ओहिणा जाणंति पासंति । एवं जाव थणियकुमारा पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं भंते ! केवतियं खेत्तं ओहिणा जाणंति पासंति । गोयमा ! जहन्नं अंगुलस्य असंखेज्जइभागे उक्कोसेणं असंखेज्जे दीवसमुद्दे मणुस्सा णं भंते ! ओहिणा केवतियं खेत्तं जाणंति पासंति । गोयमा ! जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं असंखेज्जाइं अलोए लोयप्पमाणमेत्ताइं खंडाइं ओहिणा जाणंति पासंति । वाणमंतरा जहा नागकुमारा । जोइसियाणं भंते ! केवतियं ओहिणा जाणंति पासंति । जहन्नेण वि संखेज्जे दीवसमुद्दे उक्कोसेणं वि असंखेज्जे दीवसमुद्दे सोहम्मदेवा णं भंते ! केवतियं खेत्तं ओहिणा जाणंति पासंति । गोयमा ! जहन्नेणं अंगुलस्य असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं अहे जाव इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए हेट्ठिल्ले चरिमंते तिरियं जाव असंखेज्जे दीवसमुद्दे उड्ढं जाव सयाइं विमाणाइं ओहिणा जाणंति पासंति । एवं ईसाणगदेवा वि सणंकुमारदेवा वि एवं चेव नवरं अहे जाव दोच्चाए सक्करप्पभाए पुढवीए हिट्ठिल्ले चरिमंते । एवं माहिंदगदेवा वि । बंभलोगलंतगदेवा तच्चाए पुढवीए हिट्ठिल्ले चरिमंते । महासुक्कसहस्सारदेवा चउत्थीए पंकप्पभाए पुढवीए हिट्ठिल्ले चरिमंते । आणयपाणयआरणअच्चुयदेवा अहे जाव । पंचमाए धूमप्पभाए पुढवीए हेट्ठिल्ले चरिमंते । हेट्ठिममज्झिमगेवेज्जगदेवा अहे जाव छट्ठीए तमाए पुढवीए हेट्ठिल्ले चरिमंते उवरिमगे विज्जगदेवाणं भंते ! केवतियं खेत्तं ओहिणा जाणंति पासंति । गोयमा ! जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं । अहे सत्तमाए पुढवीए हेट्ठिल्ले चरिमंते । तिरियं जाव असंखेज्जदीवसमुद्दे उड्ढं जाव सयाइं विमाणाइं ओहिणा जाणंति पासंति । अणुत्तरोववाइयदेवाणं भंते ! केवइयं खेत्तं ओहिणा जाणंति पासंति । गोयमा ! संभिन्नलोगनालिं ओहिणा जाणंति पासंति ।

भवनपतिव्यन्तराणां जघन्यपदे यानि पञ्चविंशतियोजनानि तानि येषां सर्वजघन्यं दशवर्षसहस्रं प्रमाणमायुस्तेषां द्रष्टव्यानि न शेषाणामाह । च भाष्यकृत् " पणवीसजोयणाइं, दसवाससहस्सिया ठिईजेसिमिति " मनुष्यचिन्तायामुत्कृष्टपदे यान्यलोके लोकप्रमाणमात्राणि खण्डानि तानि परमावधिमपेक्ष्य द्रष्टव्यानि । तस्यैवैतावद्विषयसंभवात् । एतत्सामर्थ्यमात्रमुपवर्ण्यते । यद्येतावति क्षेत्रे द्रष्टव्यं भवति तर्हि पश्यति यावदिह स्कन्धानेव पश्यति । यदा पुनरलोकेऽपि प्रसरमवधिरधिरोहते । यथा यथाऽभिवृद्धिमासादयति । तथा तथा लोके सूक्ष्मान् सूक्ष्मतरान् स्कन्धान् पश्यति । यावदन्ते परमाणुमपि । उक्तं च । " सामत्थमेत्तमुत्तं, दट्ठव्वं जइ हवेज्ज पेच्छज्ज । नेउं तं तं तत्थइ, छिज्जउ सो रूविनिबंधणो भणिओ । वट्टंतो पुण ओहिं, लोगत्थं चेव पासई दव्वं । सुमुहयरं सुमुहयरं, परमोही जाव परमाणुं " इत्थभूतपरमावधिकलितश्च नियमादन्तर्मुहूर्तेन केवललोकलक्ष्मीमालिङ्गति । यत उक्तं " परमोहीनाणविओ, केवलमंतो मुहुत्तमेत्तेण " इति वैमानिकानां यत् जघन्यपदेऽङ्गुलासंख्येयभागप्रमाणं क्षेत्रमुक्तं तत्र पर आह । नन्वङ्गुलासंख्येयभागमात्रक्षेत्रपरिमितोऽवधिः सर्वजघन्यो भवति । सर्वजघन्यश्चावधिस्तिर्यङ्मनुष्येष्वेव न शेषेषु यत आह । भाष्यकृत् स्वकृतटीकायाम् । उत्कृष्टो मनुष्येष्वेव नान्येषु मनुष्यतिर्यग्योनिष्वेव जघन्यो नान्येषु शेषाणां मध्यम एवेति । तत्कथमिह सर्वजघन्य उक्तः उच्यते । सौधर्मादिदेवानां पारभाविकोऽप्युपपातकालेऽवधिः संभवति । स च कदाचित्सर्वजघन्योऽपि उपपातानन्तरं तु तद्भवजस्ततो न कश्चिद्दोषः आह । दुःखमन्धकारनिमग्नजिनप्रवचनप्रदीपो जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणः " वेमाणियाणमंगुलभागमसंखं जहन्नओ होइ । उववाए परिभविओ, तब्भवजो होइ तो पच्छा । उड्ढं जाव सयाइं, विमाणा इति " ऊर्ध्वं यावत्स्वकीयानि विमानानि स्वकीयविमानस्तूपध्वजादिकं यावदित्यर्थः (संभिन्नलोगनालित्ति) परिपूर्णचतुर्दशरज्ज्वात्मिकां लोकनाडीमिति भावः । प्रज्ञा० ३३ पद ।

पुनर्विशेषतस्तदेव दर्शयन्नाह-

सक्कीसाणा पढमं, दोच्चं च सणंकुमारमाहिंदा ।
तच्चं च बंभलंतग–सुक्कसहस्सारयचउत्थिं ॥
आणयपाणयकप्पे, देवा पासंति पंचमिं पुढविं ।
तं चेव आरणच्चुय, ओहीनाणेण पासंति ॥
छट्ठिमहेट्ठिममज्झिम–गेविज्जा सत्तमिं च उवरिल्ला ।
संभिण्णलोगनालिं, पासंति अणुत्तरा देवा ॥

तत्र शक्र श्चेशानश्च शक्रेशानौ सौधर्मेशानकल्पदेवेन्द्रौ तदुपलक्षिताश्चेह सौधर्मेशानकल्पनिवासिनः सामानिकादयो देवा अपि गृह्यन्ते । ते ह्यवधिना प्रथमां रत्नप्रभाभिधानां पृथिवीं पश्यन्तीति क्रिया द्वितीयगाथायां च वक्ष्यति । तथा द्वितीयां च पृथिवीमग्रतः संबध्यते । सनत्कुमारमाहेन्द्रावपि तृतीयचतुर्थ-

कल्पदेवाऽधिपौ। अत्रापि च तदुपलक्षितास्तत्कल्पनिवासिनः सामानिकादयो देवाः परिगृह्यन्ते। ते हि द्वितीयां पृथिवीमवधिना पश्यन्ति। तथा तृतीयां च पृथिवीं ब्रह्मलोकलान्तकदेवेन्द्रोपलक्षितास्तत्कल्पनिवासिनो देवाः सामानिकादयः पश्यन्ति। तथा शुक्रसहस्रारसुरेन्द्रोपलक्षितास्तत्कल्पवासिनोऽन्येऽपि सामानिकादयो देवाश्चतुर्थीं पृथिवीं पश्यन्ति। तथा आनतप्राणतयोः संबन्धिनो देवाः पश्यन्ति। पञ्चमीं पृथिवीं तामेवारणाच्युतदेवलोकयोः संबन्धिनो देवा विशुद्धतरां बहुपर्यायां चावधिज्ञानेन पश्यन्ति। स्वरूपकथनमेवेदं न तु व्यवच्छेदकमत्र अवधिज्ञानस्यैवेह विचारयितुं प्रस्तुतत्वाद् व्यवच्छेद्याभावादिति। लोकपुरुषग्रीवास्थाने भवानि विमानानि ग्रैवेयकाणि तत्राधस्त्यमध्यमग्रैवेयका विमानवासिनो देवा अधस्त्यमध्यग्रैवेयका उच्यन्ते। ते तमःप्रभाभिधानां पृथिवीं पश्यन्ति। तथा सप्तमीं च पृथिवीमुपरितनग्रैवेयका देवाः पश्यन्ति। ततः संभिन्नां चतसृष्वपि दिक्षु स्वज्ञानेन व्याप्तां कन्याचोलकसंस्थानां लोकनाडीमवधिना पश्यन्ति। अनुत्तरविमानवासिनो देवाः एष क्षेत्रतो नारकाणां देवानां च भवप्रत्ययावधेर्विषय उक्तः। एतदनुसारतो द्रव्यादयोऽप्यवसेया इति। तदेवमधो वैमानिकावधिक्षेत्रप्रमाणं प्रतिपाद्य तिर्यगूर्ध्वं च तत्प्रतिपादयन्नाह-

एएसिमसंखेज्जा, तिरियं दीवा य सागरा चेव।
बहुबहुयरमुवरिमगा, उड्ढं च सकप्पथूभाई॥

एतेषां शक्रादीनामसंख्येयाः तिर्यग्द्वीपाश्च जम्बूद्वीपादयः समुद्राश्च लवणसागरादयः क्षेत्रतोऽवधिपरिच्छेद्यतयाऽवसेया इति वाक्यशेषः। तदेवं द्वीपसमुद्रासंख्येयकं बहु बहुतरकं पश्यति। उपरिमा एवोपरिमकाः उपर्युपरिवर्तिदेवलोकनिवासिनो देवा इत्यर्थः। तथा ऊर्ध्वं स्वकल्पस्तूभादेव यावत् क्षेत्रं ते पश्यन्ति न परतः आदिशब्दात् ध्वजादिपरिग्रह इति तदेवं वैमानिकानामवधिक्षेत्रमानमभिधायेदानीं सामान्यतस्त- द्वर्ज्य देवानां प्रतिपादयन्नाह-

संखेज्जा जोयणा खलु, देवाणं अद्धसागरे उणे।
तेण परमसंखिज्जा, जहण्णयं पण्णवीसं तु॥

देवानामर्धसागरोपमे न्यूने आयुषि सति संख्येयानि योजनानि अवधिपरिच्छेद्यक्षेत्रमवसेयं ततः परं संपूर्णार्धसागरोपमादिके आयुषि सति पुनरसंख्येयानि योजनान्यवधिक्षेत्रमवगन्तव्यम्। उक्तमुत्कृष्टमवधिक्षेत्रमथ जघन्यमाह (जहण्णमित्यादि) दशवर्षसहस्रस्थितीनां भवनपतिव्यन्तराणां जघन्यमवधिक्षेत्रं पञ्चविंशतियोजनं ज्योतिष्कवैमानिकानां तु जघन्यं भाष्यकार एव वक्ष्यतीति निर्युक्तिगाथापञ्चकार्थः।

अथाऽनन्तरगाथाभाष्यम्।

वेमाणियवज्जाणं, सामन्नमिणं तहा वि उ विसेसो।
उड्ढमहे तिरियम्मि य, सट्ठाणवसेण विण्णेओ॥

इदं च " संख्येज्जयोजणाखल्वित्यादि " क्रमवधिक्षेत्रप्रमाणं वैमानिकवर्ज्यानां भवनपत्यादिदेवानां सामान्यमविशेषेण द्रष्टव्यम् तथापि तथापि तूर्ध्वमवधिःतिर्यक्त्वं तेषां देवानां कयाचिद्दिशा हीनाधिकावधिक्षेत्रलक्षणो यो विशेषः स इहैव। " तप्पागारे पल्लगपडहगेत्यादि " वक्ष्यमाणावधिक्षेत्रसंस्थानवशेन विज्ञेय इति। अत्र यदुक्तम् " जहण्णयं पण्णवीसं तु " तद्विवृण्वन्नुक्तम्। अधुना ज्योतिष्कवैमानिकानां जघन्यमवधिक्षेत्रमभिधित्सुराह-

पणवीसजोयणाइं, दसवरिससहस्सिया ठिई जेसिं।
दुविहो वि जोइसाणं, संखेज्जो तिइविसेसेणं॥
वेमाणियाणमंगुलभागमसंखं जहण्णओ होइ।
उववाए परमविओ, तब्भवजो होइ तो पच्छा॥

पञ्चविंशतियोजनानि यज्जघन्यमवधिक्षेत्रमुक्तं तद्येषां देवानां दशवर्षसहस्रप्रमाणा स्थितिः तेषामेव विज्ञेयम्। ते च भवनपतिव्यन्तरविशेषा एव ज्योतिष्काणां पुनर्जघन्य उत्कृष्टश्च द्विविधोऽप्यवधिः। स्थितिविशेषेण क्षेत्रतः संख्येयान्येव योजनानि विज्ञेयानि इदमुक्तं भवति। ज्योतिष्काणां जघन्यतोऽपि पल्योपमाष्टभागस्थितिर्न तु दशवर्षसहस्राणि। उत्कृष्टतस्तु वर्षलक्षाधिकं पल्योपममतो बह्वायुष्कत्वेन महर्द्धिकत्वादुत्कृष्टं तज्जघन्योऽप्यवधिस्तेषां संख्येयान्येव योजनानि भविष्यन्ति। केवलं जघन्यक्षेत्रादुत्कृष्टं वृहत्प्रमाणं द्रष्टव्यम्। " संखेज्जजोयणा खलु देवानामित्यादि " नैवामीषामुत्कृष्टमवधिक्षेत्रमुक्तं केवलं जघन्यभणनप्रस्तावात् पुनरपि तदुक्तमित्यदोषः। वैमानिकानां तु जघन्योऽवधिः क्षेत्रतोऽङ्गुलासंख्येयमानो भवति। अयं चोत्पादसमय एव पारभाविको विज्ञेयः। ततः पश्चात्तावद्भाविक इति गाथात्रयार्थः। ७०१। अथायमेवावधिर्येषामुत्कृष्टादिभेदभिन्नो भवति। तानुपदर्शयन्नाह-

उक्कोसो मणुएसुं, मणुस्सतेरिच्छिएसु य जहण्णो।
उक्कोसलोगमित्तो, पडिवाइ परं अपडिवाइ॥

इह द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्चोत्कृष्टोऽवधिर्मनुष्येष्वेव न देवादिषु। तथा मनुष्यास्तिर्यञ्चश्च तेष्वेव जघन्यो न तु सुरनारकेषु तत्र चोत्कृष्टोऽवधिर्द्विविधो लोगगतोऽलोगगतश्च तत्र योऽसौ समस्तलोकमात्रदर्शी उत्कृष्टः मात्रशब्दोऽलोकव्यवच्छेदार्थः स प्रतिपतनशीलः प्रतिपाती अप्रतिपाती च भवति। ततः परं येनालोकस्यैकोऽप्याकाशप्रदेशो दृष्टः। सोऽप्रतिपात्येव भवति। क्षेत्रपरिमाणद्वारेऽपि प्रस्तुते प्रसङ्गतो विनेयानुग्रहार्थं प्रतिपात्यप्रति-पातिस्वरूपाभिधानमित्यदोषः। इति निर्युक्तिगाथार्थः॥ ७०२॥ उक्तं क्षेत्रपरिमाणद्वारम्। विशे०।

(१३) अथ संस्थानद्वारमभिधित्सुराह-

थिबुगागारजहन्नो, वट्टो उक्कोसमायओ किंचि।
अजहण्णमणुक्कोस य, खेत्तओ अणेगसंठाणो॥

स्तिबुको बिन्दुरुच्यते। तदाकारो जघन्यावधिर्भवति। एतदेवाह (वट्टोत्ति) सर्वतो वृत्त इत्यर्थः। " जावइया तिसमयाहारगस्सेत्या दिना " प्रतिपादितस्य पनकावगाहनाक्षेत्रस्य एतदाकारत्वादिति। उत्कृष्टावधिस्तु परमावधिः किंचिदायतः किमपि प्रदीर्घो न तु सर्वथा वृत्त इत्यर्थः अग्निजीवसूचेरवधिमच्छरीरस्यापादमस्तकान्तं भ्रम्यमाणाया एतदाकारभावादिति। अजघन्योत्कृष्टो न जघन्यो नाप्युत्कृष्टो मध्यम इत्यर्थः। अयं पुनः क्षेत्रतः अनेकानि संस्थानानि यस्येत्यनेकसंस्थानो भवतीति निर्युक्तिगाथार्थः॥ ७०३॥

अथ भाष्यम्।

पणओ थिवुयागारो, तेण जहन्नावही तयागारो।
इयरो सेढिपरिक्खे, व ओवउसट्ठाणुवत्तीए॥ ७०४॥

इतर उत्कृष्टः अवधिमत्प्वदेहानुवृत्त्याग्निजीवश्रेणिपरिक्षेपात्किंचिदायत इति शेषः। शेषं सुगमम्॥ ७०४॥ विशे०।

अथ मध्यमावधेर्यदनेकसंस्थानत्वमुक्तं तद्विशेषतो दर्शयन्नाह-

नेरइयाणं भंते ! ओहि किं संठिए पण्णत्ते ? गोयमा ! तप्पगारसंठिए पण्णत्ते । असुरकुमारणं पुच्छा । गोयमा ! पल्लगसंठिए । एवं जाव थणियकुमाराणं पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा । गोयमा ! नाणासंठाणसंठिए पण्णत्ते ? एवं मणुस्साणं वि वाणमंतराणं पुच्छा । गोयमा ! पडहसंठाणसंठिए पण्णत्ते ? जोइसियाणं पुच्छा । गोयमा ! झल्लरिसंठाणसंठिए पण्णत्ते ? सोहम्मगदेवाणं पुच्छा । गोयमा ! उद्धमुइंगारसंठिए पण्णत्ते ? एवं अच्चुयदेवाणं गेवेज्जयदेवाणं पुच्छा । गोयमा ! पुप्फचंगेरिसंठिए पण्णत्ते ? अणुत्तरोववाइयाणं पुच्छा । गोयमा ! जवनालिया संठिए ओही पण्णत्ते । प्रज्ञा० ३३ पद ।

तप्पागारे पल्लग–पडहगझल्लरीमुइंगपुप्फजवे ।
तिरियमणुएसु ओही, नाणाविहसंठिओ भणिओ ॥

तत्र उडुपकस्तस्येवाकारो यस्यासौ तप्रकारोऽवधिर्नारकाणां मन्तव्यः । तप्रश्च किलायतत्र्यस्र भवति । पल्लको धान्याधारभूतोऽत्रैव प्रतीतः स चोर्ध्वायतः । उपरि च किंचित्संक्षिप्तस्तदाकारोऽवधिर्भवनप–तीनां पटहक आतोद्यविशेषः प्रतीत एव स च नात्यायतोऽध उपरि च समः तदाकारोऽवधिर्व्यन्तराणां उभयतो विस्तीर्णचर्मावनद्धमुखो मध्ये संकीर्णो ढक्कालक्षण आतोद्यविशेषो झल्लरी तदाकारोऽवधिर्ज्योतिष्काणां मृदङ्गोऽप्यातोद्यमेव स चोर्ध्वायतोऽधोविस्तीर्ण उपरि च तनुकस्तदाकारोऽवधिः सौधर्म्माद्यच्युतान्तकल्पनिवासिदेवानां पुष्पेति सूचनात् सूत्रमिति कृत्वा सप्तशिखापुष्पभृता चङ्गेरी पुष्पचङ्गेरी परिगृह्यते । तदाकारोऽवधिर्ग्रैवेयकविमानवासिदेवानां (जवेत्ति) यवो यवनालकः स च कन्याचोलकोऽवगन्तव्यः । अयं च मरुमण्डलादिप्रसिद्धश्चरणकरूपेण कन्यापरिधानेन सह सीवितो भवति । येन परिधानं न खिंसति कन्यानां मस्तककूपक्षेपेणायं प्रक्षिप्यते । अयं चोर्द्धः सरकञ्चुक इति व्यपदिश्यते । एतदाकारोऽवधिरनुत्तरसुराणां भवति । तिर्यग्मनुष्येषु पुनरवधिर्नानाविधसंस्थानो भवति । यथा हि स्वयंभूरमणमत्स्याः सर्वे –रप्याकारैः समये भणितास्तथा तिर्यग्मनुष्येष्ववधिरपि किंच स्वयंभूरमणमत्स्यानां वलयाकारता निषिद्धा । तिर्यग्मनुष्याणां पुनरवधिस्तदाकारोऽपि भवतीति निर्युक्तिगाथार्थः ॥ ७५० ॥

अथ भाष्यम् ।

नेरइयभवणवणयरजोइसकिप्पालयाण मोहिस्स ।
गेविज्जणुत्तराण य, होत्ता गिइयो जहा संखं ॥

एतास्तप्रादिसमाना आकृतयो नारकाद्यवधेर्यथासंख्यं द्रष्टव्याः । तच्च यथासंख्यमेवेति । अथ तप्रादिस्वरूपं व्याचिख्यासुराह-

तप्पेण समागारो, तप्पागारो सचाययत्तंसो ।
उद्धाय उयप्पल्लो, उवरिं च सकिंचि संखित्तो ॥
नच्चायओ समो वि य, पमहो हिट्ठो वरिपई एसो ।
चम्मावणद्धवच्छिण्णवलयरूवा य झल्लरिया ॥
उद्धायओ मुइंगो, हेट्ठारुंदे तहोवरिं तणुओ ।
पुप्फसिहावलिरइया, चंगेरी पुप्फचंगेरी ॥
जवनालउत्तिमणिओ, उज्झोसरकंचुओ कुमारीए ।
अह सव्वकालनियओ, कादाइक्को विसेसाणं ॥

गतार्था एव । नवरं (अह सव्वकालेत्यादि) अथ नारकभवनपत्यादीनां तिर्यग्मनुष्याणां चावधिसंस्थाने विशेष उच्यते । कः पुनरसावित्याह । सर्वकालनियतोऽवधिसंस्थानमाश्रित्यामीषां नारकभवनपत्यादिदेवानां शेषाणां तिर्यग्मनुष्याणां कदाचित्कोऽपि भवति इदमुक्तं भवति । तप्राद्याकारसमानतया नारकभवनपत्यादीनामवधेः संस्थानमुक्तं तदङ्गीकृत्य तेषामवतिः सर्वकालं नियतोऽवस्थित एव भवति । न त्वन्याकारतया परिणमति । तिर्यग्मनुष्याणां तु येनाकारेण प्रथममुत्पन्नोऽवधिः केषांचित्तेनैवाकारेण सर्वकालं भवति । केषांचित्वन्याकारेण परिणमतीति । अथ यदुक्तम् " तिरियमणुएसु ओहीत्यादि " तद्व्याचिख्यासुराह-

नाणागारो तिरियमणुएसु मच्छासयंभूरमणे व्व ।
तत्थ वलयं निसिद्धं, तस्सिह पुण तं पि होज्जाहि ॥

तत्र स्वयंभूरमणे तस्य मत्स्याकारविषये वलयं निषिद्धम् । इह पुनस्तिर्यङ् मनुष्येषु तस्यावधिरित्येवमप्यावृत्या योज्यते । तदपि वलयमाकारमाश्रित्य भवेच्छेषं सुगममिति । तदेवं संस्थाने प्रोक्तेऽपि कयाऽपि दिशा बहुरवधिः कयाऽपि तु स्तोक इति न ज्ञायते । अत एतद्भवनपत्यादीनां दर्शयन्नाह-

भवणवइवंतराणं, उड्ढिं बहुगो अ होय सेसाणं ।
नारगजोइसियाणं, तिरियं ओरालिओ चित्तो ॥

नारकज्योतिष्काणामवधितिर्यग्बहुस्तिर्यग्मनुष्याणां तु संबन्धी अवधिरौदारिकावधिरुच्यते । अयं पुनश्चित्रो नानाप्रकारः केषांचिदूर्ध्वं बहुरन्येषां त्वधो परेषां तिर्यक् केषांचित्स्वल्प इति भावः । शेषं सुगममिति गाथार्थः । इत्यवसितं संस्थानद्वारम् ।

(१४) अथ ज्ञानलक्षणं दर्शनविभङ्गलक्षणद्वारद्वयं

युगपदभिधित्सुराह-

सागारमणागारा,ओहिदिभंगा जहन्नया तुल्ला ।
उवरिमगे विज्जेसु अ, परेण ओही असंखेज्जा ॥

इहावधिविचारे प्रस्तुते एतच्चिन्त्यते । यदुत किमिह ज्ञानं किं वा दर्शनं को वा विभङ्गः किं वा परस्परतस्तुल्योऽधिकं चेति । तत्र यो वस्तुनो विशेषरूपग्राहकः स साकारः स च ज्ञानमिश्रं सम्यग्दृष्टेर्मिथ्यादृष्टेस्तु स एव विभङ्गज्ञानम् । यस्तु सामान्यरूपग्राहकोऽयमनाकाराग्रहणात्स च दर्शनम् । तदिह गाथायां साकारग्रहणेनावधिज्ञानं गृहीतमनाकारग्रहणेन तु अवधिदर्शनं विभङ्गग्रहणे न तु विभङ्गज्ञानम् । अत एव दर्शनज्ञानविभङ्गलक्षणं द्वारत्रयमिदं भवति । तत्र चावधिज्ञानदर्शने तथा विभङ्गज्ञानं तस्य च संबन्धे यत्केषांचिन्मतेनावधिदर्शनं ते च पृथक्स्वस्थाने परस्परापेक्षयाऽपरस्थाने चावधिविभङ्गयोर्ज्ञानिदर्शने भवनपतिदेवेभ्य आरभ्य *यावदुपरितनग्रैवेयकविमानानि तावज्जघन्याभ्यामारभ्य यावदुपरि*ग्रैवेयकविमानोचितावधिकं विभङ्गोत्कृष्टता प्राप्तिस्तावत्क्षेत्रादिलक्षणं विषयमाश्रित्य तुल्ये भवतः । इदमुक्तं भवति भवनपतिदेवेभ्य आरभ्य यावदुपरितनग्रैवेयकविमानवासिनो देवास्तावद्ये जघन्यतुल्यस्थितयो *देवास्तत्संबन्धिनी जघन्ये अवधिविभङ्गज्ञानदर्शने क्षेत्रादिविषयरूपं* विषयमाश्रित्य परस्परतस्तुल्ये भवतः । मध्यमतुल्यस्थितीनां च मध्यमे ते तथैव तुल्ये भवतः । उत्कृष्टतुल्यस्थितीनां तु उत्कृष्टे ते तथैव तुल्ये भवतः । परेण (ओहिअसंखेज्जेत्ति) ग्रैवेयकवि–

मानेभ्यस्तु परतोऽनुत्तरविमानेष्ववधिज्ञानावधिदर्शनरूपोऽवधिरेव भवति। न तु विभङ्गज्ञानमिथ्यादृष्टेरेव तद्भावादनुत्तरसुरेषु च मिथ्यादृष्टेरभावात् स चानुत्तरसुरावधिः क्षेत्रतः कालतश्चासंख्येयोऽसंख्यातविषयो भवति द्रव्यभावैस्त्वनन्तविषय इति। इह च तिर्यग्मनुष्याणां तुल्यस्थितीनामपि क्षयोपशमतीव्रमन्दतादिकारणवैचित्र्यात् क्षेत्रकालविषयेऽप्यवधिविभङ्गज्ञानदर्शनयोर्विचित्रता। न पुनस्तुल्यतैवेतीह देवेष्वेव तयोरियं प्रतिपादितेति विभावनीयमिति निर्युक्तिगाथार्थः।

अथ भाष्यम्।

सविसेसं सागारं, तं नाणं निव्विसेसमणगारं।
तं दंसणं ति ताइं, ओहिविभंगा ण तुल्लाइं॥
आरब्भ जहण्णाओ, उवरिमगेविज्जगावसाणाणं।
परओहीनाणंचिय, न विभंगमसंखयं तं च॥

गतार्था एव। गतं ज्ञानदर्शनविभङ्गद्वारत्रयम्। विशे०।

अथ देशद्वाराभिधानायाह-

(१५) देशतः सर्वतश्चावधिः।

णेरइयाणं भंते! किं देसोही सव्वोही? गोयमा! देसोही नो सव्वोही। एवं जाव थणियकुमाराणं। पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा। गोयमा! देसोही नो सव्वोही। मणुस्साणं पुच्छा। गोयमा! देसोही वि सव्वोही वि वाणमंतरजोइसियवेमाणियाणं। जहा णेरइयाणं।

देशावधिसर्वावधिचिन्तायां मनुष्यवर्जाः सर्वेऽपि देशावधयो मनुष्यास्तु देशावधयोऽपि भवन्ति। सर्वावधयोऽपि परमावधेरपि तेषां संभवात्। प्रज्ञा० ३३ पद।

णेरइयदेवतित्थं–करा य ओहिस्स बाहिरा हुंति।
पासंति सव्वओ खलु, सेसा देसेण पासंति॥

नारका देवस्तीर्थकराश्चावधिज्ञानस्याबाह्या भवन्ति। अवध्युपलब्धस्य क्षेत्रस्यान्तर्वर्तिनः। अभ्यन्तरवर्तिन एव भवन्तीत्यर्थः। अत एव बाह्यावधय एवैते प्रतिपाद्यन्ते। अवधिप्रकाशितक्षेत्रस्य प्रदीपा इव निजनिजप्रभापटलस्य नैते बहिर्भवन्तीत्यर्थः। तथाऽवधिना पश्यन्त्यवलोकयन्ति। खलुशब्दस्यावधारणार्थत्वात्सर्वत एव सर्वास्वेव दिक्षु विदिक्षु च न तु देशत। इत्यर्थः शेषास्तिर्यग्मनुष्या देशेनेत्येकदेशेन पश्यन्ति। तत्रावाक्यावधारणविधेरिष्टतः प्रवृत्तेः शेषा एव देशतः पश्यन्ति। न तु शेषा देशत एवेति द्रष्टव्यं शेषास्तिर्यग्मनुष्याः सर्वतो देशतश्च पश्यन्तीति भावः। अथवा पूर्वार्धमन्यथा व्याख्यायते। नारकदेवतीर्थकरा अवधेरबाह्या भवन्ति। इति कोऽर्थोऽवधिज्ञानवन्त एवामी भवन्ति। अवधिज्ञानं नियमेनैषां भवतीत्यर्थः। तत्र किममी तेन सर्वतः पश्यन्ति देशतो वेति संशये सत्याह। "पासंतीत्या" द्युत्तरार्द्धम्। अस्य व्याख्या तथैवेति निर्युक्तिगाथार्थः। अथ प्रथमं व्याख्यानं तावद्भाष्यकारोऽप्याह-

ओहिण्णाणक्खिंतब्भिंतरगा होंति नारयाईया।
सव्वदिसोवहिविसओ, तेसिं दीवप्पभोवम्मो॥

उक्तार्थैव। चालणाप्रत्यवस्थाने प्राह-

अब्भिंतरत्ति भणिए, भण्णइ य पासंति सव्वओ खलु।
उयइ जमसंततदिसो, अंतो वि ठिओ न सव्वत्तो॥

नन्ववधेरबाह्या भवन्त्यवध्युपलब्धक्षेत्रस्याभ्यन्तरे नारकादयो वर्तन्त इति प्रथमपक्षे व्याख्यातम्। एवं चोक्ते सति पश्यन्ति सर्वत इति। किमर्थं भण्यते। ये ह्यवधिप्रकाशितक्षेत्रस्य मध्ये वर्तन्ते ते सर्वतः पश्यन्त्येवेति गतार्थत्वादतिरिच्यते। एवेदमिति पराभिप्रायः। अत्र सूरिराह। (उयइत्यादि) सन्तता निरन्तरालाः सर्वा दिग्विदिग्लक्षणा दिशः प्रकाशविषयभूता यस्यावधेरसौ सन्ततदिक्कोऽवधिरबाह्यावधिरित्यर्थः। न विद्यते सन्ततदिक्कोऽवधिर्यस्यासौ असन्ततदिक्कोऽवधिमान् बाह्यावधियुक्तः साध्वादिरित्यर्थः। अयं यस्मान्न (उ य इति) न पश्यति कथं सर्वतः किम्भूतः सन्नित्याह। अवधिद्योतितक्षेत्रस्यान्तर्मध्येऽपि स्थितस्तस्मात्कर्तव्यं (पासंति सव्वओ खल्विति) इदमुक्तं भवति। "फड्डोही वा असंबद्धो" इत्यनेन ग्रन्थेन यः प्राक् प्रतिपादितो द्विविधो बाह्यावधिः फड्डकावधिः असंबद्धवलयाकारक्षेत्रप्रकाशकावधिश्चेत्यर्थः। तद्वत्साध्वादिरवध्युपलब्धक्षेत्रस्यान्तः स्थितोऽपि न सर्वतः पश्यत्यन्तरालादर्शनादतः तद्व्यवच्छेदार्थं कर्तव्यम्। पश्यन्ति सर्वत इति आह। नन्वयमसन्ततदिक्कावधेरबाह्यावधिरेव न भवति। बाह्यावधित्वेनैव प्राक् प्रतिपादितत्वात् न तु किमेतद्व्यवच्छेदपरेण "पासंतीत्या" द्युपादानेनेत्यसमयपरिभाषितमबाह्यावधित्वमत्र नास्ति। लोकरुढं त्ववधिप्रकाशितक्षेत्रमध्यवर्तित्वमात्रमत्रापि विद्येत। इत्येतद्व्यवच्छेदार्थं "पासंतीत्या" दि स्थितमित्यलं विस्तरेणेति। अथ द्वितीयव्याख्यानं तत्र प्रेर्यं चाह-

नियया वहिणो अब्भिंतरत्ति वा संसयावणोयत्थं।
तो सव्वओमिहाणं, होउ किमब्भंतरग्गहणं॥

वा इत्यथवार्थः। स च व्याख्यानान्तरसूचकः। तत्र नारकादयोऽवधेरबाह्याभ्यन्तरा भवन्तीति कोऽर्थ इत्याह। नियतावधयोनियमेनैषामवधिर्भवत्येवेति। तर्हि 'पासंतीत्यादि' किमर्थमित्याह (संसयावणोयत्थंति) किमेते देशतः पश्यन्त्याहोश्चित्सर्वत इत्येवंभूतशंसयापनोदार्थं पश्यन्ति सर्वतः खल्विति वाक्यशेषः। यद्येवं ततः संशयापनोदार्थं सर्वतोऽभिधानमेवास्तु किमभ्यन्तरग्रहणेनेति। अत्रोत्तरमाह-

अब्भिंतरत्ति तेणं, नियया वहिणोवसेसया भइया।
भवपच्चयाइवयसा, सिद्धे कालस्स नियमोयं॥

यदि सर्वतो ग्रहणेन नारकादीनां देशदर्शनं निराकृत्य संशयो निरस्त इति ब्रूषे। तेन तर्हि भो प्रेरक! अभ्यन्तरा अबाह्या इत्यनेन नियतावधयो नियमेनाऽवधिमन्तो नारकदेवतीर्थकराः अवशेषास्तु तिर्यग्मनुष्या भजनीया अवधियुक्तास्तद्विरहिता वा भवन्तीति प्रतिपादितं द्रष्टव्यम्। सर्वग्रहणेन हि सर्वं देशदर्शनविषय एव संदेहो निवर्त्यते। नियतावधित्वं पुनरमीषां न लभ्यते। अतस्तत्प्रतिपादनार्थमवधेरबाह्या भवन्तीत्येतद्वचनामिति भावः। तत्रैतत्स्याद्भवप्रत्ययो नारकदेवानामित्यादिवचनात्तथा। "तिहिं नाणेहिं समग्गतित्थयरा जाव होंति गिहवासे" इत्यादिवचनाच्च सिद्धमेव। नारकदेवतीर्थकराणां नियतावधित्वं तत्किमनेनेत्याशङ्क्याह भवप्रत्ययादिवचसा सिद्धेऽमीषां नियतावधित्वे "ओहिस्स बाहिरा होंति" कालस्य नियमोऽयं विधीयते इदमुक्तं भवति भवप्रत्ययादिवचनात्सिद्ध्यति नियमेन नारकादीनामावधिमत्वं परं न ज्ञायते किमाभवक्षयममीषामवधेर्भवति आहोश्चित्कियन्तमपि कालं भूत्वाऽसौ प्रतिपततीति ततश्च "ओहिस्स बाहिरा होंतीत्य" नेन कालनियमः क्रियते सर्व–

दा सर्वकालममीषामवधिर्भवति। नत्वन्तरालेऽपि प्रतिपततीति। आह। यद्येवं तीर्थकृतां सर्वकालावस्थायित्वमवधेर्विरुद्ध्यते केवलोत्पत्तौ तदभावान्न तेषां केवलोत्पत्तावपि वस्तुतस्तत्परिच्छेदस्याप्यनष्टत्वात्सुतरां केवलज्ञानेन संपूर्णानन्ततद्धर्म्मात्मकवस्तुपरिच्छित्तेः। छद्मस्थकालस्य वा विवक्षितत्वाददोष इत्यलं विस्तरेणेति " सेसा देसेण पासंती " त्येतद्व्याचिख्यासुराह-

सेसच्चिय देसेणं, न उ देसेणेव सेसया किं तु।
देसेण सव्वउच्चिय, पिच्छंति नरातिरिक्खा य॥

गतार्थैवेति गाथापञ्चकार्थः। गतं देशद्वारम्। विशे०। तं०।

अथ क्षेत्रद्वारम्।

(१६) क्षेत्रगत्यादिद्वाराणि तत्र क्षेत्रद्वारमभिधित्सुराह।

संखेज्जमसंखेज्जो, पुरिसमवाहाए खेत्तओ ओही।
संबद्धमसंबद्धो, लोगमलोगे य संबद्धो॥

(खेत्तओत्ति) इह क्षेत्रतोऽवधिमति जीवे [illegible]पे प्रभापटलमिव संबद्धो लग्नो भवति। जीवावष्टब्धक्षेत्रादारभ्य निरन्तरं द्रष्टव्यं वस्तुप्रकाशयतीत्यर्थः। कश्चित्पुनरतिप्रकृष्टतमो व्याकुलान्तरावर्तिप्रदेशमुल्लङ्घ्य दूरस्थितमित्यादि प्रतिफलितदीपप्रभेव जीवेऽसंबद्धो भवति कया हेतुभूतयाऽसंबद्ध इत्याह। मकारस्यालाक्षणिकत्वात्पुरुषाबाधयेति। पूर्णः सुखदुःखानामिति पुरुषः। पुरि शरीरे शयनाद्वा पुरुषो जीवः। अबाधनमबाधा अन्तरालमित्यर्थः पुरुषादबाधापुरुषाबाधा तया हेतुभूतयाऽसंबद्ध इति हेत्वर्थे तृतीया स च संबद्धोऽसंबद्धश्चावधिः क्षेत्रतः कियान् भवतीत्याह। संख्येयोऽसंख्येयश्च। योजनाऽपेक्षया संख्येयान्यसंख्येयानि वा योजनानि प्रत्येकं भवन्तीत्यर्थः। कया सहेत्याह। पुरुषाबाधयेत्येवं सहार्थे तृतीया। पुरुषाबाधापदमत्रापि योज्यते। न केवलमवधेः संख्येयान्यसंख्येयानि वा योजनानि वा भवन्ति। किं तर्हि पुरुषाद्यन्तरालरूपा बाधा साप्येतावन्माना भवतीत्यर्थः। इदं चान्तरमसंबद्ध एवावधौ भवति न तु संबद्धे तत्र संबद्धत्वेनैव तदसंभवादिह वा संबद्धे अवधौ अन्तरे चतुर्भङ्गिका संख्येयमन्तरं संख्येयोऽवधिः १ संख्येयमन्तरमसंख्येयोऽवधिः २ असंख्येयमन्तरं संख्येयोऽवधिः ३ असंख्येयमन्तरमसंख्येयोऽवधिरित्येवं चत्वारोऽपि भङ्गकाः संभवन्ति। ४। संबद्धे त्ववधौ विकल्पाभावः। तदुत्थानहेतोरन्तरलक्षणस्य द्वितीयपदस्य तत्राभावादिति। अयं चावधिर्लोके अलोकेऽपि च संबद्धो भवतीत्याह (लोगमलोगे य संबद्धोत्ति) इह लोकशब्देन लोकान्तो गृह्यते अत्रापि च भङ्गकचतुष्टयम्। तत्र यो लोकप्रमाणोवधिः स पुरुषे संबद्धो भवति लोकान्ते च। १। यस्तु लोकदेशवर्ती अभ्यन्तराऽवधिः स पुरुषे संबद्धो न लोकान्ते। २। लोकान्ते संबद्धो न पुरुष इति शून्योऽयं भङ्गः। यो हि लोकान्ते संबद्धः स पुरुषे नियमात्संबद्ध एव भवति न त्वऽसंबद्ध इत्येतद्भङ्गकासंभवः। ३। न लोकान्ते नापि पुरुषेऽसंबद्धो बाह्यावधिः यस्त्वलोके संबद्धः स पुरुषे संबद्ध एव भवतीति। ४। तत्र भङ्गकाभाव इति निर्युक्तिगाथार्थः। अथ भाष्यम्।

ओही पुरिसं कोइ, संबद्धो जह प्पभावदीवम्मि।
दूरंधयारदीवय–दरिसणमिव कोइ विच्छिण्णो॥
संखिज्जमसंखिज्जं, देहाओ खेत्तमंतरं काउं।
संखेज्जासंखेज्जं, पेच्छेज्ज तदंतरमबाहा॥
संबद्धासंबद्धो, नरलोयं तेसु होइ चउभंगो।
संबद्धो उ अलोए, नियमा पुरिसे वि संबद्धो॥

तिस्रऽपि गतार्थाः। नवरं दूरान्धकारमित्यादिप्रतिफलितदीपस्य दर्शनं तदिव विच्छिन्नं (तदंतरमबाहत्ति) तयोर्देहावधिप्रकाशक्षेत्रयोरन्तरं तदन्तरं तदबाधोच्यत इति। अवसितं क्षेत्रद्वारम्। विशे०। प्रज्ञा०।

णेरइयाणं भंते ! ओहिस्स किं अंतो बाहिं ? गोयमा ! अंतो नो बाहिं। एवं जाव थणियकुमाराणं। पंचिंदियरिरिक्खयोणियाणं पुच्छा। गोयमा ! नो अंतो बाहिं। मणुस्साणं पुच्छा, गोयमा ! अंतो वि बाहिं वि। वाणमंतरजोइसियवेमाणियाणं जहा णेरइयाणं।

तथा नैरयिकभवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कवैमानिकाः। तथा भवस्वाभाव्यादवधेर्मध्यवर्तिनो न पुनर्बहिः किमुक्तं भवति। सर्वतः प्रकाशिविस्त्रसार्द्धावधयो भवन्ति। न तु स्पर्द्धकावधयो विच्छिन्नावधयो वा तिर्यक्पञ्चेन्द्रियास्त्ववधेरन्तर्न विद्यन्ते। किं तु बहिरप्येष भावार्थः। तिर्यक्पञ्चेन्द्रियास्तथाभवस्वाभाव्यात्। स्पर्द्धकावधयो विच्छिन्ना अपान्तराले सर्वतः प्रकाश्यवधयो वा भवन्ति स्पर्द्धकाद्यवधियोग इति भावः। प्रज्ञा० ३३ पद०।

गतिद्वारं विभणिषुराह-

गइनेरइयाईया, हेट्ठा जह वण्णिया तहेहा वि।
इड्ढी एसा य वणिज्जइ ति तो सेसियाओ वि॥

गतिर्नरकगत्यादिका आदिशब्दादपरोपीन्द्रियाद्वारकलापः प्राक् प्रतिपादितस्वरूपोऽत्र परिगृह्यते। ततश्च नारकादिगत्यादिद्वाराणि यथाधस्तात्पूर्वं मतिज्ञानप्ररूपणाप्रस्तावे " गइ इंदियकाए जोए वेए कसायलेसासम्मत्तनाणे " त्यादिना तथा " संतवयपरुवणया दव्व पमाणं " चेत्यादिना च प्रतिपादितानि। तथेहाप्यवधिप्ररूपणायां वक्तव्यानि। यस्तु विशेषस्तं भाष्यकारः स्वयमेव वक्ष्यति। एषा चावधिलक्षणा ऋद्धिः सिद्धान्ते वर्ण्यत इत्यतोऽनेन संबन्धेन शेषा अप्यामर्षौषध्यादिका ऋद्धयोऽत्र वर्ण्यन्त इति निर्युक्तिगाथार्थः।

अथ गत्यादिषु द्वारेषु चिन्त्यमानस्यावधिज्ञानस्य मतिज्ञानाद्यो विशेषस्तं भाष्यकारः प्राह-

जे पडिवज्जंति मइं, ते वहिनाणं पि समहिया अण्णे।
वेयकसायाईया, मणवज्जवनाणिणो चेव॥
सम्मासुरनेरइयाणाहारा जे य होंति पज्जत्ता।
तेच्चिय पुव्वपवण्णा, वियलासण्णीय मोत्तूणं॥

ये मतिज्ञानस्य प्रतिपत्तारः प्रागुक्ता इहावधिज्ञानस्यापि प्रतिपत्तारस्ते एव द्रष्टव्याः केवलमत्राधिका अन्येऽपि केचित्ते अवगन्तव्यास्तद्यथा (वेयकसायाईयत्ति) वेदातीताः कषायातीताश्चावेदका अकषायिणश्चेत्यर्थः। तथा मनःपर्यायज्ञानिनश्चेत्येते मतिज्ञानस्य पूर्वप्रतिपन्ना एवोक्ताः। इह त्ववधेरमी प्रतिपत्तारो भवन्ति। यतःश्रेणिद्वये वर्तमानानां वेदकानामकषायाणां च केषांचिदवधिज्ञानमुत्पद्यते। येषां वानुत्पन्नावधिज्ञानानां मतिश्रुतचारित्रवतां प्रथममेव मनःपर्यायज्ञानमुत्पद्यते। ते मनःपर्यायज्ञानिनोऽपि केचित्पश्चादवधिज्ञानस्य प्रतिपत्तारो भवन्ति। अपरज्ञानाहारका अपर्याप्तकाश्च मतिपूर्वप्रतिपन्ना एवोक्ताः। न तु प्रतिपद्यमानकाः। इह तु येऽप्रतिपतितसम्यक्त्वास्तिर्यङ्मनुष्येभ्यो देवनारका जायन्ते। तेऽवधिज्ञानस्य प्रतिपद्यमानकेष्वपि प्राप्यन्ते।

इत्याह। "सम्मासुरत्ति"। ननूक्तः प्रतिपद्यमानकेषु विशेषः पूर्वप्रतिपन्नेषु का वार्त्तेत्याह (तेचियपुव्वपवन्नेत्यादि) य एव मतिज्ञानस्य पूर्वप्रतिपन्ना उक्ताः। अवधिज्ञानस्यापि त एव द्रष्टव्याः। किं सर्वथा नेत्याह। (वियलेत्यादि) विकलेन्द्रिया न संज्ञिपञ्चेन्द्रियतिरश्चश्च मुक्त्वेत्यर्थः। एते हि सास्वादनसम्यग्दृष्टयो मतिज्ञानस्य प्रतिपन्ना उक्ताः। अवधेस्तु न प्रतिपद्यमानका नापूर्वप्रतिपन्ना भवन्तीति भावः। इति गाथाद्वयार्थः। अवसितं गत्यादिद्वारम्। विशे०। (आमर्षौषध्यादिऋद्धिवर्णनम् इड्डि शब्दे)

(१७) अवधेः संक्षेपप्ररूपणा प्रस्तावना च।

तदेवं प्रसङ्गायातौ शेषद्वौ प्रतिपाद्य अवधिज्ञानं च सप्रसङ्गं विस्तरतः प्ररूप्योपसंहरन्वक्ष्यमाणसंक्षेपप्ररूपणस्य प्रस्तावनां च कर्तुमाह।

भणिओ वहिणो विसओ, तहा वि तस्सं गहं पुणो भणइ।
संखेवरुईण हियं, अव्वामोहत्थमिट्ठं च॥

भणितः प्ररूपितः "ओहीखेत्तपरिमाणे संठाणे" इत्यादीनां सर्वेणापि पूर्वोक्तग्रन्थेनावधेः स्वरूपाद्यन्वितो विषयो द्रव्यक्षेत्रादिकस्तथापि तत्संग्रहविषयसंक्षेपप्ररूपणं पुनरपि भणत्यऽत्रान्तरे देववाचको नन्द्यध्ययनसूत्रकारः। अनेन चेदं सूचितं नन्द्यध्ययनसूत्रकारेण प्रथमं विस्तरतोऽवधिज्ञानं प्ररूप्य पर्यन्ते पुनरपि संक्षेपतस्तद्यथा। विशे०।

तं समासओ चउव्विहं पण्णत्तं। तं जहा। दव्वओ खेत्तओ कालओ भावओ तत्थ दव्वओ णं ओहीनाणी जहन्नेणं अणंताइं रुविदव्वाइं जाणइ पासइ। उक्कोसेणं सव्वाइं रूविदव्वाइं जाणइ पासइ। खेत्तओ णं ओहिनाणी जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं जाणइ पासइ। उक्कोसेणं असंखेज्जाइं अलोगे लोगप्पमाणमित्ताइं खंडाइं जाणइ पासइ। कालओ णं ओहीनाणी जहन्नेण आवलियाए असंखिज्जइभागं जाणइ पासइ। उक्कोसेणं असंखिज्जाओ उस्सप्पिणीओ ओसप्पिणीओ अईयमणागयं च कालं जाणइ पासइ। भावओ णं ओहीनाणी जहन्नेणं अणंते भावे जाणइ पासइ। उक्कोसेणं वि अणंते भावे जाणइ पासइ। सव्व-भावाणमणंतभागं जाणइ पासइ। ओहीभवपच्चइओ, गुणपच्चइओ य वण्णिओ दुविहो। तस्स य बहुविगप्पा, दव्वे खेत्ते य काले य। १। नेरइयदेवतित्थंकरा य ओहिस्स बाहिरा हुंति। पासंति सव्वओ खलु, सेसा देसेण पासंति। २। सेत्तं ओहिनाणं।

अवधिक्षेत्रप्ररूपणेन गतार्थीकृतेति न पुनरुक्तिभयादुपन्यस्ता। ननु नन्दिसूत्रकारेणापि किमिति विषयः पुनरपि प्ररूपितः पुनःपुनरुक्तस्य प्रसङ्गादित्याशङ्क्याह (संखेवेत्यादि) यस्मादपि संक्षेपरुचीनां हितमिदं संक्षेपभणनमतस्तेषां हितार्थं मन्दमतीनामव्यामोहार्थं चेष्टमेतदिति। तमेव विषयसंग्रहमाह-

दव्वाइं अंगुलावलि, संखेज्जाईयभागविसयाई।
पेच्छइ चउगुणाई, जहन्नओ मुत्तिमंताइं॥
उक्कोसमसंखाई, लोगत्थिंगुलसमानिबद्धाई।
पइदव्वं संखाइ य, पज्जायाई च सव्वाइं॥

जघन्यतो मूर्तिमन्ति द्रव्याण्यवधिज्ञानी पश्यतीति संटङ्कः। कथंभूतानीत्याह (अंगुलेत्यादि) अङ्गुलसंख्यातीतभागविषयाणि आवलिकासंख्यातीतभागविषयाणि चेत्यर्थः। विशे०।

विवरीयवेसधारी, विज्जंजणसिद्धदेवया एव।
छाइयसेवियसेवी, दीयादीओ वि पच्चक्खा॥
पुढवीइतरुगिरिया, सरीरादिगया य जे भवे दव्वा।
परमाणुसुहदुक्खादयो य ओहिस्स पच्चक्खा॥

नेपथ्यपरावर्त्ततो गुटिकाप्रयोगतः स्वपरावर्त्ततो वर्णपरावर्ततो विपरीतं वेषं धारयन्तीति विपरीतवेषधारिणस्ते। तथा ये विद्यासिद्धा अञ्जनसिद्धा देवतया वा आच्छादिता ये च तैः सेवितसेविनो ये च बीजादयः कुशलादिन्यस्ते सर्वेऽवधिज्ञानिनः। प्रत्यक्षाः। तथा यानि पृथिव्यां यानि च तरुषु यानि च गिरिषु गाथायामेकबचनं समाहारत्वात्। द्रव्याणि यानि च शरीरादिगतानि द्रव्याणि ये च परमाणवो ये सुखदुःखादय इन्द्रियमनःशरीरस्वास्थ्यास्वास्थ्यरूपास्तेऽप्यवधेः प्रत्यक्षाः।

अचंतमणुवलद्धा, वि ओहिनाणस्स होंति पच्चक्खा।
ओहिन्नाणपरिगया, दव्वा असमत्तपज्जाया॥

अत्यन्तं चक्षुरादिना अनुपलब्धा अपि पदार्था अवधिज्ञानस्य भवन्ति प्रत्यक्षाः। अवधिज्ञानेन च द्रव्याणि परिगतानि परिणतानि भवन्त्यसमाप्तपर्यायाणि न समस्ताः पर्याया द्रव्याणां ज्ञातुं शक्यन्ते इति भावः। यदि हि समस्तान् पर्यायान् जानीयान्नूनं स केवलीमवेत्। बृ० ८ उ०। भावतस्तु प्रतिद्रव्यं चत्वारो गुणा धर्माः पर्याया येषां तानि चतुर्गुणानि पश्यति। इदमुक्तं भवति। जघन्यतोऽवधिज्ञानी द्रव्यतः क्षेत्रतश्चाङ्गुलासंख्येयभागाक्षेत्राऽभ्यन्तरवर्तीनि मूर्तद्रव्याणि पश्यति। कालतस्त्वेतावद्द्रव्याणामावलिकासंख्येयभागाऽभ्यन्तरवर्तिनोऽतीताननागतांश्च पर्यायान्पश्यति। भावतस्तु प्रतिद्रव्यं चतुरः पर्यायान्पश्यतीति। उत्कृष्टतस्तु द्रव्यतः क्षेत्रतश्चासंख्येयलोकाकाशखण्डावगाढानि सर्वाण्यपि मूर्तद्रव्याणि पश्यति। एतानि चैकस्मिन्नेव लोकाकाशे अवगाढानि प्राप्यन्ते। शेषलोकाऽवगाढानामुपदर्शनं शक्तिमात्राऽपेक्षयैवोच्यते। कालतस्त्वेषां द्रव्याणामसंख्यातोत्सर्पिण्यवसर्पिणीसमान्तर्गतानतीताऽनागतांश्च पर्यायान्पश्यति। भावतस्त्वेकैकं द्रव्यमाश्रित्याऽसंख्येयपर्यायाण्येतानि पश्यति। इह च दर्शनक्रियासामान्यमात्रमाश्रित्य पश्यतीत्युक्तं विशेषतस्तु जानाति पश्यतीति च सर्वत्र द्रष्टव्यम्। तदेवं जघन्यत उत्कृष्टतश्च प्राग्विस्तरतः प्रोक्तोऽवधिविषयः। इदानीं तु स एव संक्षेपत उक्तस्तद्गणने च सप्रसङ्गमवधिज्ञानं समाप्तम्। विशे०। आ० म० प्र०। कर्म०। प्रव०। सम्म०। अवधिज्ञानवति जीवे अवध्यवधिमतोरभेदात्। प्रव० १५ द्वा०।

ओहिजुय–त्रि० (अवधियुत) अवधिलब्धियुक्ते, क० प्र०।

ओहिणाण–न० (अवधिज्ञान) अवधिः (अनन्तरोदितस्वरूपः) स एव ज्ञानमवधिना वा मर्य्यादया मूर्तद्रव्याण्येव जानाति नेतराणीति व्यवस्थया ज्ञानमवधिज्ञानम् भ० ८ श० २ उ०। अवध्युपलक्षितं ज्ञानमप्यवधिः। प्रव० २१६ द्वा०। पं० सं०। अवधिश्चाऽसौ ज्ञानञ्च अवधिज्ञानम्। इन्द्रियमनोनिरपेक्षे आत्मनो रूपिद्रव्यसाक्षात्कारकारणे ज्ञानभेदे, स्था० २ ठा०।

उत्त०। नं० (ओहि शब्दे सर्वमुक्तम्) " णो केवलणाणे दुविहे पन्नत्ते तं जहा ओहिनाणे चेव मणपज्जवणाणे चेव " स्था० २ ठा०।

ओहिणाणजिण–पुं० (अवधिज्ञानजिन) अवधिज्ञानेन जिनोऽवधिज्ञानजिनः। जिनशब्दो विशुद्धाऽवधिप्रदर्शकः। विशुद्धाऽवधिज्ञाने, व्य० १ उ०। स्था०।

ओहिणाणावरण–न० (अवधिज्ञानावरण) अवधिज्ञानस्य प्राक्प्रदर्शितरूपस्य आवरणमवधिज्ञानावरणम्। ज्ञानावरणकर्मणस्तृतीयायामुत्तरप्रकृतौ, । कर्म०। उत्त०।

ओहिदंसण–न० (अवधिदर्शन) अवधेरेव दर्शनं रूपिसामान्यग्रहणमवधिदर्शनम्। पं० सं० १ द्वा०। अवधिना रूपिमर्य्यादया दर्शनं सामान्यांशग्रहणमवधिदर्शनं कर्म०। अवधिदर्शनावरणीयस्य क्षयोपशमाभ्यां जायमाने सामान्यग्रहणस्वभावे दर्शनभेदे, स्था० ७ ठा०।

(अवधिदर्शनक्षोभः)

पंचहिं ठाणेहिं ओहिदंसणे समुप्पज्जिउकामे वि तप्पढमयाए खभाएज्जा। तं जहा अप्पभूयं वा पुढविं पासित्ता तप्पढमयाए खभाएज्जा। कंथुं कुंथुरासिभूयं वा पुढविं पासित्ता तप्पढमयाए खभाएज्जा। महइ महालयं वा महोरगसरीरं पासित्ता तप्पढमयाए खभाएज्जा। देवं वा महिड्ढियं जाव महेसक्खं पासित्ता तप्पढमयाए खभाएज्जा। पुरेसु वा पुराणाइं महइ महालयाइं महाणिहाणाइं पहीणसेउयाइं पहीणगोत्तागाराइं उच्छिण्णसामियाइं उच्छिण्णसेउयाइं उच्छिण्णगोत्तागाराइं जाइं इमाइं गामागरनगरखेडकव्वडमडंबदोणमुहपट्टणासमसंबाहसंनिवेसेसु सिंघाडगतिगचउक्कचच्चरचउम्मुहमहापहपहेसु णगरसिद्धणेसु मसाणसुण्णागारगिरिकंदरसंतिसेलोवट्ठाणभवणगिहेसु संनिक्खित्ताइं चिट्ठंति ताइं वा पासित्ता तप्पढमयाए खभाएज्जा इच्चिएहिं पंचहिं ठाणेहिं ओहिदंसणे समुप्पज्जिउकामे तप्पढमयाए खभाएज्जा।

व्यक्तञ्चवरमवधिना दर्शनमवलोकनमर्थानामुत्पत्तुकामं भवितुकामं तत्प्रथमतायामवधिदर्शनोत्पादप्रथमसमये (खभाएज्जत्ति) स्कभ्नीयात् क्षुभ्येत् स्खलतीत्यर्थः। अवधिदर्शने वा समुत्पत्तुकामे सति अवधिमानिति गम्यते। क्षुभ्येदल्पभूतां स्तोकसत्वां पृथिवी दृष्ट्वा वाशब्दो विकल्पार्थः। अनेकसत्वव्याकुलाभूरिति सम्भावना वा न कस्मादल्पसत्वभूदर्शनात्। आः किमेतदेवमित्येवं क्षुभ्येदेवाक्षीणमोहनीयत्वादिति भावः। अथवा भूतशब्दस्य प्रकृत्यर्थत्वादल्पभूतामल्पां पूर्वे हि तस्य बव्ही पृथिवीति सम्भावनासीदिति १ तथात्यन्तप्रचुरत्वात्कुन्थूं कुन्थूराशिभूतां कुन्थूराशित्वप्राप्तां पृथिवीं दृष्ट्वाऽत्यन्तविस्मयभयाभ्यामिति २ तथा (महइमहालयति) महान्ति महन्महोरगशरीरं महाहितनुं बाह्यद्वीपवर्तियोजनसहस्रप्रमाणं दृष्ट्वा विस्मयाद्भयाद्वा ३ तथादेवं महर्द्धिकं महाद्युतिकं महानुभागं महाबलं महासौख्यं दृष्ट्वा विस्मयादिति। ४। (पुरेसुवेत्ति) नगराद्येकदेशभूतानि प्राकारावृत्तानि पुराणीति प्रसिद्धं तेषु पुराणानि चिरन्तनानि (उरालाइंति) क्वचित्पाठस्तत्र मनोहराणीत्यर्थः। (महइमहालयाइंति) विस्तीर्णत्वेन महानिधानानीति महामूल्यरत्नादिमत्त्वेन प्रहीणाः स्वामिनो येषां तानि। तथा प्रहीणाः सेक्कारः सेचकास्तेष्वेवोपर्युपरिधनप्रक्षेपकाः पुत्रादयो येषां तानि। तथा अथवा प्रहीणाः सेतवस्तदभिज्ञानभूताः पालयस्तन्मार्गा वाऽतिचिरन्तनतया प्रतिजागरकाभावेन च येषां तानि प्रहीणसेतुकानि। किं बहुना निधायकानां यानि गोत्रागाराणि कुलगृहाणि तान्यपि प्रहीणानि येषामथवा तेषामेव गोत्राणि नामान्याकाराश्चाकृतयस्ते प्रहीणा येषां तानि प्रहीणगोत्रागाराणि प्रहीणगोत्राकाराणि वा एवमुच्छिन्नस्वामिकादीन्यपि। नवरमिह प्रहीणाः किंचिन्सत्तावन्त उच्छिन्ना निर्नष्टसत्ताका यानीमानि अनन्तरोक्तविशेषणानीति। स्था० ५ ठा०। (ग्रामादिशब्दव्याख्या स्वस्वशब्दे)

ओहिदंसणावरण–न० (अवधिदर्शनावरण) रूपवद द्रव्यं सामान्यप्रकारेण मर्य्यादासहितं दृश्यत इति। अवधिदर्शनं तदावृणोतीति अवधिदर्शनावरणम्। उत्त० ३३ अ०। अवधिना रूपिमर्य्यादयाऽविधेरेव वा करणनिरपेक्षो बोधरूपो दर्शनं सामान्यार्थग्रहणमवधिदर्शनम् तस्यावरणमवधिदर्शनावरणम्। दर्शनावरणकर्मभेदे, स्था० ६ ठा०। स०।

ओहिमरण–न० (अवधिमरण) अवधिर्मर्य्यादा ततश्चाऽवधिना मरणमवधिमरणम्। मरणभेदे, यानि हि नारकादिभवनिबन्धनतया आयुःकर्मदलिकान्यनुभूय म्रियते। मृतो वा यदि पुनस्तान्थेवानुभूय मरिष्यते। तदा तदवधिमरणमुच्यते। तद्द्रव्यापेक्षया पुनस्तदग्रहणावधि यावज्जीवस्य मृतत्वात् सम्भवति च गृहीतोज्झितानां कर्म्मदलिकानां पुनर्ग्रहणं परिणामवैचित्र्यादिति।

तद्भेदा यथा।

ओहिमरणेणं भंते ! कइविहे पण्णत्ते ? गोयमा ! पंचविहे पण्णत्ते तं जहा दव्वोहिमरणे खेत्तोहिमरणे जाव भावोहिमरणे। दव्वोहिमरणेणं भंते ! कइविहे पण्णत्ते ? गोयमा ! चउव्विहे पण्णत्ते तं जहा णेरइए दव्वोहिमरणे जाव देवदव्वोहिमरणे। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ णेरइयदव्वोहिमरणे ? गोयमा ! जं णं णेरइया णेरइयदव्वे वट्टमाणा जाइं दव्वाइं संपयं मरंति जं णं णेइरया ताइं दव्वाइं अणागए काले पुणो वि हरिस्संति। से तेणट्ठेणं गोयमा ! जाव दव्वोहिमरणे एवं तिरिक्खजोणियमणुस्सदेवदव्वोहिमरणे वि। एवं एएणं गमएणं खेत्तोहिमरणे वि। कालोहिमरणे वि भवोहिमरणे वि भावोहिमरणे वि।

नैरयिकद्रव्याणि सांप्रतं म्रियन्ते त्यजन्ति तानि द्रव्याण्यनागतकाले पुनस्ते नारका इति गम्यम्। मरिष्यन्ते त्यक्ष्यन्तीति यत्तन्नैरयिकद्रव्यावधिमरणमुच्यत इति शेषः " से तेणमि " त्यादिनिगमनम् भ० १३ श० ७ उ०। " एमेव ओहिमरणं, जाणिमओ ताणि चेव मरइ पुणो "। २। एवमेव यथा वीचिमरणं द्रव्यक्षेत्रकालभवभावभेदतः पञ्चविधं तथैवमवधिमरणमपीत्यर्थः तत्स्वरूपमाह। यानि मृतः संप्रतीतिः शेषस्तानि चैव (मरइ पुणत्ति) तिङ् व्यत्ययेन मरिष्यति। पुनः किमुक्तं भवति। अवधिर्मर्यादा ततश्च यानि नारकादीनि भवन्ति। बन्धनतयायुःकर्म्मदलिकान्यनुभूय म्रियते पुनर्यदि तान्येवानुभूय मरिष्यति। तदा द्रव्यावधिमरणं तद्द्रव्यापेक्षया पुनस्तद्ग्रहणावधि यावज्जीवस्य मृतत्वात् संभवति हि गृहीतोज्झितानामपि कर्म्मदलिकानां ना–

पुनर्ग्रहणपरिणामवैचित्र्यादिति । एवं क्षेत्रकालादिष्वपि भावना कार्या । प्रव० १५७ द्वा० । उत्त० ।

ओहीर–धा० (नि–द्रा) अदा० प्रचलायने, ईषत्स्वापे, **निद्रातेरोही–रोह्वौ ८ । ४ । १२** । इति निपूर्वस्य द्रातेरोहीरादेशः । थोहीरइ, णिद्दाइ, निद्राति, प्रा० ।

ओहीरमाण–त्रि० (निद्राण) प्रचलायमाने, भ० ११ श० ११ उ० । वारवारमीषन्निद्रां गच्छति, ज्ञा० १ अ० ।

ओहीरिय–त्रि० (अवधीरित) परिभूते, आचा० २ अ० १ उ० ।

ओहूणण–न० (अवधूनन) अपूर्वकरणेन भिन्नग्रन्थे भेदापादने, आचा० ६ अ० १ उ० ।

ओहूय–त्रि० (अवधूत) उल्लङ्घिते, बृ० १ उ० ।

ओहोवहि–पुं० (ओघोपधि) ओघः संक्षेपः स्तोकः लिङ्गकारकः अवश्यं ग्राह्यः उपधिः । उपधिभेदे, नि० चू० २ उ० । ओघोपधि– र्नित्यमेव यो गृह्यते भुज्यते पुनः कारणेन स उच्यते । तदुक्तम् " ओहेण जस्स गहणं, भोगो पुण कारणा स ओहोवही " ध० ३ अधि० । ओघेन सामान्येन भोगे अभोगे वा यस्य पात्रादेर्ग्रहणमादानं भोगः पुनः कारणान्निमित्तेनैव भिक्षाटनादिना स ओघोपधिरभिधीयते । पं० व० । (उवहिशब्देऽस्य गणना प्रमाणं च दर्शितम्) [औकारः प्राकृते न भवतीति तदादयः शब्दा नोपदर्शिताः]

इति श्रीमत्सौधर्मवृहत्तपागच्छीय–कलिकालसर्वज्ञ–
श्रीमद्भट्टारक–जैन श्वेताम्बराचार्य श्री श्री १००८
श्रीविजयराजेन्द्रसूरिविरचिते अभिधानराजेन्द्रे
ओकारादिशब्दशङ्कलनं समाप्तम्

ककार

क–क–पुं० कै–शब्दे, कक–दीप्तौ, वा ड+ब्रह्मणि, विष्णौ, कामदेवे, अग्नौ, वायौ, यमे, सूर्य्ये, आत्मनि, दक्षे, प्रजापतौ, राजनि, कामग्रन्थौ, मयूरे, मेदिनी०। विहगे, शब्दे चिं०। चित्ते, देहे, काले, घने, मेघे, शब्दे, अनेकार्थकोशः। प्रकाशे च एका०। शिरसि, न० जले, सुखे च न० मेदिनी। केशे, पुं०–धरणिः। को ब्रह्मात्मप्रकाशार्ककेकीवायुयमाग्निषु। २१। कंमौलिसुखतोयेषु कः शब्दः सर्वलिङ्गकः। सर्वनामगुणोक्तो यस्तस्य रूपं त्रिलिङ्गकम् १ कः स्यात्पितामहे ब्रध्ने, मारुते शमने नले। सितवर्णे मयूरे च, हरावात्मनि वारिधौ। २। वसावाहतिशब्दे च प्रकाशे पुंसि कथ्यते। एका०। " कत्ति कडं मे पावं " क इत्ययं वर्णः कृतं मया पापमित्येवमभ्युपगमे वर्त्तते। आ० म० द्वि०। किमादेशः ककारः क्षेपे, यथा को राजा यो न रक्षति। नि० चू० १ उ०।

कअ–त्रि० (कृत) कृ–क्त–+निष्पादिते, " मालाए कअं। अहवा यं कअकज्जो " प्रा०।

क (य) अग्गह–पुं० (कचग्रह) **कगचजतदपयवां प्रायो लुक् ८। १। १७७।** इति चलुक् अवर्णो यश्रुतिः इति कगचजेत्यादिना लुकि सति शेषोऽवर्णोऽवर्णात्परो लघुप्रयत्नतरयकारश्रुतिर्भवति। कयग्गहो, कचग्रहः। रत्यर्थं स्त्रियाः केशाकर्षणे,। प्रा०।

कअर–त्रि० (कतर) किम् डतरच् द्वयोर्मध्ये निर्धारणार्थं प्रश्नविषये एकस्मिन् पदार्थे, प्रा०। वाच०।

कइ–त्रि० (कति) बहुव०। किं परिमाणमेषां–किम् डति। किम्प्रमाणे, सू० प्र० ६ पाहु०। कियत्संख्येषु, विशे०। संख्यापरिमाणविशेषविषय–प्रश्नविषयेषु पदार्थेषु, वाच०।

चत्तारि कइ पण्णत्ता तं जहा दवियकइ माउयकइ पज्जवकइ संगहकइ।

कतीति प्रश्नगर्भापरिच्छेदवत् संख्यावचनो बहुवचनान्तस्तत्र द्रव्याणि च तानि कति च द्रव्यकति कति द्रव्याणीत्यर्थः। द्रव्यविषयो वा कतिशब्दो द्रव्यकति। एवं मातृकापदादिष्वपि नवरं संग्रहाः शालियवगोधूमा इत्यादि स्था० ३ ठा० २ उ०।

***कपि**–पुं० वानरे, भ० ३ श० ६ उ०।

***कवि**–पुं० कवते नवं नवं भणति भङ्गीवैदग्ध्यादि सहितैः पाकातिरेकरसनीयरसरहस्यास्वादमेदुरितसहृदयहृदयानन्दैर्निःशेषभाषावैशारद्यहृद्यैर्गद्यपद्यप्रबन्धैर्वर्णानां करोतीति कविः। गद्यपद्यप्रबन्धरचके, अष्टमः प्रवचनप्रभावक एषः। ध० २ अधि०। काव्यकर्तरि,। अनु०।

कइअव–न० (कैतव) कितवस्य भावः कर्म वा अण्। **अइर्दत्यादौ च ८। १। १५१।** इत्यैतः अइ इत्यादेशः। कइअवं, कैतवम्, प्रा०। नेपथ्यमार्गगृहपरावर्तादौ, कपटे, दम्भे, तं०।

कतिपय**–*त्रि० कति–अयच्–पुक् च। **डाहवौ कतिपये ८। १। २५०। इति य स्थाने वः। कतिशब्दार्थे, प्रा०।

कइ (य) अवपण्णत्ति–स्त्री० [कैतवप्रज्ञ (ज्ञा) प्ति] कैतवानि कपटानि नेपथ्यभाषामार्गगृहपरावर्त्तादीनि (पन्नत्तित्ति) प्रज्ञाप्यन्ते याभिस्ताः कैतवप्रज्ञप्तयः। यद्वा कैतवानां दम्भानां प्रकृष्टाः ज्ञप्तयो ज्ञानानि कमलश्रेष्ठिसुतापद्मिनीवत् यासु ताः कैतवप्रज्ञप्तयः। यद्वा कैतवेषु प्रज्ञाया बुद्धेरापत्तिरादानं यासु ताः। स्त्रीषु "कइयवपन्नत्तीणं, ताणं अन्नायसीलाणं" तं०।

कइ (य) अवपेमगिरितडी–स्त्री० (कैतवप्रेमगिरितटी) कुशिष्यकुल–बालकपातिकामागधिकागणिकावत् कैतवप्रेमभ्यां गिरितट्यामिव पातिकायां स्त्रियाम्, " कइयवपेमगिरितडीओ " तं०।

कइ (य) अविया–स्त्री० (कैतविकी) कैतवेन निर्वृत्ता ठक्। कपटेनान्यन्यन्मनस्यन्यद्वाचीत्यादिलक्षणेन निर्वृत्तायां स्त्रियाम्, व्य० ४ उ०।

कइउल्ल–शुके, देशी०।

कइअंकसई–निकरे, देशी०।

कइअंकोर–निकरे देशी०।

कइद्धअ–पुं० (कपिध्वज) कपिर्ध्वजेऽस्य तैलादित्वात् द्वित्वे **द्वितीय–तुर्ययोरुपरिपूर्वः ८। २। ९०।** इति चतुर्थस्योपरिद्वितीयः। कइद्धओ, कइधओ, अर्जुने, प्रा०।

कइम–त्रि० (कतम) किम्–डतम्। **मध्यमकतमे द्वितीयस्य ८। १। ४८।** इति द्वितीयस्यात इत्वम्। कतमः। कइमः प्रा०। बहूनां मध्ये जात्यादिभिर्निर्धारणार्थं प्रश्नविषये एकस्मिन् पदार्थे, वाच०।

कइरव–न० (कैरव) के जले रौति–रु–अच्–अलुक् समासः। **केरवो हंसस्तस्य प्रियम् अण्–वैरादौ ८। १। १५२।** इति ऐत इरादेशः। कइरवं ' केरवं ' प्रा०। कुमुदे, शुक्लोत्पले, अमरः। शत्रौ, पुं०। कैतवे, न०मेदि०।

कइलास–पुं० [कैला (स) श] केजले लासो लसनं दीप्तिरस्य अलुक् समासः। केलासः स्फाटिकस्तस्येव शुभ्रः अणाकेलीनां समूहः अण् कैलं तेनास्यतेऽत्र आस्–आधारे–घञ्–**वैरादौ वा ८। १। १५२।** इति ऐत इत्वं वा प्रा०। जम्बूद्वीपे द्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य लवणसमुद्रे, दक्षिणा–परस्यां कैलासस्यानुवेलन्धरनागराजस्यावासपर्वते, जी० ३ प्रति०। प्रवृत्तिनिमित्तं कैलाशे। कैलाशप्रभाणि उत्पलादीनि। कैलाशनामा च तत्र देवः पल्योपमस्थितिकः परिवसति। ततः कैलाशः (तस्य) दक्षिणापरया कैलाशा राजधानी (जी०) (अनुवेलंधरशब्दे तद्वर्णक उक्तः) तदधिपेऽनुवेलन्धरनागराजे, (जी०) नन्दीश्वरवर–द्वीपस्य पूर्वार्द्धाधिपतौ महर्द्धिके पल्योपमस्थितिके देवे च जी० ३ प्रति०। शिवकुबेरयोः स्थाने, पर्वतभेदे च वाच०। मेरौ च नि० चू० १३ उ०।

कइलासभवण–न० (कैलाशभवन) क० स०। कैलाशरूपे आश्रये, पिं०। कैलाशपर्वतो मेरुः " तत्थ जाणि देवभवणाणि " मन्दरस्थदेवालयेषु,। "केलासभवणा एते आगता तुज्झ कामेहिं" नि० चू० १३ उ०। आर्हतग्रन्थे प्रायस्तालव्य एव कैलाशशब्दो दृश्यते।

कइलासा–स्त्री० (कैलासा) कैलासनाम्नोऽनुवेलन्धरनागराजस्य *कैलासाख्यस्यावासभूतायां राजधान्याम्, जी० ३ प्रति०।*

कइमाह–त्रि० (कतिपय) कति अयच्–पुक्–च। **डाहवौ कतिपये ८। १। २५०।** इति कतिपये यस्य डाह इत्यादेशः। कतिशब्दार्थे, परिमिते च प्रा०।

कइवि–स्त्री०[(का) कैतविका] कलाचिकायाम्, ज्ञा० १ अ०।

कइस–त्रि० (कीदृश) कस्येव दर्शनमस्य–किम्–दृशा–कञ्। **अपभ्रंशे–अतां डइसः। ८। ४। ४०३।** इति दादेरवयवस्य डित अइस इत्यादेशः। डित्वाट्टिलोपः। किम्प्रकारे, प्रा०।

कइसंचिय–त्रि० (कतिसञ्चित) कतीत्यनेन, संख्यावाचिनो द्व्यादयः संख्यावन्तोऽभिधीयन्ते। अयञ्चान्यत्र प्रश्नविशिष्टसंख्यावाचकतया रूढोऽपीह संख्यामात्रे द्रष्टव्यः। तत्र नारकाः कति संख्याताः एकैकसमये ये उत्पन्नाः सन्तः सञ्चिताः कत्युत्पत्तिसाधर्म्याद्बुद्ध्या राशीकृतास्ते कतिसञ्चिताः। स्था० ३ ठा०। एकसमये संख्यातोत्पादेन पिण्डितेषु नैरयिकादिवैमानिकपर्यन्तेषु, भ० २० श० १० उ०। (उववायशब्दे वक्तव्यतोक्ता)

कइहसिय–न० (कपिहसित) अनभ्रे, सहसा विद्युति, आकाशे, वानरमुखसदृशस्य विकृतमुखस्य हसने, अनभ्रे या विद्युत्सहसा तत्कपिहसितमन्ये त्वाहुः कपिहसितं नाम यदाकाशे वानरमुखसदृशस्य विकृतमुखस्य हसनम्। भ० ३ श० ६ उ०।

कउ–अव्य० (कुतम्) **कुतसः कउ कहंतिहु। ८। ४। ४१६।** इति कुतः शब्दस्य कउ आदेशः। " महुकतहो गुड्डहिअहो, कउ डुंपला वलंति " तस्मादित्यर्थे, प्रा०।

***क्रतु**–पुं०। सयूपे यज्ञे, " सयूपो यज्ञ एव हि क्रतुरुच्यते। यूपरहितस्तु दानक्रियायुक्तो यज्ञ इति "। विशे०। आम० प्र०। " वरं कूपशताद् वापी, वरं वापीशतात् क्रतुः। वरं क्रतुशतात् पुत्रः, सत्यं पुत्रशताद् वरम् " स्था० ४ ठा० ३ उ०। संकल्पे, ब्रह्मणो मानसे पुत्रे, ऋषिभेदे, वैश्वदेव– भेदे, इन्द्रियेषु विष्णौ, रुचेराधिक्ये, प्रज्ञायाम्, स्तवनादिकर्मणि च वाच०।

कउरव–पुं० (कौरव) स्त्री० कुरोरपत्यादि–उत्सा० अञ् तद्देशस्य राजा अण्। तेषु भवो वा अण्। **अउः पौरादौ च। ८। १। १६२।** इति पौरादित्वात् औतः अउरादेशः प्रा०। कुरुवंश्ये, तद्देशनृपे, कुरुसम्बन्धिनि, तद्देशभवे च त्रि० स्त्रियां ङीष् वाच०।

कउल–(देशी) करीषे,

कउसल–न० (कौशल) कुशलस्य भावः युवा० अण् पौरादौ चेति औतः अउरादेशः। दक्षतायाम्, । प्रा०।

कउह–पुं० (ककुद) न० कस्य देहस्य मुखस्य वा कुं भूमिं ददाति दा–क। ककुदे हः ॥८। १। २२५॥ इति ककुदे दस्य हः। कउहं प्रा०। वृषभस्य स्कन्धासन्नोन्नतदेहावयवे, अनु०। नित्ये, देशी०। नृपचिह्ने छत्रादौ, पर्वताग्रभागे च। वाच०।

कउह–स्त्री० (ककुभ्) कं प्रकाशं स्कुभ्नाति स्कुभ् क्विप् पृषोदरादित्वात्सिद्धिः। **ककुभो हः ८। १। २१।** ककुभ्शब्दस्यान्त्यव्यञ्जनस्य हो भवति। कउहा, प्रा०। दिशि, शोभायाम्, चम्पकमालायाम्, शास्त्रे, रागिणीभेदे, प्राणे च। वाच०।

कओ–अव्य० (कुतस्) किम्–तस्। संस्कृते किमः कुः। **कस्यतसोश्च ॥८। ३। ७१।** इति किमः कः। कस्मादित्यर्थे, प्रा०।

कंक–पुं० (कङ्क) ककि–अच्। पक्षिविशेषे, प्रश्न० अध० द्वा० १ अ०। सूत्र०। स्था०। अणु०। " जहा ढंकाय कंकाय कुललामगुकासिहा। मच्छेसणं झियायंति " ढङ्कादयः पक्षिविशेषाः जलाश्रया आमिषजीविनो मत्स्यप्राप्तिं प्रति ध्यायन्ति। सूत्र० १ श्रु० ११ अ०। लोमपक्षिविशेषे,। जी० १ प्रति०। प्रज्ञा०।

कंकग्गहणी–स्त्री० पुं० (कङ्कग्रहणी) कङ्कः पक्षिविशेषस्तस्येव ग्रहणी गुदाशयो यस्य स तथा। नीरोगवर्चस्के, औ०। कङ्कग्रहणी श्रमणो भगवान् महावीरः उत्तरकुर्वादिमनुष्याः सुषमसुषमासुषमयोर्भरतक्षेत्रजा मनुष्याश्च कङ्कग्रहण्यः (णयः) प्रश्न० १ अध० द्वा० ४ अ०। जी०।

कंकड–पुं० (कङ्कट) कं देहं कटति क–कट–मुम्–च। ककि लौल्ये अटन्–वा–। वाच० कवचे, रा०। जं०। जी०। ज्ञा०। औ०। आ० म० प्र०। " सहकंकड्यडें सगा इति " सह कङ्कटैः कवचैरवतंसकैश्च शेखरकैः शिरस्त्राणैर्वा ये ते तथा भ० ६ श० ३३ उ०। ज्ञा०।

कंकडुग–पुं० (काङ्कटुक) दुश्छेद्यमाषे, तद्वत् दुर्व्यवहारिणि च। " मा कित्ते कंकडुकं कुणिमं पक्खुत्तरं च वचाइं " इति तस्य दौष्टयम् " कंकडुओ विवमासो सिद्धिं न उवेइ जस्स ववहारो " यस्य व्यवहारः काङ्कटुक इव माष इव न सिद्धिमुपयाति स काङ्कटुकव्यवहारयोगात् काङ्कटुकः व्य० ३ उ०।

कंकण–न० (कङ्कण) कं शुभं कणति कम् कण–अच्। रक्तदवरकरूपे, भ० ११ श० १० उ०। करभूषणे, भूषणमात्रे, शेखरे च। कमित्यव्ययं जलार्थकं तस्य कणः जलकणे, पुं०। वाच०।

कंक (य) त–पुं० (कङ्कत) ककि–अतच्। केशसंयमनार्थे स्त्र्युपकरणे, सूत्र० १ श्रु० ४ अ०। नागवलावृक्षे, तक गतौ, अतच्। पृषो० अल्पविषे, डुण्डुभे सर्पे, पुं० स्त्री० जातित्वात् स्त्रियाम् ङीष् केशप्रसाधन्याम्, गौरा० ङीष्। वाच०।

कंकतिग्गाम–पुं० (कङ्कतिग्राम) माघराजवंश्यानां पुरपिटरित्तमराजादीनां काङ्कतीयानामभिजनग्रामे, ती०। कल्प०।

कंकतिज्ज–त्रि० (काङ्कतीय) माघराजवंशजे नृपतौ, माघराजस्य कङ्कतिग्रामवास्तव्यत्वाद् वंशजाः पुरपिटरित्तमराजपिडिकुण्डिमराजप्रोल्मराजरुद्रदेवगणपतिदेवपुत्री च रुद्रमहादेवी पञ्चत्रिंशद्वर्षकृतराज्यस्ततः श्रीप्रतापरुद्र एते च काङ्कतीया इति प्रसिद्धाः ती०। कल्प०।

कंकलोह–न० (कङ्कलौह) कङ्कायसि, " कर्तिकां कङ्कलोहस्य, गोपितां चाददे तदा " आ० क०। उदायी नृपः कङ्कायःकर्तिकाकण्ठकर्तनेन विनाशितः स्था० ६ ठा०।

कंकेल्लि–पुं० (कङ्केलि) कङ्कवा० एल्लि–पृषो०। अशोकवृक्षे, प्रव० ३६ द्वा०। ल० प्र०। रक्ताशोके, दर्श०।

कंकसार–दध्योदने, देशी०।

कंकोड–पुं० (कर्कोट) **कर्क–ओट–वक्रादावन्तः ॥८। १। २६।** इति प्रथमस्वरस्यानुस्वारागमः। नागभेदे, प्रा०।

कंकोलम–पुं० (कङ्कोपम) कङ्कः पक्षिविशेषस्यस्ताहारेणोपमा यत्र स मध्यमपदलोपात् कङ्कोपमः। तिर्यगाहारभेदे, अयमर्थो यथाहि कङ्कस्य दुर्जरोऽपि स्वरूपेणाहारः सुखभक्ष्यः सुखपरिणामश्च भवति एवं यस्तिरश्चां सुखभक्ष्यः सुखपरिणामश्च स कङ्कोपम इति स्था० ४ ठा० ४ उ०।

कंकस–(देशी) दध्योदने,

कंखज्झाण–न० (काङ्क्षाध्यान) अन्यान्यदर्शनग्रहः काङ्क्षा तदध्यानम्, " कविला इत्थं पि इह यं पि " इति वदतो मरीचेरिव परदर्शनग्रहध्याने, आतु०।

कंखण–न० (काङ्क्षण) अन्यान्यदर्शनग्रहे, ध० २ अधि०।

कं (खप्प) खाप ओस–पुं० (काङ्क्षाप्रदोष) क–स–काङ्क्षा–मिथ्यात्वमोहनीयोदयसमुत्थोऽन्यान्यदर्शनग्रहरूपोजीवपरिणामः स एव प्रकृष्टो दोषो जीवदूषणं काङ्क्षा प्रदोषस्तद् विषयं उद्देशः। जीवेन भदन्त! काङ्क्षामोहनीयं कर्म कृतमित्याद्यर्थनिर्णयार्थे भगवत्याः प्रथमशतस्य तृतीये उद्देशे, भ० १ श० १ उ०। कांक्षा दर्शनानन्तरं गृहो गृद्धिर्वा सैव प्रकृष्टो दोषः कांक्षाप्रदोषः कांक्षाप्रद्वेषं वा रागद्वेषयोर्भवति (एतत्क्षय एवान्तकरो भवतीति अंतकिरियाशब्दे)

कंखा–स्त्री० (काङ्क्षा) काक्षि–भावे अ+। अप्राप्तविविधार्थप्रार्थनायाम्, ध० ३ अधि०। कांक्षा गृद्धिराशक्तिरित्येकार्थाः। तं०। भोगेच्छायाम्, सूत्र० १ श्रु० १५ अ०। स्त्र्याद्यभिलाषे, उत्त० १६ अ०। अभिलाषातिरेके, उपा० २ अ०। क्षमाऽहिंसादिगुणलेशदर्शनाद् (ध० २ अधि०) मिथ्यात्वमोहनीयादेयसमुत्थेऽन्यान्यदर्शनग्रहरूपे जीवपरिणामे, भ० १ श० १ उ०। आतु०। ज्ञा०। श्रा०। प्रव०। सूत्र०। संथा०। उपा०। पञ्चसु दर्शनातिचारेषु द्वितीय एषः। जीत०। तद्भेदाः कांक्षणं कांक्षासुगतादिप्रणीतदर्शनेषु ग्राहोऽभिलाष इत्यर्थः तथा चोक्तं " कंखाअन्नान्नदंसणग्गहो " सा पुनर्द्विभेदा देशकांक्षा सर्वकांक्षा च। देश कांक्षैकदेशविषया एकमेव सौगतं दर्शनं कांक्षति चित्तजयोऽत्र प्रतिपादितोऽयमेव च प्रधानो मुक्तिहेतुरित्यतो घटमानकमिदं न दूरापेतमिति। सर्वकांक्षा सर्वदर्शनान्येव कांक्षति अहिंसादिप्रतिपादनपराणि सर्वाण्येव कपिलकणभक्षाक्षपादादिमतानीह लोके च नात्यन्तक्लेशप्रतिपादनपराण्यतः शोभनान्येवेति। अथवैहिकामुष्मिकफलानि कांक्षति प्रतिषिद्धा चेयमर्हद्भिरतः प्रतिषिद्धानुष्ठानादेवैनां कुर्वतः सम्यक्त्वातिचारो भवति। तस्मादैकान्तिकात्यन्तिकाव्याबाधमपवर्गं विहायान्यत्राकांक्षा न कार्येति। आव० ६ अ०।

काङ्क्षायामुदाहरणम्।

राजाऽमात्यौ हयाकृष्टौ, कौचिदप्यटवीं गतौ।
जक्षतुः क्षुधितौ तत्र, वनस्पतिफलानि तौ॥ १॥
मिलितेषु स्वसैन्येषु, ततः स्वस्थानमीयतुः।
राज्ञोचे सूपकृत्सर्व–धान्यानि पच मत्कृते॥ २॥
वलिभिर्दुर्वलापास्तिः, प्रेक्षणे स्थाद्यथा तथा।
अशनेऽपीति मत्वा प्राक्, कदन्नं कांक्षयाऽहरत्॥ ३॥
ततः कदन्नशूलेना–त्याहारान्मृतवान्निशि।
कृत्वा मन्त्री पुनर्वान्तिं, विरेकादीनि पथ्यभुक् ॥ ४॥
निराकांक्षः सुखी जातो, भोगानां भाजनं चिरम्।

आ० क०। आ० चू०। प्रव०। मोहनीये कर्मणि, स०। परद्रव्यविषयाभिलाषरूपे चतुर्विंशे गौणादत्तादाने, प्रश्न० अध० द्वा० ३ अ०।

कंखामोहणिज्ज–न० (काङ्क्षामोहनीय) मोहयतीति मोहनीयं कर्म तच्चारित्रमोहनीयमपि भवतीति विशिष्यते कांक्षाऽन्यान्यदर्शनग्रहः। उपलक्षणत्वाच्चास्य शङ्कादिपरिग्रहः। ततः कांक्षाया मोहनीयं कांक्षामोहनीये, मिथ्यात्वमोहनीये,।

जीवाणं भंते ! कंखामोहणिज्जे कम्मे कडे ? हंता कडे से भंते ! किं देसेणं देसे कडे देसेणं सव्वे कडे सव्वेणं देसे कडे सव्वेणं सव्वे कडे ? गोयमा ! णो देसेणं देसे कडे णो देसेणं सव्वे कडे णो सव्वेणं देसे कडे सव्वेणं सव्वे कडे

"जीवाणमि" त्यादि व्यक्तन्नवरं जीवानां सम्बन्धि यत् (कंखामोहणिज्जत्ति) मोहयतीति मोहनीयं कर्म तच्चारित्रमोहनीयमपि भवतीति विशिष्यते कांक्षाऽन्यान्यदर्शनग्रहः उपलक्षणत्वाच्चास्य शङ्कादिपरिग्रहस्ततः कांक्षाया मोहनीयं कांक्षामोहनीयं मिथ्यात्वमोहनीयमित्यर्थः (कडेत्ति) कृतं क्रियानिष्पाद्यमिति प्रश्नः उत्तरन्तु (हंता कडेत्ति) अकृतस्य कर्मत्वानुपपत्तेः। इह च वस्तुनः करणे चतुर्भङ्गी दृष्टा यथा देशेन हस्तादिना वस्तुनो देशस्याच्छादनं करोति। अथवा हस्तादिदेशेनैव समस्तस्य वस्तुनः। अथवा सर्वात्मना वस्तुदेशस्याथवा सर्वात्मना सर्वस्य वस्तुन इत्येवं कांक्षामोहनीयकरणं प्रति प्रश्नयन्नाह (से भंते! इत्यादि)(सेत्ति) तस्य कर्म्मणः भदंत! किमिति प्रश्ने देशेन जीवस्यांशेन देशः काङ्क्षामोहनीयस्य कर्म्मणोंऽशः कृत इत्येको भङ्गः। अथ देशेन जीवांऽशेनैव सर्वं काङ्क्षामोहनीयं कृतमिति द्वितीयः। उत सर्वेण सर्वात्मना देशः काङ्क्षामोहस्य कृत इति तुसी यः। उताहो सर्वे ण सर्वात्मना सर्वं कृतमिति चतुर्थः। अत्रोत्तरम् (सव्वेणं सव्वे कडेत्ति) जीवस्वाभाव्यात्सर्वस्वप्रदेशावगाढतदेकसमयबन्धनीयकर्मपुद्गलबन्धने सर्वजीवप्रदेशानां व्यापार इत्यत उच्यते सर्वात्मना सर्वं तदेककालं करणीयं काङ्क्षामोहनीयं कर्म कृतं कर्म्मतया बद्धमत एव च भङ्गत्रयप्रतिषेध इति अत एवोक्तम्। " एगपएसो गाढं, सव्वगएसेहिं कम्मुणो जोग्गं। बंधइ जहुत्तहेउं, तिए एएसोवगाढंति॥ १॥" जीवापेक्षया कर्म्मद्रव्यापेक्षया च य एके प्रदेशास्तेष्ववगाढं सर्वजीवप्रदेशव्यापारत्वाच्च तदेकसमयबन्धनार्हं सर्वमिति गम्यम्। अथवा सर्वं यत्किञ्चित्काङ्क्षामोहनीयं तत्वसर्वात्मना कृतं न देशेनेति जीवानामिति सामान्योक्तौ विशेषो नाऽवगम्यत इति विशेषावगमाय नारकादिदण्डकेन प्रश्नयन्नाह॥

णेरइयाणं भंते ! कंखामोहणिज्जे कम्मे कमे हंता कडे जाव सव्वेणं सव्वे कडे एवं जाव वेमाणियाण दंडओ भाणियव्वो।

(नेरइयेणमित्यादि) भावितार्थमेव क्रियानिष्पाद्यं कर्मोक्तं तत् क्रिया च त्रिकालविषयाऽतस्तां दर्शयन्नाह॥

जीवाणं भंते ! कंखामोहणिज्जं कम्मं करिंसु ? हंता करिंसु तं भंते ! किं देसेणं देसं करिंसु एएणं अभिलावेणं दंडओ जाव वेमाणियाणं एवं करंति एत्थ वि दंडओ जाव वेमाणियाणं एवं करिस्संति एत्थ वि दंडओ जाव वेमाणियाणं एवं चिए चिणिंसु चिणिंति चिणिस्संति उवचिए उवचिणिंसु उवचिणंति उवचिणिस्संति उदीरेंसु उदीरंति उदीरिस्संति वेदेंसु वेदेंति वेदिस्संति णिज्जरेंसु णिज्जरेंति णिज्जरिस्संति। गाहा। कडे चिए य उवचिए, उदीरिया वेदिया य णिज्जिण्णा। आदितिए चउभेया, तियभेया पच्छिमा तिण्णि।

"जीवाणमि" त्यादि व्यक्तन्नवरम् (करिंसुत्ति) अतीतकाले कृतवन्तः उत्तरन्तु हन्ताऽकार्षुस्तदकरणे अनादिसंसाराभावप्रसङ्गात् एवं (करंति) सम्प्रति कुर्वन्ति। एवं (करिस्संति) अनेन च भविष्यत्कालताकरणस्य दर्शितेति कृतस्य च कर्मणश्चयादयो भवन्तीति तान् दर्शयन्नाह (एवं चिए इत्यादि) व्यक्तन्नवरं चयः प्रदेशानुभागादेर्वृद्धिनमुपचयस्तदेव पौनःपुन्येन अन्ये त्वाहुः। च

यनं कर्म्म पुद्गलोपादानमात्रमुपचयन्तु चितस्यावाधाकालं मुक्त्वा वा वेदनार्थं निषेकः स चैवं प्रथमस्थितौ बहुतरं कर्म्मदलिकं निषिञ्चति। ततो द्वितीयायां विशेषहीनमेवं यावदुत्कृष्टायां विशेषहीनं निषिञ्चति। उक्तं च " मोत्तूणसगमवाहं, पढमाइठिईइ बहुतरं दव्वं। सेसं विसेसहीणं, जावुक्कोसं ति सव्वासिं " ॥ १ ॥ उदीरणमनुदितस्य करणविशेषादुदय-प्रवेशनं वेदनमनुभवनं निर्जरणं जीवप्रदेशेभ्यः कर्मप्रदेशानां शातनमिति। इह च सूत्रसङ्ग्रहगाथा भवति सा च " कडेचिएत्यादि, भावितार्था च नवरं (आइतिएत्ति) कृतचितोपचितलक्षणे (चउभेयत्ति) सामान्यक्रिया-कालत्रयक्रियाभेदात् (तियभेयत्ति) सामान्यक्रियाविरहात् (पच्छिमत्ति) उदीरितवेदितनिर्जीर्णा मोहपुद्गला इति शेषः (तिण्णित्ति) त्रयस्त्रिविधा इत्यर्थः नन्वाद्ये सूत्रत्रये कृतचितोपचितान्युक्तान्युत्तरेषु कस्मान्नोदीरितवेदितनिर्जीर्णानीति उच्यते। कृतं चितमुपचितं कर्म्म चिरमप्यवतिष्ठत इति करणादीनां त्रिकालक्रियामात्रतिरिक्तञ्चिराव-स्थानलक्षणं कृतत्वाद्याश्रित्य कृतादीन्युक्तान्युदीरणादीनां तु न चिरावस्थानमस्तीति त्रिकालवर्त्तिना क्रियामात्रेणैव तान्यभिहितानीति जीवाः काङ्क्षामोहनीयं कर्म्म वेदयन्तीत्युक्तम्।

अथ तद्वेदनकारणप्रतिपादनाय प्रस्तावयन्नाह ॥

वेदनं जीणा णं भंते ! कंखामोहणिज्जं कम्मं वेदेंति ? हंता वेदेंति। कह णं भंते ! जीवा कंखामोहणिज्जं कम्मं वेदेंति ? गोयमा ! तेहिं तेहिं कारणेहिं संकिया कंखिया वितिगिंछिया भेदसमावण्णगा कलुससमावण्णगा एवं खलु जीवा कंखामोह-णिज्जं कम्मं वेदेंति।

(जीवा णं भंते ! इत्यादि) व्यक्तमेवं ननु जीवाः कांक्षामोहनीयं कर्म वेदयन्तीति प्राप्तिपूर्णीतिं किं पुनः प्रश्नः उच्यते वेदनोपायप्रतिपादना-र्थम्। उक्तञ्च " पुव्वभणियं वि पच्छा, जं भन्नइ तत्थ कारणं अत्थि। पडिसेहो य अणुण्णा, हेउविसेसोवलंभो त्ति " ॥ १ ॥ (तेहिं तेहिं ति) तैस्तैर्दर्शनान्तरश्रवणकुतीर्थिकसंसर्गादिभिर्विद्वत्प्रसिद्धैर्द्विर्वचनं चेह वीप्सायां कारणैः शङ्कादि हेतुभिः किमित्याह। शङ्किता जिनोक्तपदार्थान् प्रति सर्वतो देशतो वा संजातसंशया कांक्षिता देशतः सर्वतो वा सञ्जाता-न्यान्यदर्शनग्राहाः (वितिगिंछियत्ति) विचिकित्सिताः सञ्जातफ-लविषयशङ्काः। भेदसमापन्ना इति किमिदं जिनशासनमाहोश्विदिदमि-त्येवं जिनशासनस्वरूपं प्रतिमतेर्द्वैधीभावं गता अनध्यवसायरूपं वा मतिभङ्गङ्गताः। अथवा यत एव शङ्कितादिविशेषणा अत एव मतेर्द्वैधीभा-वङ्गताः कलुषसमापन्ना नैतदेवमित्येवं मतिविपर्यासं गताः। एवमिति उक्तेन प्रकारेण (खलुत्ति) वाक्यालङ्कारे निश्चये अवधारणे वा एतच्च जीवानां कांक्षामोहनीयवेदनमित्थमेवावसेयं जिनप्रवेदितत्वात्तस्य च सत्यत्वादिति। भ० १ श० ३ उ०। (तदेव सत्यमिति सूत्रं सच्चशब्दे अस्तित्त शब्दे च उक्तम्) तद्बन्धो यथा।

जीणा णं भंते ! कंखामोहणिज्जं कम्मं बंधंति हंता गोयमा ! बंधंति कहणं भंते ! जीवा कंखामोहणिज्जं कम्मं बंधंति हंता गोयमा ! पमादपच्चयं जोगनिमित्तं च से णं भंते ! पमादे किं पवहे ? गोयमा ! जोगप्पवहे से णं भंते ! जाए किंपवहे गोयमा ! वीरियप्पवहे। से णं भंते ! वीरिए किं पवहे गोयमा ! सरीरप्पवहे। से णं भंते ! सरीरे किं पवहे ? गोयमा ! जीवप्पवहे एवं सइ अत्थि उट्ठाणेइ वा कम्मेइ वा वलेइ वीरिएइ वा पुरिसक्कारपरक्कमेइ वा।

" जीवा णं भंते ! कंखेत्या " दि (पमायपच्चयत्ति) प्रमादप्रत्यया-न्प्रमत्ततालक्षणाद्धेतोः प्रमादश्च मद्यादिः। अथवा प्रमादग्रहणेन मिथ्या-त्वाविरतिकषायलक्षणबन्धुहेतुत्रयं गृहीतम्। इष्येत च प्रमादेऽन्तर्भावो-ऽस्य यदाह " पमाओ य मुणिं देहिं, भणिओ अट्ठभेयओ। अन्नाणं संसओ चेव, मिच्छाणाणं तहेव य ॥ १ ॥ रागो देसो मइब्भंसो, धम्मम्मि य अणायरो। जोगाणं दुप्पणीहाणं, अट्ठहा वज्जियव्वओत्ति " तथा योग-निमित्तञ्च योगा मनःप्रभृतिव्यापारास्ते निमित्तं हेतुर्यत्र तत्तथा बन्धन्तीति क्रियाविशेषणं चैदमेतेन च योगाख्यश्चतुर्थः कर्म्मबन्धहेतुरुक्तः चःसमुच्चये। अथ प्रमादादेरेव हेतुफलभावदर्शनायाह " सेणमि " त्यादि (पमाए किं पवहेत्ति) प्रमादोऽसौ कस्मात्प्रवहति प्रवर्तत इति। किं प्रवहः पाठा-न्तरेण किंप्रभवः (जोगप्पवहेत्ति) योगो मनःप्रभृतिव्यापारस्तत् प्रवह-त्वश्च प्रमादस्य मद्याद्यासेवनस्य मिथ्यात्वादित्रयस्य च मनःप्रभृतिव्या-पारसद्भावे भावात् (वीरियप्पवहेत्ति) वीर्यनाम वीर्यान्तरायकर्मक्षयक्ष-योपशमसमुत्थो जीवपरिणामविशेषः। (सरीरप्पवहेत्ति) वीर्यं द्विधा सकरणमकरणञ्च। तत्रालेश्यस्य केवलिनः कृत्स्नयोर्ज्ञेयदृश्ययोः केवलं ज्ञानं दर्शनं चोपयुञ्जानस्य योऽसावपरिस्पन्दोऽप्रतिघो जीवपरिणामवि-शेषस्तत्करणं तदिह नाधिक्रियते यस्तु मनोवाक्कायकरणसाधनः सले-श्यजीवकर्तृको जीवप्रदेशपरिस्पन्दात्मको व्यापारोऽसौ सकरणं वीर्यं तच्च शरीरप्रवहं शरीरं विना तदभावादिति (जीवप्पवहित्ति) इह यद्यपि शरीरस्य कर्मापि कारणं न केवल एव जीवस्तथापि कर्म्मणो जीवकृत-त्वेन जीवप्राधान्याज्जीवप्रवहं शरीरमित्युक्तम् अथ प्रसङ्गतो गोशाल-कमतं निषेधयन्नाह (एवं सइत्ति) एवमुक्तन्यायेन जीवस्य काङ्क्षामोह-नीयकर्म्मबन्धकत्वे सति अस्ति विद्यते न तु नास्ति यथा गोशालकमते नास्ति जीवानामुत्थानादि पुरुषार्थासाधकत्वान्नियतित एव पुरुषार्थ-सिद्धेः। यदाह " प्राप्तव्यो नियतिबलाश्रयेण योऽर्थः, सोऽवश्यं भवति नृणां शुभोऽशुभो वा। भूतानां महति कृतेऽपि हि प्रयत्ने, नाभाव्यं भवति न भाविनोऽस्ति नाशः " इति॥ १॥ एवं हि अप्रमाणिकाया नियतेरभ्यु-पगमः कृतो भवति। अध्यक्षसिद्धपुरुषकारापलापश्च स्यादिति। (उट्ठाणे इवत्ति) उत्थानमिति वेति वाच्ये प्राकृतत्वात्सन्धिलोपाभ्यामेवन्निर्देश-स्तत्र उत्थानमूर्द्ध्वीभवनं इतिः रूपप्रदर्शने वाशब्दो विकल्पे समुच्चये वा। (करमे इवत्ति) कर्म्मे उत्क्षेपणापक्षेणादि (बले इवत्ति) बलं शारीरः प्राणः। (वीरिए इवत्ति) वीर्यं जीवोत्साहः (पुरिसक्कारपरक्कमे इवत्ति) पुरुषकारश्च पौरुषाभिमानः पराक्रमश्च स एव साधिताभिमतप्रयोजनः पुरुषकारपराक्रमः। अथवा पुरुषकारः पुरुषक्रिया सा च प्रायः स्त्री-क्रियाऽतः प्रकर्षवती भवति। तत्स्वभावत्वादिति विशेषेण तद्ग्रहणं पराक्रमस्तु शत्रुनिराकरणमिति। काङ्क्षामोहनीयस्य वेदनं बन्धश्च स हेतुक उक्तः।

अथ तस्यैवोदीरणामन्यच्च तद्गतमेव दर्शयन्नाह।

से णूणं भंते ! अप्पणा चेव उदीरेइ अप्पणा चेव गरहइ अप्पणा चेव संवरइ ? हंता गोयमा ! अप्पणा चेव

तं चेव उच्चारेयव्वं जं तं भंते ! अप्पणा चेव उदीरेइ अप्पणा चेव गरहइ अप्पणा चेव संवरइ तं किं उदिण्णं उदीरेइ १ अणुदिन्नं उदीरेइ २ अणुदिन्नं उदीरणा भवियं कम्मं उदीरेइ ३ उदयाणंतरं पच्छा कडं कम्मं उदीरेइ ४ गोयमा ! नो उदिण्णं उदीरेइ १ नो अणुदिन्नं उदीरेइ २ अणुदिन्नं उदीरणा भवियं कम्मं उदीरेइ ३ नो उदयाणंतरपच्छा कडं कम्मं उदीरेइ ४ जं तं भंते ! अणुदिन्नं उदीरणा भवियं कम्मं उदीरेइ तं किं उट्ठाणेणं कम्मेणं बलेणं *वीरियेणं पुरिसक्कारपरक्कमेणं अणुदिन्नं उदीरणाभवियं कम्मं* उदीरेइ उदाहु तं अणुट्ठाणेणं अकम्मेणं अबलेणं अवीरियेणं अपुरिसक्कारपरक्कमेणं अणुदिन्नं उदीरणाभवियं कम्मं उदीरेइ गोयमा ! तं उट्ठाणेण वि कम्मेण वि बलेण वि वीरियेण वि पुरिसक्कारपरक्कमेण वि अणुदिन्नं उदीरणाभवियं कम्मं उदीरेइ णो तं अणुट्ठाणेणं अकम्मेणं अबलेणं अवीरियेणं अपुरिसक्कारपरक्कमेणं अणुदिन्नं उदीरणा भवियं कम्मं उदीरेइ एवं सइ अत्थि उट्ठाणेइ वा कम्मेइ वा बलेइ वा वीरियेइ वा पुरिसक्कारपरक्कमेइ वा।

" से णूणमि " त्यादि (अप्पणा चेवत्ति) आत्मनैव स्वयमेव जीवो– ऽनेन कर्म्मणो बन्धादिषु मुख्यवृत्त्यात्मन एवाधिकार उक्तो नापरस्य, आह च " अणुमेत्तो वि ण कस्सइ, बंधो परवत्थुपच्चया भणिओत्ति " उदीरयति करणविशेषेणाकृष्य भविष्यत्कालवेद्यं क्षपणाय उदयावलिकायां प्रवेशयति तथा (गरहइत्ति) आत्मनैव गर्हते निन्दतीत्यतीतकालकृतं कर्मस्वरूपतस्तत्कारणगर्हणद्वारेण वा जातविशेषबोधस्सन् तथा (संवरइत्ति) संवृणोति न करोति वर्तमानकालिकं कर्मस्वरूपतस्तद्धेतुसंवरणद्वारेण वेति गर्हादौ च यद्यपि गुर्वादीनामपि सहकारित्वमस्ति तथापि सन तेषां प्राधान्यं जीववीर्यस्यैव तत्र कारणत्वाद्बुर्वादीनाञ्च वीर्योल्लासनमात्र एव हेतुत्वादिति। अथोदीरणामेवाश्रित्याह। " जं तं भंते ! " इत्यादि व्यक्तन्नवरम्। अथोदीरयतीत्यादि पदत्रयोद्देशकेऽपि कस्मात् " तं किं उदिण्णं उदीरेइ " इत्यादि नाद्यपदस्थैव निर्द्देशः कृतः उच्यते उदीर्णादिके कर्मविशेषणचतुष्टये उदीरणामेवाश्रित्य विशेषणस्य सद्भावादितरयोस्तु तदभावादेवं तर्ह्युद्देशसूत्रे गर्हते संवृणोतीत्येतत्पदद्वयं कस्मादुपात्तमुत्तरत्रानिर्द्देश्यमानत्वात्तस्येति। उच्यते कर्म्मण उदीरणायां गर्हासंवरणौ प्राय उपायावित्यभिधानार्थमेवमुत्तरत्रापि वाच्यमिति प्रश्नार्थश्चेहोत्तरत्र व्याख्यानाद्बोद्धव्यः। तत्र (नो उदिण्णं उदीरेइत्ति) उदीर्णत्वादेव उदीर्णस्याप्युदीरणे उदीरणाविरामप्रसङ्गात् (नो अणुदिण्णं उदीरेइत्ति) इहानुदीर्णं चिरेण भविष्यदुरीर्णमभविष्यदुदीरणञ्च तन्नोदीरयति तद्विषयोदीरणायाः संप्रत्यनागतकाले वा भावात् (अणुदिण्णं उदीरणाभवियं कम्मं उदीरेइत्ति) अनुदीर्णं स्वरूपेण किं त्वनन्तरसमये एव यदुदीरणाभविकं तदुदीरयति विशिष्टयोग्यताप्राप्तत्वात् तत्र भविष्यतीति भवा सैव भविका उदीरणा भविकाऽस्येति प्राकृतत्वादुदीरणा भविकमन्यथा भविकोदीरणमिति स्यादुदीरणायां वा भव्यं योग्यमुदीरणाभव्यमिति (नो उदयाणंतरं पच्छा कडत्ति) उदयेनानन्तरसमये पश्चात्कृतमतीततां नीतं यत्तत्तथा तदपि नोदीरयति। तस्यातीतत्वादतीतस्य चासत्वादसतश्चानुदीरणीयत्वादिति। इह च यद्यप्युदीरणाद्विकालस्वभावादीनाङ्कारणत्वमस्ति। तथापि प्राधान्येन पुरुषवीर्यस्यैव कारणत्वमुपदर्शयन्नाह (जं तमित्यादि) व्यक्तन्नवरम्। उत्थानादिनोदीरयतीत्युक्तम्। तत्र च यदापन्नं तदाह (एवं स इत्ति) एवमुत्थानादिसाध्ये उदीरणे सतीत्यर्थः शेषं तथैव कांक्षामोहनीयस्योदीरणोक्ता।

अथ तस्यैवोपशमनमाह।

से णूणं भंते ! अप्पणा चेव उवसामेइ अप्पणा चेव गरहइ अप्पणा चेव संवरइ ? हंता गोयमा ! एत्थ वि तहेव भाणियव्वं नवरं अणुदिन्नं उवसामेइ सेसा पडिसेहियव्वा तिण्णि। जं तं भंते ! अणुदिन्नं उवसामेइ तं किं उट्ठाणेणं जाव पुरिसक्कारपरक्कमेइ वा से णूणं भंते ! अप्पणा चेव वेदेइ अप्पणा चेव गरहइ ? हंता गोयमा ! एत्थ वि सव्वे वि परिवाडी णवरं उदिण्णं वेदेइ नो अणुदिन्नं वेदेइ। एवं जाव पुरिसक्कारपरक्कमेइ वा से णूणं भंते ! *अप्पणा चेव णिज्जरेइ अप्पणा चेव गरहइ हंता गोयमा ! एत्थ वि* सव्वे वि पडिवाडी णवरं उदयाणंतरं पच्छा कडं कम्मं निज्जरेइ एवं जाव परक्कमेइ वा।

" से णूणमित्यादि " उपशमनं मोहनीयस्यैव यदाह " माहस्सेवोवसमो, खओवसमो चउण्हघाईणं। उदयक्खयपरिणामा, अट्ठण्ह वि होंति कम्माणं " ॥ १ ॥ उपशमश्च उदीर्णस्य क्षयोऽनुदीर्णस्य विपाकतः प्रदेशतश्चाननुभवनं सर्वथैव विष्कम्भितोदयत्वमित्यर्थः। अयञ्चानादिमिथ्यादृष्टेरौपशमिकस्य सम्यक्त्वस्य लाभे उपशमश्रेणिगतस्य वेति (अणुदिण्णं उवसामे इत्ति) उदीर्णस्य त्ववश्यं वेदनादुपशमनाभाव इति उदीर्णं सद्वेद्यत इति वेदनसूत्रं तत्र (उदिण्णं वेएइत्ति) अनुदीर्णस्य वेदनाभावात्। अथानुदीर्णमपि वेदयति। तर्हि उदीर्णानुदीर्णयोः को विशेषः स्यादिति वेदितं सन्निर्जीर्यते इति निर्जरासूत्रं तत्र (उदयाणंतरं पच्छा कडेत्ति) उदयेनानन्तरसमये यत्पश्चात्कृतमतीतताङ्गमितं तत्तथा तन्निर्ज्जरयति प्रदेशेभ्यः शातयति नान्यदननुभूतरसत्वादिति उदीरणोपशमवेदननिर्ज्जरणसूत्रोक्तार्थसंग्रहगाथा " तइएणं उदीरंती, उवसामेंति य पुणो वि वीएणं। वेइंति निज्जरंति य, पढमचउत्थेहिं सव्वे वि " ॥ १ ॥ अथ काङ्क्षामोहनीयवेदनादिकं निर्जरान्तसूत्रप्रपञ्चं नारकादिचतुर्विंशतिदण्डके नियोजयन्नाह।

नेरइयाणं भंते ! कंखामोहणिज्जं कम्मं वेदेंति हंता वेदंति। जहा ओहिया जीवा तहा नेरइया जाव थणियकुमारा। पुढविकाइयाणं भंते ! कंखामोहणिज्जं कम्मं वेदेंति। कहं णं भंते ! पुढविकाइया कंखामोहणिज्जं कम्मं वेदेंति ? गोयमा ! तेसि णं जीवा णं णो एवं तक्काइ वा सण्णाइ वा पण्णाइ वा मुणेइ वा वइइ वा अम्हेणं कंखामोहणिज्जं कम्मं वेदेमो वेदेंति। पुण ते से णूणं भंते ! तमेव सच्चं नीसंकं

जं जिणेहिं पवेइयं सेसं तं चेव जाव पुरिसक्कारपरक्कमेइ वा। एवं जाव चउरिंदियाणं पंचिंदियतिरिक्खजोणिया जाव वेमाणिया जहा ओहिया जीवा।

"नेरइयाणमि" त्यादि इह च "जहा ओहिया जीवा" इत्यादिना। "हंता वेयंति कह णं भंते! नेरइयाणं कंखमोहणिज्जं कम्मं वेयंति गोयमा! तेहिं तेहिं कारणेहिं" इत्यादि सूत्रम्। निर्ज्जरासूत्रान्तं स्तनितकुमारप्रकरणान्तेषु प्रकरणेषु सूचितं तेषु च यत्र यत्र जीवपदं प्राग्धीतं तत्र तत्र नारकादिपदमध्येयमिति। पञ्चेन्द्रियाणामेव शङ्कितत्वादयः काङ्क्षामोहनीयवेदनप्रकारा घटन्ते नैकेन्द्रियादीनामतस्तेषां विशेषेण तद्वेदनप्रकारदर्शनायाह। "पुढविकाइयाणमि" त्यादि व्यक्तमेवम् (एवं तक्काइवत्ति एवं वक्ष्यमाणोल्लेखेन तर्को विमर्शः स्त्रीलिङ्गनिर्देशश्च प्राकृतत्वात् (सण्णाइवत्ति) संज्ञार्थावग्रहरूपं ज्ञानम् (पण्णाइवत्ति) प्रज्ञा अशेषविशेषविषयं ज्ञानमेव (माणेइवत्ति) मनःस्मृत्यादिशेषमतिभेदरूपम् (वईइवत्ति) वाग्वचनम् (सेसं तं चेवत्ति) शेषं तदेव यदौधिकप्रकरणेऽधीतं तच्चेदं "हंता गोयमा? तमेव सच्चं नीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं से णूणं भंते! एवं मणं धारेमाणे" इत्यादि तावद्वाच्यं यावत् "से णूणं भंते! अप्पणा चेव निज्जरेइ अप्पणा चेव गरिहइ" इत्यादेः सूत्रस्य (पुरिसक्कारपरक्कमेइवत्ति) पदं (एवं जाव चउरिंदियत्ति) पृथ्वीकायप्रकरणवदप्कायादिप्रकरणानि चतुरिन्द्रियप्रकरणान्तान्यध्येयानि तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रकरणादीनि तु वैमानिकप्रकरणान्तानि। औधिकजीवप्रकरणवत्तदभिलापेनाध्येयानीत्यत एवाह "पंचेदिएत्यादि" भवतु नाम शेषजीवानां काङ्क्षामोहनीयवेदनं निर्ग्रन्थानां पुनस्तन्न सम्भवति, जिनागमावदातबुद्धित्वात्तेषामिति प्रश्नयन्नाह।

अत्थि णं भंते! समणा निग्गंथा कंखामोहणिज्जं कम्मं वेदंति? हंता अत्थि। कहणं भंते! समणा निग्गंथा कंखामोहणिज्जं कम्मं वेदंति? गोयमा! तेहिं तेहिं कारणेहिं नाणंतरेहिं दंसणंतरेहिं चरित्तंतरेहिं लिंगंतरेहिं पवयणंतरेहिं पावयणंतरेहिं कप्पंतरेहिं मग्गंतरेहिं मयंतरेहिं भंगंतरेहिं नयंतरेहिं णियमंतरेहिं पमाणंतरेहिं संकिया कंखिया वितिगिच्छिया भेदसमावण्णा कलुससमावण्णा एवं खलु समणा निग्गंथा कंखामोहणिज्जं कम्मं वेदंति से णूणं भंते! तमेव सच्चं नीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं हंता गोयमा! तमेव सच्चं नीसंकं एवं जाव पुरिसक्कारपरक्कमेइ वा, से वं भंते! भंतेत्ति। पढमसए तइओ उद्देसओ सम्मत्तो।

"अत्थिणमि" त्यादि काङ्क्षाध्येयमस्ति विद्यतेऽयं पक्षो यदुत श्रमणा व्रतिनः अपिशब्दः श्रमणानां काङ्क्षामोहनीयस्यावेदनसम्भावनार्थस्ते च शाक्यादयोऽपि भवन्तीत्याह। निर्ग्रन्थाः सबाह्याभ्यन्तरग्रन्थान्निर्गताः साधव इत्यर्थः (नाणंतरेहिंति) एकस्माज्ज्ञानादन्यानि ज्ञानानि ज्ञानान्तराणि तैर्ज्ञानविशेषैर्ज्ञानविशेषेषु वा शङ्किता इत्यादिभिः सम्बन्ध एवं सर्वत्र तेषु चैवं शङ्कादयः स्युर्यदि नाम परमाण्वादिसकलरूपिद्रव्यावसानविषयग्राहकत्वेन संख्यातीतरूपाण्यवधिज्ञानानि सन्ति तत्किमपरेण मनःपर्यायज्ञानेन तद्विषयभूतानां मनोद्रव्याणामवधिनैव दृष्टत्वादुच्यते चागमे मनःपर्यायज्ञानमिति, किमत्र तत्वमिति ज्ञानतः शङ्कामिह समाधिः। यद्यपि मनोविषयमप्यवधिज्ञानमस्ति, तथापि न मनःपर्यायज्ञानमवधावन्तर्भवति भिन्नस्वभावत्वात्तथा हि मनःपर्यायज्ञानं मनोमात्रद्रव्यग्राहकमेवादर्शनपूर्वकञ्च अवधिज्ञानन्तु किञ्चिन्मनोद्रव्यव्यतिरिक्तद्रव्यग्राहकं किञ्चिद्योभयग्राहकं दर्शनपूर्वकञ्च न तु केवलमनोद्रव्यग्राहकमित्यादिबहुवक्तव्यमतोऽवधिज्ञानातिरिक्तम्भवति। मनःपर्यायज्ञानमिति तथा दर्शनं सामान्यबोधस्तत्र च यदि नामेन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तः सामान्यार्थविषयो बोधो दर्शनं तदा किमेकश्चक्षुर्दर्शनमन्यस्त्वचक्षुर्दर्शनमथेन्द्रियानिन्द्रियभेदाद्भेदस्तदा चक्षुष इव श्रोत्रादीनामपि दर्शनभावात् षडिन्द्रियनोइन्द्रियजानि दर्शनानि स्युर्न द्वे एवेति। अत्र समाधिः सामान्यविशेषात्मकत्वाद्वस्तुनः क्वचिद्विशेषतस्तन्निर्देशः क्वचिच्च सामान्यतस्तत्र चक्षुर्दर्शनमिति विशेषतोऽचक्षुर्दर्शनमिति च सामान्यतो यच्च प्रकारान्तरेणापि निर्देशस्य सम्भवे चक्षुर्दर्शनमचक्षुर्दर्शनञ्चेत्युक्तं तदिन्द्रियाणामप्राप्तकारित्वप्राप्तकारित्वविभागान्मनसस्त्वप्राप्तकारित्वेऽपि प्राप्तकारीन्द्रियवर्गस्य तदनुसरणीयस्य बहुत्वात्तद्दर्शनस्याचक्षुर्दर्शनशब्देन ग्रहणमिति। अथवा दर्शनं सम्यक्त्वं तत्र च शङ्का "मिच्छत्तं जमुदिन्नं, तं खीणं अणुदियं च उवसंतम्मि" इत्येवं लक्षणम्। क्षायोपशमिकमौपशमिकमप्येवं लक्षणमेव यदाह "खीणम्मि उइण्णम्मि, अणुदिज्जं ते य सेसमिच्छत्ते। अंतो मुहुत्तमेत्तं, उवसमसम्मं लहइ जीवो" ॥ १ ॥ ततोऽनयोर्न विशेष उक्तश्चासाविति। समाधिश्च क्षयोपशमो ह्युदीर्णस्य क्षयोऽनुदीर्णस्य च विपाकानुभावापेक्षया उपशमप्रदेशानुभवतस्तूदयोऽस्त्येव उपशमे तु प्रदेशानुभवोऽपि नास्तीति। उक्तञ्च "वेएइ संतकम्मं, खओवसमिएसु नाणुभावं सो। उवसंतकसाओ पुण, वेदेइ ण संतकम्मं पि" ॥ १॥ तथा चारित्रं चरणं तत्र च यदि सामायिकं सर्वसावद्यविरतिलक्षणं छेदोपस्थापनीयमपि तल्लक्षणमेव महाव्रतानामवद्यविरतिरूपत्वात्तत्कोऽनयोर्भेद उक्तश्चासाविति। अत्र समाधिः ऋजुजडवक्रजडानां प्रथमचरमजिनसाधूनामाश्वासनाय छेदोपस्थापनीयमुक्तं व्रतारोपणे हि मनाक् सामायिकाशुद्धावपि व्रताखण्डनात् चारित्रिणो वयश्चारित्रस्य व्रतरूपत्वादिति बुद्धिः स्यात्सामायिकमात्रे तु तदशुद्धौ भग्नं नश्चारित्रं चारित्रस्य सामायिकमात्रत्वादित्येवमनाश्वासस्तेषां स्यादिति। आह च "रिउवक्कजडापुरिसे, य राणसामाइए वयारुहणं। मणयमसुद्धे य जओ, सामइए हुंति हुवयाइं" ॥ १ ॥ तथा लिङ्गं साधुवेषस्तत्र च यदि मध्यमजिनैर्यथा लब्धवस्त्ररूपं लिङ्गं साधूनामुपदिष्टं तदा किमिति प्रथमचरमजिनाभ्यां सप्रमाणधवलवसनरूपं तदेवोक्तं सर्वज्ञानामविरोधिवचनत्वादिति? अत्रापि ऋजुजडवक्रजडऋजुप्रज्ञशिष्यानाश्रित्य भगवतां तस्योपदेशस्तथैव तेषामुपकारसम्भवादिति समाधिः। तथा प्रवचनमत्रागमस्तत्र च यदि मध्यमजिनप्रवचनानि चतुर्यामधर्मप्रतिपादकानि कथं प्रथमेतरजिनप्रवचने पञ्चयामधर्मप्रतिपादके सर्वज्ञानामविरुद्धवचनत्वादत्रापि समाधिश्चातुर्यामोऽपि तत्वतः पञ्चयाम एवासौ चतुर्थव्रतस्य परिग्रहेऽन्तर्भूतत्वाद्योषा हि नाम परिगृहीता भुज्यत इति न्यायादिति। तथा प्रवचनमधीते वेत्ति वा प्रावचनः कालापेक्षया बह्वागमः पुरुषस्तत्र एकः प्रावचनिक एवं कुरुते, अन्यस्त्वेवमिति किमित्यत्र तत्वमिति? समाधिश्चेह, चारित्रमोहनीयक्षयोपशमविशेषेण उत्सर्गापवादादिभावितत्वेन च प्रावचनिकानां विचि-

त्रा प्रवृत्तिरिति नासौ सर्वथाऽपि प्रमाणमागमाविरुद्धप्रवृत्तेरेवप्रमाणत्वादिति। तथा कल्पो जिनकल्पिकादिसमाचारस्तत्र यदि नाम जिनकल्पिकानां नाग्न्यादिरूपो महाकष्टः कल्पः कर्म्मक्षयाय तदा स्थविरकल्पिकानां वस्त्रपात्रादिपरिभोगरूपो यथाशक्तिकरणात्मको कष्टस्वभावः कथं कर्म्मक्षयायेति ? इह च समाधिः द्वावपि कर्म्मक्षयहेतू अवस्थाभेदेन जिनोक्तत्वात्कष्टकष्टयोश्च विशिष्टकर्म्मक्षयं प्रति अकारणात्वादिति। तथा मार्गः पूर्वपुरुषक्रमागता सामाचारी तत्र केषाञ्चिद् द्विश्चैत्यवन्दनानेकविधकायोत्सर्गकरणादिकावश्यकसामाचारी तदन्येषां तु न तथेति किमत्र तत्वमिति ? समाधिश्च गीतार्थाशठप्रवर्त्तिताऽसौ सर्वापि न विरुद्धा आचरितलक्षणोपेतत्वादाचरितलक्षणं चेदम् " असढेण समाइन्नं, जं कत्थइ केण असावज्जं । न निवारियमण्णेहिं, बहुमण्णुमयमेयमायरियंति " ॥ १ ॥ तथा मतं समान एवागमे आचार्याणामभिप्रायस्तत्र च सिद्धसेनदिवाकरो मन्यते। केवलिनो युगपज्ज्ञानं दर्शनञ्चान्यथा तदावरणक्षयस्य निरर्थकता स्याज्जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणस्तु भिन्नसमये ज्ञानदर्शने जीवस्वरूपत्वाद्यथा तदावरणक्षयोपशमे समानेऽपि क्रमेणैव मतिश्रुतोपयोगौ न चैकतरोपयोगे इतरक्षयोपशमाभावस्तत्क्षयोपशमस्योत्कृष्टतः षट्षष्टिसागरोपमप्रमाणत्वादतः किं तत्वमिति ? इह च समाधिः यदेवमतमागमानुषाति तदेव सत्यमिति। मन्तव्यमितरत्पुनरुपेक्षणीयमथाबहुश्रुतेन नैतदवसातुं शक्यते तदैवं भावनीयमाचार्याणां सम्प्रदायादिदोषादयं मतभेदो जिनानान्तु मतमेकमेवाविरुद्धञ्च रागादिविरहितत्वात्। आह च " अणुवकयपराणुग्गहपरायणा जंजिणाजुगप्पवरा। जियरागदोसमोहा,यणन्नहावाइणो तेणं ति " ॥ १ ॥ तथा भङ्गाद्व्यादिसंयोगभङ्गकास्तत्र च द्रव्यतो नामैका हिंसा न भावत इत्यादिचतुर्भङ्गयुक्ता न च तत्र प्रथमोऽपि भङ्गो भुज्यते। यतः किल द्रव्यतो हिंसा ईर्यासमित्या गच्छतः पिपीलिकादिव्यापादनं न चेयं हिंसा तल्लक्षणायोगा तथा हि " जो उ पमत्तो पुरिसो तस्स उ जोगं पडुच्च जे सत्ता। वावज्जंती नियमा, तेसिं सो हिंसओ होइत्ति " ॥ १ ॥ उक्ता चेयमतः शङ्का न चेयं युक्ता एतद्भाथोक्तहिंसालक्षणस्य द्रव्यभावहिंसाश्रयत्वात्। द्रव्यहिंसायास्तु मरणमात्रतया रूढत्वादिति। तथानया। द्रव्यास्तिकादयस्तत्र यदि नाम द्रव्यास्तिकमतेन नित्यं वस्तु पर्यायास्तिकमतेन कथं तदेवानित्यं विरुद्धत्वादिति शङ्का इयञ्चायुक्ता द्रव्यापेक्षयैव तस्य नित्यत्वात् पर्यायापेक्षया चानित्यत्वात् दृश्यते चापेक्षयैकत्रैकदा विरुद्धानामपि धर्म्माणां समावेशो यथा जनकापेक्षया य एव पुत्रः स एव पुत्रापेक्षया पितेति। तथा नियमोऽभिग्रहस्तत्र यदि नाम सर्वविरतिसामायिकं तदा किमन्येन पौरुष्यादिनियमेन सामायिकेनैव सर्वगुणावाप्तेरुक्तश्चासाविति शङ्का इयञ्चायुक्ता यतः सत्यपि सामायिके युक्तः पौरुष्यादिनियमो प्रमादवृद्धिहेतुत्वादिति आह च " सामाइए वि हुसावज्जव्यायरूवे उग्गुणकरं एयं। अपमायवुड्ढिजणगत्तत्तेण आणाओ विण्णेयंति" ॥ १ ॥ तथा प्रमाणं प्रत्यक्षादि तत्रागमप्रमाणमादित्यो भूमेरूपरियोजनशतैरष्टाभिः सञ्चरति चक्षुःप्रत्यक्षञ्च तस्य भुवो निर्गच्छतो ग्राहकमिति किमत्र सत्यमिति सन्देहः। अत्र समाधिर्न हि सम्यक् प्रत्यक्षमिदं दूरतरदेशतो विभ्रमादिति। प्रथमशते तृतीयोद्देशकः। भ० १ श० ३ उ०।

कंखिय–त्रि० (काङ्क्षित) देशसर्वकाङ्क्षायुक्ते, दश० ३ अ०। मतान्तरमपि साध्विति बुद्धौ, स्था० ४ ठा०। मतान्तरस्याऽपि साधुत्वेन मन्तरि, स्था० ३ ठा० ४ उ०। " खंदए कच्चायणसगोत्ते पिंगलएणं णिग्गंथेणं वसाली सावएणं इणमक्खेवं पुच्छिए समाणे संकिए कंखिए " इहमिहोत्तरं साधु अतः कथमत्रोत्तरं लप्स्ये इत्युत्तरलाभाकाङ्क्षावान् कांक्षितः। भ० २ श० १ उ०। भक्तपान परसमयपाखण्डमतपरिज्ञानान्यद्वस्तुदर्शनसमुत्पन्नाभिलाषे, " कंखियस्स कंखं छिंदित्ता भवति " दोषानिर्घातनाविनयः। दश० ४ अ०।

कंगु–स्त्री० (कङ्गु) कं मुखमङ्गति मृगण्वा–कु–शकन्ध्वा० वाच०। वृहच्छिरसि धान्यविशेषे, जं० ३ वक्ष०। नि० चू०। स्था०। आचा०। स०। उदकङ्गौ, दश० ६ अ०। श्यामाकादौ, सूत्र०। २ श्रु० २ अ०। पीततण्डुले च। जं० २ वक्ष०।

कंगुलया–स्त्री० (कङ्गुलता) वल्लीभेदे, प्रज्ञा० १ पद०।

कंगुलिया–स्त्री० (कङ्गुलिका) लघुवृद्धनीतिकरणालक्षणे जिनभवनोत्कृष्टशातनाभेदे, ध० २ अधि०। प्रव०।

कंचण–न० (काञ्चन) काचि दीप्तौ भावे ल्युट्। दीप्तौ, काचिदीप्तौ ल्यु स्वर्णे, अमरः। पद्मकेशरे, मेदि०। नागकेशरपुष्पे, धने, राजनि०। चम्पके, नागकेशरवृक्षे, उदुम्बरे, धत्तूरे, स्वनामख्याते वृक्षे च पुं० मेदि०। स्वार्थे कन् काञ्चनवृक्षे, काञ्चनमिव कायति कै–क–हरितालें, न० रजनि०। शालिभेदे, सुश्रु० काञ्चनस्य विकारः अण् काञ्चनविकारे, त्रि० काचि बन्धने भावे ल्यु बन्धने, न० काञ्चिदित्यव्ययार्थे, अव्य० वाच०।

कंचणउ (पु) र–न० (काञ्चनपुर) कलिङ्गाख्यार्यदेशस्य प्रधाननगरे, प्रव० २७४ द्वा०। प्रज्ञा० " कचणपुरं कलिंगा " सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ०। " कलिंगविसए कंचणउरं नाम गयरं " दर्श०। जग्मुस्ते काञ्चनपुरं, तत्राऽपुत्रो नृपा मृतः। आ० क०। आव०।

कंचणकुडिया–स्त्री० (काञ्चनकुण्डिका) सुवर्णकुडिकायाम, आव० ४ अ०।

कंचणकूड–न० (काञ्चनकूट) वत्समित्राऽभिधानाधोलोकनिवासिदिक्कुमारीनिवासभूते सौमनसस्य वक्षस्कारपर्वस्य षष्ठे कूटे, स्था० ७ ठा०।

जम्बुद्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य प्राच्यां दिशि, रुचकवरपर्वतस्य तृतीये कूटे, यत्र आनन्दाभिधाना दिक्कुमारी महत्तरिका परिवसति जम्बूमन्दरस्य पर्वतस्य दक्षिणस्यां दिशि रुचकपर्वतस्य द्वितीये कूटे, यत्र सुप्रतिज्ञाऽऽख्या दिक्कुमारी परिवसति स्था०। ८ ठा०। सनत्कुमारदेवलोकस्थे विमानभेदे च। स०।

कंचणकोसी–स्त्री० (काञ्चनकोशी) कञ्चनमय्यां प्रतिमायाम् काचकोसीपविद्धदंत उपा० २ अ०।

कंचणग–पुं० (काञ्चनक) काञ्चनपर्वतवास्तव्यमहर्द्धिकदेवेषु, जी०, ३ प्रति०।

कंचणगपव्वय–पुं० (काञ्चनकपर्वत) काञ्चनकाभिधानगिरिषु, भ० १४ श० ८ उ०। तेषु हि उत्पलादीनि काञ्चनप्रभाणि काञ्चननामानश्च देवास्तत्र परिवसन्ति तत्काञ्चनप्रभोत्पलादियोगात् काञ्चनकाभिधदेवस्वामिकत्वाच्च ते काञ्चनका इति ते चोत्तरकुरुषु नीलवदादिहृदानां पूर्वस्यां पश्चिमायाञ्च दश दशेति उत्तरकुरुवक्तव्यताशेषे आवेदितम् प्रतिवर्णनम् जी० ३ प्रति० तेषां संख्या जबूदीवेणं दीवे दो कंचणपव्वयसया पण्णत्ता स०। भ०। उत्तरकुरुषु शीतानदीसम्बन्धिनां पञ्चानां नीलवदादिहृदानां

क्रमव्यवस्थितानां प्रत्येकं पूर्वापरतटयोर्दश दश काञ्चनकाभिधाना गिरयः सन्ति ते च शतं भवन्त्येवं देवकुरुष्वपि शीतोदा नद्याः सम्बन्धिनां निषधहृदादीनां पञ्चानां ह्रदानामिति, तदेवं द्वे शते एवं धातकीखण्ड–पूर्वार्द्धादिष्वप्यतस्तेष्विति। भ० १४ श० ८ उ०।

कंचणगोरसरीर–त्रि० (काञ्चनगौरशरीर) काञ्चनवद् गौरं शरीरं यस्य। सुवर्णत्विषि, दर्श०।

कंचणत्थल–न० (काञ्चनस्थल) भरतवर्षे चोडविषये स्वनामख्याते नगरे, " इहेव भारहे वासे कंचणत्थलं नाम नयरं तत्थ सुबंभनंदणो नाम सत्थवाहो " दर्श०।

कंचणवलाणग–न० (काञ्चनवलानक) चतुरशीतितीर्थमध्यगे तीर्थ–भेदे, यत्र अमृतनिधिनामा श्रीअमृतनिधिः। ती०। कल्प०।

कंचणमट्ठवण्ण–त्रि० (काञ्चनमृष्टवर्ण) काञ्चनस्येव मृष्टः श्लक्ष्णः शुद्धो वा वर्णो यस्य स तथा। स्वर्णप्रभे मेर्वादौ, " से पव्वए (मेरु) सद्दमहप्प–गासे, विरायती कंचणमट्ठवन्ने " सूत्र० १ श्रु० ६ अ०।

कंचणमणिरयणथूभियाग–त्रि० (काञ्चनमणिरत्नस्तूपिकाक) काञ्चनं च मणयश्च रत्नानि च काञ्चनमणिरत्नानि तेषां तन्मयो वा स्तूपिका शिखरं यस्य तत्तथा। स्वर्णादिमयशिखरयुक्ते, रा०। जी०।

कंचणमणिसमूह–पुं० (काञ्चनमणिसमूह) सुवर्णरत्नप्रकरे, कल्प०।

कंचणमाला–स्त्री० (काञ्चनमाला) चण्डप्रद्योतभूभुजः सुतायां वासवदत्तायां धात्र्याम्, यया कुष्ठिन उपाध्यायस्य काणया वासवदत्तायां दृष्टिसंयोगो दृष्टः। आव० ४ अ०। आ०। क०। आ० चू०।

कंचणरुइ–पुं० (काञ्चनरुचि) सौराष्ट्रतिलकभूतायां रत्नसंचयायां नगर्य्यां ताहरनामसार्थवाहस्य काञ्चनशिखानामभार्य्यायामुत्पन्ने पुत्रे, दर्श०(चइय शब्दे देवद्रव्यभक्षणप्रस्तावे तत्कथा) महाविजयवैताढ्या–सन्नतिलकनगरे सुवर्णसारश्रेष्ठिनः काञ्चननिलयायां भार्य्यायामुत्पन्ने पुत्रे च। दश०।

कंचणसिहा–स्त्री० (काञ्चनशिखा) ताहरसार्थवाहभार्य्यायां काञ्च–नरुचिमातरि, दर्श०।

कंचणिया–स्त्री० (काञ्चनिका) रुद्राक्षमयमालिकायाम, औ०। भ०।

कंचि (ची)–स्त्री० [काञ्चि (ञ्ची)] काचि बन्धे कर्मणि इन्–कट्याभरणविशेषे, औ०। प्रश्न०। रशनायाम् कटिबन्धदासभेदे, काचि दीप्तौ कर्त्तरि इन्–द्रविडविषयप्रतिबद्धायां पुर्य्याम्, बृ० ३ उ०। मुशलमुखे निक्षिप्यमाणे लोहवलये, दे० ना०।

कंचुअ–पुं० (कञ्चुक) कचि प्रीतिबन्धयोर्वा उकन्+ञ्चणनो व्यञ्चने ॥८। १।२५॥ इतित्रस्थाने व्यञ्जने परेऽनुस्वारः। प्रा०। **वर्गेऽन्त्यो वा ८। १। ३०।** इति अनुस्वारस्य व ञः। " कञ्चुओ कंचुओ " प्रा०। योधा–देश्वोलाकृतिसन्नाहे, उत्त० ६ अ०। विषधरनिर्मोके, विशे०। वारवाणे, भ० ६ श० ३ उ०। चोलके, स्तनाच्छादके वस्त्रे, वाच०। स च निर्ग्रन्थी–भिर्यथा धार्य्यो यावांश्च तदेतदाह " छादेति अणुकुइए उरोरुहे कंचुओ असिव्वितओ " दैर्घ्यमाश्रित्य स्वहस्तेनार्द्धतृतीयहस्तप्रमाणः पृथुत्वेन तु हुस्तमानः असीवितः उभयतः कलाबद्धः कञ्चुकः क्रियते स चोरोरुहौ छदयति किं भूतौ अनुकुञ्चितौ श्लथौ गाढपरिधाने हि विविक्तविभागौ भवेताम् बृ० ३ उ०। ध०। नि० चू०। वस्त्रमात्रे, वर्द्धापकगृहीताङ्गस्थितवस्त्रे, पुत्रादेर्जन्मोत्सवे भृतादिभिः स्वामिनोऽज्ञात् बलात्कारेण गृहीते वस्त्रे, हेमचं०। औषधिभेदे, स्त्री० गौरा० ङीष् मेदि०। क्षीरीशवृक्षे, रत्नमा०।

कंचुअपरिक्खित्तिया–स्त्री० (कञ्चुकपरिक्षिप्तिका) कञ्चुको वारवाणः परिक्षिप्तो विक्षिप्तो विस्तारितो हर्षातिरेकस्थूरीभूतशरीरतया यया सा तथा। हर्षवशात्त्रुटितबन्धनवारवाणायाम्, भ० ६ श० ३३ उ०।

कंचुइ (ण्)–पुं० (कञ्चुकिन्) कञ्चुक–अस्त्यर्थे इनिः+अन्तःपुरच–रोवृद्धौ, विप्रो गुणगणान्वितः। सर्वकार्य्यार्थकुशलः कञ्चुकीत्यभिधीयते। इत्युक्तलक्षणे अनुचरे, वाच०। अन्तःपुरप्रयोजननिवेदके प्रतीहारे च। भ० ६ श० ३३ उ०। ज्ञा०। **आ आमन्त्र्ये सौ वेनो नः ८। ४।२६३।** इति शौरसैन्यामिनो नकारस्यामन्त्र्ये सौ परे आकारो वा भवति भो कंचुइआ। भो कञ्चुकिन् प्रा०। विषधरे, विशे०। जारे, यवे, चणके च। तुषरूप–कञ्चुकावृतत्वात्तयोस्तथात्वम् आवद्धकवचे राजनि० वाच०।

कंचुइज्ज–पुं० (कञ्चुकीय) प्रतीहारे, भ० ११ श० ११ उ०। आ० म० द्वि०।

कंजिय–(काञ्जिक) आरनाले, " देशीभासाए आरनालं भन्नति " नि० चू० १ उ०। ध०। बृ०।

कंजियपत्त–न० (काञ्जिकपत्र) काञ्जिकेन वापिते अरणिकादिशाके, बृ० १ उ०।

कंटइल–पुं० (कण्टकिल) कण्टक अस्त्यर्थे इलच् वंशभेदे, कण्टका–कुले, सूत्र० १ श्रु० ५ अ०। कण्टकवति, प्रश्न० १ अध० १ अ०।

कंटइल्ल–त्रि० (कण्टकिन्) प्राकृते अस्त्यर्थे इल्लः कण्टकवति, प्रश्न० अध० द्वा० १ अ०। कण्डकिनि वदरीवव्वूलप्रभृतौ, व्य० १ उ०। मत्स्ये, शब्दर०। स्त्रियां ङीष्–खदिरवृक्षे, पुं०। शब्दमाला०। मदनवृक्षे, रत्नमा०। गोक्षुरे, वंशे, वदरवृक्षे च राजनि०। कण्टकयुक्तमात्रे च त्रि०। वाच०।

कंटय–पुं० न० (कण्टक) कटि ण्वुल्। दुःखोत्पादके, उत्त० १ अ०। वृश्चिकलाङ्गूले, व्य० ६ उ०। वदर्य्यादिप्रभवे (जं० १ वक्ष०) शल्ये, विपा० ८ अ०। वव्वूलशूलादौ, व्य० ४ उ०। कएककाश्च द्रव्यतो वव्वूल–कण्टकादयो भावतश्च चरकादिकुश्रुतयः। उत्त० ४ अ०। कण्टकाश्चेह सर्वे एव प्रतिकूलाः शीतोष्णादयो धर्मस्थानविघ्नहेतवः षो० ३ विव०। प्रतिस्पर्द्धिन गोत्रजे शत्रौ, " अकंटयं ओहयकंटयं " ज्ञा० १ अ०। क्षुद्रशत्रौ, स्या०। रोमाञ्चे, अमरः। मत्स्याद्यस्थि, लग्नाम्बुद्यूनकर्माणि, केन्द्रमुक्तं च कण्टकम् " वाच०।

कंटयवोंदिया–स्त्री० (कण्टकवोन्दिका) कण्टकशाखायाम्, आचा० २ श्रु० १ अ० ५ उ०। सूत्र०।

कंटयाइउद्धरण–न० (कण्टकाद्युद्धरण) कण्टकादीनां शरीरादेः पृथक्करणे।

निग्गंथस्स य आह पादं सिक्खाणं वा कंटगं वा दीरे वा सक्कारे वा परियावज्जेज्जा तं च निग्गथे नो संवाइज्जा नो हरित्तए वा विसोहित्तए वा तं निग्गंथी नीहरमाणी वा विसोहेमाणी वा नाइक्कमइ निग्गंथस्स य अच्छिम्मि पाणे वा वीए वा रए वा परियावज्जेज्जा तं च निग्गंथी नाम वा–

इच्छा नीहरित्तए वा विसोहित्तए वा तं निग्गंथी नीहरमाणी वा विसोहेमाणी वा नाइक्कमइ निग्गंथीए आह पादं सिक्खाणं वा कंठए वा हीरए वा सक्कारे वा तं च निग्गंथी नो संवाइच्छा नीहरित्तए वा विसोहित्तए वा तं निग्गंथे नीहरमाणे वा विसोहेमाणे वा नाइक्कमइ निग्गंथीए अत्थिम्मि पाणे वा बीए वा रए वा जावति निग्गंथे नीहरमाणे वा विसोहेमाणे वा नाइक्कमइ।

अस्य सूत्रचतुष्टयस्य संबन्धमाह।

पायं गता अकप्पा, इयाणि वा कप्पिता इमे सुत्ता।
आरोवणा गुरु त्ति य, तेण उ अण्णोण्णसमणुण्णा॥

प्रायः प्रायेण कल्पिकानि नो कल्पन्ते इति निबन्धप्रतिपादकानि सूत्राणि इहाध्ययने गतानि इदानीमित ऊर्द्धमिमानि कल्पिकसूत्राणि लभ्यन्ते। वा विभाषायां सूत्रेणानुज्ञायार्थतः प्रतिषेधः क्रियते। एवं वैकल्पिकान्यनुज्ञासूत्राणीत्यर्थः। अथ किमर्थमत्र सूत्र एवानुज्ञा कृतेत्याह। "आरोपणा" इत्यादि यदि कारणे निर्ग्रन्थस्य निर्ग्रन्थी निर्ग्रन्थ्या वा निर्ग्रन्थः कण्टकादिकं नीहरति तदा चतुर्गुरु एवमारोपणा गुरुका महती तेन कारणेनान्योन्यं परस्परं समनुज्ञा सूत्रेषु कृता। आह। यदि सूत्रेणानुज्ञातं ततः किमर्थमर्थतः प्रतिषिध्यते इत्यत आह।

जह चेव य पडिसेहे, होति अणुन्ना तु सव्वसुत्तेसु।
तह चेव अणुण्णाए, पडिसेहो अत्थतो पुव्वं॥

यथैव कण्टतः सूत्रपदैः प्रतिषेधे कृते सर्वसूत्रेष्वप्यर्थतोऽनुज्ञा भवति तथैव येषु सूत्रेषु साक्षादनुज्ञानमनुज्ञा कृता तेषु पूर्वमर्थतः प्रतिषेधस्ततोऽनुज्ञा क्रियते। अथवा प्रकारान्तरेण संबन्धस्तेमवाह।

तट्ठाणे वा वृत्तं, निग्गंथी वा जता उ ण तरेज्जा।
सो जं कुणति दुहट्ठो, तहा उवट्ठणे मा वज्जे॥

अथवा तत्स्थानं तस्य प्राणातिपातादिकर्तुः स्थानं प्रायश्चित्तं सम्यक् प्रतिपूरयतोऽभ्याख्यानदातुर्भवतीत्युक्तम्। अत्रापि निर्ग्रन्थः कण्टकादिकं यदा उद्धर्तुन तरेन्न शक्नुयात् तदा यदि निर्ग्रन्थी तस्य कण्टकादिनीहरणं न करोति तदा स निर्ग्रन्थो दुःखार्त्तः पीडितो यदात्मविराधनां करोति तत्स्थानं तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तं सा निर्ग्रन्थी आपद्यते। अत इदं सूत्रमारभ्यते अनेन संबन्धेनायातस्यास्य व्याख्या। निर्ग्रन्थस्याधः पादे पादतले स्थाणुर्वा कण्टको वा हीरो वा शर्करो वा पर्यापतेदनुप्रविशेत्। तच्च कण्टकादिकं निर्ग्रन्थो न शक्नुयान्नीहर्तुं वा निष्काशयितुं वा निःशेषमपनेतुं ततो निर्ग्रन्थी नीहरन्ती वा विशोधयन्ती वा नातिक्रामति आज्ञामिति गम्यते तैः इति प्रथमसूत्रम्। द्वितीयसूत्रे निर्ग्रन्थस्याक्षिणि लोचने प्राणा वा मशकादयः सूक्ष्मा बीजानि वा सूक्ष्माणि शामाकादीनि रजो वा सचित्तमचित्तं वा पृथिवीरजः पर्यापतेत् प्रविशेत्। तच्च प्राण्यादिकं निर्ग्रन्थो न शक्नुयात् नीहर्तुमित्यादि प्राग्वत् तृतीयचतुर्थसूत्रे निर्ग्रन्थीविषये एवमेव व्याख्यातव्ये इति सूत्रचतुष्टयार्थः।

अथ निर्युक्तिविस्तरः।

पाए अच्छि विलग्गे, समणाणं संजएहिं कायव्वं।
समणीणं समणीहिं, वोवुच्छे होंति चउगुरुगा॥ १॥

पादे अक्षिणि वा विलग्ने कण्टककणुकादौ श्रमणानां संयतैर्नीहरणं कर्त्तव्यम् श्रमणीनां पुनः श्रमणीभिः कार्यम्। अथ व्यत्यासेन कुर्वन्ति तदा चतुर्गुरवः। एते चापरदोषाः।

अण्णत्तो वि य कुट्टसि, अण्णत्तो कंटओ खितं जाओ।
दिट्ठं पि हरति दिट्ठिं, किं पुण अदिट्ठमितरस्स॥

संयतः संयत्याः पार्श्वात् कण्टकमाकर्षयन् कैतवेन यथाभावेन अपावृत उपविसेत् ततः सा तं यथावस्थितं पश्यन्ती कण्टकस्थानादन्यत्रान्यत्र शल्योद्धरणादिना कुट्टयेत् खन्यादित्यर्थः। ततः साधुर्ब्रूयात् अन्यत एव त्वं कुट्टयसि कण्टकश्चान्यत्र प्रसमस्ति एवमीक्षितं संजातम्। सा प्राह इतरस्य पुरुषस्य संबन्धि सागारिकं दृष्टमपि भुक्तभोगिन्याः स्त्रिया अनेकशो विलोकितमपि दृष्टिं हरति किं पुनरदृष्टमभुक्तभोगिन्यास्तस्याः सुतरां दृष्टिं हरतीत्यर्थः। एवं भिन्नकथायां प्रतिगमनादयो दोषाः। यदा तु निर्ग्रन्थो निर्ग्रन्थ्याः कण्टकमुद्धरति तदाऽयं दोषः।

कंटककणुए उद्धर, घणितं अवलंब मे गतित्तम्मि।
सूलं ववत्थिसीसे, पिल्लेहि णं थणो फुरति॥

काचिदार्यिका कैतवेनैव ब्रूयात् कण्टककणुके पादे कण्टकं चक्षुषि च कणुकमुद्धरणीयमित्यर्थः। मामवलम्बय मम भ्रमिवशेन भूमिर्भ्रमति शूलं चावस्ति शीर्षे मम समायाति तेन स्तनः स्फुरित। अतो घनं प्रेरय एवं भिन्नकथायां सद्यश्चारित्रविनाशः।

एव चेव य दोसा, कहिया वा वेदआदिसुत्तेसु।
अइपाल जंबुसीउण्ह–पाडणं लोगिगीरोहा॥

एव एवानन्तरोक्ता दोषाः स्त्रीवेदाविषया आदिसूत्रेषु सूत्रकृताङ्गनिर्गतस्त्रीपरिज्ञाध्ययनादिषु सविस्तरं कथिताः। अत्र चाज्ञापालकशीतोष्णजम्बूपातेनोपलक्षितलौकिकीरोहायाः कथा। तद्यथा " रोहा नामं परिव्वाइयतो एआए बालगो दिट्ठो सो ताए अभिरुईओ तीए चिंतयं विन्नाणं से परिक्खामि सो य तया जंबूतरुवगरुट्ठो तीए फलाणि य णईओ तेण भन्नइ *किं उण्हाणि दैमि उयाहु सीयलाणि त्ति। ताए भणइ उण्हाणि तओ तेल* धूलीए उवरिं पाडियाणि भणिया खाहित्ति ताए फुमिओ धूलिं अवणेउं खइयाणि पच्छा सा भणइ कहं भणसि उण्हाणि तेण भन्नइ जं उण्हयं होइउं फुमिओ सीयलीकज्जइ सा बुद्धा। पच्छा भणइ माइट्ठाणेणं कंटओ मे लग्गो त्ति से उद्धरिउमारद्धो तीए सणियं सहसियं। सो वि उसिणीओ कंटकं पलोएत्ता भणइ न दीसइ कंटको त्ति। तीए तस्स एणही विण्हा एमं तेसिं दाइयव्वं कंटयउद्धरणेणं तीए खलीकओ। एवं साहुणो वि एवंविहा दोसा उप्पज्जंति। किं च

मिच्छत्ते उड्डाहो, विराहणा भावफाससंबंधो।
पडिगमणादी दोसा, भुत्तमभुत्ते य नेयव्वा॥

मिथ्यात्वं नाम निर्ग्रन्थ्याः कण्टकमुद्धरन्तं दृष्ट्वा लोको ब्रूयात् यथा वादिनस्तथा कारिणोऽमी न भवन्ति उड्डाहो या भवेत् अहो यदेवमियं पादे गृहीता तन्नूनमन्यदाप्येनयोः साङ्गत्यं भविष्यति। विराधना वा संयमस्य भवति कथमित्याह स्पृशन्तं शरीरसंस्पर्शणोभयोरपि भावसंबन्धो भवति। अतो भुक्तभोगिनोरभुक्तभोगिनोर्वा तयोः प्रतिगमनादयो दोषा ज्ञातव्याः।

अथ मिथ्यात्वपदं भावयति

दिट्ठे संकामोइय–धाडिगणातीयगामबहिया य।

चत्तारि छच्च लहुगुरु, छेदो मूलं तह दुगं च ॥

तस्यां कण्टकमुद्धरन् केनचित् दृष्टस्तस्य शङ्का किमियं मैथुनार्थमिति लक्षणा यदि भवेत् तदा चतुर्लघु भोजिकायाः कथने चतुर्गुरु, धाटितवेदने षट्लघु ज्ञातिज्ञापने षट्गुरु ग्रामाद्बहिः कथेन छेदः। मूलादित्र पुनरित्थं मन्तव्यम्।

आरक्खियपुरिसाणउ, काहणे पावति भवे मूलं।
अणवट्ठो सेट्ठीणं, दसमं व णिपस्स कथितम्मि ॥

आरक्षिकपुरुषाणां कथने मूलं प्राप्नोति। श्रेष्ठिनः कथने अनवस्थाप्यं नृपस्य कथने दशमं पाराञ्चिकम् एते संयतानां संयतीनां च परस्परं कण्टकोद्धरणे दोषा उक्ताः।

एए चेव य दोसा, असंजतिकाहि पच्छकम्मं वा।
गिहिएहिं पच्छकम्मं, तम्हा समणेहिं कायव्वं ॥

एत एव दोषा असंयतिकाभिः कण्टकोद्धरणं कारयतो मन्तव्याः। पश्चात्कर्म्म वा कायेन हस्तप्रक्षालनरूपं तासु भवति। गृहिभिस्तु कारयतः पश्चात्कर्म्म भवति न पूर्वोक्ता दोषा अतः श्रमणैः श्रमणानां कण्टकोद्धरणं कर्त्तव्यम्। अत्र परः प्राह

एवं सुत्तं अफलं, सुत्तनिवातो अ असति समणाणं।
गिहिअण्णतित्थिगिहिणी, परउत्थिगिणी तिविहभेदो ॥

यदि संयतीभिर्न कारयितव्यं तत एवं सूत्रमफलं प्राप्नोति सूरिराह। सूत्रनिपातः श्रमणानामभावे मन्तव्यः। तत्र च प्रथमं गृहिभिः कण्टकोद्धरणं कारणीयं तदभावे अन्यतीर्थिकैस्तदप्राप्तौ गृहस्थाभिस्तदसंभवे परतीर्थिकीभिरपि कारयितव्यम्। एषु च प्रत्येकं त्रिविधो भेदस्तद्यथा। गृहस्थस्त्रिविधः पश्चात्कृतः श्रावको यथाभद्रकश्च। एवं परतीर्थिकोऽपि त्रिधा मन्तव्यः। गृहस्थपरतीर्थिकी च त्रिविधा स्थविरा मध्यमा तरुणी चेति। तत्र गृहस्थेन कारयन् प्रथमं पश्चात्कृतेन ततः श्रावकेण ततो यथाभद्रकेणापि कारयति। स च कण्टकाकर्षणानन्तरं प्रज्ञापनीयो मा हस्तप्रक्षालनं कार्षीः एवमुक्ते यद्यसौ अशौचवादी तदा हस्तं हस्तेनैव प्रोञ्छति प्रस्फोटयति वा। अथ शौचवादी ततः।

जइ सीसम्मि ण पुञ्छति, तणुपोतेसु वत्थडा वि पप्फोडे।
तो से अण्णेसि अ सती, दवं दलति मा दगं घाते ॥

यदि हस्तं शीर्षे वा तनौ वा पोतेषु वा वस्त्रेषु न प्रोञ्छति न वा प्रस्फोटयति गृहं गतो हस्तं प्रक्षालयिष्यामीति कृत्वा ततः (से) तस्य अन्येषामसत्यभावे प्राशुकमात्मीयं द्रवं हस्तधावनाय ददाति मा दकमप्कायं घातयेदिति। वा गृहस्थानामभावे परतीर्थिकेनापि कारयेदेवमेव पश्चात्कृतादिक्रमेण कारयेत् तेषामभावे गृहस्थाभिरपि कारयेत्। कथमित्याह

माया भगिणी धूया, अज्जिय णत्ती य सेसतिविधाओ।
आगाढे कारणम्मि, कुसलेहिं दोहि कायव्वं ॥

या तस्य निर्ग्रन्थस्य माता भगिनी दुहिता आर्यिका वा पितामही नप्तृका वा पौत्री तया कारयितव्यम्। एतासामभावे याःशेषाः अनालब्धास्त्रियस्ताभिरपि कारयेत्। ताश्च त्रिविधाः स्थविरा मध्यमास्तरुण्यश्च। तत्र प्रथमं स्थविरया ततो मध्यमया ततस्तरुण्याऽपि कारयितव्यम्। आगाढे कारणे कुशलाभ्यां द्वाभ्यामपि कण्टकोद्धरणं कर्त्तव्यं कारयितव्यमित्यर्थः।

के पुनस्ते द्वे इत्याह।

गिहिअण्णतित्थिपुरिसा,
इत्थी वि य गिहिणि अण्णतित्थी य।
संबंधिएतरा वा,
वइणी एमेव दो एते ॥

गृहस्थपुरुषोऽन्यतीर्थिकपुरुषश्चेति द्वयं गृहस्थी अन्यतीर्थिकी चेति वा द्वयम्। संबन्धिनी इतरा वा असंबन्धिनी व्रतिनी एवं वा द्वयमेतेषां द्विकानामन्यतरेण कुलेनागाढे कारणे कारयितव्यम्। आह श्रमणानामभावे सूत्रनिपाते भवतीत्युक्तम्। कदा पुनरसौ साधूनामभावो भवतीत्याह।

तं पुण सुण्णारण्णे, वग्घादिभया अकुसलेहिं वा।
कुसले वा दूरत्थे, ण वयइ पदं पि गंतुं जे ॥

साधवो न भवन्तीति। यदुक्तं तत्पुनरित्थं संभवति। शून्यारण्यं ग्रामादिभिर्विरहिता अटवी दुष्टारण्यं वा व्याघ्रसिंहादिभयाकुलं तयोः साधूनामभावो भवेत् उपलक्षणत्वादशिवादिभिः कारणैरेकाकी संजात इत्यपि गृह्यते। एषा साधूनामसदसत्ता सदसत्ता तु सन्ति साधवः परमकुशला कण्टकोद्धरणे अदक्षाः। अथवा यः कुशलः स दूरस्थो दूरे वर्तते स च कण्टकविद्धपादः पदमपि गन्तुं न शक्नोति ततः पूर्वोक्ता यतना कर्तव्या।

अथ सामान्येन यतनामाह ॥

परपक्खपुरिसगिहिणी, असोयकुसलाण मोत्तु पडिपक्खं।
पुरिसजयं तमणुण्णे, होंति सपक्खेतरा वत्ते ॥

इह प्रथमं पश्चार्द्धं व्याख्याय ततः पूर्वार्द्धं व्याख्यास्यते। ये यतमानाः संविग्नाः सांभोगिकाः पुरुषास्तैः प्रथमं कारयेत्। तदभावे अमनोज्ञैरसाम्भोगिकैस्तदभावे ये इतरे पार्श्वस्थादयस्तैर्वा कारयेत्। एषा स्वपक्षे यतना भणिता। अथैष स्वपक्षो न प्राप्यते। ततः "परपक्खे" इत्यादि पूर्वार्द्धम्। परपक्षे गृहस्थान्यतीर्थिकरूपे प्रथमं पुरुषैस्ततो गेहिनीभिरपि कारयेत्। तत्राप्यशौचवादिभिः कुशलैश्च कारापणीयम्। अतएवाह। अशौचवादिकुशलानां प्रतिपक्षा ये शौचवादिनोऽकुशलाश्च तान् मुक्त्वा कारयितव्यम्। अथैतेऽपि न प्राप्यन्ते तदा संयतीभिरपि कारयेत्। तत्रापि प्रथमं मातृभगिन्यादिभिर्नालबद्धाभिस्तदभावे असंबन्धिनीभिरपि स्थविरामध्यमातरुणीभिर्यथाक्रमं कारयेत्।

कथं पुनस्तया कण्टक उद्धरणीय इत्याह ॥

सल्लुद्धरणणखेण व, अच्छि व वत्थुंतरं व इत्थीसु।
भूमीकट्ठतलोरसु, काऊण सुसंवुडा दो वि ॥

शल्योद्धरणेन नखेन वा पादं न संस्पृशन्ती कण्टकमुद्धरति। अथैवं न शक्यते वस्त्रान्तरितं पादं भूमौ कृत्वा यद्वा काष्ठेवा तले वा ऊरौ वा कृत्वा उद्धरेत् द्वावपि च संयतीसंयतौ सुसं वृतावुपविशतः। एष स्त्रीषु कण्टकमुद्धरन्तीषु विधिरवगन्तव्यः।

एमेव य अच्छिम्मि, चंपादिट्ठंतो णवरि णाणत्तं।
निग्गंथीण तहेव य, णवरिं तु असंवुडा काई ॥

एवमेवादिसूत्रेऽपि सर्वमपि वक्तव्यम् नवरं नानात्वं चम्पादृष्टान्तोऽत्र भवति। यथा किल चम्पायां सुभद्रया तस्य साधोश्चक्षुषि पतित तृणमपनीतं तथाऽन्यस्य साधोश्चक्षुषि प्रविष्टस्य तृणादेः कारणे निर्ग्रन्थ्या अपनयनं संभवतीति दृष्टान्तभावार्थः। निर्ग्रन्थीनामपि सूत्रत्रयं तथैव वक्तव्यं नवरं काचिदसंवृता भवति ततः प्रतिगमनादयो दोषा भवेयुः। द्वितीयपदे निर्ग्रन्थ्यस्तासां प्रागुक्तविधिना कण्टकादिकमुद्धरेत्।

कंटयापह–पुं० (कण्टकपथ) कण्टकाना बौद्धचरकसांख्यादानां पन्थाः कण्टकपथः । आकारः प्राकृतिकः अथवा कण्टकैः कुतीर्थिकैराकीर्णो व्याप्तः कुत्सितः पन्थाः कण्टकपथः । उत्त० १० अ० । कण्टकाश्च द्रव्यतो वव्वुलकण्टकादयो भावतस्तु चरकादिकुश्रुतयस्तैराकुलः पन्थाः कण्ट–कपन्था आकारो लाक्षणिकः । उत्त० ४ अ० । कण्टकाकीर्णे पथि, व्य० १ उ० । " अविसोहियकंटयापहं, उत्तिण्णोसि पहं महालयं " उत्त० १० अ० ।

कंटिया–स्त्री० (कण्टिका) कण्टकशिखायाम् बृ० १ उ० " तं वत्थं कंटियाए लग्गं ताहे संधितं " आ० चू० १ अ० ।

कंठ–पुं० (कण्ठ) कण ठ० ठस्य नेत्वम् । कठि–अच्–गले, वाच० ग्रीवापुरोभागे, " संकरदुसंपरिहरियकंठे " अत्र च कण्ठैकपार्श्वे कण्ठशब्द इति कण्ठे परिधृत्येत्युच्यते उत्त० १० अ० । ज्ञा० । मदनवृक्षे, समीपे, होमकुण्डाद्वाह्योऽङ्गुलिमितस्थाने, कण्ठध्वनौ, ध्वनिमात्रे च हेमचं० वाच० । गलनाले च हेमचं० ।

कंठकूव–पुं० (कण्ठकूप) कण्ठे कूप इव । कण्ठस्थे गर्ताकारे प्रदेशे, तत्र संयमात् क्षुत्तृषोर्जयो भवति घण्टिकाश्रोतःप्लावनात्तृप्तिसिद्धेस्तदुक्तं कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्ति " द्वा० २६ द्वा० ।

कंठगयपाणसेस–पुं० (कण्ठगतप्राणशेष) कण्ठे गतः कण्ठगतः कण्ठ–गतश्वासौ प्राणशेषश्च कण्ठगतप्राणशेषः । मरणान्तकष्टे,ग० २ अधि० ।

कंठमणिसुत्त–न० (कण्ठमणिसूत्र) कण्ठस्थरत्नमयदवरके, कल्प० ।

कंठमुरय–पुं० (कण्ठमुरज) आभरणविशेषे, ज्ञा० १ अ० । दशा० ।

कंठमुही–स्त्री० (कण्ठमुखी) कण्ठासन्नतरावस्थाने मुरजाकारे आमरणे, भ० ६ श० ३३ उ० । औ० ।

कंठविसुद्ध–न० (कण्ठविशुद्ध) यदि स्वरः कण्ठे वर्तितो भवति अस्पुटि–तश्च ततः सम्भवति गेयस्य कण्ठकरणविशुद्धे गाने, रा० ।

कंठसुत्त–न० (कण्ठसूत्र) " यं कुर्वते वक्षसि वल्लभस्य, स्तनाभिघातं निविडोपघातात् । परिश्रमार्ताः शनकैर्विदग्धास्तत्कण्ठसूत्रं प्रवदन्ति तज्ज्ञाः " इत्युक्तलक्षणे सुरतबन्धे, वाच० गलावलम्बिसंकलनविशेषे च । औ० । भ० ।

कंठाकंठि–अव्य० (कण्ठाकण्ठि) कण्ठे कण्ठे गृहीत्वेत्यर्थे, " कंठाकंठि–यवयासेति " यद्यपि व्याकरणे युद्धविषय एवंविधोऽव्ययीभाव इष्यते । *तथापि योगविभागादिभिरेतस्य साधुशब्दता दृश्यते । ज्ञा० २ अ० ।*

कंठिया–स्त्री० (कण्ठिका) कण्ठो भूष्यतयाऽस्त्यस्याः ठन् गलाभरण–भेदे, हेमचं० । पृष्ठकायां च जी० ३ प्रति० ।

कंठुग्गय–पुं० (गण्ठोग्रक) (कण्ठोद्गत) न० कण्ठश्चासावुग्रकश्चोत्कटः कण्ठोग्रकः कण्ठस्य चोग्रत्वं यत्तत्कण्ठोग्रत्वम् । कण्ठाद् वा यदुद्गतमुद्गतिः स्वरोद्गमलक्षणा क्रिया तत् गान्धारस्वरस्य स्थाने यत्प्राप्य ग्रान्धारस्वरो विशेषमासादयति । " कंठुग्गएण गंधारं " स्था० ७ ठा० ।

कंठेगुण–त्रि० (कण्ठेगुण) कण्ठे गुण इव कण्ठेगुणम् । कण्ठसूत्रसदृशे, प्रश्न० अथ० द्वा० ३ अ० ।

कंठोट्ठ–न० (कण्ठोष्ठ) कण्ठश्चौष्ठश्च कण्ठौष्ठम् प्राण्यङ्गत्वात्समाहारः कण्ठौष्ठसमुदाये, अनु० ।

कंठोट्ठविप्पमुक्क–न० (कण्ठौष्ठविप्रमुक्त) कण्ठौष्ठेन विप्रमुक्तं कण्ठौष्ठ-विप्रमुक्तम्, व्यक्ते, बालमूकभाषितवद् पदव्यक्तं न भवतीत्यर्थः । अनु० ।

कंड–पुं० (काण्ड) न० कनी दीप्तौ, ड, तस्य नेत्वम् क्वि च दीर्घः । दण्डे, बाणे, पर्वणि, कुत्सिते, वर्गे, अवसरे, जले, अमरः । वृक्षस्कन्धे, स्तम्बे, निर्जने, धरणिः । नाडीवृद्धे वृक्षभेदे, मेदि० । श्लाघायाम्, हेमचं० । वाच० । प्रज्ञा० । स० । विषयखण्डे, आव० ४ अ० । नाले, ज्ञा० २ अ० । प्रज्ञा० । समूहे, " सिरिदामकंडं " ज्ञा० ८ अ० । दण्डश्चात्र षोडशहस्तमितो वंशः वंशादिदण्डश्च संधिविच्छिन्नैकखण्डास्थिन, न० कण्डस्यावयवो विकारो वा विल्वा० अण् । काण्डावयवे, तद्विकारे च । त्रि० । अङ्कोटवृक्षे, पुं० शब्दचिं० । वाच० । एकादशदेवलोकस्थे विमानभेदे च न० स० ।

कंडंत–त्रि० (कण्डयत्) उदूखले तण्डुलादिकं छण्टयति " कंडंती " पिं० । ओ० । ध० ।

कंडंतिया–स्त्री० (कण्डयन्तिका) कण्डयन्ती–कन्–अनुकपायाम्, तण्डुलादीन् उदूखलौ क्षोदयन्त्याम्, ज्ञा० ७ अ० ।

कंडक (ग)–न० (काण्डक) काण्ड–स्वार्थे–क खण्डे कर्मांशे । अथ किमिदं कण्डकमिति प्रश्ने ब्रूमहे कण्डकमिव कण्डकमुपमानार्थः । यथा लोके तारः खण्डभागशः कण्डकमित्यभिधीयन्ते । तथा कर्मतरोरपि खण्डं कण्डकमिति सिद्धम् । आ० चू० १ अ० । आ० म० द्वि० । इक्षुपो-तलिकादिदण्डके, आचा० २ श्रु० । पल्योपमाऽसंख्येयभागलक्षणे, (पं० सं०) समयपरिभाषयाऽङ्गुलमात्रक्षेत्राऽसंख्येयभागगतप्रदेशराशि-संख्याप्रमाणे संयमश्रेणौ, बृ० ३ उ० (सेढि शब्दे उदाहरणम्) स्वनामख्याते सन्निवेशे, यत्र आलम्भिकातः कृतसप्तमवर्षारात्रः श्रीवीरः प्रस्थितः । आ० चू० १ अ० ।

कंडच्छारिय–पुं० (काण्डाच्छारिक) स्वनामख्याते ग्रामे, ग्रामाधिपतौ च । " कण्डच्छारिउसहितो सयंवउरस्स बलवंतु " । काण्डाच्छारिको नाम ग्रामो ग्रामाधिपतिर्वा व्य० ७ उ० ।

कंडरीय–पुं० (कण्डरीक) मूलदेवसाहाय्येन वने गच्छतः कस्यचित्पु-रुषस्य स्त्रीहारके, नं० (उप्पत्तिया शब्दे कथा) साकेतनगरवास्तव्यस्य पुण्डरीकनृपस्याऽनुजे, आ० क० । आव० । आ० चू० (स च यशोभद्रा-ख्यस्वभार्यालिप्सयाऽग्रजेन मारित इत्यलोभ शब्दे उदाहृतम्) पुष्क-लावतीविजये पुण्डरीकिणीनगरीश्वरस्य महापद्मराजस्य पद्मावती-कुक्षिसम्भूते पुत्रे, पुण्डरीकस्याऽनुजे च उत्त० १० अ० । आ० चू० ।

तत्कथा चैवम्

जति णं भंते ! समणेणं भगवया महावीरेणं अट्ठारसमस्स णायज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते एगूणवीसतिमस्स केअट्ठे पण्णत्ते एवं खलु जंबूसमणेणं भगवया महावीरेणं तेणं कालेणं तेणं समएणं इहेव जंबुद्दीवे दीवे पुव्वविदेहे सीताए महानईए उत्तरिल्ले कूले नीलवंतस्स दाहिणेणं उत्तरिल्लस्स सीतामुहवणसंडस्स पच्चिछमेणं गए सेलगस्स वक्खक्कारपव्वतस्स पुरच्छिमेणं एत्थ णं पुक्खलावती नामं विजये पन्नत्ते तत्थ णं पुंडरीगिणीनामं रायहाणी पन्नत्ता नवजोयणविच्छिन्ना दुवालसजोयणाया–

मा जाव पच्चक्खदेवलोगभूआ पासाइया ॥ ४ ॥ तीसे णं पुंडरी-गिणीए नयरीए उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए नलिणवणे नामं उज्जाणे। तत्थ णं पुंडरीगिणीए नयरीए महापउमे नामं राजा होत्था तस्स णं पउमावती नामं देवी होत्था। तस्स णं पउमस्स रन्नो पउमावइदेवीए अन्नया दुवे कुमारे होत्था। तं जहा पुंडरीए य कंडरीए य। सुकुमालपाणिपाया जाव सरूवा पंडरीए युवराया। तेणं कालेणं तेणं समएणं महापउमे राया निग्गए धम्मं सोच्चा पुंडरीयं रज्जे ठवेत्ता पव्वइए पुंडरीए राजा जाता कंडरीए युवराया महापउमे अणगारे चोद्दसपुव्वा अहिज्जंति। तते णं थेरा बहिया जणवयविहारं विहरंतए णं महापउमे बहुणि वासाणि जाव सिद्धे तए णं थेरा अन्नया कयाइं पुणरवि पोंडरीगिणीए नयरीए नलिणवणे उज्जाणे समोसढे पोंडरीए राया निग्गते कंडरीए महाजणसद्दं सोच्चा जहा महाबलो जाव पज्जुवासति थेरा धम्मं परिकहंते पोंडरीए समणोवासए जाए जाव पडिगते। तए णं कंडरीए उट्ठाए उट्ठेति उट्ठाए उट्ठेत्ता जाव से जयेय तुब्भे वयह जं नवरं पोंडरीयं आपुच्छामि ततेणं जाव पव्वयामि अहासुहं देवाणुपीया मा पडिबंधं करेह। तए णं से कंडरीए राया जाव थेरे नमंसइ नमंसइत्ता अंतियाओ पडिनिक्खमइ पडिनिक्ख-मइत्ता तमेव चाउघंटं आसरहं दुरहंति दुरहंतित्ता जाव पच्चोरुहइ पच्चोरुहइत्ता जेणेव पोंडरीए राया तेणेव उवागच्छति उवागच्छतित्ता करयल जाव पुंडरीयं एवं वयासी एवं खलु देवाणुप्पिया! मए थेराणं अंतिए धम्मे निसंति से धम्मे अविरुइए तए णं देवाणुप्पिया जाव पव्वतिए। ततेणं पुंडरीए कंडरीए य एवं वयासी मा णं तुमं भाउया इयाणिं मुंडे जाव पव्वयाहिं अहं तुमं महारायभिसिएणं अभिसिंचयामि। तए णं से कंडरीए पुंडरीयस्स रण्णो एतमट्ठं नो आढाति जायं तुसिणीए संचिट्ठति तए णं पोंडरीए राया कंडरीए कंडरीयं दोच्चं पि तच्चं पि एवं वयासी जाव तुसिणीए संचिट्ठंति। तए णं पुंडरीए कंडरीयं कुमारं जाहे नो संवाएति बहुहिं आघवणाहि य पन्नवणाहि य ४ ताहे अकामए चेव एतमट्ठं अणुमन्निच्छा जाव निक्खमणाभिसेएणं अभि-सिंचति जाव थेराणं सीसभिक्खं दलयंति दलयंतित्ता पव्वइए अणगारे जाए एक्कारसंगवीतए णं थेरा भगवंतो अन्नया कयाइं पुंडरीगिणीओ नयरीओ नलिणवणाओ उज्जाणाओ पडिनिक्ख-मिति पडिनिक्खमतित्ता बहिआ जणवयविहारं विहरंति। तए णं तस्स कंडरीयस्स अणगारस्स तेहिं अंतेहिं य पंतेहिं य जहा सेलगस्स जाव दाहकक्कतिए या वि विहरंति तए णं थेरा अन्नया कयाइं जेणेव पुंडरिगिणी तेणेव उवागच्छति उवागच्छतित्ता नलिणवणे समोसढे पुंडरीए निग्गति निग्गतित्ता धम्मं सुणेति सुणेतित्ता तए णं पुंडरीए राया धम्मं सोच्चा जेणेव कंडरीए अणगारे तेणेव उवागच्छति उवागच्छतित्ता कंडरीयं वंदंति नमंसंति नमंसंतित्ता कंडरीयस्स अणगारस्स शरीरं सव्वावाहं सरोगं पासइ पासइत्ता जेणेव थेरा भगवंतो तेणेव उवागच्छति उवागच्छतित्ता थेरा भगवंते वंदंति नमंसंति एवं बयासी अह णं भंते! कंडरीयस्स अणगारस्स अहापव्वतेहिं ओसहे भिसज्जेहिं जाव नेइत्थं आउट्टामि तं तुब्भे णं मम जाणसालासु समोसरह। तते णं थेरा भगवंतो पुंडरीयस्स पडिसुणंति परिसुणंतित्ता जाव उपसंपज्जित्ता णं विहरति। तए णं पुंडरीए जहा मंडए सेलगस्स तहेव जाव वलियसरीरजाते तए णं थेरा भगवंतो पुडरीयं आपुच्छंति बहिया जणययविहारं विहरंति तए णं से कंडरीए ताओ रोयायं काओ विप्पमुक्के समाणे तंसि मणुन्नंसि असणं पाणं खाइमं सातिमंसि संमुच्छिए गिद्धिए गढिए अज्झोववन्ने नो संचाएति पुंडरीयं आपुच्छित्ता बहिता अब्भुज्जएणं जाव विहरत्तए तत्थेव ओसन्ने जाए तए णं सा पोंडरीए इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे ण्हाए अंतेउरपरिया-लसंपरिवुडे जेणेव कंडरीए अणगारे तेणेव उवागच्छति उवागच्छतित्ता कंडरीयं तिखुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेति करेतित्ता वंदइ णमंसति णमंसतित्ता एवं बयासी धन्नोसि णं तुमं देवाणुप्पिया कयपुन्ने कयलक्खणे सुलद्धे णं देवाणुप्पिया तवमाणस्स य जम्मजी वियफले जे णं तुमं रज्जं व जाव अंतेउरं च विच्छडइ विच्छडइत्ता विगोवइ विगोवइत्ता जावपव्वइए। अहं णं अहन्ने अकयपुन्ने रज्जे य जाव अंतेउरे अ माणस्सए य कामभोगेसु मुच्छित्ते जाव अज्झोववन्ने नो संचाएमि जाव पव्वइत्तए तं धन्नेसि णं तुमं देवाणुप्पिया! जाव जीवियफले तते णं से कंडरीए अणगारे पुंडरीयस्स एतमट्ठं नो आढाति जाव संचिट्ठंति। तए णं से कंडरीए पुंडरीए णं दोच्चं पि तच्चं पि एवं वुत्ते समाणे अकामए अव्वसंवसे लज्जाए गारवेण पुंडरीयं आपुच्छति आपुच्छतित्ता थेरेहिं सिद्धि बहिया जणवयविहारं विहरति तते णं से कंडरीए थेरेहिं सद्धिं किंचि कालं उग्गं उग्गेणं विहरित्ता ततो पच्छा समणत्तणपरित्तंते समणत्तणनिविन्ने समणत्तण निमच्छिए समणगुणमुक्कजोगी थेराणं अंतियाओ सणियं पच्चोसकति पच्चोसकतित्ता तेणेव पुंडरीगिणी नयरी जेणेव पोंडरीयस्स रण्णो तेणेव उवागच्छति उवागच्छतित्ता असोगवणियाए असोगवरपायवस्स अहे पुढवी सिलापट्टगं से णिसीयइ णिसीयइत्ता ओहयमणसंकप्पे जावज्झियाय-माणे संचिट्ठति। तते णं तस्स पोंडरीयस्स अम्मघाती

जेणेव असोगवणीया तेणेव उवागच्छति उवागच्छतित्ता कंडरीयं अणगारं असोगवरपायवस्स अहे पुढवीसिलापट्टयंसि ओहयमणसंकप्पं जावज्झियायमाणं पासइ पासइत्ता जेणेव पुंडरीए राया तेणेव उवागच्छति उवागच्छइत्ता पोंडरीयं एवं बयासी एवं खलु देवाणुप्पिया ! तव पियभावए कंडरीए अणगारे असोगवणियाए असोगवरपायवस्स अहे पुढविसिलावट्टए ओहयमणसंकप्पे जावज्झियाय मित्तए णं से पोंडरीए अमधाएइ एतमट्ठं सोच्चा णिसम्म तहेव संभंते समाणे उट्ठाए उट्ठेति अंतेउरपरिवालसंपरिवुडे जेणेव असोगवणियाए जाव कंडरीयं तिक्खुत्तो एवं बयासी धण्णेसि णं तुमे देवाणुप्पिया ! जाव पव्वइए अह णं अधण्णे अपुन्नेइ जाव नो पव्वइए तं धन्नोसि णं तुमं देवाणुप्पिया ! जाव जीवियफले तते णं कंडरीए पुंडरीए णं एवं वुत्ते समाणे तुसिणीए संचिट्ठति दोच्चं पि जाव चिट्ठंति। तए णं पोंडरीए कंडरीए एवं बयासी अट्ठो भंते ! भोगेहि हंता अत्थि अट्ठो। तए णं से पोंडरीए कोडुंवियपुरिसे सद्दावेति सद्दावेतित्ता एवं बयासी खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! कंडरीयस्स महत्थं जाव रायाभिसेयं उवट्ठवेह जाव रायाभिसेएणं अभिसिंचंति तए णं पुंडरीए सयमेव पंचमुट्ठियं लोयं करेति करेतित्ता सयमेव चाउज्जामं धम्मं पडिवज्जति पडिवज्जतित्ता कंडरीयस्स संतियं आयारभंमं गिण्हति गिण्हतित्ता इमं एयारूवं अभिग्गहं अभिगिण्हंति कप्पति मे थेरे वंदित्ता नमंसित्ता थेराणं अंतिए चाउज्जामं धम्मं उवसंपज्जित्ताणं विहरइ। ततो पच्छा आहारं आहारित्तए कट्टु इमं एतारूवं अभिग्गहं अभिगिण्हित्ताणं पोंडरीगिणीओ पडिनिक्खमति पडिनिक्खमतित्ता पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गामाणुगामं दूतिज्जमाणे जेणेव थेरा भगवंता तेणेव पहारेच्छ गमणाए तए णं तस्स कंडरीयस्स रन्नो तं पणीयं पाणभोयणं अहारियं समाणस्स अतिजागरएण य अतिभोयणप्पसंगेण य से आहारे णो समं परिणते तते णं तस्स सकंडरीयस्स रन्नो तंसि आहारंसि अपरिणममाणंसि पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि सरीरगंसि वेयणा पाउब्भूता उज्जला विउला पगाढा जाव दुरुहीआ सा पित्तज्जरपरिगयसरीरा दाहवक्कंति एया वि विहरति। तते णं से कंडरीए राया रज्जे य रहे य अंतेउरे य जाव अज्झोववन्ने अट्टदुहट्टवसट्टे अकामे अवसव्वसे कालमासे कालं किच्चा अहे सत्तमाए पुढवीए उक्कोसकालट्ठिइयं नरयंसि नेरइयत्ताए उववन्ने एवामेव समणाउसो जाव पव्वइए समाणे पुणरवि माणुस्सए कामभोगे आसादिति जाव अणुपरियट्टिस्संति। जहा व से कंडरीए राया तते णं से पुंडरीए अणगारे जेणेव थेरा भगवंतो तेणेव उवागच्छति उवागच्छइत्ता थेरे भगवंते वंदति नमंसंति थेराणं अंतिए दोच्चं पि चाउज्जामं धम्मं पडिवज्जइ छट्ठखमण पारणगंसि पढमाए पोरिसीए सज्झायं करेंति करेंतित्ता। जाव अडमाणसीयं लुक्खं पाणं भोयणं पडिग्गहंति पडिग्गहंतित्ता अहापज्जतमं तिकट्टु पडिनियत्ताए जेणेव थेरा भगवंतो तेणेव उवागच्छंति उवागच्छंतित्ता भत्तपाणं पडिदंसेइ पडिदंसेइत्ता थेरेहिं भगवंतेहिं अब्भणुन्नाते समाणे अब्भुत्थीए ४ विलमिव पन्नगभूएणं अप्पाणेणं फासुए सणिज्जं असणं ४ सरीरकोट्ठगंसि पक्खिवंति। तते णं तस्स पोंडरीयस्स असणं ४ कालाइक्कंतं अरसं विरसं सीयं लुक्खं पाणभोयणं आहारियस्स समाणस्स पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि धम्मजागरीयं जागरणमाणस्स से आहारे णो समं परिणमति तते णं तस्स पुंडरीयस्स अणगारस्स सरीरगंसि वेयणा पाउब्भूता उज्जला जाव दुरुहीया। सापित्तज्जरपरिगयसरीरदाहवक्कंतीए विहरति। तते णं से पोंडरीए। अथामे अबले अवीरिए अपुरिसक्कारपरक्कमे करयल जाव एवं वयासी नमुत्थुणं अरहंताणं जाव संपत्तेणं जाव नमोत्थुणं थेराणं भगवताणं मम धम्मायरियाणं धम्मोवएसियाणं पुव्विं पि य णं मए थेराणं अंतिए सव्वे पाणाइवाए पच्चक्खाए जाव मिच्छादंसणसले पच्चक्खाए जाव आलोइयपडिक्कंति कालमासे कालं किच्चा सव्वट्ठसिद्धे उववन्ने। ततो अणंतरं उव्वट्टित्ता महाविदेहे वासे सिज्झति जाव दुक्खाणमंतं करेंति। एवामेव समणाउसो। जाव पव्वइए समाणमाणुस्सएहिं कामभोगेहिं नो सज्जति नो रज्जति जाव नो विप्पडिघातमावज्जति। से णं इह भवे चेव बहुणं समणेणं ४ अच्चणिज्जे पूइणिज्जे वंदणिज्जे सक्कारणिज्जे समाणणिज्जे कल्लाणमंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासणिज्जे तिकट्टु परलोए वि य णं नो आगच्छंति। बहूणि मंडणाणि य तज्जणाणि य तालणाणि य जाव चउरंतसंसारकंतारं जाव वियवतिस्सति जहा व से पुंडरीए अणगारे। एवं खलु जंबूसमणेणं भगवया महावीरेणं आदिगरेणं तित्थगरेणं जाव सिद्धिं नामधेज्जट्ठाणं संपत्ताणं एगूणवीसतिमस्स नायज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते। एवं खलु जंबूसमणेणं भगवया महावीरेणं जाव सिद्धिगति नामधेज्जं संपत्ताणं छट्ठस्स अंगस्स पढमस्स सुयक्खंधस्स अयमट्ठे पण्णत्ते त्ति बेमि। इति कंडरीक पुंडरीकाध्ययनं एगूणवीसतिमं समत्तं।

इदं सर्वं सुगमं नवरम्। उपनयविशेषोऽयं "वाससहस्सं पि जई, काऊणं संजमं सुविउलं पि। अंते किलिट्ठभावो, न विसुज्झइ कंडरीओ व्व॥ १॥" तथा "अप्पेण वि कालेणं, केइ जहगहियसीलसामन्ना। साहंति नियय कज्जं, पुंडरीयमहारिसि–

व्व जहा ॥ २ ॥ इत्येकोनविंशतितमं ज्ञातं विवरणतः समाप्तमिति। ज्ञा० १ श्रु० १६ अ०। महा०। सूत्र०। आ० म० द्वि०। आ० चू। तं०। स्था०।

कंडवा–स्त्री० (कण्डवा) करटिकाख्ये वाद्यविशेषे, अष्टशतं कण्डवानामष्टशतं कण्डवादकानाम्। रा०।

कंडिय–त्रि० (कण्डित) बलातिबलिकया छटिते, आ० म० द्वि०। बलवत्या रामया छटिते, तं०।

कंडियायन–न० (कण्डिकायन) वैशाल्या नगर्य्या बहिस्ताच्चैत्ये, भ० १५ श० १ उ०।

कंडिल्ल–पुं० (काण्डिल्लय) माण्डगोत्रान्तर्गतकाण्डिल्यगोत्रप्रवर्तके ऋषौ, तद्गोत्रजेषु च। स्था० ७ ठा०।

कंडिल्लायण–पुं० (कण्डिल्यायन) स्वनामख्याते ऋषौ, तद्गोत्रे शतभिग्नक्षत्रम् " सतभिसया णक्खते कंडिल्लायणसगोत्ते पण्णत्ते " चं० प्र० १० पाहु०।

कंडु–धा० (कण्डू) कण्ड्वादि० गात्रविघर्षणे **उर्मूहनूमत्कण्डूयवातूले ८।१।१२१।** एषु ऊत उत्वम् भवतीत्युत्वम्। कंडुअइ। प्रा०। कण्डूयति (ते) काष्ठादिना गात्रस्य कण्डूत्यपनोदं विधत्ते आचा० श्रु० ६ अ० २ उ०।

कण्डु–स्त्री० कडि मृगण्वादि० उः। गात्रविघर्षणे तत्कारके रोगे, वाच०। पाकसंस्थाने च। जी० ३ प्रति०। " कंडुसु य पयणएसु य पयं ति " सूत्र० १ श्रु० ५ अ०।

कंडुग–पुं० (कान्दविक) मिष्टान्नविक्रेतरि, " राया चिंतेइ कतो कंडुयस्स जलकंतरयणसंपत्ती " आ० म० द्वि०। " पुष्टः कान्दविको राज्ञा, कुतस्ते तदिदं वद "। आ० क०।

कंडु (दु)गइ–स्त्री० [कण्डु (न्दु) कगति] जीवगतिभेदे, कण्डुकस्येव गतिः कण्डुकगतिः किमुक्तं भवति यथा कन्दुकः स्वप्रदेशं पिण्डित ऊर्ध्वं गच्छति तथा जीवोऽपि कश्चित्परभवायुष उदये परलोकं गच्छन्नुदये परलोकं स्वप्रदेशानेकत्र संपीड्य गच्छति पं० सं०।

कंडू–स्त्री० (कण्डू) कण्ड्यू–क्विप्–अलोपयलोपौ सम्पदा० क्विप् वाच०। कण्डूतौ, ज्ञा० ५ अ०। खर्ज्वाम्, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ०। ज्ञा०। स्था०।

कंडूइ–स्त्री० (कण्डूति) कण्डूञ्शब्दः कण्ड्वादिषु पठ्यते ततः क्तिन्। षो० ४ विव०। अलोपयलोपौ कण्डूयने, वाच०। आशैशवात्करकण्डोः, कण्मूतिरभवत्ततः। आ० क०।

कंडूइय–न० (कण्डूयित) नखैर्विणेखने, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ०।

कंडूयग–त्रि० (कण्डूयक) कण्डूयत इति कण्डूयकः गात्रविघर्षके, स्था० ५ ठा० १ उ०।

कंडूयण–न० (कण्डूयन) खर्जूरविनोदनप्रवृत्तौ, पंचा० ४ विव०। करणे ल्युट् कण्डूयनसाधने, स्त्रियां ङीष् वाच०।

कंडूल–पुं० (कण्डूल) कण्डू–अस्त्यर्थे लच्। कण्डूकारके शूरणे, राजनि०। कण्डूयुक्ते, त्रि० वाच०। " स्वयं विवादग्रहिले वितण्डापाण्डित्यकण्डूलमुखे जनेऽस्मिन् " वितण्डापाण्डित्येनकण्डूलमिव कण्डूलं मुखं लपनं यस्य स तथा तस्मिन् कण्डूः खर्जूः कण्डूरस्याऽस्तीति कण्डूलं सिध्मादित्वान्मत्वर्थीयो लप्रत्ययः यथा किलान्तरुत्पन्नकृमिकुलजनितां कण्डूतिं निरोद्धुमपारयन् पुरुषो व्याकुलतां कलयति एवं तन्मुखमपि वितण्डापाण्डित्येनासंबन्धप्रलापचापलमाकलयन् कण्डूलमित्युपचर्य्यते, स्था०।

कंडूविणट्ठंग–त्रि० (कण्डूविनष्टाङ्ग) कण्डूकृतक्षतैरेखाभिर्वा विकृतशरीरे, अप्रतिकर्मशरीरतया वा क्वचिद् भोगसम्भवे सनत्कुमारवद्विनष्टाङ्गे, " मुंडा कंडूविगट्ठंगा, उज्जला असमाहिता " सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ०।

कंत–त्रि० (कान्त) कन् दीप्तौ कम् वा–क्तः। दीप्ते, " कंतपियदंसणा " कान्तं दीप्तं प्रियं जनानां प्रमोदोत्पादकं दर्शनं रूपं येषां ते तथा स०। कल्प०। कमनीये, " संसिसोमाकारकंतपियदंसणं " शशिवत्सौम्याकारं कान्तञ्च कमनीयमत एव प्रियं द्रष्टृणां दर्शनं रूपं यस्य स तथा तम् भ० ११ श० ११ उ०। प्रज्ञा०। कल्प०। स्था०। काम्ये, औ०। शुभवर्णादिपेतत्वाद् विशिष्टवर्णादियुक्ते, जी० १ प्रति०। स्था०। शोभमाने, दश० २ अ०। मनोहारिणि, षो० ६ विव०। " वल्लभे हियपनयणकंतं " कल्प०। औ०। पुनरभिलषणीये, दशा० १० अ०। अन्त०। अभिलषिते, ज्ञा० १ अ०। अभिप्रेते, आचा० २ श्रु०। घृतवरद्वीपदेवे, पुं० सू० प्र० १६ पाहु०। पत्यौ, चन्द्रे, वसन्ते, हिञ्जलवृक्षे, कुङ्कुमे, न०। " नार्य्यां, प्रिय–ङ्गुवृक्षे च। स्त्री० मेदि०। भवेत् कान्तायुगरसहयैर्यभौनरसालगौ, इत्युक्त–लक्षणे १८ छन्दोभेदे, स्त्री० कामदेवभेदे, पुं० वाच०।

कंततर–त्रि० (कान्ततर) कमनीयतरे, यथा कृष्णवस्तुवर्णके, जीमूताद्युपमाऽभिधीयते। " एतो कंततराए चेव मणुण्णतराए चेव " अतिस्निग्धमनोहारिकालिमोपचिततया जीमूतादेः कमनीयतरकाः जी० ३ प्रति०।

कंतप्प–पुं० (कन्दर्प) **चूलिकापैशाचिके, तृतीयतुर्य्ययोराद्यद्वितीयौ ।८।४।३२५।** इति तृतीयस्य प्रथमः। कामे, प्रा०।

कंतरूव–त्रि० (कान्तरूप) कमनीयस्वरूपे, विपा० २ श्रु० १ अ०।

कंतविसयमिउसुकुमालकुम्मसंठियविसिट्ठचरणा–स्त्री० (कान्तविशदमृदुसुकुमारकूर्मसंस्थितविशिष्टचरणा) कान्तौ कमनीयौ विशदौ निर्मलौ मृदू अकठिनौ सुकुमारावकर्कशौ कूर्मसंस्थितौ कूर्मवदुन्नतौ विशिष्टौ विशिष्टलक्षणोपेतौ चरणौ यासां ताः। सर्वलक्षणसंपन्नचरणासु युगलस्त्रीषु, जी० ३ प्रति०।

कंतस्सर–त्रि० (कान्तस्वर) कान्तः स्वरो यस्य स कान्तस्वरः। कमनीयस्वरे, प्रज्ञा० ३ पद।

कंता–स्त्री० (कान्ता) कामिन्याम्, द्वा० २२ द्वा०। कमनीयशब्दायां वाचि, ज० २ वक्ष०। भ०। अष्टानां योगदृष्टीनां षष्ठ्याम्,। कान्ता तु ताराभा तदवबोधस्ताराभासमानोऽतः स्थित एव प्रकृत्या निरतिचारमत्रानुष्ठानशुद्धापयोगानुसारिविशिष्टाऽप्रमादसचिवविनियोगप्रधानगभीरोदाराशयमिति। द्वा० २० द्वा०। अस्याःफलम्।

धारणाप्रीतयेऽन्येषां, कान्तायां नित्यदर्शनम्।
नान्यमुत्स्थिरभावेन, मीमांसावहितोदया॥ ८॥

(धारणेति) कान्तायामुक्तरीत्या नित्यदर्शनम् तथा धारणा वक्ष्यमाणलक्षणाऽन्येषां प्रीतये भवति। तथा स्थिरभावेन नान्यमुदित्यत्र हर्षस्तहा तत्प्रतिभासाभावात् हितोदया सम्यग्ज्ञानफला मीमांसा च सद्विचारात्मिका भवति।

देशबन्धो हि चित्तस्य, धारणा तत्र सुस्थितः।
प्रियो भवति भूतानां, धर्मे काग्रमनास्तथा॥ ९॥

(देशेति) देशे नाभिचक्रनासाग्रादौ बन्धो विषयान्तरपरिहारेण स्थिरीकरणात्मा हि चित्तस्य धारणा यदाह "देशबन्धश्चित्तस्य धारणा" तत्र धारणायां सुस्थितः मैत्रादिचित्तपरिकर्मवासितान्तःकरणतया स्वभ्यस्तेयमनियमतया जितासनत्वेन परिहृतप्राणविज्ञेयतया प्रत्याहृतेन्द्रियग्रामत्वेन ऋजुकायतया जितद्वन्द्वतया सन्ततताभ्यासाविष्टतया च सम्यग् व्यवस्थितः भूतानां जगल्लोकानां प्रियो भवति। तथा धर्म्मैकाग्रमना भवति।

अस्यामाक्षेपकज्ञानान्, न भोगा भवहेतवः।
श्रुतधर्मे मनोयोगा–च्चेष्टाशुद्धेर्यथोदितम्॥ १०॥

अस्यामिति। अस्यां कान्तायां कायचेष्टाया अन्यपरत्वेऽपि श्रुतधर्मे आगमे मनोयोगान्नित्यं मनःसंबन्धादाक्षेपकज्ञानान्नित्यप्रतिबन्धरूपचित्ताक्षेपकारिज्ञानान्न भोगा इन्द्रियार्थसंबन्धा भवहेतवो भवन्ति चेष्टायाः प्रवृत्तेः शुद्धेर्मनोनैर्मल्यात् यथोदितं हरिभद्रसूरिभिर्योगदृष्टिसमुच्चये।

मायाम्भस्तत्त्वतः पश्यन्ननुद्विग्नस्ततो द्रुतम्।
तन्मध्येन प्रयात्येव, यथा व्याघातवर्जितः॥ ११॥

मायाम्भस्तत्त्वतो मायाम्भस्तेनैव पश्यन् अनुद्विग्नस्ततो मायाम्भसो द्रुतं शीघ्रं तन्मध्येन मायाम्भोमध्येन प्रयात्येव न न प्रयाति यथेत्युदाहरणोपन्यासार्थः व्याघातवर्जितो मायाम्भस्त्वेन व्याघातासमर्थत्वात्।

भोगान् स्वरूपतः पश्यंस्तथा मायोदकोपमान्।
भुञ्जानोऽपि ह्यसङ्गः सन्, प्रयात्येव परं पदम्॥ १२॥

भोगानिन्द्रियार्थसंबन्धान् स्वरूपतः पश्यन् समारोपमन्तरेण तथा तेनैव प्रकारेण मायोदकोपमानसारान्भुञ्जानोऽपि हि कर्माक्षिप्तानसंगतः सन् प्रयात्येव परं पदं तथाऽनभिष्वङ्गतया परवशभावात्।

भोगतत्त्वस्य तु पुनर्न भवोदधिलङ्घनम्।
मायोदकदृढावेश–स्तेन यातीह कः पथा॥ १३॥

भोगतत्त्वस्य तु भोगं परमार्थतया पश्यतस्तु न भवोदधिलङ्घनं मायोदकदृढावेशस्तथा विपर्यासात्तेन यातीह कः पथा यत्र मायायामुदकबुद्धिः।

स तत्रैव भयोद्विग्नो, यथा तिष्ठत्यसंशयम्।
मोक्षमार्गेऽपि हि तथा, भोगजम्बालमोहितः॥ १४॥

स मायायामुदकदृढावेशस्तत्रैव पथि भयोद्विग्नः सन् यथेत्युदाहरणोपन्यासार्थस्तिष्ठत्यसंशयं तिष्ठत्येव जलबुद्धिसमावेशान्मोक्षमार्गेऽपि हि ज्ञानादिलक्षणे तिष्ठत्यसशयं भोगजम्बालमोहितो भोगनिबन्धनदेहादिप्रपञ्चमोहित इत्यर्थः।

धर्मशक्तिं न हन्त्यस्यां, भोगशक्तिर्बलायसीम्।
हन्ति दीपापहो वायु–र्ज्वलन्तं न दवानलम्॥ १५॥

अस्यां कान्तायां कर्माक्षिप्तत्वेन निर्बला भोगशक्तिरनवरतस्वरसप्रवृत्तत्वेन बलीयसीं धर्मशक्तिं न हन्ति विरोधिनोऽपि निर्बलस्यार्किंचित्करत्वात् अत्र दृष्टान्तमाह। दीपापहो दीपविनाशको वायुर्ज्वलन्तं दवानलं न हन्ति प्रत्युत बलीयसस्तस्य सहायतामेवालम्बते। इत्थमत्र धर्मशक्तेरपि बलीयस्या अवश्यभोग्यकर्मक्षये भोगशक्तिः सहायतामेवालम्बते न तु निर्बलत्वेन तां विरुणद्धीति। यद्यपि स्थिरायामपि ज्ञानापेक्षया भोगानामकिंचित्करत्वमेव तथाऽपि तदंशे प्रमादसहकारित्वमपि तेषाम्। कान्तायां तु धारणया ज्ञानोत्कर्षान्न तथात्वमपि तेषां गृहिणामप्येवंविधदशायामुपचारतो यतिभाव एव चारित्रमोहोदयमात्रात्केवलं न संयमस्थानलाभो न तु तद्विरोधपरिणामो लेशतोऽपीत्याचार्याणामाशयः।

मीमांसा दीपिका चास्या, मोहध्वान्तविनाशिनी।
तच्चालोकेन तेन स्यान्न कदाप्यसमञ्जसम्॥ १६॥

मीमांसा सद्विचारणा दीपिका चास्याः कान्तायाः मोहध्वान्तविनाशिनी अज्ञानतिमिरापहारिणी तत्त्वालोकेन परमार्थप्रकाशेन तेन कारणेन न कदाप्यसमञ्जसं स्यादज्ञानिमित्तको हि तद्भाव इति। द्वा० २४ द्वा०। विमले, स्त्रीत्वविशिष्टेऽर्थे च। नं०।

कंताजुस–त्रि० (कान्ताजुष) कामिनीसहिते, द्वा० २२० द्वा०।

कंतार–पुं० (कान्तार) कान्ता अभीष्टा अरा इव ग्रन्थयोऽस्य। कस्य जलस्यान्तं कान्तं मनोज्ञं वा रसमृच्छति गच्छति ऋ अण्–उप० स०। इक्षुभेदे, भावप्र०। कोविदारवृक्षे, वंशे च। राजनि०। कस्य सुखस्यान्तमृच्छत्यत्र ऋ–आधारे घञ्। छिद्रे, मेदि०। अटव्याम्, नि० चू० १ उ०। प्रव०। महत्यामटव्याम्, बृ० ३ उ०। ओ०। स्था०। अध्वनि, यत्र भक्तपानादिलाभो न सम्भवति। जीत०। "कंतारं नाम अरण्णं जत्थ भत्तपाणं ण लब्भति" नि० चू० १ उ०। निर्जले, सभये, त्राणरहिते अरण्यप्रदेशे, सूत्र० २ श्रु० २ अ०। दुष्टस्वापदानुकूले महारण्ये, तं०। भ०। अरण्ये, आव० ६ अ०। स्था०।

कंतारकवाडचारयसम–त्रि० (कान्तारकपाटचारकसम) अरण्यकपाटकारागृहतुल्ये, "कंतारकवाडचारयसमाणं" (इत्थीणम्) अयमाशयः यथा गहनवनं व्याघ्राद्याकुलं जीवानां भयोत्पादकं भवति तथा नराणां नार्य्योऽपि भयं जनयन्ति धनजीवितादिविनाशहेतुत्वेनेति। यथा प्रतोल्या कपाटे दत्ते केनाऽपि गन्तुं न शक्यते तथा नरे नारीकपाटहृदये दत्ते सति केनापि कुत्रापि धर्मवनादौ गन्तुं न शक्यते यथा च जीवानां कारागृहं दुःखोत्पादकं भवति तथा नराणां नार्य्योऽपि इति। तं०।

कंतारगइट्ठाणभूया–स्त्री० (कान्तारगतिस्थानभूता) कान्तारे दुष्टस्वापदाकुले महारण्ये गतिश्चैकाकित्वेन गमनं स्थानं चैकाकित्वेन वसनं तयोर्भूतास्तुल्याः। स्त्रीषु, तासां दारुणमहाभयोत्पादकत्वात्। तं०।

कंतारभत्त–न० (कान्तारभक्त) कान्तारमरण्यं तत्र भिक्षुकाणां निर्वाहार्थं यद्विहितं तत् कान्तारभक्तम्। भ० ५ श० ६ उ०। साध्वाद्यर्थमटव्यां संस्क्रियमाणे भोजने, स्था० ८ ठा०। एतच्च पाश्चयामिकानामकल्प्यम्। भ० ६ श० ३३ उ०।

कंति–स्त्री० (कान्ति) कम्–कामे–कन्–दीप्तौ–वा भावे क्तिन्। दीप्तौ, शोभायाम्। वाच०। औ०। प्रभायाम्, ज्ञा० १६ अ०। कमनीयतायाम्, सूत्र० २ श्रु० १ अ०। पञ्चम्यां गौणाऽहिंसायाम्। तस्याः कमनीयताकारणत्वात्। प्रश्न० सं० द्वा० १ अ०। इच्छायाम्, स्त्रीणां शृङ्गारजे सौन्दर्य्यगुणभेदे, "शोभा प्रोक्ता सैव क्रान्तिर्मन्मथाप्यायिता" मन्मथोन्मेषणातिविस्तीर्णशोभैव कान्तिरुच्यते इति व्याख्यातं सा० द०। चन्द्रमसः कलाभेदे, वाच०।

कंतिकंदली–स्त्री० (कान्तिकन्दली) गङ्गासमुद्रप्रवेशतटसंस्थितस्य जयसुन्दरनगरेश्वरजयवल्लभनामराजस्य भार्य्यायाम्, दर्श०।

कंतिपुरी–स्त्री० (कान्तिपुरी) काञ्चीपुर्य्याम्, वाच० । अन्यस्यां स्वनामख्यातायां पुर्य्याम्, " कंतिपुरीइं भयवं " (पार्श्वनाथः प्रतिमारूपः) " पुणो गमिस्सइ तओ अंजलहिम्मि " ती० ।

कंतिमई–स्त्री० (कान्तिमती) कोशलपुरस्थनन्दनाभिधानश्रेष्ठिनो दुहितरि, आ० म० द्वि० । आ० चू० । (मायाशब्दे उदाहरणम्) अप्सरोभेदे, चन्द्रे, कामदेवभेदे च पुं० कान्तियुक्ते त्रि० वाच० ।

कंतिविजय–पुं० (कान्तिविजय) श्रीमन्मानविजयवाचकेन विवृतस्य धर्मसङ्ग्रहस्य प्रथमादर्शलेखके स्वनामख्याते गणिनि, " ज्ञानाराधनमतिना, ज्ञानादिगुणान्वितेन वृत्तिरियम् । प्रथमादर्शे लिखिता, गणिना कान्त्यादिविजयेन " ध० ४ अधि० ।

कंथग–पुं० (कन्थक) जात्याश्वे अश्वविशेषे, उत्त० २३ अ० । स्था० ।

कंथारियावण–न० (कन्थारिकावन) स्वनामख्यातेऽवन्तीपुर्य्यन्तर्गते वने, यत्र सुकुमारोऽनशनेन मृतः महाकालमन्दिरं च यत्र आ० क० । (अणिस्सयोवहाणशब्दे तद्वर्णनमुक्तम्)

कंथेर–पुं० (कन्थेर) वृक्षभेदे, " मीढलमंजिट्ठकंकेल्लिकुमारिकंथेरवेरकुट्ठा य " ल० प्र० ।

कंद–पुं० (कन्द) न० कन्दति कन्दयति कन्दयते कदि–अच्–णि–च्–घञ् वा० । विसे, रा० । जी० । मूलानामुपरि वृक्षावयवविशेषे, औ० । ज्ञा० । रा० । सुरणादिलक्षणे, द० ५ अ० । स्था० औ० । ज्ञा० । स्कन्धाधोभागरूपे, प्रश्न० सं० द्वा० ५ अ० । भूमध्यगे वृक्षावयवे, प्रव० ४ द्वा० । (कन्दाश्च सूरणकन्दाद्या द्वात्रिंशत् ते च अणंतकाइयशब्दे दर्शिताः अनन्तजीवत्वमपि तत्रैवोक्तम्) सूरणे, गृञ्जने, मेघे, पुं–मेदि० ।

कंदणया–स्त्री० (कन्दनता) महता शब्देन विरवणरूपे आर्तध्यानस्य प्रथमे लक्षणे, ग० १ अधि० । स्था० । औ० ।

कंदप्प–पुं० (कन्दर्प) कं सुखं तस्मै तत्र वा दृप्यति कम्–दृप–अच् कुत्सितो दर्पोऽस्माद् वा । कामदेवे, अमरः । कन्दर्पः कामस्तद्धेतुर्विशिष्टो वाक्प्रयोगोऽपि कन्दर्प उच्यते । रागोद्रेकात्प्रहासमिश्रे मोहोद्दीपके नर्मणि, श्रा० । व्य० । अयं चातिचारः प्रमादाचरितलक्षणोऽनर्थदण्डभेदव्रतस्य सहसाकारादिनां उपा० १ अ० । इह चेयं सामाचारी श्रावकेण न तादृशं वक्तव्यं येन स्वस्य परस्य वा मोहोद्रेको भवति अट्टाट्टहासोऽपि न कल्पते कर्तुं यदि नाम हसितव्यं तदैतदेवेति ध० १ अधि० । आव० । आ० चू० । पञ्चा० । प्रव० । पं० व० । अट्टाट्टहासहसने, ग० २ अधि० । आतु० । " कंदप्पकलहकेलिकोलाहलप्पिया " औ० । कन्दर्पः कामप्रधानः । कन्दर्पः कामोद्दीपनवचनचेष्टा " जी० ३ प्रति० । कन्दर्पः कामस्तत्प्रधानः । निरन्तरं नर्मादिनिरततया विटप्राये देवविशेषे, प्रव० ७३ द्वा० । बृ० । प्रश्न० । कन्दर्पकथाकरणशीले, आतु० । स्था० । कामसम्बन्धिनि कषाये, कन्दर्पवति, त्रि० बृ० १ उ० ।

कंदप्पकहाकहण–न० (कन्दर्पकथाकथन) कामकथाग्रहे, पं० व० ।

कंदप्पदेव–पुं० (कन्दर्पदेव) कन्दर्पोऽट्टाट्टहासहसनं कन्दर्पकरणशीलाः कन्दर्पाः कन्दर्पाश्च ते देवाश्च कन्दर्पदेवाः । कान्दर्पिकदेवेषु, तत्स्वरूपं तु " कहकहस्स हसणं " इत्यादिगाथयाऽग्रे वक्ष्यते । तं० ।

कंदप्पभावणा–स्त्री० (कान्दर्पभावना) कन्दर्पः कामस्तत्प्रधाना निरन्तरं नर्मादिनिरततया विटप्राया देवविशेषाः कन्दर्पास्तेषामियं कान्दर्पी सा चासौ भावना च पुंवद्भावः । संक्लिष्टभावनाभेदे, प्रव० ७३ द्वा० । सा च० ।

कंदप्पे १ कुक्कुइए २
दुअसीले ३ आविहासणकरे य ४ ।
विम्हावितो ५ अपरं,
कंदप्पभावणं कुणइ ॥

कन्दर्पे कौकुच्यदुःशीलत्वे हास्यकरणे परविस्मयजननेऽपि च विषये भवति कन्दर्पः कंदर्पविषया भावना कान्दर्पिकीत्यर्थः । अनेकविधा पञ्चप्रकारा । ततः उच्चैः स्वरेण हसनं तथा परस्परं परिहासस्तथा गुर्वादिनाऽपि सह निष्ठुरवक्रोक्त्यादयः स्वेच्छालापांस्तथा कामकथाकथनं तथा एवं चैवं च कुर्वति विधानद्वारेण कामोपदेशस्तथा कामविषया प्रशंसा च कंदर्पशब्देनोच्यते यदुक्तं " कहकहकहस्स हसणं, कंदप्पो अणिहुया य संलावा । कंदप्पकहाकहणं, कंदप्पवएपसंसा य " तथा कुकुचो भण्डचेष्टा तस्य भावः । कौकुच्यं तद् द्वेधा कायकौकुच्यं वाक्कौकुच्यं च । तत्र कायकौच्यं यत्स्वयमहसन्नेव भ्रूनयनादिभिर्देहावयवैर्हासकारकैस्तथा चेष्टां करोति यथा परो हसतीति यदुक्तं " भुमनयणवयणदसणच्छएहिं करचरणकन्नमाईहिं । तं तं करेइ जह हस्सए परो अत्तणा अहस्सं वा " कौकुच्यं तु यत्परिहासप्रधानैस्तैस्तैर्वचनजालैर्विविधजीवविरुतैर्मुखातोद्यवादितया च परं हासयतीति । यदुक्तं च " वाया कुक्कुइओ पुण, तं जंपइ जेण हस्सए अन्नो । नाणाविद् जीवरुए, कुक्कुइ मुहत्तरए चेव " तथा दुष्टं शीलं स्वभावो यस्य स दुःशीलस्तद्भावो दुःशीलत्वं तत्र यत्संभ्रमावेशवशादपर्यालोच्य द्रुतं द्रुतं भाषते यच्च शरत्काले दर्प्पे धुरप्रधानवलीवर्द इव द्रुतं द्रुतं गच्छति यच्च सर्वत्रासमीक्षितं कार्यं द्रुतं द्रुतं करोति । यच्च स्वभावस्थितोऽपि तीव्रोद्रेकवशाद्दर्प्पेण स्फुटतीव एतद् दुःशीलत्वं यदुक्तं " भासइ दुयं दुयं गच्छइ य दरिउ व्व गो व्व सो सरए । सव्वदुयदुयकारी, फुट्टइ दविओ वि दप्पेणं " तथा भाण्डइव परेषां छिद्राणि विरूपवेषभाषाविषयाणि निरन्तरमन्वेषयन् चित्रैस्तादृशैरेव वेशवचनैर्यत् द्रष्टृवामात्मनश्च हासं जनयति तत् हास्यकरणम् । यदुक्तं " वेसवयणेहिं हासं, जणयंतो अप्पणो परेसिं च । अहहासणोत्ति भन्नइ, घयणो व्व छले नियच्छंतो " " घयणोत्ति " भण्डः तथा इन्द्रजालप्रभृतिभिः कुतूहलैः प्रहेलिका कुहेटकादिभिश्च तथाविधग्राम्यलोकप्रसिद्धैर्यत्स्वयमविस्मयमानो वालिशप्रायस्य जनस्य मनोविभ्रममुत्पादयति तत्परविस्मयजननं यदुक्तम् " सुरजालमाइएहिं तु, विम्हयं कुणइ तव्विहजणस्स । तेसु न विम्हयइ सयं, आहट्टकुहे दुएहिं च " अत्र " आहट्टत्ति " प्रहेलिका कुहेडक आभाणकप्रायः प्रसिद्ध एव प्रव० ७३ द्वा० । बृ० । दशा० । पं० व० ।

कंदप्पिय–न० (कान्दर्पिक) कंन्दर्पस्तद्दृष्टिः प्रयोजनमस्य ठक् । कन्दर्पबुद्धिसाधने वैद्यकोक्ते वाजीकरणादिके विधानभेदे, वाच० कन्दर्पः परिहासः स येषामस्ति तेन वा ये चरन्ति ते कन्दर्पिकाः कान्दर्पिका वा । व्यवहारतश्चरणवत्स्वेव कन्दर्पकौकुच्यादिकारकेषु, भ० १ श० २ उ० । तथा हि (कहकहकहस्स हसणं, इत्यादि चतस्रोऽपि कंदप्पभावणाशब्दे दर्शिताः) कामकन्दर्पप्रधानकेलिकारिषु नानाविधहास्यकारिषु, औ० । हास्यकारिषु भण्डप्रायेषु देवविशेषेषु च प्रश्न० द्वा० २ अध० २ अ० ।

कंदप्पिया—स्त्री० (कन्दर्पिकी) कन्दर्पः कामस्तत्प्रधानाः षङ्गप्राया देवविशेषाः कन्दर्पा उच्यन्ते तेषामियं कान्दर्पिकी। असंक्लिष्टभावनाभेदे, *बृ० १ उ० (कन्दप्पभावणा शब्दे व्याख्यातम्)*

कंदप्पुवएस—पुं० (कन्दर्पोपदेश) विधानद्वारेणैवं कुर्वति, हास्यादिप्रर्व-तने, पं० व०।

कंदभोयण—न० (कन्दभोजन) भुज्यत इति भोजनं कन्दः सूरणादि-स्तस्य भोजनं तदेव वा भोजनमिति। कन्दाहारे, तच्च पाश्चयामिकानां प्रतिषिद्धम् स्था० ६ ठा०।

कंदमंत—त्रि० (कन्दवत्) कन्दो मूलानामुपरि वृक्षावयवविशेषः सोऽ-स्यास्ति मतुप्प्रत्ययश्चेह भूम्नि प्रशंसायां वा। कन्दप्रचुरे, प्रशस्तकन्दे च औ०। ज्ञा०।

कंदमाण—त्रि० (क्रन्दत्) शोकान्महाध्वनिं मुञ्चति, ज्ञा० ६ अ०।

कंदमूल—न० (कन्दमूल) कन्दरूपं मूलमस्य। मूलके, राजनि०। इतरेतरद्वन्द्वः। कन्दे मूले च " उदरिपत्थयणा सइयत्थयणा तेसिं कंद-मूलफला " बृ० १ उ०।

कंदर—न० (कन्दर) कम् जलेन दीर्य्यते दृ—कर्मणि—अप्×आर्द्रके, अङ्कुरे च राजनि०। रन्ध्रे, ज्ञा० २ अ०। भूमिविवरे, भ० ६ श० ३३ उ०। कुहरे, " बिसमगिरिकंदरकालेवंसण्णिविट्ठा " विपा० १ श्रु० ३ अ०। संस्कृतायां गिरिगुहायाम्, आचा० २ श्रु० २ अ० २ उ०। ज्ञा०। दर्य्याम्, स्त्री० औ०। प्रश्न०। कन्दरसन्निकृष्टदेशादौ, त्रि० कं गजशिरो दीर्य्यते—ऽनेन करणे अप्—अङ्कुशे, मेदि०।

कंदरकम्मायतण—न० (कन्दरकर्मायतन) यत्र कन्दरपरिकर्म क्रियते तादृशे स्थाने, आचा० २ श्रु० २ अ० २ उ०।

कंदरगिह—न० (कन्दरगृह) गिरिगुहायां, गिरिकन्दरे च। स्था० ५ ठा०। भ०।

कंदरविल—न० (कन्दरविल) गुहालक्षणे रन्ध्रे, " हिंगुलयधाउ कंदर-बिलवंतस्स " उपा० २ अ०।

कंदरी—स्त्री० (कन्दरी) गुहासु, ज्ञा० १ अ०।

कंदल—त्रि० (कन्दल) कदि—अलच्—कलापे, उपगे, कलध्वनौ च मेदि०। अपवादे, शब्दर०। वाग्युद्धे, कपाले च धरणिः। ओले, पुं० भावप्र०। प्रत्यग्रलतायाम्, ज्ञा० ६ अ०। प्ररोहे चन० " सञ्जञ्जुणनीव-कंदुयकंदलसिलिंधकलिएसु "। ज्ञा० १ अ०।

कंदलग—पु० (कन्दलक) एकखुरचतुष्पदस्थलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्यो-निकजीवविशेषे, प्रज्ञा०१ पद।

कंदलसिलिंध—पुं० (कन्दलसिलिन्ध्र) कन्दलप्रधाने वृक्षविशेषे, ज्ञा० ६ अ०।

कंदली—स्त्री० (कन्दली) कन्दल—गौरा० ङीप्—मृगभेदे, गुल्मभेदे च मेदि०। कन्दभेदे, उत्त० ३६ अ०। गुच्छभेदे, प्रज्ञा० १ पद। हरितभेदे, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ०। वलयभेदे, प्रज्ञा० १ पद। भ०।

कंदलीमत्थय—न० (कन्दलीमस्तक) कन्दलीमध्यवर्तिनि गर्भे, आचा० २ श्रु० १ अ० ८ उ०। कन्दल्या मस्तकसदृशेऽवयवे, यच्छित्त्वा-ऽनन्तरमेव ध्वंसमुपयाति आचा० २ श्रु० १ अ० ८ उ०।

कंदलीसीसग—न० (कन्दलीशीर्षक) कन्दलीस्तवके, आचा० २ श्रु० १ अ० ८ उ०।

कंदाहार—पुं० (कन्दाहार) कन्दमात्राहारके वानप्रस्थभेदे, औ०। नि०। आ० म० प्र०।

कंदिय—न० (क्रन्दित) क्रदि—भावे—क्त। आह्वाने, मेदि०। योधानां *चीत्कारशब्दकरणे, शब्दर०। ध्वनिविशेषकरणे, प्रश्न० अध० १ द्वा० १* अ०। अव—आक्रन्दौ च प्रश्न० सं० २ द्वा० ५ अ०। व्यन्तरकायानामु-परि व्यन्तरजातिविशेषे, पुं० प्रश्न० अध० १ द्वा० ५ अ०। औ०। प्रव०।

कंदियसद्द—पुं० (क्रन्दितशब्द) प्रोषितभर्तृकाणां विरहिणीनां भर्तृवि-योगदुःखाज्ञाते, (उत्त० १६ अ०) आक्रन्दरूपे शब्दे, " कंदियसद्दं वा सुणमाणस्स बंभचेरस्स तं कहं " उत्त० २ अ०।

कंदिसिय—त्रि० (कान्दिशिक) कां दिशं यामीत्याह तदाहेति मा शब्दा-दिभ्यः उपसंख्यानात् ठक् पृषो० मयू० आकृतिगणत्वात् समासः। कदि-वैक्लव्ये भावे—इन्। कन्दिः वैक्लव्यम्। शोकसेचने क्षरणार्थत्वादश्रुपा-तार्थकता भावे—घञ् कन्दिश्च शोकः अश्रुपातश्च विद्यते अस्य वा अण्। भयद्रुते पलायिते, अमरः। कान्दिशीकः शतानीकः कालिन्द्याः परतोऽगमत् " आ० क०।

कंदु—पुं० स्त्री० (कन्दु) स्कन्द—उ—सलोपश्च। मण्डकादिपचनभाजने, वि० ३ अ०। लेह्याश्च प्रश्न० अध० १ द्वा० १ अ०। तण्डुलादेर्भर्जनपा-त्रमात्रे च। सूत्र० १ श्रु० ५ अ०।

कंदुकुंभी—स्त्री० (कन्दुकुम्भी) लोहमयपाचनभाण्डविशेषे, उत्त० १७ अ०।

कंदुग—पुं० (कन्दुक) कं सुखं दादति—दा—डु×संज्ञायाम् कन्। कन्दु-यावादिकुमारक्रीडनकत्वेन कन् वा। वस्त्रादिनिर्मिते गोलाकारे क्रीडा-साधने गेन्द इति प्रसिद्धेऽर्थे, वाच० (कन्दुगत्यादिशब्दाः कंडुगादिप्र-करणे उक्ताः) साधारणवनस्पतिविशेषे, पुं० प्रज्ञा० १ पद।

कंदुट्ठ—न० (उत्पल) **गोणादयः ८। २। १७४।** इति उत्पलस्थाने निपातः। प्रा०। कमले, को०।

कंदुसोल्लिय—त्रि० (कंदुपक्व) जलोपसेकं विना कन्दुपाके, पक्वं तण्डुलाशुष्कतया भ्रष्टतण्डुलादौ, औ०। म०।

कंप—पुं० (कम्प) कपि—चलने—घञ्+गात्रादिचलने, वेपथौ, कम्पश्च-लनं स च वातादिना प्रेरणात् स्थावरस्य भूम्यादेर्भवति देहाहेस्तु मनसो विकारभेदेन वातादिधातुना च चालनात् भवति वाच०। उक्तं च " प्रकामं वेपते यस्तु कम्पमानस्तु गच्छति। कलापषञ्जं तं विद्यान्मुक्तसन्धि-निबन्धनम् " आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ०।

***कम्प्य**—त्रि० कपि—णिच्—कर्मणि—यत्+क्षोभ्ये, चाल्ये, आतु०।

कंपण—न० (कम्पन) चलने, मेदि०। णिच् ×ल्युट् ×कम्पयितरि, त्रि०। शिशिरे ऋतौ, पुं० अस्त्रभेदे, सान्निपातिकज्वरभेदे च वाच०। भावे-ल्युट्×शीतजलाच्छेदनादिना शीतकाले गात्रोत्कम्पजनने, स०।

कंपमाण—त्रि० (कंपमान) चलनस्वभावे, कल्प०। उत्त०।

कंपिल्ल—पुं० (कम्पिल्ल) कपि—इल्ल×रोचने, वृक्षभेदे, स च करञ्जभेदः स्वार्थे कन् कम्पिल्लकोऽप्युक्तार्थे वाच०। द्वारवत्यामन्धकवृष्णेर्धारिण्या-मुत्पन्ने षष्ठे पुत्रे, अयं च नेमिजिनान्तिके गृहीतप्रव्रज्यः शत्रुञ्जये सिद्ध इति अन्तगडदशाङ्गस्य प्रथमवर्गे षष्ठेऽध्ययने सूचितम् तत्र गौतमकुमा-रचरितवद्भावनीयम् अन्त० १ वर्ग।

काम्पिल्य—न० पञ्चालाख्यार्य्यक्षेत्रराजधान्याम्, प्रज्ञा० १ पद। ज्ञा०। प्रव०। उत्त०। आ० चू०। आव०। सूत्र०। काम्पिल्य-कल्पः। काम्पिल्यपुरे जातानां तीर्थकृन्महाराजादीनां सङ्ग्रहेणो-

लेखः च चैवं, " गंगामूलट्ठिअसिरिविमलजिणाययणमणहरसिरिस्स। कित्तेमि समासेणं, कंपिल्लपुरस्स कप्पमहं। अत्थि इहेव जंबूदीवे दीवे दक्खिणभारहखंडे पुव्वदिसाए पंचाला नाम जणवओ। तत्थ गंगा नाम महानईतरंगभंगिपक्खालिज्जमाणपायारभित्तियं कंपिल्लनाम नयरं २ तत्थ तेरसमो तित्थयरो विमलनामा इक्खागुकुलपई व कयवम्मनरिंदनंदणो सामा देवी कुच्छिसिप्पमुत्ता हलोवमो वराहलंछणो जचकणयवन्नो पउणो ३ तत्थ तस्सेव भगवओ चवणजम्मणरज्जाभिसेअदिक्खा केवलनाणलक्खणाइं जायाइं इत्तुचि तत्थ पएसे पंचकल्लाणयं नाम नयरं रूढं ४ जत्थ तस्सेव भगवओ सूअरलंछणाणत्थणं पडुच्च देवेहिं महिमा कया। तत्थ य सूअरखित्तं पसिद्धिमुवगयं तत्थ नयरे दसमो चक्कवट्टी हरिसेणो नाम संजाओ। ५ तहा दुवालसमो सव्वभामो बंभदत्तनामा तत्थेव समुप्पनो ६ तहा वीरजिणनिव्वाणओ दोहिं सएहिं वीसाए समहिएहिं वरिसाणं मिहिलाए नयरीए लच्छिहरे चेइए महागिरीणं आय–रियाणं कोभिन्नो नाम सीसो तस्य आसमित्तो नामं सीसो अणुप्पवायपुव्वे नेउणियवत्थुम्मि छिन्नच्छेयणे य वत्तव्वयाए आलावगं पढंतो विप्पडिवन्नो चउत्थो निन्हवो जाओ। समुच्छेइयदिट्ठि परुविंतो एयं कंपिल्लपुरमागओ तत्थ खंडक्खा नाम समणोवासगा ते अ सुंकपाला तेहिं भएणं उववत्तीहि य पडिवोहिओ ७ इत्थ संजयो नाम राजा होत्था सो अपारदीपगओ कंसरुज्जाणामिएहि एवं पासंतो तत्थ गद्दभालिं अणगारं पासित्ता संविग्गो पव्वइत्ता सुगइं पत्तो ८ इत्थेव नयरे गागलीकुमारो पिट्ठी चंपाहिवसालम–हासालाणं भाइणिज्जो पिउरजसवईणं पुत्तो आसी सो अ तेहिं माउलेहिं इतो य राओ आहवित्ता पिट्ठी चंपारज्जे अहिसित्ता। तेसिं च गोअमसामि–पासे दिक्खा गहिया कालक्कमेणं गागली वि अम्मापिउसहिओ गोयमसा–मिपासे जिणदिक्खं पडिवण्णो सिद्धो अ ९ इत्थेव नयरे दिव्वमउडरयण–विविअमुहत्तणपसिद्धेण नामधिज्जेण दुम्मुहो नाम नरवई कोमुईमहूसवे इंदकेउअलंकिअविभूसिअं महाजणजणियइड्ढिसक्कारं दट्ठुं दिणंतरे तं चेव भूमिं पडियं पाएहिं विलुप्पमाणं अणाढइमाणं दट्ठूण इड्ढिअणिड्ढिस–मुपेहिऊणिय पत्तेयबुद्धो जाओ॥ १०॥ इत्थेव पुरे दो वइमहासई दूरयन–रिंदमहाधूआ पंचण्हं पंडवाणं सयं चरमकासी ११ इत्थेव पुरे धम्मरुई नरिंदो अंगुलिज्जगरयणुक्खेडियनरिंदविंवनमंसणदोसुज्झावणेणं पिसु–णेहिं कोविएण कासीसरेण वि गहिओ वेसमणेण धम्मप्पभावेणं सबलवा–हणं परचक्कं गमणगामेणं कासीए नेउं नित्थारिओ तस्सेव सम्माणभायणं जाओ १२ इच्चाइ अणेगसंवहाणगरयणनहीणं एवं नवरं महातित्थं इत्थ तित्थजत्ताकरणेणं भविअलोआ जिणसासणप्पभावणं कुणंता अज्झिंति इह लोअपरलोइअसुहाइं तित्थयरनामगुत्तं " चंपिल्लियकुकम्मरिउणा, कंपिल्लपुरस्स पवरतित्थस्स। कप्पपढंतअसढाइ य, भणइ जिणप्पहो सूरी॥ १॥ " इति काम्पिल्यपुरकल्पः ती०। मलयवत्याः पितरि, उत्त० १३ अ०।

कंपिल्लणयर–न० (काम्पिल्यनगर) पाञ्चालप्रधाननगरे, " कंपिल्ले नयरे राया उदिण्णबलवाहने नामेण संजओ नाममिव्वं उ वणिग्गए " उत्त० १८ अ०।

कंपिल्लपट्टण–न० (काम्पिल्यपत्तन) काम्पिल्यपुरे, " समुच्छेदं, वदन् सोऽथ, ययौ काम्पिल्यपत्तनम् " आ० क०।

कंपिल्लपुर–न० (काम्पिल्यपुर) पाञ्चालजनपदेषु प्रधाननगरे, " पंचालेसु जणवएसु कंपिल्लपुरं णयरं तत्थ दुम्मुहो राया " उत्त० ९ अ०। राजगृहा–परनामके नगरे च। यत्र खण्डरक्षाऽभिधानैः श्रावकैः सामुच्छे–दिकनिह्नवाः संबोधिताः। विशे०। आ० म० द्वि०।

कंबल–पुं० (कम्बल) कम्ब–कलच्–कुं कुत्सितं शिरोऽम्बु वा बलति बल संवरे, अच्–वा सर्पभेदे, कृमौ च। जले, उत्तरासङ्गे च मेदि०। मृग– भेदे, पुं० स्त्री० जटा०। सास्नायाम्, विपा० २ अ०। और्णिके, आचा० १ श्रु० ६ अ० २ उ०। कल्पे, । बृ० १ उ०। वर्षाकल्पादौ, द० ६ अ०। ऊर्ममये जीनादौ, भ० १३ श० ६ उ०। वासोविशेषे, प्रश्न० सं० २ द्वा० ४ अ०। आविके, पात्रनिर्योगे, आचा० १ श्रु० २ अ०। तथा केवलोर्णि–काशरीरसंपर्के संमूर्च्छजजीवानामुत्पत्तिरस्ति न वेति। अत्र केवलिशरीरसंपर्के वस्त्रापेक्षया षट्पद्यो बहवः उत्पद्यन्ते इत्यक्षराणि छेदग्रन्थे स्मरन्ति नेतराणीति ही०। (वत्थशब्दे तद्ग्रहणम्) स्वनामख्याते गोवृषे, सचाऽनशनेन मृत्वा नागकुमारेषूपपन्नः। तत्कथा चैवम्॥

महुराए जिणदासो, आभीरविवाहगोणउववासो।
भंडीरमित्तवच्चे, मत्ते नागोहिआगमणं॥

व्याख्या कथानकाज्ज्ञेया सा चेयम्।

इहास्ति जम्बूद्वीपान्तर्भरतक्षेत्रमण्डनम्।
नगरी मथुरा नाम, यथा कामितकामधुक्॥ १॥
जिनदासो वणिक् तत्र, श्रावकः परमार्हतः।
अर्हद्धर्मः सदा यस्य, मानसे राजहंसति॥ २॥
जिनदासी प्रिया तस्य, प्रियङ्करणदर्शना।
धर्मे रङ्ग स कोऽप्यस्या, न यो योगभृतामपि॥ ३॥
एकान्तरदिनोपात्तैकान्तरब्रह्मचारिणौ।
कुमारत्वेऽप्यभूतां तौ, गुरूणामुपदेशतः॥ ४॥
दैवयोगात्तयोरेवाभवत्पाणिग्रहस्ततः।
व्रतभङ्गभयाज्ञातौ, तौ नित्यं ब्रह्मचारिणौ॥ ५॥
तौ त्यक्तारम्भसंरम्भौ, प्रत्याख्यातचतुष्पदौ।
कलान्तरार्जितद्रव्यौ, धर्मकर्मैककर्मठौ॥ ६॥
धान्यैः प्रतिदिनानीतैः, कर्मकृत्प्रगुणीकृतैः।
गोरसैर्गोकुलायातैः, प्रत्यहं कृतभोजनौ॥ ७॥
त्रिसंध्यं कृतदेवार्चौ, गुरुव्याख्यारसोर्जितौ।
सायं प्रातः प्रतिक्रान्ति–कारिणौ प्रतिवासरम्॥ ८॥

(कलापकम्)

तदानीं जिनदास्याश्च, गोकुलिन्याश्च चेतसोः।
उपप्रयागं मेलोऽभू–द्गङ्गायमुनयोरिव॥ ९॥
निमन्त्रितौ गोकुलिकै–र्विवाहोपक्रमेऽथ तौ।
ऊचतुः क्वापि नायावो, धर्मो बाध्येत नौ यतः॥ १०॥
वस्त्राभरणकुप्यादि–विवाहायोपकारि यत्।
तथा कर्पूरकस्तूरी–कुङ्कुमाद्यं च गृह्यताम्॥ ११॥
ते तदर्पितमादाय, विवाहं व्यधुरद्भुतम्।
मध्यं वैवाहिकं तेषां, जज्ञे शोभातिशायिनी॥ १२॥
विवाहातिक्रमे तेऽथ, तयोर्निर्याण्यमार्पयन्।
हर्षोत्कर्षेण शाल्यादि–भोजनौ द्वौ च गोवृषौ॥ १३॥
आददे सर्वमप्यन्यद्, गोवृषौ नेच्छतः पुनः।
अनिच्छतोरपि तयोर्वध्वा तौ तत्र ते ययुः॥ १४॥
दध्यौ श्राद्धोऽथ मोक्ष्ये चेत्तल्लोको वाहयिष्यति।
प्रासुकैश्चारिपानीयैस्तदासातामिहाप्यमू॥ १५॥

अथ कर्मकरं चक्रे, स तयोः प्रतिचारकम्।
यथैतौ सुखमेधेते, पुत्रकाविववच्छकौ ॥ १६ ॥
विधत्ते पुस्तकव्याख्यां, स भक्तार्थां च पर्वसु।
तत् श्रुत्वा भद्रकौ जातौ, गावौ तावपि संज्ञिनौ ॥ १७ ॥
न श्राद्धो यद्दिनेऽश्नाति, नाश्नीतस्तत्र तावपि।
ततस्तौ प्रति भावोऽभूद्यथा साधर्मिकाविमौ ॥ १८ ॥
कम्बलः शवलश्चेति,.कृतोल्लापननामकौ।
संजाताभ्यधिकस्नेहस्तयोः सारां व्यधात्पराम् ॥ १९ ॥
अनन्यसदृशौ स्थाम्ना, धाम्ना तेजोमयाविव।
हरोक्षण इव मूर्ती द्वे, अनापृच्छ्यैव गोवृषौ ॥ २० ॥
भण्डीरमणयात्रायां,बाहकेलिकुतूहली।
वयस्यो जिनदासस्य, तौ निनाय परेद्यवि ॥ २१ ॥
बाहकेलीं ततस्ताभ्यां, कृत्वा जयमवाप्य च।
तदैवानीय तत्रैव, विमुच्य व्रजति स्म सः ॥ २२ ॥
चैत्यादथागतः श्रेष्ठी, श्रान्तौ तौ वीक्ष्य दुःखितौ।
धूलीधूसरसर्वाङ्गौ, तोत्रतोदोत्थशोणितौ ॥ २३ ॥
ज्ञात्वा तयोर्मित्रकृतं, दुष्कृतं तच्च तादृशम्।
क्षालयित्वा तदङ्गानि, वारिचारिमढौकयत् ॥ २४ ॥
तौ न चारिमचारिष्टामयातां वारि वा न च।
तिर्यग्वैद्यमथाकार्य्यादर्शयत्तावुवाच सः ॥ २५ ॥
भद्र! भद्रौ मृदू एतौ, त्रुटितावतिखेदनात्।
देहि पर्यन्तपाथेय–मेतयोः ससितं पयः ॥ २६ ॥
तं विमृज्य तदाऽऽनाय्य, ढौकयामास तत्पुरः।
पपतुस्तौ न तदपि, ज्ञात्वा पर्यन्तमात्मनः ॥ २७ ॥
वृषावनशनेच्छौ तौ, विदित्वा ऽनशनं ददौ।
पर्यन्ताराधनां श्रेष्ठी, कारयामास चाखिलाम् ॥ २८ ॥
कृतात्मकृत्यं कृत्यज्ञौ, नमस्कारश्रुतौ रतौ।
तौ विपद्योदपद्येतां, देवौ नागकुमारकौ ॥ २९ ॥
आ० क०। (ताभ्यां नौस्थं श्रीवीरमुपसर्गयन् सुदाढः पराजित इति वीरशब्दे)

कंबलरयण–न० (कम्बलरत्न) उत्कृष्टकम्बले, " उण्हे करेइ सीयं, सीए उण्हत्तणं पुण करेइ। कंबलरयणादीणं,एस सहावो मुणेयव्वो " सूत्र० १ श्रु० १३ अ०।

कंबलसाडय–पुं० (कम्बलशाटक) कम्बलरूपे शाटके,।

कंबलसाडणेणं भंते ! आवेढियपरिवेढिए समाणे जावतियं उवासंतरं फुसित्ताणं चिट्ठइ विरल्ले वि य णं समाणे तावइयं चेव उवासंतरं फुसित्ताणं चिट्ठति हंता गोयमा ! कंबलसामएणं आवेढियपरिवेढिए समाणे यावति य चेव चिट्ठति।

कम्बलशाटकः कम्बलरूपः शाटकः कम्बलशाटक इति व्युत्पत्तेः। आवेष्टितः परिवेष्टितो गाढतरं सम्बेल्लितः एवंभूतः सन् यावत् अवकाशान्तरं यावत् आकाशप्रदेशानित्यर्थः। स्पृष्ट्वा अवगाह्य तिष्ठति (विरल्लएवीति) विरल्लितोऽपि विरलीकृतोऽपि तावदेवाकाशान्तरं तावदेवाकाशप्रदेशान् स्पृष्ट्वा तिष्ठति भगवानाह। " हंता गोयमा " इत्यादि हन्तेति प्रत्यवधारणमेवमेवैतत् गौतम! यत् " कम्बलसाडएणमि " त्यादि तदेवमेषोऽत्र संक्षेपार्थः यावत् एवाकाशप्रदेशान् सम्बेल्लितः सन् कम्बलशाटकोऽवगाह्यावतिष्ठते तावत् एवाकाशप्रदेशान् वितनीकृतोऽप्यवगाह्यावतिष्ठते केवलं घनप्रतरमात्रकृतो विशेषः। प्रदेशसंख्या तूभयत्रापि तुल्या। उक्तश्चायमर्थोऽन्यत्रापि नेत्रपटमधिकृत्य " जह खलु महप्पमाणो, नेत्तपडो कोडिओ महग्गम्मि। तम्मि वि तावि इच्चियु फुसइ एएसे इति " प्रज्ञा० १५ पद।

कंबु–पुं० न० (कम्बु) कम् अन् बुक् च० कम्ब गतौ मृगण्वा–उन्–वा वाच०। शङ्खे, ध० २ अधि०। स्था०। " जलोयणरट्ठयाए कंबुगं मेल्लेउं ताव अण्णेण खग्गं " आ० म० द्वि०।

कंबुवर–पुं० (कम्बुवर) प्रधानशङ्खे, " कंबुवरसरिसगीवा " कम्बुवरेण प्रधानशङ्खेन सदृशी उन्नतवलित्रययोगाभ्यां समाना ग्रीवा कण्ठो येषां ते तथा तं०। जी०।

कंबोय–पुं० (कम्बोज) हस्तिभेदे, शङ्खभेदे, मेदि०। पञ्चनदं समारभ्य म्लेच्छाद्दक्षिणपूर्व्वतः कम्बोजदेश इत्युक्ते देशे च वाच०। " सवलि जहा से कंबोयाणं आइन्ने कंथए सिया " यथा काम्बोजानां काम्बोजदेशोद्भवानामश्वानां मध्ये उत्त० ११ अ०।

कंस–पुं० न० (कंस) कम्–स० कांस्ये, स्वर्णरजतादिनिर्मिते पानपात्रे, आढक इति प्रसिद्धे परिमाणे च अस्त्री० वाच०। करोटिकादौ पात्रे, दश० ६ अ०। कृष्णमातुले मथुराराजे, प्रश्न० १ अध० द्वा० ४ अ०। (तत्कथा सर्वा वसुदेवहिण्ड्याः समवसेया) अष्टाशीतिमहाग्रहाणां द्वार्विंशे त्रयोविंशे वा महाग्रहे, स्था० २ ठा० ३ उ०। " दो कंसाइत्ति " सूत्रात्तौ द्वाविति गम्यते स्था० २ ठा० ३ उ०। कल्प०। सूत्र०।

कांस–पुं० कम्–स० **मांसादिष्वनुस्वारे ८। १। ७०।** इति आतोऽत्वं प्रा०। **मांसादेर्वा। ८। १। २९।** इति अनुस्वारस्य वा लुक्। लुकि अत्वं न प्रा०। कंसाधिष्ठितभोजदेशाभिजने नरादौ, वाच०।

कांस्य–कंसाय पानपात्राय हितं कांसीयं तस्य विकारः। यञ् छलोपः वाच०। त्रपुकताम्रसंयोगजे, प्रश्न० अध० द्वा० ५ अ०। स्थलकच्चोलकादिरूपे धातुभेदे, ग० १ अधि०। द्रव्यमानविशेषे च उपा० ८ अ०।

कंसणाभ–पुं० (कंसनाभ) अष्टाशीतिमहाग्रहाणां त्रयोविंशे ग्रहे, सू० प्र० २० पाहु०। चं० प्र०। कल्प०। अस्य कंसवर्ण इत्यपरं नाम कल्प०।

कंसताल–न० (कांस्यताल) कंसालियाख्ये आतोद्यभेदे, जी० ३ प्रति०। " अट्ठसयं कंसालियाणं " रा०। आचा०। आ० चू०।

कंसपत्ती (पाई)–स्त्री० (कांस्यपात्री) कांस्यभाजनविशेषे, स्था० ६ ठा०। " कंसपाई च मुक्कतोए " कांस्यपात्रीव मुक्तं तोयमिव तोयं स्नेहो येन स तथा। यथा कांस्यपात्रं तोयेन न लिप्यते तथा भगवान् स्नेहेन न लिप्यते इत्यर्थः। कल्प०।

कंसपाय–न० (कंसपात्र) तिलकादिकांस्यभाजने, " कंसेसु कंस–पाएसु, कुंडमोएसु वा पुणो। भुञ्जतो असणपाणाइं, आयरो परिभस्सइ " दश० ६ अ० आचा०।

कंसभायण–न० (कांस्यभाजन) कांस्यपात्र्याम्, " सुविमलवरकंसभायणं चेव मुक्कतोए " प्रश्न० २ सं० द्वा० ५ अ०।

कंसवण्ण–पुं० (कंसवर्ण) अष्टाशीतिमहाग्रहाणां त्रयोविंशे महाग्रहे, " दो कंसवण्णा " कंसनाभ इत्यपरं तस्य नाम चं० प्र० २० पाहु०।

कंसवण्णाभ–पुं० (कंसवर्णाभ) अष्टाशीतिमहाग्रहाणां चतुर्विंशे ग्रहे " दो कंसवण्णाभा " स्था० २ ठा० ३ उ०। चं० प्र०। सू० प्र०।

कंसाला–स्त्री० (कंसताला) द्वादशानां तूर्य्यनिर्घोषाणां सप्तमे, निर्घोषे, औ०। नं०।

कंसालिया–(कांस्यतालिका) कांस्यताले, जी० ३ प्रति०।

कंसिया–स्त्री० (कंसिका) ताले, ज्ञा० १७ अ०। औ०। आ० म० प्र०। कंसिकातालव्यमध्यलतिकाख्ये वादित्रे, आचा०२ श्रु०।

ककारखकारगकारघकारङकारपविभत्ति–न० (ककारखकारगकारघकारङकारप्रविभक्ति) कवर्गाकृतिरूपनर्तकमण्डलाभिनयरूपे पञ्चदशे नाट्यविधौ, रा०।

ककुध–न० (ककुद) **गोणादयः। ८। २। १७४।** इति निपातनात् दघटितस्य घटितः वृषाङ्गे, प्रा०।

ककुह–न० (ककुद) गोणादित्वाद्दस्य धः। तस्य हः। चिह्ने, " राय-ककुहा " राज्ञां नृपतीनां ककुदानि चिह्नानि स्था० ५ ठा० १ उ०। प्रधाने च। ज्ञा० १७ अ०। औ०।

कक्क–पुं० (कल्क) कल–क–तस्य नेत्वम् घृततैलादिपाकसंस्कारविशेषे विभीतकवृक्षे, विष्ठायाम्, किट्टे, पापे च मेदि०। तुरुष्कनामगन्धद्रव्ये राजनि०। घृततैलादिपाके देये ओषधिद्रव्यभेदे, वाच०। चन्दनकल्कादौ, प्रसूत्यादिषु रोगेषु क्षारपातने आत्मनः शरीरस्य देशतः सर्वतो वा लोध्रादिभिरुद्वर्त्तने, प्रव० २ द्वा०। लोध्रादिद्रव्यसमुदायेन शरीरोद्वर्तनके, सूत्र० १ श्रु० ६ अ०। " कक्कं उव्वलणयं " द्रव्यसंयोगेन वा कक्कं क्रियते नि० चू० १ उ०। पापे वञ्चनेच्छायाम् सप्तमे गौणमोहनीये कर्मणि, स०। कल्कं हिंसादिरूपं पापं तन्निमित्तो यो वञ्चनाभिप्रायः स कल्कमेवोल्लते भ० १२ श० ५ उ०।

कक्कगुरुग–न० (कल्कगुरुक) मायायाम्, प्रश्न० १ अध० द्वा० २ अ०।

कक्कगुरुगकारक–पुं० (कल्कगुरुककारक) मायाकारके चौरभेदे, प्रश्न० सं० २ द्वा० २ अ०।

कक्कड–पुं० (कर्कट) कर्क–अटन् चिर्भटके, प्रव० ४ द्वा०। पंचा०। क्षुद्रामलकवत्क्षुद्रफलके, वृक्षभेदे, जलजन्तुभेदे, कुलीरे, पक्षिभेदे, अलाबूवृक्षे च मेदि०।

कक्कडग–न० (कर्कटक) कर्कट–इव कायति–कै–क–यन्त्रभेदे, कर्कटो वृक्ष इव कायति कैक इक्षुभेदे, शब्दचिन्ता०। स्वार्थे कन् कुलीरे अमरः। हृदयस्थे वायुविशेषे च। " आसस्स णं धावमाणस्स हिययस्स जगयस्स अंतरा एत्थ णं कक्कडए नामं वाए समुच्छिए जेणं आसस्स धावमाणस्स खुक्खु त्ति करेइ " भ० १० श० ३ उ०।

कक्कडजल–न० (कर्कटजल) ६ त० चिर्भटकमध्यवर्तिजले, प्रव० ४ द्वा०। कर्कटाख्यफविशेषरसमिश्रोदके च। पञ्चा० ५ विव०।

कक्कडजलाइ–न० (कर्कटजलादि) कर्कटकानि चिर्भटकानि तन्मध्यवर्तित जलं तदादिर्यस्य तत्कर्कटजलादिकम्। कर्कटाख्यफलविशेषरसमिश्रोदकादिपानके, पञ्चा० ५ विव०। आदिशब्दात्खर्जूरद्राक्षाचिञ्चिणिकापानकेक्षुरसादिपरिग्रहः। एतत्सर्वं पानकम् प्रव० ४ द्वा०।

कक्कडिया–स्त्री० (कर्कटिका) चिर्भटिकायाम्, " पंचुवरिकक्कडियाइ पंच तह खाइमं पंचा० १० विव०। पिं०।

कक्कडी–स्त्री० (कर्कटी) कर्कट–ङीप्। शाल्मलौ, मेदि०। सर्पे, शब्दरत्न०। देवदालीलतायाम्, घोषिकावृक्षे, राजनि०। उत्त०।

कक्कर–पुं० (कर्कर) कर्कर–हासे, दर्पणे, मेदि०। चूर्णसाधने क्षुद्रपाषाणखण्डे कङ्करे, दृढे, कठिन, त्रि० मेदि०। मुद्गरे, शब्दचिं०। " कक्करेहिं विंधइ " आ० म० द्वि०।

कक्करणया–स्त्री० (कर्करणता) शय्योपध्यादिदोषोद्भावनगर्भप्रलयने, स्था० ३ ठा० ३ उ० (एषा च साधूनामहिता)

कक्कराइय–न० (कर्करायित) विषमा धर्मवतीत्यादिशय्यादोषोच्चारणे, आव० ४ अ०। "अहो विसमा सीतला धम्मिला दुग्गंधादि कक्करा-इतं" कुत्सितं रसितं कुरसितं कक्करसरसितं कक्कराइतम्। आ० चू० ४ अ०।

कक्कस–पुं० (कर्कश) कम्पिल्यवृक्षे, अमरः। इक्षुवृक्षे, खड्गे च हेम०। साहसिके कठोरे च त्रि० अमरः। अश्लथाङ्गतया कठिने, " णिरुवहयसरसजोव्वणकक्कसतरूणवयभावमुवगयाओ " कर्कशोऽश्लथाङ्गतया यस्तरुणः औ०। प्रश्न०। " विपुला कक्कसापगाढा चंडा दुहा तिव्वा दुरहियासत्ति " एकार्थाः। विपा० १ श्रु० १ अ०। परुषे, प्रव० २ द्वा०। कर्कशद्रव्यमिव कर्कशः। अनिष्टे, भ० ६ श० ३३ उ०। उपा०। नम्रताया अभावान्निष्ठुरे, उपा० २ अ०। कर्कश–टाप्। कर्कशेव कर्कशा। कर्कशस्पर्शसंपादितायां चण्डायां वा वेदनायाम्, स्था० ६ ठा०। किमुक्तं भवति यथा कर्कशपाषाणसंघर्षः शरीरस्य खण्डानि त्रोटयति एवमात्म–प्रदेशान् त्रोटयन्ती या वेदनोपजायते सा कर्कशा रा०। चर्विताक्षरायां वाचि,। आचा० २ श्रु० ४ अ० १ उ०। वृश्चिकालीवृक्षे, राजनि०।

कक्कसविअडफुडाडोवकरणदच्छ–पुं० (कर्कशविकटस्फुटाटोपकरदक्ष) कर्कशो निष्ठुरो नम्रताया अभावादविकटो विस्तीर्णो यः स्फुटाटोपः फणाडम्बरं तत्करणे दक्षः। फणविकाशनिपुणे सर्पे, उपा० २ अ०।

कक्कसवेयणिज्ज–न० (कर्कशवेदनीय) कर्कशरौद्रदुःखैर्वेद्यन्ते यानि तानि कर्कशवेदनीयानि। स्कन्दिलाचार्य्यसाधूनामिवेति। असात वेदनीयेषु कर्मसु।

अत्थि णं भंते ! जीवाणं कक्कसवेयणिज्जा कम्मा कज्जंति ? हंता अत्थि। कह णं भंते ! जीवाणं कक्कसवेयणिज्जा कम्मा कज्जंति गोयमा ! पाणाइवाएणं जाव मिच्छादंसणसल्लेणं। एवं खलु गोयमा ! जीवाणं कक्कसवेयणिज्जा कम्मा कज्जंति। अत्थि णं भंते ! नेरइयाणं कक्कसवेयणिज्जा कम्मा कज्जंति गोयमा ! एवं जाव वेमाणियाणं। भ० ७ श० ६ उ०।

कक्कसूरि–पुं० (कर्कसूरि) उकेशगच्छीये देवगुप्तसूरिशिष्ये सिद्धसूरेर्गुरौ, हेमचन्द्राचार्यकुमारपालराजाभ्यामयमभ्यनुज्ञातः चैत्यवासिसाधून् पराजिग्ये मीमांसाजिनचैत्यवन्दनविधिपञ्जप्रमाणिकाख्यान् ग्रन्थांश्च व्यरीरचत जै० इ०।

कक्कसेण–पुं० (कर्कसेन) जम्बूद्वीपे द्वीपे भरते वर्षेऽतीतायामुत्सर्पिण्यामुत्पन्ने पञ्चमे कुलकरे, स्था० १ ठा०।

कक्कि–पुं० (कल्कि) कल्कोऽस्यास्तीति। चतुर्मुखापरपर्याये श्रीवीरतीर्थविराधके पाटलिपुत्रेश्वरे, तच्चरित्रं यथादुष्षमायाः। " जो व्व एगूणवीसाए सएसु चउहसाहिएसु वरिसेसु वइक्कंतेसु चउद्दसदोआले विक्कमवरिसे पाडलिपुत्ते नयरे चित्तसुद्धट्ठमीए अद्धरत्ते विट्ठिकरणे मयरलग्गे वहमाणे जसस्समयंतरे मगविणभिहाणस्स गिहे जसदेवीए उयरे चंडालकुले कक्किरायस्स जम्मो हविस्सइ एगे एवमाहंसु। वीराओ इगूणवीस–

सएहिं वरिसाण अट्ठावीसाए पंचमासेहिं होही चंडालकुलम्मि कक्कि निवो। तस्स तिन्नि नामाणि भविस्संति तं जहा रुद्दो कक्की चउम्मुहो अ। तस्स जम्मे महुराए राममहुमहणभवणकच्छविगूढं चिट्ठमाणं तं पडिस्सइ दुब्भिक्खइ मरएगेहिं वज्जणो पीडिज्जिहिओइ अट्ठारसमे वरिसे कत्तियसुक्कपक्खे कक्किणो रज्जाभिसेओ भविस्सइ। जहमुआ उ नाउ नंदरायस्स सुवण्णं थोभं पंचगाउसो गिण्हिस्सइ। वम्मयनाणस्स य पवित्तस्सइ। दुट्ठे पालिस्सइ सिट्ठे य निग्गहिस्सइ पुढवीं साहित्था छत्ती– सइमे वरिसे तिखंडखंडाहिवई भविस्सइ। सव्वओ खणित्ता खणित्तित्ता निहाणाणि गिण्हिस्सइ। तस्स भंडारे नवनवइसुवण्णकोडिकोडीओ चउद्दससहस्सा गयाणं सत्तासीइं लक्खाणं आसाणं पंचकोडीओ पाइक्काणं हिंदुचतुरक्ककापुराणं तस्सेव एगच्छत्तं दविणत्थं रायमग्गं खाणिंतस्स पहाणमई लवणदेवी नाम गावी पयडी होऊण गोयरचरिया–गए साहुणो सिंघेहिं घट्टिस्सइ। तेहिं पाडिवयायरियस्स कहिए इत्थ पुरो जालादसग्गो धरणियं होहिंति तेहिं आइसिस्संति। तओ के वि साहुणो अन्नत्थे विहरिस्संति के वि वसहीपडिबंधाइणा वाहिंति तग्गहणत्थं पयडीभविस्सं सत्तरसाहबुद्धीए सव्वत्थं निहाणाणि। तओ गंगाए पुरं समग्गं प पलादिज्जिही राया संघो अ उत्तरदिसिट्ठियं महत्थलं आरूहिअ छट्टिस्संति राया तत्थेव नवं नगरं निवेसिस्सइ सव्वे वि पासंडत्तेण दंडिज्जिहिति साहुणं सग्गासाओ भिक्खत्थलं स मग्गंतो काउस्सग्गाहुअसासणदेवयाए निवारिज्जीहा पंचासं वरिसाइं सुभिक्खं दम्मेण कयाणंदो णो लज्झिहिइ एवं निक्कंटयं निक्कंटयं रज्जमिव भुंजित्ता छासीइमे वरिसे पुणो सव्वपासंडे दंडित्ता सव्वलोअं निद्धणं काउं भिक्खाछट्ठंसं साहूहिंतो मग्गेहिइ ते अदिंते कारागारे खिविस्सइ। तओ पामिव्वयायरियपमुहाओ सासणदेविमाणं काउं काउस्सग्गोवाहितीए विबोहिओ जाव न पण्णप्पिहिइ तओ आसणकंपेण नाउं माहणरूवो सक्को आगमिस्सइ। जया तस्स वि वयणं न पडिवज्जिहिइ तया सक्केण चवेडाहओ मरिउं नरए गमिस्सइ। तओ तस्स पुत्तं धम्मदत्तं नामे रज्जे ठविज्जिस्सइ संघस्स सुत्थयं आइसियसट्ठाणं सक्को गमिहा ती०। अत्रेदं चिन्त्यम्। विविधतीर्थकल्पे कल्किसमयो य इत्थं प्रतिपादितः दुष्यमायाः प्रारम्भवर्षादेकोनविंशतिवर्षशते चतुर्दशाधिके (१९१४) चतुश्चत्वारिंशदधिकचतुर्दशशते च विक्रमसंवत्सरे प्रतिपदाचार्य्यसमये पाटलिपुत्रे नगरे कल्किर्भविष्यति तदनन्तरमेकोनविंशतिवर्षसहस्राणि जिनधर्मो वर्त्स्यति स शङ्कामश्नुते। संप्रति विक्रमसंवत्सरस्य एकोनविंशशताब्द्यावर्तमानत्वेन चतुर्दशशत्या अतीतत्वेन तत्र जातस्य कल्किनृपतेः क्वापीतिहासेऽश्रवणात् सिद्धान्तविरोधाच्च। सिद्धान्ते हि कल्किनृपतिसमये आज्ञाभङ्गः प्रायश्चित्तव्युच्छित्तिश्च प्रतिपादिता न चेदानीमाज्ञा भग्ना प्रायश्चित्तं वा व्युच्छिन्नमिति न जातः कल्किः किंतु भविष्यति। तथा च महानिशीथे।

से भयवं केवइयं कालं जाव एस आणा पवेइया ? गोयमा ! जाव णं महायसे महासत्ते महाणुभागे सिरिप्पभे अणगारे। से भयवं ! केव णं कालेणं से सिरिप्पभे अणगारे भवेज्जा गोयमा ! होही दुरंतपंतलक्खणे अदव्वे रोद्दे चंडे उग्गपयंडदंडे निम्मिरे निक्किवे। निग्घणे निस्तिंसे क्रूरयपावमई अणारिए मिच्छादिट्ठी। कक्की नाम राया से सेणं पावे पाहुडियं भमाडिउकामे सिरिसमणसंघं कयत्थेज्जा जाव णं कयत्थे ताव णं गोयमा ! जे केइ तत्थ सीलड्ढे महाणुभागे अचलियसत्ते तवोवहाणअणगारे तेसिं च पाडिहेरियं कुज्जा सोहम्मे कुलिसपाणिए रावणगामी सुरवरिंदे एवं च गोयमा ! देविंदवंदिए दिट्ठपच्चएणं सिरिसमणसंघे णिट्ठिज्जा। कुणए पासंडधम्मे जाव णं गोयमा ! एगे अविइज्जो अहिंसालक्खणं खंतादिदसविहधम्मे एगे अरहा देवाहिदेवे एगे जिणलये एगे वंदे पूए दक्खे सक्कारे सम्माणे महाजसे महासत्ते महाणुभागे दढसीलव्वयनियमधारए तवोवहाणे साहू। तत्थ णं चंदमिव सोमलेसे सूरिए इव तवतेयरासी पुढवी इव परिसहो-वसग्गसहे मेरूमंदरधरे इव निप्पकंपे विए अहिंसालक्खणखंतादिदसविहे धम्मे। से णं सुसमणगणपरिवुढे निरब्भगयणय-लकोमुईजोगजुत्ते इव गहरिक्खपरिवरिए गहवईवंदे अहिययरं विराएज्जा। गोयमा ! से णं सिरिप्पभे अणगारे भोगो एवंतिअं कालं जाव एसा आणा पवेइया (महा०) से भयवं केवइयं कालं जाव इमस्स विहीणं पायच्छित्तमुत्तस्साणुट्ठाणं वहिही ? गोयमा ! जाव णं कक्की नाम रायणे निहिणं गच्छिय एक्कं जिणाययणमंडियं च सुहं सिरिप्पभे अणगारे भयवं उड्ढं पुच्छा गोयमा ! उड्ढं न केइ पुरिसे पुन्नभागे होही। जस्स णं इणमो सुयक्खंधं उवइ–समेज्जा महा० ७ अ०।

तत्वं पुनर्बहुश्रुतगम्यम्। पौराणिकानान्तु कल्किरन्य एव यतः स स्वगुणोत्कर्षमनुप्राप्ते कलौ सुरप्रार्थितो विष्णुः सम्भले ग्रामे विष्णुय–शसो विप्रस्य गृहे सुमत्यां संभविष्यति सर्वाधर्माचारान् दण्डयित्वा पुनः कृतयुगं स्थापयिष्यति। सर्वान् वेदधर्मान् प्रवर्तयिष्यति इति विभिन्नग्रामपितृकर्मादिक उक्तः। वाच०।

कक्किण्–पुं० (कल्किन्) कल्कोऽस्याऽस्ति कल्किशब्दार्थे, बुद्धः कल्की च ते दश०। वाच०। " कक्किणो रज्जाहिसेओ भविस्सइ " ती०।

कक्किपुत्त–पुं० (कल्किपुत्र) धर्मदत्ते कल्किनृपात्मजे, ती०।

कक्किय–न० (कल्किक) मांसभुक् परिभाषिते मांसे, मांसं कल्किक–मित्यपदिश्य संज्ञान्तरसमाश्रयणान्निर्दोषं मन्यन्ते सूत्र० १ श्रु० ११ अ०।

कक्केयण–पुं० (कर्केतन) मणिविशेषे, " आगासकेसकज्जकक्केयणइंद–णीलअयसिकुसुमप्पगासे " रा०। रत्नविशेषे, औ०। " सोभमाणकक्के–यणइंदनीलमरगयमसारगल्लमुखमंडणं " जं० ३ वक्ष०।

कक्कोउ (ल)–पुं० (कर्कोट) वल्लीनामवनस्पतिभेदे, प्रज्ञा० १ पद। फलेन कक्कोलानि फलविशेषाः प्रश्न० सं० २ द्वा० ५ अ०। तच्च सुरभि भवति। आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ०।

कक्कोडय–पुं० (कर्कोटक) स्वनामख्यातेऽनुवेलन्धरनागराजे, तदा–

वासपर्वते च । कर्कोटकाभिधानोऽनुवेलन्धरनागराजवासभूतः पर्वतो लवणसमुद्रे ऐशान्यां दिश्यस्ति तन्निवासी नागराजः कर्कोटकः भ०३ श०६ उ०। जी०। (विस्तरत उत्तरकुरुशब्दे तद्वक्तव्यता शेषे आवेदितम्)

कक्खंतर–न० (कक्षान्तर) कक्षाया अन्तरं कक्षान्तरम् । बृ० १ उ०। स्तनान्तरे, कक्षयाऽन्तरिते च । यथा स्तम्भेनान्तरितं स्तम्भान्तरम् । नि० चू० १५ उ०।

कक्खगा–स्त्री० (कक्षिका) कक्षायां भवा । कक्षागतकेशलतायाम्, " कक्खगकलियं " कक्षायां भवाः काक्षिकास्तद्गतकेशलतास्ताभिः कलितम् । तं०।

कक्खड–त्रि० (कर्कश) स्तब्धताकारणे दृषदादिगते स्पर्शविशेषे, अनु०। स्था०। " एगे कक्खडे " कर्कशः कठिनोऽनमनलक्षणः स्था० १ ठा० १ उ०। कर्कशस्पर्शपरिणते पाषाणादिवत् प्रज्ञा० १ पद। कर्कशस्पर्शे, प्रज्ञा० २ पद। बलवन्तान्निष्ठुरे, " उक्कडफुडकुडिलजडुलकक्खवियडफडाडोवकरणदच्छे " ज्ञा० ६ अ०। कर्कशद्रव्य इवानिष्टे, प्रश्न सं० २ द्वा० ५ अ०। कठिने, " कक्खडफासा " कर्कशः कठिनो वज्रकण्टकादप्यधिकतरः स्पर्शो येषां ते तथा । सूत्र० २ श्रु० २ अ०। अतिपुरुषे, विशे०। ज्ञा०। तीव्रकर्मोदये वर्तमाने, " कक्खडो तिव्वकम्मोदए वट्टमाणो " नि० चू० ६ उ०।

कक्खपडिग्गहरयहरण–न० (कक्षाप्रतिग्रहहरजोहरण) कक्षाक्षिप्तप्रतिग्रहकरजोहरणद्वये, " अतिमुत्ते कुमारसमणे अण्णया कयाइं महावुड्ढकायंसि निवयमाणंसि कक्खपडिग्गहरयहरणमायाए बहिया संपट्ठिए विहाराए " इत्युक्तेः कक्षायां प्रतिग्रहकं रजोहरणं चादायैव गोचर चर्य्यायै गन्तव्यमिति। भ० १ श० ४ उ०।

कक्खरोम–न० (कक्षारोमन्) दोर्मूलजे केशे, । " परूढणहकेसकक्खरोमाओ त्ति" ओ०। " कक्खरोमाइं कप्पेज्ज वा संठवेज्ज वा " आचा० २ श्रु० १३ अ०।

कक्खा–स्त्री० (कक्षा) कष्–सा उरोबन्धने " उप्पीलिकक्खा " वि० १ श्रु० २ अ०। हृदयरज्ज्वाम्, ज्ञा० १६ अ०। औ०। " पीणुण्णयकक्खवत्थवत्थिप्पएसा " जं० वक्ष० २। भुजमले, । " कक्खणिक्खुडं" कक्षैव दोर्मूलमेव निष्कुटं कोटरं जीर्णशुष्कवृक्षवद्यत्र तत्कक्षानिष्कुटम् तं०। उत्तरीयवस्त्रे, काञ्च्याम्, हस्तिबन्धने, मध्यबन्धने च। विश्व०। मध्ये, संशयकोटौ तुल्यतायाञ्च। वाच०।

कक्खापुड–पुं० (कक्षापुट) सारसंग्रहग्रन्थे, हेम०।

कच्च–त्रि० (कच्च) आमे, आममोरससंपृक्तं कच्चदुग्धदधितक्रसंमिलितम्। ध० २ अधि०।

कच्चंत–त्रि० (कृत्यमान) पीड्यमाने, सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ०।

कच्चायण–पुं० (कात्यायन) कतस्याऽपत्यं कात्यः गर्गादिर्यञिति यञ् प्रत्ययः । तस्यापत्यं कात्यायनः । नं० । कौशिकगोत्रविशेषभूते पुरुषे, तदपत्यसंतानेषु च " जे कोसिया ते सत्तविहा पण्णत्ता तं जहा ते कोसिया ते कच्चायणा " स्था० ७ ठा०।

कच्चायणसगोत्त–त्रि० (कात्यायनसगोत्र) कात्यायनगोत्रीयैः समानगोत्रे, " मूले नक्खत्ते कच्चायणसगोत्ते गद्दभालिस्स अंतेवासी खेदए नामं कच्चायणसगोत्ते परिव्वायए परिवसइ " भ० २ श० १ उ०।

कच्चूर–न० (कर्चूर) तिक्तद्रव्यविशेषे, ध० २ अधि०।

कच्छ–पुं० (कक्ष) कष्–हिंसादौ–ष । **छोऽक्यादौ ८ । २ ।१७ ।** इति संयुक्तस्य छः । प्रा० । शरीराऽवयवविशेषे, वनगहने च भ० ३ श० ६ उ० । ज्ञा०।

कच्छ–पुं० कच्–जलेन–छृणाति दीप्यते छाद्येत वा छृ–छद्–वा डः वाच० । नदीजलपरिवेष्टिते वृक्षादिमत्प्रदेशे, भ० १ श० ८ उ० । सूत्र० । नद्यासन्ननिम्नप्रदेशे, मूलकवालुङ्कादिवाटिकायाम्, आचा० २ श्रु० ३ अ०। तटे, नौकाङ्गे च पुं० परिधानाञ्चले, स्त्री० हेम०। वाराह्यां चीरिकायां च स्त्री० मेदि०। तुन्नवृक्षे, हेम०। मुखसंपुटे, आकाशाच्छादेन, कूर्मकपरिच निरु०। भगवदृषभदेवेन सह प्रव्रजिते बभिपितरि, स च महाकच्छेन भ्रात्रा सहितः भगवति प्रतिमास्थिते आहारमलभमानस्तापसपथप्रवर्तकोऽभूत् यत्सुतो नमिः वैताढ्यगिरेर्दक्षिणविद्याधरश्रेणे राजा जातः कल्प० आ० म० प्र०। आ० क०। आ० चू०। (उसभशब्दे उक्तमेतत्) सिन्धुसागरसङ्गमसमीपे देशभेदे, " कच्छभुजः भरतः जाव सिंधुसागरं तो त्ति सव्वं पवरकच्छं च उअ वेऊण पडिणिअत्तो । बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे तस्स कच्छस्स मुहणिसण्णे " जं० ३ वक्ष०। महा–विदेहे वर्षे विजयक्षेत्रभेदे, तद्वक्तव्यता चैवम्।

कहि णं भंते ! जंबुद्दीवे दीवे महाविदेहे वासे कच्छे णामं विजय पण्णत्ते ? गोअमा ! सीआए महाणईए उत्तेरणं णीलवंतस्स वासहरपव्वयस्स दक्खिणेणं चित्तकूडस्स वक्खारपव्वयस्स पच्चिच्छिमेणं मालवंतस्स वक्खारपव्वयस्स पुरच्छिमेणं एत्थ णं जंबूदीवे दीवं महाविदेहे वासे कच्छे णामं विजए पण्णत्ते उत्तरदाहिणायए पाईणपडीणविच्छण्णे पलिअंकसंठाणसंठिए गंगासिंधूहिं महाणईहिं वेयड्ढेणं पव्वएणं छभागपविभत्ते सोलसजोअणसहस्साइं पंच य वा णडए जोअणसए दोण्णि अ एगूणवीसईभाए जोअणस्स आयामेणं दो जोअणसए किं चि विसेसूणे विक्खंभेणं ति ।

(कहिणं भंते ! त्ति) क्व भदन्त ! जम्बूद्वीपे महाविदेहे वर्षे कच्छो नाम विजयः प्रज्ञप्तः गौतम ! शीतामहानद्या उत्तरस्यां नीलवतो वर्षधरपर्वतस्य दक्षिणस्यां चित्रकूटस्य सरलवक्षस्कारपर्वतस्य पश्चिमायां माल्यवतो गजदन्ताकारवक्षस्कारपर्वतस्य पूर्वस्याम् । अत्रान्तरे महाविदेहे वर्षे कच्छो नाम चक्रवर्तिविजेतव्यभूविभागरूपो विजयः प्रज्ञप्तः सर्वात्मना विजेतव्यश्चक्रवर्तिनामिति विजयः अनादिप्रवाहनिपतितेयं संज्ञा तेनेदमवर्त्तमानदर्शनं न तु साक्षात्प्रवृत्ति निमित्तोपदर्शनमिति । उत्तरदक्षिणाभ्यामायतः पूर्वापरविस्तीर्णः पल्यङ्कसंस्थानसंस्थितः आयतचतुरस्रत्वात् । गङ्गासिन्धुभ्यां महानदीभ्यां वैताढ्येन च पर्वतेन षड् भागप्रविभक्तः षट् खण्डकृत इत्यर्थः । एवमन्येऽपि विजया भाव्याः । परं शीताया उदीच्याः कच्छादयः शीतोदया याम्याः पद्मादयो गङ्गासिन्धुभ्यां षोढा कृता । शीताया याम्याश्छादयः शीतोदया उदीच्या वप्रादयो रक्तारक्तवतीभ्यामिति उत्तरदक्षिणायतेति विवृणोति षोडशयोजनसहस्राणि पञ्चयोजनशतानि द्विनवत्यधिकानि द्वौ चैकोनविंशतिभागौ योजनस्यायामेन । अत्रोपपत्तिर्यथा विदेहविस्तारात् योजन (३३६८४) कला (४) रूपात् शीतायाः शीतोदाया वा विष्कम्भो योजन (५००) रूपः शोध्यते शेषस्यार्द्धे

लभ्यते यथोक्तं मानमिति। यद्यपि शीतायाः शीतोदाया वा समुद्रप्रवेशे एव पञ्चशतयोजनप्रमाणो विष्कम्भोऽन्यत्र तु हीनो हीनतरस्तथाऽपि कच्छादिविजयसमीपे उभयकुलवर्तिनो रमणप्रदेशाबधिकृत्य पञ्चयोजनशतप्रमाणो विष्कम्भः प्राप्यते इति। प्राचीनप्रतीचीनेति विवृणोति द्वियोजनसहस्रे द्वे च योजनशते त्रयोदशोत्तरे किंचिदूने। अत्राप्युपपत्तिर्यथा इह महाविदेहेषु देवकुरुमेरुभद्रशालवनवक्षस्कारपर्वतान्तरनदीवनमुखव्यतिरेकेणान्यत्र सर्वत्र विजयाः। ते च पूर्वापरविस्तृतास्तुल्यविस्तारास्त्वत्रैकस्मिन् दक्षिणभागे उत्तरभागे वाऽष्टौ वक्षस्कारगिरय एकैकस्य पृथुत्वं पञ्चयोजनशतानि सर्ववक्षस्कारपृथुत्वमीलने चत्वारि योजनसहस्राणि अन्तरनद्यश्च षट् एकैकस्याश्चान्तरनद्या विष्कम्भः पञ्चविंशतियोजनशतं ततः सर्वान्तरनदीपृथुत्वमीलने जातानि सप्त शतानि पञ्चाशदधिकानि (७५०) द्वे च वनमुखे एकैकस्य वनमुखपृथुत्वमेकोनत्रिंशच्छतानि द्वाविंशदधिकानि (२९२२) उभयपृथुत्वमीलने जातानि अष्टापञ्चाशच्छतानि चतुश्चत्वारिंशदधिकानि (५८४४) मेरुपृथुत्वं दशसहस्राणि (१००००) पूर्वापरभद्रशालवनयोरायामश्चतुश्चत्वारिंशत्सहस्राणि (४४०००) सर्वमीलने जातानि चतुःषष्टिसहस्राणि पञ्च शतानि चतुर्नवत्यधिकानि (६४५९४) एतज्जम्बूद्वीपविस्तारात् शोधिते च सति जातं शेषं पञ्चत्रिंशत्सहस्राणि चत्वारि शतानि षडुत्तराणि (३५४०६) एकैकस्मिंश्च दक्षिणे उत्तरे वा भागे विजयषोडशभिर्भागे हृते लब्धानि द्वाविंशतिशतानि किंचिदूनत्रयोदशाधिकानि (२२१३) त्रयोदशस्य योजनस्य षोडशचतुर्दशभागात्मकत्वात्। एतावानेवैकैकस्य विजयस्य विष्कम्भः। अयं च भरतवद्वैताढ्येन द्विधाकृत इति तत्र तद्विवक्षुराह।

कच्छस्स णं विजयस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं वेअड्ढे णामं पव्वए पण्णत्ते जे णं कच्छं विजयं दुहा विभयमाणे भयमाणे चिट्ठइ तं जहा दाहिणड्ढकच्छं च उत्तरड्ढकच्छं च।

(कच्छस्स णमित्यादि) कच्छस्स विजयस्स बहुमध्यदेशभागे वैताढ्यपर्वतः प्रज्ञप्तः यः कच्छं विजयं द्विधा विभजंस्तिष्ठति तद्यथा दक्षिणार्द्धकच्छं च। चोत्तरार्द्धकच्छं च शब्दौ उभयोस्तुल्यकक्षताद्योतनार्थौ। दक्षिणार्द्धकच्छं स्थानतः पृच्छन्नाह।

कहि णं जंबुद्दीवे दीवे महाविदेहे वासे दाहिणड्ढकच्छे णामं विजए पण्णत्ते ? गोयमा ! वेयड्ढस्स पव्वयस्स दाहिणेणं सीआए महाणईए उत्तरेणं चित्तकूडस्स वक्खारपव्वयस्स पच्छिमेणं मालवंतस्स वक्खारपव्वयस्स पुरच्छिमेणं एत्थ णं जंबुद्दीवे दीवे महाविदेहे वासे दाहिणड्ढकच्छे णामं विजए पण्णत्ते उत्तरदाहिणापए पाईणपडीणवित्थिण्णे अट्ठजोअणसहस्साइं दोण्णि अ एगसत्तरे जोअणसएक्कं च एगूणवीसइभागं जोअणस्स आयामेणं दो जोअणसहस्साइं दोण्णि अ तेरसुत्तरे जोअणसए किंचि विसेमूणे विक्खंभेणं पलिअंकसंठिए।

(कहि णमित्यादि) क्व भदन्त ! जम्बूद्वीपे द्वीपे महाविदेहे नाम्नि वर्षे दक्षिणार्द्धकच्छो नाम विजयः प्रज्ञप्तः गौतम ! वैताढ्यस्य पर्वतस्य दक्षिणस्यां शीताया महानद्याः उत्तरस्यां चित्रकूटस्य वक्षस्कारपर्वतस्य पश्चिमायां माल्यवतो वक्षस्कारपर्वतस्य पूर्वस्याम्। अत्रान्तरे जम्बूद्वीपे यावद्दक्षिणार्द्ध कच्छो नाम विजयः प्रबलः। उत्तरेत्यादिविशेषणद्वयं प्राग्वद्बोध्यम्। अष्टौ योजनसह-स्राणि द्वे च एकसप्तत्युत्तरे योजनशते एकं चैकोनविंशतिभागं योजनस्यायामेन एतदङ्कोत्पत्तिषोडशसहस्रपञ्चशतद्विनवतियोजनकलाद्वयरूपात् कच्छविजयमानात् पञ्चाशद्योजनप्रमाणवैताढ्यव्यासेऽर्द्धीकृते भवति। शेषं प्राग्वत्।

अयं च कर्मभूमिरूपोऽकर्मभूमिरूपो वेति निर्णेतुमाह।

दाहिणड्ढकच्छस्स णं भंते ! विजयस्स केरिसए आयारभावपडोआरे पण्णत्ते ? गोयमा ! बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते तं जहा जाव कत्तिमेहिं चेव अकत्तिमेहिं चेव। दाहिणड्ढकच्छे णं भंते ! विजए मणुआणं केरिसए आयारभावपडोआरे पण्णत्ते गोयमा ! तेसि णं मणुआणं छव्विहे संघयणे जाव सव्वदुक्खाणमंतं करेंति।

(दाहिणड्ढ इत्यादि) दक्षिणार्धभरतप्रकरण इवेदं निर्विशेषं व्याख्येयम्। अत्र मनुजस्वरूपं पृच्छति " दाहिण " इत्यादि कण्ठ्यम्। अथास्य सीमाकारिणं वैताढ्येति नाम्ना प्रतीतं गिरिं स्थानतः पृच्छति।

कहि णं भंते ! जंबुद्दीवे दीवे महाविदेहे वासे वि कच्छे विजए वेअड्ढे णामं पव्वए पण्णत्ते ? गोयमा ! दाहिणड्ढकच्छविजयस्स उत्तरेणं उत्तरड्ढकच्छस्स दाहिणेणं चित्तकूडस्स पच्चिछमेणं मालवंतस्स पुरच्छिमेणं एत्थ णं कच्छे विजए वेअड्ढे णामं पव्वए पण्णत्ते पाईणपडीणायए उदीणदाहिणविच्छिण्णे दुहा वक्खार पव्वए पुट्ठे पुरच्छिमिल्लाए कोडीए जाव दोहिं वि पुट्ठे भरहवेअड्ढससिसए। णवरं दो वाहाओ जीवा धणुपट्ठं च ण उ कायव्वं विजयविक्खंभसरिसे आयामेणं विक्खंभे उच्चत्तं उव्वेहो तह चेव विज्जाहरसेढीओ तद्देव णवरं पणपण्णवणं विज्जाहरगणहरा वासा पण्णत्ता आभिओगसेढीओ उत्तरिल्लाओ सेढीओ सीआए ईसाणस्स सेसाओ सक्कस्स कूडासिद्धे १ कच्छे २ खंडग ३ माणी ४ वेअड्ढ ५ पुण्ण ६ तिमिसगुहा ७ कच्छे ८ वेसमणे ९ वेड्ढे होंति कूडाइं।

' कहिणमित्यादि ' स्पष्टं नवरं द्विधा वक्षस्कारपर्वतौ माल्यवच्चित्रकूटवक्षस्कारौ स्पष्टः इदमेव समर्थयति। पूर्वया कोट्या यावत्करणा "त्पुरच्छिमिल्लं वक्खारपव्वयं पच्चिछमिल्लाए कोडीए पच्चिछमिल्लं वक्खारपव्वयमिति" बोध्यं तेन पौरस्त्यं वक्षस्कारं चित्रकूटनामानं पाश्चात्यया कोट्या पाश्चात्यं वक्षस्कारं माल्यवन्तमत एव द्वाभ्यां कोटिभ्यां स्पृष्टः भरतवैताढ्यसदृशकः रजतमयत्वात् रुचकसंस्थानसंस्थित-त्वाच्च। नवरं द्वे जीवा धनुःपृष्ठं च न कर्तव्यमवक्रक्षेत्रवर्तित्वात् लम्बभागश्च न भरतवैताढ्यसदृश इत्याह। विजयस्य कच्छादेर्यो विष्कम्भः किञ्चिदूनत्रयोदशाधिकद्वाविंशतिशतयोजनरूपस्तेन सदृश आयामेन। कोऽर्थः विजयस्य यो विष्कम्भविभागः सोऽस्यायामविभाग इति विष्कम्भः पञ्चाशद्योजनरूपः। उच्चत्वं पञ्चविंशतियोजनरूपमुद्वेधः पञ्चविंशतिक्रोशात्मकस्तथैव भरतवैताढ्यवदेवेत्यर्थः। उच्चत्वस्य प्रथमं दशयोजनातिक्रमे विद्याधरश्रेण्यौ तथैव नवरमिति विशेषः पञ्चपञ्चाशत्विद्याधरनगरावासाः प्रज्ञप्ताः

एकैकस्यां श्रेणौ दक्षिणश्रेणौ उत्तरश्रेणौ भरतवैताढ्ये तु दक्षिणतः पञ्चाश–दुत्तरस्तु षष्टिर्नगराणीति भेदः आभियोग्यश्रेणौ तथैवेति गम्यं कोऽर्थः विद्याधरश्रेणिभ्यामूर्द्ध दशयोजनातिक्रमे दक्षिणोत्तरभेदेन द्वे भवतः । अत्राधिकारात् सर्ववैताढ्याभियोग्यश्रेणिविशेषमाह । उत्तरदिक्स्था आभियोग्यश्रेणयः शीताया महानद्या ईशानस्य द्वितीयकल्पेन्द्रस्य शेषाः शीता दक्षिणस्थाः शक्रस्याद्यकल्पेन्द्रस्य । किमुक्तं भवति शीताया उत्तरदिशि ये विजयवैताढ्यास्तेषु या आभियोग्यश्रेणयो दक्षिणगा या उत्तरगा वा ताः सर्वाः सौधर्मेन्द्रस्येति बहुवचनं चात्र विजयवर्ति सर्ववैता–ढ्यश्रेण्यपेक्षया द्रष्टव्यम् । अथ कूटानि वक्तव्यानीति तद्देशमाह । ' कूडा इति ' व्यक्तम् । अथ तन्नामान्याह । सिद्धे इत्यादि पूर्वस्यां प्रथमं सिद्धा–यतनकूटं ततः पश्चिमदिशमवलम्ब्येमान्यष्टावपि कूटानि वाच्यानि तद्यथा द्वितीयं दक्षिणकच्छार्द्धकूटं तृतीयं खण्डप्रपातगुहाकूटं चतुर्थं माणीति पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् माणिभद्रकूटं शेषं व्यक्तं परं विजयवैताढ्येषु सर्वेष्वपि द्वितीयाष्टमकूटे स्वस्वदक्षिणोत्तरार्द्धविजयसमनामके यथा द्वितीयं दक्षिणकच्छार्द्धकूटमष्टममुत्तरकच्छार्द्धकूटम् इतराणि भरतवैताढ्यकूटसमनामकानीति ।

अथोत्तरार्द्धकच्छं प्रश्नयति ।

कहि णं भंते ! जंबुदीवे दीवे महाविदेहे वासे उत्तरड्ढकच्छे णामं विजए पण्णत्ते गोयमा ! वेअड्ढस्स पव्वयस्स उत्तरेणं णीलवंतस्स वासहरपव्वयस्स दाहिणेणं मालवंतस्स वक्खार–पव्वयस्स पुरच्छिमेणं चित्तकूमस्स वक्खारपव्वयस्स पच्च–च्छिमेणं एत्थ णं जंबूदीवे जाव सिज्झंति तहेव णेअव्वं ।

" कहिणमि " त्यादि व्यक्तं तथैव दक्षिणार्द्धकच्छवज्ज्ञेयं यावत् सिद्ध्यन्तीति । अथैतदन्तर्वर्ति सिन्धुकुण्डं वक्तव्यमित्याह ।

कहि णं भंते ! जंबूदीवे दीवे महाविदेहे वासे उत्तरड्ढकच्छे विजए सिंधुकुंमे णामं कुंडे पण्णत्ते ! गोअमा ! मालवंतस्स वक्खारपव्वयस्स पुरच्छिमेणं उसभकुंडस्स पच्चच्छिमेणं णीलवंतस्स वासहरपव्वयस्स दाहिणिल्ले णितंबे एत्थ जंबुद्दीवे दीवे महाविदेहे वासे उत्तरड्ढकच्छविजए सिंधुकुंडे णामं कुंमे पण्णत्ते सट्ठिं जोअणाणि आयामविक्खंभेणं जाव भवणं अट्ठो रायहाणि अ णेअव्वा । भरहसिंधुकुंडसरिसं सव्वं णेअव्वं जाव तस्स णं सिंधुकुंमस्स दाहिणिल्लेणं तोरणेणं सिंधुं महाणई पवूढा समाणी उत्तरड्ढकच्छविजयं एज्जेमाणी एज्जेमाणी सत्तहिं सलि–लासहस्सेहिं आकूरेमाणी आकूरेमाणी अहे तिमिसगुहाए वेअड्ढपव्वयं दालयित्ता दाहिणड्ढकच्छविजयं एज्जेमाणी एज्जेमाणी चोद्दसएहिं सलिलासहस्सेहिं समग्गा दाहिणेणं सीइगहाणइं समप्पेइ सिंधुमहाणई पवहे अमूले अ भरहसिंधुसरिसा य माणेणं जाव दोहिं वणसंडेहिं संपरिक्खित्ता । कहि णं भंते ! उत्तरड्ढकच्छविजए उसभकूडे णामं पव्वए पण्णत्ते गोअमा ! सिंधुकुंडस्स पुरच्छिमेणं गंगाकुंडस्स पच्चच्छिमेणं णीलवंतस्स वासहरपव्वयस्स दाहिणिल्ले णितंबे णं उत्तरड्ढकच्छविजए उसहकूडे णामं पव्वए पण्णत्ते अट्ठ जोअणाइं उड्ढं उच्चतेणं भाणिअव्वा । कहि णं भंते ! उत्तरड्ढकच्छे विजये गंगाकुंडे णामं कुंडे पण्णत्ते ? गोयमा ! चित्तकूमस्स वक्खारपव्वस्स पच्चच्छिमेणं उसहकूडस्स पव्वयस्स पुरच्छि–मेणं णीलवंतस्स वासहरपव्वयस्स दाहिणिल्ले णितंबे एत्थ णं उत्तरड्ढकच्छे गंगाकुंडे णामं पण्णत्ते सट्ठिं जोअणाइं आयाम–विक्खंभेणं तहेव जहा सिंधु जाव वणसंडेण य संपरिक्खित्ता ।

" कहिणमित्यादि " व्यक्तं परं नितम्बः कटकः लाघवार्थमतिदेशमाह । " भरहसिंधुकुंडसरिसं सव्वं णेअव्वं इत्यादि " सर्वं गतार्थम् । गङ्गागमेन व्याख्यानवत् । तत्रैव ऋषभकूटवक्तव्यमाह । " कहि णमित्यादि " प्राग्वत् । अथ गङ्गाकुण्डप्रस्तावनार्थमाह । " कहि णमित्यादि " सिन्धुकुण्डगमो निर्विशेषः सर्वोऽपि वाच्यं परं ततो गङ्गानदीखण्ड-प्रपातगुहाया अधो वैताढ्यं वैताढ्यदक्षिणे भागे शीता समुपसर्प्पतीति । ननु भरतनदीमुख्यत्वेन गङ्गामुपवर्ण्य सिन्धुरुपवर्णिता इह तु सिन्धुमुपवर्ण्य इति कथं व्यत्ययः उच्यते । इह मालवद्वक्षस्कारतो विजयप्ररूपणायाः प्रक्रान्तत्वेन तदासन्नत्वात्सिन्धुकुण्डस्य प्रथमं सिन्धुप्ररूपणा ततो गङ्गाया इति ।

नामनिमित्तमाह ।

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ कच्छे विजए ? गोअमा ! कच्छे विजए वेअड्ढस्स पव्वयस्स दाहिणेणं सीआए महाणईए उत्तरेणं गंगाए महाणईए पच्चच्छिमेणं सिंधुए महाणईए पुरच्छिमेणं दाहिणड्ढकच्छविजयस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं खेमा णामं रायहाणीए पण्णत्ता विणीआ रायहाणी सरिसा भाणिअव्वा । तत्थ णं खेमाए रायहाणीए कच्छे णामं राया समुप्पज्जइ महया हिमवंतं जाव सव्वं भरहो उअवण भाणिअव्वं निक्खमणवज्जं से सव्वं भाणिअव्वं जाव भुंजए माणुस्सए सुहे कच्छणामधेज्जे अकच्छे इत्थ देवे जाव पलिओमट्ठिई परिवसइ स एएणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ कच्छे विजए जाव णिच्चे ।

केनार्थेन भदन्त ! एवमुच्यते कच्छे विजयः कच्छविजयः गौतम ! कच्छे विजये वैताढ्ये दक्षिणस्यां शीताया महानद्या उत्तरस्यां गङ्गाया महानद्याः पश्चिमायां सिन्धोर्महानद्याः पूर्वस्यां दक्षिणार्द्धे कच्छविजयस्य बहुमध्यदेशभागे मध्यखण्डे । अत्रान्तरे क्षेमा नाम्नी राजधानी विनीताराजधानीसदृशी भणितव्या । विनीतावर्णकः सर्वोऽप्यत्र वाच्य इत्यर्थः । तत्र क्षेमायां राजधान्यां कच्छो नाम राजा चक्रवर्ती समुत्पद्यते कोऽर्थः यस्तत्र षट्खण्डभोक्ता समुत्पद्यते स तत्र लोकैः कच्छ इति व्यवह्रियते । अत्र वर्तमाननिर्देशेन सर्वदाऽपि यथासंभवं चक्रवर्त्युत्पत्तिः सूचिता न तु भरत इव चक्रवर्त्युत्पत्तौ कालनियम इति ' महया हिमवंतेत्यादिक ' सर्वा ग्रन्थो वाच्यः यावत् सर्वं भरतस्य क्षेत्रस्य ' उअवणमिति ' साधनं शेषः निष्क्र–

मणं प्रव्रज्याप्रतिपत्तिस्तद्वर्ज्यं भणितव्यं भरतचक्रिणा सर्वविरतिगृहीता। कच्छचक्रिणस्तु तद्ग्रहणेऽनियम इति। क्रियत्पर्यन्तमित्याह। यावद्भ–ुक्तेमानुष्यकाणि सुखानि। अथवा कच्छनामधेयश्चात्र कच्छेविजये देवः पल्योपमस्थितिकः परिवसति तेनार्थेन गौतम ! एवमुच्यते कच्छराजस्वामिकत्वात्कच्छदेवाधिष्ठितत्वाच्च कच्छविजयः इति यावन्नित्य इत्यन्तमन्योऽन्याश्रयनिवारणार्थकं सूत्रं प्राग्वदेव योज–नीयमिति गतः प्रथमो विजयः। जं० ४ वक्ष०। स्था०। " दो कच्छो " दक्षिणोत्तराविति प्रतिभाति स्था० २ ठा० १ उ०। कच्छविजये समुत्पद्यमाने राजनि, तदधिष्ठातरि देवे च जं० ४ वक्ष०।

कच्छकूड–न० (कच्छकूट) माल्यवद् वक्षस्कारपर्वतस्थे चतुर्थे कूटे, स्था० ९ ठा०। कच्छविजयविभाजकवैताढ्यपर्वतस्य कूटद्वये, तत्र दक्षिणकच्छकूटं द्वितीयमुत्तरकच्छकूटमष्टमम्, स्था० ९ ठा०। जं०। चित्रकूटस्य वक्षस्कारपर्वतस्य तृतीये कूटे, जं० ४ वक्ष०।

कच्छकोह–पुं० (कछकावती) कच्छा एव कच्छकाः मालुकाः कच्छादयः सन्त्यास्यामतिशायिनः इति अनजरेति सूत्रे शरादी–नामाकृतिगणत्वेन सिद्धिः। महाविदेहे वासे चतुर्थविजयभेदे

कहि णं भंते ! महाविदेहे वासे कच्छगावतीणामं विजए पण्णत्ते ? गोयमा ! णीलवंतस्स दाहिणेणं सीआए महाणईए उत्तरेणं दाहिणावत्तीए महाणईए पच्चच्छिमेणं बम्हकूडस्स पुरच्छिमेणं एत्थ णं महाविदेहवासे कच्छगावती णामं विजए पण्णत्ते उत्तरदाहिणायए पाईणपडीणविच्छिण्णे सेसं जहा कच्छस्स विजयस्स जाव कच्छगावई अइत्थदेवे।

(टीका सुगमत्वान्न व्याख्याता) जं० ४ वक्ष०। स्था०। " दो कच्छगावई " दक्षिणोत्तरभेदेन द्वित्वम्। स्था० २ ठा० ३ उ०। कच्छगावतीविजयाधिपतौ राजनि, तदधिष्ठायके देवे च। जं० ४ वक्ष०।

कच्छभ–पुं० (कच्छप) स्त्री० कच्छमात्मनो मुखसंपुटं पाति स हि कश्चिद् दृष्ट्वा शरीर एव मुखसंपटं प्रवेशयति संपुटे हि कच्छशब्दः प्रसिद्धः। प्राणिवाच्यकच्छपुट इति कच्छेन कटाहेन इतराङ्गानि पाति वा अथवा कच्छेन मुखसंपुटेन पिबतीति कच्छपः। खमाकाशं छादयति कच्छः खच्छः खच्छदः अयमपीतरो नदीकच्छः एतदीयमु–दकं तेन छाद्यते इति निरुक्तोक्तेः कच्छं पाति कच्छेन पाति वा कच्छेन पिबतीति वा पा–ड–वाच०। पकारस्य भकारः प्राकृतत्वात्। प्रज्ञा० १ पद। कूर्मे, जलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकभेदे, उत्त० ३६ अ०। प्रश्न०। कच्छपा द्विविधा अस्थिकच्छपमांसकच्छपभेदात्। प्रश्न० १ अध० द्वा० १ अ०। प्रज्ञा०।

से किं तं कच्छ भा ? दुविहा पण्णत्ता तं जहा अत्थिक–च्छभा य मांसकच्छभा य सेत्तं कच्छभा। प्रज्ञा० १ पद०।

नवरमस्थिकच्छपा मांसकच्छया इति येऽस्थिबहुलाः कच्छपा–स्तेऽस्थिकच्छपाः ये मांसबहुलास्ते मांसकच्छपाः स०। वि०। जीव०। सूत्र०। राहौ, राहुदेवस्य अष्टमं कच्छप इति नाम, भ० १२ श० ६ उ०। चं०। कुबेरनिधिभेदे, मल्लबन्धभेदे च। पुं०। मेदि०।

कच्छभरिंगिय–न० (कच्छभरिङ्गित) साम्मे वन्दनदोषे, तत्स्वरूपं चैत्थम् " ठित्तु व विट्ठरिंगण जं तं कच्छभरिंगियं नाम " स्थितस्योर्द्धस्थाने " न तित्तीसं नयराए " इत्यादि सूत्रमुच्चारयन् उपविष्टस्य वाऽऽसीनस्य अहो कायं काय " इत्यादि सूत्रं भणतः कच्छपस्येव जलचरजीवविशेषस्य रिङ्गणमग्रतोऽभिमुखं यत्किंचिच्चलनं तद्यत्र करोति शिष्यस्तदादिकं कच्छपरिङ्गितं नामेति। वृ० ३ उ०। आव०। प्रव०। आ० चू०।

कच्छभी (वी)–स्त्री० (कच्छपी) कच्छभः जातित्वात् ङीष्। कच्छ–पस्त्रियां चक्षूरोगभेदे च वाच०। वाद्यविशेषे, प्रश्न० सं० २ द्वा० ५ अ०। " अट्ठसयं कच्छभीणं " राय०। नारदवीणायाम, " हत्थकच्छभीए " प्रति०। पुस्तकभेदे च। न० पुं०। " कच्छ कच्छविअंते तणुओ मज्झे पिहलो मुणेयव्वो " बृ० ३ उ०। द०। जीत०। नि० चू०। ध०। आव०। कच्छपीपुस्तकं उभयोः पार्श्वयोरन्तःपर्यन्तभागे तनुकः सूक्ष्मो मध्य–भागे पृथुलो कच्छपीपुस्तकं ज्ञेयम्। स्था० ४ ठा० २ उ०।

कच्छरी–स्त्री० (कत्सरी) गुच्छविशेषे, प्रज्ञा० १ पद।

कच्छा–स्त्री० (कक्षा) **छोऽक्ष्यादौ ८। २। १७।** इति संयुक्तस्य छः। प्रा०। शरीरावयवविशेषे, भ० ३ श० ६ उ०। अन्तःपुरभागे, समूहे, स्था० ७ ठा०। इन्द्राणां कक्षाः।

चमरस्स णं असुरिंदस्स असुरकुमारण्णो दुमस्स पायत्ता–णियाहिवइस्स सत्त कच्छाओ पण्णत्ताओ तं जहा पढमा कच्छा जाव सत्तमा कच्छा। चमरस्स णं असुरिंदस्स असुरकुमाररण्णो दुमस्स पायत्ताणियाहिवइस्स पढमाए कच्छाए च उसट्ठि देवसहस्सा पण्णत्ता जावइया पढमा कच्छा तव्विगुणा तच्चा कच्छा एवं जावइया छट्ठा कच्छा तव्विगुणा सत्तमा कच्छा एवं वलिस्स वि नवरं महद्दुमे सट्ठिदेवसाहस्सिओ सेसं तं चेव। धरणस्स एवं चेव नवरमट्ठावीसं देवसहस्सा सेसं तं चेव जहा धरणस्स एवं जाव महाघोसस्स नवरं पायत्ताणियाहिवई अन्ने ते पुव्वभणिया। सक्कस्स णं देविंदस्स देवरण्णो हरिणेगमेसिस्स सत्त कच्छाओ पण्णत्ताओ तं जहा पढमा कच्छा एवं जहा चमरस्स तहा जाव अच्चुयस्स नाणत्तं पायत्ताणियाहिवईणं ते पुव्वभणिया। देवपरिमाणमिमं सक्कस्स चउरासीइदेवसहस्सा। ईसाणस्स असीइदेवसहस्साइं देवा इमाए गाहाए अणुगंतव्वा। चउरासीइ असीई, वावत्तरिसत्तरीय सट्ठी य। पन्ना चत्तालीसा, तीसा वीसा दससहस्सा ॥१॥ जाव अच्चुयस्स लहुपरक्कमस्स दसदेवसहस्सा जावइया छट्ठा कच्छा तव्विगुणा सत्तमा कच्छा।

(कच्छत्ति)। समूहो यथा धरणस्य तथा सर्वेषां भवनपतीन्द्राणां महाघोषान्तानां केवलं पदात्यनीकाधिपतयो ये ज्ञेयास्ते च पूर्वमन–न्तरसूत्रे भणिताः (नाणत्तंति) शक्रादीनामानतप्राणतेन्द्रान्तानामे–कान्तरितानां 'हरिणेगमेसी' पादान्तानीकाधिपतिरीशादीनां मारणाच्युतेन्द्रान्तानामेकान्तरितानां लघुपराक्रम इति। देवेत्यादि। देवा प्रथमकच्छासंबन्धिनोऽनया गाथयाऽवगन्तव्याः (चउरासीगाहा) चतुरशीत्यादीनि पदानि सौधर्मादिषु क्रमेण योजनीयानि नवरं विंशतिपदमानतप्राणतयोर्योजनीयं तयोर्हि

प्राणताभिधानस्येन्द्रस्यैकत्वात् " दसेति " पदं त्वारणाच्युतयोर्योज-नीयमच्युताभिधानस्येन्द्रस्यैकत्वादिति । स्था० ७ ठा० ।

कच्छावई–स्त्री० (कच्छकावती) कच्छकावतीविजये, " महाकच्छ-पुरच्छिमेणं कच्छावईए पच्चच्छिमेणं " जं० ४ वक्ष० ।

कच्छावईकूड–न० (कच्छावतीकूट) महाविदेहे ब्रह्मकूटस्य चतुर्थे कूटे, । जं० ४ वक्ष० ।

कच्छु (च्छू)–स्त्री० [कच्छु (च्छू)] कष–हिंसायां कषच्छश्चेति उणा० ऊ छश्च पृषो–वा ह्रस्वः । " सूक्ष्माः बाह्याः पिण्डकास्तापवत्यः पामेत्युक्ताः कण्डुमत्य सदाहाः । सैव स्फोटैस्तीव्रदाहैरुपेता, ज्ञेया पाण्योः कच्छुरुग्रा स्फिचोश्च " इत्युक्तलक्षणे रोगभेदे, वाच० । जी० । व्य० । तीव्रकण्डूतिकारके फलविशेषे, प्रश्न० सं० २ द्वा० ५ अ० । नि० चू० ।

कच्छुखसराभिभूय–त्रि० (कच्छूक [ख] सराभिभूत) कच्छूः पामा तया कसरैश्च खसरैरभिभूता व्याप्ताः ये ते तथा । पामारोगार्तेषु, जं० २ वक्ष० । भ० ।

कच्छुडिय–त्रि० (कक्षापुटिक) कक्षाप्रदेशे पुटा यस्य स कक्षापुटिकः । गृहीतोभयामोटके, बृ० २ उ० ।

कच्छुल [ल्ल]–त्रि० (कच्छूर) कच्छूरस्त्यस्य कच्छ्वा ह्रस्वश्च । वाच० । कण्डूतिमति, प्रश्न० सं० २ द्वा० ५ अ० । वि० । कच्छूरोगयुते पुरुषे, पुं० स्त्री० । पामरे च त्रि० मेदि० वाच० । गुल्मविशेषे, प्रज्ञा० १ पद । जं० ।

कच्छुल्लणारय–पुं० (कच्छुरनारद) स्वनामख्याते तापसे, ज्ञा० ५ अ० । प्रति० ।

कज्ज–त्रि० (कार्य्य) कृ० कर्मणि ण्यत् । **द्यय्यर्याजः जः ८ । २ । २४ ।** इति संयुक्तस्य जः । प्रा० । ततो द्वित्वम् । असंयोगस्यैवेति नियमात्-कगचजतदपयवां प्रायो लुगिति न लुक् प्रा० । कृत्ये, नि० । " किं कज्जं भण्णति जं तु कीरती तेणं " यत्कृत्वाऽतिवर्त्यते । प्रयोजने, आ० चू० १ अ० । वि० । कारणे, व्य० २ उ० । कार्य्यं नाम प्रयोजनं ततोऽधिकृतप्र-वृत्तेः प्रयोजकत्वात्कारणम् । एतच्चान्यत उक्तम् " कारणं ति वा कज्जं ति वा एगट्ठं " व्य० २ उ० । निष्पाद्ये, यदर्थं चेष्टते तत्कार्य्यम् कर्म० । अशि-वादिके, " अशिवाइयं कज्जं भन्नति " नि० चू० १ उ० । कुलगणसङ्घविषये कृत्ये, व्य० १ उ० । व्यापारे, प्रव० १ द्वा० । कर्मणि, सूत्र० २ श्रु० ५ अ० । इदं वन्दनप्रकारेण कार्यं द्विविधा । वन्दनकार्य्यं कर्यकार्यं च । तत्र वन्दनकार्यं द्विधा अभ्युत्थानं कृतिकर्म च कार्य्यकार्य्य कुलकार्यादिभेदादनेकविधम् । कार्य्यमवश्यकर्तव्यरुपं यत् कार्य्यं तत्कार्यकार्य्यमिति व्युत्पत्तेः । बृ० ३ उ० ।

कज्जंतर–न० (कार्य्यान्तर) अन्यत् कार्य्यम् । प्रागादिष्टकार्य्यादपरका-र्य्ये, " कज्जंतरेण कज्जं तेणं कालंतरे च कज्जंति " पञ्चा० १२ विव० ।

कज्जकज्ज–त्रि० (कार्यकार्य्य) क० स० कुलकार्यादिभेदादनेकविधेऽ-वश्यकर्त्तव्यरूपे कार्य्ये, बृ० ३ उ० ।

कज्जकर–पुं० (कार्य्यकर) आदिष्टकार्य्यनिर्वाहके राज्ञोऽष्टादशसु श्रेणिष्वन्यतमे, चं० प्र० १३ वक्ष० । प्रयोजननिष्पादके, त्रि० " न वा गेहे पलित्ते कूवखणणं कज्जकरं । जइ पुण दमणं खणणं, वा पुव्वकयं होति " आ० म० प्र० ।

कज्जकरण–न० (कार्य्यकरण) प्रयोजनविधाने, प्रश्न० १ द्वा० ३ अ० ।

कज्जकारणभाव–पुं० (कार्य्यकारणभाव) पुं० कार्य्य च कारणं च तयोर्भावः । हेतुहेतुमद्भावे, यथा घटदण्डयोरत्र घटस्य दण्डं प्रति कार्य्यत्वं दण्डस्य घटं प्रति कारणत्वम् । अथात्र सत्कार्य्यासत्कार्य्यवाद-सदसत्कार्य्यवादप्रदिदर्शयिषया मतसं ग्रहमाह । तत्र असतः सञ्जायते इति बौद्धाः । प्रागुत्पत्तेः सदपि कारणव्यापारादभिव्यज्यते इति साङ्ख्यादयः । तत्र सतो विवर्त इति वेदान्तिनः । परिणाम इति साङ्ख्याः । कथंचित् सत् कथंचिदसदुत्पद्यते इति आर्हता इति वाच० ।

तत्रासत्कार्य्यवादमसंभावयन् सत्कार्य्यवादी कापिल आह । नन्वेतत्कुतो ज्ञायते प्रागुत्पत्तेः सत्कार्यमिति हेतुकदम्बकसद्भवात् । तत्सद्भावश्च " असदकरणादुपादानग्रहणात्सर्वसंम्भवाभावात् । शक्तस्य शक्यकरणात्कारणभावाच्च सत्कार्य " मितीश्वरकृष्णेन प्रतिपादितः । अत्र चासदकरणादिति प्रथमो हेतुः सत्कार्यसाधनायोपन्यस्तः एवं समर्थितः यदि हि कारणात्मनि उत्पत्तेः प्राक् कार्यं न भविष्यत्तदा नतत्के नचिदकरिष्यत् । यथा गगनारविन्दप्रयोगः । यदसत्तन्न केनचित्क्रियते । यथा नभोनलिनम् असच्च प्रागुत्पत्तेः परमतेन कार्यमिति व्यापकविरुद्धोपलब्धिप्रसङ्गः । न चैवं भवति । तस्माद्यत्क्रियते तिलादिभिस्तैलादिकार्यं तत्तस्मात्प्रागपि सदिति सिद्धं शक्तिरूपे-णोत्पत्तेः प्रागपि कारणे कार्यम् । व्यक्तिरूपतया च तत्तदा कापिलैरपि । नेष्यते उपादानग्रहणादिति द्वितीयहेतुसमर्थनम् । यद्यसद्भावे कारणे कार्यं तदा पुरुषाणां प्रतिनियतोपादानग्रहणन्न स्यात् । शालिफलार्थिनस्तु शालिबीजमेवोपाददते न कोद्रवबीजं तत्र यथा शालिबीजादिषु शाल्यादीनामसत्वन्तथा यदि कोद्रवबीजादिष्वपि किमिति तुल्ये सर्वत्र शालिफलादीनामसत्वे प्रतिनियतान्येव शालिबीजादीनि गृह्णन्ति न कोद्रवबीजादिकं यावता कोद्रवादयोऽपि शालिफलार्थिभिरुपादीयेर-न्नसत्वाविशेषात् । अथ तत्फलशून्यत्वात्तैस्ते नोपादीयन्ते यद्येवं शालिबीजमपि शालिफलार्थिना तत्फलशून्यत्वान्नोपादेयं स्यात् । कोद्रवबीजवन्न चैवं भवति तस्मात्तत्र तत्कार्यमस्तीति गम्यते । सर्व्वसंभवाभावादिति तृतीयो हेतुः । यदि ह्यसदेव कार्यमुत्पद्यते सर्व्वस्मात्तृणपश्वादेः सर्व्वे सुवर्णरजतादिकार्यमुत्पद्येत सर्व्वस्मिन्नु-त्पत्तिमति भावे तृणादिकारणभावात्मताविरहस्याविशिष्टत्वात्पूर्वे कारणमुखेन प्रसङ्ग उक्तः संप्रति तु कार्यद्वारेणेति विशेषः । न च सर्व्वं सतो भवति तस्मादयं नियमस्तत्रैव तस्य सद्भावादिति गम्यते । स्यादेतत्कारणानां प्रतिनियतेष्वेव कार्येषु शक्तयः प्रतिनियतास्तेन कार्यस्यासत्वेऽपि किंचिदेव कार्यं क्रियते गगनाम्भोरुहं किंचिदेव वोपादानमुपादीयते तदेव समर्थं न तु सर्व्वं किंचिदेव च कुतश्चिद्भवति न तु सर्व्वं सर्व्वस्मादित्यसदेतद्यतः शक्ता अपि हेतवः कार्यं कुर्व्वाणाः शक्यक्रियमेव कुर्व्वन्ति नाशक्यं कुर्वन्तीति ये नैतत्प्रतिषिध्यतेभवता किंत्वसदपि कार्यं कुर्व्वन्तीत्येतावदुच्यते तच्च तेषां शक्यक्रियमेवासदेत-दकारित्वाभ्युपगमादेवाशक्यक्रियं कुर्वन्ति तथा हि यदसत्तन्नीरूपं तच्छशविषाणादिवदनाधेयातिशयं यच्चानाधेयातिशयं तदाकाशवद-विकारि तथाभूतं वा समासादितविशेषरूपं कथं केनचिच्छक्येत कर्तुम् । अथ सदवस्थाप्रतिपत्तेर्विक्रियत एव तदेतदप्यसद्वि-कृतावात्महानिप्राप्तेः ततो विकृताविष्यमाणायां यस्तस्यात्मा नीरूपाख्यो वर्ण्यते तस्य हानिः प्रसज्येत न ह्यसतः स्वभावापरित्यागे वा नासद्रुपता परित्यागापरित्यागे वा न सदसद्रूपतां प्रतिपन्नमिति सिद्ध्येदन्यदेव

हि सद्रूपमन्यच्चासद्रूपं परस्परपरिहारेण तयोरवस्थितत्वात्तस्माद्यदसत्तदशक्यक्रियमेवातस्तथाभूतपदार्थकारित्वाभ्युपगमे कारणानामशक्यकारित्वमेवाभ्युपगतं स्यान्न चाशक्यं केनचित्क्रियते। यथा गगनाम्भोरुहः। सतः शक्तिप्रतिनियमादित्यनुत्तरमेतदेतेन शक्तस्य शक्यकरणादिति चतुर्थोऽपि हेतुस्समर्थितः। कार्यस्यैवमयोगाच्च किं कुर्वत्कारणं भवेत्ततः कारणभावोऽपि बीजादेर्न्नावकल्पत इति पञ्चमहेतुसमर्थनमस्यार्थः। एवं यथोक्ताद्धेतुचतुष्टयादसत्कार्यवादे सर्वथापि कार्यस्यायोगात्किं कुर्वद्बीजादिरविद्यमानकार्यत्वाद्गगनाब्जवन्न चैवं भवति तस्माद्विपर्यय इति सिद्धं प्रागुत्पत्तेः सत्कार्यमिति।

अथैतदसत्कार्य्यवादी दूषयति।

यदेतदसदकरणादित्यादिदूषणमभ्यधायि तत्सत्कार्यवादेऽपि तुल्यं तथा हि असत्कार्यवादिनाऽपि शक्यमिदमित्थमभिधातुं न सदकरणादुपादानग्रहणात्सर्वसंभवाभावाच्छक्तस्य शक्यकरणात्कारणभावाच्च सत्कार्यमिति। अत्र च न सत्कार्यमिति व्यवहितेन संबन्धो विधातव्यः। कस्मात्सदकरणादुपादानग्रहणादित्यादेर्हेतुसमूहादुभययोर्यश्च दोषस्तमेकः प्रेर्यो न भवति। तथा हि यदि दुग्धादिषु दध्यादीनि काञ्ज्यादिना विभक्तेन रूपेण दध्यवस्थावत्सन्ति तदा तेषां किमपरमुत्पाद्यं रूपमवशिष्यते यत्तैर्जन्यं स्यात् न हि विद्यमानमेव कारणायत्तोत्पत्तिकं भवति प्रकृतिचैतन्यरूपवत्। अत्र प्रयोगो यत्सर्वात्मना कारणे सन्न तत्केनचिज्जन्यं यथा प्रकृतिश्चैतन्यं वा तदेवं वा मध्यावस्थया कार्यं स तु सर्वात्मना परमनेन क्षीरादौ दध्यादीति व्यापकविरुद्धोपलब्धिप्रसङ्ग। न च हेतोरनैकान्तिकताऽनुत्पाद्यातिशयस्यापि जननीयत्वे सर्वेषां जन्यत्वप्रसक्तिश्च विपर्यये बाधकम्। प्रमाणजनितस्यापि पुनर्जन्यत्वप्रसङ्गात् तदेवं कार्यत्वाभिमतानामकार्यत्वप्रसक्तिः। सत्कार्यवादाभ्युपगमे कारणातिशयानामपि मूलप्रकृतिबीजदुग्धादीनां पदार्थानां विवक्षितमहदाद्यङ्कुरदध्यादिजनकत्वं न प्राप्नोत्यविद्यमानसाध्यत्वात् मुक्तात्मवत्। प्रयोगो यदविद्यमानसाध्यं न तत्कारणं यथा चैतन्यं विद्यमानसाध्यश्चाभिमतः पदार्थ इति व्यापकानुपलब्धिः। प्रसङ्गसाधनं चैतत् द्वयमप्यतो नोभयसिद्धोदाहरणेन प्रयोजनं भोगं प्रत्यात्मनोऽपि कर्त्तव्याभ्युपगमे मुक्तात्मा उदाहर्तव्यः। न च प्रथमप्रयोगे अभिव्यक्तादिरूपेणापि सविशेषेण हेतावुपादीयमाने सिद्धता नह्यस्माभिरभिव्यक्त्यादिरूपेणापि सत्वमिष्यते कार्यस्य किं तर्हि शक्तिरूपेण निर्विशेषणे तु तस्मिन्ननैकान्तिकता यतोऽभिव्यक्त्यादिलक्षणस्यातिशयस्योत्पद्यमानत्वान्न सर्वस्य कार्यत्वप्रसङ्गो भविष्यति। अत एव द्वितीयोऽपि हेतुरसिद्धो विद्यमानत्वात्साध्यस्याभिव्यक्त्युद्रेकानुद्रेकाद्यवस्थाविशेषस्येति वक्तव्यम्। यतोऽत्र विकल्पद्वयं किमसावतिशयोऽभिव्यक्त्याद्यवस्थातः प्रागासीदाहोश्विन्नेति यद्यासीन्न तर्ह्यसिद्धतादिदूषणं प्रयोगद्वयोपन्यस्तहेतुद्वयस्य। अथ नासीदेवमप्यतिशयः कथं हेतुभ्यः प्रादुर्भावमश्नुवीत असदकारणादिति भवद्भिरभ्युपगतत्वात्। तत्स्थितं सत्कणान्न सत्कार्यं यथोक्तनीत्या सत्कार्यवादे साध्यस्याभावादुपादानग्रहणमनुपपन्नं स्यात्तत्साध्यस्याफलवाञ्छयैव प्रेक्षावद्भिरुपादानपरिग्रहान्नियतादेव क्षीरादेर्दध्यादीनामुद्भव इत्येतदप्युपपन्नं स्यात्साध्यस्यासंभवादेव यतः सर्वस्मात्संभवाभाव एवं नियताज्जन्मेत्युच्यते तच्च सत्कार्यवादपक्षे न घटमानकम्। तथा शक्तस्य शक्यकरणादित्येतदपि सत्कार्यवादे न युक्तिसङ्गतं साध्याभावादेव यतो यदि किंचित्केनचिदभिनिर्वर्त्यते तदा निर्वर्तकस्य शक्तिर्व्यवस्थाप्येत निर्वर्त्यस्य च कारणं सिद्धिमध्यासीतेति नान्यथा कारणभावानां साध्याभावादेव सत्कार्यवादेन युक्तिसंगतो न चैतद् दृष्टं च तस्मान्न सत्कार्यं कारणावस्थायाममिप्रसङ्गविपर्ययः पञ्चस्वपि प्रसङ्गसाधनेषु योज्योऽपि च सर्वमेव हि साधनं स्वविषये प्रवर्तमानं द्वयं विदधाति स्वप्रमेयार्थविषये उत्पद्यमानौ संशयविपर्यासौ निवर्तयति। स्वसाध्यविषयं च निश्चयमुपजनयति। न चैतत्सत्कार्यवादे युक्त्या संगच्छते। तथा हि संदेहविपर्यासौ भवद्भिः किं चैतन्यस्वभावौ अभ्युपगम्येते आहोश्विदबुद्धिमनःस्वरूपौ तत्र यदि प्रथमः पक्षः स न युक्तश्चैतन्यरूपतया तयोर्भवद्भिरनभ्युपगमादभ्युगमे वा मुक्त्यवस्थायामपि चैतन्याभ्युपगमात्तत्स्वभावयोस्तयोरप्युत्पत्त्यनिवृत्तेरनिर्मोक्षप्रसङ्गः साधनव्यापारात्तयोरनिवृत्तिश्च चैतन्यवन्नित्यत्वात्। द्वितीयपक्षोऽपि न युक्तः बुद्धिमनसोर्नित्यत्वेन तयोरपि नित्यत्वान्निवृत्तयोगान्न च निश्चयोत्पत्तिरपि साधनात्संभवति। तस्या अपि सर्वदावस्थितेरन्यथा सत्कार्यवादो विशीर्येत इति। साधनोपन्यासप्रयासो विफलः कापिलानां स्ववचनविरोधश्च प्राप्नोति। तथा हि निश्चयोत्पादनार्थं साधनं ब्रुवता निश्चयस्यासत उत्पत्तिरङ्गीकृता भवेत् सत्कार्यमिति च प्रतिज्ञा या सा निषिद्धेति। स्ववचनविरोधः स्पष्ट एव साधनप्रयोगवैयर्थ्यता प्रापदिति। निश्चयोऽसन्नेव साधनादुत्पद्यत इत्यङ्गीक्रियते। तर्ह्यसदकरणादित्यादेर्हेतुपञ्चकस्यानैकान्तिकता स्वत एवाभ्युपगता भवति निश्चयवत्कार्यस्यासत एव उत्पज्यविरोधात्। तथा हि यथा निश्चयस्यासतोऽपि करणं तदुत्पत्तिनिमित्तं च यथा विशिष्टसाधनपरिग्रहो न च यथा तस्य सर्वस्मात्साधनाभासादेः संभवो यथा चासन्नप्यसौ शक्तौ हेतुर्निर्वर्त्यते यथा च कारणभावो हेतूनां समस्ति तथा कार्येऽपि भविष्यतीति कथं नानैकान्तिकनिश्चयेनासदकरणा–दित्यादि हेतवः। न च यद्यपि प्राक् साधनप्रयोगात्सन्नेव निश्चय– स्तस्यापि न साधनवैयर्थ्यं यतः प्रागनभिव्यक्तो निश्चयः पश्चात्साधनेभ्यो व्यक्तिमासादयतीत्यभिव्यक्त्यर्थं साधनप्रयोगः सफल इति नानर्थक्यमेषामिति वक्तव्यं व्यक्तेरसिद्धत्वात्। तथा हि किं स्वभावातिशयोत्पत्तिरभिव्यक्तिरभिधीयते आहोश्वित्तद्विषयं ज्ञानम् उत तदुपलम्भावारकापगम इति पक्षाः तत्र न तावत्स्वभावातिशयोत्पत्तिरभिव्यक्तिर्यतोऽसौ स्वभावातिशयो विश्वयस्वभावाद व्यतिरिक्तः स्यादव्यतिरिक्तो वा। यद्यव्यतिरिक्तस्तदा निश्चयस्वरूपवत्तस्य सर्वदैवावस्थितेर्नो व्यक्तिर्युक्तमती। अथ व्यतिरिक्तस्तथापि तस्यासाविति संबन्धानुत्पत्तिस्तथा ह्याधाराधेयलक्षणो जन्यजनकस्वभावोऽसौ भवेत्। न भवेत्प्रथमः परस्परमनुपकार्योपकारयोस्तदसंभवादुपकाराभ्युपगममेवोपकारकस्यापि नपृथग्भावे संबन्धासिद्धिः। अपरोपकारकल्पनायां चानवस्थाप्रशक्तिः। अथ पृथग्भावे च साधनोपन्यासवैयर्थ्यनिश्चयादेवोपकारपृथग्भूतस्यातिशयस्योत्पत्तेः। न चातिशयस्य कश्चिदाधारो युक्तो मूर्तत्वेनाधःप्रसर्पणाभावादधोगतिप्रतिबन्धकत्वेनाधारस्य व्यवस्थानात्। जन्यजनकभावलक्षणोऽपि न संबन्धो युक्तः सर्वदैव संबन्धाख्यस्य कारणस्य सन्निहितत्वान्नित्यमतिशयोत्पत्तिप्रसक्तेः। न च साधनप्रयोगापेक्षस्य निश्चयस्यातिशयोत्पादकत्वं युक्तमनुपकारिण्यपेक्षायोगात् उपकाराभ्युपगमे वा दोषः पूर्ववद्वाच्यः। अपि चातिशयोऽपि पृथग्भूतः क्रियमाणः किमसत् क्रियते आहोश्वित्सन्निति कल्पनाद्वयम्। असत्वं पूर्व–

पत् साधनानामनैकान्तिकता वाच्या सत्वं च वैयर्थ्यसाधनं तत्राप्यभिव्यक्त्यभ्युपगमे केनाभिव्यक्तिरित्याद्यनवस्थाप्रसङ्गो दुर्निवार इति । व्यतिरेकपक्षोऽपि संगत्यसंभवादसंभवी अतो न स्वभावातिशयोत्पत्तिरभिव्यक्तिर्नापि तद्विषया ज्ञानोत्पत्तिस्वरूपा अभिव्यक्तिर्युक्तिसंगता तद्विषयज्ञानस्य भवदभिप्रायेण नित्यत्वात् । न वा हि तद्विषयस्यापि संवित्तिः सत्कार्यवादिमतेन नित्यैव किमुत्पाद्यं तस्याः स्याद अपि चैकैव भवन्मतेन संविदासर्गप्रलयादेका बुद्धिरिति कृत्यता । सैव च निश्चयस्तत्र कोऽपरस्तदुपलम्भोऽभिव्यक्तिस्वरूपो यः साधनैः संपाद्येत । न च तद्बुद्धिस्वभावात्तद्विषया संवित्तिः किं तु मनः स्वभावेति वक्तव्यम् । बुद्धिरुपलब्धिरध्यवसायो मनः संवित्तिरित्यादीनामनर्थान्तरत्वेन प्रदर्शयिष्यमाणत्वात् । तद्विषयोपलम्भावरणक्षयलक्षणाऽप्यभिव्यक्तिर्न घटां प्राञ्चति द्वितीयस्योपलम्भस्यासंभवेनोपलम्भावरणस्याप्यभावात् । न ह्यसत आवरणं युक्तिसंगतं तस्य वस्तुसद्विषयत्वात् । न वा सतस्तदावरणस्य कुतश्चित्क्षयो युक्तः सत्वेऽपि तदावरणस्य नित्यत्वान्न क्षयः संभवतीति । भावलक्षणेऽपि क्षयस्तस्यायुक्तोऽपरित्यक्तपूर्वरूपस्य तिरोभावानुपपत्तेः तद्विषयोपलम्भस्यासत्वेऽपि नित्यत्वान्नावरणसंभव इति कुतस्तत्क्षयाभिव्यक्तिः । न चाद्यावरणक्षयः केनचिद्विधातुं शक्यस्तस्य निःस्वभावत्वात्ततोऽभिव्यक्तेरघटमानत्वात्सत्कार्यवादपक्षे साधनोपन्यासवैयर्थ्यम् । एवं बन्धमोक्षाभावप्रसङ्गश्च तत्पक्षे । तथा हि प्रधानपुरुषयोः कैवल्योपलम्भलक्षणतत्वज्ञानप्रादुर्भावे सत्यपवर्गं कापिलैरभ्युपगम्यते तत्र तत्वज्ञानं सर्वदाऽवस्थितमेवेति सर्वदेहिनोऽपवृक्ताः स्युःअत एव न बन्धोऽपि तत्पक्षे संगतो मिथ्याज्ञानवशाद्धिबन्ध इष्यते तस्य च सर्वदा व्यवस्थितत्वात्सर्वेषां देहिनां बद्धत्वमिति कुता मोक्षः । लोकव्यवहारोच्छेदश्च सत्कार्यवादाभ्युपगमे । तथा हि हिताहितप्राप्तिपरिहाराय लोकः प्रवर्तते न च तत्पक्षे किंचिदप्राप्यं हेयं वा समस्तीति निर्व्यापारमेव सकलं जगत्स्यादिति कथं न सकलव्यवहारोच्छेदप्रसङ्ग । निषिद्धे च सत्कार्थवादेऽसत्कार्यं कारण इति सिद्धमेव सदसतोः परस्परपरिहारस्थितत्वेन प्रकारान्तरासंभवात्तथापि परोपन्यस्तपक्षदूषणस्य दूषणाभासताप्रतिपादनप्रकारो लेशतः प्रदर्श्यते । तत्र यत्तावदुक्तं परेणासत्कर्तुं नैव शक्यते निःस्वभावत्वादिति तदसिद्धं वस्तुस्वभावस्यैव विधीयमानत्वाभ्युपगमात्तस्य च नैरूप्यसिद्धेः । अथ प्रागुत्पत्तेर्निःस्वभावमेव तन्न तस्यैव निःस्वभावत्वायोगात् । न च तत्तत्स्वभाव एव निःस्वभावो युक्तो वस्तुस्वभावप्रतिषेधलक्षणत्वान्निःस्वभावत्वस्य । न च क्रियमाणं वस्तूत्पत्तेः प्रागस्ति येन तदेव निःस्वभावं सिद्ध्येत् । न च वस्तुविरहलक्षणमेव धर्मिणं नीरूपं पक्षीकृत्य नैरूप्यादिति हेतुः पक्षीक्रियत इति वक्तव्यं सिद्धसाध्यताप्रसङ्गात् यतो न वस्तुविरहः केनचिद्विधायकेन तथाऽभ्युपगतः । अनैकान्तिकश्चायं हेतुर्विपक्षे बाधकप्रमाणप्रदर्शनात्कारणशक्तिप्रतिनियमाद्धि किंचिदेवासत्क्रियते यस्योत्पादको हेतुर्विद्यते । यस्य तु शशशृङ्गादेर्नास्त्युत्पादकस्तन्न क्रियत इति अनैकान्त एव यतो न सर्वं सर्वस्य कारणमिष्टम् । न च यद्यदसत्तत्तत्क्रियत एवेति व्याप्तिरभ्युपगम्यते किं तर्हि यद्विधीयत उत्पत्तेः प्राक् तदसदेवेत्यभ्युपगमः । अथ तुल्येऽपि असत्कारित्वे हेतूनां किमिति सर्वः सर्वस्यासतो हेतुर्न भवतीत्यभिधीयते असदेतत् भवत्पक्षेऽप्यस्य चोद्यस्य समानत्वात् । तथा हि तुल्ये सत्कारित्वे किमिति सर्वस्य सतो हेतुर्न भवतीत्यसत्कार्यवादिनोऽप्येतदभिधातुं शक्यमेव न च तन्मते किंचिदस्ति येन तन्न क्रियते न च कारणशक्तिनियमात्सदपि नभोम्बुरुहाणिन क्रियत इत्युत्तरमभिधानीयमितरत्र तदुक्तं " त्रैगुण्यस्याविशेषऽपि,न सर्वं सर्वकारकम् । यद्धत्तद्धदसत्वेऽपि,न सर्वं सर्वकारकम् "। अभ्युपगमवादेन च यद्धत्तद्धदिति साम्यमुक्तं न पुनस्तदस्ति । तथा हि सत्यपि कार्यकारणयोर्भेदे कस्यत्किंचित्कारणं भवति स्वहेतुपरम्परायातत्वात्तथाभूतस्वभावप्रति--नियमस्याभेदे च तयोरेकस्यैकतैकस्मिन्नेव काले हेतुत्वमहेतुत्वं वाऽन्योन्यविरुद्धं कथं संभवेत् विरुद्धधर्माध्यासनिबन्धनत्वाद्धरुत्स्तुभेदस्य । तदुक्तं " भेदे हि कारणं किंचिद्धस्तुधर्मतया भवेत् । अभेदे तु विरुध्येत, तस्यैकस्य क्रियाक्रिये " ॥ १ ॥ अथासत्कार्यवादिन कारणानां प्रतिनियताः शक्तयो न घटन्ते कार्यात्मकानामवधीनामनिष्पत्तेः न ह्यवधिमतः सद्भवःसंभवति प्रयोगश्चात्र ये सद्भूतकार्यावधिशून्या न ते नियतशक्तयो यथा शशशृङ्गादयः सद्भूतकार्यावधिशून्याश्च शालिबीजादयो भावा इति व्यापकानुपलब्धिः । सत्कार्यवादे तु कार्यावधिसद्भावाद्युक्तः कारणप्रतिनियमः । उक्तं च । " अवधीनामनिष्पत्तेर्नियतास्ते न शक्तयः । सत्वे च नियमस्तासां,युक्तः सावधिको न त्वि ति " । असदेतत् हेतोरनैकान्तिकत्वात् । तथा ह्यवधीनामनिष्पत्तौ क्षीरस्य दध्युत्पादने शक्तिरिति व्यपदेशः केवलं मा भूद्यत्पुनरमध्यारोपितं सर्वोपाधिनिरपेक्षं वस्तुस्वरूपं यदनन्तरं पूर्वमदृष्टमपि वस्त्वन्तरं प्रादुर्भवति तस्य प्रतिषेध एव । न च शब्दविकल्पानां यत्र व्यावृत्तिस्तत्र वस्तुस्वभावोऽपि निवर्तते यतो व्यापकस्वभावः कारणं वा व्यावर्तमानं स्वव्याप्यं स्वकार्यं वाऽऽदाय निवर्तत इति युक्तं तयोस्ताभ्यां प्रतिबन्धात् न च पयसो दधिशक्तिरित्यादिव्यपदेशो विकल्पो वा भावानां व्यापकस्वभावः कारणं वा येनासौ निवर्तमानः स्वभावः स्वभावं निवर्तयेत् तद्व्यतिरेकेणापि भावसद्भवात् यतो व्यपदेशा विकल्पाश्च निरंशैकस्वभावे वस्तुनि यथाभ्यासमनेकप्रकाराः प्रवर्त्तमाना उपलभ्या एकस्यैव शब्दादेर्भावस्यानित्यादिरूपेण भिन्नस्य समयस्थायिभिर्वादिभिर्व्यपदेशाद्विकल्पनात्वात्तत्तादात्म्ये वस्तुनश्चित्रत्वप्रसक्तिर्व्यपदेशविकल्पवत् शब्दविकल्पानां वस्तुरूपवदेकत्वप्रसङ्गः । न ह्येकं चित्रशक्तमतिप्रसङ्गात्ततः शक्तिप्रतिनियमात्किंचिदेवासद्विधीयते न सर्वमित्यनैकान्तिकोऽपि नैरूप्यादिति हेतुः उपादानग्रहणादित्यादिहेतुचतुष्टयस्यात एवानैकान्तिकत्वम् । तथा हि यदि कार्यसत्वकृतमेव नियतोपादानग्रहणं क्वचित्सिद्धं भवेत् तथैव स्याद्यावता कारणशक्तिप्रतिनियमकृतमपि प्रतिनियततोपादानग्रहणं घटते एव सर्वस्मात्सर्वस्य संभवोऽपि कारणशक्तिप्रतिनियमादेव च न भवति सर्वस्य सर्वार्थक्रियाकारिभावत्वस्यासिद्धेः । यदपि कार्यातिशयमित्याद्युक्तं तदप्यभिप्रायापरिज्ञानादेव यतो नास्माभिरभाव उत्पद्यत इति निगद्यते विकारापत्तौ तस्य स्वभावहानिप्रसक्तिरापद्येत किं तु वस्त्वेव समुत्पद्यत इति प्राक् प्रतिपादितम् । तच्च वस्तु प्रागुत्पादादसमुपलब्धिलक्षणं प्राप्तस्यानुपलब्धेर्निष्पन्नस्यातिप्रसङ्गतः कार्यत्वानुपपत्तेश्चेत्युच्यते । यस्य च कारणस्य सन्निधानमात्रेण च तत्तथाभूतमुदेति तेन तत्क्रियत इति व्यपदिश्यते न व्यापारसमावेशात्किंचित्केनचित्क्रियते सर्वधर्माणामव्यापारत्वात् । नाप्यसत्किंचिदस्ति यन्नाम क्रियते । असत्वस्य वस्तुस्वभावप्रतिबन्धलक्षणत्वात् ।

अपि च यद्यत्कार्यातिशयं तत्तदसन्न क्रियत इत्यभिधीयते तदपि सर्वस्य भावनिष्पत्तेरकार्यातिशयमेवेति कथं क्रियते। ततः शक्तस्य शक्यकरणादित्ययमत्यनैकान्तिकः। सत्कार्यवादे च कारणभावस्याघटमानत्वात्कारणभावादित्ययमप्यनैकान्तिकः। अथवा कार्यसंभवस्य सतः प्राक् प्रतिपादितत्वादसत्कार्यवाद एव चोपादानग्रहणादिनियमस्य युज्यमानत्वादुपादनग्रहणादित्यादिहेतुचतुष्टयस्य साध्यविपर्ययसाधनविरुद्धताऽवसेया। यद्यसदेवोत्पद्यत इति भवतां मतं तत् कथं सद सतोरुत्पादः सूत्रे प्रतिषिद्धः उक्तं च। तत्रानुत्पन्नाश्च महामतेः सर्वधर्म्माः सदसतोरनुत्पन्नत्वादिति वस्तूनां पूर्वापरकोटिशून्यक्षणमात्रावस्थायी स्वभाव एव उत्पाद उच्यते न तत्वान्तरं प्रतिक्षणेन तन्मात्रजिज्ञासायां न पुनर्वैभाषिकपरिकल्पिता जातिः संस्कृतलक्षणा प्रतिषेत्स्यमानत्वात्तस्याः। नापि वैशेषिकादिपरिकल्पितसामान्यसमवायः स्वकारणसमवायो वा निषेत्स्यमानत्त्वात्तयोः परमतेन नित्यस्य च जन्मानुपपत्तेः। "सत्तास्वकारणाश्लेषकरणाकारणं किल। सा सत्ता स संबन्धो, नित्यःकार्यमथेह कि" मिति॥ १॥ स एवमात्मक उत्पादो नासतस्तादात्म्येन संबध्यते सदसतोर्विरोधात् न ह्यसत्सद्भवति। नापि सत्ता पूर्वभाविना संबध्यते तस्य पूर्वमसत्वात्कल्पनाबुद्ध्या तु केवलं सत्ता वस्तु संबध्यते न ह्यसन्नाम किंचिदस्ति यदुत्पत्तिमाविशेत्। असदुत्पद्यत इति तु कल्पनाविरचितव्यवहारमात्रं कल्पनावीजं तु प्रतिनियतपदार्थानन्तरोपलब्धस्य रूपस्योपलब्धिलक्षणं प्राप्तस्योत्पत्त्यवस्थातः प्रागनुपलब्धिस्तदेवमुत्पत्तेः प्राक्कार्यस्य न सत्वं धर्मो नाप्यसत्वं तस्यैवाभावात्। अपि च पयःप्रभृतिषु कारणेषु दध्यादिकं कार्यमस्तीति यदि कल्पते तदा वक्तव्यं किं व्यक्तिरूपेण तत्तत्र सत् अथ शक्तिरूपेण तत्र यदि व्यक्तिरूपेणेति पक्षः स न युक्तः क्षीराद्यवस्थायामपि दध्यादीनां स्वरूपेणोपलब्धिप्रसङ्गात् नापि शक्तिरूपेण यतस्तद्रूपं दध्यादेः कार्यानुपलब्धिल—क्षणरूपात् किमन्यदाहोश्चित्तदेव। यदि तदेव तदा पूर्वमेवोपलब्धिप्रसङ्गो दध्यादेः। अथान्यदिति पक्षस्तदा कारणात्मनि कार्यमस्तीति अभ्युपगमस्त्यक्तो भवेत्। कार्याद्भिन्नतनोः शक्तिनिधानस्य पदार्थान्तरस्य सद्भावाभ्युपगमात्तथा हि दुग्धे याऽविर्भूतविशिष्टरसवीर्यविपाकादिगुणसम्पत्किमेतदेव दध्यादिकं कार्यमुच्यते क्षीरावस्थायां च तदुपलब्धिलक्षणप्राप्तमनुपलभ्यमानमसद्वयवहारविषयत्वमवतरति यच्चान्यच्छक्तिरूपं तत्कार्यमेव न भवति न चान्यस्य भावेऽन्यत्सद्भवत्यतिप्रसङ्गात्। न चोपकारकल्पनया तद्व्यपदेशसद्भावेऽपि वस्तुव्यवस्था सद्वस्तु (पुस्तकान्तरे शब्दस्तु वस्तु इति) प्रतिबन्धाभावात्तद्भावेऽपि वस्तुसद्भावासिद्धेः सम्म०। अने०।

सदसत्कार्यवादी सैद्धान्तिकस्त्वाह। यद्येकान्तेन कारणे कार्यमस्ति तदा कारणस्वरूपवत् कार्यस्वरूपानुत्पत्तिप्रसक्तिर्न हि सदेवोत्पद्यते उत्पत्तेरविरामप्रसङ्गात्। न च कारणव्यापारसाफल्यं तद्व्यापारनिर्वर्त्यस्य विद्यमानत्वात् तथा हि कारणव्यापारः किं कार्योत्पादने आहोश्चित् कार्याभिव्यक्ताववुत तदावरणविनाश इति पक्षाः। तत्र न तावत्कार्योत्पादने तस्य सत्वे कारकव्यापारवैफल्पादसत्वे स्वाभ्युपगमविरोधादभिव्यक्तावपि पक्षद्वयेऽप्येतदेव दूषणम्। आवरणविनाशेऽपि न कारकव्यापारःसतो विनाशाभावादसतो भावस्योत्पादवत् तन्न सत्कार्यवादे कारकव्यापारसाफल्यम्। न चान्धकारपिहितघटाद्यनुपलम्भेऽन्धकारोपलम्भवत् कार्यावरकोपलम्भो येन प्रतिनियतं किंचित्तदावारकं व्यवस्थाप्येत न च कारणमेव कार्यावारकं तस्य तदुपकारकत्वे प्रसिद्धेः न ह्यालोकादिरूपज्ञानोपकारकं तदावरकत्वेन वक्तुं शक्यम्। किं च आवारकस्य मूर्तत्वे कारणमूर्तत्वे च न कारणरूपस्य तदभ्यन्तरप्रवेशो मूर्तस्य मूर्तेन प्रतिघातादप्रतिद्यते च यथा कार्यं कारणाभ्यन्तरप्रविष्टत्वात्तेनावृतमिति नोपलभ्यते तथा कारणस्याप्यनुपलब्धिप्रसङ्गः अप्रतिघातेन तदनुप्रविष्टत्वाविशेषात्। अथान्धकारवत् तद्दर्शनप्रतिबन्धकत्वेन तदावारकं नन्वेवमदर्शनेऽपि तस्य स्पर्शोपलम्भप्रसङ्गस्तस्याप्यभावे तस्यासत्वमिति तदावारकं तत्स्वरूपविनाशकत्वं प्रसक्तम्। न च पटादेरिव घटादिकं प्रति कारणस्य कार्यावारकत्वमिति न स्पर्शोपलब्धिः पटध्वंस इव मृत्पिण्डध्वंसे तदावृतकायोपलब्धिप्रसङ्गात् एकाभिव्यङ्ग्योपलब्धेश्च भवेदेकप्रदीपव्यापारात् तत्संनिधान-*व्यवस्थितानेकधादिवत्। किं च कारणं कार्यस्य सत्वे स काल इव* कथमसौ तेनाव्रियते नापि मृत्पिण्डकार्यतया पटादिवत् घटो व्यपदिश्येत असत्वे च नावृतिरविद्यमानत्वादेवैकान्तसतः करणविरोधादसत्करणादिभ्यो न सत्कार्यसिद्धिः। प्रतिक्षिप्तश्च प्रागेव सत्कार्यवाद इति न पुनरुच्यते। अनर्थान्तरभूतपरिणामवादोऽपि प्रतिक्षित एव न ह्यर्थान्तरपरिणामाभावे परिणाम्येव कारणलक्षणोऽर्थः पूर्वापरयोरेकत्वविरोधान्न च परिणामाभावे परिणामिनोऽपि भावो युक्तः परिणामनिबन्धनत्वात् परिणामित्वस्याभिन्नस्य हि पूर्वापरावस्थाहानोपादानात्मतया एकस्य वृत्तिलक्षणपरिणामो न युक्तियुक्तस्तन्नैकान्ताभेदे कारणमेवानर्थान्तरकार्यमित्ययमप्येकान्तो मिथ्यावाद एव कार्योत्पत्तिकाले कारणस्याविचलितरूपस्य कार्यादिव्यतिरिक्तस्य सत्वे पूर्वोक्तदोषप्रसङ्गात् तद्व्यतिरिक्तस्य तस्य सद्भावे कारणस्य प्राक्तनस्वरूपेणैवाप्यस्थितत्वात् अकारणकार्योत्पत्तिर्भवेत् कारणस्य प्राक्तनकारणस्वरूपापरित्यागात्। परित्यागे वा कार्यकारणस्वरूपस्वीकारेण तस्यैवावस्थितत्वादनेकान्तसिद्धेः। व्यतिरेके च कारणात्कार्यस्य पृथगुपलम्भप्रसङ्गो न च तदाश्रितत्वेन तस्योत्पत्तेर्न तत्प्रसङ्ग इति वक्तव्यमवयविनः समवायस्य च निषेत्स्यमानत्वान्निषिद्धत्वाच्च कारणाद्व्यतिरिक्तं तत्रासदेव कार्यमित्ययमपि पक्षो मिथ्यात्वमेव। तथा हि एकान्ततो निवृत्ते कारणे कार्यमुत्पद्यत इत्यत्र कारणनिवृत्तिः। सद्रूपासद्रूपा वेति वक्तव्यं सद्रूपत्वेऽपि न तावत्कारणस्य नित्यत्वप्रसक्तिः निवृत्तिकालेऽपि कारणसद्भावात्। न चाविचलितस्वरूपमृत्पिण्डसद्भावे घटोत्पत्तिर्दृष्टा कार्यानुत्पत्तिप्रसक्तेः नापि कार्यरूपा तन्निवृत्तिः कारणनिवृत्तौ कार्यस्यैवानुत्पत्तेरेवं च कार्य्यानुत्पादकत्वेन कारणस्याप्यसत्वमेव। न चोत्पत्तिरेव कारणनिवृत्तिरिति कारणनिवृत्तेने कार्योत्पत्तिरिति नायं दोषः कार्यगतोत्पादस्य कारणगतविनाशरूपत्वायोगाद्भिन्नाधिकारणत्वात् कारणनिवृत्तेश्च कार्यरूपत्वे कारणं कार्यरूपेण परिणतमिति घटस्य मृत्स्वरूपवत्कपालेष्वप्युपलब्धिप्रसङ्गः। नाप्युभयरूपा तन्निवृत्तिर्मृत्पिण्डविनाशकाले विवक्षितमृत्पिण्डघटव्यतिरिक्ताशेषजगदुत्पत्तिप्रसक्तिः। अथासद्रूपा तन्निवृत्तिस्तथापि यदि कारणाभावात् कार्योत्पादप्रसक्तेर्निर्हेतुकः कार्योत्पाद इति देशकालाकारनियमः कार्यस्य न स्यात् अभावाच्च कार्योत्पत्तौ विश्वमदरिद्रं भवेत्। नापि कार्याभावरूपा तन्निवृत्तिः कार्यानुत्पत्तिप्रसङ्गात्। नाप्युभयाभावस्वभावा द्वयोरप्यनुपलब्धिप्रसक्तेः। नाप्यनुभयाभावरूपा विवक्षितकारणकार्यव्यतिरिकेण सर्वस्यानुपलब्धिप्रसक्तेः कारण—

स्योपलब्धिप्रसक्तेश्च कारणभावाभावरूपा न तन्निवृत्तिः कारणस्यानुगतव्यावृत्ताप्रसक्तेरत एव च सदसद्रूपं स्वपररूपापेक्षयाऽनेकान्तवादिभिर्वस्त्वभ्युपगम्यते पररूपेणास्य सत्वे वस्तुनो निःस्वभावताप्रसक्तेः स्वरुपवत् । पररूपेणापि सत्वे पररुपताप्रसक्तेः एकरूपापेक्षयैव सदसत्वविरोधादन्यथा वस्त्वेव न भवेत् । नापि कार्यभावाभावरूपा कार्यस्योत्पत्त्यनुत्पत्त्युभयरूपताप्रसक्तेः तथा चरसिद्धसाध्यता केवलोभयपक्षोक्तदोषप्रसक्तिश्च नापि कार्यकारणोभयभावरूपा प्रत्येकपक्षोदितसकलदोषप्रसक्तेः परस्परव्यपदेश्यकार्यकारणभावाभावरूपकारणनिवृत्त्यभ्युपगमेऽनेकान्तवाद प्रसक्तिश्च । नाप्यनुभयभावाभावरूपा अनुभयरूपस्य वस्तुनोऽभावान्न च तन्निवृत्तेः सत्वमेकान्तभावाभावयोर्विरोधात् । अनुभयभावरूपत्वे तु तस्याः कारणस्याप्रच्युतत्वात् । तथैव चोपलब्धिप्रसङ्ग अपि च कारणनिवृत्तिस्तत्स्वरूपाद्भिन्नाऽभिन्ना वा यद्यभिन्ना निवृत्तिकालेऽपि कारणस्योपलब्धिप्रसङ्गस्तन्निवृत्तेः कारणात्मकत्वात् । स्वकालेऽपि वा कारणस्योपलब्धिप्रसङ्गस्तन्निवृत्तेः कारणात्मकत्वात् । स्वकालेऽपि वा कारणस्योपलब्धिर्न स्यात् तस्य तन्निवृत्तिरूपत्वादिभन्ना चेत्कारणस्य निवृत्तिरिति संबन्धाभावादभिधानानुपपत्तिः संकेतवशादभिधानप्रवृत्तावप्याधेयनिवृत्तिकालेऽधिकरणस्य सत्वमसत्वं वेति वक्तव्यम् । सत्वे कारणविनाशानुपपत्तिः आधेयनिवृत्त्या करणस्वरूपस्याधारस्याविरोधे विरोधे वा कारणतन्निवृत्त्योर्योगपद्यासंभवादसत्वेऽप्यधिकरणविरोधोऽसतोऽधिकरणत्वायोगात् तस्य वस्तुधर्म्मत्वादथ कारणनिवृत्तेर्नाधिकरणमपि तु तद्धेतुस्तन्निवृत्तेरुत्तरकार्यवत् तत्कार्यत्वप्रसङ्गात् । तदनभ्युपगमे कारणस्य तद्धेतुत्वप्रतिज्ञाहानिरकार्यस्य तद्धेतुत्वविरोधे वन्ध्याया अपि सुतं प्रति हेतुत्वप्रसक्तेः । न च कारणहेतुकैव कारणानिवृत्तिः कारणानन्तरभावित्वविरोधात् न च कारणहेतुका तन्निवृत्तिः कारणसमानकालं तदुत्पत्तिप्रसङ्गतः प्रथमक्षणे एव कारणस्यानुपलब्धिर्भवेत् तन्निवृत्त्याऽविरुद्धत्वात् । न च कारणनिवृत्तिः स्वहेतुका स्वात्मनि क्रियाविरोधात् न च निर्हेतुकैव कारणानन्तरमेव तस्याभावविरोधात् अहेतो र्देशादिनियमाभावात् । अथ कारणं निवृत्तेर्हेतुः कारणं वा किं तु स्वयमेव न भवति । नन्वत्र किं स्वसत्तासमय एव स्वयं न भवत्याहोश्विदुत्तरकालमिति विकल्पद्वयी गतिः । यदि प्राक्तनविकल्पस्तदा कारणानुत्पत्तिप्रसङ्गः । प्रथमक्षण एव निवृत्त्याक्रान्तत्वादुत्पत्यभावेन निवृत्तिरप्यनुत्पन्नस्य विनाशासंभवात् नापि द्वितीयस्तदा निवृत्तिभवनेनोत्पन्नानुत्पन्नतया कारणस्वरूपा भवनयोरविरोधात् स्वयमेव भावो न भवेदिति वचो घटते नान्यथा । न च जन्मान्तरं भावाभावस्य भावात्मकत्वात्तदव्य–तिरिक्त एवाभावो नन्वेनमपि जन्मानन्तरं स एव न भवतीत्यनेनाभावस्य भावरूपतैवोक्तेत्युत्त रकालमपि कारणानिवृत्तेस्तथैवोपलब्ध्यादिप्रसङ्गो भावस्याभावात्मकत्वान्नायं दोष इति चेन्नात्रापि पर्युदासाभावात्मकत्वं भावस्य प्रसज्यरूपाभावात्मकत्वं वा । प्रथमपक्षे स्वरूपपरिहारेण तदात्मकता प्रतिपद्यते अपरिहारेण वा प्रथमपक्षे स्वभवनप्रतिषेधपर्यवसानत्वान्न पर्युदासाभावात्मको भावो भवेन्न वाऽसौ तथा तद्भावकप्रमाणाभावात् । तथा भूतभावग्राहकप्रमाणाभ्युपगमे च प्रसज्यपर्युदासात्मको भावो भवेदित्यनेकान्तप्रसिद्धिर्द्वितीयपक्षेऽपि न पर्युदासोऽनिषिद्धस्तत्स्वरूपत्वात् पूर्वभावस्वरूपवत् । प्रसज्यरूपाभावात्मकत्वेऽपि भावस्य प्रतिषिध्यमानस्याश्रयो वक्तव्यो न भवेत् मृत्पिण्डलक्षणमाश्रयस्तस्य प्रतिषिध्यमानस्य चाश्रयत्वानुपपत्तेर्नापि घटलक्षणं कार्यमाश्रयः कारणनिवृत्तेर्हि प्राग्घटस्यासत्वेनायमिति प्रत्ययाविषयत्वादयं प्रत्ययविषयत्वे चायं ब्राह्मणो न तदन्योऽयमिति वचः प्रसज्यपर्युदासो व्यवहारो दृष्टो नान्यथेति प्रतिषेधप्रधानविध्युपसर्जनविधिप्रधानप्रतिषेधोप-सर्जनयोः शब्दयोः प्रवृत्तिनिमित्तधर्म्मद्वयाधारभूतं द्रव्यं विषयत्वेनाभ्युपगन्तव्यमन्यथा तदयोगात् । तथा चानेकान्तवादापत्तिरयत्नसिद्धेति तथाभूतस्य वस्तुनः प्रमाणबलायातस्य निषेद्धुमशक्यत्वात् । एकान्तेन घटस्योत्पत्तेः प्रागस्तित्वे क्रियायाः प्रवृत्त्यभावः फलसद्भावात्तत्सद्भावेऽपि वृत्तावनवस्थाप्रसक्तेः कारणेऽप्येतदविशेषतस्तद्वत्प्रसङ्गद्वयोरप्यभावप्रसङ्गो न चैतदस्ति तथा प्रतीतेस्तन्न मृत्पिण्डे घटस्य सत्वं नाप्येकान्ततोऽसत्वं मृत्पिण्डस्येव कथंचिद्घटरूपतया परिणतौ सर्वात्मना पिण्डनिवृत्तिपूर्वोक्तदोषो न निवृत्ते घटसदसत्वयोराधारभूतमेकं द्रव्यं मृल्लक्षणमेकाकारतया मृत्पिण्डघटयोः प्रतीयमानमभ्युपगन्तव्यम् । न च कारणप्रवृत्तिः कारणगता मृद्रूपता तन्निवृत्तिकाले च कार्यगता सा परैव नोभयत्रामृद्रूपताया एकत्वं भेदप्रतिपत्तावपि मृत्पिण्डघटरूपतया कथंचिदेकत्वस्यावाधितप्रत्ययगोचरत्वात् । उपलभ्यत एव हि कुम्भकारव्यापारस्त्वपेक्षं मृद्द्रव्यं पिण्डाकारपरित्यागेन शिविकाद्याकार–तया परिणममानम् । न हि तत्रेदं कार्यमाधेयभूतं भिन्नमुपजातं पङ्के पङ्कजवदिति प्रतिपत्तेः, नापि तत्करणनिर्वर्त्यतया दण्डोत्पादितघटं नापि तत्क र्तृतया कुविन्दव्यापारसमासादितात्मलाभः पटवत्, नापि तदुपादानतया आम्रवृक्षोत्पादिताम्रफलवत् । तस्मात्पूर्वपर्यायविनाश उत्तरपर्यायोत्पादात्मकस्तद्देशकालत्वादुत्पादात्मवत् । अभावरूपत्वाद्वा प्रदेशस्वरूपघटाद्यभाववत् प्रागभावाभावरूपत्वाद्वा घटस्वात्मवत्ता एवमनभ्युपगमे पूर्वपर्यायस्य ध्वंसादुत्तरस्य चानुत्पत्तेः शून्यताप्रस–क्तिरुत्तरपर्यायोत्पादाभ्युपगमे वा तदुत्पादः पूर्वपर्यायप्रध्वंसात्मकः प्रागभावाभावरूपत्वात् प्रध्वंसाभाववन्न च प्राक्तनपर्यायविनाशात्म–कत्वे उत्तरपर्यायभवनस्य तद्विनाशपूर्वपर्यायस्योन्मज्जनप्रसक्तिरभावाभावमात्रत्वानभ्युपगमाच्च । पुनस्तस्य प्रतिनियतपरिणतिरूपत्वात् भावाभावोभयरूपतया प्रतिनियतस्य वस्तुनः प्रादुर्भावे मुद्गरादिव्यापारानन्तरमुपलभ्यमानस्य कपालोदरभावस्य नाहेतुकता । न चोभयस्यै–कव्यापारादुत्पत्तिविरोधस्तथा प्रतीयमाने विरोधासिद्धेः । ततस्तद्विपरीत एव विरोधसिद्धेरुभमयैकान्ते प्रमाणानवतारात् तथात्मकैकत्वेन प्रतीयमानप्रतिहेतोर्जनकत्वविरोधे घटक्षणसत्तायाः स्वपरविनाशोत्पादकत्वं विरुध्यते । एवं चाकारणघटक्षणान्तरोत्पत्तिर्भवेत् । न च विनाशस्य प्रसज्यपर्युदासपक्षद्वयेऽपि व्यतिरिक्तादिविकल्पतो हेत्वयोगान्निर्हेतुकता युक्ता सत्ताहेतुत्वेऽपि तथा विकल्पनस्य समानत्वेन प्राक् प्रदर्शितत्वात् । यदपि विनाशस्य निर्हेतुकत्वात्स्वभावादनुबन्धितेति निरन्वयक्षणक्षयिता भावस्येति नान्वयस्तदप्यसङ्गतं विनाशहेतोर्मुद्गरादेर्घटविनाशस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वान्न ह्यध्यक्षसिद्धे वस्तुन्यनुमानं विपरीतधर्मोपस्थापकत्वेन प्रामाण्यमात्मनाशात्करोति । यदपि विनाशं प्रति तद्धेतो रसामर्थ्यात् क्रि याप्रतिषेधाच्च स्वरसवृत्तिविनाश इति नान्वयस्तदप्यसंगतं विनाशहेतोर्भावाभावीकरणसामर्थ्यात् । यथा हि भावहेतुर्भावीकरोति अन्यथा स्वयमेव नाशेऽपि भावानां द्वितीयक्षणे स्वयमेव भावी भवतीति भवेत् । यथा हि निष्पन्नभावस्य नाभावो

नाम कश्चित्संबन्धी यद्यन्योऽभावो भवेत् निष्पन्नस्य भावस्य तदा तेन तस्य संबन्धासिद्धेः पूर्ववद्दर्शनप्रसङ्ग इति स्वयमेव भावो न भवतीत्यभिधीयते। तथा न निष्पन्नस्य भावस्य भावो नामान्यः कश्चित् तेन तस्य संबन्धासिद्धेर्न भावस्य सत्ता भवेदिति स्वयमेव हेतुनिरपेक्षो भावो भवतीत्येतदपि वक्तव्यम्। यदि पुनस्तत्र न किंचिद्भवतीति क्रियाप्रतिषेधमात्रमिति न हेतुव्यापारः कथं तर्हि तदवस्थस्य भावस्य दर्शनादिक्रिया न भवेदिति वक्तव्यम्। स एव न भवतीति चेत्तर्हि तस्योद्भवनं करोति विनाशहेतुरित्यभ्युपगन्तव्यमिति तद्धेतूनामकिंचित्करतयाऽनपेक्षणीयत्वमनुपपन्नमत एवापेक्षणीयत्वोपपत्तिर्भावस्यान्यथा सहानवस्थानलक्षणविरोधासिद्धेः प्रतिनियतव्यवहारोच्छेदप्रसक्तिः। अपि च यदि नाम स एव न भवति तथापि प्रध्वंसाभावः प्रागभावाभावात्मक उत्तरकार्यवदभ्युपगन्तव्यस्तस्याप्यि तदनन्तरमुपलम्भात्। एतावान् विशेषो विनाशप्रतिपादनाभिप्राये सति तत्प्राधान्येतरोपसर्जनविवक्षायां विनष्टो भाव इति प्रयुज्यते। प्रतिपत्तिरपि तथैव विनाशोपसर्जनेतरप्राधान्यविवक्षायामुत्पन्नानि कपालानीति प्रतिपत्तिरपि तथैव। परमार्थतस्तूभयात्मकमन्यथा पूर्वोक्तदोषानतिवृत्तेः। न च कारणस्य निरन्वयविनाशे कार्यदलस्यात्यन्तासती उत्पत्तिर्घटते विनष्टस्य सकलशक्तिविरहिणः कारणस्य कार्यक्रियायोगादविनष्टस्वसत्ताकाले कार्यनिवर्त्तने हेतुफलयोः सह भाव इति तद्व्यपदेशः सव्येतरगोविषाणयोरिव न भवेत्। स्वकाले पश्चात्कार्यस्य भावे तदाकारणस्य स्वसत्तामत्यजतः क्षणक्षयपरिक्षयोऽनिष्टोऽनुषज्यते किं च कारणसत्तासमये कार्यस्याभवतः स्वयमेव पश्चाद्भवतस्तदकार्यत्वप्रसक्तिश्च। तथा हि यस्मिन्नसति यन्न भवति असति च भवति तत्तस्य न कार्यमितरच्च न कारणं यथा कुलालस्य पटादिः। क्षणक्षयपक्षे च प्रथमक्षणे कारणाभिमतभावसद्भावेन भवति कार्यमसति तस्मिन् द्वितीयक्षणे भवति चेति न तत्तकार्यमितरच्च तत्कारणमिति हेतुफलभावाभावस्य तन्मात्रनिबन्धनत्वात्। अत एव क्षणिकादर्थक्रिया व्यावर्त्तमाना स्वव्याप्यसत्वलक्षणमादाय निवर्तत इति यत्र सत्वं तत्राक्षणिकत्वसिद्धिमासादयति। न च कार्यकालेऽभवतोऽपि कारणस्य प्राक्तनानन्तक्षणे भावित्वात्कारणत्वं कार्यकाले स्वयमेवाभवतोऽकारणान्तरवत् कारणत्वयोगात्। कार्यस्य च कारणकाले आत्मनैवाभवतः। कार्यान्तरवत् तत्कार्यत्वानुपपत्तेः क्षणिकस्य च प्रमाणाविषयत्वान्न तत्र कार्यकारणभावकल्पनायुक्तिसङ्गता न चानुपलब्धेऽपि तत्र कारणभावाव्यवस्थाऽतिप्रसङ्गान्न च क्षणक्षयमीक्षमाणोऽपि सदृशापरापरोत्पत्त्यादिवन्नोपलक्षयतीति वक्तव्यं यतो नाध्यक्षात् क्षणक्षयलक्षणस्तत्र कार्यकारणभावं व्यवस्थापयितुं शक्नोति नाप्यनुमानात् क्षणिकत्वं व्यवस्थापयितुं समर्थस्तस्य स्वांशमात्रावलम्बितया वस्तुविषयत्वायोगात्। न च मिथ्याविकल्पनाध्यवसितं क्षणिकत्वं वस्तुनो व्यवस्थापितं भवति यदप्यक्षणिके क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधादित्याद्युक्तं तदपि सहकारिसन्निधानवशादक्षणिकस्य क्रमेणार्थक्रियां निर्वर्तयतोऽयुक्तमेव। यदप्युक्तं तत्करणस्वभावश्चेदक्षणिकः प्रागेव तत्करणप्रसङ्गः पश्चादिति स्वभावाविशेषादिति तदप्ययुक्तं यतो न वैकिंचिदेकं जनकं सामग्रीतः फलोत्पत्तेः। अक्षणिकश्च सामग्रीसन्निधानापेक्षया कार्यनिर्वर्तनस्वभावः केवलस्तु तदकरणस्वभावः न च तदा भावि कार्याकरणादवस्तुत्वप्रसक्तेरत एकत्र कारणान्तरापेक्षानपेक्षाभ्यां जनकत्वाजनकत्वेऽविरुद्धे यतो न क्षणिकवाद्यभ्युपगतक्षणस्यासंबन्धान्तरसन्निधानासन्निधानकृत स्वभावभेदः। अन्यथाऽनेकसामग्रीसन्निपातिन एकक्षणस्यैकदा विलक्षणानेककार्योत्पादनेऽनेकत्वाप्रसक्तिर्भवेत्। दृश्यते च प्रदीपक्षणस्य समानजातीयक्षणान्तरकज्जलं चक्षुर्विज्ञानादनेककार्यनिर्व्वर्त्तकत्वमेकस्य नानासामग्र्युपनिपातिन इति। क्रमेणाप्यक्षणिकस्य तन्नरुद्धं यथा चैकक्षणस्य स्वपरकार्यापेक्षयैकदा जनकत्वाजनकत्वे अविरुद्धे तथाऽक्षणिकस्यापि सहकारिकारणसन्निधानासन्निधानाभ्यां क्रमेण कार्यजनकत्वेन विरोत्स्यते। विज्ञप्तिपरमाणुपक्षेऽपि यथैको ज्ञानपरमाणुः संबन्ध्यन्तरजनितस्वभावभेदेऽप्यभिन्नः अन्यथा दिक्षट्कयोगात् सावयवत्वकल्पनयाऽवस्तुत्वप्रसक्तेः सेनावनादिवत्। स्वसंविदि निर्विकल्पिकायामप्रतिभासतः सर्वप्रतिभासविशेषवत् एवमक्षणिकोऽपि क्रमभाव्यनेकतत्सहकारिसंबन्ध्यन्तरसव्यपेक्षकार्यजननस्वभावभेदेऽप्यभिन्नोऽभ्युपगन्तव्यो जनकत्वभेदेऽप्यभिन्नस्वभाव इति नाक्षणिकेऽर्थक्रियाविरोधो न च क्षणक्षयेऽध्यक्षप्रवृत्तिव्यतिरेकेणाक्षणिके अर्थक्रियाविरोधः सिध्यतीतरेतराश्रयप्रसक्तेः। तथा ह्यक्षणिकत्वेऽर्थक्रियाविरोधात् प्रतिक्षणविशरारुष्वध्यक्षप्रवृत्तिसिद्धिस्तस्याश्चाक्षणिके अर्थक्रियाविरोधसिद्धिरिति। न चाक्षणिकवादमतेऽप्ययं समानो दोषः कालान्तरस्थायिनि भावेऽध्यक्षप्रवृत्तिनिश्चयादवे क्षणिकत्वेऽर्थक्रियाविरोधस्य सिद्धेर्न च क्षणिकेऽध्यक्षवृत्तिरपजातैव केवलं श्रान्तिकारणसद्भावान्न निश्चितेति वक्तव्यं विहितोत्तरत्वात्। न चैकक्षणिकस्यार्थक्रियाकरणलक्षणं सत्वमन्यस्य सत्तासंबन्धादेः सत्वस्य परेणानभ्युपगमादसत एकान्तक्षणिकाक्षणिकवदेकान्ताक्षणिकेष्वप्यर्थक्रियालक्षणं सत्वं पूर्वोपदर्शितन्यायेन व्यावृत्तं संबन्धलक्षणस्य च सत्वस्यातिव्याप्तित्वासंभवादिदोषदुष्टत्वादसत्वमित्येकान्ताक्षणिका अप्यसन्तो भावा इत्युत्पादव्ययध्रौव्यलक्षणमेव भावानामभ्युपगन्तव्यमिति नैकान्ततः कारणेषु कार्यमसदिति न तदिति पक्षो मिथ्यात्वमिति स्थितम्। अपरस्तु कार्यकारणभावस्य कल्पना शिल्पिविरचितत्वात्। तदुभयव्यतिरिक्तमद्वैतमात्रं तत्वमित्यभ्युपपन्नस्तन्मतमपि मिथ्याकार्यकारणोभयशून्यत्वात् खरविषाणवदद्वैतमात्रस्य व्योमोत्पलतुल्यत्वात् सम्म०।

किञ्च ॥

जे संतवाए दोसा, सक्कोलूया वयंति संखाणं।
संखाए असव्वाए, तेसिं सव्वे पि ते सच्चा ॥

यनेकान्तसद्वादपक्षे द्रव्यास्तिकाभ्युपगमपदार्थाभ्युपगमे शाक्योलूका दोषान्वदन्ति सांख्यानां क्रियागुणव्यपदेशोपलब्ध्यादिप्रसङ्गादिलक्षणास्ते सर्वेऽपि तेषां सत्या इत्येवं संबन्धः कार्यः। ते च दोषा एवं सत्याः स्युः। यद्यन्यनिरपेक्षतयाऽभ्युपगतपदार्थप्रतिपादकं तच्छास्त्रं मिथ्या स्यात् नान्यथा प्रागपि कार्यावस्थात एकान्तेन तत्सत्वनिबन्धनत्वात्तेषामन्यथा कथंचित्सत्वे अनेकान्तवादापत्तेर्दोषाभाव एव स्यात्। सांख्या अप्यसत्कार्यदोषानसदकरणादीन् यान् वदन्ति ते सर्वे तेषां सत्या एव एकान्ता सति कारणाभावात् अन्यथा शशशृङ्गादेरपि कारणव्यापारादुत्पतिः स्यात्। अथ शशशृङ्गस्य कारणाभावः अत्यन्ताभावरूपत्वात् तस्य इति चेत् तदेव कुतः कारणाभावादिति चेत् सोऽयमितरेतराश्रयदोषो घटादीनामपि च मृत्पिण्डावस्थायामसत्वेऽपि कुतः कारणसद्भावः प्रागसत्वादेव तत्र कारणसद्भावः सति कारणव्यापारासम्भवादिति चेत्। असदेतत् घटस्य मृत्पिण्डाव-

स्थायां सत्वे प्रागनवस्थायोगदसत्वेऽपि शशशृङ्गस्येव तदनुपपत्तेः । अथास्योत्पत्तिदर्शनात्प्रागभावो न शशशृङ्गस्येति नेतरेतराश्रयदोष–प्रसक्तेः । तथा हि यावदस्य प्रागभावत्वं न तावदुत्पत्तिसिद्धिः यावच्च नोत्पत्तिसिद्धिर्न तावत्प्रागभावित्वसिद्धिरिति व्यक्तमितरेतराश्रयत्वम् । अथ कारणस्य कार्यशून्यताप्रागभावः प्रागेव सिद्धः असदेतत् अकार–णस्यापि कार्यशून्यतोपलम्भात् तत्संबन्धात् घटस्य तत्कार्यताप्रसक्तेः । तथा हि यस्य प्रागभावित्वं तस्य कार्यता तच्च कार्यशून्यं पदार्थान्तरं कारकाभिमतादन्यत् । अपि च तत् प्रागभावस्वभावं प्राप्तं तत्संबन्धेन च घटादेः शशशृङ्गादिव्यवच्छेदेन कार्यता अभ्युपगतेति सूत्रपिण्डकार्य–ताऽपि घटस्यैवं भवेत् । न च तदन्वयव्यतिरेकस्तस्यैव तत्र प्रतिभासनात् । न च कारणस्वरूपमेव प्रागभावो निर्विशेषणस्य स्वरूपमात्रस्य कार्येऽपि सद्भावात् । तस्यापि प्रागभावरूपतापससक्तेः तथा प्रतीत्यभावात् न तद्रू–पतेति तन्न प्रतीतिमात्रादनपेक्षात् वस्तुस्वरूपाद्वस्तुव्यवस्थायोगात् । ततो मृत्पिण्डादिरूपतया वस्तु गृह्यते । अध्यक्षादिना न पुनस्तद्व्यतिरि–क्तकारणादिरूपतायास्तस्यास्तत्राप्रतिभासनात् । प्रतिभासनेऽपि विशिष्टकार्यापेक्षया कारणत्वस्य प्रतिपत्तौ कार्यप्रतिभासमन्तरेण तस्याप्रतीतेरसतस्तदानीं कार्यस्याप्रतिभासनात् प्रत्यक्षस्यासद्ग्राह–कत्वेन भ्रान्तता प्रसक्तेः । तदा तत्कार्यस्य सत्वप्रशक्तिः स्यादिति । कथमसति कारणव्यापारः प्रतीयेत तन्नासतः कार्यत्वं युक्तम् । नाप्यस–त्कारणं कार्यं तदानीमसति कारणे तस्य तस्य तत्कृतत्वायोगात्क्षणमा–त्रावस्थायिनः कारणस्वभावमात्रव्यवस्थितेरन्यत्र व्यापारायोगात् । अथ तदनन्तरं कार्यस्य भावात् प्रागभावित्वमात्रमेव कारणस्य व्यापारः असदेतत् समस्तभावलक्षणानन्तरं विवक्षितकार्यस्य सद्भावात् सर्वेषां तत् सर्वकालभावित्वस्य भावात् तत्कारणताप्रसक्तेः । अथ सर्वभावक्ष–णाभावेऽपि तदभावे इति न तस्य तत्कार्यता न क्षणिकेषु भावेषु विवक्षि–ताभाव एव सर्वत्र विवादाध्यासितकार्यसद्भावात्तदपेक्षयाऽपि तस्य कार्यता भवेत् । न च क्षणिकस्य कार्यस्य तदभावेऽपि पुनर्भवनसंभवस्त–स्य तदेव भावादन्यदा कदाचिदप्यभावान्न च विशिष्टभावक्षणधर्मानुवि–धानात्तस्य तत्कार्यताव्यवस्था सर्वथा च तद्धर्मानुविधाने तस्य कारण–रूपतापत्तेस्तत्प्राक्कालभावितया तत्कार्यताव्यतिक्रमात् । कथंचित्तद्ध–र्मानुविधाने अनेकान्तवादापत्तेरसत्कारणं कार्यमित्यभ्युपगमव्याघातात् । अथ सन्तानापेक्षः कार्यकारणभाव इत्ययमदोषो न सन्तानस्य पूर्वाप–रक्षणव्यतिरेकेणाभावात् । भावे वा तस्यैव कार्यकारणरूपस्यार्थक्रिया–सामर्थ्यात् सत्वं स्यान्न क्षणानामर्थक्रियासामर्थ्यविकलतया भवेत् । अथ तत्संबन्धिनः सन्तानस्य कार्यकारणत्वे तेषामपि कार्यकारणभावो न भिन्नयोः कार्यकारणभावादपरस्य संबन्धस्याभावात्सन्तानस्य च सर्वजगत्क्षणानन्तरभावित्वेन सर्वसन्तानतताप्रसक्तिः स्यात् । किं च तस्यापि नित्यत्वे क्षणकार्यत्वे च सत्कार्यवादप्रसक्तिः क्षणिकत्वे चान्य–थाप्रसिद्धेस्तस्य तत्कार्यताऽप्रसिद्धेर्व्यतिरेकश्च कार्यतानिबन्धनं क्षणि–कपक्षे न संभवतीति प्रतिपादितमेव न चात्राप्यपरसन्तानप्रकल्पनया कार्यकारणभावप्रकल्पनं युक्तमनवस्थाप्रसक्तेः । तथा हि सन्तानस्यापि कार्यताभ्युपगमे क्षणिकत्वान्न कार्यरूपताऽतः सन्तानान्तरमत्रापि कार्यतानिबन्धमभ्युपगन्तव्यं तत्रापि च क्षणिकत्वे कार्यताप्रसिद्धेस्त–न्निबन्धनमपरं सन्तानान्तरमभ्युपगमनीयमित्यनवस्था परिस्फुटैव । किं च क्षणिकभावाभ्युपगमवादिनो यदि भिन्नकार्योदयाद्धेतोः सत्वमभिमतं तदा तत्कार्यस्याप्यपरकार्य्योदयात् सत्वसिद्धिरित्यनवस्थाप्रशक्तेर्न क्वचित् सत्वव्यवस्था स्यादिति कृतस्तद्व्यवच्छेदेनासत्कार्यमिति व्यपदेशः । अथ ज्ञानलक्षणकार्यसद्भावाद्धेतोः सत्यव्यवस्थितिः । ननु ज्ञानस्यापि कथं ज्ञेयसत्ताव्यवस्थापकत्वं ज्ञेयकार्यत्वादिति चेत् ननु किं तेनैव ज्ञानेन ज्ञेयकार्यता स्वात्मनः प्रतीयेत उत ज्ञानान्तरेण । न तावत्तेनैव तस्य प्रागसत्वाभ्युपगमादप्रवृत्तेः प्रवृत्तौ वा तत्कार्यतावगतिः । अथ ज्ञानकालत्वेऽपि ज्ञानस्य ज्ञेयकार्यता नन्वेवमविशेषाज्ज्ञेयस्यापि ज्ञानकार्यतावगतिः स्यादिति तद्व्यवस्थापकं प्रसज्येत । न च समानकालयोस्तम्भकुम्भयोः कार्यकारणतोपलब्धेति प्रकृतेऽपि सा न स्यादथ केवलस्यापि कुम्भस्य दृष्टेरकार्यता ज्ञानस्यापि केवलस्य दृष्टेरकार्यताप्रशक्तिस्तस्य ततोऽन्यत्वव्यभिचार इति चेत् । ननु कुम्भोऽपि कुतोऽन्यः स न भवेत् प्रत्यभिज्ञानान्नान्य इति चेत् एतज्ज्ञानेऽपि समानं नित्यतावत्कुम्भस्यैवं भवेदिति कुतोऽसत्कार्यवादः । न च प्रत्यभिज्ञानं भवतः प्रमाणं पूर्वापररूपाधिकरणस्यैकतयाऽप्रतीतेः । न हि पूर्वापरप्रत्य–याभ्यामपरपूर्वरूपताग्रहः । नाप्येकप्रत्ययेन पूर्वापररूपद्वयस्य क्रमेण ग्रह एकस्याक्रमस्य क्रमवद्रूपग्रहकतयाऽप्रवृत्तेः । न च स्मरणस्य द्वयोर्वृत्तिः संभवति न वास्य प्रमाणता न च पूर्वापरस्य क्रमेण ग्रह एकस्याक्रमस्य क्रमवद्रूपग्रहकतया प्रवृत्तेः न च स्मरणस्य द्वयोः प्रत्ययोः परस्पर–परिहारेण वृत्तौ तत उत्पद्यमानं स्मरणमेकत्वस्य वेदकं युक्तमग्रहीत–ग्राहितया अस्मरणरूपताप्रशक्तेः । न चात्माऽप्येकत्वमवैति प्रत्यक्षाद–प्रमाणवशेनार्थावेदकत्वात्तस्य चैकत्वेऽप्रवृत्तेर्न न प्रमाणनिरपेक्ष एवात्मैकत्वग्राहकः स्वापमदमूर्च्छाद्यवस्थामपि तस्य तद्ग्राहकत्वो–पपत्तेः । न चैतस्याप्येकत्वं कुतश्चित्प्रमाणात् प्रसिद्धं तद्ग्राहकत्वेन तस्याप्रतीतेः । न च बौद्धस्यात्मा अन्यथा वस्तु नित्यमस्ति क्षणिकाः । सर्वसंस्काराः इति वचनात् तन्न तेनैवात्मनः प्रमेयकार्यतावगतिः नाप्य–नेन तस्यापि स्वप्रमेयकार्यावगतौ प्रागवृत्तितयाऽसामर्थ्यात् । तत्र ज्ञान–लक्षणमपि कार्यं हेतोः सत्तां व्यवस्थापयितुं समर्थं क्षणिकैकान्तवादे अध्यक्षस्य यथोक्तन्यायेनः पौर्वापर्ये अप्रवृत्तरत एव नानुमानस्यापि पौर्वापर्ये प्रवृत्तिस्तस्य तत्पूर्वकत्वात् । प्रत्यक्षाप्रतिपन्नेऽर्थे परलोकादा–विवार्थविकल्पनामात्रत्वेन सर्वज्ञानस्याभ्युपगमात् तन्नासत्कार्यवादः प्रमाणसङ्गतः । सत्कार्यवादस्तु प्रागेव निरस्तत्वादयुक्त एव । तथाहि नित्यस्य कार्यकारित्वं तत्र स्यात्तच्चायुक्तं नित्यस्य व्यतिरेकाप्रसिद्धितः कार्यकारणसामर्थ्याप्रसिद्धेः । न हि नित्यसर्वदेशकालव्यापिनः क्वचित्कार्यव्यापारविरहिणः सामर्थ्यमवगन्तुं शक्यम् । अथ सर्वदेशाव्यापिनस्तस्य तत्र सामर्थ्यं भविष्यति तदसद्यतः सर्वदेशा व्याप्तिः तस्य तथा प्रतीतेर्यद्यवसीयते सर्वकाला व्याप्तिरपि तस्य तत एवाभ्युपगमनीया स्यात् । अभ्युपगम्यते एवेति चेन्नन्वेवं कति–पयदेशकालव्याप्तिरप्यप्रतिपत्तेरेवानुपपत्तेः निरंशैकक्षणरूपता भावानां समायाता । न च तदेवं कार्यजनकता प्राक् प्रतिक्षिप्तत्वान्न चैकान्तनि–त्यव्यापकत्वपक्षे प्रमाणप्रवृत्तिरित्यसकृत् प्रतिपादितम् । न चासति कार्ये निर्विषयत्वात् कारणव्यापारसंभवात् सत्येव तत्र तेषां व्यापारोऽतो न दृष्ट्वा श्रुत्वा ज्ञात्वा वा हेतूनां कार्ये व्यापारस्तेषां जडत्वने तदसंभवात् । न चादृ–

श्यमाना जडेश्वरादिहेतुकमकृष्टोत्पत्तिकं भूरुहादि संभवतीति प्राक् प्रतिपादितेन चासतः कार्यस्य विज्ञानं न ग्राहकमसत्पक्षादिबुद्धेः प्रवृत्तेः। अन्यथा कथं कार्यार्थप्रतिपादिता चोदना भवेत्। किं च यदि सत्येव कार्ये कारणव्यापारस्तदोत्पन्नेऽपि घटादिकार्ये कारणव्यापारादनवरतं तदुत्पत्तिप्रसक्तिस्तत्राविशेषात्। अथाभिव्यक्तत्वान्नोत्पन्ने पुनरुत्पत्तिरुत्पत्तेरभिव्यक्तिरूपत्वात् तस्याश्च प्रथमकारणव्यापारादेव निवृत्तत्वात् नन्वभिव्यक्तिरपि यदि व्यज्यमानैवोत्पद्यते उत्पन्नाऽपि पुनः पुनरुत्पद्येत। अथाविद्यमाना तदा असदुत्पत्तिप्रसक्तिर्न चाभिव्यक्तावप्यसत्यां कार्य इव कारणव्यापारोऽभ्युपगन्तुं युक्तः। स्वसिद्धान्तप्रकोपप्रसङ्गात्। अथ सतः कारणात् कार्यमिति सत्कार्यवादोऽसतो हेतुत्वायोगात् तथाऽभ्युपगमे वा शशशृङ्गादेरपि पदार्थोत्पत्तिप्रसक्तिरत्यन्ताभावप्रागभावयोरसत्वेनाविशेषात्। न च प्रागभावी आसीदिति हेतुर्नात्यन्ताभावीति वक्तव्यं यतो यदा न हेतुरन्यदा हेतुरिति प्रसक्तेस्ततश्चेदं प्रसक्तम्। असन् हेतुः संश्चाहेतुरिति ततः सन्नेव हेतुस्तस्य कार्ये व्यापारात्। नासंस्तत्र तदयोगादेतदप्यसद् यतः सतोऽपि कारणस्य प्राक्तनरूपापरित्यागात् न कार्यं प्रति हेतुता प्राक्तनावस्थावत्। अथ तदा व्यापारायोगाद्धेतुताऽसदेतद्व्यापारेण कार्ये प्रति तस्य हेतुत्वे सोऽपि व्यापारः कुतस्तस्येति पर्यनुयोगासंभवाद् व्यापारवत्पदार्थत्वात्। ननु तत्रापि व्यापारोऽयं परव्यापारात् तदा व्यापारपरम्पराव्यवहितत्वात् कारणस्य न कदाचित्कार्योत्पादने प्रवृत्तिः स्यात् अनन्तरव्यापारापरम्परापर्यवसानं यावत् कस्यचिदनवस्थानादसतः कारणात् कार्योत्पत्तिश्च स्यात्। अथ कारणस्वरूपमेव व्यापारस्तत्काल एव कार्ये तेन नानवस्थानाप्यसतः कारणात्कार्योत्पत्तिः। नन्वेवं कारणसमानकाले कार्ये स्यात् तथा च सव्येतरगोविषाणवत् कुतः कार्यकारणभावः। अथ कार्यभावकाले कारणस्य न सदभावस्तर्हि चिरतरनष्टादिवत्तत्कालध्वंसिनोऽपि कुतः कार्यसद्भावः कार्योत्पत्तिकाले तदनन्तरभाविनः सत्ता चेत्तर्हि कार्योत्पत्तिः। कार्योन्नतिकार्यकारणयोः समानकालता च स्यात्। तथा कुतः कार्यकारणभावो न च सतः कारणतः कार्योत्पत्तिरित्यभ्युपगमवादिनः कार्योत्पत्तिकाले कारणस्य सत्वं बौद्धस्यैव सिद्धमविचलितरूपस्य च तस्य सद्भावे तदापि न कार्यवत्त्वाविकलकारणत्वात्। प्राग्वत् तदा तद्वत्त्वे वा पूर्वमपि तद्वत्त्वं स्यादविकलकारणत्वात्। तदवस्थावन्नैकान्तसत्कार्यवादोऽसत्कार्यवादो वा युक्तोऽनेकदोषदुष्टत्वात्। अथैकान्तेन सदसतोरजन्यत्वादजनकत्वाच्च कार्यकारणभावाभावात्। सर्वशून्यतैव तदुक्तमयुक्तं सर्वमिति चेत्यादिना कथंचित् सदसतोर्जन्यत्वाच्च। न चैकस्यैव सदसद्रूपत्वं विरुद्धं कथंचिद्भिन्ननिमित्तपक्षस्य सदस्त्वस्यैकत्राबाधिताध्यक्षतः प्रतिपत्तेर्न चाध्यक्षे प्रतिपन्ने वस्तुनि विरोधोऽन्यथैकचित्रपटेज्ञाने चित्ररूपतायाश्चित्रपटे च चित्रैकरूपस्य को विरोधः स्यात् तथा च शुक्लाद्यनेकप्रकारं पृथिव्या रूपमिति वैशेषिकस्य विरुद्धाभिधानं भवेत्। अथ तदवयवानां शुक्लाद्यनेकरूपयोगिताऽवयविनस्त्वेकमेव रूपं तत्तदवयवानामप्यवयवित्वेनानेकप्रकारैकप्रतियोगित्वविरोधात्। अथ प्रत्येकमवयवेषु शुक्लादिकमेकैकं रूपं तर्हि तदवयवादिष्वप्येकैकमेव रूपं यावत् परमाणव इतिविभिन्नघटपटादिपदार्थेष्विव चित्रपटे नीलपीतशुक्लरूपा एते भावा इति प्रतिपत्तिः स्यात् न पुनश्चित्ररूपः पट इत्यवयवावयविनोरन्यत्वात् अवयवानामनेकरूपसंबन्धित्वेऽप्यवयविनस्तथा भावाभावात्। अथावयविनोऽपि विभिन्नानेकरूपसंबन्धित्वमभ्युपगम्यते तथापि चित्रैकरूपप्रतिभासानुपपत्तिरनेकरूपसंबन्धित्वस्यैव तत्र सद्भावात्सूत्रव्याघातश्चैवं स्यात्। अविभुनि द्रव्ये समानेन्द्रियग्राह्याणां विशेषगुणानामसंभवादिति सूत्रेणाभिधानात्। अव्यापके पटादिद्रव्ये एकेन्द्रियग्राह्याणां शुक्लादीनां विशेषगुणानामसंभवोऽनेन सूत्रेण प्रतिपादितः स च व्याहन्येत। किं च शुक्लादीनामेकत्र पटादावनेकस्वरूपाणां सद्भावाभ्युपगमे व्याप्यवृत्तित्वमव्याप्यवृत्तित्वं वा। अव्याप्यवृत्तित्वे शेषाणामाश्रयव्यापित्वमिति विरूध्येत। आश्रयव्यापित्वेऽप्येकावयवसहितेऽप्यवयविन्युपलभ्यमाने अपरावयवानुपलब्धावप्यनेकरूपप्रतिपत्तिः स्यात् सर्वरूपाणामाश्रयव्यापित्वात्। अथ शुक्लाद्यनेकाकारं चित्रमेकं तद्रूपं यथा शुक्लादिको रूपविशेषः कथं तर्ह्यनेकाकारमेकरूपविरुद्धं भवेत्। चित्रैकरूपाभ्युपगमस्य चित्रतरत्वात्। अथ चित्रैकरूपस्य तस्य प्रत्यक्षेण प्रतीतेर्न विरोधस्तर्हि सदसद्रूपैकरूपतया कार्यकारणरूपस्य वस्तुनः प्रतिपत्तौ विरोधः कथं भवेन्न च चित्रपटादावपास्तशुक्लादिविशेषं रूपमात्रं तदुपलम्भान्यथानुपपत्त्यास्तीत्यभ्युपगन्तव्यं चित्ररूपः पट इति प्रतिभासावप्रसक्तेः। अथ परस्परविरुद्धानां शुक्लादिरूपाणां चित्रैकरूपानारम्भकत्वमेव कारणगुणानामित्यभ्युपगमः शुक्लाच्छुक्लमित्यादिप्रतीतेः कथं तर्हि कारणगतशुक्लादिरूपाविशेषेभ्यः कार्यरूपमात्रस्यापास्ततद्विशेषस्योत्पत्तिर्भवेत् तेभ्यस्तस्यासमानत्वात्। अथ तद्गतरूपमात्रेभ्यस्तद्रूपमात्रस्योत्पत्तेर्न दोषोऽसदेतत् शुक्लादिरूपविशेषव्यतिरेकेण रूपत्वादिसामान्यमपहाय रूपमात्रस्यास्याभावात् सामान्यस्य च नित्यत्वेनाजन्यत्वान्न च रूपमात्रनिबन्धनश्चित्ररूपः पट इति प्रतिभासो युक्तः शुक्लादिप्रत्ययस्यापि तन्निबन्धनत्वेन शुक्लादिरूपविशेषस्याप्यभावप्रसक्तेः। न चावयवगतचित्ररूपात् पटादिचित्रप्रतिभासोऽवयवेष्वपि तद्रूपासंभवात् न चान्यरूपस्यान्यत्र विशिष्टप्रतिपत्तिजनकत्वं पृथिवीगतचित्ररूपमात्रमेव तत्र स्यात् क्षितौ रूपमनेकप्रकारमिति विरुध्येत अनेकप्रकारं हि शुक्लत्वादिभेद भिन्नमुच्यते रूपमात्रं च शुक्लादिविशेषरहितं तस्य शुक्लादिविशेषेष्वनन्तर्भावात् कथं न विरोधः। यदपि शुक्लाद्यनेकप्रकाररूपाभ्युपगमे क्षितौ तत्र विशेषपरिहाराभिधानं किलाविभुनि द्रव्ये समानेन्द्रियग्राह्याणां विशेषगुणानामेकाकाराणामसंभवो न त्वनेकाकाराणां तेषामुपलम्भात् एकाकाराणामेकत्र बहूनां सद्भावे एकेनैव शुक्लादिप्रतिपत्तेर्जनितत्वादपरतद्भेदकल्पनावैयर्थ्यप्रसङ्गान्न तदभ्युपगमः। न चैवमनसेकाकाराणामिति तदप्यसंगतं व्याप्याव्याप्यवृत्तित्वविकल्पद्वयेऽपि दोषप्रतिपादनात्। अथ याप्यवृत्तित्वेन विरोधदोषः शेषाणामाश्रयव्यापित्वमेवेत्यवधारणानभ्युपगमात् नन्वेवं सूक्ष्मविवरप्रतिष्ठालोकोद्योतितान्यतरपटविभागवृत्तिरूपदेशस्य प्रतिपत्तौ यदि तदारभ्य पटावयविनः प्रतिपत्तिस्तदाधेयाशेषशुक्लादिरूपप्रतिपत्तिरपि भवेत्। आधेयप्रतिपत्तिमन्तरेण तदाधारत्वस्य प्रतिपत्तुमशक्तेः। न चान्यतरान्यतमरूपाधारत्वव्यतिरिक्तं तस्य तदन्यरूपाधारत्वमनेकमनेकस्वभावयोगिनः पटस्यानेकत्वप्रसक्तेः स्वभावभेदलक्षणत्वाद्वस्तुभेदस्यान्यथा तदयोगात्। तदनेकत्वेऽपि तस्यैकत्वे कथं नानेकाकारमेकं स्यात्। अथ तत्प्रतिपत्तौ भवेद् विप्रतिपत्तिस्तर्हि निराधारस्य रूपस्य प्रतिपत्तौ गुणरूपता विशीर्यत द्रव्याश्रयादिलक्षणयोगित्वात्तस्य न च तद्रूपताप्रतिपत्तौ तल्लक्षणयोगिता तस्यावगन्तुं शक्या

प्रमेयव्यवस्थायाः प्रमाणाधीनत्वात् अणुपरिमाणयोगित्वे चाल्पतरपटादिरूपस्य परमाणोरिवाद्रव्यरूपताप्रसक्तिस्तस्यैव तद्योगित्वात् अत एवैकावयवसहितस्य पटस्यैवोपलम्भात् एकरूपोपलम्भेऽप्याश्रयाव्यापितया शेषरूपाणामनुपलम्भाच्च प्रतिभासाभाव इति यदुक्तं तदपि निरस्तम् एकरूपोपाध्यपकाराङ्गशक्यभिन्नस्य पटद्रव्यस्यानिश्चयात्मनाऽध्यक्षेपेण ग्रहणे अशेषरूपोपाध्युपकारकशक्यभिन्नात्मनस्तस्यैकरूपतया ग्रहणात् उपकार्यग्रहणमन्तरेणोपकारकत्वग्रहणस्यासंभवात् । शक्तीनां ततो भेदे संबन्धासिद्धेरपरोपकारकशक्तिप्रकल्पनायामनवस्थाप्रसक्तेः कथं नाशेषोपकार्यरूपप्रतिभासाच्चित्रप्रतिभासप्रसक्तिः । एतेन तन्तूनां नीलाद्यनेकरूपसंबन्धित्वात् पटेऽप्यनेकरूपारम्भकत्वेन किंचित्साधकं प्रमाणं कारणगुणपूर्वप्रक्रमेण तथाविधस्य रूपस्योत्पादादित्यपि प्रत्युक्तम् । एकावयवप्रतिभासे चित्रप्रतिभासोत्पत्तिप्रसङ्गस्यैव बाधकत्वात् । यदपि भवतु वा एकं पटे चित्रं रूपं नीलादिरूपैरेकरूपभावात् । यथा हि शुक्लादिर्विशेषो रूपस्य तथा चित्रमपि रूपविशेष एव चित्रशब्दवाच्य इति तद्रूपगतमेव । अनेकाकारस्यैकत्वे चित्रैकशब्दवाच्यत्वे वाभ्युपगम्यमाने सदसदनेकाकारानुगतस्यैकस्य कारणादिशब्दवाच्यत्वेनाभ्युपगमाविरोधात् । यथा च बहूनां तन्त्वादिगतनीलादिरूपाणां पटगतैकचित्ररूपारम्भकत्वं दृष्टत्वादविरुद्धं तथाऽनेकाकारस्यैकरूपत्वं वस्तुनो दृष्टत्वादेव विरुद्धमभ्युपगन्तव्यमत एवैकानेकरूपत्वाच्चित्ररूपस्यैकावयवसहितेऽवयविन्युपलभ्यमाने शेषावयवावरणे चित्रप्रतिभासाभाव उपपत्तिमान् । सर्वथात्वे तत्रापि चित्रप्रतिभासः स्यात् अवयविव्याप्या तद्रूपस्य वृत्तेर्न चावयवनानारूपोपलम्भसहकारीन्द्रियमवयविनि चित्रप्रतिभासं जनयतीति तत्र सहकार्यभावात् । चित्रप्रतिभासानुत्पत्तिरिति वाक्यमवयविनोऽप्यनुपलब्धिप्रसङ्गात् न हि चाक्षुषप्रतिपत्या गृह्यमाणरूपतयाऽवयविनो वायोरिव ग्रहणं दृष्टं न च चित्ररूपव्यतिरेकेणापरं तत्र रूपमात्रमस्ति यतस्तत्प्रतिपत्त्या पटग्रहणं भवेत् । न चावयवरूपोपलम्भोऽवयविरूपप्रतिपत्तौ अक्षिसहकारी तद्भावे वा तदवयवरूपोपलम्भाक्षिसहकारीति तमन्तरेण न स्यादिति पूर्वपूर्वावयवरूपोपलम्भापेक्षपरमाणुरूपोपलम्भाभावात् । तज्जन्यद्व्यणुकाद्यवयविरूपोपलम्भासंभवात् । न क्वचिदपि रूपोपलब्धिः स्यात्तदभावे च नावयव्युपलब्धिरिति तदाश्रितपदार्थानामप्युपलम्भाभावात् सर्वप्रतिभासाभावः स्यात् । तत एकानेकस्वभावं चित्रपटरूपवद्वस्त्वभ्युपगन्तव्यम् । वैशेषिकेण बौद्धेनापि चित्रपटप्रतिभासस्यैकानेकरूपतामभ्युपगच्छता एकानेकरूपं वस्त्वभ्युपगतमेव । अथ प्रतिभासोऽप्येकानेकरूपो नाभ्युपगम्यते तर्हि सर्वथा प्रतिभासाभावः स्यादित्यसकृदावेदितं तत एकान्ततोऽसति कार्ये न करणव्यापारस्तेनाभ्युपगन्तव्योऽसति तत्र तदभावात् । नापि सति मृत्पिण्डे तमन्तरेणापि ततः प्रागेव निष्पन्नत्वात् न च मृत्पिण्डे कारकव्यापारः पृथुबुध्नोदराद्याकारता प्रतिपद्यत इति कारकव्यापारफलयोरैक्यविषयत्वे अनेकान्तवादसिद्धिस्तस्मात् द्रव्यास्तिकपर्यायास्तिकाभ्यां सहिताभ्यामन्योऽन्यनिरपेक्षाभ्यां व्यवस्थापितं वस्त्वसत्यमिति तत्प्रतिपादकं शास्त्रं सर्वं मिथ्येति व्यवस्थितम् । अमुमेवार्थमन्वयव्यतिरेकाभ्यां द्रढीकर्तुमाह

ते उ भयणोवणीया, सम्मदसमणुत्तरं होंति ।
जं भवदुक्खविमोक्खं, दो वि न पुरोतिपाडेक्कं ॥ १४७ ॥

तौ द्रव्यपर्यास्तिकनयौ भजनया परस्परस्वभावाविनाभूततयोपनीतौ सदसद्रूपैकान्तव्यवच्छेदेन तदात्मकैककार्यकारणादिवस्तुप्रतिपादकत्वेनोपयोजितौ यदा भवतस्तदा सम्यग्दर्शनमनुत्तरं नास्त्यस्मादन्यदुत्तरं प्रधानं यस्मिंस्तत्तथाभूतं भवतः परस्परविनिर्भागवर्तिद्रव्यपर्यायात्मकैकवस्तुतत्त्वविषयरुच्यात्मकबोधितावबोधस्वभावत्वात् । यदात्वन्योऽन्यनिरपेक्षद्रव्यपर्यायप्रतिपादकत्वेनोपनीतौ भवतो न तदा सम्यक्त्वं प्रतिपद्येते । यस्मात् संसारभाविजन्मादिदुःखविमोक्षमात्यन्तिकं च श्लेषं द्वावपि तौ प्रत्येकं न विधत्तः मिथ्याज्ञानात्सम्यग्क्रियाभङ्गतया आत्यन्तिकभवोपद्रवानिवृत्त्यसिद्धिः । तद्विपर्ययकारणत्वात् । तच्चासकृत्प्राक् प्रतिपादितमिति न पुनः प्रतन्यते ततः कारणात्कार्यं कथंचिदन्यदत एव सदसद्रूपतया सच्चासच्चेत्यमुमेवार्थमुपसंहारद्वारेणोपदर्शयन्नाह ।

णत्थि पुढवीविसिट्ठो, घडोत्ति जं तेण जुज्जइ एगेण ।
जं तु ण घडत्ति पुव्वं, ण आसि पुढवी तओ अण्णा ॥१४८॥

नास्ति द्रव्यभूतपृथ्वीत्वादिभ्यो विशिष्टो भिन्नो घटः सदादिव्यतिरिक्तं स्वभावतया तस्यानुपलम्भात् । किं च यदि सत्वादयो धर्मा घटादेकान्ततो सोऽपि वा तेभ्यो भिन्नः स्यात्तदा न घटस्य सदन्वितत्वं स्यात् । स्वतोऽसदादेरन्यधर्मयोगेऽपि शशशृङ्गादेरिव तदयोगात् । सदादेरपि घटाद्याकारादाद्यन्तभेदे निराकारतयाऽत्यन्ताभावस्येवोपलम्भविषयत्वायोगात् । ज्ञेयत्वप्रमेयत्वादिधर्माणामपि सदादिधर्मेभ्यो भेदे असत्वं सदसदादेस्तु तेभ्यो भेदे ज्ञेयत्वादसत्वमेवोपलम्भः सत्तेति वचनात् ततः सदादिरूपतया उपलभ्यमानत्वात् घटस्य तेभ्यो भिन्नरूपताभ्युपगन्तव्या प्रमेयव्यवस्थितेः प्रमाणनिबन्धनात् । यत्पुनः पृथुबुध्नोदराद्याकारतया पूर्वं सदादि नासीत् ततोऽसावन्यस्तेभ्यो घटरूपतया प्राक् सदादेरनुपलम्भात् प्रागपि तद्रूपस्य सदादौ अनुपलम्भायोगात् । दृश्यानुपलम्भस्य वा भावव्यभिचारित्वादतद्रूपतायां य विरोधाऽभावात् प्रतीयमानायां तदयोगादबाधितप्रत्ययस्य च मिथ्यात्वासंभवाद्बाधाविरहस्य च प्रागेवोपपादितत्वात् सदेकान्तवादवत् । सम्म० ।

सदसत्कार्य्यवादश्च केषांचिन्नयानां सत् केषांचिदसदिति सङ्कलने सदस—त्कार्य्यवाद इत्येवं भाष्यकृद् व्याख्यानयति ।

सम्मत्तनाणरहिअस्स—नाणमुप्पज्जइ त्ति ववहारो ।
नेच्छइ य न उ भासइ, उप्पज्जइ तेहिं सहियस्स ॥

पातनयैव व्याख्याता अत्र तावद्व्यवहारो निश्चयस्य दूषणमाह ।

ववहारनयं जायं, न जायए भावओ कयघडो व्व ।
अह वा कयं पि कज्जइ, कज्जउ निच्चं नयसमत्ती ॥

यदि हन्त ? सम्यग्दृष्टिर्ज्ञानी च सम्यक्त्वज्ञाने प्रतिपद्यत इति त्वयाऽभ्युपगम्यते तर्हि जातमपि तत्सम्यक्त्वं ज्ञानं चासौ पुनरप्युत्पादयतीति सामर्थ्यादापन्नम् न च जातं विद्यमानं पुनरपि जायते न केनापि ततः क्रियत इत्यर्थः । कुत इत्याह । भावतोविद्यमानत्वात्पूर्वनिष्पन्नघटवदित्येतद्व्यवहारनयमतमसत्कार्यवादित्वात्तस्य प्रमाणयति चासौ यद्विद्यमानं तन्न केनचित्क्रियते यथा पूर्वनिष्पन्नो घटः विद्यमाने च सम्यग्दृष्टेः सम्यक्त्वज्ञानेऽतो न तत्करणमुपपद्यते । अथ कृतमपि क्रियते तर्हि क्रियतां नित्यमपीति क्रियानुपरमप्रसङ्गः । न चैवं सत्येकस्यापि कार्यस्य कदापि परिसमाप्तिरिति प्रस्तुतस्याभिनिबोधिकस्यापि

प्रतिप्रत्यनवस्थेति। अपि च यदि कृतमपि क्रियते तदाऽन्येऽपि दोषाः। क इत्याह।

किरियाइवेफलं वि य–पुव्वमभूयं च दीसए होंतिं।
दीसइ दीहो य जहा, किरियाकालो घडाईणं॥

यदि कृतमपि क्रियत इत्यभ्युपगम्यते तर्हि घटादिकार्यं उत्पाद्ये क्रियायाश्चक्रभ्रमणादिकाया वैफल्यं निरर्थकता प्राप्नोति। कार्यस्य प्रागेव सत्त्वात्। किं चाध्यक्षविरोधः सत्कार्यवादे यतः पूर्वं मृत्पिण्डावस्थाया–मभूतमविद्यमानं पश्चात्तु कुम्भकारादिव्यापारे घटादिकार्यं भवज्ञायमानं दृश्यतेऽतः कथमुच्यते सदुत्पद्यते इति यस्मिन्नेव समये प्रारभ्यते तस्मि–न्नेव निष्पद्यतेऽतो निष्पन्नमेव तत् क्रियते। क्रियाकालनिष्ठाकालयोरभे–दादिति चेन्नैवम्। कुत इत्याह (दीसईत्यादि) दीर्घोऽसंख्येयसामयिको घटादीनामुत्पद्यमानानां क्रियाकालो लगन्नालोक्यते यस्मात्ततो न यस्मिन्नेव समये घटादि प्रारभ्यते तस्मिन्नेव समेय निष्पद्यते मृदानयन–तत्पिण्डविधानचक्रारोपणशिवकादिविधानादिचिरकालेनैव तदुत्पत्ति–रिति। भवतु दीर्घक्रियाकालः कार्यं चारम्भसमयेऽप्युपलभ्यत इत्याह।

नारंभे च्चिअ दीसइ, न सिवादद्धाए दीसइ तदंते।
यइ न समणाइ काले, नाणं जुत्तं तदंतम्मि॥ ५७॥

यदि क्रियाप्रथमसमय एव कार्यं निष्पद्येत तदा तत्तत्रैवोपलभ्येत। न चारम्भसमय एव तद्दृश्यते। नापि शिवकाद्यद्धायां शिवकास्थासकोश–कुसुलादिकाले क्व तर्हि दृश्यते इत्याह। दृश्यते घटादिकार्यं तस्य दीर्घ–क्रियाकालस्यान्तः परिसमाप्तिस्तदन्तस्तस्मिन्निति। तस्मात् क्रिया–कालपर्यन्त एव तस्य सत्वं युज्यते न तु पूर्वमुपलभ्यमानत्वात्। यस्मा–देवमित्यतो न गुरुसन्निधाने सिद्धान्तश्रमणचिन्तने हननादिक्रियाकाले ज्ञानमाभिनिबोधिकं युक्तं किं तु तस्य श्रमणादिक्रियाकालस्यान्तस्त–दन्तस्तस्मिन्नेव तद्युक्तं तत्रैवोपलभ्यमानत्वादिति प्रस्तुतोपयोगः। तदेवं न क्रियाकाले कार्यमस्त्यनुपलभ्यमानत्वात्किं तु तन्निष्ठाकाल एव तदस्ति तत्रैवोपलभ्यमानत्वात्तता न प्रतिपाद्यमानं प्रतिपन्नं कार्यं क्रिया–काल एव तस्य प्रतिपद्यमानत्वान्निष्ठाकाल एव च प्रतिपन्नत्वात्। क्रिया–कालनिष्ठाकालयोश्चात्यन्तं भेदात्तस्मान्मिथ्यादृष्टिरज्ञानी च सम्यक्त्व–ज्ञाने प्रतिपद्यते न सम्यग्दृष्टिर्ज्ञानी इति व्यवहारनयः।

अत्र निश्चयनयः प्रतिविधानमाह।

निच्छइओ नाजायं, जाय अभावत्तओ खपुप्फं च।
अह व अजायं जायइ, जायउ तो खरविसाणं पि॥ ५८॥

निश्चये भवो नैश्चयिको नयः प्राह। यथा जातं न जायते कृतघटवदिति भवता असत्कार्यवादिनाऽभिधीयते तथा वयमपि सत्कार्यवादिनो ब्रूमः। नाजातं जायते अत्रेकारलोपः। नाऽविद्यमानमुत्पद्यत इति प्रतिज्ञा अभावत्वादविद्यमानत्वादिति हेतुः खपुष्पवदिति दृष्टान्तः। अयमपि विपर्यये बाधामाह। अथाजातमपि जायते जायतां ततःखरविषाणमपि अभावाविशेषादिति। अपि च

निच्चकिरियाइ दोसा, नणु तुल्ला असइ कट्ठतरगा वा।
पुव्वमभूयं च न ते, दीसइ किं खरविसाणे पि॥ ५९॥

ननु नित्यकरणादयः सत्कार्यवादे ये दोषाः प्रदत्तास्ते असति कार्यं असत्कार्यवादेऽपीत्यर्थः। तुल्याः समानास्तथा ह्यत्रापि शक्यते वक्तुं *यद्यसत्क्रियते तर्हि क्रियतां नित्यमेव असत्वाद्यविशेषान्न चैवमेकस्यापि* कार्यनिष्पत्तिर्युज्यते खरविषाणकल्पे वा सति कार्ये समुत्पाद्ये क्रियावैकल्पमित्यादि किं तुल्या एवासति कार्येऽमी दोषा नेत्याह। कष्टतरा वा दुष्परिहार्या वा। सतो हि कार्यस्य केनापि पर्यायविशेषेण करणं संभवत्यपि लोकेऽपि सतामाकाशादीनां पर्यायविशेषाधानापेक्षया कारणस्य रूढत्वात्तथा च तत्र वक्तारः समुपलभ्यन्ते " आकाशं कुरु पृष्ठं कुरु पादौ कुर्वित्यादि " खरविषाणकल्पे त्वसति कार्ये न केनापि प्रकारेण करणं संभवति। ततः कष्टतरास्तत्राऽमी दोषा इति भावः। यदुक्तं " पुव्वमभूयं च दीसए होंतमिति " तत्राह। (पुव्वमित्यादि) उत्पत्तेः पूर्वं च यद्यभूतं सर्वथाऽविद्यमानं कार्यमुत्पद्यत इतीष्यते तर्हि ते तव मतेन किं खरविषाणमपि पूर्वमभूतं पश्चादुत्पद्यमानं न दृश्यते प्रागसत्वाविशेषादिति यदुक्तम् " दीसइ दीहो य जहा किरियाकालो इति " तत्राह।

पइसमउप्पण्णाणं, परोप्परविलक्खणाण सुबहूणं।
दीहो किरियाकालो, जइ दीसइ किं च कुंभस्स॥

समये समये प्रत्युत्पन्नानां परस्परविलक्षणानां सुबहूनामसंख्येयानां मृत्खननसंहरणपिटकरासभपृष्ठारोपणावतारणात्मःसेचनपरिमार्द्दनपि–ण्डविधानभ्रमणचक्रारोपणशिवकस्थासकोशकुसूलादिकार्याणामिति शेषः। यदि दीर्घो द्राघीयान् क्रियाकालो दृश्यते तर्हि किमत्र हन्त ? कुम्भस्य घटस्यायातम्। इदमुक्तं भवति प्रतिसमयं भिन्ना एव क्रियाः भिन्नान्येव च मृत्पिण्डशिवकादीनि कार्याणि घटस्तु चरमैकक्रियाक्षण–मात्रभाव्येव। ततश्च प्रतिसमयभिन्नानामनेककार्याणां यदि दीर्घः क्रिया–कालो भवति तर्हि चरमैकक्रियाक्षणमात्रभाविनि घटे दीर्घक्रियाकालप्रे–रणं परस्याज्ञातामेव सूचयतीति। यदुक्तं " नारंभे च्चिय दीसईत्यादि " तत्राह।

अण्णारंभे अण्णं, कह दीसइ जह घमो पडारंभे।
सिवकादओ न घटओ, किह दीसइ सो तदद्धाए॥

इह " नारंभे च्चिय दीसइ " इत्यत्र भवतोऽयमभिप्रायो यदुत मृद्चक्र–चीवरकुम्भकारादिसामाग्र्याः प्रथमेऽपि प्रवृत्तिसमये। घटः किं नोपल–भ्यतेऽनुपलम्भाच्चायमसंस्तत्र पश्चादुत्पद्यते। एतच्चायुक्तमेव यतो न प्रथमे प्रारम्भसमये घटः प्रारब्धः किं तु चक्रमस्तकमृत्पिण्डारोपणादीन्येवार–ब्धानि अन्यारम्भे चान्यत्कथं दृश्यते न दृश्यत एवेत्यर्थः। यथा पटारम्भे घटः। यदुक्तं " न सिवादद्धाएत्ति " तत्राह " सिवकादओ इत्यादि " शिवकादिकाले घटो न दृश्यत इत्युक्तं तदेतद्युक्तमेव यतः शिवकादयो घटो न भवन्त्यतो यत एव शिवकादिकालोऽसौ अतः तदद्धायां तत्काले कथमसौ घटो दृश्यतामन्यारम्भकालेऽन्यस्य दर्शनानुपपत्तेरिति। यदुक्तं " दीसइ तदंतम्मि " इति तत्राह।

अंतिच्चिय आरद्धो, जइ दीसइ तम्मि चेव को दोसो।
अकयं व संपइ गए, किह किरइ किह व एसम्मि॥

अन्त्य एव क्रियाक्षणे आरब्धो यदि घटस्तस्मिन्नेव दृश्यते तर्हि को दोषो न कश्चिदित्यर्थः। अतः किमुच्यते। यतोऽन्यसमय एवोपलभ्यते नान्यत्र ततोऽयं पूर्वमसन्नेव क्रियत इति स हि पूर्वं प्रथमादिक्रियाक्षणेषु नारब्धो न च दृश्यते। अन्त्ये तु क्रियाक्षणे प्रारब्धो दृश्यते च तस्मिन् क्रियासमये *क्रियमाणः कृत एव समयस्य निरन्तत्वात् यच्च कृतं तत्सदेव ततः सदेव क्रियते नासत् यच्च सत्तदुपलभ्यत एवेति स्थितम्।* अथ यस्मिन्समये क्रियमाणं

तस्मिन्नेव कृतं नेष्यते तत्राह (अकायं वेत्यादि) अकृतं वा संप्रति समये क्रियमाणसमये यदीष्यते तर्हि तद्गतेऽतीते समये कथं क्रियतां तस्य विनष्टत्वेनासत्वात्कथं वा इष्येत भविष्यत्यन्तरागामिनि समये क्रियतां तस्याप्यनुत्पन्नत्वेन असत्वादेव। अथ व्यवहारवादी ब्रूयात्क्रियासमयः सर्वोऽपि क्रियमाणकालः तत्र च क्रियमाणं वस्तु नास्त्येव उपरतायां तु क्रियायां योऽनन्तरसमयः स कृतकालस्तत्रैव कार्यनिष्पत्तेरतः कृतमेव कृतमुच्यते न क्रियमाणमिति। साध्वेतत्किं त्विदं प्रष्टव्योऽसि किं भवतः क्रियया कार्यं क्रियतेऽक्रियया वा। यदि क्रियया तर्हि कथमियमन्यत्र कार्यं त्वन्यत्रेति न हि खदिरे छेदनक्रिया पलाशे तु तत्कार्यभूतच्छेद इत्युच्यमानं शोभां बिभर्ति। किं च क्रियाकाले कार्यं न भवति पश्चात्तु भवतीत्यनेनैतदापद्यते यदुत क्रियैव हतका सर्वानर्थमूलमेषा कार्यस्योत्पित्सोर्विघ्नहेतुत्वाद्यावद्धचेषा प्रवर्तते तावद्वराकं कार्यं नोत्पद्यते अतः प्रत्युतासौ तस्य विघ्नभूतैव ततस्त्वदभिप्रायेण विपर्यस्ततयैव प्रेक्षावन्त एतान् प्रारम्भन्त इति क्रियैव कार्यं करोति केवलं तद्विरामे तन्निष्पद्यत इति चेत्तर्हि हन्त! कस्तस्यास्य विरोधो येन तत् कुर्वन्त्या अप्यस्यास्तत्कालमतिवाह्य पश्चान्निष्पद्यते न पुनस्तत्कालेऽपि क्रियोपरमेऽपि जायमानं कार्यम्। तदनारम्भेऽपि कस्मान्न भवति क्रियानारम्भतदुपरमयोरर्थतोऽभिन्नत्वादिति। अथाक्रिययेति द्वितीयः पक्षस्तर्हि हिमवन्मेरुसमुद्रादिवत् घटादयोऽप्यकृतका एव प्राप्तास्तद्वत्तेषामपि कारणभूतक्रियामन्तरेणैव प्रवृत्तेः। तपःस्वाध्यायादिक्रियाविधानं च मोक्षादीन् प्रति साध्वादीनामनर्थकमेव स्यात् क्रियामन्तरेणैव सर्वकार्योत्पत्तेः अतः तूष्णींभावमास्थाय निष्परिस्पन्दनानिनिराकुलानि तिष्ठन्तु त्रीण्यपि भुवनानि क्रियारम्भविरहेणाप्यैहिकामुष्मिकसमस्तसमीहितसिद्धेः। न चैवं तस्मात्क्रियैव कार्यस्य कर्त्री तत्काल एव च तद्भवति न पुनस्तदुपरमेऽतः क्रियमाणमेव कृतमिति स्थितम्। विशे०। आ० म० प्र०। निश्चितं चैतत्तयाविधसूत्रोपलम्भात्। तथा हि।

से णूणं भंते ! चलमाणे चलिए १ उदीरिज्जमाणे उदीरिए २ वेदिज्जमाणे वेदिए ३ पहेज्जमाणे पहीणे ४ छिज्जमाणे छिण्णे ५ भिज्जमाणे भिण्णे ६ दज्झमाणे दड्ढे ७ मिज्जमाणे मे ८ णिज्जिरिज्जमाणे णिज्जिण्णे ९ हंता गोयमा ! चलमाणे चलिए जाव णिज्जरिज्जमाणे णिज्जिण्णे।

अथ केनाभिप्रायेण भगवता सुधर्मस्वामिना पञ्चमाङ्गप्रथमशतकप्रथमोद्देशकस्यार्थानुकथनं कुर्व्वतैवमर्थवाचकं सूत्रमुपन्यस्तं नान्यानीति ? अत्रोच्यते इह चतुर्षु पुरुषार्थेषु मोक्षाख्यः पुरुषार्थो मुख्यः सर्वातिशायित्वात् तस्य च मोक्षस्य साध्यस्य साधनानां च सम्यग्दर्शनादीनां साधनत्वेनाव्यभिचारिणामुभयनियमस्य शासनाच्छास्त्रं सद्भिरिष्यते। उभयनियमस्त्वेवं सम्यग्दर्शनादीनि मोक्षस्यैव साध्यस्य साधनानि नान्यस्यार्थस्य मोक्षश्च तेषामेव साधनानां साध्यो नान्येषामिति। स च मोक्षो विपक्षक्षयात्तद्विपक्षश्च बन्धः स च मुख्यः कर्म्मभिरात्मनः सम्बन्धस्तेषां तु कर्म्मणां प्रक्षयेऽयमनुक्रम उक्तः "चलमाणे इत्यादि" तत्र (चलमाणत्ति)। चलत् स्थितिक्षयादुदयमागच्छत्विपाकाभिमुखीभवद्यत्कर्मेति प्रकरणगम्यम् तच्चलितमुदितमिति व्यपदिश्यते। चलनकालो ह्युदयावलिका तस्य च कालस्यासङ्ख्येयसमयत्वादादिमध्यान्तयोगित्वं कर्मपुद्गलानामप्यनन्ताः स्कन्धा अनन्तप्रदेशास्ततश्च ते क्रमेण प्रतिसमयमेव चलन्ति तत्र योऽसावाद्यचलनसमयस्तस्मिंश्चलदेव तच्चलितमुच्यते कथं पुनस्तद्वर्त्तमानं सदतीतं भवतीत्यत्रोच्यते यथा पट उत्पद्यमानकाले प्रथमतन्तुप्रवेशे उत्पद्यमान एवोत्पन्नो भवतीति उत्पद्यमानत्वं च तस्य प्रथमतन्तुप्रवेशकालादारभ्य पट उत्पद्यत इत्येवं व्यपदेशदर्शनात्प्रसिद्धमेवोत्पन्नत्वं तूपपत्त्या प्रसाध्यते। तथा हि उत्पत्तिक्रियाकाल एव प्रथमतन्तुप्रवेशेऽसावुत्पन्नो यदि पुनर्नोत्पन्नोऽभविष्यत्तदा तस्या क्रियाया वैयर्थ्यमभविष्यन्निष्फलत्वादुत्पाद्योत्पादनार्था हि क्रिया भवन्ति यथा च प्रथमे क्रियाक्षणे नासावुत्पन्नस्तथोत्तरेष्वपि क्षणेष्वनुत्पन्न एवासौ प्राप्नोति। को ह्युत्तरक्षणक्रियाणामात्मनि रूपविशेषो येन प्रथमसमये नोत्पन्नस्तदुत्तराभिस्तूत्पाद्यते। अतः सर्वदैवानुत्पत्तिप्रसङ्गः दृष्टा चोत्पत्तिरन्त्यतन्तुप्रवेशे पटस्य दर्शनात्। अतः प्रथमतन्तुप्रवेशकाल एव किञ्चिदुत्पन्नं पटस्य यावच्चोत्पन्नं न तदुत्तरक्रिययोत्पाद्यते। यदि पुनरुपाद्येत तदा तदेकदेशोत्पादन एव क्रियाणां कालानाञ्च क्षयः स्यात् यदि हि तदंशोत्पादननिरपेक्षा अन्याः क्रिया भवन्ति तदोत्तरांशानुक्रमणं युज्येत नान्यथा तदेवं यथा पट उत्पद्यमान एवोत्पन्नस्तथैवासंख्येयसमयपरिमाणत्वादुदयावलिकाया आदिसमयात्प्रभृति चलदेव कर्म्म चलितम्। कथं यतो यदि हि तत्कर्म्म चलनाभिमुखीभूतमुदयावलिकाया आदिसमय एव न चलितं स्यात्तदा तस्याद्यस्य चलनसमस्य वैयर्थ्यं स्यात्तच्चलितत्वात् यथा च तस्मिन् समये न चलितं तथा द्वितीयादिसमयेष्वपि न चलेत् को हि तेषामात्मनि रूपविशेषो येन प्रथमसमये न चलितमुत्तरेषु चलतीति। अतः सर्वदैवाचलनप्रसङ्गः। अस्ति चान्त्ये समये चलनं स्थितिपरिमितत्वेन कर्माभावाभ्युपगमात् अत आवलिकाकालादि—समय एव किञ्चिच्चलितं यच्च तस्मिंश्चलितं तन्नोत्तरेषु समयेषु चलति यदि तु तेष्वपि तदेवाद्यं चलनम्भवेत्तदा तस्मिन्नेवं चलने सर्वेषामुदयावलिकाचलनसमयानां क्षयः स्यात्। यदि हि तत्समयचलननिरपेक्षाण्यन्यसमयचलनानि भवन्ति तदोत्तरचलनानुक्रमणं युज्येत नान्यथा तदेवं चलदपि तत्कर्म्म चलितम्भवतीति ॥ १ ॥ तथा (उदीरिज्जमाणे उदीरिएत्ति) उदीरणा नाम अनुदयप्राप्तं चिरेणागामिना कालेन यद्वेदितव्यं कर्मदलिकं तस्य विशिष्टाध्यवसायलक्षणेन करणेनाकृष्योदये प्रक्षेपणं सा चासङ्ख्येयसमयवर्तिनी तया च पुनरुदीरणया उदीरणाप्रथमसमय एवोदीर्यमाणं कर्म्म पूर्वोक्तपटदृष्टान्तेनोदीरितम्भवतीति ॥ २ ॥ तथा (वेइज्जमाणे वेइएत्ति) वेदनं कर्म्मणो भोगोऽनुभव इत्यर्थस्तच्च वेदनं स्थितिक्षयादुदयप्राप्तस्य कर्म्मण उदीरणाकरणेन चोदयमुपनीतस्य भवति तस्य च वेदनाकालस्यासङ्ख्येयसमयत्वादाद्यसमये वेद्यमानमेव वेदितम्भवतीति ॥ ३ ॥ तथा। (पहेज्जमाणे पहीणेत्ति) प्रहीणं तु जीवप्रदेशैः सह संश्लिष्टस्य कर्मणस्तेभ्यः पतनमेतदप्यसंख्येयसमयपरिमाणमेव तस्य तु प्रहीणस्यादिसमये प्रहीयमाणं कर्म्म प्रहीणं स्यादिति ॥ ४ ॥ तथा (छिज्जमाणे छिण्णेत्ति)। छेदनं तु कर्मणो दीर्घकालानां स्थितीनां ह्रस्वताकरणं तच्चापवर्तना-भिधानेन करणविशेषेण करोति। तदपि च छेदनमसंख्येय—समयमेव तस्य त्वादिसमये स्थितितश्छिद्यमानं कर्म्म छिन्नमिति ॥ ५ ॥ तथा। (भिज्जमाणे भिण्णेत्ति) भेदस्तु कर्म्मणः शुभस्याशुभस्य वा तीव्ररसस्यापवर्त्तनाकरणेन मन्दताकरणं मन्दस्य चोद्वर्तनाकरणेन तीव्रताकरणं सोऽपि चासंख्येयसमय एव ततश्च तदा—

द्यसमये रसतो भिद्यमानं कर्म्म भिन्नमिति ॥ ६ ॥ तथा । (दज्झमाणे दड्ढेत्ति) दाहस्तु कर्मकलिकदारूणां ध्यानाग्निना तद्रूपापनयनमकर्म्मत्वजननमित्यर्थः । तथा हि काष्ठस्याग्निना दग्धस्य काष्ठरूपापनयनं भस्मात्मना च भवनं दाहस्तथा कर्म्मणोऽपीति तस्याप्यन्तर्मुहूर्त्तवर्तित्वेनासंख्येयसमयस्यादिसमये दह्यमानं दग्धमिति ॥ ७ ॥ तथा (मिज्जमाणे मडेत्ति) म्रियमाणमायुः कर्म मृतमिति व्यपदिश्यते मरणं ह्यायुःपुद्गलानां क्षयस्तच्चासंख्येयसमयवर्ति भवति तस्य जन्मनः प्रथमसमयादारभ्यावीचिकमरणेनानुक्षणं मरणस्य भावान्म्रियमाणं मृतमिति ॥ ८ ॥ तथा । (णिज्जरिज्जमाणे णिज्जिण्णेत्ति) निर्जीर्यमाणं नितरामपुनर्भावेन क्षीयमाणङ्कर्म्म निर्जीर्णं क्षीणमिति व्यपदिश्यते निर्जरणस्यासंख्येयसमय भावित्वेन तत्प्रथमसमय एव पटनिष्पत्तिदृष्टान्तेन निर्जीर्णत्वस्योपद्यमानत्वादिति षटदृष्टान्तश्च सर्वपदेषु सम्भावनिको वाच्यः ॥ ९ ॥ तदेवमेतान्नव प्रश्नान् गौतमेन भगवता भगवान् महावीरः पृष्टः सन्नुवाच। (हन्तेत्यादि) अथ कस्माद्भगवन्तं गौतमः पृच्छति ? विरचितद्वादशाङ्गतया विदितसकलश्रुतविषयत्वेन निखिलसंशयातीतत्वेन च सर्वज्ञकल्पत्वात्तस्य आह च " संखाईए उ भवे, साहइ जं वा परो उ पुच्छेज्जा । णयणं अणाइसेवी, वियाणई एस छउमत्थोत्ति " ॥ १ ॥ नैवमुक्तगुणत्वेऽपि छद्मस्थतयाऽनाभोगसम्भवात् । यदाह ' न हि नामानाभोगा, छद्मस्थस्येह कस्यचिन्नास्ति । यस्माज्ज्ञानावरणं, ज्ञानावरणप्रकृतिकर्म्मेति ' ॥ १ ॥ अथवा जानत एव तस्य प्रश्नः सम्भवति स्वकीयबोधसंवादनार्थमज्ञलोकबोधनार्थं शिष्याणां वा स्ववचसि प्रत्ययोत्पादनार्थं सूत्ररचनाकल्पसम्पादनार्थं चेति तत्र (हंता ! गोयमेत्ति) हन्त इति कोमलामंत्रणार्थो दीर्घत्वं च मागधदेशीप्रभवमुभयत्रापि (चलमाणे इत्यादि) प्रत्युच्चारणन्तु चलदेव चलितमित्यादीनां स्वानुमतत्वप्रदर्शनार्थम् । वृद्धाः पुनराहुः " हंता ! गोयमा ! इत्यत्र " हन्त इति एवमेतदित्यभ्युपगमवचनं यदनुमतं तत्प्रदर्शनार्थञ्चलमाणे इत्यादि प्रत्युच्चारितमिति, इह यावत् करणलभ्यानि पदानि सुप्रतीतान्येव एवमेतानि नव पदानि कर्माधिकृत्य वर्त्तमानातीतकालसमानाधिकरणजिज्ञासया पृष्टानि निर्णीतानि च । अथैतान्येव चलनादीनि परस्परतः किं तुल्यार्थानि भिन्नार्थानि वेति पृच्छां निर्णयं च दर्शयितुमाह ।

एए णं भंते ! नव पदा किं एगट्ठा णाणाघोसा णाणावंजणा उदाहु णाणट्ठा णाणाघोसा णाणावंजणा । गोयमा ! चलमाणे चलिए उदीरिज्जमाणे उदीरिए वेइज्जमाणे वेइए पहेज्जमाणे पहीणे एएणं चत्तारि तया एगट्ठा णाणाघोसा णाणावंजणा उप्पण्णपक्खस्स छिज्जमाणे छिण्णे भिज्जमाणे भिण्णे दज्झमाणे दड्ढे मिज्जमाण मए णिज्जरिज्जमाणे णिज्जिण्णे एएणं पंच पदा णाणट्ठा णाणाघोसा णाणावंजणा विगयपक्खस्स ।

" एएण भंते " इत्यादि व्यक्तं नवरम् । (एगट्ठत्ति) एकार्थान्यनन्यविषयाणि एकप्रयोजनानि वा (नाणाघोसत्ति) इह घोषा उदात्तादयः । (नाणा वंजणेत्ति) इह व्यञ्जनान्यक्षराणि । (उदाहुत्ति) उताहो निपातो विकल्पार्थः (नाणट्ठत्ति) भिन्नाभिधेयानि इह च चतुर्भङ्गी पदेषु दृष्टा । *तत्र च कानिचिदेकार्थान्येकव्यञ्जनानि यथा क्षीरं क्षीरमित्यादीनि ॥ १ ॥ तथाऽन्यानि एकार्थानि नानाव्यञ्जनानि यथा क्षीरं पय इत्यादीनि ॥ २ ॥ तथाऽनेकार्थान्येकव्यञ्जनानि यथाऽकंगव्यमाहियाणि क्षीराणि ॥ ३ ॥ तथाऽन्यानि नानार्थानि नानाव्यञ्जनानि यथा घटपटलकुटादीनि ॥ ४ ॥* तदेवं चतुर्भङ्गीसम्भवेऽपि द्वितीयचतुर्थभङ्गकौ प्रश्नसूत्रे गृहीतौ, परिदृश्यमाननानाव्यञ्जनतया तदन्ययोरसम्भवात् निर्वचनसूत्रे च चलनादीनि चत्वारि पदान्याश्रित्य द्वितीयः छिद्यमानादीनि तु पञ्च पदान्याश्रित्य चतुर्थ इति। ननु चलितादीनामर्थानां व्यक्तभेदत्वात्कथमाद्यानि चत्वारि पदान्येकार्थानीत्याशङ्क्याह। (उप्पण्णपक्खस्सत्ति) उत्पन्नमुत्पादो भावेक्तप्रत्ययविधानात् तस्य पक्षः परिग्रहोऽङ्गीकारः पक्षपरिग्रह इति धातुपाठादिति, उत्पन्नपक्ष इह च षष्ठ्यास्तृतीयार्थत्वादुत्पन्नपक्षेण उत्पादाङ्गीकारेण उत्पादाख्यं पर्यायं परिगृह्यैकार्थान्येतान्युच्यन्ते। अथवा उत्पन्नपक्षस्य उत्पादाख्यवस्तुविकल्पस्याभिधायकानीति शेषः सर्वेषामेषामुत्पादमाश्रित्यैकार्थकारित्वादेकान्तर्मुहूर्त्तमध्यभावित्वेन तुल्यकालत्वाच्चैकार्थिकत्वमिति भावः । स पुनरूत्पादाख्यः पर्यायो विशिष्टः केवलोत्पादविषयत्वोदकार्यान्युक्तानि यस्मात् केवलज्ञानपर्यायो जीवेन न कदाचिदपि प्राप्तपूर्वो यस्माच्च प्रधानस्तत्तस्तदर्थ एव पुरूषप्रयासस्तस्मात्स एव केवलज्ञानोत्पत्तिपर्यायोऽभ्युपगतः। एषाञ्च पदानामेकार्थानामपि सतामयमर्थः सामर्थ्यप्रापितक्रमो यदुत पूर्वन्तच्चलति उदेतीत्यर्थः । तच्च द्विधा स्थितिक्षयादुदयप्राप्तमुदीरणया चोदयमुपनीतं ततश्चानुभवानन्तरं तत्प्रहीयते दत्तफलत्वाज्जीवादपयातीत्यर्थः । एतच्च टीकाकारमतेन व्याख्यातमन्ये तु व्याख्यान्ति स्थितिबन्धाद्यविशेषतसामान्यकर्म्माश्रयत्वादेकार्थिकान्येतानि केवलोत्पादयक्षस्य च साधकानीति चत्वारि चलनादीनि पदान्येकार्थिकानीत्युक्ते शेषाण्यनेकार्थिकानीति सामर्थ्यादे वगतमपि सुखावबोधाय साक्षात्प्रतिपादयितुमाह । " छिज्जमाणेत्यादि " व्यक्तं नवरं (नाणट्ठत्ति) नानार्थानि नानार्थत्वं त्वेवं छिद्यमानं छिन्नमित्येतत्पदं स्थितिबन्धाश्रयं यतः सयोगिकेवली अनन्तकाले योगनिरोधं कर्तुकामो वेदनीयनामगोत्राख्यानां तिसृणां प्रकृतीनां दीर्घकालस्थितिकानां सर्वापवर्त्यान्तर्मौहूर्त्तिकं स्थितिपरिमाणं करोति । तथा भिद्यमानं भिन्नमित्येतत्पदमनुभावबन्धाश्रयं तत्र च यस्मिन् काले स्थितिघातं करोति तस्मिन्नेव काले रसघातमपि करोति केवलं रसघातः स्थितिखण्डकेभ्यः क्रमप्रवृत्तेभ्योऽनन्तगुणाभ्यधिकोऽतोऽनेन रसघातकरणेन पूर्वस्मादिभन्नार्थे भवति। तथा दह्यमानं दग्धमित्येतत्पदं प्रदेशबन्धाश्रयं प्रदेशबन्धकर्मणः सत्कानां पञ्च ह्रस्वाक्षरोच्चारणकालपरिमाणयाऽसंख्यातसमयया गुणश्रेणीरचनाया पूर्वं रचितानां शैलेश्यवस्थाभाविसमुच्छिन्नक्रियाध्यानाग्निना प्रथमसमयादारभ्य यावदन्त्यसमयस्तावत्प्रतिसमयं क्रमेणासंख्यगुणवृद्धानां कर्मपुद्गलानां दहनं दाहोऽनेन च दहनार्थं नेदं पूर्वस्मात्पदाद् भिन्नार्थं पदं भवति दाहश्चान्यत्रान्यथारूढोऽपीह मोक्षचिन्ताधिकारान्मोक्षसाधन उक्तलक्षणकर्मविषय एव ग्राह्य इति। तथा म्रियमाणं मृतमित्येतत्पदमायुःकर्मविषयं यत आयुष्कपुद्गलानां प्रतिसमयं क्षयो मरणमनेन च मरणार्थेन पूर्वपदेभ्यो भिन्नार्थत्वाद्भिन्नार्थं पदं भवति तथा म्रियमाणं *मृतमित्यनेनायुःकर्मैवोक्तं यतः कर्मैव तिष्ठज्जीवतीत्युच्यते कर्मैव च*

जीवादपगच्छन्म्रियत इत्युच्यते। तच्च मरणं सामान्येनोक्तमपि विशिष्टमेवाभ्युपगन्तव्यं यतःसंसारवर्त्तीनि मरणान्यनेकशोऽनुभूतानि दुःखरूपाणि चेति किं तैर्मरणैरिह पुनः पदे पुनर्भवं मरणमन्त्यं सर्वकर्मक्षयसहचरितमपवर्गहेतुभूतमिति। विवक्षितमिति। तथा निर्ज्जीर्यमाणं निर्ज्जीर्णमित्येतत्पदं सर्वकर्माभावविषयं यतः सर्वकर्मनिर्ज्जरणं न कदाचिदप्यनुभूतपूर्वं जीवेनेति अतोऽनेन सर्वकर्माभावरूपनिर्ज्जरणार्थेन पूर्वपदेभ्यो भिन्नार्थत्वाद्भिन्नार्थं पदं भवति। अथैतानि पदानि विशेषतो नानार्थान्यपि सन्ति सामान्यतः कस्य पक्षस्याभिधायकतया प्रवृत्तानीत्यस्यामाशङ्कायामाह (विगयपक्खस्सत्ति) विगतं विगमो वस्तुनोऽवस्थान्तरापेक्षया विनाशः स एव पक्षो वस्तुधर्मस्तस्य वा पक्षः परिग्रहो विगतपक्षस्य वाचकानीति शेषः। विगतं त्विहांशेषकर्माभावोऽभिमतो जीवेन तस्याप्राप्तपूर्वं यतोऽत्यन्तमुपादेयत्वात्तदर्थत्वाच्च पुरुषप्रयासस्येति एतानि चैवं विगमार्थानि भवन्ति। छिद्यमानपदे हि स्थितिखण्डनं विगम उक्तो, भिद्यमानपदे त्वनुभावभेदो विगमो, दह्यमानपदे त्वकर्मताभवनं विगमो, म्रियमाणपदे पुनरायुष्कर्म्माभावो विगमो निर्ज्जीर्यमाणपदे त्वशेषकर्माभावो विगम,उक्तस्तदेवमेतानि विगतपक्षस्य प्रतिपादकानीत्युच्यन्ते। एवञ्च यत्पञ्चमाङ्गादिसूत्रोपन्यासे प्रेरितं यदुत केनाभिप्रायेणेदं सूत्रमुपन्यस्तमिति तत्केवलज्ञानोत्पादसर्वकर्म्मविगमाभिधानरूपसूत्राभिप्रायव्याख्यानेन निर्णीतमिति, एतत्सूत्रसंवादिसिद्धसेनाचार्योऽप्याह " उप्पज्जमाणकालं, उत्पन्नं विगयं विगच्छंतं। दवियं पण्णवयंतो, तिकालविसयं विसेसेत्ति "॥ १॥ उत्पद्यमानकालमित्यनेन आद्यसमयादारभ्योत्पत्त्यन्तसमयं यावदुत्पद्यमानतवस्येष्टत्वाद्वर्तमानभविष्यत्कालविषयं द्रव्यमुक्तमुत्पन्नमित्यनेन तु अतीतकालविषयमेवं विगतं विगच्छदित्यनेनापीति ततश्चोत्पद्यमानादि प्रज्ञापयन् स भगवान् द्रव्यं विशेषयति। कथं त्रिकालविषयं यथा भवतीति संवादगाथार्थः। अन्ये तु कर्मेति पदस्य सूत्रेऽनभिधानाच्चलनादिपदानि सामान्येन व्याख्यान्ति न कर्म्मापेक्षयैव तथा हि (चलमाणे चलिएत्ति) इह चलनमस्थिरत्वपर्यायेण वस्तुन उत्पादः (वेइज्जमाणे वेइएत्ति) व्येज्यमानं कम्पमानं व्येजितं कम्पितमेजृ कम्पन इति वचनात् व्येजनमपि तद्रूपापेक्षयोत्पाद एव (उदीरिज्जमाणे उदीरियत्ति) प्रहीयमाणं प्रभ्रश्यन् परिपतदित्यर्थः प्रहीणं प्रभ्रष्टं परिपतितमित्यर्थः। इहापि प्रहीणं चलनमेव चलनादीनां चैकार्थत्वं सर्वेषां गत्यर्थत्वात् (उप्पण्णपक्खस्सति) चलनत्वादिना पर्यायेणोत्पन्नत्वलक्षणपक्षस्याभिधायकान्येतानीति तथा छेदभेददाहमरणनिर्ज्जरणान्यकर्मार्थान्यपि व्याख्येयानि तदृव्याख्यानं च प्रतीतमेव भिन्नार्थता पुनरेषामेवं कुठारादिना लतादिविषयच्छेदस्तोमरादिना शरीरविषयो भेदोऽग्निना दार्वादिविषयो दाहो,मरणन्तु प्राणत्यागो,निर्ज्जरा त्वतिपुराणी भवनमिति। (विगयपक्खस्सत्ति) भिन्नार्थान्यपि सामान्यतो विनाशाभिधायकान्येतानीत्यर्थः। न च वक्तव्यं किमेतैश्चलनादिभिरिह निरूपितैरतत्वरूपत्वादेषामिति अतत्वरूपस्यासिद्धत्वात् तदसिद्धिश्च व्यवहारनयश्चलितमेव चलितमिति मन्यते निश्चयनयस्तु चलदपि चलितम्। अत्र बहुवक्तव्यं तच्च विशेषावश्यकादिहैवाभिधास्यमानजमालिचरिताद्यावसेयमिति। भ० १ श० १ उ०।

जमालिचरिते च वेदनाभिभूतो जमालिः संस्तारकसंस्तरणायाज्ञाप्य तैराज्ञप्तैः श्रमणैः संस्तृते प्रारूपयत्।

सेज्जासंथारए किं कडे कज्जइ तए णं समणा णिग्गंथा तं जमालिं अणगारं एवं वयासी। णो खलु देवाणुप्पिया णं सेज्जा संथारए कडे कज्जइ तए णं तस्स जमालिस्स अणगारस्स अयमेयारूवे अब्भत्थिए जाव समुप्पज्जित्था जं णं समणे भगवं महावीरे एवमाइक्खइ जाव एवं परूवेइ एवं खलु चलमाणे चलिए उदीरिज्जमाणे उदीरिए जाव णिज्जरिज्जमाणे णिज्जिण्णे तं णं मिच्छा इमं च णं पच्चक्खमेव दीसइ सेज्जा संथारए कज्जमाणे अकडे संथारिज्जमाणे असंथरिए जम्हा णं सेज्जासंथारए कज्जमाणे अकडे संथरिज्जमाणे असंथरिए तम्हा चलमाणे वि अचलिए जाव णिज्जरिज्जमाणे वि अणिज्जिण्णे एवं संपेहेइ संपेहेइत्ता समणे णिग्गंथे सद्दावेइ सद्दावेइत्ता एवं वयासी जं णं देवाणुप्पिया ! समणे भगवं महावीरे एवमाइक्खइ जाव परूवेइ एवं खलु चलमाणे चलिए तं चेव सव्वं जाव णिज्जरिज्जमाणे अणिज्जिण्णे तए णं तस्स जमालिस्स अणगारस्स एवमाइक्खमाणस्स जाव परूवेमाणस्स अत्थेगइया समणा णिग्गंथा एयमट्ठं णो सद्दहंति णो पत्तियंति णो रोयंति।

गाढतरं (किं कडे कज्जइत्ति) किं निष्पन्न उत निष्पद्यते अनेनातीतकालनिर्देशेन वर्त्तमानकालनिर्देशेन च कृतक्रियमाणयोर्भेद उक्तः। उत्तरेऽप्येवमव तदेवं संस्तारककर्तृसाधुभिरपि क्रियमाणस्याकृततोक्ता ततश्चासौ स्वकीयवचनसंस्तारक कर्तृसाधुवचनयोर्विमर्शात्प्ररूपितवान् क्रियमाणं कृतं यदभ्युपगम्यते तन्न सङ्गच्छते यतो येन क्रियमाणं कृतमित्यभ्युपगतं तेन विद्यमानस्य करणक्रिया प्रतिपन्ना तथा च बहवो दोषास्तथा हि यत्कृतं तत्क्रियमाणं न भवति विद्यमानत्वाच्चिरन्तनघटवत्। अथ कृतमपि क्रियते ततः क्रियतां नित्यं कृतत्वात्प्रथमसमय इवेति न च क्रियासमाप्तिर्भवति सर्वदा क्रियमाणत्वादिसमयवदिति। तथा यदि क्रियमाणं कृतं स्यात्तदा क्रियावैफल्यं स्यादकृतविषय एव तस्याः सफलत्वात् यथा पूर्वमसदेव भवद् दृश्यते इत्यध्यक्षविरोधश्च। तथा घटादिकार्यनिष्पत्तौ दीर्घः क्रियाकालो दृश्यते यतो नारम्भकाल एव घटादिकार्यं दृश्यते नापि स्थासादि काले किं तर्हि तत्क्रियावसाने यतश्चैवं ततो न क्रियाकाले युक्तं कार्यं किं तु क्रियावसान एवेति (भ० ६ श० ३३ उ०) " अत्थेगइया समणा निग्गंथा एयमट्ठं नो सद्दहंतित्ति "। ये च न श्रद्दधति तेषां मतमिदं नाकृतमभूतमविद्यमानमित्यर्थः क्रियते अभावात्खपुष्पवत् यदि पुनरकृतमप्यसदपीत्यर्थः क्रियते तदा खरविषाणमपि क्रियतामसत्वाविशेषात्। अपि च ये कृतकरणपक्षे नित्यक्रियादयो दोषा भणितास्तेऽसत्करणपक्षेऽपि तुल्या वर्त्तन्ते। तथा हि नात्यन्तमसत्क्रियतेऽसद्भावात् खरविषाणमिव। अथ वात्यन्तासदपि क्रियते तदा नित्यं तत्करणप्रसङ्गो न चात्यन्तासतः करणे क्रियासमाप्तिर्भवति तथात्यन्तासतः क-

रणे क्रियावैफल्यं च स्यादसत्वादेव खरविषाणवत्। अथवा विद्यमानस्य करणाभ्युपगमे नित्यक्रियादयो दोषाः कष्टतरका भवन्ति अत्यन्ताभाव–रूपत्वात् खरविषाण इव, विद्यमानपक्षे तु पर्यायविशेषणार्प्पणात्स्यादपि क्रियाव्यपदेशो यथा आकाशं कुरु तथा च नित्यक्रियादयो दोषा न भवन्ति न पुनरयं न्यायोऽत्यन्तासति खरविषाणादावस्तीति। यच्चोक्तं पूर्वमसदेवोत्पद्यमानं दृश्यत इति प्रत्यक्षविरोधस्तत्रोच्यते यदि पूर्वमभूतं सद्भवद् दृश्यते तदा पूर्वमभूतं सद्भवत्कस्मात्त्वया खरविषाणमपि न दृश्यते यच्चोक्तं दीर्घः क्रियाकालो दृश्यते तत्रोच्यते प्रतिसमयमुत्पन्नानां परस्प–रेण षड्विधलक्षणानां सुबह्वीनां स्थासकोशादीनामारम्भसमयेष्वेव निष्ठानुयायिनीनां कार्यकोटीनां दीर्घः क्रियाकालो यदि दृश्यते तदा किमत्र घटस्यायातं येनोच्यते दृश्यते दीर्घश्च क्रियाकालो घटादीनामिति यच्चोक्तं नारम्भे एव दृश्यते इत्यादि। तत्रोच्यते कार्यान्तरारम्भे कार्यान्तरं कथं दृश्यतां पटारम्भे घटवत्। शिवकस्थासकादयश्च कार्यविशेषा घटस्व–रूपा न भवन्ति ततः शिवकादिकाले कथं घटो दृश्यतामिति। किञ्च अन्त्यसमय एव घटः समारब्धस्तत्रैव च यद्यसौ दृश्यते तदा को दोषः ? एवञ्च क्रियमाण एव कृतो भवति क्रियमाणसमयस्य निरंशत्वात्। यदि च सम्प्रति समये क्रियाकालेऽप्यकृतं वस्तु तदा अतिक्रान्ते कथं क्रियतां कथं वा एष्यति क्रियया उभयोरपि विनष्टत्वानुत्पन्नत्वेनासत्वादसम्बध्य–मानत्वात्तस्मात्क्रियाकाल एव क्रियमाणं कृतमिति। आह च " थेराणमयं नाकयमभावओकीरए खपुप्फं च। अहय अकयं पि कीरइ, कीरउ तो खरविसाणं पि " भ० ९ श० १३ उ०। इत्यादिविस्तरेण प्रत्यपादि (एष चैवार्थो गंगदत्तशब्दे परिणमन्तः पुद्गलाः परिणताः इत्यमायिदेवेन प्रति–पादितस्य भगवतानुमोदनात्पुष्टीभविष्यति) आह। ननु यदि क्रियासम–येऽपि कार्यं भवति तर्हि तत्तत्र कस्मान्न दृश्यते एवेति चेन्नन्वहमपि किमिति तन्न पश्यामीत्याशङ्क्याह।

पइसमयकज्जकोडी–निरविक्खो घडगयाभिलासोसि।
पइसमयकज्जकालं, थूलमए घडम्मि लगएसि॥

इह यद्यस्मिन्समये प्रारभ्यते तत्तत्र निष्पद्यते दृश्यते च केवलं स्थूला सूक्ष्मेक्षिकाबहिर्भूतत्वाद्वादरदर्शिनी मतिर्यस्य तत्संबोधनं हे स्थूलमते! त्वं घटे लगयसि किमित्याह। प्रतिसमयोत्पन्नानां कार्यकोटीनां कालः प्रतिसमयकालस्तं सर्वमपि घटस्यैवायं समस्तोऽपि मृत्पिण्डविधानच–क्रभ्रमणादिक उत्पत्तिकाल इत्येवमेकस्मिन्नेव घटे संघटयसीत्यर्थः। कथं भूतः सन्नित्याह। प्रतिसमयोत्पद्यमानासु मृत्पिण्डशिवकस्थासको–शादिकासु सिद्धकेवलप्रभृतीनां ज्ञानजननादिकासु च कार्यकोटीषु निरपेक्षः कुतः पुनरेतदित्याह। यतो घटगताभिलाषोऽसि त्वं घटोऽस्यां मृद्दण्डचक्रचीवरादिसामग्र्यामुत्पत्स्यत इत्येवं केवलं घटाभिलाषयुक्त–त्वाद्भत इत्यर्थः। इदमुक्तं भवति प्रतिसमयमपरापराण्येव शिवकादीनि कार्याण्युत्पद्यन्ते दृश्यन्ते च तानि च तथोत्पद्यमानानि त्वं नावबुध्यसे घटोत्पत्तिनिमित्तभूतैवेयं सर्वापि मृच्चक्रचीवरादिसामग्रीत्येवं केवलघटो–ऽभिलाषयुक्तत्वात् ततस्तन्निरपेक्ष एव स्थूलमतितया सर्वमपि तत्कालं घटे लगयसि। ततश्च प्राक्तनक्रियाक्षणेष्वनुत्पन्नत्वात् घटमदृष्ट्वा एवं ब्रूषे क्रियाकाले घटलक्षणं कार्यमहं न पश्यामि। इदं तु नावगच्छामि यदुत *चरमक्रियाक्षण एव घटः प्रारभ्यते प्राक्तनक्रियाकाले तु शिवकादय एवारभ्यन्तेऽन्यारम्भे चान्यन्न दृश्यते एवेति व्यवहा–रवादी प्राह।*

को चरमसमयनियमो, पढमो च्चिय तो न कीरए कज्जं।
नाकारणंति कज्जं, तं चेवं तम्मि से समए॥

प्रथमसमयादारभ्य यद्यपरापराणि कार्याण्यारभ्यन्ते तर्हि कोऽय चरमसमयनियमो येन विवक्षितं कार्यं प्रथमसमय एव न क्रियते अकरणे च ततस्तत्तत्र न दृश्यते नत्वाद्यकार्यवद्विवक्षितमपि तत्रैव क्रियतां दृश्यतां चेति भावः। अत्र निश्चयः प्रत्युत्तरमाह। नाकारणं क्वचित्कार्यमुत्पद्यते नित्यं सदसत्वप्रसङ्गान्न च तत्कारणं (से) तस्य विवक्षितकार्यस्य तदन्त्यसमये एवास्ति न प्रथमादिसमयेष्वतो न तेषूत्पद्यते नापि दृश्यत इति तदेवं क्रियाकाल एव कार्यं भवति न पुनस्तदुपरमे इत्युक्तम्। अथैवं नेष्यते तर्हि प्रस्तुतमाभिनिबोधिकज्ञानमेवाधिकृत्योच्यते।

उप्पाए वि न नाणं, जइ तो सो कस्स होइ उप्पाओ।
तम्मि य जइ अण्णाणं, तो नाणं कम्मिकालम्मि॥

उत्पादनमुत्पादः कार्यस्योत्पत्तिहेतुभूतः क्रियाविशेषस्तत्रापि यदि मतिज्ञानं नेष्यते भवता क्रियमाणावस्थायामपि यदि कार्यं त्वया नाऽभ्युपगम्यत इति भावः। तर्हि उत्पाद्यमानस्यासत्वात्स कस्योत्पादो भवत्विति कथ्यतां न ह्यविद्यमानस्य खरविषाणस्यैवोत्पादो युक्तः यदि च तस्मिन् उत्पादकालेऽप्यज्ञानं तर्हि ज्ञानं कस्मिन् काले भविष्यतीति निवेद्यताम्। उत्पादोपरम इति चेन्ननु कथमन्यत्रोत्पादोऽन्यत्र तूत्पन्नमिति। उत्पादोपरमे च भवत्कार्यमुत्पादात्प्रागपि कस्मान्न भवत्यविशेषादित्याद्युक्तमेवेति यदुक्तम् "इय न सवेणाईकाले नाणमिति" तत्राह।

को व सवणाइकालो, उप्पाओ जम्मि होज्ज से नाणं।
नाणं च तदुप्पाओ, य दो वि चरिमम्मि समयम्मि॥

वा च शब्दार्थे कश्च श्रवणादिकालो व्यवहारवादिन्! भवतोऽभिप्रेतो यत्र ज्ञानं निषेधयसि हन्त! त्वया मतिज्ञानस्योत्पादसमय एव श्रवणादिकालोऽवगन्तव्यो यत्र (से) तस्य शिष्यस्य मतिज्ञानं भवेन्नापरः। अथादित आरभ्य गुरुसन्निधाने धर्म्मश्रवाणादय इव मतिज्ञानस्योत्पा–दकालो नाऽपरोऽवगन्तव्य इति चेन्नैवमित्याह।" नाण " मित्यादि ज्ञानं च मतिज्ञानलक्षणं तदुत्पादश्च तस्योत्पत्तिहेतुभूतः क्रियालक्षणः एतौ द्वावपि धर्मश्रवणादिक्रियासमयराशेश्चरमसमय एव भवतो न प्रथमादिसमयेषु तेष्वपराणामेव धर्मावबोधादिकार्याणामुत्पत्तेः। न च तद्बोधादिमात्रादपि सम्यग्ज्ञानोत्पत्तिर्युज्यते भव्येष्वपि तत्सद्भावात्तस्माद्विशिष्ट एव कस्मिंश्चिद्धर्म्मश्रवणादीनां चरमसमये मतिज्ञानं तदुत्पादश्च अतो युक्तमुक्तम् " जुत्तं न दत्तमिति "। अस्माभिरपि क्रियाकालस्यान्तसमये एव तस्येष्यमाणत्वात्तस्मान्न सर्वेषु धर्मश्रवणादिक्रियासमयेषु मतिज्ञानं नापि सर्वेषामपि तेषामुपरमे किंत्वेकस्मिंस्तच्चरमसमये तदारभ्यते निष्पद्यते च अतः क्रियमाणमेव कृतम्। यदि कृतमपि क्रियते निश्चयवादस्तर्हि पुनः पुनरपि क्रियतां कृतत्वाविशेषादतः करणानवस्थेति चेन्नैवं क्रियाकालनिष्ठाकाल-योरभेदाद्। यदि हि तदुत्पादयित्री क्रिया प्रारब्धा सती उत्तरसमयेष्वपि प्राप्येत तदा स्यात्पुनरपि तत्कारणमेतच्च नास्ति यतोऽसौ तदुत्पादयित्री *क्रिया न पूर्वं नाप्युत्तरत्रापि किं तु तस्मिन्नेव चरमसमये प्रारभ्यते निष्ठां च यातीति कुतः पुनरपि कार्यकारणमतां न तत्करणानवस्थेति*

विशे०। (कारणशब्दे द्रव्यकारणप्रस्तावे कार्य्यकारणयोरभेदो लेशतो दर्शयिष्यते) कार्यस्व कारणानुरूपत्वमसार्वत्रिकम्। न च नियमतः कारणानुरूपं कार्यं वैसादृश्यस्यापि दर्शनात्। तथा हि शृङ्गाच्छरो जायते तस्मादेव सर्षपानुलिप्तात्तु तृणानीति। तथा गोलोमभ्यो दूर्वा ततो न नियमः। आ० म० प्र०। विशे०। सूत्र०। (करणीये सुखसाध्यमपि कार्यं विनोपायेन नसिध्यतीति गच्छसारणाशब्दे)

कज्जपओयण–न० (कार्य्यप्रयोजन) अवश्यकरणीयप्रयोजने, प्रश्न० अध० १ द्वा० १ अ०।

कज्जब्भास–पुं० [कार्य्याभ्या(श)स] यदर्थं चेष्टते तत्कार्य्यं तस्याभ्याशः अभ्यशनमभ्याशः अशूङ्व्याप्तावित्यस्य अभिपूर्वस्य घञन्तस्य प्रयोगः कार्य्याभ्याशः। कार्यस्यासन्नतायाम्, कार्य्यस्य निकटीभवने, कर्म० " कज्जब्भासणोण्णप्पवेसविसमीकयप्पवेसं " (वीरियशब्दे व्याख्या) असु क्षेपेइत्यस्य तु दन्त्यान्तयः स च पुनः पुनरनुशीलने,।

कज्जमाण–त्रि० (क्रियमाण) विधीयमाने, पंचा० १७ विव० " कडं च कज्जमाणं च, आगमिस्सं च पावगं " सूत्र० १ श्रु० ८ अ०। विशे०। (कज्जमाणे कडेत्ति सिद्धांतः कज्जकारणभावशब्दे दर्शित)

कज्जया–स्त्री० (कार्यता) तद्रूपेणाभिव्यक्तौ, न०।

कज्जल–न० (कज्जल) कुत्सितं जलमस्मात् कोः कद्। दीपशिखापतिते कृष्णद्रव्ये, जं० १ वक्ष०। रा०। मस्याम्, ज्ञा० १ अ०।

कज्जलंगी–स्त्री० (कज्जलाङ्गी) कज्जलगृहे, औ०। ज्ञा०।

कज्जलप्पभा–स्त्री० (कज्जलप्रभा) जम्बाः सुदर्शनायाः दक्षिणपूर्वस्यां पञ्चाशद्योजनात्यवगाह्य उत्तरस्यां नन्दापुष्करिण्याम्, जी० ३ प्रति। जं०।

कज्जलावेमाण–त्रि० (प्लाव्यमान) उपर्युपरिप्लाव्यमाने " कज्जलावेमाणं पेहाए " आचा० २ श्रु० ३ अ०।

कज्जवय–पुं० (कार्य्यपद) जीवनहेतोर्मातापितृभ्यां ध्रियमाणे कज्जवये–तिनामबोध्ये बालके, अनु०।

कज्जवसओ–अव्य० (कार्य्यवशतम्) कार्याङ्गीकरणत इत्यर्थे, न स्वकार्य्यसिद्धये इति फलितार्थे, षो० १ विव०।

कज्जसम–न० (कार्य्यसम) स्वनामके जात्युत्तरेऽनुमानदोषे, सम्म०। कार्यसमं नाम जात्युत्तरमिति प्रतिपादितम्। यथोक्तं कार्यत्वान्यत्वलेशेन यत्साध्यासिद्धिदर्शनम्। तत्कार्यसममिति कार्यत्वसामान्यस्यानित्यत्वसाधकत्वेनोपन्यासेऽभ्युपगते धर्मिभेदेन विकल्पनवद्बुद्धिमत्कारणत्वे क्षित्यादेः कार्यत्वमात्रेण साध्येऽमीष्टे धर्मिभेदेन कार्यत्वादेर्विकल्पनात् आसादयतः सामान्येन कार्यत्वनित्यत्वयोर्विपर्यये बाधप्रमाणबलाद् व्याप्तिसिद्धौ कार्यत्वसामान्यशब्दादौ धर्मिण्युपलभ्यमानमनित्यत्वं साधयतीति कार्यत्वमात्रस्यैव तत्र हेतुत्वेनोपन्यासे धर्मविकल्पनं यत्तत्र क्रियते तत्सर्वानुमानोच्छेदकत्वेन कार्यसमं जात्युत्तरमासादयति। सम्म०।

कज्जसेण–पुं० (कार्य्यसेन) जम्बूद्वीपे भरतक्षेत्रेऽतीतायामुत्सर्पिण्यां जाते पञ्चमे कुलकरे, स०।

कज्जहेउ–पुं० (कार्य्यहेतु) प्रयोजननिमित्ते, चिकीर्षितकार्य्यं प्रति आनुकूल्यकरणे, स्था० ४ ठा०। द्वितीयान्तः " कज्जहेउं " पञ्चम्यन्तो वा " कज्जहेओ " लोकोपचारविनयभेदे, तत्रकार्य्यहे–तोर्ज्ञानादिनिमित्तं भक्तादिदानमिति गम्यम् ग० १ अधि०। भ०। अयमर्थः कार्यश्रुतप्रापणादिकं हेतुं कृत्वा श्रुतं प्रापितोऽहमनेनेति हेतोरित्यर्थो विशेषेण विनये तस्य वर्तितव्यं तदनुष्ठानं च कर्त्तव्यमिति स्था० ७ ठा०।

कज्जिय–त्रि० (कार्यिक) कार्य्यार्थिनि, व्यय० ३ उ०।

कज्जोवग–त्रि० (कार्य्योपग) अष्टाशीतिमहाग्रहाणां पञ्चदशे महाग्रहे, दो कज्जोवगा स्था० २ ठा०। चं० प्र०। जं०। सू० प्र०। कल्प०।

कञ्चुअ–न० (कञ्चुक) **वर्गेऽन्त्यो वा।८।१।३०।** इत्यनुस्वारस्य प्रः। चोलके, प्रा०।

कञ्ञका–स्त्री० (कन्यका) कन्या–कन् **मागध्यां न्यण्यज्ञाञ्यां ञ्ञः। ८। ४। २९३।** इति द्विरुक्तो ञ्ञः। कन्याशब्दार्थे, प्रा०।

कट्टर–न० (कट्टर) कट–वर्षादौ ष्वरच्–व्यञ्जने, दधिसरे, रत्नमा० दध्नस्तु ससरस्यात्र तक्रं कट्टरमुच्यते वैद्यकोक्ततक्रभेदे, कटुकायाम्, भावप्र० वाच०। खण्डे, चित्तकट्टरेइ वा कट्टरं खंडं अनु०।

कट्टु–अव्य० (कृत्वा) आर्षत्वात् क्त्वाप्रत्ययस्य ट्टुः प्रा०। विधायेत्यर्थे, स्था० ८ ठा०। इति कट्टु इति कृत्वा दशा० ६ अ०। उत्त०। आचा०। अनु०। विपा०। कल्प०। कट्टोरगपात्रभेदे, " ततो पासेहिं करोडगा कट्टोरगा मंकुया सिप्पा य उविज्जंति " नि० चू० १ उ०।

कट्ठ–न० (कष्ट) कस–क्त–। कृच्छ्रगहनयोः कषः इतीण् निषेधः। **ष्टस्यानुष्टे ष्टासंदष्टे।८।२।३४।** इति ष्टस्य ठः। प्रा०। **द्वितीयतुर्य्ययोरुपरि पूर्वः।८।२।९०।** इति द्वितीयस्योपरि पूर्वः। प्रा०। दुःखे, ज्ञा० ६ अ०। क्लेशहेतुके वि०७ अ०। पीडायाम्, व्यथायाम्, पीडायुक्ते, गहने, पीडाकारके, कष्टसाध्ये बहूपायेन शाम्ये रिपुरोगादौ,। कष्टसाधने, पापे च। वाच०।

***काठ**–न० (काशत्यनेन) काश–क्थन् नेट शस्य षः। समिदादितृण–काष्ठे, उत्त० १२ अ०। स्था०। शमीवृक्षस्येन्धने, " कुसं च जूवं तणकट्ठमग्गिं " उत्त० १२ अ०। दारुणि, पिं०। शालादिस्तम्भे, नि० चू० ५ उ०। " ससारमतिशुष्कं यत्, मुष्टिमध्ये समेष्यति। तत्काष्ठं काष्ठमित्याहुः, खदिरादिसमुद्भवम्। इत्युक्तलक्षणे दारुभेदे च वाच०। राजगृहवास्तव्ये स्वनामख्याते श्रेष्ठिनि, तत्कथा धर्मत्नप्रकरणादवसेया आ० म० द्वि०। आ० चू०।

कट्ठकम्म–न० (काष्ठकर्म्मन्) क्रियत इति कर्म काष्ठे कर्म काष्ठकर्म–काष्ठनिष्कुट्टिते रूपके, यत्र स्थापनाचार्य्यः क्रियते। अनु०। ग०। नि० चू०। प्रतिस्तम्भद्वादशादौ, आचा०। १ श्रु० १ अ० ५ उ०। रथादौ, आचा० २ श्रु० १२ अ०। कर्म करणम् काष्ठस्य कर्म। दारुमयपुत्रिकादि–निर्मापणे, ज्ञा० १३ अ०।

कट्ठकम्मंत–न० (काष्ठकर्मायत्) काष्ठकर्मगृहे, यत्र काष्ठपरिकर्म क्रियते। आचा० २ श्रु० २ अ०।

कट्ठकरण–न० (काष्ठकरण) श्यामाकस्य गृहपतेः क्षेत्रे, " ततो सामी जंभियगामं गतो तस्स बहिया वि याव तस्स चेइयस्स अदूरसामंते जुवालिए नदीए तीरे उत्तरिल्ले कूले सामागस्स गाहावइस्स कट्ठकरणं नाम खेत्तं " आ० म० द्वि०। आ० चू०।

कट्ठकार–पुं० (कष्टकार) कष्टं करोति कृ–अण्–उप० स०। संसारे त्रिका०। पीडाकारके, त्रि० वाच०।

काष्ठकार–पुं० काष्ठशिल्पापेजीविनि, अनु०। प्रज्ञा०।

कट्ठकोलंब–पुं० (काष्ठकोलम्ब) शाखिशाखानामवनतमग्रभाजनं

वा कोलम्ब उच्यते। काष्ठस्य कोलम्ब इव काष्ठकोलम्बः। परिदृश्यमाना-वनतहृदयास्थिकत्वात्। काष्ठमयकोलम्बसदृशे उदरादौ, "कट्ठकोलंबे व से (धन्यानगारस्य) उदरं" अणु०।

कट्ठखाय–पुं०(काष्ठखाद) काष्ठं खादतीति काष्ठखादः। काष्ठखादके घुणे, स्था० ४ ठा०।

कट्ठखायसमाणभिक्खाग–पुं० (काष्ठखादसमानभिक्षाक) निर्विकृति-काहारतया काष्ठखादकघुणसमाने, भिक्षौ, स्था० २४ ठा०।

कट्ठघमण–न० (काष्टघटन) षष्टितमे कलाभेदे, कल्प०।

कट्ठदल–न० (काष्ठदल) तुवरीसूपे, "कट्ठदलं सिणेहवियलं जं" ल० प्र०।

कट्ठपाउया–स्त्री० (काष्ठपादुका) काष्ठनिर्मितपादुकायाम, "कट्ठया उपाति वा जरग्गउवाहणत्ति वा। अणु०।

कट्ठपीठय–न० (काष्ठपीठक) काष्ठमयपीठके, निचू० १२ उ०।

कट्ठपुत्तलिया–स्त्री० (काष्ठपुत्तलिका) काष्ठकर्मणि, यत्र स्थापनावश–यकं स्थाप्यते। अनु०।

कट्ठपेज्जा–स्त्री० (काष्ठपेया) मुद्गादियूषे, घृततलिततण्डुलपेयायां च। उपा० १ अ०।

कट्ठभूय–त्रि० (काष्ठभूत) अत्यन्तनिश्चेष्टतया काष्ठोपमे, उत्त० १२ अ०।

कट्ठमुद्दा–स्त्री० (काष्ठमुद्रा) काष्ठस्येवाकारे काष्ठमयमुखबन्धने, "कट्ठमुद्दाए मुहं बंधइ बंधइत्ता" यथा काष्ठं काष्ठमयः पुत्तलको न भाषते एवं सोऽपि मौनावलम्बी जातः यद्वा मुखरन्ध्राच्छादकं काष्ठखण्डमुभय-पार्श्वयोश्छिद्रप्रोषितदवरकान्वितं मुखबन्धनं काष्ठमुद्रा तया मुखं वध्नाति नि०।

कट्ठमूल–न० (काष्ठमूल) चणकचवलकादिद्विदले, बृ० १ उ०।

कट्ठमूलरस–न० (काष्ठमूलरस) द्विदलरसेन परिणामिते पानके, ध० ३ अधि०। काष्ठमूलं चणकचवलकादि द्विदलं तदीयरसेन यत्परिणामितं तत्काष्ठमूलरसं नाम पानकम् इत्युक्तेः बृ० १ उ०।

कट्ठसगडिया–स्त्री० (काष्ठशकटिका) काष्ठभृतायां शकटिकायाम, भ० २ श० १ उ०।

कट्ठसमस्सिय–त्रि० (काष्ठसमाश्रित) काष्ठाद्याश्रिते, " संसे यया कट्ठसमस्सिया य " सूत्र० १ श्रु० ७ अ०।

कट्ठसिला–स्त्री० (काष्ठशिला) काष्ठं चासौ शिले वा यति विस्ताराभ्यां शिला सा चेति काष्ठशिला। स्था० ३ ठा०। काष्ठफलकरूपे संस्तारकभेदे, पंचा० १८ विव०। आचा०।

कट्ठसेज्जा–स्त्री० (काष्ठशय्या) काष्ठं स्थूलमायतमेव तद्रूपा शय्या तत्र वा शय्या शयनम्। पाश्चयामिकसाधुभ्योऽनुज्ञाते काष्ठशिलाशयने, स्था० ३ ठा० ४ उ०।

कट्ठहार–पुं० (काष्ठहार) त्रीन्द्रियजीवविशेषे, जी० १ प्रति०। उत्त०। प्रज्ञा०।

कट्ठा–स्त्री० (काष्ठा) दिशि, स्था० २ ठा० अष्टादशनिमेषात्मके काले, तं०। प्रकर्षे , सू० प्र० ६ पाहु०। सीमायाम, दारुहरिद्रायां च। वाच०।

कट्ठाइ–त्रि० (काष्ठादि) दारुपाषाणप्रभृतौ, पंचा० ७ विव०। आदिश ब्दात्कण्टकशर्करादिग्रहः। पंचा० १८ विव०।

कट्ठिय–त्रि० (काष्ठित) काष्ठादिभिः संस्कृते कुड्यादौ, "कट्ठिए वा उक्कविए, वा छण्णे वा लित्ते वा वाड्ढे वा मट्ठे वा सम्मट्ठे वा संपधमिते वा तहप्पगारे उवस्सए" आचा० २ श्रु० २ अ०।

कट्ठोवम त्रि० (काष्ठोपम) विषमकाष्ठतुल्ये, प्रति०।

कड कट पुं० कट–कर्तरि–अच् हस्तिगण्डे, मदवर्षणा तथात्वम्। गण्डमात्रे, स्वेदवर्षणात्तथात्वम् वाच०। "कडतडाइं" गण्डतटानि, ज्ञा० १ अ०। नलाख्ये तृणे, अमरः। आवरणकारके, त्रि०। अतिशये, उत्कटे, शरे, समये, आचारे, मेदि०। उशीरादितृणमात्रे, धरणिः। शवे, प्रेते, शवरथे, ओषधिभेदे, श्मशाने, हेमचं०। तष्टकाष्ठे, शब्दर०। क्रियाकारकमात्रे, त्रि० हेमचं०। द्युतक्रीडासाधनद्रव्ये च। वाच०। कटादिभिरातान-वितानंभावेन निष्पाद्यमाने आशनविशेषे, कट इव कट इत्युपचारात्त-न्त्वादिमये आसनभेदे च।

चत्तारि कडा पण्णत्ता तं जहा सुंठकडे विदलकडे चम्मकमे कंवलकडे ॥

(सुंठकडेत्ति) तृणविशेषनिष्पन्नः (विदलकडेत्ति) वंशशकलकृतः (चम्मकडेत्ति) वर्द्धव्यूतमशकादिः (कंवलकडेत्ति) कम्बलमेवेति। स्था० ४ ठा०। आ० म० प्र०। सान्तरवंशमये, बृ० २ उ०। वंशकटादौ, बृ० १ उ०। पर्वतैकदेशे, ज्ञा० १ अ०। बृ०। संस्तारके च। आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ०।

***कृत**–त्रि० कृ० क्त० परिकर्मिते, कल्प०। अनुष्ठिते, "कडं च कज्जमाणं च, आगमिस्सं च पावगं" सूत्र० १ श्रु० ८ अ०। विहिते, उत्त०४ अ०। अन्त०। निर्वर्तिते,आव० ४ अ०। उपार्जिते, उत्त० ३ अ०। पूर्वपरिणामापेक्षया परिणामान्तरेण कृते, भ० १२ श० ४ उ०। निष्पादिते, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ०।

इदानीं कृतपदनिक्षेपार्थं निर्युक्तिकृद्गाथामाह–

करणं च कारओ य, कडं च तिण्हं पि छक्कनिक्खेवो।
दव्वे खित्ते काले, भावेण उ कारओ जीवो ॥ ४ ॥

(करणं चेत्यादि) इह कृतमित्यनेन कर्मोपात्तं न चाकर्तृकं कर्म भवतीत्यर्थात्कर्तुराक्षेपो धात्वर्थस्य च करणस्यामीषां त्रयाणामपि प्रत्येकं नामादिः षोढा निक्षेपः। सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०। (अत्र करणनिक्षेपप्रदर्शनेन कृतनिक्षेपोऽपि सुबोधो भविष्यतीति बुद्ध्या कृतनिक्षेपो न प्रादर्शि क्रियमाणं कृतमिति भगवदुक्तेर्जमालिनाऽश्रद्धानं तदुत्तरं च क ज्ञकारणभावशब्दे दर्शितमथ च ज़मालिशब्देऽपि किञ्चिद्दर्शयिष्यते) क्रियानिष्पाद्ये, "से देसे णं देसे कडे देसे णं सव्वे कडे" भ० १ श० ३ उ०। तैः विवक्षितपुरुषैः अन्यैर्वा श्रावकीकृते कुले, कल्प०। साधूनाधायोद्दिश्य कृते निष्पादिते आधाकर्मणि, सूत्र० १ श्रु० १ अ०। "कडेसु घासमेसेज्जा, विउ दत्ते स णं चरे" गृहस्थैः परिग्रहारम्भ-द्वारेणात्मार्थं ये निष्पादिता ओदनादयस्ते कृता उच्यन्ते तेषु कृतेषु परकृतेषु परनिष्ठितेषु इत्यर्थः। सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ०। "उक्खडंतु कडं होइ " उपस्कृतं तु अत्रादिबुद्धावादिकर्मविवक्षायां क्तः प्रत्ययः ततोऽयमर्थः। उपस्कर्तुमारब्धमिति भावः कृतं भवति इत्यादिराधा-कम्मशब्दे कृतशब्दार्थो विस्तरत उक्तस्तत एवाभ्यूह्यम् पिंड०। कृतयुगे चतुष्के, सूत्र० १ श्रु० २ अ०। फले च न० साधिते, पक्वे , पर्य्याप्ते च त्रि० चतुरङ्गयुक्ते, पाशकभेदे, दासभेदे च पुं०–भावे, क्त–क्रियायाम् न० कृतपूर्वीकटम् वाच०।

कडंगर–न० (कडङ्कर) कर्म भक्षणीयं शस्यादि गिरति अभ्यन्तरे

निवेशयति गृ–अच्–नि० मुम् वुसे, मुद्गादेःफलशून्यनाडिकाकाष्ठे, अमरः। वाच०। स्था०।

कडंब–पुं० (कटम्ब) कट–धातूनामनेकार्थत्वाद् वादने, अम्बच् वा दित्रे, वाच०। स च द्वादशतूर्य्यनिर्घोषाणां चतुर्थः। आ० म० प्र०। औ०।

***कडम्ब**–शाकनाडिकायाम्, कोणे, प्रान्तभागे च वाच०।

कडक्ख–पुं० (कटाक्ष) कटं गण्डमक्षति व्याप्नोति अच् अपाङ्गदृष्टौ, अमरः वाच०। "सकडक्खदिट्ठीओ" सकटाक्षाः सापाङ्गा दृष्टयश्चाव– लोकितानि ज्ञा० ६ अ०। अर्द्धवीक्षणे च नं०।

कडग–पुं० (कटक) न० कलाचिकाभरणे, प्रज्ञा० २ पद। रा०। "पयलियरकडगतुडियके उरमउडकुंडले" रा०। भ०। प्रकोष्ठकाभर– णविशेषे, ख०। कङ्कणे, औ०। कङ्कणविशेषे,। उपा० २ अ०। हस्ताभर– णविशेषे, "वरकडगतुमियथंभियभूए" औ०। अद्रिनितम्बे "विसमगिरिक डगकोलंबसण्णिविट्ठा" ज्ञा० १८ अ०। "पव्वयकडगायमुच्चते" प्रश्न अध० १ द्वा० ३ अ०। गण्डशैले, ज्ञा० ४ अ०। स्कन्धावारे, वृ० २ उ०। "कडगवद्धेवि विसे अप्पफलेसिया" पं० सू० ५ सू०। चक्रे, अमरः। हस्तिदण्डमण्डले सामुद्रलवणे, राजधान्यां च मेदि०। नगर्य्याम्, शब्द र०। वाच०। कटस्वार्थे ककटशब्दार्थे, "पंसुलकडयाणं" अणु०।

कडगघर–न० (कटकगृह) वंशदलनिर्मापितकटात्मके गृहे०, व्य०। ४ उ०।

कडगमई–स्त्री० (कटकमयी) कटो वंशकटादिस्तन्निष्पन्ना कटकमयी वंशकटकादिमये चिलिमिलिकाभेदे, नि० चू० १ उ०।

कडगमद्दण–न० (कटकमर्दन) सैन्येन किलिञ्जेन वा आक्रम्य मर्दने, ततो हि प्राणवधो भवतीत्युपचारात् प्राणवधे च। प्रश्न० अध० १ द्वा० १ अ०।

कडग्गिदड्ढय–त्रि० (कटाग्निदग्धक) कटान्तर्वेष्टयित्वाऽग्निना दह्यमाने, दशा० ६ अ०।

कडच्छेज्ज–न० (कटच्छेद्य) कटवत्क्रमाच्छेद्यं वस्तु यत्र विज्ञाने तत्तथा। एकोनसप्ततितमे कलाभेदे, इदञ्च न्यूनपटोद्वेष्टनादौ भोजनक्रियादौ चोपयोगीति जं० २ वक्ष०। ज्ञा०। "कडच्छेएण भोत्तव्वं कडगच्छेदो नाम जो एगा उ पासा उ समुट्ठिसइ" पं० व० २ द्वा०।

कडजुग–न० (कृतयुग) अष्टाविंशत्यधिकसप्तदशलक्षपरिमिते कालभेदे, लोके कृतयुगादीनि एवमुच्यन्ते " द्वात्रिंशच्च सहस्राणि, कलौ लक्षचतुष्टयम्। वर्षाणां द्वापरादौ स्यादेतद् द्वित्रिचतुर्गुणम्" स्था० ४ ठा० ३ उ०।

कडजुम्म–पुं० (कृतयुग्म) न० कृतं सिद्धं पूर्णं ततः परस्य राशिसंज्ञान्त– रस्याभावेन न त्र्योजःप्रभृविदपूर्णं यत् युग्मं समराशिविशेषः तत्कृतयुग्मम्। भ० १८ श० ४ उ०। क० प्र०। युग्मराशिविशेषे, यो हि राशिश्चतुष्केणापह्रियमाणश्चतुःपर्य्यवसितो भवति स कृतयुग्म इति स्था० ४ ठा० ३ उ०। कृतयुग्ममितप्रदेशासु दिक्षु स्त्री० आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० (सर्वासां दिशां प्रत्येकं ये प्रदेशास्ते चतुष्केणापह्रियमाणाश्च– तुष्काविशेषा भवन्तीति कृत्वा तत्प्रदेशात्मिकाश्च दिश आगमसंज्ञया कडजुम्मत्ति शब्देन कृतयुग्मादि विशेषणेन नैरयिकादीनामुपपात उवपायशब्देनाभिधीयन्ते)

कडजुम्मकडजुम्म–पुं० (कृतयुग्मकृतयुग्म) न० कृतयुग्मश्चासौकृतयुग्मश्च महायुग्मराशिभेदे, यो राशिश्चतुष्कापहारेणापह्रियमाणश्चतुःपर्य्यवसितो भवत्यपहारसमया अपि चतुष्कापहारेण चतुःपर्य्यवसिता एवासौ राशिः कृतयुग्मकृतयुग्म इत्यभिधीयते। अपह्रियमाणद्रव्यापेक्षया तत्समया– पेक्षया चेति द्विधा कृतयुग्मत्वात् भ० ३४ श० १ उ०।

कडजुम्मकलिओय–पुं० (कृतयुग्मकल्योज) क० स० महायुग्मराशिभेदे, यो राशिः प्रतिसमयं चतुष्केणापह्रियमाण एकपर्य्यवसानो भवति तत्समयाश्चतुःपर्य्यवसिता एवासावपह्रियमाणापेक्षया कलिः। अपहा– रसमयापेक्षया तु कृतयुग्म एवेति कृतयुग्मकल्योजः। यथा जघन्यतः सप्तदश तत्र हि चतुष्कापहारेणैकोऽवशिष्यते तत्समयाश्चत्वार एवेति भ० ३४ श० १ उ०।

कडजुम्मतेओग–पुं० (कृतयुग्मत्र्योज) क० स०। महायुग्मराशिभेदे, यो राशिः प्रतिसमयं चतुष्कापहारेणापह्रियमाण स्त्रिपर्य्यवसानो भवति तत्समयाश्चतुःपर्य्यवसिता एवासौ अपह्रियमाणापेक्षया त्र्योजः। अपहा– रसमयापेक्षया तु कृतयुग्म एवेति कृतयुग्मत्र्योज इत्युच्यते। यथा जघन्यत एकोनविंशतिस्तत्र हि चतुष्कापहारेण त्रयोऽवशिष्यन्ते तत्समयाश्चत्वार एवेति भ० ३४ श० १ उ०।

कडजुम्मदावरजुम्म–पुं० (कृतयुग्मद्वापरयुग्म) क० स०। महायुग्मरा– शिभेदे, यो हि राशिः प्रतिसमयं चतुष्कापहारेणापह्रियमाणो द्विपर्य्यव– सानो भवति तत्समयाश्चतुःपर्य्यवसिता एवेति। असौ अपह्रियमाणापेक्षया द्वापरयुग्मः। अपहारसमयापेक्षया तु कृतयुग्म एवेति कृतयुग्मद्वापर–युग्मः। यथा जघन्यतोऽष्टादश तत्र हि चतुष्कापहारेण द्वावावशिष्येते तत्समया– श्चत्वार एवेति। भ० ३४ श० १ उ०।

कडजुम्मपएसोगाढ–त्रि० (कृतयुग्मप्रदेशावगाढ) विंशतिप्रदेशावगाढे, विंशतेश्चतुष्कापहारे चतुःपर्य्यवसितत्वात्। "परिमंडले णं भंते! संठाणे किं कडजुम्मपएसोगाढे" भ० २५ श० ३ उ०।

कड [य] जोग–पुं० (कृतयोग) कृतसाधुव्यापारे, पं० व० १ द्वा०। "तवे य कयजोगा" तपसि कृतयोगो नाम कर्कशतपोभिरनेकधा भावितात्मा व्य० १ उ०।

कडजोगि (ण्)–त्रि० (कृतयोगिन्) सूत्रोपदेशेन मोक्षाविरोधीकृतो न्यस्तो योगो मनोवाक्कायव्यापारात्मकः स कृतयोगः स येषामस्ति ते कृतयोगिनः। आगमसमन्तमोक्षौपयिकयोगयुक्तेषु, व्य० ३ उ०। चतुर्थादितपसि कृतयोगे, "कडजोगी णाम चउत्थादितवे कतजोगो" नि० चू० १ उ०। गीतार्थ, कृतयोगी गीतार्थः स कर्तव योगीति च भण्यते। बृ० १ उ०। कृतक्रिये, "जोगो किरिया सा कया जेण सो कमजोगी भण्णति" नि०। चू० १ उ०। अतः कृतयोगी नाम यो गृहवासे कर्तनं कृतवान् वृ० १ उ०।

कडण–न० (कटन) कटादिभिः कुड्यकरणे, ग० १ अधि०।

कडणा–स्त्री० (कटना) तट्टिकारूपे गृहावयवे, " अगारेज्झियाइ कुड्डुज्झियाइ कडणाज्झियाइ" भ० ८ श० ६ उ०।

कडतम–न० (कटकट) कटैकदेशे, ज्ञा० १ अ०। गण्डतटे, ज्ञा० १ अ०।

कडपूयणा–स्त्री० (कटपूतना) स्वनामख्यातायां व्यन्तर्य्याम्, यया शालिसीसबहुशाकग्रामे शालवने प्रतिमास्थितस्य श्रीवीरजिनस्य विघ्नं कृतम्। आ० म० द्वि०। आ० चू०।

कडमूढ–पुं० (कृतमूढ) करणं कृतं तेन मूढः । किङ्कर्तव्यताव्याकुले, आचा० १ श्रु० २ अ०।

कडय–न० (कटक) कलाचिकाभरणे, आ० म० प्र०। वलये, स्था० ३ ठा० ५ उ०। अनीके, पर्वततटे, पर्वतदेशे, ज्ञा० १ अ०।

कडयंतरिय–पुं० (कटकान्तरित) कटान्तर्वर्तिप्रच्छन्नरक्षिते, " अन्नो कडयंतरिओ अन्नो पडयंतरे ठविओ " तं०।

कडयणिवेस–पुं० (कटकनिवेश) स्कन्धावारे, स्था० ६ ठा०।

कडयपल्लल–न० (कटकपल्वल) पर्वततटव्यव-स्थितजलाशयविशेषे, ज्ञा० १ अ०।

कडयमद्द–पुं० (कटकमर्द) सैन्यसंमर्दे, तेन कटकमर्दन मारणार्थं चाज्ञप्ताः अव्यक्तवादिनिह्नवाः विशे०। स्था०।

कडवाइ (ण्)–पुं० (कृतवादिन्) केनचित् ईश्वरेण प्रधानादिना वा कृतोऽयं लोक इत्येवमभ्युपगमग्रहिले वादिनि, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०। तेषां मतोपदर्शनायाह-।

इणमन्नं तु अन्नाणं, इहमेगेसि आहियं।
देवउत्ते अयं लोए, बंभउत्ते त्ति आवरे ॥ ५ ॥
ईसरेण कडे लोए, पहाणाइ तहावरे।
जीवाजीवसमाउत्ते, सुहदुक्खसमन्निए ॥ ६ ॥

इदमिति वक्ष्यमाणं तुशब्दः पूर्वेभ्यो विशेषणार्थः । अज्ञानमिति मोहविजृम्भणमिहास्मिन् लोके एकेषां न सर्वेषामाख्यातमित्यभिप्रायः । किं पुनस्तदाख्यातमिति तदाह । देवेनोप्तो देवोप्तः कर्षकेणेव बीजवपनं कृत्वा निष्पादितोऽयं लोक इत्यर्थः । देवैर्वा गुप्तो रक्षितो देवगुप्तो देवपुत्रो वेत्यादिकमज्ञानमिति । तथा ब्रह्मणा उप्तो ब्रह्मोप्तोऽयं लोक इत्यर्थः । परे एवं व्यवस्थिताः । तथा हि तेषामयमभ्युपगमः । ब्रह्मा जगत्पितामहः स चैक एव जगदवासीत्तेन च प्रजापतयः सृष्टास्तैश्च क्रमेणैतत्सकलं जगदिति । तथेश्वरेण कृतोऽयं लोकः । एवमेके ईश्वरकारका अभिदधति प्रमाणयन्ति वा सर्वमिदं विमत्यधिकरणभावोपपन्नं न तु भुवनकरणादिकं धर्मित्वेनोपादीयते । बुद्धिमत्कारणपूर्वकमिति साध्यो धर्मः संस्थान-विशेषवत्त्वादिति हेतुः । यथा घटादिरिति दृष्टान्तोऽयं यद्यत्संस्थान-विशेषवत्तत्तद्बुद्धिमत्करणपूर्वकं दृष्टम् । यथा देवकुलकूपादि संस्थान-विशेषवच्च मकराकरनदीधराधरशरीरकरणादिकं विवादगोचरापन्नमिति । तस्माद्बुद्धिमत्कारणपूर्वकं यश्च समस्तस्यास्य जगतः कर्ता स सामान्यपुरुषो न भवतीत्यसावीश्वर इति । तथा सर्वमिदं तनुभुवनकरणादिकं धर्मित्वेनोपादीयते । बुद्धिमत्कारणपूर्वकमिति । साध्यो धर्मः कार्यत्वाद् घटादिवत् तथा स्थित्वा प्रवृत्तेर्वास्यादिवदिति । तथाऽपरे प्रतिपन्ना यथा प्रधानादिकृतो लोकः । सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः । सा च पुरुषार्थं प्रवर्तते । आदिग्रहणाच्च प्रकृतेर्महान् ततोऽहंकारस्तस्माच्च गणः षोडशकस्तस्मादपि षोडशकात्पञ्चभ्यः पञ्च महाभूतानीत्यादिकया प्रक्रियया सृष्टिर्भवतीति । यदि वा आदिग्रहणात्स्वभावादिकं गृह्यते । ततश्चायमर्थः । स्वभावेन कृतो लोकः कण्टकादितैक्ष्ण्यवत् । तथाऽन्ये नियतिकृतो लोको मयूराङ्गरुहवदित्यादिभिः कारणैः कृतोऽयं लोको जीवाजीवसमायुक्तो जीवैरुपयोगलक्षणैस्तथा अजीवैर्धर्माधर्माकाशपुद्गलादिकैः समन्वितः समुद्रधराधरादिकः इति । पुनरपि लोकं विशेषयितुमाह । सुखमानन्दरूपं दुःखमसातोदयरूपमिति ताभ्यां समन्वितो युक्त इति ।

॥ किञ्च ॥

सयंभुणा कडे लोए, इति वुत्तं महेसिणा।
मारेण संथुया माया, तेण लोए असासए ॥ ७ ॥

(संयंभुणा इत्यादि) स्वयं भवतीति स्वयंभूर्विष्णुरन्यो वा स चैक एवादावभूत्तत्रैकाकी रमते द्वितीयमिष्टवांस्तच्चिन्तानन्तरमेव द्वितीया शक्तिः समुत्पन्ना तदनन्तरमेव जगत्सृष्टिरभूदित्येवं महर्षिणोक्तमभिहितम् । एवं वादिनो लोकस्य कर्त्तारमभ्युपगतवन्तोऽपि च तेन स्वयंभुवा लोकं संपाद्यातिभारभयाद्यमाख्यो मारयतीति मारोऽभ्यधायि । तेन मारेण संस्तुता कृता प्रसाधिता माया तया च मायया लोका म्रियन्ते न च परमार्थतो जीवस्योपयोगलक्षणस्य व्यापत्तिरस्त्यतो मायैषा । यथाऽयं मृतस्तथा चायं लोकोऽशाश्वतोऽनित्योऽविनाशीति गम्यते ॥ ७ ॥ (अण्मकृत्वादिमतं स्वस्थाने उक्तम्)

अधूना एतेषां देवोप्तादिजगद्वादिनामुत्तरदानायाह ।

सएहिं परियाएहिं, लोयं वूया कडेतिया।
तत्तं तेण वि जाणंति, ण विणासी कयाइवी ॥ ८ ॥

स्वकैः स्वकीयैः पर्यायैरभिप्रायैर्युक्तिविशेषैरयं लोकः कृत इत्येवमब्रुवन्नभिहितवन्तः । देवोप्तो ब्रह्मोप्त ईश्वरकृतः प्रधानादिनिष्पादितः स्वयंभुवाव्यधायि तन्निष्पादितमायया म्रियते । तथाऽण्डजश्चायं लोक इत्यपि स्वकीयाभिरुपपत्तिभिः प्रतिपादयन्ति । यथाऽस्मदुक्तमेव सत्यं नान्यदिति । ते चैवंवादिनो वादिनः सर्वेऽपि तत्त्वं परमार्थं यथाऽवस्थितलोकस्वभावं नाभिजानन्ति न सम्यक् विवेचयन्ति । यथाऽयं लोको द्रव्यार्थतया न विनाशीति निर्मूलतः कदाचन न चायमादित आरभ्य केनचित् क्रियते अपि त्वयं लोकोऽभूद्भवति भविष्यति । तथा हि यत्तावदुक्तं यथा देवोप्तोऽयं लोक इति तदसङ्गतं यतो देवोप्तत्वे लोकस्य न किंचितथाविधं प्रमाणमस्ति न चाप्रमाणकमुच्यमानं विद्वज्जनमनांसि प्रीणयति । ईश्वरवादखण्डनं स्वस्थाने विस्तरतः कृतम् यदपि चोक्तं प्रधानादिकृतोऽयं लोक इति तदप्यसङ्गतं यतस्तत्प्रधानं किं मूर्त्तममूर्तं वा यद्यमूर्तं न ततो मकराकरादेर्मूर्तस्योद्भवो घटते । न ह्याकाशात्किंचिदुत्पद्यमानमालक्ष्यते मूर्तामूर्तयोः कारणविरोधादिति । अथ मूर्तं तत्कृतः समुत्पन्नं न तावत्स्वतो लोकस्यापि तथोत्पत्तिप्रसङ्गात् नाप्यन्यतोऽनवस्थापत्तेरिति । अन्यथाऽनुत्पन्नमेव प्रधानाद्यनादिभावेनास्ते तद्वल्लोकोऽपि किं नेष्यते । अपि च । सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रधानमित्युच्यते न चाविकृतात्प्रधानान्महदादेरुत्पत्तिरिष्यते भवद्भिः । न च विकृतं प्रधानव्यपदेशमास्कन्दतीत्यतो न प्रधानान्महदादेरुत्पत्तिरिति । अपि चाचेतनायाः प्रकृतेः कथं पुरुषार्थं प्रति प्रवृत्तिर्येनात्मनो भोगोपपत्त्या सृष्टिः स्यादिति । प्रकृतेरयं स्वभाव इति चेदेवं तर्हि स्वभाव एव बलीयान् यस्तामपि प्रकृतिं नियमयति तत एव च लोकोऽस्यस्तु किमदृष्टप्रधानादिकल्पनयेति । अथादिग्रहणात्स्वभावस्यापि कारणत्वं कैश्चिदिष्यत इति चेदस्तु । न हि स्वभावोऽभ्युपगम्यमानो नः क्षतिमातनोति । तथा हि स्वभावः स्वकीयोत्पत्तिः सा च पदार्थानामिष्यत एवेति । तथा यदुक्तं नियतिकृतोऽयं लोक इति तत्रापि नियमनं नियतिर्यथाभवनं नियतिरित्युच्यते सा चालोच्यमाना न स्व-

भावादतिरिच्यते । यच्चाभ्यधायि स्वयम्भुवोत्पादितो लोक इति तदप्यसुन्दरमेव । यतः स्वयंभूरिति किमुक्तं भवति । किं यदाऽसौ भवति तदा स्वतन्त्रोऽन्यनिरपेक्ष एव भवति । अथादिभवनात्स्वयम्भूरिति व्यपदिश्यते । तद्यादि स्वतन्त्रभवनाभ्युपगमस्तद्वल्लोकस्यापि भवनं किं नाभ्युपेयते किं स्वयंभुवा । अथानादिस्ततस्तस्यानादित्वे नित्यत्वं नित्यस्य चैकरूपत्वात्कर्तृत्वाऽनुपपत्तिस्तथा वीतरागत्वात्तस्य संसारवैचित्र्यानुपपत्तिः । अथ सरागोऽसौ ततोऽस्मदाद्यव्यतिरेकात्सुतरां विश्वस्याकर्ता मूर्तामूर्तादिकल्पाश्च प्राग्वदायोज्या इति । यदपि चात्राभिहितम् । तेन मारः समुत्पादितः स च लोकं व्यापादयति तदप्यकर्तृत्वस्याभिहितत्वात्प्रलापमात्रमिति ।

इदानीमेतेषां देवोप्तादिवादिनामज्ञानत्वं प्रसाध्य तत्फलं दिदर्शयाह-

अमणुन्नसमुप्पायं, दुक्खमेव विजाणिया ।
समुप्पायमजाणंता, कहं नायंति संवरं ॥ १० ॥

मनोऽनुकूलं मनोज्ञं शोभनमनुष्ठानं न मनोज्ञममनोज्ञमसदनुष्ठानं तस्मादुत्पादः प्रादुर्भावो यस्य दुःखस्य तदमनोज्ञसमुत्पादम् । एवकारोऽवधारणे । स चैवं संबन्धनीयः । अमनोज्ञसमुत्पादमेव दुःखमित्येवं विजानीयादवगच्छेत्प्राज्ञः । एतदुक्तं भवति । स्वकृताऽसदनुष्ठानादेव दुःखस्योद्भवो भवति नान्यस्मादित्येवं व्यवस्थितेऽपि सत्यनन्तरोक्तवादिनोऽसदनुष्ठानोद्भवस्य दुःखस्य समुत्पादमजानानाः सन्तोऽन्यत ईश्वरादेर्दुःखस्योत्पादमिच्छन्ति । तच्चैवमिच्छन्तः कथं केन प्रकारेण दुःखस्य संवरं दुःखप्रतिघातहेतुं ज्ञास्यन्ति । निदानोच्छेदेन हि निदानिन उच्छेदो भवति । ते च निदानमेव न जानन्ति तत्वमजानानाः कथं दुःखोच्छेदाय यतिष्यन्ते यत्नवन्तोऽपि च नैव दुःखोच्छेदनमवाप्स्यन्त्यपि तु संसार एव जन्मजरामरणेऽष्टवियोगाद्यनेकदुःखव्राताघाताद्भूयो भूयोऽरहट्टघट्टीन्यायेनानन्तमपि कालं संस्थास्यन्ते ॥ १० ॥

सांप्रतं प्रकारान्तरेण कृतवादिमतमेवोपन्यस्यन्नाह-

सुद्धे अपावए आया, इहमेगेसिमाहियं ।
पुणो किड्डापदोसेणं, सो तत्थ अवरज्झइ ॥ ११ ॥

इहास्मिन् कृतवादिप्रस्तावे त्रैराशिका गोशालकमतानुसारिणो येषामेकविंशतिसूत्राणि पूर्वगतत्रैराशिकसूत्रपरिपाट्या व्यवस्थितानि ते एवं वदन्ति । यथाऽयमात्मा शुद्धो मनुष्यभव एव शुद्धाचारो भूत्वा अपगताशेषमलकलङ्को मोक्षेऽपापको भवति । अपगताशेषकर्मा भवतीत्यर्थः । इदमेकेषां गोशालकमतानुसारिणामाख्यातम् । पुनरसावात्माऽशुद्धत्वाऽकर्मकत्वराशिद्वयावस्थो भूत्वा क्रीडया प्रद्वेषेण वा स तत्र मोक्षस्थ एवाऽपराध्यति रजसाऽऽश्लिष्यते । इदमुक्तं भवति । तस्य हि स्वशासनपूजामुपलभ्यान्यशासनपराभवं चोपलभ्य क्रीमोत्पद्यते प्रमोदः संजायते स्वशासनन्यक्कारदर्शनाच्च द्वेषस्ततोऽसौ क्रीडाद्वेषाभ्यामनुगतान्तरात्मा शनैर्निर्मलपटवदुपभुज्यमानो रजसा मलिनीक्रियते मलीमसश्च कर्मगौरवाद्भूयः संसारेऽवतरति । अस्यां चावस्थायां सकर्मकत्वात्तृतीयराश्यवस्थो भवति ।

इह संवुडे मुणी जाए, पच्छा होइ अपावए ।
वियडंबु जहा भुज्जो, नीरयं सरयं तहा ॥ १२ ॥

(इहेत्यादि) इहास्मिन् मनुष्यभवे प्राप्तः सन् प्रव्रज्यामभ्युपेत्य संवृतात्मा यमनियमरतो जातः सन् पश्चादपापो भवति । अपगताशेषकर्मकलङ्को भवतीति भावः । ततः स्वशासनं प्रज्ञाप्य मुक्त्यवस्थो भवति । पुनरपि स्वशासनपूजादर्शनान्निकारोपलब्धेश्च रागद्वेषोदयात्कलुषितान्तरात्मा विकटाम्बुदकवन्नीरजस्कं सद्वातोद्धरेणुनिवहसंपृक्तं सरजस्कं मलिनं भूयो यथा भवति । तथाऽयमप्यात्माऽनन्तकालेन संसारोद्वेगाच्छुद्धाचारावस्थो भूत्वा ततो मक्षिकामौ सत्यामकर्मावस्थो भवति । पुनः शासनपूजानिकारदर्शनाद्रागद्वेषोदयात्सकर्मा भवतीत्येवं त्रैराशिकानां राशित्रयावस्थो भवत्यात्मेत्याख्यातं । उक्तं च " दग्धेन्धनः पुनरुपैति भवं प्रमथ्य, निर्वाणमप्यनवधारितभीरूनिष्ठः । मुक्तः स्वयं कृतभवश्च परार्थशूरस्त्वच्छासनप्रतिहतेष्विह मोहराज्यमिति " ॥ १२ ॥

अधुनैतद्दूषयितुमाह-

एताणुचीति मेधावी, बंभचेरेण ते वसे ।
पुणो पावाउया सव्वे, अक्खायारो सयं सयं ॥ १३ ॥

एतान् पूर्वोक्तान् वादिनोऽनुचिन्त्य मेधावी प्रज्ञावान् मर्यादाव्यवस्थितो वा एतदवधारयेत् । यथा नैते राशित्रयवादिनो देवोप्तादिलोकवादिनश्च ब्रह्मचर्ये तदुपलक्षिते वा संयमानुष्ठाने वसेयुरवतिष्ठेरन्निति । तथा हि तेषामयमभ्युपगमो यथा स्वदर्शनपूजानिकारदर्शनात्कर्मबन्धो भवत्येवं चावश्यं तद्दर्शनस्य पूजायास्तिरस्कारेण चोभयेन वा भाव्यं तत्संभवाच्च कर्मोपचयस्तदुपचयाच्च शुद्ध्यभावः शुद्ध्यभावाच्च मोक्षाभावः । न च मुक्तानामशेषकर्मकलङ्कानां कृतकृत्यानामपगताशेषयथावस्थितवस्तुतत्वानां समस्तुतिनिन्दानामपगतात्माऽऽत्मीयपरिग्रहाणां रागद्वेषानुषङ्गस्तद्भावाच्च कुतः पुनः कर्मबन्धस्तस्माच्च संसारावतरणमित्यर्थः । अतस्ते यद्यपि कथञ्चिद् द्रव्यब्रह्मचर्ये व्यवस्थितास्तथाऽपि सम्यक् ज्ञानाभावान्न सम्यगनुष्ठानभाज इति स्थितम् । अपि च सर्वेऽप्येते प्रावादुकाः स्वकं स्वकमात्मीयं दर्शनं स्वदर्शनानुरागादाख्यातारः शोभनत्वेन प्रख्यापयितार इति । न च तत्र विदितवेद्येनास्था विधेयेति ॥ १३ ॥

पुनरन्यथा कृतवादिमतमुपदर्शयितुमाह-

सए सए उवट्ठाणे, सिद्धिमेव न अन्नहा ।
अहो इहेव वसवत्ती, सव्वकामसमप्पिए ॥ १४ ॥

(सए सए इत्यादि) ते कृतवादिनः शैवैकदण्डिप्रभृतयः स्वकीये स्वकीये उपतिष्ठन्तेऽस्मिन्नित्युपस्थानं स्वीयमनुष्ठानं दीक्षा गुरुचरणशुश्रूषादिका तस्मिन्नेव सिद्धिमशेषसांसारिकप्रपञ्चरहितस्वभावमभिहितवन्तो नान्यथा नान्येन प्रकारेण सिद्धिरवाप्यत इति । तथा हि शैवा दीक्षात एव मोक्ष इत्येवं व्यवस्थिताः एकदण्डिकाःपञ्चविंशतितत्वपरिज्ञानान्मुक्तिरित्यभिहितवन्तस्तथान्येऽपि वैदान्तिका ध्यानाध्ययनसमाधिमार्गानुष्ठानात्सिद्धिमुक्तवन्त इत्येवमन्ये अपि यथा स्वदर्शनान्मोक्षमार्गं प्रतिपादयन्तीति । अशेषद्वन्द्वोपरमलक्षणायाः सिद्धिप्राप्तेरधस्तात्प्रागपि यावदद्यापि सिद्धिप्राप्तिर्न भवतीति तावदिहैव जन्मन्यस्मदीयदर्शनोक्तानुष्ठानानुभावादष्टगुणैश्वर्य-सद्भावो भवतीति दर्शयति । आत्मवशं वर्तितुं शीलमस्येति आत्मवशवर्ती वशेन्द्रिय इत्युक्तं भवति तर्ह्यसौ सांसारिकैः स्वभावैरभिभूयते । सर्वे कामा अभिलाषा अर्पिताः संपन्ना यस्य स सर्वकामसमर्पितो यान् यान् कामान् कामयते ते तेऽस्य सर्वे सिध्यन्तीति यावत् । तथा हि । सिद्धे-

रादष्टगुणैश्वर्यसिद्धिर्भवति। तद्यथा। अणिमा लघिमा गरिमा प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वं प्रतिघातित्वं यत्र कामावसायित्वमिति ॥ १४ ॥ तदेवमिहैवास्मदुक्तानुष्ठायिनोऽष्टगुणैश्वर्यलक्षणा सिद्धिर्भवत्यमुत्र चाऽशेषद्वन्द्वोपरमलक्षणा भवतीति दर्शयितुमाह-

सिद्धा य ते अरोगा य, इह मेगेसिमाहियं।
सिद्धिमेव पुरो काउं, सासए गढिआ नरा ॥ १५ ॥

('सिद्धा य ते' इत्यादि) ये ह्यस्मदुक्तमनुष्ठानं सम्यगनुतिष्ठन्ति तेऽस्मिन् जन्मन्यष्टगुणैश्वर्यरूपां सिद्धिमासाद्य पुनर्विशिष्टसमाधियोगेन शरीरत्यागं कृत्वा सिद्धाश्चाशेषद्वन्द्वरहिता अरोगा भवन्ति। अरोगग्रहणं चोपलक्षणम् अनेकशरीरमानसद्वन्द्वैर्न स्पृशन्ति शरीरमनसोरभावादित्येवमिहास्मिँल्लोके सिद्धिविचारे वा एकेषां शैषादीनामिदमाख्यातं भाषितम्। ते च शैवादयःसिद्धिमेव पुरस्कृत्य मुक्तिमेवाङ्गीकृत्य स्वकीये आशये स्वदर्शनाभ्युपगमे ग्रन्थिताः संबद्धा अध्युपपन्नास्तदनुकूला युक्तीः प्रतिपादयन्ति। नराइव नराः प्राकृतपुरुषाः शास्त्रावबोधविकलाः स्वाभिप्रेतार्थसाधनाय युक्तीः प्रतिपादयन्त्येवं तेऽपि पण्डितमन्याः परमार्थमजनानाः स्वग्रहप्रसाधिकां युक्तिमुद्भावयन्तीति। तथा चोक्तम्। " आग्रही वत निनीषति युक्तिं, तत्र यत्र मतिरस्य निविष्टा। पक्षपातरहितस्य युक्तिर्यत्र तत्र मतिरेति निवेशम् ॥ १५ ॥

सांप्रतमेतेषामनर्थप्रदर्शनपुरःसरं दूषणाधित्सयाह-

असंवुडा अणादीयं, भमिहिंति पुणो पुणो।
कप्पकालमुवज्जंति, ठाणा आसुरकिव्विसिया त्तिबेमि ॥१६॥

(असंवुमा इत्यादि) ते हि पाखण्डिका मोक्षाभिसन्धिनः समुत्थिता अपि असंवृता इन्द्रियनोइन्द्रियैरसंयता इहाप्यस्माकं लाभ इन्द्रियानुरोधेन सर्वविषयोपभोगादमुत्र मुक्त्यवाप्तेः। तदेवं मुग्धजनं प्रतारयन्तोऽनादिसंसारकान्तारं भ्रमिष्यन्ति पर्यटिष्यन्ति स्वदुश्चरितोपात्तकर्मपाशाः पाशावशापिताः पौनःपुन्येन नारकादियातनास्थानेषूत्पद्यन्ते। तथा हि नेन्द्रियैरनियमितैरशेषद्वन्द्वप्रच्युतिलक्षणा सिद्धिरवाप्यते। याष्यणिमाद्यष्टगुणलक्षणौहिकी सिद्धिरभिधीयते सापि मुग्धजनप्रतारणाय दम्भकल्पैवेति। यापि च तेषां बालतपोऽनुष्ठानादिना स्वर्गावाप्तिः साप्येवं प्रायो भवतीति दर्शयति। कल्पकालं प्रभूतकालमुत्पद्यन्ते संभवन्ति। असुरा असुरस्थानोत्पन्ना नागकुमारादयस्तत्रापि न प्रधानाः किं तर्हिकिल्विषिका अधमाः प्रेष्यभूता अल्पर्धयोऽल्पभोगाः स्वल्पायुःसामर्थ्याद्युपेताश्च भवन्तीति सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ०।

कडसलागा–स्त्री० (कटशलाका) कटमयशलाकायाम, " कन्नेसु बद्धमाणस्स, तेण बूढा कटसलागा " आ० चू० १ अ०। आ० म० द्वि०। वंशशलाकायाम्, विपा० १ श्रु० ६ अ०।

कडहू–पुं० (कडहू) वृक्षविशेषे, " कडहूवागादीहिं " बृ० १ उ०।

कडाइ–पुं० (कृतादि) कृतयोगिनि, " पडिसेविउ कडाई होइ समत्थो पसत्थेसु कडाई नामकृतयोगी तिक्खुत्तो कओ जोगो अलाभे पणगहाणी तो गेण्हति " नि० चू० १ उ०। परिकर्मितेषु, कल्प०।

कडाह–पुं० (कटाह) कटमाहन्ति कट–आ हन् ड–पिठरविशेषे, पिं०। लोहमयभाजनविशेषे, उपा० ३ अ०। जायमानशृङ्गाग्रमहिषशिशौ, मेदि०। नरकभेदे, हारा०। खर्परे, शब्द०। सूर्ये, स्तूपे, कच्छे च इति केचित् वाच०। षट्पांशुलिकात्मके देहावयवे, " छप्पंसुलिए कडाहे " पृष्ठिवंशे शेषषट्सन्धिभ्यः षट्पांशुलिका निर्गत्य पार्श्वद्वयमावृत्य हृदयस्योभयतो वक्षः पञ्जरादधस्ताच्छिथिलकुक्षेस्तूपरिष्टात्परस्परासम्मिलितास्तिष्ठन्त्यथ यच्चकटाह इत्युच्यते प्रज्ञा० १ पद।

कडि (डी)–स्त्री० (कटि (टी)) कट–इन्–वा ङीप्। शरीरस्य मध्यभागे, कटिरिव कटिः वृक्षादेर्मध्यभागे च। " धणकडितडच्छायं " जं० १ वक्ष०। रा०। " अमिलाणचामरदंड परिमंभियकडीणं " औ०। श्रोणौ, तं०। ङीबन्तः पिप्पल्याम्, स्त्री० मेदि०। वाच०।

कडिअ–त्रि० (कटित) कटः संजातोऽस्येति कटितः। कटान्तरेणोपर्य्यावृते, जं० १ वक्ष०। काष्ठादिभिः कुड्यादौ संस्कृते, आचा० २ श्रु० २ अ० १ उ०।

कडिअकड–पुं० (कटितकट) क० स० कटान्तरेणोपर्य्यावृते कटे, " घणकमिअकडच्छायं " जं० १ वक्ष०।

कडितम–न० (कटितट) कटिस्तटमिव कटितटम्। मध्यभागे, रा०। जं०।

कमितडजायण–न० (कटितटयातन) श्रोणिभागपीडने, तं०।

कमिबंधण–न० (कटिबन्धन) कटिप्रदेशे वस्त्रादिना बन्धनरूपे बन्धनभेदे, " सामाइअपुव्वमिच्छामि ठ्ठाओ काउस्सग्गमिव्वाइं। सुत्तं भणियपलंबिअ, भुअकुप्परधरिअंपरिहणओ "। १। इति बृहत्प्र, तिक्रमणहेमगर्भगाथामाश्रित्य केचन मतिनः प्रश्नयन्ति। यत् श्रीमन्तः कटिदवरकबन्धनं कुर्व्वन्ति तत्कुत्र शास्त्रे प्रोक्तमस्तीति प्रश्ने आवश्यकवृत्तिधर्मरत्नप्रकरणवृत्त्यादौ श्रीआर्यरक्षितसूरिभिः स्वपितुः कटिदवरको बन्धित इति प्रोक्तमस्ति तेन तदाचरणया सांप्रतमपि बध्यत इति वृद्धावादः श्येन प्र० ३ उ० २३६ प्र०।

कडिपट्टय–पुं० (कटिपट्टक) धौतिकवस्त्रे, " मा वंदह अंते वंदिहिंति मम न मुयइ कडिपट्टयं " आ० म० द्वि०। " कडिपट्टए य छिहली " कटीपट्टकं स परिधाय छिहली शिखा तस्य कर्त्तव्या बृ० ४ उ०।

कडिपत्त–न० (कटिपत्र) कटी एव पत्रं प्रतलत्वनोवयवद्वयरूपतया च सर्गादिवृक्षदलम्। कटिपत्रम्। कृशकटीभागे, " धण्णस्स कडिपट्टस्स इमेयारूवे वण्णा " अणु० ३ वर्ग०।

कडिबंधण–न० (कटिबन्धन) चोलपट्टके, " से कप्पइ कडिबन्धणं धारित्तए " कटिबन्धनं चोलपट्टकम् कर्त्तुम् स च विस्तरेण चतुरङ्गुलाधिको दैर्ध्येण कटीप्रमाण इति आचा० १ श्रु० ८ अ० ७ उ०।

कडिभिल्ल–पुं० (कटिभ) शरीरैकदेशभाविनि कुष्ठभेदे, बृ० ३ उ०।

कडिल्ल–पुं० (कटिल्ल) कट् वा इल्ल। कारवल्ले, ततः स्वार्थे कन् तत्रैव अमरः। वाच०। महागहने, व्य० २ उ०। उपकरणभेदे, नानाविधोपकरणं ताम्रकलशकटिल्लादिजातितः दश० ६ अ०। विशे०। उद्गमोत्पादनारूपे, ज्ञानादिरूपे, बृ० ४ उ०।

कडिल्लदेस–पुं० (कटिल्लदेश) महागहनप्रदेशे, व्य० २ उ०।

कडिसुत्त–न० (कटित्रसूत्र) कट्याभरणे, " कडिसुत्तसुकयसोहे " कटिसूत्रेण कट्याभरणेन सुष्ठु कृता शोभा यस्य स तथा। जं० ३ वक्ष०। तं०। ज्ञा०। औ०। कटिधार्य्ये कार्पासरचिते धातुमये वा सूत्रे, वाच०।

कडु–न० (कटु) पुं० कटति सदाचारमावृणोति रसनामावृणोति वर्षति स्रावयति नासादितो जलम् कट–उन्। अकार्य्ये, अमरः। दूषणे, विश्व०। वाच०। गलामयादिप्रशमने मरिचनागराद्याश्रिते रसविशेषे, यदवादि " कटुर्गलामयं शोफं, हन्ति युक्त्योपसेचितः। दीपनः पाचको रुच्यो, वृङ् हणोऽर्तिकफाऽपहः।

कर्म०। जं०। भ०। तद्वति, अमरः। स्त्रियां वा ङीष्। परुषे, मत्सरिणि, सुगन्धौ च। त्रि०। मेदि०। अप्रिये, त्रिका०। दुर्गन्धौ, शब्दमा०। वाच०।

कडुअ–अव्य० (कृत्वा) शेषं शौरसेनीवत् ३०१ इत्यधिकृत्य " कृगोडडुअः। इति शौरसैन्यां डडुअ आदेशः। विधायेत्यर्थे, प्रा०।

कडुइया–स्त्री० (कटुकी) कटु–स्वार्थे कन् गौरा० ङीप्। स्वार्थिकः कः। वल्लीविशेषे, " कंगूलया कडुइया " प्रज्ञा० १ पद०।

कडुएल्ल–न० (कटुतैल) कटु–स्ने, तैले च **" अनङ्कोठातैलस्य डेल्लः। ८। २। ५५।** इति तैलस्य डेल्ल इत्यादेशः " कटुएल्ल " सार्षपतैले, " सुरहिजलेण कडुएल्लं " प्रा०।

कडुगपयव–पुं० (कटुक) कटु स्वार्थे कन् वैशद्यच्छेदनकृतिरसविशेषे, " एगे कडुए " स्था० १ ठा०। यो जिह्वाग्रं बाधते उद्वेगं जनयति शिरो गृह्णीते नासिकां च स्रावयति स कटुकः सुश्रु०। तद्वति, वाच०। मरिचादौ, जं० ३ वक्ष०। शुण्ठमरिचसदृशे कटुकरसपरिणते द्रव्ये, उत्त० ३६ अ०। प्रज्ञा०। आर्द्रकतीमनादौ, आचा० २ श्रु० १ अ० १ उ०। ज्ञा०। बृ०। तं०। कटुकद्रव्ये इवानिष्टे, " असुभकडुयफरुसचंडफलविवागो " प्रश्न० २ सं० द्वा० ५ अ०। दारुणे, असुन्दरे, प्रश्न० १ अध० द्वा० १ अ०। अनिष्टार्थे, प्रश्न०२सं०द्वा०२अ०। चित्तोद्वेगकारिण्याम् भाषायाम्, आचा० २ श्रु० ४ अ० १ उ०। तादृश्यां वेदनायां च। वा हि पित्तप्रकोपपरिकलितया रोहिण्यादिकटुप्रख्यमिवो पभुज्यमानमतिशयेनाप्रीतिजनिकेति भावः। स्त्री०। रा०। पटोले, पुं० राजनि०। सुगन्धितृणे, शब्दर०। कुटजवृक्षे, अर्कवृक्षे राजसर्षपे च पुं० हारा०। शुण्ठीपिप्पलीमरिचरूपे, त्रिकटुके, न० मेदि०। वाच०। दण्डपरिच्छेदकारिणि, पुं० " दो सावण्ण्यस्य गोट्ठियस्स डंडपरिच्छेयकारी कडुगो भण्णइ " नि० चू० ५ उ०।

कडुग (य) तुंबी–स्त्री० (कटुकतुम्बी) कडुई तुँबी इति प्रसिद्धायां कटुरसपरिणतायां तुम्ब्याम्, प्रज्ञा० १७ पद०।

कडुगदुक्ख–न० (कटुकदुःख) दारूणदुःखे, प्रश्न० १ अध० द्वा० १ अ०।

कडुग (य) फलदंसग–त्रि० (कटुकफलादर्शक) असुन्दरफलादर्शके, प्रश्न० १ अध० द्वा० १ अ०।

कडुग (य) फलविवाग–त्रि० (कटुकफलविपाक) विपाकः पाकोऽपि स्यादतो विशिष्यते फलरूपो विपाकः। कटुकः फलविपाको येषान्ते तथा विपाकावस्थायां कटुकेषु कामभोगेषु, भ० ६ श० ३३ उ०।

कडुगोसहाइजोग–पुं० (कटुकौषधादियोग) नागराद्यौषधसम्बन्धे, आदिशब्दात्क्षारशिरावेधादिग्रहः। पंचा० ६ विव०।

कडुच्छुय–न० (कटुच्छुक) परिवेषणाद्यर्थे भाजनविशेषे, भ० ५ श० ७ उ०।

कडुणाम–न० (कटुनामन्) रसनामकर्मभेदे, यदुदयाज्जन्तुशरीरं मरिचादिवत् कटु भवति तत्कटुनाम कर्म०।

कडेयराइगय–त्रि० (कृतेतरादिगत) कृताकृतादिविषये, इदं मयाकृतमितरदकृतमादिशब्दादिदं मयोच्चरितमिदमनुच्चरितमेतद्व्रत एतदगत एतद्विषयः न हि मनोविभ्रमे कृतेतरादिसंस्कारो भवति। षो० १४ विव०।

कडेवर–न० (कलेवर) मनुष्यशरीरे, रा०। " ताहे पुव्वाणिणियगे कडेवरे पप्फोडियं ते सव्वे पडिया " आ० म० प्र०। टुक कटुक।

कडेवरचिय–पुं० (कलेवरचित) कलेवरतया चिते पुद्गले, भ० १ श० ६ उ०।

कडेवरसंघाड–पुं० (कलेवरसंघाट) मनुष्यशरीरयुग्मे, रा०।

कड्ढ–धा० (कृष्) विलेखने, आकर्षणे च। भ्वा० पर० सक–अनिट्। **'कृषेः कड्ढसाअड्ढाञ्चाणञ्चाणञ्छादञ्छा ॥८।४।८६॥ कृषेः कड्ढसाअड्ढाञ्चाणञ्छादञ्छा ८। ४। ८६।** इति कड्ढादेशः। " कड्ढइ करिसइ " प्रा०।

कड्ढिऊण–अव्य० (कृष्ट्वा) आकृष्य पठित्वेत्यर्थे, । पं० व०।

कड्ढिज्जमाण–त्रि० (कृष्यमाण) आकृष्यमाणे, " कड्ढिज्जमाणणिरय तलं " आकृष्यमाणनरक एवं तलं पातालम् प्रश्न० १ अध० द्वा० ३ अ०।

कड्ढिय–त्रि० (कृष्ट) आकर्षिते, " उक्कड्ढियं " प्रश्न० १ अध० द्वा० १ अ०। कर्षिते, उच्चारिते, " सुत्तम्मि कढियम्मि " व्य० ५ उ०।

कड्ढेत्तु–अव्य० (कर्षित्वा) कृष्ट्वा पठित्वेत्यर्थे, " कड्ढेत्तु नमोक्कारं " पठित्वा नमस्कारम् पं० व०।

कड्ढोकड्ढ–न० (कृष्टापकृष्ट) कर्षापकर्षणे, उत्त० १६ अ०।

कढ–धा० (क्वथ) वाक्प्रबन्धे, **क्वथवद्याँढ ८। ४। ११६।** इत्यन्त्यस्य ढः कढइ, कथयति प्रा०।

***क्वथ**–धा० निष्पाके, भ्वा० पर० सक० सेट् **क्वथेरट्टः ८। ४। ११६।** इति। अट्टदेशाभावे कढइ क्वथति क्वाथं पचतीत्यर्थः। प्रा०।

कढिण–त्रि० (कठिन) कठ–इनन् क्रूरे, निष्ठुरे, कठोरे, स्तब्धे च मेदि०। स्थाल्याम्, स्त्री० हारा० न०। गुडस्य शर्करायाम्, विश्वः। वाच०। कर्कशोदये कर्मणि, औ०। " कढिणकम्मपत्थरतरंगरिंगतं " कठिनानि कर्कशानि दुर्भेद्यानीत्यर्थः। कर्माणि च ज्ञानावरणादीनि क्रिया वा ये प्रस्तराः पाषाणास्तैः कृत्वा तरङ्गरङ्गद्वीचिभिश्चलन् प्रश्न० १ अध० द्वा० ३ अ०। तस्य भावः त्वकठिनत्वम्। कठिनभावे, न० तल कठिनता तद्भावे, स्त्री० प्यञ्च काठिन्यं तद्भावे, न० काठिन्यञ्च द्रव्यस्य आरम्भसंयोगविशेषात् स्पर्शविशेषः शब्दादेस्तु दुर्बोधत्वम्। स्वनामख्याते महर्षौ, पुं० " कोसंबीपुरीए उप्पासो जियसत्तुनिवसचिवकासपुत्तो जसा कुच्छिसंभूओ कढिणो महरिसी " ती०। वंशकटादौ, न० आचा० २ श्रु० २ अ० ३ उ०। शरस्तम्बे, बृ० १ उ०।

कढिणग–न० (कठिनक) जलाशयजे तृणविशेषे, पर्णे, प्रश्न० २ सं० द्वा० ६ अ०।

कढिणहियय–पुं०स्त्री० (कठिनहृदय) धृतवलिष्ठे, व्य० ५ उ०।

कण–पुं० (कण) कण–निमीलने अच्। शाल्यादेःकणिकायाम्, आचा० २ श्रु० १ अ० ८ उ०। तण्डुले, उत्त० १० अ०। म्लेच्छभेदे, साधारणशरीरबादरवनस्पतिभेदे, प्रज्ञा० १ पद०। सप्तमे महाग्रहे च पुं० " दो कणा " स्था० २ ठा०। चं० प्र०। कल्प०।

कणइकेउ–पुं० (कनकिकेतु) तेतलिपुराधीश्वरे, " जंबूदीवे दीवे भारहे वासे तेयलिपुरं नाम णयरं कणइ केऊणाम राया " दर्श०।

कणइपुर–न० (कनकिपुर) जनकमहाराजभ्रातुः कनकस्य निवासस्थाने, " जणयमहारायस्य भाउणो कणयस्य निवासट्ठाणं कणइ पुरं वट्टइ " ती०।

कणइर–त्रि० (कणाविल) कणाकीर्णे," कणइरअकुडिलवुग्गय–जुत्तंगणासं " जी० ३ प्रति०।

कणंगर–पुं० (कनङ्गर) जलगते वोहिस्थनिश्चलीकरणपाषाणे, विपा० १ श्रु० ६ अ०।

कणकणग–पुं० (कणकणक) अष्टाशीतिमहाग्रहाणां नवमे महाग्रहे, "दो कणकणगा" स्था० २ ठा० । कल्प० । चं० प्र० ।

कणकणारव–पुं० (कणकणारव) कणकणेति शब्दे, आ० म० प्र० ।

कणकुंडग–न० (कणकुण्डक) पुं० कणास्तण्डुलास्तेषां सम्मिश्रो वा कुएमकः तत्क्षोदेनोत्पन्नः कुक्कसः कणकुएडकः उत्त० १ अ० । कणिकाभिर्मिश्रे कुकुसे, तण्डुलभक्ष्ये, तण्डुलभक्ष्यभृतभाजने, न० "कणकुंडगचइत्ताणं विट्ठं भुंजइ सूयरो" उत्त० १२ अ० ।

कणग–पुं० (कणक) विन्दौ, शलाकायाम्, औ० । वाणविशेषे, प्रश्न० १ अध० द्वा० १ अ० । "सत्तिकणगवामकरगहियं" प्रश्न० १ अध० द्वा० २ अ० । जं० । अष्टमे महाग्रहे, "दो कणगा" स्था० २ ठा० । कल्प० । चं० प्र० । "कणगपयरलंबमाणमुज्जासमुज्जलं" कल्प० ।

कणग–न० (कनक) कनी दीप्तौ । कृजादि वुन् । **णो नः ८ । ४ । ३०६ ।** स्वरात्परस्यासंयुक्तस्यानादेर्नस्य णो भवतीति नस्य णः । प्रा० । देवकाञ्चने, आ० म० द्वि० । पीतसुवर्णे, भ० ६ श० ३३ उ० । औ० । सुवर्णमात्रे, चं० प्र० १ पाहु० । नि० । औ० । ध० । सू० प्र० । कनकं घटिताघटितप्रकाराभ्यां द्विविधम् । कल्प० । धृतवरद्वीपाधिपतौ, पुं० सू० प्र० १६ पाहु० । द्वा० । निपतति ।

रेखारहिते ज्योतिःपिण्डके, औ० । पलाशवृक्षे, नागकेशरे, धत्तूरे, काञ्चनालवृक्षे, कालीयवृक्षे चम्पकवृक्षे च । पुं० मेदि० । कासमर्द्धवृक्षे च पुं० राजनि० । लाक्षातरौ, शब्दमा० । पाश्चात्यम्लेच्छभेदे, कनकस्येदं परिमाणम् अण् कानकम् । तत्परिमाणे निष्कादौ, त्रि० वाच० । कनकरसच्छुरिते वस्त्रे, आचा० २ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

कणगकंत–न० (कनककान्त) कनकस्येव कान्तं कान्तिर्येषां तानि कनककान्तानि । स्वर्णप्रभेषु वस्त्रेषु, आचा० २ श्रु० ५ अ० १ उ० । समुद्रविशेषाधिपतौ च द्वी० ।

कणककुसल–पुं० (कनककुशल) तपागच्छीयश्रीहीरविजयसूरिशिष्ये, अनेन सं० १६५२ वर्षे (बडनगरे) भक्तामरस्तोत्रस्यटीकारचिता जै० इतिहा० द्विपञ्चाशदधिकषोडशशततमे ।

कणगकूड–न० (कनककूट) महाविदेहवर्षस्थविद्युत्प्रभवक्षस्कारपर्वतस्य पद्मकूटनाम्नश्चतुर्थकूटस्य दक्षिणपश्चिमायां षष्ठस्य सौवस्तिककूटस्योत्तरतः पञ्चमे कूटे, यत्र वारिषेणादिकुमारीदेवता जं० ४ वक्ष० । स्था० । कनकं कनकमयं कूटं महत् शिखरं यस्य तत्तथा स्वर्णमयशिखरयुते, जी० ३ प्रति० । रा० ।

कणगके उ–पुं० (कनककेतु) अहिच्छत्रायाः स्वनामख्याते नृपतौ, "अहिच्छत्ताए णयरीए कणगकेऊनाम राया होत्था" ज्ञा० १४ अ० ।

कणगखइय–त्रि० (कणकखचित) सुवर्णमण्मिते, औ० । कनकरसस्तवकाञ्चिते वस्त्रादौ च आचा० २ श्रु० ५ अ० १ उ० । "कणकसुत्तेण फुल्लेण जस्स पाडिपातं कणगखचितं" नि० चू० ७ उ० ।

कणगखल–न० पुं० (कनकखल) स्वनामख्याते तापसाश्रमे, यत्र चण्मकौशिकप्रबोधाय श्रीविरजिनो गतः । कल्प० । "ताहे सामी उत्तरचावालं वच्चइ तत्थ अंतरा कणखलं नाम आसमपदं" आ० म० द्वि० । आ० चू० । "स्वाम्यपि श्वेतवीं गच्छन्नूचे गो पैरसावृजुः । पन्थाः किन्त्वत्र कनकखलाख्यस्तापसाश्रमः ।

कणगगिरि–पुं० (कनकगिरि) मेरौ, कनकप्रचुरे पर्वतान्तरे च । "कणगगिरिसिहरसंसियाहिं" कनकगिरेर्मेरोरन्यस्य वा यच्छि–खरं तत्संसृतायास्तथा ताभिः, "जहा य कणयगिरियचूलिया सिया चत्तालीसं जोअणुच्चा कणगगिरिम्मि रमणिज्जे दीसति" अं० १ चू० ।

कणगघंटिया–स्त्री० (कनकघण्टिका) स्वर्णमयलघुघण्टिकायाम् औ० ।

कणगघडिय–त्रि० (कनकघटित) स्वर्णनिर्मिते, "कणगघडियसुत्तगसुबद्धकच्छं" कनकघटितसूत्रकेण सुष्ठु बद्धाकक्षोरुबन्धनं यस्य स तथा तम् भ० ७ श० ८ उ० ।

कणगजाल–न० (कनकजाल) कनकः पीतसुवर्णविशेषस्तन्मयं जालं दामसमूहः रा० । सर्वात्मना हेममये लम्बमाने दामसमूहे, रा० ।

कणगज्झय–पुं० (कनकध्वज) हस्तिनागपुरस्य स्वनामख्यातेऽधी–श्वरे, येनाऽङ्गारमर्दकशिष्यजीवा दिवं गत्वा च्युता वसन्तपुरेश्वरपुत्राः स्वसुताः स्वयम्बरे आहूताः पंचा० ५ विव० । (विस्तरतः 'अंगारमद्दक' शब्दे उक्तम्) तेतलिपुरनगराधिपतेः कनकरथस्य पद्मवतीनामभार्यया पुत्रत्वेन परिकल्पिते तेतलिसुतनामामात्यभार्यायाः पोट्टिलायाः कुक्षिसम्भूते पुत्रे, आ० चू० १ अ० । आ० म० द्वि० । ज्ञा० । दर्श० । तेतलिसुतशब्दे कथा ।

कणगणाभ–पुं० (कनकनाभ) वज्रसेनस्य राज्ञो मङ्गलावतीनाम भार्यायामुत्पन्ने बाह्यपरनामके पुत्रे, आ० चू० १ अ० । आ० म० प्र० । (उसभ शब्दे ललिताङ्गदेववक्तव्यतायामुक्तम्)

कणगणिगल–न० [कनकनिग (ड) ल] निगडाकारे सौवर्ण्यपादाभरणविशेषे, औ० ।

कणगणिज्जुत–त्रि०(कनकनिर्य्युक्त)कनकविच्छुरिते,जी० ३ प्रति० ।

कणगत्तरत्ताभ–त्रि० (कनकत्वग्रक्ताभ) कनकत्वगिव रक्ता आभाः छव्यो येषां तानि । उत्तप्तकनकवर्णेषु, "सोहम्मीसाणेसु देवा केरिसया– वण्णेण पण्णत्ता तं जहा गोयमा ! कणगत्तरत्ताभा" जी० ४ प्रति० ।

कणगपट्ट–पुं० (कनकपट्ट) कृतकनकरसपट्टे, आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । "कणगेण जस्स पट्टा कता तं कणगपट्टं । अहवा कणगपट्टात्मिका" नि० चू० ७ अ० ।

कणगपयर–न० (कनकप्रतर) सुवर्णपत्रे, कल्प० ।

कणगपुर–न० (कनकपुर) स्वनामख्याते नगरे, "कणगपुरं णयरं से यासे यउज्झाणे वीरभद्दो जक्खो पियचंदो राया" विपा० २ श्रु० ६ अ० ।

कणगपुलगणिघसपम्हगोर–पुं० (कनकपुलकनिकषपद्मगौर) कनकस्य सुवर्णस्य पुलको लवस्तस्य यो निकषः कनकपट्टको रेखारूपस्तथा पद्मग्रहणेन पद्मकेशराण्युच्यन्ते अवयवे समुदायोपचारात् कनकपुलकनिकषवत् पद्मवच्च यो गौरः स कनकपुलकनिषकपद्मगौरः । अथवा कनकस्य यः पुलको द्रवत्वे सति विन्दुस्तस्य निकषो वर्णतः सदृशः कनकपुलकनिकषः । तथा पद्मवत् पद्मकेशरवत् यो गौरः ततः पदद्वयस्य कर्मधारयः । रा० । जं० । वि० । वृद्धव्याख्या तु कनकस्य लोहादेर्यः पुलकः सारो वर्णातिशयस्तत्प्रधानो यो निकषो रेखा तस्य यत्पक्ष्मबहुलत्वं तद्वद्यो गौरः स कनकनिकषपक्ष्मगौरः । अतिशयितगौरवर्णविशिष्टपुरुषे, ज्ञा० १ अ० ।

कणगप्पभ–पुं० (कनकप्रभ) धृतवरद्वीपदेवे, सू० प्र० १६ पाहु० ।

द्वी०। देवानन्दसूरिशिष्ये प्रद्युम्नसूरिगुरौ, अयं च विक्रमसंवत्सराद् द्वादशशताधिकनवतितमे वर्षे विद्यमान आसीत्। जै० इ०।

कणगफुल्लिय न० (कनकफुल्लित) कनकस्तवकिते वस्त्रे, " कणगेण जस्स फुल्लिताओ दिण्णाओ तं कणगफुल्लियं " नि० चू० ७ उ०।

कणगविण्णापग पुं० (कनकविज्ञापक) दशमेमहाग्रहे, " दो कणगविण्णापगा " स्था० २ ठा०।

कणगफुसिय न० (कनकस्पृष्ट) स्वर्णसंपृक्ते वस्त्रे, आचा० २ श्रु० ५ अ० १ उ०।

कणगफुसिया स्त्री० (कणकफुसिया) कणो लेशस्तन्मात्रकं पानीयं कणकं तस्य फुसिया फुसारम्। पानीयफुसारे, " कणगफुसियमितं पडिनिवडइ नो से कप्पइ " कल्प०।

कणगमय त्रि० (कनकमय) कनकस्य विकारो मयट्, स्वर्णविकारे, वाच०। सौवर्णे, स्था० ६ ठा०।

कणगमंजरी स्त्री० (कनकमञ्जरी) स्वनामख्यातायां चित्रकारसुतायाम्, या मृत्वा कनकमाला खेचरी जाता उत्त० ६ अ०।

कणगमाला स्त्री० (कनकमाला) वैताढ्यपर्वते, तोरणाभिधे पुरे दृढशक्तेः खेचरस्य पुत्र्याम्, उत्त० ६ अ०। तद्वृत्तं नग्ग (इ) शब्दे सिंहरथस्य राज्ञो महिषी स्वसंबन्धं कथयन्ती कनकमञ्जरीनाम्न्याश्चित्रकरसुतायाः कनकमालाजन्मचरिते भणिष्यति) मेघपुरनगरराजस्य मकरध्वजस्य देव्यां च। दर्श०। (तच्चरितं दीपपूजादृष्टान्ते)

कणगमूल न० (कनकमूल) विल्वमूले, उत्त० २ अ०।

कणगरह पुं० (कनकरथ) स्वनामख्याते तेतलिपुरनगरेश्वरे, आ० म० द्वि०। आ० चू०। ज्ञा०। (तेतलिसुत शब्दे कथा) विजयपुराधीश्वरे, स्था० १० ठा०। (यस्य वैद्यो धन्वन्तरिनाम जन्मान्तरे उदुम्बरदत्त आसीदित्युदुम्बरदत्त शब्दे उक्तम्) यं महापद्मस्तीर्थकरो मुण्डयित्वा प्रव्राजयिष्यति तस्मिन् राजनि च स्था० ७ ठा०।

कणगरुयग त्रि० (कनकरुचक) काञ्चनकान्तौ, प्रश्न० १ अध० द्वा० ४ अ०।

कणगलया स्त्री० (कनकलता) चरमस्यासुरेन्द्रस्य सोमलोकपाल–स्य द्वितीयाग्रमहिष्याम्, स्था० ४ ठा०।

कणगसंताणय पुं० (कनकसन्तानक) एकादशे महाग्रहे, " दो कणगसंताणया " चं० प्र० २० पाहु०। स्था०। कल्प०। सू० प्र०।

कणगसमाणणाम पुं० (कनकसमानतामन्) कनकेन सह एकदेशेन समानं नाम येषां ते कनकसमाननामनः। कण १ कणक २ कणकणक ३ कणवितानक ४ कणसन्तानका ५ ख्यमग्रहाहेषु, सू० प्र० २० पाहु०। जं०। चं० प्र०।

कणगसत्तरि स्त्री० (कनकसप्तरि) लौकिकश्रुतभेदे, अनु०।

कणगसुंदरि स्त्री० (कनकसुन्दरी) मथुरायां जातायां सिंहराजमहिष्याम् " इत्थं संखराउ कलावई अ पंचमजम्मे देवसीहकणयसुंदरीनामाणो समणो वासया रज्जसिरि भुंजित्था " ती०।

कणगा स्त्री० [कण (न) का] चतुरिन्द्रियजीवविशेषे, जी० १ प्रति०। भीमस्य राक्षस्येन्द्रस्य तृतीयाग्रमहिष्याम्, भ० १० श० ५ उ०। स्था०।

कणगाव (लि) ली स्त्री० [कनकाव (लि) ली] कनकमयमणिकनिष्पन्ने भूषणविशेषे, प्रव० २७१ द्वा०। कल्पनया तदाकारे तपसि च। तत्स्वरूप च कनकमयमणिकमयो भूषणविशेषकल्पनया तदाकार यत्तपस्तत्कनकावलीत्युच्यते। तत्स्थापना चैवं चतुर्थं षष्ठमष्टमं चोत्तरार्धेणास्थाप्य तेषामधोऽष्टावष्टमानि चत्वारि चत्वारि पङ्क्तिद्वये-नाऽवस्थापनीयानि उभयतो रेखाचतुष्केण नवकोष्ठकान्विधाय मध्यमे शून्यं विधाय शेषेष्वष्टसु तानि स्थापनीयानि। ततस्तस्याधोऽधश्च-तुर्थादीनि चतुस्त्रिंशत्तमपर्यन्तानि ततः कनकावलिमध्यभागकल्पनया चतुस्त्रिंशदष्टमानि तानि चोत्तरार्धे न द्वे त्रीणि चत्वारि पञ्च षट् पञ्च चत्वारि त्रीणि द्वे चेत्येव स्थाप्यानि। अथवाऽष्टाभिः षड्भिश्च रेखाभिः पञ्चत्रिंशत्कोष्ठकान्विधाय मध्ये शून्यं कृत्वा शेषेषु तानि स्थापनीयानीति। तत उपर्युपरि चतुस्त्रिंशत्तमादीनि चतुर्थान्तानि ततः पूर्ववदष्टावष्टमानि। ततोऽष्टमं षष्ठं चतुर्थं चेति चतुर्थादीनि च क्रमेणैकोपवासादिरूपाणीति। अत्र चैकस्यां परिपाट्यां विकृतिभिः पारणकं द्वितीयस्यां निर्विकृतिकेन तृतीयायाम्–लेपकृता चतुर्थ्यां वा चाम्लमिति। अत्र चैकैकस्यां परिपट्यामेकसंवत्सरो मासाः पञ्च दिनानि च द्वादश परिपाटी चतुष्टये तु संवत्सराः पञ्च मासा नव दिनानि चाष्टादशेति। औ०।

इच्छामि णं अज्जो तुज्झेहिं अज्झणुण्णाया समाणी कणगावलिं तवोकम्मं उवसंपज्जित्ता णं विहरत्ति। ते एवं जहा रयणावली तहा कणगावली वि नवरं तिसु ट्ठाणेसु अज्जमातिकरे जहा रयणावलीए छट्ठातीए एक्काए परिवाडीए एगे संवच्छरे पंच मासा वारस य अहोरत्ता चउण्हं पंच वरिसा नव मासा अट्ठारसदिवसा सेसं तहेव नव वासा परियातो यावणित्ता जाव सिद्धा।

रयणावली कमेणं, कीरइ कणगावली तवो नवरं।
कज्जा दुग्गतिगपए, दाडिमपुप्फेसु पयगे य।
परिवाडिचउक्के वरिस पंचगदिणदुगूणमासतिगं।
पढमपवुत्तो कज्जो, पारणयविही तवप्पणगे॥ २॥

कनकमयमणिकनिष्पन्नो भूषणविशेषः कनकावली तदाकारस्थापनया यत्तपस्तत्ककनवलीत्युच्यते। एतच्च ककनवलीतपो रत्नावलीतपःक्रमेणैव क्रियते। नवरं केवलं दाडिमपुष्पयोः पदके च त्रिकपदे त्रिकाणां स्थापना उपवासद्वयसूचकाः द्विकाः कर्त्तव्याः। शेषं पुनः सर्वम पि तथैवेति। अस्मिश्च तपसि कथालिकायास्तपोदिनानि द्वादशदाडिमपुष्पयोर्द्वात्रिंशत्सरिकायुगले द्वे शते द्विसप्तत्युत्तरे पदके षट्षष्टिः सर्वसंख्ययात्रीणि शतानि चतुरशीत्यधिकानि अष्टाशीतिश्च पारणकदिवसास्तत्प्रक्षेपाच्चत्वारि दिनशतानि द्वासप्तत्युत्तराणि सर्वपिण्डेषु वर्षमेकं त्रयो मासाः द्वाविंशतिर्दिवसा अत्रापि पूर्ववच्चतुर्भिर्गुणने वर्षाणि पञ्च मासौ द्वौ दिनानि चाष्टाविंशतिरिति। अन्तकृद्दशादिषु तु कनकावल्या पदके दाडिमद्वये च द्विकस्थाने त्रिका उक्ताः। रत्नावल्यां च द्विका इति। तथा प्रथमतपसि लघुसिंह निष्क्रीडिते यः सर्वरस आहारादिकः पारणकविधिरुक्तः स एव तपःपञ्चकेऽपि लघुबृहत्सिंह निष्क्रीडितमुक्तावलीरत्नावलीलक्षणे कर्तव्यः। एतच्च सर्वं यथायथं भवतिमेवेति प्रव० २७१ द्वा०। ज्ञा०। आचा०। जी०। स्वनामख्याते द्वीपे समुद्रे च। तत्र द्वीपे कन–

१	२	३	४	५
३	४	५	१	२
५	१	२	३	४
२	३	४	५	१
४	५	१	२	३

कावलिभद्रकनकावलिमहाभद्रौ देवौ समुद्रे कनकावलिवरकनकावलिमहावरौ देवौ जी० ३ प्रति०।

कणगावलिपविभत्ति न० (कनकावलिप्रविभक्ति) नाट्यविधिभेदे, रा०।

कणगावलिभद्द पुं० (कनकावलिभद्र) कनकावलिद्वीपदेवे, जी० ३ प्रति०।

कणगावलिमहाभद्द पुं० (कनकावलिमहाभद्र) कनकावलिसमुद्रदेवे, जी० ३ प्रति०।

कणगावलिमहावर पुं० (कनकावलिमहावर) कनकावलिवरसमुद्रदेवे, जी० ३ प्रति०।

कणगावलिवर पुं० (कनकावलिवर) स्वनामख्याते द्वीपे, समुद्रे च तत्र द्वीपे कनकावलिवरभद्रकनकावलिवरमहाभद्रौ देवौ समुद्रे कनकावलिवरकनकावलिमहावरौ देवौ जी० ३ प्रति।

कणगावलिवरभद्द पुं० (कनकावलिवरभद्र) स्वनामख्याते, कनकावलिवरद्वीपाधिपतौ, जी० ३ प्रति०।

कणगावलिवरमहाभद्द पुं० (कनकावलिमहाभद्र) कनकावलिवरद्वीपाधिपतौ, जी० ३ प्रति०।

कणगावलिवरोभास पुं० (कनकावलिवरावभास) स्वनामख्याते द्वीपे, समुद्रे च। तत्र द्वीपे कनकावलिवरावभासभद्रकनकावलिवराभासमहाभद्रौ देवौ। समुद्रे कनकावलिवरावभासवरकनकावलिवरावभासमहावरौ देवौ जी० ३ प्रति०।

कणगावलिवरोभासभद्द पुं० (कनकावलिवरावभासभद्र) कनकावलिवरावभासद्वीपेदेवे, जी० ३ प्रति०।

कणगावलिवरोभासमहाभद्द पुं० (कनकावलिवरावभासमहाभद्र) *कनकावलिवरावभासद्वीपदेवे, जी० ३ प्रति०।*

कणगावलिवरोभासमहावर पुं० (कनकावलिवरावभासमहावर) कनकावलिवरावभाससमुद्रदेवे, जी० ३ प्रति०।

कणगावलिवरोभासवर पुं० (कनकावलिवरावभासवर) कनकावलिवरावभाससमुद्रदेवे, जी० ३ प्रति०।

कणगुत्तम पुं० (कनकोत्तम) पौरस्त्यचतुर्थशिखरिकूटाधीश्वरे, द्वी०।

कणपूपलिया स्त्री० (कनपूपलिका) कणिकाभिः कृतायां पूपलिकायाम्, आचा० २ श्रु० १ अ०।

कणभक्ख पुं० (कणभक्ष) कणादर्षौ वैशेषिकसूत्रकारे, आव० ६ अ०। कणभुगप्यत्र, आचा० १ श्रु० १ अ०।

कणवियाणग पुं० (कणवितानक) दशमे महाग्रहे, सू० प्र० २० पाहु०।

कणवीर पुं० (करवीर) करं वीरयति चु० वीरविक्रान्तौ अण। **करवीरे णः ॥८।१।२५३॥** इति रस्य णःप्रा०। वृक्षभेदे, रा०। प्रज्ञा०।

कणाद (य) पुं० (कणाद) कणमत्ति–कण–अद्–वैशेषिकसूत्रकारे काश्यपगोत्रे ऋषिभेदे, वाच०। सूत्र०। मिथ्यादृष्टिः कणादवत् कणादेनापि हि सकलमप्यात्मीयं शास्त्रं द्वाभ्यामपि द्रव्यास्तिकपर्यायास्तिकनयाभ्यां समर्थितं तथापि तन्मिथ्यास्वविषयप्रधानतया परस्परमनपेक्षयोः सामान्यविशेषयोरभ्युपगमात्। उक्तञ्च " जं सामन्नविसेसे, परोप्परं वत्थुतो य सो भिन्ने। मंतइ अच्चंतमंतो, मिच्छादिट्ठी कणादो व्व। दोहिं विनएहिं नीयं, सत्थमलुगेण तह वि मिच्छत्तं। जं सविसयप्पहाणं, तणेण अन्नोन्ननिरविक्खो। " अथ यदि नाम सामान्यविशेषादि– कं परस्परमेकान्तविभिन्नं (मिच्छत्ति) आ० म० प्र०। (आसां सम्मतिगाथानामर्थः वेसेसिअशब्दे तन्मतस्योद्भावनपुरःसरं दूषणेन स्पष्टीभविष्यति)

कणासि पुं० (कणासिन्) कणादमुनौ, नं०।

कणि (णिण) आर पुं० (कर्णिकार) **कर्णिकारे वा ८। २। ९५।** इति रत्नोपे द्वित्वविकल्पः। वृक्षविशेषे, प्रा०।

कणिक (य) पुं० (कणिक) कणो विद्यतेऽस्य अस्त्यर्थे उन्। गोधूमचूर्णे, राजनि०। अतिसूक्ष्मांशे अग्निमन्थवृक्षे च स्त्री० मेदि०। स्वार्थे ठन् अल्पार्थे, कणैव स्वार्थे कन् कणिका। जीरके, मेदि०। अल्पांशे, तण्डुलभेदे, रायमुकुटः। वाच०। गोधूमचूर्णे च। कद्वयघटितोऽपि तत्र पृषोदरादित्वात्साधुत्वम्। यथा किल मोदकः कणिकागुडघृतकटुभाण्डादिद्रव्यबद्धः। स्था० ४ ठा०।

कणिक्कमच्छ पुं० (कणिकमत्स्य) मत्स्यभेदे, जी० १ प्रति०। प्रज्ञा०।

कणिट्ठ त्रि० (कनिष्ठ) अतिशयेन युवा अल्पो वा इष्ठन्। कनादेशः। अतितरुणे, अत्यल्पे, अनुजे, पुं० स्त्री० दुर्बलाङ्गुलौ, अल्पाङ्गुलौ, स्त्री० मेदि०। कनिष्ठस्य भार्य्यायां अल्पवयस्कायां स्त्रियां, स्त्री० तत्र पुंयोगलक्षणं ङीषं वयोवाचिलक्षणं च बाधित्वा अजादिपाठात् टाप् अत्यलपरिमिते, त्रि० वाच०। पर्य्यायेण लघौ, ग० २ अधि०। जघन्ये च त्रि० कर्म०।

कणिट्ठअर त्रि० (कनिष्ठतर) आतिशयिककनिष्ठे, प्रा०।

कणिट्ठग त्रि० (कनिष्ठक) कनिष्ठ–स्वार्थे कन्। कनिष्ठशब्दार्थे, वाच०। "जेट्ठकणिट्ठगा" ज्येष्ठकनिष्ठकाः वृद्धा लघवश्च उत्त० २२ अ०।

कणिय न० (कणित) कण आर्तस्वरे, भावे क्तः १ पीडितानां शब्दे, कर्तरि क्तः तत्कर्त्तरि, त्रि०। वाच०। कण–भावे–क्तः। ध्वनौ, आव० ४ अ०।

कणिया स्त्री० (कणिका) शाल्यादेः कणे, आचा० २ श्रु० १ अ० ८ उ०। *कणिता स्त्री० वीणाविशेषे जी० ३ प्रति०।*

कणीणिगा स्त्री० (कनीनिका) कन्–कनि वा ईनन् संज्ञायां कन् आप इत्वम्। अक्षितारायां, कनिष्ठाङ्गुलौ च मेदि०। कर्प्पूरे, "अंगारो कणीणिगा कज्जलं च णयणम्मि" क०।

कणीयस् त्रि० (कनीयस्) अयमनयोरति युवा अल्पो वा ईयसुन् कनादेशः। द्वयोर्मध्ये अल्पतरे, युवतरे, वा वाच०। कनिष्ठे, लघौ, " जहा णं ममं सहोदरकणीयसे भाउए भविस्सइ" अन्त०। आ० म० द्वि०।

कणुय न० (कणुक) पुं० त्वगाद्यवयवे "सुकणुयं" आचा० २ श्रु० १ अ० ८ उ०।

कणेर पुं० (कर्णिकार) वेतः **कर्णिकारे ८। २। ९५।** कर्णिकारे। इतः सस्वरव्यञ्जनेन सह एद् वा भवति "कणेरो कण्णिआरो" वृक्षभेदे, प्रा०। संस्कृते कणेर इति कर्णिकारवृक्षे वेश्यायां, हस्तिन्यां च स्त्री० उणादिकोषः। वाच०।

कणेरु स्त्री० (करेणु) केमस्तकेरेणुरस्याः **करेणू वाणस्योरणोर्व्यत्ययः ८। २। ११६।** इति रणोर्व्यत्ययः कणेरू स्त्रीलिङ्गनिर्देशात्पुंसि न भवति। एसा करेणू हस्तिन्याम्, प्रा०।

कण्ठअ पुं० (कण्ठक) कठि अच् प्राकृते डअणनो **व्यञ्जने १। १। २५।** इति णस्थानेऽनुस्वारः। तस्य **वर्गेऽन्त्यो वा ८।**

१ । ३० । इति ठपरत्वात्तद्वर्ग्यः पञ्चमो णः । गले, एवमत्र अनुस्वारप्रकरणदर्शिताः काण्डादिशब्दा उदाहार्य्याः प्रा० ।

कण्डरिया–स्त्री० (कन्दरिका) कन्दर गौरा० ङीष् स्वार्थे कः । प्राकृते " **कन्दरिकामिन्दिपाले ण्डः ८८ । २ । ३** । इति संयुक्तस्य ण्मः । कण्डरिआ गुहायाम् ।

कण्ण–पुं० (कर्ण) कर्ण्यते आकर्ण्यतेऽनेन कर्ण–करणे अच्–कीर्य्यन्ते शब्दा वायुनाऽत्र कृन्नन् वा श्रोत्रशब्दज्ञानसाधने इन्द्रिये, वाच० । उत्त० । श्रवणे, उपा० २ अ० । " कण्णजहमुप्पकत्तरे चेव विगयदीभच्छदं– सणिज्जा " तदाधारे गोलके अस्य उपाङ्गेष्वन्तर्गतिः " उवंगा अंगुलिकण्णनासा य आव० १ अ० । " निम्मूलुल्लणकण्णोट्ठणासिया " प्रश्न० १ द्वा० । सुवर्णालीवृक्षे, मेदि० त्रिकोणादिक्षेत्रे भुजकोटिसंयोजकरेखाभेदे, वाच० । प्रथमकोटिभागे, चं० प्र० २ पाहु० । कुटिले कर्णोऽस्ति यस्य प्राशस्त्येन अर्श० अच् लम्बकर्णे, अरित्रे च त्रि० वाच० । कृष्णवासुदेव–समये जाते अङ्गदेशराजधानीभूतचम्पेश्वरे, पुं० स च द्रौपदीस्वयम्बरे आहूतः " तचंडगं चंपां णयरिं तत्थ णं तुमं कण्णं अंगरायं " ज्ञा० १६ अ० । ती० ।

कण्णउज्ज–पुं० (कान्यकुब्ज) देशभेदे, स च देशो गङ्गायमुनयोर्मध्ये अन्तर्वेद्यन्तर्गतः तद्देशप्रधाने नगरभेदे, " पुव्वं किर सिरिकन्नउज्जणयरे जक्खो नाम महिड्ढिसंपण्णो णेगमो हुत्था " ती० ।

कण्णकुहर–पुं० (कर्णकुहर) श्रोत्रविले, प्रति० ।

कण्णगइ–स्त्री० (कर्णगति) मेरुसंबन्धिन्यां दवरिकायाम्, । अथ केयं कर्णगतिरुच्यते । आमेरोरेकस्मिन् प्रदेशे उपरि च तस्य समश्रेणि–व्यवस्थिते मेरोरेव प्रदेशे या दवरिका प्रदीप्यते सा कर्णगतिः । ज्यो० १० पाहु० ।

कण्णगा–स्त्री० (कन्यका) अज्ञाता कन्या अज्ञातार्थे कन् क्षिपकादि–त्वात् नेत्वम् " दशमे कन्यका प्रोक्ता " । इति स्मृत्युक्तायां दशमवर्षायां स्त्रियाम्, तस्या दशमवर्षादर्वाक् रजोयुक्ततयाऽज्ञातत्वात्तथात्वम् कन्या स्वार्थे कन् । कन्याशब्दार्थे, वाच० " इयाणिं णिंदाए दोल्लं कण्णगाणं वितिया " आव० ४ अ० ।

कण्णजयसिंहदेव–पुं० (कर्णजयसिंहदेव) गुर्जरधरित्रीशासके चोलुक्य–वंशीये राजभेदे, स च विक्रमादित्यात्पश्चात् " अल्लावुद्दीनसुल्तानम्ले–च्छराजात् प्राग्यातः ती० ।

कण्णदेव–पुं० (कर्णदेव) विक्रमसंवत्सरस्य त्रयोदशशेताद्व्यात्परार्द्धे जाते आशावल्ल्याः पुत्रे सौराष्टदेशजे राजभेदे, यो हि हम्मीरयुवराजेन सोमनाथार्थं नाशितः । ती० ।

कण्णधा (हा) र–पुं० (कर्णधार) कर्णमरित्रं धारयति धृ–अण्–उपस–नाविके, निर्यामके, ज्ञा० ८ अ० । आव० । ज्ञा० " मइकन्न– धाराणं " आ० म० द्वि० ।

कण्णपाउरण–पुं० (कर्णप्रावरण) अन्तरद्वीपभेदे, तद्वासिनि मनुष्ये च अन्तरद्वीपशब्दे वर्णक उक्तः प्रज्ञा० १ पद० प्रव० स्था० । नं० ।

कण्णपा [लि (ली)] स्त्री० [कर्णपालि (ली)] त० ६ कर्णपालके कर्णांशभेदे, (काणेरमाता) तदवयवश्च मांसपेशीभेदः वाच० । कर्णापरितनभागभूषणविशेषे, औ० ।

कण्णपीढ–न० (कर्णपीठ) कर्णाभरणविशेषे, प्रज्ञा० २ पद० । जी० । कुंडलमट्ठगंडयलकण्णपीठधारी " कर्णो एव पीठे आसने कुण्डला–धारत्वात्कर्णपीठे, मृष्टघुष्टगण्डतले च कपोलतटे, कर्णपीठेच यकाभ्यां ते मृष्टगण्डतजकर्णपीठे ते च ते कुण्डले चेति विशेषणोत्तरपदः प्राकृ तत्वात्कर्मधारयः अङ्गदे च केयूरे बाह्याभरणविशेषावित्यर्थः । कुण्डलमृष्टगण्डतलकर्णपीठेच धारयति यः स तथा । अथवा अङ्गदे च कुण्डले च मृष्टगण्डतले कर्णपीठेच कर्णाभरणविशेषे भूते धारयति यः स तथा । स्था० ६ ठा० औ० ।

कण्णपूर–पुं० (कर्णपूर) कर्णं पूरयति कर्ण–पूर–अण्–कर्णाभरण– विशेषे, ज्ञा० ८ अ० । नीलोत्पले, शिरीषवृक्षे, अशोकवृक्षे च एतेषां पुष्पैः स्त्रीकर्णस्य भूषा भवतीति तेषां तथात्वम् वाच० ।

कण्णपूरग–पुं० (कर्णपूरक) कर्णं पूरयति–कर्ण–पूर–ण्वुल् । कदम्ब–वृक्षे, वाच० । स्वार्थे कन् पुष्पमये कर्णाभरणविशेषे, ज्ञा० ८ अ० ।

कण्णमणणिव्वुइकर–त्रि० (कर्णमनोनिर्वृतिकर) ६ त० प्रतिश्रोतृ–कर्णमनसो सुखोत्पादके, जं० १ वक्ष० । जी० ।

कर्णमल–न० (कर्णमल) कर्णगूथादौ, नि०चू० ३ उ० । श्लेष्मणि, तं० ।

कण्णवेयणा–स्त्री० (कर्णवेदना) कर्णयोः पीडारूपे रोगभेदे, विपा० १ अ० । उपा० । जी० । ज्ञा० ।

कण्णवेहणग–न० (कर्णवेधनक) कर्ण्णवेधोत्सवे, " कण्णवेहणगं संवच्छपलेहणगं चूलोवणयणं रा० । भ० ।

कण्णस्–त्रि० (कन्यस्) कन् अघन्यादिनिपातात् कन्यः कन्यत्वेन काम्यत्वेन सीयते अवसीयते सो घञर्थे क–कनिष्ठो सारसुन्दरी " रामस्य कन्यसो भ्राता " रामा० । स्त्रियां, वयोवाचित्वात् ङीष् । अधमे, । त्रि० वाच० । " कण्णसत्ति कण्णसमज्झिमजेट्ठा " सूत्रत्वात्कनिष्ठलघुजघ–न्यमिति यावत् । उत्त० ५ अ० । (सूत्रत्वादित्युक्त्या उत्त० । टीकाकृन्मते संस्कृतः कन्यस शब्दो नास्तीति भाति ।)

कण्णसक्कुली–स्त्री० (कर्णशष्कुली) कर्णस्य शष्कुलीव । कर्णगोलके तन्मध्याकाशे च वाच० । कर्णयित्याम्, " उड्ढमुहकण्णसक्कुली " ऊर्द्धमुखे कर्णशष्कुल्यौ कर्णयिती ययोस्तौ तथा ज्ञा० ८ अ० ।

कण्णसर–पुं० (कर्णशर) कर्णगामिनि शरे, द० ६ अ० ।

कण्णसुह–त्रि० (कर्णसुख) कर्णसुखदायके, रा० । औ० ।

कण्णसोक्ख–त्रि० (कर्णसौख्य) कर्णसौख्यहेतौ, द० ६ अ० ।

कण्णसोयवडिया–स्त्री० (कर्णस्रोतःप्रतिज्ञा) श्रवणप्रतिज्ञायाम्, आकर्णनार्थम् इत्यर्थः । नि० चू० १६ उ० आचा० ।

कण्णसोहण–न० (कर्णशोधन) कर्णयोर्मलनिःसारणसाधने उपकर–णभेदे, " कण्णाणसोहणपुणकन्नाणमलेण संविएणं तु दुक्खेज्ज जस्स कन्ना ण सुणेज्ज व सो तु गिण्हेज्जा " पं० भा० । आचा० । " जे भिक्खू कण्णसोहण–गस्स उत्तरकरणं सयमेव करेइ करंतं वासा इज्जइ " नि० चू० ४ उ० ।

कण्णा–स्त्री० (कन्या) कन्–यत्–अघन्या० नि० कन्यायाः कनीनचेति निर्देशात् वयसि प्रथमे इति न ङीष् वाच० । अपरिणीतायां स्त्रियाम्, उपा० १ अ० । कुमार्य्याम्, पञ्चा० १ विव० । मेषादितः षष्ठे राशौ, घृतकुमार्य्याम्, मेदि० । स्थूलैलायाम्, वाराहीकन्दे, कर्कट्यां च राजनि० " म्मौ चेत्कन्या " इत्युक्तलक्षणे चतुरक्षरपादके छन्दोभेदे च । वाच० ।

कण्णागोभूमालिय–न० (कन्यागोभूम्यलीक) कन्या कुमारी गौश्च बहुला भूमिश्च भूरिति द्वन्द्वस्तासु विषयेऽलीकमनृतं कन्यागोभूम्यलीक–मलीकशब्दे ह्रस्वत्वश्रुतिः प्राकृतशैलीवशात् । स्थूलकमृषावादविर–मणाख्यतृतीयाणुव्रतातिचारे, पञ्चा० १ विव० ।

कण्णाचोलय–न० (कन्याचोलक) जवनालके, नं०।

कण्णाड–पुं० (कर्णाट) " रामनाथं समारभ्य, श्रीरङ्गान्तं किलेश्वरि ! कर्णाटदेश इत्युक्तो, राज्यसाम्राज्यदायकः । शक्तिसङ्ग उक्तेदेशभेदे, वाच० । कल्प० ।

कण्णाणयणीय–न० (कन्यानयनीय) चोलदेशप्रधाने नगरे, तत्र श्रीवीरप्रतिमा चिरपूजिताऽऽसीत् तद्वृत्तं चेत्थम् ।

पणमिय अमियगुणगणं, सुरगिरिवीरं जिणं महावीरं ।

कन्नाणयपुरट्ठिय, तप्पडिमाकप्प किमपि वोच्छं ॥ १ ॥

**चोलदेसावयंसो कण्णाणयनयरे विक्कमपुरवत्यव्वपहू जिणवइसूरीचुल्लपिओ साहू माणदेवकारावियाए वारहसयतित्तीसे विक्कमवरिसे आसाढसुद्धदसमी गुरुदिवसे सिरिजिणवइसूरिहिं अम्ह वि य पुव्वायरिएहिं पइट्ठिया धम्माण सीलसमुग्घायजाई रसोबलघडिया तेवीसपव्वपरिमाणा नहमुत्तिलग्गणे वि घंट व्व सद्दं कुणंति सिरिमहावीरपडिमा सुमिणाया से णअनकवालामिहाणपुटविधाउ विसेसेणं सन्निहिया पाडिहेरा सावयजणाणं संघेणं चिरं पूइया जाव वारहसयअमयाले विक्कमाइच्चसंवच्छरे बाहुवीणकुलप्पईवे सिरिपुहविरायणरिंदे सुरत्ताणसहवदीने तं निहणंतीए रज्जप्पहाणेण परमसावएण सिट्ठिरामदेवेण सावयं संघस्स लेहो पिहिओ जहा तुरक्कसंजायं सिरीमहावीरपडिमा पच्छन्ना धारेयव्वा तओ सावएहिं दाहिमकुलमंडणं कयं वासमंडविना मंकिए कयं वासच्छलिए विउलवाओलुयाज्झरे ठविया भाव तत्थट्ठिया जाव तेरस इक्कारसे विक्कमवरिसे संजाए अइदारुणे दुब्भिक्खे अणिव्वहंतो जाजओनाम सुत्तहरो जीवियानिमित्तं सुभिक्खदेसं पइ सकुडुंबो चलिओ कन्नानयणीया उ पढमपयाणयं थोवं कायव्वंति कलिऊण कयं वासत्थलेववत्तं रयणिं पुच्छो अद्धरत्ते देवयाए तस्स सुमिणं दिन्नं जहा इत्थ तुमं जत्थ पुत्तोसि तस्स हिट्ठे भगवओ महावीरस्स पडिमापत्तिए सुहत्थिए चिट्ठइ तुमए वि देसंतरं न गंतव्वं भविस्सइ इत्थेव ते निव्वाहोत्ति । तेण समं पडिबुद्धेण तं ठाणं पुत्ताईहिं खणावियं जाव दिट्ठा सा पडिमा तओ हट्ठतुट्ठेण नयरं गंतूण सावयसंघस्स निवेइयं । सावएहि महूसवपुरस्सरं परमेसरो पाविसि उण ठाविओ चेइयहरे पूइज्जइ तिकालं । अणेगवाविओ चेइयहरे पूइज्जइ । तिकालं अणेगवारं तुरक्कउवद्दवामुक्को तस्स य सुत्तहारस्स सावएहि वित्तनिव्वाहो कारिओ पडिमाए परिगरो गवेसिओ वित्तेहिं न लद्धो कत्थ वि घलपरिसरे चिट्ठइ । तस्थ य पसत्थिसंवच्छराइं लिहिअसंभाविज्जइ अन्नया ण्हावणेणं स वुत्तो भयवओ सरीरे पसेडपसरंतो दिट्ठो लूहिज्जमाणो वि जाव न विरमिज्जइ ताव नायं सद्देहिं ज हा कोविओ वद्धवो अवस्सयं इत्थ होही जाव पभाए जद्धुय रायपुत्ताणं धाडीसमागया णयरं सव्वओ विद्धत्थं एवं पायडपभावो सामी भावपूइओ जाव तेरसपंचासीए संवच्छरो तम्मि वरिसे आगएणं वियवंसजाएणं घोरपरिणामेणं सावया साहुणो य वंदीए काउ विडंविया सिरिपासनाहविंवं सेलमयमग्गं सा पुण सिरीमहावीरपडिमा अखंडिया चेव सगडमारोविया ठिल्लीपुरमाणे उण गलका वा दट्ठिय मुरत्ताणो किरिआगओ संतो जं आइसित्तं करिस्सामोत्ति ठिया पण्णरसमासे तुरुक्कवट्टीए जो वसमागओ कालक्कमेण देवगिरिनयराओ जोगिणिपुरं सिरिमहम्मदसुरत्ताणो अन्नया विहिणा जाणवयं विहरित्ता संपत्ता ठिल्लीसाहापुरे खरयरगच्छालंकारसिरिजिण सिंहसूरिपइट्ठिया सिरिजिणप्पहसूरिणो कमेण महारायसभाए पंडियगुच्छाए पच्छुयाए को नाम विसट्ठियरो पंडियउत्तरायएण पुट्ठो जोइसियधाराधरेण तेसिं गुणत्थइपारद्ध तओ महाराएणं तं चेव पेसिय सबहुमाणाविया पोससुद्धवियाए संझाए सूरिणा भट्ठिओ तेण हि महारायाहिराओ अब्भासन्ने उववेसिओ कुसलाइवत्तं पुच्छिय आवण्णिओ अहीणचक्कवो आसिव्वाओ विरिं अङ्कत्तीए जाव एगंते गोट्ठी कया तत्थेव रत्तिं वसित्ताए पुणो आहुया संतुट्ठेण महाणरिंदेण गोसहस्सदविणजायं पहाणमुज्जाण वत्थसयं कंवलसयं अगुरुचंदणकप्पूराइगंधदव्वाइं व दाउमाढत्ताणि तओ गुरुहिं साहूणं एयं न कप्पइत्ति संवोहिऊण महारायं पडिसिद्धे सव्वं वत्थं पुणो रायाहिरायस्स मा अप्पत्तियं होहित्ति । किंचि कंबलवत्था गुरुमाइहिं अंगीकयं रायाभिओगेणं तओ नाणादेसंतरागयं पंडिएहिं सइ वायगुट्ठिं कारवित्ता मयंगयहत्थिजुयलं आणाविउं एगम्मि गुरुणो अन्नम्मि य सिरिजिणदेवायरिए आरोवित्ता वज्जंतासु अट्ठसुस्सरतारणियगयणभेरीतुं पूरिज्जमाणेसु जमलसंखेसु धुमंतेसु मुयंगमद्दलकंसालटोल्लाइसद्देसु पढंतेसु भट्टपट्टेसु वा उवण्णसमेया चउव्विहं संघसंजत्ता य सूरिणो पोसहसालं पट्टविया सावएहिं पवेसमहूसवो विहिओ दिण्णाइ महादाणाइं पुणो पातसाहिणा समप्पियसयलसेयंवरदंसणउवद्दवरक्खणक्खमं पुरुसाणं पेसिया चउद्दिसिं गुरुहिं तस्स पडिच्छंदिया जाया सासणुन्नई । अन्नया मग्गिहिं सूरिहिं सिरिसत्तुंजयगिरनारफ लवद्धीपमुहतित्थाणं रक्खणत्थं फुरमाणं दिन्नं तक्खणं चेव सव्वभोमेणं पेसियंतं तित्थेसु मोइया गुरुवयणाणंतरे अणेगे वंदिणो रायाहिरायेण रविसोमवारदिने गुरुणो वाचाराउलं वरिसंते जलहरे भेट्टिओ मुरत्ताणो कद्दमखरंटिया पाया गुरूणं लूहायिया माहाराएण मलिककापूरयासाओ पवरसिवयखंडेण तओ आसीवाए दिण्णे वण्णाणा कव्वे य वक्खाणीए अईव चमक्कारि–

यचित्तो जाओ महाराओ महाणरिंदो अवसरं नाऊण मग्गसिर-सुद्धस्सरूवकहणत्थं पुव्वं सा भगवाओ महावीरस्स पडिमादिमो य ताओ सुक्कमारगोट्ठीओ काऊग एगच्छत्तवसुहाहिववयणा आणविया जुगलका वादकोसाओ मओ सूयगाण मल्लिकाणं खंधे काऊग सयलसभासमक्खं अप्पणे अग्गे आणाविय दट्ठूणं च समप्पिया गुरूणं। तओ महूसवपभावणपुव्वं सुक्खासणट्ठिया पवेसिया सयलसंघेणं मलिकताजनसराईए चेइया घाइया गुरुहिं वासक्खेवो कओ पूइअइ महापूयाइं तओ महारायस्स आएसेणं सिरिजिणदेवसूरिणो अप्पनरसेटिल्ली मंडवे ठावित्ता पढिया कमेण गुरुणो महरट्ठमंडले दिण्णा रायाहिराएण सावयसंघस-हियाणं गुरुणं च सहकारिरहतुरयगुलयिणी सुक्खासणाइं सामग्गी अंतरालणगरे सुपभावणं ता पए संघेणं समाहिज्जमाणा अपुव्वतित्थाइं नमंता सूरिणो कमेण पत्ता देवगिरिनगरं संघेणं पवेसमहूसवो कओ संघपूया य जाव जाया पयट्ठाणपुरे स जीवंतसामि मुणिसुव्वयपडिमा संघवइजगसीहसाहणसल्लदे-वप्पमुहसंयमसएहिं जत्ता कया पच्छा टिल्लीए विजयकट्ठए जिणदेवसूरीहिं वि दिट्ठो महाराओ दिण्णो सुरत्ताणसुराइत्ति तीसे णामं ठवियं तत्थ चत्तारि सयाइं सावयकुलाइं निवासत्थं आइत्थाणि तत्थ कारावियं पोसहसाला कलिकालचक्कवट्टिणा चेइओवट्ठाविओ तत्थ सो चेव देसे सिरिमहावीरो तिकालं महरिहपूया पयारेहिं भगवंतं परतित्थिवासे सेयंवरभत्ता य सावया दट्ठूणं महम्मदसाहिकयं सासणुन्नयं एवं पंचमकालं कलिं ति जणा ११ विवं पडिहयविवं, वीरजिणेसस्स धुयकिलेसस्स। आदंवसूरिसमिणंमणनयणाणं जयइ निच्चं। कन्नाणयपुरसंठिय-देवमहावीरपडिमकप्पो य। लिहिओ मुणीसरेणं, जिणसिंहमु-णिंदसीसेणं ॥ ३ ॥

श्रीकन्यानयमहावीरेति नामा कल्पः। परिशेषवृत्तं तु।

अह विज्जातिलयमुणी, आएसा संघतिलयसूरीणं।

परिसेसलवं जंपइ, कंनाणयवीरकप्पस्स ॥ १ ॥

तहाहि भट्टारिआ सिरिप्पहसूरिणो सिरिदउत्ता वादनयरे साहुणो सालसह जाव अचलकारिअचेइआणं तुरक्केहिं कीरमाणं भंगं फुरनाणदंसणपुव्वं निवारित्ता सिरिजिणसासणपभा-वणातिसयं कुणंता पाडिच्छगाणं सिद्धंतवायणंदिता तवस्साणं अंगाणंगपविट्ठागमतवाइं कारिंता विणेयाणं अवरगच्छीयमुणीणं पियमाणवागरणकव्वनाडयालंकाइं सत्थाइं भणंता उब्भड-वायमडवायाणं वादविदाणं अणप्पंदप्पमवहरंता जाव सं संवच्छरतिगमइक्कमंति। इओ अ सिरिजागिणिपुरे सिरिमहम्म-दसाहिसगाहिराउ कहिं वि अवसरे पत्थुआए पडिअमुट्ठीए सत्थविआरसंसयमावन्नो सुमरेइ गुरूणं गुणे भणइ अ। जइ ते भट्टरया संपयं महासुहालंकरणं हुंता तो मज्झमणोगयसम-त्थसंसयसयसल्लुद्धरणे हेलाए खमंता नूणं विहप्पइ तब्बुद्धि-पराजिओ उ चेव भूमिमुज्झिअसुवण्णं गयणदेसमल्लीणो इत्थं गुरूणं भूवइकिज्जमाणगुणविन्नाणावइअरे अवसरत्तू तक्कालं देउलतावादादागओ ता जलमलिको भूमिअलमिलिअमालवट्टो विन्नवेइ। महाराय! संति ते तत्थ महप्पणो परं तन्नयरनीरम-सहमाणा किसिअंगा गाढं वट्टंति तओ संभरिअगुरुगुणपब्भारेण भूमिनाहपासो चेव सीदो आइहो भो मल्लिक! सिग्घं गंतूण दुवीरखाने लिहादेसु फुरमाणं फासेसु। तत्थ जहा तारिससमामग्गीए चेव भट्टारया पुण इच्छइंति। तओ तेण तहेव कए पेसिअं फुरमाणं कमेण पत्तं सिरिदउलतावाददीवाणे भणिअं च सविणयं नयरनायगेण सिरिकुतूहलखातेण भट्टारयाणं सिरिपालसिंहफुरमाणागमाणं चुल्लीपुरं पइत्थाणं वाइट्ठाणं तओ दिणदसगब्भंतरे सन्नविउग्ग जिट्ठसिअवारसीए रायजोगे संघसत्थिअपरिसाए अणुगम्ममाणा पत्थिआ महया वित्थरेणं गुरुणो करेण ठाणे महूसवसयाइं पाउब्भावयंता वि समदूसमा-दप्पं दलंता सयलतरालजणवयजणनयणकेउल्लमुप्पायंता धम्मट्ठाणाइं उद्धरंता दूरओ उक्कंठा वि संतुला समागच्छंत आयरिअवग्गेहिं वंदिज्जमाणा पत्ता रायभूमिमंडणं सिरिअल्लाव-पुरदुग्गंतउत्ततारिसए भावणाए गुरिसा सहिए हुमिलक्खुकयं विप्पडिवत्तं मुणिऊण ताणं चेव गुरूणं सीसुत्तमेहिं रायसभा-मंडणेहिं गुरुगुणालंकिअदेहेहिं सिरिजिणदेवसूरीहिं विन्नत्तेण भुवइणा सम्मुहं पविट्ठाविएण सबहुमाणं फुरमाणेण मलिकप्प-वप्पिअसयलसत्थिअवत्थुणो विसेसओ जिणसासणं पभावयंता छट्ठं मासं अच्छिअ पत्थिआ अल्लावपुरओ पुणो वि धरणीनाहेण सिरिसिरोहमज्झानयरे संमुह पेसिअ मसिणसिणद्धदेवदूस-व्यायवत्थदसगेण अलंकरिआ जाव हम्मीरवीररायहाणीपरिसरे देसे सुसंपत्ता। इओ चिरोवचिअभत्तिराएण आमिमुहमागएहिं दंसणनिमित्तिओ विअमयकुडं ण्हाएहिं बंधनमप्पाणं मन्नमाणेहिं आयरिअजइसंघसावयविंदेहिं परिअरिआ भद्दविय सिअव्वीआए जाया रायसभामंडला जुगप्पहाणुतक्खणं आणंदभरनिब्भरेहिं नयरेहिं णेहिं अभुत्थाणमिवायरंतेण सिरिमहम्मदसाहपात-साहेण पुच्छिया कोमलगिराए कुसलपउत्तिं वुंचिओ असेसिणेहं गुरुणं कारावि धरणिराएण धरिओ अहिअए अद्धंतादरपरेण गुरुहिं पि तक्कालकविअअहिनवासीवयण-दाणेन चमक्कारिअं नरेसरमाणसं पसिआयमहामदसारं वि-

सालसालं पोसहपालं अइट्ठाय महीनाहेण गुरूणं सह गमणाय पहाणपुरिसाणं दुअरायाणो सिरीदीनारपमुहा महामल्लिका य पणमंति सयसाहस्सा विरुक्कंठिआ सावयलोया मिलिआ य वीरदंसणलालसा नयरलोआ संगया य कोऊहलेणं पगइजाणवय जणा तओ वि दिविंदेहिं भोगावलिहिं थुवंता भूवालप्पसाइअभूरिभेरीवेणुवीणामद्दलमुइंगगडुपडहजमल-संखमुग्गलाइ विउलवाइअरावाणं दिअंतरालं विणिम्माचिंतावि-प्पपगेहिं वेअज्झणीहिं थुणिजंता गंधदव्वेहिं सुहवाहिअग्ग-इज्झमाणमंगला पत्ता तक्कालं सिरिसुर ताणसराइपोसहसालंकया य बद्धा नयणमहूसवा संघपुरिसेहं चेइओ अभद्दवयसि अमइआ दिणे सयलसंधकारिअमहूसवसारं सिरिपज्जोसवणाकप्पो पत्ता य ठाणे ठाणे आगमणप्पभावणा लेहारं जिआ सयलदेससंघा मोइआ अणेगे रायवंदिबद्धा रायदिज्झसयसाहस्ससावया इअरलोगा य करुणाए उम्मोइआ काराहिंतो दीना दाविआ य अपइट्ठाणं पइट्ठा कया य कारावआ य अणेगअणेगरायवंदीबद्धा रायदिज्झसयसहस्सामो जिणधम्मप्पभावणा एवं णिच्चं रायसभागमणपंडिअवाइअविंदविजयपुव्वं पभावणाए पयट्टमाणाए कमेणं वासारत्तचउमासीये वइक्कंताए अन्नया फग्गुणामासे दउलता वादाउ आगच्छंतीए मगदूमइं जहानामधिज्जाए निजजणणीए संमुहं पट्ठिएण चउरंग-समूहसत्तट्ठेण सुरत्ताणेण अब्भुत्थाणपुरस्सरं चामिआ गुरुणो अप्पणा समं वडथूणठाणे सिट्ठिआ जणणी महाराएण दिन्नं सव्वेसिं महादाणं परिघाविआ सव्वे पहाणकवाइवत्थाइं कमेण पत्तो महूसवमइं रायहाणिसम्माणिआ गुरुणो कत्थ कप्पूराईहिं तओ चितसिअदुवालसीए रायजोगे महारायाणमापुच्छिअ पातसाहिदत्तसाव्वाण छायाए कया नंदी तत्थ दिक्खिया पंच सीसा मालारोवणसम्मंतारोवणाइं णि अधम्मकिच्चाइं कयाणि निव्विअं चित्तं थिरं देवनंदनेन बंभदत्तेन आसाढसुद्धदसमीए अपइट्ठियाणि अणिहियवक्कारियाणि तेरसविंवाणि महावित्थरेण तत्थ विंवकारावएहिं बहूअं वित्तं विसेओ साहुमहरायतएण अजयदेवेण त्ति। तहा अन्नया नरिंदेण दूरओ निच्चं समागमेण गुरूणं कट्ठंति वितिऊण पदिन्ना सयमेव निअपासायमासे सोहंतभवणराई अभिणवसराई आइट्ठा य वसिउं। तत्थ सावयसंघा भट्टारयसरा इति कयं सेसयं नरिंदेण णामं कारिओ। तत्थेव वीरविहारो पोसहसाला य पातसाहिणा तओ तेरससयनवासिअवरिसे आसाढकिण्ह सत्तमीए सुमहत्ते महीवइसमाइट्ठनीयनट्टवाइअसंपदा य पयडिज्जमाणअमाण-महूसवसारं सयं नरिंदेण दाविज्जमाणमहादाणं गाइज्जमाणमंगलं पविट्ठा पोसहसालं भट्टारया संतोसिआ पीइदाणेण विउसा उद्धरिआ दाणेणं वीणा ण होइ लोआ चालिआ। पुणन्नया मग्गसिरमासे पुव्वदिसजयजत्तापत्थिएण अप्पणा सह नरिंदेण करिआ ठाणे ठाणे वंदामो अणाइणा जिणधम्मप्पभावेण उद्धरिअं सिरिमहुरातित्थं संतोसिआ दाणाईहिं दिअवराइणो निच्चं पावसूणं संघावारे कट्ठंति मन्नमाणेण महीनाहेण खोजे जहा मलिकेण सद्धिं आगरा नगराओ परिपेसिआ रायहाणिं पइ सच्चपइन्ना गुरुणो महिज्झ सिरिहत्थिणाउरजुत्ता फुरमाणं समागया तिअट्ठाणे मुणिवइणो तओ मेलिज्झ चउव्विहं संघं काऊण य पुत्तवाहिडसहिस्स साहुवोहित्थस्स संघवइत्ततिलयं पट्ठिआ आसुहत्ते सायरिआइपरिवाएसिरिहत्थिणाउररज्जंतगुरुणो विहिट्ठाणे विहिट्ठाणे संघवइवोहित्थेणमहूसवा संपत्ता। तिक्खभूमिं कयं च वद्धावणयं ठाविआणि तित्थगुरूहिं अहिणवकारियपइट्ठिआणि सिरिसंतिकुं थुअरजिणविंवाणि अंविआ पडिमा स चेइअट्ठाणेसु कया य संघवच्छलाइमहूसवा संघवइणा संघेण य पूइआ वत्थभोअणतंबोलाईहिं वणीमगसत्था आगयमित्तेहिं जत्ताओ समागए महाराए पवट्टंति उसवा चेईवसहीसु संमाणेइ गुरुणो उत्तरोत्तरमाणवाणेण सिरिसव्वभोमो वज्जंति। पइदिसं सूरिसव्वभूमाणं पभावणा सरोजसपडहा विहरंति निरुवसग्गं सव्वदेसेसु सेअंवरा य दिअंवरा य रायाहिरायदिन्नफुरमाणहत्था खरतरगच्छालंका-रगुरुप्पसायाओ सगसिन्नपरिभूए विदिसिचक्के क्कयाइं गुरुहिं फु रमाणगहणेण अकुतोभयाइं सिरिसत्तुंजयगिरिनारफलवद्धिप्प-मुहतित्थाइं उज्जोइआइव्वाइकिच्चेहिं सिरिपालित्तायम-हल्लवाइसिद्धसेनदिवायरहरिभद्दसूरिहेमचंदसूरिप्पमुहा पुव्वपुरिसा किं बहुणा सूरी चक्कवट्टीणं गुणेहिं आवज्जिअस्स नरिंदस्स पयडाए व पयट्टंति सयधम्मकज्जा भावइ ज्जंति पइपच्चूसं चेइअवसहीसु जमलसंखा किज्जंति धम्मएहिं वीरविहारे वज्जंतगहिरसुद्दलमयंगभुग्गलतालपिखणयसार-महापूआओ वासिंति सिरिमहावीरपुरओ भविअलोअउग्गाहिज्ज-माणकप्पूरागरुपरिमलुग्गरो दिसिचक्कं संचरंति हिंदुअरज्जे इव दूसमसुसमाए इव अणज्जरज्जे वि दूसमाए जिणसासणप्पभावणाए रायणसिद्धाए मुणिणो किं च लुट्ठंति गुरूणं पायपीठे किंकरा इव पंचदंसणिणो सपरिवारा पमिच्छंति पडिच्छगा इव गुरुवयणं सेवंति अ निरंतरं जाव सादसट्ठिआ गुरुणं दंसणुसुग्गह परलोअकज्जत्थिणो परतित्थिणो निव्विअब्भत्थणाओ गच्छति निच्चं रायसभाए गुरुणो मोआवंति विंतिवग्गं उप्पायंति जिणुत्ताणुसारजुत्तिजुत्तवयणेहिं निरंतरं रायमणे कोउहलं महल्लवरियासुवारित्तणा पयट्टंति पए पए पभावणं गंगोदय-

सच्छचित्ता धवलिं तिन्नि अ जसचंदिमाए दिअंतरालाइं उज्जीवंति। वयणामएहिं जीवलोगं सदंसणिणो परदंसणिणो अ वहंति सिरिट्ठिअं गुरूणं आणं समग्गवावारेसु वक्खाणित्ति अणन्नसाहारणभंगीए सपरिसद्धं तं जुग्गप्पहाणा एआरिसा पभावणा एगरिसा पयडं चेव परिभाविज्जमाणा निच्चं पि वट्टमाणा कित्तियमित्ता अप्पमईहिं कहेउं सक्का केवलं जीवंतु वच्छरकोडीओ पभावयंतु सिरिजिणसासणं सुचिरं इमे सूरिवरा जिणप्पहसूरीहिं णं गुणलेसदुईए पभावणं गंति परिसो से परिकहिज्जा कण्णाणयवीरकप्पस्स । इति कल्याणयनीयश्रीमहावीर-कल्पः ।

कण्णाडमट्टदिवागर–पुं० (कर्णाटभट्टदिवाकर) दक्षिणापथप्रसिद्धे विद्वद्वरे, ती० (स च दक्षिणापथादागच्छन् श्रीवृद्धवादिसूरिभिर्जितो व्रतं ग्राहितश्चेति कुडुंबेसरशब्दे वक्ष्यते)

कण्णापिउत्त–न० (कन्यापितृत्व) कन्याजनकत्वे, " जातेति चिन्ता महतीति शोकः, कस्मै प्रदेयेति महान् विकल्पः । दत्ता सुखं स्थास्यति वा न वेति, कन्यापितृत्वं खलु नाम कष्टम् " ध० २० ।

कण्णालिय–न० (कन्यालीक) कन्या अपरिणीता स्त्री तदर्थमलीकं कन्यालीकम्, उपा० १ अ० । कुमारीविषये असत्ये, प्रश्न० १ अध० द्वा० ३ अ० । यथा द्वेषादिभिरविषकन्यां विषकन्यां विषकन्यामविषकन्यां वा सुशीलां वा दुःशीलां वा दुःशीलां सुशीलामित्यादि वदतो भवति ध० ३ अधि० । आव० । तच्च स्थूलकमृषावादविरमणातिचारेषु, लोकेऽतिगर्हितत्वादुपात्तं तेन सर्वत्र मनुष्यजातिविषयमलीकमुपलक्षितम् उपा० १ अ० ।

कण्णावली–स्त्री० (कर्णावली) कर्णः कुटादयस्तेषामावली संहतिर्यासां तास्था । कुटादिकर्णसङ्घाते, अणु० ३ वर्ग० ।

कण्णिया–स्त्री० (कर्णिका) कर्ण–एवुल अत इत्वम् । कर्णाभरणभेदे, करिशुण्डाग्रवर्तिन्यङ्गुलाकारे पदार्थे, क्रमुकादिवृत्तपरम्परायाम्, (छटा) करमध्याङ्गुलौ, मेदि० । लेखन्याम्, हारा० । अग्निमन्थवृक्षे, राजनि० । वाच० । बीजकोशे, भ० ११ श० २ उ० । उन्नतसमचित्रविन्दुकिन्याम्, प्रज्ञा० २ पद । मध्यमण्डलिकायाम् नं० । शाल्यादिदीजस्य मुखमूले लोके या तुषमुखमित्युच्यते । स्था० ८ ठा० । कोणविभागे, स्था० ८ ठा० । जं० । " अट्ठ कण्णिये " कर्णिकाः कोणाः अनु० ।

कण्णियार–पुं० (कर्णिकार) कर्णिभेदेन करोति कृ–अण्–उप–स० (गणियारी) वृक्षभेदे, आराग्वधवृक्षभेदे च । शोधनरूपमलभेदकत्वात् तयोस्तथात्वम् वाच० । आव० । प्रज्ञा० । स्था० । गोशालस्य महलिपत्रस्य दिक्चरभेदे, भ० १४ श० १० उ० । कर्णिकारस्य पुष्प, न० ज्ञा० ६ अ० ।

कण्णीरह–पुं० (कर्णीरथ) कर्णः सामीप्येनास्त्यस्य कर्णी स्कन्धः तेन इः शोभा यस्य न समासान्तः कप् । स चासौ रथो रथरूपं वाहनं कर्म्म० । स्कन्धवाह्ये याने, (पालकी) इत्यादौ, । शब्दचि० । अन्या व्युत्पत्तिर्दर्शिता यथा कर्णसाध्यक्रिया उपचारात् कर्णः । कर्णोऽस्यास्तीति इनि कर्णी चासौ रथश्च शब्दमात्रेण रथो न वस्तुतो रथः । यद्वा सामीप्यात् कर्णशब्देन स्कन्धो लक्ष्यते सोऽस्यास्ति वाहनत्वेन इनि कर्णी चासौ रथश्च उभ–यत्र अन्येषामपीति दीर्घ इति । " कर्णीरथस्थां रघुवीरपत्नीम् " रघु० । वाच० । " विदिण्णछत्तचामरवालवीयणिया कण्णीरहप्पयाया वि होत्था " कर्णीरथः प्रवहणविशेषस्तेन प्रयातं गमनं यस्याः सा तथा । कर्णीरथो हि ऋद्धिमतां, केषांचिदेव भवतीति सोऽपि तस्यास्तीत्यति–शयप्रतिपादनार्थोऽपि शब्दः ज्ञा० २ अ० ।

कण्ह–पुं० (कृष्ण) कृष–नक् । **सूक्ष्म श्व ष्ण सहणक्षणंण्हः ८ । २ । ७५ ।** इति संयुक्तस्य णकाराक्रान्तो हकारः । प्रा० । वर्णभेदे, कृष्णो वर्ण इति सामान्यं तस्य च भ्रमराङ्गारकोकिलकज्जलादिषु प्रकर्षाप्रकर्षविशेषाद् भेदाः । कृष्णः कृष्णतरः कृष्णतम इत्यादि आचा० १ श्रु० १ अ० २ उ० । कृष्णवर्णाञ्जनवत् ज्ञा० २ अ० । कालवर्णे, तं० । कृष्णवति, " किण्ह इतीकारवद्रूपं बाहुल्येन उपलभ्यते इति तत्रैव वर्णकं वक्ष्यामि जी० ३ प्रति० । अवसर्पिण्यां वसुदेवाद्देवक्यां जाते नवमवासुदेवे, स० । आव० । प्रव० । (अस्य आजन्मकथा वसुदेवहिण्ड्यां प्रतिपादिता तत एवाऽवधार्य्या पश्चाच्चां तदनुप्रकरणेषु च किञ्चित्किञ्चिदुपलब्धं वृत्तं सन्दर्भवशादितस्ततः स्थापितम् । यथा कस्मिन् समये कस्य जिनस्यान्तरे जात इत्यन्तरशब्दे–अवरकाङ्कगमनमिति अच्छेर दोपदी शब्दयोः पितृनामायुर्गत्यादि वासुदेवशब्दे नेमिजिनेन सह बलपरीक्षणादि नेमि शब्दे–सांग्रामिक्यादि भेरीप्राप्तिकथा भेरी शब्दे) अग्रमहिष्यश्चा–ग्रमहिषीशब्दे नवरमिह ।

तेणं कालेणं तेणं समयेणं बारावती णाम णयरी होत्ति दुवालसजोयणायामा नवजोयणावित्थिण्णा वेसवणम–तिणिम्माया चामीकरपागारा णाणामणिपंचवण्णकविसीसरा मंडिता सुरमा अलकापुरीसंकासा पमुदितपकीलिया पच्चक्खं देवलोयभया पासादीया ४ तीसे णं बारवतीए णयरीए बहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए एत्थणं रवेए णामं पव्वते होत्था । वण्णओ तत्थ णं रवेए पव्वते णंदणवणे णामं उज्जाणे होत्था । वण्णओ सुरप्पिए णामं जक्खायणे होत्था । पोरायणे सेणं एगेण वणसंडेण असोगवरपायवे तत्थ णं बारवतीए णयरीए कण्हे णामं वासुदेवे राया परिवसइ महया रायवण्णओ से णं तत्थ सेमुद्दविजयपामोक्खाणं दसण्हदसाराणं बलदेवपामोक्खाणं पंचण्हमहावीराणं पज्जूणपामोक्खाणं अट्ठण्हाणं कुमारकोडीणं संबमोक्खाणं सट्ठीए दुइंतसाहस्सीणं महासेणं पामोक्खाणं छप्पण्णाए बलवयसाहसीणं वीरसेणपामोक्खाणं एगवीसाए वीरसाहसेणं उग्गसेनपामोक्खाणं सोलसण्हरायसाहसीणं रूपिणीपामोक्खाणं सोलसण्हं देवीसाहस्सीणं अणंगसेणं पामोक्खाणं अणेगाणं गणितासाहस्सीणं अणेसिं च बहूणं राईसर जाव सत्थवाहेण बारवतीए णयरीए अद्धभरहस्स य समंतस्स आहेवच्चं जाव विहरति ।

(गयसुकुमार शब्देऽपि वृत्तम्) आर्यकृष्णाचार्य, येन वोटिकमतप्रवर्तकः शिवभूतिर्दीक्षितः आ० क० । दिगम्बरमतोत्पत्तिमूलं सहस्रमल्लस्तस्य गुरुः किं नामेत्यत्र कृष्णाचार्य इति आवश्यकवृत्तौ तदधिकारे उक्तमस्ति ही० । " पुच्छं सिवभूइं पि य, कोसि स दुज्जंत कण्हे य " कल्प० । श्रेणिकभार्यायाः कृष्णाया

आत्मजे, नि० (तस्य वक्तव्यता निरयावलिकायाश्चतुर्थेऽध्ययने सुचिता प्रथमाध्ययनोक्तकालवक्तव्यतावन्नेया) परब्रह्मणि, वेदव्यासे, अर्जुने, मध्यमपाण्डवे च। कृष्णवर्णत्वात् कोकिले, विश्वः। काके, मेदि०। करमर्दकवृक्षे, शब्दर०। नीले वर्णे, तद्वति त्रि० अमरः। कालागरुणि, राजनि०। अशुभकर्मणि, न०। द्रौपद्याम्, नीलीवृक्षे, पिप्पल्याम्, द्राक्षायाम्, स्त्री० मेदि०। नीलपुनर्नवायाम्, कृष्णजीरके, नीलाञ्जने, लौहे, मरिचे च पुं० जटाधरः। चन्द्रक्षयात्मके अर्द्धनासे, कृष्णसारमृगे, पुं० स्त्री० वाच०। " कण्हेणं वासुदेवे दस धणुइं उड्ढं उच्चत्तेणं दस वाससयाइं सव्वाउयं पालयित्ता तच्चाए वालुयप्पभाए पुढवी नेरइयत्ताए उववन्ने " स्था० १० ठा०।

कण्हकंद–पुं० (कृष्णकन्द) क–स–साधारणशरीरवनस्पतिभेदे, आचा० १ श्रु०। कन्दविशेषे, उत्त० १ अ०। जी०। प्रज्ञा०। कृष्णः कन्दोऽस्य नीलोत्पले, न० त्रिका०। वाच०।

कण्हकण्णियार–पुं० (कृष्णकर्णिकार) कृष्णवर्णे कर्णिकारे, जी० ३ प्रति० ३ उ०।

कण्हकुमार–पुं० (कृष्णकुमार) श्रेणिकभार्य्यायां कृष्णायां आत्मजे, नि० (तद्वक्तव्यता निरयावलिकायाश्चतुर्थेऽध्ययने सूचिता तत्रैव प्रथमाध्ययनोक्तकालकुमारवन्नेया)

कण्हगोमि (ण्)–पुं० (कुष्णगोमिन्) कृष्णश्रृगाले, " कण्हगोमी जहा चित्ता, कंटकं वा विचित्तयं "। कृष्णगोमी कृष्णश्रृगालो यथा स कृष्णादिभी रेखाभिश्चित्रा विचित्रवर्णा भवति। व्य० ६ उ०।

कण्हणाम (न्)–न० (कृष्णनामन्) वर्णनामकर्मभेदे, यदुदया–ज्जन्तुशरीरं कृष्णं भवति राजपट्टादिवत्तत्कर्मापि कृष्णनाम, कर्म०।

कण्हपक्खिय–पुं० (कृष्णपाक्षिक) कृष्णपक्षोऽस्यास्तीति कृष्णपाक्षिकः। सूत्र० २ श्रु० २ अ०। क्रूरकर्मणि, श्रा०। अधिकतरसंसारभाजिनि, उक्तं च " जेंसि बड्ढो पुग्गलपरिपट्टो सेसओ य संसारो। ते सुक्कपक्खिया खलु, अहिए पुण कण्हपक्खीओ "॥ १॥ प्रज्ञा० ३ पद। पं० सं०। यो० वि०। स्था० (सुक्कयशब्दे दण्डक उक्तः)

कण्हपरिव्वायग–पुं० (कृष्णपरिव्राजक) परिव्राजकभेदे, नारायणभक्तिके च। औ०।

कण्हबंधुजीव–पुं० (कृष्णबन्धुजीव) कृष्णवर्णकुसुमे बन्धुजीववृक्षे, जी० २ प्रति० ३ उ०।

कण्हभूम–पुं० (कृष्णभूम) कृष्णा भूमिर्यत्र अच्–समा० कालवर्णमृत्ति-कायुक्ते देशे, हेम०। सकलसूत्रार्थग्रहणधारणसमर्थे कृष्णभूमप्रदेशतुल्ये विनेये, आ० म० प्र० (अस्य स्वरूपं सिस्सशब्दे " वुड्ढे वि दोण्णमहे, न कण्हभोमा व उचट्ठए उदयं " इतिगाथया धनदृष्टान्ते स्पष्टीभविष्यति)

कण्हराइ–स्त्री० (कृष्णराजि) कृष्णवर्णपुद्गलरेखायाम्, भ० ६ श० ५ उ०। कालकपुद्गलपङ्क्तौ, स्था० ८ ठा०।

कृष्णराजयश्च कति क्वेत्याह।

कइ णं भंते ! कण्हराईओ पण्णत्ताओ ? गोयमा ! अट्ठ कण्हराईओ पण्णत्ताओ ! कइ णं भंते ! एया अट्ठ कण्हराईओ पण्णत्ताओ ? गोयमा ! उप्पिं सणंकुमारमाहिंदाणं कप्पाणं हिट्ठिं बंभलोए कप्पे रिट्ठे विमाणे पत्थडे। एत्थ णं अक्खाडगसम-चउरंससंठाणसंठियाओ अट्ठ राईओ पण्णत्ताओ तं जहा पुरच्छिमेणं दो पच्चच्छिमेणं दो दाहिणेणं दो उत्तरेणं दो पुरच्छिमब्भंतरा कण्हराई दाहिणं बाहिरं कण्हराइं पुट्ठा दाहिणब्भंतरा कण्हराई पच्चच्छिमबाहिरं कण्हराइं पुट्ठा पच्चच्छिमब्भंतरा कण्हराई उत्तरबाहिरं कण्हराई पुट्ठा उत्तरब्भंतरा कण्हराई पुरच्छिमबाहिरं कण्हराइं पुट्ठो दो पुरच्छिमपच्चच्छिमाओ बाहिराओ कण्हराईओ छ लंसाओ दो उत्तरदाहिणवाहिराओ कण्हराईओ तंसाओ दो पुरच्छिमप-च्चच्छिमाओ अब्भंतराओ कण्हराईओ चउरंसाओ दो उत्तरदाहिणाओ अब्भंतराओ कण्हराईओ चउरंसाओ " पुव्वावरा छ लंसा, तंसा पुण दाहिणुत्तरावज्झा। अवसेसा चउरंसा, सव्वा वि य कण्हराईओ " भ० ६ श० ५ उ०।

(उप्पिमित्यादि) सुगमं नवरम् (उप्पिरि) उपरि (हिट्ठंति) अधस्ताब्रह्मलोकस्य रिष्टाख्यो यो विमानप्रस्तटस्तस्येति भावः। आखाटकवत्समं तुल्यं सर्वासु दिक्षु चतुरस्रं चतुष्कोणं यत्संस्थानां-संस्कारस्तेन संस्थिता आखाटकसमचतुरस्रसंस्थानसंस्थिताः कृष्णराजयः कालपुद्गलपङ्क्त्यस्तद्युक्तक्षेत्रविशेषा अपि तथोच्यन्त इति। यथा च ता व्यवस्थितास्तथा दर्शयन्ते (पुरच्छिमेणंति) पुरस्तात्पूर्वस्यां दिशीत्यर्थः। द्वे कृष्णराजी एवमन्यास्वपि द्वे द्वे तत्र प्राक्तनीयका अभ्यन्तरा कृष्णराजी सा दाक्षिणात्यां बाह्यान्तां स्पृष्टा स्पृष्टवती एवं सर्वा अपि वाच्यास्तथा पौरस्त्यपाश्चात्ये द्वे बाह्ये कृष्णराजी षडस्रे षट् कोटके उत्तरादाक्षिणात्ये द्वे बाह्ये कृष्णराज्यस्रे सर्वाश्चतस्रोऽपीत्यर्थोऽभ्यन्त-राश्चस्राः स्था० ८ ठा०।

कण्हराईओ णं भंते ! केवइयं आयामेणं केवइयं विक्खंभेणं केवइयं परिक्खेवेणं पण्णत्ताओ ? गोयमा ! असंखेज्जाइं जोयणसहस्साइं आयामेणं संखेज्जाइं जोयणसहस्साइं विक्खंभेणं असंखेज्जाइं जोयणसहस्साइं परिक्खेवेणं पण्णत्ताओ। कण्हराईओ णं भंते ! के महालियाओ पण्णत्ताओ ! गोयमा ! अयणं जंबुदीवे जाव अट्ठमाणं वीईवएज्जा अत्थे गइए कण्हराई वीईवएज्जा अत्थे गइए कण्हराईणो वीईवएज्जाए महालियाओ गोयमा ! कण्हराईओ पण्णत्ताओ। अत्थि णं भंते ! कण्हराईसु गेहाइ वा गेहवणाइ वा णो इणट्ठे समट्ठे। अत्थि णं भंते ! कण्हराई गामाइ वा जाव सण्णिवेसाइ वा णो इणट्ठे समट्ठे। अत्थि णं भंते ! कण्हराईसु उराला वलाहया संसेइ ! हंता अत्थि। तं भंते ! किं देवो ? गोयमा ! देवो पकरेइ नो १ असुरो नो नागो अत्थि णं भंते ! कण्हराईसु वादरे थणियसद्दे २ जहा उराला तहा अत्थि णं भंते ! कण्हराईसु वायरे आउकाए वायरे अगणिकाए वायरे वणप्फइकाए ! णो इणट्ठे समट्ठे णण्णत्थविग्गहगइसमावण्णएणं। अत्थि णं भंते ! चंदिमसूरिय ? णो इणट्ठे समट्ठे। अत्थि णं कण्हराईसु चंदाभाइ वा ?

णो इणट्ठे समट्ठे । कण्हराई णं भंते ! केरिसियाओ वण्णेणं पण्णत्ताओ ? गोयमा ! कालाओ जाव खिप्पामेव वीईवएज्जा । कण्हराई णं भंते ! कइ नामधेज्जा पण्णत्ता ? गोयमा ! अट्ठ नामधेज्जा पण्णत्ता तं जहा कण्हराईइ वा मेहराईइ वा मेघाइ वा माघवईइ वा वायफलिहाइ वा वायपलिक्खोभाइ वा देवफलिहाइ वा देवफलिक्खोभाइ वा ।

(नो असुरइत्ति) असुरनागकुमाराणां तत्र गमनासम्भवात् । (कण्हराइत्ति) पूर्ववत् (मेघराजीति वा) कालमेघरेखातुल्यत्वात् मेघेति वा) तमिस्रतया षष्ठनरकपृथ्वीतुल्यत्वात् (माघवइति वा) तमिस्रयैव सप्तमनरकपृथिवीतुल्यत्वात् (वायफलिहाइ व त्ति) वातोऽत्र वात्या तद्वद्वा तमिस्रत्वात्परिघश्च दुर्लङ्घ्यत्वात् सा वातपरिघः (वायपरिक्खोभेइ व त्ति) वातो त्रापि वात्या तद्वद्वा तमिस्रत्वात्परिक्षोभहेतुत्वात्सा वातपरिक्षोभ इति (देवफलिहाइ व त्ति) देवानां परिघ इवार्गलेव दुर्लङ्घ्यत्वाद्देवपरिघ इति (देवपलिक्खोभेइ व त्ति) देवानां परिक्षोभहेतुत्वादिति ।

कण्हराईओ णं भंते ! किं पुढविपरिणामाओ आउजीवपोग्गलपरिणामाओ ? गोयमा ! पुढविपरिणामाओ वि नो आउपरिणामाओ जीवपरिणामाओ वि पोग्गलपरिणामाओ वि । कण्हराईसु णं भंते ! सव्वे पाणाभूया जीवा सत्ता उववण्णपुव्वा ? हंता ! गोयमा ! असइं अदुवा अणंतरक्खुत्तो नो चेव णं वायरआउकाइयत्ताए बादरअगणिकाइयत्ताए वा बादरवणप्फइकाइयत्ताए वा एयासि णं अट्ठण्हं कण्हराईणं अट्ठसु उवासंतरेसु अट्ठ लोगंतियविमाणा पण्णत्ता तंजहा अची अचिमाली वइरोयणे पभंकरे चंदाभे सुराभे सुक्काभे सुपइट्ठाभे मज्झे रिट्ठाभे म० ६ श० ५ उ०।

एतासामष्टानां कृष्णराजीनामष्टस्ववकाशान्तरेषु राजीद्वयमध्यलक्षणेष्वष्टौ लोकान्तिकविमानानि भवन्ति एतानि चैवं प्रज्ञप्त्यामुच्यन्ते अरभ्यन्तरपूर्वाया अग्रेऽर्चिर्विमानं तत्र सारस्वता देवाः पूर्वयोः कृष्णराज्योर्मध्ये अर्चिर्मालीविमाने आदित्या देवा अभ्यन्तरदक्षिणाया अग्रे वैरोचने विमाने बाह्यदक्षिणयोर्मध्ये शुभङ्करे वरुणा अभ्यन्तरपश्चिमाया अग्रे चन्द्राभे गर्दतोया अपरयोर्मध्ये सुराभे तुषिता अभ्यन्तरोत्तरा अग्रेऽङ्काभे अव्याबाधा उत्तरयोर्मध्ये सुप्रतिष्टाभे आग्नेयाः बहुमध्यभागे रिष्टाभे विमाने रिष्टा देवा इति । स्था० ८ ठा० ।

एएसि णं अट्ठसु लोगंतियविमाणेसु अट्ठविहा लोगंतिया देवा पण्णत्ता तं जहा सारस्सयमाइच्चा वण्ही वरुणा य गद्दतोया य तुसिया अव्वावाहा अग्गिच्चा चेव बोधव्वा । स्था० ८ ठा० ।

ईशानस्याग्रमहिष्याश्च । जी० ४ प्रति० । ती० (भवान्तरचरित्रमग्गमहिषीशब्दे उक्तम्)

कण्हरिसि पुं० (कृष्णर्षि) शङ्खावती नगरीजाते स्वनामख्याते तपस्विभेदे, " एसा संखावई नाम नयरी महातवसिस्स सुगहियनामधिज्जस्स कण्हरिसिणो जम्मभूमि त्ति " तीर्थ० ।

कण्हवडिंसय—न० (कृष्णावतंसक) ईशानसत्कस्वनामख्याते विमानभेदे, ज्ञा० २० अ० ।

कण्हसप्प—पुं० (कृष्णसर्प) नित्य० कर्म० स० कृष्णवर्णे सर्पजातिभेदे, जी० ३ प्रति० २ उ० । स्त्रियां जातित्वेऽपि संयोगोपधत्वात् टाप् । ओषधिभेदे, वाच० । राहौ च । यतः कृष्णसर्प इति तस्य गौणं नामधेयम् सू० प्र० २० पाहु० ।

कण्हसिरि—स्त्री० (कृष्णश्री) रोहीरनगरे दत्तस्य सार्थवाहस्य भार्य्यायां, देवदत्ताया मातरि, विपा० १ श्रु० ५ अ० ।

कण्हा—स्त्री० (कृष्णा) द्रौपद्याम्, प्रति० । ईशानस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य प्रथमाग्रमहिष्याम्, जी० । ती० । भ० (भवान्तरवक्तव्य अग्गमहिसीशब्दे उक्ता) श्रेणिकभार्यायां कृष्णकुमारमातरि, नि० । विजयपुरनगरे वासवदत्तस्य राज्ञः पट्टराज्ञ्याम्, वि० २ श्रु० ४ अ० । आभीरविषये वहन्त्यां नद्याम्, " आभीविषये वण्हाए वेण्णए य नदीए अंतरा तावसा परिवसंति " यत्र ब्रह्मद्वीपः । आ० म० द्वि० । आ० चू० । नि० चू० । आ० क० ।

कण्हुइ—अव्य० (क्वचित्) क्वचिदर्थे, दशा० ६ अ० । कस्मादित्यर्थे, "बुद्धपुत्ताणिया गद्दी न निक्कसिज्जइ कन्हुइ" उत्त० २ अ० ।

कण्हुइरहस्सिय—त्रि० (क्वचिद्राहस्यिक) क्वचित्कार्य्ये मण्मल—प्रवेशादिके रहस्यं येषां ते क्वचिद्राहस्यिकाः । तथाविधेषु आरण्यकेषु पाखण्मिकेषु, सूत्र० १ श्रु० १ उ० । दशा० ।

कत्तण—न० (कर्तन) कृत्—भावे ल्युट्—छेदने, आ० चू० ५ अ० । सूत्र० । विदारणे, उत्त्रोटने, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० । स० । कर्तरि ल्युट्—शिथिलीकरणे, करणे ल्युट्—कर्त्तनसाधने, त्रि० स्त्रियां ङीप् । कर्तनी, कृत्—कर्त्तरि—ल्युट्—भेदकर्त्तरि, त्रि० वाच० ।

कत्तयंती—स्त्री० (कर्त्तयन्ती) कर्त्तर्य्या वस्त्रादिछिन्दन्त्याम्, " कर्त्तयन्त्या निष्ठीवनलिप्तौ हस्तौ " आव० ४ अ० ।

कत्तरिमुंड—पुं० (कर्त्तरिमुण्ड) कर्त्तर्य्या मुण्डने, मुण्डिते च त्रि० "अद्धमासिए कत्तरिमुंडे" यदि कर्त्तर्य्या कारयति तदा पक्षे पक्षे गुप्तं करणीयं तत्र प्रायश्चितं निशीथोक्तम् । कल्प० ।

कत्तरी—स्त्री० (कर्त्तरी) कृत्—धञ् । कर्ते राति ददाति रा—क—गौरा० ङीष् —**र्त्तस्याऽधूर्तादौ ८ । २ । ३०** । इति र्त्तस्य धूर्तादित्वान्न टः । प्रा० । कृपाण्याम्, पत्रवस्त्रादेश्छेदनसाधने अस्त्रभेदे, (कतरनी) " क्रूरमध्य—गतश्चन्द्रो, लग्नं वा क्रूरमध्यगम् । कर्तरीनामयोगोऽयम् " इति ज्योतिषोक्ते योगभेदे, कृत् अरिः कर्त्तरिरित्यप्यत्र स्त्री० स्वार्थे , कन् कर्तरिकाऽप्यत्र स्त्री० वाच० । आव० ।

कत्तवार—त्रि० (कर्त्तवार) कचवरप्राये असारे, ध० २ अधि० ।

कत्तवीरिय—पुं० (कार्त्तवीर्य) कृतवीर्यस्यापत्यम् अण्—कृतवीर्यनृपापत्ये, परशुरामस्य मातृष्वसुःपुत्रे, आ० क० । आ० म० द्वि० । आ० चू० । (स च यमदग्निमुनेर्गाः समाहरन् परशुरामेण मारितः इति कोह शब्दे उदाहरिष्यते) अस्यैव पुत्रो नाम्ना सुभूमोऽष्टमश्चक्रवर्ती जातः । स० । आ० चू० । आव० ।

कत्तव्व—त्रि० (कर्त्तव्य) कृ—आवश्यके, तव्य० कर्तुं योग्ये, " मासैरष्टभिरहा च, पूर्वेण वयसाऽऽयुषा । तत्कर्त्तव्यं मनुष्येण, यस्यान्ते सुखमेधते " । आ० चू० १ अ० ।

कत्ता—त्रि० [क (र्ता) तृ] कृ—तृ० कर्मणां कारके, कर्तृशब्दस्य ऋदन्तत्वादृकारस्य च प्राकृतेऽभावात् नामावस्थारूपं विभक्तिरहितं दर्शयितुमशक्यं सत्यामेव विभक्तौ प्राकृतलक्षणप्रवृत्तेश्च एवं

मात्रादिशब्देष्वपि ज्ञेयम् । अर्थप्रदर्शकशब्दस्य शैलीप्राप्तसम्पन्नत्व-संरक्षणायान्यथापि क्वचिद्दर्शितम् आ० म० द्वि० । स्वतन्त्रः कर्त्ता यः स्वतन्त्रं स्वाधीनकरणं स कर्त्ता यथा घटस्य कर्त्ता कुम्भकारः । अष्ट० " कारिरित्यस्य रूपान्तरम् " कारिं भोइं च सयस्स कम्मस्स " कर्त्तारं निर्वर्तकं कर्मणः । आव० ४ अ० । दर्श० ।

कत्ति–स्त्री० (कृत्ति) कृत्यते–कृत्–कर्मणि–क्तिन् । चर्मणि, । नि० चू० १ उ० । औ० । बृ० ।

कत्तिम–न० (कृत्रिम्) कृ–क्त्रिः क्त्रेर्मप् च । विडलवणे, मेदि० । काचलवणे, तुरुष्कनामगन्धद्रव्ये च राज नि० । सिल्हके, पुं० मेदि० । क्रियया निष्पन्नमात्रे, त्रि० वाच० । " कत्तिमेहिं चेव अकत्तिमेहिं चेव " जं० २ वक्ष० ।

कत्तिय–पु० (कार्त्तिक) कृत्तिका नक्षत्रेण युक्ता पौर्णमासी–कृत्तिका–अण्–ङीष्–कार्त्तिकी साऽस्मिन् मासे अण्–पक्षे–ठक् । मासभेदे, यन्मासीयपौर्णमास्यां कृत्तिकानक्षत्रसंबन्धः सम्भवति वाच० । आ० म० प्र० । उत्त० । स्था० । स० । स्वनामख्याते श्रेष्ठिनि,

तत्कथानकं चैवम् ।

तेणं कालेणं तेणं समएणं विसाहा णाम णयरी होत्था वण्णओ सामी समोसढेऽजा पज्जुवासइ तेणं कालेणं तेणं समएणं सक्केदेविंदे देवराया वज्जपाणी पुरंदरे एवं जहा सोलसमसए विइयउद्देसए तहेव दिव्वेण जाणविमाणेण आगओ णवरं एत्थं आभिओगा वि अत्थि जाव वत्तीसइविहं नट्टविहं उवदंसेइ उवदंसेइत्ता जाव पीडगए भंतेति । भगवं गोयमं समणं भगवं महावीरं जाव एवं वयासी जहा तइयसए ईसाणस्स तहेव कूडागारसाला दिट्ठंतो तहेव पुव्वभवपुच्छा जाव अभिसमणागया गोयमादि समणे भगवं महावीरं भगवं गोयमं एवं वयासी एवं खलु गोयमा ! तेणं कालेणं तेणं समएणं इहेव जंबुद्दीवे दीवे भरहे वासे हत्थिणाउरे णामं णयरे होत्था वण्णओ, सहसंववणे उज्जाणे वण्णओ तत्थ णं हत्थिणाउरे णयरे कत्तियणामं सेट्ठी परिवसइ अड्ढे जाव अपरिभूए णेगम पढमा सणिए णेगममट्ठसहस्सं बहुसु कज्जेसु य कारणेसु कुटुंबेस य एवं जहा रायप्पसेणइज्जे चित्ते जाव चक्खूभूए णेगमट्ठ सहस्सस्स सीयस्स स कुडुंबस्स य आहेवच्चं जाव कारेमाणे पालेमाणे समणे वासाए अभिगयजीवाजीवे जाव विहरइ । भ० १८ श० २ उ० ।

(निरुपयोगिनी टीकेति न गृहीता) अत्र वृत्तान्तरम् । तथाहि पृथिवीभूषणनगरे प्रजापालो नाम राजा कार्तिकनामा श्रेष्ठी तेन श्राद्धप्रतिमानां शतं कृतं ततः शतक्रतुरिति ख्यातिः । एकदा च गैरिकपरिव्राजको मासोपवासी तत्रागतः एकं कार्तिकं विना सर्वोऽपि लोकस्तद्भक्तो जातः तच्च ज्ञात्वा कार्तिकोपरि गैरिको रुष्टः । एकदा च राज्ञा निमन्त्रितोऽवदत् । यदि कार्तिकः परिवेषयति तदा तव गृहे पारणं करोमि राज्ञा तथेति प्रतिपद्य कार्तिकायोक्तम् । यत्त्वं मगृहे गैरिकं भोजय ततः कार्तिकेणोक्तं राजन् ! भवदाज्ञया भोजयिष्यामि ततः श्रेष्ठिना भोज्यमानो गैरिको धृष्टोऽसीति अङ्गुल्या मासिकां स्पृशंश्चेष्टां चकार । श्रेष्ठी दध्यौ यदि मया पूर्वं दीक्षा गृहीता ऽभविष्यत् तदाऽयंपरिभविष्यदिति विचिन्त्याष्टाधिकसहस्रेण वणिक्पुत्रैः सह चारित्रं गृहीत्वा द्वादशाङ्गी-मधीत्य द्वादशवर्षपर्यायैः सौधर्मेऽभूत् । गैरिकोऽपि निजधर्म्मतस्तद्वाहनं ऐरावतोऽभवत् । ततः कार्तिकोऽयमिति ज्ञात्वा पलायमानं धृत्वा शक्रः शीर्षव्यारूढः शक्रभापनार्थं रूपद्वयं कृतवान् शक्रोऽपि तथा एव रूपचतुष्टयं चकार । ततश्चावधिना ज्ञातस्वरूपः शक्रस्तं तर्जितवान् तर्जितश्च स्वाभाविकं रूपं चक्रे इति कल्प आ० चू० । आव० । ती० ।

तेणं कालेणं तेणं समएणं मुणिसुव्वए अरहा आदिगरे जहा सोलसमसए तहेव समोसड्ढे जाव परिसा पज्जुवासइ तए णं से कत्तिए सेट्ठी इमी से कहाए लद्धट्ठे समाणे हट्ठतुट्ठ एवं जहा एक्कारसमसए सुदंसणे तहेव णिग्गओ जाव पज्जुवासइ तहेणं मुणिसुव्वए अरहा कत्तियस्स सेट्ठिस्स धम्मकहा जाव परिसा पडिगया तएणं से कत्तिए सेट्ठी मुणिसुव्वयस्स जाव णिसम्म हट्ठतुट्ठ उट्ठाए उट्ठेइ उट्ठेइत्ता मुणिसुव्वय जाव एवं वयासी एवमेयं भंते ! जाव से जहेयं तुज्झे वदह जं णवरं देवाणुप्पिया ! णेगमट्ठसहस्सं आपुच्छामि जेट्ठपुत्तं कुटुंबे ठावेमि तए णं अहं देवाणुप्पियाणं अंतियं पव्वयामि अहासुहं जाव मा पडिबंधं करेह तए णं से कत्तिए सेट्ठी जाव पडिणिक्खमइ पडिणिक्खमइत्ता जेणेव हत्थिणापुरे णयरे जेणेव सए गिहे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता णेगमट्ठसहस्सं सद्दावेइ सद्दावेइत्ता एवं वयासी एवं खलु देवाणुप्पिया ! मए मुणिसुव्वयस्स अरहओ अंतियं धम्मं णिस्संते सेवियधम्मं इच्छिए पडिच्छिए अभिरुइए तएणं अहं देवाणुप्पिया ! संसारभयउव्विग्गे जाव पव्वयामि तं तुब्भे देवाणुप्पिया ! किं करेह किं वसह किं मे हियइच्छिय किं भे सामत्थे तएणं णेगमट्ठसहस्सं तं कत्तियं सेट्ठिं एवं वयासी जइ णं देवाणुप्पिया ! संसारभयउव्विग्गा भीया जाव पव्वयाहिसि अम्हं देवाणुप्पिया ? किं अण्णे आलंबे वा आहारे वा पडिबंधे वा अम्हे वि णं देवाणुप्पिया संसारभयुव्विग्गा भीया जम्ममरणाणं देवाणुप्पिएहिं सद्धिं मुणिसुव्वयस्स अरहओ अंतियं मुडे भवित्ता आगाराओ जाव पव्वयामो । तए णं से कत्तिए सेट्ठी णेगवट्ठसहस्सं एवं वयासी । जइ णं देवाणुप्पिया ! संसारभयुव्विग्गा भीया जम्ममरणाणं मए सद्धिं मुणिसुव्वय जाव पव्वायह । तं गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! सएसु सएसु गेहेसु विपुलं असनं जाव उवक्खडावेह मित्तणाइ जाव जेट्ठपुत्तं कुडुंबे ठावेह ठावेइत्ता तं मित्तणाइ जाव जेट्ठपुत्तं आपुच्छेह आपुच्छइत्ता पूरिससहस्स वाहिणीओ सीयाओ दुरूहह दुरूहइत्ता मित्त जाव परिजणेणं जेट्ठपुत्तेहि य समणुगम्ममाणमग्गा सव्विड्ढिए जाव रवेणं अकालपरिहीणं चेव ममं अंतियं पाउब्भवह तएणं ते णेगमट्ठसहस्सं पि कत्तियस्स सेट्ठिस्स एयमट्ठं वि–

णएणं पडिसुणेंति पडिसुणेंतित्ता जेणेव साइं साइं गिहाइं तेणेव उवागच्छंति उवागच्छइत्ता विपुलं असणं जाव उवक्खडावेंति उवक्खडावेंतित्ता मित्तणाइ जाव तस्सेव मित्तणाइ जाव पुरओ जेट्ठपुत्तं कुडुंबे ठावेंति ठावेंतित्ता तंमित्तणाइ जाव जेट्ठपुत्ते य आपुच्छंति आपुच्छंतित्ता पुरिससहस्सवाहिणीओ सीयाओ दुरूहंति दुरूहंतित्ता मित्तणातिणियगपरिजणेणं जेट्ठपुत्तेहिं य समणुगम्ममाणमग्गा सव्विड्ढीए जाव रवेण अकालपरिहीणं चेव कत्तियस्स सेट्ठियस्स अंतियं पाउब्भवंति तए णं से कत्तिए सेट्ठी विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं जहा गंगदत्तो जाव मित्तणाइ जाव परिजणेणं जेट्ठपुत्तं णेगमट्ठसहस्सेण य समणुगम्ममाणमग्गे सव्विड्ढीए जाव रवेणं हत्थिणापुरं णयरं मज्झं मज्झेणं जहा गंगदत्तो जाव आलित्तेणं भंते ! लोए पलित्तेणं भंते ! लोए आलित्तपलित्तेणं भंते ! लोए जाव आणुगामियत्ताए भविस्सइ। इच्छामि णं भंते ! णेगमट्ठसहस्सेणं सद्धिं सयमेव पव्वावियं मुंडावियं जाव माइक्खयं। तए णं मुणिसुव्वए अरहा कत्तियं सेट्ठिं णेगमट्ठसहस्सेणं सद्धिं सयमेव पव्वावेइ जाव धम्ममातिक्खंति एवं देवागुप्पिया गंतव्वं एवं चिट्ठियव्वं जाव संजमियव्वं। तए णं से कत्तिए सेट्ठी णेगमट्ठसहस्सेण सद्धिं मुणिसुव्वयस्स अरहओ इमं एयारूवं धम्मिय उवदेसं सम्मं संपडिवज्जइ। तमाणाए तहा गच्छइ जाव संजमइ। तए णं से कत्तिए सेट्ठी णेगमट्ठसहस्सेण सद्धिं अणगारे जाव इरियासमिए जाव गुत्तबंभयारी तए णं से कत्तिए अणागारे मुणिसुव्वयस्स अरहओ तहारूवाणं थेराणं अंतियं सामाइयमाइयाइं चउद्दसपुव्वाइं अहिज्जइ अहिज्जइत्ता बहूइं चउत्थछट्ठट्ठमं जाव अप्पाणं भावेमाणे बहुपडिपुण्णाइं दुवालसवासाइं सामराणपरियागं पाउणइ पाउणइत्ता मासियाए संलेहे णाए अत्ताणं झोसेइ झोसेइत्ता सट्ठिभत्ताइं अणसणाइं छेदेइ छेदेइत्ता आलोइयपडिक्कंते जाव किच्चा सोहम्मे कप्पे सोहम्मवडेंसए विमाणे उववायसभाए देवसयणिज्जंसि जाव सक्के देविंदत्ताए उववण्णे। तए णं सक्के देविंदे देवराया अहुणोववण्णे सेसं जहा गंगदत्तस्स जाव अंतं काहित्ति णवरं तिण्ह दोसागरोवमाइं पण्णत्ता सेवं भंते ! भंतेत्ति। भ० १८ श० २ उ०।

षष्ठतीर्थकरस्य पूर्वभवे जीवे, स०। शरवणसंनिवेशे जाते तपस्विवरे, स चानशनं कृत्वा शरीरं व्यसृजतेति अनशनशब्दे उक्तम् संथा। कृत्तिकासु जातः कार्तिकः कृतिकानक्षत्रोत्पन्ने पुत्रादौ, अनु०। कृत्तिकानामयं पोष्यत्वेन अण् अग्नौ। निषिक्तरुद्रतेजोजाते स्कन्दे देवे, कार्तिकेयोऽप्यत्र वाच०।

कत्तिया–स्त्री० (कर्त्तिका) कर्त्तर्य्याम्, गृहीतोपधिमित्युक्ते, स एवोपधिमग्रहीत्। कर्त्तिकां कङ्कलोहस्यागोपितां चाददे तदा। आ० क०। स्था० ६ ठा०। कृतिका स्त्री० कृन्तति–उग्रत्वात्–कृत्–ति कनकिच्च। अभिजिदादिषु दशमे नक्षत्रे वाच०। कृत्तिकानक्षत्रस्याग्निर्देवता "कत्तियाए अग्गिदेवयाए" ज्यो० ६ पाहु०। स्था०। जं०। "कत्तियाइ यासत्तनक्खत्ता पुव्वदरिया" पं० सं०। "कत्तिया णक्खत्ते छत्तारे" पं० सं०। स्था० "दो कत्तियाओ स्था० २ ठा०। "कत्तियाणक्खत्ते सव्वबाहिराओ मंडलाओ दसमे मंडले चारं चरइ" स्था० १० ठा०। कार्तिकी–स्त्री० कृत्तिकायां भवः कार्तिकी। कार्तिकमासभाविन्यां पूर्णिमायाम्–चं० प्र० १० पाहु०। पूर्णिमाशब्दे वक्तव्यता। कृतिकानक्षत्रेणोपलक्षितो यः कार्तिको मासः सोऽप्युपचारात् कार्तिकी तस्यां भवा कार्तिकी कृत्तिकानक्षत्रपरिसमाप्यमानकार्तिकमासभाविन्यामावास्यायाम् चं० प्र० १० पाहु०। सू० प्र०। आव०।

कत्तियासणिच्छरसंवच्छर–पुं० (कृतिकाशनैश्चरसंवत्सर) शनैश्चरसंवत्सरभेदे, यस्मिन् संवत्सरे कृतिकानक्षत्रेण शनैश्चरो योगमुपादत्ते, जं० ७ वक्ष०।

कत्तिवविय–त्रि० (कृत्रिम) सद्भावरहिते, " कत्तिवावियाहिं उवहिप्पहाणाहि " सूत्र० १ श्रु० ४ अ०।

कत्तो–अव्य० (कुतस) **तो दो तसो वा** ८। २। १६०। इति तसः प्रत्ययस्य स्थाने तो प्रा०। **किमः कस्तसोश्च** ८। ३। ७१। इति किमः कः कत्तो कदो कस्मादित्यर्थे, कत्तो तं चक्कवट्टी वि प्रा०। आ० म० द्वि०।

कत्थ–न० (कथ्य) यत्र कथिकादि गीयते तस्मिन् गेयभेदे, जी० ३ प्रति० २ उ०। जं०। रा०। कथायां साधु कथ्यम् ज्ञाताध्ययनवत्। काव्यभेदे, स्था० ४ ठा०। अनन्तवनस्पतिभेदे, आचा० १ अ० ५ उ०। प्रज्ञा०।

***कुत्र**–अव्य०। किम् सप्तम्यास्त्रल् तस्य त्थ– **किमः कस्तसोश्च** ८। ३। ७१। इति किमः कः। कत्थ, प्रा० (क्व) कस्मिन्नित्यर्थे व्य० १ उ० " कहिं वोहिं चइत्ताणं, कत्थ गंतूणं सिज्झइ " औ०।

कत्थइ–अव्य० (क्वचित्) क्वचित्। **गोणादयः** ८। २। १७४। इति निपातनात् कत्थइ, प्रा०। कुत्रचिदर्थे, " अणत्थकत्थइ " अनु०। पंचा०।

कत्थंत–त्रि० (कत्थ्यमान) कथ–कर्मणि यक्। **गमादीनां द्वित्वम्** ८। ४। २४६। इति थस्य द्वित्वं तत्सन्नियोगेन यलुक्। वाचा प्रवध्यमाने, प्रा०।

कत्थूरी–स्त्री० (कस्तूरी) कसति गन्धोऽस्याः दूरतः कस्–ऊरवातुट् च मृगभेदे मृगनाभिजाते गन्धद्रव्यभेदे, स्वार्थे कन्। कस्तूरिका तत्रैव वाच०। कल्प०। संथा।

कद्दम–पुं० (कर्दम) कर्द–अम जम्बाले, स्था० ३ ठा०। पङ्के, स्था० ५ ठा०। यत्र प्रविष्टः पादादिनाऽऽकष्टुं शक्यते कष्टेन वा शक्यते स्था० ४ ठा०। "अवइट्ठनिसुद्धभिण्णपलियपगलियरुहिरकयभूमिकद्दमयचिक्खिल्लपहे " प्रश्न० १ अध० ४ अ०। कारणे–अम–पापे, औणादिकः तस्य कुत्सितशब्दहेतुत्वात् तथात्वम्। मांसे, न० शब्दचि०। तत्सेवने हि उदारशब्दो जायते इति तस्य तथात्वम् वाच०। ततः ऋश्यादिचतुरर्थ्यां कःकर्दमपङ्कसन्निकटदेशादौ, त्रि० कर्दमो जातोऽस्य तारकाइतच् कर्दमितः। जातकर्दमे, त्रि० अर्श० मत्वर्थेअच्। कर्दमयुक्ते, त्रि० कर्दमिन् पुं० तद्युक्ते,

त्रि० मुद्गवृक्षे, पुं० वैध० । तस्य कर्दमसमीपजातत्वात्तथात्वम् । पृषो० कर्द्रमीत्यपि तत्रार्थे वाच० ।

कद्दमउवमा–स्त्री० (कर्दमोपमा) कर्दमसादृश्ये, " अहवा जं भुक्खत्तो कद्दमउवमाइ पक्खिवइ कोट्ठे सव्वो सो आहारो अप्पा वा " बुभुक्षया आर्तया कर्दमोपमया गृहादिकोष्ठे प्रक्षिपति कर्दमोपमानामपि कर्दमपिण्डानां कुर्य्यात् कुक्षिं निरन्तरं स सर्वोऽप्याहारः बृ० ६ उ० ।

कद्दमग–त्रि० (कर्दमक) कर्दमे कायति प्रकाशते कै कशालिभेदे, वाच० । जम्बूद्वीपस्य बाह्याद् वेदिकान्ताद् आग्नेय्यां विदिशि द्वाचत्वारिंशद्यो-जनातिक्रमे विद्युत्प्रभविद्युज्जिह्वस्यानुवेलन्धरावासपर्वतस्याधिपतौ देवे, स्था० ४ ठा० । जी० । लवणसमुद्रे, आग्नेय्यां विद्युत्प्रभपर्वतस्तत्र कर्दमको नाम नागराजः भ० ६ उ० ३ श० ।

कद्दमलित्त–त्रि० (कर्दमलिप्त) ३ त० षष्ठ्या लिप्ते खरण्टिते, बृ० १ उ० ।

कधं–अव्य० (कथम्) **थो धः ॥ ८ । ४ । २६७ ।** थस्य धः शौर-सेन्याम् । केन प्रकारेणेत्यर्थे , प्रा० ।

कधितून–अव्य० (कथयित्वा) **पैशाच्यां क्त्वस्तूनः । ८ । ४ । ३१२ ।** इति त्वा प्रत्ययस्य स्थाने तून इत्यादेशः उक्त्वेत्यर्थे, । प्रा० ।

कप्प–पुं० (कल्प) कृप्–णिच् अच् समर्थे, यथा वर्षशतप्रमाणश्चरण-परिपालने कल्पः समर्थः इत्यर्थः । बृ० १ उ० । केवलकल्पं केवलःपरि-पूर्णः स चासौ कल्पश्च स्वकार्य्यकरणे समर्थः इति केवलकल्पःकेवल एव वा कल्पःतं ज्ञा० १३ अ० । वर्णानायाम्, यथाऽध्ययनमिदमनेन कल्पितं वर्णितमित्यर्थः बृ० १ उ० । कल्पनायाम्, स्था० ७ ठा० । छेदने, यथा केशान् कर्त्तर्य्या कल्पयति छिनत्तीत्यर्थः बृ० । नि० चू० । आचा० । करणक्रियायाम्, यथा कल्पिता मयाऽस्या जीविका कृता इत्यर्थः । बृ० १ उ० । आचारे, स्था० ३ ठा० । औपम्ये, यथा सौम्येन तेजसा च यथाक्रममिन्दुसूर्य्यकल्पाः साधवः बृ० १ उ० । केवलकल्पं केवलोपमम् इह कल्पशब्द औपम्ये गृह्यते इति आ० म० प्र० । " उग्गते य कप्पा " कल्पाः सदृशाः प्रश्न० २ सं० द्वा० २ अ० । अधिवासे, यथा सौधर्मकल्पवासी शक्रः सुरेश्वरः उक्तंच " सामर्थ्ये वर्णनायां च, छेदने करणे तथा । औपम्ये चाधिवासे, च कल्पशब्दं विदुर्बुधाः " वृ० । पं० भा० । आ० म० द्वि० । स्था० । कल्पाध्ययननामके छेदग्रन्थविशेषे, जी० १ प्रति० । इह सर्वेष्वप्यर्थेषु गृह्यते सर्वत्रापि घटमानत्वात्तथा हि सामर्थ्ये तावदेतावदेतत्कल्पाध्ययनमधीत्यातीचारमलिनस्य साधोः समर्थः प्रायश्चित्तेन विशोधिमापादयितुं वर्ण्यतेऽपि यावन्तः प्रायश्चित्तप्र-कारास्तान् वर्णयतीदमध्ययनम् । अथवा मूलगुणांश्च कल्पयति वर्णयतीति कल्पः । उक्तंच " कप्पम्मि कप्पिया खलु, मूलगुणा चेव उत्तरगुणा य । ववहारे वहरिया, पायच्छित्ता भवंते य " छेदनेऽपि तपःशोधिमतिक्रान्तस्य पञ्चकादिच्छेदनेन पर्यायं छिनत्ति करणेऽपि यद्दत्तं प्रायश्चित्तं तत्र तथा प्रयत्नं करोति कल्पाध्ययनवेत्ता यथा तत्पारं नयति । अथवा कल्पयति जनयत्याचार्यकमिति कल्पस्तथाहि करोत्याचार्यकं कल्पाध्ययनवेत्ता सम्यगिति औपम्येऽपि कल्पाध्ययन-वेदनात् भवति पूर्वधराणां कल्पसदृश इति कल्पस्तथाहि करोत्याचार्यकं कल्पाध्ययनेऽधीते भवति पूर्वधरसदृशः प्रायश्चित्तविधावाचार्यः । अधिवासेऽपि कल्पाध्ययनवेत्ता कल्पे मासकल्पे वर्षाकल्पे वा कारणमन्तरेण परिपूर्णं कारणवशत ऊनमतिरिक्तं च । अथवा कल्पे स्थविरकल्पे जिनकल्पे वाधिवसतीति कल्पः बृ० १ उ० (कल्पव्यव-हाराध्ययनयोर्भेदोववहारशब्दे)

अस्य चैवमुपोद्घातः ।

प्रकटीकृतनिःश्रेयस–पदहेतुस्थविरकल्पजिनकल्पम्
नम्र शेषनरामर–कल्पितफलकल्पतरूकल्पम् ॥ १ ॥
नत्वा श्रीवीरजिनं, गुरुपदकमलानि बोधविपुलानि ।
कल्पाध्ययनं विवृणोमि, लेशतो गुरुनियोगेन ॥ २ ॥
भाष्यं क्व चातिगम्भीरं, क्व चाहं जडशेखरः ।
तदत्र जानते पूज्या, ये मामेवं नियुज्यते ॥ ३ ॥
अद्भुतगुणरत्ननिधौ, कल्पे साहायकं महातेजाः ।
दीप इव तमसि कुरुते, जयति यतीशः स चूर्णिकृत् ॥ ४ ॥

इह शिष्याणां मङ्गलबुद्धिपरिग्रहाय शास्त्रस्यादौ मध्येऽवसाने चावश्यं मङ्गलमभिधातव्यम् । यत आदिमङ्गलपरिगृहीतानि शास्त्राणि पारगामीनि भवन्ति । मध्यमङ्गलपरिगृहीतानि शिष्यबुद्धिष्वारोपितानि स्थिरपरिचितान्युपजायन्ते । पर्यन्तमङ्गलसमलङ्कृतानि शिष्यप्रशिष्य-परम्परागमनतः स्फीतीभवन्ति । उक्तंच ।

तं मंगलमादीए, मज्झे पज्जंतए स सत्थस्स ।
पढमं सत्थत्था विग्घ पारगमणाय निद्दिट्ठं ॥
तस्से व य छिज्जत्थं, मज्झिमयं अंतिमं पि तस्सेव ।
अव्वोच्छित्ति निमित्तं, सिस्सपसिस्सादिवंसस्स ॥

तत्रादिमङ्गलं पापप्रतिषेधत्वादिदं सूत्रम् ।

" नो कप्पति निग्गंथाणं वा निग्गंथीणं वा आमे तालपलंबे अभिन्ने पडिगाहित्तए " इति मध्यमङ्गलम् । " कप्पति निग्गंथाणं वा णिग्गंथीणं वा पुरच्छिमेणं जाव अंगमगाहातो इत्तए " एवमादिपर्यवसानमङ्गलम् " छव्विहा कप्पट्ठिती पण्णत्ता " इत्यादि । तच्च मङ्गलं चतुर्द्धा वक्ष्यमाण–स्वरूपम् । तत्र यन्नो आगमतो भावमङ्गलं तद् द्विविधं सूत्रभणितं सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्तिभणितं च भाष्यभणितमित्यर्थः । सूत्रस्पर्शिकनिर्यु-क्तेर्भाष्यस्य च संप्रत्येकग्रन्थत्वेन जातत्वात् । अथ कः सूत्रमकार्षीत् । को वा निर्युक्तिं को वा भाष्यमिति उच्यते । इह पूर्वेषु यन्नवमं प्रत्याख्या-ननामकं पूर्वं तस्य यत्तृतीयमाचाराख्यं वस्तु तस्मिन् विंशतितमे प्रावृते मूलगुणेषु उत्तरगुणेषु वा परार्धेषु दशविधमालोचनादिकं प्रायश्चित्तमुपव-र्तितं कालक्रमणे च दुष्षमानुभावतो धृतिबलवीर्यबुद्ध्यायुःप्रभृतिषु परिहीयमाणेषु पूर्वाणि दुरवगाहानि जातानि ततो मा भूत्प्रायश्चित्तव्यव-च्छेद इति साधूनामनुग्रहाय चतुर्द्दशपूर्व्वधरेण भगवता भद्रबाहुस्वामिना कल्पसूत्रं व्यवहारसूत्रं चाकारि । उभयोरपि च सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्ती इमे । अपि च कल्पव्यवहारसूत्रे सनिर्युक्तिकेअल्पग्रन्थतया महार्थत्वेन दुष्ष-मानुभावतो हीयमानमेधाऽयुरादिगुणानामिदानींतनजन्तूनामल्प-शक्तीनां दुर्गत्वे दुरवधारे जाते ततःसुखग्रहणधारणाय भाष्यकारो भाष्यं कृतवान् । तच्च सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्त्यानुगतमिति सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्तिर्भा-ष्यं चैको ग्रन्थो जातः । एष शास्त्रस्योपोद्घातोऽनेन चोपोद्घातेनाभिहितेन सूत्रादयोऽर्था व्यक्ता भवन्ति । यथा दीपेनापरवके तमसि उक्तं च " वत्ती भवंति अत्था, दीवेणं अप्पगासउव्वरए । वत्ती भवंति अत्था, उवघाएणं तहा सत्थे " उपोद्घाताभिधानमन्तरेण पुनः शास्त्रं स्वतोऽतिविशिष्टमपि न तथाविधमुपादेयतया विराजते । तथा नभसि मेघच्छन्नश्चन्द्रमाः । उक्तं च " मेघच्छन्नो यथा चन्द्रो, न राजति नभस्तले । उपोद्घातं विना शास्त्रं, न राजति तथाविधम् " तत्र सूत्रभणितम् । " नो कप्पति निग्गंथाणं वा निग्गंथीणं वा आमे तालपलंबे " इत्यादि सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्तिभणितमिदम् ।

काऊण नमोक्कारं, तित्थयराणं तिलोगमहियाणं।
कप्पव्ववहाराणं, वक्खाणविहिं पवक्खामि॥

कृत्वा विधाय नमस्कारं प्रणामं केभ्य इत्याह। तीर्थकरेभ्यस्तीर्यते संसारसमुद्रोऽनेनेति तीर्थं द्वादशाङ्गं प्रवचनं तदाधारः संघो वा तत्करणशीलास्तीर्थकरास्तेभ्यो गाथायां षष्ठी चतुर्थ्यर्थे प्राकृतत्वादुक्तं च "छट्ठीविभत्तीए भन्नइ चउत्थी इति" किं विशिष्टेभ्य इत्याह। त्रिलोकमहितेभ्यः त्रयो लोकाः समाहृताः समवसरणे त्रयाणामपि सम्भवात्। तथा हि समागच्छन्ति भगवतां तीर्थकृतां समवसरणेष्वधोलोकवासिनो भवनपतयस्तिर्यग्लोकवासिनो वानमन्तरतिर्यक्पञ्चेन्द्रियज्योतिष्का ऊर्द्धलोकवासिनः कल्पोपपन्नका देवास्त्रिलोकेन महिता पूजिताः त्रिभिर्वा लोकैर्महितास्त्रिलोकमहितास्तेभ्यः नमस्कारं कृत्वा किमित्याह। कल्पश्च व्यवहारश्च कल्पव्यवहारौ तयोर्व्याख्यानविधिमनुयोगविधिं प्रकर्षेण भृशं वा वक्ष्यामि। (कल्पव्यवहारयोर्भेदो ववहारशब्दे) (अनुयोगशब्देऽस्यानुयोग उक्तः) बृ० १ उ०।

स च षडविधः।

नामं छव्विहकप्पो, दव्वे वासिपरसुमाईसु।
खित्ते काले जहुव-क्कममि भावे उ पंचविहो॥

नामनिष्पन्ने निक्षेपे कल्प इति नाम। स च षोढा तथा नामकल्पः स्थापनाकल्पो द्रव्यकल्पः क्षेत्रकल्पः कालकल्पो भावकल्पश्च। तत्र नामस्थापने प्रतीते द्रव्यकल्पो येन वासीपरश्वादिना द्रव्येण कल्पते तद्द्रव्यकल्पम्। क्षेत्रकल्पो यथा क्षेत्रोपक्रमः। कालकल्पो यथा कालोपक्रमः भावकल्पः पञ्चविधः पञ्चप्रकारस्तमेवाह।

छव्विह सत्तविहे वा, दसविह वीसइविहे य बायाला।
जस्स उ नत्थि विभागो, सुव्वत्तजलंधकारो सो॥

भावतः कल्पः षड्विधः सप्तविधो दशविधो विंशतिविधो द्वाचत्वारिंशद्विधश्च एते पञ्चापि प्रकाराः पञ्च कल्पे व्याख्यातास्तथा ज्ञातव्या यस्य त्वेष विभागः पञ्चप्रकारो भावकल्पपरिज्ञानं नास्ति (से) तस्य सुव्यक्तं जडान्धकारः। (बृ० १ उ०)

सूत्रनिर्युक्तिभाष्यचूर्णिवृत्तिकृतां नामानि वृत्तिकारौ च द्वौ तत्र कियती वृत्तिः केन कृतेत्यपि चाह।

नतमघवमौलिमण्डल-मणिमुकुटमयूखधौतपदकमलम्।
सर्वज्ञममृतवाचं, श्रीवीरं नौमि जिनराजम्॥ १॥
चरमचतुर्दशपूर्वी-कृतपूर्वीकल्पनामकाध्ययनम्।
सुविहितहितैकरसिको, जयति श्रीभद्रबाहुगुरुः॥ २॥
कल्पेऽनल्पमनर्घ्यं, प्रतिपदमर्पयति योऽर्थनिकुरम्बम्।
श्रीसङ्घदासगणये, चिन्तामणये नतस्तस्मै॥ ३॥
शिवपदपुरपथकल्पं, कल्पं विषममपि दुष्षमारात्रौ।
सुषमीकरोति यच्चू-र्णिदीपिका स जयति यतीन्द्रः॥ ४॥
आगमदुर्गमपदसं-शयादितापो विलीयते विदुषाम्।
यद्वचनचन्दनरसै-र्मलयगिरिः स जयति यथार्थः॥ ५॥
श्रुतलोचनमुपनीय, ममापनीय जडिमजन्मान्ध्यम्।
यैरदर्शि शिवमार्गः, स्वगुरूनपि तानहं वन्दे॥ ६॥
ऋजुपदपद्धतिरचनां, बालशिरःशेखरोऽप्यहं कुर्वे।
यस्याः प्रसादवशतः, श्रुतदेवी साऽस्तु मे वरदा॥ ७॥
श्रीमलयगिरिप्रभवो, यां कर्तुमुपाक्रमन्त मतिमन्तः।
सा कल्पशास्त्रटीका, मयानुसंधीयतेऽल्पधिया॥ ८॥

इह श्रीमदावश्यकादिसिद्धान्तप्रतिबद्धनिर्युक्तिशास्त्रसंसूत्रणसूत्रधारःपरोपकारकरणैकदीक्षादीक्षितसुगृहीतनामधेयः। श्रीभद्रबाहुस्वामी सकर्णकर्णपुटपीयमानपीयूषायमाणललितपदकलितपेशलालापकं साधुसाध्वीगतकल्प्याकल्प्यपदार्थसार्थविधिप्रतिषेधरूपकं यथायोगमुत्सर्गापवादपदपदवीसूत्रकवचनरचनागर्भं परस्परमनुस्थूताभिसम्बन्धुरपूर्वापरसूत्रसंदर्भं प्रत्याख्यानाख्यनवमपूर्वान्तर्गताचारनामकतृतीयवस्तुरहस्यनिष्पन्दकल्पं कल्पनामधेयमध्ययनं निर्युक्तियुक्तं निर्गूढवान् अस्य च स्वल्पग्रन्थामहार्थतया प्रतिसमयमवसर्प्पिणीपरिणतिपरिहीयमाणमतिमेधाधारणादिगुणग्रामाणामैदंयुगीनसाधूनां दुरवबोधतया च सकलत्रिलोकीसुभगंकरणक्षमाश्रवणनामधेयोऽभिधेयैः श्रीसङ्घदासगणिपूज्यैः प्रतिपदप्रकटितसर्वज्ञाज्ञाविराधनासमुद्भूतप्रत्यपायजालं निपुणचरणपरिपालनोपायगोचरविचारवाचालं सर्वथा दूषणकरणेनाप्यदूष्यं भाष्यं विरचयांचक्रेऽहमप्यतिगम्भीरतया मन्दमेधसां दुरवगममवगम्य यद्यप्यनुपकृतपरोपकृतिकृता चूर्णिकता चूर्णिरासूत्रि तथापि सा निविडजडिमजम्बालजालजटिलानां मादृशां जन्तूनां न तथाविधमवबोधनिबन्धनमुपजायते इति परिभाव्य शब्दानुशासनादिविश्वविद्यामयज्योतिःपुञ्जपरमाणुघटितमूर्तिभिः श्रीमलयगिरिमुनीन्द्रर्षिपादैर्विवरणकरणमुपचक्रमे तदपि कुतोऽपि हेतोरिदानीं परिपूर्णं नावलोक्यते इति परिभाव्य मन्दमतिमौलिमणिनाऽपि मया गुरूपदेशं निश्रीकृत्य श्रीमलयविरचितविवरणादूर्द्धं विवरीतुमारभ्यते। (बृ० १ उ०) पीठिकासमाप्तौ काव्यम्।

चारित्रभूपालनिवासहेतु-प्रासादकल्पे किल कल्पशास्त्रे।
सुवर्णबद्धा सुरसावगाढा, समर्थिता संप्रति पीठिकेयम्॥

इति कल्पपीठिका परिसमाप्ता। समाप्ते प्रलम्बसूत्रे काव्यम्।

दुर्गस्थानबहुत्वभीरुकतया मन्दाऽपि दांतु पदा-
न्येतच्चूर्णिनिशीथचूर्णियुगलीयष्टिद्वयीदर्शनात्।
प्रेर्य्य प्रेर्य्य पदे पदे निजगवीक्षिप्रप्रचारं मया,
कल्पे यत्प्रकृतं प्रलम्बविषयं तद्गोचरे चारितम्।

मासकल्पसमाप्तौ काव्यम्॥

चूर्णिश्रीवृद्धभाष्यप्रभृतिबहुतिथग्रन्थसार्थाभिरामा-
रामादर्थप्रतानैस्त्वरितमवचितैः सूक्तिसौरभ्यसारैः।
चेतःपट्टे निधाय स्वगुरुशुचिवरैस्तन्तुभिर्गुम्फितेयं,
श्रीकल्पे मासकल्पप्रकृतिविचरणस्रङ्मया भव्ययोग्या।

समग्रस्य कल्पाध्ययनस्य प्रथमोद्देशकस्यान्त्यसूत्रस्य वा ज्ञाने दृष्टान्ततः।

अथ निर्युक्तिविस्तरः

जो एतं न विजाणइ, पढमुद्देसस्स अंतिमं सुत्तं।
अहव ण सव्वज्झयणं, तत्थ उ णाणं इमं होइ॥

यश्चाचार्य! एतत्प्रस्तुतं प्रथमोद्देशकस्यान्त्यं सूत्रं न जानाति। अथवा सर्वमपीदं कल्पाध्ययनं यो न जानाति तत्राचार्ये इदं वक्ष्यमाणज्ञानमुदाहरणं भवति। आह किमर्थं प्रथमोद्देशकस्यान्त्यसूत्रं न जानातीत्युक्तम्? उच्यते।

उज्जालितो पदीवो, चाउस्सालस्स मज्झभागम्मि।
पमुहे वा तं सव्वं, चाउस्सालं पगासेति॥

चतुःशालस्य गृहस्य मध्यभागे प्रमुखे वा प्रवेशनिर्गमभुखे प्रदीपो ज्वालितः सन् तच्चतुःशालं सर्वमपि प्रकाशयति एवमत्रापि सकलाध्ययनवर्तिनि प्रस्तुतसूत्रे यदिदं प्रथमोद्देशकस्यान्त्यसूत्रं न जानातीत्युक्तं तन्मध्यदीपकमवगन्तव्यम्। यद्वा यस्मा –

यत्र प्रथमोद्देशके समासतः सर्वोऽपि समाचारी समर्थिता। ततश्चतुःशालप्रमुखो ज्वालितप्रदीप इवेदमन्त्यदीपकमवसातव्यम्। ततश्चेदमुक्तं भवति यः पठन्न कल्पाध्ययनं प्रथमोद्देशकं वा जानाति स गणपरिवर्त्ती भगवद्भिर्नानुज्ञातः। इदमेव प्रचिकटयिषुस्तत्राचार्ये ज्ञातमिदं भवतीति पदं व्याख्यानयति।

जो गणहारो न जाणति, जाणंतो वा न देसती मग्गं।
सो सप्पसीसयमिव, विणस्सति विज्जपुत्तो वा।

यः कश्चिद्गणधरो मार्गं यथोक्तसमाचारीरूपं न जानाति जानाति वा परं न शिष्याणां तं मार्गमुपदिशति स सर्वशीर्षकमिव वैद्यपुत्र इव वा विनश्यति। तत्थ इमं कप्पियं उदाहरणं। एगो सप्पो निच्चं पलायं अप्पाणं जहासुहं विहरइ ताहे से पुंछडो भण्णति। तुमं निच्चमेव पुरतो गच्छसि अन्यच्च।

सीतुण्हवासेयमहंधकारे, णिच्चं पि गच्छामि जओमणासा।
गतंव्वए सीसग ! कंचि कालं,अहं पिता होज्ज पुरस्सरातो॥

भो शीर्षक ! नित्य मप्यहं भवत्पृष्ठलग्ना सती यतो यतो मां नयसि तत्र शीते वा उष्णे वा वर्षे वा निपतति तमोऽन्धकारे वा बहलतमः पटलविलुप्ते प्रदेशे गच्छामि किं करोमि परं सांप्रतं कंचित्कालं गन्तव्ये गमने अहमपि तावत्ते तव पुरस्सरा भवेयम्। शीर्षकं प्राह।

ससक्करे कंटइले य मग्ग, वज्जेमि मोर णउलादिए य।
विले य जाणामि अदुट्ठदुट्ठे, मा ता विसूराहि अजाणि एवं॥

हे पुच्छिके! सशर्करान् शर्करायुक्तान् कण्टकाकुलांश्च मार्गान् वर्जयामि। यत्र च मयूरान्नकुलादींश्चात्मोपद्रवकारिणः पश्यामि तत्र न गच्छामि। विलानि वाऽमूनि अदुष्टानि अमूनि च दुष्टानि इत्येवमहं सम्यक् जानामि। त्वं पुनरेतेषां मध्यादेकमपि न जानासि। अतस्त्वमेवमजानती मा तावत्। (विसूराहित्ति) खिदेर्ज्जुविसूरावित्यादेशे मा खेदमनुभवेत्यर्थः। पुच्छिका प्राह।

तं जाणगं होहि अजाणिगाहं, पुरस्सरा मेव भवाहि मज्झ।
एसो अहण्णं गलियासएणं, लग्गादुअं सीसग ! वच्च पच्छा।

शीर्षक ! त्वं ज्ञायको भव अहमज्ञायिकापि स्थास्यामि पुरस्सरा परं भवामि त्वं मे पश्चाद् व्रज। शीर्षकं प्राह।

अकोविए होउ पुरस्सरा मे, अलं विरोहेण अपंडितेहिं।
वंसस्स छेदं अमुणे इमस्स,दट्ठूण जो गच्छसितो गतासि॥

अकोविदे ! मूख ! भव मे मम पुरस्सरा अलमपण्डितैः सह विरोधेन चलितेन परं हे अमुणे ! अज्ञे ! अस्य मदीयवंशस्य छेदमपि दृष्ट्वा यदि गच्छसि ततस्त्वमपि गतासि विनष्टासीत्यर्थः। अस्य कार्यस्य पर्यवसानं पश्चात्वमपि द्रक्ष्यसीति भावः। अपि च।

कुलं विणासेइ सयं पयाता,
नदी व कूलं कुलडा उ नारी।
णिब्बंध एसो णहि सोभणो ते,
जहा सिगालस्स व गाइतव्वे॥

स्वयमात्मच्छन्देन प्रयाता प्रवृत्ता कुलटा स्वैरिणी नारी कुलं च विनाशयति। कथमित्याह। नदीव कूलं नदी स्वैरं महत्तरं प्रवृत्ता सती कूलमुभयमपि पातयति तथैषापि कुलद्वयमित्यर्थः। न चायमीदृशो निर्बन्धः कदाग्रहः शोभनः परिणामसुन्दरो भविता। यथा शृगालस्य गातव्ये उन्नदितव्ये निर्बन्धो न शोभनः सं जात इत्यत्र खसड्डनामाख्यानकम्।

"एक्को सियालो रत्तिं घरं पविट्ठो घरमाणसेहिं चेतितो निच्छुभिउमाढतो सो सुणगाईहिं पारद्धो नीलीरागरंजणपडितो कहं वि ततो उत्तिण्णो नीलवण्णो जातो। तं अन्नारिसंरभसरक्खा सियालाई पासित्तु भणंति को तुमं पुरिसा सो भणइ। अहं सव्वाहिं मिगजाइहिं खसड्डमो नाम मिगराजा कतो। ततो अहं एत्थमागतो पासामि ताव को मं न नमति। ते जाणंति अपुव्वो एयस्स वण्णो अवस्सं एस देवेहिं अणुग्गहितो। तओ भणितं अम्हे तव किंकरा संदिसह किं करेमो। खसड्डमो भणति। हत्थिवाहणं देयदिण्णो विलज्जो वियरति। अण्णया सियालेहिं उच्छुइयं ताहे खसड्डमेणं तं सियालसद्दावमसहमाणेण उण्णइयं। ततो हत्थिणा सो सियालोत्ति नाउं सोंमाए घेत्तुं मारितो जहा सो सियालो अणुईए विणट्ठो एवं तुमं पि विणिस्सिहिसि त्ति किं च।

तुल्लत्तिया भो मम किं करेसि, तुमं सयं सुद्ध अजाणमाणी।
सुतं तया किं न कयाइ मूढे, जं वाणरो कासि सुगेहियाए॥

पढ पुच्छिके यदि नाम एत्थं तुल्लत्तिकां नीता मम संमुखं चलियं ततः स्वकं स्वीयं वीर्यमजानती मम किं करिष्यसि न किमपीति भावः। परं मूढे ! त्वया किं न कदाचिदप्येतत् संविधानं संश्रुतम्। यद् वानरः सुगेहिकायाः शकुनिकायाः संमुखमावृतः सन् कृतवान्। अत्र कथानकम् "वासेण पडिवन्नं रुक्खग्गे वानरं धरितं सुधरा नाम सउणिया भणति तइयं तिदुए संती छेत्तूणं मेत्तणाइ आणेऊग्गं तरुक्खसि हरंमि। वसहीकताणिवत्ता तत्थ वसामि निरुव्विगाए हत्थ सामि रमामि य वासारत्ते पणविय उल्लामिअं दोलयामि वा तरवसंविलाभूमिअत्थतवमाणुसगस्स जारिसा हिदयए व विण्णाणं हत्था विण्णाणं च जीवितं च मोहफलं तुब्भ विसहसि धारपहारे न य इच्छसि गेहमप्पणो काउं वानर ! तुमे असुहित्ते अम्हे विरतिं न विंदामो तह दोच्चं रोसवितो तीए वानरो पावो रोसेण धमधमंतो उप्पिडिओ तं गतो सालं आकंपितम्मि तापादयम्मि फिरीडत्तिगता सुधरा अणम्मि दुमम्मि ठिती ऋद्धिकृते सीतवातेणं इतरो वि य णेडुं घेत्तूणं पादवस्स सिहराउत्तणयं एक्केक्कं अंचिऊण तो तुब्भती कुवितो भूमीगतम्मि तोणिदुयं। अह नरगती वानरा पावो सुघरे अवहितहिदए सुण तवे जहा अहिरिया सिणवसिसमग्गहरियाण वसिसममंसोहिया वणिट्ठा वासुघरे अज्जसुविरावजावट्टसिलो ग ततीसु जह्म सो वानरो सुघडाए पडिचोइओ समाणो तीरो चेव पडिणीई तुमं पि मए हितोवएसणाणुसंसिया वि मम चेवोपरि सूयति अत एवोक्तम् "उपदेशो न दातव्यो, यादृशे तादृशे जने। पश्य वानरमूर्खेण, सुगृही निगृही कृतः" किं चान्यत्।

न चित्तकम्मस्स विसेसमंधो, संजाणते णावि मियंककंतिं।
किं पीढसप्पी कह दूतकम्मं,अंधो कहिं कत्थ य देसियव्वं।

यथा अन्धश्चित्रकर्म्मणो विशेषं रमणीयकं न जानीते नापि मृगाङ्कस्य चन्द्रमसः कान्तिम् एवमपि चक्षूरहिततया मार्गे गन्तुं न जानामीति भावः। तथा पीठेन सर्पितुं गन्तुं शीलमस्येति पीठसर्पी क्व च दूतकर्म संदेशहारकत्वं क्व चान्धः क्व च देशकत्वं मार्गदर्शकत्वम्। यथा सर्वथैवाघटमानकमिदं तथा भवत्या अपि निष्प्रत्यूहं गमनमिति भावः। एवं शीर्षकेणोक्ते सति सा ब्रवीति।

बुद्धीबलं हीणबला वयंति, किं सत्तजुत्तस्स करेइ बुद्धी।
किं ते वहाणे व सुता कतावी, वसुंधरेयं जह वीरभोज्जा॥

बुद्धिलक्षणं यद्बलं तद्धीनबला निःसत्वा एव वदन्ति यतः स

त्वयुक्तस्य बुद्धिः किं करोति सत्त्वेनैव कार्यसिद्धेः किं वा त्वया कदाचिदियं कथा नैव श्रुता यथा वसुन्धरेयं वीरभोग्या तदुक्तम्। '' नेयं कुलक्रमायाता, शासने लिखिता न वा। खड्गेनाक्रम्य भुञ्जीत, वीरभोग्या वसुन्धरा " अथ शीर्षकमाह।

असंसयं तं असुणाण मग्गं, गता विधाणे दुरतिक्कमम्मि।
इमं तुमे वाहति वामसीले, अण्णे वि जं काहिसि एक्कघातं॥

असंशयं निस्सन्देहं त्वमज्ञानां मूर्खाणां मार्गमात्मोपघातरूपं गता। क्व सतीत्याह। विधाने दुरतिक्रमे सति विधानं नाम यत्नेन यदा प्राप्तव्यं तद् दुरतिक्रमं नान्यथा कर्तुं शक्यते। उक्तं च '' बुद्धिरुत्पद्यते तादृक्, व्यवसायाश्च तादृशाः। सहायास्तादृशा ज्ञेया, यादृशी भवितव्यता " अत एव तदवश्यंभावितया नास्मन्मनो दुनोति परं वामशीले! प्रतिकूलं एव गामिनि। मामिदमेव बाधते यदज्ञानादात्मव्यतिरिक्तानस्मादृशाने-कघातं करिष्यसि आत्मना सह मारयसीति भावः।

सा मंदबुद्धी अह सीसकस्स, सच्छंदमंदा वयणं अकाउं।
पुरस्सरा होतु मुहुत्तमेत्तं, अपेयचक्खू सगडेण खुण्णा॥

सा पुच्छिका मन्दबुद्धिः सद्बुद्धिविकला। अथानन्तरं शीर्षकस्य वचनमकृत्वा स्वच्छन्दमतिप्रवृत्ता मन्दा गमनक्रियायामलसा बला मौटिकया पुरस्सरा भूत्वा गन्तुं प्रवृत्ताः। ततः किमभूदित्याह। अपेतचक्षु-र्लोचनरहिता सा पुरो गच्छन्ती मुहूर्त्तमात्रेण शकटेन क्षुण्णा आक्रान्ता विपत्तिमुपगता एष दृष्टान्तः। अयमर्थोपनयः।

जे भज्झदेसे खलु देसगामा, अतिप्पियं ते सुभयं तु तुब्भं।
रुक्खण्णहिंडेहिं सुताविया मो, अम्हं पि तो संपइ होउ छंदो॥

ये अगीतार्थाः शिष्यास्ते आचार्यान् भणन्ति भदन्त! ये खलु मध्यदेशे आर्यक्षेत्रे देशा मगधादयो ग्रामाश्च तत्प्रतिबद्धास्तेषु भगवतामतिप्रियम-तीवविहर्तुं रोचते परं वयमेषु देशेषु रूक्षान्नमात्रलाभेन हिण्डनया चेतस्ततः परिभ्रमणरूपया सुष्ठ्वतिशयेन तापिता दग्धांशदेहाः संजाताः अतोऽस्मा-कमपि तावत्संप्रति छन्दो भवतु स्वच्छन्देन यत्र यत्र रोचते तत्र विहरिष्-यामः इति। गुरवो ब्रुवते।

देहोवही तेणगसावगेहिं, पदुट्ठमेत्तेहि य तत्थ तत्थ।
जता परिब्भंस धुअंतदोस, तदा विजाणस्सह मे विसेसं॥

भो भद्रा! यूयं प्रत्यन्तदेशे विहरन्तो यदा देहस्तेनैः शरीरहरैरुपधि-स्तेनैरुपकरणहरैः श्वापदैः सिंहव्याघ्रादिभिः प्रद्विष्टास्तैस्तैश्च तत्र तत्रोपहृताः सन्तः संयमात्मविराधनादिना परिभ्रंशमाप्स्यथ ततो विज्ञास्यथ मे मदीयं विशेषं यथा दानशोभनं कृतमस्माभिः यदेवं गुरूणां वचनमनवगणय्य स्वच्छन्दसा विहारः कृत इति। यस्तु गणधरो न जानाति जानानो वा शिष्याणां मार्गं नोपदिशति स तेषामनुवृत्त्या सन्मार्गमतिक्रम्यानार्यदेशे विहरन् तैरेव शिष्यैः सह विनाशमाविशति यथा सर्प्पशीर्षकं पुच्छिकासहितं विनष्टमिति। अथ वैद्यपुत्रदृष्टान्तमाह।

वेज्जस्स एगस्स अहेसि पुत्तो, मतम्मि ताते अणधीयविज्जो।
गंतुं विदेसं अह सो सिलोगं, घेत्तूणमेगं सगदेसमेति॥

एकस्य वैद्यस्य पुत्र आसीत्। स च ताते पितरि मृते सति अनधीतविद्य इति कृत्वा राज्ञः सकाशाद्वृत्तिं न लभते। ततो वैद्यकशास्त्रपठनार्थं विदेशं गत्वा तत्र कस्यापि वैद्यस्य पार्श्वे एकं श्लोकं शृणोति स्म। '' पूर्वाह्णे वमनं दद्यादपराह्णे विरेचनम्। वान्तिकेष्वपि रोगेषु, पथ्यमाहुर्विशोषणम्।" ततस्तेन चिन्तितं हुं ज्ञातं वैद्यरहस्यम्। अतः किमर्थमत्र तिष्ठामीति। अथान्तरमसौ श्लोकं गृहीत्वा स्वकमात्मीयं देशमुपैति।

अहागतो सो उभयम्मि देसे, लद्धूण तं चेव पुराणवित्तिं।
रण्णो नियोगेण सुते विगिच्छं, कुव्वंतु तेणेव समं विणट्ठो॥

अथानन्तरं स वैद्यपुत्रः स्वके देशे समागतः सन् राज्ञः समीपे तामेव चतुराणां वृत्तिं लब्ध्वा अन्यदा राज्ञो नियोगेन सुतस्य राज्ञः पुत्रस्य पूर्वोक्तश्लोकप्रमाणेन चिकित्सां कर्तुमारब्धवान्। ततोऽसौ राजपुत्रस्त-दीयया अप्रयोगक्रियया विनष्टः राज्ञा चापरे वैद्याः पृष्टाः किमेतेन सम्यक्-प्रयोगेण क्रिया कृता उतापप्रयोगेणेति ततोऽसौ तेन राज्ञा शरीरेण दण्डेन दण्डितः एवमाचरिते राजपुत्रेण समं विनष्ट इत्युक्त एष दृष्टान्तः। अथ गाथोपनयः। यथाऽसौ वैद्यपुत्र एकभविकं मरणमनुप्राप्तः एवं य आचार्य इदं कल्पाध्ययनं न जानाति एकदेशं वा जानन् गणं परिवर्तयति स गम्भीरसंसारसागरं परिभ्रमन्ननेकानि जनितव्यमर्तव्यानि प्राप्नोति। (बृ० १ उ०) प्रथमोद्देशकसमाप्तौ काव्यम्।

कल्पे माणिक्यकोशे जिनपतिनृपतेः सूरिभिस्तन्नियुक्तै-
स्तस्यैवान्यैकतानैर्नयपथनिपुणैश्चित्यमानाधिकारे।
पेटा उद्देशकाः स्युः पडिह गहनता मुद्रिता अर्थरत्नैः,
पूर्णा सूत्राद्यपेटाप्रकटनविषये कुञ्चिकैषाऽस्तु टीका॥

द्वितीयोद्देशकसमाप्तौ काव्यम्।

द्वैतीयीकोद्देशकोऽयं मयापि, स्पष्टीचक्रे सद्गुरूणां प्रसादात्।
सूते नाम्भोविन्दुनिस्यन्दमिन्दु-प्रावश्चन्द्रज्योत्स्नया चुम्बितः किम्।

तृतीयोद्देशक समाप्ते काव्यम्।

चूर्णीवचोभिः फल्गुकैः सुयोजितै-र्गुरुप्रतिष्ठानयुतैःससूत्रकैः।
तृतीयकोद्देशकवारिधिं सतां, तरी तरीतुं विधृतिः कृता मया॥

चतुर्थोद्देशकस्यान्ते काव्यम्।

श्रीचूर्णिकारवदनाब्जवचोमरन्द-
निष्पन्दपारणकपीवरपेशलश्रीः।
उद्देशके मम मतिर्भ्रमरी तुरीये,
टीकामिषेण मुखरत्वमिदं वितेने॥

पञ्चमोद्देशकस्यान्ते काव्यम्।

श्रीमच्चूर्णिवचांसि तन्तव इह ज्ञेयास्तथा सद्गुरो-
राम्नायेनलकस्तुरीबुधजनो यास्त्युद्भव चातुरी।
इत्येतैर्विततान साधकतमैः श्रीपञ्चमोद्देशके,
जाड्यापोहपटीयसीमहमिमामच्छिद्रटीकापटीम्॥

संप्रति प्रस्तुतशास्त्रोक्तविधिवैपरीत्यकारिणमपायान् दर्शयन्नाह।

पलंबादी जाव ठिता, उस्सग्गववातियं करेमाणो।
अववाते उस्सग्गं, आसायणदीहसंसारी॥

प्रलम्बसूत्रादारभ्य यावदिदं षड्विधकल्पस्थितिसूत्रं तावद्य उत्सर्गापवादविधिः सूत्रतोऽर्थतश्चोक्तस्तत्रोत्सर्गे प्राप्ते आपवादिकीं क्रियां कुर्वाणोऽर्हतामाशातनायां वर्तते अर्हत्प्रज्ञप्तस्य धर्मस्य शातनायां वर्तते आशातनायां वर्तमानो दीर्घसंसारी भवति यस्मात् प्रलम्बसूत्रादारभ्य षड्विधकल्पस्थितिसूत्रं यावदुत्सर्गे प्राप्ते उत्सर्गः कर्तव्यः अपवादे प्राप्ते अपवादविधिर्यतनया कर्तव्यः। एवं कुर्वतां गुणमाह।

छव्विह कप्पस्स ठितिं, नाउं जो सद्दहे करणहुत्तो।
पवयणविहीसुरक्खि-तो इह परभवित्थरप्फलदो॥

षड्विधकल्पस्य सामायिकादिरूपस्य प्रस्तुतशास्त्रार्थसर्वस्व-

भूतस्य स्थितिं कल्पनीयविवर्जनरूपां ज्ञात्वा गुरूपदेशेन सम्यगवगमादीन् श्रद्दधीत प्रतीतिपथमारोपयेत् न केवलं श्रद्दधीत किं तु करणयुक्तोऽनुष्ठानसंपन्नो भवेत् तस्यात्मैवं सम्यग्ज्ञानश्रद्धानचारित्रसमन्वितः साक्षात्प्रवचनविधिर्मवति । यथा समुद्रो रत्ननिधिर्भवति एवमसावपि ज्ञानादिरत्नमयस्य प्रवचनस्य विधिरित्यर्थः । स च प्रवचनविधिः । सुष्ठु प्रयत्नेनात्मसंयमविराधनाभ्यो रक्षितः सन्निह परभवविस्तरफलदो भवति । इह भवे विस्तरेण चरणवैक्रियामर्थौषधिप्रभृतिविविधलब्धिरूपं फलं ददाति परभवेऽप्यनुत्तरविमानाद्युपपातस्सुकुलं प्रत्यायाति प्रभृतिकं विस्तरेण फलं प्रयच्छति । अथेदं कल्पाध्ययनं कस्य न दातव्यं को वाऽपात्राय ददतो दोषो भवतीत्यत आह ।

भिण्णरहस्सेव णरे, णिस्साकरए व मुक्कजोगी व ।
छव्विहगतिगुविलम्मि, सो संसारे भमति दीहे ॥

इहापवादपदानि रहस्यमुच्यते भिन्नं प्रकाशितमयोग्यानां रहस्यं येन स भिन्नरहस्यः अगीतार्थानामपवादपदानि कथयतीत्यर्थः । तत्रैवंविधे नरे तथा निश्राकारो नाम यः किंचिदपवादं लब्ध्वा तदेव निश्रां कृत्वा भणति यथैतदेवं करणीयं तथाऽन्यदप्येवं कर्तव्यं तत्र । तथा मुक्ताः परित्यक्ता योगा ज्ञानदर्शनचारित्रतपोविषया व्यापारा येन स मुक्तयोगी ईदृशे अपात्रे न दातव्यं यस्तु ददाति स षड्विधगतिगुविले पृथिवीकायादित्रसकायान्तषट्कायपरिभ्रमणगहने दीर्घे अपारे संसारे भ्राम्यति । अथ कीदृशस्य दातव्यं को वा पात्रे ददतो गुणो भवतीत्यत आह ।

अरहस्सधारए पारए, असठकरणो तुलासमे समिते ।
कप्पाणुपालणादी–वणे य आरोहणच्छिन्नसंसारी ॥

नास्त्यपरं रहस्यान्तरं यस्मात्तदरहस्यमतीव रहस्यं छेदशास्त्रार्थतत्त्वमित्यर्थः । तथा धारयति अपात्रेभ्यो न प्रयच्छति यः स रहस्यधारकः । पारगः सर्वस्यापि प्रारब्धश्रुतस्य पारगामी न पल्लवग्राही । असठकरणो नाम मायावियुक्तो भूत्वा यथोक्तं विहितानुष्ठानं करोति । तुलासमो नाम यथा तुला समस्थिता न मार्गतो न वा पुरतो नमति एवं यो रागद्वेषविमुक्तो मानापमानसुखदुःखादिषु समः स तुलासम उच्यते । समितः पञ्चभिः समितिभिः समायुक्तः एवं विधगुणोपेतस्येदमध्ययनं दातव्यम । एवं ददता कल्पस्य भगवदुक्तस्य श्रुतदानविधेरनुपालना कृता भवति । अथवा कल्पे कल्पाध्ययने यद्गणितं तस्यानुपालनां यः करोति तस्य दातव्यम् । एवं कुर्वता दीपना अन्येषामपि मार्गस्य प्रकाशना कृता भवति । यथाऽन्यैरपि एवंगुणवते शिष्याय श्रुतप्रदानं कर्त्तव्यम् । अथवा (दीवणत्ति) यो योग्यविनेयानां दीपनामनालस्येन व्याख्यानं करोति तस्येदं दातव्यम् । यदि वा दीपना नाम उत्सर्गयोग्यानामुत्सर्गं दीपयति । अपवादयोग्यानामपवादं दीपयति । उभयोर्योग्यानामुभावपि दीपयति । प्रमादिनां वा दोषान् दीपयति अप्रदादिनां गुणान् दीपयति । य एतस्यां कल्पानुपालनायां दीपनायां च वर्तते तस्य ज्ञानदर्शनचारित्रमयी जघन्या मध्यमोत्कृष्टा वाऽऽराधना भवति । ततश्चाराधना छिन्नशरीरी भवति । संसारसंततेर्व्यवच्छेदं करोति तस्यां च व्यवच्छिन्नायां यत्तदक्षयमव्याबाधमपुनरावृत्तिकं स्थानं तत्प्राप्नोतीत्युक्तोऽनुगमः । बृ० ६ उ० पत्र० ८०६ ।

नन्दीसंदर्भमूले सुदृढतरमहापीठिकास्कन्धबन्धे,
तुङ्गोद्देशाख्यशाखे दलकुसुमसमैः सूत्रनिर्युक्तिवाक्यैः ।
सान्द्रे भाष्यार्थसार्थामृतफलकलिते कल्पकल्पद्रुमेऽस्मिन्नाक्रष्टुं
षष्ठशाखाफलनिवहमसावंकुशीवाऽस्तु टीका ॥ ६ ॥

समाप्ता चैयं सुखावबोधिनीनामकल्पाध्ययनटीका ।

सौवर्णा विविधार्थरत्नकलिता एते षडुद्देशकाः,
श्रीकल्पेऽर्थनिधौ मताः सुकलशा दौर्गत्यदुःखापहाः ।
दृष्ट्वा चूर्णिसुवीजकाक्षरततिं कुश्याथ गुर्वाज्ञया,
नीता खातममी मया मतिमतामर्थाः स्फुटार्थीकृता : ॥ १ ॥
श्रीकल्पसूत्रममृतं विबुधोपयोग–
योग्यं जरामरणदारुणदुःखहारि ।
येनोद्धृतं मतिमता मथितात् श्रुताब्धेः,
श्रीमद्रबाहुगुरवे प्रणतोऽस्मि तस्मै ॥ २ ॥
येनेदं कल्पसूत्रं कमलमुकुलवत्कोमलं मञ्जुलाभि–
र्गोभिर्दोषापहाभिः स्फुटविषयविभागस्य संदर्शिकाभिः ।
उत्फुल्लोद्देशपत्रं सुरसपरिमलोद्गारसारं वितेने,
तं निःसंबन्धबन्धुं नुतमुनिमधुपं भास्करं भाष्यकारम् ॥ ३ ॥
श्रीकल्पाध्ययनेऽस्मि–न्नतिगम्भीरार्थभाष्यपरिकलिते ।
विषमपदविवरणकृते , श्रीचूर्णिकृते नमः कृतिने ॥ ४ ॥
श्रुतदेवताप्रसादा–दिदमध्ययनं विवृण्वता कुशलम् ।
यदवापि मया तेन, प्राप्नुयां बोधिमहममलम् ॥ ५ ॥
गमनयगभीरनीर–श्चित्रोत्सर्गापवादवादोर्मिः ।
युक्तिशतरत्नरम्यो जिनागमो जलनिधिर्जयति ॥ ६ ॥
श्रीजैनशासननभस्तलतिग्मरश्मिः,
श्रीपद्मचन्द्रकुलपद्मविकाशकारी ।
स्वज्योतिरावृतदिगम्बरमम्बरोऽभूत्,
श्रीमान् धनेश्वरगुरुः प्रथितः पृथिव्याम् ॥ ७ ॥
श्रीमच्चैत्रपुरैकमण्डनमहावीरप्रतिष्ठाकृत–
स्तस्माच्चैत्रपुरप्रबोधतरणिः श्रीचैत्रगच्छोऽजनि ।
तत्र श्रीभुवनेन्द्रसूरिसुगुरुर्भूभूषणं भासुर–
ज्योतिः सद्गुणरत्नरोहणगिरिः कालक्रमेणाऽभवत् ॥ ९ ॥
तत्पादाम्बुजमण्डनं समभवत्पक्षद्वयीशुद्धिमा–
न्नीरक्षीरसदृक्षदूषणगुणत्यागग्रहैकव्रतः ।
कालुष्यं च जडोद्भवं परिहरन् दूरेण सन्मानस–
स्थायी राजमरालवद्गणिवरः श्रीदेवभद्रः प्रभुः ॥ ११ ॥
शिष्टाः शिष्यास्त्रयऽतत्पदसरसिरुहोत्सङ्गशृङ्गारभृङ्गा,
विध्वस्तानङ्गसङ्गाः सुविहितविहितोत्तुङ्गरङ्गा बभूवुः ।
तत्राद्यः सच्चरित्रानुमतिकृतमतिः श्रीजगच्चन्द्रसूरिः,
श्रीमद्देवेन्द्रसूरिः सरलतरलसच्चित्तवृत्तिर्द्वितीयः ॥ १२ ॥
तृतीयशिष्याः श्रुतवारिवार्द्धयः, परीषहाक्षोभ्यमनःसमाधयः ।
जयन्ति पूज्या विजयेन्दुसूरयः, परोपकारादिगुणौघसूरयः ॥ १३ ॥
प्रौढं मन्मथपार्थिवं त्रिजगतीजैत्रं विजित्येयुषां,
येषां चैत्रपुरेण तत्र महसा प्रक्रान्तकान्तोत्सवे ।
स्थैर्यं मेरुरगाधतां च जलधिः सर्वंसहत्वं मही,
सोमः सौम्यमहर्पतिः किल महत्तेजोऽकृत प्राभृतम् ॥ १४ ॥
चापं चापं प्रवचनवचो वीजराजीं विनेथ–
क्षेत्रे शुद्धे सुपरिमलिते शब्दशास्त्रादिसारैः ।
यैः क्षेत्रज्ञैः शुचिगुरुजनाम्नायवाक्सारिणीभिः,
सिक्त्वा तेने सुजनहृदयानन्दि संज्ञानसत्यम् ॥ १५ ॥
यैरप्रमतैः शुभमन्त्रजापै–र्वेतालमाधाय कलिं स्ववश्यम् ।
अतुल्यकल्याणमयोत्तमार्थः, सत्पूरुषः सत्वधनैरसाधि ॥ १६ ॥

किं बहुना ॥

ज्योत्स्नामञ्जुलभूतया धवलितं विश्वम्भरामण्डलं,

या निःशेषविशेषविज्ञजनताचेतश्चमत्कारिणी।
तस्याः श्रीविजयेन्दुसूरिसुगुरोर्निष्कृत्तिमायागुरु–
श्रेणेः स्याद्यदि वास्तवस्तवकृतौ विज्ञः स वाचां पतिः ॥ १७ ॥
सत्पाणिपङ्कजरजःपरिभूतशीर्षाः,
शिष्यास्त्रयो दधति संप्रति गच्छभारम्।
श्रीवज्रसेन इति सद्गुरुरादिमोऽभूत,
श्रीपद्मचन्द्रसुगुरुस्तु ततो द्वितीयः ॥ १८ ॥
तार्तीयीकस्तेषां, विनेयपरमाणुरनणुशास्त्रेऽस्मिन्।
श्रीक्षेमकीर्तिसूरिर्विनिर्ममे विवृतिकल्पमिति ॥ १९ ॥
श्रीविक्रमतः क्रामति, नयनाग्निगुणेन्दुपरिमिते (१३३२) वर्षे।
ज्येष्ठश्चैतदशम्यां, समर्थितैषा च घस्रार्के ॥ २० ॥
प्रथमादर्शे लिखिता, नयप्रभप्रभृतियतिभिरेषा।
गुरुग्रन्थे गुरुभक्ति–भरोद्वहनादानम्रितशिरोभिः ॥ २१ ॥
इह च सूत्रादर्शेषु, यतो भूयस्यो वाचना विलोक्यन्ते।
विषमाश्च भाष्यगाथाः, प्रायः स्वल्पाश्च चूर्णिगिरः ॥ २२ ॥
ततः सूत्रे वा भाष्ये वा, यन्मतिमोहान्मयाऽन्यथा किमपि।
लिखितं वा विवृतं वा, तन्मिथ्यादुष्कृतं भूयात् ॥ २३ ॥ १ व्य० ६ उ०।

व्यवहारे, अनुष्ठाने, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ०। कल्पत इति कल्पः। न्याय्ये, विधौ, आचारे, चरणकरणव्यापारे, आव० ४ अ०। सततासेवनीये समाचारे, जी० १ प्रति०। कल्पो नीतिर्मर्यादा विधिः सामाचारीत्यर्थः। पं० व०। ज्ञा०। आ० म० द्वि०। स्था०। विशे०। जीतं स्थितिर्मर्यादा व्यवस्थेति हि पर्य्यायाः। नं० पं० व०। पंचा०। पं० चू०। स च स्थितास्थितभेदाद् अनेकधा भिन्नः। पंचा०। अनन्तरप्रायश्चित्तमुक्तं तच्च स्थितादिकल्पयुताः साधवो ददति वहन्ति चेति स्थितादिकल्पस्वरूपं विभणिषुर्मङ्गलाद्यभिधानायाह।

णमिऊण महावीरं, ठियादिकप्पं समासओ वोच्छं।
पुरिमेयरमज्झिमजिणविभागए तो वयणनीतीए ॥ १ ॥

नत्वाऽभिवन्द्य महावीरं वर्द्धमानजिनं स्थितादिकल्पमवस्थितानवस्थितसमाचारं समासतः संक्षेपेण वक्ष्येऽभिधास्ये (पुरिमेति) पूर्वः प्रथम इतरोऽन्तिमः मध्यमाः शेषा द्वाविंशतिस्ते च ते जिनाश्च तैर्यो विभागः स्थितादिविभजनं स तथा ततः पूर्वेतरमध्यमजिनविभागतः इह च मध्यमग्रहणस्योपलक्षणत्वाद्विदेहजिनसंग्रहो दृश्यो यतो वक्ष्यति " एवं खु विदेहजिणकप्पीति " वचननीत्या कल्पादिस्तत्र न्यायेनेति गाथार्थः। तत्र स्थितकल्पप्रतिपादनायाह-

दसहा होइ उ कप्पो, एसो पुरिमेयराण ठियकप्पो।
सययासेवणभावाद्विय कप्पो णिच्चमज्जाया ॥ २ ॥

दशधा दशभिः प्रकारैरुद्यतः सामान्येन स चाचेलक्यादिर्वक्ष्यमाणः। तुशब्दः पुनरर्थः भिन्नक्रमश्च कल्पो व्यवस्था एष तु एष पुनः सामान्यकल्पः पूर्वतराणामादिमान्तिमजिनसाधूनां स्थितोकल्पोऽवस्थितकल्प उच्यते कुतः सततासेवनाभावान्निरन्तरावरणसद्भावादिति । तत्त्वत एतन्निरूप्यायैनमेव पर्यायत आह। स्थितकल्पो नित्यमर्यादिति गाथार्थः।

अथ किमयं नित्यमासेव्यत इत्याह-

ततिओसहकप्पो यं, जम्हा एगंततो उ अविरूद्धो।
सययं पि कज्जमाणो, आणाओ चेव एतेसिं ॥ ३ ॥

तृतीयौषधकल्पो वक्ष्यमाणौषधतुल्योऽयमेव स्थितकल्पो यस्माद्यतो हेतोरेकान्ततस्तु सर्वथैवाविरूद्धो युक्तः शुभरूपत्वात् सततमपि सदाऽप्यास्तां कदाचित् क्रियमाणो विधीयमानः। अथ मध्यमानामपि तथा भविष्यतीत्याह आज्ञात एवागमादेवैतेषां सर्वेषां जिनसाधूनाम् आज्ञाबीजं च ऋजुजडत्वादिकं वक्ष्यमाणमिति गाथार्थः। तृतीयौषध–प्रतिपादनायाह-

वाहि भवणेइ भावे, कुणइ अभावे तयं तु पढमं ति।
वितियभवणेति न कुणति, तइयं तु रसायणं होति ॥ ४ ॥

किल कस्यचिन्नरपतेः पुत्रोऽत्यन्तवल्लभो बभूव स च तस्य सततारोग्यसंपादनाय आयुर्वेदविशारदविविधवैद्यानाहूयोवाच। भो ! भिषग्वरा ! मम तनयस्य यथा रूजो न भवन्ति तथा यतध्वमेते च तद्वचस्तथैव प्रतिपन्नवन्तस्ततश्च ते यथोपदेशमौषधानि संस्कृत्य राजानमुपतस्थुः। राजा च तान् प्रत्येकमौषधगुणान् पप्रच्छ तेऽपि तान् क्रमेणाचख्युस्तत्र च व्याधिं रूजमपनयत्यपहरति प्रयुज्यमानं भावे व्याधेरिति गम्यते। तथा करोति विधत्ते अभावे पुनर्व्याधेरसद्भावे तत्कं व्याधिं तुः पुनरर्थो योजित एव प्रथममाद्यमिदमौषधमिति शब्दः समाप्तौ। तथा हि द्वितीय–मौषधमपनयति हरति व्याधिं सन्तमसन्तं तु न करोति न विधत्ते। तथा तृतीयं तु तृतीयं पुनरौषधं व्याधिं सन्तं हत्वा असन्तं चाकृत्वा रसायनं भवति। वयस्तम्भादिगुणाकरं स्यादिति गाथार्थः। एवं दृष्टान्तमभिधाय दार्ष्टान्तिकाभिधानायाह-

एवं एसो कप्पो, दोसाभावे वि कज्जमाणो उ।
सुंदरभावा तु खलु, चारित्तरसायणं णेओ ॥ ५ ॥

एवमिति तृतीयौषधवदेषोऽनन्तरोक्तः कल्पः स्थितकल्पो दोषाभावेऽप्यपराधासत्त्वेऽप्यास्तां दोषसद्भावे क्रियमाणो विधीयमानः सन् तुः पाद पूरणे सुन्दरभावात् खलु शोभनत्वादेव चारित्रस्य चरणशरीरस्य रसायनमिव पुष्टिकरणाच्चारित्ररसायनं ज्ञेयोऽवसेय इति गाथार्थः। दशधा यतः कल्प इत्युक्तमथैमद्दर्शनायेदमाह।

आचेलक्कुद्देसिय, सिज्जायररायपिंडकिइकम्मे।
वयजेट्ठपडिक्कमणे, मासं पज्जोसवणकप्पो ॥६॥

अविद्यमानं चेलं वस्त्रं यस्यासावचेलकस्तद्भाव आचेलक्यम् उद्देशेन साधुसंकल्पेन निर्वृत्तमौद्देशिकमाधाकर्म शय्याया वसत्या तरति संसारसागरमिति शय्यातरः स च राजा च नृपश्चक्रवर्त्यादिस्तयोः पिण्डः समुदानमिति शय्यातरराजपिण्डः कृतिकर्म वन्दनकमेतेषां च समाहारद्वन्द्वत्वात्सप्तम्येकवचनम्। ततश्चाचेलक्यादिषु यथास्वं विधिनिषेधाभ्यां स्थितास्थिताः साधवो भवन्तीत्यतोऽयमोघकल्पः। एतेष्वेव च प्रथमचरमजिनसाधवः स्थिता एवेति स्थितकल्पस्तेषां तथा व्रतानि महाव्रतानि ज्येष्ठो रत्नाधिकः प्रतिक्रमणमावश्यककरणं सप्तम्येकवचनं प्राग्वत् (मासमिति) प्राकृतत्वादनुस्वारः परि सर्वथा वसनमेकनिवासो निरुक्तविधेः पर्युषणमेतद्द्वयलक्षणः कल्प आचारः मासपर्युषणकल्पस्तत्र च स्थितास्थित इत्यादि इति गाथासमासार्थः। उक्तः स्थितकल्पः।

अथास्थितकल्पाभिधानायाह-

सुअअट्ठिओ उ कप्पो, एतो मज्झिमजिणाण विण्णेओ।
णो सययसेवणिज्जो, अणिच्चमेरासरूवो त्ति ॥ ७ ॥

षट्सु दर्शयिष्यमाणरूपेषु पदेषु अस्थितस्तु अनवस्थितः पुनः

कल्पसमाचारः (एतोत्ति) एतेभ्यं एव दशभ्यः पदेभ्यो मध्यानाम् मध्यमजिनानां तत्साधूनामित्यर्थः विज्ञेयो ज्ञातव्यः । कुतोऽस्थितोऽयमित्याह । नो नैव सततं सेवनीयः सदा विधेयो दशस्थानकापेक्षया एतदपि कुत इत्याह । अनित्यमर्यादास्वरूपोऽनियतव्यवस्थास्वभाव इति कृत्वा ते हि दशानां स्थानानां मध्यात् कानिचित् स्थानानि कदाचिदेव पालयन्तीति भाव इति गाथार्थः । षट्स्ववस्थितः कल्पः । पंचा० १७ विव० । (इति अद्धियकप्प शब्दे उक्तम्) बृ० । जीत० । कल्प० (अचेलक्यादिकल्पा अचेलगादिशब्देषु द्रष्टव्याः) बृ० । पं० भा० । आ० म० द्वि० । परः प्राह । ननु सर्वेषां सर्वज्ञानां सदृश एव हितोपदेशस्ततः कथं पञ्चयामिकानां चतुर्यामिकानां च विसदृशकल्प्याकल्प्यविधिः । तत्रोच्यते कालानुभावेन विनेयानामपरापरं तथा तथा स्वभावपरिणामं विमलकेवलचक्षुषा विलोक्य तीर्थकृद्भिरित्थं कल्प्याकल्प्यविधिवैचित्र्यमकारि । तथा चाह । पूर्वसाधुकाः ऋजुजडाः पश्चिमसाधवो वक्रजडा मध्यमा ऋजुप्राज्ञाः एतेषां च त्रिविधानामपि साधूनां नटप्रेक्षादृष्टान्तमाह । तेन प्ररूपणा कर्तव्या द्विविधानामेव साधूनां संज्ञातककुलमागतानां गृहिण उद्गमादिदोषान् कुर्युस्तत्रापि त्रिधा निदर्शनं कर्तव्यम् । तत्र नटप्रेक्षणकदृष्टान्तं तावदाह-

नडपेच्छं दट्ठूणं, अवस्सआलोयणा ण मे कप्पे ।
कायादी सो पेच्छति, ण ते वि पुरिमाणतो सव्वे ॥

कश्चित्प्रथमतीर्थकरसाधुर्भिक्षां पर्यटन् नटस्य प्रेक्षां प्रेक्षणकं दृष्ट्वा कियन्तमपि कालमवलोक्य समागतः स च ऋजुत्वेनावश्यमाचार्याणामालोचयति । तथा नटो नृत्यन् मया विलोकितः आचार्यैरुक्तं सा नटावलोकाना साधूनां कर्तुं न कल्पते । ततो यथा दिशन्ति भगवन्तस्तथैवेत्यभिधाय भूयोऽपि भिक्षामटन् कायाकादिकमसौ प्रेक्षते कायाको नाम वेषपरावर्तकारी नटविशेषः आदिशब्दान्नर्त्तकीप्रभृतिपरिग्रहः ततस्तथैवालोचिते गुरवो भणन्ति । ननु पूर्वं वारित आसीः । स प्राह । नट एव द्रष्टुं वारितो न कायाकः । एष तु मया कायाको दृष्टः । एवं यावन्मात्रं परिस्फुटेन वचसा वार्यते तावन्मात्रमेवैते वर्जयन्ति न पुनः सामर्थ्योक्तमपरस्य तादृशस्य प्रतिषेधं प्रतिपद्यन्ते यदा तु भण्यते न तवेति तेऽपि कायाकादयो न कल्पन्ते द्रष्टुं तदा सर्वानपि परिहरन्ति । अतः पूर्वेषां साधूनां सर्वेऽपि नटादयो न कल्पन्ते द्रष्टुमिति प्रथममेवोपदृष्टव्यम् ।

एमेव उग्गमादी, एक्केक्कनिवारिएतरे गिण्हे ।
सव्वे वि ण कप्पंति, वारितो जाव जियं वज्जे ॥

एवमेव नटप्रेक्षणोक्तेनैव प्रकारेण पूर्वतीर्थकरसाधुर्यद्येकैकमुद्गमादिदोषं निवार्यते ततोऽयमेवाधाकर्मादिकं दोषं निवारितस्तमेव वर्जयन्ति । इतरांस्तु पूतिकर्मक्रीतकृतादीन् गृह्णीते इत्यर्थः । यदा तु सर्वेऽप्युद्गमदोषा न कल्पन्ते इति वारितो भवति । तदा सर्वानपि यावज्जीवं वर्जयति । अथ संज्ञातकं गमनपदं व्याचष्टे ।

सन्नायगा वि उज्जत्तणाण कस्स कंत तुज्झमेयं ति ।
मम उद्दिट्ठ ण कप्पइ, कीतं अण्णस्स वा एगो ॥

प्रथमतीर्थकरतीर्थे यदा साधुः संज्ञातकं कुलं गच्छति तदा ते संज्ञातकाः किंचिदाधाकर्मादिकं कृत्वा साधुना कस्यार्थे युष्माभिरिदं कृतमिति पृष्टाः सन्त ऋजुत्वेन कथयन्ति । युष्मदर्थमेतदिति । ततः साधुर्भणति ममोद्दिष्टं भक्तं न कल्पते । एवमुक्तः स गृही क्रीतकृतमन्यद्वा दोषजातं कृत्वा दद्यात् उद्दिष्टमेवामुना प्रतिषिद्धं न क्रीतादिकमिति बुद्ध्या अथवा अन्यस्य साधोरर्थायाधाकर्म कुर्यात् ममोद्दिष्टं न कल्पते इति भणता तेनात्मन एवाधाकर्म प्रतिषिद्धं नान्येषामिति बुद्ध्या ।

सव्वजईण णिसिद्धा, मा उण भणत्ति उग्गमाणेसिं ।
इति कथिते पुरिमाणं, सव्वे सव्वेसिं ण करेंति ॥

यदा तु तेषां गृहिणामग्रेऽभिधीयते सर्वेऽप्युद्गमा दोषाः सर्वेषां यतीनां निषिद्धा न कल्पन्ते मा भूदस्माकमिति तेषां दोषा इति कृत्वा तत एवं कथिते भणिते गृहिणः सर्वेषामपि साधूनां सर्वानप्युद्गमदोषान्न कुर्वन्ति । अथ पूर्वेषां तीर्थे ये श्राद्धादय उद्गमदोषकारिणस्तेऽपि ऋजुजडा इति । अथ ऋजुजडपदव्याख्यानमाह-

उज्जुत्तणं से आलो–यणाए जमत्तणं से जं भुज्जो ।
तज्ज जातीए न याणति, गिही ति अन्नस्स अन्नं वा ॥

ऋजुत्वं (से) तस्य प्रथमातीर्थकरसाधोरेवं मन्तव्यं यदेकान्तेऽप्यकृत्यं कृत्वा गुरूणामवश्यमालोचयति । यत्पुनर्भूयस्तज्जातीयान् दोषान् वर्जयति तेन तस्य जडत्वं द्रष्टव्यम् । गृहिणोऽपि यदेकस्य निवारितं तदन्यस्य निमित्तं कुर्वन्ति । अन्यं वा क्रीतकृतादीकं दोषं कुर्वन्ति । एतेषां जडत्वम् । यत्तु पृष्टाः सन्तः परिस्फुटं सद्भावं कथयन्ति एतेषामृजुत्वम् । अथ मध्यमानामृजुप्रज्ञतां भावयति ।

उज्जुत्तणं से आलो–यणाए पुणो उ सेसवज्जणया ।
संणायगा वि दोसेण, करें त अण्णेण अण्णेसिं ॥

रहस्यपि यत्प्रतिसेवितं तदवश्यमालोचयिष्यामीत्यालोचनया मध्यमतीर्थकरसाधूनामृजुत्वं मन्तव्यं यत्पुनः शेषाणां तज्जातीयानामर्थानां स्वयमभ्यूह्य ते वर्जनां कुर्वन्ति ततः प्रज्ञा तेषां प्रतिपत्तव्या । ते हि नटकावलोकनं कर्तुं कल्पन्ते इत्युक्ताः प्राज्ञतया स्वचेतसि परिभावं भावयन्ति । यथैतन्नटावलोकनं रागद्वेषनिबन्धनमिति कृत्वा परिहियते तथा कायाकनर्तक्यादिदर्शनमपि रागद्वेषनिबन्धनतया परिहर्तव्यमेवैति विचिन्त्यतेऽप्येवं कुर्वन्ति संज्ञातका अपि तेषामिदमुद्दिष्टभक्तं मम न कल्पत इत्युक्त्वा चिन्तयन्ति । यथैतस्यायं दोषो कल्पनीयस्तथा अन्येऽपि तज्जातीयाः सर्वेऽप्यकल्पनीया यथा चैतस्य ते कल्पनीयास्तथा सर्वेषां मध्यमसाधूनां न कल्पन्ते एवं विचिन्त्यान्यानुद्गमदोषान्न कुर्वन्ति । अन्येषां च साधूनां हि तेन कुर्वन्ति ।

अथ वक्रजडव्याख्यानमाह-

वंका उण साहंतिय, पुट्ठा उ भणंति उण्हकंटादी ।
पाहुणग सद्धऊसव, गिहिणो वि उ वाउलंते व ॥

पश्चिमतीर्थकरसाधवो वक्रत्वेन किमप्यकृत्यं प्रतिसेव्यापि न कथयन्ति नालोचयन्ति । यतनया च जानन्तोऽजानन्तो वा भूयस्तथैवापराधपदे प्रवर्तन्ते नटावलोकनं कुर्वाणाश्च दृष्टास्ततो गुरुभिः पृष्टाः किमयतीं वेलां स्थितास्ततो भणन्ति । उष्णेनातितापिता वृक्षादिच्छायायां विश्रामं गृहीतवन्तः कण्टको वा लग्न आसीत् । स च तत्र स्थितैरपनीतः । आदिशब्दादन्यदप्येवंविधमुत्तरं कुर्वन्ति इति । गृहिणोऽप्याधाकर्मादौ कृते पृष्टा भणन्ति प्राधूर्णका आगतास्तदर्थमिदमुपस्कृतमस्माकं वा ईदृशे शाल्योदनादौ भक्तेऽद्य श्रद्धा समजनि । उत्सवो वा अद्यामुकोऽस्माकम् । एवं गृहिणोऽपि वक्रजडत-

या साधून् व्याकुलयन्ति व्यामोहयन्ति सद्भावं नाख्यान्तीत्यर्थः । एतेन कारणेन चतुर्यामिकपञ्चयामिकानामाधाकर्मग्रहणे विशेषः कृत इति प्रकमः । बृ० ४ उ० ।

अथ कथमेते एतत्स्वभावा इत्याह ।

कालस्सहावा उचिय, एए एवंविहा उ पाएण ।
होंति उ उओ जिणेहिं, एएसिं इमा कया मेरा ॥ ४४ ॥

कालस्वभावादेव कालसामर्थ्यादेव एते साधव एवंविधास्तु एवं प्रकाराः पुनः ऋजुजडत्वादिधर्मका इत्यर्थः । प्रायेण बाहुल्येन न तु सर्वे तद्विधा एव भवन्ति स्युः (अउओत्ति) यस्मादेवमत एव । जिनैरागतैरेतेषामृजुजडादिसाधूनामियमुक्तस्थिता स्थितकल्परूपा कृता विहिता (कयाइमत्ति) पाठान्तरम् (मेरत्ति) मर्यादेति गाथार्थः । अथ ऋजुप्रज्ञानामस्तु चरणं ऋजुप्रज्ञत्वादेः ऋजुजडादीनां तु न युक्तमित्यत आह-

एवं विहाण वि इह, चरणं दिट्ठं तिलोगणाहेहिं ।
जोग्गाण थिरो भावो, जम्हा एएसि सुद्धो उ ॥ ४५ ॥
अत्थिरो उ होइ इयरो,
सहकारिवसेण ण उ ण तं हणइ ।
जलणा जायइ उण्हं,
दज्जं ण उ चयइ तत्तं पि ॥ ४६ ॥

एवं विधानामपि ऋजुजडत्वादियुक्तानामप्यास्तामृजुप्रज्ञानामिह प्रक्रमे चरणं चारित्रं दृष्टमवलोकितं त्रिलोकनाथैर्जिनैः किं सर्वेषामित्याह । योग्यानामुचितानां प्रव्रज्यायां कुत एतदेवमित्याह । स्थिरः स्थायी भावोऽध्यवसायो यस्मात्कारणादेतेषामृजुजडादीनां शुद्धस्तु प्रशस्त एवेति । अस्थिरस्तु अस्थायी पुनः कदाचित्क इत्यर्थः । भवति स्यादितरोऽशुद्धः । अथ कथमसौ स्यादित्याह । सहकारिवशेन तथाविधसामग्रीसामर्थ्येन न तु स्वत एव । तर्हि शुद्धभावस्वभावचरणोपहतिर्भविष्यतीत्याह । न पुनस्तच्चरणं हन्ति विनाशयति । अत्र दृष्टान्तमाह । ज्वालनाद्वह्नेर्जायते स्वादुष्णं तप्तं वज्रं कुलिशं न तु न पुनस्त्यजति मुञ्चति तत्त्वमपि स्वभावमपि वज्रत्वमपीत्यर्थः । अपिः समुच्चये इति गाथाद्वयार्थः ।

इय चरणम्मि ठियाणं, होइ अणाभोगभावओ खलणो ।
ण उ तिव्वसंकिलेता, अवेति चारित्तभावो वि ॥ ४७ ॥

इति दृष्टान्तोक्तन्यायेन चरणे चरित्रे स्थितानामाश्रितानां भवति स्यादनाभोगभावतः विस्मरणसद्भावात् स्खलनातिक्रमश्चारित्रस्य न तु नैव तीव्रसंक्लेशादुत्कटदुरध्यवसायादपैति नश्यति चारित्रभावोऽपि चरणपरिणामः पुनस्तीव्रसंक्लेशस्याभावादेवेति गाथार्थः । नन्वेवमृजुजडानां युक्तश्चरणानपगमो वक्रजडानां तु कथमसावित्याह-

चरिमाण वि तह णेयं, संजलणकसायसंगयं चेव ।
माइट्ठाणं पायं, असइं पि हु कालदोसेण ॥ ४८ ॥

चरमाणामप्यन्तिमानामपि न केवलमाद्यानामेव तथेति यथाद्यानामनाभोगजन्यस्खलना चरणस्याबाधिका तथा तद्वज्ज्ञेयं ज्ञातव्यं चरणाबाधकं मातृस्थानमिति योगः । किं सर्वं नेत्याह । संज्वलनकषायसंगतमेव अल्पतरकषायोद्भवमेव न त्वनन्तानुबन्धादिगतं किं तदित्याह (माइट्ठाणंति) मातरः स्त्रियोऽभिधीयन्ते तासां स्थानमाश्रयो मातृस्थानं माया स्त्रियो हि प्रायो मायाश्रिता भवन्ति । स्त्रीत्वमपि प्रायो मायानिबन्धनमथवा मातृशब्देन मायोच्यते । ततश्च तस्याः स्थानं विशेषो मातृस्थानं मायिनां वा स्थानमिति मायिस्थानं मायैव प्रायो बाहुल्येन केषांचित्तन्न संभवत्येवेति प्रायो ग्रहणम् । असकृदप्यनेकशोऽप्यास्तामेकदा खुर्वाक्यालंकारे कालदोषेण दुष्षमानुभावेनेति गाथार्थः ।

व्यतिरेकमाह-

इहरा उण समणत्तं, असुद्धभावा उ हंदि विण्णेयं ।
लिंगम्मि वि भावेणं, सुत्तविरोहा जओ भणियं ॥ ४९ ॥

इतरथा त्वन्यथा पुनः कषायान्तरसङ्गतमातृस्थानसंभवे इत्यर्थः न श्रमणत्वं न साधुत्वं कुत इत्याह । अशुद्धभावात् अप्रशस्ता ध्यवसायान् अनन्तानुबन्ध्यादिसंगतमातृस्थानरूपान् हंदीत्युपप्रदर्शने विज्ञेयं ज्ञातव्यं लिङ्गेऽपि द्रव्यलिङ्गे रजोहरणादौ सत्यास्तां तदभावे यदि द्रव्यलिङ्गमस्ति कथं न श्रमणत्वमित्यत आह । भावेन परिणामापेक्षया एतदेव कुत इत्याह । सूत्रविरोधात् आगमोक्तार्थविरुद्धत्वात् । सूत्रविरोध एव कुत इत्याह । यतो यस्माद्भणितमुक्तमागम इति गाथार्थः ।

यदुक्तं तदेवाह-

सव्वे वि य अइयारा, संजलणाणं तु उदयओ होंति ।
मूलच्छेज्जं पुण होइ, बारसण्हं कसायाणं ॥ ५० ॥

सर्वेऽपि च समस्ता अपि न तु केचिदेवातिचाराः सर्वविरत्यतिक्रमाः संज्वलनानां तु संज्वलनाख्यकषायाणामेवोदयतो विपाकेन भवन्ति स्युः । मूलेनाष्टमप्रायश्चित्तेन छिद्यतेऽपनीयते यदपराधजातं तन्मूलच्छेद्यं तत्पुनर्भवति स्यात् द्वादशानामनन्तानुबन्ध्यादीनां कषायाणां क्रोधादिभावनामुदयतः इत्यतः संज्वलनसंगतमेव मातृस्थानं चरणाभावकारकं न स्यात्तद्भावेऽपि च चरमसाधवश्चरणवन्तः स्युरिति गाथार्थः । दुष्षमायां केचिच्चारित्रमेव न मन्यन्ते अतिचारबाहुल्यात्तच्च नयतो व्यवहारभाष्ये साक्षेपः । समाधिरिहोक्तः । " केसिंचिय आएसो, दंसणनाणेहिवट्ठए तित्थं । वोच्छिन्नं च चरित्तं, वयमाणे भारिया चउरो " चतुर्गुरुकः प्रायश्चित्तविशेषः वस्तुस्थानविशेषः तथा " न विणा तित्थनियंथेहि, न तित्थाय नियंथया । छक्काय संजमो जाव, ताव अणुसज्जणा दोण्हं " अव्यवच्छेदो वक्रकुशीलयोर्मायिकच्छेदोपस्थापनीययोर्वेत्यर्थः । " जो भणइ नत्थि धम्मो, न य सामइयं न चेव य वयाइं । सो समणसंघवज्झो, कायव्वो समणसंघेण " तथा पूर्वसाध्वपेक्षया हीनतरक्रियापरिणामत्वेऽपि दुष्षमासाधूनां साधुत्वमेव । यदाइ " सत्थपरिण्णछक्काय, अहिगमो पिंमउत्तरज्झाए । रूक्खवेव सहे गोवे, जो हे सो वीयपुक्खरणी " अयमर्थः पूर्वं शस्त्रपरिज्ञाध्ययनमुत्थापनाहेतुरासीदधुना षट्कायाधिगमः । षट्कजीवनिकायिका एवं पिण्डग्रहणहेतुराचारो दशकालिकं च । तथोत्तराध्ययनान्याचारस्योपरीदानीं तु दशकालिकस्येति पूर्वं वृक्षाः कल्पवृक्षा अधुना चूतादयोऽपि ते तथा शोधिः षाण्मासिकी प्रागधुना च पञ्चकल्याणकदशकल्याणकादिभिर्न च सा न भवतीति गाथार्थः ।

एवं चरमसाधूनां चरणं व्यवस्थाप्यातिप्रसङ्गवारणायाह ।

एवं च संकिलिट्ठा, माइट्ठाणम्मि णिच्च तल्लिच्छा ।
आजीवियभयगत्था, मूढा णो साहुणो णेया ॥ ५१ ॥

एवं चोक्तनीत्या संज्वलनव्यतिरिक्तकषायोदयेन श्रमणत्वमित्येवंलक्षणया संक्लिष्टाः संक्लिष्टचित्ताः कषायान्तरोदयान्

मातृस्थाने मायायां नित्यं तल्लिप्सा सदैव तत्पराः परजनपरायणत्वात्। आजीवनमाजीविका निर्वाहस्तद्भावनाया यद्भयं भीतिस्तदाजीविकाभयं तेन ग्रस्ताः अभिभूता ये तथा गृहस्थैर्विज्ञातनिर्गुणत्वावनादिविरहिता वा कथं निर्वक्ष्याम इत्यभिमायवन्त इत्यर्थः। मूढाः परलोकसाधनवैमुख्येनेह लोकप्रतिबद्धत्वान्नो नैव साधवो ज्ञेया ज्ञातव्या इति गाथार्थः।

उक्तविपर्ययमाह-

संविग्गा गुरुविणया, णाणी दंतिंदिया जियकसाया।
भवविरहे उज्जुत्ता, जहारिहं साहुणो होंति ॥ ५२ ॥

संविग्नाः संसारभीरवः अत एव गुरुषु संसारोत्तरणोपायो पदेशकेषु विनताः प्रणताः गुरुविनताः। अत एव ज्ञानिनः सुप्रसन्नगुरुवितीर्णश्रुतज्ञानाः अत एव च दान्तेन्द्रिया जिताक्षा जित कषाया निगृहीतक्रोधादिभावाः भवविरहे संसारवियोगे विधेये उद्युक्ता उद्यता ज्ञानक्रियारूपत्वात्तदुद्यमस्य यथार्हं यथायोग्यं देशकालाद्यपेक्षया ऋजुजडवक्रजडऋजुप्रज्ञत्वानुरूपं वा। न तु वक्रजडत्वे सति ऋजुप्रज्ञत्वोचिता इतरे चेति स्वभावः साधवो यतयो भवन्ति स्युरिति गाथार्थः। स्थितास्थितकल्पप्रकरणं विवरणतः समाप्तमिति।

अथैतस्यैव निगमद्वारेणेदं पर्ययुक्ततामाह-

एवं कप्पविभागो, तइओसहणाणओ मुणेयव्वो।
भावत्थजुत्त एत्थ उ, सव्वत्थ वि कारणं एयं ॥ ५१ ॥

एवमुक्तनीत्या कल्पविभाग आचेलक्यादि स्थितास्थितकल्पतया विभजनं कुत इत्याह। तृतीयौषधज्ञानत उक्तौषधविशेषोदाहरणेन (मुणेयव्वोत्ति) ज्ञातव्यः। किंविध इत्याह। भावार्थयुक्त ऐदंपर्ययुक्तो न यादृच्छिकः अत्र तु इह पुनः कल्पविभागे सर्वत्रापि दशस्वपि पदेषु न तु क्वचिदेव कारणं विभागहेतुरेतद्वक्ष्यमाणमिति गाथार्थः।

तदेवाह-

पुरिमाण दुव्विसोज्झो, चरिमाणं दुरणुपालओ कप्पो।
मज्झिमगाण जिणाणं, सुविसोज्झो सुहणुपालो य ॥४२॥

पूर्वेषामाद्यजिनसाधूनां दुर्विशोध्यो दुःखेन शुद्धिप्रकर्षप्रापणीयः ऋजुजडत्वेन तेषां बहुभिश्चोपदेशैः समस्तहेयार्थज्ञानसंभवेनातिचारपरिहारसंभवात् चरमाणामन्तिमजिनसाधूनां दुरनुपालो दुःखानुपालनीयः स एव दुरनुपालकः तेषां वक्रजडत्वेन तेन व्याजेन हेयार्थसेवासंभवात् कल्प आचेलक्यादिसमाचारः। मध्यमकानां जिनानां च व्यक्तं सुविशोध्यः सुखविशोधनीयः तेषामृजुत्वेन यथोपदिष्टानुपालनात् सुखेनानुपाल्यत इति सुखानुपालस्तेषां प्राज्ञत्वेनोपदेशमात्रादप्यशेष हेयार्थाभ्यूहनेन तत्परिहारसमर्थात्वेच्चः समुच्चय इति गाथार्थः।

अय दुर्विशोध्यत्वादिष्वेव हेतुमाह-

उज्जुजडा पुरिसा खलु, णमादिणाण उ होंति विण्णेया।
वक्कजडा उण चरिमा, उजुपन्ना मज्झिमा भणिया ॥४३॥

ऋजवोऽशठास्ते च ते जडाश्च विशिष्टानुवैकल्प्येनोक्तमात्रग्राहिण ऋजुजडाः पूर्वे आद्यतीर्थसाधवः खलुर्वाक्यालङ्कारार्थः नटादिज्ञानात् नर्तकप्रभृत्युदाहरणात् पंचा १७ विव० (उदाहरणं व्याख्यातम्) बृ०। अयं च दशप्रकारोऽपि कल्पो दोषाभावेऽपि क्रियमाणस्तृतीयौषधवत् हितकारको भवति। तथाहि केनचिद्भूपतिना स्वपुत्रस्य अनागतचिकित्सार्थं त्रयो वैद्या आकारितास्तत्र प्रथमो वैद्य आह। मदीयमौषधं विद्यमानं व्याधिं हन्ति रोगाभावे च न गुणं न दोषं च करोति। राजा प्राह। भस्मनि हुततुल्येनानेन औषधेन किम्। द्वितीयः प्राह। मदीयमौषधं रोगसद्भावे रोगं हन्ति रोगाभावे दोषं प्रकटयति। राज्ञोक्तं सुप्तसर्पोत्थापनतुल्येन अनेनापि औषधेन पर्याप्तम्। तृतीयः प्राह। मदीयमौषधं सद्भावे रोगं हन्ति तदभावे च शरीरे सौन्दर्यं वीर्जपुष्टिं करोति। राज्ञोक्तं इदमौषधं समीचीनं तदयमपि कल्पे दोषसद्भावे दोषं निहन्ति। दोषाभावे च धर्म्मे पुष्णाति। कल्प०। पं० व०।

अथैतस्मिन् दशविधे कल्पे यः प्रमाद्यति तस्य दोषमभिधित्सुराह-

एवं ठियम्मि मेरं, अइयकप्पे य जो पमादेति।
सो वट्टति पासत्थे, ठाणम्मि तगं विवज्जेज्ज ॥

एवमनन्तरोक्तनीत्या या स्थितकल्पे अस्थितकल्पे च मर्यादा सा सामाचारी भणिता तां मर्यादां यःप्रमादयति प्रमादेन परिहापयति स पार्श्वे पार्श्वस्थसक्ते स्थाने वर्तते। ततस्तकं वर्जयेत् तेन सह दानग्रहणादिकं संभोगं न कुर्य्यादिति भावः। कुत इत्याह-

पासत्थसंकिलिट्ठं, ठाणं जिणेहि वुत्तं थेरेहि य।
तारिसं तु गवेसंतो, से विहारे न सुज्झति ॥

पार्श्वस्थं पार्श्वस्थसक्तं स्थानमपराधं पदं संक्लिष्टमशुद्धं जिनैस्तीर्थकरैः स्थविरैश्च गौतमादिभिः प्रोक्तं ततस्तादृशं स्थानं गवेषयन् स यथोक्तसामाचारीपरिहापयिता विहारे न शुद्ध्यति। नासौ संविग्नविहारीति भावः।

पासत्थसंकिलिट्ठं, ठाणं जिणेहि वुत्तं थेरेहि य।
तारिसं तु विवज्जंतो, से विहारे विसुज्झति ॥

पार्श्वस्थं स्थानं संक्लिष्टं जिनैःस्थविरैश्च प्रोक्तं तत्तादृशं स्थानं विवर्जयन् स यथोक्तसामाचारी कर्त्ता विहारे विशुद्ध्यति। शुद्धो भवति यतश्चैवमतः।

जो कप्पठितिं एयं, सद्दहमाणे करेति सट्ठाणे।
तारिसं तु गवेसज्जा, जतो गुणाणं ण परिहाणी ॥

य एनामनन्तरोक्तां कल्पस्थितिं श्रद्दधानः स्वस्थाने करोति स्वस्थानं नाम स्थितकल्पे अनुवर्तमाने स्थितकल्पसामाचारीमस्थितकल्पे पुनरस्थितकल्पसामाचारीं करोति तादृशं संविग्नविहारिणं साधुं गवेषयेत्। तेन सहैकत्र संभोगं कुर्य्यात् यतो यस्मात् गुणानां मूलगुणोत्तरगुणानां परिहाणिनं भवति। इदमेव व्यक्तीकर्तुमाह-

ठियकप्पम्मि दसविधे, ठवणे कप्पे य दुविहमण्णयरे।
उत्तरगुणकप्पम्मि य, जारिसकप्पो ससंभोज्जे ॥

स्थितकल्पे आवलिक्यादौ दशविधे स्थापनाकल्पे विवक्ष्यमाणे द्विविधाऽन्यतरस्मिन् उत्तरगुणकल्पवयः सदृक्कल्पस्तुल्यसामाचारीकः स संभोग्यः संभोक्तुमुचितः। बृ० ६ उ० (पर्य्युषणाकल्पप्रतिपादके कल्पसूत्रनामके दशाश्रुतस्कन्धस्याष्टमेऽध्ययने) विशे०। कल्प०। कल्पन्ते समर्था भवन्ति संयमाध्वनि प्रवर्तमाना अनेनापि कल्पः। व्यवहाराध्ययने, व्य० १ उ०।

पञ्चकल्पेऽधिकारास्तत्र कप्पद्वारं।

कमेण हु इदाणि किं पुण,उक्कमकरणं बहुतव्वंति नाऊणं।

किं पुण कप्पज्झयणे, वन्निज्जइ भन्नती सुणसु ।
ता वज्जे अभिविदिता, उ अच्छा तहिय ते उ समासेणं ।
कप्पे य कप्पिए चेव, कप्पणिज्जे ति आवरे ॥
फासुए एसणिज्जे य, संजमे चेति तावरे ।
बालए वागए चेव, चम्मपट्टे ति आवरे ॥
पम्हए किमिए चेव, धातुए मे सते त्ति य ।
उवसंपया चरित्तस्स, चरित्ते कइविहेइ य ॥
णियंठा कइ पणत्ता, कह समोतारणाति य ।
ववहारे कस्स पन्नत्ते, कहं पडिसेवणा वि य ॥
देसभंगे कहं वुत्ते, सव्वभंगे ति यावरे ।
पच्छित्ते कं तिविहे, वुत्ते छट्ठाण ति यावरे ॥
पंचट्ठाणे चउट्ठाणे, तिट्ठाणेति ति यावरे । पं० भा० पत्र० २ ।
छव्विह कप्पसिणमो, णिक्खेवो छव्विहो मुणेयव्वो ।
णामं ठवणा दविए, खित्ते काले य भावे य । पं० भा० ।
एसो तु भावकप्पो, अहवा णाणादितो पुणो तिविहो ।
दंसणपढमं भण्णति, णाणचरित्ता तदावत्ता । पं० भा० १० पत्र०
इयरो सभसंघयणा, सुत्तस्सत्थो तु होति परमत्थो ।
संसारसभावो वा, नानातो मुणितपरमत्था ॥
दोहग्गहततिपादी, पडिमाइहि गहणभत्तपाणस्स ।
दोहिं तु उवरिमाहिं, गिण्हंते वत्थपाताइं ॥
दव्वा दभिग्गहा पुच्छा, रयणावलिमादिगा य बोधव्वा ।
एते सुविदितभावा उ, वेंति जिणकप्पियविहारं । पं० भा० ।
एत्तो उ थेरकप्पं, समासओ मे निसामेहि ।
तिविहम्मि संजमम्मि उ, बोधव्वो होति थेरकप्पो तु ॥
सामाइयछेदप रिहारि य तिविहम्मि एयम्मि ।
तिय अट्ठिए व कप्पे, सामाइयसंजमो मुणेयव्वो ॥
छेदपरिहारिया पुण, णियमाओ हवंति ठितकप्पे ।
एतेसु थेरकप्पो, जह जिणकप्पीण अग्गहो दोसु ॥
गहणं च भिग्गहाणं, पंचहिं दोहि च ण तह इत्तं ।
बाले वुड्ढे सेहे, अगीतत्थे णाणदंसणप्पेही ॥
दुब्बलसंधयणम्मि य, गच्छे य इण्हेसणा भणिता ।
जह संभवंतु सेसा, खेत्तादिविभासियव्वदारा तु ॥
उवरिं तु मासकप्पे, वित्थरितो विभासते तेसिं ।
दारं इति एस थेरकप्पो पं० भा० पत्र० १२ । पं० चू० ॥

एष लिङ्गकल्पः । उपधिकल्पमाह-

सत्तविह कप्प एसो, समारातो वण्हिओ सविभवेणं ।
एत्तो दसविहकप्पं, समासओ मे णिसामेहि ।
कप्पयकप्पविकप्पे, संकप्पुवकप्प तह अणुकप्पे ।
उवकप्पे य अकप्पे, दुकप्पे टहा सुकप्पे य । पं० भा० ॥
वुत्तो दसविहकप्पो, अहुणा वीसतिविहं तु वोच्छामि ।
तस्स तु दाराइणमो, समहिता तीहि गाहाहिं ॥
कप्पेसु णामकप्पो, ठवणाकप्पो य दवियकप्पो य ।
खेत्ते काले कप्पो, दंसणकप्पो य सुत्तकप्पो य ॥
अज्जाईण न चरित्तम्मि य कप्पो उवही तहेव संभोगे ।
आलोचणउवसंपद, तहेव उद्देसणुण्हाओ ।
अद्धाणम्मि व कप्पो, अणुवासो तह य होति ठितकप्पो ।
अट्ठितकप्पो य तहा, जिणथेरणुवालणाकप्पो । पं० भा० ।
दव्वे भावे तदुभय–करणे वैरमणमेव साहारे ।
णिच्चे असंतरमयं, तेयठित अट्ठिते चेव ।
ठाणजिणथेरपज्जुसणमेव सुत्ते चरित्तमज्झयणे ॥
उद्देसवायणपडिच्छणा य परिठवणुपेहा य ।
जो तमजाते चिण्हमचिण्ह संठाणमेव वयणे य ।
उववायनिसीहे य, ववहारो खेत्तकाले य ।
उवही संभोगलिंग–कप्पपडिसेवणा य अणुवासो ।
अणुपालणा अणुण्हा, ठवणा कप्पे य बोधव्वे । पं० भा० ॥

(समाप्तकल्पोऽसमाप्तकल्पो विहारो विहारशब्दे) कृत्ये, "अकप्पं परियाणामि कप्पं उवसंपज्जामि" आव० ४ अ० । ध० । स्थविरकल्पादीनां व्यवस्थायाम्, पा० । आ० चू० । संथा० । पं० व० । नं० । कल्प० (कल्पस्य षट् प्रस्ताराः प्रस्तार शब्दे) कल्पाध्ययनोक्तसाधुसमाचारे, ।

(सूत्रम्) कप्पस्स पलिमंथू पण्णत्ता तं जहा कुक्कइए संजमस्स पलिमंथू मोहरिए सच्चवयणस्स पलिमंथू चक्खुलोलए इरियावहियस्स पलिमंथू तिंतणए एसणागोयरस्स पलिमंथू इच्छालोलए मुत्तिमग्गस्स पलिमंथू निज्झा नियाणकरणे मोक्खमग्गस्स पलिमंथू सवत्थ भगवता अनियाणया पसत्था ।

अथ निर्युक्तिविस्तरः ।

पलिमंथे णिक्खेवो, णामधिकरणम्मि कारगकम्मे य ।
दव्वपलिमंथो एमेव य, भावम्मि चउसु वि ठाणेसु ॥

जीवानुकरणे साधकतमेअधिकरणे आधारे कारकः कर्त्ता तस्मिन् तथा कर्मणि च व्याप्ये द्रव्यतः परिमन्थो भवति । तथा हि करणे येन मन्थानादिना दध्यादिकं मथ्यते अधिकरणे यस्यां पृथिवीकाय निष्पन्नायां मन्थन्यां मथ्यते । कर्त्तरियः पुरूषः स्त्री वा दधि विलोडयति । कर्म्मणि तन्मथ्यमानं यन्नवनीतादिकं भवति एष चतुर्विधो द्रव्यपरिमन्थः । एवमेव (भावेति) भावविषयः परिमन्थः चतुर्ष्वपि करणादिषु स्थानेषु भवति । तद्यथा करणे येन कौत्कुच्यादिव्यापारेण दधितुल्यः संयमो मथ्यते अधिकरणे यस्मिन्निति मथ्यन्ते । कर्त्तरि साधुः कौत्कुच्यादिभावपरिणतस्तं संयमं मध्नाति, कर्म्मणि यन्मथ्यमानं संयमादिकमसंयमादितया परिणमते एष चतुर्विधोऽपि परिमन्थो जीवादनन्यत्वाज्जीव एव मन्तव्यः । अथ करणे द्रव्यभावपरिमन्थं भाष्यकारोऽपि भावयति ।

दव्वम्मि मंथिते खलु, तेण मंथिज्जए जहा दहिए ।
दधितुल्लो खलु कप्पो, मंथिउ ति कोक्कुआदीहिं ॥

द्रव्यपरिमन्थो मन्थिको मन्थान इत्यर्थः । तेन मन्थानेन यथा दधितुल्यः खलु कल्पःसाधुसमाचारः कौत्कुचिकादिभिः प्रकारै–

र्मथ्यते विनाश्यत इत्यर्थः । तदेवं व्याख्यातं परिमन्थपदम् । बृ० ६ उ० । षट् कल्पस्य प्रतिमन्थवः प्रज्ञप्तास्तद्यथा कौत्कुचिकः संयमस्य प्रतिमन्थुः १ मौखारिकः सत्यवचनस्य प्रतिमन्थुः २ चक्षुर्लोल ईर्यापथिकस्य प्रतिमन्थुः ३ तिन्तिणिकः एषणागोचरस्य प्रतिमन्थुः ४ इच्छालोलो मोक्षमार्गस्य प्रतिमन्थुः ५ निदानं सिद्धिमार्गस्य प्रतिमन्थुः ६ "कुक्कइय" प्रभृतिशब्दानां व्याख्याऽन्यत्रान्यत्र ।

सांप्रतमेतेष्वेव द्वितीयपदमाह-

बिइयपदं गेलन्ने, अद्धाणे चेव तह य ओमम्मि ।
मोत्तूण चरिमपदं, णायव्वं जं जहिं कमति ॥

द्वितीयपदं ग्लानत्वे अध्वनि तथा अवमे च भवति तच्च चरमपदं निदानकरणरूपं मुक्त्वा ज्ञातव्यं तत्र द्वितीयपदं न भवतीत्यर्थः । शेषेषु तु कौत्कुचिकादिषु यद्यत्र क्रमते तत्तत्रावतारणीयमेतदेव भावयति ।

कडिवेयणमवतंसे, गुदपागरिसाभगंदलं वा वि ।
गुदकीलगसक्कारा, ण तरति वद्धासणो होउं ॥

कटिवेदना कस्यापि दुःसहा अवतंसो वा पुरुषव्याधिनामको रोगो भवेत् । एवं गुदयोः पाको अर्शांसि भगन्दरं गुदकीलको भवेत् । शर्करा कृच्छ्रमूत्रको रोगः स च कस्यापि भवेत्ततो न शक्नोति बद्धासनो भवितुं स्थातुं एवंविधे ग्लानत्वे अभीक्ष्णपरिस्पन्दनादिकं स्थानकौत्कुचिकत्वमपि कुर्यात् ।

उव्वत्तेति गिलाणं, ओसहकज्जे व पत्थरे छुभति ।
वेवति य खित्तवित्तो, वित्तियपदं होति दोसं तु ॥

ग्लानमुद्वर्तयति एकस्मात्पार्श्वतो द्वितीयस्मिन् पार्श्वे करोति औषधकार्ये व औषधदानहेतोस्तमेव ग्लानमन्यत्र संक्रम्य भूयस्तत्रैव स्थापयति । यस्तु क्षिप्तचित्तः स परवशतया प्रस्तरान् पाषाणान् क्षिपति वेपते वा च शब्दात् सेढितमुखवारित्रादिकं प्रकरोति एतत् द्वितीयपदं यथाक्रमं द्वयोरपि शरीरभाषाकौत्कुचिकयोर्भवति ।

मौखरिकत्वे अपवादमाह-

तुरियगिलाणाहरणे, मुहरित्तं कुज्ज वा दुपक्खे वा ।
ओसहविज्जं मंतं, मेलिज्जा सिग्घगामि त्ति ॥

त्वरितं ग्लाननिमित्तमौषधादेराहरणे कर्तव्ये द्विपक्षे संयतीपक्षे संयतीपक्षे च मौखरिकत्वं कुर्यात् । कथमित्याह । एष शीघ्रगामी अत औषधमानेतुं विद्यां मन्त्रं वा प्रयोक्तुं (मेलिज्जात्ति) प्रेर्यतां व्यापार्यता–मित्यर्थः ।

अच्चाउरकज्जे वा, तुरियं व न वावि इरियमुवओगो ।
वेज्जस्स वा वि कहणं, भणति विसमूलओमाओ ॥

अत्यातुरस्य वा ग्लानस्य कार्ये त्वरितं गच्छेत् न चापि नैवेर्यायामुपयोगं दद्यात् । वैद्यस्य वा कथनं धर्मकथां कुर्वन् गच्छेत् येन स प्रवृत्तः सम्यक् ग्लानस्य चिकित्सां करोति । भये वा मन्त्रादिकं परिवर्तयन् गच्छति विषं वा केनापि साधुना भक्षितं तस्य मन्त्रेणापमार्जनं कुर्वन् विषवैद्या वानवगृहीतानां परिवर्तयन् शूलं वा कस्यापि साधोरूद्भवति तदा प्रमार्जयन् गच्छति ।

तिंतिणिया व तदद्धा, अलब्भमाणे वि दव्वतिंतिणिता ।
वेज्जे गिलाणगादि तु, अहासंबंधी य अतिरित्तो ॥

तस्य ग्लानस्य उपलक्षणत्वात् आचार्यादेश्चाचार्याय तिन्तिणितापि स्निग्धमधुरा आहारादिसंयोजनलक्षणा कर्त्तव्या । अलभ्यमाने वा ग्लानप्रायोग्ये औषधादौ द्रव्यतिन्तिणिकता हा कष्टं न लभ्यते ग्लानयोग्यमत्रेत्येवंरूपा कार्या । इच्छालोभे पुनरिदं द्वितीयपदं वैद्यस्य दानार्थं ग्लानार्थं वाऽऽहार उपधिश्चातिरिक्तोऽपि ग्रहीतव्यः । आदिशब्दादाचार्यादिपरिग्रहः । गणचिन्तके वा गच्छोपग्रहे हेतोरतिरिक्तमुपधिं धारयेत् । एवं तावन्निदानं मदं वर्जयित्वा शेषेषु सर्वेष्वपि ग्लानत्वमङ्गीकृत्य द्वितीयपदमुक्तम् ।

संप्रति तदेवाध्वनि दर्शयति-

अवेक्खंतो वलभया, कहेति वा सत्थियातिअत्तीणं ।
विज्जं आइसुतं वा, खेदभवा वा अणाभोगा ॥

अध्वनि स्तेनानां सिंहादीनां वा भयादप्रेक्षमाण इतश्चेतश्च विलोकमानोऽपि व्रजेत् यदि वा अध्वनि गच्छन् सार्थिकानामायतिकानां वा सार्थचिन्तकानां धर्मं कथयति येन ते आवृत्ताः सन्तो भक्तपानाद्युपग्रहं कुर्युः । अथवा विद्या काचिदभिनवगृहीता सा मा विस्मरिष्यतीति कृत्वा तां परिवर्तयन्नतूपेक्षमाणो वा गच्छेत् आदिश्रुतं पञ्चमङ्गलं तद्वा चौरादिभये एरावर्तयन् व्रजेत् खेदो नाम श्रमस्तेनातुरीभूतो भयाद्वा संभ्रान्त ईर्यायामुपयुक्तो न भवेदिति (अणाभोगत्ति) विस्मृतिवशात् सहसा वा नेर्यायामुपयोगे कुर्वात् ।

संजोयणापलं वा, तिगाण कप्पादिगो य अतिरेगो ।
ओमादिए वि विहुरो, जाइज्जा जं जहे कमति ॥

अध्वनि गच्छन् हारादीनां संयोजनामपि कुर्यात् प्रलम्बादीनां विकरणकरणाय पिप्पलकादिकमतिरिक्तमप्युपधिं गृह्णीयाद्वा धारयेद्वा अथवा परलिङ्गेन तानि ग्रहीतव्यानि ततः परलिङ्गमपि धारयेत् । कल्पा अर्णिकादयस्तदादिक आदिशब्दात्पात्रादिकश्च दुर्लभ उपधिरतिरिक्तोऽपि ग्रहीतव्यः । तदेवमध्वनि द्वितीयपदे भावितम् । एवमवमं दुर्भिक्षं तत्रादिशब्दादशिवादिकारणेषु वा विधुरे आत्यन्तिकायामापदि पञ्चविधं परिमन्थुमङ्गीकृत्य यद्यत्र द्वितीयपदं क्रमते तत्तत्र योजयेत् । एवं निदानपदं मुक्त्वा पञ्चस्वपि कौत्कुचिकादिषु परिमन्थुषु द्वितीयपदमुक्तम् बृ० ६ उ० (निदानव्याख्याऽन्यत्र) कल्पप्रतिसेवनायाम्, जीत० । पुष्टालम्बने, यतनादिविषये, पंचा० १५ विव० । अप्रमादे, "अप्पमायाकप्पो भवति उवओगपुव्वकरणो" क्रियालक्षणोऽप्रमादः नि० चू० १ उ० । तथाविधसमाचारप्रतिपादके (नि०) यज्ञादिविधिशास्त्रे वेदाङ्गे, कल्प० । अनु० । ज्ञा० । आव० । आ० म० द्वि० । द्वादश्यां गौणानुज्ञायाम्, नं० । निश्रायाम्, व्य० ४ उ० । संख्यानभेदे, कल्पश्छेदः क्रकचेन काष्ठस्य तद्विषयं संख्यानं कल्प एव परिपाट्या क्रकचव्यवहार इति प्रसिद्धमिति स्था० १० ठा० । प्रावरणरूपे प्रच्छादके, बृ० ३ उ० । जिनकल्पिकानां त्रयः कल्पाः ।

अथ गच्छवासिनां कल्पप्रमाणमाह-

कप्पा आयपमाणा, अड्ढाइज्जाउ वित्थमा हत्था ।
एवं मज्झिममाणं, उक्कोसं होंति चत्तारि ॥

कल्पा आत्मप्रमाणाः सार्द्धहस्तद्वयप्रमाणायामा अर्द्धतृतीयाश्च हस्ता विस्तृताः पृथुला विधेयाः एतन्मध्यमं मानं प्रमाणं भवति उत्कर्षतो दैर्घ्येन चत्वारो हस्ताः । एतदादेशद्वयं मन्तव्यम् ।

अत्रैव कारणमाह ।

संकुचियतदूणआय–प्पमाणसुयाण न सीयसंफासो ।
दुहओ पेल्लणथेरे, धेणुव्वियपाणाइ रक्खा य ॥

यः श्रमणो बलन् स संकुचितपादः स्वप्तुं शक्नोति तस्य तथा स्वयमेव शीतस्पर्शो न भवति । अतस्तस्यात्मप्रमाणः कल्पोऽनुज्ञातः यस्तु स्थविरो वयसा वृद्धः स क्षीणबलत्वान्न शक्नोति संकुचितपादः शयितुम– तस्तस्यानुग्रहार्थं दैर्घ्येण आत्मप्रमाणादूर्द्धं षडङ्गुलानि विस्तररोऽप्य– र्द्धतृतीयहस्तप्रमाणादभ्यर्धिकानि षमङ्गुलानि विधीयन्ते एवं विधीयमाने गुणमुपदर्शयति (दुहओपेल्लणत्ति) शिरःपादान्तलक्षणद्व–योरपि पार्श्वयोर्यत्कल्पस्य प्रेरणमाक्रमणं तेन स्थविरस्य शीतं न भवति । अनुचितो भावितशैक्ष इत्यर्थः तस्यापि स्वप्नविधावनभिज्ञस्य कल्पप्रमाणमेव ज्ञातव्यम् । अपि च एवं प्राणिनां रक्षा कृता भवति न मण्डूकप्लुत्या कीटिकादयः प्राणिनः प्रविशन्तीति भावः । आदिशब्दा– द्दीर्घजातीयादयोऽपि न प्रविशन्ति तेनात्मनापि रक्षा कृता भवति । बृ० ३ उ० । ध० ।

पञ्चवस्तुवृत्तौ तु तत्प्रयोजनं चेत्थम् ।

तणगहणानलसेवा, णिवारणा सुक्कधम्मधरणट्ठा ।
दिट्ठं कप्पग्गहणं, गिलाणमरणट्ठया चेव ॥

तृणग्रहणानलसेवावारणार्थं तथाविधसंहनिनां धर्मशुक्लधरणार्थं कल्पग्रहणं शिनैः प्रज्ञप्तं ग्लानमृतप्रच्छादनार्थे चेति ध० ३ अधि० । पं० व० । नि० चू० । ओ० ।

अथ परप्रश्नमाशङ्क्योत्तरमाह ।

कं संजमोवयारं, करेइ वच्छाइ जइ मई सुणसु ।
सीयत्ताणं ताणं, जलणतणगयाण सत्ताणं ॥
तह निसि चाउक्कालं, सज्झायझाणसाहणमिसीणं ।
महिमहियावासोसो, रयाइ रक्खानिमित्तं च ॥
मयमंवरूज्झणत्थं, गिलाणपाणोवगारिचाभिमयं ।
मुहपोत्तियाइ चेवं, परूवणिज्जं जहा जोग्गं ॥
संसत्तसत्तगोरस–पाणयपाणीयपाणरक्खत्थं ।
परिगलणपाणधायण, पच्छा कम्माइयाणं च ॥
परिहारत्थं पत्तं, गिलाणवालादुवग्गहत्थं च ।
झाणमयधम्मसाहण–स्समया चेवं परोप्परओ ॥ ३ ॥

कं नाम संयमोपकारं करोति वस्त्रादिकमिति यदि तव मतिः तर्हि कथ्यते । शृणु सौत्रिकौर्णिककल्पैस्तावच्छीतार्त्तानां साधूनां त्राणमार्त्त– ध्यानापहरणं क्रियते । तथा ज्वलनतृणादीन्धनगतानां सत्त्वानां त्राणं रक्षणं क्रियत इतीहापि दृश्यम् । इदमुक्तं भवति यदि कल्पा न भवेयुस्तदा शीतार्त्ताः साधवोऽग्नितृणादीन्धनज्वलनं कुर्युस्तत्करणे चावश्यंभावी तद्व्रतसत्वोपघातः । कल्पैस्तु प्रावृतैरेष न भवत्येव । अग्नितृणादिज्वल– नमन्तरेणापि शान्तार्त्तिनिवृत्तिरिति । तथा " कालचउक्कं उक्कोसयण जहन्नेतियं तु बोधव्वमित्यादि " वचनात्समस्तरात्रिजागरणं कुर्वद्भिः साधुभिश्चत्वारः काला ग्रहीतव्याः तच्च हिमकणप्रवर्षिणि शीते पतति चतुष्कालं गृह्णीतामृषीणां कल्पाः प्रवृत्ताः सन्तो निर्विघ्नं स्वाध्याय ध्यानं कुर्वन्ति शीतार्त्यपहरणादिति । तथा (महीत्ति) महावातोत्क्षिप्ता सचित्ता पृथिवी तस्याः पतन्त्या रक्षानिमित्तं प्रावृताः कल्पाः संजायन्ते महिकाधूमिका (वासत्ति) वर्षो वृष्टिः (उसत्ति) अवश्यायः प्रतीतः रजोऽपि सचित्तमीषदाताम्रनभसः पतति प्रतीतमेव आदिशब्दात्प्रदीप– तेजःप्रभृतीनां परिग्रहः । एतेषां च महावातादिप्रतानां रक्षानिमित्तं कल्पाःसंजा यन्त इति । तथामृतस्य संतरणं संवरः आच्छादनं उज्झनं बहिर्नयनं तदर्थं च चेतो जलप्रच्छादनपटिकादि वस्त्रमभिमतं ग्लानप्राणोपकारि च तदभिमंत परमगुरूणामेवं मुखवस्त्रिकारजोहर– णादिचोपकरणं समयानुसारतः संयमोपकारित्वेन योज्यं भणनीयम् । विशे० (पत्र ५४८) । इन्द्रसामानिकत्रयस्त्रिंशादिव्यवहाररूपे आचारे, प्रज्ञा० १ पद । प्रव० । तद्युक्ते देवलोके, भ० ५ श० ४ उ० । स्था० । सौधर्मादौ , स्था० २ ठा० । (ते च सौधर्मादय इत्थं वैमानिकदेवानां स्थानप्ररूपणे ठाणशब्दे वक्ष्यन्ते,) ते द्वादश सौधर्मः १ ईशानः २ सनत्कुमारः ३ माहेन्द्रः ४ ब्रह्मलोकः ५ लान्तकः ६ महाशुक्रः ७ सहस्रारः ८ आनतः ९ प्राणतः १० आरणः ११ अच्युतः १२ । प्रज्ञा० १ पद (एतेषां मानादि सर्वठाणशब्दे) एतेषु, ।

दस कप्पा इंदाहिहिया पण्णत्ता तं जहा सोहम्मे जाव सहस्सारे पाणए अच्चुए । एएसु णं दसकप्पेसु दस इंदा पण्णत्ता तं जहा सक्के ईसाणे जाव अच्चुए । एएसि णं दसण्हं इंदाणं दस परियाणिया विमाणा पन्नत्ता तं जहा पालए पुप्फए जाव विमलवरे सव्वओ भद्दे ।

(दसेत्यादि) सौधर्मादीनामिन्द्राधिष्ठितत्वमेतेष्विन्द्राणां निवासा– दानतारणयोस्तु तदनधिष्ठितत्वं तन्निवासाभावात् स्वामितया तु तावप्यधिष्ठितावेति मन्तव्यं यावत्करणात् " ईसाणे २ सणंकुमारे ३ माहिंदे ४ बंभलोए ५ लंतगे ६ सक्केति ७ " दृश्यमिति । यत एवैते इन्द्राधिष्ठिता अत एवैतेषु दशेन्द्रा भवन्तीति दर्शयितुमाह । (एएसु इत्यादि) शक्रः सौधर्मेन्द्रः शेषा देवलोकसमाननामानः शेषं सुगममिति । इन्द्राधिकारादेव तद्विमानान्याह । (एते इत्यादि) परियाणं देशान्तरगमनं तत्प्रयोजनं यैषां तानि पारियाणिकानि गमनप्रयोजनानीत्यर्थः । यानं शिविकादि तदाकाराणि विमानानि देवाश्रया यानविमानानि न तु शास्वतानि नगराकाराणीत्यर्थः । पुस्तकान्तरे यानशब्दो न दृश्यते पालक इत्यादीनि शक्रादीनां क्रमेणावगन्तव्यानि यावत्करणात् " सोमणसे ३ सिरिवच्छे ४ नंदियावत्ते ५ कामकमे ६ पीइगमे ७ मणोरमे ८ इति " द्रष्टव्यमिति । आभियोगिकाश्चैते देवा विमानीभवन्तीति । (स्था०) एवंविधविमानयायिनश्चेन्द्राः प्रतिमादिकास्तपसो भवन्तीति ।

दोसु कप्पेसु कप्पत्थियाओ पण्णत्ताओ तं जहा सोहम्मे चेव ईसाणे चेव । दोसु कप्पेसु देवा तेऊलेस्सा पन्नत्ता तं जहा सोहम्मे चेव ईसाणे चेव । दोसु कप्पेसु देवा कायपरियारगा पण्णत्ता तं जहा सोहम्मे चेव ईसाणे चेव । दोसु कप्पेसु देवा फासपरियारगा पण्णत्ता तं सणंकुमारे चेव माहिंदे चेव । दोसु कप्पेसु देवा रूवपरियारगा पण्णत्ता तं जहा बंभलोए चेव लंतए चेव । दोसु कप्पेसु देवा सद्दपरियारगा पण्णत्ता तं जहा महासुक्के चेव सहस्सारे चेव ॥

कल्पयोर्देवलोकयोः स्त्रियः कल्पस्त्रियो देव्यः परतो न सन्ति शेषं कण्ठ्यमिति नवरं (तेऊलेसत्ति) तेजोरूपा लेश्याः येषान्ते तेजोलेश्यास्ते च सौधर्मेशानयोरेव न परतः तयोश्च तेजोलेश्या एव नेतरे आह च " किण्हा नीला काऊ, तेऊलेसा य भवणवंतरिया ! जोइससोहम्मीसाणे, तेऊलेसा मुणेयव्वत्ति । " १ (कायपरियारगत्ति) परिचरन्ति सेवन्ते स्त्रियमिति परिचारकाः कायतः परिचारकाः कायपरिचारका एवमुत्तरत्रापि नवरं स्पर्शादिपरिचारकाः स्पर्शादेरेवोपशान्तवेदोपतापा भवन्तीत्यभिप्रायः । आनतादिषु चतुर्षु कल्पेषु मनःपरिचारका देवा भवन्तीति वक्तव्यम् । स्था० २ ठा० ।

अत्थि णं भंते ! सोहम्मीसाणे णं कप्पाणं अहेगेहाइ वा गेहवणाइ वा ? नो इणट्ठे समट्ठे । अत्थि णं भंते ! उरालावलाहया ? हंति अत्थि । देवोपकरेइ असुरो वि पकरेइ नो नाओ एवं थणियसद्दे वि । अत्थि णं भंते ! बादरे पुढंविकाए बादरे अगणिकाए ? णो इणट्ठे समट्ठे णण्णत्थविग्गहगइसमावण्णाएणं । अत्थि णं चंदिम जाव तारारूवा ? गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे । अत्थि णं भंते ! गामाइ व जाव सन्निवेसाइ वा ? गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे । अत्थि णं भंते ! चंदाभाइ वा ? गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे एवं सणंकुमारमाहिंदेसु णवरं देवो एगो पकरेइ । एवं बंभलोए वि एवं बंभलोगस्स उवरि सव्वहिं देवो पकरेइ पुच्छियव्वो य बायरे आउकाए बायरे अगणिकाए बायरे वणस्सइकाए अन्नं तं चेव गाहा " तमुकायकप्पपणए, अगणीपुढवी य अगणिपुढवीसु । आऊतेउवणस्सइ, कप्पुवरम्मि कण्हराईसु " ॥ १ ॥

" देवोपकरेइ इत्यादि " इह च बादरपृथिवीतेजसोर्निषेधः सुगम एव स्वस्थानत्वात्तथाऽब्वायुवनस्पतीनामनिषेधोऽपि सुगम एव तयोरुदधिप्रतिष्ठितत्वेनाऽब्वनस्पतिसम्भवाद्वायोश्च सर्वत्र भावादिति (एवं सणंकुमारमाहिंदेसुत्ति) इहातिदेशतो बादराऽब्वनस्पतीनां सम्भवोऽनुमीयते स च तमस्कायसद्भावतोऽवसेय इति । एवं " बंभलोयस्स उवरिं सव्वहिं ति " अच्युतं यावदित्यर्थः । परतो देवस्यापि गमो नास्तीति तत्कृतबलाहकादेर्भावः । (पुच्छियव्वो य त्ति) बादरोऽप्कायोऽग्निकायो वनस्पतिश्च प्रष्टव्यः । अत्र " तं चेवत्ति " वचनान्निषेधश्च यतोऽनेन विशेषोक्तादन्यत्सर्वं पूर्वोक्तमेव वाच्यमिति सूचितम् । तथा ग्रैवेयकादीषत्प्राग्भारान्तेषु पूर्वोक्तं सर्वं गेहादिकमधिकृतवाचनायामनुक्तमपि निषेधतो ध्येयमिति । भ० ६ श० ८ उ० । भोजनान्तरं पात्रादिधावने, ग० १ अधि० । (पात्रप्ररूपणायां तं विकाशयिष्यामि) कल्पते समर्थो भवति स्वक्रियायै विरुद्धलक्षणया समर्थो भवति वा अत्र कृप् सामर्थ्ये विरुद्धलक्षणया असामर्थ्ये वा आधारे घञ् कल्पयति सृष्टिं विनाशं वा अत्र कृप् णिच् आधारे अच् । ब्रह्मणो रात्रिरूपे जगतां चेष्टाराहित्यसंपादके प्रलये, तस्य दिनरूपे जगतां चेष्टासंपादके च कालभेदे, वाच० । युक्ते, कल्पन्ते युज्यन्ते युक्तमेतत्तथा स्था० २ ठा० ।

***कल्प्य**–त्रि० (कृप्–णिच्–यत्) कल्पनीये, प्रश्न० अध० १ द्वा० । एषणीये, स्था० ३ ठा० । ग्राह्ये, पंचा० १२ विव० । रचनीये, आरोप्ये, अनुष्ठेये, विधेये, वाच० । सारणीकूपादौ च " सारणीकूवादिओ विकप्पा भन्नत्ति " नि० चू० १ उ० ।

कप्पअ–त्रि० (कल्पक) कल्पयति रचयति आरोपयति वा कृप्–णिच्–ण्वुल्–रचके, आरोपके च कर्चूर, नापिते, पुं० तस्य केशवेशरचकत्वात् तच्छेदकत्वात् तथात्वम् । कल्प–स्वार्थे कन् कल्प शब्दार्थे च वाच० ।

कपिलविप्रसुते, शकटालसुतपूर्वजे, तद्वृत्तं चेत्थम् ।

इतश्च कपिलो विप्रो, वसति स्म पुराद्बहिः ।
आगताः साधवः साय–मन्येद्युस्तद्गृहे स्थिताः ॥ २० ॥
जानन्त्येते न वा किंचि–दित्यप्राक्षीद् द्विजः स तान् ।
आचार्यैः कथितं तच्च, श्रावकोऽभूत्तदैव सः ॥ २१ ॥
अथान्यदा गृहे तस्य, स्थिताः केऽपि सुसाधवः ।
जातमात्रः सुतस्तस्य, रेवतीदोषदूषितः ॥ २२ ॥
पात्रकानि सूसाधूनां, धृतः कल्पयतामधः ।
नष्टा सा व्यन्तरी तस्य, कल्प इत्यभिधाऽभवत् ॥ २३ ॥
सर्वविद्याः स जज्ञेऽथ, पितरौ मृत्युमापतुः ।
नैच्छद्दानं च संतोषी, दत्ते विद्यास्तदर्थिनाम् ॥ २४ ॥
तत्रास्त्येको द्विजः कल्प–गमनागमनाध्वनि ।
कन्याजलोदरिण्यस्ति, तस्य तस्या वरोऽस्ति न ॥ २५ ॥
स दध्यौ कल्पकस्यैता–मुपायेन ददाम्यहम् ।
कृत्वा कूपं गृहद्वारे, तन्मध्ये तामथाक्षिपत् ॥ २६ ॥
दृष्ट्वा कल्पकमायान्त–मभ्युद्यैस्तेन पूत्कृतम् ।
कपिला भोःपतातान्धो, य उद्धरति तस्य सा ॥ २७ ॥
तच्छ्रुत्वा कृपया कल्पो, धावित्वा तां समाकृषत् ।
सोऽथ तेन द्विजेनोक्तः , सत्यसन्धो भवेदिति ॥ २८ ॥
जनापवादभीतेन, प्रपन्ना कल्पकेन सा ।
पश्चादौषधयोगेन, कृता रतिरिवापरा ॥ २९ ॥
विद्वान् कल्पश्रुतो राज्ञा, सोऽथाहूयाभ्यधीयत ।
मन्त्री भवेति सोऽवादीत्, लुब्धः पापं करोत्यदः ॥ ३० ॥
नाहं परिग्रहं कुर्वे, भोजनाच्छादने विना ।
दध्यौ राजा विना मन्तुं, नासौ ग्रहमुपेक्ष्यति ॥ ३१ ॥
तद्वस्त्ररजको राज्ञा, प्रोक्तश्चेदधुनाऽर्प्यताम् ।
वस्त्राणि माऽर्पयिष्यास्त–त्प्रियया प्रेरितोऽन्यदा ॥ ३२ ॥
रञ्जनायार्पयामास, वस्त्राणीन्द्रमहोपरि ।
तद्दिने मार्गितस्तानि, श्वोऽर्पयिष्यामि सोऽवदत् ॥ ३३ ॥
एवं वर्षद्वये याते, तृतीयेऽब्दे पुनः पुनः ।
मार्गितोऽप्यर्पयन्नैव, रुष्टः कल्पोऽवदत्ततः ॥ ३४ ॥
नाहं कल्पोऽस्मि चेत्तानि, रञ्जयाम्यसृजा न ते ।
अन्येद्युः क्षुरिकापाणि–र्गतोऽथ रजकप्रियाम् ॥ ३५ ॥
ऊर्चेंऽशुकान्यर्पयास्य, साऽर्पयद्रजकोदरम् ।
पाटयित्वा तदसृजा–रञ्जयत्तानि कल्पकः ॥ ३६ ॥
तद्वार्योचे नृपादेशा–न्नादाद्दोषोऽस्य कस्ततः ।
कल्पकोऽचिन्तयद्राज्ञो, यन्मयाऽऽप्ता न मन्त्रिता ॥ ३७ ॥
तद्राज्ञः कैतवमिदं, प्राग्वृजिष्यं पुरा यदि ।
नाभविष्यत्तदेतन्मे, ततो गच्छाम्यहं स्वयम् ॥ ३८ ॥
मा यासं तद्भटैरात्त–स्तद्यथौ द्वाग्नृपान्तिके ।
राजाऽभ्युत्थाय तं स्माह, तन्मदुक्तं विचिन्तितम् ॥ ३९ ॥
सोऽवदद्भवदादेशं, कुर्वे मन्त्री कृतस्ततः ।

तं दृष्ट्वोपनृपं नष्टा, रजका रावकारिणः ॥ ४० ॥
राज्ये सर्वेश्वरः कल्प–जातो जाताऽथ संततिः ।
तेनाथ पुत्रवीवाहे, माङ्गलिक्याय भुभुजा ॥ ४१ ॥
वस्त्राभरणशस्त्रादि, प्रगुणीक्रियतेऽखिलम् ।
दानाद्युपात्ततद्वासी–मुखाद् ज्ञात्वा पुरातनः ॥ ४२ ॥
मन्त्र्याख्यद्भूभुजो देव, हत्वा त्वां कल्पकः सुतम् ।
राज्येऽभिषेक्तुकामोऽस्ति, सामग्री तादृगीक्ष्यते ॥ ४३ ॥
पुरुषाः प्रेषिता राज्ञा, सामग्रीं तेऽप्यचीकथन् ।
कल्पकः सकुटुम्बोऽथ, क्षेपितो भूभुजाऽवटे ॥ ४४ ॥
लभते कौद्रवीकूर–सेटिकामम्भसो घटम् ।
कल्पोऽवक् स्यात् किमियता, यः कुलोद्धरणक्षमः ॥ ४५ ॥
वैरनिर्यातने वाऽलं, भुक्तां सोऽन्नमिदं सुधीः ।
तैरूक्तं नो न शक्तिस्त–त्तेऽभुक्तान्ना दिवं ययुः ॥ ४६ ॥
कल्पकं संहृतं ज्ञात्वा, प्रतिपन्थिनुपास्ततः ।
आययुः पाटलीपुत्रं, ग्रहीतुं जाह्नवीतटे ॥ ४७ ॥
दध्यौ नन्दः स मन्त्री चे–त्स्याद् द्विषो नाययुस्ततः ।
राजोचे कोऽपि किं कूपे, भक्तं गृह्णाति तत्प्रदाः ॥ ४८ ॥
ऊचुर्गृह्णाति राजोचे, तद्वासोऽपि महामतिः ।
ततो मञ्चिकया कृष्टः, कृशः पिङ्गश्च कल्पकः ॥ ४९ ॥
कृतस्नानादिसंस्कारः, प्राकारेऽदर्शि कल्पकः ।
भीतास्ते कल्पकात्सर्वे, मृगेन्द्रादिव फेरवः ॥ ५० ॥
कल्पो दूतेन तानूचे, मिलितैः सरितोऽन्तरे ।
निसृष्टार्थे विशिष्टैर्वः, करिष्ये सन्धिविग्रहम् ॥ ५१ ॥
नावमारुह्य तेऽथागु–र्गङ्गान्तः कल्पकोऽप्यगात् ।
करस्थेक्षुकलायस्य, छिन्नस्योपर्यधस्तथा ॥ ५२ ॥
तिष्ठेत्किमन्तस्तानूचे, कल्पको हस्तसंज्ञया ।
अध ऊर्द्धं च छिन्नस्य, दधिकुण्डस्य किं भवेत् ॥ ५३ ॥
एवमादर्शयन्भुक्त्वा, तान् व्यामोह्य निवृत्तवान् ।
विशिष्टास्ते विलक्षास्तु, जग्मुः स्वस्वनृपान्तिके ॥ ५४ ॥
अज्ञातकल्पाभिप्राया, आख्यंस्ते प्रलयत्यसौ ।
तत्प्रपञ्चेन नष्टास्ते, नन्दः प्रोक्तोऽथ मन्त्रिणा ॥ ५५ ॥
हस्त्यश्वाद्याच्छिन्नतेषां, पृष्टिं कृत्वा प्रणश्यताम् ।
पुनर्मन्त्री कृतः कल्पः, कल्पद्वेषी विनाशितः ॥ ५६ ॥
सहाभून्नन्दसन्तत्या, मन्त्रिता कल्पसन्ततेः ।
आ० क० ११९ पत्र० । आव० । आ० चू० ।

कप्पकरण–न० (कल्पकरण) भोजनोच्छिष्टपात्राणां धावने, बृ० ५ उ० (तद्वक्तव्यता लेवशब्दे)

कप्पकाल–पुं० (कल्पकाल) प्रभूतकाले, "कप्पकालमुवज्जंति" सूत्र० १ श्रु० १ अ० ।

कप्पट्ठ–पुं० (कल्पस्थ) समयपरिभाषया बालके, व्य० ७ उ० । डिम्भरूपे, न० व्य० ७ उ० । बृ० ।

कप्पट्ठिइ–स्त्री० (कल्पस्थिति) कल्पशास्त्रोक्तसाधुसमाचारे, अवस्थाने, कल्पस्य मर्य्यादायाम्, बृ० ६ उ० ।

तविहा कप्पट्ठिई पण्णत्ता तं जहा सामाइयकप्पट्ठिई छेदोवट्ठावणियकप्पट्ठिई णिव्विसमाणकप्पट्ठिई । अहवा तिविहा कप्पट्ठिई पण्णत्ता तं जहा णिविट्ठकप्पट्ठिई जिणकप्पट्ठिई थेरकप्पट्ठिई स्था० ३ ठा० ।

सङ्कलने च ।

(सूत्रम्) छव्विहा कप्पट्ठिती पण्णत्ता तं जहा सामाइयसंजमकप्पट्ठिती छेदोवट्ठावणियसंजमकप्पट्ठिती निव्विसमाणकप्पट्ठिती निविट्ठकाइयकप्पट्ठिती जिणकप्पट्ठिती थेरकट्ठिती त्ति वेमि ॥

षड्विधा षट्प्रकारा कल्पे कल्पशास्त्रोक्तसाधुसमाचारे स्थितिरवस्थानं कल्पस्थितिः । कल्पस्य वा स्थितिर्मर्यादा कल्पस्थितिः प्रज्ञप्ता तीर्थकरगणधरैः प्ररूपिता तद्यथेत्युपन्यासार्थः सामायिकसंहतकल्पस्थितिसमो रागादिदोषरहितस्तस्या यो लाभो ज्ञानादीनां प्राप्तिरित्यर्थः । समय एव सामायिकं सर्वसावद्यविरतिरूपं तत्प्रधानाः संयताः साधवः तेषां स्थितिः सामायिकसंयतकल्पस्थितिः । १ तथा पूर्वपर्यायच्छेदेनोपस्थापनीयमारोपणीयं यत्तच्छेदोपस्थापनीयं व्यक्तितो महाव्रतारोपणमित्यर्थः । तत्प्रधाना ये संयताः तेषां कल्पस्थितिः छेदोपस्थापनीयसंयतकल्पस्थितिः २ निर्विशमानाः परिहारविशुद्धिकल्पं वहमानास्तेषां कल्पस्थितिर्निर्विशमानकल्पस्थितिः ३ निर्विष्टकायिका नाम यैः परिहारविशुद्धिकं तपो व्यूढं निर्विष्टमासेवितो विवक्षितचारित्रलक्षणः कायो यैस्ते निर्विष्टकायिका इति व्युत्पत्तेस्तेषां कल्पस्थितिः ४ जिना गच्छनिर्गताः साधुविशेषास्तेषां कल्पस्थितिः जिनकल्पस्थितिः । ५ । स्थविरा आचार्यादयो गच्छप्रतिनद्धास्तेषां कल्पस्थितिः स्थविरकल्पस्थितिः । इतिरध्ययनपरिसमाप्तौ ब्रवीमि । तीर्थकरगणधरोपदेशे सकलमपि प्रस्तुतशास्त्रोक्तकल्प्यविधिं भणामि न पुनः स्वमनीषिकयेति सूत्रसंक्षेपार्थः ।

संप्रति विस्तरार्थं विभणिषुर्भाष्यकारः कल्पस्थितिपदे परस्याभिप्रायमाशङ्क्य परिहरन्नाह ।

आहारो इह ठाणं, जो चिट्ठति साहिइत्ति ते बुद्धी ।
ववहारपडुच्चेवं, ठियरेव तु णिच्छए ठाणं ॥

कल्पस्थितिरिति सूत्रे यत्पदं तत्र कल्प आधार इति कृत्वा स्थानं यस्तु तत्र कल्पे तिष्ठति स स्थितेरनन्यत्वात् स्थितिः । ततश्चैवं पृथग्भावाभिधेयत्वेन स्थितिस्थानयोः परस्परमन्यत्वमापन्नमिति ते तव बुद्धिः स्यात्सूत्रे व्यवहारं व्यवहारनयं प्रतीत्यैवं स्थितिस्थानयोरन्यत्वम् निश्चयतस्तु निश्चयाभिप्रायेण यैव स्थितिस्तदेव स्थानं तुशब्दाद्यदेव स्थानं सैव स्थितिः । कथं पुनरित्यत आह ।

ठाणस्स होति गमणं, पडिपक्खो तह गती ठिई पत्तुं ।
एतावता सकिरिए, भवेज्ज ठाणं च गमणं च ॥

सक्रियस्य जीवादिद्रव्यस्य एतावदेव क्रियाद्वयं भवति स्थानं वा गमनं वा । तत्र स्थानस्य गमनं प्रतिपक्षो भवति तत्परिणतस्य स्थानाभावात् । ततः किमित्याह ।

ठाणस्स होति गमणं, पडिपक्खो तह गती ठिई पत्तुं ।
ण य गमणं तु गतिमतो, होति पुणो एवमितरंपि ॥

स्थानस्य गमनं प्रतिपक्षो भवति न स्थितिः । स्थितिरपि गतिप्रतिपक्षो न स्थानमेवं स्थितिस्थानयोरेकत्वम् तथा न च नैव गमनं गतिमतो द्रव्यात्पृथक् व्यतिरिक्तं भवति । एवमितरदपि स्थानं स्थितमतो द्रव्याद्व्यतिरिक्तं मन्तव्यम् ।

इदमेव व्यतिरेकद्वारेण द्रढयति ।

जइ गमणं तु गतिमतो, होज्ज पुणो तेण सो ण गच्छेज्जा ॥

जह गमणातो अण्णाण, गच्छति वसुंधरा कसिणा ।।

यदि गमनं गतिमतः पुरुषादेः पृथग्भवेत् ततोऽसौ गतिमान्न गच्छेत्। दृष्टान्तमाह । यथा गमनादन्या पृथग्भूता कृत्स्ना संपूर्णा वसुन्धरा न गच्छति कृत्स्नाग्रहणं लेष्ठुप्रभृतिकस्तदवयवो गच्छेदपीति ज्ञापनार्थमेवं स्थानेऽपि भावनीयं यत एवमतः स्थितमेतत्।

ठाणट्ठियणाणत्तं, गतिगमणाणं च अत्थतो णत्थि ।
वंजणणाणत्तं पुण, जहेव वयणस्स वायो य ।।

स्थानस्थित्योर्गतिगमनयोश्चार्थतो नास्ति नानात्वमेकार्थत्वाद्व्यञ्जननानात्वं पुनरस्ति । यथैव वचनस्य वाचश्च परस्परमर्थतो नास्ति भेदः । शब्दतः पुनरस्तीति। अथवा नात्र स्थितिशब्दोऽवस्थानवाची किंतु मर्यादा वाचकस्तथा चाह।

अहवा जो एस कप्पो, पलंबमादी बहुधा समक्खातो ।
छट्ठाणा तस्स ट्ठिई, ट्ठितित्ति मेरित्ति एगट्ठा ।।

अथवा यः एष प्रस्तुतशास्त्रे प्रलम्बादिको बहुधा अनेकविधः कल्पः समाख्यातस्तस्य षट् स्थाना षट्प्रकारा स्थितिः। स्थितिरिति मर्यादेति चैकार्थौ शब्दौ । भूयोऽपि विनेयानुग्रहार्थं स्थितेरेवैकार्थिकाकान्याह।

पतिट्ठा ठावणा ठाणं, ववत्था संठिति ट्ठिती ।
अवट्ठाणं अवत्था य, एगट्ठा चिट्ठणाइ च ।।

प्रतिष्ठा स्थापना स्थानं व्यवस्था संस्थितिः स्थितिः अवस्थानं वाऽवस्था चैतान्येकार्थिकानि पदानि। तथाहि "चिट्ठण" मूर्द्धस्थानमादिशब्दान्निषदनं त्वग्वर्तनं तानि त्रीण्यपि स्थितिविशेषरूपाणि मन्तव्यानि । सा च कल्पस्थितिः षोढा तद्यथा।

सामाइयएच्छेदो, णिव्विसमाणे तहेव निव्विट्ठो ।
जिणकप्पे थेरेसु य, छव्विहकप्पट्ठिती होत्ति ।।

सामायिकसंयतकल्पस्थितिश्छेदोपस्थापनीयसंयतकल्पस्थितिर्निर्विशेषमानकल्पस्थितिस्तथैव निर्विष्टिकल्पस्थितिः जिनकल्पस्थितिः स्थविरकल्पस्थितिश्चेति षड्विधा कल्पस्थितिः। बृ० ६ उ० पत्र० ६१ । स्था० । पूर्वपश्चिमसाधूनां पञ्चमहाव्रतरूपायां मध्यमसाधूनां *महाविदेहसाधूनां च चतुर्थ्यामलक्षणायां कल्पावस्थितौ, बृ० ४ उ०।* (कप्प शब्दे चैतद्भावितम्)

कप्पट्ठिय–पुं० (कल्पस्थित) कल्पे दशविधे आचेलक्यादौ स्थिताः कल्पस्थिताः । पञ्चयामधर्मप्रतिपन्नेषु, बृ० ४ उ० । पूर्वपश्चिमसाधुषु, (यत्कल्पस्थितानामर्थाय कृतमकल्पस्थितानां चार्थाय कृतं तत्कल्पस्थितानां कल्पते इत्यकप्पट्ठिय शब्दे उक्तम्) आचार्य्यपदानुपालके, " आयरियाण पदानुपालगो कप्पट्ठितो भण्णति " नि० चू० १० उ०। स्थविरजातसमाप्तकल्पादिव्यवस्थिते आलोचना– दानयोग्ये, तदन्यस्य हि अतिचारविषया जुगुप्सैव न स्यात् ध० २ अधि०। पंचा०।

कप्पट्ठिया–स्त्री० (कल्पस्थिका) तरुणस्त्रियाम्, बृ० १ उ०। बालिकायां च व्य० ४ उ०।

कप्पट्ठी–स्त्री० (कल्पस्था) कुलवध्वाम्, व्य० ३ उ० (तद्दृष्टान्तो वेदोपशमे स चउद्देस शब्दे भावितः) बालिकायाम्, दुहितरि च। व्य० ६ उ०।

कप्पड–पुं० न० (कर्पट) कृ–कर्मणि–विच्–कर–पट–कर्म–लक्तके, जीर्णवस्त्रखण्डे, मलिनवस्त्रे, करस्थः पटः शक० । धर्मादिमार्जनार्थं हस्तन्यस्ते वस्त्रखण्डे, कषायरक्ते वस्त्रे च । वाच० । वस्त्रमात्रे, ध० २ अधि० । *प्रव०।*

***कार्पट**–पुं० कर्पट एव स्वार्थेऽण् कार्पटः स इवाकारोऽस्त्यस्य अच् वा जीर्णवस्त्रखण्डे, तादृशवस्त्रयुक्ते कार्य्यार्थिनि, त्रि० । वाच० । तदाकारयुक्ते जतुनि, हेमचं० । वाच० ।

कप्पडिय–त्रि० (कार्पटिक) कर्पट अस्त्यर्थे ठञ् । कर्पटवस्त्रयुक्ते भिक्षुकादौ, शब्दरत्न० । वाच० । आचा० । कर्पटैश्चरतीति कार्पटिकः । भिक्षाचरे, पुं० बृ० १ उ० । " भंडीवहि लगभरवह, उदरि कयप्पडिय-समत्थो " नि० चू० १६ उ० । " बंभदत्तस्स एगो कप्पडिओ ओलग्गइ" आ० म० द्वि० । नि० चू० ।

कप्पण–स्त्री० (कल्पन) कृप् –भावे ल्युट् छेदने, पाटने, सूत्रं० १ श्रु० १ अ० आचा० कृप् सामर्थ्ये –णिच्–भावे–ल्युट् । रचनायाम्, विधाने, आरोपे च । वाच० ।

कप्पणा–स्त्री० (कल्पना) कृप्–णिच्–भावे युच् रचनायाम्, विधाने, आरोहणाय गजसज्जीकरणे, हेमचं० । वाच० । सप्रभेदप्ररूपणायाम्, नि० चू० १ उ० । विकल्पे, क्लप्तिभेदे," छेयापरिओवए, समइकप्पणा विकप्पेहि " औ० । व्यतिरेकव्याप्तिज्ञानाधीनेऽनुमानभेदे, इति नैयायिकाः अर्थापातिरूपे प्रमाणान्तरे, इति मीमांसका वेदान्तिनश्चाहुः।

कप्पणामेत्त–न० (कल्पनामात्र) इयं कल्पनैव केवला वितताऽर्थप्रतिभासरूपा न पुनस्तत्र प्रतिभासमानोऽर्थोऽपीत्येवं रूपायां केवलायां कल्पनायाम्, ध० १ अधि० ।

कप्पणिज्ज–त्रि० (कल्पनीय) उद्गमादिदोषवर्जिते, आव० ६ उ०।

जं जं जोग्गत्तीणं, आहारादी तहेव सेहाए ।
एयं तु कप्पणिज्जं, अपरिग्गहणा अकप्पम्मि ।।
हारे य पलंबादी, सलोममजिणादि होत्ति उवहीए ।
सेज्जाए दगसाला, अकप्पसेहा य जे अन्ने ।।
केरिसय कप्पणिज्जं, फासुयगं फासुयं तु केरिसगं ।
जीवं जढं ज दव्वं, तं पि य जं एस णिज्जंतु ।। पं० भा० ।

कप्पणिज्जेति दुविहं जीवमजीवं कप्पणिज्जमकप्पणिज्जं तत्थ सजीवं कप्पणिज्जमकप्पियं च तत्थ सज्जीवमकप्पियं आहारसपुरिसु वीसं इत्थीसु दस नपुंसगेसु तव्विवरीयं कप्पियं तत्थ अजीवं आहारोवहिमाइ जाव दंतसोधणयं उग्गमुप्पायणा सणासुद्धे कप्पियं अपरिग्गहणं । न तद्विपरीतमकल्पिकम् पं० चू० ।

कप्पणी–स्त्री० (कल्पनी) कल्पते छिद्यते यया सा कल्पनी। शस्त्रविशेषे, आचा० १ श्रु० १ अ० । कर्त्तिकाविशेषे, प्रश्न० अध० १ अ० । " खुरेहिं तिक्खधारेहिं, छुरियाहिं कप्पणीहि य । कप्पिओ फाणिया छिन्नो, उक्तो य अणेगसो " उत्त० १९ अ० ।

कप्पतरु–पुं० (कल्पतरु) ललोप । अनादौ शेषादेशोर्द्वित्वम् ४ । २ । ८९। इति पकारस्य द्वित्वम् प्रा० । देवतरु भेदे, स्मृतिनिबन्धनभेदे, शारीरकभाष्यटीका भामिनीव्याख्यातरूपे ग्रन्थे च वाच० ।

कप्पत्थि–स्त्री० (कल्पस्त्री) कल्पयोर्देवलोकयोः स्त्रियः । देवीषु, स्था० ३ ठा० । (कल्पस्त्रीणां वक्तव्यता कप्प शब्दे)

कप्पद्दुम–पुं० (कल्पद्रुम) देवतरुभेदे, संकल्पविषयफलदातृत्वात्तस्य *कल्पद्रुमत्वम् वाच० । मथुरायां तीर्थिजिने, " मथुरायां कल्पद्रुमः " ती०।*

कप्पप्पकप्पि(ण्)–पुं० (कल्पप्रकल्पिन्) कल्पग्रहणेन दशाश्रुतस्कन्धकल्पव्यवहारा गृहीताः प्रकल्पग्रहणेन निशीधकल्पः कल्पश्च प्रकल्पश्च कल्पप्रकल्पम् तदेषामस्तीति कल्पप्रकल्पिनः । दशाकल्पव्यवहारादि–सूत्रार्थधरेषु, "कप्पप्पकप्पो उ सुए आलोया चेति ते इति खुत्ता" व्य० प्र० १ उ०।

कप्पपायव–पुं० (कल्पपादप) कल्पद्रुमे, षो० १५ विव०।

कप्पपाल–पुं० (कल्पपाल) कल्पं सुराविधानकल्पं संकल्पं मद्याभिलाषं वा तत्पायिनां पालयति । पाल्–अण् । शोण्डिके सुराजाय, हेमचं० । वाच० । जं० ।

कप्पपाहुड–न० (कल्पप्रभृता) कस्यचित्पूर्वस्यान्तर्गते ग्रन्थविशेषे, कल्पप्राभृततः पूर्वकृतः श्रीभद्रबाहुना श्रीवजेण ततः पादलिप्ताचार्य्यैस्ततः परम् । इतोऽप्युद्धृत्य सक्षेपात् प्रणातः कामितप्रदः । श्रीशत्रुंजयकल्पोऽयं, श्राजिनप्रभसूरिभिः" । ती० १ कल्प० ।

कप्पप्पईव–पुं० (कल्पप्रदीप) खरतरगच्छालङ्कार-श्रीजिनप्रभसूरिविरचिते तीर्थकल्पे, । ती० ५६ कल्प० ।

कप्पर–पुं० (कर्पर) कृप्–अरन्–लत्वाभावः । कपाले, बृ० ४ उ० । "तम्मि णगरे कप्परेण भिक्खं हिंडइ" आ० म० द्वि० । कर्प्परकर्धृतं संवृणोति विशे० । आव० । नि० चू० । शीर्षोद्भोस्थनि, अमरः । शस्त्रभेदे, कटाहे च मेदि० उदुम्बरे वृक्षे, शब्दे च । वाच० ।

कप्परुक्ख–पुं० (कल्पवृक्ष) मद्यादिव्यतिरिक्तसामान्यकल्पित–फलदायित्वेन कल्पना कल्पस्तत्प्रधानो वृक्षः । मत्ताङ्गादिसप्तविधक–ल्पवृक्षाणां सप्तमकल्पवृक्षजातो, स्था० ७ ठा० । कल्पवृक्षमात्रे, ते च दश । "मत्तंगया य १ भिंगा २ तुडियंगा ३ दीव ४ जोइ ५ चित्तगा ६ चित्तरसा ७ मणियंगा ८ गेहागारा ९ अनियणा य १०" प्रव० १७१ द्वा० (एतेषां व्याख्या मत्ताङ्गादिशब्देषु ओसर्प्पिणीशब्दे संपूर्णे वर्णके उक्ता) चैत्यवृक्षे च स्था० ३ ठा० ।

कप्पवंस–पुं० (कल्पवंश) कपिलसुतकल्पस्य नन्दामात्यस्यान्वये, "सहाभून्नन्दसन्तत्या, मन्त्रिता कल्पसन्ततेः । अथाऽभून्नवमे नन्दे, मन्त्रिराट् कल्पवंशजः" । आ० क० ।

कप्पवडिंसय–पुं० (कल्पावतंसक) सौधर्मेशानकल्पप्रधाने विमाने, तत्रोपपन्ने देवे च नि० । (तद्वक्तव्यता कप्पावडंसियाशब्दे) "सोहम्मी–साणकप्पेसु जाणि कप्पप्पहाणाणि विमाणाणि ताणि कप्पवडिंसयाणि" पा० ।

कप्पवडिंसया–स्त्री० (कल्पावतंसिका) कल्पावतंसकदेवप्रतिबद्ध–ग्रन्थपद्धतौ, नि० । नं० । पा० । सोहम्मीसाणकप्पेसु जाणि कप्पप्प–हाणाणि विमाणाणि ताणि कप्पवडिंसयाणि । ते सुया देवीओ जालेण तवोविसेसेण उववन्नाओ इड्ढिं च पत्ताओ एवं जासु सवित्थरं वन्निज्जइ तओ कल्पावतंसिकाः प्रोच्यन्त इति । कल्पावतंसिका नाम कल्पावतंसकदेवप्रतिवद्धग्रन्थपद्धतिः सा च निरयावलिका श्रुतस्कन्ध-गतद्वितीयो वर्गः अनुत्तरोपपातिकदशाङ्गस्य उपाङ्गम्, जं० । रा० ।

जति णं भंते ! समणेणं भगवया जाव संपत्तेणं उवंगाणं पढमस्स वग्गस्स निरयावलियाणं अयमट्ठे पन्नत्ते दोच्चस्स णं भंते ! वग्गस्स कप्पवडेंसयाणं समणेणं जाव कति अज्झयणा पण्णत्ता ? एवं खलु जंबूसमणेणं भगवया जाव संपत्तेणं कप्पवडेंसयाणं दस अज्झयणा पन्नत्ता तं जहा पउमे १ महापउमे २ भद्दे ३ सुभद्दे ४ पउमभद्दे ५ पउमसेणे ६ पउमगुम्मे ७ नलिणिगुम्मे ८ आनंदे ९ नंदणे १० नि० ।

कप्पव (ध्व) वहार–पुं० (कल्पव्यवहार) कल्पश्च व्यवहारश्च कल्प-व्यवहारौ । कल्पव्यवहाराध्ययनयोः, ।

कप्पव्ववहाराणं, वक्खाणविहिं पवक्खामि– बृ० १ उ० ।

आयारदसाकप्पो, ववहारो नवमपुव्वणीसंदो ।
चारित्तरक्खणट्ठा, सुयकडस्सुवरि व चित्ताइं ॥
अंगदसा अण्हाविहु, उवासगादीण तेण तु विसेसो ।
आयारदसाउ इमो, जेणेत्थं वण्हियायारो ॥
दसकप्पव्ववहारा, एगसुतक्खंधकेइ इच्छंति ।
केइं च दस एक्कं, कप्पव्वाहारवीसं तु ॥
रयणागरथाणीयं, णवमं पुव्वं तु तस्स नीसंदो ।
परिगालपरिस्सावो, एते दस कप्पववहारा ॥
किं कारणनिज्जूढा, चरित्तसारिस्स रक्खणट्ठाए ।
खलियस्स तेहिं सोही, कीरति तो होति निरुपहतं ॥
सूयकडूवरि ठवित्ता, जम्हा तू पंच वासपरियायो ।
सूयकडमहज्जति तु, तो जोग्गो हीति सो तेसिं ॥
अणुकंपा वोच्छेदो, कुसुमा भेरी तिगिच्छपारिच्छा ।
कप्पे परिसा य तहा, दिट्ठंता आदिसुत्तम्मि ॥
उस्सप्पिणी सवणाणं, हाणिं णाऊण आउगवलाणं ।
होहिं तु वग्गधंकरा, पुव्वगतम्मि पहीणम्मि ॥
खेत्तस्स य कालस्य य, परिहाणिं गहणधारणाणं च ।
बलविरिए संघयणे, सद्धा उच्छाहतो चेव ।
किं खेत्तं कालो वा, संकुयती जेण तेण परिहाणी ॥
भण्हइ न संकुयंती, परिहाणी तेसि तु गुणेहिं ।
भणियव्वं दूसमाए, गामा होहित्ति तमसाणं ॥
सामाइय खेत्तगुण–हाणी काले वि ऊ होति ।
मा हाणी समए णं, ता परिहायंते उवण्हमादीया ।
दव्वादी पन्नाया, अहोरत्तं तत्तियं चेव ।
दूसम अणुभावेणं, साहू जोग्गा कुदुल्लभा खेत्ता ।
काले वि य दुब्भक्खा, अब्भिक्खणं होत्ति डमरायं ॥
दूसम अणुभावेणं य, परिहाणी होति ओसहबलाणं ।
तेणं मणुआणं पि तु, आउग्गमेहादिपरिहाणी ।
(दारं) संघयणं पि य हियइ, ततो यहाणी धितिबलस्स भवो
विरियं सारीरबलं, तं पि य परिहानिसत्तं च ।
हायंति य सड्ढाओ, गहणे परियट्टणे य मणुयाणं ।
उच्छाहो उज्जोगो, अणालमत्तं च एगट्ठा ।
इय णाउं परिहाणी, अणुग्गहट्ठाए एस साहूणं ।
णिज्जूढणुकंपाए, दिट्ठं तेहिं इमेहिं तु ।

पगरणे चेडणुकंपा, दड्ढवि दड्ढेहि होयगारीणं ।
जह उ मे बीयभत्तं, रण्हादिण्हं जहण्णवयस्स ।
एवं अप्पत्त बिय, पुव्वगतं केइ मा हु मरिहिंति ।
नो उ इरिऊण ततो, हेट्ठाओ तारियं तेहिं (दारं) ।
मा य हु वोच्छिज्जिहिती, चरणणुओगो त्ति तेण णिज्जूढं ।
वोच्छिण्हे बहुयम्मी, चरणाभावो भविज्जाहि ॥
कहं पुण तेण गेहं तु, दिण्हाइं तत्थिमो तु दिट्ठंतो ।
जह कोइ दुयारो होसु, सुरभिकुसुमो उ कप्पदुमो ॥
पुरिसा केइ असत्ता, तं आरोहणकुसुमगहणट्ठा ।
तेसिं अणुकंपणट्ठा, कोइ समत्तो समारुज्झ ॥
घेत्तुं कुसुमासुहगह--ण हेतुगं गंथिउं दले तेसिं ।
तह चोद्दसपुव्वतरुं , आरूढो भद्दबाहू तु ।
अणुकंपट्ठा गुथितुं, सूयगरुडस्सुप्परि व वेवीरा ।
(दारं) तं पुण तो वएसेण, वेव गहितं ण सेच्छाए ॥
अण्हिह गहिए दोसो, असाहगा हों ति नाणमाईणं ।
केसवभेरी णीतं, वक्खातं पुव्वसामइए ॥
अहवा तिगिच्छओ तु, जाण हियं वा वि ओसहं देज्जा ।
तेहिं तु ण वा कज्जा, सिद्धी विवरीयए भवति ॥ पं० भा० ।

आयारदसा जम्हा तेण भगवता आयारपकप्पा दसाकप्पाव्यवहाराय नवमपुव्वनीसंदभूता निज्जूढा तेनासौ पूजार्हः । आयारपकप्पइति विधिः । यस्मात्तत्र दसविधो आचारः ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्याचारश्च प्रकल्प्यते ख्याप्यते प्रज्ञाप्यत इत्यर्थः इत्यतः आचारप्रकल्पः दशाकल्पव्यवहा--राणां पूर्वोक्तं निरुक्तं चारित्र इति । चारित्तरक्खणट्ठा गाहा पञ्चप्रकारं चारित्रं सामायिकाद्यम् । अथाख्यातपर्यवसानं तस्य रक्षणार्थं भूतिरज्वाः परिपालनार्थमित्यर्थः सूत्रकृ ताङ्गस्योपरि व्यवस्थापितः । किमर्थं सूत्रकृताङ्गस्योपरि व्यवस्थापितः आदौ च न व्यवस्थापितमुच्यते । सूत्रोपदेशादिति यस्माद्व्यहारसूत्रे तृतीयोद्देशकेऽ-प्युक्तम् । त्रिवर्षपर्यायस्य कल्प्यते आचारप्रकल्प इति । तथा व्यवहारस्यैव दशमोद्देशके सूत्रमस्ति त्रिवर्षपर्यायस्य कल्प्यते सूत्रकृताङ्गमुद्दिष्टमेतदर्थं सूत्रकृताङ्गस्योपरि कृत इति । किं कारणं तेण भगवता नवमाओ पुव्वाओ नाणिओ उच्यते । उस्सप्पिणिसमणाण गाहा जम्हा उस्सप्पिणीदोसेण परिहायंति साहूणं आउयं बलं बुद्धीओ य एतन्निमित्तं उवगहकरा भविस्संति पुव्वगए परिहीणे । किं च खेत्तस्स य कालस्स य गाहा । खेत्ते ताव उस्सप्पिणिं चेव पडुच्च परिहाणी गहणधारणाणं च तहा बलवीरियं बलं शारीरं वीरियं वीर्यं व्यवसायो वा तहा संघयणसद्धा मेधाउयं च खेत्तदोसेण य । परिहायंति गाहा । अणुकंपा वोच्छेए उक्तं च । सिद्धसेन क्षमाश्रमणगुरुभिः । पालाइणणुकंपा संखडिकरणम्मि गाहा वोच्छेयम्मि पडुच्चाओ मेथपीयभत्तं रन्ना दिण्हं जणवयस्स । कुसुमो इति तवनियमनाणरुक्खं गाहा भेरीचंदणकंथा ते इच्छित्ति पालगिलाणे गाहा तेण भगवता अणुकंपिएण मा वोच्छिज्जिस्संतीति कांतं दुरोहमिव पादवं आरुह्य अप्पणा मालिताणि कुसुमाणि अवेसिं च दत्ताणि तवो दुवालसविहो णियमा इंदियनोइंदियनियमत्ति ग्रहो निरोध इत्यर्थः । इन्द्रियनियमो नोइंदियविसयपयारनिरोहो वा सो इंदियपत्तेसु वा अत्थेसु रागदोसनिग्गहो जाव फासिंदियं नो इंदियं अकुसलमणनिरोहो वा कुसुलमणओ इरणं वा मणसो वा एगत्तीभावकरणं कोहस्स उदयनिरोहो वा उदयपत्तस्स वा विफलीकरणं जाव लोभस्स तपसा नियमेन ज्ञानेन च संप्रयुक्तो वृक्षः । किं च सम्यग्दर्शनचारित्रतपोनियमः संयमस्तं समवृक्षादेव तत्पुरुषः समासः । ज्ञानदर्शनतपश्चारित्रात्मक एव वृक्षः केवलमभितज्ञानी केवृत अभितश्रिभावे धातुष्वेव भूवादिएरिपठितस्य केवृतमति अलच्प्रत्यये केवलमिति भवति । केवलं कृत्स्नं प्रतिपूर्णं समग्रं साधारण-मनन्तविषय असंख्येयप्रदेशमतीतानागतवर्तमानभावावभासकमिति पर्यायाः । समाने केवलं ज्ञानं भावप्रमाणभूतं जीवादयः पदार्थाः प्रमेयमभितज्ञानी इत्यर्थः । ततस्तेन भगवता भद्रबाहुना पूर्व्वरत्नाकरश्रुत-समुद्रात्प्रयत्नेनाहृतः उद्धृतमित्यर्थः न तु स्वेच्छया तेनासौ श्रुतकर्त्ता ऋषीत्यपदिश्यते ऋषीत्ययं स्थानार्जवायेति ऋषिः यस्मादसौ भगवता नार्ज्जवे सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मके निर्व्वाणमार्गे व्यवस्थितः ईर्यादिभिश्च समितिभिर्युक्तः इत्युक्तः ऋषिः " से पुण अप्पणो इच्छाए सुत्तं अत्थं वा करेइ तस्स सुत्ते चउ लहु अत्थे चउ गुरु आणाइय विराहणादिहंतो वंदणभेरी य वासुदेवस्स असिवप्पसमणे सा कृता कंथा पच्छा अहया न प्पसभेइ एव सच्छंदविगप्पिए सुत्तं मोक्खस्स असावकं भवति । वितिया पसत्था उप्पत्ती वंने यथा दोण्ह वि भेरीणं कप्पव्यवहारा पुण पुरिसं परिक्खिऊण दिज्जंति जहा आइसुए पुरिसा परिसा । परियासेलघणकुडग गाहा एवं सुसिस्सदिज्जंति " तत्र शैलघनछिद्रकुण्ढ-चालनीमशकमार्जारादयः अनर्हाः हंसमेसजलूकादयो योग्याः । तस्मिन्कल्पे किं वर्ण्यते वर्णनीयं वर्ण्यं गमनीयं दर्शनीयमित्यर्थः । उच्यते कप्पे य कप्पिए चेव गाहा कल्पो नाम नीतिर्मर्यादा व्यवस्था आचरणमित्यनर्थान्तरम् पं० चू० ।

कप्पविमाणेववत्तिया–स्त्री० (कल्पविमानोपपत्तिका) कल्पेषु देवलोकेषु न तु ज्योतिश्चारे विमानानि देवावासविशेषाः । अथवा कल्पाश्च सौधर्मादयो विमानानि च तदुपरिवर्तिग्रैवेयकादीनि कल्पविमानि तेषु उपपत्तिरुपपातो जन्म यस्याः सकाशात् सा कल्पविमानोपपातिका । केवल्याराधनाभेदे, ज्ञानाद्याराधनायाम्, एषा च श्रुतकेवल्यादीनां भवतीति स्था० ३ ठा० (व्याख्या आराहणा शब्देऽवसेया)

कप्पसुत्त–न० (कल्पसूत्र) दशाश्रुतस्कन्धान्तर्गतेऽष्टमेऽध्ययने, परम्परया क्षेत्रे, चतुर्मासीस्थितसाधवः श्रेयोनिमित्तमानन्दपुरे सभासमक्षं वाचनादनुसङ्गसमक्षं पञ्चभिर्दिवसैः नवभिः क्षणैः श्रीकल्पसूत्रं वाचयन्ति कल्प० । अत्र हीरविजयसूरिं प्रति पण्डितविष्णुऋषिगणि-कृतप्रश्नो यथा नवक्षणैः कल्पसूत्रं वाच्यते कैश्चिदधिकैरपि वाच्यते तदक्षराणि क्व सन्तीति प्रश्ने उत्तरं नवक्षणैः श्रीकल्पसूत्रं वाच्यते परंपरातः अन्तर्वाच्यं मध्ये नवक्षणविधानाक्षरसद्भावाच्च अधिकव्या-ख्यानैस्तद्वाचनं तु तथाविधसुविहितगच्छपरंपरानुसारि अक्षरानुसारि च नावसीयते इति । तथा यदा चतुर्दश्यां कल्पो वाच्यते अमावास्यादिवृद्धौ वा अमावास्यायां प्रतिपदि वा कल्पो वाच्यते तदा षष्ठतपः क्व विधेयमिति प्रश्ने उत्तरमाह । यदा चतुर्दश्यां कल्पो वाच्यते इत्याद्यत्र षष्ठतपोविधाने दिननैयत्यं नास्तीति यथारुचि तद्विधीयतामिति कोऽत्राग्रहः ही० । तदेवं समुपस्थिते पर्युषणापर्वणि मङ्गलनिमित्तं

पञ्चभिरेव दिनैः कल्पसूत्रं वाचनीयं तच्च यथा देवेषु इन्द्रः तारासु चन्द्रः, न्यायप्रवीणेषु रामः, सुरूपेषु कामः, रूपवतीषु रम्भा, वादित्रेषु भम्भा, गजेषु ऐरावणः, साहसिकेषु रावणः, बुद्धिमत्सु अभयः, तीर्थेषु शत्रुंजयः, गुणेषु विनयः, धानुष्केषु धनंजयः मन्त्रेषु नमस्कारस्तरुषु सहकारस्तथा सर्वशास्त्रे शिरोमणिभावं विभर्ति । यतः " नार्हतः परमो देवो, न मुक्तेः परसंपदम् । न श्रीशत्रुंजयात्तीर्थं, श्रीकल्पान्न परं श्रुतम् " । १ । तथायं कल्पः साक्षात्कल्पद्रुम एव । तस्य च अनानुपूर्व्या उक्तत्वात् । श्रीवीरचरित्रं बीजम्, । श्रीपार्श्वचरित्रमङ्कुरः, श्रीनेमिचरित्रं स्कन्धः, श्रीऋषभचरित्रं शाखासमूहः, स्थविरावली पुष्पाणि, सामाचारी ज्ञानं, सौरभ्यं फलं मोक्षप्राप्तिः । किं च वाचनासाहाय्यदानात्सर्वाक्षरश्रुतेरपि । विधिना– ऽऽराधितःकल्पः, शिवदोऽन्तर्भवाष्टकम् " । १ । एगग्गचित्ता जिणसा– सणम्मि, पभावणा पूअपरायणा जे । तिसत्तवारं निसुणंति कप्पं, भवण्णवं गोअम ! ते तरंति " । २ । एवं च कल्पमहिमानमाकर्ण्य तपःपूजाप्रभाव– नादिधर्मकार्येषु कष्टधनव्ययसाध्येषु आलस्यं न विधेयं सकलसामग्री– सहितस्यैव तस्य वाञ्छितफलप्रापकत्वात् । यथा बीजमपि वृष्टिवायुप्र– भृतिसामग्रीसद्भावे एव फलनिष्पत्तौ समर्थं नान्यथा एवमयं श्रीकल्पोऽपि देवगुरुपूजाप्रभावनासाधर्मिकभक्तिप्रमुखसामग्रीसद्भावे एव यथोक्तफल हेतुः । अन्यथा " इक्को वि नमुक्कारो, जिणवरवसहस्स वद्धमाणस्स । संसारसागराओ, तारेइ नरं व नारिं वा " । इति श्रुत्वा किंचित्प्रयाससाध्ये कल्पश्रवणेऽपि नालस्यं भवेत् कल्प० । कल्पसूत्रं केन वृत्तम् । अथ पुरुषविश्वासे वचनविश्वास इति श्रीकल्पसूत्रस्य प्रमाणता वक्तव्या । स च चतुर्दशपूर्वविद्युगप्रधानश्रीभद्रबाहुस्वामी दशाश्रुतस्कन्धस्य अष्टमाध्ययनतया प्रत्याख्यानप्रवादाभिधानात् नवमपूर्वात् उद्धृत्य कल्पसूत्रं रचितवान् । (कल्प०) तस्मादेतन्महापुरुषप्रणीतत्वान्न सामान्यं गम्भीरार्थं च । यतः " सव्वनईणं जा हुज्ज, वालुआ सव्वोदहीणजं उदयं । तत्तो अणंतगुणिओ, अत्थोइ कस्स सुत्तस्स " । १ । " मुखे जिह्वासहस्रं स्यात्, हृदये केवलं यदि । तथापि कल्पमाहात्म्यं, वक्तुं शक्यं न मानवैः " । २ । अथ तस्य श्रीकल्पस्य वाचने श्रवणे च अधिकारिणो मुखवृत्त्या साधुसाध्व्यस्तत्रापि कालतो रात्रौ विहितका– लग्रहणादिविधीनां साधूनां वाचनं श्रवणं च साध्वीनां निशीथचूर्ण्यादु– क्तविधिना दिवाऽपि तथा श्रीवीरनिर्वाणादशीत्यधिकनवशत (९८०) वर्षातिक्रमे मतान्तरेण च त्रिनवतियुतनवशत (९९३) वर्षातिक्रमे ध्रुवसेननृपस्य पुत्रमरणार्त्तस्य समाधिमाधातुमानन्दपुरेसभासमक्षं समहोत्सवं श्रीकल्पसूत्रं वाचयितुमारब्धम् । ततः प्रभृति चतुर्विधोऽपि सङ्घः श्रवणोऽधिकारिवाचने तु विहितयो गानुष्ठानः साधुरेव । अथ अस्मिन् वार्षिकपर्वणि कल्पश्रवणवत् । इमान्यपि पञ्च कार्याणि अवश्यं कार्याणि तद्यथा चैत्यपरिपाटी १ समस्तसाधुवन्दनं २ सांवत्सरिकप्रतिक्रमणं ३ मिथः साधर्मिकक्षमापणम् ४ अष्टमं तपश्च ५ एषामपि कल्पश्रवणव– द्वाञ्छितदायकत्वमवश्यं कर्तव्यत्वं जिनानुज्ञातत्वं च ज्ञेयम् । तत्र अष्टमं तपः उपवासत्रयात्मकं महाफलकारणं रत्नत्रयवदान्यं शल्यत्रयोन्मूलनं जन्मत्रयपावनं कायवाङ्मानसदोषशोषकं विश्वत्रयप्रथपदप्रापकं निःश्रेयसपदा–ऽभिलाषुकैरवश्यं कर्त्तव्यं नागकेतुवत् । तथा हि चण्डकान्ता नगरी तत्र विजयसेनो नाम राजा श्रीकान्ताख्यश्च व्यवहारी । तस्य श्रीसखीभार्या तया च बहुप्रार्थित एकः पुत्रः प्रसूतः । स च बालक आसन्ने पर्युषणापर्वणि कुटुम्बकृतामष्टमवार्तामाकर्ण्य जतस्मृतिःस्तन्य– पोऽपि अष्टमं कृतवान् ततस्तं स्तनपानमकुर्वाणं पर्युषितमालतीकुसुममिव म्लानमा–लोक्य मातापितरौ अनेकान् उपायांश्चक्रतुः । क्रमाश्च मूर्च्छां प्राप्तं बालं मृतं ज्ञात्वा स्वजना भूमौ निक्षिपन्ति स्म । ततश्च विजयसेनो राजा तं पुत्रं तद्दुःखेन तत्पितरं च मृतं विज्ञाय तद्धनग्रहणाय सुभटान्प्रषेयामास । इतश्च अष्टमतपःप्रभावात्प्रकम्पितासनो धरणेन्द्रः सकलं तत्स्वरूपं विज्ञाय भूमिस्थं बालकममृतच्छट्या आश्वास्य विप्ररूपं कृत्वा धनं गृह्णतस्तान्निवारयामास । तत् श्रुत्वा राजाऽपि तत्रागत्योवाच । भो भूदेव ! परम्परागतमिदमस्माकमपुत्रधनग्रहणं कथं निवारयसि । धरणोऽवादीत् । राजन् ! जीवत्यस्य पुत्रः । कथं कुत्रास्तीति राजादिभिरुक्ते भूमिस्थं जीवन्तं बालकं साक्षात्कृत्य निधानमिव दर्शयामास । ततः सर्वैरपि सविनयैः स्वामिन् ! कस्त्वं कोऽयमिति पृष्टे सोऽवदत् । अहं धरणेन्द्रो नागराजः कृताष्टमतपसोऽस्य महात्मनः साहाय्यार्थमाग– तोऽस्मि । राजादिभिरुक्तं स्वामिन् ! जातमात्रेण अनेन अष्टमतपः कथं कृतम् । धरणेन्द्र उवाच राजन् ! अयं हि पूर्वभवे कश्चिद्धणिक्पुत्रो बाल्येऽपि मृतमात्रक आसीत् । स च अपरमात्रा अत्यन्तपीड्यमानो मित्राय स्वं दुःखं कथयामास सोऽपि त्वया पूर्वजन्मनि तपो न कृतं तेनैवं पराभवं लभसे । इत्युपदिष्टवान् । ततोऽसौ यथाशक्ति तपोनिरत आगामिन्यां पर्युषणामवश्यमष्टमं करिष्यामीति मनसि निश्चित्य तृणकुटीरे सुष्वाप । तदा च लब्धावसरया विमात्रा आसन्नप्रदीपनकादग्निकणस्तत्र निक्षिप्तस्तेन च कुटीरके ज्वलिते सोऽपि मृतः । अष्टमध्यानाच्च अयं श्रीकान्तमहेभ्यनन्दनो जातस्ततोऽनेन पूर्वभवचिन्तितमष्टमतपः । सांप्रतं कृतं तदसौ महापुरुषो लघुकर्म्मा अस्मिन् भवे मुक्तिगामी यत्पालनीयो भवतामपि महते उपकाराय भविष्यतीति उक्त्वा नागराजः स्वहारं तत्कण्ठेनिक्षिप्य स्वस्थानं जगाम । ततः स्वजनैः श्रीकान्तस्य मृतकार्यं विधाय तस्य नागकेतुरिति नाम दत्तम् । क्रमाश्च स बाल्यादपि जितेन्द्रियः परमश्रावको बभूव । एकदा च विजयसेनराजेन कश्चित् अचौरोऽपि चौरकलङ्केन हतो व्यन्तरो जातः स समग्रनगरविघाताय शिलां रचितवान् । राजानं पादप्रहारेण रुधिरं वमन्तं सिंहासनाद्भूमौ पातयामासातदा च नागकेतुः कथमिमं सङ्घप्रासादविध्वंसं जीवन् पश्यामीति बुद्ध्या प्रासादशिखरे आरुह्य शिलां पाणिना दधे ततः स व्यन्तरोऽपि तत्तपःशक्तिमसहमानः शिलां संहृत्य नागकेतुं गतवान् तद्वचनेन भूपालमपि निरुपद्रवं कृतवान् । अन्यदा च स नागकेतुर्जिनेन्द्र पूजां कुर्वन् पुष्पमध्यस्थितसर्पेण दष्टोऽपि तथैवाव्यग्रो भावनारूढः केवलज्ञानमासादितवान् । ततः आसन्नदेवतार्प्पितमुनिवेषश्चिरं विहरति स्म । एवं नागकेतुकथां श्रुत्वा अन्यैरपि अष्टमतपसि यतनीयम् । इति श्रीनागकेतुकथा । अथ श्रीकल्पसूत्रे त्रीणि वाच्यानि यथा ।

पुरिमचरिमाणं कप्पो, मंगलं वद्धमाणतित्थम्मि ।
इह परिकहिया जिण–गणहराइथेरावलीचरित्तं ॥ २ ॥

(पुरिमचरिमाणंति) ये श्रीऋषभवीरजिनयोः (कप्पत्ति) । अयं कल्पः आचारः यद्दृष्टिर्भवतु मा वा परमवश्यं पर्युषणा कर्त्तव्या । उपलक्षणत्वात् कल्पसूत्रं वाचनीयं च (मंगलमित्ति) एकः अयमाचारः अपरं च मङ्गलं मङ्गलकारणं भवति । वर्द्धमानतीर्थे कस्मादेवमित्याह । यस्मादिह परिकथितानि (जिणत्ति)

जिनानां चरितानि १ (गणहराइथेरावलित्ति) गणधरादिस्थविरावली २ (चरित्तत्ति) सामाचारी ३ कल्प० ।

समणस्स भगवओ महावीरस्स जाव सव्वदुक्खप्पहीणस्स नव वाससयाइं वइक्कंताइं दसमस्स य वाससयस्स अयं असीइमे संवच्छरे काले गच्छेइ वायणंतरे पुण अयं तेणउए संवच्छरे काले गच्छइ इति दीसइ ।

" समणस्सणं इत्यादितो दीसइ " इति पर्यन्तं यत्र भगवतो निर्वृतस्य नववर्षशतानि व्यतिक्रान्तानि दशमस्य वर्षस्य शतस्यायं अशीतितमः संवत्सरः कालो गच्छति । यद्यपि एतस्य सूत्रस्य व्यक्तो भावार्थो न ज्ञायते । तथापि यथा पूर्वटीकाकारैर्व्याख्यातं तथा व्याख्यायते । तथा हि अत्र केचिद्वदन्ति । यत्कल्पसूत्रस्य पुस्तकलिखनकालज्ञापनाय इदं सूत्रं श्रीदेवर्द्धिगणिक्षमाश्रमणैः लिखितम् । तथा चायमर्थः । यथा श्रीवीरनिर्वाणादशीत्यधिकनववर्षशतातिक्रमे पुस्तकारूढः सिद्धान्तो जातः । तदा कल्पोऽपि पुस्तकारूढो जातः । इति तथोक्तं " वलहीपुरम्मि नयरे देवड्ढिप्पमुहसयलसंघेहिं । पुच्छे आगमलिहिओ, नवसयअसीइमो वीराओ " ॥ १ ॥ अन्ये वदन्ति । " नवशताशीतितमे, वर्षे वीरनाङ्गजार्थमानन्दे । सङ्घसमक्षं समहं, प्रारब्धं वाचितुं विज्ञैः " ॥ १ ॥ इत्याद्यन्तर्वाच्यवचनात् श्रीवीरनिर्वाणादशीत्यधिकनववर्षशतातिक्रमे कल्पस्य सभासमक्षं वाचना जाता तां ज्ञापयितुमिदं सूत्रं न्यस्तमिति । तत्त्वं पुनः केवलिनो विदन्तीति (वायणंतरे पुणेत्यादि) वाचनान्तरे पुनरयं त्रिनवतितमः संवत्सरः कालो गच्छतीति दृश्यते । अत्र केचिद्वदन्ति । वाचनान्तरे कोऽर्थः प्रत्यन्तरे " तेणउए " इति दृश्यते । यत्कल्पस्य पुस्तके लिखनं पर्षदि वाचनं वा अशीत्यधिकनववर्षशतातिक्रमे इति क्वचित्पुस्तके लिखितं तत्पुस्तकान्तरे त्रिनवत्यधिकनवशतवर्षातिक्रमे इति दृश्यते इति भावः । अन्ये पुनर्वदन्ति । अयमशीतितमे संवत्सरे इति कोऽर्थः पुस्तके कल्पलिखनस्य हेतुभूतः अयं श्रीवीरात् दशमशतस्य अशीतितमसंवत्सरलक्षणः कालो गच्छति । " वायणंतरे इति " कोऽर्थः । एकस्याः पुस्तकलिखनरूपाया वाचनाया अन्यत्पर्षदि वाचनरूपं यद्वाचनान्तरं तस्य पुनर्हेतुभूतो दशमस्य शतस्यायं त्रिनवतितमः संवत्सरः । तथा चायमर्थः । नवशताशीतितमवर्षे कल्पसूत्रस्य पुस्तके लिखनं नवशतत्रिनवतितमवर्षे च कल्पस्य पर्षद्वाचनेति । तथोक्तम् । श्रीमुनिसुन्दरसुरिभिः स्वकृतस्तोत्ररत्नकोशे " वीरात्त्रिनन्दाङ्क ९६३ शरद्यचीकरस्त्वचैत्यपूते ध्रुवसेनभूपतिः । यस्मिन्महैः संसदि कल्पवाचनामाद्यां तदानन्दपुरं न कः स्तुते " । १ । पुस्तकलिखनकालस्तु । यथोक्तः प्रतीत एव " वलहीपुरम्मि नयरे " इत्यादिवचनात् । तत्त्वं पुनः केवलिनो विदन्तीति षष्ठः क्षणः कल्प० ६ क्ष० ।अत्र श्रीहीरविजयं प्रति विष्णुऋषिगणिकृतप्रश्नो यथा राजगृहे नगरे गुणशिलाख्ये चैत्ये श्रीमहावीरेण श्रीकल्पसूत्रं प्रकाशितमिति कल्पाध्ययने उक्तमस्ति । कल्पसूत्रवृत्त्यादौ तु श्रीभद्रबाहुस्वामिभिः प्रणीतमिति कथं संगच्छते इति तत्रोत्तरमाह । अत्र श्रीमहावीरेण कल्पसूत्रमर्थतः प्रकाशितं सद्गणधरैः सूत्रतो निबद्धं तदनु श्रीभद्रबाहुस्वामिभिर्नवमपूर्वाद्दशाश्रुतस्कन्धमुद्धरद्भिस्तदष्टमाध्ययनरूपत्वेन श्रीकल्पसूत्रमपि उद्धृतमिति न किंचिदनुपपन्नमिति (ही०) इदं च योगं विनाऽपि वाच्यते हीरविजयसूरिं प्रति प्रतिजगमालिगणिकृतप्रश्नः । कथंचित्कारणे योगोद्वहनं विना कल्पसूत्रवा वनस्यानुज्ञानं च ? इत्यत्र कारणे तद्वाचनं कैश्चित्क्रियमाणमस्ति अक्षराणि तु नोपलभ्यन्ते ही० । शेषकाले साधवः श्राद्धश्राद्धीजनेषु शृण्वत्सु श्रीकल्पसूत्रं पठन्ति पाठयन्ति किंवा एकान्ते एवेति प्रश्ने । साधवः स्वेच्छया कल्पसूत्रं पठन्तः पाठयन्तश्च सन्ति । अत्रान्तरे कश्चित् श्राद्धादिर्वन्दनार्थं समागतस्तदा शनैः पठनपाठनाक्षराणि न ज्ञातानि सन्ति परं श्राद्धादिकमुद्दिश्य पठनं च पर्युषणापर्व्व विना न शुद्ध्यतीति । श्येन० ४ उल्ला० ६१ प्र० ।

कप्पसुबोहिया–स्त्री० (कल्पसुबोधिका) पर्य्युषणाकल्पस्य श्रीविनयगणिविरचितटीकायाम् तदारम्भे, । सकलपण्डितपर्वत्परंपरा-पुरुहूतपण्डितश्री ५ श्रीसौभाग्यविजय (ग) गुरुभ्यो नमः ।

" प्रणम्य परमश्रेय–स्करं श्रीजगदीश्वरम् ।
कल्पे सुबोधिकां कुर्व्वे, वृत्तिं बालोपकारिणीम् ॥ १ ॥
यद्यपि बह्व्यष्टीकाः, कल्पे सन्त्येव निपुणगणगम्याः ।
तदपि ममायं यत्नः, फलेग्रहिः स्वल्पमतिबोधात् ॥ २ ॥
यद्यपि भानुद्युतयः, सर्वेषां वस्तुबोधिका बह्व्यः ।
तदपि महीगृहगानां, प्रदीपिकैवोपकुरुते द्राक् ॥ ३ ॥
नास्यामर्थविशेषा, न युक्तयो नापि पद्यपाण्डित्यम् ।
केवलमर्थव्याख्या, वितन्यते बालबोधाय ॥ ४ ॥
हास्यो नास्यां सद्भिः, कुर्वन्नेतामतीक्ष्णबुद्धिरपि ।
यदुपदिशन्ति त एव हि, शुभे यथाशक्ति यतनीयम् ॥ ५ ॥
कल्प० १ क्ष० ।

अथ प्रशस्तिः ॥

आसीद्वीरजिनेन्द्रचन्द्रपदवी कल्पद्रुमः कामदः,
सौरभ्योपहृतप्रबुद्धमधुपः श्रीहीरसूरीश्वरः ।
शाखोत्कर्षमनोरमः स्फुरदुरुच्छायः फलप्रापक–
श्चञ्चन्मूलगुणः, सदातिसुमनाः श्रीमन्मरुत्पूजितः ॥ १ ॥
यो जीवाभयदानडिण्डिममिषात् स्वीयं यशोमिण्डिमं,
षड्मासान्प्रतिवर्षमुग्रमखिले भूमण्डलेऽवीवदत् ।
भेजे धार्मिकतामधर्म्मरसिको म्लेच्छाग्रिमोऽकव्वरः,
श्रुत्वा यद्वदनादनाविलमति धर्मोपदेशं शुभम् ॥ २ ॥
तत्पट्टोन्नतपूर्वपर्वतशिरःस्फूर्तिक्रियां हर्मणि,
सूरिः श्रीविजयादिसेनसुगुरुर्भव्येष्टचिन्तामणिः ॥
शुभ्रैर्यस्य गुणैर्गुणैरिव घनैरावेष्टितः शोभते,
भूगोलः किल यस्य कीर्तिसुदृशः क्रीमाकृते कन्दुकः ॥ ३ ॥
येनाकव्वरपर्षदि प्रतिभट्टान्निर्जित्य वाग्वैभवैः,
शौर्याश्चर्यकृतावृतापरिवृता लक्ष्म्या जयश्रीकनी ।
चित्रं मित्र ! किमत्र मित्रमहसस्तेनास्य वृद्धा सती,
कीर्तिः प्रत्यपमानशङ्कितमना याता दिगन्तानितः ॥ ४ ॥
विजयतिलकसूरिर्भूरिसूरिप्रशस्यः,
समजनि मुनिनेता तस्य पट्टेच्छचेताः,
हरहसितहिमानी हंसहारोज्वलश्री–
स्त्रिजगति वरिवर्त्तिस्फूर्त्तियुग्यस्य कीर्तिः ॥ ५ ॥
तत्पट्टे जयति क्षितीश्वरततिस्तुत्याङ्घ्रिपङ्केरुहः,
सूरिर्दूरितदुःखवृन्दविजयानन्दः क्षमाभृद्विभुः ।
यो गौरैर्गुरुभिर्गुणैर्गणिवरं श्रीगौतमं स्पर्द्धते,
लब्धीनामुदधिर्दधीयितयशाः शास्त्राब्धिपारङ्गतः ॥ ६ ॥
यच्चारित्रमखिन्नकिन्नरगणैर्जे गीयमानं जग–
ज्जाग्रज्जन्मजरावितिहरणं श्रुत्वा जयन्तीपितुः ।
बाञ्छापूर्तिमियर्त्तियुग्ममथ तल्लेभे सहस्रं स्पृहा,
वैय्यग्र्यं गुणरागिणोऽग्रिमगुणग्रामाभिरामात्मनः ॥ ७ ॥

किञ्च । श्रीहीरसूरिसुगुरोः प्रवरौ विनेयौ,
जातौ शुभौ सुरगुरोरिव पुष्पदन्तौ ।
श्रीसोमसोमविजयाभिधवाचकेन्द्रः,
सत्कीर्त्तिकीर्तिविजयाभिधवाचकश्च ॥ ८ ॥
सौभाग्यं यस्य भाग्यं कलयितुममलं कः क्षमः सक्षमस्य,
नो चित्रं यच्चरित्रं जगति जनमनः कस्य चित्रीयते स्म ।
चक्राणां मूर्खमुख्यानपि विबुधमणीन् हस्तसिद्धिर्यदीया,
चिन्तारत्नेन भेदं शिथिलयति सदा यस्य पादप्रसादः ॥ ९ ॥
आबाल्यादपि यः प्रसिद्धमहिमा वैरङ्गिकग्रामणीः,
पृष्टः शाब्दिकपण्डितेषु प्रतिभटैर्जय्यो न यस्तार्किकैः ॥
सिद्धान्तोदधिमन्दरः कलिकलाकौशल्यकीर्त्युद्भटः ।
शुश्वत्सर्वपरोपकाररसिकः, संवेगवारांनिधिः ॥ १० ॥
विचाररत्नाकरनामधेयः, प्रश्नोत्तराद्यद्भुतशास्त्रवेधाः ।
अनेकशास्त्रार्णवशोधकश्च, यः सर्वदैवाभयदप्रमत्तः ॥ ११ ॥
तस्य स्फुरद्गुरुकीर्त्ति–वाचकवरकीर्त्तिविजयपूज्यस्य ।
विनयविजयो विनेयः, सुबोधिकां व्यरचयत्कल्पे ॥ १२ ॥
(चतुर्भिः कलापकम्) समशोधयंस्तथैनां,
पण्डितसंविग्नसहृदयावतंसाः ।
श्रीविमल हर्षवाचक–वंशे मुक्तामणिसमानाः ॥ १३ ॥
धिषणानिर्जितधिषणाः, सर्वत्र प्रभूतकीर्तिकर्पूराः ।
श्रीभावविजयवाचक–कोटीशः शास्त्रवसुनिकषाः ॥ १४ ॥
(युग्मम्) रसशशिरसनिधिवर्षे, ज्येष्ठे मासे समुज्ज्वले पक्षे ।
गुरुपुष्ये यत्नोऽयं, सफलो जज्ञे द्वितीयायाम् ॥ १५ ॥
श्रीरामविजयपण्डित–शिष्यश्रीविजयविबुधमुख्यानाम् ।
अभ्यर्थनाऽपि हेतु–विज्ञेयाऽस्याः कृतौ विवृत्तेः ॥ १६ ॥
यावद्धात्री मृगाक्षी धरणिधरभरश्रीफलैः पूर्णगर्भं,
चञ्चद्वृक्षौघदर्भं निषधगिरिमहाकुङ्कुमामत्र चित्रम् ।
जम्बूद्वीपाभिधानं हिमगिरिरजतं मङ्गलस्थानमेत–
द्वृत्तं तावत्सुबोधा विबुधपरिचिता नन्दतात्कल्पवृत्तिः ॥ कल्प० ॥

कप्पसुय–न० (कल्पश्रुत) कल्पनं कल्पः स्थविरादिकल्पः तत्प्रतिपादकं श्रुतं कल्पश्रुतम् । उत्कालिकश्रुतभेदे, तत्पुनर्द्विभेदं तद्यथा "चुल्लकप्पसुयं महाकप्पसुयं" । एकमल्पग्रन्थमल्पार्थे च द्वितीयं महाग्रन्थं महर्थि च नं० ।

कप्पाकप्प–न० [क (ल्प्या) कल्पा (ल्प्य) ल्प] कल्पो विधिराचार इत्यर्थः । अकल्पश्चाविधिः । अथवा कल्पो जिनकल्पस्थविरकल्पादिरकल्पस्तु चरकादिदीक्षा । अथवा कल्प्यं ग्राह्यमकल्प्यमितरत् । ततः समाहारद्वन्द्वात्कल्पाकल्पं कल्प्याकल्प्यं कल्पनीयाऽकल्पनीयधर्मं, जंभवे भक्तपाणं तु, कप्पाकप्पम्मि संकियं कल्प्याकल्प्ययोः कल्पनीयाकल्पनीयधर्मविषय इत्यर्थः दश० ५ अ० । कल्पाकल्पप्रतिपादकमध्ययनं कल्पाकल्पम् । उत्कालिकश्रुतविशेषे, नं० । पूगफलागां खण्डानि चूर्णानि वा यतीनां कस्मैचित्कादिदातुं कल्पते न वेति प्रश्नः । अत्रोत्तरम् पूगफलखण्डानि चूर्णानि च केवलानि विहर्तुं न कल्पन्ते इति गच्छप्रवृत्तिः २ श्वेन० २ उल्ला० २ प्र० ।

कप्पाकप्पविहिण्णु–त्रि० (कल्पाकल्पविधिज्ञ) कल्पो नीतिर्मर्य्यादा विधिः सामाचारीत्यर्थः कल्पस्याकल्पस्य च विधिज्ञः । कल्पनीयाऽकल्पनीयज्ञायके " जे थेरा भगवंतो कप्पाकप्पविहिण्णू " पं० चू० ।

कप्पाग–पुं० (कल्पाक) सूत्रतोऽर्थतश्च प्राप्ते भिक्षौ, व्य० ४ उ० । विधिज्ञे, "कप्पाय छेया परिपरइयसिरयाओ" कल्पाकेन शिरोजबन्धनकल्पज्ञेन औ० ।

कप्पातीत–पुं० (कल्पातीत) कल्पमतीताः अतिक्रान्ताः कल्पातीताः । अधस्तनाधस्तनग्रैवेयकादिनिवासिषु, अहमिन्द्रेषु वैमानिकदेवेषु, प्रज्ञा० १ पद । भ० । जिनकल्पस्थविरकल्पाभ्यामन्यत्र, भ० २५ श० ६ उ० ।

कप्पावंत–त्रि० (कल्पयत्) छेदयति " वच्छारोमाइं कप्पावेज्ज वा संठावेज्ज वा कप्पवंतं " वा । नि० चू० १७ उ० ।

कप्पास–पुं० (कार्पास) न० । कृप्–छेदने आस् । कार्पासिकवस्त्रहेतुसूत्रयोनौ वृक्षभेदे, अमरः । वाच० । कर्पासफलावयववत् कल्पनीये रोमादौ, " उण्णकप्पासत्ति उण्णत्तिएला लाडाणगडुरा भण्णंति तस्स रोमा कप्पणिज्जा कप्पासो अहवा उण्णाए व कप्पासो पोंडावणी तस्स फलं तस्स पम्हा कप्पाणिज्जा कप्पासो भण्णति " नि० चू० ३ उ० ।

कर्पास–त्रि० कर्पास्या अवयवः विल्वा० अण् कर्पासीविकारे सूत्रादौ, वाच० ।

कप्पासत्थि–पुं० (कार्पासास्थि) त्रीन्द्रियजीवभेदे, जी० १ प्रति० ।

कप्पासिय–त्रि० (कार्पासिक) कर्पासेन निर्वृत्तः ठक् कर्पाससूत्रनिष्पन्ने पटादौ, वाच० । कर्पासीसूत्रे च न० । अनु० ।

कप्पासी–स्त्री० (कार्पासी) कर्पास–गौरा० ङीष्–कर्पासकवृक्षे, वाच० । गुच्छावृन्ताकीशल्लकीकर्पास्यादयः इति तस्याः गुच्छभेदत्वम् ! आचा० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

कप्पिय–त्रि० (कल्पित) कृप् णिच्–क्त–व्यवस्थिते, सूत्र० १ श्रु० २ अ० । आचा० । बुद्ध्या व्यवस्थापिते, विपा० १ श्रु० १ अ० । यथास्थानं विन्यस्ते, जं० ३ वक्ष० । कल्प० । " कप्पियहारद्धहारतिसरयं " कल्पितो विन्यस्तो हारोऽष्टादशसरिकोऽर्द्धहारो नवसरिकस्त्रिसरिकं प्रतीतमेव यस्य स तथा तं० । ज्ञा० । रचिते, औ० । स्वबुद्धिकल्पनशिल्पनिर्मिते, दश० १ अ० । सर्जिते, " देवमइविकप्पियं " देवमत्या स्वर्गिचातुर्येण विविधमनेकप्रकारेण कल्पितं सर्जितम् जं० ३ वक्ष० । आरोहणार्घं सज्जित गजे, वाच० । छिन्ने, " जंतो पीलणफुरंतकप्पियां " प्रश्न० अध० १ अ० ॥

कल्पिक–पुं० योग्ये, व्य० ८ उ० ।

दुविहो व कप्पिओ खलु, दव्वे भावे य णायव्वो ।
आगम णो आगमओ, दव्वम्मि य कप्पिओ भवे दुविहो ।
आगमतो अणुवउत्तो, णो आगमत्तो इमो होइ ।
जाणगसरीरभविए, तव्वतिरित्ते य होति नायव्वो ॥
जाणगमयगसरीरं, भविओ पुण सिक्खिहीं जो तु ।
वतिरित्तो एगविधा, तं अभिमुहो स बोधव्वो ।
भावो वि होत्ति दुविहो, आगमे णो आगमे चेव ॥
आगमओ उवउत्तो, णो आगमो य पिंडमाईणं ।
गहणम्मि कप्पिओ खलु, पव्वावेतुं च सेहाणं ॥
जं जं जोग्गजतीणं, आहारादी तहेव सेहाए ॥ पं० भा० ।

"कप्पिओ जाणगसरीरभवियसरीरवैइरित्तो दुवालसविहो वत्तेयव्वो" पं० चू० ॥

संप्रति कल्पिकद्वारमाह ।

सुत्ते अत्थे तदुभय– उव्वट्टवि चारलेवपिंडे य ।

सिज्जा वत्थे यार, ओग्गहणविहारकप्पे य ॥

कल्पिको द्वादशविधस्तद्यथा सूत्रे १ अर्थे २ तदुभयस्मिन् सूत्रार्थोभयलक्षणे ३ उपस्थापनायां ४ विचारे ५ पात्रलेपे ६ पिण्डेषु ७ तथा शय्यायां ८ वस्त्रे ९ पात्रे १० अवग्रहणे ११ विहारकल्पे च १२ एष प्रतिद्वारगाथासमासार्थः (सूत्रकल्पिकादीनां व्याख्याऽन्यत्र सुत्तकप्पियाइ शब्दे) नवरमिह। जहा " सुत्ते अत्थे तदुभयउवहीवियारलेवपिंडे य। सेज्जा वत्थे यारओग्गहणविहारकप्पे य। एव ओहनिप्पन्ने निक्खेवे पुव्वं वन्निया इह तु। उदीरणमेत्तं तत्त सुत्तकप्पिओ आवासगमाइ जाव सूयकमो जहा वहाररस्स दसमुद्देसे अरुणोववाय गरुलोववाय जाव सत्ताणुगामी परियागं नाऊणं परिणामं च तहा जहा दिज्जइ सुत्तं अत्थं वि आवासगमाइ जाव सूयकडो दसमाइपरिणामगाण दिज्जइ अत्थो उभयकप्पिओ सुत्तत्थ तदुडजोगो उवट्ठावरणकप्पो अप्पत्ते अंकवेत्ता गाहा जइ आवासइमाइ जाव छज्जीवणीया तत्सुत्ते। अपडिए उवट्ठावेइ चउगुरु दोहिं वि गुरू तवेण कालेण तवगुरू अंतो अट्ठमदसमदुवालसमकालगुरू गिण्हकाले सह सुत्ते पढिए अत्थे कहिए उवहावेइ चउगुरू काललहुं काललहु सीतकाले वासासु वा अह पढिएसुत्ते य अपरित्थिओ तामनसद्दहइ पुढविमाईणि चउगुरू तवलहू तवचउगुरू तवलहुगं च भन्नइ अणुग्घाइयं पडुच्च गुरुयं अणुग्घाइयं नाम छट्ठे चउत्थे आयंविले च कए पारणए पुरिमच्छनिव्वीइग एगासणाइ करेइ तेण गुरुयं भवइ। अह पढियसुयअभिगयअपरिच्छिउग्ग उवहावेइ किं परिहरइ न परिहरइ उदओल्लादिचउगुरू दोहिं पि लहुतवकालेण अणुग्घाइयं पुण एवं वारसविहं विकप्पिए जहा वेढियाए भणियं "।

अथ कल्पिकद्वारमुपसंहरन्नाह।

एणं दुवालसविहं, जिणोवइट्ठं जहोवएसेणं ।
जो जाणिऊग कप्पं, सद्दहणायरयणयं कुणइ ॥
सो भवियसुलभबोही, परित्तसंसारिओ पयणुकम्मो ।
अचिरेण उ कालेणं, गच्छइ सिद्धिं धुयकिलेसो ॥

एनमनन्तरोदितं द्वादशविधं सूत्रार्थदिभिर्द्वादशप्रकारं कल्पं साधुः समाचारं जिनोपदिष्टं सर्वज्ञैरुक्तमित्यनेन स्वमनीषिकाव्युदासमाह। यथोपदेशत उपदेशवैपरीत्येन ज्ञात्वा अवबुध्य। श्रद्धानं य एष कल्पः प्ररूपितः स निःशङ्कमेवमेव नान्यथा जिनोपदिष्टत्वादिति। लक्षणमाचरणं च यथाऽवसरं द्वादशविधस्यापि कल्पस्यानुपालनं यः करोति स सिद्धिं गच्छतीति संटङ्कः। कथंभूत इत्याह। भव्यसिद्धिगमनयोग्यो न खलु अभव्यस्यैवंविधकल्पविषयानि सम्यग्ज्ञानश्रद्धानाचरणानि समुपजायन्ते। भव्योऽपि कदाचिद्दुर्लभबोधिकः स्यादित्याह। सुलभा सुप्रापा बोधिरर्हद्धर्मप्राप्तिर्यस्यासौ सुलभबोधिकः। असावपि दीर्घसंसारीत्याह। परीतः परिमितः संसारो यस्यासौ परीतसांसारिकः। अयमपि गुरुकर्मा भवेदित्याह। प्रकर्षेण तत्तु प्रकृतिस्थितिप्रदेशानुभावैरल्पीयः कर्म यस्यासौ प्रतनुकर्मा। एवं विधोऽसावचिरेणैव कालेन जघन्यतस्तेनैव भवग्रहणेनोत्कर्षतः सप्ताष्टभवग्रहणैः सिद्धिं मोक्षं गच्छति। धुतक्लेशः सन् क्लिश्यन्ते बाध्यन्ते शारीरमानसैर्दुःखैः संसारिणः सत्वा एभिरिति *क्लेशाः कर्माणि। धुता अपनीताः क्लेशा ये नासौ धुतक्लेशः क्षीणाष्ट–* कर्मेति भावः। तदेवं व्याख्यातं कल्पिकद्वारम् बृ०। (१११ पत्र) १ उ०।

कप्पियउदाहरण–न० (कल्पितोदाहरण) काल्पनिकोदाहरणे, यथा अयोग्यशिष्यविषये मुद्गशैलघनदृष्टान्त उपात्तः स च काल्पनिको मुद्गशैलघनयोः वक्ष्यमाणप्रकारोऽहङ्कारादिर्न संभवति तयोरचेतनत्वात् केवलं शिष्यमतिविताताय तौ कल्पयित्वा दृष्टान्तेनोपात्तौ। नं०।

कप्पिया–स्त्री० [कल्पिकी (का)] सकारणे ज्ञानदर्शनादीन्यधिकृत्य संयमादियोगेष्वसंस्तरत्सु प्रतिसेवने, नि० चू० १ उ०। (अस्या मूलगुणोत्तरगुणविषयत्वं पडिसेवणाशब्दे स्पष्टीभविष्यति)।

***कल्पिका**–व० व०। सौधर्मादिकल्पगतवक्तव्यतागोचरासु ग्रन्थपद्धतिषु, पा०। ताश्च निरयावलिकाश्रुतस्कन्धगतः प्रथमो वर्गः। अन्तकृद्दशाङ्गस्योपाङ्गम् जं० १ वक्ष०। निरयावलिकेति चास्या नामान्तरम्।

पढमस्स णं भंते ! वग्गस्स उवंगाणं निरयावलियाणं समणेणं भगवया जाव संपत्तेण कइ अज्झयणा पन्नत्ता ? एवं खलु जंबूसमणेणं उवंगाणं पढमस्स वग्गस्स निरयावलियाणं दस अज्झथणा पन्नत्ता तं जहा काले १ सुकाले २ महाकाले ३ कण्हे ४ सुकण्हे ५ तहा महाकण्हे ६ वीरकण्हे ७ बोधव्वे रामकण्हे ८ तहेव य पिउसेणकण्हे ९ नवमे दसमे महासेणकण्हेउ १० ॥

प्रथमवर्गो दशाध्ययनात्मकः प्रज्ञप्तः। अध्ययनदशकमेवाह। काले सुकाले इत्यादीनां मातृनामभिस्तदपत्यानां पुत्राणां नामानि यथा काल्या अयमिति कालः कुमारः। एवं सुकाल्याः कृष्णायाः महाकृ– ष्णायाः वीरकृष्णायाः रामकृष्णायाः महासेनकृष्णाया अयमित्येवं पुत्रनाम वाच्यं इह काल्या अपत्यमित्याद्यर्थः प्रत्ययेनोत्पाद्य काल्यादि–शब्देष्वपत्यार्थे यत् प्राप्त्याकालस्तु कालादिनाम्ना सिद्धेरेव वाच्यः। कालः १ तदनु सुकालः २ महाकालः ३ कृष्णः ४ सुकृष्णः ५ महाकृष्णः ६ वीरकृष्णः ७ रामकृष्णः ८ पितृसेनकृष्णः ९ महासेनकृष्णः १० दशम इत्येवं दशाध्ययना निरयावलिकानामके प्रथमवर्गे, इति नि०।

कप्पियाकप्पिय–न० [क (ल्पा) ल्प्याक (ल्य) ल्प्य] कल्याकल्प–प्रतिपादके उत्कालिकश्रुतविशेषे, पा०। नं०।

कप्पुत्त–न० (कल्पोक्त) कल्पाख्यस्य छेदग्रन्थस्य संवादकवचने, "कप्पुत्तमेवमाई अविपडिमासु विनिलोयाणं" जी० १ प्रति०।

कप्पुर–पुं० (कप्पुर) स्वनामख्याते म्लेच्छराजे, येन त्रयोदशशतेषु अष्टचत्वारिंशदधिकेषु विक्रमवर्षेषु गतेषु हिन्दुदेशे उपद्रवः कृतः ती० १७ क०।

कप्पूर–पुं०न०(कर्पूर) कृप् ऊर–लत्वाभावः। घनसारे, ध० २ अधि०। गन्धद्रव्यविशेषे, ज्ञा० १७ अ०। आचा०।

कप्पूरपूया–स्त्री० (कर्पूरपूजा) कर्पूरिणार्तिक्यकरणे, " धूपोत्क्षेपणतः पक्षोपवासस्य लभेत्फलम्। कर्पूरपूजया चात्र, मासक्षपणजं फलम् " ती० १ क०। (चेइय शब्दे पूया शब्दे चोदाहरणादि वक्ष्यामि)।

कप्पेऊग–अव्य० (कल्पयित्वा) विशोध्येत्यर्थे, " कप्पेऊणं पाएएकिक्कस्स " पं० व०।

कप्पेमाण त्रि०(कल्पयत्) कुर्वाणे, औ०। ज्ञा०। सूत्र०। ''अहम्मेण चेव वित्तिं कप्पेमाणे'' वृत्तिं जीविकां कल्पयमानः कुर्वाणस्तक्ष्छील इत्यर्थः विपा० १ श्रु० ३ अ०। दशा०।

कप्पोचिय पुं०(कल्पोचित) संहननश्रुतादि संपदुपेतत्वेन प्रतिसाकल्पप्रतियोग्ये, पंचा० १९ विव०॥

कप्पोवग पुं०(कल्पोपग) कल्प आचारः स चेहेन्द्रसामानिकस्त्रयस्त्रिंशादिव्यवहाररूपस्तमुपगताः। सौधर्मेशानादिदेवलोक-निवासिषु वैमानिकदेवेषु, कल्पोत्पन्नान् दर्शयति।

से किं तं वेमाणिया वेमाणिया दुविहा पण्णत्ता तं जहा कप्पोवगा कप्पाईया य से किं तं कप्पोवगा कप्पोवगा बारसविहा पण्णत्ता तं जहा सोहम्मा ईसाणा सणंकुमारा माहिंदा बंभलोया लंतया महासुक्का सहस्सारा आणया पाणया आरणा अच्चुया ते समासओ दुविहा पण्णत्ता तं जहा पज्जत्तगा य अप्पज्जत्तगा य से त्तं कप्पोवगा॥

(सोहम्मा ईसाणा इत्यादि) सौधर्मदेवलोकनिवासिनः सौधर्माः ईशानदेवलोकवासिनः ईशानाः एवं सर्वत्रापि भावनीयम्। तत्र तात्स्थ्यात्तद्व्यपदेशो यथा पञ्चालदेशनिवासिनः पञ्चाला इति प्रज्ञा० १ पद (७७ पत्र०)॥

कप्पोववण्णग पुं०(कल्पोपपन्नक) कल्पेषु सौधर्मादिषु उपपन्नाः कल्पोपन्नाः चं० प्र० १९ पाहु०। सौधर्मादिदेवलोकोत्पन्नेषु वैमानिकदेववेषु, जं० ७ वक्ष०। स्था०।

कप्फल पुं०(कट्फल) कटति आवृणोत्यन्यरसं कट् क्विप्—कट् फलमस्य **कगटडतदपशषसक पामूर्ध्वं लुक् ॥८।२।७७॥** इति टलुक् प्रा०। कटुरसतया अन्यरसावरकफलके कायफल इति ख्याते श्रीपर्णीवृक्षे, अमरः।

कफ पुं०(कफ) केन जलेन फलति फलम। शरीरस्थे धातुभेदे, वाच०। ''कफो गुरुर्हिमः स्निग्धः प्रक्लेदी स्थिरपिच्छिलः''। तस्य कार्यञ्च ''श्वेतत्वशीतत्वगुरुत्वकण्डुस्नेहोपदेहस्तिमितत्वलेपाः। उत्लेशसंपानचिरक्रियश्च, कफस्य कर्माणि वदन्ति तज्ज्ञाः''॥१॥ स्था० ४ ठा०॥

कबंध पुं०(कबन्ध) ''मनुष्याणां सहस्रेषु, हतेषु हृतमूर्द्धसु। तदावेशात्कबन्धस्यादेकोऽमूर्द्धा क्रियान्वित'' इत्युक्तलक्षणे शिरोरहिते क्रियासहिते देहे, अस्त्री० अमरः। तद्देहस्य शिरः शून्यत्वेऽपि वायोः सम्यग्निस्सरणाभावेन वायुना संबन्धसत्वात् क्रियासंभव इति बोध्यम् प्रश्न० अध० ३ अ०। मेघे, जले, राक्षसभेदे, वाच०।

कमल्ल न०(कमल्ल) कपाले, घटादिकर्परे, अण्०। अन्त०। ''कमल्लसंमाणसंठिए'' उपा० २ अ०॥

कम पुं०(क्रम) क्रम् भावकरणादौ यथायथं घञ् मान्तत्वादवृद्धिः। पादविक्षेपे पादे, हेम चं०। वाच०। पिं०। अर्हत्क्रमाम्भोजभवमर्हतां श्रीतीर्थकराणां क्रमाश्चरणाः। द्रव्या० ५ अध्या०। पौर्वापर्य्ये, द्वा० २६ द्वा०। परिपाट्याम्, अनुक्रमे, नि० चू० १ उ०। आ० म० प्र०। वृ०। उत्त०। आव०। विशे०। ''पुव्वाणुपुव्वि न कमो'' इह क्रमस्तावत् द्विविधः पूर्वानुपूर्वी वा पश्चानुपूर्वी च। अनानुपूर्वी किल कर्म एव न भवति असमञ्जसत्वात्, विशे० मर्य्यादायाम्, स्था० ४ ठा०। नियमे, च वृ० १ उ०।

***क्लम** पुं० **लात् ॥८।२।१०६॥** इति किलिन्तवत् इत्वं क्वाचित्कत्वान्न प्रा०। ''योऽनायासः श्रमो देहप्रवृद्धः श्वाससंगतः। क्लमः स इति विज्ञेय इन्द्रियार्थप्रबाधकः'' इत्युक्तलक्षणे श्रमभेदे वाच०।

कमंडलु पुं०(कमण्डलु) न० मण्डनं मण्डः कस्य जलस्य मण्डला-ति—ला—कु—अर्द्धर्चादि०। करङ्के, अगरः। वाच०। कुण्डिकायाम्, प्रश्न० अध० ४ अ०। नि०। तापसपानीयपात्रे, जं० २ वक्षः। प्लक्षवृक्षे, वाच०।

कमकरण न०(क्रमकरण) शरीरनिष्पत्त्युरकालं बालयुवस्थविरादिक्रमेणोत्तरोत्तरेऽवस्थाविशेषे, सूत्र० १ श्रु० १ अ०।

कमजोग पुं०(क्रमयोग) परिपाटीव्यापारे, ''इमेण कमजोगेणं, भत्तपाणं गवेसए'' दश० ५ अ०। योगक्रमे,—पुं० अस्मिन् योगे एतावत्याचाम्लानि इयन्ति निर्विकृतिकानि इत्थं वा उद्देशादयः क्रियन्ते तथा विकृतयः काः कुत्रयोगे कल्पन्ते न वेत्येवं क्रमे, बृ० १ उ०।

कमढ पुं०(कमठ) कम्—अठन्। **ठो ढः ८।१।१९९॥** इति ठस्य ढः प्रा०। कूर्मे, स्त्रियां जातित्वात् ङीष्। वंशे, पुं० शब्दर०। शल्लकीवृक्षे, पुं० धरणिः। वाच०। पार्श्वप्रभुनिजिते तपस्विनि, तद्वृत्तं चेत्थम् अन्येद्युर्गवाक्षस्थः स्वामी एकस्यां दिशि गतः पुष्पादिपूजोपकरणसहितान्नागरांश्च नागरीर्निरीक्ष्य एते क्व गठन्तीति कंचित्पप्रच्छ। स आह प्रभो! कुत्रचित् अस्ति देशवास्तव्यो दरिद्रो मृतमातापितृको ब्राह्मणपुत्रः कृपया लोकैर्जीवितः वमठनामासीत्। स च एकदा रत्नाभरान्वीक्ष्य अहो! एतत् प्राग् कन्मतपसः फलमिति विचिन्त्य पञ्चाग्न्यादिमहाकष्टानुष्ठायी तपस्वी जातः सोऽयं पुर्या बहिरागतोऽस्ति तं पूजितुं लोक गच्छन्तीति निशम्य प्रभुरपि सपरिवारस्तं द्रष्टुं ययौ। तत्र काष्ठान्तर्दह्यमानं महासर्प्प ज्ञानेन विज्ञाय करुणारससमुद्रो भगवानाह। अहो मूढ! तपस्विन्! किं दयां विना वृथा कष्टं व रोषि। यतः ''कृपानदीमहातीरे, सर्वे धर्मास्तृणाङ्कुराः। तस्यां शोषमुपेतायां, कियन्नन्दन्ति ते चिरम्''। इत्याकर्ण्य क्रुद्धः कमठोऽवोचत्। राजपुत्रा हि गजाश्वादि क्रीडां कर्तुं जानन्ति धर्म्मं तु वयं तपोधना एव जानीमस्ततः स्वामिनाऽग्निकुण्डात् ज्वलत्काष्ठमाकृष्य कुठारेण द्विधा कृत्वा च तापव्याकुलः सर्पो निष्काशितः। स च भगवन्नियुक्तपुरुषमुखान्नमस्कारान् प्रत्याख्यानं च निशम्य तत्क्षणं विपद्य धरणेन्द्रो जातः। अहो ज्ञानी इति जनैः स्तूयमानः स्वामी स्वगृहं ययौ। कमठोऽपि तपस्तप्त्वा मेघकुमारेषु मेघमाली जातः १५४ कल्प०। ती०। जल्ले, न० ''जल्लो तु होति कमढं खरंटो उ जो मलो तं कमढं भण्णति'' नि० चू० ३ उ०। साधुजनप्रसिद्धे पात्रभेदे, ''भुञ्जामो कमढगादिसु'' कमढगं णाम करोटगागारं अट्ठगेण कज्जति कमठकं नाम शुष्कलेपेन सबाह्या-भ्यन्तरलिप्तकांस्यकट्टोरकाकारं साधुभाण्डम्' नि० चू० १ उ०।

कमढग न०(कमठक) चोलपट्टकस्थाने आर्य्यिकाणां धार्य्ये चतुर्दशे औधिकोपधौ, ''चउद्दसे कमढए होति'' वृ० ३ उ०। ''कमढगं अट्ठगडयं कंसभायणसंठाणसंठियं चोलपट्टट्ठाणे चोद्दसमं भवति'' नि० चू० २ उ०। तच्चाष्टकमयमेकैकं संयतीनां निजोदरप्रमाणेन विज्ञेयम् वृ० ३ उ०।

कमढगमाणं उदर--प्पमाणओ संजईण विण्णेअं।
सइ गहणं पुण तस्स, लहुसगदोसा इमा तेसिं॥२४॥

कमठगमानं स्वरूपसंबन्धि उदरप्रमाणतो निजोदरप्रमाणेन संयतीनां विज्ञेयं सदा ग्रहणं पुनस्तस्य कमठकस्य लहुस-कदोषादित्यल्पत्वा-पराधादासां संयतीनां लम्पनग्रहणी अप्रीत्या कुशलपरिणामभावादिति गाथार्थः। पं० व०।

कमढीभूय त्रि०(कमढीभूत) स्थले कमठ इव मन्दगतौ, व्य० १ उ०।

कम (न) ण– न० (क्रमण) क्रमु पादविक्षेपे भावे ल्युट् गतौ, प्रतिक्रमणं प्रति निवृत्तिक्रमे, प्रवर्तने, आ० चू० ४ अ०। प्रव०। आचा०। (पडिक्कमण शब्दे तथा व्याख्या)

कमणिज्ज त्रि०(क्रमणीय) क्रमणार्हे, औ०।

कमणिया स्त्री०(क्रमणिका) उपानहि, बृ० ३ उ०। (क्रमणिकयो-रपि उपानह शब्दे धारणमुक्तम्)

कमणिल्ल त्रि०(क्रमणीभूत) सोपानत्के, ''गविज्ञ भूमिगतोइ कमणि-ल्लो'' भूमिगतान् गर्वं करोति अहो अहं सोपानत्को व्रजामि बृ० ३ उ०।

कममिण्ण न०(क्रमभिन्न) त्रयोदशे सूत्रदोषे, यत्र क्रमो नाराध्यते यथा स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणामर्थः स्पर्शरसगन्धरूपशब्द इति वक्तव्ये स्पर्शरूपशब्दगन्धरसा इति ब्रूयात् इत्यादि विशे०। आ० म० द्वि०। अनु०। यथा वा ''धरणीधरणीन्द्रपद्मागरान्गम्भीरनयनमुखबलस्थैर्यगुणैर्ज-यति'' बृ० १ उ०।

कममरण न०(क्रममरण) पूर्वस्पृष्टाकाशप्रदेशादिभ्योऽव्यवधानतः प्राणपरित्यागे, कर्म०।

कमल पुं०(कमल) कम्–वृषादि कलच् कमलशब्दः संस्कृतवदेव प्राकृते प्रा०। **लोलः पैशाच्याम् ।८।४।३०८।** इति लस्थाने लकारविधानात् पैशाच्यामप्यादेशान्तरं न० प्रा०। हरिणविशेषे, ''फुल्लुप्पलकमल-कोमलुम्मीलियं'' फुल्लं विकसितं तच्च तदुत्पलं च फुल्लोत्पलं कमलो हरिणविशेषः फुल्लोत्पलं च कमलश्च फुल्लोत्पलकमलौ तयोः कोमलमकठोरं दलानां नयनयोश्चोन्मीलितमुन्मीलनं यत्र प्रभाते तत्तथा'' अनु०। कल्प०। ज्ञा०। विपा०। औ०। दशा०। सूर्य्यबोध्ये, ज्ञा० ९ अ०। पद्मे, न० कल्प०। कमलं पद्मरविन्दं पङ्कजं सरोजमिति पर्यायाः विशे०। चतुरशीतिकमलाङ्गशतसहस्रे, न० ज्यो० २ पाहु०। कालस्य पिशाचेन्द्रस्याग्रमहिष्याः कमलाया अनन्तरपूर्वमनुष्यभवे पितरि, पुं० ज्ञा० २ श्रु०। धूर्ताख्यानकल्पितपोतनपुरेश्वरवज्रसिंहस्य राज्ञः कमला-भार्य्योत्पन्ने पुत्रे, दर्श०। क्लोन्मिभेषजे, सलिले, ताम्रे, हेम०। सारसप-क्षिणि, स्त्रियां ङीष्। पाटलवर्णे, तद्वति, त्रि० वाच०। कमलायाः काला-ग्रमहिष्याः सिंहासने, न० ज्ञा० २ श्रु०।

कमलंग न०(कमलाङ्ग) चतुरशीतिमहापद्मशतसहस्रे, ज्यो० २ पाहु०।

कमलकलाव पुं०(कमलकलाप) कमलसमूहे, कल्प०।

कमलकलावसरिरायमाण त्रि०(कमलकलापपरिराजमान) कमलस-मूहेन सर्वतः शोभमाने, कल्प०।

कमलतिलया स्त्री०(कमलतिलका) रथसेनस्य रत्नावलीकुक्षि-सम्भवायां पुत्र्याम्, दर्श० (तस्याः स्वयंवरादि ममणवल्लह शब्दे)

कमलप्पभ–पुं०(कमलप्रभ) स्वनामख्याते आचार्ये, कमलप्रभाचार्येण तीर्थकृन्नामकर्मबद्धं सत्केन दोषेण विफलीकृतमिति प्रश्ने। अकस्मात् स्त्रीसंघट्टे जाते लिङ्गिभिः प्रश्ने कृते चतुर्थव्रतस्य प्रशस्तत्वभिरूपणल-क्षणप्रमादेन तद्विफलीकृतमिति प्रसिद्धिः श्येन० ३ उल्ला० १६४ प्र०।

कमलप्पभा स्त्री०(कमलप्रभा) कालस्य पिशाचेन्द्रस्याग्रमहिष्याम्, स्था० ४ ठा०। भ०। (तस्या भवान्तर मग्गमहिसी शब्दे उक्तम्)।

कमलवडिंसय न० (कमलावतंसक) कालाग्रमहिष्याः, कमला-देव्याः कमलायां राजधान्याम् स्वनामख्याते भवने, ज्ञा० २ श्रु०।

कमलसिरी स्त्री०(कमलश्री) कालाग्रमहिष्याः कमलाया मातरि ज्ञा० २ श्रु०।

कमलसेट्ठि पुं०(कमलश्रेष्ठिन्) कमलनामके श्रेष्ठिनि, तं० (यस्य सुता पद्मिनीपउमिणी शब्दे कथा) तस्यान्यस्य वा ऋजुव्यवहारे यर्थार्थभणने कथा ध० रु०।

कमला स्त्री०(कमला) कालस्य पिशाचेन्द्रस्याग्रमहिष्याम्, स्था० ४ ठा०। भ०। (भवान्तरमग्गमहिसी शब्दे उक्तम्) धूर्ताख्यानकल्पितपोत-नपुरराजवज्रसिंहस्य भार्य्यायाम्, दर्श०। लक्ष्म्याम्, को०। वरनार्य्याम्, जम्बीरभेदे, छन्दोभेदे च तल्लक्षणम् वृत्तरत्ना वल्यां द्विधोक्तम् यथा ''द्विगुणनगणसहितः, सगण इह हि विहितः। फणिपतिमतिविमला, क्षितिष ! भवति कमला। वसुभिः प्रमिताः सगणविहिता, पुनरेकमितो निहितो गुरुरन्ते। यदि सत् कवयो विलसन्मतयोऽभिधया कमलेति तदा कलयन्ते'' वाच०।

कमलागर पुं०(कमलाकर) कमलानामाकर उत्पत्तिस्थानम्। पद्महृदादौ, कल्प०। जलाशयविशेषे, अनु०। पद्मानां समूहे च वाच०।

कमलागरखं (सं) डबोहय पुं०[कमलाकरख(ष)ण्डबोधक] कमलाकरान्हृदादयस्तेषु यानि खण्डानि नलिनीखण्डानि कमलवनानि तेषां बोधको यः स कमलाकरखण्डबोधकः कमलवन, विकाशके सूर्य्ये, ''कमलागरसंडबोहए उट्ठियम्मि सूरे'' न० २ श० १ उ०। कल्प०। दश०। ज्ञा०।

कमलापीड(मेल) पुं०[कमलापीड(मेल] भरतचक्रवर्तिसेनापतिसत्के अश्वरत्ने, जं० ३ वक्ष०। (तस्य वर्णको भरह शब्दे आपातकिरातविज-याधिकारे वक्ष्यते)।

कमलामेला स्त्री०(कमलामेला) बलदेवपुत्रनिषधात्मजसागर चन्द्रभा-र्य्यायाम्, विशे०। आ० म० प्र०। आ० क०। आव० (तस्या उद्वाहः अनुओग शब्दे उदाहृतः)।

कमलासण पुं०(कमलासन) कमलमासनं यस्य। चतुरानने ब्रह्मणि, वाच०। ''पुव्विं किर नारयरिसिणा कमलासणो पुट्ठो ती० २९ क०॥

कमलुज्जल त्रि०(कमलोज्वल) कमलपरिमण्डिते, ''सरं वा कमलुज्जलं'' व्य० ४ उ०।

कमवोच्छिज्जमाणबंधोदया स्त्री०(क्रमव्यवच्छिद्यमान-बन्धोदयाबोदया) क्रमेण पूर्वं बन्धः पश्चादुदय इत्येवं रूपेण व्यवाच्छद्यमानौ बन्धोदयौ यासां ताः क्रमव्यवच्छिद्यमानबन्धोदयाः। कर्मप्रकृतिभेदे, पं० सं०। (ताश्च षडशीतयः कम्म शब्दे वक्ष्यन्ते)।

कमसोअव्य०(क्रमशस्) कारकार्थवृत्तेः क्रमात् वीप्सायां शस् क्रमं क्रमं *क्रमेण क्रमेणेत्यादिकेऽर्थे*, वाच०। पं० सं०।

कमेलगागम पुं०(क्र मेलकागम)उष्ट्रागमने, अजां निष्काशयतः

क्रमेलकागमन्यायः । यथा कश्चित् क्षेत्रादजां निष्काशयति तत्र कथञ्चिच्छगल्यां निष्काशितायामपि उष्ट्र आपतितः अस्य विषयो यथा जिनार्चनमश्रद्धधानस्य महानिशीथप्रामाण्यस्याऽभ्युपगमस्वीकारे तत्त्वसिद्धान्तभङ्गप्रसङ्गस्तत्र जिनप्रतिमार्चनस्य तत्त्वानुज्ञानात् प्रति०॥

कम्प पुं०(कम्प) कपि चलने घञ् मकारस्यानुस्वारः तस्य। **वर्गेऽन्त्यो वा ॥८।१।३०॥** इति मः । प्रा० । गात्रादिचलने, वेपथौ, वाच०।

कम्भी(म्ही)र पुं०(कश्मीर) कलश० ईरन्–मुट् च **आत्कश्मीरे ।८।१।१००॥** इति आत्वम्। **कश्मीरे, म्भो वा ।८।२।६०॥** इति कश्मीरशब्दे संयुक्तस्य म्भो वा भवति कम्भारो कम्हारो । देशभेदे, प्रा० । ततो भवादौ कच्छा० अण् काश्मीरः तद्देशभवे, त्रि० काश्मीरोऽभिजनोऽस्य तक्षशिला० अञ् पित्रदिक्रमेण तद्देशवासिनि, त्रि० स्त्रियामुभयत्र ङीप् तस्य राजन्यपि तथा बहुषु तु तस्य लुक् कश्मीराः स्त्रियां भगादित्वान्न लुक् वाच०।

कम्म धा० (कृ)(क्षुरेण केशकल्पने, **क्षुरे कम्मः ॥८।४।७२॥** क्षुरविषयस्य कृतो कम्म इत्यादेशो वा भवति, 'कम्मइ' क्षुरं करोति इत्यर्थः प्रा०॥

***कर्मन्** न० क्रियते निर्वर्तते यत्तत्कर्म घटप्रभृतिलक्षणे कार्य्ये, विशे०। भावे मनिन् क्रियायाम्, स्था० ४ ठा० । उत्त० । आचा० । विशे० । योगो व्यापारः कर्म क्रियेत्यनर्थान्तरम् विशे. । सूत्र० । भ्रमणादिक्रियायाम्, स्था० १ ठा० । उत्त० । प्रव० । उपा० । दश० । आचा० । प्रश्न० । संयमानुष्ठानरूपायां क्रियायाम्, सूत्र० १ श्रु० १ अ० । अनुष्ठाने, आचा० १ श्रु० । ५ अ० १ उ० । सूत्र० । सावद्यानुष्ठाने, सूत्र० १ श्रु० २ अ०।

(१) कर्म्मणस्त्रैविध्यं तेषां स्वरूपनिरूपणञ्च।
(२) कर्म्मशिल्पयोर्भेदः।
(३) नैयायिकवैयाकरणयोः कर्म्मपदार्थनिरूपणम्।
(४) नामादितः कर्म्मनिक्षेपमुक्त्वा तत्प्रसङ्गप्राप्तं शब्दादित आधाकर्म्मस्वरूपनिरूपणम्।
(५) कर्म्मस्वरूपनिरूपणम्।
(६) पुण्यपापात्मकस्य कर्म्मणः सिद्धिः।
(७) अकर्म्मवादिनो नास्तिकस्य मतनिराकरणम्।
(८) कर्म्मणो मूर्त्तत्वं तत्राक्षेपपरिहारौ च।
(९) जगद्वैचित्र्येण पुनरपि कर्म्मसिद्धिनिरूपणम्।
(१०) जीवकर्मणोः संबन्धः।
(११) कर्म्मणोरनादित्वम्।
(१२) जगद्वैचित्र्ये कर्म्मण एव हेतुत्वं नेश्वरादीनाम्।
(१३) स्वभाववादिनिराकरणम्।
(१४) कर्म्मणः पुण्यपापद्वयात्मकत्वविचारः।
(१५) पुण्यपापयोः पृथग्लक्षणम्।
(१६) कर्मणश्चतुर्विधत्वम्।
(१७) कर्मणि बद्धस्पृष्टवादिगोष्ठामाहिलनिह्नवमतनिरूपणम्।
(१८) कर्मविषये शास्त्रान्तरीयमतं निरूप्य पुनरपि पूर्वोक्तचतुर्विधत्वमेव प्रतिपादितम्।
(१९) मूलप्रकृत्युत्तरप्रकृत्यादिना द्वैविध्यं निरूप्य नामादितः अष्टविधत्वम्।
(२०) कर्मणः ध्रुवाऽध्रुवबन्धिप्रकृतिनिरूपणम्।
(२१) ध्रुवाध्रुवबन्धिनीनां भङ्गकास्तयोः सत्तानिरूपणं च।
(२२) कर्मणः सर्वघातिदेशघातिप्रकृतिद्वारनिरूपणम्।
(२३) क्षेत्रविपाकादिप्रकृतिप्रतिपादनम्।
(२४) प्रकृतीनां पञ्चोदयहेतवः।
(२५) ज्ञानवरणदर्शनावरणमोहनीयादीः प्रकृतीर्विस्तरतो विवच्य स्थित्यादिप्ररूपणम्।
(२६) सम्यक्त्ववेदनीयमिथ्यात्ववेदनीयस्त्र्यादिवेदनीयादीनां आयुषश्च पृच्छां निरूप्य नामादिपृच्छाकलापप्रतिपादनम्।
(२७) तीर्थकराहारकद्विकयोः मतान्तरेण स्थितिनिरूपणम्।
(२८) ज्ञानावरणीयादिकर्मणां जघन्यस्थितिबन्धः कस्मिन् स्वामिनि लभ्यते इत्यादिचिन्तनम्।
(२९) अविरतसम्यक्त्वादीनां स्थितिबन्धनिरूपणम्।
(३०) ज्ञानावरणीयस्य कर्मणः अविभागपरिच्छेदनिरूपणम्।
(३१) मूलप्रकृतीनां बन्धं प्रतीत्य चत्वारि प्रकृतिस्थानानि भवन्तीति निरूपण्।
(३२) कर्मणो बन्धे कर्मप्रकृतिबन्धविचारः।
(३३) किं कर्म वेदयते काः कर्मप्रकृतीर्वध्नातीति उदयेन सह संबन्धस्य चिन्तनम्।
(३४) उत्तरप्रकृतिषु संवेधादिचिन्तनम्।
(३५) क्रियावादिनः कर्म्मचिन्तातः प्रनष्टा इति प्रदर्श्य तन्मतदूषणञ्च निरूपितम्।
(३६) सोपक्रमनिरुपक्रमकर्म्मद्वैविध्ये उदाहरणम्।
(३७) कर्म्मक्षयविचारं प्रतिपाद्य सम्यग्ज्ञानकर्म्मक्षयनिषेध-नम्।

(१) कर्मणस्त्रैविध्यं तत्स्वरूपनिरूपणञ्च।

विषयात्माऽनुबन्धैस्तु, त्रिधा शुद्धं यथोत्तरम्।
प्रधानं कर्म तत्राद्यं, मुक्त्यर्थपतनाद्यपि ॥२१॥

विषयेण गोचरेणात्मना स्वरूपणानुबन्धेन तूत्तरत्रानुवृत्तिलक्षणेन शुद्धं त्रिधा त्रिविधं कर्मानुष्ठानं यथोत्तरं प्रधानं यद्यत उत्तरं तत्तदपेक्षया प्रधानमित्यर्थः । तत्राद्यं विषयशुद्धं कर्म मुक्त्यर्थं मोक्षो ममातो भूयादितीच्छया जनितं पतनाद्यपि भृगुपाताद्यपि आदिना शस्त्रपाटनगृध्रपृष्ठार्पणादिश्च पातोपायः परिगृह्यते । किं पुनः शेषं स्वाहिंसकमित्यपि शब्दार्थः।

स्वरूपतोऽपि सावद्य–मादेयाशयलेशतः।
शुभमेतत् द्वितीयं तु, लोकदृष्ट्या यमादिकम् ॥२२॥

स्वरूपत आत्मना सावद्यमपि पावबहुलमपि आदेयाशयस्योपादेयमुक्तिभावस्य लेशतः सूक्ष्ममात्रालक्षणाच्छुभं शोभनमेतत्। यदाह तदेतदप्युपादेयलेशभावाच्छुभं मतं द्वितीयं त स्वरूपशुद्धं तु लोकदृष्ट्या स्थूलव्यवहारिणो लोकस्य मतेन यमादिकं यमनियमापिरूपं यथा जीवादितत्त्वमजानानां पूरणादीनां प्रथमगुणस्थानवर्तिनाम्।

तृतीयं शान्तवृत्त्याद–स्तत्त्वसंवेदनानुगम्।
दोषहानिस्तमोभूम्ना, नाद्या जन्मोचितं परे ॥२३॥

शान्तवृत्त्या कषायादिविकारनिरोधरूपया तत्त्वसंवेदनानुगं जीवादितत्त्वसम्यक्परिज्ञानानुगतमदोऽयमाद्येव तृतीयमनुबन्धशुद्धं कर्म आद्याविषयशुद्धानुष्ठानात्तमोभूम्नाऽऽत्मघातादिनिबन्धनाज्ञानबाहुल्येन दोषहानिर्मोक्षलाभबाधकपरिहाणिर्न भवति । यत आह। ''आद्यन्न दोषविगमस्तमोबाहुल्ययोगत'' इति परे पुनराचार्याः प्रचक्षते । उचितं दोषविगमानुकूलजात्यादिकुलादिगु-

णयुक्तं जन्म ततो भवति । एकान्तरनिरवद्ये मोक्षे स्वरूपतोऽतीवसावद्यस्य कर्मणस्तस्याहेतुत्वेऽपि मुक्तीच्छायाः कथंचित्सारूप्येण तद्धेतुत्वात् तद्वारतया प्रकृतोपयोगादिति ह्यमीषामाशयः । तदाह ''तदयोग्यजन्मसंधानमत एके प्रचक्षते । मुक्ताविच्छापि यत् श्लाघ्या, तमःक्षयकारी मता'' । तस्याः समन्तभद्रत्वादनिदर्शनमित्यद'' इति ।

मुक्तीच्छापि सतां श्लाघ्या, न मुक्तिसदृशं त्वदः ।
द्वितीयात्साऽनुवृत्तिश्च, सा स्याद्दर्दुरचूर्णवत् ॥२४॥

उक्ताशयमेवाह ''मुक्तीच्छापीति'' द्वितीयात्स्वरूपशुद्धानुष्ठानात् सा तु वृत्तिश्चोत्तरत्राप्यनुवृत्तिमती च सा दोषहानिः स्याद्दर्दुरचूर्णवन्मण्डूकक्षोदवत् । निरनुवृत्तिदोषविगमे हि गुरुलाघवचिन्तादृढप्रवृत्त्यादिकं हेतुस्तदभावाच्चात्र सानुबन्ध एव दोषविगम इति भावः । तुदक्तम् ''द्वितीयादोषविगमो, नत्वेकान्तानुबन्धवान् । गुरुलाघवचिन्तादि, न यत्तत्र नियोगतः'' ।

कुराजचन्द्रप्रायं त--न्निर्विवेकमदः स्मृतम् ।
तृतीयात्साऽभुबन्धा सा, गुरुलाघवचिन्तया ॥२५॥

तत्तस्मात्सानुवृत्तिदोषविगमाददो द्वितीयमनुष्ठानं निर्विवेकं विवेकरहितं कुराजवप्रप्रायं कुत्सितराजाधिष्ठितनगरप्राकारतुल्यं तत्र लुण्छाकोषद्रवस्यैवात्राज्ञानदोषोपघातस्य दुर्निवारत्वादिति भावः । तृतीयादनुबन्धशुद्धानुष्ठानात्सा दोषहानिः सानुबन्धा उत्तरोत्तरदोषापगमावहाऽत एव दोषाननुवृत्तिमती । तदुक्तं ''तृतीयाद्दोषविगमः, सानुबन्धो नियोगतः ।'' गुरुलाघवचिन्तयेत्युपलक्षणमेषा दृढप्रवृत्त्यादेः ।

गृहाद्यभूमिकाकल्प--मतस्तद् कैश्चिदुच्यते ।
उदग्रफलदत्वेन, मतमस्माकमप्यदः ॥२६॥

अतः सानुबन्धदोषहानिकरत्वात्तत्तुतीयमनुष्ठानं केश्चित्तीर्थान्तरीयैर्गृहस्याद्यभूमिका दृढपीठबन्धरूपा तत्कल्पं तत्तुल्यमुदग्रफलदत्वेनोदारफलदायित्वेन तस्याद एतदुक्तमस्माकमपि मतम् । यथा हि गृहाद्यभूमिकाप्रारम्भदार्ढ्यं नोपरितनगृहं भङ्गफलं संपद्यते किं तु तदनुबन्धप्रधानमेवं तत्त्वसंवेदनानुगतमनुष्ठानमुत्तरोरदोष-विगमावहमेव भवति न तु कदाचनाप्यन्यथारूपमिति, द्वा० १३ द्वार० । ''कर्माशुक्लकृष्णं, योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्'' शुभफलदं कर्मयोगादिशुक्लं, अशुभफलदं ब्रह्महत्यादि, कृष्णमुभयं संकीर्णं , शुक्लकृष्णं तत्र शुक्लं दानतपः स्वाध्यायादिमतां पुरुषाणां, कृष्णं नारकिणां, शुक्लकृष्णं, मनुष्याणां योगिनां तु विलक्षणमिति । द्वा० १६ द्वा० । जीवनवृत्तौ, उपा० १ अ० । जीविकार्थे आरम्भे, पंचा० १ विव० ।'' कम्माणि तणहारगादीणि'' आ० चू० १ अ० । महारम्भादिसंपाद्ये, स्था० ३ ठा० । अनाचार्य्यके कृष्यादौ, स्था० ५ ठा० । पिं । कल्प० । आ० चू० । (२) अनाचार्य्यकं कर्म साचार्य्यकं शिल्पमथवा कादाचित्कं शिल्पं कादाचित्कं वा कर्म शिल्पं तु नित्यव्यापारः भ० १२ श० ५ उ० । सर्वकालिकं कर्म तं० । तत्र कर्म्म सिद्धादिव्याचिख्यासया कर्मादिस्वरूपं प्रथमतः प्रतिपादयति ।

कम्मं जमणायरिओ--वदसेजं सिप्पमन्नहामिहियं ।
किसिवाणिज्जाईयं, घयलोहाइभेयं वा ॥

इह यत् अनाचार्योपदेशजं सातिशयमनन्यसाधारणं कर्म तत्कर्मेद परिगृह्यते । यत् पुनः कर्म्म सातिशयमाचार्योपदेशजं ग्रन्थनिबद्धं वा तत् शिल्पम् । तत्र कृषिवाणिज्यादि आदिशब्दात् भारवाहनादिपरिग्रहः । कर्म्म घटकारलोहकारादिभेदं भावप्रधानोऽयं निर्देशो घटकारत्वलोहकारत्वादिभेदं कर्म्म पुनः । च शब्दः पुनः शब्दार्थः शिल्पमिति । आ० चू० । अनाचार्य्यकं कर्म साचार्य्यकं शिल्पम् यदि वा कादाचित्कं कर्मनित्यमभ्यस्यमानं शिल्पमिति कर्मशिल्पयोर्भेदः प्रथमं भगवता ऋषभस्वामिता सर्वाणि कृष्यादीनि कर्माणि देशितानि आ० म० द्वि० ।

(३) न्यायमतसिद्धे पदार्थभेदे, तच्च पञ्चविधम् ।

''एतो कम्मं तयं च पंचविहं उक्खेवणमक्खेवणपसारणा-कुंचणागमणं'' कर्म पञ्चविधं तद्यथा उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुञ्चनं प्रसारणं गमनमिति । आ० म० द्वि० । आ० चू० । सू० प्र० । विशे० । क्रियते कर्त्रा निर्वर्त्त्यते इति कर्म । क्रियायाम्, यथा कुम्भं प्रति कर्तुव्यापारः । विशे० । कर्तुरीप्सिततमं कर्म इति परिभाषिते कारकभेदे, विशे० । यथा कुम्भकारः कर्तुरीप्सिततमत्या क्रियमाणः कुम्भः कर्म० । अष्ट० ११ अष्ट० । ''कर्मनिर्वर्त्त्यो घट एव क्रियमाणक्रियया व्याप्यमान इति'' आ० चू० १ अ० । हस्तकर्मणि, सूत्र० १ श्रु० ९ अ० ।

(४) नामादितः कर्मनिक्षेपादि ।

नामं ठवणाकम्मं, दव्वकम्मं च भावकम्मं च ।
दव्वम्मि तिणदसिता, अधिकारो भावकम्मेणं ॥

नामकर्म स्थापनाकर्म द्रव्यकर्म भावकर्म चेति चतुर्द्धा कर्मणो निक्षेपः । अत्र नामस्थापने क्षुण्णे द्रव्यकर्मशरीरभव्य-शरीरव्यतिरिक्तं तु तृणं वा दशिकानां बन्धनं वा उपलक्षणमिदं तेन कुम्भकाररथकारादिगतमपि द्रव्यकर्म मन्तव्यम् । यद्वा व्यतिरिक्तं द्रव्यकर्म द्विधा कर्मद्रव्यं नोकर्मद्रव्यं वा कर्मद्रव्यं ज्ञानावरणादि कर्मपर्यायमापन्नाः कर्मवर्गणापुद्गलाः । यद्वा यज्ज्ञानावरणादिकं कर्मबद्धं न तावदुदयमागच्छति तत्कर्मद्रव्यं नोकर्मिद्रव्यमाकुञ्जनप्रसारणोत्क्षेपणावक्षेपणगमनभेदात्पञ्चधा । भावतो द्विधा । आगमतो नोआगमतश्च आगमतः कर्मपदार्थज्ञाने उपयुक्तं नोआगमतोऽष्टविधो ज्ञानावरणादिकर्मणामुदयः बृ० ४ उ० । ६३४ पत्र० । नि० चू० । आचाराङ्गनिर्युक्तौ तु ॥

नामट्ठवणाकम्मं, दव्वकम्मं पओगकम्मं च ।
समुयाणइरियावहियं, आहाकम्मं तवोकम्मं ॥९२॥
किइकम्मभावकम्मे, दसविहकम्मे समासओ होइ ।
अट्ठविहेण उ कम्मेण, इत्थं होइ अहिआरो ॥९३॥

नामकर्म्म कर्म्मार्थशून्यमभिधानमात्रं स्थापनाकर्म्म पुस्तकपत्रादौ कर्मवर्गणानां सद्भावासद्भावरूपा स्थापना । द्रव्यकर्मव्यतिरिक्तं द्विधा द्रव्यकर्म नोद्रव्यकर्म च । तत्र तत्र द्रव्यकर्म्मकर्म्मवर्गणान्तः पातिनः पुद्गलाः बन्धयोग्या बध्यमाना बद्धाश्चतुर्धा दीरणा इति । नोद्रव्यकर्म्म कृषिबलादिकर्म्म । अथ कर्म्मवर्गणान्तःपातिनः पुद्गला द्रव्यकर्म्मेत्यवाचिकाः पुनस्ता वर्गणा इति संकीर्तत्ते (आचा०) (प्रयोगकर्मरामुदानकर्मणोर्वर्गणा स्वस्वस्थाने द्रष्टव्या) तत्र प्रयोगकर्मणैकरूपयता गृहीतानां कर्मवर्गणानांसम्यग्मूलोत्तरप्रकृतिस्थित्यनुभावप्रदेशबन्धभेदेनामर्यादया देशसर्वोपघातिरूपया तथा स्पृष्टनिधत्तनिकाचितावस्थया च स्वीकरणं समुदायः तदेव कर्म समुदानकर्म तत्र मूलप्रकृतिबन्धो ज्ञानावरणीयादिरुत्तरप्रकृतिबन्धस्तूच्यते उत्तरप्रकृतिबन्धो ज्ञानावरणीयं पञ्चधा मतिश्रुताबधिमनः पर्यायकेवलावरणभेदात् आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० । (ईर्यापथिककर्म इरियावहिय

शब्दे) अधुना आधाकर्म्म यदाधाय निमित्तत्वेनाश्रित्य पूर्वोक्तमष्टप्रकारमपि कर्म्म बध्यते तथाऽऽधाकर्मेति । तच्च शब्दस्पर्शरसरूपगन्धादिकमिति तथा हि । शब्दादिकामगुणविषयाभिष्वङ्गवान् सुखलिप्सुर्मोहोपहतचेताः परमार्थासुखमयेष्वपि सुखाध्यारोपं विदधाति तदुक्तम् । ''दुःखात्मिकेषु विषयेषु सुखाभिमानः सौख्यात्मकेषु नियमादिषु दुःखबुद्धिः । उत्कीर्णवर्णपदपङ्क्तिरिवान्यरूपा, सारूप्यमेति विपरीतगतिप्रयोगात्'' एतदुक्तं भवति । कर्म्मनिमित्तभूता मनोज्ञेतरशब्दादय एवाधाकर्म्मेत्युच्यन्ते इति । तपःकर्म्म तस्यैवाष्टप्रकारस्य कर्म्मणो बद्धस्पृष्टनिधत्तनिकाचितावस्थस्यापि निर्जराहेतुभूतं बाह्याभ्यन्तरभेदेन द्वादशप्रकारं तपःकर्म्मोच्यते । कृतिकर्म्म तस्यैव कर्म्मणोपनयकारकमर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायविषये अवनामादिरूपमिति भावः कर्म्म पुनरबाधामुल्लङ्घ्य स्वादेयेनोदीरणाकरणेन चोदीर्णाः पुद्गलाः प्रदेशविपाकेभ्यो भवक्षेत्रपुद्गजीवेप्वनुभावं ददतो भावकर्म्मशब्देनोच्यन्ते इति । तदेवं नामादिनिक्षेपेण द्रव्याधाकर्मोक्तमिह तु समुदानकर्मोपात्तेनाष्टविधकर्मणाधिकार इति ॥ गाथासकलेन दर्शयति । ''अट्ठविहेण उ कम्मेण, एत्थ होई अहिगारेत्ति'' गाथार्द्धं कण्ठ्यमिति गाथाद्वयपरमार्थः । कर्मनिक्षेप उक्तः । आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

(५) अथ कर्मशब्दं व्युत्पादयन्नाह ।

कीरइ जिएण हेउहिं, जेण तो भंत ! भण्णइ कम्मंवि ॥

क्रियते विधीयते अञ्जनचूर्णपूर्णसमुद्गकवन्निरन्तरपुद्गलनिचिते लोके क्षीरनीरन्यायेन वह्न्यपः पिण्डबद्धा कर्मवर्गणा द्रव्यमात्मसंबद्धं येन कारणेन ततस्तस्मात्कारणात्कर्म भण्यते । इति संबन्धः । केन क्रियते इत्याह । जीवने जन्तुना तत्र जीवति इन्द्रियपञ्चकमनोवाक्कायबलत्रयोच्छ्वासनिःश्वासायुर्लक्षणान् दश प्राणान् यथायोगं धारयतीति जीवः । क इत्थंभूत इति चेत उच्यते । यो मिथ्यात्वादिकलुषितरूपतया सातादिवेदनीयादिकर्मणामभिनिर्वर्तकस्तत्फलस्य च विशिष्टसातादेरुपभोक्ता नरकादिभवेषु च यथा कर्मविपाकोदयं संसर्त्ता सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रसंपन्नरत्नत्रयाभ्यासप्रकर्षवशाच्च निःशेषकर्माशापगमतः परिनिर्वाता स जीवः सत्त्वः प्राणी आत्मेत्यादिपर्यायाः । उक्तं च ''यः कर्त्ता कर्मभेदानां, भोक्ता कर्मफलस्य च । संसर्त्ता परिनिर्वाता, स ह्यात्मानन्यलक्षण'' इति । कैः कृत्वा जीवेन क्रियते इत्याह । हेतुनिर्मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगलक्षणैश्चतुर्भिः सामान्यरूपैः । ''पडिणीयत्तणनिन्हवपओसउवघाय अंतराएण । अच्चासायणयाए, आवरणदुगं जीवो जणइ'' इत्यादिभिर्विशेषप्रकारैरिहैव वक्ष्यमाणैः । तदयमत्र तात्पर्यार्थः । क्रियते जीवेन हेतुभिर्येन कारणेन ततः कर्म भण्यत इति ॥ कर्म० । उत्त० । पुण्यपापात्मके कर्मणि, स० ।

(६) अथ कर्मसिद्धिं दर्शयति ।

कथमेतत्सिद्धिरिति चेत् इहात्मत्वेनाविशिष्टानामात्मनां यदिदं देवासुरमनुजतिर्यगादिरूपं क्ष्मापतिरङ्कमनीषिमन्दमहर्द्धिदरिद्रादिरूपं वा वैचित्र्यं तन्न निर्हेतुकमेष्टव्यं मा प्रापत्सदा भावाभावदोषप्रसङ्गः । ''नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा, हेतोरन्यानपेक्षणात्'' सहेतुकत्वाभ्युपगमे च यदेवास्य हेतुस्तदेवास्माकं कर्मेति मतमिति तत्सिद्धिः । यदवोचामः श्रीदिनकृत्यटीकायां जीवस्थापनाधिकारेऽमुमेवार्थम् ''क्ष्माभद्रङ्कयोर्मनीषिजड्ड्योः सद्रूपनाद्रूपयोः, श्रीमद्दुर्गतयोर्बलाबलवतोनीरोगरोगार्तयोः । सौभाग्यासुभगत्वसंगमजुषैस्तुल्येऽपि नृत्वेतरम् । यत्तत्कर्म निबन्धनं तदपि नो जीवं विना युक्तिमत् ।'' अन्यत्राप्युक्तम् । ''आत्मत्वेनावशिष्टस्य, वैचित्र्यं तस्य यद्वशात् । नरादिरूपं तच्चित्रमदृष्टं कर्मसंज्ञितम्'' पौराणिका अपि कर्मसिद्धिं प्रतिपद्यन्ते तथा च ते प्राहुः । ''यथा यथापूर्वकृतस्य कर्मणः, फलं निधानस्थमिवावतिष्ठते । तथा तथा तत्प्रतिपादनोद्यता, प्रदीपहस्तेव मतिः प्रवर्तते'' यत्तत्पुराकृतं कर्म, न स्मरन्तीह मानवाः । तदिदं पाण्डवज्येष्ठ ! दैवमित्यभिधीयते । मुदितान्यपि मित्राणि, सुकुद्धाश्चैव शत्रवः । न हीमे तत्करिष्यन्ति, यन्न पूर्वकृतं त्वया । बौद्धा अथाहुः ''इत एकं न वा कल्पे, शक्त्या मे पुरुषो हतः । तेन कर्मविपाकेन, पादे विद्धोऽस्मि भिक्षवः । तदपि च कर्मपुद्गलस्वरूपं प्रतिपत्तव्यं नामूर्तममूर्त्तत्वे हि कर्मणः सकाशादात्मनामनुग्रहोपघातासंभवात् आकाशादिवत् यदाह (कर्म०)''तुल्यप्रतापोद्यमसाहसानां, केचिल्लभन्तेनिज-कार्यसिद्धिम् । परे न तां मित्र ! निगद्यतां मे, कर्म्मास्ति हित्वा यदि कोऽपि हेतुः ॥१॥ विचित्रदेहाकृतवर्णगन्धप्रभावजातिप्रभवस्वभावाः । केन क्रियन्ते भवनेऽग्रिवर्गा–श्चिरन्तनं कर्म निरस्य चित्राः ॥२॥ विवध्य मासान्नवगर्भमध्ये, बहुप्रकारैः कललादिभावैः । उद्वर्त्य निष्काशयते सवित्र्याः, को गर्भतः कर्म विहाय पूर्वम्'' यो० विं० ।

(७) अकर्मवादिमतनिराकरणम् ।

पौद्गलिकादृष्टवानिति नास्तिकादिमतमत्यसितुम् । तथाहि नास्तिकस्तावन्नादृष्टमिष्टवान् स प्रष्टव्यः किमाश्रयः परलोकिनोऽभावादप्रत्यक्षत्वाद्विचाराक्षमत्वात्साधकाभावाद्वा दृष्टाभावो भवेत् । न तावत्प्रथमः पक्षः परलोकिनः प्राक्प्रसाधितत्वात् । नाप्यप्रत्यक्षत्वाद्यतस्तत्तवाप्रत्यक्षं सर्वप्रमातृणां वा प्रथमपक्षे त्वत्पितामहादेरप्यभावो भवेच्चिरातीतत्वेन तस्य तवाप्रत्यक्षत्वात् तदभावे भवतोऽप्यभावो भवेदित्यहो नवीना वाद वैदग्धी । द्वितीयकल्पोऽप्यल्पीयान् सर्वप्रमातृप्रत्यक्षमदृष्टनिह्नुक्त निष्णातं भवतीति वादिना प्रत्येतुमशक्तेः प्रतिवादिना तु तदाकलनकुशलः केवली कक्षीकृत एव विचाराक्षमत्वमप्यक्षमं कर्कशतर्कैस्तर्क्यमाणस्य तस्य घटनात् । ननु कथं घटते तथा हि तदनिमित्तं सनिमित्तं वा भवेत् । न तावदनिमित्तं सदा सत्वासत्वयोः प्रसङ्गात् । ''नित्यं सत्वमसत्वं वा, हेतोरन्यानपेक्षणात्'' यदि पुनः सनिमित्तं तदापि निमित्तमदृष्टान्तरमेव रागद्वेषादिकषायकालुष्यं हिंसादिक्रिया वा प्रथमे पक्षेऽनवस्था व्यवस्था । द्वितीये तु न कदापि कस्यापि कर्माभावो भवेत् । तद्धेतो रागद्वेषकषायकालुष्यस्य सर्वसंसारिणां भावात् । तृतीयपक्षोऽप्यसूपपादः पापपुण्यहेतुत्वसम्मतयो हिंसार्हत्पूजादिक्रिययोर्व्यभिचारदर्शनात् । कृपणपशुपरंपराप्राणप्रहारकारिणां कपटघटनापटीयसां पितृमातृमित्रपुत्रादिद्रोहिणामपि केषांचिच्चपलचारुचामरश्वेतातपत्रपार्थिश्रीदर्शनात् । जिनपतिपदपङ्कजपूजापरायणानां निखिलप्राणिपरंपरापारकरुणाकूपाराणामपि केषांचिदनेकोपद्रवदारिद्र्यमुद्राक्रान्तत्वावलोकनादिति । अत्र ब्रूमः पक्षत्रयमप्येतत्कक्षीक्रियत एव प्राच्यादृष्टान्तरवशयोगो हि प्राणी रागद्वेषादिना प्राणव्यपरोपणादिकुर्वाणः कर्म्मणा बाध्यते । न च प्रथमपक्षेऽनवस्थादौस्थ्यमूलक्षयकरत्वाभावात् । बीजाङ्कुरादिसन्तानवत् सन्तानस्यानादित्वेनेष्टत्वात् । द्वितीयेऽपि यदि कस्यापि कर्माभावो न भवेन्मा भूत् सिद्धं तावद्दृष्टं मुक्तिवादे तदभावोऽपि प्रसाधयिष्यते । तृतीये तु या हिंसावतोऽपि समृद्धिरर्हत्पूजावतोऽपि दारिद्र्याप्तिः सा क्रमेण प्रागुपात्तस्य पापानुबन्धिनः पुण्यस्य पुण्यानुबन्धिनः पापस्य च फलम् ।

तत् क्रियोपात्तं तु कर्म जन्मा तरे फलिष्यतीति नात्रनियतकार्यकारणभावव्यभिचारः। साधकाभावादपि नादृष्टाभावः। प्राक् प्रसाधितप्रामाण्ययोरागमानुमानयोस्तत्प्रसाधकयोर्भावात्। तथा च शुभः पुण्यस्य अशुभः पापस्येत्यागमः। अनुमानं तु साधनानां कार्यविशेषः। सदेतुकः कार्यत्वात् कुम्भवत्'' दृष्टश्च साध्वीसुतयःर्षमयोस्तुल्यजन्मनोः। विशेषो वीर्यविज्ञानवैराग्यारोग्यसंपदाम्'' न चायं विशेषो विशिष्टमदृष्टकारणमन्तरेण यदूचुर्जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणमिश्राः'' जो तुल्लसाहणाणं, फले विसेसो न सो विणा हेतुं। कज्जत्तणओ गोयम ! घडोव्व हेऊ य से कम्मं'' अथ यथैकप्रदेशसंभवानामपि बदरीकण्टकानां कौटिल्यार्जवादिविशेषो यथा चैकसरसीसंभूतानामपि पङ्कजानां नीलधवलपाटलपीतशतपत्रसहस्रपत्रादिर्भेदस्तथा शरीरिणामपि स्वभावादेवायं विशेषो भविष्यति तदप्रशस्यं कण्टकपङ्कजादीनामपि प्राणित्वेन परेषां प्रसिद्धेस्तद्दृष्टान्तावष्टम्भस्य दुष्टत्वादाहारक्षतारोहदोहदादिना वनस्पतीनामपि प्राणित्वेन तैः प्रसाधनात्। अथ गगनपरिसरे मकरकरितुरगतरङ्गकुरङ्गभृगाराङ्गाराद्याकारननेकप्रकारान् बिभ्रत्यभ्राणि न च तान्यपि चेतनानि वः समन्तानि तद्वत्तनुभाजोऽपि राजरङ्गादयः सन्त्विति चेत्तदसत् तेषामपि जगददृष्टवशादेव देवपदवी परिसरे विचरतां विचित्राकारस्वीकारात् कश्चायं स्वभावो यद्वशाज्जगद्वैचित्र्यमुच्यते। किं निर्हेतुकत्वं स्वात्महेतुकत्वं वस्तुधर्मो वस्तुविशेषो वा आद्यपक्षे सदा सत्वस्यासत्वस्य वा प्रसङ्गः द्वितीये आत्माश्रयत्वं दोषः। अविद्यमानो हि भावात्मा कथं हेतुः स्यात् विद्यमानोऽपि विद्यमानत्वादेव कथं स्वोत्पाद्यः स्यात्। वस्तुधर्मोऽपि दृश्यः कश्चिददृश्यो वा दृश्यस्तावदनुपलम्भवा धितः। अदृश्यस्तु कथं सत्वेन वक्तुं शक्यः अनुमानात् तु तन्निर्णये अदृष्टानुमानमेव श्रेयः वस्तुविशेषश्चेत् स्वभावो भूतातिरिक्तो भूतस्वरूपो वा प्रथमे मूर्तोऽमूर्तो वा मूर्तोऽपि दृश्योऽदृश्यो वा दृश्यस्तावत् दृश्यानुपलम्भबाधितः अदृश्यस्त्वदृष्टमेव स्वभावभाषया बभाषे। अमूर्तः पुनः परः परलोकिनः को नामास्तु न चादृष्टविघटितस्य तस्य परलोकस्वीकार ईत्यतोऽप्यदृष्टं स्पष्टं निष्टङ्क्यते। भूतस्वरूपस्तु स्वभावो नरेन्द्रदरिद्रतादिवैसदृश्यभाजोर्यमलजातयोरुत्पादकस्तुल्य एव विलोक्यते इति कौतस्कुतस्तयोर्विशेषः स्यात् तद्दर्शनात्तत्रादृष्टभूतविशेषानुमानेन नामान्तरतिरोहितमदृष्टमेवानुमितिसिद्धमिष्टं मितोऽपि बालशरीरं शरीरान्तरपूर्वकमिन्द्रियादिमत्वात्तरुणशरीरवत्। न च प्राचीनभवातीततनुपूर्वकमेवेदं तस्य तद्भवावसान एव पटुपवनप्रेरितातितीव्रचिताज्वलनज्वालाकलापप्लुष्टतया भस्मसाद्भावाद पान्तरालगतावभावेन तत्पूर्वकत्वानुपपत्तेः न चाशरीरिणो नियतगर्भदेशस्थानप्राप्तिपूर्वकः शरीरग्रहो युज्यते निमामककारणाभावात् स्वभावस्य तु नियमाकत्वं प्रागेव व्यपास्तं ततो यच्छरीरपूर्वकं बालशरीरं तत्कर्ममयमिति पौद्गलिकं चेदमदृष्टमेष्टव्यमात्मनः पारतन्त्र्यनिमित्तत्वान्निगडादिवत् क्रोधादिना व्यभिचार इति चेन्न तस्यात्मपरिणामरूपस्य पारतन्त्र्यस्वभावत्वात्तन्निमित्तभूतस्य तु कर्मणां पौद्गलिकत्वात् एवं सीधूस्वादनोद्भवचित्तवैकल्यमपि पारतन्त्र्यमेव तद्धेतुस्तु सीधुपौद्गलिकमेवेति नैतेनापि व्यभिचारः ततो यद्योगैरात्मविशेषगुणलक्षणं, कापिलैः प्रकृतिविकारूपं, सौगतैर्वासनास्वभावं, ब्रह्मवादिभिरविद्यास्वरूपं, चादृष्टमवादि। तदपास्तं विशेषतः पुनरमीषां निषेधो विस्तराय स्यादिति न कृतः रत्ना०७ परि०।

एतत्सर्वं विस्तरेण भगवता श्रीवीरेणाग्निभूतिं द्वितीयं गणधरं प्रति साधितम् तस्मिन् भगवानाह॥

किं मन्ने अत्थि कम्मं, उ याहु नत्थित्ति संसओ तुब्भं।
वेयपयाण य अत्थं, न याणसी तेसिमो अत्थो॥

हे अग्निभूते ! गौतम ! त्वमेतन्मन्यसे चिन्तयसि यदुत क्रियते मिथ्यात्वादिहेतुसमन्वितेन जीवेनेति कर्म्म ज्ञानावरणादिकं तत्किमस्ति वेति न त्वयमनुचितस्तव संशयः अयं हि भवति विरुद्धवेदपद निबन्धनो वर्तते तेषां च वेदपदानां त्वमर्थं न जानासि तेन संशयं करोषि तेषां चु वेदपदानामयं वक्ष्यमाण-लक्षणोऽर्थ इति अत्र भाष्यम्।

कम्मे तुह संदेहो, मन्नसि तं नाणगोयराईयं।
तुह तमणुमाणसाहण–मणुभूइमयं फलं जस्स॥

हे आयुष्मन्नग्निभूते ! ज्ञानावरणादिपरमाणुसंघातरूपे कर्म्मणि तव संदेहो यतः प्रत्यक्षानुमानादिसमस्तप्रमाणात्मकज्ञानगोचरातीतमेतत्त्वं मन्यसे तथाहि न तावत्प्रत्यक्षं कर्म्म अतीन्द्रियत्वात् खरविषाणवदित्यादिप्रमाणविषयातीतत्वं प्राग्वज्जीवस्येव कर्म्मणोऽपि समानप्रायत्वात् भावनीयमिति तदैतत्सौम्य ! मा मंस्थास्त्वं यतो मम तावत्प्रत्यक्षमेव कर्म्म तवाप्यनुमानं साधनं यस्य तदनुमानसाधनं वर्त्तते तत्कर्म्म न पुनः सर्वप्रमाणगोचरातीतं यस्य किमित्याह। (अणुभूइमयं फलं जस्सति) सुखदुःखानामनुभूतिरनुभवनं तन्मयं तदात्मकं फलं यस्य शुभाशुभकर्म्मण इति अनेन वेदमनुमानं सूचितमस्ति। सुखदुःखानुभवस्य हेतुः कार्यत्वादङ्कुर स्येवेति। अथ यदि भवतः प्रत्यक्षं कर्म्म तर्हि ममापि तत्प्रत्यक्षं कस्मान्न भवतीति चेत्तदयुक्तं न हि यदेकस्य कस्यचित्प्रत्यक्षं तेनापरस्यापि प्रत्यक्षेण भवितव्यं न हि सिंहसरभहंसादयः सर्वस्यापि लोकस्य प्रत्यक्षा न च ते न सन्ति बालादीनामपि तत्सर्वस्य प्रसिद्धत्वात्तस्मादस्ति कर्म्म सर्वज्ञत्वेन मया प्रत्यक्षीकृतत्वाद्भवत्संशयविज्ञानवदिति न च वक्तव्यं त्वयि सर्वज्ञत्वमस्मान् प्रत्यसिद्धम्। ''कह सब्ब-ण्णुत्तिमइ, जेणाहं सव्वसंसयच्छेदी। पुच्छसु व जं न जाणसी'' त्यादिना प्रागेण प्रतिविहितत्वात्कार्यप्रत्यक्षतया भवतोऽपि च प्रत्यक्षमेव कर्म्म। तथा घटादिकार्यप्रत्यक्षतया परमाणव इति यदुक्तम्। ''तुहतमणुमाणसाहण'' मिति तदेवानुमानमाह।

अत्थि सुहदुक्खहेऊ, कज्जाओ बीयमंकुरस्सेव।
सो दिट्ठो चेव मई, वतिचारओ न तं जुत्तं॥
जो तुल्लसाहणाणं, फले विसेसो न सो विणा हेउं।
कज्जत्तणओ गोयम ! घडोव्व हेऊ य सो कम्मं॥

प्रतिप्राणिप्रसिद्धयोः सुखदुःखयोर्हेतुरस्ति कार्यत्वादङ्कुरस्येव बीजमिति। यश्चेह सुखदुःखयोर्हेतुस्तत्कर्मैवेत्यस्ति तदिति स्यान्मतिः स्रक्चन्दनाङ्गनादयः सुखस्य हेतवो दुःखस्य त्वहिविषकण्टकादय इति दृष्ट एव सुखदुःखयोर्हेतुरस्ति किमदृष्टस्य कर्म्मणस्तद्धेतुत्वकल्पनेन। न हि दृष्टपरिहारेणादृष्टकल्पना सङ्गत्वमावहत्यतिप्रसङ्गात्तदयुक्तं व्यतिचारात्तथा हि (जो तुल्लेत्यादि) इह यस्तुल्यसाधनयोरिष्टशब्दादिविषयसुखसाधनसमेषयोरनिष्टार्थसाधनसंप्रयुक्तयोश्च द्वयोर्बहूनां वा फले सुखदुःखानुभवनलक्षणपविशेषस्तारतम्यरूपो दृश्यते। नासौ अदृष्टमपि हेतुमन्यरेणोपपद्यते कार्यत्वाद्घटवद् यश्च तत्र विशेषाधायको दृष्टहेतुस्तद्गौतम ! कर्म्मेति प्रतिपद्यस्वेति।

अनुमानान्तरमपि कर्मसाधनायाह।

बालसरीरं देहं–तरपुव्वं इंदियाइमत्ता उ।
जह बालदेहपुव्वो, जुबदेहो पुव्वमिह कम्मं॥

शरीरान्तरपूर्वकमाद्यं बालशरीरमिन्द्रियादिमत्वात् युवशरीरवदिति आदिशब्दात्सुखदुःखित्वप्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनादिमत्वादयोऽपि हेतवो ग्राह्याः। न च जन्मान्तरातीतशरीरपूर्वकमेवेति शक्यते वक्तुं तस्याप्यनन्तरालगतावसत्वेन तत्पूर्वकत्वानुपपत्तेः। नचाशरीरिणो नियतगर्भदेशस्थानप्राप्तिपूर्वकः शरीरग्राहो युज्यते नियामककारणाभावात्। नापि स्वभावो नियामकस्तस्य तिरस्करिष्यमाणत्वात्। यच्चेह बालशरीरस्य पूर्वं शरीरान्तरं तत्कर्मेति मन्तव्यं कार्म्मणं शरीरमित्यर्थः ''जोएणकम्मएणं, आहारेई अणंतरं जोई'' इत्यादि वचनादिति। अनुमानान्तरमपि तत्सिद्धये प्राह॥

किरियाफलभावा उ, दाणाईणं फलं किसीएव्व।
तं चिय दाणाइफलं, मणप्पसायाइ जइ बुद्धी॥
किरियासामण्णा उ, जं फलमस्सावि तं मयं कम्मं।
तस्स परिणामरूवं, सुहदुक्खफलं जओ भुज्जो॥

(दाणाईणं फलत्ति) इह दानादिक्रियाणां फलमस्ति (किरियाफलभावा उत्ति) सचेतनारब्धक्रियाणां फलभावात्फलसद्भावदर्शनादित्यर्थः। यथा कृषिक्रियायाः। इह या चेतनारब्धक्रिया तस्याः फलं दृष्टं यथा कृष्यादिक्रियायाः चेतनारब्धाश्चदानादिक्रियास्तस्मात्फलवत्यः यच्च तासां फलं तत्कर्म्म। या तु निष्फला क्रिया सा सचेतनारब्धाऽपि न भवति यथा परमाण्वादिक्रियाः सचेतनारब्धाश्च दानादिक्रियास्तस्मात्फलवत्यः। स्यादेतदनैकान्तिकोऽयं हेतुश्चेतनारब्धानामपि कासांचित्कृष्यादिक्रियाणां निष्फलत्वदर्शनात्तदयुक्तं फलत्वाभिप्रायेणैव तदारम्भात्। यच्च क्वचिन्निष्फलत्वमपि दृश्यते तत्सम्यग्ज्ञानाद्यभावेन सामग्रीवैकल्याद् द्रष्टव्य मनःशुद्ध्यादिसामग्रीविकलतया दानादिक्रिया अपि निष्फला इष्यन्त एवेत्यदोषः। यदि चात्र परस्यैवंभूता बुद्धिः स्यात्कथंभूता इत्याह (तं चियेत्यादि) तदेव दानादिक्रियाणां फलं यदस्मादृशामपि प्रत्यक्षं मनःप्रसादादि इदमुक्तं भवति कृष्यादिक्रियाः दृष्टधान्याद्यवाप्तिफला दृष्टाः अतो दानादिक्रियाणामपि दृष्टमेव मनःप्रासादादिकं फलं भविष्यति। किमदृष्टकल्पनलक्षणसाधनेन तत इष्टविरुद्धसाधनाद्विरुद्धोऽयं हेतुः तर्ह्यत्र वयं ब्रूमः ''किरियासामण्णाउ इत्यादि'' अस्यापि मनः प्रसादस्ययत्फलं तन्मम कर्म्म सम्मतम्। ननु मनःप्रसादस्यापि कथं फलमभिधीयत इत्याह (किरियासामण्णाउ त्ति) इद मुक्तं भवति मनःप्रसादोऽपि क्रियासाम्यान्मनःप्रसादस्यापि फलेन भवितव्यमेव यच्च तस्य फलं तन्कर्मैवेति न कश्चिद्व्यभिचारः। यतः कर्म्म स कस्मात्किमित्याह। सुखदुःखफलं (जओत्ति) सुखदुःखरूपं फलं सुखदुःखफलं यतो यतो यस्मात् यस्मात्कर्म्मणः सकाशाज्जायते। कथं भूयः पुनरपि कथंभूतं यत्सुखदुःखफलमित्याह। तस्यैव कर्म्मणस्तज्ञानकत्वेन यत्परिणमनं परिणास्तद्रूपमिति। एतदुक्तं भवति यतः कर्म्मणः सकाशात्प्रतिक्षणं तत्परिणति रूपं सुखदुःखफलं प्राणिनां समुपजायते तत्कर्म मनःप्रसादक्रियाया अपि फलमभिमतम्। आह नन्वनन्तरगाथायां दानादिक्रियाफलं कर्म्मेति वदता दानादिक्रियैव कर्म्मणः कारणमुक्तम्। अत्र तु मनःप्रसादाक्रिया तत्कारणमुच्यत इति कथं न पूर्वापरविरोध इति। सत्यं किं तु मनःप्रसादादिक्रियेवानन्तर्येण कर्म्मणः कारणं केवलं तस्या अपि मनः प्रसादादिक्रियाया दानादिक्रियैव कारणमतः कारणकारणे कारणोपचाराददोष इति।

अत्र पुनरपि प्रेर्यमाशङ्क्य परिहारमाह।

होज्ज माणो वितीए, दाणाइ किए व जइ फलं बुद्धी।
तं न निमित्तत्ता उ, पिंडोव्व घडस्स विण्णेओ॥

अत्र परस्य यद्येवंभूता बुद्धिः स्यात्कथंभूता इत्याह। ननु मनोवृत्तिर्मनःप्रसत्यादि क्रियाया दृष्टरूपा दानादिक्रियैव फलं नत्वऽदृष्टं कर्म्मेति भावः। अयमभिप्रायः दानादिक्रियातो मनः प्रसादादयो जायन्ते तेभ्यश्च प्रवर्द्धमानो दृश्यादिपरिणामः पुनरपि दानादिक्रियां करोति एवं पुनः पुनरपि दानक्रियाप्रवृत्तेः सैव मनःप्रसादादेः फलमस्तु तत्तु कर्म्मेति भावः। दृष्टफलमात्रेणैव चरितार्थत्वात्किमदृष्टफलकल्पनेनेति हृदयम्। तदेतन्न कुतो निमित्तत्वान्मनः प्रसादादिक्रियां प्रति दानादिक्रियाया निमित्तकारणत्वादित्यर्थः। यथा मृत्पिण्डो घटस्य निमित्तं तत्तस्यैव फलं वक्तुमुचितं दूरविरुद्धत्वादिति पुनरपि दृष्टान्तीकृतकृष्यादिक्रियायावष्टम्भेनैव सर्वासामपि क्रियाणां दृष्टफलमात्ररूपतामेव साधयन्नाह प्रेरकः।

एवं पि दिट्ठफलया, किरिया न कम्मफला पसत्ता ता।
सा तं मेत्तफले चिय, जह मंसफलो पसुविणासो॥

नन्वेवमपि युष्मदुपन्यस्तकृष्यादिक्रियानिदर्शनेनापीति सर्वा दानादिकाऽपि क्रिया दृष्टफलदैव प्रशस्ता न कर्म्मफला इदमुक्तं भवति। यथा कृष्यादिक्रिया दृष्टमात्रेणैवावसितप्रयोजना भवति तथा दानादिक्रिया अपि श्लाघादिकं किंचिद्दृष्टमात्रेणैवावसिप्रयोजना भवति तथाफलमस्तु किमदृष्टफलकल्पनेन। किं बहुना सा क्रिया सर्वाऽपि तन्मात्रफलैव दृष्टमात्रफलैव युज्यते नादृष्टफला यथा दृष्टमांसमात्रफला पशुविनाशक्रिया न हि पशुविनाशनक्रियामदृष्टाधर्म्मफलार्थकोऽप्यारभते। किंतु मांसभक्षणार्थमतस्तन्मात्रफलैव सा तावतैवावसित प्रयोजनत्वादेवं दानादिक्रियाया अपि दृष्टमात्रमेव श्लाघादिकं किंचित्फलं नान्यदिति।

अस्यैवार्थसमर्थनार्थं कारणान्तरमाह।

पायं च जीवलोगो, वट्टइ दिट्ठफलासु वि किरियासु।
आदिट्ठफला संपुण्णा, वट्टनासंखभागे पि॥

लोकोऽपि च प्रायेण दृष्टमात्रफलास्वेव कृषिवाणिज्यादिक्रियासु प्रवर्त्तते अदृष्टफलासु पुनर्दानादिक्रियासु तदसंख्येयभागोऽपि न वर्त्तते कतिपयमात्र एव लोकस्तासु प्रवर्त्तते न बहुरित्यर्थः। ततश्च हिंसादीनामशुभक्रियाणामदृष्टफलाभावाच्छुभक्रियाणामपि दानादीनामदृष्टफलाभावो भविष्यति इति पराभिप्रायः। इति भगवानाह।

सोम्म! जओ चिय जीवा, ण य दिट्ठफलासु प्पवट्टंति।
अदिट्ठफलासु य तम्हा, दिट्ठफलाओ त्ति पडिवज्जा॥

हे सौम्य! यत एव जीवा न दृष्टफलास्वशुभक्रियासु प्रवर्त्तन्ते अदृष्टफलासु पुनर्दानादिकासु शुभक्रियासु स्वल्पा एव प्रवर्त्तन्ते तेनैव तस्मादेव कारणात्ता अपि कृषिहिंसादिका दृष्टफलाक्रियाः अदृष्टफला अपि प्रतिपद्यस्वाभ्युपगच्छ। इदमुक्तं भवति। यद्यपि कृषिहिंसादिक्रियाकर्त्तारो दृष्टफलमात्रार्थमेव ताः समारभन्ते नाधर्म्मार्थं तथापि ते अधर्म्मलक्षणं पापरूपमदृष्टफलमश्नुवत एव अनन्तसंसारिजीवान्यथानुपपत्तेस्ते हि कृषिहिंसादिक्रियानिमित्तमनभिलषितमप्यदृष्टं पापलक्षणं फलं बद्ध्वा अनन्तसं-

सारं परिभ्रमन्तोऽनन्ता इह तिष्ठन्ति दानादिक्रियानुष्ठातारस्तु स्वल्पाः अदृष्टं धर्मरूपं फलमासाद्य क्रमेण मुच्यन्त इति । ननु दानादिक्रियानुष्ठातृभिर्यददृष्टं धर्म्मलक्षणं फलमाशंसितं तत्तेषां भवतु यैस्तु कृषिहिंसादिक्रियाकर्तृभिरदृष्टमधर्म्मरूपं फलं नांशसितं तत्तेषां कथं भवतीति चैतदयुक्तं न ह्यविकलं कारणं स्वकार्यं जनयत्येव । वसुरज्ञातमपि हि कोद्रवादिबीजं क्वचिद्भूप्रदेशे पतितं जलादिसामग्रीसद्भावेऽविकलकारणतां प्राप्तं च आशंसाभावेऽपि स्वकार्यं जनयत्येव । अविकलकारणभूताश्च कृषिहिंसादयोऽधर्म्मजननेऽतस्तत्कर्तृगताशंसा तत्र क्वोपयुज्यते नच दानादिक्रियायामपि विवेकिनः फलाशंसां प्रकुर्वते तथाप्यविकलकारणतया विशिष्टतरमेव ता धर्मफलं जनयन्ति तस्माच्छुभाया अशुभायाश्च सर्वस्या अपि क्रियाया अदृष्टं शुभाशुभं फलमस्त्येवेति प्रतिपत्तव्यम् । अनन्तसंसारिजीवसत्तान्यथानुपपत्तेरिति स्थितम् ।

एतदेव प्रतिपादयितुमाह ।

इयरहा अदिट्ठरहि–या सव्वे मुच्चेज्ज अयत्तेण ।
अदिट्ठारंभो चेव, किलेसबहुलो भवेज्जाहि ॥

इतरथा यदि कृषिहिंसाद्यशुभक्रियाणामदृष्टं फलं नाभ्युपगम्यते तदा तत्कर्त्तारो दृष्टफलाभावान्मरणानन्तरमेव सर्वेऽप्ययत्नेन मुच्येरन् संसारकारणाभावान्मुक्तिं गच्छेयुस्ततश्च प्रायः शून्य एव संसारः स्यादित्यर्थः । यश्चादृष्टारम्भोऽदृष्टफलानां दानादिक्रियाणां समारम्भः स एव क्लेशबहुलः संसारं प्रति भ्रमणकारणतया दुरन्तः स्यात् । तथाहि ते दानादिक्रियानुष्ठातारस्तदनुष्ठानेनादृष्टफलानुबन्धि विदध्युस्ततो जन्मान्तरे तद्विपाकमनुभवन्तस्ते प्रेरिताः पुनरपि दानादिक्रियात्वेव प्रवर्तेरंस्ततो भूयस्तत्फलसंचयात्तद्विपाकानुभूतिः पुनरपि दानादिक्रियारम्भ इत्येवमनन्तसन्ततिमयः संसारस्तेषां भवेत्तत्रैतत्स्यादित्थमप्यस्तु कात्र किलास्माकं बाधा अत्रोच्यते । इयमत्र गरीयसी भवतां बाधा यत्कृषिहिंसाद्यशुभक्रियानुष्ठातृणामदृष्टसंचयाभावे सर्वेषां मुक्तिगमने एकोऽपि तत्क्रियानुष्ठाता संसारे क्वापि नोपलभ्येत अशुभतत्फलविपाकानुभविता चैकोऽपि क्वचिदपि न दृश्येत दानादिशुभक्रियानुष्ठातारः शुभतत्फलविपाकानुभविस्तार एव च केवलाः सर्वत्रोपलभ्येरन् । न चैवं दृश्यते तस्मात्किमित्याह ।

जमणिट्ठभोगभाजो, बहुतरगा जं च नेह मइपुव्वं ।
अदिट्ठाणिट्ठफलं, कोइ वि किरियं समारभइ ॥
तेण पडिवज्जकिरिया, अदिट्ठगंतियफला सव्वा ।
दिट्ठाणेगंतफला, सा वि अदिट्ठाणुभावे य ॥

यस्मादनिष्टभोगभाजो बहुतरा भूयांसः अशुभकर्म्मविपाक-जनिताः दुखभाज एव प्राणिनः प्रचुरा इहोपलभ्यन्ते शुभकर्म्मविपाकनिबन्धनसुखानुभवितारस्तु स्वल्पा एवेति भावः । तेन तस्माद्कारणात्सौम्य ! प्रतिपद्यस्व शुभा अशुभा वा सर्वा अपि क्रिया अदृष्टं शुभाशुभं कर्म्मरूपमेकान्तिकं फलं यस्याः साऽदृष्टैकान्तिकफलेत्युत्तरगाथायां संबन्धः । इदमुक्तं येन दुःखिनोऽत्र बहवः प्राणिनो दृश्यन्ते सुखिनस्तु स्वल्पास्तेन ज्ञायते कृषिवाणिज्यहिंसादिक्रिया निबन्धना शुभकर्म्मरूपा दृष्टफल-विपाको दुःखिनामितरेषां तु दानादिक्रिया हेतुकशुभकर्म्मरूपादृष्टफलविपाक इति व्यत्ययः कस्मान्न भवतीति चेदुच्यते । अशुभक्रियारम्भिणामेव बहुत्वाच्छुभक्रियानुष्ठातृणामेव च स्वल्पत्वादिति तत्राह । नन्वशुभक्रियारम्भकाणामपि यद्यदृष्टफलं भवति तत्किमिति दानादिक्रियारम्भक इव तदारम्भकोऽपि कश्चित्तदाशंसां कुर्वाणो न दृश्यत इत्याह (जं च नेहेत्यादि) यस्मान्नेहादृष्टमनिष्टमशुभं फलं यस्याः सा अदृष्टानिष्टफला तामित्थंभूतां क्रियां मतिपूर्वामाशंसाबुद्धिपूर्विकां कोऽपि समारभत इत्यतो न कोऽपि तदाशंसां कुर्वाणो दृश्यते तस्मात्सर्वाऽपि क्रिया दृष्टैकान्तिकफलेति प्रतिपद्यस्वेति पुनरपि कथंभूता इत्याह । (दिट्ठाणमेगंतफलत्ति) दृष्टं धान्यद्रविणलाभादिकमनैकान्तिकमनवश्यंभावि फलं यस्याः कृषिवाणिज्यादिक्रियायाः सा दृष्टानैकान्तिकफला सर्वाऽपि क्रिया । इदमुक्तं भवति । सर्वस्या अपि क्रियाया अदृष्टफलं तावदेकान्तेनैव भवति यत्तु दृष्टफलं तदनैकान्तिकमेव कस्याश्चित्तद्भवति कस्याश्चिन्नेत्यर्थः । एतच्च दृष्टफलस्यानैकान्तिकत्वमदृष्टानुभावेनैवेति प्रतिपत्तव्यम् । नहि समानसाधनारब्धतुल्यक्रियाणां द्वयोर्बहूनां वा एकस्य दृष्टफलविघातोऽन्यस्य तु नेत्येतददृष्टहेतुमन्तरेणोपपद्यत इति भावः । एतच्चैव प्रागुक्तमेवेति । अथवा किमिह प्रयासेन प्रागेव साधितमेव कर्म्म कया युक्त्येत्याह ''अहवा फला उ कम्मं, कज्जत्तणओ पसाहियं पुव्वं । परमाणओ घडस्स व, किरियाणं फलं तयं भिन्नं'' अथवा ''जो तुल्लसाहणाणं, फले विसेसो न सो विणा हेउं । कज्जत्तणओ गोयम, ! घडो व्व हेऊ य सो कम्म'' मित्यस्यां गाथायां प्रागस्माभिः कर्म्म प्रसाधितमेव कुत इत्याह । फलात्तुल्यसाधनानां यः फले विशेषस्तस्मादित्यर्थ । ततोऽपि फलविषेशात्कर्म्म (किरियाणतयं फलं भिन्नत्ति) तदेव च कर्म्म सर्वासामपि क्रियाणामदृष्टं फलमित्येवमिहापि साध्यते । कथंभूतं ताभ्यः क्रियाभ्यो भिन्नं कर्म्मणः कार्यत्वात् क्रियाणां च कारण-त्वात्कार्यकारणयोश्च परस्परं भेदादिति भावः विशे० आ० म० द्वि० ।

(८) कर्मणो मूर्त्तत्वं तत्र तावदाक्षेपपरिहारौ प्राह ।

आह नणु मुत्तमेव, मुत्तं चिय कज्जमुत्तिमत्ताओ ।
इह जह मुत्तत्तणओ, घडस्स परमाणवो मुत्ता ॥

आह प्रेरको ननु यदि कार्याणां शरीरादीनां दर्शनात्तत्कारणभूतं कर्म्म साध्यते तर्हि कार्याणां मूर्त्तत्वात्कर्मापि मूर्त्तं प्राप्नोति । आचार्य उत्तमाह ''मुत्तं चिएत्यादि'' यदस्माभिः यत्नेन साधयितव्यं तद्भवतापि परसिद्धान्तानभिज्ञबालबुद्धितयानिष्टाऽऽपादनाभिप्रायेण साधितमेव । तथा हि वयमपि ब्रूमो मूर्त्तमेव कर्म्म तत्कार्यस्य शरीरादेर्मूर्त्तत्वादिह यद्यत्कार्यं मूर्त्तं तस्य तस्य कारणमपि मूर्त्तं यथा घटस्य परमाणवः । *यदमूर्त्तं कार्यं न तस्य कारणं मूर्त्तं यथा ज्ञानस्यात्मेति समवायिकारणं* चेहाधिक्रियते न निमित्तकारणभूता रूपालोकादय इति आह । ननु सुखदुःखादयोऽपि कर्मणः कार्यमतस्तेषाममूर्त्तत्वात् कर्म्मणो मूर्त्तत्वमपि प्राप्नोति न हि मूर्त्तादमूर्त्तप्रसवो युज्यते न वा एकस्यमूर्त्तत्वममूर्त्तत्वं युक्तं विरुद्धत्वादत्रोच्यते । नन्वत एवात्र सामवायिककारणं समधिक्रियते न निमित्तकारणं सुखादीनां चात्मधर्मत्वादात्मैव समवायिकारणं कर्म पुनस्तेषामन्नपानादिविषादिवन्न निमित्तकारणमेवेत्यदोष इति ।

कर्म्मणो मूर्त्तत्वसाधनाय हेत्वन्तराण्याह–

तह सुहसंवित्तीओ, संबंधे वेयणुब्भवाओ य ।
वज्झबलाहाणाओ, परिणामाओ य विण्णेयं ॥

आहारइ वानलहिव, घडो व्व नेहाइकयबलाहाणो।
खीरमिवोदाहरणा, इं कम्मरूवित्तगमणाइं ॥

इह प्रथमगाथोपन्यस्तहेतुचतुष्टयस्य द्वितीयगाथायां यथासंख्यं चत्वारो दृष्टान्ता दृष्टव्यास्तत्र मूर्त्तं कर्म्म तत्संबन्धे सुखादिसंवित्तेरिह यत्संबन्धे सुखादि संवेद्यते तन्मूर्त्तं दृष्टं यथा अशनाद्याहारः। यद्यामूर्त्तं न तत्संबन्धिसुखादि संविदस्ति यथाकाशादिसंबन्धि तस्मात्तत्संबन्धि-सुखादिसंवेदनान्मूर्त्तं कर्म्मेति ॥१॥ यथा यत्संबन्धे वेदनोद्भवो भवति तन्मूर्त्तं दृष्टं यथाऽनलोऽग्निर्भवति च कर्म्मसंबन्धे वेदनोद्भवस्तस्मात्त-न्मूर्त्तमिति ॥२॥ तथा मूर्त्तं कर्म्म आत्मनो ज्ञानादीनां च तद्धर्म्माणां व्यतिरिक्तत्वे सति बाह्येन स्वकचन्दनाङ्गनादिना बलस्योप-चयस्याधीयमानत्वाद्यथा स्नेहाद्याहितबलो घट इह यस्य नात्मविज्ञानादेः सतो बाह्येन वस्तुना बलमाधीयते तन्मूर्त्तं दृष्टं यथा स्नेहादिना आधियमानबलो घटः। आधीयते च बाह्यैर्मिथ्यात्वादिहेतुभूतैर्वस्तुभिः कर्म्मण उपचयलक्षणं बलं तस्मात्तन्मूर्त्तमिति ॥३॥ तथा मूर्त्तं कर्म्म आत्मादिव्यतिरिक्तत्वे सतिपरिणामत्वात्क्षीरमिवेति ॥४॥ एवमादीनि हेतूदाहरणानि कर्मणो रूपित्वगमनादीनि। अत्र परिणामित्वासिद्धिमा-शङ्क्योत्तरमाह।

अह मयमसिद्धो अयं, परिणामओ त्ति सो वि कज्जाओ।
सिद्धो परिणामो से, दहिपरिणामादिव पयस्स ॥

अथ परिणामित्वादित्यसिद्धोऽयं हेतुरिति मतं भवतः। एतदप्य-युक्तं यतः सोऽपि परिणामः सिद्धः (कज्जाओत्ति) कर्म्म कार्यस्य शरीरादेः परिणामित्वदर्शनादित्यर्थः। इह यस्य कार्यं परिणाम्युपलभ्यते तस्यात्मनोऽपि परिणामित्वं निश्चीयते यथा दध्नस्तक्रादिभावेन परिणामात्पयसोऽपि परिणामित्वं विज्ञायत एवेति।

(९) जगद्वैचित्र्यात् कर्मसिद्धिः तत्र यत्पूर्वं सुखदुःखावि(वै)चित्र्य-दर्शनात्तद्धेतुभूतं कर्म्म साधितं तत्र पुनरप्यग्निभूतिराह।

अब्भाइविरागाणं, जह वेचित्तं विणा वि कम्मेण।
तह जइ संसारीणं, हवेज्ज को नाम तो दोसो ॥

आह ननु यथाऽभ्रादिविकाराणामन्तरेणापि कर्म्म वैचित्र्यं दृश्यते तथा तेनैव प्रकारेण संसारिजीवस्कन्धानामपि सुखदुखादिभावेन वैचित्र्यं यदि कर्म विनापि स्यात्ततः को नामदोषो भवेन्न कोऽपीत्यर्थः।

भगवानाह–

कम्मम्मि व को भेओ, जह बज्झक्खंधचित्तया सिद्धा।
तह कम्म पोग्गलाण वि, विचित्तया जीवसहियाणं ॥

यद्यभ्रविकाराणां गन्धर्वनगरेन्द्रधनुरादीनां गृहदेवाकुलप्राकारतरु-कृष्णनीलरक्तादिभावेन वैचित्र्यमिष्यते सौम्य ! वा शब्दस्यापि शब्दार्थत्वात्तर्हि कर्मण्यपि को भेदः को विशेषो येन तत्र वैचित्र्यं नाभ्युपगम्यते। न च हन्त ! यथा सकललोकप्रत्यक्षाणाममीषां गन्धर्वपुर-शक्रदण्डादीनां बाह्यस्कन्धानां विचित्रता भवतोऽपि सिद्धा तथा तेनैव प्रकारेणान्तराणामपि कर्म्मस्कन्धानां पुद्गलमयत्वे समानेऽपि जीवसहि-तत्वस्य विशेषवतो वैचित्र्यकारणस्य सद्भावेऽपि सुखदुःखादिजनक-रूपतया विचित्रता किमिति नेष्यते यदि ह्यभ्रादयो वा बाह्यपुद्गला नानारूपतया परिणमन्ति तर्हि जीवैः परिगृहीता सुतरां तथा परिणमस्यन्तीति भावः।

एतदेव भावयति–

बज्झाणचित्तया जइ, पडिवन्ना कम्मणो विसेसेण।
जीवाणुगयस्स मया, भत्तीण वि चित्तनत्थाणं ॥

यदि हि जीवापरिगृहीतानामपि बाह्यानामभ्रादिपुद्गलानां नानाकार-परिणतिरूपा चित्रया त्वया प्रतिपन्ना तर्हि जीवानुगतानां कर्म्मपुद्गलानां विशेषत एवास्माकं भवतश्च सा सम्मता भविष्यति। भक्तयो विच्छित्तयस्तासामिव चित्रन्यस्तानामभिप्रायश्चित्तकरादिशिल्पिजीव-परिगृहीतानां लेप्यकाष्ठकर्म्मानुगतपुद्गलानां या परिणामचित्रया विश्रसा परिणतेन्द्रधनुरादिपुद्गपरिणामचित्रता सकाशाद्विशिष्टैवेति प्रत्यक्षत एव दृश्यते। अतो जीवपरिगृहीतत्वेन कर्म्मपुद्गलानामपि सुखदुःखादि-वैचित्र्यजननरूपा विशिष्टतरा परिणामचित्रता कथं न स्यादिति।

अत्र परः प्राह–

तो जह तणुभेत्तं चिय, हवेज्ज का कम्मकप्पणा नाम।
कम्मं पि ननु तणुचिय, सण्हयरब्भंतरा नवरं ॥

एवं मन्यते परो यद्यभ्रादिविकाराणामिव कर्म्मपुद्गलानां विचित्रपरिण-तिरभ्युपगम्यते। ततो बाह्यं सकलजनप्रत्यक्षं तनुमात्रमेवेदं सुरूपकुरूप-सुखदुःखादिभावत एवाभ्रादिविकारबद्वैचित्ररूपतया परिणमतीत्येत-देवास्तु का नाम पुनस्तद्वैचित्र्यहेतुभूतस्यान्तरङ्गगुणकल्पस्य कर्म्मणः परिकल्पना स्वभावादेव सर्वस्यापि पुद्गलपरिणामवैचित्र्यस्य सिद्धत्वा-दिति भगवानाह (कम्मं पीत्यादि) अयमभिप्रायः यद्यभ्रादि-विकाराणा-मिव तनोर्वैचित्र्यमभ्युपगम्यते तर्हि ननु कर्म्मापि तनुरेव कर्म्मणशरीर-मेवेत्यर्थः। केवलं श्लक्ष्णतरा अतीन्द्रियत्वादभ्यन्तरा च जीवेन सहातिसंश्लिष्टत्वात्ततश्च यथाऽभ्रादिविकरिबाह्यस्थूलतो नो वैचित्र्यम-भ्युपगम्यते तथा कर्म्म तनोरपि तत्किन्नाभ्युपगम्यते इति भावः। अप्रेर्यमाशङ्क्य परिहारमाह।

को तए विणा दोसो, थूलाए सव्वहा विप्पमुक्कस्स।
देहग्गहणाभावो, तओ य संसारवोच्छित्ती ॥

प्रेरकः प्राह ननु बाह्यायाः स्थूलत्वाद्वैचित्र्यं प्रत्यक्षदृष्टत्वादेवाभ्रादि-विकारवदभ्युपगच्छामः अन्तरङ्गायास्तु कर्म्मरूपायाः सूक्ष्मतनोर्वैचित्र्यं कथमिच्छामस्तस्याः सर्वथा प्रत्यक्षत्वात्। अथ तदनभ्युपगते दोषा कोऽप्यापतति ततो थापत्तेरेव तद्विचित्रताऽभ्युपगन्तव्या तर्हि निवेद्यतां कस्तयविना दोषोऽनुषज्यते। आचार्यः प्राह। मरणाकाले स्थूलया दृश्यमान-तन्वा सर्वथा विप्रमुक्तस्य जन्तोरभवान्तरगतस्थूलत-नुग्रहणनिबन्धनभूतां सूक्ष्मकर्मतनुमन्तरेणाग्रेतनदेहग्रहणाभाव-लक्षणो दोषः समापद्यते न हि निष्कारणमेव शरीरान्तरग्रहणं प्रयुज्यते ततश्च देहान्तरग्रहणानुपपत्तेर्मरणानन्तरं सर्वस्याप्यशरीरत्वादयत्नेनैव संसारव्यवच्छित्तिः स्यात्ततोऽपि च किं त्यादित्याह।

सव्वे वि मोक्खवत्ती, निक्कारणओ व्व सव्वसंसारो।
भवमुक्काणं च पुणो, संसरणमओ अणासासो ॥

ततः संसारव्यवच्छेदानन्तरं सर्वस्यापि जीवराशेर्मोक्षापत्ति-र्भवेत्। अथाशरीराणामपि संसार पर्यटनं तर्हि निष्कारण एव सर्वस्यापि संसारः स्याद्भवमुक्तानां च सिद्धनामित्थं पुनरकस्मान्निष्कारण एव संसारपातः स्यात्तथैव च तमुसंसरणं ततश्च मोक्षोऽप्यनाश्वास इति॥

जीवकर्मणोः सम्बन्धस्तत्र पुनः प्रकारान्तरेण प्रेयमाह–

मुत्तस्सामुत्तमया, जीवेण कहं हवेज्ज संबन्धो।
सोम! घडस्स व नभसा, जह वा दव्वस्स किरियाए॥

ननु मूर्त्तं कर्मेति प्राग् भवद्भिः समर्थितं तस्य च मूर्त्तस्य च कर्म्मणोऽमूर्त्तेन जीवने सह कथं संयोगलक्षणः समवायसबन्धः स्यादतः कर्म्मसिद्धावप्येतदपरमेव रन्ध्रं पश्यामः। भगवानाह सौम्य! यथा मूर्त्तस्य घटस्यामूर्त्तेन नभसा संयोगलक्षणः संबन्धस्तथा अत्रापि जीवकर्म्मणोः। यथा वा द्रव्यस्याङ्गुल्यादेः क्रियया आकुञ्चनादिकया सह समवायलक्षणः सबन्धस्तथात्रापि जीवकर्म्मणोरयमिति।

(१०) प्रकारान्तरेण जीवकर्म्मणोः संबन्धसिद्धिमाह–

अहवा मद्यक्खं चिय, जीवोवनिबंधणं जह सरीरं।
चिट्ठइ कप्पयमेवं, भवंतरे जीवसंजुत्तं॥

अथवा यथेदं बाह्यं शरीरं जीवोपनिबन्धनं जीवेन सह संबन्धः प्रत्यक्षोपलभ्यमानमेव तिष्ठति सर्वत्र चेष्टते। एवं भवान्तरं गच्छता जीवेन सह संयुक्तं कार्मणशरीरं प्रतिपद्यस्व। अथ ब्रूषे धर्म्माधर्म्मनिमित्तं जीवसंबद्धं बाह्यशरीरं प्रवर्त्तते तर्हि पृच्छामो भवन्तं तावपि धर्म्माधर्म्मौ मूर्त्तौ वा भवेताममूर्त्तौ वा। यदि मूर्त्तौ तर्हि तयोरप्यमूर्त्तेनात्मना सह कथं संबन्धः। अथ तयोस्तेन सहासौ कथमपि भवति तर्हि कर्म्मणोऽपि तेन सार्धमयं कस्मान्न स्याद्। अथामूर्त्तौ धर्म्माधर्म्मौ तर्हि बाह्यमूर्त्तस्थूलशरीरेण तयोः संबन्धः कथं स्यान्मूर्त्तयोर्भवदभिप्रायेण सबन्धायोगात् न वा संबद्धयोस्तयोर्बाह्यशरीरचेष्टानिमित्तत्वमुत्पद्यतेऽतिप्रसङ्गाद्। अथामूर्त्तयोरपि तयोर्बाह्यशरीरेण मूर्त्तेन सहेष्यते संबन्धस्तर्हि। जीवकर्म्मणोस्तत्सद्भावे कः प्रद्वेष इति।

अथ परावक्षेपपरिहारौ प्राह–

मुत्तेणामुत्तिमओ, उवघायाणुग्गहा कहं होज्जा।
जह विण्णाणाईणं, मइरायाणो सहाईहिं॥

ननु मूर्त्तिमता कर्म्मणाऽमूर्त्तिमतो जीवस्य कथमाह्लादपरितापाद्यनुग्रहोपघातौ स्यातां नह्यमूर्त्तस्य नभसो मूर्त्तैर्मलय-जज्वलनज्वालादिभिस्तौ युज्येते इति भावः। अत्रोत्तरमाह ''जह विण्णाणाईणमित्यादि'' यथा अमूर्त्तानामपि विज्ञानविविदिषां धृतिस्मृत्यादिजीवधर्म्माणां मूर्त्तैरपि मदिरापाने हृत्पूरविषपिपीलिकाभिर्भक्षितैरुपघातः क्रियते पयःशर्करा-घृतपूर्णभेषजादिभिस्त्वनुग्रह इत्येवमिहापीति। एतच्च जीवस्यामूर्त्तत्वमभ्युपगम्योक्तम्। यदि वा अमूर्त्तोऽपि सर्वथाऽसौ न भवतीति दर्शयन्नाह।

अहवा नेगंतोयं, संसारी सव्वहा अमुत्तोत्ति।
जमणाइकम्मसंतइ–परिणामावन्नरूवो सो॥

अथवा नायमेकान्तो यदुत संसारी जीवः सर्वथाऽमूर्त्त इति। कुतो यद्यस्मादनादिकर्म्मसन्ततिपरिणामापन्नं वह्नयः पिण्डन्यायेनान्यादिकर्मसन्तानपरिणतिस्वरूपतां प्राप्तं रूपं यस्य स तथा। ततश्च मूर्त्तकर्म्मणः कथं चिदनन्यत्वान्मूर्त्तोऽपि कथंचिज्जीव इति मूर्त्तेन कर्म्मणा भवत एव तस्यानुग्रहोपघातौ नभसस्तु मूर्त्तत्वादचेतनत्वाच्च तौ न भवत एवेति।

कर्मणोऽनादित्वं तत्र कथं पुनः कर्म्मणोऽनादिसन्तान इत्याह–

संताणोणाई उ, परोप्परं हेउहेउभावाओ।
देहस्स य कम्मस्स य, गोयम! बीयंकुराणं च॥

अनादिः कर्म्मणः सन्तानः इति प्रतिज्ञा देहकर्म्मणोः परस्परं हेतुसद्भावादिति हेतुः बीजाङ्कुरोरिवेति दृष्टान्तः। यथा बीजेनाङ्कुरो जन्यते अङ्कुरादपि क्रमेण बीजमुपजायते एवं देहेन कर्म्म जन्यते कर्म्मणा तु देह इत्येवं पुनः पुनरपि परस्परमनादिकालीनहेतुहेतुमद्भावादित्यर्थः। इह ययोरन्योन्यं हेतुहेतुमद्भावस्तयोरनादिसन्तानो यथा बीजाङ्कुरपितृपुत्रादीनां तथा च देहकर्म्मणोः।

(११) ततोऽनादिकर्मसन्तान इति वेदोक्तद्वारेणापि कर्मसाधयन्नाह–

कम्मे वा सइ गोयम! जमग्गिहोत्ताइसग्गकामस्स।
वेयविहियं विहीणइ, दाणाइफलं च लोयम्मि॥

कर्म्मणि वा सति गौतम! अग्निहोत्रादिना स्वर्गकामस्य वेदविहितं यत्किमपि स्वर्गादिफलं तद्विहन्यते स्वर्गादेः शुभकर्म्महेतुत्वात्तस्य च भवतोऽनभ्युपगमाल्लोके च यद्दानादिक्रियाणां फलं स्वर्गादिकं प्रसिद्धं तदपि विहन्येत अयुक्तं वेदे ''किरियाफलभावा उ दाणाइं ण फलं किसी एव्वेत्या'' दिना प्रतिविहितत्वादिति। विशे० (३०६ पत्र०) आ० म०।

अत्र प्रसङ्गात्–

वत्थस्स णं भंते! पोग्गलोवचए किं सादीए सपज्जवसिए सादीए अपज्जवसिए अणादिए सपज्जवसिए अणादीए अपज्जवसिए? गोयमा! वत्थस्स णं पोग्गलोवचए सादीए सपज्जवसिए नो सादीए अपज्जवसिए नो अणादीए सपज्जवसिए नो अणादीए अपज्जवसिए। जहा णं भंते! वत्थस्स पोग्गलोवचए सादीए सपज्जवसिए नो सादीए अपज्जवसिए नो अणादीए सपज्जवसिए नो अणादीए अपज्जवसिए तहा णं जीवा णं कम्मोवचए पुच्छा गोयमा! अत्थेगइयाणं जीवाणं कम्मोवचए सादीए सपज्जवसिए अत्थेगइए अणादीए सपज्जवसिए अत्थेगइए अणादीए अपज्जवसिए नो चेव णं जीवाणं कम्मोवचए सादीए अपज्जवसिए से केणट्ठेणं? गोयमा! इरियावहियबंधयस्स कम्मोवचए सादीए सपज्जवसिए भवसिद्धियस्स कम्मोवचए अणादीए सपज्जवसिए अभवसिद्धियस्स कम्मोवचए अणादीए अपज्जवसिए से तेणट्ठेणं।

सादिद्वारे ''इरियावहियबंधस्सेत्यादि'' ईर्यापथो गमनमार्गस्तत्र भवमैर्यापथिकं केवलयोगप्रत्ययं कर्म्मेत्यर्थः। तद्बन्धकस्यो पशान्तमोहस्य क्षीणमोहस्य सयोगिकेवलिनश्चेत्यर्थः। ऐर्यापथिककर्म्मणो हि अबद्धपूर्वस्य बन्धनात्सादित्वम् अयोगावस्थायां श्रेणिप्रतिपाते वा अबन्धनात्सपर्यवसितत्वम् भ० ६ श० ३ उ०।

(१२) नेश्वरादयो जगद्वैचित्र्ये हेतवः कर्मानभ्युपगमे च यदीश्वरादयो जगद्वैचित्र्यकर्त्तारि इष्यन्ते तदप्ययुक्तमिति दर्शयन्नाह॥

कम्ममणिच्छंतो वा, सुद्धं चिय जीवमीसराइं वा।
मण्णसि देहाईणं, जं कत्तारं न सो जुत्तो॥

कर्म वाऽनिच्छन्नग्निभूते! गौतम! यं कर्म्मरहितत्वाच्छुद्धमेव जीवमात्मानमीश्वराव्यक्तकालनियतियदृच्छादिकं वा देहादीनां कर्तारं मन्यसे तत्राप्युच्यते। नासौ शुद्धजीवेश्वरादिकर्त्ता युज्यत इति कुत इत्याह॥

उवगरणाभावा उ, निच्चेट्ठामुत्तयाइ उ वा वि।
ईसरदेहारंभे, वि तुल्लया वा णवत्था वा ॥

नायमीश्वरजीवादिरकर्मा शरीरादिकार्याण्यारभते उपकरणाभावाद्दण्डाद्युपकरणरहितकुलालवत् न व कर्म्म विना शरीराद्यारम्भिजीवादीनामन्यदुपकरणं घटते। गर्भाद्यवस्थास्वन्योपकरणासम्भवाच्छुक्रशोणितादिग्रहणस्याप्यकर्म्मणाऽनुपपत्तेः। अथ वाऽन्यथाप्रयोगः क्रियते ''निच्चेट्ठेत्यादि'' नाकर्म्माशरीराद्यारभते निश्चेष्टत्वादाकाशवत्तथाऽमूर्त्तत्वादादिशब्दादशरीरत्वान्निष्क्रियत्वात्सर्वगतत्वाद् वाऽऽकाशवदेव। तथा एकत्वादेकपरमाणुवदित्यादि। अत्रोच्यते शरीरवानीश्वरः सर्वाण्यपि देहादिकार्याण्यारभते नन्वीश्वरदेहारम्भेऽपि तर्हि तुल्यता पर्यनुयोगस्य। तथाह्यकर्म्मा नारभते निजशरीरमीश्वरो निरुपकरणत्वाद्दण्डादिरहितकुलालवदिति। अथान्यः कोऽपीश्वरस्तच्छरीरारम्भाय प्रवर्तते। ततः सोऽपि शरीरवानशरीरो वा। यद्यशरीरस्तर्हि नारभते निरुपकरणत्वादित्यादि सैव वक्तव्यता। अथ शरीरवांस्तर्हि तच्छरीरारम्भेऽपि तुल्यता सोऽप्यकर्म्मा निजशरीरं नारभते निरुपकरणत्वादित्यादि। अथ तच्छरीरमन्यः शरीरवांस्तर्हि तच्छरीरारम्भेऽपि तुल्यता नारभतेऽतस्तस्याप्यव्यक्तस्याप्यन्य इत्येवमनवस्था अनिष्टं च सर्वमेतत्तस्मान्नेश्वरो देहादीनां कर्त्ता। किं तु कर्म्म सद्वितीयो जीव एव निष्प्रयोजनश्चेश्वरो देहादीन्कुर्वन्नुन्मत्तकल्प एव स्यात्। सप्रयोजनकर्तृत्वे पुनरनीश्वरप्रसङ्गः। नचानादिशुद्धस्य देहादिकारणेच्छा युज्यते तस्यारागविकल्परूपत्वादित्याद्यत्र बहु वक्तव्यं गहनताप्रसङ्गात्तु नोच्यत इत्यनेनैव विधानेन विष्णु-ब्रह्मादयोऽपि प्रत्युक्ता द्रष्टव्या इति॥

(१३) स्वभावदूषणं विवक्षुः शङ्कान्तरं प्रतिविधातुमाह–

अह व सहावं भण्णसि, विण्णाणघणो इवेय वुत्ताहन।
तह बहुदोसं गोयम, ! ता र्ण वप्पमाणपयमत्थो ॥

अथ ''विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्य'' इत्यादि वेदवचनश्रवणात्स्वभावं देहादीनां कर्त्तारं मन्यसे। यतः केचिदाहुः ''सर्वहेतुर्निराशंसं, भवानां जन्म वर्ण्यते। स्वभाववादिभिस्ते हि, नाहुः स्वमपि कारणम्'' जीवकण्टकादीनां, वैचित्र्यं कः करोति हि। मयूरचन्द्रिकादिर्वा, चित्रः केन विनिर्म्मितः। कादाचित्कं यदत्नास्ति, निःशेषं तदहेतुकम्। यथा कण्टकतैक्ष्ण्यादि तथा चैते सुखादयः'' तदेतद्यथा त्वं मन्यसे गौतम! तथाऽभ्युपगम्यमानं बहुदोषमेव तथा हि यो देहादीनां कर्त्ता स्वभावोऽभ्युपगम्यते स किं वस्तुविशेषो वा अकारणता वा वस्तुधर्म्मो वेति त्रयी गतिस्तत्र न तावद्वस्तुविशेषस्तद्ग्राहक-प्रमाणाभावादप्रमाणकस्याप्यभ्युपगमे कर्म्मापि नाभ्युपगम्यते तस्यापि त्वदभिप्रायेणाप्रमाणकत्वात् किं च वस्तुविशेषः स स्वभावो मूर्त्तो वा स्यादमूर्त्तो वा यदि मूर्त्तस्तर्हि स्वभाव इति नामान्तरेण कर्मैवोक्तं स्यादृथामूर्त्तस्तर्हि नासौ कस्यापि कर्त्ता अमूर्त्तत्वान्निरुपकरणत्वाच्च व्योमवदिति। नच मूर्त्तस्य शरीरादिकार्यस्यामूर्त्तं कारणमनुरूपमाकाशवदिति। अथाकारणतास्वभाव इयते तत्राप्यभिधरहे। नन्वेवं सत्यकारणं शरीराद्युत्पद्यत इत्ययमर्थः स्यात्तथा च सति कारणाभावस्य समानत्वाद्युगपदेवाशेषदेहोत्पादप्रसङ्गः। अपि चेत्थमहेतुकमाकस्मिकं शरीराद्युत्पद्यत इत्यभ्युपगतं भवेदेतच्चायुक्तमेव यतो यद हेतुकमाकस्मिकं न तदादिमत्प्रतिनियताकारं यथा अभ्रादिविकारः आदिसत्प्रतिनियताकारं च शरीरादि तस्मान्नाकस्मिकं किन्तु कर्म्महेतुकमेव प्रतिनियताकारत्वादेव चोपकरणसहितकर्तृनिर्वर्त्यमेव शरीरादिकं घटादिवदिति गम्यत एव। नच गर्भाद्यवस्थासु कर्मणोऽन्यदुपकरणं घटत इत्युक्तमेव। अथ वस्तुनो धर्म्मः स्वभावोऽभ्युपगम्यते। तथाऽप्यसौ यद्यात्मधर्म्मो विज्ञानादिवत्तर्हि न शरीराकारणमसावमूर्त्तत्वादाकाशवदप्यभिहितमेव। अथ मूर्त्तवस्तुधर्म्मोऽसौ तर्हि सिद्धसाधनाकर्म्मणोऽपि पुङ्गलास्तिकायपर्यायविशेषत्वेनास्माभिरभ्युपगतत्वादिति। अपि च ''पुरुष एवेदग्वं सर्वमित्यादि'' वे दवाक्यश्रवणाद्भवतः कर्म्मास्तित्वसशयः। एषां हि वेदपदानामयमर्थस्तव चेतसि विपरिवर्त्तते पुरुष आत्मा एवकारोऽवधारणे स च पुरुषातिरिक्तस्य कर्म्मप्रकृतीश्वरादेः सत्ताव्यच्छेदार्थः। इदं सर्वं प्रत्यक्षं वर्त्तमानं चेतनाचेतनस्वरूपं ग्वमिति वाक्यालङ्कारे यद्भूतमतीतं यच्च भाव्यं भविष्यन्मुक्ति-संसारावपि स एवेत्यर्थः। ''उतामृतत्वस्येशान इति'' उत शब्दोऽप्यर्थे अपिशब्दश्च समुच्चये अमृतत्वस्य चामणरस्वभावस्य मोक्षस्येशानः प्रभुरित्यर्थः। ''यदन्नेनातिरोहति'' चशब्दस्य लुप्तस्य दर्शनाद्यान्नेनाहारेणारोहत्यतिशयेन वृद्धिमुपैति। यदेजति चलति पश्वादि यन्नेजति न चलति पर्वतादि यद्दूरे मेर्वादि यदु अन्तिके उशब्दोऽवधारणे यदन्तिके समीपे तदपि पुरुष एवेत्यर्थः। यदन्तर्मध्येऽस्य चेतनाचेतनस्य सर्वस्य यदेव सर्वस्याप्यस्य बाह्यतः तत्सर्वं पुरुष एवेत्यतस्तर्ह्यतिरिक्तस्य कर्म्मणः किल सत्ता दुःश्रद्धेया इति ते मतिः। तथा विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्य इत्यादीन्यपि वेदानि कर्म्माभावप्रतिपादकानि मन्यसे त्वम्। अत्राप्येवकारस्य कर्म्मादिसत्ताव्यवच्छेदपरत्वात्तदेवमेतेषां ''पुरुष ऐवदमित्यादीनां'' विज्ञानघनादीनां च वेदपदानां नायमर्थो यो भवतश्चेतसि वर्त्तते तेषां पदानमियं भावार्थः पुरुष एवेदं सर्वमित्यादिभिस्तावत्पुरुषस्तुतिपराणि जात्यादिमदत्या-गहेतोरद्वैतभावप्रतिपादकानि च वर्त्तन्ते। न तु कर्म्मसत्ताव्यवच्छेदकानि वेदवाक्यानि हि कानिचिद्विधिवादपेराणि कान्यप्यर्थवादप्रधानान्यपराणि तु अनुवादपराणि ''तत्राग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम'' इत्यादीनि विधिवादपराणि। विशे० (अर्थवादवर्णनमन्यत्र) ''तस्मात्पुरुष एवेदं सर्वमित्यादीनि'' वेदपदानि स्तुत्यर्थवादप्रधानानि दृष्टव्यानि। विज्ञानघन एवैतेभ्य इत्यत्राप्ययमर्थः विज्ञानघनाख्यः पुरुष एवायं भूतेभ्योऽर्थान्तरं वर्त्तते स च कर्त्ता कार्यं च शरीरादिकमिति प्राक् साधितमेव। ततश्च कर्तृकार्याभ्यागर्थान्तरकरणमनुमीयते। तथाहि यत्र कर्तृकार्यभावस्तत्रावश्यंभावि करणं यथाऽयस्कारादयः पिण्डसद्भावे सदृशः यच्चात्रात्मनः शरीरादिकार्यानिवृत्तौ करणभावमापद्यते तत्कर्मेति प्रतिपद्यस्व। अपि च साक्षादेव कर्म्मसत्ताप्रतिपादकानि श्रूयन्त एव वेदवाक्यानि तद्यथा। ''पुण्यः पुण्येन कर्म्मणा पापः पापेन कर्म्मणेत्यादि'' तस्मादागमादपि सिद्धं प्रविपद्यस्व कर्म्मेति॥ विशे०। कल्प०। स्था०। अष्ट०।

(१४) तस्य पुण्यपापद्वयात्मकत्व विचारः–

मन्नसि पुण्णं पावं, साहारणमह व दो विभिन्नाइं।
होज्ज न ता कम्मं चिय, सभावओ भवपवंचो यं ॥

इह केषांचित्तीर्थिकानामयं प्रवादः पुण्यमेवैकमस्ति न पापम्। अन्ये त्वाहुः पापमेवैकमस्ति न पुण्यम्। अपरे तु वदन्ति। उभयमप्यन्योन्यानुविद्धस्वरूपमेव कर्मणि कल्पं सन्मिश्रसुखदुःखाख्यफलहेतुः साधारणं पुण्यपापाख्यमेकं वस्त्विति। अन्ये तु प्रतिपादयन्ति स्वतन्त्रमुभयं विविक्तसुखदुःखकारणं (होज्जत्ति) भवेदिति। अन्ये पुनराहुर्मूलतः कर्म्मैव नास्ति स्वभाव

सिद्धः सर्वोऽप्ययं जगत्प्रपञ्चः । अतस्त्वमप्येतानेव विकल्पान्मन्यसे । एतेषां च विकल्पानां परस्परविरुद्धत्वात्संशयदोलामारुढोऽसि त्वमिति । ननु येषां पुण्यमेवैकमस्ति न पापं तन्मते कथं कस्यापि दुःखोपपत्तिरित्याह।

पुण्णुक्करिसे सुभया, तरतमयोगावगरिसओ हाणी।
तस्सेव खए मोक्खो, पत्थाहारोवमाणाओ ॥

पुनातीति पुण्यं तस्योत्कर्षे लेशतो लेशतश्च वृद्धौ शुभता भवति सुखस्यापि क्रमशो वृद्धिर्भवति । तावद्यावदुत्कृष्टं स्वर्गसुखमित्यर्थः । तस्यैव पुण्यस्य तरतमयोगापिकर्षतो हानिः सुखस्य दुःखं भवति। इदमुक्तं भवति। यथा यथा पुण्यमपचीयते तथा तथा जीवानां क्रमेण दुःखमुत्पद्यते यावत्सर्वप्रकर्षप्राप्तं नारकदुःखं तस्यैव च पुण्यस्य सर्वथा क्षयो मोक्ष इति एतच्च सर्वं पथ्याहारोपमानाद्भावनीयम् । तथाहि यथा पथ्याहारस्य क्रमेण वृद्धौ सुखवृद्धिर्यथा च पथ्याहारस्य क्रमेण परिहारे सरोगता भवत्येवं पुण्योपचये दुःखोत्पत्तिः सर्वथा पथ्याहारस्य परिहारे च मरणवत्पुण्यक्षये मोक्ष इति। केवलपापाभ्युपगमे सुखसंभवः कथमित्याह।

पावकरिसेह मया, तरतमजोगावगरिसओ सुभया।
तस्से व खये मोक्खो, अपत्थभुञ्जोवमाणाओ ॥

इहापथ्याद्वारोपमानाद्वैपरीत्येन भावना कार्या । तथा हि यथा क्रमेणापथ्यवृद्धौ रोगवृद्धिस्तथा पांशयत्यात्मानं मलिनयतीति पापं तस्य वृद्धौ दुःखवृद्धिरूपाऽधर्मता मन्तव्या क्रमेण दुःखं वर्द्धते यावदुत्कृष्टं नारकदुःखम् । यथा वा पथ्यत्यागात्क्रमेण रोगवृद्धिस्तथा क्रमेण पापस्यापकर्षात्सुखस्य वृद्धिर्यावदुत्कृष्टं सुरसौख्यम् । यथा च पथ्याहारस्यासर्वथा परित्यागात्परमा-रोग्यमुपजायते एवं सर्वपापक्षये मोक्ष इति ।

(१५) अथ साधारणं पुण्यपापाख्यमेकमेवं संकीर्ण्णं वस्त्विति तृतीयविकल्पं भावयन्नाह–

साहारणवण्णादिव, अह साहारणमहेगमत्ताए।
उक्करिसावगरिसो, तस्सेव य पुण्णपावक्खा ॥

''अह साहारणमिति'' अथ साधारणं संकीर्ण्णपुण्यपापाख्यवस्तु इत्यर्थः । कथंभूतं पुनरिदमवगन्तव्यमिहत्याह (साहारणवण्णादिवत्ति) यथा साधारणं तुल्यं हरिता-लगुलिकादीनामन्यतरन्मीलितं वर्ण्णकद्वयम् आदिशब्दात् यथा मेचकमणिनरसिंहादि वा तथेदमपि पुण्यपापाख्यसंकीर्णमेकं वस्त्विवत्यर्थः । ननु यद्येकं वस्त्विदं तर्हि पुण्यं पापं चेति परस्परविरोधे वस्तुविषयमाख्याद्वयं कथं लभते इत्याह ''अहेगमत्ताए इत्यादि'' अथ तस्यैवैकस्य संकीर्णपुण्यपापाख्यवस्तुन एकया पुण्यमात्रया एकेन पुण्यांशेनेत्यर्थः । उत्कर्षतो वृद्धौ सत्यां पुण्याख्या प्रवर्तते एकया तु पापमात्रया एकेन पापांशेनेत्यर्थः । उत्कर्षतो वृद्धौ सत्यां पापाख्या प्रवर्त्तते अपकर्षेऽपि पुण्यांशस्य पापाख्या प्रवर्तते पापांशस्य त्वप्रकर्षे पुण्या प्रवर्तत इति चतुर्थं पञ्चमं च विकल्पवृद्धिकृत्यमाह।

एवं चिय दो भिन्ना–ई होज्ज वा सभावओ चेव।
भवसंभूई भण्णइ, न सभावओ होज्ज जो भिमओ ॥
होज्ज सहावो वत्थुं, निक्कारणया च वत्थुधम्मो वा।
जइ वत्थुं नत्थि तओ, अणुवलद्धी उ खपुप्पं च ॥

एवमेव केषांचिन्मतेन द्वे अपि भिन्ने स्वतन्त्रे स्यातां पुण्यपापे तत्कार्यभूतयोः सुखदुःखयोर्योगपद्येनानुभवाभावादतोऽनेनैव भिन्नकार्यदर्शनेन तत्कारणभूतयोः पुण्यपापयोर्भिन्नताऽनुमीयते इति (होज्जवेत्यादि) अथवा स्वभावत एव विनापि पुण्यपापा-भ्यां भवसंभूतिर्भववैचित्र्यस्य संभवः कैश्चिदिष्यते तदेवं दर्शिताः पञ्चापि पुण्यपापविषया विकल्पाः । एतैश्च भ्रमितमनोभिः संशयो न कर्त्तव्यः । एकस्यैव चतुर्थविकल्पस्यादेयत्वाच्छेषाणां चानादेयत्वादत एव प्रत्यासत्तिन्यायमङ्गीकृत्य पञ्चमविकल्पं तावत् दूषयितुमाह (भण्णईत्यादि) भण्यतेऽत्रोत्तरं न स्वभावतो भवेदिति त्रयो विकल्पास्तत्र यदि वस्तुरूपोऽयमिति प्रथमो विकल्पस्तर्हि तत्कोऽसौ स्वभावो नास्ति अनुपलम्भात्खपुष्पवदिति । अत्राप्यनुपलभ्यमानोऽप्यस्त्यसावित्या-खङ्ख्याह।

अचंतमणुवलद्धो, वि अह तउ अत्थि नत्थि किं कम्मं।
हेउ च तदत्थि तेजो, नणु कम्मस्स वासए एव ॥
कम्मस्स वा भिदाणं, होज्ज सभावोत्ति होउ को दोसो।
एइनिययगासउ, न य सो कत्ता घडस्सेव ॥
मुत्तो अमुत्तो व तओ, जइ मुत्तो तो भिहाणओ भिन्नो।
कम्मत्ति सहाओत्ति य, जइ वा मुत्तो न कत्ता तो ॥
देहाणं तोमपि व–ज्झुत्ता कज्जाइं उ य मुत्तिमया।
अह सो निक्कारणया, तो खरसिंगाहओ होंतु ॥
अह वत्थुणो सधम्मो, परिणामो तो सकम्मजीवाणं।
पुन्नेयराभिहाणो, कारणकज्जाणुमेओ सो ॥
किरियाणं कारणाओ, देहाईणं च कज्जभावाओ।
कम्मं महतिहियंति, पडिवज्झुत्तमवि भूयव्वं ॥
तं चिय देहाईणं, किरियाणं पि या, सुभासुभत्ताओ।
पडिवज्झपुण्णपावं, सभावओ भिन्नजाईयं ॥

एताश्च गाथाः प्रायोऽग्निभूतिगणधरवादे व्याख्याता एव सुगमाश्च नवरं (कारणकज्जाणुमेओ सोत्ति) स च जीवकर्म्मणोः पुण्यपापाभिधानं परिणामः कारणेन कार्येन चानुमीयते कारणानुमानात्कार्यानुमानाच्च गम्यत इत्याह। एतदेवानुमानद्वयमाह ''किरियाणं कारणाओ इत्यादि'' दानादिक्रियाणां हिंसादिक्रियाणां च कारणत्वात्कारणरूपत्वादस्ति तत्फलभूतस्तत्कार्यरूप पुण्यपापात्मकं जीवकर्म्मपरिणामः यथा कृष्यादि क्रियाणां शालियवगोधूमादिकम् उक्तं च ''समासु तुल्यं विसमासु तुल्यं, सतीष्वसच्चाप्यसतीषु सच्च । फलं क्रियास्वित्यथ यन्निमित्तं, तद्देहिनां सोऽस्ति नु कोऽपि धर्म्मः'' एतत्कारणानुमानम्। (देहाईणमित्यादि) देहादीनां कारणमस्ति कार्यरूपत्वात्तेषां यथा घटस्यमृद्दण्डचक्रचीवरादिसामग्रीकलितकुलालः । नच वक्तव्यं दृष्ट एव मातापित्रादिकस्तेषां हेतुः दृष्टहेतु साम्येऽपि सुरूपेतरादिभावेन देहादीनां वैचित्र्यदर्शनात्तस्य चादृष्टकर्माख्यहेतुमन्तरेणाभावत एव पुण्यपापभेदेन कर्म्मणो द्वैविध्यं शुभदेहादीनां पुण्यकार्यत्वादितरेषां तु पापफलत्वादुक्तं च ''इह दृष्टहेत्वसंभवि, कार्यविशेषात्कुलालयन्त्रमिव। हेत्वन्तरमनुमेयं, तत्कर्म शुभाशुभं कर्त्तुः'' एतत्कार्यानुमानं तथा मदभिहितमिति च कृत्वाऽग्निभूतिवत्त्वमपि कर्म्म प्रतिपद्यस्व। सर्वज्ञवचनप्रमाण्यादित्यर्थः । तदपि पुण्यपापविभागेन ।

इतरदपि पुण्यपापयोः साधनाय प्रमाणमाह–

सुखदुक्खकारणमणु–रूवं कज्जस्स भावओ वस्सं ।
परमाणवो घडस्स व, कारणमिह पुण्णपावाइं ॥

अस्त्यवश्यं सुखदुःखयोरनुरूपं कारणं कार्यत्वात्तयोर्यच्चेह कार्यं तस्यानुरूपं कारणं भवत्येन यथा घटस्य परमाणवस्तच्च तयोरिहानुरूपं कारणं सुखस्य पुण्यं दुःखस्य पापमिति।

प्रेरकः प्राह–

सुहदुक्खकारणं जइ, कम्मं कज्जस्स तदणुरूवं च ।
पत्तमरूवं तं पि हु, अह रूवं नाणुरूवं तु ॥

ननु यदि सुखदुःखयोः पुण्यपापात्मकं कर्म्म कारणं तच्च यदि कार्यस्य सुखदुःखरूपस्यानुरूपं सदृशमिष्यते तर्हि सुखदुःखयोरात्मपरिणामत्वेनारूपत्वात्तदपि पुण्यपापात्मकं कर्म्म तदनुरूपतयाऽरूपं प्राप्नोति। अथ रूपवत्तर्हि नानुरूपं तन्मूर्त्तत्वेन विलक्षणत्वादिति।

अत्रोत्तरमाह–

न हि सव्वहा णुरूवं, भिन्नं वा कारणं अह मयं ते ।
किं कज्जकारणत्तण–महवा वत्थुत्तणं तस्स ॥

न हि सर्वथा कार्यानुरूपं कारणमिष्यते येन सुखदुःखवत्कर्म्मणोऽप्यरूपत्वं प्रेर्यत । नाप्येकान्तेन सर्वधर्म्मैः कारणं कार्याद्भिन्नमेष्टव्यम् (अह मयंतित्ति) अथ ते तवैतन्मतमेकान्तेन सर्वैरपि धर्म्मैः कारणं कार्यानुरूपमेव भिन्नं वा नन्वनुरूपमेवेति तर्हि सर्वथाऽनुरूपत्वे एकस्य कारणत्वे अपरस्यापि कारणत्वादेकस्य च कार्यत्वेऽन्यस्यापि कार्यत्वात्किं तयोः कार्यकारणत्वं न किंचित् द्वयोरपि वस्तुत्वे सर्वथा भेदहानि-प्रसङ्गादिति तस्मान्नैकान्तेनानुरूपता अननुरूपता वा कार्य-कारणयोः किं तर्हि।

सव्वं तुल्लातुल्लं, जइ तो कज्जाणुरूवया केयं ।
जं सोम्म ! सपज्जाओ, कज्जं परपज्जओ सेसो ॥

न केवलं कार्यकारेण एव तुल्यातुल्यरूपे किं तु सकलमपि त्रिभुवनान्तर्गतं वस्तु परस्परं तुल्यातुल्यरूपमेव न पुनः किंचित्कस्यापि एकान्तेन तुल्यमतुल्यं वा। लब्धावकाशः परः प्राह (जईत्यादि) यद्येवं ततः केयं कार्यानुरूपता कारणस्य विशेषतोऽन्विष्यते येनोच्यते "सुहदुक्खाणं कारणमणुरूव मित्यादि" यदि हि किंचिदनेकान्तेनानुरूपं स्यात्तर्हीत्थं वक्तुं युज्येत यदा त्वेकान्ततो न किंचिदनुरूपं नाप्याननुरूपं किंतु सर्वं सर्वेण तुल्यातुल्यरूपमेव तदा किमनेन विशेषेण। अत्रोच्यते (जमित्यादि) सोम्य! तुल्यातुल्यत्वे सर्वगते अपि यद्यस्मा-त्कारणस्य कार्यं स्वपर्यायस्तस्मात्कारणं कार्यस्येहानुरूपमुच्यते शेषस्त्वकार्यरूपः सर्वोऽपि पदार्थः कारणस्य परपर्याय इति तं प्रति विवक्षितं कारणमसमानरूपमभिधीयते । आह ननु कथं प्रस्तुते सुखदुःखे कारणस्ये स्वपर्याय उच्यते। जीवपुण्यसंयोगः सुखस्य कारणं तस्य च सुखं पर्य्याय एव दुःखस्यापि जीवपापसंयोगः कारणमतस्तस्यापि दुःखं पर्याय एव। यथा च सुखं शुभं कल्याणं शिवमित्यादीन् व्यपदेशान् लभते तथा तत्कारणभूतं पुण्यस्कन्धद्रव्यमपि यथाच दुःखमशुभमकल्याणमशिवमित्यादिसंज्ञां प्राप्नोति तथा तत्कारणभूतं पापद्रव्यमपीति। विशेषतोऽत्र पुण्यपापे सुखदुःखयोरनुरूपकारणत्वेनोक्ते इति।

अथ परः प्रेर्यं चिकीर्षुस्तदवकाशहेतोः पृच्छति–

किं जह मुत्तममुत्तस्स कारणं तह सुहाइणं कम्मं ।
दिट्ठं सुहाइकारण–मन्नाइ जहेह तह कम्मं ॥

किं यथा मूर्त्तं नीलादिकममूर्त्तस्य स्वप्रतिभासिज्ञानस्य कारणं हेतुस्तथा सुखदुःखयोः पुण्यपापात्मकं कर्म्मापि मूर्त्तमेव सत्कारणं यथा प्रत्यक्ष एव दृष्टमन्नादिकमादिशब्दात्स्रक्चन्दनाङ्गनाहिविषकण्टकादिकमिह सुखदुःखयोः मूर्त्तं सत्कारणं तद्वत्कर्म्मापि तयोरिति भावार्थः । ततः किमिति चेदुच्यते।

होउ तयं चिय किं क–म्मणा न जं तुल्लसाहणाणं पि ।
फलभेदओ सो वस्सं, सकारणं कारणं कम्मं ॥

ननु तदेव दृष्टमन्नादिकं वस्तु तस्य सुखादेःकारणमस्तु किमदृष्टेन तेन कर्म्मणा परिकल्पितेन अतिप्रसङ्गात्तदेतन्न यद्यस्मात्तुल्यान्यन्नादीनि साधनानि येषां ते तुल्यसाधनाः पुरुषास्तेषामपि फले सुखदुःखलक्षणे कार्यभेदः फलभेदो महान् दृश्यते। तुल्येऽप्यन्नादिके भुक्ते कस्याप्याह्लादोऽत्यस्य तु रोगाद्युत्पत्तिर्दृश्यत इत्यर्थः। यश्चैत्थं तुल्यान्नादिसाधनानामपि फलभेदः सोऽवश्यमेव सकारणो निष्कारणत्वे नित्यं सत्वासत्वप्रसङ्गाद्यच्च तत्कारणं तददृष्टं कर्म इति न तत्कल्पनानर्थक्यमिति।

मूर्त्तं च तत्कर्म कुत इत्याह–

यत्तो चिय तं मुत्तं, मुत्तबलाहाणओ कुंभो ।
देहाइ कज्जमुत्ता–इओव भणिए पुणो भण्णइ ॥

यत एव तुल्यसाधनानां कर्मनिबन्धनफलभेदोऽत एवोच्यते मूर्त्तं कर्म्म मूर्त्तस्य देहादेर्बलाधानकारित्वात्कुम्भवद्यथा निमित्त-मात्रभावित्वेन घटो देहादीनां बलमाधत्ते एवं कर्माप्यत्र मूर्त्तमित्यर्थः। अथवा मूर्त्तं कर्म्म मूर्त्तेन स्रक्चन्दनादिना तस्योपचयलक्षणस्य बलस्याधीयमानत्वात्कुम्भवद्यथा मूर्त्तत्वेन तैलादिना बलस्याधीयमानत्वाकुम्भो मूर्त्तः । एवं स्रक्चन्दनादिना उपचीयमानत्वात्कर्म्मापि मूर्त्तामिति भावः। यदि वा मूर्त्तं कर्म्म देहादेस्तत्कार्यस्य मूर्त्तत्वात्परमाणुवद्यथा घटादेस्तत्कार्यस्य दर्शनात्परमाणवो मूर्त्ताः एवं देहादेस्तत्कार्यस्य मूर्त्तस्य दर्शनात् कर्म्मापि मूर्त्तमित्यर्थः। एवं भणितेन पुनर्भणति परः किमित्याह।

तो किं देहाईणं, मुत्तत्तणओ तयं हवइ मुत्तं ।
अह सुहदुक्खाईणं, कारणभावादरूवं ति ॥

ततः किं देहादीनां कर्म्मकार्याणां मूर्त्तानां दर्शनात्तत्कर्म्म मूर्त्तं भवत्वाहोश्वित्सुखदुःखक्रोधमानादीनां जीवपरिणामभूतानां तत्कार्याणाममूर्त्तानां दर्शनात्तत्कारणभावेनामूर्त्तमस्तु कर्मेत्येवं मूर्त्तत्वामूर्त्तत्वाभ्यामुभयथापि तत्कार्यदर्शनात्किं मूर्त्तं वा कर्म्म भवत्विति निवेद्यतामिति। एवं प्रेरकेणोक्ते सत्याह।

न सुहाईणं हेउ, कम्मं वि य किं तु ताण जीवो वि ।
होइ समवायकारण–मियरं कम्मं ति को दोसो ॥

सुखादीनां कर्म्मैव केवलं कारणं न भवति किं तु जीवोऽपि तेषां समवायिकारणं भवति कर्म्म पुनरेतदसमवायिकारणं भवतीति को दोषः। इदमुक्तं भवति सुखादेरमूर्त्तत्वेन समवायिकारणस्य जीवस्यामूर्त्तत्वमस्त्येव असमवायिकारणस्य तु कर्म्मणः सुखाद्यमूर्त्तत्वेन मूर्त्तत्वं न भवतीत्यपीति न दोष इति। तदेवमुक्तमर्थमुपसंहरन्केवलपुण्यलक्षणं प्रथमविकल्पं दूषयितुमाह।

इय रूवित्ते सुहदुक्ख–कारणत्ते य कम्मणो सिद्धो ।
पुण्णावगरिसमेत्तेण, दुक्खबहुलत्तणमजुत्तं ॥

इत्येवं पञ्चविकल्पोपन्यस्तस्वभाववादनिरासेन पुण्यपापात्मकस्य कर्मणः सुखदुःखकारणत्वे रूपित्वे च सिद्धे पुण्यापकर्षमात्रेण यत् दुःखबहुलत्वं प्रथमविकल्पोपन्यासे प्रोक्तं तदयुक्तमिति कुतोऽयुक्तमित्याह।

कम्मप्पगरिसजणियं, तदवस्सं पगरिसाणुभूईउ।
सोक्खप्पगरिसभूई, जह पुण्णप्पगरिसप्पभवा॥

तत् दुःखबहुलत्वं पुण्यापकर्षजनितं न भवति किंतु स्वानुरूपकर्म्मप्रकर्षजनितं प्रकर्षानुभूतित्वादप्रकर्षानुभवरूपत्वादिति हेतुः यथा सौख्यप्रकर्षानुभूतिः स्वानुरूपकर्म्मप्रभवा इति दृष्टान्तः।

उपपत्त्यन्तरमाह–

तह बज्झसाहणप्पग–रिसंगभावादिहण्णया न तयं।
विवरीयवज्झसाहण–बलप्पगरिसं अवेक्खेज्ज॥

तथेत्युपपत्त्यन्तरार्थः इह देहिनां दुःखबहुत्वं केवलपुण्यापकर्षमात्रजनितं न भवति कुत इत्यत्र हेतुमाह। बाह्यानि यान्यनिष्टाहारादीनि साधनानि तेषां यस्तदनुरूपः प्रकर्षस्तस्याङ्गभावात्कारणभावादिति। विपर्यते बाधकमाह। इहेत्यादि तद्दुःखमन्यथा यदि पुण्यापकर्षमात्रजन्यं भवेत्तदा पुण्यसंपाद्येऽष्टाहारापचयमात्रादेव भवेन्न तु पापोदयसंपाद्यानिष्टाहारादिरूपविपरीतबाह्ये साधनानां यद्बलं सामर्थ्यं यस्य स्वानुरूपो यः प्रकर्षस्तमपेक्षेत। इदमत्र हृदयं यदि पुण्यापकर्षमात्रजन्यं दुःखं भवेत्तदा पुण्योदयप्राप्येष्टाहारादिसाधनापकर्षमात्रादेव भवेन्न चैतदस्ति इष्टविपरीतानिष्टाहारादिसाधनसामर्थ्यादेव तद्भावादिति। अपि च॥

देहो नोपचयकओ, पुण्णुक्करिसे व मुत्तिमत्ताओ।
होज्ज सुभहीणतरओ, कहमसुभयरो महल्लो व॥

वो दुःखितहस्त्यादिदेहः केवलपुण्यापचयमात्रकृतो न भवति मूर्त्तिमत्वाद्यथा पुण्योपकर्षस्तज्जन्योऽनुत्तरसुरचक्रवर्त्त्यादिदेहः यश्च पुण्यापचयमात्रजन्यः स मूर्त्तिमानपि न भवति यथा न कोऽपि यदि च पुण्यापचयमात्रेण देहो जन्येत तदा हीनतरः शुभ एव च स्यात्कथं महानशुभतरश्च भवेन्महतो महापुण्योपचयजन्यत्वादशुभस्य वा शुभकर्म्मनिर्वर्तित्वात्पुण्येन पुनरणीयसापि शुभदेहो जन्येत। ननु दुःखितः अणीयसापि हि सुवर्णलवेन अणीयानपि सौवर्ण्ण एव घटो भवति न तु मार्त्तिकस्ताम्रादिर्वेदि। अथ केवलपापपक्षं संकीर्ण्य पुण्यपापपक्षं च दूषयितुमाह।

एवं चिय विवरीयं, जोएज्जा सव्वपावपक्खे वि।
न य साहारणरूवं, कम्मं तक्कारणाभावा॥

सर्वं पापमेवास्ति न तु पुण्यं पापापचयमात्रन्यत्वात्सुखस्येत्येतस्मिन्नपि पक्षे एवमेव केवलपुण्यवादोक्तदूषणाद्विपरीतगत्या सर्व्वं योजयेत्तद्यथा पापपकर्षमात्रजनितं सुखं न भवति पापस्याल्पीयसोऽपि दुःखजनकत्वान्न ह्यणीयानपि विषलवः स्वास्थ्यहेतुर्भवति तस्मात्पुण्यजनितमेवाल्पमपि सुखमित्यादि स्वबुद्ध्याऽभ्यूह्य वाच्यमिति पृथक् सुखदुखयोः कारणभूते स्वतन्त्रे पुण्यपापे द्रष्टव्ये। अत एव साधारणेऽपि संकीर्णे पुण्यपापे नेष्टव्ये कुत इत्याह। नयेत्यादि न च साधारणरूपं संकीर्णस्वभावं पुण्यपापात्मकमेकं कर्म्मास्ति तस्यैवंभूतस्य कर्म्मणः कारणा-भादत्र प्रयोगो नास्ति संकीर्णोभयरूपं कर्म्म असंभाव्यमानैवं-विधकारणत्वाद्वन्ध्यापुत्रवदिति हेतोरसिद्धतां परिहरन्नाह।

कम्मं जोगनिमित्तं, सुभो सुभो वा भवेगसमयम्मि।
होज्ज न उ उभयरूवो, कम्मं पि तओ तयणुरूवं॥

मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतव इति पर्यन्ते योगाभिधानात्सर्वत्र कर्म्मबन्धहेतुत्वस्य योगाविनाभावात् योगानामेव बन्धहेतुत्वमिति कर्म्मयोगनिमित्तमुच्यते। स च मनोवाक्कायात्मको योग एकस्मिन्समये शुभोऽशुभो वा भवेन्न तूभयरूपोऽतः कारणानुरूपत्वात्कार्यस्य कर्म्मापि तदनुरूपं शुभं पुण्यरूपं वध्यते। ननु संकीर्णस्वभावमुभयरूपमेकमिहैव वध्यत इति प्रेरकः प्राह॥

नणु मणवइकायजोगो, सुभासुभा एगसमयम्मि दीसंत।
दव्वम्मि मीसभावो, भवेज्ज न उ भाव करणम्मि॥

ननु मनोवाक्काययोगाः शुभाशुभाश्च मिश्रा इत्यर्थः। एकस्मिन् समये दृश्यन्त तत्कथमुच्यते। शुभोऽशुभो वा (एगसमयम्मित्ति) तथा हि किञ्चिदविधिना दानादिवितरणं चिन्तयतः शुभोऽशुभो मनोयोगस्तथा किमप्यविधिनैव दानादिधर्म्ममुपदिशतः शुभाशुभो वाग्योगस्तथा किमप्यविधिनैव जिनपूजावन्दनादिकाय चेष्टां कुर्वतः शुभाशुभकाययोग इति तदेतत् अयुक्तं कुत इत्याह ''दव्वम्मीत्यादि'' इदमुक्तं भवति इह द्विविधो योगो द्रव्यतो भावतश्च तत्र मनोवाक्काययोगप्रवर्तकानि द्रव्याणि मनोवाक्काय-परिस्पन्दात्मको योगश्च द्रव्ययोगः यस्त्वेतदुभयरूपयोगहेतुरध्यवसायः स भावयोगस्तत्र शुभाशुभरूपाणां यथोक्तचिन्तादेशनाकायचेष्टानां प्रवर्त्तको द्विविधेऽपि द्रव्ययोगे व्यवहारनयविवक्षादर्शनमात्रेणभवेदपि शुभाशुभत्वोपलक्षणो मिश्रभावः न तु मनोवाक्काययोगनिबन्धनाध्यवसायरूपे भावकरणे भावात्मके योगेऽयमभिप्रायः। द्रव्ययोगो व्यवहारनयदर्शनेन शुभाशुभरूपोऽपीष्यते निश्चनयेन तु भूयोऽपि शुभोऽशुभो वा केवलः समस्ति यथोक्तचिन्तादेशनादिप्रवर्त्तकद्रव्ययोगानामपि शुभाशुभमिश्ररूपाणां तन्मर्तनाभावात्मनोवाक्काययोगनिबन्धनाध्यवसायरूपे भावकरणभावयोगे शुभाशुभरूपो मिश्रभावो नास्ति निश्चयनयदर्शनस्यैवागमेऽत्राविवक्षितत्वान्न हि शुभान्यशुभानि बाध्यवसायस्थानानि मुक्त्वा शुभाशुभाध्यवसायस्थानरूपस्तृतीयो राशिरागमे क्वचिदपीष्यते येनाध्यवसायरूपे भावयोगे शुभाशुभत्वं स्यादिति भावस्तस्माद्भावयोग एकस्मिन्समये शुभोऽशुभो वा भवति न तु मिश्रस्ततः कर्म्मापि तत्प्रत्ययं पृथक् पुण्यरूपं पापरूपं वा बध्यते न तु मिश्ररूपमिति स्थितं एतदेव समर्थयन्नाह॥

ज्झाणं सुभमसुभं वा, त उ मीसं जं च ज्झाणोवरमे वि।
लेसा सुभासुभा वा, सुभमसुभं वा तओ कम्मं॥

ध्यानं यस्मादागमे एगदा धर्म्मशुक्लध्यानात्मकं शुभमार्तरौद्रात्मकमशुभं वा निर्दिष्टं न तु शुभाशुभरूपं यस्माच्च ध्यानोपरमेऽपि लेश्या तेजसीप्रभृतिका शुभा कापोतीप्रमुखा वा अशुभा एकदा प्रोक्ता न तु शुभाशुभरूपा ध्यानलेश्यात्मका स्वभावयोगास्ततस्तेऽप्येकदा शुभा अशुभा वा भवन्ति न तु मिश्रास्ततो भावयोगनिमित्तं कर्म्माप्येकदा पुण्यात्मकं शुभं वध्यते पापात्मकमशुभं वा बध्यते न तु मिश्रमपि। अपि च।

पुव्वग्गहियं च कम्मं, परिणामवसेन मीसइयं नेज्जा।
इयरेयरभावं वा, सम्मामित्थाइ न उग्गहणे॥

इत्यथवा एतदद्यापि सम्नाव्यते यत्पूर्वं गृहीतं पूर्वं बद्धं मि-

श्यात्वलक्षणं कर्म्म परिणामवशात्पुञ्जत्रयं कुर्वन्मिश्रतां सम्यक्-मिथ्यात्वपुञ्जरूपतां नयेत्प्रापयेदिति। इतरेतरभावं वा नयेत्सम्यक्त्व-मिथ्यात्वश्चेति। इदमुक्तम्भवति पूर्वबद्धात् मिथ्यात्वपुद्गलाद्विशुद्ध-परिणामं संशोधयित्वा सम्यक्त्वरूपतां नयेदविशुद्धपरिणामं तु समुत्कर्ष नीत्वा सम्यक्त्वपुद्गलान् मिथ्यात्वपुञ्जे संक्रमय्य मिथ्यात्वरूपतां नयेदिति पूर्वगृहीतस्य सत्तावर्तिनः कर्म्मण इदं कुर्यात्। ग्रहणकाले पुनर्न मिश्रः पुण्यपापपरुषतया संकीर्णस्वभावं कर्म बध्नाति। नापि इतररूपतां नयतीति विशे०। (पुण्यपापप्रकृतयः अत्रैव कम्मशब्दे वक्ष्यन्ते) तदेवं पुण्यपापे पृथग्व्यवस्थाप्येदानीं तयोरेव पृथग्लक्षणमाह।

सोहणवण्णाइगुणं, सुभाणुभावं च जं तयं पुण्णं।
विवरीयमसुभपावं, न वायरं नाइसुहुमं च॥

शोभनाः शुभा वर्णादयो गन्धरसस्पर्शलक्षणा गुणा यस्य तच्छोभनवर्णादिगुणं तथा यच्छुभानुभावं शुभविपाकमित्यर्थः। तत्पुण्यमभिधीयते। यत्पुनरतः पुण्याद्विपरीतलक्षणशुभं वर्णादिगुणम-शुभविपाकं चेत्यर्थः। तत्पापमुच्यते। एतच्चोभयमपि कथंभूतमित्याह। न मेर्वादिभावेन परिणतस्कन्धवदतिबादरं सूक्ष्मेण कर्म्मवर्गणा द्रव्येण निष्पन्नत्वान्नापि परमाण्वादि वदतिसूक्ष्मवदिति। आह ननु तत्पुण्यपापरूपं कर्म्मद्वयं गृह्णानो जीवः कीदृशं गृह्णाति कथं च गृह्णातीत्याह।

गिण्हइ तं जोग्गं चिय, रेणुं पुरिसो जहा कयब्भंगो।
एगक्खेत्तोगाढं, जीवो सव्वप्पएसेहिं॥

तस्य पुण्यपापात्मकस्य कर्म्मणो योग्यमेव कर्मवर्गणागतं द्रव्यं जीवो गृह्णाति। न तु परमाण्वादिकमौदारिकादिवर्गणागतं वा योग्यमित्यर्थः। तदप्येकक्षेत्रावगाढमेव गृह्णाति न तु स्वावगाढप्रदेशभ्यो भिन्नप्रदेशाव-गाढमित्यर्थः। तच्च यथा तैलादिकृताभ्यङ्गः पुरुषो रेणुं गृह्णाति। तथा रागद्वेष-क्लिन्नस्वरूपो जीवोऽपि गृह्णाति न तु निर्हेतुकमिति भावः। इदं च सर्वैरपि स्वप्रदेशैर्जीवो गृह्णाति न तु कैश्चिदित्यर्थः। उक्तं च।

एगपएसोगाढं, सव्वपएसेहिं कम्मणो जोग्गं।
बंधइ जहुत्तहेउं, साइयमणाइयं वा वि॥

उपशमश्रेण्या प्रतिपतितो मोहनीयादिकं कर्म्मादि बध्नाति। शेषस्त्वनवाप्तोपशमश्रेणिजीवो नाद्यमेव बध्नातीत्यर्थः इति। अथ प्रेरकः प्राह।

अविसिट्ठपोग्गलघणो, लोए थूलतणुकम्मपविभागो।
जुज्जेज्ज गहणकाले, सुभासुभविएयणं कत्तो॥

नन्ववशिष्टैः प्रत्याकाशप्रदेशमनन्तानन्तशुभाशुभादिभेदना-व्यवस्थितैः पुद्गलैर्घनो निरन्तरं व्याप्तो यो लोकस्तत्तश्च ग्रहणकाले गृह्णतो जीवस्य स्थूलसूक्ष्मकर्म्मप्रविभागो युज्येता ततो "न बायरं नाइसुहुमं चे" ति विशेषणमुपपन्नमेतद्विशेषणविशिष्टादन्यस्य स्वभावत एव जीवैरग्रहणाद्यतु शुभाशुभविवेचनं तत्समयमात्ररूपे कर्म्मग्रहणकाले तत्क्षण एव गृह्णतो जीवस्य कुतः संभाव्यतेन कुतश्चिदिति परस्याभिप्रायः। ततश्च "सोहणवण्णाइगुणमि" त्यादिविशेषणं न युज्यत इति प्रेरकाकृतमिति। आचार्यः प्राह।

अविसिट्ठं चिय तं सो, परिणामासयसभावउक्खिप्पं।
कुरुते सुभमसुभं वा, गहणे जीवो जहाहारं॥

स जीवस्तत्कर्म्मग्रहणे ग्रहणकाले शुभाशुभादिविशेषणाविशिष्टमपि गृह्णन् क्षिप्रं तत्क्षणमेव शुभमशुभं वा कुरुते शुभाशुभविभागेन स्थापयतीत्यर्थः। कुत इत्याह (परिणामासयसभावउ त्ति) इहाश्रयो द्विविधः कर्मत्वशुभाशुभत्वस्य तस्य द्विविधस्याप्याश्रयस्वभावः परिणामश्चाश्रयस्वभावश्च परिणामाश्रयस्वभावौ ताभ्यामेतत्कुरुते। इह मुक्तं भवति जीवस्य शुभोऽशुभो वा परिणामोऽध्यवसायस्तद्वशाद् ग्रहणसमय एव कर्म्मणां शुभत्वमशुभत्वं वा जनयति तथा जीवस्यापि कर्म्माश्रयभूतस्य स कोऽपि स्वभावोऽस्ति येन शुभाशुभत्वेन परिणमयतैव कर्म्म गृह्णति तथा कर्म्मणोऽपि शुभाशुभ-भावाद्याश्रयस्य स स्वभावः स कश्चिद्योग्यता विशेषोऽस्ति येन शुभाशुभपरिणामान्वि-तजीवेन गृह्यमाणमेवैतद्रूपतया परिणमति उपलक्षणं चैतत्प्रकृतिस्थि-त्यनुभागवैचित्र्यं प्रदेशानामल्प-बहुभागवैचित्र्यं च जीवः कर्म्मणो ग्रहणसमय एव सर्वं करोतीत्युक्तञ्च "गहणसमयम्मि जीवो, उप्पाए य गुणे सव्वपव्वय-उ। सव्वजियाणंतगुणे, कम्मपएसेसु सव्वेसु। आउयभागो थोवो, नामे गोए तओ अहिगो। आवरणमंतराय–सरिसो अहिगोयमोपविसव्वो। वरिवेयणीयभागो, अहिगो ऊ कारणं किं तु। सुहदुक्खकारणत्ता, विईविसेसेण सेसासुत्ति" एतत्सर्वं कर्मणो ग्रहणसमये आहारदृष्टान्तेन जीवः करोतीति। आहारदृष्टान्तमेव भावयति।

परिणामासयवसओ, धेणुस्य जह पओ विसमहिस्स।
तुल्लो वि तदाहारो, तह पुण्णापुण्णपरिणामो॥

(तदाहारोत्ति) तयोरहिधेन्वोराहारस्तदाहारः स तुल्योऽपि-दुग्धादिको गृहीतः परिणामाश्रयवशाद्यथा धेन्वाः पयो दुग्धं भवति। अहेस्तु स एव विषं विषरूपतया परिणमति। तथा तेनैव प्रकारेण पुण्यापुण्यपरिणामः इदमुक्तं भवति अस्ति स कश्चित्तस्याहारस्य परिणामो येन तुल्योऽपि सन्नाश्रयवैचित्र्याद्विचित्रतया परिणमति आश्रयस्याप्यहिधेनुलक्षण-स्यापि तत्तन्निजसामर्थ्यं येन तुल्योऽपि गृहीत आहारस्तद्रूपतया परिणसति। तथा पुण्यपापयोरुपनययोजना कृतैवेति। अथवा अयमेवाहारदृष्टान्तो भाव्यते तद्यथा।

जह वेगसरीरम्मि वि–सारासारपरिणामयामेइ।
अविसिट्ठो आहारो, तह कम्मसुभासुभविभागो॥

धेनुविषधरयोः भिन्नशरीरे आहारस्य परिणामवैचित्र्यं दर्शितम्। वा इत्यथवा यथा एकस्मिन्नपि पुरुषादिशरीरे विशिष्टेऽप्येकरूप आहारो गृहीतस्तत्क्षण एव सारासारपरिणामतामेति। रसासृग्मांसा हि रसपरिणामं मूत्रपुरीषरूपखलपरिणामं च युगपदागच्छतीत्यर्थः। तथा कर्मणोऽप्य-विशिष्टस्य गृहीतस्य परिणामवशात् शुभाशुभविभागो द्रष्टव्य इति। तदेवं पुण्यपापयोर्लक्षणादिभेद प्रसाध्य तद्भेदभूतप्रकृतिभेदेनापि तयोर्भेदमुप-दर्शयन्नाह।

सायं सम्मं हासं, पुरिसरइसुभाउनामगोत्ताइं।
पुन्नं सेसं पावं, नेयं सविवागमविवागं॥

सातवेदनीयं शोधितमिथ्यात्वपुद्गलरूपं सम्यक्त्वं हास्यं पुरुषवेदो रतिः शुभायुर्नामगोत्राणि चेत्येतत्सर्वं पुण्यमभिधीयते। तत्र नारकायूर्वर्ज्यं शेषमायुस्त्रयं शुभं देवद्विकयशःकीर्तितीर्थकरनामाद्याः सप्तत्रिंशत्प्रकृतयो नामकर्म्माणि शुभाः। गोत्रे पुनरुच्चैर्गोत्रे शुभमेतोः षट्चत्वारिंशत्प्रकृतयः किल शुभत्वा-त्पुण्याः। अन्ये तु मोहनीयभेदात्सर्वानपि जीवस्य विपर्यासहेतुत्वात्पापमेव मन्यन्ते ततः सम्यक्त्वादस्य पुरुष-वेदरतिवर्ज्या द्विचत्वारिंशदेव प्रकृतय : पुण्यास्तद्यथा॥

सो यं उच्चारो यं, नरतिरिदेवाउयाइ तह नामे ।
देवदुगं मणुयदुगं, पणिंदजाईयतणुपणगं ॥
अंगोवंगाणतिगं, पढमसंघयणमेव सिच्चयणं ।
सुभवणणाइं सुचउक्कं, अगुरुल्लहू तह य परघायं ॥
ऊसासं आयावं, उज्जोयविहागई विप्पएसत्था ।
तसबापरपज्जत्तं, पत्तेयथिरं सुभं सुभगं ॥
सुस्सर आपज्ज जसं, निमेण तित्थयरमेव एआउ ।
बायालं एगई उ, पुणंति जिणेहिं भणिया उ ॥

शेषास्तु या द्व्यशीतिप्रकृतयस्तत्सर्वमशुभत्वात्पापं विज्ञेयं सम्यक्त्वं कथमशुभं कथं तत्पापमिति चेदुच्यते रुचिरूपमेव हि सम्यक्त्वं शुभं तत्त्वेन विचार्यते किं तु शोधितमिथ्यात्वपुद्गल-रूपं तच्चा शङ्काद्यनर्थहेतुत्वादशुभमेव अशुभत्वाच्च पापं सम्यग्रुचेश्चातिशयेन नानाचारकत्वादुपचारमात्रमेवेदं सम्यक्त्वमुच्यते परमार्थतस्तु मिथ्यात्वमेवैतदित्यवं प्रसङ्गेन । इहं च पुण्यपापलक्षणमुभयमपि सविपाकमविपाकं स मन्तव्यं यथा बद्धं तथैव विपाकतः किंचिवेद्यते किंचिदनुमन्दरसं नीरसं वा कृत्वा प्रदेशोदयेनाविपाकं वेद्यत इत्यर्थः । तदेवं पुण्यं पापं च भेदेन व्यवस्थाप्य निरस्तः संकीर्णपुण्यपाएपक्षः । इतश्चायमुक्तः सर्वस्यापि सन्मिश्रसुखदुःखाख्यकार्यप्रसंगान्न चैतदस्ति देवादीनां केवलं सुखाधिक्यदर्शनान्नारकादीनां केवलदुःखप्राचुर्यनिर्णयान्न च सर्वथा सन्मिश्रैकरूपस्य हेतोरल्पबहुत्वभेदेऽपि कार्यस्य प्रमाणतोऽल्पबहुत्वं विहाय स्वरूपतो भेदो युज्यते । न हि मेचककारणप्रभवं कार्यमन्यतमवर्णात्कटं घटते तस्मात्सुखातिशयस्यान्यन्निमित्तमन्यच्च दुःखातिशयस्येति । न च सर्वथैव रूपस्य संकीर्णपुण्यपापलक्षणस्य हेतोः सुखातिशयनिबन्धनं पुण्यांशवृद्धिदुःखातिशयस्य कारणपापांशहान्या सुखातिशय-प्रभवाय कल्पयितुं न्याय्या पुण्यांशपापांशयोर्भेदप्रसंगात्तथा हि यत् वृद्धावपि न वर्द्धते तत्ततो भिन्नं यथा देवदत्तवृद्धावप्यवर्द्धमानो यज्ञदत्तो न वर्द्धते पुण्यांशवृद्धौ पापांशस्तस्मात्ततो भिन्नोऽसाविति तस्मान्न सर्वथैकरूपता पुण्यपापांशयोर्घटते कर्मसा मान्यरूपतया यद्यसौ तयोरिष्यते तदा सिद्धसाध्यता सातयशः कीर्त्यादिः पुण्यस्य, असातायशःकीर्त्यादिस्तु पापस्य, अस्माभिरपि कर्म्मत्वेनैकताया अभ्युपगमात्तस्मात्पुण्यपापतया विविक्ते एव पुण्यपापे स्त इति । ततः सुखदुःखवैचित्र्यनिबन्धनयोः पुण्यपापयोर्यथोक्तनीत्या साधितत्वान्न कर्त्तव्यः तत्संशयः किं वा सत्वे पुण्यपापयोर्वेदोक्तनीत्या साधितस्याग्निहोत्रादेः लोकप्रसिद्धस्य च दानादेर्वैफल्यं स्यादिति दर्शयन्नाह ।

असइ बहि पुन्नपावे, जमग्गिहोत्ताइ सग्गकास्स ।
त दसंबद्धं सव्वं, दाणाइफलं च लोयम्मि ॥

पुण्यपापयोरसत्वे यदेतद्बहिरग्निहोत्राद्यनुष्ठानं स्वर्गकायस्य यच्च दानहिंसादिफल पुण्यपापात्मकं लोके प्रसिद्धं तत्सर्वमसंबद्धं स्यात्स्वर्गस्यापि पुण्यफलत्वात्पुण्यपापयोश्च भवदभिप्रायेणासत्त्वात्तस्मादभ्युपगन्तव्ये एव पुण्यपापे तदेवं वेदपदवचनप्रामाण्याद्युक्तितश्च छिन्नस्तस्य संशय इति । ततः किं कृतवानसावित्याह ।

छिन्नम्मि संसयम्मि, जिणेण जरमरणविप्पमुक्केण ।
सो समणो पव्वईओ, तिहिं उसहखंमियसएहिं ॥

गतार्था इति चतुश्चत्वारिंशद्वारार्थः विशे० ।

(१६) कर्मणश्चतुर्विधत्वम् ।

पुण्यपापयोः पृथक्त्वख्यापके सूत्रे–

एगे पुण्णे एगे पावे (स्था० १ ठा०) चउव्विहे कम्मे पण्णत्ते तं जहा सुभे णामं एगे सुभेसुभेणामगेगे असुभे असुभेणामगेगे ४। चउव्विहे कम्मे पण्णत्ते तं जहा सुभेणाममेगे सुभविवागे सुभेणाममेगे असुभविवागे असुभेणाममेगे सुभविवागे असुभेणाममेगे असुभविवागे ४।

क्रियत इति कर्म ज्ञानावरणीयादि तत् शुभपुण्यप्रकृतिरूपं पुनः शुभं शुभानुबन्धित्वाद्धरतादीनामिव शुभं तथैवाशुभमशुभानुबन्धित्वात् ब्रह्मदत्तादीनामिव अशुभं पापप्रकृतिरूपं शुभं शुभानुबन्धित्वात् दुःखितानामकामनिर्जरावतां गवादीनामिव अशुभं तथैव पुनरशुभमशुभानुबन्धित्वान्मत्स्यबन्धादीनामिवेति । तथा शुभं सातासातादित्वेनैव बद्धं तथैवोदेति यत्तत्शुभविपाकं यत्तुबद्धं शुभत्वेन संक्रमकरणवशात्तदेति च शुभत्वेन तत् द्वितीयं भवति च कर्म्मणि कर्म्मान्तरानुप्रवेशसंक्रमाभिधानकरणवशादुक्तं च ''मूलप्रकृत्यभिमानाः संक्रम्यति गुण उत्तराः प्रकृतीः । न त्वात्मा मूर्तत्वादध्यवसानप्रयोगेणेति'' ॥१॥ तथा मतान्तरं ''मोत्तूणमाउयं खलु, दंसणमोहं चरित्तमोहं च । सेसाणं पयमीणं, उत्तरविहि संकमो भणिओति'' ॥१॥ यद्बद्धमशुभतयोदेति च शुभतया तत् तृतीयं चतुर्थं प्रतीतमिति तृतीयं कर्म्मसूत्रमत्रत्यद्वितीयोद्देशकबन्धसूत्रवत् ज्ञेयमिति चतुर्विधकर्म्मस्वरूपम् ॥ स्था० ४ ठा० ४ उ० ॥

(१७) अथ कर्मणोऽबद्धस्पृष्टवादिगोष्ठामाहिलनिह्नवमतम् ॥

किं कंबुउव्व कम्मं, पइपएसमह जीवपज्जंते ।
पइदेस सव्वगयं, तदंतरालाणवत्थाओ ॥
अह जीवबहिंतो ना–णुवत्तएत्तं भवंतरालम्मि ।
तदणुगमाभावा उ–वज्झंगमलोच्च मुच्चत्तं ॥
एंव सव्वविमोक्खो, निक्कारणो वि सव्वसंसारो ।
भवमुक्काणं च पुणो, संसरणमउअणासासो ॥

ननु ''पुट्ठो जहा अबद्धो कंचुइणमित्यादि'' गाथायां कञ्चुकमिव स्पृष्टमेव जीवे कर्म्म न तु बद्धमिति यदुच्यते । भवता तद्विचार्यते किं कञ्चुकवत्स्पृष्टं कर्म्म जीवस्य प्रतिदेशं वृत्तं सदुच्यते । आहोस्विज्जीवपर्यन्ते त्वक्पर्यन्त एव वृत्तं स्पृष्टमिष्यत इति द्वयी गतिः तत्र यदि प्रतिप्रदेशं वृत्तत्वात्स्पृष्टमिष्टं तर्हि जीवे सर्वगतं कर्म्म प्राप्नोति । नभोवत् कुतः सर्वगतमित्याह । तदन्तरालेत्यादि तस्य जीवस्यान्तरालं मध्यं तदन्तरालं तस्यानवस्थातस्यस्य कर्म्माव्याप्तस्यानवस्थानादनुद्धरणादित्यर्थः । न हि प्रति प्रदेशं वृत्तो कर्म्मणि जीवस्य कोऽपि मध्यप्रदेश उद्धरति येन कर्म्मणस्तत्रासर्वगतत्वं स्यात्तस्मादाकाशेनैव कर्म्मणा जीवस्य प्रतिप्रदेशं व्याप्तत्वात्तस्य जीवे सर्वगतत्वं सिद्धमेव एवं च सति साध्यविकलत्वात्कञ्चुकदृष्टान्तोऽसंबद्ध एव प्राप्नोति साध्यस्य यथोक्तस्पर्शनस्य कञ्चुके भावादिति द्वितीयं विकल्पमधिकृत्याह ''अहेत्यादि'' अथ जीवस्य बहिस्त्वक्पर्यन्ते वृत्तत्वात्कञ्चुकवत्स्पृष्टं कर्म्मेष्यते तर्हि भवाद्भवान्तरं संक्रामतोऽन्तराले तन्नानुवर्त्तते तदनुवृत्तिर्न प्राप्नोति त्वक्पर्यन्तवृ-

त्तत्वेन तदनुगमाभावाद्बाह्याङ्गमलवदिति सुव्यक्तमेव बालानामपि प्रतीतत्वादिति भवत्वननुवृत्तिः कर्म्मणो भवान्तराले को दोष इत्याह (एवमित्यादि) एवं कर्म्मणोऽननुवृत्तौ सत्यां सर्वेषामपि जीवानां विमोक्षः संसाराभावः प्राप्नोतीति संसारकरणस्य कर्म्मणोऽभावादथ निष्कारणोऽपि संसार इष्यते तर्हि ये व्रततपोब्रह्मचर्यादिकष्टानुष्ठानानि कुर्वते तेषामपि सर्वेषां संसार एव स्यात् निष्कारणत्वाविशेषान्निष्कारणं च जायमानं भवमुक्तानामपि सिद्धानामपि पुनरपि संसरणं संसारः स्यादिति मुक्तावप्यनाश्वास इति । किंच त्वक्पर्यन्तवर्त्तिनि कर्म्मणीष्यमाणे अपरोऽपि दोषः क इत्याह।

देहंतो जा वियणा, कम्माभावम्मि किंनिमित्ता सा।
निक्कारणा वि जइ तो, सिद्धो वि न वेयणारहितो ॥

जइ बज्झनिमित्ता सा, तदभावे सा न होज्ज तो अंतो।
दिट्ठा य सा सुबहुसो, बाहिं निव्वेयणस्सा वि ॥

जइ वा वि भिन्नदेसं, पि वेयणं कुणइ कम्म एवं तो।
कहमन्नसरीरगयं, न वेयणं कुणइ अन्नस्स ॥

यदि कञ्चुकबद्बहिरेव वर्त्तते कर्म्म तदा देहस्यान्तर्मध्ये या शूलगुल्मादिवेदना सा किंनिमित्तेति वक्तव्यं साध्यं तत्कारणभूतस्य कर्म्मणोऽभावादथ निष्कारणाऽपि देहान्त र्वेदनाऽभ्युपगम्यते ततस्तर्हि सिद्धोऽपि न वेदनारहित स्यान्निष्कारणत्वाविशेषादिति । अथ बाह्यवेदनानिमित्ता साऽन्तर्वेदनाऽभ्युपगम्यते बहिर्वेदना हि लगुडघातादिजन्या प्रादुर्भवतीति मध्येऽपि वेदना जनयत्येवेति यदि तवाभिप्रायस्तर्हि तदभावे लगुडघातादिजन्यवेदनाविरहे साऽन्तर्वेदना न भवेन्न जायेत अस्त्वेवमिति चेत्तदयुक्तं यतो दृष्टासौ सुबहुशःशूलादिप्रभवाऽन्तर्वेदना कस्येत्याह। ''बाहिमित्यादि'' बहिर्निर्वेदन-स्यापि बहिर्लगुडादिघातजन्यवेदनारहितस्यापीत्यर्थः । यदि ह्ययं नियमः स्याद्यदुत बहिर्लगुडघातादिवेदनासद्भाव एवान्तर्वेदना प्रादुरस्तीति तदा स्यादपि त्वदभिप्रेतं न चैवं यतोऽनुभूयते मध्ये कर्मणाऽपि भाव्यमिति सिद्धोऽस्मत्पक्ष इति । अथैवं मन्यसे बहिस्त्वक्पर्यन्तवर्त्यपि कर्म्म मध्येऽपि शूलादि वेदनां जनयति न पुनर्मध्ये कर्म्मास्ति तदयुक्तं यतो यदि बहिर्व्रर्त्तिवि-भिन्नदेशस्थितमपि कर्म्मान्यस्मिन्मध्यलक्षणे देशान्तरे वेदनां करोतीत्यभ्युपगम्यते एवं तर्हि कथं केन हेतुना अत्यशरीरगतं कर्म्म अन्यस्य यज्ञदत्तादेर्वेदनां न करोति । ननु करोतु नामैवमपि देशान्तरत्वाविशेषादिति भावः । अत्र पराभिप्रायमाशङ्क्य परिहर्तुमाह।

अह भे संचरइ मई, न बहिं तो कंचुगो व्व निच्चत्थं।
कंचुगवं पि वेयणा, सव्वम्मि विहीसई देहो ॥

अथ भवतो मतिः एकस्य देवदत्तशरीरस्य बहिरन्तश्च सञ्चरति तत्कर्म्म ततस्तत्र बहिरन्तश्च वेदनां जनयति न शरीरान्तरे स्वाधारशरीरे बहिरन्तश्च संचरणादन्यशरीरे त्व संचरणादिति । अत्रोच्यते (न बहिमित्यादि) ततस्तर्हि सर्प्पस्य कञ्चुकवज्जीवस्य बहिरेव कर्म्म नित्यं तिष्ठतीति नित्यस्थमिति यद्भवतो मतं तन्न प्राप्नोति किं तु कदाचिद्बहिः कदाचित्त्वन्तः कर्म्मणः सञ्चरणाभ्युपगमाः कञ्चुकवन्नित्यं बहिरेव तिष्ठतीति नियमस्याघटनात्प्लवत एव तदिति भावः । किंच कर्म्मणः सञ्चरणे बहिरन्तश्च क्रमेणैव वेदना स्यान्न चैतदस्ति लगुडाद्यभिघाते बहिरन्तश्च युगपदेव वेदनादर्शनात्तस्मान्न कर्म्मणः संचरणमुपपद्यत इति। कर्म्मणः सञ्चरणे दूषणान्तरमप्याह॥

न भवंतरमन्नेइ य, सरीरसंचारउ गदनिलो व्व।
चलियं निज्जरियं चिय, भणियमकम्मं च जं समए ॥

किंच यदि संचरिष्णु कर्म्माभ्युपगम्यते तर्हि मृतस्य तद्भवान्तरमन्वेति भवान्तरे तस्यानुगमनं न प्राप्नोतीत्यर्थः । शरीरे सञ्चरणादिति हेतुः अनिलवदिति दृष्टान्तः । इह यच्छरीरे बहिरन्तश्च संचरति न तद्भवान्तरमन्वेति यथोच्छासनिश्वासानिलः तथा च कर्म्म तस्मान्न भवान्तरमन्वेतीति । आह नन्वागमेऽपि ''चलमाणेचलिए त्ति'' वचनात्कर्म्मणश्चलनमुक्तम् ॥ विशे० ॥ (कार्य्यकारणभावः कञ्जकारणभावशब्दे दर्शितः) चलनं च संचरणमेवोच्यते तत्किमिति तदिह निषिध्यते तदयुक्तमभिप्रायापरिज्ञानादित्याह । ''चलियमित्यादि'' नेरइय जाव वेमाणिए जीवाओ चलियं कम्मं निज्जरइ ''इत्यादिवचनात्तथा'' निज्जिज्जमाणं निज्जिण्णमिति'' वचनाच्च यद्यस्मात्समये आगमे चलितं कर्म्म निर्जीर्णमुक्तं तदकर्मैव भणितं तच्च मध्ये गतमपि न वेदनां जनयितुमलमकर्मणो नभः परमाण्वादेरिव तत्सामर्थ्याभावात्तस्मादित्थमनेकदोषदुष्टत्वाद युक्तं कर्म्मणः संचरणामित्यतो मध्ये व्यवस्थित कर्म्मास्तीति स्थितम्।

मध्ये कर्म्मावस्थानसाधनार्थमेव प्रमाणयन्नाह–

अंते वि अत्थि कम्मं, वियणासब्भावाउ तयइ व्व।
मिच्छत्ताईपच्चय–सब्भावाउ य सव्वत्थ ॥

अन्तर्मध्येऽप्यस्ति कर्म्मेति प्रतिज्ञा वेदनासद्भावादिति हेतुः त्वचीवेति दृष्टान्तः। इह यत्र वेदनासद्भावस्तत्रास्ति कर्म्म यथा त्वकपर्यन्ते, अस्ति चान्तर्वेदना ततः कर्म्मणाऽपि तत्र भवितव्यमेवेति। किंच मिथ्यात्वादिभिः प्रत्ययैः कर्म्म बध्यते ते च जीवस्य यथा बहिःप्रदेशेषु तथा मध्यप्रदेशेष्वपि यथा मध्यप्रदेशेषु तथा बहिःप्रदेशेष्वपि सर्वत्र सन्ति तेषामध्यवसायविशेषरूपत्वादध्यवसायस्य च समस्तजीवगतत्वादिति । तस्मान्मिथ्यात्वादीनां कर्म्मबन्धकारणानां जीवे सर्वत्र सद्भावात्तत्कार्यभूतं कर्म्मापि सर्वत्रैव तत्रास्ति न पुनर्बहिरेव तस्माद्बह्वयः पिण्डक्षीरनीरादिन्यायाज्जीवेन सहाविभागेनैव स्थितं कर्म्मेति प्रतिपद्यतां मिथ्याभिमान इति आह। ननु यदि जीवकर्म्मणोरविभागस्तर्हि तद्वियोगाभावान्मोक्षाभाव इत्युक्तमेवं दूषणामित्याशङ्क्याह।

अविभागठियस्स वि से, विमोयणं कंचनावेलाणं च।
नाणं किरियाहि कीरइ, मिच्छत्ताईहि वायाणं ॥

(से) तस्य कर्मणो जीवेन सहाविभागेन स्थितस्यापि काञ्चनोपलयोरिव विमोचनं वियोगो ज्ञानक्रियाभ्यां क्रियते। तथा तस्यैव कर्मणो मिथ्यात्वादितिरादानं ग्रहणं जीवेन सह संयोगो विधीयत इत्यर्थः । इदमत्र हृदयम्। इह जीवस्याविभागेनावस्थानं द्विधा विद्यते आकाशेन सह कर्मणा च। तत्राकाशेन सह यदविभागावस्थानं तन्न वियुज्यत एव सर्वर्द्धिमवस्थानात्। यत्तु कर्मणः सहा विभागावस्थानं तदप्यभव्यानां न वियुज्यते भव्यानां तु कर्मसंयोगस्तथाविधज्ञानतपः सामग्री सद्भावे वियुज्यते वह्न्योषध्यादिसामग्रीसत्वे काञ्चनोपलसंयोगवदिति । तथाविधज्ञानादिसामग्र्यभावे तु भव्यानामपि कर्मयोगः कदापि

न निवर्तते ''नो चेव णं भवसिद्धिए विरहिए लोए भविस्सइत्ति'' वचनात्तर्हि भव्याः कथं ते व्यपदिश्यन्ते इति चेदुच्यते। योग्यतामात्रेण न च योग्यः सर्वोऽपि विवक्षितपर्यायेण युज्यते प्रतिमादिपर्याययोग्यानामपि तथा विधदारुपाषाणादीनां तथाविधसामग्र्यभावे केषांचित्तदयोगादित्यलं विस्तरेण। प्रागेव गणधरवादे अस्यार्थस्य विस्तरेणोक्तत्वात्। कर्म जीवान्न वियुज्यते अन्योन्याविभागेनावस्थितत्वादित्यनैकान्तिकमुपायतो दृश्यमानवियोगैः क्षीरनीरकाञ्चनोपलादिभिर्व्यभिचारात्। ननु प्रस्तुतो जीवकर्मविभागः केनोपायेन विघटित इति चेन्नन्वभिहितमेव ज्ञानक्रियोपायतः इति मिथ्यादिभिर्हि जीवकर्मसंयोगः क्रियते मिथ्यात्वादिविपक्षभूताश्च सम्यग्ज्ञानादयोऽतस्तैस्तद्वियोगैर्युक्तियुक्त एव अन्नभोजनादि विपक्षभूतैर्लङ्घनादिभिस्तज्जनिताजीर्णसंयोगवदिति। अथादेवादिषु देवादिबुद्ध्याऽभिगमनवन्दनाभिर्हिंसादिभिश्च क्रियाभिर्जीवस्य कर्मणा संयोग इष्यते न तु दयादानशीलपालनसमितिगुप्त्यादिक्रियाभिस्तद्वियोग इत्याशङ्क्याह।

कह वा दोण किरिया–साफल्लं नेह तव्विघायम्मि।
किं पुरिसगारसज्झं, तस्से वा सज्झमेगंतो॥
असुभो तिव्वाईओ, जह परिणामो तदज्झणे भिमओ।
तहं तव्विओ च्चिय सुभो, किं नेट्ठो तव्विओगे वि॥

वाशब्दो युक्तेरभ्युच्चये। कथं वा हन्त! कर्मणः आदाने ग्रहणे क्रियाणां साफल्यमिह त्वयेष्यते न तु दयादानादिक्रियाणां तद्विघाते साफल्यमिति प्रेर्यते किमत्र राज्ञामाज्ञा प्रभवति न तु युक्तिः। किं चेदमपि प्रष्टव्योऽसि किं पापस्थानव्यापुतपुरुष-कारसाध्यं ''एगंतो'' इहापि संबध्यते एकं कर्मणः आदानमिष्यते एकं तु यत्तस्य निर्जरणं तत्तस्यैव संयमादिस्थान-विहितपुरुषकारस्यासाध्यमिष्यते इत्येतदपि व्यक्तः मेवेश्वरचेष्टितं भवतः। स्वेच्छाप्रवृत्तेरुपसंहरन्नाह। (तोत्ति) तस्माद्यथा येन प्रकारेण तीव्रमन्दमध्यमभेदभिन्नोऽशुभपरिणामस्तदर्जने तस्य कर्मणोऽर्जनमुपादानं ग्रहणं तत्र हेतुर्भवतोऽभिमतस्तथा तेनैव प्रकारेण तद्विध एव तीव्रादिभेदाभिन्नशुभपरिणामोऽशुभविपक्षत्वात् कर्मार्जनविपक्षभूते तद्वियोगेऽपि हेतुः किं नेष्टो ननु युक्तियुक्तत्वादेष्टव्य एवेति भावः। तस्माज्जीवेन सहाविभाग-स्थितस्यापि कर्मणः सिद्धो वियोग इति। विशे०। आ० म० द्वि०।

कर्मविषये शास्त्रान्तरीयमतम्–

अविद्याक्लेशकर्मादि, यतश्च भवकारणम्।
ततः प्रधानमेवैतत्, संज्ञाभेदमुपागतम्॥

''अविद्येति'' अविद्या वेदान्तिनां, क्लेशः सांख्यानां, कर्म जैनानाम्, आदिशब्दाद्वासना सौगतानां, पाशः शैवानाम्, यतो यस्माच्चकारो वक्तव्यान्तरसूचनार्थः। भवकारणं संसारहेतुस्ततस्तस्मादविद्यादीनां भवकारणत्वाद्धेतोः प्रधानमेवैतदस्म-दभ्युपगतं भवकारणं सत्संज्ञाभेदं नाम नानात्वमुपागतम्। द्वा० १६ द्वा०। यो० विं०। ''कम्मंति त्ति वा कलुसंति वा वज्झंति वो वेरं ति वा पंको त्ति या मलो त्ति एगट्ठिया इति'' व्य० १ उ०।

अथ कतिभेदं कर्मेत्याशङ्क्याह–

पयइठिइरसपएसा, तं च उहा मो पगस्स दिट्ठंतो।

तत्कर्म पूर्वव्यावर्णितशब्दार्थं चतुर्धा चतुष्प्रकारं चतुर्भेदं भवतीति शेषः। कथमित्याह (पवइठिइरसपएसत्ति) इह गम्ययपः कर्माधारे इति पञ्चमी यथा प्रासादीत्य इति ततश्च प्रकृतिस्थितिरसप्रदेशमाश्रित्य प्रकृतिबन्ध स्थितिबन्धन सबन्धप्रदेशबन्धतयेत्यर्थः। तत्र स्थित्यनुभागपदेश-बन्धानां यः समुदायः स प्रकृतिबन्धः। अध्यवसायविशेष गृहीतस्य कर्मदलिकस्य यत् स्थितिकालनियमनं स स्थितिबन्धः। कर्मपुद्गलानामेव शुभोऽशुभो वा धात्यधाती वा यो रसः सोऽनुभागबन्धोरसबन्ध इत्यर्थः। कर्मपुद्गलानामेव यद्ग्रहणं स्थितिरसनिरपेक्षदलिक संख्याप्राधान्येनैव करोति प्रदेशबन्धानी उक्तं च। ''ठिइबंधदलस्स ठिई, पएसबंधे पएसगहणं जं। ताण रसो अणुभागो, तस्समुदओ पगइबंधो'' अत्यत्राप्युक्तम्। ''प्रकृतिः समुदायः स्यात्स्थितिकालावधारणम्। अनुभागो रसः प्रोक्तः, प्रदेशे दलसंचयः'' इदं च प्रकृति-स्थितिरसप्रदेशानां स्वरूपं मोदकस्य कणिक्कादिमयलड्डुकस्य दृष्टान्ताद् दृष्टान्तेन भावनीयम्। दृष्टान्तादित्यत्र तृतीयार्थे पञ्चमी। यदाह पाणिनिः स्वप्राकृतलक्षणे व्यत्ययोऽप्यासामिति। यथा वातविनाशिद्रव्यनिष्पन्नो मोदकः प्रकृत्या वातमुपशमयति। पित्तोपशमकद्रव्यनिर्वृत्तः पित्तं कफापहारिद्रव्यसमुद्भूतं कफमित्येवंस्वभावा प्रकृतिः स्थितिस्तु तस्यैव कस्यचिद्दिनमेकम्, अपरस्य तु दिनद्वयम्, एवं यावत्कस्यचिन्मासादिकमपि कालं भवति ततः परं विनाशादिति। रसः पुनः स्निग्धमधुरादिरूपस्तस्यैव कस्यचिदेकगुणोऽपरस्य द्विगुणोऽन्यस्य त्रिगुण इत्यादिकः। प्रदेशाश्च कणिक्कादिरूपास्तस्यैव कस्यचिदेकप्रसृति प्रमाणाः अन्यस्य तु प्रसृतिद्वयप्रमाप्पाः यावदपरस्य सेटकादिप्रमाणाः एवं कर्मणोऽपि कस्यचन ज्ञानादिच्छादनस्वभावा प्रकृतिः अपरस्य दर्शनावरणरूपा अन्यस्य आह्लादादिप्रदानलक्षणा कस्यचित्सम्य-ग्दर्शनादिविघातजननस्वभावेत्यादि। स्थितिश्च तस्यैव कस्याचिस्त्रिंश-शतागरोपप्रकोटाकोटीरूपा अपरस्य तु सप्ततिसागरोपमकोटा-कोटिलक्षणेत्यादि। रसस्त्वनुभागशब्दवाच्यस्यैवैकस्थानद्विस्थानत्रि-स्थानादिरूपः प्रदेशा अल्पबहुतरबहुतमादिरूपा इति। कर्म०।

दुविहे कम्मे पण्णत्ते तं जहा पदेशकम्मे चेव अणुभावकम्मे चेव। (स्था० २ ठा०) चउव्विहे कम्मे पण्णत्ते तं जहा पगडीकम्मे ठिइकम्मे अणुभावकम्मे पदेसकम्मे। स्थ० ४ ठा०।

(१९) मूलप्रकृत्युत्तरप्रकृत्यादिना द्वैविध्यं निरूप्य नामादितोऽष्टविधत्वमाह।

मूलपगइट्ठ उत्तर–पगइ अट्ठपंचसयमेयं ति।

मूलप्रकृतयः सामान्यरूपा अष्टावष्टसंख्या यत्र तन्मूलप्रकृत्यष्टम् उत्तरप्रकृतीनां मूलप्रकृतिविशेषरूपाणामष्टपञ्चाशच्छतं भेदा यस्य तदुत्तरप्रकृत्यष्टपञ्चाशच्छतभेदमिति। कर्म०। आचा०। सूत्र०। उत्त०। नं०। भ०। पा० प्रज्ञा०। श्रा०। अन्त०। पं० सं०।

अथ कर्मप्रकृतय उच्यन्ते–

अट्ठकम्माई वोच्छामि, आणुपुव्विं जहक्कमं।
जेहिं बद्धो अयं जीवो, संसारे परिवत्तई॥१॥

हेजम्बूस्वामिन्! अहं यथाक्रममानुपूर्व्या अनुक्रमेण तानि अष्ट

कर्माणि वक्ष्यामि। क्रियन्ते मिथ्यात्वादिविरतिकषाययोगैर्हेतुभिः जीवेन इति कर्माणि अष्टसंख्यानि। अद्यप्यानुपूर्वी त्रिविधा वर्तते तथापि यथाक्रमं पूर्वानुपूर्व्या प्राकृतत्वात् तृतीयास्थाने प्रथमा। तानि कानि कर्माणि यैरष्टभिः कर्मबद्धो नियन्त्रितोऽयं जीवः संसारे चर्तुगतिभ्रमणे परिवर्तते विविधान् पर्यायान्।

नाणावरणं चेव, दंसणावरणं तहा।
वेयणिज्जं तथा मोहं, आउक्कम्मं तहेव य॥
नामकम्मं च गोयं च, अंतरायं तहेव य।
एवमेयाइ कम्माइं, अट्ठे व उ समासओ॥

युग्मम्। एवममुना प्रकारेण एतानि अष्टौ कर्माणि समासतः संक्षेपतो ज्ञेयानि इति शेषः। एतानि कानि तत्र प्रथमं ज्ञानावरणं कर्म चैव पादपूरणे। तथा द्वितीयं दर्शनावरणं दर्शनं सम्यक्त्वमावृणोतीति दर्शनावरणं प्रतीहारवत् सम्यक्त्व भूपं न दर्शयति॥२॥ तथा वेदनीयं वेद्यते सातासाते अनेनेति वेदनीयं मधुलिप्तखड्गधारातुल्यं तृतीयं कर्म। तथा पुनर्मोहं मुह्यते मूढो भवति जीवोऽनेति मोहो मद्यवत् चतुर्थं मोहनीयं मोहाय योग्यं मोहनीयं कर्म ज्ञेयम्। तथैव च आयाति स्वकीयावसरे इत्यायुः गतिर्निस्सरितुमिच्छन् अपि जीवो निर्गन्तुं न शक्नोति यस्मिन् सति निगडबद्ध इव तिष्ठतीत्यायुषः स्वभावः पञ्चममायुष्कर्म॥२॥ तथा नामयति चतसृषु गतिषु नवीनान् पर्यायान् प्रापयति जीवं प्रति इति नाम चित्रकारवत् नामकर्म षष्ठं ज्ञेयम्। गोत्र्यन्ते आहूयते लघुना दीर्घेण वा शब्देन जीवोऽनेनेति गोत्रं कुम्भकारवत् घटकलशशरावकुण्डकादिभाण्डकृद्भवति इदं गोत्रकर्म सप्तमम्। तथाऽन्तर्मध्ये दातृग्राहकयोर्विचाले आयातीत्यन्तरायो यथा राजा कस्मैचिद्दातुमुपदिशति तत्र भाण्डागारिकोऽन्तराले विघ्नकृद्भवति तादृगन्तरायं कर्म अष्टमं भवति। अत्र चाष्टानां कर्मणामादौ ज्ञानावरणं दर्शनावरणं च प्रतिपादितम्। तत्र आत्मनः स्वभावस्तु ज्ञानदर्शनरूप एवास्ति अतस्तदावरणम् दावुक्तमाभ्यां कर्मभ्यां जीवस्य स्वभाव आव्रियते अतस्तयोर्मुख्यत्वं ज्ञानदर्शनयोश्च समानत्वेऽपि अन्तरङ्गत्वेन विशेषतो ज्ञानोपयोगे एव सर्वलब्धीनां प्राप्तिः स्यात् तस्मात् ज्ञानस्य प्राधान्यादादौ तदावरणमुक्तं तदनु सामान्यज्ञानोपयोगत्वाद्दर्शनावरणमुक्तम्। एवं शेषकर्मणामपि विशेषस्तु स्वयमेव ज्ञेयः॥३॥ (उत्त० ३३ अ०)। नन्वित्थं ज्ञानावरणाद्युपन्यासे किंचिदस्ति प्रयोजनमुत यथाकथञ्चिदेव प्रवृत्त इति? अस्तीति ब्रूमः किं तदिति चेदुच्यते। इह ज्ञानं दर्शनं च जीवस्य स्वतत्त्वभूतं तदभावे जीवत्वस्यैवायोगात् चेतनालक्षणो हि जीवस्ततः स कथं ज्ञानदर्शनाभावे भवेत् ज्ञानदर्शनयोरपि च मध्ये प्रधानं ज्ञानं तद्वशादेव सकलशास्त्रादिविचारसन्ततिप्रवृत्तेः। अपि च सर्वा अपि लब्धयो जीवस्य साकारोपयुक्तस्य जायन्ते न दर्शनोपयोगोपयुक्त-स्य। "सव्वाओ लद्धीओ, सागारोवओगोवउत्तस्स नो अणागारोवओगोवउत्तस्सेति" वचनप्रामाण्यात्। अन्यच्च यस्मिन् समये सकलकर्मविनिर्मुक्तो जीवः संजायते तस्मिन् समये ज्ञानोपयोगोपयुक्त एव न दर्शनोपयोगोपयुक्तो दर्शनोपयोगस्य द्वितीयसमयेऽभावात्। ततो ज्ञानं प्रधानं तदावरणकं ज्ञानावरणं कर्म ततस्तत् प्रथममुक्तं तदनन्तरं च दर्शनावरणं ज्ञानोपयोगात् च्युतस्य दर्शनोपयोगेऽवस्थानात्। एते च ज्ञानदर्शनावरणे स्वविपाकमुपदर्शयन्ती यथायोगमवश्यं सुखदुःखस्वरूपवेदनीय कर्मविपाकोदयसनिमित्ते भवतः। तथा हि ज्ञानावरणमुपचयोत्कर्षप्राप्तं विषाकतोऽनुभवन् सूक्ष्मसूक्ष्मतरवस्तुविचारासमर्थमात्मानं जानानः खिद्यते भूरिलोकः ज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमपाटवोपेतश्च सूक्ष्मसूक्ष्मतराणि वस्तूनि निजप्रज्ञया विन्दानो बहुजनातिशायिनमात्मानं पश्यन् सुखं वेदयते। तथाऽतिनिविडदर्शनावरणविपाकोदये जात्यन्धादिरनुभवति दुःखसंदोहं वचनगोचरातिक्रान्तदर्शनावरणक्षयोपशमपटिष्ठतापरिकरितश्च स्पष्टचक्षुराद्युपेतो यथावद्वस्तु निकुरम्बं सम्यगवलोकमानो वेदयते अमन्दमानन्दसंदोहम्। तत एतदर्थप्रतिपत्त्यर्थं दर्शनावरणानन्तरं वेदनीयग्रहणं वेदनीयं च सुखदुःखे जनयतीत्यभीष्टानभीष्टविषयसंबन्धे चावश्यं संसारिणां रागद्वेषौ तौ च मोहनीयहेतुकौ तत एतदर्थप्रतिपत्तये वेदनीयानन्तरं मोहनीयग्रहणं मोहनीयमूढाश्च जन्तवो बहुरम्भाः परिग्रहणप्रभृति कर्मादानासक्ता नरकाद्यायुष्कमारचयन्ति। ततो मोहनीयानन्तरमायुर्ग्रहणं नरकाद्यायुष्कोदये चावश्यं नरकगत्यादीनि नामाद्युदयमायान्ति। तत आयुरनन्तरं नामग्रहणं नामकर्मोदये च नियमादुच्चनीचान्यतरगोत्रकर्मविपाकोदयेन भवितव्यमतो नामग्रहणानन्तरं गोत्रग्रहणं गोत्रोदये चोच्चैः कुलोत्पन्नस्य प्रायो दानलाभान्तरायादिक्षयोपशमो भवति राजप्रभृतीनां प्राचुर्येण दानवाभादिदर्शनात् नीचैः कुलोत्पन्नस्य तु दानलाभान्तरायाद्युदयो नीचजातीनां तथा दर्शनात्। तत एतदर्थप्रतिपत्त्यर्थं गोत्रानन्तरमन्तरायग्रहणमिति। कर्म०॥

नैरयिकाणां कर्मप्रकृतयः।

नेरइयाणं भंते! कति कम्मपगडीओ? पण्णत्ताओ।
गोयमा! एवं चेव। एवं जाव वेमाणियाणं प्रज्ञा० २३ पद०॥

इत्थं कर्मणां मूलप्रकृतीरुक्त्वोत्तरप्रकृतीराह।

नाणावरणं पंचविहं, सुयं आभिणिबोहियं।
ओहिनाणं च तइयं, मणनाणं च केवलं॥४॥

ज्ञानावरणं कर्म पञ्चविधं कथितं श्रुतज्ञानावरणम्। तथा आभिनिबोधिकं मतिज्ञानं तदावरणं द्वितीयम्। तृतीयमवधिज्ञानावरणम्। तथा मनोज्ञानं मनःपर्यायज्ञानावरणं चतुर्थम्। तथा पञ्चमं केवलज्ञानावरणम्।

अथ दर्शनावरणस्य द्वितीयकर्मणो भेदानाह।

निद्दा तहेव पयला, निद्दानिद्दा य पयलपयला य।
तत्तो य थीणगिद्धी, उ पंचमा होइ नायव्वा॥५॥

निद्रा सुखजागरणरूपा। तथैव प्रचला द्वितीया स्थितस्योपविष्टस्य समायाति। तृतीया निद्रानिद्रा दुःखप्रतिबोधा। चतुर्थी प्रचलाप्रचला। चलमानस्य या आयाति सा प्रचलाप्रचला ततः पञ्चमी स्त्यानगृद्धिनाम्नी ज्ञेया स्त्थाना पुष्टा गृद्धिर्लोभो यस्यां सा स्त्यानगृद्धिः। अथवा स्त्याना सहंता उपचिता ऋद्धिर्यस्यां सा स्त्यानर्द्धिः यस्या उदये हि वासुदेवार्द्धबलःप्रबलरागद्वेषवांश्च जन्तुर्जायते। अत एव दिचिन्तितार्थसाधिनी इयं पञ्चमी भवति॥५॥

चक्खुमचक्खुओहिस्स, दरिसणे केवले आवरणे।
एवं तु नवविगप्पं, नायव्वं दरिसणावरणं॥६॥

एवं तु अमुना प्रकारेण नवविकल्पं नवविधं दर्शनावरणं कर्म ज्ञातव्यम् दर्शनं सम्यक्त्वमावृणोतीति दर्शनावरणम्। पञ्च

निद्राः पूर्वगाथायामुक्ताः। चत्वारोऽमी भेदास्ते के उच्यन्ते (चक्खुमचक्खुओहिस्स दरिसणे इति) तत्र चक्खुमचक्खुओहिस्सेत्येकं पदं चक्षुश्च अचक्षुश्च अवधिश्च चक्षुरचक्षुरवधिस्तस्य चक्षुरचक्षुरवधेरावरणं चक्षुरचक्षुरवधेरित्यत्र प्राकृतत्वात् द्वन्द्वे एकत्वं पुस्त्वं च दर्शने रूपसामान्यग्रहणे यदावरणं च पुनः केवले केवलज्ञाने यदावरणम् एवं नवविधम्। चक्षुषा दृश्यते ज्ञायते इति चक्षुर्दर्शनं तदावृणोति आच्छादयतीति चक्षुर्दर्शनावरणम् ॥१॥ तथा चक्षुषोऽन्यदचक्षुः श्रोत्रवक्त्र-सनास्पर्शरूपमिन्द्रियचतुष्कं तेन अचक्षुषा दृश्यते इति अचक्षुर्दर्शनं तदावृणोतीति अचक्षुर्दर्शनावरणं रूपवद्द्रव्यं सामान्यप्रकारेण मर्यादासहितं दृश्यते इति। अविधदर्शनं तदावृणोतीति अवधिदर्शनावरणम्। एवं त्रयो भेदाश्चतुर्थं पुनः केवले केवल-दर्शनेऽप्यावरणं ज्ञेयं केवलं सर्वद्रव्यपर्यायाणां सामान्येन स्वरूपं दृश्यते इति केवलदर्शनं तत्र यदावरणं केवलदर्शनावरणम्। एवं निद्रापञ्चानां निद्राचतुर्णामावरणानां च एकत्रीकरणात् नवविधं दर्शनावरणं ज्ञातव्यमित्यर्थः ॥६॥

वेयणीयं पि दुविहं, सायमसायं च आहयं।
सायस्स य बहुभेया, एमेवासायस्स वि ॥७॥

वेदनीयं कर्म अपि द्विविधं वेदितुं योग्यं वेदनीयं कर्म द्विभेदमाख्यातं कथितमेकं सातं च पुनरसातम्। तत्र साद्यते शारीरं मानसं च सुखमनेनेति सातं सातावेदनीयं ततोऽन्यद-सातमसातावेदनीयमित्यर्थः। तु पुनः सातस्यापि साता-वेदनीयस्यापि बहवोऽनुकम्पादयो भेदा भवन्ति। एवम-तास्यापि असातावेदनीयस्याऽपि बहवः अर्तिशोकसन्तापादयो भेदा भवन्ति इति शेषः ॥७॥

मोहणिज्जं पि दुविहं, दंसणे चरणे तहा।
दंसणे तिविहं वुत्तं, चरणे दुविहं भवे ॥८॥
सम्मत्तं चेव मिच्छत्तं, सम्मामिच्छत्तमेव य।
एयाओ तिन्नि पयमीओ, मोहणीज्जस्स दंसणे ॥९॥
चरित्तमोहणं कम्मं, दुविहं तु विपाहियं।
कसायमोहणिज्जं च, नो कसाय तहेव य ॥१०॥
सोलसविहभेएणं, कम्मं तु य कसायजं।
सत्तविहनवविहं, वा कम्मं नो कसायजं ॥११॥

तिसृणां गाथानामर्थः। मोहयति जीवं घूर्णयति मद्यवत् परवशं करोतीति मोहस्तदर्हं मोहनीयं कर्म अपि द्विविधं भवति दर्शने तथा चरणे दर्शने दर्शनविषये मोहनीयं तथा चरणे चरणविषये मोहनीयम्। यत्र दर्शनं तत्त्वरुचिरूपं चरणं विरतिरूपम्। तत्रापि दर्शन यन्मोहनीयं तत्त्रिविधं तीर्थकरैरुक्तं चरणे चारित्रे यन्मोहनीयं तद् द्विविधं भवेत् ॥८॥ दृश्यन्ते ज्ञायन्ते जीवादयः पदार्थाः अनेनेति दर्शनम्। तत्र मोहयति मूढीकरोतीति दर्शनमोहनीयं त्रिविधं सम्यक्त्वम् १ मिथ्यात्वं २ सम्यग्मिथ्यात्वं ३ मिश्रमित्यर्थः। एव पादपूरणे सम्यक्त्वमोहनीयं मिथ्यात्वमोहनीयं मिश्रमोहनीयम्। तत्र सम्यक्त्वं हि मिथ्यात्वस्यैव पुद्गलाः अशुद्धपुद्गलाः अत्यन्तविशुद्धा भवन्ति तदा सम्यक्त्वं कथ्यते। तत्सम्यक्त्वमेव दर्शनं कथ्यते दर्शनसम्यक्त्वयोर्नामान्तरमत्र गृह्यते। यदा सम्यक्त्वं मिथ्यात्वप्रकृतित्वं भजति सम्यक्त्वस्य अतीचारा लगन्ति तदा मिथ्यात्वं भवति। यदा दर्शनप्रकृतिषु मोहो भवति अथवा औपशमिकादिकं मोहयति तदापि सम्यक्त्वमोहनीयमुच्यते। अथ मिथ्यात्वमोहनीयस्वरूपमुच्यते। सम्यक्त्वाभावे मिथ्यात्वम् अशुद्धदलितकस्वरूपं यतस्तत्वे अतत्वरुचितत्वे तत्वरुचिरुत्पद्यते तन्मिथ्यात्वं तत्र मुह्यते इति मिथ्यात्वमोहनीयम्। यत्तु सम्यग्मिथ्यात्वमोहनीयं तत्तु शुद्धाशुद्धदलितकरूपं यस्माज्जिनधर्मापरि रागोऽपि न भवति द्वेषोऽपि न भवति अन्तर्मुहूर्तस्थितिरूपं यथा नारिकेरद्वीप-वासिपुरुषोऽन्योपरि राग्यपि न भवति द्वेष्यपि न भवति तादृक् स्वभावं मिश्रमोहनीयं तृतीयमुच्यते। एतास्तिस्रः प्रकृतयो दर्शने सम्यक्त्वे। अथ दर्शनस्य सम्यक्त्वस्य च मोहनीयकर्मणो ज्ञेया इति शेषः। सम्यक्त्वस्य अज्ञानं सम्यक्त्वमोहनीयं मिथ्यात्वस्य अज्ञानं मिथ्यात्वमोहनीयं मिश्रस्य मोहो मिरमोहनीयमिह हि सम्यत्वमिथ्यात्वमिश्ररूपाः जीवस्य धर्मा उच्यन्ते ॥९॥ दर्शनमोहनीयं त्रिविधमुक्त्वा। अथ चारित्रमोहनीयभेदानाह (चरितेति) गाथापूर्वमेवोक्ता। अथान्वयः तीर्थकरैश्चारित्रमोहनं कर्म द्विविधं व्याख्यातं चारित्रे चारित्रग्रग्रहणे मोहयति मूढं करोति इति चारित्रमोहनम्। तत्र हि चारित्रमोहनं यत्र चारित्रफलं जानन् अपि तन्नाद्रियते तद् द्वैविध्यमाह। कषायमोहनीयं प्रथमं कषायाः क्रोधादय-श्चत्वारस्तैर्मोहयतीति कषायमोहनीयम् ॥१॥ तथा नोकषायैर्नवभिर्हास्यादिषट्कवेदत्रिकरूपैर्मोहयतीति नोकषायमोहनीयम् ॥१०॥ तत्र यत्प्रथमं कषायजं मोहनीयं कर्म तत्षोडशविधं भवति। कषाया हि क्रोधमानमायालोभाः प्रत्येकमनन्तानुबन्धाः प्रत्याख्यानाप्रत्याख्यान-संज्वलनरूपैश्चतुर्भिर्भेदैः षोडशभेदाः भवन्ति। अथ नोकषायजं मोहनीयं कर्म सप्तविधं नवविधं वा भवति हास्य १ रत्य २ रति ३ भय ४ शोक ५ जुगुप्सा ६ वेदत्रयाणां च सामान्यावगणनया एकत्वमेव गम्यते हास्यादिषट्कं वेदश्च एवं सप्तविधम्। यदा हि त्रयो वेदाः पुंस्त्रीनपुंसकरूपाः गण्यन्ते तदा नवविधं नोकषायजं मोहनीयं भवतीत्यर्थः ॥११॥

अथायुष्कर्मप्रकृतीराह।

नेरइयतिरिक्खा उ, मणुस्सा उ तहेव य।
देवा उ चउत्थं तु, आउकम्मं चउव्विहं ॥१३॥

आयुष्कर्म चतुर्विधं भवति यथा नैरयिकतिर्यगायुः निरये भवा नैरयिकाः नैरयिकाश्च तिर्यञ्चश्च नैरयिकत्तिर्यञ्चस्तेषामायुर्नैरयिकतिर्यगायुः आयुश्शब्दस्य प्रत्येकं संबन्धः। तथैव तृतीयं मनुष्यायुश्च पुनश्चतुर्थं देवायुः। एवं चतुर्विधमायुर्भवति ॥१२॥

अथ नामकर्मप्रकृतीराह।

नामकम्मं तु दुविहं, सुहं असुहं च आहियं।
सुहस्स बहुभेया, एमेव असुहस्स वि ॥

नामकर्म द्विविधं व्याख्यातं शुभं च पुनरशुभं शुभनामकर्म अशुभनामकर्म एवं द्विविधम्। तत्र शुभस्य शुभनामकर्मणो बहुभेदाः सन्ति। एवमेवाशुभस्य अशुभनामकर्मणोऽपि बहुभेदा भवन्ति। तत्र शुभस्य उत्तरोत्तरभेदतोऽनन्तभेदत्वेऽपि मध्यमापेक्षया सप्तत्रिंशद्भेदा भवन्ति ते चामी मनुष्यगति १ देवगति २ पञ्चेन्द्रियजात्यौ ३ दारिक ४ वैक्रिय ५ आहारिक ६ तैजस ७ कार्मण ८ समचतुरस्रसंस्थान ९ वज्रऋषभनाराचसंहननौ १०।११ दारिकाङ्गोपाङ्ग १२ हारकाङ्गोपाङ्ग १३ प्रशस्तवर्ण १४ प्रशस्तगन्ध

१५ प्रशस्तरस १६ प्रशस्तस्पर्श १७ मनुष्यानुपूर्वी १८ देवानुपू १९ व्यगुरुलघु २० पराघातो २१ च्छ्वासा २२ तपो २३ द्योत २४ प्रशस्तविहायोगति २५ त्रस २६ बादर २७ पर्याप्त २८ प्रत्येक २९ स्थिर, ३० शुभ ३१ सुभग ३२ सुस्वरा ३३ देय ३४ यशःकीर्ति ३५ निर्माण ३६ तीर्थकरनामकर्म ३७ एताः सर्वा अपि शुभानुभावात् शुभनामकर्मणः प्रकृतयो ज्ञेयाः। तथा अशुभनामकर्मणो मध्यमदेशविवक्षया चतुस्त्रिंशद्भेदा भवन्ति। तद्यथा। नरकगति १ तिर्यग्गत्ये २ केन्द्रिय ३ द्वीन्द्रिय ४ त्रीन्द्रिय ५ चतुरिन्द्रिजाति ६ ऋषभनाराच ७ नाराचा ८ र्द्धनाराच ९ कीलिका १० सेवार्तकसंहननानि ११ न्यग्रोधमण्डलसंस्थान १२ सादि १३ वामन १४ कुब्ज १५ हुण्डका १६ प्रशस्तवर्णा १७ प्रशस्तगन्धा १८ प्रशस्तरसा १९ प्रशस्तस्पर्श २० नरकानुपूर्वी २१ तिर्यगानुपू २२ व्युपघाता २३ प्रशस्तविहायोगति २४ स्थावर २५ सूक्ष्म २६ साधारणा २७ पर्याप्ता २८ स्थिरा २९ शुभ ३० दुर्भग ३१ दुःस्वरा ३२ नादेया ३३ यशःकीर्तिरूपाः ३४ एताश्च अशुभनरकत्वादि निबन्धनत्वेन अशुभाः। अत्र च बन्धसंघाते शरीरेभ्यो वर्णाद्यवान्तरभेदाः वर्णादिभ्यः पृथग् नविवक्षयन्ते एताः प्रकृतयस्तु मध्यमविवक्षया प्रोक्ताः उत्कृष्टविवक्षया तु १०३ प्रोक्ताः सन्ति १३१। उत्त० ३३ अ०। (नामकर्मोत्तरप्रकृतीनामपि भेदा गइनामादिशब्देषु)

अथ गोत्रकर्मप्रकृतीर्व्यनक्ति

गोयं कम्मं दुविहं, उच्चनीयं च आहियं।
उच्चं अट्ठाविहं होइ, इयं नीयं पि आहियं ॥१४॥

गोत्रं कर्म द्विविधं उच्चं च पुनर्नीचं च। तत्र उच्चमुच्चैर्गोत्रमिक्ष्वाकुजात्यादि उच्चैर्व्युपदेशहेतुजातिकुलरूपबलश्रुततपोलाभाद्यविधबन्धहेतुत्वादष्टविधमुच्चैर्गोत्रं भवति (एयमिति) अष्टविधमेव जातिकुलादिमदाष्टनिबन्धहेतुत्वान्नीचमपि नीचैर्गोत्रमपि नीचैर्व्युपदेशहेतुराख्यातम् ॥१४॥

अथान्तरायप्रकृतीराह

दाणे लाभे भोगे य उ–वभोगे वीरिए तहा।
पंचविहमंतरायं, समासेण वियाहियं ॥१५॥

अन्तरायं समासेन संक्षेपेण पञ्चविधं व्याख्यातं तत्पञ्चविध-माह। दाने लाभे भोगे उपभोगे तथा वीर्य एतेषु पञ्चसु अन्तरायत्वात् पञ्चविधमन्तरायम्। तत्र दीयते इति दानं तस्मिन् दाने, लभ्यते इति लाभस्तस्मिन् लाभे, सकृद्भुज्यते पुष्पाहारादि पदार्थ इति भोगस्तस्मिन् भोगे, उपेति पुनः पुनर्भुज्यते भुवनाङ्गनांशुकादीनि इति उपभोगस्तस्मिन् उपभोगे। तथा विशेषेण ईर्यते वेद्यतेऽनेनेति वीर्यं तस्मिन् वीर्ये सर्वत्रान्तरायमिति संबध्यते। विषयभेदात्पञ्चविधमन्तरायम्। यत्र यस्मिन् सति चतुरे ग्रहीतरि देय वस्तुति तस्य फलं जानन्नपि दाने न प्रवर्तते तद्दानान्तरायम् १ यस्मिन् विशिष्टेऽपि दातरि सति याचनानिपुणोऽपि याचको न लभते तल्लाभान्तरायम् २ पुनर्विभवादौ सत्यपि भोक्तुं न शक्नोति तद्भोगान्तरायम् ३ येनोपभोग्ये वस्तुनि सत्युपभोक्तुं न शक्यते तदुपभोगान्तरायम् ४ यद्बलवान् नीरोगस्तरुणोऽपि तृणमपि भङ्क्तुं न शक्नोति तस्य पुरुषस्य वीर्यान्तरायं कर्म ज्ञेयम् उत्त० ३३ अ०। प्रज्ञा०। भ०। पं० सं०। (इहावश्यकत्वाउत्तरप्रकृतयः नाममात्रसंकीर्तने दर्शिता यथास्थानं तु विस्तरेण व्याख्याताः)

अयमत्र संग्रहः।

दंसणावरणनामाणं दोण्हं कम्माणं एकावन्नं उत्तरकम्मपगडीओ पण्णत्ताओ।

दर्शनावरणस्य नव नाम्नो द्विचत्वारिंशदित्येकपञ्चाशत्।

नाणावरणिज्जस्स नामस्स अंतरायस्स एतेसिणं तिण्हं कम्मपगडीगं वावन्नं उत्तरपगडीओ पण्णत्ताओ। दंसणापरणिज्जनामउयाणं विण्ह कम्पगडाण पणपन्न उत्तरपगडीओ पण्णत्ताओ।

(दंसणेत्यादि) दर्शनावरणीयस्य नव प्रकृतयो नाम्नो द्विचत्वारिंशदायुषश्चतस्र इत्येवं पञ्चपञ्चाशदिति। स०।

नाणावरणिज्जस्स वेयणिय आउयनामणंतराइयस्स एएसिणं पंचण्हं कम्मपगडीणं अट्ठावन्नं उत्तरपगडीओ पण्णत्ताओ।

(नाणेत्यादि) तत्र ज्ञानावरणस्य पञ्च वेदनीयस्य द्वे आयुषश्चतस्रो नाम्नो द्विचत्वारिंशदन्तरायस्य पञ्चेति सर्वा अष्टपञ्चाशदुत्तरप्रकृतय :॥

मोहणिज्जवज्जाणं सत्तण्हं कम्मपगडीणं एगूणसत्तरिं उत्तरपगडीओ पण्णत्ताओ।

मोहनीयवर्जानां कर्मणामेकोनसप्ततिरुत्तरप्रकृतयो भवन्तीति कथं ज्ञानावरणस्य पञ्च दर्शनावरणस्य नव वेदनीयस्य द्वे आयुषश्चतस्रो नाम्नो द्विचत्वारिंशद्गोत्रस्य द्वे अन्तरायस्य पञ्चेति॥

छण्हं कम्मपगडीणं आइमउवरिल्लवज्जाणं सत्तासीइ उत्तरपगडीओ पण्णत्ताओ।

सप्ताशीतिरुत्तरप्रकृतयः प्रज्ञप्ताः कथं दर्शनावरणादीनां षण्णांक्रमेण नव द्वे अष्टाविंशतिः चतस्रो द्विचत्वारिंशद् द्वे चेत्येतासां मीलने सूत्रोक्तसंख्या स्यादिति॥

आउयगोत्तवज्जाणं छण्हं कम्मपगडीणं एकाणउइउत्तरपगडीओ पण्णत्ताओ।

आयुर्गोत्रवर्जानां षण्णामिति ज्ञानावरणवेदनीयमोहनीयनामान्तरायाणां क्रमेण पञ्च नव द्व्यष्टाविंशति द्विचत्वारिंशत् पञ्चभेदानामिति। स० ९७ स०।

अट्ठण्हं कम्मपगडीणं सत्तणउइ उत्तरपगडीओ पण्णत्ताओ॥

(एतत्सूत्रव्याख्या नास्ति) तदेवमुक्ताः सर्वकर्मणामुत्तरप्रकृतयः

(२०) संप्रति तासामिव ध्रुवाध्रुवबन्धित्वादिविभागप्रतिपादनार्थ माह।

नमिय जिणं ध्रुवबंधो–दयसत्ताधायपुन्नपरियत्ता।
सेयर चउहविवागा, बुच्छं बंधविहसामीय ॥१॥

जिनं नत्वा ध्रुवबन्धिन्यादि वक्ष्ते इति संबन्धः। तत्र नत्वा नमस्कृत्य कमित्याह जिनं रागद्वेषमोहादिदुर्बारवैरिवारजेतारं वीतरागं परमार्हन्त्यमहिमालंकृतं तीर्थकरमित्यर्थः। अनेन परमाभीष्टदेवतानमस्कारेण ऐकान्तिकमात्यन्तिकं भावमङ्गलमाह। अनेन च शास्त्रपरिसमाप्तेर्निर्व्यूहता भवतीति कत्वाप्रत्यस्योत्तरक्रियासापेक्षत्वादुत्तरक्रियामाह। ध्रुवबन्धोदयति वक्ष्ये (कर्म०) बन्धश्च उदयश्च सच्च बन्धोदय सन्ति। ततो ध्रुवशब्दस्य प्र-

त्येकं संबन्धात्। ध्रुवाणि बन्धोदयसन्ति यासां ताः ध्रुवबन्धोदयसत्यः (घाइइति) सर्वघातिन्यो देशघातिन्यश्चेत्यर्थः (पुण्णत्ति) पुण्यप्रकृतयः (परियत्तति) परिवृताः परावर्तमानाः। (सेयरत्ति) सेतराः सप्रतिपक्षविपक्षयुक्ता इत्यक्षरार्थः। भावार्थोऽयं ध्रुवबन्धियः १ अध्रुवबन्धिन्यः २ ध्रुवोदयाः ३ अध्रुवोदयाः ४ ध्रुवसत्ताकाः ५ अध्रुवसत्ताकाः ६ सर्वदेशघातिन्यः ७ अघातिन्यः ८ पुण्यप्रकृतयः ९ पापप्रकृतयः १० परावर्तमानाः ११ अपरावर्तमानाश्चेति १२। द्वादश द्वाराणि वक्ष्ये (कर्म०) (अत्रत्यपीठः इह कम्मशब्दे अनुपयुक्तत्वात्यक्त्वैव व्याख्या यते) चउव्विह विवागत्ति) चतुर्द्धा क्षेत्रभवपुद्गलविपाकाः प्रकृतीर्वक्ष्ये। तथा। (बंधविहत्ति) विधानानि विधा भेदाः बन्धस्य विधा बन्धविधाः प्रकृतिबन्धस्थितिबन्धरसबन्धप्रदेशबन्धलक्षणांस्तान् वक्ष्ये। एष च प्रकृत्यादिस्वभावश्चतुर्विधोपकर्मणा उपादानकाल एव बध्यत इति बन्धश्चतुर्विधः सिद्धो भवति। तथा ममरुकमणिन्यायेन बन्धशब्द इहापि योज्यते ततो बन्धः स्वामित्वेन वक्ष्ये। कः कस्याः प्रकृतेः स्थितेर्वा कः कस्यामस्य तीव्रमन्दादिरूपस्य कश्च कस्य प्रदेशाग्रस्य जघन्यत्वादिलक्षणस्य बन्धक इत्यादि स्वामित्वेन वक्ष्ये। च शब्दादुपशमश्रेणिक्षपकश्रेण्यादिकं वक्ष्ये। कर्म०। पं० सं०। अथ यथोद्देशं निर्देश इति न्यायात्तत्प्रथमतो ध्रुवबन्धिनीः प्रकृती-व्यांचिख्यासुराह।

वन्नचउतेयकम्मा–गुरुलहुनिम्मणोवघायभयकुच्छा।
मिच्छत्तकसायावर–णा विग्घधुवबंधि सगवत्ता ॥२॥

प्राकृतत्वाल्लिङ्गवचनव्यत्ययेन ध्रुवबन्धिन्यः प्रकृतयः (सगवत्तत्ति) सप्तचत्वारिंशत्संख्या भवन्ति। तथा हि वर्णेनोपलक्षितं चदुष्कं वर्णचतुष्कं वर्णगन्धरसस्पर्शलक्षणं ततो वर्णचतुष्कं च तैजसं च कार्मणं चागुरुलघु चेत्यादि द्वन्द्वे वर्णचतुष्कतैज सकार्मणागुरुलघुनिर्माणोपघातभयकुत्साः। कुत्सा जुगुप्सा तथा मिथ्यात्वं कषायाश्च आवरणानि च मिथ्यात्वकषायावरणानि। तत्र वर्णचतुष्कतैजसकार्मणागुरुलघुनिर्माणोपघातानि इत्येता नव नामप्रकृतयः। भयं कुत्सा मिथ्यात्वं कषायाः षोडश इत्येताः एकोनविंशतिमोहनीयप्रकृत्यः। आवरणानि ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणनवकस्वरूपाणि चतुर्दश। विघ्नमन्तरायं दानलाभभोगोपभोगवीर्यान्तरायभेदात्पञ्चविधमित्येवं सप्तचत्वारिंशदप्येता ध्रुवबन्धिन्यो निजहेतुसद्भावेऽवश्यबन्धसद्भावादिति। उक्ता ध्रुवबन्धिन्यः प्रकृतयः।

सांप्रतमध्रुवबन्धिनीः प्रकृतीरभिधित्सुराह।

तणुवंगागिइसंघयण–जाइगइखगइपुग्विजिणुस्सासं।
उज्जोयायवपरघात–तसवीसा गोयवेयणियं ॥३॥
हासाइजुयलदुगवे–य आउतेवुत्तरिअधुवबंधा।
मंगा अणाइसाई–अणंतसंतुत्तरा चउरो ॥४॥

तनवः शरीराणि औदारिकवैक्रियाहारकलक्षणानि ततस्तैव सेकमणियो ध्रुवबन्धित्वेनाभिहितत्वात् उपाङ्गानि औदारिकाङ्गोपाङ्गवैक्रियाङ्गोपाङ्गाहारकाङ्गोपाङ्गरूपाणि त्रीण्याकृतयः संस्थानानि समचतुरस्रनग्रोधपरिमण्डलसादिकुब्जवामनहुण्डाख्याः षट्। संहननानि अस्थिनिचयात्मकानि वज्रऋषभनाराचऋषभनाराचार्द्धनाराचकीलिकासेवतिलक्षाणाणि षट्। यावत् एकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रियपञ्चेन्द्रियरूपाः पञ्च गतयो देवमनुष्यतिर्यङ्नारकलक्षणाश्चतस्रः। खगतिर्विहायोगतिः प्रशस्ताप्रशस्तभेदात् द्विधा (पुव्वित्ति) पदैकदेशे पदसमुदायोपचारादानुपूर्व्यो देवानुपूर्वीमनुजानुपूर्वीतिर्यगानुपूर्वीनरकानुपूर्वीरूपाश्चतस्रः। जिननाम तीर्थकरनाम श्वासनाम उच्छ्वासनामेत्यर्थः उद्योतनाम अतिपनामपराघातनाम (तसवीसत्ति) त्रसेनोपलक्षिता विंशतिस्त्रसविंशतिस्त्रसदशकं स्थावरदशकमित्यर्थः। गोत्रम् उच्चैर्गोत्रनीचैर्गोत्रभेदेन द्विधा। वेदनीयं सातवेदनीयमसातवेदनीयमिति द्विधा। हास्यादियुगलद्विकं हास्यरत्यतिशोकाभिधम् वेदाः स्त्रीपुन्नपुंसकरूपास्त्रयः। आर्यूषि देवायुर्मनुजायुस्तिर्यगायुर्नरकायुरिति चत्वारि इत्येतास्त्रिसप्ततिप्रकृतयोऽध्रुवबन्धिन्यो भवन्तीति शेषः। एतासां निजहेतुसद्भावेऽप्यवश्यबन्धाभावादध्रुवबन्धित्वम्। तथा हि आतपं पुनरेकेन्द्रियप्रायोग्यप्रकृतिसहचरितमेव पराघातोच्छ्वासनाम्नोः पर्याप्तनाम्नैव सह बन्धो नापुर्याप्तनाम्नोऽध्रुवत्वं नान्यदा उद्योतं तु तिर्यग्गतिप्रायोग्यबन्धनेनैव सह बध्यते आहारकद्विकजिननाम्नी अपि यथाक्रमं संयमसम्यक्त्वप्रत्ययेनैव बध्येते नान्यथेत्यध्रुवबन्धित्वम्। शेषशरीरोपाङ्गवज्रिकादीनां षट्षष्टिप्रकृतीनां सविपक्षत्वान्निजहेतुसद्भावेऽपि नावश्यं बन्ध इत्यध्रुवबन्धित्वं सुप्रतीतमेव। उक्ता अध्रुवबन्धिन्यः प्रकृतयः। कर्म०। पं० सं०।

(२१) सांप्रतं ध्रुवबन्धिन्यध्रुवबन्धिनीनां भङ्गकान् ग्रन्थलाघवार्थं च वक्ष्यमाणध्रुवोदयप्रकृतीनां च भङ्गकान्बन्धमाश्रित्य च चिन्तयन्नाह (भंगा अणाइसाई इत्यादि) भङ्गा भङ्गकाश्चत्वारो भवन्ति कथमित्याह। अनादिसादयोऽनन्तसान्तोत्तराः। इदमुक्तं भवति। अनादिसादशब्दौ आदी येषां ते अनादिसादयः प्राकृतत्वादादिशब्दस्य लोपः अनन्तसान्तशब्दाः उत्तरे उत्तरपदे येषां तेऽनन्तसान्तोत्तरास्ते लुग्वेति सूत्रेण पदशब्दस्य लोपः यदि वा भङ्गा अनादिसादयोऽनन्तसान्तोत्तराः सन्तश्चत्वारो भवन्ति। तद्यथा अनाद्यनन्तः १ अनादिसान्तः २ साद्यनन्तः ३ सादिसान्तश्चेति ४ उक्ता भङ्गाः।

अथ यत्रोदये बन्धे वा ये भङ्गका घटन्ते तानाह।

पढमवियइधुवउदइसु, धुवबंधिसु तइयवज्जभंगतिगं।
मिच्छम्मि तिन्नि भंगा, दुहावि अधुवा तुरिय भंगा ॥५॥

प्रथमद्वितीयावनाद्यनन्तौ। अनादिसान्तलक्षणौ ध्रुवोदयासु प्रकृतिषु भङ्गकौ भवतः। तथा हि न विद्यते आदिर्यस्य अनादिकालात् मन्तानभावेन सततं प्रवृत्तेः सोऽनादिरनादिश्चासावनन्तश्च कदाचिदप्यनुदयाभावादनाद्यनन्तः। अयं च भङ्गको निर्माणस्थिरास्थिरागुरुलघुशुभाशुभतैजसकार्मणवर्णचतुष्कज्ञानपञ्चकान्तरायपञ्चकदर्शनचतुष्कलक्षणानांषड्विंशतिप्रकृतीनां ध्रुवोदयानामभव्यानाश्रित्य वेदितव्यः। यतो भव्यानां ध्रुवोदयप्रकृत्यनुदयो न कदाचिद्भविष्यतीति। तथा अनादिश्चासौ सान्तश्चानादिसान्तः।तत्र ज्ञानपञ्चकान्तरायपञ्चकदर्शनचनुष्करूपाणां चतुर्दशप्रकृतीनामनादिकालात्संन्तानभावेनानादिः सन् यदा क्षीणमोहचरमसमये उदयो व्यवच्छिद्यते तदा अयमनादिसान्तभङ्गकः। निर्माणस्थिरास्थिरगुरुलघुशुभाशुभतैजसकार्मवर्णचतुष्कलक्षणानां द्वादशानामपि नामध्रुवोदय प्रकृतीनां

सततोदयेनानादिरुदयो भूत्वा सयोगिकेवलिचरमसमये यदोदयव्यवच्छेदमनुभवति तदा नादिसान्तभङ्गक इति । ध्रुवबन्धिनीषु पूर्वोक्तस्वरूपासु सप्तचत्वारिंशत्संख्यासु तृतीयवर्जभङ्गत्रिकं भवति। तथा हि यो बन्धोऽनादिकालादारभ्य सन्तानभावेन सततं प्रवृत्तो न कदाचन व्यवच्छेदमाप्तो न चोत्तरकालं कदाचिद् व्यवच्छेदमाप्स्यते सोऽनाद्यनन्तोऽभव्यानामेव भवति। यस्त्वनादिकालात्सततं प्रवृत्तोऽपि पुनर्बन्धव्यवच्छेदं प्राप्स्यति असावनादिसान्तोऽयं भव्यानाम् । साद्यनन्तलक्षणस्तु तृतीयभङ्गकः शून्य एव न हि यो बन्धः सादिर्भवति स कदाचिदनन्तः संभवतीति तृतीयभङ्गकवर्जनम् । यः पुनः पूर्वं व्यवच्छिन्नः पुनबन्धनेन सादित्वमासाद्य कालान्तरे भूयोऽपि व्यवच्छेदं प्राप्स्यति सोऽयं सादिसान्त इत्येवंस्वरूपं साद्यनन्तलक्षणतृतीयशून्यभङ्गवाआजतभङ्गकत्रयं ध्रुवबन्धिनीषु भवति । सूत्रेऽपि पुस्त्वं प्राकृतत्वात् । प्राकृते लिङ्गं व्यभिचार्य्यपि भवति यदाह पाणिनिः स्वप्राकृलक्षणे लिङ्गं व्यभिचार्य्यपीति । तत्र प्रथमभङ्गकस्तासां सर्वासामप्यभव्याश्रितः सुप्रतीत एव ध्रुवबन्धिनीः प्रति तद्बन्धस्यानाद्यनन्तत्वादिति । द्वितीयभङ्गकस्तु ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणचतुष्कान्तरायपञ्चकलक्षणानां चतुर्दशप्रकृतीनामनादिकालात्संन्तानभावेनानादिस्तत्सूक्ष्मसंपरायचरमसमये यदा बन्धो व्यवच्छिद्यते तदा भवति। आसामेव चतुर्दशप्रकृतीनामुपशान्तमोहे यदा अबन्धकत्वमासाद्यायुःक्षयेणाद्धाक्षयेण वा प्रतिपतितः सन् पुनर्बन्धेन सादिबन्धं विधाय भूयोऽपि सूक्ष्मसंपरायचरमसमये बन्धव्यच्छेदं विधत्ते तदा सादिसान्तलक्षणश्चतुर्थः। चतुर्दशानां च प्रकृतीनां तृतीयभङ्गको न लभ्यते इति संज्वलनकषायचतुष्कस्य तु सदैवाप्तानादिबन्धभावो यदा तत्प्रथमतया अनिवृत्तबादरादिबन्धव्यवच्छेदं विधत्ते तदाऽनादिसान्तस्वभावस्तस्य द्वितीयो भङ्गः । यदा ततः प्रतिपतितः पुनर्बन्धेन संज्वलनबन्धं सादि कृत्वा पुनरपि कालान्तरेऽनिवृत्तिबादरादिभावं प्राप्तसन् तान् भन्त्स्यति तदा सादिसान्तस्वरूपः संज्वलनचतुष्कस्य चतुर्थ इति । निद्राप्रचलातैजसकार्मणवर्ण चतुष्कागुरुलघूपघातनिर्माणभयजुगुप्सास्वरूपाणां त्रयोदशप्रकृतीनामनादिकालादनादिबन्धं विधाय यदा अपूर्वकरणाद्धायां यथास्थानं बन्धोपरमं करोति तदा द्वितीयो भङ्गकः । यदा तु ततः प्रतिपतितः पुनर्बन्धविधानेन सादित्वमासाद्य भूयोऽपि कालान्तरेऽपूर्वकरणमारूढस्य बन्धाभावस्तदा चतुर्थ इति। चतुर्णां प्रत्याख्यानावरणानां बन्धो देशविरतगुणस्थानकं यावद्-नादिस्ततः प्रमत्तादौ बन्धोपरमात्सान्त इति द्वितीयो भङ्गः। ततः प्रतिपतितो भूयोऽपि बन्धनेन सादित्वमासाद्य यदा पुनः प्रमत्तादावबन्धको भवति तदा चतुर्थो भङ्गकः। अप्रत्याख्यानावरणानां त्वविरतसम्यग्दृष्टिं यावदनादिबन्धं कृत्वा यदा द्वेशविरतादौ अबन्धको भवति तदा द्वितीयः। ततः प्रतिपतितो भूयोऽपि तानेव बध्नाति पुनस्तेषां यदा देशविरतेष्वबन्धको भवति तदा चतुर्थ इति। मिथ्यात्वस्त्यानर्द्धित्रिकानन्तानुबन्धिनां तु मिथ्यादृष्टिरनादिबन्धको यदा सम्यक्त्वावाप्तौ बन्धोपरमं करोति तदा द्वितीयः। पुनर्मिथ्यात्वगमनेन तान् बध्वा यदा भूयोऽपि सम्यक्त्वलाभे सति भूयोऽपि बन्धं न विरुध्यते तदा चतुर्थः। इत्येवं ध्रुवबन्धिनीनां भङ्गकत्रयं निरूपितमिति। तथा मिथ्यात्वस्य ध्रुवोदयस्य भङ्गाः। अनाद्यनन्ताः १ नादिसान्त २ सादिसान्त ३ स्वभावास्त्रयो भवन्ति । तत्रानाद्यनन्तोऽभव्यानां यतस्तेषां न कदाचिन्मिथ्यात्वोदयविच्छेदः समापादि संपत्स्यति वेति । अनादिसान्तस्त्वनादिमिथ्यादृष्टेस्तत्प्रथमतया सम्यक्त्व-तीभे मिथ्यात्वस्याभावात् सादिसान्तः पुनः प्रति-पतितसम्यक्त्वस्य सादिके मिथ्यात्वोदये संपन्ने पुनरपि सम्यक्त्वलाभान्मिथ्यात्वोदयाभावे संभवतीति (दुहावि अधुवा तुरिअभंगत्ति) द्विधापि द्विभेदा अपि बन्धमाश्रित्योदय-माश्रित्याध्रुवा अध्रुवबन्धिन्योऽध्रुबोदयाश्चेत्यर्थः। तुरीयश्चतुर्थो भङ्गः सादिसानतलक्षणो यासां ताः तुरीयभङ्गा भवन्ति। तत्राध्रुवबन्धिनीनां पूर्वोक्तत्रिसप्ततिसंख्याप्रभृतीनाम-ध्रुवबन्धित्वादेव सादिसान्तलक्षणः एक एव भङ्गो भवति । तत्राध्रुवबन्धिनीनां पूर्वोक्तत्रिसप्ततिसंख्याप्रभृतीनाम-ध्रुवबन्धित्वादेव सादिसान्तलक्षणः एक एव भङ्गो भवति। तथाऽध्रुवोदयानामुदयः सहादिना उदयविच्छेदे सति तत्प्रथमतयोदयभवनस्वभावेन वर्तत इति सादिः। सादिश्चासौ सान्तश्च पुनरुदयव्यवच्छेदात्सपर्यवसानश्च सादिसान्तस्ततश्चाध्रुवोददयानामयमेवैको भङ्गो भवति नान्यो ध्रुवत्वादेवेति भावः। उक्ताः सभावार्था ध्रुवबन्धिन्योऽध्रुवबन्धिन्यश्च प्रकृतयः प्रसङ्गतो ध्रुवाध्रुवादेयानां प्रकृतीनां भङ्गकाश्च।

संप्रति ध्रुबोदयप्रकृतिद्वारनिरूपणायाह–

निमिणथिरायिरअगुरुल–हु सुहअसुहतेअकम्म चउवन्ना।
नाणंतरायदंसण–मिच्छं धुवउदयसगवीसो ॥६॥

(निमिणत्ति) प्राकृतत्वान्निर्माणं स्थिरास्थिरम् (अगुरुत्ति) अगुरुलघु शुभाशुभं तैजसं कार्मणं चतुर्वर्णगन्धरसस्पर्शलक्षणमित्येता द्वादश नाम्नो ध्रुवोदया ज्ञानावरणपञ्चकमन्तरायपञ्चकं दर्शनचतुष्कं मिथ्यात्वमिति सप्तविंशतिप्रकृतयो ध्रुवोदया नित्योदयाः। सर्वासामपि स्वोदयव्यवच्छेदकालं यावदव्यवच्छिन्नोदयत्वादिति अभिहिता ध्रुवोदयाः प्रकृतयः।

इदानीमध्रुवोदयाः प्रकृतीराह।

थिरसुभियर विण अधुव–बंधीमिच्छा विण मोहधुवबंधा।
निद्दोवघायमीसं, सम्मं अ पणनवइ अधुवुदया ॥७॥

इतरशब्दस्य प्रत्येकं संबन्धात् स्थिरेतरशुभेतरप्रकृतिचतुष्कं विना स्थिरमस्थिरं शुभमशुभं विना शेषा एकोनसप्ततिसंख्याअध्रुवबन्धिन्यः प्रकृतयस्तथा हि तैजसकार्मणवर्जं शरीरत्रिकमङ्गोपाङ्गत्रयं संस्थानषट्कं संहननषट्कं जातिपञ्चकं गतिचतुष्कं विहायोगतिद्विकमानुपूर्वीचतुष्कं जिननाम उच्छ्वासनाम उद्योतमातपं पराघातं त्रसबादरपर्याप्तकप्रत्येकसुभगसुस्वरादेययशःकीर्तिस्थावरसूक्ष्मापर्याप्तकसाधारणदुर्भगदुःस्वरानादेयायशःकीर्तिरूपमुच्चैर्गोत्रं नीचैर्गोत्रं सातासातवेदनीयं हास्यरती अरतिशोकौ स्त्रीपुंनपुंसकरूपं वेदत्रयमायुश्चतुष्कमिति। तथा मिथ्यात्वं विना मोहध्रुवबन्धिन्योऽष्टादश तद्यथा षोडश कषायाः भयं जुगुप्सा निद्रापञ्चकमुपघातनाम मिश्रं सम्यक्त्वमिति पञ्चनवतिरध्रुवोदया व्यवच्छिन्नस्याप्युदयसय पुनरुदयसङ्गावादिति। यद्येवं मिथ्यात्वस्याप्यध्रुवोदयतैव युज्यते सम्यक्त्वप्राप्तौ व्यवच्छिन्नस्यापि तदुदयस्य मिथ्यात्वगमने पुनः सद्भावादित्यत्रोच्यते आसां च प्रकृतीनां येषु गुणस्थानकेषु गुणप्रत्ययतोऽद्याप्युदयव्यवच्छेदो न विद्यते अथवा द्रव्यक्षेत्रकाद्यपेक्षया तेष्वेव गुणस्थानकेषु कदाचिदसौ भवति कदाचिन्नेति ता एवाध्रुवोदया यथाभिप्राया मिथ्यादृ-

ष्टेरारभ्य क्षीणमोहं यावदुदयो व्यवच्छिन्नो वर्तते। अथ च न सततमसौ भवतीति मिथ्यात्वस्य तु नेदं लक्षणं यतस्तस्य यत्र प्रथमगुणस्थानके नाद्याप्युदयव्यवच्छेदस्तत्र सततोदय एव न कादाचित्क इति ध्रुवोदयतैव तस्येति। उक्तमध्रुवोदयप्रकृति-द्वारम्। कर्म०।

संप्रति ध्रुवसत्ताकाध्रुवसत्ताकप्रकृतिद्वारद्वयं निरूपयन्नाह–

तसवन्नवीससग–तेयकम्मधुवबंधिसेसवेयतिगं।
आगिइतिगवेयणियं, दुजुयलसगउरलसासचऊ ॥८॥
खगइतिरियदुगनीयं, धुवसत्तासम्ममीसमणुयदुगं।
विउव्विक्कारजिणाउ, हारसगुच्चा अधुवसत्ता ॥९॥

इह विंशतिशब्दस्य प्रत्येकं योगात्रसविंशतिश्च तत्र त्रसेनोपलक्षिता विंशतिस्त्रसविंशतिस्तथा हि त्रसबादरपर्याप्तकप्रत्येकस्थिरशुभसुभग-सुस्वरादेययशः कीर्तिनामेति त्रसदशकम्। स्थावरसूक्ष्मापर्याप्तकसाधारणास्थिराशुभगदुर्भगदुःस्वरानादेययशःकीर्तिनामेति स्थावरदशकमुभयमीलनें त्रसविंशतिरियमुच्यते। वर्णविंशतिरियं कृष्णनीललोहितहरितसितवर्णभेदात्पञ्च वर्णाः। सुरभ्यसुरभिगन्धभेदेन द्वौ गन्धौ तिक्तकटु कषायाम्लमधुर भेदात्पञ्च रसाः। गुरुलघुमृदुखर-शीतोष्णस्निग्धरूक्षस्पर्शभेदादष्टौ स्पर्शाः। सर्वमीलनेन वर्णविंशति-रित्युच्यते वर्णनोपलक्षिता विंशतिरिति कृत्वा (सगतेयकम्मत्ति) तैजसकार्मणसप्तकं (कर्म०) (धुवबंधिसेसत्ति) वर्णचतुष्कतैजसकार्मण-स्योक्तत्वाच्छेषा एकचत्वारिंशत् ध्रुवबन्धिन्यः। तथा हि अगुरुलघुनिर्माणोपघातभयजुगुप्सामिथ्यात्वकषायषोमशकज्ञाना-वरणपञ्चकदर्शनावरणनवकान्तरायपञ्चकमिति। वेदत्रिकं स्त्रीपुन्नपुंसक-लक्षणम्। (आगिइतिगत्ति) ''तणुवंगागिइसंघयणजाइगइखगइ-इत्यादि'' संज्ञा गाथोक्तमाकृतित्रिकं गृह्यते। तत आकृतयः संस्थानानि षट् संहननानि षट् जातयः पञ्चेत्येवमाकृतित्रिकशब्देन सप्तदश भेदा गृह्यन्ते वेदनीयं सातासातभेदात् द्विधा। द्वयोर्युगलयोः समाहारो द्वियुगलं हास्यरत्यरतिशोकरूपं (सगउरलत्ति) औदारिकसप्तकम् औदारिक-शरीरौ १ दारिकोङ्गोपाङ्गौ २ दारिकसंघातनौ ३ दारिकबन्धनौ ४ दारिकतैजसबन्धनौ ५ दारिककार्मणबन्धनौ ६ दारिकतैजसकार्मबन्धन-रूपम् ७ (सासचउत्ति) उच्छ्वासचतुष्कमुच्छ्वासोद्योतातपपरा-घाताख्यम् (खगइतिरिदुगत्ति) द्विकशब्दस्य प्रत्येकं संबन्धात् खगतिद्विकं प्रशस्तविहायोगत्यप्रशस्तविहायोगतिलक्षणं तिर्यग्गतिद्विकं तिर्यग्गतितिर्यगानुपूर्वीरूपं (नीयत्ति) नीचैर्गोत्रमित्येतास्त्रिंशदुत्तर-शतसंख्याः प्रकृतयो ध्रुवसत्ताका अभिधीयन्ते। ध्रुवसत्ताकत्वं चासां सम्यक्त्वलाभादर्वाक् सर्वजीवेषु सदैव सद्भावात्। अथानन्तानुबन्धिनां कषायाणामुज्वलनसंभवादध्रुवसत्ताकतैव युज्यते अतः कथं ध्रुवसतताकप्रकृतीनां त्रिंशदधिकशतसंख्या संगच्छते मैवं वाच्यो यतोऽवाप्तसम्यक्त्वाद्युत्तरगुणानामेव जीवानामेतद् द्विसंयोगो न सर्वजीवानामध्रुवसत्ताकता वा न वाप्तोत्तरगुणजीवापेक्षयैव चिन्त्यते अतोऽनन्तानुबन्धिनां ध्रुवसत्ताकतैव। यदि वोत्तरगुणप्राप्त्यपेक्षया अध्रुवसत्ताकता कक्षीक्रियते तदा सर्वासामपि प्रकृतीनां स्यान्नानन्तानुबन्धिनामेव यतः सर्वा अपि प्रकृतयो यथास्थानमुत्तरगुणेषु सत्सु सत्ताव्यवच्छेदमनुभवन्त्येवेति। तथा (सम्मत्ति) सम्यक्त्वमिश्र मनुजद्विकं मनुजगतिमनुजानुपूर्वीरूपम्। (विउव्विक्कारत्ति) वैक्रियैकादशकं देवगति १ देवानुपूर्वी २ नरकगति ३ नरकानुपूर्वी ४ वैक्रियशरीर ५ वैक्रियाङ्गोपाङ्ग ६ वैक्रियसंघातन ७ वैक्रियवैक्रियबन्धन ८ वैक्रियतैजसबन्धन ९ वैक्रियकार्मणबन्धन १० वैक्रियतैजसकार्मणबन्धनं ११ जिननामायुश्चतुष्कम् (हारसगत्ति) प्राकृतत्वादाकारलोपः आहारकसप्तकम्। आहारकशरीरा १ हारकाङ्गोपाङ्गा २ हारससंघाता ३ हारकबन्धना ४ हारकतैजसबन्धना ५ हारककार्मणबन्धना ६ हारकतैजसकार्मणबन्धाख्यम् ७ उच्चैर्गोत्रमित्येता अष्टाविंशतिसंख्याः प्रकृतयो ध्रुवसत्ताका उच्यन्ते। अयमिह भावार्थः सम्यक्त्वं मिश्रं वा अभव्यानां प्रभूतभव्यानां च सत्तायां नास्ति केषांचिदस्तीति। तथा मनुष्यद्विकं वैक्रियैकादशकमित्येतास्त्रयोदश प्रकृतयस्तेजोवायुकायिक-जीवमध्यगतस्योद्वर्तनाप्रयोगेण सत्तायां न लभ्यन्ते तत इतरस्य तु भवति। तथा वैक्रियैकादशकमर्सप्राप्तत्रसत्वस्य संबन्धाभावाद्विहितैतद्बन्धस्त स्थावरभावं गतस्य स्थितिक्षयेण वा सत्तायां न लभ्यते तदन्यस्य संभवत्यपि। तथा सम्यक्त्वहेतौ सत्यपि जिननाम कस्यचिद्भवति कस्यचिन्नेति। तथा देवनारकायुषी स्थावराणां तिर्यगायुष्कं त्वहमिन्द्राणां देवानां मनुजायुष्कत्वं पुनस्तेजोवायुसप्तमपृथिवीनारकाणां सर्वथैव तद्बन्धाभावा-त्तत्तायां न लभ्यते अन्येषां तु संभवत्यपि। तथा संयमे सत्यपि आहारकसप्तकं कस्यचिद्बन्धसद्भावे सत्तायां स्यात्तदभावे कस्यचिन्नेति। तथौच्चैर्गोत्रमसप्राप्तत्रसत्वस्य संबन्धाभावा-द्विहितैतद्बन्धस्य स्थावरभावं गतस्य स्थितिक्षयेण वा सत्तायां न लभ्यते तेजोवायुकायिकजीवमध्यगतस्योद्वर्तनप्रयोगेण वा सत्तायां न लभ्यते इतरस्य तु भवतीत्यासामध्रुवसत्ताकता। उक्तं ध्रुवसत्ताकाध्रुवसत्ताक-प्रकृतिद्वाद्वयम्। कर्म०।

संप्रतिगुणस्थाकेषु कासांचित्प्रकृतीनां ध्रुवाध्रुवसत्तां गाथात्रयेण निरूपयन्नाह।

पढमतिगुणेसु मिच्छं, नियमा अजयाइअट्ठगे भज्जं।
सासाणे खलु सम्मं, संतं मिच्छाइ दसगे वा ॥१॥

प्रथमा आद्यास्त्रयस्त्रिसंख्या गुणा गुणस्थानकानि प्रथमत्रिगुणास्तेषु प्रथमत्रिगुणेषु मिथ्यात्वं मिथ्यात्वलक्षणा प्रकृतिर्नियमान्निश्चयेन सद्विद्यमानं सत्तायां प्राप्यत इत्यर्थः। अयताद्यष्टके अविरतसम्यग्दृष्टिदेश-विरतप्रमत्तसंयताप्रमत्तसंयतापूर्वकरणानिवृत्तिबादरसूक्ष्मसंपरायो-पशान्तमोहलक्षणेषु अष्टगुणस्थानेषु भाज्यं विकल्पनीयं कदाचिन् मिथ्यात्वं सत्तायामस्ति कदाचिन्नास्ति। तथा हि अविरतसम्यग्दृष्ट्यादिना क्षपिते नास्ति उपशमिते त्वस्ति सास्वादने खलु नियमेन (सम्मंति) सम्यक्त्वं सम्यग्दर्शनमोहनीयलक्षणा प्रकृतिः सद्विद्यमानं सर्वदैव लभ्यत इत्यर्थः। यत औपशमिकसम्यक्त्वाद्धायां जघन्यतः समया-वशेषायामुत्कृष्टतः षडावलिकावशिष्टायां सास्वादनो लभ्यते। तत्र च नियमादष्टाविंशतिसत्कर्मै वासाविति भावः। मिथ्यात्वादिदशके मिथ्यादृष्ट्यादिषु सास्वादनवर्जितोपशान्तमोह-पर्यवसानगुणस्थानकेषु दशसंख्येषु वा विकल्पेन भजनया सम्यक्त्वं सत्तायां स्याल्लभ्यते स्यान्न वेति। तथा हि मिथ्यादृष्टौ जीवेनादिषड्विंशतिसत्कर्मण्युद्वलितसम्य-क्त्वपुञ्जे वामिश्रेऽप्युद्वलितसम्यग्दर्शने अविरतादौ चोपशान्तमोहान्ति क्षीणसप्तकेसम्यग्दर्शनमोहनीयं सत्तायां न प्राप्यते अन्यत्र सर्वत्र लभ्यते इति।

सासणमीसेसु धुवं, मीसं मिच्छाइनवसु भयणाए।
आइदुगे अणनियमा, भइया मीसाइनवगम्मि ॥११॥

सास्वादनं च मिश्रं च: सास्वादनमिश्रं तयोः सास्वादनमिश्रयोः। बहुत्वं च प्राकृतवशात् यदाहुः प्रभुश्रीहेमचन्द्रसूरिपादाः द्विवचनस्य बहुवचनं यथा ''हत्था पाया'' इत्यादौ। सास्वादनगुणस्थाने सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थाने चेत्यर्थः। ध्रुवमवश्यंभावेन मिश्रं सम्यग्मिथ्यादर्शनमोहनीयं सदिति पूर्वोक्तगाथातो ममरुकमणिन्यायादिहापि संबध्यते। इदमत्र हृदयम्। सास्वादनो नियमादष्टविंशतिसत्कर्मैव भवति मिश्रस्त्वष्टाविंशतिसत्कर्मा विसंयोजितसम्यक्त्वः सप्तविंशतिसत्कर्मा उद्वलितानन्तानुबन्धिचतुष्कश्चतुर्विंशतिसत्कर्मा वा तत एतेषु सत्तास्थानकेषु मिश्रं सत्ताऽवश्यं लभ्यते षड्विंशतिसत्कर्मा तु मिश्रो न संभवत्वेन मिश्रपुञ्जस्य सत्तोदयाभ्यां व्यतिरेकेण मिश्रगुणस्थानकाप्राप्तेरिति मिथ्यात्वादि नवसु सास्वादनसम्यग्मिथ्यात्वरहितेषु मिथ्यादृष्ट्याद्युपशान्तमोह पर्यवसाननवगुणस्थानकेष्वित्यर्थः। भजनया विकल्पेन मिश्रं स्यात्सत्तायामस्ति स्यान्नेति। किमुक्तं भवति यो मिथ्यादृष्टिः षड्विंशतिसत्कर्मा ये वाऽविरतिसम्यग्दृष्ट्यादयक उपशान्तमोहान्ताः क्षायिकसम्यग्दृष्टय स्तेषु मिश्रं सत्ताया नावाप्यते अन्यत्र प्राप्यत इति। तथा आद्यद्विके प्रथमगुणस्थानकयुगले मिथ्यादृष्टिसास्वादनगुणस्थानकद्वय इत्यर्थः (अणत्ति) अनन्तानुबन्धिनः प्रथमकषायाः क्रोधमानमायालोभाख्या नियता अवश्यंभावेन सत्तायामवाप्यन्ते यतो मिथ्यादृष्टिसास्वानसम्यग्दृष्टी नियमेनानन्तानुबन्धिनो बध्नाति इति भावः। तथा भाज्या भक्तव्या विकल्पनीया मिश्रादिनवके सम्यग्मिथ्यादृष्टिप्रभृत्युपशान्तमोहपर्यवसाननवगुणस्थानकेष्वनन्तानुबन्धिनः सत्तामाश्रित्य भक्तव्या इत्यर्थः। इदमत्र भावना विसंयोजितानन्तानुबन्धिनश्चतुर्विंशतिसत्कर्मणः सम्यग्मिथ्यादृष्टेः क्षीणसप्तकस्यैकविंशतिसत्कर्मणोऽनन्तानुबन्धिरहितचतुर्विंशति सत्कर्मणो वद्धविरतसम्यग्दृष्ट्यादेरनन्तानुबन्धिनः सत्तायां न सन्ति तदितरस्य तु सन्तीति। एतच्च शेषकर्मग्रन्थाभिप्रायेणोक्तम्। कर्मप्रकृत्यभिप्रायेण पुनः श्रीशिवशर्मसूरिपादा एवमाहुः।

वीयतइएसु मीसं, नियट्ठाणनवगम्मि भइयव्वं।
संयोजणा उ नियमा, दुसु पंचसु हुंति भइयव्वा ॥

पूर्वार्द्धं सुगमं चोत्तरार्द्धस्येयमक्षरगमनिका। संयोज-यत्यात्मनोऽनन्तकालमिति ''रस्यादिभ्यः कर्तरी'' त्यनटि प्रत्यये संयोजना। अनन्तानुबन्धिकषायाः तुः पुनरर्थे नियमा न द्वयोर्मिथ्यादृष्टिसास्वादनयोः सत्तामाश्रित्य भवन्ति यत एतावस्यामनन्तानुबन्धिनौ बध्नीत इति पञ्चसु पुनर्गुणस्थानकेषु सम्यग्मिथ्यादृष्टिप्रभृतिष्वप्रमत्तसंयतपर्यन्तेषु सत्तां प्रतीत्य भक्तव्याः। यदि उद्वलितास्ततो न सन्ति इतरथा तु सन्तीत्यर्थः। तदुपरितनेषु पुनरपूर्वकरणादिषु सर्वथैव तत्सत्ता नास्ति यदस्तदभिप्रायेण विसंयोजितानन्तानुबन्धिकषाय एवोपशमश्रेणिमपि प्रतिपद्यत इति।

आहारसत्तगं वा, सव्वगुणे वितिगुणे विणा तित्थं।
नोभयसंते मिच्छे, अंतमुहुत्त भवे तित्थे ॥१२॥

आहारकसप्तकमाहारकशरीरा १ हारकाङ्गोपाङ्गा २ हारकसंघातना ३ हारकबन्धा ४ हारकतैजसबन्धना ५ हारककार्मणबन्धना ६ हारकतैजसकार्मणबन्धनलक्षणं ७ वा विकल्पेन भजनया सर्वगुणेषु सर्वगुणस्थानकेषु मिथ्यादृष्टिप्रभृत्ययोगिकेवलपर्यवसानेषु। सूत्रे चैकवचनं प्राकृतत्वात्ततश्च सर्वगुणसथानकेषु विकल्पनया सत्तां प्रतीत्याहारकसप्तकं प्राप्यते। इदमत्र हृदयम्। योऽप्रमत्तसंयतादिः संयमप्रत्ययाहारकसप्तकबन्धं समारोहति, यश्च कश्चिदविशुद्धाध्यवसायवशादुपरितनगुणस्थानकेभ्योऽधस्तनगुणस्थानकेषु प्रतिपतति स आहारकसप्तकं न बध्नात्येव तद्बन्धं विनैवोपरितनगुणस्थानकेष्वध्यारोहति तदधस्तनेषु सत्तायां नावाप्यते इति तथा (विति गुणेविणा तित्थंति) कोलिक-नलकन्यायेन सर्वगुणेषु चेत्यत्रापि संबन्धनीयं सर्वगुणस्थानकेषु द्वितीयतृतीयगुणस्थाने विना सास्वानदनमिश्रगुणस्थानकरहितेषु द्वादशस्वित्यर्थः। वा विभाषया भजनया तीर्थकरनाम सत्तायां प्राप्यत इति। कश्चिच्च बद्धतीर्थकरनामकर्माऽप्यविशुद्धिवशात् मिथ्यात्वमपि गच्छति तदा स्वास्वादनमिश्र रहितेषु द्वादशगुणस्थानकेषु तीर्थकरनामकर्म सत्तायामवाप्यते तीर्थकरनामसत्ताको हि मिश्रसास्वादनभावं न प्रतिपद्यते स्वभावदेवेति तद्वचनात्। यदुक्तं बृहत्कर्मस्तवभाष्ये ''तित्थयरेण विहीणं, सीयालसयं तु संतए होइ। सासणयम्मि उ गुणे, संगमीसे य पयडीणं''। यः पुनर्विशुद्धसम्यक्त्वेऽपि सति तन्न बध्नाति तस्य सर्वगुणस्थानकेषु सत्वात् न लभते यतोऽनतोः संयमसम्यक्त्वलक्षणस्वप्रत्ययसद्भावेऽपि बन्धाभावान्नावश्यं सत्तासंभवः। यदुक्तं कर्मप्रकृतिसंग्रहण्याम् (आहारगतित्थयरा भज्जत्ति) आहारकसप्तकतीर्थकरनाम्नी सत्ता प्रतिभाज्येति भावः। एवमाहारकसप्तके तीर्थकरनामनि च प्रत्येकं सत्तारूपेणावतिष्ठमाने मिथ्यादृष्टिरपि जन्तुर्भवतीति। निश्चितमुभयसत्तायामसौ भवति न वेति विनेयाशङ्कायामाह (नोभयं संते मिच्छेति) नो नैवोभयस्याहारकसप्तकतीर्थकरनामलक्षणद्विकस्य सत्वे सद्भावे सति (मिच्छेत्ति) मिथ्यादृष्टिर्भवेत् कोऽर्थः उभयसत्तायां मिथ्यात्वं न गच्छतीति भावः। तर्हि केवलतीर्थकरनामसत्तायां किन्यतं कालं मिथ्यादृष्टिर्भवतीत्याह। (अंतमुहुत्तं भवे तित्थेत्ति) अन्तर्मुहूर्तमन्तर्मुहूर्तमात्रकालं भवेज्जायेत (मिच्छेति) इत्यस्यात्रापि संबन्धान्मिथ्यादृष्टिर्भवतीति क्व सतीत्याह (तित्थेत्ति) तीर्थकरनामकर्मणि सत्तायां वर्तमाने इति गम्यते। इदमुक्तं भवति यो नरके बद्धायुष्को वेदकसम्यग्दृष्टिर्बद्धतीर्थकरनामकर्मा सस्तत्रोत्पित्सुरवश्यं सम्यक्त्वं परित्यजतिः उत्पत्तिसमनन्तरमन्तर्मुहूर्तादूर्ध्वमवश्यं सम्यक्त्वं प्रतिपद्यते तस्यायमुक्तप्रमाणः लो लभ्यते इति उक्तं सप्रतिपक्षं ध्रुवसत्ताकप्रकृतिद्वारम्। कर्म०।

(२२) अधुना सप्रतिपक्षं सर्वदेशघातिप्रकृतिद्वारं प्रतिपादयन्नाह।

केवलजुयलावरणा, पण निद्दा वारसाइमकसाया।
मिच्छत्ति सव्वघाई, चउनाणतिदंसणावरणा ॥१३॥

संजलणनोकसाया, विग्घं इय देसघाइ य अघाई।
पत्तेय तणुट्ठाऊ, तसवीसा गोयदुगवन्ना ॥१४॥

केवलजुगलं केवलज्ञानकेवलदर्शनरूपं तस्यावरणे आच्छादके कर्मणी केवलजुगलावरणे केवलज्ञानावरणं केवलदर्शनावरणं चेत्यर्थः। पञ्च निद्राः। निद्रा १ निद्रानिद्रा २ प्रचला ३ ऽप्रचला ४ स्त्यानर्द्धिरूपाः ५ द्वादशेति संख्या आदिमकषायाः संज्वलनापेक्षया प्रथमकषायाः क्रोधमानमायालोभनामैकैकशोऽनन्तानुबन्ध्य १ प्रत्याख्यानावरण २ प्रत्याख्यानावरणलक्षणनामत्रयेण द्वा-

दशधात्वं मिथ्यात्वमित्यनेन प्रदर्शितप्रकारेण सर्वमपि स्वावार्यं गुणं घातयन्तीत्येवंशीलाः सर्वघातिन्यो विंशतिसंख्या भवन्तीत्यक्षरार्थो भावार्थः पुनरयम् इह केवलज्ञानावरणस्य स्वावार्यकेवलज्ञानलक्षणो गुणः स च यद्यपि सर्वाऽत्मनाऽऽव्रियते तथापि सर्वजीवानां केवलज्ञानस्यानन्तभागोऽनावृत एवावतिष्ठते तदावरणे तस्य सामर्थ्याभावात् यदाहुः श्रीदेवर्द्धिवाचकवराः। ''सव्वजीवाणं पि य णं अक्खरस्स अणंतभागो निव्वुग्घाडिओ चिट्ठइत्ति'' कथं तर्हि सर्वघातित्वमिति चेदाभिधीयते। यथा अतिबहुलजलदपटलेन नातितरामुन्नतेन बहुतराया आवृतत्वात्सर्वाऽपि सूर्याचन्द्रमसोः प्रभा तेनावृतेति वचनरचना प्रवर्तते। अथचाद्यापि काचित्प्रभा प्रसरति। ''सुट्ठु वि मेहसमुदए, होइ पहा चंदसूराण मिति'' वचनादनुभवसिद्धत्वाच्च तथाऽत्रापि प्रबलकेवलज्ञानावरणावृतस्यापि केवलज्ञान-स्यानन्तभागोऽनावृत एवास्ते। यदि पुनस्तदप्यावृणुयात्तदा जीवोऽजीवत्वमेव प्राप्नुयात्। यदुक्तम्, नन्द्यध्ययने ''जइ पुण सो वि आवरिज्ज तो णं जीवो अजीवत्तणं पाविज्ज'' सोऽपि चावशिष्टोऽनन्तभागो जलधरानावृतदिनकरप्रसर इव कटकुटगदिभिर्मतिश्रुतावधिमनः पर्यायज्ञानावरणैराव्रियते तदा काचिन्निगोदावस्थायामपि ज्ञानमात्राऽवतिष्ठते। अन्यथाऽजीवत्वप्रसङ्गान्मतिज्ञानादिविषय-भूतांश्चार्थान् यन्न जानीते स केवलज्ञानावरणोदयो न भवति किं तर्हि मतिज्ञानावरणाद्युदय एवेति। केवलदर्शनावरणस्य समस्तवस्तुस्तोम-सामान्यावबोधः अवार्यस्तं सर्वं हन्तीति सर्वघात्यभिधीयते तदनन्तभागं त्विदमपि सामर्थ्याभावान्नावृणोति सोऽपि चानावृतोऽनन्तभागश्चक्षुरचक्षुरवधिदर्शनावरणैराव्रियते शेषो जलधरदृष्टान्तादवार्यस्तथैव यच्चक्षुर्दर्शनाविषयानर्था न पश्यति स केवलदर्शनावरणोदयो न भवति किं तर्हि चक्षुर्दर्शनावरणाद्युदय एवेति। यद्येवं तर्हि केवलज्ञानावरणकेवलदर्शनावरणक्षये सत्यपि मतिज्ञानादिचक्षुर्दर्शनादिविषयाणामर्थानामवबोधो न प्राप्नोति भिन्नज्ञानविषयत्वादिति चेत् तदयुक्तम्। उच्यते केवलालोकलाभे शेषावबोधलाभान्तर्भावात् ग्रामलाभे क्षेत्रलाभो ग्रामलाभान्तर्भाववदिति। निद्रापञ्चकमपि सर्ववस्त्ववबोधमावृणोतीति सर्वघाति। यत्पुनः स्वापावस्थायामपि किञ्चित् किञ्चिद्वेत्ति तत्र धाराधरनिदर्शनं वाच्यम्। तथाऽनन्तानुबन्धिनोऽप्रत्या-ख्यानावरणाः प्रत्याख्यानावरणाश्च प्रत्येकं चत्वारो यथाक्रमं सम्यक्त्वंदेशविरतिचारित्रं सर्वविरतिचारित्रं सर्वमेव घ्नन्तीति सर्वघातिनो द्वादशापि कषायाः। यः पुनस्तेषां प्रबलोदयेऽप्ययोग्याहारादिविरमणमुपलभ्यते तत्र वारिवाह-दृष्टान्तो वाच्यः। तथा मिथ्यात्वं तु जिनप्रणीततत्त्वश्रद्धानस्वरूपं सम्यक्त्वं सर्वमपि हन्तीति सर्वघाति। यत्तु तस्य प्रबलोदयेऽपि मनुष्यपश्वादिवस्तुश्रद्धानं तदपि जलधरोदाहरणादवसेयमिति भावितः सर्वघातिन्यः। संप्रति देशघातिन्यो भाव्यन्ते (चउनाणातिदंसणावरणत्ति) आवरणशब्दस्य प्रत्येकं संबन्धान्मतिज्ञानावरणश्रुतज्ञानावरणावधिज्ञानावरणमनःपर्यायज्ञानावरणलक्षणं दर्शनावरणत्रिकं चक्षुर्दर्शनावरणाऽचक्षुर्दर्शनावरणावधिदर्शनावरणरूपमिति। संज्वलनाश्चत्वारः क्रोधमानमायालोभाः। नोकषाया हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सास्त्रीवेदपुंवेदनपुंसकवेदस्वरूपा नवपञ्चविधमन्तरायं दानलाभभोगोपभोगवीर्यान्तरायलक्षणमित्यमुना दर्शितप्रकारेण देशघातिन्यः पञ्चविंशतिसंख्याः भवन्तीत्यक्षरार्थः। भावार्थस्त्वयं मतिज्ञानावरणादिचतुष्कं केवलज्ञानावरणावृतं ज्ञानदेशं हन्तीति देशघातीदमुच्यते। मत्यादिज्ञानचतुष्टयविषयभूतानर्थान् यन्नावबुध्यते स हि मत्यावरणाद्युदय एव तदविषयभूतांस्त्वनन्तगुणान् यन्न जानीते स केवलज्ञानावरणस्यैवोदय इति। चक्षुरचक्षुरवधिदर्शनावरणान्यपि केवलदर्शनावरणा-नावृतकेवलदर्शनैकदेशमावृण्वन्तीति देशघातीनि। तथा हि चक्षुरचक्षुरवधिदर्शनविषयभूतानेवार्थान् एव तदुदयान्न पश्यति तदविषयभूतांस्त्वनन्तगुणान् केवलदर्शनावरणोदयादेव न समीक्षते। तथा संज्वलना नव नोकषायाश्च लब्धस्य चारित्रस्य देशमेव घ्नन्तीति देशघातिनस्तेषां मूलोत्तरगुणानामतीचारजनकत्वात्। यदवादि श्रीमदाराध्यपादैः। ''सव्वे वि य अइयारा, संजलणाणं तु उदयओ हुंति। मूलविज्जं पुण होइ, वारसण्हं कसायाण'' मिति दानान्तरायादीनि पञ्चान्तरायाण्यपि देशघातीन्येव तथा हि दानलाभभोगोपभोगानां तावद् ग्रहणधारणयोग्यान्येव द्रव्याणि विषयस्तानि च समस्तपुद्गलास्तिकायस्यानन्तभागरूपे देश एव वर्तन्ते। अतो यदुदयात्तानि पुद्गलास्तिकायदेशवर्तीनि द्रव्याणि यद्दातुं लब्धुं भोक्तुमुपभोक्तुं च न शक्नोति तानि दानलाभभोगोपभोगान्तरायाणि तावद्देशघातीन्येव। यत्तु सर्वलोकवर्तीनि द्रव्याणि न ददाति न लभते न भुङ्क्ते नाप्युपभुङ्क्ते न तद्दानान्तरायाद्युदयात्। किं तु तेषामेव ग्रहणधारणाविषयत्वेनाशक्यानुष्ठानत्वादिति मन्तव्यम्। वीर्यान्तरायमपि देशघात्येव सर्वं वीर्यं न घातयतीति कृत्वा तथा हि सूक्ष्मनिगोदस्य वीर्यान्तरायकर्मणोऽभ्युदये वर्तमानस्याप्याहारपरिणमनकर्मदलिकग्रहणगत्यन्तरगमनादिविषय एतावान् वीर्यान्तरायकर्मक्षयोपशमो विद्यते तत्क्षयोपशमविशेषतश्च निगोदजीवमादौ कृत्वा यावत्क्षीणमोहस्तावद्वीर्यमल्पं बहु बहुतरं च तारतम्याद्भवतीति। केवलिनश्च तत्कर्मक्षयसंभूतं सर्वं वीर्यं भवतीति देशघातीदम्। यदि पुनः सर्वघाति स्यात्तदा यथैव मिथ्यात्वस्य कषायद्वादशकस्य च उदये तदा वीर्यं सम्यक्त्वगुणं देशसर्वसंयमगुणं च जघन्यमपि न लभ्यते तथैव तदुदयेऽपि तदा वीर्यं जघन्यमपि वीर्यगुणं न लभेत न चैवमस्ति तस्मादिदमपि देशघातीति स्थितमित्युक्ताः सर्वदेशघातिन्यः। संप्रति तत्प्रतिपक्षभूता अघातिनीर्व्याचिख्यासुराह (अघाईइत्यादि) अघातिन्य एताः पञ्चसप्ततिसंख्याः प्रकृतयोऽभिधीयन्ते तद्यथा (पत्तेयत्ति) प्रत्येकं प्रकृतयः पराघातोच्छ्वासातपोद्योतागुरुलघुतीर्थकरनिर्माणोपघातरूपा अष्टौ (तणुइत्ति) तन्वा शब्देनोपलक्षितमष्टकं ''तणुबंगागिइसंघयणजाइगइखगइपुव्वित्ति'' लक्षणं तन्वष्टकं तत्र तनव औदारिकवैक्रियाहारकतैजसकार्मणलक्षणाः पञ्च। उपाङ्गानि त्रीणि। आकृतयः संस्थानानि षट्। संहननानि षट्। जातयः पञ्च। गतयश्चतस्रः। खगती द्वे। पूर्व्यानुपूर्व्यश्चतस्रः। एव तन्वष्टके प्रकृतयः पञ्चत्रिंशत्। आयूषि चत्वारि। त्रसविंशतिस्त्रसदशकस्थावरदशकमीलनात् (गोयदुगत्ति) गोत्रशब्देनोपलक्षितं द्विकं (गोयवेयणीयमिति) गाथांशेन प्रतिपादितं गोत्रमुच्चैर्गोत्रं नीचैर्गोत्रमिति। सातासातभेदाद्वेदनीयं द्विधा। तदेवं गोत्रद्विकशब्देन प्रकृतिचतुष्टयमभिधीयते (वन्नत्ति) वर्णगन्धरसस्पर्शाख्याश्चतस्रः प्रकृतयो गृह्यन्ते इत्येताः प्रकृतयोऽघातिन्यो न कंचन ज्ञानादिगुणं घातयन्तीति कृत्वा केवलं सर्वदेशघातिनीभिः सह वेद्यमानाः एता अघातिन्योऽपि सर्वघातिरसविपाकं दर्शयन्ति। देशघातिनीभिः सह पुनर्वेद्यमाना देशघातिरसं यथा स्वयम-

चौरश्चौरैः सह वर्त्तमानश्चौर इवावभासते। यदभाणि ''जाण न विसओ घाइ–त्तणम्मि ताणं पि सव्वघाइरसो। जायइ घाइसगासेण, चोरया बेह चोराणमिति'' उक्तं सम्प्रति-पक्षसर्वदेशघातिद्वारम्। कर्म०। पं० सं०।

संप्रति पुण्यपापप्रकृतीर्विवरीषुराह –

सुरनरतिगुच्चसायं, तसदसतणुवंगवइरचउरंसं।
परघासत्त तिरिआ उं, वभचउपणिं दियसुभखगई ॥१५॥

त्रिकशब्दस्य प्रत्येकं योगात् सुरत्रिकं सुरगतिसुरानुपूर्वी-सुरायुर्लक्षणं नरत्रिकं नरगतिनरानुपूर्वीनरायुर्लक्षणं (उच्चत्ति) उच्चैर्गोत्रं सातं त्रसदशकं त्रसबादरपर्याप्तप्रत्येकस्थिरशुभशुभगसुस्वरादेययशः कीर्तिलक्षणं तनवः औदारिकवैक्रियाहारकतैजसकार्मणरूपाः पञ्च उपाङ्गानि औदारिकाङ्गोपाङ्गवैक्रियाङ्गोपाङ्गाहारकाङ्गोपाङ्गलक्षणानि त्रीणि (वइरत्ति) वज्रऋषभनाराचसंहननं चतुरस्रं समचतुरस्रं (परघासत्तत्ति) पराघातसप्तकं पराघातोच्छ्वासाऽऽतपोद्योतागुरुलघुतीर्थकरनाम-निर्माणरूपम्। तिर्यगायुः वर्णचतुष्कं वर्णगन्धरसस्पर्शाख्यं पञ्चेन्द्रियजातिः शुभगतिः प्रशस्तविहायोगतिरिति।

वायालपुण्णपगई, अपढमसंठाणखगइसंघयणा।
तिरिदुग असायनाओ–वघायइगविलनरयतिगं ॥१६॥
थावरदसवन्न चउ–क्कघाय पणयालसहियवासीई।
पावपयमित्ति दोसु वि, वन्नाइगहा सुहा असुहा ॥१७॥

सुरत्रिकप्रभृतयः शुभखगति पर्यन्ता एता द्विचत्वारिंशत्संख्याः पुण्याः शुभाः प्रकृतयः पुण्यप्रकृतयः उच्यते। उक्ताः पुण्यप्रकृतयः कर्म०। (पापप्रकृतिविचारः पापपगइ शब्दे) परावर्तमानप्रकृतयस्तद्भणने च समर्थितं परावर्तमानापरावर्तमान-प्रकृतिद्वारद्वयम्। तदेवं समर्थितं ''ध्रुवबन्धोदयसंघाताय ''पुन्नपरियत्तासेयर इति'' मूलद्वारगाथोपन्यस्तं द्वारद्वादशकं संप्रति यदुक्तम्। ''चउहविवागा पुच्छमिति'' तद्विभणिषुः।

(२३) प्रथमं क्षेत्रविपाकाः प्रकृतीराह।

(खित्तविवागाणुपुव्वीउत्ति) क्षेत्रमाकाशं तत्रैव विपाक उदयो यासां ताः क्षेत्रविपाकाः आनुपूर्व्यश्च ता नारकतिर्यङ्नराम-रानुपूर्वीलक्षणा यतस्तासां चतसृणामपि विग्रहगतावेवोदयो भवतीति। उक्तं च। वृहत्कर्मविपाके। ''नरपाउयस्स उदए, नरए वक्केण गच्छमाणस्स। नरयाणुपुव्वियाए, तहिं उदओ अन्नहिं नत्थित्ति, एवं तिरिमणुदेवे, तेसु विवक्केण गच्छमाणस्स। तेसिमणुपुव्वियाणं, तहिं उदओ अन्नहिं उत्थि'' ॥२॥ ननु विग्रहगत्यभावोऽन्यानुपूर्वीणामुदयः संक्रमणकरणेन विद्यते। अथ कथं क्षेत्रविपाकिन्यस्ता न गतिवज्जीवविपाकिन्य इत्यत्रोच्यते। विद्यमानेऽपि संक्रमे यथा तासां क्षेत्रप्राधान्येन स्वकीयो विपाकोदयो न तथान्यासामतः क्षेत्रविपाकिन्य एवेति उक्ताः क्षेत्रविपाकाः प्रकृतयः। कर्म०। पं० सं०।

सांप्रतं जीवविपाका भवविपाकाः प्रकृतीराह।

घणघाइदुगोयजिणणाम, तसियरतिगसुभगदुभगचउसांस।
जाइतिगजिय विवागा, आऊ चउरो भवविवागा ॥२०॥

घनघातिन्यः प्रकृतयः सप्तचत्वारिंशत् तद्यथा ज्ञानावरणं पञ्चधा, दर्शनावरणं नवधा, मोहनीयमष्टाविंशतिधा, अन्तरायं पञ्चधेति। (दुगोयत्ति) 'दुगोयवेणिय'' मिति वचनात् गोत्राद्विकं गोत्रवेदनीयरूपं तत्र गोत्रमुच्चैर्गोत्रनीचैर्गोत्रभेदाद् द्वेधा। वेदनीयं सातासातभेदेन द्विभेदमिति दुगोयशब्देन प्रकृतिचतुष्टयं गृह्यते (जिननामतसियरतिगत्ति) त्रिकशब्दस्य प्रत्येकं संबन्धात् त्रसत्रिकं त्रसबादरपर्याप्तकरूपम्। इतरत्रिकं स्थावरत्रिकं स्थावरसूक्ष्मापर्याप्तकलक्षणम् (सुभगदुब्भग-चउत्ति) चतुःशब्दस्य प्रत्येकं संबन्धात् सुभगचतुष्कं सुभगसुस्वरादेययशः कीर्तिरूपं दुर्भगचतुष्कं दुर्भगदुःस्वरानादेयायशःकीर्तिलक्षणम् (सासंति) उच्छ्वासं (जाइतिगत्ति)। जातिशब्देनोपलक्षितं त्रिकं जाइगइखगइ इति'' गाथावयवोक्तं जातित्रिकं तत्र जातय एकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियपञ्चेन्द्रियाख्याः पञ्च। गतयः सुरनरतिर्यङ्नरकरूपाः चतस्रः। खगतिः प्रशस्ताप्रशस्तविहायोगतिभेदेन द्विधा। इत्येवं जातित्रिकशब्देन एकादश प्रकृतयो गृह्यन्ते। इत्येता अष्टासप्ततिप्रकृतयः। जीव एव विपाकः स्वशक्तिदर्शनलक्षणो विद्यते यासां ताः जीवविपाका ज्ञात-व्यास्तथाहि पञ्चविधज्ञानावरणोदयो जीव एवाज्ञानी स्यान्न पुनः शरीरपुद्गलादिषु तत्कृतः कश्चिदुपघातोऽनुग्रहो वाऽस्तीति। एवं नवविधदर्शनावरणोदयः जीव एवादर्शनीभवति सात सातोदयाज्जीव एव सुखी दुःखी वा संपद्यते अष्टाविंशतिविधमोहनीयोदयाज्जीव एवादर्शनी अचारित्री वा जायते। पञ्चविधान्तरायोदयाज्जीव एव न दानादि कर्तुं पारयति। उच्चैर्गोत्रनीचैर्गोत्रगतिचतुष्कजातिपञ्चकविहायोगतिद्विक-जिनत्रसबादरपर्याप्तकस्थावरसूक्ष्मापर्याप्यकसुभगचतुष्कदुर्भग-चतुष्कोच्छ्वासनामोदयाज्जीव एव तं तं भावमनुभवति न शरीरपुद्गला इति। इत्येताः सर्वा अपि जीवविपाकिन्यः पुद्गलविपाकिन्य इति। या अपि क्षेत्रविपाका उक्ता याश्च भवविपाकाः पुद्गलविपाकश्च वक्ष्यन्ते ता अपि परमार्थतो जीवस्यैव पारम्पर्येणानुग्रहमुपघातं च कुर्वन्ति केवलं मुख्यतया क्षेत्रभवपुद्गलेषु तद्विपाकस्य विवक्षितत्त्वात्तद्विपाका उच्यन्ते इति। आयूंषि चत्वारि नारकायुष्कादीनि पुंस्त्वं च प्राकृतवशात् प्राकृते हि लिङ्गमतन्त्रमेव यदवादि प्रवादिसर्पदर्पसौपर्णेयैः श्रीहेमचन्द्रसूरिपादैः स्वप्राकृतलक्षणे लिङ्गमतन्त्रमिति भवन्ति कर्मवशवर्तिनः प्राणिनोऽ-स्मिन्निति भवो नारकादिपर्यायः स च पूर्वायुर्विच्छेदे विग्रहगतेरप्यारभ्य वेदितव्यो यदाह भगवान् श्रीसुधर्मस्वामी भगवत्याम् ''नेरइए नेरइएसु उववज्जइत्ति'' तस्मिन् भवे नारकतिर्यग्रामररूप एव विपाक उदयो विद्यते येषां तानि भवविपाकानि तथा हि यथासंभवं पूर्वभवबद्धान्यागामिनि भवे विपच्यन्त इति भावः। ननु यथायुषां देवादिभवेऽवश्यं विपाको भवत्येवं गतीनामप्यतस्ता अपि भवविपाकिन्यः प्राप्नुवन्ति। अत्रोच्यते आयुर्यद्यस्य भवस्य योग्यं निबद्धं तत्तस्मिन्नेव भवे वेद्यते इत्यायुषो भवविपाकित्वं गतयस्तु विभिन्नभवयोग्या निबद्धा अप्येकस्मिन्नपि भवेसर्वाः संक्रमेण संवेद्यन्ते तथा हि मोक्षगामिनोऽशेषा गतयो मनुष्यभवे क्षयं यान्ति, अतो भवं प्रति गतीनां नैयत्याभावान्न भवविपाकिन्यः किं तु जीवविपाकिन्यः एवेत्युक्ता जीवविपाका भावविपाकाश्च प्रकृतयः।

इदानीं पुद्गलविपाकिनाः प्रकृतीः प्रचिकटयिषुराह –

नामधुवोदयचउत्तणु–वघायसाहारणियजोयतिगं।
पुग्गलविवागिबंधो, पयइट्ठिइरसपएसत्ति ॥२१॥

नाम्नो नामकर्मणो वर्णचतुष्कमिति (चउत्तत्ति) तथा ध्रुवोदया नित्योदयानाम ध्रुवोदया द्वादश प्रकृतयस्तद्यथा निर्माण-स्थिरास्थिरागुरुलघुशुभाशुभतैजसकार्मणवर्णचतुष्कमिति (च-

उत्तणुत्ति) तनुशब्देनोपलक्षितं चतुष्कं ''तणुवंगागिइसंघयण'' इति गाथावयवेन प्रतिपादितं तनुचतुष्कं तत्र तैजसकार्मणयोर्ध्रुवोदयमध्ये पठितत्वादिह तनवः औदारिकवैक्रियाहारकलक्षणास्तिस्रः परिगृह्यन्ते उपाङ्गानि त्रीणि, आकृतयः संस्थानानि षट्, संहननानि षट्, तदेवं तनुचतुष्कशब्देन एता अष्टादश प्रकृतयो गृह्यन्ते। उपघातं साधारणमितरच्च तत्प्रतिपक्षभूतं प्रत्येकं (जोयतिगंति) 'उज्जोयायवपराघाइत्ति' वचनादुद्योतातपपरघातलक्षणमित्येताः षट्त्रिंशत्प्रकृतयः (पुग्गलविवागत्ति) पुद्गलेषु शरीरतया परिणतेषु परमाणुषु विपाक उदयो यासां ताः पुद्गलविपाकिन्यः शरीरपुद्गलेष्वेवात्मीयां शक्तिं दर्शयन्तीत्यर्थः। तथा हि निर्माणस्थिरादुदयाच्छरीरतया परिणतानां पुद्गलानामङ्गप्रत्यङ्गादिनियमनं दन्ताख्यादीनां स्थिरत्वं जिह्वादीनामस्थिरत्वं शिरःप्रभृतीनां शुभत्वं पादानामशुभत्वमित्यादि तनूदयाच्छरीरतया पुद्गला एव परिणमन्ते अङ्गोपाङ्गोदयाच्च शिरोग्रीवाद्यवयवविभागो जायते आकृतिनामोदयात्तेष्वेवाकारविशेषाः संपद्यन्ते संहननोदयात्तेषामेव वज्रऋषभनाराचादितया विशिष्टा परिणतिर्भवति। उपघातसाधारणप्रत्येकोद्योतात्पादीनामपि सर्वेषां शरीरपुद्गलेष्वेव स्वविपाकस्य दर्शनात्तुप्रतीतमेवासां पुद्गलविपाकित्वमिति। उक्ताश्चतुर्विधविपाकाः प्रकृतयः। कर्म्म०। पं० सं०। इह पुद्गलविपाकिनीनामौदयिकभावत्वमुक्तं ततस्तत्प्रसङ्गेन शेषप्रकृतीनामपि यथासंभवं भावानभिधित्सुराह।

मोहस्सेव उवसमो, खाओवसमो चउण्ह घाईणं।
खयपरिणामियउदया, अट्ठण्ह वि होंति कम्माणं॥

अष्टानां कर्मणां मध्ये मोहस्यैव मोहनीयस्यैवोपशमो विपाकप्रदेशरूपतया द्विविधस्याप्युदयस्य विष्कम्भणं नान्येषामुपशमश्चेह सर्वोपशमो विवक्षितो न देशोपशमस्तस्य सर्वेषामपि कर्मणां संभवात्। तथा उदयावलिकाप्रविष्टस्यांशस्य क्षयेणानुदयावलिकाप्रविष्टस्योपशमेन विपाकोदयनिरोधवलक्षणेन निर्वृतः क्षायोपशमिकः। स च चतुर्णामेव घातिन्वर्गणां ज्ञानावरणदर्शनावरणमोहनीयान्तरायरूपाणां भवति न शेषकर्मणां चतुर्णामपि च केवलज्ञानावरणकेवलदर्शनावरणरहितानां तयोर्विपाकोदयविष्कम्भाभावतः क्षयोपशमासंभवात्। क्षयपारिणामिकौदयिकभावा अष्टानामपि कर्मणां भवन्ति। तत्र क्षय आत्यन्तिकोच्छेदः स च मोहनीयस्य सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानकस्य चरमसमये शेषाणां तु त्रयाणां घातिकर्मणां क्षीणकषायगुणस्थानस्य अघातिकर्मणामयोगिकेवलिनः। तथा परिणमनं परिणामः परिणाम एव पारिणामिकः जीवप्रदेशैः सह सबंद्धतया मिश्रीभावनमिति भावः। यद्वा तत्तद्द्रव्यक्षेत्रकालाध्यवसायापेक्षया तथा तथा संक्रमादिरूपतया यत्परिणमनं स पारिणामिको भावः। उदयस्तु प्रतीत एव सर्वेषामति संसारिजीवानामपि अष्टानामपि कर्मणामुदयदर्शनात्। एष चात्र तात्पर्यार्थः मोहनीयस्य क्षायिकक्षायोपशमिकौपशमिकौदयिकपारिणामिकलक्षणाः पञ्चापि भावाः संभवन्ति। ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायाणामौपशमिकवर्जाः शेषाश्चत्वारः नामगोत्रवेदनीयायुषां क्षायिकौदयिकपारिणामिकलक्षणास्त्रय इति।

संप्रति यस्मिन् भावे ये गुणाः प्रादुष्यन्ति तत्र तानुपदर्शयन्नाह–

सम्मत्ताइउवसमे, खाओवसमे गुणा चरित्ताई।
खइए केवलमाई, तव्ववएसो उ ओदइए॥

उपशमे मोहनीयस्यौपशमिके भावे जाते सति सम्यक्त्वादिसम्यक्त्वमौपशमिकमादिशब्दाच्चारित्रं च सर्वविरतिरूपमौपशमिकं भवति चतुर्णां घातिकर्मणां क्षायौपशमिके भावे वर्तमाने गुणाश्चारित्रादयो ज्ञानदर्शनलाभादयः प्रादुष्यन्ति। तत्र चारित्रं देशविरतिरूपं सर्वविरतिरूपं वा सर्वविरतिरूपमिति सामायिकं छेदोपस्थापनं परिहारविशुद्धिकं सूक्ष्मसंपरायं वा यथाख्यातं तस्योपशमे क्षये वा संभवात्। ज्ञानं मतिश्रुतावधिमनः पर्यायलक्षणं न केवलज्ञानं तस्य क्षायिकत्वात्। दर्शनं चक्षुरवधिदर्शनरूपं तत्रेदं चिन्त्यते न केवलदर्शनमपि तस्य क्षायिकत्वात्। सम्यक्त्वं क्षायोपशमिकं सुप्रतीतम् दानलाभादयो दानलाभभोगोपभोगवीर्याणि। आह ज्ञानदर्शने परित्यज्य किमिति चारित्रादयो गुणा इति अभिहितम् ? उच्यते चारित्रसद्भावे। ज्ञानदर्शनयोरवश्यंभाव इति ज्ञापनार्थं तथा क्षायिके भावे ज्ञाने सति केवलादयः केवलज्ञानकेवलदर्शनचारित्रज्ञान लब्ध्यादयः। तत्र ज्ञानावरणक्षये केवलज्ञाने दर्शनावरणक्षये केवलदर्शने मोहनीयक्षये चारित्रमन्तरायक्षये दानादिलब्धयः सकलकर्मक्षयपरिनिर्वृतत्वमिति औदयिके पुनर्भावे विजृम्भमाणे तेन तेनौदयिकेन भावेनैव व्यपदेशो भवति यथा प्रबलज्ञानावरणोदये अज्ञानी प्रबलदर्शनावरणोदये अन्धो वधिर एकाङ्गचेतनाविकल इत्यादि वेदनीयोदये सुखी दुःखी वा। क्रोधाद्युदये क्रोधी मानी मायावी लोभीत्यादि। नामोदये नारकतिर्यङ्मनुष्यदेव एकेन्द्रियो द्वीन्द्रियस्त्रीन्द्रियश्चतुरिन्द्रियः पञ्चेन्द्रियस्त्रसो बादरः पर्याप्त इत्यादि। उच्चैर्गोत्रोदये क्षत्रियपुत्रोऽयं श्रेष्ठिपुत्रोऽयमित्येवमुच्चैः कारं प्रशंसागर्भो व्यपदेशो नीचैर्गोत्रोदयो वेश्यासुतोऽयं श्वपाकोऽयमित्यादिरूपतया निन्दागर्भो व्यपदेशः। अन्तरायोदये अदाता अलाभी अभोगीत्यादि।

संप्रति पारिणामिकभावगतविशेषप्रतिपादनार्थमाह–

नाणंतरायदंसण–वेयणियाणं तु भंगया दोन्नि।
साइमपज्जवसाणो, वि होइ सेसाण परिणामो॥

ज्ञानावरणान्तरायदर्शनावरणवेदनीयानामपवादापेक्षया सामान्यतः पारिणामिके भावे चिन्त्यमाने द्वौ भङ्गौ लभ्यतेन्ते। तद्यथा अनाद्यपर्यवसानोऽनादिपर्यवसानश्च। तत्र भव्यानधिकृत्यानादिसपर्यवसानस्तथा हि जीवकर्मणोरनादिः संबन्ध इत्यादेरभावादनादिर्मुक्तिगमनसमये च व्यवच्छेदात्सपर्यवसानः। अभव्यानधिकृत्यानाद्यपर्यसानः तत्रानादित्वभावना प्राग्वत्। अपर्यवसानत्वं कदाचिदपि व्यवच्छेदाभावात् शेषकर्मणां मोहनीयायुर्नामगोत्राणां परिणामः सादिपर्यवसानोऽपि भवति। आस्तामनाद्यपर्यवसानोऽनादिपर्यवसानरूप इत्यपिशब्दार्थः। इह गाथापूर्वार्द्धे तुशब्दो भिन्नक्रमत्वादुत्तरार्द्धे सेसाणेत्यत्र योज्यते स च विशेषार्थसंसूचकत्वादमुं विशेषं सूचयति। मोहनीयायुर्नामगोत्राणां काश्चिदेवोत्तरप्रकृतीरधिकृत्यायं सादिपर्यवसानलक्षणस्तृतीयो भङ्गः प्राप्यते। काश्चित्पुनरधिकृत्य पूर्वोक्तावेव द्वौ भङ्गौ तथा ह्यौपशमिकसम्यक्त्वावाप्तौ सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वयोः संभवः। पञ्चेन्द्रियत्वप्राप्तौ वैक्रियषट्कस्य सम्यक्त्वप्राप्तौ तीर्थङ्करनाम्नः संयमावाप्तावाहारकद्विकस्येति सादिपर्यवसानता अनन्तानुबन्धिमनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रादीनामुद्वलितानामपि भूयोऽपि बन्धसंभवादायुःप्रकृतीनां च पर्यायेण भवनात् स्फुटैव सादिपर्यवसानता। अप्रत्याख्यानक्रोधाद्यौदारिकशरीरादिनीचैर्गोत्रलक्षणाः पुनरुत्तरप्रकृतीरधिकृत्य भव्यानामनादिसपर्यवसानः अभव्यानामनाद्यपर्यवसान इति द्वावेव भङ्गौ। यदापि

मूलप्रकृतिविषया प्रत्येकं चिन्ता तदाप्येतावेव द्वौ भङ्गाविति । आह क्षायोपशमिको भावः कर्मणामुदये सति भवत्यनुदये वा ? न तावदुदये विरोधात्। तदादिक्षायोपशमिको भाव उदयावलिकाप्रविष्टस्यांशस्य क्षये सत्यनुदितस्य चोपशमेविपाकोदय विष्कम्भलक्षणे प्रादुर्भवति नान्यथा ततो यद्युदयः कथं क्षयोपशमः क्षायोपशमश्चेत्कथमुदय इति। अथानुदय इति पक्षस्तथा सति किं तेन क्षायोपशमिकेन भावेन उदयाभावादेव विवक्षितफलसिद्धेः । तथा हि मतिज्ञानादीनि ज्ञानावरणाद्युदयाभावादेव सेत्स्यन्ति किं क्षायोपशमिकभावपरिकल्पनेन । उच्यते उदये क्षायोपशमिको भावो न च तत्र विरोधो यत आह । ''उदये व्वि य अविरुद्धो खाउवसमो अणेगमे उत्ति'' जइ भवइ तिण्ह एसो, पदेसउदयम्मि मोहस्स'' इह ज्ञानावरणीयादीनि कर्माण्यासर्वक्षयात् ध्रुवोदयानि ततस्तेषामुदय एव क्षयोपशमो घटते नानुदये उदयाभावे तेषामेवासंभवात् तत उदय एव विरुद्धः क्षायोपशमिको भावः । यदपि विरोधोद्भावनं कृत यद्युदयः कथ क्षयोपशम इत्यादि तदप्ययुक्त दशघातिस्पर्द्धकानामुदयेऽपि कतिपयदेशघातिस्पर्धकापेक्षया यथोक्तक्षयोपशमाविरोधात् स च क्षयोपशमो नैकभेदस्तत्र द्रव्यक्षेत्रकालादिसामग्रीतो वैचित्र्यसंभवादनेकप्रकारः । उदय एव वा विरुद्ध एष क्षायोपशमिको भावो यदि भवति तर्हि न सर्वप्रकृतीनां किं तु त्रयाणामेव कर्मणां ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायाणां मोहनीयस्य तर्हि का वार्तेति चेदत आह । मोहस्य मोहनीयस्य प्रदेशोदये क्षायोपशमिको भावो विरुद्धो न विपाकोदये यतोऽनन्तानुबन्ध्यादिप्रकृतयः सर्वघातिन्यः सर्वघातिनीनां च रसस्पर्द्धकानि सर्वाण्यपि सर्वघातीन्येव न देशघातीनि सर्वघातीनि च रसस्पर्द्धकानि स्वघात्यं गुणं सर्वात्मना घ्नन्ति न देशतस्तेषां विपाकोदयेन क्षयोपशमसंभवः किं तु प्रदेशोदये। ननु प्रदेशोदयेऽपि कथं क्षायोपशमिकभावसंभवः ? सर्वघातिरसस्पर्द्धकप्रदेशानां सर्वात्मघात्यगुणघातनस्वभावत्वात्तदयुक्तम् वस्तुतत्वापरिज्ञानात् ते हि सर्वघातिरसस्पर्धकप्रदेशास्तथाविधाध्यवसायविशेषतो मनाग्मन्दानुभावीकृत्य-विरलविरलतया वेद्यमानदेशघातिरसस्पर्द्धकेष्वन्तः प्रवेशिता न यथावस्थितमात्ममाहात्म्यं प्रकटयितुं समर्थास्ततो न ते क्षयोपशमहन्तार इति न विरुध्यते प्रदेशोदये क्षायोपशमिको भावः ''अणेगभेदोत्ति'' इत्यत्रेति-शब्दस्याधिकस्याधिकार्थसंसूचनात् मिथ्यात्वाद्यदि द्वादशकषायरहितानां शेषमोहनीयप्रकृतीनां प्रदेशोदये विपाकोदये वा क्षयोपशमोऽविरुद्ध प्रति द्रष्टव्यम् । तासां देशघातित्वात् तत्राप्ययं विशेषस्ताः शेषा मोहनीयप्रकृतयो ध्रुवोदयास्ततो विपाकोदया-भावे क्षायोपशमिके भावे विजृम्भमाणप्रदेशोदयसंभवेऽपि न ता मनागपि देशविघातिन्यो भवन्ति विपाकोदये तु प्रवर्तमाने क्षायोपशमिकभावे मनाग्मालिन्यमात्रकारित्वाद्देशघातिन्यो भवन्ति ॥२६॥

इह प्रकृतीनामौदयिको भावो द्विधा भवति तद्यथा शुद्धः क्षायोपशमिकानुविद्धश्च । तत एतद्व्यक्तीकरणाय प्रथनतः स्पर्द्धकप्ररूपणामाह ।

चउतिट्ठाणरसाई, सव्वघाईणि हों ति फड्डाइं ।
दुट्ठाणि याणि मीसाणि, देसघाईणि सेसाणि ॥२७॥

रसस्पर्द्धकानि कर्मप्रकृतिसंग्रहाधिकारे बन्धनकरणेऽनुभागबन्धावसरे स्वरूपतोऽभिधास्यन्ते तानि चतुर्द्धा तद्यथा एकस्थानकानि द्विस्थानकानि त्रिस्थानकानि चतुःस्थानकानि च। अथ किमिदं रसस्यैकस्थानकत्वद्विस्थानकत्वादि उच्यते। इह शुभप्रकृतीनां रसक्षीरखण्डादिरसोपमोऽशुभप्रकृतीनां तु निम्बघोषातक्यादिरसोपमः वक्ष्यति च'' घोसायइनिंबुवमो, असुभाण सुभाण खीरखंडुवमो'' । क्षीरादिरसश्च स्वाभाविक एकस्थानक उच्यते द्वयोस्तु कर्षयोरावर्तने कृते सति योऽवशिष्यते एकः कर्षः स द्विकस्थानकः त्रयाणां कर्षाणामावर्तने कृते सति एकः कर्षोऽवशिष्टः त्रिस्थानकश्चतुर्णां कर्षाणामावर्तने कृते संत्युद्धरितो य एकः कर्षः स चतुःस्थानकः । एकस्थानकोऽपिच रसो जललवबिन्दुचुलकप्रसृत्यञ्जलिकरक-कुम्भद्रोणादिप्रक्षेपान्मन्दमन्दतरादिभेदत्वं प्रतिपद्यते । एवं द्विस्थानकादयोऽपि । तथा कर्मणामपि चतुःस्थानकादयो रसा भावनीयाः प्रत्येकमनन्तरभेदभिन्नाश्च कर्मणां चैकस्थानकरसात् द्विस्थान-कादयो रसा यथोत्तरमनन्तगुणाः। वक्ष्यति च। ''अनंतगुणिया कमे नियरे'' तत्र सर्वघातिनीनां देशघातिनीनां वा प्रकृतीनां यानि चतुःस्थानकरसानि त्रिस्थानकद्विस्थानकरसानि वा स्पार्द्धकानि तानि सर्वघातिनीनां सर्वघातीन्येव देशघातिनीनां तु मिश्राणि कानिचित् सर्वघातीनि कानिचिद्देशघातीनि। शेषाणि त्वेकस्थानकरसानि स्पर्द्धकानि सर्वाण्यपि देशघातीन्येव तानि च देशघातिनीनां संभवन्ति न सर्वघातिनीनां कृता स्पर्द्धकप्ररूपणा ॥२७॥

संप्रति यथौदयिको भावः शुद्धो भवति यथा च क्षयोपशमानुविद्धस्तथोपदर्शयति--

निहएसु सव्वघाई, रसेसु फड्डेसु देसघाईणं ।
जीवस्स गुणा जायं--ति ओहिमणचक्खुमाई य ॥२८॥

अवधिज्ञानावरणप्रभृतीनां देशघातिनां कर्मणां संबन्धिषु सर्वघातिरसस्पर्द्धकेषु तथाविधविशुद्धाध्यवसायविशेषबलेन निन्दितेषु देशघातिरूपतया परिणमितेषु देशघातिरसस्पर्द्धकेष्वपि चातिस्निग्धेष्वल्परसकृतेषु तेषां मध्ये कतिपयरसस्पर्द्धकयत्नस्योदयावलिकाप्रविष्टस्यांशस्य क्षये शेषस्य चोपशमे विपाकोदयविष्कम्भरूपे सति जीवस्यावधिमनःपर्यायज्ञानचक्षुर्दर्शनादयो गुणाः क्षायोपशमिका जायन्ते प्रादुर्भवन्ति। किमुक्तं भवति। यदा अवधिज्ञानावरणीयादीनां देशघातिनां कर्मणां सर्वघातीनि रसस्पर्द्धकानि विपाकोदयमागतानि वर्तन्ते तदा तद्विषय औदयिक एक एव भावः केवलो भवति। यदा तु देशघातिरसस्पर्द्धकानामुदयस्तदा तदुदयादौदयिको भावः कतिपयानां च देशघातिरसस्पर्द्धकानां संबन्धिन उदयाबलिका-प्रविष्टस्यांशस्य क्षये शेषस्य चानुदितस्योपशमे क्षायोपशमिक इति क्षयोपशमानुविद्ध औदयिकभावः । मतिश्रुतावरणचक्षुर्दर्शनावरणप्रकृतीनां तु सदैव देशघातिनामेव रसस्पर्द्धकानामुदयो न सर्वघातिनां तेन सर्वदापि तासामौदयिकक्षायोपशमिकौ भावौ सन्मिश्रौ प्राप्येते न केवल औदयिकः । इह प्राक् प्रकृतीनां रसश्चतुरादिस्थानक उक्तस्तत्प्रसङ्गेन संप्रति यासां प्रकृतीनां यावन्ति बन्धमधिकृत्य रसस्पर्द्धकानि भवन्ति तासां तावन्ति निर्दिदिक्षुराह ।

आवरणमसव्वग्घं, पुंसंजलणंतरायपगडीओ ।
चउठाण परिणयाओ, दुतिचउठाणरसा उ सेसा उ ॥

आवरणं ज्ञानावरणं दर्शनावरणं च । तत्कथं भूतमित्याह असर्वघ्नं सर्वं ज्ञानं दर्शनं वा हन्तीति सर्वघ्नं सर्वघातिनां च प्र-

क्रमात केवलज्ञानावरणं केवलदर्शनावरणं च। न विद्यते सर्वघ्नं यत्र तत् असर्वघ्नं केवलज्ञानावरणकेवलदर्शनावणरहितमित्यर्थः। एतदुक्तं भवति केवलज्ञानावरणं च जातिविशेषाणि मतिश्रुतावधिमनः पर्य्यायज्ञानावरणलक्षणानिचत्वारि ज्ञानावरणानि केवलदर्शनावरणवर्जानि, शेषाणि चक्षुरचक्षुर-वधिदर्शनावरणरूपाणि त्रीणि दर्शनावरणानि। तथा (पुंसंजलणंतरायत्ति) पुरुषवेदः चत्वारः संज्वलनक्रोधादयः पञ्चविधमन्तरायं दानान्तरायादि सर्वसंख्यया सप्तदश प्रकृतयश्चतुःस्थानपरिणता एकद्वित्रिचतुःस्थानकरसपरिणताः, प्राप्यन्ते। बन्धमधिकृत्यासामेकस्थानको द्विस्थानकः त्रिस्थानकः चतुःस्थानको वा रसः प्राप्यते इति भावः। तत्र यावन्नाद्यापि श्रेणिं प्रतिपद्यन्ते जन्तवस्तावदासां सप्तदशानामपि प्रकृतीनां यथाध्यवसायसंभवं द्विस्थानकं चतुरस्थानकं वा रसं बध्नन्ति। श्रेणिं तु प्रतिपन्ना अनिवृत्तिबादरसंपरायाद्धायाः संख्येयेषु भागेषु सत्सु ततः प्रभृत्येतासां प्रकृतीनां शुभत्वादत्यन्तं विशुद्धाध्यवसाययोगतः एकस्थानकं रसं बध्नन्ति तत एवं बन्धमधिकृत्य चतुःस्थानपरिणता प्राप्यन्ते शेषास्तु सप्तदशव्यतिरिक्ताः शुभा अशुभा वा (दुतिचउट्ठाणा उत्ति) बन्धमधिकृत्य द्विस्थानकरसास्त्रिस्थानकरसाश्चतुः स्थानकरसाश्च न तु कदाचनाप्येकस्थानकरसाः। कथमेतदवसेयमिति चेत् इह द्विधा प्रकृतयः। तद्यथा शुभा अशुभाश्च तत्र शुभप्रकृतीनामेकस्यानकरसबन्धसंभवोऽनिवृत्तिबादरसंपरायाद्धायाः संख्येयेभ्यो भागेभ्यः परतो नार्वाग् तद्योग्याध्यवसायस्थानासंभवात् परतोऽप्युक्तरूपाः सप्तदश प्रकृतीर्व्यतिरिच्य शेषा अशुभप्रकृतयो बन्धमेव नायान्ति तद्बन्धहेतुव्यवच्छेदात्। येऽपि केवलज्ञानावरणकेवलदर्शनावरणे बन्धमायातस्तयोरपि सर्वघातित्वात् द्विस्थानक एव रसो बन्धमागच्छति नैकस्थानकः सर्वघातिनीनां जघन्यपदेऽपि द्विस्थानकरसबन्ध संभवात्। यास्तु शुभाः प्रकृतथस्तासामत्यन्तविशुद्धौ वर्तमानश्चतुःस्थानकमेव रसं बध्नाति न त्रिस्थानकं द्विस्थानकं वा मन्दमन्दतरविशुद्धौ तु वर्तमान-स्त्रिस्थानकं वा बध्नाति द्विस्थानकं वा। यदाऽत्यन्तविशुद्धसंक्लेशाद्धायां वर्तते तदा तस्य शुभप्रकृतयो बन्धमेव नायान्ति कुतस्तद्वतरसस्थानचिन्ता। या अपि च नरकगतिप्रायोग्यं बध्नतोऽतिसंक्लिष्टस्यापि वैक्रियतैजसादिकाः प्रकृतयो बन्धमायान्ति तासामपि तथा स्वाभाव्यात् द्विस्थानकस्यैव रसस्य बन्धो नैकस्थानकस्य यत्तद्याग्रे स्वयमेव वक्ष्यति परमिह प्रस्तावादुक्तम् तत इह शेषप्रकृतीनामेकस्थान-करसबन्धासंभवात् समिचीनमुक्तम्। द्वित्रिचतुःस्थानपरिणताः शेषाः प्रकृतयः इति। तदेवमुक्तानि विभागशः प्रकृतीनां रससंस्थानानि ॥२८॥

संप्रति यानि रससंस्थानानि येभ्यः कषायेभ्यः उपजायन्ते तानि तथोपदर्शयति।

उप्पलभूमीवालुय–जलरेहासरिससंपरायेसु।
चउठाणाई असुभाण, सेसयाणं तु वच्चामो ॥२९॥

अशुभानामशुभप्रकृतीनां चतुःस्थानादिकः चतुःस्थानकः त्रिस्थानको द्विस्थानक एकस्थानकश्च रसो बन्धमायाति यथाक्रममुपलभूमिवालुकाजलरेखासदृशेषु संपरायेषु कषायेषु। इयमत्र भावना। उपलः पाषाणस्तद्रेखासदृशैरनन्तानुबन्धसंज्ञैः संपरायैः सर्वासामशुभप्रकृतीनां चतुःस्थानकरसबन्धः क्रियते दिनकरातपशोषिततडागभूरेखासदृशैः प्रत्याख्यानसंज्ञैस्त्रिस्थानकरसबन्धः सिकता कणसंहतिगतरेखासदृशैः प्रत्याख्यानावरणसंज्ञैर्द्विस्थानकरसबन्धो जलगतरेखासदृशैः संज्वलनसंज्ञैरेकस्थानकरसबन्धः संभवति। चतुर्थपादे तुशब्दस्याधिकार्थ सूचनात् पूर्वोक्तानामेव सप्तदशसंख्यानामवसेयो न सर्वाशुभप्रकृतीनाम् (सेसयाणं तु वच्चामो इति) शेषाणां शुभप्रकृतीनां व्यत्यासो विपर्यासो बोद्धव्यः स चैवमुपलरेखा सदृशैः संपरायैर्द्विस्थानकरसबन्धो दिनकरातपभूरेखासदृशैस्त्रिस्थानकरसबन्धः सिकतागतरेखासदृशैश्चतुस्थानकरसबन्धः ॥२९॥

संप्रति रसस्वरुपमेव शुभाशुभप्रकृतीनामुपमाद्वारेण प्ररूपयति–

घोसायइनिंबुवमो, असुभाव सुभाण खीरखंडुवमो।
एगट्ठाणो उ रसो, अणंतगुणिया कमेनियरे ॥३०॥

अशुभानामशुभप्रकृतीनामेकस्थानको रसो घोषातकीनिम्बोपमो घोषातकीनिम्बरसोऽतीवविपाककटुक इति भावः। शुभानां शुभप्रकृतीनामेकस्थानकरसतुल्यः प्राथमिको द्विस्थानकरसः शुभप्रकृतीनां द्विस्थानकरसबन्धो न भवति एतच्च प्रागेव भावितमतो यद्यप्येकस्थानको रस इत्युभयत्रापि साम्येनोक्तं तथापि शुभप्रकृतीनामेकस्थानकरसतुल्यः प्राथमिको द्विस्थाकएकस्थानकशब्देनोक्तो वेदितव्यः स क्षीरखण्डोपमः क्षीरखण्डमरसोपमः परमननःप्रह्लादहेतुरिति। यावत् तस्माश्च एकस्थानकात् रसादितरे द्विस्थानकादयो रसाः क्रमेण अनन्तगुणिता अवगन्तव्याः। तद्यथा एकस्यापकाद् द्विस्थानकोऽनन्तगुणस्तस्मादपि त्रिस्थानकोऽनन्तगुणः ततोऽपि चतुःस्थानकोऽनन्तगुणः। इयमत्र भावना इहैकस्थानकोऽपि रसो मन्दतरादिभेदादनन्तभेदत्वं प्रतिपद्यते एवं प्रत्येकं द्विस्थानकादयोऽपि। एतच्च प्रागपि सप्रपञ्चमुदितं तत्राशुभप्रकृतीनां यः सर्वजघन्य एकस्थानको रसः स निम्बघोषातकीरसोपमः। यश्च शुभप्रकृतीनां सर्वजघन्यो द्विस्थानकरसः स क्षीरखण्डादिरसोपमः शेषाणित्वशुभप्रकृतीनामेकस्थानकरसोपेतानि शुभप्रकृतीनां तु द्विस्थानकरसोपेतानि स्पर्धकानि यथोत्तरमनन्तगुणान्यवसेयानि ततोऽप्यशुभप्रकृतीनां द्विस्थानकत्रिस्थानकचतुःस्थानकानि शुभप्रकृतीनां त्रिस्थानकचतुस्थानकानि रसस्पर्द्धकानि क्रमेणानन्तगुणानि भावनीयानि तदेवमुक्तं सकलमपि प्रसक्तानुप्रसक्तम् ॥३०॥

संप्रति द्वारगाथाचशब्दसूचितं यत् प्रकृतीनां ध्रुवाध्रुवसत्ता–कत्वं तदभिधित्सुराह।

उच्चं तित्थं सम्मं, मीसं वेउव्विछक्कमाऊणि।
मणुदुगआहारदुगं, अट्ठारस अधुवसत्ता उ ॥३१॥

उच्चैर्गोत्रं तीर्थकरनाम सम्यक्त्वं संख्यग्मिथ्यात्वं देवगतिदेवानुपूर्वीनरकगतिनरकानुपूर्वीवैक्रियशरीरवैक्रियाङ्गोपाङ्ग लक्षणं वैक्रियषट्कं नरकायुःप्रभृतीनि चत्वार्यायूषि मनुष्यद्विकं मनुष्यगतिमनुष्यानुपूर्वीलक्षणमाहारद्विकमाहारशरीराहाराङ्गोपाङ्ग रूपमित्येता अष्टादश प्रकृतयोऽध्रुवसत्ताका अध्रुवाः कदाचिद्भवन्ति कदाचिन्न भवन्ति इत्येवमनियता सत्ता यासां ता अध्रुवसत्ताकाः। तथा हि उच्चैर्गोत्रं वैक्रियषट्कमित्येताः सप्त प्रकृतयोऽ प्राप्तत्रसत्वावस्थायां न भवन्ति त्रसत्वे तु प्राप्ते भवन्ति। यद्वा त्रसत्वावस्थायां लब्धा अपि स्थावरभावं गतेनावस्था विशेषं प्राप्योद्वल्यन्ते ततोऽध्रुवसत्ताकाः। तथा सम्यक्त्वं सम्यग्मिथ्यात्वं च यावन्नद्यापि तथा भव्यत्वं परिपाकमायाति तावन्न भवति तथा भव्यत्वपरिपाकसंभवे च भवति प्राप्तं वा सन्मिथ्यात्वं गतेन भूयोऽप्युद्वल्यते अभव्यानां च तत्सर्वथा न-

भवति ततस्तदप्यध्रुवसत्ताकं तीर्थकरनामसम्यक्त्वे तथाविधविशुद्धिविशेष समन्विते भवति। आहारद्विकमपि तथारूपे संयमे सति बन्धमायाति न तदभावे। अपि च बद्धमपि तदा विरतिप्रत्ययतो भूयोऽन्युद्वर्तते मनुष्यद्विकमपि तेजोभवं वायुभवं वा गतेनोद्वलते ततस्तीर्थङ्करनामादीन्यप्यध्रुवसत्ताकादि। देवभवे नारकायुर्नारकभवे देवायुरानतादिदेवानां तिर्यगायुस्तेजोवायुभवे सप्तमपृथिवीनारकभवे वा मनुष्यापूर्ण सत्तायामिति चत्वार्यप्यायूंषि अध्रुवसत्ताकानि शेषास्तु त्रिंशदुत्तरशतसंख्याकाः प्रकृतयोऽध्रुवसत्ताकाः। आह अनन्तानुबन्धिनामपि कषायाणामुद्वलनासंभवादध्रुवसत्ताकतैव युज्यते कथमुक्ता ध्रुवसत्ताकता ? तदप्ययुक्तमभिप्रायापरिज्ञानात्। इह यानि कर्माणि प्रतिनियतामेवावस्थामधिकृत्य बन्धमायान्ति न सर्वकालं यानि च विशिष्टगुणावाप्तिमन्तरेण तथाविधभवप्रत्ययादिकारणवशतः उद्वलनयोग्यानि भवन्ति तान्यध्रुवसत्ताकान्यभिप्रेतानि विशिष्टगुणप्रतिपत्तितः सत्ताक्षयात् विशिष्टगुणप्रतिपत्त्या सर्वेषामपि कर्मणां सत्ताच्छेदसंभवात्। अनन्तानुबन्धिनश्चानवाप्तसम्यक्त्वा-दिगुणानां सर्वजीवानामप्यविशेषेण सकलकालं विद्यन्ते उद्वलना च तेषां विशिष्टसम्यक्त्वादिगुणप्रतिपत्तिनिबन्धना न सा सामान्यभवादि प्रत्यया ततो न ते अध्रुवसत्ताकाः। इहोच्चैर्गोत्रा-दीनि कर्माणि विशिष्टावस्थाप्रतिबन्धानि बन्धसंभवात्तथाविधविशिष्टगुणप्रतिपत्तिमन्तरेण चोद्वलनयोगादध्रुवसत्ताकानि भवन्ति नान्यथा ॥३१॥

तत एतत्प्रसङ्गतः श्रेण्यारोहाभावे या उद्वलनयोग्याः
प्रकृतयस्तासां परिमाणमाह।

पढमकसायसमेया, एयाओ आउतित्थवज्जाओ।
सत्तरसुव्वलणाओ, तिगेसु गइआणुपुव्वीओ ॥३२॥

एता एवानन्तरोक्ता अष्टादश प्रकृतयः आयुश्चतुष्टयतीर्थकरनामवर्जाः प्रथमकषायसमेता अनन्तानुबनिधचतुष्टयसहिताः सप्तदश उद्वलनयोग्या वेदितव्याः। यास्तु शेषाः षट्त्रिंशत्प्रकृतय उद्वलनयोग्यास्ताः श्रेण्यारोहे एव नान्यत्र ततो नेह प्रतिपादिताः किं त्वग्रे प्रवेशसंक्रमाधिकारे वक्ष्यन्ते। तथा यत्र कुत्रापि देवत्रिकं मनुष्यत्रिकमित्येवं त्रिकमुपादीयते तत्र न तद्गतिस्तदानुपूर्वी तदायुरिति त्रिकमवगन्तव्यम्। तदेवमुक्ताः सप्रतिपक्षाः ध्रुवसत्त काः प्रकृतयः।

संप्रति द्वारगाथोपन्यस्तानां ध्रुवबन्ध्यादिपदानामर्थं स्पष्ट-यितुकाम आह–

नियहेउ संभवे वि हु, भाणिज्जो जाण होइ पयडीणं।
बंधो ता अधुवाओ, धुवा अभयनिज्जबंधा उ ॥३३॥

यासां प्रकृतीनां निजबन्धहेतुसंभवेऽपि बन्धो भजनीयो विकल्पनीयो भवति यथा कदाचिद्भवति कदाचिन्न ताः अध्रुवाः अध्रुवबन्धिन्यस्ताश्चेमास्तद्यथा नरकद्विकमाहारद्विकं गतिचतुष्टयं जातिपञ्चकं विहायोगतिद्विकमानुपूर्वीचतुष्टयं संस्थानषट्कं संहननषट्कं त्रसादिविंशतिरुच्छ्वासनाम तीर्थकरनामातपनाम उद्योतनाम पराघातनाम सातासातवेदनीये आयुश्चतुष्टयं द्विविधं गोत्रं हास्यरतिशोका वेदत्रयमिति एता हि त्रिसप्ततिसंख्याकाः प्रकृतयो निजबन्धहेतुसंभवेऽपि नावश्यं बन्धमायान्ति तथा हि पराघातोच्छ्वासनाम्नोरविरत्यादिनिजबन्धहेतुसंभवेऽपि यदा पर्याप्तकनाम बध्यते तदा बन्धमायातो नाम पर्याप्तकनाम। बन्धकाले आतपनामाप्येकेन्द्रियप्रायोग्यप्रकृतिबन्धे बन्ध-मागच्छति न शेषकालम्। तीर्थकरस्याहारकद्विकस्य च यथाक्रमं सम्यक्त्वे संयमे च सामान्यतो निजबन्धेहतौ विद्यमानेऽपि कदाचिदेव बन्धः शेषाणामपि नरकद्विकादीनां सप्तषष्टिप्रकृतीनां स्वबन्धहेतुसद्भावेऽप्यवश्यं बन्धाभावः सुप्रतीत एव तदेताः सर्वा अप्यध्रुवबन्धिन्यः याः पुनर्निजबन्धहेतुसद्भावे सत्यभजनीयबन्धा अवश्यभाविबन्धात्ता ध्रुवबन्धिन्यो मतिज्ञानावरणीया-दयस्ताश्च प्रागेव प्रतिपादिताः ॥३३॥

(२४) संप्रति ध्रुवोदयानां प्रकृतीनामर्थमाचिख्यासुः
प्रथमत उदयहेतुमुपदशयति।

दव्वं खेत्तं कालो, भवो य भावो य हेयवो पंच।
हेउसमासेणुदओ, जायइ सव्वाण पगईणं ॥३४॥

इह सर्वासां प्रकृतीनां सान्यतः पञ्च उदयहेतवस्तद्यथा द्रव्यं क्षेत्रं कालो भवश्च भावश्च। तत्र द्रव्यं कर्मपुद्गलरूपं यदि वा बाह्यं किमपि तथाविधमुदयप्रादुर्भावनिमित्तं यथा श्रूयमाणं दुर्भाषित-भाषापुद्गलद्रव्यं क्रोधोदयस्य क्षेत्रमाकाशं कालः समयादिरूपो भवो मनुष्यादिभवः भावो जीवस्य परिणामविशेषः। एते च नैकैकश उदयहेतवः किंतु समुदितास्तथा वा हेतुसमासेन समुदायेन उक्तसवरूपाणां द्रव्यादीनां हेतुना समासेन समुदायेन जायते सर्वासां प्रकृतीनामुदयः केवलं कापि द्रव्यादिसामग्री कस्याश्चित्प्रकृतेरुदयहेतुरिति न हेतुत्वव्यभिचारः। उक्ता उदयहेतवः ॥३४॥

संप्रति ध्रुवत्वमुदयमधिकृत्य चिन्तयन्नाह–

अव्वोच्छिन्नो उदओ, जाणं पगईण ता धुवोदइया।
वोच्छिन्नो वि हु संभवइ, जाण अधुवोदयो ताओ ॥३५॥

यासां प्रकृतीनां स्वोदयकालव्यवच्छेदादर्वाक् अव्यवच्छिन्नोऽनुसात त उदयस्ता ध्रुवोदया मतिज्ञानावरणादयः। यासां पुनः प्रकृतीनां व्यवच्छिन्नोऽपि विनाशमुपगतोऽपि हु निश्चितं तथाविधद्रव्यादिसामग्रीविशेषरूपं हेतुं संप्राप्य भूयोऽप्युदय उपजायते ता अध्रुवोदयाः सातवेदनीयादयः ॥३५॥

सांप्रतं सर्वघात्यसर्वघातिशुभाशुभलक्षणमाह–

असुभसुभत्तणघाइ–त्ताणाइ रसभेयओ मुणिज्जाहि।
सविसयथायणभेए–ण वा वि घाइत्तणं भेयं ॥३६॥

अशुभत्वं शुभत्वं च घाति सर्वदेशभेदभिन्नं प्रकृतीनां रसभेदतो मन्वीथाः। तथा हि या विपाकदारुणकटुरसाः प्रकृतयस्ता अशुभाः यास्तुजीवप्रमोदहेतुरसोपेतास्ताः शुभाः। तथा याः सर्वथा सर्वघातिरससस्पर्द्धकान्विताः ताः सर्वघातिन्यो यास्तु देशघातिरससस्पर्द्धकान्वितास्ता देशघातिन्यः। प्रकारान्तरेण सर्वघातित्वं च प्रतिपादयति सविषयो ज्ञानादिलक्षणो गुणस्तस्य यत्पातनं तस्य यो भेदो देशकात्स्न्यविषयस्तेन वाशब्दः पक्षान्तरद्योतने अपिः समुच्चये घातित्वं सर्वघातित्वं देशघातित्वं च ज्ञेयं सर्वस्वविषयघातिन्यः सर्वघातिन्यः स्वविषयैकदेशघातिन्यो देशघातिन्यः एतच्च प्रागेव भावितमिति न भूयो भाव्यते ॥३६॥ इह रसभेदतः प्रकृतीनां सर्वघातित्वं देशघातित्वं च ज्ञेयमतो रसमेव सर्वदेशघातित्वेन प्ररूपयति।

जो घाएइ सविसयं, सयलं सो होइ सव्वघाइ रसो।
निच्छिद्दो निद्धो तणु, फलिहब्भहारअइ विमलो ॥३७॥

यः स्वविषयं ज्ञानादिकं सकलमपि घातयति स्वकार्यसाधनं प्रत्यसमर्थं करोति स रसः सर्वघाती भवति स च ताम्रभाजन-

वत् निश्छिद्रो घृतमिवातिशयेन स्निग्धः द्राक्षावत्तनुकतनु-प्रदेशोपचितः स्फाटिकाभ्रहारवच्चातीव निर्मलः । इह रसः केवलो न भवति ततो रससस्पर्द्धकसंघात एवंरूपो द्रष्टव्यः ॥३७॥

देशघातिरसस्वरूपमाह–

देसविघाइत्तणओ, इयरो कडकंबलसुसंकासो ।
विविहबहुच्छिद्दभरिओ, अप्पसिणेहो अविमलो य ॥३८॥

इतरो देशघाती देशघातित्वात्स्वविषयैकदेशघातित्वाद्भवति एवं विविधबहुछिद्रभृतसतद्यथा कश्चिद्वंशदलनिर्मापितकट इवाति-स्थूरछिद्रशतसंकुलः कश्चित्कम्बल इव मध्यमविवरशतसंकुलः कोऽपि पुनस्तथाविधमसृणवासोवदतीवसूक्ष्मविवरसंवृतः (कडकंबलंसुसंकास) इति कटो वंशदलनिर्मापितः, कम्बल ऊर्णामयः अंशुकं वस्त्रं तत्संकाश-स्तथा स्वरूपतोऽल्पस्नेहः स्तोकस्नेहो विभागसमुदायरूपोऽविमलश्च नैर्मल्यरहितश्चेति गाथार्थः ॥३८॥

अथातिरसस्वरूपमाह–

जाणं न विसओ घाइ–त्तणम्मि ताणं पि सव्वघाइरसो ।
जायइ घाइसगासेण–चोरया चेव चोराणं ॥३९॥

यासां प्रकृतीनां घातित्वे घातित्वमधिकृत्य न कोऽपि विषयः न किमपि याः प्रकृतयो ज्ञानादिकं गुणं घातयन्तीत्यर्थः । तासामपि घातिसकाशेन सर्वघातिप्रकृतिसंपर्कतो जायते सर्वघातीरसः । अत्रैव निदर्शनमाह । यथा स्वयमचौराणां सतां चौरसंपर्कतश्चौरता ॥३९॥ संप्रति यदुक्तम् प्राग् देशघातिकं तत्संज्वलननोकषायाणां विभावयन्नाह ।

घाइखओवसमेणं, सम्मचरित्ताइ जाइ जीवस्स ।
ताणं हणंति देसं, संजलणा नोकसाया य ॥४०॥

मिथ्यानन्तानुबन्ध्यादीनां क्षयोपशमेन ये जाते जीवस्य सम्यक्त्वचारित्रे तयोर्देशमेकदेशविपाकोदयं प्राप्ताः सन्तः संज्वलनाः क्रोधादयो नोकषाया हास्यादयो घ्नन्ति मालिन्यभावमुत्पादयन्तीति भावः । ततः संज्वलना नोकषायाश्च देशघातिनः । एवं ज्ञानदर्शनदानादि लब्ध्येकदेशघातित्वा-न्मतिज्ञानावरणीयादयोऽपि प्रकृतयो देशविघातिन्यो भावनीयाः ॥४०॥

संप्रति परावर्तमानप्रकृतीनां लक्षणमाह –

विनिवारिय जा गच्छइ, बंधं उदयं च अन्नपगईए ।
सा हु परियत्तमाणी, अणिवारेंती अपरियत्ता ॥४१॥

या प्रकृतिरन्यस्याः प्रकृतेर्बन्धमुदयं वा निवार्य स्वयं बन्धमुदयं वा गच्छति सा हु निश्चितं परावर्तमानाश्च सर्वसंख्यया एकनवतिस्तद्यथा निद्रापञ्चकं सातासातवेदनीयौ षोडश कषायाः वेदत्रयं हास्यरत्यारतिशोका आयुश्चतुष्टयं गतिचतुष्टयं जातिपञ्चकमौदादिकद्विकं वैक्रियाद्विकमाहारद्विकं षट् संहननानि षट् स्थानानि चतस्र आनुपूर्व्यो विहायोगतिद्विकमातपनाम उद्योतनाम त्रसादिविंशतिः उच्चैर्गोत्रं नीचैर्गोत्रं च । कथमेताः परावर्तमाना इति चेदुच्यते इह यद्यपि षोडश कषायाः पञ्च निद्राश्च ध्रुवबन्धित्वात् युगपदापि बन्धमायान्ति न परस्परसजातीय-प्रकृतिबन्धनिरोधपुरस्सरं तथापि यदोदयमयन्ते तदा सजातीय-प्रकृत्युदयं विनिवार्यैव नान्यथा तत एता एकविंशतिरपि प्रकृतयः उदयमधिकृत्य परावर्तमानाः स्थिरशुभास्थिराशुभप्रकृतयो युगपदप्युदयमश्नुवते परं स्थिरशुभे अस्थिराशुभबन्धमस्थिराशुभे स्थिरशुभबन्धं निरुध्य तमपेक्ष्यैताः परावर्तमानाः शेषास्तु गत्यादयो बन्धमुदयं वा सजातीयप्रकृतीबन्धोदयनिरोधतः प्रपद्यन्ते ततस्ता उभयथापि परावर्तमानाः ॥४१॥

संप्रति विपाकतश्चतुर्धेति तदुक्तं तद्व्याख्यानयन्नाह –

दुविहा विवागओ पुण, हेउविवागा उ रसविवागा उ ।
एक्केक्का वि य चउहा, जओ चसद्दो विगप्पेणं ॥४२॥

विपाकतो विपाकमाश्रित्य प्रकृतयो द्विविधा द्विप्रकारा भवन्ति तद्यथा हेतुविपाका रसविपाकाश्च । तत्र हेतुतो हेतुमधिकृत्य विपाको निर्दिश्यमानो यासां ताहेतुविपाकाः । रसतो रसमुररीकृत्य विपाको निर्दिश्यमानो यासां ता रसविपाकाः । रसविपाका अपि पुनश्चतुर्द्धा चतुःप्रकारास्तत्र पुद्गलक्षेत्रभवजीवहेतुभेदाच्चतुर्विधा हेतुविपाकास्तद्यथा पुद्गलविपाकाः क्षेत्रविपाकाः भवविपाका जीवविपाकाश्च । ताश्चप्रागेवोक्ताः । तथा चतुस्त्रिद्व्येकस्थानकरसभेदाच्चतुर्विधा रसविपाकास्तद्यथा चतुःस्थान-करसास्त्रिस्थानकरसा द्विस्थानकरसा एकस्थानकरसाश्च । एकस्थानकादिभेदभिन्नश्च रसः प्रागेवोक्तः । ननु विपाकतो द्विधा प्रकृतयो भवन्तीति द्वारगाथायां नोपात्तं तत्कथमिदानीं विब्रियते तदयुक्तमनु-पात्तत्वात् सिद्धेः तथा चाह यतश्चशब्दोऽपि विकल्पेन यथाऽतो यस्माद् द्वारगाथायां प्रकृतयश्चेत्यत्र चशब्दो विकल्पेन विकल्पलक्षणेनार्थेन बोद्धव्यस्ततोऽयमर्थो विपाकतश्चतुर्द्धा भवत्यन्यथा वा । तत्रान्यथात्वं हेतुरसभेदात् द्वैविध्यरूपं द्रष्टव्यमिति ॥४२॥

संप्रति हेतुविपाकत्वमेव भावयन्नाह –

जा जं समेच्च हेउं, विवागउदयं उवेति पगईओ ।
ता तव्विवागसन्ना, सेसाभिहाणाइं सुगमाइं ॥४३॥

याः प्रकृतयः संस्थाननामादिका यं पुद्गलादिलक्षणं हेतुं कारणं समेत्य संप्राप्य विपाकोदयमुपयान्ति तास्तद्विपाक संज्ञा यथा संस्थाननामादिकाः प्रकृतयः औदारिकादीन् पुद्गलान् संप्राप्य विपाकोदयमधिश्रयन्ते ततस्ताः पुद्गलविपाकाः आनुपूर्व्यश्च तथात्रापि क्षेत्रं प्राप्य विपाकोदयं गच्छन्तीति क्षेत्रविपाका इत्यपि शेषाभिधानानि तु ध्रुवसत्कर्माध्रुवकर्मोद्वलनादीनि सुगमानि ततो न विशेषतो विभाव्यन्ते एवमुक्ते सति पुद्गलविपाकत्वमधिकृत्य यत्परस्य वक्तव्यं तदनूद्य प्ररूपयति ।

अरइरईणं उदओ, किं न भवे पोग्गलाणि संपप्प ।
अप्पुट्ठेहि वि किं नो, एवं कोहाइयाणं पि ॥४४॥

ननु यदि याः प्रकृतयः पुद्गलान् संप्राप्य विपाकोदयमधिश्रयन्ति ताः पुद्गलविपाकास्तर्हि रत्यरत्योरप्युदयः किं न पुद्गलान् संप्राप्य भवति तयोरपि पुद्गलानेव संप्राप्योदयो भवति इति भावः । तथा हि कण्टकादिसंस्पर्शादरतेर्विपाकोदयः पुष्पादिसंस्पर्शात्तु रतेः । ततस्ते अपि पुद्गलविपाकिन्यौ युक्तेन जीवविपाकिन्याविति एवं परेण काक्वा प्रश्ने कृते सत्याचार्योऽपि काक्वा प्रत्युत्तरमाह (अप्पुट्ठे हि वि किं नो) अत्र सप्तम्यर्थे तृतीया अस्पृष्टेष्वपि पुद्गलेष्वपि किं तयो रत्यरत्योर्विपाकोदयो न भवति भवत्येवेति भावस्तथा हि कण्टकादिस्पर्शव्यतिरेकेऽपि प्रियाप्रियदर्शनस्मरणादिना दृश्यते रत्यरत्योर्विपाकोदयस्ततो न पुद्गलविपाकिन्यौ किं तु जीवविपाकिन्यौ एवं परोपनयस्तपूर्वपक्षव्युदासेन क्रोधादीनामपि जीवविपा कित्वं भावनीयम् । संप्रति भवविपाकित्वमधिकृत्य परो ब्रूतेनन्यायुषां यथा स्वस्वभव एव विपाकोदयो भवति नान्यत्र तथा गतीनामपि

न खलु गतयोऽपि स्वस्वभवव्यतिरेकेणान्यत्र विपाकोदयमधिश्रयन्तीति सुप्रतीतमेतत् जिनप्रवचनतत्व वेदिनां ततो गतयोऽप्यायुर्वद्भवविपाकाः किं नाभिधीयन्ते ॥४४॥

एवं परेणोक्ते सति सूरिः परोक्तमनूद्य प्रतिषेधयति–

आउव्व भवविवागा, गई न आउस्स परभवे जम्हा।
तो सव्वहा वि उदओ, गईण पुण संकमेण त्थि ॥४५॥

आयुर्वद्गतयो भवविपाका न भवन्ति यस्मादायुषः परभवे सर्वथाऽपि संक्रमेणाप्युदयो न भवति ततः सर्वथा स्वभवव्यभिचाराभावादायूंषि भवविपाकानि व्यपदिश्यन्ते। गतीनां पुनः परभवेऽपि संक्रमेणोदयोऽस्ति ततः स्वभवव्य-भिचारान्नता भवविपाकिन्यः।

संप्रति क्षेत्रविपाकित्वमधिकृत्य परप्रश्नमपाकर्तुमाह–

आणुपुव्वीण उदओ, किं संकमेण नत्थि संते वि।
जह खेत्तहेउओ ताण, न तहा अन्नाण सविवागो ॥४६॥

ननु यदि गतीनां स्वस्वभवव्यतिरेकेणाप्यन्यत्र भवान्तरे संक्रमेणोदयोऽस्तीति कृत्वा स्वभवव्यभिचारान्न ता भवविपाकिन्यः उच्यन्ते किं तु जीवविपाकिन्यस्तर्ह्यानुपूर्वीणां स्व योग्यक्षेत्रव्यतिरेकेणान्यत्र किमुदयः संक्रमेण नास्ति न विद्यते येन ता नियमतः क्षेत्रविपाकिन्यो व्यवह्रियन्ते अन्यत्राप्यस्ति संक्रमेणोदयस्ततः स्वक्षेत्रव्यभिचारान्न ताः क्षेत्रविपाकिन्यो वक्तुमुचिताः किं तु जीवविपाकिन्य एवेति परस्याभिप्रायः। अत्रोत्तरमाह (संतेवित्यादि) सत्यपि स्वयोग्यक्षेत्रव्यतिरेकेणान्यत्र संक्रमोदगे तथा तासां क्षेत्रहेतुकः स्वाविपाकः स्वविपाकोदय-प्रादुर्भावस्तथा नान्यासां प्रकृतीनामित्यसाधारण क्षेत्रलक्षण-हेतुख्यापनार्थं क्षेत्रविपाकिन्य उच्यन्ते।

जीवविपाकित्वमधिकृत्य परप्रश्नमपनुदन्नाह–

संपप्प जीयकाले, उदयं काउं न जंति पगईओ।
एवमिणमोहहेउं, आसिच्च विसेसया नत्थि ॥४७॥

ननु कास्ताः प्रकृतयो या जीवं कालं चाश्रित्य नोदयमधिगच्छन्ति सर्वा अपि जीवकालावधिकृत्य गच्छन्तीति भावः जीवकालयोरुत्तरेणोदया-संभवात् ततः सर्वा अपि जीवविपाका एवेति प्रष्टुरभिप्रायः। अत्राचार्य आह (एवमिणमित्यादि) ओघतः सामान्येन हेतुं हेतुत्वमात्रमाश्रित्य एवमेतत् यथा त्वयोक्तं तथैव विशेषितं त्वसाधारणं तु हेतुमाश्रित्य एतन्न भवति जीवः कालो वा सर्वासामपि प्रकृतीनामुदयं प्रति साधारणस्त-तस्तदपेक्षया चेत् प्रकृतीनां चिन्ता क्रियते तर्हि सर्वा अपि जीवविपाका एव कालविपाका एव वा नास्त्यत्र संदेहः। परं कासांचित् प्रकृतीनां क्षेत्रादिकमप्यसाधारणमुदयं प्रति हेतुरस्ति ततस्तदपेक्षया क्षेत्रविपाकत्वादिव्यपदेश इत्यदोषः।

संप्रति रसमधिकृत्य परं पूर्वपक्षयति–

केवलदुगस्स सुहुमो, हासाइसु कहं न कुणइ अपुव्वो।
सुभमाईणं मिच्छो, किलिट्ठओ एगठाणिरसं ॥४८॥

ननु यथा श्रेण्यारोहे अनिवृत्तिबादरसंपरायाद्धायाः संख्येयेषु भागेषु गतेषु सत्सु परतोऽतिविशुद्धिसंभवान्मतिज्ञानावरणीयादीनामशुभप्रकृतीना-मेकस्थानकं रसं बध्नाति तथा क्षपकश्रेण्यारोहे सूक्ष्मसंपरायश्चरमद्वि-चरमादिषु समयेषु वर्तमानोऽतीवा विशुद्धत्वात्केवलद्विकस्य केवल-ज्ञानावरणकेवलदर्शनावरणरूपस्य किं नैकस्थानकं रसं निर्वर्तयति केवलद्विकं ह्यशुभमतिविशुद्धकश्च बन्धेषु क्षपकश्रेण्यारूढः सूक्ष्मसंप-रायस्ततो मतिज्ञानावरणीयादेरिव संभवति केवलद्विकस्याप्येक-स्थानकरसबन्धः स किं नोक्त इति प्रष्टुरभिप्रायः। तथा हास्यादिषु षष्ठीसप्तम्योरर्थं प्रत्यभेदात् हास्यादीनां हास्यरतिभयजुप्सानाम-शुभत्वात् अपूर्वोऽपूर्वकरणो हास्यादिबन्धकानां मध्ये तस्यातिविशुद्धिप्रकर्षप्राप्तत्वात् शुभादीनां च शुभप्रकृतीनां मिथ्यादृष्टिरति-संक्लिष्टः संक्लेशप्रकर्षसंभवेऽशुभप्रकृतीनामेकस्थानकोऽपि रसबन्धः संभाव्यते इति कथमेकस्थानकं रसं न बध्नाति येन पूर्वोक्ता एव सप्तदश प्रकृतयश्चतुस्त्रि द्व्येकस्थानकरसा उच्यन्ते न शेषाः प्रकृतयः ॥४८॥

अत्र सुरिराह –

जलरेहसमकसाए, वि एगठाणी न केवलदुगस्स।
जं अणुयं पि हु भणियं, आवरणं सव्वघाई से ॥४९॥

जलरेखासमेऽपि जलरेखातुल्येऽपि कषाये संज्वलनलक्षणे उदयमागते न केवलद्विकस्य केवलज्ञानावरणकेवलदर्शनावरणरूपस्यैकस्थानिको रसो भवति कुत इत्याह यत् यस्मात् (से) तस्य केवलद्विकस्य तनुकमपि सर्वजघन्यमपि आवरणं रसलक्षणं हु निश्चितं सर्वघाति भणितं तीर्थकरगणधरैः सर्वजघन्योऽपि रसस्तस्य सर्वघाती भणित इति भावार्थः। सर्वघाती च रसो जघन्यपदेऽपि द्विस्थानक एव भवति नैकस्थानकस्ततो न केवलस्यैकस्थानकरसबन्धसंभवः ॥४९॥

संप्रति हास्यादिप्रकृतीरधिकृत्योत्तरमाह –

सेसासुभाण वि न जं, खवगियराणं न तारिसा सुद्धी।
न सुभाणं पि हु जम्हा, ताणं बंधो विसुज्झंतो ॥५०॥

शेषाशुभानामपि प्रागुक्तमतिज्ञानावरणीयादिसप्तदशप्रकृतिव्य-तिरिक्तानामशुभप्रकृतीनां नैकस्थानकरससंभवो यद् यस्मात् कारणात् क्षपकेतरेषां क्षपकस्यासर्वकरणस्यैतरयोरप्रमत्तप्रमत्तसंयतयोर्न तादृशी शुद्धिर्यत एकस्थानकरसबन्धो यदा त्वेकस्थानकरसबन्धयोग्या परमप्रकर्षप्राप्ता विशुद्धिरनिवृत्तिबादरसंपराद्धायाः संख्येयेभ्यो भागेभ्यः परतो जायते तदा बन्धने च ता आयान्तीति नासामेकस्थानको रसः। तथा शुभानामपि मिथ्यादृष्टिसंक्लिष्टो हु निश्चितं नैकस्थानकं रसं बध्नाति यस्मात्तासां शुभप्रकृतीनामतिसंक्लिष्टे मिथ्यादृष्टौ बन्धो न भवति किं तु मनाक् विशुध्यमाने संक्लेशोत्कर्षो च शुभानामधिकृता-नामेकस्थानकरसबंन्धसंभवो न तदभावे ततस्तासामपि जघन्य-पदेऽपि द्विस्थानक एव रसो नैकस्थानकः। यस्त्वति-संक्लिष्टेऽपि मिथ्यादृष्टौ नरकगतिप्रायोग्या वैक्रियतैजसादिकाः शुभाः प्रकृतयो बन्धमायान्ति तासामपि तथा स्वाभाव्यात् जघन्यतोऽपि द्विस्थानक एव रसो बन्धमधिगच्छति नैकस्थानकः ॥५०॥

अत्र परः प्रश्नयति –

उक्कोसठिई अज्झव–साणोहि एगठाणिओ होति।
सुभाणं तं न जं ठिइ, असंखगुणिया उ अणुभागा ॥५१॥

ननु सर्वासामपि शुभानामशुभानां वा प्रकृतीनामुत्कृष्टा स्थितिरुत्कृष्टे संक्लेशे वर्तमानस्य भवति नान्यथा। उक्तं च। ''सव्वठिईणमुक्कोसगो उक्कोससंकिलेसेणं'' ततो यैरेवाध्यवसायैः शुभप्रकृतीनामुत्कृष्टा स्थितिर्भवति तैरेवाध्यवसायैरेकस्थानकोऽपि रसो भविष्यति ततः कथमुच्यते न शुभानामपि प्रकृतीनामेक-

स्थानकरसबन्धः। अत्रोत्तरमाह ''तंनेत्यादि'' यदेतदुक्तं तत्र यस्मात् स्थितिरसंख्येयगुणा एवानुभागाः तुरेवकारार्थः। कोऽत्र भाव इति चेदुच्यते। इह प्रथमस्थितेरारभ्य समयसमयवृद्ध्या सर्वसंकलनेन परिभाव्यमानाः असंख्येयाः स्थितिविशेषा एकैकस्यां च स्थितावसंख्येया ये रसस्पर्द्धका रसस्पर्द्धक-संघातविशेषाः। तत् उत्कृष्टस्थितौ बध्यमानायां प्रतिस्थितिविशेषमसंख्येया ये रसस्पर्द्धकसंघाताविशेषास्ते तावन्तो द्विस्थानकरससस्यैव घटन्ते नैकस्थानकस्येति न शुभप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थिति बन्धोऽप्येकस्थानकरसबन्धः ॥५१॥

संप्रति सत्कर्माधिकृत्य परप्रश्नमपाकर्तुमाह –

दुविहमिह संतकम्मं, धुवाधुवं सूइयं च सद्देणं।
धुव संतं चिय पढमा, जओ न नियमा वि संयोगा ॥५२॥

द्वारगाथोपन्यस्तेन चशब्देनेदं सत्कर्म द्विविधं द्विप्रकारं सूचितम् तद्यथा ध्रुवमध्रुवं च। तत्र यत्सर्वसंसारिणामनवाप्तोत्तरगुणानां सातत्वेन भवति तत् ध्रुवसत्कर्म। एतच्च प्रागेवोक्तम्। ध्रुवसत्कर्मप्रकृतयश्च चतुरुत्तरशतसंख्याकास्ताश्चेमास्तद्यथा ज्ञानावरणनवकं सातासातवेदनीये मिथ्यात्वं षोडश कषाया नव नोकषायास्तिर्यग्द्विकं जातिपञ्चकमौदारिकद्विकं तैजसकार्मणे संस्थानषट्कं संहननषट्कं वर्णादिचतुष्कं विहायोगतिद्विकं पराघातोच्छ्वासातपोद्योतागुरुलघुनिर्माणोपघातनामानि त्रसादिविंशतिर्नीचैर्गोत्रमन्तरायपञ्चकमिति। यत्पुनरवाप्तगुणानामपि कदाचिद्भवति कदाचिन्न तदध्रुवसत्कर्म एवं च सति यत्परेणोच्यते नन्वनन्तानुबन्धिनामप्युद्वलना संभवतीति कथं तेषामध्रुवसत्कर्मता नाभिधीयत इति तदयास्तमवगन्तव्यम्। तथा चाह ''ध्रुवसंतमित्यादि'' यतो यस्मात्कारणात् न प्रथमानामनन्तानुबन्धिनां कषायाणां नियमात् गुणप्राप्तिमन्तरेणावश्यंभावितया विसंयोगो विसंयोजना भवति किं तु उत्तरगुणप्राप्तिवशात् नवोत्तरगुणप्राप्तिवशतः सत्तोपरमः प्रकृतीनामध्रुवसत्कर्मव्यपदेशहेतुरन्यथा सर्वासामपि कर्मप्रकृतीनां तत्तदुत्तरगुणयोगतः सत्तोपरमोऽस्तीति सर्वा अप्यध्रुवसत्कर्मव्यपदेशयोग्या भवेयुर्नचैतदस्ति तस्माद् प्रथमा अनन्तानुबन्धिनः कषाया ध्रुवसन्त एव सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वतीर्थकराहारकद्विकानि तदुत्तरगुणप्राप्तावेव सत्तां लभन्ते अतस्तानि सुप्रतीतान्येवाध्रुवसत्ताकानि ॥५२॥

इदं वक्ष्यमाणप्रकृतिस्वरूपप्रतिपादकमन्यकर्तृकं द्वारगाथाद्वय-मस्ति तच्च मन्दमतीनां सुखावबोधहेतुरतस्तदपि लिख्यते।

अणुदयउदओभयबं–धिणी उ उभबंधउदयवोच्छेया।
संतरउभयनिरंतर–बंधा(उ) दयसंकमुक्कोसा ॥५३॥
अणुदयसंकमजेट्ठा, उदए णुदए य बंध उक्कोसा।
उदयाणुदयवईओ, तितिचउदुहन सव्वाओ ॥५४॥

इह प्रकृतयस्त्रिधा तद्यथा स्वानुदयबन्धिन्यः स्वोदयबन्धिन्यः उभयबन्धिन्यश्च। तत्र स्वस्यानुदये एव बन्धो विद्यते यासां ताः स्वानुदयबन्धिन्यः। स्वस्योदय एव बन्धो विद्यते यासां ताः स्वोदयबन्धिन्यः। तथा उभयस्मिन् उदयेऽनुदये वा बन्धोऽस्ति यासां ता उभयबन्धिन्यः। पुनरव्यन्यथा त्रिधा प्रकृतयस्तद्यथा समकव्यवच्छिद्यमानबन्धोदयाः क्रमव्यवच्छिद्यमानबन्धोदयाः उत्क्रमव्यवच्छिद्यमानाबन्धोदयाश्च। तत्र समकमेककालं व्यवच्छिद्यमानो बन्धोदयो यासां ताः समकव्यवच्छिद्यमान-बन्धोदयाः। ताश्च ''उभ'' इत्यनेन पदेन गृहीताः। तथा क्रमेण पूर्वं बन्धः पश्चादुदय इत्येवंरूपेण व्यवच्छिद्यमानौ बन्धोदयौ यासां ताः क्रमव्यच्छिद्यमानबन्धदियाः। ताश्च ''बंध'' इत्यनेनांशेन परिगृहीताः। तथा उत्क्रमेण पूर्वमुदयः पश्चाद्बन्धः इत्येवलक्षणेन व्यवच्छिद्यमानौ बन्धोदयो यासां ता उत्क्रमव्यवच्छिद्यमानबन्धोदयाः। एताश्च ''उदय'' इत्यनेनावयवेन संगृहीताः। पुनरप्यन्यथा त्रिधा प्रकृतयस्तद्यथा ''संतरउभयनिरंतरबंधाउत्ति'' सान्तरबन्धाः उभयबन्धा इति सान्तरनिरन्तरबन्धाः निरन्तरबन्धाश्च। एतासां च लक्षणं स्वयमेवाचार्योऽग्रे वक्ष्यतीति नाभिधीयते पुनरप्यन्यथा चतुर्द्धा प्रकृतयस्तथा चाह। ''उदयसंकमुक्कोसा इत्यादि'' उदयसंक्रमोत्कृष्टा ''अणुदयसंकमजेट्ठा इति'' अनुदयसंक्रमोत्कृष्टा। ''उदयणुदए य बंधउक्कोसा इति'' उदयबन्धोत्कृष्टा अनुदयबन्धोत्कृष्टाश्च। तथा पुनरन्यथा द्विधा प्रकृतयस्तद्यथा उदयवत्योऽनुदयवत्यश्च। ''तिति इत्यादि'' एताः सर्वा अपि प्रकृतयो यथाक्रमं त्रित्रिचतुर्द्धा भवन्ति ताश्च तथैव पूर्वमुद्दिष्टाः। संप्रत्येताः सर्वा अपि क्रमेण वक्तव्यास्तत्र प्रथमतः स्वानुदयोदयोभयबन्धिनीः प्रकृतीर्निर्दिदि-क्षुराह।

देवनिरयवेनउव्वि–यछक्कमा हारजुयलतित्थाणं।
बंधो अणुदयकाले, धुवोदयाणं तु उदयम्मि ॥५५॥

देवायुर्नरकायुर्देवगतिदेवानुपूर्वीनरकगतिनरकानुपूर्वीवैक्रियशरीरवैक्रियाङ्गोपाङ्गलक्षणं वैक्रियषट्कमाहारकद्विकमाहरकशरीरमाहारकाङ्गोपाङ्गरूपं तीर्थङ्करनामैतासामेकादशप्रकृतीनां बन्धः स्वस्वानुदयकाल एव तथा हि देवगतित्रिकस्य देवगतौ वर्तमानस्योदयो नरकत्रिकस्य नरकगतौ वैक्रियद्विकस्योभयत्र। न च देवा नारका वा एताः प्रकृतीर्बध्यन्ति तथा भवस्वाभाव्यात्। तीर्थकरनामापि च केवलज्ञानप्राप्तावुदयमागच्छति न च तदानीं तस्य बन्धः अपूर्वकरणगुणस्थानक एव तस्य बन्धव्यवच्छेदात्। आहारककरणव्यापृतश्च लब्ध्युपजीवनेन प्रमादभावतस्तदुत्तरकालवर्त्ती तु तथाविधविशुद्ध्यभावतो मन्दसंयमावस्थानवर्तित्वान्नाहारकद्विकबन्धमारभते तत एताः सर्वा अपि स्वानुदयबन्धिन्यः ध्रुवोदयानां पुनर्ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणचतुष्टयान्तरायपञ्चकमिथ्यात्वनिर्माणतैजसकार्मणस्थिरास्थिरवर्णादिचतुष्कागुरुलघुशुभाशुभलक्षणानां सप्तविंशति-प्रकृतीनामुदय एव सति बन्ध उपजायते ध्रुवोदयतया तासां सर्वदोदयभावात् अतो ध्रुवोदयाः स्वोदयबन्धिन्यः शेषास्तु निद्रापञ्चकजातिपञ्चकसंस्थानषट्कसंहननषट्ककषायषोडशकनवनोकषायपराघातोपघातातपोद्योतोच्छ्वाससातासातवेदनीयोच्चनीचैर्गोत्रमनुष्यत्रिकतिर्यक्त्रिकौदारिकद्विकप्रशस्ताप्रशस्तविहायोगतित्रसबादरपर्याप्तप्रत्येकस्थावरसूक्ष्मापर्याप्तसाधारणसुस्वरशुभगादेययशःकीर्तिदुःस्वरदुर्भगानादेययशःकीर्तिरूपा द्व्यशीतिसंख्याः स्वोदयानुदयबन्धिन्यः। तथा ह्येताः प्रकृतयस्तिरश्चां मनुष्याणां वा यथायोगमनुदये उदयो वा बन्धमायान्ति ततः स्वोदयानुदयबन्धिन्य उच्यन्ते ॥५५॥

संप्रति समकव्यवच्छिद्यमानबन्धोदयादिप्रकृतीरभिधित्सुराह।

गयचरिमलोभधुवबं–धिमोहहारसरइअरइमणुयपुव्वीणं।
सुहुमतिगआयवा णं, सपुरिसवेयाण बंधुदया ॥५६॥

वोच्छिज्जंति समं चिय, कमसो सेसाण उक्कमेणं तु।
अट्ठण्हमजससुरतिग–वेउव्वाहारजुयलाणं ॥५७॥

गतोऽपनीतश्चरमो लोभः संज्वनरूपो यस्य सः गतचरमलोभः स चासौ ध्रुवबन्धिप्रकृत्यात्मको मोहश्च गतचरमलोभध्रुवबन्धिमोहः मोहनीयसत्काः संज्वलनलोभहीनाः पञ्चदशकषायमिथ्यात्वभवजगुप्सारूपाः अष्टादश ध्रुवबन्धिन्य इत्यर्थः तासां तथा हास्यरत्यरतिमनुजानुपूर्वीणां तथा सूक्ष्मापर्याप्तसाधारणरूपसूक्ष्मत्रिकातपनाम्नोः सपुरुषवेदयोः पुरुषवेदसहि तयोः सर्वसंख्यया षड्विंशतिप्रकृतीनां समभेव समकालमेव बन्धोदयौ व्यवच्छिद्येते तथा हि सूक्ष्मक्रियातपमिथ्यात्वानां मिथ्यादृष्टावनन्तानुबन्धिनां सासादने मनुष्यानुपूर्वी द्वितीयकषायाणामविरते प्रत्याख्यानावरणकषायाणां देशविरते हास्यरतिभयजुगुप्सानामपूर्वकरणे संज्वनत्रिक पुंवेदयोरनिवृत्तिवादसंपराये बन्धोदयौ समकमेव व्यवच्छेदमाप्नुतः तत एताः समकव्यवच्छिद्यमानबन्धोदयाः शेषाणां तूक्तवक्ष्यमाणव्यतिरिक्तानां षडशीति प्रकृतीनां क्रमेण बन्धोदयौ व्यवच्छिद्येते तद्यतः पूर्वं बन्धस्य व्यवच्छेदः पश्चादुदयस्य तथा हि ज्ञानावरणपञ्चकान्तरायपञ्चकदर्शनावरणचतुष्टयानां सूक्ष्मसंपरायचरमसमये बन्धव्यवच्छेदः उदयव्यवच्छेदः क्षीणकषायचरमसमये निद्राप्रचलयोः बन्धव्यवच्छेदोऽपूर्वकरणप्रथमभागे उदयव्यवच्छेदः क्षीणकषायाद्विचरमसमये तथा असातवेदनीयस्य प्रमत्ते सातवेदनीयस्य सयोगिचरमसमये तथा असातवेदनीयचरमसमये बन्धव्यवच्छेद उदयव्यच्छेदः पुनरुभयोरपि सयोगिकेवलिचरमसमये अयोगिकेवलिचरमसमये वा। तथा चरमसंस्थानस्य मिथ्यादृष्टौ मध्यमसंस्थान चतुष्टयाप्रशस्तविहायोगतिदुःस्वरनाम्नां सासादने औदारिकद्विकप्रथमसंहननयोरविरतसम्यग्दृष्टौ अस्थिराशुभयाः प्रमत्ते तैजसकार्मणसमचतुरस्रसंस्थानवर्णादिचतुष्कादिगुरुलघुचतुष्टय प्रत्येक स्थिरशुभसुस्वर निर्माणानामपूर्वकरणषष्ठे भागे बन्धव्यच्छेदः। पुनरासां सर्वासामपि प्रकृतीनामष्टाविंशतिसंख्यानां सयोगिकेवलिचरमसमये तथा मनुष्यत्रिकस्य बन्धव्यवच्छेदोऽविरतसम्यग्दृष्टौ पञ्चेन्द्रियजातित्रसबादरपर्याप्तसुभगादेयतीर्थङ्करनाम्नामपूर्वकरणषष्ठ भागे यशःकीर्त्युच्चैर्गोत्रयोः सूक्ष्मसंपरायचरमसमये उदयव्यवच्छेदः। पुनरासां द्वादशानामपि प्रकृतीनामयोगिकेवलिचरमसमये। तथा स्थावरैकद्वित्रिचतुरिन्द्रियजातीनां नरकत्रिकस्यान्तिमसंहननस्य नपुंसकवेदस्य मिथ्यादृष्टौ बन्धव्यवच्छेद उदयव्यवच्छेदः पुनर्यथाक्रमं सासादने अविरतसम्यग्दृष्टावप्रमत्तसंयते अनिवृत्तिबादरसंपराये तथा तिर्यगानुपूर्वीदुर्भगानादेयानां तिर्यग्गतितिर्यगायुरुद्योतनीचैर्गोत्राणां स्त्यानर्द्धित्रिकस्य चतुर्थपञ्चमसंहननयोर्द्वितीयतृतीय संस्थानयोश्च बन्धव्यवच्छेदः सासादनस्य सम्यग्दृष्टौ उदयव्यवच्छेदः पुनर्यथासंख्यमविरते देशविरते प्रमत्तसंयतेऽप्रमत्तसंयते उपशान्तमोहे तथा अरतिशोकयोर्बन्ध व्यवच्छेदः प्रमत्तसंयते उदयव्यवच्छेदोऽपूर्वकरणे संज्वलन लोभस्य बन्धे व्यवच्छेदोऽनिवृत्तिबादरसंपरायचरमसमये उदयव्यच्छेदः सूक्ष्मसंपरायान्तिमसमये तत एताः षडशीतिरपि प्रकृतयः क्रमव्यवच्छिद्यमानबन्धोदयाः। तथा अष्टानामयशःकीर्तिसुरत्रिकवैक्रियद्विकाहारकद्विकरूपाणामुत्क्रमेण प्रागुदयस्य व्यवच्छेदः पश्चाद्बन्धस्यैवरूपेण व्यवच्छिद्येते बन्धोदयौ। तथा हि अयशः कीर्तिसुरत्रिकवैक्रियद्विकाहारकद्विकरूपाणामुत्क्रमेण प्रागुदयस्य व्यवच्छेदः पश्चाद्बन्धस्यैवंरूपेण व्यवच्छिद्येते बन्धोदयौ। तथा हि अयशः कीर्त्ति प्रमत्ते देवायुषोऽप्रमत्ते देवद्विकवैक्रियद्विकयोरपूर्वकरणे बन्धव्यवच्छेद उभयव्यवच्छेदस्तु षण्णामप्यविरतसम्यग्दृष्टौ आहारकद्विकस्य पुनरपूर्वकरणे बन्धव्यवच्छेद उदयव्यवच्छेदोऽप्रमत्तसंयते तत एता अष्टावपि उत्क्रमबन्धव्यवच्छिद्यमानबन्धोदयाः।

सांप्रतं सान्तरादिप्रकृतीः प्ररूपयति।

धुवबंधिणी उ तित्थगर, नाम आउयचउक्कवावन्ना।
एया निरंतराओ, सगवीसुभसंतरा सेसा ॥५८॥

ज्ञानावरणपञ्चकान्तरायपञ्चकदर्शनावरणनवकषायषोडशकमिथ्यात्वभयजुगुप्साऽगुरुलघुनिर्माणतैजसकार्मणोपघातवर्णादिचतुष्टयरूपाः सप्तचत्वारिंशद् ध्रुवबधिन्यः तीर्थङ्करनाम आयुश्चतुष्टयमिति द्विपञ्चाशत्संख्याः प्रकृतयो निरन्तरा वक्ष्यमाणशब्दार्था वेदितव्याः। तथा वक्ष्यमाणाः सप्तविंशतिप्रकृतय (उभ) इति उभयाः सान्तरनिरन्तरा इत्यर्थः शेषास्तु एकचत्वारिंशत्प्रकृतयः सान्तराः।

अधुना पूर्वोद्दिष्टाः सप्तविंशतिप्रकृतीरुपदर्शयति।

चउरंसउसभपरघाय–उसासपुंसरगलसायसुभखगई।
वेउव्विउरलसुरनर–तिरिगोयसुसरतसतिचउ ॥५९॥

समचतुरस्रसंस्थानं वज्रर्षभनाराचसहननं पराघातनाम उच्छ्वासनाम पुरुषवेदः पञ्चेन्द्रियजातिः सातवेदनीयं शुभविहायोगतिः वैक्रियद्विकमौदारिकद्विकं सुरद्विकं मनुष्यद्विकं तिर्यग्द्विकं गोत्रद्विकं (सुसरतिचउत्ति) यथाक्रममत्र संख्यासंख्येययोजना सुस्वरत्रिकं सुस्वरं सुभगानादेयरूपं त्रसचतुष्कं त्रसबादरपर्याप्तप्रत्येकलक्षणमित्येताः सप्तविंशति-प्रकृतयः सान्तरनिरन्तराः।

सांप्रतं सान्तरादिव्यपदेशनिबन्धनामाह –

समयाउ अंतमुहुत्त–उक्कोसो जाण संतरा ताओ।
बंधे हियम्मि उभया–निरंतरा तम्मि उ जहन्ने ॥६०॥

यासां प्रकृतीनां जघन्यतः समयमात्रबन्ध उत्कर्षतः समयादारभ्य यावदन्तर्मुहूर्तं न परतस्याः सान्तराभिधानाः बन्धमधिकृत्यान्तर्मुहूर्तमध्येऽपि सह अन्तरेण अवधानेन व्यवच्छेदलक्षणेन वर्तन्ते यास्ताः सान्तरा इति व्युत्पत्तिबलात्ताश्चेमास्तद्यथा। असातवेदनीयस्त्रीवेदनपुंसकवेद हास्यरत्यतिशोकनरकद्विकाहारकद्विकाद्यरहितसंस्थानपञ्चकाद्यरहितसंहननपञ्चकजातिचतुष्टयातपोद्योतप्रशस्त-विहायोगति स्थिरशुभयशःकीर्तयः स्थावरादिदशकं च। एता हि जघन्यतः समयमात्रं बध्यन्ते उत्कर्षतः अन्तर्मुहूर्तं परतस्तु निजबन्धहेतुसद्भावेऽपि तथास्वाभाव्यतस्तद्योग्याध्यवसायपरावर्तनेन नियमतः प्रतिपक्षप्रकृतीर्बध्नाति ततः सान्तरा अभिधीयन्ते। तथा यासां प्रकृतीनां जघन्यतः समयमात्रं बन्धमुत्कर्षतः समयादारभ्य नैरन्तर्येणान्तर्मुहुर्तस्योपर्यपि असंख्येयं कालं यावत् ता उभयाः सानतरनिरन्तरा इत्यर्थः। बन्धमधिकृत्यान्तर्मुहूर्तमध्ये सान्तराश्च निरन्तराश्चेति कृत्वा ताश्च प्रागुक्ताः समचतुरस्रादयः सप्तविंशति प्रकृतयः ता हि जघन्यतः समयमात्रं बध्यन्ते ततः सान्तरा उत्कर्षतोऽनुत्तरसुरादिभिरसंख्येयमपि कालं ततोऽन्तर्मुहूर्तमध्ये व्यवच्छेदाभावान्निरन्तराः। (तम्मि उ जहन्ने इत्ति) जघन्ये इति जघन्येनापि याः प्रकृतयोऽन्तर्मुहूर्तं यावत् नैरन्तर्येण बध्यन्ते ता निरन्तराः। निर्गतं बन्धमधिकृत्यान्तर्मुहूर्तमध्ये अन्तरं व्यवधानं

व्यवच्छेदो यकाभ्यः ता निरन्तरा इति व्युत्पत्तेः ताश्च प्रागुक्ता ध्रुवबन्धिन्यादयः ता हि जघन्येनाप्यन्तर्मुहूर्तं याववश्यं नैरन्तर्येण बध्यन्ते इति। तदेवमुक्ता निरन्तरादि प्रकृतयः ॥६०॥

संप्रत्युदयबन्धोत्कृष्टादि प्रकृतीर्विवक्षुः
प्रथमतोऽभिधानकारणमाह ।

उदए व अणुदय वा, बंधाओ अन्नसंकमाओ वा ।
ठिइसंत जाण भवे, उक्कोसं ता तदक्खाओ ॥६१॥

यासां प्रकृतीनामुदये वा अनुदये वा बन्धादन्यप्रकृतिदलिकसंक्रमतो वा स्थितिसत्कर्मोत्कृष्टं भवति तास्तदाख्यास्तदनुरूपसंज्ञका वेदितव्यास्तद्यथा । यासां प्रकृतीनां विपाकोदये सति बन्धादुत्कृष्टं स्थितिसत्कर्मावाप्यते ता उदयबन्धोत्कृष्टसंज्ञाः यासां तु विपाकोदयाभावे बन्धादुत्कृष्टस्थितिसत्कर्मावाप्तिस्ता अनुदयबन्धोत्कृष्टा यासां पुनर्विपाकोदये प्रवर्तमाने सति संक्रमत उत्कृष्टं सत् स्थितिकर्म लभ्यते न बन्धतस्या उदयसत्कर्मोत्कृष्टाभिधानाः । यासां पुनरनुदये संक्रमतः उत्कृष्टस्थितिलाभस्ता अनुदयसंक्रमोत्कृष्टाख्याः ॥६१॥

तत्रानुपूर्व्यप्यस्तीति ख्यापनाय प्रथमत उदय–
संक्रमोत्कृष्टाख्याः प्रकृतीः कथयति।

मणुगइसायं सम्मं, थिरहासाइछ वेयसुभखगई ।
रिसहचउरस्सगाई, पडुच्च उदसंक्रमुक्कोसा ॥६२॥

मनुष्यगतिः सातवेदनीयं सम्यक्त्वं स्थिरादिषट्कं स्थिरशुभसुभगसुस्वरादेययशः कीर्तिलक्षणं हास्यादिषट्कं हास्यरतिशोकभयजुगुप्सालक्षणं वेदत्रिकं पुन्नपुंसकस्त्री वेदरूपं शुभविहायोगतिवज्रर्षभनाराचादीनि संहननानि समचतुरस्रादीनि पञ्च संस्थानानि उच्चैर्गोत्रमित्येतास्त्रिंशत्प्रकृतय उदयसंक्रमोत्कृष्टाः आसां हि प्रकृतीनामुदयप्राप्तानां या विपक्षभूता नरकगत्यसातवेदनीयमिथ्यात्वादयः प्रकृतयस्तासामुत्कृष्टां स्थितिं बध्वा भूय आसामेवोदयप्राप्तानां बध्यमानासु चैतासु अनन्तरबद्धनरकगत्यादिविपक्षे प्रकृतिदलिकं संक्रमयति शुभप्रकृतीनां स्थितिः स्वबन्धेन स्तोकैव भवति अशुभानामुत्कृष्टा ततः संक्रमतः आसामुत्कृष्टा स्थितिरवाप्यते इत्येता उदय-संक्रमोत्कृष्टाभिधानाः ॥६२॥

सांप्रतमनुदयसंक्रमोत्कृष्टाः प्रतिपादयति–

मणुयाणुपुव्वीमीसग, आहारगदेवजुगलविगलाणि ।
सुहुमाइ तिगं ति अ–णुदयसंकमणउक्कोसा ॥६३॥

मनुष्यानुपूर्वी सम्यग्मिथ्यात्वमाहारकयुगलमाहारकाङ्गोपाङ्गलक्षणं देवयुगलं देवगतिदेवानुपूर्वीरूपं विकलत्रिकं विकलेन्द्रियजातित्रिकम् द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियजातिरूपं सूक्ष्मत्रिकं सूक्ष्मापर्याप्तसाधारणलक्षणं तीर्थङ्करनाम एतास्त्रयोदश प्रकृतयः अनुदयसंक्रमोत्कृष्टा यत एवासामुत्कृष्टा स्थितिः स्वबन्धतो नावाप्यते किं तु संक्रमतः संक्रमतोऽप्युत्कृष्टा स्थितिस्तदावाप्यते यदा एतद्विपक्षप्रकृतीरुत्कृष्टस्थितीर्बध्वा तदनन्तरमेतासु बध्यमानासु तद्दलिकं संक्रमयति एतद्विपक्षप्रकृतीनां च उत्कृष्टस्थितिबन्धकः प्रायो मिथ्यादृष्ट्यादिमनुष्यो नच तदानीमासामुदयोऽस्तीत्यनुदयसंक्रमोत्कृष्टाः ॥६३॥

संप्रत्यनुदयबन्धोत्कृष्टोदयबन्धोत्कृष्टप्रकृतीराह–

नारयतिरिउरलदुगुं, छेवट्ठेगिंदिथावरायावं ।
निद्दा अणुदय जेट्ठा, उदउक्कोसा पराणाउ ॥६४॥

नरकतिर्यग्द्विकौदारिकद्विकसेवार्तसंहननैकेन्द्रियजातिस्थावरनामातपनामानि पञ्च निद्रा इत्येता पञ्चदश प्रकृतयोऽनुदयबन्धोत्कृष्टाः शेषाः पुनरनायुष आयुश्चतुष्टयरहिताः पञ्चेन्द्रियजातिवैक्रियद्विकहुण्डसंस्थानपराघातोच्छ्वासोद्योतविहायोगतयोऽगुरुलघुतैजसकार्मणनिर्माणोपघातवर्णादिचतुष्कान्यस्थिरादिषट्कंन्नसादिचतुष्कमसातवेदनीयं नीचैर्गोत्रं षोडश कषाया मिथ्यात्वं ज्ञानावरणपञ्चकमन्तरायपञ्चकं दर्शनावरणचतुष्टयमित्येताः षष्टिः प्रकृतय उदयबन्धोत्कृष्टाः एतासामुदयप्राप्तानां स्वबन्धनतः उत्कृष्टा स्थितिरवाप्यते एता उदयबन्धोत्कृष्टाभिधानाः आयुषां तु न परस्परसंक्रमो नापि बध्यमानायुर्दलिकं पूर्वबद्धस्यायुष उपचयाय भवति तत एकेनापि प्रकारेण तिर्यग्मनुष्यायुषोरुत्कृष्टा स्थितिर्नावाप्यते इति ते अनुदयबन्धोत्कृष्टादि संज्ञाचतुष्टयातीते । देवनारकायुषी तु यद्यपि परमार्थतोऽनुदयबन्धोत्कृष्टे तथापि प्रयोजनाभावतः पूर्वसूरिभिः संज्ञाचतुष्टयातीते विवक्षिते इति तयोरपि प्रतिषेधः ।

संप्रत्युदयवत्यनुदयवत्योः प्रकृत्योर्लक्षणमाह–

चरिमसमयम्मि दलियं, जासिं अन्नत्थ संकमे ताओ ।
अणुदयवयइयरा उ, उदयवई होंति पगईओ ॥६५॥

यासां प्रकृतीनां दलिकं चरमसमयेऽन्त्यसमये अन्यत्रान्यासु प्रकृतिषु स्तिवुकसंक्रमेण संक्रमयेत् संक्रमय्य चान्यप्रकृतिव्यपदेशेनानुभवेत् न स्वोदयेन ता अनुदयवत्योऽनुदयवतीसंज्ञाः इतरास्तु प्रकृतयः उदयवत्यो भवन्ति यासां दलिकं चरमसमये स्वविपाकेन वेदयते ।

संप्रति ता एवोदयवतीरभिधातुकाम आह–

नाणंतरायआउग–दंसणचउ वेयणीयमपुमित्थी ।
चरिमुदयउच्चवेयग–उदयवई चरिमलोभो य ॥६६॥

ज्ञानावरणपञ्चकमन्तरायपञ्चकमायुश्चतुष्टयं दर्शनचतुष्टयं सातासातवेदनीये स्त्रीनपुंसकवेदौ चरमोदया नामनवकरूपास्ताश्चेमा मनुष्यगतिः पञ्चेन्द्रियजातिस्त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तकनाम शुभनाम सुस्वरनाम आदेयनाम तीर्थङ्करनाम तथा उच्चैर्गोत्रं वेदकसम्यक्त्वं चरमलोभः संज्वलनलोभः इत्येताश्चतुस्त्रिंशत् प्रकृतयः उदयवत्यस्तथा हि ज्ञानावरणपञ्चकान्तरायपञ्चकदर्शनावरणचतुष्टयरूपाणां चतुर्दशप्रकृतीनां क्षीणकषायान्त्यसमये चरमोदयानां च नामनवकलक्षणानां साता-सातवेदनीययोरुच्चैर्गोत्रस्य च सर्वसंख्यया द्वादशप्रकृतीनामयोगिकेवलिचरमसमये संज्वलनलोभस्य सूक्ष्मसंपरायान्त्यसमये वेदकसम्यक्त्वस्य स्वक्षपणपर्यवसानसमये स्त्रीनपुंसकवेदयोः क्षपकश्रेण्यामनिवृत्तिबादरसंपराद्धायाः संख्येयेषु भागेष्वतिक्रान्तेषु तदुदयान्तरसमये आयुषां च स्वस्वभवचरमसमये स्ववेदनमस्ति तत एता उदयवत्योऽभिधीयन्ते । यद्यपि सातासातवेदनीययोः स्त्रीनपुंसकवेदयोश्चानुदयवतीत्वमपि संभवति तथाऽपि प्रधानमेव गुणमवलम्ब्य सत्पुरुषा व्यपदेशं प्रयच्छन्तीति उदयवत्यः पूर्वपुरुषैरुपदिष्टाः शेषास्तु चतुर्दशोत्तरशतसंख्या अनुदयवत्यः तासां दलिकस्य चरमसमये अन्यत्र संक्रमणतः स्वविपाकवेदनाभावात् तथाहि चरमोदयसंज्ञा नामनवकनरकतिर्यग्द्वयैकैकद्वित्रिचतुरिन्द्रियजातिस्थावरसूक्ष्मसाधारणातपोद्योतवर्जाः शेषा नाम्न एकसप्ततिप्रकृतयो नीचैर्गोत्रं चेत्येता द्विसप्ततिप्रकृतिः सजातीयासु परप्रकृतीषूदयमागतासु चरमसमये स्तिवुकसंक्रमणे प्रक्षिप्य परप्रकृतीव्यपदेशेनानुभवत्ययोगिकेवली एवं निद्राप्रचले क्षीणकषायः तथा मिथ्यात्वं सम्यङ् -

मिथ्यात्वं तदपि सम्यक्त्वे प्रक्षिप्य सप्तकक्षयकालेऽनुभवति अनन्तानुबन्धिनां क्षपणसमये तद्दलिकं बध्यमानासु चारित्रामोहनीयप्रकृतिषु गुण संक्रमेणं संक्रम्य उदयावलिकागतमुदवतीषु प्रकृतिषु स्तिवुकसंक्रमेणं संक्रमयति स्थावरसूक्ष्मसाधारणातपोद्योतैकद्वित्रिचतुरिन्द्रियजातिनरकद्विकतिर्यग्द्विकरूपा नामत्रयोदश प्रकृतीर्बध्यमानायां यशःकीर्तिगुणसंक्रमेण संक्रमय्यतासामुदयावलिकागतं दलिकं नाम्न उदयमागतासु प्राकृतिषु स्तिवुकसंक्रमेण प्रक्षिप्य तद्व्यपदेशेनानुभवति स्त्यानर्द्धित्रिकमपि दर्शनावरणचतुष्टये प्रथमतो गुणसंक्रमेण संक्रमयति तत उदयावलिकागतं स्तिवुकसंक्रमेण संक्रमयति एवमष्टौ कषायान् हास्यादिषट्कं पुरुषवेदं संज्वलनक्रोधादित्रिकमुत्तरोत्तरञ्च प्रकृतिषु मध्ये प्रक्षिपति तत एताः सर्वा अपि चतुर्दशोत्तरशतसंख्याः प्रकृतयोऽनुदयवत्यः । इति श्रीमलयगिरिविरचितायां पञ्चसंग्रहटीकायां बन्धव्याभिधानं तृतीयं द्वारं समाप्तम्। (बन्धशब्देऽनुभागप्ररूपणे आसां वर्गः प्ररूपयिष्यते) कर्मणां संवेधः।

(२५) अथ ज्ञानावरणं शेषैः सह चिन्त्यते।

जस्स णं भंते ! नाणावरणिज्जं तस्स दंसणावरणिज्जं जस्स दंसणावरणिज्जं तस्स नाणावरणिज्जं ? गोयमा ! जस्स नाणावरणिज्जं तस्स दंसणावरणिज्जं नियमं अत्थि । जस्स दंसणावरणिज्जं तस्स वि नाणावरणिज्जं नियमं अत्थि ।१। जस्स णं भंते ! नाणावरणिज्जं तस्स वेयणिज्जं जस्स वेयणिज्जं तस्स नाणावरणिज्जं ? गोयमा ! जस्स नाणावरणिज्जं तस्स वेयणिज्जं नियमं अत्थि । जस्स पुण वेयणिज्जं तस्स नाणावरणिज्जं सिय अत्थि सिय नत्थि ।।२।। जस्स पुण भंते ! नाणावरणिज्जं तस्स मोहणिज्जं जस्स मोहणिज्जं तस्स नाणावरणिज्जं ? गोयमा ! जस्स नाणावरणिज्जं तस्स मोहणिज्जं सिय अत्थि सिय नत्थि जस्स पुण मोहणिज्जं तस्स नाणावरणिज्जं नियमं अत्थि ।३। जस्स णं भंते ! नाणावरणिज्जं तस्स आउयं एवं जहा वेयणिज्जेण समं भणियं तहा आउएण वि समं भाणियव्वं एवं नामेण वि एवं गोएण वि समं अंतराइएणं जहा दंसणावरणिज्जेण समं तहेव नियमं परोप्परं भाणियव्वाणि ।

अकेवलिनं केवलिनं च प्रतीत्याकेवलिनो हि वेदनीयं ज्ञानावरणीयं चास्ति केवलिनस्तु वेदनीयमस्ति न तु ज्ञानावरणीयमिति । (जस्स नाणावरणिज्जं तस्स मोहणिज्जं सिय अत्थि सिय नत्थि त्ति) अक्षपकं क्षपकं च प्रतीत्य अक्षपकस्य ज्ञानावरणीयं मोहनीयं चास्ति क्षपकस्य तु मोहक्षये यावत्केवलज्ञानं नोत्पद्यते तावज्ज्ञानावरणीयमस्ति न तु मोहनीयमिति । एवं च यथा ज्ञानावरणीयं वेदनीयेन समधीतं तथा आयुषा नाम्ना गोत्रेण च सहाध्येयमुक्तप्रकारेण भजनायाः सर्वेष्वेतेषु भावात्। अन्तरायेण च समं ज्ञानावरणीयं तथा वाच्यं यथा दर्शनावरणीयं निर्भर्जनमित्यर्थः एतदेवाह। ''एवं जहा वेयणिज्जेण सममित्यादि'' (नियम परोप्परं भाणियव्वाणि त्ति) कोऽर्थः ''जस्स नाणावरणिज्जं तस्स नियमा अंतराइयं जस्स अंतराइयं तस्स नियमानाणावरणिज्ज'' मित्येवमनयोः परस्परं नियमो वाच्य इत्यर्थः।

अथ दर्शनावरणं शेषैः षड्भिः सह चिन्तयन्नाह।

जस्स णं भंते ! दंसणावरणिज्जं तस्स वेयणिज्जं जस्स वेयणिज्जं तस्स दंसणावरणिज्जं ? जहा नाणावरणिज्जं उवरिमेहिं सत्तहिं कम्मेहिं समं भणियं तहा दंसणावरणिज्जं पि उवरिमेहिं छहिं कम्मेहिं समं भणियव्वं जाव अंतराइएणं । जस्स णं भंते ! वेयणिज्जं तस्स मोहणिज्जं जस्स मोहणिज्जं तस्स वेयणिज्जं ? गोयमा ! जस्स वेयणिज्जं तस्स मोहणिज्जं सिय अत्थि सिय नत्थि जस्स पुण मोहणिज्जं तस्स वेयणिज्जं नियमं अत्थि । जस्स णं भंते ! वेयणिज्जं तस्स आउयं एवं एयाणि परोप्परं नियमं जहा आउएण समं एवं नामेण वि गोएण वि समं भाणियव्वं । जस्स णं भंते ! वेयणिज्जं तस्स अंतराइयं पुच्छा गोयमा ! जस्स वेयाणिज्जं तस्स अंतराइयं सिय अत्थि सिय नत्थि । जस्स पुण अंतराइयं तस्स वेयणिज्जं नियमं अत्थि ।

(जस्सेत्यादि) अयञ्च गमो ज्ञानावरणीयगमसम एवेति ''जस्स णं भंते वेयणिज्ज'' मित्यादिना तु वेदनीयं शेषैः पञ्चभिः सह चिन्त्यते तत्र च ''जस्स वेयणिज्जं तस्स मोहणिज्जं सिय अत्थि सिय नत्थि त्ति'' अक्षीणमोहं क्षीणमोहं च प्रतीत्य अक्षीणमोहस्य हि वेदनीयं मोहनीयं चास्ति क्षीणमोहस्य तु वेदनीयमस्ति न तु मोहनीयमिति (एवमेयाणि परोप्परं नियमंति) कोऽर्थः यस्य वेदनीयं तस्य नियमादायुर्यस्यायुस्तस्य नियमाद्वेदनीयमित्येवमेते वाच्ये इत्यर्थः। एवं नामगोत्राभ्यामपि वाच्यम्। एतदेवाह ''जहा आउएणेत्यादि'' अन्तरायेण तु भजनया यतो वेदनीयमन्तरायं चाकेवलिनामस्ति केवलिनां तु वेदनीयमस्ति न त्वन्तरायमेतदेव दर्शयतोक्तम् ''जस्स वेयणिज्जं तस्स अंतराइयं सिय अत्थि सिय नत्थित्ति।

अथ मोहनीयमन्यैश्चतुर्भिः सह चिन्त्यते।

जस्स णं भंते ! मोहणिज्जं तस्स आउयं जस्स आउयं तस्स मोहणिज्जं ? गोयमा ! तस्स मोहणिज्जं तस्स आउयं नियमं अत्थि । जस्स पुण आउयं तस्स मोहणिज्जं सिय अत्थि नत्थि एवं नामं गोयं अंतराइयं च भाणियव्वं । जस्स पुण भंते ! आउयं तस्स नाम पुच्छा गोयमा ! दो वि परोप्परं नियमं एवं गोत्तेण वि समं भाणिरुव्वं जस्स णं भंते ! आउयं तस्स अंतराइयं पुच्छा गोयमा ! जस्स आउयं तस्स अंतराइयं सिय अत्थि सिय नत्थि । जस्स पुण अंतराइयं तस्स आउयं नियमं अत्थि । जस्स णं भंते ! नामं तस्स गोयं जस्स गोयं तस्स नामं ? गोयमा ! जस्स नामं तस्स नियमा गोयं जस्स गोअं तस्स नियमा नामं । जस्स णं भंते ! नामं तस्स अंतराइयं पुच्छा गोयमा ! जस्स नामं तस्स अंतराइयं सिय अत्थि सिय नत्थि जस्स पुण अंतराइयं तस्स नामं नियमं अत्थि । जस्स

णं भंते ! गोयं तस्स अंतराइयं पुच्छा गोयमा ! जस्स गोयं तस्स अंतराइयं सिय अत्थि सिय नत्थि जस्स पुण अंतराइयं तस्स गोयं नियमं अत्थि ।।७।।

यस्य मोहनीयं तस्यायुर्नियमादकेवलिन इव यस्य पुन-रायुस्तस्य मोहनीयं भजनया यतोऽक्षीणमोहस्यायुर्मोहनीयं चास्ति क्षीणमोहस्य त्वायुरेवेति (एवं नामं गोयं अंतराइयं च भाणियव्वंति) अयमर्थो यस्य मोहनीयं तस्य नाम गोत्रमन्तरायं च नियमादस्ति यस्य पुनर्नामादित्रयं तस्य मोहनीयं स्यादस्त्यक्षीणमोहस्येव स्यान्नास्ति क्षीणमोहस्येवेति। अथायुरन्यैस्त्रिभिः सह चिन्त्यते (जस्स णं भंते ! आउय मित्यादि दो वि परोप्परं नियमत्ति) कोऽर्थः। ''जस्स आउयं तस्स नियमा नामं जस्स नाम तस्स नियमा आउयं'' इत्यर्थः। एवं गोत्रेणापि (जस्स आउयं तस्स अंतराइयं सिय अत्थि सिय नत्थि त्ति) य स्यायुस्तस्यान्तरायं स्यादस्त्यकेवलिवत् स्यान्नास्ति केवलिवदिति ''जस्स णं भंते ! नाम'' इत्यादिना नाम अन्येन द्वयेन सह चिन्त्यते। तत्र यस्य नाम तस्य नियमाद्गोत्रं यस्य गोत्रं तस्य नियमान्नाम। तथा यस्य नाम तस्यान्तरायं स्यादस्त्य-केवलिवत्स्यान्नास्ति केवलिवदिति। एवं गोत्रान्तराययोरपि भजना भावनीयेति भ० ८ श० १० उ०। इत्युक्तं प्रकृतिकर्म।

अथ स्थितिकर्म तत्र कर्मणा स्थितिनिषेकौ –

नाणावरणिज्जस्स णं भंते ! कम्मस्स केवतियं कालं ठिई पण्णत्ता ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं तीसं सागरोवमकोडाकोडीओ तिण्णि य वाससहस्साइं अवाहा अवाहूणि ता कम्मठिई कम्मणिसेगो।

ज्ञानावरणीयस्य मतिश्रुतावधिमनःपर्यायकेवलावरणभेदतः पञ्चप्रकारस्य कर्मणो भदन्त ! कियन्तं कालं यावत् स्थितिः प्रज्ञप्ता एवमुक्ते भगवानाह। गौतम ! जघन्येनान्तर्मुहूर्तं तच्च सर्वलघु सूक्ष्मसंपरायस्य क्षपकस्य स्वगुणस्थानकचरमसमये वर्तमानस्य वेदितव्यम्। उत्कर्षतस्त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोटयः सा च मिथ्यादृष्टेरुत्कृष्टे संक्लेशे वर्तमानस्यावसातव्या तदेवं नियता प्रागुक्तस्य प्रश्नस्योत्तरसिद्धिः। इदमपृष्टव्याकरणं त्रीणि वर्षसहस्राणि अबाधा अबाधोना कर्मस्थितिः कर्मदलिकनिषेक इति। किमर्थमिति चेदुच्यते स्थितिद्वैविध्यप्रदर्शनार्थं तथा हि द्विविधा स्थितिः कर्मरूपतावस्थानलक्षणा अनुयोग्या च। तत्र कर्मरूपतावस्थानलक्षणां स्थितिमधिकृत्येदमुक्तम् त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोटय इति। अनुभवयोग्या च वर्षसहस्रत्रयोना यत आह च त्रीणि वर्षसहस्राण्याबाधा इदमुक्तं भवति ज्ञानावरणीयं कर्मोत्कृष्टस्थितिकं बन्धं सत् बन्धसमयादारभ्य त्रीणि वर्षसहस्राणि यावन्न किंचिदपि स्वादयते जीवस्य बाधामुत्पादयति तावत्कालमध्ये दलिकनिषेकस्याभावात्। तत ऊर्ध्वं हि दलिकनिषेकः। तथा चाह अबाधोना अबाधाकालपरिहीना अनुभवयोग्या कर्मस्थितिः किमुक्तं भवति कर्मनिषेकः। स चैवं प्रथमस्थितौ प्रभूतो द्वितीयस्थितौ विशेषहीन एवं विशेषहीनो विशेषहीनश्च तावद्वक्तव्यो यावत् स्थितिचरमसमयः। एतावता च यदुक्तमग्रायणीयाख्ये द्वितीये पूर्वकर्मप्रकृते प्राभृते बन्धविधाने स्थितिबन्धाधिकारे चत्वार्यनुयोगद्वाराणि तद्यथा स्थितिबन्धस्थानप्ररूपणा अबाधाकण्डकप्ररूपणा उत्कृष्टनिषेकप्ररूपणा अल्पबहुत्वप्ररूपणा चेति तत्रोत्कृष्टाबाधाकण्डकप्ररूपणा उत्कृष्टनिषेकप्ररूपणा च दर्शिता भवति। आबाधाकालपरिज्ञानीयश्चायं यस्य यावत्यः सागरोपमकोटीकोट्यस्तस्य तावन्ति वर्षशतान्याबाधा। यस्य पुनः सागरोपमकोटीकोट्यो मध्ये स्थितिस्तस्यायुर्वर्जस्यान्तर्मुहूर्तमायुषस्तु जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तमबाधा उत्कर्षतः पूर्वकोटीत्रिभागः। तत एवमबाधाकालं परिभाव्याबाधाविषयाणि स्वयं भावनीयानि।

तत्र निद्रापञ्चकविषयं सूत्रमाह–

निद्दापंचयस्स णं भंते ! कम्मस्स केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? गोयमा ! जहण्णेणं सागरोवमस्स तिन्नि सत्त भागा पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणता उक्कोसेणं तीसं सागरोवमकोडाकोडीओ तिन्नि वाससहस्साइं अवाहा अवाहूणि ता कम्मट्ठिई कम्मनिसेगो।

अत्र जघन्यतः त्रयः सागरोपमस्य सप्त भागाः पल्योपमासंख्येयभागोनाः। काऽत्र भावनेति चेदुच्यते पञ्चानां ज्ञानावरणप्रकृतीनां चतसृणां दर्शनावरणप्रकृतीनां चक्षुर्दर्शनादीनां संज्वलनलोभस्य पञ्चानामन्तरायप्रकृतीनां च जघन्या स्थितिरन्तर्मुहूर्तं सातवेदनीयस्य सकषायिकस्य द्वादश मुहूर्ताः। इतरस्य तु द्वौ प्रथमसमये बन्धो द्वितीयसमये वेदनं तृतीयसमये त्वकर्मी भवनमिति यशःकीर्त्युच्चैर्गोत्रयोरष्टौ मुहूर्ताः। पुरुषस्याष्टौ संवत्सराणि संज्वलनक्रोधस्य द्वौ मासौ संज्वलनमानस्यैको मासः संज्वलनमायाया अर्द्धमासः शेषाणां तु प्रकृतीनां या या स्वकीया स्थितिस्तस्या उत्कृष्टायाः सप्ततिसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणायामिथ्यात्वस्थित्या भागे हृते यल्लभ्यते तत्पल्योपमा संख्येयभागहीनं जघन्यस्थितिपरिमाणम्। तत्र निद्रापञ्चकस्योत्कृष्टा स्थितिस्त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यस्तासां मिथ्यात्वस्थित्या सप्ततिसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणया भागे ह्रियमाणे शून्यं शून्येन पातयेदिति वचनात् लब्धाश्चात्र ये सागरोपमस्य सप्त भागाः ते पल्योपमसंख्येयभागहीनाः क्रियन्ते ततो भवति यथोक्तं जघन्यस्थितिपरिमाणमिति॥

दर्शनचतुष्कस्य –

दंसणचउक्कस्स णं भंते ! पुच्छा गोयमा ! जहन्नेणं अंतो-मुहुत्तं उक्कोसेणं तीसं सागरोवमकोडीकोडीओ तिन्नि य वाससहस्सं अबाहा॥

वेदनीयस्य –

सातवेदणिज्जस्स इरियावहियबंधगं पडुच्च अज-हन्नमणुक्कोसेणं दो समया संपराइयबंधगं पडुच्च जहन्नेणं बारस मुहुत्ता उक्कोसेणं पन्नरस सागरोवमकोडाकोडी पन्नरस य वाससहस्साइं अबाहा। असातावेदणिज्जस्स जहन्नेणं सागरोवमस्स तिन्नि सत्त भागा पलिओवमस्स असंखेज्जइ-भागेण ऊणता उक्कोसेण तीसं सागरोवमकोडाकोडी तिन्नि वाससहस्साइं अबाहा। सम्मत्तवेदणिज्जस्स पुच्छा गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं छावट्ठिसागरोवमाइं सातिरेगाइं।

(सायावेयणिज्जस्स इति) ''इरियावहिबंधगं पडुच्च अजहन्नमणुक्कोसेणं दो समया संपराइबंधगं पडुच्च जहन्नेणं बारस मुहुत्ता'' इति प्रागेव भावितम्। असातवेदनीयस्य जघन्यास्त्रयः सप्त भागाः पल्योपमासंख्येयभागोना निद्रापञ्चकवद् भावनीया

स्तस्याप्युत्कर्षतः स्थितिः त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोटीप्रमाणत्वात्।

(२६) सम्यक्त्ववेदनीयस्य।

सम्मत्तवेदणिज्जस्स पुच्छा गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं छावट्ठिसागरोवमाइं सातिरेगाइं ॥

सम्यक्त्व वेदनीयस्य जघन्यतः स्थितिपरिमाणमन्तर्मुहूर्त-मुत्कर्षतः षट्षष्टिसागरोपमाणि सातिरेकाणि तद्वेदनमधिकृत्य वेदितव्यं न बन्धनमाश्रित्य सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वयोर्बन्धाभावात् मिथ्यात्वपुद्गला एव हि जीवेन सम्यक्त्वानुगुणविशोधिबलतस्त्रिधा क्रियन्ते तद्यथा सर्वविशुद्धा अर्द्धविशुद्धा अविशुद्धाश्च तत्र ये सर्वविशुद्धास्ते सम्यक्त्ववेदनीयव्यपदेशं लभन्ते येऽर्द्धविशुद्धास्ते सम्यग्मिथ्यात्ववेदनीयव्यपदेशमविशुद्धा मिथ्यात्ववेदनीयव्यपदशेमतो न तयोर्बन्धसंभवः। यदा तु तेषां सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वपुद्गलानां स्वरूपतः स्थितिश्चिन्त्यते तदाऽन्तर्मुहूर्तोना सप्ततिसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणा वेदितव्या। सा च तावता यथा भवति तथा कर्मप्रकृतिटीकायाः संक्रमणकरणे भणितमिति ततोऽवधार्यम्।

मिथ्यात्वस्य।

मिच्छत्तवेदणिज्जस्स जहन्नेणं सागरोवमं पलिओवमस्स असंखेज्जइ भागेण ऊणगं उक्कोसेणं सत्तरिकोडाकोडीओ सत्तवाससहस्साइं अबाहा ऊणिता छ सम्मामिच्छत्त-वेदणिज्जस्स जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं ॥

मिथ्यात्ववेदनीयस्य जघन्या स्थितिरेवं सागरोपमं पल्योपमासंख्येयभागोनमुत्कर्षतः तस्योत्कृष्टस्थितेः सप्ततिसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणत्वात् सम्यग्मिथ्यात्व वेदनीयस्य जघन्यत उत्कर्षतो वा अन्तर्मुहूर्तं वेदनापेक्षया पुद्गलानां त्ववस्थानमुत्कर्षतः प्रागेवोक्तम्।

कषायस्य।

कसायवारसगस्स जहन्नेणं सागरोवमस्स चत्तारि सत्तभागा पलिओवमस्स असंखेज्जइभागूणता उक्कोसेणं चत्तालीसं सागरोवमकोडाकोडीओ चत्तालीसं वाससयाइं अबाहा जाव निसेगो।

कषायद्वादशकस्यानन्तानुबन्धिचतुष्टयाप्रत्याख्यानचतुष्टयप्रत्याख्यानावरणचतुष्टयरूपस्य प्रत्येकं जघन्या स्थितिश्चत्वारः सागरोपमसप्तभागाः। पल्योमासंख्येयभागोना उत्कर्षतस्तेषां स्थितेः चत्वारिंशत्सागरोपमकोटीकोटीप्रमाणत्वात्।

कोहसंजलणे पुच्छा गोयमा ! जहन्नेणं दो मासा उक्कोसेणं चत्तालीसं सागरोवमकोडाकोडीओ चत्तालीसं वाससयाइं जाव निसेगो। माणसंजलणे पुच्छा गोयमा ! जहन्नणं मासं उक्कोसेणं जहा कोहस्स। मायासंजलणाए पुच्छा गोयमा ! जहन्नेणं अद्धमासं उक्कोसेणं जहा कोहस्स। लोभसंजलणेणं पुच्छा गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं जहा कोहस्स ॥

संज्वलनाना च जघन्या स्थितिर्मासद्वयादिप्रमाणा क्षपकस्य स्वबन्धचरमसमयेऽवसातव्या।

इत्थीवेदस्स पुच्छा गोयमा ! जहन्नेणं सागरोवमस्स दिवड्ढसत्तभागं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणत्तं उक्कोसेण पन्नरस सागरोवमकोडाकोडीओ पन्नरसवाससयाइं अवाहा। पुरिसवेदस्स णं पुच्छा गोयमा ! जहन्नेणं अट्ठ संवच्छराइं उक्कोसेणं दससागरोवमकोडाकोडीओ दस य वाससयाइं अवाहा जाव निसेगो। नपुंसगवेदस्स णं पुच्छा गोयमा ! जहन्नेणं सागरोवमस्स दोन्नि सत्तभागा पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणं उक्कोसेणं वीसं सागरोवमकोडाकोडीओ वीस य वाससयाइं अवाहा ॥

स्त्रीवेदस्य जघन्या स्थितिर्द्वार्द्धसागरोपमस्य सप्त भागाः पल्योपमासंख्येयभागोनाः कथमिति चेदुच्यते त्रैराशिककरणवशात् तथा हि यदि दशानां सागरोपमकोटीकोटीनामेकः सागरोपमः सप्त भागाः लभ्यन्ते ततः पञ्चदशभिःसागरोपकोटाकोटीभिः किं लभ्यते राशित्रयस्थापना ॥१०।१।१५॥ अत्रान्त्येन राशिना पञ्चदशलक्षणेन मध्यो राशिरेकलक्षणो गुण्यते जाताः पञ्चदशैव एकस्य गुणने तदेव भवतीति वचनात् तेषामाद्येन राशिना दशकलक्षणेन भागहरणं लब्धाः सार्द्धाः सप्त भागाः इति।

हासरतीणं पुच्छा गोयमा ! जहन्नेणं सागरोवमस्स एक्कं सत्तभागं पलिओवमस्स असंखेज्जइ भागेणं ऊणं उक्कोसेणं दससागरोवमकोडाकोडीओ दस य वाससयाइं अवाहा अरतिभयसोगदुगुंछाणं पुच्छा गोयमा ! जहन्नं सागरोवमस्स दोन्नि सत्तभागा पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणता उक्कोसेणं वीससागरोवमकोडाकोडीओ वीसयवाससयाइं अवाहा ॥

(हासरइभयसोयदुगंछाणं जहन्नुक्कोसठिई भाणियव्वा इति) हास्यरिभयशोकजुगुप्सानां जघन्योत्कृष्टा च स्थितिर्वक्तव्या सा च सुप्रसिद्धत्वान्नोक्ता कथं वक्तव्येति चेदुच्यते। ''हासरईणं पुच्छा गोयमा ! जहन्नेणं एगो सागरोवमस्स सत्तभागो पलिओवमस्स असंखेज्जभागेण ऊणो उक्कोसेणं दससागरोवमकोडाकोडीओ दसवाससयाइं अवाहा जाव निसेगो इति'' ज्ञेयमिति।

आयुषः।

नेरइयाउयस्स णं पुच्छा गोयमा ! जहन्नेणं दसवास-सहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं तित्तीणं सागरोवमाइं पुव्वकोडितिभागमब्भहियाइं। तिरियाउयस्स पुच्छा गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं तिन्नि पलिओवमाइं पुव्वकोडीतिभागमब्भहियाइं एवं मणुस्साउयस्स वि देवाउयस्स जहा नेरइयाउयस्स ठितित्ति।

तिर्यगायुषि मनुष्यायुषि च त्रीणि पल्योपमानि पूर्वकोटीत्रिभागाभ्यधिकानि यदुक्तं तत्पूर्वकोट्यायुषस्तिर्यग्मनुष्यानुबन्धिकानधिकृत्य वेदितव्यम्। अन्यत्रैतावत्याः स्थितेः पूर्वकोटित्रिभागरूपाया अबाधायाश्चालभ्यमानत्वात् प्रज्ञा० २३ पद। प्रव०।

नामकर्मणः पुच्छा।

निरयगतिनामएणं भंते ! कम्मस्स पुच्छा गोयमा ! जहन्नेणं सागरोवमसहस्स दो सत्तभामा पलिओवमस्स

असंखेज्जइभागेणं ऊणता उक्कोसेणं वीसं सागरोवमकोडाकोडीओ वीसयवाससयाइं अवाहा तिरियगतिनामाए जहा नपुंसगवेदस्स। मणुयगतिनामाए पुच्छा गोयमा! जहन्नेणं सागरोवमस्स दिवड्ढं सत्तभागं पलिओवमस्स असंखेज्जभागऊणगं उक्कोसेणं पन्नरससागरोवमकोडाकोडीओ पन्नरसवाससयाइं अवाहा देवगतिनामाए पुच्छा गोयमा! जहन्नेणं सागरोवमसहस्सएणं सत्तभागपलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणइं उक्कोसेणं जहा पुरिसवेदस्स।

''तिरियगइनामाए जहा नपुंसकवेयस्स'' इति जघन्यतो द्वौ सागरोपमस्य सप्तभागौ पल्योपमासंख्येयभागहीनौ उत्कर्षतो विंशति सागरोपमकोटीकाट्य इत्यर्थः। मनुष्यगतिनाम्नी। ''जहन्नेणं सागरोवमस्स दिवड्ढसत्तसागं पलिओवमस्स असंखेज्जभागेण ऊणगं ति'' अत्र भावना स्त्रीवेदवद्भावनीया ''दिवड्ढसत्तभागमि'' त्यादौ तु नपुंसकनिर्देशः प्राकृतत्वात् नरकगतिनाम्नो जघन्यतः सागरोपमसहस्रस्य द्वौ सप्तभागौ किमुक्तं भवति सागरोपमस्य द्वौ सप्तभागौ सहस्रगुणितौ चेति तदुत्कृष्टस्थिते र्विंशतिसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणत्वात् तद्बन्धस्य च सर्वजघन्यस्यासंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य भावात्। असंज्ञिपञ्चेन्द्रियकर्मबन्धस्य च जघन्यस्य च असमर्थो वैक्रियकचिन्तायां देवगतिनाम्नो जघन्यतः सागरोपमसहस्रैकः सप्तभागः एकसागरो-पमस्य सप्तभागसहस्रगुणित इति भावः। तस्य हि उत्कृष्टा स्थितिर्दश-सागरोपमकोटीकोटयः ततः प्रागुक्तकारणवशादेव सागरोपमस्य सप्तभागो लब्धः बन्धोऽपि चास्य जघन्योऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्येति सहस्रगुणितः। देवगतिनामसूत्रे ''उक्कोसेणं जहा पुरिसस्स वेयस्स इति'' ''दससागरोपमकोडाकोडीओ दसवाससयाइं अवाहा अवाडूणिया कम्मठिई कम्मनिसेगो इति'' वक्तव्यमिति भावः।

जातिनाम्नः।

एगिंदियजातिनामाए पुच्छा? गोयमा! जहन्नेणं सागरोवमस्स दोण्णि सत्तभागा पलिओवमस्स असंखेज्ज-इभागेणं ऊणगा उक्कोसेणं वीसं सागरोवमकोडाकोडीओ वीसयवाससयाइं अवाहा। वेइंदियजातिनामाए पुच्छा? गोयमा! जहन्नेणं सागरोवमस्स नवपणतीसइभागा पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणता उक्कोसेणं अट्ठारस-सागरोवमको-डाकोडीओ अट्ठारसवाससयाइं अवाहा। तेइंदियजातिनामाएणं जहन्नेणं एवं चेव उक्कोसेणं अट्ठारससागरोवमकोडाकोडीओ अट्ठारसवास-सयाइं अवाहा। चउरिंदियजातिनामाए पुच्छा? गोयमा! जहन्नेणं सागरोवमस्स नवपणतीसतिभागा पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणतां उक्कोसेणं अट्ठारससा-गरोवमकोडा-कोडीओ अट्ठारसवाससयाइं अवाहा। पंचिंदियजातिनामाए पुच्छा? गोयमा! जहन्नेणं सागरोवमस्स दोण्णि सत्तभागा पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणता उक्कोसेणं वीसं सागरोवमकोडाकोडीओ वीसयवाससयाइं अवाहा। ओरालियसरीरा वि एवं चेव।

द्वीन्द्रियजातिनामसूत्रे ''जहन्नेणं सागरोवमस्स नवपणवीसइभागा पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणता इति'' द्वीन्द्रियादिनाम्नो ह्युत्कृष्टा स्थितिरष्टादशसागरोपमकोटाकोटयः ''अट्ठारससुहुम-विगलतिगे'' इति वचनात्। ततोऽष्टादशानां सागरोपमकोटाकोटीनां मिथ्यात्वस्योत्कृष्टया स्थित्या सप्ततिसागरोपमकोटाकोटीप्रमाणाया भागो ह्रियते भागश्च न पूर्यते ततः शून्यं शून्येन पात्यते जाता उपरि अष्टादशाधस्तात् सप्ततिस्तयोरूर्द्धेनापवर्तनाल्लब्धा नवपञ्चत्रिंशद्भा-गास्ते पल्योपमासंख्येयभागोनाः क्रियन्ते आगतं सूत्रोक्तं परिमाणमिति। एवं त्रिचतुरिन्द्रियनामसूत्रे अपि भावनीये।

वेउव्वियसरीरनामाएणं भंते! पुच्छा? जहन्नेणं सागरोवम-सहस्स दो सत्तभागा पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणता उक्कोसेणं वीसं सागरोवमकोडाकोडीओ वीसयवाससयसयाइं अवाहा। आहारगसरीरनामाए जहन्नेणं अंतो सागरोवमकोडा-कोडीओ उक्कोसेणं अंतोसागरोवमकोडाकोडीए तेआकम्मग-सरीरनामाए। जहन्नेणं दोण्णि सत्तभागा पलिओवमस्स असंखेज्जइ भागेणं ऊणता उक्कोसेणं वीसं सागरोवमकोडा-कोडीओ वीसयवाससयाइं अवाहा। सरीरबंधणनामाए वि पंचण्ह वि एंव चेव सरीरसंघातनामाए वि पंचण्ह वि जहा सरीरनामाए कम्मस्स ठितित्ति।

वैक्रियनामसूत्रे ''जहन्नेणं सागरोवमसहस्स दो सत्तभागा पलिओव-मस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणता इति'' इह वैक्रियशरीरनाम्न उत्कृष्टा विंशतिसागरोपमकोटीकोट्यः स्थितिस्ततः प्रागुक्तकरणवशेन जघन्यस्थितिचिन्तायां तस्या द्वौ सागरोपमस्य सप्तभागौ लभ्येते परं वैक्रियषट्कमेकेन्द्रिया विकलेन्द्रियाश्च न बध्नन्ति किंत्वसंज्ञिप-ञ्चेन्द्रियास्ततो जघन्यतोऽपि बन्धं कुर्वाणा एकेन्द्रियबन्धापेक्षया सहस्रगुणं कुर्वन्ति ''पणवीसा पन्नासा सयं सहस्सं च गुणकारो'' इतिवचनात्। ततो यौ द्वौ सागरोपमस्य सप्तभोगौ प्रागुक्तकरणवशाल्ल-ब्धौ तौ सहस्रेण गुण्यन्ते ततः सूत्रोक्तं परिमाणं भवति सागरोपमस्य द्वौ सहस्रौ सप्तभागानां सागरोपमसहस्रस्य द्वौ सप्तभागाविति हृदयम्। आहरकशरीरनाम्नो जघन्योऽप्यन्तःसागरोपमकोटाकोटी उत्कर्षतोऽ-प्यन्तःसागरोपमकोटाकोटी नवरं जघन्यादुत्कृष्टं संख्येयगुणं द्रष्टव्यम्। अन्ये त्वाहारकचतुष्कस्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तमिच्छन्ति तद्ग्रन्थः ''पुव्वेय अट्ठवासा, अट्ठ मुहुत्ता जसुच्च गोयाणं। साए वारस आहारवग्गपवरनाण किंचूणं'' ॥१॥ (अत्र किंचूणमिति) अन्तर्मुहूर्तमित्यर्थः। तदत्र तत्त्वं केवलिनो विदन्ति। यथा च शरीरपञ्चकस्य जघन्यत उत्कर्षतश्च स्थितिपरिमाणमुक्तं तेनैव क्रमेण शरीरबन्धनपञ्चकस्य शरीरसंघात-पञ्चकस्य वक्तव्यं तथाचाह। ''सरीरबंधनामाए वि पंचण्ह वि इति''।

वइरोसभनारायसंघयणनामाए जहा रतिनामाए। उसभ-नारायसंघयणनामाए जहन्नेणं सागरोपमस्स छप्पण्णती-सइभागा पलिओवमस्स असंखेज्जभागेणं ऊणता उक्कोसेणं वारससागरोवमकोडाकोडीओ वारस वाससयाइं

बाहा । नारायसंघयणनामाए जहन्नेणं सागरोवमस्स सत्तपणतीसइभागा पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणता उक्कोसेणं चोद्दससागरोपमकोडाकोडीओ चोद्दसवाययाइं अबाहा। अद्धनारायसंघयणनामस्स जहन्नेणं सागरोवमस्स अट्ठपणतीसइभागा पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणता उक्कोसेणं सोलससागरोवमकोडोकडीओ सोलसवाससयाइं अबाहा । कीलियासंघयणेणं पुच्छा ? गोयमा ! जहन्नेणं सागरोवमस्स नवपणतीसइभागा पलिओवमस्स असंखेज्ज-इभागेणं ऊणता उक्कोसेणं उट्ठारससागरोवमकोडाकोडीओ अट्ठारसवाससगाइं अबाहा । छेवट्ठसंघयणनामस्स जहन्नेणं सागरोवमस्स दोण्णि सत्त भागा पलिओवमस्स असंखेज्जभागेणं ऊणता उक्कोसेणं वीसं सागरो वमको-माकोडीओ वीसयवाससयाइं अबाहा। एवं जहासंघ-यणनामाए (छ) भणिया एवं छ संठाण वि भाणियव्वा।

(वइरोसभनारायसंघयमनामाए जहा रइनामाए इति) वज्रर्षभनाराच-संहननाम्नो यथा प्राक् रतिनाम्नो मोहनीयस्योक्तं तथा वक्तव्यम्। ''वइरोसहनारायंघयणनाभाए भंते ! कम्मस्स केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता गौतम ! जहन्नेणं एक्कं सत्तभागपलिओवमस्स असंखेज्जइ भागेणं ऊणं उक्कोसेणं दससागरोवमकोमाकोमीओ इति ''ऋषभनाराचसूत्रम् ''सागरो-वमस्स छप्पन्नतीसभागा पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेण ऊणता इति'' ऋषभनाराचसंहननस्य ह्युत्कृष्टा स्थितिर्द्वादशसाग-रोपमकोटी कोट्यः तासां मिथ्यात्वस्थित्या सप्तसिसागरोपम-कोटीकोटीप्रमाणया भागो ह्रियते तत्र भागहारासंभवात् शून्यं शून्येन पातयित्वा छेद्यछेदकराश्योरर्द्धनापवर्तनाल्लब्धाः सागरोपमस्य षट् पञ्चत्रिंशद्भागाः पल्योपमासंख्येयभागहीनाः क्रियन्ते एवं नाराचसंहनन-नाम्नो जघन्यस्थितिचिन्तायां सप्त पञ्चत्रिंशद्भागाः पल्योपमासंख्येय-भागहीना उत्कृष्टा स्थितिश्चतुर्दशसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणत्वात्। अर्द्धनाराचसंहननाम्नोऽष्टौ पञ्चत्रिंशद्भागाः पल्योपमासंख्येयभागोना उत्कृष्टा स्थितिः षोडशसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणत्वात्। कीलिका-संहननाम्नो नव पञ्चत्रिंशद्भागाः पल्योपमासंख्येयभागहीनाः उत्कृष्टस्थितेरष्टादशसागरोपमकोटाकोटीप्रमाणत्वात् परिभावनीयाः। सेवार्तसंहननसूत्रं तु सुगमम्। यथा संहननषट्कस्य स्थितिपरिमाणमुक्तं तेनैव क्रमेण संस्थानषट्कस्यापि वक्तव्यं तथा चाह। ''एवं जहा सरघंयणनामा छ भणिया एवं संठाणा छ भाणियव्वा॰'' उक्तश्चाय-मर्थोन्यत्रापि'' संघयणे संठाणे, पढमे दस उवरिमेसु दुगवुड्ढी इति''

वर्णनामपृच्छा।

सुक्किवन्ननामाए पुच्छा ? गोयमा ! जहन्नेणं सागरोवमस्स एगं सत्तभागं पलिओवमस्स असंखेज्जभागं ऊणगं उक्कोसेणं दससागरोवमकीडाकोडीओ दसवाससयाइं अबाहा। हालिद्दवन्नमामाए पुच्छा ? गोयमा ! जहन्नेणं सागरोवमस्स पंच उट्ठावीसइभागा पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणता उक्कोसेणं अद्धतेरससागरोवमकोडाकोडीओ अद्धते रसवाससयाइं अबाहा। लोहियवन्ननामाए पुच्छा ? गोयमा ! जहन्नेणं सागरोवमस्स छ अट्ठावीसइभागा पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणता उक्केसेणं पन्नरससागरोवमकोडा कोडीओ पन्नरसवीयसयाइं अबाहा। नीलवन्ननामाए पुच्छा ? गोयमा ! जहन्नेणं सागरोवमस्स सत्त अट्ठावीसइभागा पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणता उक्कोसेणं उद्धट्ठारस-सागरोवमकोडाकोडीओ अद्धट्ठारसवाससयाइं अबाहा। कालवन्ननामाए जहा छेवट्ठ संघयणस्स॥

हारिद्रवर्णनामसूत्रे ''जहन्नेणं सागरोवमस्स पंच अट्ठवीसइभागा पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणगा'' इति हारिद्रवर्णनाम्नो हि साद्धं द्वादश सागरोपमकोटीकोटयः तथाचोक्तमन्यत्रापि। ''सुक्किल्लसुरभिमहुराण दस उ तहा सुभगउण्हफासाणं। अट्ठाइज्जपवुड्ढा अंविल्लहालिद्दपुव्वाणं'' तासां मिथ्यात्वस्थित्या सप्ततिसागरोपम-कोटीकोटीप्रमाणो भागो ह्रियते तत्र शून्येन पातना तेनोपरितनो राशिः सांशः इति सामस्त्येन चतुर्भागकरणार्थं चतुर्भिर्गुण्यते जाता पञ्चाशत् अधस्तनोऽपि सप्तलिक्षणश्छेदराशिः चतुर्भिर्गुण्यते जाते द्वे शते अशीत्यधिके ततो भूयोऽपि शून्येन पातनाल्लब्धाः पञ्च अष्टाविंशति भागाः ते पल्योपमासंख्येयभागहीनाः क्रियन्ते। आगतं सूत्रक्तं परिमाणम्। अनेनैव गणितक्रमेण लोहितवर्णनाम्नौ जघन्यस्थितिः षट् अष्टाविंश-तिभागाः पल्योपमासंख्येयभागाहीनाः उत्कर्षतस्तस्य स्थितेः पञ्चदशसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणत्वात्। नीलवर्णनाम्नः सप्ताष्टाविंश-तिभागाः पल्योपमासंख्येयभागहीनाः उत्कर्षतस्तस्य स्थितेः सार्द्धसप्तदशसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणत्वात् परिभावनीयाः ''कालव-र्णनामाए जहा छेवट्ठसंघयणस्सत्ति'' सेवार्तसंहननस्येव जघन्यतो द्वौ सागरोपमस्य सप्तभागौ पल्योपमासंख्येयभागहीनौ उत्कर्षतो विंशतिसागरोपभकोटीकोयः कृष्णवर्णनाम्नोऽपि वक्तव्या इति भावः।

सुल्भिगंधनामाए जहा सुक्किल्लवन्ननामस्स दुब्भिगंधनामाए जहा छेवट्ठसंघयणस्स॥

सुरभिनन्वनाम्नः शुक्लवर्णनाम्नः इव ''सुक्किल्लसुरभिमदुराण दसउ'' इति वचनात् सुरभिगन्धनाम्नो यश्च सेवार्त्तसंहननस्य तद्यानन्तरमेवोक्तमिति न पुनरुच्यते।

रसाणं महुरादीणं जहा वन्नाणं भणियं तहेवपरिवाडीए भाणियव्वं फासा जे अपसत्था तेसिं जहा छेवट्ठस्स, जे पसत्था तेसिं जहा सुक्किल्लवन्ननामस्स, अगुरुलहुनामाए जहा छेवट्ठस्स एवं उवघातनामाए दि एवं चेव॥

रसानां मधुरादीनां परिपाट्या क्रमेण तथा वक्तव्यं यथा वर्णानामुक्तं तद्यैवं मधुररसनाम्नो जघन्यस्थितिरेकः सागरोपमस्य सप्तभागः पल्योपमा-संख्येयभागहीन उत्कर्षतो दशसागरोपमकोटीकोट्यो दशवर्षशतान्याबाधा अबाधा कालहीना कर्मदलिकनिषेकः अम्लरसनाम्नो जघन्यतः पञ्च सागरोपमस्याष्टाविंशतिभागाः पल्योपमासंख्येयभागहीनाः उत्कर्षतोऽ-र्द्धत्रयोदशसागरोपमकोटीकोटयः तं च दशवर्षशतान्याबाधा कटुकरस

नाम्तो जघन्यतः सागरोपमस्य सप्ताष्टाविंशतिभागाः पल्योपमासंख्येयभागहीनाः उत्कर्षतः सार्द्धाः सप्तदशसागरोपमकोटीकोटयः सार्द्धसप्तदशशतान्याबाधा। तिक्तरसनाम्नो जघन्यतः सागरोपमस्य द्वौ सप्तभागो पल्योपमासंख्येयभागहीनौ उत्कर्षतो विंशतिवर्षशतान्याबाधा अबाधाकालहीना कर्मदलिकनिषेः इति। स्पर्शा द्विविधास्तद्यथ प्रशस्ता अप्रशस्ताश्च। प्रशस्ता मृदुलघुस्निग्धोष्णरूपा अप्रशस्ताः कर्कशगु रुरूक्षशीतरूपाः। प्रशस्तानां जघन्यतः स्थितिरेकः सागरोपमस्य सप्तभागः पल्योपमासंख्येयभागहीन उत्कर्षतो दशसागरोपमकोटाकोटयो दर्शवर्षशतान्याबाधा अबाधाकालहीना कर्मस्थितिः कर्मदलिकनिषेकः। अप्रशस्तानां जघन्यतो द्वौ सागरोपस्य सप्तभागो पल्योपमासंख्येयभागहीनौ उत्कर्षतो विंशतिसागरोपमकोटीकोटयो विंशतिवर्षशतान्याबाधाकालोना कर्मस्थितिः कर्मदलिकनिषेकः। तथाचाह ''फासा जे अप्पसत्था तेसिं जहा सेवट्टस्स जे पसत्था तेसिं जहा सुक्किल्लवन्ननामस्सेति''॥

निरयाणुपुव्वीनामाए पुच्छा ? गोयमा ! जहन्नेणं सागरोवमस्स दो सत्तभागा, पलिओवमस्स असंखेज्जभागऊणया उक्कोसेणं वीसं सागरोवमकोडाकोडीओ वीसयवाससयाइं अबाहा। तिरियाणुपुव्वीए पुच्छा ? गोयमा ! जहन्नेणं सागरोवमस्स दो सत्तभागा पलिओवमस्स असंखेज्जभागेणं ऊणता उक्कोसेणं वीसं सागरोवमकोडाकोडीओ वीसयवाससयाइं अबाहा। मणुयाणुपुव्वीए पुच्छा ? गोयमा ! जहन्नेणं सागरोवमस्स दिवड्ढं सत्तभागं पलिओवमस्स असंखेज्जभागेणं ऊणगं उक्कोसेणं पन्नरससागरोवमकोडोकोडीओ पन्नरस य वाससयाइं अबाहा। देवाणुपुव्वीए पुच्छा ? गोयमा ! जहन्नेणं सागरोवमसहस्सएणं सत्तभागं पलिओवमस्स असंखेज्जभागेणं ऊणगं उक्कोसेणं दससागरोवमकोडोकोडीओ दस य वाससयाइं अबाहा॥

नरकनुपूर्वीनाम्नो जघन्यतः सागरोपमसहस्रस्य द्वौ सप्तभागौ द्वौ सागरोपमस्य सप्तभागौ सहस्रगुणिताविति भावः। भावना नरकगतिवद्भावयितव्या। मनुष्यानुपूर्वीनामसूत्रे ''जहन्नेण सागरोबमस्स दिवड्ढं सत्तभागं पलिओवमस्स असंखेज्जभागेणं ऊणगंति'' तदुत्कृष्टस्थितिं पञ्चदशसागरोपमकोटीकोटिप्रमाणत्वात्। उक्तञ्चान्यत्रापि ''तीसं कोडाकोडी असाधआवरण अंतरायाणं। मिच्छेसयरी इत्थी मणदुगसयागुपन्नरस'' देवानुपूर्वी नाम्नोऽपि जघन्यत एकसागरोपमस्य सप्तभागा सहस्रगुणितः पल्योपमासंख्येयभागहीनाः उत्कर्षतो हि तत्स्थितिर्दशसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणत्वात्। तथाचोक्तम् ''पुंहासरई उच्चे, सुभखगइत्थिराइछक्कदेवदुगे। दस सेसाणं वीसा, एवइयाबाहा-वामस्या'' बन्धश्चास्य जघन्यतोसंज्ञिपञ्चेन्द्रियेषु इति।

उस्सासनामाए पुच्छा गोयमा ! जहा तिरियाणुपुव्वीए आयवनामाए वि एवं चेव उज्जोयनामाए वि। पसत्थविहायोगतिनामाए पुच्छा ? गोयमा ! जहन्नं सागरोवमस्स एवं सत्तभागं उक्कोसेणं दससागरोवमकोडाकोडीओ दस य वाससयाइं अबाहा। अप्पसत्थविहायोगतिनामस्स पुच्छा ? गोयमा ! जहन्नं सागरोवमस्स दोण्णि सत्तभावा पलओवमस्स असंखेज्जभागेणं ऊणता उक्कोसेणं वीसं सागरोवमकोडाकोडीओ वीस य वाससयाइं अबाहा। तसनामाए थावडनामाए य एवं चेव। सुहुमनामाए पुच्छा ? गोयमा ! जहन्नेणं सागरोवमस्स नवपणतीसइभागा पलिओएमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणता उक्कोसेणं अट्ठारससागरोवमकामाकोडीओ अट्ठारसवाससयाइं अबाहा। बादरनामाए जहा अप्पसत्थविहायोगतिनामस्स। एवं पज्जत्तनामाए वि। अपज्जत्तनामाए जहा सुहुमनामस्स पत्तेगसरीरनामाए वि दो सत्तभागा साहारणसरीरनामाए जहा सुहुमस्स। थिरनामाए एगं सत्तभागं अथिरनामाए दो सुभनामाए एगो असुभनामाए दो सुभगनामाए एगो दुब्भगनामाए दो सुस्सरनामाए एगो दुस्सरनामाए दो आदेज्जनामाए एगो अनादेज्जनामाए दो जसोकित्तीनामाए जहन्नेणं अट्ठ मुहुत्ता उक्कोसेणं दससागरोवमकोडाकोडीओ दसवाससयाइं अबाहा। अजसोअकित्तिनामाए जहा अप्पसत्थविहायोगतिनामस्स एवं निम्माणनामाए वि। तित्थगरनामाए पुच्छा ? गोयमा ! जहन्नं अंतोसागरोवमकोडाकोडीए उक्कोसेणं वि अंतोसागरोवडकोडाकोडीए एवं जत्थ एगो सत्तभागो तत्थ उक्कोसेणं दस सागरोवमकोडाकोडीओ दस वाससयाइं अबाहा। जत्थ दो सत्तभागा तत्थ वीसं उक्कोसेणं सागरोवडकोडाकोडीओ वीस य वाससयाइं अबाहा॥

तथा सूक्ष्मा नाम सूत्रे जघन्यतो नवसागरोपमस्य पञ्चत्रिंशद्भागाः पल्योपमासंख्येयभागहीना द्वीन्द्रियजातिनाम्न इव भावनीयाः। सूक्ष्मनाम्नो ह्युत्कर्षतः स्थितेरष्ट्रादशसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणत्वात्। ''अट्ठारस सुहुमविगलति'' इति वचनात् एवमपर्याप्तसाधारणनाम्नोरपि भावनीयम्। बादरपर्याप्तप्रत्येकनाम्नां तु जघन्यतो द्वौ सागरोपमस्य सप्तभागो पल्योपमासंख्येयभागहीनौ उत्कर्षतो विंशतिसागरोपमकोटीकोटयस्तथा ''बायरनामाए जहा अप्पसत्थविहायोगइ-नामाए एवं पज्जत्तनामाए वि इत्यादि'' स्थिरशुभगसुस्वरादेयरूपाणां पञ्चानां नाम्नां जघन्यतः स्थितिरेकः सागरोपमस्य सप्त भागाः पल्योपमासंख्येयभागोना। यशःकीर्तिनाम्नस्तु जघन्यतोऽष्टौ मुहूर्त्ताः ''अट्ठमुहुत्ता जसुच्चगोय'' मिति वचनात् उत्कृष्टाः पुनः षण्णामपि दशसागरोपमकोटीकोयय ''थिराइछक्कदेवदुगे'' इति वचनात्। अस्थिराशुभदुर्भगदुःस्वरानादेययशःकीर्त्तिनाम्नां तु जघन्यतो द्वौ सागरोपमस्य सप्तभागौ पल्योपमासंख्येयभागहीनौ उत्कर्षतो विंशतिसागरोपमकोटीकोटयः एवं निर्माणनाम्नोऽपि वक्तव्यं तीर्थकरनाम्नो जघन्यतोऽप्यन्तः सागरोपमकोटीकोटी उत्कर्षतोऽप्यन्तःसागरोपमकोटीकोटी। ननु यदि जघन्यतोऽपि तीर्थकरनाम्नोऽन्तःसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणा स्थितिस्तर्हि तावत्यः स्थितेस्तिर्यग्भवभ्रमणमन्तरेण पूरयितुमशक्यत्वात् कियन्तं कालं तीर्थकरनामसत्कर्माऽपि तिर्यग् भवेत्। स चागमे निषिद्धस्तथा चोक्तम्॥ ''तिरिएसु नत्थि

तित्थयरनामसंतंतिदेसियसमए । कहयतिरिओ न होही, अथ सागरोवमकोडीकोडीए'' इति ततः कयमेतदिति चेदुच्यते इह यन्निकाचिते तीर्थकरनामकर्म न तत्तिर्यग्गतौ, सत्तायां निषिद्धं यत्पुनरुद्धर्त्तनापवर्त्तनासाध्यं तद्भवदपि तिर्यग्गतौ न विरोधमास्कन्दति यथाचोक्तम् ''जमिह निकाश्यतित्थतिरियभवेन निसेहियं संतं। इयरम्मि नत्थि दोसा, उव्वट्टसावट्टणा सेसे'' ॥१॥ इति।

उच्चागोयस्स पुच्छा, ? गोयमा ! जहन्नेणं अट्ठ मुहुत्ता उक्कोसेणं दसागरोवमकोडाकोडीओ दसवाससयाइं अबाहा। नीयागोयस्स पुच्छा ? गोयमा ! जहा अप्पसत्थविहायोगनितनामस्स । अंतराइएणं पुच्छा ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं तीसं सागरोवमकोडाकोडीओ तिन्नि य वाससहस्साइं अबाहा अबाहूणिया ॥

गोत्रान्तरायसूत्राणि सुप्रतीतानि नवरम् ''अन्तराइयस्स णं पुच्छा इति''। पञ्चप्रकारस्यापीति वाक्यशेषः। निर्वचनमपि पञ्चप्रकारस्यापि द्रष्टव्यं तदेवमुक्त ज घन्यत उत्कृष्टतश्च सामान्यतः सर्वासां प्रकृतीनां स्थितिपरिमाणम्।

साम्प्रतमेकेन्द्रियानधिकृत्य तासां तदभित्सुराह।

एगिंदियाणं भंते ! जीवा नाणावरणिज्जस्स कम्मस्स किं बंधइ ? गोयमा ! जहन्नेणं सागरोवमस्स तिन्न सत्तभागे पलिओवमस्स असंखेज्जभागेणं ऊणए उक्कोसेणं ते चेव पडिपुण्णे बंधंति। एवं निद्दापंचगस्स वि दंसणचउक्कस्स वि

''पगिंदियाणं भंते ! जीवाणं नाणावरणिज्जस्स किं बंधंति'' इत्यादि॥ अत्रेयं भावना यस्य कर्मणो या या उत्कृष्टा स्थितिः प्रागभिहिता तस्यास्तस्या मिथ्यात्वस्थित्वा सप्ततिसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणया भागे हृते यल्लभ्यते तत्पल्योपमासंख्येयभागहीना जघन्या स्थितिः। सैव पल्योपमासंख्येयभागरहिता। उत्कृष्टेति तदेतत् परिभाव्य सकलमप्येकेन्द्रियगतं सूत्रं स्वयं परिभावनीयम्। तथापि विनेयजनानुग्रहाय किंचिल्लिख्यते। ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणनवकासातवेदनीयान्तरायपञ्चकानां जघन्यत एकेन्द्रियाणां स्थितिबन्धस्त्रयः सागरोपमस्य सप्त भागाः पल्योपमासंख्यभागहीना उत्कृष्टतस्त एवं परिपूर्णास्त्रयः सागरोमस्य सप्त भागाः॥

एगिंदियाणं भंते ! जीवा सायावेयणिज्जस्स कम्मस्स किं बंधंति ? गोयमा ! जहन्नं सागरोवमस्स दिवड्ढं सत्तभागं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागं ऊणयं उक्कोसेणं तं चेव पडिपुण्णं बंधंति। असायावेदणिज्जस्स जहा नाणावरणिज्जस्स एगिंदियाणं भंते ! जीवा सम्मत्तवेयणिज्जस्स कम्मस्स किं बंधंति ? गोयमा ! णत्थि किंचि बंधंति। एगिंदियाणं भंते ! जीवा मिच्छत्तवेयणिज्जस्स कम्मस्स किं बंधंति ? गोयमा ! जहन्नेणं सागरोवमं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणं उक्कोसेणं तं चेव पडिपुन्नं बंधंति। एगिंदियाणं भंते ! जीवा सम्मामिच्छत्तवेयणिज्जस्स किं बंधंति ? गोयमा ! नत्थि किंचि बंधंति॥

सातावेदनीयस्त्रीवेदमनुष्यानुपूर्वी जघन्यतः सार्द्धसागरोपमस्य सप्तभागः स्त्योपमासंख्येयभागहीन उत्कर्षतः स एव सार्द्धसप्तभागः परिपूर्णः मिथ्यात्वस्य जघन्यत एकं सागरोपमं पल्योपमासंख्येयभागहीनमुत्कर्षतस्तदेव परिपूर्णः। सम्यक्त्ववेदनीयस्य सम्यग्मिथ्यात्ववेदनीयस्य च नहि किंचिदपि बध्नन्ति न किंचिदपि वेदमानतयाऽऽत्मप्रदेशैः सह बन्धयन्तीति भावः। एकेन्द्रियाणां सम्यक्त्ववेदनस्य सम्यग्मिथ्यात्ववेदनस्य चासम्भवात् यस्तु साक्षाद् बन्धः सम्यग्मिथ्यात्वयोर्न घटत एवेति प्रागेवाभिहितम्।

एगिंदियाणं कसायवारसगस्स किं बंधंति ? गोयमा ! जहन्नेणं सागरोवमस्स चत्तारि सत्तभागे पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणए उक्कोसेणं तं चेव पडिपुण्णं बंधंति एवं कोहसंजलणाए वि जाव लोहसंजलणाए वि। इत्थीवेदस्स जहा सातावेदणिज्जस्स एगिंदिया पुरिसवेदस्स जहन्नं सागरोवमस्स एगं सत्तभागं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणयं उक्कोसेणं तं चेव पडिपुन्नं बंधंति। एगिंदिया नपुंस-गवेदस्स जहन्नं सागरोवमस्स दो सत्तभागे पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणए उक्कोसेणं ते चेव पडिपुन्नं बंधंति। हासरती जहा पुरिसवेदस्स अरतिभयसोगदुगुंछा जहा नपुंसगवेदस्स॥

कषायषोडशकस्य जघन्यतश्चत्वारः सागरोपडस्य सप्तभागाः पल्योपमासंख्येयभागहीना उत्कर्षतस्त एव परिपूर्णाः। पुरुषवेदहास्यरतिप्रशस्तविहायोगतिस्थिरादिषट्कप्रथमसंस्थानप्रथमसंहननशुक्लवर्णसुरभिगन्धमधुररसोचैर्गोत्राणां जघन्यत एकं सागरोपमस्य सप्तभागाः पल्योपमसंख्येयभागहीनः उत्कर्षतः स एव परिपूर्णः द्वितीयसंस्थानसंहननयोर्जघन्यतः षट् पञ्चत्रिंशद्भागाः पल्योपमासंख्येयभागहीनाः सप्तसागरोपमस्य पञ्चत्रिंशद्भागाः पल्योपमासंख्येयभागहीनाः उत्कर्षतस्य एव परिपूर्णाः। हारिद्रवर्णाम्लरसयोर्जघन्यतः पञ्च सागरोपमस्याष्टाविंशतिभागाः पल्योपमासंख्येयभागहीना उत्कर्षतस्य एव परिपूर्णाः। नीलवर्णकटुकरसयोः सप्तसागरोपमस्याष्टाविंशतिभागाः पल्योपमासंख्येयभागोनाः उत्कर्षतस्त एव परिपूर्णाः। नपुंसकवेदनकजुगुप्साशोकरतितिर्यगौदारिकद्विकचरमसंस्थानचरमसंहननकृष्णवर्णतिक्तरसागुरुलघुपराघातोच्छ्वासोपघातत्रसबादरपर्याप्तप्रत्येकास्थिराशुभदुर्भगदुःस्वनादेयायशःकीर्तिस्थाः परातपोद्योताः शुभविहायोगतिनिर्माणैकेन्द्रियजातिपञ्चेन्द्रियजातितैजसकार्मणानां जघन्यतो द्वौ सागरोपमस्य सप्तभागौ पल्योपमासंख्येयभागहीनौ उत्कर्षतस्तावेव परिपूर्णाविति। नैरयिकद्विकदेवद्विकवैक्रियचतुष्टयाहारकचतुष्टयतीर्थकरनाम्नांत्वकेन्द्रियाणां न बन्धः॥

नेरइयाउय देवाउय निरयगतिनाम वेउव्वियसरीरनाम आहारिकसरीरनाम नेरइयाणुपुव्वीनाम देवाणुपुव्वीनाम तित्थगरनाम एतानि पदानि बंधंति। तिरिक्खजोणियाउयस्स जहन्नं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं पुव्वकोडी सत्तहिं वाससहस्सेहिं वाससहस्सतिभागेण अभिहियं बंधंति एवं मणुस्साउयस्स वि। तिरियगइनामाए जहा नपुंसयवेयस्स

मणुयगतिनामाए जहा सातावेदणिज्जस्स। एगिंदिय- जातिनामाए पंचिंदियजातिनामाए जहा नपुंसगवेदस्स । बेइंदिय तेइंदियजातिनामाए जहन्नं सागरोवमस्स नवपणतीसइभागो पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणए उक्कोसेणं ते चेव पडिपुन्ने बंधंति । चउरिंदियनामाए वि जहन्नं सागरोवमस्स नवपणतीसइभागे पलिओवमस्स असंखे-ज्जइभागेणं ऊणए उक्कोसेणं ते चेव पडिपुन्ने बंधंति एवं जत्थ जहन्नगं दो सत्तभागा तिन्नि वा चत्तारि वा सत्त भागा उट्ठावीसइभागा भवंति तत्थ णं जहन्नेणं ते । चेव पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणगा भाडियव्वा उक्कोसेणं ते चेव पडिपुन्ना बंधंति । जत्थ जहन्नेणं एगो वा दिवड्ढो व सत्तभागो तत्थ जहण्णेणं तं चेव पलिओवडस्स असंखेज्जइभागं ऊणगा भाणियव्वा उक्कोसेणं ते चेव पडिपुन्ना बंधंति। जसोकित्तिउच्चागोयाणं जहन्नं सागरोवमस्स एगं सत्तभागं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागं ऊणयं उक्कोसेणं ते चेव पडिपुन्नं बंधंति । अंतराइयस्स णं भंते ! पुच्छा ? गोयमा ! जहा नाणावरणिज्जं जाव उक्कोसेणं ते चेव पडिपुन्नं बंधंति ॥

आयुश्चिन्तायामपि एकेन्द्रिया देवायुर्नैरयिकायुर्वा न बध्नन्ति तथा भवस्वाभाव्यात् किंतु तिर्यगायुर्मनुष्यायुवा तदपि च ब ध्नन्तो जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तं बध्नन्ति उत्कर्षतः पूर्वकोटिप्रमाणं नाधिकं केवलमुत्कृष्टं चिन्त्यते इत्येकेन्द्रिया द्वाविंशतिवर्षसहस्रप्रमाणायुषः स्वायुषश्चत्रिभागावशेषपरभवायुर्बध्नन्तः परिगृह्यन्ने इति सप्तवर्षसहस्राणि वर्षसहस्रात्रिभागोत्तराण्यधिकानि लभ्यन्ते ततस्तिर्यगायुर्मनुष्यायुश्चिन्तायां सूत्रोक्तं परिमाणमिति।

सम्प्रति द्वीन्द्रियानाधिकृत्य तमाभिधित्सुराह।

बेइंदियाणं भंते ! जीवा नाणावरणिज्जस्स कम्मस्स किं बंधंति ? गोयमा ! जहन्नं सागरोवम पणवीसाए तिन्नि सत्तभागा पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेण ऊणता उक्कोसेणं तं चेव पडिपुन्ने बंधंति । एवं निद्दापंचगस्स वि एवं जहा एगिंदियाणं भणियं तहा बेइंदियाण वि भाणियव्वं नवरं सागरोवम-पणवीसाए सह भाणियव्वा। पलिओवमस्स असंखेज्जइ-भागेणं ऊणा सेसं तं चेव । जत्थ एगिंदिया न बंधंति तत्थ एते वि न बंधंति वेइंदियाणं भंते ! जीवा मिच्छत्तवेदणिज्जस्स किं बंधंति ? गोयमा ! जहन्नं सागरोवमपणवीसं पलिओवमस्स असंखेज्जइ-भागेणं ऊणयं उक्कोसेणं तं चेव पडिपुन्नं बंधंति । तिरिक्खजोणियाउयस्स जहन्नं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं पुव्वकोडिं चऊहिं वासेहिं अहियं बंधंति । एवं मणुस्साउयस्स वि सेसं जहा एगिंदियाणं जाव अंतराइयस्स ॥

अत्रेय परिभाषा यस्य यस्य कर्मणो या या स्थितिरुत्कृष्टा प्रागभिहिता तस्या मिथ्यात्वस्थित्या सप्ततिसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणया भागे हृते यल्लभ्यते तत्पञ्चविंशत्या गुण्यते गुणितं च सत् यावद्भवति तावत्पल्योपमासंख्येयभागहीनं द्वीन्द्रियाणां बन्धकानां जघन्यस्थिति-परिमाणं तदेव परिपूर्णमुत्कृष्टस्थितिपरिमाणं तद्यथा ज्ञानावरणपञ्च-कदर्शनावरणनवकासातवेदनीयान्तरायपञ्चकानां त्रयः सागरोपमस्य सप्तभागाः पञ्चविंशत्यागुणिता वस्तुवृत्या पञ्चविंशतेः सागरोपमाणां त्रयः सप्तभागाः पल्योपमासंख्येयभागहीना जघन्यस्थिति बन्धपरिमाणं त एव परिपूर्णा उत्कृष्टमित्यादि।

तेइंदियाणं भंते ! नाणावरणिज्जस्स किं बंधंति ? गोयमा ! जहन्नं सागरोवमपन्नासाए तिन्नि सत्तभागा पलिओवमस्स असंखेज्जभागेणं ऊणया उक्कोसेणं ते चेव पडिपुन्ने दंधंति एवं जस्स जइ भागा ते तस्स सागरोवमपन्नासाए सह भाणियव्वा तेइंदियाणं भंते ! मिच्छत्तवेदणिज्जस्स कम्मस्स किं बंधंति ? गोयमा ! जहण्णं सागरोवमपन्नासं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणयं उक्कोसेणं तं चेव पडिपुन्नं बंधंति । तिरिक्खजोणियाउयस्स जहण्णं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं पुव्वकोडिसोलसेहिं राइंदियतिभागेण य अहियं बंधंति । एवं मणुस्साउयस्स वि सेसे जहा बेइंदियाणं जाव अंतराइयस्स ॥

त्रीन्द्रियबन्धचिन्तायां तदेव भागलब्धं पञ्चविंशत्यागुण्यते।

चउरिंदियाणं भंते ! जीवा नाणावरणिज्जस्स किं बंधंति गोयमा ! जहण्णं सागरोवमसयस्स तिण्णि सत्तभागा पलिओवमस्स असंखेज्जभागेणं ऊणए उक्कोसेणं ते चेव पडिपुण्णे बंधंति । एवं जस्स जइ भागो ते तस्स सागरोवमस्स तेण सह भाणियव्वो । तिरिक्खजोणियाउयस्स कम्मस्स जहण्णं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं पुव्वकोडि दोहिं मासेहिं अहियं । एवं मणुस्साउयस्स वि सेसं जहा बेइंदियाणं नवरं मिच्छत्तवेदणिज्जस्स णं जहन्नं सागरोवमसंय पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणयं उक्कोसेणं ते चेव पडिपुन्ने बंधंति सेसं जहा बेइंदियाणं जाव अंतराइयस्स। असन्नीणं भंते ! जीवा पंचिंदिया नाणावरणिज्जस्स कम्मस्स किं बंधंति ? गोयमा ! जहन्नं सागरोवमसहस्सं तिन्नि य सत्तभागे पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणए उक्कोसेणं ते चेव पडिपुण्णे एवं सो चेव गमो जहा बेइंदियाणं नवरं सागरोवमसहस्सेण समं माणियव्वो जस्स जइ भागत्ति । मिच्छत्तवेयणिज्जस्स जहन्नं सागरोवमसहस्सं पडिपुन्नं । नेरइयाउयस्स जहण्णं दसवाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भ-हियाइं उक्कोसेणं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागं पुव्वकोडि-तिभागमब्भहियं बंधंति । एवं तिरिक्खजोणियाउयस्स वि नवरं जहण्णं अंतोमुहुत्तं एवं मणुस्साउयस्स वि। देवाउयस्स जहा नेरइयाउयस्स । असन्नीणं भंते ! जीवा पंचिं-

दिया निरयगंतिनामाए कम्मस्स किं बंधंति ? गोयमा ! जहण्णं सागरोवमसहस्सं दो सत्तभागे पलिओवमस्स असंकेज्जइभागे उक्कोसेणं ते चेव पडिपुण्णे। एवं तिरियगतिए वि मणुयगतिए वि एवं चेव नवरं जहण्णेणं सागरोवमसहस्सदिवड्ढं सत्तभागं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागे ऊणगं उक्कोसेणं तं चेव पडिपुण्णं बंधंति। एवं देवगतिनामाए वि नवरं जहण्णं सागरोवगसहस्सं एगं सत्तभागं पलिओवडस्स असंखेज्जभागं उक्कोसेणं तं चेव पडिपुण्णं। वेउव्विय सरीरनामाए पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं सागरोवमसहस्सं दो सत्तभागे पलिओवमस्स असंखेज्जभागे ऊणगं उक्कोसेणं दो पडिपुण्णे सम्मत्तसम्मामिच्छत्तआहारसरीरनामाए तित्थयरनामाए य न किंचि बंधंति अवसेसं जहा बेइंदियाणं नवरं जस्स जतिया भागा तस्स ते सागरोवडसहस्सेण सह भाणियव्वा सव्वेसिं आणुपुव्वीए जाव अंतराइयस्स ॥

चतुरिन्द्रियबन्धचिन्तायां सहस्रेण आह च कर्मप्रकृति-संग्रहणिकारैः ''पणवीसा पन्नासा, सयं सहस्सं च गुणकारी। कमसो विगल असन्नीणमिति''। तदेतदनुसारेण सूत्र स्वंय निगमनीयं सुगमत्वात् नवरं सागरोवमपणवीसाए तिन्नि सत्तभागा पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणगा इति'' अत्रेयं गणितभावना पञ्चविंशतिसागरोपमाणां सप्तभिर्भागे ह्रियमाणे यसुभ्यते तत् त्रिगुणीकृत्य पल्योपमासंख्येयभाहीनः क्रियते। एवं सर्वत्रापि यथायोगं गणितभावना कर्त्तव्या ॥

सन्नीणं भंते ! जीवा पंचिंदिया नाणावरणिज्जस्स कम्मस्स किं ? बंधंति। गोयमा ! जहण्णं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं तीसं सागरोवमकोडाकोडीओ तिन्नि य वाससहस्साइं अबाहा। सन्नीणं भंते ! पंचिंदिया निद्दापंचगस्स किं बंधंति ? गोयमा ! जहण्णं अंतो सागरोवडकोडाकोडीए उक्कोसेणं तीसं सागरोवडकोडाकोडीओ तिन्नि य वाससहस्साइं अबाहा। दंसणचउक्कस्स जहा नाणावरणिज्जस्स सातावेदणिज्जस्स जहा ओहियाई भणिया तहेव भाणियव्वा। इरियाबहियबंधयं पडुच्च संपराइयबंधयं च। असातवेदणिज्जस्स जहा निद्दा-पंचगस्स सम्मत्तवेदणिज्जस्स सम्मामिच्छत्तवेदणिज्जस्स य जा ओहिया ठिई भणिया तं बंधंति। मिच्छत्तवेदणिज्जस्स जहन्नं अंतोसागरोवमकोडाकोडीए उक्कोसेणं सत्तहिं सागरोवमकोडाकोडीओ सत्त य वाससहस्साइं अबाहा। कसायवारसगस्स जहण्णं एवं चेव उक्कोसं चत्तालीसं सागरोवमकोडाकोडीओ चत्तालीस य वाससयाइं अबाहा। कोहमाणामायालोभसंजलणाए य दो मासा मासो अद्धमासो अंतोमुहुत्तो एयं जहन्नगं उक्कोसगं पुण जहा कसायवारसगस्स उच्चण्ह वि आडयाणं जा ओहिया ठिई भणिया तं बंधंति। आहारगसरीरस्स तित्थगरनामाए य जहन्नेणं अंतोसागरोवमकोडाकोडीओ उक्कोसेण वि अंतोसागरोवडकोडाकोडीए बंधंति पुरिसवेदस्स जहण्णं उद्धसंवच्छराइं उक्कोसेणं दससागरोवडकोडाकोडीओदसवाससयाइं अबाहा। जसोकि त्तिनामाए उच्चागोयस्स एवं चेव नवरं जहन्नेणं अट्ठमुहुत्ता, अंतराइयस्स जहा नाणावरणिज्जस्स सेसएसु सव्वेसु ठाणेसु संघयणेसु संठाणेसु वन्नेसु गंधेसु य जहन्नं अंतोसागरोवमकोडाकोडीओ उक्कोसं जा जस्स ओहिया ठिई भणिया तं बंधंति नवरं इमं नाणत्तं अबाहा अबाहा ऊणिता न बुच्चंति एवं आणुपुव्वीए सव्वेसिं जाव अंतराइयस्स ताव भाणियव्वं।

संज्ञिपञ्चेन्द्रियबन्धकसूत्रे ज्ञानावरणीयादिकर्मणां जतःन्यघा-स्थितिबन्धोऽन्तर्मुहूर्त्तादिपरिमाणं क्षपकस्य स्वस्वबन्धचरमल-मये प्रतिपर्त्तव्यःनिद्रापञ्चकासातवेदनीयमिथ्यात्वकषायद्वा-दशकादीनां तु क्षपणादर्वाग् बन्ध इति तेसां जघन्यतोऽप्यन्तःसागरोपमकोटीकोटी-प्रमाण उत्कृष्टो मिथ्यादृष्टेःसर्वसंक्लिष्टस्य नवरं निर्यग्मनुष्यदेवायुषां स्वस्वबन्धेऽतिशुद्धस्येति प्रज्ञा०२३ पद। कर्म० (कर्मणो रागद्वेषतारतम्याद् बन्धवेचित्र्यं (खित्तचित्त शब्दे)

(२७) अधुना तीर्थकराहारकद्विकयोः प्राग्निरूपितामपि जघन्यां स्थितिं पुनर्मतान्तरेणाह।

''केइसुरासमं'' इत्यादि कोचदाचार्याः सुरायुषा देवायुष्केण दशवर्षसहस्रप्रमाणेन समं तुल्यं सुरासुरस्समं देवायुस्तुल्यस्थितिकं ज घन्यतो बध्यते किं तदित्याह (जिणंति) तीर्थ-करनामकर्मब्रुवते तथा च तैरभ्यधायि ''सुरतारयाणं दस-वाससहस्सलहुसतित्थाणं'' (लहुत्ति) जघन्या स्थितिः सतीर्थयोस्तीर्थकरनामयुक्तयोरित्यर्थः तथा (आहारंति) आहारकाहारकशरीराहारकाङ्गोपाङ्ग लक्षणमन्त-र्मुहूर्त्तजघन्यतो बध्यते किंचिदूनं मुहूर्तस्थितिकं जघन्येन बध्यते इति ब्रुवते तथा चा तैरुक्तम् ''आहाकविग्धावरणाण किं चूणंति'' किंचिदून मुहूर्त्तं जघन्या स्थितिरितितिर्यग्मनुष्यायुषोर्जघन्या स्थितिः।

(२८) इह संज्ञिपञ्चेन्द्रियसूत्रे ज्ञानावरणीयादिकर्मणं जघन्यः स्थितिबन्धोऽन्तमुहूर्त्तादिपरिमाण उक्तः स कस्मिन् स्वामिनि लभ्यते इति जिज्ञासुः पृच्छति।

नाणावरणिज्जस्स णं भंते ! कम्मस्स जहन्ने ठितिबंधए के ? गोयमा ! अन्नयरे सुहुमसंपराए उवसामए वा खवगए वा एसणं गोयमा ! नाणावरणिज्जस्स कम्मस्स जहन्नट्ठितिबंधए तव्वइरित्ते जहन्ने एवं एतेणं अभिलावेणं मोहाउयवज्जाणं सेसकम्माणं भाणियव्वं मोहणिज्जस्स णं भंते ! कम्मस्स जइन्नट्ठितिबंधए के ? गोयमा ! अन्नयरे वायरसंपराए उवसामए वा खवए वा एसणं गोयमा ! मोहणिज्जस्स कम्मस्स जहन्नट्ठितिबंधए तव्वइरित्ते अजहन्ने ॥

''नाणावरणिज्जउस'' इत्यादि सुगमं नवरमन्यतरसूक्ष्मसम्पराय इति यदुक्तमस्य तथाक्यानंक्षपक उपशमकस्य च जघन्य-तोऽन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणस्ततोऽन्तर्मुहूर्त्तत्वाविशेषात् उपशमको वा सूक्ष्मको वा इत्युक्तमन्यत्रापि क्षपकापेक्षया उपशमकस्य

बन्धो द्विगुणो वेदितव्यो यत आह कर्मप्रकृतिसंग्रह णकारः ''खवगुणसामगपडिवयमाणो दुगुणो तहिं तहिं बंधो''। इति ततो वेदनीयस्य साम्परायिकबन्धचिन्तायां जघन्यस्थितिबन्धक्षपकस्य द्वादश मुहूर्त्ता उपशमकस्य चतुर्विंशतिर्नामगोत्रयोर्जघन्यतः क्षपकस्याष्टौ मुहुर्त्ता उपशमकस्य षोडश परमुपशमकस्यापि जघन्यो बन्धः शेषबन्धकापेक्षया सर्वजघन्य इति तत्सूत्रेष्वपि ''अन्नयरे सुहुमसंधराए उपसमे वा खवगे वा'' इति वक्तव्यं तथा च वक्ष्यति ''एएणं अभिलावेणं मोहाउयवज्जाणं सेसकम्माणं भाणियव्वंति'' उपसंहारसूत्रे ''तव्वइरित्ते अजहन्ने'' इति तद्व्यतिरिक्तः क्षपकोपशमकसूक्ष्मसंपराव्यतिरिक्तो जघन्यो जघन्यस्थितिबन्धकः।

आउयस्स णं भंते ! कम्मस्स जहन्नट्ठितिबंधए के ? गोयमा ! जे णं जीवे असंखेप्पाद्धापविट्ठे सव्वनिरुद्धे से आउए सेसे सव्वमहंतीए आउयबंधद्धाए तीसे णं आउबंधद्धाए चरिमकालसमयंसि सव्वजहन्नियं अपज्जत्तापज्जत्तियं निव्वत्तेइ एसणं ? गोयमा ! आउयकम्मस्स जहन्नट्ठितिबंधए तव्वइरित्ते अजहन्ने। उक्कोसट्ठितियाउएणं भंते ! नाणावरणिज्जं कम्मं किं नेरइओ बंधति तिरिक्खजोणिओ बंधति तिरिक्खजोणिणी बंधति मणुस्सो बधति मणुस्सी बंधति देवो बंधति देवी बंधति ? गोयमा ! नेरइओ वि बंधति जाव देवी वि बंधति। केरिसए ण भंते ! णेरइए उक्कोसकालट्ठिइयं नाणावरणिज्जस्स कम्मं बंधति गोयमा ! सन्नी पंचिंदिए सव्वाहिं पज्जत्तीहिं पज्जत्ते सागारे जागरे सुत्तोवउत्ते मिच्छादिट्ठी कण्हलेसे उक्कोससंकिलिट्ठपरिणामे ईसमज्झमपरिणामे वा एरिसएणं ? गोयमा ! णेरइए उक्कोसकालट्ठितियं नाणावरणिज्जं कम्मं बंधति। केरिसएणं भंते ! तिरिक्खजोणिए उक्कोसकालट्ठितियाणं नाणावरणिज्जं कम्मं बंधति ? गोयमा ! कम्मभूमिए वा कम्मभूमिगपलिभागी वा सन्नीपंचिंदिए सव्वाहिं पज्जत्तीहिं पज्जत्तए सेसं तं चेव जहा णेरइयस्स। एवं तिरिक्खजोणिणी वि मणूसे वि मणूसी वि। देवो देवी जहा णेरइए एवं आउयवज्जाणं सत्तण्हं कम्माणं उक्कोसकालट्ठियाणं भंते ! आउयकम्मं किं णेरइओ बंधति ? गोयमा ! नो णेरइओ बंधति तिरिक्खजोणिओ बंधति। मणुस्सो वि बंधति मणुस्सी ति बंधति नो देवो बंधति नो देवी बंधति। केरिसएणं भंते ! तिरिक्खजोणिए उक्कोसकालट्ठिइयं आउयं कम्मं बंधति गोयमा ! कम्मभूमिए वा कम्मभूमिगपलिभागी वा सन्नी पंचिंदिए सव्वाहिं पज्जत्तीहिं पज्जत्तए सागारे जागरे सुत्तेव उत्ते मिच्छद्दिट्ठी कण्हलेस्स उक्कोससंकिलिट्ठपरिणामे परिसएणं गोयमा ! तिरिक्खजोणिए उक्कोसकालाट्ठितियं आउयं कम्मं बंधति। केरिसएणं भंते ! मणूसे उक्कोसकालट्ठितियं आउयकम्मं बंधति ? गोयमा ! कम्मभूमिए वा कम्मभूमिगपलिभागी वा जाव सुत्तोवउत्तो सम्मदिट्ठी वा मिच्छद्दिट्ठी वा कण्हलेसे वा सुक्कलेसे वा नाणी वा अन्नाणी वा उक्कोसेणं संकिलिट्ठपरिणामे वा असंकिलिट्ठपरिणामे वा एरिसएणं गोयमा ! मणूसे उक्कोसकालट्ठिइयं आउयं कम्मं बंधति। केरिसियाणं भंते ! मणुस्सीओ उक्कोसकालट्ठितियं आउयं कम्मं बंधति ? गोयमा ! कम्मभूमिए वा कम्मभूमिपलिभागी वा जाव सुत्तोवउत्ता सम्मद्दिट्ठी सुक्कलेसा तप्पाओग्गविसुज्झमाणपरिणामा एरिसियाणं गोयमा ! मणुस्सी आउयं कम्मं बंधति। अंतराइयं जहा नाणावरणिज्जं। इति पन्नवणाए भगवईए कम्मेति पदं तेवीसइयं सम्मत्तं॥

आयुर्बन्धकसूत्रे ''जे जीवे असंखिप्पद्धा पविट्ठे'' इत्यादि इह द्विविधा जीवाः सोपक्रमायुषे निरुपक्रमायुषश्च तत्र देवा नैरयिका असंख्येयवर्षायुषस्तिर्यङ्मनुष्याः संख्येयवर्षायुषोऽभ्युत्तमपुरुषाश्चक्रवर्त्यादयश्चरमशरीरिणश्च निरुपक्रमायुष एव शेषास्तु सोपक्रमा अपि निरुपक्रमा अपि उक्तं च ''देवा नेरइया वा, असंखवासाउया य तिरिमणुया। उत्तमपुरिसा या तहा, चरमसरीरा य निरुवकमा॥ सेसा संसारत्था, भइया सोवक्कमा च इयरे वा। सोवक्कमनिरुवक्कमभेओ भणिओ समासेणं'' ॥१॥ तत्र देवा नैरयिका असंख्येयवर्षायुषस्तिर्यग्मनुष्याश्च षण्मासावशेषायुषः परभविकायुर्बन्धका ये पुनस्तिर्यग्मनुष्यासंख्येयवर्षायुषोऽपि निरुपक्रमायुषस्ते नियमात् त्रिभागावशेषायुषः परभवायुर्बध्नन्ति ये तु सोपक्रमायुषस्तस्य तत्त्रिभागा-वशेषस्त्रिभागावशेषायुषो यावदसंक्षेप्याद्धाप्रविष्टा इति। तत आह ''जेणं जीवे'' इत्यादि यो णमिति वाक्यालंकारे जीवोऽसंक्षेप्याद्धाप्रविष्टः त्रिभागादिना प्रकारेण या संक्षेप्तुं न शक्यते साऽसंक्षेप्या सा चासौ अद्धा च असंक्षेप्याद्धा तां प्रविष्टः असंक्षेप्याद्धाप्रविष्टः ततश्च आह (से) तस्यासंक्षेप्याद्धाप्रविष्टस्य जीवस्यायुः सर्वं निरुद्धमुपक्रमहेतुभिरभिसंक्षिप्तीकृत आयुर्बन्धनिर्वर्त्तनमात्र एव कालस्तस्यास्ति न परतो जीवनकाल इति भावः। एवं तदेव स्पष्टतरमाह ''सेससव्वमहंतीए आउयबंधद्धाए'' इह सर्वमहती आयुर्बन्धाद्धा अष्ट कर्षप्रमाणा तस्याः शेष एककर्षप्रमाणस्तावन्मात्रं सर्वनिरुद्धं तस्यायुर्वर्त्तते इतिभावः ततोऽसंक्षेप्याद्धाप्रविष्टः स इत्थंभूतस्तस्या आयुर्बन्धा-द्धायाश्चरमकालसमये चरमकालावसरे एककर्षप्रमाणा इह चरमसमयकालग्रहणेन परमनिरुद्धः समयः परिगृह्यते, किंतु यथोक्तरूपः कालः तेन हीनेन कालेनायुर्बन्धस्यासंभवात् यत उक्तं प्राक् व्युत्क्रान्तपदे ''जीवाणं भंते! ठिइनामनिहिताउयं कइहिं आगरिसेहिं पकरेइ ? गोयमा ! जहन्नेण उक्कोसेणं अडहिं आगरिसेहिं'' इति एकेन वा कर्षेणायुर्निवर्त्तयति सर्वजघन्यं यत आह (सव्वजहन्नियमिति) सर्वजघन्यां सर्वलघ्वीं स्थितिमिति गम्यते निर्वर्तयति बध्नातीति भावः। किं विशिष्टामित्याह पर्याप्तापर्याप्तिकां शरीरेन्द्रियपर्याप्तिनिवर्तनोच्छासपर्याप्तस्य निर्वर्त्तनसमर्थां कथमेतदवसेयं तत्सर्वजघन्यामपि स्थितिनिर्वर्तनसमर्थां न ततो हीनतरामिति चेत् उच्यते। युक्तिवशात्तथाहि इह सर्व एव देहिनः परभवायुर्बन्ध्वा म्रियन्ते नान्यथा परभवायुषश्च बन्ध औदारिकवैक्रियाहारके वा योगे वर्त्तमानस्य न कार्मणे औदारिकादिमिश्रे वा तथाचाह मूलटीकाकारः ''जणोरालियाईणं तिण्हं सरीराणं कायजोगे वह-

माणो आउयबंधमो न कम्मए उरालियाइमिस्सी वा' इति औदारिककाययोगश्च विशिष्टो भवति शरीरेन्द्रियपर्याप्त्या पर्याप्तस्य न केवलं शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य तत एतत्सिद्धं शरीरपर्याप्त्या इन्द्रियपर्याप्त्या च पर्याप्तस्य मरणं नान्यथेति सर्वजघन्यामपि स्थितिं निर्वर्त्तयति शरीरेन्द्रियपर्याप्त्यनिर्वर्त्तनसमर्थोन ततोऽपि हीनतरामिति। (एसणं गोयमे) त्याद्युपसंहारवाक्यं तदेवमुक्तो जघन्यस्थितिबन्धकः। सम्प्रत्युत्कृष्टस्थितिबन्धकं पृच्छति ''उक्कोसेणं कालट्ठिइए णं भंते! नाणावरणिज्जं कम्मं किं नेरइयाओ बंधईत्यादि'' सुगमं नैरयिकसूत्रे (सागारिइति) साकारोपयुक्तः (जागरे इति) जाग्रत् नारकाणोमपि कियानपि निद्रानुभवोऽस्ति तत उक्तं जाग्रदिति (सुत्तोवउत्ते इति) श्रुतोषयुक्तः साभिलापज्ञानोपयुक्तः इति भावः तिर्यग्योनिकसूत्रे (कम्मभूमिगपलिभागी च) कर्मभूमिगाः कर्म्मभूमिजातास्तेषां प्रतिभागः सादृश्यं तदस्यास्तीति कर्मभूमिगप्रतिभागी कर्मभूमिगसदृश इत्यर्थः कोऽसाविति चेदुच्यते। या कर्म्मभूमिजा तिर्यक्स्त्री गर्भिणी सती केनाप्यपहृत्याकर्मभूमौ मुक्ता तस्यां जातः कर्मभूमिगसदृशः अन्ये तु व्याचक्षते कर्म्मभूमिग एव यदा केनाप्यकर्मभूमौ बीतो भवति तदा स कर्मभूमिगप्रतिभागी व्यपदिश्यते इति उत्कृष्ट-स्थितिकायुर्बन्धचिन्तायां नैरयिकतिर्यग्योनिकस्त्रीदेवदेवीनां प्रतिषेधस्तासामुत्कृष्टस्थितिषु नारकादिषूत्पत्त्यभावात् मनुष्यसूत्रे (सम्मद्दिट्ठी मिच्छद्दिट्ठी या इति) इह द्वे उत्कृष्टे आयुषी तद्यथा सप्तमनरकपृथिव्याबुबध्नाति तदा मिथ्यादृष्टिः यदा पुनरनुत्तरसुरम्युस्तदा सम्यग्दृष्टिः (कण्हलेसेवा) नारका-युर्बन्धकः (सुक्कलेसा वा इतिः अनुत्तरसुरायुर्बन्धकः सम्यग्दृष्टिरप्रमत्तवतिः उत्कृष्टपरिणामो नारकायुर्बन्धकस्तत्प्रायोग्यविशुद्धमानपरिणामोऽनुत्तरसुरायुर्वबन्धकः मानुषी दु सप्तमनरकपृथिवीयोग्यमायुर्न बध्नाति अनुत्तरसुरायुस्तु बध्नातीति तत्सूवं सर्वं प्रशस्तं नेयम्। इहातिविशुद्धः आयुबन्धमेव न करोतीति तत्प्रायोग्यग्रहणं शेषं कण्ठ्यम्। प्रज्ञा० २३ पद। कर्म०।

(२९) अथोत्तरप्रकृतीनाश्रित्योत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वमाह।

अविरयसम्मो तित्थं, आहारदुगमराउअपमत्तो।
मिच्छादिट्ठी बंधइ, जिट्ठठिइं सेसपयडीणं ॥४२॥

अविरत सम्यक्त्वोऽविरतसम्यग्दृष्टिः ''व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिरिति'' न्यायान्मनुष्यः पूर्वं नरकबद्धायुष्को नरकं जिगमिषुरवश्यं मिथ्यात्वं यत्र समये प्रतिपद्यते ततोऽनरन्तरेऽर्वाक् स्थितिबन्धे (तित्थंति) तीर्थकरनाम उत्कृष्टस्थितिकं बध्नाति ''तित्थयरम्मि मणूसो, अविरयसम्मो समप्पेइ'' इति वचनात्। इयमत्र भावना तीर्थकरनाम्नो ह्यविरतसम्यग्दृष्ट्यादयोऽपूर्वकरणावसाना बन्धका न भवन्ति किन्तूत्कृष्टा स्थितिरुत्कृष्ट संक्लेशेन बध्यते स च तीर्थकरनामबन्धकेष्वविरतस्यैव यथोक्तविशेषणविशिष्टस्य लभ्यत इति शेषव्युदासेन अस्यैवोपादानमिति भावः तत्र तिर्यञ्चस्तीर्थकरनाम्नः पूर्वप्रतिपन्नाः प्रतिपद्यमानकाश्च भवप्रत्ययेनैव भवन्तीति मनुष्यग्रहणम्। बद्धतीर्थकरनामकर्मा च पूर्वमबद्धनरकायुर्नरकं न व्रजतीति पूर्वं नरकबद्धायुष्कस्य ग्रहणम् क्षायिकसम्यग्दृष्टिश्च श्रेणिकादिवत्सम्यक्त्वेऽपि कश्चिन्नरकं प्र याति किं तु तस्य विशुद्धत्वेनोत्कृष्टस्थित्यबन्धकत्वात्तस्या एव चेह प्रकृतत्वान्नासौ गृह्यतेऽत्सीतीर्थकरनामकर्मोत्कृष्टस्थितिबन्धकत्वान्मिथ्याभिमुखस्यैव ग्रहणमिति। तथा आहारद्विकमाहारकशरीराहार-काङ्गो पाङ्गलक्षणम। (अप्पमत्तत्ति) अप्रमत्तसंयतोऽप्रमतत्तभावान्निवर्त्तमान इति विशेषो दृश्यः उत्कृष्टस्थितिकं बध्नाति अशुभा हीयं स्थितिरित्युत्कृष्टसंक्लेशेनेवोत्कृष्टा बध्यते तद्बन्धकश्च अप्र मत्ततिरप्रमत्तभावान्निवर्त्तमान एवोत्कृष्टक्लेशयुक्तो लभ्यते इतीत्यर्थं विशिष्यते। तथा अमरायुर्देवायुष्कं प्रमत्तसंयतः पूर्वकोट्यायुरप्रमत्तभावाभिमुखो वेद्यमानपूर्वकोटिलक्षणायुषो भागद्वये गते सति तृतीयभागस्याद्यसमये उत्कृष्टस्थितिकं पूर्वकोटित्रिभागाधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमलक्षणं बध्नाति पूर्वकोटित्रिभागस्य द्वितीयादिसमयेषु बध्नतो नोत्कृष्टं लभ्यते अबाधायाः परिगलितत्वेन मध्यमत्वप्राप्तेरित्याद्यसमयग्रहणम् अप्रमत्तभावाभिमुखताविशेषणं तर्हि किमर्थमिति चेदुच्यते शुभेयं स्थितिर्विशुद्धा बध्यते सा चास्य अप्रमत्तभावभिमुखस्यैव लभ्यत इति तर्ह्यप्रमत्त एवं कस्मादेतद्बन्धकत्वेन नोच्यते इति चेदुच्यते अप्रमत्तस्यायुर्बन्धारम्भनिषेधात् ''देवाउयं पमत्तो'' इति वचनात्। प्रमत्तौनैवारब्धमायुर्बन्धमप्रमत्तः कदाचित्समर्थयते ''देवाउयं च इक्कं नायव्वं अप्पमत्तम्मि'' इति वचनात्। शेषानां षोडशोत्तरशतसंख्यप्रकृर्तानां ज्येष्ठस्थितिमुत्कृष्टस्थितिं मिथ्यादृष्टिः सर्वपर्याप्तिपर्याप्तः सर्वसंक्लिष्टो बध्नाति यतः स्थितिरशुभासंक्लेशप्रत्ययावसंक्लिष्टश्च बन्धकेषु मध्ये मिथ्यादृष्टिरेव भवतीति भावः। अत्र च प्रायोवृत्त्या सर्वसंक्लिष्टत्वमुच्यते यावता तिर्यङ्मनुष्यायुषी उत्कृष्टे तत्प्रायोग्यो विशुद्धो बध्नातीति दृष्टव्यं तयोः शुभस्थितिकत्वेन विशुद्धिजन्यत्वात् उक्तं च ''सव्वठिईणं उक्को-सओ उ उक्कोससंकिलेसेण। विवरीए य जहन्नो, आउगतिगवज्जसेसाणं'' ति ननु यदि विशुद्धित इदमायुष्कद्वयं बध्यते तर्हि मिथ्यादृष्टेः सकाशात्सास्वादनो विशुद्धतरः प्राप्यते स कस्मादेतद्बन्धकत्वेन नोक्तो नच वक्तव्यं तिर्यङ्मनुष्यायुषी सास्वादनो न बध्नाति तद्बन्धस्य सप्ततिकादिष्वस्यानुज्ञा नात्तथा चोक्तमायुःसंवेधभङ्गकावसरे सप्ततिकाटीकायां तिर्यगायुषां बन्धो मनुष्यायुष उदयस्तिर्यङ्मनुष्यायुषी सती एष विकल्पो मिथ्यादृष्टेः सास्वादनस्य वा मनुष्यायुषो बन्धो मनुष्यायुष उदया मनुष्यमनुष्यायुषी सती एषोऽपि विकल्पो मिथ्यादृष्टेः सास्वादनस्य वा तत्कथमुक्तं ''मिच्छदिट्ठी बंधइ जिट्ठठिइं सेसपयडीणमिति''। अत्र प्रतिविधीयते सत्यामपि हि सामान्यतो मनुष्यतिर्यगायुर्बन्धानुज्ञायामसंख्येयवर्षायुष्कयोग्यमुत्कृष्टं प्रस्तुतायुर्द्वयं सास्वादनो न निर्वर्तयति सारस्वादनस्य गुणप्रतिपाताभिमुखत्वेन गुणाभिमुखविशुद्धमिथ्यादृष्टेः सकाशाद्विशुद्धधिकस्यानवगस्यमानत्वात् शास्त्रान्तरेऽपि च मिथ्यादृष्टेः सकाशादविरतादय एव यथोत्तरमनन्तगुणविशुद्धः पठ्यन्ते न सास्वादनः नचै तन्निजमनीषिकाशल्पिकल्पितं यदाहुः श्रीशिवशर्मसूरिपूज्याः ''सव्वुक्कोसठिईणं, मिच्छदिट्ठी न बंधओ भणिओ। आहारगतित्थरं, देवाउं वा वि मुत्तूणं'' इह पूर्वं संक्लिष्टो मिथ्यादृष्टिः षोडशोत्तरप्रकृतिशतस्योत्कृष्टस्थितिबन्धकः सामान्येनैवोक्तः स च नारकादिभेदेन चिन्त्यमानश्चतुर्द्धा भवति ततो नारकास्तिर्यञ्चो मनुष्य देवाश्च मिथ्यादृष्टयः पृथक्केषां कर्मणां स्थितीरुत्कृष्टा बध्नन्तीति भेदतश्चिन्तयन्नाह।

विगल सुहुमाउगतिगं, तिरिमणुयासूरविउव्विनिरयदुगं।
एगिंदि थावराय–आईसाणसुरुक्कोसं ॥४३॥

त्रिकशब्दस्य प्रत्येकं संबन्धात् विकलत्रिकं द्वीन्द्रियत्रीन्द्रिय-

चतुरिन्द्रियजातिलक्षणं सूक्ष्मत्रिकं सूक्ष्मापर्याप्तसाधारणरूपम् आयुस्त्रिकं देवायुर्वर्जं नारकतिर्यग्मनुष्यायुर्लक्षणम् । द्विकशब्दस्यापि प्रत्येकं सं बन्धात् सुरद्विकं सुरगतिसुरानुपूर्वीस्वरूपं वै क्रियद्विकं वैक्रियशरीर-वैक्रियाङ्गोपाङ्गलक्षणं नरकद्विकं नरकगतिनरकानुपूर्वीलक्षणमित्येतासांपञ्चदशप्रकृतीनामुत्कृष्टांस्थितिं नरकतिर्यङ्मनुष्या एवं मिथ्यादृष्टयो बध्नन्ति न देवनारका ह्येतासां मध्य तिर्यङ्मनुष्यायुर्द्वयं मुक्त्वा शेषास्त्रयोदश प्रकृतीर्भवप्रत्ययेनैव न बध्नन्ति तिर्यङ्मनुष्याषोरपि देव-गुर्वादिप्रायोग्य उत्कृष्टस्त्रिपल्योपमलक्षणः स्थितिबन्धः प्रकृतस्तत्र च देवनारका भवप्र त्ययादेव नोत्पद्यन्ते इत्येतद्बन्धोऽप्यमीषां न संभवति तस्मादेते तिर्यङ्मनुष्यायुषी उत्कृष्टस्थितिके पूर्वकोट्यायुवस्ति-र्यङ्मनुष्या मिथ्यादृष्टयस्तत्प्रायोग्या विशुद्धः स्वायुस्त्रिभागाद्यसमये वर्त्तमाना बध्नन्ति सम्यग्दृष्टेरतिविशुद्धद्धमिथ्यादृष्टेश्च देवायुर्बन्धः स्यादिति मिथ्यादृष्टित्वतत्प्रायोग्यविशुद्धत्वरूपविशेषणद्वयं नारकायुषः पुनरेत एवं तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टा वाच्याः अत्यन्तशुद्धस्यात्यन्तसंक्लिष्टस्य चायुर्बन्धस्य सर्वथा निषेधादिति नरकद्विकवैक्रियद्विकयोस्तव कवं सर्वसक्लिष्टाः पूर्वोत्कृष्टस्थितेर्बन्धका वाच्याः । विकल-जातित्रिकसूक्ष्मत्रियोस्तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टा द्रष्टव्याः अतिसंक्लिष्टा हि प्रस्तुतप्रकृतिबन्धमुल्लङ्घ्य नरकप्रा योग्यमेव निवर्तयेयुर्विशुद्धस्तु विशुद्धितारतम्यात्पञ्चेन्द्रियतिर्यक्प्रायोग्यं वा मनुष्यप्रायोग्यं वा देवप्रायोग्यं वा बन्धयेयुरिति तत्प्रायोग्य-संक्लेशग्रहणम्। देवद्विकस्यापि तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टा द्रष्टव्याः । अतिसंक्लिष्टानामधोवर्तिमनुष्यादि-प्रायोग्यबन्धप्रसङ्ग द्विद्धौ पुनरुत्कृष्टबन्धाभावादिति भाविताः पञ्चदशादिप्रकृतयाः। तथा एकेन्द्रियजातिस्थावरनामातपनामलक्षणस्य प्रकृतित्रिकस्य आ ईशानात् ईशानदेवलोकममिव्याप्य सुरा देवाः। कोर्थः भवनपतयो व्यन्तरा ज्योतिष्काः सौधर्मेशानदेवाः (उक्तो संतिः उत्कृष्टां स्थितिं बध्नान्ति तथाहि ईशानादुपरितनदेवा नारकाश्च एकेन्द्रियेषु नोत्पद्यन्त इत्येकेन्द्रियप्रायोग्यान्येतानि न बध्नन्त्येवेतितन्निषेधः । तिर्यग्मनुष्यास्त्वेतावति संक्लेशे वर्त्तमाना एतद्बन्धमतिक्रम्य नरक-प्रायोग्यमेव बधन्तीति तेषामपि निषेधः। ईशानास्तु देवाः सर्वसंक्लिष्टा अप्येकेन्द्रियप्रायोग्यमेव बध्नन्त्यतस्त एव स्थावरैकेन्द्रि यातपल-क्षणप्रकृतित्रयस्य विंशति-सागरोपमकोटीकोटीलक्षणामुत्कृष्टस्थितिं बध्नन्तीति ।

तिरिउरलदुगुज्जोयं, छिवट्ठसुरनिरयसेसचउगइया ।
आहारजिणमपुव्वो, नियट्टिसजलणपुरिसलहु ॥४४॥

द्विकशब्दस्य प्रत्येक संबंन्धात् तिर्यग्द्विकं तिर्यगतितिर्यगानूपूर्वारूप-मौदारिकद्विकमौदारिकशरीरौदारिकाङ्गोपाङ्ग लक्षणमुद्यातनाम सेवार्त्तसंहननम इत्येतासां षण्णां प्रकृतीनामुत्कृष्टस्थिति सुरनारका बध्नन्तिसर्वत्र विभक्तिलोपः प्राकृतत्वात् न मनुष्यतिर्यञ्चः ते हि तद्बन्धर्हसंक्लेशेवर्तमाना एतासां षट्प्रकृतीनात्कृष्टोऽप्यष्टादश-कोटीकोटिलक्षणामेव मध्यमां स्थितिमुपरचयन्ति अथाभ्यधिसंक्लेशे वर्तमाना गृह्यन्ते तर्हि प्रस्तुतप्रकृतिबन्ध मतिक्रम्य नरकप्रायोग्यमुपर-चयेयुः । देवनाराकास्तु सर्वोत्कृष्ट सर्वोत्कृष्ट संक्लेशा अपि तिर्यगति-*प्रायोग्यमेव बध्नन्ति न नरकगतिप्रायोग्यं तत्र तेषामुत्पन्न-*भावात्तस्मार्द्धवनारका एवं संक्लिष्टाः । प्रसुततप्रकृतिष्टकस्य *विंशतिसागरोपमकोटीकोटीलक्षणामुत्कृष्टां स्थितिं रचयन्ति अत्र* सामान्योक्तावपि सेवार्त्तसंहननौदारिकाङ्गोपाङ्गलक्षणप्र कृति-द्वयस्योत्कृष्टस्थितिबन्धका देवा ईशानादुपरितनसनत्कुमारादय एव दृष्टव्याः । ईशानान्ता देवास्ते हि तत्प्रायोग्यसंक्लेशे वर्त्तमानाः प्रकृतप्रकृतिद्वयस्योत्कृष्टतोऽप्यष्टादशकोटीकोटीलक्षणां मध्यमामेव स्थितिं रचयन्ति। अथ सर्वोत्कृष्टसंक्लेशा गृह्यन्ते तर्ह्येकेन्द्रि यप्रायोग्यमेव निर्वर्तयेयुर्नचैकेन्द्रियप्रायोग्यबन्धे एते प्रकृति बध्येते तेषां संहननोपाङ्गाभावात्। ''सुरनेरइया एगिंदिया जे सव्वे असंघयणा'' इति वचनात् । सनत्कुमारादिदेवाः पुनः सर्वसंक्लिष्टा अपि पञ्चेन्द्रि यतिर्यक्प्रायोग्यमेव बध्नन्ति नैकेन्द्रियप्रायोग्यं तेषामेकेन्द्रिये-षूत्पत्त्यभोवात्तस्मात्प्रस्तुतप्रकृति द्विकस्य विंशतिसागरोपम-कोटीकोटीलक्षणामुत्कृष्टस्थितिं सर्वसंक्लिष्टाः सनत्कुमारादय एव बध्नाधस्तना देवा इति। तदेवं जिननाम आहारकद्विकदेवा युर्विकल-त्रिकसूक्ष्मत्रिकायुष्कत्रिकदेवद्विका वैक्रियद्विकनरकद्विकैके-न्द्रियजातिस्थावरनामातपनामतिर्यग्द्विकौदारिकद्विकोद्योतनामसेवार्त्तसंहननलक्षणानामष्टाविंशतिप्रकृतीनामुत्कृष्ट-स्थितिबन्धस्वामिन उक्ताः । शेषप्रकृतीनां तु का वार्तेत्या शङ्क्याह (सेसचउगश्यत्ति) भणिताष्टाविंशतिप्रकृतिभ्यः शेषाणां द्विनवतिसंख्य-प्रकृती नां मिथ्यादृष्टयश्चतुर्गतिका अप्युत्कृष्टां स्थितिं बध्नन्ति तत्रैतासु मध्ये वर्णचतुष्कतैजसकार्मणागुरुलघुनिर्माणोपघातभयजुगुप्सा-मिथ्यात्वकषायषोडशकज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणनवकान्तरायपञ्च-कलक्षणानां सप्त चत्वारिंशतो ध्रुवबन्धिप्रकृती नां पूर्वव्यावर्णित-स्वरूपणां तथा अध्रुवबन्धिनीनामपि मध्ये असातारतिशोकनपुंसकवेद पञ्चेन्द्रियजातिहुण्डसंस्थानपराघातोच्छ्वासाशुनविहायोगतित्र-सबादरपर्य्याप्तप्रत्येकमस्थिराशुभदुःस्वरदुर्भगानादेयायशः कीर्तिनी-चैर्गोत्रलक्षणानां च विंशते सर्वोत्कृष्टसंक्लेशेनोत्कृष्टां स्थितिं चतुर्गतिका अपि मिथ्यादृष्टयो बध्नन्ति शेषाणां त्वध्रुवबन्धिनीनां सातहास्यरति-स्त्रीपुंवेदमनुष्यद्विकसेवार्तवर्जसंहननपञ्चकहुण्डवर्जसंस्थानपञ्चक-प्रशस्तविहायोगतिस्थिरशुभसुभगसुस्वरादेययशःकीर्त्युच्चैर्गोत्र-लक्षणानां पञ्चविंशतिप्रकृती नां तद्बन्धके तु तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टा-श्चतुर्गतिका अपि मिथ्यादृष्टयः उत्कृष्टां स्थितिं बध्नन्तीति उक्ता उत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनः । अथ जघन्यस्थितिबन्धस्वामिन आह ''आहारजिणमपुव्वो'' इत्यादि आहारकद्विकं जिननाम (लहुत्ति) लघुस्थितिकं जघन्यस्थितिकं करोतीति शेषः ॥ क इत्याह (अपुव्वित्ति) पदैकदेशे पदसमुदायोपचारादपूर्वोऽपूर्वकरणक्षपकस्तद्बन्धस्य चरमस्थितिबन्धे वर्तमानः स्थितिमाश्रित्येत्यर्थः तद्बन्धकेष्वस्यैवाति-विशुद्धत्वात् । तिर्यङ्मनुष्यदेवायुर्वर्जकर्मणां च चघन्यस्थितेर्विशुद्धि-प्रत्ययत्वात् । तथा (अनियट्टिसंजलमपुरिसलहुत्ति) संज्वलनानां क्रोधमानमायालोभलक्षणमनां चतुर्णां पुरुषस्य पुरुषवेदस्य च (लहुत्ति) लघुस्थितिं जघन्यस्थितिबन्धनम् (अनियट्टित्ति) अनिवृत्ति-बादरक्षपकस्तद्बन्धस्य यथा स्वचरमस्थितिबन्धे वर्तमानः करोति तद्बन्धकेष्वस्यैवातिविशुद्धद्धत्वादिति।

सायजसुच्चावरणा, विग्घं सुहुमो विउव्वि छ असन्नी ।
सन्नी वि आउवायर, पज्जेगिंदी उ सेसाणं ॥४५॥

सातं सातवेदनीयं (जसुत्ति) यशःकीर्तिनाम (उच्चंति) उच्चै-र्गोत्रम् (आवरणंति) ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावारणचतुष्के *विघ्नमन्तरायपञ्चकं (सुहुमत्ति) सूक्ष्मसंपरायक्षपकश्चरम-*

स्थितिबन्धे वर्तमानो लघुस्थितिकं करोति तद्बन्धकेष्वस्यैवाति-विशुद्धत्वात् (विउव्वि छअसंनित्ति) वैक्रियषट्कनरकद्विकं वैक्रियदेवद्विकलक्षणम् असंज्ञी तिर्यक्पञ्चेन्द्रियः सर्वपर्याप्तिभिः पर्याप्तो लघुस्थितिकं करोति विमुक्तं भवति वैक्रियषट्कं हि नामप्रकृतयः नाम्नश्च द्वौ सप्तभागौ पल्योपमसंख्येयभागोनौ एकेन्द्रियाणां जघन्या स्थितिः प्रतिपादिता सा च सहस्रगुणिता सागरोपमसप्तभागसहस्रद्वयप्रमाणा वैक्रियषट्कस्य जघन्या स्थितिर्भवति। वैक्रियषट्कस्य जघन्यस्थिति-बन्धका असंज्ञिपञ्चेन्द्रिया एव नैकेन्द्रियादयस्ते वासंज्ञिपञ्चेन्द्रिया जघन्यां स्थितिमेतावतीमेव बध्नन्ति न न्यूनामपि यदुक्तम्।

''वेउव्वियछक्के सहसताडियं जं असंनिणो तेसिं।
पलिया संखंसूणं, ठिई अवाहूणिय निसेगो''॥

अस्याक्षरगमनिका ''वागुकोसेठिईण, मिच्छतुकोसियाइ'' इत्यनेन करणेन यल्लब्धं तत्सहस्रताडितं सहस्रगुणितं ततः पल्योपमासंख्ये-यांशोन भागेन न्यूनं सद्वैक्रियषट्के देवगतिदेवानुपूर्वी नरकगतिनरकानु-पूर्वी वैक्रियशरीरवैक्रियाङ्गोपाङ्गलक्षणे जघन्यस्थितेः परिमाणमवसेयम्। कुत इत्याह यद्यस्मात्कारणात् तेषां वैक्रियत्कलक्षणानां कर्मणामसंज्ञि-पञ्चेन्द्रिया एव जघन्यस्थितिबन्धकास्ते च जघन्यां स्थितिमेतावतीमेव बध्नन्ति न न्यूनान्तर्मुहूर्तमबाधा अबाधा हीना च कर्मस्थितिः कर्मदलिकनिषके इति। किंच एताः षट्प्रकृतयो यथासंभवं नरकदेव-लोकप्रायोग्या बध्यन्त तत्र च देवनारकासंज्ञिमनुष्यैकेन्द्रियविकलेन्द्रिय-नरकेषु देवलोकेषु नोत्पद्यन्त एवेति तेषामेतदबन्धासंभवः। तिर्यग्मनुष्यास्तु संज्ञिनः स्वभावादेव प्रकृतप्रकृतिषट्कस्य स्थितिं मध्यमामुत्कृष्टां वा कुर्वन्तीति तेऽपीहोपेक्षिताः (संनीविआउत्ति) संज्ञी अपि शब्दादसंज्ञी गृह्यते ततः संज्ञी असंज्ञी वा आयुश्चतुःप्रकारमपि जघन्यस्थितिकं करोति तत्र देवनारकायुषोः पञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्या मनुष्यतिर्यगायुषोः पुनरेकेन्द्रियादयो जघन्यस्थितिकर्त्तारो द्रष्टव्याः। उक्ताः पञ्चत्रिंशत्प्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्वामिनः। शेषाणामाह (वायरपज्जेगिंदिओ सेसाणंति) शेषाणां भणितोद्धरितानां निद्रापञ्चका सातवेदनीयानन्तानुबन्धिचतुष्काप्रत्याख्यानावरणचतुष्कप्रत्याख्या-नावरणचतुष्कन पुंसकदेवस्त्रीवेदहास्यादिषट्कमिथ्यात्वमनुष्यगति-तिर्यतिजातिपञ्चकौदारिकशरीरौदारिकाङ्गोपाङ्गतैजसकार्मणसंहननषट्क वसंस्थानषट्कवर्णचतुष्कमनुजानुपूर्वी तिर्यगानुपूर्वी प्रशस्ताप्रशस्त-विहायोगतिपराघातोच्छ्वासातपोद्योता गुरुलघुनिर्माणोपघातत्रसन-वकस्थावरदशकनीचैर्गोत्रलक्षणानां पञ्चाशीतेःप्रकृतीनां बादरः पर्याप्तस्तद्बन्धकेषु सर्वविशुद्ध एकेन्द्रियः पल्योपमासंख्येयभागहीन-सागरोपमद्विसप्तभागादिकां जघन्यां स्थितिं करोति। अन्ये ह्येकेन्द्रियास्तथाविधविशुद्धभावाद्बृहत्तरां स्थितितुपकल्पयन्ति विकलेन्द्रियपञ्चेन्द्रियेषु शुद्धिरधिकाऽपि लभ्यते केवलं तेऽपि स्वभावादेव प्रकृतीनां महतीं स्थितिमुपरचयन्तीति शेषपरिहारेण यथोक्तैकेन्द्रियस्य ग्रहणमिति प्रतिपादितं जघन्यस्थितिबन्धमाश्रित्यस्वामित्वम् (कर्म०)।

(बन्धशब्दे स्थितिबन्धप्रस्तावे गुणस्थानकेस्वस्य चिन्ता)

(अनुभागकर्म तच्चाऽनुभागशब्देदर्शितम्) प्रज्ञा०।

अथप्रदेशकर्म तत्र यादृशं कर्मस्कन्धदलिकं जीवो गृह्णाति तदाह।

अंतिमचउफासदुगंधं-पंचवन्नरकम्मखंधदलं।
सव्वजियणंतगुणरस-मणुजुत्तमणंतयपएसं॥७८॥

जीवः कर्मस्कन्धदलं गृह्णातीत्युत्तरगाथायां संबन्धः। तत्र (अंतिमत्ति) अन्ते भवा अन्तिमाः पश्चादाद्यन्ताग्रादिम इतिमप्रत्ययः अन्त्याः पर्यन्तवर्तिनः अन्तिमत्वं च ''फासागुरुलहुमिउखवरसी उण्हसिणिद्ध-रुक्खट्ठ'' इति कर्मविपाकस्त प्रतिपादितक्रममाश्रित्य ज्ञेयं चत्वारश्चतुः संख्याः स्पर्शाः शीतोष्णस्निग्धरूक्षलक्षणा यस्य कर्मस्कन्धदलस्य कर्मस्कन्धद्रव्यस्येत्यर्थः तदन्तिमचतुःस्पर्शम् अयमत्राशयः अमीषां चतुर्णां स्पर्शानां मध्यात्कोऽपि परमाणुः केनाप्यविरुद्धेन संयुक्तस्तत्र विद्यते तथा हि स्निग्धोष्णस्पर्शद्वितीययोगातः कश्चित्परमाणुस्तत्र भवति कश्चन रूक्षशीतस्पर्शद्वययुक्तः परमाणुः कश्चिच्च स्निग्धशीतस्प-र्शद्वयोपेतः कश्चित्तु रूक्षोष्णस्पर्शद्वयसमन्वित इत्यतः स्कन्धद्रव्यम-भव्यानन्तगुणपरमाणुनिवृत्तं सिद्धानन्तभागवर्त्तिपरमाणु-कलितम-विरुद्धस्पर्शद्वयोपेतपरमाणुसहिततया चतुःस्पर्शसंयुक्तं संगच्छतु एवं गुरुलघुमृदुकठिनस्पर्शवन्तश्च ये परमाणवस्ते कर्मस्कन्धद्रव्येन भवन्तीत्येतच्च प्रज्ञप्तिकर्म्मप्रकृत्याद्यभिप्रायेणोक्तं वृहच्छतकटीकायां तु मृदुघुलक्षणस्पर्शद्वयं तावदवस्थितं भवत्यपरौ च स्निग्धोष्णौ स्निग्धशीतौ वा रूक्षोष्णौ रूक्षशीतौ वा द्वावविरुद्धौ भवत इति चतुःस्पर्शोक्तिरुक्ता। तथा द्वौसुरभिदुरभिलक्षणौ गन्धौ यस्य तद् द्विगन्धंपञ्चशब्दस्य प्रत्येकं संबन्धात्पञ्चेति पञ्चसंख्या वर्णाः कृष्णनीललोहितहारिद्रशुक्ल-लक्षणा यस्य तत्पञ्चवर्णम् पञ्च रसास्तिक्तकटुककषायाम्लमधुर-स्वरूपा यस्य तत्पञ्चरसम्। कार्मणवर्गणाप्रधानाः स्कन्धाः कर्म्मस्कन्धास्त एव यथा स्वकालं दलनाद्विशारुभवात् दलत्रिफलाविशरणे इति वचनाद्दलं दलिकं कर्मस्कन्धदलं ततोऽन्तिमचतुःस्पर्शं च तत् द्विगन्धं च अन्तिमचतुः-स्पर्शद्विगन्धम् अन्तिमचतुःस्पर्शद्विगन्धं च तत्पञ्चवर्णं च अन्तिमचतुः स्पर्शद्विगन्धपञ्चवर्णम् अन्तिमचतुःस्पर्शद्विगन्धपञ्चवर्णं च पञ्चरसं अन्तिमचतुःस्पर्शद्विगन्धपञ्चवर्णपञ्चरसम् अन्तिमचतुःस्पर्शद्विगन्धपञ्च-वर्णं पञ्चरसं च तत् कर्म्मस्कन्धदलं च अन्तिमचतुःस्पर्शद्विगन्ध-पञ्चवर्णपञ्चरसकर्मस्कन्धदलम् इह कर्म्मस्कन्धग्रहणेन एतत्सूचयति ये कर्म्मस्कन्धास्त एव चतुःस्पर्शवन्तो जीवेन गृह्यते औदारिकवैक्रियाहार-कग्यास्तु स्कन्धा अष्टस्पर्शा एव गृह्यते इति तैजसाद्याश्च ये ग्रहणप्रायोग्यास्तेऽपि सर्वे चतुःस्पर्शवन्त एव जीवेन गृह्यन्ते इति मन्तव्यम्वर्णगन्धरसाः पुनरौदारिकादीनां सर्वेषामपि स्कन्धानां यथोक्तप्रमाणा एव भवन्ति। उक्तं च ''पंचरसपंचवण्णेहि, परिणाया अट्ठफासदो गंधा। जीवाहारग जोगा, चउफासविसेसिया उवरिं'' आहारकस्कन्धेभ्य उपरितनास्तैजसाद्याः स्कन्धा ग्रहणप्रायोग्याः सर्वे चतुःस्पर्शा भवन्तीत्यर्थः। तथा सर्वजीवेभ्योऽनन्तो गुणो येषां ते सर्वजीवानन्तगुणाः। रस्य ते विपाकानुभवेननास्वाद्यत इति रसोऽनुभागस्तस्याणवोऽशः रसाणवः सर्वजीवानन्तगुणाश्च ते रसाणवश्च सर्वजीवानन्तगुणाः रसाणवस्तैर्युक्तं समन्वितं इदमत्र हृदयम् इह सर्वजघन्यरसस्यापि पुद्गलस्य रसः केवलिप्रज्ञया छिद्यमानः सर्वजीवनन्तगुणान् भागान् प्रयच्छति ते च भागा अतिसूक्ष्मतया परभागाभावान्निरंशा अंशा रसाणव इत्युच्यन्ते रसाणवो रसावभागा रसपरिच्छेदाभावपरमाणव इति पर्यायाः। ते च रसाणवः प्रतिस्कन्धं सर्वकर्मपररमाणुषु सर्वजी-

वानन्तगुणा विद्यन्ते तैश्चैवं विधै रसाणुभिर्युक्तं परिगतं कर्मस्कन्धदलिकं जीवो गृह्णातीति एतदुक्तं भवति निम्बेक्षुरसाद्यविश्रयणैस्तण्डुलेषु प्रत्येकं यथारसविशेषं तत्तद्रूपं पक्त्राजनयति तथा अनुभागबन्धाध्यवसायैः सर्वस्कन्धेष्वभव्यानन्तगुणकर्मप्रदेशनिष्पन्नेषु प्रतिपरमाणु सर्वजीवेभ्योऽनन्तगुणान रसविभागपलिच्छेदान् जीवो जनयतीति । तथा (अणन्तए एसन्ति) अनन्ता अभव्यानन्तगुणाः सिद्धेभ्योऽनंतगुणहीनाः प्रदेशाः पुद्गला यत्र तदनन्तप्रदेशम्। इदमुक्तं भवति। अभव्येभ्योऽनन्तगुणैः सिद्धेभ्योऽनन्तगुणहीनैः परमाणुभिर्निष्पन्नमेकैकं कर्म्मस्कन्धं गृह्णाति तानपि स्कन्धान् प्रतिसमयमभव्येभ्योऽनन्तगुणान् सिद्धानामनन्तभागवर्तिन एव गृह्णातीति ॥

एगपएसोगाडं, नियसव्वपएसओ गहेइ जिओ ।
थोवो आउतदंसो, नामेगो एसमो अहिओ ॥७९॥

एकस्मिन् प्रदेशेऽवगाढमेकप्रदेशावगाढमेकप्रदेशावगाढं येष्वाकाशप्रदेशेषु जीवोऽगाढस्तेष्वेव यत्कर्म्मपुद्गलद्रव्यं तद्रागादि स्नेहगुणयोगादात्मनि लगति यदाह वाचकमुख्यः ''स्नेहाभ्यशरीरस्य, रेणुनाश्लिष्यते यथा। रागद्वेषानुरक्तस्य, कर्मबन्धस्तथाध्रुवम्'' नत्वनन्तरपरंपरप्रदेशावगाढं भिन्नदेशस्थस्य कर्मपुद्गलद्रव्यस्य ग्राह्यत्वपरिणामाभावात् यथाहि देहिनः स्वप्रदेशस्थितान् योग्यपुद्गलानात्मभावेन परिणमयति इत्येवं जीवोऽपि स्वक्षेत्रस्थमेव द्रव्यमादत्ते नत्वनन्तरपरम्परप्रदेशस्थम् एतच्च द्रव्यं गृह्यमाणं जीवेन नैकेन प्रदेशेन न द्व्यादिभिर्वा प्रदेशैः किन्तु सर्वैरप्यात्मीयप्रदेशैरित्येतदेवाह निजा आत्मीयाः सर्वे समस्ताः प्रदेशा निजसर्वप्रदेशास्तैर्निजसर्वप्रदेशतः आद्यादेराकृतिगणत्वात्तास्प्रत्ययः निजसर्वप्रदेशैः कर्मस्कन्धदलिकं गृह्णातीत्यर्थः। जीवप्रदेशानां सर्वेषामपि शृङ्खलावयवानामिव परस्परं संबन्धविशेषभावात् । तथाहि एकस्य जीवस्य समस्तलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमाणाः प्रदेशावर्तन्ते मिथ्यादिबन्धकारणोदये च सति एकस्मिन् जीवप्रदेशे स्वक्षेत्रावगाढ ग्रहणप्रायोग्यद्रव्यग्रहणाय व्याप्रियमाणे सर्वथात्मप्रदेशा अनन्तरपरम्परतया तद्द्रव्यग्रहणाय व्याप्रियन्ते यथा हस्ताग्रेण कस्मिंश्चिद्ग्राह्ये कटादिके गृह्यमाणे मणिबन्धकुर्परांशादयोऽपि तद्ग्रहणाय अनन्तरपरम्परतया व्याप्रियन्ते इति। कर्म० ५ क० ॥

नाणावरणिज्जस्स णं भंते ! कम्मस्स केवइया अविभागपलिच्छेदा पण्णत्ता ? गोयमा ! अणंता अविभग पलिच्छेदा पण्णत्ता ॥

(अविभागपलिच्छेदेति) परिच्छिद्यन्त इति परिच्छेदा अंशास्ते च सविभागा अपि भवन्त्यतो विशेष्यन्ते अविभागाश्च ते परिच्छेदाश्चेत्याविभागपरिच्छेदा निरंशा अंशा इत्यर्थस्ते च ज्ञानावरणीयस्य कर्म्मणोऽनन्ताः कथं ज्ञानवरणीयं यावतो ज्ञानस्य विभागभेदानावृणोति तावन्त एव तस्याविभागपरिच्छेदा दलिकापेक्षया वाऽनन्ततत्परामाणुरूपाः ॥

नेरइयाणं भंते ! नाणावरणिज्जस्स कम्मस्स केवइया अविभागपलिच्छेदा पण्णत्ता ? गोयमा ! अणंता अविभागपलिच्छेदा पण्णत्ता एवं सव्वजीवाणं एवं जहा नाणावरणिज्जस्स अविभागपलिच्छेदा भणिया तहा अट्ठण्ह वि कम्मपगडीणं भाणियव्वा जाव वेमाणियाणं अंतराइयस्स ।

''अविभागपलिच्छेदेहिंत्ति'' तत्परमाणुभिः—

एगमेगस्स णं भंते ! जीवस्स एगमेगे जीवप्पएसे नाणावरणिज्जस्स कम्मस्स केवइएहिं अविभागपलिच्छेदेहिं आवढियपरिवेढिए ? गोयमा ! सिय आवेढियपरिवेढिए सियनो आवढियपरिवेढिए । जइ आवेढियपरिवेढिए नियमा अणंतेहिं एगमेगस्स णं भंते ! नेरइयस्स एगमेगे जीवप्पएसे नाणावरणिज्जस्स कम्मस्स केवइएहिं अविभागपलिच्छेदेहिं आवेढियपरिवेढिए ? गोयमा ! नियमं अणंतेहिं जहा नेरइयस्स एवं जाव वेमाणियस्स नवरं मणूसस्स जहा जीवस्स एगसेगस्स एगमेगस्स णं भंते ! जीवस्स एगमेगे जीवप्पएसे दरिसणावररणिज्जस्स कम्मस्स केवइएहिं एवं जहेव नाणावरणिज्जस्स तहेव दंडगो भाणियव्वो जाव वेमाणियस्स एवं जाव अंतराइयस्स भाणियव्वं । नवरं वेयणिज्जस्स आउयस्स नामस्स गोयस्स ! एएसिं चउण्हवि कम्माणं मणुस्सस्स जहा नेरइयस्स तहा भाणियव्वं सेसं तं चेव ।

तत्परमाणुभिः (आवेढियपरिवेढियत्ति) आवेष्टितपरिवेवष्टितो-ऽत्यन्तं वेष्टित इत्यर्थः आवेष्ट्य परिवेष्टित इति वा (सिय नो आवेढियपरिवेढिएत्ति) केवलिनं प्रतीत्य तस्य क्षीणज्ञानावरणत्वेन तत्प्रदेशस्य ज्ञानावरणीयाविभागपरिच्छेदैरावेष्टन परिवेष्टानाभावादिति (मणूसस्स जहा जीवस्सत्ति) ''सिय आवेढियेत्यादि'' वाच्यमित्यर्थो मनुष्यापेक्षया आवेष्टितपरिवेष्टित्वस्य तदितरस्य च सम्भवात् । एवं दर्शनावरणीयमोहनीयप्न्तरायेष्वपि वाच्यं वेदनीयायुष्कनामगोत्रेषु पुनर्जीवपदएव भजना वाच्या सिद्धापेक्षया मनष्यपदे तु नासौ तत्र वेदनीयादीनां भावादित्येतदेवाह नवरं ''वेयणिज्जस्सेत्यादि'' भ०८ श०१९ उ० उत्त०(बन्धाइ शब्देषु प्रदेशबन्धाद्यधिकारेऽन्यत्)

प्रथमतः करणाष्टकमभिधित्सुराह—

बंधण १ संकमणु २ व्वट्टणा य ३ अववट्टणा ४ उदीरणया ५ उवसामणा ६ निहत्ती ७ निकायणा ८ चतिकरणाइं २ ।

इह करणशब्देन सह पर्यन्ते सामानाधिकरण्याभिधानात् प्रत्येकं करणशब्दोऽभिसंबन्धनीयः तद्यथा बन्धनकरणं संक्रमकरणमित्यादि। क०प्र०। प्रदेशाग्रमुक्त्वा कर्मणां क्षेत्रं वदन्ति।

सव्वजीवाणं कम्मं तु, संगहेछद्दिसागयं ।
सव्वेसु वि पएसेसु, सव्वं सव्वेण बद्धगं ॥१८॥

कर्म्म ज्ञानावरणीयादीकं सर्वजीवानां एकेन्द्रियादीनां संग्रहे संग्रहक्रियायां योग्यं तु षट्दिशागतं स्यात् शण्णा दिशां समाहारः षड्दिशं तत्र गतं षड्दिक्स्थितमित्यर्थः। तत्र चतस्रः

पूर्वाद्या दिशः ऊर्द्धाधो दिग्द्वयं चेदमेवं दिग्षट्कमत्र षड्दिगतं कर्म द्वीन्द्रियादिजीवान् एव अधिकृत्य संग्रहक्रियायां योग्यं स्यादिति नियमः एकेन्द्रियाणां तु आगमेत्यादि दिक् स्थं कर्म ग्रहणक्रियायां योग्यमपि उक्तमस्ति। अपरत्रागमे च तदाह एगिंदियाणं भंते ! तेयाणं कम्म पुग्गलाणं गमणं करेमाणे किं तिदिसं करेइ गोयमा ! सिय तिदिसिं सिय चउद्दिसिं सिय पंचदिसिं करेइ वेइंदियाणं भंते ! पुच्छा गोयमा ! वें दिया जाव पंचेंदिया नियमा छद्दिसिं करेइ'' कथं संग्रहक्रियायां योग्यं केन सह कियद्वा स्यादित्याह सर्वैरप्यात्मप्रदेशैः सर्वज्ञानावरणादि सर्वेण प्रकृतिस्थित्यादिना प्रकारेण बद्धकमन्योऽन्यं उम्बन्धतया क्षीरोदकवत् आत्मप्रदेशैः श्लिष्टं तदेव बद्धकं कर्म संग्रहे योग्यं भवति नत्वन्यत्। आत्मा हि सर्वप्रकृतिप्रायोग्यपुद्गलान् सामान्येन आदाय तान् पुद्गलान् अध्यवसायविशेषात् पृथग् ज्ञानावरणादिरूपत्वेन परिणमयति। यत्र हि आकाशे जीवोऽवगाढस्तत्र ये आकाशप्रदेशा आत्मन्याश्रितास्तेषु ये कर्मपुद्गलादिरागादिस्नेहयोगत आत्मनि लगन्ति ते एव कर्मपुद्गला जीवानां संग्रहयोग्या न तु क्षेत्रान्तरावगाढाः कर्मपुद्गला तीवानां संग्रहणार्हा भिन्नदेशस्थानां ग्रहणयोग्याभावात् ''सव्वेसु एएसेसु'' इति प्राकृतत्वात् तृतीया बहुवचनस्थाने सप्तमीबहुवचनं भिन्नप्रदेशस्थाः कर्मपुद्गलाः कथं ग्रहणयोग्या भवन्ति अत्र दृष्टान्तो यथाऽग्निःस्वप्रदेशस्थान् प्रायोग्यपुद्गलान् आत्मसात् करोति एवं जीवोऽपि स्वप्रदेशस्थान् कर्मपुद्गलान् आत्मसात् करोति किञ्चद्विदिक् स्थितमपि कर्म आत्मा गृह्णाति परमल्पत्वान्न विवक्षितम् उत्त० २३ अ०। कर्मणामुदय उदय शब्दे (एवं उईरणा शब्दे उदीरणा बन्धो बन्ध शब्दे) एवं बन्धनादिकरणाष्टकं यावद् व्यक्तिकरणम्।

अथ बन्धोदयसत्तास्थानानां संवेधः॥

सिद्धपएहिं महत्थं, बंधोदयसंतपयडिठाणाणि।
वुच्छ सुणु संखेवं, नीसंदं दिट्ठिवादस्स॥१॥

प्रकृतीनां स्थानानि द्वित्र्यादिप्रकृतिसमुदाया इत्यर्थः स्थानशब्दाऽतो समुदायवाची बन्धोदयसत्तासु प्रकृतिस्थानानि बन्धोदयसत्ताप्रकृतिस्थानानि तेषां संक्षेपं वक्ष्ये तं च वक्ष्यमाणं शृणुण्विति क्रियापदं च श्रोतृणां कथंचिदनाभोगवशतः प्रमादसंभवेऽप्याचार्येण नोद्वेजितव्यं किन्तु सुमधुरवचोभिः शिक्षानिबन्धनैः श्रोतृणां मनासि प्रसाद्य यथार्हमागमार्थो निवेदनीय इति ख्यापनार्थं तदुक्तम् ''अणुवत्तणापसेहा पायं पावंति जोग्गयं परमं। रयणं पियगुक्करिसं, उव्वेइ सोहम्मगुण गणेणं। एत्थ य पमायखलिया, पुव्वभासेण कस्ससव न होंति। जो ते वणेइ सम्मं, गुरुत्तणं तस्स सफलंति। को नामसारहीणं, स होज्ज जो भद्द वाइणो दमणे। दुट्ठे वि य जो पासे, दमेइ तं सारहिं विंति'' संक्षेपस्यैव विशेषणार्थमाह। महार्थो महान् प्रभूतोऽर्थोऽभिधेयो यस्य स महार्थः ननु संक्षेपाविस्तरार्थसंग्रहस्ततः स महार्थ एव भवतीति किमर्थमिति विशेषणं तदयुक्तं संक्षेपस्य अन्यथाऽपि संभवात् तथाह्यारुयानालापकसंगण्यसंग्रहण्यः संक्षेपरूपा दृश्यन्ते न च महार्थस्तत्तात्पर्यार्थस्याल्पीयस्त्वात्। ततस्तत्कल्पनामुं संक्षेपं नाज्ञासी द्विनेयजन इत्यमहार्थत्वाच्छङ्कापनोदार्थं महार्थइति विशेषणम् पुनरप्युं विशेषयति निःस्यन्दृष्टिवादस्य दृष्टिवादमहार्णवस्य विन्दुभूतं निःस्यन्दकल्पं दृष्टिवादो हि परिकर्म्म तत्र प्रथमानुयोगपूर्वगतचूलिकारूपपञ्चप्रस्थानः तत्र पूर्वेषु मध्ये द्वितीये अग्रायणीयाभिधाने चतुर्दशवस्तुसमन्विते पूर्वे यत्पञ्चमं वस्तु विंशतिप्राभृतपरिमाणं तस्य चतुर्थं यत् कर्म्मप्रकृतिनामकं चतुर्विंशत्यनुयोगद्वारमयं प्राभृतं तस्मादिमे त्रयोबन्धादयः सूत्रकृता लेशतो वक्ष्यन्ते ततोऽन्यं बन्धोदयसत्प्रकृतिस्थानानां संक्षेपो दृष्टिवादस्य निस्यन्दरूपः अनेन च प्रकरणस्य सर्वविन्मूलता ख्यापिता द्रष्टव्या दृष्टिवादो हि भगवतापरमार्हन्त्यमहिम्ना विराजमानेनवीरवर्द्धमानस्वामिना साक्षादर्थताऽभिहितः सूत्रतस्तु सुधर्मस्वामिना तन्निष्यन्दरूपं चेदं प्रकरणमतः सर्वविन्मूलमिति। ननु बन्धोदयसत्प्रकृतिस्थनानां संक्षेपोऽभिधातव्यः किं प्रत्येकमाहोश्वित् संवेधरूप उच्यते संवेधरूपस्तथा चामुमेव संवेधरूपं संक्षेपं विवक्षुः शिष्यान् प्रश्नं कारयति॥

कइबंधतो बेअइ, कइकइ वा संतपयडि ठाणाणि।
मूलुत्तरपगईसुं, भंगविगप्पा उ बोद्धव्वो॥२॥

कतिशब्दः परिमाण पृच्छायां कति कर्म्मप्रकृतीर्बध्नन् कति कर्म्मप्रकृतीर्वेदयते कति वा तथा बध्नतो वेदयमानस्य प्रकृतिसत्कर्म्मस्थानानि प्रकृतिसत्तास्थानानि एवं शिष्यैः प्रश्ने कृते सत्याचार्योऽस्मिन् विषये भंगजालमानकप्रकारं वचोमात्रेण यथावत्प्रतिपादयितुमशक्यं जानानः सामान्येनैव प्रत्युत्तरमाह मूले प्रकृतिषु ज्ञानावरणादिरूपासु उत्तरप्रकृतिषु च मतिज्ञानावरणादिश्रुतज्ञानावरणादिरूपासु उभयीषु च वक्ष्यमाणस्वरूपासु प्रत्येकं बन्धोदयसत्तासंवेधमधिकृत्य चिन्त्यमानासु वचोभङ्गः संभवति ते चास्मिन् प्रकरणे यथावत् वैविक्त्ये न प्रतिपाद्यमानाः सम्यग्बोद्धव्याः। तत्र मूलप्रकृतयोऽष्टौ तद्यथा ज्ञान वरणं दर्शनावरणं वेदनीयं मोहनीयम्। आयुः नाम गोत्रमन्तरायं च (कर्म०)।

तत्र मूलप्रकृतीनामुक्तस्वरूपाणां बन्धम्प्रतीत्य चत्वारि प्रकृतिस्थानानि। तद्व्यथा अष्टौ सप्त षट् एकश्च। तत्र सर्वप्रकृतिसमुदायोऽष्टौ एतासां च बन्धो जघन्यतोत्कर्षेणान्तर्मुहूर्त्त-प्रमाणः आयुषि हि बध्यमाने अष्टानां प्रकृतीनां बन्धः प्राप्यते आयुषश्च बन्धोऽन्तर्मुहूर्त्तमेव कालं भवति न ततोऽप्यधिकम्। तथा त एवाष्टावायुर्वर्जाः सप्त एतासां च बन्धो जघन्येनान्तर्मुहूर्तं यावत् उत्कर्षेण च त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि षण्मासोनानि अन्तर्मुहूर्त्तोनपूर्वकोटित्रिभागाभ्यधिकानि। तथा ता एवाष्टावायुर्मोहनीय वर्जाः षट्। एतासां च बन्धो जघन्येनैकं समयं तथाहि एतासामुक्तरूपाणां षण्णां प्रकृतिरूपाणां षण्णं प्रकृतीनां बन्धः सूक्ष्मसंपराये सर्वोपशमश्रेण्यां कश्चिदेकं समयं भूत्वा द्वितीय समये भवक्षयेण दिवं गतः सन्नविरतो भवति अविरतत्वे चावश्यं सप्त प्रकृतीनां बन्ध इति षण्णां बन्धो जघन्येनैकं समयं यावत् उत्कर्षेण त्वन्तर्मुहूर्त्तं सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानकस्यान्तर्मुहूर्त्तपगमाणत्वात् तथा सप्तानां प्रकृती नां बन्धव्यच्छेदे एकस्या वेदनीयरूपायाः प्रकृतेर्बन्धः स च जघन्येनैकं समयमेक समयभावोपशमश्रेण्यामुपशान्तं मोहगुणस्थाने प्रागुक्तप्रकारेण भावनीयः उत्कर्षेण पुनर्देशोनां पूर्वकोटिं यावत्। सर्वोत्कर्षतः कस्या वेदितव्य इति चेत् उच्यते यो गर्भवासे मासैसप्तकमुषित्वा ऽनन्तरं शीघ्रमेव योनिनिष्क्रमण जन्मना जातो वर्षाष्टकाद्योपरि संयमं प्रतिपन्नः प्रतिपत्यनन्तरे च क्षपकश्रेणिमारुह्योत्पादितकेवलज्ञानदर्शनस्तस्य सयोगिके

बलिनो वेदितव्यः, तदेवं बन्धमाश्रित्य प्रकृतिस्थानप्ररूपणा। कर्म०। पं० सं०।

बन्धेन बन्धस्य सम्बेधः। संप्रति कस्यां प्रकृतौ वध्यमानायां कतिप्रकृतिस्थानानि बन्धमाश्रित्य प्राप्यन्ते इति निरूप्यते तत्रायुषि बध्यमाने अष्टावपि प्रकृतयो नियमेन बध्यन्ते मोहनीयेऽतु बध्यमाने अष्टौ सप्त वा तत्राष्टौ सर्वाः प्रकृतयस्ता एवायुर्वर्जाः सप्त ज्ञानावरणदर्शनावरण-नामगोत्रान्तरायेषु बध्यमानेषु अष्टौसप्त षट्। तत्राष्टौ सप्त च प्रागिव मोहनीयायुर्वर्जाः षट् ताश्च सूक्ष्मसंपराये प्राप्यन्ते वेदनीये तु वध्यमाने अष्टौ सप्त षट् एका च त त्राष्टौ सप्त षट् च प्रागिव एका तु सैव वेदनीयरूपा प्रकृतिः सा चोपशान्तमोहगुणस्थानकादौ प्राप्यते। उक्तं च 'आउम्मि अट्ठमो हेट्ठ, सत्त एक्कंच छाइए। वज्झंतयम्मि वज्झंति, सेसएसु छसत्तट्ठ' कर्म०। पं० सं०।

सम्प्रति किं कर्म बध्नन् कानि कर्माणि बध्नातीति बन्धसंबंधं विचिन्तयिषुः प्रथमतो ज्ञानावरणीयेन सह सम्बन्धं चिन्तयति।

जीवे णं भंते ! नाणावरणिज्जं कम्मं बंधमाणे कइ कम्मपगडीओ बंधइ ? गोयमा ! सत्तविहबंधए वा अट्ठविहबंधए वा छव्विहबंधए वा ॥

''जीवेणं भंते'' इत्यादि सुगमं नवरं सप्तविधबन्धक आयुर्बन्धाभावकाले अष्टविधबन्धकमायुरपि बध्नन् षड्विधबन्धको मोहायुर्बन्धाभावे स च सूक्ष्मसंपरायः उक्तं च ,–''सत्तविह बंधगा हों ति, पाणिणो आयूवज्जमाणं तु। तह सुहुमसंपराया, छव्विहबंधा विणिद्दिट्ठा ॥ मोहाउ य वज्जाणं, पयडीणं ते उ बंधगा भणिया'' इति। एकविधबन्धकस्तु ल लभ्यते एकविधबन्धकाहि उपशान्तकषायादयस्तथाचोक्तम् ''उवसंतखीण-मोहा, केवलिणो एगविहं बंधो। ते पुण दुसमयठियस्स, बंधगा न उणं संपरायस्स'' ॥१॥ चोपशान्तकषायादयो ज्ञानावरणीयं कर्म बध्नति तदबन्धस्य सूक्ष्मसम्परायचरमसमय एव व्यवच्छेदात् किंतु केवलं सातवेदनीयमिति।

एतदेव नैरयिकादिदण्डकक्रमेण चिन्तयति।

णेरइयाणं भंते ! नाणावरणिज्जं कम्मं बंधमाणे कइ कम्मपगडीओ बंधइ ? गोयमा ! सत्तविहबंधए वा अट्ठविहवधए वा एवं जाव वेमणिए नवरं मणूसे जहा जीवे।

''नेरइयाणं भंते!'' इत्यादि इह मनुष्यवर्जेषु शेषेषु पदेषु सर्वेष्वपि द्वावेव भङ्गकौ द्रष्टव्यौ सप्तविधसबन्णको वा अष्टविधवन्धको वा इति नतु तृतीयः। षड्विबन्धक इति तेषु सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानासंभववात्। मनुष्यपदेषु त्रयोऽपि वक्तव्याः तत्र सूक्ष्मसंपराये त्वसंभवात् तथाचाह ''एवं जाव वेमाणिए। न वरं मणुसे जहा जीवे'' इति उक्त एकत्वेन दण्डकः।

सम्प्रति बहुत्वेनाह–

जीवा णं भंते ! नाणावरणिज्जं कम्मं बंधमाणा कइ कम्मपगडीओ बंधंति ? गोयमा ! सव्वे वि ताव होज्जासत्तविह-बंधगा य अट्ठविहबंधगा य अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगे य अहवा सत्तविहबंधगा य छव्विहबंधगे य अहवा सत्तविहबंधगा य छव्विह बंधगा य। णेरइयाणं भंते ! नाणावरणिज्जं कम्मं बंधमाणा कइ कम्मपगडीओ बंधंति ? गोयमा ! सव्वे वि ताव होज्जा सत्तविहबंधगा अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंए य अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य तिन्नि भंगा। एवं जाव थणियकुमारा। पुढविकाइयाणं पुच्छा ? गोयमा ! सत्तविहबंधगा वि अट्ठविहबंधगा वि। एवं जाव वणस्सइकाइया वि। विगलिंदियाणं पंचिंदियतिरिक्खजोणियाण य तियभंगो सव्वे वि ताव होज्जा सत्तविहबंधगा अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधए य अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा ॥

''जीवाणं भंते!'' इत्यादि इह जीवाः सप्तविधबन्धकाः अष्टविधबन्ध-काश्च सदैव बहुत्वेन लभ्यन्ते षड्विधबन्धकास्तु कदाचित्सर्वथाः न भवति षण्मान् यावदुत्कर्षतस्तदन्तरस्य प्रतिपादनात् यदापि लभ्यते तदापि जघन्यपदे एको वा द्वौ वा उत्कर्षेतो ऽष्टाधिकं शतम्। तत्र यदैकोऽपि न लभ्यते तदा प्रथमो भङ्गः यदा त्वेको लुभ्यते तदा द्वितीयो बहूनां लाभे तु तृतीय इति। नैरयिकाः षड्विधबन्धका न भवन्ति अष्टविधबन्धका :विधबन्धका अपि बदाचित्कास्तत्र यदैकोऽप्यष्टविधबन्धको न लभ्यते तदा सर्वेऽपि तावद्भवेयुः सप्तविधबन्धका इति भङ्गः। यदा त्वेकोऽष्टविधबन्धकस्तदा द्वितीयो यदा तु बहवस्तदा तृतीय इति एतदेव भङ्गत्रिकं दशस्वपि भवनपतिषु भावनीयम् पृथिव्यादिषु पञ्चसु सप्तविधबन्धका अपि अष्टविधबन्धका अपीत्येक सएवं भङ्गोऽष्टविधबन्ध-कानातापि सदैव तेषु बहूत्वेन लभ्यमानत्वात् द्वित्रिचतुरिन्द्रियतिर्यक्प-श्चेन्द्रियसूत्रेषु भङ्गत्रिकं नैरयिकवत्।

मणूसाणं भंते ! नाणावरणिज्जस्स पुच्छा ? गोयमा ! सव्वे वि ताव होज्जा सत्तविहबंधगा ? अहवा सत्तविहबंधए य अट्ठविहबंधए य २ अहवा सत्तविहबंधगा अट्ठविहबंधगा य ३ अहवा सत्तविहबंधगा छव्विहबंधगा य ४। अहवा सत्तविहबंधगा छव्विहबंधए य ५। अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य छव्विहबंधए य ६। अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगे य छव्विहबंधगा य ७। अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा छव्विहबंधए य ८। अहवा सत्तविहबंधगाअट्ठविहबंधगा छव्विहबंधए य ९। एवं एते नव भंगा सेसा वाणमंतराइया जाव वेमाणिया जह णेरइया अहवा सत्तविहबंधगा भणिया तह भाणियव्वा। एवं जहा नाणावरणं बंधमाणा जहिं भणिया दंसणा वरणं पि बंधमाणा तहिं जीवादिया एगत्तपोहत्तेहिं भाणियव्वा ॥

मनुष्यसूत्रेभङ्गनवकमष्टविधबन्धकस्य च कदाचित् सर्वथाऽप्यभावात् तत्राष्टविधषड्विधबन्धकाभावे सर्वेऽपि तावद्भवेषुः सप्तविधबन्धका इति प्रथमो भंगः सप्तविधबन्धकानां सदैव बहुत्वेन प्राप्यमाणत्वात् एकाष्टविधबन्धकाभावे द्वितीयसप्तविधबन्धकाश्चाष्टविधबन्धकश्च बहुष्टविधबन्धकभावे तुतीयसप्तविधबन्धकाश्चाष्टविधबन्धकाश्च। एवमेवाष्टविधबन्धकभावषड्विधबन्धकपदेन्याप्येकत्वबहुत्वाभ्यां द्वौ भङ्गाविति द्विकसंयोगे चत्वारो भङ्गाः त्रिकसंयोगेऽप्यष्टविधबन्धक-षड्विध-बष्पदयोः प्रत्येकमेकवचनबहुवचनाभ्यां द्वौ भङ्गाविति चत्वार इति। सर्वसंख्यया नव व्यन्तरज्योतिष्कवैमानिका नैरयिकवत्।

यथा च ज्ञानावरणीयं चिन्तितं तथा दर्शनावरणीयमपि चिन्तयितव्यम्।

वेयणिज्जं बंधमाणे जीवे कइ कम्म ? गोयमा ! सत्तविहबंधए वा अट्ठविहबंधए वा छव्विहबंधए वा एगविहबंधए वा एवं मणूसे वि सेसा नारगादीया सत्तविह अट्ठविहबंधगा जाव वेमाणिए ! जीवाणं भंते ! वेयणिज्जं कम्मं बंधइ पुच्छा, सव्वे वि ताव होज्जा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य एगविहबन्धगा य छव्विहबन्धगा य अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य एगविहबन्धगा य। अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य एगविहबन्धगा य। छव्विहबंए य। अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य एगविहबन्धगा य छव्विहबंगा य अवसेसा नारगादिया जाव वेमाणिया जाहिं नाणावरणं बंधमाणा वंधंति तीहिंह, भाणियव्वा नवरं मणूसाणं भंते ! वेदणिज्जं कम्मं बंधमाणा कइ कम्मपगडीओ बंधंति गोयमा ! सव्वे ति ताव होज्जा सत्तविधबंधगा य एगविहबन्धगा य १अहवा सत्तविहबंधगा य एगविह बन्धगा य अट्ठविहबंधए य२। अहवा सत्तविहबंधगा य एगविहबन्धगा य अट्ठविहबंधगा य ३। अहवा सत्तविहबंधगा य एगविहबन्धगा य छव्विहबंधए य ४। अहवा सत्तविहबंधगा य एगविहबन्धगा य छव्विहबंधगा य ५। अहवा सत्तविहबंधगा य एगविहबन्धगा य अट्ठविहबंधए य छव्विहबंधए य ६। अहवा सत्तविहबंधगा य एगविहबन्धगा य अट्ठविहबंधगा य छव्विहबंधगा य७। अहवा सत्तविहबंधगा य एगविहबन्धगा य अट्ठविहबंधए य छव्विहबंधए य ८। अहवा सत्तविहबंधगा य एगविहबन्धगा य अट्ठविहबंधगा य छव्वि हबंधगा य ९। एए नव भंगा। मोहणिज्जं बंधमाणे जीवे कइ कम्मपयडीओ बंधइ ? गोयमा ! जीवेगिंदियवज्जो तियभंगो जीवे गिंदिया सत्तविहबंधगा वि अट्ठविहबंधगा वि जीवे णं भंते ! आउयं कम्मं बंधमाणे कइ कम्मपगडीओ बंधइ ? गोयमा ! नियमा अट्ठ एवं नेरइए जाव वेमाणिए। एवं पुहत्तेण वि। नामगोयंतराइं बंधमाणे जीवे कइ कम्मपयडीओ बंधए ? गोयमा ! जाहिं नाणावरणिज्जं बंधमाणे बंधइ ताहिं भाणियव्वो एवं नेरइए जाव वेमाणिए। एवं पुहत्तेण वि माणियव्वं॥

वेदनीयचिन्तायाम् ''एकविधबंधए वा इति '' उपशान्तमोहादि शेषं प्राग्वत्। मनुष्यपदविषयचिन्तायामपि त एव प्रागुक्ता नव भङ्गाः सप्तविधबन्धकानां च सदैव बहुत्वेनावस्थिततया भङ्गान्तरासम्भवान्मोहचिन्तायां जीवपदे पृथिव्यादिषु पदेषु च प्रत्येकमेक एव भङ्गः। सप्तविधबन्धका अपि अष्टविधबन्धका अपि उभयेषामपि सदैव बहुत्वेन लभ्यमानत्वात्। षड्विधबन्धस्तु मोहनीयबन्धको न भवति मोहनीयबन्धो ह्यनिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानकं यावत् षडविधबन्धकास्तु सूक्ष्मसंपराय इति आयुर्बन्धकस्तु नियमादष्टविधबन्धक इति तद्विन्तयति तद्विन्तायामेकवचनबहुवचने च सर्वत्राभङ्गकं नामगोत्रान्तरायसूत्राणि ज्ञानावरणीयसूत्रवत् प्रज्ञा० २५ पद।

बन्धवेदौ सम्प्रति किं कर्म वेदयेते का: कर्मप्रकृतीर्वध्नीतइत्युदयेन सह सम्बन्धस्य सम्बन्धं चिन्तयिषुरिदमाह॥

जीवे णं भंते ! नाणावरणिज्जं कम्मं वेदेमाणे कइ कम्मपगडीओ बंधइ ? गोयमा ! सत्तविहबंधए वा, अट्ठविहबंधए वा छव्विहबंधए वा एगविहबंधए वा॥

''जीवे णं भंते'' इत्यादि सुगमं नवरं ज्ञानावरणीयं कर्म वेददयमान एकविधबन्धक उपशान्तमोहः क्षीणमोहो वा न तु स योगिकेवली तस्य ज्ञानावरणीयोदयाभावात्।

जीवा णं भंते ! नाणावरणिज्जं कम्मं वेदमाणा कइ कम्मपगडीओ बंधइ ? गोयमा ! सव्वे ति जाव होज्जा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य।१। अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य छव्विइबंधए य।२। अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य छव्विइबंधगा य।३। अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य एगविहबंधगे य।४। अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य एगविहबंधगा य।५। अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य छव्विहबंधगे य एगविहबंधगे य।६। अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य छव्विहबंधगा य एगविहबंधगा य।७। अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य छव्विहबंधगा य एगविहबंधगे य।८। अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य छव्विहबंधगा य एवं एते नव भंगा अवसेस्साणं एगिंदियमणुस्सवज्जाणं तियभंगो जाव वेमाणियाणं एगिंदियाणं सत्तविहबंधगा य अट्ठविहगंधगा य॥

बहुवचनचिन्तायां षड्विधबन्धकाः सूक्ष्मसम्पराया एकविधबन्धका उपशान्तमोहक्षीणमोहाः कादाचित्का एकत्वादिना च भाज्या इत्युभयेषामप्यभावे सप्तविधबन्धका अपि अष्टविधबन्धका अपित्वेको भङ्गो द्वयानामपि सदैव बहुत्वेन लभ्यमानत्वात् ततः षड्विधबन्धकपदप्रक्षेपे एकवचनबहुवचनाभ्यां द्वौ भङ्गौ एवमेव द्वौ भङ्गावेकविधबन्धकप्रक्षेपेऽपि उभयोरपि युगपत् प्रक्षेपे पूर्ववच्चत्वार इति संख्यया नव नैरयिकादिषु तु पदेष्वेकेन्द्रियमनुष्यवर्जेषु बहुवचनचिन्तायां भङ्गत्रिकमष्टविधबन्ध-कानां कादाचित्कतया एकत्वादिना भाज्यतया च लभ्यमानत्वात्। एकेन्द्रियेषु त्वभङ्गकं सप्तविधबन्धकाष्टविधबन्धका अपीति उभयेषामपि सदा बहुत्वेन प्राप्यमाणत्वात्।

मणुस्साणं पुच्छा ? गोयमा ! सव्वे वि ताव होज्जा सत्तविहबंधगा अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगे य अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा अहवा सत्तविहबंधगा य छव्विहबंधए य एवं छव्विहबधएण वि समं दो भंगाएगविहबंधएण वि समं दो भंगा अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधए य छव्विहबंधए य चउभंगा

अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधएय एगविवहबन्धए य चउभंगा अहवा सत्त विहबंधगाय छव्विहबंधए य एगविहबंधए य चउभंगा अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधए य एगविवहबन्धए अट्ठ। एवं एते सत्तावीसं भंगा एवं जहा नाणावरणिज्जं तहा दरिसणावरणिज्जं अंतराइयं पि जीवे णं भंते वेयणिज्जं कम्मं वेदेमाणे कइ कम्मपगडीओ बंधइ ? गोयमा ! सत्तविहबंधए वा अट्ठविहबंधए वा छव्विहबंधए वा एगविहबन्धए वचा अबंधए वा एवं मणूसे वि विसेसा नाररयादिया सत्तविहबंधगा अट्ठविहबंधगा एवं जाववेमाणिया।

मनुष्येषु सप्तविंशतिभङ्गा अष्टविधमन्धकषड्विधबन्धकैक-विधबन्धकानां कादाचित्कतया एकत्वादिना भाज्यतया च लभ्यमानत्वात् तत्राभीषामभावे सप्तविधबन्धका इत्येको भङ्गः ततोऽष्टविधबन्धकपदप्रक्षेपे एकवचनबहुवचनाभ्यां द्वौ द्वौ षड्विधबन्धकप्रक्षेपे इति सप्त ततोऽष्टविधबन्धकषडविधबन्धकपद प्रक्षेपे चत्वारोऽष्टविधबन्धकैकपदप्रक्षेपे चत्वारः एकोनविंशतिः ततोऽष्टविधबन्धकषडविधबन्धकैक विधबन्धकपदानां युगपत्प्रक्षेपे-ऽष्टाविंशतिः सप्तविंशतिः।

जीवा णं भंते ! वेदणिज्जकम्मं वेदेमाणा इि कम्मपयडीओ बंधंति ? गोयमा ! सव्वे वि ताव होज्जा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य एगविहवंधगा य अहवा सत्तविहवंधगा य अट्ठविहवंधागा य एगाविहबंधगा य छव्विहबंधए य अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधागा य एगविहबंधगा य छव्विहबंधगा य अबंधएण वि समं दो भंगा नेयव्वा। अहवा सत्तविहवंधगा य अट्ठविहबंधागा य एगविहबंधगा य छव्विहबंधए य अबंधए य चउभंगा एवं एते नव भंगा एगिंदियाणं अभंगयं नारगादीणं तियभंगा जाव वेमाणियाणं नवरं मणुस्साणं पुच्छा, सव्वे वि ताव होज्जा सत्तविहबंधगा य एगविहबंधगा य अहवा सत्तविहबंधगाय एगविहबंधगा य छव्विहबंधए अट्ठविहबंधए य अबंधए य। एवं एते सत्तावीसं भंगा भाणियव्वा जहा कि रियासु पाणावायविरयस्स। एवं जहा वेदणिज्जं तहा आउयं नामं गोयं च भाणियव्वं मोहणिज्जं वेदमाणे जहा बंधे नाणावरणिज्जं तहा भाणियव्वं।

वेदनीयसूत्रे एकविधबन्धकसंयोगिकेवल्यपि तस्यापि वेदनीयोदयबन्ध-सम्भवात् अबन्धकोऽयोगिकेवली तस्ययोगाभावतो वेदनीयं वेदयमानस्यापि तद्बन्धासम्भवात् वेदनीयसूत्रे एकवचनबहुवचनचिन्तायां जीवपदे नव भङ्गाः तत्र सप्तविधबन्धकाष्टविधबन्धकैकविधबन्धकानां सदैव बहुत्वेन लभ्यमानत्वात्वात्। बहुवचनात्मके इतरपदद्वयाभावे एकस्ततः षड्विधबन्धकपदप्रक्षेपे एकवचनबहुवचनाभ्यां द्वौ एवमेव द्वावेकविधबन्धकपदप्रक्षेपे चत्वार उभयपदप्रक्षेपे इति मनुष्यपदे सप्तविंशतिः तत्र हि सप्तविधबन्धकाः एकेन बहुत्वेन सदाऽवस्थिता इतरेषु त्रयोऽप्यष्टविधबन्धका अबंधकाश्च कदाचित्का एकत्वादिना च भाज्यास्ततस्तेषामभावे सप्तविधबन्धका अप्येकविधबन्धक अपीत्येको भङ्गः ततोऽष्टविधबन्धकपदप्रक्षेपे एकवचनबहुवचनाभ्यां द्वौ द्वौ षडविधबन्धकपदप्रक्षेपे द्वावेकविधबन्धकप्रक्षेपे इति षट्। तथा त्रयाणां पदानां त्रयो द्विकसंयोगा एकैकस्मिन् द्विकसंयोगे एकवचनबहुवचनाभ्यां चत्वार इति द्विकसंयोगे द्वादश त्रिकसंयोगेऽष्टाविंशतिः सर्वसंख्यया सप्तविंशतिः एवमायुर्नामगोत्रसूत्राण्यपि भावनीयानि। मोहवेदनीयं कर्म वेदयमानो जीवः सप्तविधबन्धकोऽष्टविधबन्धकः षड्विधबन्धक वा सूक्ष्मसम्परायावस्थायामपि मोहनीयवेदनसम्भवात् एवं मनुष्यपदेऽपि-वक्तव्यं नारकादिषु तु पदेषु सप्तविधबन्धकोऽष्टविधबन्धको वेत्येवं वक्तव्यं सूक्ष्मसम्परायत्वाभावतः षड्विधबन्धकत्वासम्भवात्। बहुवचनचिन्तायां जीवपदे भङ्गत्रिकं तत्र सूक्ष्मसम्परायाः कादाचित्का इतरे च द्वये सदैव बहुत्वेन लभ्यन्ते इति षडविधबन्धक पदाभावे सप्तविधबन्धका अष्टविधबन्धका अपीत्येको भङ्गस्ततः षडविधबन्धकपदप्रक्षेपे एकवचनबहुवचनाभ्यां द्वावेतौ भङ्गाविति नैरयिकादिषु स्तनितकुमारपर्य-वसानेषु सप्तविधबन्धकाः सदा बहुत्वेनावस्थिताः। अष्टविधबन्धकास्तु कादाचित्का एकत्वादिना च भाज्या इति अष्टविधबन्धका इत्येको भङ्गः। ततोऽष्टविधबन्धक पदप्रक्षेपे एकवचनबहुवचनाभ्यां द्वाविति पृथिव्यादिषु पञ्चस्वप्यभङ्गकं सप्तविधबन्धक अपीति उभयेषामपि तेषु सदा बहुत्वेन लभ्यमानत्वात्। द्वित्रिचतुरिन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियेषु व्यन्तरज्योतिष्क-वैमानिकेषु च नैयायिकवत् भङ्गत्रिकं मनुष्येषु नव भङ्गाः। तत्र सप्तविधबन्धका इत्येको भङ्गः ततोऽष्टविधबन्धकपदप्रक्षेपे एकवचन बहुवचनाभ्यां द्वौ द्वौ षड्विधबन्धकपदप्रक्षेपे एकवचनबहुवचनाभ्यां चत्वारः उभयपदप्रक्षेपे इति तथाचाह। ''मोहणिज्जं वेएमाणे जहा बंधे नाणावरणिज्जं तहा भाणियव्वमिति'' इतिश्रीमलयगिरिविरचि तायां षट्विंशतितमंवेदबन्धाख्यं पदं० समाप्तम् प्रज्ञा० २६ पद। सम्प्रति किं कर्म वेदयमानः कति कर्मप्रकृतीर्वेदयते इत्युदयस्योदयेन सह संबंधं चिन्तयति।

जीवेणं भंते ! नाणावरणिज्जं कम्मं वेदेमाणे कति कम्म पगडीओ वेदेइ ? गोयमा ! सत्तविहवयेए वा अट्ठविहवेयए वा एवं मणुस्सेण वि अवसेसा एगत्तेण वि पुहत्तेण वि नियमा अट्ठ कम्मपगडीओ वेदेइ जीव वेमाणिया।

तत्र सप्तविधवेदक उपशान्तमोहक्षीणमोहौ वा तयोर्मोहनीयोदया-संभवात् शेषास्तु सूक्ष्मसम्परायादिरष्टविधवेदक एवं मनुष्यपदेपि वाच्यं, नैरयिकादयस्तु नियमादष्टविधवेदकाः।

जीवाणां भंते ! नाणावरणिज्जं कम्मं वेदेमाणे कइ कम्मपयडीओ वेदेंति ? गोयमा ! सव्वे वि ताव होज्ज अट्ठविहवेदगा अहवा अट्ठविहवेदगा य सत्तविहवेदए य अहवा अट्ठविहवेदगा य सत्तविहवेदगा य। एवं मणुस्सा वि। दरिसणावरणिज्जं अंतराइयं च एवं चेव भाणियव्वं। वेदणिज्जआउ-यनामगोयाइं वेदेमाणे कइ कम्मपगडीओ वेदेइ ? गोयमा ! जहा बंधगा वेदगस्स वेयणिज्जं तहा भणियव्वाणि जीवेणं भंते ! मोहणिज्जं कम्मं वेदेमाणा कइ कम्मपगडीओ वेदेइ ? गोयमा ! नियमा अट्ठकम्मपगडीओ वेदेइ। एवं णेरइए जाव वेमाणिए। एवं पुहत्तेण वि।

बहुवचनचिन्तायां जीवपदे मनुष्यपदे, भंगत्रिकं तत्र सर्वेऽपि तीवद्भवेयुः अष्टविधवेदका इत्येको भङ्गः ततः सप्तविधब-

न्धकस्यैकस्य भावे द्वितीयो बहूनां भावे तृतीयः शेषेषु तु नैरयिकादिषु पदेषु अष्टभङ्गमष्टविधवेदका इति। सप्तविधवेदकत्वस्य तत्रासम्भवात् एवं दर्शनावरणीयान्तरायसूत्रेऽपि वक्तव्ये वेदनीयसूत्रे जीवपदे मनुष्यपदे च प्रत्येकमष्टविधवेदको वा सप्तविधवेदको वा चतुर्विधवेदको वेति व्यक्तव्यं शेषेषु तु नैरयिकादिषु अष्टविधवेदक इत्येतेषामुपशान्तमोहत्वाद्यवस्थासम्भवात् तत्रैव वेदनीयसूत्रे बहुवचनचिन्तायां जीवपदे मनुष्यपदे च प्रत्येकं भङ्गत्रिकं तत्राष्टविधवेदकाश्चेत्येको भङ्गः एषा सर्वथा सप्तविधवेदकानामभावे ततः सप्तविधवेदकपदप्रक्षेपे एकवचनबहुवचनाभ्यां द्वौ भङ्गाविति शेषेषु तु नैरयिकादिषु स्थानेष्वभङ्गकमष्टविधवेदका इति। एवमायुर्नामगोत्रसूत्राण्यपि भावनीयानि मोहनीयं कर्म वेदयमानो नियमादष्टविधवेदक इति जीवादिषु पञ्चविंशतौ पदेष्वेकवचनचिन्तायां बहुवचनचिन्तायां सर्वत्राप्यभङ्गकम्। अष्टौ कर्मप्रकृतीर्वेदयते वेदयन्ते वा प्रज्ञा० २७ पद। भ०।

सम्प्रति उदयमाश्रित्य प्रकृतिस्थानरूपणा क्रियते उदयम्प्रतित्रीणि प्रकृतिस्थानानि तद्यथा अष्टौ सप्त चतस्रः। तत्र सर्वप्रकृति सभुदायोऽष्टौ तासां च उदयोऽभव्यानधिकृत्य अनाद्यपर्यवसितोभव्यानधिकृत्यानादिसपर्यवसानःउपशान्त मोहगुणस्थानकान् प्रतिपतितानधिकृत्य पुनः सादिस पर्यवसानः स च जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तप्रमाणः उपशमश्रेणीतः प्रतिपतितस्य पुनरप्यन्तर्मुहूर्त्तम् कस्यापि उपशमश्रेणिप्रतिपत्तेः उत्कर्षेण तु देशोनापार्द्धपुद्गलपरावर्त्तः तथा ता एवाष्टौ मोहनीयवर्जाः सप्त तासामुदयो जघन्येनैकं समयं तथा हि सप्तानामुक्तरूपाणां प्रकृतीनामुदय उपशान्तमोहं क्षीण मोहे वा प्राप्यते तत्र कश्चिदुपशान्तमोहगुणस्थानके एकं समयं स्थित्वा द्वितीये समये भवक्षयेण दिवं गच्छन्नविरतो भवति अविरतत्वे चावश्यमष्टानां प्रकृतीनामुदय स्ततः सप्तानामुदयो जघन्येनैकं समयं यावत्प्राप्यते उत्कर्षेण तु अन्तर्मुहूर्त उपशान्तमोहगुणस्थानकस्य क्षीणमोहगुणस्थानकस्य वा सप्तोदयहेतोरान्तर्मौ हूर्त्तिकत्वा त्तथा घातिकर्मवर्जाश्चतस्रः प्रकृतयः तासामुदयो जघन्येनान्तर्मुहूर्तिक उत्कर्षेण देशोनपूर्वकोटिप्रमाणः तदेवं कृता उदयमधिकृत्य स्थानप्ररूपणा। संप्रति कस्याः प्रकृतेरुदये कति प्रकृतिस्थानान्युदयमाश्रित्य प्राप्यन्ते इति निरूप्यते। तत्र मोहनीयस्योदये अष्टानामुदयः मोहनीयवर्जानां त्रयाणां घातिकर्म्मणामुदये अष्टानां वा ततोष्टानां सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानकं यावत् सप्तानामुपशान्तमोहक्षीणमोहे वा वगदनीयायुर्नामगोत्राणा मुदये अष्टानां सप्तानां चतसृणां वा उदयः। तत्राष्टानां सूक्ष्मसम्परायां यावत् सप्तानामुपशान्तमोहो क्षीणमोहो वा चतसृणामेतासामेव वेदनीयादीनां सयोगिकेवलिन्ययोगिकेवलिनि च। सम्प्रति सत्तामधिकृत्य प्रकृतिस्थानप्ररूपणा क्रियते सत्ताम्प्रति त्रीणि प्रकृतिस्थानानि तद्यथा अष्टौ सप्त चतस्रः। तत्र सर्वप्रकृतिसमुदायोऽष्टौ एतासां चाष्टानां सत्ता अभव्यानाधिकृत्य अनादिपर्यवसानाभव्यानधिकृत्या नादिसपर्यवसाना तथा मोहनीये क्षीणे सप्तानां सत्ता। सा च जघन्योत्कर्षेणान्तर्मुहूर्त्तप्रमाणा सा हि क्षीणमोहे क्षीणमोहगुणस्थानके चान्तर्मुहूर्तप्रमाणमिति घातिकर्म चतुष्टक्षये च चतसुणां सत्ता सा च जघन्येनान्तर्मुहूर्तप्रमाणात्कर्षेण पुनर्देशोनपूर्वकोटिमाना कृता सत्तामधिकृत्य प्रकृतिस्थानरूपणा। संप्रति कस्यां प्रकृतै सत्यां कति प्रकृतिस्थानानि सत्तामधिकृत्य प्राप्यन्ते इतिनिरूप्यते मोहनीयसप्ताष्टानामपि सत्ता ज्ञानवरणदर्शनावरणान्तरायाणां सत्ताया मष्टानां सप्तानां वा तत्राष्टानामुपशान्तमोहगुणस्थानकं यावन्मोहनीये क्षीणे सप्तानां सा च क्षीणमोहगुणस्थानके वेदनीयायुर्नामगोत्राणां सत्तायामष्टानां सप्तानां चतसृणां वा सत्ता तत्राष्टानां सप्तानां च भावना प्रागिव चतसृणा सत्ता वेदनीयादीनामेव सा च सयोगिकेवलिगुणस्थानके च द्रष्टव्या। कर्म०।

सम्प्रति बन्धोदयसत्ताप्रकृतिस्थानानां परस्परं बन्धप्ररूपणार्थमाह॥

अट्ठविह सत्त छ बंध गेसु छट्ठे व दयसं तंसा।

एगविहे तिविकप्पा, एगविगप्पा अ अबंधम्मि।३।

अष्ट विधबन्धकसप्तविधबन्धकषड्विधबन्धकेषु प्रत्येकमुदये सत्तायां चाऽष्टौ कर्म्माणि प्राप्यन्ते कथमिति चेदुच्यते इह अष्टविध-बन्धका अप्रमतान्ताः सप्तविधबन्धका अनिवृत्तिबादरसंपरायपर्यवसानाः षड् विधबन्धकौश्च सूक्ष्मसंपरायाः। एते च सर्वेऽपि सरागाः सरागत्वं च मोहनीयोदयादुपणायते उदये च सत्यवश्यं सत्ता ततो मोहनीयोदयसत्तासंभवात् सप्तविधाष्टविधषडविधबन्धकेष्ववश्य मुदये सत्तायां वा अष्टौ प्राप्यन्ते एतेन च त्रंयो भङ्गाः दर्शिताः। तद्यथा अष्टविधो बन्धोऽष्टविध उदयोऽष्टविधा सत्ता एष विकल्प आयुर्बन्धकाले एष च मिथ्यादृष्ट्यादीनामप्रमत्तानामवसेयोन शेषाणामायुर्बन्धासंभवात्तथा सप्तविधो बन्धोऽष्टविध उदयोऽष्टविधा सत्ता एषविकल्प आयुर्बंधभावे एष च मिथ्यादृष्ट्यादीनामनिवृत्तिबादर संपरायाणामवसेयः। तथा षड्विधो बन्धोऽष्टविध उदयोऽष्ट विधा सत्ता एष विकल्पः सूक्ष्मसंपराया (एगविहो तिविगप्पोत्ति) एकविधे एकप्रकारबन्धे एकस्मिन् केवलिवेदनीये बध्यमान इत्यर्थः। विकल्प इति समाहारद्विगुत्वेऽप्यार्षत्वात्पुंस्त्वानिर्देशः त्रयो विकल्पा भवन्तीत्यर्थः। तद्यथा एकविधो बन्धः सप्तविध उदयः अष्टविधा सत्ता एष विकल्प उपशान्तमोहगुणस्थानके प्राप्यते तत्र मोहनीयस्योदयो न विद्यते सत्ता पुनरस्ति तथा एकविधोबन्धः सप्तविधा सत्ता एष विकल्पः क्षीणमोहे गुणस्थानके प्राप्यते तत्र मोहनीयस्य निःशेषतोऽपगमात् तथा एकविधो बन्धश्चतुर्विध उदयश्चतुर्विधा सत्ता एष पुनर्विकल्पः सयोगिकेवलिगुणस्थानके प्राप्यते तत्र मोहनीयस्य निः शेषतोऽपगमात्। तथा एकविधो बन्धश्चतुर्विध उदयश्चतुर्विधा सत्ता एष पुनर्विकल्पः सयोगिकेवलिगुणस्थानके प्राप्यते तत्र घातिकर्मणामवयवशोपगमात् चतसृणां चाघातिप्रकृनीनामुदये सत्तायां प्राप्यमाणत्वात् (एगविगप्पो अबंधम्मित्ति) अत्र बन्धाभावे एक एव विकल्पस्यद्यथा चतुर्विध उदयश्चतुर्विधा सत्ता एष चायोगिकेवलिगुणस्थानके प्राप्यते। तत्र हि योगाभावात् बन्धो न भवति उदयसत्ते चाघातिकर्मणां भवतः तदेवं मूलप्रकृतीरधिकृत्य बन्धोदयसत्प्रकृतिस्थानानां परस्परं संवेधे सप्तविकल्पा उक्ताः कर्म० पं० सं०।

जीवस्थानेषु विवृण्वन्नाह –

सत्तट्ठबंध अट्ठुदयसंततेरससुजीवठाणेसु।

एगमि पंचद्विभंगा होंति केवलिणो ॥४॥

इह जीवस्थानानि चतुर्दश तद्यथा अपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियः पर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियः अपर्याप्तबादरैकेन्द्रियः पर्याप्तबादरैकेन्द्रियः अपर्याप्तचतुरिन्द्रियः पर्याप्तचतुरिन्द्रियः अपर्याप्तासंज्ञिप-

श्चेन्द्रियः पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियः अपर्याप्तसंज्ञियपञ्चेन्द्रियः पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियः इति एतानि च सप्तषडशीतिकवृत्तौव्यख्यातानीति नेह भूयो व्याख्यायन्ते। तत्र त्रयोदशसु आद्येषु जीवस्थानेषु प्रत्येकं द्वौ द्वौ विकल्पौ भवतः। तद्यथा सप्तविधो बन्धोष्टविध उदयः अष्टविकल्पः आयुर्बन्धकालं मुक्त्वा शेषकालं सर्वदैव लभ्यते अष्टविधो बन्धः अष्टविध उदयः अष्टविधा सत्ता एष विकल्प आयुर्बन्धकाले एष चान्तमौहूर्तिकः ओयुर्बन्धकालस्य जघन्येनोत्कर्षेण चान्तमुहूर्त्त प्रमाणत्वात् (एगम्मिपंचभंगत्ति) एकस्मिन् पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियलक्षणे पञ्चभंगा भवन्ति तत्रादिमौ द्वौ भंगौ प्रागिव भावनीयौ त्रयस्तु शेषा इमे षडविधबन्धः अष्टविधा सत्ता अष्टविध उदय एष विकल्पः सूक्ष्मसंपरायस्य उपशमश्रेण्यां वर्त्तमानस्य वेदितव्यः तथा एकविधो बन्धः सप्तविध उदयः अष्टविधा सत्तो एष विकल्प उपशान्तमोहगुणस्थानके प्राप्यते। तथा एकविधो बन्धः सप्तविध उदयः सप्तविधाः सत्ता एष च क्षीणमोहस्थानके तथा द्वौ द्वौ भंगौ भवतः केवलिनः तद्यथा एकविधो बन्धः चतुर्विध उदयः चतुर्विधा सत्ता। एष च विकल्पः सयोगिकेवलिनो बन्धाभावे चतुर्विध उदयः चतुर्विधा सत्ता एष विकल्पो योगिकेवलिनः। इह केवलिग्रहणं संज्ञिव्यवच्छेदार्थं द्वौ भंगौ भवतः केवलिनो नतु संज्ञिन इत्यर्थः अत एव केवलग्रहणादिदमवसीयते केवलिमनोविज्ञानरहितत्वात् संज्ञी न भवतीति॥

सम्प्रति तानेव सप्तविकल्पान् गुणस्थानेषु चिन्तयन्नाह।

अट्ठसु एगविगप्पो, छस्सु वि गुणसन्निएसु दुविगप्प।
पैयं पत्तेयं, बंधोदय संतकम्माणं ॥५॥

इह गुणस्थानकानि चतुर्दश तानि च षडशीतिकवृत्तौ सविस्तरमभिहितानीति नेह भूयोऽभिधीयन्ते। तत्र अष्टगुणस्थाननकेषु सम्यग्मिथ्यादृष्ट्यपूर्वकरणनिवृत्तिबादरसूक्ष्मसंपरायोपशान्तमोहक्षीणमोहसयोगिकेवलिलक्षणेषु प्रत्येकं बन्धोदय सत्कर्मणामेकविकल्पो भवति तद्यथा सम्यग्मिथ्यादृष्ट्यपूर्वकरणानिवृत्तिबादरेषु सप्तविधो बन्धः अष्टविध उदयः अष्टविधा सत्ता। अथैतेषु अष्टविधोऽपि बन्धः कस्मान्न भवति ? उच्यते स्वभावत एव एतेषामायुर्बन्धयोग्याध्यवसायस्थानशून्यशून्यत्वात् सूक्ष्मसंपराये षड्विधो बन्धः अष्टविध उदयः अष्टविधा सत्ता सूक्ष्मसंपरायो हि बादरकषायाभावादायुर्मोहनीयं च न बध्नाति ततश्च षडविध एव बन्धो भवति। उपशान्तकषायस्य एकविधो बन्धः सप्तविध उदयः अष्टविधा सत्ता। यत उपशान्तमोहकषायोदयाभावात् न ज्ञानावरणानि बध्नाति किंतु वेदनीयमेव केवलं ततस्तत्रैकविध एव बन्धो भवति मोहनीयस्य चोपशान्तत्वेनोदयाभावादुदयः सप्तविधः क्षीणमोहस्य एकविधो बन्धः सप्तविध उदयः सप्तविणा सत्ता। अत्र मोहनीय क्षीणत्वात् उदये सत्तायां च न प्राप्यते ततः सप्तविधा सत्ता सयोगिकेवलिनि एकविधो बन्धः चतुर्विध उदयः चतुर्विधा सत्ता केवली हि चतसृणामपि घातिप्रकृतीनां क्षयेण भवति ततस्तस्य चतुर्विध एवोदयश्चतुर्विधैव च सत्ता। अयोगिकेवलिनो बन्धो न भवति योगाभावात् ततश्चतुर्विध उदयश्चतुर्विधा सत्ता। तथा षट्सु गुणसंज्ञितेषु गुणस्थानकेषु मिथ्यादृष्टिसासादनाविरतसम्यग्दृष्टिदेशविरतिप्रमत्ताप्रमत्तरूपेषु प्रत्येकं बन्धोदयसत्कर्मणां द्वौ द्वौ विकल्पौ भवतः तद्यथा अष्टविधो बन्धः अष्टविध उदयः अष्टविधा सत्ता एष विकल्प आयुर्बन्धकाले एतेषां ह्यायुर्बन्धयोग्याध्यवसायस्थानसंभवात् बन्धः उपपद्यते। तथा सप्तविधो बन्धः अष्टविध उदयः अष्टविधा सत्ता एष विकल्पा आयुर्बन्धकालं मुक्त्वा शेषकालं सर्वदा लभ्यते तदेव मूलप्रकृतीरधिकृत्य बन्धोदयसत्प्रकृतिस्थानानां परस्परं संवेध उक्त स्वामित्वं च उत्तरप्रकृतिषु सम्वेधः। कर्म० पं० सं०॥

सम्प्रतिज्ञानावरणीयस्य तत्तुल्यत्वादन्तरायस्य चोत्तरप्रकृतीरधिकृत्य बन्धादिस्थानप्ररूपणार्थमाह॥

बंधोदयसंतं सा, नाणावरणंतराइए पंच।
बंधो चरमे वि उदय संतंसा होंति पंचेव ॥७॥

ज्ञानावरणे अन्तराये च प्रत्येकबन्धोदयसत्तारूपाः अंशाः पञ्चपञ्चप्रकृत्यात्मकाः। इदमुक्तं भवति। ज्ञानावरणे बन्धमुदयं सत्तां चाधिकृत्य सदैव पञ्चप्रकृतयो मतिज्ञानावरणश्रुतज्ञानावरणावधिज्ञानावरणमनःपर्यवज्ञानावरणरूपाः प्राप्यन्ते नत्वेकद्वित्रयादिकाध्रुवं बन्धादित्वात्। अन्तरायेऽपि बन्धमुदयं सत्तां चाधिकृत्य प्रत्येकं सदैव दानान्तरायलाभान्तरायभोगान्तरायवीर्यान्तरायरूपाः पञ्च प्रकृतयः प्राप्यन्ते नत्वेकद्वित्र्यादिका ध्रुवबन्धादित्वादेव। तथा च मतिज्ञानावरणान्तराये च बन्धादिषु प्रत्येकमेव पञ्च प्रकृत्यात्मकं प्रकृतिस्थानमिति। संप्रतिसंबेध उच्यते ज्ञानावरणस्य बन्धकाले पञ्च विधो बन्धः पञ्चविध उदयः पञ्चविधा सत्ता। एवमन्ततरायस्थापि एष एव विकल्पो द्वयोरपि सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानकं यावदवगन्तव्यः। बन्धाभावे पुनर्ज्ञानावरणे अन्तराये च प्रत्येकं पञ्चविध उदयः पञ्चविधा सत्ता तथा चाह बन्धश्चरमेऽपि बन्धाभावेऽपि ज्ञानावरणान्तराययोस्तथेति समुच्चये उदयसत्ते भवतः पञ्चैव पञ्चप्रकृत्यात्मिके एव न त्वेकद्वित्र्यादिके ध्रुवोदयसत्ताकत्वात्। एष एव विकल्पो द्वयोरप्युशान्त मोहे क्षीणमोहे च प्राप्यते॥

सम्प्रति दर्शनावरणस्योत्तरप्रकृतीरधिकृत्य।
बन्धादिस्थानप्ररूपणार्थमाह—

बंधस्य य संतस्य य, पगइट्ठाणाइ तिन्नि तुल्लाइं।
उदयट्ठाणाइ दुवे, चउपणगं दंसणावरणे ॥८॥

दर्शनाबरणाख्ये द्वितीयकर्म्मणि बन्धस्य सत्तायाश्च परस्परं तुल्यानि तुल्यस्वरूपाणि त्रीणि प्रकृतिस्थानानि भवन्ति तद्यथा नव षट् चतस्रः तत्र सर्वप्रकृतिसमुदायो नव ता एव नव स्त्यानर्द्धित्रिकहीनाः षट् एताश्च षट् निद्रा प्रचलाहीनाश्चतस्रः। तत्र नव प्रकृत्यात्मकं बन्धनस्थानं मिथ्यादृष्टौ सासादने वा। तच्चाभव्यानधिकृत्यानाद्यपर्यवसानं कदाचिदपि व्यवच्छेदाभावात् भव्यानधिकृत्यानादिसपर्यवसानां कालान्तरव्ययच्छेदसंभवात्। सम्यक्त्वात्प्रतिपत्त्य मिथ्यात्वं गतानां सादिसपर्यवसानं तच्च जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तकालं यावदुत्कर्षतो देशेनोपार्द्धपुद्गलपरावर्त्तं षट्प्रकृत्यात्मकं बन्धस्थानं सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकमारभ्यापूर्वकरणस्य प्रथमं भागं यावत् तच्च जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तं कालमुत्कर्षतो द्वे षट्षष्टीसागरोपमानां सम्यक्त्वस्यापान्तराले सम्यग्मिथ्यात्वात्तरितस्यैतावन्तं कालमवस्थानसंभवात् तत ऊर्द्धं तु कश्चित् क्षपकश्रेणिं प्रतिपद्यते म्मिथ्यात्वम् कश्चित्पुर्नमिथ्यात्वे च प्रतिपन्ने सति अवश्यं नवविधो बन्धः चतुःप्रकृत्यात्मकं तु बन्धस्थानमपूर्वकरणद्वितीयभागारभ्य सूक्ष्मसंपरायं यावत् जघन्येनैकं समयमुत्कर्षतोऽन्तमुर्हूर्त्तम् एकं समयं यावत् कथं प्राप्यते। इति चेत् उच्यते

उपश्रमश्रेण्यामपूर्वकरणस्य द्वितीयभागप्रथमसमये चतुर्विधबन्धमारभ्यानन्तरसमये कश्चित्कालं करोति कालं कृत्वा दिवं गतः सन् अविरतो भवति अविरतत्वे च षड्विधो बन्ध इत्येकसामायिकी चतुर्विधस्थानस्य स्थितिः। तथा नवप्रकृत्यात्मकं सत्तास्थानं दर्शनावरणस्य कालमधिकृत्य द्विधा अनाद्यपर्यवसितमनादिसपर्यवसितं च। तत्रानाद्यपर्यवसितमभव्यानां कदाचिदप्यव्यवच्छेदात् अनादिसपर्यवसितं तु न भवति। नवप्रकृत्यात्मक सत्तास्थानव्यच्छेदो हि क्षपकश्रेण्यां भवति नच क्षपकश्रेणीतः प्रतिपातो भवतीति एतच्च सत्तास्थानमुपशमश्रेणिमधिकृत्योपशान्तमोहगुणस्थानकं यावदवाप्यते क्षपकश्रेणिमधिकृत्य पुनरनिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थानकस्य प्रथमं भागं तथा षट्प्रकृत्यात्मकं सत्तास्थानं जघन्येनोत्कर्षेण चान्तर्मुहूर्तप्रमाणं तच्चानिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थानकस्य द्वितीयभागादारभ्य क्षीणमोहगुणस्थानकस्य द्विचरमसमयं यावदवसेयं चतुःप्रकृत्यात्मकं त्वेकसामायिकं क्षीणकषायचरमसमयभावित्वादिति। उदयस्थाने पुनर्द्वे भवतः तद्यथा चतस्रः पञ्च च तत्र चतस्रश्चक्षुर्दर्शनावरणाचक्षुर्दर्शनावरणावधिदर्शनावरणकेवलदर्शनावरणरूपाः। एतासां च समुदायो ध्रुवोदय इति एकप्रकृतिस्थानम्। एतासु च चतसृषु मध्ये निद्रादीनां पञ्चानां प्रकृतीनां मध्यादन्यतमस्यां प्रकृतौ प्रक्षिप्तायां पञ्च नहि निद्रादयो द्वित्र्यादिका युगपदुदयमायान्ति किंत्वेकस्मिन् काले एकैवाऽन्यतमा क चित्, निद्रादयश्च ध्रुवोदया न भवन्ति कालादिसापेक्षत्वात् अत इदं पञ्चप्रकृत्यात्मकमुदयस्थानं कदाचिल्लभ्यते तदेवमुक्तानि दर्शनावरणस्य बन्धोदयसत्तामधिकृत्य स्थानानि। संप्रति संवेधमभिधित्सुराह।

दीयावरणे नववं–धगेसु चउपंचउदयनवसंता।
छच्चउबंधे चेवं, चउबंधुदए छलंसा य ॥९॥
उवरयबंधे चउपण, नवंसचउरुदयछच्च चउसंता।
वेयणियाउयगोए, विभज्ज मोहं परं वोच्छं ॥१०॥

द्वितीयावरणं दर्शनावरणं तस्मिन्द्वितीयावरणे नवबन्धकेषु स कलदर्शनावरणोत्तरप्रकृतिबन्धकेषु मिथ्यादृष्टिसासादनेषु (च उपंचउदयंति) उदयश्चतुर्विणः पञ्चविधो वा तत्र चतुर्विधश्चक्षुर्दर्शनावरणाचक्षुर्दर्शनावरणकेवलदर्शनावरणरूपः स एव निद्रापञ्चकसत्तान्यतमप्रकृतिप्रक्षेपात्पञ्चविधः। सत्तामधिकृत्यपुनःप्रतिस्थानं नव नव प्रकृत्यात्मकं तदेवं नवविधबन्धकेषु द्वौ विकल्पौ दर्शितौ तद्यथा नवविधो बंधश्चतुर्विधा सत्ता एष विकल्पो निद्रोदयाभावे निद्रोदये च नवविधो बन्धः पञ्चविध उदयो नवविधा सत्ता (छच्चउबंधे चेवं ति) षडबन्धे चतुर्बन्धे च एवं पूर्वोक्तप्रकारण उदयसत्तास्थानानि वेदितव्यानि इदमुक्तं भवात ये षड्विधबन्धकाः सम्यग्मिथ्यादृष्ट्यविरत सम्यग्दृष्टिदेशविरतप्रमत्ताप्रमत्ताः कियत्कालमपूर्वकरणाश्च तेषां चतुर्विधः पञ्चविधो वा उदयःनवविधा सत्ता एतेन च द्वौ विकल्पौ दर्शितौ तद्यथा षडविधो बन्धश्चतुर्विध उदयो नवविधा सत्ता अथवा षड्विधो बन्धः पञ्चविध उदयो नवविधा सत्ता। एतौ च द्वौ विकल्पौ क्षपकं मुक्त्वान्यत्र सर्वत्रापि प्राप्येतेक्षपके त्वेक एव विकल्पस्तद्यथा षड्विधो बन्धश्चतुर्विध उदयो नवविधा सत्ता क्षपकस्य हि अत्यन्तविशुद्धत्वेन निद्राप्रचलयोर्नोदयः सभवात तदुक्त सत्कर्मग्रन्थे ''निद्दादुगस्स उदओ, स्खीणगखवगे य परिवज्ज'' तथा चतुर्विधबन्धकेषु कियत्कालमपूर्वकरणेषु अनिवृत्तिबादरसूक्ष्मसम्परायेषु चोपशमश्रेणिं प्रतीत्य चतुर्विधः पञ्चविधो वा उदयः नवविधा सत्ता क्षपकश्रेणिमधिकृत्य पुनरुदयश्चतुर्विध एव कारणमत्र प्रागेवोक्तम्। केचित्पुनः क्षपकक्षीणमोहेष्वपि निद्राप्रचलयोरुदयमिच्छन्ति तत्कर्मप्रकृत्यादिग्रन्थैः सह विरुध्यते इत्युपेक्षते यावच्चक्षुः क्षपकश्रेण्यामपि स्त्यानर्द्धित्रिकं न क्षीयते तावत्सत्ता नवविधैव सा नवर्द्धित्रिके तु क्षीणे षड्विधा तथाचाह (चउबंधुदए छलंसा यत्ति) इह अंश इति सत्कर्माऽभिधीयते यदाह चूर्णिकृत्। अंशा इति ''संते कम्मं भन्नइ'' चतुर्विधे बंधे चतुर्विध उदयः अनिवृत्तिबादर-सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानकाद्धायाः संख्येयेभ्यो भागेभ्यः परतः स्त्यानर्द्धित्रिके क्षीणे षड्विधा सत्ता एष विकल्पस्तावत्प्राप्यते यावत्सूक्ष्मसंपराद्धायाश्चरसमयः परतस्तु न प्राप्यते बन्धाभावात् तदेवं चतुर्विधबन्धकस्य त्रयो विकल्पास्तद्यथा चतुर्विधो बन्धश्चतुर्विध उदयो नवविधा सत्ता एष उपशमश्रेण्यां वा यावत् स्त्यानर्द्धित्रिकं न क्षीयते चतुर्विधो बन्धः पञ्चविधः उदयः नवविधा सत्ता। एष उपशमश्रेण्यां क्षपकश्रेण्यां तु पञ्चविधोदयस्याभावात् तथा चतुर्विधो बन्धश्चतुर्विध उदयः षड्विधा सत्ता एष विकल्पः क्षपकश्रेण्यां स्तयानर्धित्रिकक्षयानन्तरमवयसेयः ''उवरयबंधे'' इत्यादि उपरते व्यवच्छिन्ने बन्धे चतुर्विधः पञ्चविधो वा उदयः नवविधा सत्ता एतौ च द्वौ विकल्पावुपशान्तमोहगुणस्थानके प्राप्येते उपशमश्रेण्यां हि निद्राप्रचलयोरुदयः संभवति स्त्यानर्द्धित्रिकं च न क्षयमुपगच्छति ततश्चतुर्विधः पञ्चविधो वा उदयो भवति नवविधा च सत्ता प्राप्यते तथा चतुर्विध उदयः षड्विधा सत्ता एष विकल्पः क्षीणकषायस्य द्विचरमसमयं यावदवाप्यते तथा चतुर्विध उदयश्चतुर्विधा सत्ता एष विकल्पः क्षीणकषायस्य चरमसमये निद्राप्रचलयोर्द्विचरमसमये एव क्षपित्पवात्। तदेवं दर्शनावरणे सर्वसंख्यया एकादश विकल्पाः। यदि पुनः क्षपकक्षीणकषायेष्वपि निद्राप्रचलयोरुदय इष्यते तर्हि चतुर्विधो बन्धः पञ्चविध उदयः षडविधा सत्ता बन्धाभावे पञ्चविध उदयः षडविधा सत्ता इत्तौ द्वौ विकल्पौ अधिकौ प्राप्येते इति त्रयोदश ज्ञातव्याः वेदनीयस्य संबन्धस्य वेदनीयायुर्गोत्रेषु संवेधविकल्पोपदर्शनार्थमाह (वेयणियाउयगोएविभज्जत्ति) वेदनीये आयुषि गोत्रे च यथागमं बन्धादिस्थानानि संवेधमाश्रित्य विभजेत् विकल्पयेत् तत्र वेदनीयस्य चान्येनैकं बन्धस्थानं तद्यथा सातमसातं वाऽनयोः परस्परविरुद्धत्वात् सत्तास्थाने द्वे तद्यथा द्वे एकं च तत्र यावदेकमन्यत् न क्षीयते तावत् अपि सती अन्यतमस्मिंश्च क्षीणे एकमिति। सम्प्रति संवेध उच्यते असातस्य बन्धः असातस्योदयः सातासाते सती। अथवा असातस्य बन्धः सातस्योदयः सातासाते सती। एतौ द्वौ विकल्पौ मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकात् प्रभृति प्रमत्तगुणस्थानकं यावत् प्राप्येते न परतः परतोऽसातस्य बन्धाभावात् तथा सातस्य बन्धः असातस्योदयः सातासाते सती एतौ द्वौ विकल्पौ मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकादारभ्य सयोगिकेवलिगुणस्थानकं यावत्संभवतः ततः परतो बन्धाभावे असातस्योदयः सातासाते सती अथवा सतस्योदयः सातासाते सती एतौ द्वौ विकल्पावयोगिकेवलिनि द्विचरमसमयं यावत् प्राप्येते चरमसमये तु असातस्योदयः असातस्य सत्ता यस्य द्विचरमसमये सातं क्षीणं यस्य त्वसातं द्विचरमसमये क्षीणं तस्यायं विकल्पः सातस्योदयः सातस्य सत्ता एतौ च द्वावपि विकल्पावेकयामयिकौ सर्वसंख्यया च वेदनीयस्याष्टौ भङ्गाः। तथा आयुषि सामान्येनैकं बन्धस्थानं चतुर्णामन्यत-

मत् परस्परविरुद्धत्वेन युगपद् द्वित्रायुषां बन्धाभावात् उदयस्थानमप्येकं तदपि चतुर्णामन्यतमत् युगपद् द्वित्रायुषामुदयाभावात् द्वे सत्तास्थाने तद्यथा द्वे एकं च तत्रैकं चतुर्णामन्यतमत् यावदन्यतरभवायुर्न बध्यते परभवायुषि च बद्धे यावदन्यत्र परभवेनोत्पद्यते तावद् द्वे सती। संप्रति संवेध उच्यते तत्रायुषस्तिस्रोऽवस्थास्तद्यथा परभवायुर्बन्धकालात् पूर्वावस्था परभवायुर्बन्धकालावस्था परभवायुर्बन्धोत्तरकालावस्था च। तत्र नैरयिकस्य परभवायुर्बन्धकालात् पूर्वनरकायुष उदयो नरकायुषः सत्ता एष विकल्प आद्येषु चतुर्षु गुणस्थानकेषु शेषगुणस्थानकस्य नरकेष्वसंभवात् परभवायुर्बन्धकाले तिर्यगायुषो बन्धो नारकायुष उदयो नारकतिर्यगायुषी सती एष विकल्पो मिथ्या दृष्टेः सासादनस्य वा द्वयोरेवाद्ययोर्गुणस्थानकयोस्तिर्यगायुषो बन्धसंभवात्। अथवा मनुष्यायुषो बन्धो नारकायुष उदयो नारकमनुष्यायुषी सती एष विकल्पो मिथ्यादृष्टेः सासादनस्याविरतसम्यग्दृष्टेर्वा बन्धोत्तरकालं नारकायुष उदयो नारकतिर्यगायुषी सती एष विकल्प आद्येषु चतुर्ष्वपि गुणस्थानकेषु तिर्यगायुर्बन्धानन्तरं कस्यापि सम्यक्त्वे सम्यग्मिथ्यात्वे वा गमनसंभवात्। अथवा नारकायुष उदयो मनुष्यनारकायुषी सती इह नारका देवायुर्नारकायुश्च भवप्रत्ययादेव न बध्नन्ति तत्रोत्पत्त्यभावात्। यदुक्तम् ''देवा नारका वा देवेसु नारकेसु वि न उविवजितित्ति'' ततो नारकाणां परभवायुर्बन्धकाले बन्धोत्तरकाले देवायुर्नारकायुर्भ्यां विकल्पाभावात् सर्वसंख्ययया पञ्चैव विकल्पा भवन्ति एव देवानामपि पञ्चविकल्पा भावनीया नवरं नरकायुः स्थाने देवायुरिति वक्तव्यं तद्यथा देवायुष उदयः देवायुषः सत्ता इत्यादि। तथा तिर्यगायुष उदयस्तिर्यगायुषः सत्ता एष विकल्प आद्येषु पञ्चसु गुणस्थानकेषु शेषगुणस्थानकस्य तिर्य्यक्त्वसंभवात्। एष विकल्पः परभवायुर्बन्धकालात् पूर्वं बन्धकाले तु नारकायुषां बन्धस्तिर्यगायुष उदयः नारकतिर्य्यगायुषी सती एष विकल्पो मिथ्यादृष्टेरन्यत्र नारकायुषो बन्धाभावात्। अथवा तिर्यगायुषो बन्धस्तिर्यगायुषी उदयः तिर्यगायुषी सती एष विकल्पो मिथ्यादृष्टेः सासादनस्य वा नान्यस्य सम्यग्दृष्टेर्देशविरतस्य तिरश्चोऽविरतस्य च देवायुष यव बन्धसंभवात्। अथवा देवायुषो बन्धस्तिर्यगायुष उदयः देवतिर्यगायुषी सता एष विकल्पो मिथ्यादृष्टेः सासादनस्याविरतसम्यग्दृष्टेर्देशविरतस्य वा न सम्यग्मिथ्यादृष्टेः तस्यायुर्बन्धासंभवात् एते चत्वारो विकल्पाः परभवायुर्बन्धकाले। बन्धे तु व्यवच्छिन्ने तिर्यगायुष उदयो नारकतिर्यगायुषी सती एष विकल्पा आद्येषु पञ्चसु गुणस्थानेषु नरकायुर्बन्धानन्तरं सम्यक्त्वादावपि गमनसंभवात् अथवा तिर्यगायुष उदयो तिर्यक्तिर्यगायुषी सती अथवा तिर्यगायुष उदयो देवतिर्यगायुषी सती एतेऽपि त्रयो विकल्पा आद्येषु पञ्चसु गुणस्थानकेषु सर्वसंख्यया तिरश्चां नव विकल्पाः चतसृष्वपि गतिषु तिरश्चामुत्पादसंभवात् तथा मनष्यायुष उदयो मनुष्यायुषः सत्ता एष विकल्पोऽयोगिकेवलिनं यावत्। तथा नारकायुषो बन्धो मनुष्यायुष उदयः नारकमनुष्यायुषी सती एष विकल्पो मिथ्यादृष्टेः सासादनस्य वा। मनुष्यायुषो बन्धो मनुष्यायुष उदयो मनुष्यमनुष्यायुषी सती एष विकल्पो मिथ्यादृष्टेः सासादनस्य वा। मनुष्यायुषो बन्धो मनुष्यायुषो उदयो मनुष्यमनुष्यायुषी सती एष विकल्पो सम्यग्दृष्टेः सासादनस्य वा देवायुषो बन्धो मनुष्यायुष उदयो देवमनुष्यायुषी सती एष विकल्पो प्रमत्तगुणस्थानकं उदयो देवमनुष्यायुषी सती एष विकल्पो प्रमत्तगुणस्थानकं यावत् एते चत्वारो विकल्पाः परभवायुर्बन्धकाले बन्धेतु व्यवच्छिन्ने मनुष्यायुष उदयो नरकमनुष्यायुषी सती एष विकल्पोऽप्रमत्तगुणस्थानकं यावत् मनुष्यायुष उदयो मनुष्यमनुष्यायुषी सती एष विकल्पः प्राग्वत् मनुष्यायुष उदयो देवमनुष्यायुषी सती एष विकल्प उपशान्तमोहगुणस्थानकं यावत् देवायुषि बद्धेऽप्युपशमश्रेण्यारोहसंभवात् सर्वसंख्यया मनुष्याणां नव भङ्गाः तदेवमायुषि सर्वसंख्यया अष्टाविंशतिभङ्गाः। तथा गोत्रे सामान्येनैकं बन्धस्थानं तद्यथा उच्चैर्गोत्रं नीचैर्गोत्रं वा परस्परविरुद्धत्वेन युगपद्बन्धाभावात् उदयस्थानमप्येकं तदपि द्वयोरन्यतरत् परस्परविरुद्धत्वेन युगपद् द्वयोरुदयाभावात् द्वे सत्तास्थाने तद्यथा द्वे एकं च। तत्र उच्चैर्गोत्रनीचैर्गोत्रे समुदिते द्वे तेजस्कायिकावस्थायसमुच्चैर्गोत्रे उद्वलिते एकम्। अथवा नीचैर्गोत्रे अयोगिकेवलिद्विचरमसमये क्षीणे एकम् सम्प्रति संवेध उच्यते नीचैर्गोत्रस्य बन्धः नीचैर्गोत्रस्योदयः नीचैर्गोत्रस्य सत् विकल्पस्तेजस्कायिकवायुकायिकेषु लभ्यते तद्भवादुद्वृत्तेषु वा शेषजीवेष्वेकद्वित्रिचतुस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियेषु कियत्कालं नीचैर्गोत्रस्य बन्धः नीचैर्गोत्रस्योदयः उच्चनीचैर्गोत्रस्य बन्धः उच्चैर्गोत्रस्योदयः उच्चनीचैर्गोत्रे सती एतौ च द्वौ विकल्पौ मिथ्यादृष्टिषु सासादनेषु वा न सम्यग्मिथ्यादृष्ट्यादिषु तेषां नीचैर्गोत्रबन्धाभावात्। तथा उच्चैर्गोत्रस्य बन्धो नीचैर्गोत्रे सती उष विकल्पो मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकादारभ्य देशविरतिगुणस्थानकं यावत् प्राप्यते न परतः परतो नीचैर्गोत्रस्योदयाभावात् तथा उच्चर्गोत्रस्य बन्ध उच्चैर्गोत्रस्योदयः उच्चनीचैर्गोत्रे एष विकल्पो मिथ्यादृष्टेरारभ्यसूक्ष्मसंपरायगुणस्थानकं यावत् न परतः परतो बन्धाभावात् बन्धाभावे उच्चैर्गोत्रस्योदयः उच्चनीचैर्गोत्रेसती एष विकल्प उपशान्तमोहगुणस्थानकादारभ्योगिकेवलिद्विचरमसमयं चावदवसेयः। उच्चैर्ग्रोत्रस्योदयः उच्चैर्ग्रोत्रं सत् विकल्पोऽयोगिके वलिचरमसमये तदेवमेते गोत्रस्य सर्वसंख्यया सप्त भङ्गाः (परं मोहं वोच्छं) अतः परं मोहं वक्ष्ये मोहनायस्य बन्धादिस्थानानि वक्ष्ये इत्यर्थः ''गोअम्मि सत्त भंगा, अट्ठ य भंगा हवंति वेअणिए। पण नव नव पण भंगा, आउचउक्के वि कमसो उ ॥१॥'' इयं गाथा मूलपुस्तकेषूपलभ्यमानापि टीकापुस्तके नास्तीति नास्मीभिः स्थूलाक्षरैः प्रकाशिता, नापि व्याख्याता। तत्र प्रथमं बन्धस्थानप्ररूपणार्थमाह ॥

वावीस एक्कवीसा, सत्तरसा तेरसेव नव पंच।
चउतिगदुगं च एक्कं, बंधट्ठाणाणि मोहस्स ॥१२॥

मोहस्य दश बन्धस्थानानि तद्यथा द्वाविंशतिः एकविंशतिःसप्तदश त्रयोदश नव पंच चतस्रः तिस्रः द्वे एकाच तत्र सम्यग्मिथ्या त्वे बन्धे न भवतो नच त्रयाणां वेदानां युगपद्बन्धः किंत्वेककालमेवकस्यैव हास्यरतियुगलारतिशोकयुगले अपि न युगपद्बन्धमायातः किंत्वेकमेव यूगलं ततो मोहनीयस्योत्कर्षतः प्रभूतप्रकृतिबन्धो द्वाविंशतिः सा च मिथ्यादृष्टिगुणस्थानके प्राप्यते ततः सासादनसम्यग्दृष्टिगुणस्थानके मिथ्यात्वस्य बन्धाभावात्। एकविंशतिः यद्यप्यत्र नपुंसकवेदस्यापि बन्धो न भवति तथापि तत्स्थाने स्त्रीवेदः पुरुषवेदो वा प्रक्षिप्यते इत्येकविंशतिरेव बन्धः। ततो मिश्राविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानकयोरनन्तानुबन्धिनामपि बन्धाभावात् सप्तदश। ततोऽपि देशविरतिगुणस्थानकेऽप्रत्याख्यानकषायाणां बन्धाभावात् यो देशविरतस्ततोऽपि प्रमत्ताप्रमत्तापूर्वकरणेषु प्रत्याख्यानावरणानां बन्धाभावात् तत्र यद्यप्य

रतिशोकरूपं युगलं प्रमुक्तगुणस्थानके एव व्यवच्छिन्नं तथापि तत्स्थाने हास्यरतियुगलं प्रक्षिप्यते इत्यप्रमत्तापूर्वकरणयोर्नवकबन्धो न विरुध्यते ततो हास्यरतिभयजुगुप्साऽपूर्वकारणचरमसमये बन्धकानाश्रित्य व्यवच्छिद्यते इति अनिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थानके प्रथमभागे पञ्चानां बन्धः द्वितीयभागे पुरुषवेदस्य बन्धाभावात् चतसृणां बन्धःतृतीयभागे संज्वलनक्रोधस्य बन्धाभावात् तिसृणां चतुर्थभागे संज्वलनमानस्य बन्धाभावात् द्वयोः पञ्चमभागे संज्वलनमायाया अपि बन्धाभावात् एकस्याः संज्वलनलोभप्रकृतेर्बन्धः ततः परं बादरसंपरायोदयाभावात् तस्या अपि न बन्धः तदेवमुक्तानि मोहनीयस्य बन्धस्थानानि।

संप्रत्युदयस्थानान्यभिधित्सुराह –

एकं व दो व चउए, एत्तो एक्काहिया दसुक्कोसा।
ओहेण मोहनिज्जे, उदयट्ठाणाणि नव हुंति ॥१३॥

ओघेन सामान्येन मोहनीये उदयस्थानानि नव भवन्ति तद्यथा एकं द्वे चत्वारि अतश्चतुष्कादूर्द्ध त्वेकाधिका उदयविकल्पास्ता वदवगन्तव्या यावदुत्कर्षतो दशदशक (१।२।४।५।६।७।८।९।१० ।) मुदयस्थानं भवतीत्यर्थः। कर्म्म०॥

एतानि चानिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थानकादारभ्य पश्चानुपूर्व्या किंचिद्वाव्यन्ते तत्र चतुर्णां संज्वलनानान्यतमस्योदये एकमुदयस्थानं तदेव वेदत्रयान्यतमवेदोदयप्रक्षेपे द्विकं तत्रापि हास्यरतिरूपयुगलप्रक्षेपे चतुष्कं तत्रैव भयप्रक्षेपात्पञ्चकं जुगुप्साप्रक्षेपात्षट्कं तत्रैव चतुर्णां प्रत्याख्यानावरणकषायाणामन्यतमस्य प्रक्षेपे सप्तकं तत्रैव प्रत्याख्यानावरणकषायाणामन्यतमस्य प्रक्षेपअष्टकं तत्रैव चतुर्णामनन्तानुबन्धिकषायाणामन्यतमस्य प्रक्षेपे नवकं तत्र मिथ्यात्वप्रक्षेपे दशकम्। एवञ्च सामान्येनोक्तं विशेषतस्त्वग्रे सूत्रकृदेव सप्रपञ्चं कथयिष्यतीति तत्रैव भावयिष्ते। तदेवमुक्तान्युदयस्थानानि। कर्म्म०। पं० सं०॥

संप्रति बन्धस्थाने संवेधस्थाने च प्रतिपिपादयिषुराह –

अट्ठगसत्तगछच्चउ–तिगदुगएगाहिया भवे वीसा।
तेरसबारिक्कारस, इत्तो पंचाइ एकूणा ॥१४॥
संतस्स पगइठाणा–इं ताणि मोहस्स होंति पन्नरस।
बंधोदयसंते पुण, भंगविगप्पा बहू जाण ॥१५॥

विंशतिरष्टकसप्तक षट्क चतुस्त्रिद्व्येकाधिका। तथा त्रयोदशद्वादशैकादशकात् सत्तास्थानात् एकोनानि एकैकोनानि पञ्चादीनि सत्तायाः प्रकृतिस्थानानि मोहनीयस्यावगन्तव्यानि तानि च सर्वसंख्यया पञ्चदश भवन्ति। इदमत्र तात्पर्य्यम्। मोहनीये पञ्चदश सत्ताप्रकृतिस्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिः सप्तविंशतिः षडविंशतिश्चतुर्विंशतिः त्रयोविंशतिर्द्वाविंशतिः त्रयोदश द्वादश एकादश पञ्च चतस्रः तिस्रःद्वे एकाच। तत्र सर्वप्रकृतिसमुदायोऽष्टाविंशतिः। तत्र सम्यक्त्वे उद्वलिते सप्तविंशतिस्ततोऽपि सम्यग्मिथ्यात्वे उद्वलिते षडविंशतिः अनादिमिथ्यादृष्टिर्वा षडविंशतिः अष्टाविंशतिः सत्कर्मणोऽनन्तानुबन्धिचतुष्टयक्षये चतुर्विंशतिः ततोऽपि मिथ्यात्वे क्षपिते त्रयोविंशतिः ततोऽपि सम्यग्मिथ्यात्वे क्षपिते द्वाविंशतिः ततः सम्यक्त्वे क्षपिते एकविंशतिः ततोऽष्टस्वप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणसंज्ञकेषु कषायेषु क्षीणेसु त्रयोदश ततो नपुंसकवेदे क्षपिते द्वादश ततः स्त्रीवेदे क्षपिते एकादश ततः षट्सुनोकषायेषुक्षीण णेषु पञ्च ततोऽपि पुरुषवेदेक्षीणे चतस्रः ततश्च संज्वलनक्रोधे क्षपिते तिस्रस्ततोऽपि संज्वलनमाने क्षपिते द्वे ततोऽपि संज्वलनमायायां क्षपितायामेका प्रकृतिर्भवतीति। तदेवमुक्तानि सत्तास्थानानि। एतेषु पुनर्बन्धोदयसत्तास्थानेषु प्रत्येकं संवेधेन बहवो भङ्गाः भवन्ति तांश्च भङ्गान् यथावत्प्रतिपाद्यमानान् सम्यग्जानीहि॥

तत्र प्रथमतो बन्धस्थानेषु भङ्गनिरूपणार्थमाह॥

छव्वावीसे चउए–ग वीसे सत्तरस तेरसे दो दो।
नव बंधगे ए दोन्नि ए, एक्केक्कमओ परं भंगा ॥१६॥

द्वाविंशतौ द्वाविंशतिबन्धे षड्विकल्पा भवन्ति। तत्र द्वाविंशतिरियं मिथ्यात्वं षोडश कषायास्त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः हास्यरतियुगलारतिशोकयुगलयोरन्यतरत् युगलं भयं जुगुप्सा च अत्र भङ्गाः षट्। तथाहि हास्यरतियुगले अरतिशोकयुगले च प्रत्येकं द्वाविंशतिः प्राप्यते इति तौ च द्वौ भङ्गौ त्रिष्वपि वेदेषु प्रत्येकं विकल्पेन प्राप्येते इति द्वौ त्रिभिर्गुणितौ जाताः षट् ते च द्वाविंशतिर्मिथ्यात्वेन विना एकविंशतिर्नवरमत्र द्वयारेन्यतरो वेद इति वक्तव्यम्। ये च एकविंशबन्धकाः सासादनसम्यग्दृष्टयस्ते च स्त्रीवेदं वा वध्नन्ति पुरुषवेदं वा, न नपुंसकवेदं नपुंसकवेदबन्धस्य मिथ्यात्वोदयनिबन्धनत्वात् सासादनानां च मिथ्यात्वोदयाभावात्। अत्र च भङ्गाश्चत्वारः तथा चाह (चउवीसएगत्ति) एकविंशतौ एकविंशतिबन्धे चत्वारो भङ्गाः तत्र हास्यरतियुगलारतिशोकयुगलाभ्यां प्रागिव द्वौ भङ्गौ तौ च प्रत्येकं स्त्रीवेदे पुरुषवेदे च प्राप्येते इति द्वौ द्वाभ्यां गुणितौ जाताश्चत्वारः सैव चैकविंशतिरनन्तानुबन्धिचतुष्टयबन्धाभावे सप्तदश नवरमत्र वेदेषु मध्ये पुरुषवेद एवैको वक्तव्यो न स्त्रीवेदं वध्नन्ति सद्बन्धस्याऽनन्तानुबन्ध्युदयनिमित्तत्वात् सम्यमिथ्यादृष्ट्यादीनां चानन्तानुबन्धध्युदयाभावात्। अत्र च हास्यरतियुगलाभ्यां प्रागिव द्वौ भङ्गौ ता एव सप्तदश प्रकृतयोऽप्रत्याख्यानकषायचतुष्टयरहितास्त्रयोदश अत्रापि प्रागिव द्वौ भङ्गौ तथाचाह (सत्तरसतेरसे दो दो) सप्तदशबन्धे त्रयोदशबन्धके द्वौ भङ्गौ तौ च प्रमत्ते द्वायपि द्रष्टव्यौ। अप्रमत्तापूर्वकरणयोस्त्वेक एव भङ्गस्तत्रारतिशोकरूपस्य युगलस्य बन्धासंभवात् तथा ता एव नव हास्यरतियुगलभयजुगुप्साबन्धव्यवच्छेदे पञ्च अत्रैक एव भङ्गःएवं चतुस्त्रिद्व्येकबन्धेष्वपि प्रत्येकमेकैक एवं भङ्गो वाच्यः। तथाचाह (एक्केक्कमओ परं भंगा) अतो नवकबन्धात्परं पञ्चादिषु भङ्गाः प्रत्येकमेकैकः एकैकसंख्या वेदितव्या मकारस्त्वलाक्षणिकः अमीषां च द्वात्रिंशत्यादिबन्धस्थानानां कालप्रमाणमिदं द्वाविंशतिबन्धस्य कालोऽभव्यानधिकृत्यानाद्यपर्यवसितः भव्यानधिकृत्यानादिसपर्यवसितः सम्यक्त्वपरिभ्रष्टानधिकृत्य जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तप्रमाणा उत्कर्षतो देशोनोपार्द्धपुद्गलपरावर्त्तः एकविंशतिबन्धस्य कालो जघन्येन समयमात्र उत्कर्षतः षडावलिकाः सप्तदश। बन्धस्य कालो जघन्येनान्तर्मुहूर्त्त उत्कर्षतः किंचित्समधिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि। तथाहि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि अनुत्तरसुरस्य प्राप्यन्ते अनुत्तरसुरभवाच्च च्यूत्वा यावदद्यापि देशविरतिं सर्वविरतिं च न प्रतिपद्यते तावत्सप्तदश बन्ध एवेति किंचित्सप्ताधिकानि त्रयविंशत्सागरोपमाणि त्रयोदश बन्धस्य नव बन्धस्य च कालः प्रत्येकं जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतस्तु देशानापूर्वकोटी यतस्त्रयोदश बन्धा देशविरतौ नवकबन्धस्तु सर्वविरतिश्चोत्कर्षतोऽपि देशोनपूर्वकोटीप्रमाणा पञ्चादिषु पुनर्बन्धस्थानेषु कालः प्रत्येकं जघन्येनैकं समयमुत्कर्षेण चान्तर्मुहूर्त्तम्। एकसम-

यता कथमिति चेत् उच्यते उपशमश्रेण्यां पञ्चविधं बन्धमारभ्य द्वितीये समये कालं कृत्वा देवलोकं याति देवलोके च गतः सन्नविरतो भवति अविरतत्वे च सप्तदश बन्ध इत्येकसमयता एवं चतुर्विधबन्धादिष्वपि भावनीयम्। तदेवं कृता कालनिरूपणा।

संप्रत्येतेषामेव बन्धस्थानानां मध्ये कस्मिन् कियन्ति प्रागुक्तान्युदयस्थानानि भवन्तीत्येतन्निरूप्यते–

दस वावीसे नवइग–वीसे सत्ताइ उदयकम्मंसा।
छाईनव सत्तरसे, तेरं पंचाइ अट्ठे व ॥१७॥
चत्तारि आइतवबं–धगेसु उक्कोससत्त उदयंसा।
पेचविहबंधगे पुण, उदओ दोण्हं मुणेयव्वो ॥१८॥

द्वाविंशतिबन्धे सप्तादीनि दशपर्यन्तानि चत्वार्युदयस्थानानि भवन्ति तद्यथा सप्त अष्टौ नव दश। तत्र मिथ्यात्वमप्रत्याख्यानावरणसंज्वलन क्रोधादीनामन्यतमे त्रयः क्रोधादिका यत एकस्मिन् क्रोधे वेद्यमाने सर्वेऽपि क्रोधा बध्यन्ते समजातीयत्वात्। एवं मायालोभानामुदयः परस्परं विरोधादित्यन्यसतमे त्रयो गृह्यन्ते। तथा त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः हास्यरतियुगलारतिशोकगुलयोरन्यतरत् युगलमेतासां सप्तप्रकृतीनां द्वाविंधतिबन्धके मिथ्यादृष्टावुदयो ध्रुवः। अत्र भङ्गाश्चतुर्विंशतिः तद्यथा हास्यरतियुगले अरतिशोकयुगले च प्रत्येकमेकैको भङ्गः प्राप्यते इति द्वौ भङ्गौ तौ प्रत्येकं त्रिष्वपि वेदेषु प्राप्येते इति द्वौ त्रिर्गुणितौ जाताः षट् ते च प्रत्येकं त्रिष्वपि क्रोधादिषु चतुर्षु प्राप्यन्ते इति षट् चतुर्भिर्गुणिता जाताश्चतुर्विंशतिः तस्मिन्नेव सप्तके भये वा जुगुप्सायां वा अनन्तानुबन्धिनि वा प्रक्षिप्ते अष्टानामुदयः। अत्र भयादौ प्रत्येकमेकैका चतुर्विंशतिः प्राप्यते इति तिस्रश्चतुर्विंशतयोऽत्र द्रष्टव्याः। ननु मिथ्यादृष्टेरवश्यमनन्तानुबन्धिनामुदयः संभवति तत्कथमिह मिथ्यादृष्टिः सप्तोदये अष्टोदये वा कस्मिंश्चिदनन्तानुबन्ध्युदयरहितः प्रोक्तः। उच्यते इह सम्यग्दृष्टिना सता केनचित् प्रथमतोऽनन्तानुबन्धिनो विसंयोजिताः एतावतैव च सविश्रान्तो न मिथ्यात्वादिक्षयाय उद्युक्तवान् तथाविधसामग्र्यभावात् ततः कालान्तरे मिथ्यात्वं गतः सन् मिथ्यात्वप्रत्ययतो भूयोऽप्यनन्तानुबन्धिनो बध्नाति ततो बन्धावलिका यावन्नाद्याप्यतिक्रामति तावत्तेषांमुदयो न भवति बन्धावलिकायां त्वतिक्रान्तायां भवेदिति। ननु कथां बन्धावलिकातिक्रमेऽप्युदयः संभवति यतोऽबाधाकालक्षये सत्युदयः अबाधाकालश्चानन्तानुबन्धिनां जघन्येनान्तर्मुहूर्तमुत्कर्षेण तु चत्वारि वर्षसहस्राणीति नैष दोषः यतो बन्धसमयादारभ्य तेषां तावत्सत्ता भवति सत्तायां च सत्यां बन्धे प्रवर्त्तमाने पतद्ग्रहता पतद्ग्रहतायां च शेषसमानजातीप्रकृतिदलिकं सक्रान्तिः संक्रामद्दलिकं पतद्ग्रहप्रकृतिरूपतया परिणमतो ततः संक्रमावलिकायामतीतायामुदयस्ततो बन्धावलिकायाम-तीतायामुदयोऽभिधीयमानो न विरुध्यते। तथा तस्मिन्नेव सप्तके भयजुगुप्सयोरथवा भयानन्तानुबन्धिनोः यद्वा जुगुप्सानन्तानुबन्धिना: प्रक्षिप्तयोर्नवानामुदयः अत्रप्येकैकस्मिन् विकल्पे प्रागुक्तक्रमेण भङ्गकानां चतुर्विंशतिः प्राप्यते इति तिस्रश्चतुर्विंशतयो द्रष्टव्याः। तथा तस्मिन्नेव सप्तके भयजुगुप्सानन्तानुबन्धिषु प्रक्षिप्तेषु दशानां च उदयः अत्रैकैव भङ्गकानां चतुर्विंशतिः सर्वसंख्यया द्वाविंशतिबन्धे अष्टौ चतुर्विंशतयः (नवएक्कवीसत्ति) एकविंशतौ एकविंशतिबन्धसप्तादीनि नव पर्यन्तानि त्रीणि उदयस्थानानि भवन्ति तद्यथा अष्टौ नव तत्र सप्त अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानावरणसंज्वलनक्रो धदीनामन्यतमकं च चत्वारः क्रोधादिकास्त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः द्व योर्युगलयोरन्यरत् युगलमेतासां सप्तप्रकृतीनामुदय एकविंशतिबन्धे ध्रुवः। अत्र प्रागुक्तक्रमेण भङ्गकानां चतुर्विंशतिः। तथा तस्मिन्नेव सप्तके भये वा जुगुप्सायां वा क्षिप्तायामष्टानामुदयः। अत्र द्वे चतुर्विंशती भङ्गकानां भयजुगुप्सायां युगपत् प्रक्षिप्तयोर्नवानामुदयः। अत्र चैका भङ्गानां चतुर्विंशतिः सर्वसंख्यया एकविंशतिबन्धे चतस्रश्चतुर्विंशतयः अयं च एकविंशतिबन्धः सासादने प्राप्यते। सासादनश्च द्विधा श्रेणिगतोऽश्रेणिगतश्च। तत्राश्रेणिगतं सासादनमाश्रित्यामूनि सप्तादीनि उदयस्थानान्यवगन्तव्यानि। यस्तु श्रेणिगतस्तत्रादेश द्वयी केचिदाहुः। अनन्तानुबन्धिसत्कर्मसहितोऽप्युपशमश्रेणिं प्रतिपद्यते तेषां मतेनानन्तानुबन्धिनामप्युपशमता भवति एतच्च सूत्रेऽपि संवादि तदुक्तं सूत्रे ''अणदंसनपुंसनपुंसत्थी'' इत्यादि श्रेणीतश्च प्रतिपतन् कश्चित्सासादनभावं चोपगते यथोक्तानि त्रीण्युदयस्थानानि भवन्ति। अपरे पुनराहुः। अनन्तानुबन्धिनः क्षपयित्वैवोपशमश्रेणिं प्रतिपद्यते न तत्र कर्म्म तेषां मतेन श्रेणीतः प्रतिपतन् सासादनो न भवति तस्यानन्तानुबन्ध्युदयासंभवात्। अनन्तानुबन्ध्युदयसहितश्च सासादन इष्यते ''अनंतानुबंधुदयरहितस्स, सासणभावो न संभवति'' इति वचनात्। अथोच्यते यदा मिथ्यात्वं प्रत्यभिमुखो न चाद्यापि मिथ्यात्वं प्रतिपद्यते तदानीमनन्तानुबन्ध्युदयरहितोऽपि सासादनस्तेषां मते न भविष्यतीति किमत्रायुक्तं तदयुक्तमेवं सति तस्य षडादीनि नवपर्यन्तानि चत्वार्युदयस्थानानि भवेयुः न च भवन्ति सूत्रे प्रतिषेधात्। तैरप्यनभ्युपगमाच्च। तस्मादनन्तानुबन्ध्युदयरहितः सासादनो न भवतीत्यवश्यं प्रत्येयम्।(छाईनवसत्तरसे) सप्तदशके बन्धस्थाने षडादीनि नवपर्वन्तानि चत्वार्युदयस्थानानि भवन्ति तद्यथा षट् सप्त अष्टौ नव सप्तदश बन्धकादिद्वये सम्यग्मिथ्यादृष्टयोऽविरतसम्यग्दृष्टयश्च। तत्र सम्यग्मिथ्यादृष्टीनां त्रीण्युदयस्थानानि तद्यथा सप्त अष्टौ नव। तत्रानन्तानुबन्धिवर्ज्जास्त्रयोऽन्यतमे क्रोधादयः त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः द्वयोर्युगलयोरन्यतरत् युगलं सम्यग्मिथ्यात्वं चेति सप्तानां प्रकृतीनामुदयः सम्यग्मिथ्यादृष्टिषु ध्रुवः। अत्र प्रागुक्तक्रमेण भङ्गकानां चतुर्विंशतिः अस्मिन्नेव सप्तके भये वा जुगुप्सायां वा प्रक्षिप्तायामष्टानामुदयः। अतं च द्वे चतुर्विंशती भङ्गानाम्। भयजुगुप्सयोस्तु युगपत्प्रक्षिप्तयोर्नवानामुदयः अत्र चैका चतुर्विंशतिभङ्गकानां सर्वसंख्यया सम्यग्मिथ्यादृष्टीनां चतस्रश्चतुर्विंशतयः अविरतसम्यग्दृष्टीनां सप्तदश बन्धकानां चत्वार्युदयस्थानानि तद्यथा षट् सप्त अष्टौ नव तत्रोपशकसम्यग्दृष्टीनां क्षायिकसम्यग्दृष्टीनां च अविरतसम्यग्दृष्टीनामनन्तानुबन्धिवर्जास्त्रयोऽन्यतमे क्रोधादिकाः त्रयाणां वेदनामन्यतमो वेदः द्वयोर्युगलयोरन्ययतरत् युगलमिति षण्णामुदयो ध्रुवः अत्र प्रागेव भङ्गाकानामेका चतुर्विंशतिः अस्मिन्नेव षटके भये जुगुप्सायां वा वेदकसम्यक्त्वे वा प्रक्षिप्ते सप्तानामुदयः। अत्र भयादिषु प्रत्येकमेकैका चतुर्विंशतिः प्राप्यते इति तिस्रश्चतुर्विंशतयः। भयजुगुप्सावेदकसम्यक्त्वेषु युगपत्प्रतिप्तेषु नवानामुदयः। अत्र चैका भङ्गानां चतुर्विंशतिः अविरतसम्यग्दृष्टीनां सर्वाश्चतुर्विंशतयोऽष्टौ सर्वसंख्यया सप्तदधबन्धे द्वादश चतुर्विंशतयः (तेरेपंचाइअट्ठेवत्ति) त्रयोदशके बन्धस्थाने पञ्चादीन्यपर्य्यन्तानि चत्वार्युदयस्थानानि भवन्ति तद्यथा पञ्च सप्त अष्टौ। तत्र प्रत्याख्यानावरणसंज्वलनक्रो-

धादीनाममन्यतमौ द्वौ क्रोधादिकौ त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदो द्वयोर्युगलयोरन्यतरत् युगलमित्येतासां पञ्चानां प्रकृतीनामुदयस्त्र-योदशबन्धके ध्रुवः । अत्र प्रागुक्तक्रमेण भङ्गकानामेका चतुर्विंशतिः भयजुगुप्सावेदकसम्यक्त्वनामन्यतमस्मिन् क्षिप्ते षण्णामुदयः अत्र भयादित्रयो विकल्पाः एकैकस्मिन् विकल्पे भङ्गकानां चतुर्विंशतिरिति तिस्रश्चतुर्विंशतयः । तथा तस्मिन्नेव पञ्चके भयजुगुप्सयोरथवा भयवेदक सम्यक्त्वयोर्यद्वा जुगुप्सावेदकसम्यक्त्वयोः प्रक्षिप्तयोः सप्तानामुदयः । अत्रापि तिस्रश्चतुर्विंशतयो भङ्गाकानां भयजुगुप्सावेदकसम्यक्त्वेषु पुनर्युगपत् प्रक्षिप्तेषु अष्टानामुदयः अत्र चैका चतुर्विंशतिभङ्गाकानां सर्वसंख्यया त्रयोदशबन्धे अष्टौचतुर्विंश तयः चत्तारीत्यादि । नवबन्धकेषु प्रमत्तादिचतुरादीनि सप्तगर्यन्तानि चत्वारि उदयरूप विभागस्थानानिउदयस्थानानीत्यर्थः । तद्यथा चतस्रः पञ्चषट् सप्त तत्र संज्वलनक्रोधादीनामन्यतम एकः क्रोधा--दिकः त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः द्वयोर्युगलयोरन्तरत् युगलमित्यतासां चतसृणां प्रकृतीनामुदयः क्षायिकसम्सग्दृष्टिषु औपशमिकसम्यग्दृष्टिषु वा प्रमत्तादिषु ध्रुवः अत्र चैका भङ्गकानां चतुर्विंशतिः । अस्मिन्नेव चतुष्के भये वा जुगुप्सायां वा वेदसम्यक्त्वे प्रक्षिप्ते पञ्चानामुदयः । अत्र भङ्गकानां तिस्रश्चतुर्विंशत-यस्तथा तस्मिन्नेव चतुष्के भयजुगुप्सयोरथवा भयवेदकसम्य-क्त्वयोः प्रक्षप्तयोः षण्णामुदयः अत्रपि तिस्रश्चतुर्विंशतयो भङ्गकानां भयजुगुप्सावेदकसम्यक्त्वेषु तु युगपत् प्रक्षप्तेषु सप्तानामुदयः । अत्र भङ्गकानामेका चतुर्विंशतिः सर्वसंख्यया नवकबन्धेऽष्टौ चतुर्विंशतयः (पंचविहेत्यादि) पञ्चविधबन्धकेषु पुनरुदो द्वयोः प्रकृतिद्वयात्मकमुदय--स्थानमिति भावः । तत्र चतुर्णा संज्वलनानामेकतमः क्रोधादिः त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः । अत्र त्रिभिर्वेदैश्चभिश्च संज्वलनैर्द्वादश भङ्गाः॥

एतो चतुबंधाई, एक्केक्कुदया हवंति सव्वे वि ।
बंधो चरिमे वि तहा, उदयाभावे वि वा होज्जा ॥

इतः पञ्चकबन्धादनन्तरं चतुर्बन्धादयः सर्वेऽपि प्रत्येकमेकैकोदयाः एकैकप्रभृत्युदया भवन्ति ज्ञातव्याः । तथाहि चतुर्विधो बन्धो भवति पुरुषवेदबन्धव्यवच्छेदे सति पुरुषवदेस्य च युगपत् बन्धोदयौ व्यवच्छिद्येते । ततश्चतुर्विधबन्धकाले एकोदय एव भवति स च चतुर्णा संज्वलनानामन्यतमः अत्र चत्वारो भङ्गाः यतः कोऽपि संज्वलनक्रोधेनोदयप्राप्तेन श्रेणिं प्रतिपद्यते कोऽपिसंज्वलनमानेन कोऽपि संज्वलनमायमा कोऽपि संज्वलनलोभेनेति चत्वारो भङ्गाः । इह केचिचतुर्विधबन्धसंक्रमणकाले त्रयाणां वेदानामन्यतमस्य वेदस्योदयमिच्छन्ति ततस्तन्मतेन चतुर्विधबन्धकस्यापि प्रथमकाले द्वादशद्विकोदयभङ्गा लभ्यन्ते तदक्तं पञ्चसंग्रहमलटीकायाम् "चतुर्विधबन्धकस्याप्याद्यविविभागे त्रयाणां वेदनामन्यतमस्य वेदस्योदयं केचिदिच्छन्ति अतश्चतुर्विधबन्धकस्यापि द्वादशद्विकोदया-दनुजानीहि" इति । तथा च सति तेषां मतेन सर्वसंख्यया द्विकोदयश्चतुर्विंशतिभङ्गा अवसेयाः । संज्वलनक्रोधबन्धव्यच्छेद सति त्रिविधो बन्धः तत्राप्येकविध एवोदयः अत्र त्रयो भङ्गाः नवरमत्र संज्वलनक्रोधवर्जानां त्रयाणामन्यतम इति वक्तव्यम् । यतः संज्वलनक्रोधोदये सत्यवश्यं संज्वलनक्रोधस्य बन्धेन भवितव्यम् "जे वेयइ" इति वचनात् तथा च सति चतुर्विध एव बन्धः प्रसक्तस्ततः संज्वलनक्रोधस्य बन्धे व्यवच्छिद्यमाने उदयोऽपि व्यवच्छिद्यते इति त्रिविधे बन्धे एकविध उदयस्त्रयाणामन्यतम इति वक्तव्यं संज्वलनमानबन्धव्यवच्छेदे सति त्रिविधो बन्धः । तत्राप्येकविध एवोदयः केवलं समाया लोभाया इति वक्तव्यं युक्तिः प्रागिवात्राप्यनुसरणीया । अत्रा च द्वौ भङ्गा संज्वलन मायाबन्धव्यवच्छेदे एकस्य संज्वलनलोभस्य बन्धस्तस्यैव च उदयः अत्रैकोभङ्गः । इह यद्यपि चतुरादिषु बन्धस्थानेषु संज्वलनानामुदय मधिकृत्य न कश्चिचत् विशेषस्तथापि बन्धस्था-नापेक्षया भेदोस्तीति भङ्गाःपृथगग्रे गणयिष्यन्ते तथा बन्धोपरमेऽपि बन्धाभावेऽपि मोहनीस्य सूक्ष्मसंपरायगुणस्थनके एकविध उदयो भवति स च संज्वलनलोभस्यासेवः तद्वतसूक्ष्मकिट्टिवेदनात् ततः परमुदयाभावऽपि उदयेऽपगतेऽपि उपशान्तकषायमधिकृत्य मोहनीयं सद्भवति एतच्च प्रसङ्गागतःमिति कृत्वोक्तम् अन्यथाबन्धस्थानोदयस्था-नेषु परस्परं संवेधेन चिन्त्यमानेषु नेदं सत्कर्मताभिधनमुपयोगीति ।

संप्रति दशादिषु एकपर्यवसानेषु यावन्तो भङ्गा
भवन्ति तावन्तो निर्दिदिक्षुराह--

एक्कगछक्केक्कारस--दससत्तचउक्कएक्कगा चेव ।
एए चउवीसगया, वारदुगेक्कम्मि एक्कारं ॥२०॥

इह दशादीन्युदयस्थानान्यधिकृत्य यथासंख्यं संख्यापदयोजना कर्तव्या सा चैवं दशोदये एका चतुर्विंशतिर्नवोदये षट् तद्यथा द्वाविंशतिबन्धे तिस्रः एकविंशतिबन्धे मिश्राविरतिसम्यग्दृष्टिबन्धे च प्रत्येकं तिस्रः । एकविंशतिबन्ध्ते मिश्रसप्तदशबन्धे च प्रत्येकं द्वे द्वे त्रयोदशबन्धे चैका । तथा सप्तोदये दश तत्र द्वाविंशतिबन्धे एकविंशतिबन्धे मिश्रसप्तदशबन्धे च प्रत्येकमेकैका अविरतसम्यग्दृष्टिसप्तदशबन्धे त्रयोदशबन्धे च प्रत्येकं तिस्रः नवकबन्धे त्वेका । तथा षडुदये सप्त तत्र चाविरतसम्यग्दृष्टिसप्त-दशबन्धे एका त्रयोदश बन्धे नवकबन्धे च प्रत्येकं तिस्रः । तथा पञ्चकोदयो चतस्रः तत्र १योदशबन्धे एका नवबन्धे तिस्रः चतुष्कोदये एका चतुर्विंशतिः (एए चउवीसगयत्ति) एते अनन्तरोक्ता एकादिकाः संख्याविशेषाः चतुर्विंशतिगताः चतुर्विंशत्यभिधायकाः एता अनन्तरोक्ताश्च--तुर्विंशतयो ज्ञातव्या इत्यर्थः एताश्च सर्वसंख्यया चत्वारिंशत् तथा (वारदुगेति) द्विकोदयेचतुर्विंशतिरेका भङ्गकानाम् एतच्च मतान्तरेणोक्त-मन्यथा स्वमते द्वादशैव भङ्गा वेदितव्याः (इक्कम्मि इक्कारत्ति) एकोदये एकादश भङ्गास्ते चैवं चतुर्विधे चत्वारः त्रिविधबन्धे त्रयो द्विविधबन्धे द्वौ एकविधबन्धे एकः बन्धोभवे चैकः इति ।

सम्प्रत्येतेषामेव भङ्गानां विशिष्टतरसंख्यानिरूपणार्थमाह--

नवपंचाणउइसए, उदयविगप्पेहि मोहिया जीवा ।
अउणुत्तरि एगुत्तरि, पयविंदसएहि विन्नेया ॥२१॥

इह दशादिषु द्विकपर्य्यवसानेषु उदयस्थानेषूदयस्थानभङ्गकानामेक-चत्वारिंशच्चतुर्विंशतयो लब्धास्तत एकचत्वारिंशच्चतुर्विंशत्या गुण्यते गुणितायां च सत्यां जातानि नवाशीत्यधिकानि नवशतानि तत्रैकोदये भङ्गाः । एकादशसु प्रक्षिप्तेषु नवशतानि पञ्चनवत्यधिकानि भवन्ति । एतवाद्भरुदयस्थानविकल्पैर्यथायोगं सर्वे संसारिणो जीवा मोहमापादिता विज्ञेयाः । संप्रति पदसंख्यानिरूपणार्थमाह (अउणुत्तरि-एत्ति) इह पदादीनि नाम मिथ्यात्वमप्रत्याख्यान क्रोधप्रत्याख्याना-वरणक्रोध इत्येवमादीनि । ततो वृन्दानां दशाद्युदयस्थानरूपाणां पदानि आर्षत्वात् राजदन्तादिषु मध्ये पाठाभ्युपगमाद्वा वृन्दश-

ब्दस्यपरनिपातः तेषां शतैरेकसप्तत्यधिकैकोनसप्ततिसंख्यैर्मोहिताः संसारिणो जीवा विज्ञेयाः । एतावत्संख्याभिः कर्मप्रकृतिभिर्यथायोगं मोहिताः संसारिणो जीवा ज्ञातव्या इत्यर्थः । अत्र कथमेकसप्तत्यधिकैकोनसप्ततिसंख्यानि पदानां शतानि भवन्तीत्यंच्यते इह दशोदये दश पदानि दश प्रकृत्तय उदयमागता इत्यर्थः । एवं नवोदयादिष्वपि नवीदीनि पदानि भावनीयानि । ततो दशोदयो एकोदशभिर्गुण्यते नवोदयाश्च षड् नवभिरष्टोदयाश्चैकादश अष्टभिः सप्तोदया एकादश सप्तभिः षट् उदयाः सप्त षड्भिः पंचकोदयाश्चत्वारः पञ्चभिः चतुरुदय एकश्चतुर्भिः द्विकोदय एको द्वाभ्यां गुणयित्वा चैते सर्वेप्येकत्र मील्यन्ते ततो जाते द्वे शते नवत्यधिके एतेषु च प्रत्येकमेकैका चतुर्विंशतिर्भङ्गकानां प्राप्यते इति भूयश्चचतुर्विंशत्या गुण्यन्ते गुणितेषु च सत्सु एकोदयभङ्गपदान्येकादश प्रक्षिप्यन्ते ततो यथोक्तसंख्यान्येव पदानां शतानि भवन्ति । इयं च उदयस्थानसंख्या च ये मतान्तरेण चतुर्विधबन्धसंक्रमणकाले द्विकोदये द्वादशभङ्गा उक्तास्तानधिकृत्य वेदितव्या यदा पुनरेते नाधिक्रियन्ते तदा इयमुदयस्थानपदसंख्या ।

नवतेसीयसएहि उदयविगप्पेहि मोहिया जीवा ।
अउणुत्तरि सीयाला, पवबिंदसएहिं विन्नेया ॥२२॥

उदयविकल्पैस्त्र्यशीत्यधिकनवशतसंख्यैस्तथा दशोदयादिरूपवृन्दास्तद्रतानां पदानां शतैः सप्तचत्वारिंशदधिकैकोनसप्ततिसंख्यैर्यथायोगं सर्वेऽपि संसारिणो जीवा मोहिता मोहमापादिता विज्ञेयाः । तत्रोदयस्थानेषु पूर्वोक्तप्रकारेण परिसंख्यायमानेषु ये मतान्तरेणोक्ताश्चतुर्विधबन्धस्थाने द्विकोदये द्वादश भङ्गास्तेऽपसार्यन्ते ततो नव शतानि अशीत्यधिकानि उदयविकल्पानां भवन्ति पदेषु च परिसंख्यायमानेषु मतान्तरोक्तद्वादशाभङ्गकानि चतुर्विंशतिपदान्यपनीयन्ते ततो यथोक्ता पदानां संख्या भवति । इह दशादय उदयास्तद्भङ्गाश्च जघन्यत एकसामयिका उत्कर्षत आन्तर्मौहूर्तिकाः तथाहि चतुरादिषु दशोदयपर्यन्तेष्वश्यमन्यतमो वेदोऽन्यतरत् युगलं वेद्यते वेदयुगलयोश्च मध्येऽन्यतरदवश्यं मुहूर्तादारभ्य परावर्त्तते । तदुक्तं पञ्चसंग्रहमूलटीकायां वेदेन युगलेन वा अवश्यं मुहूर्त्तादारभ्य परावर्त्तितव्यमिति । तत उत्कर्षतश्चतुष्कोदयादयः सर्वेऽप्यान्तर्मौहूर्तिका द्विकोदयैकोदयाश्च आन्तर्मौहूर्तिकाः सुप्रतीता एव । तथा यदा विवक्षिते उदये भङ्गे वा एकं समयं वर्तित्वा द्वितीये समये गुणस्थानान्तरं गच्छति तदा अवश्यं बन्धस्थानभेदात् स्वरूपतो वा भिन्नमुदयान्तरं भङ्गान्तरं वा यातीति सर्वेऽप्युदया भङ्गाश्च जघन्यत एकसामयिकास्तदेवं बन्धस्थानामुदयस्थानैः सह परस्परं संवेध उक्तः । सत्तास्थानस्य बन्धस्थानेन सह संवेधः ।

सम्प्रति सत्तास्थानैः सह तमभिधित्सुराह—

तिन्नेव य वावीसे, इगवीसे अट्ठवीस सत्तरसे ।
छच्चेव तेरनवबंधगेसु पंचेव ठाणाइ ॥२३
पंचविह चउविहेसु, छछक्कसेसेसु जाण पंचेव ।
पत्तेयं पत्तेयं, चत्तारि उ बंधवे च्छेए ॥२४॥

द्वाविंशतौ द्वाविंशतिबन्धे त्रीणि सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिः सप्तविंशतिः षडविंशतिश्च । तथाहि द्वाविंशतिबन्धो मिथ्यादृष्टेश्चत्वार्युदयस्थानानि तद्यथा सप्ताष्टौ नव दश । तत्र सप्तोदय अष्टाविंशतिरेकं सत्तास्थानं यतः सप्तोदयोऽनन्तानुबन्ध्युदयाभावे भवति अनन्तानुबन्ध्युदयेन पूर्वं सत्यग्दृष्टिनः सत्ता अनन्तानुबन्धिनः उद्वलिता ततः कालान्तरेण परिणामवशतो मिथ्यात्वं गतेन भूयोऽपि मिथ्यात्वप्रत्ययेन ते अनन्तानुबन्धिनो बद्धुमारभ्यन्ते स एव मिथ्यादृष्टिर्बन्धावलिकाकालं यावदनन्तानुबन्ध्युदयरहितः प्राप्यते नान्यः स चाष्टाविंशति सत्कर्मे वेत्यष्टाविंशतिरेवैकं सप्तोदये सत्ताज्ञथानमष्टोदये त्रीण्यपि सत्तास्थानानि । यतोऽष्टोदयो द्विधा अनन्तानुबन्ध्युदयरहितोऽनन्तानुबन्ध्युदयसहितश्च । तत्र योऽनन्तानुबन्ध्युदयरहितोऽष्टोदयस्तत्र प्रागुक्तयुक्त्याऽष्टा-विंशतिरेव सत्तास्थानम् । अनन्तानुबन्ध्युदयसहिते तु त्रीण्यपि सत्तोस्थानानि तत्र यावन्नाद्यापि सम्यक्त्वमुद्वलयति तावदष्टाविंशतिसत्कम् उद्वलिते सप्तविंशति मिश्रमोहनीये षड्विंशतिः अनादिमिथ्यादृष्टेर्वा षड्विंशतिः । एवं नवोदयेऽप्यनन्तानुबन्ध्युदयरहितेऽष्टाविंशतिरेव अनन्तानुबन्ध्युदयसहिते तु त्रीण्यपि सत्तास्थानानि दशोदयस्त्वन्तानुबन्ध्युदय सहित एव भवति ततस्तत्रापि त्रीणि सत्तास्थानानि भावनीयानि (इगवीसं अट्ठवीसत्ति) एकविंशतौ एकविंशतिबन्धे अष्टाविंशतिरेकं सत्तास्थानम् । एकविंशतिबन्धो हि सासादनसम्यग्दृष्टेर्भवति सासादनत्वं च जीवस्यौपशमिकसम्यक्त्वात् प्रच्यवमानस्यो—पजायते सम्यक्त्वगुणेन च मिथ्यात्वं त्रिधा कृतं तद्यथा सम्यक्त्वं मिश्रं मिथ्यात्वं च । ततो दर्शनत्रिकस्यापि सत्कर्मतया प्राप्यमाणत्वात् एकविंशतिबन्धे त्रिष्वप्युदयस्थानेष्वष्टाविंशतिरेकं सत्तास्थानं भवति । (सत्तरेस छच्चेव) सप्तदशबन्धे षट् सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिः सप्तविंशतिश्चतुर्विंशतिस्त्रयोविंशतिर्द्वाविंशतिरेकविंशतिश्च । सप्तदशबन्धो हि द्वयानां भवति तद्यथा सम्यग्मिथ्यादृष्टीनामविरतसम्यग्दृष्टीनां च । तत्र सम्यग्मिथ्यादृष्टीनां त्रीण्युदयस्थानानि तद्यथा सप्त अष्टौ नव अविरतसम्यग्दृष्टीनां चत्वारि तद्यथा षट् सप्त अष्टौ नव । तत्र षड्डुदयोऽविरतानामौपशकसम्यग्दृष्टीनां क्षायिकसम्यग्दृष्टीनां वा प्राप्यते । तत्रौपशमिकसम्यग्दृष्टीनां द्वे सत्तास्थाने तद्यथा अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिश्च । तत्राष्टाविंशतिः प्रथम सम्यक्त्वोत्पादकाले उपशमश्रेण्यां तु प्रतिपद्यते उपशान्तानुबन्धिनामष्टाविंशतिरुद्वलितानन्तानुबन्धिनां चतुर्विंशतिः क्षायिकसम्यग्दृष्टीनां त्वेकविंशतिरेव । क्षायिकसम्यक्त्वं हि सप्तकक्षये भवति सप्तकक्षये च जन्तुरेकविंशतिसत्कर्मेति सर्वसंख्यया षड्डुदये त्रीणि सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिः सप्तविंशतिश्चतुर्विंशतिःसप्तोदयेः-मिश्रदृष्टीनां त्रीणि सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिः सप्तविंशतिश्चतुर्विंशतिः तत्र योऽष्टाविंशतिः सत्कर्मासन् सम्यग्मिथ्यात्वं प्रतिपद्यते तस्याष्टाविंशतिः येन पुनर्मिथ्यादृष्टिना सता प्रथमं सम्यक्त्वमुद्वलितं सम्यग्मिथ्यात्वं च नाद्याप्युद्वलितुमारभ्यते अत्रान्तरे परिणामशतः मिथ्यात्वाद्विनिवृत्त्य सम्यग्मिथ्यात्वं प्रतिपद्यते तस्य सप्तविंशतिः । यः पुनः सम्यग्दृष्टिः सन्नानन्तानुबन्धिनो । विसंयोज्य पश्चात्परिणामशतः सम्यग्मिथ्यात्वं प्रतिपद्यते तस्य चतुर्विंशतिः । सा चतसृष्वपि गतिषु प्राप्यते । यतश्चतुर्गतिका अपि सम्यग्दृष्टयोऽनन्तानुबन्धिनो विसंयोजयन्ति तदुक्तं कर्म प्रकृत्याम् "चउगइया पज्जत्ता, तिन्नि विसंजोयणा विसंजोयंति । करणेहिं तिहिं सहियाणंतरकरणं उवसमो व" इति अत्र (तिन्नि विसंजोयंति) अविरता देशविरताः सर्वविरता वा यथायोगमिति अनन्तानुबन्धि विसंयोजनानन्तरं च केचित्परिणामवशतः सम्यग्मिथ्यात्वमपि प्रतिपद्यन्ते ततश्चतसृष्वपि गतिषुसम्यग्मिथ्यादृष्टीनां चतुर्विंशतिः

संभवति अविरतसम्यग्दृष्टीनां तु सप्तादयो पञ्च सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतियचतुर्विंशतिस्त्रयोविंशतिः द्वाविंशतिरेकविंशतिश्च । तत्राष्टाविंशतिरौपशमिकसम्यग्दृष्टीनां वेदकसम्यग्दृष्टीनां वा चतुर्विंशतिरप्युभयेषां नवरमनन्तानुबन्धिविसंयोजनानन्तरं त्रयोविंशतिर्द्वाविंशतिश्च वेदकसम्यग्दृष्टीनामेव तथाहि कश्चिन्मनुष्यो वर्षाष्टकस्योपरि वर्त्तमानो वेदकसम्यग्दृष्टिः क्षपणायाभ्युद्यतस्तस्यानन्तानुबन्धिषु मिथ्यात्वे च क्षपिते सतित्रयोविंशतिः मिश्रे क्षपिते द्वाविंशतिः । स च द्वाविंशतिसत्कर्मा सम्यक्त्वं क्षपयन् तच्चरमग्रासे वर्त्तमानः कश्चित्पूर्वबद्धायुष्कः कालमपि करोति कालं च कृत्वा चतसृणां गतीनामन्यतमस्यां गतावुत्पद्यते। तदुक्तम्। पढवगो उमणुस्सो, निद्धवगो चउसु वि ततो द्वाविंशतिश्चतसृष्वपि गतिषु प्राप्यते । एकविंशतिस्तु क्षायिकसम्यग्दृष्टीनामेव यतः सप्तकक्षये क्षायिकसम्यग्दृष्ट्यः सप्तके क्षीणे च येतायामेकविंशतिरेवमष्टोदसंऽपि मिश्रदृष्टीनामविरत–सम्यग्दृष्टिभावोक्तरूपाण्यन्यूनातिरिक्तानि सत्तास्थानानि भावनीयानि एवं नवोदयेऽपि । नवरं नवोदयोऽविरतानां वेदकसम्यग्दृष्टीनामेव संभवतीति कृत्वा तत्र चत्वारि सत्तास्थानानि वाच्यानि । तद्यथा अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिस्त्रयोविंशतिर्द्वाविंशतिश्च । एतानि च प्रागिवावगन्तव्यानि (तेरनवबधगेसु पंचेव ठाणाणित्ति) त्रयोदशबन्धकेषु नवबन्धेषु च प्रत्येकं पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिस्त्रयोविंशतिर्द्वाविंशतिरेकविंशतिश्च । तत्र त्रयोदशबन्धका देशविरस्तास्ते व द्विधा तिर्यञ्चो मनुष्याश्च । तत्र ये तिर्यञ्चस्तेषां चतुर्ष्वप्युदयस्थानेषु द्वे एव सत्ताङ्गस्थाने तद्यथा अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिश्च। तत्राष्टाविंशतिरौपशमिकसम्यग्दृष्टीनां वेदकसम्यग्दृष्टीनां वा । तत्रौपशमिकसम्यग्दृष्टीनां प्रथमसम्यक्त्वात्पादकालस्तथाहि तदानीमन्तःकरणाद्धायां वर्त्तमानः कश्चित् देशविरतिमपि प्रतिपद्यते कश्चिन्मनुष्यः पुनः सर्वविरतिमपि। तदुक्तं शतकचूर्णौ उवसमसम्मद्दिट्ठी अंतरकरणे ठिओ काइ देसविरइं वेई पमत्तापमत्तभावं पि गच्छइ सासायणो पुण न किमपि लहइत्ति वेदकसम्यग्दृष्टीनां त्वष्टाविंशतिः सुप्रतीता चतुर्विंशतिः पुनरनन्तानुबन्धिषुविसंयोजितेषु वेदसम्यग्दृष्टीनां वेदितव्या । शेषाणि तु सर्वाण्यपित्रयोविंशत्यादीनि सत्तास्थानानि तिरश्चां न संभवन्ति तानि हि क्षायिक सम्यक्त्वमुत्पादयतः प्राप्यन्ते न च तिर्यञ्चः क्षायिकसम्यक्त्वमुत्पादयन्ति किंतु मनुष्या एव। अय मनुष्याः क्षायिकसम्यक्त्वमुत्पाद्य यदा तिर्यक्षूत्पद्यन्ते तदा तिरश्चोऽप्येकविंशतिः प्राप्यते एव तत्कथमुच्यते शेषाणि त्रयोविंशत्यादीनि सर्वाण्यपि न संभवन्तीति तदयुक्तं यतः क्षायिकसम्यग्दृष्टिस्तिर्यक्षु न संख्येयवर्षायुष्केषु मध्ये समुत्पद्यते किंत्वसंख्येयवर्षायुष्केषु मध्ये समुत्पद्यते। नच तत्र देशविरतिः तदभावाच्च न तत्र त्रयोदशबन्धकत्वम् अथ त्रयोदशबन्धे सत्तास्थानानि चिन्त्यमानानि वर्त्तन्ते तत्र एकविंशतिरपि त्रयोदशबन्धे तिर्यक्षु न प्राप्यते तदुक्तं चूर्णौ एगविसा तिरिक्खेसु संजया संजएसु न संभवई कहं भण्णइ संखेज्जवासाउएसुतिरिक्खेसु खाइगसम्मद्दिट्ठी उवज्जइ असंखेज्जवासाउएसु उववज्जेज्जा तस्स देसविरई नत्थित्ति ये च मनुष्या देशविरतास्तेषां पञ्चकोदये त्रीणि सत्तास्थानानि तद्यथा एकविंशतिश्चतुर्विंशतिरष्टाविंशतिश्च। षट्कोदये सप्तोदये च प्रत्येकं पञ्चापि सत्तास्थानानि । अष्टकोदये त्वेकविंशतिवर्जानि शेषाणि चत्वारि तानि चाविरतसम्यग्दृष्ट्युक्तभावनानुसारेण भावनीयानि। एवं बन्धकानामपि प्रमत्ताप्रमत्तानां प्रत्येकं चतुष्कोदये त्रीणि त्रीणि सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिरेकविंशतिश्च। पञ्चकोदये षट्कोदये च प्रत्येकं पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि सप्तोदये त्वेकविंशतिवर्जानि शेषाणि चत्वारि सत्तास्थानानि वाच्यानि। (पंचविहचउविहेसु छच्छक्कंति) पञ्चविधे चतुर्विधे च बन्धे प्रत्येकं षट् सत्तास्थानानि । तत्र पञ्चविधे बन्धे अमूनि तद्यथा अष्टाविंशतिश्–चतुर्विंशतिरेकविंशतिस्त्रयोदश द्वादश एकादश च । तत्राष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिश्चौपशमिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यामेकविंशतिः क्षायिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां क्षपकश्रेण्याम् पुनरप्टौ कषाया यावन्न क्षीयन्ते तावदेकविंशतिरष्टसु कषायेषु क्षीणेषु पुनस्त्रयोदश। ततो नपुंसकवेदे क्षीणे द्वादश ततःस्त्रीवेदे क्षीणे एकादश पञ्चादीनि तु सत्तास्थानानि पञ्चविधबन्धे न प्राप्यन्ते यतः पञ्चविधबन्धः पुरुषवेदे बध्यमाने भवति यावच्च पुरुषवेदस्य बन्धस्तावत्षट् नोकषायाः सन्त एवेति । चतुर्विधबन्धे पुनरमूनि षट् सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिरेकविंशतिरेकादशः पञ्च चतस्रः । तत्राष्टविंशतिश्चतुर्विंशत्येकविंशतयः उपशमश्रेण्यामेकादशादयः क्षपकश्रेण्यां प्रप्यन्ते। इह कश्चिन्नपुंसकवेदेन क्षपकश्रेणीं प्रतिपन्नः स च स्त्रीवेदनपुंसकवैदौ युगपत् क्षपयति। स्त्रीवेदनपुंसकवेदक्षयसम–कालमेव पुरुषवेदस्य बन्धो व्यवच्छिद्यते तदनन्तरं च पुरुषवेदस्य बन्धव्यवच्छेदस्ततस्तदनन्तरं पुरुषवेदहास्यादिषट्के युगपत् क्षपयति यावच्च न क्षीयते तावदुभयत्रापि चतुर्विधबन्धवेदोदयरहित–स्यैकोदये वर्त्तमानस्य एकादशकं सत्तास्थानमवाप्यते। पुरुषवेदहास्यादिषट्कयोस्तु युगपत् क्षीयमाणयोश्चतस्रः प्रकृतयः सन्ति । एवं च न स्त्रीवेदेन नपुंसकवेदेन वा क्षपकश्रेणिं प्रतिपन्नस्य पञ्चप्रकृत्यात्मकं सत्तास्थानमवाप्यते । यः पंरुषवेदेन क्षपकश्रेणिं प्रतिपद्यते तस्य षट् नोकषायाः क्षयसमकालं पुरुषवेदस्य बन्धव्यवष्दो भवति ततस्तस्य चतुर्विधबन्धकाले एकीदशरूपं सत्तास्थानं न प्राप्यते किंतु पञ्चप्रकृत्यात्मकं पञ्चसमयाद्धाया ऊनावलिकाद्विकं यावत् सत्यो वेदितव्याः ततः पुरुषवेदे क्षीणे चतस्रस्ता अप्यन्तर्मुहूर्तकालं यावत् सत्योऽवगन्तव्याः (सेसेसु) जाण पंचेव पत्तेयं पत्तेयंति)शेषेषु त्रिविधद्विविधैकविधेषु बन्धेषु प्रत्येकं पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि। तत्र त्रिविधे बन्धे अमूनि अष्टाविंशतिचतुर्विंशतिरेकविंशति चतस्रः तिस्रः। तत्रादिमानि त्रीण्युपशमश्रेणीमधिकृत्य वेदितव्यानि शेषे तु द्वे क्षपकश्रेण्यां ते चैवं संज्वलनक्रोधस्य प्रथमस्थितावावलिकाशेषायां बन्धेदयादारणा युगपद्व्यवच्छेदमायान्ति व्यवच्छिन्नासु च तासु बन्धस्त्रिविधो जातः । ज्वलनक्रोधस्य च तदानीं प्रथमस्थितिगतमावलिकामात्रं समयद्वयोनावलिकाद्विकबद्धं च दलिकं मुक्त्वा अन्यत्सर्वं क्षीणं तदपि समयद्वयोनावलिकाद्विमतात्रेण कालेन क्षयमुपयास्यति यावच्च न याति तावच्चतस्रः प्रकृतयस्त्रिविधबन्धे सत्यः क्षीणे तु तस्मिन् तिस्रः ताश्चान्तर्मुहूर्त्तकालं यावदवगन्तव्याः द्विविधबन्धे पुनरमूनि पञ्च सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिरेकविंशतिः तिस्रः द्वे च । तत्राद्यानि त्रीणि प्रागिव शेषे तु क्षपकश्रेण्यां ते चैवं संज्वलनमानस्य बन्धोदयोदीरणा युगपद् व्यवच्छिद्यन्ते तासु व्यवच्छिन्नासु बन्धो द्विविधो भवति संज्वलनमानस्य च तदानीं प्रथमस्थिगतमावलिकामा-

त्रं समयद्वयोनावलिकाद्वयबद्धं च दालिकं स द् अन्यत् सर्वं क्षीणतं तदपि समयद्वयोनावलिकाद्विकमात्रेण कालेन क्षयमापत्स्यति यावच्च नाद्यापि क्षीयते तावत्तिस्र सत्यः क्षीणे तु तस्मिन् द्वे ते अप्यन्तुर्कुहूर्त्तं कालं यवत्सत्यौ । एकविधबन्धे पुनः पञ्च सत्तास्थानान्यमूनि तद्यथा अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिरेकविंशतिःद्वे एका च । तत्राद्यानि त्रीणि प्रागिवोपशमश्रेण्यां शेषे तु द्वे क्षपकश्रेण्यां ते चैवं संज्वनमायायाः प्रथमस्थितावावलिकाशेषायां बन्धोदयोदीरणा युगपद् व्यवच्छेदमुपयान्ति व्यवच्छिन्नासु तासु बन्धोएकविधो भवति संज्वलनमायायास्तदानीं प्रथमस्थितिगतमावलिकामात्रं समयद्व–योनावलिकाद्विकबद्धं च सदस्ति अन्यत्समस्तं क्षीणं तदपि च तत्समयद्वयोनावलिकाद्विकमात्रेण कालेन क्षयमुपगमिष्यति यावच्च न क्षयमुपयाति तावद् द्वे सती क्षीणे च तस्मिन्नेका प्रकृतिः संज्वलनलोभरूपा सती (चउत्तारि उ बंधवोच्छेए) बन्धाभावे सूक्ष्मसंपरायगुणस्थाने चत्वारि सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिरेकविंशतिरेका च । तत्राद्यानि त्रीणि प्रागिवोपशमश्रेण्याम् एका तु संज्वलनलाभप्रकृतिः क्षपकश्रेण्यां तदेवं कृता संवेधचिन्ता।

संप्रत्युपसंहारमाह–

दसनवपन्नरसाइं, बंधोदयसंतपय डिठाणाइं।
भणियाइँ मोहणिज्जे, एतो नामं परं वोच्छं ॥२५॥

बन्धोदयसत्प्रकृतिस्थानानि यथासंख्यं दश नव पञ्चदश संख्यानि प्रत्येकं संवेधद्वारेण च भणितानि इतः परमत ऊर्द्धं नाम वक्ष्ये नाम्नो बन्धस्थानानि वक्ष्ये। तत्र प्रथमतो बन्धस्थानरूपणार्थमाह।

तेवीसपन्नवीसा, छव्वीस अट्ठवीस गुणतीसा।
तीसेगतीसमेक्कं बंधट्ठाणाणि नामस्स ॥२६॥

नाम्नोऽष्टबन्धस्थानानि तद्यथा त्रयोविंशतिःपञ्चविंशतिः षड्विंशति रष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशत् एकत्रिंशत् एका च । अमूनिर्तियग्मनुष्यादिगतिप्रायोग्यतया अनेकप्रकाराणि ततस्तथैवोपदर्शयन्ते । तत्र तिर्यग्गतिप्रायोग्यं बध्नतः सामान्येन पञ्च बन्धस्थानानि तद्यथा त्रयोविंशतिः पंञ्चविंशतिः षड्विंशतिरियं तिर्यगानुपूर्वी एकेन्द्रियजातिरौदारिकतैजसकार्मणानि हुण्डसंस्थानं वर्णगन्धरसस्पर्शाः अगुरुलघु उपघाततनाम् स्थावरनाम् सूक्ष्मबादरयोरेकतरमपर्याप्तकनाम् प्रत्येकसाधारणयोरेकतरमस्थिरनाम् अशुभनाम् दुर्भगनाम् अनादेयनाम् अयशःकीर्तिनम् निर्माणनाम् एतासां त्रयोविंशतिप्रकृतीनां समुदाय एकं बन्धस्थानम् । एतच्चापर्याप्तप्रायोग्यं बध्नतो मिथ्यादृष्टेरवसेयम् । अत्र भङ्गाश्चत्वारः तथाहि गादरनाम्नि बध्यमाने एका त्रयोविंशतिः प्रत्येक नाम्ना सहावाप्यते द्वितीया साधारणनाम्ना एवं सूक्ष्मनाम्न्यपि बध्य माने द्वे त्रयोविंशती सर्वसंख्यया चतस्रः । एषैव त्रयोविंशतिः परतोच्छ्वाससहिता पञ्चविंशतिः प्रत्येकनाम्ना सह प्राप्यते द्विजीया साधारणनाम्ना नवरमेवमभिलपनीयम् तिर्यगानुपूर्वी एकेन्द्रियजातिः औदारिकतैजसकार्मणानि हुण्डसंस्थानं वर्णादिचतुष्टयमगुरुलघू उपघातनाम पराघातनाम उच्छ्वासनाम स्थावरनाम बादरसूक्ष्मयोरेकतरं पर्याप्तकं प्रत्येक साधारणयोरेकतरं शुभाशुभयोरेकतरं यशः कीर्त्यो रेकतरमयशःकीर्त्यो रेकतरं दुर्भगनामानादेयनिर्माणमिति । एतासां पञ्चविंशतिप्रकृतीनां समुदायः बन्धस्थानं तच्च पर्याप्तकैकेन्द्रियप्रायोग्यं बध्नतो मिथ्यादृष्टेरवगन्तव्यम् । अत्र भङ्गा विंशतिः । तत्र बादरपर्याप्तप्रत्येकेषु बध्यमानेषु स्थिरास्थिरशुभाशुभयशःकीर्त्यायशःकीर्त्तिभिरष्टौ भङ्गाः तथाहि बादरपर्याप्तप्रत्येकस्थिरशुभेषु बध्यमानेषु यशः कीर्त्या सह एकः द्वितीयोऽयशः कीर्त्या। एतौ च द्वौ भङ्गौ शुभपदेन लब्धौ एवमशुभपदेनापि द्वौ भङ्गौ लभ्यते ततो आताश्चत्वारः स्थिरपदेन लब्धाः । एवतस्थिर पदेनापि चत्वारो लभ्यन्ते ततो जाता अष्टौ । एवं पर्याप्तबादरेषु साधारणेषुबध्यमानेषु स्थिरास्थिरशुभाशुभयशःकीर्तिपदैश्चत्वारः यतः साधारणेन सह यशः कीर्तिबन्धो न भवति नो सुहुमतिगेण जस इति वचनात्ततस्तदाश्रिता विकल्पा न प्राप्यन्ते तदेवं सर्वसंख्यया पञ्चविंशतिबन्धे विंशतिर्भङ्गाः एषैव पञ्चविंशतिरातपोद्योतान्यतरसहिता षड्विंशतिर्नवरमेवमभिलपनीया तिर्यगतितिर्यग्गानुपूर्व्ये केन्द्रियजातिरौदारिकतैजस कार्मणानि हुण्डसंस्थानं वर्णादिचतुष्टयमगुरुलघू पराघातमुच्छ्वासनाम आतपोद्योतयोरेकतरं बादरनाम पर्याप्तकनाम प्रत्येकनाम स्थिरास्थिरयोरेकतर शुभाशुभ योरेकतरं दुर्भगमनादेयं यशःकीर्त्ययशः कीर्त्योरेकतरं निर्माणमिति एतासां षड्विंशतिप्रकृतीनां समुदाय एकं बन्धस्थानम एतच्च पर्याप्त कैकेन्द्रियप्रायोग्यमातपोद्योतान्यतरसहितं बध्नतो मिथ्यादृष्टेरवगन्तव्यम् । अत्र भङ्गाः षोडश ते चातपोद्योतस्थिरास्थिरशुभाशुभ यशःकीर्तिपदैरवसेयाः आतपोद्योताभ्यां च सह सूक्ष्मसाधारणबन्धो न भवति ततस्तदाश्रिता विकल्पा न प्राप्यन्ते एकेन्द्रियाणां सर्व संख्यया भङ्गाश्चत्वारिंशत् पदुक्तम् "चत्तारि वीस सोलस, भंगा एगिंदियाण चत्ताला" द्वीन्द्रियप्रायोग्यं बध्नतोबन्धस्थानानि त्रीणि तद्यथा पञ्चविंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशत् तत्र तिर्यग्गतिस्तिर्यगानुपूर्वी द्वीन्द्रियजातिरौदारिकतैजसकर्मणानि हुण्डसंस्थानं सेवार्त्तसंहनन–नौदारिकाङ्गोपाङ्गवर्णादिचतुष्टयमगुरुघूपघातनाम त्रसनाम बादरनाम अपर्याप्तकनाम प्रत्येकनाम अस्थिरमशुभदुर्भगमनादेयमयशः कीर्तिनिर्तार्णमिति एतासां पञ्चविंशतिप्रकृतीनां समुदाय एकं बन्धस्थानम् तच्चापर्याप्तकद्वीन्द्रियप्रायोग्यं बध्नतो मिथ्यादृष्टेरवसेयम् । अपर्याप्तकेन सह परावर्त्तमानप्रकृतयोऽशुभा एव बन्धमायान्तीति कृत्वा अत्रैक एव भङ्गः । एषैव पञ्चविंशतिः पराघातोच्छ्वासाप्रशस्तविहायोगतिपर्याप्तकदुःस्वरसहिता अपर्याप्तकरहिता एकोनत्रिंशद्भवति नवरमेवमेव वक्तव्यं तिर्यग्गतितिर्यगानुपूर्व्वीद्वीन्द्रियजातिरौदारिक शरीरमौदारिकाङ्गोपाङ्गं तैजसकार्मणे हुण्डसंस्थानं सेवार्त्तसंहननं वर्णादिचतुष्टयमगुरुलघू पराघातमुपघातमुच्छ्वासनाम अप्रशस्तविहायोगतिः त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तकं प्रत्येकं स्थिरास्थिरयोरेकतरं शुभाशुभयोरेकतरं दुःस्वरं दुर्भगमनादेयं यशःकीर्त्ययशःकीर्त्योरेकतरं निर्माणमिति । एतासामेकोनत्रिंशत्प्रकृतीनां समुदाय एकं बन्धस्थानं तच्च पर्याप्तद्वीन्द्रियप्रायोग्यं बध्नतो मिथ्यादृष्टेः प्रत्येतव्यम् । अत्र स्थिरास्थिरशुभाशुभयशः–कीर्त्ययशःकीर्त्तिपदैरष्टौ भङ्गाः सैव एकोनत्रिंशत् उद्योतसहिता त्रिंशत् अत्रापि त एवाष्टौ भङ्गाः सर्वसंख्यया सप्तदश एवं त्रीन्द्रियप्रायोग्यं चतुरिन्द्रियप्रायोग्यं च बध्नतो मिथ्यादृष्टेस्त्रीणि त्रीणि बन्धस्थानानि वाच्यानि नवरं त्रीन्द्रियाणां त्रीन्द्रियजातिरभिलपनीया चतुर्जातिस-ङ्ज्ञाश्च प्रत्येकं सप्तदश सर्वसंख्यया एकपञ्चाशत् । उक्तं च "एगट्ठअट्ठविगलिंदियाण इगयन्न तिण्हं पि" तिर्यग्गति-पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यं बध्नतस्त्रीणि बन्धस्थानानि तद्यथा पञ्चविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत्। तत्र पञ्चविंशतिर्द्वीन्द्रियप्रायोग्यं बध्नत इव वेदितव्या नवरं द्वान्द्रियजातिस्थाने पञ्चेन्द्रियजातिर्वक्तव्या तत्र च एको भङ्गः एकोनत्रिंशत् पुनरियं तिर्यगानुपूर्वी पञ्चेन्द्रि-

यजातिरौदारिकाङ्गोपाङ्गं तैजसकार्मणे षण्णां संस्थानानामेकतमत् संस्थानं षण्णां संहनानामेकतमत्संहननं वर्णादिचतुष्टयमगुरुलघू उपघातं पराघातमुच्छ्वासनाम प्रशस्ताप्रशस्तविहायोगत्योरेकतरं त्रसनाम गादरनाम पर्याप्तकनाम प्रत्येकं स्थिरास्थिरयोरेकतरं शुभाशुभयोरेकतरं सुभगदुर्भगयोरेकतरं दुःस्वरसुस्वरयोरेकतरम् आदेयानादेययोरेकतरं यशःकीर्त्ययशःकीर्त्योरेकतरं निर्माणमिति। एतासामेकोनत्रिंशत्प्रकृतीनां समुदाय एकं बन्धस्थानम्। एतच्च मिथ्यादृष्टे पर्याप्ततिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यं बध्नतो वेदितव्यम् यदि पुनः सासादनो बन्धको भवति तर्हि तस्य पञ्चानां संस्थानानामन्यतमत्संस्थानं पञ्चानां संहनानानामन्यत मत्संहननमिति वक्तव्यम्। अस्यां चैकोनत्रिंशतिसामान्येन षड्भिः संस्थानैः षड्भिः संहननैः प्रशास्ताप्रशस्तविहायोगतिभ्यां स्थिरास्थिरभ्यां शुभाशुभाभ्यां सुभगदुर्भगाभ्यां सुस्वरदुःस्वराभ्यामादेयानादेयाभ्यां यशःकीर्त्ययशः-कीर्तिभ्यांभङ्गा अष्टाधिकषट् चत्वारिंशच्छतसंख्याका वेदितव्याःएषैव एकोनत्रिंशत् उद्योतसहिता त्रिंशद्भवति अत्रापि मिथ्यादृष्टिसासादना-नधिकृत्य तथैव विशेषोऽवगन्तव्यः सामान्येन च भङ्गाः अष्टाधिकषट् चत्वारिंशच्छतसेख्याकाः। उक्तं च "गुणतीसे तीसे वा, भंगा अट्ठाहिया छयालसया। पंचिंदियतिरियोगेवणवीसे बंधभंगेक्को" सर्वसंख्ययाद्वान-वतिशतानि सप्तदशाधिकानि। तथा मनुष्यगतिप्रायोग्यं बध्नतस्त्रीणि बन्धस्थानानि तद्यथा पञ्चविंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशत्। तत्र पञ्चविंशति-र्यथा प्रागपर्याप्तकद्वीन्द्रियप्रायोग्यं बध्नतोऽभिहिता तथैवावगन्तव्या नवरमत्र मनुष्यगतिमनुष्यानु पूर्वी इति वक्तव्यम। एकोनत्रिंशत् त्रिधा एका मिथ्यादृष्टीन् बन्धकानाश्रित्य वेदितव्या द्वितीयासासादनान् तृतीया सम्यग्मिथ्यादृष्टीन् अविरतसम्यग्दृष्टीन् वा। तत्राद्ये द्वे प्रागिव भावनीये। तृतीया पुनरियं मनुष्यगतिर्मनुष्यानुपूर्व्वी पञ्चेन्द्रियजातिरौदारिक-मौरकाङ्गापाङ्गं तैजसकार्मणे समचतुरस्र संस्थानं वज्रर्षभनाराचसंहननं वर्णादिचतुष्टयमगुरुलघू घातपराघात मुच्छ्वासनाम प्रशस्तविहायोग-तिस्त्रसनाम बादरनरम पर्याप्तकनाम प्रत्येकं स्थिरास्थिरयोरेकतरं शुभाशुभयोरेकतरं शुभगं सुस्वरमादेयं सशःकीर्त्ययशःकीर्त्योरेकतरं निर्माणमिति। अस्यां चैकोनात्रिंशति प्रकारायामपि सामान्येन षडभिः संस्थानैः षडभिः संहननैः प्रशस्ताप्रशस्तविहायोगतिभ्यां स्थिरास्थिरा-भ्यां सुभगदुर्भगाभ्यां सुस्वरदुःस्वराभ्यामादेयानादेयाभ्या यशःकीर्त्ययशः कीर्तिभ्यामष्टाधिकषट् चत्वारिंशच्छतसंख्या भङ्गावेदितव्याः। यैव तृतीया एकोनत्रिंशदुक्ता सैव तीर्थकरसहिता त्रिंशत्। अत्र च स्थिरास्थिरशुभाशुभयशःकीर्त्ययशःकीर्त्तिपदैरष्टौ भङ्गाः सर्वसंख्ययया मनुष्सगतिप्रायोग्यबन्धस्थानेषु भङ्गाः षट् चत्वारिंशच्छतानि सप्तदशाधिकानि। उक्तञ्च पणुवीसयम्मि एक्को, छायालसया उ अट्ठोत्तरं। गुत्तीसेद्धउ सव्वे, छायालसया उ सत्तरस तथा देवगतिप्रायोग्यं बध्नतश्चत्वारि बन्धस्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिः एकोनात्रिंशत् त्रिंशत् एकत्रिंशत्। तथा अष्टाविंशतिरियं देवगतिर्देवानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजाति-र्वैक्रिय वैक्रियाङ्गोपाङ्गं तैजसकार्मणे सूचतुरस्रसंस्थानं वर्णादिचतुष्टय-मगुरुलघू पराघातमुपघातमुच्छ्वा सनाम प्रशस्त विहायोगतिस्त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तकनाम प्रत्येकं स्थिरास्थिरयोः शुभाशुभयोरेकतरं सुभगं सुस्वरमादेयं यशःकीर्त्ययशःकीर्त्योरेकतरं निर्माणमिति। एतासां समुदायः एकं बन्धस्थानम्। एतच्च मिथ्यादृष्टिसासादनमिश्राविरतसम्यग्दृष्टिदेशविरतानां सर्वविरतानां देवगतिप्रायोग्यं बध्नतामवसेयम्। अत्र स्थिरास्थिरशुभाशुभयशःकीर्त्ययशःकीर्त्तिपदैरष्टौ भङ्गाः एषैवाष्टा-विंशतिस्तीर्थकरसहिता एकोनत्रिंशद्भवति अत्रापि त एवाष्टौ भङ्गाःनवर-मेनां देवगतिप्रायोग्यां बध्नतोऽविरतसम्यग्दृष्ट्यादयो बध्नन्ति। त्रिंशत् पुनरियं देवगतिदद्भवानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजातिर्वैक्रियङ्गोपाङ्गमाहारकमा-हारकाङ्गोपाङ्गं तैजसकार्मणे समचतुरस्रसंस्थानं वर्णादिचतुष्टयमगुरुलघू पराघातमुपघात मुच्छ्वासनाम प्रशस्तविहायोगतिस्त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तकनामापर्याप्तकनाम प्रत्येकं स्थिरं शुभनाम शभगनाम सुस्वरनाम अनादेयनाम यशःकीर्त्तिनाम निर्म्माणनामेति। एतासां त्रिंशत्प्रकृतीनां समुदाय एकं बन्धस्थानम्। एतच्च देवगतिप्रायोग्यं बध्नतोऽप्रमत्तसंय-तस्यापूर्वकरणस्य वा वेदितव्यम्। अत्र सर्वाण्यपि शुभन्येव कर्माणि बन्धमायान्तीति कृत्वा एक एव भङ्ग । एषैव त्रिंशत्तीर्थकरसहिता एकत्रिंशद्भवति। अत्रोप्यक एव च भङ्गः सर्वसंख्यया देवगति प्रायोग्यबन्ध-स्थानेषु भङ्गाः अष्टादश। तदुक्तम् अट्ठट्ठ एक्कमंगा अट्ठारस देवजायेसु तथा नरकगतिप्रायोग्यं बध्नत एकं बधस्थानमष्टाविंशतिः। सा चेयं नरकगतिर्नरकानुपूर्व्वी पञ्चेन्द्रिया जातिः वैक्रियाङ्गोपाङ्ग तैजसकार्मणे हुण्डसंस्थानं वर्णादिचतुष्टयम गुरुलघू उपघातं पराघातमुच्छ्वासनाम अप्रशस्तविहायोगतिः त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तकानाम प्रत्येकनाम अस्थिरमशुभं दुर्भगं दुःस्वरमनादेयमयशःकीर्त्तिर्निर्माणमिति। एतासामष्टाविंशति प्रकृती नामेकं बन्धस्थान मेतच्च मिथ्यादृष्टेरवसेयम्। अत्र त्रीण्यप्यशुभान्येव कर्माणीत्येक एव भङ्गः एकं तु बन्धस्थानं यशःकीर्तिलक्षणं तच्च देव गतिप्रायोग्यबन्धे व्यवच्छिन्ने अपूर्वकरणादीनां त्रयाणामवगन्तव्यम्।

संप्रति कस्मिन् बन्धस्थाने कति भङ्गाः सर्वसंख्यया प्राप्यन्ते इति चिन्तायां तन्निरूपणार्थमाह–

चउपण वीसा सोलस, नव वाणउइयसयाइं अडयाला।
एयालुत्तरछया लसया एक्किक्कबंधविही ॥२७॥

विंशत्यादिषु बन्धस्थानेषु यथासंख्यं चतुरादिसंख्या बन्धविधयो बन्धप्रकारा बन्धभङ्गा वेदितव्याः। तत्र ये विंशतिबन्धस्थानेषु भङ्गाश्चत्वारस्ते चैकेन्द्रियप्रायोग्यमेव बध्नतोऽवसेयाः अन्यत्र त्रयोविंशतिबन्धस्थानस्याप्राप्यमाणत्वात्। पञ्चविंशतिबन्धस्थाने पञ्चविंशतिर्भङ्गाः अत्रैकेन्द्रियप्रायोग्यां पञ्चविंशतिं बध्नतो विंशतिः। अर्पाप्तकद्वित्रिचतुरिन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्यप्रायोग्यं बध्नतामेकैक इति सर्वसंख्यया विंशतिः। षड्विंशतिबन्धस्थानेषु यथासंख्यं चतुरादिसंख्या बन्धविधयो बन्धप्रकारा बन्धभङ्गा वेदितव्याः। तत्र त्रयोविंशतिबन्ध-स्थाने भङ्गाश्चत्वारः ते चैकेन्द्रियप्रायोग्यमेव बध्नतोऽवसेयाः। ते भङ्गाः षोडश ते चैकेन्द्रियप्रायोग्यमेव बध्नतोऽवसेयाः अन्यत्र षड्विंशतिबन्ध-स्थानस्याप्राप्यमाणत्वात् अष्टाविंशतिबन्धस्थाने भङ्गा नव। तत्र देवगतिप्रायोग्यामष्टाविंशतिं बध्नतोऽष्टौ नरकगतिप्रायोग्यां तु बध्नत एक इति एकोनत्रिंश द्बन्धस्थाने भङ्गाः अष्टचत्वारिंशदधिकानिद्विनवति-शतानि। तत्र तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यमेकोनत्रिंशतं बध्नतोऽष्टधिकानि षट्चत्वारिंशच्छतानि मनुष्यगतिप्रायोग्यामपि बध्नतोऽष्टाधिकानि षट्चत्वारिंशच्छतानि द्वित्रिचतुरिन्द्रियप्रायोग्यां देवगतिप्रायोग्यां च तीर्थकरसहितां बध्नतां प्रत्येकमप्यष्टाविति विंशतिबन्धस्थाने भङ्गा एकचत्वारिं-

शच्छतानि । तत्र तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यां त्रिंशतं बध्नतोऽष्टाधिकानि षट्चत्वारिंशच्छतानि द्वित्रिचतुरिन्द्रियप्रायोग्यां मनुष्यगतिप्रायोग्यामाहारकसहितां त्रिंशतं बध्नत एक इति । तथा एकत्रिंशद्बन्धस्थाने एकः एकविधे चैकं सर्वसंख्यया सर्वबन्धस्थानेषु भङ्गास्त्रयोदश सहस्राणि नव शतानि पञ्चचत्वारिंशदधिकानीति । तदेवमुक्तानि सप्रभेदं बन्धस्थानानि ।

संप्रत्युदयस्थानप्रतिपादनार्थमाह–

वीसिगवीसा चउवी–सगा य एगाहिया य इगतीस ।
उदयट्ठाणाणि भवे, नव अट्ठ य हुंति नामस्स ॥२८॥

उदयस्थानानि द्वादश तद्यथा विंशतिरेकविंशतिश्चतुर्विंशत्यादय एकाधिका एकैकाधिकाः तावद्वक्तव्या यावदेकत्रिंशत् तद्यथा चतुर्विंशति पञ्चविंशति षड्विंशतिः सप्तविंशतितरष्टाविंशतिरेकोन त्रिंशत् त्रिंशत् एकत्रिंशत् तथा नव अष्टौ च एतानि चैकेन्द्रियाद्यपेक्षया नानाप्रकाराणीति तान्याश्रित्य सप्रपञ्चमुपदर्श्यते । तत्र एकेन्द्रियाणा मुदयस्थानानि पञ्च तद्यथा एकविंशतिश्चतुर्विंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिः । तत्र तैजसकार्मणे अगुरुलघू स्थिरास्थिरे शुभाशुभे वर्णगन्धरसस्पर्शा निर्माणमित्येता द्वादशप्रकृतय उदयमाश्रित्य ध्रुवाः । एतास्तिर्यग्गतिस्तिर्यगानुपूर्व्वी स्थावरनामैकेन्द्रि यजातिबादरसूक्ष्मयोरेकतरमपर्याप्तपर्याप्तयोरेकतरं दुर्भगमनादेयं यशःकीर्त्ययशःकीर्त्योरन्यतरन्नवप्रकृतिसहिता एकविंशति । अत्र भङ्गाः पञ्च बादरसूक्ष्माभ्यां प्रत्येकं पर्याप्तापर्याप्ताभ्यामयशःकीर्त्या सह चत्वारः बादरपर्याप्तयशःकीर्त्तिभिः सह एक इति सूक्ष्मापर्याप्ताभ्यां सह यशःकीर्त्तरुदयो न भवतीति कृत्वा तदाश्रिता विकल्पा न प्राप्यन्ते एष चैकविंशतिरेकेन्द्रियस्यापान्तरालगतौ वर्त्तमानस्य वेदितव्या ततः शरीरस्थस्यौदारिकशरीरं हुण्डसंस्थानमुपघातं प्रत्येकमिति चतस्रः प्रकृतयः प्रक्षिप्यन्ते तिर्यगानुपूर्वी चापनीयते ततश्चतुर्विंशतिर्भवति अत्र च भङ्गाः दश तद्यथा बादरपर्याप्तस्य प्रत्येकसाधारणयशःकीर्त्ययशःकीर्त्तिप–दैश्चत्वारः अपर्याप्तबादरस्य प्रत्येकसाधारणाभ्यामयशःकीर्त्या सह द्वौ सूक्ष्मस्य पर्याप्तपर्याप्तप्रत्येकसाधारणैर्यशःकीर्त्या सह चत्वार इति दश । बादरवायुकायिकस्य वैक्रियं कुर्वत औदारिकस्थाने वैक्रियं वक्तव्यं ततश्च तस्यापि चतुर्विंशतिरुदये प्राप्यते केवलमिह बादरपर्याप्त्यैका यशःकीर्त्तिपदैरेक एव भङ्गः । तैजस्कायिकवायुकायिकयोः साधारणयशःकीर्त्युदयो न भवतीति तदाश्रिता विकल्पा न प्राप्यन्ते । सर्वसंख्यया चतुर्विंशतेरुदये एकाएश भङ्गस्ततः शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य पराघाते क्षिप्ते पञ्चविंशतिः । अत्र भङ्गाः षट् तद्यथा बादरस्य प्रत्येकसाधारणयशःकीर्त्ययशःकीर्त्तिपदैश्चत्वारः सूक्ष्मस्य प्रत्येकसाधारणाभ्यामयशःकीर्त्या सह द्वौ । तथा बादरवायुकायिकस्य वैक्रियं कुर्वतः शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासे अनुदिते पराघाते क्षिप्ते पञ्चविंशतिर्भवति अत्र च प्राग्वदेक एव भङ्गः सर्वसंख्यया पञ्चविंशतौ सप्त भङ्गाः प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासे क्षिप्ते षड्विंशतिः अत्रापि भङ्गाःप्रागिव षट् । अथवा शरीरपर्याप्त्यापर्याप्तस्य उच्छ्वासे अनुदिते आतपोद्योतयोरन्यतरस्मिन्नुदिते षड्विंशतिर्भवति अत्रापि भङ्गाः षट् । तद्यथा बादरस्योद्योतेन सहितस्य प्रत्येकसाधारणयशः कीर्त्ययशःकीर्त्तिपदैश्चत्वारः आतपसहितस्य च प्रत्येकय यशःकीर्त्ययशःकीर्त्तिपदैर्द्वौ बादरवायुकायिकस्य वैक्रियं कुर्वतः प्राणापानपर्याप्तया पर्याप्तस्य उच्छ्वासे क्षिप्ते प्रागुक्ता पञ्चविंशतिः षड्विंशतिर्भवति तत्रापि प्राग्वदेक एव भङ्गः तैजस्कायिकवायुकायिकयोरातपोद्योतयशःकीर्त्तीनामुदयाभावत् तदाश्रिता विकल्पा न प्राप्यन्ते सर्वसंख्यया षड्विंशतौ त्रयोदशः भङ्गाः । तथा प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वाससहितायां षड्विंशतौ आतपोद्योतयोरन्यतरस्मिन् प्रक्षिप्ते सति सप्तविंशतिर्भवति अत्र भङ्गाः षट् । ये प्रागातपोद्योतान्यतरसहितायां षड्विंशतौ प्रतिपादिताः । सर्वसयंख्यया चैकेन्द्रियाणां भङ्गाः द्विचत्वारिंशत् उक्तं च एगिंदिय उदएसु, पंच य एक्कार सत्त तेरस य । छक्कं कमसो भंगो, वायाला हों ति सव्वेवि द्वीन्द्रियाणामुदयस्थानानि षट् तद्यथा एकविंशतिः षड्विंशति रष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशत् एकत्रिंशत् । तत्र तिर्यग्गतिस्तिर्यगानुपूर्वी द्वीन्द्रियजातिस्त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तापर्याप्तयोरेकतरं दुर्भगमनादेयं यशःकीर्त्ययशः कीर्त्योरेकतरमित्येता नव प्रकृतयो द्वादशसंख्याभिर्ध्रुवोदयाभिः सह एकविंशतिः । एषा चापान्तरालगतौ वर्त्तमानस्य द्वीन्द्रियस्यावाप्यते अत्र भङ्गाःस्त्रयः तद्यथा अपर्याप्तकनामोदये वर्त्ततानस्य अयशःकीर्त्यासह पर्याप्तनामोदये वर्त्तमानस्य यशःकीर्त्ययशः कीर्तिभ्यां द्वाविति ततस्तस्यैव च शरीरस्य औदारिकमौदारिकाङ्गोपाङ्गं हुण्डसंस्थानं सेवार्त्तसंहननमुपघातं प्रत्येकमिति षट् प्रकृतयः प्रक्षिप्यन्ते तिर्यगानुपूर्वी चापनीयते जाता षड्विंशतिः । अत्रापि भङ्गास्त्रयस्ते च प्रागिवद्रष्टव्याः ततः शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य अप्रशस्तविहायोगतिपाघातयोः प्रक्षिप्तयोरष्टाविंशतिः । अत्र यशःकीर्त्ययशःकीर्त्तिभ्यां द्वौ भङ्गौ अपर्याप्तकप्रशस्तविहायोगत्योरुदयाभावात् प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासे क्षिप्ते एकोनत्रिंशत् अत्रापि तावेव द्वौ भङ्गौ । अथवा शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासे अनुदिते उद्योतनाम्नि तूदिते एकोनत्रिंशत् अत्रापि प्रागिव द्वौ भङ्गौ सर्वेऽप्येकोनत्रिंशत् चत्वारो भङ्गाः ततो भाषापर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वाससहितायामेकोनत्रिंशति सुस्वारदःस्वरयोरेकत–रास्मिन् प्रक्षिप्ते त्रिंशत् भवति । अत्र सुस्वरदुःस्वरयशः कीर्तिपदैश्चत्वारो भङ्गाः । अथवा प्रणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य स्वरे अनुदिते उद्योतनाम्नि तूदिते त्रिंशद्भवति अत्र यशःकीर्त्ययशः कीर्तिविकल्पाभ्यां द्वौ भङ्गौ सर्वे त्रिंशति षड् भङ्गाः एकोनत्रिंशति सुस्वरदुःस्वरयोरेकेतरस्मिन् उद्योते च क्षिप्ते एकत्रिंशत् सुस्वरदुःस्वरयशःकीर्तिपदैश्चत्वारो भङ्गाः एवं सर्वसंख्यया द्वाविंशतिर्भङ्गाः । एवं त्रीन्द्रियाणां चतुरिन्द्रियाणां च प्रत्येकं षट् उदयस्थानानि भावनीयानि नवरं द्वीन्द्रियजास्थाने द्वीन्द्रियाणां त्रीन्द्रियाणां त्रीन्द्रीयजातिश्चतुरिन्द्रियाणां चतरिन्द्रियजातिभिधातव्या प्रत्येकं भङ्गा द्वाविंशतरिति सर्वसंख्यया विकलेन्द्रियाणां भङ्गाः षष्टिः । तदुक्तम् "तिगतिगदुगचउछच्चउ, विगलाण छसट्ठि होइ तिण्ह पि" प्राकृततिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामुदयस्थानानि षट् तद्यथा एकविंशतिः षड्विंशतिः अष्टावंशतिः २ एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् एकत्रिंशत् । तत्र तिर्यग्गतिस्तिर्यगानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजातिस्त्रयनाम बादरनाम पर्याप्तापर्याप्तकयोरेकतरं सुभगदुर्भगयोरेकतरमादेयानादेययोरेकतरं यशःकार्त्ययशःकीर्त्योरेकतरमित्येतानव प्रकृतयो द्वादश संख्याभिर्ध्रुवोदयाभिः सह एकविंशतिः एषा चापान्तरालगतौ वर्त्तमानस्य तिर्यक्पञ्चेन्द्रियस्य वेदितव्या । अत्र भङ्गा नव । पर्याप्तकनामोदये वर्त्तमानस्य सुभगदुर्भ-

गाभ्यामादेयानादेयाभ्यां यशःकीर्त्ययशःकीर्त्तिभ्यां चाष्टौ भङ्गाः। अपर्याप्तकनामोदये वर्त्तमानस्य दुर्भगानादेयादेशःकीर्त्तिभिरेकः। अपरे पुनराहुःसुभगादेययुगलदुर्भगानादेययुगलाभ्यां यशःकीर्त्ययशःकीर्त्तिभ्यां च चत्वारो भङ्गाःअपर्याप्तक सातादये त्वेक इति सर्वसंख्यया पञ्च। एवमुत्तरत्रापि मतान्तरेण भङ्गवैषम्यं स्वधिया परिभावनीयम्। ततः शरीरस्थस्य आनुपूर्व्वी मपनीय औदारिकाङ्गोपाङ्गं षण्णां संस्थानानामेकतमत्संस्थानं षण्णां संहननानामेकतमत्संहननमुप--घातं प्रत्येकमिति षट्कं प्रक्षिप्यते ततो जाता षड्विंशतिः। अत्र भङ्गानां द्वे शते एकोननवत्यधिके तत्र पर्याप्तस्य षड्भिः संहननैः सुभगदुर्भगाभ्यामादेयानादेयाभ्यां यशःकीर्त्ययशःकीर्त्तिभ्यां च द्वेशते भङ्गानामष्टाशीत्यधिके अपर्याप्तकहुण्डसंस्थानसेवार्त्त दुर्भगानादेययशः कीर्त्तिपदैरेकेक इति। अस्यामेव षड्विंशतौ शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य पराघाते प्रशस्ताप्रशस्तविहायोगत्योरन्यतरविहायोगतौ च प्रक्षिप्तायामष्टाविंशतिः। तत्र ये प्राक् पर्याप्तानां द्वे शते भङ्गानामष्टाशीत्यधिके उक्ते ते अत्र विहायोगतिद्विकेन गुणिते अवगन्तव्ये। तथाच सत्यत्रभङ्गानां पञ्च शतानि षट्सप्ताधिकानि भवन्ति ततः प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासे क्षिप्ते एकोनत्रिंशत् अत्ररपि भङ्गाः प्रागिव पञ्च शतानि षट् सप्तत्यधिकानि। अथवा शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासे अनुदिते उद्योतनाम्नि तूदिते एकोनत्रिंशद्भवति अत्रापि भङ्गाः पञ्च शतानि षट्सप्तात्याधिकानि सर्वसंख्यया भङ्गानामेकोनत्रिंशत् द्विपञ्चाशतधिकानि एकादश शतानि। ततो भाषापर्याप्त्या पर्याप्तस्य सुस्वरदुःस्वरयोरन्यतरस्मिन् प्रक्षिप्ते त्रिंशद्भवति। अत्र ये प्रागुच्छ्वासेन पञ्च शतानि षट्सप्ताधिकानि उक्तानि तान्येव स्वरधिकेन गुण्यन्ते ततो जातानि द्विपञ्चाशतधिकानि एकादश शतानि। अथवा प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य स्वरे अनुदिते उद्योतनाम्नि तूदिते त्रिंशद्भवति अत्रापि भङ्गानां प्रागिव पञ्च शतानि षट्सप्ताधिकानि सर्वसंख्यया त्रिंशति भङ्गानां सप्तदश शतानि अष्टाविंशत्यधिकानि। ततः स्वरसहितायां त्रिंशति उद्योतनाम्नि प्रक्षिप्ते एकत्रिंशद्भवति। अत्र ये प्राक् स्वरसहितायां त्रिंशति भङ्गा द्विपञ्चाशदधिकैकादशसंख्या उक्तास्ते पञ्चाशदत्रापिद्रष्टव्याः। सर्वसंक्ष्यया प्राकृततिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामुदय भङ्गा एकोनपञ्चाशच्छतानि षडधिकानि। इदानीं वैक्रियतिरश्चामुदयस्थानानि पञ्च तद्यथा पञ्चविंशतिः सप्तविंशतिरष्टाविंशति रेकोनत्रिंशत् त्रिंशत्। तत्र वैक्रियाङ्गोपाङ्गं समोचतुरस्रमुपघातं प्रत्येकतिमि पञ्च प्रकृतयः प्रगुक्तायां तिर्यक्पञ्चेन्द्रिययोग्यायामेकविंशतौ प्रक्षिप्यन्ते तिर्यगानुपूर्वी चापनीयते ततः पञ्चविंशतिर्भवति। अत्र सुभगदुर्भगाभ्यामादेयानादेयाभ्यां यशःकीर्त्ययशःकीर्त्तिभ्यां चाष्टौ भङ्गाः। ततः शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य पराघाते प्रशस्तविहायोगतौ च प्रक्षिप्तायां सप्तविंशतिः अत्रापि प्रागिवाष्टौ भङ्गाः। ततः प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासनाम्नि प्रगक्षिप्ते अष्टाविंशतिर्भवति। अत्रापि प्रागिवाष्टौ भङ्गाः। अथवा शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासे अनुदिते उद्योतनाम्नि तूदिते अष्टाविंशतिर्भवति तत्राप्यष्टौ भङ्गाः। सर्व संख्यया अष्टाविंशतौ भङ्गाः षोडश। ततो भाषापर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वाससहितायां सप्तविंशतौ सुस्वरे क्षिप्ते एकोनत्रिंशत्। अत्रापि प्रागिवाष्टौ भङ्गाः। अथवा प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य स्वरे अनुदिते उद्योतनाम्नि तूदिते एकोनत्रिंशत् अत्रापि प्रागिवाष्टौ भङ्गाः। सर्वसंख्यया एकोनत्रिंशति षोडश। ततः सुस्वरसहितायामेकोनत्रिंशति उद्योते क्षिप्ते त्रिंशत् अत्रापि प्रागिवाष्टौ भङ्गाः। सर्वसंख्यया वैक्रियं कुर्वतां षट्पञ्चाशत् भङ्गाः। सर्वेषां तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां सर्वसंख्यया एकोनपञ्चाशच्छतानि द्विषष्टधिकानि भङ्गानामवसेयानि। सामान्येन मनष्याणामुदयस्थानानि पञ्च तद्यथा एकविंशतिः षड्विंशतिः एकविंशति एकोनत्रिंशत् त्रिंशत्। एतानि सर्वाण्यपि यथा प्राक् तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामुक्तानि तथैवात्रापि वक्तव्यानि नवरं तिर्यग्गतितिर्यगानुपूर्व्वीस्थाने मनुष्यगति मनुष्यानुपूर्व्यौ वेदितव्ये। एकोनत्रिंशच्च उद्योतरहिता वक्तव्या वैक्रियाहारकसंयतान् मुक्त्वा शेषमनुष्याणामुद्योतोदयाभावात् ततः एकोनत्रिंशति भङ्गानां पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि। त्रिंशत्येकादश शतानिं द्विपञ्चाशदधिकान्यवगन्तव्यान। सर्वसंख्यया प्राकृतमनुष्याणां षड्विंशतिशतानि द्विकाधिकानि भङ्गानां भवन्ति। वैक्रियमनुष्याणामुदयस्थानानि पञ्च तद्यथा पञ्चविंशतिः सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत्। तत्र मनुष्यगतिः पञ्चेन्द्रियजातिर्वैक्रियाङ्गोपाङ्गं समचतुरस्रमुपघातं त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तकनाम सुभगदुर्भगयोरेकतरम् आदेयानादेययोरेकतरं यशःकीर्त्ययशःकीर्त्त्योरेकतरं त्रयासेदश प्रकृतयो द्वादशसंख्याभिर्ध्रुवोदयाभिः सह पञ्चविंशतिः। अत्र सुभगदुर्भगादेयानादेययशःकीर्त्ययशःकीर्तिपदैरष्टौ भङ्गाः देशविरतानां संयतानां च वैक्रियं कुर्वतां सर्वप्रशस्त एक एव भङ्गो वेदितव्यः ततः शरीरपर्याप्त्यापर्याप्तस्य पराघाते प्रशस्तविहायोगतौ च प्रक्षिप्तायां सप्तविंशतिः। अत्रापि त एवाष्टौ भङ्गाः। ततः प्राणपानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासे क्षिप्ते अष्टाविंशतिः। अत्रापि प्रागिवाष्टौ भङ्गाः। ततः प्राणपानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य अथवा सेयतानामुत्तर वैक्रिये कुर्वतां शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तानामुच्छ्वासे अनुदिते उद्योतनाम्नि तूदितेऽष्टाविंशतिः। अत्रैक एव भङ्गः। संयतानां दुर्भगानादेययशःकीर्त्युदयाभावात्। सर्वसंख्यया अष्टाविंशतौ भङ्गा नव। ततो भाषापर्याप्त्यापर्याप्तस्य उच्छ्वाससहितायामष्टाविंशतौ सुस्वरे क्षिप्ते एकोनत्रिंशद्भवति। अत्रापि प्रागिवाष्टौ भङ्गाः। अथवा संयतानां स्वरे अनुदिते उद्योतनाम्नि तूदिते एकोनत्रिंशद्भवति। अत्रापि प्रागिवैक एव भङ्गः सर्वसंख्यया एकोनत्रिंशति भङ्गा नव। सुस्वरसंहितायामेकोनत्रिंशति संयतनाम्नि प्रक्षिप्ते त्रिंशतभवति अत्रापि प्रागिवैक एव भङ्गः सर्वसंख्यया वैक्रियमनुष्याणां भङ्गाः पञ्चत्रिंशत। आहारकसंयतानामुदयस्थानानि पञ्च तद्यथा पञ्चविंशति सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत्। तत्र आहारकमहारकाङ्गोपाङ्गं समचतुरस्रसंस्थानमुपघातं प्रत्येकमिति पञ्च प्रकृतयुः। प्रागुक्तायां मनुष्यगतिप्रायोग्यायामेकविंशतौ प्रक्षिप्यंते मनुष्यानुपूर्वी चापनीयते ततो जाता पञ्चविशतिः। केवलमिह एतानि सर्वाण्यपि प्रशस्तान्येव भवन्ति। आहारकसंयतानां दुर्भगानादेययशःकीर्त्यदयाभवात्। अत एक एवात्र भङ्गः। ततः शरीरपर्याप्त्यायोपर्याप्तस्य पराघाते प्रशस्तविहायौगतौ च प्रक्षिप्तायां सप्तविंशतिः अत्राप्येक एव भङ्गः। ततः प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्योच्छ्वासे क्षिप्ते अष्टाविंशतिर्भवति अत्राप्येक एव भङ्गः। अथवा शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासेऽनुदिते उद्योतनाम्नि तूदिते अष्टाविंशतिर्भवति अत्राप्येक एव भङ्गः। ततो भाषापर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वाससहितामष्टाविंशतौ सुस्वरे क्षिप्ते त्रिंशद्भवति अत्राप्येक एव भङ्गः। अथवा प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य स्वरेऽनुदिते उद्योतनाम्नि तूकदते एकोन-

त्रिंशत् अत्राप्येक एव भङ्गः सर्वसंख्यया एकोनत्रिंशति द्वौ भङ्गौ ततो भाषापर्याप्त्या पर्याप्तस्य सुस्वर सहितायामेकोनत्रिंशति उद्योते क्षिप्ते त्रिंशद्भवति अत्राप्येक एव भङ्गः सर्वसंख्यया आहारकशरीराणां सप्त भङ्गाः। केवलिनामुदयस्थानानि दश तद्यथा विंशातिरेकविंशति: षड्विंशतिः-सप्तविंशति रष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशत एकत्रिंशत् नव अष्टौ च। तत्र मनुष्यगतिः पञ्चेन्द्रियजातिस्त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तकं सुभगमादेयं यशःकीर्त्तिरित्येता अष्टौ ध्रुवोदयाभिर्द्वादशसंख्याभिः सह विंशतिः। अत्रैको भङ्गः एषा च तीर्थकरकेवलिनः समुद्घातगतस्य कार्मणकाययोगे वर्त्तमानस्य वेदितव्या सैव विंशतिस्तीर्थकरनामसहिता एकविंशतिः। अत्राप्येको भङ्गः एषाऽपि तीर्थकरकेवलिनः समुद्घातगतस्य कार्मणकाय-योगे वर्त्तमानस्य वेदितव्या। तथा तस्यामेव विंशतावदारिकशरीरिणां संख्यानानामेकतमत्संस्थानमौदारिकाङ्गोपाङ्गं वज्रर्षभनाराचसंहन-नमुपघातं प्रत्येकमिति षट्प्रकृतयः प्रक्षिप्यन्ते ततः षड्विंशतिः एषा च तीर्थकरकेवलिनः औदारिकमिश्रकाययोगे वर्त्तमानस्य वेदितव्या। अत्र षड्भिः संस्थानैः षड्भङ्गा भवन्ति परं ते सामान्यमनुष्योदयस्थानेष्व-पिसंभवन्तीति न पृथक् गण्यन्ते एषैव षड् विंशतिस्तीर्थकरसहिता सप्तविंशतिर्भवति एषा तीर्थकरकेवलिन औदारिकमिश्रकाययोगे वर्त्तमानस्यावसेया अत्र संस्थानं समचतुरस्रमेव वक्तव्यं तत एक एवात्र भङ्गः। सैव षड् विंशतिः पराघातो च्छ्वासप्रशस्ताप्रशस्तविहा-योगत्यन्यतरयोगति सुंस्वरदुःस्वरान्यतरस्वरसहिता त्रिंशद्भवति एषा च तीर्थकरस्य सयोगिकेवलिन औदारिककाययोगे वर्त्तमानस्यावगन्तव्या। अत्रसंस्थानष्टकप्रशस्तविहायोगतिसुस्वरदुःस्वरसहितैश्चतुर्विंशति र्भङ्गास्ते च सामान्यमनुष्योदयस्थानेष्वपि प्राप्यन्ते इति न पृथक् भण्यते एषैव त्रिंशत्तीर्थकरनामसहिता एकत्रिंशद्भवति सा च सयोगिकेवलिन-स्तीर्थकरस्यौदारिककाययोगे वर्त्तमानस्यावसेया। एषैव एकत्रिंशत् वाग्योगे निरुद्धे त्रिंशद्भवति उच्छ्वासेऽपि च निरुद्धे एकोनत्रिंशत्। अतीर्थकरकेवलिनः प्रागुक्ता त्रिंशत् वाग्योगे निरुद्धे सत्येकोनत्रिंशद्भवति अत्रापि षड्भिःसंस्थानैः षड् भङ्गाः प्राप्यन्ते विहायोगतिद्विकेन बद्धा द्वादश ते च प्रागिव न पृथग् गणयितव्याः। तत उच्छ्वासे निरुद्धे सति अष्टाविंशतिः अत्रापि संस्थानगताः षड् भङ्गाःन प्रथमाणयितव्याः सामान्ये मनुष्योदयस्थानग्रहणेन गृहीतत्वात्। तथा मनुष्यगतिः पञ्चेन्द्रियजातिस्त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तकनाम सुभगमादेयं यशःकीर्त्तिस्तीर्थकरनामेति नवोदयाः। एष च तीर्थकृतोऽयोगिकेवलि नश्चरमसमये वर्त्तमानस्य प्राप्यते स एव तीर्थकरनामरहितोऽष्टोदयः। इह केवल्युदयस्थानमध्ये विंशतिरेकविंशतिः सप्तविंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशत् एकत्रिंशन्नवाष्टरूपेष्वष्टसूदयस्थानेषु प्रत्येकमेककौ भङ्गः प्राप्यते इत्यष्टौ भङ्गाः। तत्र विंशत्यष्टकयोर्भङ्गावतीर्थकृतः शेषेषु षट् सूदयस्थानेषु तीर्थकृतः षड्भङ्गाः सर्वसंख्यया मनुष्याणामुदयस्थानेषु षड् विंशतिशतानि द्विपञ्चाशदधिकानि। देवानामुदयस्थानानि षट् तद्यथा एकविंशतिः पञ्चविंशतिः सप्तविंशतिरष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशत् तत्र देवगतिर्देवानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजातिस्त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तं सुभगदुर्भगयोरेकतरमादेयानादेययोरेकतरं यशःकीर्त्ययशःकीर्त्योरे-कतरमिति नव प्रकृतयो द्वादशसंख्याभिर्ध्रुवोदयाभिः सह एकविंशतिः। अत्र सुभगदुर्भगादेयानादेययशःकीर्त्ययशःकीर्त्तिपदैरष्टौ भङ्गाः दुर्भगानादेययशःकीर्त्तीनामुदयः पिंशाचादीनामवगन्तव्यः। ततः शरीरस्थस्य वैक्रियाङ्गोपाङ्गमंपघातं प्रत्येकं समचतुरस्रसंस्थानमिति पञ्च प्रकृतयः प्रक्षिप्यन्ते देवानुपूर्वी चापनीयते ततो जाता पञ्चविंशतिः अत्रापि त एवाष्टौ भङ्गाः। ततः शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य पराघाते प्रशस्तविहागयोगतौ च प्रक्षिप्तायां सप्तविंशतिः अत्रापि त एवाष्टौ भङ्गाः देवानामप्रशस्तविहायोगतेरुदयाभावात् तदाश्रिता विकल्पा न भवन्ति। ततः प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्यच्छ्वासे क्षिप्ते अष्टाविंशतिः अत्रापि त एवाष्टौ भङ्गाः। अथवा शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासे अनुदिते उद्योतनाम्नि तूदेतिऽष्टाविंशतिः अत्रापि प्रागिवाष्टौ भङ्गाः। सर्वसंख्यया अष्टाविंशतौ भङ्गाः षोडश। ततो भाषापर्याप्त्यापर्याप्तस्य सुस्वरे क्षिप्ते एकानत्रिंशद्भवति अत्राप्यष्टौ भङ्गाः दुःस्वरोदयो देवानां न भवतीति कृत्वा तदाश्रिता विकल्पा न भवन्ति। अथवा प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य सुस्वरे अनुदिते उद्योतनाम्नि तूदिते एकोनत्रिंशद्भवति उत्तरवैक्रियं हि कुर्वतो देवस्योद्योतोदयो लभ्यते अत्रापि त एवाष्टौ भङ्गाः सर्वसंख्यया एकानत्रिंशति षोडश भङ्गाः। ततो भाषापर्याप्त्या पर्याप्तस्य सुस्वरसहितायामेकोनत्रिंशति उद्योते क्षिप्ते त्रिंशद्भवति अत्रापि त एवाष्टौ भङ्गाः सर्वसंख्यया देवानां चतुः षष्टिर्भङ्गाः। नैरयिकाणामुदयस्थानानि पञ्च तद्यथा एकविंशतिः पञ्चविंशतिः सप्तविंशति रष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत्। तत्र नरकगतिर्नरकानुपूर्व्वी पञ्चेन्द्रियजातिस्त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तकनाम दुर्भगनाम अनादेयमयशःकीर्त्तिरित्येता नव प्रकृतयो द्वादशसंख्याभिर्ध्रुवोदयाभिः सह एकविंशतिः। अत्र सर्वाण्यति पदानि अप्रशस्तान्येवेति कृत्वा एक एव भङ्गः। ततः वैक्रियं वैक्रियाङ्गोपाङ्गं हुण्ड संस्थानमुपघातं प्रत्येकमिति पञ्च प्रकृतयः प्रक्षिप्यन्ते नरकानु पूर्वी चापनीयते ततः पञ्चविंशतिर्भवति अत्राप्येक एव भङ्गः। ततः शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य पराघाते अशुभविहायोगतौ च प्रक्षिप्तायां सप्तविंशतिरत्राप्येक एव भङ्गः। ततःप्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासे क्षिप्ते अष्टाविंशतिस्तत्राप्येक एव भङ्गः। ततो भाषापर्याप्त्या पर्याप्तस्य दुःस्वरे क्षिप्ते एकोनत्रिंशत् अत्राप्येकएव भङ्गः सर्वसंख्यया नैरयिकाणां पञ्च भङ्गाः। सकलोदयस्थानभङ्गाः पुनः सप्तसप्ततिशतानि एकनवत्यधिकानि॥

सम्प्रति कस्मिन्नुदयस्थाने कति भङ्गाः प्राप्यन्ते इति चिन्तायां तन्निरूपणार्थमाह–

एक्कबयालेक्कारस, तेत्तीसा छस्सयाणि तेत्तीसा।
बारस सत्तरससयाणहिगाणि विपंचसीएहिं॥२९॥
अउणत्तीसेक्कारस, सयाणहिगसतर पंचसट्ठीहिं।
एक्केक्कगं च वीसा, दट्ठुदयं तेसु उदयविहि॥३०॥

विंशत्यादिष्वष्टपर्यन्तेषु द्वादशसूदयस्थानेषु यथासंख्यमेक द्विसंख्या उदयविधयः उदयप्रकारा उदयभङ्गा इत्यर्थः। तत्र विंशतावेको भङ्गः स चातीर्थकरकेवलिनोऽसेयः। एकविंशतौ द्विचत्वारिंशत् तत्रैकेन्द्रियान-धिकृत्य पञ्च विकलेन्द्रियानधिकृत्य नव पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य नव मनुष्यानप्यधिकृत्य नव तीर्थकरमधिकृत्यैकः सुरानाधिकृत्याष्टौ नैरयिकानधिकृत्यैक इति द्विचत्वारिंशत्। चतुर्विंशतावेकादश ते चैके न्द्रियानेवाधिकृत्य प्राप्यन्ते अन्यत्र चतुर्विंशत्युदयस्थानस्याप्राप्य-माणत्वात्। पञ्चविंशतौ त्रयस्त्रिंशत् तत्रैकेन्द्रियानधिकृत्य सप्त वैक्रयतिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य अष्टौ वैक्रियमनुष्यानधिकृत्याष्टौ आहारक-संयतानाश्रित्यैकः देवानधिकृत्याष्टौ नैरयिकानधिकृत्यैक इति त्रयस्त्रिंशत्। षड्विंशतौ षट्शतानि तत्रैकेन्द्रियानाश्रित्य त्रयो-

दश विकलेन्द्रियानधिकृत्य नव प्राकृततिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य द्वे शते एकोननवत्यधिके प्राकृतमनुष्यानधिकृत्य द्वे शते एकोननवत्यधिके इति षट्शतानि। सप्तविंशतौ त्रयस्त्रिंशत् तत्रैकेन्द्रियानाश्रित्य षट् वैक्रियतिर्यक् पञ्चेन्द्रियानधिकृत्याष्टौ वैक्रिय मनुष्यानधिकृत्याष्टौ आहारकसंयताद्यधिकृत्यैकः केवलिनमधिकृत्यैकः देवनधिकृत्याष्टौ नैरयिकानधिकृत्यैक इति त्रयस्त्रिंशत्। अष्टाविंशतौ द्वाधिकानि द्वादश शतानि तत्र विकलेन्द्रियानधिकृत्य षट्प्राकृततिर्यक् पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य पञ्च शतानि षट् सप्तत्याधिकानि वैक्रियतिर्यक् पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य षोडश मनुष्याधिकृत्य पञ्च शतानि षट् सप्तत्याधिकानि वैक्रियमनुष्यानुष्यानधिकृत्य नव आहारकसंयतानधिकृत्य द्वौ देवानधिकृत्य षोडश नारकाननानधिकृत्यैक इति। एकोनत्रिंशति पञ्चाशीत्याधिकानि सप्तदशशतानि षट् सप्तत्यधिकानि वैक्रियमनुष्यानधिकृत्य नव आहारकसंयतानधिकृत्य द्वौ तीर्थकरमधिकृत्यैकः देवनधिकृत्य षोडश नारकानधिकृत्यैक इति त्रिंशति एकोनत्रिंशच्छतानि सप्तदशाधिकानि तत्र विकलेन्द्रियानधिकृत्याष्टादश तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानाधिकृत्य सप्तदशशतान्यष्टाविंशत्यधिकानि वैक्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्याष्टौ मनुष्याननधिकृत्य द्विपञ्चाशदधिकान्येकादश शतानि वैक्रियमनुष्यसानधिकृत्यैकः आहारकसंयतानधिकृत्यैकः केवलिनमधिकृत्यैकः देवानधिकृत्याष्टौ। एकत्रिंशत्येकादश शतानि पञ्चषष्ट्यधिकानि तत्र विकलेन्द्रियानधिकृत्य द्वादश तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य द्विपञ्चाशदधिकान्येकादश शतानि तीर्थकामधिकृत्यैकः एकोनवोदये एकोऽष्टोदये सर्वोदयस्थानेषु सर्वसंख्यया सप्तसप्ततिशतान्येकनवत्यधिकानि इति तदेवमुक्तानि सप्रभेदमुदयस्थानानि द्वितीयगाथाया अर्थः कस्मिंश्चिदंशे भाषाटीकायामन्यथा प्रतिभातीति तच्छाययेदं व्याख्यायते एकोनत्रिंशच्छतके सप्ततिं चैकादशशतके पञ्चषष्ट्यधिकां कुर्य्यात् तदा त्रिंशदुदये एकोनत्रिंशच्छतानि सप्तदशाधिकानि भवन्ति। तानीत्थम् विकलेन्द्रियाणामष्टादश तिर्य्यक्पञ्चेन्द्रिणणामष्टाविंशत्यधिकानि सप्तदश शतानि मनुष्याणामेकमाहारकाणामेकं केवलिन एकं देवानामष्टौ एवं पूर्वोक्ता संख्या। तथैकत्रिंशदुदयं विकलेन्द्रियाणां द्वादश पञ्चेन्द्रिय तिरश्चां द्विपञ्चाशदधिकान्येकादश शतानि केवलिन एकमित्थं पञ्चषष्ट्यधिकान्येकादश शतानि एकैको भङ्गोऽष्टनवोदये केवलिनो भवति अतो नवोदयेऽष्टोदये चैको भङ्गः। विंशत्युदयस्थानादारभ्याष्टोदयपर्य्यन्तं द्वादशोदयस्थानानि। एवं सर्व्वसंख्यया एकनवत्यधिकानि सप्तशतयुतानि सप्तसहस्राणि भवन्ति।

सम्प्रति सत्तास्थानप्ररूपणार्थमाह–

तिदुनउईगुणनउइ, अडसीछलसीअसीइगुणसीइ।
अट्ठ य छप्पन्नत्तरि, नव अट्ठ य नामसंताणि ॥३१॥

नाम्नो नामकर्म्मणो द्वादश सत्तास्थानानि तद्यथा त्रिनवतिर्द्विनवतिरेकोननवतिरष्टाशीतिः षडशीतिः अशीतिरेकोनाशीतिरष्टसप्ततिःषट् सप्ततिः पञ्चसप्ततिः नव अष्टाविति। तत्र सर्वप्रकृतिसमुदायस्त्रिनवतिर्द्विनवतिरेकोननवतिरष्ट सैव तीर्थकररहिता द्विनवतिस्त्रिनवतिरेवाहारकशरीराहारकाङ्गोपाङ्गाहारकसंघाताहारकबन्धनरूपचतुष्टयेन रहिता एकोननवतिः। सैवतीर्थकररहिता अषशीतिः ततो नरकगतिनरकानुपूर्व्योरथवादेवगतिदेवानुपूर्व्यारुद्वलितयोः षडशीतिः अथवा अशीतिः। तत्कर्म्मणो नरकगतिप्रायोग्यं बध्नतो नरकगतिनरकानुपूर्वीवैक्रियशरीरवैक्रियाङ्गोपाङ्गवैक्रियसंघातवैक्रियबन्धनबन्धे षडशीतिः अथवा अशीतिः। तत्कर्मणो देवगतिप्रायोग्यं बध्नतो देवगतिदेवानुपूर्वीवैक्रियचतुष्टयबन्धे षडशीतिस्ततो नरकगतिनरकानुपूर्वी वैक्रियचतुष्टयोद्वलने अथवा देवगतिदेवानुपूर्वीवैक्रियचतुष्टयोद्वलने कृते अशीतिः। ततो मनुजगतिमनुजानुपूर्व्योरुद्वलितयोरष्टसप्ततिः। एतान्यक्षपकाणां सत्तास्थानानि। क्षपकाणां पुनरमूनि त्रिनवतेर्नरकगतिर्नरकानुपूर्वी तिर्यग्गतिस्तिर्यगानुर्व्यकेन्द्रियजातिर्द्वीन्द्रियजातिस्त्रीन्द्रियजातिश्चतुरिन्द्रियजातिः स्थावरातपोद्योतसूक्ष्मसाधारणरूपे त्रयोदशके क्षीणे अशीतिर्भवति। द्विनवतेः क्षीणे एकोनाशीतिः एकोननवतेः क्षीणे ष्सप्ततिः अष्टाशीतेःक्षीणे पञ्चसप्ततिर्मनुष्यगतिः पञ्चेन्द्रियजाजिस्त्रसनामबादरपर्याप्तसुभगादेययशःकीर्त्तितीर्थकरा–णीति नवकं सत्तास्थानं तद्यायोगिकेवलिनस्तीर्थकरस्य चरमसमये वर्तमानस्य प्राप्यते तदेव तीर्थकरकेवलिनश्चरमसमये तीर्थकरनामरहितमष्टकमिति। तदेवमुक्तानि सत्तास्थानानि।

सम्प्रति संवेधप्रतिपादनार्थमुपक्रमते–

अट्ठयबारसवारस, बंधोदयसंतपयामिठाणाणि।
ओहेणाएसेण य, जत्थ जहासंभवं विभजे ॥३२॥

नाम्नोबन्धोदयसत्ताप्रकृतिस्थानानि यथाक्रममष्टौ द्वादश द्वादशसंख्याकानि तानि ओघेन सामान्येन आदेशेन च विशेषेण च यथासंभवं यानि यत्र यथा संभवन्ति तानि तत्र तथा विभजेत् विकल्पयेत्। उत्तरग्रन्थानुसारेण अत्र अमुकं बन्धस्थानं बध्नत एतावन्ति उदयस्थानानि एतावन्ति च सत्तास्थानानीति सामान्यं मिथ्यादृष्ट्यादिषु गुणस्थानेषु गत्यादिषु च मार्गणास्थानेषु प्रत्येकं एतावन्ति उदयस्थानानि एतावन्ति च सत्तास्थानानि एवं तेषां परस्परं संवेधः इत्यादेशः। अत्र प्रथमतः सामान्येन संवेधचिन्तां कुर्वन्नाह।

नवपंचोदयसंता, तेवीसे पण्णवीसछव्वीसे।
अट्ठ चउरट्ठवीसे, नवसत्तिगुणतीसतीसम्मि ॥३३॥
एगेगमेगतीसे, एगे एगुदयअट्ठसंतम्मि।
उवरयबंधो दस दस, वेयगसंतम्मि ठाणाणि ॥३४॥

त्रयोविंशतिबन्धे पञ्चविंशतिबन्धे षड्विंशतिबन्धे च प्रत्येकं नव नव उदयस्थानानि। पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि तत्र त्रयोविंशतिबन्धोऽपर्याप्तकैकेन्द्रियप्रायोग्ये एव तद्बन्धकाश्च एकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रिया मनुष्याश्च। एतेषां च त्रयोविंशति बन्धकानां यथायोगं सामान्येन नवोदयस्थानानि तद्यथा एकविंशतिश्चतुर्विंशतिः पञ्चविंशतिः षडविंशतिः सप्तविंशतिरष्टा विंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशत् एकत्रिंशत्। तथा त्रयोविंशतिबन्धकानामेकविंशत्युदयोऽपान्तरालगतौ वर्त्तमानानामेकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्याणामवसेयः। तेषामपर्याप्तैकेन्द्रियाणां वैक्रियतिर्यग्मनुष्याणां च मिथ्यादृष्टीनां षडविंशत्युदयाः। पर्याप्तैकेन्द्रियाणां पर्याप्तापर्याप्तद्वित्रिचतुरिन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्याणां च मिथ्यादृष्टीनां सप्तविंशत्युदयाः पर्याप्तद्वित्रिचतुरिन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनु-ष्याणां मिथ्यादृष्टीनामेकत्रिंशदुदया विकलेन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां मिथ्यादृष्टीनामुक्तशेषाः त्रयोविंशतिबन्धका न भवन्ति। तेषां च त्रयोविंशति-

बन्धकानां सामान्येन पञ्च सत्तास्थानानि तद्यथा द्विनवतिरष्टाशीतिः षडशीतिरष्टसप्ततिश्च। तत्रैकविंशत्युदये वर्त्तमाननां सर्वेषामपि पञ्चापि सत्तास्थानानि केवलं मनुष्याणामष्टसप्तितिवर्जाति चत्वारि सत्तास्थानानि वक्तव्यानि यतोऽष्टसप्ततिर्मनुष्यानुपूर्व्या उद्वलितायाः प्राप्यते न च मनुष्याणां तदुद्वलनसंभवः। चतुर्विंशत्युदयेऽपि पञ्चापि सत्तास्थानानि केवलं वायुकायिकस्य वैक्रियं कुर्वतश्चतुर्विंशत्युदये वर्त्तमानस्याशीत्यष्टसप्ततिवर्जानि त्रीणि सत्तास्थानानि यतस्तस्य वैक्रियषटकं मनुष्यद्विकं च नियमादस्ति यतो वैक्रियं हि साक्षादनु–भवत् वर्त्तते इति न तदुद्वलयति तदभावाच्च न देवद्विकनरकद्विके अपि समकालं वैक्रियषटकस्योद्वलनसंभवात्तथा स्वाभाव्यात् वैक्रियष्टके चोद्वलिते सति पश्चात् मनुष्यद्विकमुद्वलयति न पूर्वं तथा चोक्तं चूर्णौ वेउब्बियछक्कं उब्बलेइ पच्छा मणुयदुगं उब्बलेइ इत्यशीत्यष्टसप्तति वर्जसत्तास्थानसंभवः। पञ्चविंशत्युदयेऽपि पञ्च सत्तास्थानानि तथाऽषटसप्ततिरवैक्रियवायुकायिकतैजस्कायिकान् अधिकृत्य प्राप्यते नान्यान् यतस्तैजस्कायिकवायुकायिकवर्जोऽन्यः सर्वोऽपि पर्याप्तको नियमान्मनुष्यगतिमनुष्यानुपूर्व्यौ बध्नाति तथा चाह चूर्णिकृत् तेउवाउज्जो पज्जत्तगो मणुयगइं नियमा बंधइ ततोऽन्यत्राष्टसप्ततिर्न प्राप्यते। षडविंशत्युदयेऽपि पञ्चापि सत्तास्थानानि नवरमष्टसप्ततिरवैक्रियवायुकायिकतैजस्कायिकानां द्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियाणां वा तेजोवायुभवादनन्तरगतानां पर्याप्तापर्याप्तानां ते हि यावन्मनुष्यगतिमनुष्यानुपूर्व्यौ न बध्नन्ति तावत्तेषामष्टसप्ततिः प्राप्यते नान्येषाम्। सप्तविंशत्युदये अष्टसप्ततिवर्जानि चत्वारि सत्तास्थानानि। सप्तविंशत्युदयो हि तेजोवायुवर्जपर्याप्तबादरैकेन्द्रियवैक्रियति–र्यग्मनुष्याणां तेषां चावश्यं मनुष्यद्विकसंभवादष्टसप्ततिर्न प्राप्यते। अथ कथं तेजोवायूनां सप्तविंशत्युदया न भवन्ति येन तद्वर्जनं क्रियते उच्यते सप्तविंशत्युदय एकेन्द्रियाणामातपोद्योतान्यतरप्रक्षेपे सति प्राप्यते। न च तेजोवायुष्वातपोद्योतोदयः संभवति ततस्तद्वर्जनम्। अष्टाविंशत्येको–नत्रिंशदेकत्रिंशत् त्रिंशदुदयेषु नियमादष्टसप्ततिवर्जानि चत्वारि चत्वारि सत्तास्थानानि अष्टाविंशत्युदयो हि पर्याप्तविकलेन्द्रियपञ्चेन्द्रिय–*तिर्यग्मनुष्याणामेकत्रिंशदुदयश्च पर्याप्तविलेन्द्रियपञ्चेन्द्रियतिरश्चां ते* चावश्यंमनुष्यगतिमनुष्यानुपूर्वीसत्कर्माण इति। तदेवं त्रयोविंशतिर्यथायोगं नवाप्युदयस्थानान्यधिकृत्य चत्वारिंशसंख्यानि भवन्ति पञ्चविंशतिषडविंशति बन्धकानामप्येवमेव केवलं पर्याप्तैकेन्द्रिय प्रायोग्यपञ्चविंशति (षडविंशति) बन्धकानां देवानामेकविंशति–पञ्चविंशतिसप्तविंशत्यष्टाविंशत्येकोनत्रिंशत्त्रिंशदूपेषु षट् सूदयस्थानेषु द्विनवतिरष्टाशीतिश्चेति द्वे द्वे सत्तास्थाने वक्तव्ये। अपर्याप्त विकलेन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्यप्रायोग्यां तु पञ्चविंशतिं देवा न बध्नन्ति अपर्याप्तेषु विकलेन्द्रियेषु तिर्यक्पञ्चेन्द्रियेषु मनुष्येषु च मध्ये देवानामुत्पादाभावात्। सामान्येन त्रयोविंशतिबन्धे पञ्चविंशति बन्धे षडविंशतिबन्धे च प्रत्येकं नवाप्युदयस्थानान्यधिकृत्य चत्वारिंशत् सत्तास्थानानि। अष्टाविंशतौ बध्यमानायामष्टावुदयस्थानानि तद्यथा एकविंशतिः पञ्चविंशतिः षडविंशतिः सप्तविंशतिरष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशदेकत्रिंशत्। इह द्विधा अष्टाविंशतिर्देवगतिप्रायोग्या नरकगतिप्रायोग्या च। तत्र देव गतिप्रायोग्याया बन्धेऽष्टाप्युदयस्थानानि नानाजीवापेक्षया प्राप्यन्ते नरकगतिप्रायोग्यायास्तु बन्धे द्वे तद्यथा त्रिंशत् एकत्रिंशत्। तत्र देवगति प्रायोग्याष्टाविंशतिबन्धकानामेकविंशत्युदयः। क्षायिकसम्य–ग्दृष्टीनां वेदकसम्यग्दृष्टीनां वा पञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्याणा मपान्तरालगतौ वर्त्तमानानामवसेयः। पञ्चविंशत्युदयः आहारकसंयतानां वैक्रियतिर्यम–नुष्याणां च सम्यग्दृष्टीनां मिथ्यादृष्टीनां वा। षडविंशत्युदयः क्षायिकसम्यग्दृष्टीनां वेदकसम्यग्दृष्टीनां वा पञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्याणां शरीरस्थानां सप्तविंशत्युदयः आहारकसंयतानां वैक्रियतिर्यग्मनुष्याणां तु सम्यग्दृष्टीनां मिथ्यादृष्टीनां वा अष्टाविंशत्येकोनत्रिंशदुदयावपि यथाक्रमं शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तानां प्राणापानपर्याप्त्या चापर्याप्तानां तिर्यग्मनुष्याणां क्षायिकसम्यग्दृष्टीनां वेदकसम्यग्दृष्टीनां वा। तथा आहारकसंयतानां वैक्रियतिर्यग्मनुष्याणां च सम्यग्दृष्टीनां वा मिथ्यादृष्टीनां वाऽवसेयौ। त्रिंशदुदयस्तिर्यग्मनुष्याणा सम्यग्दृष्टीनां मिथ्यादृष्टीनां च। तथा आहारकसंयतानां वैक्रियसंयतानां च एक त्रिंशदुदयः पञ्चेन्द्रियतिरश्चां सम्यग्दृष्टीनां मिथ्यादृष्टीनां वा नरकगतिप्रायोग्यां त्वष्टाविंशतिं बध्नतां त्रिंशदुदयः। पञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्याणां मिथ्यादृष्टीनामेकत्रिंशदुदयः। पञ्चेन्द्रियतिरश्चां मिथ्यादृशामष्टाविंशतिबन्धकानां सामान्येन चत्वारि सत्तास्थानानि तद्यथा द्विनवतिः एकोननवतिरष्टाशीतिः षडशीतिश्च। तत्रैकविंशत्युदये वर्त्तमाना देवगतिप्रायोग्याऽष्टाविंशतिर्बन्धकानां द्वे सत्तास्थाने तद्यथा द्विनवतिरष्टाशीतिश्च। पञ्चविंशत्युदये–ऽप्यष्टाविंशतिबन्धकानाहारक संयत वैक्रियतिर्यग्मनुष्याणां सामान्येन ते एव द्वे सत्तास्थाने। तत्र आहारकसंयतो नियमादाहारकसत्कर्मा ततस्तस्य द्विनवतिः सत्तास्थानं शेषाश्च तिर्यञ्चो मनुष्या वाऽऽहारकसत्कर्माणः तद्हिताश्च भवन्ति ततस्तेषां द्वे अपि सत्तास्थाने। षडविंशतिसप्तविंशत्यष्टाविंशत्येकोनत्रिंशदुदयेष्वपि ते एव द्वे सत्तास्थाने सामान्येन वेदितव्ये। त्रिंशदुदये देवगतिनरकगतिप्रायोग्याष्टाविंशति बन्धकानां सामान्येन चत्वारि सत्तास्थानानि तद्यथा द्विनवतिरेकोनन–वतिः अष्टाशीतिः षडशीतिश्च। तत्र द्विनवतिः अष्टाशीतिश्च प्रागिव भावनीया। एकोननवतिः पुनरेवं कश्चिन्मनुष्यस्तीर्थकरनामसत्कर्मा वेदकसम्यग्दृष्टिः पूर्वबद्धनरकायुष्को नरकाभिमुखः सम्यक्त्वात् प्रतिपत्य मिथ्यात्वं गतः तस्य तदा तीर्थकरनामबन्धाभावान्नर–कगतिप्रायोग्या–*मष्टाविंशतिं बध्नतः एकोननवतिः सत्तायां प्राप्यते। षडशीतिस्त्वेवं इह* तीर्थकराहारकचतुष्कदेवगतिदेवानुपूर्वीनरकाति नरकानुपूर्व्यौवैक्रि–यच तुष्टयरहिता त्रिनवतिरशीतिर्भवति तत्सत्कर्मा पञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्यो वा जातस्सन् सर्वाभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्तो यदि विशुद्धः ततो देवगतिप्रायोग्यामष्टाविंशति बध्नाति तद्बन्धे च देवद्विकं वैक्रियचतुष्टयं सत्तायां प्राप्यते इति तस्य षडशीतिः। अथ सर्वसंक्लिष्टस्ततो नरकगतिप्रायोग्याऽष्टाविंशतिस्तद्बन्धे नरकद्विकं वैक्रियचतुष्टयं चावश्यं बन्धमानत्वात् सत्तायां प्राप्यते इत्येवमपि तस्य षडशीतिः। एकत्रिंशदुदये त्रीणि सत्तास्थानानि तद्यथा द्विनवतिरष्टाशीतिः षडशीतिश्चैकोननवति–रिह न प्राप्यते एकत्रिंशदुदयो हि तिर्यक्पञ्चेन्द्रियेषु प्राप्यते न चतिर्यक्षु तीर्थकरनाम सद्भवति तीर्थकरनामसत्कर्मणां तिर्यक्षु चोत्पादाभावात्। षडशीतिसत्तास्थानभावना च प्रागिव वेदितव्या। तदेवमष्टाविंशति–बन्धकानामष्टावुदयस्थानान्यधिकृत्यैकोनात्रिंशत् संख्यानि सत्तास्थानानि भवन्ति (नवसत्तिगुणतीसतीसम्मि) एकोनत्रिंशति त्रिंशति च बध्यमानायां प्रत्येकं नव नव उदयस्थानानि सप्त च सत्तास्थानानि। तत्रोदयस्थानान्यमूनि तद्यथा एकविंशतिश्चतुर्विंशतिः पञ्चविंशतिः षडविंशतिः सप्तविंशतिरष्ट–विंशतिरेकोन त्रिंशत् त्रिंशत् एकत्रिंशत्। तत्रैकविंशत्युदयः

पञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्य प्रायोग्यामेकोनत्रिंशतंभ बध्नतापर्याप्तैकेन्द्रिय-विकलेन्द्रियपञ्चेन्द्रिय तिर्यग्मनुष्याणां देवनैरयिकाणां च। चतुर्विंशत्युदयः पर्याप्तापर्याप्तै केन्द्रियाणां पञ्चविंशत्युदयःपर्याप्तैकेन्द्रियाणां देवनैरयिकाणां वैक्रियतिर्यग्मनुष्याणां मिथ्यादृष्टीनां, षडविंशत्युदयः पर्याप्तैकेन्द्रियाणां पर्याप्तापर्याप्तै विकलेकेन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रिय मनुष्याणां, सप्तविंशत्युदयः पर्याप्तैकेन्द्रियाणां देवनैरयिकाणां वैक्रियतिर्यग्मनुष्याणामष्टाविंशत्युदयः एकोनत्रिंशदुदयश्च विकलेन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुष्याणां वैक्रियतिर्यग्मनुष्यदेवनैरयिकाणा चात्रिंशदुदयःविकलेन्द्रियमनुष्याणां देवानामुद्योतवेदकानामेकत्रिंशदुदयःपर्याप्त-विकले न्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामुद्योतवेदकानम् । तथा देवगतिप्रायोग्यामेकोनत्रिंशतं बध्नतो मनुष्याविरतातम्यग्दृष्टेरुदयस्थानानि पञ्च। तद्यथा एकविंशतिः षडविंशतिरष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । आहारकसंयतानां वैक्रियसंयतानां च इमानि पञ्चउदयस्थानानि तद्यथा पञ्चविंशतिः सप्तविंशतिरष्टाविंशतिरेकोन त्रिंशत् त्रिंशत् । असंयतानां संयतासंयतानां च वैक्रियं कुर्वतां मनुष्याणां त्रिंशद्वर्जानि चत्वार्युदयस्थानानि। त्रिंशत्करस्मान्न भवति इति चेत् उच्यते संयतान्मुक्त्वा अन्येषां मनुष्याणां वैक्रियमपि कुर्वतामुद्योतोदयाभावत्। सामान्येनैकोनत्रिंशद्बन्धे सप्त सत्तास्थानान्यमूनि तद्यथा त्रिनवतिः द्विनवतिरेकोननवतिः अष्टाशीतिः षडशीतिरशीतिरष्टसप्ततिश्च। तत्र विकलेन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यामेकोनत्रिंशतं बध्नतां पर्याप्तापर्याप्तैकेन्द्रियविकलेन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामेकविंशत्युदये च वर्तमानानां पञ्च सत्तास्थानानि तद्यथा द्विनवतिः अष्टाशीतिःषडशीतिरशीतिरष्ट सप्ततिश्च। एवं चतुर्विंशति पञ्चविंशतिषड्विंशत्युदयेष्वपि वक्तव्यम्। सप्तविंशत्यष्टाविंशत्येकोनत्रिंश-त्त्रिंशदेकत्रिंशदुदयेष्वष्ट सप्ततिवर्जानि चत्वारि चत्वारि सत्तास्थानानि भावनीयानि। यथा त्रयोविंशतिबन्धकानां प्रागुक्ता। तथा अत्रापि वक्तव्या मनुजगतिप्रायोग्यामेकोनत्रिंशतंबध्नतामेके न्द्रियविकलेन्द्रियति-र्यक्पञ्चेन्द्रियाणां तिर्यग्गतिमनुष्यागतिप्रायोग्यं पुनर्बध्नतां मनुष्याणां च स्वोदयस्थानेषु यथायोगं वर्त्तमानानामष्टसप्ततिवर्जानि तान्येव चत्वारि सत्तास्थानानि वेदितव्यानि। देवनैरयिकाणां तिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्यगति-प्रायोग्यामेकोनत्रिंशतं बध्नतां स्वस्वोदयेषु वर्तमानानां द्वे द्वे सत्तास्थाने तद्यथाद्विनवतिरष्टाशीतिश्च। केवलं नैरयिकस्य मिथ्यादृष्टेस्तीर्थकर-सत्कर्मणो मनुष्यगतिप्रायोग्यामेकोनत्रिंशतं बध्नतः स्वोयेयषु पञ्चसु यथायोगं वर्तमानस्यैकोननवतिरेवैका वक्तव्या यतस्तीर्शकरनाम-सहितस्याहारक चतुष्टयरहितस्यैव मिथ्यात्वगमनासंभवः उभसंति उ न मिच्छोच इति वचनात् ततस्त्रिनवतेराहारकचतुष्केऽपनीते सत्येकोननवतिरेव तस्य सत्तायां भवति देवगतिप्रायोग्यामेकोनत्रिंशतं तीर्थकरनामसहितां बध्नतः पुनरविरतस्य सम्यग्दृष्टेर्मनुष्यस्यै-कविंशत्युदये वर्तमानस्य द्वे सत्तास्थाने तद्यथा त्रिनवतिरेकोननवतिश्च। एवं पञ्चविंशतिषडविंशति सप्तविंशत्यष्टाविंशत्येकोनत्रिंशत्रिंशदुदयेष्वपि ते एव द्वे द्वे स्थाने सत्तास्थाने वक्तव्ये। आहारकसंयतानां पुनः स्वस्वोदये वर्तमानानामेकमेव त्रिनवतिरूपं सत्तास्थानमवगन्तव्यं तदेवं सामान्ये-नैकविंशत्युदये सप्त सत्तास्थानानि चतुर्विंशत्युदये पञ्च, पञ्चविंशत्युदये सप्त, षडविंशत्युदयेसप्त, सप्तविंशत्येदये षट् अष्टाविंशत्युदये षड् एकोनत्रिंशत्येदये षट्, त्रिंशदुदये षड्, एकत्रिंशदुदये चत्वारि, सर्वसंख्यया चतुःपञ्चाशत् सत्तास्थानानि । तथातिर्यग्गतिप्रायोग्यामेकोनत्रिंशतं बध्नतामेके न्द्रियविकलेन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुजदेवनैरयि-काणामुदयस्थानानि भावितानि तथात्रिंशतमप्युद्योतसहितां तिर्यग्गतिप्रायोग्यां बध्नतामेके न्द्रियादीनामुदयसत्तास्थानानि भावनीयानि । मनुष्यगतिप्रायोग्यां तीर्थकरनामसहितां त्रिंशतं बध्नतां देवनैरयिकाणामुदयसत्ता–स्थानान्युच्यन्ते तत्र देवस्य यथोक्तां त्रिंशतं बध्नत एकविंशत्युदये वर्तमानस्य द्वे सत्तास्थाने त्रिनवतिरेकोननवतिश्च । एकविंशत्युदये वर्तमानस्य नैरयिकस्यैकं सत्तास्थानमेकोननवतिस्त्रिन-वतिरूपं तस्य सत्तास्थानं न भवति तीर्थकराहारकसत्कर्मणो नरकेषूत्पादाभावात् । उक्तं च चूर्णौ "जस्स तित्थगराहारगाणि जुगवं संति सो नरेइएसुन उववज्जइ" इति एवं पञ्चविंशतिसप्तविंशत्यष्टा–विंशत्येकोनत्रिंशदुदयेष्वपि भावनीयं नवरं नैरयिकस्य त्रिंशदुदयो न विद्यते त्रिंशदुदयो हि उद्योते सति प्राप्यते न च नैरयिकस्योद्योतोदयो भवति तदेवं सामान्येन त्रिंशद्बन्धकानामेकविंशत्युदये सप्त चतुर्विंशत्युदये पञ्च पञ्चविंशत्युदये सप्त षडविंशत्युदये पञ्च सप्तविंशत्युदये षट्अष्टाविंशत्युदये षट् एकोनत्रिंशत्युदये षट् अष्टा त्रिंशदुदये षट् एक त्रिंशदुदये चत्वारि सर्वसंख्यया द्विपञ्चाशत् (एगेगमेगतीसत्ति) एकत्रिंशति बध्यमानायामेकमुदयस्थानं त्रिंशत् यतः एकत्रिंशत् देवगतिप्रायोग्या तीर्थकराहारकद्विकसहितां बध्नतोऽप्रमत्तसंयतस्यापूर्वकरणस्य वा प्राप्यते न च ते वैक्रियमाहारकं वा कुर्वन्ति ततः पञ्चविंशत्यादय उदया न प्राप्यन्ते इति एकं संत्तास्थानम् त्रिनवतिः तीर्थकराहारकचतुष्टये एव सत्तासंभवात् (एगे एगुदय अट्ठसंतम्मि) एकस्मिन् यशःकीर्तिरूपे कर्मणि बध्यमाने एकमुदयस्थानं त्रिंशत् एका हि यशःकीर्त्ति बध्नाति अपूर्वकरणादयस्ते चातिविशुद्धत्वाद्वैक्रियमाहारकं वा नारभन्ते ततः पञ्चविंशत्यादीन्युदयस्थानानीहापि न प्राप्यन्ते अष्टौ सत्तास्थानानि तद्यथा त्रिनवतिर्द्विनवतिरेकोननवतिः अष्टाशीतिः अशीतिः एकोनाशीतिः षट्सप्ततिः पञ्चसप्ततिश्च । तत्र यानि चत्वारि सत्तास्थानानि उपशमश्रेण्यमाथवा क्षपकश्रेण्यां यावदनिवृत्तिबादर गुणस्थाने गत्वा त्रयोदश नामानि न क्षीयन्ते त्रयोदशसु च नामसु क्षीणेषु नानाजीवापेक्षयोपरितनानि चत्वारि लभ्यन्ते तानि च तावल्लभ्यन्ते यावत् सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानम् । (उवरयबंधे दस दस वेयगसंतम्मि ठाणाणि) उपरते बन्धे बन्धाभाव इत्यर्थः (वेयगत्ति) वेदनं वेदः वेद एव वेदकः वेदेउदये इत्यर्थः सत्तायां च प्रत्येकं दश दश सत्तास्थानानि तथाऽमूनि दश उदयस्थानानि तद्यथा विंशतिरेकविंशतिः षडविंशतिः सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशत् एकत्रिंशत् नव अष्टौ च। तत्र विंशत्येकविंशती यथासंख्यम तीर्थकर योः सयोगिकेवलिनोः कार्मणकाययोगे वर्त्तमानयोः । षडविंशतिसप्तविंशती तयोरेवौदारिक-मिश्रकाययोगे वर्त्तमानयोरेव तीर्थकरस्य स्वभावस्थस्य त्रिंशत्तस्यैव स्वरे निरुद्धे एकोनत्रिंशत्तस्यैवोच्छ्वासेऽपि निरुद्धेऽष्टाविंशतिस्तीर्थकरस्य स्वभावस्थस्य एकत्रिंशत् तस्यैव स्वरे निरुद्धे सति त्रिंशत् उच्छ्वासेऽपि निरुद्धे एकोनत्रिंशत् एवं च द्विधा त्रिंशदेकोनत्रिंशतौ प्राप्यते । अयोगिनस्तीर्थकरस्य चरमसमये वर्त्तमानस्य नवोदयाः अतीर्थकरस्या-योगिनश्चरमसमये अष्टोदयाः दश सत्तास्थानानि तद्यथा विनवतिर्द्विनव-तिरेकोननवतिरष्टाशीतिरशीतिरेकोनाशीतिः षट्सप्ततिः पञ्चसप्ततिः नव अष्टौ च तत्र विंशत्युदये द्वे सत्तास्थाने एकोनाशीतिः पञ्च-

सप्ततिश्च एवं षडविंशत्यष्टाविंशत्युदयेऽपि द्रष्टव्या। एकविंशत्युदये इमे द्वे सत्ता स्थाने तद्यथा अशीतिः षट् सप्ततिश्च एवं सप्तविंशत्युदयेऽपि। एकोन त्रिंशति चत्वारि सत्तास्थानानि तद्यथा अशीतिः षट् सप्ततिरेकोनाशीतिः पञ्चसप्ततिश्च यत एकोनत्रिंशत्तीर्थकरस्यातीर्थकरस्य च भवति। तत्राद्ये द्वे तीर्थकरमधिकृत्य वेदितव्ये अन्तिमे द्वे अतीर्थकरमधिकृत्य। त्रिंशदुदयेऽष्टौ सत्तास्थानानि तद्यथा त्रिनवतिर्द्विनविरेकोननवतिः अष्टाशीतिः अशीतिः एकोनाशीतिः षट् सप्ततिः पञ्चसप्ततिश्च। तत्राद्यानि चत्वार्युपशान्तकषायस्य क्षपकस्य त्रयोदशकं न क्षीयते अन्त्यानि चत्वारि क्षीणत्रयोदशकस्य केवलिनो वा आहारकसत्कर्मण-स्तीर्थकरस्याशीतिस्तस्यैवातीर्थकरस्यैकोनाशीतिः आहारक चतुष्टयरहितस्य तीर्थकरस्य क्षीणकषायस्य सयोगिकेवलिनो वा षट् सप्ततिः तस्यैवातीर्थकरस्य पञ्चसप्ततिः। एकत्रिंशदुदये द्वे सत्तास्थाने तद्यथा अशीतिः षट् सप्ततिस्तीर्थकरकेवलिनो वेदितव्ये अतीर्थकरकेवलिन एकत्रिंशदुदयस्यैवाभावात्। नवोदये त्रीणि सत्तास्थानानि तद्यथा अशीतिः षट् सप्ततिर्नव च तत्राद्ये द्वे यावद् द्विचरमसमयं तावदयोगि--केवलिनस्तीर्थकरस्य वेदितव्ये चरमसमये तु नव। अष्टोदये त्रीणि सत्तास्थानानि तद्यथा एकोनाशीतिः पञ्चसप्ततिरष्टौ च। तत्राद्ये द्वे अयोगिकेवलिनोऽतीर्थकरस्य द्विचरमसमयं यावत् वेदितव्ये चरमसमये त्वष्टाविति। एवं बन्धकस्य दशाप्युदयस्थानानि भवन्ति तदेवमुक्ता उत्तरप्रकृतीनां बन्धोदयसत्तास्थानभेदाः संबेधश्च। संवेधस्वामित्वं गुणस्थानानि चाधिकृत्य स्वामि निदर्श्यते।

तत्रोक्तक्रमेणैवैषां जीवस्थानानि–

तिविगप्पपगइठाणे हिं जीवगुणसन्निएसु ठाणेसु।
भंगा पउंजियव्वा, जत्थ जहा संभवो भवइ ॥३५॥

त्रयो विकल्पा बन्धोदयसत्तारूपास्तेषां संबन्धीनि स्थानानि त्रिप्रकृति स्थानानि त्रिविकल्पप्रकृतिस्थानानि तैर्जीवसंज्ञितेषु गुण संज्ञितेषु च स्थानेषु जीवस्थानेषु गुणस्थानेषु चेत्यर्थः। भङ्गाः पूर्वोक्तानुसारेण वक्ष्यमाणानुसारेण च प्रयोक्तव्याः। कथमित्याह (जत्थ जहा संभवो भवइ) यत्र येषु जीवस्थानेषु गुणस्थानेषु च यथा संभवो भवति यथा घटना भवति तत्र तथा प्रयोक्तव्याः यो यत्र यथा भङ्गे घटते स तत्र तथा कर्त्तव्य इत्यर्थः।

तत्र प्रथमजीवस्थानान्यधिकृत्य प्रतिपादयति।

तेरससु जीवसंखे वएसु नाणंतराययतिविगप्पो।
एक्कम्मि तिदुविगप्पो, करणं पइ एत्थ अविगप्पो ॥३६॥

संक्षिप्यन्ते संगृह्यन्ते जीवा एभिरिति संक्षेपा अपर्याप्तैकेन्द्रियत्वादयो ऽवान्तरजातिभेदाः। जीवानां संक्षेपाः जीवसंक्षेपाः जीवस्थानानीत्यर्थः। पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियवर्जेषु शेषेषु त्रयोदशसुजीवस्थानेषु ज्ञानावरणान्त-राययोर्बन्धोदयरूपास्त्रयो विकल्पास्तद्यथा पञ्चविधो बन्धः पञ्चविध उदयः पञ्चविधा सत्ता ज्ञानावरणान्तराययोर्ध्रुवबन्धो यसत्ताकत्त्वात् (तिविगप्पो इति) द्विगुसमाहारत्वेऽप्यार्षत्वात्पुंस्त्वनिर्देशः (एगम्मि तिदुविगप्पो) एकस्मिन् पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियलक्षणे जीवस्थाने त्रयो विकल्पा भवन्ति द्वौ वा विकल्पौ। तत्र त्रयो विकल्पा इमे पञ्चविधोबन्धः पञ्चविध उदयः पञ्चविधा सत्ता। एते च सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानकं यावत् प्राप्यन्ते ततः परं बन्धच्छेदे उपशान्तमोहे क्षीणमोहे च द्वौ विकल्पौ तद्यथा पञ्चविध उदयः पञ्चविधासत्ता अत्रान्यो भङ्गो न संभवति उदयसत्तयोर्युसपत् व्यवच्छेदात् (करणं पइ एत्थ अविगप्पोत्ति) इह केवलिनो मनोविज्ञानमधिकृत्य संज्ञिनो न भवन्ति द्रव्यमनःसंबन्धात् पुनस्तेऽपि संज्ञिनोव्यवहियन्ते उक्तं च "चूर्णौ मणकरणे केवलिणो वि अत्थि तेण संनिणो वुच्चंति मणोविन्नाणं पडुच्च तेन सन्निणो हवंति त्ति" तत करणं द्रव्यमनो रूपं प्रतीत्य यःसंज्ञी सयोगिकेवली वा भवस्थस्तस्मिन्। अत्र ज्ञानावरणेऽन्तराये च अविकल्पानामभावः। आमूलं तदुच्छेदे सति केवकिलत्वभावात्।

सम्प्रति दर्शनावरणं जीवस्थानेषु चिन्तयति–

तेरे नव चउपणगं, नव सत्तेगम्मि भंगमिक्कारा।
वेअणिअआउगोए, विभज्ज मोहं परं वुच्छं ॥३७॥

पर्याप्तसंज्ञि पञ्चेन्द्रियवर्जेषु शेशेषु त्रयोदशसु जीवस्थानेषु नवविधो बन्धश्चतुर्विधः पञ्चविधो वा उदयो नवविधा सत्ता नवविधो बन्धः पञ्चविध उदयो नवविधा सत्तेत्येतौ द्वौ विकल्पौ (एगम्मि भंगमिक्कारत्ति) एकस्मिन् पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियरूपे एकादश भङ्गास्ते च तथा प्राक् सामान्येग संबेधचिन्तायामुक्तास्तथैवात्राप्यन्यूनातिरिक्ता वक्तव्याः (वेअणिअ-आउगोए विभज्जत्ति) वेदनीय आयुषि गोत्रे च यानि बन्धादिप्रकृतिस्थानानि तानि यथाक्रमं जीवस्थानेषु विभजेत् विकल्प त्। तत्रेयं वेदनीयगोत्र-योर्विकल्प निरूपणार्थमन्तर्भाष्यगाथा।

पज्जत्तगसन्नियरे, अट्ठचउक्कं च वेयणियभंगा।
सत्तयतिगं च गोए, पत्तेयं जीवठाणेसु ॥३८॥

पर्याप्ते संज्ञिनि वेदनीयस्याष्टौ भ ङ्गास्तद्यथा असातस्य बन्धः असातस्योदयः सातासाते सती, अथवा असातस्यबन्धः सातस्योदयः सातासाते सती एतौ द्वौ विकल्पौ मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकात् प्रभृति गुणस्थानकं यावत् न परतः परतोऽसातस्य बन्धाभावात्। तथा सातस्य बन्धः असातस्योदयः सातासाते सती अथवा सातस्य बन्धः सातस्योदयः सातासाते सती। एतौ च द्वौ विकल्पौ मिथ्यादृष्टिगुण-स्थानकादारभ्य सयोगिकेवलिगुणस्थानकं यावत् प्राप्येते ततः परतो बन्धाभावे असातस्योदयः सातासाते सती अथवा सातस्योदयः सातासाते सती एतौ द्वौ विकल्पौ आयोगिकेवलिनि द्विचरमसमयं यावत् प्राप्येते चरमसमये तु असातस्योदयः असातस्य सत्ता यस्य द्विचरमसमये सातं क्षीणं यस्य त्वसातं द्विचरमसमये क्षीणं तस्य सातस्योदयः सातस्य सत्तेति सर्वसंख्यया अष्टौ भङ्गाः। इह सयोगिकेवली अयोगिकेवली च द्रव्यमनोभिः संबन्धात्संज्ञी व्यवहियते ततः संज्ञिनि पर्याप्ते वेदनीयस्याष्टौ भङ्गाः उच्यमाना न विरुद्ध्यन्ते इतरेषु पर्याप्तसंज्ञिव्यति-रिक्तेषु त्रयोदशसु जीवस्थानेषु प्रत्येकं प्रत्येकं चत्वारो भङ्गाः भवन्ति तद्यथा असातस्य बन्धः असातस्योदयः सातासाते सती असातस्य बन्धः सातस्योदयः सातासाते सती अथवा असातस्य बन्धः सातस्योदयः सातासाते सती सातस्य बन्धः असातस्योदयः सातासाते सती सत्त य तिगं च गोए इति गोते गोत्रस्य संज्ञिनि पर्याप्ते सप्त भङ्गाः तद्यथा नीचैर्गोत्रस्य बन्धो नीचैर्गोस्योदयः नीचैर्गोत्रं सत् एष विकल्पस्तेजोवायुभवादुद्धृत्य तिर्यक्पञ्चेन्द्रियसंज्ञित्वेनोत्पन्ने कियत्कालं प्राप्यते उच्चैर्गोत्रस्य बन्धः नीचैर्गोत्रस्योदयः उच्चनीचैर्गोत्रे सती अथवा नीचैर्गोत्रस्य बन्धः उच्चैर्गोत्रस्योदयः उच्चनीचैर्गोत्रे सती एतौ च विकल्पौ पर्याप्तसंज्ञिनि मिथ्यादृष्टौ सासादने वा प्राप्येते न सम्यग्मिथ्यादृष्ट्यादौ तस्य नीचैर्गोत्रबन्धाभावात्। तथा उच्चैर्गोत्रस्य बन्धः नीचैर्गोत्रस्योदयः उच्चनीचैर्गोत्रे सती एष विकल्पो मिथ्यादृष्टिगुणस्थानका-दारभ्य देशविरतगुणस्थानकं वा यावत् प्राप्यते न परतःपरतो

नीचैर्गोत्रस्योदयाभावात् । तथा उच्चैर्गोत्रस्य बन्धः उच्चैर्गोत्रस्योदयः उच्चनीचैर्गोत्रे सती एष च विकल्पः सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानकं यावदवसेयः परतो बन्धाभावात् । उच्चैर्गोत्रस्योदयः उच्चनीचैर्गोत्रे सती । एष विकल्प उपशान्तमोहगुणस्थानकादारभ्य सयोगिकेवलिनि द्विचरमसमयं यावदवाप्यते । उच्चैर्गोत्रस्योदयः उच्चैर्गोत्रं सत् एष विकल्पोऽयोगिकेवलिचरमसमये इतरेषु पुनः पर्याप्तसंज्ञिव्यतिरिक्तेषु त्रयोदशसु जीवस्थानेषु प्रत्येकं त्रयस्त्रयो भङ्गास्तद्यथा नीचैर्गोत्रस्य बन्धः नीचैर्गोत्रस्योदयः नीचैर्गोत्रं सत् । अयं च विकल्पस्तेजोवायुषु उच्चैर्गोत्रोद्वलनानन्तरं सर्वकालं तेजोवायुभवादुद्वृत्य समुत्पन्नेषु वा पृथिव्यादिद्वीन्द्रियादिषु कियत्कालं प्राप्यते नान्येषु । तथा नीचैर्गोत्रस्य बन्धः नीचैर्गोत्रस्योदयः उच्चनीचैर्गोत्रे सती तथा उच्चैर्गोत्रस्य बन्धो नीचैर्गोत्रस्योदयः उच्चनीचैर्गोत्रे सती शेषा विकल्पा न संभवन्ति तिर्यगुच्चैर्गोत्रस्योदयाभावात् ।

संप्रत्यायुषो भङ्गा निरूप्यन्ते तन्निरूपणार्थं चेयमन्तर्भाष्यगाथा

पज्जत्ता पज्जत्तग समणा पज्जत्त अमणसेसेसु ।
अट्ठावीसं दसगं, नवगं पणगं च आउस्स ॥३६॥

समनाः संज्ञी तत्र पर्याप्ते संज्ञिन्यायुषो भङ्गाः अष्टाविंशतिः । अपर्याप्ते संज्ञिनि भङ्गानां दशकं पर्याप्ते अमनसि असंज्ञिनि पञ्चेन्द्रिये भङ्गानां नवकं शेषेष्वेकादशसु जीवस्थानेषु पुनर्भङ्गानां प्रत्येकं पञ्चकमिति । तत्र संज्ञिनि पर्याप्ते इमे अष्टाविंशतिर्भङ्गाः । नैरयिकस्य नरकायुष उदयो नरकायुः सत् अयं परभवायुर्बन्धकालात्पूर्वं परभवायुर्बन्धकाले तिर्यगायुषो बन्धः नरकायुष उदयः नरकतिर्यगायुषी सती ।. अथवा मनुष्यायुषो बन्धःनरकायुष उदयः नरकमनुष्यायुषी सती । अथवा नरकायुष उदयः नरकमनुष्यायुषी सती । इह नारका देवायुर्नारकायुश्च भवप्रत्ययादेव न बध्नन्ति तत्रोत्पत्त्यभावात् ततो नारकाणां परभवायुर्बन्धकाले बन्धोत्तरकाले च देवायुर्नारकायुर्भ्यां विकल्पाभावात् सर्वसंख्यया पञ्च विकल्पाः । एवं देवानामपि पञ्च विकल्पा भावनीया नवरं नारकायुःस्थाने देवायुरिति वक्तव्यम् तद्यथा देवायुष उदयः देवायुषः सत्ता इत्यादि । तथा तिर्यगायुष उदयः तिर्यगायुषः सत्ता अयं विकल्पः परभवायुर्बन्धकालात्पूर्वं परभवायुर्बन्धकाले तु नरकायुषो बन्धस्तिर्यगायुष उदयः नरकतिर्यगायुषी सती । अथवा तिर्यगायुषो बन्धस्तिर्यगायुष उदयः तिर्यक्तिर्यगायुषी सती । अथवा मनुष्यायुषो बन्धः तिर्यगायुष उदयः मनुष्यतिर्यगायुषी सती । अथवा देवायुषो बन्धः तिर्यगायुषउदयः देवतिर्यगायुषी सती परभवायुर्बन्धोत्तरकालं तिर्य्यगायुष उदयो नरकतिर्य्यगायुषी सती । अथवा तिर्यगायुष उदयस्तिर्यक्तिर्यगायुषी सती । अथवा तिर्यगायुष उदयो मनुष्यतिर्यगायुषी सती अथवा तिर्यगायुष उदयः देवतिर्यगायुषी सती । सर्वसंख्यया संज्ञिपर्याप्ततिरश्चां नव विकल्पाः । एवं मनुष्याणामपि नव भङ्गा भावनीयाः केवलं तिर्यगायुःस्थाने मनुष्यायुरित्यभिधातव्यम् । तद्यथा मनुष्यायुष उदयो मनुष्यायुषः सत्ता इत्यादि । तदेवं सर्वसंख्यया संज्ञिनि पर्याप्ते अष्टाविंशतिर्भङ्गा अपर्याप्ते संज्ञिनि आयुषो दश भङ्गास्ते च इमे तिर्यगायुष उदयः तिर्यगायुषः सत्ता अयं विकल्पः परभवायुर्बन्धकालात्पूर्वं परभवायुर्बन्धकाले तिर्यगायुषो बन्धस्तिर्यगायुष उदयः तिर्यक्तिर्यगायुषः सत्ता । अथवा मनुष्यायुषो बन्धस्तिर्यगायुष उदयो मनुष्यगतितिर्यगायुषी सती परभवायुर्बन्धोत्तरकालं तिर्यगायुष उदयः तिर्यगायुषी सती । अथवा तिर्यगायुष उदयो मनुष्यतिर्यगायुषी सती । एवं तिरश्चोऽपर्याप्तसंज्ञिनः पञ्च भङ्गाः मनुष्यस्यापि पञ्च वक्तव्याः । सर्वसंख्यया दश शेषा न भवन्ति । अपर्याप्तो हि संज्ञी तिर्यग्मनुष्यो वा न देवनारकौ नचापि स देवायुर्नरकायुर्वा बध्नाति ततो दशैव यथोक्ता भङ्गाः । तथा ये प्राक् संज्ञितिरश्चां नव भङ्गा दर्शितास्ते एवासंज्ञिपर्याप्तेऽपि नव भङ्गा वक्तव्याः ततोऽसंज्ञी पर्याप्तस्तिर्यगेव भवति न मनुष्यादि ततोऽत्र तदाश्रिता भङ्गा न प्राप्यन्ते तथा ये पर्याप्तसंज्ञितिरश्चां पञ्च भङ्गाः प्रागुक्तास्तएव भङ्गाः शेषेष्वप्येकादशसु जीवस्थानेषु वक्तव्याः सर्वेषामपि तिर्यक्त्वात् देवादिषूत्पादाभावाच्च ।

(मोहं परं वोच्छं ति) अतः परं मोहनीयं जीवस्थानेषु वक्ष्ये ।

अट्ठसु पंचसु एगे, एगदुगं दस य मोहबंधगए ।
तिग चउ नव उदयगए, तिगतिगपन्नरस संतम्मि ॥४०॥

अष्टसु पञ्चसु एकस्मिंश्च यथाक्रममेकं द्वे दश च मोहनीयप्रकृतिबन्धगतानिस्थानानि भवन्ति तत्राष्टसु पर्याप्तापर्याप्तसूक्ष्मापर्याप्तबादरद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियश्चतुरिन्द्रियसंज्ञ्यसंज्ञिपञ्चेन्द्रियरूपेषु एकं बन्धस्थानं द्वाविंशतिरूपम् । द्वाविंशतिश्चेयं मिथ्यात्वं षोडश कषायाःत्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः हास्यरतियुगलारतिशोकयुगलयोरन्यतरत् युगलं भयं जुगुप्सा चेति । अत्र त्रिभिर्वेदैर्द्वाभ्यां युगलाभ्यां षड् भङ्गाः भवन्ति पर्याप्तबादरद्वित्रिचतुरिन्द्रियासंज्ञिपञ्चेन्द्रियरूपेषु पञ्चसु जीवस्थानेषु इमे द्वे द्वे बन्धस्थाने तद्यथा द्वाविंशतिरेकविंशतिश्च । तत्र द्वाविंशतिः प्रागिवसप्तभेदा वक्तव्या सैव च द्वाविंशतिर्मिथ्यात्वहीना एकविंशतिः सा च केषांचित् करणापर्याप्तावस्थायां सासादनभावे सति लभ्यते न सर्वेषां शेषकाले वा । अत्र चत्वारो भङ्गाः यत इह नपुंसकवेदो न बन्धमायाति मिथ्यात्वादेयाभावात् नपुंसकवेदस्य च मिथ्यात्वोदयनिबन्धनत्वात् ततो द्वाभ्यां वेदाभ्यां युगलाभ्यां चत्वार एव भङ्गाः एकस्मिंश्च पर्याप्तसंज्ञिरूपे जीवस्थाने द्वाविंशत्यादीनिदश बन्धस्थानानि तानि च प्राग्वत्सप्तभेदानि वक्तव्यानि "तिग चउनवउदयविहि" इति यथोक्तरूपेष्वष्टसु जीवस्थानेषु प्रत्येकं त्रीणि त्रीणि उदयस्थानानि तद्यथा अष्टौ नव दश च । यत्तु सप्तकमुदयस्थानमनन्तानुबन्ध्युदयरहितं तन्नप्राप्यते तेषामवश्यमनन्तानुबन्ध्युदयसहितत्वात् वेदश्च तेषामुदयप्राप्तो नपुंसकवेद एव, न स्त्रीवेदपूरुषवेदौ । ततोऽष्टोदये मिथ्यात्वं क्रोधादीनामन्यतमाश्चत्वारः क्रोधादिका नपुंसकवेदोऽन्यतरत् युगलमित्येवंरूपैश्चतुर्भिः क्रोधादिभिर्द्वाभ्यां च युगलाभ्यां भङ्गा अष्टौएवं भये वा जुगुप्सायां वा प्राप्तायां नवोदयः । अत्रैकैकस्मिन् विकल्पे भङ्गाः अष्टौ अष्टौ प्राप्यन्ते इति सर्वसंख्यया नवोदये भङ्गाः षोडश । जुगुप्सयोस्तु युगपत् प्रक्षिप्तयार्दशोदयः अत्रभङ्गा अष्टौ । सर्वसंख्यया अष्टसु जीवस्थानेषु प्रत्येकं द्वात्रिंशद्भङ्गाः । तथा उक्तरूपेषु पञ्चसु जीवस्थानेषु प्रत्येकं चत्वारि चत्वारि उदयस्थानानि तद्यथा सप्त अष्टौ नव दश । तत्र सासादनकाले एकविंशतिबन्धे सप्ताष्टनवरूपाणि त्रीणि उदयस्थानानि वेदश्च तेषामुदयप्राप्तो नपुंसकवेदस्ततोऽन्यतमे चत्वारः क्रोधादिका नपुंसकवेदोऽन्यतरयुगलमिति । सप्तोदय एकविंशतिबन्धे ध्रुवः अत्र प्रागिवाष्टौ भङ्गाः । ततो भये जुगुप्सायां वा प्रक्षिप्तायामष्टोदयः अत्राष्टावेव भङ्गाः सर्वसंख्यया सासादनभावे भङ्गाः द्वात्रिंशत् सासादनभावाभावे द्वाविंशतिबन्धे पुनः त्रीण्दुदयस्थानानि तद्यथा अष्टौ नव दश च । एतानि प्रागिव भावनीयानि चूर्णिकारस्त्वसंज्ञिन्यपि लब्धपर्याप्तिके त्रीन् वेदान् यथायोगमुदयप्राप्तानि-

च्छति ततस्तन्मतेन तस्य द्वाविंशतिबन्धे एकविंशतिबन्धे च प्रत्येकमेकैकस्मिन् सप्तादा उदयस्थाने त्रिभिर्वेदैश्चतुर्विंशतिर्भङ्गाः। अवसेयाः। एकस्मिन् पर्याप्तसंज्ञिरूपे जीवस्थाने नवोदयस्थानानि तानि च प्रागिव सप्तभेदानि वक्तव्यानि (तिगतिगपन्नरस संतम्मित्ति) अष्टसु पूर्वोक्तरूपेषु जीवस्थानेषु त्रीणि सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिः सप्तविंसतिः षडविंशतिश्च। पञ्चस्वपि चोक्तरूपेषु जीवस्थानेषु तान्येव त्रीणि त्रीणि सत्तास्थानानि एकस्मिन् पर्याप्तसंज्ञिनि पञ्चेन्द्रियरूपे जीवस्थाने पुनः पञ्चदश सत्तास्थानानि तानि च प्रागिव सप्तभेदानि वक्तव्यानि। संप्रति संवेध उच्यते। तत्राष्टसु जीवस्थानेषु द्वाविंशतिर्बन्धस्थानं त्रीण्युदयस्थानानि तद्यथा अष्टौ नव दश च। एकैकस्मिन् उदयस्थाने त्रीणि सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिः सप्तविंशतिः षडविंशतिश्च। सर्वसंख्यया नव सत्तास्थानानि एवमुक्तरूपेषु। जीवस्थनेषु द्वे द्वे बन्धस्थाने तद्यथा द्वात्रिंशतिरेकविंशतिश्च तत्र द्वाविंशतिबन्धे प्रागुक्तान्येव त्रीण्युदयस्थानानि एकैकस्मिंश्च उदयस्थाने तान्येव पूर्वोक्तानि त्रीणि त्रीणि सत्तास्थानानि एकविंशतिबन्धे अमूनि त्रीण्युदयस्थानानि तद्यथा सप्त अष्टौ नव एकैकस्मिंश्च उदयस्थाने एकैकं सत्तास्थानमष्टाविंशतिः। एकविंशतिबन्धो हि सासादनभावमुपागतेषु प्राप्यते सासादनाश्चवश्यमष्टाविंशतिसत्कर्माणस्तेषां दर्शनत्रिकस्य नियमतो भावात्। ततस्तेषु सत्ता स्थानमष्टाविंशतिः एकविंशतिबन्धे त्रीणि सत्तास्थानानि द्वाविंशतिबन्धे च नव इति सर्वसंख्यया पञ्चसु जीवस्थानेषु प्रत्येकं द्वादश द्वादश सत्तास्थानानि भवन्ति एकस्मिन् संकलनपर्याप्ते पुनर्जीवस्थाने संवेधः प्रागुक्त एव सप्रपञ्चो द्रष्टव्यः। कर्म० ६ क०।

संप्रति नामकर्मजीवस्थानेषु चिन्तयन्नाह –

पणदुगपणगं पणचउ पणगं पणगा हवंति तिन्नेव।
पणछप्पणगं छच्छप्पणगं अट्ठट्ठदसगं ति॥४१॥
सत्तेव अपज्जत्ता, सामी सुहुमा य वायरा चेव।
विगलिंदिया ए तिन्नि उ, तह य असन्नी य सन्नी य॥४२॥

अनयोर्गाथयोः पदानां यथाक्रमं संबन्धस्तद्यथा पणदुगपणगंति सामी सत्तेव अपज्जत्ता बन्धोदयसत्ताप्रकृतिस्थानानां यथाक्रमं पञ्चकं द्विकं पञ्चकं च प्रतिस्वामिनः सप्तैवापर्याप्ताः। इयमत्र भावना सप्तानामपर्याप्तानां पञ्च पञ्च बन्धस्थानानि द्वे द्वे उदयस्थाने पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि तत्र बन्धस्थानान्यमूनि त्रयोविंशतिः पञ्चविंशतिः षडविंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशत् अपर्याप्ता हि सप्तापि तिर्यग्मनुष्यप्रायोग्यमेव बध्नन्ति न देवनरकप्रायोग्यं ततो यथोक्तान्येवेह बन्धस्थानानि प्राप्यन्ते न न्यूनाधिकानि च। तिर्यग्मनुष्यप्रायोग्यानि प्रागिव सप्रपञ्चं वक्तव्यानि उदयस्थाने पुनरपर्याप्तसूक्ष्मबादरैकेन्द्रिययोरिमे एकविंशतिश्चतुर्विंशतिश्च। तत्रापर्याप्तबादरस्यैकविंशतिरियं तिर्यग्गतिस्तिर्यगानुपूर्वी तैजसकार्मणागुरुलघुवर्णादिचतुष्टयमेकेन्द्रियजातिः स्थावरनाम बादरनाम अपर्याप्तकनाम स्थिरास्थिरे शुभाशुभे दुर्भगमनादेयमयशःकीर्तिर्निर्माणमितिएषा चैकविंशतिरेपान्तरालगतौ वर्तमानस्य प्राप्यते अत्र च एक एव भङ्गः उभयोरपि तस्यामेकविंशतौ औदारिकशरीरं हुण्डसंस्थानमुपघातनाम प्रत्येकसाधारणयोरेकतरमिति प्रकृतिचतुष्टयेऽपि प्रक्षिप्ते तिर्यगानुपूर्व्यो चापनीतायां चतुर्विंशतिः। अत्र प्रत्येकसाधारणाभ्यां सूक्ष्मानपर्याप्तस्य च प्रत्येकं द्वौ द्वौ भङ्गोः तदेवं द्वे द्वे उदयस्थाने अधिकृत्य द्वयोरपि प्रत्येकं त्रयस्त्रयो भङ्गाः। विकलेन्द्रियासंज्ञिसंज्ञ्यपर्याप्तानां प्रत्येकमिमे द्वे द्वे उदयस्थाने तद्यथा एकविंशतिः षडविंशतिश्च। तत्रैकविंशतिरपर्याप्तद्वीन्द्रियाणामिदं तैजसं कार्म्मणभगुरुलघू स्थिरास्थिरे शुभाशुभे वर्णादिचतुष्टयनिर्म्माणं तिर्यगतिस्तिर्यगानुपूर्वी द्वीन्द्रियजातिस्त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तकनाम दुर्भगमनादेयम यशःकीर्तिरिति एषा चैकविंशतिरपान्तरालगतौ वर्त्तमानस्यावसेया। अत्रसर्वाण्यपि पदान्यप्रशस्तान्येवेति कृत्वा एक एव भङ्गः ततः शरीरस्थस्यौदारिकमौदारिकाङ्गोपाङ्गं हुण्डसंस्थानं सेवार्तसंहननमुपघातं प्रत्येकमिति प्रकृतिषट्कं प्रक्षिप्यते तिर्यगानुपूर्वी चापनीयते ततः षडविंशतिर्भवति। अत्राप्येक एव भङ्गः। एवं त्रीन्द्रियादीनामप्यवगन्तव्यं नवरं द्वीन्द्रियजातिस्थाने त्रीन्द्रियजातिरित्युच्चारणीयं तदेवमपर्याप्तद्वीन्द्रियादीनां प्रत्येकं द्वे द्वे उदयस्थाने अधिकृत्य द्वौ द्वौ भङ्गौ वेदितव्यौ केवलमपर्याप्तसंज्ञिनश्चत्वारः यतौ द्वौ भङ्गावपर्याप्तसंज्ञिनस्तिरश्चः प्राप्येते द्वौ चापर्याप्तसंज्ञिनो मनुष्यस्येति प्रत्येकं सप्तानामपर्याप्तानां पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि तद्यथा द्विनवतिः अष्टाशीतिः षडशीतिः अशीतिरष्टसप्ततिश्च। एतेषां च स्वरूपं प्रागिव द्रष्टव्यम् पणचउपणगंति सुहुमा इति संबध्यते सूक्ष्मस्य पर्याप्तस्य पञ्च बन्धस्थानानि तद्यथा त्रयोविंशतिः पञ्चविंशतिः षडविंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशत् एतानि च तिर्यङ्मनुष्यप्रायोग्यान्येव द्रष्टव्यानि तत्रैव सूक्ष्मपर्याप्तस्योत्पादसंभवात्। एतेषां च स्वरूपं प्रागिव सप्रपञ्चं द्रष्टव्यम्। उदयस्थानानि चत्वारि तद्यथा एकविंशतिश्चतुर्विंशतिः पञ्चविंशतिः षडविंशतिः। तत्रैकविंशतिरियं तैजसं कार्मणमगुरुलघू स्थिरास्थिरे शुभाशुभे वर्णादिचतुष्टयं निर्माणं तिर्यगतिस्तिर्यगानुपूर्वी एकेन्द्रियजातिः स्थावरनाम सूक्ष्मनाम पर्याप्तकनामदुर्भगमनादेयमयशःकीर्त्तिरिति। एषा चैकविंशतिः सूक्ष्मपर्याप्तस्यापान्तरालगतौ वर्त्तमानस्य वेदितव्या अत्रैको भङ्गः प्रतिपक्षपदविकल्पस्यैकस्याप्य भावात्। अस्यामेवैकविंशतौ औदारिकशरीरं हुण्डसंस्थानमुपघातं प्रत्येकसाधारण्योरेकतरमिति प्रकृतिचतुष्टयं प्रक्षिप्यते पञ्चविंशतिः तिर्यगानुपूर्व्वी चापनीयते ततश्चतुर्विंशतिर्भवति। सा च शरीरस्थस्य प्राप्यते तत्र प्रत्येकसाधारणाभ्यां द्वौ भङ्गौ ततः शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य पराघाते क्षिप्ते पञ्चविंशतिः अत्रापि तावेव द्वौ भङ्गौ ततः प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्योच्छ्वासे क्षिप्ते षडविंशतिरत्रापि तावेव द्वौ भङ्गौ सर्वसंख्यया सूक्ष्मपर्याप्तस्य चत्वार्युदयस्थानान्यधिकृत्य भङ्गाः सप्त पञ्च सत्तास्थानानि तद्यथा द्विनवतिः अष्टाशीतिः षडशीतिः अशीतिः अष्टसप्ततिश्च। केवलं पञ्चविंशत्युदये षडविंशत्युदये च प्रत्येकं यः साधारणपदेन सह भङ्गस्तत्राष्टसप्ततिवर्जानि चत्वारि सत्तास्थानानि वक्तव्यानि। शरीरपर्याप्त्या हि पर्याप्तस्तेजोवायुवर्जः सर्वोऽपि मनुष्यगतिमनुष्यानुपूर्व्यौ नियमात् बध्नाति पञ्चविंशतिषडविंशत्युदयौ च शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य भवतः ततः साधारणस्य सूक्ष्मपर्याप्तस्य पञ्चविंशत्युदये षडविंशत्युदये चाष्टसप्ततिर्न प्राप्यते प्रत्येकपदे पुनस्तेजोवायुकायिकावप्यन्तर्भवत इति तदपेक्षया तत्राष्टसप्ततिर्लभ्यते। तदेवं साधारणपदानुगौ पञ्चविंशतिसत्कौ द्वौ भङ्गौ चतुःसत्तास्थानकौ शेषास्तु पञ्च भङ्गाः पञ्च सत्तास्थानकाः "पणगाहिवंति तिन्नेव" अत्र बादरा इति संबध्यते पर्याप्तबादरैके-न्द्रियस्य पञ्च बन्धस्थानानि तद्यथा त्रयोविंशतिः पञ्चविंशतिः षडविंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशत् एतानि तिर्यग्मनुष्यप्रायोग्यानि तानि च प्रागिव

द्रष्टव्यानि । उदयस्थानानि पञ्च तद्यथा एकविंशतिश्चतुर्विंशतिः पञ्चविंशतिः षडविंशतिः सप्तविंशतिः । तत्रैकविंशतिरियं तैजसं कार्मणं गुरुलघू स्थिरास्थिरे शुभाशुभे वर्णादिचतुष्टयनिर्माणं तिर्यग्गतिस्तिर्यगानुपूर्वी एकेन्द्रियजातिः स्थावरनाम बादरनाम पर्याप्तकनाम दुर्भगमनादेयमयशःकीर्तिरिति । एषा चैकविंशतिः पर्याप्तबादरस्यापान्तरालगतौ वर्तमानस्यावसेया । अत्र यशः कीर्त्ययशःकीर्तिभ्यां द्वौ भङ्गौ ततः शरीरस्थस्यौदारिकशरीरं हुण्डसंस्थानमुपघातनाम प्रत्येक साधारणयोरेकतरमिति प्रकृतिचतुष्टयं प्रक्षिप्यते तिर्यगानुपूर्वी चापनीयते ततश्चतुर्विंशतिर्भवति। अत्र प्रत्येकसाधारणयशः कीर्त्ययशः कीर्तिपदैश्चत्वारो भङ्गाः वैक्रियं कुर्वतः पुनर्बादरवायुकायिकस्यैकः यतस्तस्य साधारणयशःकीर्ती उदयं नागच्छतः । अन्यच्च वायुकायिक-चतुर्विंशता वौदारिकशरीरस्थाने वैक्रियशरीरमिति वक्तव्यं शेषं तथैव सर्वसंख्यया चतुर्विंशतौ पञ्च भङ्गाः । ततः शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य पराघाते प्रक्षिप्ते पञ्चविंशतिरत्रापि तथैव पञ्चभङ्गास्ततः प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्योच्छवासे क्षिप्ते षडविंशतिः । अत्रापि तथैव पञ्च भङ्गाः । अथवा शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्योच्छवासेऽनुदिते आतपोद्योतान्यतर-स्मिंश्चोदिते षडविंशतिः । अत्रातपेन प्रत्येकयशःकीर्त्ययशःकीर्तिपदैर्द्वौ भङ्गौ साधारणस्यातपोदयाभावात् तदाश्रितौ विकल्पौ न भवतः । उद्योतेन प्रत्येकसाधारण यशःकीर्त्ययशःकीर्तिपदैश्चत्वारः सर्वसंख्यया षडविंशतावेकादश भङ्गाः ततः प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छवाससहितायां षडविंशतौ आतपोद्योतयोरन्यतरस्मिन् प्रक्षिप्ते सप्तविंशतिः । अत्र प्रागिवातपेन द्वौ उद्योतेन सह चत्वार इति सर्वसंख्यया सप्तविंशतौ षड् भङ्गाः सर्वे बादरपर्याप्तस्य भङ्गा एकोनत्रिंशत् सत्तास्थानानि पञ्च तद्यथा द्विनवतिरष्टशीतिः षडशीतिरशीरष्टसप्ततिश्च । इह पञ्चविंशत्युदये षडविंशत्युदये च प्रत्येकायशःकीर्तिभ्यामेकैकौ द्वौ भङ्गौ यौ द्वौ भङ्गावेकविंशतौ ये च वैक्रियबादरवायुकायिकवर्जाश्चतु-र्विंशतौ भङ्गाश्चत्वारस्ते सर्वेऽपि संख्ययाऽष्टौ पञ्चस्थानकाः शेषस्त्वेकविंशतिसंख्यकाश्चतुः संस्थानकाः । पणछप्पणगंति अत्र विकलिंदिया उ तिन्नि उ इति संबध्यते विकलेन्द्रियाणां त्रयाणां पञ्च बन्धस्थानानि तद्यथा त्रयोविंशतिः पञ्चविंशतिः षडविंशतिरेकोनकत्रिंशत् त्रिंशत् एतान्यपि तिर्यग्मनुष्यप्रायोग्यानि तानि च प्रागिव द्रष्टव्यानि षट् उदयस्थानानि तद्यथा एकविंशतिः पञ्चविंशतिः षडविंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशत् एकत्रिंशत् तत्र पर्याप्तद्वीन्द्रियस्यैकविंशतिरियं तैजसं कार्मणमगुरुलघू स्थिरास्थिरे शुभाशुभे वर्णादिचतुष्टयनिर्माण तिर्यगतिस्तिर्यगानुपूर्वी द्वीन्द्रियजातिस्त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तकनाम दुर्भगमनादेयं यशःकीर्त्ययशः कीर्त्योरेकतरमिति । एषा चैकविंशतिः पर्याप्तद्वीन्द्रियस्यापान्तरालगतौ वर्त्तमानस्यावसेया अत्र द्वौ भङ्गौ यशःकीर्त्ययशःकीर्तिभ्यां ततःशरीरस्थस्य औदारिकाङ्गोपाङ्गं हुण्डसंस्थानं सेवार्त्तसंहननमुपघातं प्रत्येकमिति प्रकृतिषटकं प्रक्षिप्यते तिर्यगानुपूर्वी चापनीयते ततः षडविंशतिर्भवति। अत्रापि तावेव द्वौ भङ्गौ । ततः शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य पराघाते प्रशस्तविहायोगतौ प्रक्षिप्तायामष्टाविंशतिः अत्रापि तावेव द्वौ भङ्गौ । प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्योच्छावासे क्षिप्ते एकानत्रिंशत् अत्रापि तावेव द्वौ भङ्गौ अत्रापि तस्यामेवाष्टाविंशतौ उच्छवासेऽनुदिते उद्योतनाम्नि तूदिते एकोनत्रिंशत् अत्रापि तावेव द्वौ भङ्गौ सर्वसंख्यया एकोनत्रिंशत् चत्वारो भङ्गाः । ततो भाषापर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छवाससहितायामेकोत्रिंशति सुस्वरदुः-स्वरयोरेकतरस्मिन् क्षिप्ते त्रिंशद्भवति अत्र भङ्गाः सुस्वरदुःस्वरयशः कीर्त्ययशःकीर्तिपदैश्चत्वारः । अथवा उच्छ्वाससहितायामेकोनत्रिंशति स्वरेऽनुदिते उद्योतनाम्नि तूदिते त्रिंशत् अत्रोद्योतयशः कीर्त्ययशः-कीर्तिपदैर्द्वौ भङ्गौ सर्वसंख्यया त्रिंशति षड भङ्गाः । स्वर–सहितायामेव त्रिंशत् । अत्र सुस्वरदुःस्वरयशःकीर्त्ययशःकीर्तिपदैर्भङ्गाश्चत्वारः-सर्वसंख्यया पर्याप्तद्वीन्द्रियस्य भङ्गा विंशतिः सत्ता स्थानानि पञ्च तद्यथा द्विनवतिरष्टाशीतिःषडशीतिरष्टसप्ततिश्च । अत्र यावेकविंशत्युदये द्वौ भङ्गौ यौ च षडविंशत्युदये एते चत्वार पञ्च सत्तास्थानकाः यतोऽष्टसप्तति-स्तेजोवायुभवादुद्वृत्य पर्याप्तद्वीन्द्रियत्वेनोत्पन्नानधिकृत्य कियत्कालं प्राप्यते शेषास्तु षोडश भङ्गाश्चतुःसत्तास्थानकास्तेष्वष्टसप्ततरेप्राप्य-माणत्वात् । तेजोवायुवर्जा हि शरीरपर्याप्त्या नियमतो मनुष्यगतिम-नुष्यानुपूर्व्यौ बध्नन्ति ततः सप्तविंशत्युदयेष्वष्टसप्ततिर्नप्राप्यते एवं त्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियाणामपि पर्याप्तानां वक्तव्यम् (छच्छप्पणगं ति) अत्र "असन्नी य" इति संबध्यते असंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य पर्याप्तस्य षड् बन्धस्थानानि तद्यथा त्रयोविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिरष्टाविंशति-रेकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । असंज्ञिपञ्चेन्द्रिया हि पर्याप्ता नरकगतिदेवगति-प्रायोग्यमपि बध्नन्ति ततस्तेषामष्टाविंशतिरपि बन्धस्थानं लभ्यते षडुदयस्थानानि तद्यथा एकविंशतिः षड्विंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् एकत्रिंशत् । तत्रैकविंशतिरयं तैजसंकार्मणं गुरुलघू स्थिरास्थिरे शुभाशुभे वर्णादिचतुष्टयनिर्माणं तिर्य्यग्गतिस्तिर्यगा-नुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजातिस्त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तकनाम सुभगदुर्भग-योरेकतरमादेयानादेययोरेकतरं यशःकीर्त्ययशः कीर्त्योरेकतरमिति एषा चैकविंशतिरसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्यापर्याप्तस्यापान्तरालगतौ वर्त्तमानस्य प्राप्यते अत्र सुभगदुर्भगादेयानादेययशः कीर्त्ययशःकीर्त्तिभिरष्टौ भङ्गाः ततः शरीरस्थस्य औदारिकमौदारिकाङ्गोपाङ्गं षण्णां संस्थानानामेके-तमत् संस्थानं षण्णां संहननामेकतमत् संहननामुपघातं प्रत्येकमिति प्रकृतिषट्कं प्राप्यते तिर्यगानुपूर्वी चापनीयते ततः षड्विंशतिः । अत्र षड्भिः संस्थानैः षडभिः संहननैः सुभगदुर्भगाभ्यामादेयानादेयाभ्यां यशःकीर्त्ययशःकीर्त्तिभ्यां च द्वे शते भङ्गानामष्टाशीत्यधिके । ततः शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य पराघाते प्रशस्ताप्रशस्तविहायोगत्योर-न्यतरविहायोगतौ च प्रक्षिप्तायामष्टा विंशतिः अत्र पाश्चात्या एव भङ्गा विहायोगतिद्विकेन गुण्यन्ते ततो भङ्गानां पञ्च शतानि षट् सप्तत्यधिकानि भवन्ति । ततः प्राणापान पर्याप्त्या पर्याप्तस्योच्छवासे क्षिप्ते एकोनत्रिंशत् । अत्रापि भङ्गानां पञ्च शतानि षट् सप्तत्यधिकानि । अथवा शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छवासेऽनुदिते उद्योते तूदिते एकोनत्रिंशत् । अत्रापि पञ्च शतानि षट् सप्तत्यधिकानि भङ्गानां सर्वसंख्यया एकादश शतानि द्विपञ्चाशदधिकानि ततो भाषापर्याप्त्या पर्याप्तस्योच्छवाससहि-तायामेकोनत्रिंशति सुस्वरदुः स्वरयोरेकतरस्मिन् प्रक्षिप्ते त्रिंशद्भवन्ति । अत्र पाश्चात्यान्युच्छवासलब्धानि भङ्गानां पञ्चशतानि षट्सप्तत्यधि-कानि सुस्वरद्विकेन गुण्यन्ते ततः एकादश शतानि द्विपञ्चशदधिकानि भवन्ति । अथवा प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य स्वरेऽनुदिते उद्योत-नाम्नि तूदिते त्रिंशद्भवन्ति अत्र भङ्गानां पञ्चशतानि षट्सप्तत्यधिकानि सर्वसंख्यया त्रिंशति भङ्गाः सप्तदश शतानि अष्टाविंशत्यधिकानि ततः स्वरसहितायां त्रिंशति उद्योते प्रक्षिप्ते एकत्रिंशद्भवति अत्र भङ्गानामेकादश शतानि द्विपञ्चाशदधिकानि सर्वसंख्यया पर्याप्ता संज्ञिपञ्चेन्द्रियस्यैकोनपञ्चाशच्छतानि च चतुरधिकान्यसं-

ञ्जिपञ्चेन्द्रियाश्च वैक्रियलब्धिहीनत्वात् वैक्रियं नारभन्ते ततस्तदाश्रिता उदयविकल्पा न प्राप्यन्ते । सत्तास्थानानि पञ्च तद्यथा द्विनवतिः अष्टाशीतिः षडशीतिः अशीतिः अष्टसप्ततिश्च तत्रैकविंशत्युदयसत्का अष्टौ भङ्गाः षडविंशत्युदयसत्काश्चाष्टाशीत्यधिक शतद्वयसंख्याः पञ्च सत्तास्थानकाः शेषाः सर्वेऽपि चतुःस्थानकाः । युक्तिरत्र प्रागुक्ता द्रष्टव्या (अट्ठदसगं ति) संज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तस्य सर्वाणि बन्धस्थानानि तानि चाष्टौ विंशतिचतुर्विंशतिनवाष्टरहितानि सर्वाण्यप्युदयस्थानानि तान्यप्यष्टौ विंशतिनवाष्टोदया हि केवलिनो भवन्ति चतुर्विंशत्युदयश्चैकेन्द्रिययणामत एते वर्ज्यन्ते । अत्र केवली संज्ञित्वेन न विवक्षित इति कृत्वा तदुदयनिषेधो नवाष्टरहितानि सर्वाण्यपि सत्तास्थानानि तानि च दश अत्राप्येकविंशत्युदयभङ्गा अष्टौ षडविंशत्युदयभङ्गा—श्चाष्टाशीत्यधिकशतद्वयसंख्याः पञ्च सत्तास्थानकाः शेषाश्चतुःसत्तास्थानकाः । सम्प्रति संवेधश्चिन्त्यते । सूक्ष्मैकेन्द्रियाणामपर्याप्तानां त्रयोविंशतिबन्धकानामेकविंशत्युदये पञ्च सत्तास्थानानि तद्यथा द्विनवतिरष्टाशीतिः षडशीतिः अशीतिः अष्टसप्ततिश्च । एवं चतुर्विंशत्युदयेऽपि सर्वसंख्यया दश एवं पञ्चविंशति षडविंशत्येकोनत्रिंशद्बन्धकानामपि द्वे द्वे उदयस्थाने अधिकृत्य प्रत्येकं दश दश सत्तास्थानानि अवगन्तव्यानि सर्वसंख्यया पञ्चाशत् । एवमन्येषामपि पण्णामपर्याप्तानां भावनीयं नवरमात्मीये आत्मीये उदयस्थाने प्रागुक्तस्वरूपे वक्तव्ये सूक्ष्मपर्याप्तविंशतिबन्धकानामेकविंशत्यादिषु चतुर्ष्वप्युदयस्थानेषु प्रत्येकं पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि सर्वसंख्यया विंशतिः एवं पञ्चविंशतिः पञ्च सत्तास्थानानि सर्वसंख्यया विंशतिः एवं पञ्चाविंशतिः षडविंशत्येकोनत्रिंशद्बन्धकानामपि वक्तव्यं ततः सूक्ष्मपर्याप्तानां सर्वसंख्यया सत्तास्थानानां शतं बादरैकेन्द्रियपर्याप्तानां त्रयोविंशति बन्धकानामेकविंशति चतुर्विंशतिषडविंशत्युदयेषु पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि सप्तविंशत्युदये चत्वारि सर्वसंख्यया चतुर्विंशतिः एवं पञ्चविंशतिः षडविंशत्येकोनत्रिंशद्बन्धकानामपि प्रत्येकं चतुर्विंशतिश्चतुर्विंशतिः सत्तास्थानानि सर्वसंख्यया पर्याप्तबादरैकेन्द्रियाणां विंशतिशतं सत्तास्थानानाम् । द्वीन्द्रियपर्याप्तकानां त्रयोविंशतिबन्धकानामेकविंशत्युदये च पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि अष्टाविंशत्येकोनत्रिंशदेकत्रिंशदुदयेषु प्रत्येकं चत्वारि चत्वारि सर्वसंख्यया षडविंशतिः । एवं पञ्चविंशतिषडविंशत्येकोनत्रिंशद्बन्धकानां प्रत्येकं षडविंशतिः षडविंशतिः सत्तास्थानानि सर्वसंख्यया त्रिंशच्छतम् एवं त्रयाणां चतुरिन्द्रियाणामपि पर्याप्तानां वक्तव्यम् । असंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणामपि पर्याप्तानां त्रयोविंशतिबन्धकानामेकविंशत्युदये च प्रत्येकं पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि अष्टाविंशत्येकोनत्रिंशत्रिंशदेकत्रिंशदुदयेषु तु चत्वारि चत्वारीति सर्वसंख्यया षडविंशतिः । पञ्चविंशतिषडविंशत्येकोनत्रिंशत्त्रिंशद्बन्धकानामपि वक्तव्यं । अष्टाविंशतिबन्धकानां पुनस्तेषां द्वे एवोदयस्थाने तद्यथा त्रिंशदेकत्रिंशच्च तत्र प्रत्येकं त्रीणि त्रीणि सत्तास्थानानि तद्यथा द्विनवतिरष्टाशीतिः षडशीतिश्च । अष्टाविंशतिर्हि देवगतिप्रायोग्या ततस्तस्यां बध्यमानायामवश्यं वैक्रियचतुष्टयादि बध्यते इत्यशीत्यष्टसप्तती न प्राप्येते सर्वसंख्यया पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां षट्त्रिंशदधिकं सत्तास्थानानां शतं पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां त्रयेविंशतिबन्धकानां प्रागिव षडविंशतिःसत्तास्थानानि वाच्यानि । एवं पञ्चविंशतिबन्धकानामपि नवरं देवानां पञ्चविंशतिबन्णकानां पञ्चविंशत्युदये सप्तविंशत्युदये च द्वे द्वे सत्तास्थाने तद्यथा द्विनवतिरष्टाशीतिश्च एते एव द्वे पञ्चविंशतिषडविंशतिसप्तविंशत्याष्टाविंशत्येकोनत्रिंशदु-दयेष्वपि प्रत्येकं वक्तव्ये त्रिंषदुदये चत्वारि तद्यथा द्विनवतिरेकोननवतिरष्टाशीतिः षडशीतिश्च । एतेषां च भावना प्रागेवाष्टाविंशतिबन्धे संवेधचिन्तायां विस्तारेण कृते ति न भूयः क्रियते विशेषाभावात् ग्रन्थगौरवभयाच्च । एकत्रिंशदुदये त्रीणि सत्तास्थानानि तद्यथा द्विनवतिरष्टाशीतिः षडशीतिश्च । सर्वसंख्यया अष्टाविंशतिबन्धकानामेकोनविंशतिः सत्तास्थानानि एकोनत्रिंशद्बन्धकानां सत्तास्थानानि पञ्चविंशतिबन्धकानामिव भावनीयानी तानि च त्रिंशत् नवरमत्र विशेषो भण्यते अविरतसम्यग्दृष्टेर्देवगतिःप्रायोग्यामेकोनत्रिंशतं बध्नतः एकविंशतिषडविंशत्यष्टाविंशत्येकोनत्रिंशस्त्रिंशदुदये प्रत्येकं द्वे द्वे सत्तास्थाने भवतः । तद्यथा त्रिनवतिरेकोननवतिश्च । पञ्चविंशत्युदये सप्तविंशत्यंदये च वैक्रियसंयतासंयतानधिकृत्य ते एव द्वे द्वे सत्तास्थाने। अथवाऽऽहारकसंयतानधिकृत्य पञ्चविंशत्युदये च त्रिनवतिः नैरयिकं तीर्थकरसत्कर्माणं मिथ्यादृष्टिमधिकृत्यैकोननवतिः । सर्वाणि चतुर्दश सर्वसंख्ययैकोनत्रिंशद्बन्धकानां सत्तास्थानानि चतुश्चत्वारिंशत् त्रिंशद्बन्धकानामपि सत्तास्थानानि पञ्चविंशतिबन्धकानामिव भावनीयानि तानि च त्रिंशत्, केवलं देवानां मनुजगतिप्रायोग्यां तीर्थकरसहितां त्रिंशतं बध्नतामेकविंशतिपञ्चविंशतिसप्तविंशत्यष्टाविंशत्येकोनत्रिंशदुदयेषु प्रत्येकं द्वे द्वे सत्तास्थाने तद्यथा द्विनवतिरेकोननवतिश्च एतानि च द्वादश ततः सर्वसंख्यया त्रिंशद्बन्धकानां द्विचत्वारिंशत्सत्तास्थानानि एकत्रिंशद्बन्धकानामष्टौ सत्तास्थानानि तद्यथा त्रिनवतिर्द्विनवतिरेकोननवतिः अष्टाशीतिः षडशीतिः एकोनाशीतिः षट्सप्ततिः पञ्चसप्ततिश्च तत्राद्यानि चत्वार्युपशमश्रेण्यामथवा क्षपकश्रेण्यां यावन्नाद्यापि त्रयोदश नामानि क्षीयन्ते तेषु तु क्षीणेषु उपरितनानि चत्वारि सत्तास्थानानि लभ्यन्ते बन्धाभावे संज्ञिपर्याप्तानामष्टौ सत्तास्थानानि तानि च अनन्तरोक्तान्येव द्रष्टव्यानि केवलमाद्यानि चत्यारि क्षीणमोहगुणस्थाने तदेवं सर्वसंख्यया संज्ञिपर्याप्तानां द्वे सत्तास्थानानामष्टाधिके । यदि पुनर्द्रव्यमनोभिः संबन्धादत्र केवलिनोऽपि संज्ञिनो विवक्ष्यन्ते तदानीं केवलिसत्कानि षडविंशतिसत्तास्थानान्यपि भवन्ति तद्यथा केवलिनां दश उदयस्थानानि तद्यथा विंशतिः एकविंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिःअष्टाविंशतिःएकोनत्रिंशत् त्रिंशत् एकत्रिंशत् नव अष्टौ च। तत्र विंशत्युदये द्वे सत्तास्थाने तद्यथा एकोनाशीतिः पञ्चसप्ततिश्च । एते एव षडविंशत्युदयाष्टाविंशत्युदययोरपि प्रत्येकं द्रष्टव्ये एकविंशत्युदयेऽपि इमे द्वे सत्तास्थाने अशीतिः षट्सप्ततिश्च ते एव सप्तविंशत्युदयेऽपि एकोनत्रिंशदुदये चत्वारि सत्तास्थानानि । तद्यथा अशीतिः षट् सप्ततिः एकोनाशीतिः पञ्चसप्ततिश्च । एकोनत्रिंशदुदयो हि तीर्थकरे अतीर्थकरे च प्राप्यते तत्र तीर्थकरमधिकृत्य द्वे द्वे सत्तास्थाने अतीर्थकरमधिकृत्य पुनरन्तिमे त्रिंशदुदये चत्वारि पूर्वोक्तानि एव एकत्रिंशदुदये द्वे अशीतिः षट् सप्ततिश्च। नवोदये त्रीणि तद्यथा अशीतिः षट् सप्ततिः नव च। तत्राद्ये द्वे तीर्थकरस्यायोगिकेवलिनो द्विचरमसमयं यावत् चरमसमये त्वष्टाविति सर्वसमुदायेन संज्ञिनां चतुस्त्रिंशदधिके द्वे शते सत्तास्थानानां तदेवं जीवस्थानान्यधिकृत्य स्वामित्वमुक्तम् ।

संप्रति गुणस्थानान्यधिकृत्याह—

नाणंतरायतिविहम वि दससु दो होंति दोसु ठाणेसु ।
मिच्छासाणे वीए, नव चउपण नवय संतंसा ॥४६॥

मिथ्यादृष्टिप्रभृतिषु सूक्ष्मसंपरायपर्यन्तेषु दशसु गुणस्थानेषु ज्ञानावरणमन्तरायं च त्रिविधमपि बन्धोदयसत्तापेक्षया त्रिप्रकारमपि भवति मिथ्यादृष्ट्यादिषु दशसु गुणस्थानेकेषु ज्ञानावरणस्यान्तरायस्य च पञ्चविधो बन्धः पञ्चविध उदयः पञ्चविधा सत्ता इत्यर्थः । द्वयोः पुनर्गुणस्थानकयोरुपशान्तमोहक्षीय मोहरूपयोर्द्वे उदयसत्ते स्तः न बन्धः बन्धस्य सूक्ष्म संपराये व्यवच्छिन्नत्वात् । एतदुक्तं भवति बन्धाभावे उपशान्तमोहे क्षीणमोहे वा ज्ञानावरणीयान्तरायोः प्रत्येकं पञ्चविध उदयः पञ्चविधा सत्ता भवतीति परत उदयसत्तयोरप्यभावः (मिच्छासाणे वीएत्ति) द्वितीये द्वितीयस्य दर्शनावरणस्य मिथ्यादृष्टौ सासादने च नवविधो बन्धः चतुर्विधः पञ्चविधो वा उदयः नवविधा सत्ता इति द्वौ विकल्पौ द्वयोर्गुणस्थानकयोस्त्यान द्धित्रिकस्य नियमतो बन्धात् (नव य संतं त्ति) नव च सत्तांशाः सत्ताभेदाः सत्प्रकृतय इत्यर्थः । एतेन च द्वौ विकल्पौ दर्शितौ तद्यथा नवविधो बन्धः चतुर्विध उदयः नवविधा सत्ता अथवा नवविधो बन्धः पञ्चविध उदयो नवविधा सत्ता ।

मिस्साइ नियट्टीओ, छच्चउ पण नवय संतकम्मंसा ।
चउबंधतिगे चउ पण, नवंसदुसु जुयलछस्संता ॥४४॥

मिश्रादिषु मिश्रप्रभृतिषु गुणस्थानकेषु अप्रमत्तगुणस्थानकपर्यन्तेषु निवृत्तौ च अपूर्वकरणे च अपूर्वकरणाद्धायाः प्रथमसंख्येयभागे चेत्यर्थः परतो निद्राद्विकबन्धव्यवच्छेदेन षड्विधबन्धासंभवात् तत एतेषु षडविधो बन्धः चतुर्विधः पञ्जाविधो वा उदयः नवविधा सत्ता इति द्वौ विकल्पो (चउबंधतिगे चउपणनवंसत्ति) इहापूर्वकरणाद्धायाः प्रथमे सङ्ख्येयतमे भागे गते सति निद्राप्रचलयोर्बन्धव्यच्छेदो भवति ततः अत ऊर्द्धमपूर्वकरणेऽपि चतुर्विध एव बन्धः । ततस्त्रिके अपूर्वकरणानिवृत्तिबादरसूक्ष्मसंपरायरूपे चतुर्विधो बन्धश्चतुर्विध उदयः पञ्चविधो वा उदयः (नवंसइति) नवविधा सत्तेति प्रत्येकं द्वौ द्वौ विकल्पो (अंस इति) सत्ताऽभिधियते । एतच्चोक्तमुपशमश्रेणिमधिकृत्य क्षपकश्रेण्यां गुणस्थानकत्रयेऽपि पञ्चविधस्योदयस्य सूक्ष्मसंपराये च नवविधायाः सत्तायाः अप्राप्यमाणत्वात् (दुसुजुयलछस्संतित्ति) इह क्षपकश्रेण्यामनिवृत्तिबादरसंपरायाद्धायाः संख्येयतमेषु भागेषु एकस्मिन् भागे संख्येयतमे अवतिष्ठमाने स्त्यानर्द्धित्रिकस्य सत्ताव्यवच्छेदो भवति ततस्तदनन्तरमनिवृत्तिबादरेऽपि षडविधा एव सत्ता भवति तत आह (दुसुत्ति) द्वयोरनिवृत्तिबादरसूक्ष्म संपराययोः युगलमिति बन्धोदयावुच्येते चतुरिति चानुवर्त्यते ततश्चतुर्विधो बन्धः चतुर्विध उदयः (छस्संतत्ति) षडविधा सत्ता । अत्र पञ्चविधा उदयो न प्राप्यते क्षपकाणामत्यन्तविशुद्धतया निद्राद्विकस्योदयाभावात् उक्तं च कर्म्मप्रकृतिचूर्णावुदीरणाकरणे "इंदियपज्जत्तीए अणंतरे समये सव्वो वि निद्दापयलमुदीरणे भवइ नवरं खीणकसायखवगे मुत्तूणं तेसु उदओ नत्थि त्ति कालं" ।

उवसंते चउ पण नव, खीणे चउरुदय छच्च चउ संता ।
वेयणिअआउगोए, विभज्ज मोहं परं वोच्छं ॥४५॥

उपशान्तमोहे बन्धो न भवति तस्य सूक्ष्मसंपराये एव व्यवच्छिन्नत्वात् ततः केवलश्चतुर्विधः पञ्चविधो वा उदयो नवविधासत्ता उपशमकोपशान्तमोहा ह्यत्यन्तविशुद्धा न भवन्ति ततस्तेषु निद्राद्विकस्याप्युदयः संभवति । क्षीणे क्षीणमोहे चतुर्विधा सत्ता (वेयणिअआउगोए विभज्जत्ति) वेदनीयायुर्गोत्राणां बन्धोदय सत्तास्थानानि यथागमं गुणस्थानकेषु विभजेत् विकल्पयेत् । तत्र वेदनीयगोत्रयोर्भङ्ग निरूपणार्थमियमन्तर्भाष्यगाथा ।

चउछस्सु दोन्नि सत्तसु, एगेचउ गुणिसु वेयणियभंगा ।
गोए पण चउ दोतिसु, एगट्ठसु दोन्नि एक्कम्मि ॥४६॥

मिथ्यादृष्ट्यादिषु प्रमत्तसंयतपर्यन्तेषु षट्सु गृणस्थानेषु प्रत्येकं च वेदनीयस्य प्रथमाश्चत्वारो भङ्गास्ते चेमे असातस्य बन्धः असास्योदयः सातासाते सती, असातस्य बन्धः सातस्योदयः सातासाते सती, सातस्य बन्धः असातस्य उदयः सातासाते सती, सातस्य बन्धः सातस्य उदयः सातासाते सती तथा अप्रमत्तसंयतादिषु सयोगिकेवलिपर्यन्तेषु सप्तसु गुणस्थानकेषु द्वौ भङ्गौ तौ चानन्तरोक्तावेव तृतीयचतुर्थौ ज्ञातव्यौ एते हि सातमेव बध्नन्ति नासातम् तथा एकस्मिन् अयोगिकेवलिनि चत्वारो भङ्गाः ते चेमे असातस्योदयः सातासाते सती अथवा सातस्योदयः सातासाते सती, एतौ द्वौ विकल्पावयोगिकेवलिनि द्विचरमसमयं यावत्प्राप्येते चरमसमये तु असातस्योदय असातस्य सत्ता यस्य द्विचरमसमये सातं क्षीणं, यस्य त्वसातं द्विचरमसमये क्षीणं तस्यायं विकल्पः सातस्योदयः सातस्य सत्ती (गोएइत्यादि) गोत्रे गोत्रस्य पञ्च भङ्गाः मिथ्यादृष्टौ ते चेमे नीचैर्गोत्रस्य बन्धः नीचैर्गोत्रस्योदयः नीचैर्गोत्रं सत् एष विकल्पस्तेजस्कायिकवायुकायिकेषु लभ्यते तद्भवादुद्वृत्तेषु चाशेषजीवेषु कियत्कालं नीचैर्गोत्रस्य बन्धः नीचैर्गोत्रस्यादयः उच्च नीचैर्गोत्रे सती अथवा नीचैर्गोत्रस्य बन्धः उच्चैर्गोत्रस्योदयः उच्चनीचैर्गोत्रे सती अथवा उच्चैर्गोत्रस्य बन्धः नीचैर्गोत्रस्योदयः उच्चनीचैर्गोत्रे सती उच्चैर्गोत्रस्य बन्धः उच्चैर्गोत्रस्योदयः उच्चनीचैर्गोत्रे सती । सासादनस्य प्रथमवर्जाः प्रथमो हि भङ्ग स्तेजोवायुकायिकेषु लभ्यते तद्भवादुद्वृत्य तेषु वा कियत्कालं न च तेजोवायुषु सासादनभावो लभ्यते नापि तद्भवादुद्व—तेषु तत्कालम् । अतोऽत्र प्रथमभङ्ग प्रतिषेधः । तथा त्रिषुमिश्राविरतदेशविरतेषु चतुर्थपञ्चमरूपौ द्वौ भङ्गौ भवतः न शेषाः मिश्रादयो हि नीचैर्गोत्रं न बध्नन्ति अन्ये त्वाब्रुवते देशविरतस्य पञ्चम एवैको भङ्गः "सामन्नेणं व य जाईए उच्चगोयस्स उदयो होइ" इति वचनात् (एगट्ठसुत्ति) प्रमत्तसंयतप्रभृतिषु अष्टसु गुणस्थानेषु प्रत्येकमेकैको भङ्गः तत्र प्रमत्ताप्रमत्तापूर्वकरणनिवृत्तिबादरसूक्ष्मसंप-रायेषु केवलः पञ्चमो भङ्गः तेषामुच्चैर्गोत्रस्य च बन्धोदयसंभवात् । उपशान्तमोहे क्षीणमोहे सयोगिकेवलिनि च बन्धाभावात् प्रत्येकमयं विकल्पः उच्चैर्गोत्रस्योदयः उच्चर्गोत्रे सती (दोन्नि एक्कम्मित्ति) एकस्मिन् अयोगिकेवलिनि द्वौ भङ्गौ उच्चैर्गोत्रस्योदयः उच्चनीचैर्गोत्रे सती एष विकल्पश्चरमे द्विचरमसमये त्वेष विकल्पः उच्चैर्गोत्रस्योदयः उच्चैर्गोत्रं सत् । नीचैर्गोत्रं हि द्विचरमसमये एव क्षीणमिति चरमसमये न तत्प्राप्यते । संप्रत्यायुर्भङ्गा निरूप्यन्ते तन्निरूपणार्थ - चेयमन्तर्भाष्यगाथा ।

अट्ठच्छाहिगवीसा, सोलसवीसे च बारसछदोसु ।
दो चउसु तीसु एक्क, मिच्छाइसु आउगे भंगा ॥४७॥

मिथ्यादृष्ट्यादिषु गुणस्थानके ष्वयोगिकेवलिगुणस्थानकपर्यन्तेषु क्रमणैते अष्टाधिकविंशत्यादयः आयुषि भङ्गाः । तत्र मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकेष्वष्टाधिका विंशतिरायुषो भङ्गाः मिथ्यादृष्टयो हि चतुगतिका अपि संभवन्ति तत्र नैरयिकानधिकृत्य पञ्च तिरश्चोऽधिकृत्य नव मनुष्यानप्यधिकृत्य नव दवानधिकृत्य पञ्च एते च प्रागेव सप्तपञ्च भाविता इति न ते भूयो भाव्यन्ते । सासादनस्य षडाधिका विंशतिः यतस्तिर्यञ्चो मनुष्या वा सासादननभावे वर्तमाना नारकायुर्बध्नन्ति ततः प्रत्येकं तिरश्चां

मनुष्याणां च परभवायुर्बन्धकाले एकैको भङ्गो न प्राप्यते इति षडविंशतिः। सम्यग्मिथ्यादृष्टेः षोडश सम्यग्मिथ्यादृष्ट्यो हि आयुर्बबन्धमारभन्ते ततः आयुर्बन्धकाले नारकाणां यौ द्वौ भङ्गौ ये च तिरश्चां चत्वारो ये च मनुष्याणामपि चत्वारः यौ च देवानां द्वौ तानेतान् द्वादश वर्जयित्वा शेषाः षोडश भवन्ति अविरत सम्यग्दृष्टेर्विंशतिर्भङ्गाः कथमिति चेदुच्यते तिर्यग्मनुष्याणां प्रत्येकमायुर्बन्धकाले ये नरकतिर्यग्मनुष्यगतिविषयास्त्रयस्त्रयो भङ्गाः यश्च देवनैरयिकाणां प्रत्येकमायुर्बन्धकाले तिर्यग्गतिविषय एकैको भङ्गः तानविरतसम्यग्दृष्ट्यो न बध्नन्ति ततः शेषा विंशतिरेव भवन्ति। देशविरतेर्द्वादश भङ्गा यतो देशविरति स्तिर्यग्मनुष्याणामेव भवति ते च तिर्यग्मनुष्या देशविरता आयुर्बध्नतो देवायुरेव बध्नन्ति न शेषमायुस्ततस्तिरश्चां मनुष्याणां च प्रत्येकं परभवायुर्बन्धकालात्पूर्वमेकैको भङ्गः परभवायुर्बन्धकालेऽपि चैकैक आयुर्बन्धोत्तरकालं च चत्वारश्चत्वारः। यतः केचित्तिर्यञ्चो मनुष्याश्चतुर्णामेकमन्यतमदायुर्बध्वा देशविरतिं प्रतिपद्यन्ते ततस्तदपेक्षया यथोक्ताश्चत्वारो भङ्गाः प्राप्यन्ते सर्वसंख्यया द्वादश (ठदोसु त्ति) द्वयोः प्रमत्ताप्रमत्तयोःप्रत्येकं षट् भङ्गाः प्रमत्ताप्रमत्तसंयता हि मनुष्या एव भवन्ति ततः आयुर्बन्धकालात् पूर्वमेकः आयुर्बन्धकालेऽप्येकः। प्रमत्ताप्रमत्ता हि देवायुरेवैकं बध्नति न शेषमायुर्बन्धोत्तरकालं च प्रागुक्ता देशविरत्युक्तानुसारेण चत्वार इति (दो चउसुत्ति) चतुर्षु अपूर्वकरणेऽनिवृत्तिबादरसूक्ष्मसंपरायोपशान्तमोहरूपेषु गुणस्थानकेषूपशमश्रेणिमधिकृत्य प्रत्येकं द्वौ द्वौ भङ्गौ तद्यथा मनुष्यायुष उदयो मनुष्युषः सत्ता एषु विकल्पाः परभवायुर्बन्धकालात्पूर्वमथवा मनुष्यायुष उदयो मनुष्यदेवायुषी सती एष विकल्पः परभवायुर्बन्धोत्तरकालम्। एते ह्यायुर्न बध्नन्ति अतिविशुद्धत्वात् पूर्वबद्धायुषि एपशमश्रेणिं प्रतिपद्यन्ते देवायुष्येव नान्यायुषि तदुक्तं कर्मकृतौ "तिसु आउगेसु बद्धेसु जेण सेढिं न आरुहइ" तत उपशमश्रेणिमधिकृत्य एतेसु द्वौ द्वावेव भङ्गौ पूर्वबद्धायुष्कास्तु न क्षपकश्रेणिं प्रतिपद्यन्ते तत उपशमश्रेणिमधिकृत्येत्युक्तं क्षपकश्रेण्यां त्वेतेषामेकैको भङ्गस्तद्यथा मनुष्यायुष उदयो मनुष्यायुषः सत्तेति (तिसुइक्कंति) त्रिषु क्षीणमोहसयोगिकेवल्ययोगिकेवलिरूपेषु प्रत्येकमेकैको भङ्गस्तद्यथा मनुष्यायुष उदयो मनुष्ययुषः सत्ता शेषा न संभवन्ति तदेवमायुषो गुणस्थानकेषु भङ्गा निरूपिताः।

संप्रति मोहनीयं प्रत्याह(मोहं परं वुच्छं)

अतः परं मोहनीयं वक्ष्ये

गुणठाणगेसु अट्ठसु, एक्केक्कं मोहबंधठाणं तु।
पंचानियट्टिठाणा, बंधोवरमो परं तत्तो ॥४८॥

मोहनीयसत्कबन्धस्थानेषु मध्ये एकैकं बन्धस्थानं मिथ्यादृष्ट्यादिषु गुणस्थानकेषु भवति तद्यथा मिथ्यादृष्टेर्द्वाविंशतिः सासादनस्यैकविंशतिः सम्यग्मिथ्यादृष्टेरविरतसम्यग्दृष्टेश्च प्रत्येकं सप्तदश देशविरतस्य त्रयोदश प्रमत्ता प्रमत्तापूर्वकरणानां प्रत्येकं नव नव। एतानि च द्वाविंशत्यादीनि नवपर्यन्तानि नव बन्धस्थानानि प्रागेव सप्रपञ्चं भावितानीति न भूयो भाव्यन्ते विशेषाभावात् केवलमप्रमत्तापूर्वकरणयोर्भङ्ग एकैक एव वक्तव्यः अरतिशोकयोर्बन्धस्य प्रमत्तगुणस्थानके एव व्यवच्छेदात्। प्राक् प्रमत्तापेक्षया नवकबन्धस्थाने द्वौ भङ्गौ दर्शितौ (पंचानियट्टिठाणे) अनिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थानके पञ्चबन्धस्थानानि तद्यथा पञ्च चतस्त्रः तिस्रः द्वे एका च प्रकृतिरिति। ततोऽनिवृत्तिस्थानात् परं सूक्ष्मसंपरायादौ बन्धोपरमो बन्धाभावः।

संप्रत्युदयस्थानप्ररूपणार्थमाह–

सत्ताइ दस उमिच्छे, सासायणमीसए नवुक्कोसो।
छाई नवउअ विरई, देसे पंचाइ अट्ठेव ॥४९॥
विरए खओवसमिए, चउराई सत्त छच्च पुव्वम्मि।
अनियट्टिवायरे पुण, एक्को व दुवे व उदयंसा ॥५०॥
एगं सुहुमसरागो, वेए इअ वेयगा भवे सेसा।
भंगाणं च पमाणं, पुव्वुद्दिट्ठेण नायव्वं ॥५१॥

मिथ्यादृष्टेः सप्तादीनि दशपर्यन्तानि चत्वार्युदयस्थानानि भवन्ति तद्यथा सप्त अष्टौ नव दश। तत्र मिथ्यात्वमप्रत्याख्यानावरणप्रत्याख्यानावरणसंज्वलनक्रोधादीनामन्यतमे त्रयः क्रोधादिकाः त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः हास्यरतियुगलारतिशोकयुगलयोरन्यतरद्युगलमित्येतासां सप्तप्रकृतीनामुदयो ध्रुवः। अत्र चतुर्भिः कषायैस्त्रिभिर्वेदैर्द्वाभ्यां युगलाभ्यां भङ्गाश्चतुर्विंशतिस्तस्मिन्नेव सप्तके भये वा जुगुप्सायां वाऽनन्तानुबन्धिनि च प्रक्षिप्ते अष्टानामुदयः अत्र भयादौ प्रत्येकमेकैका चतुर्विंशतिः प्राप्यते इति तिस्रश्चतुर्विंशतयः। तथा तस्मिन्नेव सप्तके भयजुगुप्सयोरथवा भयानन्तानुबन्धिनोर्यद्वा जुगुप्सानन्तानुबन्धिनोः प्रक्षिप्तयोर्नवानामुदयः अत्राप्येकैकस्मिन् विकल्पे भङ्गानां चतुर्विंशतिः प्राप्यते इति तिस्रश्चतुर्विंशतयः। तथा तस्मिन्नेव सप्तके भयजुगुप्सानन्तानुबन्धिषु युगपत्प्रक्षिप्तेषु दशानामुदयः अत्रैका भङ्गकानां चतुर्विंशतिः सर्वसंख्यया मिथ्यादृष्टावष्टौ चतुर्विंशतयः। सासादने मिश्रे च सप्तादीनिवोत्कर्षाणि नवपर्यन्तानि त्रीणि त्रीणि उदयस्थानानि तद्यथा सप्त अष्टौ नव अत्र सासादने अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणसंज्वलनेक्रोधादीनामन्यतमे चत्वारः क्रोधादिकाः त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः द्वयोर्हि युगलयोरन्यतरद् युगलमित्येतासां सप्तप्रकृतीनामुदयो ध्रुवः अत्र प्रागिवैका भङ्गानां चतुर्विंशतिः। ततो भये वा जुगुप्सायां वा प्रक्षिप्तायामष्टोदयः। तत्र द्वे चतुर्विंशति भङ्गकानां भयजुगुप्सयोस्तु प्रक्षिप्तयोनवोदयः अत्रैका भङ्गकानां चतुर्विंशतिः सर्वसंख्यया सासादने चतसश्चतुर्विंशतयः मिश्रे अनन्तानुबन्धिवर्जास्त्रयोऽन्यतमे क्रोधादयः त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः द्वयोर्युगलयोरन्यतरद् युगलं मिश्रमिति सप्तानां प्रकृतीनामुदयो ध्रुवः अत्रैका चतुर्विंशतिर्भङ्गकानां सर्वसंख्यया मिश्रेऽपि चतस्रश्चतुर्विंशतयः (छाई नव उ अविरएत्ति) अविरतसम्यग्दृष्टौ षडादीनि नवपर्यन्तानि चत्वारि उदयस्थानानि भवन्ति तद्यथा षट् सप्त अष्टौ नव। तत्रान्तानुबन्धिबर्जास्त्रयोऽन्यतमे क्रोधादिकाः त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः द्वयोर्युगलयोरन्यतरत् युगलमिति षण्णां प्रकृतीनामुदयोऽविरतस्यौपशमिकसम्यग्दृष्टेः क्षायिकसम्यग्दृष्टेर्वा ध्रुवः अत्रैका चतुर्विंशतिर्भङ्गकानां ततो भये वा जुगुप्सायां वा वेदकसम्यक्त्वे वा प्रक्षिप्ते सप्तानामुदयोऽत्र तिस्रश्चतुर्विंशतयः। तथा तस्मिन्नेव षट्के भयजुगुप्सयोर्भयवेदकसम्यक्त्वयोर्जुगुप्सावेदकसम्यक्त्वयोर्वा युगपत् प्रक्षिप्तयोरष्टामुदयः अत्रापि तिस्रश्चतुर्विंशतयः। तथा तस्मिन्नेव षट्के भयजुगुप्सयोर्भयवेदकसम्यक्त्वयोर्जुगुप्सावेदकसम्यक्त्वयोर्वा युगपत् प्रक्षिप्तयोरष्टामुदयः अत्रापि तिस्रश्चतुर्विंशतयः। तथा तस्मिन्नेव षट्के भयजुगुप्सयोर्वेदकसम्यक्त्वे च युगपत् प्रक्षिप्ते नवनामुदयः अत्रैका चतुर्विंशतिर्भङ्गकानां सर्वसंख्यया अविरतसम्यग्दृष्टावष्टौ चतुर्विंशतयः। (देसे पंचइअट्ठेव) देशे देशविरते पञ्चादीनि अष्टपर्यन्तानि च-

त्वारि उदयस्थानानि तद्यथा पञ्च षट् सप्त अष्टौ तत्र प्रत्याख्यानावरणसंज्वलनक्रोधादीनामन्यतमौ द्वौ क्रोधादिकौ त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः द्वयोर्युगलयोरन्यतरद्युगलमिति पञ्चानां प्रकृतीनामुदयो देशविरतस्य क्षायिकसम्यग्दृष्टेरौपशमिकसम्यग्दृष्टेर्वा भवति । अत्रैका भङ्गकानां चतुर्विंशतिस्ततो भये वा जुगुप्सायां वा वेदकसम्यक्त्वे वा प्रक्षिप्ते षण्णामुदयः अत्र तिस्रः चतुर्विंशतयः । तथा तस्मिन्नेव पञ्चके भयजुगुप्सयोर्यद्वा जुगुप्सावेदकसम्यक्त्वयोरथवा भयवेदकसम्यक्त्वयोर्युगपत्प्रक्षिप्तयोः सप्तानामुदय अत्रापि तिस्रश्चतुर्विंशतयः । तथा तस्मिन्नेव पञ्चके भयजुगुप्सयोर्वेदकसम्यक्त्वे च युगपत् प्रक्षिप्तेष्वष्टानामुदयः अत्रैका चतुर्विंशतिर्भङ्गकानां सर्वसंख्यया देशविरतेऽष्टौ चतुर्विंशतयः । तथा विरते क्षायोपशमिके प्रमत्ते चेत्यर्थः विरतो हि श्रेणेरधस्ताद्वर्त्तमानः क्षायोपशमिको विरत इति व्यवह्रियते ततश्च प्रमत्ते अप्रमत्ते च प्रत्येकं चतुरादीनि सप्तपर्यन्तानि चत्वारि उदयस्थानानि भवन्ति तद्यथा चतस्रः पञ्च षट् सप्त । तत्र क्षायिकसम्यग्दृष्टेरौपशमिकसम्यग्दृष्टेर्वा प्रमत्तस्याप्रमत्तस्य च प्रत्येकं संज्वलनक्रोधादीनामन्यतमः एकः क्रोधादिः त्रयाणां वेदनामन्यतमो वेदः द्वयोर्युगलयोरन्यतरत् युगलमिति चतसृणां प्रकृतीनामुदयः । अत्रैका चतुर्विंशतिर्भङ्गकानां ततो भये वा जुगुप्सायां वा वेदकसम्यक्त्वे वा प्रक्षिप्ते पञ्चानामुदयः अत्र तिस्रः चतुर्विंशतयो भङ्गकानाम् । तथा तस्मिन्नेव चतुष्के भयजुगुप्सयोर्जुगुप्सावेदक सम्यक्त्वयोरथवा भयवेदकसम्यक्त्वयोर्युगपत्प्रक्षिप्तयोः षण्णामुदयः अत्रापि तिस्रश्चतुर्विंशतयः । तथा तस्मिन्नेव चतुष्के भयजुगुप्सावेदकसम्यक्त्वेषु युगपत् प्रक्षिप्तेषु सप्तानामुदयः अत्रैका चतुर्विंशतिर्भङ्गकानां सर्वसंख्यया प्रमत्तस्या–प्रमत्तस्य च प्रत्येकमष्टावष्टौ चतुर्विंशतयः (छच्च पुव्वम्मि) अपूर्वकरणे चतुरादीनि षट् पर्यन्तानि त्रीणि उदयस्थानानि तद्यथा चतस्रः पञ्च षट् तत्र संज्वलनक्रोधादीनामन्यतम एकः क्रोधादिः त्रयाणांवेदानामन्यतमो वेदः द्वयोर्युगलयोरन्यतरद्युगलमित्येतासां चतसृणां प्रकृतीनामुदयो ऽपूर्वकरणे ध्रुवः अत्रैका चतुर्विंशतिर्भङ्गकानां ततो भये वा जुगुप्साया पञ्चानामुदयः अत्र द्वे चतुर्विंशतिभङ्गकानाम् । भयजुगुप्सयोर्युगपत् प्रक्षिप्तयोः षण्णामुदयः अत्रैका भङ्गकानां चतुर्विंशतिः सर्वसंख्यया अपूर्वकरणे चतस्रश्चतुर्विंशतयः अनिवृत्तिबादरे पुनरेको द्वौ वा उदयांशौ उदयभेदौ उदयस्थाने इत्यर्थः चतुर्णां संज्वलनानामन्यतम एकः क्रोधादिः त्रयाणां वेदनामन्यतमो वेदः इति द्विकोदयः । अत्र त्रिभिर्वेदैश्चतुर्भिः संज्वलनैर्द्वादश भेदाः । तते वेदोदयव्यवच्छेदे एकोदयः स च चतुर्विधबन्धे त्रिविधबन्धे द्विविधबन्धे एकविधबन्धे च प्राप्यते । तत्र यद्यपि प्राक् चतुर्विधबन्धे चत्वारः त्रिविधबन्धे त्रयः द्विविधबन्धे द्वौ एकविधबन्धे एकः इति दश भङ्गाः प्रतिपादितास्तथाप्यत्र सामान्येन चतुस्त्रिद्वयेकबन्धापेक्षया चत्वार एव भङ्गा विवक्ष्यन्ते (एगं सुहुमसरागे वेय इति) सूक्ष्मसंपराये बन्धाभावे एकं किट्टीकृतसंज्वलनलोभं वेदयते अत्रैक एव भङ्गः एवमेकोदयभङ्गाः सर्वसंख्यया पञ्च । तथा शेषा उपरितना उपशान्तमोहादयः सर्वेऽप्यवेदकाः ''भंगाणं च पमाण'' मित्यादि तत्र मिथ्यादृष्ट्यादिषु गुणस्थानकेषु उदयस्थानभङ्गानां प्रमाणं पूर्वोद्दिष्टेन पूर्वोक्तेन प्राक् सामान्योक्तमोहनीयोदयस्थानचिन्ताधिकारोक्तेन प्रकारेण ज्ञातव्यम् ।

संप्रति मिथ्यादृष्ट्यादीन्यधिकृत्य दशादिष्वेकपर्यवसानेषु भङ्गसंख्यानिरूपणार्थमाह

एक्कगछमिक्कियारि क्कारस एक्कारसे व नव तिन्नि ।
एए चउवीसगया, बारदुगं पंच एक्कम्मि ॥५२॥

इह दशादीनि चतुरन्तानि उदयस्थानान्यधिकृत्य यथासंख्यमेकादि संख्यापदयोजना कर्त्तव्या सा चैवं दशोदये एका चतुर्विंशतिः नवोदये षट् । तत्र मिथ्यादृष्टौ तिस्रः सासादने मिश्रे अविरते च प्रत्येकमेकैका । अष्टोदये एकादश । तत्र मिथ्यादृष्टौ अविरते च प्रत्येकं तिस्रः तिस्रः । सासादने मिश्रे च प्रत्येकं द्वे द्वे । देशविरतौ चैका । सप्तोदये चैकादश । तत्र मिथ्यादृष्टौ सासादने मिश्रे प्रमत्ते अप्रमत्ते च प्रत्येकमेकैका । अविरतौ देशविरते च प्रत्येकं तिस्रः तिस्रः । षड्डुदये । एकादश । तत्राविरतसम्यग्दृष्टौ अपूर्वकरणे च प्रत्येकमेकैका देशविरते प्रमत्ते प्रत्येकं तिस्रः अप्रमत्ते च प्रत्येकं तिस्रः तिस्रः पञ्चकोदये नव । तत्र देशविरते एका प्रमत्ते अप्रमत्ते च प्रत्येकं तिस्रः तिस्रः अपूर्वकरणे द्वे चतुरुदये तिस्रः । प्रमत्ते अप्रमत्ते अपूर्वकरणे च प्रत्येकमेका । एते च अनन्तरोक्ता एकादिकाः संख्याविशेषाश्चतुर्विंशतिगताश्चतुर्विंशति संख्याधायिका एता अनन्तरोक्तचतुर्विंतयो ज्ञातव्या इत्यर्थः । एताश्च सर्वसंख्यया द्विपञ्चाशत् द्विके द्विकोदये भङ्गा द्वादश एकोदये पञ्च । एते प्रागेव भाविताः ।

संप्रत्येतेषामेव भङ्गानां विशिष्टतरसंख्यानिरूपणार्थमाह

बारस पणसट्ठिसया, उदयविगप्पेहिं मोहिया जीवा ।
चुलसीई सत्तुत्तरि, पयविन्नसएहि विण्णेया ॥५३॥

इह दशादिषु चतुःपर्यवसानेषु उदयस्थानेषु भङ्गकानां द्विपञ्चाशच्चतुर्विंशतयो लब्धास्ततो द्विपञ्चाशत् चतुर्विंशत्या गुण्यते गुणितायां च सत्यां द्विकोदयभङ्गा द्वादश एकोदयभङ्गाः पञ्च प्रक्षिप्यन्ते ततो द्वादश शतानि पञ्चषष्ट्यधिकानि भवन्ति एतैरुदयविकल्पैर्यथायोगं सर्वे संसारिणो जीवा मोहिता मोहमापादिता विज्ञेयाः । संप्रति पदसंख्यानिरूपणार्थमाह (चुलसीईसत्तुत्तरित्ति) इह पदानि नाम मिथ्यात्वं प्रत्याख्यानक्रो धः अप्रत्याख्यानावरणक्रोधः इत्येवमादीनि ततो वृन्दानां दशाद्युदयस्थानरूपाणां पदानि पदवृन्दानि आर्षत्वात् राजदन्तादिषु मध्ये पाठाभ्युपगमाद्वा वृन्दशब्दस्य परनिपातः । तेषां सप्तसप्तत्यधिकचतुरशीतिशतसंख्यमोहिताः संसारिणें जीवा विज्ञेयाः । एतावत्संख्याभिः कर्मप्रकृतिभिः यथायोगं मोहिता जीवा ज्ञातव्या इत्यर्थः । अथ कथं सप्तत्यधिकानि चतुरशीतिशतानि पदानां भवन्ति उच्यते इह दशोदये दश पदानि दश प्रकृतयः उदये समागता इत्यर्थः । एवं नवोदयादिष्वपि नवादीनि भावनीयानि ततो दशोदये दशभिर्गुण्यते जाता दश नवोदयः षड्भिर्गुणितो जाताश्चतुःपञ्चाशत् अष्टोदय एकादशभिर्जाता अष्टाशीतिः सप्तोदय एकादशभिर्जाता सप्तसप्ततिः षड्डुदय एकादशभिर्जाता षट्षष्टिः पञ्चकोदय नवभिर्जाताः पञ्चचत्वारिंशत् चतुरुदयश्चत्रिभिर्गुणितो जाता द्वादश एते सर्वेऽप्येकत्र मील्यन्ते जातानि द्विपञ्चाशदधिकानि त्रीणि शतानि । एतानि चतुर्विंशतिगुणितानि अष्टचत्वारिंशदधिकचतुःशतयुतान्यष्टसहस्राणि प्राप्यन्ते इति चतुर्विंशत्या गुण्यन्ते ततो द्विकोदयपदानि द्वादशगुणितानि चतुर्विंशतिः एकोदयपदानि पञ्च प्रक्षिप्यन्ते ततस्तेषु प्र-

क्षिप्तेषु त्रिंशदधिकानि यथोक्तसंख्यन्येव पदानां शतानि।

संप्रति मिथ्यादृष्ट्यादिषु प्रत्येकमुदयभङ्गनिरूपणार्थं भाष्यकृदन्तर्गाथामाह

अट्ठगचउचउचउरट्ठगा य चउरो य होंति चउवीसा।
मिच्छाइ अपुव्वंता, बारस पणगं च अनियट्टी ॥५४॥

मिथ्यादृष्ट्यादयोऽपूर्वकरणान्ता अष्टादिचतुर्विंशतयो भवन्ति किमुक्तं भवति मिथ्यादृष्ट्यादिष्वपूर्वकरणपर्यवसानेषु गुणस्थानकेषु चतुर्विंशतयो यथासेख्यमष्टादिसंख्या भवन्ति। तत्र मिथ्यादृष्टावष्टौ सासादने चतस्रः मिश्रे च चतस्रः (चउरट्ठगत्ति) अविरतादिषु अप्रमत्तपर्यवसानेषु चतुर्षु गुणस्थानकेषु प्रत्येकमष्टौ अपूर्वकरणे चमस्रः एताश्च प्रागेव भाविताः। अनिवृत्तौ अनिवृत्तिबादरे द्विकोदये द्वादश भङ्गाः एकोदये पञ्च चशब्दोऽनिवृत्तिबादरे एकोदये चत्वारः एकः सूक्ष्मसंपराये इति विशेषं द्योतयति।

संप्रत्येतेषामेवोदयभङ्गानामुदयपदानां च
योगोपयोगादिभिर्गणनार्थमुपदेशमाह

जोगोवओगलेसा, इएहिं गुणिया हवंति कायव्वा।
जे जत्थ गुणट्ठाणे, हवंति ते तत्थ गुणाकारा ॥५५॥

मिथ्यादृष्ट्यादिषु गुणस्थानकेषु ये योगोपयोगादयस्तैरुदयभङ्गा गुणिताः कर्त्तव्या इत्यर्थः। कतिसंख्यैर्गुणयितव्या इत्यत आह ये योगादयो यस्मिन् गुणस्थानके यावन्तो भवन्ति तावन्तस्तस्मिन् गुणस्थानके गुणकारास्तैस्तावद्भिस्तस्मिन् गुणस्थानके उदय भङ्गा गुणयितव्या इत्यर्थः। तत्र प्रथमतो योगैर्गुणनभावना क्रियते इह मिथ्यादृष्ट्यादिषु सूक्ष्मसंपरायपर्यवसानेषु सर्वसंख्ययोदयभङ्गाः पञ्चषष्ट्यधिकानि द्वादश शतानि तत्र वाग्योगचतुष्टयमनोयोगचतुष्टयौदारिककाययोगाः सर्वेष्वपि मिथ्यादृष्ट्यादिषु गुणस्थानकेषु संभवन्तीति ते नवभिर्गुण्यन्ते ततो जातानि एकादश सहस्राणि त्रीणि शतानि पञ्चाशीत्यधिकानि। तथा मिथ्यादृष्टेर्वैक्रियकाययोगे अत्रापि चतुर्विंशतयः प्राप्यन्ते वैक्रियमिश्रे औदारिकमिश्रे कार्मणकाययोगे च प्रत्येकं चतस्रः चतस्रः एताश्च या अनन्तानुबन्ध्युदयसहितास्ता एव द्रष्टव्याः। यास्त्वनन्तानुबन्ध्युदयरहितास्ता अत्र न प्राप्यन्ते किं कारणमिति चेदुच्यते। इह येन पूर्वं वेदकसम्यग्दृष्टिना सता अनन्तानुबन्धिनो विसंयोजिता विसंयोज्य च परिणामपरावृत्त्या सम्यक्त्वात्प्रच्युत्य मिथ्यात्वं गतेन भूयोऽप्यनन्तानुबन्धिनो बन्धमारभन्ते तस्यैव मिथ्यादृष्टेर्बन्धावलिकामात्रं यावदनन्तानुबन्ध्युदयो न प्राप्यते न शेषस्य अनन्तानुबन्धिनश्च विसंयोज्य भूयोऽपि मिथ्यात्वं प्रतिपद्यन्ते जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्त्तात्। विशेषायुष्का एव अनन्तानु-बन्ध्युदयरहितस्य मिथ्यादृष्टेः कालकरणप्रतिषेधात्। तथोक्तं "कुणइ जन्नसो कालमिति" ततस्तस्मिन्नेव भवे वर्त्तमानो मिथ्यात्वप्रत्ययेन भूयोऽप्यनन्तानुबन्धिनो बध्नाति बन्धावलिकाभिश्च प्रवेदयते ततोऽपान्तरालगतौ वर्त्तमानस्य भवान्तरे वा प्रथममुत्पन्नस्य मिथ्यादृष्टेः सतोऽनन्तानुबन्ध्युदयरहिता उदयविकल्पाः न प्राप्यन्ते। अथ च कार्मणकाययोगे ऽपान्तरालगतौ औदारिकमिश्रकाययोगे वैक्रियमिश्रकाययोगे च भवान्तरे उत्पद्यमानस्य ततः कार्मणकाययोगादौ प्रत्येकं चतस्रः चतस्रश्चतुर्विंशतयो ऽनन्तानुबन्ध्युदयरहिता न प्राप्यन्ते वैक्रियमिश्रकाययोगो भवान्तरे प्रथमतएवोत्पद्यमानस्य भवतीति यदुक्तं तद्बाहुल्यमाश्रित्योक्तमन्यथा तिर्यग्मनुष्याणामपि मिथ्यानामपि मिथ्यादृशां वैक्रियकारिणां वैक्रियमिश्रमवाप्यते एव पर चूर्णिकृता तन्नात्र विवक्षितमित्यस्माभिरपि न विवक्षितम्। एवमुत्तरत्रापि चुर्णिकारमार्गानुसरणं परिभावनीयम्। तथा सासादनस्य कार्मण--काययोगे वैक्रियकाययोगे औदारिकमिश्रकाययोगे च प्रत्येकं चतस्रश्चतस्रश्चतुर्विंशतयः सम्यग्मिथ्यादृष्टेर्वैक्रियकाययोगे चतस्रः अविरतसम्यग्दृष्टेर्वैक्रियकाययोगे अष्टौ देशविरतस्य वैक्रिये वैक्रियमिश्रकाययोगे च प्रत्येकमष्टावष्टौ। प्रमत्तसंयतप्रमत्तसंयतस्यापि वैक्रिये वैक्रियमिश्रे च प्रत्येकमष्टावष्टौ, अप्रमत्तसंयतस्य वैक्रियकाययोगे अष्टौ सर्वसंख्यया चतुरशीतिश्चतुर्विंशतयः। चतुरशीतिश्चतुर्विंशत्या गुणिता जातानि षोडशाधिकानि विंशतिशतानितानि च पूर्वराशौ प्रक्षिप्यन्ते। तथा सासादनस्य वैक्रियमिश्रे वर्त्तमानस्य ये चत्वारोऽप्युदयस्थानविकल्पास्तद्यथा सप्तोदय एकविधः अष्टोदयो द्विविधो नवोदयः एकविधः अत्र नपुंसकवेदो न लभ्यते। वैक्रियकाययोगिषु नपुंसकवेदेषु मध्ये सासादनस्योत्पादाभावात् ये च अविरतसम्यग्दृष्टेर्वैक्रियमिश्रे कार्मणकाययोगे च प्रत्येकमष्टावष्टौ उदयस्थानविकल्पाः एषु स्त्रीवेदो न लभ्यते वैक्रिययोगिषु स्त्रीवेदेषु मध्ये अविरतसम्यग्दृष्टेरुत्पादाभावात् एतच्च प्रायोवृत्तिमाश्रित्योक्तमन्यथा कदाचित् स्त्रीवेदेष्वपि मध्ये तदुत्पादो भवेदिति। उक्तं च चूर्णौ" कया विहुज्ज त्थिवेअगेसु वि वेउव्वे मीसगस्स त्ति" प्रमत्तसंयतस्य "आहारककाययोगे आहारकमिश्रकाययोगे च प्रमत्तसंयतस्याहारककाययोगे ये प्रत्येक मष्टावष्टावुदयस्थानधिकल्पास्तेऽपि स्त्रीवेदरहिता वेदितव्याः आहारकं हि चतुर्दशपूर्विणां भवति" आहारं चोद्दपुस पुव्विणो उ' इति वचनात् न च स्त्रीणां चतुर्दशपूर्वस्याधिगमः संभवति सूत्रे प्रतिषेधात् तदुक्तम्।

तुच्छा गारवबहुला, चलिंदिया दुव्वला य धिइएय।
इअइवसेसज्झयणा, भूअवाओअ नोत्थीणं॥

भूतवादो नाम दृष्टिवाद एते सर्वेऽप्युदयस्थानविकल्पाः सर्वसंख्यया चतुश्चत्वारिंशत्। एतेषु चोक्तप्रकारेण द्वौ द्वावेष वेदौ लब्धौ ततः प्रत्येकं षोडश षोडश भङ्गाः ततश्चतुश्चत्वारिंशत् षोडशभिर्गुण्यते जातानि सप्त शतानि चतुरधिकानि तानि पूर्वराशौ प्रक्षिप्यन्ते तथा अविरतसम्यग्दृष्टेरौदारिकमिश्रकाययोगे ये अष्टावुदयस्थानविकल्पास्ते पुंवेदसहिता एव प्राप्यन्ते न स्त्रीवेदनपुंसकवेदसहितास्तिर्यङ्मनुष्येषु स्त्रीवेदेषु मध्ये अविरतसम्यग्दृष्टेरुत्पादाभावात् एतच्च प्राचुर्यमाश्रित्योक्तं तेन मल्लिस्वाम्यादिभिर्न व्यभिचारः। एतेषु चैकेन पुरुषवेदेन प्रत्येकमष्टावष्टौ एव भङ्गा लभ्यन्ते ततोऽष्टभिर्गुण्यन्ते जाता चतुःषष्टिः सा च पूर्वराशौ प्रक्षिप्यते तत आगतानि चतुर्दशसहस्राणि शतं चैकोनसप्तत्यधिकम्। (१४१६९) एतावन्तो मिथ्यादृष्ट्यादिषु सूक्ष्मसंपरायपर्यवसानेषु गुणस्थानकेषु उदयभङ्गा ये गुणितास्ते प्राप्यन्ते तदुक्तम् "चउ दस य सहस्साइ, सयं च गुणहत्तरं उदयमाणं" संप्रति पदवृन्दानि योगगुणितानि भाव्यन्ते तत्र त्रयोदयपदप्ररूपणार्थमियमन्तर्भाष्यगाथा॥

अट्ठट्ठी वत्तीसं, बत्तीसं सट्ठिमेव बावन्ना।
चोयालदोसु वीसा, मिच्छामाईसु सामन्नं ॥५६॥

मिथ्यादृष्ट्यादिष्वपूर्वकरणपर्यवसानेषु यथासंख्यमष्टषष्ट्यादि संख्यानि उदयपदानि भवन्ति तथाहि मिथ्यादृष्टौ चत्वार्युदयस्थानानि तद्यथा सप्त अष्टौ नव दश। तत्र दशोदय एको दशभिर्गुण्यते जाता दश नवोदयास्त्रयो नवभिः जाता सप्तविंशतिः

अष्टोदयास्त्रयोष्टऽभिः जाता चतुर्विंशतिः सप्तोदयश्चैकः सप्तभिः जाताः सप्तसर्वसङ्कलया अष्टषष्टिः एवं द्वात्रिंशदादीनामन्येषामपि उदयपदानां भावना कर्त्तव्या। सर्व संख्यया त्रीणि शतानि द्विपञ्चाशदधिकानि एतानि चतुर्विंशतिगतानीति चतुर्विंशत्या गुण्यन्ते जातान्यष्टचत्वारिंशदधिकानि चतुरशीतिशतानि द्विकोदया द्वादश द्वाभ्यांगुण्यन्ते जाता चतुर्विंशतिः एकोदयपदानि पञ्च सर्वसंख्यया एकोनत्रिंशत् सा च पूर्व्वराशौ प्रक्षिप्यते ततो जातानि सप्तसप्तत्यधिकानि चतुरशीतिशतानि। एतानि वाग्योगचतुष्टमनोमयोगचतुष्टयौदारिककाययोगसहितानि प्राप्यन्ते इति नवभिर्गुण्यन्ते ततो जातानि षट् सप्ततिसहस्राणि द्वे शते त्रिनवत्यधिके। ततो वैक्रियकाययोगे मिथ्यादृष्टेरष्टषष्टिसंख्यानि उदयपदानि एतानि च प्राग्वत् भावनीयानि। वैक्रियमिश्रे औदारिकमिश्रे कार्मणकाययोगे च प्रत्येकं षट्त्रिंशत् षट्त्रिंशत् उदयपदानि। वैक्रियमिश्रादौ हि उदयपदान्यनन्तानुबन्ध्युदयसहितान्येव प्राप्यन्ते न शेषाणि कारणं प्रागेवोक्तं ततः षट्त्रिंशद्भवन्ति। तथा ह्योकोऽष्टोदयो द्वौ नवोदयौ एको दशोदयोऽनन्तानुबन्धिसहितः प्राप्यते ततोऽष्टोदय एकोऽष्टभिर्जाता अष्टनवोदयौ द्वौ नवभिः जाता अष्टादश दशोदय एको दशभिर्गुण्यते जाता दश एवं सर्वसंख्यया षट्त्रिंशत्। एवमन्यत्रापि भावनास्वधिया कर्त्तव्या। सासादनस्य वैक्रियकाययौगौदारिकमिश्रे कार्मणकाययोगे च द्वात्रिंशत् द्वात्रिंशत् सम्यग्मिथ्यादृष्टेर्वैक्रियकाययोगे द्वात्रिंशत् अविरतसम्यग्दृष्टेर्वैक्रियकाययोगे षष्टिः देशविरतस्य वैक्रियमिश्रवैक्रियकाययोगेच प्रत्येकं द्विपञ्चाशत् प्रमत्तसंयतस्य वैक्रिये वैक्रियमिश्रे च प्रत्येकं चतुश्चत्वारिंशत्। अप्रमत्तसंयतस्य वैक्रियकाययोगे चतुश्चत्वारिंशत् सर्वसंख्यया षट् शतानि। एतानि चतुर्विंशत्या गुण्यन्ते जातानि चतुर्दश सहस्राणि चत्वारिंशच्छतानि एतानि च पूर्वराशौ प्रक्षिप्यन्ते। तथा सासादनस्य वैक्रियमिश्रे द्वात्रिंशदुदयपदानि एषु नपुंसकवेदो न लभ्यते युक्तिरत्र प्रागेवोक्ता। अविरत सम्यग्दृष्टेर्वैक्रियमिश्रे कार्मणकाययोगे प्रत्येकं षष्टिः अत्र स्त्रीवेदो न लभ्यते कारणं प्रागेवोक्तम्। प्रमत्तसंयतस्याहारककाययोगे चतुश्चत्वारिंशत् अत्राति स्त्रीवेदो न लभ्यते युक्तिरत्र प्रागेवोक्ता सर्वसंख्यया द्वे शते चतुरशीत्यधिके एतानि चोक्तप्रकारेण द्विवेदसहितान्येव प्राप्यन्ते इति द्विवेदसंभवः। षोडशभिर्गुण्यन्ते जातानि चतुश्चत्वारिंशदधिकानि पञ्चचत्वारिंशच्छतानि तानि पूर्वराशौ प्रक्षिप्यन्ते अविरत सम्यग्दृष्टेरौदारिकमिश्रकाययोगे षष्टिरुदयपदानि एतानि पुरुषवेद एव प्राप्यन्ते न स्त्रीवेदनपुंसकवेदयोः कारणमत्र प्रागेवोक्तं तत एतानि अष्टभिर्गुण्यन्ते जातानि चत्वारि शतानि अशीत्यधिकानि एतान्यपि पूर्वराशौ प्रक्षिप्यन्ते ततो जातः पूर्वराशिः पञ्चनवतिसहस्राणि सप्त शतानि सप्तदशाधिकानि। एतावन्ति योगगुणितानि (सत्तरसा सत्त सया पणनउइसहस्सपयसंखा) संप्रत्युपयोगगुणिता उदयभङ्गा भाव्यन्ते। तत्र मिथ्यादृष्टौ सासादने च प्रत्येकं मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गज्ञानचक्षुरचक्षुर्दर्शनरूपाः पञ्च पञ्च उपयोगाः सम्यग्मिथ्यादृष्ट्यविरतसम्यग्दृष्टिदेशविरतानां मतिश्रुतावधिज्ञानचक्षुरचक्षुरवधिदर्शनरूपाः प्रत्येकं षट् षट् प्रमत्तादीनां सूक्ष्मसंपरायान्तानां त एव षट् मनःपर्यवज्ञानसहिताः सप्त सप्त मिथ्यादृष्ट्यादिषु चतुर्विंशतिगता उदयविकल्पाः ''अट्ठगचउचउचउरट्ठगा य'' इत्यादिना ये प्रागुक्तास्ते यथायोगमुपयोगैर्गुण्यन्ते तद्यथा मिथ्यादृष्टेरष्टौ सासादने च चत्वारः मिलिता द्वादष। एते पञ्चभिरुपयोगैर्गुण्यन्ते जाता षष्टिः। तत्र मिश्रस्य चत्वार उदयस्थानविकल्पा अविरतसम्यग्दृष्टेरष्टौ देशविरतस्याप्यष्टौ सर्वसंख्यया विंशतिः। सा च षड्भिरुपयोगैर्गुण्यते जातं विंशतिशतम्। तथा प्रमत्तस्याष्टौ उदयस्थानविकल्पाः अप्रमत्तस्याप्यष्टौ अपूर्वकरणस्य चत्वारः सर्वे मिलिता विंशतिः। सा सप्तभिरुपयोगैर्गुण्यते जातं चत्वारिंशच्छतं सर्वसंख्यया त्रीणि शतानि विंशत्यधिकानि ये त्वाचार्या मिश्रेऽपि मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गज्ञानचक्षुरचक्षुर्दर्शनरूपान् पञ्चैवोपयोगानिच्छन्ति तेषां मतेन त्रीणि शतानि षोडशोत्तराणि एतानि चतुर्विंशतिगतानीति चतुर्विंशत्या गुण्यन्ते ततो जातानि अशीत्यधिकानि षट् सप्तशितानि। मतान्तरेण पञ्चसप्ततिशजातानि चतुरशीत्यधिकानि। ततो द्विकोदयभङ्गा द्वादश एकोदयभङ्गाः पञ्च सर्वे मिलिताः सप्तदश ते सप्तभिर्गुण्यन्ते जातमेकोनविंशाधिकं शतं तत् पूर्वराशौ प्रक्षिप्यते ततः पूर्वराशिर्जातो नवनवत्यधिकानि सप्तसप्ततिशतानि। मतान्तरेण सप्त त्र्युत्तराणि। उक्तं च ''उदयाणुवओगेसु सगसरिसया तिउत्तरा होंति'' एतावन्त उपयोगगुणिता उदयभङ्गाः। संप्रति पदवृन्दानि उपयोगगुणितानि भाव्यन्ते तत्रोदयस्थनपदानि चतुर्विंशतिगतानि ''अट्ठट्ठी वत्तीसमित्यादीनि'' यानि प्रागुक्तानि तानि यथायोगमुपयागैर्गुण्यन्ते तत्र मिथ्यादृष्टेरष्षष्टिरुदयस्थानपदानि सासादनस्य द्वात्रिंशत् मिलितानि शतं तत्पञ्चभिरुपयोगैर्गुण्यते जातानि पञ्च शतानि सम्यग्मिथ्यादृष्टेर्द्वात्रिंशत् अविरत सम्यग्दृष्टेः षष्टिः देशविरतस्य द्विपञ्चाशत् सर्वसंख्यया चतुश्चत्वारिंशदधिकं शतम् एतच्च षड्भिरुपयोगैर्गुण्यते जातानि चतुःषष्ट्यधिकानि अष्टा शतानि तथा प्रमत्तस्य चतुश्चत्वारिंशत् अप्रमत्तस्यापि चतुश्चत्वारिंशत् अपूर्वकरणस्य विंशतिः सर्वसंख्यया जातमष्टाधिकं शतमेतत्सप्तभिरुपयोगैर्गुण्यते जातानि सप्त शतानि षट् पञ्चाशदधिकानि सर्वसंख्यया विंशत्यधिकान्येकविंशतिशतानि। अन्ये तु मिथदृष्टाविव मिश्रेऽपि पञ्चोपयोगानिच्छन्ति तन्मतेन सर्वसंख्यया अष्टाशीत्यधिकानि विंशतिशतानि ततश्चतुर्विंशत्या गुणयन्ते जातानि पञ्चाशत्सहस्राणि अष्टौ शतानि अशीत्यधिकानि। मतान्तरेण पञ्चाशत्सहस्राणि शताधिकानि द्वादशोत्तरशतानि। ततो द्विकोदयपदानि चतुर्विंशतिरेकोदयपदानि पञ्च सर्वे मिलिता एकोनत्रिंशत् सा सप्तभिरुपयागैर्गुण्यते जाते द्वे शते त्र्युत्तरे ते पूर्वराशौ प्रक्षिप्येते ततो जातः पूर्वराशिः एकपञ्चाशत्सहस्राणि त्र्यशीत्यधिकानि मतान्तरेण पुनः पञ्चाशत्सहस्राणि त्रीणि शतानि पञ्चादशोत्तराणि। उक्तं च ''पन्नास सहस्सा तित्तिसया चेव पन्नारा'' एतावन्त्युपयोगगुणितानि पदवृन्दानि। संप्रति लेश्यागुणिता उदयभङ्गाः भाव्यन्ते। तत्र मिथ्यादृष्ट्यादिष्वविरतसम्यग्दृष्टिपर्यन्तेषु प्रत्येकं षट् लेश्याः देशविरतिप्रमत्तेषु तेजःपद्मशुक्लरूपास्तिस्रः कृष्णलेश्यायास्तु देशविरत्यादिप्रतिपत्तरेभावात्। अपूर्वकरणादौ एका शुक्लेश्या मिथ्यादृष्ट्यादिषु अपूर्वकरणपर्यन्तेषु च ये चतुर्विंशतिगता उदयस्थानविकल्पा अष्टचतुरादिसंख्यास्ते यथायोग लेश्याभिर्गुण्यन्ते तद्यथा मिथ्यादृष्टेरष्टावुदयस्थान विकल्पाः सासादनस्य चत्वारः सम्यग्मिथ्यादृष्टेश्चत्वारः अविरत सम्यग्दृष्टेरष्टौ मिलिता जाता चतुर्विंशतिः सा च षडभिर्लेस्याष्टौ प्रमत्त स्याप्यष्टौ अप्रमत्ततस्यापि चाष्टौ सर्वसंख्यया चतुर्विंशतिः त्रिभिर्लेश्याभिर्गुण्यते जाता द्विसप्ततिः। अपूर्वकरणे चतस्रः अत्रैकैव लेश्या एकेन च गुणितं तदेव भवतीति चत्वारः।

एवं सर्वे मिलिता द्वे शते विंशत्यधिके एते चतुर्विंशतिगता इति चतुर्विंश्यता गुण्यन्ते जातानि अशीत्यधिकानि द्विपञ्चाशच्छतानि । ततो द्विकोदया द्वादश एकोदयाः पञ्चमिलिताः सप्तदश ते पूर्वराशौ प्रक्षिप्यन्ते ततो जातानि सप्तनवत्यधिकानि द्विपञ्चाशच्छतानि एतावन्ति लेश्यागुणिता उदयभङ्गाः । संप्रति लेश्यागुणितानि पदवृन्दानि भाव्यन्ते । ततोदयस्थानपदानि चतुर्विंशति गतानि मिथ्यादृष्टौ अष्टषष्टिः सासादने द्वात्रिंशत् सम्यग्मिथ्यादृष्टावपि द्वात्रिंशत् अविरतसम्यग्दृष्टौ षष्टिः सर्वसंख्यया द्विनवत्यधिकं शतं एतच्च षडभिर्लेश्याभिर्गुण्यते ततो जातानि द्विपञ्चाशदधिकान्येकादश शतानि । तथा देशविरतौ द्विपञ्चाशत् प्रमत्ते चतुश्चत्वारिंशत् अप्रमत्तेऽपि चतुश्चत्वारिंशत सर्वे मिलिताः चत्वारिंशदधिकं शतं एतच्च तिसृभिर्लेश्याभिर्गुण्यते जातानि विंशत्यधिकानि चत्वारि शतानि। अपूर्वकरणे विंशतिः सा एकया लेश्यया गुणिता सैव विंशतिर्भवति ततः सर्वसंख्यया जातानि द्विन–वत्यधिकानि पञ्चदश शतानि एतानि चतुर्विंशतिगतानीति चतुर्विंशत्या गुण्यन्ते जातानि अष्टत्रिंशत् सहस्राणि द्वे शते अष्टाधिके । ततो द्विकोदयैकोदयपदान्येकोनत्रिंशत् प्रक्षिप्यन्ते ततो जातानि अष्टत्रिंशत्सहस्राणि द्वे शते सप्तत्रिंशदधिके एतावन्ति लेश्यागुणितानि पदवृन्दानि उक्तं च ''तिगहीणा तेवन्ना, सयाउ उदयाण होंति लेसाणं । अडतीस सहस्साइं, पयाण सय दो य सगतीसा'' तदेवमुक्तानि सप्तपञ्चमुदयस्थानानि।

साम्प्रतं सत्तास्थानान्यभिधीयन्ते

तिन्नेगे एगेगं, तिगमीसे पंचचउसु तिगपुव्वे ।
एक्कार बायरम्मि उ, सुहुमे चउ तिन्नि उवसंते ॥५७॥

एकस्मिन् मिथ्यादृष्टौ त्रीणि सत्तास्थानानि तद्यथा ऽष्टाविंशतिः सप्तविंशतिः षडविंशतिः । अत्र भावना प्रागेवोक्ता । तथा एकस्मिन् सासादने एकं स त्तास्थानं तद्यथा अष्टाविंशतिः मिश्रे त्रीणि सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिः सप्तविंशतिः चतुर्विंशतिः । तथा चतुर्ष्वविरतसम्यग्दृष्टिदेशविरतपंमत्ताप्रमत्तरूपषु प्रत्येकं पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिस्त्रयोविंशतिर्द्वाविंशतिरेकविंशतिः । निवृत्तेऽपूर्वकरणे च त्रीणि सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिरेकविंशतिश्च । तत्राद्ये द्वे उपशमश्रेण्यामेकविंशतिः क्षायिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां क्षपकश्रेण्यां वा (एक्कार बायरम्मि त्ति) बादरे ऽनिवृत्तिबादरे एकादश सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिरेकविंशतिस्त्रयोदश द्वादश एकादश पञ्च चतस्रः तिस्रः द्वे एका च। तत्राद्ये द्वे औपशमिकसम्यग्दृष्टेरेकविंशतिः क्षायिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां अथवा क्षपकश्रेण्यामपि यावत्कषायाष्टकं न क्षीयते कषायाष्टके तु क्षीणे त्रयोदश नपुंसकवेदे क्षीणे द्वादश ततः स्त्रीवेदे क्षीणे एकादश ततः षट्सु नोकषायेषु क्षीणेषु पञ्च ततः पुरुषवेदे क्षीणे चतस्रः संज्वलनक्रोधे क्षीणे तिस्त्रः संज्वलनमाने क्षीणे द्वे ततः संज्वलनमायायां क्षीणायामेकेति (सुहुमे चउत्ति) सूक्ष्मसंपराये चत्वारि सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिरेकविंशतिरेका च। तत्राद्यानि त्रीणि उपशमश्रेण्यामेका प्रकृतिः क्षपकश्रेण्यामुपशान्ते उपशान्तमोहे त्रिणि सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिरेकविंशतिः प्राग्वद्भावना । संप्रति संवेध उच्यते । तत्र मिथ्यादृष्टौ द्वाविंशतिर्बन्धस्थानं चत्वारि उदयस्थानानि तद्यथा सप्त अष्टौ नव दश । तत्र सप्तोदये अष्टाविंशतिरूपमेकं सत्तास्थानम् ।अष्टादिषु तूदयस्थानेषु प्रत्येकं त्रीणि सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिः सप्तविंशतिः षडविंशतिश्च । सर्वसंख्यया दश । सासादने एकविंशतिर्बन्धस्थानं त्रीण्युदयस्थानानि तद्यथा सप्त अष्टौ नव। एतेषु प्रत्येकमेकं सत्तास्थानं तद्यथा अष्टाविंशतिः सर्वसंख्यया त्रीणि सत्तास्थानानि। सम्यग्मिथ्यादृष्टौ बन्धस्थानं सप्तदश त्रीण्युदयस्थानानि तद्यथा सप्त अष्टौ नव एतेषु प्रत्येकं त्रीणि त्रीणि सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिः सप्तविंशतिश्चतुर्विंशतिश्च । सर्वसंख्यया नव । अविरतसम्यग्दृष्टौ बन्धस्थानं सप्तदश चत्वारि उदयस्थानानि तद्यथा षट् सप्त अष्टौ नव तत्र षडुदये त्रीणि सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिः एकविंशतिश्च ।सप्तोदये पञ्च सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिस्त्रयोविंशतिर्द्वाविंशतिरेकविंशतिः एतान्येव पञ्च अष्टोदये, नवोदये चत्वारि तद्यथा अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिस्त्रयोविंशतिर्द्वाविंशतिः । सर्वसंख्यया सप्तदश देशविरते त्रयोदशबन्धस्थानं चत्वारि उदयस्थानानि तद्यथा पञ्च षट् सप्त अष्टौ तत्र पञ्चकोदये त्रीणि सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिशचतुर्विंशतिरेकविंशतिः । षडुदये पञ्च सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिस्त्रयोविंशतिर्द्वाविंशतिरेकविंशतिश्च । तान्येव पञ्च सप्तोदये । अष्टोदये त्वेकविंशतिवर्जानि चत्वारि सत्तास्थानानि तद्यथाअष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिस्त्रयोविंशतिर्द्वाविंशतिश्च प्रमत्ते नव बन्धस्थानानि चत्वार्युदयस्थानानि तद्यथा चत्वारि पञ्च षट् सप्त । तत्राद्ये त्रीणि सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिरेकाविंशतिश्च । पञ्चकोदये पञ्च सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिस्त्रयोविंशतिर्द्वाविंशतिरेकविंशतिश्च एवं षडुदयेऽपि सप्तोदये एकविंशतिवर्जानि चत्वारि सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिं स्त्रयोविंशतिर्द्वाविंशतिश्च सर्वसंख्यया सप्तदश। एवमप्रमत्तेऽपि बन्धोदये सत्तास्थानसंबंधोऽन्यूनानतिरिक्तो वक्तव्यः। अपूर्वकरण बन्धस्थानानि नव, त्रीण्युदयस्थानानि तद्यथा चत्वारि पञ्च षट् एतेषु प्रत्येकं त्रीणि त्रीणि सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिरेकविंशतिः सर्वसंख्यया नव। अनिवृत्तिबादरे पञ्च बन्धस्थानानि तद्यथा पञ्च चत्वारि त्रीणि द्वे एकं च । तत्र पञ्चके बन्धस्थाने द्विकोदये षट् सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिरेकविंशतिस्त्रयोदश द्वादश एकादश । चतुष्के बन्धस्थाने एकोदये षट् सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिरेकविंशतिः एकादश पञ्च चत्वारस्त्रिके बन्धस्थाने एकोदये पञ्च सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिरेकविंशतिश्चत्वारि त्रीणि । द्विके बन्धस्थाने एकोदये पञ्च सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिरेकविंशतिस्त्रीणि द्वे एकस्मिन् बन्धे एकोदये पञ्च सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिरेस्त्रयोविंशति द्वे एकं च। सर्वसंख्यया सप्तविंशति सत्तास्थानानि बन्धाभावे सूक्ष्म संपराये एकोदये चत्वारि सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिरेकविंशतिरेकं च । उपशान्तमोहबन्धोदयौ नस्तः । सत्तास्थानानि पुनस्त्रीणि तद्यथा अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिरेकविंशति सर्वत्रापि च यथस्थानं भावना यथा प्रागधस्त्संवेधचिन्तायां कृता तथा अत्रापि कर्त्तव्या तदेवं चिन्तितं गुणस्थानकेषु मोहनीयं।

संप्रति नाम विचिन्तयिषुराह

छन्नवछक्कतिगसत्त, दुगं दुगं तिगदुगं ति अट्ठ चउ ।
दुगछच्चउ दुग पण चउ चऊ, दुग चउ पणग एग चउ ॥५८॥

एगेगमट्ठइगेगमट्ठ छ छउमत्थकेवलिजिणाणं ।
एगं चउ एगं चउ, अट्ठ चउ दु छक्कमुदयंसा ॥५९॥

मिथ्यादृष्टौ नाम्नः षट् बन्धस्थानानि तद्यथा त्रयोविंशतिः पञ्चविंशतिः षडविंशतिरष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशत्। तत्रापर्याप्तकैकेन्द्रिय प्रायोग्यं बध्नतस्त्रयोविंशतिस्तस्यां च बध्यमानायां बादरसूक्ष्मप्रत्येकसाधारणैर्भङ्गाश्चत्वारः । पर्याप्तकैकेन्द्रियप्रायोग्यं पर्याप्तद्वित्रिचतुरिन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रि-यमनुष्यप्रायोग्यं च बध्नतः पञ्चविंशतिः। तत्र पर्याप्तकैकेन्द्रिय प्रायोग्यायां पञ्चविंशतौ बध्यमानायां भङ्गाः विंशतिः। अपर्याप्तद्वित्रिचतुरिन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्यप्रायोग्यायां तु बध्यमानायां प्रत्येकमेकैको भङ्ग इति सर्वसंख्यया पंचविंशतिः पर्याप्तकैकेन्द्रियप्रायोग्यं बध्नतः षडविंशतिः तस्यां च बध्यमानायां भङ्गाः षोडश देवगतिप्रायोग्यां नरकगतिप्रायोग्यां वा बध्नतोऽष्टाविंशतिः। तत्र देवगति प्रायोग्यायामष्टाविंशतौ अष्टौ भङ्गाः नरकगतिप्रायोग्यायां त्वेक इति । सर्वसंख्यया नव । पर्याप्तद्वित्रिचतुरिन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्यप्रायोग्यं बध्नतामेकोनत्रिंशत् तत्र पर्याप्तद्वित्रिचतुरिन्द्रियप्रायोग्यायामेकोन-त्रिंशति बध्यमानायां प्रत्येकमष्टौ भङ्गाः । तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यायां-त्वष्टाधिकानि षट् चत्वारिंशच्छतानि मनुष्यगतिप्रायोग्यायामपि अष्टाधिकानि षट् चत्वारिंशच्छतानि सर्वसंख्यया एकोनत्रिंशति बन्धे चत्वारिंशदधिकानि द्विनवतिशतानि अत्र तीर्थकरसहित देवगति प्रायोग्यायामष्टौ भङ्गाः न प्राप्यन्ते सम्यक्त्वाभावे तीर्थकरनामकर्मणो बन्धाभावात् । पर्याप्तद्वित्रिचतुरिन्द्रियप्रायोग्यायां त्रिंशति प्रत्येकमष्टौ भङ्गाः । तथा तिर्यक्पञ्चेन्द्रिययप्रायोग्यायां त्वष्टाधिकानि षट्चत्वारिंशच्छतानि सर्वसंख्ययाविंशति द्वात्रिंशदुत्तराणि षट् चत्वारिंशच्छतानि या च मनुष्यगति प्रायोग्या तीर्थकरनामसहिता त्रिंशत् या च देवगतिप्रायोग्या आहारकद्विकसहिता ते उभे अपि मिथ्यादृष्टेर्न बन्धमायातः । तीर्थकरनाम्नः सम्यक्त्वप्रत्ययत्वा–वादाहारकनाम्नस्तु संयमप्रत्ययत्वात् । उक्तं च ''सम्मत्तगुणनिमित्तं, तित्थयरं संजमेण आहारमिति'' ।

त्रयोविंशत्यादिषु च बन्धस्थानेषु यथासंख्यं
भंङ्गसंख्यानिरूपणार्थमाह

चउ पण वीसा सोलस, नव चत्ताला सया य बाणउइ ।
बत्तीसुत्तरछाया लसया मिच्छस्स बंधविहि ॥६०॥

सुगमा तथा मिथ्यादृष्टेर्नव उदयस्थानानि तद्यथा एकविंशतिश्चतुर्विंशतिः पञ्चविंशतिः षडविंशतिः सप्तविंशतिरष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशत् एकत्रिंशत् एतानि सर्वाण्यपि नानाजीवापेक्ष्या यथा प्राक् सप्रपञ्चमुक्तानि तथाऽत्रापि वक्तव्यानि केवलमाहारकसंयतानां वैक्रियसंयतानां केवलिनां च संबन्धीनि न वक्तव्यानि तेषां मिथ्यादृष्टित्वासंभवात् सर्वसंख्यया मिथ्यादृष्टौ उदयस्थानभङ्गाः सप्त सहस्राणि सप्त शतानि त्रिसप्तत्यधिकानि । तथाहि एकविंशत्युदये एकचत्वारिंशत् तत्रैकेन्द्रियाणां पञ्च द्वीन्द्रियाणां नव तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां नव मनुष्याणां नव देवानामष्टौ नारकाणामेकः । तथा चतुर्विंशत्युदये एकादश ते च एकेन्द्रियाणामेव अत्र चतुर्विंशत्युदयस्याभावात् । पञ्चविंशत्युदये द्वात्रिंशत् तत्रैकेन्द्रियाणां सप्त वैक्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामष्टौ वैक्रियमनुष्याणामष्टौ देवानामष्टौ नारकाणामेकः । षडविंशत्युदये षट्शतानि तत्रैकेन्द्रियाणं त्रयादश विकलेन्द्रियाणां नव तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां द्वे शते एकोननवत्यधिके मनुष्याणामपि द्वे शते एकोननवत्यधिके । सप्तविंशत्युदये एकत्रिंशत्। तत्रैकेन्द्रियाणां षट् वैक्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामष्टौ वैक्रियमनुष्याणामष्टौ देवानामष्टौ नारकाणामेकः । अष्टाविंशत्युदये एकादश शतानि नवनवत्यधिकानि तत्र विकलेन्द्रियाणां षड् तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि । वैक्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां षोडश मनुष्याणां पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि । वैक्रियमनुष्याणामष्टौ देवानां षोडश नारकाणामेकः । एकोनत्रिंशदुदये सप्तदश शतान्येकाशीत्यधिकानि । तत्र विकलेन्द्रियाणां द्वादश तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामेकादश शतानि द्विपञ्चाशदधिकानि । वैक्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां षोडश मनुष्याणां पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि वैक्रियमनुष्याणामष्टौ देवानां षोडश नारकाणामेकः । त्रिंशदुदये एकोनत्रिंशच्छतानि चतुर्दशाधिकानि । तत्र विकलेन्द्रियाणामष्टादश तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां सप्तदश शतानि अष्टाविंशत्यधिकानि । वैक्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामष्टौ मनुष्याणामेकादश शतानि द्विपञ्चाशदधिकानिदेवानामष्टौ । एकत्रिंशदुदये एकादश शतानि चतुःषष्ट्यधिकानि तत्र विकलेन्द्रियाणां द्वादश तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामेकादश शतानि द्विपञ्चाशदधिकानि सर्वसंख्यया सप्त सहस्राणि सप्त शतानि त्रिसप्तत्यधिकानि । मिथ्यादृष्टेः षट् सत्तास्थानानि तद्यथा द्विनवतिरेकोननवतिरष्टाशीतिः षडशीतिरशीतिरष्टसप्ततिः । तत्र द्विनवतिः चतुर्गतिकानामपि मिथ्यादृष्टीनामवसेया । यदा पुनर्नरकेषु बद्धायुष्को वेदकसम्यग्दृष्टिः सन् तीर्थकरनामसहितं परिणामपरावर्त्तनेन मिथ्यात्वं गतो नरकेषु समुत्पद्यते तदा तस्यैकोननवतिरन्तर्मुहूर्त्तं कालं यावल्लभ्यते उत्पत्तेरुर्द्धमन्तर्मुहूर्त्तानन्तरं तु सोऽपि सम्यक्त्वं प्रतिपद्यते । अष्टाशीतिश्चतुर्गतिकानामपि मिथ्यादृष्टिनाम् । षडशीतिरशीतिश्चैकेन्द्रियेषुयथायोगं देवगतिप्रायोग्ये नरकगतिप्रायोग्ये चोद्वलिते सति लभ्यते अशीतिश्चैकेन्द्रियेषु त्रिनवतेस्तीर्थकरनाम्न्याहारकचतुष्के वैक्रियषट्के नरकद्विके चोद्वलितेसति लभ्यते ततः एकेन्द्रियभवादुद्वृत्य विकलेन्द्रियेषु तिर्यक्पञ्चेन्द्रियेषु मनुष्येषु वा मध्ये समुत्पन्नानां सर्वपर्याप्तिभावादूर्द्धमप्यन्तर्मुहूर्त्तं कालं यावल्लभ्यते परतोऽवश्यं वैक्रियशरीरादिबन्धसंभवात् । अष्टसप्ततिस्तेजोवायूनां मनुष्यगतिमनुष्यानुपूर्व्योरुद्वलितयोः प्राप्यते तेजोवायुभवादुद्वृत्य विकलेन्द्रियेषु तिर्यक्पञ्चेन्द्रियेषु वा मध्ये समुत्पन्नानामन्तर्मुहूर्त्तं कालं यावत् परतोऽवश्यमिति मनुष्यगतिमनुष्यानुपूर्व्योर्बन्धसंभवात् । तदेवं सामान्येन मिथ्यादृष्टेर्बन्धोदयसत्तास्थानान्युक्तानि। संप्रति संवेध उच्यते। तत्र मिथ्यादृष्टेस्त्रयोविंशतिं बध्नतः प्रागुक्तानिनवाप्युदयस्थानानि सप्रभेदानि संभवन्ति केवलमेकविंशतिपञ्चविंशतिसप्तविंशत्यष्टाविंशत्येकोनत्रिंशत्त्रिंशद्रूपेषु षट्सु उदयस्थानेषु देवनैरयिकानधिकृत्य ये भङ्गाः प्राप्यन्ते ते न संभवन्ति। त्रयोविंशतिर्हि अपर्याप्तकैकेन्द्रियप्रायोग्या नचदेवा अपर्याप्तकैकेन्द्रिय प्रायोग्यं बध्नन्ति तेषां तत्रोत्पादाभावात् । नापि नैरयिकास्तेषां सामान्यतोऽप्येकेन्द्रियप्रायोग्यबन्धासंभवात् । ततोऽत्र देवनैरयिकसत्कोदयस्थानभङ्गा न प्राप्यन्ते सत्तास्थानानि च पञ्च तद्यथा द्विनवतिरष्टाशीतिः षडशीतिरशीतिरष्टसप्ततिश्च। तत्रैकविंशतिचतुर्विंशति पञ्चविंशतिषडविंशत्युदयेषु पञ्चापि सत्तास्थानानि नवरं पञ्चविंशत्युदये तेजोवायुकायिकमधिकृत्याष्टसप्ततिः प्राप्यते । षडविंशत्युदये तेजोवायुकायिकास्तेजोवायुभवादुद्वृत्य विकलेन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियेषु मध्ये समुत्पन्नान् विधाकृत्य सप्तविंशत्यष्टाविंशत्येकोनत्रिंशत्त्रिंशदेकत्रिंशद्रूपेषु

पञ्चसु अष्टसप्ततिवर्जानि शेषाणि प्रत्येकं चत्वारि चत्वारि सत्तास्थानानि सर्वसंख्यया सर्वाण्यप्युदयस्थानान्यधिकृत्य त्रयोविंशतिबन्धकस्य चत्वारिंशत्सत्तास्थानानि । एवं पंचविंशतिषडविंशतिबनधकानामपि वक्तव्यं केवलमिह देवोऽप्यात्मीयेषु सर्वेष्वप्युदयस्थानेषु वर्त्ततानः पर्याप्तकैकेन्द्रियप्रायोग्यां पंचविंशतिं षडविंशतिं च बध्नातीत्यवसेयं नवरं पञ्चविंशतिबन्धे बादरपर्याप्तप्रत्येक स्थिरास्थिरशुभाशुभदुर्भगानादेययशःकीर्त्ययशःकीर्त्तिपदैरष्टौ भङ्गा अवसेया न शेषाः सूक्ष्मसाधारणापर्याप्तेषु मध्ये देवस्योत्पादाभावात् । सत्तास्थानभावना पञ्चविंशतिबन्धे षडविंशतिबन्धे च प्रागिव कर्तव्या सर्वसंख्यया चत्वारिंशत् सत्तास्थानानि । अष्टाविंशतिबन्धकस्य मिथ्यादृष्टेर्द्वे उदयस्थाने तद्यथा त्रिंशत् एकत्रिंशत् । तत्र त्रिंशत तिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्यानधिकृत्य एकत्रिंशत् तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानेव अष्टाविंशतिबन्धकस्य चत्वारि सत्तास्थानानि तद्यथा द्विनवतिरे कोननवतिः अष्टाशीतिः षडशीतिः । तत्र त्रिंशदुदये चत्वार्यपि तत्राप्येकोननवतिःयो नामवेदक सम्यग्दृष्टिर्बद्धतीर्थकरनामपरावर्त्तनेन मिथ्यात्वं गतो नरकाभिमुखो नरकगतिप्रायोग्यामष्टाविंशतिं बध्नातितमधिकृत्य वेदितव्या शेषाणि पुनस्त्रीणि सत्तास्थानान्यविशेषेण तिर्यग्मनुष्याणामेकत्रिंशदुदये एकोननवतिवर्जानि त्रीणि सत्तास्थानानि। एकोननवतिर्हि तीर्थकरनामसहिता न च तीर्थकरनाम तिर्यक्षु संभवति सर्वसंख्यया अष्टाविंशतिबन्धे सप्त सत्तास्थानानि देवगतिप्रायोग्यवर्जां शेषामेकोनत्रिंशतं विकलेन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यां मनुष्यगतिप्रायोग्यां च बध्नतो मिथ्यादृष्टे सामान्येन नवापि प्राकृतानि उदयस्थानानि । षट् सत्तास्थानानि तद्यथा द्विनवतिरेकोननवतिरष्टाशीतिः षडशीतिरशीतिरष्टसप्ततिः । तत्रैकविंशत्युदये सर्वाण्यपीमानि प्राप्यन्ते तत्राप्येकोननवतिबद्ध तीर्थकरनामानं मिथ्यात्वं गतं नैरयिकमधिकृत्यावसेया । द्विनवतिः अष्टाशीतिश्च देवनैरयिकमनुजविकलेन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य षडशीतिरशीतिश्च विकलेन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुजैकेन्द्रियानधिकृत्य वेदितव्या । अष्टसप्ततिरेकेन्द्रियविकलेन्द्रितिर्यक्पञ्चेन्द्रियानाधिकृत्य, चतुर्विंशत्युदये एकोननवतिवर्जानि शेषाणि पञ्च सत्तास्थानानि तानि चैकेन्द्रियानेवाधिकृत्य वेदितव्यानि अन्यत्र चतुर्विंशत्युदयस्याभावात्। पंचविंशत्युदयेऽपि षट् सत्तास्थानानि तानि यथैकविंशत्यंदये भावितानि तथैव भावनीयानि । षडविंशत्युदये एकोननवतिवर्ज्जानि शेषाणि पञ्च सत्तास्थानानि तानि प्रागिव भावनीयानि एकोननवतिस्तु न लभ्यते यतो मिथ्यादृष्टेः सत एकोननवतिर्नरकेषूत्पद्यमानस्य नैरयिकस्य प्राप्यते न शेषस्य । नच नैरयिकस्य षडविंशत्युदयः संभवति। सप्तविंशत्युदये अष्टसप्ततिवर्जानि शेषाणि पञ्चसत्तास्थानानि । तत्रैकोननवतिः प्रागुक्तस्वरूपं नैरयिकमधिकृत्यद्विनवतिरष्टाशीतिश्च देवनैरयिकमनुजविकलेन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य षडशीतिरशीतिश्च एकेन्द्रियविकलेन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रिय मनुष्यानधिकृत्य अष्टसप्ततिश्च न संभवति ततः सप्तविंशत्युदये तेजोवायुवर्जानामेकेन्द्रियाणामात पोद्योतान्यतरसहितानां नारकादीनां वा भवति । नच तेषामष्टसप्ततिस्तेषामवश्यं मनुष्यद्विकबन्धसंभवात् । एतान्येव पञ्चसत्तास्थानान्यष्टाविंशत्युदयेऽपि तत्रैकोननवतिर्द्विनवतिरष्टाशीतिरशीतिः प्रागिव भावनीयाः षडशीतिरशीतिश्च विकलेन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्यानधिकृत्य वेदितव्या । एवमेकोनत्रिंशदुदयेप्येतान्येव पञ्चसत्तास्थानानि भावनीयानि । त्रिंशदुदये चत्वारि तद्यथा द्विनवतिरष्टाशीतिः षडशीतिरशीतिरेतानि विकलेन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रिय मनुष्यानधिकृत्य वेदितव्यानि एकोननवतिस्तु न प्राप्यते यतः सा मिथ्यादृष्टेः सता बद्धतीर्थकरनाम्नो मिथ्यात्वं गतस्य नैरयिकस्य प्राप्यते । न च नैरयिकस्य त्रिंशदुदयोऽस्ति। एकत्रिंशदुदयऽप्येतान्येव चत्वारि तानि च विकलेन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य दृष्टव्यानि । सर्वसंख्यया मिथ्यादृष्टेरेकोनत्रिंशतं बध्नतः पञ्चचत्वारिंशत् सत्तास्थानानि । या तु देवगतिप्रायोग्या एकोनत्रिंशत् सा मिथ्यादृष्टेर्न बन्धमायाति कारणं प्रागेवोक्तम् । मनुष्यदेवगतिप्रायोग्यवर्जां शेषां त्रिंशतं विकलेन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यां बध्नतः सामान्येनप्रागुक्तानि नवोदयस्यानानि एकोननवतिवर्जानि पञ्चसत्तास्थानानि । एकोननवतिस्तु न संभवति सत्कर्मणस्तिर्यग्गतिप्रायोग्यबन्धाऽऽरम्भसंभवात् तानि च पञ्च सत्तास्थानानि एकविंशतिचतुर्विंशतिपञ्चविंशतिषडविंशत्युदयेषु प्रागिव भावनीयानि । सप्तविंशत्यष्टाविंशत्येकोनत्रिंश–स्त्रिंशदेकत्रिंशद्रूपेषु पञ्चसूदयस्थानेषु अष्टसप्ततिवर्ज्जानि प्रत्येकं शेषाणि चत्वारि चत्वारि सत्तास्थानानि भावनीयानि अष्टसप्ततिप्रतिषेधकारणं प्रागुक्तमनुसरणीयम् । सर्वसंख्यया मिथ्यादृष्टे स्त्रिंशतं बध्नतः चत्वारिंशत् सत्तास्थानानि मनुजगतिदेवगतिप्रायोग्या त्रिंशत् मिथ्यादृष्टेर्न बन्धमायाति मनुजगतिप्रायोग्या हि त्रिंशत् तीर्थकरनामसंहिता, देवगतिप्रायोग्या त्वाहारकद्विकतीर्थकरनामसहिता ततः सा कथं मिथ्यादृष्टेर्बन्धमायाति । तदेवमुक्तो मिथ्यादृष्टेर्बन्धोदय सत्तास्थान संबेधः । संप्रतिसासादनस्य बन्धोदयसत्तास्थानान्युच्यन्ते (तिगसत्तएगत्ति) त्रीणि बन्धस्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत्। तत्राष्टाविंशतिर्द्वेधा देवगतिप्रायोग्या नरकगतिप्रायोग्या च। तत्र नरकगतिप्रायोग्या सासादनस्य न बन्धमायाति देवगतिप्रायोग्यायाश्च बन्धकास्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्याश्च । तस्यां चाष्टाविंशतौ बध्यमानायामष्टौ भङ्गाः । तथा सासादना एकेन्द्रियविकलेन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रिया मनुष्या देवा नैरयिकाश्च तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यां मनुष्यगतिप्रायोग्यां वा एकोनत्रिंशतं बध्नन्ति न शेषाम् । अत्र च भङ्गाः चतुःषष्टिशतानि। तथाहि सासादना यदि तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय प्रायोग्यामष्टाविंशतिप्रायोग्यामेकोनत्रिंशतं बध्नन्ति तथापि न ते हुण्डसंस्थानं सेवार्त्तं च संहननं बध्नन्ति मिथ्यात्वोदयाभावात् ततश्च तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यामेकोनत्रिंशतं बध्नतः पञ्चभिः संस्थानैः पञ्चभिः संहनैनः प्रशस्ताप्रशस्तविहायोगतिभ्यां स्थिरास्थिराभ्यां शुभाशुभाभ्यां सुभगदुर्भगाभ्यां सुस्वरदुःस्वराभ्यां आदेयानादेयाभ्यां यशःकीर्त्ययशःकीर्तिभ्यां च भङ्गाः द्वात्रिंशच्छतानि। एवं मनुष्यगतिप्रायोग्यामपि बध्नतो द्वात्रिंशच्छतानि । ततः सर्वसंख्यया चतुःषष्टिशतानि । ततः सासादना एकेन्द्रिया विकलेन्द्रियाः तिर्यक्पञ्चेन्द्रिया देवा नैरयिका वा यदि त्रिंशतं बध्नन्ति तर्हि तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यामेवोद्योतसहितां न शेषाम्, तां बध्नतां च प्रागिव भङ्गानां द्वात्रिंशच्छतानि । सर्वबन्धस्थानभङ्गसंख्या अष्टाधिकानि षण्णवतिशतानि ।

उक्तभङ्गसंख्यानिरूपणार्थमियमन्तर्भाष्यगाथा

अट्ठ सया चउसट्ठी, बत्तीस सया इ सासणे भेआ।
अट्ठावीसाईसु, सव्वाणट्ठाहिअछन्नउई ॥६१॥

सासादनस्योदयनस्थानानि सप्त तद्यथा एकविंशतिश्चतर्विंशतिः पञ्चविंशतिः षडविंशतितिरेकोन त्रिंशत् त्रिंशदेकत्रिंशत् ।

तत्र एकविंशत्युदय एकेन्द्रियविकलेन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्यदेवानधिकृत्य वेदितव्यः नरकेषु सासादनो नोत्पद्यते इति कृत्वा सद्विषय एकविंशत्युदयो न गृह्यतेतत्रैकेन्द्रियाणामेकविंशत्युदये बादरपर्याप्तकेन सह यशःकीर्त्ययशःकीर्तिभ्यां यौ द्वौ भङ्गौ तादेवे संभवतः न शेषाः सूक्ष्मेष्वपर्याप्तकेषु च मध्ये सासादनस्योत्पादाभावात्। अत एव विकलेन्द्रियाणां तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां मनुष्याणां च प्रत्येकमपर्याप्तकेन सह य एकैको भङ्गः स इह न संभवति किंतु शेषा एव। ते च विकलेन्द्रियाणां द्वौ द्वाविति षट् तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामष्टौ मनुष्याणामष्टौ देवानामप्यष्टौ सर्वसंख्यया एकविंशत्युदये द्वात्रिंशद्भङ्गायश्चतुर्विंशत्युदये एकेन्द्रियेषु मध्ये उत्पन्नमात्रस्य अत्रापि बादरपर्याप्तकेन सह यशःकीर्त्ययशः कीर्तिभ्यां यौ द्वौ भङ्गौ तावेव संभवतः न शेषाः सूक्ष्मेषु साधारणेषु तेजोवायुषु च मध्ये सासादनस्योत्पादासंभवात्। पंचविंशत्युदयो देवेषु मध्ये उत्पन्नस्यावश्यं प्राप्यते न शेषस्य। तत्र चाष्टौ भङ्गाः ते च स्थिरास्थिरशुभाशुभयशःकीर्त्ययशःकीर्तिपदैरवसेयाः। (भाषाटीकायां सुभगदुर्भगादेयानादेययशःकीर्त्ययशःकीर्तिपदैः अष्ट भङ्गाः प्रतिपादिताः) षडविंशत्युदयो विकलेन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्येषु मध्ये उत्पन्नमात्रस्य अत्राप्यपर्याप्तकेन सह य एकैको भङ्गः स न संभवति अपर्याप्तकमध्ये सासादनस्योत्पादाभावात् शेषास्तु संभवन्ति ते च विकलेन्द्रियाणां प्रत्येकं द्वौ द्वाविति षट्। तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां द्वे शते अष्टाशीत्यधिके, मनुष्याणामपि द्वे शते अष्टाशीत्यधिके सर्वसंख्यया षडविंशत्युदये पंच शतानि ह्यशीत्यधिकानि सप्तविंशत्यष्टाविंशत्युदयौ न संभवतस्तौ हि उत्पत्यनन्तरमन्तर्मुहूर्ते सति भवतः सासदनभावस्योत्पत्त्यनन्तरमुत्कर्षतः किञ्चिदूनषमावलिकामात्रं कालं तत एतौ सासादनस्य प्राप्येते। एकोनत्रिंशदुदयो देवनैरयिकाणां स्वस्थानगतानां पर्याप्तानां प्रथमसम्यक्त्वात् प्रच्यवमानानां प्राप्यते। तत्र देवस्यैकोनत्रिंशदुदये भङ्गाः अष्टौ नैरयिकस्यैक इति सर्वसंख्यया नव। त्रिंशदुदयस्तिर्यग्मनुष्याणां पर्याप्तानां प्रथमसम्यक्त्वात् प्रच्यवमानानां देवानां वा उत्तरवैक्रिये वर्त्तमानानां सासादनानाम्। तत्र तिरश्चां मनुष्याणां च त्रिंशदुदये प्रत्येकं द्विपञ्चाशदधिकान्येकादश शतानि। देवस्याष्टौ सर्वसंख्यया त्रयोविंशतिशतानि द्वादशाधिकानि। एकत्रिंशदुदयस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां पर्याप्तानां प्रथमसत्यक्त्वात् प्रच्यवमानानाम्। अत्र भङ्गाः एकादश शतानि द्विपञ्चाशदधिकानि।

इगचत्तिगारबत्ती स छ सयइगतीसिगारनवनउइ।

सत्तरिगंसि गुत्तिस, चउदइगारचउसट्ठि मिच्छुदया ॥६२॥

(इयं गाथा लिखितपुस्तकेष्वनुपलभ्यमानापि मुद्रितपुस्तकेषूपलभ्यते इति व्याख्येयापि सोपयोगापि अस्मत्पुस्तके नास्तीतिन व्याख्यायते त्रुटितेति न संभावयामः किन्तु ग्रन्थकारैरेव न गृहीतित निश्चिनुमः। तत्वं केवलिनो विदन्ति)

उक्तरूपाया एव भङ्गसंख्याया निरूपणार्थमाह

तत्रान्तर्भाष्यगाथा

बत्तीस दोन्नि अट्ठ य, बासीइसया य पंच नव उदया।

बारहिया तेवीसं, बाणिक्कारस सया य ॥६३॥

सुगमा सर्वभङ्गसंख्यया सप्तनवत्यधिकानि चत्वारिंशच्छतानि सासादनस्य द्वे सत्तास्थाने तद्यथा द्विनवतिरष्टाशीतिश्च। तत्र द्विनवतिर्यआहारकचतुष्टयं बध्वा उपशमश्रेणितः प्रतिपतन् सासादनभावमुपगच्छति तस्य लभ्यतेन शेषस्य अष्टाशीतिश्चतुर्गतिकानामपि सासादनानाम्। संप्रति संवेध उच्यते तत्राष्टाविंशतिं बध्नतः सासादनस्य द्वे उदयस्थाने तद्यथा त्रिंशदेकत्रिंशत्। अष्टाविंशतिर्हि सासादनस्य बन्धयोग्या भवति देवगतिविषया च। न च करणापर्याप्तसासादनो देवगतियोग्यां बध्नाति ततः शेषा उदया न संभवन्ति। अत्र मनुष्यानधिकृत्य त्रिंशदुदये द्वे अपि सत्तास्थाने तद्यथा द्विनवतिरष्टाशीतिश्च तिर्यक्पञ्चेन्द्रियान् सासादनानधिकृत्याष्टाशीतिरेव यतो द्विनवतिरुपशमश्रेणीतः प्रतिपततो लभ्यते नच तिरश्चामुपशमश्रेणिसंभवः। एकत्रिंशदुदयेऽप्यष्टाशीतिरेव यत एकत्रिंशदुदयस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियणां न च तिरश्चां द्विनवतिः संभवति प्रागुक्त्या युक्तेः। एकोनत्रिंशतं तिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्यप्रायोग्यां बध्नतः सासादनस्य सप्तापुदयस्थानानि। तत्र एकेन्द्रियविकलेन्द्रिय तिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्यदेवनैरयिकाणां सासादनानां स्वीयस्वीयोदयस्थानेषु वर्त्तमानानामेव सत्तास्थानानामष्टाशीतिः नवरं मनुष्यस्य त्रिंशदुदये वर्त्तमानस्योपशमश्रेणीतः प्रतिपततः सासादनस्य द्विनवतिः। एवं त्रिंशद्बन्धकस्यापि वक्तव्यं सर्वाण्वुदयस्थानान्यधिकृत्य सामान्येन सर्वसंख्यया सासादनस्याष्टादशसत्तास्थानानि। संप्रति सम्यग्मिथ्यादृष्टेर्बन्धोदयसत्तास्थानान्यभिधीयन्ते (दुगतिगत्ति) तत्र द्वे बन्धस्थाने तद्यथा अष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत्। ततः तिर्यग्मनुष्याणां सम्यग्मिथ्यादृष्टीनां देवगतिप्रायोग्यमेव बन्धमायाति ततस्तेषामष्टाविंशतिः तत्र भङ्गाः अष्टौ। एकोनत्रिंशतं मनुष्यगतिप्रायोग्यां बध्नतां देवनैरयिकाणामत्राप्यष्टौ भङ्गाः ते च उभयत्रापि स्थिरास्थिरशुभाशुभयशःकीर्त्ययशःकीर्तिपदेरवसेयाः। शेषास्तु परावर्त्तमानप्रकृतयः शुभा एव सम्यग्मिथ्यादृष्टीनां बन्धमायान्ति ततः शेषा भङ्गाः न प्राप्यन्ते। सर्वसंख्यया षोडश भङ्गाः त्रीण्युदयस्थानानि तद्यथा एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् एकत्रिंशत्। तत्रैकोनत्रिंशति देवानधिकृत्याष्टौ भङ्गा नैरयिकानधिकृत्यैकः सर्वसंख्यया नव। त्रिंशति तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य पर्याप्त्यपर्याप्तियोग्यानि द्विपञ्चाशदधिकानि एकादश शतानि मनुष्यानधिकृत्य एकादश शतानि द्विपञ्चाशदधिकानि। सर्वसंख्यया त्रयोविंशतिशतानि चतुरधिकानि। एकत्रिंशदुदयस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य तत्र भङ्गाः द्विपञ्चाशदधिकान्येकादश शतानि सर्वोदयस्थानभङ्गसंख्या चतुस्त्रिंशच्छतानि पञ्चषष्ट्याधिकानि। संप्रति संवेध उच्यते सम्यग्मिथ्यादृष्टरेष्टाविंशतिबन्धकस्य द्वे उदयस्थाने तद्यथा त्रिंशत् एकत्रिंशत्। एकैकस्मिन्नुदयस्थाने द्वे द्वे सत्तास्थाने तद्यथा द्विनवतिरष्टाशीतिश्च। एकानत्रिंशद्बन्धकस्य एकमुदयस्थानमेकोनत्रिंशत् अत्रापि द्वे सत्तास्थाने तदेवमेकैकस्मिन् उदयस्थाने द्वे द्वे सत्तास्थाने इति सर्वसंख्यया षट्। संप्रत्यविरतसम्यग्दृष्टेर्बन्धोदयस्थानान्यभिधीयन्ते (तिगट्ठचउत्ति) त्रीणि बन्धस्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशत्। तत्र तिर्यग्मनुष्याणामविरतसम्यग्दृष्टिनां देवगतिप्रयोग्यं च बध्नतामष्टाविंशतिः तत्राप्यष्टौ भङ्गाः अविरतसम्यग्दृष्टयो हि तिर्यग्मनुष्या न शेषगतिप्रायोग्यं बध्नंति तेन नरकगतिप्रायोग्या अष्टाविंशतिर्न लभ्यते मनुष्याणां देवगतिप्रायोग्यां तीर्थकरसहितां बध्नतामेकोनत्रिंशत्। अत्राप्यष्टौ भङ्गाः। देवनैरयिकाणां मनुष्यगतिप्रायोग्यं बध्नतामेकोनत्रिंशत् अत्रापि त एवाष्टौ भङ्गाः तेषामेव मनुष्यगतिप्रायोग्यां तीर्थकरसहितां बध्नतां त्रिंशत् अत्रापि त एवाष्टौ भङ्गाः (सर्वसंख्यया द्वात्रिंशत) एवमत्राष्टावुदयस्थानानि तद्यथा एकविंशतिः पञ्चविंशतिः षडविंशतिः सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशत् एकत्रिंशत् तत्रैकविंशत्युदयो-

नैरयिकतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्यदेवानधिकृत्य वेदितव्यः। क्षायिकसम्यग्दृष्टेः पूर्वबद्धायुष्कस्य एतेषु सर्वेष्वपि तस्य संभवात्। अविरतसम्यग्दृष्टिश्चापर्याप्तेषु नोत्पद्यते ततोऽपर्याप्तकोदयवर्जाः शेषा भङ्गाः सर्वेष्वपि वेदितव्याः। ते च पञ्चविंशतिः तत्र तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्याष्टौ मनुष्यानधिकृत्याष्टौ देवानप्यधिकृत्याष्टौ नैरयिकानधिकृत्यैकः। पञ्चविंशति-सप्तविंशत्युदयौ देवान् नैरयिकान् वैक्रियतिर्यग्मनुष्यांश्चाधिकृत्यावसेयौ। तत्र नैरयिकक्षायिकवेदकसम्यग्दृष्टिर्वा देवस्त्रिविधसम्यग्दृष्टिरपि। उक्तं च चूर्णौ ''पण्णवीस सत्तवीसोदया य देवनेरइए वेउव्वियम्मि तिरियमणुए पडुच्च नेरइगोखाइगवेयगसम्मादिट्ठी देवा तिविहसम्मादिट्ठी वि तिभंगा'' षडविंशत्युदयस्तिर्यग्मनुष्याणां क्षायिकवेदकसम्यग्दृष्टीनां औपशमिक सम्यग्दृष्टिश्चतिर्यग्मनुष्येषु मध्येनोत्पद्यते इति त्रिविधसम्यग्दृष्टीनामिति नोक्तवेदकसम्यग्दृष्टिनां च तिरश्चां द्वाविंशतिसत्कर्मणां वेदितव्यः। अष्टाविंशत्येकोनत्रिंशदुदयौ नैरयिकतिर्यग्मनुष्यदेवानां त्रिंशदुदयस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्यदेवानामेकत्रिंशदुदयस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणाम्। अत्र भङ्गाः आत्मीया आत्मीयाः सर्वेऽपि द्रष्टव्याः। चत्वारि सत्तास्थानानि तद्यथा त्रिनवतिर्द्विनवतिरेकोननवतिरष्टाशीतिश्च। तत्र योऽप्रमत्तसंयतोऽपूर्वकरणो वा तीर्थकराहारकसहितामेकत्रिंशतं बन्ध्वा पश्चादविरतसम्यग्दृष्टिर्देवो जातस्तमधिकृत्य त्रिनवतिः यस्त्वाहारकं कृत्वा परिणामपरावर्त्तनेन मिथ्यात्वमुपगम्य चतसृणां गतीनामन्यतमस्यां गतावुत्पन्नस्तस्य तत्र तत्र गतौ भूयोऽपि सम्यक्त्वं प्रतिपन्नस्य द्विनवतिर्देवमनुष्येषु मध्ये मिथ्यात्वमप्रतिपन्नस्यापि द्विनवतिः प्राप्यते एकोननवतिः देवनैरयिकमनुष्याणामविरत सम्यग्दृष्टीनाम्। ते हि त्रयोऽपि तीर्थकरनामसत्कर्माणोऽप्युत्पद्यन्ते इति तिर्यङ् न गृहीतःअष्टाशीतिश्चतुर्गतिकानामविरतसम्यग्दृष्टीनाम्। संप्रति संवेध उच्यते। तत्राविरतसम्यग्दृष्टेरष्टाविंशतिबन्धकस्य अष्टावप्युदयस्थानानि तानि तिर्यङ्मनुष्यानधिकृत्य तत्रापि पञ्चविंशतिसप्तविंशत्युदयौ। वैक्रियतिर्यङ्मनुष्यानधिकृत्य एकैकस्मिन् उदयस्थाने द्वे द्वे सत्तास्थाने तद्यथा द्विनवतिरष्टाशीतिश्च। एकोनत्रिंशत् द्विधा देवगतिप्रायोग्या मनुष्यगतिप्रायोग्या च। तत्र देवगतिप्रायोग्या तीर्थकरनामसहिता तां च मनुष्या एव बध्नन्ति न तिर्यञ्चः एतेषां च उदयस्थानानि सप्त तद्यथा एकविंशतिः पञ्चविंशतिः षडविंशतिः सप्तविंशतिरष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशत्। मनुष्याणामेकत्रिंशन्न भवति एकैकस्मिन्नुदयस्थाने द्वे सत्तास्थाने तद्यथा त्रिनवतिरेकोननवतिश्च। मनुष्यगतिप्रायोग्यां चैकोनत्रिंशतं बध्नतां देवनैरयिकाणां तत्र नैरयिकाणामुदयस्थानानि पञ्च तद्यथा एकविंशतिः पञ्चविंशतिः सप्तविंशतिरष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशद्देवानां पञ्च तावदेतान्येव न त्रिंशत् सा च उद्योतवेदकानामवगन्तव्या एकैकस्मिन् द्वे उदयस्थाने तद्यथा द्विनवतिरष्टाशीतिश्च। मनुष्यगतिप्रायोग्यां त्रिंशतमविरतसम्यग्दृष्ट्यो देवा नैरयिकाश्च बध्नन्ति तत्र देवानामुदयस्थानानि षट् तान्येवं एकविंशतिः पञ्चविंशतिः सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् तेषु उदयस्थानेषु प्रत्यकं द्वे द्वे सत्तास्थाने त्रिनवतिरेकोननवतिश्च नैरयिकाणामुदयस्थानाति पञ्च तेषु प्रत्येकं सत्तास्थानमेकोननवतिः तीर्थकराहारकसत्कर्मणो नरकेषूत्पादाभावात्। तदेवं सामान्येन एकविंशत्यादिषु त्रिंशत्पर्यन्तेषु उदयस्थानेषु सत्तास्थानानि प्रत्येकं चत्वारि चत्वारि तद्यथा त्रिनवतिः द्विनवतिरेकोननवतिरष्टाशीतिश्च। एकत्रिंशदुदये द्वे नवतिरष्टाशीतिश्च। सर्वसंख्यया चतुःपञ्चाशत्। संप्रति देशविरतस्य बन्धादिस्थानान्युच्यन्ते (दुगठक्कट्ठ चउक्कं ति) देशविरतस्य द्वे बन्धस्थाने तद्यथा अष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत् तत्राष्टाविंशतिर्भनुष्यतिर्यक्पञ्चेन्द्रियस्य वा देशविरतस्य देवगतिप्रायोग्या। तत्राष्टौ भङ्गाः सैव तीर्थकरसहिता एकोनत्रिंशत् सा च मनुष्यस्यैव। नतिरश्चां तीर्थकरसत्कर्म्मबन्धाभावात् अत्राप्य ष्टौ भङ्गाः षट् उदयस्थानानि तद्यथा पञ्चविंशतिः सप्तविंशतिरष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् एकत्रिंशत् तत्राद्यानि चत्वारि चत्वारि वैक्रियतिर्यग्मनुष्याणामत्र एकैको भङ्गः सर्वपदानां प्रशस्तत्वात् त्रिंशत्स्वभावस्थानामपि तिर्यग्मनुष्याणामत्र भङ्गानां चतुश्चत्वारिंशच्छतम्। तच्च षडभिः संस्थानैः षडभिः संहननैः सुस्वरदुःस्वराभ्यां प्रशस्ता प्रशस्तविहायोगतिभ्यां च जायते दुर्भगानादेयायशःकीर्ती नामुदयो गुणप्रत्ययादेव न भवतीति तदाश्रिता विकल्पा न प्राप्यन्ते तिर्यग्मनुष्याणां प्रत्येकमेकैको भङ्गः (सर्वसंख्यया नवाशीत्यधिकं शतद्वयम्) एकत्रिंशत् तिरश्चां अत्रापि त एव भङ्गाः (सर्वसंख्यया त्रिचत्वारिंशदधिकं चतुःशतम्) अत्र चत्वारि सत्तास्थानानि तद्यथा त्रिनवतिर्द्विनवतिरेकोननवतिरष्टाशीतिश्च तत्र योऽप्रमत्तोऽपूर्वकरणो वा तीर्थकराहारकं बन्ध्वा परिणामह्रासेन देशविरतो जातस्तस्य त्रिनवतिः। शेषाणां भावना अविरतसम्यग्दृष्टेरिव कर्त्तव्या। संप्रति संवेध उच्यते तत्र मनुष्यस्य देशविरतस्याष्टाविंशतिबन्धकस्य पञ्च उदयस्थानानि तद्यथा पञ्चविंशतिः सप्तविंशतिरष्टाविंशतिरे-कोनत्रिंशत् त्रिंशत्। एतेषु च प्रत्येकं द्वे द्वे सत्तास्थाने तद्यथा द्विनवतिरष्टाशीतिश्च। एवं तिरश्चोऽपि नवरं तस्य एकत्रिंशदुदयोऽपि वक्तव्यः। तत्रापि चैते एव द्वे सत्तास्थाने एकोनत्रिंशद्बन्धो मनुष्यस्येव देशविरतस्य तस्योदयस्थानान्यनन्तरोक्तान्येव पञ्च तेषु प्रत्येकं द्वे द्वे सत्तास्थाने तद्यथा त्रिनवतिरेकोनेनवतिश्च। तदेवं देशविरतस्य पञ्चविंशत्यादिषु त्रिंशत्पर्यन्तेषु चत्वारि चत्वारि सत्तास्थानानि एकत्रिंशदुदये द्वे सत्तास्थाने सर्वसंख्यया द्वाविंशतिः। संप्रति प्रमत्तसंयतस्य बन्धादिस्थानान्युच्यन्ते (दुगपणचउत्ति) प्रमत्तसंयतस्य द्वे बन्धस्थाने तद्यथा अष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत्। एते देशविरतस्येव भावनीये। पञ्च उदयस्थानानि तद्यथा पञ्चविंशतिः सप्तविंशतिरष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशत् (भाषाटीकायां तत्राद्यानि चत्वारि आहरकसंयतस्य वैक्रियसंयतस्य वेदितव्यानि इत्थमुपलभ्यते अवशिष्टः कस्येत्यनुक्तमतो निस्सारमिमं प्रमीणीमः) एतानि सर्वाण्यप्याहारकसंयतस्य वैक्रियसंतस्य वा वेदितव्यानि। त्रिंशत् स्वभावस्थसंयतस्यापि तत्र वैक्रियसंयतानामाहारकसंयतानां च पृथक् पञ्चविंशति-सप्तविंशत्युदये प्रत्येकमेकैको (द्वौ द्वौ इति भाषापुस्तके) भङ्गः अष्टाविंशतौ एकोनत्रिंशति चैकैकः सर्वसंख्यया चतुर्दश। त्रिंशदुदयः स्वभावस्थस्यापि प्राप्यते द्वौ द्वौ ततश्चतुश्चत्वारिंशच्छतम् तच्च देशविरतस्यैव भावनीयं सर्वसंख्यया अष्टपञ्चाशदधिकं शतम् चत्वारि सत्तास्थानानि तद्यथा त्रिनवतिर्द्विनवतिरेकोननवतिरष्टाशीतिश्च। संप्रति संवेध उच्यते अष्टाविंशतिबन्धकस्य पञ्चस्वप्युदयस्थानेषु प्रत्येकं द्वे द्वे सत्तास्थाने तद्यथा द्विनवतिरष्टाशीतिश्च। तत्राहारकसंयतस्य द्विनवतिरेव आहारकसत्कर्म्मा ह्याहारकशरीरमुत्पादयतीति ततस्तस्य द्विनवतिरेव वैक्रियसंयतस्य पुनर्द्वे अपि तीर्थकरनाम-सत्कर्मणश्चाष्टाविंशतिं बध्नातस्त्रिनवतिरेकोननवतिः तथाहारकसंयतस्य त्रिनवतिरेव तस्यैको-

नत्रिंशद्बन्धकस्य-नियमतस्तीर्थकराहारकसद्भावात । वैक्रियसंपतस्य पुनर्द्वे अपि तदेवं प्रमत्तसंयतस्य सर्वेष्वप्युदयस्थानेषु प्रत्येकं चत्वारि चत्वारि सत्तास्थानानि प्राप्यन्ते एकानत्रिंशद्बन्धकस्य पञ्चस्वपि उदयस्थानेषु प्रत्येकं द्वे द्वे सत्तास्थाने तद्यथा त्रिनवतिरेकोननवतिश्चा सर्वसंख्यया विंशतिः । इदानीमप्रमत्तसंयतस्य बन्धादीन्युच्यन्ते (चउदुगचउत्ति) अप्रमत्तसंयतस्य चत्वारि बन्धस्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत्त्रिंशदेकत्रिंशत् तत्राद्ये द्वे प्रमत्तसंयतस्यैव भावनीये सैवाष्टाविंशतिराहारकद्विकसहिता त्रिंशत् आहारकद्विक-तीर्थकरसहिता त्वेकत्रिंशत् एतेषु चतुर्ष्वपि बन्धस्थानेषु भङ्ग एकैक एव वेदितव्यः अस्थिराशुभायशःकीर्तीनामप्रमत्तसंयतबन्धाभावात् द्वे उदयस्थाने तद्यथा एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् तत्रैकोनत्रिंशत् यो नाम पूर्वं प्रमत्तसंयतः सन् आहारकवैक्रियं वा निर्वर्त्य पश्चादप्रमत्तभावं गच्छति तस्य प्राप्यते । अत्र द्वौ भङ्गौ एको वैक्रियस्यापर आहारकस्य । एवं त्रिंशदुदयेऽपि द्वौ भङ्गौ स्वभावस्थस्याप्रमत्तसंयतस्य त्रिंशदुदयो भवति । तत्र भङ्गाः षट् चत्वारिंशच्छतं सर्वसंख्यया अष्टचत्वारिंशच्छतम् । सत्तास्थानानि चत्वारि तद्यथा त्रिनवतिर्द्विनवतिरेकोननवतिः अष्टाशीतिश्च । अष्टाविंशतिबन्धकस्यद्वयोरप्युदयस्थानमष्टाशीतिरेकोनत्रिंशद्बन्धकस्यापि द्वयोरप्युदय स्थानयोरेकैकं सत्तास्थानं एकोननवतिः । त्रिंशद्बन्धकस्यापि द्वयोरप्युदयस्थानयोरेकैकं सत्तास्थानं द्विनवतिः एकत्रिंशद्बन्धकस्यापि द्वयोरप्युदयस्थानयोरेकैकं सत्तास्थान त्रिनवतिः। यस्य हि तीर्थकरमाहारकं वा सत्स नियमात्तद्बध्नाति तेन एकैकस्मिन् बन्धे एकैकमेव सत्तास्थानम्। सर्वे अष्टौ। संप्रत्यपूर्वकरणस्य बन्धादीन्युच्यन्ते (पणगेगत्ति) अपूर्वकरणस्य पञ्च बन्धस्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् एकत्रिंशत् एक च तत्राद्यानि चत्वारि अप्रमत्तसंयतस्येव द्रष्टव्यानि एका तु यशःकीर्तिः सा च देवगतिप्रायोग्यबन्धव्यवच्छेदे सति वेदितव्या। तत्र प्रत्येकमेकैको भङ्गः सर्वसंख्यया पञ्चतत्र प्रत्येकबन्धस्थाने एकत्रिंशदुदयस्थानको वेदितव्यः तत्राद्यसंहननस्य षडभिःसंस्थानविकल्पैः षड् भङ्गा स्तद्यथा षडविंशतिरष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशत् एकत्रिंशत् एका च तत्राद्यानि चत्वारि अप्रमत्तसंस्थानसुस्वरप्रशस्ताप्रशस्तविहायोग-तिभिर्भङ्गाश्-चतुर्विंशतिः (भाषाटीकायाम् त एव षड्भङ्गाःशुभाशुभखगतिभ्यां द्वादश तथा सुस्वरदुःस्वराभ्यां चतुर्विंशतिः प्रोक्ता) अन्ये त्वाचार्या ब्रुवते आद्यसंहननयुक्ता न त्वन्यतमसहेननयुक्ता अप्युपशमश्रेणिं प्रतिपद्यन्ते तन्मतेन भङ्गा द्विसप्ततिः। एवमनिवृत्तिबादरसूक्ष्मसंपरायोपशान्मोहेष्वपि द्रष्टव्यम्। चत्वारि सत्तास्थानानि तद्यथा द्विनवतिस्त्रिनवतिरेकोननव-तिरष्टाशीतिश्च अष्टाविंशत्येकोनत्रिंशत्त्रिंशदे कत्रिंशद्बन्धकानां त्रिंशदुदये सत्तास्थानानि यथाक्रममष्टाशीतिरेकोननवतिर्द्विन-वतिस्त्रिनवतिश्च। एकविधबन्धकस्य त्रिंशदुदये चत्वार्यपि सत्तास्थानानि कथमिति चेदुच्यते । इह अष्टाविंशत्येकोनत्रिंशत्त्रिंशदेकत्रिंशद्बन्धकाः प्रत्येकं देवगतिप्रायोग्यबन्धव्यवच्छे दे सत्येकविधबंन्धका भवन्ति । अष्टाविंशत्यादिबन्धकानां च यथाक्रममष्टाशीत्यादीनि सत्तास्थानानि तत एकविधबन्धे चत्वार्यपि सत्तास्थानानि प्राप्यन्ते । संप्रत्यनिवृत्तिबादरबन्धस्थानान्युच्यन्ते (एगेगमट्ठत्ति) अनिवृत्ति बादरस्य एकं बन्धस्थानं यशःकीर्त्तेरेकमुदयस्थानं त्रिंशति अष्टौ सत्तास्थानानि तद्यथा त्रिनवतिर्द्विनवतिरेकोननवतिरष्टाशीतिरशी-तिरेकोनाशीतिः षट्सप्ततिः पञ्चसप्ततिश्च। तत्राद्यानि चत्वार्युपशमश्रेण्यां क्षपकश्रेण्यां वा यावन्नाम त्रयोदशकं न क्षीयते त्रयोदशसु च नामसु यथाक्रमं क्षीणेषु त्रिनवत्यादेरुपरितनानि चत्वारि सत्तास्थानानि भवन्ति बन्धोदयस्थाने भेदाभावात्। अतोऽत्र संवेधः न संभवतीति नाभिधीयते । सूक्ष्मसंपरायस्य बन्धादीन्युच्यन्ते (एगेगमट्ठत्ति) सूक्ष्मसंपरायस्य एकं बन्धस्थानं यशःकीर्तिः एकमुदयस्थानं त्रिंशत् अष्टौ सत्तास्थानानि तानि चानिवृत्तिबादरस्येव वेदितव्यानि तत्राद्यानि चत्वार्युपशमश्रेण्यामेव उपरितनानि तु क्षपकश्रेण्याम् (छउमत्थकेवलिजिणाणमित्यादि) छद्मस्थजिना उपशान्तमोहाः क्षीणमोहाश्च केवलिजिनाः सयोगिकेवलिजिना अयोगिकेवलिनश्च तेषां यथाक्रममुदय-सत्तास्थानानि ''एकं चऊ'' इत्यादीनि । तत्रोपशान्तमोहस्य एकमुदयस्थानं त्रिंशत् चत्वारि सत्तास्थानानि । तद्यथा त्रिनवतिः द्विनवतिरेकोननवतिरष्टाशीतिश्च । क्षीणकषायस्य एकमुदयस्थानं त्रिंशत्। अत्र भङ्गाश्चतुर्विंशतिरेव वज्रर्षभनाराचसंहननयुक्तस्यैव क्षपकश्रेण्यारम्भसंभवात् तत्रापि तीर्थकरसत्कर्मणः क्षीणमोहस्य सर्वसंस्थानादिप्रशस्तमित्येक एव भङ्गः। चत्वारि सत्तास्थानानि तद्यथा अशीतिः एकोनाशीतिः षट्सप्ततिः पञ्चसप्ततिश्च । एकोनाशीतिपञ्च-सप्तती अतीर्थकरसत्कर्मणो वेदितव्ये । अशीतिषट्सप्तती तु तीर्थकरसत्कर्मणः । सयोगिकेवलिनोऽष्टावुदयस्थानानि तद्यथा विंशतिरेकविंशतिः षडविंशतिः सप्तविंशतिरष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशत् एकत्रिंशत् । एतानि सामान्यतो नाम्न उदयस्थानचिन्तायां सप्रपञ्चं निरुपितानीति न भूयो विव्रियते । अत्र चत्वारि सत्तास्थानानि तद्यथा अशीतिरेकोनाशीतिः षट्सप्ततिः पञ्चसप्ततिः । संवेध उच्यते स च चतुर्दशसु जीवस्थानेषु पर्याप्तसंज्ञिद्वारे यथाकृतस्तथात्रापि भावयितव्यः । अयोगिकेवलिनो द्वे उदयस्थाने तद्यथा नव अष्टौ च । तत्राष्टोदये त्रीणि सत्तास्थानानि तद्यथा एकोनाशीतिः पञ्चसप्ततिः अष्टौ च। तत्राद्यद्वे यावद् द्विचरमसमयस्तावत्प्राप्येते चरमसमये त्रीणि सत्तास्थानानि तद्यथा अशीतिः षट्सप्ततिर्नव च । तत्राद्ये द्वे यावद् द्विचरमसमयः चरमसमये नव । तदेवं गुणस्थानकेषु बन्धोदयसत्तास्थानान्यु क्तानि।

सांप्रतं गत्यादिषु मार्गणास्थानकेषु विचिन्तितेषु
प्रथमतोगतिषु तावच्चिन्तयन्नाह

दो छक्कट्ठचउक्कं, पण नव इक्कारछक्कगं उदया।
नेरइयाइसु संता, ति पंच एक्कारस चउक्कं ॥६४॥

नैरयिकतिर्यग्मनुष्यदेवानां यथाक्रमं द्वे षट् अष्टौ चत्वारि बन्धस्थानानि । तत्र नैरयिकाणामिमे द्वे तद्यथा एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । तत्रैकोनत्रिंशत् मनुष्यगतितिर्यग्गतिप्रायोग्या वेदितव्या। त्रिंशत् तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्या उद्योतसहिता मनुष्यगतिप्रायोग्या तु तीर्थकरसहिता भङ्गाश्च प्रागुक्ताः सर्वेऽपि द्रष्टव्याः । तिरश्चां षड् बन्धस्थानानि तद्यथा त्रयोविंशतिः पञ्चविंशतिः षडविंशतिरष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशत् एतानि प्रागिव सप्रभेदानि वक्तव्यानि केवलमेकोनत्रिंशत् त्रिंशद्वया तीर्थकराहा-रकसहिता सा न वक्तव्या तिरश्चां तीर्थकराहारकबन्धासंभवात्। मनुष्याणामष्टौ बन्धस्थानानि तद्यथा त्रयोविंशतिः पञ्चविंशतिः षडविंशतिरष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत्त्रिंशदेकत्रिंशत् एका च। एतान्यपि प्रागिव सप्रभेदानि वक्तव्यानि मनुष्याणां चतुर्गतिकप्रायोग्य-बन्धसंभवात् । देवस्य चत्वारि बन्धस्थानानि तद्यथा पञ्च-

विंशतिः षडविंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशत्। अत्र पञ्चविंशतिः षडविंशतिश्च पर्याप्त बादरप्रत्येकसहित-मेकेन्द्रियप्रायोग्यं बध्नतो वे दितव्या। अत्र स्थिरास्थिरशुभाशुभयशःकीर्ति २ भिरष्टौ भङ्गाः षडविंशतिरात-पोद्योतान्यतरसहिता भवति ततोऽत्र भङ्गाः षोडश एकोनत्रिंशत् मनुष्यगतिप्रायोग्या तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्या च सप्रभेदाऽवसेया। त्रिंशत्पुनस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्या उद्योतसहिता अष्टाधिकषट्चत्वा-रिंशतच्छसंख्यभेदोपेता प्रागिव वक्तव्या। या तु मनुष्यगतिप्रायोग्य-तार्थकरनामसहिता तत्र स्थिरास्थिरशुभाशुभयशःकीर्ति २ भिरिष्टौ भङ्गाः। संप्रति उदयस्थान्यभिधीयन्ते (पण नव एक्कारछक्कगंउदयत्ति) नैरयिकाणां पञ्च (उदयाः) उदयस्थानानि तद्यथा एकविंशतिः पञ्चविंशतिः सप्तविंशतिरष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत्। एतानि सप्रभेदानि प्रागिव वक्तव्यानि। तिरश्चां नव उदयस्थानानि तद्यथा एकविंशतिश-चतुर्विंशतिःपञ्चविंशतिः षडविंशतिः सप्तविंशति रष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशदेकत्रिंशत्। एतानि च एकेन्द्रियविकलेन्द्रियसवैक्रिया-वैक्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य सप्रभेदानि प्रागिव वक्तव्यानि मनुष्याणामेकादशोदयस्थानानि तद्यथा विंशतिरेकुविंशतिःपञ्चविंशतिः षडविंशतिःसप्तविंशतिरष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशस्त्रशदेकत्रिंशत् नव अष्टौ। एतानि च स्वभावस्थमनुष्यवैक्रियमनुष्याहारकसंयतः तीर्थकराहारक-संयोगिकेवलिनोऽधकृत्य प्राग्वद्भावनीयनि। देवानां षट् उदयस्थानानि तद्यथा एकविंशतिः पञ्चविंशतिः सप्तविंशतिरष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशत्। एतान्यपि प्रागिव सप्रपञ्चमुक्तानि भूय उच्यन्ते। संप्रति सत्तास्थानान्यभिधीयते (ति पंच एक्कारस चउक्कंति) नैरयिकाणां सत्तास्थानानि त्रीणि तद्यथा द्विनवतिरेकोननवतिरष्टाशीतिश्च। एकाननवतिर्बद्धतीर्थकरनाम्नो मिथ्यात्वं गतस्य नैरकेषूत्पद्यमान-स्यावसेया त्रिनवतिस्तु न संभवति तीर्थकराहारकसत्कर्मणो नरकेषूत्पादाभावात्। तिरश्चां पञ्च सत्तास्थानानि तद्यथा द्विनवतिरष्टाशीतिः षडशीतिरशीतिरष्टसप्ततिश्च। तीर्थकरसंबन्धीनि क्षपकसंबन्धीनि च सत्तास्थानानि संभवन्ति तीर्थकरनाम्नः क्षपकश्रेण्याश्च तिर्यक्षु असंभवात्। मनुष्याणामेकादश सत्तास्थानानि तद्यथा त्रिनवतिर्द्विनवतिरेकोननवतिरष्टाशीतिः षडशीतिरशीतिरे-कोनाशीतिः षट्सप्ततिः पञ्चसप्ततिर्नव अष्टौ च। अष्टसप्ततिश्च न संभवति मनुष्याणामवश्यं मनुष्यद्विकसंभवात्। देवानां चत्वारि सत्तास्थानानि तद्यथा त्रिनवतिर्द्विनवतिरेकोननवतिरष्टाशीतिः शेषाणि तु न संभवन्ति शेषा हि कानिचिदेकेन्द्रियसंबन्धीनि कानिचित् क्षपकसंबन्धीनि ततः कथं तानि देवानां भवितुमर्हन्ति। संप्रति संधेण उच्यते। नैरयिकस्य तिर्यग्गतिप्रायोग्यामेकोनत्रिंशत् बध्नतः पञ्च उदयस्थानानि तानि चानन्तरमेवोक्तानि तेषु प्रत्येकं द्वे द्वे सत्तास्थाने तद्यथा द्विनवतिरष्टाशीतिः। तीर्थकरसत्कर्मणस्तिर्यग्गतिप्रायोग्य-बन्धासंभवात् एकोननवतिर्न लभ्यते मनुष्यगतिप्रायोग्यां त्वेकोनत्रिंशतं बध्नतः पञ्चस्वपि उदयस्थानेषु प्रत्येकं त्रीणि त्रीणि सत्तास्थानानि तद्यथा द्विनवतिरेकोननवतिरष्टाशीतिः। तीर्थकरसत्कर्म्मा हि नरकेषूत्पन्नो यावन्मिथ्यादृष्टिस्तावदेकोनत्रिंशतं बध्नाति सम्यक्त्वं प्रतिपन्नस्त्रिंशतं तीर्थकरनामकर्मणोऽपि बन्धात्। तिर्यग्गतिप्रायोग्यामुद्योतसहितां त्रिंशतं बध्नतः पञ्चस्वपि उदयस्थानेषु प्रत्येकं द्वे द्वे सत्तास्थाने तद्यथा द्विनवतिरष्टाशीतिश्च। एकाननवत्यभावभावना प्रागिव भावनीया। मनुष्यप्रायोग्यां तीर्थकरसहितां त्रिंशतं बध्नतः पञ्चस्वपि उदयस्थानेषु प्रत्येकमेकैकं सत्तास्थानमेकोननवतिः सर्वबन्धस्थानोदयस्थानापेक्षया सत्तास्थानानि चत्वारिंशत्। संप्रति तिरश्चां संवेध उच्यते। त्रयोविंशतिबन्धकस्य तिरश्च एकविंशत्यादीनि चतुरुदयस्थानानि तानि चानन्तरमेवोक्तानि। तत्राद्येषु चतुर्ष्वेकविंशतिचतुर्विंशतिपञ्च-विंशति षडविंशतिरूपेषु प्रत्येकं पञ्च सत्तास्थानानि तद्यथा द्विनवतिरष्टाशीतिः षडशीतिरशीतिरष्टसप्ततिः। इहाष्टसप्ततिस्तेजो-वायून् तद्भवादुद्वृत्तान्वाधिकृत्य वेदितव्या शेषेषु तु सप्तविंशत्यादिषु पञ्चसूदयस्थानेषु अष्टाविंशत्यादिषु पञ्चसूदयस्थानेषु अष्टसप्ततिवर्जानि चत्वारि सत्तास्थानानि सप्तविंशत्याद्युदयेषु हि नियमतो मनुष्यगतिद्विकसंभवादष्टसप्ततिर्न लभ्यते। एवं पञ्चविंशत्येकोनत्रिंश-त्त्रिंशद्बन्धकानामपि वक्तव्यं नवरमेकोनत्रिंशतं मनुष्यगतिप्रायोग्यां बध्नतः सर्वेष्वप्युदयस्थानेष्वष्टसप्ततिवर्जानि चत्वारि चत्वारि सत्तास्थानानि अष्टाविंशतिबन्धकस्य अष्टावुदयस्थानानि तद्यथा एकविंशतिः पञ्चविंशतिः षडविंशतिःसप्तविंशतिरष्टा-विंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशत् एकत्रिंशत्। तत्र एकविंशतिषडविंशत्यष्टाविंशत्येकोनत्रिंशत्त्रिंशदूपाः पञ्च उदयाः क्षायिकसम्यग्दृष्टीनां वेदकसम्यग्दृष्टीनांवा द्वाविंशतिसत्कर्म्मणां पूर्वबद्धायुषामवगन्तव्याः। एकैकस्मिंश्च द्वे द्वे सत्तास्थाने तद्यथा द्विनवतिरष्टाशीतिश्च। पञ्चविंशतिसप्तविंशत्युदयौ वैक्रियतिरश्चां वेदितव्यौ तत्रापि ते एव द्वे द्वे सत्तास्थाने त्रिंशदेकत्रिंशदुदयौ सर्वपर्याप्तिपर्याप्तानां सम्यग्दृष्टीनां वाऽवसेयौ। एकैकस्मिंश्च त्रीणि त्रीणि सत्तास्थानानि तद्यथा द्विनवतिरष्टाशीतिः षडशीतिश्च। षडशीतिर्मिथ्यादृशामवगन्तव्या सम्यग्दृष्टीनां च न संभवति तेषामवश्यं देवद्विकादिबन्धसंभवात् तदेवं सर्वबन्धस्थान-सर्वोदयस्थानापेक्षया सत्तास्थानानां द्वे शते अष्टादशाधिके। तथाहि त्रयोविंशति पंच एकविंशतिषडविंशत्येकोनस्त्रिंशद्बन्धकेषु प्रत्येकं चत्वारिंशच्चत्वारिंश-दष्टाविंशतिबन्धे चाष्टादश। संप्रति मनुष्याणां संवेध उच्यते तत्र मनुष्यस्य त्रयोविंशतिबन्धकस्य उदयाः सप्त तद्यथा एकविंशतिःपञ्चविंशतिःषड-विंशतिःसप्तविंशतिरष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशत् शेषाःकेवल्युदया इति न संभवन्ति त्रयोविंशति दन्धकस्य पञ्चविंशतिसप्तविंशत्युदयौ च वैक्रियकारिणौ वेदितव्यौ एकैकस्मिंश्चत्वारि चत्वारि सत्तास्थानानि तद्यथा द्विनवतिरष्टाशीतिः षडशीतिरशीतिश्च पञ्चविंशतिसप्तविंशत्युदये च द्वे द्वे सत्तास्थाने तद्यथा द्विनवतिरष्टाशीतिश्च शेषाणि तु सत्तास्थानानि तीर्थकरक्षपकश्रेणिकेवलिशेषतिप्रायोग्यानीति न संभवन्ति सर्वसंख्यायाचतुर्विंशतिः एवं पञ्चविंशतषडविंशतिबन्ध-कानामति वक्तव्यं मनुजगतिप्रायोग्यां चैकोनत्रिंशतं त्रिंशतं च बध्नता मप्येवमेव। अष्टाविंशतिबन्धकानां सप्तोदयास्तद्यथा एकविंशतिः पञ्चविंशतिः षडविंशतिः सप्तविंशतिरेकोनत्रिंशत्त्रिंशत् एकत्रिंशत् तत्र एकविंशतिषडविंशत्युदयौ अविरतसम्यग्दृष्टेः करणापर्याप्तस्य पञ्चविंशतिसप्तविंशत्युदयौ वैक्रियाहारकसंयतस्य चाष्टाविंशत्ये-कोनत्रिंशतौ अविरतसम्यग्दृष्टीनां वैक्रियकारिणामाहारकसंयतानां चत्रिंशत् सम्यग्दृष्टीनां मिथ्यादृष्टीनां वा एकैकस्मिन् द्वे द्वे सत्तास्थाने तद्यथा द्विनवतिरष्टाशीतिश्च। आहारकस्य द्विनवतिरेव त्रिंशदुदये चत्वारि सत्तास्थानानि तद्यथा द्विनवतिरेकोननवतिरष्टाशीतिः षडशीतिश्च। तत्रैकोननवतिः नरकगतिप्रायोग्यामष्टाविंशतिं बध्नतो मिथ्यादृष्टेरवसेया सर्वसंख्यया अष्टाविंशतिबन्धे षोडश सत्तास्थानानि देवगतिप्रायोग्यामेकोनत्रिंशतं तीर्थकरसहितां-

बध्नतः सप्त उदयस्थानानि तानि चाष्टाविंशतिबन्धकानामिव दृष्टव्यानि नवरं त्रिंशदुदयः सम्यग्दृष्टीनामेव वक्तव्यः यतएकोनत्रिंशद्बन्धस्तीर्थकरनाम च बन्धमायाति सम्यग्दृष्टीनामिति सर्वेष्वपि च उदयस्थानेषु द्वे द्वे सत्तास्थाने तद्यथा त्रिनवतिरेकोननवतिश्च। आहारकसंयतस्य त्रिनवतिरेवं सर्वसंख्यया चतुर्दश। आहारकद्विकसहितत्रिंशत्याहारकबन्धहेतोर्विशिष्टसंयमस्याभावात् द्वयोरप्युदयस्थानयोः प्रत्येकमेकं सत्तास्थानं द्विनवतिः। एकत्रिंशद्बन्धकस्य एकमुदयस्थानं त्रिंशत् एकं सत्तास्थानं त्रिनवतिः। एकविधबन्धकस्य एकमुदयस्थानं त्रिंशत्, अष्टौ सत्तास्थानानि तद्यथा त्रिनवतिः द्विनवतिरेकाननवतिः अष्टाशीतिः अशीतिःएकोनाशीतिः षट् सप्ततिः पञ्चसप्ततिश्च। सर्वबन्धोदयस्थानापेक्षया सत्तास्थानानां शतमेकोनषष्ट्यधिकं तद्यथा त्रयोविंशतिपञ्चविंशतिषडविंशतिषु चतुर्विंशतिश्चतुर्विंशतिः सत्ता अष्टाविंशतिबन्धे षोडश मनुजगतितिर्यग्गतिप्रायोग्यैकोनत्रिंशत्त्रिंशद्बन्धे चतुर्विंशतिश्चतुर्विंशतिः। देवगति-प्रायोग्यतीर्थकरसहितैकोनत्रिंशद्बन्धे चतुर्दश एकत्रिंशद्बन्धे एकमेव प्रकृति बन्धे अष्टाविति, बन्धाभावे उदयस्थानसत्तास्थानयोः परस्परसंवेधः सामान्यतः संवेधचिन्तायामिव वेदितव्यः। संप्रति देवानां पञ्चविंशतिबन्धकानां षट्स्वपि उदयस्थानेषु प्रत्येकं द्वे द्वे सत्तास्थाने तद्यथा द्विनवतिरष्टाशीतिश्च। एवं षडविंशत्येकोनत्रिंशद्बन्धकानामपि वक्तव्यम्। उद्योतसंहितां तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यां त्रिंशतमपि बध्नतामेवमेव तीर्थकरसहितां पुनस्त्रिंशतमर्थान्मनुष्यगतिप्रायोग्यां बध्नतां षट्स्वपि उदयस्थानेषु द्वे द्वे सत्तास्थाने तद्यथा त्रिनवतिरेकोननवतिश्च। सर्वसंख्यया सत्तास्थानानि षष्टिः तदेवं गतिमाश्रित्योक्तम्।

सम्प्रतीन्द्रियमाश्रित्याभिधीयते

इगविगलें दियसगले, पणपंच य अट्ठ बंधठाणाणं
पणछक्केक्कारुदया, पण पण बारस य संताणि ॥६५॥

एकेन्द्रियविकलेन्द्रियपञ्चेन्द्रियाणां यथाक्रमं बन्धस्थानानि पञ्च पञ्च अष्टौ। तत्रैकेन्द्रियाणां पञ्च बन्धस्थानानि तद्यथा त्रयोविंशतिः पञ्चविंशतिः षडविंशतिरेकोनत्रिंशस्त्रिंशत्। तत्र देवगतिप्रायोग्यामेकोनत्रिंशतं वर्जयित्वा शेषाणि सर्वाण्यपि सर्वगतिप्रायोग्यानि बन्धस्थानानि सप्रभेदानि वक्तव्यानि। विकलेन्द्रियाणां त्रयाणामपीत्येवं पञ्च पञ्च बन्धस्थानानि। पञ्चेन्द्रियाणां (त्रयोविंशतिः पञ्चविंशतिः षडविंशतिरष्टा-विंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशदेक त्रिंशदेकं चेति) सर्वाण्यपि बन्धस्थानानि सर्वगतिप्रयोग्यानि सप्रभेदानि द्रष्टव्यानि। संप्रत्युदयस्थानान्युच्यन्ते (पणछक्केक्कारुदयत्ति) एकेन्द्रियविकलेन्द्रियपञ्चेन्द्रियाणां यथाक्रमं पञ्च षडेकादश उदयस्थानानि। तत्रैकेन्द्रियाणाममूनि पञ्च उदयस्थानानि तद्यथा एकविंशतिश्चतुर्विंशतिः पञ्चविंशतिः षडविंशतिः सप्तविंशतिः एतानि सप्रभेदानि प्रागिव वक्तव्यानि। विकलेन्द्रियाणां षट् उदय स्थानानि तद्यथा एकविंशतिः षडविंशतिरष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशदेकत्रिंशत्। एतान्यपि यथाऽधस्तादुक्तानि तथैव वक्तव्यानि। पञ्चेन्द्रियाणाममून्येकादशोदयस्थानानि तद्यथा विंशतिरेकविंशतिः पञ्चविंशतिः षडविंशतिः सप्तविंशतिरष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशत् एकत्रिंशत् नवाष्टौ। एकेन्द्रियविकलेन्द्रियसत्कोदयस्थानानि वर्जयित्वा शेषाणि सर्वाण्यपि पञ्चेन्द्रियाणां सप्रभेदानि वक्तव्यानि। संप्रति सत्तास्थानान्युच्यन्ते (पण पण बारस य संताणित्ति) एकेन्द्रियविकलेन्द्रियपञ्चकेन्द्रियाणां यथाक्रमं पञ्च पञ्च द्वादश सत्तास्थानानि। तत्रैकेन्द्रियविकलेन्द्रियाणां पञ्च इमानि तद्यथा द्विनवतिरष्टाशीतिरुं षडशीतिरशीतिरष्टसप्ततिश्च। पञ्चेन्द्रियाणां (त्रिंनवतिर्द्विनवतितिरेकोननवतिरष्टाशीतिः षडशीतिरशीतिरेकोनाशीतिरष्टसप्ततिः षट्सप्ततिः पञ्चसप्ततिर्नवाष्टौ चेति) सर्वाण्यपि सत्तास्थानानि तदेवं सामान्यतो बन्धोदयसत्तास्थानान्युक्तानि। संप्रति संवेध उच्यते एकेन्द्रियाणां त्रयाविंशतिबन्धकानामाद्येषु चतुर्षूदयस्थानेषु पूर्वोक्तानि पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि। सप्तविंशत्युदयेष्वष्टसप्ततिवर्जानि शेषाणि चत्वारि एवं पञ्चविंशतिषडविंशत्येकोनत्रिंशद्बन्धकानामपि वक्तव्यं सर्वसंख्यया सत्तास्थानानि विंशं शतम्। विकलेन्द्रियाणां त्रयोविंशतिबन्धकानामेकविंशत्युदये षडविंशत्युदये च पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि शेषेषु चतुर्षूदयस्थानेष्वष्टसप्ततिवर्जानि शेषाणि चत्वारि चत्वारि सत्तास्थानानि एवं पञ्चविंशतिषडविंशत्येकोनत्रिंशत्त्रिंशद्बन्धकानामपि वक्तव्यं सर्वसंख्यया सत्तास्थानानि त्रिंशं शतम्। पञ्चेन्द्रियाणां त्रयोविंशतिबन्धकानां षडुदयस्थानानि तद्यथा एकविंशतिः षडविंशतिरष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशत् एकत्रिंशत्। एतानि तिर्यक्पञ्चेन्द्रियान् मनुष्याश्चांधिकृत्य भावनीयानि। अत्रैकविंशत्युदयेषु च पञ्च पञ्चानन्तरोक्तानि सत्तास्थानानि शेषेषु तूदयेष्वष्टसप्ततिवर्जानि शेषाणि चत्वारि चत्वारि सत्तास्थानानि सर्वसंख्यया षडविंशतिः सत्तास्थानानि। पञ्चविंशतिबन्धकस्याष्टौ उदयस्थानानि तद्यथा एकविंशतिः पञ्चविंशतिः षडविंशतिः सप्तविंशतिरष्टाविंशतिरेकोन-त्रिंशत् त्रिंशदेकत्रिंशत्। इहैकविंशत्युदये षडविंशत्युदये च पञ्चपञ्चानन्तरोक्तानि सत्तास्थानानि पञ्चविंशत्युदये सप्तविंशत्युदये च द्वे द्वे सत्तास्थाने तद्यथा द्विनवतिरष्टाशीतिश्च शेषेष्वष्टाविंशत्यादिषु चतुर्षूदयस्थानेषु प्रत्येकमष्टसप्ततिवर्जानि शेषाणि चत्वारि चत्वारि सत्तास्थानानि सर्वसंख्यया विंशत् सत्तास्थानानि। एवं षडविंशतिबन्धकानामपि अष्टाविंशतिबन्धकानामष्टा-वुदयस्थानानि तद्यथा एकविंशतिः पञ्चविंशतिः षडविंशतिः सप्तविंशतिरष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशत् एकत्रिंशत् एतानि तिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्यानधिकृत्य वेदितव्यानि। एकविंशत्यादिष्वेकोनत्रिंशत्पर्यन्तेषु प्रत्येकं द्वे द्वे सत्तास्थाने तद्यथा द्विनवतिरष्टाशीतिश्च। त्रिंशदुदये चत्वारि द्विनवतिरष्टाशीतिः षडशीतिरशीतिश्च। एकोननवतिस्तीर्थकरनामसत्कर्मणो मिथ्यादृष्टेर्नरकगतिप्रायोग्यं बध्नतो मनुष्यस्यावसेया शेषाणि पुनः सामान्येन तिरश्चो मनुष्यान्वाऽधिकृत्य वेदितव्यानि। एकत्रिंशदुदये त्रीणि तद्यथा द्विनवतिरेष्टाशीतिः षडशीतिश्च एतानि तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामवसेयानि अन्यत्र पञ्चेन्द्रियस्य सत एकत्रिंशदुदयाभावात् षडशीतिश्च मिथ्यादृष्टीनां तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामवसेया न सम्यग्दृष्टीनां सम्यग्दृष्टीनामवश्यं देवद्विकबन्धसंभवेनाष्टाशीतिसंभवात् अत्र सर्वसंख्यया सत्तास्थानान्येकोनविंशतिः एकोनत्रिंशद्बन्धकस्य तान्येवाष्टावुदयस्थानानि तत्रैकविंशत्युदयेषडविंशत्युदये च सप्त सप्त सत्तास्थानानि तद्यथा द्विनवतिरष्टाशीतिः षडशीतिरशीतिः षट्सप्ततिस्त्रिनवतिरेकोननवतिः। तत्र तिर्यग्गतिप्रा-योग्यामेकोनत्रिंशतं बध्नतः आद्यानि पञ्च, मनुष्यगतिप्रायोग्यां बध्नत आद्यानि चत्वारि देवगतिप्रायोग्यां बध्नतोऽन्तिमे द्वे अष्टाविंशत्येकोनत्रिंशस्त्रिंशदुदयेषु तान्येवाष्टसप्ततिवर्जानि षट् सत्तास्थानानि। एकत्रिंशदुदये आद्या-

नि चत्वारि। पञ्चविंशतिसप्तविंशत्युदययोः पुनरिमानि चत्वारि सत्तास्थानानि तद्यथा द्विनवतिस्त्रिनवतिरेकाननवतिरष्टाशीतिश्च। सर्वाङ्कस्थानानि। सर्वसंख्यया पुनरेकानत्रिंश--

२१	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१
७	४	७	४	६	६	६	४

द्वन्धे चतुश्चत्वारिंशत् सत्तास्थानानि त्रिंशद्बन्धकस्यापि तान्येवाष्टावुदयस्थानानितान्येव प्रत्येकं सत्तास्थानानि केवलमिहैकविंशत्युदये आद्यानि द्विनवत्यष्टाशीतिषडशीत्यशीत्यष्टसप्ततिरूपाणि पञ्च सत्तास्थानानि तिर्यग्गतिप्रायोग्यामेव त्रिंशतं बध्नतो वेदितव्यानि न मनुष्यगतिप्रायोग्यां तस्यास्तीर्थकरनामसतित्वात्। देवगतिप्रायोग्या तु त्रिंशदाहारकद्विकसहिता सा एकविंशत्युदये न संभवति त्रिनवत्येकाननवती मनुष्यगतिप्रायोग्यां त्रिंशतं बध्नतो देवस्य वेदितव्ये षडविंशत्युदये च तान्येवं पञ्च सत्तास्थानानि। षडविंशत्युदयो हि तिरश्चां मनुष्याणां वा पर्याप्तावस्थायां न च तदानीं देवगतिप्रायोग्या मनुष्यगतिप्रायोग्यायास्त्रिंशतो बन्धोऽस्तीति त्रिनवत्येकाननवती न प्राप्येते शेषं तथैव सर्वाङ्कस्थापना

२१	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१
७	४	(७)५	४	६	६	६	४

सर्वसंख्यया त्रिंशद्बन्धे द्विचत्वारिंशत्सत्तास्थानानि एकत्रिंशद्बन्धकस्य एकविधबन्धकस्य च उदयसत्तास्थानसंवेधस्तद्यथा प्राग्मनुष्यस्योक्तस्तथैव वक्तव्यः। तदेवमिन्द्रियाण्यधिकृत्य संवेध उक्तः।

इयकम्मपगइठाणाइं, सुट्ठबंधुदयसंतकम्माणं।
गइयाइएहिं अट्ठसु, चउप्पगारेण नेयाणि॥६६॥

इत्युक्तेन प्रकारेण बन्धोदयसत्तानां संबन्धीनि कर्मप्रकृतिस्थानानि सुष्ठु अत्यन्तमुपयोगं कृत्वा गत्यादिभिः (प्रकारैर्वाच्यानि)

गइइंदिए य काए, जोए वेए कसायनाणे य।
संजमदंसणलेसा, भवसम्मे सन्निआहारे॥६७॥

इत्येवंरूपैश्चतुर्दशभिर्मार्गणास्थानैरष्टसु अनुयोगद्वारेषु।

संतपयपरूवणाया, दव्वपमाणं च खेत्तफुसणा य।
कालंतरं च भावे, अप्पाबहुयं च दराइं॥६८॥

इत्येवंरूपेषु ज्ञातव्यानि तत्र सत्पदप्ररूपणया संवेधो गुणस्थानकेषु सामान्येनोक्तो विशेषतस्तु गतीन्द्रियाणि चाश्रित्य एतदनुसारेण काययोगादिभिर्मार्गणास्थानेषु वक्तव्यःप्रमाणादीन्यष्टानुयोग-द्वाराणि कर्म्मप्रकृतिप्राभृतादीन् ग्रन्थान् सम्यक् परिभाव्य वक्तव्यानि ते च कर्मप्रकृतिप्राभृतादयो ग्रन्था न संप्रति वर्तन्ते इति लेशतोऽपि दर्शयितुं न शक्यन्ते।यस्त्वेदंयुगीनेऽपि श्रुते सम्यगतस्तमभियोगमास्थाय पूर्वापरौ परिणव्य दर्शयितुं शक्नाति तेनाऽवश्यं दर्शयितव्यानि प्रज्ञोन्मेषो हि सतामद्यापि तीव्रतीव्रतरक्षयोपशमभावेनासीमो विजायमानो लक्ष्यमाणो लक्ष्यते। अपिचान्यदपि यत्किंचिदपि क्षुण्णमापतितं तत्तेनापनीय तस्मिन् स्थानेऽन्यत् समीचीनमुनदेष्टव्यं सन्तो हि परोपकारकरणैकरसिका भवन्तीति कथं पुनरष्टस्वनुयोगद्वारेषु बन्धोदयसत्तास्थानानि ज्ञातव्यानीत्याह चतुःप्रकारेण प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशरूपेण प्रकृतिगतानि बन्धोदयसत्तास्थानानि प्राय उक्तानि एतनुसारेण स्थित्यनुभागप्रदेशगतादीन्यपि भावनीयानि। इह बन्धोदयसत्तास्थानसंवेधे चिन्त्यमाने उदयग्रहणेनोदीरणाऽपि गृहीता द्रष्टव्या। उदये सत्युदीरणाया अपि भावात् (एतद्विशेषतो वर्णनं सप्ततिकानामकषष्ठकर्मग्रन्थप्रकरणतोऽवसेयः) कर्म० ६ क०। इह बन्धोदयसत्कर्मणां संवेधश्चिन्तितः सोऽपि सामान्येन ततो बन्धोदय सत्कर्मसु विशेषजिज्ञासायामतिदेशमाह।

दुरहिगमनिपुणपरमत्थ रुइरबहुभंगदिट्ठिवायाओ।
अत्था अणुसरियव्वा, बुधोदयसंतकम्माणं॥९१॥

दुःखेन महता कष्टेन प्रमाणनयनिक्षेपादिभिरधिगमो निपुणः सूक्ष्मबुद्धिगम्यः परमार्थो यथावस्थितार्थो रुचिरः सूक्ष्मतरार्थः। तत्र पटुप्रज्ञानं मनःप्रह्लादकरो बहुभङ्गो बहुविकल्पो दृष्टिवादस्तस्माद्बन्धोदयसत्कर्मणां विषयेऽर्था विशेषरूपा अनुसर्त्तव्या ज्ञातव्याः। इह तु संक्षिप्तरुचिसत्वानुग्रहप्रवृत्ततया ग्रन्थगौरवभयान्नोच्यन्ते कर्म० ६ क०। प० सं०। ''दुविहं समेच्च मेहावि, किरियमक्खायमणेलिसं''(द्वे विधे प्रकारावस्येति किं तत्कर्म तच्चेर्याप्रत्ययं सांपरायिकं च आचा०।१ श्रु० ६ अ०। (विशेषतो व्याख्या उवहाणसुय शब्दे) ''संपराइयणियच्छंति'' द्विविधं कर्म इर्यापथं सांपरायिकंच सूत्र० १ श्रु०।

चतुर्विधं कर्मचयं न गच्छिति भिक्षुसमये इति तदभिधित्सुराह।

अहावरं पुरक्खायं, किरियावाइदरिसणं।
कम्मचिंतापणट्ठाणं, संसारस्स पवड्ढणं॥

अथेत्यानन्तर्ये अज्ञानवादिमतानन्तरमिदमन्यत् पुरा पूर्वाख्यातं कथितं किं पुनस्तदित्याह। क्रियावादिदर्शनम्। क्रियैव चैत्यकर्मादिका प्रधानं मोक्षाङ्गमित्येवंवदितुं शीलं येषां ते क्रियावादिनस्तेषां दर्शनमागमः क्रियावादिदर्शनम्। किंभूतास्ते क्रियावादिन इत्याह। कर्मणि ज्ञानावरणादिके चिन्ता पर्यालोचनं कर्मचिन्ता तस्याः प्रणष्टा अपगताः कर्मचिन्ताप्रणष्टाः। यतस्ते अविज्ञानाद्युपचितं चतुर्विधं कर्मबन्धं नेच्छन्त्यतः कर्मचिन्ताप्रणष्टास्तेषां चेदं दर्शनं दुःखस्कन्धस्यासातोदयपरंपराया विवर्धनं भवति। क्वचित्संसारवर्धनमिति पाठः। ते ह्येयं प्रतिपाद्यमानाः संसारस्य वृद्धिमेव कुर्वन्ति नोच्छेदमिति।

(३५) यथा ते कर्मचिन्तातो नष्टास्तथा दर्शयितुमाह

जाणं काएण णाउट्टी, अबुहो जं च हिंसति।
पुट्ठो संवेदइ परं, अवियत्तं खु सावज्जं॥२५॥

यो हि जानन्नवगच्छन् प्राणिनो हिनस्ति कायेन चानाकुट्टी कुट्टच्छेदने। आकुट्टनमाकुट्टः स विद्यते यस्यासावाकुट्टी नाकुट्ट्यनाकुट्टी। इदमुक्तं भवति। यो हि कायादोर्निमित्तात् केवलं मनोव्यापारेण प्राणिनो व्यापादयति न च कायेन प्राण्यवयवानां छेदनभेदनादिके व्यापारे वर्त्तते न तस्याऽवद्यम्। तस्य कर्मोपचयो न भवतीत्यर्थः। तथाऽबधोऽजानानः कायव्यापारमात्रेण यं च हिनस्ति प्राणिनं तत्रापि मनोव्यपाराभावान्न कर्मोपचय इति अनेन च श्लोकार्धेन यदुक्तं निर्युक्तिकृता यथा ''चतुर्विधं कर्मनोपचीयते भिक्षुसमय इति'' तत्र परिज्ञोपचितमविज्ञोपचिताख्यं भेदद्वयं साक्षादुपात्तं शेषं त्वीर्यापथस्वप्नान्तिकभेदद्वयं चशब्देनोपात्तम्। तत्रेरणमीर्या गमनं तत्संबद्धः पन्था ईर्यापथस्तत्प्रत्ययं कर्मेर्यापथम्। एतदुक्तं भवति। पथि गच्छतो यथाकथञ्चिदनभिसंधेर्यत्प्राणिव्यापादनं भवति कर्मणश्च यो न भवति। तथा स्वप्नान्तिकमिति। स्वप्न एव लोकोक्त्या स्वप्नान्तः स विद्यते यस्य तत्सप्नान्तिकं तदपि न कर्म बन्धाय यथा स्वप्ने भुजि क्रियायां तृप्तयभावस्तथा कर्मणोऽपीति कथंतर्हि तेषां कर्म्मोपचयो भवतीत्युच्यते। यद्यसौ हन्यमानः प्राणी

भवति हन्तुश्च यदि प्राणित्येवंज्ञानमुत्पद्यते तथैनं हन्मीत्येवं च यदि बुद्धिः प्रादुःस्यादेषु च सत्सु यदि कायचेष्टा प्रवर्त्तते तस्यामपि यद्यसौ प्राणी व्यापाद्यते ततो हिंसा । ततश्च कर्मोपचयो भवतीत्येषामन्यतराभावेऽपि न हिंसा न च कर्मचयः । अत्र च पञ्चानां पदानां द्वात्रिंशद्भङ्गा भवन्ति । तत्र प्रथमभङ्गे हिंसा कोऽपरेष्वेकत्रिंशत्स्वहिंसकः । तथा चोक्तं । ''प्राणी प्राणिज्ञानं, घातकचित्तं च तद्गता चेष्टा । प्राणैश्च विप्रयोगः, पञ्चभिरापद्यते हिंसा'' किमेकान्तेनैव परिज्ञोपचितादिना कर्मोपचयो न भवत्येव काचिदव्यक्तिमात्रेति दर्शयितुं श्लोकपश्चार्द्धमाह । (पुट्ठोत्ति) तेन केवलमनोव्यापाररूपपरिज्ञोपचितेन केवलकायक्रियोच्छेदेन वाऽविज्ञोपचितेनेर्यापथेन स्वप्नान्तिकेन च चतुर्विधेनापि कर्मणा स्पृष्ट ईषत्सुप्तः संस्तत्कर्माऽसौ स्पर्शमात्रेणैव परमनुभवति न तस्याधिको विपाकोऽस्ति कुड्यापतितसिकतामुष्टिवत्स्पर्शानन्तरमेव परिशटतीत्यर्थः । अत एव तस्य चयाभावोऽभिधीयते न पुनरत्यन्ताभाव इति । एवं च कृत्वा तदव्यक्तमपरिस्फुटं खुरवधारणे अव्यक्तमेव स्पष्टविपाकानुभवाभावात् । तदेवतव्यक्तं सहावदेन गर्ह्येण वर्तते तत्परिज्ञोपचितादिकर्मेति ॥२५॥

ननु च यद्यनन्तरोक्तं चतुर्विधं कर्म नोपचयं याति कथं तर्हि कर्मोपचयो भवतीत्येतदाशङ्क्याह

संति मे तउ आयाण, जेहिं कीरइ पावगं ।
अभिकम्मा य पेसा य, मणसा अणुजाणिया ॥२६॥

(सन्ति मे इत्यादि) सन्ति विद्यन्ते अमूनि त्रीणि आदीयते स्वीक्रियते अमीभिः कर्मेत्यादानानि । एतदेव दर्शयति । यैरादानैः क्रियते विधीयते निष्पाद्यते पापकं कल्मषं तानि चामूनि तद्यथा अभिक्रम्येत्याभिमुख्येन बध्यं प्राणिनं क्रान्त्वा तद्घाताभिमुखं चित्तं विधाय यत्र स्वत एव प्राणिनं व्यापादयति तदेकं कर्मादानम् । तथाऽपरं च प्राणिघाताय प्रेष्यं समादिश्य यत्प्राणिव्यापादनं तद् द्वितीयं कर्मादानमिति । तथाऽपरं व्यापादयन्तं मनसाऽनुजानीत इत्येतत्तृतीयं कर्मादानम् । परिज्ञोपचितादस्या भेदः तत्र केवलं मनसा चिन्तनमिह त्वपरेण व्यापाद्यने प्राणिन्यनुमोदनमिति ॥२६॥ तदेवं यत्र स्वयंकृतकारितानुमतयः प्राणिघाते क्रियमाणे विद्यन्ते क्लिष्टाध्यवसायस्य प्राणतिपातश्च तत्रैव कर्मोपचयो नान्यत्रेति दर्शयितुमाह ।

एते उ तउ आयाणा, जेहिं कीरइ पावगं ।
एवं भावविसोहीए, निव्वाणमभिगच्छइ ॥२७॥

(एएउ इत्यादि) तुरवधारणे एतान्येव पूर्वोक्तानि त्रीणि व्यस्तानि समस्तानि वा आदानानि यैर्दुष्टाध्यवसायव्यपेक्षैः पापकं कर्मोपचियत इति । एवं च स्थिते यत्र कृतकारितानुमतयः प्राणिव्यपरोपणं प्रति न विद्यन्ते तथाभावशुद्ध्या अरक्तद्विष्टबुद्ध्या प्रवृत्तमानस्य सत्यपि प्राणातिपाते केवलेन मनसा कायेन वा मनोभिसन्धिरहितेनोभयेन वा विशुद्धबुद्धेर्न कर्मोपचयस्तदभावाच्च निर्वाणं सर्वद्वन्द्वोपरतिभावमभिगच्छत्यभिमुखेन प्राप्नोतीति । भावशुद्ध्या प्रवर्त्तमानस्य कर्मबन्धो न भवतीत्यत्रार्थे दृष्टान्तमाह।

पुत्तं पिया समारब्भ, आहारेज्ज असंजए ।
भुंजमाणो य मेहावी, कम्मणा नो विलिप्पइ ॥२८॥

पुत्रमपत्यं पिता जनकः समारभ्य व्यापाद्याहारार्थं कस्यांचित्तथाविधायामापदि तदुद्धरणार्थमरक्तद्विष्टोऽसंयतो गृहस्थस्तत्पिशितं भुञ्जानोऽपि चशब्दस्याशब्दार्थत्वादिति । तथा मेधाव्यपि संयतोऽपीत्यर्थः तदेवं गृहस्थो भिक्षुर्वा शुद्धाशयः पिशिताश्यपि कर्मणा पापेन नोपलिप्यते नाश्लिष्यत इति यथा चात्र पितुः पुत्रं व्यापादयतस्तत्रारक्तद्विष्टमनसः कर्मबन्धो न भवति तथाऽन्यस्याप्यरक्तद्विष्टान्तःकरणस्य प्राणिवधे सत्यपि न कर्मबन्धो भवतीति।

सांप्रतमेतद्दूषणायाह

मणसा ये पउस्संति, चित्तं तेसि ण विज्जइ ।
अणवज्जमतहं तेसिं, ण ते संवुडचारिणो ॥२९॥

ये हि कुतश्चिन्निमित्तान्मनसाऽन्तःकरणेन प्रदुष्यन्ति प्रद्वेषमुपयान्ति तेषां वधपरिणतानां शुद्धं चित्तं न विद्यते तदेवं यत्तैरभिहितं यथा केवलमनःप्रद्वेषेऽप्यनवद्यं कर्मोपचयाभाव इति ततस्तेषामतथ्यमसदर्थाभिधायित्वं यतो न ते सुवृत्तचारिणो मनसोऽशुद्धत्वात् । तथाहि कर्मोपचये कर्त्तव्ये मन एव प्रधानं कारणं यतस्तैरपि मनोरहितकेवलकायव्यापारे कर्मोपचयाभावोऽभिहितः ततश्च यद्यस्मिन् सति भवत्यसति तु न भवति तत्तस्य प्रधानं कारणमिति । ननु तस्यापि कायचेष्टारहितस्याऽकारणत्वमुक्तम् सत्यमुक्तम् । अयुक्तं तूक्तं यतो भवातैवैवं भावशुद्धया निर्वाणमभिगच्छतीति भणता मनस एवैकस्य प्राधान्यमभ्यधायि तथाऽन्यदप्यभिहितम् ''चित्तमेव हि संसारे रागादिक्लेशवासितम् । तदेव तैर्विनिर्मुक्तं भवान्त इति कथ्यते'' तथान्यैरप्यभिहितम् ''मतिविभवमनस्त्वे यत्समत्वेऽपि पुसां, परिणमसि शुभांशैः कल्मषांशैस्त्वमेव । निरयनगरवर्त्मप्रस्थिताः कष्टमेव, ह्युपचितशुभशक्त्या सूर्यसंभेदिनोऽन्ये'' १ तदेवं भवदभ्युपगमेनैव क्लिष्टमनोव्यापारः कर्मबन्धायेत्युक्तं भवति । तथेर्यापथेऽपि यद्यनुपयुक्तो घातितवान् ततोऽनुपयुक्ततैव क्लिष्टचित्ततेति कर्मबन्धो भवत्येव । अथोपयुक्तो याति ततोऽप्रमत्तत्वादबन्धक एव तथा चोक्तम् ''उच्चालियंपि पाए, इरियासमियस्स संकमट्ठाए । वावज्जेज कुलिंगी, मरेज्ज तं जोगमासज्ज ॥१॥ ण य तस्स तन्निमित्तो, बंधो सुहमो वि देसिओ समये । अणवज्जो उपयोगे, ण सव्वभावेण सो जम्हा''॥२॥ स्वप्नान्तिकेऽप्यशुद्धचित्तसद्भावादीषद्बन्धो भवत्येव स च भवतोऽभ्युपगत एवाव्यक्तं तत्सावद्यमित्यनेनेति तदेवं मनसोऽपि क्लिष्टस्यैकस्यैव व्यापारबन्धसद्भावात यदुक्तं भवता प्राणी प्राणिज्ञानमित्यादि तत्सर्वं प्लवत इति । यदप्युक्तं पुत्रं पिता सामारभ्येत्यादि तदप्यनालोचिताभिधानं यतेमारयामीत्येवं यावन्न चित्तपरिणामोऽभूतावन्न कश्चिद्व्यापादयति एवंभूतचित्तपरिणतेश्च कथमसंक्लिष्टता चित्तसंक्लेशे चावश्यंभावी कर्मबन्ध इत्युभयोरपि संवादोऽत्रेति । यदपि च तैः क्वचिदुच्यते यथा परव्यापादितपिशितभक्षणे परहस्ताकृष्टाङ्गारदाहाभाववन्न दोष इति तन्न पिशितभक्षणेऽनुमतिरप्रतिहता ऽस्माच्च कर्मबन्ध इति । तथा चान्यैरप्यभिहितम् । ''अनुमन्ता विशसिसता, संहार्ता क्रयविक्रयी । संस्कर्ता चोपभोक्ता च, घातकश्चाष्टघातकाः'' यच्च कृतकारितानुमतिरूपमादानत्रयं तैरभिहितं तच्चैनेन्द्रमतलवास्वादनमेव तैरकारीति । तदेवं कर्मचतुष्टयं नोपचयं यातीत्येवं तदभिदधानाः कर्मचिन्तातो नष्टा इति सुप्रतिष्ठमिदमिति ॥२९॥

अधुनैतेषां क्रियावादिनामनर्थपरंपरां दर्शयितुमाह

इच्चेयाहि य दिट्ठीहिं, सातागारवणिस्सिया ।
सरणं ति मन्नमाणा, सेवंती पावगं जणा ॥३०॥

इत्येताभिः पूर्वोक्ताभिश्चतुर्विधं कर्म नोपचयं यातीति दृष्टिभिरभ्युपगमैस्ते वादिनः सातागौरवनिश्रिताः सुखशीलतायामासक्ता यत्किंचनकारिणो यथालब्धभोजिनश्च संसारोद्धरणसमर्थं शरणमिदमस्मदीयं दर्शनमित्येवं मन्यमाना विपरीतानुष्ठानतया सेवन्ते कुर्वन्ति पापमवद्यमेवं व्रतिनोऽपि सन्तो जना इव जनाः प्राकृतपुरुषसदृशा इत्यर्थः । ॥३०॥

अस्यवार्थस्योपदर्शकं दृष्टान्तमाह

जहा अस्साविणिं णावं, जाइअंधो दुरुहिया ।
इच्छई पारमागंतुं, अंतरा य विसीयई ॥३१॥

(जहा अस्साविणिमित्यादि) आ समन्तात्स्रवति तच्छीला आस्राविणी सच्छिद्रेत्यर्थः । तां तथाभूतां नावं यथा जात्यन्धः समारुह्य पारं तटमागन्तुं प्रास्तुतिच्छत्यसौ तस्याश्च स्राविणीत्वेनोदकप्लुतत्वादन्तराले जलमध्य एव विषीदति वारिणि निमज्जति । तत्रैव च पञ्चत्वमुपयातीति ॥३१॥

सांप्रतं तद्दार्ष्टान्तिकयोजनार्थमाह

एवं तु समणा एगे, मिच्छादिट्ठी अणारिया ।
संसारपारकंखी ते, संसारं अणुपरियट्टं ति त्ति वेमि ॥३२॥

यथाऽन्धः सच्छिद्रां नावं समारूढः पारगमनाय नाल तथा श्रमणा एके शाक्यादयो मिथ्या विपरीता दृष्टिर्येषां ते मिथ्यादृष्टयः । तथा पिण्डिशिताशनानुमतेरनार्याः स्वदर्शनानुरागेण संसारपारकाङ्क्षिणो मोक्षाभिलाषुका अपि सन्तस्ते चतुर्विधकर्मचयानभ्युपगमेनानिपुणत्वाच्छासनस्य संसारमेव चतुर्गतिसंसारणरूपमनुपर्यटन्ति। भूयो भूयस्तत्रैव जन्मजरामरणादौ गत्यादिक्लेशमनुभवन्तोऽनन्तमपि कालमासते न विवक्षितमोक्षसुखमाप्नुवन्तीति ब्रवीमीति पूर्ववदिति ॥३२॥ सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

(३६) सोपक्रमनिरुपक्रमादिना कर्मद्वैविध्यमाह

कर्मभेदाः सोपक्रमनिरुपक्रमादयस्तत्र यत्फलजननाय सहोपक्रमेण कार्यकारणाभिमुख्येन वर्त्तते यथोष्णप्रदेशे प्रसारितमार्द्रं वस्त्रं शीघ्रमेव शुष्यति निरुपक्रमं च विपरीतं यथा तदेवार्द्रं वासः पिण्डीकृतमनुष्णे देशे चिरेण शोषमेतीति द्वा० २६ द्वा० ॥

अस्योदाहरणम्। ननु तीर्थकरा यत्र विहरन्ति तत्र देशे पञ्चविंशतियोजनानि आदेशान्तरेण द्वादशानां मध्ये तीर्थकरातिशयान्न वैरादयोऽनर्था भवन्ति यदाह ''पच्चुप्पन्ना रोगा, पसमंति इइवेरमारीओ । अइवुट्ठि अणावुट्ठी न होइ दुब्भिक्खडमरं वेति'' तत्कथं श्रीमन्महावीरे भगवति पुरिमताले नगरे व्यवस्थित एवाभग्नसेनस्य पूर्ववर्णितो व्यतिकरःसंपन्न इत्यत्रोच्यते सर्वमिदमर्थानर्थजातं प्राणिनां स्वकृतकर्मणः सकाशादुपजायते। कर्म च द्विधा सोपक्रमं निरुपक्रमं च तत्र यानि वैरादीनि सोपक्रमसंपाद्यानि तान्येव जिनातिशयदुपशाम्यन्ति सदौषधात्साव्याधिवत्। यानि तुनिरुपक्रमकर्मसंपाद्यानि तान्यवश्यं विपातको वेद्यानि नोपक्रमकारणविषयाणि असाध्यव्याधिवत्। अत एव सर्वातिशयसंपत्सन्वितानां जिनानामप्यनुपशान्तवैरभावा गोसालकादय उपसर्गान् विहितवन्त इति। विपा० ३ अ० ।

जइ णं भंते ! समणेणं भगवया महावीरेणं जाव संपत्तेणं पंचमस्स णायज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते छट्ठस्स णं भंते ! णायज्झयणस्स्समणेणं भगवया महावीरेणं जाव संपत्तेण के अट्ठे पण्णत्ते एवं खलु जुबू तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे णामं णयरे होत्था। तत्थ णं रायगिहे णयरे सेणिए णामं राया होत्था। तत्थ णं रायगिहस्स बहिया उत्तरपुच्छिमे दिसीभिए एत्थ णं गुणसेलिए णामं चेइए होत्था। तेण कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे जाव जेणेव रायगिहे णयरे जेणेव गुणसेलाए चेइए तेणेव समोसड्ढे अहापडिरूवं उग्गहं उगिण्हित्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ परिसा णिग्गया सेणिओ विणिग्गओ धम्मो कहिओ परिसा णिग्गया। तेणं कालेण तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे अंतेवासी इंदभूई णामं अणगारे अदूरसामंते जाव शुक्कज्झाणोवगए विहरति। तए णं से इंदभूई जायसड्ढे एवं वयासी कह णं भंते ! जीवा गुरुयत्तं वा लहुयत्तं वा हव्वमागच्छंति गोयमा ! से जहानामए केइ पुरिसे एगमहं सुक्कं तुंबं निच्छिद्दं निरुवहयं दब्भेहि य कुसेहि य वेढेइ वढेइत्ता मट्टियालेवेणं लिंपति उण्हे दलयति दलयइत्ता सुक्कं समाणं दोच्चं पिहियकुसेहि य वेढेइ वेढेइत्ता मट्टियालेवेणं लिंपइ लिंपइत्ता उण्हं सुक्कं समाणं तच्चंपि दब्भेहि य कुसेहि य वेढेति मट्टया लेवेणं लिंपइ । एवं खलु एएणं उवाएणं अंतरा वेढेमाणे अंतरा लिंपेमाणे अंतरा सुक्कावेमाणे जावं अट्ठहिं मट्टियालेवेहिं आलिंपति अत्थाहंसिअ तारगंसिय अपारमपोरसियंसि उदगंसि पक्खिवेज्जा से णेणं गोयमा ! से तुंबे तेसिं अट्ठण्हं मट्टियालेवेणं गुरुयत्ताए भारियत्ताए गुरुयभारियत्ताए उप्पिं सलिलमेतित्ता अहे धरणितले पइट्ठाणे भवति। एवामेव गोयमा ! जीवावि पाणाइवाएणं जाव मिच्छादंसणसल्लेणं आणुपुव्वेणं अट्ठकम्मपगडीओ समुज्जिणित्ता तासिं गुरुयत्ताए भारियत्ताए गुरुयभारियत्ताए कालमासे कालं किच्चा धरणितलमतिवत्तित्ता अहेणरगलतप-इट्ठाणो भवति एवं खलु गोयमाङ्ग जीवो गुरुयत्तं हव्वमागच्छति। अहणं गोयमा ! से तुंवे तेसिं पढमिल्लगंसि मट्टियालेवंसि तित्तंसि कुहियंसि परिसमियंसि इसिं धरणितलाओ उप्पइत्ताणं चिट्ठति। तयाणंतरं च णं दोच्चं पि मट्टियालेवे जाव उप्पइत्ताणं चिट्ठइ । एवं खलु एएणं उवाएणं तेसुअट्ठसुमट्टियालेवेसु तित्तेसु जाव विमुक्कगंधणे अहेधरणियलमवइत्ता उप्पिं सलिलतलपइट्ठाणे भवइ। एवामेव गोयमा ! जीवा पाणातिवायवेरमणेणं जाव मिच्छादंसणसल्लवेरमणेणं आणुपुव्वेणं अट्ठकम्मपगडीओ खवेत्ता गगणतलमुप्पइत्ता उप्पिं लोयग्गपइट्ठाणा भवंति एवं खलु गोयमा ! जीवा लहुयत्तं हव्वमागच्छति एवं खलु जुबूसमणेणं भगवया महावीरेणं जव संपत्तेणं छट्ठस्स णायज्झयणस्स अयमट्ठे पन्नत्ते त्ति वेमि ॥

सर्व्वं सुगमं नवरं निरुपहतं वातादिर्भिर्भैरग्रभूतैः कुशैर्मूलभूतैर्जात्या दर्भः कुशभेद इत्यन्ये (अत्थाहंसित्ति अस्ताधे अगाधे इत्यर्थः पुरुषः परिमाणमस्येति पौरूषिकं तन्निषेधाद पौरुषिकं मूल्लेपानां संबन्धाद् गुरुकतया गुरुकतैव कुतः भारिकतया मृल्लेपजनितभारवत्वेनेति भावः। गुरुकभारिकतयेति तु धर्म्मद्वयमप्य धोमज्जनकारता-प्रतिपादनायोक्तम् (उप्पिं) उपरि 'अइवइत्ता' अतिपत्यातिक्रम्य (तित्तंसिप्ति) स्तिमिते आर्द्रतां गते ततः कुथिते कोथमुपगते ततः परिसटिते पतित इति। इह गाथे ''जह मिउले वालित्तं, गुरुयं तुंबं अहो वयइ एवं। आसवकयकम्मगुरू, जीवा वच्चंति अहरगइं ॥१॥ तं चेव तिव्वमुक्कं, जलोवरिं ठाइ जाइ लहुभावं। जह तह कम्मविमुक्का, लोयग्गपयहिया होंति'' ज्ञा० ६ अ०।

आह गूरूलघुकमगुरुलघुकं वा द्रव्यं भवति नचैकान्तगुरुकं नचैकान्तलघुकमित्यागमेऽभिधीयते ततः कर्मणां गुरुतया जीवा अधो गच्छन्ति लघुतया तूर्द्धमिति कथं न विरुध्यते उच्यते इह हि यदागमे गुरुलघुकमगुरुलघुकं वा द्रव्यमुक्तं तन्निश्चयतः ''विईया पयउ सव्वत्थ पडिसिद्धा'' गुरुकं लघुकं मिश्रं गुरुकलघुकमिश्रं गुरुलघुकमित्यर्थः। एवं व्यवहारतश्चतुर्द्धा द्रव्यम्। तत्र पुनरेतेषां मध्ये ये प्रथमद्वितीयपदे ते सर्वत्रापि निश्चयनयमताश्रितेषु सूत्रेषू प्रतिषिद्धा। तथाहि स निश्चयनयो ब्रवीति नास्त्येकान्तेन गुरुस्वभावं किमपि वस्तु पराभिप्रायेण गुरुत्वेनाभ्युपगतस्यापि लब्ध्यादे परप्रयोगादूर्द्धादिगमनदर्शनात्। एवमेकान्तेन लघुस्वभावमपि नास्ति इति लब्धेरपि वाष्पादेः करताडनादिना अधोगमनादिदर्शनात्। तस्मादियं वस्तुनः परिभाषा यत्किमप्यत्र जगति बादरं वस्तु न सर्वं गुरु लघु शेषं तु सर्वमप्यगुरुलघुकमिति। इदमेव व्यक्तीकुर्व्वन्नाह।

जा तेयगं सरीरं, गुरुलहुदव्वाणि कायजोगा य।
मणसा अगुरुलहु, अरूविदव्वा व सव्वे वि॥

औदारिकशरीरादारभ्य तैजसशरीरं यावत् यानि द्रव्याणियश्च तेषामेव संबन्धात्काययोगः शरीरव्यापार एतत्सर्वं गुरुलघुकमिति निर्द्देशम्। यानि तु मनोभाषाप्रायोग्याण्युपलक्षणत्वादानयनकर्मणा प्रायोग्याणि तदपान्तरालवर्तीनि च द्रव्याणि यानि च सर्वाण्यपि धर्माधर्माकाशजीवास्तिकायलक्षणान्यरूपिद्रव्याणि तदेतत्सर्वमगुरुलघुकम्।

अहवा बायरबोंदी, कलेवरा गुरुलहू भवे सव्वे।
सुहुमाणंतपदेसा, अगुरुलहू जाव परमाणू॥

अथवेति प्रकारान्तरद्योतने बादरा बोन्दि शरीरं योषान्ते बादरबोन्दयो बादरनाम कर्मोदयवर्तिनो जीवा इत्यर्थः तेषां सम्बन्धीनि यानि कलेवराणि यानि वा पराण्यपि बादरपरिणतानि तत्राभ्रोधरादीनि शक्रचा पगन्धर्वपुरप्रभृतीनि वा वस्तुनि तानि सर्वाण्यपि गुरुलघून्युच्यन्ते यानि तु सूक्ष्मनामकर्मोदयवर्तिनां जन्तूनां शरीराणि यानि च सूक्ष्मपरिणामपरिणतानि अनन्तप्रादेशिकादीनि परमाणुपुद्गलं यावत् द्रव्याणि तानि सर्वाण्यगूरुलघूनि।

अथ व्यवहारनयमतमाह

ववहारनयं पप्प उ, गुरुया लहु या य मीसगा चेव।
लहुगपदीवमारुय, एवं जीवाण कम्माइं॥

व्यवहारनयं प्राप्याङ्गीकृत्य त्रिविधानि द्रव्याणि भवन्ति तद्यथा गुरुकाणि लघुकानि मिश्रकाणि च गुरुलघुनीत्यर्थः। तत्र यानि तिर्यगूर्द्धं वा प्रक्षिप्तान्यपि स्वभावादेवाधो निप्रतन्ति तानि गुरुकाणि यथा लेष्टुप्रभृतीनि। यानि तूर्द्धगतिस्वभावानि तानि लघुकानि यथा प्रदीपकादीनि। यानि तु नाधोगतिस्वभावानि न वा ऊर्धगतिस्वभावानि किं तर्हि तिर्यग्गतिधर्मकाणि तानि गुरुलघूनि यथा मारुतो वायुस्तत्प्रभृतीनि एवं जीवानां कर्माण्यपि त्रिविधा भवन्ति गुरूणि लघूनि गुरुलघुनि वा। तत्र यैरमी जीवा अधोगतिं नीयन्ते तानि गुरुकाणि यैस्तु त एवोर्द्धगतिं प्राप्यन्ते तानि लघुकानि यैः पुनस्तिर्यग्योनिकेषु वा मनुष्येषु वा गतिं कार्यन्ते तानि गुरुलघुकानीति तदेवं व्यवहारनयाभिप्रायेण समर्थितः कर्मणां गुरुत्वल?लघुत्वगुरूलघुत्वपरिणामः। अथ परः प्राह। ननु जीवास्तावत् स्ववशा एव ज्ञानवरणादिकं कर्मोपचिन्वन्ति ततो गतिरपि तेषां स्ववशतया किं न प्रवर्त्तते यदेवं कर्मोदयबलादुर्द्धमधस्तिर्यग्वा नीयन्ते। उच्यते।

कम्मं चिणंति सवसा, तस्सुदयम्मि उ परवसा होंति।
रुक्खं दुरुहइ सवसो, विगलइ स परवसो तत्तो॥

जीवाः स्वयशाः स्वतन्त्रा एव मिथ्यात्वाविरत्यादिभिः कर्मचिन्वन्ति बध्नन्तीत्यर्थः परं तस्य कर्मण उदये ते जीवाः परवशा भवन्ति। अथ कियच्चपुरुषो वृक्षमारोहन् स्ववशः स्वाभिप्रायानुकूल्येनारोहति स च कुतश्चिद्दुष्प्रमादात्ततो विगलन् परवशः स्वकाममन्तरेणैव विगलति। आह यद्येवं ततः किं संसारिणो जीवाः सर्वथैव कर्मपरवशा एव उच्यते नायमेकान्तो यत आह।

कम्मवसा खलु जीवा, वसाइं कहिं वि कम्माइं।
कत्थइ धणिओ बलवं, धारणओ कत्थई बलवं॥

कर्मवशाः खलु प्रायेण अमी संसारिणो जीवाः परं कुत्रचित्प्रबलधृतिबलादिसद्भावे कर्माण्यपि जीववशानि। अमुमेवार्थं दृष्टान्तेन दृढयति यथा कुत्रचिज्जनपदादौ धनिको व्यवहारको बलवान् कुत्रचित्पुनः प्रत्यन्तग्रामादौ धारिणिकः ऋणधारकोऽपि बलवान्। इयमत्र भावना। यदि जनपदमध्यवर्त्ती अविद्यमानविभवो वा धारणिकस्तदा धनिको बलीयान्। अथ धारणिकः प्रत्यन्तग्रामे वा पल्ल्यां वा गत्वा स्थितः नवा तस्य तथाविधं किमपि द्रव्यमस्ति ततो धारणिको बलवान् भवति एष दृष्टान्तः। अथार्थोपनयमाह।

धणियसरिसं तु कम्मं, धारणिगसमा उ कम्मिणा होंति।
संतासंतधणा जह, धारणिगधिइबलं तणु॥

एवं विधधनिकसदृशं कर्म धारणिकसमानाः कर्मिणः सकर्मका जीवा भवन्ति सुखदुःखोपभोगादि ऋणधारकत्वात्तेषामिति भावः यथा च सन्तो विद्यमानविभवा असन्तोऽविद्यमानविभवा धारणिका भवन्ति तत्र च विद्यमानविभवे धारणिके धनिकस्य यदि कार्यं भवति तदा राजकुलव लेन तं धारणिकं धृत्वा स्वलभ्यं द्रव्यं बलादपि गृह्णति स च धारणिकस्तस्मिन् द्रव्ये दत्ते सति अनृणीभवति। अथ सोऽविद्यमानविभवस्ततो धनिकेन स्ववशीक्रियते स्ववशीकृतश्च तत्पारतन्त्र्येण वर्तमानो दुस्सहं दासत्वादि महादुःखोपनिघातमनुभवति। एवमत्रापि धृतिबलं (तणुत्ति) शरीरं च बलं बद्धाभिमानवतां कल्पमवसंयम्। इदमुक्तं भवति यस्य जीवस्थ वज्रकुड्यसमानं

विशिष्टं मनःप्राणिधानबलं वज्रऋषभनाराचसंहननलक्षणं च शारहरं बलं भवति स धनिकसदृशं कर्म क्षपयित्वा सुखनैवानृणीभवति । यस्य तु धृतिबलं शारीरबल वा न भवति स तेन कर्मणा वशीक्रियते वशीकृतश्च तत्परतन्त्रया वर्तमानो विविधशारीरमानसदुःखोपनिपातमनुभवति । आह धृतिसंहननवलोपेतो यत्कर्म क्षपयति तत्किमुदीर्यानुदीर्य वा क्षपयतीत्युच्यते।

महणासहणो कालं, जह धणिओ एवमेव कम्मं तु ।
उदियाानुदिच्चखवणा, होज्ज सिया आउवज्जेसु ॥

धनिको द्विधा सहिष्णुरसहिष्णुश्च । यः सहिष्णुः स विवक्षितं कालं प्रतीक्षते इतरस्तु न प्रतिक्षते एवमेव कर्मापि किं चित्स्वकालमूर्त्ती किं चित्पुनस्ताडन्तरे णापि स्वविपाकं दर्शयतीत्वेवमुदीर्ण–स्यानुदीर्णस्य वा कर्मणः क्षपणा धृतिसंहननबलोपेतस्य भवेत् (सियत्ति) स्यात्कदाचित्कसप्येवं भवति न सर्वस्य । यस्तु संहननबलविहीनः स चरममनुदीर्ण कर्म देशतः क्षययेत् न सर्वतः (आउवज्जेसु त्ति) आयुःकर्मवर्ज्जानां शेषकर्मणामनुदीर्णानामपि क्षपणं भवति आयुषः पुनरुदीर्णस्यैव क्षपणतिजि भावः । तदेवं धनिकधारणिकदृष्टान्तेन जीवकर्मणोरुभयोरपि तुल्यमेव यथायोगं बलीयस्त्वं द्रष्टव्यम् । उक्तं च ''दृग्राशो ब्रह्मदत्ते भरतनृपजयः सर्वनाशश्च कृष्णे, नीचैर्गोत्राद्यतारश्च-रमजिनपतेर्मल्लिनाथेऽवलत्वम् । निर्वाणं नारदेऽपि प्रशमपरिणतः स्याद्विलातीसुतेऽपि, इत्थं कर्मात्मवार्ये स्फुटमिह जयति स्पर्धया तुल्यरूपे'' उक्तं सप्रपञ्च भावाधिकरणम् । वृ० १ उ०।

सह कलेवर रे वद चिन्तय, स्ववशता हि पुनस्तव दुर्लभा ।

बहुतरं च सहिष्यसि कर्म हे, परवशो न च तत्र गुणोऽस्ति ते आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ०।

कम्माणि गूणं घणचिक्कणाइं, गहिआइं बइरसाराई ।
णाणड्ढियं पि पुरिसं, पंथओ उप्पहं तिण्णो आचा० ६ अ० ३ उ० ।

उप्पो यः स्वत एव मोहसलिलो जन्मालवालोऽशुभो ।
रागद्वेषकषायसन्ततिमहानिर्विघ्नावीजस्त्वया ।
रोगैरङ्कुरितो विपत्कुसुमित् कर्म्मद्रुमः सांप्रतं,।
सोदानो यदि सम्यगेष फलतो दुःखैरधोगामिभिः ।
पुनरपि सहनीयो दुःखपाकस्तथाऽयं ।
न खलु भवति नाशः कर्म्मणां संचितानाम् ।
इति सह गणयित्वा यद्यदा याति सम्यक्,
सदिति वद विवेकोऽन्यत्र भूयाः कुतस्त्यः । आचा० १ श्रु० २ अ०।
शुभाशुभानि कर्माणि, स्वयं कुर्वन्ति देहिनः ।
स्वयमेवोपभुज्यन्ते, दुःखानि च सुखानि च । उत्त० १ अ०।
यदिह क्रियते कर्म, तत्परत्रोपभुज्यते ।
मूलसिक्तेषु वृक्षेषु, फलं शाखासु जायते सूत्र० २ श्रु० १ अ)।
दग्धे बीजे यथाऽत्यन्तं प्रादुर्भवति नाङ्कुरः ।
कर्मबीजे तथा दग्धे, न रोहति भवाङ्कुरः स्या०।

क्लेशाः पापानि कर्माणि, बहुभेदानि नो मते ।
योगादेव क्षयस्तेषां, नवभोगादयनवस्थितेः ॥३१॥
ततो निरुपमं स्थान मनन्तमुपतिष्ठते ।
भावप्रपञ्चरहितं, परमानन्दमेदुरम् ॥३२॥

क्लेशा इति नोऽस्माकं मते पापान्यशुभविपाकानि बहुभेदानि विचित्राणि कर्माणि ज्ञानावरणीयानि क्लेशा उच्यन्तेऽतः कर्मक्षय एव क्लेशहानिरिति भावः । तत्तु ''नाभुक्तं क्षीयते कर्म, कल्पकोटिशतैरपि। अवश्यमेव भोक्तव्यं, कृतं कर्म शुभाशुभ'' मिति वचनाद्भोगादेव कर्माणां क्षये तरस्याप्यपुरुषार्थत्वमनिवारितमेवेत्यत आह योगादेव ज्ञानक्रियासमुच्चयलक्षणात् क्षयस्तेषां नानाभवार्जितानां प्रचितानां न भोगादनवस्थितेर्भोगजनितकर्मान्तरस्यापि भोगनाश्यन्वादनव-स्थानात् । ननु त्वरिताभिष्वङ्गभोगस्य न कर्मान्तरजनकत्वं प्रचितानामपि च तेषां क्षयो योगजादृष्टाधीनं कथव्यूहबलादुत्यत्स्यत इति चेन्न प्रायश्चित्तादिनापि कर्मनाशोपपत्तेः कर्तणां भोगेतरनाश्यत्वस्यापि व्यवस्थितौ योगेनापि तन्नाशसंभवे कायव्यूहादि कल्पने प्रमाणाभावात् । कर्मणां ज्ञानयोगनाश्यतया ''ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कु रुतेऽर्जुनेति'' भवदागमेनापि सिद्धत्वात् । नरादिशरीरसत्वे शूकरादिशरीरानुपपत्तेः कायव्यूहानुपपत्तेर्मनोन्तरप्रवेशादिकल्पने गौरवाच्च । ये त्वाहुः पातञ्जलाः ''अग्नेः स्फुलिङ्गानामिव कायव्यूहदशा-यामेकस्मादेव चित्ताप्रयोजकान्नानाचित्तानां परिणामोऽस्मिता-मात्रादिति'' तदुक्तं ''निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात् प्रवृत्तिभेदे प्रयोजक-चित्तमेकमनेकेषामिति'' तेषामप्यनन्तकालप्रचितानां कर्मणां नानाशरीरोपभोगनाश्यत्वकल्पनमोह एव तावददृष्टानां युगपद्वृत्तिला-भानुपपत्तेरिति निरुपक्रमकर्मण एव भोगैकनाश्यत्वमाश्रयणीयमिति सर्वमवदातम् ३१ (तत इति) सुगमम् ३२।द्वा० २६द्वा०।

(३७)कर्मक्षयविचारः

तस्य सम्यग्ज्ञानस्य सत्यार्थत्वेन बलीयस्त्वान्निवृत्ते च मिथ्याज्ञाने तन्मूलत्वाद्रागादयो न भवन्ति कारणाभावे कार्सस्थानुत्पादा–द्रागाद्यभावे च तत्कार्या प्रवृत्तिर्व्यावर्त्तते तदभावे च धर्म्मा–धर्म्मयोत्पात्तिरारब्धकार्ययोरखेपभोगात्प्रक्षय इति संचितयोश्च तयोः प्रक्षयस्तत्त्वज्ञानादेव तदुक्तं : ''यथैन्धनसमिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुते क्षणात्। ज्ञानाग्निस्सर्व्वकर्म्माणि, भस्मसात्कुरुते तथा'' अथोपभोगादपि प्रक्षये ''ना भुक्तं क्षीयते कर्म्मकल्पकोटिशतैरपी'' त्यागमोऽस्ति तथा च विरुद्धार्थत्वादुभयोरेकत्रार्थे कथं प्रामाण्यमुपभोगाद्य प्रक्षयेऽनुमा-नोपन्यासमपि कुर्व्वन्ति । पूर्वकर्म्माण्युपभोगादेव क्षीयन्ते कर्म्मत्वाद्य-द्यत्कर्म्म तत्तदुपभोगादेव क्षीयते यथाऽऽरब्धशरीरं कर्म्म तथा चैतत्कर्म्म तस्मादुपभोगादेव क्षीयत इति । न चोपभोगात्प्रक्षये कर्म्मान्तरस्याव-श्यंभावात्संसारानुच्छेदः । समाधिबलादुत्पन्नतत्वज्ञानस्यावगतक-र्म्मसामर्थ्योत्पादितयुगपदशेषशरीर द्वारावाप्ताशेषभोगस्य कर्म्मान्त-रोत्पत्तिनिमित्तमिथ्याज्ञानजनितानुसन्धान विकलस्य कर्म्मानुपपत्ति-स्तदुपभोगं विना कर्म्मणां प्रक्षयानुपपत्तेर्ज्ञानितोऽपि तदर्थितया प्रवृत्तेर्वैद्योपदेशादातुरस्यैवौषध्याद्याचरणे ज्ञानमप्वयेवमशेषश-रीरोत्पत्तिद्वारेणोपभोगात्कर्म्मणां विनाशव्यापारादग्निरिवोपचर्यत इति व्याख्येयम् । ननु साक्षान्नचैतद्वाच्यं तत्वज्ञानिनां कर्म्मविनाशस्तत्वज्ञा-नादितरेषां तूपभोगादिति ज्ञानेन कर्म्मविनाशे प्रसिद्धोदाहरणाभावात् नच मिथ्याज्ञानजनितसंस्कारस्य सहकारिणोऽभावाद्विद्यमानान्यपि कर्म्माणि न जन्मान्तरशरीराण्यारभन्त इत्यभ्युपगमः श्रेयोऽनु-त्पादितकार्यस्य कर्म्मलक्षणस्य कार्यवस्तुनः प्रक्षयान्नित्यत्वप्रयक्तेः । अथानागतयोर्द्धर्माधर्मयोरुत्पत्तिप्रतिषेधे तत्वज्ञानिनो नित्यनैमित्ति-कानुष्ठानं कथं प्रत्यवयायपरिहारार्थं तदुक्तं ''नित्यनेमित्तिकैरेव, कुर्व्वाणो दुरितयम्। ज्ञानं च विमलीकुर्व्वन्नभ्यासेन तु पाचयेत्। अभ्यासत्प-क्षविज्ञानः, कैवल्यं लभते नरः'' केवलं काम्ये निषिद्धे च प्रवृत्ति प्रतिषेधस्तदुक्तं ''नित्यनैमित्तिके कुर्यात्वरिप्रत्यवायजिहासया । मोक्षार्थी न

प्रवर्तेत, तत्र काम्यनिषिद्धयोरिति'' सम्म १५५ पत्र०॥

असयअस्यखण्डनम् -

यत्तूक्तं भारब्धकार्ययोर्धर्माधर्मयोरुपभोगात्प्रक्षयः संचितयोश्च तत्वज्ञानादित्यादि तदपि न सङ्गतमुपभोगात्कर्म्मणः प्रक्षये तदुपभोगसमये ऽपरकर्मनिमित्तस्याभिलाषपूर्वकमनोवाक्कायव्यापारस्वरूपस्य संभवादविकलकारणस्य प्रचुरतरकर्मणः सद्भावात्कथमात्यन्तिकः कर्मक्षयः सम्यग्ज्ञानस्य तु मिथ्याज्ञाननिवृत्त्यादिक्रमेण पापक्रियानिवृत्तिलक्षणचारित्रोपबृंहितस्यागामिकर्मानुत्पत्तिसामर्थ्यवत्संचितकर्म्मक्षयेऽपि सामर्थ्यं संभाव्यत एव यथोष्णस्पर्शस्य भाविशीतस्पर्शानुत्पत्तौ समर्थस्य पूर्वप्रवृत्ततत्स्पर्शादिध्वंसेऽपि सामर्थ्यमुपलब्धं किन्तु परिणातिजीवाजीवादिवस्तुविषयमेव सम्यग्ज्ञानं न पुनरेकान्तनित्यात्मादविषयं तस्य विपरीतार्थग्राहकत्वेन मिथ्यात्वोपपत्तेर्यथा चैकान्तवादिपरिकल्पित आत्माद्यर्था न संभवित तथा स्थानं निवेदयिष्यते। मिथ्याज्ञानस्य च मुक्तिहेतुत्वं परेणापि नेष्यत एवातो यदुक्तं 'यथैधांसीत्यादि' तत्सर्वं संवररूपचारित्रोपबृंहितसम्यग्ज्ञानाग्नेरशेषाकर्म्मक्षयसामर्थ्यमभ्युपगम्यते तत्सिद्धमेव साधितम्। यश्चोपभोगादशेषकर्मक्षयेऽनुमानमुपन्यस्तं तत्र यदेवागामिकर्मप्रतिबन्धे सामर्थ्यं सम्यग्ज्ञानादि तदेव संचितक्षयेऽपि परिकल्पयितुं युक्तमिति प्रतिपादितं सर्वज्ञसाधनप्रस्तावेवोपभोगात्तु प्रक्षये स्तोकमात्रस्य कर्म्मणः प्रचुरतरकर्मसंयोगसंचयोपपत्तेर्न तदशेषक्षयो युक्तिसंगतः। कर्मत्वादिति च हेतु सन्तानत्ववदसिद्धाद्यनेकदोषदुष्टत्वान्न प्रकृतसाधकः। असिद्धत्वादिदोषोद्भावनं च सन्तानत्वहेतुदूषणानुसारेणातिसंख्यानेन निवर्तयितुमशक्यत्वान्मानसो विकल्पः। तथा ह्यनुमानबलात्क्षणिकत्वं विकल्पयतोऽपि नानेकत्वप्रत्ययो विवर्त्तते शाक्यान्ते तु प्रतिसंख्यानेन विचारयितुं कल्पना न पुनः प्रत्यक्षबुद्धयस्तस्माद्यथाऽश्वं विकल्पयतोऽपि गोदर्शनान्न गोप्रत्ययो विकल्पस्तथा स्वयमेव वाच्यं न पुनरुच्यते ग्रन्थगौरवभयात्। यच्च समाधियलादुत्पन्नतत्वज्ञानस्येत्यादि तदप्ययुक्तमभिलाषरूपरागाद्यभावे ह्युपभोगासंभवात् संभवेऽपि चावश्यंभावि ऋद्धिमतो भवदभिप्रायेण योगिनोऽपि प्रचुरतरधर्माधर्म्मसंभवोऽतिभोगिन इव नृपत्यादेर्दैवोपदेशप्रवर्त्तमानातुरदृष्टान्तोऽप्यसंगतः तस्यापि नीरूग्भावाभिलाषेण प्रवर्त्तमानस्यौषध्याद्याचरणे वीतरागत्वासिद्धेः। नच मुमुक्षोरपि मुक्तिसुखाभिलाषेण प्रवर्त्तमानस्य रागत्वं सम्यग्ज्ञान प्रतिबन्धकरागविगमस्य सर्वज्ञतान्यथानुपपत्त्या प्राक्प्रसाधितत्वाद्भवोपग्राहिकर्म्मनिमित्तस्य तु बाह्यबुद्धिशरीराम्भप्रवृत्तिरूपस्य सातजनकस्यशैलेश्यवस्थायां मुमुक्षोरभावात्। प्रवृत्तिकारकारणत्वेनाभ्युपगम्यमानस्य मोक्षसुखाभिलाषस्याप्यसिद्धेर्न मुमुक्षो रागित्वम्। प्रसिद्धश्च भवतां प्रवृत्त्यभावो भाविधर्म्माधर्म्म प्रतिबन्धकः यश्च भाविधर्म्माधर्म्माभ्यां विरूद्धो हेतुः स एव संचिततत्क्षयेऽपि युक्त इति प्रतिपादितमत एव सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्रात्मक एव हेतुर्भाविभूतकर्मसंबन्धप्रतिघात कत्वान्मुक्तिप्राप्त्यबन्ध्यकारणं नान्य इति तेन यदुक्तं तत्वज्ञानादिभिन्नं तद्युक्तमेव। यत्तिवरेषामुपभोगादिति तदयुक्तमुपभोगात्तत्क्षयानुपपत्तेः प्रतिपादितत्वात्। यत्तु नित्यनैमित्तिकानुष्ठानं केवलज्ञानोत्पत्तेः प्राक्काम्यनिषिद्धानुष्ठानपरिहारेण ज्ञानावरणादिदुरिततक्षयनिमित्तत्येन केवलज्ञानप्राप्तिहेतुत्वेन प्रतिपादितं तदिष्टमेवास्माकं केवलज्ञानलाभोत्तरकालं तु शैलश्यवस्थायामशेषधर्मनिर्झरणरूपायां सर्वक्रियाप्रतिषेण एवाभ्युपगम्यत इति न तन्निमित्तो धर्म्माधर्म्मफलप्रागादुर्भावः। प्रवृत्तिनिमित्तेरात्यन्तिक्यास्तत्क्षयहेतुत्वसिद्धेः सम्म०। तथा मूर्तैः कर्म्मभिरमूर्तिस्य जीवस्य वह्वयःपिण्डन्यायेन कथं सम्बन्ध इति प्रश्ने अरूपिभिः सह रूपिणां संयोगसंबन्धस्संभवत्येव यथाऽकाशेन सह परमाणूनां पक्षिणां वा वह्वयःपिण्डन्यायेन तु संबन्धविशेषो व्यवस्थाप्यते न तु रूपिद्वयनियतः संबन्ध इति न किंचिदनुपपन्नम्।४० ६ श्येन ३ उल्ला०।

कम्मओ अव्य० (कर्मतस्) कर्मणः सकाशादित्यर्थे, भ० १२ श० ५ श०।

कम्मंत पं० (कर्मान्त) कर्महेतौ, ''तहप्पगारा सावज्जा अबोहिया कम्मंता परपाणपरियावणकरा कज्जंति'' सूत्र० २ श्रु० २ अ)।

कम्मंतसाला स्त्री० न० (कर्मान्तशाला) ''छुहादिया जत्थ कम्म विज्जंति सा कम्मंतसाला'' क्षुधादि यत्र परिकम्यते सा कर्मान्तशाला इत्युक्तलक्षणायां शालायाम्, कर्मान्तगृहमप्यत्र नि० चू० ८उ०। प्रश्न०।

कम्मंस पुं० (कर्माश) कर्मभेदेषु भ० १५ श० १ उ०। व्यापाराशेषु, औ०।

पढमसमयजिणस्स णं चत्तारि कम्मंसा खीणा भवंति तंजहा णाणावरणिज्जं दरिसणावरणिज्जं मोहणिज्जं अंतराइयं। उप्पन्ननाणदंसणधरेण अरहजिणे केवली चत्तारि कम्मंसे वेदें ति तंजहा वेयणिज्जा आउयं णाम गोयं॥

प्रथमः समयो यस्य स तथा स चासौ जिनश्च सयोगिकेवलिप्रथमसमयजिनस्तस्य कर्मणः सामान्यस्यांशा ज्ञानावरणीयादयो भेदा इति। उत्पन्ने आवरणक्षयाज्जाते ज्ञानदर्शने विशेषसामान्यबोधस्वरूपे धारयतीति उत्पन्नज्ञानदर्शनधरोऽनेनादिसिद्धकेवलज्ञानवतः सदाशिवस्यासद्भावं दर्शयति न विद्यते रह एकान्तो गोप्यमस्य सकलसन्निहितत्वावहितस्थूल सूक्ष्मपदार्थसार्थसाक्षात्कारित्वादित्यरहा देवादिपूजार्हत्वेन्वा। रागादिजेतृत्वाज्जिनः। केवलानि परिपूर्णानि ज्ञानादीनि यस्य सन्ति स केवलीति। सिद्धत्वस्य कर्मक्षपणस्य च एकसमये सम्भवात् स्था० ४ ठा०। (के देवाः कियता कालेनाऽनन्तान् कर्माशान् क्षपयन्तीति खवणा शब्दे)

कम्मकड त्रि० ३(कर्मकृत)त--कर्मनिर्वर्तिते, ७ब० कर्मकरणाधिकरणे ''इत्थीए पुरिसस्स य कम्मकडाए जोणीए मेहुणवत्तिए नामं संजोए समुप्पज्जइ''--नामकर्मनिर्वर्तितायां योनौ, अथवा कर्म मदनोद्दीपको व्यापारस्तत्कृतं यस्यां सा कर्मकृता भ० २ श० ५ उ०।

कम्मकर त्रि० (कर्म्मकर)कर्मकरोतीति कृ-ट-वेतनेन कर्मकारके, स्त्रियां ङीष्--वाच०। आचा०। औ०। आ० म० द्वि०। भृतके, वृ० १उ०। लोकहितादिकर्मकरे, दशा० ६ अ०। कर्माश्रित्य करे, आ० म० द्वि०। (करशब्दे तन्निक्षेपे विवृतिः) ताच्छील्ये--दासे कर्मकरणशीले, स्त्रीयां ङीष् कृहिंसायाम्--कृ मन् कर्म हिंसा करोतीति। हेत्वादौ, यमे, पुं० मेदि०। सर्वप्राणिहिंसायां तस्याधिकृततया च तस्य तथात्वम् सर्वालतायाम्, स्त्री० मेदि०।

कम्मकरण न० (कर्मकरण) कर्म्मविषयं करणं बन्धनम्। संक्रमादिनिमित्तभूते जीववीर्य्ये, भ० ६श० १उ०।

कम्म (कत्ता) कारि पुं० (कर्मकर्त्त) कर्मैव कर्त्ता (कत्ताशब्दे विवृत्तिः) व्याकरणोक्ते कर्मणः कर्तृत्वविवक्षया प्राप्तकर्तृत्वभावे कर्मणि, क्रियमाण तु यत्कर्म स्वयमेव प्रसिध्यति। सुकरैः स्वैर्गुणैः कर्ता कर्मकत्तति तद्विदुः ''यथा देवदत्त ओदनं पचतीति कर्तुर्देवदत्तस्याविवक्षया पच्यते ओदनः स्वयमेव अत्र कर्मवत् कर्मणा तुल्यक्रियः। इत्यतिदेशात् यगात्मनेपदादयः वाच०। ''कइ दिसिं पोग्गल चिज्जंति'' पुद्गलाश्चीयन्ते कर्मकर्त्तरिप्रयोगः स्वयं चयनमागच्छन्तीत्यर्थः प्रज्ञा० २१ पद०।

कम्मकिव्विस त्रि० (कर्मकिल्विष) कर्मणा तत्तद्वत्यनुरूपचेष्टितेन किल्विषाः अधमाः कर्मकिल्विषाः। कर्मभिर्मलिनेषु, किल्विषाकर्मन्। किल्विषाणि क्लिष्टतया निकृष्टान्यशुभानुबन्धीनि कर्माणि येषां ते किल्विषकर्म्माणः। प्राकृतत्वात् पूर्वपरनिपातः। अशुभकर्मसु, उत्त० ३ अ०। एवमावट्टजोणीसु, पाणिणो कम्मकिव्विसा। न निविज्जंति संसारे, सव्वट्ठेसु व खत्तिया'' उत्त० ३ अ०। (चउरंगशब्दे व्याख्या)

कम्मक्खंध पुं० (कर्मस्कन्ध) कार्मणवर्गणाप्रधानेषु स्कन्धेषु, कर्म० ५ क०।

कम्मक्खंधदल न० (कर्मस्कन्धदल) कार्मणवर्गणाप्रधानाः स्कन्धाः कर्मस्कन्धास्त एव यथा स्वकालं दलनाद्विशरुभवनात् दलं अिफला विशरणे इति वचनात् दलं दलिक कर्म्मस्कन्धदलम्। कर्मदलिके, कर्म० ५ क० (यादृशं कर्मस्कन्धदलिकं जीवे गृह्णति तदेतत्कम्मशब्दे उक्तम्)।

कम्मक्खय पुं० (कर्मक्षय)ज्ञानावरणीयाद्यष्टवियोगे, पा०। आचा०।

कम्मक्खयकरणी स्त्री० (कर्मक्षयकरणी)कर्मक्षयः क्रियतेऽनयेति कर्मक्षयकरणी करणेऽनट्। कर्मक्षयसाधिकायाम्,व्य० १उ०।

कम्मक्खयसिद्ध पुं० (कर्मक्षयसिद्ध) ''सो कम्मक्खयसिद्धो, जा सव्वखीणकम्मंसो'' अकर्मक्षयसिद्धो यः सर्वक्षीणकर्माशः। सर्वे निरवशेषाः क्षीणाः कर्मांशाः कर्मभेदा यस्य स तथा इत्युक्तलक्षणे क्षीणकर्माष्टके भावसिद्धे, आ० म० द्वि०। आ० क०। आ० चू०। (सिद्धशब्दे तस्य विवृतिर्भविष्यति)

कम्मगइ स्त्री० (कर्मगति) क्रियते इति कर्म ज्ञानावरणादि पारिभाषिकं क्रिया वा। कर्म च तद्गतिश्चासौ कर्मगतिः। गमनं गच्छति वाऽनयेति गतिः। ज्ञानावरणादिरूपे गतिहेतौ, गमनक्रियायां च ''विहगगई चलणगई, कम्मगईओ समासओ दुविहा। तदुदयवेययजीवा, विहगमा पप्प विहगगई'' द० १अ० (विहंगमशब्दे व्याख्या)

कम्मगुरुया स्त्री० (कर्मगुरुता) कर्मणां गुरुता। कर्ममहत्तायाम्, भ० ६ श० ३२ उ०।

कम्मगुरुसंभारियता स्त्री० (कर्मगुरुसम्भारिकता) गुरोः सम्भारिकस्य च भावो गुरुसम्भारिकता गुरुता सत्भारिकता चेत्यर्थः। कर्मणां गुरुसम्भारिकता कर्मगुरुसम्भारिकता। कर्मणामतिप्रकर्षावस्थायाम्, भ० ६ श० ३३ उ०।

कम्मगंथ पुं० (कर्मग्रन्थ) कर्मप्रतिपादके कर्मविपाकादिग्रन्थषट्के, तत्र प्रथमः कर्मविपाकः श्रीमद्देवेन्द्रसूरिविरचितस्तत्कृतयैव टीकया समलङ्कृतः। ग्रन्थमानं द्व्यशीत्युत्तराष्टशताधिकमे **कसहस्रम्** (१८८२)द्वितीयः कर्मस्तवस्तेनैव देवेन्द्रसूरिणा विरचितष्टीकितश्च तन्मानं च (८३०) अष्टशताधिकं त्रिंशत्। तृतीयः कर्मस्तवो बन्धस्वामित्वं देवेन्द्रसूरिलिखितं तद्ग्रन्थमान–मेकोनषष्ट्यधिकं (४५९) चतुःशतम्। चतुर्थः षडशीतिशास्त्रं देवेन्द्रसूरिणां कृतं व्याख्यातं च तन्मानमष्टाविंशतिशतम् (२८०) पञ्चमः शतकः शिवशर्मसूरिणा कृतः पूर्वमग्रायणीयपूर्वादुद्धृत्य ततो देवेन्द्रसूरिणा विरचितष्टीकितश्च ग्रन्थमानं चत्वारिंशदुत्तरत्रिशताधिकं चतुःसहस्रम् (४३४०) षष्ठः सप्ततिकाद्रव्यः चन्द्रमहत्तरकृतो मलयगिरिविरचितटीकासमन्वि–तस्तन्मानं नवाशीत्युत्तरषटशताधिकं त्रिसहस्रम् (३६८९) सर्वग्रन्थमानम् शतुर्दशसहस्रम्। कर्म अत्र श्रीहीरविजयसूरिं प्रति पण्डितश्रीजगमालिगणिकृतप्रश्नः षष्ठकर्मग्रन्थकर्त्ती चन्द्रमहत्तरा साध्वीति सत्यं नवेति ? उत्तरम् षष्ठकर्मग्रन्थकर्त्री चन्द्रमहत्तरा साध्वीति प्रवादो मिथ्येति प्रतिभाति यतस्तट्टीकायामाचार्येणोक्त–मस्ति। तथैव तदवचुर्णौ चन्द्रमहत्तरकृतप्रकरणं व्याख्यायते इत्युक्तम्। ही०।

कम्मघण पुं० (कर्मघन) कर्मैव जीवस्वभावावरणाद् घनःकर्मघनः आव० ४ अ०। ज्ञानावरणादिकर्ममेघे, द० ६ अ०। **उक्तं च** ''स्थितः शीतांशुवज्जीवः, प्रकृत्या भावशुद्धया। चन्द्रिकावच्च विज्ञानं, तदावरणमभ्रवदिति'' आव० ४ अ०। कमहुले, त्रि० नि० चू० ६ उ०।

कम्मचिंता स्त्री० (कर्मचिन्ता) ज्ञानावरणादिके कर्मणि पर्य्यालोचने, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ०।

कम्मचिंतापणट्ठ स्त्री० (कर्मचिन्ताप्रनष्ट) कर्मणि ज्ञानावरणादिके चिन्ता पर्य्यालोचनं तस्याः प्रनष्टा अपगताः कर्मचिन्ताप्रनष्टाः। कर्मभिज्ञताशून्येषु ''कम्मचिंतापणट्ठणं, संसारस्स पवड्ढणं'' सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ०।

कम्मजणण न० (कर्मजनन) कर्मबन्धकरणे, नि० चू० २ उ०।

कम्मजोग पुं(कर्मयोग) क्रियाऽऽचरणायोगद्वये, तत्र विंशतिकानुसारेण लक्षणादिकं निरूप्यते तत्र स्थानरूपं कायोत्सर्गादि। जैनागमोक्त-क्रियाकरणे, करचरणासनमुद्रारूपमुक्तं च विंशतिकाम् ''छाणावत्तच्छालं वणरहिओ तम्मि पंचहा एसो दुगमिच्छकम्मजोगो, तहा तियं णाणजोगो उ'' अष्ट० ।कर्म०। कर्मसु योगः कौशलम् फलसाधनस्यापि कर्मणोऽफलसाधनत्वापादनरूपे कौशलभेदे, पुं० कमनीयताहेतौ, ज्ञा० १४ अ०।

कम्मजोणि स्त्री० (कर्मयोनि)साङ्ख्यमतप्रसिद्धेपदार्थे, वृत्तिश्रद्धासुखवि-विदिषाविज्ञप्तिभेदात् पञ्च कर्मयोनयः स्था०।

कम्मट्ठग न० (कर्माष्टक) ज्ञानावरणदर्शनावरणवेदनीयमोहनीया–युर्नामगोत्रान्तरायाह्वये कर्मणामष्टसंख्याके गणे, क० प्र०।

कम्मट्ठाण न० (कर्मस्थान) अयस्कारवर्द्धकिकुल्यादिके कर्मकारस्थाने, आचा० १ श्रु० ६ अ० २ उ०।

कम्मट्ठिइ स्त्री० (कर्मस्थिति)कर्मावस्थानकाले, भ० ६ श० ३ उ०। (यथा दर्शितं कम्म शब्दे) कर्मत्वोपादानमात्ररूपायामवस्थानरूपायां वा अवस्थितौ, सम०। कर्म्मणः कर्मपुद्गलेभ्यः सकाशात् स्थितिर्येषां ते कर्मस्थितयः कर्महेतुकस्थितिकेषु नैरयिकादि वैमनिकान्तेषु,भ० १४ श० ६ उ०।

कम्मणिदाण पुं० (कर्मनिदान) कर्म निदानं नारकत्वनिमित्तं कर्म-बन्धनिमित्तं वा येषां ते कर्मनिदानाः। तथाविधेषु नार-

कादिवैमानिकपर्य्यन्तेषु, भ० १४ श६ उ०।

कम्मणिव्वत्ति स्त्री० (कर्मनिर्वृत्ति)कर्मणो ज्ञानावरणादितया निष्पत्तौ,

कइविहा णं भंते ! कम्मणिव्वत्ती पणत्ता ? गोयमा ! अट्ठविहा कम्मणिव्वत्ती पण्णत्ता तंजहा णाणावरणि-ज्जकम्मणिव्वत्ती जाव अंतराइयकम्मणिव्वत्ती। णेरइयाणं भंते ! कइविहा कम्मणिव्वत्ती पण्णत्ता० तंजहा णाणावरणिज्जकम्मणिव्वत्ती जाव अंतराइ-यकम्म-णिव्वत्ती य एवं जाव वेमाणियाणं भ० १६ श० ८ उ०।

कम्मणिसेग पुं० (कर्मनिषेक) कर्मदलिकस्यानुभवनार्थं रचनाविशेषे, भ० ६ श० ३ उ०। (यथा कम्म शब्दे दर्शितम्)

कम्मण न० (कार्मण) कर्मणो विकारःकार्मणं विकारेऽण्प्रत्ययः यद्वा कर्मैव कार्मणं प्रज्ञादिभ्योऽण् प्रत्ययः। कर्मजशरीरे, कर्म०।(कम्मज शब्दे विवृतिः)

कम्मत्त त्रि० (कर्मार्त्त) इतः पूर्वाचरितैः कर्मभिर्दुःखिते, कर्मभिः कृष्यादिभिरार्ताः। कृष्यादिकर्मकर्तुमसमर्थे ''कम्मत्ता दुब्भगा चेव, इच्चारं सुसढो जणा'' एतैः पूर्वाचरितैः कर्मभिरार्ताः पूर्वस्वकृतकर्मणः फलमनुभवन्ति। यद्वा कर्मभिः कृष्यादिभिरार्त्तास्तत्कर्तुमसमर्था उद्विग्नाः सन्तो यतयः संवृत्ता इति सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ०।

कम्मत्थय पुं० (कर्मस्तव) देवेन्द्रसूरिविरचिते स्वनामख्याते कर्मग्रन्थे, तदधिकाराः ''बन्धोदयोदीरणसत्पदस्थं, निःशेषकर्मारिबलं निहत्य। यः सिद्धिसाम्राज्यमलंचकार, श्रिये स वः श्रीजिनवीरनाथः १'' ''नत्वा गुरुपदकमलं, गुरुपदेशाद्यथाश्रुतं किंचित्। कर्मस्तवस्य विवृतिं, विदधे स्वपरोपकाराय २ तत्रादावेव मङ्गलार्थमभीष्टदेवतास्तुतिमाह।

तह थुणिमो वीरजिणं, जह गुणठाणेसु सयलकम्माइ।
बंधुदयोदीरणया, सत्तापत्ताणि खवियाणि ॥१॥

तथा तेन प्रकारेण स्तुमोऽसाधारणसद्भूतसकलकर्मनिर्मूल-क्षपणलक्षणगुणोत्कीर्तनेन स्तवनगोचरीकुर्मः कं वीरजिनम् (कर्म.) यथा येनप्रकारेण ''अभिनवकर्म्मग्गहणं बंधो ओहकण सत्तवीससयं। तित्थयराहारदुगवज्जं मिच्छम्मि सत्तरसय'' मित्यादि वक्ष्यमाणेषु गुणस्थानेषु परमपदप्रासादशिखरारोहणसोपानकल्पेषु व्याख्यास्य-मानस्वरूपेषु मिथ्यादृष्ट्यादिषु सकलानि समस्तानि मतिज्ञानावरणप्र-भृत्युत्तरप्रकृतिकदम्बकसहितानि कर्माणि ज्ञानावरणीयादिमूलप्रकृति-रूपाण्यष्टौ कर्माणि च स्वोपज्ञकर्मविपाके विस्तरेण व्याख्यातानि कथंभूतानि 'बन्धुदओदीरणया सत्तापत्ताणित्ति' कर्म०। (विशेषत उपयोगाभावान्न सर्वतो व्याख्यायते) पर्य्यन्ते। इति श्रीदेवेन्द्रसूरिविर-चितायां स्वोपज्ञकर्मस्तवटीकायां सत्ताधिकाः समाप्तस्तत्समाप्तौ च समर्थिता लघुकर्मस्तवटीका।

सत्ताधिकारमेनं, विवृण्वता यन्मार्जितं सुकृतम्।
निःशेषकर्मसत्तारहितस्तेनास्तु लोकोऽयम् ॥१॥
विष्णोरिव यस्य विभोः, पदत्रयी व्यानशे जगन्निखिलम्।
कर्ममलपटलमुक्तः, स श्रीवीरो जिनो जयतु ॥२॥
कुन्दोज्ज्वलकिर्तिभरैः, सुरभीकृतसकलविष्टपाभोगः।
शतमन्नशतविनतपदः, श्रीगौतममणधरः पातु ॥३॥
तदनु सुधर्मा स्वामी, जम्बूप्रभवादयो मुनिवरिष्ठाः।
श्रुतजलनिधिपारीणा, भूयांसः श्रेयसे सन्तु॥४॥
क्रमात्प्राप्ततपाचार्येत्यभिख्याभिक्षुनायकाः।
समभूवन् कुले चान्द्रे, श्रीजगच्चन्द्रसुरयः ॥५॥
जगज्जनितबोधनां, तेषां शुद्धचरित्रिणाम्।
विनेयाः समजायन्त, श्रीमद्देवेन्द्रसूरयः ॥६॥
स्वन्ययोरुपकाराय, श्रीमद्देवेन्द्रसूरिणा।
कर्मस्तवस्थटीकेयं, सुखबोधा विनिर्ममे ॥७॥
विबुधवरधर्मकीर्ति श्रीविद्यानन्दिसूरिमुख्य बुधैः।
स्वपरसमयैककुशलैस्तदैव संशोधिता चेयम् ॥८॥
यद्वदितमल्पमतिना सिद्धान्तविरूद्धमिह किमपि शास्त्रे।
विद्वद्भिस्तत्त्वज्ञैः, प्रसादमाधाय तच्छोध्यम् ॥९॥
कर्मस्तवसूत्रमिदं, विवृण्वता यन्मयाऽर्जितं सुकृतम्।
सर्वेऽपि कर्म्मबन्धास्तेन त्रुट्यन्तु जगतोऽपि १० कम्म० १ क०।

कम्मदव्व न० (कर्मद्रव्य) कर्मवर्गणाद्रव्ये, आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ०।

कम्मदोस पुं० (कर्मदोष)कर्मैव दोषः कर्मणि दोषः कर्महेतुर्दोषो वा।दुष्टे पापजनके हिंसादौ कर्मणि, कर्मजन्ये पापादौ, सकलकर्महेतौ मिथ्याज्ञानजन्यवासनारूपे दोषे, नैया० वाच०। गुणप्रतिबन्धक-कर्मविपाके च। पंचा० १४ विव०।

कम्मद्दुम पुं० (कर्मद्रुम) द्रुमत्वेनोप्रेक्षिते कर्मणि ''उप्पो यः स्वत एव मोहसलिले जन्मालवालोऽशुभो, रागद्वेषकषायसन्ततिमहान् निर्विघ्नावीजस्त्वया। रोगैरङ्कुरितो विपत्कुसुमितः कर्मद्रुमः साम्प्रतं सोदानो यदि सम्यगेष फलितो दुःखैरधोगामिभिः ॥१॥आचा० १ श्रु० २ अ० ४ उ०।

कम्मधारय पुं० (कर्मधारय) तत्पुरुषः समानाधिकरणः कर्मधारयः इति लक्षिते समासभेदे,

से किं तं कम्मधाराए ? कम्मधारए धवलो वसहो धवलवसहो किण्हो मियो किण्हमियो सेतो पडो सेतपडो रत्तो पडो सेपडो सेत्तं कम्मधारए ॥

धवलश्चासौ वृषभश्च धवलवृषभ इत्यादि अनु०। तथा समासाधिकारे कर्म्मधारयसमासप्रयोजनं न प्रतिभाति यतस्तस्य तत्पुरुषसमा-सात्पृथग्लक्षणाभाव इति प्रश्ने जरती चासौ गौश्च जरद्गवी इत्यत्र कर्मधारयसमासत्वत् पुंवत्कर्म्मधारये इत्यनेन पुंवद्भवस्तत्पुरुषत्वाच्च गोस्तत्पुरुषादित्यट् समासान्तः टित्वाच्चङी प्रत्ययः इत्येकत्र सतसद्भयप्रयोजनद्भवस्तथा विशेषणं विशेष्येणैकार्थ्यं कर्म्मधारयश्चेति पृथग्लक्षणसद्भावाच्च न काप्याशङ्केति १३८ श्लेन० उल्ला०।

कम्मपइट्ठिय त्रि० (कर्मप्रतिष्ठित) कर्माश्रिते ''जीवा कम्मपइट्ठिया'' कर्मवशवर्तित्वात् स्था० ८ ठा०।

कम्मपग (य)मि स्त्री० (कर्मप्रकृति) कर्मणो मूलभेदे,

कइ ण भंते ! कम्मपगमीओ पण्णताओ ? गोयमा ! अट्ठ कम्मपगमीओ पण्णत्ताओ तंजहा णाणावरणिज्जं जाव अंतराइयं जाव वेमाणियाणं ॥ भ० १६ श० ३ उ०।

(कम्मशब्देऽत्र वक्तव्यं सर्वमावेदितम्। नवरम्)

जीवा णमट्ठकम्मपयडीओ चिणंसु वा चिणंति वा चिणिस्संति वा तंजहा नाणावरणिज्जं दरिसणावरणिज्जं वे-

यणिज्जं मोहणिज्जं आउयं नामं गोयं अंतराइयं ॥

''जीवो णमित्यादि'' प्रागिव व्याख्येयं नवरं चण्नं व्याख्यानान्तरेणाकलनमुपचयनं परिपोषणं बन्धनं निर्माणमुदीरणं करणेनाकृष्य दलिकस्योदये दानं वेदनमनुभव उदय इत्यर्थः । निर्जरा प्रदेशेभ्य शटनमिति । स्था० ८ ठा० ।कर्मभेदप्रतिबद्धवक्तव्यताके त्रयस्त्रिंशे उत्तराध्ययने, उत्त० ४ अ० । बन्धनादिकरणाष्टकप्रतिपादके स्वनामख्याते ग्रन्थे, तत्रादौ ।

प्रणम्य कर्म्मद्रुमचक्रनेमिं, नमत्सुराधीशमरिष्टनेमिम् ।
कर्मप्रकृत्याः कियतां पदानां, सुखावबोधाय करोमि टीकाम् ।१।
अयं गुणश्चूर्णिकृतः समग्रो, यदस्मदादिर्वदतीह किंचित् ।
उपाधिसंपर्कवशाद्विशेषो, लोकेऽपि दृष्टः स्फटिकोपलस्य ।२।

इह शिष्टाः क्वचिदिष्टे वस्तुनि प्रवर्त्तमानाः सन्त इष्टदेवतानमस्कारपुरस्सरमेव प्रवर्तन्ते न चायमाचार्यो न शिष्ट इति शिष्टसमयपरिपालनाय तथा श्रेयांसि बहुविघ्नानि भवन्ति उक्तञ्च । ''श्रेयांसि बहुविघ्नानि भवन्ति महतामपि । अश्रेयसि प्रवृत्तानां क्वापि शान्ति विनायका'' इति । इदं च प्रकरणं सम्यग्ज्ञानहेतुत्वात् श्रेयोभूतमतो मा भूदत्र विघ्न इति विघ्नविनायकोपशान्तये चेष्टदेवतानमस्कारं तथा न प्रेक्षापूर्वकारिणः क्वचिदपि प्रयोजनादिविरहे प्रवर्त्तन्ते इति प्रेक्षावतां प्रवृत्त्यर्थं प्रयोजनादिकं च प्रतिपिपादयिषुरादाविदमाह क० प्र० ।

संप्रति प्रकरणप्राज्ञाननिबन्धनां विशिष्टफलसंप्राप्तिमाह

करणोदयसंतविओ, तन्निज्जरकरणसंजमुज्जोया ।
कम्मट्ठगुदयनिट्ठा जणियमणिट्ठं सुहुमुवैं ति ॥४७३॥

करणानामुक्तस्वरूपाणामुदयसत्तयोश्च सम्यक्परिज्ञानयुक्तस्तन्निर्जराकरणं (संजमुज्जोयत्ति) तासां करणोदयसत्तानां या निर्जरा तस्याः करणं निर्वर्तनं तदर्थं संयमं प्रति उद्योग उद्यमो येषां तन्निर्जराजैकरणसंयमोद्योगाः ते इत्थंभूताः (सन्तमित्याह) कर्माष्टकोदयसत्तानिष्ठजनितं कर्माष्टकस्य अष्टानां कर्मणामुदयनिष्ठया उदयग्रहणं बन्धस्याप्युपलक्षणं ततोऽयमर्थः बन्धोदयसत्ताक्षयेण जनितमुत्पादितं यत् (मणिट्ठंति) मनस इष्टमथवा (अणिट्ठंति) न विद्यते निष्ठा पर्यवसानं यस्य तत् अनिष्ठम् । अनिष्ठमपर्यवसानं सुखमुभयत्रापि मोक्षसुखं तत् (उपयंति) प्राप्नुवन्ति तस्मादवश्यमिह प्रकारेण प्रेक्षावद्भिर्निरन्तरमभ्यासः करणीयः कृत्वा च यथाशक्तिसंयमाध्वनि प्रवृत्तितव्यं प्रवृत्तेन च सता संक्लिष्टाध्यवसायरूपकुपथपरिहारे यत्न आस्थेय इति । संप्रत्याचार्य आत्मन औद्धत्यं परिहरन् अन्येषां बहुश्रुतानां प्रकरणार्थपरिभावनाविषये प्रार्थनां कुर्वन् प्रेक्षावतां प्रकरणविषये उपादेयबुद्धिपरिग्रहार्थं प्रकरणस्य परंपरया सर्वविन्मूलतां ख्यापयति ।

इय कम्मप्पगडीओ, जहासुहं नीयमप्पमइणावि ।
सोहियउणाभोगकयं कहं तु खरदिट्ठिवायन्नू ॥४७४॥

अल्पमतिनाऽपि अल्पबुद्धिनाऽपि सता इत एवमुक्तेन प्रकारेण गुरुचरणकमलपर्युपासनां कुर्वता गुरुपादमूले यथा मया श्रुतं तथा कर्मप्रकृतेः कर्मप्रकृतिनामकात्प्राभृतात् दृष्टिवादे हि चतुर्दशपूर्वाणि तत्र च द्वितीयमाग्रायणीयाभिधानमनेकवस्तुसमन्वितं पूर्वं पञ्चमं वस्तुविंशतिप्राभृतिपरिमाणं तत्र कर्मप्रकृत्याख्यं चतुर्थं प्राभृतं चतुर्विंशत्यनुयोगद्वारमयं तस्मात् इदं प्रकारणं नीतम् आकृष्टमित्यर्थः । अस्मिंश्च प्रकरणे यत् किमपि स्खलितं तदनाभोगकृतमनाभोगजनितम् । छद्मस्थस्यहि कृतप्रयत्नस्याप्यावरणसामर्थ्यात् नो अनाभोगादिः संभवति तत आभोगः संभवति आभोगजनितं यत् किमपि स्खलितं तत् शोधयित्वा अपनयन्तु ये वरा उत्कलितबुद्ध्यतिशयसंपन्ना दृष्टिवादज्ञा द्वादशकाङ्गविदस्ते ममोपरि महतीमनुग्रहबुद्धिमास्थाय तत्रान्यत् पदमगमानुसारि प्रक्षिप्य कथयन्तु यथेदमत्र पदं समीचीनं नेदमिति । न पुनरुपेक्षारूपोऽप्रसादस्तैः कर्त्तव्यः । इमत्र भावना । अत्र ''कम्मपयडीउ'' इत्यादिना ग्रन्थेन प्रकरणस्य सर्वविन्मूलता ख्यापिता द्रष्टव्या । दृष्टवादो हि भगवता साक्षादर्थतोऽभिहितः सूत्रेण वस्तुतस्तु सुधर्मस्वामिना दृष्टिवादान्तर्गतं च कर्मप्रकृतिप्राभृतं तस्माच्चेदं प्रकरणमुद्धृतमिति परम्परया सर्वविन्मूलम् । इह शास्त्रस्यादौ मध्ये अवसाने च मङ्गलमवश्यमभिधातव्यम् आदिमङ्गलाभिधाने हि शास्त्रमविघ्नेन परिसमाप्तिमियर्त्ति मध्यममङ्गलाभिधानतश्च प्रशिष्यादिपरंपरागमनेन स्थैर्यमाधत्ते । पर्यन्तमङ्गलाभिधानप्रभावतः पुनः शिष्यप्रशिष्यादिभिरवधार्यमाणं तेषां चेतसि सुप्रतिष्ठितं भवति । तत्रादिमङ्गलम् ''सिद्धं सिद्धत्थस्स ससुय'' मित्याद्युक्तम् । मध्यमङ्गलं तु ''अकरणअणुन्नाइ अणुयोगधरे पणिवयामीति'' ।

संप्रति पुनरवसानममङ्गलमाह

जस्सवरसासणावयव फरिस पविक सियविमलमइकरणा ।
विमलेति कम्ममइले , सो मे सरणं महावीरो ॥

यस्य भगवतो महावीरस्य वरमनुत्तरं यत् शासनं तदवयवसंस्पर्शात् प्रकर्षेण विकसिता उद्बोधं गता विमला अपगतमिथ्याज्ञानत्त्वरूपमला मतिकिरणा मतिरेव किरणास्ते कर्ममलिनः कर्मतो मलीमसान् असुमतो विमलयन्ति विमलीकुर्वन्ति स भगवान् महावीरो वर्द्धमानस्वामी मे मम संसारभयभीतस्य शरणं परित्राणहेतुर्नान्य इति ।

कर्मप्रपञ्चं जगतोऽनुबन्धं क्लेशावहं वृक्षकृपापरीतः ।
क्षयाय तस्योपदिदेश रत्नत्रयं स जीयाज्जिनवर्द्धमानः ॥
निरस्तकुमतध्वान्तं, सत्पदार्थप्रकाशकम् ।
नित्योदयं नमस्कुर्मो, जैनसिद्धान्तभास्करम् ॥
पूर्वान्तर्गतकर्मप्रकृतिप्राभृतसमुद्धृता येन ।
प्रकृतिरियमवधिमनः श्रुतकेवलगम्यभावार्थः ।
ततः क्व चैषा विषमार्थयुक्ता,
क्व चाल्पशास्त्रार्थकृतश्रमोऽहम् ।
तथापि सम्यग्गुरुसंप्रदायात्,
किंचित् स्फुटार्था विवृता मयैषा ॥४॥
कर्मप्रकृतिनिधानं, बह्वर्थं येन मादृशां योग्यम् ।
चक्रे परोपकृतये, श्रीचूर्णिकृते नमस्तस्मै ॥५॥
एनामतिगम्भीरां, कर्मप्रकृतिं विवृण्वता कुशलम् ।
यदवापि मलयगिरिणा, सिद्धिं तेनाश्नुतां लोकः ॥६॥
अर्हन्तो मङ्गलं मे स्युः, सिद्धाश्च मम मङ्गलम् ।
मङ्गलं साधवः सम्यग्जैनो धर्मोऽस्तु मङ्गलम् ॥७॥

इति श्रीमलयगिरिविरचिता कर्मप्रकृतिटीका समाप्ता क० प्र० ।

आग्रायणीयाभिधानद्वितीयपूर्वस्य पञ्चमवस्तुसत्कचतुर्थप्राभृते. क० प्र० ।

कम्मपयडिसंगह पुं० (कर्मप्रकृतिसंग्रह) कर्मप्रकृतिलक्षणस्य ग्रन्थस्य बन्धविधिलक्षणस्यार्थाधिकारस्य संग्रहो यत्र स तथा पञ्चसंग्रहग्रन्थस्य पञ्चमाधिकारे, पं० सं० संप्रति कर्मप्रकृतिसंग्रहोऽभिधातव्यः कर्मप्रकृतिश्च शास्त्रान्तरे महर्द्धि च ततो

न मादृ शैरल्पमेधोभिः स्वमतिप्रभावतः संग्रहीतुं शक्यते किन्तु कर्मप्रकृतिप्राभृताभिधशास्त्रार्थपारगामिविशिष्टश्रुतधरोपदेशपारंपर्य्यतस्ततोऽवश्यमिह ते नमस्करणीया इति। पं० सं०। तेभ्यो नमस्कारं प्राक्तनग्रन्थेन सह वक्ष्यमाणग्रन्थस्य संबन्धं च प्रतिपिपादयिषुरिदमाह।

नमिऊण सुयहराणं, वोच्छं करणाणि बंधणाईणि।
संकमकरणं बहुसो, अइदिसियं उदयमंतं जं॥

नत्वा श्रुतधरेभ्यः सकलश्रुतमहार्णवपारगामिभ्यः अत्र शयनादिभिर्बहुलमिति सूत्रेण संप्रदानसंज्ञायां चतुर्थी यथा पत्ये शेते प्रणम्य शास्त्रेषु गतायेत्यादौ चतुर्थी प्रसङ्गे च '' छट्ठविभत्तीए भन्नइ चउत्थित्ति'' प्राकृतलक्षणात् षष्ठी श्रुतधरेभ्यो नत्वा किमित्याह करणानि वीर्यविशेषरूपाणि बन्धनादीनि बन्धसंक्रमणोद्वर्तनापवर्तनोदीरणोपशमनानिधत्तनिकाचनारूपाणि पं० सं० ६६ पत्र०।

कम्मपट्ठवणासय न० (कर्मप्रस्थापनाशत) कर्मप्रस्थापनाद्यर्थप्रतिपादनपरे भगवत्या एकानत्रिंशत्तमे शते, भ० १६ श०। (अत्रात्या वक्तव्यता बंभ शब्दे)

कम्मपरिण्णा स्त्री० (कर्मपरिज्ञा) कर्मणोऽनेकप्रकारतापरिज्ञाने ''दुक्खस्स कुसला परिण्णामुदाहरंति'' इति ''कम्म परिण्णय सव्वसो''कर्म्म बन्धोदयसत्कर्मताविधानतः परिज्ञाय सर्वशः सर्वैः प्रकारैः कुशलाः प्रत्याख्यानपरिज्ञामुदाहरन्ति। यदि वा मूलोत्तरप्रकृतिप्रकारैः सर्वैः परिज्ञायेति मूलप्रकाराश्चाष्टौ उत्तरप्रकृतिप्रकारा अष्टपञ्चाशदुत्तरं शतम्। अथवा प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशप्रकारैर्यदिवोदयप्रकारैर्बन्धसत्कर्म्मताकरणैश्च कर्म्म परिज्ञायेति आचा० १ श्रु० ३ अ० ४ उ०। ''कम्मभूमियाओ पण्णरसविधाओ पण्णत्ताओ तंजहा पंच भरहेसु पंच एरवएसु पंच महाविदेहेसु'' जी० ३ प्रति०।

कम्मपरिसाडणा स्त्री० (कर्मपरिशाटना) ६ त० ज्ञानावरणादीनां कर्मणां जीवप्रदेशेभ्यः पृथक्करणे, सूत्र० १ श्रु० अ०।

कम्मपादव पुं० (कर्मपादप) पादपत्वेनोत्प्रक्षिते वृक्षे, यथा सर्वपादपानां भूमौ प्रतिष्ठितानि मूलानि एवं कर्मपादपानां संसारे कषायरूपाणि मूलानि प्रतिष्ठितानि। आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ०।

कम्मपुरिस पुं० (कर्मपुरुष) कर्मानुष्ठानं तत्प्रधानः पुरुषः कर्मपुरुषः कर्मकारादिके, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ०। कर्माणिमहारम्भसंपाद्यानि नरकायुष्कादीनि तदर्जनपरः पुरुषः कर्मपुरुषः। उत्तमपुरुषभेदे ''कम्मपुरिसा वासुदेवा'' कर्मपुरुषशब्दाभिधेयाः वासुदेवादयः स्था० ३ ठा०।

कम्मपवाय न० (कर्मप्रवाद) कर्म ज्ञानावरणीयादिकमष्टप्रकारं तत्प्रकर्षेण प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशादिभिर्भेदैः सप्रपञ्चं वदतीति कर्मप्रवादम् नं०। ज्ञानवरणादिकमष्टविधं कर्म प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशादिभिर्भेदैरन्यैश्चोत्तरोत्तरभेदैर्यत्र वर्ण्यते तत्कर्मप्रवादम्। अष्टमे पूर्वे, तत्पदपरिमाणमेका कोटि अशीतिश्च सहस्राणि स० २० ० पत्र०। नं०। द०। स्था०। ''कम्मप्पवायपुव्वस्स णं वीसं वत्थू पण्णत्ता'' स०। विशे०।

कम्मप्पवयणिज्ज पुं० (कर्मप्रवचनीय) कर्म क्रियां प्रोक्तवान् इति कर्मप्रवचनीयः। कर्त्तरि भूते चानीयर्। कर्मप्रवचनीया इत्यधिकृत्य पाणिन्युक्ते अन्वादिषु शब्दकषु, ते हि संप्रति क्रियां न कथयन्ति नापि द्योतयन्ति किन्तु क्रियानिरुपितसम्बन्ध-विशेषं द्योतयन्तीति तेषां तथात्वम्। यथोक्तं हरिणा ''क्रियाया द्योतको नायं, सम्बन्धस्य न वाचकः नापि क्रियापदाक्षेपी, सम्बन्धस्य तु भेदकः'' इति अधिपरी अनर्थकावित्या-देस्तादूद्योतकत्वाभावेऽपि योग्यतया तथात्वम् वाच०।

कम्मप्पसंग पुं० (कर्मप्रसङ्ग) कर्मण्यभ्यासे, आ० म० द्वि०।

कम्मप्पसंगसत्त त्रि० (कर्मप्रसङ्गसक्त) कर्म कृष्याद्यनेकप्रकारं तस्य प्रसङ्गोऽनुष्ठानं तत्र प्रसक्तस्तन्निष्ठः। कृष्यादिकर्मनिरते, आचा० १ श्रु० १ अ० ६ उ०।

कम्मबंध पुं० (कर्मबन्ध) क्रियत इति कर्म ज्ञानावरणीयादिलक्षणं तस्य बन्धः। कर्मणो विशिष्टरचनयाऽऽत्मनि स्थापने, कर्मणा वाऽऽत्मनो बन्धः आत्मनः स्वस्वरूपतिरस्करणलक्षणे कर्मणा बन्धे, आव० ३ अ०। आ० चू०। ज्ञानावरणीयाद्युपश्लेषे, जीवानु०। (अविज्ञानाद्युपचितस्य) चतुर्विधकर्मणो बन्धचिन्ता कम्मशब्दे कृता प्रकृतिबन्धादिप्ररूपणा बंधशब्दे) नवरमिह विवेकहर्षगणिकृतप्रशस्तस्य हीरविजयसूरिकृतमुत्तरम् यथा कस्यचिज्ज्ञानतोऽभिनिविष्टस्य संसारवृद्धिहेतुः कर्मबन्धो भूयानुतानभिनिविष्टस्य तन्मार्गानुयायिनो वाऽजानात इति प्रश्ने उत्तरमाह अत्र व्यवहारेण जानतः कर्मबन्धो भूयानित्यवसीयते।तथा कश्चिदजानन् हिंसादिना कर्म चिनोति कश्चित्तु जानन् इत्यनयोः कस्य कर्मबन्धदार्ढ्यमिति प्रश्ने उत्तरमाह अत्र उभयोरपि क्रोधादिपरिणामस्य दृढत्वे कर्मबन्धस्य दार्ढ्यं मन्दत्वे तु मन्दत्वं भवति। ही०।

कम्मब्भुदय पुं० (कर्माभ्युदय) ज्ञानावरणादीनां कर्मणामभ्युदये ''कर्माभ्युदयो भावोपसर्ग इति'' सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ०।

कम्मभारियता स्त्री० (कर्मभारिकता) भारोऽस्ति येषां तानि भारिकाणि तद्भवो भारिकता कर्मणो भारिमता कर्मभारिकता। कर्मणो भारे, भ० ६ श० ३३ उ०।

कम्मभूमग पुं० (कर्मभूमक) कर्म कृषिवाणिज्यादि मोक्षानुष्ठानं वा कर्मप्रधाना भूमिर्येषां ते कर्मभूमा आर्षत्वात्समासान्तोऽप्रत्ययः। कर्मभूमा एव कर्मभूमकाः। कर्मभूमिजेषु मनुष्येषु, प्रज्ञा० १ पद०। जी०। आ० म० द्वि०।

सम्प्रति कर्मभूमिकप्रकृतिप्रतिपादनार्थमाह

से किं तं कम्मभूमगा ? कम्मभूमगा पण्णरसविहा पण्णत्ता तंजहा पंचहिं भरहेहिं पंचहिं एरवएहिं पंचहिं महाविदेहेहिं। ते समासओ दुविहा पण्णत्ता तंजहा आयरिया य मिलक्खू य॥

(सेकिंतमित्यादि) अथ के ते कर्म्मभूमिकाः सूरिराह। कर्मभूमिकाः पञ्चदशविधाः प्रज्ञप्तास्तच्च पञ्चदशविधकत्वं क्षेत्रभेदात् तथाचाह। ''पंचहिं भरतेहिं'' इत्यादि पञ्चभिर्भरतैः पञ्चभिरैरावतैः पञ्चभिर्महाविदेहैर्हियमानाः पञ्चदशविधा भवन्ति। ते च पञ्चदशविधाः समासतो द्विधा प्रज्ञप्तास्तद्यथा आर्याम्लेच्छाश्च। तत्रारात् हेयधर्मेभ्यो याताः प्राप्ता उपादेयधर्मेरित्यार्याः पृषोदरायदय इति रूपनिष्पत्तिः। म्लेच्छा अव्यक्तभाषासमाचाराम्लेच्छ अव्यक्तायां वाचि इति वचनात् भाषाग्रहणं चोपालक्षणं शिष्टासम्मतसकलव्यवहारा म्लेच्छा इति प्रतिपत्तव्यम्। प्रज्ञा० १ पद।

कम्मभूमि स्त्री० (कर्मभूमि) कृषिवाणिज्यतपःसंयमानुष्ठानादि-कर्मप्रधाना भूमयः कर्मभूमयः । भरतपञ्चकैरवतपञ्चकमहाविदेह पञ्चकलक्षणासु भूमिषु, नं० । भ० । प्रज्ञा० । पञ्चदशकर्मभूमयो यत्र तीर्थकरादय उत्पद्यन्ते प्रव० १ द्वा० । स्था० ।

ताः पञ्चदशैवम्

जम्बूदीवे दीवे तओ कम्मभूमिओ पण्णत्ताओ तंजहा भरहे एरवए महाविदेहे एवं धायइसंडे दीवे पुरच्छिमद्धे जाव पुक्खरवरदीववड्ढपच्छिमद्धे ।

एकं भरतक्षेत्रं जम्बुद्वीपे द्वे धातकीखण्डे द्वे च पुष्करवरद्वीपार्द्धे एवं भरतानि पञ्च एवं महाविदेहा ऐरावतानि च प्रत्येकं पञ्च पञ्चेति प्रव० ६३ द्वा० ।

कइविहे णं भंते ! कम्मभूमिओ पण्णत्ताओ ? गोयमा ! पण्णरसकम्मभूमीओ पण्णत्ताओ तंजहा पंच भरहाइं पंच एरवयाइं पंच महाविदेहाइं भ० २० श० ८ उ० ।

कम्मभूमिग पुं० (कर्मभूमिग)कर्मभूमिजाते, प्रज्ञा० २३ पद)।

कम्मभूमिगपलिभागि(ण्) पुं० (कर्मभूमिप्रतिभागिन) कर्मभूमिगाः कर्मभूमिजातास्तेषां प्रतिभागः सादृश्यं तदस्यास्तीति कर्मभूमिग-प्रतिभागी । कर्मभूमिगसदृशे, कोऽसाविति चेदुच्यते या कर्मभूमिजा तिर्यक्स्त्री गर्भिणी सती केनाप्यपहृत्याकर्मभूमौ मुक्ता तस्यां जातः कर्मभूमिगसदृशः । अन्ये तु व्याचक्षते कर्म्मभूमिग एव यदा केनाप्यकर्मभूमौ नीतो भवति तदा स कर्मभूमिगप्रतिभागी व्यपदिश्यते इति प्रज्ञा० २३ पद० ।

कम्मभूमिय पुं० (कर्मभूमिज)स्त्री.कृष्यादिकर्मप्रधाना भूमिः कर्मभूमिः । भरतादिका पञ्चदशधा तत्र जाताः कर्मभूमिजाः । कर्मभूमिजातेषु मनुष्येषु, तेषां स्त्रीषु, स्त्री० स्था० ३ ठा० । जी)।

कम्ममल पुं० (कर्ममल) त्याज्यत्वेन मलोपमिते कर्मणि ''उदयं अइकम्ममलं हरेज्जा'' सू० ७ प्र० १ उ० । विशे)।

कम्ममल्ल पुं० (कर्म्मल्ल) कर्माण्येव मल्लः सुभटः कर्ममल्लः । अष्टाचत्वारिंशदुत्तरप्रकृतिरूपे कर्मणि, ''हंतूण कम्मल्लं सिद्धिपडागा तु मे लद्धा'' संथा० ।

कम्ममास पुं० (कर्ममास)श्रावणमासे, तत्र हि त्रिंशद्रात्रिन्दिवानि तथाही कर्मसंवत्सरस्त्रीणिशतानि षष्ट्यधिकानि तेषां द्वादशभिर्हृते भवति यथोक्तं कर्ममासपरिमाणम् । ज्यो० १ पाहु० ।

कम्ममासय पुं० (कर्ममाषक)प्रतिमानभेदे, तत्स्वरूपं चेत्थम् । पंचगुञ्जा एकः कर्ममाषकः अथवा चतस्रः काकण्य एकः कर्म्ममाषकः । यदिवा त्रयो निष्पावका एकः कर्ममाषकः । अत्र भेदो नास्ति गुञ्जापञ्चकका-कणीचतुष्कनिष्पावत्रिकाणामेकमानत्वात् प्रतिमानशब्दे सूत्रेण सटीकेन दर्शयिष्यमाणत्वात् । अनु० । स्था० । आव० ।

कम्मय न० (कर्मक) कर्म स्वार्थेक कार्मणशरीरनामकर्मोदयनिर्वर्त्ये अशेषकर्मणां प्ररोहभूमौ आधारभूते संसार्य्यात्मना गत्यन्तरसंक्रमणे साधकतमे कार्म्मणवर्गणास्वरूपे शरीरभेदे, स्था० २ ठा० २उ० ।

कम्मज न० कर्मणो जातं कर्मजम् । कार्मणशरीरे, जी० १ प्रति० । किमुक्तं भवति कर्मपरमाणव एवात्मप्रदेशैः सह ये क्षीरनीरवदन्योऽन्यानुगतः सन्तः शरीररूपतया परिणमन्ते ते कर्मजं शरीरमिति । अत एवैतदन्यत्र कार्मणमित्युक्तं । कर्मणो विकारः कार्मणमिति तथा चोक्तम् ।

कम्मविगारो कम्मणमट्ठविचितकम्मनिष्पन्नं ।
सव्वेसि सरीराणं, करिणभूतं मुणेयव्वं ॥१॥

अत्र (सव्वेसिमिति) सर्वेषामौदारिकादीनां शरीराणांकारणभूतं वीजभूतं कार्मणशरीरं न खल्वामूलसमुच्छिन्ने भवप्रपञ्चप्ररोहबीजभूते कर्मणि वपुषि शेषशरीरप्रादुर्भावः । इदं च कार्मजं शरीरं जन्तोर्गत्यन्तरसक्रान्तौ साधकतमं करणं तथाहि । कर्मजेनैव वपुषा तैजससहितेन परिकरितो जन्तुर्मरणदेशमपहायोत्पत्तिदेशमभिसर्पति । ननु यदि तैससहितकार्मणवपुःपरिकरितो गत्यन्तरं संक्रामति तर्हि स गच्छन् आगच्छन् वा कस्मान्न दृष्टिपथमवतरति ? उच्यते कर्मपुद्गलानां चातिसूक्ष्मतयो चक्षुरादीन्द्रियागोचरत्वात् तथाच परतीर्थिकैः प्रज्ञाकरगुप्तैरप्युक्तम् ''अन्तरा भवदेहोऽपि, सूक्ष्मत्वान्नोपलभ्यते । निष्कामन् प्रविशन्वाऽपि, नाभावोऽनीक्षणादपीति'' प्रज्ञा० २१ पद० । जी० । कर्म० ।अनु० । आव० ।

कार्मक न० कर्मपरमाणुकेषु भवं कार्मकम् । कार्मणशरीरे, कर्म० ३ क० ।

कम्मगसरीरेणं भंते ! कइविहे पण्णत्ते ? गोयमा ! पुचविहे पण्णत्ते तंजहा एगिंदियसरीरे जाव पंचिंदियसरीरे एवं जहेव तेयगसरीरस्स भेदे संठाणओगाहणा भणिया तहेव निरवसेसं भाणियव्वं जाव अणुत्तरोववाइयत्ति प्रज्ञा० २१ पद)।

कम्मयओ अव्य० (कर्मकतस्) इह कप्रत्ययः स्वार्थिकः कर्माश्रित्येत्यर्थ, पंचा० १ विव० ।

कम्मय(ण)कायजोग पुं० (कार्मक(ण)काययोग)कार्मणमेव कायस्तेन योगः कार्मणकाययोगः । काययोगभेदे, कर्म० १ क।

कम्मयग न० (कर्मजक)कर्मण्णो जातं कर्म्मजं कर्म्मात्मकमित्यर्थः । तदेवकर्मजकं जातौ वा स्वार्थे क इति प्राकृतलक्षणात् कप्रत्ययः । कार्मणशरीरे, पं० सं० ।

कम्मय(ण)णाम न० (कार्मक(ण)) नामन् कार्मक(ण) निबन्धनं नाम कार्मक(ण) नाम । शरीरनामभेदे, य दुदयात् कार्मणप्रायोग्यान् पुद्गलानादाय कार्मणशरीररूपतया परिणमयति परिणमथ्य च जीवप्रदेशैः सहान्योन्यानुगमरूपतया संबन्धयतीति । कर्म० १ क० ।

कम्मय(ण)दग्गणा स्त्री० (कार्मक(ण)वर्गणा) कर्मणा नामकर्मोत्तरप्रकृत्या निवृत्तं कार्मणम् । ज्ञानाद्यष्टविधकर्मस्वप्रायोग्यपुद्गलानां गृहीतानां तत्तद्रूपेण परिणामजनकमित्यर्थः तत्र वर्गणा । ज्ञानावरणाद्यष्टविधक-र्मपरिणामहेतुके दलिके, कर्म० २ क० ।) वग्गणाशब्दे स्वरूपंवक्ष्यते)

कम्मया स्त्री(कर्मजा)अनाचार्यके कर्म साचार्यकं शिल्पम् । अथवा कदाचित्कं शिल्पं सार्वकालिकं कर्म । कर्मणो जाताः कर्मजाः । कृषिवाणिज्यादिकर्माभ्यासप्रभवे बुद्धिभेदे, न० ३२ पत्र० । ज्ञा० अथ कर्मजाया बुद्धेर्लक्षणमाह ।

उवओगदिट्ठसारा, कम्मपसंगपरिघोलणविसाला ।
साहुक्कारफलवई, कम्मसमुत्था हवइ बुद्धि ॥६॥

(उघओगेत्यादि) उपयोजनमुपयोगो विवक्षितकर्म्मणि मनसोऽभिनिवेशः सारस्तस्यैव विवक्षितकर्म्मणः परमार्थः उपयोगेन दृष्टः सारो यथा सा उपयोगदृष्टसारा। अभिनिवेशोपलब्धकर्म्मपरमार्था इत्यर्थः। तथा कर्म्मणि प्रसङ्गोऽभ्यासः परिघोलनं विचारः ताभ्यां विशाला विस्तारमुपगता कर्म्म प्रसङ्ग परिघोलनविशाला। तथा साधु कृतं सुष्ठु कृतमिति विद्वद्भ्यः प्रशंसा साधुकारस्तेन युक्तं फलं साधुकारफलं तद्वति साधुकारपुरःसरं चेतनादिलाभरूपं तस्याः फलमित्यर्थः। सा तथाकर्म्मसमुत्था भवति बुद्धिः।

अस्या विनेयजनानुग्रहाय उदाहरणैः स्वरूपं दर्शयति

हेरन्निए करिसए, कोलिय मोवे य मुत्तिघयपवए।

तुन्नायवड्ढइ पूइए य घडचित्तकारे य ॥१०॥

''होरणि'' इत्यादौ षष्ठ्यर्थे सप्तमी ततोऽयमर्थो (हिरण्णित्ति) हैरण्यकस्य कर्म्मजा बुद्धिः। एवं सर्वत्रापि योजना कार्या। हैरण्यको हि स्वविज्ञानप्रकर्षप्राप्तोऽन्धकारेऽपि हस्तस्पर्शविशेषेण रूपकं यथावस्थितं परीक्षते (करिसगेत्ति) अत्रोदाहरणम्। कोऽपि तस्करो रात्रौ वणिजो गृहे पद्माकरं खातं खातवान्। ततः प्रातरलक्षितः तस्मिन्नेव गृहे समागत्य जनेभ्यः प्रशंसामाकर्णयति तत्रैकः कर्षकोऽब्रवीत् किं नाम शिक्षितस्यदुष्करत्वं यद्येन सदैवाभ्यस्तं कर्म्म स तत्प्रकर्षं प्राप्तं करोति नात्र विस्मयः। ततः स तस्कर एतद्वाक्यममर्षवैश्वानरसंधुक्षणसम्माकर्ण्य जज्वाल कोपेन। ततः पृष्टवान् कमपि पुरुषं कोऽयं कस्य वासक इति ज्ञात्वा तमन्यदा छुरिकामाकृष्य गतः। क्षेत्रे तस्य पार्श्वे रे मारयामि त्वां सम्प्रति। तेनोक्तं किमिति सोऽवादीत् तत्त्वया तदानीं मम खातं न प्रशंसितमिति कृत्वा, सोऽब्रवीत्सत्यमेतत् यो यस्मिन् कर्म्मणि सदैवाभ्यासपरः। सतद्विषये प्रकर्षवान् भवति। तत्राहमेव दृष्टान्तः। तथा ह्यमून् मुद्गान् हस्तगतान् यदि भणसि तर्हि सर्वानप्यधोमुखान् पातयामि यद्वा ऊर्द्धमुखान् अथवा पार्श्वस्थितान् इति। ततः सोऽधिकतरं विस्मितचेताः प्राह। पातय सर्वानप्यधो मुखान इति विस्तारितो भूमौ पटः पातिताः सर्वेऽप्यधोमुखाः मुद्गाः। जातो महान्विस्मयः चोरस्य प्रशंसितं भूयो भयस्तस्य कौशलमहो विज्ञानमिति वदति चौरः यदि नाधोमुखाःपतिताः अभिविष्यन् ततो नियमात् त्वामहममारयिष्यमिति कर्षकस्य चोरस्य च कर्मजा बुद्धिः। (कोलयत्ति) कौलिकस्तन्तुवायः स मुष्ट्या तन्तूनादाय जानाति एतावद्भिः कण्डकैः पटो भविष्यति (डोएत्ति) दर्वी वर्द्धकिर्जानाति एतावदत्र मास्यतीति (मुत्तित्ति) मणिकारो मौक्तिकमाकाशे प्रक्षिप्य सूकरवालं तथा धारयति यथा पततो मौक्तिकस्य रन्ध्रे स प्रविशतीति (घयत्ति) घृतविक्रयी स्वविज्ञानप्रकर्षप्राप्तो यदि रोचते तर्हि शकटेऽपि स्थितोऽधस्तात् कुण्डिकानालेऽपि घृतं प्रक्षिपति (पवयत्ति) सवकः स चाकाशस्थितानि करचरणानि कराति (तुणगत्ति) सीवनकर्मकर्त्ता स च स्वविज्ञानप्रकर्षप्राप्तस्तथा सीवति यथा प्रायो न केनापि लक्ष्यते (वड्ढइत्ति) वर्द्धकिः स च स्वविज्ञानप्रकर्षप्राप्तोऽमित्वाऽपि देवकुलरथादीनां प्रमाणं जानाति (पूइयत्ति) आपूपिकः स चामित्वाऽप्यपूपानां दलस्य मानं जानाति (घाडत्ति)घटकारः स्वविज्ञानप्रकर्षप्राप्तः प्रथतमः प्रमाणयुक्तां मृदुं गृह्णति (चित्तकरित्ति) चित्रकरः स च रूपकतूलिकाममित्वाऽपि रूपकप्रमाणं जानाति तावन्मात्रं वा वर्णकुञ्चिकया गृह्णाति यावन्मात्रे प्रयोजनमिति। उक्ता कर्मजा बुद्धिः। नं० ३६ पत्र०। आ० क०। आ० म० द्वि०।

कम्मरय न० (कर्मरजस्) कर्म ज्ञानावरणाद्यष्टप्रकारं तदेव जीवस्य गुण्डनेन मालिन्यापादनाद्रजो भण्यते नं०। आत्मरञ्जनाद्रजउपमिते कर्माणि, दश० ४ अ०।

कम्मरिवु पुं० (कर्मरिपु) रिपुत्वोपमिति कर्मणि ''कम्मरिवुजएण सामाइयं लब्भति'' आ० चू० १ अ०।

कम्मलाघव न० (कर्मलाघव) भावतो लाघवे, आचा० १ श्रु० ६ अ० ३उ०।

कम्मलेस्सा (कर्मलेश्या) कर्मणः सकाशाद्या लेश्या जीवपरिणतिः सा कर्मलेश्या। भ० १४ श० १ उ०। कर्मणो योग्या लेश्या कृष्णादिका कर्मलेश्या (श्लिष श्लेषणे) इति वचनात् कृष्णादिलेश्यायाम्, भ० १४ श० ६ उ०। भावलेश्यायाम्, भ० १४ श० १ उ०।

कम्मव -उप -भुज् धा० आत्म० रुधादि उपभोगे **''वोपेन कम्मवः ८।४।११९।** उपेन युक्तस्य भुजेः कम्मव इत्यादेशो वा भवति। कम्मवइ उवहुंजइ उपभुङ्क्ते। उपभोगं करोति प्रा०।

कम्मवणविभावसु पुं० (कर्मवनविभावसु)कर्मवनस्य ज्ञानावरणादिसमुदायरूपस्य विभावसुरिवाग्निरिव तदुाहकत्वेन। कर्मक्षपणहेतौ केवलिप्रज्ञप्ते धर्म्मे, सू० प्र० १ पाहु०।

कम्मवाइ(ण्) पुं० (कर्मवादिन्) कर्म ज्ञानावरणीयादि तद् वदितुं शीलमस्य। कर्मणणे जगद्वैचित्र्यवादिनि, यतो हि प्राणिनो मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगैः पूर्वं गत्यादियोग्यानि कर्म्माण्याददते पश्चात्तासु तासु विरुपरूपासु योनिषु उत्पद्यन्ते कर्म च प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशात्मकमवसेयमिति। अनेन च कालयदृच्छानियतीश्वरात्मवादिनो निरस्ता द्रष्टव्याः आचा० १ श्रु० १अ० १ उ०।

अस्य मतम्। जन्तान्तरोपात्तमिष्टानिष्टफलदं कर्म सर्वजगद्वैचित्र्यकारणमिति कर्मवादिनस्तथा चाहुः ''यथा यथा पूर्वकृतस्य कर्मणः, फलं निधानस्थमिवावतिष्ठते। तथा तथा तत्प्रतिपादनोद्यता, प्रदीहस्तवे मतिः प्रवर्तते'' तथा च ''स्वकर्मणा युक्त एव, सर्वो ह्युत्पद्यते नरः। स तथा कृष्यते तेन, यथाऽयं स्वयमिच्छति'' तथाहि समानमीहमानानां समानदेशकालकुलाकारादिमतामर्थप्राप्त्य-प्राप्तिना निमित्तेऽप्यनिमित्तस्य देशादिना प्रतिनियमायोगात्। न च परिदृश्यमानकारणभवस्तस्य समानतयोपलम्भान्नचैकरूपत्वकार्यभेदस्तस्याहेतुकत्वप्रशक्तेरहेतुकत्वे च तस्य कार्यस्यापि तद्रूपतापत्तेः। भेदाच्चेदव्यतिरिक्तस्य तस्यासत्वात् ततो यन्निमित्ते एते तदृष्टकारणव्यतिरिक्तमदृष्टकारणं कर्मेति। असदेतत् कुलालादेर्घटादिकारणत्वेनाध्यक्षतः प्रतीयमानस्य परिहारेण परादृष्टकारणप्रकल्पनया तत्परिहारेण परादृष्टकारणकल्पनया अनवस्थाप्रसङ्गतः क्वचिदपि कारणप्रतिनियमानुपपत्तेः। नच स्वतन्त्रं कर्म वैचित्र्यं कारणमुपपद्यते तस्य कर्त्रधीनत्वात्। नचैकस्वभावात् ततो जगद्वैचित्र्यमुपपत्तिमत्कारणचैचित्र्यमन्तरेण कार्यवैचित्र्यायोगात्। वैचित्र्ये वा तदेककार्यता-

प्रच्युतेरनेकस्वभावत्वे च कर्मणो नाममात्रनिबन्धनैव विप्रतिपत्तिः। पुरुषकालस्वभावादेरपि जगद्वैचित्र्यकारणत्वेनार्थतोऽभ्युपगमात् नच तेन चेतनवताऽनधिष्ठितमचेतनत्वाद्वास्यादिवत् वर्तते अथ तदधिष्ठायकः पुरुषो ऽभ्युपगम्यते न तर्हि कर्मैकान्तवादः पुरुषस्य तदधिष्ठायकत्वेन जगद्वैचित्र्यकारणत्वोपपत्तेः नच केवलं किंचिद्वस्तु नित्यानित्यं चाकार्यकृत् संभवीत्यसकृत्प्रतिपादितं तन्न कर्मैकान्तवादोऽपि युक्तिसंगतः सम्म० भवी० १८४ पत्र०। सूत्र०।

कम्मवावार पुं० (कर्मव्यापार) अज्ञानादिजनकज्ञानावरणादिलक्षण सामर्थ्ये, पञ्चा० ३ विव०।

कम्मवाहिकिरिया स्त्री० (कर्मव्याधिक्रिया) कर्मरोगाचिकित्सायाम् ''इय कम्मवाहिकिरियं वज्जं भावओ पवण्णस्स'' पंचा० १६ विव०)।

कम्मविउस्सग्ग पुं० (कर्मव्युत्सर्ग) ज्ञानावरणादिकर्मबन्धहेतूनां ज्ञानप्रत्यनीकत्वादीनां त्यागे, भ० २५ श० ७ उ०।

तद्भेदा यथा

से किं तं कम्मविउस्सग्गे ? कम्मविउस्सग्गे अट्ठविहे पण्णत्ते तंजहा णाणावरणिज्जकम्मविउस्सग्गे दरिसणावरणिज्जकम्मविउस्सग्गे वेअणीअकम्मविउस्सग्गे माकहणीयकम्मविउस्सग्गे आउअकम्मविउग्गे नामकम्मविउस्सग्गे गोअकम्मविउस्सग्गे अंतरायकम्मविउस्ससग्गे सेत्तं कम्मविउस्सग्गे।

कम्मवियइ स्त्री(कर्मविगति)अशुभानां कर्मणां स्थितिमाश्रित्य विगमे, भ० ६ श० ३२ उ०।

कम्मविवाग पुं० (कर्मविपाक) त० पुण्यपापात्मकस्य कर्मणः फले स०। स्था०। ''सव्वो पुव्वकयाणं, कम्माणं पावए फलविवागं। अवराहेसु गुणेसु य, णिमित्तमित्तं परो होइ'' सूत्र० १ श्रु० १२ अ० (किरियावाइशब्दे व्याख्यास्यामि)

पुनरपि तद्वरीयस्त्वख्यापनाय प्राणिनां संसार निर्वेदवैराग्योत्पत्त्यर्थमभिधित्सुकाम आह

तं सुणेह जहा तहा संति पाणा अंधा तमसि वियाहिया तामेव सयं असयं अतिउव्व उच्चावए फासे पडिसंवेदें ति बुद्धेहिं एअं पवेदितं। संति पाणा वासगा रसगा उदए उदयचरा आगासगामिणो पाणापाणे किलेसंति पासलोए महब्भयं बहुदुक्खा हु जंतवो सत्ताकामेहिं माणवा अवलेणवहं गच्छंति सरीरेणं भंगुरेणं अट्ठे से बहुदुक्खे इति वाले पकुव्वंति एते रोगे बहु णच्चा अउरा परितावएणालं पास अलं तवे तेहिं एयं पासमुणी महब्भयं णातिवातेज्ज कंचण आयाणभो सुण्णूसमो।

(तमित्यादि) तं कर्म्मविपाकं यथावस्थितं तथैवमावेदयतः शृण्णुत यूयं तद्यथा नारकतिर्यग्नरामरलक्षणाश्चतस्रो गतयस्तत्र नरकगतौ चत्वारो योनिलक्षाः पञ्चविंशतिकुलकोटिलक्षास्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्युत्कृष्टा स्थितिर्वेदनाश्च परमाधार्मिकपरस्परोदीरितस्वाभाविकदुःखानां नारकाणां या भवन्ति ता वाचामगोचराः। यद्यपि लेशतश्चिकथयिषोरभिधेयविषयं न वागवतरति तथापि कर्मविपाकावेदनेन प्राणिनां वैराग्यं यथा स्यादित्येवतर्थः श्लोकैरेव किंचिदभिधीयते।

''श्रवणलवनं नेत्रोद्धारः करक्रमपाटनम्।
हृदयदहनं नासाच्छेदप्रतिक्षणदारुणम्॥
कटिविंदहनं तीक्ष्णपातत्रिशूलविभेदनम्।
दहनवदनैः कङ्कैर्घोरैः समन्तविभक्षणम्॥
तीक्ष्णैरसिभिर्दीप्तैः, कुन्तैर्विषमैः परस्वधैश्चक्रैः।
परशुत्रिशुलमुद्गर तोमरवासीभुशुण्डीभिः॥
संभित्ततालुशिरसौच्छिन्नभुजाच्छिन्नकर्णनायौष्ठाः।
भिन्नहृदयोदरान्त्रा, भिन्नाक्षिपुटाः सुदुःखार्ताः॥
निपतन्त उत्पतन्तो, विचेष्टमाना महीतले दीनाः।
नेक्षन्ते त्रातारं, नैरयिकाः कर्म्मपटलान्धाः॥
छिद्यन्ते कृपणाः कृतान्तपरशोस्तीक्ष्णेन धारासिना,
क्रन्दन्तो विषचक्रिभिः परिवृताः संभक्षणव्यावृतिः।
पाट्यन्ते क्रकचेन दारुवदसिप्रच्छित्तवाहुद्वयाः,
कुम्भीषु त्रपुपानदग्धतनवो मूषास्तुबान्तर्गताः।
भृज्यन्ते ज्वलदम्बरीषु हुततभुग्ज्वालाभिराराविणो,
दीप्ताङ्गारनिभेषु वज्रभवनेष्वङ्गारकेषूत्थिताः।
दह्यन्ते विकृतोर्द्धबाहुवदनाः क्रन्दन्त आर्तस्वनाः,
पश्यन्तः कृपणा दिशो विशरणास्त्राणाय का नो भवदिति''

तथा तिर्यग्गतौ पृथिवीकायजन्तुनां सप्त योनिलक्षा द्वादश कुलकोटीलक्षाः स्वकायपरकायशस्त्राणि शीतोष्णादिका वेदनाः। तथाऽप्कायस्यापि सप्त योनिलक्षाः सप्त च कुलकोटिलक्षा वेदना अपि नानारूपा एव। तथा तेजस्कायस्य सप्त योनिलक्षास्त्रयः कुलकोटिलक्षाः पूर्ववद्वेदनादिकम्। वायोरपि सप्त योनिलक्षाः सप्त च कुलकोटिलक्षा वेदना अपि शीतोष्णादिजनिता नानारूपा एव प्रत्येकवनस्पतेर्दश योनिलक्षाः साधारणवनस्पतेश्चतुर्दश उभयरूपस्याप्यष्टा-विंशतिः कुलकोटीलक्षास्तत्र च गतोऽसुमाननन्तमपि कालं देनभेदनमोटनादिजनिता नानारूपा वेदना अनुभवन्नास्ते। विकलेन्द्रियाणामपि द्वौ द्वौ योनिलक्षौ कुलकोटयस्तु द्वीन्द्रियाणां सप्त, त्रीन्द्रियाणामष्टौ, चतुरिन्द्रियाणां नव दुःखं तु क्षुत्पिपासाशीतोष्णादिजनितमनेकधाऽध्यक्षमेव। तेषामिति पञ्चेन्द्रियतिरश्चामपि चत्वारो योनिलक्षाः कुलकोटिलक्षास्तु जलचराणामर्द्धत्रयोदश, पक्षिणां द्वादश, चतुष्पदानां दश, उरःपरिसर्पाणां दश, भुजपरिसर्पाणां नव, वेदनाश्च नानारूपायास्तिरश्चां संभवन्ति ताः प्रत्यक्षा एवेति। उक्तं च ''क्षुस्त्रिट्हीमान्युष्णभयार्दितानां, पराभियोगव्यसनातुराणाम्। अहो तिरश्चामतिदुःखितानां, सुखानुषङ्गं किल वार्त्तमेत'' दित्यादि मनुष्यगतावपि चतुर्दश योनिलक्षा द्वादश कुलकोटीलक्ष वेदनास्त्वेवंभूता इति।

दुःखं स्त्रीकुक्षिमध्ये प्रथममिह भवे गर्भवासे नराणां,
वालत्वे चापि दुःखं मललुलिततनुस्त्रीपयः पानमिश्रम्।
तारुण्ये चापि दुःखं भवति विरहजं वृद्धभावोऽप्यसारः,
संसारे रे मनुष्या ! वदत यदि सुखं स्वल्पमप्यस्ति किंचित्।१।
बाल्यात्प्रभृति च रोगैर्दृष्टोऽभिभवश्च यावदिह मृत्युः।
शोकवियोगायोगैर्दुर्गतदोषैस्त्वनेकविधैः॥
क्षुत्तृम्हिमोष्णानिलशीतदाहा प्रियादियोगैः प्रियविप्रयोगैः।
दौर्भाग्यसौख्यानभिजात्यदासस्यवैरुप्यरोगादिभिरस्पतन्त्रः।२।

इत्यादि देवगतावपि चत्वारो योनिलक्षः षडविंशतिः

कुलकोटिलक्षास्तेषामपीर्ष्याविषादमत्सरच्यवनभयशल्यवितुद्यमानमनसां दुःखानुषङ्ग एव सुखाभासाभिमानस्तु केवलमित्युक्तं च ''देवेषु च्यवनवियोगदुःखितेषु कोपेर्ष्यामदमदनानिपातितेषु। आर्या नस्तदिह विचार्य संगिरन्तु, यत्सौख्यं किमपि निवेदनीयमस्ती'' त्यादि तदेवं चतुर्गतिपतिताः संसारिणो नानारूपं कर्म्मविपाकमनुभवन्तीत्येतदेव सुत्रेण दर्शयितुमाह। (संतिपाणा इत्यादि) सन्ति विद्यन्ते प्राणाः प्राणिनो वा चक्षुरिन्द्रियविकला भावान्धा अपि सदसद्विवेकविकलास्तमस्यन्धकारे नरकगत्यादौ भावान्धकारेऽपि च मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषायादिके कर्म्मविपाकापादिते व्यवस्थिताः। किञ्च व्याख्यातामेव इत्यादि तामेवावस्थां कुष्ठाद्यापादितामेकेन्द्रियापर्याप्तकादिकां वा सकृदनुभूय कर्मोदये तामेवासकृदनेकशोऽतिगत्वोच्चावचांस्ती-व्रमन्दान् स्पृर्शान् दुःखविशेषान् प्रतिसंवेदयन्त्यनुभवन्त्येयच्च तीर्थकृद्भिरावेदितमित्याह ''बुद्धेहिं इत्यादि'' बुद्धस्तीर्थकृद्भिरेतदनन्तरोक्तं प्रकर्षणादौ वाऽऽवेदितमेतच्च वक्ष्यमाणं प्रवेदितमित्याह ''संतीत्यादि'' सन्ति विद्यन्ते प्राणाः प्राणिनो वासका वासृ शब्दकुत्सायां वासन्तीति वासकाः। भाषालब्धिसंपन्ना द्वीन्द्रियादयस्तथा रसमनुगच्छन्तीति रसगाः कटुतिक्तकषायादिर-सवेदिनः संज्ञिन इत्यर्थः इत्येवं भूजः कर्म्मविपाकः संसारिणा संप्रेक्ष्य इति संबन्धस्तथा ''उदये इत्यादि'' उदके उदकरूपा एवैकेन्द्रिया जन्तवः पर्याप्तकापर्याप्तकभेदेन व्यवस्थिताः। तथोदके चरन्तीत्युदकचराः पुतरकच्छेदनकलाङ्गणकत्रसमत्स्य-कच्छपादयः। तथा स्थलजा अपि केचन जलश्रिता महोरगादयः पक्षिणश्च केचन तद्वतदृष्टयोदृष्टव्याः। अपरे त्वाकाशगामिनः पक्षिण इत्येवं सर्व्वेऽपि प्राणाः प्राणिनो परान् प्राणिन आहारार्थं मत्सरादिना वा क्लेशयन्त्युपतापयन्ति। यद्येवं ततः किमित्यत आह ''पास इत्यादि'' पश्यावधारय लोके चतुर्दशरज्ज्वात्मके कर्म्मविपाकात्सकाशान्महद्भयं नानागतिदुःखक्लेशविपाकात्मकमिति किमिति कर्म्मविपाकात्मकं महद्भयमित्याह ''बहूइत्यादि'' बहूनि दुःखानि कर्म्मविपाकापादितानि येषां जन्तूनां ते तथा हुर्यस्मादेवं तस्मात्तत्राप्रमादवता भाव्यं किमित्येवं भूयो भूय उपदिश्यत इत्यत आह। ''सत्ता इत्यादि'' यस्मादनादिभवाभ्यासेनागणितोत्तरपरिणामाः सक्ता गृद्धाः कामेष्विच्छामदनरूपेषु मानवाः पुरुषा इत्यतो न पुनरुक्तदोषानुषङ्गः। कामासक्ताश्च यदवाप्नुवन्ति तदाह ''अबलेण इत्यादि'' बलरहितेन निस्सारेण तुषमुष्टिकल्पेनौदारिकेण शरीरेण प्रभङ्गुरेण स्वत एव भङ्गशीलेन तत्सुखाधानतया कर्म्मोपचित्याऽनेकशो बधं गच्छन्ति। कः पुनरसौ विपाककटुकेषु कामेषु यो रतिं विदध्यादित्याह ''अट्ठे इत्यादि'' मोहोदयादार्तोऽगणितकार्याकार्यविवेकतोऽसुमान्। बहुदुःखं प्राप्तव्यमनेनेति बहुदुःख इत्येनं कामानुषङ्गं प्राणिनां क्लेशं याति वालो रागद्वेषाकलितः प्रकर्षेण करोति प्रकरोति तज्जनितकर्म्मविपाकाच्चानेकशो बधं गच्छति। यदि वा रोगेषु सत्सु इत्येतद्वक्ष्यमाणं बालोऽज्ञः प्रकरोति तदाह ''एए इत्यादि'' एतान् गण्डकुष्ठराजसयक्ष्मादीन् रोगान् बहूनुत्पन्नानिति ज्ञात्वा तद्रोगवेदनाया आतुराः सन्तश्चिकित्सायै प्राणिनः परितापयेयुर्लावकादिपिसितासिनः किल क्षयव्याध्युपशमः स्यादित्यादिवाक्याकर्णनाज्जीविताशया गरीयस्यपि प्राण्युपमर्दे प्रवर्तेरन्नैमदवधारयेयुर्यथा स्वकृताबन्ध्यकर्म्मविपाकोदयादेतत्त दुपशमाच्चोपशमः प्राण्युपमर्दचिकित्सया च किल्विषानुषङ्ग एवेत्येतदेवाह ''णालं इत्यादि'' पश्यैतद्विमलविवेकावलोकनेन यथा नालं न समर्थश्चिकित्साविधयः कर्मदयोपशमं विधातुम्। यद्येवं ततः किं कर्त्तव्यमिति दर्शयति। अलं पर्याप्तं तव सदसद्विवेकिन एभिः पापोपादानभूतेश्चिकित्साविधिभिरिति। किंच ''एवं इत्यादि'' एतत्प्राण्युपमर्दादिकं पश्यावधारय हेमुने! जगस्त्र्यस्वभाववेदिन्! महद्भहद्भयहेतुत्वाद्भयम् यद्येवम्। ततः किंकुर्यादिति दर्शयति नातिपातयेन्न हन्यात्कंचन प्राणिनं यत एकस्मिन्नपि प्राणिनि हन्यमानेऽष्टप्रकारमपि कर्म्म बध्यते तच्चानुत्तरसंसारगमनायेत्यतो महाभयमिति। यदि वा ''एए रोगे बहु णच्चे'' त्यादिको ग्रन्थः कामानधिकृत्य ज्ञेयः। एतान् रोगरूपान् कामान् बहून् ज्ञात्वा आसेवनाप्रज्ञयेत्यातुराः कामेच्छान्धा अपरान् प्राणिनः परितापयेयुरित्यादिना प्रक्रमेणेति आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ०। अष्ट०। ज्ञानावरणादिकर्मणां तत्तदावरणदुःखदायाकत्वलक्षणे विपाके, दर्श० ''पयइट्ठिइप्पएसाणुभावभिन्नं सुहासुहविभत्तं। जोगाणुभावजणिअं, कम्मविवागं विचिंतिज्जा'' आव० ४ अ० (झाण शब्दे व्याख्या) कर्मणां ज्ञानावरणादीनां विपाकोऽनुभवः कर्मविपाकः। कर्मविपाकप्रतिपादके प्रथमे कर्मग्रन्थे ''दिनेशवद्ध्यानवर-प्रतापैरनन्तकालप्रथितं समन्तात्। योऽशोषत्कर्मविपाकपङ्कं देवो मुदेवोऽस्तु स वर्द्धमानः ॥१॥ ज्ञानादिगुणगुरूणां, धर्मगुरूणां प्रणम्य पदकलम्। कर्मविपाके विवृतिं, स्मृतिबीजविवृद्धये विदधे।२।

तत्रादावेवाभीष्टदेवतास्तुत्यादिप्रतिपादिकामिमां गाथामाह।

सिरिवीरजिणं वंदिअ, कम्मविवागं समासओ वुच्छं।
कीरइ जिएणहेउहिं, जेणं तो भन्नए कम्मं ॥१॥

श्रिया सकलत्रिभुवनजनमनयश्चमत्कारकारि मनोहारि परमार्हत्यमहामहिमविस्मारि ''अशोकवृक्षः १ सुरपुष्पवृष्टि२ र्दिव्यो ध्वनि ३ श्चामर ४ मासनं च ५। भामण्डलं ६ दुन्दुभि ७ रातपत्रं ८ सत्प्रातिहार्याणि जिनेश्वराणामिति'' स्पष्टाष्टप्रातिहार्यशोभया चतुस्त्रिंशदतिशयविभूत्या वा समन्विते वीरः श्रीवीरः स चासौ रागद्वेषमोहप्रभृतिवैरिवारपराजयाज्जिनेश्च श्रीवीरजिनस्तं श्रीवीरजिनं श्रीवर्द्धमानस्वामिनं वन्दित्वा विशुद्धमानसप्रणिधान समन्वितेन वाग्योगेन स्तुत्वा काययोगेन च प्रणम्य ष्टुञ् स्तुत्यभिवादनयोरिति वचनात् एतेन मङ्गलार्थमभीष्टदेवतयाः स्तुतिरुक्ता क्त्वाप्रत्ययस्य चोत्तरक्रियासापेक्षत्वादुत्तरक्रियामाह कर्मविपाकं वक्ष्ये। तत्र कर्मणां ज्ञानावरणादीनां विपाकोऽनुभवः कर्मविपाकस्तं कर्मविपाकं वक्ष्येऽभिधास्ये। अनेनाभिधेयमाह। कथमित्याह समासतः संक्षेपेण विस्तरेण दुष्षमानुभावापचीयमानमेधयुर्बलादिगुणानामैदंयुगीनजनानां विस्तराभिधाने सति उपकारासंभवात्तदुपकारार्थं च एष शास्त्रारम्भप्रयासः। एतेन संक्षिप्तरुचिसत्वानाश्रित्य प्रयोजनमाचष्टे। संबन्धस्त्वर्थापत्तिगम्यः स चोपायोपेयलक्षणः साध्यसाधनलक्षणो गुरुपर्वक्रमलक्षणो वा स्वयमभ्युह्य इति कम्म० १ क०।

कम्मविवागदसा स्त्री० बहुव.० (कर्मविपाकदशा)कर्मणोऽशुभस्य विपाकः फलं कर्मविपाकस्तत्प्रतिपादिका दशा अध्ययनात्मकत्वाद्दशाः कर्मविपाकदशाः। विपाकश्रुताख्यस्यैकादशाङ्गस्य प्रथमश्रुतस्कन्धे, द्वितीयश्रुतस्कन्धोऽप्यस्य

दशाध्ययनात्मकः कर्मविपाकप्रतिपादकश्च । नचासाविहाभिमतः स्थानाङ्गेऽस्या निवृतत्वात् इति । पा० । इयं विवृतिः ।

कम्मविवागदसाणं दस अज्झयणा पण्णत्ता तंजहा ।
मियापुत्ते य गुत्तासे अंमे सगडे इयावरे ॥
माहणे नंदिसेणे य, सूरिए य उदुंबरे ।
सहसुद्दाहे आमलए, कुमारे लेच्छईतिय ॥

मिगेत्यादि) श्लोकः सार्द्धः मृगा मृगग्रामाभिधाननगरराजस्य विजयनाम्नो भार्या तस्याः पुत्रो मृगापुत्रस्तत्र किल नगरे महावीरो गौतमेन समवसरणागतं जात्यन्धं नरमवलोक्य पृष्टो भदन्तान्योऽपीहास्ति जात्यन्धो भगवांस्तं मृगापुत्रं जात्यन्धमनाकृतिमुपदिदेश । गौतमस्तु कुतूहलेन तद्दर्शनार्थं तद्गृहं जगाम मृगादेवी च बन्दित्वा गमनकारणं पप्रच्छ । गौतमस्तु त्वत्पुत्रदर्शनार्थमित्युवाच । ततः सा भूमिगृहस्थं तदुद्घाटनतस्तं गौतमस्य दर्शितवती । गौतमस्तु तमतिघृणास्पदं दृष्ट्वाऽऽगत्य च भगवन्तं पप्रच्छ । कोऽयं जन्मान्तरेऽभवत् भगवानुवाच अयं हि विजयवर्द्धमानकाभिधाने खेटे मकायीत्यभिधानो लक्षोपचारादिभिर्लोकोपतापकारी राष्ट्रकूटो बभूव । ततः षोडशरोगातङ्काभिभूतो मृतो नरकं गतस्ततःपापकर्मविपाकेन मृगापुत्रो लोष्टाकारोऽव्यक्तेन्द्रियो दुर्गन्धो जातः । ततो मृत्वा नरकं गत इत्यादि तद्वक्तव्यता प्रतिपादप्रथममध्ययनं मृगापुत्रमुक्तमिति । (गोत्तासेत्ति) गास्त्रासितवानिति गोत्रासोऽयं हि हस्तिनागपुरे भीमाभिधानकुटग्राहस्योत्पलाभिधानाया भार्यायाः पुत्रोऽभूत् । प्रसवकाले चानेन महापापसत्वेनाराज्यात् गावस्त्रासिता यौवने चायं गोमांसान्यनेकधा भक्षितवान् । ततो नारको जातस्ततो वाणिजग्रामनगरे विजयसार्थवाहभद्राभायोरुज्झितकाभिधानः पुत्रो जातः । स च कामध्वजगणिकार्थे राज्ञा तिलशो मांसच्छेदनेन तत्स्वादनेन च चतुष्पथे विडम्ब्य व्यापादितो नरकं जगामेति गोत्रसवक्तव्यताप्रतिबद्धं द्वितीयमध्ययनं गोत्रासमुच्यते । इदमेव चोज्झितकनाम्ना विपाकश्रुते उज्झितकमुच्यते इति ॥२॥ (अंडेत्ति) पुरिमतालनगरवास्तव्यस्य कुक्कुटाद्यनेकविधाण्डजभाण्डव्यवहा-रिणो वाणिजकस्य निन्नकाभिधानस्य पापविपाकप्रतिपादकमण्ड-मिति । स च निन्नको नरकङ्गतस्तत उद्वृत्तोऽभग्नसेननामा पल्लीपतिर्जातः । स च पुरिमतालनगरवास्तव्येन निरन्तरं देशलूषणातिकोपितेन विश्वास्यानीय प्रत्येकं नगरचत्वरेषु तदग्रतः पितृव्यपितृव्याप्रभृतिकं स्वजनवर्गं विनाश्य तिलशो मांसच्छेदनरुधिरमांसभोजनादिना कदर्थयित्वा निपातित इति विपाकश्रुते वा भग्नसेन इतीदमध्ययनमुच्यते ३ (सगडियावरेत्ति) शकटमिति चापरमध्ययनं तत्र शाखाञ्जन्यां नगर्यां सुभद्राख्यसार्थवाहभद्राभिधानतद्भार्ययोः पुत्रः शकटः । स च सुषेणाभिधानामात्येन सुदर्शनाभिधानगणिकाव्यतिकरे सगणिको मांसच्छेदादिनाऽत्यन्तं कदर्थयित्वा विनाशितः । स च जन्मान्तरे छगलपुरे नगरे छन्निकाभिधानच्छगलिको मांसप्रिय आसीदित्येतदर्थप्रतिबद्धं चतुर्थमिति ॥४॥ (माहणेत्ति) कोशाम्ब्यां वृहस्पतिदत्तनामा ब्राह्मणः स चान्तःपुरव्यतिकरे उदायनेन राज्ञा तथैव कदर्थयित्वा मारितो जन्मान्तरे चासावासीन्महेश्वरदत्तनामा पुरोहितः । स च जितशत्रो राज्ञः शत्रुजयार्थं ब्राह्मणादिभिर्होमं चकार तत्र प्रतिदिनमेकैकं च तुर्वर्ण्यदारकमष्टम्यादिषु द्वौ द्वौ चतुर्मास्यां चतुरश्चतुरः षण्मास्यामष्टावष्टौ संवत्सरे षोडश षोडश परचक्रागमेष्टशतमष्टशतं परचक्रं च जीयते तदेवं मृत्वाऽसौ नरकं जगामेत्येवं ब्राह्मणवक्तव्यताप्रतिबद्धं पञ्चममिति ५ (नंदिसेणयत्ति) मथुरायां श्रीदामराजसुतो दन्दिषेणो युवराजो विपाकश्रुते च नन्दिवर्द्धनः श्रूयते स च राजद्रोहव्यतिकरे राज्ञा नगरचत्वरे तप्तस्य लोहस्य द्रवेण स्नानं तद्विधसिंहासनोपवेशनं क्षारतैलभृतकलशौ राज्यभिषेकश्च कारयित्वा कष्टमारेण परासुतान्नीतो नरकमगमत् । स च जन्मान्तरे सिंहपुरनगरराजस्य सिंहरथाभिधानस्य दुर्योधननामा गुप्तिपालो बभूव । अनेकविधयातनाभिर्जनं कदर्थयित्वा मृतो नरकं गतवानित्येवमर्थं षष्ठमिति ॥६॥ (सोरियत्ति) सौरिकदत्तो नाम्ना मत्स्यबन्धपुत्रः य च मत्स्यमांसप्रियो गलविलग्नमत्स्यकण्टको महाकष्टमनुभूय मृत्वा नरकं गतः । स च जन्मान्तरे नन्दिपुरनगर राजस्य मित्राभिधानस्य श्रीको जाम महानसिकोऽभूत् जीवघातरतिर्मांसप्रियश्च मृत्वा चासौ नरकं गतवानिति सप्तमम् ॥७॥ इदं चाध्ययनं विपाकश्रुतेऽष्टममधीयतम् । (उदुंबरोत्ति) पाटलीखण्डे नगरे सागरदत्तसार्थवाहसुत उदुम्बरदत्तो नाम्नाऽभूत् । स च षोडशभी रोगैरेकदा ऽभिभूतो महाकष्टमनुभूय मृतः । स च जन्मान्तरे विजयपुरराजस्य कनकरथनाम्नो धन्वन्तरिनामा वैद्य आसीत् । मांसप्रियो मांसोपदेष्टा चेति कृत्वा नरकं गतवानित्यष्टमम् ॥८॥ (सहसुद्दाहेत्ति) सहसाऽकस्मादुद्दाहः प्रकृष्टो दाहः सहसोद्दाहः सहस्राणां वा लोकस्योद्दाहः सहस्रोद्दाहः (आमलएत्ति) रश्रुतेर्लश्रुतिरित्यामरकः सामस्त्येन मारिरेवमर्थप्रतिबद्धं नवमम् । तत्र किल सुप्रतिष्ठे नगरे सिंहसेनो राजा श्यामाभिधानदेव्यामनुरक्तस्तद्वचनादेवैकोनानि पञ्चशतानि देवीनां तां मिमारयिषूणि ज्ञात्वा कुपितः सन् तन्मातृणामेकोनपञ्चशतान्युपनिमन्त्र्य महत्यगारे आवासं दत्वा भक्तादिभिः सम्पूज्य विश्रब्धानि सदेवीकानि सपरिवाराणि सर्वतो द्वारबन्धनपूर्वकमग्निप्रदानेन दग्धवांस्ततोऽसौ राजा मृत्वा षष्ठ्यां च गत्वा रोहीतके नगरे दत्तसार्थवाहस्य दुहिता देवदत्ताभिधानाऽभवत् । सा च पुष्यनन्दिना राज्ञा परिणीता सं च मातुर्भक्तिपरतया तत्कृत्यानि कुर्वद्भसाभासतया च भोगविघ्नकारिणीति तन्मातुर्ज्वलल्लोहदण्डस्या पानप्रक्षेपात्सहसा दाहनबधो व्यधायि राज्ञा चासौ विविधविमम्बनाभिर्विडम्ब्य विनाशितेति विपाकश्रुते देवदत्ताभिधानं नवममिति ॥९॥ तथा (कुमारेत्ति) कुमाराः राज्यार्हा अथवा कुमाराः प्रथमवयस्थास्तान् (लेच्छईहयति) लिप्सुश्च वणिजश्चाश्रित्य दशममध्ययनामिति शब्दश्च परिसमाप्तौ भिन्नक्रमश्चेति । अयमत्र भावार्थो यदुत इन्द्रपुरे नगरे पृथिवीश्रीनामगणिकाऽभूत्सा च बहून् राजकुमारवणिकपुत्रादीन् मन्त्रचूर्णादिभिर्वशीत्योदारान् भोगान् भुक्तवती षष्ठयाश्च गत्वा वर्द्धमाननगरे धनदेवसार्थवाहदुहिता अञ्जूरित्यभिधाना जातेति सा च विजयराजपरिणीता याऽतिशूलेन कृच्छ्रं जीवित्वा नरकं गतेति । अत एव विपाकश्रुते अञ्जु इति दशममध्ययनमुच्यत इति स्था० १ ठा० ।

कम्मविवेग पुं० (कर्मविवेक) कर्मनिर्जरायाम्, आव० ६ अ० ।

कम्मविस न० (कर्मविष)कर्मैव विषमात्मनो विकारहेतुत्वात् कर्मविषम् । विषत्वोपमिति कर्मणि, पंचा० ४ विव० ।

कम्मविसुद्ध पु० (कर्मविशुद्ध) क्रियत इति कर्म ज्ञानावरणादिलक्षणं

तेन विशुद्धो वियुक्तः कर्मविशुद्धः कर्मकलङ्करहिते ''कम्मविसुद्धाण सव्वसिद्धाणं'' दश० १ अ०।

कम्मविसुद्धि स्त्री० (कर्मविशुद्धि) प्रदेशापेक्षयाऽशुभानां कर्मणां विगतौ, भ० ६ श० ३२ उ०।

कम्मविसोहि स्त्री० (कर्मविशोधि)रसमाश्रित्य कर्मणां विगमे, भ० ६ श० ३२ उ०।

कम्मविहुणण न० (कर्मविधूनन) कर्मणां विधूनने, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ०। प्र० (धूताध्ययनस्य द्वितीयोद्देशके उक्तम्)

कम्मवीय न० (कर्मवीज) वीजत्वोत्प्रेक्षिते कर्मणि ''अज्ञानपांशुपिहितं, पुरातनं कर्मवीजमविनाशि। तृष्णाजलाभिषिक्तं, मुञ्चति जन्माङ्कुरं जन्तोः'' ''दग्धे वीजे यथाऽत्यन्तं, प्रादुर्भवति नाङ्कुरः। कर्मवीजे तथा दग्धे, न रोहति भवाङ्कुरः'' आ० म० द्वि०। सूत्र०।

कम्मवेयय पुं० (कर्मवेदक) कर्मणां वेदप्ररूपके प्रज्ञापनायाः पञ्चविंशतितमे पदे, प्रज्ञा० २५ पद०।

कम्मस न० (कल्पष)कर्म शुभाशुभं स्यति सो-क- षत्वं रस्यलः। **''सर्वत्र लवरामचन्द्रे'' ८।२।७९** इति लुक् द्वित्वम् प्रा०। पापे, को०। मलिने, त्रि. तटाधरः।''जन्मन्यृक्षे यदिस्यातां, वारौ भौमशनैश्चरौ। स मासः कल्मषो नाम, मनोदुःखप्रदायकः'' दीपकोक्ते मासभेदे, वाच०।

कम्मसंगरकेलि पुं० (कर्मसंगरकेलि)कर्मक्षयकरसंग्रामे ''कृतमोहास्त्र-वैफल्य ज्ञानचर्म बिभर्ति यः। क्व भीस्तस्य क्व वा भङ्गः कर्मसङ्गरकेलिषु'' अष्ट० ३३ पत्र)।

कम्मसंवच्छर पुं० (कर्मसंवत्सर)कर्म लौकिको व्यवहारस्तत्प्रधानः संवत्सरः कर्मसंवत्सरः। ऋतुसंवत्सरे, यस्मिंस्त्रीणि शतानि षष्ट्यधिकानि परिपूर्णान्यहोरात्राणां भवन्ति। लोकोहि प्रायः सर्वोऽप्यनेनैव संवत्सरेण व्यवहरति तथा चैतद्व्रतं मासमधिकृत्यान्यत्रोक्तम् ''कम्मो निरंसयाए, मासो ववहारकारगो लोए। सेसा उ संसयाए, ववहारे दुक्करा धित्तुं'' सू० प्र० १० पाहु०। जो०।

कम्मसमज्जणसय न० (कर्मसमर्जनशत) कर्मसमर्जनलक्षणार्थप्र-तिपादके भगवत्याः अष्टाविंशे शतके, भ० २८ श०। (अत्रत्या वक्तव्यता बंध शब्दे)

कम्मसमारंभ पुं० ६ त(कर्मसारम्भ) त.ज्ञानावरणाद्यष्टप्रकारस्य कर्मणःउपादानहेतौ उपार्जनोपाये, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ०। पशुघातमांसभक्षणसुरापाननिर्लाञ्छनादिके सावद्यानुष्ठाने, सूत्र० २ श्रु० १ अ०।

कम्मसह त्रि० (कर्मसह)कर्मविपाकसहिष्णौ, सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ०।

कम्मसाला स्त्री० (कर्मशाला) कुम्भकारघट्याम् यत्र कुम्भकारो घटादिभाजानानि करोतीति वृ० २ उ.०।

कम्मसिद्ध पुं० ७ त(कर्मसिद्ध)कर्म्मशब्दोक्ते ''कम्मं जमणायरिउं'' इत्युक्तलक्षणे कर्मणि निष्ठां गते, आ० म० द्वि०।

सम्प्रति कर्मसिद्धं सोदाहरणमभिधित्सुराह

जो सव्वकम्मकुसलो, जो वा जत्थ सुपरिनिट्ठिओ होइ।
सज्झंगिरिसिद्धगो विव, स कम्मसिद्धो त्ति विन्नेओ॥

यः कश्चित् सर्व्वकर्म्मकुशलो यो वा यत्र कर्म्मणि सुपरिनिष्ठितो भवत्येव कस्मिन्नपि कर्म्मणि सह्यगिरिसिद्धक इव स कर्म्मसिद्ध इति विज्ञेय। कर्म्मसिद्धो ज्ञातव्य इत्यर्थः। एष गाथाक्षरार्थः। भावार्थः कथानकादवसेयः। तच्चेदं ''कोंकणे एगम्मि द्रगोसज्झस्स भंडं ओरुहंति विलयंति यताणं वि विसमे गुरुभावारहि त्ति काऊण रण्णा समाणत्तं एएसिं मए वि पंथो दायव्वो न उण एएहिं कस्स वि। इतो य एगो सिंधवतो पुराणोसो पडिभज्झंतो चिंतेइ तेहिं जामि जहिं कम्मेण एस जीवो भज्झइ सुहं न विंदए सो तेसिं मिलितो। सो गंतुकामो रयणिपज्झवसाणे भणइ कुदुरुक्कपडिबोहियल्लओ। सिद्धओ भणइ सिद्धियं देहि मम जह सिद्धयं सिद्धया गया। सज्झ यं ''अत्र कुदुरुक्कः कुर्कुटः सह्यकं सह्यपर्वतं'' सो य तेसिं महत्तुरत्तो सव्ववइं भारं वहइ। अन्नया साहू तेण मग्गेण आगच्छंति तेण तेसिं साहूणंमग्गोच्छिन्नो। वेरुद्धा राउले गया रायाणं वन्नवेंति। अम्हं रायावि मग्गं देइ भारेण दुक्खाविज्जंताणं एस पुण समणस्स रित्तस्स मग्गं देइ। रण्णा भणियं अरे दुट्ठ! ते कहं मम आणा लुंपिया। तेण भणियं देव! तुमे गुरुभारवाहि त्ति काऊण मे य माणत्तं रण्णा आमंति पडिसुणंतेण भणियं जइ एवं ता सो गुरुतरवाहा कहं जं सो अवासमंतो। अट्ठारससीलंगसहस्सनिब्भरं भारं वहति जाम वोढुं न पारिओ एत्थंतरा धम्मकहा तेण कहिया ते महाराया वुज्झंति नाम भारा ते चिय वुज्झंति वासमंतेहिं सीलभारो वोढव्वो जावज्जीवं अवीसामो राया पडिबुद्धो सो य संवेगतो पुणरवि पवज्जाए अब्भुट्ठितो एसो कम्मसिद्धो''। आ० म० द्वि०। आ० चू०।

कम्महय त्रि० (कर्महत)कर्मभग्ने, व्य० ६ उ०।

कम्माजीव पुं० (कर्माजीव) कर्म कृष्याद्यनाचार्य्यकं वा सूचादिनोपदर्श्य ततो भक्तादिग्राहके आजीवनामकैषणागोषेष्टे,स्था० ठा०।

कम्माणुबंधच्छेयग पुं० त्रि० (कर्मानुबन्धच्छेदक) कर्मसन्ताव्यवच्छेदके, पंचा० १५ विव।

कम्मादान न० (कर्मादान) कर्माणि ज्ञानावरणादीनि आदीयन्ते यैस्तानि कर्मादानानि। अथवा कर्माणि च तान्यादानानि च कर्महेतव इति विग्रहः भ० ८ श० ५ उ०। कर्मोपादानहेतुषु, उत्त० ११ अ०। भ०। ''जे इमे समणोपासगा भवंति तेसिं णो कप्पति इमाइं पण्णरस कम्मादाणाइं सयं करें तए वा. इंगालकम्मे'' इत्यादि। भ० ८ श० ५० उ०। कर्मादानाजीत्यल्पसावद्यजीवनोपायाभावेऽपि तेषामुत्कटज्ञाना-वरणीयादिकर्महेतुत्वादादानानि कर्मादानानि ज्ञातव्यानि। आव० ६ अ०। (उपभोगः परिभोगवय शब्दे विवृतः) कर्मणां ज्ञानावरणादीनामा-दानम्। बन्धस्थानहेतौ, अन्त० ७ वर्ग०। तथा भगवत्यां श्राद्धानां पञ्चदशकर्मादाननिषेधे प्रोक्ते तत्सेवनं कल्पते नवेति प्रश्नेऽत्रोत्तरं श्राद्धानां पञ्चदशकर्मादाननिषेध आधुनिको ज्ञेयोऽपवादपदे तु परिहाराशक्तौ शकटालादीनामिव तानि कल्पन्तेऽपीति १० ४ श्येन १ उल्ला०।

कम्मायंक पुं० (कर्मातङ्क) क्लिष्टे कर्मणि, पं० सू०।

कम्मायायण न० (कर्मायतन) कर्मणां ज्ञानवरणादीनामायतनम्। बन्धस्थानहेतौ, अन्त० ७ वर्ग०।

कम्मा(रिय)यरिय पुं० (कर्मार्य) दौष्यिकसौत्रिकादौ कर्मणार्य्ये, प्रज्ञा० १ पद० (आयरिय शब्दे दर्शितोऽस्य भेदः)

कम्मार पुं० (कर्मकार) छगणपुञ्जाद्यपनेतरि, जं० २ वक्ष० । लौहादिकर्मकरे, जी० ३ प्रति० २ उ० ।

कम्मार पुं० (कर्म) ऋच्छति ऋ अण् वंशभेदे, कर्मरङ्गवृक्षे च राजनि० । कर्मप्राप्तरि, त्रि० स्वार्थे कन् तत्रैव वाच० । अयस्कारे ''कम्मार इवादायालोए संडासलोहाणं'' विशे० । लोहकारे, नि० चू० १ उ० । (सिद्धिः कम्मासरीरकायप्पओगशब्दे)

कम्मारगाम पुं० (ज्ञातखण्डोद्यानसमीपे) स्वनामख्याते ग्रामे, यत्र भगवान् वीर' ज्ञातखण्डात् प्रास्थितः आ० चू० । १ अ० । आ० म० द्वि० ।

कम्मारदारय पुं० (कर्म्मारदारक) लोहकारदारके, जी० ३ प्रति० ।

कम्मारभिक्खुय पुं० (कर्मकारभिक्षुक) देवद्रोणीवाहकभिक्षुविशेषे, वृ० ३ उ० ।

कम्मासरीरकायप्पओग पुं० (कार्मणशरीरकायप्रयोग) कायप्रयोगभेदे, कार्मणशरीरकायप्रयोगे विग्रहे, समुद्घातगतस्य च केवलिनस्तृतीयचतुर्थपञ्चमसमयेषु भवति उक्तं च ''कार्मणशरीरयोगी चतुर्थके पञ्चमे तृतीये च'' भ० ८ श० १ उ० । (अत्रं मूलपुस्तके कम्मासरीकायप्पओगेत्युक्तमितीहापि तथै वोक्तं वस्तुतस्तु कम्म(ण) यसरीरेति यकारप्रकरणे एवोपयज्यते यद्वा आर्षत्वाद्यकारलोपः दीर्घे कम्मासरीरेति । अथवा कगचजेत्यादिना यकारलोपे उभयोरकारयोर्दीर्घे कम्मासरीरेति)

कम्मि(ण) त्रि० (कर्म्मिन्) कर्मास्त्यस्य व्रीह्यादित्वादिन् व्यापारयुक्ते, स्त्रीयां ङीष् वाच० । सावद्यानुष्ठानवति, कर्मवति पापिनि, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० सपापे, सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

कम्मिंदिय न० (कर्म्मेन्द्रिय) कर्मणां वचनादीनां निमित्तमिन्द्रियम् । वचनादिकर्मकरेषु वागदिषु वाक्पाणिपादपायूपस्थानि कर्मेन्द्रियाण्याहुः । वचनादानविहारणोत्सर्गानन्दाश्च पञ्चानाम्'' वाच० (एषामिन्द्रियत्वनिराकरणमिंदिय शब्दे उक्तम्)

कम्मिया स्त्री० (कर्मिता)कर्म विद्यते यस्याऽसौ कर्मी तद्भावस्तत्ता । कर्मवत्त्वे, भ० १ श० १ उ० ।

कार्मिका अन्ये त्याहुः कर्मणां विकारः कार्मिका । अक्षीणे कर्मशेषे ''कम्मियाए संगियाए देवा देवलोगेसु उववज्जंति'' अक्षीणेन कर्मशेषेण देवत्वावाप्तिरित्यर्थः । भ० १ श० १ उ० ।

कम्मुम्मीसग न० (कर्मोन्मिश्रक)कार्मणेन शरीरेणोन्मिश्रके व्याप्ते । अवश्यसंयुक्ते ।

चत्तारि सरीरगकम्मुम्मीसगा पन्नत्ता तंजहा ओरालिए वेउव्विए आहारए तेयए ।

(कम्ममीसगत्ति) कार्मणेन शरीरेणोन्मिश्रकाणि न केवलानि यथौदारिकादीनि त्रीणि वैक्रियादिभिरमिश्रकाण्यपि भवन्ति नैवं कार्मणेनेति शरीराणि कार्मणेनोन्मिश्राणीत्युक्तम् । स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

कम्मुरलदुग न० (कर्मौदारिकद्विक) कार्मणे औदारिकद्विके, औदारिकलक्षणे च । पं० सं० ।

कम्मोदय पुं० (कर्मोदय) कर्मणामुदयः । कर्मणामुदित्वे, भ० ६ श० ३२ उ० ।

कम्मोदयपच्चयज्झाण न० (कर्मोदयप्रत्ययध्यान) कर्मणामुदयः प्रत्ययो हेतुर्यस्य ध्यानस्य तत्कर्मोदयप्रत्ययध्यानम् । कर्मोदयप्रत्ययेन वा ध्यानं कर्मोदयप्रत्ययध्यानम् । प्रथमं शुभपरिणामवतोऽपि पश्चात्कुतश्चित्कर्मोदयतोऽशुभपरिणामत्वे, पथा पर्य्यन्तकाले इभ्यस्य आतु० ६ प० ।

कम्मोपा(वा)हिविणिम्मुक्क त्रि० (कर्मोपाधिविनिर्मुक्त) कर्मणामौपाधिकानामन्यद्रव्याणां कुतश्चित् सङ्गतानामुपाधिः साहचर्य्यं तेन विनिर्मुक्तो रहितः कर्मोपाधिविनिर्मुक्तः । सिद्धे, द्र० २१ पत्र० । (पर्यायार्थिकनयस्य पञ्चमभेदस्वरूपे विवृतिः)

कम्मोवग पुं० (कर्मोपग) कर्म ज्ञानवरणादिपुद्गलरूपमुपगच्छति बन्धनद्वारेणोपयातीति कर्मोपगः भ० १४ श० ६ उ० । आशुकर्मबद्धे, कर्मढौकिते, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० । ''तदुवक्कमा कम्मोवेगा कम्मणियाणेणं तत्थवुक्कमा रुक्खजोणिएसु रुक्खत्ताए विउट्टंति'' (सूत्र०) तथाविधेन वनस्पतिकायसम्भवेन कर्मणा प्रेर्यमाणास्तेष्वेव वनस्पतिषु उपसामीप्येन तस्यामेव च पृथिव्यां गच्छन्तीति कर्मोपगा भण्यन्ते (सूत्र०) ते हि कर्मवशगा वनस्पतिकायादागत्य तेष्वेव पुनरपि वनस्पतिषु उत्पद्यन्ते न चान्यत्रोक्ता अन्यत्र भविष्यन्नीति । उक्तं च ''कुसुमपुरोप्ते बीजे, मथुरायां नाङ्कुरः समुद्भवति । यत्रैव तस्य बीजं, तत्रैवोत्पद्यते प्रसवः'' सूत्र० २ श्रु० ३ अ० ।

कम्मोवसंति स्त्री० (कर्मोपशान्ति) अशेषद्वन्द्वात्मकसंसारतद्बीजभूतानां कर्मणमुपशमे, आचा० १ श्रु० २अ० ।

कम्मोवहि पुं० (कर्मोपधि)उपधीयते पोष्यते जीवोऽनेनेत्युपधिः कर्म एवोपधिः कर्मोपधिः । उपधिभेदे, स्था० ३ ठा० १ उ० । (व्याख्या उवहिशब्दे)

कम्हलय त्रि० (कश्मलज) पापोत्पन्ने, अष्ट० ६ अ० ।

कम्हा (कस्मात्) **किम् ङस् ङसेर्म्हा ८।३।६६।** इति ङसेर्म्हा इत्यादेशः। कुत इत्यर्थ, प्रा० ।

कम्हार पुं० (कश्मीर)**''आत् कश्मीरे'' ८।१।१० ०** । कश्मीरशब्दे इकारस्य आद् भवति प्रा० । **''कश्मीरेम्मो वा ८।२।६०।** इति संयुक्तस्य म्मो वा । कम्भारो कम्हारो प्रा० । नवमे ऋषभदेवपुत्रे, तदधिष्ठितदेशभेदे च० कल्प० ।

कय पुं० (कच्) कच् अच्. केशे, तं० । वृहस्पतिपुत्रे, शुष्कव्रणे, मेघे, शब्दमा० । हस्तिन्याम्, स्त्री० मेदनी० भावे घ० बन्धे,शोभायां च । वाच० ।

कृत त्रि० कृ कर्मणि क्तः । **ऋतोऽत् ८।१।१२६।** इति ऋतोऽत्वम् प्रा० । विहिते, ''कयकोउयमंगलपच्छित्ता'' विपा० १ श्रु० २ अ० । प्रश्न० । आचा० । निर्वर्तिते, अभ्यस्ते, आव० ४ अ० । निष्पादिते, संथा० । ''अब्भुग्गयसुकयवयरवेइया'' रा० । आतु० । ''कयाहाराओ'' कृतोऽभ्यवहृत आहारो यकाभिस्तास्तथा । औ० । अर्जिते, आतु० । उत्पन्ने, आ० म० द्वि० । अर्थे,प्रयोजने ''अत्थकए'' अर्थकृते अर्थार्थम् दश० ६ अ० । सूत्र० अनुष्ठिते, स० । आचरिते, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

क्रय पुं० क्री भावे० अच् क्रयणं क्रयः । लाभार्थमल्पमूल्येन बहुल्पवस्तुग्रहणे, आतु० । (कीयकयशब्दे क्रयेण वस्त्रपात्राद्युतभोगो निषेत्स्यते)

कयंजलि पुं० (कृताञ्जलि)कुतोऽञ्जलिरिव पत्रसङ्कोचो येन । लज्जालुवृक्षे, सम्पुटीकृतहस्ते, त्रि० धरणि० वाच० । ''कयंजली सयंबुद्धं सरणमुपगतो'' आ० म० प्र० । ''कयंजलिउमा'' कृताञ्जलिपुटाः आ० म० प्र० ।

कयंगला स्त्री० (कृतङ्गला) श्रावस्तीनगरीसमीपवर्त्तिन्यां नगर्य्याम् ''तीसे णं कयंगलाए नयरीए अदूरसामंते सावत्थीणामं नयरी होत्था'' भ० २ श० १ उ० । आ० म० द्वि० ।

कयंत पुं० (कृतान्त) कृतः अन्तो विपर्ययनाशो निश्चयो विषयप-रिच्छेदो वा येन । सिद्धान्ते, वाच० । ''नियमाद्दिव्यज्ञानमुत्पद्यते इति भवतां कृतान्तः'' अने० । कृतं निष्पादितं बह्वपि कार्य्यमन्तं नयतीति व्युत्पत्त्या कृतघ्ने, यमे तत्तुल्यप्रदेशे, ''कयंतस्स सोहुअइ तिक्खरोसो अहिगं वा'' वृ० १ उ० । पापे, प्राग्भवजन्ये दैवे अमरः । शनौ, लक्षितलक्षणया द्वित्वसंख्यायां च वाच० ।

कयंब पुं० (कदम्ब) समूहे, कल्प० । वृक्षविशेषे, रा० । प्रज्ञा० । ''घणपत्तलच्छाया बहुलफुल्लइ जाम्बुकयंबु'' प्रा० । शत्रुञ्जये पर्वते च० ती० १ कल्प) ।

कयकज्ज त्रि० (कृतकार्य्य) विहितसमस्तवसतिप्रमार्जनादिव्यापारे नि० चू० २० उ० ।

कयकरण त्रि० (कृतकरण) अभ्यस्तक्रिये, पं० व० ४ द्वा० । प्रकरणानुरोधात् धनुर्वेदकृताभ्यासे सहस्रयोधिनि, वृ० १ उ० । बहुशो विहितचौरानुष्ठाने ''कयकरणलद्धलक्खा.'' प्रश्न० आश्र० ३ द्वा० षष्ठाष्टमादिभिर्विविधतपोविधानैः परिकर्मितशरीरे,

कयकरणा इयरे वा, सावेक्खो खलु तहेव निरवेक्खो ।
निरवेक्खो जिणमादी, सावेक्खो आयरियमादी ।।

कृतकरणा नाम षष्ठाष्टमादिभिर्विविधतपोविधानैः परिकर्मितशरीरा इतरे अकृतकरणाः षष्ठाष्टमादिभिस्तपोविशेषैरपरिकर्म्मितशरीराः। तत्र ये कृतकरणास्ते द्विविधास्तद्यथा सापेक्षा खलु तथैव निरपेक्षाः । सह अपेक्षा गच्छस्येति गम्यते येषां ते सापेक्षा गच्छवासिनः । निर्गताः अपेक्षा येभ्यस्ते निरपेक्षास्ते त्रिविधा जिनादयः तद्यथा जिनकल्पिकाः शुद्धपरिहारिका यथालन्दकल्पिकाश्च एते नियमात्कृतकरणा अकृतकारणानामन्यतमस्यापि कल्पस्य प्रतिपत्त्योगात् । सापेक्षा अपि त्रिविधा आचार्यादयस्तद्यथा आचार्या उपाध्याया भिक्षवश्च । एते प्रत्येकं द्विधात्वात्षक् भवन्ति तद्यथा आचार्या कृतकरणा अकृतकरणाश्च । उपाध्याया अपि कृतकरणा अकृतकरणाश्च भिक्षवोऽपि कृतकरणा अकृतकरणाश्च । तत्र कृतकरणानां चिन्त्यमानत्वादस्यां गाथायामेते कृतकरणा ग्राह्याः ।

अथ किंस्वरूपाः कृतकरणा इति कृतकरणस्वरूपमाह

छट्ठट्ठमाइएहिं, कयकरणा ते उभे य परियाए ।
अहिगयकयकरणत्तं, जो मायतगारिहा केई ।।

कृतकरणा नाम ये षष्ठाष्टमादिभिस्तपोविशेषैरुभयपर्याया श्रामण्यपर्यायादीक्षापर्याया वेत्यर्थः । परिकर्म्मितशरीरास्ते ज्ञातव्यास्तद्विलक्षणा इतरे सामर्थ्यादकृतकरणाः । अत्रैव मतान्तरमाह ''अहिगएत्यादि'' केचिदाचार्या ये अधिगतास्ते नियमात् कृतकरणा अत्यधिगतानां कृतकरणत्वमिच्छन्ति कस्मादिति चेदत आह । ''जोगायतगारिहा इति'' निमित्तकारणहेतुषु सर्वासां विभक्तीनां प्रायो दर्शनमिति वृद्धवैयाकरणप्रवादात् हेतावत्र प्रथमा ततोऽयमर्थः यतस्तैर्महाकल्पश्रुतादीनामायतका योगा उद्गृढास्तत आयतकयोगार्हा अभवन्निति नियमतोऽधिगताः कृतकरणा इति तदेवं कृता पुरुषभेदमार्गणा व्य० १ उ० । अत्रव्यं प्रायश्चित्तं पच्छित्त शब्दे) नि० चू० । ''गीयत्था कयकरणा, पोढा परिणामिया य गंभीरा'' कृतकरणा अनेकवारमालोचनायां सहायभवनात् व्य० ४ उ० ।

कयकरणिज्ज त्रि० (कृतकरणीय)कार्य्याणि कृतवति, कृतकरणा नाम गीतार्थयता परिणामकतया चान्यदाऽपि अन्यैः सहानकसदृशानि कार्याणि कृतवन्तः । यद्यपि च कदाचित् द्वितीयः सहायो न कृतवान् तथापि योग्यतया स कृतकरणीय इव द्रष्टव्यः । व्य० ४ उ० ।

कयकिच्च त्रि० (कृतकृत्य) निष्ठितार्थे, षो० २ विव० ।

कयकिरिय त्रि० (कृतक्रिय) कृता शोभना गृहकरणादिक्रिया येन स कृतक्रियः सुकृतगृहकर्मणि, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । आचा० । कृता स्वभ्यस्ता क्रिया संयमानुष्ठानरूपा येन स कृतक्रियः । संयते, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

कयकोउयमंगलपायच्छित्त त्रि० (कृतकौतुकमङ्गलप्रायश्चित्त) कृतं कौतुकं मषीपुण्ड्रादि मङ्गलं दध्यक्षतचन्दनादि एते च प्रायश्चित्तदुःस्वप्नादिप्रतिघातत्वेनावश्यकार्य्यात्वाद्येन स तथा । कौतुकमङ्गलरूपप्रातः कृत्यं कृतवति, उप० ७ अ० । ''कयवलिकम्मा कयकोउयमंगलपायच्छित्ता सुद्धप्पा भ० २ श० ५ उ० । कल्प० । तं० । विपा० ।

कयग पुं० (कतक)कस्य जलस्य तको हासो यस्मात्, वृक्षभेदे, राजनि० । तस्य फलम् अण् । तस्य लुक् तत्फले, नपुं० ''जलप्रसादि कतकस्तत्फलं कतकं स्मृतम्'' भावप्र० वाच० । कतकोवृक्षस्तत्फलं कतकम् आव० ३अ० ।

कृतक त्रि० कृत करणं भावे क्तः । तत आगतः कन् । कृतमेव स्वार्थे कः कृन्तती स्वरूपं कृत कन् वा कृत्रिमे, करणाज्ञाते, विम्लवणे, न० अमरः वाच० । एतावत्कालं त्वद्दास इत्यभ्युपगमिते दासभेदे, ''तं पडिविक्किणइ ततो कयगा भणंति'' आ० म० प्र० । भयगभत्तं वा बलभत्तं वा कयगभत्तं वा नि० चू० ६ द० । सुवर्णे, ज्ञा० १ अ० ।

कयग्गह पुं० (कचग्रह) मैथुनप्रथमसंरम्भे, रभसवशान्मुखचुम्बनाद्यर्थं युवत्याः पञ्चाङ्गुलिभिः केशेषु ग्रहणे, आ० म० प्र० । जीवा० । ''कयग्गहगहियकरयल पब्भट्ठविमुक्केणं'' इह मैथुनसमारम्भे यद्युवतेः केशेषु ग्रहणं स कचग्रहस्तेन गृहीतम् । तथा करतलात् विमुक्तं सत् प्रभ्रष्टं करतलप्रभ्रष्टविमुक्तं प्राकृतत्वात्पदव्ययः रा० ३६ प० । कचानां ग्रहो यत्र । केशकर्षणेन धर्षणे वाच० ।

कयग्घ त्रि० (कृतघ्न)कृतं हन्ति हन् टक् । कृतोपकारस्यापकारके, वाच० । कृतं वस्त्राभरणपात्रादि प्रदत्तं घ्नन्ति सर्वथा नाशयन्तीत्येवंशीलाः कृतघ्नाः स्त्रीषु, तं० ।

कयज्ज पुं० (कदर्य्य) योभृत्यात्मपीडाभ्यामर्थं सञ्चिनोति न तु क्वचिद् व्ययति तस्मिन् ध० १ अधि० ।

कयण्णू(ण्णू) त्रि० (कृतज्ञ) स्वल्पमपि उपकारमैहिकं पारत्रिकं च परकृतं जानाति न निह्नुते इति कृतज्ञः प्रव० २४ द्वा० । परोपकाराविस्मारके एकोनविंशश्रावकगुणविशिष्टे श्रावके, घ० २० । दर्श० । कृतघ्नो हि सर्वत्राप्यमन्दां निंदां समासादयतीति अकृतघ्नस्य गुणवत्त्वम् । प्रव० २४ द्वा० ।

सांप्रतमेकोनविंशस्य कृतज्ञतागुणस्यावसरस्तत्र परेण कृतमुपकारम-विस्मृत्या जानातीति कृतज्ञः । प्रतीति एव ततस्तं फलद्वारेण व्याचष्टे ।

बहु मन्नइ धम्मगुरुं,
परमुवयारि त्ति तत्तबुद्धीए।
तत्तो गुणो णु बुड्ढी,
गुणारिहो तेणिह कयन्नू ॥२६॥

बहु मन्यते सगौरवं पश्यति धर्मगुरुं धर्मदातारमाचार्यादिकं परमोवकरी ममायमुद्धृतोऽहमनेनाकारणवत्सलेनातिघेारसंसार कुपकु हरे निपतन्नित्येवंप्रकारतथा तत्वबुद्धया परमार्थसारमत्या स हि भावयत्येवं परमागमवाक्यम्। ''तिण्हं दुप्पडियारं समणाउसो तंजहा अम्मापिऊणं १ भट्टिस्स २ धम्मायरियस्सस ३ तत्थ सयंपाओ वि य णं केइ पुरिसे अम्मापियरं सयपागसहस्सगेहिं तिल्लेहिं अज्झंगित्ता सुरहिणा गंधोदएणं उव्वट्टित्ता तेहिं उदगेहिं मज्जावित्ता सव्वालंकारविभूसियं करित्ता मणुन्नं थालीपागसुद्धं अट्ठारसवंजणाउलं भोयणं भोयावित्ता जाव जीवं पिट्ठिवमिसयाए परिवहिज्जा तेणा वि तस्स अम्मापिउस्स दुप्पमियारं हवइ। अह णं से तं अम्मापियरं केवलिपन्नत्ते धम्मे आघवइत्ता पन्नवइत्ता परूवित्ता ठावित्ता भवइ। तेणामेव अम्मापिउस्स सुपडियारं भवइ १ समणाउसो ! केइ महच्चे दरिद्दं समुक्कसिज्जा तए णं से दरिद्दे समुक्किट्ठे समाणे पच्छा पुरं च णं विपुलमइसमन्नागए यावि विहरिज्जा तएणं से महव्वए अन्नया कयाइ दरिद्दी हूए समाणे तस्स दलिद्दस्स अंतियं हव्वमागच्छिज्जा। तए णं से दरिद्दे तस्स भट्टिस्स सव्वस्समवि दलइज्जा तेण वि तस्स दुप्पडियारं हवइ। अह णं से तं भट्टिं केवलिपन्नत्ते धम्मे आघवइत्ता पन्नवइत्ता परूवित्ता ठावइत्ता भवति। तए णं से तस्स भट्टिस्स सुपडियारं भवइ।२। केइ तहारूवस्स समणस्स वा माहणस्स वा अंतियं एगमवि आरियं धम्मियं सुवयणं सुच्चा निसम्म कालमासे कालं किच्चा अन्नयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववन्ने। तए णं से देवे तं धम्मायरियं दुब्भिक्खाओ वा देसाओ सुभिक्खं देसं साहरिज्जा कंताराओ वा निक्कंतारं दीहकालिएण वा रोगायकेण अभिभूयं विमोइज्जा। तेण वि तस्स धम्मायरियस्स दुप्पडियारं हवइ। अह णं से तं धम्मायरियं केवलिपन्नत्ते धम्मे आघवइत्ता पन्नवइत्ता परूवित्ता ठावित्ता भवइ। तए णं तस्स धम्मायरियस्स सुप्पडियारं हवइ त्ति। वाचकमुख्येनाप्युक्तम् ''दुष्प्रतिकारौ माता-पितरौ स्वामी गुरुश्च लोकेऽस्मिन्। तत्र गुरुरिहामुत्र च,सुदुष्करतरः प्रतीकारः'' इति। ततस्तस्मात्कृतज्ञताभावजनितगुरुबहुमानात् गुणानां क्षान्त्यादीनां ज्ञानादीनां वा वृद्धिर्भवतीति गम्यते। गुणार्हो गुणप्रतिपत्तियोग्यस्तेन कारणेनेह धर्माधिकारविचारे कृतज्ञ उक्तशक्तार्थो धवलराजतनूजविमलकुमारवत्। तच्चरितं पुनरिदम्।

पुरमत्थि वद्धमाणं, सुबद्धमाणं सिरीहि पउराहिं।
बहुविहमहल्लकल्लाण, कारणं वद्धमाणं व ॥१॥
रसभवसनमिरनिवनिवह, भसलसेविज्जमाणकमकमलो।
रज्जभरधरणधवलो, धवलो नामेण तत्थ निवो ॥२॥
सययं सुहासिणी सुमणसंगण किं तु अइसयकुलीणा।
देवी इव देवीकमल सुंदरी नाम तस्सत्थि ॥३॥
नीसेसकलाकुसलो, सरुव्वसरलो विमुक्ककलिलमलो।
ताणं तणओ विमलो, कयन्नुया हंसवरकमलो ॥४॥
किर सामदेवसिट्ठिस्स, नंदणो बहुलियाइ कुलभवणं।
जाओ य वामदेवु त्ति, तस्स मित्तं महामइणो ॥५॥
कइया वि कीलणकए, अन्नन्नं कीलियव्व नेहेण।
कीलानंदणनामे, उज्जाणे दो वि ते पत्ता ॥६॥
तत्थ नरमिहुणपयपं तिमुत्तमं वालुयागयं दट्ठुं।
तणुलक्खणनिउणमई, मित्तं पइ जंपए विमलो ॥७॥
जाण इमा पयपंती, चक्कंकुसकमलकलसकयसोहा।
दीसइ खेयरसामाहिं, तेहिं वरमित्तभवियव्वं ॥८॥
तयणु घणकोउगेणं, पुरओ गंतुं लयगिहस्संते।
आसीणं तं मिहुणं, नियंति ते परमसुंदेरं ॥९॥
इत्तो य दुवे पुरिसा, कड्ढियकरवालभीसणकरग्गा।
हण हण हणत्ति भणिए, दयागिहस्सुवरि संपत्ता ॥१०॥
एगेण ताण वुत्तं, रे रे निल्लज्ज होसु तं पुरिसो।
सुमरेसु इट्ठदेवं, कुणसु सुदिट्ठं व जियलोयं ॥११॥
तं सुणिय पुरियगुरुको वपसरमिसमिसंतअहरदलो।
वल्लिगियमज्झिमनरो, विणिग्गओ खग्गवग्गकरो ॥१२॥
तो मुक्कहबहुअसि, खमक्कसंभंतखेयरीविंदं।
जायं तेसिं गयणं, गणम्मि अइदारुणं जुज्झं ॥१३॥
जो पुण वीओ पुरिसो, लयागिहं सो पविट्ठमहिलसइ।
तत्तो मिहुणनरित्थी, भयकंपंता विणिक्खंता ॥१४॥
दट्ठुं च भणइ विमलं, पुरिसुत्तम ! रक्ख रक्ख मं भीयं।
सो आह हो सुभद्दे, वीसत्था नत्थि तुज्झ भयं ॥१५॥
इत्तो तग्गहणत्थं, पत्तो सो खेयरो गयणमग्गे।
विमलगुणतुट्ठवणदेवयाए इहत्थंभिओ सहसा ॥१६॥
सो वि य नुज्झंतनरो, विजिओ मिहुणगनरेण य पलाणो।
तप्पुट्ठीए लग्गो,जियकासी मिहुणगो सो वि ॥१७॥
भंभियनरेण दिट्ठो, संजाया तयणुतस्स गमणिच्छा।
तं नाउं देवीए, झमित्ति उत्तंभिओ सो उ ॥१८॥
लग्गो य तेसि पिट्ठे, त्तिविन्नि पत्ता अदंसणपहम्मि।
अह वाला रयइ हहा, मं मुत्तुं नाह ! कत्थ गओ ॥१९॥
इत्थंतरम्मि जयलच्छि, परिगओ आगओ मिहुणपुरिसो।
जाया य हट्ठतुट्ठा, सा वाला अमयसित्त व्व ॥२०॥
सो नमिय भणइ विमलं, तं चिय बंधू नुमेव कह मित्तं।
जं एसा मज्झ पिया, हीरंती रक्खिया धीर ! ॥२१॥
विमलो वि भणेइ आतं, कयन्नु सिररयणसंभमेण इहं।
किं तु इमं वुत्तंतं, कहेसु एसो वि इ य भणई ॥२२॥
अत्थिह वेयड्ढगिरिं दसंठिए रयणसंचए नयरे।
राया मणिरहनामो, कणयसिहा भारिया तस्स ॥२३॥
ताणं च अत्थि पुत्तो, विणयपरो रयणसेहरो नाम।
धूया उ दुन्नि पवरा, रयणसिहा मणिसिहा य तहा ॥२४॥
रयणसिहा ससिणेहं, परिणीया मेहनायखयरेणं।
तेसिं च अहं पुत्तो, नामेणं रयणचूमुत्ति ॥२५॥
अमियप्पहखयरेणं, परिणीया मणिसिहा उ तेसिं पि।
संजाया दुन्नि सुया, अचलो चवलो य पवलबला ॥२६॥
तह रयणसेहरस्स वि, रइकंता नामियाइ दइयाए।
जाया एसा किर चूय मंजरी बल्लहा धूया ॥२७॥
सव्वेहि वि वालत्ते, सह पंसुक्कीलिएहि अम्हेहिं।
गहिया उ नियकुलक्कम समागयाओ य विज्जाओ ॥२८॥
चंदणभिहाणनियमित्त सिद्धपुत्तस्स संगमवसेण।
जाओ मह माउलओ, अचंतं जइणधम्मरओ ॥२९॥
तेणं महासएणं, जणणी जणयो य मज्झ अहयं च।
कहिऊणं जिणधम्मं, गिहिधम्मधुरंधरा विहिया ॥३०॥

निद्दिट्ठो हं अह चंदणेण पासित्तु लक्खणं किं पि।
विज्जा चक्की होही, एसो खलु दारगो अइरा ॥३१॥
तो विमलो मित्तेणं वुत्तो संवयइ तुब्भ तं वयणं।
सो भणइ न मे वयणं, किं तु इमं आगमुद्दिट्ठं ॥३२॥
पुण भणइ रयणचूडो, तुट्ठेणं माउलेण मम दिन्ना।
तो चूयमंजरी परिणिया मए सा इमा भद्द ॥३३॥
तत्तो य अचलचवला, कुविया न य मं चयंति परिहविउं।
भूयव्वछिद्दमग्गण पउप्पमणा निग्गमंति दिणे ॥३४॥
छलधायजाणणत्थं, फुडवयणो नियचरो पउत्तो मे।
सो अन्नदिणे सहसा, आगंतुं मम कहित्था ॥३५॥
जह देव दोस सिद्धा, काली विज्जा तहत्थि इय मंतो।
जुज्झिज्जिहिइ सहेगो, वीओ पुण तुह पियं हरिही ॥३६॥
को बंधवेहिं सरिसं, जुज्झिस्सइ चिंतिऊण एवमहं।
अवितेसि निग्गहखमो, इत्थ निलीणुम्हिलयगेहे ॥३७॥
ते दो वि मए जिणिया, न य हणिया भायरुत्ति काऊण।
इत्तो य परं तुम्ह वि, पायं सव्वं पि पच्चक्खं ॥३८॥
नाधारं तेण इमं, मह जीयं धारियं तए अहवा।
सयला वि धरा धरिया, जस्सुवयारे मई एवं ॥३९॥
उक्तं च 'दो पुरिसे धरिउधरा, अहवा दोहिं पि धारिया धरणी।
उवयारे जस्स मई, उवयरिछं जो न संफुसइ ॥४०॥
तो दिज्जउ आएसो, तुब्भ पियं किं करेउ एस जणो।
अह दंतकंतिधवलिय धरवलओ जंपए विमलो ॥४१॥
भो रयणचूडमणी तुआसि कत्तु लोयम्मि।
सव्वं पि तए विहियं, पयडं तेणं नियरहस्सं ॥४२॥
यतः वचः सहस्रेण सतां न सुन्दरं,
हिरण्यकोट्यापि न वा निरीक्षितम्।
अवाप्यते सज्जनलोकचेतसा,
न कोटिलक्षैरपि भावमीलितम् ॥४३॥
तो सप्पणयं भणियं, खयरेणं कुमार ! मज्झपरिऊण।
गिण्हसु इमं सुरयणं, चिंतामणिरयणसारिच्छं ॥४४॥
जंपइ धवलंगरुहो, दिन्नं तु मए य गहियमिणं।
अत्थ उ तुहेव पासे, मुच्चउ अइसंभयं भद्द ! ॥४६॥
अह अइनिरीहभावं, नाविमलस्स विमलभावस्स।
तच्चेल अंचले तं, रयणं बधइ रयणचूडं ॥४६॥
पुट्ठो य वामदेवो, अंबापिउनाममाइयं सव्वं।
कुमरस्स संतियं कहइ सहारिसो खेयरवरस्स ॥४७॥
तं सुणिय विमलचरियं, अच्छरियकरविचिंतए खयरो।
पडिउवगरामि अह यं, जिणबिंबं दंसिय इमस्स ॥४८॥
तो भणियं खयरेणं, कुमारवर ! अत्थि काणणे इत्थ।
मम मायामहकारिय माइजिणिंदस्स चेइहरं ॥४९॥
तं मम काउ पसायं, कुमरवरो दट्ठु अरिहए इण्हिं।
एवंति भणिय सव्वे, जिण भवणाभिमुहमह चलिया ॥५०॥
थंभसयसंनिविट्ठं, बहुविहदुमसंगयं च उज्जाणं।
नहु(ह)सुरसरिलहरीहि व, मणोहरं परपडागाहिं ॥५१॥
अइउन्नएहिं कंचणपयदंमेहिं च दंतुरं व सया।
उवरिं विरायमाणं, चामीयरविमलकलसेणं ॥५२॥
कत्थइ पल्लवियं पिव, रोमं च पवं च अच्चियं व कहिं।
संवम्मियं व कत्थ वि, कत्थ वि लित्तं च किरणेहिं ॥५३॥
ठाणट्ठाणे वियरिय हरिचंदणवासगेहिं कयसोहं।
सुसिलिट्ठसंधिभावा, इक्कसिलाइचनिम्मवियं ॥५४॥
बहुसालभंजियाहिं, विसिट्ठचिट्ठाहिं सोहमाणाहिं।
वरअच्छराहि सययं, अहिट्ठियं मेरुसिहरं व ॥५५॥
एवंविहजिणभवणं, पत्ता दिट्ठा य रिसहनाहस्स।
पडिमा अपडिमरूवा, नमिया हिहेहिं तेहि तओ ॥५६॥
तं अइसयरमणीयं, बिंबं उरुफुरियदुरियगिरिसंबं।
अणमिसनयणजुएहिं, पिच्छेउं धवलनिवतणओ ॥५७॥
एरिसरूवं बिंबं, पुव्वं पि मए कहिं चि दिट्ठं ति।
चिंतंतो मुच्छाए, पडिओ धरणीयले सहसा ॥५८॥
अह पवणपयाणेणं, पच्चागयचेयणो पुणो कुमारो।
अइआयरेण पुट्ठो, खयरेणं किं तुए यंति ॥५९॥
तो रयणचूडचरणे, भवहरणे पणमिउं धवलपुत्तो।
हरिसभरनिब्भरंगो, एवं थुणिउं समाढत्तो ॥६०॥
तुं माया तुं च पिया, तुं भाया तुं सुहं तुमं देवो।
तुं परमप्पा जीअं, पि मज्झ तुं चेव खयरवर !॥६१॥
जेण इमं सुरनरसुक्खकारणं दुरियतिमिररविबिंबं।
बिंबं जुगाइदेवस्सं, दंसियं मह तए सामि ॥६२॥
एयं दंसंतेणं तुमए मह दंसिओ सुगइमग्गो।
च्छिन्नं च दुक्खजालं, विणिम्मियं परमसोजन्नं ॥६३॥
खयरो वि भणेइ अहं, परमत्थं इत्थ किं पि न हु जाणे।
विमलो वि आह सामिय, संजायं जाइसरणं मे ॥६४॥
पुव्वभवेसु वि बहुसो, जिणबिंबे वंदिए मए नाह।
संमत्तनाणदंसण चरणं परिपालियं सुद्धं ॥६५॥
मित्तीपमोयकरुणा मब्भत्थगुणेहिं भाविओ अप्पा।
इच्चाइ मए सरियं, जाइसरणेण सव्वं पि ॥६६॥
तं मज्झ कयं तुमए, जं परमगुरु कुणंति भौ भद्द !
इय जंपंतो कुमरो, पडिओ खयरिंदचलणेसु ॥६७॥
अलमित्थ संभमेणं, तिट्ठतु उट्ठाविउं च निवतणयं।
साहंमियं ति वंदितु, सहविणयं जंपए खयरो ॥६८॥
भो भो नरिंदनंदण ! संपन्नं मह समीहियं सव्वं।
जं एवं तुह भत्ती, जिणनाहे निच्चला जाया ॥६९॥
ठाणे य एस हरिसो, पयडुक्करिसो कुमार ! तुह जम्हा।
मुतं द्रुहाविमुत्तिं, नन्नत्थ रमंति सप्पुरिसा ॥७०॥
उक्तंच ''अज्ञानान्धाश्चटुलवनितापाङ्गविक्षेपितास्ते,
कामे सक्तिं दधति विभवाभोगतुङ्गार्जने वा।
विद्वच्चित्तं भवति हि महामोक्षसौख्यैकतानं,
नाल्पस्कन्धे विटपिनि कषत्यंशभित्तिं गजेन्द्रः ॥७१॥
किंच नियभावसरिसं, फलमिह मिच्छंति पाणिणो पायं।
सुणओ कवलेण हरी, तु वसइ करिकुंभदलणेण ॥७२॥
उत्तालकरो नच्चइ, वीहिदलं पप्प मूसओ अहियं।
भुंजइ करी अवन्नाइ भोयणं निवइदिन्नं पि ॥७३॥
पुव्विं तुमं सुरयणे, पत्ते मज्झत्थ भावमल्लीणो।
न हु लक्खिओ मए तुह, हरिसवियारो मणागं पि ॥७४॥
अहुणा तु पुण जाओ, हरिसभरुब्भिज्जमाणरोमंचो।
जिणपवयणस्स लाभो, पुरिसुत्तम ! साहु साहु असि ॥७५॥
परमित्थ जणेनेवं, गुरुत्तमारोवणीययं कुमर !
जं बुद्धो सि सयं चिय, निमित्तमित्तं जणो एसो ॥७६॥
लोयंतियदेवेहिं, सहसंबुद्धा जिणेसरा जइ वि।
बोहिज्जंति तहा वि, तेसिं न हु हुंति ते गुरुणो ॥७७॥
तह चेव इमो वि जणो, जाणिज्जउ तो भणेइ निवतणओ।
संबुद्धाण जिणाणं, हेऊ वि न हुंति ते देवा ॥७८॥

तं पुण मज्झं सिरिरिसहनाहपडिमाइदंसणवसेणं।
सद्धम्मलंभणेणं, फुडं गुरू होसि जं भणियं ॥७६॥
जो जेण सुद्धधम्मम्मि, ठाविओ संजएण गिहिणा वा।
सो चेव तस्स जायइ, धम्मगुरू धम्मदाणाओ ॥८०॥
उचियं च सुपुरिसाणं, काउं विणयाऽयं सुहगुरुम्मि।
साहम्मियमित्तस्स वि, भणियं किर वंदणाईयं ॥८१॥
खयरो जंपइ नेवं वुत्तुं अरिहेइ नरवरंगरुहो।
जं गुणपगरिसरूवो, तं चिय सव्वेसि होसि गुरू ॥८२॥
भणइ कुमारो गुणगण घमियाण कयं तु याणसु नराणं।
एयं चिय इह लिंगे, जं गुरूणो पूयणं निच्चं ॥८३॥
स महप्पा सो धन्नो, स कयन्नू सो कुलुब्भवो धीरो।
सो भुवणवंदणिज्जो, सो तवसी पंडिओ सो उ ॥८४॥
दासत्तं पेसत्तं सेवगभावं च किंकरत्त च।
अणवरयं कुव्वंतो, जो सुगुरूणं न लज्जेइ ॥८५॥
तिच्चियमणवयणतणू, सुकयत्था गुणगुरूण सुगुरूण।
जे निरुचिंतणसंधुणण विणयकरणुज्जुया सययं ॥८६॥
समत्तदायगाणं, दुप्पडियारं भवेसु बहुएसु।
सव्वगुणमेलियाहिं वि, उवयारसहस्सकोमीहिं ॥८७॥
भो सुपुरिस ! बुद्धो हं तुब्भ पसाएण गिण्हिहं दिक्खं।
किं तु मह तायपमुहा, बहवे इह बंधवा संति ॥८८॥
जइ तेसिं पडिबोहो, जायइ तो हं भवामि कयकिच्चो।
ता उवइस सुगुरुं मे अह हिट्ठो भणइ खयरिंदो ॥८९॥
अत्थि बुहनामसूरी, जलभरभरियंबुवाहसमघोसो।
जइ एह कह वि सो इह, तो पडिवोहिज्ज तुहं धू ॥९०॥
कुमरेण तओ भणियं, सो दिट्ठो कत्थ ते महाभागे !
सो आह इहुज्जाणे, जिणभवणासन्नभूभागे ॥९१॥
जं अइय अट्ठमीए, सपरियणेणागएण मे इत्थ।
पविसंतेणं जिणमंदिरम्मि दिट्ठं सुमुणिविंदं ॥९२॥
तस्स य मज्झे एगो, साहु मसिअसियलाकसिणदेहो।
पिंगलसिरचिहुरभरो, सेलु व्व जलंतदवजलणो ॥९३॥
आखु व्व लहुयकन्नो, दुट्ठविरालु व्व पिंगनयणजुओ।
पवग व्व चिविडनासो, मिय व्व अइदीहोहहकंठुट्ठो ॥९४॥
लंबोयरो य थूलोयरो य उव्वेगजणगरूवधरो।
धम्मं वागरमाणो, दिट्ठो महुमहुरसहेणं ॥९५॥
तं असरिसगुणजुत्तं, दट्ठुं मे चिंतियं इमं हियए।
जह एयस्स भगवओ, गुणाणुरूवं न रूवं ति ॥९६॥
तो पविसिय जिणभवणं, जिणपडिमं णविय पूइऊणं च।
खणमित्तेणं साहूण वंदणत्थं विणिक्खंतो ॥९७॥
ता सो चेव वरमुणी, उवविट्ठो विमलकणयकमलम्मि।
सा मुक्क व्व अणगो, ससहर इव रोहिणीरहिओ ॥९८॥
भासुरसुवन्नवन्नो, तणुप्पहा पडलहणियतमपसरो।
अलिउलकज्जलकेसो, सुसिलिट्ठपलबसवणजुगो ॥९९॥
नीलुप्पलदलनयणो, अइउन्नयसरलनासियावंसो।
कंबविडंबिक्खंतो, नवपल्लवअरुणअहरुट्ठो ॥१००॥
केसरिकिसोरउयरो, विसालवच्छयलजणियकणयसिलो।
सुरकिंनरपरियरिओ, दिट्ठो दिट्ठीइ सुहहेऊ ॥१०१॥
तो चिंतियीमए कह, एस खणेणं अणेरिसो जाओ।
अहवा चंदणगुरुणा, कहिया से विविहलद्धीओ ॥१०२॥

तथाहि।

आमोसहि १ विप्पोसहि २ खेलोसहि ३ जल्लओसही चेव ४ सव्वोसहि ५ संभिन्ने ६ ओहि ७ रिओ ८ विउलमइलद्धी ९॥१०३॥

धारण १० आसीविस ११ केवली य १२ मणनाणिणो य १३ पुव्वधरा १४।
अरहंत १५ चक्कवट्टी १६ बलदेवा १७ वासुदेवा य १८ ॥१०४॥
खीरमहुसप्पिआसव १९ कोट्ठयबुद्धी २० पयाणुसारी य २१।
तह वीयबुद्धि २२ तेयय २३ आहारग २४ सीयलेसा य २५॥१०५॥
वेउव्वी देहलद्धी २६ अखीणमहाणसी २७ पुलाया य २८
परिणामतववसेणं, एमाई हुंति लद्धीओ ॥१०६॥
संफरिसणमामोसो, मुत्तुपुरिसाण विप्पुसो वावि।
अन्ने विउत्ति विट्ठं, भासंति पइति पासवणं ॥१०७॥
एए अन्नेवि बहू, जेसिं सव्वे वि सुरहिणो वथवा।
रोगावसमसमत्था, ते हुंति तओसहिप्पत्ता ॥ १०८॥
जो सुणइ सव्वओ मुणइ सव्वविसए य सव्वसोएहिं।
सुणइ बहु एव सद्दे, भिन्ने संभिन्नसोओ सो ॥१०९॥
रिउसामन्नं समत्तगाहिणी रिउमई मणोनाणं।
पायं विससयविमुहं, घममित्तं चिंतियं सुणइ ॥११०॥
विउलं वत्थुविसेसण नाणं तग्गाहिणी मई विउला।
चिंतयमणुसरइ घमं पसंगओ पज्जवसएहिं ॥१११॥
अइसयचरणसमत्था, जंघाविज्जाहिं चारणमुणीओ।
जंघाहिं जाइ पढमो, निस्संकाउं रविकरे वि ॥११२॥
एगुप्पाएण गओ, रुयगवरम्मि तो पडिनियतो।
बीएण नंदिसरमेइ, इहं तइयएण पुणो उड्ढं ॥११३॥
पढमेण पंडगवणं, बीउप्पाएण नंदणं एइ।
तइउप्पाएण तओ, इह जंघाचारणो एइ ॥११४॥
पढमेण माणसुत्तर, नगंसु नंदीसरं तु बीएणं।
एइ तओ तइएणं, कयचेइयवंदणो इहयं ॥११५॥
पढमेण नंदणवणे, बीउप्पाएण पंडगवणम्मि।
एइ इहं तइएणं, जो विज्जाचारणो होइ ॥११६॥
आसीदाढा तग्गय महाविसा सीविसा भवे दुविहा।
ते वम्मजाइभेएण, अणेगहा चउविहविगप्पा ॥११७॥
खीरमहुसप्पिसाओ, वमाणवयणा तया सवा हुंति।
कुट्ठयधन्नसुनिग्गल सुत्तत्था कुट्ठबुद्धी य ॥ ११८॥
जो सुत्तपएणं बहुं, सुयमणुधारइ पयाणुसारी सो।
जो अत्थपएणत्थं, अणुसरइ स बीयबुद्धी उ ॥११९॥
समओ जहन्नमंतर मुक्कोसेणं तु जाव छम्मासा।
आहारसरीराणां, उक्कोसेणं नव सहस्सा ॥१२०॥
चत्तारि य वारा उ, चउदसपुव्वी करेइ आहारं।
संसारम्मि वसंतो, एगभवे दुण्णिवाराओ ॥१२१॥
तित्थयररिद्धिसंदं–सणत्थ (१)मत्थोवगहणहेउं वा (२)
संसयवुच्छेयत्थं (३) गमणं (४) जिणपायमूलम्मि ॥१२२॥
रसमणी(१)मवगयवेयं(२)परिहार(३)पुला य(४)मप्पमत्तं च (५)
चउद्दसपुव्विं(६) आहारगं च(७)नन कयाइ संहरइ ॥१२३॥
वेउव्वियलद्धीए, अणु व्व सुहमा खणेण जायंति।
कंचणगिरि व्व गुरुणो, लहुदेहा अक्कतूलं व ॥१२४॥
पडओ पडकोडीओ, पकुणंति घडा उ घमसहस्साइं।
चिंतयमित्तं रूवं, कुणंति भणिएण किं बहुणा ॥१२५॥
अंतमुहुत्तं नरए, सुहुंति चत्तारि तिरियमणुएसु।
देवेसु अद्धमासो, उक्कोसविउव्वणा कालो ॥१२६॥
अक्खीणमहाणसिया, भिक्खं जेणाणियं पुणो तेण।
परिभुत्तं चिय खिज्जइ, बहुएहिं वि न उण अन्नकहिं ॥१२७॥
भवसिद्धियपुरिसाणं, एया ऊ हवंति भणियलद्धीओ।
भवसिद्धियमहिलाण वि, जत्ति य जायंति तु बुच्छं ॥१२८॥
अरिहंत१चक्कि२ केसव३बल४संभिन्ना य५चारणा६पुव्वा७

गणहरन्पुलायए आहा–रगं च१०न हु भवियमहिलाणं ॥१२९॥
अभवियपुरिसाणं पुण, दसपुव्विल्लाउ केवलित्तं च।
उज्जुमइविउलमई, तेरस एया उ न हु हुंति ॥१३०॥
अर्थवियमहिलाणं पि हु, एया न हु हुंति भणियलद्धीओ।
महुखीरासवलद्धी, वि नेव सेसा उ अविरुद्धा ॥१३१॥
ता नूणं वेउव्विय –लद्धिपभावेण निम्मियं पहुणा।
पुव्विं विरूवरूवं, इमस्स साहुवियं तु इमं ॥१३२॥
तो विम्हिएण गुरुणो, मुणिणे य मए भिवंदिया सव्वे।
दिन्नो य तेहिं कयसिव–सुहलाभो धम्मलाभो मे ॥१३३॥
गुणिणा य सुहारसवरि–ससुंदरा देसणा खणं तेसिं।
पुट्ठो य मुणी एगो, किं नामा एस मुणिनाहो ॥१३४॥
भणियं च तेण मुणिणा, अम्ह गुरु एस भुवणविक्खाओ।
वुहनामा लद्धिनिही, विहरइ अणिययविहारेण ॥१३५॥
तं सुणिय अहं हिट्ठो, नमिउं गुरुणो गओ सट्ठाणम्मि
परउयारिक्कगुरू, गुरू वि अन्नत्थविहरित्था ॥१३६॥
तेण भणेमि अहं तो, बुहसूरी जइ य एइ इह कह वि।
तो तुज्झ बंधवग्गं, सुहेण धम्मं पि बोहिज्ज ॥१३७॥
जं नह परिवारस्स य, धम्मे विज्ञत्थ मे वि तइया वि।
विहियं विउव्विरूवं, तेणं परिहियकयमणेणं ॥१३८॥
विमलो भणेइ सुपुरिस ! अब्भत्थिय इत्थ सो समणसीडो।
तुम इच्चिय आणेओ, एवं ति पव्वज्जए खयरो ॥१३९॥
तो अंसुपुन्नवयणो, कुमरं आपुच्छिउं रयणचूडो।
संपत्तो सट्ठाणं, सुमरंतो विमलगुणनिवहं ॥१४०॥
कुमरो वि जिणं थुणिउं, निग्गंतूणं जिणिंदभवणाओ।
पभणेइ मित्त ! एयं, रयणं इत्थोवगोवेहि ॥१४१॥
गुरुए कहिं चि कज्जे, उवजुज्जिहिई इमं महारयणं।
गेहे नीयं एमेव, जाइ ही पुण अणायरओ ॥१४२॥
जं आणवेइ कुमरत्ति, भणियं तत्थेव गुविलदेसम्मि।
सो गोवइ तं रयणं, अह पत्ता दो वि सगिहेसु ॥१४३॥
लहुलीवसओ पविसिय, बुद्धी चिंतेइ सामदेवसुओ।
वंचित्तु विमलकुमरं, हरेमि गंतुं तयं रयणं ॥१४४॥
अगणियकुमरुवयारे, अणियतइया वि चेव सो पावो।
जत्थनिहित्थं चिट्ठइ, रयणं पत्तो तमुद्देसं ॥१४५॥
तत्तो उक्खणिउं तं, तत्थ बलं वत्थ वेढउं खविउं।
अन्नत्थ निहियरयणं, गिहपत्तो चिंतइ निसाए ॥१४६॥
न हु साहु मए विहियं, जं रयणं नाणियं तयं गेहे।
गिण्हिहिइ को वि अन्नो, केण वि दिट्ठं धुवं होही ॥१४७॥
इच्चाइ वागजालं , परिचिंतंतस्स तस्स पावस्स।
वारिगयस्स गयस्स व, न मणागवि आगया निद्दा ॥१४८॥
उट्ठित्तु सो पभाए, तुरियं तुरियं गओ तहिं ठाणे।
जागिण्हिस्सइ रयणं, ता कुमारो तग्गिहे पत्तो ॥१४९॥
उज्जाणगयं सुणिउं, च वामदेवं लहुं कुमारो वि।
पत्तो तहिं चि दिट्ठो, आगच्छंतो य इयरेण ॥१५०॥
तो अइसंभंतेणं, तेणं विस्सरियरयणठाणेणं।
भीएण सुन्नहियएण, गिण्हिउं उवलक्खडंतं ॥१५१॥
खिवियं कडिवट्टीए, पुट्ठो विमलेण कीस संभंतो।
दीससि वयसु तुह विरह–भावओ सो वि पचाह ॥१५२॥
तं संटविउ कुमारो, पत्तो जिणमंदिरे समं तेणं।
मज्झम्मि गओ विमलो, ठिओ य वालो बहिं तहिं देसे ॥१५३॥
नाआ कुमरेण अह–ति संकिरो भीयमासो धणियं।
नट्ठो नट्ठविवेगो, तओ पएसा उ सिट्ठसुओ ॥१५४॥
दवदवपएहिं तिहिं वा – सरेहिं अडवीसजोयणे गंतुं।
पच्चागयचेयन्नो, विविहपलावे करेसि य ॥१५६॥
तत्थुज्जु वि गंतूणं गहेमि तं रयणमियविचिंतेउं।
वलिओ सदेसभिमुहं, मुहुं मुहुं मणसि झूरंतो ॥१५७॥
इत्तो य नमियदेवं, जिणभवणाओ विणिग्गहो कुमरो।
मित्तमपासित्तु तओ, गवेसए काणणाईसु ॥१५८॥
सव्वत्थ वि अनियंतो, चउद्दिसिं पेसए निए पुरिसे।
सो पत्तो एगेहिं, उवणीओ कुमारपासम्मि ॥१५९॥
अद्धासणे निवसिय, पुट्ठो कुमरेण कहसु मे मित्त !
जं अणुभूयं तुमए, सुहदुक्खं तो वि इय आह ॥१६०॥
तइया जिणनमणत्थं, चेइगिहं तो गओ नमुं कुमारो।
जिणभवणदारदेसे अह यं पुण जाव चिट्ठामि ॥१६१॥
जाव सहस त्ति पत्ता, एगा खयरी य कड्ढियकिवाणा।
सरीरसाए तीए, गयणे उप्पिडिओ य अहं ॥१६२॥
नीओ य दूरदेसे, इत्तो अन्ना वि आगया खयरी।
सा मह रूढविमूढा, उद्दालेउं समाढत्ता ॥१६३॥
ताणं जुज्झंतीणं, पडिओ हं महीयले तओ नट्ठो।
पत्तो य तुह नरेहिं, निवनंदणं तं च मिलिओ सि ॥१६४॥
तेणनिदंसियससिणे–हवयणरयणाइरंजिओ कुमारो।
पभणइ रुइरं जायं, जं दिट्ठीए तुमं दिट्ठो ॥१६५॥
अत्थं तरम्मि वामो, अक्कंतो इव महामहिधरेणं।
दलिओ विव वज्जेणं, पडिओ वेयणसमुग्घाए ॥१६६॥
तथाहि उप्पन्ना सिरवियणा, णलंति अंगाइ पचलियदसणा।
संजायमुयरसूलं, भग्गंतारायणं सहसा ॥१६७॥
तो आदन्नो विमलो, गुरुओ हा हा रओ समुच्छलिओ।
पत्तो धवलनरिंदो, किं किं ति जणो बहू मिलिओ ॥१६८॥
आहूयावरविज्ञा, तेहिं पउत्ता उ विविहकिरियाओ।
न य जाओ को वि गुणो, सरियं विमलेण अह रयणं ॥१६९॥
तं सव्वरोगहरणं , ति तत्थ गंतूण पिच्छए जाव।
तमदट्ठं च विसन्नो, मित्तसमीवं पुणो पत्तो ॥१७०॥
अह एगा वुड्ढित्थी, वियंभिया मे डियं नियं अंगं।
उव्विल्लियं भुयजुयं, केसा विहुमुक्कलीहुया ॥१७१॥
मुक्का सिक्कारखा, अइविगरालं पयासियं रूवं।
भीओ जणो य पुच्छइ, हेभयवइ ! कहसु का वि तुमं ॥१७२॥
सा आह अहं वणदे–वय म्हि एसो मए कओ एवं।
जं इमिणा पावेणं सरलो वि पवंचिओ विमलो ॥१७३॥
इयरइयमालजालं, तं रयणं विणिहियं अमुगदेसे।
ता चूरिस्स सज्जण–जणवामं वामदेवं ति ॥१७४॥
तो विमलेण देवि, अब्भत्थिय मोइओ नियममित्तो।
सो धिद्धिक्कारहओ, जाओ बहुओ तणाओ वि ॥१७५॥
तह वि हु विमलकुमारो, गंभीरिमविजियअंतिमसमुद्दो।
पुव्वं पि व तं पिच्छइ, न हु दंसइ कत्थइ वियारं ॥१७६॥
अन्नदिणम्मि समित्तो, कुमरो पत्तो जिणिंदभवणम्मि।
पूइतुं रिसहनाहं, एवं थुणिउं समाढत्तो ॥१७७॥
सिरिरिसहनाह ! तुह पय–नहकंतीओ जयंतु तिजयस्स।
जंती उवज्जपिंजर, भावं भावारिभीयस्स ॥१७८॥

तुह कमकमलं विमलं, दट्ठुं दूराउ देवपइदिवसं।
धन्ना कलिमलमुक्का, रावमरालु व्व धावंति ॥१७६॥
असरिसभवदुहदंदो–लिपीलियाणं जियाण जइ नाह !।
तं जिय इक्को सरणं, सीयत्ताणं च दिणनाहो ॥१८०॥
तिहुयणपहुअमयं पिव, सम्मं तुह पवयणे परिणयम्मि।
अजरामरभावं खलु, लहंति लहु लहुयकम्माणो ॥१८१॥
देव वरनाणदंसण, दुहावि तुह दंसणेण देहीणं।
नीरेण चीवराण व, खणेण खयमेइ मालिन्नं ॥१८२॥
तुह समरणेण सामिय, किलिट्ठकम्मो वि सिज्झए जीवो।
किं न हु जायइ कणगं, लोहं पि रसस्स फरिसेणं ॥१८३॥
पहु ! तुह गुणथुणणेणं, विसुद्धचित्ताण भवियसत्ताणं।
घणनीरेण व जंबू–फलाइ विगलं ति पावाइं ॥१८४॥
दंसणपवणे नयणे, भालं मालं हवेइ तुह नमणे।
ता पच्चक्खीभावं, लहु महुति जई स वियरेसु ॥१८५॥
इय संधुओ सि देविंद–विंदवंदियजुगाइजिणचंद !।
मह देसु निप्पकंपं, भवे भवे नियपए भत्तिं ॥१८६॥
एवं जाव धवलनरिंद–नंदणो थुणियपढमजिणचंदं।
चंदु व्व विमललेसो–पंचंगं कुणइ पणिवायं ॥१८७॥
ता तव्वेलं पत्तो, बहुखयरपरिगओ रयणचूडो।
तं सुणिय विमलविहियं, थयं पहिट्ठो भणइ एवं ॥१८८॥
भो साहु साहु सुपुरिस ! निच्छिन्नो ते भवोपही एस।
जस्सेरिसी जिणिंदे, भत्ती विप्फुरइ अकलंका ॥१८९॥
तत्तो नमितुं देवं परुप्परं वंदाइयं काउं।
मणिपीढियइच्चाहिं, हिट्ठा ते दोवि दवविट्ठा ॥१९०॥
अह पुच्छियतणुकुसलं, खयरिंदो भणइ भो महाभाग !।
जं मह कालविलंबो, जाओ हेउं सुणसु तत्थ ॥१९१॥
तइया तुम्ह सयासा, पत्तो सपुरम्मि पणमिया पियरो।
अभिनंदिओ य तेहिं, हरिसंसुयपुन्ननयणेहिं ॥१९२॥
अक्कंते तम्मि दिणे, मह सयणगयस्स सरियजिणगुरुणो।
निद्दागया निसाए य, दव्वओ भावओ न उण ॥१९३॥
मो भुवणेसरभत्तय ! उट्ठसु एवं सुणंतओ वयणं।
बुद्धो निएमि पुराओ, रोहिणिपमुद्दा उ विज्जाओ ॥१९४॥
तुह धीरधम्मिथिरभाव–रंजिया पुन्नपेरिया अम्हे।
सिद्धाउ त्ति भणित्ता, मह अंगे अणुपविट्ठा उ ॥१९५॥
तो सयलखेयरेहिं, विहियो मे खयर चक्किअभिसेओ।
बोलिणा के वि दिणा, नवरज्जं सुठवंतस्स ॥१९६॥
सुमरिय तुह आएसं, परिभमिओ भूरिमंडलेसु अहं।
दिट्ठो एगत्थ मए, बुहसूरी भूरिसीसजुओ ॥१९७॥
फहिओ तुह वुत्तंतो, सयलो वि हु तस्स समणसीहस्स।
तुम्हाणणुग्गहट्ठा, अइरा इह सो पहू एहि ॥१९८॥
इय कारणाउ अह यं, कालविलंबेण कुमर ! इह पत्तो।
इय जा कहेइ खयरो, ता पत्तो तत्थ सो भयवं ॥१९९॥
उज्झाणपालएहिं, तुरियं बद्धाविओ धवलराओ।
विमलखयराइसहिओ, पत्तो गुरुचरणनमणत्थं ॥२००॥
तिपयाहिणीकरेउ, सपरियणो पणमिऊण गुरुपाए।
मत्तिभरपुलइअंगो, उवविट्ठो उचियदेसम्मि ॥२०१॥
अथ राजा गुरो रूपं, भुवानानन्ददायकम्।
साक्षान्निरीक्ष्य निर्व्याजं, व्याजहार सविस्मयः ॥२०२॥
भगवन्नीदृशे रूपं, राज्यभारोचितेऽपि हि।
कुतो वैराग्यता पवूज्यै–र्जगृहे दुष्करं व्रतम् ॥२०३॥
अवबुध्य ततस्तेषां, प्रतिबोधं विशेषतः।
वाचस्पतिमतिर्वाचमुवाचेति यतिप्रभुः ॥२०४॥
राचन् ! राजकराकार–जैनमन्दिरसुन्दरम्।
प्रभूतवृत्तं वृतान्तं, पुरिमस्ति धरातलम् ॥२०५॥
राजा शुभविपाकाख्यस्तत्र शत्रुवनानलः।
सदा नभोगा देवीव, त्तद्देवीनिजसाधुता ॥२०६॥
क्रमात्तओ समुद्भूतः, सद्भूतगुणमन्दिरम्।
केतकीपत्रपावित्र–चरित्रस्तनयो बुधः ॥२०७॥
शुभाभिप्रायभूपस्य, पुत्रिकां धिषणाभिधाम्।
गृहं स्वयंवरायातता मुपायंस्त स यौवने ॥२०८॥
तथाऽशुभविपाकोऽस्ति, भ्राता तस्यैव भूपतेः।
भार्या परिणितिस्तस्य, तथा मन्दाह्वयः सुतः ॥२०९॥
अन्योऽन्यदृढसौहार्दौ , बुधमन्दौ महामुदा।
एकदा निजकक्षेत्रे, परिक्रीडितुमीयतुः ॥२१०॥
तस्यान्ते ददृशे ताभ्यां, विशालो भालपर्वतः।
रोलम्बनीलकेशालि–वनराजिविराजितः ॥२११॥
अधस्ताद्भालशैलस्य, वरापवरकद्वया।
ददृशेऽन्तःस्फुरद्धान्ता, नासिकानामिका गुहा॥२१२॥
तद्गुहाश्रयिणा घ्राणा–भिधेन शिशुना समम्।
शिश्या भुजंगतानाम्न्या, मन्दो मैत्रीं मुदाऽकरोत् ॥२१३॥
दध्यौ बुधस्तु शुद्धात्मा, सतामन्यस्त्रिया सह।
आलापोऽपि न युक्तः स्या–न्मित्रतायास्तु का कथा ॥२१४॥
तन्मे भुजंगता ह्येगषा, हेश घ्राणस्त्वसौ ध्रुवम्।
स्वक्षेत्रादिगुहामध्य–वास्तव्योऽर्हति पालनम् ॥२१५॥
एवं ध्यात्वा बुधः कृत्वा, घ्राणेन सह मैत्रिकाम्।
उभाभ्यामपि मन्दस्तु, स्वस्वसद्म समीपतुः ॥२१६॥
अथो भुजंगता दोषात्, सुगन्धाघ्राणलम्पटः।
अमन्दमन्दधीर्मन्दो, प्राप दुःखं पदे पदे ॥२१७॥
इतश्च यौवनारूढो, विचारो बुधदारकः।
कथंचिन्निरगाद्गेहा–द्देशदर्शनकाम्यया ॥२१८॥
बहिरङ्गान्तरङ्गेषु, भूरिदेशेषु भूरिशेषु भूरिशः।
सभूरिकौतुको भ्रान्त्वा, तदागान्निजमन्दिरे ॥२१९॥
अथ तस्मिन् समायते, मुदितौ धिषणाबुधौ।
संतुष्टं राजकं सर्वं भृशमानन्दितं पुरम् ॥२२०॥
वृत्ते महाविमर्देन, ततश्चागमनोत्सवे।
साज्ञायि मैविका तेन, घ्राणेन बुधमन्दयोः ॥२२१॥
ततः पितरमेकान्ते, विचारः पोचिवानिति।
तात घ्राणेन ते मैत्री, न भव्या शृणु कारणम् ॥२२२॥
तदहं तामतम्बां चा नापृच्छ्य निरगां गृहात्।
देशान् दिदृक्षुरभ्राम्यां, तात ! देशेषु भूरिषु ॥२२३॥
अन्यदा भवचक्राख्ये, संप्राप्तोऽहं महापुरे।
तत्र राज्यपथेऽपश्य मेकां प्रवरसुन्दरीम् ॥२२४॥
तां दृष्ट्वा तात जातोऽहं, प्रमोदपुलकाङ्कितः।
चित्तमार्द्री भवेद् दृष्टे, ह्यविज्ञातेऽपि सज्जने ॥२२५॥
सोऽपि मां वीक्ष्य संजज्ञे, क्षिप्ते च सुखसागरे।
सिक्ते वाऽमृतसेकेन, प्राप्तराज्येव हर्षभाक् ॥२२६॥
ततः कृतप्रणामोऽहं, प्रोक्तो दत्ताशिषा तया।
कस्त्वं वत्स ! मयाऽप्युक्तं, धिषणावुधभूरहम् ॥२२७॥
अपृष्ट्वाऽपितरौ मात–र्दैधकालिकया गतः।
अथो सा मां परिष्वज्य, प्रोचे हर्षाश्रुपूर्णदृक् ॥२२८॥

धन्याऽस्मि कृतकृत्याऽस्मि, यद् दृष्टस्त्वं मयाऽनघ !
त्वं जानासि मां वत्स ! लघुर्मुक्तोऽसि यत्तदा ॥२२६॥
अहं हि बुधराजस्य, सर्वकार्येषु संमता।
धिषणाया वयस्याऽस्मि, नाम्ना मार्गानुसारिता ॥ २३० ॥
अतो मे भागिनेयस्त्वं, सुन्दरं कृतवानसि।
यद्देशदर्शनाकाङ्क्षी, नगरेऽत्र समागमः ॥२३१॥
येदेनं नगरं दृष्टं, भूरिवृत्तान्तसंयुतम्।
तेन वत्सेक्षितं सर्व्वं ,भुवनं सचराचरम् ॥२३२॥
मयोक्तमम्ब ! सद्येवं, तन्मे संदर्शयाधुना।
पुरमेतत्तथैवाम्बा, मम सर्वमदीदृषत् ॥२३३॥
अथैकत्र मया दृष्टं, पुरं तत्र महागिरिः।
तच्छिखरेऽतीव रम्य, निविष्टमनरं पुरम् ॥२३४॥
मयोक्तमम्ब ! किं नाम, पुरमेतदवान्तरम्।
किं नामायं गिरिः किं च, शिखरे दृश्यते पुरम् ॥२३५॥
अम्बा जगाद वत्सेदं, पुरं सात्विकमानसम्।
विवेकोऽयं गिरिश्रृङ्गमप्रमत्तत्वमित्यदः ॥२३६॥
इदं तु भुवानख्यातं, वत्स ! जैनं महापुरम्।
तव विज्ञातसारस्य, कथं प्रष्टव्यतां गतम् ॥२३७॥
यावत्सा कथयत्येवं, तात ! मह्यं फुटाक्षरम्।
तावज्ञातोऽपरस्ततत्र, वृत्तान्तः श्रूयतां स तु ॥२३८॥
गाढं प्रहारनिर्भिन्नो, नीयमानः सुविज्वलः।
पुरुषैर्वेष्टितो व्यैक्षि, मयैको राजादारकः ॥२३९॥
मयोक्तं दारकः कोऽयं, किं वा गाढप्रहारितः।
कुत्र वा नीयते लग्नः, के चामी परिवारकाः ॥२४०॥
अम्बिका स्माह हे वत्स ! विद्यतेऽत्र महागिरौ।
राजा चारित्रधर्म्माख्यो, यतिधर्म्मा च तत्सुतः ॥२४१ ॥
तस्यां संयमो नाम, पुरुषः प्रौढपौरुषः।
एकाकी च क्वचिद् दृष्टो, महामोहदिशत्रुभिः ॥२४२॥
बहुत्वादथ शत्रूणां, प्रहारैर्जर्जरीकृतः।
अय निस्सारितो वत्स ! रणभूमेः पदातिभिः ॥२४३॥
प्रक्षिप्य डोलिकायां च, नीयतेऽसौ स्वमन्दिरे।
अस्य चात्र पुरे जैने, सर्व्वे तिष्ठन्ति बान्धवाः ॥२४४॥
ततोऽहं कौतुकाक्षिप्तस्तात ! मात्रा समं क्षणात्।
तेषामनुसमारूढो, विवेकगिरिमस्तके ।।२४५॥
अथ तत्र पुरे जैने, राजमण्डलमध्यगः।
दृष्टिश्चित्तसमाधाने, मण्डपे स महानृपः ॥२४६॥
सत्यशौचतपस्त्याग–ब्रह्माकिंचनतादयः।
अन्येऽपि मण्डलाधीशा, अम्बया दर्शिता मम ॥२४७॥
इतश्च तैर्नरैस्तूर्णं समानितः स संयमः।
दर्शितोऽस्य नरेन्द्रस्य, वृत्तान्तश्च निवेदितः ॥२४८॥
तद्धेतुककस्ततस्तात ! मोहचारित्रभूभुजोः।
तदा महाहवो जज्ञे, विश्वस्यापि भयंकरः ॥२४९॥
क्षणाच्चारित्रभूपालः, सबलो बलशालिना।
जिग्ये मोहनरेन्द्रेण, नष्ट्वा स्वस्थानमाश्रयत् ।२५०॥
ततः परिणतं राज्यं, महामोहमहीपतेः।
चारित्र धर्मराजस्तु, पिरुद्धो व्यन्तरे स्थितः ॥२५१॥
मार्गानुसारिताऽवादीद्, दृष्टं वत्स ! कुतूहलम्।
स्पष्टं दृष्टं मयाऽप्युक्तमम्बिकायाः प्रसादतः ॥२५२॥
केवलं कलहस्यास्य, मूलमम्ब ! परिस्फटम्।
अहं विज्ञातुमिच्छामि, प्रोचेऽम्बा श्रृणु पुत्रक ! ॥२५३॥

रागकेशरिराजसय, मन्त्री प्रोत्साहसाहसः।
त्रैलोक्यमपि विषया–भिलाष इति विश्रुतः ॥२५४॥
अनेन मन्त्रिणा पूर्वं , विश्रवासाधनहेतवे।
मानुषणि प्रयुक्तानि, पश्चात्मीयानि सर्वतः ॥२५५॥
स्पर्शनं रसना घ्राणं, दृक् श्रोत्रमिति नामतः।
जगज्जयप्रवीणानि, विश्वाद्वैतबलानि च ॥२५६॥
क्वापि तान्यभिभूतानि, संतोषेण पुरा किल।
चारित्रधर्मराजस्य, मन्त्रपालेन लीलया ॥२५७॥
तन्निमित्तः समस्तोऽयं, जातोऽमीषां परस्परम्।
कलहो वत्स ! साटोपमन्तरङ्गमहीभुजाम् ॥२५८॥
मयाऽवाच्यथ पूर्णं मे, देशदर्शनकौतुकम्।
साम्प्रतं तातपादानां समीपे गन्तुमुत्सुकः ॥२५९॥
मात्रोक्तं गम्यतां वत्स ! निरूप्य जनचेष्टितम्।
अहमप्यागमिष्यामि, तत्रैव तव संनिधौ ॥२६०॥
ततोऽहमागमं क्षिप्रं, निश्चित्येदं प्रयोजनम्।
ततस्तातामुना मैत्री, घ्राणेन न तवोचिता ॥२६१॥
यावन्निनवेदयत्येवं, विचारो निजवीजिने।
मार्गानुसारिता तावदागाद्धवलभूपतेः ॥२६२॥
समर्थितं तया सर्व्वं, विचारकथितं वचः।
त्यजामि घ्राणमित्येवं, बुधस्यापि, हृदि स्थितम् ॥२६३॥
इतो भुतङ्गतायुक्तो, घ्राणलालनलालसः ।म
सुगन्धिगन्धानां, सदान्वेषणतत्परः ॥२६४॥
तत्रैव नगरे श्राम्यन्, लीलावत्या निजस्वसुः।
देवराजस्य भार्याया, ययौ गेहे कदाचन ॥२६५॥
सपत्नीपुत्रघातार्थं, तस्मिन्नेव क्षणे तया।
आत्तो डोम्बकराद्गन्धः, संयोगो मरणात्मकः ॥२६६॥
तां गन्धपुटिकां द्वारे, मुक्त्वा लीलावतीगृहे।
प्रविवेश स च प्राप्तो, मन्दं सा तेन वीक्षिता ॥२६७॥
ततो भुजंगता दोषच्छोटयित्वा पुटीमसौ।
तान् गन्धान् सहसाऽजिघ्रत्प्राणैश्च मुमुचे क्षणात् ॥२६८॥
तं मन्दं घ्राणदोषेण, विपन्नं वीक्ष्य शुद्धधी :।
विरक्तः प्राव्रजद्धर्म–घोषाचार्यन्तिके बुधः ॥२६९॥
स क्रमेण समस्ताङ्गापाङ्गपूर्वविशारदः।
अनेकलब्धिवार्यद्धि–संप्राप्तसुरवैभवः ॥२७०॥
विहरन्नत्र संप्राप्तः, स एषोऽहं नरेश्वर !
व्रतहेतुः पुनर्जज्ञे, तन्मे मन्दस्य चेष्टितम् ॥२७१॥
तच्छ्रुत्वा विस्मयस्मेर–लोचनो धवलो नृपः।
विमलाद्या जनाः सर्वे , कृताञ्जलय ऊचिरे ॥ २७२॥
अहो भगवतो रूपमहो मधुरिमा गिराम्।
अहो परोपकारित्वमहो बोधनचातुरी ॥२७३॥
अहो सदा स्वयं बोध–बन्धुरैकधुरीणता।
यद्वा भगवतोऽमुष्य, चरित्रं सर्व्वमप्यहो ॥२७४॥
अह सविसेसं राया, संवेगगओ पयं पए कुमरं।
तुं वच्छ ! गिण्ह रज्जं, वयं तु दिक्खं गहिस्सामो ॥२७५॥
भणइ कुमारो किं ताय, तुह अहं इह अणिट्ठओ तणओ।
रज्जपयाणमिसेणं, जेणमिमं खिवसि भवअवडे ॥२७६॥
तं सुणिय मणे तुट्ठो, धवलो विमलस्स महरयं बंधु।
कमलं कयलिदलच्छं, नियरज्जभरम्मि संठवइ ॥२७७॥
विमलकुमारेण समं, अंतेउरपउरमंतिमाइजुओ।
रिसिवुहसूरिसयासे, गिण्हइ दिक्खं धवलराओ ॥२७८॥

इत्थंरम्मि नट्ठो, मुट्ठी बंधित्तु वामदेवो सो।
मा हु कुमारो दिक्खं, बलाविमं गाहइस्सत्ति ॥२७६॥
कुमारमुणिणा वि किमिणं, ति पुच्छिउं जंपए समणसीहो।
विमलअनिम्मलचरिए–णिमिणा किं पुच्छिए णंते ॥२८०॥
नियकत्तविग्घजणगे, इमस्स चरिए वहीरणं कुणसु।
इयरो वि आह एवं, जं पुज्जा आणवंति त्ति ॥२८१॥
अह कयकिच्चं अप्पं, मन्नंतो रयणचूडखयरिंदो।
नमिउं गुरुपयकमलं, संपत्तो नियनयरम्मि ॥ २८२॥
चिंतइ कुमारसाहू, कयन्नुसिरसेहरो कया वि मणे।
परउवयारपरत्तं अहो अहो रयणचूडस्स ॥२८३॥
पढम जिणनाहदंसण–पवरवरत्ताइजेण पढं पि।
भवभीमकूवकुहरे, निवडंतो रक्खिओ तइया ॥२८४॥
सिरिबुहमुणिंददंसण–दंसणपायणेण पुण अहुणा।
अह यं तह एस जणो, सिद्धिपुरीसंमुहो विहिओ ॥२८५॥
इय चिंतिंतो निच्चं, कमेण निट्ठवियअट्ठकम्ममलो।
विमलो तह धवलनिवो– अइविमलपयं समुणुपत्तो ॥२८६॥
तइया स वामदेवो, दिक्खागाहणभएण तओ नट्ठो।
कंचणपुरम्मि पत्तो, ठिओ गिहे सरलसिट्ठिस्स ॥२८७॥
सिट्ठी सो य अपुत्तो, तं सव्वत्थ वि गणेइ पुत्तं च।
अंतद्धणं पि दंसइ, अइसरलो तस्स कुमिलस्स ॥२८८॥
कइयावि सो निसाए, अंतद्धणमुक्खिणित्तु अन्नत्थ।
हट्टाउ ठवइ छन्नं, वहेरिओ दंडपासीहिं ॥२८९॥
ता उग्गओ दिणयरे, मुट्ठो मुट्ठति तेण पुक्करियं।
मिलिओ पभूयलोओ, सरलो जाओ विसन्नमणो ॥२९०॥
मा कुणसु चिट्ठि ! खेयं लद्धो चोरु त्ति भणिय पासीहिं।
बंधित्तु वामदेवसे, नीओ नरनाहपासम्मि ॥२९१॥
कुविएण तेण वत्तो, आणत्तो सरलसिट्ठिणा तत्तो।
दाऊण पहूयधणं, कहकहमवि मोइओ एसो ॥२९२॥
तो निंदिज्जइ लोए, कयग्घचूडामणी इमो पावो।
जेण नियजणयतुल्लो, वीससिओ वंचिओ सरलो ॥२९३॥
अन्नदिणे निवगिहं, भिन्नं केणावि सिद्धविज्जेण।
न य लक्खिओ य एसो, तो कुविओ नरवई वाढं ॥२९४॥
एयं तु वामदेवस्स, कम्ममियं जंपिउं तयं पावं।
ओबंधावइ सो वि हु, मरिउं पत्तो तमतमाए ॥ २९५॥
तत्तो अणंतकालं, भमियभवे कहवि लहियनरजम्मं।
होउं कयन्नुपवरो, सिवं गओ वामदेवो वि ॥२९६॥
इत्येवं च कृतज्ञतागुणसुधां संतापनिर्व्वापिकां,
दुष्प्रापामजरामरास्पदकरीं प्रार्थ्यां बुधानामपि।
पायं पायमपायमुक्ततनवः स्फारीभवत्संमदा,
भो भव्या भवताऽनिशं विमलवन्निःशेषतृष्णोज्झिताः ॥२९७॥
उक्तः कृतज्ञ इत्येकोनविंशतिमो गुणः ध०२०॥
गुरुविहितोपकारज्ञे, स्वार्थे कः कृतज्ञ तकस्तत्रैव पंचा० २१ विवि०

कयण्णुया स्त्री (कृतज्ञता) – कृतस्य ज्ञता ज्ञानं परोपकृतस्य अनिह्नवे (ध०) कृतज्ञतासु दाक्षिण्ये, सदाचारः प्रकीर्तितः, ध०। एवं हि तस्य महान् कुशललाभो भवति अत एव कृतोपकारं शिरसि भारमिव मन्यमानाः कदाऽपि न विस्मरन्ति साधवस्तदुक्तम् । प्रथमवयसि पीतंतोयमल्पं स्मरतिः, शिरसि निहितभारा नारिकेरा नराणाम् । उदकममृतकल्पं दद्युराजीवितान्तं, नहि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति, इमि ध० १ अधि०। परोपकारपरिज्ञाने, द्वा०। कृतज्ञता चित्ते आज्ञायोगस्तत्सत्यकरणता चेति गुरुविनयः। यो हि गुरुकृतमुपकारमात्मविषयं विवेकसंपन्नतया जानाति यथाऽस्मास्वनुग्रहप्रवृत्तैः स्वकीयक्लेशनिरपेक्षतया रात्रिंदिवं महान् प्रयास। शास्त्राध्यापनपरिज्ञानविषयः प्रभूतं कालं यावत् कृत इत सकृज्ञ दच्यते। अथवाऽल्पमप्युपकारं भूयांसं मन्यते। अथवा कृताकृतयोलाकप्रसिद्धयोर्विभागेन कृतस्य मतिपाटवाद् विशेषं विषयं स्वरूपं परिच्छिनत्त न पुनर्जडतया कृतमापि साक्षात् प्रणालिकया वा न वा न वेति ततस्तद्भाव" कृतज्ञता तेषु गुरुषु कृतज्ञतासहितं चित्तं कृतज्ञताचित्तं षो०१३ विव०। "गरुबहुमाणो, कयण्णुया सगलगच्छगुवुड्ढी" गरुमभुश्रता कृज्ञता चाराधिता भवति प्रधानश्चायं पुरुषस्य गुणो लोकेऽपि गीयते। तथाहि "सकलाकलाप्यकुशलः, स पण्डितः सकलशास्त्रवेदी सः। निःशेषगुणगरिष्ठः। कृतज्ञता यं समाश्रयत" लोकोत्तरेऽपि एकविंशतिगुणमध्ये पठित एवेति। ध०२०।

कयत्थ त्रि० (कृतार्थ)–कृतोऽर्थः प्रयोजनं येन। कृतस्वप्रयोजने, भ०१ श०८ उ०। ज्ञा०। आ० म० प्र०। कृतकृत्ये, आचार्यो–पाध्यायप्रवर्त्तकस्थविरगणावच्छेदक–लक्षणपद पञ्चकयोग्यतया शिष्याणां निष्पादनेन निष्ठि–तार्थ, कृतार्थानां निरपेक्षयति धर्माऽतिसुन्दरः" ध०४ अधि०।

कृतास्त्र त्रि० कृतं शिक्षितमस्त्रं येन। शिक्षितास्त्रे, वाच०।

कदर्थ पुं० कुत्सितोऽर्थः "कोः कद् ततः तत्करोतीति णिच्०। कदर्थयति कुत्सितमर्थं करोतीत्यर्थः। ततः क्तः कदर्थितः कुत्सितार्थीकृते, वाच०। "गोसालो वि कयत्थियपुणिमाए दिवसतो पुच्छइ" आ० म० द्वि०। ल्युट् कदर्थनम् कुत्सितार्थे, **करणे**–युच्– कदर्थना तत्रैव स्त्री०। वाच०। घट्टना कदर्थना आचा० १ श्रु०८ अ०१ उ०।

कयदाण न०(कृतदान)–कृतं दानमनेन तत्प्रयोजनमिति प्रत्युपकारार्थं यद्दानं तत्कृतदानमित्युच्यते। दानभेदे, उक्तं, "शतशः कृतोपकारो, दानं च सहस्रशो ममानेन। अहमपि ददामि किञ्चित् प्रत्युपकाराय तद्दानमिति" १ स्था०१० ठा०।

कयदिट्ठधम्म त्रि०(कृतदृष्टधर्म)–कृत आचरितो दृष्टो व्यवसितोऽवगतश्च धर्मो येन स तथा। ज्ञातश्रुतधर्मे "भिक्खुमुयच्चे कयदिट्ठधम्मे गामं च णगरं च अणुप्पविस्सा" सूत्र०१ श्रु०१३ अ०।

कयाधि त्रि० (कृतधि)– कृतोपरिकर्मिता तत्वोपदेशपेशलैस्तच्छास्त्राभ्यासप्रकर्षेण संस्कृता धीर्बुद्धिर्येषां ते कृतधियः। विपश्चिद्रूपेषु पुरुषेषु "त्वमेवातस्त्रातस्त्वयि कृतसपर्याः कृतधियः" स्या०।

कयपंजलि त्रि०(कृतप्राञ्जलि) प्रणत्यर्थं कृतप्राञ्जलिवति, कयपनंजलि–अभिमुहो, तं जाणसु भासणासुद्धं" आव०६ अ०।

कयपडिकइ स्त्री० कृतप्रतिकृति– विनयात्प्रसादिताः सूरयः श्रुतं दास्यन्तीत्यभिप्रायेणाशनदानादियत्नरूपे लोकोपचार विनय भेदे, पंचा०१६ विव०। सं०। "कयपडिकई तह" कृते भक्तादिनोपचारेः प्रसन्नाः गुरवः प्रतिकृतिं प्रत्युपकारं सूत्रादिदानेन मे करिष्यन्ति नो नामैकेव निर्जरेति भक्तादिदाने यत्नः कार्य्यः। श्रुतप्रापणादिकं निमित्तं कृत्वा श्रुतं प्रापितोऽहमनेनेति हेतोरित्यर्थः विशेषेण विनये वर्तितव्यम् ध०३ अधि०। "कज्जे पडिकिती चवं" कृते कार्य्ये यः क्रियते विनयः स प्रतिकृतिरूपत्वात् प्रमिकृतिरूपे च विनये, व्य०१ उ०। (आक्षे-

पपरिहारौ विणयशब्दे वक्ष्यति) उपकृते सति प्रत्युपकारे च "कयपडिकइं एसंते गुणो दीवेज्ज कृततप्रतिकृतये इति एके" नैकस्योपकृतं गुणा वोत्कीर्तिताः स तस्यासतोऽपि गुणान् प्रत्युपकारार्थमुत्कीर्तयतीत्यर्थः। स्था०४ ठा०४ उ०।

कयपडिकइया स्त्री० (कृतिप्रडिकृतिता) कृते भक्तादिनोपचारे प्रसन्ना गुरवः प्रतिकृतिं प्रत्युपकारं सूत्रादिदानतः करिष्यन्तीति भक्तादिदानं प्रति यतितव्यमित्येवं रूपे लोकोपचारविनये, स्था०७ ठा०।

कयपडिकयय त्रि० (कृतप्रतिकृते) कृते उपकृते प्रतिकृतं प्रत्युपकारः तद्यस्यास्तीति स कृतप्रतिकृतिकः। कृतप्रत्युपकर्त्तरि, स्था०४ ठा०४ उ०।

कयपडिकिरिया स्त्री० (कृतप्रतिक्रिया) अध्यापितोऽहमनेनेति बुद्ध्या भक्तादिदाने, गा०१ अधि०।

कयपवयणप्पणाम त्रि० (कृतप्रवचनप्रणाम)कृतो विहितः प्रवचनशब्दे दर्शयिष्यमाणार्थस्य प्रवचनस्य प्रणामो येन स कृतप्रवचनप्रणामः। नमस्कृतप्रवचने "कयपवयणप्पणामो वोच्छं चरणगुणसंगहं सयलं" विशे०। "कयपवयणप्पणामो वुच्छं पच्छित्तदाणसंखेवं" जीत०। (इत्युभयत्र कयपवयणेत्युक्त्या उभयोरपि विशेषावश्यकजीतयोर्भाष्यकृदेक एव जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणः स्वशैलीं सूचितवान्)।

कयपुण्ण त्रि० (कृतपुण्य) जन्मान्तरोपात्तसुकृते, ज्ञा०१ अ०। उपार्जितशुभकर्म्मणि, पंचा०६ विव०। नि०। पायसदानेन देवलोकं गत्वा च्युते राजगृहे नगरे धनवहस्य श्रेष्ठिनः पुत्रे, (सामइयशब्दे दानेन तल्लाभेऽस्य वक्तव्यता वक्ष्यते)

कयपव्वव त्रि० (कृतपूर्व्व) पूर्व्वकृते, सूत्र०१ श्रु०१५ अ०।

कयवलिकम्म त्रि० (कृतवलिकर्मन्) कृतं निष्पादितं स्नानानन्तरं बलिकर्म स्वगृहे देवतानां पूजा येन स कृतबलिकर्मा। तं०२९ प०। भ०। देवतानां विहितबलिविधाने, विशे०।

कयभूमिकम्मंत न० (कृतभूतिकर्मान्त) कृतं भूमिकर्म छगणलेपनादिकर्मान्तेषु प्रान्तप्रदेशेषु येषां तानि कृतभूमिकर्मान्तानि। छगणलेपादिना संस्कृतप्रान्तेषु "बलयाणि पडिसाडिमभुंजतगा य कयभूमिकम्मंता" वृ०२ उ०।

कयमंगला स्त्री० (कृतमङ्गला) स्वनामख्यातपुयाम् "कयमंगलापुरीए, धणसिट्ठिसुया उ बालविहवासी। जयसुंदरीति तीसे, भत्तिजुया भायरा पुच" संथा०।

कयमाल पुं० (कृतमाल) कृता मालाऽस्य आरग्वधे, कर्णिकारे च। अमरः। वाच०। यक्षे, जं। मालां कृतवति, त्रि०वाच०।

कयमालय पुं० (कृतमालक) भरते वर्षे, दीर्घवैता– ढ्यसत्कतमिस्र–गृहाधीश्वरे देवे, स्था०२ ठा०३ उ०। येन चक्रवर्तिनस्तत्र गच्छन्तः सम्क्रियन्ते इतरे राजानो नाश्यन्ते यथा भरतचक्रिणो जययात्राम् आ० चू०। "तए णं से चक्करयणे पच्चच्छिमदिसिं तिमिसगुहाभिमुहे पयाया वि होत्था जाव तीए गुहा ते अदूरसामंते खंधावारकरणं तहेव अट्ठमभत्तंसि परिणममाणंसि कयमालए देवे चलियासणे उवागते जाव पीतिदाणाइ वीरयणस्स विजग्गचोद्दसं भंडालंकारं कडगाणि य जाव आभग्णाणि य" आ० चू०१ अ०। कोणिको राजा कृत्रिमाणि रत्नानि कृत्वा भरतक्षेत्रसाधनं प्रवृत्तः कृतमालयक्षेण गुहाद्वारे व्यापादितः स्था०४ ठा०३ उ०। आव०। देवे च "मंदरस्स पुरच्छिमेणं सीयाए महाणईए उत्तरेणं अट्ठ दीहवेयड्ढा अट्ठ तमिस्सगुहाओ अट्ठ कयमालगा देवा" स्था०००८ ठा० आ०म० प्र०।

कयमोहत्थवेफल्ल त्रि० (कृतमोहास्त्रवैफल्य) कृतं मोहस्य अस्त्रस्य वैफल्यं निष्फलत्वं येन। मोहरूपास्त्रस्य विदारणेन निष्फलताऽपादके "कृतमोहास्त्रवैफल्यं, ज्ञानचर्म्म बिभर्ति यः क्व भीस्तस्य क्व वा भङ्गः, कर्मसङ्गरकेलिषु" अष्ट०१४ अ०।

कयर त्रि० (कतर)किम् डतर द्वयोर्मध्ये जात्यादिभिर्निर्धारणार्थं प्रश्नविषये, वाच०। किम्भूते "कयरे मग्गे अक्खाए माहणेणं मइमया"सूत्र०१ श्रु०११ अ०। "कयरे जे ते सोपरिया मच्छवधा" प्रश्न०आश्र०१ द्वा०।

कयर पुं–कंजलं दृणाति दृ अच् श्रवेतखदिरे, तस्य सेवनात् मुखस्थितस्य श्लेष्मणा संहतरूपजलस्य दारणात् वाच०।

कयरिवुफला स्त्री० कचरिपुफला–कचस्य रिपुः फलमस्य शटीवृक्षे, राजनि वाच०।

कयल पुं० (कदल) वृषा कलच्०। रम्भावृक्षे, मेदि०। वाच०। कदलीफले, न०। वृ०१ उ०। डिम्बिकायाम्, शाल्मलिवृक्षे च स्त्री० मेदि०। अजादेराकृतिगणत्वात् टाप् वाच०।

कयलक्खण त्रि० (कृतलक्षण) कृतानि सार्थकानि लक्षणानि देहचिह्नानि येन स कृतलक्षणः। भ०९ श०३३ उ०। कृतफल–वच्छरीररलक्षणे, ज्ञा०१ अ०। भ०। नि०।

कयलिघरग न०(कदलीगृहक) कदलीमयगृहे, जी०३ प्रति०२ उ०। ज्ञा०।

कयलिसमागम पुं० (कदलीसमागम) स्वनामख्याते ग्रामभेदे यत्र मङ्खलिसुतस्य गोशालस्य दधिसम्मिश्रं क्रूरं भोजनमभूत् आ०म०द्वि०। आ० चू०।

कयली स्त्री० (कदली) काय जलाय दल्यते तत्त्वगादौ जलबाहुल्यात् गौरा ङीष् रम्भावृक्षे, अमरः वाच०। वलयानि केतकीकदल्यादीनि आचा०१ श्रु०१ अ०२ उ०। ज्ञा०। वैजयन्त्याम्, कदल्याकारवस्त्ररूपत्वात्तथात्वम्। हस्तिपताकाम्, हारा०। मृगभेदे च वाच०।

कयलीखंभ पुं (कदलीस्मम्भ) कदलीवृक्षे "कयलीखंभातिरेग संठियणिव्वधसुकुमालमउयकोमलअइविमलसमसंहत सुजायवट्टपीवरनिरंतरोरू" कदलीस्तम्भाभ्यामतिरेकेणाति–शायितया संस्थितं संस्थानं यतोस्तौ कदलीस्तम्भातिरेक–संस्थितौ निर्व्रणौ विस्फोटिकादिकृतक्षतरहितौ सुकुमारावकर्कशौ मृदू अकाठिनौ कोमली दृष्टिसुभगौ अतिविमलौ सर्वथा स्वभाविकागन्तुकमललेशेनाप्यकलङ्कितौ समसंहतौ समप्रमाणौ सन्तौ संहतौ समसंहतौ सुजातौ जन्मदोषरहितौ वृत्तौ वर्तुलौ निरंतरावुपचितावयवतया अपान्तरालवर्जितौ ऊरू यासं तास्तथोक्ताः जी०३ प्रति०।

कयवम्म पुं०(कृतवर्मन्)त्रयोदशतीर्थकरस्य पितरि, स०। आव०।

कयवयकम्म पुं० कृतव्रतकर्मन्–कृतमनुष्ठितं व्रतादीनां कर्म तच्चाणुव्रतं ज्ञानवाञ्छाप्रतिलक्षणं येन प्रतिपन्नदर्शनेन स कृतव्रतकर्मा। प्रतिपन्नाणुव्रतादौ, द्वितीयश्रावकप्रतिमां प्रतिपन्ने।

तद्भेदा यथा–

तत्थायण्णणिजाणण, २ गिण्हण ३ पंडिसेवणेसु ४ उ-

ज्युत्ता। कयवयकम्मो चउहा, भावत्थो तस्सिमो होइ।३४।

तत्र तेषु षट्सु लिङ्गेषु मध्ये कृतव्रतकर्मा चतुर्द्धा चतुर्भेदो भवतीति संबन्धः। तानेव भेदनाह। आकर्णनं श्रवणं १ ज्ञानमवबोधः २ ग्रहणं प्रतिपत्तिः ३ प्रतिसेवनं सम्यक् पालनम् ४ ततो द्वन्द्वस्तेषु व्रतानामिति प्रक्रमादुच्यते उद्युक्त उद्यमवान् भावार्थः पदं तस्य चतुर्विधस्याप्ययमासन्नं भणिष्यमाणो भवतीति १३ ध० २० ५६ प०। ध०। (आकर्णनादिशब्देषु तद्वाख्या)

कयवर पुं० (कचवर) अवकरे, ज्ञा.७ अ०। श्लेक्ष्णतृणधूल्यादि पुञ्जरूपे (रा०। आचा०) गुहमले, आव०१ अ०। "बहुझुसिरदव्व संकरो कयवरो भण्णति" नि० चू०७ उ०।

कयवरणिस्सिय पुं० (कचवरनिश्रित) –यत्र तृणधूलिसमुदायस्तन्निश्रितः कृमिकीटपतङ्गादौ जीवभेदे, आचा०१ श्रव१ अ०४ उ०।

कयवरोज्झिया स्त्री०(कचवरोज्झिका) अवकरशोधिकायाम्, ज्ञा०७ अ०। गृहदास्याम्, वाच०।

कयविक्कय पुं० (क्रयविक्रय) मूल्येन वस्तुनो ग्रहणग्राहणयोःग०।

जत्थ य मुणिणो यिवि कयविक्कयाइं कुव्वंति संजमब्भट्ठा।
तं गच्छं गुणसायर ! विसं वदूरं परिहरिज्जा॥

यत्र गणे मुनयो द्रव्यसाधवः क्रयं मूल्येन वस्त्रपात्रौषधशिष्यादि ग्रहणं विक्रयं च मूल्येनान्येषां वस्त्रपात्रादिकार्य्याणां कुर्वन्ति च शब्दादन्यैः कारियन्ति अनुमोदयन्ति वा किंभूता मुनयः संयमभ्रष्टाः दूरीकृतचारित्रगुणाः गुणसागरेति गोतमामन्त्रणं तं गच्छं विषमिव हालाहलमिव दूरतः परिहरेत् सन्मुनिः। अत्र विषयोपमा देशसाम्ये यतो विषादेकमरणं भवति संयमभ्रष्टगच्छात्वेनन्तानि जन्ममरणानि भवन्तीति गाथाछन्दः ग०२ अधि०।

कयविक्कय (यंज्ञा) ज्झाण न०(क्रयविक्रयध्यान) क्रयणं क्रयो लाभार्थमल्पमूल्येन बहुमूल्यवस्तुग्रहणं विक्रयणं विक्रयः बहुमूल्येनाल्पमूल्यवस्तुग्रहणम्। क्रयश्च विक्रयश्च क्रयविक्रयौ तयोर्ध्यानं लोहमूल्येन स्वर्णकुशग्राहिलोभनन्दस्येव ध्यानभेदे, आतु०।

कयविक्कयसण्णिहिउवरय त्रि० (क्रयविक्रयसन्निधिपरत) क्रयविक्रयसन्निधिभ्यः उपरतो विरतः द्रव्यभावभेदभिन्नक्रय–विक्रयपर्य्युषितस्थापनेभ्यो निवृत्ते, दश०१ अ०।

कयविहंग त्रि० (कृतविभङ्ग) कृता विहिता वृकादिरेव (विहंगति) विभागा यस्य। खण्डशः कृते, प्रश्न०आश्र०३ द्वा०।

कयविहव त्रि० (कृतविभव) कृतसफलसंपदि, ज्ञा०१ अ०।

कयवीरिय पुं० (कृतवीर्य्य) कार्त्तवीर्य्यार्जुनपितरि, यो हि स्वभार्य्याव्यतिकरे यमदग्निना विनाशितः। सूत्र०१ श्रु०८ अ०। वीर्य्यान्विते, त्रि० वाच०।

कयवीरियायार त्रि० (कृतवीर्य्याचार) विहितस्वशक्तिव्यापारे, पंचा०४ विव०।

कयवेयद्दिय न०(कृतवितर्दिक) रचितवेदिके, ज्ञा०१ अ०। औ०।

कयव्वय पुं०स्त्री० (कृतव्रत) उपस्थापिते "गवेसऊमावकयव्वया जे सव्वे" व्य०४ उ०।

कयसपरिय त्रि० (कृतसपर्य्य) कृता कर्तुमारब्धा सपर्य्या सेवाविधिर्यैस्ते कृतसपर्य्याः। सेवितुं प्रवृत्तेषु, स्था०।

कया अव्य० (कदा) कस्मिन् काले, "कया णं अहं अप्पं वा बहुं, वा" स्था०३ ठा०४ उ०।

कयाइ अव्य०कदाचित्–कदाचनार्थे, सूत्र०१ श्रु०१ अ०३ उ०। "नहेसि कयाइ त्ति" कदाचिदिति वितर्कार्थः। अहमेवं मन्ये पदुत नष्टस्त्वतसीति भ०१५ श०१ उ०। कदाचनदयोऽप्यत्र वाच०।

कयाकय त्रि० (कृताकृत) कृतश्चासावकृतश्च कृताकृतः मयूरव्यंयकादय इति समासः। नैगमनयमतेन कृते शेषणामकृते, आ०म० द्वि०। किञ्चित्कृते किञ्चिदकृते च। कृतं कार्य्यं च अकृतं कारणं च समा० द्व०। कार्य्यकारिणयोः, क्तेन नञ्विशिष्टेना ऽनञ्"।०। कृते अकृते च। भावे. क्त. करणाकरणयोः, न द्वि० वाच०।

कयागम त्रि० (कृतागम) कृतपरिज्ञाने, व्य०१ उ०। कृत आगमो येन आगमकर्त्तरि, वाच०।

कयाभरण न० (कचाभरण) केशाभरणे, औ०।

कर–धा०(कृ) तना० उभ० सक० अनिट्। **ऋवर्णस्यारः ८।४।२३४** अत्यन्तस्य अरादेशः करइ–करोति, प्रा०।

कर पुं०–वर्षा पले, रश्मौ, कीर्य्यते विक्षिप्यते कृ करणे अप् पाणौ, हस्तिशुण्डे च। तयोर्जलादिक्षेपसाधनत्वात्तथात्वम् कर्मणि अप् किरणे, मेदि० वाच०। जं०। "तुसारगंधारपीवरकरः" ज्ञा०१६ अ०। औ०। गवादीनां प्रतिवर्षे राजदेये द्रव्ये ज्ञा०१ अ०। कल्प०। राजदेयभागे, प्रव०२ द्वा० पिं०। हेत्वादौ–कर्मोपपदे–कृ–कर्त्तरि, अट् तत्कर्मकारके, त्रि०यथा श्रेयस्करः इत्यादि वाच०।

अस्य निक्षेपः।

नामकरो ठवणकरो, दव्वकरो खेत्तकालभावकरो।
एसो खलु निक्खेवो, करणस्स उ छव्विहो होइ॥

नामकरः स्थापनाकरः "खेत्तकालभावकरो" इति कारशब्दः-प्रत्येकमभिसंबध्यते क्षेत्रकरः कालकरो भावकरः। एष खलु करणं करस्तस्य निक्षेपः षड्विधो भवति। तत्र नामस्थापने क्षुण्णत्वादनादृत्य द्रव्यकरमभिधित्सुराह।

गोमहिसुट्ठपसूणं, छगंलीणं पि य करा मुणेयव्वा।
तत्तो य तणपलाले, भुसकट्ठिंगारकरमेव॥
सीउंवरजंघाए, बलिवद्धकरे घडे य वम्मे य।
वोल्लगकारभणिए, अट्ठारसमाकरुप्पत्ती॥

गोमहिषोष्ट्रपशूनां छगलीनामपि च करा ज्ञातव्याः। तत्र गोकरयाचनं यथा एतावतीषु गोषु विक्रीतास्वेका गौर्दातव्येति। यदि वा गोविक्रयस्वरूपं रूपकयाचनं गोकरः।१। एवं महिषकरः। २ उष्ट्रकरः ३ पशुकरः ४ छगली उरभ्रा तत्करः छगलीकरः ५ ततस्तृणविषयः करस्तृणकरः ६ पलालकरः ७ तथा बुसकरः ८ काष्ठकरः ९ अङ्गारकरः १० सीता लाङ्गलपद्धतिः तामाश्रित्य करो भागो धान्ययाचनं सीताकरः ११ उम्बरो देहली तद्विषयः करो रूपकयाचनं उम्बरकर १२ एवं जङ्घाकरः १३ वलीवर्दकरः १४ घटकरः १५ कर्मकरः १६ बुल्लगो भोजनं तदेव करः बुल्लगकरः स चायं ग्रामेषु पंच कुलादीनधिकृत्य प्रसिद्ध एव १७ अष्टादश कररस्योत्पत्तिः स्वकल्पनाशिल्पनिर्मिता पूर्वोक्तसप्तदशकरव्यतिरिक्तः स्वेच्छया कल्पितोऽष्टादशः करः स चौत्तिक इति प्रसिद्धः। उक्तो द्रव्यकरः।

संप्रति क्षोत्रकरादीनभिधित्सुराह –

खेत्तम्मि जम्मि खेत्तो, काले जो जम्मि होइ कालम्मि।
दुविहो य होइ भावे, पसत्थो तह अप्पसत्थो य॥

यो यस्मिन् क्षेत्रे शुल्कादिरूपो विचित्रः करः स क्षेत्रे क्षेत्रविषय करः। तथा यो यस्मिन् काले भवति तुटिकादानादिरूपः करः स काले कालकरः। द्विविधश्च भवति भावे भावकरः। द्वैविध्यमेव दर्शयति प्रशस्तस्तथा अप्रशस्तश्च। तत्र प्रशस्तपर्यागते प्रशस्ताद्भाव इति आदावप्रशस्तमेवाभिधित्सुराह –

कलहकरो ममरकरो, असमाहिकारो अनिव्वुइकरो य।
एसो उ अप्पसत्थो, एवमाई मुणयव्वो॥

आह उक्तप्रयोजनसद्भावादुद्देशेऽप्ययमेवादावप्रशस्तः कस्मान्नोपन्यस्तः उच्यते इह समुत्क्षुण्णः प्रशस्त एव भाव आसेवनायोग्यो नेतर इति ख्यापनार्थमादौ प्रशस्त उक्त इत्यदोषः। तत्र कल हो वाचिकं भण्डनं तत्करणशीलः प्रशस्तक्रोधाद्यौदयिकभाववशतः कलहकरः। कायवाङ्मनोभिर्विचित्रं ताडनं डमरं तत्करणशीलो डमरकरः। तथा समाधानं समाधिः स्वस्थ्यं न समाधिरसमाधिरस्वास्थ्यनिबंधना सा सा कायादिचेष्टातत्करणशीलोऽसमाधिकारः निर्वृतिः सुखमनिर्वृतिः पीडा तत्करणशीलोऽसमाधिकारः एष तुशब्दस्यावधारणार्थत्वादेष एव जात्यपेक्षया न तुव्यक्तपेक्षया एवमादिर्व्यक्त्यपेक्षयाऽन्यः प्रशस्तो भावकरो ज्ञातव्यः। संप्रति प्रशस्तं भावकरमभिधित्सुराह –

अत्यकरो य हितकरो, गुणकरो कित्तिकरो जसकरो य।
अभयकरनिव्वुइकरो, कुलकरतित्थंकरंतकरो॥

इह अर्थो नाम विद्यापूर्वधनार्जनं शुभमर्थइति स च प्रशस्त विचित्रकर्मक्षयोपशमाविर्भावितस्तत्करणशीलोऽर्थकरः। एव हितादिष्वपि भावनीयं नवरं हितं परिणामपथ्यं यत्किञ्चित्कुश–लानुबन्धि, कीर्त्तिर्दानपुण्यफला, गुणा ज्ञानदयः, यशः पराक्रम कृतं पराक्रमसमुत्थः साधुवाद इति भाव"। अभयादयः प्रकटार्था। नवरमंतकर इत्यत्रान्तः कर्म्मणां तत्फलभूतस्य वा संसारस्य परिग्रह्यते। उक्तो भावकरः आ०म०हि०। आ०चू०। वाच०।

करंज पुं० (करञ्ज) कं शिरः जलं वा रञ्जयति अण्० नक्तमाल, प्रज्ञा०१ पद। "करञ्जो नक्तमालश्च, करजश्चिरविल्वकः। घृतपूर्णकरञ्जोऽन्यः, प्रकीर्य्यः पूतिकोऽपि च॥ स चोक्तः पूतिकरजः, सोमवल्कश्च स स्मृतः। करञ्जः कटुकस्तीक्ष्णो, वीर्य्योष्णो योनिदोषहत्॥ कुष्ठोदावर्तगुल्मार्श–व्रणकृमिकफापहः"। उदकीर्य्यपर्याये तु स्त्रीत्वमपि गौरा० ङीष् तत्तैलगुणाश्च "करञ्जतैलं सुस्निग्धं, वातहृत् स्थिरदीप्तिकृत्। नेत्रामयवातरोगःकुष्ठकण्डूविशूचिकाः। नाशयेत् तीक्ष्णमुष्णं च, लेपनाद्यर्मदोषहृत्। राजानि वाच)। आचा०। स्वार्थे कन् करञ्जकोऽप्यत्र पुं० वाच०॥

करंड पुं०–वंशो, पिट्टकण्डयाणं अणु०।

करंमडग पुं०(करण्डक)करण्ड–स्वार्थे कन्। वंशके, तं०। वस्त्रा भरणादिस्थाने, समुद्गे, स्था०४ ठा०४ उ०। नि०चू०। (स्वपाक वेश्यागृहपतिराजकरण्डकव्याख्या आयरियशब्दे कृता)।

करंब पुं (करम्ब) दधियुक्तफरनिष्पन्ने दधिविषये विकृतिगते, प्रव० ४ द्वा०। ध०॥

करकंडु पुं०(करकण्मु) स्वनामख्याते प्रत्येकबुद्धे, करकण्डूकलिंगेसु" श्रीवासुपूज्यलिनपतिकल्याणकपञ्चकास्तेष्वयं प्रथमस्तच्चरित्रमेवं विनष्टपापायां चम्पायां नगर्यां दधिवाहननामा नृपोऽभूत् तस्य चेटकमहाराजपुत्री पद्मावती प्रिया जाता साऽन्यदा गर्भिणी बभूव गर्भानुभावेन च तस्या ईदृषं दोहदमुत्पन्नं अहं पुंवेषधरा भर्त्रा धुतातपत्रा गजाग्रभागारूढाः आगमे संचरामि लज्जया इदं दोहदं भूपतेः पुरो वक्तुं शक्ता सर कृशाङ्गी बभूव। राज्ञाऽन्यदा मस्याः कुशाङ्गकारणं पृष्टम्। अतिनिर्बन्धेन सा स्वदोहनं कथयामास राजा अत्यन्तं तुष्टस्तां पट्टहस्ति स्कन्धे समारोप्य स्वयं तच्छिरसि छत्रं धृतवान् तादृश एव राजा गजाग्रे राज्ञी पश्चाद्भागे स्थितो वने ययौ। तस्मिन्समये तत्र जलदारम्भो बभूव तत्र सल्लकीप्रमुखविविधवृक्षपुष्पगन्धैर्जल सिक्तमुद्गन्धैश्च विह्वलीभूतः स करी मदोन्मत्तः स्ववासभूमिं स्मरन् अटवीं प्रति अधावत्। अश्ववारैः पदातिभिश्चासौ न स्पृष्टः तेन गजेन गर्भान्वितया कदलीकोमलशरीरया राज्ञ्या सार्धं स राजा महाटव्यां नीतः। समविषमोन्नतदूरासन्नाननेकभावान् पश्यन् भूपतिर्वटमेकमायातं दृष्ट्वा भार्यां प्रतीदमवदत् हे भद्रे पुरःस्थस्यास्य वटस्य शाखामेकामवलम्बेथास्त्वमहप्येकां शाखामाश्रयिष्यामि गजस्तु एवमेव यातु एवमुक्त्वा राजा वटशाखायां लग्नः राज्ञी तु भयव्यग्रा वटावलंबं कर्तुमक्षमा हस्तिनाऽग्रतो नीता। राजा तु वटादुत्तीर्य शनैः शनैः मिलितसैन्यः पत्नीविरहदुःखितश्चम्पायां प्रविष्टः। राज्ञी दुष्टेन तेन हस्तिना महतीमटवीं नीता तृषाकुलः स हस्ती चतुर्दिक्षु पानीयं पश्यन् एकं सरो दृष्ट्वा तत्पाल्यामवतीर्य यावदधः पतति तावत्सा राज्ञी वृक्षावलम्बेन तत्स्कन्धादुत्ततार गजस्तु ग्रीष्मतापितः सरोऽन्तर्विवेश। राज्ञी कान्तारं दृष्ट्वा भृशम्भीता सती मनसि एवं चिन्तयामास। क्व च तन्नगरं क्व च सा श्रीः क्व तन्मन्दिरं क्व सा सुखशय्या दुष्कर्मणां विपाकात् सर्वं मे गतम्। अथवाऽत्र वने विचित्रस्वापदैश्चेत्प्रमादवशगाया मम मृत्युर्भविष्यति तदा मम दुर्गतिरेवेति मत्वाऽप्रमत्ता सती आराधनां व्यधात्। सुकृतानि अनुमोद्य सर्वजीवेषु क्षमां कृत्वा चानशनं साकारं प्रपेदे नमस्कारं ध्यायन्ती तत उत्थाय सा एकया दिशा गच्छन्ती पुरस्तादेकं तापसं ददर्श। तापसेनेयमेवं पृष्टा वत्से! त्वं कस्य पुत्री कस्य प्रिया आकृत्यैव त्वं मया भुरिभाग्या ज्ञाता इयं का तवावस्था कथय वयं अभयाः शमिनः स्मः। सा राज्ञी तापसं निर्विकारं निर्मलकरं ज्ञात्वा स्ववृत्तान्तं शकलं जगौ। एतस्याः राज्ञ्याः पितुश्चेटकराजस्य मित्रेण तेन तापसेन उक्तं वत्से! त्वया नातः परं चिन्ता कार्या अयम्भवः सर्वविपदामास्पदं सर्ववस्तूनामनित्यता चिन्तनीया एवं प्रतिबोध्य सा राज्ञी तेन तापसेन स्वाश्रमं नीता। तस्याः प्राणाशा फलैः कारिता। अथ स्वदेशसीम्नि तां नीत्वा स तापस एवं जगाद हेपुत्रि! अतः परं हलकृष्टा सावद्या धरा वर्तते सा मुनिभिर्नोल्लङ्घ्या ततोऽहं पश्चाद्वलामि अयं मार्गो दन्तपुरस्य वर्त्तते तत्र दन्तवक्रनामा राजा वर्त्तते इतः सुसार्थेन त्वं पुरे गच्छ। एवं निगद्य स तापसः स्वाश्रमंजमाग राज्ञी तु पुरान्तः साध्व्युपाश्रये जगाम साध्व्या पृष्टे तया सकलोऽपिवृत्तान्तः कथितः साध्वी तस्या एवमुपदेशं ददौ अस्मिन् वने दुःखागारे संसारे सुखाभास एव सर्वेषां सर्वाऽपि भवनिस्तारो भवद्भिस्त्याज्य एव साध्वी वचसा वैराग्यं गता सा तदैव दीक्षां जग्राह स्वव्रतविघ्नभिया सती सन्तमपि गर्भं न जगौ। कालान्तरे तस्या उदरवृद्धौ साध्व्या पृष्टं किमेतत्तवेति तयोक्तं मम पूर्वावस्थासम्भवो गर्भो वर्त्त-

ते मया तु व्रतविघ्नभयान्नोक्तः। ततो महत्तरा साध्वी तां साध्वीमुद्वाहभयेन एकान्ते संस्थापयामास। काले सा पुत्रं प्रसूय रम्नकम्बलेन संवीतं पितृनाममुद्राङ्कित च कृत्वा श्मशाने द्राग्मुमोचन श्मशानपतिर्जनंगमस्तं बालकं तथाविधमालोक्य गृहीत्वा च अनपत्यायाः स्वपत्न्याः समर्पयत्। साश्रमणी गुप्तचर्यया तं व्यतिकरं ज्ञात्वा तहत्तराया अग्रे एवमाख्यौ मृत एव बालो जातस्ततो मया त्यक्तस्ततः स बालो लाकोत्तरकान्तिर्जनंग-मधाम्नि दत्तापकर्णिकनामा ववृधे। सा साध्वी सततं बहिर्व्रजन्ती पुत्रस्नेहेन तातङ्घ्या सह कोमलालापैः सङ्गतिं चक्रे स बालकः प्रतिवेश्मिक-बालकैस्सह क्रीडन् महातेजसा भृशं राजते आगर्भबहुशाकाद्यशनदोषेण तस्य बालकस्य कण्मूलतादोषोऽभवत् स्वयं राजचेष्टां कुर्वाणः स बालः परबालैः सामन्तीकृतैर्देहकण्डूमपाकारयति। ततो लोकैः करकण्डमूरिति नाम दत्तम्। सा साध्वी तद्वदनविलोकनार्थं मातङ्गपाटके निरंतरं याति भिक्षालब्धं मोदकादि तस्मै ददाति श्रमणत्वेऽप्यपत्यजा प्रीतिस्तस्या दुस्तरेति बालकोऽपि तस्यां दृष्टायां बहु विनयं करोति प्रीतिश्च दधाति। स बालकः षड्वर्षः पितुरादेशात् श्मशानं रक्षति। अन्यदा तस्मिन् श्मशाने रक्षति सति कोऽपि साधुर्लघुसाधुं प्रति तच्छ्मशानस्थं सुलक्षणं वंशं दर्शितवान्। उक्तवांश्च मूलतश्चतुरुलमिमं वंशमादाय यः स्वसमीपे स्थापयति सोऽवश्यं राज्यं प्राप्नोति। इदं साधुवचस्तेन बालकेन तत्रस्थेनैकेन द्विजेन च श्रुतं द्विजस्तु तं वंशमाचतुरङ्गमूलं छित्वा यावद् गृह्णति तावत्करकण्डुना तत्करात् स वंशो गृहीतः स्वकरे गृहीत्वा कलहं कुर्वतो द्विजस्य करकण्डुना उक्तम्। मत्पितृश्मशानवनोत्थं वंशं नाहमन्यस्मै दास्ये स ब्राह्मणः करकण्डु बालश्चेति द्वावपि विवदन्तौ नगराधिकारिपुरो गतौ नगराधिकररिभिर्भणितमहां बाल ! तवायं वंशः किं करिष्यति स प्राह ममायं राज्यं दास्यति तदाधिकारिणः स्मित्वा एवमूचुर्यदा तव राज्यं भवति तदा त्वया त्वयाऽस्य ब्राह्मणस्य एको ग्रामे देयः शिशुस्तद्वचोऽङ्गीकृत्य स्वगृहमगात्। स विप्रोऽन्यविप्रैः संभूय तं बालं हन्तुमुपाक्रमत तं द्विजोपक्रमं ज्ञात्वा करकण्मुपिता जनङ्गमः स्वकलत्रपुत्रयुक्तस्तं देशं विहाय अनेशत्। सकुटुम्बः स जनङ्गमः क्षितितलं क्रामन् कञ्चनपुरं जगाम। तत्र अपुत्रे नृपे मृते सचिवैरधिवासितस्तुरगः करकण्डुं दृष्ट्वा हेषारवं कृतवान् तं सलक्षणं दृष्ट्वा नगरलोका जयजयारावश्चक्रुः।अवादितान्यपि वाद्यानि स्वयं निनदुःस्वयं छत्रं शिरसि स्थितम्। ततोऽमात्यैरपि नवीनानि वस्त्राणि परिधाय स करकण्डुस्तमश्वमारोह्य यावन्नगरालोकैः परमप्रमोदेन पुरान्तः प्रवेश्यते तावद्विप्रास्तं म्लेच्छोऽयमिति कृत्वा न मेनिरे तदा क्रुद्धः स शिशुस्तं वंशदण्डं रत्नमिव करे जग्राह। अधिष्ठातृदेवैर्व्यो म्नि इति धृष्म् य इमं राजानमवगणविष्यति तस्य मूर्ध्नि असौ दण्डः पतिष्यति इत्युक्त्वा सुरास्तच्छिरसि पुष्पवृष्टिंचक्रुः। भीताः सन्तो विप्रास्तस्य स्तुतिं कृत्वा वारंवारमाशीर्वादमुच्चरन्ति करकुण्डुरवेमुवाच अहो ब्राह्मण ! एते भवद्भिश्चाण्डाला गर्हितास्ततः सर्वेऽप्यमी वाटधानवास्तव्याश्च-ण्डालाः संस्कारैर्ब्राह्मणाः कार्याः संस्कारादेव ब्राह्मणो जायते न तु जात्या कश्चिद् ब्राह्मणो भवतीति भवदागमवचनात्। अथ ते ब्राह्मणाः प्रकामं भीतास्ततो वाटधानवास व्याश्चाएडाला ब्राह्मणीकृताः त्सवेन कञ्चनपुरे प्रवेशितः से करकण्डहरमात्यैर्नृपपट्टेऽभिषिक्तः क्रमान्महाप्रतापोऽभूत् अन्यदा स वंशप्रतिवादी विप्रस्तं भूपं निशम्य बगामाभिलाशकः सन् करकण्डुनृपपर्षदि प्राप्तः करकण्डुनोपलक्ष्य तस्य विप्रस्योक्तं तव यदिष्टं तत्कथय ब्राह्मणेद्रनोक्तं मद् गृहं चम्पायां वर्त्तते तेन तद्विषयग्राममेकमहमीहे। अथ करकण्डुनृपतिश्चम्पापुरनाथस्य दधिवाहनभूपतेः अस्मै द्विजाय त्वद्विषयग्राममेकं देहीति आज्ञां प्राहिणोत्, आज्ञाहारिणं करकण्डुनृपस्य दूतं विस्मितचित्तः कुद्धश्च चम्पापतिर्दधिवाहनः प्राह। अरे स म्लेच्छबालो मृगतुल्यः करकण्डुः। सिंहतुल्येन मया सह विरुध्यते परवस्त्वभिलाषभ-वस्य पातकस्य तव स्वामिनः शुद्धिं मत्खड्ग तीर्थस्नानं दास्यति एवमक्त्वा दधिवाहेन तिरस्कृतः स दूतस्तत्र गत्वा करकण्डुनृपाय यथार्थमवदत्। करकण्डुनुपोऽपि प्रकामं क्रुद्धः स्वसैन्यपरिवृतश्चम्पा-पुरसमीपे समायातः। दधिवाहनोऽपि पुरीं दुर्गं सज्जीकृत्य स्वयं बहिर्निस्ससार उभयोः सैन्यै सज्जीभूते यावद्योद्धुं लग्ने तावत्साध्वी तत्रागत्य करकण्डु नृपतिं प्रति एवमूचे अहो करकण्डूनृप ! त्वया अनुचितं पित्रा सह युद्धं किमारब्धं करकण्डूनृपः प्राह हे महासति ! कथमेष दधिवाहनोऽस्माकं पिता साध्वी स्वस्वरूपमखिलमूचे। आर्य्या मातरं दधिवाहनश्च पितरं मत्वा करकण्डूनृपो जहर्ष तथापि करकण्डूनृपोऽ-भिनाज् स्वपितरं दधिवाहनं नन्तु नोत्सहते तदा साध्व्यपि दधिवाहनस-मीपे गता दधिवाहनभृत्यैरुपलक्षिता दधिवाहनभूपाय राज्ञी साध्वीरूपा समागतेति वर्द्धापनिका दत्ता। अथ दधिवाहननृपोऽपि तां साध्वीं ननाम गर्भवृत्तान्तं प्रैपच्छ साध्वी उचे सोऽयं ते तनयः येन सह त्वया युद्धमारब्धम्। अथदधिवाहननृपः प्रीतात्मा पादचारी करकण्डूनृपं प्रति गत्वा वत्स ! उत्तिष्ठेत्यक्त्वा तमुत्थाप्य आश्लिष्य च शिरसि अजिघ्रत् हर्षाश्रुतलसहितैस्तीर्थजलैः पुत्रोऽयं राज्यद्वयेऽपि दधिवाहनेना-भिषिक्तः दधिवाहनः कर्मविनाशाय स्वयं दीक्षां गृहीतवान् करकण्डूनृपो राज्यद्वयं पालयामास चम्पायामेव स्ववासमकरोत्। तस्य गोकुलानि इष्टानि आसन् संस्थानाकृतिवर्णविशिष्टानि गोकुलानि कोटिसंख्यानि तेन मेलितानि स तानि निरन्तरं पश्यन् प्रकामं प्रमोदं लभते। अन्येद्युः स्फटिकसमान एको गोवत्सस्तेन गोकुलमध्ये दृष्टः अयं कण्ठपर्यन्तदुग्ध-पानैः प्रत्यहं प्रोष्णीय इति गोपालान् स अदिष्टवान! अन्यदा स मासैः पुष्टतनुर्बलशाली घनघर्घरशब्देन अन्यवृषभान् आशयन् भूपतिना दृष्टः तथापि भूपतेस्तस्मिन् वुषे प्रीतिरेव बभूव। साम्राज्यकार्य-करणव्यग्रो भूपतिः कतिचिद्वर्षाणि यावद्गोकुले नायातः अन्यदा-तद्दर्शनोत्कण्ठः स भूपतिस्तत्र समायातः स वृषःक्व इति गोपालान् भूपतिः प्रपच्छ गोपालैर्जराजीर्णपतितदशनो हीनबलो वम्सैर्घटितदेहः कृशाङ्गः स दर्शितः तं तथाविधं दृष्ट्वा भवदशां विषमां विचारयन् करकण्डूराजा एवं चिन्तयति यथाऽसौ वृषभः पूर्वावस्थां मनोहरां परित्यज्य इमां वृद्धावस्थां प्राप्तः तथा सर्वोऽपि संसारी संसारे नवां नवामवस्थामामोति मोक्षे चैव एकावस्था मोक्षस्तु जिनधर्मादेव प्राप्यते अतो जिनधर्ममेव सम्यगारा-धयामीति परं वैराग्यं प्राप्तः। करकण्डूराजा स्वयमेव प्राग्भवसंस्का-रोदयात् प्रतिबुद्धः। सद्यः शसनदेव्यर्पितलिङ्गस्तृणवद्राज्यं परित्यज्य प्रव्रज्यां प्राप उक्तं च "श्वेतं सुजसतं सुविभक्तशृङ्गं, गोष्ठाङ्गणे वीक्ष्य वृषं ज-

रात्तम्। ऋद्धिं च वृद्धिश्च समीक्ष्य बोधान्, कलिङ्गराजर्षिरवाप धर्मम्" १ इति करकण्मूचरित्रम् उत्त०६ अ०। ति०। आव०। ती०। अव० चू०। आ० क०। (करकण्डू इति दीर्घान्तोऽम्ययम्)

करकचिय त्रि०(क्रकचित) करपत्रविदारिते काष्ठादौ, अनु०।

करकडि स्त्री० (करकटि)कठियानाम् "जंघाओ करकडीओ" कठिने निर्मासे इत्यर्थः उपा० २ अ०। हस्तयोर्बद्धे कटीदेशे, "यज्झकरकती-जुयणियत्थे" करयोर्हस्तयोर्बद्धं कटीदेशस्ययुगं युग्गम्। विपा०२ अ०।

करकय न० (क्रकच) करपत्रे, प्रश्न० आश्र० द्वा०। जी०। सूत्र०।

करकरसुंठ पुं (करकरशुण्ठ) तृणविशेषे "एरंडे कुरुविंदे करकरसुंठे तह विभंगूय" प्रज्ञा०१ पद।

करकरिग पुं० (करकरिक) पञ्चाशीतितमे महाग्रहे "दोकरकरिगा" स्था०२ ठा०३ उ०। करः करिकश्चेति द्वौ ग्रहो तत्र करस्त्र्यशीतितमः करिकश्चतुरशीतितम इति "अंगालए वियालए इति" पाठे अङ्गानुसारा ज्ञायते परं (स्था०२ ठा०३ उ०) सूत्रानुसारात्करकरिक इति पञ्चाशीतितमस्य विशिष्टा संज्ञा स्पष्टं प्रतीयते चन्द्र०२० पाहु०। कल्प०।

करकुडिया स्त्री० (करकुटिका) निन्द्यचीवरिकायाम् "बज्झकरकुज्जियं णियत्थं" बद्धस्य यत्करकुटिकायुगं निन्द्यचीवरिकाद्वयं तन्निवसितो यः स तथा वपा० २ अ०।

करग पुं० (करक) किरति विक्षिपति करोति वा जलमत्र कृ–कॄ० वा–कृजादिसंज्ञायां वुन्। कमण्डलौ, वाच०। वार्घटिकायाम्, अणु०३ वर्ग०। जलाधारे, मदिराभाजने, सूत्र०१ श्रु०४ अ०२ उ०। घ नोपले, जी०१ प्रति० उ०१। कठिनोदके, दश०४ अ०। आचा०। द्रवीभूतास्रवप्सु, ध०२ अधि०। पक्षिभेदे, पुं० स्त्री०।करञ्जभेदे, रत्नमा. स्वार्थे कन् राजकरे, हस्ते च पलाशवृक्षे, हारा०। कोविदारवृक्षे, वकुलवृक्षे, करीरे, नारिकेलास्थनि च राजनि०। वाच०।

करगगीवा स्त्री०(करकग्रीवा)वार्घटिकाग्रीवायाम्,अणु०३ वर्ग०

करग्गहमह पुं० (करग्रहमह)पाणिग्रहणमहोत्सवे, अष्ट.२७ अष्ट.

करच्छिय त्रि० (कराक्षिप्त)कराकृष्टे, प्रश्न० आश्र०३ द्वा०।

करञ्ज धा० (भञ्ज)भञ्जेर्वेमयमुसुमूरसूरसूमविरपविरञ्ज–करञ्जं नीरञ्जाः ८।४।६ इति भञ्जेः करञ्जादेशः"करञ्जइ" भनक्ति प्रा०।

करम पुं० (करट) किरति मदम्–कृ–अटन् गजगण्डे, काके, पुं० स्त्री० अमरः स्त्रियां ङीप् कुशुमवृक्षे, पुं० निन्द्यजीविनि, त्रि० स्त्रियां करटा दुर्दुरूढे, दुरुच्छंद्यमतकंत्वादिनि, वाद्यभेदे च पुं० मेदि०। स्वार्थे कन् काके, पुं०स्त्री०शब्द र०। स्त्रियां ङीप् स्तेयशास्त्रप्रवर्त्तके, वाच०। रक्तपादपवदके, आ० चू०१ अ०। नि०चू०।

करडी स्त्री० करटी–वाद्यभेदे, "अट्ठसयं करडीणं अट्ठसयं करतीवायगाणं" जं०२ वक्ष०।

करडुयभुत्त न० करडुकभुक्त–मृमकभोजने मांसादौ, पिं०।

करण न० (करण)–कृ भावादौ ल्युट्। क्रियायाम्।

करणपदस्य शब्दार्थं भेदाँश्चाह –

करधं किरिया भावो, संभवओ चूह छव्विहं च।
नामं ठवणा दविए, खेत्ते काले य भावे य॥

करणं क्रियते भावे वा भावमात्रमिह वाच्यम् (संभवओ चेहत्ति) अथवा संभवतो यथासंभवसिह शब्दार्थो वक्तव्यस्तद्यथा क्रियते तदिति करणं क्रियते वाऽस्मिन्निति वा करणमित्यादि तच्च करणं नामादिभेदात्षविधमिति।

अथ नामस्थापनाकरणमाह –

नामं नामस्स व नाम–ओ वा करंति नामकरणंति।
ठवणाकरणं नासो, करणागारो व जो जस्स॥

(नामं ति) नामैव करणमिति सामानाधिकरणं द्रष्टव्यम्। अथवा नाम्नः करणं नामकरणं नामतो वा करणं नामकरणं "करणंति" इत्ययं करणशब्दः प्रत्येकं योजनीयः स च योजित एव (नामकरणंति) द्वारपरामर्शः (ठवणत्ति) स्थापनाकरणमुच्यते इत्यर्थः। किं तदित्याह। करणस्य करणशब्दस्य न्यासः करणन्यासः। अथवा यो यस्य करणस्य दात्रादेराकारः काष्ठादौ विन्यस्तः स स्थापनाकरणमिति। अथ द्रव्यकरणमभिधित्सुर्द्रव्यकरणशब्दस्य व्युत्पादनार्थमाह।

तं तेण तस्स तम्मि व, संभवओ व किरिया मया करणं।
दव्वस्स व दव्वेण व, दव्वम्मि य दव्वकरणंति॥

क्रियते तदिति करणमिति करणशब्दः कर्म्मसाधनः क्रियतेऽ नेनेति करणसाधनः, तस्य द्रव्यस्य कृतिः करणमिति भावसाधनः, क्रियते तस्मिन्नित्यधिकरणसाधनः। तत्र कर्म्मकरणाधिकरणपक्षेषु द्रव्यं च तत्करणं च द्रव्यकरणमिति कर्म्मधाराय एव समासः इत्येतत्स्वमेव द्रष्टव्यम् (संभवओ व किरिया मया करणमिति) अथवा संतवतो यथासंभवमपरं षष्ठीतत्पुरुषादिकं समासमपेक्ष्य क्रियैव मतं करणं सर्वकारकनिष्पाद्यत्वाद्धात्वर्थस्येति तमेव तष्ठीतत्पुरुषादिकं समासं दर्शयति। द्रव्यस्य करणं द्रव्यकरणं उद्रव्येण वा करां द्रव्यकरणं द्रव्ये करणं द्रव्यकरणमिति अस्य च द्रव्यकरणस्यागमतो नोआगमतश्चेत्यादिविचारः सुकर एव तावद्यावद् ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं द्रव्यकरणं व्याख्यायते तच्च द्रव्यकरणं द्विधा संज्ञाकरणं नोसंज्ञाकरणं च। तत्र संज्ञाकरणमाह –

दव्वकरणं तु सण्णा–करणं पेलुघरणाइयं बहुहा।
सण्णा नामं ति मई नो नामं जमभिहाणं॥
जं वा तदत्थविगले, कीरइ दव्वं तु दविणपरिणामं।
पेलुकरणाइनदितं, तदत्थसुन्नं न वा सद्दो॥
जइ न तदत्थविहिणं, तो किं दव्वकरणं पउत्तेण।
दव्वं कीरइ सण्णा, करणति य करणरूढी उ॥

द्रव्यकरणं तु यत्तावत्संज्ञाकरणं तत्पेलुकरणादिकं बहुधा बहुभेदं तत्र लाटदेशे रूतसंबन्धिनी या पूणिकेति प्रसिद्धा सैव महाराष्ट्र–कविषये पेलुरित्युच्यते तस्याः करणं निर्वर्तकं वंशादिमयी शलाका पेलुकरणम्। आदिशब्दा "त्कुटकरणं पाइल्लकादि" तथा वार्त्ताकरणं बालानामधीयानानां वर्त्तनकं तथा काण्डकरणमुपकरणविशेषरूपं काण्डकरणं परिग्रह्यते। एवमन्यदि लोके प्रसिद्धं संज्ञाविशिष्टं करणं संज्ञाकरणं वेदितव्यम्। ननु संज्ञा नामैवोच्यते ततश्च संज्ञाकरण-नामकरण योर्विशेषो न प्राप्नोतीति परस्य मतिर्भवेत्तदेतन्नो नैव युक्तं यस्मत्तकरणमित्यक्षरवयात्मकमभिधानमावमेव नाम न तु द्रव्यम् अथवा यत्तदर्थविकले वस्तुनि संकेतमात्रतः करणमिति नाम क्रियते तन्नामयकरणरूपेण यद् द्रवणं गमनं तत्परिणामस्तत्स्व-भावमभिधीयते हि यस्मान्न तत्लुकरणादि द्रव्यं तदर्थशून्य करण

शब्दार्थविकलं पूणिकादिकरणपरिणामान्वितत्वान्नापि शब्दः करणाभिधानमात्ररूपः इति नामकरण संज्ञाकरणयोर्भेद इति । आह ननु यदि तदर्थविहीनं करणशब्दार्थ रहितं संज्ञाकरणं न भवति ततस्तर्हि किं कस्माद्द्रव्यकरणमेतत्किमिति द्रव्यविचारे इदं पठ्यते न तु भावकरणमेवेत्यभिप्रायः उच्यते यतस्तेन पेलुकरणादिना संज्ञाकरणेन द्रव्यं पूणिकादिकं क्रियते निर्वर्त्यते अतो द्रव्यस्य करणं द्रव्यरिणमिति व्युत्पत्त्यर्थमाश्रित्य द्रव्यकरणमिदमुच्यते। संज्ञाकरणं त्विदं करणरूढितो भण्यते करणसंज्ञातो लोकेऽस्य रूढत्वादित्यर्थः।

अथ नोसंज्ञाकरणमाह।

नोसन्नाकरणं पुण, दव्वस्सारूढकरणसन्नं पि।
तक्किरिया भावाओ, पओगओ वीससाओ य॥
साइयमणाइयं वा, अजीवदव्वाण वीससा करणं।
धम्माधम्मनयाणं, अणाइसंघायणाकरणं॥

नोसंज्ञाकरणं द्रव्यस्य प्रयोगतो विस्रसातश्च भवति कथंभूतमित्याह। आरूढकरणसंज्ञमप्यढा अप्रसिद्धा करणमिति संज्ञा यत्तदरूढकरणसंज्ञमपि अत एव करणसंज्ञायास्तत्राभावान्नोसंज्ञाकरणमुच्यते अरूढकरणसंज्ञं करणमिदमित्यर्थः। यदि करणसंज्ञा तत्र नास्ति तर्हि करणमपि कथमुच्यते इत्याह (तक्किरिया भावाओत्ति) सा चासौ करणलक्षणा क्रिया च तत्रिया तस्याः सद्भावादिति। इदमुक्तं भवति। यद्यपि शरीराभ्रेन्द्रधनुरादौ करणसंज्ञा नास्ति तथापि प्रयोगविवस्रसाजनितकरण क्रिया विद्यते अतस्तदपेक्ष्यमेतेषां करणत्वं न विरुध्यत इति। तथा जीवद्रव्याणां विस्रसाकरणं साधनादि च भवति तत्र धर्म्माधर्म्मास्तिकायनभसां संघातनाकरणं प्रदेशानां परस्परं संत्यवस्थानकरणरूपमनादिरूपं विज्ञेयमिति।

अथ परःप्राह –

नणु करणमणाइयं च, विरुद्धमवि भन्नए न दोसो त्ति।
अन्नोन्नसमाहाणं, जमिह करणं तं निव्वत्ती॥

ननु कृतिर्निर्वृत्तिर्वस्तुनः करणमुच्यते तच्च साद्येव भवति घटकटशकटादिकरणवत् ततश्च करणमनादि चेत्युच्यमानं विरुद्धमेव माता मे वन्ध्येत्यादिवचनवदिति। भण्यते अत्रोत्तरं नायं दोषो यस्माद्धर्म्मास्तिकायादेः प्रदेशानामन्योन्यं परस्परं यत्सम्यगाधानं समाधानमनादिकालात्संहत्यावस्थानं धातूनामनेकार्थत्वात्तदेव करणमभिप्रेतं न पुनरपूर्वादिवत्तिः धर्म्मास्तिकायादिप्रदेशराशेश्च तस्यानादित्वं न किंचिद्विरुध्यते अनादिकालीनत्वादस्येति।

अथवा धर्म्माधर्मनभसां सादि कमपि करणं भवतीति दर्शयन्नाह –

अहव परपच्चयाउ, संजोगादि करणं नभोइणं।
साइयमुतयाराउ, पज्जाया देसओ वापिवि॥

अथवा उपचारान्नभःप्रभृतीनां करणं सादिकं विज्ञेयं उपचारोऽपि कुत इत्याह। परप्रत्ययाद्घटादिवस्तून्याश्रित्येत्यर्थः। कथंभूतं करणं संयोगादि आदिशब्दद्विभागादिपरिग्रहः । इदमुक्तं भवति । आकाशादीनां घटादिंयोगादयः सादयः सपर्यवसानाश्च ततो यतेषां घटादिभिः सह संयोगादिकरणं तत्सादिकं भवत्येव। अथवा पर्यायरूपतया सर्वं वस्तु *जेनानां सादि सपर्यवसितमेव भवति अतः पर्याया देशतः पर्ययानाश्रित्य नभःप्रभृतीनामपि करणं सादिकं बोद्धव्यमिति। तदेव मरूपिणामजीव-*द्रव्याणां साद्यनादि च विस्रसाकरणमुक्तम्।

अथ रूप्यजीवद्रव्याण्याश्रित्याह –

चक्खूसमचक्खूसं, पि य साईं य रूविवीससाकरणं।
अब्भाणप्पभिईणं, बहुहा संघायनेयकायं॥

इहाभेन्द्रधनुःपरमाणुप्रभतीनां रूप्यजीवद्रव्याणां विस्रसाकरणं चक्षुभ्यां दृश्यते इति चाक्षुषमभ्रादीनां चक्षुर्गोचरातीतमचाक्षुषं परमाणुकादीनां एतद् द्विविधमपि संघातभेदकृतं बहुधा बहुभेदं सादिकं भवति। अभ्रादीनां तु केचित्पुद्गलाः संहन्यन्ते केचिद्विद्यन्ते ततस्तेषां नासनारूपा भवन्ति एवं द्यणुकादिस्कन्धेष्वपि वाच्यं परिणामास्तु स्कन्धाद्भेदकृतमेव करणं भेदादणुरिति वचनादिति करणं चेह कृतिः स्वभावत एव निर्वृतिर्गृह्यते न पुनः क्रियत इति करणमिति। विशे०।

संप्रति चाक्षुषभेदमेव विशेषेण प्रतिपादयति।

संघायभेयतदुभय–करणं इंदा उ होइ पच्चक्खं।
दुअणुमाईणं पुण, छउमत्थादीण पच्चक्खं॥

संघातः संहननं भेदो विघटनं तच्छब्देन संघातभेदौ परामृश्येते। तच्च तत् उभयं च तदुभयं संघातभेदतदुभयैः करणं क्रियते इति करणं कर्म्मसाधनः करणशब्दः संघातभेदतदुभय करणम्। इन्द्रायुधादिस्थूलमनन्तपुद्गलात्मकं प्रत्यक्षं चाक्षुषमित्यर्थः । तथाहि । अभ्रादीनां क्वचित्केचित्पुद्गलाः संहन्यन्ते एव क्वचित्केचित् भिद्यन्त एव क्वचित्केचित्संहन्यन्ते भिद्यन्ते केचित्संघातभेदतदुभयकरणम्। द्यणुकादीनामादिशब्दात्तथाविधानन्ताणुकान्तानां पुनः करणमिति वर्त्तते छद्मचस्थादीनामादिशब्दः स्वगतानेकभेदप्रतिपादनार्थः। अप्रत्यक्षमचाक्षुषमित्यर्थः। उक्तं विस्रसाकरणम् आ०म०द्वि०।

अथ प्रयोगकरणमाह –

होइ उ एगो जीव–व्वावारो तेण जं विणिम्माणं।
सज्जीवमजीवं वा, पओगकरणं तयं बहुहा॥
सज्जीवं मूलुत्तर–करणं मूलकरणजमाईयं।
पंचण्हं देहाणं, उत्तरमाई तियस्सेव॥

प्रयोजनं प्रयोगो भवति क इत्याह। जीवव्यापारस्तेन यद्विनिर्म्माणं निर्म्मापणं तत्प्रयोगकरणं भण्यते तच्च सज्जीवमजीवं च बहुधा भवति। सन् विद्यमानो जीवो यत्र तत्सज्जीवं प्रयोगकरणं पञ्चानामौदारिकादिशरीराणां द्रष्टव्यम् इदं च मूलकरणोत्तरकरणभेदाद् द्विविधम्। अंत एवाह (सज्जीवं मूलुत्तर करणंति) सज्जीवं प्रयोगकरणं द्विभेदं तद्यथा मूलकरणमुत्तरकरणं च तत्र (मूलकरणजमाईयं ति) पञ्चानामपि शरीराणां यदाद्यं पुद्गलसंघातकरणं तन्मूलकरणं वेदितव्यम् (उत्तरमाइतियस्सेवत्ति) उत्तरकरणत्वादित्रिकस्यैव आद्यानामेवौदारिकवैक्रियाहारकशरीराणां भवति नतु तैजसकार्मणयोरित्यर्थः। नन्वस्याद्यशरीरत्रयस्य शिरउरःप्रभृतीन्यङ्गानि करचरणङ्गुल्या दीनि चोपाङ्गानि भवन्ति तत्रापि कियदिह मूलकरणं कियच्चोत्तरकरणमिति विभागेन कथ्यतामित्यत्राह।

मूलकरणं शिरोऊरु, पिट्ठीबाहोदरोरुनिम्माणं।
उत्तरमवसेसाणं, करणं केसाइकम्मं च॥

इहौदारिकादिशरीरत्रये यच्छिरउरःपृष्टिबाबाहुद्वयोदरोरुद्वयल–

क्षणानामष्टानामङ्गानां निर्माणं निष्पादनं तन्मूलकरणं अवशेषाणां तु करणचरणाङ्गुल्यादीनामुपाङ्गानां यन्निर्म्माणं तदुत्तरकरणं तथौदारिकवैक्रियशरीरयो : केशनखदशनादि संस्काररूपं यत्केशादिकर्म्म तदपि तयोरुत्तरकरणमिति ।

अपरमप्यौदारिकवैक्रियशरीरयोरुत्तरकरणं दर्शयन्नाह–

सठवणमणेगविहं, दोण्हं पढमस्स भेसएहिं पि ।
वन्नाईणं करणं, परिकम्मं तइय नत्थिव्व ॥

विनष्टकर्णाद्यवयवसंघातादिरूपमौदारिके केशाद्युपरचनरूपं तु संस्थापनं वैक्रिये इत्येवं द्वयोराद्यशरीरयोः संस्थापनं संस्मरणमनेकविधं भवति । प्रथमस्य पुनरौदारिकशरीरस्यान्योऽपि विशेषः क इत्याह भैषजैरपि लक्षपाकतैलादिभिर्यद्वर्णादीनां विशेषापादनं तत्तस्योत्तरकरण । तृतीये त्वाहारकशरीरे केशनखदन्तादिपरिकर्म्म नास्त्येव स्वरूपेणैव विशिष्टत्वात्प्रयोजनाभावाच्चेति । विशे० उत्त० आ०म०द्वि० सूत्र ।

अथवा प्रकारान्तरेणापि त्रिविधं जीवप्रयोगकरणं
विज्ञेयं कथमित्याह –

संघायणपडिसाडणःमुभयं करणमहव सरीराणं ।
आदाणं मुयण्समयं, तदंतरालं च मालं च कालो सिं ॥

अथवौदारिकशरीराणां संघातनं परिशाटनं संघातपरिशाटोप्रयलक्षणमुभयं चेत्येवं त्रिविधं करणं विज्ञेययम् । तत्र पूर्वभविकमौदारिकादिशरीरं परित्यज्य अग्रेतनभवे पुनरपि तदृह्णतो यत्पुद्गलानां संघातनं ग्रहणं स संघातः । यस्तु तदैवौदारिकादिशरीरं परित्यज्यतश्चरसमये सर्वथा तत्पुद्गलानां परित्यागः । सद्लृ रुजाविशरणगत्यवसादनेष्विति धातोः पुद्गलानां परिशाटनमवसादनं परिशाटः सङ्घातनपरिशाट समययोश्चापान्तरालसमयेषु सर्वेष्वपि - संघातपरिशाटोभयं द्रष्टव्यं सर्वत्र पूर्वाग्रहीतपुद्गलानां मोचनादन्येषां च ग्रहणादिति । तत्राद्यशरीरत्रयस्य संघात परिशाटोभयलक्षणं त्रिविधमपि करणं भवति । तैजसकार्म्मणयोस्तु संघातो न भवत्येव परित्यक्तयोस्तयोः पुनर्ग्रहणादिति । अथ संघातादीनां कालप्रमाणमभिधित्सुराह (सिंति) एतेषां संघातपरिशाट्योभयानां कालोऽभिधीयते कियानित्याह (आदाणंमुयणयमयंति) आदानमौदारिकादिशरीरपुद्गलानां प्रथमं ग्रहणं संघात इत्यर्थः । अयमेकमेव समयं भवति ततः परं संघातपरिशाटोभयप्रवृत्तेः मोचनं पुद्गलानां परिशाटनं परिशाटः सोऽप्येकमेव समयं भवति । तदन्तरालं संघातपरिशाटोभयलक्षणमिह गृह्यते तस्य कालो वक्ष्यत इति शेषः । चशब्दात्संघातादीनामन्तराकालश्च वक्ष्यत इति दृश्यामिति ।

तत्रौदारिकशरीरस्य संघातपरिशाटोभयकालमाह –

खुड्डागभवग्गहणं, तिसमयहीणं जहन्नमुभयस्स ।
पल्लतियं सम ऊणं, उक्कासोरालकालो यं ॥

अत्र संघायतपरिशाटोभयस्य जघन्यकाले प्रतिपाद्ये विग्रहेणोत्पादनीये ते एवाह ।

दी विग्गहम्मि समया, समओ संघायणय ते हूणं ।
खुड्डागभवग्गहणं, सव्वजहन्नट्ठिई कालो ॥

इह यत्पञ्चाशदधिकावलिकाशतद्वयमाशुषे जघन्यस्थितिरूपं क्षुल्लकभवग्रहणमुच्यते । तथा च वृद्धोक्तम् "दो य सयाछप्पन्ना, आवलियाणं तु खुड्डभवमाणं । जियरागदोसमोहोहिं, जिणवरेहिं विणिद्दिट्ठं" । इदं च क्षुल्लुकभवग्रहणं द्वाभ्यां विग्रहसमयाभ्यामेकेन च संघातसमयेन न्यून संघातपरिशाटः लक्षणस्योभयस्य जघन्यस्थितिमानं जघन्यतोऽपि संघातपरिशाट्योभयमेतावन्तं कालं भवतीत्यर्थः । अत्राह कश्चिद् ननु "विदिसाउदिसिं पढमे य, वीए पविसेइ लोगमज्झंमि । तइए उप्पिं धावइ, ताडिबहिं जायइ चउत्थे" इतिवचनाद्यदा अधस्त्रसनाड्या बहिर्दशाद्यूर्द्धलोके त्रसनाड्या बहिरेव निगोदादिजीवश्चतुर्भिः समयैरुत्पद्यते तदा विग्रहगतावपान्तरालगतौ आद्यास्त्रयः समयाश्चतुर्थस्तु संघातसमय इत्येवं चतुर्भिरपि समयैर्न्यूनं क्षुल्लकभवग्रहणं संघातपरिशाटोभयस्य जघन्यकालः प्राप्यते तत्किमितीह त्रिभिरेव समयैर्न्यूनं क्षुल्लकभवग्रहणं जघन्यतस्तत्काल उक्तः । सत्यं किं त्वस्यं चतुःसमयायां विग्रहगतौ य आद्यः समयः स इह परभवप्रथमसमये न विवक्षितः किं तु पूर्वभवचरमसमय एव पूवचैभवशरीरस्य तत्र मुच्यमानत्वान्मुच्यमानं चामुक्तमिति व्यवहारनयमताश्रवणादिति । अथवा त्रसजीवसंबन्धिन्येवेहापान्तरालगतिर्विवक्षितास्त्रसजीवाश्चोत्कृष्टतोऽपि तृतीयसमये उत्पत्तिस्थानं प्राप्नुवन्तीत्यदोष इति तावद्वयमवगच्छामः तत्वं तु बहुश्रुता विदन्तीति । इह चैतानि क्षुल्लकभवग्रहणानि एकस्मिन्नुछ्वासनिःश्वाससातिरेकाणि सप्तदश मन्तव्यानियत उक्तम् "खुड्डागभवग्गहणा सत्तरस हवंति आणुपाणम्मी"त्यादि ।

अथ पल्लतियमित्याद्युत्कृष्टसंघातपरिशाटोभयकाल भावनामाह –

उक्कासो समऊणो, जो सो संघायणासमयहीणो ।
किह न दुसमयविहीणो, परिसाडसमए वणीयम्मि ॥

इह यो देवकुर्वादिषूत्पन्न औदारिकशरीरस्य प्रथमसमये संघातं कृत्वा त्रीणि च पल्योपमानि उत्कृष्टमायुः परिपाल्य म्रियते तस्य संघातसमयन्यूनानि त्रीणि पल्योपमानि उत्कृष्टसंघातपरिशाटो भयकालः प्राप्यते । अत्राह ननु कथमेकेनैव समयेन न्यूनोऽयमभिधीयते यावत यथा शरीरग्रहण प्रथमसमये सर्वस्तथा तन्मोक्षसमये सर्वपरिशाटोऽपि भवति ततस्तस्मिन्नपि परिशाटसमये अपनीते समयद्वयहीन एव प्राप्नोतीति ।

अथ प्रतिविधित्सुराह –

भन्नइ भवचरिमम्मि वि, समये संघायसाडणे चेव ।
परभवपढमे साडण–मउतइणो न कालोत्ति ॥

भण्यते अत्रोत्तरं भवस्य चरमेऽपि समये संघातपरिशाटोभयमेव प्रवर्त्तते यत्तु शरीरपुद्गलानां केवलं परिशाटमेव तत्परभवस्य प्रथमसमये एव मन्तव्यम् (परभवपढमे साडणमिति) निश्चयनयमतावणादतस्तेन परिशटसमये न न्यूनं संघातपरिशाटोभयकालो न भवतीति ।

अथ व्यवहारनयवादी प्रेरयति ।

जइ परपढमे सामो, निव्विग्गहओ य तम्मि संघाओ ।
तणुसव्वसामसंघाय–णा ए समए विरुद्धाउ ॥

ननु निश्चयनयवादिन् ! यदि परभवप्रथमसमये शाटोऽभ्युपगम्यते निर्विग्रहतश्च ऋजुश्रेण्यौ चोत्पद्यमानस्य तस्मिन्नेव समये संघात इष्यते तदा त्वहो सर्वशाटसंघातौ युगपदेकस्मिन्नेव समये विरुद्धौ तव प्राप्नुतः सर्वशाटस्य पूर्वभवशरीरसंबन्धित्वात्सर्वं संघातस्य भवान्तरगतशरीरविपर्ययत्वाद्भवद्वयशरीरयार्युगपत् सत्वस्य दूरविरुद्धत्वादिति ।

निश्चयनयवादी प्रतिविधानमाह –

जम्हा विगच्छविगयं–णं विगयमुप्पज्जमाणमुप्पन्ने ।
तो परभवाइसमए, मोक्खादाणाण न विरहो ।।

यस्मात्पूर्वभवशरीरं परभवाद्यसमये विगच्छद्विगतमुत्पद्यमानं त्वग्रेतनभवशरीरमुत्पन्नं क्रियाकालनिष्ठाकालयोरभेदात्ततस्तत्र मोक्षादानयोरिष्यमाणयोर्न कश्चिद्विरोधो मुच्यमानस्यमुक्तत्वे– नैकस्यैवाग्रेतनभवशरीरस्य सद्भावादिति । अपि च मरणसमयः परभवाद्यसमयत्वेनाभ्युपगन्तव्य एवान्यथा दोषसंभवादित्याह।

चुइसमये नेह भवो, इह देहविमाक्खओ जहा तीए ।
जइ परभवो वि तहं, तो सो को होउ संसारी ।।

च्युतिसमये इह भवपरभवशरीरायुः पुनपूर्द्वपरिशाटसममये तावदिह भवो न भवति इह भवदेहस्यायुषश्च मुच्यमानत्वान्मुच्यमानस्य च सर्वथा विमोक्षात् क्रियाकालनिष्ठाकालयोरभेदा दिति (जहा तीएत्ति) यथा अतीतजन्मनीह भवो नास्त्यत्रत्यदेहाभावात्तथा च्युतिसमयेऽप्यसौ न भवत्येव इह भवदेहाभावस्याविशषादित्यर्थः । एवं च सति यदि तस्मिंश्च्युतिसमये परभवोऽपि भवता नाभ्युपगम्यते तदाऽसौ संसारी जीवः को भवतु। इह भवत्वस्य तावद्युक्तित एव निषेधात्परभवस्य तु त्वयाप्यनभ्युपगम्यमानत्वांत्संसारित्वेन च मुक्तव्यपदेशाभावान्निर्व्यपदेश एवासौ स्यादिति।

व्यवहारनयवादी प्राह –

नणु जह विग्गहोकाले, देहाभावे पि परभवग्गहणं ।
देहाभावम्मि वि हो–ज्जेव भवो वि को दोसो ।।

ननु यथा विग्रहकाले विग्रहेण परभवगमनकाले पारभविकदेहाभावेऽपि जीवस्य परभवग्रहणं नारकादिपारभविकव्यपदेशः तथा च्युतिसमयेऽपीह भवशरीराभावेऽपीह भवो यदि भवेदिह भवव्यपदेशोऽपि यदि स्यात्तर्हि को दोषो न कश्चिन्न्यायस्य समानत्वादिति।

निश्चयवादी प्रतिविधानमाह –

जं चिय विग्गहकालो, देहाभावे वि नो परभवो सो ।
चुइसमए उ न देहो, न विग्गहो जइ स को हेऊ ।।

हन्त यत एवापान्तरालगतौ जीवस्य विग्रहकालो न तु पूर्वभव कालः तत एव देहाभावेऽप्यसौ परभवसंबन्धित्वेन व्यपदेश्यः परभवायुष उदीर्णत्वात्पूर्वभवायुषस्तु प्रागेव निर्जीर्णत्वान्निरायुषश्च जीवस्य संसारे असंभवादिति। च्युतिसमये तु न पूर्वभवे देहः तस्य त्यक्तत्वान्नापि विग्रहो चक्राभावाद्यद्येवं तर्हि स च्युतिसमय इहत्यपारत्रिकभवसमयानां मध्यात्को भवत्विति कथ्यताम् । ननु प्रोक्तं मया यथा विग्रहकाले परभवदेहाभावेऽपि परभवस्तथा च्युतिसमये इहत्य देहभावेऽपि इह भवोऽस्तु को दोषोऽसत्यमुक्तमिदं त्वया नतु युक्तं दृष्टन्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्याद्यथाहि च्युति समये इहत्यदेहाभावस्तथा इहत्यायुषोऽप्य भावस्तस्यापि निर्जीर्यमाणस्य तत्र निर्जीर्णत्वात्ततः कथमसौ च्युतिसमय इह भवो भवतु इहत्यायुष्कोदयाभावाद्विग्रहकाले तु युक्तं परभवायुष्कोदयसद्भावादिति तस्मात्परभवश्च्युति समयः परभवायुष्कोदयाद्विग्रहकालवदन्यथा तस्य निर्व्यपदेशप्रसङ्गादतः "परभवपढमे साडणमिति" स्थितम् । तदैव औदारिकसंघातपरिशाटोभयानां काल उक्तः।

अथ तेषामेवान्तरकालमभिधित्सुः संघातस्य तावज्जघन्यमन्तरकालमाह –

संघायंतरकालो, जहन्नओ खुड्डयं ति समऊणं ।
दोविग्गहम्मि समया, तइयसंघासणा समओ ।।
ते हू णं खुड्डभवं, धरिउं परभवमविग्गहेणेव ।
गंतूण पढमसमये, संघायस्स उ स विन्नेओ ।।

एकदा औदारिकशरीरस्य संघातं कृत्वा पुनस्तत्संघातं कुर्वतस्त्रिभिः समयैर्न्यूनं क्षुल्लकभवग्रहणं जघन्योऽन्तरकालः प्राप्यते स च यदा कश्चिदेकेन्द्रियादिजीवो मृतः समयद्वयं विग्रहे कृत्वा क्षुल्लकभवग्रहणायुष्को पृथिव्यादिषूत्पन्नस्तृतीयसमये औदारिकस्य संघातं कृत्वा यथोक्तैस्त्रिभिः समयैर्न्यूनक्षुल्लक भवग्रहणं संघातपरिशाटोभयं विधाय मृतो निर्विग्रहेणैव ऋजुश्रेण्या अग्रेतनभवे पृथिव्यादिषूत्पन्न औदारिकशरीरस्य संघातं करोति तदा तस्य जन्तोरौदारिकशरीरसंघातस्य च त्रिसमयन्यूक्षुल्लकभवग्रहणलक्षणो जघन्योऽन्तरकालो विज्ञेयः । इह च जघन्यान्तरकालस्य प्रतिपादयितुं प्रस्तुतत्वात्प्रथमं विग्रहेणाग्रतनभवे तु निर्विग्रहेणोत्पादितोऽन्यथा मध्यमान्तरकालप्रसङ्गादिति ।

अथौदारिकस्यैवोत्कृष्टसंघातान्तरकालमाह –

उक्कोसं तेत्तीसं, समयाहियपुव्वकोडिसहियाइं ।
सो सागरोवमाइं, अविग्गहेदोव संघायं ।।
काऊणपुव्वकोडिं, धरिउं सुरजेट्ठमाउयं तत्तो ।
भोत्तूण इहं तइए, समए संघायं तस्स ।।

सागरोपमाणीत्यस्य व्यवहितः संबन्धः ततश्च त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि समयाधिकपूर्वकोट्यधिकान्यौदारिकसंघातान्तरमुत्कृष्टं भवतीति गम्यते। कदा पुननरयं संघातान्तरकालो लभ्यत इत्याह। स उक्तलक्षणः काल इह तृतीयसमये संघातयतः औदारिकशरीरस्य संघातं कुर्वतो लभ्यते इति द्वितीयगाथायां संटङ्कः । किं कृत्वा इत्याह कुतश्चित्पूर्वभवादविग्रहेणेह तावन्मनुष्यभवे समागत्य प्रथमसमये संघातं कृत्वा पूर्वकोटिं विधृत्य पूर्वकोटिप्रमाणमिहायुष्कं परिपाल्य ततश्च ज्येष्ठमायुष्कं त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमलक्षणमनुत्तरसुरेष्वनुभूय ततश्च्युत्वा समयद्वयं विग्रहे विधायेति अतं च विग्रहसत्कसमयद्वयमध्यादेकं प्राक्तनपूर्वकोट्यां प्रक्षिप्यते एवं च सति त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि समयाधिकपूर्वकोट्यधिकानि उत्कृष्टमौदारिकशरीरसंघातान्तरं सिद्धं भवति। अस्य चोपलक्षणत्वात्पूर्वकोट्यायुषो मत्स्यस्याप्रतिष्ठाननरके समुत्पद्योत्थं पुनर्मत्स्येषूत्पन्नस्येदमन्तरं मन्तव्यमिति।

अथौदारिकस्यैव संघातपरिशाटोभयस्य जघन्यमुत्कृष्टं चान्तरकालमाह।

उभ्यंतरं जहन्नं, समओ निव्विग्गहेण संघाए।
परमं स तिसमयाइं तेत्तीसं उयहिनामाइं ।।

संघातपरिशाटोभयस्यैकः समयो जघन्यमन्तरं भवति क्व निर्विग्रहेण संघाते सति । इदमुक्तं भवति । इह औदारिकशरीरीआयुःपर्यन्तं यावत्संघातपरिशाटोभयं कृत्वा अग्रेतनभवे अविग्रहेणोत्पादारिकस्यैव संघातं कृत्वा पुनरपि तदुभयमारभते तस्य स एवैकः संघातसमयो जघन्यमुभयान्तरं भवति परमं

तूत्कृष्टमेतदन्तरं स हि त्रिभिः समयैर्वर्तते त्रिसमयानि त्रयस्त्रिंशदुदधिनामानि सागराभिधानानि सागरोपमाणि भवन्तीत्यर्थः"।

कदा पुनरेतानि प्राप्यन्त इत्याह–

अणुभविउं देवाइसु, तेत्तीसमिहागयस्स तइयम्मि।
समये संघायसाडण, दुविहं सामतरं वोच्छं ॥

देवादिष्वादिशब्दादप्रतिष्ठाने वा त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यनुभूयेहागतस्य तृतीय समये संघाययतो लभ्यन्ते।अयमत्र भाषार्थः। इह कश्चिन्मनुष्यादिः स्वभवचरमसमये संघातपरिशाटोभयं कृत्वा अनुत्तरेश्वप्रतिष्ठाने वा यदा त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यनुभूय पुनरपीह समयद्वयविग्रहेणागत्य तृतीयसमये औदारिकस्य संघातं कृत्वा तत उभयमारभते तदा द्वौ विग्रहस मवावेकश्च संघातसमयो देवादिभवसंबन्धीनि च त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्युत्कृष्टोभयान्तरे प्राप्यन्त इति। तदेवमौदारिकविषयस्य संघातस्योभयस्य जघन्यमुत्कृष्टं चान्तरमुक्तम्। अथ परिशाटस्य तदभिधित्सुराह (दुविहमित्यादि) द्विविधं जघन्यमुत्कृष्टं च शाटस्यान्तरं वक्ष्यत इति यथाप्रतिज्ञातमेवाह

खुड्डागभवग्गहणं, जहन्नमुक्कोसयं तेत्तीसं।
तं सागरोवमाइं, संपन्ना पुव्वकोडी य।

इहौदारिके शाटस्य चान्तरे जघन्यतःक्षुल्लकभावग्रहणं भवति उत्कृष्टं तु तत् शाटान्तरं पूर्वकोट्याधिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि भवन्ति। अत्राह नन्वेतन्नावगच्छामो जघन्य पक्ष समयोनक्षुल्लकभवग्रहणप्राप्ते उत्कृष्टपक्षेऽपि समयोनपूर्वकोट्यधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमावाप्तेरिति तथाहि यः क्षुल्लकभवग्रहणायुष्केषु वनस्पत्यादिषूत्पद्यते स "परभवपढमे साडणमिति वचनात्तस्य"क्षुल्लकभवग्रहणस्यादिसमये प्राक्तनौदारिक शरीरस्य सर्वशाटं करोति ततः क्षुल्लक भवग्रहणं पर्यन्ते मृतः समयोनं क्षुल्लक भवग्रहणं प्राप्नोति। उत्कृष्टपक्षेऽपि संयतमनुष्यः कश्चिन्मृतें देवभवाद्यसमयं औदारिकस्य सर्वशाटं कृत्वा त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यनुत्तरसुरेष्वायुरतिवाह्यैव पूर्वके ट्यायुष्केषु मनुष्येषूत्पद्य मृतो यदा पुनरपि भवाद्यसमये औदारिकस्य सर्वशाटं करोति पूर्वकोटिमध्याद्यसमयो देवभवायुष्के क्षिप्यते तदा औदारिकस्य शाटस्य चान्तरे उत्कृष्टतः समयोनपूर्वकोट्यधिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि लभ्यन्ते तत्कथमिदं नेतव्यमिति सत्यमुक्तं किंत्विह क्षुल्लकभवग्रहणासमये परिशाटो नेष्यते किंतु पर्वभवचरसमये विगच्छदविगतमिति व्यवहारनयमताश्रयणादेव भवाद्यसमय परिशाटो न क्रियते किंतु संयतचरमसमये। अत्रापि व्यवहार नयमताश्रयणत्तत एवं जघन्यपदे उत्कृष्टपदे चादौ व्यवहार नयमताश्रयणे पर्यन्ते तु निश्चयनयमताङ्गीकारे सर्वमपि भाष्यकारोक्तमविरोधेन गच्छतीति वृद्धाव्याक्षन्ते तत्वं तु गम्भीरमापितानां परम गुरव एव विदन्ति। तदेवमौदारिकसघातपरिशाटोभयानां कालोऽन्तरं चोक्तम्।

अथवैक्रिसशरीरस्य जघन्यसंघातकालमाह –

वेउव्वियसेघाओ, समओ से पुण विउव्वणाईए।
ओरालियाणमहवा, देवाईणाइगहणम्मि ॥

वैक्रियशरीरस्य संघातो जघन्यतः एकसमयः स च (ओरालियाणंति) औदारिकशरीरिणामुत्तरवैक्रियलब्धिमतां तिर्यमनुष्याणां विकुर्वणमुत्तरवैक्रियकरणं तस्यादिर्विकुर्वणादिस्तस्मिन्वैक्रिये तिरश्चो मनुष्यस्य वा उत्तरवैक्रियं कुर्वत एकस्मिन्प्रथमसमये संघातो भवतीत्यर्थः। अथवा देवादीनां देवनारकाणां वैक्रियशरीरग्रहणस्यादेवेकस्मिन् समये संघातो भवतीति।

अथोत्कृष्टं वैक्रियसंघातकालमाह–

उक्कोसो समयदुगं, जो समयविउव्वियमओ विइए।
समए सुरेसु वच्चइ, निव्विग्गहओ तयं तस्स ॥

उत्कृष्टसंघतकालः समयद्वयं भवति (तयं तस्सत्ति) तच्च समयद्वयं तस्य भवति य औदारिकशरीरी समयमेकमुत्तरवैक्रियं कृत्वा मृतो द्वितीयसमये निर्विग्रहेण ऋजुगत्या सुरेषु व्रजति तत्र च प्रथमसमये वैक्रियस्य संघातं करोति तस्यैको वैक्रियययंघातस-मयेऽत्रयत्यद्वितीयस्तु देवसुबन्धीति।

अथ वैक्रियस्यैव जघन्यमुत्कृष्टं च संघातपरिशाटेभयकालमाह

उभयजहन्नं समओ, सो पुण दुसमयविउव्वियं मयस्स।
परमियराई संघा–यसमयहीणायाइं तेत्तासं ॥

वैक्रियययंघातपरिशाटोभयस्य शाटम्य च जघन्यतः समयो भवति स च समयः समयद्वयं वैक्रियं कृत्वा मृतस्य द्रष्टव्यः।

इदमुक्तं भवति केनचदौदारिशरीरिणा उत्तरवैक्रियमारब्धं स च तत्र प्रथमसमये संघातं द्वितीयसमयक तु संघातपरिशाटोभयं कृत्वा यदा म्रियते तदा तस्य संघातपरिशाटोभयस्य समयलक्षणो जघन्यः कालः प्राप्यत इति परतृत्कुष्टमुभयस्य स्थितिमानं तरीतुं लङ्घयितुमशक्यान्यतराणि सागरोपमाणि एकेन संघातसमयेन हीनानि त्रयस्त्रिंशदनुत्तरसुरेष्वप्रतिष्ठाननर के वा बोद्धव्यानीति। तदेवं वैक्रियसंघातस्य चोभयस्य च काल उक्तः परिशाटस्य त्वेकसमयलक्षणकालः स्वयमेव दृष्टव्यः।

अथ वैक्रिययंघातस्य जघन्यमन्तरकालमाह–

संघायंतरसमओ, समयविउव्वियमयस्स तइयम्मि।
सो दिवि संघाणओ , तइए व मयस्स तइयम्मी ॥

वैक्रियसंघातस्य देववैक्रियसंघातस्य च जघन्यतमन्तरं समयो भवति। स च औदारिशरीरिणःसमयमेकमुत्तर वैक्रियं कृत्वा मृतस्य द्वितीये समये विग्रहं विधाय तृतीयसमये दिवि देवलोके संघातयतो वैक्रियशरीरसंघातं कृर्वतो विज्ञेयः। अत्र हि प्राक्तनोत्तर वैक्रियसंघातस्य देववैक्रियसंघातस्य च विग्रहसमयोऽन्तरं भवति। अथवा तस्यौदारिकशरीररिणः समयद्वयं तूत्तरवैक्रियं कृत्वा तृतीयसमये मृतस्य निर्विग्रहेण च दिवि समुत्पन्नस्य तस्मिन्नेव तृतीयसमये देववैक्रियसंघातं कुर्षतः एकः संघातपरिशाटोभयसमयः संघातान्तरं भवतीति।

अथ वैक्रिययंघातपरिशाटोभयस्य शाटस्य च जघन्यमन्तरकालमाह–

उभयस्स चिर विउव्विय–मयस्सदेवेसु विग्गहगयस्स।
सामस्संतमुहुत्तं, तिण्ह वि तसकालमुक्कोसं ॥

उभयस्य वैक्रियस्य संबन्धिनः संघातपरिशाटलक्षणस्य समय एको जघन्यमन्तरं भवतीत्यध्याहारः। कस्य जन्मोरिदमवाप्यत इत्याह चिरमन्तमुहूर्त्तमानं कालं विकुर्व्य वैक्रियवपुषि स्थित्वा मृतस्य देवेष्वऽविग्रहगतस्य जन्तोः संघातसमयोऽन्तरं प्राप्यते। अयमत्र भावार्थो य औदारिकशरीरी वैक्रियलब्धिमानुपकल्पित वैक्रियशरीरः परिपूर्ण तिर्यङ् मनुष्यवैक्रियस्थितिकालं यावत्संघातपरिशाटौ विधाय म्रियते अविग्रहेण च सुरालये समुत्पद्य प्रथमसमये यैक्रियसंघातं करोति द्वितीयादिसमयेषु

तु संघाटपरिशाटौ तत्संबन्धितः उभयस्य चान्तरे स एवोक्तः संघातसमयो भवतीति । ननु यद्येवं तर्हि "चिर विउव्वियसमयस्से" त्यत्र चिरग्रहणमपार्थकमिह हि मनुष्यादिषु यश्चिरं स्तोकं वा कालं वैक्रियसंघातपरिशाटौ कृत्वा अविग्रहेण दिवि समुत्पद्यते तेनैव प्रयोजनं किं चिरशब्दविशेषणेन सत्यम् । किंतु प्रथमसमयेऽपि मरण निषेधार्थमित्थमुक्तम् यदि वा अनन्तरं वैक्रियसंघातनन्तरं भावतया सप्रयोजनत्वाद् द्वितीयादिसमयेष्वाकस्मिकसमाप्तवैक्रियस्यापि मरणमुक्तम् अत्र त्वसमाप्तवैक्रियस्यापि मरणोपदर्शनेन किंचित्प्रयोजनमिति ख्यापनार्थं चिरग्रहणेन परिपूर्णान्तर्मुहूर्त्तिकमनुष्यादिवैक्रियस्थितिकालानुज्ञामपि कृतवानाचार्य इत्यदोषः (साडस्संतमुहुत्तं ति) एकदा वैक्रियसर्वशाटं कृत्वा पुनरपि तत्सर्वशाटं कुर्वतोऽन्त र्मुहूर्त्तं जघन्यमन्तरं भवती । कथमति चेदुच्यते कश्चिदौदारिकशरीरी वैक्रियलब्धिमान् क्वचित्प्रयोजनवैक्रियं शरीरं कृत्वा सर्वपर्यन्ते तस्य सर्वपरिशाटं विधाय पुनरौदारिकशरीरमाश्रयति तत्र चान्तर्मुहूर्त्तं स्थित्वा पुनरप्युत्पन्नप्रयोजने वैक्रियं करोत्यन्तर्मुहूर्त्तं च तत्र स्थित्वा पुनरप्यौदारिकमागच्छद्वैक्रियस्य सर्वशाटं करोत्येवं च सति वैक्रियशरीरगतमन्तर्मुहूर्त्तद्वयं भवति । अनेन चान्तर्मुहूर्त्त द्वयानापि वृहत्तरमेकयेवान्तर्मूहूर्त्त विवक्षितमतो युज्यते जघन्यं वैक्रियशाटान्तरमन्तर्मुहूर्त्तमिति तदेवं वैक्रियसंघाते भयपरिशाटान्तरं जघन्योत्तरकालः उक्तः अथ त्रयाणामप्येकतेषामुत्कृष्टमन्तरकालमाह । "तिण्हवित्यादि" इह यदा कश्चिज्जीवो वैक्रियशरीरस्य संघातादित्रयं कृत्वा वनस्पतिषूत्पद्यते तत्र चानन्तकालमतिबाह्य तत उद्वृत्तः उद्वृत्तः पुनरपि क्वचिद्वैक्रियशरीरमासाद्य तत्संघातादित्रयं करोति तदा तत्संबन्धेन संघातपरिशाटोभयत्वलक्षणस्य त्रयस्यापि स एवान्तरोत्सर्पिण्यव सर्पिणीरूपो वनस्पतिकालो अन्तरे भवतीति ।

अथाहारकशरीरसंघातपरिशाटतदुभयानां कालोऽन्तरं च वक्तव्यं तत्राह ।

आहारोभयकालो, दुविहो अंतरत्तियं जहन्नं ति ।
अंतमुहुत्तमुक्को–समद्ध परियट्टमूणं च ॥

आहारकशरीरसंघातः परिशाटश्च प्रत्येकं सामायिको भवति स च सुगमत्वाद्गाथायां न लिखितः स्वयमेव तु द्रष्टव्य इति । संघातपरिशाटोभयकालस्तु द्विविधः उत्कृष्टो जघन्यतश्च । संघातपरिशाटोभयानां यदन्तरत्रिकमन्तरकालत्रयं जघन्य तदेतत्सर्वमन्तर्मुहूर्त्तकालमानमवगन्तव्यं केवलं तदेवान्मुहूर्त लघु वृहच्च तारतम्येनावसेयमिति । आहारकशरीरं ह्यन्तर्मुहूर्तकालस्थितिमेव भवत्यतस्तत्संबन्धिनः संघातपरिशाटोभयस्य जघन्यत उत्कृष्टश्चान्तर्मुहूर्त्तकालभावित्वाच्च सिद्धमेवेति एकदा कृतं चाहारकशरीरं प्रयोजनसिद्धौ परित्यज्य चतुर्दशपूर्वधरो जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तात्पुनरप्युत्पन्न प्रयोजनस्तत्करोत्यतस्तद्गतसंघातपरिशाटोभयानां भवति जघन्यमन्तर्मुहूर्त्तमिति । उत्कृष्टे त्वन्तरं त्रयाणामपि संघातपरिशाटोभयानां किंचिन्न्यूनार्द्धं पुद्गलपरावर्त्तरूपं भवति । इदं च यच्चतुर्दशपूर्वधर आहारकशरीरं कृत्वाप्रमादारप्रतिपत्तौ वनस्पत्यादिषु यथोक्तकालं स्थित्वा पुनरपि चतुर्दशपूर्वधरत्वमवाप्याहारेशरीरं करोति तस्य *द्रष्टव्यमिति ।*

अथ तैजसकार्मणविषयं संघातादिविचारं चिकीर्षुराह–

तेयाकम्माणं पुण, संताणाइओ न संघाओ ।
भव्वाण होज्ज सामो, सेलेसी चरिमसमयम्मि ॥
उभयं अणाइनिहणं, संतं भव्वाण होज्ज केसिंचि ।
अंतरमणाइ भावा, अच्चंतविओगओ णेसिं ॥

तेजसकार्मणयोः पुनः संघातस्तावन्न भवत्येव तयोरनादिकालात्संतानेन प्रवृत्तत्वात्संघातस्य तु गृह्यमाणशरीरप्रथमसमयविषयत्वादिति प्रागप्युक्तं सर्वपरिशाटोऽपि तैजसकार्मणयोरभव्यानां न भवत्येव तस्य त्यज्यमानशरीरविषयत्वात्तेषां च तस्या गासंभवद्व्यानां तु केषांचिच्छैलेशीचरमसमये भवेच्छाटः स च सामयिको द्रष्टव्यः उभयं तु संघाटपरिलक्षणम् आदिश्च निधनं चादिनिधने न विद्येते आदिनिधने यस्य तदनादि निधनमेवाभव्यानां भवति तात्त्यागाभावाद्भव्यानां तु केषांचित्सिद्धिगमनसमये सान्तमुभयं भवेतदानीं सर्वथा तत्त्यागादन्तरं तु (सिं ति) एतयोर्न भवत्येव अभव्यानामनादिनिधनत्वात्तयोः भव्यानां तु अनिधनत्वेऽप्यत्यन्तवियोगेन त्यागात्पुनस्तद्ग्रहणाभावात्यैतस्य पुनर्ग्रहणाच्चान्तरकालसंभवादिति । संघातपरिशाटवक्तव्यता समाप्ता तदेवमुक्तं सजीवप्रयोगकरणम् ।

अथाजीवप्रयोगकरणमभिधित्सुराह –

अजीवाणं करणं, नेयं पडसंखसगमथूणाणं ।
संघायणपरिसाडण, उभयं तदनोभयं चेव ॥

अजीवानां करणं ज्ञेयं किं तदित्याह । संघातनं तन्तूनां पटे परिशाटनामेव केवलं श्लक्ष्णीकरणं शङ्खस्य उभयं संघातपरिशाटलक्षणं तत्क्षणकीलिकादियोगाच्छकटस्य (नो भयंति) संघातपरिशाटोभयनिषेधः । स्थूणायाः केवलोर्द्धकरणादि भावेन तदभावदिति । एवमन्यदपि यज्जीव प्रयोगादजीवानां क्रियते तत्सर्वमजीवकरणमिति दर्शयन्नाह ।

जं जं निज्जीवाणं, कीरइ जीवप्पओग ओतं तं ।
वन्नाइ रूवकम्माइ, वा वि तदजीवकरणं ति ॥

एवं यद्यदजीवानां वस्त्रकाष्ठपाषाणदीनां जीवप्रयागाज्जीव व्यापारेण कुसुम्भमञ्जिष्ठादिभिर्वण्णदि क्रियते पुत्तलिकादिकं रूपकर्म्मादि वा विधीयते तत्सर्वमजीवकरणमिति । तदेवमुक्तंद्रव्यकरणम् । विशे० उत्त० सूत्र ।

अथ क्षेत्रकरणमभिधित्सुराह–

इह दव्वं चेव निवा–समेतपज्जायभावओ खेत्तं ।
भन्नइ नभे न तस्स, पकरणं निवत्तिओ भिहियं ॥
होज्जा व पज्जायाउ, य ज्ञाओ जेण दव्वओ णन्नो ।
उवयारमेत्तओ वा, जह लोए सालिकरणाई ॥
खेत्ते व जत्थ करणं, तिखित्तकरणं तहं जहासिद्धं ।
खेत्तं पुन्नमिणं पुन्न–करणसंबंधमेत्तेणं ॥

इह द्रव्यमेव सन्नभः क्षेत्रं भण्यते कुत इत्याह । "निवासेत्यादि" मात्रशब्दस्य व्यवहितः प्रयोगो निवासपर्यायभावमात्रत इत्यर्थः । इदमुक्तं भवति । *क्षि निवासगत्योः इति क्षियन्ति निवसन्ति जीवा अजीवाश्चत्रे-त्यौणादिके तत्रत्याययये क्षेत्रमित्यस्मादन्वर्था द्रव्यमपि नभः क्षेत्रमुच्यते तस्य च नभोनिर्वृत्तितो निष्पादकेन करणं नाभिहितमकृत्रिमत्वादस्येति ।* यदि तस्य करणं नास्ति तर्हि करणभेदेषु पाठः किमर्थमित्याशङ्क्याह । (होज्ज वेत्यादि) भवेद्वा क्षेत्रस्याऽपि करणं (पज्जायाउत्ति) *घटपटादिसंयोगादियोगादिपर्यायानाश्रित्येत्यर्थः । पर्यायो हि*

सर्वेषामपि वस्तूनामनित्या इत्यतस्तेषां करणमपि संभवति । यदि नामपर्यायाणां करणं संभवति तर्हि द्रव्यस्य किमापातमित्याह पर्यायो येन द्रव्यादनन्योऽभिन्नस्तेन पर्यायस्य करणे द्रव्यस्यापि करणं भवत्येवेति उपचारतो वा क्षेत्रस्य करणं भण्यते (जह लोए सालिकरणा इति) यथा लोके वक्तारो भवन्ति शालिक्षेत्रमिक्षुक्षेत्रं वा मया कृतमित्यादि। अथवा क्षेत्रस्य करणमिति षष्ठीतत्पुरुषो न क्रियते किंतु क्षेत्रे करणं क्षेत्रकरणं सप्तमीतत्पुरुष इति दर्शयन्नाह (खेत्ते वेत्यादि) अथवा यत्र क्षेत्रे करणं पुण्यादेस्तत्क्षेत्रकरणं यथा लोकोऽपि सिद्धमेतत्पुण्यमिदमुज्जयन्तशत्रुंजयादिक्षेत्रं पुण्यकरणसंबन्धमात्रेण तत्र हि ये दानानशभादिकं कुर्वन्ति तेषां महत्पुण्यं भवतीत्यतः पुण्यस्य तत्र करणात्पुण्यक्षेत्रं तदिति, विशे०। आ० म० द्वि० उत्त०।

पुनः क्षेत्रकरणम्–

ण विणा आगासेण, कीरइ जं किंचि खेत्तमागासं ।
वंजणपरियावण्णं, उच्छुकरणमादियं बहुहा ॥ उत्त०नि०।

आह नित्यत्वात् क्षेत्रकरणं न संगच्छते तत्कथं क्षेत्रकरणसंभव उच्यते न विनाकाशेन क्रियते न निर्वर्त्यते यदिति यस्मात्किंचिदित्यल्पमपि द्व्यणुकं स्कन्धाद्यतस्तत्प्राधान्यादद्रव्यकरणमपि क्षेत्रकरणमुच्यते इत्युपस्कारः ननु यथाकोशेन विना न किंचित्क्रियते तदाकाशकरणेनैवास्तु कथं क्षेत्रकरणतोच्यते क्षेत्रमिति क्षेत्रशब्दवाच्यमाकाशं तथा च पर्यायशब्दत्वादनयोरित्थमभिधानमदुष्टमेवेति भावः तच्च व्यञ्जनशब्दस्तस्य पर्यायोऽन्यथान्यथा च भवनं व्यञ्जनपर्य्यायः तमापन्नं प्राप्तं व्यञ्जनपर्य्यायापन्नम् (उच्छुकरणमाइयत्ति) प्रक्रमान्मकारस्य चागमिकत्वादिक्षु क्षेत्रकरणादिकं बहुधा बहुप्रकारमेकत्वेऽपि क्षेत्रस्य इक्षुक्षेत्रादिकरणरूपेणाभिलापस्य बहुप्रकारत्वात्तथा च स संप्रदायः "वंजणपरियावत्तं नाम जं खेत्तंति अभिलप्पति तं जहा उच्छुखेत्तकरणं सालिखेत्तकरणं तिलखेत्तकरणं" तिलखेत्तकरणमेवमादि अथवा यस्मिन् क्षेत्रकरणं क्रियते वर्ण्यते वा तत् क्षेत्रकरणमिति गाथार्थः । उत्त०४ अ०।

साम्प्रतं कालकरणमभिधित्सयाऽऽह –

कालो जो जावइओ, जं कीरइ जम्मि कालम्मि ।
ओहेण णामतो पुण, करणा एक्कारस हवंति ॥

(कालो जो इत्यादि) कालस्याभिमुख्यं करणं न संभवतीत्यौ पचारिकं दर्शयति कालो यो यावनिति । यः कश्चिद् घटिकादिको नलिकादिना व्यवच्छिद्य व्यवस्थाप्यते तद्यथा षष्ट्युदक पलमाना घटिका द्विर्घटिको मुहूर्तस्त्रिंशन्मुहूर्तमहोरात्रमित्यादि तत्कालकरणमिति। यद्वा यत् यस्मिन् काले क्रियते यत्र वा काले करणं व्याख्यायते तत् कालकरणमेतदोघतः (सूत्र०१ श्रु०१ अ०१ उ०) एतद्गाथाव्याख्यां प्रकारान्तरेणाह (कालोगाहा) कालो यः समयादिर्यावत्परिमाणः यत्करणनिष्पत्त्यपेक्षाकारणत्वेन व्याप्रियते । किमुक्तं भवति यस्य भोजनादेर्यावता घटिकाद्वयादिकालेन निष्पत्तिस्तस्य स एव कालकरणं तत्रैव तस्य साधकतम त्वेन विवक्षितत्वात् । यदि वा यत्करणं क्रियते निष्पाद्यते *यस्मिन् श्वस्मिन् काले तस्य स एव कालः करणम् ।* कालकरणमत्राधिकरणसाधकत्वेन विवक्षितत्वात् करणशब्दस्य ओघोनेति नामादिविशेषानपेक्षमेतत्कालकरणं तथाच वृद्धाः "कालकरणं जं जं जावतिएण कालेण कीरति जम्मि वा" " कालमिति" इहापि कालस्याकृत्रिमत्वेन करणसंभवादित्थमुपन्यासः । नामतः पुनर्भवत्येकादश करणानि कालविशेषरूपाणि चतुर्यामप्रमाणानि । करणत्वं तेषां तत्र क्रियायाधकतमत्वादिति गाथार्थः उत्त०४ अ०।

अथ कालकरणं वाच्यं तत्र कालस्याप्यकृत्रिमत्वात्करणं नास्ति द्रव्यपर्यायत्त्वविवक्षया तस्य तद्भेदेद्वा इति दर्शयति।

जं वत्तणाइरूवो, कालो दव्वस्स जेव पज्जाओ ।
तो तेण तस्स तम्मि व, न विरूद्धं सव्वहा करणं ॥

यस्मात्प्रागुक्तस्वरूपो वर्त्तमानादिरूपः कालो द्रव्यस्यैव पर्यायः पर्यायश्च द्रव्यादभिन्नस्ततो यथा द्रव्यस्य तथा तस्यापिकरणं न विरुद्धम् । कथमित्याह। तेन कालेन तस्य वा तस्मिन्वेत्यादिभिः सर्वथा सर्वैरपि प्रकारैरिति ।

अथवा ज्योतिष्कमार्गप्रसिद्धमेवेह कालकरणं
गृह्यत इति दर्शयति ।

अहवेह कालकरणं, बवाइ तोइसियगइविसेसेणं ।
सत्तविहं तत्थ चर–चउव्विहं थिरमहक्खायं ॥

अथवा ववबालवादिरूपं चन्द्रादित्यादिज्योतिषिकदेवगति–विशेषेण यद्भवति तदिह कालकरण गृह्यते । तत्र च ववादिरूपे कालकरणं सप्तविधं चरम् अन्यथान्यतिथिषु भावाच्चतुर्विधं तु स्थिरमाख्यातं नियतास्वेव तिथिषु भावादिति ।

तत्रयत्सप्तविधं चरं तदाह –

ववं च बालव चेव, कोलवं थीविलोयणं ।
गरादि वणियं चेव, विट्ठी हवइ सत्तमा ॥

अस्य सप्तविधस्यापि चरस्य करणस्यानयनोपायमाह–

पक्खत्तिहउ दुगुणिया, दुरुवरहिया य सुक्कपक्खम्मि ।
सत्तहिए देवसियं, तं चिय रूपवाहियं रत्ति ॥

कृष्णस्य शुक्लस्य वा प्रस्तुतपक्षस्य यास्तिथयोऽतिक्रान्तास्ता द्विगुणीक्रियन्ते ततश्चागतराशेः सप्तभिर्भागो ह्रियते एवं च कृते यत्करणमागच्छति तत्प्रस्तुततिथौ कृष्णपक्षे दैवसिकं विज्ञेयम्। रूपाधिकं तु तदेव रात्रौ यथा कृष्णदशम्यां द्विगुणितायां विंशतिर्भवति ततः सप्तभिर्भागे हृते षम् शेषा भवन्ति। तथा चेदं षष्ठं वणिजाभिधानं दैवसिकं करणं लब्धं रूपे तत्र प्रक्षिप्ते रात्रिगतं विष्ट्यभिधानं सप्तमं करणं लभ्यते एवमन्यत्रापि कृष्णपक्षे द्रष्टव्यम्। शुक्लपक्षे विशेषमाह। (दुरूवरहिया य सुक्कपक्खम्मिमि) शुक्लपक्षे द्विगुणिततिथिराशेर्द्वौ पात्येते ततो दैवसिकं करणमागच्छति सप्तभिश्च भागो न पूर्यते ततस्तद्दैवसिकं षष्ठं करणं लब्धं रूपे तु प्रक्षिप्ते सप्तमं विष्ट्यभिधानं रात्रिगतं करणं लभ्यते एवमन्यान्यपि शुक्लपक्षे भावनीयानि । इह च लोकप्रसिद्धकरणनयनोपायोऽन्योऽपि विद्यते। तद्यथा "तिहिदुगुणी य किहिं ऊणीसत्तहिं हरणं सेसं करणमिति" युक्तः केवलमिह मासतिथयो द्विगुणियितव्या यदागच्छती तद्रात्रिगतकरणं रूपे तु पातिते दिवसगतं द्रष्टव्यमिति।

अत्र चतुर्विधस्थिरकरणमाह–

सउणिचउप्पयनागं, किंयुग्घं करणं थिरचउहा ।
बहुलचउद्दसरत्तिं, सउणिं सेसं तियं कमसो ।

कृष्णचतुर्दशीरात्रौ सदावस्थितं शकुनिनामकं करणं भवति अमावस्याअमावस्यायां दिवसे चतुष्पदं रात्रौ नागं प्रतिपदि दिवा किंस्तुघ्नं शेषरजनीदिनयोर्यथोक्तोपायतश्चरकरणमवसेयमिति । विशे०॥

करणानां भेदनाह–

कति णं भंते ! करणा पण्णत्ता ? गोयमा ! एक्कारस करणा पण्णत्ता तं जहा बबं बालवं कोलवं थीवविलोअणं गराइ वणिज्ज विट्ठी सउणी चउप्पयं नागं किंयुग्गं एतेसि णं भंते ! एकारसण्हं करणाणं कति करणा चरा करणा थिरा पण्णत्त ? गोअमा ! सत्त करणा चरा चत्तारि करणा थिरा पण्णत्ता तं जहा बबं वालयं कोलवं थीविलोअणं गरादिं वणिज्जं विट्ठी एतेसि णं सत्त करणा चरा। चत्तारि करणा थिरा पण्णत्ता तं जहा सउणि चउप्पयं णागं किथुग्गं एते णं चत्तारि करणा थिरा पण्णत्ता। एएतेसि णं भंते ! चरा थिरा कया भवंति ? गोअमा ! सुक्कपक्खस्स पडिवाए राओ बबे करणे भवइ बितिआए दिवा बालवे करणे भवइ राओ कोलवो करणे भवइ ततिआए दिवा थीविलोअणं करणं भवइ राओ गराइं करणं भवइ चउत्थीए दिवा वणिजं राओ विट्ठी पंचमीए दिवा बवं राओ बालवं छट्ठीए दिवाकोलवं राओ थीविलोअणं सत्तमीए दिवा गरातिं राओ वणिजं अट्ठमीए दिवा विट्ठी राओ बवं णवमीए दिवा बालवं राओ कोलवं दसमीए दिवा थीविलोअणं राओ गराइं एक्कारसीए दिवा वणिजं राओ विट्ठी बारसीए दिवा बवं राओ बालवं तेरसीए दिवा कोलवं राओ थीविलोअणं चउद्दसीए दिवा गरातिं करणं राओ वणिज्जं पुण्णिमाए दिवा विट्ठीकरणं राओ बवं करणं भवइ। बहुलपक्खस्स पडिवाए दिवा बालवं राओ कोलवं वितिआए दिवा थीविलोअणं राओ गरादिं ततिआए दिवा वणिजं राओ विट्ठी चउत्थीए दिवा वं राओबालवं पंचमीए दिवा कोलवं राओ थीविलोअणं छट्ठीए दिवा गराइं राओ वणिज्जं सत्तमीए दिवा विट्ठी राओ बवं अट्ठमीए दिवा गालवं राओ कोलवं णवमीए दिवा थीविलोअणं राओ गराइं दसमीए दिवा वणिज्जं राओ विट्ठी एक्कारसीए दिवा बबं राओ बालवं बारसीए दिवा कोलवं राओ थीविलोअणं तेरसीए दिवा गराइं राओ वणिज्जं चउद्दसीए दिवा विट्ठी राओ सउणि अमावसाए दिवा चउप्पयं राओ णागं सुक्कवक्खस्स पडिवाए दिवा किंथुग्घं करणं भवइ।

कति ? भदन्त ! करणनि प्रज्ञप्तानि गौतम ! एकादश करणानि प्रज्ञप्तानि तद्यथा बबं बालवं कौलवं स्त्रीविलोचनं अन्यत्रास्य स्थाने तैतिलमिति गरादि अन्यत्र गरं वणिजं विष्टिः शकुनिः चतुष्पदं नागं किंस्तुघ्नमिति। एतेषां चरस्थिरत्वादिव्यक्तिप्रश्नमाह (एतेसि णं इत्यादि) एतेषां भदन्त ! उकादशानां करणानां मध्ये कति करणानि चराणि कति करणानि स्थिराणि प्रज्ञप्तानि। च कराऽत्र गम्यः भगवानाह गौतम ! सप्त करणानि चराणि अनियततिथि भावित्वात्। चत्वारि स्थिराणि नियत तिथि भवित्वात् तद्यथा ववादीनि सूत्रोक्तानि ज्ञेयानि एतानि सप्त करणानि चराणि इत्येतन्निगमनवाक्यम्। चत्वारि करणानि स्थिराणि प्रज्ञप्तानि तद्यथा शकुन्यादीनि सूत्रोक्तानि एतानि चत्वारि करणानि स्थिराणि प्रज्ञप्तानि इति तु निगमनवाक्यम्। प्रारम्भकनिगमनवाक्यद्वयभेदेन नात्र पुनरुक्तिः। एतेषां स्थाननियमं प्रष्टुमाह (एतेसिणमित्यादि) सर्वं चैतन्निगदसिद्धं नवरं दिनरात्रिविभागेन यत् पृथक २ कथनं तत् करणानां तिथ्यर्द्धप्रताणत्वात् कृष्णचतुर्दश्यां रात्रौ शकुनिः अमावस्यायां दिवा चतुष्पदं रात्रौ नागं शुक्लपक्षप्रतिपदि दिवा किंस्तुघ्नं चेति चत्वारि स्थिराणि। आस्वेव तिथिषु भवतीत्यर्थः। जं०७ वक्ष०। उत्त०। सूत्र.। आ० म० द्वि०।

एषु कर्त्तव्यमाह–

बब१वालवं च २ तह कोलवं३ च थीलोयणं ४ गराइं ५ च।
वणियं ६ विट्ठी य तहा,७सुद्धपडिवए निसाई य ॥४२॥
साएणि चउप्पयनागं, किंयुग्गं च करणा धुवा हुंति ॥
किन्हचउद्दसरत्ति, सउणी पडिवज्जए करणं ॥४३॥
का न णु तिहिं विउणं, जन्हे गो साहए न पुण काले ॥
सत्तहिं हरिज्जभागं, जं सेसं तं भवे करणं ॥४४॥
बबे य बालवे चेव, कोलवे वणिए तहा ॥
नागे चउप्पएया वि, सेहनिक्कमणं करे ॥४५॥
चउवट्ठावणं कुज्जा, अणुन्नं गणिवायए ॥
सउणम्मि य विट्ठीए, अणसणं तत्थ कारए ॥४६॥
(दारम् ४) गुरुसुक्का सोमदेवसे, सेहनिक्खवणं करे ॥
चउवट्ठावणं कुज्जा, अणुन्नं गणिवायए ॥४७॥
रविभोमकोणदिवसे, चरणकरणाणि कारए ॥
तवो कम्माणि कारिज्जा, पाओवगमणाणि य ॥४८॥
(दारम् ५) रूद्धो उ मुहुत्ताणं, ईच्छिन्नवइअंगुलच्छाओ ॥
सेओ हवइं सट्ठी, वारसमित्तो हवइ जुत्तो ॥४९॥
छ चेव य आरभडो, सावित्तो पंच अंगुलो होइ ॥
चत्तारि य वइरिज्जो, दुचेव य सावसम होइ ॥५०॥
परिमडलो मुहुत्तो, असीवि मज्झंति तेट्ठिए दोइं ॥
दो होइ रोहणो पुण, वलो य चउरंगुलो होइ ॥५१॥
विजओ पंचंगुलिओ, छच्चेव य नेरिओ हवइ जुत्तो ॥
वरुणो य हवइ वारस, अज्जमदे वो हवइ सट्ठी ॥५२॥
छन्नउइ अंगुलाइं, पुण होइं भगोत्तरअत्थमणावलए ॥
एए दिवसमुहुत्ता, रत्तिमुहुत्ते अओ बुच्छं ॥५३॥
हवइ विवरीयधणो, पमोयणो अज्जमित्तहासीणो ॥
रक्खसपा साइज्जो, सोमो बंभो वहसमइया ॥५४॥
विण्हू तहा पुणो रि, त्तो रत्तिमुहुत्ता वियाहिया ॥
दिवसमुहुत्तगईए, छायामाणं मुणेयव्वं ॥५५॥
मित्ते नंदे तह सुट्ठिए य, अभिइ चंदे तहेव य।
वरुणग्गो वेसईसाणे, आणंदे विजएइ य ॥५६॥
एए मुहुतजोएसु सेहनिक्खमणं करे ॥

चउवट्टावणाइं च, अणुन्ना गणिवायए ॥५७॥
बंभे व लय वाउम्मि उसभे वरुणे तहा।
अणसणं पायवगमणं, उत्तमट्ठं च कारए ॥५८॥
(दारम् ६) पुन्नामधिज्जसउणेसु, सेहनिक्खमणं करे
थीनामेसु सउणेसु, समाहिं कारए विऊ ॥५९॥
नपुंसएसु सवणेसु, सव्वकम्माणि वज्जए।
वोमेसेसु निमित्तेसु, सव्वारंभाणि वज्जए ॥६०॥
तिरियं वाहरंतेसु, आद्दाणागयणंगरे।
पुप्फिए फलिए वच्छे, सज्झायं करणं करे ॥६१॥
दुमखंधे वाहिरंतेसु, सेफुवट्टावणं करे।
गयाणवाहरंतेसु, उत्तमट्ठं तु कारए ॥६२॥
विलमूले वाहरंतेसु, ठाण तु परिगिन्हए।
उप्पयम्मि वयंतेसु, सउणेसु भरणं भवे ॥६३॥
पक्कमंतेसु सउणेसु, हरिं तुट्ठिं च वागरे।
(दारम् ७) चलरासिविलग्गेसुं, सेहनिक्खमणं करे ॥६४॥
थिररासिविलग्गेसुं चउवट्टावणं करे।
सुये खंधाअणुन्नाओ, उद्दिसे य समुद्दिसे ॥६५॥
बिसरीरविलग्गेसु, सज्झायं करणं करे।
रविहोराविलग्गेसुं, सेहनिक्खमणं करे ॥६६॥
चंदहोराविलग्गेसु, सेहीणं संगहं करे।
समुद्दे कोणलग्गेसु, वरणं करणं तु कारए ॥६७॥
कूणद्दिकाणलग्गेसुं, एत्तमट्ठं तु कारए।
एवं लग्गाणि जाणिज्जे, दिक्खाणे सुण्णसंसओ ॥६८॥
सोमग्गहविलग्गेसु, सेहनिक्खमणं करे।
कूरग्गहविलग्गेसु, उत्तमट्ठं तु सारए ॥६९॥
राहुकेउविलग्गेसु, सव्वकम्माणि वज्जए।
विलग्गेसु पसत्थेसु, सुवसत्थाणि आरभे ॥७०॥
अप्पसत्थेसु, लोगेसु, सव्वकम्माणि वज्जए।
विलग्गणिज्जाजाणिज्जा, गहणं जिणभासिए ॥७१॥
न निमित्ता विवज्जंति, न मिच्छा रिसिभासियं।
(दारम् ८) दुद्दिट्ठेणं निमित्तेणं, आदेसो उ विणस्सइ ॥७२॥
सुदिट्ठेणं निमित्तेणं आदेसो न विणस्सइ।
जा य अप्पाइया भासा, जं च जंपंति बालया ॥७३॥
जं वि त्थीओ य भासंति, नत्थि तस्स वइक्कमो।
तज्जाएणं य तज्जायं, तन्निभेण य तन्निभं ॥७४॥
तारूवेण य तारूवं, सरिसं सरिसेण निद्दिसे।
इत्थीपुरिसनिमित्तेसुं, सेहनिक्खमणं करे ॥७५॥
नपुंसकनिमित्तेसु, सव्वकज्जाणि वज्जए।
वामित्तेसु निमित्तेसु, सव्वारंभे विवज्जए ॥७६॥
निमित्ते कित्ति ते नत्थि, निमित्ते भाविसुज्झए।
जेण सिद्धा वियाणंति, निमित्तुप्पायलक्खणं ॥७७॥
निमित्तेसु पसत्थेसु, वलेसु चलिएसु य।
सेहनिक्खमणं कुज्जा, चउवट्टावणाणि य ॥७८॥
गणसंगहणं कुज्जा, गणहरे इत्थथावए।
सुयक्खंधाणुन्नाओ, अणुन्ना गणिवायए ॥७९॥
निमित्तेसु पसत्थेसु, सिद्धिलेसु वलेसु य।
सव्वकज्जाणि वज्जिज्जा, अप्पसाहरणं करे ॥८०॥
एअत्थेसु निमित्तेसु, सुपसत्थाणि साहए।
अप्पसत्थनिमित्तेसु, सव्वकज्जाणि वज्जए ॥८१॥
दिविसाओ तिहिवलिओ, तिहिओ वलिं तु सुव्वइ रिक्खं।
नक्खत्ता करणमाहंसु, करणा गहहिणी वली ॥८२॥
गहादिणाउ मुहुत्ते।, मुहुत्ता सउणो वली।
सउणाओ वलविलगो, तओ निमित्तं पहाणं तु ॥८३॥
विलग्गाओ निमित्ताओ, निमित्तं बलमुत्तमं।
नंतं संविज्जणं लाए, निमित्ता जं बले भवे ॥८४॥
एसा बलाबलविही, समासओ कित्तिओ सुविहिएहि।
अणुओगेण नाणगब्भो, नायव्वो अप्पमत्तेहिं ॥८५॥
गणिविज्जा पयन्नं सम्मत्तं द०प०४ पय०॥

अथवा भावकरणमाह–

भावस्स व भावेण व, भावे करणंति भावकरणंति।
तं जीवीजीवाणं, पज्जयविसेसओ बहुहा ॥

भावस्य पर्यायस्य करणं भावकरणं भावेन वा करणं तच्च जीवानां पर्यायविशेषतः पर्यायविशेषानाश्रित्य बहुधा बहुभेदं भवति

तत्राल्पवक्तव्यत्वादजीवभावकरणं तावदाह–

अपरप्पगओगजं जं, अजीवरूवाइं पज्जयावत्थं।
तमजीवभावकरणं, तप्पज्जायप्पणावेक्खं ॥

परप्रयोगाज्जातं परप्रयोगजं न परप्रयोगजं स्वभाविकमित्यर्थः यदप्रयोगजं तदजीवभावकरणम् इति संबन्धः कथं भूतमित्याह। अजीवरूपादिपर्याया रूपं वाऽवस्थास्वरूपं यस्याजीवभावकरणस्य तदजीवरूपादिपर्यायावस्थं परप्रयोगमन्तरेणैव यदभ्राज्यजीवानां स्वभाविकंरूपरसगन्धस्पर्शसंस्थानादिपर्यायकरणं तदजीवभावकरणमित्यर्थः, विशे०।

तत्थ जमजीवकरणं, तं पंचविहं तु णायव्वं।
वण्णरसगंधफासे, संठाणे चेव होइ णायव्वं ॥
पंचविहं पंचविहं, दुविहट्ठविहं च पंचविहं। उत्त० नि०।

तत्र तयोर्म्मध्ये यदजीवकरणं तत्पञ्चविधं पञ्चप्रकारमेव ज्ञातव्यमवसेयमिति गाथार्थः। एतदेव स्पष्टयितुमाह (वण्णगाहा) वर्णरसगन्धस्पर्शसंस्थानं चैवोभयत्र विषयसप्तमी ततो वर्णादिविषयं भवति ज्ञातव्यमजीवकरणमिति प्रक्रमस्तत्र वर्णः कृष्णादिःरसः पञ्चविधास्तिक्तादि गन्धो द्विभेदः सुरभिरितरश्च स्पर्शोऽष्टविधः कर्कशादिः संस्थानं पञ्चविधं परिमण्डलादि एतद्भेदात्करणमप्येतद्विषयमेतावद्भेदमेवात एवाह "पञ्चविधमित्यादि" ननु द्रव्यकरणात्को ऽस्य विशेषउच्यते इह

पर्यायापेक्षया तथा भवनमभिप्रेतं द्रव्यकरणे तु द्रव्यस्यैव तथा तथोत्पादो द्रव्यास्तिकमतापेक्षयेति विशेषः।

उक्तं च "अपरप्पओगंज जं, अजीवरूपादि पज्जया वत्थं।
तमजीवभावकरणं, तप्पज्जाअप्पणावेक्खं॥
को दव्वविस्ससाकरणाउ, विसेसो इमस्सणणु भणियं।
इह पज्जवविक्खाए, दव्वट्ठियनयमयं तं च" इती गाथार्थः॥

ननु तर्हि द्रव्यविस्रसाकरणादस्य को भेद इत्याशङ्क्याह। (तप्पज्जाय–पप्पणावेक्खंति) तेषामजीवानां पर्याया रूपादयस्तत्पर्यायास्तेषा–मर्पणं प्राधान्येन विवक्षणं तत्पर्यायार्पणं तस्यापेक्षा यत्र तत्पर्यायार्प्पणापेक्षम्। इदमुक्तं भवति। पूर्वं द्रव्यप्राधान्यविवक्षया द्रव्यविस्रसाकरणमिह तु रूपरदिपर्यायप्रा-धान्यमपेक्ष्यैतदेव भावकरणाममिहितमिति इदं च "तप्पज्जायप्पणावेक्ख" मित्येनेन दत्तमप्युत्तरमनवगच्छतः परस्य मतमाशङ्क्याह–

को दव्ववीससाकरणाउ, विसेसा इमस्स नणु भणियं।
इह पज्जायावेक्खा, दव्वट्ठियनयमयं तं च॥ गतार्था।

अथाजीवकरणमाह –

इह जीवभावकरणं, सुयकरणं सुयाभिहाणं च।
सुयकरणं दुवियप्प, लोइयलोउत्तरं चेव॥
वद्धाबद्धं च पुणो, सत्थासत्थोवए सभेया उ।
एक्केक्कं स द्वनिसी–हकरणभेयं मुणेयव्वं॥

जीवस्य भावो जीवभावस्तस्य करणं जीवभावकरणं तच्च द्विविधं श्रुतज्ञानभावकरणं नोश्रुताभिधानं च नोश्रुताानभावकरण चेत्यर्थः। आह ननु यथा श्रुतज्ञानं जीवस्य भावस्तथा शेषज्ञानान्यापि विद्यन्ते ततो मत्यादिज्ञानभावकरणमपि कस्मान्नोक्तम्। सत्यं किंतु यथा परायत्तत्वाद् गुरूपदेशादिना श्रुतज्ञानं क्रियते नैवं शेषज्ञानानि तेषां स्वाचरणक्षयोप-शमक्षयाभ्यां स्वत एव जायमानत्वादेवं सम्यक्त्वादयोऽपि जीवनभावा-नैकान्तेन परायत्तास्तेषां नारकादिष्वन्यथा भावदिति। श्रुतज्ञानकर-णममिति द्विविधं लौकिकं, लोकोत्तरं च। पुनरप्येकैकंद्विधा बद्धमबद्धं च। तत्र गद्यपद्यरूपतया रचितं बद्धम्। इदं च शास्त्रोपदेशरूपं भवति यत्पुनरशास्त्रोपदेशरूपं कण्ठादेव स्तूयते तदबद्धम्। इं च बद्धं च एकैकं द्विधा भवति शब्दकरणं निशीथकरणं चेति।

अथ शब्दकरणस्य निशीथकरणस्य च व्याख्यानमाह–

उत्तीउ सद्दकरणं, पगासपाठं च सरविसेसो वा।
गूढत्तं तु निसीहं, रहस्ससुत्तत्थमहवा जं॥

(उत्तीउ सद्दकरणंति) उक्तिविशेषः शब्दकरणमथवा प्रकाशपाठं शब्दकरणं यदि वा उदात्तादिस्वरविशेषः शब्दकरणमुच्यते इति। गूढो *गुप्तोऽनवगम्यमानोऽर्थोऽस्य तद्गढार्थं पुनर्निशीथकरण मुच्यते। अथवा* यद्रहस्यसूत्रार्थं तन्निशीथकरणमुच्यते यथा निशीथाध्ययनं रहस्यमप्रकाश्यं सूत्रमर्थश्च यस्य तद्रहस्यसूत्रार्थ मिति समासः।

किं पुनस्तल्लौकिकं लोकोत्तरं वा बद्धश्रुतमित्याह–

लोए अणिबद्धाइं, अनिडियपच्चड्डियाईं करणाइं।
पंचादेससयाइं, मरुदेवाईणि उत्तरिए॥

लोके अनिबद्धान्युपदेशमात्ररूपाणि न पुनः शास्त्रनिवद्धानि मल्लानां-करणविशेषरूपाण्यनिड्डिकादिपंत्यड्डिकादीनि विज्ञेयानि। लोकेत्तरे त्वनिबद्धानि पञ्चशतान्यादेशानां बोद्धव्यानि (सरूदेवाईणिति) तरंदेव्यादेश आदौ येषां तानि मरुदेव्यादीनि पञ्चादेशशतानि यथा अत्यन्तस्थावरा अनादिवनस्पति कायादुद्वृत्य मरुदेवी प्रथमजिनमाता सिद्धेति। यदुक्तं "उत्तीउसद्दकरणमित्यादि" तत्र प्रेर्यं परिहारं चाह।

भावकरणादिगारे, किमिहं सद्दाइदव्वकरणेणं।
भण्णइ तत्था वि भावो, विवक्खिओ तव्विसिट्ठो उ॥

नन्विह भावकरणाधिकारे किमप्रस्तुतेन शब्दादिद्रव्यकरणोपन्यासेन आदिशब्दगतानेकभेदसंग्राहकः भण्यते अत्रोत्तरं तत्रापि शब्दद्रव्यकरणे भाव एव भावश्रुतमेव विवक्षितं कथंभूतो भावस्तद्विशिष्टः धब्दविशिष्टः। अयमभिप्रायः प्रकाशपाठादिके शब्दकरणेऽपि न केवलं शब्द एव विवक्षितः किं तु यत्तस्य कारणरूपं कार्यरूपं च भावश्रुतं तदेव शब्दविशिष्टमिह विवक्षितमित्यदोष इति। उक्तं श्रुतकरणम्।

अथ नोश्रुतकरणमाह–

नोसुयकरणं दुविहं, गुणकरणं जुजणाभिहाणं च।
गुणकरणं तवसंजम–करणं मूलुत्तरगुणं वा॥

नो शब्दस्य सर्वनिषेधवचनाच्छ्रुतव्यतिरिक्तं यत्तपःसंयमादिरूपस्य जीवभावस्य करणं तन्नोश्रुतभावकरणम् तच्च द्विविधं गुणकरणं तथा (जुंजणाभिहाणं ति) युज्यन्त इति योगामनःप्रभृतयस्तेषां यत्करणं यद्योजनाभिधानं करणमिति तत्र गुणकरणं तपःसंमयोः करणम्। अथवा मूलगुणकरणमुत्तरगुणकरणं च गुणकरणमुच्यत इति।

अथ योगकरणव्याख्यानमाह –

मणवयणकाकिरिया, पन्नरसविहा उ जुंजणाकरणं।
सामाइयकरणमिणं, किं नामाईण होज्जाहिं॥

सत्यादिभेदतश्चतुर्विधं मनः चतुर्विधं वचनमौदारिकमिश्रादि भेदात्सप्तविधः कायः इत्येवमेतत्रियाऽपि पञ्चदशविधा योजनाकरणत्वे-नावगन्तव्या तदेवमवसितं भावकरणम्। तदवसाने चोक्तं नामादिभेदतः षड्विधमति करणमिति, विशे०। आ० म० द्वि०। उत्त०। आव०।

प्रकारान्तरेण भावकरणप्रतिपादनायाह –

भावे पओगवीसस, पओगसामूलउत्तरे चेव।
उत्तरकमसु य जोवण–वण्णादी भोअणाईसु॥१४॥

(भावे पओगेत्यादि) भावकरणमपि द्विधा प्रयोगस्रिसाभेदातः। तत्र जीवाश्रितं प्रायोगिकं मूलकरणं पञ्चानां शरीराणां पर्याप्तिस्तानि हि पर्याप्तिनामकर्मोदयादौदयिके भावे वर्त्तमानो जीवः स्ववीर्यजनितेन प्रयोगेण निष्पादयति। उत्तरकरणं जु गाथापश्चार्द्धेनाह। उत्तरकरणं क्रमश्रुतयौवनवर्णादिचतूरूपम् तत्र क्रमकरणं शरीरनिष्पत्युत्तरकालं बालयुवस्थविरादिक्रमेणोत्तरोत्तरोऽवस्थाविशेषः। श्रुतकरणं तु *व्याकरणादिपरिज्ञानरूपोऽवस्थाविशेषोऽपरकलानां परिज्ञानरूपश्चेति।* यौवनकरणं कालकृतो वयोऽवस्थाविशेषो रसायनाद्यापादितो वेति। तथावर्णगन्धरसस्पर्शकरणं विशिष्टेषु भोजनादिषु सत्सु यद्विशिष्टवर्णाद्या-पादनमित्येतच्च पुद्गलविपाकित्वाद्वर्णादीनामजीवाश्रितमपि द्रष्टव्य-मिति॥१४॥

इदानीं विस्रसाकरणमभिधित्सयाऽऽह –

वण्णादिया य वण्णादिएसु जे केइ वीससा मेला।
ते हुंति थिरा अथिरा, छायातवदुद्धमादीसु॥१५॥

(वण्णा इत्यादि) वर्णादिका इति रूपरसगन्धस्पर्शास्ते यदा परेषामपरेषां वा स्वरूपादीनां मिलन्ति ते वर्णादिमेलका विस्रसाकारणम्। ते च मेलकाः स्थिरा असंख्येयकालावस्थायिनोऽस्थिराश्च क्षणावस्थायिनः संध्यारागाभ्रेन्द्रधनुरादयो भवन्ति। तथा छायात्वेनातपत्वेन च पुद्गलानां विस्रसापरिणामत एव परिणामो भावकरणम्। स्तनप्रच्यवनानन्तरं दुग्धादेश्च प्रतिक्षणं कठिनाम्लादिभावेन गमनमिति ॥१५॥

सांप्रतं श्रुतज्ञानमधिकृत्य मूलकरणाऽभिधित्सयाऽऽह –

मूलकरणं पुण सुते, तिविहे जो सुभासुभज्झाणे।
ससमयसुएण पगयं, अज्झवसाणे य सुहेणं ॥१६॥

(मूलेत्यादि) श्रुते पुनः श्रुतग्रन्थो मूलकरणमिदं त्रिविधे योगे मनोवाक्कायलक्षणे व्यापारे शुभाशुभे च ध्याने वर्त्तमानैर्ग्रन्थरचना क्रियते। तत्र लोकोत्तरैः शुभाशुभध्यानावस्थितैर्ग्रन्थरचना विधीयते लोकेत्वशुभध्यानाश्रितैर्ग्रन्थग्रन्थनं क्रियत इति लौकिकग्रन्थस्य कर्मबन्धहेतुत्वात् कर्तुरशुभध्यायित्वमयसेयम् इह तु सूत्रकारस्य तावत्स्वसमयेन शुभाध्यवसायेन च प्रकृतं यस्माद्गणधरैः शुभध्यानावस्थितैरिदमङ्गीकृतमिति ॥१६॥ तेषां च ग्रन्थरचनां प्रति शुभध्यायिनां कर्मद्वारेण योऽवस्थाविशेषस्तद्दर्शयितुकामो निर्युक्तिकृदाह।

ठिइअणुभावे बंधणं–निकायणनिहत्तदीहहस्सेसु।
संकडउदीरणाए, उदये वेदे उवसमे य ॥१७॥

"ठिइ इत्यादि" तत्रकर्मस्थितिं प्रति अजघन्योत्कृष्टस्थितिभिर्गण–धरैः सूत्रमिदं कृतामिति। तथाऽनुभवो विपाकस्तदपेक्षया मन्दानुभावैस्तथा बन्धमङ्गीकृत्य ज्ञानावरणीयादिप्रकृतीर्मन्दानुभावा बध्नद्भिस्तथाऽनिकाचयद्भिरेवं निधत्तावस्थामकुर्वद्भितथा दीर्घस्थितिकाः प्रकृतीर्लघीयसीर्जनयद्भितथोत्तरप्रकृतीर्बध्यमानासु संक्रामयद्भितथोदयवतां कर्मणामुदीरणां विदधानैरप्रमत्तगुणस्थैस्तु सातासातायूंष्यनुदीरयद्भिस्था मनुष्यगतिपञ्चेन्द्रियजात्यौदारिकशरीरतदङ्गोपाङ्गादिकर्मणामुदये वर्त्तमानैस्तथा वेदमङ्गीकृत्य पुंवेदे सति तथा (उवसमेत्ति) सूचनात्सूत्रमिति क्षायोपशमिकाभावे वर्त्तमानैर्गणधारिभिरिदं सूत्रकृताङ्गग्रथितमिति ॥१७॥

साम्प्रतं स्वमनीषिकापरिहारद्वारेण करणप्रकारमभिधातुकाम आह–

सोऊण जिणवरमतं, गणहारी काउ तक्खओवसमं।
अज्झव साणेण कयं, सूत्तमिणं तेण सूयगमं ॥१८॥

"सोऊणेत्यादि" श्रुत्वा निशम्य जिनवराणां तीर्थकराणां मतमभिप्रायं मातृकादिपदं गणधरैर्गौतमादिभिः कृत्वा तत्र ग्रन्थरचने क्षयोपशमं तत्प्रतिबद्धं कर्म क्षयोपशमाद्तावधानैरिति भावः। शुभध्यवसाये च सता कृतमिदं सूत्रं तेन सूत्रकृतमिति ॥१८॥

इदानीं कस्मिन् योगे वर्त्तमानैस्तीर्थकृद्भिर्भाषितं कुत्र वा गणधरैर्लब्धमित्येतदाह –

वइजोगेण पभासिय–मणेगजोगंधराण साहूणं।
तो वयजोगेण कयं जीवस्स सभावियगुणेण ॥१९॥

"व इजोगेणेत्यादि" तत्र तीर्थकृद्भिः क्षायिकज्ञानवर्तिभिर्वाग्योगेनार्थः प्रकर्षेण भाषितः प्रभाषितो गणधराणां ते च न प्राकृतपुरुषकल्पाः किंत्वनेकयोगधराः। तत्र योगः क्षीराश्र वादिलब्धिकलापसंबन्धस्तं धारयन्तीत्येनकेयोगधरास्तेषां प्रभाषितमिति सूत्रकृताङ्गाऽपेक्षया नपुंसकता। साधवश्चात्र गणधरा एव गृह्यन्ते तदुद्देशेनैव भगवतामर्थप्रभाषणादिति। ततोऽर्थं निशम्य गणधरैरपि वाग्योगेनैव कृतं तच्च जीवस्य स्वभाविकेन गुणेनेति। स्वस्मिन् भावे भवः स्वाभाविकः प्राकृत इत्यर्थः प्राकृतभाषयेत्युक्तं भवति न पुनः संस्कृतया लट्लिट्शप्प्रकृतिप्रत्य-यादिविकारविकल्पनानिष्पन्नयेति ॥१९॥

पुनरन्था सूत्रकृद् निरुक्तमाह–

अक्खरगुणमतिसंघायणाए कम्मपरिसाडनाए य।
तदुभयजोगेण कयं, सुत्तमिणं तेण सुत्तगडं ॥२०॥

(अक्खरेत्यादि)अक्षराणि अकारादीनि तेषां गुणोऽनन्तरगमपर्यायत्वमुच्चारणं वाऽन्यथाऽर्थस्य प्रतिपादयितुमशक्यत्वात् मतेर्मतिज्ञानस्य संटना अक्षरगुणेन मतिसंघटना भावश्रुतस्य द्रव्यश्रुतेन प्रकाशनमित्यर्थः। अक्षरगुणस्य वा मत्या बुध्या संघटना रचनेति यावत् तयाऽक्षरगुणमतिसंघटनया। तथा कर्मणां ज्ञानावरणादीनां परिशाटना जीवप्रदेशेभ्यः पृथक्करणरूपा तया च हेतुभूतया सूत्रकृताङ्गं कृतकमिति संबन्धः। तथाहि यथा यथा गणधराः सूत्रकरणायोद्यमं कुर्वन्ति तथा तथा कर्मपरिशाटना यथा यथा च कर्मपरिशाटना तथा तथा ग्रन्थरचनायोद्यमः संपद्यत इति एतदेव गाथापश्चार्द्धे न दर्शयति (तदुभयोगेनेति) अक्षरगुणमति संघटनायोगेन कर्मपरिशाटनायोगेन च यदि वा वाग्योगेन मनोयोगेन च कृतमिदं सूत्रं तेन सूत्रकृतमिति, सूत्र०१ श्रु०१ अ०। इह "करणेभएयअंते" इत्यादिगाथायाः समनन्तरं "नातं ठवणादविए" इत्यादिका बह्व्यो गाथा निर्युक्तौ दृश्यन्ते ताश्च भाष्यकारेण प्रक्षेपरूपत्वादिना केनापि कारणेन प्रायो न लिखिताः केवलं तदर्थ एव भाष्यगाथाभिर्लिखितस्तदत्र कारणं स्वधियाऽभ्यूह्यमिति तदेवं व्याख्यातं "करणे भएअ अंते" इत्यादिगाथायाः करणलक्षणम्। करणं चेह सामायिकस्यैव प्रस्तुतं करोमि भदन्त ! सामायिकमिति संबन्धादतस्तदेवं सामायिककरणमप्युत्पन्नविनेयवर्गव्युत्पादनार्थं सप्तभिरनुयोगद्वारैः। कृता विशे०६७२ पत्र०। (कृतादिभिः पुनर्निरूपणं सामाइकशब्दे कारयिष्यते) इदाणिं करणं कति विहं ति (दारं) आयदियस्य चउव्विहं तंजधा उद्देसणाकरणं वायणाकरणं समुद्देसणाकरणं अणुण्णाकरणं सिसे विहु उद्दिसिज्जमाणकरणं चइज्जमाणकरणं श्रणुण्णविज्जमाणकरणं दारम्॥

दण्डकः –

कइ विहाणं ? भंते ! करणे पण्णत्ते गोयमा ! पंचविहे करणे पण्णत्ते तं जहा दव्वकरणे खेत्तकरणे कालकरणे भावकरणे णेरइयाणं भंते ! कइविहे करणे पण्णत्ते गोयमा पंचविहे करणे पण्णत्ते तंजहा दव्वकरणे भावकरणे एवं जाव वेमाणिया। कइविहाणं ? भंते ! सरीरकरणे पण्णत्ते गोयमा ! पंचविहे सरीरकरणे पण्णत्ते तंजहा ओरालियसरीरकरणे जाव कम्मा सरीरकरणे एवं जाव वेमाणिया जस्स जइ सरीरराणि कइविहेणं भंते ! इंदियकरणे पण्णत्ते गोयमा ! पंचविहे पण्णत्ते तंजहा सोइंदियरकरणे जाव फासिंदियकरणे एवं जाव वेमाणिया जस्स जइ इंदियाइं एवं

एएणं कमेणं भासाकरणे चउव्विहे, मणकरणे चउव्विहे, कसायकरणे चउव्विहे, समुग्घायकरणे सत्तविहे, सण्णाकरणे चउव्विहे, लेस्सकरणे छव्विहे, दिट्ठिकरणे तिविहे, वेदकरणे तिविहे पण्णत्ते तंजहा इत्थिवेदकरणे पुरिसवेदकरणे णपुंसगवेदकरणे एए सव्वे णेरइयादिदंडगा जाव वेमाणिया जस्स जं अत्थि तं तस्स सव्वं भाणियव्वं। कइविहे णं ? भंते ! पाणातिवायकरणे पण्णत्ते ? गोयमा ! पंचविहे पण्णत्ते तंजहा एगिंदियपाणाइवायकरणे जाव पंचिंदियपाणाइवायकरणे एवं णिरवसेसं जाव वेमाणिया कइविह णं भंते ! पोग्गले करणे पण्णत्ते गोयमा! पंचविहे पोग्गले करणे पण्णत्ते तं जहा वन्नकरणे गंधकरणे रसकरणे फासकरणे संठाणकरणे वण्णकरणे णं भंते ! कइविहे पण्णत्ते ? गोयमा ! पंचविहे पण्णत्ते तंजहा कालवण्ण करणे जाव सुक्किल्लवण्णकरणे एवं भेदो गंधकरणे दुविहो रसकरणे पंचविहे फासकरणअट्ठविहे संठाणकरणेणं भंते! कइविहे पन्नत्ते ? गोयमा ! पंचविहे पण्णत्ते तंजहा परिमंडलसंठाणकरणे जाव आयतसठाणकरणे सेवं भंते भंतेत्ति। जाव विहरइ। दव्वे खेत्ते काल, भवे य भावे य सरीरकरणे य। इंदियकरणे भासा, मणे कसाए समुग्घाए ॥१॥ सण्णालेस्सादिट्ठी, वेएवाणाइवायकरणे य। पोग्गलकरणे वण्णे, गंधरसफास संठाणे ।२। एगूणवीसइमस्स णवमो उद्देसो सम्मत्तो। (भ०)

"कइविहेणमित्यादि" तत्र क्रियतेऽनेनेति करणं क्रियायाः साधकतमं कृतिर्वा करणं क्रियामात्रं न अन्यस्मिन् व्याख्याने करणस्य निवृत्तेश्च न भेदः स्यान्निर्वृत्तेरपि क्रियारूपत्वान्नैवं करणमारम्भक्रियानिवृत्तिस्तु कार्यस्य निष्पत्तिरिति (दव्वकरणेत्ति) द्रव्यरूपं करणं दात्रादि द्रव्यस्य वा कटादेर्द्रव्येण वा शलाकादिना, द्रव्ये वा पात्रादौ, करणं द्रव्यकरणं (खेत्तकरणंति) क्षेत्रमेव करणं क्षेत्रस्य वा शालिकक्षेत्रादेः करणं क्षेत्रेण वा क्षेते वा करणं स्वाध्यायादेः क्षेत्रकरणं (कालकरणोत्ति) काल एव करणं कालस्य वाऽवसरादेः करणं कालेन काले वा करणं कालकरणं (भवकरणंति) भवो नारकादिः स एव करणं तस्य व तेन वा तस्मिन्वा करणम् एवं भावकरणमपि शेषं तु उद्देशकसमाप्तिं यावत्सुगममिति एकोनविंशति तमशते नवमः, भ०१९ श०९ उ०। निष्पादने, आसेवने, आय०४ अ०। संयमव्यापारे, ज्ञा०१ अ०। समाचारणे, ध०२०। व्यापारे, आच०१ श्रु०९ अ०१ उ०। अनुष्ठाने, स्था०३ ठा०४ उ०। प्रश्न०। विधाने, औ०। स्था०। सूत्र०। "करणतिगं" करणत्रिकं करणकारणानुमोदना रूपम् व्य०१० उ०। तिविहंकरणं कृतं कारितमनुमोदितं च, नि० चू०१९ उ०। उपाये, "एत्तो आउट्टिओ, वोच्छं जहक्कमेण सूरस्स। चंदस्स य लहुकरणं जह दिट्ठं पुव्वसूरीहिं" लघुकरणं लघूपायम्, ज्यो०१२ पाहु०। जीववीर्य्यविशेषे, कर्मणामष्टौ करणानि "बंधण १ संकमणु.२ व्वट्टणा य ३ अववट्टणा ४ उदीरणया ५। उवसाममणा ६ निहत्ती,७ निकयणा ८ चेति करणाइं" क०प्र०१ क०) (बन्धनादिकरणानां व्याख्या बंधाइशब्देषु)

संप्रत्यष्टानामपि करणानां येऽध्यवसायास्तेषां परिमाणनिरूपणार्थमाह –

**थोवा कसायउदया, ठिइबंधोदीकरणा य संकमणा।
उवसामणाइसु अज्झवसाया कमसो असंखगुणा ॥३०७॥**

स्थितिबन्धे उपलक्षणमेतत् अनुभागबन्धे वा ये प्रायोदीर्णास्ते सर्वे स्तोकाः प्रकृतिप्रदेशबन्धोपयोगाद्भवतः इति ताविह न गृह्येते अनुभागबन्धश्चोपलक्षणव्याख्यानात् गृहीतस्ततश्च स्थितिबन्धे कषायोदयाः स्तोका इति। किमुक्तं भवति बन्धनकरणाध्यवसायाः सर्वस्तोकास्तेभ्य उदीरणाध्यवसाया असंख्येयगुणास्ततोऽपि संक्रमाध्यवसाया असंख्येयगुणाः संक्रमग्रहणेन चोद्वर्त्तनापवर्त्तने गृहीतेद्रष्टव्ये। संक्रमभदत्वात्तयोः तत उपशान्तोपशमनाध्यवसाया असंख्येयगुणास्ततोऽपि निधत्ताध्यवसाया असंख्येयगुणास्ततोऽपि निकाचनाध्यवसाया असंख्येयगुणाः इति श्रीमलयगिरिविरचितायां कर्मप्रकृतिटीकायां करणाष्टकं समाप्तम् तदेवमुक्तानि करणानि, क०प्र०१०८ पत्र०। पं० सं०। मल्लशास्त्रप्रसिद्धे अङ्गभङ्गविशेषे, औ०। क्रियते येन तत्करणम्। मननादिक्रियासु प्रवर्त्तमानस्यात्मन उपकरणभूते तथा तथा परिणामवत्पुद्गलसंघाते, स्था०।

तिविहे करणे पण्णत्ते तंजहा मणकरणे व यकरणे कायकरणे उवं णेरइयाणं विगलिंदियवज्जाणं जाव वेमाणियाणं ॥

मनस एव करणं मनःकरणमेवमितरे अपि एवमित्याद्यतिदेशसूत्रं पूर्ववदेव भावनीयमिति। अथवा योगप्रयोगकराशब्दानां मनःप्रभृतिकमभिधेयतया योगकरणसूत्रेष्वभिहितमितिनार्थभेदो ऽन्वेषणीयस्त्रयाणामप्येषामेकार्थतया आगमे बहुशःप्रवृत्तिदर्शनात्। तथाहि योगः पञ्चदशविधः शतकादिषु, व्याख्यातः प्रज्ञापनायां त्वेवमेवायं प्रयोगशब्दनोक्तस्तथाहि "कतिविहे णं भंते ! पओगे पण्णत्ते गोयमा ! पण्णरसविहेत्यादि" तथा आवश्यके अयमेव करणतयोक्तस्तथाहि"जुंजकरणं तिविहं, मणवइकाए य मसिं सच्चाइ। सट्ठाणे तेसि भेओ, चउचउहा स तहा चेव त्ति" स्था०३ ठा०।

कइविहे णं भंते ! करणे पण्णत्ते ? गोयमा ! चउव्विहे करणे पण्णत्ते तंजहा मणकरणे वयकरणे कायकरणे कम्मकरणे। नेरइया णं भंते ! कइविहे करणे पण्णत्ते गोयमा ! चउव्विहे करणे पण्णत्ते तंजहा मणकरणे जाव कम्म करणे। एवं पंचिंदिआणं सव्वेसिं चउव्विहे करणे पण्णत्ते एगिंदियाणं दुविहे कायकरणे य कम्मकरणे य। विगलिंदिआणं वइकरणे कायकरणे कम्मकरणे। नेरइआणं भंते ! किं करणओ असायं वेयणं वेदंति अकरणओ असायं वेयणं वेदंति ? गोयमा ! नेरइया णं करणओ असायं वेयणं वेदंति णो अकरणओ असायं वेयणं वेदंति ? से केणट्ठेणं ? गोयमा ! नेरइयाणं चउव्विहे करणे पण्णत्ते तंजहा मणकरणे वय (इ) करणे कायकरणे कम्मकरणे। इच्चेतेणं चउव्विहेणं असुभेणं करणेणं ननेरइया करणओ असायं वेयणं वेदंति णो अकरणओ। से तेणट्ठेणं। असुरमुमाराणं किं करणओ अकरणओ ? गोयमा ! करणओ णो अकर-

णओ से केणट्ठेणं ? गोयमा ! असुरकुमाराणं चएव्विहे करणे पण्णत्ते तंजहा मणकरणे वइकरणे कायकरणे कम्मकरणे इच्चेतेणं सुभेणं करणेणं असुरकुमारा करणओ सायं वेयणं वेंदंति नो अकरणओ एवं जाव थणियकुमारा। पुढविकाइयाणं एवामेव पुच्छा णवरं एच्चेएणं सुभासुभेणं करणेणं पुढविकाइया करणओ वेमायाए वेयणं वेदंति नो अकरणओ दरालियसरीरा सव्वे सुभासुभेणं वेमायाए देवा सुभेणं सायवेयणं वेदंति, भ०६ श०१ उ०।

प्रकारान्तरेण करणत्रैविध्यमाह –

तिविहे करणे पण्णत्ते तंजहा आरंभकरणे संरंभकरणे समारंभकरणे णिरंतरं जाव वेमाणियाणं।

(तिविहे इत्यादि) आरम्भणमारम्भः पृथिव्याद्युपमर्द्दनं तस्य कृतिः करणं स एव वा करणमित्यारम्भकरणमेवमितरे अपि वाच्ये नवरमयं विशेषः संरम्भकरणं पृथिव्यादिविषयमेव मनःसंक्लेशकरणं समारम्भकरणं तेषामेव संतापकरणमिति। आहच "संकप्पो संरंभो, परितावकरो भवे समारंभो। आरंभो उद्दवओ, सुद्धनयाणं तु सव्वेसिं" ति ॥१॥ इदमारम्भादिकरणत्रयं नारकादीनां वैमानिकान्तानां भवतीत्यतिदिशन्नाह (निरंतरमित्यादि) सुगमं केवलं संरम्भकरणमसज्ञिनां पूर्वभवसंस्कारानुवृत्तिमात्रतया भावनीयमिति, स्था०३ ठा०१ उ०।

पुनरपि प्रकारान्तरेण करणत्रैविध्यमाह–

तिविहे करणे पण्णत्ते तंजहा धम्मिए करणे अधम्मिए करणे धम्मियाधम्मिए करणे ॥

कृतिः करणमनुष्ठानम्, तच्च धार्म्मिकादिस्वामिभेदेन त्रिविधं तत्र धार्मिकस्य संयतस्येदं धार्मिकमेवमितरत् नवरमधार्मिकोऽसंयतस्तृतीयो देशसंयतः अथवा धर्मे भावधर्मे वा प्रयोजनमस्येति धार्मिकः विपर्यस्तु इतरत्। एवं तृतीयमपि, स्था०३ ठा०४ उ०। क्रियते येन तत्करणम्। क्रियां प्रति साधकतमे, करोतीति करणः "कृत्यल्युटो बहुलमिति" (पाणि०) वचनात् कर्त्तरिल्युट् कर्त्तरि, तत्र "तइया करणम्मि कया" करणे तृतीया कृता विहिता यथा नीतं शस्यं तेन शकटेन। कृतं कुण्डं मयेति, स्था० ८ ठा०। अनु। करणे, येन कर्त्ता कार्यं निर्वर्त्तयति, आ० चू०१ उ०। "कज्जपसाहगतमं करणम्मि उ पिंडदंडाइ" कार्यप्रसाधकतमं कारणं करणमुपादाननिमित्तभेदाद् द्विभेदं तत्र घटे मृत्पिण्डमुपादानं दण्डादिनिमित्तम्। अष्ट०११ अष्ट०। औ०। "इयाणिं करणे एगत्ते जहा दात्रेण लुनाति पिप्पलकेण वा दसाकप्पणं करेति पुहत्ते दात्रैर्लुनंति परसुहिं वा रुक्खे कप्पेंति" नि० चू०१ उ०। विशे०। स्या०। चक्षुरादिष्विन्द्रियेषु, जं०२ वक्ष०। "करणं द्विविधं ज्ञेयं, बाह्यमाभ्यन्तरं बुधैः। यथा लुनाति दात्रेण, मेरुं गच्छति चेतसा "स्था०१ ठा०। करणं द्विधा अन्तः करणं बहिः करणं च। अन्तःकरणं मनो, बहिःकरणं पञ्चेन्द्रियाणि, षो०१५ विव०। स्था०। आ० म० प्र०। प्रश्न०। नं०। आचा०। "तदट्ठोवउत्ते तदप्पियकरणे" करणानि तत्साधकतमानि आवश्यकदेहरजोहरणमुखवस्त्रिकादानि, अनु०। आचा०। क्रियते कर्मक्षपणमनेति करणम्, विशे०। सम्क्त्वाद्यनुगुणे विशुद्धरूपे जीवपरिणामविशेषे, आ०म०प्र०।

करणं अहापव्वत्तं,अपुवमनियट्टिमेव भव्वाणं।
इयरेसिं पढम चिय, भण्णइ करणं ति परिणामो ॥

इह भव्यानां त्रीणि करणानि भवन्ति तद्यथा यथाप्रवृत्तकरणम् अपूर्वकरणम् अनुवृत्तिकरणं चेति। तत्र येन अनादिसंसिद्धप्रकारेण प्रवृत्तं यथाप्रवृत्तं क्रियते कर्मक्षपणमनेनेति करणं सर्वत्र जीवपरिणाम एवोच्यते यथाप्रवृत्तं च तत्करणं च यथा प्रवृत्तकरणमेवमुत्तरत्रापि करणशब्देन कर्मधारयः। अनादिकालात्कर्मलक्षपणप्रवृत्तोऽध्यवसायविशेषो यथाप्रवृत्तकरणमित्यर्थः। अप्राप्तपूर्वमपूर्वस्थितिघातरसघाताद्यपूर्वार्थनिवर्त्तकं वा अपूर्वनिवर्त्तनशीलं "निवर्त्ति" आसम्यग्दर्शनलाभान्न निवर्त्तत इत्यर्थः। एतानि त्रीण्यपि यथोत्तरं विशुद्धविशुद्धतरविशुद्धतमाध्यवसायरूपाणि भव्यानां करणानि भवन्ति इतरेषां त्वभव्यानां प्रथमेव यथाप्रवृत्तकरणं भवति नेतरे द्वे इति एतेषां करणानां मध्ये कस्यामवस्थायां किं भवतीत्याह।

जा गंठी ता पढमं, गंठि समइच्छिओ अपुव्वं तु।
अनिअट्टिकरणं पुण, सम्मत्तपुरक्खडे जीवे ॥

अनादिकालादारभ्य यावद्ग्रन्थिस्थानं तावत्प्रथमं यथाप्रवृत्तकरणं भवति कर्म्मक्षपणनिबन्धानस्याऽध्यवसायमात्रस्य सर्वदैव भावात् अष्टानां कर्म्मप्रकृतीनामुदयप्राप्तानां सर्वदैव क्षपणादिति ग्रन्थितुं समतिक्रामतो निदानस्यापूर्वकरणं भवति प्राक्तनाद्विशुद्धतराध्यवसायरूपेण तेनैव ग्रन्थेर्भे दादिति। अनिवृत्तिकरणं पुनः सम्यक्त्वं *पुरस्कृतमाभिमुखं यस्यासौ सम्यक्त्वपुरस्कृतोऽभिमुखसम्यक्त्व* इत्यर्थः तत्रैवभूते जीवे भवति तत एवातिशुद्धतमाध्यवसायरूपादनन्तरं सम्यक्त्वलाभादिति गाथादशकार्थः, विशे० आ०म० प्र० कर्म० पं० सं० आचा० अष्ट० यो० विं० यथा प्रवृत्त्यपूर्वकरणानिवृत्तिकरणानां क्रमः उवसमसेणिशब्दे उक्तः) गंठिभेदशब्दे ग्रन्थिभेदप्रस्तावे एषां चर्चाऽभिधास्यते) नागरक्षादिप्रारम्भयन्त्रे, दश०६ अ०। क्रियत इति करणम् उत्तरगुणे, सूत्र०२ श्रु०१ अ०। पिण्डविशुद्ध्यादौ, आव०३ अ०।

पिंडविसोही ४ समिई, ५
भावण १२ पडिमाय २ इंदियनिरो हो ५।
पडिलेहण २५ गुत्तीओ ३,
अभिग्गहा ४ चेव करणं तु ॥

वस्त्र १ पात्र २ वस ३ त्याहारशुद्धिलक्षणा चतुर्धा पिण्डविशुद्धिः, इरियासमिई १ भासासमिई २ एसणासमिई ३ आयाणभंडमत्तनिक्खेवणासमिई ४ उच्चारपासवणखेलजल्लासिंघाणपरिट्ठावणिया समिई ५ इति समितिः। अनित्यता भावना १ अशरणभावना २ भवभावना ३ एकत्वभावना ४ अन्यत्वभावना ५ अशोचभावना ६ आश्रभावना ७ संवरभावना ८ निर्जराभावना ९धर्म्मस्वख्यात-ताभावना १० लोकभावना ११ बोधिभावना १२ इति भावना। बारस भिक्खुपडिमाओ पण्णत्ताओ तंजहा मासियभिक्खुपडिमा १ दोमासिया २ तिमासिया ३ चउमासिया ४ पंचमासिया ५ छमासिया पडिमा ६ सत्तमासिया पडिमा ७ सत्तराइंदिया भिक्खुपडिमा ८ दोच्चा सत्तरइंदिया भिक्खुपडिमा ९ तच्चा सत्तराइंदिया भिक्खुपडिमा १० अहोराइया भिक्खुपडिमा ११ एगराइया भिक्खुपडिमा १२ इति प्रतिमा। मनोज्ञामनोज्ञेषु शब्द १ रूप २ गन्ध ३ रस ४ स्पर्श षु ५। श्रोत्र १ चक्षु २ घ्राण ३ जिव्हा ४ त्वगिन्द्रिय ५ विषयीभूतेषु रागद्वेषवर्जनात्पञ्चधेन्द्रियनिरोधः।

दिट्ठिपडिलेहएगा, छउड्ढपक्खोडतिगतिगंतरिया।
अक्खोडपमज्जणया, नवनवमुहुत्तिपणवीसा॥

प्रथमं दृष्टिप्रतिलेखना १ ततः पार्श्वद्वयेऽपि त्रयस्त्रय ऊर्द्धप्रस्फोटाः कार्याः एवमेलगयद्विरास्फोटा लगयद्भिः प्रथमार्जनाश्च परस्परं त्रिकैंत्रिकान्तरिताः प्रत्येकं नव नव कार्याः एवमष्टादश इति मुखवस्त्रिकाप्रतिलेखनाः पञ्चविंशतिः स्युः "पायाहिणेण तिअ तिअ, वामेयर बाहुसीसमुहहियए। अंसुठाहो पिट्ठे, चउछप्पयदेहपणवीसा" इति प्रतिलेखनाः पञ्चविंशतिः मनोवाक्कायगुप्तिरूपास्तिस्त्रो गुप्तयो द्रव्यक्षेत्रकालभावभेदाच्चत्वारोऽभिग्रहाः इति कारणमिति गाथाछंदः। ग०१ अधि० औ० नं० आ० चू० आ० म० द्वि० प्रव० ज्ञा० सम्म० भ० उपधौ, करणमुच्यते उपधिर्भण्यते, नि० चू० १ उ० तपोनियमवन्दनाद्यनुष्ठाने, ध० २ अधि० आधरे ल्युट् क्षेत्ररूपे देहे, अमरः करणाश्रयत्वात्तस्य तथात्वम्। "उपमानमभूद् विलासिनां, करणं यत्तवकान्तिमत्तया" कु०मा० भावे–ल्युट्–क्रियायाम्, वैश्येन शूद्रायामुत्पन्ने वर्णशङ्करजातिभेदे, वाच०।

करणओ (तो) अव्य०(करणतस्) प्रयोगत इत्यर्थे "अत्थतो य करणतो य सेवविहित्ति" स्था०३ ठा०।

करणकया स्त्री० (करणकृता) करणं क्रिया तया कृता यथा प्रवृत्त्य–पूर्वानिवृत्तिकरणरसाध्यक्रियाविशेषकृतायामुपशमनायाम्, क० प्र० ६४ पत्रं।

करणगुण पुं० (करणगुण) कलाकौशले, आचा०१ श्रु०२अ०१उ०।

करणचरणप्पहाण त्रि० (करणचरणप्रधान) चारित्रप्रधाने, नि०।

करणजड पुं० (करणजड) करणं क्रिया तस्यां जडः करणजडः समितिगुप्तिप्रत्युपेक्षणादिक्रिया पुनः पुनरुपदिश्यमानामप्यतीव जडतया गृहीतुमशक्ते, ध०३ अधि० आव०।

करणट्ठग न० (करणाऽष्टक) करणानां वीर्य्यविशेषरूपाणमष्टकं करणाष्टकम्। वन्धनादौ, "कम्मट्ठगस्स करणट्ठगुदयसंताणि वोच्छामि" क० पं०।

करणाणिप्फण्ण त्रि०(करणानिष्पन्न) निमित्तनिष्पन्ने, "चिंघणाणिप्पणत्ति वा करणणिप्पणत्ति वा णिमित्तणिप्पण्णत्ति वा एगट्ठ" आ० चू०१ उ०।

करणतिय न० (करणत्रिक) मनोवाक्कायलक्षणे करणत्रये, दश०१० अ०।

करणपज्जत्त पुं०(करणपर्य्याप्त) शरीरेन्द्रियादीनि निर्वर्तितवति पर्याप्तभेदे, कर्म०१ क०।

करणया स्त्री०(करणता) संयमस्याऽनुष्ठाने, भ० ६ श० ३३ उ०।

करणवीरिय न० (करणवीर्य्य) क्रियावीर्य्य, यथा घटकरणक्रियावीर्य्यं पटकरणक्रियावीर्यम् "एवं जत्थ जत्थ उट्ठाणकम्मबलसत्ती भवति तत्थ तत्थ करणवीरियं मनोवाक्कायकरणवीरियं" नि० चू०१ उ०।

करणसच्च न०(करणसत्य) प्रतिलेखनादिक्रियाविशेषये निरालस्ये करणसत्यस्य फलं प्रश्नपूर्वकमाह–

करणसच्चेणं भंते! किं जणयइ करणसच्चेणं करणसत्तिं जणयइ, करणसच्चे वट्टमाणे जीवे जाहवाई तहा कारीथा वि भवइ।

हे भदन्त! करणसत्येन जीवः किं जनयति करणे प्रतिलेखनादि क्रियायां सत्यं यथोक्तविधिना आराधनं करणं सत्यं तेन करणसत्येन जीवः किं फलमुपार्जयति तदा गुरुराह हे शिष्य! करणसत्येन करणशक्तिं क्रियासामर्थ्यं जनयति पुनः करणसत्ये वर्त्तमानो जीवो यथा वादी तथा कारी भवति क्रियासत्यः पुमान् यादृशं सूत्रार्थं पठति तादृशं क्रियाकलापं। वदति तथैव करोति इति भावः। (उत्त०) करणे सत्यं करणसत्यं यत्प्रतिलेखनादिक्रियां यथोक्तां सम्यगुपयुक्तः करुते तेन करणशक्तिं तन्माहात्म्यात्पुरानध्यवसितक्रियासामर्थ्य रूपां जनयति। तथा करणसत्ये वर्त्तमानो जीवो यथावादी तथा कारी चापि भवति। स हि सूत्रमधीयानो यथा एव क्रियाकलापं वदनशीलः करणशीलोऽपि तथैवेति। उत्त०२९ अ० आव०।

करणाणुओग पुं० (करणानुयोग) क्रियन्ते इति करणानि। तेषामनुयोगः करणनुयोगः। द्रव्यानुयोगभेदे, तथाहि "जीवद्रव्यस्य कर्तुर्विचित्रक्रियासु साधकतमानि कालस्वभावनियतिपूर्वकृतानि नैकाकी जीवः किञ्चन कर्तुमलमिति मृद्द्रव्यं च कुलालश्चक्रचीवर दण्डादिककरणकलापमन्तरेण न घटलक्षणं कार्यं प्रतिघटत इति तस्य तानि करणानीति द्रव्यस्य करणानुयोग इति, स्था०१० ठा०।

करणाणुपालग पुं० (करणानुपालक) अनु पश्चात्पालकः पिण्डविशुद्ध्यादेः करणस्य पूर्वर्षिपरंपराक्रमेण पालके, वु०३ उ०।

करणपज्जत पुं० (करणापर्य्याप्त) करणैरपर्य्याप्तेषु, ये पुनः करणानि शरीरेन्द्रियादीनि न तावन्निर्वर्तयन्ति अवश्यं पुरस्तान्निर्वर्त्तयिष्यन्ति ते करणापर्याप्ता" कर्म०१ क० पं०सं०।

करणालस त्रि०(करणालसे), धर्मं प्रत्यनुद्यसे, धर्म प्रत्युनुद्यमे "एवं केइ जंपंति इड्ढीरससायगारवपरा बहवे करणालसा परूवें ति धम्मवीमंसएणं मोसं" प्रश्न० आश्र०२ द्वा०।

करणि पुं० (करणि) पुं० सादृश्ये, अनु०।

करणिज्ज त्रि० (करणीय) कृ–अनीयर् "**वोत्तरीयानीयकृद्येज्ञः ८।१।२४८** इति यकारस्य द्वित्वोक्तो जः वा करणिज्जं करणीअं करणीयम् प्रा०। कर्त्तव्ये, प्रयोजने, ज्ञा०३ अ० आचा०। अनुष्ठेये, दश०१० अ० कर्तुं योग्ये, न० अवश्यंकर्त्तव्ये, जीत०। व्य०। सामान्येन कर्त्तव्ये, आव०४ अ०।

करणीज्जकिरिया स्त्री०(करणीयक्रिया) पद्येन प्रकारेण करणीयं तत्तेनैव क्रियते नान्यथा इत्येवंरूपे क्रियाभेदे, तथा हि घटो मृत्पिण्डादिकया एव क्रियते न पाषाणसिकतादिकयेति सूत्र०२ श्रु०२ अ०।

करणोदयसंता स्त्री०(करणोदयसत्ता) करणेषूदय, सत्तायां च "करणोदयसत्ताणं सामित्तो घेहि सेसगं नेयं" क० प्र०।

करणोवाय पुं० (करणोपाय) क्रियते विविधावस्था जीवस्यानेन। क्रियते वा तदिति करणम्। कर्मप्लवकक्रियाविशेषो वाकरणं करणमिव करणं स्थानान्तरप्राप्तिहेतुतासाधर्म्यात्कर्मैव मदेवोपायः कर्मरूपे हेतौ, मिथ्यात्वादिके कर्मबन्धहेतौ च। "अज्झवसाणणिव्वत्तिएणं करणोवाएणं एवं खलु ते जीवा परभवियाउयं पकरें ति "भ०२५ श०८ उ०।

करत(य)ल न०(करतल) हस्तस्य तले करस्तलमिव हस्ते, वाच०। प्र१न०। भ०। उपचाराद् हस्तवाद्ये करो हस्तस्तस्य

तलं करतलम्। "हस्तशंखं पूरेतित्ति वुत्तं भवति अण्णतरं वा करतलेन वाद्यं करोति" नि० चू०१ उ०।

करत (य) लपग्गहिय त्रि० (करतलप्रगृहीत) करतलाभ्यां प्रकर्षेण गृहीते, व्य०१ उ०। "करयलपरिग्गहियं दसण्णहंमत्थए अंजलिं कट्टु जएणं वद्धावेइ" रा० ६७ पत्र०।

करत (य) लप्पब्भट्ठविप्पमुक्क त्रि० (करतलप्रभ्रष्टविप्रमुक्त) करतलात् विप्रमुक्तं सत् प्रभ्रष्टं करतलविप्रमुक्तम्। प्राकृतत्यात्पदव्यत्ययः। ततो विशेषणसमासः। हस्ततलाद्विप्रमुक्ते सति प्रभ्रष्टे, रा०३६ पत्र०। जी०।

करत (य) लमाइय त्रि०(करतलमेय) मुष्टिग्राह्ये, कल्प०।

करत(य)लपरिमिय त्रि०(करतलपरिमित)मुष्टिग्राह्ये, औ०। रा०। ज्ञा०। "करयलपरिमियपसत्थतिबलियबलियमज्झा" करतलपरिमितो मुष्टिग्राह्यः प्रशस्तः प्रशस्तलक्षणोपेतस्त्रिबलिको बलिकत्रयोपेतो रेखात्रयोपेतो बलवान् मध्यो मध्यभागो यस्याः सा" करतलपरिमित-प्रशस्तत्रिबलिकबलिकमध्याश रा०१५ पत्र०।

करपत्त न० (करपत्र) करात् पतति, पत्–ष्ट्रन्। क्रकचे, दारुभेदके अस्त्रभेदे, विपा०६ अ०। ज्ञा०। स्था०। करावेव पत्रं वाहनं यत्र जलक्रीडायाम्, जटाधरः। तत्र हि हस्ताभ्यां जलमत्तोल्य परस्परं क्रीड्यते, वाच०।

करपत्तदारण न०(करपत्रदारण)नरके करपत्रेण नारकदेहदारणे सूत्र०१ श्रु०१ अ०।

करप्पहार पुं०(करप्रहार) करेणाभिघाते, कल्प०।

करंवय पुं० (करम्बक) तथा दध्ना पर्युषितौदनमेकीकृत्य करम्बको विहितः स तृतीयदिने यतीनां कल्पते नवेति प्रश्ने। उत्तरम् दध्ना तक्रेण वा द्वितीयदिनौदनो द्वितीयदिने तृतीयदिने वा करम्बको विहितः स तृतीयदिने साधूनां विहर्तुं कल्पते इति परंपरास्तीति ६८ (सेन०३ उ०) तथा केवलदुग्धराद्धक्षैरेयी पर्युषिता साधूनां गृहीतुं न कल्पते करम्बकस्तु नवीनतक्रादि संस्कारार्हत्वात्कल्पत इति १२२ सेन०४ उ०।

करभ (ह) पुं० (करभ) कृ–अभच् करे भाति मधिबन्धात् कनिष्ठापर्य्यन्ते करस्य बाह्यदेशे, अमरः। करिशावके, उष्ट्रशिशौ, गन्धद्रव्यभेदे, उष्ट्रमात्रे, पुं० स्त्री०मेदि०। वाच०।प्रश्न०।

करभिउत्त त्रि०(करभ्सागुप्त) करभ्यां प्रक्षिप्य रक्षिते, वृ०२ उ०।

करभी स्त्री०(करभी)करभ ङीष् उष्ट्र्याम् पिं०। घटसंस्थानसंस्थिते धान्याधारे, वृ०२ उ०।

करभीखीर न०(करभीक्षीर) उष्ट्रीदुग्धे, "आहारओ पंचगवज्जणेणं, मोक्षः इति केचित्तत्र। लसणं पलाण्डुं करभीक्षीरं गोमांसं मद्यं चेत्येतत् पञ्चकवर्तनेन मोक्षं वहन्नित, सूत्र०१ श्रु०७ अ०(एतन्निराकरणं "कुसील" शब्दे)

करय पुं० (करक) घनोपले, प्रज्ञा०१ पद। सूत्र०। वार्घटिकावारके, उपा०७ अ०। अनु०।

कररुह न०पुं०(कररुह) करे रोहति रूह–क–प्राकृते, गुणाद्याः क्लीवे वा ८।७।३४। इति वाक्लीवत्वम्। कररुहं कररुहो प्रा०। नखे०, अमरः। कृपाणे च, वाच०।

करलाघव न० (करलाघव) चतुस्त्रिंशत्तमकलायाम्, कल्प०।

करली स्त्री०(कदली) **कदल्यामद्रुमे** ।८।१।२२०। कदलीशब्दे अद्रुमवाचिनि दस्य रो भवति द्रुमविशेषभिन्ने कदलीशब्दार्थे, करली अद्रुम इति किम् कअली.केलि,प्रा०।

करवंदण न०(करवन्दन) अनिर्जरार्थं करं मन्यमानेन वन्दनरूपे–वन्दकस्य षड्विंशे दोषे "करमिव मइण्ण दिंतो वंदणयं आरहंति अंक्कहत्ति"आव०३ अ०। वन्दनकं ददत् करमिव राजदेयभागमिव मन्यते अर्हतः कर इति, वृ०३ उ०। कर इव राजदेयभाग इवार्हत्प्रणीतो वन्दनकरोऽवश्यं दातव्य इति धिया वन्दनम्, ध०२ अधि०। आ०चू०।

करवीर पुं०(करवीर० करं वीरयती चुरा० वीरविक्रान्तौ, अण् कृपाणे खड्गे, स्वनामख्याते वृक्षभेदे च, मेदि,। श्मशाने, हेम, आचा०।

करसी न०(श्मशान) **गोणादयः** ।८।२।१७४। इति श्मशान शब्दस्थाने निपातः। पितृवने, प्रा०।

करसेवण न०द्वि०व०(करणासेवन)द्वन्द्वसमासः प्राकृतशैल्या करणासेवनस्थाने, "करसेवणम" करणे, आसेवने,। संप्राप्तकामभेदे, तत्र करणं सुरतारम्भयन्त्रं चतुरशीतिभेदं वात्स्यायानप्रसिद्धम्। आसेवनं मैथुनक्रिया, प्रव०१७० द्वा०। अथवा करणं नागरक्षादिप्रारम्भयन्त्रम् आसेवनं तु मैथुनम्। दश०१ चुलि०।

करहेमग पुं०(करहेटक) तीर्थभेदे "करहेटके उपसर्गहरः पार्श्वनाथः" ती०४५ कल्प०।

करादल्लणरिंद पुं०(करादल्लनरेन्द्र) स्वनामख्याते बौद्धराजे, "जत्थ महोवा पूर्य्यां समुद्दवसीय करादल्लणरिंदकुलसंभूयारायणो छद्दभत्ता अज्जवि नियदवयस्य पुरट्ठमहग्घमुल्लं पल्लणीअं अलंकिअं विभूसियं महातुरंगमं ढोअंति" ती०३७ कल्प०।

कराल पुं०(कराल) कराय विक्षेपायाऽऽलति पर्य्याप्नोति करं लाति ला–क–वा–सर्जरसयुक्ते तैले, कृष्णकुटेरके, तुङ्गे,दन्तुरे, उन्नतदन्ते, भयानके, त्रि० मेदि०। आ० म० द्वि०। शारिघौषधौ, स्त्री० राजनि०। गौरा०ङीष्। दन्तरोगभेदे, पुं० कस्तूरीमृगे, पुं० स्त्री० स्वार्थे –कन् परालकः उक्तार्थे, तुलस्याम्, पुं० वाच०। करालनामके वै देहराजे" राण्डक्यो नाम भोजः कामात्। ब्राह्मणकन्यामभिमन्यमानः सबन्धुराष्ट्रो विनानाश करालजनकश्च वैदेहः, ध०१ अधि०।

कराव धा० (कारि) कृ–णिच् क्रियायां प्रवर्त्तने, **"णेरदेदावावे ८।३।१४६।** इति णेः स्थाने, अत–एत–आव–आवे–एते चत्वार आदेशाः। कारेई। करावई। करावेइ, प्रा०। अस्य भावकर्मणि। क्ते च लुगावी **क्तभावकर्मसु ८।३।१५२।** णेः स्थाने लुगावी इत्यादेशौ भवतः क्ते भावकर्मविहिते च प्रत्यये परतः। कारिअं करावीअं। भावकर्मणोः कारीअइ करावीअइ। कारिज्जइ करावीज्जइ। **अदेल्लुक्यादेरत आः ८।३।१५३।** इति णेरदेल्लोपेषु कृतेषु आदेरकास्य आ भवति। एति कारेई लुकि कारीअं कारीअइ कारिज्जइ, प्रा०।

करावण न०(कारापन) क्रियायां प्रवर्त्तने, प्रश्न० संव०३ द्वा०।

करि (ण्)पुं०स्त्री०(कहरन) करः शुण्डः प्राशस्त्येनास्त्यस्य इनि। हस्तिनि, वाच० प्रश्न०।

करिअ अव्य०(कृत्वा) कृ–मृत्वा **कृगडेडडु अ० ८।४।२७२।** इति कृधातोः परस्या क्त्वाप्रत्ययस्य मित् अडुअं अत्यादेशो वा कडुअ पक्षे करिद करदूण, प्रा०।

करिएव्वउं त्रि०(कर्त्तव्य) कृ०–तव्य) अपभ्रंशे **"तव्यस्य इएव्वउँ-म्बउं एवाः ८।४।४३८।** इति तव्यप्रत्ययस्य इएव्वउं एम्बडं एवा इत्येते त्रय आदेशा भवन्ति। करणीये "महूकरिएम्बउं किं पि ण विमरिएव्वउं परिदिज्जइ" प्रा०।

करिंसु त्रि०(कुर्वत्)कृतवति, स्था०८ ठा०।

करिंसुगसय न०(कृतवच्छत) करिंसु इत्यनेन शब्देनोपलक्षितं शतं प्राकृतभाषया "करिंसुगसयंति" भगवत्याः सप्तविंशे शतके, भ०२७ श०। (तत्रत्या वक्तव्यता बन्धशब्दे)

करित्ता अव्य०(कृत्वा) विधायेत्यर्थे "दुक्कराइं करित्ताणं दुस्सहाइं सहेउ य" दश०३ अ०।

करिदूण अव्य०(कृत्वा)विधायेत्यर्थे, प्रा०।

करिय पुं० (करिक) केवल ानुसारेण चतुरशीतितमे महाग्रहे, चं० प्र० २० पाहु०। सू०प्र०। कल्प०।

करिल्ल न०(करील) प्रत्यग्रकन्दले, अणु०३ वर्ग०। किमिदं संभृतवंशकरिलमामिषं चेति, विशे०।

करिस धा०(कृष्)विलेखने, अकर्षणे च, भवा० पर० अनिनट् **"वृषादीनामरिः" ८।४।२३५।** इति ऋस्थाने अरिः करिसई कर्षति "कृषेः। **कड्ढसाअड्ढाश्चाणञ्छापञ्छाइञ्छा" ८।४।१८७।** कृषेस्तेषडादेशा वा भवन्ति। कड्ढइ साअड्ढइ अञ्चइ अणञ्जइ अपञ्छइ आइञ्छइ। पक्षे करिसई प्रा०।

करिस पुं०(कर्ष)पलचतुर्भागे "अर्द्धतृतीयानि धराणि एकः सुवर्णः सचैकः सुवर्णः कर्ष इत्युच्यते, ज्यो०२ पाहु०। षोडश माषः कर्षः अशीतिगुञ्जप्रमाण इत्यर्थः" दशार्द्धगुञ्ज प्रवदन्ति माषं, माषाह्वयैः षोडशभिश्च कर्षम्। लीला० तन्मिते सुवर्णे च विभीतकवृक्षे, पुं० शब्दर०। कृष् भावे घञ्। आकर्षण, तुदा० कर्ष–भवे–घञ्–विलेखने, वाच०। स्था०।

करिसग त्रि०(कर्षक)कृष् विलेखने ण्वुव् कृष वले, उत्त०३ अ। "हेरण्णिए करिसए (कर्षकोऽभीक्षणयोगेन फलानिष्पत्तिं जानाति इति कम्मयाशब्दे उदाहृतम्) आ०म०द्वि०।

करिसण न०(कर्षण)तुदा० कृष भावे ल्युट् लाङ्गलादिना भूमेर्लेखने, हेम०। वाच०। कर्षौ, प्रश्न०आश्र०१ द्वा०। भ्वा०कृष भावे ल्युट् आकर्षणे, क्षीरिणीवृक्षे, राजनि०। गौरा० ङाष् वाच०।

करिसद्ध न०(कर्षार्द्ध) एकस्य कर्षस्य पलचतुर्भागरूपपस्यार्द्धे अर्द्धकर्ष-रूपपरिमाणसूचिकायाम् तुलारेखायाम्, ज्यो०१ पाहु०।

करिसावण पुं०(कर्षापण)कर्षेणाप्यते क्रीयते रूप्यके, षोडशणपरि-माणकर्षस्य षोडशमाशकमितत्वेन षोडशभिः पणैस्तस्य क्रयणात्त-त्संख्यासाम्यात् तथात्वं ततः प्रज्ञादि०स्वार्थे अण्। कार्षापणोऽप्यत्र अर्द्धर्चादि० तेन पुं० न० वाच। "जहा एगो करिसावणो तहा बहवे करिसावणा" अनु०। तं०।

करिसिय त्रि०(कृशित)तनुके, दुर्बले, सूत्र०२ श्रु०३ अ०।

करिसुत्तरा स्त्री०(कर्षोत्तरा)कर्षाद्येककर्षवृद्धिसूचिकायां रेखायाम्, कर्षोत्तराकर्षाद्येककर्षवृद्धिसूचिकाश्चतस्त्रो रेखा भवन्ति तद्यथा द्वितीयकर्षरूपपरिमाणसूचिका तृतीया द्विकर्षसूचिका चतुर्थी त्रिकर्षसूचिका पञ्चमी चतुःकर्षसूचिका पलसूचिकेत्य र्थः, ज्यो०२ पाहु०।

करीर पुं०(करीर)कृ ईरत घटे, मेदि०। वंशाङ्कुरे, अमरः। अङ्कुरमात्र, भावप्र०। गूढपत्रे, मरुभूमिजे, उष्ट्रप्रिये वृक्षभेदे, भावप्र०। चीरिकायाम्, झिल्ल्याम्, हस्तिदन्तमूले, स्त्री० उणादि वाच० करमद्दअट्टरूसग करीरए रावणमहत्थे, प्रज्ञा०१ पद०। तत्सन्निकृष्टदेशादौ, त्रि० स्त्रियां ङीष् वाच०।

करीरपाणग न०(करीरपानक)करीरसंमर्दे न कृते पानकभेदे, आचा०२ श्रु०१ अ०८ उ०।

करीसंग न०(करीषाङ्ग) अग्न्युद्दीपनकरणे, उत्त०१२ अ०।

करेंत त्रि०(कुर्वत)कृ शतृ चमत्कारे, भृत्ये०विश्व०। कर्तरि त्रि० स्त्रियां ङीष् वाच०। प्रश्न०।

करेणु पुं०(करेणु) कृ एणु० के मस्तके र्रणुरस्य या गजे० अमरः। कर्णिकारवृक्षे, विश्वः। वाच०। हस्तिन्याम्, स्त्री० वृ०१ उ०।उत्त०। स्वार्थे कन् करेणुकाऽप्यत्र स्त्री० रायमुकुटस्तु करेणूशब्दं दीर्घान्तं पठित्वा हस्तिनि, पुं० स्त्री त्याह। वाच०।

करेणुदत्त पुं(करेणुदत्त) ब्रह्मदत्तचक्रिणः पितृवयस्ये ब्रह्मदत्तचक्रिणा लब्धे कन्यारत्ने, स्त्री० उत्त०१३ अ०।

करेणुसेणा स्त्री०(करेणुसेना)ब्रह्मदत्तचक्रिणा लब्धे कन्यारत्ने, स्त्री० उत्त०१३ अ०।

करेत्तण अव्य०(कर्तुम्) विधातुमित्यर्थे, भ०८ श०२ उ०।

करेमाण त्रि०(कुर्वत्–कुर्वाण)विदधाने "पक्खुभिय महासमुद्दरवभूयं पिवे करेमाणे" औ०।

करोतग -पुं०(करोटक)कटोरके पात्रभेदे, "ततो पासेहिं करोमेगा कदोरगा मंकुया सिप्पाजु पट्टविज्जंति" नि० चू०१ उ०। योगशास्त्र प्रवर्त्तके गणिनि, गोपेन्द्रादीनां गोपेन्द्रवाचककरोटकगणिप्रभृतीनाम्, पं० व०।

करोडिय- पुं०(करोटिक)कापालिके, ज्ञा०६ अ०। औ०। दीर्घककारादिरष्यत्र० ज्ञा०१ अ०।

करोडया- स्त्री०(करोटिका) अतीवविशालमुखायां कुण्डिकायाम्, अनु०। स्थगिकायाम् ज्ञा०१ अ०। मृणमयभाजनविशेषे च, औ०।

करोडियाधारि- (ण्)पु(करोटिकाधारिन्) स्थगिकाधारिणि, भ०११ श०१ उ०।

कराडी -स्त्री०(करोटी) कपाले, ज्ञा०८ अ०।

कल -धा०(कल)संख्याने, से०शब्दक, अक०भ्वा आत्म० सेट्। वाच०। कलसंख्याने धातवोऽर्थान्तरेऽपि इति संज्ञानेऽपि "कलइ" जानाति संख्यानं करोतीति वा प्रा०। विशे० प्रव०। कलगतौ संख्यायां च अद० चुरा०सक० सेट् कलयति (ते) वाच०।

कर पुं० **रसोर्लशौ ८।४।२८८।** इति मागध्यां रस्थाने लः हस्ते, प्रा०।

कल पुं० कल शब्दे, घञ् नि० अवृद्धिः अत्यन्तश्रवणहृदयहरे अव्यक्तध्वनौ० मधुरे, ज्ञा०१ अ०। व्याकुलशब्दसमूहे, चं०प्र०१६ पाहु "कलरिभियमहूरतंतीलतालककुहवंसाभिरामं" ज्ञा०१७ अ०। कलाये, त्रिपुटाख्ये वृत्तचणके वा, जं०२ वक्ष० धान्यविशेषे, भ०१५ श०१ उ०। प्रज्ञा०। कम मदे अच् मस्य लः शुक्रे, चमिघातौ, न० भेदि० कोलिवृक्षे, पुं० शालवृक्षे, पुं० राजनि०। अजीर्णे, मेदि०, कलाऽस्त्यस्य अच् कला न्विते=वयवे च, वाच०।

कलअ पुं०(कालक) काल स्वार्थे कः **"वाऽव्ययोत्खातादावदातः**

८।१।६७। इत्यादेरातोऽत् वा कलओ, कालओ कालशब्दार्थे, प्रा०।

कलंक पुं० (कलङ्क) कलयति क्विप् कलं चाऽउसावङ्कश्च कं ब्रह्माणमपि लङ्घयति गच्छति लकि गतौ अण् वा चिह्ने अपवादे, ताम्रादिधातूनां मलभेदे, ताम्रादियोगात् अम्लादिविकारे च। मेदि० वाच०। "मलकलंकपंका" आव०४ अ०। स्वनामख्याते विद्वभेदे, तथा चाह कलंकः "भेदाभेदात्मके ज्ञेये, भेदाभिसन्धयः" आ०म० द्वि। ततोऽस्त्यर्थे इति कलंकिन् तद्युक्ते स्त्रियां ङीष् ततः तारका० जातार्थे इतच् कलंकितः। जातकलंके, त्रि० वाच०।

कलंकण न०(कलंकन) कलंकस्य करणे, अभ्याख्याने, असद्दोषस्याऽरोपणे, प्रव०० द्वा०।

कलंकणिम्मुक्क त्रि०(कलंकनिर्मुक्त) कलंकरहिते, ध०२ अधि०।

कलंकल त्रि०(कलङ्कल) अशुभवस्तुनि, संथा०।

कलंकलीभाव पुं(कलङ्कीलीभाव) संसारगर्भादिपर्यटने, आचा०१ श्रु०। असमञ्जसत्वे, औ०।

कलंत त्रि०(क्लान्त) क्लमे, "अप्पकलंताणं बहुसुभेणं दिवसो वइक्कतो" आव०३ अ०।

कलंद न०(कलन्द) कुण्डके, औ० उपा०। वर्णशङ्करजातौ, जात्यार्य्यविशेषे, स्था०६ ठा०।

कलंब पुं०(कदम्ब) कन्द्करणे अम्बच् वृक्षविशेषे, औ०। प्र०। "कलंबोउपिसायाणं "स०। तस्य भेदाः "मीपोमहाकदम्बः स्यात् धाराकदम्ब इत्यपि। द्वितीयोऽल्पप्रसारश्च, वृत्तपुष्पः कदम्बकः। हारिद्रस्तुरजोबलः।" धूलीकदम्बको धारा कदम्बः षट्पदप्रियः वृत्तपुष्पः केशराढ्यः, प्रावृषेण्यः कदम्बकः। नीपो महाकदम्बोऽपि, तथा बहुफलो मतः। इति भरतः वाच०।

कलंबचीर न०(कलम्बचीर) शस्त्रत्रविशेषे, विपा०१ श्रु०६ अ०।

कलंदबालुया स्त्री०(कदम्बबालुका)कदम्बपुष्पाकारा बालुका कदम्बबालुका नरकनद्याम्, प्रश्न० आश्र०१ द्वा०। सूत्र०। "महादवग्गिसंकासे, मरुम्मि वइरवालुए। कलंबयालुयाए य, दड्ढपुव्वो अणंतसो, उत्त०१६ अ०।

कलंबचीरिया स्त्री०(कदम्बचीरिका) तृणविशेषे, स च दर्भादप्यतीव तुदकः। इतः "कलंबचीरियापत्तेइ वा कुंतगो वा तोमरगेत्ति वा" दुःस्पर्शत्वेनोपमानम्। जी०३ प्रति०१ उ०। स्था०। कदम्बचीरिकेति विशुद्धं प्रतिभाति, विपा०१ श्रु०६ अ०।

कलंबुआ स्त्री०(कलम्बुका) नालिकायाम्, पुष्पप्रधानवृक्षभेदे, सू०प्र०४ पाहु०। जलरुहभेदे, आचा०१ श्रु०१ अ०५ उ०। कदम्बपुष्पाकारमांसगोलके, विशे०। स्वनामख्याते सन्निवेशे च। यत्र भगवतो महावीरस्य कालहस्तिना उपसर्गः कृतो मेघेन च तद्रात्रा पूजा कृता, आ०म०द्वि०। आ०चू०।

कलंबुआपुप्फ न०(कलम्बुकापुष्प) नालिकापुष्पे, तच्च दालिमपुष्पमिति संभाव्यते। सू०प्र०पाहु०।

कलक पुं०स्त्री०(कलक) कल चुरा० ण्वुल्। शकुलमत्स्ये, हेम च०। स्त्रियां जातित्वात् ङीष् वाच०। स्कन्दकाचार्यशिष्याणां वादे पराजिते द्विजातौ, येन तेषामेकोनपञ्चशतानि क्षुण्णनि अनशनं प्राषितानि, संथा०।

कलकल पुं०(कलकल) कलप्रकारः गुणवचनत्वात् प्रकारे द्वित्वम् कोलाहले, वाच। व्यक्तवचने, रा० विपा०। औ०। भ०। उपलभ्यमानन-वचसविभागे ध्वनौ, भ०६ श३३ उ०। जी०। ज्ञा। औ। व्याकुलशब्दसमूहे, सू० प्र०१६ पाहु०। जं०। "कलकलं णं वयणं छब्भंति" कलकलशब्दयोगात् कलकलम् प्रश्च० आश्र०१ द्वा०। कलस्य शालवृक्षस्य कला यत्र यालनिर्य्यासे, मेदि०। वाच०।

कलकलंत त्रि०(कलकलायमान) कलबोलं कुर्वाणे, कलकलं कुर्वति, प्रश्न० आश्र०३ द्वा०। "कलकलंतबोलबहलं" कलकलायमानो यो बोलो ध्वनिः स बहलो यत्र स तथा, औ०। "कलकलंतक्खारपरिसित्तगाढडज्झंतगत्त" कलेलायमानक्षारेण यत्परिषिक्तं परिषेकः तेन (गाढमत्यर्थं) मज्झंतत्ति। दह्यमानगात्रं येषान्ते तथा, प्रश्न०आश्र०१ द्वा०।

कलकलंतवेयरणी स्त्री० (कलकलायमानवैतरणी) कलकलायमानं यत् त्रपुकादि तद्भूता वैतरण्यभिधाना या नदी सा कलकलायमानवैतरणी। नरकनद्याम्, प्रश्न० आश्र०१ द्वा०।

कलकलभरिय त्रि०(कलकलभृत) चूर्णादिमिश्रजलभृते, विपा०१ श्रु०६ अ०।

कलकलरव पुं०(कलकलरव) कलकललक्षणे रवे "सयराहहसंतरूसंतकलकलरवे" प्रश्न० आश्र०३ द्वा०।

कलण न०(कलन) कलयत्यनेन कलगतौ गत्यर्थस्य ज्ञानार्थत्वा दज्ञाने, करणे ल्युट् चिह्ने, वातपित्तादिदोषे च। तैः स्वरूपानुमानात् तथात्वम्। ग्रहणे, बगासे, ज्ञाने च, वाच०। संशब्दने, संख्याने च, विशे०।"कं जलं लाति उत्पत्तिसाधनत्वेन तथा सन्नमति नम् वा ड। वेतसवृक्षे, पुं० राजनि० तस्य जलसमीपजातत्वात् तत्स्रोतसा नमनाच्च तथात्वम् वाच०।

कलत्त न०(कलत्र) कडसेचने अत्रन् आदेश्च कः डस्य लः कलं त्रायते त्रैकः कड शासने वा अत्र नडस्य लो वा भार्य्यायाम्, वाच०। दारेषु, आव०४ अ० "मित्तकलत्ताइं सेवई" प्रश्न० आश्र०२ द्वा०। आव०। नितम्बे, अमरः। नृपाणां दुर्गस्थाने, हेम०चं० वाच०।

कलभा स्त्री०(कलभा) बालावस्थायां, ज्ञा०१ अ०।

कलभाणण त्रि०(कलभानन)स्वरमनोज्ञानने, स्त्रियां कलभाणणी व्य०७ उ०।

कलम पुं०(कलम) कलते अराणि कल कमच लेखन्यां, जटाधरः। वाच०। "कलमाबणगोण्णतित्ति" कलमा मद्दामलगप्पमाणं गेण्हंति" नि० चू०१ उ०। शालिभेदे, स च कलमः कलिविख्यातो जायते स वृहद्भने कश्मारदेश एवोक्तो महातण्डुलगर्भकः इति भाव प्र०। उत्खातप्रतिरोपितधान्यभेदे च० "आपादपद्मप्रणताः, कलमा इव ते रघुम" कलयति परस्वं कल् अमच् चौरे, पुं०,आचा०। आम०द्वि।

कलमल पुं०(कलमल) अपवित्रमले "रागेण न जाणंति वराया कलमलस्य णिद्धमणं" तं०। जठरद्रव्यसमूहे, कलमलजम्बालाए कलमलो जठरद्रव्यसमूहः स एव जम्बालः स्था०३ ठा०३उ०। कर्दमो यस्यं सा तथा शरीरसत्काऽशुभद्रव्यविशेषे" कलमलहिवासदुक्खबहुजणसाहरणा" कलमलस्य शरीरसत्काशुभद्रव्यविशेषस्याऽधिवासेनावस्थानेन दुःखा दूरूपा ये ते तथा। बहुजनानां साधारणाभाग्यत्वेन ये ते तया। ततः कर्मधारयः, भ० ६ श०३३ द०।

कलमसालि पुं०(कलमशाली) पूर्वदेशप्रसिद्धे (उपा०१अ०)

शालिविशेषे, जं०२ वक्ष०।

कलमसालिणिव्वत्तिय त्रि०(कलमशालीनिर्वर्तित) कलमशालिमये जी०३ प्रति०३ उ०।

कलमोयणन (कलमोदन) कलमशालिकूरे, व्य०१० उ०।

कलल पुं०न०(कलल)कल वृषा कलच् गर्भवेष्टचर्मणि, अमरः "एकरात्रेण पच्यमाने गर्भावयवभूते रेतोविकारे, वाच०। उत्पत्तिक्रमे, एवं सत्ताहं कललं होइ, सत्ताहंहोइ बुब्बुयं" सप्ताहोरात्राणि यावत् शुक्रशोणितयमंदायमात्रं कललं भवति, तं०।

कलस पुं० (कलश) कलं मधुरोऽव्यक्तं ध्वनिं शवति शु गतौ वा मः। घटे, वाच०। भृङ्गारे, रा०। महाघटे, जं०२ वक्ष०। अस्याष्टमङ्गलेष्वन्तर्गणना। रा०। औ०। जं०। विवाहादौ, उत्सवे यो मण्ड्यते तस्यैव माङ्गलिकत्त्वात् ग्रहणम् संथा०।

कलसंग (सिंव)लिया स्त्री० (कलसङ्गलिका) कलत्ति कलाया धान्यविशेषः तेषां "संगलियत्ति" फलिका अणु०३ वर्ग०। कलायाभिधान्यफलिकायाम्, भ०७ श०१ उ०।

कलसय पुं० (कलशक) आकारविशेषवति वृहद्घटे, उपा०७ अ०।

कलसि स्त्री० (कलशि) पृश्निपर्यायाम्, अमरः। घटे, हेमचं०। अस्य कृदिकारीन्तत्वात् वा ङीष् "कलशीत्यप्युभयत्र" वाच०।

कलसिया स्त्री०(कलशिका) लघुतरे कलशे, अनु०। आतोद्यविधाने, आ०चू०१ अ०। रा०।

कलसीपुर न०(कलशीपुर) पुरभेदे, येन घोषवतीसेना, वसन्त। कलसीपुरे। धारिता वामहस्तेन, क्षत्रियेयः सैष वेम(ग) वान् ॥२३॥ प्रव०२ द्वा०।

कलह पुं०न०(कलह) कलं कामं हन्ति अत्र। हन् वा आधारे, मः, वाच०। द्वन्द्वाधिकरणे, सूत्र०१ श्रु१२ अ०। वचनरादौ, भ०३ श०६ उ०। आतु०। परस्परं रादौ, पिं०। प्रश्न०। जी०। प्रव०। औ०। प्रज्ञा०। दशा०। स्था०। वाचिकभण्डने, आ० म० द्वि०। प्रश्न०। कलौ, प्रव०३८ द्वा०। वाग्युद्धे, प्रति०। जी.। द०। उत्त० वुग्गहोत्ति वा कलहोत्ति वा भंडणत्ति वा विवादोत्ति वा एगट्ठं" नि० चू०१६ उ०। (अहिगरणशब्दे वक्तव्यतोक्क) महता शब्दानान्योऽन्यमसमञ्ज–सभाषणे, एतच्च क्रोधकार्य्यमिति (भ०१२ श०५ उ०) क्रोधे, उत्त०८ अ०। तद्रूपे गौणमोहनीयकर्मणि, स० सङ्ग्रामे च, आचा०१ श्रु०५ अ०४ उ०।

कलहंझाणं न०(कलहध्यान) कलहो वाचिकारादिः तस्य ध्यानं कलहध्यानम्। रुक्मिणीसत्यभामयोर्व्यतिकरे, कलहप्रिय–दुर्य्योधननृपस्येव कमलामेलादिव्यतिकरे नारदस्येव वा दुर्ध्याने, आतु०)।

कलहंस पुं०स्त्रि०(कलहंस) कला मधुरशब्दा ये हंसाः कलहंसाः। राजहंसेषु, कल्प०। जी०। प्रज्ञा०। नृपश्रेष्ठे, मेदि०। कलप्रधानो हंसः वालहंस भेदे, स्त्रियां जातित्वात् ङीष् वाच०।

कलहकर पुं०(कलहकर) कलहो वाचिकं भण्मनं तत्करणशीलः अप्रशस्तक्रोधाद्यौदयिकभाववशतः कलहकरणशीले, आ० म० द्वि०। कलहहेतुभूतकर्तव्यकारिणि, प्रश्न० संव०३ द्वा०। स०। "कलहकरी असमाहिकरे" अक्रोशादिना येन कलहो भवति तत्करोति सचैवं गुणयुक्तो हि असमाधिस्थानमष्टादशं भवति, दशा०१ अ०। आ० चू०। आव०।

कलहकारग त्रि०(कलहकारक) राटिजनके णिसायसरमंताओ हवंति कलहबारगा, अनु०।

कलहप्पिय त्रि० (कलहप्रिय) राटिवल्लभे "धेवयसरसंपन्ना भवंति कलहप्पिया" स्था०७ ठा०। सारिकापक्षिण्याम्, स्त्री० राजति० वाच।

कलहमित्त न०(कलहमित्र) कलहानन्तरं जाते मित्रे, व्य०४ उ०।

कलहाभिणंदि (ण)त्रि० (कलहाभिनन्दिन्) महर्षिनारदस्थानानि कलहप्रिये, नं०।

कलहासंगकर पुं०(कलहासङ्गकर) कलहः संग्रामस्तत्रासङ्गः सम्बन्धः कलहासंगस्तत्करः युद्धसंसर्गकृति, कलहः क्रोध आसङ्गो राग इत्यतः रागद्वेषकारिणि, आचा०१ श्रु०५ अ०४ उ०।

कला स्त्री०(कल अच् टाप् विज्ञाने, ताश्च कलनीयभेदाद् द्विसप्ततिर्भवन्ति।

एगमेगस्स णं रन्नो चाउरंतचक्कवट्टिस्स बावत्तरिपुरबरसाहस्सीओ पण्णत्ताओ बावत्तरिकलाओ पण्णत्ताओ तंजहा। लेहं १ गणियं २ रूवं ३ नट्टं ४ गायं ५ वाइयं ६ सगरयं ७ पुक्खरगयं ८ समतालं ९ जूयं १० जणवायं ११ पोरकच्चं १२ अट्ठावयं १३ दगमट्टियं १४ अन्नविही १५ पाणविही १६ वत्थविही १७ सयणविही १८ अज्जं १९ पहेलियं २० मागहियं २१ गाहं २२ सिलोगं २३ गंधजुत्ति २४ मधुसित्थं २५ आभरणविही २६ तरूणीपडिकम्मं २७ इत्थीलक्खणं २८ पुरिसलक्खणं २९ हयलक्खणं ३० गयलक्खणं ३१ गोणलक्खणं ३२ कुक्कडलक्खणं ३३ मिंढलक्खणं ३४ चक्कलक्खणं ३५ छत्तलक्खणं ३६ दंडलक्खणं ३७ असिलक्खणं ३८ मणिलक्खणं ३९ कगणिलक्खणं४० चम्मलक्खणं चंदलक्खणं सूरचरियं राहुचरियं गहचरियं सोभागकरं दोभागकरं विज्जागयं मंतगयं रहस्सगयं ४१ सभासंचारं ४२ बूहं ४३ खंधावारमाणं ४४ नगरमाणं ४५ वत्थुमाणं ४६ खंधनिवेसं ४७ वत्थुनिवेसं ४८ नगरनिवेसं ४९ ईसत्थं छरूप्पवायं ५० आससिक्खं ५१ हत्थिसिक्खं ५२ धणुव्वेयं ५३ हिरण्णपागं ५४ सुवन्नपागं ५५ मणिपागं ५६ धातुपागं ५७ बहुजुद्धं ५८ लयाजुद्धं ५९ मुट्ठिजुद्धं ६० जुद्धं ६१ निजुद्धं ६२ जुद्धाइजुद्धं ६३ सुत्तखेडं ६४ बट्टखेडं ६५ नालियखेडं ६६ चम्मखेडं ६७ पत्तछेज्जं ६८ कडगछेज्जं ६९ सजीवं ७० निज्जीवं ७१ सऊणरुयं ७२। स० १३० पत्र।

अत्र लेहमित्यादीनि द्वासप्तति पदानि राजप्रश्नीयानुसारेण द्वितीयान्तानि प्रतिभासन्ते इत्यन्तापि व्याख्यायां तथैव दर्शयिष्यन्ते समवायाङ्गानुसारेण च विभक्तिव्यत्ययेन प्रथमान्ततया स्वयं योजनीयानीति। तत्र लेखनं लेखोऽक्षरविन्यासस्तद्विषया कला विज्ञानं लेख एवोच्यते तं भगवानुपदिशतीति प्रकृते योजनीयम्। एवं सर्वत्र योजना कार्या। स च लेखो द्विधा लिपिविषयभेदात्। तत्र लिपिरष्टादशस्थानोक्ता अथवा लाटादिदेशभेदतस्तथाविधविचित्रोपाधिभेदतो वाऽनेकविधेति। तथापि यत्रवक्लकाष्ठ-

दन्तलोहताम्ररजतादयोऽक्षराणामाधारास्तथा लेखनोत्किरण-स्यूतव्यूतच्छिन्नभिन्नदग्धसंक्रान्तितोऽक्षराणि भवन्तीति। विषयापेक्षया ऽप्यनेकधास्वातिभृत्यपितृपुत्रगुरुशिष्यभार्यापतिशत्रुमित्रादीनां लेखविषयाणामप्यनेकत्वात्तथाविधप्रयोजनभेदाच्च अक्षरदोषाच्च। अतिकार्श्यमतिस्थौल्यं, वैषम्यं पङ्क्तिकवक्रता। अतुल्यानां च सादृश्यम-विभागः पदेषु च" इति १ तथा गणितं संख्यानं संकलिताद्यनेकभेदम्पाटी-प्रसिद्धम् २ रूपं लेप्यशिलासुवर्णमणि वस्त्रचित्रादिषु रूपनिर्माणम् ३ नाट्यं साभिनयनिरभिनयभेदभिन्नं ताण्डवम् ४ गीतं गन्धर्वक-लागानविज्ञानमित्यर्थः ५ वादितं वाद्यं ततविततादिभेदभिन्नम् ६ स्वरगतं गीतमूलभूतानां षड्जऋषभादिस्वराणां ज्ञानम् ७ पुष्करगतं पुष्करं मृदङ्गमुरजादिभेदभिन्नं तद्विषयकं विज्ञानम् वाद्यान्तर्गतत्वेऽप्यस्य यत् पृथक्कथनं तत्परमसंगीताङ्गत्वख्यापनार्थम् ८ समतालं गीतादिमान-कालस्तालः स समोऽन्यूनाधिकमात्रिकत्वेन यस्माद् ज्ञायते तत्समतालविज्ञानम् "क्वचित्तालमानमिति" पाठः ९ द्यूतं सामान्यतः प्रतीतम् १० जनवादं द्यूतविशेषम् ११ पाशकं प्रतीतम् १२ अष्टापदं सारिफलकद्यूतं तद्विषयककला १३ पुरःकाव्यमिति पुरतः पुरतः काव्यं शीघ्रकवित्वमित्यर्थः १४ (दगमट्टिआमित्ति) दकसंयुक्तमृत्तिका विवेकद्रव्यप्रयोगपूर्विका तद्विवेचनकलाऽप्युप-चाराद्दकमृत्तिका ताम् १५ अन्नविधिं सूपकारकलाम् १६ पानविधिं दकमृत्तिकाकलया प्रसादितस्य सहजनिर्मलस्य तत्संस्कारकरणम्, अथवा जलपानविधिं जलपान-विषये गुणदोषविज्ञानमित्यर्थः यथा "अमृतं भोजनस्यार्द्धं, भोजनान्ते जलं विषम्" इत्यादि १७ वस्त्रविधिं वस्त्रस्य परिधानीयादिरूपस्य नवकोणदैविकादिभागयथास्थाननिवेशादिविज्ञानं वा अनादिवस्तु अनन्तविज्ञानान्तर्गतमिति नेह गृह्यते १८ विलेपनविधिं यक्षकर्दमादिप-रिज्ञानम् १९ शयनविधिं शयनं शय्या पल्यङ्कादिस्तद्विधिः स चैवं "कर्मङ्गुलं यवाष्टकमुदरासक्तं तुषैः परित्यक्तम्। अङ्गुलशतं नृपाणां, महती शय्या जपाय कृता ॥१॥ नवतिः सैव षमूना, द्वादशहीना त्रिषट्कहीना च। नृपपुत्रमन्त्रिबलपतिपुरोधसां स्युर्यथासंख्यम् ॥२॥ अर्धमतोऽष्टांशोनं, विष्कम्भो विश्वकर्मणा प्रोक्तः। आयामत्र्यंशसमः, पादोच्छ्रायः सकुक्षिशिराः" ३ इत्यादिकं विज्ञानम्। अथवा शयनं स्वप्नः तद्विषयको विधिस्तं यथा पूर्वस्यां शिरः कुर्यादित्यादिकं विधिम्, २० आर्यां सप्तचतुष्कलगणादिव्यवस्थानिबद्धां मात्राछन्दोरूपाम् २१ प्रहेलिकां गूढाशयपद्यम् २२ मागधिकां रसविशेषम्। तल्लक्षणं चेदम् "दिसाघसुदुन्निटगणा, समेसु पोटो तओ दुसु वि जत्थ। लहु उंकगणो लहु उंकगणा तं मुणह मागहिअं" ति२३ गाथां संस्कृतेतरभाषानिबद्धामार्यामिव २४ गीतिकां पूर्वार्द्धसदृशाऽपरार्द्धलक्षणामार्यामिव २५ श्लोकमनुष्टुब्विशेषं २६ हिरण्ययुक्तिं हिरण्यस्य रूप्यस्य युक्तिं यथोचितस्थाने योजनम् २७ एवं सुवर्णयुक्तिम् २८ चूर्णयुक्तिं कोष्टादिसुरभिद्रव्येषु चूर्णीकृतेषु तत्तदुचितद्रव्यमेलनम् २९ आभरणविधिं व्यक्तम् ३० तरुणीपरिकर्म युवतीनामनङ्गशतक्रियां वर्णादिवृद्धिरूपाम् ३१ स्त्रीपुंसलक्षणे सामुद्रिकप्रसिद्धे ३२।३३ हयलक्षणं दीर्घग्रीवाक्षिकूट इत्यादिकमश्व-लक्षणविज्ञानम् ३४गजलक्षणं "पञ्चोन्नतिः सप्त मृगस्य दैर्घ्यमष्टैव हस्तिः परिणाहमानम्। एकद्विवृद्धावथ मन्द्रभद्रौ, संकीर्णनागो नियतप्रमाणः १ इत्यादि ज्ञानम् ३५। (गोणलक्षणंति) गोजातीयलक्षणं "सास्नावि-कलातिरूक्षा मूषिकनयनाश्च न शुभदा गावः" इत्यादिकम् ३६ कुर्कुटलक्षणं "कुर्कुटस्त्वृजुतनूरुहाङ्गुलिस्ताम्रवक्त्रनखचूलिकः सितः" इत्यादिकम् ३७ छत्रलक्षणं यथा चक्रिणां छत्ररत्नस्य ३८ दण्डलक्षणम् "यथाऽऽतपत्राङ्कशवेत्रचापवितानकुन्तध्वजचारामराणाम्। व्यापात १ तन्त्री २ मधु ३ कृष्ण ४ वर्णक्रमोत्रमेणैव हिताय दण्डः ॥१॥मन्त्रि १ भू २ धन ३ कुल ४ क्षयावहा, रोग ५ मृत्यु ६ जननाश्च पर्वभिः। द्व्यादिभिर्द्विकबिवर्द्धितैः क्रमाद्, द्वादशान्तविरतैः समैः फलम् ॥२॥ यात्राप्रसिद्ध १ र्द्विषतां विनाशो, २ लाभः ३ प्रभूतो वसुधागमश्च ॥३॥ वृद्धिः पशूना ५ मभिवाञ्छितार्थ ६ रत्र्यादिष्वयुग्मेषु तदीश्वराणाम्" ४ इत्यादि ३९ असिलक्षणम् "अङ्गुलशतार्द्धमुत्तम, ऊनःस्यात्पञ्चविंशतिः खड्गः। अङ्गुलमानाज्ज्ञेयो, व्रणोऽशुभो विषमपर्वस्थः" १ अत्र व्याख्या अङ्गुलशतार्द्धमुत्तमः खड्गः पञ्चविंशत्यङ्गुलमानतनितः। अनयोः प्रमाणयोर्मध्यस्थितः प्रथमतृतीयपञ्चमसप्तमादिष्वङ्गुलेषु स्थितः स अशुभः अर्थादेव सप्ताङ्गुलेषु द्वितीयचतुर्थषष्ठाष्टमादिषु यः स्थितः स शुभः मिश्रेषु समाविषमाङ्गुलेषु मध्यम इत्यादि ४० मणिलक्षणं रत्नपरीक्षा गन्थोक्तकाकपदमक्षिकापदकेशरादित्यशर्करतास्वस्ववर्णोचितफल दायित्वादिमणिगुणदोषविज्ञानम् ४१ काकणी चक्रिणो रत्नविशेषस्तस्य लक्षणं विषहरणमानोन्मानादियोगप्रवर्त्तकत्वादि ४२ वास्तुनो गृहभूमोर्विद्या वास्तुशास्त्रप्रसिद्धं गुणदोषविज्ञानम् ४३ स्कन्धावारस्य मानम्। "एकेभैकरथास्त्र्यश्वाः, पत्तिः पञ्चपदादिका। सेना सेनामुखं गुल्मो, वाहिनी पृतना चमूः १ अनीकिनी च पत्तेः स्यादिभाद्यैस्त्रिगुणैः क्रमात्। दशाकिन्योऽक्षौहिणीत्यादि" ४४नगरमानं द्वादशयोजनायामनव योजनव्यासादिपरिज्ञानम्। उपलक्षणाच्च कलशादिनिरीक्षणपूर्वक-सूत्रन्यासयथास्थानवर्णादिव्यवस्थापरिज्ञानम् ४५ चारो ज्योतिश्चार-स्तद्विज्ञानम् ४६ प्रतिचारः प्रतिकूलश्चरो ग्रहाणां वक्रगमनादिस्तत्परि-ज्ञानम्। अथवा प्रतिचरणं प्रतिचारो रोगिणः प्रतीकारकरणं तज्ज्ञानम् ४७ व्यूहं युयुत्सूनां सैन्यरचनां यथा चक्रव्यूहे चक्राकृतौ तुम्बारकपरिध्यादिषु राजन्यस्थापनेति ४८ प्रतिव्यूहं तत्प्रतिद्वन्द्विनां तद्भङ्गोपायप्रवृत्तानां व्यूहम् ४९ सामान्यतयो व्यूहान्तर्गतत्वेऽपि प्रधानान्त्रीनिह व्यूहविशेषानाह चक्रव्यूहं चक्रामृतिसैन्यरचनामित्यर्थः ५० गरुडव्यूहं गरुडाकृतिसैन्यरचनामित्यर्थः ५१ एवं शकटव्यूहम् ५२ युद्धं कुर्कुटानामिव मुण्डामुण्डि शृङ्गिणामिव शृङ्गाशृङ्गि यु-युत्सयाऽनयोर्वल्गनम् ५३ नियुद्धं मल्लयुद्धं ५४ युद्धातियुद्धं खड्गादिप्रक्षेपपूर्वकं महायुद्धं यत्र यं प्रति द्वन्द्विहतानां पुरुषाणां पातः स्यात् ५५ दृष्टियुद्धं योधप्रतियोधयोश्चक्षुषोर्निर्निमेषावस्थानम् ५६ मुष्टियुद्धं योधयोः परस्परं मुष्ट्या हननम्। ५७ बाहुयुद्धं योधप्रतियोधयोरन्योऽन्यं सारिबाह्वोरिव विभन्त्सया वल्गनम् ५८ लतायुद्धं यथा लता वृक्षमारोहन्तीआमूलमाशिरस्तम्बवेष्टिः तथा यत्र योधः प्रतियोधशरीरं गाढंनिपीड्य भूमौ पातयति तल्लतायुद्धम् ५९ (ईसत्थंति) प्राकृतशैल्या इषुशास्त्रं नागबाणादिदिव्यास्त्रादिसूचक शास्त्रम् ६० (छरुप्पवायंति) त्सरुः खड्गमुष्टिस्तदवयवयोगात् त्सरुशब्देनात्र खड्ग उच्यते अवयवे समुदायोपचारस्तस्य प्रवादो यत्र शास्त्रे तत् त्सरूप्रवादं खड्गशिक्षाशास्त्रमित्यर्थः। प्रश्नव्याकरणे

तु "त्सरुप्रगम्" इति पाठः ६१ धनुर्वेदे धनुः:शास्त्रम् ६२ हिरण्यपाकसुवर्णपाकौ रजतसिद्धिकनकसिद्धी च ६३,६४ (सुत्तखेमंति) सूत्रखेलं सूत्रक्रीडाम् अत्र खेलशब्दस्य खेमइत्यादेशः ६५ एव वट्टखेलमपि ६६ एतत् कलाद्वयं लोकतः प्रत्येतव्यम् (नालिआखेडंति) नालिकाखेलं द्यूतविशेषं मा भूदि ष्टदायाद्विपरीत-पाशकनिपतनिमिति नालिकायां यत्र पाशकः पात्यते द्युतग्रहणे सत्यपि अभिनिवेशे निबन्धनत्वेन नालिकाखेलनप्राधान्यज्ञापनार्थं भेदेन ग्रहः ६७ पत्रच्छे द्यम् अष्टोत्तरशतपत्राणां मध्ये विवक्षितसंख्याकपत्रच्छेदने हस्तलाघवम् ६८ कटच्छेद्यं कटवत् क्रमाच्छेद्यं वस्तु यत्र विज्ञाने तत्तद्वा इदं च न्यूनपटोद्वेष्टनादौ भेजनक्रियादौ चोपयोगि ६९ (सजीवंती) सजीवकरणं मृतधात्वादीनां सहजस्वरूपापादनम् ७० (निज्जीवंति) निर्जीवकरणं हेमादिधातुमारणं रसेन्द्रस्य मूर्धाप्रापणं वा ७१ शकुनरुतम् अत्र शकुनपदं रुतपदं चोपालक्षणं तेन वसन्तराजाद्युक्त सर्वशकुनसंग्रहः गतिचेष्टादिगवलोकनादिपरिग्रहश्च ७२ इति द्वासप्ततिः पुरुषकलाः, ॥ चतुःषष्टिः स्त्रीकलाः (ताश्च इत्थीशब्दे स्त्रीपुरुषकलानां परस्परं सांकर्ये ऽपि न पुनरुक्ततेत्यपि तत्रैव) ताश्च प्रथतं श्रीऋषभस्वामी महाराजवासे वसन् "लहाइआओ गणिअप्पहाणाओ सउणरुअपज्जवसाणाओ बावत्तरिकलाओ उपदिदेश" जं०२ वक्ष०।

(इदं जम्बूपप्रज्ञप्त्ययनुसारेण व्याख्यातम्। परन्तु जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तेर्निम्नलिखितकलानामर्थेषु समवायाङ्गस्य निम्नलिखितकलानामर्थास्तात्पर्यविचारतो यथासंभवं लभ्यन्ते। तथाहि। जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तेः (१५) पञ्चदश्यां कलायां समवायाङ्गस्य (२५) पञ्चविंशकलाया मधुरादिषमूसप्रयोगरूपोऽर्थोऽन्तर्भवति। एवमङ्गक्रमे ण। १९–२४ गन्धद्रव्यविरचनम्। २७–२६ आभूषणाणां विरचनघटनपरिधानानि। ३४–५१ अश्वशिक्षा। ३५–५२ गजगतिशिक्षा। ३७–३४ मेषलक्षयज्ञानम्।४१–४१ चन्द्रग्रहणादिज्ञानं चर्मगुणदोषज्ञानं च। ४२–३५ चक्ररत्नलक्षणम्। ४३–४८ वस्तुस्थापनविधानम्। ४४–४७ कटकनिवासविधानम्। ४५–१२, ४९ नगररक्षा,नगरनिवेशविधिश्च। ४६–४१ सूर्यराहुग्रहाणामुदयास्तादिफलज्ञानम्। ४७–४१, ४२ सौभाग्यदौर्भाग्यविद्यामन्त्ररहस्य विज्ञानं, सभाप्रवेशविधानं च। ६४–५६,५७ मणिरत्नादिपाकः, मात्रादिधातुपाकश्च। ६७–६७ चर्मविधिविशेषविज्ञानम्। ११–११ जनवादः (लौकैः सहालापसंलापविधिः) अयमेवोभयोर्भेदः, अन्यत्सर्वं समानम्। नन्वेवं परस्परग्रन्थभेदात्सूत्राप्रामाण्यमिति चेन्न। अन्यासामन्यास्वन्तर्भावमिच्छद्भिर्ग्रन्थकारैःनंताः पृथक्तयोपात्ताः। यथा व्यूह इति सामान्यकलायामेव, प्रतिव्यूहशकटव्यूहादीनामन्तर्भवितिच्छद्भिः समवायाङ्गकारैः पृथक्तया नो पात्ताः। विशेषतयाऽवश्यकतां दर्शयद्भिर्जम्बूप्रज्ञप्तिकारैः पृथक्तया निर्दिष्टाः। द्वासप्ततिसंख्यायामुभयोरपि साम्यमिति न विरोधसंभावना। सत्वगत्या भगवद्भिः किंरूपत या का उपदिष्टेति तु केवलिन एव विदन्ति न तु चर्मचक्षुष्का इति) कल्प०। आ० म०द्वि०। प्रव०।ति०।ज्ञा०। विपा०। प्रश्न०। औ०। कलाग्रंथाश्च नो आगमतो लौकिकभावश्रुतेऽन्तर्भवन्तीतिमिथ्यादृकप्रणीतत्वात्तेषां लौकिकभावश्रुतत्वम् तहाहि भारहं *रामायणं इत्युपक्रम्य अहवा बावत्तरिकला चत्तारि वेया संगोवंगा इति* तत्र कलनानि वस्तु परिज्ञानानि कलास्ताश्च द्विसप्ततिः समवायाङ्गादिग्रन्थप्रसिद्धाः। अनु०। "चउसट्ठिकलापंमिया चउसट्ठिगणियगुणोववेया" चतुःषष्टिकला गीतनृत्यादिकाः स्त्रीजनोचिता वात्स्यायनप्रसिद्धाः" ज्ञा०३ अ०। "कलानां ग्रहणादेव, सौभाग्यमुपजायते। देशकालौ त्वपेक्ष्यासां, प्रयोगः सम्भवेन्न वा"॥१॥दश०३ अ०। मात्रायाम् चं०प्र०१ पाहु०। अंशे, स्था०१० ठा०। पलद्वयात्मके काले, धात्वाशयान्तरस्थे देहस्थे धातुक्लेदभेदे, एकमात्रात्मकलघुवर्णे, "स्युर्विषमेऽष्टौ समे कलाः"ऋणप्रयोगे, मूलधनादधिके आवत्वेनामर्णेन उत्तमर्णाय दीयमाने वृद्धिरूपे, मेदि०। रजांसि, नौकायाम्, कपटे च, विश्वः। वाच०। "कलाकुसलसव्वकाल लालियसुहोचिया"कलाकुशल सर्वकाललालितसुखोचिताः कला कुशलाश्च ताः सर्वकालं लालिताश्चेति कलाकुशलसर्वकाललालितास्ताश्च ताःसुखोचितरश्चेति विग्रहः। कलाकौशघ्ल्यसार्वकालिकलालनशालिनीषु सुखोपभोगयोग्यासु राजपत्न्यादिषु, भ०९ श०३३ उ०।

कलातीत त्रि०(कलातीत) त्यक्तकदाग्रहे विपश्चिद्भेदे, यो०विं०।

कला(य)द पुं०(कलाद) कलामंशमादत्ते आ दा० क स्वर्णकारे, अमरः। अलङ्कारघटनार्थं गृहीतधनस्यांशहरणात्तस्य तथात्वम्, वाच०। प्रयन०। ज्ञा०। कलादनाम्ना प्रसिद्धे मूषिकारदारके, यस्य भद्रायां स्वभार्य्यायामुत्पन्ना पोट्टिला नाम्नीदारिका तेतलिपुत्रेण परिणीतेति, ज्ञा०१४ अ०। आ०म०प्र०। आ०चू०। (तेतलिपुत्तशब्दे कथा)

कला पुं० (कलाय) कलामयते अय अण् वृत्तचणके, प्रव० १५६ द्वा०। नि०चु०। ग०। अणु। "कलाया वट्टचणगा" स्था ५ठा०४ उ०। दशा०। "कलायरूवे"उपा०१ अ०।

कलायरिअ पुं० (कलाचार्य्य) लिप्यादिकलाशिक्षणोपाध्याये, यो० विं०।

कलाव पुं० (कलाप) कलां मात्रामाप्नोति आप् अण् **पोवः ८।१।२३१**।इति पस्य वः। प्रा०। समूहे, ज्ञा०१ अ०। जं०। आ०म०प्र०। "आसत्तोसत्तविउलवट्टवग्घारियदामकलावा" प्रज्ञा० २ पद। "सूपाकलावसंठाणसंठिए" प्रज्ञा०२१ पद। स०। औ०। शिखण्डे, उक्खित्तचंदगाइयकलावे ज्ञा०३ अ०। ग्रीवाभरणविशेषे, उपा०७ अ०। ज्ञा०। औ०। शरपूर्णेचर्ममये भस्त्रिरूपे तूणे, शरे, धनुषि, विदग्धे, वाच०।

कलावई स्त्री० (कलावती) शङ्खराजभार्य्यायाम्, या पञ्चमे भवे कनकसुन्दरीनाम्नी मथुरायां राज्ञ्यभूत्,ती०६ कल्प।

कलावग पुं०(कलापक) कलाप स्वार्थे कन् कलापार्थे, हस्तिस्कन्धे हेमचं०। एकवाक्यतापन्ने श्लोकचतुष्के, न० "कलापकं चतुर्भिश्च" *कलापिनो मयूरा यस्मिन् काले सोऽपि कालः कलापी उपचारात् तस्मिन् काले देये ऋणे, न० सिद्ध०कौ०। वाच०। ग्रीवाभरणे, न०* प्रश्न० संव०५ द्वा०।

कलावि (ण्) पुं० (कलापिन्)कलापोबर्होऽस्यास्ति इनि मयूरे, कलापशब्दार्थवति, त्रि० वाच०। सूत्र०।

कलासवण न० (कलासवर्ण) कलानामंशानां सवर्णनं सवर्णं सदृशीकरणं यस्मिन् संख्याने तत् कलासवर्णम्। संख्यानभेदे,स्था०१० ठा०। सूत्र।

कलि पुं (कलि) कल शब्दादौ इन् चतुर्थयुगे, वाच०। कलौलक्षचतुष्टयं वर्षाणाम्, स्था०४ ठा०२ उ० (परसमयाभिप्रायाच्चैदुक्तम्) जघन्ये

कालविशेषे, अनु०। एकके, सूत्र०१ श्रु०२ अ०२ उ०। प्रथमे भङ्गे, "कलीणामपढमभंगे" नि० चू० १५ उ० कलहे, प्रव०३ द्वा०, शूरे, युद्धे च, हेम०। वाच०। स्वनामख्याते कलीनाम युवपुरुषे, येन धर्मस्य गामवोद्दस्स भार्य्या परीक्षिता, दर्श० (मूढशब्दे उदाहरणम्) चम्पानगर्य्याः समीपे पर्व्वतभेदे, "चंपानयरीए नाइदूरे कायंबरीनाम अडवी हेत्था तत्थ कली नाम पव्वाओ" ती०५४ कल्प।

कलिओय (स्) पुं० (कल्योज) कलिना एकेन ओदित एव कृतयुग्माद्वोपरिवर्तिना ओजो विषमराशिविशेषः कल्योजः इति। युग्मराशिविशेषे (भ०)। "जेणं रासीचउक्कएणं अवहारेणं अवहीरमाणे अवहीरमाणे एगपज्जवसिए सेत्तं कलिओए" भ०१८ श०४३ स्था०।

कलिओगकडजुम्म पुं०(कल्योजकृतयुग्म) महायुग्मराशिभेदे, "जेणं रासीचउक्कएणं अवहारेणं अवहीरमाणे चउपज्जवसिए जेणं तस्स रासिस्स अवहारसमया कलिओगा सेत्तं कलिओगकडजुम्मे" कल्योजकृतयुग्मे चतुरादयः। भ०३४ श०१ उ०।

कलिओगकलिओग पुं० (कल्योजकल्योज) महायुग्मराशि भेदे, "जेणं रासीचउक्कएणं अवहारेण अवहीरमाणे एगपज्जवसिए जेणं तस्स रासिस्स अवहारसमया कलिओगा सेत्तं कलिओगकलिओगे" कल्योजकल्योजे तुपश्चादयः। भ०३४ श०१ उ०।

कलिओगतेओग पुं० (कल्योजत्र्योज) महायुग्मराशिभेदे, "जेणं रासीचउक्कएणं अवहारेणं अवहीरमाणे तिपज्जवसिए जेणं तस्स रासिस्स अवहारसमया कलिओगा सेत्तं कलिओगतेओगे" (भ०) कल्योजत्र्योजराशौ सप्तादयः। भ०३४ श०१ उ०।

कलिओगदावरजुम्म पुं० (कल्योजद्वापरयुग्म) महायुग्मराशिभेदे, "जेणं रासीचउक्कएणं अवहारेणं अवहीरमाणे दुपज्जवसिए जेणं तस्स रासिस्स अवहारसमया कलिओगा सेत्तं कलिओगदावरजुम्मे" कल्योजद्वापरे षडादयः। भ०३४ श०१ उ०।

कलिंग पुं० स्त्री० (कलिङ्ग) के मूर्ध्नि लिङ्गमस्य धूम्याटे पक्षिणि, अमरः। तस्य मस्तके पीतचिह्नवत्त्वात्तथात्वम् स्त्रियां जातित्वेऽपि संयोगोपधत्वात् टाप्। कलिं गच्छति वा खच् मित् मुम् च। पूतिकरञ्जे, हेमचं०। कुटजे, तय फलं अण् तस्य लुप्। इन्द्रभवे, न०। शिरीषवृक्षे, प्लक्षवृक्षे च, मेदिर०। वाच०। देशभेदे, यत्र काञ्चनपुरं नगरम्। प्रज्ञा०१ पद। कल्प०। प्रव०। दर्श०। सूत्र०। आचा०।

कलिंगराय पुं० (कलिङ्गराज) कलिङ्गजनपदातां राजनि, आव, आव०४अ०।

कलिंज पुं० (कलिञ्ज) कं–वातं लञ्जति रोधनेन *लजि भर्जने* अच् कटे, हेमचं०। तस्य गुहाद्यावरणेन वातरोधनात्तथात्वम् वाच०। "कलिंजो णाम वंससमया कडवल्लोसट्ठती वि भण्णति" नि० चू०१७ उ०।

कलिंब पुं० (कलिंब) वंशकर्पर्य्याम्, बृ०४ उ०। नि०चू०। "कलिंबो वंसकप्परी" ग०२ अधि०। शुष्ककाष्ठे, भ०८ श०३ उ.०।

कलिकरंड पुं० (कलिकरण्ड) कलीनां कलहानां करण्डक इव भाजनविशेष इव कलिकरण्डः। एकोनविंशे गौणपरिग्रहे, प्रश्न०आश्र०५ द्वा०।

कलिकलह पुं०(कलिकलह) राटीकलहे "कलिकलहवेहकरणं" कलिकलहश्च राटीकलहो न तु रतिकलहः। प्रश्न०आश्र०३ द्वा०।

कलिं (लि) कलुस न०(कलिकलुष) कलहहेतुकलुषे, विपा०१ श्रु०१ अ०।

कलिकुं ड न०(कलिकुण्ड) कलिपर्वतस्याऽधोभूमिस्थे सरोवरे, तत्कल्पश्चायम् अंगजणवए करकंडुनिवपालिज्जमाणाए चंपानयरीए नाइदूरे कायंबरी नाम अडवी होत्था। तत्थ काली नाम पव्वओ तस्स अहो भूमीए कुंडं नाम सरवरं। तत्थ जूहाहिवई महिहरो नाम हत्थी। अन्नया छउमत्थविहारेणं विहरंतो पाससामी कलिकुं डसमीवदेसे काउस्सग्गेण ठिओ सो य जूहनाहो पहुं पिक्खंतो जाइसरो जाओ चिंतइ। अहहा हं विदेहेसु, हेमधरो नाम माहणो। अहेसि जुवाण वि डा य मा ओवहसंति, १ तओ वेरग्गेण नमिरसाहस्स साहिणो साहाए उचं ठिओ मरिउं कामो अहं दिट्ठो सुप्पपइट्ठसद्धेण पुट्ठो अ कारणं मए जहट्ठिए वुत्ते तेणहं सुगुरुपासे नीओ गाहिओ सम्मत्तं। अंते कयाणयणेण नियाणं मए कयं जहा भवंतरे उद्धो हं हुज्जा त्ति। मरिऊण हत्थी जाओ हं। इह भवणे तओ इमं भगवंतं पज्जुवासामित्ति चिंतिओ ततो चेव सरवराओ घित्तुं सरसकमलं तेहिं जिणं पूएइ परिवालिअपुव्वगहिअसम्मत्तो अणसणं काउं महिड्ढिओ वंतरो जाओ। एयमच्चब्भुअं चारेहिंतो सोच्चा करकंडू राया तया तत्थागओ। न दिट्ठो सामी। राया अईव अप्पाणं निंदेइ धन्नो सो हत्थी जेण भयवं पूइअ अहं तु अधन्नो त्ति। एवं सोअंतस्स पुरओ धरणिंदप्पभावेण नवहत्थप्पमाणा पडिमा पाउब्भूया तओ तुट्ठो राया जय जय त्ति भणंतो तीए णडइ पुअइ अ चेइअं तत्थ कारेइ तत्थ तिसंझं पुप्फाणि संथुइअं पिक्खणयं च कारें तेण रन्ना कलिकुंडतित्थं पयासिअं। तत्थ सो हत्थी वंतरो सानिज्झं करेइ पव्व य पूरइ नवजंतीए मुहजंताणि कलिकुंडमेते य कम्मकरे पयासेइ। जहा गामवासी जणो गामुत्ति भण्णड तहा कलिकुंडनिवासिजिणो वि कलिकुंडो। एसा कलिकुंडस्स उप्पत्ती। ती०१५ कल्प। कलिकुण्डे नागद्रहे (ह्रदे) च श्री पार्श्वनाथः ती ४५ कल्प।

कलिगिरि पुं० (कलिगिरि) चम्पानगर्य्याः समीपे कलिपर्वते, यस्योपत्यकावर्ति कुण्डं नाम सरः, ती०३५ कल्प।

कलिजुग न०(कलियुग)कर्म०सा० राहुशिरोवत्तत्पुरुषो वा कलिरूपे युगे कालविशेषे, वाच०।

कलियुगोत्पत्तिर्लोके एवम् –

तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे पाणयकप्पाहिए पुप्फुत्तरविमाणे वीससागरोवमाइं आउं परिपालित्ता तओ चुओ समाणे तिण्णाणोवगओ इमीसे उस्सप्पिणीए तिसु अरएसु वइक्कंतेसु अद्धनवमासाहिअपंचहुत्तरीवासावाससेसे चउत्थए अरए आसाढसुद्धछट्ठीए उत्तरफग्गुणीरिक्खे माहणकुं डग्गामे नयरे उसभदत्तमाहणभारियाए देवाणंदाए कुच्छंसि सीहगयवसहाइचउद्दसमहासुमिणसंसूइओ अवइन्नो। तत्थ वासीइदिणाणंतरे सक्काइट्ठेण हरणेगमेसिणा आसोयबहुलतेरसीए तम्मि चेव रिक्खे खत्तिअकुंडग्गामे णयरे सिद्धत्थरण्णो देवीए तिसलाए गब्भविणिमयं काउं गब्भम्मि साहरिओ। माउण सिणेहं नाउं सत्तममासे अम्मापियरेहिं जीवंतेहिं नाहं समणो होहिंति गहीआभिग्गहो नवण्हं मासाणं अद्ध,ट्ठमाणराइंदियाणं अंते चित्तसियतेरसी अद्धरत्ते तम्मि

चेव रिक्खे जाओ। अम्मापिऊहिं कयवद्धमाणनामो मेरुकप्पसुरभवणा इंदवायरणपणयणाइं पयमअवदाओ भुत्तभोगा अम्मापिऊहिं देवत्तगएहिं तीसं वासाइं आगारवासे वसित्ता संवच्छरिअं दाणं दाउं चंदप्पहाए सिवियाए एगागी एगदेवदूसेण मग्गसिरकसिणदसमीए तम्मि चेव वरिसे छट्ठेण अवरण्हे नायसंडवणे निक्खमंतो। वीयदिणे बाहुलविप्पेणं पायसेणं पाराविओ पंच दिव्वाइं पाउब्भूयाइं ततो बारसवाइं तेरसपक्खे अ नरसुरतिरियकओवसग्गे सहित्ता उग्गं च तवं चरित्ता जंभियग्गामे उज्जुवालिआतीरे गोदोहिआसणेणं छट्ठभत्तेणं तम्मि चेव नक्खत्ते वइसाहसुद्धदसमीए पहरतिगे केवलनाणं पत्तो। इक्कारसीए अ मज्झिमपावाओ महसेणवणे तित्थं पइट्ठिअं। इंदभूइप्पमुहा गणहरा दिक्खिआ सपरिवारा वयविहिणाओ भयवओ बायालीसं वासा चउम्मासीओ जायाओ तंजहा एगा अट्ठिअगामे, तिण्णि चंपासु, दुवालस वेसालीवाणियग्गामेसु, चउद्दस नालंदारायगिहेसु, छ मिहिलाए दो भद्दियाए, एगा आलंभियाए एगा पणिअभूडीए, एगा सावत्थीए, चरमा पुण मज्झिमपावाए, हत्थिपालरण्णे अ रज्जसभए सुक्कसालाए आसि। तत्थ आउसेसं जाणंतो सामी सोलसपहराइं देसणं करेइ तत्थ वंदिउमागओ पुणपालो राया अट्ठण्हं सुदिट्ठाणं सुमिणाणं फलं पुच्छेइ भयवं वागरेइ अ इमे। पढमो ताव चउपासाएसु गया चिट्ठंति तेसु पडंतेसु वि ते न णिंति केवि तहा निग्गच्छंति जहा तप्पडणाओ विणस्संति एयस्स सुमिणस्स फलं एवं दूसमगिहिवासा चलपासायत्थाणीआ संपयाणं सिणेहाणं निवासाणं च अविरत्ताओ हं भो दुस्समाए दुप्पजीविइच्चाइवयणाओ गया धम्मत्थीसावया इयरपरसमयगिहत्थेहिंतो पण्णत्तणेण ते अगिहवासाए पडिहंति देसभंगाईहिं तहवि निग्गंतुं न इच्छिस्संति वयगहणेणं जे विणिहिंति ते वि अविहिनिग्गमेणं तओ ते निणिस्सिस्संति गिहिं संकिलेसमज्झे आगया भग्गपरिणामा भविस्संति विरला य सुसाहुणो होऊण आगमाणुसारेणं गिहिसकिलेसाइ मज्झे आगए वि अवगणिऊण कुलीणत्तणेण निव्वहिस्संति त्ति पढमसुमिणत्थो। बीओ पुण इमो बहवो वानरा तेसिं मज्झे जूहाहिव इणो ते अ मज्झाणं अप्पाणं विलिंपंति अन्नो वि अतओ लोगो हसइ ते भणंति न एअमसुइं गोसीसचंदणं खु एयं विरला पुण वानरा न लिप्पंति। अंते अलित्तेहिं खिंसिज्जंति त्ति। एयस्स फलं पुण इमं वानरत्थाणीआ गच्छिल्लगा अप्पमत्तत्तेणं चलपरिणामत्तेणं च जूहाहिवई गच्छाहिवई आयरिअरइणो असुइविलेवणं तु तेसिं अहाकम्माइ सावज्जसेवणं अन्नविलेवणं च अन्नेसिं वि तक्करेण लोगहसणं, च तेसिं अणुचियपवित्तिए य वयणहीला। ते भणिस्संति न एयं गरहियं किं तु धम्मंगमयं विरला तदणुरोहेणावि न सावज्जे पयट्ठिहिंति। ते य तेहिं खिंसिज्जिहिंति जह एअवगीआ अकिंचिकरा य त्ति। बीयसुमिणत्थो ॥२॥ तइओ पुण इमो सज्झायखीरमरूणं हिट्ठे बहवे सीहपोअया पसंतरूवा चिट्ठंति ते य लोएसिं पसंसिज्जंति अहिगडंति य बंबूलाणं च हिट्ठे सुणगत्ति। फलं तु एयस्सेडं खीरतरुत्थाणीयाणि साहूणं विहरणपाउग्गाणं खित्ताणि सावया वा सल्लेणं भत्तिबहुमाणवंता धम्मोवग्गहदाणपरा सुसोहरक्खावणपरा य ते य रुंधिहिंति वहुगा सीहपोयगा नीयावासिपासत्थोसन्नाई किट्टत्तणओ अन्ने सीहासणाओ अ ते अप्पसणं जणरंजणत्थं पसंतं दरिसिहिंति। तहाविह कोउहल्लिअलोगेहिं पसंसिज्जिहिंति अहिगडिस्संति अतव्वयकरणाओ य ते अत्थयकयाई केई धम्मसद्धगा वेहारुगपरिहारगवो दूइज्जंति तेअ तेसिं तब्भाविआणं च सुणगाइ पडिहासिस्संति अभिक्खणं सुद्धधम्मकहणेणं भंसिस्संति त्ति जेसु कुलेसु दूइज्जंति ते पडिहासिस्संति अवण्णए दूसमवासेण धम्मगच्छा सीहपोअगा इव भविस्संति त्ति ॥३॥ चउत्थो पुण एवं केवि कागा वावीए तडे तिसाए अभिभूया मायासरं दट्ठुं तत्थ गंतुं पविट्ठा केण वि निसिद्धा न एवं जलंति ते आसद्दहंता तत्थ गया विद्दायंति। फलं तु इमं वावी वाणीआसु साहुणई अइंगभीरा सुभागवअत्था उस्सग्गावबायकुसला अगहिलगहिलो राया इइनाएण कालोचिअधम्मनिरया अणिस्सिउवस्सिया तत्थ कागसमा अइवंकजडा अणेगकलंकोवहया धम्मट्ठी ते अज्जयधम्मसद्धाए अभिभूया मायासरप्पाया पुण पुव्वुत्तविवरीया धम्मधारिणो अईवकट्ठाणुट्ठाणनिरया वि य परिणताओ अणुवायपयट्टत्ताओ अकम्मबंधहेउणो ते दट्ठुं मूढधम्मिया तत्थ गच्छहिंति त्ति। केण वि गहयत्थेण ते भणिहिंति जहा न एस धम्मसग्गो किं तु तयाभासोयं तहवि ते असद्दहंता के य जाहिंति विणिस्सिहिंति अ संसारे पयडणेणं बाहिंति ते अ मूढसाहगा भविस्संति त्ति ॥४॥ पंचमो इमो अणेगसावयगणाउले विसमेवणे मज्झे सीहो मओ चिट्ठइ न य तं को वि सिगालाई विणासेइ कालेणं तत्थ मयसीहकलेवरे कीडगा उप्पन्ना तेहिंति भक्खियं दट्ठुं तेसियालाई उवद्दवंति त्ति। फलंतु एयस्स सीहो पवयणं परवाइमयदुद्धरिसत्ताओ वणं पविरलसुपरिक्खगधम्मिअजणा भारहवासं सावयगणा परतित्थिआइ पवयणपच्चणीया तेहिं एवं मन्नंति एवं पवयणमम्हाणं पूआसक्कारदाणाइवुच्छेयगरंतो जहा तहा फिट्टओ त्तिविसमं अमज्झत्थजणसंकुलं तं च पवयणं मये अइसयववगमेणं निप्पभावं भविस्सइ तहा वि पच्चणीया भएण न तं उवद्दविहंति किर इत्थ परप्परं संगई अत्थि सुट्ठियत्तंवत्ति कालदोसेणं तत्थ कीडगप्पाया पवयणनिंदया समयंतीयाई उप्पज्जिहिंति ते य परोप्परं वि तमेलुत्ति धुवं निरइसेसं मेयं पि त्ति निब्भयत्तेणं उवद्दविस्संति पवयणंति ॥५॥ छट्ठो पुण इमो पउमागरा सरागाई अपउमा गद्दभगजूहा वा पउमा पुण रुक्करुट्ठियाए ते वि विरला न तहा रमणिज्जत्ति फलं तु पउमागरत्थणीयाणि धम्मखित्ताइं सुकुमालाइं वा तेसिं धम्मो पयट्ठिस्सइ ते वि अट्ठाणुप्पत्तिदोसाणुओ लोएणं खिंसिज्जमाणा ईसाइदोसदुट्ठे तेणं न सकज्जं साहिस्संति त्ति ॥६॥ सत्तमो इमो को वि करसगो दुव्वियद्धो दुट्ठघुणक्खयाइं परोहअजुग्गाइं बीयाइं सम्मं वीयाइं मन्नंतो किणित्ता य खित्तेसु ह्यसराइसु पयएइ तम्मज्झे समागयं विरलं सुद्धं बीयं अवणेइ सुखित्तं च परिहरइ त्ति एयस्स फलं इमं करिसगत्थाणीया दाणधम्मरुइं ते य दुव्वियद्धा जाणगं मत्ता अप्पाउग्गजणि वि संघभत्ताइ दाणाणि पाउग्गणि मन्नंता ताणवि अपत्तेसु दाहिंति इत्थ चउभंगो एगो सुद्धो अप्पाउग्गमज्झे किंचि सुद्धं देयं भवइ तं अवपोहिंति सुपत्तं वा समागयं परिहरिस्संति परसाणि दाणाणि दायगा गाहगाय भविस्संति। अन्नाहा वा वक्खाणं अनीया असाहुणो ते वि साहुबुद्धीए दुव्वियद्धा गिण्हिस्संति अट्ठाणेसु अविहीएसु अ वाविस्संति जहा दुव्वियद्धो कोइ करिसओ अवीसओ अवीयाणि वीयाणि मन्नंतो तहा ठवेइ तती ठावेइ जहा जत्थ य

कीडमावण्ण खज्जंति वोप्पडाइणा वा विणस्संति अन्नहा वा परोहस्स अणिज्जाणि भवंति एवं अयाणगधम्मसद्धिं आपत्ता वि णिअवित्तीए अबहुमाण अभत्तिमाईहिं तहा कारिस्संति जहहा पुन्नपसव्वं अक्खमाइं होहिंति ॥७॥ अट्ठमो आएसो पासायसिहरे खीरोदभरिआ सत्ताइअलंकियंगा वा कलसा चिट्ठंति अन्ने य भूमिए बोंयडा ओगालसयकलिया कालेण ते सुहकलसा नियट्ठाणाओ चलिआ बोंयडघडाणं उवरिं पडिया वि भग्गत्ति फलं तु कलसत्थाणीया सुसाहुणो पुव्वं उग्गहविहारेण विहरंता पुज्जा होऊण कालाइदोसओ नियसंयमत्था उंटलिआ उसन्नीभूया सीयलविहारिणो पायं भविस्संति इयरे पुण पासत्थाई भूमट्ठिया चेव भुमिरयओगालप्पाय असंयमट्ठाणसयकलिआ बोंयडघप्पाया निसन्नपरिणामा चेव होहिंति ते य सुसाहुणो टलंता अन्नविहाराखेत्ताभावाओ बोंयडघणकप्पाणं पासत्थाईणं उवरिपीडं करिस्संति ते य सखित्तअक्कमणेणं पीडिया संता निद्धंधसत्तेण सुद्धरयं तेसिं संकलेसं सा य होहिंति तो परुप्परविवायं कुणंतो वा वि संजमाओ भसिस्संति "इक्के तवगारविआ, आ अन्ने सिढिला सधम्मकिरियासु। मच्छरवासणदुन्निवि, होहिंति बपुट्ठधम्माणो ॥१॥ केइ पुण अगहिल्ले गहिलव्वरायअक्खाणगविहीए कालाइदोसे वि अप्पाणं निव्वाहइस्संति तं च अक्खाणयमेवं पन्नवंति पुव्वायरिया पुव्विं किर पुहवीपुरीए पुणो नाम राया तस्स मंती सुबुद्धी नाम अन्नाय लोगदेवो नाम नेमित्तिओ आगओ सो य बुद्धिमंतिणा आगमेसि कालं पुट्ठो तेण भणिअं मासाणंतरे इत्थं जलहरो वरिसिस्सइ तस्स जलं जो पाहिइ सो सव्वो वि गहग्घत्थो भविस्सइ कित्तिए वि काले सुबुट्ठी भविस्सइ तज्जलपाणेण पुणे जणा सुत्थि भविस्संति तओ मंतिणा तं राइणो विन्नत्तं रण्णा वि पडहघोसेण वारिसं गहत्थो जणे आइट्ठो जणेण वि तस्यंगहो कओ मासेण बुट्ठो मेहो तं च संगहियं नीरं कालेण निट्ठविअं लोएहिं नवोदगं चेव पाउमाढत्तं तओ गहिलीभूआ सव्वलोआ सामंताई गायंति नच्चंति सुत्थिए वि चिट्ठंतो केवलं राया अमच्चो अ संगहिअं जलं न निट्ठियंति तं चेव सुत्था चिट्ठंति तओ सामंताईहिं विसरिसचिट्ठे रायआमच्चे निरिक्खऊण परप्परं मंतिअं जहा गहिल्लो राया मंतीया एए अम्हाहिंतो वि विसरिसायारा तओ एए अवसारिऊण अवरे अप्पतुल्लायरे रायाणं ववाविस्सामो मंतीऊण तेसिं मंतं नाऊण राइणो विन्नवेइ रण्णा वुत्तं कहमेए हुंतो अप्पारक्खियव्वो विदं हि नरिंदतुल्लं हवइ मंतिणा भणियं महाराय! अगहिलेहिं पि अम्हेहिं गहिल्ली होऊण ठा यव्वं न अन्नहा मुक्खो तओ कित्तिमगहिल्ली होउं ते राया मच्चा तेसिं मज्झे निअसंपयं रक्खंता चिट्ठंति तओ ते सामंताई तुट्ठा अहो राया मच्चा वि अम्हसरिसा संजायत्ति उवाएण तेण तेहिं अप्पारक्खिओ तओ कालंतरेण सुहबुट्ठी जाया नवोदगे पाए सव्वे लोगा पगइभावण्णा मुच्छा संवुत्ता एवं दूसमकाले गीयत्था कुलिंगीहिं सरिसा होऊण वट्टंता अप्पणो समयं भाविणं पडिवालिंतो अप्पाणं निव्वाहइस्संति एवं भावि दूसमविलसिअसूअगाणं अट्ठहाणं सुमिणाणं फलं सामिमुहाओ साऊण पुन्नपालनरिंदो पव्वइओ सिवं गओ एयं च दूसमासमविलसिअं लोइया वि कलिकालव्ववएसेणं पण्णविंति जहा पुव्विं किर दावरजुगउप्पन्नेणं रण्णा जहुट्ठिल्लेणं रायवाडिआगएणं कत्थ वि पएसे वच्छियाए हिट्ठो एगा गावी थणपाणं कुणंती दिट्ठा तं च अच्छेरयं दट्ठूण राइणा दियवरा पुट्ठा किमेयंति तेहिं भणिअं देव! आगामिणो कलिजुगस्स सूयगमेयं इमस्स अब्भुअस्स फलमिणं कलियुगे अम्मपिअरो कण्णयं कस्स वि रिद्धिसंपन्नस्स दाउं तं उवजीविस्संति ततो दविणगहरक्खइणा तओ अग्गउ जुत्तं पच्छिएण सलिलवीसालियवालुयाए रज्जु उ वलंता के वि दिट्ठा खणमित्तेण ताओ रज्जुओ वयायवसंजोएणं सुक्खलिआ तओ महावइणा पुच्छिएहिं भणिअं दिएसिं महाराय! एयस्स फलं जं दविण किच्छवत्तीए लोया विढविस्संति तं कलिजुगंमि चोरग्गिरायदंडदाईएहिं विणस्सिहइ पुणरवि अग्गओ बलिएणं धम्मपुत्तेणं दिट्ठं अह यों मपलुट्ठिअं जलं कूवे पडंतं तत्थ वि वुत्त माहणेहिं देव जं दव्वं पयाओ असिमसिकि-सिवाणिज्जईहिं उवज्जिहिंति तं सव्वे रायउले गच्छिहित्ति अन्नजुगेसु किर रायाणो नियदव्वं दाऊण लोअंमुट्ठिअं अकरिंसु पुणो पुरओ वच्चंतेण निवइ एगरायचंपयं तरुं च एगंमि पएसे दिट्ठा तत्थ समीपायवस्स बेइयाबंधभंमणगंधमल्लाइपूआ गीयनट्टमहिमा य जणेण कीरमाणी पलोइआ इअरस्स तरूणो छत्तायारस्स वि महमहिमकुसुमसमिद्धस्स विवत्तं को वि न पुछिइत्ति तस्स फलं वरवाणियं विप्पेहिं जहा गुणवत्ताणं महप्पाणं सज्झाणाणं न पूआ भविस्सइ न य रिद्धिं पाएहिंति निग्गुणाणं पाविट्ठाणं खलाणं पूआ सक्कारो इड्ढी य कलिजुगे भविस्सइ भुज्जो पुरोपविट्ठिएणं राइणा दिट्ठा एगा सिला सुहुमच्छिद्दबद्धवालग्गआलंबणेणं अंतरिक्खट्ठिआ तत्थ वि पुट्ठेहिं सिद्धं सुत्तकंठेहिं जहा महाभाग! कलिकाले सिलातुल्लं पावं विउलं भविस्सइ वालग्गसरिसो धम्मो पयट्ठिही परं तिथियस्स वि धम्मस्स माहप्पेणं कंचिकालं निच्छरिस्सइति लोओ तस्सिं वि तुट्ठे सव्वं वुडिस्सइ दूसमसुसमाए पुव्वसूरीहिं पलोइया विक्खाए कलिजुगामाहप्पमित्थं साहियं।

"कूआवाहाजीवण तरुफलविहगा वि वत्थधावणया।
लोहे विवज्जकलिमल-सप्पगरुडइपूअपूआय ॥१॥
हत्थंगुलिदुगघट्टण-गयगद्दभसगडबालसिलधरणं।
एमाइ आहरणा, लोअंमि वि कालदोसेण ॥२॥
लयघरकलहकुलेयर-मेराअणुसुद्धधम्मपुढविठिई।
वालुगचक्कारंभो, एमाइआइ सद्देण ॥३॥
कलिअवयारे किलिनि-ज्जएसु चउसुं पि पंडवेसु तह।
भोइवहाइकहाए, जामिगजोगंमि कलिणाओ ॥४॥
तत्तो जुहट्ठिलेणं, जियम्मि ठिइदाइए तम्मि।
एमाई अट्ठुत्तर-सएण सिट्ठानियट्ठिइ त्ति" ॥५॥

एयासिं गाहाणं अत्थो कूवेण आवाहो उवजीविस्सइ। राया कूवणत्थाणीओ सव्वेसिं बंभखत्तिअवइससुट्ठाणं भरणीयत्तणेण आवाहतुल्लाणं कलिजुगदोसाओ अत्थग्गहणं करिस्से १ तहा तरूणं फलनिमित्तो वहो छेओ भविस्सइ फलं तुम्हा पुत्तो तरुतुल्लस्स पिउणो वहपारयं उद्देसं गंधणपत्तलेहणा उप्पाइस्सइ २ वच्छियातुल्लाए कण्णाए विक्कमाइणा गोतुल्ला जणणी धावणतुल्ला उवजीवणं करिस्सइ ३ लोहमई कडाद्दी तिस्सावि वद्धा सो सुगंधितिल्लघयपाठविआए कलमलस्स पिसियाइणो पागो हविस्सइ। स जाइवग्गपरिहारेण अनालबद्धेसु परजणेसु आदाणं भविस्सइ त्तिभावो ४ सप्पसरिसेसु निद्धाएसु धम्मवज्झेसु दाणाइसक्कारो गरुडप्पायेसु पुज्जेसु धम्मचारिसु अपूया य भविस्ससइ ५ हत्थस्स अंगुलिदुगेण घट्टणं ववणं भविस्सइ हत्थतुल्लस्स पिउणो अंगुलिदुगतुल्लेहिं बहुपुत्तेहिं लयगघरकरणाइओ घट्टणं नाम लोओ

भविस्सइ ६ गयवोढव्वं सगडं गद्दभवोढव्वं भविस्सइ गयत्थाणीएसु उच्चकुलेसु गद्दभत्था य सगडवाहणोचिएसु कलहो नायलो वा भविस्स इय नीयकुलेसु गहभत्थाणीएसु मेरा नीई भविस्सइ ७ बालबद्धा सिला धरिस्सइ अणुम्मि सुहुमयरे बालप्पाएसु धम्मे सत्थाणुसारिणिसिला-तुल्लए पुढवीए निन्निवासिलोअस्सठिई निव्वहणं भविस्सइ ८ जहा वालुयाए चक्के तया गहिट्ठं न तीरइ एवं आरंभाओ वि वाणिज्जकिसिसेवाई आउविसिद्धं पयासाणरूवं फलं न पाविस्सइ ९ सेसगाहा दुगत्थोकहाणयगम्मो तं चेमं किल पंचपंडवा दुज्जोहणदूसासणाओ भाहुसए कण्णगंगेयदोणायरिएसु अ संगामसीसे निहएसु चिरं रज्जं परिवालिअ कलियुगपविसकाले महापहं पट्ठिआ कत्थ वि वणुद्देसे पत्ता तओ रत्तीओ जुहिट्ठिलेण भीमइणो पइपहरपाहरिअत्ते निरूविआ ततो सुत्तेस्सु धम्मपुत्ताइसु पुरिसरूवं काउंकली भीममुट्ठिवट्ठिओ अहिखित्तो य तेण भीमो । रेभाउअ ! गुरुपिआमहाइणो संपइ धम्मत्थं पट्ठिओ तुमं ता केरिसो तुह धम्मो भीमो कुद्धो तेण जुज्झिउमारद्धो जहा जहा भीमो जुज्झइ तहा तहा कली वड्ढइ तओ निज्झिओ कलिणा भीमो । एवं बीयजामे अज्जुणो तइअचउत्थजामेसु नकुलसहदेवा तेण अहिखित्ता रुट्ठा निज्झिया य तओ सावसेसाए निसाए उट्ठिएसु जुहिट्ठिल्ले जुज्झिओ तुट्ठो कली ते उरवंतीए चेव निज्झिओ कली सो संकोअनेउं सरावमज्झे ठविओ पभाए य भीमाईणं दंसिओ । एस सो जेण तुब्भे निज्झिया एमाईणं दिट्ठंताणं दुत्तरसएण महाभारहे वासे सिणा कलिट्ठिई दंसियत्ति। अलं पसंगेण । ती० २१ कल्प)।

कलित्त न० (कमि (लि) त्र) – कृतिविशेषे, ज्ञा०१ अ० औ०।

कलिदप्पदह न०(कलिदर्पह्रद) हस्तिनापुरस्थे ह्रदभेदे, ती०४६ कल्प०।

कलिय त्रि०(कलित) कल कर्मणि क्त युक्ते, स० स्था० ज्ञा० प्रश्न०।"सुंदरथणजघणवयणकरचरणणयणलावण्णविलासकलिया" विपा०१ श्रु०२ अ० रा० जं० औ० उपेते, बहुरवज्जपेयकलिअ" प्रश्न०आश्र०२ द्वा० आ०। विदिते, प्राप्ते, च मेदि० भेदिते, संख्याते, शब्दर० गृहीते, उक्ते, विचारिते, वद्धे, च भावे क्तः ज्ञानलाभादौ, न०वाच ।

कलुण त्रि० (करुण) करोति मन आनुकुल्याय कृ उनन् **"हरिद्रादौ लः ८।१।२५४।** इति रस्य लः प्रा० करुणोत्पादके । विपी०१ श्रु०७ अ० प्रश्न० दयास्पदे, प्रश्न० अश्र०३ द्वा० विपा०।दीने, सूत्र०१ श्रु१ अ०१उ०।"कुत्सितं रौत्यनेनेति निरुक्तिवशात्करणः । करुणास्पदत्वात्करणः । प्रियविप्रयोगादिदुःखहेतुसमुत्थे शोकप्रकर्षणस्वरूपे रसविशेषे, अनु०।

अथ हेतुतो लक्षणातश्च करुणरसस्वरूपमाह –

पिअविप्पओगबंध–ब्वहवाहिविणिवायसंभमुप्पण्णो ।
सोइअविलविअपराहाय, रुन्नलिंगो रसो करुणो॥१६॥

प्रिय विप्रयोगबन्धव्यथाव्याधिविनिपातसंभ्रमेभ्यः समुत्पन्नः करुणो रस इति योगस्तत्र विनिपातः सुतादिमरणं संभ्रमः परचक्रादिभयं शेषं प्रतीम् । किं लक्षण इत्याह । शोचितविलपितप्रम्लानरुदितानि लिङ्गानि लक्षणानि यस्य स तथा । तत्र शोचितं मानसो विकारः शेषं विदितमिति ।

उदाहरणं यथा –

पज्झाय किलामि अयं, वाहागयपप्फुअत्तिअं बहुसो ।
तस्स विओगे पुत्तया, दुव्वलयं ते मुहं जायं ॥१७॥

अत्र प्रियविप्रयोगभ्रमितां बालां प्रति वृद्धा काचिदाह तस्य कस्यचित्पियंयतमस्य वियोगे पुत्रिके दुर्वलकं ते मुखं जातं कथं भूतम् (पज्झायकिलामितयंति) प्रध्यातं प्रियलनविषयमतिचिन्तितं तेन क्लान्तम् (वाहागयपप्फुअत्थियंति) वाष्पस्यागतमागमनं तेनोपप्लुते व्याप्ते अक्षिणी यत्र तत्तथा बहुशोऽभीक्ष्णमिति ॥१७॥ अनु० ३४० पत्र०। कामभेदे, मनुष्याणां करुणा मनोज्ञत्वस्या तथाविधत्वात् तुच्छत्वेन क्षणदृष्टनष्टत्वेन शुक्रशोणितादिप्रभवदेहाश्रितत्वेन च शोचनात्मकत्वात् करुणो हि रसः शोकस्वभावः करुणः शोकप्रकृतिरिति वचनादिति, स्था०४ ठा०४ उ०। वृक्षभेदे, पुं० वाच।

कलुणवडिया स्त्री०(करुणप्रतिज्ञा) करुणार्थं गृह्णमीत्येवं प्रतिज्ञाने "कलुणपडियाए जएज्जा धम्मियाए जायणाए जाएज्जा" आचा०२ श्रु०३ अ०३ उ०।

कलुणविणीय त्रि०(करुणविनीत) करुणालापविनयपूर्वके "मणबंधणेहिं णेगेहिं कलुणविणीयमुवगसित्ताणं" सूत्र०१ श्रु०४ अ०१ उ०।

कलुणा स्त्री०(करुणा) कृपायाम् षो०४ विव० दीनादिष्वनुकम्पायाम्, ध०१ अधि०।

करुणा दुःखहानेच्छा, मोहद्दुःखितदर्शनात् ।
संवेगाच्च स्वभावाच्च, प्रीतिमत्स्वपरेषु च ॥

(करुणेति) दुःखहानस्य दुःखपरिहारस्येच्छा सा च मोहादज्ञानादेका यथा ग्लानयाचिता पथ्यवस्तुप्रदानाभिलाषलक्षणाऽन्या दुःखितस्य दीनादेर्दर्शनात् तस्य लोकप्रसिद्धाहारवस्त्रशयनासनादिप्रदानेन संवेगान्मोक्षाभिलाषाच्च सुखितेष्वपि सत्वेषु प्रीतिमत्सु सांसारिकदुःखपरित्राणेच्छा छद्मस्थानामपरा पुनरपरेषु च प्रीतिमत्ता संबन्धविकलेषु सर्वेष्वेव स्वभावाच्च प्रवर्त्तमाना केवलिनामिव भगवंता महामुनीनां सर्वानुग्रहपरायणानामित्येवं चतुर्विधा । तदुक्तं "मोहासुखसंवेगान्यहितयुता चैव करुणेति" द्वा० षो०४ विव०।

कलुस पुं०स्त्री०(कलुष) कल–उप च लुषहिंसायां कस्य जलस्य मुषो घातक इति वा । महिषे, राजनि० स्त्रियां जातित्वात् । ङीष् अनच्छे, आबिले, त्रि० अमरः । गर्हिते, त्रि० शब्दरत्नावलिः । असमर्थे, वाच० प्रीतिवर्जिते, स्था०४ ठा०४ उ० द्वेषलोभादिलक्षणे पापे, नपुं० स० प्रश्न० सूत्र०"कम्मंति वा खहंति वा वोणंति कलुसंति वा वेज्जंति वा वेरंति वा पंकोत्ति वा मलोत्ति वा एते एगट्ठिता" नि० चू०१२ उ० आ०चु० कासाये, पुं०"कलुसस्स य णिक्खेवो चउव्विहो कोहादि एक्कारो" नि०चू०१ उ०।

कलुसकम्म (ण) न० (कलुषकर्मन्) मित्रद्रोहादिव्यापाररूपे मलीमसे कर्मणि, प्रश्न०आश्र०३ द्वा०।

कलुससमावण्ण त्रि०(कलुषसमापन्न) मतिमालिन्यमुपगते, ज्ञा०३ अ०। एवमिदं सर्वं जिनशासनोक्तमन्यथा वेति कलुषसमापन्ने, स्था०४ ठा०३ उ०। "स संकिते जाव कलुससमावण्णे णो संचाएत्ति" कलुषं समापन्नः प्राक्तननिश्चयविपर्ययलक्षणं गोशालकमतानुसारिणा मतेन मिथ्यात्वं प्राप्त इत्यर्थः । अथवा

कलुषभावं जितोऽहमनेनेति खेदरूपमापन्न इति, उपा०६ अ०।

कलुसहियय त्रि०(कलुषहृदय) दुष्टचित्ते, ज्ञा०१६ अ०।

कलुसाउ(वि)लचेय त्रि०(कलुषाकु**वि**लचेतस्) कलुषेण द्वेषलोभादिलक्षणपापेनाविलमाकुलं वा चेतो यस्य स तथा कलुषितमनस्के, स०।

कलेवर न० (कलेवर) कले शुक्रे वरं श्रेष्ठम्। तदुत्पन्नत्वेनऽपि शुचि सप्तम्या अलुक्। शरीरे, स्था०५ ठा०१ उ०। शरीरं वपुः कायो देहः। कलेवरमित्यादयस्तु शरीरपर्य्यायाः विशे०। मृतशरीरे, प्रश्न०आश्र०३ द्वा०। आव०। मनुष्यशरीरे, ०१ वक्ष०।

कलेवरसंघाड पुं० (कलेवरसंघाट) मनुष्यशरीरयुग्मे, संघाटशब्दो युग्मवाची यथा साधुसंघाट इति, जी०३ प्रति०२ उ०।

कलेसुय न०(कलेसुक) तृणविशेषे, सूत्र०२ श्रु०२ अ०।

कल्ल न०(कल्प) कलयति चेष्टामत्र यक् कल्पते कलागतौ कर्मणियत् द्वा कलासु साधुः प्रत्यूषे, अमरः। वाच०। आ०म०प्र०। औ०। तं०। प्रादुःप्राकाश्ये, रा०। प्रभाते, अनु०। कल्पमिति श्वः, ज्ञा०१ अ०। "ते एवं कल्लं पुण माखलिणं पडिच्छिहसि मा वा वहिसि" आ०म०द्वि०। विशे०। औ। कल्प०। नीरोगत्वे, ज्ञा०१ अ० "कल्लं किलारोग्गं" कल्यं किलारोग्यंमुच्यते। "तं तच्चं णिव्वाणं कारणकज्जोवयाराओ" यच्चारोग्यं तथ्यं निरुपचारितनिर्वाणमवगन्तव्यमथवा कार्य्ये कारणोपचारात् तत्साधनदर्शनज्ञान चारित्रबललक्षणं निर्वाणमवसेयमिति, विशे०। संथा०। स्था०। आव। निरामये, सज्ञे, समर्थे, उद्युक्ते च, त्रि०अमरः। वाक्श्रुतिवर्जिते उपायवचने, कल्याणवचने, च त्रि०, मेदि०। सुरायाम्, मेदि०। शुभात्मिकायां वाण्याम्, स्त्री० अमरः। हरीतक्याम् स्त्री०शब्द र०। मधुनि, न०हेम०वाच०।

कल्लसरीर न०(कल्पशरीर) निरोगदेहे, स्था०३ ठा०३ उ०। पटुशरीरे, स्था०४ ठा०३ उ०।

कल्लाकल्ल न०(कल्पाकल्प) न कल्पे च आकल्पे च। कल्पाकल्पम् अनुदिनमित्यर्थं, "कल्लाकल्लिं कोट्टालियाओ य" विपा०३ अ०। प्रतिप्रभातम्, उपा०७ अ०। अंत०। ज्ञा०।

कल्लाण त्रि०(कल्याण) कल्पोऽत्यन्तनीरुक्तया मोक्षस्तमानयति प्रापयतीति कल्याणः मुक्तितहेतौ, उत्त०३ अ०। एकान्तसुकान्तसुखावहे, जी०३ प्रति०२ उ०। श्रेयसि, भ०२ श०१ उ०। निःश्रेयसे, स्था०६ ठा०। पुण्ये कर्मणि, स०। आचा०। शुभे, सुखदायके, उत्तत०२ अ०। शोभने, उत्त०३ अ०। स्वश्रेयसे, पंचा०१३ विव०। सूत्र०। सुखं शुभं कल्याणं शिवमित्यादीन् व्यपदेशांल्लभते, विशे०। सुकृते, सूत्र०२ श्रु०१ अ०। तत्त्ववृत्त्या तथाविधविशिष्टफलदायिनि अनर्थोपशमकारिणि, जी०३ प्रति०२ उ०। रा०। फलवृत्तिविशेषे, ज्ञा०१ अ०। यथेष्टार्थफलसंप्राप्तौ, सूत्र०२ श्रु०५ अ०। मङ्गले, स्था०४ ठा०३ उ०। माङ्गल्ये, संथा०। उपद्रवाभावे, कल्प०। ऐहिकाऽभ्युदये, पुचा०१८ विव०। दशा०। समृद्धिहेतुत्वादौ, स्था०। "कल्लाणाहिं वग्गूहिं" कल्याणप्राप्तिसूचिकाभिः, भ०६ श०३३ उ०। जं०। शुभार्थप्राप्तिसूचिकाभिः औ०। कल्याणानि समृद्धयस्तत्कारिणीभिः कल्प०। ज्ञा०।

स भदंतो कल्लाण–सुहो य कल्लं किलारोग्गं।
तं तच्चं निव्वाणं, कारणकज्जोवयार ओवा वि॥
तस्साहणमणसद्दो, सद्दत्थो अहव गच्छत्थो।
कल्लमणइत्ति गच्छइ, गमयइ वुज्झइ व वोहइहइ वत्ति।
भणइ भणावेइ जम्हं–तो कल्लाणो सचायरिओ॥

कल्यं किलारोग्यमुच्यत इतियच्चारोग्यं तथ्यं निरुपचरितं निर्वाणमेवमयमवगन्तव्यमथवा कारणे कार्योपचारात्तत्साधनं दर्शनज्ञानचारित्रलक्षणं निर्वाणकारणमवसेयम्। अणशब्दस्तु अणधातोरूभयार्थत्वाच्छब्दार्थो गत्यर्थो वा दृष्टव्य इति। ततश्च कल्यं यथोक्तमारोग्यमणति गच्छत्यन्तभूर्तेन ण्यर्थेन वा परान् गमयति बुध्यते स्वयं बोधयति वा परान् शब्दार्थत्वेऽपि कल्ययति स्वयं भणति नरैश्च भाणयति यस्मात्तस्मात्कल्याणः स चेहाचार्यो गुरुर्बोद्धव्य इति। अथवा कलधातुः शब्दार्थः संख्यानार्थो वा कलशब्दसंख्यानयोरिति धातुपाठात्तस्य कल्यमिति निपात्यते। ततश्च कल्यं शब्दं शास्त्रं संख्यानं वा गणितं यस्मादणिति शब्दयति प्रतिपादयति बुध्यते बोधयति वा तेन तस्मात्कल्याणो गुरुरित्यदेवाह।

अहवा कलसद्दत्थो, संखाणत्थो य तस्स कल्लंति।
सद्दं संखाणं वा, जमणइ तेणं व कल्लाणो॥

गतार्था, विशे० ६८१ पत्र०। स्थ०। ध० आव०। सुखस्तर्हि किमिति सुहशब्दे नीरोगताकारणे, ज्ञा०१ अ०। इहलोकहिते, उत्त०१ अ०। कल्याणहेतौ, चं०१८ पाहु०। उत्त०। कल्याणहेतुत्वादभ्युदयहेतौ, औ०। प्रधाने, आ० चू०५ अ०। माषपर्ण्याम् वाच०। गवि च, प्रज्ञा०१ पद।

कल्लाणकमय न०(कल्याणकृतक) नगरभेदे, पुव्विं कर कल्लाण कडए नसरे परमट्टी नाम राया रज्जं करेइ। ती०२५ पत्र०। (नासिक्कपुरशब्दे कथा)

कल्लाणकम्म न०(कल्याणकर्मन्) शुभकर्मणि, सन्ति जीवानां कल्याणि कर्माणि इति कालोदायि प्रश्नः (अण्णजुत्थिय शब्दे क्षुण्णः) भ०७ श०६ उ०।

कल्लाणकारि (ण्) त्रि०(कल्यन्कारिन्) कल्याणकरणे मङ्गलकरणे, ज्ञा०१६ अ०।

कल्लाणग पुं०(कल्याणक)" कल्लाणगपवरगंधमल्लणुलेवणधर" कल्याणकानि मङ्गल्यानि प्रचुराणि मूल्यादिना वस्त्राणि परिहितानि निवसितानि येन तान्येव वा परिहितो निवसितो यः स तथा कल्याणकं च प्रवरं च। पाठन्तरेण प्रवरगन्धं च माल्यं मालायां साधु पुष्पमित्यर्थः। अनुलेपनं च श्रीखण्डादिविलेपनं यो धारयति स तथा स्था०८ ठा०। उपा०। कल्याणकमङ्गल्ये, स्था०८ ठा०। श्रेयसि, पंचा०विव०।

जिनानां पञ्चकल्याणकानि कल्याणान्येव स्वरूपतः फलतश्चाह–

पंचमहाकल्लाण, सव्वेसिं जिणाण हों ति णियमेण।
भूवणच्छेरय भूया, कल्लाणफला य जीवाणं॥३०॥
गब्भे जम्मे य तहा, णिक्खमणे चेव णाणणेव्वाणे।
भुवणगुरूण जिणाणं, कल्लाणा हों ति णायव्वा॥३१॥

पञ्चैव महाकल्याणानि परमश्रेयांसि सर्वेषां सकलकालनिखिलनरलोकभाविनां जिनानामर्हतां भवन्ति नियमेनावश्यं भावेन तथावस्तु स्वभावत्वात् भुवनाश्चर्यभूतानि निखिलभुवनाद्भुतभूतानि

त्रिभुवनजनानन्दहंतुत्वात्तथा कल्याणफलानि च निःश्रेयस साधनानि चः समुच्चये जीवानां प्राणिनामिति गर्भे गर्भाधाने जन्मन्युत्पत्तौ चः शब्दः समुच्चये तथेति वाक्योपक्षेपे निष्क्रमणे अगारवासान्निर्गमे चैवेति समुच्चयावधारणार्थावुत्तरत्र संभत्स्येते ज्ञान निर्वाणे समाहारद्वन्द्वत्वात्केवलज्ञाननिर्वृत्योरेव च केषां गर्भादिष्वित्याह भुवनगुरूणं जगज्जयेष्ठानां जिनानामर्हतां किमित्याह। कल्याणानि स्वः श्रेयसानि भवन्ति वर्त्तन्ते ज्ञातव्यानि ज्ञेयानीति गाथाद्वयार्थः। ततश्च।

तेसु य दिणेसु धण्णा, देविंदाई करिंति भत्तिणया।
जिणजत्तादिविहाणा, कल्लाणा अप्पणो चेव ॥३२॥

तेषु च पुनर्दिनेषु दिवसेषु येषु गर्भादयो बभूवुर्धन्या धर्मधनं लब्धारः पुण्यभाजः इत्यर्थः। देवेन्द्रादयः सुरेन्द्रप्रभृतयः कुर्वन्ति विदधति भक्तिनता बहुमाननमाः किमित्याह। जिनयात्राद्यर्हदुत्सवपूजाश्चात्र प्रभृतिभ्यः कुत इत्याह। विधानाद्विधिना अथवा जिनयात्रादिविधानानि किं भूतं जिनयात्रादीत्याह। कल्याणं स्वः श्रेयसं कस्येत्याह। आत्मनः स्वस्य चैवशब्दस्य समुच्चयार्थत्वेन परेषां चेति गाथार्थः यत एवम्।

इय ते दिणा पसत्था, ता सेसेहिं पि तेसु कायव्वं।
जिणजत्तादिसहरिसं, ते य इमे वद्धमाणस्स ॥३३॥

इत्यतो हेतोः पूर्वोक्ता जीवानां कल्याणफलत्वादिलक्षणाः। ते इति येषु जिनगर्भाधानपादयो भवन्ति दिना दिवसाः दिनशब्दः पुल्लिंगेऽप्यस्ति प्रशस्ताः श्रेयांसस्ततः किमित्याह। ता इति यस्मादेवं तस्मात् शेषैरपि देवेन्द्रादिव्यतिरिक्तैर्मनुष्यैरपि न केवल--मिन्द्रादिभिरेवेत्यपिशब्दार्थः। तेषु गर्भादिकल्याणदिनेषु कर्त्तव्यं विधेयं जिनयात्रादि वीतरागोत्सवपूजाप्रभृतिकं वस्तु सहर्षं सप्रमोदं यथा भवति कानि च तानि दिनानीत्यस्यां जिज्ञासायां सर्वजिनसंबन्धिनां तेषां च वक्तुमशक्यत्वाद्वर्त्तमानतीर्थाधिपतित्वेन प्रत्यासन्नत्वादेकस्यैव महावीरस्य तानि विवक्षुराह (ते य त्ति) तानि पुनर्गर्भादिनानि इनानि वक्षयमाणानि वर्द्धमानस्य महावीरजीनस्य भवन्तीति गाथार्थः।

तन्येवाह--

आसाढसुद्धछट्ठी, चेते तह सुद्धतेरसी चेव।
मग्गसिरकिण्हदसमी, वइसाहे सुद्धदसमी य ॥३४॥
कत्तियकिण्हे रिभा, गब्भाइदिणा जहक्कमं एते।
हत्थुत्तरजाएणं, चउरो तह सातिणा चरमो ॥३५॥

आषाढशुद्धषष्ठी आषाढमासे शुक्लपक्षस्य षष्ठीतिथिरित्येवं दिनमेवं चैत्रमासे तथेति समुच्चये। शुद्धत्रयोदश्येवेति द्वितीयं चैवेत्यवधारणे। तथा मार्गशीर्षकृष्णदशमीति तृतीयत्। वैशाखशुद्धदशमीति चतुर्थं च शब्दः समुच्चयार्थः। कार्तिककृष्णे चरमा पञ्चदशीति पञ्चमम् एतानि किमित्याह। गर्भादिदिनानि गर्भजन्मनिष्क्रमणज्ञाननिर्वाण दिवसा यथाक्रमं क्रमेणैवैतान्यनन्तरोक्तान्येषां च मध्ये हस्तोत्तर योगेन हस्त उत्तरो यासां हस्तोपलिक्षता वा उत्तरा हस्तोत्तरा उत्तर फाल्गुनन्यास्ताभिर्योगः संबन्धश्चन्द्रस्येति हस्तोत्तरायोगस्तेन करणभूतेन चत्वार्याद्यानि दिनानि भवन्ति तथेति समुच्चये स्वातिना स्वातिनक्षत्रेणयुक्तः (चरमोत्ति) चरमकल्याणकदिनमिति प्रकृत्वादिति गाथाद्वयार्थः।

अथकिमिति कहावीरस्यैवैतानि दर्शितानीत्याह--

अहिगयतित्थविहाया, भगवंति णिदंसिया इमे तस्स।
सेसाण वि एवं वि य, णियणियतित्थेसु विण्णेया ॥३६॥

अधिकृततीर्थविधाता वर्त्तमानप्रवचनकर्त्ता भगवान्महावीर इति हेतोर्निदर्शितान्युक्तानि इमानि कल्याणकदिनानि तस्य वर्द्धमानजिनस्य अथ शेषाणां तान्यतिदिशन्नाह देषाणामपि न वर्द्धमानस्यैव ऋषभादीनामपि वर्तमानावसर्पिणी भरतक्षेत्रापेक्षया एवमेवेह तीर्थे वर्द्धमानस्येव निजनिजतीर्थेषु स्वकीयप्रवचनावसरेषु विज्ञेयानि ज्ञातव्यानि मृख्यवृत्त्या विधेयतयेति इह च यान्येव गर्भादिदिनानि जम्बूद्वीपभारतानामृषभादिजिनानां तान्येव सर्वभरतानां सर्वैरावतानां च यान्येव च एतेषामस्यामवसर्प्पिण्यां तान्येव व्यत्ययेनोत्सर्प्पिण्यामपीति गाथार्थः ॥३६॥ पंचा०८ विव० (कल्याणकेषु यात्राविधानं अणुजाण शब्दे उक्तम्)

अथ षट्कल्याणकवादी प्राह --

ननु "पंचहत्थुत्तरे साइणा परिनिव्वुमेत्ति" इति वचनान्महावीरस्य षट् कल्याणकत्वं संपन्नमेव मैवम् एवमुच्यमाने "उसभेणं अरहा कोसलिए पंच उत्तरासाढे अभीइ छट्ठे होत्थत्ति" जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति वचनात् श्रीऋषभस्यापि षट् कल्याणकानि वक्तव्यानि स्युः न च तानि त्वयापि तथोच्यन्ते तस्माद्यथा पञ्चउत्तरासाढे इत्यत्र नक्षत्रसाम्यात् राज्याभिषेको मध्ये गणितः परं कल्याणकानि तु "अभीइछट्ठे" इत्येन सह पञ्चैव तथाऽत्रापि "पंचहत्थुत्तरे" इत्यत्र नक्षत्रमासाम्यात् गर्भापहारो मध्ये गणितः परं कल्याणकानि तु "साइण परिनिव्वुमे" इत्यनेन सह पञ्चैव तथा श्रीआचाराङ्गटीप्रभृतिषु "पंचहत्थुत्तरे" पञ्चवस्तून्येव व्याख्यातानि न तु कल्याणकानि किं च। श्री हरिभद्रसूरिकृतयात्रापञ्चाशकस्य अभयदेवसूरिकृतायां टीकायामपि आषाढशुद्धषष्ठ्यां गर्भसंक्रमः १ चैत्रशुद्धत्रयोदश्यां जन्म २ मार्गसितदशम्यां व्रतम् ३ वैशाखशुद्धदशम्यां केवलं ४ कार्तिक्यामावस्यायां मोक्षः ५ एवं श्रीवीरस्य पञ्च कल्याणकानि उक्तानि। अथ यदि षष्ठं स्यात्तदा तस्यापि दिनमुक्तं स्यात् अन्यच्च नीचैर्गोत्रविपाकरूपस्य अतिनिन्द्यस्य आश्चर्यरूपस्य गर्भापहारस्यापि कल्याणकत्व--कथनमनुचितम्। अथ "पञ्चहत्थुत्तरे" इत्यत्र गर्भापहरणं कथमुक्तमितिचेत् सत्यम् अत्रहि भगवान् देवानन्दाकुक्षौ अवजीणैः प्रसूतवती च त्रिशलेति असंगतिः स्यात्तन्निवारणाय "पंचहत्थुत्तरेति" वचनमित्यलं प्रसंगेन। कल्याणकानि पञ्चैव कल्प० सु०। पञ्चकल्याणकशोध्या अतीचाराः (पंचकल्लाणगशब्दे) काम्पिल्यपुरस्य नगरस्य राज्ञो ब्रह्मदत्तस्य आहारे, नि०चू०१ द०। महाविदेहेषु कल्याणकतिथ्यादिकमिदमेवान्यद्वेति प्रश्ने उत्तरमाह। कहाविदेहेषु कल्याणकतिथ्यादिकमिदमेवेति न सम्भाव्यते यदा अत्रत्यतीर्थकृतां च्यवनादिकल्याणकं तदा तत्र दिवससद्भावात् तत्प्रतिपाद कान्यक्षराण्यपि नोपलभ्यन्ते। ही०२ पत्र।

कल्लाणगघत न०(कल्याणकघृत) सुश्रुक्ते ओषधिभेदयुक्ते घृतभेदे, नि०चू०१ द०। (तन्निर्माणविधिः सुश्रुते एमच्छन्दे एव वाचस्पतौ च)

कल्लाणगजत्ता स्त्री०(कल्याणकयात्रा) कल्याणकदिवसेषु कल्याणकजिनोत्सवे, पंचा०६ विव०।

कल्लाणगतव न०(कल्याणकतपस्) तपोविशेषे, प्रव०द्वा०। तथाधिकमासि कल्याणकानि पूर्व्वे पाश्चात्ये वा मासि क्रियन्ते के चन परिपाक्षिका वदन्ति प्रथमश्रावणकृष्णपक्षे

द्वितीयश्रावणशुक्लपक्षे कल्याणकतपो विधीयते तत्सङ्गतवितथं वेति प्रश्ने। उत्तरम्। देवकमासपेक्षया वृद्धिप्राप्तं विमुच्य कल्याणकतपःकरणं युक्तिमदिति, सेन०१५१ प्र०३ उल्ला०। तथ चैत्रमासवृद्धौ कल्याणकादितपः प्रथमे द्वितीये वा मासि कार्यत इति प्रश्ने। उत्तरम् प्रथमचैत्रासितद्वितीयचैत्रसितपक्षाभयां चैत्रमाससंबद्धं कल्याणकादि तपः श्रीतातपादैरपि कार्यमाण दृष्टमस्ति तेन तथैव कार्यमन्यथा भाद्रपदवृद्धौ मासक्षपणादितपांसि कुत्र क्रियन्तामिति ११८ सेन० ३ उल्ला। (तद्वक्तव्यता पंचकल्लाणगशब्दे वक्ष्यते)।

कल्लाणगवत्थपरिहिय त्रि०(कल्याणकवस्त्रपरिहित) कल्याणकं कल्याणकारि प्रवरवस्त्रं परिहितं यैस्ते कल्याणकवस्त्रपरिहिताः। सुखादिदर्शनान्निष्ठान्तस्याऽत्र पाक्षिकः परनिपातः परिहितप्रवरकल्याणकृद्धस्त्रेषु, जी०३ प्रति०२ उ०।

कल्लाणणयर न०(कल्याणनगर) कल्याणदेशे नगरभेदे, "इओअ कल्लाणदेसे कल्लाणनयरे संकरो नाम राया जिणभत्तो हुत्था" ती०५१ कल्प।

कल्लाणदियह न०(कल्याणदिवस) पञ्चमहाकल्याणीप्रतिबद्धदिने "अणुरूवं कायव्वा जिणाण कल्लाण दियहेसु" पंचा०९ विव०।

कल्लाणपरंपरा स्त्री०(कल्याणपरम्परा)माङ्गल्यपदार्थसन्ततौ, संथा०। ध०।

कल्लाणपावय न०(कल्याणपापक) इष्टाऽनिष्टफले शुभाऽशुभे कर्मणि, उपा०२ अव।

कल्लाणपुक्खलविसालसुहावह त्रि०(कल्याणपुष्कलविशाल-सुखावह) कल्याणं पुष्कलं संपूर्णं न च तदल्पं किन्तु विशालं विस्तीर्णमेवभूतं सुखमावहति प्रापयतीति कल्याणपुष्कलविशालसुखावहः। अपवर्गसुखप्रापके "कल्लाणपुक्खलविसालसुहावहस्स, को देवदाणवणरिंदगणाच्चियस्य। धम्मस्स सारमुवलब्भकरे पमायं" ध०२ अधि०।

कल्लाणफल त्रि०(कल्याणफल) निःश्रेयससाधने पंचा०९ विव०।

कल्लाणफलविवाग न०(कल्याणफलविपाक) कल्याणस्य पुण्यस्य कर्मणः फलं कार्य्यं विपाच्यते व्यक्तीक्रियते यैस्तानि कल्याणफलविपाकानि। पुण्यफलविपाकेषु अप्रश्नव्याकरणेषु अध्ययनेषु श्रीवीरो भगवान् "पणपन्नं अज्झयणाइं कल्लाणफलविवागाइं वागरित्ता सिद्धे" स०११६ पत्र०।

कल्लाणभायण न०(कल्यणभाजन) रोहिकाद्यभ्युदयपात्रे, पंचा०११ विव०।

कल्लाणविजय पुं०(कल्याणविजय) हीरविजयसूरिशिष्ये, प्रमोदं येषां सदुणगणभृतां विभ्रति यशः, सुधां पायं पायं किमिह निरपायं न विबुधाः। अमीषां (हीरविजयसूरिणां) षट्तर्कि दधिमथनमन्थानमतयः, सुशिष्योपाध्यायाः बभुरिह हि कल्याणविजयाः। द्वा०३१ द्वा०। न०।

कल्लाणसागर पुं०(कल्याणसागर) अञ्चलगच्छीये धर्मर्त्याचार्यस्य शिष्ये अमरसागरस्य गुरौ, अयं च विक्रम संवत् षट् सप्तत्यधिकषोडशशततमे वर्षे विद्यमान आसीत् जामनगरवास्तव्यं लालनगोत्रं वर्धमानशाहनामानां गृहपतिं प्रतिबोध्य तत्र जिनालयमकारयत् प्रतिष्ठिपच्च स्वयमिति त्र शिललासु लिखितमस्ति,जै०इ०।

कल्लाणि (ण) त्रि०(कल्याणिन्) कल्याण अस्त्यर्थे इनिः। कल्याणवति, स्त्रियां ङीष् सा च वलानामोषधौ, राजनि०। वाच०। पंचा०।

कल्लाल पुं०(कल्पपाल) मद्यवणिजि"कल्लालघरेसु अंबलि "कल्पपालगृहेषु किल अम्लशद्वरसमुद्गारिते सुरा विनस्यति अनु०।

कल्लावत्त न०(कल्पपालत्व) रसवाणिज्ये "रसवाणिज्जं कल्ला लत्तणं तत्थ सुरापाणे बहू दोसा मारणक्कोसवहादी तम्हा न कप्पइ" आव०६ अ०।

कल्लुग(य) पुं०(कल्लुक) द्वीन्द्रियभेदे, जी०१ प्रति।"कल्लुकाः पाषाणेषु धेडियजातिविशेषा भवन्ति" वृ०४ उ०।

कल्लुरिया स्त्री०(कल्लुरिका) खाद्यकापणे, आ०म०द्वि०।

कल्लोडय पुं०(कल्वोटक) गोरहके (दम्ये वृषभे) आचा०२ श्रु०४ अ०२ उ०।

कल्लोल पूं० (कल्ल वा ओलच् कम् जलं लोलं चपलं यस्माद् वा महोर्मौ,औ०। स्था०। को०। हर्षे च। वैरिणि, त्रि० मेदि० वाच०।

कल्हार न०(कह्लार) न० के जले ह्लाते ह्लाद अच् पृषो दस्य रः **ह्लोल्हः ८।२।७६।** हस्थाने लकाराक्रान्तो लः प्रा। सौगन्धिके, आ०म०प्र०। प्रज्ञा०।

कवलु न०(कमल) **"मऽनुनासिको वो वा ८।४।३९७।** इत्यपभ्रंशेमकार अनुनासिको वः। अन्त्याकारस्योत्वमिति ढुंढिः। कवलू कमलम् पद्ये,प्रा०।

कवचिया स्त्री०(कवचिका) कलाचिकायाम् भ०११ श०११ उ०।

कवड्डिअ त्रि०(कदर्थित) कदर्थितः प्राकृते **"कदर्थिते वः ८।१।२२४।** कदर्थिते दस्य वो भवतीति। दस्य वः। **वृत्तप्रवृत्तमृत्तिकापतनकदर्थिते टः ८।२।२९।** एषु संयुक्तस्य टो भवति इति टः कुत्सितार्थौ कृते,प्रा०।

कवड स्त्री०(कपट) कप अटन् कं ब्रह्माणमपि पटति आच्छादयति पट् अच् वा अर्द्धर्चादि अमरः। वाचा वेषादन्यथात्वेन क्रियमाणे छद्मनि, ज्ञा०९९ अ०। वञ्चनाय वेषान्तरादिकरणे, प्रश्न०आश्र०२ द्वा०। ज्ञा०। कपटमिति, कैतवमिति शठतापि चेति एकार्थाः प्रव०२ द्वा०। देशभाषानेपथ्यादिविपर्य्ययकरणं कपटं यथाऽऽषाढभूतिना नटेन वा परापरवेषपरावृत्त्याचार्य्योपाध्यायसंघाटकात्मार्थं चत्वारो मोदका अवाप्ताः, सूत्र०२ श्रु०२ अ०। दशा०।

कवड्ड पुं०(कपर्द) पर्वपूरणे, क्विप् **"सम्मर्दवितर्दिविच्छर्दछर्दिक-पर्दमर्दितेर्दस्य ८।२।३६।** एषु र्दस्य डः। हरजटायाम् प्रा०। स्वार्थे कः वराटके, आव०५ अ०।

कनड्डिजक्ख पुं०कपर्दि(क)यक्ष, स्वनामख्याते यक्षभेदे, "सिरिसिंतुंजयसिहरे, परिट्ठिअं पडमिऊण रिसहजिणं । तस्सेव यस्स पुच्छं, कवडिजक्खस्स कप्पमहं" ॥१॥

अत्थि वालक्कजणवए पालित्ताणं नाम नयरं तत्थ कवड्डिनामधिज्जो गामो महत्तरो। सो अ मज्जंमंसमहुजीवघायभलीयवयणपरधणहरणपररमणीरमणाइ पावट्ठाणपवसत्तचित्तो अणहीनामियाए अणुरूविट्ठियाए भज्जाए सह विसए उवभुंजंतो गामाइकालं। अन्नया तस्स मंचयट्ठियस्स साहुजुअलं घरे पत्तं तेणा वि दिट्ठिये पणामं काउं विन्नत्तं जोडिअ करणे भयवं !

किमित्थागमनकारणं मुम्हाणं। अम्ह घरे दुद्धदहिअधयतक्काइ पउरमत्थि जेण कज्जं तं आइसह साहुहिं भणिअं न अम्हे भिक्खट्ठमागया किं तु अम्ह गुरूणो सपरिवारा चिट्ठंति मयहरेण विण्णत्तं दिण्णे मए उवस्सओ आगच्छंत सूरिणो चिट्ठंतु आहासुहं केवलं अम्हाणं पावनिरयाणं धम्मोवएसो न दायव्वो त्ति।साहूहिं भणिअं होउ त्ति। तओ आगया गुरूणो विआ वासा चाउम्मासिं कुणंत संतयं सज्झायं सोसंति छट्ठमाईहिं नियतणुं कामणअइक्कंते वासारत्ते परेणए मुक्कलाविंत्ति भयहरं गुरूणो सो तेसिं सव्वपइण्णत्तणओ परितुट्ठो नियनयरसीमसंधि जाव बोलविउं पट्ठविओ पत्ताए सीमसंधीए सूरिहिं जंपियं भोमयहरत्तए अम्हाणं उवस्सयदाणाइणा बहूवयारो कओ अओ संपइ किंचि धम्मोवएसं देमो जेणा पच्चुवयारो कओ हवइ। मयहरेण भणियं नियमो न ताव मह निव्वहइ किं च मंतक्खरं उवइसह। तओ सूरिहिं अणुकं पया पंचपरमिट्ठिनवकारमहामंतो सिक्खविओ। जलजलणथंभणाइ पभाओ अ तस्स उववण्णिओ। पुणो गुरूहिं भणिहं पइदिअहं सेतुंजयदिसाए ट्ठिएण तुमए पणामो कायव्वो मयहरेण तहत्ति पडिवज्जिऊण गुरुणो पणमिऊण नियघरे आगयं सूरिणो अन्नथ विहरिया। अह कमेण तं पंचपरमिट्ठिमंतं जविंतो नियमं च निव्वाहिंतो कालं अइवाहेइ अन्नया नियणरणीए कलहं काऊण गेहाओ नीसारिओ आरुहिओ लग्गो सित्तंजगिरिसिहरं जाव मज्झभरियं भायणं करे धरित्ता वडरुक्खछायाएमज्झपाणं करिउं कामो एवविट्ठो ताव गिज्झमुहरट्ठियअहिगरलविंदूमज्झपाणे पडिओ दिट्ठो। तं दट्ठूण विरत्तमणो मज्झं निअमेइ भवविरत्तो अ अणसणं काऊण तक्खणं आइजिणंदचलण-कमलं नवकारं च संभरंतो सुहज्झाणेण मरणसंपत्तो तित्थमाहप्पेण नवकारप्पभावेणं च कवड्डिजक्खो उप्पन्नो ओहिनाणेण पुव्वभवं संभारिआ आइजिणिंदं आइच्चेइ सा य तस्सगेहिणी तव्वइयरं सुणित्ता तत्थ आगंतूण अप्पाणं निंदंती अणसणं करित्ता जिणंदं सुमरंति कालधम्ममुवगया जाया तस्से व करिवरत्तेण ण वाहणं कवड्डिजक्खस्स चउसु वि अ दंडेसु कमेण पासं कुमुदविणवासणिआ वीयपुराइ चिट्ठंति पुणो सो ओहिणा आभोएऊण पुव्वभ्वगुरूणं पायमूले पत्तो वंदित्ता जोडियकरयलो विन्नवेइ भयवं तुम्ह पसाएण एरिसा मए रिद्धीलद्धा संपयं मह किं विं किच्चमाइसह गुरूणं जंपियं इत्थ तित्थे निच्चं तुमए वाएयव्वं तिकालं जुग्गइनाहो अंचिअव्वो जत्तागयभवियजणाणं मणवंछिअफलं पूरेयव्वं सयलसंघस्स विग्घा अवहरिअव्वा। तओ गुरूणं पाए वंदिअ तहत्ति पडिवज्जिय गओ जक्खाहिवो विमलगिरिसिहरं करेइ जहा गुरूवइट्ठं "इछा अंबादेवीए, कविड्डिजक्खस्स जक्खरायस्स। लिहिअकप्पजंगजिणप्प-हसूरीहिं वुट्ठवयणाओ ॥१॥ कपर्दियक्षकल्पः:, ती०३० कल्प०।

कवण पुं० (किम्) **"किमः काइं कवणौ वा।८।४।३६७।** अपभ्रंशे किमः स्थाने कवणादेशः कुत्सिते, जिज्ञासिते, वितर्कविषये, वाच०। "जइ न सुआवइदई, घरुकाइं अहो मुह तुज्झ। वयणजुखंडइ तउ, सहिए सो पिउ होइ न मज्झु" प्रा०।

कवय पुं०(कवच) गर्दभाण्डे वृक्षे, पटहवाद्ये च मेदि० सन्नाहे, गात्रत्राणे, योद्धृभिर्युध्दकाले शस्त्राघातरक्षणार्थमङ्गे धार्य्ये लोहादिनिर्मिते वर्मणि, पुं० न० अमरः। वाच०। सन्नाहविशेषे, औ०।तनुत्राणविशेषे, प्रयन०आश्र०३ द्वा। जी०।ज्ञा०। आ०म०प्र०। "कं टके संणद्धवद्धवम्मियकवयत्ति" ज्ञा०१ अ०। सूत्र०। स्त्रियां ङीष् तन्त्रोक्ते मन्त्रसाधनाङ्गे, वाक्यसंघभेदे, च वाच०।

कवल पुं०(कवल)के न जलेन वलते वल चलने अच्। ग्रासे, कुक्कुटाण्डकप्रमाणो वद्धोऽशनपिण्डः कवलोऽभिधीयते प्रव० ४ द्वा०। आव०। उत्त०। विशे०। औ०। द्विसाहस्रिकेण तण्डुलेन कवलो भवति तं०। (कवलप्रमाणमाहारशब्दे उक्तम्) आ०म०द्वि०। मत्स्यभेदे, शब्दचिं०। वाच०।

कवल्लि स्त्री०(कवलि) गुडादिपाकभाजने, विपा० श्रु०३ अ०।

कवाम पुं०न०(कपाट)कं वातं पाटयति तद्वतिं रुणद्धि पटणिच् अण्। प्रतोलिद्वारसत्के, प्रज्ञा०२ पद। द्वारस्थगने, दश०५ अ०। औ०। जी०। प्रश्न०। रा०। स्था० द्वारयन्त्रे, दश०५ अ०। "वक्कगयमुसंधिउरोहसय-धिजमलकवाडघनदुष्पावरणा"रा०। ज्ञा०। स०। जं०।

कवाडग न०(कपाटक) कपाटमिव कवाटकम् क उपमार्थः। कपाटसंस्था-नेनावस्थिते आत्मप्रदेशचये, यथोभयोः प्राक् प्रत्यग्दिशोस्तिर्यग् विस्तीर्णमवागुदग्दिशोर्ह्रस्वमूर्द्धाधोदिशोरुच्छ्रितं कपाटमिति शब्द्यते तथा समुद्घामकरणवशन्निर्गतानामात्मप्रदेशानां पूर्वापरदक्षिणोत्तरासु दिक्षु कपाटसंस्थानेनावस्थानान् कपाटकत्वसिद्धिः आ०चू०१ अ०। (तत्करणं समुग्घायशब्दे)

कवडभयअ पुं० (कपाटभृतक) क्षितिखानके, ओन्दार्दिर्यस्य स्वङ्गर्माप्यते द्विहस्ता त्रिहस्ता वा त्वया भूमिः खनितव्यैतावत्ते धनं दास्यामीत्येवं नियम्येति"कवालउड्डडाइहत्थमियं कम्मएहत्त य धणेण एच्चिरकालुव्व ते कायव्वं कम्म जं विंति" स्था०४ ठा०१ उ०।

कवाल न०पुं०(कपाल) कं जलं शिरो वा पालयति पाल अण् घटकर्परादौ, आचा०१ श्रु०६ अ०३ उ। सूत्र०। भाण्डखण्डे, सूत्र०२ श्रु०२ अ०। समूहे, च मेदि०। यिारोस्थि, यतीनां भिक्षापात्रे, अण्डादीनामवयवे च। भर्जनपात्रभेदे च, वाच०।

कवि पुं० (कपि) वानरे, अमरः। अष्ट०। सिल्हके, गन्धद्रव्यभेदे, तस्य कपिजातत्वात् वाराहे, धात्रिकायाम्, रक्तचन्दने तद्वर्णे, पिङ्गले, च पुं०तद् वर्णवति, त्रि०वाच०।

कवि पुं०(काव्यकारिणि) स्था०७ ठा०। कविरपि च प्रवचनस्य उद्भावक+, आचा०१ श्रु०५ अ०३ उ०। खलीने, स्त्री०मेदि०। वा ङीप् स्तोतरि, त्रि०वाच०।

कविंजल पुं०स्त्री०(कपिञ्जल)कपिरिव जवते ईषत् पिङ्गलो वा कमनीयं शब्दं पिञ्जयतीति निरुक्तेः पृषो० पक्षिभेदे, चातके, रालवल्ल०। जलयाचनाय तस्य शब्दकरणात् तथात्वम् तित्तिरौ, त्रिका०। वाच०। जी०। प्रज्ञा०। आचा०। प्रश्न०। सूत्र०।

कविंजलकरण न०(कपिञ्जलकरण)कपिञ्जजलानुद्दिश्य यत्र किञ्चित् क्रियते तथा यत्र स्थाप्यते तत्र तस्मिन् स्थाने "कवोयकरणाणि वा कविंजलकरणाणि वा अण्णयरंसि तहप्पगारंसि णो उच्चारं पासवणं वोसिरेज्जा" आचा०२ श्रु०।

कविगच्छु स्त्री०(कपिकच्छू) कपिनामपि कच्छू यस्मात् ५ व० कण्डूजिजनके वल्लीविशेषे, जी०३ प्रति०। प्रज्ञा०।

कविट्ठ पुं०(कपित्थ) कपिस्तिष्ठत्यत्र तत्फलप्रियत्वात् स्था क पुषो०वाच०। (कवीठ) बहुबीजकवृक्षभेदे, आचा०१ श्रु०१ अ०५उ०। जी०। जं०। प्रज्ञा०। उत्त०। अस्य फले, न० "अद्धकविट्ठगसंठाणसंट्ठिया" प्रज्ञा०२ पद। कपेरिव लम्बते कपित्थम्, अनु०। कायोत्सर्गदोषभेदे"छप्पइ आणभएणं कुणइ अपट्ठं कविट्ठं व" आव०५ अ०। षट्पदिकानां भयेन कपित्थवद्वृत्ताकारत्वेन संवर्त्य जङ्घादिमध्ये पदं कृत्वा तिष्ठत्सर्ग इति कपित्थदोषः, प्र०५ द्वा०।

कविल पुं०(कपिल) सांख्यशास्त्रप्रवर्त्तके मुनौ, वाच० कापिलानां देवतरि, औ०। सूत्र०। कपिलानां शास्त्रं द्विविधं सेश्वरं निरीश्वरं च तत्र सेश्वरं सांख्यं भगवदवतारः कपिलः प्राणीतवां निरीश्वरं सांख्यं तु अन्यवतारः कपिल इति सांख्यशास्त्रानुयायिनः, वाच०। समयविदस्तु अपगतरोगस्य च मरीचेः कपिला नाम राजपुत्रो धर्म्मशुभूषया तदन्तिकमागत इति कथिते साधुधर्म्मे स आह। यद्ययं मार्गः किमिति भवतैतदङ्गीकृतम्। मरीचिराह "पापोहं लोइंदिएत्यादि" विभाषा पूर्ववत् कपिलोऽपि कर्म्मोदयात्साधु धर्म्मानभिमुखः खल्वाह तथापि किं भवद्दर्शनेनास्त्येव धर्म्म इति मरीचिरपि प्रचुरकर्मा खल्वयं न तीर्थकरोक्तं प्रतिपद्यते वरं मे सहायः संवृत्त इति संचिन्त्याह। कपिलाः (एत्थं पि त्ति) अपिशब्दस्यैवकारार्थत्वान्नेरुपचरितः खल्वत्रैव साधुमार्गे (इहइं पित्ति) स्वल्प स्त्वत्रापि विद्यत इति गाथार्थः। स होवमाकार्ण्यः तत्सकाशतेव प्रव्रजितः ॥५॥ (आ०म०) कपिलोऽपि ग्रन्थार्थपरिज्ञानशून्य एव तद्दर्शितक्रियारतो विजहार आसुरनामा च शिष्योऽनेन प्रव्राजित इति तस्य स्वमाचारमात्रं दिदेश एवमन्यानपि शिष्यान्संगृह्य शिष्य प्रवचनानुरागतत्परो मृत्वा ब्रह्मलोक एवोत्पन्नः स ह्युत्पत्तिसमनन्तर मेवावधिं प्रयुक्तवान् किं मया हुतं वेष्टं वा दानं येनैषा दिव्या देवर्द्धिः प्राप्तेति स पूर्वाभवं विज्ञाय चिन्तयामास मम शिष्यो न किंचिद्वेत्ति तत्तस्योपदिशामि तत्वमिति तस्मै आकाशस्थपञ्चवर्णमण्डल कस्स्थत्वं जगाद"कविलो अंतट्ठिओ कहए" कपिलः अन्तर्हितः कथितवान् किमव्यक्ताद् व्यक्तं प्रभवति ततः षष्टितन्त्रं जातं तथाचाहुस्तन्मतानुसारिणः प्रकृतेर्म्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माद्गणश्च षोडशकः। तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्चभूतानीत्यादि" अलं विस्तरेण प्रकृतं प्रस्तुम इति गाथार्थः, आ०म०प्र०। आ०चू०। (संखशब्दे सर्वमतमुपपादयिष्यामि) जीर्णे भोजनमात्रेयः, कपिलः प्राणिनां दया। वृहस्पतिरविश्वासः, पञ्चालः स्त्रीषु मार्दवम्। आ०म०द्वि०। काश्यपब्राह्मणस्य यशानाम्न्यां ब्राह्मण्यां जाते पुत्रे,

कपिलनिक्षेपमाह–

निक्खेवो कविलम्मि, चउविह दुविहो य होइ दव्वम्मि।
आगम नो आगमतो, नोआगमतो य सो तिविहो ॥

निक्षेपोन्यासः कपिले कपिलविषयश्चतुःप्रकारो नामस्थापना द्रव्यभावभेदात्तत्राद्ये प्रतीते द्विविधो द्विभेदो भवति द्रव्य इति द्रव्यविषये। द्वैविध्यमेवाह आगमतो नोआगमतस्तत्रागमतो ज्ञातानुपयुक्तो नो आगमतश्च स द्विविधस्त्रिभेद इति गाथार्थः॥

त्रैविध्यमेवाह–

जाणगसरीरभविए, तव्वरित्ते य सो पुणो तिविहो।
एगभवियबद्धाउय, अभिमुहो नाम गोए य॥

कपिलशब्दार्थज्ञशरीरं पश्चात् कृतपर्यायं ज्ञशरीरमुच्यते तदेव द्रव्यकपिलाः (भवियत्ति) भव्यशरीरं पुरस्कृतकपिल शब्दार्थज्ञानात्मकपर्यायं द्रव्यकपिलतदव्यतिरिक्तश्च सः। तद्यतिरिक्तः द्रव्यकपिलः पुनस्त्रिविधस्त्रिभेदस्त्रैविध्यमेवाह। एकभविको बद्धायुष्कोऽभिमुखनामगोत्रश्चेति गाथार्थः।

भावकपिलताह–

कविलाउनामगोयं, वेयंतो भावतो भावे कविलो।
तत्तो समिद्धियमिण, अज्झयणं काविलिज्जंति॥

कपिलायुर्नामगोत्रं वेदयन् अनुभवन् भावतो भावमाश्रित्य भवेत्कपिलस्ततस्तस्मात् समुत्थितमिदं प्रस्तुतमध्ययनम् (काविलिज्जंति) कापिलीयमित्युच्यते इति गाथार्थः।

कथं पुनरिदं कपिलात्समुत्थितमित्याह –

कोसंवि कासवजसा, कविलो साविदिथ इंददत्ते य।
इब्भे य सालिभद्दे, धणसिट्ठियसेणई राया ॥८८॥
कविलो निज्जिय परिवे–सिया य आहारमित्तसंतुट्ठो।
वावरिओ य दुहिमा–सएहिं सो निग्गतो रत्तिं ॥८९॥
दक्खित्तं पच्छेत्तो, बद्धो य हतो य पि उ रन्नो।
रायासे देइ वरं किं देमि केण ते अट्ठो ॥९०॥

श्लोको भणति–

जहा लाहो तहा लोहो, लाहालोहो पवड्ढइ।
दो मासकणय कज्जं, कोडीए वि न ट्ठियं ॥९१॥
कोडी विदेमि अज्जो–त्ति भणइ राया पहट्ठमुहवन्नो।
सोवि चइऊण कोडिं, जाउं समणो समियपावो ॥९२॥
छम्मासे छउमत्थे, अट्ठारस जोयणाइ रायगिहे।
बलमद्दप्पमुहाणं, अक्कडदासाण पंच सया ॥९३॥

आसामक्षरार्थः सुगम एव नवरं (निज्जियपरिवेसियायत्ति) नैत्तिकपरिवैषिकतया प्रतिदिननिर्युक्तभक्तदात्र्या वा (वारिउत्ति) व्यापारितो नियुक्तः (दुहिं मासेहिं ति) द्वाभ्यां माषकाभ्यां तादर्थ्ये चतुर्थि (दक्खिणंति) प्राकृतत्वात् दक्षिणां (पहट्ठमुहवण्णत्ति) प्रहृष्टः प्रहर्षवान् मुखवर्णो मुखछाया यस्य स तथा मुखस्य प्रहृष्टत्वादुपचारात्तद्वर्णोऽपि प्रहृष्टः उक्तः। यद्वा प्रहृष्टमुखस्येव मुखवर्णो यस्य स तथा। मयूरव्यंसकादित्वात्समासो मानसत्वाच्च हर्षादीनां मुखस्यापि हृष्टत्वं रूढित इति भावनीयम्। इक्कडदासजातीनाम् अतिशेषे अतिशये (होही अट्ठो इमो त्ति) भविष्यत्यर्थः। प्रयोजनमयं पूर्वसंगतिकचौरशतपञ्चकप्रतिबोध लक्षण इति ज्ञात्वा च (अद्धाणगमणचिंतंति) अध्वा गार्गस्तद्गमने चित्तमभिप्रायोऽध्वगमनचित्तं तत्करोतीव करोति तत्वतो हि केवलित्वेनामनकत्वान्न तस्याभिप्रायकरणसंभवः (धम्मट्ठयत्ति) आर्षत्वाद्धर्म्मार्थतत्वावबोधतस्तेषां धर्मः स्यादित्येवमर्थं (गीयन्ति) चास्य गम्यमानत्वात् गीतं च स्वरगामानुगतगीतिकानिबद्धमिदमेवाध्ययनं करोतीति योगो वर्त्तमाननिर्देशस्तु सूत्रस्य त्रिकालगोचरतामाह। यदिवा गीतमिति स्वराद्यनुगमनेन शब्दितमिदमध्ययनमिति गम्यते भावार्थः कथानकादवसेयस्तत्र च संप्रदायः २३ उत्त०८ अ०। यथा कौशाम्ब्यां नगर्यां जितशत्रू राजा राज्यं करोति तत्र काश्यपो ब्राह्मणः चतुर्दशविद्यास्थानपारगः पौराणां राज्ञश्चातीव सम्मतः तस्य राज्ञा महती वृत्तिर्दत्ता काश्यपब्राह्मणस्य यशा नाम्नी भार्या

वर्त्तते तयोः कपिलनामा पुत्रोऽस्ति तस्मिन् कपिले बाले एव सति काश्यपो ब्राह्मणः कालं गतः तदधिकारो राज्ञाऽन्यस्मै ब्राह्मणाय दत्तः। सोऽश्वारूढछत्रेण ध्रियमाणेन नगरान्तर्व्रजति। एकदा तं तथा व्रजन्तं दृष्ट्वा यशा भृशं रूरोद कपिलेन पृष्टं मातः! किं रोदषीति सा प्राह वत्स तव पिता ईदृश्या ऋद्ध्या पुरान्तर्भ्रमन्नभूत मृते च तव पितरि त्वयि चाविदुषि सति अयं तव पैत्र्यं पदं प्राप्तस्ततो रोदिमि कपिल ऊचे अहं भणामि यशा आह पुत्र! अत्र तव न कोऽप्येतद्वीत्या पाठयिष्यति इतस्त्वां श्रावस्त्यां व्रज तत्र त्वत्पितृमित्र इन्द्रदत्तो ब्राह्मणस्त्वां पाठयिष्यति। कपिलः श्रावस्त्यां तत्समीपं गतः तेन पृष्टं कस्त्वं कुता आयातः। कपिलेन सर्वेस्वस्वरूपमूचे तेन मित्रपुत्रत्वात् सविशेषं पाठ्यते परं स्वगृहे भोजनं तस्य कारयितुं न शक्यते ततोऽनेन शालिभद्रनामा तत्रत्यो व्यवहारी प्रार्थितः यथाऽस्य त्वया निरन्तरं भोज्यदेयं त्वत्प्रसादा–न्निश्चिन्तोऽसौ पठति तेनापि प्रतिपन्नम्। कपिलः शालिभद्रगेहे प्रत्यहं भुंक्ते इन्द्रदत्तगुरुसमीपेऽध्येति। शालिभद्रगृहे चैका दासी वर्तते दैवयोगात्तस्यामसौ रक्तोऽभूत्। अन्यदा सा गर्भिणी जाता कपिलं प्रत्याह। अहं तव पत्नी जाता ममोदरे त्वद्गर्भो जातः अतस्त्वया मे भरणपोषणादि कार्यम्। कपिलस्तद्वचनश्रवणाद् भृशं खिन्नः परमामधृतिं प्राप न च तस्यां रात्रौ निद्रां प्राप। पुनस्तया भणितं स्वामिन्! खेदं मा कुर्याः मदुक्तमेकमुपायं शृणु धननामा श्रेष्ठी वर्त्तते तस्य यः प्रथमं प्रभाते गत्वा वर्द्धापयति तस्य सुवर्णं माषद्वयं ददाति ततस्त्वमद्य प्रभाते गत्वा प्रथमं वर्द्धापय यथा सुवर्णमाषद्वयं प्राप्नुयाः। कपिलस्तस्या वचः श्रुत्वा मध्यरात्रावुत्थितस्तस्य धाम्नि अपरः कश्चिन्मा प्रथमं यायादिति मत्वौत्सुक्येन गच्छन् कपिलः पुरा रक्षकैर्गृहीजः चौरधिया बद्धः प्रभाते पुरस्वामिनः पुरो नीतः। पुरः स्वामिना पृष्टं कस्त्वं किमर्थमर्द्धरात्रौ निर्गतस्तेन सकलं स्वरूपं प्रकटीकृतम्। सत्यवादित्वात्तस्य तुष्टो राजा प्राह। यत्त्वं मार्गयसि तदहं ददामि। स प्राह। विमृश्य मार्गयिष्यामि राजा प्राह। या हि अशोकवनिकायां विचारय स्वेष्टम्। कपिलस्तत्र गत इति चिन्तयितुमारब्धवान् चेदहं सुवर्णमाषद्वयं मार्गयामि तदा तस्या दास्याः शाटिका मात्रं जायते न तु आभरणानि। ततः सहस्रं मार्गयामि। तदापि तस्य आभरणानि न जायन्त ततोऽहं लक्षं मार्गयामि तदापि मम जात्यतुरङ्गमोत्तमगजेन्द्रप्रवररथादिसामग्री न जोयते ततः कोटिं मार्गयामीति चिन्तयन्नेव स्वयं संवेगमागतः। सुवर्णमाष द्वयार्थं निर्गतस्यापि मम कोट्यापि तुष्टिर्न जातेति धिगिमां तृष्णामिति विचार्य स्वमस्तके लोचं कृतवान्। शासनदेवतया तस्य रजोहरणादिलिङ्गमर्पितं कपिलो द्रव्यभावाभ्यां यतिर्भूत्वा राज्ञः पुरः समागतः राज्ञा भणितं त्वया विचरितम्। आह स "जहा लाहो तहा लोहो, लाहालोहो पवड्ढइ। दोमासकणयं कज्जं, कोडीए वि न निट्ठिय" मिति। विचार्याहं त्यक्ततृष्णः संयमी जातः। राज्ञोक्तं कोटिमपि तवाहं ददामि तेनाक्तं सर्वोऽपि परिग्रहो मया व्युत्सृष्टो न मे कोट्यापि कार्यमित्युक्त्वा स श्रमणस्ततो विहृतः षण्मासान् यावत् छद्मस्थ एवासीत् पश्चात्केवली जातः। इतश्च राजगृहनगरान्तरालमार्गे बलभद्रप्रमुखाश्चौराः सन्ति एतेषां प्रतिबोधो मत्तो भविश्यतीति ज्ञात्वा स कपिलः केवली गतः तैर्दृष्टः प्रोक्तश्चः। भोः श्रमणः! नृत्यं कुरु केवली प्राह। वादकः कोऽपि नास्ति ततस्ते पञ्चशतचौरास्तालानि कुट्टयन्ति कपिलकेवली गायति। उत्त०८ अ०। तद्गीतवृत्तमाह।

अधुवे असासयंमि, संसारम्मि दुक्खपउराए।
किं नाम होज्ज तं कम्मयं, जेणाहं दुग्गइं न गच्छेज्जा॥

सो हि भगवान्। कपिलनामा स्वयं बुद्धश्चोरसंघातसंबोधनायेमं ध्रुवकं संगीतवान्। ध्रुवकलक्षणं चेदम् "जं गिज्जइ पुव्वंचिय, पुणो पुणो सव्वकम्मबंधेसु। धुवयंति तमिह तिविहं, कप्पाय चउप्पयं दुपयंति" तत्र ध्रुवो य एकास्पदप्रतिबद्धो न तथा ध्रुवस्तस्मिन् संसार इति संबन्धः। भ्रमति ह्यस्मिन्ननेकेषूच्चावचस्थानेषु जन्तव इति तेषां क्वचिदनुपूर्वत्वाभावादुक्तं च वाचकैः "रंगभूमिर्न सा काचित्, शुद्धा जगति विद्यते। विचित्रैः कर्म्मनेपथ्यै, र्यत्र सत्वैर्न नादित" मिति। सास्वतं नित्यमविद्यमानं सास्वतमस्मिन्नित्यशास्वतस्तस्मिन्। संसार एवासास्वतं हि समलमिह राज्यादि तथा आह हारिलवाचकः **"चलं राज्यैश्वर्यं धनकनकसारं परिजनो, नृपत्वं चाश्चल्ये चलममरसौख्यं च विपुलम्। चलं रूपारोग्यं चलमिह वरं जीवितमिगं, जनो दृष्टो ये वै जनयति सुखं सोऽपि हि चलः।"** यद्वा ध्रुवो नित्यो न तथा ध्रुवस्तस्मिन्नेवं च कियत् कालावस्थायित्वमप्यासक्येत। अत आह शश्वद्गवनाच्छाश्वतो न तथा शाश्वतस्तस्मिन् शश्वद्भवने हि ह्यादिक्षणावस्थितिरपि संभवेत्तन्निषेधे तु तस्या अपि निषेधात्पर्यायार्थतया तडित्संपात वत्क्षणमात्रावस्थायिनीत्युक्तं भवति एकार्थं वा पदद्वयमुपदेशत्वादतिशयख्यापकत्वाच्च न पौनरुक्त्यम्। क्व पुवरीदृशि संसरन्त्येतस्मिन् स्वकर्मवशवर्तिनो जन्तव इति संसारस्तस्मिन् (दुःखपउराएत्ति) प्रचुराण्येव प्रचुरकाणि प्रभूतानि दुःखानि शरीरमानयानि यस्मिन् स तथा। तस्मिन् प्राकृत्वाच्च सूत्रे एवं निर्देशो यद्वा दुःखनां प्रचुर आयो लाभो यस्मिन् स तथा तस्मिन्। किमिति प्रश्ने नामेति संभावनायां वाक्यालंकारे वा भवेत् स्यात्तत्क्रियत इति कर्म तदेव कर्म्मकमनुष्ठानं यत्। कीदृगित्याह येन कर्मणा हेतौ तृतीया अहमित्यात्मानं निर्दिशति दुर्गतिं नरकादिकं न गच्छेयं न यायाम! पठन्ति च (जेणाहं दोगती उ मोच्चेज्ज त्ति) सुगममत्र भगवतः छिन्नसशयत्वे मुक्तिगामितया दुर्गत्यसत्वेऽपि च प्रतिबोध्य पूर्वसंगति कापेक्षमित्थमभिधानम्। नागार्जुनीयास्तु प्रथमपदमेवं पठन्ति (अधुवंमि मोहग्गहणाए) तत्र मुह्यतेऽनेन जानन्नपि जन्तुरिति मोहो दर्शनमोहनीयादि तेन गहनो गुपिलो मोहगहनः स एव मोहगहनकस्तस्मिन्निति सूत्रार्थः। एवं च भगवतोद्गीते तेऽप्येनमेव ध्रुवकं प्रत्युद्गायन्ति तालं च कुट्टयन्ति तैश्च प्रत्युद्गीते भगवानाह।

विजहित्तु पुव्वसंजोगं, न सिणेहं कहिंवि कुविज्जा।
असिणेहसिणेहरेहिं, दोसपदोसेहिं मुच्चए भिक्खू।२।

विहाय विशेषेण तदननुस्मरणाद्यात्मके न हित्वा कमित्याह पुरा परिचिता मातृपित्रादयः पूर्वाशब्देनोच्यन्ते ततस्तैरुपलक्षणत्वादन्यैश्च स्वजनधनादिभिः संयोगः संबन्धः पूर्वसंयोगस्तं ततः किमित्याह न स्नेहममिष्वङ्गं क्वचिद्ग्राह्ये वस्तुनि अभ्यन्तरे वा (कुविज्जत्ति) कुर्वीत तथा च कोगुण इत्याह। (असिणेहत्ति) प्राकृतत्वाद्विसर्जनीयलोपे स्नेहे विद्यमानप्रतिबन्धः (सिणेहकरोहिंति) सुब्व्यत्ययादपेर्गम्यमानत्वाच्च स्नेहकरणशीलेष्वपि पुत्रकलत्रादिष्वास्तामन्येष्वपीत्यपिशब्दार्थो दोषपदैरपराधस्थानैर्मुच्यते तत्पद्यते

किमुक्तं भवति निरतिचारचारित्रो भवत्यमुक्तस्नेहो हि कलत्राद्यविष्वङ्नाद्दोषपदमतिचाररूपमाप्नुयात् भिक्षुरिति साधुः पाठान्तरश्च दोषप्रदोषैस्तत्र दोषैरिहैव मनस्तापादिभिः प्रदोषैश्च परत्र नरकागत्यादिभिरिति सूत्रार्थः।

पुनर्यदसौ कृतवांस्तदाह–

तो नाणदंसणसमग्गे, हियनिस्सेसा य सव्वजीवाणं।
तेसिं विमोक्खमट्ठाए, भासई मुणिवरो विगयमोहो ॥

ततोऽनन्तरं भाषते मुनिवर इति संबन्धः। स च कीदृग् ज्ञायतेऽनेन विशेषात्मना वस्त्विति ज्ञानं दृश्यते सामान्यरूपेण वस्त्विति दर्शनं ताभ्यां प्रस्तावात् केवलाभ्यां समग्रः समन्वितो यदि वा प्राकृतत्वात्समग्रे परिपूर्णे ज्ञानदर्शने यस्यासौ सम्यग्ज्ञादर्शनः किमर्थमसौ भाषत इत्याह (हियनिस्सेसा इति) सूत्रत्वाद्धितः पथ्यो भावारोग्यहेतुत्वान्निःश्रेयसो मोक्षो हितश्चासौ निःश्रेयसश्च हितनिश्रेयसस्तस्मै। यद्वा प्राकृतत्वादेव निःशेषं समस्तं हितं सम्यग्ज्ञानादि तस्यैव तत्वतो हितत्वात्। ततो निःशेषं च तद्धितं च निःशेषहितं तस्मै। कथं नाम निःशेषहितावाप्तिः स्यादिति चशब्दो भिन्नक्रमस्तेषामित्यत्र योज्यते केषां सर्वजीवानामशेषप्राणिनां तेषां च पञ्चशमसंख्यचौराणां विमोक्षणमष्टविधकर्मणः पृथक्करणं तदेवार्थः प्रयोजनं विमोक्षणार्थः तस्मै तन्निमित्तं भाषत इति वर्त्तमाननिर्देशः प्राग्वद् यद्वा भवति सतामतीतः प्राप्तो यो नाम वर्त्तमानत्वमिति वचनात्तस्यापि तदा वर्त्तमानतैवेति तत्कालत्वस्य विवक्षितत्वान्न दोषः मुनिवरो मुनिप्रधानः। विगतो विनष्टो मोहो यस्य यस्माद्वा स तादृक् इह च विगतमोहवचनेन चारित्रमुक्तं ननु "हियनिस्सेसाय सव्वजीवाणं ती" त्युक्तः "तेसिं विमुक्खणट्ठा इति" अतिरिच्यते न तानेवोद्दिश्यास्य भगवतः प्रवृत्तिरिति प्रधानत्वात्पुनस्त द्विमोक्षणार्थताभिधानम्। दृश्यते हि ब्राह्मणः आयात विशिटोऽप्यायात इति सामान्योक्तावपि पुनः प्रधानस्याभिधनमिति सूत्रार्थः।

यदसौ भाषते तदाह–

सव्वं गंथं कलहं च, विप्पजहे तहविहं भिक्खु।
सव्वेसु कामजाएसु पासमाणो न लिप्पई ताई ॥४॥

सर्वमशेषं ग्रन्थं बाह्यमाभ्यन्तरं च। तत्र बाह्यं धनाद्याभ्यन्तरं मिथ्यात्वादि कलहहेतुत्वात् कलहः क्रोधस्तं चशब्दात् मानादीश्चाभ्यन्तरं ग्रन्थरूपत्वेऽपि चैषां पृथगुपादानः बहुदोषख्यापनार्थम् (विप्पजहेत्ति) विप्रजह्यात्परित्यजेत्तथाविधमिति कर्मबन्धहेतुं न तु धर्मोपकरणमपीत्यभिप्रायः। पाठन्तश्च तथाविधो भिक्षुर्यतिः तस्यैवंविधधर्मार्हत्वादेवमभिधानमन्योक्त्या वाऽत एवैवमुच्यते ततश्च किं स्यादित्याह। सर्वेष्वशेषेषु कामजातेषु मजोज्ञशब्दादीनां प्रकारेषु समूहेषु वा (पासमाणोत्ति) पश्यन् प्रेक्षमाणो विपाकं कटुकात्मकं तद्विषयं दोषमिति गम्यते न लिप्यते कर्मणा नोपदिह्यते कामदोषज्ञस्य तेषु प्रायः प्रवृत्तेरभावादिति भावः तायते त्रायते वा रक्षति दुर्गतिरात्मानमेकेन्द्रियादिप्राणिनो वाऽवश्यमिति तायीत्रायी वेति सूत्रार्थः। इत्थं ग्रन्थत्यागिनो गुणमभिधाय व्यतिरो दोषमाह।

भोगामिसदोसविसन्ने हि–अणिस्सेयसबुद्धिवोच्चत्थे।
बाले य मंदिए मूढे, वज्झइ मत्थि जाव खेलंमि ॥

भूज्यन्त इति भोगा मनोज्ञाः शब्दादयस्ते च ते आमिषं चात्यन्तगृद्धिहेतुतया भोगामिषं तदेव दूषयत्यात्मानं दुःखलक्षण विकारकरणेन भोगामिषदोषस्तस्मिन्। विशेषेण सन्नो निमग्नो भोगामिषदोषविषण्णः। यद्वा भोगामिषाद्दोषा भोगामिषदोषास्ते च तदासक्तस्य विचित्रक्लेशा अपत्योत्पत्तौ च तत्पालनोपायपरतया व्याकुलत्वादयस्तैर्विषण्णो विषादं गतो भोगामिषदोषविषण्णः आह च "जयाय कुकुडंवस्स, कुतत्तीहि विहहम्मइ। हत्थीव बंधणे बद्धो, पसत्था परितप्पति। पुत्तदारपरिकिन्नो, मोहसंतसणं संतओ। पंकासन्नो जहा नागो, पसत्थापरितप्पई" (हियनिस्सेयस–बुद्धिवोच्चत्थे) हित एकान्तपथ्यो निःश्रेयसो मोक्षोऽन्योः कर्म्मधारये हितनिःश्रेयसौ। यद्वाहितो यथाभिलषितविषयावाप्तयाऽभ्युदयो निश्रेयसः स एव तयोर्द्वन्द्वस्ततश्च तत्र तयोर्वा बुद्धिस्तत्प्राप्त्युपाय–विषया मतिस्तस्यां विपर्यस्तो विपर्ययवान् स वा विपर्यस्ता हितनिःश्रेयसबुद्धिर्यस्य सः विपर्यस्तहितनिःश्रेयसबुद्धिर्वा विपर्यस्तशब्दस्यतु परनिपातः प्राग्वत्। यद्वा विपर्यस्ग हिते निःशेषा बुद्धिर्यस्य स तथा बालश्चाज्ञः (मंदिएत्ति सुत्रत्वान्मन्दो धर्म्मकार्यकरणं प्रत्यनुद्यतो मूढो मोहाकुलितमानसः स एवंविधः किमित्याह। बध्यते श्लिष्यतेऽर्थात् ज्ञानावरणादिकर्म्मणा मक्षिकेव (खेले) श्लेष्मणि रजसेति गम्यते। इदमुक्तं भवति यथाऽसौ तत्स्निग्धतागन्धादिभिराकृष्यमाणा तत्र मज्जति मग्ना च रेणवादिना बध्यत एवं जन्तुरपि भोगामिषे मग्नः कर्म्मणेति सूत्रार्थः। ननु यद्येवममी भोगाः कर्मबन्धकारणं किं नैतान् सर्वेऽपि जन्तवस्त्यजन्तीत्याह –

दुप्परिचया इमे कामा, णो सुजहा अधीरपुरिसेहिं।
अह संति सुव्वया साहू, जे तरंति अतरं वणिया वा।६।

दुःखेन कृच्छ्रेण परित्यज्यन्ते परिह्रियन्ते इति दुष्परित्यजा इमे प्रत्यक्षत उपलभ्यमानाः कामभोगा नो नैच (सुजहत्ति) सुत्रत्वात्सुखेनानायासेन हीयन्ते इति सुहानाः सुत्यजा विषसंपृक्तस्निग्धमधुरान्नवत्। कैरधीरपुरुषैरबुद्धिमद्भिरसत्त्वैर्वा नरैः पुरुषग्रहणं तु ये तावदल्पवेदोदयतया सुखेनैव त्यत्कारः संभवन्ति तैरप्यमी न सुखेन त्यजन्त इत्यास्तामतिदारुणस्त्रीपण्डकवेदोदयाकुलितैः स्त्रीनपुंसकैरिति। यच्चेह दुष्परित्यजा इत्युक्त्वा पुनर्न सुहाना इत्युक्तं तदत्यन्तदुस्त्यजताख्यापकं प्रपञ्चितज्ञ–विनयानुग्रहाकं चेत्यपुनरुक्तमेव। अधीरग्रहणेन तु धीरैः सुत्याज्या एवेत्युच्यते अत एवाह अथेत्युपन्यासे सन्ति विद्यन्ते शोभनानि सम्यग्ज्ञानाधिष्ठितत्वेन व्रतानि हिंसाविरमणादिनि येषांते सुव्रताः। शान्त्या चोपालिताः सुव्रता शान्तिसुव्रता। इह च सन्तीति शेषः। साधयन्ति पौरुषेयीभिः क्रियाभिर्मुक्तिमिति साधवो ये किमित्याह ये तरन्ति परंपरावप्यातिक्रामन्ति कमतरं तरीतुमशक्यं विषयगणं भवं वा क इव वणिज इव चशब्दस्यैवार्थत्वात्। यथाहि वणिजोऽतरं नीरधिया न पात्रादिनोपायेन तरन्त्येवमेतेऽपि धीराव्रतादिनोपायेनोक्तरूपमतरमधीरैरेवोक्तनीतितोऽस्य दुस्तरत्वात्। पठन्ति च (जे तरंति वणिया व समुद्दं ति) स्पष्टं उक्तंच केनचित् "विषयगणः कापुरुषं करोति वशवर्त्तिनं न सत्पुरुषम्। बध्नाति मसकमेव हि, लूतान्तुर्नमातङ्ग" मिति सुत्रार्थः। किं सर्वेऽपि साधवोऽतरं तरन्त्युत नेत्याह –

समणा मु एगे वयमाण, पाणवहमिया अयाणंता।

मंदा निरयं गच्छंति, वाला पावियाहिं दीट्ठीहिं ॥७॥

श्राम्यन्ति मुक्त्यर्थं खिद्यन्त इति श्रमणाः साधवो **मु** इत्यमात्मनिर्देशार्थत्वाद्वयमित्येके केचन तीर्थान्तरीया वदमानाः स्वाभिप्रायमुद्दीपयन्तो "भासनोपसंभाषाज्ञानयत्नविमत्युपमन्त्रणेषु वदः"।१।१।४७। इत्येन (पाणिनिवचनेन) आत्मनेपदम्। प्राणा उक्तरूपास्तेषां बधो घातस्तमजानन्त इति संबन्धो मृगा इव मृगाः प्राग्वदज्ञा अजानन्त इति ज्ञपरिज्ञाया के प्राणिनः। के वा तेषां प्राणः कथं वा वध इत्यनवबुध्यमानाः प्रत्याख्यानपरिज्ञया च तद्वधमप्रत्याचक्षाणोऽनेन च प्रथमव्रतमपि न विदन्त्यास्तां शेषाणीत्युक्तं भवत्यत एव मन्दा इव मन्दा मिथ्यात्वमहारोगग्रस्ततया निरयं पाठान्तरतो नरकं वा प्रतीतं गच्छन्ति यान्ति बाला हेयोपादेय विवेकविकलत्वात् (पावियाहिंति) प्रापयन्ति नरकमिति पापिकास्ताभिर्यद्वा पापा एवपापिकास्ताभिः परस्पर विरोधादिदोषात् स्वरूपेणैव कुत्सिताभिः मा हिंस्यात्सर्वा भूतानीत्याद्यभिधाय "श्वेतं छागमालभेत वायव्यां दिशि भूतिकाम" इत्यादिपरस्परविरुद्धार्थाभिधायिनीभिः पापहेतुभिर्वा पापिकाभिर्दृष्टिभिर्दर्शनाभिप्रायरूपाभिः "ब्राह्मणे ब्राह्मणमालभेत इन्द्राय क्षत्रं मरुद् भ्यो वैश्यं तपसे शूद्रम्" यथा यस्य बुद्धिर्न लिप्येत, हत्वा सर्वमिदं जगत्। आकाशमिव पङ्केन, न स पापेन लिप्यते" इत्यादिकाभिर्दयादमबहिष्कृताभिस्तद्बहिष्कृतानां हि विविध वल्ककलवेषादिधारिणामपि न केनचित्पापात्परित्राणम्। तथा च वाचकः "चर्मवल्कलचीराणि, कूर्चमुण्डजटाशिखाः। न व्यपोहन्ति पापानि, सोधकौ तु दयादमा" विति सूत्रार्थः।

अत एवाह। सूत्राकृत्-

नहु पाणवहं अणुजाणे, मुच्चव्व कयाइ सव्वदुक्खाइं।
एवायरिहिं अक्खायं, जेहिं सो साधुधम्मो पण्णत्तो ॥

(नहु) नैव प्राणवधं प्राणघातं मृषाभाषाद्युपलक्षणं चैतत् (अणुजाणेत्ति)अपिशब्दस्य लुप्तनिर्दिष्टत्वादनुजानन्नप्यास्तां कुर्वन् कारयन् वा मुच्येत त्यजेत। संभावने लिङ् ततो मुक्तिसंभावनापि नास्तीत्युक्तं भवति कदाचित् कस्मिंश्चिदपि काले कर्मुच्यते इत्याह। (सव्वदुक्खाणंति) दुःखयन्तीति दुःखानि कर्माणि सर्वाणि च तानि दुःखानि च सर्वदुःखानि तैः सुब्व्यत्ययाच्च तृतीयार्थे षष्ठी। यद्वा सर्वदुःखैर्नरकादिगतिभाविभिः शरीरमानसैः क्लेशैस्ततः प्राणतिपातनिवृत्ता एव चान्तरं तरन्ति न त्वितर इत्युक्तं भवति। किमेतत् त्वयैवोच्यते इत्याह (एवायरिएहिंति) एवमुक्तप्रकारेणार्यैः सकलहेयधर्मेभ्यो दूरं यातैस्तीर्थकरादिभिराचार्यैर्व्याख्यातं कथितम्। ये कीदृशा इत्याह। यैरार्यै राचार्यैर्वायं साधुधर्म्मो हिंसानिवृत्त्यादिः प्रज्ञाप्रः प्ररूपितोऽयमित्यनेन चात्मनि वर्त्तमानं तेषां प्रज्ञाप्य चौराणां प्रत्यक्षं साधुधर्म्मं निर्दिशतीति सूत्रार्थः।

यद्येवं ततः किं कृत्यमित्याह-

पाणे य णाइवाएज्जा, सेसमीएत्ति वुच्चई।
ताई तउ.. से पावयं कम्मं, निज्जाइ एदगं व थलाओ ॥

(पाणे य णाइवाएज्जत्ति) च शब्दो व्यवहितसंबन्धस्तत्तश्च प्राणानिन्द्रियपञ्चकादीन्नातिपातयेत् स्वयमिति गम्यते। च शब्दात्कारणानुमत्योरपि निषेधो मृषावादादिनिवृत्युपलक्षणं चैतत्। किमिति प्राणान्नातिपातयेदित्याह। यः प्राणान्नातिपातयिता स समितः समितिमानित्युच्यतेऽभिधीयते कीदृशः सन्नित्याह त्रायी त्ववष्यं प्राणित्राता समितत्वेऽपि को गुण उच्यते। तत इति तस्मात्समितत्वात् (से) इत्यघं पापकर्माशुभं कर्म्म ज्ञानावरणादि निर्याति निर्गच्छति। पठन्ति च "निण्णा" इति अत्र च देशीपदत्वादधो गच्छन्ति किमिवोदकमिव कुतः स्थलादत्युन्नतप्रदेशादनेन च पूर्वबद्धस्य कर्म्मणो भाव उक्तो न लिप्यते त्रायीति च बद्धयमानस्येति न पौनरुक्त्यं पापकग्रहणं चास्यावष्यतया भावख्यापकं पुण्यस्य हि संहननादिदोषात् मुक्त्यनवाप्तेर्देवाद्युत्पत्तौ संभावोऽपि स्यादेवान्यथाहि पुण्यस्यापि स्वर्णनिगडप्रायतया विनिर्गम एव विमुक्तिरिति सूत्रार्थः। यदुक्तं "प्राणान्नातिपातयेति" तदेव स्पष्टयितुमाह।

जगनिस्सिएहिं भूएहिं, तसना मेंहि थावरेहिं च।
नोतेसिमारभे दंडं, मणसा वयसा कायसा चेव ॥१०॥

जगल्लोकस्तस्मिन्निश्रितान्याश्रितानि जगन्निःश्रितानि तेषु भूतेषु जन्तुषु (तसनामेसुत्ति) त्रयनामकर्मोदयवस्तु धीन्द्रियादिषु स्थावरेषु तन्नामकर्मोदयवर्त्तिषु पृथिव्यादिषु चः समुच्चये (नो) नैव (तेसिंति) तेषु क्षीणीयत्वेन प्रतीतेः पारभेत कुर्याद्दण्डनं दण्डं स चेहातिपातात्मकस्तं (मणसा वयसा कायसाचेवत्ति) आर्षत्वान्मनसा वचसा कायेन चशब्दः शेषभङ्गोपलक्षकस्तत्तश्च यथा मनसा वचसा कायेन च दण्डं नारभयेत नवारभमाणानप्यन्यानननुमन्येत एवोऽधारणे भिन्नक्रमश्चात एव नो इत्यस्यसनन्तरं योजितः। पठ्यते च "जगनिस्सियाण भूयाण तसाणं थावराण य। नो तसिमारभे दंडंति" गतार्थमेव। अपरे तु "जगनिस्सीएहित्यादि" तृतीयान्ततयैवाधीयते। तत्र च जगन्निश्रितभूतैस्त्रसैः स्थावरैश्च हन्यमानोपीति शेषो नैव तेष्वारभेत दण्डमुज्झयनीश्रावकपुत्रवदत्र च संप्रदायः। "उज्झेणीए सावगसुओ चोरेहिं हरिउं मालवगे सूयगारस्स हत्थे विक्कीओ लावगे मारयसु ण मारयामिति हत्थी पादत्तासणं सीसारक्खकरणं चेति" स एवं प्राणत्यागेपि सत्वानुपरोधी एवमन्यैरपि यतितव्यमिति सूत्रार्थः। उक्ता मूलगुणाः।

संप्रत्युत्तरगुणा वाच्यास्तेष्वप्येषणा समितिप्रधानेति तामाह।

सुद्धेसणा उ णच्चाणं तत्थ ठाविज्ज भिक्खु अप्पाणं।
जायाए घासमेसिज्जा, रसगिद्धा ण भिक्खाए ॥११॥

शुद्धाःशुद्धिमत्यो दोषरहिता इत्यर्थः। ताश्च ता एषणाश्चोद्गमैषणाद्याः शुद्धैषणा यदिवैषणाः सप्त संसृष्टाद्यास्तथा "संसट्ठमसंसट्ठा, उद्धडतहप्पेलवडा चेव। उग्गहिया पग्गहिया, उज्झियधम्मा य सत्तमिया" एतासु च शुद्धैषणाः पञ्च जिनकल्पिका पेक्षमेतदुक्तं भवति तदधिकारे "पंचसु गहो दोसु अभिग्गहो त्ति" एतांश्च ज्ञात्वाऽवबुध्य किमित्याह। ज्ञानस्य फलं विरतिरिति। तत्रैषणासु स्थापयेन्निवेशयेद् भिक्षत इत्येव धर्मा तत्साधुकारी वेति भिक्षुः स्वन्नात्मानं स्वं किमुक्तं भवत्यनेषणापरिहारेण एषणा शुद्धमेव गृह्णीयात्तदपि किमर्थमित्याह (जायएत्ति) यात्रायै संयमनिर्वहण निमित्तं (घासंति) ग्रासमेषयेद्गवेषयेदुक्तंहि "जहसगडक्खोवंगो, कीरइ भरवहणकारणा णवरं। तह गुणभरवहणत्थं आहारो बंभयारीणं"ति। एषणाशुद्धमप्यादाय कथं भोक्तव्यमिति ग्रासैषणामाह रसेषु स्निग्धमधुरादिषु गृद्धो गृद्धिमान् रसगृद्धो न स्यान्न भवेत्। (भिक्खाएत्ति) भिक्षादौ भिक्षाको वा अनेन रागपरिहार उक्तो

द्वेषपरिहारोपलक्षणं चैव ततश्च रागद्वेषरहितो भुञ्जीतेत्युक्तं भवति यदुक्तं "रागद्दोसविमुक्को, भुंजिज्जा निज्जरापेहीति" सूत्रागमर्थः।

अगृद्धश्च रसेषु यत्कुर्यात्तदाह –

पंताणि चेव सेविज्जा, सीयं पिंडं पुराणकुम्मासं।
अदुवक्खसंपुलागं वा, जवणट्ठा ए सेवए मंथुं ॥१२॥

प्रान्तानि नीरसान्यन्नपानानीति गम्यते चशब्दादन्तानि वा एवावधारणे स च भिन्नक्रमः "सेविज्जा" इत्यस्यानन्तरं द्रष्टव्यः। ततश्च प्रान्तान्यन्तान्यन्नानि च सेवेतैव न तु सारणी ति परिस्थाप-येद्रच्छनिर्गतापेक्षया प्रान्तानि चैव सेवेत तस्य तथाविधानामेव ग्रहणानुज्ञानातः। कानि पुनस्तानीत्याह (सीयपिंडं ति) शीतः शीतलः पिण्ड आहारः शीतश्चासौ पिण्डश्च शीतपिंडस्तम्। शीतोऽपि शाल्यादिपिण्डः सरस एव स्यादत आह पुराणः प्रभूतवर्षधृताः कुल्माषा एते हि पुराणाअत्यन्तपूतयो नीरसाश्च भवन्तीत्येव तद् ग्रहणमुपलक्षणं चैतत्पुराणमुद्गादीनाम्। (अदुं) इत्यथवा (वक्कसं) मुद्गमाषादि (नक्खिखका) निष्पन्नमति निष्पीडितरसं वा पुलकमसारं वल्लचनकादि वासमुच्चये (जेवणट्ठत्ति) यापनार्थं शरीरनिर्वाहार्थं वासमुच्चये उत्तरत्र योक्ष्यते (सेवएत्ति) सेवेतोपभुञ्जीत। यापनार्थतित्येन एतच्छूचितं यदि शरीरयापना भवति तदैव निषेवेत। यदि त्वतिवातोद्रेकादिना तद्यापनैव न स्यात्तत्तेास न निषेवेत अपि गच्छगतापेक्षमेत–त्तन्निर्गतश्चैतान्येव यापनार्थमपि निषेवेत "मंथुं" वा बदरादिचुर्ण्णमतिरूक्षतया चास्य प्रान्तत्वं सेवे तेति संबन्धः। पठ्यते च "जंवणट्ठाएनिसेवए मंथुत्ति" तथैव नवरं मंथुमित्यत्र चशब्दो लुप्तनिर्दिष्टो द्रष्टव्योऽसारवस्तुपलक्षणं चोभयत्र मंथुग्रहणं पुनः क्रियाभिधानं च न सकृदेवा प्राप्तान्यमूनि सेवेत किंत्वनेकधापीति ख्यापनार्थमिति सूत्रार्थः। यदुक्तं शुद्धैषणा स्वात्मानं स्थापयेति तद्विपर्यये बाधकमाह।

जे लक्खणं च सुविणं, अंगविज्जा य जे पउंजंति।
न हु ते समणा वुच्चति, एवं आयरिएहिं अक्खायं ।१३।

ये इति प्राग्वल्लक्षणं च शुभाशुभसूचकं पुरुषलक्षणादिरूढित–स्तत्प्रतिपादकं शास्त्रमपि लक्षणं तद्यथा "अस्थिष्वर्थाः सुखं मांसे, त्वचि भेगाः स्त्रियोऽक्षिषु। गतौ यानं स्वरे चाज्ञा, सर्वं सत्वे प्रतिष्ठितं" स्वप्नं चेत्यत्रापि रूढितः स्वप्नस्य शुभाषुभफलसूचकं शास्त्रमेव तद्यथा "अलं कृतानां द्रव्याणां बाजिवारणयोस्तथा। वृषभस्य च शुक्लस्य दर्शने प्राप्नुयाद्यशः" तथा "सूत्रं वा कुरूते स्वप्ने, पुरीषं वा विलोडितम्। प्रतिबुद्धे तदाकश्चिल्लभते सोऽर्थनाशनम्" (अंगविज्जंच त्ति) अङ्गविद्यां च शिरःप्रभृत्यङ्गस्फुरणतः शुभाशुभसूचिकां शिरःस्फुरणे "किररज्ज" मित्यादिकां प्रणवमायाबीजादिवर्णविन्यासात्मिकां वा यद्वा अंगान्यङ्गविद्याव्यावर्णितानि भौमान्तरिक्षादीनि "विद्या हिलिहिमातङ्गिनी स्वाहा" इत्यादयो विद्या नवदप्रसिद्धास्ततश्चाङ्गानि च विद्यास्वाङ्गविद्याः प्राग्वद्वचनव्यत्ययश्चः सर्वत्र वाशब्दार्थो ये प्रयुञ्जते व्यापारयन्ति पुनर्ये इत्युपादानं लक्षणादिभिः पृथक संबन्धसूच-नार्थं ततश्च प्रत्येकमपि लक्षणादीनि प्रत्युञ्जते न तु समस्तान्येव ते किमित्याह "न हु" नैव त एवं विधाः श्रमणाः साधव उच्यन्ते प्रतिपाद्यन्ते इह च पुष्टालम्बानं विनैतद्व्यापारेण एवमुच्यते अन्यथा करवीरलता–भ्रामकत पस्विनोऽप्येवंविधत्वापत्तेरेवमार्यैराचार्यैर्व्याख्यातं कथितमनेन यथावस्थितवस्तुवादितयाऽऽत्मनि परापवाददोषं व्यपोहत इति सूत्रार्थः। ते चैवंविधा यदवाप्नुवन्ति तदाह –

इह जीवियं अणियमित्ता, पब्भट्ठा समाहिजोएहिं।
ते कामभोगरसा गिद्धा, उववज्जंति आसुरे काए ॥

इहास्मिन् जन्मनिजीवितमसंजमजीवितमनियम्य द्वादशविध तपोविधानादि अनिन्द्र्य प्रभ्रष्टाश्च्युताः केभ्य : समाधिजोगेभ्यः समाधिश्चितस्वास्थ्यं तत्प्रधाना योगाः शुभमनोवाक्कायव्यापाराः समाधियोगाः। यद्वा समाधिश्च शुभचित्तैकाग्रता योगाश्च प्रथगेव प्रत्युपेक्षणादयो व्यापाराः समाधियोगास्तेभ्यो नियन्त्रितात्मनं हि पदे पदे तदभ्रंससंभव इति तेऽनन्तरमुक्ताः कामभोगेष्वभिहित स्वरूपेषु रसोऽत्यन्ताशक्तिरूपस्तेन गृद्धास्तेष्वेवाभिकाङ्क्षावन्तः कामभोग-रसगृद्धाः। यद्वा रसाः पृथगेव शृङ्गारदयो मधुरादयो वा भोगान्तर्गतत्वेऽपि चैषां पृथगुपादानमतिगृद्धिविषयतारव्यापनार्थमुपपद्यन्ते जायन्ते आसुरेऽसुरसंबन्धिनिकाये असुरनिकाय इत्यर्थः। इदमुक्तं भवत्येवं विधा कश्चित् कादाचित्कमनुष्ठाननुतिष्ठन्तोऽप्यसुरेष्वेवोत्पद्यन्त इति सूत्रार्थः।

ततोऽपि च्युतास्ते किमाप्नुवन्तीत्याह–

तत्तो वियउवट्टित्ता, संसारं बहु अणुपरियट्टंति।
बहुकम्मलेवलित्ताणं, बोही होइ सुल्लहा तेसिं ॥१५॥

ततोऽपि चासुरनिकायादुद्धृत्य तत्परित्यागेन्यन्त्र गत्वा संसारं चतुर्गतिरूपं "बहुशब्दस्य बहुतापे घृतं श्रेय" इत्यादिषु विपुलवाचिनो दर्शनाद्बहु विपुलं विस्तीर्णमिति यावद्बहुं प्रकारं वा चतुरशीतियोनि-लक्षतया "अणुपरित्ति" त्ति "अणुपरियत्ति" सातत्येन पर्यटन्तीत्यर्थः पठन्ति च "अणुचरंतित्ति" स्पष्टम्। किं च बहुनि च तानि अनन्ततया कर्म्माणि च क्रियमाणतया ज्ञानावरणादीनि बहुकर्म्माणि तानि लेप इव लोपो बहुकर्म्माणां वा लेपि उपचयो बहुकर्म्मलेपस्तेन लिप्तस्तेषां बोधिं प्रेत्य जिनधर्माबाप्तिर्भवति जायते सुदुर्लभाऽतिशयदुरापा तेषामिति ये लक्षणादि प्रत्युञ्जते पठन्ति च (बोही अम्थसुदुल्लहा तेसिं ति) बोधिर्यत्र संसारेसुदुर्ल्लभ तेषां मतनुपरियन्तीति योजनीयम्। यतश्चैपमुत्तरगुण-विराधनायां दोषस्ततस्तदाराधनायामेव यतितव्यतिति भाव इति सूत्रार्थः। आह किममी द्रव्यश्रमणा जान्तोऽपि एवं लक्षणादि प्रयुञ्जते। उच्यते लोभतोऽत एव तदाकुलितस्यात्मनो दुष्पूरतामाह।

कसिणं पि जो इमं लोयं, पडिपुन्नं दलिज्ज एक्कस्स।
तेणावि से न तुसिज्जा, इति दुप्पूरए इमे आया ॥

कृत्स्नमपि पूर्णमपि यः सुरेन्द्रादिरिमं प्रत्येकं लोकं जगत्परिपूर्णं धनधान्यहिरण्यादिभृतं (दलेत्ति) दद्यात् किं बहुभ्य इत्याह। (एकस्सत्ति) एकस्मै कस्मैचित्कथंचिदाराधितवते तेनापि धनधान्याभृतसमस्त-लोकदायकेन हेतौ तृतीया (से) इति स न संतुष्येन्न दूष्येत् किमुक्तं भवति ममैतावद्दादताऽनेन परिपूर्णता कृतेति न तुष्टिमाप्नुयात्। उक्तंहि "न वह्नितृणकाष्ठेषु नदीभिर्वा महोदधिः। नचैवात्मार्थसारेण, शक्यस्तर्पयितुं क्वचित्॥ यदि स्याद्रत्नपूर्णोऽपि, जम्बूद्वीपः कथंचन। अपर्याप्तः प्रहर्षाय, लोभार्त्तस्य जिनैःस्मृतः "इतिरेवमर्थे एवममुनोक्तन्यायेन दुःखेन कृच्छ्रेण पूरितं शक्यो दुष्पूरो दुःपूरक (इमेति) अयं प्रत्यक्ष आत्मा जीव एतदिच्छायाः परिपूरितुमशक्यत्वादिति सूत्रार्थः। किमिति न

संतुष्यतीति स्वसंविदितं हेतंमाह –

जहालाभो तहा लोभो, लाभा लोभो पवड्ढई ।
दो मासकयं कज्जं, कोडीए वि न निट्ठियं ॥१७॥

यथा येन प्रकारेण लाभो गार्द्धमभिकाङ्क्षेति यावत् भवतीति शेषः किमेवमित्याह । लाभाल्लोभः प्रवर्द्धते प्रकर्षेण वृद्धिं भजते इह च लाभाल्लोभः प्रवर्द्धत इति वचनाद्यथा तथेत्यत्र वीप्सा गम्यते ततश्च यथा यथा लाभस्तथा तथा लोभो भवतीत्युक्तं भवति । लाभाल्लोभः प्रवर्द्धत इत्यापि कुत इत्याह.। द्वाभ्यां द्विसंख्याकाभ्यां माषाभ्यां पञ्चरत्तिकामानाभ्यां क्रियते निष्पाद्यत इति द्विमाषकृतमार्षत्वाद्वर्तमानकाले क्तः कार्यं प्रयोजनं तच्चेह दास्यां पुष्पतांबूलमूल्यरूपं कोट्यापि सुवर्णशतलक्षात्मिकया न निष्ठितं न निष्पन्नं तदुत्तरोत्तरविशेषवाञ्छात इति भाव इति सूत्रार्थः ।

संप्रति यदुक्तं द्विमाषकृतं कार्यं कोट्यापि न निष्ठितमिति तत्र तदनिष्ठितिः स्त्रीमूलेति तत्परिहार्यतोपदर्शनायाह –

नो रक्खसीसु गिब्भिज्जा, गंडवच्छासु णेगचित्तासु ।
जाओ पुरिसं पलोभित्ता, खेल्लंति जहा व दासेहिं ।१८।

नो नैव राक्षस्य इव राक्षस्यः स्त्रियस्तासु यथाहि राक्षस्यो रक्तसर्वस्वमपकर्षन्ति जीवितं च प्राणिनांमपहरन्त्येवमेता अपि तत्वतो हि ज्ञानादीन्येव जीवितं स्वार्थश्च तानि च ताभिरपक्षियन्त एव तथा च हारिलः "वातोद्धूतो दहति हुतभुग्देहमेकं नराणं, मत्तो नागः कुपितभुजगश्चैकदेहं तथैव । ज्ञानं शीलं विनयविभवौदार्यविज्ञानदेहान् सर्वानर्थान् दहति वनिताऽमुष्मिकानैहिकांश्च ।। (गिब्भेज्जेति) गृद्ध्येदभिकाङ्क्षावान् भवेत् । कीदृशीषु (गंडवच्छासुत्ति) गण्डमिह चोपचितपिशितपिण्डरूपतया गलत्पूतिरुधिरार्द्रता संभवाच्च तदुपमत्वाद्गण्डे कुचावुक्तौ ते वक्षसि याभां तास्तथाभूतास्तासु वैराग्योत्पादनार्थं चेत्थमुक्तम् तथा अनेकान्यनेकसंख्यानि चञ्चलतया चित्तानि मनांसि यासां तास्तासु अनेकचित्तासु आहच "अन्यस्याङ्के ललति विशदं, चान्यमालिङ्ग्य शेते, अन्यं वाचा वपयति हसत्यन्यमऽन्यं च रौति। अन्यं द्वेष्टि स्पृशति कशति प्रोर्णुते चान्यमिष्ट, नार्यो नृत्यत्तडित इव धिक् चञ्चला बालिकाश्च" तथा (जाओत्ति) याः पुरुषं मनुष्यं कुलीनमपीति गम्यते प्रलोभ्यत्वमेव शरणं त्वमेव च प्रीतिकृदित्यादिकाभिर्वाग्भिर्विप्रतार्य क्रीडन्ति (जहा वत्ति) वाशब्दस्येवकारार्थत्वाद्यथैव दासैः रे ह्यागच्छ मा वा त्वं मायासीरित्यादि विवक्षितप्रभृतिभिः क्रीडाभिर्विलसन्तीति सूत्रार्थः ।

पुनस्तासामेवातिहेयतां दर्शयन्नाह–

नारीसु नो पगिज्झिज्जा, इत्थीविप्पयहे अणगारे ।
धम्मं च पेसलं नच्चा, तत्थ ट्ठविज्ज भिक्खुमप्पाणं ॥

नारीषु नो नैव प्रगृद्ध्येत्प्रशब्द आदिकर्मणि ततो गृद्धिमारभेतापि न किं पुनः कुर्यादिति भावः (इत्थीविप्पयहित्ति) स्त्रियोविविधैः प्रकारैः प्रकर्षेण च जहाति त्यजतीति स्त्रीविप्रजहः "उणादयो बहुलम्" ।३।३।१। इति बहुलवचनाच्छः । यद्वा (इत्थित्ति) स्त्रियो (विप्पजहेत्ति) विप्रजह्यात्पूर्ववत् नारीग्रहणान्नपुंसकस्त्रियः प्रत्येका ,इह च देवतिर्यक्संबन्धिन्योऽपि त्याज्यतयोच्यन्ते इति न पौनरुक्त्यमयमुपदेशत्वाद्वा । अनगारः प्राग्वत् किं पुनः कुर्यादित्याह धर्ममेव ब्रह्मचर्यादिरूपं चस्यावधारणार्थत्वात्पेसलमिह परत्र चैकान्तहितत्वेनातिमनोज्ञं ज्ञात्वा अवबुध्य तत्रेति धर्म्मे स्थापयेन्निवेशयेद्विक्षुर्यतिरात्मानं विषयाभिलाषनिषेधे इति सूत्रार्थः । अध्ययनार्थोपसहारमाह –

इति एस धम्मे अक्खाए, कविलेण च विमुद्धपण्णेण ।
तरिहिंति जे उ काहिंति,तेहिं आराहिया दुवे लोग त्तिबेमि ॥२०॥

इतीत्यनेन प्रकारेण एषोऽनन्तरमुक्तरूपो धर्मो यतिधर्म आडिति सकलतत्स्वरूपाभिव्याप्त्याख्यातः कथितः ख्यातकेनेत्याह । कपिलेनेत्यात्मानमेव निर्दिशति पूर्वसंगतिकत्वादमीमद्वचनतः प्रतिपद्यन्तामिति चः पूरणे विशुद्धप्रज्ञेन निर्मलावबोधनातोऽर्थ सिद्धिमाह (तरिहिंति) तरिष्यन्ति भवार्णवमिति शेषः । ये इत्यविशेषाभिधानं तुः पूरणे ततोऽविशेषत एव तरिष्यन्ति ये करिष्यन्त्यनुष्ठास्यन्ति प्रक्रमादमुं धर्म्ममन्यच्च तैराराधितौ सफलीकृतौ द्वौ द्विसंख्यौ लोकाविह लोकपरलोकावित्यर्थः । ईह महाजनपूज्यतया परत्र च निःश्रेयसाभ्युदयप्राप्त्येति सूत्रार्थ इति परिसमाप्तौ ब्रवीमीति । नयाश्च प्राग्वदिति । उत्त०८ अ० । भरतखण्डजकृष्णवासुदेवसमकालीने धातकीखण्डान्तर्गतपुर्वार्द्ध भारतवर्षसत्कचम्पानगर्य्यां भवे वासुदेवे, ज्ञा०१६ अ० स्था०(येन विजितापरकङ्काधीशपद्मनाभस्य कृष्णवासुदेवस्य शङ्खशब्दःश्रुतः श्रावितश्चेति द्रोपदी (दुवइ) शब्देवक्ष्यते सुस्थिताचार्य्यस्य क्षुद्रके शिष्ये, येन शय्यतरभूणिका (कन्या) निमित्तं शिश्रे च्छिन्ने तृतीयवेद उत्पन्नः वृ०४ उ० (पडिसेवणाशब्दे कथा) नन्दामात्यस्थ कल्पकस्य पितरि, आ०क० आव० आ०चू० (कप्पअशब्दे उक्तम्) पक्षिविशेषे, ज्ञा०१७ अ० औ० प्रश्न० वर्णविशेषे, उपा०२ अ० अनु० तद्वर्णवति, पिङ्गले, त्रि० उपा०२ अ० कपिलपुपायां शिंशपायाम्, स्त्री०, रजनि० रेणुकानामगन्धद्रव्ये कपिलवर्णायां स्त्रियां तुटावेव वर्णवाचित्वेऽपि अनुदात्तत्वाभावात् । कुक्कुरजातिस्त्रियां तु जातित्वात् ङाष् वाच० ।

कविलकविल त्रि०(कपिलकपिल) अतिकडारे, उपा०२ अ० ।

कविलदंसण न०(कपिलदर्शन)शाङ्ख्यशास्त्रे "अमर्त्तश्चेतनो भोगी, नित्यः सर्वगतोऽक्रियः । अकर्त्ता निर्गुणः सूक्ष्म आत्मा कपिलदर्शने" गा०(एतन्निराकरणं संखशब्दे)

कविलपतियकेस पुं०(कपिलपतितकेश) कपिलाः पलिताश्च शुक्लाः केशा येषां ते तथा । अतिवृद्धेषु, भ०७ श०६ उ० ।

कविलय पुं०(कपिलक) राहुदेवस्य कृत्स्नपुद्गलभेदे, सू०प्र०२० पाहु० चं०प्र० ।

कविला स्त्री०(कपिला) स्वनामख्यातायां ब्राह्मण्याम् "जदि कालसोयरिपसूणं मोएहिं जदि य कविलं माहणिं भिक्खं दीवावेहि" आ०चु०४ अ० ।

कवि (वे)ल्लुय न०(कविल्लक) मण्डकपचनिकायाम्, संथा० "भत्ते कविल्ले विंदुपचिते" वृ०५ उ० "पच्छा गोवालाणं जं जेण कवेल्लं असायं" आ०म०द्वि० आव०।जं० स्मा० ।

कवि(वे)ल्लुयाकार पुं०(कवेल्लुकाकार)कवेल्लुकानि प्रतीतानि

तेषामापकः । भाण्डपचनस्थाने, स्था०८ ठा० जी०।

कविसीस न० (कपिशीर्ष) कपीनां प्रियं शीर्षमग्रम्, शाक० प्राकाराग्रे, त्रिका० कपीनां प्राकाराग्रवासित्वं लोकसिद्धम् स्वार्थे कः तत्रैव, वाच०"कविसीसयवट्टरइयसंठियविरायमाणा" कापिशीर्षकैः वृत्तरचितैर्वर्तुलीकृतैः संस्थितैर्विशिष्टसंस्थानवद्भिर्विराजमाना शोभमाना या सा तथा । ज्ञा०१ अ० रा०।

कविहसिय न०(कपिहसित)नभासि विकृतिरूपस्य वानरमुखउदृशस्य अट्टाट्टहासे, व्य०७ उ० औ० आ०चू० नि०चू० आव० आकस्मान्नभसि ज्वलद्वीशब्दे, जी०।

कवोय पुं०स्त्री०(कपोत)पारावते, पिं० विपा० उपा० स च त्रिधा गृहकपोतवनकपोतचित्रकपोतभेदात्, वाच०।

कवोयकरण न०(कपोतकरण) कपिञ्जलानुद्दिश्य यत्र किञ्चित् क्रियते तथा यत्र स्थप्यते तस्मिन् रुथाने, आचा०२ श्रु१०।

कवोयपरिणाम त्रि०(कपोतपरिणाम)कपोतस्येव पक्षिविशेषस्येव परिणाम आहारपरिपाको येषां ते कपोतपरिणामाः । आहारपरिपाकसक्तोदराग्निषु, कपोतस्य हि जठराग्निः पाषाणलवानपि जरयतीति (जन)श्रुतिः, तं० प्रश्न० जी०।

कवोयसरीर न०(कपोतशरीर) कपोतदेहे, कूष्माण्डफले, च "खेतीए गाहावतीए मम अट्ठाए दुवे कवोयसरीरा उवक्खमिया तेहिं णो अट्ठो दुवे कवोया "सिंहानगारं प्रति वीरजिनः इत्यादेः श्रूयमाणमेवार्थंकेचि न्मन्यन्ते। अन्ये त्वाहुः कपोतकः पक्षिविशेषस्तद्वद् द्वे फले वर्णसाधर्म्यात् ते कपोते कूष्माण्डे ह्रस्वे कपोतके ते च ते शरीरे च वनस्पतिजीवदेहत्वात् कपोतकशरीरे । अथवा कपोतकशरीरे इव धूसरवर्णसाधर्म्यादेव कपोतकशरीरे कूष्माण्डफलेएव ते उपस्कृते संस्कृते, भ०१५ श०१ उ०।

कवोल पुं०(कपोल) सौ कप् ओलच्० गण्डे, गल्ले, उपा०२ अ० "पीणमंसलकवोलदेसभागा" पीनौ पुष्टौ यतो मांसलौ उपचितौ कपोललक्षणौ देशभागौ मुखावयवौ येषां ते, जं०२ वक्ष० औ०।

कव्व न०(काव्य)कवेरभिप्रायः काव्यम्। रस्ये, अनु० कवेः भृगुपुत्रस्यापत्यं यञ् शुक्रे, अमरः । कवेरिदं यञ् कविसंबन्धिनि, कव् वर्णने, स्तुतौ, च कर्मणि ण्यत् । वर्णनीये, स्तुत्ये, च त्रि० स्त्रियां टाप् शार्ङ्गरवादौ तु काव्यशब्दस्य यञन्तस्यैव ग्रहणात् ममः स्त्रियां ङीन् । कवेः कर्म ष्यञ् कविकृद्यद्यपद्यात्मके ग्रन्थे, वाच०

चउव्विहे कव्वे पणत्ते तंजहा गज्जे पज्जे कत्थे गेये ।

कण्ठ्यं चैतन्नवरं काव्यं ग्रन्थः गद्यमच्छन्दोनिवद्धं शस्त्रपरिज्ञानवत् पद्यं छन्दोनिवद्धं विमुक्ताध्ययनवत् । कथायां साधु कथ्यं ज्ञाताध्ययनवत् । गेयं गानयोग्यम्। इह गद्यपद्यान्तर्भविऽपीमरयोः कथा गानधर्म्मविशिष्टतया विशेषो विवक्षित इति । स्था०४ ठा०४ द० "णट्ठविही णामयविही, कव्वस्स चउव्विहस्स उप्पत्ती । संखेवमहाणिहिम्मि, तुडियेगाणं च सव्वेसिं" स्था०९ ठा०।

कव्वइत्त त्रि०(काव्यवत्) काव्य मतुप् **"अल्विल्लोल्लालवन्तमन्तेत्तेरमणामतोः ।८।२।१५९।** इति मतुपः स्थाने इत्तादेशः काव्यविशिष्टे, प्रा०।

कव्वड न०(कर्वट) कर्व अट क्षुल्लकप्रकारवेष्टिते, अभितः पर्ववुते, जं०२ वक्ष० महाक्षुद्रसन्निवेशे, दश०१ चूलि० कर्वजनावासे कुनगरे, उत्त०३० अ० स्था० रा० प्रश्न०।कल्प० औ० ज्ञा० आचा० अनु० भ० तद्वासिनि जने, च त्रि० कबाडी, उत्त०३० अ०।

कव्वरस पुं०(काव्यरस) कवेरभिप्रायः काव्यं रस्यन्ते अन्तरात्मनाऽनुभूयन्ते इति रसास्तत्सहकारिकारणविभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनीयरूपतामापन्नाः स्थायिनो विकारविशेषाः इत्यर्थः । उक्तं च "बाह्यार्थालम्बनो वस्तुविकारो मानसो भवेत्। स भावः कथ्यते सद्भिस्तस्योत्कर्षो रसः स्मृतः" ।। काव्येषूपनिबद्धा रसा काव्यरसाः । वीरशृङ्गारादिषु रसेषु,।

से किं तं णवनामे णवनामे णव कव्वरसा पण्णत्ता तंजहा "वीरो सिंगारे अब्भुअ रोद्दो अ होइ बोद्धव्वो । वेलणओ बीभच्छो, हासो कलुणो पसंतो अ । (अनु०)

(वीरादिशब्देषु व्याख्या)

साम्प्रतं नवानामपि रसानां संक्षेपतः स्वरूपं कथयन्नुपसरन्नाह

एए नवकव्वरसा, बत्तीसा दोसविहिसमुप्पण्ण।
गाहाहिं मुणेअव्वा, हवंति सुद्धा व मीसा वा ॥२०॥

सेत्तं नवनामे ।

एते नव काव्यरसा अनन्तरोक्तगाथाभिर्यथोक्तप्रकारेणैव मुणितव्वा ज्ञातव्याः कथंभूताः "अलियसुवघायजणयं, निरत्थयमुत्थयंचलं दुहल" मित्यादयोऽत्रैव वक्ष्यमाणाः। यद्वा त्रिंशत्सूत्रदोषास्तेषां विधिर्विरचनं तस्मात्समुत्पन्नाः । इदमुक्तं भवत्यलीकतालक्षणो यस्तावत् सूत्रदोष उक्तस्तेन कश्चिद्रसो निष्पद्यते यथा "तेषां कटतटभ्रष्टैर्गजानां मदविन्दुभिः । प्राववर्त्तत नदी घोरा, हस्त्यश्वरथवाहिनी" ॥१॥ अत्येवं प्रकारं सूत्रमलीकतादोषदुष्टं रसश्चायमद्भुतः ततोऽनेनालीकतालक्षणेन सूत्रदोषेणाद्भुतो रसो निष्पन्नस्तथा कश्चिद्रस उपघातलक्षणेन सूत्रदोषेणानिवर्त्तते यथा स "एव प्राणिति प्राणी, प्रीतेन कुपितेन च । चित्तैर्विपक्षरक्तैश्च, प्रीणिता येन मार्गणा" इत्यादिप्रकारं सूत्रं परोपघातलक्षणादोषदुष्टं वीररसश्चायम् । ततोऽनेनोपघातलक्षणे सूत्रादोषेण वीररसोऽत्र निवृत्त इत्येवमन्यत्रापि यथासंभवं सूत्रदोषविधानाद्रसनिष्पत्तिर्वक्तव्या प्राणे वुत्तिं चाश्रित्यैवमुक्तं तपोदानविषयस्य वीररसस्य प्रशान्तदिरसानां च क्वचिदवृत्तादिसूत्रदोषानन्तरेणापि तिष्पत्तेरिति। पुनः किंविशिष्टा अमी भवन्तीत्याह (हवंति सुद्धा वा मीसा वत्ति) शुद्धा वा मिश्रा वा भवन्ति क्वचित्काव्ये शुद्ध एक एव रसो निष्पद्यते क्वचित्तु द्व्यादिरससंयोग इति भाव इति गाथार्थः । अनु० ३४१ पत्र

कव्वलिंग न०(काव्यलिङ्ग)हेतोर्वाक्यपदार्थतेति लक्षिते अर्थाऽलङ्कारभेदे, प्रति०१७ पत्र०।

कव्वसत्ति स्त्री०(काव्यशक्ति) एकोनविंशतितमायां स्त्रीकलायाम्, कल्प०।

कव्वुर पुं०(कर्कुर)चित्रे, ज्ञा०८ अ० आचा० शबले, त्रि० स्था०५ ठा०३ उ०।

कव्वुरय पुं०(कर्वुरक)षोडशे सप्तदशे वा महाग्रहे "दो कव्वुरया" स्था०२ ठा०३ उ० चं० प्र० जं० कल्प०।

कस पुं०(कश) त्रासजनकायाम् (उत्त०१ अ०) चर्मयष्टिकायाम्, प्रश्न० आश्र०१ द्वा० उत्त०।

कष पुं०न०(कष अष्) कष शिषेति दण्डकधातुर्हिंसार्थः। कषन्ति कष्यन्ते च परस्परमस्तिन् प्राणिनः इति कषः। कर्म०१ क०। आ०म०प्र०। प्रव०। आचा०। कष्यतेऽस्मिन् प्राणी पुन् पुनरावृत्तिभावमनुभवति कषोपलकष्यमाणकनकवदिति कषः। कषति हिनस्ति "पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण" ।३।३।११८। इति प्रायग्रहणात् घः। अन्यथा हलन्तत्वाद्धलश्चेति घञ् स्यात् दर्श० १८० शत्र० संसारे, उत्त०४ अ०। अवचा०। कषयत देहिनं षि इति कषम्, स्था०४ ठा०१ उ०। कषयन्ते बाध्यन्ते प्राणिनोऽनेनेति कषम् कर्मणि भावे च घः, विशे०। स्वर्णवर्णरूपज्ञानार्थे पाषाणभेदे, अस्त्रादेस्तीक्ष्णीकरणसाधने, शाणाख्येऽर्थो च अमरः। वाच०।

कसट न०(कष्ट) कष क्त नेट् "र्यस्तष्टा रियसिनसटाः क्वचित्" ।८।४।२३। इति ष्टस्थाने सटादेशः पीडायाम् ,प्रा०।

कपट्टिय पुं०(कषपट्टक) कषे, भ०५ श०२ उ०।

कसण पुं०(कसन)कसति हिनस्ति कस् ल्युट् कासरोगे, लूताभेदे, वाच)।

कृष्ण पुं० **"कृष्णे वर्णे वा ।८।२।११०।** कृष्णवर्णवाचिनि संयुक्तव्यञ्जनात्पूर्वावदितौ वा भवतः। कसणो कसिणो कण्हो वर्ण इति किम् विष्णौ कण्हो, प्रा०।

काणफणि (ण्) पुं०(कृष्णफणिन)**"फो भहौ" ।८।१।३६।** इत्यस्य प्रायिकत्वान्न फस्य भः कृष्णसर्पे, प्रा०।

कसपट्टय पुं०(कसपट्टक)निकषे, अनु०।

काप्पहार पुं०(कशप्रहार) वर्द्धडामने, ज्ञा०२ अ०।

कसर पुं०(कसर)(कण्डूकृत) खसरे" कच्छकसराभिभूया" जं०२ वक्ष०। भ०।

कससुद्धि स्त्री०(कषशुद्धि) विधिप्रतिषेधयोर्बाहुल्येनोपवर्णने धर्मशुद्धिभेदे, विधिप्रतिषेधौ कष इति विधिरविरुद्धकर्त्तव्यार्थोपदेशकं वाक्यं यथा स्वग्रकेवलार्थिना तपो ध्यानादि कर्त्तव्यं समितिगुप्तिशुद्धा क्रिया इत्यादि प्रतिषेधः पुनः न हिंस्यात्सर्वभूतानि नानृतं वदेत् इत्यादि ततो विधिश्च प्रतिषेधश्च विधिप्रतिषेधौ किमित्याह कषः सुवर्णपरीक्षायामिव कषपट्टके रेखा इदमुक्तं भवति। यत्र धर्म्मे उक्तलक्षणो विधिः प्रतिषेधश्च पदे पदे सुपुष्कल उपलभ्यते स धर्म्मः कषशुद्धः। न पुनरन्यधर्मस्थिता सत्वा असुरा इव विष्णुना उच्छेदनीयास्तेषां हि वधे दोषो न विद्यते इत्यादिकवाक्यगर्भ इति। ध०१ अधि०।

अथास्य लक्षणमाह–

सुहमो असेसविसओ, सावज्जे जत्थ अत्थि पडिसेहो ।
रागाइविअडणसहं,झाणाइअ एस कासुद्धो ।।६८।।

सूक्ष्मो निपुणोऽशेषविषयः व्याप्तयेत्यर्थः सावद्ये सपापे यत्रास्ति प्रतिषेधः श्रुतधर्म्मे। तथा रागादिविकुट्टने सहं समर्थं ध्यानादि च एष शुद्धः श्रुतधर्म्म इति गाथार्थः।

इत्थं लक्षणमभिधायोदाहरणमाह–

जह मणवयकाएहिं, परस्स पीडा दढं न कायव्वा ।
झाएअव्वं च सया, रागाइविपक्खजालं तु ।।६९।।

यथा मनोवाक्कायैः करणभूतैः परस्य पीडा दृढं न कर्त्तव्या क्षान्त्यादिभेदेन तथा ध्यातव्यं च सदा विधिना रागादिविपक्षजालं तु यथोचितमिति गाथार्थः।

व्यतिरेकतः कषशुद्धिमाह–

थूलो ण सव्वविसओ, सावज्जे जत्थ होइ पडिसेहो ।
रागाइविअडणसहं, न य झाणाई वि तदसुद्धो ।।७०।।

स्थूलोऽनिपुणः न सर्वविषयः अव्यापकः सावद्ये वस्तुनि यत्र भवति प्रतिषेध आगमे रागादिविकुट्टनसमर्थं न च ध्यानाद्यपि यत्र स तदशुद्धः कषाशुद्धः इति गाथार्थः।

अत्रैवोदाहरणमाह–

जह पंचहिंबहुएहिं व, एगा हिंसा मुसंविसंवाए ।
इच्चाओज्झाणम्मिअ, झाएअव्वं अगाराइ ।।७१।।

यथा पञ्चभिः कारणैः प्राण्यादिभिः बहुभिर्वैकेन्द्रियादिभिरेका हिंसा यथोक्तं "प्राणी प्राणिज्ञानं, घातकचित्तं च तद्वताचेष्टा। प्राणैश्च विप्रयोगः, पञ्चभिरापद्यते हिंसा" तथाऽनस्थिमतां शकटभरेणैको घात इति तथा मृषा विसंवादे वास्तव इत्याह। "असन्तोऽपि स्वका दोषाः, पापशुद्ध्यर्थमीरिताः। न मृषायै विसंवाद विरहात्तय कस्यचित्" इत्यादौविचारे तथा ध्याने च ध्यातव्यमकारादि यथोक्तं "ब्रह्मोकारोऽत्र विज्ञेयो ह्यकारोऽविष्णुरुच्यते। महेश्वरो मकारस्तु, त्रयमेकत्र तत्वतः" इति गाथार्थः। पं०व०४ द्वा०।

कसा स्त्री०(कषा) अश्वादिताडनसाधिकायां चर्मयष्टिकायाम्, विपा०६ अ०।आ०क०। ज्ञा०।

कसाइ (ण्) पुं० (कषायिन्) कषाया विद्यन्ते यस्याऽसौ कषायी, सूत्र०१ श्रु०६ अ०। क्रोधमानमायालोभोभिनि, सुत्र०१ श्रु०५ अ०। प्रज्ञा०।

कसाइय त्रि०(कषायित) कषायोदयं प्राप्ते, व्य०६उ०। आ०म०द्वि०।

कसाइयमेत्त त्रि०(कषायितमात्र) उदीर्णमात्रक्रोधादिकषाये, "जं अज्जियं चरित्तं, देसूणाए वि पुव्वकोडीए। तं पि कसाइयमेत्तो, नासइ नरो मुहुत्तेणं" वृ०१ उ०।

कसाओवगय न०(कषायोपगत)क्रोधाद्युदयवशगमने, ध०३ अधि०

कसाय पुं०न०(कषाय) कषति कण्ठम् आयअर्द्धर्चादि। **शषोः स ८।१।२६०** इति षस्य सः, प्रा०। रक्तदोषाद्यपहर्त्तरि विभीत्तकामलकककपित्थाद्याश्रिते रसविशाषे, यदभाणि" रक्तदोषं कफं पित्तं, कषायो हन्ति सेवितः। रूक्षः शीतो गुरुग्राही, रोचकश्च स्वरूपतः ।।१।। कल्प०। जं०। प्रश्न०। अनु०। एगे कसाए अन्नरुचिस्तम्भनकृत्कषायः स्था०१ ठा०।तद्वति बल्लादौ, दश०५ अ०। तं०। मुद्गादौ, ज्ञा०१७ अ०। कृषन्ति विलिखन्ति कर्मक्षेत्रं सुखदुःखफलयोग्यं कुर्वन्तिकलुषयन्ति वा जीवमिति निरुक्त विधिना कषायाः। औणादिक आयप्रत्ययो निपातनाच्च ऋकारस्य अकारः। यदि वा कलुषयन्ति शुद्धस्वभावं सन्तं कर्म मलिनं कुर्वन्ति जीवमिति कषायाः पूर्ववत् आयप्रत्ययो निपातनाच्च कलुषशब्दस्य णिजन्तस्य कषायदेशः उक्तं च "सुहदुःखबहुसहियं, कम्मखेत्तं कसंति जं जम्हा। कलुसंति जं च जीवं, तेण कसाइत्ति वुच्चंति" प्रज्ञा०१३ पद।

कम्मं क सं भवो वा, कसमाओसिं जओ कसाया तो ।
कसमाययंति व जाओ, गमयत्ति कसं कसायत्ति ।।
आउच्च उवायाणं, तेण कसाया जओ कसस्साया ।
जीवपरिणामरूवा, जेण उ नामाइ नियमो यं ।।

कषशिषेत्यादि हिंसार्थो दण्डकधातुः कष्यन्ते बाध्यन्ते प्राणिनो ऽनेनेति कषं कर्म्म भवो वा तदायो लाभ एषां यतस्ततः कषायाः क्रोधादयः। अथवा यथोक्तं कषमायधातोर्ण्यन्तस्यापयन्ति गमयन्ति प्रापयन्ति यतस्ततः कषाया इति। अथवा आय उपादानहेतुः पूर्वोक्तस्य कषस्या उपादानं हेतवो यस्मात्ततः कषायाः विशे०। उत्त०। कष्यतेऽस्मिनप्राणी पुनः पुनरावृत्तिभावमनुभवति कषोपलकष्यमाणकनकवदिति। कषः संसारः तस्मिन्ना समन्तादयन्ते गच्छन्त्येभिरसुमन्त इतिकषायाःयद्वा कषाया इव कषाया यथाहि तुबरिकादिकषायकलुषिते वाससि, मञ्जिष्टादिरागः श्लिष्यति चिरं चावतिष्ठते तथैतत्कलुषिते आत्मनि कर्म्म संबध्यतेचिरं स्थितिकं च जायते तदायत्तत्वात्तत्स्थितेः। उक्तंहि शिवशर्म्मणा "जोगायपडिपएसं, ठितिअणुभागं कसायओ कुणईत्यादि" ॥३१॥ उत्त०४अ०कर्म०। आचा०। दर्श०। पं०चू००। ध०। पं०सं०। उत्त० वा०। मोहनीयकर्मपुद्गलोदयसम्पाद्य जीवपरिणामेषु क्रोधमानमाया-लोभेषु, स्था०१ ठा०। विशे०।

तेषां कसायाणां सामान्येन येन यस्मान्नामादिकोऽष्टविधत्वनियमो ऽयमन्यत्र प्रसिद्धस्तेनासौ उच्यत इति शेषः क इत्याह।

नामं ठवणा दविए, उप्पत्ती पच्चए य आएसे।
रसभावे कसाए वि य, परूवणा तेसि मा होइ॥

अत्र नामस्थापने क्षुण्णे द्रव्यकषायविचारोऽपि सुकरो नवरं ज्ञभव्यशरीर-व्यतिरिक्तद्रव्यकषायमाह –

दुविहो दव्वकसाओ, कम्मदव्वे य नो य कम्मम्मि।
कम्मद्दव्वकसाओ, चउव्विहो पोग्गलाणुइया॥

ज्ञभव्यशरीरव्यतिरिक्तो द्विविधो द्रव्यकषायः कर्म्मद्रव्यकषायो नोकर्म्मद्रव्यकषायश्च। तत्र कर्म्मद्रव्यकषायो जोग्गा बद्धा बद्धंतगाये त्यादिना प्रागुक्ताः। अनुदिताश्चतुर्विधपुद्गला ज्ञातव्याः। नोकर्म्मद्रव्य-कषायमुत्पत्तिकषायं चाह –

सज्ञकसायाईओ, नोकम्मदव्वउ कसाओ य।
खेत्ताइसमुप्पत्ती, जत्तोपभवो कसायाण॥

नोकर्म्मद्रव्यतोऽयं कषायः क इत्याह। सर्ज्जकषायादिकः सर्जा बिभीतकहरीतक्यादयो वनस्पतिविशेषा नोकर्म्मद्रव्यकषाया इत्यर्थः। क्षेत्रादिकं वस्तु (समुप्पत्तित्ति)उत्पत्तिकषायः किं सर्वं नेत्याह यतः क्षेत्रादेः कषायाणां प्रभवः। इदमुक्तं भवति। यतः क्षेत्रादिशब्दाद्व्यादेर्वा सकाशात्कषायोत्पत्तिर्भवति तत्क्षेत्रद्रव्यादिकं वस्तु कषायोत्पत्तिहेतुत्वा-दुत्पत्तिकषाय उच्यते। भवति च द्रव्यादेः सकाशात्कषायोत्पत्तिः उक्तं च "किं पत्तो कट्ठयरं, जं मूढो खाणुगम्मि अप्फडिओ। खणुस्स तस्स रूसइ, न अप्पणो दुप्पओगस्स" त्ति।

प्रत्ययकषायमाह–

होइ कसायाणंबंध–कारणं जं सपच्चयकसाउ।
सद्दाइउत्ति केई, न समु प्पत्तीए भिन्नो सो॥

कषायाणां यदन्तरङ्गमविरत्यास्रवादिकं बन्धकरणं सोऽन्तरङ्गकषाय-कारणरूपः प्रत्ययकषायो भवति। अन्ये तु केचिद्बहिरङ्ग एव शब्दरूपादिविषयग्रामः प्रत्ययकषायः इति व्याचक्षतेतच्चायुक्तं यत उत्पत्तिकषायान्नासौ भिद्यते द्रव्यादेरिव तस्मादपि बहिरङ्गात्मकषायोत्प-र्त्तिरिति।

आदेशकषायमाह–

आएसओ कसाओ, कइयवकयभिउमिभंगुरायारो।
केई चित्ताइगउ–द्दवणाणत्थं तसेसो य॥

योऽन्तरङ्गकषायमन्तरेणापि कुपितोऽयमित्यादिरूपेणादिश्यते स आदेशकषायः। स चेह कैतवकृतभृकुटिभङ्गुराकारो नटादिद्रष्टव्यः। केचित्तु तद्रूपधरश्चित्रादिगतो जीव आदेशकषाय इति व्याचक्षते तच्चायुक्तं स्थापनानर्थान्तरत्वात्तस्येति।

रसभावकषायावाह–

रसओ रसो कसाओ, कसायकम्मोदओ य भावम्मि।
सो कोहाइ चउद्धा, नामाइचउव्विहेक्केक्को॥

हरीतक्यादीनां यो रसः स रसतः कषायो रसकषायः। भावकषाय-स्तु मोहनीयकर्म्मोदयस्तज्जनितश्च कषायपरिणतः। स च क्रोधादि भेदाच्चतुर्द्धा। क्रोधादिरपि प्रत्येकं नामादिभेदाच्चतुर्विध इति।

अथ नामादिकषायाणां को नयः कमिच्छतीत्याह–

भावसद्दाइनया, अट्ठाविहमसुद्धनेममाईया।
नाएसुप्पत्तीओ, सेसा जं पच्चयविगप्पा॥

भावकषायमेव शुद्धत्वाच्छब्दतया इच्छन्ति नामादिकषायान् शेषास्तु ऋजुसूत्रवर्ज्जा नैगमादिनयाः शुद्धा अशुद्धाश्च। तत्रा विशुद्धास्तथा अष्टविधमपि नामादिकषायमिच्छन्ति ये तु विशुद्धास्तथा ऋजुसूत्रनयाश्चैतेऽसर्वेऽप्यादेशोत्पत्तिकषायौ नेच्छन्ति कुत इत्याह। (जं पच्चयविगप्पत्ति) यद्यस्मादेतौ द्वावपि प्रत्ययकषायविकल्पौ प्रत्ययकषायन्न भिद्यते तथा ह्युत्पत्तिकषायः कषायोऽयोपत्तौ प्रत्यय इत्युक्तमेव। तथा आदेशकषायोऽपि कैतवकृतोऽन्यकषायोत्पत्तौ प्रत्ययो भवत्येवेति न तस्मात्तौ भिन्नाविति।

अथ नामदिके द्रव्यक्रोधे ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं द्रव्यक्रोधमाह–

दुविहो दव्वक्कोहो, कम्मदव्वे य नोय कम्मम्मि।
कम्मद्दव्वे कोहे, तज्जोग्गा पोग्गलाणुइया॥
नो कम्मदव्वकोहो, नो उ चम्मारनीलिकोहाई।
जं कोहवेयणिज्जं, समुइण्णं भावकोहो सो॥

ज्ञभव्यशारीरव्यतिरिक्तो क्रोधो द्विधा कर्म्म द्रव्यक्रोधो नोकर्म्मद्रव्य-क्रोधश्च। तत्र योग्यादयोऽनुदिताश्चतुर्विधाः पुद्गलाः कर्म्मद्रव्यक्रोधः। नोकर्म्मद्रव्यक्रोधस्तु (कोहित्ति) प्राकृतशब्दमाश्रित्य चर्म्मकारः चर्म्मकीयो नीलक्रोधादिश्च ज्ञेयः। भावक्रोधमाह। यत्क्रोधवेदनीयं कर्म्म विपाकत : समुदीर्णमुदयमागतं तज्जनितश्च क्रोधपरिणामः स भावक्रोध इति। एवं मानादयोऽपि नामादिभेदाद्यथायोगं चतुर्विधा वाच्याः। अथवापृथगनन्तानुबन्धादिभेदात्सर्वेऽपि क्रोधादयश्चतुर्विधाः ज्ञेयाः इति दर्शयन्नाह –

माणदओ वि एवं, नामाई चउव्विहा जोग्गं।
नेयापिहप्पिया वा, सव्वे णंताणुवंधाई॥

गतार्था। तत्रानन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानावरणाप्रत्याख्यानावरण संज्वलनरूपाणां क्रोधादीनां पश्चानुपूर्व्या प्रत्येकं स्वरूपमाह –

जलरेणुभूमिपव्वय–राईसरिसो चउव्विहो कोहो।
तिणिसिलयाकट्ठट्ठिय, सेलत्थं भोवमो माणो॥

मायावलेहगोमु–त्तिमिंढसिंगघणवंसमूलसमा।
लोहो हरिद्दखंजण, कद्दमकिमिरागसा माणो ॥
पक्खचाउमासवच्छर, जावज्जीवाणुगामिणो कमसो।
देवनरतिरिनारय–गइसाहणदेयवो नेया ॥

एताः स्थानान्तरेष्वतिप्रतीतार्थत्वान्नेह व्याख्यायन्त इति। विशे०। आ०म०द्वि०। आ०चू०। उत्त०। आव०।श्रा०।

चत्तारि कसाया पण्णत्ता तंजहा कोहकसाए माणेसाए मायाकसाए लोभकसाए एवं नेरइयाणं जाव वेमणियाणं।

यथा सामान्यतश्चत्वारः कषायास्तथा विशेषतो नारकाणामसुराणां यावच्चतुर्विंशतितमे पदे वैमानिकानामिति। स्था०४ ठा०१उ०। भ०। आचा०। प्रज्ञा०।

आवर्त्तदृष्टान्तनैते भेदा–

चतारि आवत्ता पण्णत्ता तंजहा खरावत्ते उन्नयावत्ते गूढावत्ते आमिसावत्ते। एवामेव चत्तारि कसाया पण्णत्ता तंजहा खरावत्ते समाणे कोहे उन्नयाववत्तसमाणे माणे गूढावत्तसमाणा माया आमिसावत्तासमाणे लोभे। चारावत्तसमाणं कोहमणुप्पविट्ठे जीवे कालंकरेइ णेरइएसु उववज्जइ। उन्नयावत्तसमाणं तं चेव गूढावत्तसमाणं मानमेवं चेव आमिसावत्तसमाणं लोभमणुप्पविट्ठे जीवे कालं करेइ णेरइएसु उववज्जइ।

सुगमं चैतन्नवरं खरो निष्ठुरोऽतिवेगितया पातकश्छेदको वा आवर्त्तमावर्त्तः स च समुद्रादेश्चक्रविशेषाणां चेति खरावर्त्त उन्नत उच्छ्रितः सचासावावर्त्तश्चेति उन्नतावर्त्तः स च पर्वतशिखारारोहणमार्गस्य वातोत्कलिकाया वा। गूढश्चासावावर्त्तश्चेति गूढावर्त्तः स च गेन्दुकदवरकस्य दारुग्रन्थादेर्वा। आमिषं मांसादि तदर्थमावर्त्तः शकुनिकादीनामामिषावर्त्त इति। एतत्समानता च क्रोधादीनां क्रमेण परोपकारकरणदारुणत्वात् पत्रतृणादिवस्तुन मनस उन्नतत्वारोपणात् अत्यन्तदुर्लक्ष्यस्वरूपत्वात् अनर्थशतसंपातसंकुलेऽप्यवतनकारणत्वाच्चेति। इयं चौपमा प्रकर्षवतां कोपादीनामिति तत्फलमाह (खरावत्तेत्यादि) अशुभपरिणामस्याशुभकर्मबन्धनिमित्ततया दुर्गतिनिमित्तत्वादुच्यते (णेरइएसु उववज्जइत्ति) स्था०४ ठा०४उ०।

कषायस्वरूपं दर्शयितुकामः क्रोधस्योत्तरत्रोपदर्शयिष्यमाणत्वा–न्मायादिकषायत्रयप्रकरणमाह–

चत्तारि केअणा पण्णत्ता तंजहा बंसीमूलकेअणए मेढविसाणकेअणए गोमुत्तिकेअणए अविलेहाणियाकेअणए एवामेव चउव्विहा माया पण्णत्ता तंजहा बंसीमूलकेअणसमाणजाव अवलेहणियाकेअणसमाणा। बंसीमूलकेअणसमाणं मायं अणुप्पविट्ठे जीवे कालं करेइ णेरइएसु उववज्जइ मेढविसाणकेअणसमाणं मायामणुप्पविट्ठे जीवे कालं करेइ तिरिक्खजोणिएसु उवज्जइ। गोमुत्तिअं जावकालं करेइ मणुस्सेसु इववज्जइ अवलेहणिया जाव देवेसु उववज्जइ।

प्रगटं किन्तु केतनं सामान्येन वक्रं वस्तु पुष्करण्डस्य वा सम्बन्धि मुष्टिग्रहणस्थानं वेशादिदलकं तच्च वक्रं भवति केवलमिह सामान्येन वक्रं वस्तु केतनं गृह्यते तत्र वंशीमूलं च तत्केतनं च वंशीमूलकेतनमेवं सर्वत्र नवरं मेऽविषाणं मेषशृङ्गं गोमूत्रिका प्रतीता (अवलेहणियत्ति) अवलिख्यमाणस्य वंशशलाकादेर्वा प्रतन्वी त्वक् साऽवलेखनिकेति। वंशीमूलकेतनकादिसमता तु मायास्तद्वतामनार्जवभेदात्तथाहि यथा वंशीमूलमतिगुपिलवक्रमेवं कस्यचिन्मायाऽपीत्येवमल्पाल्पतरालपतमानार्जवत्वेनान्यापि भावनीयेति। इयञ्चानन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानावरणसंज्वलनरूपा क्रमेण ज्ञेया, प्रत्येकमित्यन्ये। तेनैवानन्तानुबन्धिन्या उदयेऽपिदेवत्वादि न विरुध्यते एवं मानादयोऽपि। वाचनान्तरे तु पूर्वं क्रोधमानसुत्राणि ततो मायासूत्राणि। तत्र क्रोधसूत्राणि "चत्तारि राईओ पन्नत्ताओ तंजहा पव्वयराई पुढविराई रेणुराई जलराई एवामेव चउव्विहे कोहे" इत्यादि। मायासूत्राणि "चाधीतानिफलसूत्रे अनुपविष्टस्तदुदयवर्त्तीति, स्था०४ ठा०२ उ०।

चत्तारि थंभा पण्णत्ता तंजहा सेलथंभे अट्ठिथंभे दारुथंभे तिणिसलयाथंभे। एवामेव चउव्विहे माणे पणत्ते तंजहा सेलथंभसमाणे जाव तिणिसलयाथंभसमाणे। सेलथंभसमाणं माणं अणुप्पविट्ठे जीवे काले करेइ णेरएसु उववज्जइ एवं जाव तिणिसलयाथंभसमाणं माणं अणुप्पविट्ठे जीवे कालं करेइ देवेसु उववज्जइ।

शिलाविकारः शैलः स चासौ स्तम्भश्च स्थाणुः शैलस्तम्भ एव मन्येऽपि नवरमत्थि दारु च प्रतीतं तिनिशो वृक्षविशेषस्तस्य लता कम्बा तिनिशलता सा चात्यन्तमृद्वीति मानस्यापि शैलस्तम्भादि समानता तद्वतां नमनाभवविशेषाज्जेयेति। मानोऽप्यनन्तानुबन्ध्यादिरूपः क्रमेण दृश्यः। तत्फलसूत्रं व्यक्तम्।

चत्तारि वत्था पण्णत्ता तंजहा किमिरागरत्ते कद्दमरागरत्ते खंजणरागरत्ते हलिद्दरागरत्ते। एवामेव चउव्विहे लोभे पण्णत्ते तंजहा किमिराणरत्तवत्थसमाणे कद्दमरागरत्तवत्थसमाणे खंजणरागरत्तवत्थसमाणे इलिद्दरागरत्तेवत्थसमाणे। किमिरागरत्तवत्थसमाणं लोभमणुप्पविट्ठे जीवे कालं करेइ नेरइएसु उववज्जइ। तहेव जाव हलिद्दरागरत्तवत्थसमाणं लोभमणुप्पविट्ठे जीवे कालं करेइ देवेसु उववज्जइ।

कृमिरागे वृद्धसंप्रदायोऽयं मनुष्यादीनां रुधिरं गृहीत्वा केनापि योगेन युक्तं भाजने स्थाप्यते ततस्तत्र कृमय उत्पद्यन्ते ते च वाताभिलाषिणश्छिद्रनिर्गता आसन्ना भ्रमन्तो नीहारलाला मुञ्चन्ति ततः कृमिसूत्रं भण्यते तच्च स्वपरिणामरागरञ्जितमेव भवति। अन्ये भणन्ति ये रुधिरकृमय उत्पद्यन्तान् तत्रैव मृदित्वा कचवरमृत्तार्यन्ते तद्रसे किञ्चित् योगं प्रक्षिप्य पट्टसूत्रं रञ्जयन्ति स च सः कृमिरागो भण्यते। अनुत्तारीति तत्र कृमीणां रागो रञ्जकरसः कृमिरागस्तेन रक्तं *कृमिरागरक्तमेवं सर्वत्र नवरं कर्दमो गोवाटादीनां खञ्जनं दीपादीनां* हरिद्रा प्रतीतैवेति। कृमिरागादिरक्तवस्तुसमानता च लोभस्यानन्तानुबन्ध्यादि तद्वदवतां जीवानां क्रमेण दृढहीनहीनतरहीनतमानुबन्धित्वात्। तथाहि कृमिरागरक्तं वस्त्रं दग्धमपि न रागानुबन्धं *मुञ्चति तद्वस्मनोऽपि रक्तत्वादेवं यो मृतोऽपि लोभानुबन्धं*

न मुञ्चति तस्याभिधीयते लोभः कृमिरागरक्तवस्त्रसमानो–ऽनन्तानुबन्धी चेति एवं सर्वत्र भावना कार्येति। फलसूत्रं स्पष्टम् स्था० ठा०२ उ०। (इह कषायप्ररूपणागाथाः अनुपदमेवोक्ताः।

चतुःप्रतिष्ठिताः क्रोधादयः –

कति पतिट्ठिए णं भंते ! कोहे पन्नत्ते ? गोयमा ! चउपइट्ठिए कोहे पण्णत्ते तंजहा आयपपतिट्ठिए परपइट्ठिए तदुभयपइट्ठिए अप्पइट्ठिए। एवं नेरअयाणं जीव वेमाणियाणं दंडओ, एवं माणेणं दंडओ, मायाए दंडओ लोभेणं दंडओ।

कतिषु कियत्प्रकारेषु स्थानेषु प्रतिष्ठितो भदन्त ! क्रोधः भगवानाह। चतुःप्रतिष्ठितस्तत्तद्यथा आत्मप्रतिष्ठित इत्यादि। आत्मन्येव प्रतिष्ठितः आत्मप्रतिष्ठितः। किमुक्तं भवति स्वयमाचरितस्य ऐहिकं प्रत्यपायमवबुध्य यदा किञ्चिदात्मन एवोपरिक्रुध्यति तदा आत्मप्रतिष्ठितः क्रोधः प्रतिष्ठितः इति। यदा पर उदीरयति आक्रोशादीनां कोपं तदा किल तद्विषयः क्रोधः उपजायते इति स परप्रतिष्ठित इति। नैगमनयदर्शनमेतत्। नैगमनयो हि तद्विषयमात्रेणापि तत्प्रतिष्ठितं मन्यते यथा जीवः सम्यग्दर्शनम–जीवसम्यग्दर्शनमित्यादयोऽष्टौ भङ्गाः सम्यग्दर्शनस्याधिकरणचिन्तायामावश्यके तदुभयप्रतिष्ठित आत्मपररूपोभय प्रतिष्ठितः यदा कश्चित्तथाविधापराधवशादात्मपरविषयक्रोधमाधत्ते इति। अप्रतिष्ठितो नाम यदेषः स्वयं दुश्चरणमाक्रोशादिकं च कारणं विना निरालम्बन एव केवल क्रोधवेदनीयादुपजायते स हि नात्मप्रतिष्ठितःस्वयं दुश्चरणाभावतश्चात्मविषयत्वाभावात्। नापि परप्रतिष्ठितः परस्यापि निरपराधतया अपराधसम्भावनाया अभावतः क्रोधालम्बनत्वायोगात्। दृश्यते च कस्यापि कदाचिदेवमेव केवलं क्रोधवेदनीयोदयादुपजायमानः क्रोधस्तथा च स पश्चात् ब्रूते अहो मे निष्कारणकोपो नैषधिकरूपं भाषते न च किञ्चिद्विनाशयतीति। अत एवोक्तं पूर्वमहर्षिभिः सापेक्षाणि निरपेक्षाणि च कर्माणि फलविपाकेषु सोपक्रमं निरुपक्रमं च दृष्टं यथायुष्कमिति। एवं मानमायालोभा अपि आत्मपरोभयप्रतिष्ठिताश्च भावनीयाः। तदेवमधिकरणभेदेन भेद उक्त।

संप्रति कारणभेदतो भेदमाह–

कहिणं भंते ! ठाणेहिं कोहुप्पत्ती भवति ? गोयमा ! चउहिं ठाणेहिं कोहुप्पत्ती हवइ। तंजहा खित्तं पडुच्च वत्थुं पमुच्च सरीरं पमुच्च,उवहिं पडुच्च। एवं नेरइयाणं जाव वेमाणियाणं एवं माणेण वि मायाए वि लोभेण वि। एवं एते वि चत्तारि दंभगा। कतिविहेणं भंते ! कोहे पण्णत्ते ? गोयमा ? चउव्विहे कोहे पण्णत्ते, तंजहा अणंताणुबंधी कोहे अप्पच्चक्खणावरणे कोहे पच्चक्खाणावरणे कोहे संजलणे कोहे एवं नेरइयाणं जाव वेमणियाणं एवं माणेणं मायाउं लोभेण एए वि चत्तारि दंडया।

तिष्ठत्येभिरिति स्थानानि करणानि कतिभिः कियत्संख्याकैः स्थानैः कारणैः क्रोधोत्पत्तिर्भवति ? भगवानाह चतुर्भिः स्थानैः तान्येव स्थानान्याह। (खेत्तं पडुच्च इत्यादि) तत्र नैरयिकाणां नैरयिकक्षेत्रं प्रतीत्य तिरश्चां तिर्यक्क्षेत्रं मनुष्याणां मनुष्यक्षेत्रं देवानां देवक्षेत्रं (वत्थुं पमुच्चेति) वस्तुं सचेतनमचेतनं वा शरीरं प्रतीत्य दुःसंस्थितं विरूपं वा उपधिं प्रतीत्यति यद्यस्योपकरणं तस्य तच्चौरादिना अपह्रियमाणमन्यथा वा प्रतीत्य एवं नैरयिकादिदण्डकसूत्रमपि, प्रज्ञा०१४ पद। अनन्तं भवमनुबध्नाति अविच्छिन्नं करोतीत्येवं शीलोऽनन्तानुबन्धी अनन्तो वाऽनुबन्धो यस्येत्यनन्तानुबन्धी सम्यग्दर्शनसहभाविक्षमादिस्वरूपोपश-मादिचरणलवबिबन्धी चारित्रमोहनीयत्वात्तस्य न चोपशमादिभिरेव चारित्री अल्पत्वात् यथा अमनस्को न संज्ञी किंतु महता मूलगुणादिरूपेण चारित्रेण चारित्री मनः संज्ञया संज्ञिवदत एव त्रिविधं दर्शनमोहनीयं पञ्चविंशतिविधं चारित्रमोहनीयमिति। ननु "पढमिल्लयाण उदये नियमे" इत्यादि विरुध्यते चारित्रावारकस्य सम्यक्त्वावारकत्वानुपपत्तेरतएव सप्तविधं दर्शनमोहनीयमेकविंशतिविधं चारित्रमोहनीयमिति मतं संगतमाभातीत्यत्रोच्यते। पढमिल्लयाणेत्यादि यदुक्तं तदनन्तानुबन्धिनां न सम्यक्त्वावारकतया किंतु सम्यक्त्वसहभाव्युपशमाद्यावारकतया अन्यथाऽनन्तानुबन्धिभिरेव सम्यक्त्वस्यावृतत्वात् किमपरेण मिथ्यात्वेन प्रयोजनमावृतस्याप्यावरणेऽनवस्थाप्रसङ्गात्तस्माद्यथा "केवलियणाणलंभो, जन्नत्थखए कसायाणं ति" इह कषायाणां केवलज्ञानस्यानावारकत्वेऽपि कषायक्षयः केवलज्ञानकारणतयोक्तस्तस्मिन्नेव तस्य भावादेवमनन्यतानुबन्धिक्षयोपशम एव सम्यक्त्वलाभ उच्यते तस्मिन् सति तस्य भावाद्यतोऽनन्तानुबन्धिषूदितेषु मिथ्यात्वक्षयोपशममुपयाति तदभावाच्च न सम्यक्त्वमिति। यच्च सप्तविधं सम्यग्दर्शनमोहनीय मिति मतान्तरं तत्सम्यक्त्वसहचरितत्वेनोपशमादिगुणानां सम्यक्त्वोपचारादिति मन्यमहे इत्यादि। न विद्यते प्रत्याख्यानमणुव्रतादिरूपं यस्मिन् सोऽप्रत्याख्यानो देशविरत्यावारकः। प्रत्याख्यानमामर्वादया सर्वविरतिरूपमेवेत्यर्थः। वृणोतीति प्रत्याख्यानावरणः। संज्वलयति दीपयति सर्वसावद्यविरतिमपीन्द्रियार्थसम्पाते वा संज्वलति दीप्यत इति संज्वलनः। यथा ख्यातचारित्रावारकः एवं मानमायालोभेष्वप्यनन्तानुबन्ध्यादिभेदचतुष्टयमध्येतव्यमिति। एषां निरुक्तिः पूज्यैरियमुक्ता "अनन्तान्यनुबध्नन्ति, यतो जन्मनि भूतये। अतोऽनन्तानुबन्धाख्या, क्रोधाद्येषु प्रदर्शिता॥१॥ नाल्पमप्युत्सहते दोषां प्रत्याख्यानमिहोदयात्। अप्रत्याख्यानसंज्ञातो, द्वितीयेषु निवेशिता॥२॥ सर्वसावद्यविरतिः, प्रत्याख्यानमुदाहृतम्। तदावरणसंज्ञातस्तृतीयेषु विवेशिता॥३॥ शब्दादीन् विषयान्: प्रप्यं, संज्वलन्ति यतो मुहुः। अतः संज्वलनाह्वानं चतुर्थानामिहोच्यते" ॥४॥ स्था०४ ठा०१ उ०।

संप्रत्येषामेव विशेषतः किंचित्स्वरूपं प्रतिपिपादयिषुराह –

जा जीव वरिसचउमास, पक्खगानरयतिरियनरअमरा।
सम्माणुसव्वविरई, अहखायचरित्तघायकारा॥१८॥

"यावत्तावज्जीवितावर्त्तमानावट प्रावारकदेवकुलैवमेवेवः" ।८।२।२७१। इति प्राकृतसूत्रेण वकारलोपे च जावज्जीवं च वर्षं चचतुर्मासं च पक्षश्च यावज्जीववर्षचतुर्मासपक्षास्तान् गच्छन्ती ति यावज्जीववर्षचतुर्मासपक्षगाः "नाम्नो गमेः खमौ विहायसस्तु विह" इति ड प्रत्ययः। इदमुक्तं भवति। यावज्जीवानुगानन्तानुबन्धिनः वर्षगा अप्रत्याख्यानावरणचतुर्मासगाः प्रत्याख्यानावरणपक्षगाः संज्वलनः। इदं च "परुसवयणेण दिणतव अहिक्खिवंतो य हणइ

मासतव" मित्यादिवद्व्यवहारनयमाश्रित्योच्यते अन्यथा हि बाहुबलिप्रभृतीनां पक्षादिपरतोऽपि संज्वलनाद्यवस्थितिः श्रूयते अन्येषां च संयतादीनां मासवर्षादिकाले प्रत्याख्यावरणानाम्–प्रत्याख्यानावरणानामनन्तानुबन्धिनां चान्तर्मुहूर्त्तादिकं कालमुदयः श्रूयते इति । तथा नरकगतिकारणत्वानन्तानुबन्धिनः कषाया अपि नरका भवन्ति च कारणे कार्योपचाराद्यथा आयुर्घृतं नड्वलोदकं पादरोग इति । एवं तिर्यग्गतिकारणत्वात्तिर्यञ्चोऽप्रत्याख्यानावरणाः नरगति कारणत्वान्नराः प्रत्याख्यानावरणाः । अमरगतिकारणात्वादमराः संज्वलनाः । एतदुक्तं भवति। अनन्तानुबन्ध्युदये मृतो नरकगतावेवगच्छति अप्रत्याख्यानावरणोदये मृतस्तिर्यक्षु प्रत्याख्यानावरणोदये मृतो मनुष्येषु संज्वलनोदये पुनर्मृतोऽमरेष्वेव गच्छति । उक्तश्चायमर्थः पञ्चानुपूर्व्या अन्यापि "पक्खचउमा–सवत्सरजावज्जीवाणुनामिणो भणिया। देवनरतिरिनारय, गइसाहणहेयवो नेया" इदमपि व्यवहारनयमधिकृत्योच्यते अन्यथा हि अनन्तानुबन्ध्युदयवतामपि मिथ्यादृशां केषांचिदुपरितनग्रैवेयकेषूत्पत्तिः श्रूयते अप्रत्याख्यानावरणोदयवतामविरतसम्यग्दृशां तिर्यग्मनुष्याणां चासुरेषूत्पत्तिः प्रत्याख्यानावरणोदयवतां च देशविरतानां देवगतिः अप्रत्याख्यानावरणोदयवतां च सम्यग्दृष्टिदेवानां मनुष्यगतिः । तथा (समंति) सम्यक्त्वं च (अणुसव्वविरइत्ति) विरतिशब्दस्य प्रत्येकं संबन्धात् अणुविरतिश्च देशविरतिः सर्वविरतिश्च। यथाख्यातचारित्रं च "सम्माणु" सर्वविरतिर्यथाख्यातचारित्राणि तेषां घातो विनाशः "सम्माणु" सर्वविरति यथाख्यातचारित्रघातस्तं कुर्वन्तीत्येवंशीलाः संमाणुसर्वविरति यथाख्यातचारित्रघातकराः। एतदुक्तं भवति। अनन्तानुबन्धिनः कषायाः सम्यक्त्वघातकरा यदाहुः श्रीभद्रबाहुस्वामिपादाः "पढमिल्लुयाण उदए, नियमा संजोयणा कसायाणं। संमद्दंसणलंभं, भवसिद्धीया वि न लहंति" अप्रत्याख्यानावरणा देशविरतिघातकराः न सम्यक्त्वस्येत्यर्थाल्लब्धम्। यदाहुः पूज्यपादाः "बीयकसायाणुदए, अप्पच्चक्खाणनामधिज्जाणं । सम्माद्दंसणलंभं, विरियाविरियं न य लहंति" प्रत्याख्यानावरणास्तु सर्वविरतेर्घातकाः सामर्थ्यान्न देशविरतेः उक्तंच "तइयकसायाणुदए, पच्चक्खाणावरणनामधिज्जाणं । देसिक्कदेसविरयं, चरित्तलंभं न उ लहंति" संज्वलनाः पुनर्यथाख्यातचारित्रस्य घातका न सामान्यतः सर्वविरतेः उक्तं च श्रीगदाराध्यपादैः "मूलगुणाणं लंभं, नम लहइ मूलगुण घाइणं उदए । संजलणाणं उदए, न लहइ चरणं अहक्खायमि " ति।

अथ जलरेखादिदृष्टान्तेन किंचित्सविशेषक्रोधादि कषायाणां स्वरूपं व्याचिख्यासुराह–

जलरेणुपुढविपव्वय–राई सरिसो चउव्विहो कोहो।
तिणिसलयाकट्ठऽट्ठिअ, सेलत्थंभोवमो माणो ॥१६॥

इह राजिशब्दः सदृशशब्दश्च प्रत्येकं संबन्ध्यते ततो ब्जलराजिसदृशस्तावत्संज्वलनः क्रोधः यथा यष्ट्यादिभिर्जलमध्ये राजीरेखा क्रियमाणा शीघ्रमेव निवर्तते तथा यः कथमप्युदयप्राप्तोऽपि सत्वरमेव व्यावर्त्तते स संज्वलनः क्रोधोऽभिधीयते । रेणुराजिसदृशः प्रत्याख्यानावरणक्रोधः अयं हि संज्वलनक्रोधापेक्षया तीव्रत्वाद्रेणुमध्यविहितरेखावच्चिरेण निवर्तत इति भावः । पृथिवीराजिसदृशस्त्वप्रत्याख्यानावरणः *यथास्फुटितपृथिविसंबन्धिनी राजी कचवरादिभिः पूरिता कष्टेनापनीयते* एवमेषोऽपि प्रत्याख्यानावरणापेक्षया कष्टेन विनिवर्तत इति भावः । विदलितपर्वतराजिसदृशः पुनरनन्नतानुबंधी क्रोधः कथमपि निवर्त्तयितुमशक्य इत्यर्थः । उक्तश्चतुर्विधः क्रोधः । इदानीं मानोऽभिधीयते तत्र तिनिसलतोपमः संज्वलनो मानः यथा तिनिसो वनस्पति विशेषस्तत्संबन्धिनी लता सुखेनैव नमत्येवं यस्य मानस्योदये जीवः स्वाग्रहं मुक्त्वा सुखेनैव नमति स संज्वलनमानः । यथा स्तब्धं किमपि काष्ठमग्निस्वेदादिबहूपायैः कष्टेन नमत्येवं यस्य मानस्योदये जीवोऽपि कष्टेन नमति स काष्ठोपमः प्रत्याख्यानोवरणो मानः यथाऽस्थि हड्डं बहुतरैरुपायैरतितरां महता कष्टेन नमत्येवं यस्य मानस्योदये जीवोऽप्यतितरां महता कष्टेन नमति सोऽस्थ्युपमोऽप्रत्याख्यानावरणो मानः। शिलायां घटितः शैलः शैलश्चासौ स्तम्भश्च शैलस्तम्भस्तदुपस्त्वनन्तानुबन्धी मानः कथमप्यनमनीय इत्यर्थः। उक्तश्चतुर्विधो मानः ।

अथ मायालोभौ व्याख्यानयन्नाह–

मायावलेहिगोमुत्ति, मिंढसिंगघणवंसमूलसमा।
लोहोहलद्दाखंजण–कद्दमकिमिराग सारित्थे (सामाणो) ॥२०॥

मायाऽवलेखिकासमा संज्वलनी धनुरादीनामुल्लिख्यमानानां याऽवलेखिका वक्रत्वरूपा पतति यथासौ कोमलत्वात् सुखेनैव प्राञ्जलीक्रियते एवं यस्या उदये समुत्पन्नापि ह्युदयकुटिलता सुखेनैव निवर्तते सा संज्वलनी माया गौर्वलीवर्द्दस्तस्य मार्गे गच्छतो वक्रतया पलिता सूत्रधारा गोमूत्रिकाऽभिधीयते यथाऽसौ शुष्का पवनादिभिः कमपि कष्टेनापनीयते एवं यज्जनिता कुटिलता कष्टेनापगच्छति सा गोमुत्रिकासमा प्रत्याख्यानावरणी माया ।१। एवं मेषशृङ्गसमायामप्यप्रत्याख्यानावरणमायायां भावना कार्या नवरमेषा कष्टतरनिवर्त्तनीया। घनवंशीमूलसमा त्वनन्तानुबन्धिनी माया यथा निविमवंशीमूलस्य कुटिलता केवलवह्निनापि न दह्यते एवं यज्जनिता मनः कुटिलता कथमपि न निवर्त्तते सानन्तानुबन्धिनी मायेत्यर्थः। तथा लोभे हरिद्रारागसमानः संज्ववलनः यथा वाससि हरिद्रारागः सूर्यातपस्पर्शादिमात्रादेव निवर्तते तथाऽयमपीत्यर्थः। कष्टनिवर्तनीयो वस्त्रविलग्नप्रदी पादिखञ्जन समानः प्रत्याख्यानावरणलोभः । कष्टतरापनेयो वस्त्रविलग्ननिविडकर्दमसमानोऽप्रत्याख्यानावरणलोभः । कृमिरागरक्ततपदसूत्ररागसमानः कथमप्यपनेतुमशक्योऽनन्तानुबन्धी लोभ इति। कर्म०१ क०। आचा० आतु०। पं०सं०। स्था०। विशे०।

सम्प्रति एतेषामेव क्रोधादीनां निवृत्तिभेदतोऽवस्थभेदतश्च भेदमाह –

कतिविहे णं भंते ! कोहे पण्णत्ते ? गोयमा ! चउव्विहे कोहे पण्णत्ते तंजहा आभोगणिव्वत्तिए अणाभोगनिव्वत्तिएउवसंते अनुवसंते । एवं नेरइयाणं जाव वेमाणियाणं । एवं माणेण वि मायाए वि लोभे ण वि चत्तारि दंमगा।

यदा परस्यापराधं सम्यगवबुध्य कोपकारणं च व्यवहारतः पुष्टमवलम्ब्य नान्यथास्य शिक्षोपजायते इत्याभोग्यकोपं च विधत्ते तदा स कोप आभोगनिर्वर्त्तितः । यदा त्वेनमेवं तथाविधमुहूर्त्तवशाद्गुणदोषविचारणाशून्यः परवशीभूय कोपं कुरुते तदा स कोपो नाभोगनिर्वर्त्तितः उपशान्तोऽनुदयावस्थः अनुपशान्त उदयावस्थः । एवमेतद्विषयं दण्डकसूत्रमपि भावनीयम् एवं मानमायालोभाः

प्रत्येकं चतुःप्रकाराः सामान्यतो दण्डकक्रमेण च वेदितव्याः।

सम्प्रति फलभेदेन कालत्रयवर्त्तिनां भेदमभिधातुकाम आह–

जीवाणं भंते ! कतिहिं ठाणेहिं अट्ठ कम्मपगडीओ चिणिंसु ? गोयमा ! चउहिं ठाणेहिं अट्ठ कम्मपगडीओ चिणिंसु तंजहा कोहेणं जाव लोभेणं एवं नेरइयाणं जाव वेमाणियाणं। जीवेणं भंते ! कतिहिं ठाणेहिं अट्ठ कम्मपयडीओ चिणंति ? गोयमा ! चउहिं ठाणेहिं तंजहा कोहणं जाव लोभेणं एवं नेइया जाव वेमाणिया जीवेणं भंते ? कतिहिं ठाणेहिं अट्ठ कम्मगडीओ चिणिस्संति ? गोयमा ! चउहिं ठाणेहिं अट्ठकम्मपगयडीओ चिणिस्संति तंजहा कोहणं जाव लोभेणं। एवं नेरइया जाव वेमाणिया। जीवाणं भंते ? कतिहिं ठाणेहिं अट्ठ कम्मपगडीओ उवचिणिंसु ? गोयमा ! चउहिं ठाणेहिं अट्ठ कम्मपगडीओ उवचिणिसुं तंजहा कोहेणं जाव लोभेणं। एवं नेरइया जाव वेमाणिया।जीवाणं पुच्छा ? गोयमा ! चउहिं ठाणेहिं वचिणंति कोहेणं जाव लोभेणं एवं नेरइया जाव वेमाणिया एवं उवचिणिस्संति। जीवाणं भंते ! कतिहिं ठाणेहिं अट्ठकम्मपगडीओ बंधिसु ? गोयमा ! चउहिं ठाणेहिं अट्ठकम्मपगडीओ बधिसुं तंजहा कोहणं जाव लोभेणं एवं नेरइया जाव वेमाणिया बेधिंसु बंधंति बंधिस्संति उदीरैंसं उदीरंति उदीरिस्संति वेदिंसु वेदंति वेदिस्संति निज्जरैंसु निज्जरंति निज्जरिस्संति। एवं एते जीवादीया वेमाणिया पज्जवसाणा अट्ठारस दंडगा जाव वेमाणिया निज्जरैंसु निज्जरंति निज्जरिस्संति "आतपतिट्ठिति खेत्तं, पडुच्च अणंताणुबंधिआभोगे। चिणउबचिणबंधउदीरण वेद तह णिज्जरा चेव ॥

जीवा भदन्त ! कतिभिः स्थानैरष्टौ कर्मप्रकृतीश्चितवन्तः चयनं नाम कषायपरिणतस्य कर्मपुद्गलोपादानमात्रं भगवानाहः। गौतम ! चतुर्भिः स्थानैस्तद्यथा क्रोधेन मानेन मायया लोभेन। एवं नैरयिकादिदण्डकोऽपि वक्तव्य एष दण्डकोऽतीतकालविषयः एवं वर्त्तमानकालभविष्यकालविषयावपि वाच्यौ, एवमुदयबन्धोदीरणवेदननिर्जराविषया अपि प्रत्येकं त्रयस्त्रयो दण्डका वाच्या इति सर्वसंख्ययाष्टदश दण्डकास्तत्रोपचयो नाम स्वस्वाबाधाकालस्योपरिज्ञानावरणीयादीकर्मपुद्गलानां वेदनार्थं निषेकः। सचैवं प्रथमस्थितौ सर्वमभूतं द्वितीयस्यां स्थितौ विशेषहीनं, ततोऽपि तृतीयस्यां विशेषहीनम् एवं विशेहीनं विशेषाहीनं तावद्वाच्यं यावत्तत्कालबध्यमानायाः स्थितेश्चरमास्थितिरेतच्च सविस्तारं कर्मप्रकृतिटीकायां पञ्चसंग्रहटीकायां चाभिहितमिति ततोऽवधार्यम्। बन्धनं नाम ज्ञानावरणीयादिकर्मपुद्गलानां यथोक्तप्रकारेण स्वस्वाबाधाकालोत्तरकाले निषक्तानां यद्भूयकषायपरिणतिविज्ञेषान्निकाचनमुदीरणामुदीरणाकरणवसतः कर्मपुद्गलानामनुदयप्राप्तानामुदयावलिकानां प्रवेशनं तदपि हि किञ्चित्तथाविधकषायपरिणतिवशाद्भवतीति "चउहिं ठाणेहिं उदीरहिंसु उदीरंति उदीरिस्संती" त्युक्तम्। अन्यथा कषायव्यतिरकेणापि क्षीणमोहोदये ज्ञानावरणादीनामुदीरिका वर्त्तन्ते इति वेदना स्वस्वाबाधाकालक्षयादुदयप्राप्तस्य उदीरणाकरणेन वा उदयमुपनीतस्य कर्मण उपभोगः निर्जराः कर्मपुद्गलानामभूयानुभूय कर्मत्वापादानमात्मप्रदेशैः संश्लिष्टानां ज्ञानावरणीयादिकर्मपुद्गलानामनुभूयानुभूय शातनमिति भावः। उक्तञ्च "पुव्वकयकम्मसामण निज्जरा इति" इयञ्च देशनिर्जरा द्रष्टव्या कषायजनितत्वान्न सर्वनिर्जरा। सा हि निष्कषायस्य सर्वनिरुद्धयोगस्य मोक्षप्रासादमधिरोहतो भवति न शेषस्यात एव चतुर्विंशतिदण्डकसूत्रमप्यविरुद्धं देशनिर्जरायाः सर्वकालं सर्वेषामपि भावात्। सम्प्रति यत्पदमधिकृत्य प्राक् सूत्राण्युक्तानि तानि विनेयजनानुग्रहाय सङ्ग्रहणिगाथया निर्दिशति। "आयपइट्ठिए" इत्यादिप्रथमं सामान्यसूत्रे सुप्रतीतमिति न संगृहीतं द्वितीयमात्मप्रतिष्ठितपदोपलक्षितं सूत्रं ततोऽनन्तानुबन्धिपदोपलक्षितं तदनन्तरमोगपदोपलक्षितं ततश्चयोपचयबन्धोदीरणवेदनानिर्जराविषयाणि क्रमेण सूत्राणि। अत्र **चिणेति** उपचयसूत्रोपलक्षणम्। प्रज्ञा०१४ पद०। स्था०। जी०। "मूलं संसारस्स य, होंति कसाया अणं तपत्तस्स। विणओ ठाणपउत्तो, दुक्खविमुक्खस्स मोक्खस्स" दश०४ अ०। "कसायवुड्ढिं करेज्जा गच्छवज्झो" प्रायः। महा०७ अ०। "कोहं माणं मायं, लोहं च महज्जयाणि चत्तारि। जो रुंभइ सुद्धत्था, एसो नोइंदिअपणिही॥ जस्स वि य दुप्पणिहिया, होंति कसाया तवं चरंतस्स। सो बालतवस्सो विव,गयण्हाण परिस्समं कुणइ॥ सामन्नमणुचरंतस्स, कसाया जस्स उक्कडा होंति। मन्नामि उच्छफुल्लं, व णिप्फुल्लं तस्स सामण्णं॥ दशा०८ अ०।(पणिहिशब्दे व्याख्यास्यन्ते)" अकसायं तु चरित्तं, कसायसयितो न संजओ होइ "(इति अहिगरणशब्दे उपपादितम्)।

कार्हं माणं च मायं च, लोभं च पावबड्ढणं।
वमे चत्तारि दोसाइं, इच्छंतो हियमप्पणो ॥३७॥

क्रोधं मानं च मायां च लोभं च पापवर्द्धनं सर्व एते पापहे तव इति पापवर्द्धनव्यपदेशः। यतश्चैवमतो वमेच्चतुरो दोषानेतानेव क्रोधादीन् हितमिच्छन्नात्मनः एतद्वमने हि सर्व सदिति सूत्रार्थः।

अवमने त्विह लोके एवापायमाह–

कोहो पीइं पणासेइ, माणो विणयनासणो।
मायामित्ताणि नासेइ, लोभो सव्वविणासणो ॥३८॥

क्रोधः प्रीतिं प्रणाशयति क्रोधान्धवचनतस्मदुच्छेददर्शनात् मानो विनतयनाशनः अवलेपेन मूर्खतया तदकरणोपलब्धेर्मायामित्राणि नाशयति कौटिल्यवतस्तत्त्यागदर्शनात्। लोभः सर्वविनाशानः तत्वतस्त्रयाणामपि तद्भावभावित्वादिति सूत्रार्थः। यत एवमतः।

उवसमेण हणे कोहं, माणं मद्दवया जिणे।
मायं चज्जवभावेणं, लोभं संतोसओ जिणे ॥३९॥

उपशमेन क्षान्तिरूपेण हन्यात् क्रोधमुदयनिरोधोदयप्राप्ताफलीकरणेन एवं मानं मार्द्दवेनानुत्थिततया जयेत् उदयनिरोधादिनैव मायां च ऋजुभावेनाशठतया उदयनिरोधादिनैव एवं लोभं सन्तोषेण निःस्पृहत्वेन जयेत्तदुदयनिरोधोदयप्राप्ताफलीकरणेनेति सूत्रार्थः।

क्रोधादीनामेव परलोकापायमाह–

कोहो य माणे य अणिग्गहीया,
माया य लोभो य पवड्ढमाणा।
चत्तारिएए कसिणा कसाया,
सिंचिंति मूलाइँ पुणब्भवस्स ॥४०॥

क्रोधाश्च मानश्चानिगृहीतौ उच्छृङ्खलौ माया च लोभश्च विवर्द्धमानौ वृद्धिं गच्छन्तौ चत्वारि एते क्रोधादयः कृत्स्नाः संपूर्णाः कृष्णा वा क्लिष्टा वा कषायाः (सिंचिंति) अशुभभावजलेन मूलानि तथाविधकर्मरूपाणि पुनर्भवस्य पुनर्जन्मतरोरिति सूत्रार्थः। दश०८ अ०। (पञ्चमहाव्रतधारणमिति कषायिणो निष्फलं स्यादतस्तत्साफल्यापादनार्थं कषायनिरोधो विधेय इति धम्मशब्दे सुदृढमुपपादयिष्यते)

अथ गाथात्रयेण कषायानाश्रित्य गणस्वरूपमेवाह।

जत्थ मुणीण कसाया, जगडिज्जंता वि परकसाएहिं।
ण इच्छिति समुट्ठेउं, सुनिविट्ठो पंगुलो चेव ॥६७॥

यत्र गच्छे मुनीनां कषायाः परकषायैः (जगडिज्जंताविति) पीडादिकरणेनोदीर्यमाणा अपि समुत्थातुं नेच्छन्ति स्कन्दकाचार्यशिष्याः १ अर्जुनमालाकार २ दमदन्तादीनामिव ३ स्ववीर्यं दर्शयितुं नोत्सहन्ते। अत्र कषायाणां स्वातन्त्र्यविवक्षितया कर्तृत्वं यथा उत्पद्यते घटः इत्यत्र कुम्भकारेणोत्पद्यमानस्यापि घटस्य स्वातन्त्र्यविवक्षितयैव कर्तृत्वमिति। अत्र दृष्टान्तमाह (चेवत्ति) यथा सुनिविष्टः सुखोपविष्टः पङ्गुलः पादविकलः समुत्थातुं नेच्छति नोत्सहते हे गौतम! सगच्छः स्यादिति शेषः इति ॥६७॥ (स्कन्दकाचार्य्यशिष्यादीनां सम्बन्धः स्वस्वशब्दे)

धम्मंतरायभीए संसारगब्भवसहीणं।
न उदीरंति कसाए मुणीणं तयं गच्छं ॥६८॥

यत्र गच्छे धर्म्मस्यान्तरायः कसायोदीरणाजन्यो विघ्नः तस्माद्भीताः तथा संसारगर्भवसतिभ्यः संसारमध्यवसनेभ्यो भीताः अत्र क्वचिदद्वितीयात् इति प्राकृतसूत्रेण पञ्चम्यर्थे षष्ठी एवंविधा मुनयो मुनीनां कषायान् क्रोध १ मान २ माया ३ लोभरूपान् नोदीरणाया इहपरलोकयोर्महापापफलप्रदत्वात् हे गौतम! संगच्छति अत्र क्रोधफले क्षपकोदाहरणम्। ग०२ अधि०। (तच्च चण्डकोसियशब्दे (कषाया एव दुष्परंपराया मूलबीजमिति जिनकप्पियशब्दे) कषायाणां दुरंतत्वम्। तथाच एतदेव दुरन्तं कषायसामर्थ्यमुकीर्तयन्नाह।

उवसामं उवणीया, गुणमहया जिणचरित्तसरिसं पि।
पडिवायंति कसाया, किं पुण से संसरं गच्छे ॥

उपशमनमुपशमस्तमपिशब्दात् क्षयोपशममपि उपनीताः केनोपशममुपनीता इत्याह गुणैर्महान् गुणमहान् तेन महता उपशमकेन प्रतिपातयन्ति कषायाः संसारके तमेवोपशमकं कथंभूतमित्याह जिनचारित्रसदृशमपि जिनस्य केवलिनश्चारित्रेण कृत्वा सदृशस्तुल्यो जिनचारित्रतुल्यो द्वयोरपिकषायोदयरहित चारित्रयुक्तत्वात्। तमेवं भूतमपि प्रतिपातयन्ति अथोपशान्ताः सन्तः कषायाः कथं स्वस्वरूपमुपदर्शयन्तीत्युच्यते इह यथा भस्मच्छन्नोऽग्निः स्वरूपेणाद्यापि सत्वात्पवनादिसहकारिकारणान्तरमासाद्य पुनः स्वं स्वरूपमुपदर्शयति। यथा वा अञ्जनद्रुमो वनदवध्यामितोऽप्यन्तःसारस्याद्यापि सचेतनत्वादुदकसेकादि कारणसामग्रीमवाप्य पुनरप्यङ्कुरपुष्पपत्रप्रवालादिरूपं जितस्वरूपमुपदर्शयति एवमुपशान्ता अपि कषायाः स्वरूपेणाद्यापि सन्त इति। तथाविधं किंचिन्निमित्तमासाद्य स्वं स्वरूपं प्रकटयन्ति ततोऽन्तर्मुहूर्त्तान्नियमेन प्रतिपतति। उक्तं च "दवदूमियंजणदुमो, ठारच्छन्नो गणि व्व पच्चयतो। दावेइ जह सरूवं, तह सकसातोदयो जु (भु०) ञ्जो" प्रतिपतितश्च संसारं पर्यटति तथाहि स तावत भवे एव निर्व्वाणं न लभते उत्कर्षतस्तु देशोनम्,पुद्गलपरावर्त्तमपि संसारमनुवभाति उक्तं च "तम्मि भवे निर्वाणं, न लभइ उक्कासतो व संसारं। पोग्गलपरियट्टद्धं, देसूणं को हिंडिज्जा" यत एवं तीर्थकरोपदेशोऽत औपदेशिकं गाथाद्वयमाह–

जइ उवसंतकसातो, लहइ अणंतं पुणो वि पडिवायं।
न हु भो वीससियव्वं, थोवे वि कसायसेसम्मि ॥
अणथोवं वणथोवं, अग्गीथोवं कसायथोवं च।
न हु भे वीससियव्वं, थोवं पि हु तं वड्ढं होइ ॥

यद्युपशान्तकषायोऽप्यनन्तं भूयोऽपि प्रतिपातं लभते ततः स्तोकेऽपि कषायशेषे न हु नैव (भे) भवद्भिर्वश्वसितव्यम्। अमुमेवार्थं सदृष्टान्तं भावयति (अणथोवमित्यादि) ऋणस्यस्तोकं ऋणस्तोकं व्रणस्तोकमग्निस्तोकं कषायस्तोकं च दृष्ट्वा न हु नैव (भे) भवद्भिर्विश्वसितव्यं यतः स्तोकमपि ततः ऋणादिबहु प्रभूतं भवति तथा चानेकदोषसंभवः। तथाहि ऋणं प्रवर्द्धमानं गच्छता कालेनातिप्रभूतं स तदासत्वमुपनयति यथा वणिग्दुहितुः साधुभगिन्याः व्रणश्च विसर्पन् अतिप्रभूतो भूत्वा स्तोककालेन मरणम्। वन्हिर्वातादिसामग्रीवशादतिप्रसरमधिरोहन सर्वस्यापि ग्रामनगरादेदहिं कषायाः पुनः प्रवर्द्धमाना भवमनन्तमिति। उक्तं च "दासत्तं देइ अणं, अचिरा मरणं वणो विसप्पंतो। सव्वरस दाहमग्गी, दें ति कसाया भवमणंतं" आ०म०प्र.०।

कसायअसंकिलेस पुं०(कसायासंक्लेश) असंक्लेशभेदे, स्था०१० ठा०।

कसायकुसील पुं० (कषायकुशील) कषायैः संज्वलनक्रोधानुदयलक्षणैः कुशीलः कषायकुशीलः। कुशीलभेदे (कुशीलशब्देऽस्य पञ्चविधत्वम्) प्रव०६३ द्वा०। भ०।

कसायजय पुं० (कषायजय)कषायाः क्रोधमानमायालोभलक्षणाश्चत्वारस्तेषां जयेऽभिभवः। क्रोधादीनामुदितानां विफलीकरणे नानुदितानां चानुत्पादनेन अभिभवे संयमभेदे, कषायजयोषयस्तु तत्तद्दोषप्रतिपक्षसेवादिना स्यात्तथाहि क्रोधः क्षमया १ मानो मार्दवेन २ मायार्जवेन ३ लोभः संतोषेण ४ रागो वैराग्येण ५ द्वेषो मैत्र्या ६ मोहो विवेकेन ७ कामः स्त्रीशरीरराशौचभवनया ८ मत्सरः परसंपदुत्कर्षेऽपि चित्तानावाधया ९ विषयाः संयमेन १० अशुभमनोवाक्काययोगा गुप्तित्रयेण ११ प्रमादोऽप्रमादेन १२ अविरतिर्विरत्या १३ च सुखेन जीयन्ते। ध०२ अधि०।

कसायणडिय त्रि०(कषायनटित)क्रोधाद्यभिभूते"केइ कसायनडिया, तं पि हु हीलंति मूढमई" जीवा०१८ पत्र०।

कसायणाम न०(कषायनामन्) रसनामकर्मभेदे, यदुदयाज्जन्तुशरीरं विभीतकादिवत् कषायं भवति तत्कषायनाम। कर्म०१ क०।

कसायणिव्वति स्त्री०(कषायनिर्वृति)जीवनिर्वृतिभेदे,

कइविहाणं भंते! कसायणिव्वत्ती पण्णत्ता? गोयमा! चउव्विहा कसायणिव्वत्ती पण्णत्ता तंजहा कोहकसायणिव्वत्ती जाव लोभकसायणिव्वत्ती एवं जाव वेमाणियाणं भ०१६ श०८ उ०।

कसायपच्चक्खाण न०(कषायप्रत्याख्यान) क्रोधादिप्रत्याख्याने, तान् (क्रोधादीन्) न करोमीति प्रतिज्ञाने, भ०१७ श०३ उ० उत्त०।

कसायपच्चक्खाणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? कसाय पच्चक्खाणेणं वीयरायभावं जणयइ वीयरायभावं पडिवन्ने य णं जीवे समसुहदुक्खे भवइ ॥३६॥

हेस्वामिन् ! कषायप्रत्याख्यानेन जीवः किं जनयति । गुरुराह हे - शिष्य ! कषायप्रत्याख्यानेन क्रोधमानमायालोभत्यागेन जीवो वीतरागभावं जनयति । प्रतिपन्नवीतरागभावो जीवः समसुखदुःखो भवति। उत्त०२९ अ०।

कसायपडिक्कमण न०(कसायप्रतिक्रमण) कषायाणां प्राग्निरूपितशब्दार्थानां क्रोधादीनां प्रतिक्रमणे, आव०४ अ०। (पडिक्कमणशब्दे उदाहरणं वक्ष्यामि)

कसायपरिणाम पुं०(कषायपरिणाम) कषन्ति हिंसन्ति परस्परं प्राणिनोऽस्मिन्निति कषः संसारस्तमयन्ते अन्तर्भूतण्यर्थत्वात् गमयन्ति प्रापयन्ति ये ते कषायाः। ''कर्मण्यऽण्''।३।२।१। इत्यण् प्रत्ययः। कषाय एव परिणामः कषायपरिणामः जीव परिणामभेदे, प्रज्ञा०१२ पद।

कसायमोहणिज्ज न०(कषायमोहनीय)मोहनीयकर्मभेदे, कर्म०१ क०(मोहनीयशब्दे व्याख्या)

कसायवयण न०(कषायवचन) क्रोधप्रधानकटुकवचने, सूत्र०१ श्रु०३अ०उ०।

कसायवारसग न०(कषायद्वादशक) अनन्तानुबन्धिचतुष्टयाप्रत्याख्यानचुष्टयप्रत्याख्यानावरणचतुष्टयरूपे कषायाणां द्वादशसंख्याश्रिते गणे, प्रज्ञा०१३ पद। (कषायाणां स्थितिं ठिईशब्दे वक्ष्यामि)

कसायविजयजुय त्रि०(कषायविजययुत) क्रोधादिकषायपरिभवनशीले, कर्म०१ क०।

कसायविजयतव न०(कषायवियजत्पस्) कषायाणां क्रोधमानमायालोभलक्षणानां चतुर्णां विजयोऽशेषेणाभिभवनं यस्मादिति कृत्वा तपोभेदे, कषायविजयतपः प्राह।

एक्कासणगं तह, निव्विगइयमायंविलं अभत्तट्ठे ।
इह होइ लयचउक्कं, कसायविजजए तवच्चरणे य ॥

एक्कासनकं निर्विकृतिकमाचामाम्लम् । अभक्तार्थश्चोपवास इत्येका लता प्रतिकषायं चैकैका लता क्रियते एतत्कषायविजयं तपश्चरणं कषायाणां क्रोधमानमायालोभलक्षणानां चतुर्णां विशेषेण जयोऽभिभवनं यस्मादिति कृत्वा अस्मिंश्च तपसि चतस्रो लताः षोडश दिवसानि प्रव०,२७१ द्वा०

कसायसंकिलेस पुं०(कषायसंक्लेश) कषाया एव कषायैर्वा संक्लेशः कषायसंक्लेशः। संक्लेशभेदे,स्था०२ ठा०१ उ०।

कसायसंलीणया स्त्री०(कषायसंलीनता) कषायाणामनुदीर्णानामुदयनिरोधेन उदीर्णानां च निष्फलीकरणेन कषायविषयायां संलीनतायाम् । ''सद्देसु भद्दयया, वएसु सो य विसयमुवगएसु। तुट्ठेण व हट्ठेण व, समणेण सया ण होयव्वं'' प्रव०७ द्वा०।

कसायसमुग्घाय पुं०(कषायसमुद्घात)कषायैः क्रोधादिभिर्हेतुभूतैः समुद्घातः कषायसमुद्घातः । कषायाख्यचारित्रमोहनीयकर्माश्रये समुद्घाततविशेषे, प्रज्ञा०३६ पद। तथाहि तीव्रकषायोदयाकुलो जीवः स्वप्रदेशान् बहिर्विक्षिपति तैः प्रदेशैर्वदनोदरादिरन्ध्राणिकर्णस्कन्धान्तरालानि वा पूर्यायामतो विस्तरतश्च देहमात्रक्षेत्रमभिव्याप्य वर्तते तथाभूतश्च प्रभूतान् कषायकर्मपुद्गलान् परिशाटयति, प्रव०२२९ द्वा०। स०। प्रज्ञा०। आचा० स्था०(समुग्घायशब्दे एततमाश्रित्य दण्डकं वक्ष्यामि)

कसायाईय पुं०(कषायातीत)अकषायिणि, विशे)।

कसायाता स्त्री०त्री०(कषायात्मन्) क्रोधादिकषायविशिष्ट आत्मा कषायात्मा अक्षीणानुपशान्ततकषायणामात्मभेदे, भ०१२ श०१० उ०।

कसाहि पुं(कशाहि)सुकुलिसर्पभेदे, प्रज्ञा०१ पद।

कसिण त्रि०(कत्स्न)कुत क्स्न **''र्हश्रीह्रीकृत्स्नक्रियादिष्टयामित्''** ।८।२।१०४। इति संयुक्तस्यान्त्यञ्जनात् पूर्व इकारः प्रा०। सम्पूर्ण, आचा०२ श्रु०१ अ०१ उ०। सूत्र०। उत्त०। ''कसिणे णाम संपुण्णो'' आ०चू०२ अ०। नि० चू०। सर्वशब्दार्थे, सूत्र०१ श्रु०१ अ० उ०। (वत्थशब्दे कृत्स्नवस्त्रनिक्षेपः) परिपूर्णे, आ००म०द्वि । निरवशेषे, व्य०१ उ०। ''कसिणे अणंते केवलणाणे'' कृत्स्नं सकलपदार्थविषयत्वात्, स्था०१ ठा०१ उ०। जले, कुक्षौ, पुं० वाच०।

कृष्ण त्रि०क्लिष्टे, दश०८ अ०। मयूरग्रीवसन्निभे, कृष्णवर्णे, नि०चू०२ उ०। परमकालिमोपेते ''आणामियचावरुइरतणुकसिणसिद्धभूया'' जी०३ प्रति०२। औ०। श्यामवर्णे, कल्प०। असिते, प्रश्न०आश्र०४द्वा०। (कृष्णवस्तुगुणान् नेमिशब्दे कथयिष्यामि) क०। नि०चू०। दीर्घदशानां पञ्चमेऽध्ययने च०स्था०१० ठा०।

कलिणगुणोववेय त्रि०(कृत्स्नगुणोपपेत) अशेषगुणान्विते, पञ्चा०१४ विव०।

कसिणब्भपुडागम पुं०[कृत्स्ना(ष्णा)भ्रपुटागम] कृत्स्नस्य कृष्णस्य वाऽभ्रपुटस्याऽपगमे ''विराइकम्मघणम्मि अवगए कसिणब्भपुडावगमे व चंदे'' विराजते शोभते कर्मघने ज्ञानावरणीयादिकर्ममेघेऽपगते सति निदर्शनमाह । कृत्स्नाभ्रपुटापगम इव चन्द्रमा इति यथा कृत्स्ने कृष्णे वाऽभ्रपुटेऽपगते सति चन्द्रो विराजते शरदि तद्वदसाववपेतकर्मघनः समासादितकेवलालोके विराजते इति, दश०९ अ०।

कसिणसंजम पुं०(कृत्स्नसंयम)सर्वथा प्राणबधविरतौ, पंचा०६ विव०।

कसिणा स्त्री०(कृत्स्ना) द्वारोपणाभेदे, कृत्स्ना पुनर्यत्र झोषो न क्रियते। झोषस्त्वयमिह तीर्थे षण्मासान्तमेव तपस्ततः षण्णां मासानामुपरि यान् मासानापन्नोऽपराधी तेषां क्षपणमनारोपणं प्रस्थे चतुःसेटकातिरिक्तधान्यस्यैव झाटनमित्यर्थ । झोषाभावेन सा परिपूर्णेति कृत्स्ना इत्युच्यत इति भावः, स्था०५ ठा०१ उ०। नि०चू०। (आरोपणाशब्दे विवृतिः)

कसेरु पुं० [क(शे)सेरु] कस उ ए रुगागमः । कशेरौ, शूकस्य प्रिये जलकन्दभेदे, च। कशेरुभेदे आचा०। प्रज्ञा०। राजनि० वाच०।

कह(हं) अव्य०(कथम्) किम्प्रकारे, थमु कादेशश्च ''मांसादेर्वा'' ।८।१।२९। इत्यनुस्वारस्य लुग्वा प्राकृते कह कहं वा ।

प्रा० शौरशेन्यां तु **''थो धः'' ८।४।२६७** शौरशेन्याम् थस्य धो वा कहं कधं, प्रा० केन प्रकारेणेत्यर्थे, सूत्र०१ श्रु०६ अ० ''कहं मुत्ता भत्तारेण सव्वं कहेति'' नि०चू०१ उ० ''कहं चरे कहं चिट्ठे, कहं मासे कहं सए। कह भुंजंते भासंतो, पावं कधं कम्मं बंधइ''। कथं केन प्रकारेण, दश०३ अ०

कहंकहा स्त्री०(कथंकथा) कथमपि कथा रागकथादिका विकथायाम्, आचा०१ श्रु०८ अ०६ उ०

कहंवि अव्य०(कथमपि) कथं च अपि च द्वन्द्वस० पदद्वयमित्येके केनचित्प्रकारेणेत्यर्थ, अतिकष्टेनेत्यर्थे च श्रा०

कहकह पुं(कहकह) अनुकरणम् प्रमोदकलकले ''देवकहकहत्ति'' देवकृतप्रमोदकलकलः। स्था०३ठा० १उ०। आचा०। प्रज्ञा०। प्रश्न०। प्रमोदभरवशतः स्वेच्छावचनैर्बोलकोलाहले, आ० म० प्र०।

कहकह (ग)भूय त्रि०[(कहकह(क)भूत] कहकहेत्यनुकरणं कहकहेति भूतं प्राप्तं कहकहभूतम्। निरन्तरं तत्तद्विशेषदर्शनतः सम्बलितप्रमोदभरपरवशसकलदिक्चक्रवालवर्तिप्रेक्षकजनकृतप्रशंसावचनबोलकोलाहलव्याकुलीभूते, रा०। हर्षदृहासादिनाऽव्यक्तवर्णकोलाहलमये, कर्म०२ क०।

कहग त्रि०(कथक) सरसकथाकथनेन श्रोतृरसोत्पत्तिकारके, जं०२ वक्ष०। सरसकथावक्तरि, कल्प०उ०। औ०। नि०चू०। प्रश्न०। रा० अनशनिनः पुरतो धर्मकथके, प्रव०७२ द्वा०।

कहण न०(कथन) प्रज्ञापने, ध०१ अधि० ''परूवणत्ति वा कहणत्ति वा वक्खाणमग्गोत्ति वा एगट्ठा'' आ०चू०१ उ०।

कहणविहि पुं०(कथनविधि) कथनप्रकारे।

आणागिज्झो अत्थो, आणाए चेव सो कहेअव्वो।
दिट्ठंतिअदिट्ठंति, कहणविहि विराहणा इहरा ॥७१॥

आज्ञा आगमस्तद्ग्राह्यस्तद्विनिश्चयोऽर्थः अनागतातिक्रान्तप्रत्याख्यानादि आज्ञयैवागमेनैवासौ कथयितव्यो न दृष्टान्तेन तथादार्ष्टान्तिकः दृष्टान्तपरिच्छेद्यः प्राणातिपाताद्यनिवृत्तानामेतेऽदोषा भवन्त्येवमादिदृष्टान्तात् दृष्टान्तेन कथयितव्यः। कथनेऽयं विधिरेषु कथनप्रकारः प्रत्याख्याने वा। यद्वं सामान्येनैवाज्ञा ग्राह्योऽर्थः सौधर्मादिराज्ञयैवासौ कथयितव्यो न दृष्टान्तेन तत्र तस्य वस्तुतोऽसंभावात्। तथा दार्ष्टान्तिक उत्पादादिमानात्मा वस्तुत्वाद् घटवदित्येवमादिदृष्टान्तात्कथयितव्य एष कथनविधिः। विराधना इतरथा विपर्यायेऽन्यथाकथनविधेरप्रतिपत्तिहेतुत्वात् अधिकतरसंमोहादिति गाथार्थः ॥७१॥ इति कथनविधिः। आव०६ अ०।

कहणिज्ज न०(कथनीय) उत्तराध्ययनज्ञाताधर्मकथादौ कथ्ये, पूर्वर्षिचरितकथानकप्रायत्वात्तस्य, सूत्र०१ श्रु०१ अ०१ उ०। **कहप्पगार** त्रि०(कथम्प्रकार)किम्प्रकारे, भ०५ श०६ उ०।

कहवि अव्य०(कथमपि) कृच्छ्रादित्यर्थे, प्रश्न० आश्र०१ द्वा०।

कहा स्त्री०(कथा) कथ णि अ० 'स्फटिकनिकषचिकुरेषु हः' इत्यतः ह इत्यनुवर्त्य **'खघथभां' ।८।१।१८९।** इति थस्य हः, प्रा० तन्नामोच्चारणतद्गुणोत्कीर्तनतच्चरितवर्णनादिकायां वचनपद्धत्याम् ध०२अधि०। स्था०। अनु०। प्रश्न०। ग०। वसुदेवचरितचेटककथादौ, बृ०१ उ०। वाक्यप्रबन्धे, शास्त्रे, स० ''तिविहा कहा पण्णत्ता तंजहा अत्थकहा धम्मकहा कामकहा'' स्था०३ ठा०३ उ०।

सांप्रतं कथामाह-

अत्थकहा कामकहा, धम्मकहा चेव मीसिया य कहा।
एता एक्केक्का वि य, णगविहा होइ नायव्वा ॥१९४॥

(अत्थकहेति) विद्यादिभिरर्थस्तत्प्रधाना कथा अर्थकथा। एवं कामकथा धर्म्मकथा चैवं मिश्रा च कथा अत आसां कथानामेकैकापि च कथा अनेकविधा भवति ज्ञातव्योपन्यस्तगाथार्थः १९४। द०नि०३अ०(अत्थकथादिशब्देषु अर्थकथादिव्याख्याः)(अन्तर्गृहे धर्मकथा न कर्तव्येति अंततरगिहशब्दे)

अत्रैव प्रक्रमे कथामाह

तवसंजमगुणधारी, जं चरणरया कहिंति सब्भावं।
सव्वजगजीवहियं, सा उ कहा देसिया समए ॥२१६॥

तपःसंयमगुणान् धारयन्तीति तच्छीलाश्चेति तपःसंयमगुणधरिणः यं कंचन चरणरताश्चरणप्रतिबद्धा न त्वन्यत्र निदानादिना कथयन्ति सद्भावं परमार्थं किंविशिष्टमित्याह। सर्वजगजीवहितं न तु व्यवहारतः कतिपयसत्वहितमिति। तुशब्दस्यावधारणार्थत्वात् सैव कथा निश्चियतः देशिता समये निर्जराख्यफलसाधनात् कर्तृणां श्रोतृणामपि चेतःकुशल परिणामनिबन्धना कथैव नो चेद्भाज्येति गाथार्थः।

इहैव विकथामाह-

जो संजओ पमत्तो, रागद्दोसवसगओ परिकहेइ।
सा उ विकहा पवयणे, पण्णत्ता धीरपुरिसेहिं ॥२१७॥

यः संयतः प्रमत्तः कषायादिना प्रमादेन रागद्वेषवशगतः सन्न तु मध्यस्थः परिकथयति किंचित् सा तु विकथा प्रवचने सा पुनर्विकथा सिद्धान्ते प्रज्ञप्ता धीरपुरुषैस्तीर्थकरादिभिः। तथा विधपरिणामनिबन्धनत्वात्कर्तृश्रोत्रोरिति। श्रोतृपरिणामभेदे तु तु पति कथान्तरमेवैवं सर्वत्र भावना कार्येति गाथार्थः।

सांप्रतं श्रमणेन यथाविधा न कथनीया तथाविधामाह

सिंगाररसुत्तुइया, मोहकुवियफुंफुगाह सहसिं ति।
जं सुणमाणस्स कहं समणेण न सा कहेयव्वा ॥२१८॥

शृङ्ग गाररसेन मन्मथदीपकेन उत्तेजित्ता अधिकं दीपिता केत्याह मोह एव चारित्रमोहनीकर्मोदयस्तमुत्थात्मपरिणामरूपः कुपितः फुंफुकाघ-ट्टितकु-कुला (हसहसिंतित्ति) जाज्वल्यमाना जायत इति वाक्यशेषः यां शृण्वतःकथां मोहोदयो जायत इत्यर्थः। श्रमणेन साधुना न सा कथियतव्या आकुलभावनिबन्धम्वादिति गाथार्थः।

यत्प्रकारा कथनीया तत्प्रकारामाह-

समणेण कहेयव्वा, तव नियमकहा विरागसंजुत्ता।
जं सोऊण मणूसो, वच्चइ संवेगणिव्वेयं ॥२१९॥

श्रमणेन कथयियतव्या किंविशिष्टेत्याह तपोनियमकथा अनशनादि पञ्चाश्रवविरमणादिरूपा सापि विरागसंयुक्ता न निदानादिना रागादिसंगता अत एवाह यां कथां श्रुत्वा मनुष्यः श्रोता व्रजति गच्छति (संवेयणीवेदंति) संवेगं निर्वेदं चेति गाथार्थः।

कथाकथनविधिमाह

अत्थमहंती विकहा, अपरिकिलेसबहुला कहेयव्वा।
हंदि महया चडगरत्तणेण अत्थं कहा हणइ ॥२२०॥

महार्थाअपि कथा अपरिक्लेशबहुला कथयितव्या नातिविस्तरकथनेन परिक्लेशः कार्य इत्यर्थः किमित्येवमित्याह हन्दीत्यु-

पदर्शने महता चडकरत्वेन अतिप्रपञ्चकथनेनेत्यर्थः किमित्याह। अर्थ कथा हन्ति भावार्थं नाशयतीति गाथार्थः।

विधिशेषमाह।

खेत्तं कालं पुरिसं, सामत्थं चप्पणो वियाणेत्ता।
समणेण उ अणवज्जा, पगयम्मि कहा कहेयव्वा ॥२२१॥

क्षेत्रं भौमादिभावितं कालं क्षीयमाणादिलक्षणं पुरुषं पारिणामिकादिरूपं सामर्थ्यं चात्मनो ज्ञात्वा प्रकृते वस्तुनीति योगः श्रमणेन त्ववद्या पापानुबन्धरहिता कथा कथयितव्या नान्यथेति गाथार्थः। उक्ता कथा। दश०नि०३ अ०। ''णिसम्म भासीय विणीय गिद्धिं, हिंसण्णियं वा ण कहं करेज्जा'' गृद्धिं गार्द्ध्यं विषयेषु शब्दादिषु विनीयापनीय निशम्यावगम्य पूर्वोत्तरेण पर्य्यालोच्य भाषकेा भवेत् तदेव द्रढयति हिंसया प्राण्युपमर्दरूपया अन्वितां युक्तां कथां न कुर्य्यात्। न तत्प्रबूयात् यत्परात्मनोरुभयोर्वा बाधकं वच इति भावः तद्यथा ''अश्नीत पिबत स्वादत मोदत हत छिन्दत प्रहरत पचते'' त्यादि कथां पापोपादाननभूतां न कुर्य्यादिति (सूत्र०) नैयायिकसम्मते वादाद्यात्मके पदार्थभेदे ''तिस्रः कथा वादो जल्पो वितण्डा चेति'' तत्र प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः प्रतिपक्षपरिग्रहोवादः। स च तत्वज्ञानार्थं शिष्याचार्य्ययोर्भवति। स एव विजिगीषुणा सार्धं छलजाति-निग्रहस्थानसाधनोपालम्भो जल्पः। स एव प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डेति। (एतत्खण्डनं यथा)तत्रासां तिसृणामपि कथानां भेद एव नोपपद्यते यतस्तत्वचिन्तानां तत्वनिर्णयार्थं वादो विधेयो न छलजल्पादिना तत्वावगतः कर्तुं पार्यते। छलादिकं हि परवञ्चनार्थ-मुपन्यस्यते। न च तेन तत्वावगतिरिति। सत्यपि भेदे नैषां पदार्थता यतो यदेव परमार्थतो वस्तुवृत्त्या वस्त्वस्ति तदेव परमार्थतयाऽभ्युपगन्तुं युक्तं वादास्तु पुरुषेच्छावशेन भवन्तोऽनियता वर्त्तन्ते न तेषां परमार्थतेति। किंच पुरुषेच्छानुविधायिनो वादाः कुक्कुटलावकादिष्वपि पक्षप्रति-पक्षपरिग्रहे भवन्त्यतस्तेषामपि तत्वपक्षिः स्यान्न चैतदिष्यत इति। सूत्र०१ श्रु०१२ अ०। समवायाङ्गे तु पञ्च प्रतिपादिता तत्र चतुर्थी प्रकीर्णकथा सा चोत्सर्गकथास्तिकनयकथा वा। तथा निश्चयनकथा पञ्चमी सा चापवादकथा पर्यायास्तिकनयकथा वेति। स०१२ स०। ''वादो जप्पवितंडा, पइण्णगकहा य णिच्छयकहा य''। संजोगविहिविभत्ता, कधपडिवंधा विछड्डाणा ॥२३१॥ बादं जप्पवितंडं, सव्वे हि वि कुणति समणिवज्जेहिं। समणीण विपडिकुट्ठा, होति सपरे वि तिण्हि कहा ॥२३२॥ उसग्गपइण्णकहा, अववातो होति णिच्छय कधा तु। अहवा ववहारणया, पइण्णसुद्धा य णिच्छदगा ॥२३३॥ (संभोगशब्दे सव्याख्याका इमा वक्ष्यन्ते) नि०चू०५उ०। स०।

कहापबंधण न०(कथाप्रबन्धन) कथा वादादिका पञ्चधा तस्याः प्रबन्धनं प्रबन्धेन करणं कथाप्रबन्धनम् वादादिकथा प्रबन्धकरणे, तत्र सम्भोगाऽसम्भोगौ भवतः। स०१२ स०। नि०चू०(कथाशब्दे उक्तम्)

कहाकहण न०(कथाकथन) पञ्चपञ्चाशतमे स्त्रीकलाभेदे, कल्प०।

कहावण न०[का(क)र्षापण] कर्षस्येदं स्वार्थे वा अण। तेन आपण्यते आ पण कर्मणि घः **''कार्षापणे।८।२।७१।** कार्षापणे संयुक्तस्य हो भवति''। काहावणो कथंकहावणो ? ह्रस्वः संयोग इति पूर्वमेव ह्रस्वत्वे पश्चादा कर्षापणशब्दस्य वा भविष्यति। प्रा०। **''रहोः''।८।२।९३।** इति हस्य न द्वित्वम् प्रा० अशीतिरत्तिके ताम्रिके, कर्षे, वाच०।

कहासेसा स्त्री०(कथाशेषा) उज्जयिनीप्रत्यासन्नग्रामवास्तव्यभर-नटदुहितरि, आ०क०। (बुद्धिसिद्धशब्दे कथा)

कहाहिगरण न०(कथाधिकरण) कथा वाक्यप्रबन्धः शास्त्रमित्य-र्थस्तद्रूपाण्यधिकरणानि कथाधिकरणानि। कौटिल्यशास्त्रादिषु प्राण्युपमर्दनप्रवर्त्तकत्वेन तेषामात्मदुर्गतावधिकारित्वकरणात्। कथया क्षेत्राणि कृषतः गानमसूयतेत्यादि कयाऽधिकरणानि तथाविधप्रवृत्ति-रूपाणि। असत्प्रवृतिषु, कथा च अधिकरणानि च द्वन्द्वः। राजकथादि-कायां कथायाम्, यन्त्रादिषु कलहेषु वा अधिकरणेषु, स०। ''जे कहाहिगरणाइं संपउंजे पुणो पुणो'' स०।

कहि–अव्य०**(क)** (प्राकृते किम्–डि) **''नवाऽनिदमेतदो हिम्''।८।३।६०।** इति किमः स्थाने हिमादेशः। किमः कादेशः। कस्मिन्नित्यर्थे, जी०३ प्रति०। ''कहि णं जंबुद्दीवे दीवे'' कस्मिन् देशे, इत्यर्थः भ०६ श०१ उ०। ''से कहिं खाइणं भंते ! सिद्धा परिवसंति'' क्व देशे, औ०। ''कहिं पडिहया सिद्धा, कहिं सिद्धा पइट्ठिया। कहिं बोंदिं चइत्ताणं, कत्थ गंतूण सिज्झह'' औ०। ''कहिं अणुपविट्ठे'' क्वानुप्रविष्टः क्वानुलीन इति भावः रा०। काले तु **''डदहि डालाइआ काले''।८।३।६५।** इतिडेः स्थानेडाहे डाला इआ इत्यादेशश्त्रये काहे काला कइआ। पक्षे कहिं कस्सिं कम्मि कत्थ। कस्मिन् कीले, इत्यर्थः प्रा०।

कहिय त्रि०(कथित) कथ–गौणकर्मणि क्त–तदसमभिव्यवहारे मुख्ये कर्मणि क्त–उक्ते, वाच०। आख्याते, पंख०१७ विव०। आव०। प्रतिपादिते, सूत्र०१ श्रु०३ अ०२ उ०। उपदिष्टे, सू०प्र०१ पाहु०। कर्णतोऽर्थतश्चोक्ते, द्रव्या किञ्चिद्रूपेण प्रतिपादिते गौणे कर्मणि क्तः यस्यावबोधाय कश्चिदर्थः प्रतिपाद्यते तस्मिन्नर्थे, त्रि०। भावे क्त–कथाने, न० वाच०।

कहेत्ता त्रि०(कथयितृ) कथ णिच्। शीलार्थे तृन् कथनशीले, ''इत्थिकहं भत्तकहं रायकहं कहेत्ता भवइ'' स्था०४ ठा०२ उ०।

काअव्व त्रि०(कर्त्तव्य) कृ तव्य **'आ कृगोभूतमविष्यतोश्च' ८।४।२१४** इति तव्ये परे कृधातोराकारान्तादेशः। कदणीये, प्रा०।

काइँ त्रि०(किम्) **''अपभ्रंशे किमः काइँ कवणौ''** ८।४।३६७। इति काइँ आदेशः। ''जइ न सुआवइ दूइघरु, काइँ अहो मुहतुज्झु। वयणजु खडइ तउ सहिए, सो पिउ होइ न मज्झु'' प्रा०।

काइय त्रि०(कायिक) कायेन शरीरेण निवृत्तः कायिकः। कायकृते, आव०४ अ०। विशे०। हस्तपादादिके संट्टे, सूत्र० २ श्रु०२ अ०। शारीरिके इडापिङ्गलादिप्राणतत्वे, स्था०६ ठा०। कायः प्रयोजनं प्रयोजकोऽ-स्यातिचारस्येति कायिकः। कायाज्जातेऽतिचारे ''जो मे अइआरो कओ काइओ वाइओ माणसिओ'' आ०चू०४ अ०। काये भवं कायिकं रोगादौ, उत्त०३२ अ०।

काइयजोग पुं०(कायिकयोग) कायेन निवृत्तः कायिकः योजनं योगे व्यापारः कर्म क्रियेत्यनर्थान्तरम्। कायिक्यां क्रियायाम्, विशे०। ''गिण्हइय काइएणं, निसिरइ तह वाइएण जोगेणं एगंतरं च गिण्हसि निसिरइ एगंतरं चेव'' विशे०। (भाषाशब्दे विवृतिः)

काइया स्त्री०(कायिकी) चीयत इति कायः शरीरं काये भवा कायेन निर्वृत्ता वा कायिकी। ? भ०३श०१ उ०। प्रज्ञा०। क्रियाभेदे, कायचेष्टायाम्, स०। स्था०। ध०। हस्तादिव्यापारणे, प्रति। कायव्यापारे,

काइया किरिया दुविहा, पन्नत्ता तंजहा अणुवरयकायकिरिया चेव दुप्पउत्तकायकिरिया चेव॥

कायिकी द्विधा (अणुवरयकायकिरिया चेवत्ति) अनुपरतस्याविरतस्य सावद्यात् मिथ्यादृष्टेः सम्यग्दृष्टेर्वा कायक्रियोत्क्षेपादिलक्षणा कर्म्मबन्धनिबन्धनमनुपरतकायक्रिया तथा (दुप्पउत्तकायकिरिया चेवत्ति) दुष्प्रयुक्तस्य दुष्टप्रयोगवतो दुष्प्रणिहितस्येन्द्रियाण्याश्रित्येष्टानिष्टविषयप्राप्तौ मनाक् संवेदनिर्व्वेदगमनेन तथाऽनिन्द्रियमाश्रित्याऽशुभमनःसंकल्पद्वारेणापवर्गमार्गं प्रति दुर्व्यवस्थितस्य प्रमत्तसंयतस्येत्यर्थः। कायक्रिया दुष्प्रयुक्तकायक्रियते। ४। स्था०२ ठा०१ उ०। प्रज्ञा०। आ०म०द्वि०। आ०चू०। सा पुनस्त्रिधा अविरतकायिकी दुष्प्रणिहितकायिकी उपरतकायिकी। तत्र मिथ्यादृष्टेरविरतसम्यग्दृष्टेश्चाद्या अविरतस्य कायिकी उत्क्षेपादिलक्षणा क्रिया कर्मबन्धिनिबन्धना अविरतकायिकी एवमन्यत्रापि षष्ठीसमासो योज्यः। द्वितीया प्रमत्तसंयतस्य सा पुनर्द्विधा। इन्द्रियदुष्प्रणिहितकायिकी नोइन्द्रियदुष्प्रणिहितकायिकी च। तत्राद्येन्द्रियैः श्रोत्रादिभिर्दुष्प्रणिहितस्य इष्टानिष्टविषयप्राप्तौ मनाक् अग्रे निर्वेदद्वारेणापवर्गमार्ग-प्रति दुर्व्यवस्थितस्य कायिकी। एवं नोइन्द्रियेण मनसा दुष्प्रणिहीतस्याशुभसंकल्पद्वारेण दुर्व्यवस्थितस्य कायिकी। तृतीया अप्रमत्तसंयस्य उपरतस्य प्रायः सावद्ययोगेभ्यो निवृत्तस्य कायिकी। गता कायिकी (आव०४ अ०) ध०मोचे मूत्रपुरीषयोः ''आहारमोयमसिणाइं मोएत्ति काइयं वोसिरिउं दवं ण गेण्हंति'' नि०चू०१ उ०। वलीवर्दादिकायपरिश्रम साध्यायाम्, मूलधनाविरोधेन प्रत्यहमविरोधेन प्रत्यहमधमर्णदेयपणपादादिरूपायां वा वृद्धौ, च। वाच०।

काउ स्त्री०(काकु)कक उण् ''भिन्नकण्ठध्वनिर्धी रैः, काकुरित्यभिधीयते'' इत्युक्तलक्षणे शोकभीत्यादिभिर्ध्वनेर्विकारे, विरुद्धार्थकल्पके, नञादौ शब्दे, च उदा० ''गुरुपरतन्त्रतया वत, दूरतरदेशमुद्यतो गन्तुम्। अलिकुलकोकिललालितैर्नैष्यति सखि! सुरभिसमयेऽसौ'' नेष्यति अपि तर्हि एष्यत्येवेति काक्वा व्यज्यते इत्युक्तम् वाच०। आचा०।

काउं अव्य०(कर्तुम्) कृ तुमुन् **''आःकृगो भूतभविष्यतोश्च'' ।८।४।२१४।** इति कृ धातोरन्त्यस्य आ। विधातुमित्यर्थे, प्रा०। कृत्वा विधायेत्यर्थे, तु०।

काउंबर पुं०[काकोडु(डु)म्बर] काकमीषज्जलमत्र काकस्य प्रियः उदु(डु)म्बरो वा। उडुम्बरभेदे, शब्दरत्ना०। स्वार्थे कन् अत इत्वम्, स्वार्थिकप्रत्ययस्य प्रकृतिलिङ्गव्यतिक्रमः। काकोडुम्बरिकाप्यत्र स्त्री० अमरः। वाच०। प्रज्ञा०। जी०।

काउसग्ग पुं०(कायोत्सर्ग) कायः शरीरं तस्योत्सर्गः षष्ठीसमासः (कायोत्सर्गशब्दस्य सूचिरूपेण पञ्चदशाधिकाराः यथा)

(१) कायोत्सर्गशब्दार्थाः
(२) प्रायश्चित्तभेषजेनापराधव्रणचिकित्सां संपाद्य वैचित्र्येण दशधा प्रायश्चित्तभेषजं समभिहितम्।
(३) द्रव्यभावयोर्भेदेन व्रणद्वैविध्यमनेकभेदाभिन्नेनोक्तम्।
(४) *कायोत्सर्गमधिकृत्यैकादश मूलद्वाराणि निर्युक्तिकृदुक्तानि।*
(५) तृतीयविधानमार्गणामूलद्वारावयवस्य सद्व्यख्योक्ता।
(६) चतुर्थं कालपरिमाणमूलद्वारमुक्तम्।
(७) पञ्चमं भेदपरिणाममूलद्वारं नवभेदेनान्वितं बहुविस्तरवृत्त्या सम्यग्निरूपितं दैवसिकरात्रिकावश्यकसूत्रालापकानि सङ्कृत्योक्तानि, व्युत्सर्गातिचाराः, मुनेः क्रिया, प्रतिलेखनाविधिश्चोक्तः।
(८) नियतानियतकायोत्सर्गावुक्तौ।
(९) केषु केषु कार्येषु कियदुच्छ्वासमानव्युत्सर्गमत्र द्वारगाथा सद्व्याख्यया समभिहिता।
(१०) षष्ठासठनाममूलद्वारमत्र दार्ष्टान्तिकयोजनां मायावतो दोषांश्च प्रतिपाद्य वयोबलमधिकृत्य चतुर्भङ्गयुक्ता।
(११) सप्तमं सठनामकं मूलद्वारमत्र ह्युक्तहेतुभिः कारकाणां कूटमनुष्ठानमुक्तम्।
(१२) अष्टमं विधेर्मूलद्वारमत्र कथं कयारीत्या कायोत्सर्गे स्थातव्यमिति विधिः।
(१३) नवमद्वारम् कायोत्सर्गस्य 'घोडगलयखंभाई' इत्याद्ये कोनविंशतिदोषव्याख्यागर्भितम्।
(१४) दशमं कस्येति मूलद्वार मत्रोक्तदोषरहितस्यायं युत्सर्गः यथोक्तफलको भवतीत्युक्त्वा त्रिधोपसर्गसहिष्णोरेवायं भावतीति प्रदर्शितम्।
(१५) एकादशं फलस्यात्रैहिकामुत्रिकलोकापेक्षया द्विधा फलं सुदर्शनादिनिदर्शनपूर्वकं, कर्मक्षयफलमतिचारे प्रायश्चितं च समभिहितम्।

(१) कायोत्सर्गशब्दार्थाः।

देहस्य कुताकारस्य स्थानमौनध्यानक्रियाव्यतिरेकक्रियान्तराध्यासमधिकृत्य परित्यागे, ल०। प्रति०। अतिचारशुध्यर्थं कायस्य व्युत्सर्जने, काममत्ववर्जने, उत्त०२६ अ०। धर्मकायातिचारव्रणशोधके, आवश्यकश्रुतस्कन्धस्य अध्ययनविशेषे च, पा०।

(२) प्रायश्चित्तभेषजेनापराधव्रणचिकित्सां संपाद्य वैचित्र्येण दशधा प्रायश्चित्तभेषजं समभिहितम्।

तत्र कायोत्सर्गवक्तव्यत्ता कायोत्सर्गाध्ययनात्संगृह्यते। तत्रेदं कायोत्सर्गमध्ययनमारभ्यते अस्य चायमभिसंबन्धः अनन्तराध्ययने वन्दनाद्यकरणादिना स्खलितस्य निन्दा प्रमिपादिता। इह तु स्खलितविशेषतोऽपराधव्रणविशेषसंभवादेतावता शुद्धस्य सतः प्रयश्चित्तभेषजेनापराधव्रणचिकित्सा प्रतिपाद्यते यथा प्रतिक्रमणाध्ययने मिथ्यात्वादिप्रातक्रमणद्वारेण कर्म्मनिदानप्रतिषेधः प्रतिपादितः। यथा चोक्तम्। ''मिच्छत्तपडिक्कमणं, तहेव असंयमे पडिक्कमणं। कसायाण पडिक्कमणं, जो याणमप्पसत्थाण'' मित्यादि। इह तु कायोत्सर्गकरणात् प्रागुपात्तकर्म्मक्षयः प्रतिपाद्यते वक्ष्यते च ''जह करगओ णिकिंतइ, दारुइतो पुणो विवड्ढंतो। इअ किंत्तंति सुविहिआ, काउस्सग्गेण कम्माइं। काउस्सग्गे जह मुट्ठिय स्स भज्जंति अंगुवंगाइं। इअ भिंदंति सुविहिया, अट्ठविहं कम्म संघाय'' मित्यादि। अथवा सामायिके चारित्रमुपवर्णितं चतुर्विंशतिस्तवे त्वर्हद्गुणस्तुतिः सा च ज्ञानदर्शनरूपा एवमिदं द्वितयमुक्तम्। अस्य च वितथासेवनमैहिकामुष्मिकापायपरिजिहीर्षुणा गुरोर्निवेदनीयं तच्च वन्दन-*पूर्वमित्यतस्तन्निरूपितं निवेद्य भूयः शुभोऽवस्थानेषु प्रतिक्रमण-*

मासेवनीयमित्यनन्तराध्ययने तन्निरूपित इह तु तथाप्यशुद्धस्यापराध-व्रणचिकित्साप्रायश्चित्तभेषजं प्रतिपाद्यते।

तत्र प्रायश्चित्तभैषजमेव तावद्विचित्रं प्रतिपादयन्नाह।

आलोअण १ पडिक्कमणे २ मीस ३ विवेग ४ तहा विउस्सग्गे ५।
तव ६ छेअ ६ मूल ८ अणवट्ठयाय९ पारंचिए चेव ॥१॥

आलोयणत्ति) आलोचनाप्रयोजनतो हस्तशताद्बहिर्गमनादौ गुरोर्विकटना १ (पडिक्कमणेत्ति) प्रतिक्रमणं प्रतिक्रमणे सहसा समित्यादौ मिथ्यादुष्कृतकरणमित्यर्थः २ (मीसत्ति) मिश्रशब्दादिषु रागादिकरणे विकटना मिथ्यादुष्कृतावित्यर्थः ३ (विवेगकत्ति) विवेकः अनेषणीयस्य भक्तादेः कथंचिद्गृहीतस्य परित्याग इत्यर्थः ४ तथा (विउस्सगेत्ति) तथा व्युत्सर्गः कुस्वप्नादौ कायोत्सर्ग इति भावना ५ (तवेत्ति) कर्म्मतापनात्तपः पृथिव्यादिसंघट्टनादौ निर्विकृतिकादि ६ (छेयत्ति) तपसा दुर्दमस्य श्रमणपर्यायछेदनमिति हृदयम् ७ (मूलेत्ति) प्राणातिपातादौ पुनर्व्रतारोपणमित्यर्थः ८ (अणवट्ठतायेत्ति) हस्ततालादिप्रमाददोषदुष्ट-तरपरिणामत्वाद्व्रतेषु नवस्थाप्यते इत्यनवस्थाप्यस्तद्भावोऽनवस्थाप्यता च ९ (पारंचिए चेवत्ति) पुरुषविशेषस्य स्वलिङ्गराजपत्न्याद्यासेवनायां पारंचिकं भवति पारं प्रायश्चित्तान्तमश्नुते गच्छति इति पारंचिकं न तत ऊर्ध्वं प्रायश्चित्तमस्तीति गाथार्थः ॥१॥एवं प्रायश्चित्तभेषजमुक्तम्। (३) सांप्रतं व्रणः प्रतिपाद्यते स च द्विभेदः द्रव्यव्रणो भावव्रणश्च।

द्रव्यवणः शरीरक्षतलक्षणः। असावपि द्विविध एव तथा चाह।

दुविहो कायम्मि वणो, तदुब्भवागंतुगो अ नायव्वो।
आगंतुगस्स कीरइ, सल्लुद्धकरणं न इअरस्स ॥२॥

द्विविधो द्विप्रकारः (कायम्मि वणोत्ति) चीयत इति कायः शरीरमित्यर्थः तस्मिन् व्रणः क्षतलक्षणः। द्वैविध्यं दर्शयति। तस्मिन्नुद्भवोऽस्येति गण्डादिरागन्तुकश्च ज्ञातव्यः। आगन्तुकः कण्टकादिप्रभवः तत्रागन्तुकश्च क्रियते शल्योद्धरणं नेतरस्य तदुद्भवो वास्येति गाथार्थः ॥२॥

यद्यस्य यथोद्दिश्यते उत्तरपरिकर्म्म च क्रियते द्रव्यव्रणे एव तदभिधित्सुराह।

तणुओ तिक्खतुंडो, असोणिओ केवलं तयालगो।
उद्धरिओ अवणिज्जइ, सल्लो न मलिज्जइ वणओ ॥३॥
लग्गुद्धिअम्मि वीए, मइलिज्ज परं अदूरगेसल्ले।
उद्धरणमलणपूरण दूरयरगए तईअम्मि ॥४॥

(तणुओ) तनुरेव तनुकः कृश इत्यर्थः। न तीक्ष्णतुण्डमतीक्ष्ण-मुखमिति भावः। न यस्मिन् शोणितं विद्यते इत्यशोणितं केवलं नवरं त्वलग्नं बाह्यत्वविलग्नमुद्धृत्य (अवणिज्जइ सल्लोत्ति) परित्यज्यते शल्यं प्राकृतशैल्याऽत्र पुल्लिङ्गनिर्देशः (णमलिज्जइ वणो) न च मृज्यते व्रणः अल्पत्वाच्छल्यस्येति गाथार्थः ॥३॥ प्रथमशल्यजेऽयं तिवधिः। द्वितीयादिशल्यजे पुनरयं (लग्गुद्धितम्मिगाहा) लग्नमुद्धृतं तस्मिन् द्वितीये वास्मिन् अदूरगते शल्ये इति योगः मनाग् दृढलग्न इति भावना। अत्र (मलिज्जति परंति) मृज्यते यदि परं व्रण इति उद्धरणं शल्यस्य मर्द्दनं व्रणस्य पूरणं कर्णमलादिना तस्यैवैतानि क्रियन्ते दूरतरगते तृतीये शल्ये इति गातार्थः ॥४॥

मा वेअणा उ तो उद्धरिउ गालंति सोणिअं चउत्थे।
रुज्झइ लहुंति चिट्ठा, वारिज्जइ पंचमे वणिणो ॥५॥

मा वेदना भविष्यतीति तत उद्धृत्य शल्यं गालयति शोणितं चतुर्थे शल्ये इति तथा रुध्यतां शीघ्रमिति चेष्टा परिस्ययन्दनादिलक्षणा बार्यते निषिध्यते पञ्चमे शल्ये उद्धृते व्रणोस्यास्तीति व्रणी तस्य व्रणिनः रौद्रतरत्वाच्छल्यस्येति गाथार्थ ॥५॥

रोहेइ वणं छट्ठे, हिअमिअभोई अभुंजमाणो वा।
तित्तिअमित्तं छिज्जइ, सत्तमए पूइमंसाई ॥६॥

रोहयति व्रणं षष्ठे शल्ये उद्धृते सति हितमिततभोजी हितं पथ्यं मितं स्तोकं अभुञ्जानो वा तथा यावच्छल्येन दूषितं (तत्तियमित्तंति) तावन्मात्रं छिद्यते सप्तमे शल्ये उद्धृते किं पूतिमांसादीति गाथार्थः ॥६॥

तह वि य अट्ठायमाणे, गोणसभत्तिखिआइरप्फिए वा पि।
कीरइ तदंगछेओ, स अट्ठिओ सेसरक्खट्ठा ॥७॥

तथापि च (अट्ठायमाणेत्ति) अतिष्ठति सति विसर्प्पतीत्यर्थः। गोनसभक्तिक्षितादौ रस्फिके वापि क्रियते तदङ्गच्छेदः सहास्था शेषरक्षार्थमिति गाथार्थः। एवं तावद्व्यव्रणचिकित्सा च प्रतिपादिता ॥७॥

अधूना भावव्रणः प्रतिपाद्यते।

मुलुत्तरगुणरूवस्स, ताइणो परमचरणपुरिसस्स।
अवराहसल्लपभवो, भाववणो होइ नायव्वो ॥८॥

इयमन्यकर्तृका सोपयोगा चेति व्याख्यायते मूलगुणाः प्राणातिपाता-दिविरमणलक्षणा उत्तरगुणाः पिण्डविशुद्ध्यादयः एत एव रूपं यस्य स मूलगुणोत्तरगुणरूपः तस्य तायिनः परमस्यास्य चरणपुरुषस्येति समासान्तस्यापराधी गोचरादिगोचराः त एव शल्यानि तेभ्यः प्रभवः संभवो यस्य स तथाविधभावव्रणो भावतीति ज्ञातव्य इति गाथार्थः ॥८॥

साम्प्रतमस्यानेकभेदभिन्नस्य व्रणस्य विचित्रप्रायश्चित्तभेषजेन चिकित्सा प्रतिपाद्यते

भिक्खारिआइ सुज्झइ, अइआरो कोई विअडणाए उ।
बिइओ अ असमिओ मित्ति, कीस सहसा अगुत्तो वा ॥९॥

भिक्षाचर्यादिः शुद्ध्यत्यतिचारः कश्चिद्विकटनयैवालोचनयैवेत्यर्थः। आदिशब्दाद्विहारभूम्यादिगमनजो गृह्यते अत्राऽतिचार एव व्रण एवं सर्वत्र योज्यम्। (वितिओत्ति) द्वीतीयो व्रणोऽप्रत्युपेक्षितखेलविवे–कादौ हा असमितोऽस्तीति किमिति सहसा अगुप्तो वा मिथ्यादुष्कृतमिति चिकित्सेत्ययं गाथार्थः ॥९॥

सद्दाइइएसु रागं, दोसं व मणे गओ तइअवणो।
नाउं अणेसणिज्जं, भत्ताइविगिंचणचउत्थे ॥१०॥

शब्दादिष्विष्टानिष्टेषु रागं द्वेषं च मनसा गतः अत्र (तइयवणोत्ति) तृतीयो व्रणः मिश्रभेषजचिकित्सा ओलोचनाप्रतिक्रमणशोध्य इत्यर्थः ज्ञात्वा अनेष्णीयभक्त्यादि विकिंचना चतुर्थ इति गाथार्थः ॥

उस्सग्गेण वि सुज्झइ, अइआरो कोइ कोइ उ तवेणं।
तेणं वि असुज्झमाणं, छेअविसेसो विसोहिं ति ॥११॥

कायोत्सर्गेणापि शुद्ध्यति अतिचासः कश्चित्कुस्वप्नादि कश्चित्तु तपसा पृथिव्यादिसंघट्टनादिज्न्यो निर्विकृतिकादिना षण्मासं

तेनाप्यशुध्यमानं तथाभूतं गुरुतरं छेदविशेषा विशोधयन्तीति गाथार्थः ॥११॥ एवं सप्तप्रकारभावव्रणचिकित्साऽपि प्रदर्शिता मूलादीनि तु विषयनिरूपणद्वारेण स्वस्थानादवसेयानि नेहवितन्यन्ते इत्युक्तमानुषङ्गिकम् । प्रकृतं प्रस्तुमः । एवमनेनानेकरूपेण संबन्धेनायातस्य कायोत्सर्गाध्ययनस्य चत्वार्यनुयोगद्वाराणि वक्तव्यानि तत्र नामनिष्पन्ने निक्षेपे कायोत्सर्गाध्ययनमिति कायोत्सर्गाध्ययनं च।

(४) कायोत्सर्गमधिकृत्य द्वारगाथामाह निर्युक्तिकारः।

निक्खेवे १ गड्ड २ विहाण, मग्गण ३ काल ४ भेअपरिमाणे ५। असढ ६ सढे ७ विहि ८ दोसा, ९ कस्स ति १० फलं च ११ दाराइ ॥१२॥

(णिक्खेवेत्ति) कायोत्सर्गस्य नामादिलक्षणो निक्षेपः कार्यः १ (एगट्ठित्ति) एकार्थकानि वक्तव्यानि (विहाणमग्गत्ति) विधानं भेदोऽभिधीयते भेदमार्गणा कार्या ३ (कालभेदपरिमाणमेत्ति) कालभेदपरिणामभिभवकायोत्सर्गासदिना वक्तव्यम् ४ भेदपरिमाणमुत्थितादिकायोत्सर्ग-भेदानां च यावत्तपस इति ५ (असठत्ति) असठकायोत्सर्गकर्त्ता वक्तव्य ६ स्तथा सठश्च वक्तव्यः ७ (विहित्ति) कायोत्सर्गकरणविधिर्वाचयः ८ (दोसत्ति) कायोत्सर्गदोषाश्च वक्तव्याः ९ (कस्सत्ति) कस्य कायोत्सर्ग इति। वक्तव्यम् १० (फलं चत्ति) ऐहिकामुष्मिकभेदफलं च वक्तव्यम् ११ (दाराइत्ति) एवावन्ति द्वाराणीति गाथासमासार्थः ॥१२॥

काए उसग्गम्मि अ, निक्खेवे हुंति दुन्नि उ विगप्पा।
एएसिं दुण्हंवी, पत्तेअपरूवणं वुच्छं ॥१३॥

व्यासार्थं तु प्रतिद्वारं भाष्यकृदेवाभिधास्यति (काएत्ति १३) तत्र काये कायस्य उत्सर्गः कायोत्सर्गविषयश्च एवं निक्षेपानिक्षेपविषयौ प्रतः द्वावेव विकल्पौ द्वावेव भेदौ अनयोर्द्वयोरुत्सर्गविकल्पयोः प्रातिकीं प्र पणां वक्ष्य इति गाथार्थः ॥१३॥ (कायशब्दनिक्षेपः कायशब्दे वक्ष्यते। उत्सर्गशब्दे उत्सर्गनिक्षेप उक्तः)

अधुना इह एकार्थकान्युच्यन्ते तत्रेयं गाथा

उस्सग्ग १ विउस्सरण २ उज्झणा य ३
अवकिरण ४ छड्डण ५ विवेगो ६।
वज्जण ७ चयणु ८ म्मुअणा ९
परिसाडण १० साडणा चेव ॥४०॥

उत्सर्गः व्युत्सर्जना उज्झना च अवकिरणं छर्दनं विवेकः वर्जनं त्यजनम् उन्मोचना परिशातना शातना चैवेति गाथार्थः। मूलद्वारगाथायामुक्तान्युत्सर्गैकार्थकानि ततश्च कायोत्सर्ग इति स्थितं कायस्य उत्सर्गः कायोत्सर्ग इति।

(५) इदानीं मूलद्वारगाथागतविधानमार्गणाद्वारावयवार्थव्याचिख्यासयाह

उस्सग्गे निक्खेवो, चउक्कओ छक्कओ अ कायव्वो।
निक्खेवं काऊणं, परूवणा तस्स कायव्वा ॥४१॥
सो उस्सग्गो दुविहो, चेट्ठाए अभिभवे अ णायव्वो।
भिक्खारिआइपढमो, उवसग्गाभिउंजणे बीओ ॥४२॥

कायोत्सर्गो द्विविधः (चेट्ठाएअभिभवेयणायव्वो) चेष्टायामभिभावे च ज्ञातव्यः। तत्र (भिक्खायरियादि पढमो) भिक्षाचर्यादौ विषये प्रथमश्चेष्टा कायोत्सर्गस्तथाहि चेष्टाविषय एवासौ भवतीति (उवसग्गभियुंजणे वितिओ) उपसर्गा दिव्यादयस्तैरभियोजनमुपसर्गाभियोजनं तस्मिन्नुपसर्गाभियोजने द्वितीयोऽभिभवकायोत्सर्ग इत्यर्थः। दिव्याद्यभिभूत एव महामुनिस्तदैवायं करोतीति हृदयम्। अथवा उपसर्गेणाभियोजनं सोढव्यमथोपसर्गस्तिद्वयं न कार्यमित्येवंभूतं तस्मिन् द्वितीय इति गाथार्थः ॥४२॥

इत्थं प्रतिपादिते सत्याह चोदकः कायोत्सर्गे हि साधूनां नोपसर्गाभियोजनं कार्यम् ॥

इहरह वि ता न जुज्जइ, अभिओगो किं पु णाइ उस्सग्गे।
नणु गव्वेण परपुरं, अभिगिज्झइ एवमेअं पि ॥४३॥

इतरथाअपि सामान्यकार्येऽपि तावत्क्वचिदवस्थानादौ न युज्यतेऽभियोगः। कस्यचित्कर्तुं (किं पुणाइ उस्सग्गेत्ति) किं पुनः कायोत्सर्गकर्म्मक्षयाय क्रियमाणे स हि सुतरां गर्वरहितेन कार्यः। अभियोगश्च गर्वो वर्त्तते नन्वित्यसूयथा गर्वेणाभियोगेन परपुरं शत्रुनगरमभिगृह्यते यथा तद्गर्वकरणमसाधु एवमे तदापि कायोत्सर्गेऽभियोजनमशोभनमेवेति गाथार्थः ॥४३॥

इत्थं चोदेनोक्ते सत्याहाचार्यः।

मोहपयडीभयं अमि भवितुं जो कुणइ काउसग्गं तु।
भयकारणे उ तिविहे, नाभिभवो नेह पडिसेहो॥४४॥

मोहप्रकृतितो भायं मोहप्रकृतिभयम्। अथवा मोहप्रकृतिश्चासौ भयंमिति समासः मोहनीयकर्म्मभेद इत्यर्थः। तथा हास्यरत्यरतिभयशोकजुगुप्साषट्कं मोहनीयभेदतया प्रतीतं तत् अभिभवितुमभिभूय कश्चित्करोति कयोत्सर्गम्। तुशब्दो विशेषणार्थः नान्यत् किंचन बाह्यमभिभूयेति भयकारणे तु त्रिविधेबाह्ये (भयकारणेति) दिव्य मनुष्यतिर्यग्भेदभिन्ने सति तस्य नाभिभवः नाभियोगः। अथ इत्थं भूतोऽप्यभियोगः इत्यत्रोच्यते (णेहपडिसेहो) इत्थंभूतस्याभियोगस्य नैव प्रतिषेध इति गार्थाः ॥४४॥ किंतु।

आगारेऊण परं, रणिव्व जइ सो करिज्ज उस्सग्गं।
जुज्जए अभिभवो तो, तदभावे अभिभवो कस्स ॥४५॥

(आगारेऊणत्ति) आकार्य रे क्व यास्यसि इदानीमेवं परमन्यं कंचन (रणिव्व) संग्राम इव यदि स कुर्यात्कायोत्सर्गं युज्यते अभिभवस्ततः तदभावे पराभावे अभिभवः कस्यचिदितिगाथार्थः ॥४५॥ तत्रैतस्माद्वयमपि कर्मांशो वर्त्तते कर्म्मणोऽपि चाभिभवः चोदकोक्तः खल्वेकान्तेन नैव कार्य एत्येतच्चायुक्तम् यतः।

अट्ठविहं पि अ कम्मं, अरिभूअं तेण तज्जयट्ठाए।
अब्भुट्ठिआ उ तवसं जमं च कुव्वंति निग्गंथा ॥४६॥

अष्टविधमप्यष्टप्रकारमपि चशब्दो विशेषणार्थस्तस्य व्यवहितः संबन्धः (अट्ठविहं पि अ कम्मं अरिभूतं च) ततश्चायमर्थः यस्मादज्ञानावरणीयादि अरिभूतं शत्रुभूतं वर्तते भवति बन्धनत्वात् चशब्दादचेतनं चेतनकारणं न तज्जयार्थं कर्म्मजयनिमित्तम् (अब्भुट्ठियाउत्ति) आभिमुख्येनोत्थिता एव एकान्तेन गर्वविकला अपि तपो द्वादशप्रकारं संयमं च सप्तदशप्रकारं कुर्वन्ति निर्ग्रन्थाः साधव इत्यतः कर्म्मजयार्थमेव स्यादिति भावनापि कायोत्सर्गे कार्यैवेति गाथार्थः ॥४६॥

तथा चाह

तस्स कसाया चत्तारि, नायगा कम्मसत्तुसिन्नस्स।
काउसग्गमभंगं, करेंति तो तज्जयट्ठाए ॥४७॥

तस्य प्रकृतशत्रुसैन्यस्य कषायाः प्राग्निरूपितस्वरूपाश्चत्वारः क्रोधादयो नायकाः प्रधानाः (काउस्सग्गमभंगं करें ति तो तज्जयट्ठाएत्ति) कायोत्सर्गमपीडितं कुर्व्वन्ति साधवस्ततस्तज्जयमत्तं तपःसंयमवदिति गाथार्थः ॥४७॥ गतमूलगाथायांविधानमार्गणाद्वारम् ।

(६)अधुना कालपरिमाणद्वारावसरस्तत्रेयं गाथा।

संवच्छरमुक्कोसं, अंतमुहुत्तं च अभिभवस्सग्गे ।
चेट्टा उस्सग्गस्सउ, कालपमाणं उवरि वुच्छं ॥४८॥

"संवत्सर" इत्यादि संवत्सरमुत्कृष्टकालपरिमाणं तथा च बाहुबलिना संवत्सरकायोत्सर्गः कृत अति (अंतोमुहुत्तं च) अभिभव कायोत्सर्गे अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकालपरिमाणमभिभवकायोत्सर्ग इति चेष्टा कायोत्सर्गस्य तु कालपरिमाणमनेकभेदभिन्नम् (उवरि वोच्छंति) उपरिष्टाद्वक्ष्याम इति गाथार्थः ॥४८॥ उक्तं तावदोघतः कायोत्सर्गपरिमाणद्वारम् ।

(७) अधुना भेदपरिमाणमधिकृत्याह।

उस्सिउस्सिओ अ १ तह उस्सिओ अ २ उस्सिअनिसन्नओ चेव ३। निसन्नउसिओ ४निसन्नो, ५ निसन्नगनिसन्नओ चेव ६ ॥४९॥
निवन्नुसिओ ७ निवन्नो ८ निवन्नगनिवन्नगो अ नायव्वो ९ । एएसिं तु पयाणं, पत्तेअपरूवणं वोच्छं ॥५०॥

उत्सृतोत्सृतः १ उत्सृतश्च २ उत्सृतनिषण्णः ३ निषण्णोत्सृतः ४ निषण्णः ५ निषण्णनिषण्ण ६ श्चैवेति गाथासमासार्थ : ॥४९॥ (णिवणुसिउगाहा) निवन्नोत्सृतः ७ निपन्नः ८ निपन्ननिपन्न ९ श्च ज्ञातव्यः। एतेषां तु पदानां प्रत्येकं प्ररूपणं वक्ष्ये इति गाथासासार्थः ॥५०॥

अवयवार्थमुपरिष्टाद्वक्ष्यामः तत्र।

उस्सिअनिस्सन्नगनिवन्नगे, अ इक्किक्कगम्मि पदे ।
दव्वेण य भावेण य, चउक्कभयणा उ कायव्वा ॥५१॥

उत्सृतनिषण्णनिपन्नेषु एकैकस्मिन्नेव पदे (दव्वेण य भावेण य) द्रव्यभावाभ्यां चतुष्कभजना कार्या। "चउक्कभयणा उ कायव्वा" द्रव्यतः उत्सृतः ऊर्द्धस्थानस्थः भावतः धर्मशुक्लध्यायी १ अन्यस्तु द्रव्यत उत्सृतः उर्द्धस्थानस्थो न भावत उत्सृतः ध्यानचतुष्टयरहितः कृष्णादिलेश्यां गतपरिणाम इत्यर्थः २ अन्यस्तु न द्रव्यत उत्सृत उर्द्धस्थानस्थो भावत् उत्सृतः धर्मशुक्लध्यायी ३ अन्यस्तु न द्रव्यतो नापि भावतः। इत्ययं प्रतीतार्थ एवमन्यपदचतुर्भङ्गकावपि वक्तव्याविति गाथार्थः॥५१॥ इत्थं सामान्येन भेदपरिमाणे निदर्शिते सत्याह चोदकः। ननु कायोत्सर्गकरणे कः पुनर्गुण इत्यत्राहाचार्यः।

देहमइजड्डसुद्धी, सुहदुक्खतितिक्खया अणुप्पेहा ।
झायइ अ सुहं झाणं, एगग्गो काउस्सग्गम्मि ॥५२॥

(देहमइजड्डसुद्धित्ति) देहजडशुद्धिश्लेष्मादिप्रहाणतो मतिजाड्यशुद्धिस्तथावस्थितस्योपयोगविशेषतः (सुहदुक्खतितिक्खयत्ति) सुखदुःखतितिक्षा सुखदुःखातिसहनमित्यर्थः(अणुप्पेहा) अनित्यत्वाद्यनुप्रेक्षा च तथा ऽवस्थितस्य भवति। तथा (झायइ य सुहं झाणंति ध्यायति च शुभध्यानं धर्म्ममुक्तलक्षणम् एकाग्र एकचित्तः शेषव्यापाराभावात्कायोत्सर्गे इति इहानुप्रेक्षा ध्यानादौ ध्यानोपरमे च भवतीति कृत्वा भेदेनोपन्यस्तेति गाथार्थः ॥५२॥ इह ध्यायति चच शुभध्यानमित्युक्तं तत्र किमिदं ध्यानमित्यत आह।

अंतोमुहुत्तकालं, चित्तस्सेगग्गया हवइ झाणं ।
तं पुण अट्टं रुद्दं, धम्मं सुक्कं च नायव्वं ॥५३॥

द्विघटिको मुहर्त्तः भिन्नो मुहूर्त्त इत्युच्यतेऽन्तर्मुहुर्त्तकालं चित्तस्यैकाग्रता भवति ध्यानमिति कृत्वा तत्पुनरार्त्तं रौद्रं धर्म्मं शुक्लं च ज्ञातव्यमिति। तथा च स्वरूपं यथा प्रतिक्रमणाध्ययने प्रतिपादितं तथैव द्रष्टव्यमिति गाथार्थः ॥५३॥

तत्थ उ दो आइल्ला, झाणा संसारवट्टणा मणिया ।
दुन्नि य विमुक्कहेऊ, ते हहिगारो न इयरेहिं ॥५४॥

निगदसिद्धा । सांप्रतं यदा भूतो यत्र यथा स्थितो यच्च ध्यायति तदेतदभिधित्सुराह।

संवरिआसवदारो, अव्वावाहो अकंटए देसे ।
काऊण थिरं ठाणं, ठिओ निसन्नो निवन्नो वा ॥५५॥
चेअणमचेअणं वा, वत्थुं अवलंबिउं घणं मणसा ।
झायइ सुअमत्थं वा, दविअं तप्पज्जए वा वि ॥५६॥

(संवरिआसवदारोत्ति) संवृतानि स्थगितानि आश्रवद्वाराणि प्राणातिपातादीनि येन स तथाविधः ध्यायति (अव्वावाधे अकंटए देसत्ति) अव्यावाधे गन्धर्वादिलक्षणभावाव्यावाधाविकले अकण्टके पाषाणादिद्रव्यकण्टकविकले देशे भूभागे कथं व्यवस्थितो ध्यायति (काऊण थिरं ठाणं ठितो णिसण्णो निवण्णो वा) कृत्वा स्थिरें निष्प्रकम्पनं स्थानमवस्थितविशेषलद्वणं स्थितो निषण्णो निवन्नो वकति प्रकटार्थः। चेतनं पुरुषादि अचेतनं प्रतिमादि वस्तु अवलम्ब्य विषयीकृत्य घनं दृढमनसा अन्तःकरणेन ध्यायति "सुयं वा अत्थं वा" ध्यायति संबध्यते सूत्रं गणधरादिनिबद्धम् अर्थं वा तद्गोचरम् किंभूतमर्थमित्यत आह (दवियं तप्पज्जवेयावि) द्रव्यं तत्पर्यायान् वा इह च यदा सूत्रं ध्यायति तदा तदेव सूत्रगतधर्ममालोचयति न त्वर्थं यदार्थं न तदा सूत्रमिति गाथाद्वयार्थः ॥५६॥

अधुनाप्रकटप्रकृत एव कुचोद्यपरिहारायाह।

तत्थ उ भणिज्ज कोई, झाणं जो माणसो परीणामो ।
तं न भवइ जिणदिट्ठं, झाणं तिविहे वि जोगम्मि ॥५७॥

तत्र भणेत् ब्रूयात् कश्चित् किं ब्रूयादित्याह । (झाणं जो माणसो परिणामोत्ति) ध्यानं यो मानसः परिणामः ध्यै चिन्तायामित्यस्य चिन्तार्थत्वादित्थमाशङ्क्योत्तरमाह। तन्न भवति (जिणदिट्ठं झाणं तिविहे वि जोगम्मि) तदेतन्न भवति तत्परेणाभ्यधायि कृतः यस्माज्जिनैर्दृष्टं ध्यानं त्रिविधेऽपि योगे मनोवाक्कायलक्षण इति गाथार्थः ॥५७॥ किंतु कस्यचित्कदाचित्प्राधन्यमाश्रित्य भेदेन व्यपदेशः प्रवर्तते तथा चामुमेव न्यायं प्रदर्शयन्नाह।

वायाई धाऊणं, जो जाहे होइ उक्कडो धाऊ ।
कुविउत्ति सो पवुच्चइ, न य इअरे तत्थ दो नत्थि ॥५८॥

वातादिधातूनामादिशब्दाद्वातपित्तश्लेष्मणां यो यदा भवत्युत्कटः प्रचुरो धातुः कुपित इति स प्रोच्यते उत्कटत्वेन प्राधान्यात् (न य इयरे तत्थ दो नत्थित्ति) न चेतरौ तत्र द्वौ नास्त इति गाथार्थः ॥५८॥

एमेव य जोगाणं, तिण्हवि जो जागि उक्कमो जोगो ।

तस्स तहिं निद्देसो, इअरो तत्थि क्क दो व न वा ॥५९॥

एवमेव च योगानां मनोवाक्कायानां त्रयाणामपि यदा उत्कटः योगस्तस्य योगस्य तदा तस्मिन्काले निर्देशः (इतरेतत्थिक्क दो व न वा) इतरस्तत्रैको भवति द्वौ वा भवतः न वा भवत्येव। इयमत्र भावना केवलिनः वाचि उत्कटायां कायोऽप्यस्ति अस्मदादीनां तु मनः कायो न वेति केवलिनः एव शैलेश्यवस्थायां काययोगनिरोधकाले स एव केवल इत्यनेन च शुभयोगोत्कटत्वं तथा निरोधश्च द्वयमपि ध्यानमित्यादि वेदितव्यमिति गाथार्थः ॥५९॥

इत्थं य उत्कटो योगस्तस्यैवेतराऽसद्भावेऽपि प्राधान्यात् सामान्येन तमभिधायाधुना विशेषेण त्रिप्रकारमप्युपदर्शयन्नाह।

काए वि अ अज्झप्पं, वायाइमणस्स चेव जह होइ।
कायवयमणो जुत्तं, तिविहं अज्झप्पमाहंसु ॥६०॥

कायेऽपि च अध्यात्मनि वर्त्तत अत्यध्यात्मं ध्यानमित्यर्थः। एकाग्रतया एजनादिनिरोधात् (वायाएत्ति) तथा वाचि अध्यात्मं तथा एकाग्रतयैवायतभाषानिरोधत् (मणस्स चेव जह होइत्ति) मनसश्चैव यथा भवत्यध्यात्मम्। एवं कायेऽपि वाचि चेत्यर्थः। एवं भेदेनाभिधायाधुनैकदैवोपदर्शयन्नाह ''कायवाङ्मनोयुक्तं त्रिविधमध्यात्ममाख्यातवन्तस्तीर्थकरा गणधराश्च वक्ष्यन्ते च भंगियं सुयं गुणं ते वट्टइ तिविहे जोग'' मिति गाथार्थः ॥६०॥

पराभ्युपगतध्यानसाम्यप्रदर्शनेनानभ्युपगतयोरपि ध्यानतां प्रदर्शयन्नाह।

जइ एगग्गं चित्तं, धारयओ वा निरुंभओ वा वि।
झाणं होइ नणु तहो, इअरेसु वि दोसु एमेव ॥६१॥

हेआयुष्मन्यद्येकाग्रं चित्तं क्वचिद्वस्तुनि धारयतो वा स्थिरतया देहव्यापिविषवद्भङ्ग इति निरुम्भतो वा चित्तनिरुधानस्य वा तदपि योगनिरोध इव केवलिनः किमित्याह ध्यानं भवति मानसं यथा तथा इतरयोरपि द्वयोर्वाक्काययोरेवमेव एकाग्रधारणादिनैव प्रकारेण तल्लक्षणयोगध्यानं भवतीति गाथार्थः ॥६१॥ इत्थं त्रिविधे ध्याने सति यस्य यदोत्कटत्वं तस्य तदेतरसद्भावेऽपि प्राधान्याद्व्यदेश इति लोकोत्तरानुगतश्चायं न्यायो वर्त्तते तथाचाह।

देसिअदंसिअमग्गमे, वच्चंतो नरवई लहइ सद्दं।
रायत्ति एस वच्चइ, सेसे अणुगामिणो तस्स ॥६२॥

देशयतीति देशकः अग्रयायी देशकेन दर्शितो मार्गः पन्था यस्य स तथोच्यते व्रजन् गच्छन् नरपती राजा लभते शब्दं प्राप्नोति। शब्दं किं भूतमित्याह (रायत्ति एव वच्चइ त्ति) राजा एष व्रजतीति न चासौ केवलः प्रभूतलोकानुगतत्वान्नच तदन्यव्यपदेशस्तेषामप्राधान्यात् तथा चाह (सेसा अणुगामिणो तस्सत्ति) शेषा अमात्यादयः अनुगामिनोऽनुयातारस्तस्य राज्ञः इत्यतः प्राधान्याद्राजेति व्यपदेश इति गाथार्थः॥६२॥

अयं लोकानुगतो न्यायः अयं पुनर्लोकोत्तरानुगतः।

पढमिल्लुगस्स उदए, कोहस्सिअरे वि तिन्नि तत्थ त्थि।
न य ते न संति तहिअ, नयपाहन्नं तहेअं पि ॥६३॥

प्रथम एव प्रथमेल्लुकः। प्रथमत्वं चास्य सम्यग्दर्शनाख्यप्रथमगुणघातित्वात्तस्य प्रथमेल्लुकस्य उदये कस्य क्रोधस्य अनन्तानुबन्धिन इत्यर्थः।(इयरे वि तिन्नि तत्थ त्थि)शेषा अपि त्रयः अप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणसंज्वलनोदयवन्तस्तत्र जीवद्रव्ये सति न चातीताद्यपेक्षया तत्सद्भावः प्रतिपाद्यते। यत आह (न य ते न संति तहिअं) न च ते अप्रत्याख्यानावरणादयो न सन्ति तदा किंतु सत्येव नच प्राधान्यं तेषामतो न व्यपदेशः। आद्यस्यैव व्यपदेशः (तहेयं पि) तथैतदप्यधिकृतं वेदितव्यमिति गाथार्थः ॥६३॥

अधुना स्वरूपतः कायिकं मानसं च ध्यानमावेदयन्नाह।

मा मे एअउ काओ त्ति, अचलओ काइअं हवइ झाणं।
एमेव य माणसिअं, निरुद्धमणसो हवइ झाणं ॥६४॥

मा मे मम (एअउ काउत्ति) एजतु कम्पतां कायो देह इति एवमचलत एकाग्रतया स्थितस्येति भावना। किंकायेन निर्वृत्तं कायिकं भवति ध्यानम् एवमेव मानसं निरुद्धं मनसो भवति ध्यानमिति गाथार्थः ॥६४॥

इत्थं प्रतिपादिते सत्याह चोदकः।

जह कायमणनिरोहे, झाणं वायाइजुज्जइ न एवं।
तम्हा वई उ जाणं, न होइ को वा वि सेमुत्थ ॥६५॥

ननु यथा कायमनसो निरोधे ध्यानं प्रतिपादितं भवता (वायाए जुज्जइ न एवंति) वाचि युज्यते (ण एवंति) नैवं कदाचिदप्रवृत्यैव निरोधाभावात्। तथाहि न कायमनसी यथा सदावृत्ते तथा वागिति। (तम्हावति तु झाणं नहोई) तस्माद्वाग्ध्यानं न भवत्येव तुशब्दस्यैवकारार्थत्वाद्व्यवहितप्रयोगाच्च को वा विशेषोऽत्र येनेत्थमपि व्यवस्थिते सति वाक्प्राधान्यं भवतीति गाथार्थः।

इत्थं चोदकेनोक्ते सत्याह गुरुः।

मा मे चलउ त्ति तणू, जह तं झाणं णिरेइणो होइ।
अजया भासविवज्जिस्स, वाइअं झाणमेवं तु ॥६६॥

मा मे चलतु कम्पतामितिशब्दस्य व्यवहितः प्रयोगः। तं दर्शयिष्यामः तनुः शरीरमेवं चनलक्रियानिरोधेन यथा तद्ध्यानं (णिरियणो होत्ति) निरेजनस्य निष्कम्पस्य भवति (अजयाभासविविज्जिस्स वाइयं झाणमेवं तु) अयतो भाषाविवर्जिनो दुष्टवाक्परिहर्तुरित्यर्थः। वाचिकध्यानमेव यथा कायिकं तुशब्दोऽवधारणार्थ इति गाथार्थः।

साम्प्रतं स्वरूपत एव वाचिकध्यानमुपदर्शयन्नाह।

एवंविहा गिरा मे, वत्तव्वा एरिसा न वत्तव्वा।
इअ वेआलिअवक्कस्स, भासओ वाइअं झाणं ॥६७॥

एवं विधेति निरवद्या गीर्वागुच्यते मेति मया वक्तव्या। (एरिसित्ति) ईदृशी सावद्य न वक्तव्या (इयवेयाजियवक्कस्स भासंतो वाचिअं झाणं) एवमेकाग्रतया विचारितवाक्यस्य समो भाषमाणस्य वाचिकं ध्यानमिति गाथार्थः ॥६७॥

एवं तावद्व्यवहारभेदेन त्रिविधमपि ध्याननमावेदितमधुनैकदैव एकत्रैव त्रिविधमपि दर्शयते।

मणसा वावारंतो, कायं वायं च तप्परीणामो।
भंगिअसुअं गुणंतो, वट्टइ तिविहे वि झाणम्मि ॥६८॥

मनसाऽन्तःकरणेनोपयुक्तः सन्व्यापारयन्कायं देहं च वाचं च भारतीं च (तप्परिणामोत्ति) तत्परिणामो विवक्षितश्रुतपरिणामः। अथवा तत्परिणामो योगत्रयपरिणामः। स तथाविधः शस्तो योगत्रयपरिणामो यस्यासौ तत्परिणाम इति। तद्भङ्गि-

कश्रुतदृष्टिवादान्तर्गतमन्यद्वा तथाविधः (गुणंतोत्ति) गुणयन् वर्त्तते त्रिविधेऽपि ध्याने मनोवाक्कायव्यापारलक्षण इति गाथार्थः॥६८॥ अयसातमानुषङ्गिकं साम्प्रतं भेदपरिणामं प्रतिपादयता उत्थितोत्थिता-दिभेदो यो नवधा कायोत्सर्ग उपन्यस्तः स यथायोगं व्याख्यायत इति। तत्र

धम्मं सुक्कं च दुवे, झायइ झाणाइ जो ठिओ संतो।
एसो काउस्सग्गो, उसिउसिओ होइ नायव्वो॥६९॥

धर्मं शुक्लं च प्राक्प्रतिपादितस्वरूपमेते द्वे ध्यायते ध्याने यः कश्चित्स्थितः सन् एष कायोत्सर्ग उत्थितो भवति ज्ञातव्यो यस्मादिह शरीरमुत्थितभावोऽपि धर्मं शुक्लं ध्यात्वा उत्थित एवेति गाथार्थः॥६९॥ गतः खल्वेको भेदः।

अधुना द्वितीयः प्रतिपाद्यते।

धम्मं सुक्कं च दुवे, न वि झायइ न वि अ अट्टरुद्दाइं।
एसो काउस्सग्गो, दव्वुसिओ होइ नायव्वो॥७०॥

धर्मं शुक्लं च द्वे नापि ध्यायति नापि आर्त्तरौद्रे एष कायोत्सर्गो द्रव्योत्थितो भवतीति ज्ञातव्य इति गाथार्थः।

कस्यां पुनरवस्थायां न शुभां ध्यानं ध्यायति नाप्यशुभमित्यत्रोच्यते

पयलायं तसु सुत्तो, नेव सुहं झाइ झाणमसुहं वा।
अव्वावारिअचित्तो, जागरमाणो वि एमेव॥७१॥

प्रचलायमान ईषत्स्वपन्नित्यर्थः (सुत्तेति) सुष्ठु सुप्तः स खलु नैवं शुभं ध्यायति ध्यानं धर्मं शुक्ललक्षणं अशुभं वा आर्त्तरौद्रलषणं न व्यापारितं क्वचिद्वस्तुनि चित्तं येन स अव्यापारितचित्तः यश्चिरं जाग्रदपि एवमेव शुभं ध्यायति नाप्यशुभमिति गाथार्थः॥७१॥ किं च

अचिरोववन्नगाणं, मुच्छिअ अव्वत्तमत्तसुत्ताणं।
ओहारिअमव्वत्तं, च होइ पाएण चित्तंति॥७२॥

न चिरोपपन्नका अचिरोपपन्नकास्तेषामचिरोपपन्नानामचिर-जातानामित्यर्थः। मूर्च्छिताव्यक्तमत्तसुप्तात्मनां मूर्च्छितानामभिघा-तादिना अव्यक्तानामव्यक्तचेतसां मत्तानां मदिरादिना सुषुप्तानां निद्रया इहाव्यक्तानामिति यदुक्तं तत्राव्यक्तचेतसः अव्यक्तास्तत्पुनरव्यक्तं कीदृशमिष्याह (ओहाडियमव्वत्तं च होइ पाएण चित्तं तु) स्थगितं विषादिना तिरस्कृतस्वभावमव्यक्तं च अव्यक्तमेव चशब्दोऽवधारणे भवति प्रायश्चित्तमिति प्रायोग्रहणादन्यथाऽपि संभवतीति गाथार्थः। स्यादेतत् एवं भूतस्यापि चेतसो ध्यानताऽस्तु को विरोध इत्यत्रोच्यते। तदेवं यस्मात्।

गाढालंवणलग्गं, चित्तं वुत्तं निरेअणं झाणं।
सेसं न होइ झाणं, मउअमवत्तं भमं तं च॥७३॥

गाढालम्बने लग्नं गाढालम्बनलग्नम्। गाढालम्बनमेकालम्बने स्थिरतया व्यवस्थितमित्यर्थः। चित्तमन्तःकरणमुक्तं भणितं निरेजनं निष्प्रकम्पं ध्यानं यतश्चैवमतः शेषमस्मादन्यत्तन्नभवति ध्यानं किंभूतम् (मउयमवत्तं भमं तं च) मृदुभावनायामठोरमव्यक्तं पूर्वोक्तं भ्रमत्वानवस्थितं चेति गाथार्थः। आह, यदि चित्तं ध्यानं न भवति वस्तुतः अव्यक्तत्वात्कथमस्य पश्चादपि व्यक्तता इत्यत्राह।

उम्हासेसो वि सिही, होउं लद्धिंधणो पुणो जलइ।
इअ अव्वत्तं चित्तं, होउं बत्तं पुणो होइ॥७४॥

ऊष्मावशेषोऽपि मनागपि उष्ण इत्यर्थः शिखी अग्निः भूत्वा लब्धेन्धनः प्राप्तकाष्ठादिः सन्पुनर्ज्वलति (इअत्ति) एवमव्यक्तं चित्तं मदिरादिना भूत्वा व्यक्तं पुनर्भवत्यग्निवदितः गाथार्थः। इत्थं प्रासंगिकं कियदप्युक्तम् अधुना प्रकान्तवस्तुशुद्धिः क्रियते। किं च प्रकान्तं कायिकादिविधध्यानं यत उक्तं "भंगियसुयं गुणेतो, वट्टइ तिविहे वि झाणम्मि" इत्यादि एवं च व्यवस्थिते "अंतो मुहुत्तकालं, चित्तमेगग्गया भवति झाणं" यदुक्तमस्मा-द्विनेयस्य विरोधाशङ्काव्यामोहः स्यादतस्तदपनोदायाशङ्कामाह

पुण पुव्वं च जदुत्तं, चित्तस्सेगग्गया हवइ झाणं।
आवन्नमणेगग्गं, चित्तं चिअ तं न तं झाणं॥७५॥

पुनस्त्रिविधे ध्याने सति पूर्वं च यदुक्तं चित्तस्यैकाग्रता भवति ध्यानम्। "अंतोमुहुत्तकालं चित्तस्सेगग्गया भवति झाणं" इति वचनात् च शब्दादचेतन ऊर्द्ध्वमुक्तम् "भंगियसुयं गुणेतो, वट्टइ तिविहे वि झाणम्मि" तदेतत्परस्परविरुद्धं कथं यतस्त्रिविधे ध्याने सति आपन्नमनेकविषयं ध्यानमिति तथाहि मनसा किंचिद्ध्यायति वाचाऽभिधत्तेकायेन क्रियां करोतीत्यनेकाग्रता। अत्राचार्य इदमनादृत्य सामान्येनानेकाग्रचित्तं हृदि कृत्वाकाक्षाह "चित्तं चिय तं न तं झाणं" यदनेकाग्रं तच्चित्तमेव न तद्ध्यानमिति गाथार्थः। आह उक्तन्यायादनेकाग्रं त्रिविधं तस्मात्तर्हि ध्यानत्वानुपपत्तिर्ना–भिप्रायपरिज्ञानात् तथाहि।

मणसहिएण उ काएण, कुणइ वायाइ भासई जं च।
एअद्धि भावकरणं, मणरहिअं दव्वकरणं तु॥७६॥

मनःसहितेनैव कायेन करोति यदिति संबध्यते उपयुक्तो यत्करोतीत्यर्थः। वाचा भाषते यच्च मनःसहितया एतदेव भावकरणं वर्त्तते। भावकरणं च ध्यानं मनोरहितं तु द्रव्यकरणं भवति। ततश्चैतदुक्तं भवतीहानेकाग्रतैव नास्ति सर्वेषामेव मनः प्रभृतीनामेकविषयत्वात्। तथाहि स यदेव मनसा ध्यायति तदेवाभिधत्ते तत्रैव च कायक्रियेति गाथार्थः।

इत्थं प्रतिपादिते सत्यपरस्त्वाह।

जइ ते चित्तं झाणं, एवं झाणमवि चित्तमावन्नं।
तेन किर चित्तझाणं, अह नेवं झाणमन्नं ते॥७७॥

यदि ते तव चित्तं ध्यानम् "अंतो मुहुत्तकालं, चित्तस्सेगग्गया हवइ झाणं" इति वचनात्। एवं ध्यानमपि चित्तमापन्नं ततश्च कायिकवाचिक-ध्यानासंभव इत्यभिप्रायस्तेन किल चित्तमेव ध्यानं नान्यदिति हृदयम्। अथ नैवमिष्यते माभूत्कायिकवाचिके ध्याने न भविष्यति इति इत्थं तर्हि ध्यानमन्यत्ते तव चित्तादिति गम्यते यस्मान्नावश्यं ध्यानं चित्तमिति गाथार्थः।

अत्राचार्य आह अभ्युपगमादिदोषम् तथाहि

नियमा चित्तं झाणं, चित्तं झाणं न या विभइअव्वं।
जह खइरो होइ दुमो, अ खइरो अ खइरो वा॥७८॥

"निअमा झाणं चित्तं चित्तं झाणं" इति पाठान्तरं व्याख्यान्तरे नियमान्नियमेन उक्तलक्षणं चित्तं ध्यानमेव(झाणं विभइयव्वं) ध्यानं तु चित्तं न चाप्येवं विभक्तव्यं विकल्पनीयम्। अत्रैवार्थे दृष्टान्तमाह "जह खइरो होइ दुमो, दुमो अ खइरो अ खइरो वा" यथा खदिरो भवति द्रुम एव द्रुमस्तु खदिरः अखदिरो वा धवादि चेत्ययं गाथार्थः। अन्ये पुनरिदं गाथाद्वयमतिक्रान्ते गाथां चैवाक्षेपद्वारेणान्यथा व्याचक्षते यदुक्तं "चित्तं चिय तं न तं झाणंति" इत्येतदसत्कथम् "यदि

ते चित्तं झाणं, एवं झाणमवि चित्तमावन्नं। सामान्येन ''तेन किर चित्तझाणं, अह नेवं झाणमन्नं ते '' चित्तात् अत ऊर्ध्वं पाठान्तरेणोत्तरगाथा ''नियमा झाणं चित्तं, चित्तं झाणं न या विभइयव्वं'' यतो व्यक्तादि चित्तं न ध्यानमिति। 'जह खइरो' इत्यादि निदर्शनं पूर्ववत् अलं प्रसङ्गेन। प्रकृतं प्रस्तुमः। प्रकृतश्च द्वितीय उत्थिताभिधानकायोत्सर्गभेद इति स व्याख्यातः नवरं तत्र ध्यानचतुष्टयध्यायी लेश्यापरिगतो वेदितव्य इति।

इदानीं तृतीयः कायोत्सर्गभेदः प्रतिपाद्यते।

अट्टं रुद्दं च दुवे, झायइ झाणाइ जो ठिओ संतो।
एसो काउस्सग्गो, दव्वुसिओ भावओ निसन्नो ॥७९॥

निगदसिद्धैव –

अधुना चतुर्थकायोत्सर्गभेदः प्रदर्श्यते तत्रेयं गाथा।

धम्मं सुक्कं च दुवे, झायइ झाणइ जो निसन्नो अ।
एसो काउस्सग्गो, निसन्नुसिओ होइ नायव्वो ॥८०॥

निगदसिद्धैव। नवरं कारणिक एव ग्लानस्थविरादिननिषण्णकारी वेदितव्यः वक्ष्यते अत्रान्तरत इत्यादि। अधुना पञ्चमकायोत्सर्गभेदः प्रदर्श्यते।

धम्मं सुक्कं च दुवे, न वि झायइ न वि अ अट्टरुद्दाइं।
एसो काउस्सग्गो, निसन्नओ होइ नायव्वो ॥८१॥

अधुना षष्ठः कायोत्सर्गभेदः प्रतिपाद्यते

अट्टं रुद्दं च दुवे, झायइ झाणाइ जो निसन्नो उ।
एसो काउस्सग्गो, निसन्नगनिसन्नगो नाम ॥८२॥

अधुना सप्तमःकायोत्सर्गभेदः प्रतिपाद्यते।

धम्मं सुक्कं च दुवे, झायइ झाणाइ जो निवन्नो उ।
एसो काउस्सग्गो, निवन्नुसिओ होइ नायव्वो ॥८३॥

निगदसिद्धा। नवरं कारणिक एव ग्लानस्थविरादिर्यो निष्पन्नोऽपि कर्तुमसमर्थः स निषन्नकारी गृह्यते।

साम्प्रतमष्टमकायोत्सर्गभेदो निदर्श्यते।

धम्मं सुक्कं च दुवे, न वि झायइ न वि य अट्टरुद्दाइं।
एसो काउस्सग्गो, निवन्नओ होइ नायव्वो ॥८४॥

निगदसिद्धा। इहापि च प्रकरणानि निषन्नः सन्धर्मादीनामध्यापयतीत्यवगन्तव्यम्।

अधुना नवमः कायोत्सर्गभेदः प्रतिपाद्यते।

अट्टं रुद्दं च दुवे, झायइ झाणाइ जो निवन्नो उ।
एसो काउस्सग्गो, निवन्नगो होइ नायव्वो ॥८५॥
अतरंतो निसन्नो, करिज्ज तह वि अ सहू निवन्नो उ।
संबाहुवस्स ए वा, कारणिअ समत्थ वि निसन्नो ॥८६॥

निगदसिद्धा (अतरंतोगाहा) निगदसिद्धैव नवरम् (कारणिसमत्थो वि निसन्नोत्ति) यो हि गुरुवैयावृत्यादिना व्यावृत्तः कारणिकः समर्थोऽपि निषन्नः करातीति। इत्थं तावत्कायोत्सर्ग उक्तः। अत्रान्तरे अध्ययनशब्दार्थो निरूपणीयः स चान्यत्रान्यक्षणनिरूपितत्वान्नेहाधिकृतः। गतो नाम निष्पन्नो निक्षेपः।

साम्प्रतं सूत्रालापकनिष्पनस्य निक्षेपस्यावसरः। स च तावत् सति भवति सूत्रं च सूत्रानुगम इत्यादि प्रपञ्चो वक्तव्यः यावत् तच्चेदं सूत्रम्।

नमो अरिहंताणं करेमि भंते ! सामाइयं० इच्छामि ठामिकाउस्सग्गं जो मे देवसिओ०॥

''करेमि भंते ! सामाइयं'' इत्यादि यावत् ''अप्पाणं वोसिरामि''। अस्य संहितादिलक्षणा व्याख्या यथा सामायिकाध्ययने तथाऽवगन्तव्या पुनरभिधाने च प्रयोजनं वक्ष्यामः। इदमपरं सूत्रम् ''इच्छामि ठामि काउस्सग्गं जो मे देवसिओ अइयारो कओ'' इत्यादि यावत् ''तस्स मिच्छामि दुक्कडं'' अस्य व्याख्या तल्लक्षणं चेदं संहिता चेत्यादि तत्र इच्छामि स्थातुं कायोत्सर्गं यो मे दैवसिकोऽतिचारः कृत इत्यादि। संहितापदानि तु इच्छामि स्थातुं कायोत्सर्गं यो मया दैवसिकः अतिचारः कृत इत्यादीनि। पदार्थस्तु ''इषु इच्छायाम्'' इत्यस्तोत्तमपुरुषैकवचनस्य ''इषुगमियमां छः ७।३।७७'' इति छत्वे इच्छामीति भवति इच्छाम्यभिलाषामि स्थातुमिति 'ष्ठा गतिनिवृत्तौ' इत्यस्य तुमुन्प्रत्ययान्तस्य स्थातुमिति भवति। कायोत्सर्गमिति 'चिञ् चयने' अस्य घञन्तस्य 'निवासचितिशरीरोपसमाधानेष्वादेश्च क ३।३।४१' इति चीयत इति कायः देह इत्यर्थः 'सृजविसर्ग' उत्पूर्वस्य घञि उत्सर्गो भवति। शेषपदार्थो यथा प्रतिक्रमण इति पदविग्रहस्तु यानि समासभाञ्जि पदानि तेषामेव भवति नान्येषामिति नात्र इच्छामि स्थातुं कायस्योत्सर्गः कायोत्सर्गः इति तं शेषपदविग्रहो यथा प्रतिक्रमण एव चालना प्रत्यवस्थानं च यथासंभवमुपरिष्टाद्वक्ष्यामः।

तथेदमन्यत्सूत्रम्।

तस्सुत्तरीकरणेणं पायच्छित्तकरणेणं विसोहीकरणेणं विसल्लीकरणेणं पावाणं कम्माणं निग्घायणट्ठाए ठामिकाउसग्गं अन्नत्थुससिएणं नीससिएणं खासिएणं छीएणं जंभाइएणं उड्डुएणं वायनिसग्गेणं भमलीए पित्तमुच्छाए सुहुमेहिं अंगसंचालेहिं सुहुमेहिं खेलसंचालेहिं सुहुमेहिं दिट्ठिसंचालेहिं एवमाइएहिं आगारेहिं अभग्गो अविराहिओ हुज्ज मे काउस्सग्गो जाव अरिहंताणं भगवंताणं नमुक्कारेणं न पारेमि कायं ठाणेणं मोणेणं झाणेणं अप्पाणं वोसिरामि॥

अस्य व्याख्या। मस्योत्तरीकरणेन तस्येति तस्यानन्तरप्रस्तुतस्य श्रमणयोगसंघातस्य कथंचित्प्रमादात् खण्डनादिनाधःकृतस्यं उत्तरीकरणेन हेतुभूतेन ''ठामि काउस्सग्गे'' नियोगः तत्रोत्तरद्वारेण पुनः संस्करणद्वारेणोत्तरीकरणमुच्यते अनुत्तरमुत्तरं क्रियत इति उत्तरीकरणं कृतिः करणमिति। तत्र प्रायश्चित्तकरणद्वारेण भणतीत्यत आह (पायच्छित्तकरणेणं) प्रायश्चित्तशब्दार्थं वक्ष्यामस्तस्य करणं प्रायश्चित्तकरणं तेन अथ वासादीनि प्रतिक्रमणवासनानि विशुद्धौ कर्त्तव्यायां मूलकरणमिदं पुनरुत्तरकरणमतस्तेनोत्तरकरणेन प्रयश्चित्तकरणेनेति क्रिया पूर्ववत्प्रायश्चित्तकरणं च विशुद्धिद्वारेण भवत्यत आह। (विसोहीकरणेणं) विशोधनं विशुद्धिरपराधमलिनस्यात्मन इत्यर्थः तस्याः करणं तेन हेतुभूतेनेति। विशुद्धिकरणं च विशल्याः करणद्वारेण भवत्यत आह (विसल्लीकरणेणं) विगतानि शल्यानि मायादीनि यस्यास विशल्यस्तस्य करणं तेन हेतुभूतेन (पावाणं कम्माणं निग्घायणट्ठाए ठामि काउस्सग्गं) पापानां संसारनिबन्धनानां कर्म्मणां ज्ञानावरणादीनां निर्घात-

नार्थं निर्घातननिमित्तं व्यापत्तिनिमित्तमित्यर्थं किं तिष्ठामि कायोत्सर्गं कायस्योत्सर्गः कायोत्सर्गः कायपरित्याग इत्यर्थः । एतदुक्तं भवति अनेकार्थत्वाद्धातूनां तिष्ठामीति करोमि कायोत्सर्गव्यापारवतः कायस्य परित्याग इति भावना । किं सर्वथा नेत्याह (अन्नत्थुससिएणंति) अन्यत्रोच्छ्वसितेन उच्छ्वासितं मुक्त्वा योऽन्यो व्यापारस्तेन व्यापारवत् इत्यर्थः ।

एवं सर्वत्र भावनीयम् । तत्रोर्द्ध्वप्रबलं श्वसितमुच्छ्वसितं तेन (णीससिएणंति) अधः श्वसितं तेन निःश्वसितेन (खासिएणंति) कासितमिति प्रतीतम् (छीएणंति) क्षुतेन एतदपि प्रतीतमेव (जंभाइएणंति) जृम्भितेन विवृतवदनस्य प्रबलपवननिर्गमो जृम्भितमुच्यते (उड्डुएणंति) उध्मातं प्रतीतं (वायनिसग्गेणं) अपानेन वातनिर्गमो वातनिसर्गो भण्यते तेन (भमलीएत्ति) भ्रमल्या इयमाकस्मिकी शरीरभ्रमिलक्षणा प्रतीतैव (पित्तमुच्छाएत्ति) पित्तमूर्च्छया पित्तप्राबल्यात्मना मूर्च्छा भवति (सुहुमेहिं अंगसंचालेहिं) सूक्ष्मैरङ्गसंचारलक्षणैर्गात्रविचलनप्रकारै रोनोद्वमादिभिः (सुहुमेहिं खेलसंचालेहिं) सूक्ष्मैः खेलसंचारैः यस्मात्संयोगिवीर्यः स द्रव्यतया तेन खेलं भवति (सुहुमेहिं दिट्ठिसंचालेहिं) सूक्ष्मैर्दृष्टिसंचारनिर्निमेषादिभिः (एवमाइएहिं आगारेहिं अभग्गो अविराहिओ हुज्ज मे काउस्सग्गो) एवमादिभिरित्यादिशब्दं वक्ष्यामः । आक्रियन्त इत्याकाराः अगृह्यते इति भावना सर्वथा कायोत्सर्गापवादे प्रकारा इत्यर्थः तैराकारैर्विद्यमानैरपि न भग्नोऽभग्नः सर्वथाऽविनाशितः ।न विरोधितोऽविराधितोऽविराधितो देशभग्नोऽभिधियते मे मया कायोत्यर्गः क्रियते यावदित्याह (जाव अरिहंताणं भगवंताणं नमोक्कारेणं न पारेमि) यावदर्हतां भगवतां नमस्कारेण न पारयामि यावदिति कालावधारणमशोकाद्यष्टमहाप्रातिहार्यादिरूपां पूजामर्हतीत्यर्हन्तस्तेषामर्हतां भग ऐश्वर्यादिलक्षणः स विद्यते येषां ते भगवन्तस्तेषां भगवन्तां संबन्धिनो नमस्कारेण (नमो अरिहंताणंति) अनेन पारयामि पारं गच्छामि तावत्किमित्याह (तावकायं ठाणेणं मोणेणं झाणेणं अप्पाणं वोसिरामि) तावच्छब्देन कालनिदर्शमाह । कायो देहः स्थानेनोर्द्ध्वस्थानेन तथा मौनेन वाग्निरोधलक्षणेन तथा ध्यानेन शुभेन (अप्पाणंति) प्राकृतशैल्या आत्मीयमन्येन पठन्त्येवैनमालापकं व्युत्सृजामि परित्यजामि इयमत्र भावना कार्यस्थाने मौनध्यानक्रियाव्यतिरेकेण क्रियाऽन्तराध्या सद्भारेण व्युत्सृजामि नमस्कारपाठं यावत्प्रलम्बभुजो निरुद्धवाक्प्रसरः प्रशस्तध्यानानुगस्तिष्ठामि तथा च कायोत्सर्गपरिसमाप्तौ नमस्कारमपठतस्तद्भङ्ग एव द्रष्टव्य इत्येषु तावत्समासार्थः । अवयवार्थं तु भाष्यकारो वक्ष्यति । आव०५ अ० कायोत्सर्गे का गतिरिति जघन्यतोऽपि तावदष्टोच्छ्वासमानमिह च प्रमादमदिरामदापहृतचेतसा यथावस्थितं भगवद्वचनमनालोच्य तथाविधजनासेवनमेव प्रमाणयतः पूर्वापरविरुद्धमित्थमभिदधति उत्सूत्रमेतत् साध्वादिलोकेनाऽनाचरितत्वात् एतच्चायुक्तम् । अधिकृतकायोत्सर्गसूत्रस्येवार्थान्तराभावात् उक्तार्थतायां चोक्तविरोधात् । अथ भवत्वयमर्थः कायोत्सर्गकरणे न पुनरयं स इति किमर्थमुच्चारणमिति वाच्यं वन्दनार्थमिति चेन्नानर्थत्वात् । अत एवोच्चारणेनातिप्रसङ्गः । कायोत्सर्गयुक्तमेव वन्दनमिति चेत्कर्त्तव्यस्तर्हि स इति भुजप्रलम्बमात्रः क्रियते एवेति चेन्न तस्य नियतप्रमाणत्वात् चेष्टाभिभवभेदेन द्विप्रकारत्वादुक्तं च ''सो उस्सग्गो दुविहो, चेट्ठाए अभिवे य णायव्वो । भिक्खारियाइपढमो, उवसग्गभीओ जणो वीओ'' अयमपि च्युदोरेवान्यतरः स्यात् अन्यथा कायोत्सर्गस्य चाणीयसोऽप्यक्रमानत्वात् । उक्तं च ''उद्देस सत्तवीसं, अणुस्सवणियाय अट्ठ व । ये उस्सासा पढवण, पडिक्कमणाइ अन्नायं'' न गृहीत इति चेतनादिशब्दावरुद्धत्वादुपन्यस्तगाथासूत्रस्योपलक्षणत्वादन्यत्रापि चागमे एवं विधसूत्रोपगत वानुक्तार्थसिद्धेः । उक्तं च ''गोसमुहणंतगादी, आलोइयदेसिए य अइयारे । सव्वे समाणइत्ता, हियए दोसे उवेयाहि'' अत्र मुखवस्त्रिका मात्रोक्ते आदिशब्दे पापकरणादिपरिग्रहोऽवसीयते सुप्रसिद्धत्वात्प्रतिदिवसोपयोगाच्च । अथेदं नोक्तमिति अनियततत्वात् । समानजातीयोपादानादिह तद्ग्रहणमस्त्येव समानजातीयां च मुखवस्त्रिकायाः शेषोपकरणमिति चेत् तत्रापि तन्मानकायोत्सर्गलक्षणसमानजातीयत्वमस्त्येवेति मुच्यतामभिनिवेशः । न चेदं साध्वादिलोकेनानाचरितमेव क्वचित्तदाचारणेपलब्धौ आगमविदाचरणश्रवणाच्च न चैवंभूतमनाचरितमपि प्रमाणं तल्लक्षणायोगादुक्तं च ''असढेण समाइण्णं, जं कत्थइ केणई असावज्जं । ण णिवारियमण्णेहिं, जं बहुमयमेयमायरियं'' न चैतदसावद्यं सूत्रार्थस्य प्रतिपादितत्वात् । तस्य चाधिकतरगुणान्तरभावात्तथाकरणविरोधात् । न चान्यैरनिवारितं तदासेवनपरैरागमविद्भिर्निवारितत्वादत एव न बहुमतमपीति भावनीयम् अलं प्रसङ्गेन । यथोदितं कायोत्सर्ग इति इहोच्छ्वाससमानार्थम् । न पुनर्हेयनियमः । यथा परिणामेनैतत् स्थापने च गणास्तत्वानि यानि स्थानवर्णार्थालंबनानि वा अत्मीयदोषप्रतिपक्षो वा एतद्विद्याजन्मबीजं तत्परमेश्वरमत इत्थमेवोपयोगसिद्धे शुद्धभावोपात्तं कर्मविन्ध्यं सुवर्णघटाद्युदाहरणात् । एतद्यतो विद्याजन्मकारणानुरूपत्वेन युक्त्यागमसिद्धम् एतल्लक्षणानुपाति च । वर्चोगृहकृमिर्यद्वन्मानुष्यं प्राप्य सुन्दरं । तत्प्राप्तावपितस्येच्छा, न पुनः संप्रपर्त्तते ॥१॥ विद्याजन्माप्तितस्तद्वद्विषयेषु महात्मनः । तत्त्वज्ञानसमेतस्य, न मनोऽपि प्रवर्त्तते ॥२॥ विषयग्रस्तस्य मंत्रेभ्यो, निर्विषाङ्गोद्भवो यथा । विद्याजन्मन्यलमोह–विषत्यागस्तथैव हि ॥३॥ शैवे मार्गे स एवाऽसौ, याति नित्यमखेदितः । ननु मोहविषग्रस्त, इतरस्मिन्निवेतरत् ॥४॥ क्रियाज्ञानात्मके योगे, सातत्येन प्रवर्त्तनाम् । वीतस्पृहस्य सर्वत्र, यानम्प्राहु शिवाध्वनि ॥५॥ इतिवचनात् अवसितमानुषंगिकम् । प्रकृतं प्रस्तुमः स हि कायोत्सर्गान्ते यथैक एव ततो नमो अरहंताणंति नमस्कारेणोत्सार्य स्तुतिम्ठत्यन्यथा प्रतिज्ञाभङ्गः । जाव अरहंताणं इत्यादिनास्यैव प्रतिज्ञातत्वात् नमस्कारत्वेनास्यैव रूढत्वादन्यथैतदर्थाभिधानेऽपि दोषसंभवात् तदन्यमन्त्रादौ तथा दर्शनादिति । अथ बहवस्तत एक एव स्तुतिं पठत्यन्ये तु कायोत्सर्गेणैव तिष्ठन्ति यावत् स्तुतिपरिसमाप्तिः अत्र चैवं वृद्धा वदन्ति, यत्र किलायतेन देववन्दनश्रिकीर्षितं तत्र यस्य भगवतः सन्निहितं स्थापनारूपं तम्पुरस्कृत्य प्रथमं कायोत्सर्गस्तुतिश्च तथा शोभनभावजनकवैमतस्यैवोपकारित्वात्ततः सर्वेऽपि नमस्कारोच्चारणेन पारयन्तीति व्याख्यातो वन्दनाकायोत्सर्गः ॥ल०॥

तत्रेच्छामि स्थातुं कायोत्सर्गमित्याद्यसूत्रावयमधिकृत्याह परः कायोत्सर्गस्थानं च कार्यप्रयोजनरहितत्वात्तथाविधपर्यटनवदित्यत्रोच्यते प्रयोजनरहितत्वमसिद्धम् ॥ यतः –

काउस्सग्गम्मि ठिओ, निरेअकाओ निरुद्धवयपसरो ।
जाणइ सुहमेगमणो, मुणि देवसिआइअइआरं ॥८७॥

परिजाणिऊण य जओ, सम्मं गुरुजणपगासणेणं तु ।
सोहअइ अप्पगं सो, जम्हा य जिणेहिं सो भणिओ ॥८८॥

(काउस्सग्गं गाहा) इह च संबन्धगाथाद्वयमन्यकर्तृकं तथापि सोपयोगमिति कृत्वा व्यख्यायते कायोत्सर्गे उक्तस्वरूपे स्थितः सन्निरेजकायो निष्प्रकम्पुदेह इति भावना निरुद्धवाक्प्रसरो मौनव्यवथितः वन् जानीते सुखमेकमना एकाग्रचित्तः सन्कोऽसौ मुनिः साधुः किं दैवसिकाद्यतिचारम्। आदिशब्दाद्वा क्रियाग्रह इति गाथार्थः ॥८७॥ ततः किमित्याह (परिजाणिऊणत्ति) परिज्ञान अतिचारं यस्मात्कारणात् सम्यगशठभावेन गुरुजनप्रकाशनेनेति हृदयम् तुशब्दादिष्टप्रायश्चित्तकारणेन च शोधयत्सात्मानमसौ अतिचारमलिनं क्षालयतीत्यर्थः। तच्चातिचारपरिज्ञानमविकलकायोत्सर्गव्यवस्थितस्य भवत्यतः कायोत्सर्गस्थानं कार्यमिति। किं च यस्माज्जिनैर्भगवद्भिरयं कायोत्सर्गो भणितः उक्तः तस्मात् कायोत्सर्गस्थानं कार्यमिति गाथार्थः ॥८८॥

यतश्चैवमतः

काउसग्गं मोक्खपहदेसिओ जाणिऊण तो धीरा ।
दिवसाइआरजाणट्ठमिइ ठायंति उस्सग्गं ॥८९॥

मोक्षस्य पन्थास्तीर्थकरैरेव भण्यते तत्प्रदर्शकत्वात्करणे कार्योपचारात्तेन मोक्षपथेन देशित उपदिष्टः मोक्षपथदेशितस्तं (जाणिऊणं ति) दिवसाद्यतिचारपरिज्ञानोपायतः विज्ञाय ततो धीराः साधवः दिवसातिचारज्ञानार्थमित्युपलक्षणं रात्र्यतिचारज्ञानार्थमपि (ठायंति उस्सग्गं) तिष्ठन्ति कायोत्सर्गं कुर्वन्ति कायोत्सर्गमित्यर्थः। यमश्च कायोत्सर्गस्थानं कार्यमेव सप्रयोजनत्वात्तथाविधवैयावृत्त्यवदिदिति गाथार्थः।

साम्प्रतं यदुक्तं दिवसातिचारज्ञानार्थमिति तत्रौघतो विषयद्वारेण तमतिचारमुपदर्शयन्नाह।

सयणासणन्नपाणे, चेइअजइसिज्जकाइउच्चारे ।
समिईभावणगुत्ती, वितहायरणे अईआरो ॥९०॥

शयनीयवितथाचरणे सत्यतिचारः। एतदुक्तं भवति संस्तारकादेरविधिना ग्रहणादौ अतिचार इति (आसणत्ति) आसनवितथाचरणे सत्यतिचारः पीठकादेरविधिना ग्रहणादावतिचार इति भावना (अन्नपाणेत्ति) अन्नपानवितथाचरणे सत्यतिचारः अन्नपानस्याविधिनाऽग्रहणादावतिचार इत्यर्थः (चेतियत्ति) चैत्यवितथाचरणे सत्यतिचारः। चैत्यविषये च वितथाचरणमविधिना वन्दने अकरणे चेत्यादि (जइत्ति) यतिवितथाचरणे सत्यतिचारः यतिविषयं च वितथाचरणं यथार्हं विनयाद्यकरणमिति (सेज्जत्ति) शय्यावितथाचरणे सत्यतिचारः शय्या वसतिरुच्यते तद्विषयं वितथाचरणमविधिना प्रमार्जनादौ स्त्र्यादिसंसक्तायां वा वसतौ। इत्यादि कायिकावितथाचरणे सत्यतिचारः वितथाचरणं वाऽस्थण्डिले कायिकान्युत्सृजतः। स्थण्डिले वाऽप्रत्युपेक्षिते वेत्याह (उच्चारेत्ति) उच्चारः वितथाचरणे सत्यतिचारः उच्चारः पुरीषो भण्यते वितथाचरणं चैतद्विषयं यथा कायिकं (समितित्ति) समितिर्वितथाचरणे सत्यतिचारः समितयः श्रेयः समितिप्रमुखाः पञ्च यथा प्रतिक्रमणे वितथाचरणं वा सम्यविधिनासेवनमनासेवनं चेत्यादि (भावणेत्ति) भावना वितथाचरणे सत्यतिचारः भावनाश्चानित्यत्वादिगोचरा द्वादश तथा चोक्तं भावयितव्यमनित्यत्वमसरणत्वं तथैकतान्यत्वे अशुचित्वं संसारः कर्माश्रवः संवरविधिश्च निर्जराणां लोकविस्तारो धर्मः स्वाख्याततत्त्वचिन्ता च बोधे सुदुर्लभत्वं च भावना द्वादश विशुद्धाः अथ वा पञ्चविंशतिर्भावना यथा प्रतिक्रमणे वितथाचरणं वाऽऽसामविधिनासेवनमित्यादि (गुत्तित्ति) गुप्तिर्वितथाचरणे सत्यतिचारः ताश्चेमा नोगुप्तिप्रमुखास्तिस्रो गुप्तयः यथा प्रतिक्रमणे वितथाचरणमपि गुप्तिविषयं यथा समितिष्वित गाथार्थः ॥९०॥

इत्थं सामान्येन विषयद्वारेणातिचारमभिधायाधुना कायोत्सर्गगतस्य मुनेः क्रियामभिधित्सुराह।

गोसमुहणंतगाई, आलोए देसिए अईआरे ।
सव्वे समापइत्ता, हिअए दोसे ठविज्जाहि ॥९१॥

गोसः प्रत्यूषो भण्यते (मुहणंतगाईत्ति) मुखवस्त्रिका आदिशब्दाच्छेषोपकरणादिहस्ततश्चैतदुक्तं भवति गोसादारभ्य मुखवस्त्रिकादौ विषये (आलोए देसिए अईआरेत्ति) अवलोकयेन्नि-रीक्षेत दैवसिकानतिचारानविधिना प्रत्युपेक्षितादीनिति ततः (सव्वे) सर्वानतिचारान्मुखवस्त्रिकाप्रत्युपेक्षणादारभ्य यावत्कायोत्सर्गमवस्थान्तरम् (समापइत्ता) समाप्य बुद्ध्यवलोकनेन समाप्तिं नीत्वा एतावानेव नातः परमतिचारोस्तीति हृदये चेतसि दोषान्प्रतिषेधकरणादिलक्षणानालोच्य स्थापयेदिति गाथार्थः।

काउं हिअए दोसे, जहक्कमं जाव ताव पारेइ ।
ताव सुहुमाणुपाणू, धम्मं सुक्कं च झाइज्जा ॥९२॥

(काउं हिअयेत्ति) कृत्वा हृदये दोषान्यथाक्रममिति प्रतिषेधनानुलोम्येन आलोचनानुलोम्येन च प्रतिषेधनानुलोम्यं नाम ये यथा सेविता इति आलोचनानुलोम्यं तु पूर्वं यद्यत् आलोचितं तत्तत्पश्चादगुरुरिति (जाव ताव पारेइत्ति) यावत्तावत्पारयति गुरुर्नमस्कारेण (ताव सुहुमाणुत्ति) तावदितिकालावधारणार्थं सूक्ष्मप्राणापानः सूक्ष्मोच्छ्वासनिःश्वास इत्यर्थः (धम्मंसुक्कं च झाइज्जा) धर्मः ध्यानप्रतिक्रमणाध्ययनोक्तस्वरूपः शुक्लं च ध्यायेदिति गाथार्थः ॥९२॥

देसिअराइअपक्खे, चाउम्मासे तहेव वरिसे अ ।
इक्किक्के तिन्नि गमा, नायव्वा पंचसेएसु ॥९३॥

दैवसिके प्रतिक्रमणे दिवसेन निवृत्तं दैवसिकं (राइयत्ति) रात्रिके (पक्खियत्ति) पाक्षिके चातुर्मासिके (तहेव वरिसेअत्ति) तथैव वार्षिके च वर्षेण निर्वृत्तं वार्षिकं सांवत्सरिकमिति भावना एकैकस्मिन्प्रतिक्रमणे दैवसिकादौ त्रयो गमाः ज्ञातव्याः पञ्चस्वेतेषु दैवसिकादिषु कथं त्रयो गमाः सामयिकं कृत्वा कायोत्सर्गाकरणं सामयिकमेवंकृत्वा प्रतिक्रमणं सामायिकमेव कृत्वा पुनः कायोत्सर्गकरणमिह यस्माद्दिवसादितीर्थं दिवसं प्रधानं च तस्मादैवसिकमादाविति गाथार्थः ॥९३॥

आइमकाउसग्गो, पडिक्कमं ताउ काकाउ ।
सामइअंतो किं करेह बीअं तइअं च पुणो विउस्सग्गो ॥९४॥

व्या०(आइमकाउसग्गेत्ति) प्रथमकायोत्सर्गं कृत्वा सामायिकमिति योगः ॥

पडिक्कमं ताव बीयं, काउं सामाइयं तिओगोतो ।
किं करेह तइयं सामइयं पुणो वि उस्सग्गो य ॥९५॥

चालना चेयमत्रोच्यते–

समभावम्मि ठिअप्पा, उस्सग्गं करिअ तो पडिक्कमई।
एमेव य समभावे, ठिअस्स तइअं तु उस्सग्गे ॥१९५॥

इह समभावव्यवस्थितस्य भावप्रतिक्रमणं भवति, नान्यथा, ततश्च समभावे रागद्वेषमध्यवर्तिनि स्थित आत्मा यस्यासौ स्थिताऽऽत्मा (उस्सग्गं करिय तो पडिक्कमइ) दिवसाचारपरिज्ञानाय कायोत्सर्गं कृत्वा गुरोरतिचारजालं निवेद्य तत्प्रदत्तप्रायश्चित्तसमभावपूर्वकमेव ततः प्रतिक्रामतीति। एवमेव च (समभावे ठिअस्सतइयं तु उस्सग्गे) एवमेव समभावे स्थितस्य सतश्चारित्रशुद्धिरपि भवतीति कृत्वा तृतीयं सामायिकं कायोत्सर्गे प्रतिक्रान्तोत्तरकालभाविनि क्रियते इति गाथार्थः ॥१९५॥

प्रत्यवस्थानमिदमथवा–

सज्झायझाणतओ सहेसु उवएसथुइपयाणेसु।
संतगुणकित्तणेसु अ, न हुंति पुणरुत्तदोसा उ ॥१९६॥
मित्तिमिउमद्दवत्त, छत्तिअदोसाण छायणे होइ।
मित्ति अमेराइ ठिओ, दुत्तिदुगंछा मि अप्पाणं ॥१९७॥
कत्ति कडं मे पावं, डत्तिअडेवेमि तं च उवसमेणं।
एसो मिच्छाओक्कड पयक्खरत्थे समासेणं ॥१९८॥

सज्झायगाहा निगदसिद्धा (१९६) इदानीं ''जो मे देवसिओ अइआरो कओ'' इत्यादिसूत्रमध्ये व्याख्यातत्वादनादृत्य ''तस्स मिच्छामि दुक्कडं ति'' सूत्रावयवं व्याविदयासुराहमित्तिमिउ गाहा (१९७) कत्तिकडं मे गाहा इतिगाथायुगलकं यथा सामायिकाध्ययने व्याख्यातं तथैव द्रष्टव्यमिति ॥१९८॥

साम्प्रतं तस्योत्तरकरणमिति सूत्रावयव विवृण्वन्नाह–

खंडिअविराहिआणं, मूलगुणाणं सउत्तरगुणाणं।
उत्तरकरणं कीरइ, जह सगडरहंगगेहाणं ॥१९९॥

खण्डितविराधितानां खण्डिताः सर्वथा भग्नाः विराधिता देशतो भग्नाः, मूलगुणानां प्राणतिपातादिनिवृत्तिरूपाणां, सहउत्तरगुणैः पिण्डविशुद्ध्यादिभिर्वर्तन्त इति सोत्तरगुणाः, तेषामुत्तरकरणं क्रियते, आलोचनादिना पुनः संस्करणमित्यर्थः। दृष्टान्तमाहयथा शकटथाङ्गेहानां बहिश्चक्रगृहाणामित्यर्थः। तथा च शकटादीनां खण्डितविराधितानामक्षवेलिकादिनोत्तरकरणं क्रियते इति गाथार्थः ॥१९९॥

अधुना प्रायश्चित्तकरणेनेति सूत्रावयवं व्याचिख्यासुगह–

पावं छिंदइ जम्हा, पायच्छित्तं ति भन्नई तेणं।
पाएण वा वि चित्तं, विसोहई तेण पच्छित्तं ॥२००॥

पापं कप्राकृच्यते, तत्पापं छिनत्ति यस्मात्करणात् मोंतशैल्या ''पायच्छित्तं ति'' भण्यते तेन कारणेन। संस्कृते तु पापं छिनत्तीति पापच्छिदुच्यते। प्रायशो वा चित्तं जीवं शोधयति कर्ममलिनं विमलीकरोति तेन कारणेन प्रायश्चित्तमित्युच्यते। प्रायोबाहुल्येन चित्तं स्वेन रूपेण अस्मिन्सति भवतीति प्रायश्चित्तम्। प्रायोग्रहणं संवरादेरपि तथाविधचित्तसद्भावादिति गाथार्थः ॥

अधुना ''विसोहीकरणेन'' इत्यादिसूत्रावयवं व्याचिख्यासयाऽऽह–

दव्वे भावे अ दूहा, सोही सल्लं च इक्कमिक्कं तु।
सव्वं पावं कम्मं, भामिज्जइ जेण संसारे ॥२०१॥

द्रव्यतो भावतश्च द्विविधा शुद्धिः, शल्यं च (इक्कमिक्कं तु) एकैकम्। शुद्धिरपि। द्रव्यभावभेदेन द्विधा शल्यमपीत्यर्थः। तत्र द्रव्यशुद्धिर्जलादिना वस्त्रादेः, भावशुद्धिः प्रायश्चित्तादिना आत्मनः। एवं द्रव्यशल्यं कण्टकशिलीमुखफलादिःभावशल्यं तु मायादिशल्यम्। सर्वं ज्ञानावरणीयादि कर्म पापं वर्त्तते। किमिति? भ्राम्यते येन कारणेन तेन कर्मणा जीवः संसारे तिर्यङ्नरनारकामरभवानुभवलक्षणे, तथा च दग्धरज्जुकल्पेन भवीपग्राहिणा अल्पेनापि सता केवलिनोऽपि न मुक्तिमासादयन्तीति दारुणं संसारभ्रमणनिमित्तं कर्मेति गाथार्थः ॥२०१॥

साम्प्रतमन्यत्रोच्छ्वासितेनेत्यवयवं विवृणोति–

उस्सासं न निरुंभइ, अभिग्गहिओ वि किमुअ चेट्ठाओ।
सज्जमरणं निरोहे, सुहुमुस्सासं तु जयणाए ॥२०२॥

ऊर्द्धं प्रबलो वा श्वासः उच्छ्वासः, तं (न निरुंभइ त्ति) न निरुणद्धि (आभिग्गहिओ वि) अभिगृह्यत इत्यभिग्रहः, अभिग्रहेण निर्वृत्तः आभिग्रहिकः कायोत्सर्गः, तदव्यतिरेकात् ततोऽप्याभिग्रहिको भण्यते। असावप्यभिभवकायोत्सर्गकार्यपीत्यर्थः। (किमुअ चेट्ठाओ त्ति) किंपुनश्चेष्टाकायोत्सर्गकारी। स तु सुतरां न निरुणद्धीत्यर्थः। किमित्यते आह (सज्जमरणं निरोहे त्ति) सद्यो मरणं निरोधे उच्छ्वासस्य, ततश्च (सुहुमुस्सासं तु जयणाए त्ति) सूक्ष्मोच्छ्वासमेव यतनया मुञ्चति, नोल्वणं, मा भूत्सत्त्वघात इति गाथार्थः। ॥२०२॥

अधुना खासितेनेत्यादिसूत्रावयवार्थं प्रचिकटयिषयेदमाह–

कासखुअजंभिए मा, हु सत्थमनिलोऽनिलस्स तिव्वुण्हो।
असमाही अ निरोहे, मा मसगाई अ तो हत्थे ॥२०३॥

इह कार्योत्सर्गे काशक्षुतजृम्भितानि नाऽयनतनया क्रियन्ते। किमिति (मा हु सत्थमनिलोऽनिलस्स त्तिव्वुण्हो त्ति) मा शस्त्रं भविष्यति काशितादिसमुद्भवोऽनिलो वायुरनिलस्य बाह्यस्य वायोः। किंभूतः तीव्रोष्णः, बाह्यानिलापेक्षया अत्युष्ण इत्यर्थः। न च न क्रियन्ते, निरुध्यन्त एव (असमाहि य निरोहे त्ति) असमाधिश्च, चशब्दान्मरणमपि संभाव्यते, कासितादिनिरोधे सति। तथा मा मशकादयश्च कासितादिसमुद्भवपवनश्लेष्मादिनिहता मरिष्यन्ति, जृम्भिते वा वदनप्रवेशं करियन्ति, ततो हस्तः अग्रतो दीयते इति, यतनेयमिति गाथार्द्धाः ॥२०३॥

आह–निश्वसितेनेति सूत्रावयवो न व्याख्यात इति किमत्र करणम्? उच्यते उच्छ्वसितेन तुल्ययोगक्षेमत्वादिति।

इदानीमुद्गारितेनेत्यादिसूत्रावयवं व्याचिख्यासुराह–

वायनिसग्गुग्गारे, जयणा सद्दस्स नेव य निरोहे।
उग्गारे वा हत्थे भमलीमुच्छासु अ निवेसे ॥२०४॥

वातनिसर्ग उक्तस्वरूपः, उद्गारोऽपि। तत्रायं विधिः यतना शब्दस्य क्रियते न निसृष्टं मुच्यत इति।(णेव य णिरोहे त्ति) नैव च निरोधः क्रियते, असमाधिभावादेव। उद्गारे वा हस्तोऽन्तरं दीयत इति। (भमलीमुच्छासु अ निवेसे त्ति) भ्रमीमूर्च्छयोश्च निवेशे मा सहसा पतितस्यात्मविराधना भविष्यतीति गाथार्थः ॥२०४॥

साम्प्रतं सूक्ष्मैरङ्गसंचारैरित्यादिसूत्रावयवव्याख्यासयाऽऽह–

वीरिअसजोगयाए, संचारा सुहुमवायरे देहे।
बाहिं रोमंचाई, अंतो खेलनिलाईआ ॥२०५॥

वीर्यसयोगतया कारणेन संचाराः सूक्ष्मबादरदेहे अवश्यं भाविनः, वीर्यं वीर्यान्तरायक्षयोपशमक्षवज्रं खल्वात्मपरिणामो भण्यते। योगास्तु मनोवाक्कायाः, तत्र वीर्यसयोगतयैव अतिचाराः सूक्ष्मबादरा भवन्ति, न केवलं वीर्यादिति। देह एव च सति भवन्ति नादेहस्य, तत्र (बाहिं रोमंचाई) बहिः रोमाञ्चादयः, आदिशब्दादुत्कम्पग्रहः। (अंतो खेलनिलादीआ) अन्तर्मध्ये सूक्ष्माः श्लेष्माऽनिलादयो विचरन्तीति गाथार्थः ॥२०५॥

अणुना सूक्ष्मैर्दृष्टिसंचारैरिति सूत्रावयवं व्याख्यानयति–

आलोअचलं चक्खुं, माणुव्व तं दुक्करं थिरं काउं।
रूपेहिँ तयं खिप्पइ, सभावओ वा सयं चलइ ॥२०६॥

आलोकनमवलोकः, ततस्तस्मिन्नवलोके चलं चञ्चलं, दर्शनलालसमित्यर्थः। किं चक्षुर्नयनं, यतश्चैवमतो मनोवत् अन्तःकरणमिव, तच्चक्षुर्दुष्करं स्थिरं कर्तुं, न शक्यते इत्यर्थः। यतो रूपैस्तदाक्षिप्यते, स्वभावतो वा स्वभावेन वा नैसर्गिकेन, स्वयं चलत्यात्मनैव चलतीति गाथाऽर्थः ॥२०६॥

यस्मादेवं तस्मात्–

न कुणइ निमेसजत्तं, तत्थुवओगेण माण झाइज्जा।
एगनिसिं तु पवन्नो, झाइ सहू अणिमिसच्छो वि ॥२०७॥

न करीति निमेषयत्नं कायोत्सर्गकारी। किमिति (तत्थुवओगेण माण झाएज्जा) तत्र निमेषयत्ने य उपयोगस्तेन समा मानध्यानं ध्यायेत अभिप्रेतमिति (एगनिसिं तु पवन्नो झाइ सहू अणिमिसत्थो वि) एकरात्रिकीं तु प्रतिमां प्रतिपन्नो महासत्त्वः ध्यायति समर्थः, अनिमिषाक्षोऽपि अनिमिषे अक्षिणी यस्य सः अनिमिषाक्षः, निश्चलनयन इति गाथाऽर्थः ॥२०७॥

अधूना एवमादिभिराकारैरित्यादि सूत्रावयवं व्याचिख्यासुराह–

अगणी १ उच्छिंदेज्ज व २ वोहिअखोभाइ३ दीहडक्के वा४
आगारेहि अभग्गो, उस्सग्ग एवमाईहिं ॥२०८॥

यदा ज्योतिः स्पृशति तदा प्रावरणाय कल्पग्रहणं कुर्वतोऽपि न कायोत्सर्गभङ्गः। आह–नमस्कारमेवाभिधाय किमिति तद्ग्रहणं न करोति येन तद्भङ्गो न भवति। उच्यते–नात्र नमस्कारेण पारणमेवाविशिष्टं कायोत्सर्गमानं क्रियते, किंतु यो यत्परिमाणे यत्र कायोत्सर्ग उक्तस्तत ऊर्द्धमिति समाप्तेऽपि तस्मिन्नमस्कारमपठतो भङ्ग अत्यर्थः। अपरिसमाप्तेऽपि च पठतो भङ्ग एव। स चात्र न भवतीत्येवं सर्वत्र भावनीयम्। (उच्छिंदेज्ज व त्ति) मार्जारी मूषिकादिर्वा पुरतो यायात्तत्राप्यग्रतः सरतो न कायोत्सर्गभङ्गः। (बाहियखोभाइ त्ति) बोधिकाः स्तेनकास्तेभ्यः क्षोभः संभ्रमः आदिशब्दाद्राजादिक्षोभः परिगृह्यते। तत्रास्थानेऽप्युच्चारयतो वा न कायोत्सर्गभङ्गः। (दीहडक्के व त्ति) सर्पदष्टे वाऽऽत्मनि परे वा साधौ सहसाऽऽकाण्ड एवोच्चारयतः। तथैव। आक्रियन्त इत्याकाराः, तैराकारैः, अभग्नः स्यात्कायोत्सर्गः, एवमादिभिरिति गाथासमर्थः ॥२०८॥

अधूनौघतः कायोत्सर्गविधिं प्रतिपादयन्नाह–

ते पुण ससूरिउ चिअ, पासवणुच्चारकालभूमीओ।
पेहित्ता अत्थमिए, तं तुस्सग्गं सए ठाणे ॥२०९॥

ते पुनः कायोत्सर्गकर्त्तारः साधवः ससूर्य एव दिवसे प्रस्रवणोच्चारणकालभूमीः प्रत्युपेक्ष्य द्वादश प्रस्रवणभूमयः आलयपरिभोगाअन्तः षट्, षट् बहिः। एवमुच्चारभूमयोऽपि द्वादश। प्रमाणं चाऽऽसां तिर्यग्जघन्येन हस्तमात्रं, अधश्चतर्वायङ्गुलान्यचेतनम्, उत्कृष्टस्तु स्थण्डिलं द्वादशयोजनमानम्। नच तेनाधिकारः। तिस्रस्तु कालभूमयः कालमण्डलाख्याः, यावच्चैनमन्यं च श्रमणयोगं कुर्वन्ति कालवेलायां तावत्प्रायशोऽस्तमुपयात्येव सविता, ततश्च (अत्थमिए तं तुस्सग्गं सए ठाणे त्ति) उक्तम्। अन्यथा यस्य यदैव व्यापारपरिसमाप्तिर्भवति स तदैव सामायिकं कृत्वा तिष्ठतीति गाथार्थः ॥२०९॥

अयं च विधिः केनचित्कारणान्तरे गुरोर्व्याघाते सति–

जइ पुण निव्वाघाओ, आवस्सं तो करेति सव्वे वि।
सङ्घाइकहणवाघाययाइ पच्छा गुरू ठंति ॥२१०॥

यदि पुनर्निर्व्याघात एव सर्वेषामावश्यकं प्रतिक्रमणं, ततः कुर्वन्ति सर्वेऽपि सहैव गुरुणा (सङ्घाइकहणवाघाययाइ पच्छा गुरू ठंति) इति निगदसिद्धमिति गाथार्थः ॥२१०॥

यदा च पश्चाद् गुरवस्तिष्ठन्ति तदा–

सेसा उ जहासत्तिं, आपुच्छित्ता ण ठंति सङ्घाणे।
सुत्तत्थसरणहेऊ, आयरिएँ ठिअम्मि देवसिअं ॥२११॥

शेषास्तु साधवः, यथाशक्ति शक्त्यनुरूपं, यो हि यावन्तं कालं स्थातुं समर्थः "आपुच्छित्ता तु गुरुं ठंति सङ्घाणे सामयिकं काऊण। किं निमित्तम् ? सुत्तत्थसरणहेउं) सूत्रार्थस्मरणहेतुम्। (आयरिएँ ठियम्मि देवसिय त्ति) 'आयरिए पुरसो ठिए तस्स सामाइयावसाणे देवसियं अइयारं चिंतंति'। अन्ने भणंति "जाहे आरिओ सामाइयं कड्ढइ, ताहे ते वि तहट्ठिया चेव सामाइयसुत्तमणुपेहंति, गुरुणा सह पच्छा देवसियं ति" गाथार्थः ॥२११॥

शेषास्तु यथाशक्तीत्युक्तं, यस्य कायोत्सर्गेण स्थातुं शक्तिरेव नास्ति स किं कुर्यादिति तद्व्रतं विधिमभिधित्सुराह–

जो हुज्जउ असमत्थो, बालो वुड्ढो गिलाण परितंतो।
सो विगहाइविरहिओ, झाइज्जा जा गुरू ठंति ॥२१२॥

यः कश्चित्साधुर्भवेदसमर्थः कायोत्सर्गेण स्थातुम्। स किंभूत इत्याह–बालो वुद्धः ग्लानः परितान्तोऽतिपरिश्रान्तो गुरुवैयावृत्यकारणादिना। असावपि विकथादिरहितः सन् ध्यायेत्सूत्रार्थम्। (जा गुरू ठंति) यावत् गुरुवस्तिष्ठन्ति कायोत्सर्गमिति गाथार्थः ॥२१२॥

आचार्ये स्थिते दैवसिकमित्युक्तं तद्व्रतं विधिमभिधित्सुराह–

जा देवसियं दुगुणं, चिंतेइ गुरू अहिंडिओ चेट्ठं।
बहुवावारा इअरे, एगगुणं ता वि चिंतंति ॥२१३॥

निगदसिद्धा। नवरं चेष्टा व्यापाररूपाऽवगन्तव्या ॥२१३॥

पव्वइआण व चेट्ठं, नाऊण गुरुं बहुं बहुविहीअं।
कालेण तदुचिएणं, पारेइ य थोवचेट्ठो वि ॥२१४॥
नमोक्कार चउवीसग किइकम्मालोअणं पडिक्कमणं।

किइकम्मदुरालोइअ दुप्पडिकंते अ उस्सग्गे ॥२१५॥

(नमोक्कारी त्ति)''काउस्सग्गसंतत्तीए नमाक्कारेण पारेति, नमो अरिहंताणं ति'' (चउवीसग त्ति) पुणो जेहिं इमं तित्थं देसियं तेसिं तित्थगराणं उसभाईणं चउवीसत्थएण उक्कित्तणं करेंति, 'लोगस्सुज्जोयगरे' त्ति भणियं होइ। (किइकम्मं ति) ततो वंदिउकामा गुरुं संडासयं पडिलेहित्ता उवविसंति। ततो मुहणंतगं पडिलेहिय स सीसोवरि यं कायं पमज्जंति, पमिज्जित्ता परेण विणएणं तिकरणपरिसुद्धं किइकम्मं करेंति, वंदणगमित्यर्थः। उक्तं च ''आलोयणवागरणस्स पुच्छणे पूयणाइसज्झाए। अवराहो य गुरूणं, विणओ मूलं च वंदणगं''। इत्यादि। (आलोणणंति) एवं च वंदित्ता उत्थायोभयकरगहियरओहरणअट्ठावणय-काया पुव्वं परिचिंतिए दोसे जहाराइणियाए संजयभासाए जहा गुरू सुणेइ, तहा पवड्ढमाणसंवेगा मायामयविप्पमुक्का अप्पणो विसुद्धिनिमित्त-मालोएंति ''। उक्तं च–

''विणएण विणयमूलं, गंतूणायरियपायमूलम्मि।
जाणाविज्ज सुविहिओ, जह अप्पाणं तह परं पि ॥१॥
कयपावो वि मणूसो, आलोइयनिंदिओ गुरुसगासे।
होइ अइरेगलहुओ, ओहरिअभरु व्व भारवहो'' ॥२॥

तथा–

उप्पन्नाऽणुप्पन्नो, मायाअणुमग्गओ निहंतव्वा।
आलोयणनिंदणगरि हणाहि ण पुणो त्ति या वितियं ॥३॥
तस्स य पायच्छित्तं, जम्मग्गविऊ गुरू उवइसंति।
तं तह अणुचरियव्वं, अणवत्थपसंगभीएणं ॥४॥

(पडिक्कमणं ति) ''आलोइऊण दोसे, गुरुणा पडिदिन्नपायच्छित्ता तो। सामाइयपुव्वगं, समभावे ठाइऊण य पडिक्कमं ति''॥५॥ सम्ममुवउत्ता परंपएण पडिक्कमणं कर्ड्डेति अणवत्थपसंगभीया। अणवत्थाए पुण उदाहरणं तिलहारगकप्पद्दुगो त्ति। (कित्तिकम्मं ति) ''तओ पडिक्कमित्ता खामणानिमित्तं पडिक्कमणनिवेयणत्थं वंदंति। तओ आयरियमादी पडिक्कमणत्थमेव दंसेमाणा खामें ति ''।

उक्तं च–

''आयरियउवज्झाए, सीसे साहम्मिए कुलगणे वा।
जे मे केइ कसाया, सव्वे तिविहेण खामेमि ॥१॥
सव्वस्स समणसंघस्स भागवओ अंजलिं करिय सीसे।
सव्वं खमावइत्ता, खमामि सव्वस्स अहयं पि ॥२॥
सव्वस्स जीवरासिस्स भावओ धम्मनिहियनियचित्तो।
सव्वं खमावइत्ता, खमामि सव्वस्स अहयं पि''॥३॥ इत्यादि।

'दुरालोइए दुप्पडिकंते य काउस्सग्गो' त्ति एवं खामेत्ता आयरियमाइ, तओ 'दुरालोइअं वा होज्जा दुप्पडिकंतं वा होज्जा अणाभोगादिणा कारणेणं। ततो पुणो वि कयसामाइया चरित्तविसोहणत्थमेव काउस्सग्गं करेति त्ति' गाथार्थः॥ आव०५ अ०।

एवंविहपरिणामा, भावेणं तत्तिं नवरमायरियं।
खामंति सव्वसाहू, जइ जिट्ठो अन्नहा जेट्ठं ॥७२॥

एवं विधपरिणामाः सन्तो भावेन परमार्थेन, तत्र नवरमाचार्यं प्रथमं क्षमयन्ति सर्वे साधवः, यदि ज्येष्ठोऽसौ पर्यायेण, अन्यथा ज्येष्ठोऽसति ज्येष्ठमसावपि क्षमयति, विभागोत्पन्ने शिष्यकादिश्रद्धाभङ्गनिवारणार्थं कदाचिदाचार्यमेवेति गाथार्थः।

आयरिय उवज्झाए, काऊणं सेसगाण कायव्वं।
उप्पडिवाडीकरणे, दासा सम्मं तहाडकरणे ॥७३॥

आचचार्योपाध्याययोः कृत्वा, क्षमणमिति गम्यते। शेषाणां साधूनां यथारत्नाधिकतया कर्त्तव्यम्। उत्परिपाटीकरणे, विपर्ययकरणे इत्यर्थः। दोषा आज्ञादयः। सम्यक् तथा अकरणे, विकलकरणे च दोषा इति गाथार्थः।

जा दुचरिमो त्ति ता होई खमणं तीरिए पडिक्कमणे।
आइज्जं पुण तिण्हं, गुरुस्स दोण्हं च देवसिए ॥७४॥

यावत् द्विचरम इति, द्वितीयश्च चरमश्च क्षमणापेक्षया तावद्भवति क्षमणं, तीरिते प्रतिक्रमणे, पठिते प्रतिक्रमणे इत्यर्थः। आचरितं पुनस्त्रयाणां गुरोर्द्वयोश्च शेषयोर्दैवसिक इति गाथार्थः।

आचरितकल्पप्रवृत्तिमाह–

धिइसंघयणाईणं, मह हाणिं च जाणिउं थेरा।
सेहअगीअत्थाणं, ठवणा आइण्णकप्पस्स ॥७५॥

धृतिसंहननादीनां हानिं च ज्ञात्वा स्थविरा गीतार्थाः शिष्यकागीता-र्थायोर्विपरिणामनिवृत्त्यर्थं स्थापनां कुर्वन्तीति। स्थापना आचरितस्य कल्पस्येति गाथार्थ।

अथवा

असढेण समाइण्णं, जं कत्थइ केणइ असावज्जं।
न निवारिअमण्णेहिं, अ बहुमणुमयमेअमाइण्णं ॥७६॥

अशठेन समाचरितं यत्किंचिद् कुत्रापि द्रव्यादौ केनचित्प्रमाणस्थेन असावद्यं न निवारितमन्यैश्च गीतार्थैश्चारुत्वादेवेत्थं बहुमतमेतदाच-रितमिति गाथार्थः।

अमुमेवार्थं विशेषेणाह–

विअडणपच्चक्खाणे, सुए अ रयणाहिआ वि उ करिंति।
मज्झिल्ले ण करेंति, सो चेव य तेसि पकरेई ॥७७॥

विकटनप्रत्याख्यानयोरित्यत्र विकटनमालोचनम्, प्रत्याख्यानं प्रतीतम्। श्रुते चोद्दिश्यमानादौ रत्नाधिका अपि तु ज्येष्ठार्या अपि कुर्व न्ति, वन्दनमिति प्रक्रमाद् गम्यते। मध्यम इति, क्षमण इत्यर्थः। न कुर्वन्ति, अपि तु स एवाचार्यस्तेषां रत्नाधिकानां करोति वन्दनमिति गाथार्थः।

खामिंतु तओ एवं, करेंति सव्वे वि नवरमणवज्जं।
रेसिम्मि दुरालोइअ दुप्पडिकंतस्स उस्सग्गं ॥७८॥

क्षमयित्वा ततस्तदनन्तरम्, एवमुक्तेन प्रकारेण, कुर्वन्ति सर्वेऽपि साधवः, नवरमनवद्यं, सम्यगित्यर्थः। रेखायां दुरालोचित-दुष्प्रतिक्रान्तयोः, एतन्निमित्तमिति भावः। कायोत्सर्गमिति गाथार्थः।

अत्रापि कायोत्सर्गकरणे प्रयोजनमाह–

जीवो पमायबहुलो, तब्भावणभाविओ अ संसारे।
तत्थ वि संभाविज्जइ, सुहमो सो तेण उस्सग्गो ॥७९॥

जीवः प्रमादबहुलः, तद्भावनाभावित एव प्रमादभावनाभावित-

स्तु संसारे ततश्चैवम्। यतोऽभ्यासपाटवात्तत्राप्यालोचनादौ संभाव्यते सूक्ष्मोऽसौ प्रमादः ततश्च दोष इति, तेन कारणेन तज्जयाय कायोत्सर्ग इति गाथार्थः।

चोएइ हंदि एवं, उस्सग्गम्मि वि स होइ अणवत्था।
भण्णइ तज्जयकरणे, का अणवत्था जिए तम्मि ॥८०॥

चोदयति शिक्षकः हन्दि यद्येवं कायोत्सर्गेऽपि सः सूक्ष्मः प्रमादो भवति ततश्च तत्रापि दोषः। तद्यथा अपरकरणं तत्राप्येषु एव वृत्तान्त इत्यनवस्था। एतदाशङ्क्याह भण्यते, प्रतिवचनम् तज्जयकरणे अधिकृत-सूक्ष्मप्रमादजयकरणे प्रस्तुते, काऽनवस्था ? जिते तस्मिन् सूक्ष्मप्रसादे इति गाथार्थः।

तत्थ वि अ जो तओ वि हु, जीअइ तेणेव य सयाकरणं।
सव्वो वि साहुजोगो, तं खलु तप्पच्चणीओ त्ति ॥८१॥

तत्रापि च इतरकायोत्सर्गे, यः पूर्वोक्तयुक्त्या पतितः सूक्ष्मः प्रमादतः, तकोऽप्यसावपि, जीयते तिरस्क्रियते, यदितरेण तदुत्तरकालभाविना कायोत्सर्गेण, तत्रापि यः, असावपीतरेण स्यादेतत्, एवं सदा कायोत्सर्गकरणापत्तिरित्याशङ्क्याह स च सदाकरणं, कायोत्सर्गस्येति गम्यते। कुत इत्याह सर्वोऽपि साधुयोगस्त्रतो क्तः श्रमणव्यापारः यस्मात्। खलुशब्दो विशेषणार्थं भावप्रधान इत्यर्थः। तत्प्रत्यनीकं इति सूक्ष्मप्रमादप्रत्यनीकः। अत एव भगवदुक्तानुपूर्व्या विहितानुष्ठानवन्तो विनिर्जित्य प्रमादं वीतरागा भवन्ति। इत्थं जेयतया एव तस्य भगवद्भिर्ज्ञाततत्त्वा इति बहुवक्तव्यमित्यलं प्रसङ्गेनेति गाथार्थः।

सूचागाहा–

एस चरित्तुस्सग्गो, दंसणसुद्धीएँ तइअओ होइ।
सुअनाणस्स चउत्थो, सिद्धाणं युई य किइकम्मं ॥८२॥

एष चारित्रकायोत्सर्गस्तदा दर्षनशुद्धिनिमित्तं तृतीयो भवति। प्रारम्भकायोत्सर्गापेक्षेय तस्य तृतीयत्वम्। श्रुतज्ञानस्य चतुर्थः। एवमेव सिद्धानां स्तुतिश्च, तदनु कृतिकर्म्म वन्दनमिति सूचागाथासमासार्थः।

अवयवार्थमाह–

सामाइअपुव्वंगं, करिंति तं चरित्तसोहणनिमित्तं।
पियधम्मऽवज्जभीरू, पण्णासुस्सासगपमाणं ॥८३॥

सामायिकपूर्वकं प्रतिक्रमणोत्तरकालभाविनं कायोत्सर्गं कुर्वन्ति चारित्रशोधननिमित्तम्। किंविशिष्टाः सन्त इत्याह प्रियधर्माऽवद्यभीरवः पञ्चाशदुच्छ्वासप्रमाणमिति गाथार्थः।

ऊसारिऊण विहिणा, सुद्धचरित्ता त्थयं पकढित्ता।
कड्ढंति तओ चेइअवंदणदंडं तउस्सग्गं ॥८४॥

उत्सार्य विधिना 'णमो अरहंताणमिति' अभिधानलक्षणेन, शुद्धचारित्राः सन्तः, स्तवं 'लोकस्योद्योतकररूपं' प्रकृष्य, पठित्वेत्यर्थः। कर्षन्ति, पठन्तीत्यर्थः। ततस्तदनन्तरं चैत्यवन्दनं दण्डकं कर्षन्ति, ततः कायोत्सर्गं कुर्वन्तीति गाथार्थः।

किमर्थमित्याह–

दंसणसुद्धिनिमित्तं, करिंति पणवीसगप्पमाणेणं।
ऊसारिऊण विहिणा, कड्ढंति सुअत्थयं ताहे ॥८५॥

दर्शनशुद्धिनिमित्तं कुर्वन्ति पञ्चविंशत्युच्छ्वासप्रमाणेन उत्सार्य विधिना पूर्वोक्तेन, कर्षन्ति श्रुतस्तवं ततः 'पुष्करवरेत्यादि' लक्षणमिति गाथार्थः।

सुअनाणस्सुस्सग्गं, करिंति पणवीसगं पमाणेणं।
सुत्तइयारविसोहण निमित्तमह पारिउं विहिणा ॥८६॥

श्रुतज्ञानस्य कायोत्सर्गं कुर्वन्ति पञ्चविंशत्युच्छ्वासमेव प्रमाणेन सूत्रातिचारशोधननिमित्तम्, अथानन्तरं पारयित्वा विधिना पूर्वोक्तेनेति गाथार्थः।

चरणं सारो दंसण नाणा अंगं तु तस्स निच्छयओ।
सारम्मि अ जइअव्वं, सुद्धी पच्छाऽणुपुव्वीए ॥८७॥

किमित्याह–

सुद्धसयलाइआरा, सिद्धाण थयं पठंति तो पच्छा।
पुव्वभणिएण विहिणा, किइकम्मं दिंति गुरुणाओ ॥८८॥

शुद्ध सकलातिचाराः सिद्धानां संबन्धिनं स्तवं पठन्ति 'सिद्धाणमित्यादि' लक्षणम्, ततः पश्चात् पूर्वभणितेन विधिना, कृतिकर्म्म वन्दनं ददति गुरोरप्याचार्यायैवेति गाथार्थः ॥८८॥ पं० व०३ द्वार।

एस चरित्तुस्सग्गो, दंसणसुद्धीए तइअगो होइ।
सुअत्थोनाणस्स चउत्थो, सिद्धाए थुई अ किइ कम्मं ॥२२५॥

एस चरित्तुस्सग्गो त्ति) चरित्तातियारविसुद्धिनिमित्तो त्ति भणियं होइ। अयं च पंचासुस्सासपरिमाणो, ततो णमोक्कारेण पारेत्ता विसुद्धचरित्ता विसुद्धचरित्तं देमि सया णं दंसणविसुद्धिनिमित्तं एस नामुक्कित्तणं करें ति चारित्तविसोहियं। इयाणिं दंसणविसोहिज्ज इ त्ति कट् टु तं पुण नामकित्तणमेवं करें ति 'लोगस्सुज्जोयगरेत्यादि' अयं चतुर्विंशतिस्त-वश्चतुर्विंशतिस्तेव न्यक्षेण व्याख्यात इति नेह पुनर्व्याख्यायते॥२२५॥

चतुर्विंशतिस्तवं चाभिधाय दर्शनविशुद्धिनिमित्तमेव
कायोत्सर्गं चिकीर्षन्तः पुनरिदं सूत्रंपठन्ति–

सूत्रम्

सव्वलोए अरिहंतचेइआणं वंदणवत्तियाए पूयणवत्तियाए सक्कारवत्तियाए सम्माणवत्तियाए बोहिलाभवत्तियाए निरुवसग्गवत्तियाए सद्धाए मेहाए धिइए धारणाए अणुप्पेहाए वड्ढमाणीए ठामि काउसग्गं।

अस्य व्याख्या–सर्वलोकेऽर्ह च्चैत्यानां करोमि कायोत्सर्गमिति। तत्र लोक्यते दृश्यते केवलज्ञानभास्वतेति लोकः चतुर्दशरज्वात्मकः परिगृह्यते इति उक्तं च ''धर्मादीनां वृत्ति र्द्रव्याणां भवति यत्र तत् क्षेत्रम्। तैर्द्रव्यैः सहलोकस्तद्विपरीतं ह्यलोकाख्यम्।१।'' यः सर्वं खल्वधस्तिर्यग्ऊर्ध्व भेदभिन्नः, सर्वश्चासौ लोकश्च सर्वलोकस्तस्मिन्सर्वलोके, त्रैलोक्य इत्यर्थः। तथाहि अधेलोके चमरादिभवनेषु, तिर्यग्लोके द्वीपाचत्रज्योति-ष्कविमानादिषु, सन्त्येवार्हच्चैत्यानि। ऊर्ध्वलोके सौधर्मविमानादिषु सन्त्ये-वार्हच्चैत्यानि। तत्र अशोकाद्यष्टमहाप्रातिहार्यादिरूपां पूजामर्हतीत्यर्हन्तस्तीर्थकराः, तेषां चैत्यानि प्रतिमालक्षणान्यर्हच्चैत्यानि। इयमत्र भावना चित्तमन्तःकरणं, तस्य भावे कर्मणि वा ''वर्णदृढादि'' ।७।१।६६। लक्षणेति ष्यणि कृते चैत्यं भवति। तत्रार्हतां प्रतिमाः प्रशस्तसमाधिवि-त्तोत्पादकत्वादर्हच्चैत्यानि भण्यन्ते। तेषां किं करोमीत्युत्तमपुरुषैकवचन-निर्देशेनात्माभ्युपगमं दर्शयति। किमित्याह कायः शरीरं तस्योत्सर्गं कृत्वा, कायस्य स्थानं मौनध्यानक्रियाव्यतिरेकेण क्रियान्तराध्यासधिकृत्य

परित्याग इत्यर्थः, तं कायोत्सर्गमाह। कायस्योत्सर्ग इति षष्ठ्या समासः कृतः। अर्हच्चैत्यानामिति प्रागुक्तम्। तत्किमर्हच्चैत्यानां कायोत्सर्ग करोति ? नेत्युच्यते षष्ठ्यानिर्दिष्टं तत्पदं पदद्वयमतिक्रम्य मण्डूकप्लुत्या वन्दनप्रत्ययमित्यादिभिरभिसंबध्यते। ततश्चार्हच्चैत्यानां वन्दनप्रत्ययं करोमि कायोत्सर्गमिति द्रष्टव्यम्। तत्र वन्दनमभिवादनम् प्रशस्तकाय-वाङ्मनःप्रवृत्तिरित्यर्थः। तत्प्रत्ययं तन्निमित्तं, तत्फलं मे कथं नु नाम कायोत्सर्गा देव स्यादित्यतोऽर्थमिति। एवं सर्वत्र भावना कार्या। तथा (पूयणवत्तियाए त्ति) पूजनप्रत्ययं पूजननिमित्तं, तत्र पूजनं गंधमाल्यादि-भिरभ्यर्चनम्। तथा (सक्कारवत्तियाए त्ति) सत्कारप्रत्ययं सत्कारनिमित्तं, तत्र प्रवरवस्त्राभरणादिभिरभ्यर्चनं सत्कारः। आह यदि पूजनसत्कार-प्रत्ययं कायोत्सर्गः क्रियते, ततस्तावेव कस्मान्न क्रियते ? उच्यते द्रव्यस्तवत्वादप्रधानत्वात्। यदुक्तम्–

''दव्वत्थओ य भावत्थओ बहुगुणो त्ति बुद्धि सिया।
अनिऊण जणवयणमिणं, छज्जीवहियं जिणा बिंति ॥१॥
छज्जीवकायसंजमदव्वत्थएँ सो विरुज्झती कसिणो।
मो कसिणसंजमे वि उ, पुप्फईयं न इच्छंति ॥२॥
अकसिणपवत्तयाणं, विरयाविरयाण एस खलु तुत्तो।
संसारपयणुकरणो, दव्वत्थपरूवदिट्ठंतो ॥३॥''

अतः श्रावकाः पूजनसत्कारावपि कुर्वन्त्येव। साधवस्तु प्रशस्ताध्य-वसायनिमित्तमेवेत्थमभिदधति। तथा (सम्माणवत्तियाए त्ति) सम्मानप्रत्ययं संमाननिमित्तं, तत्र स्तुत्यादिभिर्गुणोन्नतिकरणं संमानः, तथा मानसप्रीतिविशेषः इत्यन्ये। अथ चन्दनपूनजसत्कार संमाना एव कि निमित्तमित्यत आह (बोहिलाभवत्तियाए) बोधिलाभनिमित्तं प्रेत्य जिनप्रणीतधर्मप्राप्तिर्बोधिलाभौ भण्यते। अथ बोधिलाभ एव किं निमित्तमित्यत आह (निरुवसग्गवत्तियाए) निरुपसर्गप्रत्ययं निरुपसर्ग-निमितम्, निरुपसर्गो मोक्षः। अयं च कार्योत्सर्गः क्रियमाणोऽपि अद्धादि विकलस्य नाभिलषितार्थप्रसाधनायालमित्यत आह (सद्धाए मेहाए धिइए धारणाए अणुप्पेहाए वद्धमाणीए ठामि काउसग्गं ति) श्रद्धया हेतुभूतया तिष्ठामि कार्योत्सर्गे, न बलाभियोगादिना। श्रद्धा निजाऽभिलाषः। एवं मेधया पटुत्वेन, न जडतया। अन्ये तु व्याचक्षते मेधयेति मर्यादावर्तित्वेन, नासमञ्जसतयेति। एवं धृत्या मनःप्रणिधन-लक्षणया, न पुना रागद्वेषाकुलतया। धारणया अर्हद्गुणाविस्मरणरूपया, न तु तच्छून्यतया। अनूप्रेक्षया अर्हद्गुणानामेव मुहुर्मुहुरविच्युति-रूपेणानुचिन्तनरूपया, न तु तद्वैकयेन। वर्द्धमानयेति प्रत्येकमभि-संबध्यते। श्रद्धया वर्द्धमानया। एवं मेधयेत्यादि। एवं तिष्ठामि कायोत्सर्गम्। आह उक्तमेव 'प्रकरोमि कायोत्सर्गं' सांप्रतं 'तिष्ठामीति' किमर्थमिति ? उच्यते 'वर्तमानसामीप्ये वर्त्तमानवद्वा' इति कृत्वा करोमि करिष्यामीति क्रियाभिमुख्यमुक्तम्। इदानीं वासन्नत्वात् क्रियाविशिष्टत्वात् क्रियाकालनिष्ठाकालयोः कथंचिदभेदात्तिष्ठाम्येव। आहकिंसर्वथा ? नेत्याह अन्नत्थुससिएणमित्यादि पूर्ववत् यावद्वोसिरामि त्ति। ''एयं च सुत्तं पढित्ता पणवीसुस्सासपरिमाणं काउस्सग्गं करें ति दंसणसुद्धीए तइयं उट्ठाइत्ति'' तृतीयत्वं चास्यातिचारालोचन-विषयप्रथमकायोत्सर्गापेक्षयेति। ततो ''नमोक्कारेण पारित्ता सुयनाण-परिवुड्ढिनिमित्तं अइयारविसोहणत्थं च सुयधम्मस्स भगवतो पराए भत्तीए तप्परूवगनमाक्कारपुव्वगं थुइं पढंति''। आव०५ अ०। ''काउस्सग्गस्स ठाणविही जधा ओहनिज्जुत्तीए'' आ० चू०५ अ०।

इदानीमेनामेव द्वारगाथां विशेषेण व्याख्यानयन्नाह–

उड्ढनिसीयतुयट्टण, ठाणं तिविहं तु होइ नायव्वं।
उड्ढं उच्चाराई, गुरुमूलं पडिक्कमागम्म ॥४१५॥

तत्र स्थानं त्रिविधं ज्ञातव्यम् ऊर्द्धस्थानं, निषादनस्थानं, त्वग्वर्त्तनस्थानं च। तत्राद्यमूर्द्धस्थानं व्याख्यानयन्नाह (उड्ढं) उच्चरार्थं ऊर्द्धं स्थानं कायोत्सर्गः। स उच्चारादीन् कृत्वा, आदिग्रहणात्प्रस्रवणं कृत्वा, ततश्च गुरुमूल आगत्य प्रतिक्रामतः काम् ईर्यापथिकीं प्रतिक्रामतो भवति।

पक्खे ऊसासाई पुरओ अविणीयग्गओ वाऊ।
णिक्खमपवेसवज्जण, भावासन्नो गिलाणाए ॥४१६॥

कायोत्सर्गं कुर्वता आचार्यपक्षके पक्षप्रदेशे न स्थातव्यम्, यतः गुरुरुच्छ्वासेनाभिहन्यते। नापि पुरतः स्थातव्यम्, यतः पुरतः अविनीतत्वमुपजायते गुरुमाछाद्य तिष्ठतः। नापि मार्गतः गुरोः पृष्ठतो, यतो गुरोर्वायुनिरोधेन ग्लानता भवति। वायुर्योऽपानेन निर्गच्छति। कथं पुनः स्थातव्यम् ? यत्र निष्क्रमप्रवेशस्थानं, तत् वर्जयित्वा कायोत्सर्गं करोमि (भावासन्नो त्ति) यः उच्चारादिना पीडितः स च निर्गमे रुद्धे संज्ञानिरोधं करोति, ततश्च ग्लानता भवति। अथ निर्गच्छति ततःकायोत्सर्गभङ्गः।

भारे वेयण खमगुण्ह मुच्छपरितावे छेदणे कलहो।
अव्वावाहे ठाणे, सागरपडज्जणे जयणा ॥४१७॥

तथा च मार्गे कायोत्सर्गकरणे एते दोषाः भिक्षामटित्वा कश्चिदायातः साधुः, स च भारे सति यदि प्रतिवालयति तता वेदना भवति। तथा क्षपकः कश्चिद्रक्तं गृहीत्वाऽऽयातः, तथाऽन्यः उष्णसंतप्त आयातः। अनयोर्द्वयोरपि प्रतिवालयतो यथासंख्यं मूर्च्छापरितापौ भवतः। क्षपकस्य मूर्च्छा, उष्णतप्तस्य परितापः। अथैते कायोत्सर्गं छित्त्वा प्रविशन्ति ततः परस्परं कलहो भवति। तस्मात् अव्याबाधे स्थाने कायोत्सर्गः कर्त्तव्यः, एतद्दोषभयात्। (सागरपमज्जणे जयणेत्ति) यदा तु पुनः सागारिको भवति कायोत्सर्गं कुर्वतस्तदा अप्रमार्जनमेव करोति,यतनया वा प्रमार्जयति– रजोहरणेन बाह्यनिषद्यया प्रमृज्य कायोत्सर्गस्थानं, ततस्तां निषद्यां सागरिकपुरतः एकान्ते मुञ्चति, गते च तस्मिन् गृह्णाति। उक्तमूर्द्धस्थानम्। ओघ०। ''निव्वाघाते ठायंता चेव पुव्वं सामायिकं कारित्ता सुत्तं अणुपेहंति, जाव आयरिएण 'वोसिरामि' त्ति भणितं, ताहे इमे वि अतियारसुहमे भिया पडिलेहणादिवं चिंतें ति। अण्णे भण्णंति जाहे आयरिया सामाइयं एगट्ठिता ताहे ते तहट्ठिता चेव अणुप्पेहंति पढमं सुत्तं चिंतेंति। अत्राह एत्थ किंनि मित्तं काउस्सग्गो कीरति, जेण णेरइयस्स णिरवज्जता होति सुहं च एकग्गो चिंतेहिति ? उक्तं च–

काउस्सग्गम्मि ठिओ, नेरइकायो निरुद्धवयपसरो।
जाणइ सुहमेगमणो, मुणिदेवसियाइ अइयारं ॥८७॥
परिजाणिऊण य जओ, सम्मं गुरुजणं पयासणेणं तु।
सो होइ अप्पगं सो, जम्हा य जिणेहिं सो भणिता ॥८८॥
सो काउस्सग्गो

काउस्सग्ग मोक्खपह देसियं जाणिऊण तो धीरा।
दिवसाइयारजाणणट्ठयाइ ठायंति उस्सग्ग ॥८९॥ आव०नि०।

काउस्सग्गं मोक्खपहं इति देसितं जिणेहिं, जेण णि-

रवज्जता होइ त्ति। अहवा मोक्खपहो जैनशासनं, तम्मि देसितं विधेयत्तेन, मोक्खपहगेहिं वा जिणेहिं दर्शितं मोक्खजिगमिषुणां कर्तव्यतया। अहवा मोक्खपहो णाणादीणि, तस्स देसियं, देसयतीति देसियं, तं देशयतीत्यर्थः। एवं जाणितूण, ततो धीरा, धी बुद्धिस्तया राजन्त इति धीराः। देवसियातियारस्स य पारजाणणट्ठं काउस्सग्गं ठाति त्ति। एवे काउस्सग्गे ठितेण मुहणंतिमादि काउं जाव एत्थं काउस्सग्गे ठितो ताव अणुप्पेहेतव्व, सव्वं देवसियं चिंतेत्ता जावइया देवसियाऽतियारा ते सव्वे समणेइत्ता ते दोसे आलोयणाणुलोमे पडिसेवणाणुलोमे य ठवेज्जा। तेसु संमत्तेसु धम्मसुक्काणि झाण्जा जाव आयरिएहिं उस्सारियंति। आयरिया पुण अप्पणोच्चयं देवसियं चेट्ठं दोवारे चिंतें ति ताव इमेहिं एक्केसिं चिंतिते होति। किं कारणं ? तस्स अहिंडिहिंतस्स अप्पा अतियारा, मिस्सादीणं हिंडिताणं च बहुतरा, दिवस्सगाहणं किं निमित्तं ? दिवसादीयं तित्थं पसत्थोभवति। एवं एताओ तिण्णि गाधाओ दिवसे, एवं पक्खिए विदिवसो, चाउम्मासिए वि दिवसो, संवच्छरिए वि दिवसो, तेण दिवसा तिण्णि। तिण्णि, एव ताए दोसो, पचूसेरातिया अतियारा पक्खियचाउम्मासियसंच्छरिया णत्थि। एतेण कारणेण दिवसग्गहणं, पुव्वण्हे वा केवलं दुगुणाऽणुप्पेहा पव्वइयाणं वा पयोगतं णातूण अपरिमितेण कालेण उस्सारेतव्वं, तं च णमो अरिहंताणं ति भणित्ता पारेति। पच्छा थुंति भणति। सा य थती जहिं इमं तित्थं इमाए उस्सप्पिणीए पदेसियं णाणदंसणचरित्तस्स य उवदेसो तेसिं महतीए भत्तीए बहुमाणे तो संथवो काव्वो। एतेण कारणणं काउसग्गाणंतरं चउवीसत्थओ। सा य उवउत्तेहिं पहित्ता गुणवतो पडिवत्तिनिमित्तं सबहुमाणं संवेगसारं अवराधालोयणा कातव्वा। विणयमूलो धम्मो त्ति काउं वंदितुकामो गुरुं सडासयं पडिलेहित्ता उवेट्ठो मुहणंतयं पडिलेहेति। से सीसं कायं पज्जित्ता परेण विणएण तिकरणविसुद्धं कितिकम्मं कातव्वं।

तत्थ सुत्तगाहा–

आलोयणवागरणस्स पुच्छणे पूयणाए सज्झाए।
अवराहे य गुरूणं, विणओ मूलं च वदणयं ॥२१६॥

एवं विणयं पउंजित्ता अब्भुत्थाय जहारातिणियाए दोहिं हत्थेहिं रयहरणं गहाय अक्खलियं आलोएति जधा गुरू सुणें ति उण तओ संजतभासाए पुव्वरइए दोसे वागडेति गुरुस्स।

तत्थ सुत्तगाधाओ–

विणएण विणयमूलं, गंतूणं साधुपादमूलम्मि।
जाणावेज्ज सुविहिओ, जह अप्पाणं तह परं पि ॥२१६
कयपावो वि मणूसो, आलोइय णिंदिओ गुरुसंगासे।
होइ अइरेगलहुओ, ओहरियभरो व्व भारवहो ॥२१८॥
उप्पण्णानुप्पण्णा, मायाअणुमग्गतो णिहंतव्वा।
आलोयणणिंदणगर हणेहिं ण पुणोत्तिया वितियं ॥२१९॥

जदि नत्थि अतियारो ताहे संदिसह त्ति, भणितो पडिक्कमति भाणियव्वं। अह अतियारो पायच्छित्तं पुरिमट्टादीहं ति, तं च तहेव अणुचरितव्वं मा अणुवत्थादीया दोसा भविस्संति।

एत्थ सुत्तगाधा–

तस्स य पायच्छित्तं, जम्मग्गविदू गुरू उवदिसंति।
तं तह अणचरितव्वं, अणवत्थपसंगभीतेणं ॥२२०॥

अणवत्थाए उदाहरणं–तिलहारेण वेडेणं कद्दमलित्तएणं तेणएणं पसंगावणिवारणट्ठाए आता उवालभितव्वो, जधा ण पुणो अतियरति। एतेण कारणेणं वंदणाणंतरं आलोयणा आलोइए, पुणरवि सामाइयं ववगयरागदोसमोहं होतूण पंचिंदियसंवुड्ढो सचित्तो समणो जाव तब्भावणाभाावितो सुत्ते सुत्ते उवउत्तो अणेसरेज्जा। एतेण अभिसंबंधेण आलोयणाणंतरं सामाइयं, ततो णाणदंसणचरित्ताणं विशुद्धिनिमित्तं पडिसिद्धाणं वागरणातिचारस्स किच्चाणं अकरणातियारस्स जहोवदेसस्स अ सद्दहणा अतियारस्स वितहा, परूवणातियारस्स य विसोहिनिमित्तं उवेट्ठ पडिक्कमणं पडिपदेणं अणुसज्जितव्वं, उवउत्तेण वितं निंदामि, अणागतं पच्चक्खामि त्ति, कालविभागेण य सव्वेसु ठाणेसु जहा अप्पगो ठाति तहा कातव्वं।

तत्थ सुत्तगाथा–

एते चेव अणभिगतो, भावविवरीततो अभिणिविट्ठो।
मिच्छादंसणमिणमो, बहुवागारं वियाणाहि॥
एव णाणत्तूणं, अव्विवरीतं पदं पदेण णेतव्वं।
पुणरव त्ति उवलिते, तो वेज्जति गयं पुव्वं॥

दिट्ठंतेण विणयमूलो धम्मो त्ति पुव्वत्तविहिणा वंदणखमावणापुव्वं णिवदेणं च पडिक्कंतोमित्ति आयरियाणं वंदणं काऊण सेसगा वि खमावेतव्वा।

तत्थ सुत्तगाथा–

आयरियउवज्झाए, सीसे साहम्मि कुलगणे वा।
जे मे केइ कसाया, सव्वे तिविहेण खामेमि ॥२२२॥
सव्वस्स समणसंघस्स भगवओ अंजलिं करिय सीसे।
सव्वं खमावइत्ता, खमामि सव्वस्स य दुमं पि ॥२२३॥

एएणाभिसंधेण वंदणाणंतरं खमासमणा, ततो सेसगा वि जीवा खमावेइतव्वा। एवं विगतरागदोसमोह इति पुणरवि सामाइकपुव्वगं चरित्तविसोधणहेतुं काउस्सग्गो वेज्जति। गयदिट्ठंते चेव जे केइ चारित्तविराधणाकता पडिक्कमणालोयणालाहेण सुद्धा, तीसे विसोहिणिमित्तं काउस्सग्गो त्ति वा, जोगनिग्गहो त्ति वा, एतेण कारणेणं चरित्तातियारविसोधिनिमित्तं सामाइयं कड्ढिऊण काउस्सग्गं दंडगं च जाव तस्स उत्तरीकरणेणं जाव वोसिरामि त्ति। एवं णिरवज्जेणं णिरेजेणं तस्स भत्तीए काउस्सग्गो कायव्वो। केवचिरं कालं पमाणेणं। उसासाणं सिलोगे चत्तारि पादा, पादे पादे ऊसासो। तत्थ गाथा –

''पादसमा उस्सासा, कालपमाणेण हों ति णातव्वा।
एतं कालपमाणं, उस्सग्गो होइ णातव्वो''॥

तत्थेमा परिमाणगाथातो साए संतं गोसद्धं सायं वेयालिय संझा। तत्थ अत्थेट्ठपडिक्कमणे पढिते पच्छा तिसु वि काउरुस्सग्गेसु उस्सासससतं भवति। तेसिं पढमो चारित्तकाउस्सग्गो तत्थ पण्णास उस्सासणं उस्सारेत्ता विसुद्धचरित्तदेसयाणं महामुणीणं महाजसाणं महाणाणीणं जेहिं निव्वाणवग्गोवदेसो कतो तेसिं तित्थगराणं अविहत-

मग्गो देसगाणं दंसणसुद्धिणिमित्तं णामुक्कित्तणा कीरति। किंनिमित्तं ? चरित्तं विसोधितं। इदीणिं दंसणविसोधी कातव्वत्ति। एतेणाभिसंबंधेण चउवीसत्थओ सो पुव्वभणितो, तस्स विसोहणनिमित्तं काउस्सग्गं करेंतो पराए भत्तीए भणति ''सव्वलोए अरिहंतचेइयाणं वंदणवत्तियाए'' इत्यादि। अस्य व्याख्या न केवलं चउवीसाण, जे वि सव्वे एए सिद्धादी अरिहंता, चेइयाणि य, तेसिं चेव प्रकृतिलक्षणानि। चिती संज्ञाने, संज्ञानमुत्पद्यते काष्ठकर्मादिषु प्रतिकृतिं दृष्ट्वा जधा अरहंतपडिमाए सा इति। अण्णे भणंति अरहंता तित्थगरा, तेसिं चेइयाणि अरिहंतचेइयाणि, अर्हत्प्रतिमा इत्यर्थः। तसिं वंदनादिप्रत्ययं ठामि काउस्सग्गमिति योगः। तत्र वन्द्यत्वात्तेषां वन्दनार्थं कायोत्सर्गं करेमि। श्रद्धाभिर्वर्द्धमानैः सद्गुणसमुत्कीर्तनपूर्वकं कायोत्सर्गेणैव पूजनं करोमीत्यर्थः। जधाकोइ गंधचुण्णवासमल्लादीहिं समभ्यर्चनं करोतीति एवं सक्कारवत्तियाए सम्माणवत्तियाए वि भावेतव्वं। णवरं सक्कारो जधा वत्थाभरणादीहिं सक्कारेणं सम्माणो सम्माणणं। केइ भणंति वंदणादयो एगट्ठिया आदरार्थं उच्चरिज्जंति त्ति। अथ वंदणादीणि किमत्थामित्थाह ''बोधिलाभवत्तियाए'' बोधे लाभो सम्मदंसणादीहिं अविप्पयोगो सधर्मावाप्तिरित्याह प्रेत्य सधर्मावाप्तिबोधि लाभ इत्येतदर्थं बोधिलाभः। किमर्थमित्याह ''निरुवसग्गवत्तियाए'' निरुवसग्गो मोक्खो, तदर्थं ''एत्थ य सिद्धाए मेहाए धितीए धारणाए अणुप्पेहाए वद्धमाणीए ठामि करेमि काउसग्गमिति''। तच्छब्दाद्भक्त्यतिशयसाभिलाषता इत्यन्ये। संभत्ते तीव्रभिनिवेश इत्यन्ते। तीए वड्ढमाणीए। एवं मेहाए। मेहा पडुच्च उ न घंघलइतो। तद्गुणपरिज्ञानमित्यन्ये। अन्ये पुनः मेधाए त्ति आसातणाविरहितो तत्थेव मग्गो ट्ठितो इति। वित्तीमणो सुप्पणिहाणेण दुरागादीहिं आकुलो, धारणा य वोपदेसाविस्मरणं। अन्ये तु धारणाएति अर्हद्गुणाविस्मरणरूपया, न तु तच्छून्यतया इति। अनुप्रेक्षा तद्गुणानामनुचिंतनं, वद्धमाणी वर्द्धमाना। केइ पुण अणुप्पेहाए वड्ढमाणीए ण पढंति। अन्ने पुणवत्तंति द्धानिमित्तं श्रद्धार्थं श्रद्धानिमित्तं च ठामि काउसस्सग्गं। एवं मेहादिसु वि भावितव्वं। ठामि काउस्सग्गं इत्यादि पूर्ववत्। पणुवीसं उस्सासकाउस्सग्गा णमोक्कारेणं पारेति, ततो णाणातियारविसुद्धिनिमित्तं सुत्तणाणेणं मोक्खसाहणाणि साहिज्जंति त्ति काउं तस्स भगवतो पराए भत्तीए। एतप्परूवगणमोक्कारपुव्वगं थुतिकित्तणं करेति। (आ०चु०५ अ०)

तद्यथा–

पुक्खरवरदीवड्ढे, धातइसंडे अ जंबुदीवे अ।
मरहेरवविदेहे, धम्माइगरे नमंसामि ॥१॥
तमतिमिरपडलविद्धं सणस्स सुरगणनरिंदमहिअस्स।
सीमाधरस्स वंदे, पप्फोडिअमोहजालस्स ॥२॥
जाईजगमरणसोगपणासणस्स,
कल्लाणपुक्खलविसालसुहावहस्स।
को देवदाणवनरिंगणच्चिअस्स,
धम्मस्स सारमुवलब्भ करे पमायं ॥३॥

अस्य व्याख्या पुष्कराणि पद्मानि तैर्वरः प्रधानः पष्करवरः, पुष्करवरश्चासौ द्वीपश्चेति समासः तस्यार्द्धं मानुषोत्तराचलार्वाग्भागवर्ति, तस्मिन्। तथा धातकी, खण्डानि यस्मिन् स धातकीखण्डो द्वीपः तस्मिंश्च। तथा जम्ब्वोपलक्षितस्तत्प्रधानो वा द्वीपो जम्बूद्वीपः तस्मिंश्च। एतेष्वर्द्धतृतीयेषुद्वीपेषु महाक्षेत्रप्राधान्याङ्गीकरणतः पश्चानुपूर्व्योपन्यासः। तेषु यानि भरतैरवतविदेहानि। प्राकृतशैल्या त्वेकवचननिर्देशः। द्वन्द्वैकवद्भावात् भरतैरवतविदेहमित्यापि भवति। तत्र धर्मादिकरान्नमस्यामि। ''दुर्गतिप्रसृतान् जीवान् यस्माद्धारयते ततः। धत्ते चैतान् शुभे स्थाने, तस्माद्धर्म इति स्मृतः''॥१॥ स च द्विभेदः श्रुतधर्मश्चारित्र धर्मश्च। श्रुतधर्मेणेहाधिकारः तस्य भरतादिष्वादौ करणशीलरस्तीर्थकरा एव अतस्तेषां स्तुतिरुक्ता। साम्प्रतं श्रुतधर्मस्यौच्य ते (तमतिमिरपडलविद्धंसणस्स सुरगण इत्यादि) तमः अज्ञानं तदेव तिमिरं, तमस्तिमिरम्अथवा तमो बद्धस्पृष्टनिधत्तं ज्ञानावरणीयं निकाचितं तिमिरं, तस्य पटलं वृन्दं तमस्तिमिरपटलं, तद्विध्वंसयति नाशयतीति तमस्तिमिरपटलविध्वंसनस्तस्य, तथा चाज्ञाननिरासेनैवास्य प्रवृत्तिः। तथा सुरगणनरेन्द्रमहितस्य, तथा चाग ममहिमानं कुर्वन्त्येव सुरादयः। तथा सीमां मर्यादां धारयतीति सीमाधरः सीम्नि वा धारयतीति। तस्येति द्वितीयार्थे कर्मणि षष्ठी। तं वन्दे। तस्य वा यन्माहात्म्यं तद्वन्दे। अथवा तस्य वन्द इति वन्दनं करोमि। तथा ह्यागमवन्त एव मर्यादां धारयन्ति। किं भूतस्य ? प्रकर्षेण स्फोटितं मोहजालं मिथ्यात्वादि येन स तथोच्यते तस्या। तथा चास्मिन्सति विवेकिनो मोहजालं विलयमुपयात्येव। इत्थं श्रुतधर्ममभिवन्द्याधुना तस्यैव गुणोपदर्शनद्वारेण प्रमादगोचरतां प्रतिपादयन्नाह (जाईजरामरणेत्यादि) जातिरुत्पत्तिः जरा वयोहानिः, मरणं प्राणत्यागः, शोकः मनसोदुःखविशेषः। जातिश्च जरा च मरणं च शोकश्चेति द्वन्द्व। जातिजरामरणशोकान्प्रणाशयत्यपनयति जातिजरामरणशोकप्रणाशनः तस्य। तथा च श्रुतधर्मोक्तानुष्ठानाद्! जात्यादयः प्रणश्यन्त्येव। अनेन चास्यानर्थप्रतिघातित्वमाह। कल्यमारोग्यमणतीति कल्याणं, कल्यं शब्दयतीत्यर्थः। पुष्कलं संपूर्णम्। न च तदल्पं, किं तु विशालं विस्तीर्णम्, सुखं प्रतीतम्। कल्याणं पुष्कलं विशालं सुखमावहति प्रापयति कल्याणपुष्कलविशालसुखावहः, तस्य। तथा च श्रुतधर्मोक्तानुष्ठानादुक्तलक्षणमपवर्गसुखमाप्यत एव। अनेन चास्य विशिष्टार्थप्रसाधकत्माह कः प्राणी देवदानवनरेन्द्रगणार्चितस्य श्रुतधर्मस्य सारं सामर्थ्यमुपलभ्य दृष्ट्वा विज्ञाय कुर्यात् प्रमादम्। सचेतनेन चारित्रधर्मप्रमादः कर्त्तुं न युक्त इति हृदयम् आह सुरगणनवनरेन्द्रमहितस्येत्युक्तं, पुनर्देवदानरेन्द्रगणार्चितस्येति किमर्थमिति ? अत्रोच्यते तन्निगमत्वाददोषः। तस्यैवंगुणस्य श्रुतधर्मस्य सारमुपलभ्य कः सकर्णः प्रमादी भवेच्चारित्रधर्म इति।

यतश्चैवमतः –

सिद्धे भो ! पयतो 'णमो जिणमए' नंदी सयासंजमे,
देवंनागसुवन्नकिन्नरगणस्सब्भूअभावच्चिए॥
लोगो जत्थ पइट्ठिओ जगमिणं तेलुक्कमच्चासुरं,
धम्मो वड्ढउ सासओ विजयओ धम्मुत्तरं वड्ढउ॥४॥
सुअस्स भगवओ करेमि काउस्सग्गं॥

सिद्धे प्रतिष्ठिते प्रत्याख्याते भो इत्येतदतिशयिनामामन्त्रणं, पश्यन्तु भवन्तः, प्रयतोऽहं यथाशक्त्यैतावन्तं कालं प्रकर्षेण यतः। इत्थं परसाक्षिकं प्रयतो भूत्वा पुनर्नमस्करोति 'नमो जिनमते' अर्थाद्विभक्तिपरिणातः नमो जिनमताय। यतश्चैवंभूतोऽहं

प्रयतो नन्दिः सदा सर्वकालं क्व ? संयमे चारित्रे, मम भवत्वित्यध्याहार्यम्। किंभूते संयमे ? देवनागसुवर्णकिन्नरगणैः सद्भूतभावेनार्चिते। तथा च संयमवन्तः अर्च्यन्त एव देवादिभिः। किंभूते जिनतमे ? लोक्यतेऽनेनेति लोकः ज्ञानमेव, स यत्र प्रतिष्ठितः तथा जगदिदं ज्ञेयतया। केचिन्मनुष्यलोकमेव जगन्मन्यन्ते इत्यत आह त्रैलोक्यमनुष्यासुरम्। आधाराधेयरूपमित्यर्थः। अयमित्थंभूतः श्रुतधर्मो वर्द्धतां वृद्धिमुपयातु, शाश्वतः द्रव्यार्थादशान्नित्यः। तथा चोक्तम् द्रव्यार्थादेशादित्येषा द्वादशाङ्गी न कदाचिन्नासीदित्यादि। अन्ये पठन्ति–धर्मो वर्द्धतां शाश्वतमिति, अस्मिन्पक्षे क्रियाविशेषणमेतत् शाश्वतं वर्द्धताम्। अप्रच्युत्येति सर्वकालमिति भावना। विजयतः कर्मप्रवादिविजयेनेति हृदयम्। तथाधर्मोत्तरं चारित्रधर्मोत्तरं वर्द्धतु। पुनर्वृध्याऽभिधानं मोक्षार्थिना प्रत्यहं ज्ञानवृद्धिः कार्येति प्रदर्शनार्थम्। तथाच तीर्थकरनामकर्महेतून्प्रतिपादयतोक्तम् ''अपुव्वनाणगहणेत्ति सुयस्स भगवओ करेमि काउस्सग्गं वंदणवत्तियाए'' इत्यादि प्राग्वत् यावद्वोसिरामि। एयं सुत्तं पढित्ता पणवीसुस्सासमेव काउस्सग्गं करेंति। आह च ''सुयनाणस्स चउत्थो ति'' ततो नमोक्कारेण पारित्ता विसुद्धचरणदंसणसुयातियारमंगलनिमित्तं चरणदंसणसुयदेसगाण सिद्धाणं थुतिं कड्ढंति भणियं च सिद्धाणं थुइए त्ति''।

सा चेयं स्तुतिः–

सिद्धाणं बुद्धाणं, पारगयाणं परंपरगयाणं।
लोगग्गमुवगयाणं, णमो सया सव्वसिद्धाणं ॥१॥
जो देवाण वि देवो, जं देवा पंजली नमंसंति।
तं देवदेवमहियं, सिरसा वंदे कहावीरं ॥२॥
एक्को वि नमुक्कारो, जिणवरवसहस्स वद्धमाणस्स।
संसारसागराओ, तारेइ नरं व नारिं वा ॥३॥

(सिद्धाणं बुद्धाणमित्यादि) अस्य व्याख्यासितं ध्यानमेतेषामिति सिद्धाः, निर्दग्धकर्मेन्धना इत्यर्थः। तमभ्यः सिद्धेभ्यः। ते च सामान्यतो विद्यासिद्धा अपि भवन्त्यत आह बुद्धेभ्यः, सूत्रावगताशेषाविपरीतत्वात् बुद्धा उच्यन्ते। तत्र कैश्चित्स्वतन्त्रतयैव तेऽपि स्वतीर्थोच्छालनायेहागच्छन्तीत्यभ्युपगम्यते। अत आह पारगतेभ्यः, पारं पर्यन्तं संसारस्य, प्रयोजनव्रातस्य वा गताः पारगताः, तेभ्यः। तेऽपि चानादिसिद्धैकजगत्पतीच्छावशात्कैश्चित्तथाभ्युपगम्यन्ते। इत्यत आह–परम्परगतेभ्यः, परम्परया एकेनाभिव्यक्तार्थादागमात्प्रवृत्तोऽन्योऽन्येनाभिव्यक्तार्थादन्योन्येनाप्यत इत्येवंभूतया गताः परंपरगतास्तेभ्य आह–प्रथमं नाभिव्यक्तार्थादागमात्प्रवृत्त इत्युच्यते, अनादित्वात्सिद्धानां प्रथमत्वानुपपत्तिरिति। अथवा कथंचित्कर्मक्षयोपशमाद् दर्शनं दर्शनाज्ज्ञानं ज्ञानाच्चारित्रमित्येवं भूतया परम्परया गताः, तेभ्यः। तेऽपि च कैश्चित्सर्वलोकापन्ना एवोच्यन्ते। इत्यत आहलोकाग्रमुपगतेभ्यः लोकाग्रमीषत्प्राग्भाराख्यं तमुपगताः, तेभ्यः। आहकथं पुनरिह सकलकर्मविप्रमुक्तानां लोकाग्रं यावद्गतिर्भवति ? भावे वा सर्वदैव कस्मान्न भवतीति ? अत्रोच्यते पूर्वाप्रयोगवशाद्दण्डादिचक्रभ्रमणवत् समयमेवैकमविरुद्धेति। नमः सदा सर्वकालं सर्वसिद्धेभ्यस्तीर्थकरसिद्धादिभेदभिन्नेभ्यः। अथवा सर्वं सिद्धं साध्यं येषां ते सर्वसिद्धास्तेभ्यः ॥१॥ इत्थं सामान्येन सर्वसिद्धनमस्कारं कृत्वा पुनरासन्नोपकारित्वाद्वर्त्तमानतीर्थाधिपेतः श्री मन्महावीरवर्द्धमानस्वामिनः स्तुतिं कुर्वन्ति ''जो देवाण वि देवो जं देवा पंजली'' इत्यादि। यो भगवान् वर्द्धमानः देवानामपि भवनवास्यादीनां देवः, पूज्यत्वात्। तथा चाह–यं देवाः प्राञ्जलयो नमस्यन्ति विनयरचितकरपुटाः सन्तः प्रणमन्ति। (तं देवदेवमहियं) देवदेवाः शक्रादयः तैर्महितं पूजितं, शिरसोत्तमाङ्गेने–त्यादरप्रदर्शनार्थमाह। वन्दे तं, कम् ? महावीरम्। ईर गतिप्रेरणयोरित्यस्य विपूर्वस्य विशेषेण ईरयति कर्म गमयति याति वा शिवमिति वा वीरः। महांश्चासौ वीरश्च महावीरस्तम् ॥२॥ इत्थं स्तुतिं कृत्वा पुनः फलप्रदर्शनमिदं पठन्ति (एक्को वि नमोक्कारो जिणवरवसहस्सेत्यादि) एकोऽपि नमस्कारो जिनवरवृषभस्य वर्द्धमानस्य संसारसागराद् तारयति नरं वा। नारिं वा इयमत्र भावना सति सम्यग्दर्शने परया भावनया क्रियमाण एकोऽपि नमस्कारस्तथाभूताध्यवसायहेतुर्भवति यथाभूताच्छ्रेणिमवाप्य निस्तरति भवोदधिमित्यतः कारणे कार्योपचारादेवमुच्यते, अन्यथा चारित्रादिवैफल्यं स्यात्। आव०५ अ० अनेन तत्कालापेक्षयैतावद्गुणसंपत्समन्वितैवोक्तमधर्मसाधिकेति विद्वांसः। केवलसाधकश्चायम् सति च केवले नियमान्मोक्ष इत्युक्तमानुषङ्गिकं,तस्मान्नमस्कारः कार्य इत्याह किमेष स्तुत्यर्थवादो यथा एकया पूर्णाहुत्या सर्वन् कामानवाप्नोति, उत विधिवाद एव यथाऽग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम इति। किं वा अतः ? यथाऽऽद्यः पक्षःततो यथोक्तफलशून्यत्वात् फलान्तरभावे च तदन्यस्तुत्यविशेषादलमिहैव यत्नेन, च यक्षस्तुतिरप्यफलैवेति प्रतीतमेव। अथ चरमो विकल्पः–ततः सम्यक्त्वाणुव्रतमहाव्रतादिचारित्रपालनवैयर्थ्यम्, तत एव मुक्तिसिद्धेः। न च फलासाधकमिष्यते, सम्यक्त्वादिमोक्षफलत्वेनेष्टवात् ''सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः'' इति वचनादिति ? अत्रोच्यते विधिवाद एवायम्। न च सम्यक्त्वादिवैयर्थ्यम्, तत्त्वतस्तद्भाव एवास्य भावात्, दीनारादिभ्यो भूतिन्याय एषः, तदबन्ध्यहेतुत्वेन तथा तद्भावोपपत्तेः। अबन्ध्यहेतुश्चाधिकृतफलसिद्धौ भावनमस्कार इति। अर्थवादपक्षेऽपि न सर्वा स्तुतिः समानफलेत्यतो विशिष्टफलहेतुत्वेनात्रैव यत्नः कार्यः, तुल्ययत्नादेव विषयभेदेन फलभेदोपपत्तेर्वव्वूलकल्पपादपाऽऽदेः प्रतीतमेतत्। भगवन्नमस्कारश्च परमात्मविषयतयोपमाऽतीतो वर्तते। यथोक्तम्–

''कल्पद्रुमः पारे मन्त्रः, पुण्य चिन्तामणिश्च यः।
गीयते स नमस्कारस्तथैवाहुरपण्डिताः ॥१॥
कल्पद्रुमो महाभागः, कल्पनागो वरं फलम्।
ददाति न च मन्त्रोऽपि, सर्वदुःखविषापहः ॥२॥
न पुण्यमवपर्गाय, न च चिन्तामणिर्यतः।
तत्कथ्यते नमस्कार, एभिस्तुल्योऽभिधीयते''॥३॥ इत्यादिल०।

दुन्नि अ हुंति चरित्ते, दंसणनाणे अ होइ इक्किक्को।
सुअरि वत्तदेवयाए, थुइअंते पंचमंगलयं ॥२७॥

एतास्तिस्रस्तुतयो नियमेनोच्यन्ते। केचित्तु अन्या अपि पठन्ति, न च तत्र नियम इति। ''कितिकम्मं ति पुणो सडासयं पडिलेहिय उवविसंति, मुहपोत्तियं पडिलेहंति, स सीसोवरिकायं पमजित्ता आयरियस्स वंदणं करें ति त्ति'' गाथार्थः ॥

आह–किं निमित्तमिदं वन्दनमिति ? उच्यते–

सुकयं आणत्तिं पि व, लोए काऊण सुकयकिइकम्मा।
वड्ढंति अ थुइईओ, गुरुथुइ गहणे कए तिन्नि ॥२८॥

'सुकयं आणत्तिं पि व लोए काऊण' त्ति जहा रण्णो मणूसा आणत्ति-

गाए पेसिया पणामं काऊण गच्छंति । तं च सुकयं काऊण पुणो पणामपुव्वगंणिवेइंति । एवं साहुणो वि गुरुसमाहिट्ठा वंदणपुव्वगं चरित्तादिविसोहिं काऊण पुणो सुकयकितिकम्मा संतो गुरुणो निवेदेंति– भगवं ! कयं तं पेसणं आयविसेहिकारणं ति वंदणं काऊण पुणो उक्कुडुया आयरियाभिमुहा विणयरइयंजलिउडा चिट्ठंति ख जाव गुरू थुइगहणं करेंति । ततो पच्छा सम्मत्तीए पढमथुईए थुतिं कड्ढंति, ताओ थुताओ वड्ढंतिओ तिन्नि कड्ढंति त्ति । आह च 'वड्ढंति य थुतीओ , गुरुथुइगहणे कएंति त्ति' गाथार्थः ।२८। ततो पाउसियं कत्तव्वं करेंति । एवं ताव देवसियं गयं ।

इयाणिं राइयं, तत्थिमा विहिपढमं चिय सामाइयं कड्ढिऊण चारित्तविसुद्धिनिमित्तं पणवीसुस्सासप्रमितं काउस्सग्गं करेंति, ततो नमोक्कारेणं पारेत्ता दंसणविसुद्धिनिमित्तं चउवीसत्थयं पढंति, पणवीसुस्सासपरिमाणमेव काउस्सग्गं करेंति । एत्थ वि नमोक्कारेण पारेत्ता सुयनाणविसुद्धिनिमित्तं सुयनाणत्थयं कड्ढंति, काउस्सग्गं च तस्सुद्धिनिमित्तं करेंति । तत्थ य पादोसियं थुइमाइअं अधिकयकाउस्सग्गपज्जंतमइयारं चिंतेंति ।

आह–किं निमित्तं पढमकाउस्सग्ग एव न चिंतिंति । उच्यते–

निद्दामत्तो न सरइ, अइआरं माइघट्टणं नुन्ने ।
किइअकरणदोसा वा, गोसाई तिन्नि उस्सग्गा ॥२२६॥

निद्दामत्तो निद्दाभिभूओ, न सरइ न संभरति, सुट्ठु अइयारं मायघट्टणं नुन्ने अंधयारे वंदणं ठयाणं किंतिअकरणदोसा वा अंधयारे अदंसणाओ मंदसद्धा वा ण वंदेहति । एएण कारणेण गोसे पच्चूसे आदीए, तिन्नि काउस्सग्गा भवंति, न पुण पाउसिए जहा एको त्ति ''तत्थ पढमो चरित्ते, दंसणसुद्धीएँ विइअओ होइ । सुअन्नाणस्स उ तइओ, नवरं चिंतेइ तत्थ इमं''।

तइए निस्सइआरं, चिंतइ चरमम्मि किं तवं काही ?
छम्मासा एगादिणाइ हाणि जा पोरिसि नमो वा ॥२३०॥

तइए निस्सइयारं चिंतेइ त्ति व्याख्यात एवायमवयवः । ततो चिंतिऊण अइयारं नमोक्कारेण पारेत्ता सिद्धाणं थुइं काऊण पुव्वभणिएण विहिणा वंदित्ता आलोएंति, ततो सामाइपुव्वं पडिक्कमंति, ततो वंदणपुव्वयं खामिंति, ततो सामाइयपुव्वयं काउस्सग्गं करें ति । तत्थ चिंतयंति– कम्मिय निओगे निउत्ता वयं गुरूहिंतो तारिसं तवं पवज्जामो जारिसेण तस्स हाणी न भवइ । ततो चिंतेइछम्मासं खमणं करेमि, न सक्केमो एगदिवसेण ऊणयं तहा वि न सक्कामो, एवं जाव पंच मासा, ततो चत्तारि, ततो तिन्नि, तओ दोन्नि, ततो अद्धमासं जाव चउत्थयं आयंबिलं एगट्ठाणयं पुरिमड्ढं णिविग त्ति य नमोक्कारसहियं व त्ति । उक्तं च (चरिमे किं तवं काहि त्ति) चरिमे काउस्सग्गे (छम्मासादेगूणं) हाणी जाव पोरिसि नमो वा) एवं जं समत्थो काउं तमसद्धभावा हियए करें ति, पच्छा वंदित्ता गुरुसक्खियं पवज्जंति, सव्वे य नमोक्कारइत्ता समगं उट्ठेंति, वोसिरावंति त्ति सीयंति य । एवं पोरिसिमादीसु विभासा । ततो तिन्नि थुतीओ जहापुव्वं, नवरमप्पसद्दगं देंति, जहा घरकोइलादी सत्ता न उट्ठेंति, ततो देवे वंदेति, ततो बहुवेलं संदिसावेंति; ततो रयहरणं पडिलेहंति, पुणो ओहियं संदिसावेंति, पडिलेहंति य; तओ वसहिं पडिलेहिय कालं निवेदेंति । अन्ने भणंतिथइसमणंतरं कालं निवेइंति । एवं च पडिक्कमणकालं तुलेंति, जहा पडिक्कमंताणं थुइ अवसाणे चेव पडिलेहणवेला भवइ । गयं राइयं । आव०५ अ०।

शरय पडिक्कमेत्ता णं पडिक्कमणकालं जाव सज्झायं करिज्जा, दुवालसं पसुत्ते दुस्सुमिणं वा कुसु मिणं वा उग्गाहएज्जा सएण ऊसासाण काउस्सग्गं रयणीए छीएज्ज वा, खसेज्ज वा, फलहगपीढगदंडगेण वा सुदुक्कगपउरिया खमणंदिया वा राओ वा हासखेड्डं कंदप्पणाहवायं करेज्जा उवट्ठाणं । महा० ७ अ०।

अदाणिं पक्खियं । तत्थिमा विहीजाहे देवसियं पडिक्कंता भवंति निविट्ठंगपडिक्कमणेणं ताहे गुरू निवेसंति, तओ साहू वंदित्ता भणंति– इच्छामि खमासमणो ! पक्खियं खामणगं ति ।

एत्थ पढमं खामणासुत्तं; तं पुण इमं –

इच्छामि खमासमणो ! उवट्ठिओ मि अब्भिंतरपक्खियं खामेउं पण्हरसण्हं दिवसाणं पन्नरसण्हं राईणं जं किंचि अपत्तिय परपत्तियं भत्ते पाणे विणए वेयावच्चे आलावे संलावे उच्चासणे समासणे अंतरभासाए उवरिभासाए जं किंचि मज्झ विणपरिहीणं सुहुमं वा बायरं वा तुब्भे जाणह अहं न याणामि तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ।

इदं च निगदसिद्धमेव, नवरं अन्तरभासा–आचार्यस्य भाषमाणस्यान्तरे भाष्यते । उवरिभासा–इत्तरकालं तदेव किलाधिकं भाष्यते ।

तत्राचार्यो यदभिधत्ते तत्प्रतिपादयन्नाह–

अहमवि खामेडि १ तु–भेहि समं २ अहं च वंदामि ३ ।
आयरिअसंतिअं ४ नित्थारगओ ५ गुरुणो अवयणाइं ॥२३१॥

(अहमवि खामेमि त्ति) अहमपि खामेमि, तुब्भे त्ति भणियं होइ । एवं जहन्नेण तिन्नि, उक्कीसेण सव्वे खामिज्जंति । पच्छा गुरू उट्ठेऊण जहाराइणियाए उद्धट्ठिओ चेव खामेइ; इयरे वि जहारायणियाए सव्वे वि अवणयउत्तिमंगा भणंति देवसियं पडिक्कंते पक्खियं खामेमो पण्णरसण्हं दिवसाणमित्यादि । एवं सेसगा वि जहाराइणियाए खामेंति । पच्छा वंदित्ता भणंति–देवसियं पडिक्कंतं पक्खियं पडिक्कमावेध । ततो गुरूसंदिट्ठो वा पक्खियं पडिक्कमणं कड्ढइ । सेसगा जहा सत्ति काउस्सग्गाइसंठिया धम्मज्झाणोवगया सुणें ति । कड्ढिए मूलुत्तरगुणेहिं जं खंडियं तस्स पायच्छित्तनिमित्तं तिन्नि ऊसासयाणि काउस्सग्गं करेंति । 'वारस उज्जोयकरे' त्ति भणियं होइ । पारिए 'उज्जोयकरे' थुइं कड्ढंति । पच्छा उवविट्ठा मुहणंतगं पडिलेहित्ता वंदंति । ताहे परिकअं विणयाइयारं खामेंति । पच्छा जहारायाणं पूसमाणं वा अतिक्कंते मंगलिज्जे कज्जे बहु मन्नंति; सत्तुपरक्कमेण अखंडियणियबलस्स सांभणो कालो गओ । अन्नो वि एवं चेव उवट्ठिओ ।

एवं पक्खियं विणओवयारं खामेंति वितियखामणसुत्तेण; तच्चेदं–

सूत्रम्–

इच्छामि खमासमणो ! पि यं च मे जं भे हट्ठाणं तुट्ठाणं अप्पायं कालेणं अभग्गजोगाणं सुसीलाणं सुव्वयाणं सायरिअउज्झायाणं नाणेणं दंसणेणं चरित्तेणं तवसा

अप्पाणं भावेमाणाणं बहुसुभेण मे दिवसा पोसहो पक्खो वइक्कतो अन्नो अ मे कल्लाणेणं पज्जुवट्ठिओ सिरसा मणसा मत्थएण वंदामि ॥२॥

निगदसिद्धम्। आयरिओ भणइ साहूहिं समं ति, साधूहिं समं अमेयं भणियं ति, ततो चेइयवंदावणं साहूवंदावणं च निवेदिउकामा भणंति–

सूत्रम्–

इच्छामि खमासमणो ! पुव्विं चेइयाइं वंदित्ता नमंसइत्ता तुब्भन्नं पायमूले विहरमाणेणं जे केइ बहुदेवसिया साहुणो दिट्ठा समणा वा वेसमणा वा गामाणुगामं दूइज्जमाणा वा राइणिया संपुच्छंति ओमराइणिया वंदंति अज्जा वंदंति अज्जियाओ वंदंति सावया वंदंति साविआओ वंदंति अहयं पि निस्सल्लो निक्कसाओ त्ति कट्टु सिरसा मणसा मत्थएण वंदामि ॥३॥

निगदसिद्धम्; नवरं समणा वुड्ढवासी, वेसमणा वा णवविकप्पविहारी। वुड्ढवासी जंघावलपरिक्खीवणा नवविभागे खेत्तं काऊण विहरंति णवकप्पविहारी पुण उउबद्धे अद्धमासकप्पेण विहरंति एए अट्ठ विगप्पा वासावासत्ति एगम्मिचेव घ्ठाणे करेंति। एस नवविकप्पो। अन्नाचार्यो भणति मत्थएण वंदामि अहं पि तेसिं। अन्ने भणंति–अहमवि वंदावेमि त्ति। ततो अप्पगं गुरूणं निवेदेंति चउत्थखामणासुत्तेण; तच्चेदम्–

सूत्रम्–

अहमवि वंदावेमि चेइयाइं इच्छामि खमासमणे ! उवट्ठिओमि तुब्भण्हं संतियं अहाकप्पं वा वत्थं वा पमिग्गहं वा कंबलं वा पायपुंछणं वा अक्खरं वा पायं वा गाहं वा सिलोगं वा अट्ठं वा हेउं वा पसिणं वा वागरणं वा तुब्भेहिं चियत्तेण दिन्नं मए अविणएण पडिच्छियं तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ॥४॥

अहमवि वंदावेमि चेइयाइं निगदसिद्धम्, नवरं आयरिओ भणइ–आयरियसंतियं ति अहंकारपरिवज्जणत्थं किं ममात्रे ति। ततो जं वेणइया, तमणुसट्ठिं बहु मन्नंति पंचमखामणासुत्तेण; चेदम्–

सूत्रम्–

इच्छामि अहमवि पुव्वाइं खमासमणो ! कयाइं च मे किइकम्माइं आयारमंतरे विणयमंतरे सेहिओ सेहविओ संगहिओ उवग्गहिओ सारिओ वारिओ चोइओ पडिचोइओ चियत्ता मे पडिचोयणा उवट्ठिओ हं तुब्भण्णं तव तेयसिरीए इमाओ चाउरंतसंसारकंताराओ साहट्टु नित्थरिस्सामि त्ति कट्टु सिरसा मणसा मत्थएण वंदाति ॥५॥

इच्छामि खमासमणो कयाइं च मे किइकम्माइं आयारमंतरे विणयमंतरे सेहिओ सेहाविओ संगहीओ उवग्गहीओ नाणादिहिं सारिओ हिए पवत्तिओ वारिओ अहियाओ निवत्तिओ चोइओ खलणाए पडिचोइओ पुणो पुणो अच्चवत्थं ठिओ त्ति। एत्थ आयरिओ भणइनित्थारग त्ति। नित्थारगाहाहि त्ति गुरू भणंति एयाइं वयणाइं ति वक्कसेसमयं गाथार्थः ।२३१॥

एवं सेसेण वि साहूणं खामणं वंदणं करें ति। अहवा अइवियालो वाघाओ वा ताहे सत्तण्हं पंचण्हं तिण्हं वा पच्छा देवसियं पडिक्कमति। केइ भणंति सामन्नेणं। अन्ने भणंति खामणाइयं। अन्ने चरित्तुस्सग्गादियं। से जा देवयाए य उस्सग्गं करें ति पडिक्कंताणं गुरुसु वंदितेसु वड्ढमाणीओ तिण्णि थुईओ आयरिया भणंति। इमे वि अंजलिमउलियग्गहत्थओ सुमत्ताए नमोक्कारं करें ति। पच्छा सेसगा वि भणंति। तद्दिवसं ते सुत्तपोरिसी ण अत्थपोरिसी थुईओ भणंति, जस्स जत्तियाओ एंति। एसा पक्खिय-पडिक्कमणविही मूलटीकाणुसारेण भणिया। अन्ने पुण आयरणासुसारेण भणंति। देवसिए पडिक्कंते खामिए य ततो पढमं गुरू चेव उट्ठित्ता पक्खियं खामेइ जहारायणियाए, तओ उवविसइ। एवं सेसगा वि जहारायणियाए खामेत्ता उवविसंति। पच्छा वंदित्ता भणंतिदेवसियं पडिक्कंतं पक्खियं पडिक्कमावेह अत्यादि पूर्ववत्। गयं पक्खियं। एवं चाउम्मासियं पि, नवरं कउस्सग्गो पंचुस्सासस्सयाणि। एवं संवच्छरियं पि, नवरं काउस्सग्गो अट्ठसहस्सुस्साणं ति। चाउम्मासियसंवच्छरिएसु सव्वे वि मूलगुणुत्तर-गुणाणं आलोयणं दाऊण पडिक्कमंति, खेत्तदेवयाए य उस्सग्ग करें ति। केइ पुण चाउम्मासिगे सेज्जादेवयाए वि काउस्सग्गं करें ति, पभाए यआवस्सए कए पुच्च कल्लाणगं गेण्हंति, पुव्वगहिए य अभिग्गहे निवेइंति, जइ सम्मं नाणुपालिओ तो उस्सग्गं करेंति। पुणोवि अन्ने गेण्हंति निरभिग्गहणं ण वट्टइ अत्थिओ संवच्छरिए य आवस्सए कए पाउसिए पज्जोसवणाकप्पो कड्ढिज्जइ, सो पुण पुव्विं चेव अणागइं च पंचरत्तेण कड्ढिज्जइ। एसा सामायारि त्ति।

एतामेव लेशत उपसंहरन्नाह भाष्यकारः –

चाउम्मासिअवरिसे, आलोअण निअम सा उ दायव्वा।
गहणं अभिग्गहाण य, पुव्वग्गहिए निवेएअं ॥२३२॥
चाउम्मासिअवरिसे, उस्सग्गो खित्तदेवयाए उ।
पक्खियसिज्जसुराए, करिंति चउमासिए चेगो ॥२३३॥

गाथाद्वयं गतार्थम् –

(८) अधुना नियतकायोत्सर्ग प्रतिपादयन्नाह–

देसिअराइअपक्खिअ–चाउम्मासिअ तहेव वरिसे अ।
एएसु हुंति निअया, उस्सग्गा अनिअया सेसा ॥२३४॥

निगदसिद्धा, नवरं शेषा गमनादिविषया इति ॥२३४॥

सांप्रतं नियतकायोत्सर्गाणामोघत उच्छ्वासमानं प्रतिपादयन्नाह–

साय सयं गोसद्धं, तिन्नेव सया हवंति पक्खम्मि।
पंच य चाउम्मासे, अट्ठसहस्सं च वारिसिए ॥२३५॥
चत्तारि दो दुवालस, वीसं चत्तारि हुंति उज्जोआ।
देसिअराइअपक्खिअ–चाउम्मासे अ वरिसे अ ॥२३६॥
पणवीसमद्ध तेरस, सिलोग पन्नत्तरिं च बोधव्वा।
सयमेगं पणुवीसं, वेवावन्ना य वारिसिए ॥२३७॥

(सायं ति) सायं प्रदोषः, तत्र शतमुच्छ्वासानां भवति चतुर्भिरु-द्योतकरैरिति भावित एवायमर्थः प्राक्। (गोसद्धं ति) प्रत्यूष

पञ्चाशतः, तत्रोद्योतकरद्वयं भवति।शेषं प्रकटार्थमिति गाथार्थः ॥३५॥ चत्तारि दो दुवालसगाहा भावितार्था ॥३६॥ अधुना श्लोकमानमुपदर्शयन्नाहपणवीसमद्धतेरसगाहा निगदसिद्धैव, नवरं चमुर्भिरुच्छ्वासैः श्लोकः परिगृह्यते इति ॥३७॥ उक्ता नियतकायोत्सर्गवक्तव्यता। आव० ५ अ०।

(६) इदानीमनियतकायोत्सर्गवक्तव्यतामाह—
तत्रेयं द्वारगाथा—

गमणागमणवियारे, सुत्ते वा सुमिणदंसणे राओ।
नावा नइसंतारे, पायच्छित्तं वि उस्सग्गो ॥

गमनमुपाश्रयाद्, गुरुमूलाद् या बहिर्गमनं, भूयः स्वोपाश्रये गुरुपादमूले वा बहिःप्रदेशात्प्रत्यावर्तनमागमनम्। गमनं च आगमनं च गमनागमनम्; समाहारद्वन्द्वः। गमनपूर्वकमागमनं गमनागमनम्। गमनागमनं च गमनागमनं च गमनागमने "स्यादावसंख्येयः"। ३।१।११६। इत्येकशेषः। तयोस्तत्र यदा भक्ताद्यर्थमन्यस्मिन्ग्रामे गतः सन् विश्रमणनिमित्तमासितुकामः; अथवा यो वेत्ताऽद्यापि वेला भवति तावत्प्रतीक्षितुकामो, यदि वा प्रथमालिकां कर्तुकामो यदा शून्यगृहादिषु प्रविशति तदैवमादिषु प्रयोजनेषु गमनमात्रेऽपि ऐर्यापथिकीप्रतिक्रमणपुरस्सरं कायोत्सर्गप्रायश्चित्तम्, तदनन्तरं कार्यसमाप्तौ भूयः स्वोपाश्रयप्रवेशे आगमनमात्रे कायोत्सर्गः। शेषेषु प्रयोजनेष्वपान्तराले विश्रमणासंभवे गमनागमनयोरिति। (वियारे इति) विचारो नाम उच्चारादिपरिष्ठापनम्, तत्रापि प्रायश्चित्तं कायोत्सर्गः। (सुत्ते वा इति)सूत्रेऽप्यत्र विषयेषु उद्देशमुद्देशानुज्ञाप्रस्थापनप्रतिक्रमश्रुतस्कन्धाङ्गपरिवर्तनादिष्वविधिसमाचरणपरिहाराय प्रायश्चित्तं कायोत्सर्गः। वा समुच्चये। (सुमिणदंसणे राओ इति) उत्सर्गतो दिवा स्वप्नमेव न कल्पते ततो रात्रिग्रहणम्। रात्रौ स्वप्नदर्शने प्राणातिपातादिसावद्यबहुले, कदाचिदनवद्यस्वप्नदर्शने वा अनिष्टसूचके, उपलक्षणमेतत्—दुःशकुने दुर्निमित्तेषु वा तत्प्रतिघातकरणाय कायोत्सर्गकरणं प्रायश्चित्तम्। (नावा नइसंतारे इति(नौश्चतुर्द्धा। तद्यथा—समुद्रनौः, उद्यानी, अवयानी, तिर्यग्गामिनी च। तत्र समुद्रनौः प्रवहणं, येन समुद्रो लङ्घ्यते। शेषास्तिस्रो नद्याम्। तत्रापि या नद्याः प्रतिश्रोतोगामिनी सा उद्यानी। अनुश्रोतोगामिनी अवयानी। या पुनर्नदीं तिर्यक् छिनत्ति सा तिर्यग्गामिनी। तत्र यतनयोपयुक्तस्य यथायोगं चतुर्विधयाऽपि नावा तथाविधप्रयोजनोत्पत्तिवशतो गमने सूत्रोक्तविधिना कायोत्सर्गः प्रायश्चित्तम्। नदीसंतारश्चतुर्विधः। तत्र पादाभ्यां त्रिधा। तद्यथा—संघट्टः, लेपः, तदुपरि च। तत्र जङ्घार्द्धप्रमाणे उदकसंस्पर्शे संघट्टः। नाभिप्रमाणे उदकसंस्पर्शे लेपः। तत उदकस्य उपरि संस्पर्शे तदुपरि। चतुर्थो नदीसंस्तारो बाहूरुपदादिभिः। एतेष्वपि सर्वत्र यतनयोपयुक्तस्य प्रायश्चित्तं कायोत्सर्गः। व्युत्सर्गः कायोत्सर्गः इत्यनर्थान्तरम्। एष गाथासंक्षेपार्थः।

साम्प्रतमेनामेव गाथां विवरीषुर्सेषु स्थानेषु गमनमागमनं वा प्रतिक्रमणीयं संभवति, यो वा विचारविषयो यत्प्रमाणं च तत्र कायोत्सर्गः प्रायश्चित्तम्, तदेतदुपदर्शयन्नाह—

भत्ते पाणे सयणा—सणे य अरहंतसमणसेज्जासु।
उच्चारे पासवणे, पणवीसं होंति ऊसासा ॥१॥

भक्ते पाने शयने आसने च (अरिहंतसमणसेज्जासु) इतिशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते। अर्हच्छय्यायामर्हद्भवने, श्रमणशय्यायां श्रमणोपाश्रये, गमनमागमनं च प्रतिक्रमणीयं संभवति। उच्चारप्रश्रवणयोस्तु हस्तशताद् बहिर्गत्वा परिष्ठापने गमनागमनेऽन्तर्भावः। हस्तशताभ्यन्तरत एव तद्बहुत्सर्गे तन्मात्रपरिष्ठापने वा विचारविषयेषु च सर्वेष्वपि स्थानेषु कायोत्सर्गप्रायश्चित्तस्य प्रमाणं भवति पञ्चविंशतिरुच्छ्वासाः।

तत्र भक्ते पाने वा कथं गमनमात्रं प्रतिक्रमणीयं
संभवतीति प्रतिपादनार्थमाह—,

वीसमण असइकाले, पढिमालिय वास संखडीए वा।
इरियाबहियट्ठाए, गमणं तु पडिक्कमंतस्स ॥

यदा भक्तार्थं पानार्थं वा भिक्षाचर्यया ग्रामान्तरं गत्वा मार्गगमनसमुत्थपरिश्रमजयाय विश्राम्यति असति काले, अथवा असति भिक्षाकाले, यावत् भिक्षावेला भवति तावत् प्रतीक्षितुकामः। (पढमालिय त्ति) यदि वा क्षुधापीडितः सन् प्रथमालिकां कर्तुकामो यत्र शून्यगृहादिषु प्रविशति (वास त्ति) अथवा तस्मिन्नन्यस्मिन् वा ग्रामे भिक्षामटतो दूराद्वर्षं पतितुमारब्धं ततश्छन्नं किमपि स्थानं प्रविश्य त्रासितुकामः। (संखडीए वा इति) संखड्यां वा अप्रमाणायां ध्रुवं भूयात् लाभ इति ज्ञात्वा क्वचिदन्यत्र प्रतीक्षितुमिच्छुर्भवति। तदा तस्येर्यापथिक्यर्थमैर्यापथिकपापविशुद्ध्यर्थं गमनं प्रतिक्राम तो गमनविषयं प्रतिक्रमणं कुर्वतः कायोत्सर्गः प्रायश्चित्तम्। स च कायोत्सर्गः पञ्चविंशतिरुच्छ्वासप्रमाणः। उच्छ्वासाश्च पादसमाइति पञ्चविंशतेः चतुर्भिर्भागे हृते षट् श्लोका एकपादाधिका लभ्यन्ते। ततश्चतुर्विंशतिस्तवः "वंदे सुनिर्म्मलगरा" इति पादपर्यन्तः कायोत्सर्गे चिन्तनीय इति भावः।

एमेव सेसएसु वि, होइ निसेज्जाएँ अंतरे गमणं।
आगमणं जं तत्तो, निरंतरं गयागयं होइ ॥

एवमेव भक्तपानयोरिव शेषेष्वपि स्थानेषु शयनासनादिषु यावन्नाद्यापि वेला भवति तावद्यत्प्रतीक्षाणं तदेतदन्तरं, कस्मिन् अन्तरे निषद्यायामुपवेशने केवलं गमनं प्रतिक्रमणीयं भवति। तथाहि—शयनं नाम संस्तारकादि, आसनं पीठकादि, तद्याचनार्थं क्वचनापि गतः, तत्र ग्लानचरितत्वादिभिः कारणैः शरीरदुर्बलतया जातपरिश्रमो विश्रमितुकातः, संस्तारकादिप्रभुर्वा। न विद्यते, क्वचिदन्यत्र गतत्वात्, ततस्तं प्रतीक्षितुकाम ईर्यापथिकपापविशोधये गमनं प्रति (आगमणं जं तत्तो इति) एव भक्तपानाद्यर्थं विश्रम्य कार्यसमाप्तौ ततः स्थानाद्यदा भूयः स्वोपाश्रये प्रत्यावर्तते तदा केवल मागमनं प्रतिक्रमणीयं भवति। यदि पुनरेतेष्वेव प्रयोजनेषु नोक्तप्रकारेणापान्तराले विश्रमणं भवति तदा निरन्तरे उक्तलक्षणस्यान्तरस्याभावे, गतागतं गमनागमनं समुदितं प्रतिक्रमणीयं जायते। एवमर्हच्छ्रमणच्यास्वपि गमनागमनं च प्रतिक्रमितव्यं भावनीयम्। तद्यथा—पाक्षिकादिषु जिनभवनादौ चैत्यवन्दनको गत्वा यदा स्नानादिदर्शननिमित्तमैर्यापथिकीं प्रतिक्रम्य विश्राम्यति, तदा केवलं गमनमेव प्रतिक्रमणीयम्। ततः स्वोपाश्रये प्रत्यायातावागमनं विश्रमणासंभवे गमनागमनमिति। तथा—पाक्षिकादौ ये अन्यवसतिषु साधवस्तेऽवश्यं वन्दनीय इति विधिः, ततस्तत्र कोऽपि वन्दनको गतो यदा विश्राम्यति तदा गमनम्; ततः स्वोपाश्चयप्रत्यागमने आगनम् विश्रमणाभावे गमनागमनं प्रतिक्रमणीयमिति। उच्चारेप्रश्रवणे च हस्तशताद्बहिर्व्युत्सृष्टेऽपान्तराले प्रायो विश्रमणासंभवात् गमनागमनं समुदितं प्रतिक्रमणीयं भवति। यदाऽपि

हस्तशतस्याभ्यन्तरे उच्चारं प्रश्रवणं तन्मात्रकं वा परिष्ठापयति तदाऽपि विचार इति वचनात् ऐर्यापथिकीप्रतिक्रमणपुरस्सरः पञ्चविंशत्युच्छ्वासप्रमाणः कायोत्सर्गः प्रायश्चित्तम्।

संप्रति 'सुत्त' इति पदं व्याचिख्यासुराह–

उद्देससमुद्देसे, सत्तावीसं तह अणुण्णए।
अट्ठेव य ऊसासा, पट्ठवणपडिक्कमणमादि॥

उद्देशो वाचनासूत्रप्रदानमित्यर्थः। समुद्देशो व्याख्या, अर्थप्रदानमिति भावः। अनुज्ञा सूत्रार्थयोरन्यप्रदानं प्रत्यनुगमनम्; एतेषु; तथेतिशब्दोऽनुक्तसमुच्चयार्थः। तेन श्रुतस्कन्धपरिवर्त्तने अङ्गपरिवर्त्तने च कृते तदुत्तरकालमविधिसमाचरणपरिहाराय प्रायश्चित्तं कायोत्सर्गः सप्तविंशत्युच्छ्वासप्रमाणः पर्यन्तैकपादहीनः समस्तश्चतुर्विंशतिस्तवस्तत्र चिन्तनीय इति भावः। (अट्ठेव य इत्यादि) प्रस्थापनं स्वाध्यायस्य, प्रतिक्रमणं कालस्य, तयोः करणे कायोत्सर्गः प्रायश्चित्तमष्टावेवोच्छ्वासाः, अष्टोच्छ्वासप्रमाणः। आदिशब्दात् मात्रकमपि परिष्ठाप्य ऐर्यापथिकीप्रतिक्रमणोत्तरकालं कायोत्सर्गोऽष्टोच्छ्वासप्रमाणः करणीय इति द्रष्टव्यम्। एतच्चास्यैव व्यवहारस्य चूर्णौ दृष्ट्वा लिखितमिति।

अत्रैवाऽऽक्षेपमभिधित्सुराह–

पुव्वं पट्ठवणा खलु, उद्देसाई य पच्छतो हुंति।
पट्ठवणुद्देसादिसु, अणाणुपुव्वी कया किं तु॥

ननु पूर्वं प्रस्थापना खलु स्वाध्यायस्य क्रियते, पश्चादुद्देशादयो भवन्ति; ततः प्रस्थापनोद्देशादिषु प्रस्थापनाऽनन्तरमुद्देशादिषु व्यवस्थितेषु, किं तु इत्याक्षेपे। किमर्थं ननु अनानुपूर्वी अनन्तरगाथायां कृता, किमिति पश्चात्गाथायां पूर्वमुद्देशादय उक्तास्तदनन्तरं प्रस्थापनमिति भावः ? नैष दोषः; मतान्तरेणैवंरूपाया अप्यानुपूर्व्याः संभवात्।

तथा चाह–

अज्झयणाणं तितयं, पुव्वुत्तं पट्ठविज्जई जेहिं।
तेसिं उद्देसादी, पुव्वमतो पच्छ पट्ठवणा॥

यैराचार्यैरध्ययनानाम्, उपलक्षणमतेत्। उद्देशकप्राभृतादीनां च त्रितयं उद्देशसमुद्देशानुज्ञालक्षणं, पूर्वोक्तं पूर्वप्रवर्तितं, प्रस्थाप्यते उद्देशादिषु कृतेषु पश्चात्तेषां प्रस्थापना यैराचार्यै रुपवर्ण्यते, तेषां मतेनायमेव क्रम इति वाक्यशेषः। अतः प्राग्भाषायां पूर्वमुद्देशादय उक्ताः पश्चात्प्रस्थापनेति।

संप्रति 'सुत्ते वा' इति वाशब्दसमुच्चितं दर्शयति–

सव्वे सु खलियादीसु, झाएज्जा पुच मंगलं।
दो सिलोगे वि चिंतेज्जा, एगज्जो वा वि तक्खणं॥

इह यदि बहिर्गमने प्रयोजनानन्तरप्रारम्भे वा वस्त्रादेः स्खलनं भवति। आदिशब्दात् शेषापशकुनदुर्निमित्तपरिग्रहः। तेषु सर्वेषु स्खलितादिषु समुपजातेषु तत्प्रतिघट्यते त्रिविधमपि, मुख्यस्तु कायिकम्।

तथाचाह–

कायचिट्ठं निरुंभित्ता, मणं वायं च सव्वसो।
वट्टई काइए झाणे, सुहुमुस्सासवं मुणी॥

कायचेष्टां कायव्यापारं, तथा वाचं च सर्वशः सर्वात्मना निरुध्य कायोत्सर्गः क्रियते। ततः कायोत्सर्गस्थो मुनिः सूक्ष्मोच्छ्वासवान्। उपलक्षणमेतत्–सूक्ष्मदृष्टिसंचारादवाँश्च, न खलु कायोत्सर्गे सूक्ष्मोच्छ्वासादयो निरुध्यन्ते, तन्निरोधस्य कर्तुमशक्यत्वात् वर्तते कायिके ध्याने एतच्चैवमुच्यते, तस्य स्पष्टमुपलक्ष्यमाणत्वात्। यावता पुनर्वाचिकमानसे अपि ध्याने द्रष्टव्ये।

तथाचाह–

न विरुज्झंति उस्सग्गे, झाणा वाइयमाणसा।
तीरिए पुण वुस्सग्गे, तिण्हमन्नयरे सिया॥

न विरुध्येते उत्सर्गे कायोत्सर्गे ध्याने वाचिकमानसे वाङ्मनोयोगयोरपि, विषयान्तरतो निरुध्यमानत्वात्। सूत्रे च द्वित्वेऽपि बहुवचनं प्राकृतत्वात्। उक्तं च ''बहुवयणेण दुवयणमिति''। तीरं संजातमस्येति तीरितः परिपूर्णे सति सम्यग्विधिना पारितः, तस्मिन् तीरिते कायोत्सर्गे, पुनस्त्रयाणां ध्यानानामन्यतात् अन्यतमत्स्यात् न पुनस्त्रितयमपि। भङ्गिकश्रुतं गुणनव्यतिरेकेण प्रायोऽन्यत्र व्यापान्तरे ध्यानत्रितयाऽसंभवात्। अथवा कायोत्सर्गे किमन्येऽपि गुणाः संभवन्ति, किं वानेति? उच्यते–संभवन्तीति ब्रूमः।

तथाचाह–

मणसो एगत्तं; जणयइ देहस्स हणइ जड्डत्तं।
काउस्सग्गगुणा खलु, सुहदुहमज्झत्थया चेव॥

कायोत्सर्गस्य गुणाः कायोत्सर्गगुणः। कायोत्सर्गगुणाः खल्वमी। तद्यथा–कायोत्सर्गः सम्याग्विधिना विधीयमानो नाम मनसश्चित्तस्य एकाग्रत्वमेकालम्बनतां जनयति। तच्चैकाग्रत्वं परमं ध्यानम्; ''जं थिरमज्झवसाणं तं झाणमिति'' वचनात्। देहस्य शरीरस्य, जडत्वं जाड्यं हन्ति विनाशयति, प्रयत्नविशेषतः परमलाघवसंभवात्। तथा–कायोत्सर्गस्थितानां वासीचन्दनकल्पत्वात् सुखदुःखमध्यस्थता सुखदुःखे च परैरुदीर्यमाणे रागद्वेषाकरणम् अन्यथा सम्यक्कायोत्सर्गस्यैवासंभवात् एतं व्युत्सर्गार्हं प्रायश्चित्तं। व्य० १ उ०। ध०।

जुज्जइ अकालपढिआ–इएसु दुट्ठु अ पडिच्छिआईसु।
समणुन्नसमुद्देसे, काउस्सग्गस्य करणं तु॥२४२॥

युज्यते संगच्छते घटते अकालपठितादिषु कारणेषु सत्सु, अकाले पठितम्, आदिशब्दात्कालेन पठितमित्यादि। दुष्ठु च प्रतीच्छितादिषु दुष्टविधाना प्रतीच्छितम्, आदिशब्दात्कृतहीलनादिपरिग्रहः। (समणुन्नसमुद्देसि त्ति) समनुज्ञासमंद्देशयोः; समनुज्ञायां समुद्देशे च कायोत्सर्गस्य करणं युज्यत एवंति योगः अतिचारसंभवादिति गाथार्थः॥२४२॥

जं पुण उद्दिसमाणे, अणइक्कंता वि कुणह उस्सग्गं।
एस अकओ वि दोसो, परिघिप्पइ किं मुहा भंते!॥२४३॥

यत्पुनरुद्दिश्यमानाः श्रुतमनतिक्रान्ता अपि निर्विषयत्वादपराधमप्राप्ता अपि (कुणह उस्सग्गं ति) कुरुत कायोत्सर्गम्; एषः अकृतोऽपि दोषः कायोत्सर्गशोध्यः परिगृह्यते, किं मुधा भदन्त! तत्परिगृह्यते, न कर्त्तव्यः तर्ह्युद्देशे कायोत्सर्ग इति गाथाऽभिप्रायः।

अत्राहाचार्यः–

पावुग्घाई कीरइ, उस्सग्गो मंगलं ति उद्देसे।
अणुवहियमंगलाणं, मा हुज्ज कहंचि णे विग्घं॥२४४॥

पावुग्घादिगाहा निगदसिद्धा॥२४४॥

'सुमिणदंसणे राओ त्ति' द्वारं व्याख्यानन्नाह–

पाणबहमुसावाए, अदत्तमेहुणपरिग्गहे चेव।
सयमेगं तु अणूणं, उस्सासाणं भविज्जाहि ॥२४५॥

सुमिणगं पि पाणवहमुसावाए अदत्ते मेहुणपरिग्गहे चेव आसेविए समाणे (सयमेगं तु असूणं, उस्सासाणं भवेज्जाहि) मेहुणे दिट्ठिविपरियासियाए सयं इत्थिविपरियासियाए अट्ठसयं ति गाथाऽर्थः ॥२४५॥

उक्तं च–

दिट्ठीविप्परियासे, सयमेहुणे विपरियासे।
अट्ठसयं ववहारे, अणभिस्संगस्स साहुस्स ॥२४६॥

'नावा नइसंतरे त्ति' द्वारत्रयं व्यचिख्यासंराह–

नावाए उत्तरिउं, वहमाई तह नइं च एमेवं।
संतारेण वलेण य, गंतुं पणवीस उस्सासा ॥२४७॥

गाथेयमन्यकर्तृकी सोपयोगा च निगदसिद्धा।

इदानीमुच्छ्वासमानप्रतिपादनायाऽऽह–

पायसमा उस्सासा, कालपमाणेण हुंति नायव्वा।
एअं कालपमाणं, उस्सग्गो होइ नायव्वं ॥२४८॥

निगदसिद्धा, नवरं पादः श्लोकपादः। व्याख्याता गमनागमनेत्यादि २३८ द्वारगाथा॥

(१०) अधुना द्वारगाथागतमशठद्वारं व्याख्यायते। इह विज्ञानवता शाठ्यरहितेनाऽऽत्महितमिति कृत्वा स्वबलापेक्षया कायोत्सर्गः कार्यः; अन्यथाकरणेऽनेकदोषप्रसङ्गः।

तथाचाह भाष्यकारः –

जो खलु तीसइवरिसे, सत्तरिवरिसेण पारणाइसमो।
विसमेव कूडवाही, निव्विन्नाणे हु से जड्ढे ॥२४९॥

यः कश्चित्साधुः खलुशब्दो विशेषणार्थः। त्रिंशद्वर्षः सन्, खलुशब्दाद्बलवानातङ्करहितश्च; सप्ततिवर्षेणान्येन वृद्धेन साधुना पारणकया समः; कायोत्सर्गप्रारम्भपरिसमाप्त्या तुल्य इत्यर्थः। विषम इव उट्टङ्कादाविव कूटवाही विषमवाही बलीवर्दवत्, निर्विज्ञान एवासौ जडः, स्वहितपरिज्ञानशून्यत्वात्। तथा चात्महितमेव सम्यक्कायोत्सर्गकरणम्, स्वकर्मक्षयफलत्वादिति गाथार्थः ॥४९॥

अधुना दृष्टान्तमेव विवृण्वन्नाह–

ममभोमे वि अइभारो, उज्जाणे किमुअ कूडवाहिस्स।
अइभारेणं भज्जइ, तुत्तयघाएहि अ मरालो ॥२५०॥

समभूमावपि अतिभारो विषमवाहित्वात् 'उज्जाणे किमुत कूटवाहिस्स' ऊर्द्ध्वं यानमस्ति इत्युद्यानमुट्टङ्कं, तस्मिन्नुद्याने, किमुत सुतरामित्यर्थः ? कस्य? कुटवाहिनो बलीवर्दय, तस्य च दोषद्वयम्। कथमित्याह–(अइभारेणं भज्जइ तुत्तयघाएहि य मरालो त्ति) अतिभारेण भज्यते, यतो विषमवाहिन एवातिभारो भवति, तुत्तकघातैश्च विषमबाह्येव पीड्यते। तुत्तगो प्रायिणगो मरालो गलिरिति गाथाऽर्थः ॥२५०॥

साम्प्रतं दार्ष्टान्तियोजनां कुर्वन्नाह–

एमेव बलसमग्गो, ण कुणइ मायाइ सम्ममुस्सग्गं।
मायावडियं कम्मं, पावइ उस्सग्गकेसं च ॥२५१॥

इयमन्यकर्तृकी सोपयोगा चेति व्यख्यायते। एवमेव मरालवलीवर्दवत् बलसमग्रः सन् न करोति मायया कारणेन सम्यक् सामर्थ्यानुरूपं कायोत्सर्गं स मूढः मायाप्रत्ययं कर्म प्राप्नोति नियमत एव, तथा कायोत्सर्गक्लेशं च निष्फलं प्रप्नोति। तथा निर्मायस्यैवापेक्षारहितस्य स्वशक्त्यनुरूपं च कुर्वत एव सर्वमनुष्ठानं फलवद्भवतीति गाथाऽर्थः॥२५१॥

अधुना मायावतो दोषानुपदर्शयन्नाह–

मायाए उस्सग्गं, सेसं च तवं अकुव्वओ सहुणो।
को अन्नो अणुहविही, सकम्मसेसं अणिज्जरिअं ॥२५२॥

मायया कायोत्सर्गं, शेषं च तपः अनशनादि अकुर्वतः सहिष्णोः समर्थस्य (को अन्नो त्ति) कोऽस्याऽन्योऽनुभविष्यति, किम् ? स्वकर्मशेषमनिर्जरितम्। शेषता चास्य सम्यक्त्व–प्राप्त्योत्कृष्टकर्मापेक्षयेति। उक्तं च–''सत्तण्हं पगडीणं, अब्भिंतरओ अकोडिकोडीओ। काऊणं अयराणं, जदि लहइ चउण्हमण्णयरं''। अन्ये पठन्ति–''एवमेव य उस्सग्गं ति''। नचायमतिशोभनपाठ इति गाथाऽर्थः ॥२५२॥

यतश्चैवमतः –

निक्कूडं सविसेसं, वयाणुरूवं बलाणुरूवं च।
खाणु व्व उड्ढदेहो, काउस्सग्गं तु ठाइज्जा ॥२५३॥

निष्कूटमिति अशठम्, सविशेषमिति समबलादन्यस्मात्सकाशात् नचाहमहमिकया, किंतु वयोऽनुरूपं, बलानुरूपं च, स्थाणुरिवोर्द्ध्वदेहो निष्प्रकम्पः समशत्रुमित्रः कायोत्सर्गं तु तिष्ठेत। तुशब्दादन्यच्च भिक्षाटनाद्येवंभूत एवानुतिष्ठेदिति गाथार्थः ॥२५३॥

इदानीं वयोबलं चाधिकृत्य कायोत्सर्गकरणविधिमभिधत्ते–

तरूणो बलवं तरूणो, अ दुव्वलो थेरओ बलसमिद्धो।
थेरो अबलो चउसु वि, भंगेसु जहाबलं ठाइ ॥२५४॥

तरुणो बलवान् १, तरुणश्च दुर्बलः २, स्थविरो बलसमृद्धः ३, स्थविरोऽबलः ४, चतुर्ष्वपि भङ्गकेषु यथाबलं तिष्ठति, बलानुरूपमित्यर्थः, न त्वभिमानतः। कथमनेनापि वृद्धेन न तुल्यबलवताऽपि स्थातव्यम्, उत्तरत्रासमाधानग्लानादावधिकरणबलसंभवादिति गाथार्थः ॥२५४॥ गतं सप्रसङ्गमशठद्वारम्।

(११) साम्प्रतं शठद्वारावसरस्तत्रेयं गाथा–

पयलायइ पडिपुच्छइ, कटंग बीआर पासवण धम्मे।
निअडी गेलन्नं वा, करेइ कूडं हवइ एअं ॥२५५॥

कायोत्सर्गकरणवेलायां मायया प्रचलायति निद्रां गच्छति, प्रतिपुच्छति सूत्रमर्थं वा, कण्टकमपनयति। (वियार त्ति) पुरीषोत्सर्गाय गच्छति (पासवण त्ति) कायिकीं व्युत्सृजति। (धम्मे त्ति) धर्म्मं कथयति, निकृत्या मायया ग्लानत्वं वा करोति, कूटं भवत्येतदनुष्ठानमिति गाथार्थः ॥२५५॥ गतं शठद्वारम्।

(१२) अधुना विधिद्वारमाख्यायते, तत्रेय गाथा–

पुव्वं ठंति उ गुरुणो, गुरुणा उस्सारिअम्मि पारंति।
ठायंति अ सविसेसं, तरुणा अत्तुन्नविरिआओ ॥२५६॥

'गुरुणो' इत्यादि प्रकटार्थम्।

चउरंगुल मुहपत्ती, उज्जुए डव्वहत्थ रयहरणं।
दोसट्ठचत्तदेहो, काउस्सग्गं करिज्जाहि ॥२५७॥

(चउरंगुल त्ति) चत्तारि अङ्गुलानि पायाणं अंतर करेयव्वं। (मु-

हपोत्ति उज्जुए त्ति) दाहिणहत्थेण मुहपोत्तिया घेत्तव्वा, डव्वहत्थे रयहरणं कायव्वं। एएण विहिणा (वोसट्ठ चत्तदेहो त्ति) ता पूर्ववत् काउस्सग्गं करेज्जाहि त्ति गाथार्थ ः॥२५७॥ गतं विधिद्वारम्। आव०५ अ० आ० चू०।

(१३) अधूना दोषद्वारावसरस्तत्रेदं गाथाद्वयम्–

घोडग लया य खंभे, कुड्डे माले अ सबरि बहु निअडे।
लंबुत्तर थण नुद्धी, संजइ खलिणे अ वायस कविट्ठे ॥२५९॥
सीसुकंपिअ मूई, अंगुलिभमुहा उ वारुणी पेहा।
एए काउस्सग्गे, हवंति दोसा इगुणवीसं ॥२६०॥
(नाभीकरयलकुप्पर ओस्सारिअपारिअम्मि थुई)

तत्रैते कायोत्सर्गे भवन्ति दोषा एकोनविंशतिरिति संटङ्कः। कायस्य शरीरस्य स्थानमौनध्यानक्रियाव्यातिरेकेणान्यत्रोच्छ्वसितादिभ्यः क्रियान्तराध्यासमाश्रित्य य उत्सर्गस्त्यागो ''नमो अरिहंताणमिति'' वचनात् पूर्वं स कायोत्सर्गः। स च द्वेधा चेष्टायामभिभवे च। चेष्टायां गमनागमनादावैर्यापथिक्यादि प्रतिक्रमणभावी। अभिभावे च सुरादिविधीयमानोपसर्गजयार्थम्। यदुक्तम् ''सो उस्सग्गो दुविहो, चेट्ठाए अभिभावे च नायव्वो। भिक्खायरियाइ पढमो, उवसग्गऽभिजुंजणे बीओ'' त्ति। स च दोषरहितो विधीयमानो निर्जराहेतुर्भवति। दोषाश्चैते घोटकलतास्तम्भकुड्यमालशबरीबधूनिगडलम्बोत्तरस्तनोर्द्धिकासंयत। खलीनवायसकपित्थशीर्षोत्कम्पितमूकाङ्गुलिभ्रकुटीवारुणीप्रेक्षा इत्येकोनविंशतिः।

इदानीं नामतोऽभिहितानेनतान् स्वयमेव विवृणोति–

आसो व्व विसमपायं, आउंटावित्तु ठाइ उस्सग्गो।
कंपइ काउस्सग्गे, लय व्व खरपवणसंगेणं ॥२६१॥
खंभे वा कुड्डे वा, आवट्टंभिय कुणइ काउसग्गं तु।
माले य उत्तमंगं, अवठंभिय ठाइ उस्सग्गं ॥२६२॥
सबरी वसणविरहिया, करेहि सागारियं जह ठवेइ।
ठइऊण गुज्झदेसं, करेहि इय कुणइ उस्सग्गं ॥२६३॥
अवणामिउत्तमंगं, काउस्सग्गे जहा कुलबहु व्व।
नियडियओ विव चरणे, वित्थारिय अहव मेलविउं ॥२६४॥
काऊण चोलपट्टं, अविहीए नाहिमंडलस्सुवरिं।
हेट्ठाइ जाणुमित्तं, चिट्ठइ लंबुत्तुरुस्सग्गं ॥२६५॥
पच्छाइ ऊणयथणे, चोलगपट्टेण ठाइ उस्सग्गं।
दंसाइरक्खणट्ठा, अहवाडणाभोगदोसेहिं ॥२६६॥
मेलित्तु पण्हिहयाओ, चलणे वित्थारिऊण बाहिरओ।
काउस्सग्गो एसो, बहिरउद्धी मुणेयव्वो ॥२६७॥
अंगुट्ठे मेलविओ, वित्थारिय पण्हिया उ बाहिं तु।
काउस्सग्गं एसो, भणिओ अब्भिंतरुद्धि त्ति ॥२६८॥
कप्पं वा पट्टं वा, पाउणियं संजइ व्व उस्सग्गं।
ठायइ खलिणं च जहा, सयहरणं अग्गओ काउं ॥२६९॥
भामेइ तहा दिट्ठिं, चलचित्तो वायसो व्व उस्सग्गे।
उप्पइयाण भएणं, कुणइ य पट्टं कविट्ठं च ॥२७०॥
सीसं पकंपमाणो, जक्खाइट्ठो व्व कुणइ उस्सग्गं।
मूउ व्व हूहुअंतो, तहेव छिज्जतमाईसुं ॥ २७१ ॥
अंगुलिभमुहाओ वि य, चालंतो कुणइ तह य उस्सग्गं।
आलावगगणणट्ठा, संठवणत्थं च जोगाणं ॥२७२॥
काउस्सग्गम्मि ठिओ, सुरा जहा बुडबुडेइ अव्वत्तं।
अणुपेहंतो तह वानरो व्व चालेइ हुट्ठउडं ॥२७३॥

आकुञ्चितस्यैकपादस्य घोटकस्येव स्थानं घोटकदोषः। कम्पते कायोत्सर्गे लतेव खरपवनसङ्गेनेति लतादोषः। स्तम्भे वा कुड्ये वा अवष्टभ्यं स्थानं स्तम्भकुड्यदोषः। तथा माले उपरितनभागे उत्तमाङ्गमवष्टभ्य करोत्युत्सर्गमिति मालदोषः। शबरी पुलिन्दिका वसनविरहिता कराभ्यां सागारिकं गुह्यं यथा स्थगयति, एवं स्थगयित्वा गुह्यदेशं कराभ्यां करोत्युत्सर्गमिति शबरीदोषः। अवनामितोत्तमाङ्गः कुलबधूरिव तिष्ठन् करोत्युत्सर्गमिति बधूदोषः। निगडनियन्त्रित इव चरणौ विरुतार्यायवा मीलयित्वा करोत्युत्सर्गमिति निगडदोषः। कृत्वा चोलपट्टमविधिना नाभिमण्डलस्योपरि अधस्ताच्च जानुमात्रं तिष्ठति कायोत्सर्गे इति लम्बोत्तरदोषः। अवच्छाद्य स्थगयित्वा स्तनौ चोलपट्टेन देशादीनां रक्षणार्थम्, अथवा अनाभोगदोषेण, अज्ञानदोषेण वा करोत्युत्सर्गमिति स्तनदोषः। ऊर्द्धिकादोषो द्विधा बाह्योर्द्धिकादोषोऽभ्यन्तरोर्द्धिकादोषश्च। तत्र च द्वावपि पदौ क्रमेण मीलयित्वा पार्ष्णी चरणाग्रभागे विस्तार्य बाह्यतो बहिर्मुखं तिष्ठत्युत्सर्गे एष बहिःशकटोर्द्धिकादोषो ज्ञातव्यः। तथा अङ्गुष्ठौ मीलयित्वा विस्तार्य पार्ष्णी तु बाह्यतस्तिष्ठत्युत्सर्गे एष भणितोभ्यन्तरशकटोर्द्धिकादोषः। कल्पं वा पटीं पट्टं वा चोलपट्टं संयतीव स्कन्धदेशयोरुपरि प्रावृत्यतिष्ठत्युत्सर्गे इति संयतीदोषः। खलीनमिव कविकमिव रजोहरणमग्रतः कृत्वा तिष्ठत्युत्सर्गे इति खलीनदोषः। वाऽत्र समुच्यते। अन्ये खलीनार्तवाजिवदूर्ध्वाधःशिरःकम्पनं खलीनदोषमाहुः। तथा दृष्टिं भ्रमयति चलचित्तो वायस इवेतस्ततो नयनगोलकभ्रमणं दिङ्निरीक्षणं वा कुरुते उत्सर्ग इति वायसदोषः। षट्पदिकाभयेन कपित्थवद्वृत्ताकारत्वेन संवर्त्य जङ्घादिमध्ये पट्टं कृत्वा तिष्ठत्युत्सर्गे इति कपित्थदोषः। एवमेव मुष्टिं बध्वा स्थानमित्यन्ये। भूताविष्टस्येव शीर्षं कम्पयतः कायोत्सर्गकरणं शीर्षोत्कम्पितदोषः। तथा छिद्यमानेषु केनचित् गृहस्थादिना कायोत्सर्गव्यवस्थितप्रत्यासन्न प्रदेशवर्तिषु हरितादिषु तन्निवारणार्थं मूक इव हुं हुमित्यव्यक्तं शब्दं कुर्वं स्तिष्ठत्युत्सर्गे इति मूकदोषः। तथाऽऽलापकगणनार्थमङ्गुलीश्चालयन्, तथा योगो नाम स्थापनार्थं व्यापारान्तरनिरूपणार्थं भ्रुवौ चालयन्। भ्रूसंज्ञां कुर्वन्, चकारादेवमेव वा भ्रनृत्तं कुर्वन्नुत्सर्गे तिष्ठतीति अङ्गुलिभ्रूदोषः। तथा कायोत्सर्गस्थितो निष्पद्यमानसुरेव बुडबुडाशब्दमव्यक्तरावं करोतीति वारुणिदोषः। वारुणीमत्तस्येव घूर्णमानस्य स्थानं वारुणीदोष इत्यन्ये। अनुप्रक्षमाणो नमस्कारादिकं चिन्तयन्नुत्सर्गतो वानर इव चनयत्योष्ठपुटाविति प्रेक्षादोष इत्येकोनविंशतिः। अन्ये त्वेकविंशतिं मन्यते। तत्र स्तम्भकुड्यदोषेण स्तम्भदोषः, कुड्यदोषश्चेति द्वौ विवक्षितौ। तथाऽङ्गुलिभ्रूदोषेणापि अङ्गुलिदोषो, भ्रूदोषश्चेत्येव मेकविंशतिः। एके चान्यानपि कायोत्सर्गदोषानाहुः –

यथा

''निष्ठावनं वपुःस्पर्शः, प्रपञ्चबहुला स्थितिः।
सूत्रोदितविधैर्न्यूनं, वयोऽपेक्षाविवर्जनम् ॥१॥
कालापेक्षाव्यतिक्रान्ति र्व्याक्षेपाक्तचित्तता।
लोभाकुलितचित्तत्वं, पापकार्योद्यमः परः ॥२॥
कृत्याकृत्यविमूढत्वं, पट्टकाद्युपरिस्थितिरिति''।

इदानीमेतानुपसंहरन्नाह–

एए काउस्सग्गं, कुणमाणेण विबुहेण दोसा उ।
सम्मं परिहरियव्वा, जिणपडिसिद्ध त्ति काऊण ॥२७४॥

एते पूर्वभणिता दोषाः कायोत्सर्गं कुर्वता विबुधेन सम्यग् परिहर्तव्याः, जिनैस्तीर्थकरैः प्रतिषिद्धा निवारिता इति कृत्वा। जिनाज्ञाकरणं हि सर्वत्र श्रेयस्करमिति। प्रव०५ द्वार०। द्वा०। ध०। आव०। आव०चू०।

(१४) साम्प्रतं कस्येति द्वारं व्याख्यायते। तत्रोक्तादोषरहितोऽपि यस्याऽयं कायोत्सर्गो यथोक्तफलो भवति तमु

पदर्शयन्नाह–

वासीचंदणकप्पो, जो मरणे जीविए अ समसन्नो।
देहे अप्पडिबद्धो, काउस्सग्गो हवइ तस्स ॥२७५॥

वासीचन्दनकल्पः उपकार्यनुपकारिणोरपि मध्यस्थः। उक्तं च ''जो चंदणेण बाहू, आलिंपइ वासिणा उ तत्थेइ। संथुणइ जो य निदति, महरिसिणो तत्थ समभावो''। अनेन परं प्रति माध्यस्थ्यमुक्तं भवति। तथा–यो मरणे प्राणत्यागलक्षणे, जीविते च प्राणसंधारणलक्षणे, चशब्दादिहलोकादौ च समसज्ञः, तुल्यबुद्धिरित्यर्थः। अनेन चात्मानं प्रति माध्यस्थ्यमुक्तं भवति।

तथा–देहे च शरीरे चाप्रतिबद्धश्चशब्दादुपकरणादौ च कायोत्सर्गो यथोक्तफलो भवति तस्येति गाथार्थः ॥२७५॥

तिविहाऽण्णुवसग्गाणं, दिव्वाणं माणुसाण तिरिआणं।
सम्ममहि आसणाए, काउस्सग्गो हवइ सुद्धो ॥२७६॥

त्रिविधानां त्रिप्रकाराणामुपसर्गाणां दिव्यानां व्यन्तरादिकृतानां, मनुष्याणां म्लेच्छादिकृतानां, तैरश्चादीनां सिंहादिकृतानां सम्यग्मध्यस्थभावेन अतिसहनायां सत्यां कायोत्सर्गो भवति शुद्धः, अविपरीत इत्यर्थः। ततश्चोपसर्गसहिष्णोः कायोत्सर्गो भवतीति गाथार्थः ॥२७६॥

(१५) सांप्रतं फलद्वारमभिधीयते। तच्च फलमिहलोक परलोकापेक्षया द्विधा भवति।तथा चाह ग्रन्थकारः –

इहलोगम्मि सुभद्दा, राया उदिओ इ सिद्धिभज्जा य।
सो दासखग्गथंभण, सिद्धीसग्गो अ परलोए ॥२७७॥

इहलोके यत्कायोत्सर्गफलं तत्र सुभद्रोदाहरणम्। कथम् ?- ''वसंतपुरं नगरं, तत्थ जियशत्तू राया, जिणदत्तो सेही, संजयसड्ढओ, तस्स सुभद्दा दारिगा धूआ अतीव रूविस्सिणी ओरालियसरीरा सावि गा य। स तं असाहंमियाण न देइ। तव्वन्निय सड्ढेण चंपाओ वाणिज्जएण दिट्ठा। तीए रूवलोभेण कवडसड्ढओ जाओ। धम्मं सुणेइ, जिणसाहुं य पूजेइ। अन्नया भावो समुप्पन्नो आयरियाण आलोयइ, तेहिं वि अणुसासिओ, जिणदत्तेण वि से भावं नाऊण धूआ दिण्णा, वीवाहो कओ, चिरकालस्स वि सो तं गहाय चंपं गजो, णणंदसासुगमाइयाओ तवन्नियेसड्ढिगाओ तं खिंसंति। तओ जुअगं घरं कयं, ततोऽणेणगसमणसमणीओ य पाओग्गनिमित्तमागछंति। ततो तव्वन्नियसड्ढियाओ भणंति–एसा संजत्तेण दढं रत्त त्ति। भत्तारो से न पत्तियइ। अन्नया कोइ बलरूवादिगणपुन्नो तरुणभिक्खू पाआगनिमित्तं गओ। तस्स य बाउद्धूयं अच्छिम्मि कणुगं पविट्ठं। सुभद्दाए तं जीहाए लिहिऊण अवणीयं, तस्स निडाले तिलओ संकंतो। तेण वि दव्वखित्तचित्तेण ण जाणिओ। सो नीसरइ ताव तव्वन्नियसड्ढगाहिं अत्थाकागयस्स भत्तारस्स दंसिओ–पेच्छ इमं वीसत्थरयिसंकंतं सभज्जाए संतगं तिलगं ति। तेण वि चिंतियं किमिदमेवंपि होहेज्जा ?;अहवा बलवंतो बिसया; अणेगभवब्भत्थगा य किं न होइ त्ति मंदनेहो जाओ। सुभद्दाए वि कहं वि विदिओ एस वुत्तंतो। चिंतियं च ताए–पावयणिओ एस उडाहो कहं फेडिओ त्ति पवणदेवयभभिसंधारिऊण रयणीए काउस्सग्गं ठिया। अह संनिहिया काइ देवया तीए सीलसमायारं नाऊण आगया। भणियं च तीए किं ते पियं करेमि त्ति ? तीए भणियं उड्डाहं फेमिहि। देवयाए भणियं फडेमि, पच्चूसे इमाए नयरीए दाराणि थंभेमि। ततो आउलगेसु नगरेसु आगासत्था भणिस्सामि। जाए परपुरिसो मणेण वि ण चिंतिओ सा इत्थिगा वालणीये पाणियं छोढुं गंतूण तिन्नि वारे छंटेइ, तओ उग्घाडाणि भविस्संति। ततो तुमं भासिए सेसनागरिगाहिं पच्छा जाएज्जासि, ततो उग्घाडिहिसि, ततो फिट्टिहि उड्डाहो, पससं च पाविहिसि। तहेव कयं, पससं च पत्ता''। एय इहलोइयं काउस्सग्गफलं। अन्ने भणंति ''वाणारसीए सुभद्दाए आउस्सग्गो कओ, एलुगच्छुप्पत्ती भसणियव्वा। राया उदिओदए त्ति। उदिओदियस्स रन्नो भज्जा लोभागयतिवराहियस्स उवसग्गपसमणं जायं सेट्ठिभज्जाए त्ति चंपाए सुदंसणो सेट्ठिपुत्तो। सो सावगो मट्ठमिचउद्दसीसु चव्वारे उवासगपडिमं पडिवज्जइ। सो महादेवीए पत्थिज्जमाणे न इच्छइ, अन्नया वोसट्ठकाउदेवपमिम त्ति वत्थवेट्ठिओ चेमीहिं अंतेउरं अतिणीओ, देवीए निबंधो कओ। नेच्छइ पडुच्छाए। कोलाहलो कओ;रन्ना वज्झो आणेतो, निज्झमाणो भज्जाए से मित्तवतीए साविगाए सुयं, सव्वाणं जक्खस्सारराधणाए काउस्सग्गं ठिया। सुदंसणस्स वि य अट्ठ खंडाणि कीरं तु त्ति खंधे असी बाहिउं सव्वाण जक्खेण पुप्फदाडं कमो। मुक्को रन्ना पूइओ य ताहे मित्तवतीए पारियं। तहा (सो दास त्ति) सो दासो राया जहा नमोक्कारे (खग्गथंभणे त्ति) कोइ विराहियसामन्ने खग्गो समुप्पन्नो वट्टाए मारेइ। साहू पहाविया तेण दिट्ठा आगओ, इयरे वि काउस्सग्गेण ठिता न भवइ, पच्छा तं दट्ठूण उववसंतो''। एतदैहिकं फलं (सिद्धी सग्गो य परलोए) सिद्धिर्मोक्षः; स्वर्गो देवलोकः। चशब्दाश्चक्रवर्तित्वादिपरलोके फलमिति गाथार्थः। आह–सिद्धिः सकलकर्मक्षयादवाप्यते; ''कृत्स्नकर्मक्षयान्मोक्षः'' इति वचनात्। सा कथं कायोत्सर्गफलमिति। उच्यते–कर्मक्षयस्यैव कायोत्सर्गफलत्वात् परम्पराकारणस्यैवं विक्षितत्वात् कायोत्सर्गफलत्वं कर्मक्षयस्य। कथम् ?, यत आह भाष्यकारः –

जह कर गओ निकिंतइ, आरु इंतो पुणो वि वच्चंतो।
इअ किंतंति सुविहिआ, काउस्सग्गेण कम्माइं ॥२७८॥

यथा (करगओ त्ति) करपत्रं निकृन्तति छिनत्ति विदारयति, किम् ?, दारु काष्ठं, किं कुर्वन् ? आगच्छन्, पुनश्च व्रजन्नित्यर्थः। एवमेवं

कृतन्ति सुविहिताः साधवः कायोत्सर्गेण हेतुभूतेन कर्माणि ज्ञानावरणदीनि। तथाऽन्यत्राप्युक्तम्–

''संवरेण भवे गुत्तो, गुत्तीए संजमुत्तमो।
संजमाओ तवो होइ, तवाओ होइ निज्जरा॥
निज्जराए सुतं कम्मं, खविज्जइ कमसो सदा।
आवस्सगजुत्तस्स, काउस्सग्गे विसेसओ''॥ इत्यादिगाथार्थः।

आह–किमिदमित्थमिति ? अत आह–

काउस्सग्गे जह सु–ट्ठिअस्स भज्जंति अुगुवंगाइं।
इअ भिदंति मुणिवरा, अट्ठविहं कम्मसंघायं॥२७९॥

कायोत्सर्गे सुस्थितस्य सतः भज्यन्ते अङ्गोपाङ्गानि। (इअ त्ति) एवं चित्तनिरोधेन भिन्दन्ति विदारयिन्ति मुनिवराः साधवः अष्टविधमष्टप्रकारं कर्मसंघतं ज्ञानावरणादिलक्षणमिति गाथार्थः॥७९॥

आह–यदि कायोत्सर्गे सुस्थितस्य भज्यते अङ्गोपाङ्गानि ततश्च दृष्टापकारित्वादेवालमेतेनेत्यत्रोच्यते–सौम्य! नैवम्–

अन्नं इमं सरीरं, अन्नो जीवु त्ति एव कयबुद्धी।
दुक्खपरिकिलेसकरं, छिंद ममत्तं सरीराओ॥२८०॥

अन्यदिदं शरीरं निजकर्मोपात्तमालयमात्रमशाश्वतम्, अन्यो जीवोऽस्याधिष्ठाता शाश्वतः स्वकृतकर्मफलोपभोक्ताऽयम्, इत्येवंकृतबुद्धिः सन् दुःखपरिक्लेशकरं छिन्धि ममत्वं शरीरात्। किंच–यद्यनेनाप्यसारेण कश्चिदर्थः संपद्यते पारलौकिकः, ततः सुतरां यत्नः कार्य इति गाथार्थः॥२८०॥

किंचैवं च भावनीयम्–

जावइआ किर दुक्खा, संसारे जे मए समणुभूआ।
तत्तो दुव्विसहतरा, नरएसु अणोवमा दुक्खा॥२८१॥
तम्हाउ निम्ममेणं, मंणिणो उवलद्धसुत्तसारेणं।
काउस्सग्गो उग्गो, कम्मखयट्ठाय कायव्वा॥२८२॥

यावन्त्यकृतजिनप्रणीतधर्मेण, किलशब्दः परोक्षाऽऽगमवादसंसूचकः। दुःखानि शारीरमानसानि। संसारे तिर्यक्नरनारकामरभावानुभवलक्षणे, यानि मया अनुभूतानि, ततस्तेभ्यो दुर्विषहतरोणि अग्रतोऽप्यकृतपुण्यनां नरकेषु सीमान्तकादिष्वनुपमानि उपमारहितानि दुःखानि, दुर्विषहत्वं चैतेषां शेषगतिसमुत्थदुःखापेक्षयेति गाथार्थः॥२८१॥ तस्मान्निर्ममेन ममत्वरहितेन मुनीना साधुना, किंभूतेन ?, उपलब्धसूत्रसारेण विज्ञातसूत्रपरमार्थेन, किम् ?, कायोत्सर्गे उक्तस्वरूपे; उग्रः शुभाध्यवसायः प्रबलकर्मक्षयार्थं न तु स्वर्गादिनिमित्तं कर्तव्य इति गाथार्थः॥२८२॥ इत्युक्तः कायोत्सर्गः। आव०५ अ०।

अधुना कायोत्सर्गफलं प्रश्नपूर्वकमाह–

काउस्सग्गे णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?। काउस्सग्गे णं तीययडुप्पन्नं पायच्छित्तं विसोहेइ। विसुद्धपायच्छित्ते य जीवे निव्वुयहियए ओहरियभरु व्व भारवहे पसत्थज्झाणोवगए सुहं सुहेण विहरइ॥१२॥

हे भदन्त! कायोत्सर्गे अतीचरविशुद्ध्यर्थं कायस्य व्युत्सर्जनेन जीवः किं जनयति ?। गुरुराह–हे शिष्य! कायोत्सर्गेण अतीतं चिरकालसम्भूतं, प्रत्युत्पन्नम् आसन्नकाले वर्तमानं प्रायश्चित्तम्; उपचारात् प्रायश्चित्तार्हम् अतीचारं विशोधयत्यपनयति। विशुद्ध प्रयश्चित्तश्च जीवो निर्वृतं स्वस्थीकृतं हृदयं यस्य स निर्वृतहृदयः। प्रशस्तसद्भावनया उपगतः सुखं सुखेन विहरति सुखानां परम्परया विचरति। क इव ? अपहृतभारो भारवाह इव यथा उत्तारितभारभरो भारवाहकः सुखं सुखेन विहरति, तथा कायोत्सर्गेण प्रायश्चित्तविशुद्धिं विधाय स्वस्थीकृतहृदयो जीवः सुखेन विचरतीति भावः। उत्त०२९ अ०।

कायोत्सर्गातिचारे प्रायश्चित्तम्–

फिडियसयमुस्सारिय–मग्गे चेगाइवंदणुस्सग्गे।
निव्वीइयपुरिमेगा–सणाइ सव्वेसु चाचामं॥५२॥

स्फिटिते स्वयमुत्सारिते भग्ने च एकादिवन्दिनोत्सर्गे निवृकृतिक–पुरिमार्द्धैकाशनानि सर्वेषु चाचामाम्लमिति। अयं भावार्थः–निद्राऽऽदिप्रमादवसतो गुरुभिः सह प्रतिक्रमणे स्फिटितेन मिलित एकस्मिन्कायोत्सर्गे निवृकृतिकं द्वयोः पुरिमार्द्धं, त्रयाणामेकाशनम्। तथा–गुरुभिरपारितेऽपि कायोत्सर्गे स्वयमात्मना प्रथममेव पारिमे भग्ने वा कायोत्सर्गे अचिन्तयित्वाऽपि सर्वं चिन्तनीयमन्तराल एव पारिते एकद्वित्रिसंख्ये कायोत्सर्गे यथासंख्यं निवृकृतिकपुरिमार्द्धैकाशनानि सर्वेष्वपि च कायोत्सर्गेषु स्फिटितत्वे भग्नत्वे च आचामाम्लम्। एवं वन्दनकेऽप स्फिटितत्वं, पश्चात्पतिततत्वे गुरोर्वनन्दनके दानस्य स्वयमग्रतः प्रदत्तः, प्रदत्ते कृतापकृतत्वेन भग्ने वा यथासङ्ख्यमेकस्मिन् द्वयेषु त्रिषु सर्वेषु आचामाम्लम्॥५२॥

यस्तु कायोत्सर्गादीनि न कारयेत्, तस्य किमित्याह–

अकएसु य पुरिमासण–माचामं सव्वसो चउत्थं तु।
पुव्वमपेहिय थंडिल–निसि वोसिरिणे दिया सुवणे॥५३॥

अकृतेषु पुनः कायोत्सर्गेषु वन्दनकेषु च एकादिषु एकाद्वित्रिषु पुरिमैकशनाचामाम्लानि (सव्व सो चएत्थं तु) सर्वस्मिंस्तु प्रमिक्रमणे अकृते चतुर्थं तु। तथ पूर्वं संध्यायामप्रेक्षितस्थण्मिले निशि सेज्ञोत्सर्गे कृते चतुर्थम्। तथा दिवसे निद्राकृते चतुर्थम्। जीत०। (कायोत्सर्गस्तु श्रावकस्यास्तीति 'आवस्सय शब्दे द्वितीयभागे ४५७ पृष्ठे प्रतिपादितम्; व्याख्यानादौ कायोत्सर्ग करणं 'वक्खाणविहि' शब्दादौ वक्ष्यते)

काउस्सग्गपडिमा स्त्री०(कम्पोत्सकायोत्यर्गप्रतिमा) पञ्चम्यामुपासक प्रतिमायाम्, उपा०१ अ०।(स्वरूपं चास्याः 'उवासगपडिमा' शब्दे द्वितीय भागे ११०४ पृष्ठे समुक्तम्)

काऊण(णं) अव्य०(कृत्वा)''क्त्वस्तुमत्तूणतुआणाः''॥८।२।१४६॥ इति त्वाप्रत्ययस्य जूणदेशः। 'कट्टु' इति तु भार्षे। प्रा०२ पाद०। ''क्त्वास्यादेर्णस्त्वोर्वा''॥८।१।२७॥ इत्यनुस्यारान्तादोशे वा। प्रा०१ पाद। ''आः कृगो भूतभविष्यतोश्च''॥८।४।२१४॥ इति कृगोऽन्त्यस्य त्वाप्रत्यये आकारान्तादेशः। विधायेत्यर्थे, प्रा०४ पाद। पञ्चा०।

काऊलेस्स त्रि०(कापोतलेश्य) कापोतलेश्या विद्यतेऽस्य, कापोत-लेश्यापरिणामवति जीवे, स्था०१ ठा०१ उ०।

काऊल्लेस्सा स्त्री०(कापोतलेश्या) कपोतस्य पक्षिविशेषस्य वर्णेन तुल्यानि यानि द्रव्याणि, धूम्राणि इत्यर्थः। तत्साहाय्याद् जाता कापोतलेश्या। स्था०१ ठा०१ उ०। वर्णतोऽतसीकुसु-मपारावतशिरोधराफलिनीकन्दलादिधूम्रद्रव्यतुल्य वर्णैः, रसतस्तरुणम्रवल्लकपित्थादिसमधिकरसैः, गन्धतः क्वथितस-

रीमृपादिसमधिकगन्धैः, स्पर्शतः कठोरपलाशतरूपत्रादि समधिकस्पर्शैः समलप्रकृतिनिष्यन्दभूतैः कपोताभद्रव्यैर्निष्पन्ने लेश्याभेदे, पा०।

काओदर पुं०(काकोदर) कुत्सितं कुटिलमकति, अकवक्रगतौ, अच्, कोः कादेशः। काकमुदरं यस्य। वाच०। दर्वीकररसर्पविशेषे, प्रश्न०१ आश्र० द्वार। तस्य उरसा कुटिलगामित्वात् तथात्वम्। स्त्रियां तु जातित्वाद् ङीष्। वाच०।

काओली स्त्री०(काकोली) काकोलशब्दाद् गौरादित्वाद् ङीष्। लताभेदे, वाच०। अनन्तजीवे कन्द भेदे, प्रज्ञा०१ पद।

काओवग पुं(कायोपग) कायात्कायेषु चोपगच्छन्तीति कायोपगाः। संसारिषु ''तेणतिसंजोगमविप्पहाय, कायोवगाऽणंतकरा भवंति'' सूत्र०२ श्रु०६ अ०।

काक(ग) पुं०(काक) वायसे, अणु०३ वर्ग। ज्ञा०। स्था०। प्रज्ञा०। घूकरै, तं०। पञ्चत्रिंशत्तमे महाग्रहे, ''दो काका'' स्था०२ ठा०३ उ०।

काकं(गं)दिय पुं०(काकन्दिक) काकन्दी नगरी, तद्भवः ज्ञा०७ अ०। काकन्द्यां नगर्यां जाते, सुहस्तिनः शिष्ये च,। ''सुट्ठियसुपडिबुद्धाणं कोडियकाकंदगाणं वग्घावश्चसगुत्ताणं'' कौटिककाकन्दिकाविति तु नामनी, अनेन सुस्थितसुप्रतिबुद्धौ इति नामनी, कोटिशः सूरिमन्त्रजपात् काकन्द्यां नगर्यां जातत्वाच्च कौटिककाकन्दिकाविति विशेषणम्। कल्प०८ क्ष०। ''तदनु च सुहास्तिशिष्यौ, कौटिकाकन्दिकावजायेताम्। सुस्थितसुप्रतिबुद्धा।, कटिकगच्छस्ततः समभूत्॥१॥''ग)४ अधि०।

काकं(गं)दिया स्त्री०(काकन्दिका) स्थविरादभद्रशात् भारद्वाजसगोत्रात् निर्गतस्य उमुपाटिकगणस्य तृतीयशाखायाम्, कल्प०८ क्ष०।

काकंदी स्त्री०(काकन्दी) नगरीभेदे, ज्ञा०६ अ०। या पुष्पदन्तस्य तीर्थकरस्य जन्मभूमिः। स्था०५।०१ उ०। यत्र च भद्रासार्थवाहीसुतो धन्यको नाम महावीरसमीपे धर्ममनुश्रित्य महाविभूत्या प्रव्रजितः। स्था०१० ठा०। अनन्त०। अणु०।

काक(ग)जंघ पुं०(काकजङ्घ) स्वनाम्ना क्ष्यातिमागते पाटलिपुत्रेश्वरे, येन उज्जयिनीपतिः अवरुद्धो भयात् शूलेन मृतः, तत्सत्ककर्मकर्मठेन तैललेपादादितकाकश्यामजङ्घताऽवाप्ता। आ०क०।('सिप्पसिद्ध' शब्दे कथा वक्ष्यते)

काक (ग) जंघा स्त्री०(काकजङ्घा) काकस्य जङ्घेवाऽवयवो यस्याः।

''काकजङ्घा नदीकान्ता, काकतिक्तसुलोमशा।
पारावतपदी दासी, काकाह्वाऽपि प्रकार्तिता।
काकजङ्घा हिमा तिक्ता, कषाया कफपित्तजित्।
निहन्ति ज्वरपित्तास्र–ज्वरकण्मूविषक्रमीन्''॥

इत्युक्तगुणे (वाच०) वनस्पतिभेदे, अणु। ''काकजंघा ति वा''(धन्याऽनगारस्य जङ्घा) सा हि परिदृश्यमानस्नायुका स्थूलसन्धिस्थाना च भवतीति तथा जङ्घयोरुपमानम्, अथवा काको वायसः। अणु०३ वर्ग।

काक(ग)णि स्त्री०(काकणि) क्षत्रियभाषया राज्ये, विशे०। ''चंदगुत्तपपुत्तो य, बिंदुसारस्स नत्तुओ। असोगसिरिणो पुत्तो, अंधे जायाति कागणिं''॥८६२॥ बृ०१ द०। रूपकद्रव्यस्य अशीतितमे भागे, उत्त०७ अ०। स०।

काक(ग)णिमंसग न० (काकणिमांसक) देहोत्कृत्तह्रस्वमांसखण्डे, विपा०१ श्रु०२ अ०। दशा०। देहोद्धृतश्लक्ष्ण–मांसखण्डे, औ०।

काक(ग)णिरयण न०(काकणिरत्न) काकणी सुवर्णमयी अधिकरणी संस्थानेति तद्रूपं रत्नम्। स०१४ सम०। चक्रवर्तिरत्नभेदे ''चउरंगुलप्पमाणा सुवण्णवरकागणी नेया'' स्था०७ ठा०। काकणिरत्नमष्टसौवर्णिकं समचतुरस्रसंस्थानसंस्थितं विषापहारसमर्थं, यत्र चन्द्रप्रभा सूर्यप्रभा वह्निदीप्तिर्वानन तमःस्तोमपहर्तुमलं समर्था, तत्र तमिस्रगुहायामपि निविडतिमिरतिरस्करणदक्षं, यस्य दिव्यप्रभावकलिततया द्वादशयोजनानि यावत् तमिस्रविसरविनाशका गभस्तयो विवर्द्धन्ते, यच्च सर्वकालं चक्रवर्ती निजस्कन्धावारो रात्रौ करोति, तद्धि प्रकाशं दिवसालोकभूतं रजन्यामादधाति, यस्य च प्रभावेन चक्रवर्ती द्विजीयमर्द्धभरतमभिजेतुं सकलसैन्यसमेतस्तमिस्रगृहां प्रविशति। तथाहितत्र प्रविष्टः सन् पूर्वभित्तितटे पश्चिमभित्तितटे च प्रत्येकं योजनान्तरितानि पञ्चधनुःशताऽऽयामविष्कम्भान्युभयपार्श्वयोर्योजनोद्द्योतकराणि चक्रनेमिसंस्थानानि चन्द्रमण्डलप्रतिनिभानि वृत्तहिरण्यरेखारूपाणि गोमूत्रिकान्यायेनैकस्यां भित्तौ पञ्चविंशतिरपरस्यां चतुर्विंशतिरित्येकोनपञ्चाशतं मण्डमलान्यालिखन् व्रजति, तानि च मण्डलानि या वच्चक्रवर्त्ती चक्रवर्तिपदं परिपालयति तावदवतिष्ठते, गुहाऽपि तथैवोद्घाटिता तिष्ठति, उपरते तु चक्रिणि सर्वमुपरमिति। प्रव०२१२ द्वार। अनु०। अ०। चू०। उत्त०। जं०। आदित्ययशसस्तु काकणीरत्नं नासीत् सुवर्णमयानि यज्ञोपवीतानि कृतवान्; महायशः प्रभृतयस्तु केचन रूप्यमयानि केचन विचित्रपट्टसूत्रमयानीत्येवं यज्ञोपवीतप्रसिद्धः। आ० म० प्र०।

एगमेगस्स णं रण्णो चाउरंतचक्कवट्टिस्स अट्ठ सोवण्णिो कागिणिरयणे छत्तले दुवालसंसिए अट्ठकण्णिए अधिकरणसंठिए पण्णत्ते।

एकैकस्य राज्ञश्चतुरन्तचक्रवर्त्तिन इत्यत्रान्यान्यकालोत्पन्नानामपि तुल्यकाकिणीरत्नप्रतिपादनार्थमेकैकग्रहणं, निरुपचारितराजशब्दविषयज्ञापनार्थं राजग्रहणं, षट्खण्डभरतादिभोक्तृप्रतिपादनार्थं चतुरन्तचक्रवर्तिग्रहणमिति; अष्टसौवर्णिकंकाकिणीरत्नं; सुवर्णमानं तु चत्वारि मधुरतृणफलान्येकः श्वेतसर्षपः, षोडश श्वेतसर्षपा एकं धान्यमाषफलं, द्वे धान्यमाषफले एका गुञ्जा, पञ्च गुञ्जा एकः कर्ममाषकः, षोडश कर्ममाषकाः एकः सुवर्णः। एतानि च मधुरतृणफलादीनि भरतकालभावीनि गृह्यन्ते, यतः सर्वचक्रवर्तिनां तुल्यमेव काकिणीरत्नमिति षट्तंत्रं द्वादशाग्नि अष्टकर्णिकम्–अधिकरणीसंस्थितं प्रज्ञप्तमिति। तत्र तलानि मध्यखण्डानि, अस्रयः कोटयः, कर्णिकाः कोणविभागाः, अधिकरणी स्वर्णकारोपकरणं प्रतीतमेवेति। इदं च चतुरङ्गुलप्रमाणम्। स्था०८ ठा०।

काक(ग)णिलक्खण न०(काकणिलक्षण) कलाभेदे, काकणिरत्न परीक्षायाम् ज्ञा०१ अ०। स००। औ०।

काक(ग)तालिज्ज न०(काकतालीय) काकागमनसमये ताल-

पतनमतर्कतहेतुकं तदिव अवितर्कित सम्भवे यादृच्छिकागततौ, वाच०। यथा काकतालीयमबुद्धिपूर्वकं, न काकस्य बुद्धिरस्ति मयि तालं पतिष्यति, नापि तालस्याभिप्रायः काकोपरि पतिष्यामि। आचा०१ श्रु०१ अ०१ उ०।

काक(ग)तुंम पुं०(काकतुण्ड) ६ त०। काकास्ये, काकतुण्डस्येव वर्णोस्त्यस्य अच्। कालागुरुणि, वाच। अष्ट०।

काक(ग)धट्ठ त्रि०(काकधृष्ट) काकवद्धृष्टे, ''तत्थ एगो भणति कागधट्ठो भणति'' आ०चू०४ अ०। आव०।

काक(ग)पाल पुं०(काकपाल) महाकुष्ठभेदे, प्रश्न०५ संव० द्वार।

काक(ग)पिंडी स्त्री०(काकपिण्डी) अग्रपिण्डे, आचा०२ श्रु०१ अ०६ उ०।

काक(ग)ल न०(काकल) ईषत् कलो यस्मात्, कोः कादेशः। ग्रीवास्थे उन्नतप्रदेशे, षष्टिकधान्यभेदे च। वाच०। अणु०।

काक(ग)लि(ली) स्त्री०(काकलि(ली) कल इन् ईषत् कलिः, कोः कादेशः, कृदिकारान्तत्वाद् वा डीप्। सूक्ष्ममधुरास्फुटध्वनौ, वाच०। सूक्ष्मकण्ठ्यगीतध्वनौ, स्था०१० ठा०। काकलं गलस्थोन्नतप्रदेशाकारः अस्त्यस्य अच्, गौरा० ङीप्। काकलाकारे स्तेयसाधने पदार्थे, काकं काकवर्णमर्धफले लाति–गौरा० ङीष्। गुञ्जायाम्, वाच०। अभिनन्दनस्य देव्याम् श्रीअभिनन्दनस्य काकलीनाम्नी देवी श्यामकान्तिः पद्मासना चतुर्भुजा वरदपाशाधिष्ठितदक्षिणकरद्वया नागाङ्कुशलङ्कृतवामपाणिद्वया च। प्रव० २७ द्वार०।

काकवण्ण पुं०(काकवर्ण) काकजङ्घ नृपे, यो हि तैलेन जङ्घयोर्दग्धत्वात् काकश्यामजङ्घः। आ० म० द्वि०। आ०चू०। ('सिप्पसिद्ध' शब्दे कथा वक्ष्यते)

काक(ग)स्सर पुं०(काकस्वर) श्लक्ष्णानाऽऽश्रये स्वरे, जं० ६ वक्ष०।

कागिणि स्त्री०(काकिणी) काकिणी चतुर्भागो माषकस्य इत्युक्ते माषकचतुर्थभागे, पणचतुर्थभगे च। ''वराटकानां दशकद्वयं यत्सा काकिणी ताश्च पणः चतस्रः'' वाच०। रूपकद्रव्यस्य अशीतितमे भागे, उत्त०७ अ०। सुवर्णमयेऽधिकरणीसंस्थाने, स०१४ सम०। अष्टसौवर्णिके चक्रवर्तिरत्ने ''अट्ठसोवन्निकं कागणिरयणं'' आ००चू०२ अ०। ('अंगुल' शब्दे प्रथमभागे ४५ पृष्ठे प्रसङ्गाद् व्याख्यातैषा)

काकिनी स्त्री। पणपादे, मानपादे, वराटके च। वाच०।

कागी स्त्री०(काकी) काकस्त्रियाम्, काक्यपि हि किलैकं वारं प्रसूते इति प्रसिद्धिः। व्य०३ उ०। परिव्राजकविद्याविशेषे च। आ०क०। कल्प०। आ०म०। काकवर्णत्वात् वायसीलतायाम्, काकोल्यां च। वाच०।

काच त्रि०(कच)**''स्वराणां स्वराः प्रायोऽपभ्रंशे''** ।८।४।३२९॥ इत्याकारः। आमे, प्रा०४ पाद।

काठ न०(गाढ) गाह–क्त। **''चूलिकापैशाचिके तुतीयतुर्ययो-राद्यद्वितीयौ''॥८।४।३२५॥** इति वर्णविपर्ययः पैशाच्याम्, अतिशयदृढे, प्रा०४ पाद।

काण पुं०स्त्री०(काण) कण निमीलने, संज्ञायां कर्तरि घञ्। काके, वाच०। भिन्नैकाक्षे, दश०७ अ०। एकाक्षे, प्रव०११० द्वार। व्य०। नि०चू०। चंक्षुर्विकले, वृ०१ उ०। ''काणो निमग्नविषमोत्कटदृष्टिरेकः, शक्तो विरागजनने जननातुराष्याम्। यो नैव कस्यचिदुपैति मनःप्रियत्वमा-लेख्य कर्मलिखितोऽपि किमु स्वरूषः ?''। आचा०१ श्रु०१ अ०३ उ०।

काणक(ग) त्रि०(काणक) चोरिते, ''कणकमहिसे वा'' यथा चोरितमहिषः। प्रव०११० द्वार। व्य०। व्याधिविषेषात्सच्छिद्रे, आचा०२ श्रु०१ अ०८ उ०।

कानक त्रि। कनकस्येदमण्। कनकसम्बन्धिनि, कनकं फलमिव उग्रफलमस्त्यस्य अण्। जयपालबीजे, वाच०।

काणक्खि न०(काणाक्षि) अप्रशस्ते चक्षुर्भेदे, महा०४ अ०।

काणच्छिया स्त्री०(काणाक्षिका) काणस्येवाक्षिकारिकायाम् ''तत्थ हसई गायति य अट्टट्टहासे मुंचिते काणच्छिया तो य जहा विडो तहा करेइ'' आ० म० द्वि०। बृ०।

काणण नं०(कानन) कन् दीप्तौ णिच् ल्युट्, ल्युर्वा। स्त्री पक्षस्य पुरुषपक्षस्य चैकतरभागेषु भोग्ये वनविशेषे, यत्परतः पर्वतोऽटवी वा भवति तस्मिन्, ज्ञा०१ अ०। सामान्यवृक्षजातियुक्ते नगराभ्यर्णवर्तिनि, शीर्णवृक्षकलिते वा, अनु०। प्रश्न०। ज्ञा०। भ०। औ०। सामान्यवृक्षवृन्दे, जी०३ प्रति। बृहद्वृक्षाणामाम्रराजादनादितरूणां वने, 'काणणुज्जाणसोहिए' उत्त०१६ अ०। कस्य ब्रह्मण आननम्। ब्रह्मणो मुखे, वाच०।

काणणदीव पुं०(काननद्वीप) जलपत्तनभेदे, आचा०१। श्रु०८ अ०६ उ०।

काणिक्का स्त्री०(काणिका) पाषाणमय्यः पक्वेष्टका वा वलिका महत्यश्च काणिका उच्यन्ते। इत्युक्तेऽर्थे, बृ०३ उ०।

काणिट्ठघर न० (काणिट्ठगृह) लोहमयेष्टकागृहे, व्य०४ उ०।

काणिय न०(काण्य) अक्षिरोगे, स च द्विधागर्भगतस्योत्पद्यते तातस्य च। तत्र गर्भस्थस्य दृष्टिभागमप्रतिपन्नं तेजो जात्यन्धं करोति, तदेवैकाक्षिगतं काणं विधत्ते, तदेव रक्तानुगतं रक्ताक्षं, पित्तानुगतं पिङ्गाक्षं, श्लेष्मानुगतं शुक्लाक्षं, वातानुगतं विकृताक्षं, जातस्य च वातादिजनितोऽभिस्यन्दो भवति। तस्माच्च सर्वरोगाः प्रादुःषन्तीति। उक्तं च–''वातात् पित्तात्कफाद्रक्ता–दभिस्यन्दश्चतुर्विधः। प्रायेण जायते घोरः, सर्वनेत्रामयाकरः''। आचा०१ श्रु०६ अ०१ उ०।

कादं(य)ब पुं०स्त्री०(कादम्ब) हंसभेदे, स्त्रियां जातित्वेऽपि संयोगोपधत्वान्न ङीष्, किन्तु टाप्। तस्य च नीलवर्णत्वम्। इक्षौ, पुं०। वाणे, बदम्बस्येदम् अण्। कदम्बसम्बन्धिनि, त्रि०। कदम्ब एव स्वार्थेऽण्। कदम्बवृक्षे, पुं० वाच०। प्रश्न०। गन्धर्वभेदे च। प्रज्ञा०१ पद।

कादं(य)बग पुं०(कादम्बक)कलहंसे, कल्प०३ क्ष०।

कादं(य)बरी स्त्री०(कादम्बरी) कुत्सितं मलिनमम्बरं

यस्य, कोः कदादेशः, कादम्बरो नीलाम्बरो बलभद्रस्तस्य प्रिया अण्। हलिप्रियायां मदिरायाम्, वाच०। कादम्बकदम्बकोटरमुत्पत्तिस्थानत्वेन लाति ला–क०। लस्य रः मत्वर्थे, र वेति बोध्यम्। कादम्बं रसं राति रा० क० गौरा० ङीष् कोकिलायाम्, सरस्वत्याम्, शारिकायां , । वाणभट्टरचिते कथाभेदे, सा च वाणभट्टेन सामि कृता, तत्पुत्रेण समाप्तिं नीता। वाच०। चम्पाया नगर्या नातिदूरेऽटवीभेदे, ''चंपानयरीए नाइदूरे कायंबरी नाम अडवी हुत्था। तत्थ काली नाम पव्वओ'' ती०१५ कल्प। अस्यां करकण्डुनामधेयो भूमण्डलाखण्डलः। ती०३५ कल्प।

कापुरिस पुं०(कापुरुष) कुत्सितपुरुषः, कोः का, क्षुद्रसत्त्वे कुसितनरे, पं० व०१ द्वार। ज्ञा०। प्रश्न०। भ०। ''तं तह दुल्लहलंभं, विज्जुलयाचंचलं य माणुसत्तं। लद्धूणं जो पमायइ, सो कापुरिसो न सप्पुरिसो''। आ०म०द्वि०। ''स्त्रीसन्निधौ परमकापुरुषा भवन्ति'' सूत्र०१ श्रु०४ अ०२ उ०। का पुरुषस्येदम् अण्। कुत्सितपुरुष सम्बन्धिनि, त्रि०। ''कृत्वा कापुरुषं कर्म, शूरोऽहमिति मन्यसे'' स्त्रियां ङीप्। भावे, कर्मणि च ष्यञ्। कापुरुष्यम्। न०। वाच०।

काफर (पारसीकशब्दः। इसलामाख्ययवनमताऽभ्युपगन्तृमतेन धर्मभ्रष्टे ''हिन्दुतुरुक्काफराणं'' ती०१८ कल्प।

काम पुं०(काम) काम्यन्तेऽभिलष्यन्त एव न तु विशिष्टशरीरसंस्पृर्श-द्वारेणोपयुज्यन्ते ये ते कामाः। मनोज्ञेषु शब्देषु संस्थानेषु वर्णेषु च। भ०।

रूवी भंते ! कामा, अरूवी कामा ? गोयमा ! रूवी कामा समणाउसो ! नो अरूवी कामा।

रूपिणः कामा नो अरूपिणः, पुद्गलधर्मत्वेन तेषां मूर्तत्वादिति।

सचित्ता भंते ! कामा, अचित्ता कामा ? गोयमा ! सचित्ता वि कामा अचित्ता वि कामा।

सचित्ता अपि कामाः समनस्कप्राणिरूपापेक्षया; अचित्तामपि कामा भवन्ति, शब्दद्रव्यापेक्षया असंज्ञिजीवशरीररूपापेक्षया चेति।

जीवा भंते ! कामा, अजीवा कामा ? गोयमा ! जीवा वि कामा अजीवा वि कामा। जीवाणं भंते ! कामा अजीवाणं कामा ? गोयमा ! जीवाणं कामा नो अजीवाणं कामा। कइविहे णं कामा पण्णत्ता ? गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता। तं जहा सद्दा य रूवा य।

(जीवेत्यादि) जीवा अपि कामा भवन्ति, जीवशरीररूपापेक्षया। अजीवा अपि कामा भवन्ति, शब्दापेक्षया, चित्रपुत्रिकारूपापेक्षया चेति (जीवाणमित्यादि) जीवानामेव कामा भवन्ति, कामहेतुत्वात्। अजीवानां न कामा भवन्ति, तेषां कामासम्भवादिति। भ०७ श०७ उ०। शब्दरूपगन्धरूपे विषये, आतु०। औ०। दश०। उपा०। स्था०। कामौ शब्दरूपे सुखकारणत्वात् सुखम्। औ.०। भ०। आ०चू०। सूत्र०। आचा०। आव०।

चउव्विहा कामा पण्णत्ता। तं जहा–सिंगारा कलुणा वीभच्छा रोद्दा। सिंगारा कामा देवाणं, करुणा कामा मणुयाणं, वीभच्छा कामा तिरिक्खजोणियाणं, रोद्दा कामा णरइयाणं॥

कामाः शब्दाएयः श्रृङ्गारा देवानामैकान्तिकात्यन्तिकमनोज्ञत्वेन प्रकृष्टरतितरसास्पदत्वादिति। रूपो हि श्रृङ्गारो, यदाह व्यवहारः–पुन्नाय्यौरन्योऽन्यरक्तयो रतिप्रकृतिः श्रृङ्गार इति। मनुश्याणां करुणा मनोज्ञत्वस्यातथाविधत्वात् तुच्छत्वेन क्षणदृष्टनष्टत्वेन शुक्रशेणितादि-प्रभवदेहाश्रितत्वेन च शोचनात्मकत्वात्। करुणो हि रसः शोकस्वभावः, करुणः शोकप्रकृतिरिति वचनादिति। तिरश्चां बीभत्सा जुगुप्सास्प-दत्वात्। बीभत्सरसो हि जुगुप्सात्मकः। यदाहभवति जुगुप्साप्रकृति-र्बीभत्स इति। नैरयिकाणां रौद्रादारुणाः, अत्यन्तमनिष्टत्वेन क्रोधोत्पा-दकत्वत्। रौद्ररसो हि क्रोधरूपः। यत आह–रौद्रः क्रोधप्रकृतिरिति। स्था०४ ठा०४ उ०। ध०। उत्त०। कम भावे घञ्। कन्दर्पाभिलाष, तं०। सूत्र०। अभिलाषे, उत्त०५ अ०। इच्छायाम्, उत्त०१४ अ०। सूत्र०। आच०। प्रज्ञा०। भोगतीव्राभिलाषे, आव०६७ अ०। मदाभिलाषमात्रे, स्था०५ ठा०१ उ०। इच्छाऽनङ्गरूपे, सूत्र०। अ०१ उ०। यत अभिमानिकर–सानुविद्धा सर्वेन्द्रियप्रीतिः स कामः। ध०१ अधि०। स्वेच्छायां, मैथुनसेवायां च। प्रज्ञा०२ पद। स्त्रीगात्रपरिष्वङ्गादौ, सूत्र०२ श्रु०१ अ०। अविचार्य्याऽऽत्मनः परस्य वा पापपहेतौ, ध०१ अधि०।

कामनिक्षेपः–

नामं ठवणा कामा, दव्वंकामा य भावकामा य।
एसो खलु कामाणं, निक्खेवो चचउविहो होइ॥१६७॥

नामस्थापना कामा इत्यत्र कामशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते। द्रव्यकामाश्च भावकामाश्च। चशब्दौ स्वगतानेकभेदसमुच्चयार्थौ। एष खलु कामानां निक्षेपश्चतुर्विधो भवतीति गाथार्थः॥१६७॥

तत्र नामस्थापने क्षुण्णत्वादनादृत्य
द्रव्यकामान्प्रतिपादयन्नाह–

सद्दरसरूवगंध–प्फासा उदयंकरा य जे दव्वा।
दुविहा य भावकामा, इच्छाकामा मयणकामा॥१६८॥

शब्दरसरूपगन्धस्पर्शा मोहोदयाभिभूतैः सत्त्वैः काम्यन्त इति कामाः, मोहोदयकारिणि च यानि द्रव्याणि संघाटकविकट–मांसादीनि, तान्यपि मदनकामाख्यभावकामहेतुत्वाद्द्रव्यकामा इति। भावकामानाह–द्विविधाश्च द्विप्रकाराश्च भावकामाः–इच्छाकामाः मदनकामाश्च। तत्र एषणमिच्छा सैव चित्ताभिलाषरूपत्वात्कामा इच्छाकामाः। तथा–मदयतीति मदनश्चित्ते मोहोदयः, स एव कामप्रवृत्तिहेतुत्वात्कामाः, मदनकामाइति गाथार्थः॥१६८॥

इच्छाकामान् प्रतिपादयति–

इच्छ पसत्थमपस–त्थिगा य मयणम्मि वेयउवओगो।
तेणऽहिगारो तस्स उ, वयंति धीरा निरुत्तमिणं॥१६९॥

इच्छा प्रशस्ताऽप्रशस्ता च। अनुस्वारोऽलाक्षणिकः मुखसुखो-च्चारणार्थः। तत्र प्रशस्ता धर्मेच्छा मोक्षेच्छा, अप्रशस्ता युद्धेच्छा राज्येच्छा। उक्ता इच्छाकामाः। मदनकामानाह–मदन इत्युप-लक्षणार्थत्वान्मदनकामे निरूत्ये। कोऽसावित्यत आह–वेदोप-योगः, वेद्यत इति वेदः स्त्रीवेदादिस्तदुपयोगस्तद्विपाकानुभवनम्, तह्यापार इत्यन्ते। यथा–स्त्री वेदोदयेन पुरुषं प्रार्थयते इत्या-

दि। तेनाधिकार इति। मदनकामेन शेषा उच्चारितसदृशा इति प्ररूपिताः, तस्य तु मदनकामस्य, वदन्ति धीरास्तीर्थकरगणधराः, निरुक्तमिदं, वक्ष्यमाणलक्षणमिति गाथार्थः ॥१६६॥

विसयसुहेसु पसत्थं, अबुहजणं कामरागपडिबद्धं।
उक्कामयंति जीवं, धम्माओ तेण ते कामा ॥१७०॥

विषीदन्त्याबध्यन्ते एतेषु प्राणिन इति विषयाः। शब्दादयः, तेभ्यः सुखानि तेषु प्रशक्त आशक्तस्तं, जीवमिति योगः। स एव विशिष्यते–अबुधः अविपश्चिद् तनः परिजनो यस्य स अबुधजनस्तम्, अकल्याणमित्रपरिजनमित्यर्थः। अनेन बाह्यं विषयसुखप्रशक्तिहेतुमाह। कामरागप्रतिबद्धमिति। कामाः मदनकामेस्तेभ्यो रागाः। विषयाभिष्वङ्गाः तैः प्रतिबद्धो व्याप्तस्तम्। अनेन तु आन्तरं विषयसुखप्रशक्तिहेतुमाह। ततश्चाऽबुधजनत्वात्कामराग–प्रतिबद्धत्वाच्च विषयसुखेषु प्रशक्तमिति भावः। किं निरुक्तवैचित्र्यादाह–तत्प्रत्यनीकत्वादुत्क्रामयन्त्यपनयन्ति, जीवमनन्तरविशेषितम्, कुतो ?, धर्मात्। यत्तदोर्नित्याभिसंबन्धात् येन कारणेन तेन सामान्येनैव कामगाराः, कामा इति गाथार्थः। अन्ये पठन्ति, 'उत्क्रामयन्ति यस्मादिति' अत्र चाबुधजन एव विशेष्यः, शेषं पूर्ववत्।

अन्नं वि य से नामं, कामा रोग त्ति पंडिया विंति।
कामे पत्थेमाणो, रोगे पत्थेइ खलु जंतू ॥१७१॥

अन्यदपि चैषां कामानां नाम। किंभूतमित्याह–कामा रोगा इति एवं पण्डिता ब्रुवते। किमित्येतदेवमत आह–कामान् प्रार्थयमानोऽभिलषन् रोगान् प्रार्थयते, खलु जन्तुः, तद्रूपत्वादेव कारणे कार्योपचारादिति गाथार्थः। दश०२ अ०।

(२४) भेदाः –

कामो चउवीसविहो, संपत्तो खलु तहा असंपत्तो।
संपत्तो चउदसहा, दसहा पुण होइ सपत्तो ॥७६॥

कामश्चतुर्विंशतिविधश्चतुर्विंशतिभेदो भवति, तत्र प्रथमं तावत्सामान्येन द्विधा–संप्राप्तः कामिनामन्योसंगमसमुत्थः, तथाऽसंप्राप्तश्च विप्रलम्भस्वरूपः। तत्र संप्राप्तश्चतुर्दशधा चतुर्दशप्रकारः दशधा पुनः दशप्रकारो भक्त्यसंप्राप्त इति।

तत्राल्पतरवक्तव्यत्वादसंप्राप्तं तावदाह –

तत्थ असेपसत्था, चिंता तह सद्ध संभरणमेव।
विक्कवय लज्जनासो, पमाय उम्माय तब्भावे ॥७७॥
मरणं च होइ दसये; संपत्तं पि य सगासओ बोच्छं।
दिट्ठीए संपाओ, दिट्ठीसेना य संभासो ॥७८॥

तत्र द्वयोः संप्राप्ता संप्राप्तयोर्मध्येऽसंप्राप्तोऽयम्। (अत्थ त्ति) अर्थनमर्थाः, दृष्टेऽपि रमण्याहौ श्रुत्वा तदभिलाषमात्रं, तथा चिन्ता अहो ! रूपादयस्तस्या गुह्या इत्यसुरागेण चिंतनं, तथा–श्रद्धा तत्सङ्गमाभिलाषः, तथा–संस्मरणं संकल्पिततरूपस्या–लेख्यादिदर्शनेनाऽऽत्मनो विनोदनं, तथा–विक्लवता तद्विरह–दुःखातिरेकेण हासादिष्वपि निरपेक्षता, तथा–लज्जानाशः गुर्वादिसमक्षमपि तदुणोत्कीर्तनं, तथा–प्रमादस्तदर्थमेव सर्वारम्भेषु प्रवर्तनं, तथोन्मादो नष्टचित्ततया आलजालजल्पनं, तथा–तद्भावः स्तम्भादीनामपि तद् बुद्ध्याऽऽलिङ्गनादिचेष्टा, मरणं च भवति दशमः, असंप्राप्तकामभेदः। इदं च सर्वथा प्राणपरित्यागलक्षणं न ज्ञातव्यं, शृङ्गाररसभङ्गप्रसङ्गात्, किन्तु मरणमिव मरणं निश्चेष्टावस्था मूर्च्छाप्राया काचिदित्यर्थः। इत्यमेव चाभिनवगुप्तेन भरतवृत्तिकृताऽपि व्याख्यातत्वादिति। अथ संप्राप्तं काममाह– (संपत्तं पिअ समासओ वोच्छं। दिट्ठिए संपाओ १ दिट्ठीसेवा य २ संभासो ३) संप्राप्तमपि कामं समासतः संक्षेपेण वक्ष्ये। तदेवाह–दृष्टिसंपातः स्त्रीणां कुचाद्यवलोकनं १, तथा–दृष्टिसेवा हासभावसारनदृष्टैर्दृष्टिमेलनम् २, तथा–संभाषणमुचितकाले स्मरकथाभिजल्पः ३।

हसिय ललिओवगूहिय, देत नह निवाय चुंवणं चेव।
आलिंगणमाणणं, करसेवाऽणंगकामा य ॥७९॥

हसितं च वक्त्रोत्किगर्भहसनं, ललितं पासकादिक्रीमा, उपगूढं गाढतरपरिष्वङ्गः, दन्तनिपातो दशनच्छेदनविधिः, नखनिपातः कररुहैर्विपाटनप्रकारः, चुम्बनं वक्त्रसंयोगः, आलिङ्गनमीषत्स्पर्श–नम्, आदानं कुखदिग्रहणम्, (करसेवणं ति) प्राकृतशैल्या करणासेवने, तत्र करणं सुरतारम्भयन्त्रं चतुरशीतिभेदं वात्स्यायनप्रसिद्धम्, आसेवनं मैथुनक्रिया, अनङ्गक्रीमा चाऽऽस्यादावर्थक्रियते। प्रव० १६६ क्षर। उत्त०। ''कहन्नु कुज्जा सामन्नं, जो कामे न निवारए। पए पए विसीयंतो, संकप्पस्स वसंगओ'' दश०२ अ०। ('सामन्नपुव्वय' शब्देव्याख्या) ''काम ! जानामि ते रूपं, संकल्पात्किल जायसे। न त्वां संकल्पयिष्यामि, ततो मे न भविष्यसि''।१। आचा०१ श्रु०५ अ००४ उ०। ''सव्वगहाणं पभवो, महागहो सव्वदोसपायट्टी। कामग्गहो दुरप्पा, जेणऽभिभूयं जगं सव्वं''। महा०७ अ०। (यथा स्थूलभद्रेण कामो विजितस्तथा 'थूलभद्द'शब्दे वक्ष्यते) कामो हि दुरतिक्रमः। कामा द्विविधाः इच्छाकामा मदनकामाश्च। तत्रेच्छाकामा मोहनीयभेदहास्यरत्युद्भवाः, मदनकामा अपि मोहनीयभेदे वेदोदयात्प्रादुःषन्ति। ततश्च द्विरूपाणामपि कामानां मोहनीयं कारणं, तत्सद्भावे न कामोच्छदः। आचा०१ श्रु०२ अ०५ उ०। मकरध्वजे, व्य०१ उ०। रौक्मिणेये, पुं०। बलदेवे, तस्य कामपालत्वात्तथात्वम्, महाराजचूले, कर्मपूर्वकात् कमयतेः कर्त्तरि अण्, तत्तत्पदार्थकामनायुक्ते, वाच०। दीर्घकालं जीवितुकामाः दीर्घकालमायुष्काभिलाषिणः। आचा०१ श्रु०२ अ०३ उ०। रेतसि, न वाच०।

कामं अव्य०(कामम्) अनुमते, वृ०१ उ०। नि० चू०। अवमतार्थे, नि० चू० १०० उ०। अवधृतार्थे, नि०चू०५ उ०। काममित्यवधृतार्थे, अवधृतमेतत्। सूत०२ श्रु०१ अ० ''कामं खलु अलसहो'' नि० चू०११ उ०। चोदकाभिप्रायसमर्थताऽभिप्रायेण कामशब्दप्रयोगः, अहवा आचार्येण चोदकाभिप्रायोऽवधृत इत्यतः कामशब्दप्रयोगः। नि० चू०१५ उ०। 'कामं चोदकाऽभिप्रायस्व अणुमयत्थे' नि० चू०१६ उ०। आव०। आ०चू०। काममियेत–दभ्युपगमे, यथा–इष्टमेवैतदस्माकम्। सूत्र०२ श्रु०६ अ०।

कामंग पुं० (कामाङ्ग) कामं कामोद्दीपनमङ्गं मुकुलमस्य। आम्रवृक्षे जटाधरः। वाच०। स्नानादिषु कामोद्दीपनेषु, सूत्र०२ श्रु०२ अ०।

कामंदकि न०(कामन्दकि) नीतिशास्त्रप्रणेतरि, वाच। स्था०।

कामकंत न० (कामकान्त) स्वनामख्याते कामादिविमानभेदे, जी० ३ प्रति०।

कामकम न०(कामकम) षष्ठदेवलोकेन्द्रस्य पारियात्रिकविमाने, स्था०१० ठा०।

कामकहा स्त्री०(कामकथा) कामप्रधानायां कथायाम्, दश०।

साम्प्रतं कामकथामाह–

रूवं वओ य वेसो, दक्खत्तं सिक्खियं च विसएसु।
दिट्ठं सुयमणुभूयं, च संथवो चेव कामकहा ॥१६८॥

रूपं सुन्दरं, वयश्चोदग्रं वेष उज्ज्वलः दाक्षिण्यं मार्दवं, शिक्षितं विषयेषु शिक्षा च कलासु, दृष्टमद्भूतदर्शनमाश्रित्य, श्रुतं च अनुभूतं च संस्तवश्च परिचयश्चेति कामकथा। रूपे च वसुदेवादय उदाहरणम्। वयसि सर्व एव प्रायः कमनीया भवति, लावण्यात् ।उक्तं च–''यौवनमुद्ग्रकाले, विदधाति विरूपकेऽपि लावण्यम्। दर्शयति पाकसमये, निम्बफलं चाऽपि माधुर्यम्'' इति। वेष उज्ज्वलः कामाङ्गम्,यं कञ्चन उज्ज्वलवेषं पुरुषं दृष्ट्वा स्त्री कामयते' इति वचनात्। एवं दाक्षिण्यमपि, 'पञ्चालस्त्रीषु मार्दवमिति' वचनात् शिक्षा च कलासु कामाङ्गम्, वैदग्ध्यात्। उक्तं च– ''कलानां ग्रहणादेव, सौभाग्यमुपजायते। देशकालौ त्वपेक्ष्याऽऽसां, प्रयोगः संभवेन्न वा''। अन्ये त्वत्राचलमूलदेवौ देवदत्तां प्रतीत्येक्षुयाचनायां प्रभूताऽसंस्कृत–स्तोकसंस्कृतप्रदानद्वारेणो–दाहरणमभिदधति। दृष्टमधिकृत्य कामकथा। यथा–नारदेन रुक्मिणीरूपं दृष्ट्वा वासुदेवे कृता। श्रुतं त्वधिकृत्य यथा–पद्मनाभेन राज्ञा नारदाद्द्रौपदीरूपमाकर्ण्य पूर्वसंस्तुतदेवेभ्य कथिता। अनुभूतं चाधिकृत्य कामकथा यथा– तरङ्गवत्या निजानुभवकथने। संस्तवश्च कामकथापरिचयः कारणानीति कामसूत्रपाठात्। अन्ये त्वभिदधति–''सइदंसणाउ पेम्मं, पेमाउ रती रती य विस्संभो। विस्संभाओ पणओ, पंचविहं वड्ढए पेम्मं।''इति गाथार्थः॥१६८॥उक्ता कामकथा। दश०३अ०।

कामकाम त्रि०(कामकाम) कामेन स्वेच्छया कामो मैथुनसेवा येषां ते कामकामाः। अनियतकामेषु, प्रज्ञा०२ पद०। जी०। कमे शब्दरूपयोः कामो वाञ्छामात्रं यस्यासौ कामकामः। शब्दरूपाभिलाषुके,तं०। कामं काम्यं कामयते, कम् णिङ् अण्। उप–स०। विषयप्रार्थके, स्त्रियां ङीप्। वाच०।

कामकामि त्रि०(कामकामिन्) कामान् कामयितुमभिलषितुं शीलमस्येति विषयप्रार्थनाशीले, आचा०।

कामकामी खलु अयं पुरिसे से सोयति झूरति तिप्पपति फिड्डति परितप्पति।

कामान् कामयितुमभिलषितुं शीलमस्येति कामकामी। खलुर्वाक्यालङ्कारे। अयमित्यध्यक्षः, पुरुषो जन्तुर्यस्त्वेवंविधोऽविरतचेताः कामकामी स नानाविधान् दुःखविशेषाननुभवतीति दर्शयति (से सोयमित्यादि) स इति कामकामी ईप्सितस्यार्थस्या–प्राप्तौ तद्वियोगे च स्मृत्यनुबन्धः शोकस्तमनुभवति। अथवा शोचत इति काममहाज्वरगृहीतः सन् प्रलपतीति। उक्तम् ''गते प्रेमाबन्धे प्रणयबहुमाने च गलिते, निवृत्ते सद्भावे जन इव जने गच्छति पुरः। तमुत्प्रेक्ष्योत्प्रेक्ष्य प्रियसखि! गतांस्तांश्च दिवसान, न जाने को हेतुर्दलति शतधा यन्न हृदयम्?''। इत्यादि शोचते। तथा (झूरइ त्ति) हृदयेन खिद्यते। तद्यथा– ''प्रथमतरमथेदं चिन्तनीयं न चासीद्, बहुजनदयितेन प्रेम कृत्वा जनेन। हत हृदय निरास क्लीब! संतप्यसे किं, नहि जडगततोये सेतुबन्धाः क्रियन्त''। इत्येवमादि। तथा (तिप्पइ त्ति) 'तिपृ तेपृ' क्षरणार्थौ। तेपत क्षरति संचलति मर्यादातो भ्रस्यते, निर्मर्यादीभवतीति यावत्। तथा– शारीरमानसैर्दुःखै पीड्यते। तथा–परितः समन्ताद् बहिरन्तश्च तप्यते परितप्यते, पश्चात्तापं च करोति। यथा–पुत्रकलत्रादौ क्वचिद्गते समयाऽननुवर्तिते इति कोपात् परितप्यते। सर्वाणि चैतानि शोचनादीनि विषयविषावष्टब्धान्तः करणानां दुःखावस्थासंसूचकानि। अथवा–शोचत इति यौवनधनमदमोहाभिभूतमानसो विरुद्धानि निषेव्य पुनर्वयःपरिणामेन मृत्युकालोपस्थानेन वा मोहापगमे सति किं मया मन्दभाग्येन पूर्वमशेषशिष्टाऽऽचीर्णः सुगतिगमनैकहेतुर्दुर्गतिद्वार–परिघो धर्मो नाचीर्ण इत्येवं शोचते इति। उक्तं च–''भविष्यीं भावानां परिणतिमनालोच्य नियतां, पुरा हा! यत्किंचिद्विहितमशुभं यौवनमदात्। पुनः प्रत्यासन्ने महति परलोकैकगने, तदैवैकं पुंसां व्यथयति जराजीर्णवपुषाम्'' ॥१॥ तथा झूरतीत्यादीन्यपि स्वबुद्ध्या योजनीयानीति। उक्तं च– ''सगुणमपगुणं वा कुर्वता कार्यजातं, परिणतिवधार्या यत्नतः पण्डितेन। अतिरभसकृतानां कर्मणामाविपत्तेर्भवति हृदयदाही शल्यतुल्यो विपाकः''॥१॥ इत्यादि। अवचा०१ श्रु०२ अ०५ उ०।

कामकुसल पुं० (कामकुशल) व्यवहारकुशलभेदे, स च यत्नेनाऽनुवर्त्तते प्रियां बाह्यानुवर्तितया कलहाभावादिति निर्वृतिर्भवति, तत उभयलोकसिद्धिरिति। यदा च चैत्याभिगमनं करोति तदा तां मुखशुद्धिं कारयति, तद्वहे स्नानं न विधत्ते, करोति चेत्तदा यथा तद्वशगो न भवति, तद्वशगतत्वेनोभयलोकहानिः स्यादिति। दर्श०।

कामकूड पुं०(कामकूट) काम एव कूटं शृङ्गं प्रधानमस्य। वेश्याप्रिये, वेश्याया विभ्रमे च। वाच०। विमानभेदे, जी०३ प्रति।

कामक्खंध पु०न०(कामस्कन्ध) काम्यत्वात् कामाः मनोज्ञशब्दादयः, तद्धेतवः स्कन्धास्तत्तत्पुद्गलसमूहाः कामस्कन्धाः। उत्त०४ अ०। शब्दादिद्रव्यस्कन्धेषु, उत्त०।

खेत्तं वत्थु हिरण्णं च, पसवो दास पोरुसं।
चत्तारि कामखंधाणि, तत्थ से उववज्जई ॥१७॥
मित्तं वा नायवं होइ, उच्चा गोए य वण्णवं।
अप्पायंके महापन्ने, अभिजाए जसो बले ॥१८॥

क्षि निवासगत्योः; क्षियन्ति निवसन्त्यस्मिन्निति क्षेत्रं, ग्रामाऽऽरामादिसेतुकेतूभयात्मकं वा; तथा वसन्त्यस्मिन्निति वास्तु; खातोच्छ्रितोभयात्मकम्, हिरण्यं सुवर्णम् उपलक्षणत्वात् रूप्यादि च, पशवोऽश्वादयः, दास्यते दीयते एभ्य इति दासाः पोष्यवर्गरूपाः, ते च, (पोरुस त्ति) सूत्रत्वात्पौरुषेयं च पदातिसमूहः, दासपौरुषेयं चत्वारःचतुःसंख्याः, अत्र हि क्षेत्रं वास्त्विति चैको, हिरण्यमिति द्वितीयः, पशव इति तृतीयो, दासपौरुषेयमिति चतुर्थः। एते किमित्याह–काम्यत्वात्कामा मनोज्ञशब्दादयः, तद्धेतवः स्कन्धास्तत्पुद्गलसमूहाः कामस्कन्धाः, यत्र भवन्तीति गम्यते। प्राकृतत्वाच्च न निर्देशः। तत्र तेषु कुलेषु (से इति) स उपपद्यते जायते, अनेन चैकभङ्गमुक्तम्। शेषाणि तु नवाङ्गान्याह। मित्राणि सह पांसुक्रीडितादीनी सन्त्यस्येति मित्रवान्, ज्ञातयः स्वज–

नाः सन्त्यस्येति ज्ञातिमान् भवति, उच्चैर्लक्ष्म्यादिक्षयेऽपि पूज्यतयागोत्रं कुलमस्येत्युच्चैर्गोत्रः। चः समुच्चये। वर्णः श्यामादिः स्निग्धत्वादिगुणैः प्रशस्योऽस्येति वर्णवान्। अल्पातङ्कः आन्तकविरहितः, नीरोग इत्यर्थः। महती प्रज्ञाऽस्येति महाप्रज्ञः, पण्डितोऽभिजातो विनीतः; स हि सर्वजनाभिगमनीयो भवति, दुर्विनीतस्तु शेषगुणान्वितोऽपि न तथेति। अत एव च (जसो त्ति) यशस्वी, तथा च सति (बले त्ति) बली कार्यकरणं प्रति सामर्थ्यवान्, उभयसूत्रत्वान्मत्वर्थीयलोपः। एकैकोऽपि हि मित्रवत्त्वादिगुणस्तत्कार्याभिनिर्वर्तनक्षमः, किं पुनरमी समुदिताः शरीरसामर्थ्यवान् वेह बलीति। उत्त०४ अ०।

कामगम त्रि०(कामगम) कामं स्वेच्छया गतो येषां कमगमाः। स्वेच्छाचारिषु, जी०३ प्रति०। प्रज्ञा०। षष्ठदेवलोकेन्द्रस्य यानविमाने, जं०५ वक्ष०। ओ०।

कामगिद्ध त्रि०(कामगृद्ध) ७त०। कामेषु इच्छामदनरूपेषु अध्युपपन्ने, आचा०१ श्रु०३ अ०१ उ०।

कामगुण पुं०(कामगुण) काम्यन्ते अभिलष्यन्ते इति कामाः, ते च ते गुणाश्च पुद्गलधर्माः शब्दादयः। स ५ सम०। पञ्चेन्द्रियसुखदेषु सद्वस्त्वसस्यमिष्यान्नपुष्पचन्दननाटकगीततालवेणुवीणाकलितकाकलीगीतादिपदार्थेषु, उत्त०१४ अ०। आ०। आचा०।''पंच कामगुणा पण्णत्ता। ते जहा–सहा रूवा रसा गंधा फासा''। स०५ सम०। आचा। ध०। स्था०।

पंचेव य कामगुणे, (पंचेव य अण्हवे महादोसे)।
परिवज्जंतो गुत्तो, रक्खामि महव्वए पंच ॥२६॥

(पंचेव य त्ति) पञ्चैव मनोज्ञशब्दरूपरसगन्धस्पर्शभेदात्पञ्च–संख्या एव। चशब्दोऽर्थान्तराभिधानसमुच्चयार्थः। के इत्याह–काम्यन्ते रागातुरैः प्राणिभिरभिकाङ्क्ष्यन्त इति कामाः, अभिलषणीयपदार्थाः, त एवात्मसंयमनैकहेतुत्वाद् गुणाः सूत्रतन्तवः, आत्मगुणोपघातकारणत्वाद्वा गुणाः कामगुणाः। अथवा–कामस्य मदनस्याभिलाषमात्रस्य वा संपादका गुणाः धर्मार्थपुद्गलानां कामगुणाः, ते चाऽनर्थहेतवः। यदुक्तम्–

''कलरभितमधुरगान्ध–र्वतूर्ययोषिद्विभूषणरवाद्यैः।
श्रोत्राऽवबद्धहृदयो, हरिण इव विनाशमुपयाति ॥१॥
गतिविभ्रमेङ्गिताका–रहास्यलीलाकटाक्षविक्षिप्तः।
रूपावेशितचक्षुः, शलभ इव विपद्यते विवशः ॥२॥
स्नानाङ्गरागवर्तिक–वर्णकधूपाधिवासपटवासैः।
गन्धभ्रमितमनस्को, मधुकर इव नाशमुपयाति ॥३॥
मिष्टान्नपानमांसौ–दनादिमधुररसविषयगृद्धात्मा।
गलयन्त्रपाशबद्धो, मीन इव विनाशमुपयाति ॥४॥
शयनासनसंबाधन–सुरतस्नानानुलेपनाऽऽशक्तः।
स्पर्शव्याकुलितमतिम–र्गजेन्द्र इव बध्यते मूढः''॥५॥

इत्यतः स्नानादिकामगुणान् परिवर्जयन्निति योगः। पा०। आव०।

मकरकेतुकार्य्ये, प्रश्न० आश्र० द्वार०। कामस्य कामकृतो वा गुणः। अनुरागे, विषये, आभोगे च। वाच०।

कामग्गह पुं०(कामग्रह) सुरतासेवनोद्रेकाद् विभ्रमे, पं० व०१ द्वार।

कामजल न०(कामजल)स्नानपीठे, आचा०२ श्रु०५ अ०१ उ०। ''सिणाणपीढं तु कामजलं'' नि० चू०१३ उ०।

कामज्झय पुं०(कामध्वज) विमानभेदे, जी०३ प्रति०।

कामज्झया स्त्री०(कामध्वजा)स्वनामख्यातायां गणिकायाम्, विपा०१ श्रु०२ अ०। (वाणिजग्रामवास्तव्यायां यस्मामुज्झितकदारक आशक्तःतथोक्तम् 'उज्झियय' शब्दे द्वितीयभागे ७४६ पृष्ठे)

कामट्ठि(ण्) त्रि०(कामार्थिन्) शब्दरूपार्थिनि, ज्ञा०१ अ०।

कामड्ढिय न०(कामर्द्धिक) वैश्यपाटिअकगणस्य तृतीये कुले, कल्प०८ क्षण।

कामतिव्वराग पुं०(कामतीव्रराग) कामः–शब्दरूपे, तत्र तीव्राभिलाषः। स्वदारसन्तोषस्य तृतीयेऽतिचारे, ध०२ अधि०।

कामतिव्वाभिलास पुं०(कामतीव्राभिलाष) कामाः शब्दादयस्तेषु तीव्राभिलाषः। कामभोगेऽध्यवसायत्वलक्षणे स्वदारसन्तोषस्य तृतीयेऽतिचारे, श्रा०। यतो वाजीकरणादिनाऽनवरतसुरतसुखार्थमदनमुद्दीपयति। पञ्चा०१ विव०।

कामदुह त्रि०(कामदुघ) कामं दोग्धि, दुह–क–घादेशः। अभीष्टसम्पादके, सुरभौ, गवि, स्त्री०। वाच०। ''अप्पा कामदुघा धेणू, अप्पा मे णंदणं वणं''। आत्मैव कामदुघा धेनुर्वर्तते, कामं दोग्धि पूरयतीति कामदुघा। जीवः शुभक्रियां करोति, सा शुभक्रिया, सुखदेत्यर्थः। उत्त०२० अ०।

कामदेव पुं०(कामदेव) काम एव देवः। कन्दर्पे, वाच०। काचित् बृहत्कुमारिका वाञ्छितवरलाभाय कामदेव पूजार्थमारामे पुष्पाणि चोरयन्ती आरामपतिना गृहीता। स्था०४ ठा०३ उ०।नि०चू०। स्वनामख्याते चम्पानगरीवास्तव्ये उपासकभेदे, स्था०१० ठा०। ती०। संधा०।

जइ णं भंते !समणेणं० जाव सपत्तेणं सत्तमस्स अंगस्स उवासगदसाणं पढमस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते। दोच्चस्स णं भंते ! अज्झयणस्स के अट्ठे पण्णत्ते ? एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं चंपा णामं णयरी होत्था। पुण्णभद्दे चेइए जियसत्तू राया, कामदेवे गाहावई, भद्दा भारिया, छ हिरण्णकोडीओ णिहाणपत्ताओ, छवुड्ढि छ पत्थिर छ व्वया दस गोमाहस्सीएणं वएणं समोसरणं जहा आणंदो तहा निग्गओ तहेव सावयधम्मं पडिवज्जइ, सा चेव वत्तव्वया जाव जेट्ठपुत्तं कुटुंबे य ठवेत्ता मित्तनाइअं पुच्छित्ता जेणेव पोसहसाला तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता जहा आणंदे० जाव समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मपण्णत्तिं उवसं० विहरइ णं तस्स कामदेवस्स पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि एगे देवे माई मिच्छदिट्ठी अंतियं पाउब्भूए, तए णं से देवे एगं पिसायरूवं विउव्वइ।

अथ द्वितीये किमपि लिख्यते–(पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि त्ति) पूर्वरात्रश्चासावपररात्रश्चेति पूर्वरात्रापररात्रः; स एव कालः समयः कालविशेषः॥

तस्स णं देवस्स पिसायरूवस्स इमे एयारूवे वण्णावासे पण्णत्तेसीसं से गोकिलंजसंठाणसंठियं सालिमसेल्लसरिसा से केसा कविलतेएणं दीप्पमाणा महल्लउट्टियाकभल्लसंठाणसंठियं णिडालं मुंगुं सपुच्छं व तस्स भूमगाओ फुग्गफग्गाओ विगयबीभच्छदंसणाओ सीसिघडिविणिग्गयाइं अच्छीणि विगयबीभच्छदंसणाइं कण्णा जह सुप्पकत्तरे चेव विगयबीभच्छदंसणिज्जा उरब्भपुडसंनिभा से नासा, झुसिरा जमलचुल्लीसंठाणसंठिया दा वि तस्स नासापुडया, घोडगपुच्छं वा तस्स डंसूइं कविलाइं विगयबीभच्छदंसणाइं उट्ठा उट्ठस्स चेव लंबा फालसरिसा से दंता जिब्भा जह सुप्पकत्तरं चेव विगयबीभच्छदंसणिज्जा हलकुद्दालसंठिया से हणुया गल्लकडिल्लं च तस्स खटं फुट्टं कविलं फरिसं महल्लं मुइंगाकारोवमे से खंधे पुरवरकवाडोवमे से वच्छे, कोट्ठिया संठाणसंठिया दो वि तस्स बाहा, निसापाहाणसंठ, णसंठिया तस्स दो वि हत्था, निसालोढसंठाणसंठियाओ हत्थेसु अंगुलीओ, सिप्पिपुडगसंठिया सेणहा, ण्हावियए पसेवउव्व उरंसि लंवति दो वि तस्स थणया पोट्टं अयकोट्टउव्व वत्तं पाणा कलंदसरिसा से णाभी सिक्कगठाणसंठिते से पोत्ते, किण्णपुडसंठाणसंठिया दो वि तस्स वसणा, जमलकोट्ठियासंडाणसंठिया तस्स्दो विऊरू, अज्जुणगुच्छं व तस्स जाणूइं कुडिलकुडिलाइं विगयबीभच्छदंसणाइं जंघाओ करकडीओ लोमेहिं उवचियाओ, अधरीसंठाणसंठिया दो वि तस्स पाया, अहरीलोढसंठाणसंठियाओ पाएसु अंगुलीओ, सिप्पिपुडसंठिया से णहा, लडहमडहजाणुए विगयभग्गभुग्गभमुए अवदालियवयणविवर-निद्दालियअग्गजीहे सरडकयमालियाए उंदरमालापरिणद्ध-सुकयचिन्धे णउलकन्नपूरे सप्पकयवेगच्छे अप्फोडंते अभिज्जंते भीममुक्कट्टहासेण णाणाविहपंचवन्नेहिं लोमेहिं उवचिये एगं महं नीलुप्पलगवलगुलियअयसिकुसुमप्पगासं असिं खुरधारं गहाय जेणेव पोसहसाला जेणेव कामदेवे समणोवासए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता आसुरुत्ते रुट्ठे कुविए चंडिक्किए मिसिमिसीयमाणे कामदेवस्स एवं वयासी-

तत्र (इमे एयारूवे वण्णवासे पत्ते त्ति) वर्णकव्यासो वर्णकविस्तारः (सीसं ति) शिरः (से) तस्य (गोकिलंज त्ति) गवां चरणार्थं यद्वंशदलमयमहद्भाजनं तद्गोकिलञ्जं 'डल्लेत्ति' यदुच्यते, तस्याधोमुखीकृतस्य यत् संस्थानं तेन संस्थितं, तदाकारमित्यर्थः। पुस्तकान्तरे विशेषणान्तरमुपलभ्यते-(विगयकप्पयनिभं ति) विकृतो योऽरञ्जरादीनां कल्प एव कल्पकच्छेदः, षण्ढं 'कप्परमि त्ति' तात्पर्यम्, तन्निभं तत्सदृशमिति। क्वचित्तु 'वियडकोप्परनिभं' ति दृश्यते, तच्चोपदेशगम्यम्। (सालिमसेल्लसरिसं) व्रीहिकणिशसूकसमाः (से) तस्य केशा बालाः। एतदेव व्यनक्ति-(कविलतेएणं दिप्पमाणा) पिङ्गलदीप्या रोचमानाः (उट्टियाकभल्लसंठाणसंठियं) उष्ट्रिकामृण्मयो महाभाजनविशेषः, तस्याः (कभल्लं) कपालं तत्संस्थानं तद्वत्संस्थितम् (निडालं ति) ललाटम्। पठान्तरे-(महिल्लउट्टियाकभल्लसरिसोवमे) महोष्ट्रिकाकपालसदृशमित्येव समुल्लेखेनोपमा उपमानवाक्यं यत्र तत्तथा। (मुंगुं सपुच्छं व) भुजपरिसर्पविशेषो मुंगुं, सा च 'खडहिल्ल त्ति' संभाव्यते, तत्पुच्छवत्, तस्येपि पिशाचरूपस्य (भूमगाओ त्ति) भ्रुवौ, प्रस्तुतोपमार्थमेव व्यसनक्ति-(फुग्गफुग्गाओ त्ति) परस्परासंबद्धरोमिके, विकीर्णरोमिके इत्यर्थः। पुस्तकान्तरे तु-(जटिलजटिलाउ त्ति) प्रतीतं, (विगयबीभच्छदंसणाओ त्ति) विकृतं बीभत्सं च दर्शनं रूपं ययोस्ते तथा। (सीसघडिविणिग्गयाइं) शीर्षमेव घटी तदाकारत्वात् शीर्षघटिः, तस्या विनिर्गते इव विनिर्गते शिरो घटीमतिक्रम्य व्यवस्थितत्वात्, अक्षिणी लोचने, विकृतबीभत्सदर्शने प्रतीतम्, कर्णौ श्रवणौ यथा सूर्पकर्तरमेव सूर्पखण्डमेव नान्यथाकारौ, टप्पराकाराविव्यर्थः। विकृतेत्यादि तथैव, (उरब्भपुडसन्निभा) उरभ्रः ऊरणस्तस्य पुटं नासापुटं तत्संनिभा तत्सदृशी नासा नासिका। पाठान्तरे-(हुरब्भपुडसंठाणसंठिया) तत्र हुरभो वाद्यविशेषस्तस्याः पुटं पुष्करं तत्संस्थाने संस्थिता, अतिचिपिटत्वेन समत्वादिति (झुसिर त्ति) महारन्ध्रा (जमलचुल्लीसंठाणसंठिया) यमलयोः समस्थितद्वयरूपयोः चुल्लयोर्यत् संस्थानं तत्संस्थिते द्वे अपि तस्य नासापुटे नासिकाविवरे। वाचनान्तरे-(महल्लकुव्वसंठिया दो वि ते कवोला) तत्र क्षीणमांसत्वात् उन्नतास्थित्वाच्च कुचंति निम्नं क्षाममित्यर्थः। तत्संस्थितौ द्वावपि (से) तस्य कपोलौ गण्डौ, तथा (घेडग त्ति) घोटकपुच्छवदश्ववालधिवत्तस्य पिशाचरूपस्य श्मश्रूणि कूर्चकेशाः, तथा कपिलकपिलानि अतिकडाराणि विकृतानीत्यादि। तथैव पाठान्तरेण-(घोडयपुच्छं व तस्स कविलफरुसाओ उट्ठलोमाओ दाढियाओ) तत्र परुषे कर्कशस्पर्शे ऊर्द्ध्वरोमिके, न तिर्यगवनते इत्यर्थः। दंष्ट्रिके उत्तरौष्ठरोमाणि, ओष्ठौ दशनच्छदौ उष्ट्रस्येव लम्बौ प्रलम्बमानौ। पाठान्तरेण-(उट्ठासे घोडगस्स जहा दो वि लंबमाणा) तथा फाला लोहमयकुशास्तत्सदृशाः, दीर्घत्वात्। (से) तस्य, दन्ता दशनाः जिह्वा, यथा सूर्पकर्तरमेव नान्यथाकारो विकृतेत्यादि तदेव। पाठान्तरे-''हिंगुलुयधाउकंदरविलं व तस्स वयणं'' इति दृश्यते। तत्र हिङ्गुलुको वर्णद्रव्यं, तद्रूपो धातुर्यत्र तत्तथाविधं यत्कन्दरविलं गुहालक्षणं रन्ध्रं तदिव तस्य वदनम्। (हलकुद्दाल त्ति) हलस्योपरितने भागः तत्संस्थिते तदाकारे अतिवक्रे दीर्घे (से) तस्य (हणुय त्ति) दंष्ट्राविशेषे (गल्लकडिल्लं च तस्स त्ति) गल्ल एव कपोल एव, कडिल्लं मण्डकादिपचनभाजनं गल्लकडिल्लम्। चः समुच्चये। तस्य पिशाचरूपस्य (खटं त्ति) गर्तरन्ध्राकारं निम्नमध्यभागमित्यर्थः। (फुट्टं ति) विदीर्णमनेनैव साधर्म्येण कडिल्लमित्युपमानं कृतं, 'कविलं ति' वर्णतः 'फरुसं ति' स्पर्शतः 'महल्लं ति' महत्, तथा मृदङ्गाकारेण मर्दलाकृत्योपमा यस्य स मृदङ्गाकारोपमः (से) तस्य, स्कन्धोऽसदेशः (पुरवरे त्ति) पुरवरकपाटोपडः (से) तस्य, वक्ष उरःस्थलं, विस्तार्णत्वादिति। तथा कोष्टिका लोहादि-धातुधमनार्थं मृत्तिकामयी कुशूलिका, तस्या काष्टिका लोहादिधातुधमनार्थं मृत्तिकातयी कुशूलिका, तस्या यत् संस्थानं तेन संस्थितौ तस्य द्वावपि बाहू भुजौ, स्थूलावित्यर्थः। तथा (निसापाहाणे त्ति) मुद्गादिदलननशिला, मम् संस्थितौ पृथुलत्वस्थूलत्वाभ्यां द्वावपि अग्रहस्तौ भूजयोर-

ग्रभूतौ, करावित्यर्थः। तथा (निसालोढो त्ति) शिलापुत्रकः तत्संस्थान-संस्थिता हस्तयोरङ्गुल्यः, स्थूलत्वदीर्घत्वाम्। तथा (सिप्पिपुगं ति) शुक्तिसंपुटस्यैकं दलं, तत्संस्थिताः (तस्स नखत्ति) नखा हस्ताङ्गुलि-संबन्धिनः। वाचनान्तरे तु इदमपरमधीयते--(अडयालगसंठिओ उरो तस्स रोमविलो त्ति) अत्र 'अडयाल त्ति' अट्टालकः प्राकारावयवः संभाव्यते, तत्साधर्म्यं चोरसः क्षामत्वदिनेति। तथा (एहावियए पसेवउत्ति) नापिततत्प्रसेवक इव नखशोधकक्षुरादिभाजनमिव उरसि वक्षसि (लंबंति त्ति) प्रलम्बमानौ तिष्ठतः द्वावपि तस्य स्तनकौ वक्षोजौ, तथा (पोट्ट) जठरम् अयःकोष्ठकवल्लोहकुशूलवत् वृत्तं वर्तुलं, तथा पानं धान्यरससंस्कृतं जलं, येन कुविन्दाश्चीवराणि पाययन्ति, तस्य कलन्दं कुण्डं पानकलन्दं तत्सदृशी गम्भीरतया (से) तस्य नाभिर्जठरस्य मध्यावयवः। वाचनान्तरेऽधीतम्--(भग्गकडीविगयवं कपिट्ठीअ सरिसा दो वि तस्स फिसगा) तत्र भग्नकटिर्विकृवक्रपुष्णिः फिसको पुतौ। तथा-सिक्कक दध्यादिभाजनाधारकं दवरकमयमाकाशेऽवलम्बनं लोके प्रसिद्धं, तत्संस्थानसंस्थितं, (से) तस्य नेत्रं मिथिदण्डाकर्षणरज्जुः, तद्वद्दीर्घतया तन्नेत्रं शेफ उच्यते। तथा (किण्णपुडससंठाणसंठिए त्ति) सुरागोणकरूपतण्डुलकिण्वभृतगोणीपुटद्वयसंस्थानसंस्थितावितिसंभाव्यते, द्वावपि तस्य वृषणौ पोत्रकौ। तथा (जमलकोट्ठिय त्ति) समतया व्यवस्थापितकुशूलिकाद्वयसंस्थानसंस्थितौ द्वावपि तस्य ऊरू जङ्घे। तथा (अज्जुणगुच्छं व त्ति) अर्जुनस्तृणविशेषः, तस्य गुच्छं स्तबकस्तद्वत्तस्य जानुनी अनन्तरोक्तोपमानसाध्यर्म्यं व्यनक्ति। कुटिले अतिवक्रे विकृतबीभत्सदर्शने तथा, जङ्घे जान्वोरधोवर्तिन्यौ (करकडीओ त्ति) कठिने, निर्मांसे इत्यर्थः। तथा रोमभिरुपचिते। तथा-अधरी पेषणशिला, तत्संस्थानसंस्थितौ द्वावपि तस्या पादौ। तथा-अधरीलोष्टः शिलापुत्रकथतसंस्थानसंस्थिताः पादयोरङ्गुल्यः, शुक्तिपुट संस्थिताः (से तस्य पादाङ्गुलिनखाः। आकेशाग्रानखाग्रं यावद्वर्णित पिशाचरुपम्। अधुना सामान्येन तद्वर्णनायाह--(लडहमडहजाणुए त्ति) इह प्रस्तावे लडहशब्देन गन्त्र्याः पश्चाद्भागवर्ति तदुत्तङ्गरक्षणार्थं यत्काष्ठं तदुच्यते, तच्च गन्त्र्याः श्लथबन्धनं भवति। एवं च श्लथश्बन्धनत्वा-ल्लडह इव लडहे मडाहे च स्थूलत्वाल्पदीर्घत्वाभ्यां जानुनी यस्य तत्तथा। विकृते विकारवत्यौ भुग्ने विसंस्थुलतया भुग्ने वक्रे भ्रुवौ यस्य पिशाचरूपस्य तत्तथा। इहान्यदपि विशेषणचतुष्टयं वाचनान्तरे तु अधीयते-(मसिमूसगमहिसकालए) मषीमूषिकामहिषव-त्कालकं (भरियमेहवन्ने) जलभृतमेघवर्णं, कालमेवेत्यर्थः (लंबोट्ठे निग्गयदंते(प्रतीतं, तत्तथा अवदारितं विवृतीकृतं वदनलक्षणं विवरं येन तत्तथा। तथा-निर्लालिता निष्कासिता अग्रजिह्वा जिह्वाया अग्रभागे येन तत्तथा। ततः कर्मधारयः। तथा शरटैः कृकलासैः कृतमालिस्रग्मुण्डे वक्षलि वा येन तत्तथा। उन्दुरमालया मूषकस्रजा परिणद्धं परिगतं सुकृतं सुष्ठुरचितं चिह्नं स्वकीयलाञ्छनं येन तत्तथा। तथा नकुलाभ्यां बभ्रुभ्यां कृते कर्णपूरे आभरणविशेषौ येन तत्तथा। सर्पाभ्यां कृतं वैकक्षमुत्तरासङ्गो येन तथा। पाठान्तरे-(मूसगकयभुंभुलए विच्छुयच्छे सप्पकयजुन्नोवइए) तत्र 'भुंभुलए त्ति' शेखरः (विच्छुय त्ति) वृश्चिकाः यज्ञोपवीतं ब्राह्मणकण्ठ-सूत्रम्। तथा (अभिन्नमुहनयणनखवरवग्घचित्तकित्तिनियंसणे) अभिन्नाः अविशीर्णा। मुखनयननखा यस्यां सा तथा, सा च सैरवव्याघ्रस्य चित्रा कर्बुरा, कृत्तिश्चर्मेति कर्मधारयः। सा निवसनं परिधानं यस्य तत्तथा। (सरससरुहिरमंसावलित्ततगत्ते) सरसाभ्यां रुधिरमांसाभ्यामलिप्तं गात्रं यस्य तत्तथा। आस्फोटयन् करास्फोटं कुर्वन्नभिगर्जन् घनध्वनिं मुञ्चन् भीमो मुक्तः कृतोऽट्टहासो हासविशेषो येन तत्तथा। नानाविधप-श्चवर्णै रोमभिरुपचितमेकं महन्नीलोत्पलगवलगुलिकाऽतसीकुसुम-प्रकाशमसिं क्षुरधारं गृहीत्वा यत्र पौषधशालायां यत्र कामदेवश्रमणोपास-कस्तत्रोपागच्छति स्मेति। इह गवलं महिषश्रृङ्गं, गुलिका नीली, अतसी धान्यविशेषः, असिं खड्गं, क्षुरस्येव धारा यस्यातिच्छेदकत्वादसौ क्षुरधारः। (आसुरुत्ते रुट्ठे कविए चंडिक्किए मिसिमिसीयमाणे त्ति) एकार्थाः शब्दाः कोपातिशयप्रदर्शनार्थाः।

हंभो ! कामदेवा समणोवासया अप्पत्थियपत्थिया दुरंतपंत-लक्खणा हीणपुण्णचाउद्दसिया ! सिरिहिरिधितिकित्ति ४ जाव पडिवज्जिया धम्मकामया पुण्णसग्गमोक्खधम्मकंखिया ४ धम्मपिवासिया ४ णो खलु कप्पइ तव देवा० सीलाइं वयाइं वेरमणाइं पच्चक्खाणाइं पोसहो वासाइं चालंतए वा खोभंतस्स वा खंडित्तए वा भंजित्तए वा उज्झित्तए वा परिचइत्तए वा तं जइ णं तुमं अज्ज सीलव्वयाइं० जाव पोसहोववासाइं ण छंडसि ण भंजेसि तो अहं अज्ज इमेणं णीलुप्पलेण० जाव असिणा खंडाखंडं करेमि जहा णं तुमं अट्टदुहट्टवसट्टे अकाले चेव जीवयाओ ववरोविज्जसि।

(अप्पत्थियपत्थिया) अप्रार्थितप्रार्थिकः, दुरन्तानि दुष्टपर्यवसानानि, प्रान्त्यान्यसुन्दाराणि लक्षणाणि यस्य स तथा। हीणपुण्णचाउद्दसि त्ति) हीना असंपूर्णा पुण्या चतुर्दशी तिथिर्जन्मकाले यस्य स हीनपुण्य-चतुर्दशीकः तदामन्त्रणम्। श्रीह्रीधृतिकीर्तिवर्जितेति व्यक्तम्। तथा धर्मं च श्रुत चारित्रलक्षणं कामयतेऽभिलषति यः स धर्ककामः, तस्यामन्त्रणं हे धर्मकाम !, या एवं सर्वपदानि नवरं पुण्यशुभप्रकृतिरूपं कर्म स्वर्गः, तत्फलं मोक्षो धर्मफलं काङ्क्षा। अभिलाषातिरेकाः, पिपासा काङ्क्षातिरेकाः, एवमेतैः पदैरुत्तरोत्तराभिलाषप्रकर्ष एवोक्तः। (णो खलु इत्यादि) न खलु नैव कल्पन्ते शीलादीनि चलयितुमिति, मेयितुं देशतो भङ्क्तुं सर्वतः केवलं यदि त्वं तान्यद्य न चलयसि ततोऽहं त्वां खण्डाखण्डं करोमीति वाक्यार्थः। तत्र शीलान्यणुव्रतानि, व्रतानि दिग्व्रतादीनि विरमणानि, रागादिविरतयः प्रत्याख्यानानि, नमस्कारसहितादीनि पौषधोपवासानाहारादिभेदेन चतुर्विधान्। (चालित्तिए) भङ्गकान्तर-करणतः क्षोभयितुमेतत्पालनविषक्षोभं कर्तुं, खण्डयितुं देशतो भङ्क्तुं, सर्वत उज्झितुं सर्वस्य देशविरतेस्त्यागतः परित्यक्तुं, सम्यक् तस्यापि त्यागादिति। (अट्टदुहट्टवसट्टे ति) आर्त्तस्य ध्यानवि--शेषस्य यो (दुहट्ट त्ति) दुर्घटो दुस्थगो दूर्निरोधो वशः पारतन्त्र्यं, तेन ऋतः पीडित आर्त्तदुर्घटवशार्त्तः। अथवा-आर्त्तेन दुखार्त्त आर्तदुःखार्तः, तथा-वशेन च विषयपारतन्त्र्येण ऋतः परिगतो वशार्त्तः। कर्मधारय इति।

तए णं से कामदेवे समणोवासए तेणं दिव्वेणं पिसायरूवेणं वुत्ते समाणे अभीए अत्थे अणुविग्गे अणुक्खुभिए अचलिए असंभंते तुसणीए चिट्ठइ, धम्म-

ज्झाणेवगए विहरइ, तएणं से दिव्वे पिसायरूवे कामदेवं समणोवासयं अभीयं अतत्थं जाव धम्मज्झाणोचगयं विहरमाणं पासइ, पासइत्ता दोच्चं पि तच्चं कामदेवं एवं वयासी–हं भो कामदेवा समणोवासया अपत्थियपत्थिया ! जइ णं तुमं अज्ज जाव ववरोविज्जसि तए णं से कामदेवे समणोवासए तेणं दिव्वेणं दोच्चं पि तच्चं पि० एवं वुत्ते समाणे अभीए जाव धम्मज्झाणोवगए विहरइ, तए णं से देवे पिसायरूवे कामदेवं समणोवासयं अभीयं जाव विहरमाणं पासइ, पासइत्ता आसुरत्ते ४ तिवलियं भिएडिं णिडाले साहट्टु कामदेवं समणोवासयं नीलुप्पल० जाव असिणा खंडाखंडं करेइ। तए णं से कामदेवे समणोवासए तं उज्जलं० जाव दुरहिया संवेयणं सम्मं सहइ जाव अहिवासेइ। तए णं से दिव्वे पिसायरूवे कामदेवं समणोवासयं अभीयं जाव विरहमाणं पासइ, पासइत्ता जाव नो संवादेइ कामदेवं समणोवासयं निग्गंथाओ पावयणाओ चालित्तए वा खोभित्तए वा विपरिणामित्तए वा ताहे संते परितंते सणियं २ पच्चोसक्कइ, पच्चोसक्कइत्ता पोसहसालाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमइत्ता दिव्वं पिसायरूवं विप्पजहइ, दिव्वं एगं महं हत्थिरूवं विउव्वइ, सत्तंगपइट्ठियं सम्मं संठियं सुजायं पुरओ दग्गंपिट्ठतो वराहं अयाकुच्छिं पलंबकुच्छिं पलंबलंबोदराधरकरं अभुग्गतमउल-मल्लियाविमलधवलदंतं कंचणकोसीपविट्ठदंतं आणामियचाव-ललितसंवेल्लित अग्गसोंडं कुम्मपडिपुन्नचलणं वीसइनखं अल्लीणपमाणजुत्तपुच्छं मुत्तमेहमिव गुलुगुलेतं मणपवणज-णियवेगं दिव्वं हत्थिरूवं विउव्वइ, जेणेव पोसहसाला जेणेव कामदेवे समणोवासए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता कामदेवं एवं वयासीहं भो कामदेवा ! तहेव भणइ० जाव ण भंजेसि तो ते अज्ज अहं सोंडाए गेण्हामि, गेण्हामित्ता पोसहसालाओ णीणेमि, णीणेमित्ता उड्ढं वेहासं उव्विहामि, उव्विहामित्ता तिक्खेहिं दंतमुसलेहिं पडिच्छामि अहेधरणतलंसि तिक्खुत्तो पाएसु लोलेमि जया णं तुमं अट्टदुहट्टवसट्टे अकाले चेव जीवियाओ विवरोविज्जसि ॥

अभीते इत्यादीन्येकार्थान्यतिभयप्रकर्षप्रदर्शनार्थानि। (तिवलियं ति) त्रिवलिकां भ्रकुटीं दृष्टिं रचनाविशेषं ललाटे संहृत्य विधायेति चालयितुमन्यथाकर्तुम्। चलनं च द्विधासंशयद्वारेण, विपर्ययद्वारेण च। तत्र क्षोभयितुमिति संशयतो, विपरिणामयितुमिति च, विपर्ययतः श्रान्तादयः समानार्थाः। (सत्तंगपइट्ठियं ति) सप्ताङ्गानिचत्वारः पादाः, करः, पुच्छं, शिस्नं चेति एतानि प्रतिष्ठितानि भूमौ लग्नानि यस्य तत्तथा। समं मांसोपचयात् संस्थितं गजलक्षणोपेत सकलाङ्गोपाङ्गत्वात् सुजातमिव सुजातं पूर्णदिनजातं पुरतोऽग्रत उदग्रमुच्चम्, समुच्छ्रितशिर इत्यर्थः। पृष्ठतः पृष्ठदेशे वराहः शूकरः स इव वराहः, प्राकृतत्वान्नपुंस-कलिङ्गता। अजाया इव कुक्षी यस्य तदजाकुक्षि, प्रलम्बकुक्षी प्रलम्बत्वेन, प्रलम्बो दीर्घो लम्बोदरस्येव गणपतेरिवाधरोष्ठः करश्च हस्तो यस्य तत्प्रलम्बोदराधरकरम्। अभ्युद्गतमुकुला आयातकुड्मला या मल्लिका विचकिलः तस्या यो मुकुलस्तद्वत् विमलौ धवलौ दन्तौ यस्य। अथ वा प्राकृतत्वान्मल्लिकामुकुलवदभ्युद्गतावुन्नतौ विमलधवलदन्तौ यस्य तदभ्युद्गतमुकुलमल्लिकाविमलधवलदन्तं, काञ्चनकोशीप्रतिष्ट-दन्तं, कोशीति प्रतिमा, आनामितमीष-न्नामितं यच्चाप धनुस्तद्वद्या ललिता च विलासवती सम्वेल्लिता च वेल्लन्ती संकोचिता वा अग्रशुण्डा शुण्डाग्रं यस्य तत्तथा। कूर्मवत् कूर्माकाराः प्रतिपूर्णाश्चरणा यस्य तत्तथा। विंशतिनखमालीनप्रमाणयुक्तपुच्छमिति कण्ठ्यम्।

तं से कामदेवे समणोवासए तेणं दिव्वेणं हत्थिरूवेणं एवं वुत्ते समाणे अभीए जाव विहरइ। तए णं से दिव्वे हत्थिरूवे कामदेवं समणोवासयं अभीयं जाव विहरमाणं पासइ, पासइत्ता दोच्चं पि वच्चं पि कामदेवं एवं वयासीहं भो कामदेवा ! णे विहरइ। तंसि दिव्वे हत्थिरूवे कामदेवं समणोवासयं अभीयं विहरमाणं पासइ, पासइत्ता आसुरत्ते ४ कामदेवं समणोवासयं सोंडाए गिण्हेइ, गिण्हेइत्ता उड्ढं विहासं उव्विहइ, उव्विहइत्ता तिक्खेहिं दंतमुसलेहिं पडिच्छइ, पडिच्छइत्ता अहे धरणितलंसि तिक्खुत्तो पाएसु लोलेइ। तए णं से कामदेवं तं उज्जलं जाव अहियासेइ तए णं से दिव्वे हत्थिरूवे कामदेवं जाव नो संचाएइ जाव सणियं २ पच्चोसक्कइ, पच्चोसक्कइत्ता पोसहसालाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमइत्ता दिव्वं हत्थिरूवं विप्पजहइ, विप्पजहइत्ता एगं महं दिव्वं सप्परूवं विउव्वइ उग्गविसं दिट्ठीविसं महाकायं मसीमूसाकालगं नयणबिसरोसपुण्णं अंजणपुंजनि-गरप्पगासं रत्तच्छं लोहियलोयणं जमलजुयलचंचलजीहं धरणियलवेणिभूअं उक्कडफुडकुडिलजटिलकक्कसविअडफु-डाडोवकरणदक्खं लोहागरधम्ममाणधमधम्मिंतघोसं अणागलि अतिव्वपचंडरोसं सप्परूवं विउव्वित्ता जेणेव पोसहसाला जेणेव कामदेवे समणोवासए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता कामदेवं समणोवासयं एवं वसासीहं भो कामदेवा ! जाव ण भंजेसि तओ अज्जेव अहं सरससरस्स कायं दुरुहामि, दुरुहामित्ता पच्छिमेणं भाएणं तिक्खुत्तो गीवं वेढेति, वेढेमित्ता तिक्खाहिं विसपरि-गयाहिं दाढाहिं उरसि चेव निकुट्टेमि, जहा णं तुमं अट्टदुहट्ट-अकाले चेव जीवियाओ ववरोविज्जसि ! तए णं से कामदेवे समणोवासए तेणं दिव्वेणं सप्परूवेणं एवं वुत्ते समाणे अभीए जाव विहरइ। सो वि दोच्चं पि तच्चं पि भणइ, कामदेवो जाव विहरइ। तए णं दिव्वे सप्परूवे कामदेवं समणोवासयं अभीयं जाव

पासइ, पासइत्ता आसुरत्ते कामदेवस्स सरस्स कायं दुरू हइ, दूरूहइत्ता पच्छिमभाएणं तिक्खुत्तो गीवं वेढेइ, वेढेइत्ता तिक्खाहिं विसपरिगयाहिं दाढाहिं उरसि चेव निकुट्टेइ। तए णं कामदेव तं उज्जलो जाव आहियासेइ। तए णं से दिव्वे सप्परूवे कामदेवं अभीयं पासइ, पासइत्ता जाहे नो संचालेति कामदेवं समणोवासयं निग्गंथाओ पवयणाओ चालित्तए वा खोभित्तए वा विप्परित्तए वा ताहे संते ३ सणियं २ पच्चोसक्कइत्ता पोसहसालाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमइत्ता दिव्वं सप्परूवं विप्पजहइ, विप्पजहइत्ता एगं महं दिव्वं देवरूवं विउव्वइ। हारविराइयवत्थं० जाव दसदिसाओ उज्जोवेमाणं पभासेमाणं पासइ, दिव्वं देवरूवं विउव्वइ, विउव्वइत्ता कामदेवस्स पोसहसालं अणुपविसइ, अणुपविसइत्ता अंतरिक्खपडिवण्णे सखिंखिणियाइं पंचवन्नाइं वत्थाइं परिहिए कामदेवं समणोवासयं एवं वयासी–हं भो कामदेवा समणोवासया ! धण्णेसि णं तुमं देवा० संपुण्णे कयट्ठे कयलक्खणे सुलद्धेणं तव दे० माणुस्स-जम्मजीवियफले जस्स णं दे० तव निग्गंथाओ पावय-णाओ मेरु व्व पडिवत्ती लद्धा पत्ता अभिसमण्णागया॥

'उग्गविसं' इत्यादीनि सर्परूपविशेषणानि क्वचिद्यावच्छब्दोपात्तानि क्वचित्साक्षादुक्तानि दृश्यन्ते। तत्रोग्रविषं दुरधिसह्यं विषं, चण्डविषमल्पकालेनैव दष्टशरीरव्यापकविषत्वाद्, घोरविषं मारकत्वाद्, महाकायं महाशरीरं, मषीमूषाकासकं, नयनविषेण दृष्टिविशेण रोषेण च पूर्णं नयनविषरोषपूर्णम्। अञ्जनपुञ्जानां कज्जलोत्कराणां यो निकरः समूहस्तद्वत्प्रकाशो यस्य तदञ्जनपुञ्जनिकरप्रकाशं, रक्ताक्षं लोहितलोचनं, यमलयोः समस्थयोर्युगलं द्वयं चञ्चलन्त्योरत्यर्थं चपलयोर्जिह्वयोर्यस्य तद् यमलयुगलचञ्चलजिह्वं, धरणीतलस्य वेणीव केशबन्धविशेष इव कृष्णत्वदीर्घत्वाभ्यामिति धरणीतलवेणिभूतम्, उत्कटमनभिभवनीयत्वात् स्फुटो व्यक्तो भासुरतया दृश्यत्वात् कुटिलो वक्रत्वात् जटिलः केशसटायोगात् कर्कशो निष्ठुरो नम्रताया अभावाद् विकटो विस्तीर्णो यः स्फुटाटोपः फणाडम्बरं तत्करणे दक्षः उत्कटस्फुटकुटिलजटिलकर्कशविकटस्फुटाटोपकरणदक्षम्। तथा–(लोहागरधम्मधमाणधमधमंतघोसं) लोहारकस्येव ध्मायमानस्य भस्त्रावातेनोद्दीप्यमानस्य धमधमायमानस्य धमधमेत्येवं शब्दायमानस्य घोषः शब्दो यस्य तत्तथा। इह च विशेषणस्य पूर्वनिपातः प्राकृतत्वादिति। (अणागलियतिव्वपचंडरोसं) अनाकलितोऽपरिमितोऽनर्गलितो वा निरोद्धुमशक्यस्तीव्रः प्रचण्डोऽतिप्रकृष्टो रोषो यस्य तत्तथा। (सरसरस्स त्ति) लौकिकानुकरणभाषा। (पच्छिमेणं भाएणं ति) पुच्छेनेत्यर्थः। (निकुट्टेमि त्ति) निकुट्टयामि प्रहणिष्यामि। (उज्जलंति) उज्ज्वलां विपक्षलेशेनाप्यकलङ्कितां विपुलं शरीरव्यापकत्वात् कर्कशां कर्कशद्रव्यमिवानिष्टां प्रगाढां प्रकर्षवतीं चण्डां रौद्रां (दुक्खं) दुःखरूपां, न सुखामित्यर्थः। किमुक्तं भवति?–(दुरहियासं ति) दुरधिसह्यमिति। ''हारविराइयवत्थमित्यदौ'' यावत्करणादिदं दृश्यम्–''कडगतुडियथंभियभुयं'' अंगदकुंडलघट्ठगंडतलकन्नपीठधारिविचित्तहत्थाभरणं विचित्तमालामउलिकल्लाणगपवरमल्लाणुलेवणधरं भासुरबोंदीकपलंवणमालाधरं दिव्वेणं वन्नेणं दिव्वेणं गंधेणं दिव्वेणं फासेणं दिव्वेणं संघयणेण दिव्वेणं संठाणेणं दिव्वाए इड्ढीए दिव्वाए जुईए दिव्वाए पहाए दिव्वाए छायाए दिव्वाए अच्चीए दिव्वेणं तेएणं दिव्वाए लेसाए त्ति'' कण्ठ्यम् नवरं कटकानि कङ्कणविशेषास्त्रुटितानि बाहुरक्षकास्ताभिरिति–बहुत्वात् स्तम्भितौ स्तब्धीकृतौ भुजौ यस्य तत्तथा। अङ्गदे च केयूरे, कुण्डले च प्रतीतौ, घृष्टगण्डतले घृष्टगण्डोपकर्णपीठाभिधाने कर्णाभरणे च, धारयति यत्र तत्तथा। तत्र विचित्रमालाप्रधानो मौलिर्मुकुटं मस्तकं वा यस्य तत्तथा। कल्याणकमनुपहतं प्रवरं वस्त्रं परिहितं येन तत्तथा। कल्याणकानि प्रवराणि माल्यानि कुसुमानि अनुलेपनानि च धारयति यत्तत्तथा। 'भास्वरबोंदीकं' दीप्तशरीरं, प्रलम्बा या वनमाला आभरणविशेषस्तां धारयति यत्तत्तथा। दिव्येन वर्णेन युक्तमिति गम्यते। एवं सर्वत्र, नवरम् ऋद्ध्या विमानवस्त्रभूषणादिकया, युक्त्या इष्टपरिवारादियोगेन, प्रभया प्रभावेन, छायया प्रतिबिम्बेनार्चिषा दीप्तिज्वालया, तेजसा कान्त्या, लेश्यया आत्मपरिणामेनोद्योतयन् प्रकाशयन् शोभयन्निति प्रासादीयं चित्ताह्लादकं दर्शनीयं यत्पश्यच्चक्षुर्न श्राम्यति, अभिरूपं मनोज्ञं, प्रतिरूपं द्रष्टारं २ प्रति रूपं यस्य विकुर्व्य वैक्रियं कृत्वा अन्तरिक्षं प्रतिपन्नः आकाशे स्थितः सकिङ्किणीकानि क्षुद्रघण्टिकोपेतानि।

एवं खलु देवा० सक्के देविंदे देवराया सयक्कऊ सहस्सक्खे जाव सक्कंसि सीहासणंसि चउरासीतिए सामाणियसाहस्सीणं देवा जाव अण्णेसिं च बहूणं देवाण य देवीण य मज्झगए एवमाइक्खइ ४; एवं खलु देवा० जंबूद्दीवे २ भारहे वासे चंपाए णयरीए कामदेवे समणोवासए पोसहसालाए पोसहिए बंभचारी जाव दब्भसंथारोवगए समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं धम्मपण्णत्तिं उवसं० विहरइ। नो खलु से सक्का केणइ देवेण वा दाणवेण वा गंधव्वेण वा जाव निग्गंथाओ पावयणाओ चालित्तए वा खोभित्तए वा विप्परित्तए वा तए णं अहं सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो एयमट्ठं असद्दहमाणे ३ इहं हव्वमागओ तं अहो देवा० इड्ढी ६ लद्धा ३ तं दिट्ठा णं देवा इडी जाव अभिसमण्णागया तं खामेमि णं देवाणु० खमं तुमं रुहंति णं दे० णाइभुज्जो करणयाए त्ति कट्टु पायवडिए पंजलिउडे एयमट्ठं भुज्जो २ खामेइ, खामेइत्ता जामेव दिसं पाउब्भूए तामेव दिसं पडिगए, तए णं से कामदेवे समणोवासए निरुवसग्गमिति कट्टु पडिमं पारइ।

'सक्के देविंदे इत्यादौ' यावत्करणादिदं दृश्यम्–''वज्रपाणी पुरन्दरे सयक्कऊ सहस्सक्खे मघवं पागसासणे दाहिणड्ढलोगाहिवई बत्तीसविमाणसयसहस्साहिवई एरावणवाहणे सुरिंदे अयरंवरवत्थधरे आलइयमालमउडे णवहेमचा-

रुचित्तचञ्चलकुंडलविलिहिज्जमाणगंडे भासूरबोंदीपलंबवणमालधरं सोहम्मे कप्पे सोहम्मवडिंसए विमाणे सभाए सोहंमाए त्ति''। शक्रादिशब्दानां च व्युपत्त्यर्थभेदेन भिन्नार्थता द्रष्टव्या। तथाहि–शक्तियोगाच्छक्रः, देवानां परमेश्वरत्वाद् देवेन्द्रः, देवानां मध्ये राजमानत्वाच्छोभमानत्वाद्देवराजः, वज्रपाणिः कुलिशकरः, पुरोऽसुरादिनगरविशेषस्तस्य दारणात् पुरन्दरः, तथा शतक्रतुशब्देनेह प्रतिमा विवक्षिताः, ततः कार्तिकश्रेष्ठित्वे शतं क्रतूनामभिग्रहविशेषाणां यस्यासौ शतक्रतुरिति चूर्णिकारव्याख्या। तथा–पञ्चानां मन्त्रिशतानां सहस्रमक्ष्णां भवतीति तद्योगादसौ सहस्राक्षः, तथा–मघशब्देनेह मेघ विवक्षितास्ते यस्य वशवर्तिनः सन्ति स मघवान् तथा–पाको नाम बलवांस्तस्य रिपुस्तच्छाशनात्पाकशासनः, लोकस्यार्द्धमर्द्धलोको दक्षिणो योऽर्द्धलोकस्तस्य योऽधिपतिः स तथा। 'एरावणो' ऐरावणो हस्ती स वाहनं यस्य स तथा, सुष्ठु, राजन्ते एते सुरास्तेषामिन्द्रः प्रभुः सुरेन्द्रः, सुरीणां देवीनां वा इन्द्रः सुरेन्द्रः, पूर्वत्र देवेन्द्रत्वेन प्रतिपादित्वात्। अन्यथा वा पुनरुक्तपरिहारः कार्यः। अरजांसि निर्मलानि अम्बरमाकांशं तद्वदच्छत्वेन यानि तान्यम्बराणि तानि वस्त्राणि धारयति यः स तथा, आलिङ्गित–मालमारोपितस्रग् मुकुटो यस्य स तथा, नवे इव नवहेम्नः सुवर्णस्य सम्बन्धिनी चारुणी शोभने चित्रे चित्रवती चञ्चले ये कुण्डले ताभ्यां विलिख्यमानौ गण्डौ यस्य स तथा। शेषं प्रागिवेति। (सामाणियसाहस्सीणं) इह यावत्करणादिदं दृश्यम्–''तायत्तीसाए तायत्तीसगाणं चतुण्हं लोगपालं अट्ठण्हं अग्गमहिसीणं सपरिवाराणं तिण्हं परिसाणं सतण्हं अणियाणं सतण्हं अणियाहिवईणं चउण्हं चउरासीणं आयरक्खदेवसाहस्सीएणं''। तत्र त्रयस्त्रिंशाः पूज्याः महत्तरकल्पा लोकपालाः पूर्वादिदिगधिपतयः सोमयमवरुणवैश्रमणाख्याः अग्रमहिष्यः प्रधानभार्याः, तत्परिवारः प्रत्येकं पञ्च सहस्राणि, सर्वमीलने चत्वारिंशत्सहस्राणि, तिस्रः परिषदोऽभ्यन्तरा मध्यमा बाह्या च सप्तानीकानि पदातिगजाश्वरथवृषभभेदात् पञ्च संग्रामिकाणि गन्धर्वानीकं नाट्यानीकं चेति सप्तानीकाधिपतयश्च सप्तैवं प्रधानपतिः प्रधानो गजः, एवमन्येऽपि आत्मरक्षार्थमङ्गरक्षकास्तेषां चतस्रः सहस्राणां चतुरशीत्य आख्याति सामान्यते भाषते विशेषतः एतदेव प्रज्ञापयति प्ररूपयतीति पदद्वयेन क्रमेणोच्यत इति। देवेण वेत्यादौ यावत्करणादेवं द्रष्टव्यम् ''जक्खेण वा रक्खसेण वा किन्नरेण वा किंपुरिसेण वा महोरगेण वा गन्धव्वेण वा'' इति 'इड्ढीए' इत्यादि यावत्करणादिदं दृश्यम्–''जुइ जसो वलं वीरियं पुरिसक्कारपरक्कमे त्ति नायं भुज्जो करणया तेनैव,'आयं ति' निपातो वाक्यालङ्कारे, अवधारणे वा। भूयः करणतायां पुनराचरणे, न प्रवर्त्तयिष्यते इति गम्यते।

तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे सकोसरिए समणे जाव विहरइ, तए णं से कामदेवे समणोवासए इमी से कहाए लद्धट्ठे समाणे एवं खलु समणे जाव विहरइ। तं सेयं खलु ममं समणं भगवं महावीरं वंदित्ता णमंसित्ता तओ पडिणियत्तस्स पोसहं पारित्तए त्ति कट्टु एवं संपेहेइ, संपेहेइत्ता सुद्धप्पा वेसाइं वत्थाइं अप्पड० मणुस्स वग्गुरापरिक्खित्ते सयाओ गिहाओ पडिणिक्खमइ, पडिनिक्खमइत्ता चंपं नगरिं मज्झं मज्झेणं णिग्गच्छइ, निग्गच्छइत्ता जेणेव पुण्णभद्दे चेइए जहा संखे जाव पज्जुवासइ, तए णं समणे भगवं महावीरे कामदेवस्स तीसे य जाव धम्मकहा सम्मत्ता कामदेवेइ समणे भगवं महावीरे कामदेवं एवं वयासीसे णूणं कामदेवा ! तुमं पुव्वरत्ताव- रत्तकालसमयंसि एगे देवे अंतियं पाउब्भूए तए णं से देवे एगं महं पिसायरूवं विउव्वइ, विउव्वइत्ता आसुरत्ते ४ एगं महं नीलुप्पलअसिं गहाय तुमं एवं वयासीहं भो कामदेवा ! जाव जीवाओ ववरोविज्जामि तं तुमं तेणं देवेणं एवंवुत्ते समाणे अभीए जाव विहरसि, एवं वण्णगरहिया तिण्णि वि उवसग्गा तहेव पडिउच्चारयेव्वा जाव देवो पडिगया से णूणं कामदेवा अट्ठे समट्ठे हंता ! अत्थि।

(जहा संखे त्ति)यथा सङ्खः श्रावको भगवत्यामभिहितस्तथाऽयमपि वक्तव्यः, अयमभिप्रायः– अन्ये पञ्चविधमभिगमं सचित्तद्रव्यव्युत्सर्गादिकं समवसरणप्रवेशे विदधति, शङ्खः पुनः पौषधकत्वेन सचेतनादिद्रव्याणामभावात्तन्न कृतवानयमपि पोषधिक इति शङ्खे नोपमितः। यावत्करणादिदं द्रष्टव्यम्–''जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयहिणं पयाहिणं करेइ, करेइत्ता वंदइ णमंसइ, णमंसइत्ता णच्चासण्णे णाइदूरे सुस्सूसमाणे अभिमुहे पंजलिउडे पज्जुवासइ त्ति, तए णं समणे भगवं महावीरे कामदेवस्स समणोवासयस्स तीसे य महइ महालीयाए परिसाए''। इति आरभ्य औपपातिकाधीतं सूत्रं तावद्वक्तव्यं यावत् धर्मकथा समाप्ता परिषत् प्रतिगता। तच्चैवं सकलशेषमुपदर्श्यते–''तए णं समणे भगवं महावीरे कामदेवस्स समणोवासयस्स तीसे य महइ महालीयाए'' तस्याश्च (महान्ती) महत्या इत्यर्थ अति। (परिसाए जइए परिसाए) तत्र पश्यन्तीति ऋषयोऽवध्यादिज्ञानवन्तः, मुनयो वाचंयमाः, यतयो धर्मक्रियासु प्रयतमानाः, ''अणेगसयाते अणेसयवंदपरिवारातो'' अनेकशतप्रमाणानि यानि बृन्दानि परिवारो यस्यास्तथा, तस्या धर्मं परिकथयतीति सम्बन्धः। किंभूतो भगवन् ?(ओहबले) ओघबले, यावत्करणादव्यवच्छिन्नबलः अतिबलोऽतिक्रान्ताशेषपुरुषामरतिर्यग्बलः, महाबलोऽप्रमितबलः। एतदेव प्रपञ्च्यते–''अपरिमियबलवीरियं'' अपरिमितानि यानि बलादीनि तैर्यक्तो यः स तथा। बलं शारीरं प्राणः वीर्यं जीवप्रभवः। ''तेयमाहप्पकंतिजुत्ते'' तेजो दीप्तिर्माहात्म्यं महानुभावता, कान्तिः काम्यता, ''सारयनवघणणिनायमहुरनिग्घोसदुंदुभिसरे'' शरत्कालप्रभवाभिनवमेघशब्दवत् मधुरो निर्घोषो यस्य दुन्दुभेरिव स्वरो यस्य स तथा।(उरोवित्थडाए) गलविवरस्य वर्तुलत्वात्।(सिरे संकिन्नाए(मूर्द्धनि संकीर्णतायामस्य मूर्द्धस्खलितत्वात्, सरस्वत्येति सम्बन्धः। ''कंटपीवट्ठीयाए अगरभाते'' व्यक्तवर्णघोसेत्यर्थः। (अम्ममणाए) अनवरवश्चमानयेत्यर्थः। ''सव्वक्खरसन्निवायाए'' सर्वाक्षरसंयोगवत्या पुनरुक्त्या ते परिपूर्णमधुरया (सव्वभासाणुगमिणीए सरस्सईए भणित्या जोयणनीहारिणा सरेणं) योजनातिक्रामिणा शब्देन ''अद्धमागहीए भासाए भासइ अरहा धम्मं परिकहेइ'' अर्द्धमागधी-

भाषा यस्याम्, **''रसोर्लशौ''** ॥८।४।२८८॥ मागध्यामित्यादिकं मागधीभाषालक्षणं परिपूर्णं नास्ति भाषते सामान्येन भणनमिति। किंविधो भगवान्? अर्हन् पूजितो पूजोचितः अरहस्यो वा सर्वज्ञत्वात्, कं?, धर्मं श्रद्धेयज्ञेयानुष्ठेयवस्तुश्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपं, तथा– परिकथयति अशेषविशेषकथननेनेति। तथा ''तेसिं सव्वेसिं आयरियमणायरियाणं अगिलाए धम्ममाइक्खइ'' न केवलं ऋषिपर्षदादीनां ये वन्दनाद्यर्थमागतास्तेषां च सर्वेषामार्याणामार्यदेशोत्पन्नानामनार्याणां म्लेच्छानामग्लान्यां अखेदेनेति। ''सा वि य णं अद्धमागही भासा, तेसिं आयरियमणारियाणं अप्पणे भासाए परिणामेणं परिणमइ'' स्वभाषापरिणामेनेत्यर्थः। धर्मकथामेव दर्शयति–''अत्थि लोए अत्थि अलोए जावा अजीवा बंधे मोक्खे पुण्णे पावे आसवे संवरे निज्जरे'' एतेषामस्तित्वदर्शनेन शून्यज्ञाननिरात्माद्वैतैकान्तक्षणिकनित्यवादिनास्तिकादिकुदर्शननिराकरणात्परिणामवस्तुप्रतिपादनेन सकलैहिकामुष्मिकक्रियाणामनवद्यत्वमावेदितम्। तथा ''अत्थि अरिहंता चक्कवट्टी बलदेवा वासुदेवा नेरइया तिरिक्खजोणिया तिरिक्खजोणिणीउ मायापिया रिसउ देवा देवलोया सिद्धी सिद्धा परिनिव्वाणे परिनिव्वुया'' सिद्धा कृतकृत्यता, परिनिर्वाणं सकलकर्मकृतविकारविरहादतिस्वास्थ्यम्, एवं सिद्धपरिनिर्वृतानामपि विशेषोऽवसेयः। तथा ''अत्थि पाणाइवाए मुसावाए अदिन्नादाणे मेहुणे परिग्गहे अत्थि कोहे माणे मायालोभे पिज्जे दोसे कलहे अब्भक्खाणे अरई रई पेसुन्ने परपरिवाए मायामोसे मिच्छादंसणसल्ले अत्थिपाणाइवाइवेरमणे कोहविवेगे जाव मिच्छादंसणसल्लविवेगे किं बहुणा सव्वं अत्थि भावं अत्थ त्ति वयइ सव्वं नत्थ भावं नत्थि त्ति वयइ सुचिन्ना कम्मा सुचिन्नफला भवंति'' सुचरिता क्रिया दानादिकाः सुचीर्णफलाः, पुण्यफला भवन्तीत्यर्थः। ''दुच्चिन्ना कम्मा दुच्चिन्नफलाभवन्ति फुसइ पुण्ण पावे)'' बध्नात्यात्मा शुभकर्मणी, न पुनः साङ्क्ष्यमते नैव न बध्यते ''पच्चायंति'' जावः प्रत्नयन्ते, उत्पद्यन्ते इत्यर्थः ''सफले कल्लाणे पायए'' इष्टानिष्टफलं, शुभाशुभं कर्मेत्यर्थः। ''धम्ममाइक्खइ'' अनन्तरोक्तं ज्ञेयश्रद्धेयज्ञानरूपमाचष्टे इत्यर्थः। तथा–''इणमेव निग्गंथे पावयणे सच्चे'' इदमेव प्रत्यक्षं नैर्ग्रन्थं प्रवचनं जिनशासनं सत्यं सद्भूतं, कषायादिशुद्धत्वात् सुवर्णवत्। ''अणुत्तरे'' अविद्यमानं प्रधानतरं ''केवलिए'' अद्वितीयं संशुद्धं निर्दोषं ''पडिपुण्णे'' सद्गणभुतं ''नेयाउए'' नैयायिकं न्यायनिष्ठं ''सल्लगत्तणे'' मायादिशल्यकर्त्तनं ''सिद्धमग्गे'' हितप्राप्तिपथः ''मुत्तिमग्गे'' अहितविच्युतरूपो यः ''निव्वाणमग्गे'' सिद्धिक्षेत्रावाप्तिपथः ''परिनिव्वाणमग्गे'' कर्म्माभावप्रभवसुखोपायः, ''सव्वदुक्खप्पहीणमग्गे'' सकलदुःखक्षयोपायः, इदमेव प्रवचनं फलतः प्ररूपयति–''इत्थं ट्ठिया जीवा सिज्झंति'' निष्ठितार्थतया ''बुज्झंति'' केवलतया 'मुचंति' कर्मभिः ''परिनिव्वायंते'' स्वस्थीभवन्ति। किमुक्तं भवतीति? ''सव्वदुक्खाणमंतं करेइ एगच्चा पुण एगभयं तारो'' एकार्च्या अद्वितीयपूज्याः संयमानुष्ठानं वा एका असदृशी अर्चा शरीरं येषां ते एकार्चाः ते पुनरेकैकेन वा येन सिद्धयन्ति ते भक्तारः निर्ग्रन्थप्रवचनसेवका भदन्ता वा भट्टारका भयत्रातारो वा, ''पुव्वकम्मावसेसेणं अन्नतरेसु देवलोगेसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति, महड्ढिएसु महज्जुएसु महाजसेसु महाबलेयु कहाणुभावेसु महासुक्खेसु दुरंगएसु चिरट्ठिएसु तेणं तत्थ देवा भवंति महड्ढिया जाव चिरट्ठिइया हारविराइयवत्थकडगतुडियघंमियभूया अंगदकुंडलमट्ठगंडतल कन्नपीठधारी विचित्तहत्थाभरणा विचित्तमाला मउलिमउडवि'' दीप्तानि विचित्राणि वा 'मउलि त्ति' मुकुटविशेषः ''कलाणपवरवत्थपरिहिया कल्लाणगपवरवत्थाणुलेवणधरा भासरबोंदीपलंवणमालधरा दिव्वेणं वन्नणं दिव्वेणं गंधेणं दिव्वेणं संघयणेणं दिव्वेणं संठाणेणं दिव्वाए इड्ढीए दिव्वाए जुईए दिव्वाए पभाए दिव्वाए छायाए दिव्वाए अच्चीए दिव्वेणं तेएणं दिव्वाए लेसाए दसदिसाए उज्जोएमाणा पभासेमाणा गइकल्लाणा ठिइकल्लाणा आगमेसि भद्दा पासाईया दरसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा तमाइक्खत्ति'' यदिह धर्मफलं तदाख्याति, तथा ''एवं खलु चउहिं ठाणेहिं जीवा नेरइयत्ताए कम्मं पकरेंति'' एवमिति वक्ष्यमाणप्रकारेणेति ''णेरइयत्ताए कम्मं पकरेत्ता नेरइएसु उववज्जंति। तं जहामहारंभयाए महा परग्गहाए पंचेंदियवहेणं कुणिमाहारेणं कुणमंति मांसं एवं च एएणं अभिलावेणं तिरिक्खजोणिए सुमाइल्लयाए अलियवयणेणं उक्कंचणयाए वंचणयाए'' तत्र माया वञ्चनबुद्धिः, उत्कञ्चनं मुग्धवञ्चनं प्रवृत्तस्य समीपवर्तिविदग्धरक्षणार्थं क्षणमव्यापारतया अवस्थानं वञ्चनं विप्रतारणं ''मणूसेसु पगइभद्दयाए पगइविणीययाए साणुक्कोसयाए अमच्छरियाए'' प्रकृतिभद्रकता स्वभावत एवापरोपतापता अनुक्रोशी। ''दयदेवेसु सरागसंजमेणं संजमासंजमेणं अकामनिज्जराय बालतवोकम्माणं तमाइक्खइ'' यदेवमुक्तरूपं नारकत्वादिनिबन्धनं तदाख्यातीत्यर्थः।

तथा–

''तथा नरया गमंती, जे नरया जाव वेयणा नरए।
सारीरमाणसाइं, दुक्खाइं तिरिक्खजोणिए ॥१॥
माणुस्सं च अणिच्चं, वाहिजरामरणवेयणापउरं।
देवा य देवलोए, देवेहिं देवसोक्खाइं ''॥२॥

देवांश्च देवलोकान्, देवेषु देवसौख्यान्याख्यातीति।

''नरगतितिरिक्खजोणिं, माणुसभावं च देवलोगं च।
सिद्धिं च सिद्धिवसहिं, उज्जीवणीयं परिकहइ ॥३॥
जह जीवा बज्झंती, मुच्चंति जह य संकिलिस्संति।
जह दुक्खाणं अंतं करेइ केई अपडिबद्धा ॥४॥
अट्ठा अट्ठियचित्ता, जह जीवा दुक्खसागरमुवेंति।
जह वेरग्गमुवगया, कम्मसमुग्गं विहाडेंति ''॥५॥

आर्त्ताः शरीरतो दुःखिता अर्त्तिना चिताः शेकादिपीडिताः आर्त्ताद्धा ध्यानविशेषादार्त्तितचित्ता इति। ''जह रागेण कडाणं, कम्माणं पावउ फलविवागो। जह य परिहीणकम्मा, सिद्धा सिद्धालयमुवेंति'' ॥६॥ अथानुष्ठेया नुष्ठानलक्षणं धर्ममाह– ''तमेव धम्मं दुविहमाइक्खियं'' येन धर्मेण सिद्धाः सिद्धालयमुपयान्ति स एवं धर्मो द्विविध आख्यात इत्यर्थः। ''तं जहा अणगारधम्मं अणगारधम्मो इह खलु सव्वाउ'' सर्वान् धनधान्यादिप्रकारानाश्रित्य 'सव्वत्ताए' सर्वात्मना सर्वैरात्मपरिणामैरित्यर्थः। ''आगाराओ अणगारियं पव्वइयस्संति सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं, एवं मुसावायाओ अदिन्नादाणओ वेररमणं मेहुणाओ वेरमणं परिग्गहराईभोयणाओ वेरमणं, एवं अयमाउसो अणगारमाइए धम्मे पण्णत्ते, एयस्स धम्मस्स सिक्खाए उवट्ठिए निग्गंथे वा निग्गंथी वा विहरमाणा आणाए आराहए भवइ, आगारधम्मं दुवालसविहं आइक्खइ। तं जहापंचाधुव्वयाइं तिन्नि गुणव्वयाइं चतरि सिक्खावयाइं पंच

अणुव्वयाइं नि। तं जहाथूलाओ पाणाइवायाओ वेरमणं, एवं मुसावायाओ वेरमणं, आदिन्नादाणाओ वेरमणं सदारसंतोसे इच्छापरिमाणे। तिन्नि गुणव्वयाइं। तं जहाअणट्ठदंडवेरमणं दिसिव्वयं उवभोगपरिभोगे परिमाणं। चत्तारि सिक्खावयाइं। तं जहासामाइयं देसावगासियं पोसहोववासो अतिहिसंविभागो अपच्छिममारणंतियसंलेहणा झुसणा आराहणा अयमाउसो अगारसामाइए धम्मे पण्णत्ते, एयस्स धम्मस्स सिक्खावए उवट्ठिए समणोवासए समणोवासिया वा विहरमाणाए आणाए आराहए भवइ, तए णं से महई महालिया मणूसपरिसा समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठ० जाव हियया उट्ठाए उट्ठेइ. उट्ठेइत्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ, करेइत्ता वंदइ णमंसइ, अत्थेगइया मुंडा भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइया अत्थेगइया पुचाणुव्वश्यं सत्तासिक्खावइयं दुवालसविहं गिहिधम्मं पडिवन्ना अवसेसा परिसा समणं भगवं महावीरं वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासीसुयक्खाए णं भंते! निग्गंथे पावयणे एवं सुपण्णत्ते'' भेदतः 'सुभासिए' वचनव्यक्तितः 'सुविणीए' सुष्ठु शिष्येषु विनियोजनात्, 'सुभाविते' तत्त्वभणनात्। ''अणुत्तरे भंते! निग्गंथे पावयणे एवं सुपहो धम्मं तं आइक्खमाणे उवसमंतं आइक्खह''। क्रोधादिनिग्रहमित्यर्थः। ''उवसमं आइक्खमाणा विगं आइक्खह'' बाह्यग्रन्थित्यागमित्यर्थः। ''विवेगं आइक्खमाणा वेरमणं आइक्खह'' मनोनिवृत्तिमित्यर्थः। ''वेरमणं आइक्खमाणा अकरणं पावाणं कम्माणं आइक्खह'' धर्ममुपशमादिस्वरूपं ब्रूथ इति हृदयम्। ''नत्थि णं अन्ने केइ यमणे वा माहेण वा जे एरिसं धम्मस्स माइक्खित्त ते'' प्रभु रितिः शेषः। ''किमंग! पुण एत्तो उत्तरतरं एवं वंदित्ता जामेव दिसि पाउब्भूया तामेव दिसिं पडिगयत्ति अट्ठे ससमट्ठे त्ति'' अस्त्येष इत्यर्थ। अथवा मयोदितवस्तुसमर्थः संगतः। हन्ता! इति कोमलामन्त्रणवचनम्।

अज्जो समणे भगवं महावीरे बहवे समणे णिग्गंथे य णिग्गंथीओ य आमंतेत्ता एवं वयासीजइ ताव अज्जो समणोवासगा गिहिणा गिहमज्झ वसंता दिव्वमाणुसतिरिक्खजोणिए उवसग्गे समं सहइ जाव अहियासेइ सक्का पुणाइं अज्जो! समणेहिं निग्गंथीहिं दुवालसंगं गणिपिडगं अहिज्जमाणेहिं दिव्वमाणुसतिरिक्ख जोणिएहिं समं सहितए जाव अहियासंतए तए णं से बहवे समणा णिग्गंथा य णिग्गंथीओ य समणस्स भगवाओ महावीरस्स तह त्ति एयमट्ठं विणएणं पडिसुणेइ, पडिसुणेइत्ता तए णं से कामदेवे समणोवासए हट्ठतुट्ठ० समणं भगवं महावीरं पसिणाइं पुच्छइ, अट्ठमादियइ समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो वंदइ णमंसइ, वंदित्ता णमंसित्ता जामेव दिसिं पाउब्भूया तामेव दिसिं पडिगया, तए णं समणे भगवं महावीरे अण्णया चंपाओ पडिवहिया जणवय० जाव विहरइ। तए णं से कामदेवे समणोवासए पढमं उवासगपडिमं उवसंपज्जित्ता णं जाव विहरइ, तए णं से कामदेवे समणोवासए बहुहिं० जाव भावेत्ता वीसं वासाइं समणोवासग-परियागं पाउणित्ता एक्कारस उवासगपडिमं सम्मं काएण फासेत्ता दुमासियाए संलेहणाए अत्ताणं उज्झुसित्ता सट्ठिं भत्ताइं अणसणाए च्छेएत्ता आलोइया समाहिपत्ते कालमासे कालं किच्चा सोहम्मे कप्पे सोहम्मावाडिंसयस्स महाविमाणस्स उत्तरपुरच्छिमेणं अरुणाभे विमाणे देवत्ताए उववण्णे। तत्थं णं अत्थेगइयाणं देवाणं चत्तारि पलिओवमाइं ठिई पण्णत्ता, कामदेवस्स वि दे वस्स चत्तारि पलियोवमाइं ठिई पण्णत्ता; से णं भंते! कामदेवे तओ चेव देवलोगाओ आउक्खएणं अणंतरं चयइ, चइत्ता कहिं गमिहिंति कहिं उववज्जिहिंति? गोयमा! महाविदेहे वासे सिज्झिहिंति।

(अज्जो त्ति)आर्या इति, एवमामन्त्र्यैवमवादीदिति। (सेहंति त्ति) यावत्करणादिदंदृश्यम्–''खमंति तिक्खंति'' एकार्थाश्चैते विशेषव्याख्यानमप्येषामस्ति, तदन्यतोऽवसेयमिति। 'निक्खेवओ त्ति' निगमनवाक्यं वाच्यम्। तच्चेदम्–''एवं खलु जंबू! समणेणं जाव संपत्तेणं दोच्चस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते त्ति बेमीति''। उपा०२ अ०। ध०र०। संथ०। स्था०। आ०म०।प्राग्वाटवंशावतंसस्य साधुहालोकस्याऽत्मजे, यदर्था श्रीमदभिनन्दनस्य चैत्यं कारितम्। ती०३२ कल्प। ऋषभदेवस्य पञ्चदशे पुत्रे, कल्प०७ क्षण। ('अहिणंदण' शब्दे प्रथमभागे ८८६ पृष्ठे कथा निरूपिता)

कामदेवभवण न०(कामदेवभवन) काममन्दिरे, ''पविरलसहिसमेया कामदेवभवणे, ममाई अणुरायतमतरियस्स एयस्स''दर्श०।

कामपरिग्गहग्गही त्रि०(कामपरिग्रहाग्रहिन्) विषयलोलुपे, कामपरिग्रहो गृहस्थ भावमेव प्रशंसति। वक्ति च–''गृहाश्रमपरो धर्मो, न भूतो न भविष्यति। पालयन्ति नराः शूराः, क्लीबाः पाखण्डमाश्रिताः'' ॥१॥ गृहाश्रमाऽऽधाराश्च सर्वेऽपि पाखण्डिन इत्येवं महामोहमोहिता इच्छामदनकामेषु प्रवर्तन्ते। आचा०२ श्रु०५ अ०१ उ०।

कामपाल पुं०(कामपाल) कामान् पालयति। पाल रक्षणे अण्। बलभद्रे, वाच०। द्वीपविशेषाधिपतौ, द्वी०।

कामप्पभ न०(कामप्रभ) स्वनामख्याते विम नभेदे, जी०३ प्रति०।

कामफास पुं०(कामस्पर्श) सप्तचत्वारिंशे महाग्रहे, सू०पं०२० पाहु०। कल्प०।

कामभोग पुं०(कामभोग) द्वं० स०। कामभोगशब्दार्थयोः, तत्र कामाः कमनीया भोगाः शब्दादयोऽथवा कामौ शब्दरूपे भोगाः गन्धरसस्पर्शाः कामभोगाः। स्था०४ ठा०१ उ०। यदि वा कामा इच्छारूपाः, मदनकामास्तु भोगाः। सूत्र०२ श्रु०२ अ०। कामानां शब्दादीनां यो भोगः। स्था०४ ठा०१ उ०। शब्दादिभोगे, मदनसेवायां च। ग०१ अधि०। अथवा काम्यन्त इति कामाः, मनोज्ञा इत्यर्थः, ते च ते। भुज्यन्त इति भोगाः, शब्दादय इति भोगाः। स्था०२ ठा०४ उ०। इच्छा मदनकामाः शब्दादयो विषयास्ते एव भुज्यन्त इति भोगाः। सूत्र०२ श्रु०१ अ०। मनोज्ञेषु, स्था०४ ठा०३ उ०। मदनकामप्रधानेषु शब्दादिषु विषयेषु, दश०१ चू०। आ०म०।

भेदाः –

कइविहा णं भंते ! कामभोगा पण्णत्ता ? गोयमा ! पंचविहा कामभोगा पण्णत्ता। तं जहा–सद्दा गंधा रूवा रसा फासा। जीवा णं भंते ! किं कामी भोगा ? गोयमा ! जीवा कामी वि भोगी वि। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ जीवा णं कामी वि भोगी वि ? गोयमा ! सोइंदियचक्खिंदियाइं पडुच्च कामी, घाणिंदिय–जिब्भिंदियफासिंदियाइं पडुच्च भोगी, सये तेणट्ठेणं गोयमा०! जाव भोगी वि। नेरइया णं भंते ! किं कामी भोगी ? एवं चेव एवं थणियकुमारा। पुढवीकाइयाणं पुच्छा। गोयमा ! पुढवीकाइया नो कामी भोगी। से केणट्ठेणं जाव भोगी ? फासिंदियं पडुच्च से तिणट्ठेणं जाव भोगी। एवं जाव वणस्सइकाइया, वेइंदिया एवं चेव, णवरं जिब्भिंदियफासिंदियाइं पडुच्च तेइंदिया वि एवं चेव, नवरं घाणिंदियजिब्भिंदियफासिंदियाइं पडुच्च चउरिंदियाणं पुच्छा। गोयमा ! चउरिंदिया कामी वि भोगी वि। से केणट्ठेणं जाव भोगी वि ?। गोयमा ! चक्खिंदियं पडुच्च कामी घाणिंदियजिब्भिंदियफासिंदियाइं पडुच्च भोगी, से तेणट्ठेणं जाव भोगी वि। अवसेसा जहा जीवा जाव वेमाणिया। एएसि णं भंते ! जीवाणं कामभोगीणां नो कामीणां नो भोगीणं भोगीण य कयरे कयरे० जाव विसेसाहिया वा ? गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा कामभोगी, नो कामी, नो भोगी अणंतगुणा, भोगी अणंतगुणा ॥

(सव्वात्थोवा कामभोग त्ति) ते हि चतुरिन्द्रियाः पञ्चेन्द्रियाश्च स्युः, ते च स्तोका एव। (नो कामी नो भोगि त्ति) सिद्धास्ते च तेभ्योऽनन्तगुणा एव। (भोगि त्ति) एकाद्वित्रीन्द्रियास्ते च तेभ्यो ऽनन्तगुणाः, वनस्पतीनामनन्तगुणत्वादिति। भ०७ श०७ उ०।

ज्योतिष्काणां कामभोगानभिधित्सुस्तद्विषयं प्रश्नसूत्रमाह–

ता चंदिमसूरिया णं जोतिसिंदा जोतिसरायाणो केरिसा-कामभोगे पच्चणुभवमाणा विहरंति ? ता से जहाणामं ते केइ पुरिसे पढमे जुव्वणुट्ठाए समत्थे पढमे जोव्वणबलसमत्थाए भारियाए सद्धिं अचिरवत्तवीवाहे अत्थत्थी अत्थगवेसणताए सोलसवासं विप्पसिते ते णं ततो लद्धट्ठे कति कज्जेणं ति अणहसमग्गे पुणरवि णियगं घरं हव्वमागते ण्हाते कयवलिकम्मे कयकोनउय–मंगलपायच्छित्ते सुद्धप्पा वेसाइं मंगलाइं पवरवत्थाइं परिहिते अप्पमहग्घाभरणालंकियसरीरे मणुण्णं थालीपाकसुद्धं अट्ठारसवंजणाउलं भोयणं भुत्ते समाणे तंसि तारिसगंसि वासघरंसि अंतो सचित्तकम्मे बाहिरित्तो दूमितघट्ठमट्ठे विचित्तउल्लोअचिल्लियतले बहुसमसुविभत्तभूमिभाए मणिरयण पणासितंधकारे कालागुरुपवरकुंदुरुक्कतुरुक्कधूवमघमघंतगंद्धुद्धुयाभिरामे सुगंधवरगंधिए गंधवट्टिभूते तंसि तारिसगंसि सयणिज्जंसि दुहतो उण्णते मज्झेणं गंभीरे सालिंगणवट्टिए पण्णत्तगंडबिब्बोयणे सुरम्मे गुणापुलिणवालुयाउद्दालसालिसएसु विहरइ, एरयताणे उयचियखोमियदुगूलपट्टपडिच्छायणे रत्तंसुयसंवुडे सुरम्मे आइणगरुयछूरणवणीततूलफासे सुगंधवरकुसुमचुण्णसयणोवयारकलिते ताए तारिसाए भारियाए सद्धिं सिंगारागारचारुवेसाए संगतगयहसितभणितचिट्ठितसंलावविलासणिउणजुत्तोवयारकुसलाए अणुरत्ताए अविरत्ताए मणोणुकूलाए एगंतरतियसत्ते अण्णत्थ कत्थइ मणं अकुव्वमाणे इट्ठे सद्दफरिसरसरूवगंधे माणुसए कामभोगाए पच्चणुभवमाणे विहरिज्जा। ता से णं पुरिसे वि उ समणे कालसमयंसि केरिसये स ता सोक्खं पच्चणुभवमाणे विहरति ? उरालं समणाउसो ! ता तस्स णं पुरिसस्स कामभोगेहिंतो एत्तो अणंतगुणविसिट्ठतराए चेव वाणमंतराणं देवाणं कामभोगा वाणमंतराणं देवाणं कामभोगेहिंतो अणंतगुणविसिट्ठतराए चेव असुरिंदवज्जियाणं भवणवासीणं देवाणं कामभोगा असुरिंदवज्जियाणं देवाणां कामभोगेहिंतो एत्तो अणंतगुणविसिट्ठतरा चेव असुरकुमाराणां इंदभूयाणं देवाणं कामभोगा असुरकुमाराणं देवाणं कामभोगेहिंतो एत्तो अणंतगुणविसिट्ठतराए चेव गहणक्खत्ततारारूवाणं कामभोगा गहणक्खत्ततारारूवाणं कामभोगेहिंतो अणंतगुणविसिट्ठतराए चेव चंदिमसूरियाणं देवाणं कामभोगा ता एरसिएणं चंदिमसूरिया जोइसिंदा जोइसरायाणो कामभोगे पच्चणुभवमाणा विहरंति ॥

(ता चंदिमेत्यादि) ता इति पूर्ववत्, चन्द्रसूर्याः, णमितिवाक्यालङ्कारे, ज्यौतिषेन्द्रा ज्यौतिषराजाः, कीदृशान् कामभोगान् प्रत्यनुभवन्तो विहरन्त्यवतिष्ठन्ते ?। भगवानाह–(ता से जहेत्यादि) 'ता इति' पूर्ववत्। 'से' इत्यनिर्दिष्टस्वरूपो नाम, यथा कोऽपि पुरुषः प्रथमयौवनोद्भेदे यद्बलं शारीरप्राणस्तेन समर्थः प्रथमयौवनोत्थानबलसमर्थया भार्यया सह अचिरवृत्तविवाहः सन्, अथ अर्थार्थी अर्थगवेषणया अर्थगवेषणनिमित्तं षोडशवर्षाणि यावत् विप्रोषितो देशान्तरे प्रवास कृतवान्, ततः षोडशवर्षानन्तरं स पुरुषो लब्धार्थः प्रभूतप्रापितार्थः, (अणहसमग्ग त्ति) अनघमक्षतं न पुनरपान्तराले केनापि चोरादिनाऽविलुप्तं, समग्रं द्रव्यं भाण्डोपकरणादि यस्य स तथा; च पुनरपि निजकं गृहं शीघ्रमागतः, ततःस्नातः, कृतवलिकर्मा कुतकौतुकमङ्गलप्रायश्चित्तः शुद्धात्मा, वेश्यानि वेषोचितानि प्रवराणि वस्त्राणि परिहितो निवसितः (अप्पमहग्घाभरणालंकियसरीरे इति) अल्पैः स्तोकैर्महार्घैर्महामूल्यैराभरणैरलंकृतशरीरो मनोज्ञं कलमौददनादि, स्थाली पिठरी तस्यां पाको यस्य तत्तथा, अन्यत्र हि पक्वं न सुपक्वं भवति, तत इदं विशेषणं, शुद्धं भक्तदोषवर्जितं स्थालीपाकं च तत् शुद्धं च स्थालीपाकशुद्धम्। (अट्ठारसवंजणाउलमिति) अष्टादशभिर्लोकप्रतीतैर्व्यञ्जनैः शालनकमक्रादिभिराकुलम्–अष्टादशव्यञ्जनाकुलम्। अथवा–अष्टादशभेदं च तत् व्यञ्जनाकुलं च अष्टादशव्यञ्जनाकुलं, शाकपार्थिवादिदर्शनाद्भेदशब्दलोपः। (सू०प्र०) एवं भूतं भोजनं भुक्तः सन् तस्मिन् तादृशो वासगृहे, किं विशि-

ष्टे ? इत्याह–अन्तःसचित्रकर्मणि (दुडियघट्ठमट्ठ त्ति) बहिः दुमिए सुधापङ्क्तधवलिते घृष्टे पाषाणादिना उपरिघर्षिते ततो मृष्टे मसृणीकृते, तथा विचित्रेण विविधचित्रयुक्तेनोल्लोचेन चन्द्रोदयेन (चिलियं ति) दीप्यमानं गृहमध्यभागे उपरितनतलं यस्य तत्तथा, तस्मिन्। तथा–बहुसमः प्रभूतसमः सुविभक्तः सुविच्छित्तिको भूमिभागो यत्र तस्मिन्। तथा–मणिरत्नप्रणाशितान्धकारे, तथा–कालागुरुप्रवर कुन्दरुक्कधूपस्य यो गन्धो मघमघायमानं उद्धूत इतस्ततो विप्रसृतस्तेनाभिरामं रमणीयं तस्मिन्। तत्र कुन्दुरुक्कं वीगातुरुक्कं सिल्हकं। तथा–शोभनो गन्धः सुगन्धस्तेन कृत्वा वरगन्धिकं, वरो गन्धो वरगन्धः सोऽस्यास्तीति वरगन्धिकम्। **अतोऽनेकस्वरात्'** ।७।२।६। इतीकप्रत्ययः। तस्मिन्, अत एव गन्धवर्तिभूते तस्मिन् तादृशे शयनीये उभयत उभयोः पार्श्वयोरुन्नते मध्येन च मध्यभागेन गम्भीरे, (सालिंगणवट्टीए त्ति) सहालिङ्गनवर्त्या शरीरप्रमाणेनोप–धानेन वर्तते यत्तत्तथा। (उभयो विज्जोयणे इति) उभयोःप्रदेशयोः शिरोऽन्तपादान्तलक्षणयोः, 'विज्जोयणे' उपाधानके यत्र तत्तथा। तत्र क्वचित् ''पण्णत्तगंडविज्जोयण त्ति'' पाठः। तत्रैवं व्युत्पत्तिःप्रज्ञया विशिष्टपरिकर्मविषयया बुद्धया आप्ते प्राप्ते, अतीव सुष्ठु परिकर्मिते इति भावः। गण्डोपधानके यत्र तत्तथा। तत्र (उपचियखोमिअदुगूलपट्टपडिच्छायणे) उपचितं सुपरिकर्मितं क्षौमिकं दुकूलं कार्पासिकमतसीमयं वा वस्त्रं तस्य युगलरूपो यः पट्टशाटकः प्रतिच्छादनमानाच्छादनं यस्य यस्य तत्तथा तत्र। (रत्तंसुयसंबुडे) रक्तांशुकेन मशकगृहाभिधानेन वस्त्रविशेषेण सुवृते समंतत आवृत्ते (आइणगरुछूरनवणीयतूलफासे) आजिनकं चर्ममयो वस्त्रविशेषः, स च स्वभावादतिकोमलो भवति। रुतं च कार्पासोङ्भूतं, छूरो वनस्पडिविशषः, नवनीतं च म्रक्षणं तूलश्चार्कतूल इति द्वन्द्वः। अत एतेषामिव स्पर्शो यस्य तत्तथा तस्मिन्। (सुगंधवरकुसुमचुण्णसयणोवयारकलिए) सुगन्धीनि यानि वरकुसुमानि, ये च सुगन्धाश्चूर्णाः पटवासादयो, ये च एतद्व्यतिरिक्ता थाविधाः शयनोपचारास्तैः कलिततया तादृशया वक्तुमशक्यस्वरूपतया पुण्यवतां योग्यया, (सिंगारागार-चारुवेसाए त्ति) श्रृङ्गारस्य पोषकः आकारः सन्निवेशो यस्य स शृङ्गाराकार इत्थंभूतश्चारुः शोभनो वेषो यस्याः सा तथाभूता तया, (संगतगयहसियभणियचिट्ठियसंलावविलासनिउणजुत्तो-वयारकुसलाए) संगतं गमनं सविलासं, चङ्क्रमणमित्यर्थः। हसितं सप्रमोदं कपोलसूचितं हसनं, भणितं मन्मथोद्दीपिका विचित्रा भणितिः, चेष्टितं सकाममङ्गप्रत्यङ्गावयवप्रदर्शनपुरस्सरं प्रियस्य पुरतोऽवस्थानं, संलापः प्रियेण सह सप्रमोदं सकामं परस्परं संकथा। एतेषु विलासेन शुभलीलया निपुणः, सूक्ष्मबुद्धिगम्योऽत्यन्तकामविषयपरमनैपुण्योपेत इत्यर्थः। युक्तो देशकालोपपन्न उपचारकुशलया अनुरक्तया कदाचिदप्यविरक्तया मनोऽनुकूलया भार्यया सार्द्धमेकान्तेन रतिप्रसक्तो रमणप्रसक्तोऽन्यत्र कुत्रापि मनोऽकुर्वन्; अन्यत्र मनःकरणे हि न यथावस्थितमिष्टभार्यागतं कामसुखमनुभवति। इष्टान् शब्दस्पर्शरसरूपगन्धरूपान् पञ्चविधान् मानुषान् मनुष्यभवसंबन्धिनः कामभेगान् प्रत्यनुभवन्; प्रतिशब्दः आभिमुख्ये। संवेदयमानो विहरेदवतिष्ठेत। (ता से णतित्यादि) तावच्छब्दः क्रमार्थः आस्तां तावदन्यदग्रेतनं वक्तव्यमिदं तावत्कथ्यतां, स पुरुषस्तस्मिन् कालसमये कालेन तथाविधेनोपलक्षितः समयोऽवसरः कालसमयस्तस्मिन् कीदृशं स्यात् रूपमाह्लादरूपं सौख्ये प्रत्यनुभवन् विहरति। एवमुक्ते गौतमे आह (उरालं समणाउसो !) हे भगवन् ! हे श्रमण ! हे आयुष्मान्! उदारमत्यद्भुतं सातं सौख्यं प्रत्यनुभवन् विहरति। भगवानाह–''तस्स ण मित्यादि''। (एत्तो) एतेभ्यस्तस्य पुरुषस्य संबन्धिभ्यः कामभोगेभ्यः (अणंतगुणविसिट्ठतराए चेव त्ति) अनन्तगुणतया विशिष्टतरा एव व्यन्तरदेवानां कामभोगाः, व्यन्तरदेवकामभोगेभ्योऽप्यसुरेन्द्रवर्जानां देवानां कामभोगा अनन्तगुणविशिष्टतराः, तेभ्योऽनन्तगुणविशिष्टतरा इन्द्रभूतानामसुर-कुमाराणां देवानां कामभोगाः, तेभ्योऽप्यनन्तगुणविशिष्टतरा ग्रहनक्षत्रतारारूपाणां देवानां कामभोगाः तेभ्योऽप्यनन्तगुणविशिष्टतराः कामभोगाः चन्द्रसूर्याणामेतादृशां चन्द्रसूर्या ज्यौतिषेन्द्राः ज्यौतिषराजाः कामभेगान् प्रत्यनुभवन्तो विहरन्ति। सू०प्र०२० पाहु०। भ०। च०। प्र०।

''तणकट्ठेण व अग्गी, लवणजलो वा नईसहस्सेहिं।
न इमो जीयो सक्को, तिप्पेउं कामभेगेहिं॥''द०प०।

''कुरुडं चोद्दसरज्जं, लोगं अणंतभेगेण वि भरेज्जा।
एते य कामभोगे, कालमणंतं इहं स उवभोगे।
अप्पुव्वं वि य मन्नइ, जीवो तह वि य विसयसोक्खं।
जह कच्छू लोकं तुय–माणो, दुहं मुणेइ सोक्खं॥
मोहाउरा मणुस्सा, तह कामं दुहं सुहं वें ति।
जाणंजित अणुहवंति य, अणुजम्मजरामरणसंभवे दुक्खे।
न य विसएसु विरज्जंति, गोयमा! दुग्गइगमणपत्थिए जीवे''॥
महा०६ अ०।
''न कामभेगा समयं उवेंति, न यावि भेगा विगयं उवेंति।
जे तप्पओ सो अ परिग्गही अ,सो तेसु मोहा विगयं उवेइ''।

अष्ट०४ अष्ट०।(भोगभोगाः 'भोगभोग' शब्दे सर्वेषामिन्द्राणां वक्ष्यन्ते)

कामभेगतसिय त्रि०(कामभोगतृषित) अप्राप्तकामभेगेच्छे, प्रश्न०४ आश्र० द्वार।

कामभेगतिव्वाभिलास पुं०(कामभोगतीव्राभिलाष)कामौ शब्दरूपे, भेगा गन्धरसस्पर्शाः, तेषु तीव्राभीलाषोऽत्यन्तं तदध्यवसायित्वं कागभेगतीव्राभिलाषः। स्वदारसंतोषस्य चतुर्थेऽतिचारे, तत्त्वं च–स्वदारसन्तोषी हि विशिष्टविरतिमान्, तेन च तावत्येव मैथुनसेवा कर्तुमुचिता यावत्या वेदजनितवाधेपशाम्यति; यस्तु वाजीकरणादिभिः कामशास्त्रविहितप्रयोगैश्च तामधिकामुत्पाद्य सततं सुरतसुखमिच्छति स मैथुनविरतिव्रतं परमार्थतो मलिनयति। को हि नाम सकर्णकः पामामुत्पाद्याऽग्निसेवाजनितसुखं वाञ्छेदित्यतिचारत्वं कामभोगतीव्राभिलाषस्येति। उपा०१ अ०। आव०। आ० चू०।

कामभोगमार पुं०(कामभोगमार) कामभोगैः सह मारा मदनो मरणं वा कामभोगमारः। विंशतितमे गौणाब्रह्माणि, प्रश्न०४ आश्र० द्वार।

कामभोगासंसाप्प(प)ओग पुं०(कामभेगाशंसाप्रयोग) कामौ शब्दरुपे, भेगा गन्धरसस्पर्शाः। अत्राशंसाप्रयोगः। यथा–ममास्य तपसः प्रभावात् प्रेत्य सौभाग्यादि भूयादिति। ध०२ अधि०। यदि मे मानुष्यकामभेगादिव्यापाराः संपद्यन्ते तदा साध्विति विकल्परूपे, उपा०१ अ०। जन्मान्तरे चक्रवर्ती स्यां वासुदेवो महामाण्डलिकः सुभगो रूपवानित्यादि लक्षणे वा, अपश्चिममारणान्तिकसंलेखना झोषणाराधनायाः पञ्चमेऽतिचारे, ध०२ अधि०। उपा०। श्रा०।

काममतिवट्ट पुं०(काममतिवर्त) कामेष्विच्छामदनरूपेषु मतेर्बुद्धेर्मनसो वा वर्तनं प्रवृत्तिर्यस्यासौ काममतिवर्त्तः । कामाभिलाषुके, सूत्र०१ श्रु०४ अ०२ उ०।

काममल्ल पुं०(काममल्ल) पुं०। दुर्जयत्वेन मल्लत्वोपमिते कामे, ''धन्यास्ते वन्दनीयास्ते, त्रैलोक्यं तैः पवित्रितम्। यैरेष भुवनक्लेशो, काममल्लो निपातितः''॥१॥पञ्चा०१ विव०।

काममहावण न०(काममहावन) वाराणसीसमीपस्थे चैत्ये, ''तत्थं णं जे से चउत्थे पउट्टपरिहारे से णं वाणारसीए णयरीए वहिया काममहावणंसि चेइयंसि मंडियस्स सरीरं विप्पजहामि'' भ०१५ श०१ उ०।

काममयुग पुं(काममयुग)लोमपक्षिभेदे, जी०१ प्रति०। प्रज्ञा०।

कामरय न०(कामरजस्) कामः शब्दो रूपं, स एव रजः कामरजः । कामलक्षणे रजसि, औ०।

कामरत न०। कामानुरागे, भ०१ श०५ उ०।

कामरागपडिबद्ध त्रि०(कामरागप्रतिबद्ध) कामा मदनकामाः, तेभ्यो रागा विषयाभिष्वङ्गाः, तै प्रतिबद्धो व्याप्तः । मनसा विषयसुखेषु प्रशक्ते, ''विसयसुहेसु पसत्तं, अवुहजणं कामरागपडिबद्धं। ओकामयंति जीवं, धम्माओ तेण ते कामा'' ॥ ध०२ अधि०।

कामरागमोह पुं०(कामरागमोह) मन्मथरागमूढे, तं०।

कामरागविवड्ढण त्रि०(कामरागविवर्धन) मैथुनाभिलाषवर्द्धके, ''इत्थीणं तं न विज्जाए, कामरागविवड्ढणं ॥५८॥'' दश०८ अ०।

कामरूव पुं०(कामरूप) प्राग्ज्योतिषाख्ये देशभेदे, स चेदानीं तनराज-भाषया आसामप्रान्ते स्वनाम्ना प्रसिद्धः । वाच०। कामं स्वेच्छया रूपं यस्य। स्वेच्छाविकुर्वितनानारूपेऽर्थे, प्रज्ञा०२ पद।

कामरूवदेहधारि(ण) त्रि०(कामरूपदेहधारिन्) कामं स्वेच्छया रूपं तेषां ते कामरूपास्ते च ते देहाश्च कामरूपदेहास्तान् धरन्तीत्येवंशीलाः कामरूपदेहधारिणः । स्वेच्छाविकुर्वितनानारूप-देहधारिषु, प्रज्ञा०२ पद। जी०।

कामरूवि(ण्) त्रि०(कामरूपिन्) कामं स्वेच्छापूर्वं रूपं येषां ते कामरूपिणः । उत्त०५ अ०। स्वच्छन्दचारिषु, आ०म०द्वि। यादृशं रूपं मनसि वाञ्छन्ति तादृशं कुर्वन्तीत्यर्थः। उत्त०५ अ०। कामोऽभिलाषस्तेन रूपाणि कामरूपाणि, तद्वन्तः। विविधवैक्रियशक्त्यन्वितेषु, उत्त०५ अ०। विद्याधरे, पु०। स्त्री०। वाच०।

कामलालस त्रि०(कामलालस) सरक्ते, ''एवं लग्गंति दुम्मेहा, जे नरा कामलालसा। विरत्ता उ न लग्गंति, जहा से सुक्कगोलए''॥ ५४॥ संघा०।

कामलेस्स न०(कामलेश्य)स्वनामख्याते विमानभेदे,जी०३ प्रति०।

कामवण्ण न०(कामवर्ण्ण)स्वनामख्याते विमानभेदे,जी०३ प्रति०।

कामविगार पुं०(कामविकार) इन्द्रियार्थविकोपने, स्था०९ ठा०।

कामविणय पुं०(कामविनय) कामहेतुके विनयभेदे, दश०९ अ०।

कामविणिच्छय पुं०(कामविनिश्चय) विनिश्चयभेदे, स्था०३ ठा०३ उ०।

कामसत्थ न०(कामशास्त्र) कामस्य स्वर्गादेः प्रतिपादकं शास्त्रम्। स्वर्गादेः प्राप्त्युपायप्रतिपादके शास्त्रे, कामस्य तच्चेष्टितस्य प्रतिपादके शास्त्रे रतिशास्त्रे, वाच०। वात्स्यायनादिकृते, ध०२ अधि०। सूत्र०।

कामसमणुण्ण त्रि०(कामसमनोज्ञ) कामा इच्छामदनरूपाः, सम्यग्मनोज्ञा यस्य स तथा । अथवा सह मनोज्ञैर्वर्तत इति समनोज्ञः । गमकत्वात्सापेक्षस्यापि समासः । कातैः समनोज्ञः कामसमनोज्ञः, यदि वा कामान् सम्यगनु पश्चात् सहानुबन्धाज्जानाति सेवत इति कामसमनोज्ञः । अनङ्गरङ्गसंलग्नमनस्के , आचा०१ श्रु०२ अ०३ उ०।

कामसिंगार न०(कामशृङ्गार)स्वनामख्याते विमानभेदे,जी०३ प्रति०।

कामसिट्ठ न०(कामिशिष्ट)विमानभेदे,जी०३ प्रति०।

कामसोक्ख न०(कामसौख्य) मनोभवाऽऽनन्दे, ''अत्थोपायणकाम-सोक्खे य लोयसारे हुंति'' ''रज्जे सारं वसुधा, वसुंधरायां पुरं पुरं सौधम्। सौधे तल्पं तल्पं, वराङ्गनाऽनङ्गसर्वस्वम्॥'' प्रश्न०३ आश्र० द्वार।

कामवट्ट न०(कामावर्त)विमानभेदे,जी०३ प्रति०।

कामावसाइत्ता स्त्री०(कामावशायिता) कामेन इच्छया अवशाययति पदार्थान् स्वचित्ते। सत्यसंकल्पत्वे योगिनामैश्चर्य्यभेदे, वाच०। सूत्र।

कामाविक्करण न०(कामाविष्करण) पञ्चाशत्तमे स्त्रीकलाभेदे, कल्प०७ क्षण।

कामासंस(सा)प्प(प)ओग पुं०(कामाशंसाप्रयोग) शब्दादावभिलाष-मात्रे, स्था०४ ठा०४ उ०।

कामासत्ति स्त्री०(कामाशक्ति) शब्दादपयोः प्राप्तिसंभावनायाम्, भ०१३ श०६ उ०।

कामासा स्त्री०(कामाशा) गौणमोहनीयकर्मभेदे, स०५२ सम०।

कामि(ण्) त्रि०(कामिन्) कम–णिक्, णिनि०। कामनायुक्ते, अतिशयस्मरवेगयुक्ते, वाच०। ''कामी सघरं गणतो, मूलपइण्णंसि होइ दट्ठव्वाः'' नि०चू०१५ उ०। कामइच्छा अस्त्यर्थे इनिः। अभिलाषिणि, सूत्र०१ श्रु०१० अ०।

कामिअ पुं०स्त्री०(कामिक)कामोऽस्त्यस्य ठन्। कारण्डपक्षिणि, स्त्रियां जातित्वात् ङीष् कामेन निर्वृत्तम्, ठञ्। कामेन निर्वृतकाम्ये, स्त्रियां ङीप्। कामिकं काम्यमधिकृत्य कृतो ग्रन्थः अण् काम्यधिकरेण कृते ग्रन्थे, वाच०। लौकिकेषु स्वनामख्याते सरोवरभेदे, तत्र पतन् तिर्य्यग्मनुष्यो देवो जायते। विशे०। ('लोभ' शब्दे कथा वक्ष्यते) ''संसपुरट्ठिवमुत्तीकामियतित्थं जिणेसरो पासो। तस्सेस मए कप्पे, लिहिओ गीयाणुसारेण''॥१॥ ती०२८ कल्प।

कमिड्डि पुं०(कामर्द्धि) आर्य्यसुहस्तिनो वशिष्ठगोत्रस्त चतुर्थे शिष्ये कल्प०८ क्षण।

कामिणी स्त्री०(कामिनी) कामिशब्दे दर्शितस्त्रीत्वविशिष्टार्थे, ''जं चेव मउलणं लोअणाणमनुबद्धं तं चिअ कामिणीणं''प्रा०२ पाद।

कामुत्तरवडिंसग न०(कामोत्तरावतंसक)विमानभेदे,जी०३ प्रति०।

काय न०(काच)काच्यतेऽनेन। क बन्धने, करणे घञ् न कुत्वम्। (मोम) सिक्थे, तस्य बन्धहेतुत्वात्तथात्वम्। वाच०। पाषाणविकारे, औ०। काख्यः क्षारमृतिकाऽस्त्यस्याऽऽकरत्वेन अच्। क्षारमृत्तिकोद्भवे लवणभेदे, शिक्ये, मणिभेदे च। वाच०।

काय पुं०। चिञ् चयने इति धातोश्चयनं कायः, चीयतेऽनेनेति वा कायः। विशे०। चीयते यथा योग्यमौदारिकादिवर्गणारूपं चयं नीयते इति कायः। **''चिति देहावासोपसमाधाने कश्चादेः''** ॥५।३।७६। इति घञ् प्रत्ययश्चकारस्य ककारः। कर्म०४। पं०सं०। आ०म०। औ०। शरीरे, आचा०१ श्रु०५ अ०४ उ०। ''एगट्ठिओ कायो सरीरं देहो'' आ०चू०५ अ०। सूत्र०। उत्त०। ''दो काया पण्णत्ता। तं जहा–तसकाए चेव, थावरकाए चेव।'' स्था०। ज्ञा०। उत्त०। सूत्र०। आव०। आचा०। नि०चू०। भ०। जी०। ल०। कर्म०। (व्याख्याऽस्य स्वस्वशब्दे)

कायनिक्षेपः–

कायस्स उ निक्खेवो, वारसओ उक्कओ अ उस्सग्गे।
एएसिं दुन्हं पी, पत्तेअपरूवणं वोच्छं ।१४॥

(कायस्स उ त्ति) कायस्य तु निक्षेपः (वारओ त्ति) द्वादशप्रकारकः, (छक्कओ य उस्सग्गे त्ति) षट्कश्चोत्स-र्गविषयः,षट् प्रकार इत्यर्थः। पश्चार्द्धं निगदसिद्धम्।

तत्र कायनिक्षेपप्रतिपादनायाऽऽह-

नामं ठवण सरीरे, गई निकायऽत्थिकाय दविए अ।
माउअ संगह पज्जव,भारे तह भावकाए अ ॥१५॥

नामकायः १ स्थापनाकायः २ शरीरकायः ३ गतिकायः ४ निकायकायः ५ अस्तिकायः ६ द्रव्यकायश्च ७ मातृकायः ८ संग्रहकायः ९ पर्यायकायः१० भारकायः ११ भावकायः १२ श्चेति गाथासमासमासार्थः ॥१५॥

तत्र नामकायप्रतिपादनायाऽऽह–

काओ कस्स नामं, कीरइ देहो वि वुच्चई काओ।
कायमणिओ वि वुच्चइ, बद्धमवि निकायमाहंसु ॥१६॥

कायः कस्यचित्पदार्थस्य सचेतनस्याचेतनस्य वा नाम क्रियते स नामकायः, नामाश्रित्य कायो नामकायः। तथा–देहोऽपि शरीरसमुच्छ्रयोऽपि उच्यते कायः। तथा–काचमणिरपि कायो भण्यते प्रकृते तु 'काय' इति। तथा–बद्धमपि किञ्चिल्लेखादि (निकायमाहंसु त्ति) निकाचितमाख्यातवन्तः, प्रकृतशैल्या 'निकाय त्ति' गाथार्थः ॥१६॥

अधुना स्थापनाकायप्रतिपादानायाऽऽह–

अक्खे वराडए वा, कट्ठे पुत्थे व चित्तकम्मे वा।
सब्भावमसब्भावं, ठवणाकायं विआणाहि ॥१७॥

'अक्खे' चन्दनके, वराटके वा कपर्दके, काष्ठे कुट्टिमे, पूस्ते वा वस्त्रकृते, चित्रकर्माणि वा प्रतीते। किमित्याह–सतो भावः सद्भावस्तथ्य इत्यर्थः। तमाश्रित्य, तथा–असतो भावोऽसद्भावः, अतथ्यभाव इत्यर्थः। तमाश्रित्य, किम् ? स्थापनाकायं विजानीहीति गाथार्थः ॥१७॥

सामान्येन सद्भावासद्भावस्थापनोदाहरणमाह–

लिप्पगहत्थी हत्थि, त्ति एस सब्भाविआ भवे ठवणा।
होइ असब्भावे पुण, हत्थि त्ति निरागई अक्खे ॥१८॥

यदिह लेप्यकहस्ती हस्तीति स्थापनायां निवेश्यते (एस सब्भाविया भवे ठवण त्ति) एषा एव सद्भावस्थापना भवतीति। असद्भावे पुनर्हस्तीति निराकृतिर्हस्त्याकृतिशून्या। एवं चतुरङ्गादाविति। तदेवं स्थापनाकायोऽपि भावनीय इति गाथाऽर्थः ॥१८॥

शरीरकायप्रतिपादनायाऽऽह–

ओरालिअ वेउव्विअ, आहारग तेअ कम्मए चेव।
एसो पंचविहो खलु, सरीरकाओ मुणेयव्वो ॥१९॥

उदारैः पुद्गलैः निर्वृत्तमौदारिकम्, विविधा क्रिया विक्रिया, विक्रियायां भवं वैक्रियं प्रयोजनादि, आह्रियत इति आहारकं, तेजोमयं तैजसं, कर्मणा निवृत्तं कार्मणम्। औदारिकं वैक्रियहारकं तैजसं कार्मणं चैव, एष पञ्चविधः खलु, शीर्यन्त इति शरीराण्येव पुद्गलसंघातरूपत्वात् कायः शरीरकायो विज्ञातव्य इति गाथार्थः ॥१९॥

गतिकायप्रतिपादनायाऽऽह–

चउसु वि गईसु देहो, नेरइआईण जो स गइकाओ।
एसो सरीरकाओ, विसेसणा होइ गइकाओ ॥२०॥

इयमप्यन्यकर्तृकी गाथा सोपयोगेति च व्याख्यायते–चतसृष्वपि नारकतिर्यङ्नरामरलक्षणासु, देहाभिन्नत्वे शरीरसमुच्छ्रयो नारकादीनां यः स गतौ काय इति कृत्वा गतिकायो भण्यते। अत्रान्तरे आह चोदकः–(एसो सरीरकाओ त्ति) नन्वेष शरीरकाय उक्तः। तथाहि–औदारिकादिव्यतिरिक्ता नारकतिरश्चादिदेहा इति। आचार्य आह–(विसेसणा होइ गतिकाओ त्ति) विशेषणाद् विशेषणसामर्थ्याद् भवति कायः गतिकायः। विशेषणं चात्र गतौ कायो गतिकायः। यथा द्विविधाः संसारिणःत्रसाः, स्थावराश्च। पुनस्त एव स्त्रीपुरुषनपुंसकविशेषैर्भिद्यन्ते इति एवमत्रापीति गाथार्थः ॥२०॥

अथवा सर्वसत्त्वानामपान्तरालगतौ यः कायः स गतिकायोभण्यते। तथाचाऽऽह–

जेणुवगहिओ वच्चइ, भवंतरं जच्चिरेण कालेण।
एसो खलु गइकाओ, सतेयगं कम्मगसरीरं ॥२१॥

येनोपगृहीत उपस्कृतो व्रजमि गच्छति। किम् ?भवादन्यो भवो भवान्तरम्। तत एतदुक्तं भवति–मनुष्यादिर्मनुष्यभवाच्च्युतः येनाश्रयेणापान्तराले देवादिभवं गच्छति स गतिकायो भण्यते।तत् कालमानतो दर्शयति–(जच्चिरेण कालेणं ति) स च यावता कालेन समयादिना व्रजति तावन्तमेव कालमसौ गतिकायो भ-

ण्यते। एष खलु गतिकायः। स्वरूपेणैव दर्शयन्नाह–(सतेयगं कम्मगसरीरं) कार्मणस्य प्राधान्यात् सह तैजसेन वर्तते इति सतैजसं कार्मणशरीरं गतिकायः, तदाश्रयेणापान्तरालगतौ जीवगतेरिति भावनीयमिति गाथार्थः॥२१॥

निकायकायः प्रतिपाद्यते–

निअयमहिगो व काओ, जीवनिकाओ निकायकाओ अ।

(नियमहिगो व काओ जीवनिकाओ त्ति)नियतो नित्यः कायो निकायः, नित्यता चास्य त्रिष्वपि कालेषु भावात्। अधिको वा कायो निकायः, यथाऽधिको दाहो निदाह इति। आधिक्यं चास्य धर्माधर्मास्तिकायापेक्षया स्वभेदापेक्षया वा। तथा हि–एकादयो यावदसंख्येयाः पृथिवीकायिकाः, तावत्काय एव स्वजातीयान्यप्रक्षेपापेक्षया निकाय इति। एवमन्येष्वपि विभाषेति। एवं जीवनिकायः सामान्येनन निकायकायो भण्यते। अथवा जीवनिकायः पृथिव्यादिभेदभिन्नः षड्विधोऽपि निकायो भण्यते ; तत्समुदाय एव निकायकाय इति।

अधुनाऽस्तिकायः प्रतिपाद्यते, तत्रेदं गाथाशकलम्–

अत्थि त्ति बहुपएसा, तेणं पंचऽत्थिकाया उ॥२२॥

(अत्थि त्तीत्यादि) अस्तीत्ययं त्रिकालवचनो निपातः। अभूवन् भवन्ति भविष्यन्ति चेति भावना। बहुप्रदेशाश्च, यतस्तेन पञ्चैवास्तिकायाः। तुशब्दस्यावधारणार्थत्वान्न न्यूनाऽप्यधिका इति। अनेन धर्मा च धर्माधर्माकाशानामेकद्रव्यत्वादेकास्तिकायत्वानुपपत्तिः। अद्धासमयस्य चैकत्वादस्तिकायत्वापत्तिरित्येतत्परिहृतभवगन्तव्यम्। तेचामि पञ्च। तद्यथा–धर्मास्तिकायः, अधर्मास्तिकायः, आकाशास्तिकायः, जीवास्तिकायः, पुद्गलस्तिकायश्चेति। अस्ति–कायश्च काय इति हृदयमयं गाथार्थः॥२२॥

साम्प्रतं द्रव्यकायावसरस्तत्प्रतिपादनायाऽऽह–

जं तु पुरक्खडभावं, दविअं पच्छाकडं वा भावाओ।
तं होइ दव्वदविअं, जह भविओ दव्वदेवाइ॥२३॥

यद्भव्यमिति योगः। तुशब्दो विशेषणार्थः। किं विशिनष्टि ? जीवपुद्गलद्रव्यं न धर्मास्तिकायादि। ततश्चैतदुक्तं भवति–यद् द्रव्यं यद् वस्तु, पुरस्कृतभावमिति, पुरो यतः कृतो भावो येनिति समासः। भाविनो भावस्य योग्यमभिमुखमित्यर्थः। (पच्छाकडं व भावाओ त्ति) वाशब्दस्य व्यवहितः संबन्धः। ततश्चैवं प्रयोगः–पश्चात् कृतभावम्। वाशब्दो विकल्पवचनः। पश्चात्कृतः प्राप्योज्झितो भावः पर्यायविशेषलक्षणो येन स तथोच्यते। एतदुक्तं भवति–यस्मिन् भावे वर्तते द्रव्यं ततो यः पूर्वमासीद्भावस्तस्मादपेतं पश्चात्कृतभावमुच्यते। (तं होइ दव्वदविअं) तदित्थंभूतं द्विप्रकारमपि भाविनो, भूतस्य च भावस्य योग्यं (दव्वं त्ति) वस्तु वस्मुवतो ह्येको द्रव्यशब्दः। किंभवति ? द्रव्यम्। भवतिशब्दस्य व्यवहितः प्रयोगः। इत्थं द्रव्यलक्षणमभिधायाधुनोदाहरणमाह–(जह भविओ दव्वदेवाई) यथेत्युदाहरणोपन्यासार्थः। भव्यो योग्यः। द्रव्यदेवादिरिति। इयमत्र भावना–यो हि पुरुषादिर्मृत्वा देवत्वं प्राप्स्यति बद्धायुष्कः, अभिमुखनामगोत्रो वा योग्यत्वाद्द्रव्यदेवोऽभिधीयते। एवमनुभूतदेवभावोऽपि। आदिशब्दाद्द्रव्यनारकादिपरिग्रहः, परमाणुग्रहश्च। तथा ह्यसावपि ह्यणुकादिकायगोग्यो भवत्येव, ततश्चेत्थं भूतं द्रव्यं द्रव्यकायो भण्यत इति गाथार्थः॥२३॥

आह– किमिति तुशब्दविशेषणाज्जीवपुद्गलद्रव्यमङ्गीकृत्य धर्मास्तिकायादीनामिह व्यवच्छेदः कृत इति ?उच्यते–तेषां च यथोक्तकारद्रव्यलक्षणायोगात् सर्वदैवास्तिकायत्वलक्षणभावोपेतत्वात्।

आह च भाष्यकारः–

जइ अत्थिकायभावो, इय एसो हुज्ज अत्थिकायाणं।
पच्छाकडो व तो ते, हवेज्ज दव्वत्थिकाय त्ति॥२४॥

यद्यस्तिकायभावः अस्तिकायत्वलक्षणः (इय एसो हुज्ज अत्थिकायाणं) 'इय त्ति' एवं यथा जीवपृद्गलद्रव्ये विशिष्टः पर्याय इति, एष्य आगामी भवेत्। केषाम् ? अस्तिकायानां, धर्मास्तिकायादीनामिति व्याख्यानाद् विशेषप्रतिपत्तिः। तथा– पश्चात्कृतो वा यदि भवेत्। (तो ते हवेज्ज दव्वत्थिकाय त्ति) ततस्ते भवेरन् द्रव्यास्तिकाया इति गाथार्थः॥२४॥

तीअमणागयभावं, जमत्थिकायाण नत्थि अत्थित्तं।
तेणिर केवल तेसुं, नत्थी दव्वत्थिकायत्तं॥२५॥

अतीतमतिक्रान्तम् अनागतभावं भावि, यद्यस्मात्कारणात्, अस्तिकायानां धर्मादीनां, नास्ति न विद्यते अस्तित्वं विद्यमानत्वं, कायत्वापेक्षया सदैव कायत्वयोगादितिहृदयम्। (तेणिर त्ति) तेन (इर ति) किल केवलं शुद्धं, तेषु धर्मास्तिकायादिषु, नास्ति न विद्यते (दव्वत्थिकायत्तं) द्रव्यास्तिकायत्वं, सदैव तद्भावयोगादिति गाथार्थः।

आह–यद्येवम्, द्रव्यदेवाद्युदाहरणोक्तमपि द्रव्यं न प्राप्नोति, सदैव तद्भावयोगात्। तथाहि स एव तस्य भावो योऽस्मिन् वर्तते इति अत्र गुरुराह–

कामं भविअसुराइसु, भावो सो चेव जत्थ वट्टंति।
एसो न ताव जाएइ, ते तेणिर ते दव्वेदेव त्ति॥२६॥

काममित्यनुमतम्, यथा (भवियसुराइसु) भव्याश्च ते सुरादयश्चेति विग्रहः। आदिशब्दाद् द्रव्यनारकादिग्रहः। तेषु तद्विषये विचारे, भावः स एव यत्र वर्तते, तदानीं मनुष्यादिभावे इति, किं तु एष्यो भावी, न तावज्जायते, तदा (तेणिर ते दव्वेदव त्ति) न ते किल द्रव्यदेवा इति। योग्यत्वात्, योग्यस्य च द्रव्यत्वाद्वा। न चैतद्धर्मास्तिकायादीनामस्ति, एष्यकालेऽपि तद्भावयुक्तत्वादेवे ति गाथार्थः॥२६॥

यथोक्तद्रव्यलक्षणमवगम्य तद्भावेऽतिप्रसङ्गं च मनस्याधायाऽऽह चोदकः–

दुहओऽणंतररहिआ, जइ एवं तो भवा अणंतगुणा।
एगस्स एगकाले, भवा न जुज्जंती अणेगा॥२७॥

(दुहओ त्ति) वर्तमानभवे स्थितस्य उभयत एष्यकाले, अतीतकाले च (अणंतररहित त्ति) अनन्तरौ एष्यातीतौ, अनन्तरौ च तौ रहितौ च; वर्तमानभवभावेनेति प्रकरणाद्गम्यते। अनन्तररहितौ तावपि (जइ त्ति)यदि तस्योच्यते, (एवं तो भवा अर्णतगुण त्ति) एवं च सति ततो भवा अनन्तगुणाः तद्भवद्वयव्यतिरिक्ता वर्तमानभवभावेन रहिता एष्यातिक्रान्ताश्च तेषूच्येरन्। ततश्च तदपेक्षयाऽपि द्रव्यत्वकल्पना स्यात्। अथोच्यते भवत्वेवमेवं का नो हानिरिति ?। उच्यते–एकस्य पुरुषादेः, एक काले पुरुषादिकाले, भवा (नजुज्जंति) न युज्यन्ते न घटन्ते, अनेके बहवः इति गाथार्थः॥२७॥,

इत्थं चोदकेनोक्ते गुरुराह–

दुहओऽणंतरभविअं, जह चिट्ठइ आउअं तु जं बद्धं।
हुज्जिरेसु वि जइ तं, दव्वभवा हुज्जा तो ते वि॥२८॥

वर्तमानभवे वर्तमानस्य उभयत एष्ये अतीते च, अनन्तरभविकं, पुरस्कृतपश्चात्कृतभवसंबन्धीत्युक्तं भवति। यथा तिष्ठति आयुष्कमेव, तुशब्दस्यावधारणार्थत्वाद् न शेषं कर्त विवक्षितं यद् बद्धम्। अयं भावार्थः–पुरस्कृतभवसंबन्धित्रिभागाविशेषायुष्कः सामान्येन तस्मिन्नेव भवे वर्तमानो बध्नाति, पश्चात्कृतसंबन्धिनः पुनस्तस्मिन्नेव वेदयति। अतिप्रसंगनिवृत्त्यर्थमाह–(हुज्जिरेसु वि जइ तं दव्वभवा हुज्ज तो ते वि) भवेत् इतरेष्वपि प्रभूतेषू अतीतेषु यद् बद्धम्, अनागतेषु च् यद्वेक्ष्यते। यदि तत्तस्मिन्नेव भवे वर्तमानस्य, द्रव्यभवा भवेरन् ततस्तेऽपि, तदायुष्ककर्मसंबन्धादिति हृदयम्। न चैतदस्ति; तस्मादसच्चोदक वचनमिति गाथार्थः ॥२८॥

अस्यैवार्थस्य प्रसाधकं लोकप्रतीतं निदर्शनमभिधातुकाम आह–

संझासु दोसु सूरो, अदिस्समाणो वि पप्प समईअं।
जह ओभासइ खित्तं, तहेव एअं पि नायव्वं ॥२९॥

संध्या च संध्या च संध्ये, तयोः संध्ययोर्द्वयोः प्रत्यूषप्रदोषप्रतिबद्धयोः, सूर्य आदित्यः, अदृश्यमानोऽप्यनुपलभ्यमानोऽपि, प्रापणीयं प्राप्यं, समतिक्रान्तं समतीतं, यथाऽवभासते प्रकाशयति क्षेत्रम्। तद्यथा–प्रत्यूषसंध्यायां पूर्वविदेहं भरतं च, प्रदोषसंध्यायां तु भरतमपरविदेहं च, तथैव, यथा सूर्यः, इदमपि प्रक्रान्तं, ज्ञातव्यं विज्ञेयम्। एतदुक्तं भवति–वर्तमानभवे स्थितः पुरस्कृतभवं. पश्चात्कृतभवं च आयुष्ककर्मसद्द्रव्यतया स्पृशति, प्रकाशेनाऽऽदित्यवदिति गाथार्थः ॥२९॥

अधुना मातृकायः प्रतिपाद्यते, मातृकेति मातृकापदानि ''उप्पण्णे इव'' इत्यादीनि, तत्समूहो मातृकायः, अन्योऽपि तथाविधः पदसमूहो बह्वर्थ इति।

तथाचाह भाष्यकारः–

माउ अपयं ति णेमं, नवरं अन्नो वि जो पयसमुहो।
सो पयकाओ भन्नइ, जे एगपउ बहू अत्था ॥३०॥

मातृकापदमिति (णेतं ति) चिह्नं, नवरमन्योऽपि यः पदसमूहः पदसङ्घातः स पदकायो भण्यते; मातृकापदकाय इति भावना। नाविशिष्टः पदसमूहः, किं तु (जे एगपए बहू अत्था) यस्मिन्नेकस्मिन् पदे बहवोऽर्थाः, तेषां पदानां यत्समूह इति। पाठान्तरं वा–(जम्मेगपए इहू अत्थ त्ति) गाथार्थः॥३०॥

संग्रहकायप्रतिपादयन्नाह–

संगहकाओऽणेगा, वि जत्थ एगवयणेण घिप्पंति।
जह सालिगामसेणा, जाओ वसई निविट्ठ त्ति ॥३१॥

संग्रहणं संग्रहः, स एव कायः संग्रहकायः। स किंविशिष्ट इत्याह-(णेगा वि जत्थ एगवयणेण घेप्पंति त्ति) प्रभूता अपि यत्रैकवचनेन गृह्यन्ते। यथा–शालिग्रामसेना जातो वसति निविष्टेति यथासंख्यम्। प्रभूतेष्वपि स्तम्बेषु सत्सु जातः शालिरिति व्यपदेशः। प्रभूतष्वपि पुरुषवनितादिषु वसति ग्रामः, प्रभूतेष्वपि हस्त्यादिषु निविष्टा सेनेति। अयं शाल्यादिरर्थः संग्रहकायो भण्यते इति गाथार्थः ॥३१॥

साम्प्रतं पर्यायकायं दर्शयति–

पज्जवकाओ पुण हुं–ति पज्जवा जत्थ पिंडिआ बहवे।
परमाणुम्मि वि कम्मि वि, जह वन्नाई अणंतगुणा ॥३२॥

पर्यायकायः पुनः, भवन्ति पर्याया वस्तुधर्मा यत्र परमाण्वादौ पिण्डिताः बहवः, तथा च परमाणावपि कस्मिंश्चित्, संव्यवहारिक इति पाठोऽवबुध्यते। सांव्यवहारिके, यथा वर्णादयो वर्णगन्धरसस्पर्शाः अनन्तगुणाः, अन्यापेक्षया। तथाचोक्तम्–''कारणमेव तदल्पं, सूक्ष्मो नित्यश्च भवति परमाणुः। एकरसगन्धवर्णो, द्विस्पर्शः कार्यलिङ्गश्च'' ॥१॥ स चैकस्तिक्तादिरसः तदन्यापेक्षया तिक्ततरतिक्ततमादिभेदानन्त्यं प्रतिपद्यते। एवं वर्णादिष्वपि विभावनेति गाथार्थः ॥३२॥

अधुना भरकायः–

एगो काओ दुहा जाओ, एगो चिट्ठइ एगु मारिओ।
जीवंत मएण मारिओ तं, लव माणव ! केण हेउणो? ३३॥

एकः कायः क्षीरकायो द्विधा जातः, घटद्वये न्यासात्। तत्र एकस्तिष्ठति, एको मारितः, जीवन् मृतेन मारितः। तदेतत् (लव माणव त्ति) ब्रूहि हे मानव ! केन कारणेन ? कथानकं यथा प्रतिक्रमणाध्ययने परिहरणायामिति गाथार्थः। भारकायश्चात्र क्षीरभृतकुम्भद्वयोपेता कापोती भण्यते; भारश्चासौ कायश्चेतिभारकाय अन्ये भणन्ति;अन्ये तु भारकायः कापोत्येवोच्यते इति।

भावकायप्रतिपादनायाऽऽह–

दुगतिगचउरा पंच, भावा बहुआ व जत्थ विज्जंति।
सो होइ भावकाओ, जीवमजीवे विभासाओ ॥३४॥

द्वौ त्रयश्चत्वारः पञ्च वा भावा औदायिकादयः प्रभूता अन्येऽपि यत्र सचेतनाचेतने वस्तुनि विद्यन्ते स भवति भावकायः, भावानां कायो भावकाय इति। (जीवमजीवे विभासाओ) जीवा जीवयोर्विभाषा *खल्वागमानुसारेण कार्येति गाथार्थः॥३४॥*

अधुनैकार्थिकान्युच्यन्ते–

काए १ सरीर २ देहे ३,
बुंदी ४ चय ५ उवचए अ ६ संघाए ७।
उस्सय ८ समुस्सए वा ९,
कलेवरे १० मत्थ ११ तणु १२ पाणू १३ ॥३५॥

कायः शरीरं देहो बोन्दिः चय उपचयश्च सङ्घात उच्छ्रयः समुच्छ्रयः कडेवरं भस्त्रा तनुः पाणुरिति गाथार्थः॥३५॥ अव०५ अ०।दश०। आ०चू०। आ०म०। दर्श०। विशे०। पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रस–कायभेदात् षोढा कायः। प्रव०२२५ द्वार। कर्म०। विशे०। चतुर्धा कायः– पृथिव्यप्तेजोवायश्च। आचा०१ श्रु०१ अ०१ उ०। दर्श०। पाञ्चभौतिके शरीरे, द्वा०२६ द्वा०। ''वसाऽसृग्मांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्रान्त्रवर्चसाम्। अशुचीनां पदं कायः, शुचित्वं तस्य तत्कृतः ?''॥१॥ अष्ट० १९ अ०। (कायान्मलनिःसारणनिषेधो 'अणायार' शब्दे प्रथमभागे ३१४ पृष्ठे निरूपितः) औदारिकादित्रये घातिचतुष्टये, आचा०१ श्रु०६ अ०५ उ०।

आया भंते ! काए अण्णे काए ? गोयमा ! आया वि काए, अण्णे वि काए। रूवी भंते ! काए अरूवी काए ? गोयमा ! रूवी वि काए अरूवी वि काए। एवं एक्केक्के पुच्छा। गोयमा ! सचित्ते वि काए, अचित्ते वि काए, जीवे विकाए अजीवे वि काए, जीवाण वि काए अजीवाण वि काए। पुव्विं भंते ! काए पुच्छा। गोयमा ! पुव्वि पि काए

काइज्जमाणे वि काए, कायसमयवीइक्कंते वि काए। पुव्विं भंते ! काए भिज्जइ पुच्छा। गोयमा ! पुव्विं पि काए भिज्जइ, काइज्जमाणे वि काए भिज्जइ, कायसमयवीइक्कंते विकाए भिज्जइ। कइविहे णं भंते ! काए पण्णत्ते ? गोयमा ! सत्तविहे काए पण्णत्ते। जहा– ओरालिए, ओरालियमीसए वेउव्विए, वेउव्वियमीसए, आहारए, आहारयमीसए, कम्मए।

(आया भंते भंते ! काये इत्यादि) आत्मा कायः, कायेन कृतस्यानुभवनात्, नह्यन्येन कृतमन्योऽनुभवति, अकृतागमप्रसङ्गात्। अथान्य आत्मनः कायः, कायैकदेशच्छेदेऽपि संवेदनस्य संपूर्णत्वेनाभ्युपगमादिति प्रश्नः। उत्तरं तु आत्माऽपि कायः, कथञ्चित्तदव्यतिरेकात्, क्षीरनीरवत् अग्नयः पिण्डवत्, काञ्चनोपलवद् वा, अत एव कायस्पर्शे सत्यात्मनः संवेदनं भवति। अत एव च कायेन कृतमात्मना भवान्तरे वेद्यते, अत्यन्तभेदे चाऽकृतागमप्रसङ्ग इति। (अण्णे वि काय त्ति) अत्यन्ताभेदे हि शरीरांशच्छेदे जीवांशच्छेदप्रसङ्गः, तथा च संवेदनताऽसंपूर्णता स्यात्। तथा शरीरस्य दाहे आत्मनेऽपि दाहप्रसङ्गेन परलोकाभासप्रसङ्ग इत्यतः कश्चिदात्मनोऽन्योऽपि काय इति। अन्यैस्तु कार्मणकायमाश्रित्य आत्मा काय इति व्याख्यातम्, कार्मणकायस्य संसार्यात्मनश्च परस्पराव्यभिचरितत्वेनैकस्वरूपत्वात्। (अण्णे वि काए त्ति) औदारिकादिकायापेक्षया जीवादन्यः कायः, तद्विमोचनेन तद्भेदसिद्धेरिति। (रूवी पि काए त्ति) रूप्यपि कायः, औदारिकादि कायस्थूलरूपापेक्षया। अरूप्यपि कायः, कार्मणकायस्याति–सूक्ष्मरूपित्वेनारूपित्वविवक्षणात्। एवं एक्केक्के पुच्छ त्ति) पूर्वोक्तप्रकारेण एकैकसूत्रे पृच्छा विधेया। तद्यथा–''सचित्ते भंते ! काये'' इत्यादि। अत्रोत्तरम्–(सचित्ते वि काए) जीवदवस्थायां चैतन्यसमन्वितत्वात्। (अचित्ते वि काए) मृतावस्थायां चैतन्यस्याभावात्। (जीवे वि काए त्ति) जीवोऽपि विवक्षितोच्छ्वासादिप्राणयुक्तोऽपि भवति कायः औदारिकादिशरीरमपेक्ष्य।(अजीवे वि काए त्ति) अजीवोऽप्युच्छ्वासादिरहितो भवति कायः कार्मणशरीरमपेक्ष्य। (जीवाण वि काए त्ति) जीवानां संबन्धी कायः शरीरं भवति। (आजीवाण वि काए त्ति) अजीवानामपि स्थापनार्हदादीनां कायः शरीरं भवति, शरीराकार इत्यर्थः। (पुव्विं पि काए त्ति) जीवसम्बन्धकालात्पूर्वमपि कायो भवति; यथा भविष्यज्जीवसम्बन्धं मृतदर्दुरशरीरम्। (काइज्जमाणे वि काए त्ति) जीवेन चीयमानोऽपि कायो भवति, यथा जीवच्छरीरी (कायसमयविइक्कंते वि काए त्ति) कायसमयो जीवेन कायस्य कायताकरणलक्षणः, तं व्यतिक्रान्तो यः स तथा। सोऽपि काय एव, मृतकडेवरवत्। (पुव्विं पि काये भिज्जइ त्ति) जीवेन कायतया ग्रहणसमयात्पूर्वमपि कायो मधुघटादिन्यायेन द्रव्यकायो भिद्यते, प्रतिक्षणं पुद्गलचयापचयभावात्। (काइज्जमाणे वि काए भिज्जइ त्ति) जीवेन कायी क्रियमाणो पि कायो भिद्यते, सिकताकणकलापमुष्टिग्रहणवत् पृद्गलानामनुक्षणं परिशाटभावात्। (कायसमयविइक्कंते वि कए भिज्जइ त्ति) कायसमयव्यतिक्रान्तस्य च कायता भूतभावतया घृतकुम्भादिन्यायेन, भेदश्च पृद्गलानां तत्स्वभावतयेति। चूर्णिकारेणपुनः कायसूत्राणि कायशब्दस्य केवलं शरीरार्थत्यागेन चयमात्रवाचकत्वमङ्गीकृत्य व्याख्यातानि। यदाह– ''कायसद्दो सव्वभावसामण्णसरीरवायी'' कायशब्दः सर्वभावनां सामान्यं यच्छरीरं चयमात्रं तद्वाचक इत्यर्थः। एवश्च (आया वि काए सेसदव्वाणि वि काए त्ति)। इदमुक्तं भवति–आत्माऽपि कायः, प्रदेशसञ्चय इत्यर्थः। तदन्योऽप्यर्थः कायः, प्रदेशसञ्चयरूपत्वादिति। रूपी कायः पुद्गलस्कन्धापेक्षया, अरूपी कायो जीवधर्मास्तिकायाद्यपेक्षया, सचित्तः कायो जीवच्छरीरापेक्षया, अचित्तः कायोऽचेतनसञ्चयापेक्षया, जीवः काय उच्छ्वासादिस्कावयवसञ्चयरूपः, अजीवः कायस्तद्विलक्षणजीवानां कायः जीवराशिः, अजीवानां कायः परमाण्वादिराशिरिति। एवं शेषाण्यपि। अथ कायस्यैव भेदानाह–(कतिविहेणमित्यादि) अयं च सप्तविधोऽपि प्राग्विस्तरेण व्याख्यातः। इह तु स्थानाशून्यार्थं लेशतो व्याख्यातेतत्र च (ओरालिए त्ति) औदारिकशरीरमेव पुद्गलस्कन्धरूपत्वादुपचीयमानत्वात्काय औदारिककायोऽयं च पर्याप्तकस्यैवेति। (ओरालिवमीसए त्ति) औदारिकश्चासौ मिश्रश्च कार्मणेनेत्यौदारिकमिश्रोऽयं चापर्याप्तकस्य। (वेउव्विए त्ति) वैक्रियः पर्याप्तकस्य देवादेः (वेउव्वियमीसए त्ति) वैक्रियश्चासौ मिश्रश्च कार्मणेनेति वैक्रियमिश्रः, अयं चाप्रतिपूर्णवैक्रियशरीरस्य देवादेः। (आहारए त्ति) आहारक आहारकशरीरनिवृत्तौ।(आहारगमीसए त्ति) आहारकपरित्यागेन औदारिकग्रहणयोद्यतस्याहारकमिश्रो भवति, मिश्रता पुनरौदारिकेणेति। कम्मए त्ति) विग्रहगतौ केवलिसमुद्घाते वा कार्मणः स्यादिति। भ०१३ श०७ उ०। जीवनिकाये, स्था०३ ठा०३ उ०। उत्त०। सूत्र०। कायशब्दः सर्वभावानां सामान्यं यच्छरीरं चयमात्रं तद्वाचक इत्यर्थः। भ०१३ श०७ उ०। राशौ, स्था०३ ठा०२ उ०। संघाते, अनु०। विशे०। पञ्चत्रिंशत्तमे महाग्रहे, ''दो काया'' स्था०२ ठा०३ उ०। चं०प्र०। सू०प्र०। अनार्यदेशविशेषे, प्रव०२७४ द्वार। सूत्र०। तन्निवासिनि जने, प्रज्ञा०१ पद। कः प्रजापतिः, कं सुखं वा ततः देवताद्यर्थे, तस्येदं वा अण्, कस्येत् इदन्तादेशे वृद्धिः। प्रजापतिदेवताके हविरादौ, कनिष्ठाऽङ्गुलिमूलस्थानरूपे प्रजापतितीर्थे, न०। कायसंबन्धिकार्योपयोगित्वाद् मनुष्यतीर्थे, न०। प्रजापतिदेवताके विवाहभेदे, पुं०। चीयतेऽदः चि कर्मणि घञ्, चेः कत्वम्। मूलधने, पुं०। मूलधनस्य वृद्ध्या उपचीयमानत्वात् तथात्वम्। करणे घञ्। वस्तुस्वभावेन पदार्थानां चीयमानत्वात् तथात्वम्, भावे घञ्। सेघे, पुं०। वाच०। कायाः पृथिव्यादयः। स्था०२ ठा०४ उ०।

कायउज्जुयया स्त्री(कायर्जुकता) ऋजुकस्यामायिनो भावः कर्म वा ऋजुकता, कायस्य ऋजुकता कायर्जुकता। स्था०४ ठा०। परावञ्चनपरकायचेष्टायाम् भ०८ श०८ उ०।

कायक न०(कायक) क्वचिद्देशे इन्द्रनीलवर्णः कार्पासो भवति, तेन निष्पन्ने वस्त्रे, आचा०२ श्रु०५ अ०१ उ०।

कायकिलेस पुं०(कायक्लेश) कायस्य शरीरस्य क्लेशः स्वेदः पीडा कायक्लेशः। स्था०७ ठा०। शरीरक्लेशने, स्था०६ ठा०। तापशीतादीनां सहने, उत्त०३० अ० आ०। बाह्यतपोभेदे, पा०। नं०। स च वीरासनादिभेदाच्चित्रः। दश०१ अ०।

गानतो लौकिकः कायक्लेशः–

सत्त स्सरा तओ गामा, मुच्छणा एगविंसती।

ताणा एगूणपण्णसा, समत्तं सरमंडलं ॥१४॥

सत्तविहे कायकिलेसे पण्णत्ते । तं जहा–ठाणाइए उक्कुडुआसणिए पडिमट्ठाई वीरासणिए णेसज्जिए दंडायइए लगंडसाई ॥२॥

स्थानायतिकः स्थानातिगः स्थानातिदो वा कायोत्सर्गकारी । इह च धर्मधर्मिणोर भेदादेवमुपन्यासः, अन्था कायक्लेशस्य प्रक्रान्तत्वात् स एव वाच्यः स्याद्, न तद्वान, इह तु तद्वान्निर्दिष्ट इति । एवं सर्वत्र– उत्कुटुकासनिकः प्रतीतः, तथा प्रतिमास्थायीति भिक्षुप्रतिमाकारी, वीरासनिको यः सिंहासने निविष्ट इवास्ते, नैषद्यिकः समपदयुतादिनिषद्योपवेशी, दण्डायतिकः प्रसारितदेहः, लगण्डसायी भूम्यलग्नपृष्ठः । स्था०७ ठा० भ० ग०।

आयावयंति गिम्हेसु, हेमंतेसु अवाउडा ।

वासासु पडिसंलीणा, संजया समाहिया ॥१२॥

आतापयन्ति ऊर्द्धस्थानादिना आतापनं । कृर्वन्ति ग्रीष्मेषूष्णकालेषु, तथा हेमन्तेषु, तथा शीतकालेष्वप्रावृता इति प्रावरणरहिता–स्तिष्ठन्ति । तथा वर्षासु वर्षकालेषु संलीना इत्येकाश्रयस्थ भवन्ति संयताः साधवः, सुसमाहिताः ज्ञानादिषु यत्नपराः । ग्रीष्मादिषु बहुवचनं प्रतिवर्षकरणज्ञापनार्थमिति सूत्रार्थः । दश०३ अ०।

कायगुत्त त्रि०(कायगुप्त) कायगुप्त्या गुप्तः कायगुप्तः । उत्त०१२ अ० असत्कायक्रियाविकले जितेन्द्रिये, ''कायगुत्तो जिइंदिओ ।'' उत्त०१२ अ०।

कायगुत्तया स्त्री०(कायगुप्तया) कायस्याऽशुभव्यापाराद् गोपने, उत्त३६ अ०।

अथ कायगुप्तेः फलं प्रश्नपूर्वकमाह–

कायगुत्ताए णं भंते ! जीवे किं जयणइ ? कायगुत्तयाए णं सम्वरं जणयइ, संवरेणं कायगुत्ते पुणो पावासनवनिरोहं करेइ ॥५५॥

हे भदन्त ! कायगुप्ततया जीवः किं जनयति ? गुरुराह–हे शिष्य ! कायगुप्ततया जीवः सम्बरं जनयति, सम्बरेण गुप्तकायः पुनः पापाश्रवनिरोधं करोति । दश०२६ अ०।

कायगुत्ति स्त्री(कायगुप्ति) गमनागमनप्रचलनादानस्यन्दनादि–क्रियाणां गोपेन गुप्ति भेदे, उत्त०।

इदानीं कायगुप्तिमभिधातुमाह–

ठाणे निसीयणे वा वि, तीव य तुयट्टणे ।

उल्लंघण पल्लंघण, इंदियाणं च जुंजणे ॥

संरंभसमारंभे, आरंभे य तहेव य ।

कायं पवत्तमाणं तु, नियंटेज्ज जई जयं ॥

स्थाने ऊर्द्धस्थाने (निसीयणे त्ति) निषीदने उपवेशने । चः तयोरेव विचित्रभेदसमुच्चयार्थः । एवेति पूरणे । तथैव च त्वग्वर्तने शयने, उल्लङ्घने तथाविधनिमित्तत ऊर्द्धभूमिकाद्युत्रमेण, गर्त्ताद्यतिक्रमेण च; प्रलङ्घने सामान्येन गमने । उभयत्र सूत्रत्वात् सुपोलुक् । इन्द्रियाणां च स्पर्शनादीनां (जुंजण त्ति) योजनं शब्दादिविषये व्यापारणं, तस्मिन् । सर्वत्र च वर्त्तमान इति शेषः । ततः स्थानादिषु वर्त्तमानः । संरम्भोऽभिघातो दृष्टिमुष्ट्यादिसंस्थानमेव संकल्पसूचकमुपचारात्संकल्पवाच्यं, तत्समारम्भः परितापकरो मुष्ट्यद्यभिघात्, ततः संरम्भश्च समारम्भश्च संरम्भसमारम्भं, तस्मिन् । आरम्भे प्राणिवधात्मनि कायं प्रवर्त्तमानं निवर्तयेत् । शेषं प्रावदिति सूत्रार्थः । उत्त०२४ अ० अथ कायगुप्तिरपि द्विधा– चेष्टानिवृत्तिलक्षणा, यथागमं चेष्टानियमलक्षणा च । तत्र परीषमाहोपसर्गादिसंभवेऽपि यत्कायोत्सर्गकरणादिना कास्य निश्चलताकरणं, सर्वयोगनिरोधावस्थायां वा सर्वथा यत्कायचेष्टानिरोधनं सा प्रथमा । गुरुमापृच्छ्य शरीरसंस्तारकभूम्यादिप्रतिलेखनाप्रमार्जनादिसमयोक्तक्रियालाप पुरस्सरं शयनासनादि साधुना विधेयं, ततः शयनासननिक्षेपादानादिषु स्वच्छन्दचेष्टापरिहारेण नियता या कायचेष्टा सा द्वितीयेति । उक्तं च–

''उपसर्गप्रसंगेऽपि, कायोत्सर्गजुषो मुनेः ।

स्थिरीभावः शरीरस्य, कायगुप्तिर्निगद्यते ॥१॥

शयनासननिक्षेपा–दानसंक्रमणेषु च ।

स्थानेषु चेष्टानियमः, कायगुप्तिस्तु साऽपरा''॥२॥ध०३ अधि०।

दृष्टान्तः –

''प्रावृत्तः साधुरध्वानं, सार्थे वा वासिते क्वचित् ।

पदमात्रं कथमपि शुद्धं स्थण्डिलमासदत् ॥१॥

स्थितस्तत्रैकपादेन, सर्वमपि विभावरीम्''आ०क०।

कायछक्क न०(कायषट्क) कायानां पृथिव्यादीनां षट्कं कायषट्कम् । षट् सु कायेषं सम्यगनुपालनविषयतयाऽनगारगुण भेदे, आव०४ अ०।(तत्र यतना प्रथमभागे २४६ पृष्ठे 'अट्ठारसट्ठाण' शब्दे क्ता)

कायजोग पुं०(काययोग) औदारिकादिशरीरयुक्तस्यात्मनो वीर्यपरिणतिविशेषे, दर्श० । नं० स्था० प्रज्ञा० औ० विशे० ''नित्यालीनप्रलीनाङ्गः, कूर्मवद् मुनिपुङ्गवः । तिष्ठेत् प्रयोजनाभावे, काययोगोऽयमीरितः'' ॥१॥ जीत० भेदाःकाययोगः सप्तधावैक्रियकाययोगः, आहारककाययोगः, औदारिककाययोगः, मिश्रशब्दस्य पूर्वदर्शितशरीरत्रिकेण सह संबन्धात् वैक्रियमिश्रकाययोगः, आहरकमिश्रकाययोगः, औदारिकमिश्रकाययोगः, कार्मणकाययोगः । अये भावः–विविधा विशिष्टा वा क्रिया विक्रिया, तस्यां भवं वैक्रियम् । तथाहि–तदेकं भूत्वाऽनेकं भवमि, अनेकं भूत्वा एकम् । अणु भूत्वा महद्भवति,महद् भूत्वा अणु । तथा खचरं भूत्वा भूमिचरं भवति, भूचरं भूत्वा खचरम् । अदृश्यं भूत्वा दृश्यं भवति, दृश्यं भूत्वा अदृश्यमित्यादि । यद्वा–विशिष्टं कुर्वन्ति तदिह वैकुर्विकम् पृषोदरादित्वाद भीष्टरूपसिद्धिः । तच्च द्विधाऔपपातिकं, लब्धिप्रत्ययं च । तत्रौपपातिकम्–उपपातजन्मनिमित्तं, तच्च देवनारकाणाम् । लब्धिप्रत्ययं तिर्यङ्नुष्याणाम् । उक्तं च श्रीमदनुयोगद्वारलघुवृत्तौ–''विविहा विसिट्ठगा वा, किरिया तीए जं भवं तमिह । नियमा विउव्वियं पुण, नारगदेवाण पयईए''॥१॥ तदेव काययोगः, तन्मयो वा योगो वैक्रिययोगो, वैकुर्विककाययोगो वा, वैक्रियं मिश्रं यत्र कार्मणेनौदारिकेण वा स वैक्रियमिश्रः । तत्र कार्मणेन मिश्रं देवनारकाणामपर्याप्तावस्थायां प्रथमसमयादनन्तरं बादरपर्याप्तकाये पञ्चेन्द्रियतिर्यङ्नुष्याणां च वैक्रियलब्धिमतां वैक्रियारम्भकाले वैक्रियपरित्याग काले वा औदारिकेण मिश्रं ततो वैक्रियमिश्रश्चासौ कायश्च वैक्रियमिश्रकायः, तेन योगे वैक्रियमिश्रकाययोगः । चतुर्दशपूर्वविदा तथाविधकायोत्पत्तौ विशिष्टलब्धिवशादाह्रियते निर्वर्त्यत इत्याहारकम् । अथवा–आह्रियन्ते गृह्यन्ते तीर्थकरादिसमीपे सूक्ष्मा जीवादयः पदार्था अनेननेत्याहारकम्, **''कृद्बहुलम्''** ॥५॥१।२॥ इति कर्मणि, करणे वा णकः । यदऽवादि–

''कज्जम्मि समुप्पन्ने, सुयकेवलिणा विसिट्ठलद्धीए।
जं इत्थ आहरिज्जइ, भणंति आहारगं तं तु ॥१॥
पाणिदयरिद्धिसंदरि–सणत्थमत्थोवग्गहणहेउं वा।
संसयवुच्छेयत्थं, गमणं चिणपायमूलम्मि''॥२॥

तदेव कायः, तेन योग आहारककाययोगः। आहारकं मिश्रं यत्र, औदारिकेणेति गम्यते। स आहारकमिश्रः। सिद्धप्रयोजनस्य चतुर्दशपूर्वविद आहारकं परित्यत्यत औदारिकमुपाददानस्याहारकं प्रारभमाणस्य चा प्राप्यते। स एव कायः तेन योगआहारकमिश्रकाययोगः। कर्म०४ कर्म०।

कायजोगि(ण्) पुं०(काययोगिन्) जीवभेदे, काययोगिन एकेन्द्रियाः अन्येषां मनोयोगवाग्योगयोरपि सत्त्वात्। स्था०४ ठा०४ उ०।

कायट्ठिइ पुं०(कायस्थिति) काये निकाये पृथिव्यादिसामान्यरूपेण स्थितिः। स्थितिभेदे, ''दोण्हं कायट्ठिई पण्णत्ता। तं जहामणुस्साणं चेव, पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं चेव''। कायस्थितिरसंख्योत्सर्पिण्यादिका। स्था०२ ठा०२ उ०।काय इह पर्यायो गृह्यते, काय इव काय इत्युपमानात्। स च द्विधासामान्यरूपो विशेषरूपश्च। तत्र सामान्यरूपो निर्विशेषणो जीवत्वलक्षणः, विशेषरूपो नैरयिकत्वादिलक्षणः; तस्य स्थितिरवस्थानं कायस्थितिः। सामान्यरूपेण विशेषरूपेण वा पर्यायेणादिष्टस्य जीवस्याव्यच्छेदनेन भवने, प्रज्ञा०।

(१) कायस्थित्यधिकारगाथा।
(२) दण्डकत्वेन जीवानां कायस्थितिः।
(३) जीवानां नैरयिकत्वादिपर्यायैरवस्थानचिन्तनम्।
(४) तिर्यक्तिर्यक्स्त्रीणां मनुष्यमनुष्यस्त्रीणां च कायस्थितिः।
(५) देवदेवीनीं कायस्थितिविचारः।
(६) पर्याप्तापर्याप्तत्वविशेषेण नैरयिकादीनां कायस्थितिः।
(७) इन्द्रियद्वारमाश्रित्य जीवानां कायस्थितिः।
(८) कायद्वारमाश्रित्य जीवानां कायस्थितिः।
(९) योगद्वारमवलम्ब्य कायस्थितिःविचारः।
(१०) वेदद्वारमाश्रित्य जीवानां कायस्थितिः।
(११) कषायद्वारमाश्रित्य जीवानां कायस्थितिः।
(१२) लेश्याद्वारमाश्रित्य जीवानां कायस्थितिः।
(१३) सम्यग्दृष्टिद्वारमाश्रित्य जीवानां कायस्थितिः।
(१४) ज्ञानद्वारमाश्रित्य जीवानां कायस्थितिः।
(१५) दर्शनद्वारमाश्रित्य जीवानां कायस्थितिः।
(१६) संयमद्वारमुपयोगद्वारं चाश्रित्य जीवानां कायस्थितिः।
(१७) आहारद्वारमाश्रित्य जीवानां कायस्थितिः।
(१८) भाषाकाभाषकद्वारं परित्तापरिद्वारं चाश्रित्य जीवानां कायस्थितिः।
(१९) संज्ञिद्वारं भवसिद्धिकद्वारं चाश्रित्य जीवानां कायस्थितिः।
(२०) उदकगर्भादीनां कायस्थितिनिरूपणम्।

(१) कायस्थित्यधिकारगाथामाह–

जीवगइंदियकाए, जोए वेदे कसाय लेस्सा य।
सम्मत्तनाणदंसण, संजय उवओग आहारे ॥१॥
भासगपरित्तपज्जत्त सूहमसन्नी भवत्थिचरिमे य।
एएसिं तु पदाणं, कायठिती होइ णायव्वा ॥२॥

प्रथमं जीवपदम्। किमुक्तं भवति ? प्रथमं जीवपदमधिकृत्य कायस्थितिर्वक्तव्या इति १, ततो गतिपदम् २, तदनन्तरमिन्द्रियपदम् ३, ततः कायपदम् ४, ततो योगपदम् ५, तदनन्तरं वेदपदम् ६, ततः कषायपदम् ७, ततो लेश्यापदम् ८, तदनन्तरं सम्यक्त्वपदम् ९, तदनन्तरं ज्ञानपदम् १०, तदनन्तरं दर्शनपदम् ११, ततः संयतपदम् १२, ततः उपयोगपदम् १३, तदनन्तरमाहारपदम् १४, ततो भाषकपदम् १५, ततः परीतपदम् १६, ततः पर्याप्तपदम् १७, ततः सूक्ष्मपदम् १८, ततः संज्ञिपदम् १९, ततो भवसिद्धिपदम् २०, तदनन्तरमस्तिकायपदम् २१, ततश्चरमपदम् २२, एतेषां द्वाविंशतिसंख्यानां पदानां कायस्थितिर्भवति ज्ञातव्या; यथा च भवति ज्ञातव्या तथा यथोद्देशं निर्दिश्यते।

(२) जीवदिदण्डकः–

जीवे णं भंते!जीव त्ति कालओ केव चिरं होइ? गोयमा!सव्व्द्धं।

'जीवेण भंते' इत्यादि। इह जीवनपर्यायविशिष्टो जीव उच्यते, तत्प्रश्नयति–जीवो, णमिति वाक्यालंकारे। भदन्त ! जीव इति। जीवपर्यायविशिष्टतयेत्यर्थः। कालतः कालमधिकृत्य, कियच्चिरं कियन्तं कालं यावद्भवति। भगवानाह–गौतम ! सर्वाद्धां, सर्वकालं यावत्। कथमिति चेत् ? उच्यते–इह जीवनमुच्यते प्राणधारणम्। प्राणाश्च द्विविधः– द्रव्यप्राणा भावप्राणाश्च। द्रव्यप्राणा इन्द्रियपञ्चकबलत्रिकोच्छ्वासनिश्वासायुष्कर्मानुभवलक्षणाः, भावप्राणा ज्ञानादयः। तत्र संसारिणामायुष्कर्मानुभवलक्षणं प्राणधारणं सदैवावस्थितम्, न हि सा काचिदवस्था संसारिणामास्ति यस्यामायुष्कर्मानुभवनं न विद्यते इति। मुक्तानां तु ज्ञानादिरूपप्राणधारणमवस्थितम्, मुक्तानामपि हि ज्ञानादिरूपाः प्राणाः सन्ति, यैर्मुक्तोऽपि जीवतीति व्यपदिश्यते। ते च ज्ञानादयो मुक्तानां शश्वतिकाः, अतः संसार्यवस्थायां च सर्वत्र जीवनमस्तीति सर्वकालभावी जीवनपर्यायः।

(३) सम्प्रति तस्यैव जीवस्य नैरयिकत्वादिपर्यायैरादिष्टस्य तैरेव पर्यायैरव्यवच्छेदेनावस्थानं चिन्तयन्नाह–

णेरइए णं भंते ! णेरइए त्ति कालओ केवं चिरं होइ ? गोयमा ! जहण्णेणं दस वाससहस्साइं, उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं ॥

'नेरएणं भंते' इत्यादि सुगमं, नैरयिकास्ततो भव्यस्वभाव्यात् च्युत्वाऽनन्तरं न भूयो भूयो नैरयिकत्वेनोत्पद्यन्ते, ततो यदेव तेषां भवस्थितेः परिमाणं तदेव कायस्थितेरपीत्युपपद्यते जघन्यत उत्कर्षश्च यथोक्तपरिमाणकायस्थितिः।

(४) तिरश्चाम्–

तिरिक्खजोणिए णं भंते ! तिरिक्खजोणिए त्ति कालओ केव चिरं होइ ? गोयमा ! जहेण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं अणंतं कालं, अणंताओ ओसप्पिणीउस्सप्पिणीओ कालओ खित्तओ अणंता लोगा असंखेज्जा पोग्गलपरियट्टा आवलियाए असंखेज्जइ भागे ॥

(तिरिक्खजोणिए णं भंते इत्यादि) तत्र यदा देवो मनुष्यो नैरयिको वा तिर्यक्षूत्पद्यते तत्र चान्मुहूर्त्तं स्थित्वा भूयः स्वगतौ गत्यन्तरे वा संक्रामति, तदा लभ्यते जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणा कायस्थितिः, उत्कर्षतोऽनन्तं कालं यावत्। तस्य चानन्तस्य कालस्य प्ररूपणा द्विविधा। तद्यथा– कालतः, क्षेत्रतश्च। तत्रकालतोऽनन्ता उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः, उत्सर्पिण्य-

वसर्पिणीपरिमाणं च नन्द्यध्ययनटीकातोऽवसेयम्, तत्र सविस्तरमभिहितत्वात्। क्षेत्रतोऽनन्ता लोकाः। किमुक्तं भवति ? अनन्तेषु लोकाऽऽकाशेषु प्रतिसमयमेकैकप्रदेशापहारे क्रियमाणे यावन्त्योऽनन्ता उत्सर्पिण्यवसार्पिण्यो भवन्ति तावतीर्यावत् तिर्यक् तिर्यक्त्वेनावतिष्ठते, एतदेव कालपरिमाणपुद्गलपरावर्त्तसङ्घातो निरूप्यते। पुद्गलपरावर्तस्वरूपं च पञ्चसंग्रहटीकायां विस्तरतोऽभिहितमिति ततोऽवधार्यमिह तु नाभिधीयते, ग्रन्थगौरवभयात्। असंख्याता अपि पुद्गलपरावर्त्ताः कियन्त इति विशेषसंख्यानिरूपणार्थमाह-(तेणमित्यादि) ते पुद्गलपरावर्त्ता आवलिकाया असंख्येयतमभागः। किमुक्तं भवति ? आवलिकाया असंख्येतमे भागे यावन्तः समयास्तावत्प्रमाणा असंख्येयपुद्गलपरावर्त्ता इति। एतच्चैवं कायस्थितिपरिमाणं वनस्पत्यपेक्षया द्रष्टव्यं, शेषतिर्यगपेक्षया; वनस्पतिव्यतिरेकेण शेषतिरश्चामेतावत्कालप्रमाणकायस्थितेरसम्भवात्।

तिर्यक् स्त्रियां कायस्थितिमाह-

तिरिक्खजोणिणी णं भंते ! तिरिक्खजोणिणीति कालओ केव चिरं होइ ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं तिन्नि पलिओवमाइं पुव्वकोडीपुहुत्तमब्भहियाइं, एवं मणुस्से वि, मणुस्सी वि एवं चेव।

(तिरिक्खजोणिणीणं भंते ! इत्यादि) इह उत्तरत्र च जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तभावना प्रागुक्ता अन्तर्मुहूर्त्तभावनानुसारेण स्वयं भावनीया। उत्कर्षतस्त्रीणि पल्योपमानि पूर्वकाटी-पृथक्त्वाभ्यधिकानि। कथमिति चेत् ? उच्यते-इह तिर्यग्मनुष्याणां संज्ञिपञ्चेन्द्रियाणा-मुत्कर्षतोऽप्यष्टौ भवाः कायस्थितिः, ''नरतिरियाणं सत्तट्ठ भवा'' इति वचनात्। तत्रोत्कर्षस्य चिन्त्यमानत्वादष्टावपि भवा यथासंभवमुत्कृष्टस्थितिकाः परिगृह्यन्ते। असंख्येयवर्षायुष्कस्तु मृत्वा नियमतो देवलोकेपूत्पद्यते न तिर्यक्षु। ततः सप्त भवाः पूर्वकोट्यायुषो वेदितव्याः। अष्टमस्तु पर्यन्तवर्ती देवकुर्वादिष्विति त्रीणि पल्योपमानि पूर्वकोटी पृथक्त्वाभ्यधिकानि भवन्ति च (मनुस्से वि मनुस्सी वि इति) एवं तिर्यक्स्त्रीगतेन प्रकारेण मानुष्योऽपि च वक्तव्याः। किमुक्तं भवति ? - मनुष्यसूत्रे मानुषीसूत्रे च जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतस्त्रीणि पल्योपमानि पूर्वकोटीपृथक्त्वाभ्यधिकानि वक्तव्यानीति। सूत्रपाठस्त्वेवम्-''मणुस्से णं भंते ! मणुस्स त्ति कालओ केव चिरं होइ ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं तिन्नि पलिओवमाइं पुव्वकोडीपुहुत्तमब्भहियाइं; मणुस्सीणं भंते ! मणुस्सि त्ति कालओ'' इत्यादि।

(५) देवदेवीनाम्-

देवे णं भंते ! देव त्ति कालओ केव चिरं होइ ? गोयमा ! जहेव णेरइए। देवी णं भंते ! देवि त्ति कालओ केव चिरं होइ ? गोयमा ! जहेण्णेणं दस वाससहस्साइं उक्कोसेणं पणपण्ण पलिओवमाइं। सिद्धे णं भंते ! सिद्ध त्ति केव चिरं होइ ?। गोयमा ! सादिअप्पज्जवसिए॥

(जहेव नेरइए इति) यथैव नैरयिकः प्रगुक्तस्तथैव देवोऽपि वक्तव्यः, देवस्यापि जघन्यतो दशवर्षसहस्राणि, उत्कर्षतः त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि वक्तव्यानीति भावः। देवा अपि हि स्वभवाच्च्युत्वा न भूयोऽनन्तरं देवत्वेनोत्पद्यन्ते, ''नो देवे देवेसु उववज्जइ'' इति वचनात्। ततो यदेव देवानामपि भवस्थितेः परिमाणं तदेव कायस्थितेरपि। देवीसूत्रे-उत्कर्षतः पञ्च पञ्चाशत् पल्योपमानीति, देवानां भवस्थितेरुत्कर्षतोऽप्येतावत्प्रमाणत्वात्। एतच्च ईशानदेव्यपेक्षया द्रष्टव्यम्, अन्यत्र देवीनामेतावत्या स्थितेरभावात्। सिद्धसूत्रेसाद्यपर्यवसित इति। सिद्धत्वस्य क्षया सम्भवात्। सिद्धत्वाद्विच्यावयितुमीशा रागादयो, न च ते भगवत् सिद्धस्य संभवन्ति, तन्निमित्तकर्मपरमाण्वभावात्, तदभावश्च तेषां निर्मूलकाषं कषितत्वात्।

(६) सम्प्रत्येतावतो नैरयिकादीन् पर्याप्ताप्यप्तिन विशेषणद्वारेण चिन्तयन्नाह-

णेरइए णं भंते ! णेरइयअपज्जत्तए त्ति कालओ केव चिरं होइ ? गोयमा ! जहण्णेण वि उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं, एवं जाव देवी अपज्जत्तिया॥

(नेरइए णं भंते !) नैरयिको भदन्त ! अपर्याप्त इति। अपर्याप्तत्वपर्यायविशिष्टो विच्छेदेन कालतः कियन्तं कालं यावद्भवति ? भगवानाह-गौतमेत्यादि। इहापर्याप्तावस्था जघन्यत उत्कर्षतश्चान्तर्मुहूर्त्तप्रमाणा, तत ऊर्द्धं नैरयिकाणामवश्यं पर्याप्तावस्थाभावात्। तत उक्तम्-(जहन्नेण वि अंतोमुहुत्तं उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं, एवं जाव देवी अप्पज्जत्तिया इति)एवं नैरयिकोक्तेन प्रकारेण पर्याप्तास्तिर्यगादयस्तावद्वक्तव्या यावद् देवी अपर्याप्तकाः, अपर्याप्तकदेवीसूत्रं यावदित्यर्थः। तत्र तिर्यञ्चो मनुष्याश्च यद्यप्यपर्याप्तका एव भूत्वा भूयो भूयोऽपर्याप्तेनोत्पद्यन्ते, तथाऽपि तेषामपर्याप्तावस्था नैरन्तर्येणोत्कर्षतोऽप्यन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणैव लभ्यते। यद्वक्ष्यति-''अपज्जत्तए णं भंते ! अपज्जए त्ति कालाओ केव चिरं होइ ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतो मुहुत्तं उक्कोसेणं अंतोमुहुत्तमिति''। देवदेवीसूत्रे-अन्तर्मुहूर्त्तभावना नैरयिकवत्।

नैरयिकाणां पर्याप्तत्वेन-

णेरइए णं भंते ! णेरइयपज्जत्तए त्ति कालओ केव चिरं होइ गोयमा ! जहण्णेणं दस वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तूणाइं उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं।

नैरयिकपर्याप्त इति। पर्याप्तो नैरयिक इत्येवमविच्छेदेन कालतः कियच्चिरं भवति ? भगवानाह-गौतम ! जघन्यतो दश वर्षसहस्राणि अन्तर्मुहूर्तोनानि, अन्तर्मुहूर्त्तस्यापर्याप्तावस्थायां गतत्वात्। अत एवोत्कर्षतोऽपि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि अन्तर्मुहूर्तोनानि।

तिरश्चाम्-

तिरिक्जोणियपज्जत्तए णं तिरिक्खजोणियपज्जत्तए त्ति कालओ केव चिरं होइ ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं। एवं तिरिक्खजोणिणीपज्जत्तिया वि। मणुस्से मणुस्सी वि एवं चेव। देवपज्जत्तए जहा णेरइयपज्जत्तए। देवीपज्जत्तियाणं भंते ! देवी पज्जत्तए त्ति कालओ केव चिरं होइ ? गोयमा ! जहण्णेणं दस वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं पणपण्णं पलिओवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं॥

तिर्यक् सूत्रे-जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तभावना प्राग्वत्। उत्कर्षतस्त्रीणि पल्योपमाण्यन्तर्मुहूर्त्तोनानि। एतच्चोत्कृष्टायुषो देवकुर्वादि-

भाविनस्तिरश्चोऽधिकृत्य वेदनीयम्, अन्येषामेतावत्कालप्रमाणा पर्याप्तावस्थायामविच्छेदेनाप्राप्यमाणत्वात्; अत्राप्यन्तर्मुहूर्त्तस्यापर्याप्तावस्थाया ग्रस्तत्वात्। एवं तिर्यक्स्त्रीमनुष्यमानुषीसूत्रेष्वपि भावनीयम्। तथा देवदेवीसूत्रयोस्तु जघन्त उत्कर्षतश्च कायस्थितिपरिमाणं प्रागुक्तमेवापर्याप्तावस्थाभाविनामन्तर्मुहूर्त्तेन हीनं परिभावनीयम्। गतं गतिद्वारम्।

(७) इदानीमिन्द्रियद्वारमभिधित्सुराह–

सइंदिए णं भंते ! सइंदिए त्ति कालओ केव चिरं होइ ? गोयमा ! सइंदिए दुविहे पण्णत्ते। तं जहा– अणाइए अपज्जवसिए, अणाइए सपज्जवसिए॥

(सइंदिए णं भंते ! इत्यादि) सह इन्द्रियं यस्य येन वा स सेन्द्रियः। इन्द्रियं च द्विधा–लब्धीन्द्रियं द्रव्येन्द्रियं च तत्रेह लब्धिन्द्रियमवसेयं, तद्विग्रहगतावप्यस्ति। इन्द्रियपर्याप्तस्यापि च ततो निर्वचनसूत्रमुपपद्यते; अन्यथा तदघटमानमेव स्यात्। निर्वचनसूत्रमेवाह–(गोयमेत्यादि) इह यः संसारी स नियतमात्मेन्द्रियः, संसारश्चानादिरित्यनादिः सेन्द्रियः। तत्रापि यः कश्चित्कदाचिदपि न सेत्स्यतिऽनाद्यपर्यवसितः, सेन्द्रियत्वे पर्यायस्य कदाचिदप्यव्यच्छेदात्। यस्तु सेत्स्यति सोऽनादिसपर्यवसितः, मुक्त्यवस्थायां सेन्द्रियत्वपर्यायस्याभावात्।

एकेन्द्रियादीनाम्–

एगिंदिए णं भंते ! एगिंदिए त्ति कालओ केव चिरं होइ ? गोयमा ! जहण्णेणं अन्तोमुहुत्तं उक्कोसेणं अणंतं कालं वणस्सइकालो॥

एकेन्द्रियसूत्रे यदुक्तं ''उक्कोसेणं अणंतं कालमिति'' तमेवानन्तं कालं सविशेषं निरूपयति–(वणस्सइकालओ इति) यावन् वनस्पतिकालः अग्रे वक्ष्यति, तावन्तं कालं यावदित्यर्थः; वनस्पतिकायस्यैकेन्द्रियपदे तस्यापि परिग्रहात्। स च वनस्पतिकाल एवं प्रमाणः–''अणंताओ उस्सप्पिणि-ओसप्पिणीओ कालओ, खेत्तओ अणंता लोगा असंखेज्जा पोग्गलपरियट्टा तेणं पोग्गलपरियट्टा आवलियाए असंखेज्जइभागे'' इति॥

द्वीन्द्रियादीनाम्–

वेइंदिए णं भंते ! वेइंदिए त्ति कालओ केव चिरं होइ ? गोयमा ! जहण्णेण अन्तोमुहुत्तं उक्कोसेणं संखिज्जं कालं। एवं तेइंदियचउरिंदिए वि। पंचिंदिए णं भंते ! पंचिंदिए त्ति कालओ केव चिरं होइ ?गोयमा ! जहण्णेणं अन्तोमुहुत्तं उक्कोसेणं सागरोवमसहस्सं सातिरेगं। आणिंदिए णं पुच्छा ? गोयमा ! सादिए अपज्जवसिए। सइंदियअपज्जत्तए णं पुच्छा ? गोयमा ! जहन्नेणं वि उक्कोसेण वि अन्तोमुहुत्तं। एवं जाव पंचिंदियअपज्जत्तए वि॥

द्वीन्द्रियसूत्रे–(संखेज्जं कालं ति) संख्येयानि वर्षसहस्राणीत्यर्थः; ''विगलें दियाण य वाससहस्सं संखेज्जा'' इति वचनात्। एवं त्रीन्द्रियचतुरिन्द्रिययोरपि सूत्रे वक्तव्ये। तत्रापि जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तमुत्कर्षतः संख्येयकालमिति वक्तव्यमिति भावः। संख्येयश्च कालः संख्येयानि वर्षसहस्राणि प्रत्येतव्यानि। पञ्चेन्द्रियसूत्रे–उत्कर्षतः सातिरेकं सागरोपमसहस्रं, तच्च नैरयिकतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्यदेवभवव्रतेन द्रष्टव्यमधिकं तु न भवति, एतावत एव कालस्य केवलवेदस्योपलब्धत्वात्। अनिन्द्रियो द्रव्यभावेन्द्रियविकलः, स च सिद्ध एव। सिद्धश्च साद्यपर्यवसितः। तत उक्तम्–'साइ अपज्जवसिए' इति। 'सइंदियअपज्जत्तए णमित्यादि'। इहापर्याप्ता लब्धापेक्षया, करणापेक्षया च द्रष्टव्याः; उभयथाऽपि तत्पर्याप्तस्य जघन्यत उत्कर्षतो वाऽन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणत्वात्। एवं तावद्वाच्यं यावत्पञ्चेन्द्रियापर्याप्तकः पञ्चेन्द्रियापर्याप्तकसूत्रम्; तच्च सुगमत्वात् स्वयं परिभावनीयम्। अनिन्द्रियोऽत्र न वक्तव्यः, तस्य पर्याप्तापर्याप्तविशेषणरहितत्वात्।

सइंदियपज्जत्तए णं भंते ! सइंदियपज्जत्तए त्ति कालओ केव चिरं होइ ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं सागरोवमसयपुहुत्तं सातिरेगं। एगिंदियपज्जत्त ए णं भंते ! पुच्छा ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं संखेज्जाइं वाससहस्साइं। वेइंदियपज्जत्तए णं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहूत्तं उक्कोसेणं संखिज्जाइं वाससहस्साइं। वेइन्दियपज्जत्तए णं पुच्छा ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं संखिज्जाइं वासाइं। तेइंदियपज्जत्तए णं पुच्छा ?गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं संखेज्जाइं राइंदियाइं। चउरिंदिय पज्जत्तए णं भंते ! पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं संखिज्जा मासा। पंचिंदियपज्जत्तए णं भंते ! पुच्छा ?गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं सागरोवमसय पुहुत्तं॥

(सइंदियपज्जत्तए णं भंते ! इत्यादि) इह पर्याप्तो लब्ध्यपेक्षया वेदितव्यः। स हि विग्रहगतावपि सम्मतिकरणैरपर्याप्तस्यापि, तत उत्कर्षतः सातिरेकसागरोपमशतपृथक्त्वमिति यन्निर्वचनं तदुपपद्यते। अन्यथा करणपर्याप्तस्योत्कर्षतोऽप्यन्तर्मुहूर्त्तानां त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणतया लभ्यमानत्वात् यथोक्तं निर्वचनेनोपपद्यते। एवमुत्तरसूत्रेऽपि पर्याप्तत्वं लब्ध्यपेक्षया द्रष्टव्यम्। एकेन्द्रियपर्याप्तसूत्रेसंख्येयानि वर्षसहस्राणीति। एकेन्द्रियस्य हि पृथिवीकायस्योत्कर्षतो द्वाविंशतिवर्षसहस्राणि भवस्थितिः। अप्कायस्य सप्त वर्षसहस्राणि, वातकायस्य त्रीणि वर्षसहस्राणि, ततो निरन्तरं कतिपयपर्याप्तभवसङ्कलनया सङ्ख्येयानि वर्षसहस्राणि घटन्ते इति। द्वीन्द्रियस्य पर्याप्तसूत्रे–सङ्ख्येयानि वर्षाणि, द्वीन्द्रिया ह्युत्कर्षतो भवस्थितिपरिमाणं द्वादशसंवत्सराणि। न चर्वेष्वपि भवेषूत्कृष्टस्थितिसम्भवः, ततः कतिपयनिरन्तरपर्याप्तभवसङ्कलनयाऽपि संख्येयानि वर्षाण्येव लभ्यन्ते, न तु वर्षशतानि, वर्षसहस्राणि वा। त्रीन्द्रियपर्याप्तसूत्रे–संख्येयानि रात्रिंदिवानि;तेषां च भवस्थितिरुत्कर्षतोऽप्येकोनपञ्चाशद्दिनस्या कतिपय निरन्तरपर्याप्तभवसङ्कलनायामपि संख्येयानां रात्रिंदिवानामेव लभ्यमानत्वात्। चतुरिन्द्रियसूत्रे–संङ्ख्येया मासाः, तेषां भवस्थितेरुत्कर्षतः षण्मासप्रमाणतया कतिपयनिरन्तरपर्याप्तकालसङ्कलनायामपि संख्येयानां मासानं प्राप्यमाणत्वात्। पञ्चेन्द्रियसूत्रं सुगमम्।

(८) इदानीं कयद्वारमभिधित्सुराह–

सकाइए णं भंते ! सकाइए त्ति कालओ केव चिरं होइ ?

गोयमा ! सकाइए दुविहे पण्णत्ते । तं जहा–अणादिए अपज्जवसिए, अणादिए सपज्जवसिए । पुढविकाइए णं पुच्छा ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं असंखिज्जं कालं, असंखेज्जाओ ओसप्पिणिउस्सप्पिणीओ कालओ, खित्तओ असंखेज्जा लोगा । एवं आउतेउवाउकाइया वि । वणस्सइकाइया णं पुच्छा ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसणं अणंतं कालं अणंताओ ओसप्पिणिउस्सप्पिणीओ कालओ, खेत्तओ अणंता लोगा, असंखिज्जा पोग्गलपरियट्टा, ते णं पोग्गलपरियट्टा आवलियाए असंखेज्जइभागो । तसकाइए णं भंते ! तसकाइए त्ति पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं दो सागरोवमसहस्साइं संखेज्जवासब्भहियाइं । अकाइए णं भंते ! पुच्छा ? । गोयमा ! अकाइए सादिए अपज्जवसिए ।

(सकाइए णं भंते ! इत्यादि) सह कायो यस्य येन वा सकायः, सकाय एव सकायिकम्। आर्षत्वात् स्वार्थे इकप्रत्ययः। कायः शरीरं, तच्चौदारिक वैक्रियाहारकतैजसकार्मणभेदात्पञ्चधा। तत्रेह कार्मणं तैजसं वा द्रष्टव्यं, तस्यैवासंसारभावात्। अन्यथा विग्रहगतौ वर्त्तमानस्य शरीरपर्याप्तस्य च शेषशरीरासंभवादकायिकत्वं स्यात्। तथा च सति निर्वचनसूत्रमाह–(सकाइए दुविहे पन्नत्ते इत्यादि) तत्र यः संसारपारगामी नभविष्यति सोऽनाद्यपर्यवसितः, कदाचिदपि तस्य कायस्य व्यवच्छेदाऽसंभवात्। यस्तु मोक्षमधिगन्ता सोऽनादिसपर्यवसितः, तस्य मुक्त्यवस्थासम्भवे सर्वात्मना शरीरपरित्यागात्। पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिसूत्राणि सुगमानि, अन्यत्रापि तदर्थस्यप्रतीत्वात्। तथा चोक्तम्–''असंखोसप्पिणिउस्सप्पिणीओ एगिंदियाणं चउण्हं ता चवओ अणंतवणस्सईए बोधव्वा''। ननु यदि वनस्पतिकालप्रमाणम- संख्येयाः पुद्गलपरावर्त्ताः, ततो यद्गीयते सिद्धान्ते मरुदेवाजीवो यावद् जीवभावं वनस्पतिरास दिति तत्कथं स्यात्, कथं वा वनस्पतीनामनादित्वम् ? प्रतिनियतकालप्रमाणतया वनस्पतिभावस्यानादित्वविरोधात्। तथाहि–असंख्येयाः पुद्गलपरावर्तास्तेषामवस्थानमानं तत एतावति कालेतिक्रान्ते नियमात्सर्वेऽपि कायपरावर्त्तं कुर्वन्ति, यथा स्वस्थितिकालान्ते सुरादयः।

उक्तञ्च–

''जइ पुग्गलपरियट्टा, संखाईया वणस्सई कालो।
अच्चंतवणस्सईण–मणाइयत्तमत एव हेतूओ ॥१॥
जमसंखेज्जा पुग्गल–परियट्टा तत्थऽवत्थाणं।
कालेणेवइएणं, तम्हा कुव्वंति कायपलट्टं ॥२॥
सव्वे वि वणस्सइणे, ठिइकालं ते जहा सुराई य''

किं चैवं यद्वनस्पतीनां निर्लेपनमागमे प्रतिषिद्धं, तदपीदानीं प्रसक्तम्। कथमिति चेत् ? उच्यते–इह प्रतिसमयं संख्येया वनस्पतिभ्यो जीवा उद्वर्तन्ते, वनस्पतीनां च कायस्थितिपरिमाणमसंख्येयाः पुद्गलपरावर्ताः, ततो यावन्तोऽसंख्येयेषु पुद्गलपरावर्तेषु समयास्तैरम्यस्ता एक समयोद्वृत्ता जीवा यावन्तो भवन्ति तावत्परिमाणमागतं, न वनस्पतीनाम्। ततः प्रतिनियतपरिमाणसिद्धं निर्लेपनं प्रतिनियतपरिणामत्वादेव गच्छत्कालेन सिद्धिरपि सर्वेषां भव्यानां प्रसक्ता, तत्प्रसक्तौ च मोक्षपथव्यवच्छेदोऽपि प्रसक्तः। सर्वभव्यसिद्धिगमनानन्तरमन्यस्य सिद्धिगमना–योगात्।

आह च–

''कायट्ठिइकालेणं, तेसिमसंखेज्ज जाव भावेणं।
निल्लेवणमावन्नं, सिद्धी वि य सव्वभव्वाणं ॥१॥
पइसमयं संखेज्जा, जेणुव्वट्टंति ता तदव्वत्था।
कायट्ठिइए समया, वणस्सईणं होइ परिमाणं'' ॥२॥

न चैतदस्ति, वनस्पतीनामनादित्वनिर्लेपनप्रतिषेधस्य सर्वभव्यासिद्धेर्मोक्षपथव्यवच्छेदस्य तत्र तत्र प्रदेशसिद्धान्ताभिधानात्। उच्यते–इह द्विविधा जीवाः–सांव्यवहारिका असांव्यवहारिकाश्च। तत्र ये निगोदावस्थात उद्वृत्य पृथिवीकायिकादिभेदेषु वर्तन्ते ते लोकेषु दृष्टिपथमागता : सन्तः पृथिवीकायिकादिव्यवहारमनुपतन्तीति सांव्यवहारिका उच्यन्ते। ते च यद्यपि भूयोऽपि निगोदावस्थामुपयान्ति, तथाऽपि ते सांव्यवहारिका एव, सांव्यवहारे पतितत्वात्। ये पुनरनादिकालादारभ्य निगोदावस्थामुपगता एवावतिष्ठन्ते ते व्यवहारपथातीतत्वादसांव्यवहारिकाः। कथमेतदवसीयते द्विविधा जीवाः–सांव्यावहारिका असांव्यवहारिकाश्चेति ? उच्यते–युक्तिवशात्। इह पंत्युत्पन्नवनस्पतीनामपि निर्लेपनमागमे प्रसिद्धम्, किं पुनः सकलवनस्पतीनाम्, तथा भव्यनामपि। यच्च यद् ये सांव्यवहारिकराशिनिपतिता अत्यन्तवनस्पतयो न स्युः, ततः कथमुपपद्यते ? तस्मादवसीयते अस्त्यसांव्यवहारिकराशिरपि यद्वतानामनादिता। किञ्च–इयमपि गाथा गुरूपदेशादागता–''समए अत्थि अणंता, जीवा जेहि न पत्तो तसाइपरिणामो। ते वि अणंताणं ता, निगोयवासं अणुवसंति''॥१॥ तत इतोऽप्यसांव्यवहारिकराशिः सिद्धः। उक्तञ्च–''पच्चुप्पन्नवणस्सईण निल्लेवणं न भव्वाणं जुत्तं होइ, तं जइ अच्चंतवणस्सइं नत्थि, एवं अणादिवणस्सईण अत्थित्तमत्थओ सिद्धं। भण्णइ इयमवि गाहा गुरूवएसागया''–''समए अत्थि अणंता, जीवा'' इत्यादि। तत्रेदं सूत्रं सांव्यवहारिकानधिकृत्यावसेयम्। न चासांव्यवहारिकाद्विशेषविषयत्वात् सूत्रस्य न चैतत्स्वमनीषिकाविजृम्भितम्; यत आहुर्जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणपूज्यपादाः–''तह कायट्ठिइ कालादओ विसेसे पडुच्च किर जीवो। नाणाइवणस्सइणो, जे संववहारबाहिरिया''॥१॥ अत्रापिशब्दात्सर्वैरपि जीवैः श्रुतमनन्तशः स्पृष्टमित्यादि। यदस्यामेप प्रज्ञापनायां वक्ष्यते, प्रगुक्तश्च परिग्रहः, ततो न कश्चिद्दोषः। त्रसकायसूत्रं सुप्रतीतम्।

एतानेव सकायिकादीन् पर्याप्तापर्याप्तविशेषणविशिष्टान् चिन्तयन्नाह–

सकाइयअप्पज्जत्ताए णं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेण वि उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं, एवं जाव तसकाइयअपज्जत्तए । सकाइयपज्जत्तए पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं सागरीमसयपुहत्तसातिरेगं । पुढविकाइयपज्जत्तए पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेण संखेज्जाइं वाससहस्साइं । एवं आऊ वि । तेउकाइयपज्जत्तए पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं संखेज्जाइं राइंदियाइं । वाउकाइयपज्जत्तए णं पुच्छा ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं संखिज्जाइं वाससहस्साइं । वणस्सइकाइयपज्जत्तए णं पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं संखेज्जाइं वाससहस्साइं । तसकाइयपज्जत्त-

ए णं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं सागरावमसयपुहत्तं सातिरेगं ।

''सकाइए'' इत्यादि सुगमं, नवरं तेजस्कायसूत्रे उत्कर्षतः संख्येयानि रात्रिन्दिवानीति । तेजस्कायस्य हि भविस्थितिरुत्कर्षतोऽपि त्रीणि रात्रिन्दिवानि ततो निरन्तरं कतिपयपर्याप्तभवकलनायामपि संख्येयानि रात्रिन्दिवान्येव लभ्यन्ते, न तु वर्षाणि, वर्षसहस्राणि वा।

संप्रति कायद्वारान्तःप्रवेशसंभवात् सूक्ष्मकायिकादीन् निरूपयितुकाम आह—

सुहुमे णं भंते ! सुहुत त्ति कालओ केव चिरं होइ ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं असंखेज्जाओ ओसप्पिणिउस्सप्पिणीओ कालओ, खेत्तओ असंसंखेज्जा लोगा । सुहुम पुढविकाइए सुहुमआउकाइए सुहुमतेउकाइए सुहुमवाउकाइए सुहुमवणस्सकाइए सुहुमनिगोदे जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं असंखिज्जाओ ओसप्पिणिउस्सप्पिणीओ कालओ, खेत्तओ असंखेज्जा लोगा । सुहुमे णं भंते ! अपज्जत्तए त्ति पुच्छा ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पुढविकाइयआउकाइयतेउकाइयवाउकाइयवणस्सइकाइयाण य एवं चेव । पज्जत्तियाणं जहा ओहियाणं ॥

(सुहुमेणं भंते ! इत्यादि) सूक्ष्मः सूक्ष्मकायिको भदन्त ! इति। सूक्ष्मत्वपर्यायविशिष्टः सन्नव्यवच्छेदेन कालतः कियचिरं भवति ? भगवानाह—गौतम !(जहन्नेणमितदि) एतदपि सूत्रं सांव्यवहारिकजीवविषयमवसातव्यम् । अन्यथा उत्कर्षतोऽसंख्येय-कालमिति यन्निर्वचनमुक्तं तन्नोपपद्यते, सूक्ष्मनिगोदजीवानामसांव्यवहारिकराशिनिपतितानामनादितायाः प्रागुपपादितत्वात्। (खेत्तओ असंखेज्जा लोगा इति) असंख्येयेषु लोकाकाशेषु प्रतिसमयमेकैकप्रदेशा-पहारे यावन्त्य उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यो भवन्ति तावत्प्रमाणा असंख्येया उत्सर्पिण्यवसर्पिण्य इत्यर्थः। सूक्ष्मवनस्पतिकायसूत्रमपि प्रागुक्तयुक्तिशात् सांव्यवहारिकजीवविषयं व्याख्येयम्, मथा सूक्ष्माःसामान्यतः पृथिवीकायिकादिविशिष्टाश्च पर्याप्ता अपर्याप्ताश्च निरन्तरं भवन्तो जघन्यत उत्कर्षतश्चान्तर्मुहूर्तकालं यावन्न परमिति; ततस्तद्विषयसूत्रकदम्बके सर्वत्राऽपि जघन्यत उत्कर्षतश्चान्तर्मुहूर्तकम्।

वादरसामान्यसूत्रे यदुक्तमसंख्येयं कालं तस्य विशेषनिरूपणार्थमाह—

बादरे णं भंते ! बादर त्ति कालओ केव चिरं होइ ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं असंखेज्जाओ ओसप्पिणिउस्सप्पिणीओ कालओ, खेत्तओ अंगुलस्स असंखेज्जइभागं । बादरपुढविकाइए णं भंते ! पुच्छा ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं सत्तरिसागरोवकोडाकोडीओ । एवं बादरआउकाइए वि जाव बादरवाउकाइए वि । बादरवणस्सइकाइए णं भंते ! बादर त्ति पुच्छा ? । गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं जाव खेत्तओ अंगुलस्स असंखेज्जइभागं । पत्तेयसरीरबादरवणस्सइकाइए णं भंते ! पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेण सत्तरिकोडाकोडीओ । निगोदे णं भंते ! निगोदे त्ति पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं अणंतं कालं अणंताओ उस्सप्पिणिओसप्पिणीओ कालओ, खेत्तओ अड्ढाइज्जा पोग्गलपरियट्टा । बादरनिगोदे णं भंते ! बादर त्ति पुच्छा ? । गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं सागरोवमं सत्तरिकोडाकाडीओ । बादरतसकाइए णं भंते ! बादरतसकाइए त्ति कालओ केव चिरं होइ ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं दो सागरोवमसहस्साइं संखेज्जवासतब्भहियाइं, एतेसि चेव अपज्जत्तगा सव्वे वि जहन्नेणं वि उक्कोसेणं वि अंतोमुहुत्तं । बादरपज्जत्तए णं भंते ! बादरपज्जत्तए त्ति पुच्छा ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं सागरोवमसतपुहत्तं सातिरेगं । सागर पुढविकाइयपज्जत्तए णं पुच्छा ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं संखेज्जाइं वाससहस्साइ । एवं आउकाइए वि । तेउकाइयपज्जत्ताए णं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं संखेज्जाइं राइंदियाइं । वाउकाइए वणस्सइकाइए पत्तेयसरीरबादरवणस्सकाइए पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं संखिज्जाइं वाससहस्साइं । निगोदपज्जत्तए बादरनिगोदपज्जत्तए पुच्छा ? गोयमा ! दोण्हं वि जहन्नेणं वि उक्कोसेणं वि अंतोमुहुत्तं । बादरतसकाइयपज्जत्तए णं भंते ! बादरतसकाइयपज्जत्तए त्ति कालओ केव चिरं होइ ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्त उक्कोसेणं सागरोवमसयपुहत्तं सातिरेगं ॥

असंख्येया उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः; इदं कालतः परिमाणमुक्तम्। क्षेत्रत आह—(अंगुलस्स असंखेज्जइभागमिति) अङ्गुलस्यासंख्येया भागः । किमुक्तं भवति ? अङ्गुलस्यासंख्येयतमे भागे यावन्त आकाशप्रदेशास्तेषां प्रतिसमयमेकैकप्रदेशापहारे असंख्येया उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यो लगन्ते। उच्यते—क्षेत्रस्य सूक्ष्मत्वात्। उक्तञ्च—''सुहुमो य होइ कालो, तत्तो य सुहुमयरं हवइ खित्तं'' इत्यादि । एतच्च बादरवनस्पतिकायापेक्षयाऽवसातव्यम्, तस्य बादरस्यैतावत्कायस्थितेरसम्भवात् । शेषसूत्राणि द्वारसमाप्तिं यावत्सुयमानि। गतं कायद्वारम्।

(६) इदानीं योगद्वारमभिधित्सुराह—

सजोगी णं भंते ! सजोगित्ति कालओ केव चिरं होइ ? गोयमा ! सजोगी दुविहो पण्णत्तो । तं जहा—अणाइए वा अपज्जवसिए, अणाइए वा सपज्जवसिए । मणजोगी णं भंते! मणजोगि त्ति कालओ केव चिरं होइ ? गोयमा ! जहन्नेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं अंतोमुहुत्तं ।एवं वयजोगी वि ।

कायजोगीणं भंते ! पुच्छा ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वणस्सइकालो। अजोगी णं भंते ! अजोगि त्ति कालओ केव चिरं होइ ? गोयमा ! सादिए अपज्जवसिए।

योगा मनोवाक्कायव्यापाराः योगा एषां सन्तीति योगिनो मनोवाक्कायाः, सह योगिनी यस्य येन वा सयोगी। अत्र निर्वचनम्–(सजोगी दुविहे पन्नत्ते इत्यादि) अनाद्यपर्यवसितोयो न जातु चिदपि मोक्षगतः सर्वकाल-मवश्यमन्यतमेन योगेन सयोगी; ततोऽनाद्यपर्यवसितो–यस्तु यास्यति मोक्षं सोऽनादिसपर्यवसितः; मुक्तिपर्यायप्रादुर्भावे योगस्य सर्वथाऽपगमात्। मनोयोगिसूत्रे–जघन्यत एकं समयमिति यदा कश्चिदौदारिककाययोगेन प्रथमसमयमनोयोग्यान् पुद्गलानादाय द्वितीयसमये मनस्त्वेन परिणमय्य मुञ्चति तृतीयसमये चोपरमते म्रियते वा, तदा एकं समयं मनोयोगी लभ्यते उत्कर्षतसो–ऽन्तर्मुहूर्त्तं निरन्तरं मनोयोग्यपुद्गलानां ग्रहणविसर्गौ कुर्वन् तत ऊर्द्ध्वं सोऽवश्यं जीवस्वाभाव्यादुपरमते, उपरम्य च भूयोऽपि ग्रहणविसर्गौ करोति परं कालसूक्ष्मात् कदाचिन्न स्वसंवेदनपथ–मायाति। उत्कर्षतोऽपि मनोयोग्यन्तर्मुहूर्त्तमेव॥ (एवं वययोगी वि इति) एवं मनोयोगीव वाग्योग्यपि वक्तव्यः। तद्यथा–''वइजोगी णं भंते ! वइजोगि त्ति कालाओ केव चिरं होइ ? गोयमा ! जहन्नेणं एक्कं समयं उक्कोसणं अंतोमुहुत्तमिति''। तत्र यः प्रथमसमय काययोगेन भाषायोग्यानि द्रव्याणि गृह्णाति, द्वितीयसमये तानि भाषात्वेन परिणमय्य मुञ्चति, तृतीयसमये चोपरमते म्रियते वा, स एकं समयं वाग्योगी लभ्यते। आह च मूलटीकाकारः–''पढमसमये काययोगेण गहियाण भासादव्वाणं, विइयसमये वइयोगेण निसग्गं काऊण उवरमंतस्स वा एगसमओ लब्भइ'' इति अन्तर्मुहूर्त्तं निरन्तरं ग्रहणविसर्गौ कुर्व न् तदनन्तरं चोपरमते, तथाजीवस्वाभाव्यात्। काययोगी जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमिति। इह द्वीन्द्रियादीनां वायोग्यपि लभ्यते। संज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां मनोयोगोऽपि, ततो यदा वाग्योगो भवति मनोयोगो वा तदा न काययोगप्राधन्यमिति, सादिसपर्यवसितत्वभावात्। जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तं काययोगी लभ्यते, उत्कर्षतो वनस्पतिकालः, स च प्रागेवोक्तः। वनस्पतिकायिकेषु हि काययोग एव केवलो न वाग्योगो, मनोयोगो वा। ततः शेषयोगासम्भवात्तेषां कायस्थितिः। सततं काययोग इति मानम्। अयोगी च सिद्धः, स च साद्यपर्यवसित इत्ययोगी साद्यपर्यवसित उक्तः। गतं योगद्वारम्।

(१०) इदानीं वेदद्वारं प्रतिपिपादयिषुराह–

सवेदए णं भंते ! सवेदए त्ति कालओ केव चिरं होइ ? गोयमा ! सवेदए तिविहे पण्णत्ते। तं जहा–अणादिए वा अपज्जवसिए, अणादिए वा सपज्जवसिए, सादिए वा सपज्जसिए। तत्थ णं जे ते सादिए सपज्जवसिए से जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं अणंताओ ओसप्पिणिउस्सप्पिणीओ कालओ, खेत्तओ अवड्ढपोग्गलपरियट्टं देसूणं। इत्थिवेदे णं भंते ! इत्थिवेदे त्ति कालओ केव चिरं होइ ? गोयमा ! एगेणं आदेसेणं जहन्नेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं दसुत्तरं पलिओवमसतं पुव्वकोडीपुहत्तमब्भहियं। एगेणं आदेसेणं जहन्नेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं अट्ठारसपलिओवमाइं पुव्वकोडिपुहत्तमब्भहियाइं। एगेणं आदेसेणं जहन्नेणं एगं समयं उक्कोसेणं चोद्दसपलिओवमाइं पुव्वकोडिपुहत्तमब्भहियाइं। एगेणं आदेसेणं जहन्नेणं एगं समयं उक्कोसेणं पलिओवमसतं पुव्वकोडिमब्भहियं। एगेणं आदेसेणं जहण्णेणं एगं समयं उक्कोसेणं पलिओवमपुहत्तं पुव्वकोडिपुहत्तमब्भहियं॥

(सवेदए णं भंते ! इत्यादि) सह वेदो यस्य येन वा स सवेदकः। **''शेषाद्वा''।७।३।१७५।** इति कप्रत्ययः। स च त्रिविधः। तद्यथा–अनाद्यऽपर्यवसितोऽनादिसपर्यवसितः, सादिसपर्यवसितश्च। तत्र य उपशमश्रेणिं, क्षपकश्रेणिं वा न जातुचिदपि प्राप्स्यति सोऽनाद्यपर्य-वसितः, कदाचिदपि तस्य वेदोदयव्यवच्छेदासम्भवात्। यस्तु प्राप्स्यत्युपशमश्रेणिं क्षपकश्रेणिं वा सोऽनादिसपर्यवसितः; उपशमश्रेणिप्रतिपत्तौ क्षपकश्रेणिप्रतिपत्तौ वा वेदोदयव्यवच्छेदस्य भावितत्वात्। यस्तूपशमश्रेणिं प्रतिपद्यते तत्र चावेदको भूत्वा भूय उपशमश्रेणीतः प्रतिपतन् सवेदको भवति, स सादिसपर्यवसितः, स च जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तम्। कथमिति चेत् ? उच्यते–इह यदा कोऽपि उपशमश्रेणिमुपपद्य त्रिविधमपि वेदमुपशमय्यावेदको भूत्वा पुनरपि श्रेणितः प्रतिपतन् सवेदकत्वं प्राप्य झटित्युपशमश्रेणिं कर्मग्रन्थि–काभिप्रायेण क्षपकश्रेणिं वा प्रतिपद्य च वेदत्रयमुपशमयति, क्षपयति वा अन्तर्मुहूर्त्तेन, तदा जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तमवेदकः, उत्कर्षतोऽपार्द्धपुद्गलपरा-वर्त्तदेशोनम् अपगतमर्द्धं यस्य स अपार्द्धः, देशोनां किंचिदूनम्। उपशमश्रेणीतो हि प्रतिपतित एतावन्तं कालं संसारं पर्यटन्ति, ततो यथोक्तमुत्कर्षतः सादिसपर्यवसितस्य सवेदकस्य कालमानमुपपद्यते। स्त्रीवेदविषये च पञ्चादेशाः, तान् क्रमेण निरूपयति–(एगेण ओदेसेणमित्यादि) तत्र सर्वत्रापि जघन्यतः समयमात्रं भावनीयम्–काचित् युवतिरुपशमश्रेणिवेद–त्रयोपशमेनावेदकत्वमनुभूय ततः श्रेणिं प्रतिपतन्ती स्त्रीवेदादयमेकसमयमनुभूय द्वितीयसमये कालं कृत्वा देवेषूत्पद्यते; तत्र च तस्याः पुंस्त्वमेव न स्त्रीत्वम्। तत एवं जघन्यतः समयमात्रं स्त्रीवेदः। उत्कर्षचिन्तायामियं प्रथमाऽऽदेशभावना–कश्चिज्जन्तुर्नारीषु तिरश्चीषु वा पूर्वकोट्यायुष्कासु मध्ये पञ्चषान् भवान् अनुभूय ईशाने कल्पे पञ्चपञ्चाशत्पल्योपमप्रमाणोत्कृष्टस्थितिष्वपरि-गृहीतासु देवीषु मध्ये देवीत्वेनोत्पन्नः, ततः स्वायुःक्षये च्युत्वा भूयोऽपि नारीषु तिरश्चीषु वा पूर्वकोट्यायुष्कासु मध्ये स्त्रीत्वेनोत्पन्नः, ततो भूयोद्धपि द्वितीयवारमीशाने देवलोके पञ्चपञ्चाशत्पल्येपमप्रमाणोत्कृ ष्टायुष्कास्वपरिगृहीतदेवीषु मध्ये देवीत्वेनोत्पन्नः, ततः परमवश्यं वेदान्तरमेव गच्छति। एवं दशोत्तरं पल्योपमशतं पूर्वकोटिपृथक्त्वाभ्यधिकं प्राप्यते। अत्र पर आहननु यदि देवकुरूत्तरकुर्वादिषु पल्योपमत्रय-स्थितिकासु स्त्रीशु मध्ये समुपपद्यते, ततोऽधिकाऽपि स्त्रीवेदस्य स्थितिरवाप्यते, ततः किमित्येवोपदिष्ट ? तदयुक्तम्। अभिप्रायापरिज्ञानात्। तथाहि–इह तावद्देवीभ्यश्च्युत्वा असंख्येयवर्षायुष्कासु स्त्रीमध्ये नोत्पद्यते, देवयोनेश्च्युतानामसंख्येयवर्षायुष्केषुमध्ये उत्पादप्रतिषेधात्। नाप्यसंख्येयवर्षायुष्का सती योषित् उत्कृष्टासु देवीषु जायते। यत उक्तं मूलटीकाकृता–''जाता असंखेज्जा वासाउया उक्कोसट्ठिई न पावेइ'' इति।

ततो यथोक्त प्रमाणैवोत्कृष्टा स्थितिः स्त्रीवेदस्याऽवाप्यते । द्वितीयादेशवादिनः पुनरेवमाहुःनारीषु तिरश्चीषु वा पूर्वकोट्यायुष्कासु मध्ये पञ्चषान् भवान् अनुभूय पूर्वप्रकारेणेशाने देवलोकेषु वारद्वयमुत्कृष्टस्थितिकासु देवीषु मध्ये उत्पद्यमाना नियमतः परिगृहीतास्वेवोत्पाद्यते नापरिगृहीतासु। ततस्तन्मतेनोत्कृष्टमवस्थानं स्त्रीवेदस्याष्टदशपल्योपमानि पूर्वकोटिपृथक्त्वं च । तृतीयादेशवादिनां तु-सौधर्मदेवलोके परिगृहीतासु सप्तपल्योपमसप्रमाणोत्कृष्टासु वारद्वयं समुत्पद्यते, ततस्तन्मतेन चतुर्दशपल्योपमानि पूर्वकोटिपृथक्त्वाभ्यधिकानि स्त्रीवेदस्य स्थितिः । चतुर्थादेशवादीनां तु मतेन-सौधर्मदेवलोके पञ्चाशत्पल्योपमप्रमाणोत्कृष्टायुष्कास्वपरिगृहीतदेवीष्वपि पूर्वप्रकारेण वारद्वयं देवीत्वेनोत्पद्यते, ततस्तन्मतेन पल्योपमशतपूर्वकोटिपृथक्त्वाभ्यधिकमवाप्यते । पञ्चमादेशवादिनः पुनरिदमाहुःनानाभवभ्रमणद्वारेण यदि स्त्रीवेदस्योत्कृष्टमवस्थानं चिन्त्यते, तर्हि पल्योपमपृथक्त्वमेव पूर्वकोटिपृथक्त्वाभ्यधिकं प्राप्यते, न ततोऽधिकम् । कथमेतदिति चेत्? उच्यतेनारीषु तिरश्चीषु वा पूर्वकोट्यायुष्कासु मध्ये सप्तभवाननुभूयाष्टमभवे देवकुर्वादिषु त्रिपल्योपमस्थितिषु स्त्रीषु मध्ये स्त्रीत्वेन समुत्पद्यते; ततो मृत्वा सौधर्मदेवलोके जघन्यस्थितिकासु देवीषु मध्ये देवीत्वेनोपजायते, तदनन्तरं चावश्यं वेदान्तरमधिगच्छतीति। अमीषां च पञ्चानामादेशानामन्यतमादेशसमीचीनता निर्णयोऽतिशयज्ञानिभिः सर्वोत्कृष्टश्रुतलब्धिसम्पन्नैर्वा कर्तुं शक्यते। ते च भगवदार्यश्यामप्रतिपत्तौ नासीरन्, केवलं तत्कालापेक्षया ये पूर्वतमाः सूरयस्तत्कालभाविग्रन्थपौर्वा पर्यालोचनया यथास्वमति स्त्रीवेदस्य स्थितिं प्ररूपितवन्तः, तेषां सर्वेषामपि प्रावचनिकसूरीणं मतानि भगवानार्यश्याम उपदिष्टवान् । तेऽपि च प्रावचनिकसूरयः स्वमतेन सूत्रं पठन्ते;गौतमप्रश्नं भगवन्निर्वचनरूपतया पठन्ति; ततस्तदवस्थान्येव सूत्राणि लिखितानिगोयमा ! इत्याद्युक्तम्। अन्यथा भगवति गौतमाय निर्दिष्टरि न संशयकथनमुपपद्यते, भगपवतः सकलसंशयावीतत्वात्।

पुरिसवेदे णं भेते ! पुरिसवेदेत्ति पुच्छ ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं सागरोवमसयपुहत्तं सातिरेगं ॥

पुरुषवेदसूत्रे--जघन्यतोऽन्तर्मुहमर्त्तमिति । यथा कश्चिदन्यवेदेभ्यो जीविग्य उद्वृत्य पुरुषवेदेषूत्पद्य तत्र चान्तर्मुहूर्त्तं सर्वायुर्जीवित्वा गत्यन्तरे अन्यवेदेषु मध्ये समुत्पद्यते, तदा पुरुषवेदस्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमवस्थानं लभ्यते। उत्कृष्टमा नं कण्ठ्याम्।

नपुंसगवेदए णं भंते ! पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं एगं समयं उक्कोसेणं वणस्सइकालो ।

नपुंसकवेदसूत्रे--जघन्यत एकः समयः स्त्रीवेदस्यैव भावनीयः, उत्कर्षतो वनस्पतिकालः; स च प्रागेवोक्तः। एतच्च सांव्यवहारिकजीवानधिकृत्य चिन्ता क्रियते । तदा द्विविधा नपुंसकवेदाद्वा कांश्चिदधिकृत्यानाद्यपर्यवसानाः; ये न जातुचिदापि सांव्यहारिकराशौ निपतिष्यन्ति । कांश्चिदधिकृत्य पुनरनादिसपर्यवसानाः; येऽसांव्यवहारिकराशेरुद्वृत्य सांव्यवहारिकराशावागमिष्यन्ति । अथ किमसांव्यवहारिकराशेरपि विनिर्गत्य सांव्यवहारिकराशावागच्छन्ति येनैवं प्ररूपणा क्रियते ? उच्यते--आगच्छति। कथमेतदवसेयमिति चेत्? उच्यते--पूर्वाचार्योपदेशात् । तथाचाह दुःषमान्धकारनिमग्नजिनप्रवचनप्रदीपो भगवान्-- ''सिज्झंति जत्तिया किर, इह संववहारजीवरासीओ । इति अणाइवणस्सइरासीओ तत्तिया तम्मि''॥१॥

अवेदकपृच्छामाह--

अवेदे णं भंते ! अवेदे त्ति पुच्छा ? गोयमा ! अवेदे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा साइए अपज्जवसिए वा, साइए सपज्जवसिए वा। तत्थ णं जे ते साइए सपज्जवसिए से जहन्ने णं एगं समयं उक्कोसेणं अंतोमुहुत्तं ।

अवेदको द्विधा--साद्यपर्यवसितः, सादिसपर्यवसितश्च । तत्र यः क्षपकश्रेणिं प्रतिपद्यावेदको भवति स साद्यपर्यवसितः क्षपकश्रेणिः, स च जघन्येनैकं समयम् । कथमेकयमयतेति चेत् ? उच्यते--यदा एकसमयवेदको भूत्वा द्वितीयसमये पञ्चत्वमुपगच्छति, तदा तस्मिन्नेव पञ्चत्वसमये देवेषूत्पन्नः पुरुषवेदोदयेन सवेदको भवति; तत एवं जघन्यत एकं समयमवेदक उत्कर्षतोऽर्मुहूत्तम्, परतोऽवश्यं श्रेणीतः प्रतिपतने वेदोदयसद्भवात्। गतं वेदद्वारम्। प्रज्ञा०१८ पद। ज्यो०।

(११) इदानीं कषायद्वारं, तत्रेदमादिसूत्रम्--

सकसाई णं भंते ! सकसाइ त्तिकालओ केव चिरं होइ ? गोयमा ! सकसाई तिविहे पण्णत्ते । तं जहा--अणादिए अपज्जवसिए, अणादिए सपज्जवसिए, सादिए सपज्जवसिए जाव अवट्ठं पोग्गलपरियट्टं देसूणं । कोहकसाई णं भंते ! पुच्छा ? गोयमा ! जहन्नेण वि उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । एवं जाव माणमायाकसाई णं । लोभकसाई णं भंते ! पुच्छा ? गोयमा ! जहन्नेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं अंतोमुहुत्तं । अकसाई णं भंते ! अकसाइ त्ति कालओ केव चिरं होइ ? गोयमा अकसाई दुविहो । पण्णत्ते तं जहा--सादिए वा अपज्जवसिए, सादिए वा सपज्जवसिए । तत्थ णं जे ते सादिए सपज्जवसिए, से जहण्णेणं एगं समयं उक्कोसेणं अंतोमुहुत्तं ॥

सह कषायो येषां यैर्वा ते सकषाया जीवपरिणामविशेषाः, ते विद्यन्ते यस्य स सकषायी। इदं सकलमपि सूत्रं सवेदसूत्रवद्विशेषेण भावनीयम्, समानभावनोक्तत्वात्। (कोहकसाई णं भंते इत्यादि) जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्तमिति, क्रोधकषायोपयोगस्य जघन्यत उत्कर्षतो वाऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वात् तथाजीवस्वाभाव्यात्। इदं च सूत्रचतुष्टयमपि विशिष्टोपयोगापेक्षमिति । लोभकषायी जघन्येनैकं समयमिति, यदा कश्चिदुपशमश्रेणिपर्यवसाने उपशान्तवीतरागो भूत्वा श्रेणितः प्रतिपतन् लोभानुवेदन-प्रथमसमये सवेदन एव कालं कृत्वा देवलोके षूत्पद्यते, तत्र चोत्पन्नः सन् क्रोधकषायी मायाकषायी भवति, तदैकसमये लोभकषायी लभ्यते । अथैवं क्रोधादिष्वप्येकसमयता कस्मान्न लभ्यते ? ! उच्यतेतथास्वभाव्यात्। तथाहि--श्रेणितः प्रतिपतन् मध्यानुवेदनप्रथमसमये वा यदि कालं करोति, कालं च कृत्वा देवलोकेषूत्पद्यते,तथापि तथास्वभाव्यात् येन कषायोदयेन कालं कृतवान् तमेव कषायादयं तत्रापि गतः सन्नन्तर्मुहूर्त्तमेव वर्तयति, एतच्चावसीयते अधिकृतसूत्रप्रामाण्यात्, ततो नैकसमयता क्रोधादिष्विति।अकषायसूत्रमवेदसूत्रमिव भावनीयम्।गतं कषायद्वारम।

(१२) अधुना लेश्याद्वारमाह–

सलेस्से णं भंते ! सलेस्से त्ति पुच्छा ? गोयमा ! सलेसे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा–अणादिए वा अपज्जवसिए, अणादिय वा सपज्जवसिए । कण्हलेस्से णं भंते ! पुच्छा ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं । नीललेसे णं भंते ! नीललेसे त्ति पुच्छा ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं दस सागरोवमाइं पलिओवमासंखेज्जइ-भागब्भहियाइं । काउलेसे णं भंते ! पुच्छा ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं दो सागरोवमाइं पलिओवमासंखिज्जइभागमब्भहियाइं । तेउलेस्से णं भंते ! पुच्छा ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं दो सागरोवमाइं पलिओवमासंखिज्जइभागमब्भहियाइं । पम्हलेसे णं भंते ! पुच्छा ? गोयमा ! जहन्नेणं अतोमुहुत्तं उक्कोसेणं दस सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं । सुक्कलेस्से णं पुच्छा ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं । अलेसे णं पुच्छा ? । गोयमा ! सादिए अपज्जवसिए ॥

(सलेस्से णं भंते ! इत्यादि) सह लेश्या यस्य येन वा ससलेश्यः । स द्विविधः प्रज्ञप्तः । तद्यथा–अनादिरपर्यवसितः– यो न जातुचिदपि संसारव्यवच्छेदकर्त्ता । अनादिसपर्यवसितः– यः संसारपारगामी । (कण्हलेस्से णं भंते ! इत्यादि) इह तिरश्चां मनुष्याणां च लेश्याद्रव्याण्यन्तर्मौहूर्तिकानि ततः परमवश्यं लेश्यान्तरपरिणामं भजते । देवनैरयिकाणां तु पूर्वभवचरमान्तर्मुहूर्तादारभ्य परभवाद्यमन्तमुहूर्त्तं यावदवस्थितानि, ततः सर्वत्रज घन्यममन्तर्मुहूर्तं तिर्यङ्मनुष्यापेक्षया द्रष्टव्यम्; उत्कृष्टं देवनैरयिकापेक्षया विचित्रमिति भाव्यते। तत्र विचित्रमिति यदुक्तं त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि अन्तर्मुहूर्त्ता भ्यधिकानीति, ततः सप्तमनरकपृथिव्यपेक्षया द्रष्टव्यम् । तत्रत्या हिनैरयिकाः कृष्णलेश्याकाः, तेषां च स्थितिरुत्कृष्टा त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि; यत्तु पूर्वोत्तरभवगतो यथाक्रमं चरमाद्यौ अन्तर्मुहूर्ते, ते द्वे अप्येकमन्तर्मुहूर्त्तस्यासंख्यातभेदभिन्नत्वात्। तथाचान्यत्राप्युक्तम्–''मुहुत्तद्धं जहन्ना, तित्तीसं सागरा मुहुत्तहिया । उक्कोसा होइठिई, नायव्वा कण्हलेस्साए''।१। (अन्तोमुहुत्तहिया इति) चूर्णिकृता व्याख्यातमन्तमुहूर्त्ताधिकेति । नीललेश्यासूत्रेयानिदश सागरोपमाणि पल्योपमासंख्येयभागाभ्यधिकान्युक्तानि तानि पञ्चमपृथिव्यपेक्षया । दितव्यानि । तत्र हि प्रथमप्रस्तटे नीललेश्या,''पंचमियाए मीसा'' इति वचनात्। तस्मिंश्च प्रथमप्रस्तटे स्थितिरुत्कर्षत एतावती। ये तु पूर्वोत्तरभवगते अन्तर्मुहूर्ते, ते पल्योपमासंख्येयभागे एवान्तर्गते इति न पृथग् विवक्षिते । एवमुत्तरत्रापि द्रष्टव्यम्। कापोतलेश्यासूत्रेत्रीणि सागरोपमाणि पल्योपमासंख्येयभागाभ्यधिकानि तृतीयनरकपृथिव्यपेक्षयाऽवसातव्यानि; तृतीयपृथिव्यामपि प्रथमप्रस्तटे कापोतलेश्याया भावात् ,''तइयाए मीसिया'' इति वचनात् । तत्र चोत्कृष्टस्थितेरेतावत्याः संभवात्। तेजोलेश्यासूत्रे–द्वे सागरोपम पल्योपमासंख्येयभागाभ्यधिके ईशानदेवलोके देवापेक्षया वेदितव्या हि तेजोलेश्याका उत्कर्षत एतावत्स्थितिकाश्च। पद्मलेश्यासूत्रे–दशसागरोपमाणि अन्तर्मुहूर्त्ताभ्यधिकानि ब्रह्मलोकापेक्षया भावनीयानि । तत्र देवानां हि स्थितिरुत्कृष्टा दश सागरोपमाणि, लेश्या च पद्मलेश्या। ये च पूर्वोत्तरभगवते अन्तर्मुहूर्त्ते ते किलैकमन्तर्मुहूर्तमिति अन्तर्मुहूर्त्ताभ्यधिकानीत्युक्तम्। शुक्ललेश्यासूत्रे–त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमाणि अन्तर्मुहूर्त्ताभ्यधिकानि अनुत्तरसुरापेक्षया, तेषामुत्कर्षतः स्थितेस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणत्वात्।अन्तर्मुहूर्त्ताभ्यधिकत्वभावना च प्राग्वत्। अलेश्योऽयोगिकेवली सिद्धश्च, ततो न तस्यामप्यवस्थायामलेश्यत्वव्याघात इति साद्यपर्यवसितः। गतं लेश्याद्वारम्।

(१३) इदानीं सम्यग्दृष्टिद्वारम्–

सम्मद्दिट्ठी णं भंते ! सम्मद्दिट्ठि त्ति पुच्छा ? गोयमा ! सम्मद्दिट्ठी दुविहे पण्णत्ते । तं जहा–सादिए वा अपज्जवसिए, सादिए वा सपज्जवसिए । तत्थ णं जे से सादिए सपज्जवसिए, स जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं छावट्ठिं सागरोवमाइं सातिरेगाइं । मिच्छादिट्ठी णं भंते ! पुच्छा ? । गोयमा ! मिच्छादिट्ठी तिविहे पण्णत्ते । तं जहा–अणादिए वा अपज्जवसिए, अणादिए वा सपज्जवसिए । सादिए वा सपज्जवसिए । तत्थ णं जे से सादिए सपज्जवसिए, स जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं अणंताओ ओसप्पिणि उस्सप्पिणीओ कालओ, खेत्तओ अवड्ढं पोग्गलपरियट्टं देसूणं । सम्मामिच्छदिट्ठी णं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेण वि उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं ॥

(सम्मद्दिट्ठी णं भंते ! इत्यादि) सम्यगविपर्यस्ता दृष्टिर्जिनप्रणीतवस्तुतत्त्वप्रतिपत्तिर्यस्य स सम्यग्दृष्टिः । स चान्तरकरणकालभाविना उपशमिकसम्यक्त्वेन सास्वादनसम्यक्त्वेन विशुद्धदर्शनमोहपुञ्जोदयसंभविक्षायोपशमिकसम्यक्त्वेन सकलदर्शनमोहनीयक्षयसमुत्थक्षायिक सम्यक्त्वेन वा द्रष्टव्यः । निर्वचनम्–सम्यग्दृष्टिर्द्विविधः प्रज्ञप्तः । तद्यथा साद्यपर्यवसितः एष क्षायिके सम्यक्त्वे उत्पादिते सति वेदितव्यः, तस्य प्रगतिपाताभावात् । सादिसपर्यवसितः एष क्षायोपशमिकादिसम्यक्त्वापेक्षया । तत्र योऽसौ सादिसपर्यवसितः सम्यग्दृष्टिर्जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं, परतो मिथ्यात्वगमनात्; उत्कर्षतः षट् षष्टिसागरोपमाणि सातिरेकाणि । तत्र यदि वारद्वयं विजयादिषु चतुर्षु अप्रतिपतितसम्यक्त्व उत्कृष्टस्थितिको देव उत्पद्यते वेलात्रयं वाऽच्युतलोके, ततो देवभवैरेव षट् षष्टि- सागरोपमाणि परिपूर्णानि भवन्ति । ये तु मनुष्यभवाः सम्यक्त्वसहितास्तेऽधिका इति तैः सातिरेकाणीति । उक्तं च ''दो वारे विजयाइसु, गयस्स तिन्निचुए अहव ताइं । अइरेगं नरभवियमिति ।''। (मिच्छादिट्ठी णं भंते ! इत्यादि) मिथ्या विपर्यस्ता दृष्टिर्जी वाजीवादिवस्तुतत्त्वप्रतिपत्तिर्यस्य भक्षितहृत्पूरपुरुषस्य सिते पीतप्रतिपत्तिवत् स मिथ्यादृष्टिः, ननु मिथ्यादृष्टिरपि कश्चिद्भक्ष्यं भक्ष्यतया जानाति पेयं पेयतया मनुष्यं मनुष्यतया पशुं पशुतया, ततः य कथं मिथ्यादृटिरुच्यते ?; भगवति सर्वज्ञत्वस्य प्रत्ययाभावात् । इह हि भगवदर्हत्प्रणीतं सकलमपि प्रवचनार्थमभिरोचयमानोऽपि यदि तद्गतमेकमप्यक्षरं न रोचयति तदानीमन्येषां मिथ्यादृष्टिरेवोच्यते, तस्य भगवति सर्वज्ञप्रत्ययनाशात्।

उक्तञ्च–''सूत्रोक्तस्यैस्याप्यरोचनादक्षरस्य भवति नरो मिथ्यादृष्टिः। सूत्रं हि न प्रमाणं जिनाभिहितं किं पुनः शेषं भगवदर्हदभिहितम्। तथा च जीवजीवादिवस्तुतत्त्वप्रतिपत्तिविकलो मिथ्यादृष्टिः। ननु सकलप्रवचनमर्थाभिरोचनात्तद्गतकतिपयार्थानां चारोचनादेष न्यायतः सम्यग्मिथ्यादृष्टिरेव भवितुमर्हति, कथं मिथ्यादृष्टिरेव भवितुमर्हति ? उच्यते–सदसद्वस्तु तत्त्वापरिज्ञानात्। इह यदा सकलवस्तुवस्तुजिनप्रणीततया सम्यक् श्रद्धत्ते तदानीमसौ सम्यग्दृष्टिः; यदा त्वेकस्मिन्नपि वस्तुनि पर्याये वा मतिदौर्बल्यादिना एकान्तेन सम्यक्परिज्ञानमिथ्या-परिज्ञानाभावतो न सम्यक् श्रद्धानं, नाप्येकान्ततो विप्रतिपत्तिः, तदा सम्यग्मिथ्यादृष्टिः। उक्तञ्च शतकबृहच्चूर्णौ –''जहा नालिकेरीदीववासिस्स खुहाइयस्स विपत्थसमागयस्स पुरिसस्स य ओयणाइए अणेगविहे होइ एतस्स आहारस्स उवरिं न रुई न निंदा जेण तेण सो ओयणाइओ आहारो न कयाइ दिट्ठो नावि सुओ, एवं सम्मामिच्छद्दिट्ठिस्स वि जीवाइपयत्थाण उवरिं न य रुई नावि निंद त्ति''। यदा पुनरेकस्मिन्नपि वस्तुनि पर्याये वा एकान्ततो विप्रतिपद्यते तदा मिथ्यादृष्टिरेवेत्यदोषः। स च त्रिविधः तद्यथा–अनाद्यपर्यवसितोऽनादिसपर्यवसितः, सादिसपर्यवसितश्च। तत्र यः कदाचनापि सम्यक्त्वं नावाप्स्यति सोऽनाद्यपर्यवसितः, यस्तु सम्यक्त्वमासाद्य भूयोऽपि मिथ्यात्वं याति स सादिसपर्यवसितः। स च जघन्येनान्तर्मुहूर्तं, तदनन्तरं कस्यापि भूयः सम्यक्त्वावाप्तिः। उत्कर्षतोऽनन्तं कालम्। तमेवानन्तं कालं द्विधा प्ररूपयति–कालतः क्षेत्रतश्च। तत्र कालतोऽनन्ता उत्सर्पिण्यवसर्पिणीवत्, क्षेत्रतोऽपार्द्धं पुद्गलपरावर्तं देशोनम्। अत्र क्षेत्रत इति निर्देशात् क्षेत्रपुद्गलपरावर्तः परिग्राह्यो नं तु द्रव्यपुद्गलपरावर्तादयः। एवं पूर्वोत्तरत्रापि च भावनीयम्। (सम्मामिच्छादिट्ठी णमित्यादि) सम्यग्मिथ्या च दृष्टिर्यस्यासौ सम्यग्मिथ्यादृष्टिः। स च जघन्यतो वोत्कर्षतो वा अन्तर्मुहूर्त्त, परतोऽवश्यं तत्परिणामविध्वंसात्, तथाजीवस्वाभाव्यात्। गतं सम्यक्त्वद्वारम्।

(१४) इदानीं ज्ञानद्वरम्–

नाणी णं भंते ! नाणि त्ति कालओ केव चिरं होइ ? गोयमा ! नाणी दुविहो पण्णत्ते। तं जहा–सादिए वा अपज्जवसिए, सादिए वा सपज्जवसिए। तत्थ णं जे से सादिए सपज्जवसिए से जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं छावट्ठिं सागरोवमाइं सातिरेगाइं। आभिणिबोहियनाणी णं पुच्छा ? गोयमा ! एवं चेव। एवं सुयनाणी वि। ओहिनाणी वि एवं चेव, नवरं जहन्नेणं एक्कं समयं। मणपज्जवनाणी णं भंते ! पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं एगं समयं, उक्कोसेणं देसूणं पुव्वकोडिं॥

(नाणी णं भंते ! इत्यादि) ज्ञानमस्यास्तीति, **''अतोऽनेकस्वरात्''** ॥७।२।६॥ इति इन् प्रत्ययः। स द्विधा–साद्यपर्यवसितः, सादिसपर्यवसितश्च। तत्र केवलज्ञानापेक्षया साद्यपर्यवसितः, प्रतिपाताभावात्, शेषज्ञानानां प्रतिनियतकालभावात् स जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं, परतो मिथ्यात्वागमनेन ज्ञानपरिणामापगमात्। उत्कर्षतः षट् षष्टिसागरोपमाणि सातिरेकाणि यावत्तानि सम्यग्दृष्टेरिव भावनीयानि, सम्यग्दृष्टेरेव ज्ञानित्वात्। आभिनिबोधिकज्ञानिसूत्रे–(एवं चेव त्ति)यथा सामान्यतो ज्ञानी तथाऽऽभिनिबोधिकोऽपि वक्तव्यः। स चैवं ''जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं छावट्ठीसागरोवमाइं''। एवं श्रुतज्ञान्यपि। अवधिज्ञान्यप्येवम् नवरं जघन्यत एकं समयं वक्तव्यम्। कथमेकसमयताऽवधिज्ञानसयेति चेत् ? उच्यते–इह तिर्यक्पञ्चेन्द्रियो मनुष्यो देवो वा विभङ्गज्ञानी सन् सम्यक्त्वं प्रतिपद्यते, तस्य च सम्यक्त्वप्रतिपत्तिसमये एव सम्यक्त्वप्रभावतो विभङ्गज्ञानमवधिज्ञानं जातं, तच्च यदा देवस्य च्यवनेन मरणेनान्यस्यान्यथा वाऽनन्तरसमये प्रतिपतितस्तदा भवत्यवधिज्ञानस्यैकसमयता; उत्कर्षतः सातिरेकाणि षट् षष्टिसागरोपमाणि, यावत्तानि वा प्रतिपतितावधिज्ञानस्य वारद्वयं विजयादिषु गमनेन वारत्रयमच्युतदेवलोकगमने तथा वेदितव्यानि। मनःपर्यवज्ञानिन एकसमयता संयतस्याप्रमत्ताद्धायां वर्त्तमानस्य मनःपर्यवज्ञानमुत्पाद्यानन्तरसमये कालं कुर्वता भावनीया; उत्कर्षतो देशोना पूर्वकोटी; तत ऊर्द्धं संयमाभावतो मनःपर्यवज्ञानस्याऽप्यभावान्।

केवलनाणी णं पुच्छा ? गोयमा ! सादिए अपज्जवसिए। अन्नाणी णं पुच्छा ? गोयमा ! अन्नाणी, मतिअन्नाणी सुयअन्नाणी तिविहे पन्नत्ते। तं जहा–अणादिए वा अपज्जवसिए, अणादिए वा सपज्जवसिए, सादिए वा सपज्जवसिए। तत्थ णं जे से सादिए सपज्जवसिए से जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं अणंतं कालं अणंताओ ओसप्पिणिउस्सप्पिणीओ कालओ, खेत्तओ अवड्ढं पोग्गलपरियट्टं देसूणं। विभंगनाणी णं पुच्छा ? गोयमा ! जहन्नेणं एगं समयं उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं देसूणाए पुव्वकोडीए अब्भहियाइं।

अज्ञानी त्रिविधः। तद्यथा–अनाद्यपर्यवसितः, अनादि-सपर्यवसितः, सादिसपर्यवसितश्च। तत्र यस्य न कदाचनापि ज्ञानलाभो भावी सोऽनाद्यपर्यवसितः। यस्तु ज्ञानमासादयिष्यति सोऽनादिसपर्यवसितः। यः पुनर्ज्ञानमासाद्य भूयो मिथ्यात्वगमनेनाज्ञानित्वमधिगच्छति स सादिसपर्यवसितः। स च जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं परतः सम्यक्त्वस्यासादनेनाज्ञानित्व-परिणामापगमसम्भवात्, उत्कर्षतोऽनन्तं कालमित्यादि प्राग्वत्; तत ऊर्द्धमवश्यं सम्यक्त्वावाप्तेरज्ञानित्वापगमात्। एवं मत्यज्ञानी श्रुताज्ञानी च त्रिविधो भावनीयः। विभङ्गज्ञानी जघन्यत एकं समयम्। कथमिति चेत् ? उच्यते–कश्चित् तिर्यक्पञ्चेन्द्रियो मनुष्यो देवो वा सम्यग्दृष्टित्वादवधिज्ञानी सन् मिथ्यात्वं गतः, तस्मिंश्च मिथ्यात्वप्रतिपत्तिसमये मिथ्यात्वप्रभावतोऽवधिज्ञानं विभङ्गज्ञानभूतमाद्यत्रयमज्ञानमपि भवति, मिथ्यात्वसंयुक्तमिति वचनात्; ततोऽनन्तरसमये देवस्य मरणेनान्यथा वा तद्विभङ्गमज्ञानं परिपतति, तत एवमेकसमयता विभङ्गज्ञानस्य उत्कर्षतस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि देशोनपूर्वकोट्यभ्यधिकानि। तथाहि–यदि कश्चिन्मिथ्या-दृष्टिस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियो मनुष्यो पूर्वकोट्यायुः कतिपयवर्षातिक्रमे विभङ्गज्ञानी जायते, जा तश्च सन्नप्रतिपतितविभङ्गज्ञान एवाविग्रहगत्या सप्तमनरकपृथिव्यां त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमस्थितिको नैरयिको जायते, तदा भवति यथोक्तमुत्कृष्टमा-

नम्, तत द्यर्द्धं तु सम्यक्त्वप्रतिपत्त्याऽवविज्ञानभसवतः सर्वथाऽपगमाद्वा तद्विभङ्गज्ञानमुपगच्छति। गतं ज्ञानद्वारम्।

(१५) इदानीं दर्शनद्वारम्; तत्रेदमादिसूत्रम्–

चक्खुदंसणी णं भंते ! पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं सागरोवमसहस्सं सातिरेगं। अचक्खुदंसणी णं भंते ! पुच्छा ? गोयमा ! अचक्खुदंसणी दुविहे पण्णत्ते। तं जहा–अणादिए वा अपज्जवसिए, अणादिए वा सपज्जवसिए। ओहिदंसणी णं ! पुच्छा ? गोयमा ! जहन्नेणं इक्कं समयं, उक्कोसेणं दो छावट्ठीसागरोवमाणं सातिरेमाणं। केवलदंसणी णं ! पुच्छा ? गोयमा ! सादिए अपज्जवसिए।

इह यदा त्रीन्द्रियादिश्चतुरिन्द्रियादिषूत्पद्य तत्र चान्तर्मुहूर्त्तं स्थित्वा भूयोऽपि त्रीन्द्रियादिषू मध्ये उत्पद्यते, तदा चक्षुर्दर्शनी अन्तर्मुहूर्त्तं लभ्यते उत्कर्षतः सातिरेकं सागरोपमसहसस्रं, तच्चतुरिन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियनैरयिकादिभवभ्रमणेनावसातव्यम्। अचक्षुर्दर्शनी अनाद्यपर्यवसितः–यो कदाचिदपि न सिद्धिभावमधिगमिष्यति, यस्त्वधिगन्ता सोऽनादिसपर्यवसितः। तथा–तिर्यक्पञ्चेन्द्रियो मनुष्यो वा तथाविधाध्यवसायावधिनाऽवधिदर्शनमुत्पाद्यान्तरसमये यदि कालं करोति तदाऽवधिदर्शनं प्रतिपतति, तदाऽवधिदर्शनिन एकसमयता, उत्कर्षतोऽवधिदर्शनी द्विषट्षटिसागरोपमाणीति सातरिकेः। कथमितिचेत्? उच्यते– इह कश्चिद्विभङ्गज्ञानी तिर्यक्पञ्चेन्द्रियो मनुष्यो वा अप्रतिपतितविभङ्गज्ञान एवाविग्रहगत्याऽधःसप्तमनरकपृथिव्यां त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमस्थितिर्नैरयिको जातः, तत्र चोद्वर्त्तनाप्रत्यासत्तिकाले सत्यक्त्वमुत्पाद्य ततः परिभ्रष्टः, ततोऽप्रतिपतितेन विभङ्गज्ञानेन पूर्वकोट्यायुष्केषु तिर्यक्पञ्चेन्द्रियेषु समुत्पन्नः, तत्र च परिपूर्णं स्वायुः प्रतिपाल्य पुनरप्रतिपतितविभङ्ग एवाधःसप्तमपृथिव्यां त्रयस्त्रिंशत्सागरोपयस्थितिको नैरयिको जातः; तत्रापि चोद्वृत्त्य प्रत्यासत्तौ सम्यक्त्वमासाद्य परित्यजति, ततोभूयोऽप्यप्रतिपतितविभङ्ग एव पूर्वकोट्यायुष्केषु तिर्यक्पञ्चेन्द्रियेषु जाजः, तदेवमेकषट्षटिसागरोपमाणामभूत्, सर्वत्र च तिर्यक्षूत्पद्यमानो विग्रहेणोत्पद्यते, विग्रहे विभङ्गस्य तिर्यक्षु मनुष्येषु च निषेधात्। यद्वक्ष्यति–''विभंनाणी पंचेंदियतिरिक्खजोणिया मणूसा आहारगा इति। आह–किं सम्यक्त्वमेषोऽपान्तराले प्रतिपद्यते? उच्यते–इह विभङ्गस्य उत्कर्षतोऽपि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि देशोनपूर्वकोट्यधिकानि। तथाचोक्तं प्राक्–'' विभंगनाणी जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं देसूणाइं पुव्वकोडिओ अब्भहियाइं'' इति। तत एतावन्तं कालमविच्छेदेन विभङ्गस्याप्रमाणत्वात् अपान्तराले सम्यक्त्वं प्रतिपद्यते। ततोऽप्रतिपतितविभङ्ग एवं मनुष्यत्वमवाप्य संयमं पालयित्वा द्वौ वारौ विजयादिषूत्पद्यमानस्य द्वितीया षट् षष्टिः सागरोपमाणां सम्यग्दृष्टेर्भवति। एवं द्वे षट्षष्टिसागरोपमाणामवधिदर्शनस्य। अथ विभङ्गावस्थायाममवधिदर्शनं कर्मप्रकृत्यादिषु प्रतिषिद्धं, ततः कथमिह विभङ्गे तद्भाव्यते? नैष दोषः। सूत्रे विभङ्गेऽप्यवधिदर्शनस्य प्रतिपादितत्वात्। तथा ह्ययं सूत्राभिप्रायः– विशेषविषयं विभङ्गज्ञानं, सामान्यविषयमवधिदर्शनम्। तथाहि सम्यग्दृष्टेर्विशेषविषयमवधिज्ञानं सामान्यविषयमवधिदर्शनमुच्यते, केवलं विभङ्गज्ञानिनोऽप्यवधिदर्शनमनाकारमात्रत्वेनाविशिष्टत्वादवधिज्ञानिनोऽवधिदर्शनं तुल्यमिति, तदप्यवधिदर्शनमुच्यते, न विभङ्गदर्शनमिति। आह मूलटीकाकारोऽप्येतद्भावनायाम्–''दंसणं च विभंगो हीणजाता तुल्लमेव अतो चेव छावट्ठीओ साइरेगाओ'' इति। ततोऽस्माभिरपि विभङ्गेऽवधिदर्शनं भावितम्। कार्मग्रन्थिकाः पुनराहुः– यद्यपि साकारेतरविशेषभावेन विभङ्गज्ञानमवधिदर्शनं च पृथगस्ति, तथाऽपि न सम्यग् निश्चयो, विभङ्गज्ञानेन मिथ्यारूपत्वात्; नाप्यवधिदर्शनेन, तस्यानाकारमात्रत्वाद्, अतः किं तेन पृथग् विवक्षितेनापीति, तदभिप्रायेण न विभङ्गावस्थयामवधिदर्शनेन। नचैतत्स्वमनीषिकाकल्पितम्, पूर्वसूरिभिरप्येवं मतविभागस्य व्यवस्थापितत्वात्। उक्तंचि विशेषवत्यां जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणपूज्यपादैः–

''सुत्तं विभंगस्स वि, परूवियं ओहिदंसणं बहुसो।
कीस पुणो पडिसिद्धं कम्मपगडीण पगरणम्मि ?॥१॥
विभंगे वि दरिसणं, सामन्नविसेसविसयओ सुत्ते।
तं च विसिट्ठमणगा–रमेत्ततो वि हि विभंगाणं॥२॥
कम्मपगडिमयं पुण, सागारेयरविसेसभावं वि।
न विभंगनाणदंसण–विसेसणमणित्थियत्तणओ''॥३॥ इति।

अन्ये तु व्याक्षते किं सप्तमनरकपृथिवीनिवासिनो नारककल्पनया सामान्येनैव नारकतिर्यङ्नरामरभवेषु पर्यटन्तः खल्ववधिविभङ्गा एतावन्तं कालं तत भ्रमन्ति, ऊर्द्धमपवर्ग इति। केवलदर्शनसूत्रं केवलज्ञानिनः सूत्रवद्भावनीयम्। गतं दर्शनद्वारम्।

(१६) इदानीं सुयमद्वारम्–

संजय णं भंते ! पुच्छा ? गोयमा ! जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं देसूणं पुव्वकोडिं ? असंजए णं भंते ! पुच्छा ? गोयमा ! असंजए तिविहे पण्णत्ते। तं जहा–अणादिए वा अपज्जवसिए, अणादिए वा सपज्जवसिए, सादिए वा सपज्जवसिए। तत्थ णं जे से सादिए सपज्जवसिए से जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं अणंतं कालं, अणंताओ ओसप्पिणिउस्सप्पिणीओ कालओ, खेत्तओ अवड्ढं पोग्गलपरियट्टं देसूणं। संजयासंजए णं ! पुच्छा ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतामुहुत्तं, उक्कोसेणं देसूणं पुव्वकोडिं णे संजए णो असंजए णो संजयासंजए णं ! पुच्छा ? गोयमा ! सादिए अपज्जवासिए।।

जघन्यत एकसमयता संयतस्य, चारित्रपरिणाम समय एव कस्यापि कालकरणात्। असंयतस्तु त्रिधा–अनाद्यपर्यवसितोऽनादि-सपर्यवसितः, सादिसपर्यवसितश्च। तत्र यः संयमं कदाचनापि न प्राप्स्यति सोऽनाद्यपर्यवसितः, यस्तु प्राप्स्यति सोऽनादिपर्यवसितः, यस्तु संयमं प्राप्य ततः परिभ्रष्टः स सादिसपर्यवसितः। स च जघन्येनान्तर्मुहूर्तं, ततः परं कस्यापि पुनरपि संयमप्रतिपत्तिभावात्। उत्कर्षतोऽनन्तकालमित्यादि प्राग्वत्। तत ऊर्द्धवममवश्यं संयमप्राप्तिः। संयतासंयतदेशविरतः, स च जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्त्तं, देशविरतिप्रति-प्रत्युपयोगस्य जघन्यतोऽप्यन्तर्मौहुर्त्तिकत्वात्। देशविरतिस्तर्हि द्विविधत्रिविधादिभङ्गबहुला ततस्तप्रतिपत्तौ जघन्येनाप्यन्तर्मुहूर्त्तं लगति, सर्वविरतिस्तु सर्वसावद्यमहं न करोमीत्येवंरूपा, ततस्तत्प्रतिपत्त्योपयोग एकसामायिकोऽपि भवतीति प्राक् सं यतस्य एकसमयतोक्ता। यस्तु न संयतो, नसप्यसंयतो, नो संयतासंयतः, स सिद्ध इति साद्यपर्य-

वसित इति। गतं संयमद्वारम् प्रज्ञा०१८ पद। (निर्ग्रन्थानां कायस्थितिः 'निग्गंथ' शब्दे वक्ष्यते)

इदानीमुपयोगद्वारम्; तत्रेदमादिसूत्रम्-

सागरोवउत्ते णं भंते ! पुच्छा ? गोयमा ! जहन्नेणं वि उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं; अणागारो वउत्ते वि एवं चेव ॥

(सागरोवउत्ते भंते ! इत्यादि) इह संसारिणामुपयोगः साकारोऽनाकारो वा जघन्यतोऽप्यान्तर्मुहूर्तिक उत्कर्षतोऽपि। ततः सूत्रद्वये ऽपि जघन्यत उत्कर्षतश्चान्तर्मुहुर्त्तमुक्तम्। यस्तु केवलिनामुक्त एकसामायिक उपयोगः स इह न विवक्षित इति। गतमुपयोगद्वारम्।

(१७) इदानीमाहारद्वारम्;तत्रेदमादिसूत्रम्-

आहारए णं भंते ! पुच्छा ? गोयमा ! आहारए दूविहे पण्णत्ते। तं जहा-छउमत्थ आहारए य, केवलिआहारए य। छउमत्थाहारए णं भंते ! छउमत्थाहारए त्ति कालओ केव चिरं होइ ? गोयमा ! जहन्नेणं खुड्डागभवग्गहणं दुसमऊणं, उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं असंखेज्जाओ ओसप्पिणिउस्सप्पिणीओ कालओ, खेत्तओ अंगुलस्स असंखेज्जभागं। केवलिआहारए णं भंते ! केवलिआहारए त्ति कालओ केव चिरं होइ ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं देसूणं पुव्वकोडिं। अणाहारए णं भंते ! अणाहारए त्ति पुच्छा ? गोयमा ! अणाहारए दुविहे पण्णत्तं। तं जहा-छउमत्थअणाहारए य, केवलिअणाहारए य॥

''आहारए णं भंते'' इत्यादि सुगमं नवरं ''जहन्नेणं खुड्डागभवग्गहणं दुसमऊणमिति''। इह यद्यपि चतुःसामायिकी च विग्रहगतिर्भवति। आह च-''उजुया य एगवंका, दुहतो वंका गती विणिद्दिट्ठा। जुज्जइ तिचऊबंका, वि नाम चउपंचसमयाओ''॥१॥ इति। तथापि बाहुल्येन द्विसामायिकी त्रिसामायिकी वा प्रवर्तते, न चतुःसामायिकी पञ्चसामायिकी वा प्रवर्तते, ततो न ते विवक्षिते। तत्रोत्कर्षतस्त्रिसामायिक्यां विग्रहगतौ द्वावाद्यौ समयावनाहारक इत्याहारकत्वचिन्तायां क्षुल्लकभवग्रहणं ताभ्यां न्यूनमुक्तम्, ऋजुगतिरेकवक्रगतिश्च न विवक्षिता, सर्वजघन्यस्य परिचिन्त्यमानत्वात्। उत्कर्षतोऽसंख्येयं कालमित्यादि सुगमं, नवरम् एतावतः कालादूर्द्ध्वमवश्यं विग्रहगतिर्भवति, तत्र चानाहारकत्वमित्यनन्तं कालमिति नोक्तम्।

छउमत्थ अणाहारए णं भंते ! पुच्छा ? गोयमा ! जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं दो समया। केवलि अणाहारए णं भंते ! पुच्छा ? गोयमा ! केवलिअणाहारए दुविहे पण्णत्ते तं जहा-सिद्धकेवलि अहणाहारए य, भवत्थकेवलिअणाहारए या सिद्धकेवलिअणाहारए णं ! पुच्छा ? गोयमा ! सादिए अपज्जवसिए। भवत्थकेवलिअणाहारए णं भंते ! पुच्छा ? गोयमा ! भवत्थकेवलिअणाहारए दुविहे पण्णत्ते। तं जहा-सजोगिभवत्थकेवलिअणाहारए य,अजोगिभवत्थकेवलिअणाहारए य। सजोगिभवत्थकेवलिअणाहारए णं भंते ! पुच्छा ? गोयमा ! अजहन्नमणुक्कोसेणं तिन्नि समया। अजोगिभवत्थकेवलिअणाहारए णं ! पुच्छा ? गोयमा ! जहन्नेण वि उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं।

केवलिसूत्रं सुगमम् छद्मस्थाऽनाहारकसूत्रे-''उक्कोसेणं दोसमया इति''। त्रिसामायिकीं विग्रहगतिमधिकृत्य चतुःसामायिकी पञ्चसामायिकी च विग्रहगतिर्न विवक्षितेत्यभिहितमनन्तरम्। सजोगिभवस्थकेवल्यनाहारक-सूत्रेत्रयः समया अष्टसामायिकस्य केवलिसमुद्घातस्य तृतीयचतुर्थपञ्चमरूपाः।

उक्तं च-

''दण्डं प्रथमसमयके, कपाटमथवोत्तरे तथा समये।
मन्थानमथ तृतीये, लोकव्यापी चतुर्थे तु॥१॥
संहरति पञ्चमे त्वन्तराणि मन्थानमथ तथा षष्ठे।
सप्तमके तु कपाटं, संहरति ततोऽष्टमे दण्डम्॥२॥
औदारिकप्रयोक्ता, प्रथमाष्टमसमययोरसाविष्टः।
मिश्रौदारिकयोक्ता, सप्तमषष्ठद्वितीये तु॥३॥
कार्मणशरीरयोगी, चतुर्थके पञ्चमे तृतीये च।
समयत्रयेऽपि तस्मिन् भवत्यनाहारको नियमात्''॥४॥ इति।

गतमाहारद्वारम्।

(१८) अधुना भाषकाभाषकद्वारमाह-

भासए णं ! पुच्छा ? गोयमा ! जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं अंतोमुहुत्तं। अभासएणं ! पुच्छा ? गोयमा ! अभासए दुविहे पण्णत्ते। तं जहा-सादिए वा अपज्जवसिए, साइए वा सपज्जवसिए। तत्थ णं जे से सादिए सपज्जवसिए सेजहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं वणस्सइकालो।

(भासए णं भंते ! इत्यादि) इह जघन्यत एकसमयता, उत्कर्ष आन्तर्मुहूर्तकता च वाग्योगिन इवावसातव्या। अभाषकस्त्रिविधः। तद्यथा-अनाद्यपर्यवसितः, अनादिसपर्यवसितः, सादिसपर्यवसितश्च। तत्र यो न जातुचिदपि भाषकत्वं तप्स्यते सोऽनाद्यपर्यवसितः, यस्त्ववाप्स्यति सोऽनादिसपर्यवसितः, यस्तु भाषको भूत्वा भूयोऽप्यभाषको भवति स सादिपर्यवसितः, स च जघन्येतानान्तर्मुहूर्तं भाषित्वा किञ्चित्कालमवस्थाय पुनर्भाषकत्वोपलब्धेः। अथवा द्वीन्द्रियादिभाषक एकेन्द्रियादिष्वभाषके भूत्पद्य तत्र चान्तर्मुहूर्तं जीवित्वापुनरपि यदा द्विन्द्रियादिरेवोत्पद्यते तदा जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तमभाषक उत्कर्षतो वनस्पतिकालम्; स च प्रागेवोक्त इति नोपदर्श्यते। गतं भाषकाभाषकद्वारम्।

इदानीं परीतद्वारम्-

परित्ते पुच्छा ? गोयमा ! परित्ते दुविहे पण्णत्ते। तं जहा-कायपरित्ते य, संसारपरित्ते य। कायपरित्ते णं भंते ! पुच्छा ? गोयमा ! पुढविकालो असंखेज्जाओ ओसप्पिणिउस्सप्पिणीओ। संसारपरित्ते णं पुच्छा ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं अणंतं कालं जाव अवड्ढं पोग्गलपरियट्टं देसूणं। अपरित्ते णं पुच्छा ? गोयमा ! अपरित्ते दुविहे पण्णत्ते। तं जहा-काय-

अपरित्ते य, संसारअपरित्ते य। कायअपरित्ते णं भंते ! पुच्छा ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वणस्सइकालो। संसारअपरित्ते पुच्छा ? गोयमा ! संसारअपरित्ते दुविहे पण्णत्ते। तं जहा-अणादिए वा अपज्जवसिए, अणाइए वा सपज्जवासिए। नोपरित्ते नोअपरित्ते णं पुच्छा ? गोयमा ! सादिए अपज्जवसिए। पज्जत्तए णं पुच्छा ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं सागरोवमसतपुहुत्तं सातिरेगं। अपज्जत्तए णं पुच्छा ? गोयमा ! जहन्नेण वि उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। नोपज्जत्तए नोअपज्जत्तए णं पुच्छा ? गोयमा ! सादिए अपज्जवसिए। सुहुमे णं भंते ! पुच्छा ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं पुढविकालो। बादरे णं पुच्छा ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं जाव, खेत्तओ अंगुलस्स असंखेज्जइभागं। नोसुहुमे नोबादरे णं भंते ! पुच्छा ? गोयमा ! सादिए अपज्जवसिए।

परीतो द्विधा-कायपरितः, संसारपरीतश्च। तत्र यः प्रत्येकशरीरी स कायपरीतः; यस्तु सम्यक्त्वादिना कृतपरिमितसंसारः स संसारपरीतः। कायपरीतो जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तम्, स च यदा क-श्चिन्निगोदादुद्वृत्त्य प्रत्येकशरीरिषु समुत्पद्य च तत्र चान्तर्मुहूर्त्तं स्थित्वा भूयोऽपि विग्रहेषुत्पद्यते, उत्कर्षतोऽसंख्येयं कालम्, स चाऽङ्गुलेयकालः पृथिवीकालो, यावान् पृथिवीकायिक-कालस्थितिकालस्तावान् वेदितव्य इत्यर्थः। तमेव कालतो निरूपयति-असंख्येया उत्सर्पिण्यव-सर्पिण्यः। संसारपरीतो जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तम्, तत ऊर्द्धवमन्तकृत्-केवलित्व योगेन मुक्तिभावात्। उत्कर्षतोऽनन्तं कालम्। तमेव निरूपयति-''अणंताओ'' इत्यादि प्राग्वत्, तत ऊर्द्धमवश्यं मुक्तिगमनात्। कायापरीतोऽनन्तकायिकिः, संसारापरीतः सम्यक्त्वा-दिना अकृतपरिमितसंसारः। कायापरीतो जघन्यतोऽन्तर्मुहूत्तम्, स च यदा कश्चित्प्रत्येकशरीरिभ्य उद्वृत्त्य निगोदेषु समुत्पद्यते, ततश्चान्तर्मुहूर्त्तं स्थित्वा भूयोऽपि प्रत्येकशरीरिषूत्पाद्यते तदाऽव-सातव्यः, उत्कर्षतो वनस्पतिकालो वाच्यः। स च प्रागेवोपदर्शितः, तत ऊर्द्धं नियमात्तत उद्वर्त्तेः। संसारापरीतो द्विधा-अनाद्यपर्यवसितः-यो न कदाचनापि संसारव्यवच्छेदं करिष्यति; यस्मु करिष्यति सोऽनादिपर्यवसितः। नोपरीतो नोऽपरीतश्च सिद्धः साद्यपर्यवसित एव। पर्याप्तद्वारे-पर्याप्तो जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तम्, तत ऊर्द्धमपर्याप्तत्वप्रसक्तेः। उत्कर्षतः सातिरेकं सागरोपमशतपृथक्त्वम् एतावन्तं कालं पर्याप्तलब्धावस्थानसंभवात्। अपर्याप्तो जघन्यत उत्कर्षतश्चान्त-र्मुहूर्त्तम्, तत ऊर्द्धवमवश्यमपर्याप्तलब्ध्युत्पत्तेः। नोपर्याप्तो नोऽपर्याप्तश्च सिद्धः, स च साद्यपर्यवसितः, सिद्धत्वस्याप्रच्युतेः। सूक्ष्मद्वारे सूक्ष्मसूत्रे-उत्कर्षतः पृथिवीकाल इति यावन् पृथिवीकायस्थितिकालस्तावान् वक्तव्यः। बादरसूत्रं सुगमम्। अनयोश्च भावना प्रागेव कृता। नोसूक्ष्मो नोबादरश्च सिद्धः, ततः साद्यपर्यवसितः।

(१६)संज्ञिद्वारम्-

सन्नी णं भंते ! पूच्छा ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं वणस्सइकालो। नोसन्नी नोआन्नी णं भंते ! पुच्छा ? गोयमा ! सादिए अपज्जवसिए॥

संज्ञिसूत्रे-जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमिति। यदा कश्चिज्जन्तुरसंज्ञिभ्य उद्वृत्य संज्ञिषु समुत्पद्यते, तत्र च चान्तर्मुहूर्त्तं जीवित्वा भूयोऽपि असंज्ञिषूत्पद्यते तदा लभ्यते। उत्कृष्टं सुगमम्। असंज्ञी जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तम्, स चैकः कश्चित्संज्ञिभ्य उद्वृत्य संज्ञिषूत्पद्यते, तत्र चान्तर्मुहूर्त्तं स्थित्वा भूयोऽपि संज्ञिषु मध्ये समागच्छति, उत्कर्षतो वनस्पतिकालो, वनस्पतिकाल-स्याप्य-सङ्ग्रहणेन ग्रहणात्। नोसंज्ञी नोअसंज्ञी च सिद्धः, स च साद्यपर्यवसितः।

भवसिद्धिकद्वारम्-

भवसिद्धिए णं भंते ! पुच्छा ? गोयमा ! अणादिए सपज्जवसिए। अभवसिद्धिए णं पुच्छा ? गोयमा ! अणादिए अपज्जवसिए। नोभवसिद्धिए नोअभवसिद्धिए पुच्छा ? गोयमा ! सादिए अपज्जवसिए॥

(भवसिद्धिए णमित्यादि) भवसिद्धिर्यस्यासौ भवसिद्धिकः, भव्य इत्यर्थः। स चानादिसपर्यवसितः, अन्यथा भव्यत्वायोगात्। अभवसिद्धि-कोऽभव्यः, स चानाद्यपर्यवसितः, अन्यथाऽभव्यत्वायोगात्। नोभव्यो नोऽभव्यश्च सिद्धः, ततः साद्यपर्यवसितः। अस्तिकायाः पञ्चापि सर्वकालभाविनः।

धम्मत्थिकाए णं पुच्छा ? गोयमा ! सव्वद्धं एवं जाव अद्धासए। चरिमे णं पुच्छा ? गोयमा ! अणादिए सपज्जवसिए। अचरिमे णं पुच्छा ? गोयमा !अचरिमे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा- अणादिए वा अपज्जवसिए, सादिए वा अपज्जवसिए॥

अद्धासमयोऽपि प्रवाहापेक्षया,तत उक्तम्-''एवं जाव अद्धासमए'' चरमो भवो भविष्यति यस्य स हि भव्यो चरमः, तद्विपरीतोऽचरमः, स चाभव्यः, तस्य चरमभवाभावात्। सिद्धश्च, तस्यापि चरमत्वायोगात्। तत्र चरमोऽचरमोऽनादिसपर्यवसितः, अन्यथा चरमत्वायोगात्। अचरमो द्विविधः, अनाद्यपर्यवसितः, सादिसपर्यवसितश्च। तत्रानाद्यपर्यवसि-तोऽभव्यः; साद्यपर्यवसितः सिद्ध इति। प्रज्ञा०१८ पद। पं०सं०। दर्श०।

(२०) उदकगर्भादीनाम्-

उदगगब्भे णं भंते ! उदगगब्भे त्ति कालओ केव चिरं होइ ? गोयमा जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसं छम्मासा। तिरिक्खजोणि-यगब्भे णं भंते ! तिरिक्खजोणियगब्भे त्ति कालओ केव चिरं होइ ? गोयमा ! जहन्नमंतोमुहूत्तं, उक्कोसं अट्ठ संवच्छराइं। मणुस्सीगब्भे णं भंते ! मणुस्सीगब्भे त्ति कालओ केव चिरं होइ ? गोयमा ! जहन्नं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसं बारस संवच्छराइं। कायमत्थे णं भंते ! कायत्तवत्थे त्ति कालयो केव चिरं होइ ? गोयमा ! जहण्णमंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं चउवीसं संवच्छराइं। मणुस्सपंचिंदिय-तिरिक्खजोणियवीए णं भंते ! जोणियब्भूए केवइयं कालं संचिट्ठइ ? गोयमा ! जहन्नेणमंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं बारस मुहुत्ता।

परिचारणायां किल गर्भः स्यादिति गर्भप्रकारणम्, तत्र (उदगगब्भे णं क्वचित् 'दगगब्भे णं ति' दृश्यते । तत्र उदकगर्भः कालान्तरेण जलप्रवर्षणहेतुः पुद्गलपरिणामः, तस्य चावस्थानं जघन्यत एकः समयः, एकसमयानन्तरमेव प्रवर्षणात् । उत्कर्षतस्तु षण्मासान्, षण्णमासानामुपरि वर्षणात् । अयं च मार्गशीर्षपौषादिषु वैशाखान्तेषु सन्ध्यारागमेघोत्पादादिलिङ्गो भवति । यदाह–''पौषे समार्गशीर्षे, सन्ध्यारागोऽम्बुदाः सपरिवेषाः । नात्यर्थं मार्गशिरे, शीतं पौषेऽतिहिमपातः''॥१॥ इत्यादि । (कायभवत्थे णं भंते ! इत्यादि) काये जनन्युदरमध्यव्यवस्थितनिजदेह एव यो भवो जन्म स कायभावः, तत्र तिष्ठति यः स कायभवस्थः, स च कायभस्थ इति, एतेन पर्यायेणेत्यर्थः । (चउवीसं संवच्छराइं ति)। स्त्रीकाये द्वादश वर्षाणि स्थित्वा पुनर्मृत्वा तस्मिन्नेवात्मशरीरे उत्पद्यते द्वादशवर्षस्थितिक तया इति, एवं चतुर्विंशतिपर्षाणि भवन्ति । केचिदाहुः–द्वादश वर्षाणि स्थित्वा पुनस्तत्रैवान्यवीजेन तच्छरीरे उत्पद्यते द्वादशवर्षस्थितिरिति । भ०२ श०५ उ०। (पुद्गलानां कायस्थितिः 'पुग्गल' शब्दे वक्ष्यते)

कायट्ठिइकाल पुं०(कायस्थितिकाल) कायानां पृथिवीकायादीनामन्यतमस्मिन् मृत्वा मृत्वा तत्रैव भूयो भूयः स्थितिः, तस्याः कालः कायस्थितिकालः । कालभेदे, प०सू०४ सूत्र०।

कायणिरोह पुं०(कायनिरोध) ऊर्द्धस्थानादिलक्षणे कायस्य निरोधे, पं०व०२ द्वार । मनोवाक्कायानामकुशलानामकरणे कुशलानामपि निरोधे, आव०४ अ०।

कायतिगिच्छा स्त्री(कायचिकित्सा)ज्वरादिरोगग्रस्तशरीरस्य चिकित्सा रोगप्रतिक्रिया यत्राभिधीयते तत्कायचिकित्सैव । आयुर्वेदाङ्गे, तत्र हि मध्याङ्गसमश्रितानां ज्वरातिसारादीनां शमनार्थं चिकित्साऽभिधियते । प्रश्न०३ आश्र०द्वार।

कायतिज्ज त्रि०(कायतीर्य) कायतरणीये शरीरतरणयोग्ये, दश०७ अ०।

कायंदी (देशी) परिहासे, दे०ना०२ वर्ग।

कायदंड पुं०(कायदण्ड) काय एव दण्डः कायदण्डः, कायेन वा दुष्प्रक्तेना त्मनो दण्डः । दण्डभेदे, स०१ सम०। ''कायदंडो–कायेण असुभपरिणतो पमत्तो वा जं करेति सो कायदंडो, दिट्ठंतो–चंडरुद्दो आयरिओ उज्जेणिवाहिरगामातो अणुयाणपेक्खओ आगतो, सो य अतीव रोसणो, तत्थ य समोसरणे गणियाघरविहेडितो जातिकुलादिसंपण्णे इब्भदारओ सेको उवट्ठितो । तत्थऽण्णेहिं, असद्दहंतेहिं चंडरुद्दस्स पास पेसिओ–कलिणा कलिप्पसओ त्ति से तस्स उवट्ठितो । तेण से ताहे चेव लोयं काओ पव्वाइतो । पच्चूसे गामं वच्चंताणं चंडरुद्दो पत्थरे आवलितो, रुट्ठो सेहं संडएण मत्थए अभिहणति; कहं ते पत्थरो न दिट्ठो त्ति ? सेहो सम्मं सहति, कालेणं केवलणाणं चंडरुद्दस्स चित्तं पासित्तं वेरग्गेणं केवलणाणं अंतो एतेहिं दंडेहिं जो मे जाव दुक्कडं''। आचू०४ अ०।

कायदुक्कडा स्त्री(कायदुष्कृता)आसन्नमगनस्थानादिनिमित्तायामाशातनायाम्, ध०२ अधि०। आव०।

कायदुप्पणिहाण न० (कायदुष्प्रणिधान) कृतसामायिकस्याप्रत्युपेक्षितादिभूतलादौ करचरणादीनां देहावयवानामनिभृतस्थापने, उक्तश्च–''अनिरिक्खियऽप्पमज्जिय–थंडिल्ले ठाणमाइ सेवंतो । हिंसाभावे वि न सो, कडसामइओ पमायाओ''॥१॥ आव०६ अ०। अयं च सामायिकस्यातिचारस्तृतीयः । ध०२ अधि०। प्रव०। उपा०।

कायधुओ (देशी) कामिञ्जुलाख्यपक्षिणि, दे० ना० २ वर्ग।

कायपमज्जण न०(कायप्रमार्जन) शरीरशोधने, ''जे भिक्खू विभूसावडियाए अप्पणो कायं आमज्जेज्ज वा पमज्जेज्ज वा आमज्जंतं वा पमज्जंतं वा साइज्जइ''॥१०७॥ निन०चू०१५ उ०।

कायपरिचा(या)रग पुं०(कायपरिचारक) परिचरन्ति सेवन्ते स्त्रियमिति परिचारकाः, कायतः परिचारकाः कायपरिचारकाः । ''दोसु कप्पेसु देवा कायपरियागारगा पण्णत्ता । तं जहा–सोहम्मे चेव ईसाणे चेव''। स्था०२ ठा०४ उ०। कायेन शरीरेणमनुष्यस्त्रीपुंसानामिव परिचारो मैथुनोपसेवनं येषां ते कायपरिचारकाः। परिचारकदेवभेदे, ते हि परस्परोच्चावचमनः–संकल्पमात्रेणैव कायपरिचारादनन्तगुणं सुखमाप्नुवन्ति, तृप्ताश्च तावन्मात्रेणैवोपजायन्ते । प्रज्ञा०३४ पद।

कायपाइ(ण्) त्रि०(कायपातिन्)कायमात्रेणैव सावज्ञक्रियाऽवतारिणि, ''कायपातिन एवेह, बोधिसत्त्वाः परोदितम् न चित्तपातिनस्ताव–देतदत्रापि युक्तिमत्''॥२७१॥ यो० विं०।

कायपाय न०(काचपात्र)काचमये पात्रे, आच०२ श्रु०६ अ०१ उ०।

कायपिच्छा (देशी) कोकिलायाम् दे० ना०२ वर्ग।

कायपुण्ण न०(कायपुण्य)कायेन पर्युपासनाद् यत्पुण्यं तत्पुण्यम् । पुण्यभेदे, स्था०९ ठा०।

कायप्पओगपरिणत त्रि० (कायप्रयोगपरिणत) औदारिका–दिकाययोगेन गृहीते औदारिकादिवर्गणाद्रव्ये औदारिकादिकायतया परिणते, भ०८ श०१ उ०।

कायबंझ पुं०(कायबन्ध्य) षट्त्रिंशत्तमे महाग्रहे, ''दोकाय बंझा'' स्था०२ ठा०३ उ०।

कायवह पुं०(कायवध) वनस्पत्यादिवधे, ''कूपोदाहरणादिह कायवधोऽपि गुणवान्''। षो०९ विव०। जीवनिकायहिंसायाम्, पञ्चा०४ विव)

कायभवत्थ पुं०(कायभवस्थ) काये जनन्युदरमध्यव्यवस्थितनिजदेह एव यो भवो जन्म स कायभवः, तत्र तिष्ठति यः स कायभवस्थः । मातुरुदरवर्तिनि जीवे, भ०२ श०५ उ०।

कायभाव पुं०(काचभाव) काचधर्मे, आव०३ अ०।

कायमत त्रि०(कायवत्) कायो महाकायः प्रांशुत्वं, तद् विद्यते येषां ते कायवन्तः । सूत्र०२ श्रु०१ अ०।

कायमणिया स्त्री०(काचमणिका) काचाश्च ते मणयश्च काचमणयः, कुत्सिताः काचमणयः काचमणिकाः । अविमलकाचमणिषु, आव०।

सुचिरं पि अत्थमाणो, वेरुलिओ कायमणिअउम्मीसो ।
न उदेइ कायभावं, पाहन्नगुणेण निअएण ॥१॥

कुत्सितकाचमणयः काचमणिकाः तैरुत्प्राबल्येन मिश्रः काचमणिकोन्मिश्रः, नोपैति न याति काचभावं काचधर्मं , प्राधान्य विमलगुणेन निजेनात्मीयेन; एवं सुसाधुरपि पार्श्वस्थादिभिः

सार्द्धं स वसन्नपि शीलगुणेनात्मीयेन न पार्श्वस्थादिभावमुपैत्ययं भावार्थः। आव०३ अ०।

कायर त्रि०(कातर) ईषत्तरति स्वकार्यसमाप्तिं गच्छति। तृ–अच्। कोः कादेशः। अधीरे, व्यसनाकुले च। वाच०। परीषहोपसर्गोपनिपाते सति। आचा०१ श्रु०६ अ०४ द०। हीनसत्त्वे, उत्त०२० अ०। चित्तावष्टम्भवर्जिते, ज्ञा०१ अ०। भा०। प्रश्न०। भीते, विवशे, चञ्चले च। के जले आतरति प्लवते न तु विशेषतो मज्जति। उडुपे, मत्स्यभेदे च। स्त्रियां जातित्वाद् ङीष्। ऋषिभेदे, ततः गोत्रे नडा० फक् कातरायणः। तद्गोत्रापत्ये, पुं०।स्त्री०। भावे ष्यञ्। कातर्य्यव्याकुलतायाम् न०। ''कातर्य्यं केवला नीतिः, शौर्य्यं श्वापदचेष्टितम्।''तल्–कातरता। स्त्री०। त्वे–कातरत्वम्। न०। तदर्थे, वाच०।

कायरिय पुं०(कातरिक) आजीविकोपासकभेदे, भ०८ श०५ उ०।

कायरिया स्त्री०(कातरिका)मायायाम्, ''विरया वीरा ससुट्ठिया० कोहकायरियाइ पीसणा'' सूत्र०१ श्रु०२ अ०१ उ०।

कायरो(लो) (देशी)–प्रिये, दे० ना० २ वर्ग।

कायवण पुं०(कायव्रण) शरीरशोथे,''दुविधो कायम्मि वणो, तदुब्भवागंतुओ वि णायव्वो।'' कायवणो दुविधो–तत्थेव काए उब्भवो जस्स सो य तब्भवो, आगंतुएण सत्थादिणा कओ जो से आगंतुगो इमो, तस्य लेपो न कर्तव्यः। नि० चू०३ उ०।

जे भिक्खू दिया गोमयं पडिग्गाहेत्ता दिया गोमयं कायंसि वणं आलिं पेज्ज वा विलिंपेज्ज वा आलिंपंतं वा विलिंपंतं वा साइज्जइ ॥३९॥ जे भिक्खू दिया गोमयं पडिग्गाहेत्ता रत्तिं कायंसि वणं आलिंपेज्जा वा विलिंपेज्ज वा आलिंपंतं वा विलिंपंतं वा साइज्जइ ॥४०॥ जे भिक्खू रत्ति गोमयं पडिग्गाहेत्ता दिया कायंसि वणं आलिंपेज्ज वा विलिंपेज्ज वा आलिंपंतं वा विलिंपंतं वा साइज्जइ ॥४१॥ जे भिक्खू रत्तिं गोमयं पडिग्गाहेत्ता रत्तिं कायंसि वणं आलिंपेज्ज वा विलिंपेज्ज वा आलिंपंतं वा विलिंपंतं वा साइज्जइ ॥४२॥

चउक्कभंगसुत्तं उच्चारेयव्वं। कायः शरीरं, व्रणः क्षतं, तेण गोमयेण आलिंपइ सकृत् विलिंपइ अनेकशः, अपरिवासिते मासलहुं, परिवासिते चउभंगे चउलहुं, तवकालविसिट्ठा आणादिया दोसा।

दियारातो गोमएणं, चउक्कभयणा तु जा वणे वुत्ता।
एत्तो एगतरेणं, मक्खेत्ताऽऽणादिणो दोसा ॥२१६॥

चउक्कभयणा चउभंगो तत्तिउद्देसए जा व्रणे वुत्तो इहं पि सच्चेव।

तिव्वुप्पतितं दुक्खं, अभिभूतो वेयणाए तिव्वाए।
अट्टीणो अव्वहितो, तं दुक्खहि थासते सम्मं ॥२१७॥
अव्वोच्छित्तिणिमित्तं, जीयट्ठाए समाहिहेउं वा।
एतेहि कारणेहिं, जयणा आलिंपणं कुज्जा ॥२१८॥

पूर्ववत्।

गोमयगहणे इमा विही–

अभिणववोसट्ठाऽऽसति, इतरे उवयोग काउ गहणं तु।
माहिस असती गव्वं, अणातवत्थं च विसघाती ॥२१९॥

वोसिरियमेत्तं घेत्तव्वं, तं बहुणं, तस्साऽऽसति इयरं चिरकालवोसिरियं, तं पि उवओगं करेंतु गहणं, दिणसंसत्तं पि माहिसं घेत्तव्वं, माहिसाऽऽसति गव्वं, तं पि अणातवत्थं, छायायामित्यर्थः। तं असुसिरं विसघाती भवति, आयवत्थं पुण सुसिरयरं स ण गुणकारी।

जे भिक्खू दिया आलेवणजायं पडिग्गाहेत्ता दिया कायंसि वणं आलिंपेज्ज वा विलिंपेज्ज वा आलिंपंतं वर विलिंपंतं वा साइज्जइ ॥४३॥ जे भिक्खू दिया आलेवणजायं पडिग्गाहेत्ता रत्तिं कायंसि वणं आलिंपेज्ज वा विलिंपेज्ज वा अलिंपंतं वा विलिंपंतं वा साइज्जइ ॥४४॥ जे भिक्खू रत्तिं आलेवणजायं पडिग्गाहेत्ता दिया कायंसि वणं आलिंपेज्ज वा विलिंपेज्ज वा आलिंपंतं वा विलिंपंतं वा साइज्जइ ॥४५॥ जे भिक्खू रत्तिं आलेवणजायं पडिग्गहित्ता रत्तिं कायंसि वणं आलिंपेज्ज वा विलिंपेज्ज वा आलिंपंतं वा विलिंपंतं वा साइज्जइ ॥४६॥

आलेवणजातं आलेवणप्पगारा।

दियरातो लेवेणं, चउक्कभयणा उ जा वणे वुत्ता।
एत्तो एगतरेणं, मक्खेत्ताऽऽणादिणो दोसा ॥२२०॥
सो पुण लेवो चउहा, समणो पायी विरेग संरोही।
वडछल्लि तुवरमादी, अणहारेणं इहं पगतं ॥२२३॥

वेदणं जो उवसमेति, पाइणगं करेति, विरेयणो पुव्वं रुधिरं दोसे वा णिग्घाए अतिसारादी रोहवेति, जावइओ वडछल्लिमादी तुवरा वेयणोवसमकारगा इह अणाहारियं परिसावेंतस्स चउलहुं।

तिव्वुप्पतितं दुक्खं, अभिभूतो वेयणाए तिव्वाए।
अट्टीणो अव्वहितो, तं दुक्खहि थासए सम्मं ॥२२२॥
अव्वोच्छित्तिणिमित्तं, जीयट्ठाए समाहिहेतुं वा।
एएहि कारणेहिं, कप्पति जयणाए मक्खेतुं ॥२२३॥

पूर्ववत्। नि)चू०१२ उ०।

कायवर पुं०(कार्यवर) प्रधानकाचे, प्रश्न०५ सम्ब० द्वार।

कायवायाम पुं०(कायव्यायाम) कायते इति कायः शरीरं, तस्य व्यायामो व्यापारः कायव्यायामः। औदारिकादिशरीरयुक्तस्यात्मनो वीर्यपरिणतिविशेषे,''एगे कायवायामे'' कायव्यायाम औदारिकादिभेदेन सप्तप्रकारोऽपि जीवानन्तत्वेनानन्तभेदोऽपि चा एक एव कायव्यायामः सामान्यादिति।

एगे कायवायामे देवासुरमणुयाणं तंसि तंसि समयंसि।

कायव्यायामः काययोगः, स चैषामेकदा एक एव, सप्तानां काययोगानामेकदा एकतास्यैव भावात्। ननु यदा ऽऽहारकप्रयोक्ता भवति तदौदारिकस्यावस्थितस्य श्रू-

यमाणत्वात् कथमेकदा न काययोगद्वयमिति ? अत्रोच्यतेसतोऽप्यौदारिकस्य व्यायामाभावादाहारकस्यैव च तत्र व्याप्रियमाणत्वादप्यौदारिकमपि व्याप्रियते तर्हि मिश्रयोगता भविष्यति, केवलिसमुद्घाते सप्तमष्ठद्वितीयसमयेष्वौदारिक-मिश्रवत्, तथा चाहारकप्रयोक्ता न लभ्यते, एवं च सप्तविधकाययोगप्रतिपादनमनर्थकं स्यादित्येक एव काव्यायाम इति, एवं कृतवैक्रियशरीरस्य चक्रवर्त्त्यादेरप्यौदारिकं निर्व्यापारमेव। व्यापारवत्त्वाच्चेत् उभयस्य व्यापारवत्त्वे केवलिसमुद्घातवन्मिश्रयोगतेत्येवमप्येकयोगत्वमव्याहतमेवेति। तथा काययोगस्याप्यौदारिकतया वैक्रियतया च क्रमेण व्याप्रियमाणत्वे आशुवृत्तितया मनोयोगवद् यदि यौगपद्यभ्रान्तिः स्यात्तदा को दोष इति ? एवं च काययोगैकत्वे सत्यौदारिकादियोगाहृतमनोद्रव्यवाग्द्रव्यसाचिव्यजातजीवव्यापाररूपत्वात्मनोयोगवाग्योगयोरेककाययोगपूर्वकतयाऽपि प्रागुक्तमेकत्वमवसेयमिति। अथ चेदमेव वचनमात्रं प्रमाणम्, आज्ञाग्राह्यत्वादस्य। यतः-''आणागब्भो अत्थो, आणाए चेव सो कहेयव्वो। दिट्ठंतादिट्ठंतिय, कहणविहिविराहणा इयरा''॥१॥ इति दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकः, अर्थ इत्यर्थः। ननु सामान्याश्रयैकत्वेनैव सूत्रगमकं भविष्यतीति किमनेन विशेषव्याख्याननेनेति ? उच्यते-नैवम्, सामान्यैकत्वेऽस्य पूर्वसूत्रैरेवाभिहितत्वादस्य पुनरुक्तत्वप्रसङ्गाद्देवादिग्रहणसमयग्रहणयोश्च वैयर्थ्यप्रसंगाच्चेति। इह च देवादिग्रहणं विशिष्टवैक्रियलब्धिसंपन्नतयैषामनेकशरीररचने सत्येकदा मनोयोगादीनामनेकत्वं शरीरवद्भविष्यतीति प्रतिपत्तिनिरासार्थं न तं तिर्यग्नारकाणां व्यवच्छेदार्थम्। ननु तिर्यग्नारका अपि वैक्रियलब्धिमन्तः, तेषामपि विक्रियायां शरीरानेकत्वेन मनःप्रभृतीनामनेकत्वप्रतिपत्तिः संभाव्यत एवेति तद्ग्रहणमपि न्याय्यमिति। सत्यम्। किंतु देवादीनां विशिष्टतरलब्धितया शरीराणामत्यन्तानेकतेति तद्ग्रहणम्, तथा प्रधानग्रहणे इतरग्रहणं भवतीति न्यायादोषः। नारकादीभ्यश्च देवादीनां प्रधानत्वं प्रतीतमेवेति। एतेषां च मनःप्रभृतीनां यथा प्राधान्यकृतः क्रमः; प्रधानत्वं च बह्वल्पाल्पतरकर्मक्षयोपशमप्रभवलाभकृतमिति। स्था०१ ठा०१ उ०।

कायविणय पुं०(कायविनय)कायस्य विनयार्हे कुशलप्रवृत्तौ, स्था०७ ठा०।

कायवीरिय न०(कायवीर्य) औरस्ये बले, सूत्र०१ श्रु०८ अ०। ('वीरिय'शब्देऽस्य विवृतिः)

कायव्व त्रि।(कर्तव्य) विधये, पञ्चा०६ विव०। प्रव०। बृ०। नि०चू०। आचा०।

कायसंकिलेसि पुं०(कायसंक्लेश) कायः शरीरं, तस्य संक्लेशः शास्त्राविरोधेन बाधनम्। अत्र तु तनोरचेतनत्वेऽपि शरीरशरीरिणोः कथञ्चिदभेदात् कायक्लेशोऽपि संभवत्येव। विशिष्टासनकरणेनाप्रतिकर्मशरीरत्वकेशोल्लुञ्चनादिना च देहस्यौचित्येन विवाधने बाह्यतपसि, ध०१ अधि०। अयं च स्वकृतक्लेशानुभवरूपः, परीषहास्तु स्वरपरकृतक्लेशरूपाः, इति कायक्लेशस्य परीषहेभ्यो भेदः। ध०३ अधि०।

कायसंपया स्त्री० (कायसंपत्) ''रूपलावण्यबलव-ज्रसंहननत्वानि कायसम्पद्'' इति पतञ्जल्युक्ते उत्तमरूपादौ, द्वा०२६ द्वा०।

कायसमय पुं०(कायसमय) जीवेन कायस्य कायताकरणे, भ०१३ श०७ उ०।

कायसमयविइक्कंत त्रि०(कायसमयव्यातिक्रान्त) जीवेन कायस्य कायताकरणलक्षणं समयं व्यतिक्रान्ते, ''कायसमयविइक्कंते वि काय'' कायसमयव्यतिक्रान्तोऽपि काय एव, मृतकलेवरवत्। भ०१३ श० उ०।

कायसमाहारणया स्त्री०(कायसमाधारणता) संयमयोगेषु देहस्य सम्यग्व्यवस्थापनायाम्, उत्त०।

तत्फलम्-

कायसमाहारणयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ? कायसमाहारणयाए णं जीवे च रित्तपज्जवे विसोहेइ, चरित्तपज्जवे विसोहित्ता अहक्खायचरित्तं विसोहेइ, अहक्खायचरित्तं विसोहित्ता चत्तारि केवलकम्मं से खवेइ, तओ पच्छा सिज्झइ बुज्झइ मुच्चइ परिनिव्वाएइ सव्वदुक्खाणमंतं करेइ ॥५८॥

हे भगवन् ! कायसमाधरणया जीवः किं जनयति ? कायस्य समाधारणा संयमयोगेषु देहस्य सम्यग्व्यवस्थापना कायसमाधारणा, तथा, जीवः किं फलमुत्पादयति ? तदा गुरुराह-हे शिष्य ! कायसमाधारणया चारित्रपर्यवान् चारित्रभेदान् क्षायोपशमिकान् विशोधयति, चारित्रपर्यवान् विशोध्य यथाख्यातचारित्रं विशोधयति, यथाख्यातचारित्रं निर्मलं कुरुते। ननु यथाख्यातचारित्रमविद्यमानं कथं निर्मलं भवति ? अत्रोत्तरम्। यथाख्यातचारित्रं सर्वथा अविद्यमानं नास्ति, अविद्यमानस्य निर्मलत्वासम्भवात्, तस्माद् यथाख्यातचारित्रं पूर्वमस्ति, परं चारित्रमोहनीयेन मलिनमस्ति, तदेव यथाख्यातचारित्रं चारित्रमोहोदयनिर्जरेण निर्मलीकुरुते, यथाख्यातचारित्रं विशोध्य च केवलसत्कर्मांशान् चत्वारि विद्यमानकर्माणि घनघातीयानि वेदनीयायुर्नामगोत्रलक्षणानि क्षपयति, ततः सिध्यति, बुध्यते, मुच्यते, परिनिर्वापयति, सर्वदुःखानामन्तं करोति। उत्त०२२९ अ०।

कायसमिइ स्त्री०(कायसमिति)कायस्य स्थानादिसमितौ, स्था०८ ठा०।

कायसुहया स्त्री०(कायसुखता) काये सुखं यस्यासौ कायसुखस्तद्भावः कायसुखता। सुखिते काये, प्रज्ञा०२३ पद।

कायाग पुं०(कायाक) वेषपरावर्त्तकारिणि नटविशेषे, बृ०४ उ०।

कायाणुवाय पुं०(कायानुपात) पृथिव्यादीनां यत्कायं शरीरं तस्यानुपातो विनाशः। पृथिव्यादीनां द्वीन्द्रियादीनां च कायानामुपपाते, नि०चू०२३ उ०।

कारं -(देशी)-काट्याम्, दे०ना२ वर्ग।

कार पुं०(कार) कृ कृतौ घञ्। क्रियायां, यत्ने च। वाच०। करणे, आतु०। प्रव०। करणे घञ्। बले, कस्य सुखस्यारः प्राप्तिर्यत्र। रतौ, कृ हिंसायाम् भावे घञ्। वधे, धातूनामनेकार्थत्वात् निश्चये, कर्मणि घञ्। पूजोपहारे बलौ, कं सुखमृच्छत्यनेन, ऋ करणे घञ्। पत्यौ, कं सुखं निर्वृतिमृच्छति अयं, कर्त्तरि अण्। यतित्वे चतुर्थाश्रमे, कं जलं निष्यन्दजमृच्छति अण्। हिमाचले, कर्मण्युपपदे कृ अण्, स्वर्णकारः कुम्भकार इत्यादौ तत्तत्कर्मकारके, त्रि०। स्त्रियां टाप्। वाच०। ''संघमज्झे कारे'' कारशब्दोऽत्र रूपमात्रे सङ्घमध्ये

व्यवहर्त्तव्यः। व्य०३ उ०। ''वर्णोत्कारः'' इति वर्णवाचकात्कारप्रत्ययः। ''सायंकारे त्ति'' सायमिति निपातः सत्यार्थः, तस्माद् वर्णात्कार इत्येनन छान्दसत्वात्कारप्रत्ययः, करणं वा कारः, ततः सायंकार इति। स्था०१० ठा०।

कारकंडो (देशी) परुषे, दे० ना०२ वर्ग।

कारंडव पुं०स्त्री०(कारण्डव) रम् डः। डस्य नेत्वम्, ण्डः। ईषत् ण्डः, कारण्डः तं वाति, करण्डस्येदं करण्डं तदाकारं वाति वा। हंसभेदे, वाच०। ज्ञा०। औ०। जी०।

कारग त्रि०(कारक) कृ-ण्वुल्। अनुष्ठातरि, उत्त०१ अ०।

अस्य निक्षेपः षोढा–

दव्वे खित्ते काले, भावेण उ कारओ जीवो ॥४॥ सूत्र०नि०।

नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावभेदात् षोढा निक्षेपः, तत्र नामस्थापने प्रसिद्धत्वादनादृत्य द्रव्यादिकं दर्शयति–(दव्वे इति) द्रव्यविषये कारकश्चिन्त्यः। स च द्रव्यस्य द्रव्येण द्रव्यभूतो वा कारको द्रव्यकारकः। तथा–क्षेत्रे भरतादौ यः कारको यस्मिन् वा क्षेत्रे कारको व्याख्यायते स क्षेत्रकारकः। एवं कालेऽपि योज्यम्। भावेन तु भावद्वारेण चिन्त्यमानोऽत्र कारको यस्मात्सूत्रस्य गणधरः कारकः। एतच्च सूत्रकृदेवोत्तरत्र वक्ष्यति 'ठिइअणुभावेत्यादौ' ॥४॥ सूत्र०१ श्रु०१ अ०१ उ०। करोति कर्तृत्वादव्यपदेशान्, कृ ण्वुल्, कर्तृत्वादिसंज्ञाप्रयोजके कर्मणि, क्रियायां, 'कारके' पाणिनिसूत्रम्, कर्तृत्वादिव्यपदेशकारिण्यां क्रियायामित्यर्थः। करोति क्रियां निष्पादयति, कृण्वुल्। क्रियानिष्पादकेषु कर्तृकर्मादिषु कारकसंज्ञान्वितेषु, तेषां च क्रियायामेवान्वयः। कारकत्वं नामक्रियाजनकशक्तिमत्त्वम्, करोति क्रियां निर्वर्तयतीति महाभाष्ये व्युत्पादनात्, साधकं क्रियानिष्पादकं भवतीति वार्तिकोक्तेश्च। द्रव्यस्य तथात्वाभावेऽपि शक्यत्वाऽऽविष्टस्यैव तस्य तथात्वम्। ततश्चान्वयव्यतिरेकसत्त्वाच्छक्तिरेव कारकमिति मतान्तरम्। तदुक्तं हरिणा– ''स्वाश्रये समवेतानां, तद्वदेवाश्रयान्तरे। क्रियाणामभिनिष्पत्तौ, सामर्थ्यं साधनं विदुरिति''। शक्तिशक्तिमतोरभेदाद् द्रव्यं कारकमिति व्यवहार इति। वाच०। तानि च कर्तृकर्मकरणसंप्रदानापादानाधिकरणरूपाणि षट्। ''आत्मन्येवात्मनः कुर्य्यात्, यः षट् कारकसङ्गतिम्। क्रांविवेकज्वरस्यास्य, वैषम्यं जडमज्ञनात्?''॥१॥ विशे०। अष्ट०। (एषां परस्परं स्याद्वादमुद्रया संवेधः 'सामाइय' शब्दे वक्ष्यते) ''गर्जति शरदि न वर्षति, वर्षासु च निःस्वनो मेघः। नीचो वदति न कुरुते, न वदति साधुः करोत्येव''॥१॥ कल्प०५ क्षण। ''कारणं ति वा कारगं ति वा साहारणं ति वा एगट्ठा''। आ०चू०१ अ०। तुमर्थे ण्वुल् कर्तुमित्यर्थे, तद्योगे कर्मणि न षष्ठी, अतो घटं कारको व्रजत्येवं प्रयोगः। करकाया इदं तत्र भवं वा अण्। करकासम्बन्धिनि तन्निष्यन्दिजले, न०। अप्सु, स्त्री०। ङीष्। वाच०।कारयति सदनुष्ठानमिति कारकम्। विशे०। सूत्राज्ञाशुद्धायां क्रियायाम्, तस्या एव परगतसम्यक्त्वोत्पादकत्वेन सम्यक्त्वरूपत्वात्। तदवच्छिन्ने वा सम्यक्त्वभेदे, ध०२ अधि०। यस्मिन् सम्यक्त्वे सति सदनृष्ठानं श्रद्धत्ते सम्यक् करोति च। विशे०। एतच्च साधूनां विशुद्धचारित्रिणामेव। ध०२ अधि०। श्रा०। दर्श०।

कारगसुत्त न०(कारकसूत्र) विस्तरेणाधिकृतार्थप्रसिद्धिकारके सूत्रभेदे, बृ०१ उ०। ('सुत्त' शब्देस्य विवृतिः)

कारण न०(कारण) कारयति क्रियानिर्वर्तनाय प्रवर्तनाय प्रवर्तयति कृ णिच् ल्युट्। क्रियानिष्पादके, वाच०। हेतौ, हेतुर्निमित्तं कारणमित्यनर्थान्तरम्। विशे०। आ०म०। ''अत्थो त्ति वा हेउ त्ति वा कारण ति वा एगट्ठा''। निन०चू२० उ०। आ०चू०। संथा०।

निक्षेपः–

निक्खेवो कारणम्मी, चउव्विहो दुविहु होइ दव्वम्मि।
तद्दव्वमन्नदव्वे, अहवा वि निमित्तनेमित्ती ॥२०९८॥
समवाइ असमवाई, छव्विह कत्ता य करण कम्मं च।
तत्तो य संपयाणा–पयाण तह संनिहाणे य ॥२०९९॥

इह करोति कार्यमिति कारणम्, तस्य नामस्थापना द्रव्यभावभेदाच्चतुर्विधो निक्षेपो न्यासः। तत्र नामस्थापने सुज्ञाने। द्रव्यकारणं तु ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तमाह–(दुविहु इत्यादि) व्यतिरिक्तद्रव्यकारणविषयो निक्षेपो द्विविधः। कथम् ?तद्दव्वमन्नदव्वे त्ति) तद्द्रव्यकारणम्, अन्यद्रव्यकारणं चेत्यर्थः। तस्यैव जघन्यस्य पटादेः सजातीयत्वेन संबन्धि द्रव्यं तन्त्वादि तद्द्रव्यम् तच्च तत्कारणं च तद्द्रव्यकारणम् तथा–यत्तद्विपरीतं तदन्यद्रव्यकारणं जन्यपटादिविजातीयं वेमादीत्यर्थः। तद्द्रव्यकारणत्वे कार्यकारणयोरेकत्वमिति प्रेर्यस्य परिहारं वक्ष्यति भाष्यकारः। अथ वा–अन्यथाव्यतिरिक्तकारणस्यैव द्वैविध्यम्–निमित्तकारणं, नैमित्तिककारणं चेति। तत्र कार्यात्मन आसन्नभावेन जनकं निमित्तम्ख यथा पटस्यैव तन्तवः, तद्व्यतिरेकेण पटस्यानुत्पत्तेः। तच्च तत्कारणं च निमित्तकारणम्, यथा च तन्तुभिर्विना पटो न भवति तथा तद्वताऽऽतान-वितानादिचेष्टाव्यतिरेकेणापि न भवत्येव। तस्याश्च तच्चेष्टाया वेमादि कारणम्, अतो निमित्तस्येदं नैमित्तिकमिति ॥२०९८॥ अथवा–अन्यथाव्यतिरिक्तकारणस्य द्वैविध्यमित्याह–(समवायीत्यादि) 'सम्' एकीभावे, अवशब्ददोऽपृथक्त्वे, अय गतौ, इण् गतौ वा। ततश्चैकी भावेनापृथग्गमनं समवायः संश्लेषः, स विद्यते योषां ते समवायिनस्तन्तवः, यस्मात्तेषु पटः समवैतीति, समवायिनश्च ते कारणं च समवायिकारणम्। तन्तुसंयोगास्तु कारणरूपद्रव्यान्तरधर्मत्वेन पटाख्यकार्यद्रव्यान्तरस्य दूरवर्तित्वादसमवायिनः, त एव कारणमसमवायिकारणम्। आह–ननु तद्द्रव्यादिप्रकारत्रयेऽपि यथोक्तन्यायेनार्थस्याभेद एव, इति किं भेदेनोपन्यासः ? सत्यम् किं तु तन्त्रान्तरीभ्यु-पगतसंज्ञानन्तरप्रदर्शनपरत्वाददोषः। अथवा–व्यक्तिरिक्तं द्रव्यकारणम् (छव्विह त्ति) अनुस्वारस्य लुप्तस्य दर्शनात् षड्विधं षट् प्रकारम् कथम् ? कर्त्ता कुलाललक्षण-स्तावत्कार्यस्य घटादेः कारणम्, तस्य तत्र स्वातन्त्र्येण व्यापारात्। तथा करणं च मृत्पिण्डदण्डसूत्रादिकं घटस्य करणं, साधकतमत्वात्। तथा क्रियते निर्वर्त्यते यत्तत्कर्म घटलक्षणं तदपि कारणम्। आह–ननु कथमात्मैवात्मनः कारणम्, अलब्धात्मलाभस्य तस्य कारण-त्वानुपपत्तेः ? सत्यम्, कुलालादिकारणव्यापृतिक्रिया-विषयत्वादुपचारतस्तस्य कारणत्वम्। उक्तं च–''निर्वर्त्य वा विकार्यं वा, प्राप्यं वा यत् क्रिया फलम्। तद् दृष्टादृष्टसंस्कारं कर्म कर्तुर्यदीप्सितम्''॥१॥ तदेवं क्रियाफलत्वेन कार्यस्यापि कारणत्वम्, अन्यथा कुलालादिक्रियावैयर्थ्यप्रसंगादिति। मुख्यवृत्त्या वाऽसौ कार्यगुणेन कारणत्वम्। तथा सम्यक् सतकृत्य वा प्रयत्नेन दानं यस्मै तत्संप्रदानम्–घटग्राहक-देवादत्तादि। तदपि घटस्य कारणम्, तदुद्देशेनैव घटस्य निष्पत्तेः,

तदभावे तन्निपत्त्ययोगादिति। (अवयाण त्ति) 'दो अवखण्डने' दानं खण्डनम्, अपसृत्य आमर्यादया दानं खण्डनं नियोजनं मृत्पिण्डादेर्यस्मात् तद् मृत्पिण्डापायेऽपि ध्रुवत्वाद्भूमिलक्षणम पादानम्। तदपि कार्यस्य घटस्य कारणम् तदनन्तरेणाऽपि तस्यानुत्पत्तेः। तथा–सन्निधीयते स्थाप्यते कार्यं यत्र तत्संनिधानमाधारः, अधिकरणमित्यर्थः। तदपि कार्यस्य घटस्य कारणम्, आधारतया तस्यापि तत्रोपयोगात्। तच्च घटस्य चक्रम्, तस्यापि भूमिः;तस्याप्याकाशमिति निर्युक्तिगाथाद्वयार्थः॥२०९६॥

अथैतद्व्याचिख्यासुर्भाष्यकारः प्राह–

तद्दव्वकारणं तं तवो पडस्सेह जेण तम्मयया।
विवरीयमन्नकारण मिट्ठं वेमादओ तस्स ॥२१००॥

यदात्मकं कार्यं दृश्यते तदिह तद्दव्यकारणम् – तस्य कार्यद्रव्यस्य सजातीयत्वेन संबन्धि कारणं तद्दव्यकारणमित्यर्थः। यथा पटस्य तन्तवः; *येन तन्मयता तत्त्वात्मकता पटस्य। उक्तविपरीतं तु यत्तदात्मकं कार्यं* न भवति तदन्यद् द्रव्यकारणमिष्टम्, यथातस्यैव पटस्य वेमादय इति।२१००॥

अत्र परः– प्रेरयन्नाह –

जइ तं तस्सेव मयं, हेऊ नणु कज्जकारणेगत्तं।
न य तं जुत्तं ताइं, जओऽभिहाणाइ भिन्नाई ॥२१०१॥

ननु यदि तत् तस्यैव पटस्य संबन्धि तन्तुद्रव्यं तस्यैव च पटस्य हेतुः कारणं मतं संमतम्, तन्ननु कार्यकारणयोरेकत्वं प्राप्नोति। ततश्च न तन्तुपटयोः कार्यकारणभावः, एकत्वात्पटस्वरूपवदिति परस्याभिप्रायः। न च तत्कार्यकारणयोरेत्वं युक्तम्, यतस्ते कार्यकारणे अभिधानादिना भिन्ने वर्त्तते; आदिशब्दात्संख्यालक्षणकार्यपरिग्रहः। तथाहि–पटः, तन्तव इत्यभिधानभेदः। एकः पटः, बहवस्तन्तव इति संख्याभेदः। लक्ष्यतेऽनेनेति लक्षणं स्वरूपम्, तच्चान्यादृशं पटस्य, अन्यादृशं च तन्तूनामिति लक्षणभेदेः। शीतत्राणादिकार्यः पटः, बन्धनादिकार्यश्च तन्तव इति कार्यभेदः। ततश्च भिन्ने पटतन्तुलक्षणे कार्यकारणे, अभिधानादिभेदाद्, घटपटादिवदिति। तथा- च इति सति भवदभिप्रायेण यत्तयोरेकत्वामापतति, तदयुक्तमेवेति ॥२१०१॥

अत्रोत्तरमाह–

तुल्लोयमुवालंभो, भेए वि न तंतवो घडस्सेव।
कारणमेगंते वि य, जओभिहाणादओ भिन्ना।२१०२॥

यस्तन्तु पटयोरभेदपक्षे कार्यकारणभावाभावप्रसङ्गलक्षण उपालम्भस्तव चेतसि वर्तते, स भेदेऽपि भेदपक्षेऽपि तुल्यः समान एव वर्तते। तथाहि न तन्तवः पटस्य कारणं, भिन्नत्वाद् घटस्येवेति। किं च एत एकत्वेऽपि वस्तूनामभिधानादयो भिन्ना दृश्यन्त एव;ततोऽनैकान्तिको हेतुरिति शेषः। तथाहि घटस्य रूपादीनां चैकत्वं लोके प्रतीतम्, अथवाऽभिधानादयो भिन्ना एव। तद्यथा घटः, रूपादय इत्यभिधानभेदः। एको घटः, बहवो रूपादय इति संख्याभेदः। पृथुबुध्नोदराद्याकारलक्षणो घटः, रक्तत्वादिलक्षणा रूपादय इति लक्षणभेदः। जलाहरणादिक्रियाकारको घटः, रङ्गाधानादिहेतवश्च रूपादय इति कार्यभेदः। ततोऽभिधानादि भेदाद्भेद इत्येनैकान्तिको हेतुः, यत एतदपि शक्यते वक्तुम् अभिन्ने पटतन्त्वादिलक्षणे, कार्यकारणे अभिधानादिभेदाद्, घटरूपादिवदिति ॥२१०२॥

आह–यद्येकत्ववद्भेदेऽपि कार्यकारणयोस्तुल्य उपालम्भः, तर्हि कथं नाम लोकप्रसिद्धस्तन्तुपटादीनां कार्यकारणभावः सिद्ध्यति ? इति भवन्त एव कथयन्त्वित्याह–

जं कज्जकारणाइं, पज्जाया वत्थुणो जओ ते य।
अन्नेऽणन्ने मया, तो कारणकज्जभयणेयं ॥२१०३॥

यद्यस्माद् घटमृत्पिण्डादिलक्षणे कार्यकारणे वस्तुनः पृथिव्यादेः पर्यायौ वर्तेते, तौ च घटमृत्पिण्डलक्षणौ पृथ्वीपर्यायौ परस्परं यतो यस्मादन्या-वनन्यौ च मतौ। तत्र संख्यासंज्ञालक्षणादिभेदादन्यत्वं, मृदादिरूपतया सत्त्वप्रमेयत्वादिभिश्चानन्यत्वम्। तस्मात्कारणयोरियमन्यानन्यत्वलक्षणा भजना द्रष्टव्या। ततश्च कथञ्चित्तयोः परस्परं भेदे, कथाञ्चित्त्वभेदे कार्यकारणभाव इति–भावार्थः ॥२१०३॥

एतदेवाह–

नत्थि पुढवीविसिट्ठो, घडो त्ति जं तेण जुज्जइ अणन्नो।
जं पुण घडो त्ति पुव्वं, न आसि पुढवी तओ अन्नो ॥२१०४॥

पृथिव्या मृत्तिकाया विशिष्टो व्यतिरिक्तो तन्मयो घटो नास्ति न दृश्यते यद्यस्मात्, तेन तस्माद्युज्यते अनन्यो मृत्तिकातोऽभिन्नः। यत् पुनर्घट इति व्यक्तेन रूपेण पूर्वं घटनिष्पत्तेः प्राग् नासीन्नानाभूत्किं तु पृथिवि मृत्तिकैवासीत्, अन्यथा सर्वथैकत्वे पृथिवीकालेऽपि घटो दृश्येतेति भावः। ततस्तस्मात् ज्ञायते पृथिवीतोऽयो घट इति। एवं यथा मृद्घटयोरन्यानन्यत्यमेव, एवं सर्वत्र कार्यकारणयोस्तद्भावनीयमिति ॥२१०४॥

''अहवा वि निमित्तनेमित्ती'' इत्येत द्व्याचिख्यासुराह–

जह तंतवो निमित्तं, पडस्स वेमादओ तहा तेसिं।
जं चेट्ठाइ निमित्तं, तो ते पडयस्स नेमित्तं ॥२१०५॥

यथा तन्तवः पटस्य निमित्तं कारणं, तथा तेनैव प्रकारेण यस्मात्तेषां तन्तूनामातानवितानादि चेष्टा निमित्तं वेमादयस्ततस्ते निमित्तस्येदं नैमित्तिकं कारणं पटस्य भवतीति ॥२१०५॥

समवायी असमवायीत्येतद्विवरणायाऽऽह–

समवाइकारणं तं–तओ पडे जेण ते समवयंति।
न समेइ जओ कज्जे, वेमाइ तओ असमवाई ॥२१०६॥

समवायिकारणं तन्तवः पटस्य, येन ते समवयन्ति पटे, येन पटस्तेषु समवेतः समुत्पद्यते इतीह तात्पर्यम्। इह तन्तुषु पट इत्येव वैशेषिकैरभ्युपगमात्। वेमादि पुनः पटाख्ये कार्ये न समवैति न संश्लिष्यते ततोऽसमवायि कारणं तदिति।२१०६॥

वैशेषिकसिद्धान्तेऽपि मतभेदमुपदर्शयन्नाह–

वेमादओ निमित्तं, संजोगा असमवाइ केसिं चि।
ते जेण तंतुधम्मा, पडो य दव्वंतरं जेण ॥२१०७॥
दव्वंतरधम्मस्स य, न जओ दव्वंतरम्मि समवाओ।
समवायम्मि य पावइ, कारणकज्जे गया जम्हा ॥२१०८॥

इह केषां चिद्वैशेषिकविशेषाणां मतेन वेमादयः, आदिशब्दात्सजातीयाऽतज्जातीयतुरीवेमकालादयश्च पटस्य निमित्तं निमित्तकारणम्, न त्वसमवायिकारणम्, तन्तुसंयोगमात्रनिमित्तत्वेन तन्तुलक्षणकारणद्रव्यानाश्रितत्वात्तेषामित्यभिप्रायः। के पुनस्तर्ह्यसमवायिकारणमित्याह–संयोगास्तन्तुगुणास्तन्तुधर्मा इत्य-

र्थः, तन्तुलक्षणकारणा-श्रित्यतत्वात्। तथा चाह–ते तन्तुसंयोगा येन कारणेन तन्तुधर्म्माः, अतो निमित्त कारणं न भवति, तद्विलक्षणरूपत्वात्। भवन्तु तर्हि समवायिकारणम्, तन्तुवत्तेषामपि पटे समवेतत्वात्। नैवम्। यतस्तन्तुद्रव्यात् द्रव्यान्तरं पटः; तस्माच्च द्रव्यान्तरं तन्तवः; द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्ते, गुणाश्चगुणान्तरमिति सिद्धान्तादिति। ततः किम् ? इत्याह–द्रव्यान्तरधर्मस्य च यतोन द्रव्यान्तरे समवायः, शीतादीनामिव हुतभुजि, यस्मात्तन्तुधर्माणां तत्संयोगानां पटे द्रव्यान्तरे समवाये इष्यमाणे पटतन्तुलक्षणयोः कार्यकारणयोरेकता प्रप्नोति; इतरेतरगुणसमवायात्। ततश्च यथा पटधर्माः शुक्लादयः पटे समवेतत्वात्तद्व्यतिरिक्ताः सन्तो न पटस्य कारणम्, एवं तन्तुसंयोगाअपि न तत्कारणं स्युः, एकत्वे कार्यकारणभावायोगादिति। तदेवं वैशेषिकाः कार्यकारणयोरेकत्वं कथमपि नेच्छन्ति॥२१०७।२१०८॥

अचार्यस्तु जैनत्वात्स्याद्वादितया कारणात्कार्यं भिन्नमभिन्नं च पश्यन्नाह–

जह तंतूणं धम्मा, संयोगा तह पडो वि सगुणा व्व।
समवायाइत्तणओ, दव्वस्स गुणादओ चेवं॥२१०९॥
अभिहाणबुद्धिलक्खण–भिन्ना वि जहा सद थओऽणन्ने।
दिक्कालाइविसेसा, तह दव्वाओ गुणाईआ॥२११०॥
उवयारमेत्तभिन्ना, ते चेव जहा तहा गुणाईआ।
तह कज्जं कारण ओ, भिन्नमभिन्नं च को दोसो ?।२१११॥

ननु यथा तन्तूनां धर्मा वर्तन्ते, के ? तत्संयोगादयः, तथा पटोऽपि तन्तूनां धर्म एव। यथा तेषामेव तन्तूनां स्वगुणाः शुक्लादयः तद्धर्मः। कुतः?समवायादित्वात्। इह यो यत्र समवेतः स तस्य धर्म एव, यथा तन्तूनां स्वगुणाः शुक्लादयस्तद्धर्म्माः, समवेतश्च तन्तुषु पटः। तस्मात्तद्धर्मः पटः। यथा च तन्तूनां धर्मः पटः, एवं द्रव्यस्य गुणादयोऽपि, गुणकर्मसामान्यविशेषसमवाया अपि धर्मा इत्यर्थः। यदि नाम तन्तूनां धर्मः पटः, द्रव्यस्य वा गुणादयो धर्माः, तथापि प्रस्तुते कारणात्कार्यस्य भेदाभेदे किमायातम् ? इत्याह–(अभिहाणेत्यादि) यथा दिक्कालात्मादयो विशेषा अभिधानबुद्धिलक्षणादि-भिर्भिन्ना अपि, संश्चासावर्थश्च सदर्थः, सत्ता–सामान्यमित्यर्थः। तस्मात्सत्त्वज्ञेयत्वप्रमेयत्वादिभिः-रनन्ये अभिन्नाः। तथा तेनैव प्रकारेण द्रव्याद् गुणकर्मसयामान्यसमवाया-दयोऽनन्ये अभेदवन्तः। इदमुक्तं भवति–दिक्कालादीनामन्यदभिधानम्, अन्यच्च सामान्यस्य, अन्यादृशी दिगादिषु बुद्धिः, अन्यादृशी च सत्ता–सामान्ये; अन्यत् दिगादीनां लक्षणं स्वरूपम्; अन्यादृशं च सत्तासामान्यस्य, इत्येवमभिधानादिवैलक्षण्याद्यथा भिन्ना अपि दिक्कालादयः सत्तासामान्यात्सत्त्वज्ञेयत्वादिभिरभिन्नाः; तथा द्रव्यादपि तन्त्वादिशुक्लगुणादयोऽभिधानादिभिर्भिन्ना अपि सत्त्वज्ञेयत्वादिभि-रभिन्ना इति। यद्यभिन्नास्तर्हि भेदः कथमित्याह–(उवयारेत्यादि) ते चैव दिगादयो यथोपचारमात्रतः सत्तासामान्याद्भिन्नास्तथा गुणादयोऽपि द्रव्याद् भिन्नाः। इदमुक्तं भवति–यथा सत्तासामान्या-दभिन्नेष्वपि दिगादिष्वभिधानादिभेदाद्भद उपचर्यते, एवं द्रव्याद् गुणादीनामापि। तथाहि–प्रभातसमये मन्दमन्दप्रकाशे अविरलपत्रनिचिततरुशाखा-निलीनवलाकायाः पत्रविवरेण केनापि किञ्चिच्छुक्लमुपलभ्यत इत्येवं शुक्लत्वं निश्चियते, न तु बलाका। एतच्च गुणगुणिनोः कथञ्चिद्भेदमन्तरेण नोपपद्यते, एकान्ताभेदे गुणग्रहणे गुणिनोऽवश्यं ग्रहणप्रसङ्गात्। तस्माद् द्रव्यादुणादीनां कथञ्चिद्भेदः, कथञ्चित्त्वभेद इति। तथा तेनैवोक्तप्रकारेण कारणात्कार्यतभिधानादिभेदाद् भिन्नं, सत्त्वज्ञेयत्वादिभिस्त्वऽभिन्नं यदि स्यात्तर्हि को दोषः ? येन वैशेषिकादयो भेदे एव कार्यकारणभावमिच्छ-न्तीति ?२१११॥

अथ षड्विधं व्यतिरिक्तकारणं व्याचिख्यासुराह–

कारणमहवा छद्धा, तत्थ सतंतो त्ति कारणं कत्ता।
कज्जस्स साहगतमं, करणम्मि उपिंड–दंडाइं॥२११२॥
कम्मं किरिया कारण–मिह निच्चिट्ठो जओ न साहेइ।
अहवा कम्मं कुंभो, स कारणं बुद्धिहेउ त्ति॥२११३॥
भव्वो त्ति व जोगो त्ति व, सक्को त्ति व सो सरूवलाभस्स।
कारणसन्निज्झम्मि वि, जन्नागा सत्थमारंभो॥२११४॥
वज्झनिमित्तावेक्खं, कज्जं वि य कज्जमाणकालम्मि।
होइ सकारणमिहरा, विवज्जया भावया होज्जा॥२११५॥
देओ स जरूय तं सं–पयाणमिह तं पि कारणं तस्स।
होइ तदत्थित्ताओ, न कीरए तं विणा जं सो॥२११६॥
मूपिंडावायाओ, पिंडो वा सक्करादवायाओ।
चक्कमहावाओ वा–ऽऽपादाणं कारणं तं पि॥२११७॥
वसुहाऽऽगासं चक्कं, सरूवमि च्चाइ सन्निहाणं जं।
कुंभस्स तं पि कारण–मभावओ तस्स जदसिद्धी॥२११८॥

सप्तापि प्रायो व्याख्यातार्थाः, नवरं क्रियते कर्त्रा निर्वर्त्यते इति व्युत्पत्तेः कर्म भण्यते। काऽसौ क्रिया कुम्भं प्रति ? कर्तृव्यापाररूपा। सा च कुम्भलक्षणकार्यस्य कारणमिति प्रतीतमेव। आहननु कुलाल एव कुम्भं कुर्वन्नुपलभ्यते, क्रिया तु न काचिद् कुम्भकरणे व्याप्रियमाणा दृश्यत इत्याह–इह निश्चेष्टः कुलालोऽपि यस्मान्न घटं साधयति निष्पादयति, या च तस्य चेष्टा सा क्रिया; इति कथं न तस्याः कुम्भकारणत्वमिति ? अथवा–कर्तुरीप्सिततमत्वात्क्रियमाणः कुम्भ एव कर्म, तर्हि कार्यमेवेदम्, अतः कथमस्य कारणत्वम् ? न हि सुतीक्ष्णमपि सूच्यग्रमात्मानमेव विध्यति। ततः कार्यं निर्वर्त्यस्यात्मन एव कारणमित्यनुपपन्नतेव, इत्याह–(सकारणं बुद्धि हेउ त्ति) स कुम्भः कारणं हेतुः कुम्भस्य। कुतः ? प्रस्तावात् कुम्भबुद्धिहेतुत्वात्। इदमुक्तं भवति–सर्वोऽपि बुद्धौ संकल्पस्य कुम्भादिकार्यं करोतीति व्यहारः, ततो बुद्ध्याऽध्यवसितस्य कुम्भस्य चिकीर्षितो मृण्मयकुम्भस्तद्बुद्ध्यालम्बनतया कारणं भवत्येव। न च वक्तव्यम्–अष्पन्नत्वादसन्नसौ तद्बुद्धेरपि कथमालम्बनं स्यादिति ? द्रव्यरूपतया तस्स सर्वदा यत्त्वादिति। ननु य एवेह मृण्मयकार्यरूपो घटस्तयैव कारणत्वं चिन्त्यत इति प्रस्तुतम्, बुद्ध्या ध्यवसितस्तु तस्मादन्य एव, इति तत्कारणत्वाभिधानमप्रस्तुतमेव। सत्यम् ? भाविनि भूतवदुपचारन्यायेन तयोरेकत्वाऽध्यवसानाददोषः। स्थासकोशादि-कारणकालेऽपि हि किं करोषीति पृष्टः कुम्भकारः, कुम्भं करोमीत्येतदेव वदति, बुद्ध्यध्यवसितेन निष्पत्स्यमानस्यैकत्वाध्यवसायादिति। अथ वाभव्यो योग्यः स्वरूपलाभस्येति शक्य उत्पादयितुम् अतः सुकरत्वा-त्कार्यमप्यात्मनः कारणमिष्यते। अवश्यं च कर्मणः कारणत्वमेष्टव्यम् यद् यस्मात्समस्तकारणसामग्रीसन्निधानेऽपि नैवमेवाकाशार्थं प्रारम्भः, किं तु विवक्षितकार्यार्थम्, अतस्तदविनाभावित्वात्तक्रियायाः कार्यमयात्मनः

कारणमिति। एतदेव भावयति–बाह्यानि कुलालचक्रचीवरादीनि यानि निमित्तानि तदपेक्षं क्रियमाणकालेऽनन्तरङ्गबुद्ध्याऽऽलोचितं कार्यं भवति स्वस्यात्मनः कारणं स्वकारणम्, अन्यथा यदि बुद्ध्या पूर्वमपर्यालोचितमेव कुर्यात्तदाऽप्रेक्षापूर्वं शून्यमनस्कारम्भविपर्ययो भवेत्, घटकारणसन्निधानेऽप्यन्यत्किमपि शरावादिकार्यं भवेत्, अभावो वा भवेत्, न किञ्चित्कार्यं भवेदित्यर्थः। तस्माद् बुद्ध्यवसितं कार्यमप्यात्मनः कारणमेष्टव्यम्। किं बहुना ? यथा यथा युक्तितो घटते तथा सुधिया कर्मणः कारणत्वं वाच्यम्, अन्यथा कर्मणोऽकारकत्वे करोतीति कारकमिति षण्णां कारकत्वानुपपत्तिरेव स्यादिति। (भूपिंडेत्यादि) भूरपादानम्, पिण्डाऽपायेऽपि ध्रुवत्वात्। अथ वाविवक्षया पिण्डोऽपादानम्, तद्वतशर्करादीनामपायेऽपि विवेकेऽपि ध्रुवत्वात्। अथवा–घटाऽपायाच्चक्रमापाको वाऽपादानमिति।(वसुहेत्यादि) घटस्य चक्रं सन्निधानमाधारः, तस्यापि वसुधा, तस्या अप्याकाशम् अस्य पुनः स्वप्रतिष्ठत्वात्स्वरूपमाधार इत्येवमादि यत्किमप्यानन्तर्येण परम्परया वा संनिधानमाधारो घटस्य विवक्ष्यते तत्सर्वमपि तस्य कारणम्, तदभावे तस्य घटस्य यद्यस्मादसिद्धिरित्येकोनविंशतिगाथार्थः। तदेवमुक्तं द्रव्यकारणम्।

अथ भावकारणमाह–

भावम्मि होइं दुविहं, अपसत्थ पसत्थयं च अपसंत्थं।
संसारस्सेगविहं, दुविहं तिविहं च नायव्वं ॥२११६॥

भवतीति भाव औदायिकादिः, स चासौ कारणं च संसारापवर्गयोरिति भावकारणम्। ततश्च भावे भावकारणे विचार्ये द्विविधं कारणं भवति–अप्रसस्तं प्रशस्तं च, शोभनमशोभनं चेत्यर्थः। तत्राप्रशस्तं संसारस्य संबन्ध्येकविधमेकप्रकारम्, द्विविधं, त्रिविधं च। चशब्दोऽनुक्तचतुर्विधादिसंसार-कारणसमुच्चयार्थ इति ॥२११६॥

अथ किं तदेकविधादिसंसारस्य कारणमित्याह–

असंजमो य एको, अन्नाणं अविरई य दुविहं च।
मिच्छत्तं अन्नाणं, अविरई चेव तिविहं तु ॥२१२०॥

असंयमोऽविरतिलक्षणः,स प्रधानतया विवक्षितः सन्नेकविध एव संसारकारणम् अज्ञानादीनां तदुपष्टम्भकत्वेनाप्रधानत्वविवक्षणात्। तथा–अज्ञानमविरतिश्च प्रधानतया विवक्षितं द्विविधं संसारस्य कारणम्। तत्राज्ञानं मिथ्यात्वतिमिरोपप्लुतदृष्टेर्जीवस्य विपर्यस्तो बोधः, अविरतिस्तु सावद्ययोगादनिवृत्तिः। तथा–मिथ्यात्वमज्ञानमविरतिश्चैवेति त्रिविधं संसारकारणम्। तत्र तत्त्वार्थाश्रद्धानरूपं मिथ्यात्वं प्रतीतमेवेति। एवं कषायादि-योगादन्येऽपि चतुर्विधादिसंसारकारणभेदा वक्तव्या इति। उक्तमप्रशस्तं भावकारणम्॥

अथ प्रशस्तं भावकारणमाह–

होइ पसत्थं मोक्खस्स कारणमेगविह दुविह तिविहं च।
तं चेव य विवरीयं, अहिगार पसत्थएणेत्थं ॥२१२१॥

इह यन्मोक्षस्य कारणं हेतुस्तत्प्रशस्तभावकारणमुच्यते। किं पुनस्तदित्याह–(तं चेव य विवरीयं ति) यदप्रशस्तमसंयमादि-भावकारणमुक्तं तदेव विपरीतं सदेकविधं द्विविधं त्रिविधं च प्रशस्तं भावकारणं भवति। तत्रासंयमाद् विपरीतः संयम एकविधं प्रशस्तभावकारणं भवति, अज्ञानाविरतिविपरीतं तु ज्ञानसंयमौ द्विविधम्, मिथ्यात्वाज्ञानाविरतिविपरीतं सम्यग्दर्शनज्ञानसंयमरूपं तु त्रिविधमिति। विशे० स० सूत्र० नं० आचू० आ०म० प्रश्न० प्रयोजने, आचा०१ श्रु०५ अ०५ उ० जी० करोतीति कारणम्। परोक्षार्थनिर्णयनिमित्ते उपपत्तिमात्रे दुष्टहेतौ, यथा निरुपमसुखः सिद्धः, ज्ञानानावाधप्रकर्षात्। नात्र किल सकललोकप्रतीतः साध्यसाधनधर्मानुगतो दृष्टान्तोऽस्तीत्युपपत्तिमात्रता, दृष्टान्तसद्भावेऽस्यैव हेतुव्यपदेशः स्यात्। स्था०१० ठा० आ०म० औ०स०। ''पसिणाइं कारणाइं वागरणाइं पुच्छित्तए'' कारणमुपपत्तिमात्रं तद्विषयत्कारणानि, एत एव तदन्ये वाऽतस्तानि। भ०२ श०१ उ० आलम्बने, तत्पुनः परिशुद्धं ज्ञानादिकम्। आ०म०प्र० कारणम्–ज्ञानादित्रयस्य ज्ञानदर्शनचारित्ररूपस्यार्थस्य यत्प्रतिसेवनं तत्कारणम्।

आह–किं तत्कारणम् ?उच्यते–

असिवे ओमोयरिए, रायद्दुट्ठे भए व गेलण्णे।
उत्तिमट्ठे य नाणे, तह दंसण चरित्ते य॥

विवक्षितदेशे आगाढमशिवमौदर्यं राजद्विष्टं भयं प्रत्यनीकादिसमुत्थम्। आगाढशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते। तथा तत्र व सतां ग्लानत्वं भूयो भूय उत्पद्यते, यद्वा–देशान्तरे ग्लानत्वं कस्यापि समुत्पन्नं, तस्य प्रतिजागरणं कर्तव्यम्। उत्तमार्थं वा कोऽपि प्रतिपन्नस्तस्य निर्यापनं कार्यम्। तथा विवक्षिते देशे ज्ञानं वा दर्शनं चारित्रं वा नोत्सार्यते। बृ०१ उ० अपवादे यथा–''अंतरा वि अ से कप्पइ'' इत्यादि। कल्प०६ क्षण। दृष्टार्थानां हेतुषुकृषि-पशुपोषणवाणिज्यादिषु, भ०१८ श०२ उ० सिषाधयिषि न प्रयोजनोपाये विषयभूते, विपा०१ श्रु०१ अ०। वेदनादिकारणाभावे भुञ्जानस्य आहारस्य कारणदोषे, जीत० ध० ग०। देहे, इन्द्रिये च। कृ वध स्वार्थे णिच्–भावे ल्युट्। वधे, करण एव कारणः। कायस्थे, पुं०। करणमेव स्वार्थे अण्। साधने कर्मणि, वाच०।

कारणअविणासओ अव्य० (कारणाविनाशतस्) करणानामेवाभावादित्यर्थे, ''*कारणअविणासओ य जीवस्स णिच्चत्तं वि भेयं*'' दश०४ अ०।

कारणअविभाग पुं०(कारणाविभाग) पटादेस्तन्त्वादेरिव कारणविभागाभावे, दश०४ अ०।

कारणजाय न०(कारणजात) कारणविशेषे, ''एय गुणं स पउत्ता, कारणजाएण तेउवग्गो वि।'' व्य०४ उ०।

कारणणिच्चवास पुं०(कारणनित्यवास) हीनजङ्घाबलत्वलक्षणे कारणे नित्यवासे, दर्श०।

करणत्तण न०(कारणत्व) बौद्धानां मते कारणस्य प्राग्भावित्वमात्रे, कारणस्य कार्यजनकशक्तौ च। सम्म०१ काण्ड।

कारणदीवणा स्त्री०(कारणदीपना) अभ्यर्थितकार्य्याकरणे हेतुप्रकाशनायाम्, पञ्चा १२ विव)।

कारणदोस पुं०(कारणदोष) साध्यं प्रति हेतुव्यभिचारे, यथा–अपौरुषेयो वेदः, वेदकारणस्याश्रूयमाणत्वादिति; अश्रूयमाणत्वं हि कारणान्तरादपि संभवति। स्था०१० ठा०। आहारं वेदनादिकार-

णमन्तरेण भुञ्जानस्य कारणदोषे, आचा०२ श्रु०१ अ०८ उ०। (विवृतं चैतदनुपदमेव 'कारण' शब्दे)

कारणदोसविसेस पुं०(कारणदोषविशेष) दोषसामान्यापेक्षया कारणदोषरूपे विशेषे, स्था०१० ठा०।

कारणपडिसेवि(ण्) त्रि०(कारणप्रतिसेविन्) कारणे प्रतिसेवते तच्छीलः। अशिवादिलक्षणे विद्धुद्धेनालम्बनेन बहुशो विचार्य्यां शुकादिपरिशुद्धिलाभाकाङ्क्षिवणिग्दृष्टान्तेनाकृत्यं यतनया प्रतिसेवत इत्येवंशीले, ''अवंके अकुटिले यावि, कारणपडिसेवितह य आहच्च''। व्य०१ उ०।

कारणवंदण न०(कारणवन्दन) पञ्चदशे वन्दनकदोषे, बृ०।

नाणाइतिगं मुत्तुं, कारणमिह लोगसाहगं होइ।
पूयागारवहेउं, णाणग्गहणे वि एमेव॥

ज्ञानदर्शनचारित्रत्रयं मुक्त्वा यत्किमप्यन्यदिह लोकसाधकं वस्त्रादिकं वन्दनकदानाद् साधुरभिलषति तत्कारणं भवतीति प्रतिपत्तव्यम्। ननु ज्ञानादिग्रहणार्थं यदा वन्दते तदा किमेकान्तेनैव कारणं न भवतीत्याशङ्क्याह–यदि पूजार्थं गौरवार्थं वा वन्दनकं दत्त्वा विनयपूर्वकं ज्ञातं श्रुतं गृह्णाति येन लोके पूज्यो अन्येभ्यश्च श्रुतधरेभ्योऽधिकतरो भवतीति तदा तदप्येवमेव कारणं वन्दनकं भवतीति।

तत्र किमभिप्रायवत इहलोकसाधकं कारणं भवतीत्याह–

आयरतरेण हंदी, वंदामि णँ तेण पच्छ पणयिस्सं।
वंदणगमोल्लभावो, ण करिस्सइ मे पणयभंगं॥

हंदीतीहलोकसाधककारणोपप्रदर्शने, अतिशयादरेण वन्दे प्रणमामि, णमित्येनमाचार्यं, तेन भववन्दनकप्रदानेन हेतुभूतेन, पश्चादमुं किञ्चिद्वस्त्राणि प्रणयिष्ये याचिष्ये, न चासौ मम प्रणयभङ्गं प्रार्थनाभङ्गं करिष्यति। कथं भूतः सन्नित्याह–वन्दनकमेव मूल्यं तत्र भावोऽभिप्रायो यस्य सूरेः स तथाभूतः, वन्दनकमूल्यवशीकृत इत्यर्थः। इत्यभिप्रायवतः कारणवन्दनकं भवतीति। बृ०३ उ०। आव०। आ०चू०। प्रव०।

कारणविण्णाणबोह पुं०(कारणविज्ञानबोध) कारणरूपे विज्ञानस्य चिद्रूपतायाम्, कारणविज्ञानबोधेऽन्वयव्यतिरेकेण। अने० ४ अधि०।

कारणविसेस पुं०(कारणविशेष) कारणविषये भेदरूपे विशेषभेदे, यथा परिणामि कारणं मृत्पिण्डोऽपेक्षाकारणं दिग्देशकालाकाशपुरुषचक्रादि, अथवोपादानकारणं मृदादि, निमित्तकारणं कुलालादि, सहकारिकारणं चक्रचीवरा-दीत्यनेकधा कारणम्। स्था०१० ठा०।

कारणिय त्रि०(कारणिक) कारणेषु भवं, कारणैर्निर्वृत्तं वा कारणिकम्। कारणान्याधिकृत्य प्रवृत्ते, व्य०२ उ०। कारणवशप्रवृत्ते, व्य०६ उ०। कारणैश्चरति ठक्। कारणेन विचारके परीक्षके, कारणस्येदम् काश्यादञ् ञिट् वा। करण सम्बन्धिनि, स्त्रियां ठञि षित्वाद् ङीष् ञिठ इदुच्चारणार्थः। स्त्रियां इति भेदः। वाच०।

कारणोवएस पुं०(कारणोपदेश) हेतुकोपदेशे, ''हेउगोवएसो त्ति वा कारणोवएसो त्ति वा पगरणोवएसो त्ति वा एगट्ठा'' आ० चू०१ अ०।

कार(रा)वण न०(कारापण) विधापने, पञ्चा०६ विव०। कारापणं वा यत्स्वयं करणेऽकुशलानन्यांनपीच्छाकारेण कारापयतीति। व्य०३ उ०। कारापणं पुनर्मनसा चिन्तयति–करोत्वेष सावद्यम्, असावपि चिन्तितज्ञोऽभिप्रायज्ञस्तत्र प्रवर्त्तते। श्रा०।

मागहा इंगिएणं तु, पेहिएण य कोसला।
अद्धत्तेण उ पंचाला, णाणुत्तं दक्खिणावहा॥
एवं तु अणुत्ते वी, मणसा कारापणं तु वोध्व्वं।
मणसाऽणुन्ना साहू चूयवणं वुत्तँ वुप्पति वा॥

मागधाः मगधदेशोद्भवाः प्रपिपन्नमप्रतिपन्नं वा इङ्गितेनाकारविशेषेण जानन्ति। कोशलाः प्रेक्षितेन अवलोकनेन। पञ्चाला अर्द्धोक्तेन। नानुक्तं दक्षिणपथाः, क्रियत्तु साक्षाद्वचसा व्यक्तीकृतं ते जानते, प्रायो जडप्रज्ञत्वात्। तत एवं सति वचसाऽनुक्तेऽपि विवरणाभावात् मनसा कारापणं बोद्धव्यम्। व्य०१०उ०। ''एवं भणति–तुमं अप्पणो य अण्णस्स वा हत्थकम्मं करेहि त्ति। आत्मव्यतिरिक्तस्य परस्य एवं इच्छस्स वा अणिच्छस्स वा बलाभिओगा हत्थकम्मं कारावयतो कारावणा भण्णति''। नि०चू०१ उ०।

कार (रा) वहिय त्रि०[कारवाहि (धि)क(त)] करं राजदेयद्रव्यं वहन्तीत्येवं शीलः करवाहिनः, त एव कारवाहिकाः, कारवाहिता वा। भ०६ श०३३ उ०। नृपभागवाहिषु, औ०। कारेण कारागारेण बाधितः। कारागारपीडिते, ज्ञा०१ अ०।

कार(रा)विय त्रि०(कारित) अन्यैर्विधापिते, पा०।

कारा (देशी) लेखायाम्, दे० ना०२ वर्ग। कृ भिदादित्वात् अङ्। बन्धनागारे, दूत्याम्, वीणाऽधः स्थकाष्ठमयभाण्डे, सुवर्णकारिकायां च। वाच०।

कारि त्रि०(कर्तृ) कर्मणो निवर्तके, आव० ४ अ०।

कारिगा स्त्री०(कारिका) कृ–भावे ण्वुल्। क्रियायाम्, कारो रोगवधः साध्यतयाऽस्त्यस्य ठन्। कृ हिंसायाम् ण्वुल् वा। रोगनाशिकायां कण्टकार्याम् नटयोषिति, विवरणश्लोके, अल्पाक्षरेण बहर्थज्ञापकश्लोकभेदे, शिल्पिरचनायाम्, वृद्धिभेदे, वचा०। आ०म०।

कारिमं (देशी) कृत्रिमे, दे० ना०२ वर्ग।

कारिय स्त्री०(कारित) कृ णिच् कर्मणि क्तः। करणाय प्रेरिते, अधमर्णेन स्वकार्यसिद्धये नियतवृद्धेरङ्गीकृताधिकवृद्धौ, स्त्री। वाच०। अन्यैर्विहिते, आतु०।

***कार्य** न०। प्रयोजने, सूत्र०१ श्रु०२ अ०३ उ०। प्रश्न०।

कारीसंग न०(कारीषाङ्ग) अग्नयुद्दीपनकारणे, उत्त०१२ अ०।

कारुइज्ज त्रि०(कारुकीय) वहटछिम्पकदिषु कारुकेषु भवे, प्रश्न०२ आश्र० द्वार।

कारुणिय त्रि०(कारुणिक) करुणा शीलमस्य ठक्। दयालौ, दयाशीले, वाच०। द्रव्यलिङ्गवर्जिते साधौ, स्था०४ ठा०२ उ०।

कारुण्ण न०(कारुण्य) करुणः करुणायुक्तः, करुणाविषयो वा, तस्य भावः, करुणैव वा कारुण्यम्। ष्यञ्। करुणायां परदुःखप्रहारेच्छायाम्, करुणाविषयत्वे च। वाच०। ''दीनेष्वार्तेषुभीतेषु, याचमानेषु जीवितम्। उपकारपरा बुद्धिः, कारुण्यमभिधीयते'' ॥१॥ अष्ट०१६ अष्ट०।

कारेइत्ता अव्य०(कारयित्वा) कृ–णिच्त्वा। **''णेरदेदावावे''** ।८।३।१४९। इति णेरावादेशः। विधायेत्यर्थे, प्रा०३ पाद।

कारेमाण त्रि०(कारयत्) अन्यैर्नियुक्तैः पुरुषैः (जी०३ प्रति० प्रज्ञा०। जं०। कल्प०) अनुनायकैः सेवकानां नियोगिकैर्विधापयति, स०। स्त्रियां कारेमाणी। विपा०१ श्रु०२ अ०।

कारेयव्व त्रि०(कारयितव्य) विधापयितव्ये, पञ्चा०६ विव०।

कारोडिय पुं०(कारोटिक)कापालिके, ज्ञा०१ अ०।

कालं (देशी) तामिस्रे, दे०ना०२ वर्ग।

काल पुं०(काल) कलण् संख्याने। कलनं कालः, कल्यते वा परिच्छिद्यते वस्त्वनेनेति कालः, कलानां वा समयादिरूपाणां समूहः कालः। कर्म०३ कर्म०। आ०म०। ओघ०। विशे०। तेण वा करणभूतेन दिव्यादिचउक्कयं कलिज्जतीति कालो ज्ञायत इत्यर्थः। नि०चू० उ०।

(१) कालनिरुक्तयः।

(२) कालस्य द्रव्यान्तरसिद्धौ विचारः।

(३) मतान्तर,खण्डनम्।

(४) कालसिद्धिः।

(५) काललक्षणम्।

(६) कालभेदाः।

(७) कालविषये दिगम्बरमतनिरूपणम्।

(८) ततो दिगम्बरमतदूषणम्।

(९) कालनिक्षेपः।

(१०) मुहूर्तादिप्रमाणम्।

(११) समयादीनां संख्येयासंख्येयत्वविचारः।

(१२) समयादिज्ञानं मनुष्यक्षेत्र एव।

(१३) काले ज्ञानाचारः।

(१४) कोणिकभार्यायाः काल्यनामकात्मजवक्तव्यता।

(१) तत्र कालशब्दव्युत्पादनार्थमाह–

कालणं पज्जायाणं, कलिज्जए तेण वा जओ वत्थु।
कलयंति तयं तम्मि व, समयाइकलासमूहो वा ॥२०२८॥

कल शब्दसंख्यानयोः। नवपुराणादीनां समयादीनां वा पर्यायाणां कलनं संशब्दनं, संख्यानं वा भवाप्रत्यये कालः। अथवा–मासिकोऽयं सांवत्सरिकोऽयं शारदोऽयमित्यादिरूपेण कल्यते परिच्छिद्यते यस्माद्वस्त्वनेनेति कालः। अथवा कलयन्ति ज्ञानिनः समयादिरूपेण परिच्छिन्दन्ति तमिति कालः। यदि वा–मासिकोऽयं सांवत्सरिकोऽयमित्यादिरूपतया कलयन्ति परिच्छिन्दन्ति वस्तु तस्मिन्सतीति कालः। समयादिकलानां वा समूहः कालः। आह–ननु सामूहिके प्रत्यये नपुंसकत्वं प्राप्नोति, यथा–कापोतं मायूरमित्यादि। सत्यम्, किं तु शिष्टप्रयोगाद् रूढितश्चादोषः। तथा चाह–'लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वादिति'। तदेवं कालस्यान्तरङ्गता–निरुक्ती भणित।

इदानीमुत्तरगाथासंबन्धनार्थमाह–

सो वत्तणाइरूवो, कालो दव्वस्स चेव पज्जाओ।
किंचिम्मेत्तविसेसेण दव्वकालाइववएसो ॥२०२९॥

स वर्तनादिरूपः कालो द्रव्यस्यैव पर्यायः। ततः, पर्यायरूपतया तत्त्वत एकरूपस्यापि तस्य किञ्चिन्मात्रविशेषविवक्षया द्रव्यकालः, अद्धाकालः यथाऽऽयुष्ककाल इत्यादिव्यपदेशः प्रवर्तत इति भाष्यगाथार्थः। विशे०। न्यायमतेन परापरव्यतिकरयौगपद्ययौगपद्यचिरक्षिप्रप्रत्ययलिङ्गे द्रव्यभेदे, सम्म०।

(२) स च द्रव्यान्तरम्–

तथाहि–परः पिताऽपरः पुत्रो, युगपदयुगपद्वा, तथा चिरं क्षिप्रं वा कृतं करिष्यते यत्परापरादिज्ञानं तदादिक्रिया द्रव्यव्यतिरिक्ता पदार्थनिबन्धनं तत्, प्रत्ययविलक्षणत्वात्, घटादिप्रत्ययवत्। योऽस्य हेतुः स पारिशेष्यात् कालः, यतो न तावत्पराऽपरादिप्रत्ययो दिग्देशकृतोऽयम्। स्थविरे अपरदिग्भागावस्थितेऽपि परोऽयमिति प्रत्ययोत्पत्तेः। तथा यूनि परदिग्भागावस्थितेऽपि अपरोऽयमिति ज्ञानप्रादुर्भावात्। न च बलीपलितादिकृतोऽयं प्रत्ययः, तत्कृतप्रत्ययवैलक्ष्यण्येनोत्पत्तेः। नापि क्रियानिर्वर्तितस्तत्प्रतिभाति। तज्ज्ञानवैलक्षण्येन संवेदनात्। तथा च सूत्रम् –''अपरं क्षिप्रमिति काललिङ्गानि'' इत्याकाशदेवास्यापि विभुत्वनित्यत्वैकत्वादयो धर्मा अवगन्तव्याः। सम्म०२ काण्ड।

(३) अथ खण्डनम्–

दिक्कालसाधनप्रयोगेष्वप्येते दोषाः–

सामान्येन साधने सिद्धसाध्यता, विशेषसाधने हेतोरन्वयाद्यसिद्धिरनुमानवाधितत्वं च प्रतिज्ञाया इति समानाः। तथाहि–पूर्वापरोत्पन्नपदार्थविषयपूर्वापरशब्दसंकेतवशादुद्भूतसंस्कारनिबन्धनत्वात् कृतप्रत्ययस्य कारणमात्रे साध्ये कथं न सिद्धसाध्यता ? विशेषे च कथं नान्वयासिद्धिः ? अनुमतिबाधा च प्रतिज्ञायाः पूर्ववद् भावनीया। अत एव नेतरेतराश्रयदोषोऽपि पूर्वपक्षोद्यतोऽपि विशिष्टपदार्थसंकेतप्रभवत्वे अस्य प्रत्ययस्य। किं च –निरंशैकदिक्कालाख्यपदार्थनिमित्तत्वं परादिप्रत्ययस्य प्रसादयितुमभ्युपगतम्। तच्चायुक्तम्। स्वकोट्यनुकारिप्रत्ययजनकस्य तद्विषयत्वात्। निरंशस्य पौर्वापर्यादिविभागाभावतस्तथाप्रत्ययोत्पादकत्वासंभवात्। तथाभूतप्रत्ययाद्विपरीतार्थसिद्धेरिष्टविपर्ययसाधनाविरुद्धश्चैवं हेतुः स्यात्। अथ बाह्याऽऽध्यात्मिकभावपौर्वापर्यनिबन्धनस्य दिक्कालयोः पौर्वापर्यव्यपदेशस्य भावान्न हेतोर्विरुद्धता। नन्वेवं दिक्कालपरिकल्पना व्यर्था, तत्साध्याभिमतस्य कार्यस्य बाह्याध्यात्मिकैः संबन्धिभिरेव निर्वर्तितत्वात्। तथाहि–दिक् पूर्वापरादिव्यवस्थाहेतुरिष्यते, कालश्च पूर्वापरक्षणभवनिमेषकलामुहूर्तप्रहरदिवसाहोरात्रपक्षमासर्त्वयनसंवत्सरादिप्रत्ययप्रभवनिमित्तोऽभ्युपगतः। अयं च स्वरूपभेदः स्वात्मनि तयोः समस्तोऽप्यसंवीतसंबन्धिषु पुनर्भाविषु विद्यमानस्तत्र प्रत्ययहेतुरिति व्यर्था तत्प्रकल्पना। अथ तत्संबन्धिष्वप्ययं भेदो अपरक्रियादिभेदनिमित्तस्तर्हि तत्राप्येवमित्यनवस्था–प्रशक्तिः। अथ पदार्थेषु पूर्वापरभेदः कालनिमित्तः। ननु कालोऽप्यसौ न स्वत इति, परकालनिमित्तो यद्यभ्युपगम्यते तदाऽनवस्था। अथ पदार्थभेदनिमित्तः, तदेतरेतराश्रयप्रसङ्गः। अथ तत्र स्वत एवायं भेदः, पदार्थेष्वपि स्वत एवायं क्रिनाभ्युपगम्यते ? ततश्च पुनरपि

दिक्कालप्रकल्पनं व्यर्थम्। सम्म०२ काण्ड। जै समयेन विशिष्टपरापरप्रत्ययादिलिङ्गानुमेये द्रव्यभेदे, सम्म२ काण्ड।

(४)कालसिद्धिः–

अथ काल एव कथमवसीयत इति चेत् ? उच्यते–वकुलचम्पकाशोकादिपुष्पप्रदानस्य नियमेन दर्शनात्, नियामकश्च काल इति। स्था०१ठा०१उ०। कालो नाऽस्ति, अनुपलम्भात्; यच्च वनस्पतिकुसुमादिकाललक्षणमाचक्षते, तत्तेषामेव स्वरूपमिति मन्तव्यम्। असत्यम्। तेषामपि स्वरूपस्य वस्तुनोऽनतिरेकात्। कुसुमादिकरणमकारणं तरूणां स्यात्। प्रश्न०२ आश्र० द्वार।

(५) काललक्षणम्–

कालस्तु परमार्थतो द्रव्यं नास्तीतिशङ्कमानं निराकुरुते–

वर्तनालक्षणः कालः, पर्यवद्रव्यमिष्यते।
द्रव्यभेदात्तदानन्त्यं, सूत्रे ख्यातं सविस्तरम् ॥१०॥

(वर्तनेति) सर्वेषां द्रव्याणां वर्तनालक्षणो नवीनजीर्णकरणलक्षणः कालः पर्यायद्रव्यमिष्यते। तत्कालपर्यायेषु अनादिकालीनद्रव्योपचारमनुसृत्य कालद्रव्यमुच्यते। अत एव पर्यायेण द्रव्यभेदात् तस्य कालद्रव्यस्यानन्त्यम्। अनन्तकालद्रव्यभावनं सूत्रे उत्तराध्ययने सविस्तरं ख्यातम्। तथा च तत्सूत्रम्–''धम्मो अधम्मो आगासं, दव्वमिक्किक्कमाहियं। अणंताणि य दव्वाणि, कालो पुग्गलजंतओ''॥१॥ एतदुपजीव्यान्यत्रापि युक्तम्–''धर्माधर्माकाशाद्येकैकमतः परं त्रिकमनन्तम्'' इति। ततो जीवद्रव्यमप्यनन्तं, तस्य च वर्तमानपर्यायस्यार्थ कालद्रव्यमथनन्तमित्युक्तमागमे। विस्तरस्तु ततोऽवधारणीयः। द्रव्या०१० अध्या०।

कथं पुनर्द्रव्यस्य कालोऽन्तङ्गः, न तु क्षेत्रमित्यादि–

जं वत्तणाइरूवो, वत्तुरणत्थंतरं मओ कालो।
आहारमत्तमेव उ, खेत्तं तेणतरंगं सो ॥२०२७॥

वर्त्तना आदिर्येषां परिणामादीनां ते वर्त्तनादयः, त एव रूपं यस्यासौ वर्त्तनादिरूपः तीर्थकरादीनां संमतः कालः। उक्तं च–''वर्त्तना परिणामः क्रिया परापरत्वे च कालस्योपग्रहः'' इति। तत्र विवक्षितेन नवपुराणादिना तेन तेन रूपेण यत्पदार्थानां वर्त्तनं शश्वद्भवनं सा वर्त्तना। परिणामोऽभ्रादीनां सादिः, चन्द्रविमानादीनामनादिः। क्रिया देशान्तरप्राप्तिलक्षणा। देवदत्ताद् यज्ञदत्तः परः पूर्वमुत्पन्नः, यज्ञदत्तात्पुनर्देव-दत्तोऽपरोऽर्वागुत्पन्न इत्यादिरूपं परापरत्वम्, इत्येतानि कालस्योपग्रह उपकारः। एतानि चत्वार्यपि कालकृतत्वात्तलिङ्गानीति भावः। स च, वर्त्तनादिरूपः कालो यद्यस्माद्वर्त्तितुर्द्रव्यादनर्थान्तरमभिन्नस्वरूप एव वर्त्तते, क्षेत्रं तु द्रव्यस्याधारमात्रमेव, न त्वर्थान्तरम्। तेन द्रव्यस्यान्तरङ्गः कालः, बहिरङ्गं तु क्षेत्रम्, अतो द्रव्यनिर्गमादनन्तरं कालनिर्गमोऽभिधीयत इति। विशे०।

तेषामेव द्रव्यकालादिभेदानां प्रतिपादनार्थं निर्युक्तिकारः प्राह–

दव्वे अद्ध अहाउ य, उवक्कमे देसकालकाले य।
तह य पमाणे वन्ने, भावे पगयं तु भावेणं ॥२०३०॥

इह नामस्थापने सुखावसेयत्वान्नोक्ते, शेषास्तु नवकालभेदाः प्रोच्यन्ते–तत्र द्रव्य इति वर्त्तनादिरूपौ द्रव्यकालौ वाच्यः। (अद्ध त्ति)चन्द्रसूर्यादिक्रियाऽभिव्यङ्ग्योऽर्द्धतृतीयद्वीपसमुद्रान्तर्वर्त्यद्धाकालः समयादिलक्षणो वाच्यः। तथा यथायुष्कालो देवाद्यायुष्ककालो देवाऽऽद्यायुष्कलक्षणो वक्तव्यः। तथा–उपक्रमकालोऽभिप्रेतार्थसामीप्यानयनलक्षणः समाचारी, यथाऽऽयुष्कभेदभिन्नोऽभिधानीयः। तथा–देशः प्रस्तावोऽवसरो विभागः पर्याय इत्यनर्थान्तरम्; स देशारूपः कालो देशकालो वक्तव्यः, अभीष्टवस्त्ववाप्त्यवसरकाल इत्यर्थः। तथा–कालकालोऽभिधानीयः, तत्रैकः कालशब्दोऽनन्तरनिरूपित–शब्दार्थः, द्वितीयस्तु समयपरिभाषया कालो मरणमु च्यते। ततश्च कालस्य मरणक्रियारूपस्य कलनं कालः, काल इत्यर्थः। तथा–प्रमाणकालोऽद्धाकालस्यैव विशेषभूतो दिवसादिलक्षणो वक्तव्यः। तथा वर्णश्चासौ कालश्च वर्णकालो भणनीयः। तथा (भावे त्ति) औदयिकादेर्भावस्य सादिसपर्यवसानादिभेदभिन्नः कालो भावकालः प्ररूपणीयः। (पगयं तु भावेण त्ति) प्रकृतं प्रस्तुतं पुनरत्र भावेन भावकालेनेहाधिकारः। शेषास्तु द्रव्यकालादयः कालभेदमात्रतः प्ररूपिताः इति निर्युक्तिगाथाद्वारसंक्षेपार्थः ॥२०३०॥

अथ प्रतिद्वारं विस्तरार्थमभिधित्सुराह–

चेयणमचेयणयस्स य, दव्वस्स ठिई उ जा चउ विगप्पा।
सा होइ दव्वकालो, अहवा दवियं तयं चेव ॥२०३१॥

चेतनमिति विभक्तिव्यत्ययात्षष्ठी द्रष्टव्या। चशब्दतु समुच्चये। ततश्च चेतनस्य सुरनारकादेः, अचेतनस्य च पुद्गलस्कन्धादेः, द्रव्यस्य च याऽवस्थानरूपा स्थितिः सादिसपर्यवसानादिभेदाच्चतुर्विकल्पा चतुर्भेदा सा स्थितिर्भवति। किमित्याह–द्रव्यस्य कालो द्रव्यकालः, तत्पर्यायत्वात्। अथवा–तदेव सचेतनाचेतनरूपं द्रव्यं कालो द्रव्यकालः प्रोच्यते, पर्यायपर्यायिणोरभेदोपचारादिति निर्युक्तिगाथार्थः ॥२०३१॥

अथैतां भाष्यकारो व्याचिख्यासुराह–

दव्वस्स वत्तणा जा, स दव्वकालो तदेव वा दव्वं।
न हि वत्तणा इमिन्नं, जम्हा दव्वं जओऽमिहियं ॥२०३२॥
सुत्ते जीवाजीवा, समयाऽऽवलियादओ पवुच्चंति।
दव्वं पुण सामन्नं, भण्णइ दव्वट्ठयामेत्तं ॥२०३३॥

द्रव्यस्य या सादिसपर्यवसानादिलक्षणा तेन रूपेण वृत्तिर्वर्त्तना स द्रव्यस्य कालो द्रव्यकालः समुत्कीर्त्यते। अथवा–तदेव चेतनाचेतनं द्रव्यं कालो द्रव्यकाल इष्यते। कुत इत्याह– न खलु यस्माद्वर्त्तनापरिणामादिभ्यो भिन्नं पृथग्भूतं द्रव्यमस्ति, यतोऽभिहितं सूत्रे आगमे। किमभिहितमित्याह–(जीवाजीवेत्यादि) समयावलिकादयः केऽभिधीयन्ते ? इत्याहजीवाजीवाः जीवाजीवद्रव्याण्येव समयावलि-कादयो भण्यन्ते, न पुनस्तद्व्यतिरिक्तास्त इति भावः। तदेवं जीवाऽजीवेभ्योऽव्यतिरिक्तः समयावलिकादिरूपः कालः। ते च जीवाऽजीवाद्रव्यार्थतामात्ररूपं सामान्यतो द्रव्यमुच्यते। ततो द्रव्यमेव कालो द्रव्यकाल इति सिद्धम्। इह चागमोऽक्तोऽर्थ एव लिखितः, सूत्रं पुनरित्थमवगन्तव्यम्–''किमियं भंते ! काले त्ति पवुच्चइ ? गोयमा ! जीवा चेव, अजीव चेव त्ति''।

कथं पुनश्चेतनस्याचेतनस्य च द्रव्यस्य चतुर्विधा स्थितिरित्याह–

सुरसिद्धभव्वऽभव्वा, साइसपज्जवसियादओ जीवा।
खंधाणागयतीया, नभादओ चेयणारहिया ॥२०३४॥

सुरग्रहणस्योपलक्षणत्वात्सुरनारकतिर्यङ्मनुष्याः, सुरत्वादिप-

र्यामधिकृत्य सादिसपर्यवस्थितयः। सिद्धाः प्रत्येकं सिद्धत्वमधिकृत्य साद्यपर्यवसानाः। भव्यजीवाः, भव्यत्वमाश्रित्य, केचनाप्यनादिसपर्यवसानाः; ''सिद्धे नो भव्ये नो अभव्वे'' इति वचनात् सिद्धत्वप्राप्तौ भव्यत्वनिवृत्तेः। अभव्यजीवाः, अभव्यत्वङ्गीकृत्य, अनाद्यपर्यवसिताः। इत्येवं चेतनद्रव्यस्य सादिसपर्यवसितादिका चतुर्विधा स्थितिः। अचेतनद्रव्य–मुररीकृत्याह–(खंधेत्यादि) द्व्यणुकादिस्कन्धः सादिसपर्यवसिताः, एकेन द्व्यणुकत्वादिना परिणामेनोत्कृष्टतोऽपि पुद्गलद्रव्यस्यासंख्येयकालमेव स्थितेः। अनागताद्धा भविष्यत्कालरूपा साद्यपर्यवसिता। अतिक्रान्तकालरूपा अतीताद्धा अनादिसपर्यवसिता। आकाशधर्माधर्मास्तिकायादयस्त्वनाद्यपर्यसिताः। इत्येवं चेतनारहितस्यापि द्रव्यस्य चतुर्विधा स्थितिः। तदेवमभिहितो द्रव्यकालः ॥२०३४॥ (अद्धाकालस्वरूपोपदर्शनं 'अद्धाकाल' शब्दे प्रथमभागे ५६३ पृष्ठे कृतम्)

अथाऽऽयुष्ककालं विभणिषुर्भाष्यकारस्तत्स्वरूपमाह–

आउयमेत्तविसिट्ठो, स एव जीवाण वत्तणाइमओ।
भण्णइ अहाउकालो, वत्तइ जो जच्चिरं जेण ॥२०३७॥

स एवोक्तरूपोऽद्धाकालो वर्तनादिमयो जीवानां नारकतिर्यङ्नशमराणां यथायुष्ककालो भण्यते। किं सर्वोऽपि ? न इत्याह–आयुष्कमात्रविकशष्टः, नारकाद्यायुष्कमात्रविशेषित इत्यर्थः। अत एवायं यथायुष्ककालो भण्यते। यद्येन तिर्यग्मनुष्यादिना जीवेन यथा येन रौद्रार्तधर्मध्यानादिना प्रकारेणोपार्जितमायुर्यथायुष्कम्, तस्याऽनुभवनकालो यथायुष्ककालः। कियन्तमवधिं यावदसौ भवतीत्याह–यो जीवो येनात्मबद्धेनायुषा (जच्चिरं ति) यावन्तमन्तर्मुहमर्तादिकं त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमपर्यन्तं कालं वर्तते, स तस्य जीवस्य तावन्तमवधिं यावद्यथायुष्ककालो भवतीति तात्पर्यार्थः। इत्येवं विवक्षामात्रकृतोऽद्धाकालयथायुष्ककालयोर्भेदः। अतोऽद्धाकालस्यैव विशेषभूतत्वात्तदनन्तरं यथायुष्ककाल-माहेति भाव इति गाथार्थः ॥२०३७॥

इति विहितसंबन्धमेव यथायुष्ककालं निर्युक्तिकारः प्राह–

नेरइयतिरियमणुआ–देवाण अहाउयं तु जं जेण।
निव्वत्तियमन्नभवे, पालंति अहाउकालो उ ॥२०३८॥

नारकतिर्यग्मनुष्यदेवानां मध्याद्यद्येन जीवेन यथा येन रौद्रध्यानादिना प्रकारेणान्यभवे पूर्वजन्मन्यभिनिर्वितिमायुरेतद् यथायुरिहोच्यते। तच्च यदा त एव नारकादयो विपाकतः पालयन्त्यनु भवन्ति, तदाऽसौ तेषां यथायुष्ककालोऽभिधीयते। तुशब्दो द्रव्य कालादिभ्योऽस्य विशेषणार्थ इति निर्युक्तिगाथार्थः ॥२०३८॥ (उपक्रमकालः 'उवक्कमकाल' शब्दे द्वितीयभागे ८७३ पृष्ठे द्रष्टव्यः) तत्र समाचारः शिष्टजनसमाचरितः क्रियाकलापः, तस्य भाव इति ''गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च''(पाणि०) ५।१।१२४। इति ष्यञ्प्रत्यये सामाचार्यम्। ततः सामग्रीत्यादाविव स्त्रीत्वविवक्षायामीप्रत्यये यलोपे च सामाचारी इति भवति; तस्या उपक्रमणमुपरितनश्रुतादिहानयनं सामाचार्युपक्रमः; स चासावुपचारात्कालश्च सामाचार्युपक्रमकालः। यथा बद्धस्यायुष्कस्योपक्रमणं दीर्घकालभोगस्य लघुतरकालेनैव क्षपणं यथायुष्कोपक्रमः, स चासावुपचारात्कालश्च यथायुष्कोपक्रमकालः। यः सामाचार्युपक्रमणद्वारेणोपक्रम्यते कालः स सामाचार्युपक्रमकालः। यस्त्वायुष्कोपक्रमणद्वारेणोपक्रम्यते स यथायुष्कोपक्रमकाल इतीह तात्पर्यम्। तत्र सामाचारी त्रिविधा। कथं।(ओहे दसहा पयविभागे त्ति) ओघः सामान्यं तेन सामाचारी ओघसामाचारी, सामान्येन संक्षेपतः साधुसमाचाराभिधानरूपा। सा चौघनिर्युक्तेर्वेदितव्या। दशधा सामाचारी पुनरिच्छाकारमिथ्या दुष्कृतादिदशविध–साधुसमाचाररूपा। विशे०। ''अज्झवसाणनिमित्ते, आहारे वेणया पराघाए। फासे आणापाण्, सत्तविहं भिज्जए आउं''॥२०४१॥ (सप्तधा आयुर्भिद्यते इति 'आउ' शब्दे द्वितीयभागे १० पृष्ठे सविस्तरं व्याख्यातम्)।

अथ प्रमाणकालभिधित्सया तत्स्वरूपं विवरीषुर्भाष्यकारः प्राह–

अद्धाकालविसेसो, पत्थयमाणं च माणुसे खित्ते।
सो संववहारत्थं, पमाणकालो अहोरत्तं ॥२०६८॥

स प्रमाणकाल इति समयविद्भिः प्ररूप्यते। यश् कथंभूतः ? इत्याह–अद्धाकालस्यैव विशेषस्वरूपः। अयं च सूर्यादिगतिक्रियाभिव्यङ्ग्यत्वाद् मनुष्यक्षेत्र एव भवति, न परतः, सूर्यादिगतिक्रियाभावात्। किंविशिष्टः पुनरसावित्याह–अहोरात्रमहोरात्रसंज्ञितः। किमर्थं पुनरसौ प्ररूप्यते ? इत्याह–संव्यवहारार्थं जीवाजीवादिस्थित्यादिमानव्यवहारार्थम्। किंवत् ? प्रस्थकमानवत्। यथा सामान्यमानस्य विशेष भूतं मनुष्यक्षेत्रे धान्यादिमिततत्संव्यवहारार्थम् ''दो असईओ पसईओ, दो पसईओ सेइया, चत्तारि सेइयाओ कुडवो, चत्तारि कुडवा पत्थो'' इत्यादिना सूत्रे प्ररूपितं प्रस्थकमानम्। तथाऽयमप्यहोरात्ररूपः प्रमाणकाल इति गाथार्थः ॥२०६८॥ विशे०। (वर्णकालभावकालादीनां व्याख्या स्वस्थाने)

अथाकण्ठतोऽपि सूत्रे जीवाजीवाभ्यामतीतः कालः कथितोऽतस्तमेव तथैव सूत्रयन्नाह–

जीवाजीवमयः कालः, समये न पृथक् कृतः।
इत्येके संगिरन्तेऽत्र, धारयन्तः शुभाः मतिम् ॥११॥

समये सिद्धान्ते जीवाजीवमयः जीवाजीवरूपः कालः कथितः, पृथक् भिन्नस्ताभ्यां न कृतः, ततो भिन्नः कथं कथ्यते इति पूर्वोक्तमेके आचार्याः सङ्गिरन्ते भाषन्ते अत्र। किं कुर्वन्तः ? शुभां विशुद्धां मतिं बुद्धिं धारयन्तः। शुद्ध बुद्धिमतां सुधीराणां यथोक्तश्रीजिनप्रणीतत्त्ववेत्तृणं प्राणीनां सम्यक्त्वावाप्तिः सुलभा भवतीति ध्येयम्। तथा च गौतमेन भद्रकपरिणामशालिना भगवान् पृष्टः, तदाहेति भगवन्! किमयं कालो जीवस्तथाऽजीवश्चेति प्रश्ने भगवानाह–गौतम ! जीवोऽपि कालः, अजीवोऽपि कालः तदुभयं काल एव जीवाजीवयोः कालेनोपजीव्योपजीवकभावसंबन्धः संतिष्ठत इति।

पुनस्तदेवाह–

आहुरन्ये भचक्रस्य विश्वे चारेण या स्थितिः।
कालोऽपेक्षाकारणं च, द्रव्यमित्यपि पञ्चमे ॥१२॥

अन्ये आचार्या एवं कथितवन्तः–भचक्रस्य ज्योतिश्चक्रस्य चारेणया विश्वे स्थितिरवस्थाविशेषः स काल इत्यभिधीयते। तथा च वर्तुलाकारं ज्योतिश्चक्रं, तस्य चारेण परत्वापरत्वनवपुराणादिभावस्थितिहेतुः तस्यापेक्षाकारणम्। मनुष्यलोके हि अर्थस्य सूर्यक्रियोपनायकद्रव्यचारक्षेत्रप्रमाणमेवोपकल्पनं घ-

टते, तत एतादृशं कालद्रव्यं कथ्यते। तत एव श्रीभगवत्यङ्गे–''कइ णं भंते! दव्वा पन्नत्ता। गोयमा! छ दव्वा पण्णत्ता। तं जहा–धम्मत्थिकाए० जाव अद्धासमए'' एतद्वचनमस्ति। तस्य निरुपचरितव्याख्यानं घटते। तथा च वर्त्तनापर्यायस्य साधारणापेक्षा न कथ्यते तदा तु गतिस्थित्यवगाहनासाधारणापेक्षाकारणत्वेन धर्माधर्मास्तिकायौ सिद्धौ जातौ तत्रापि अनाश्वास आयाति। अथ च अर्थयुक्तया ग्राह्यमस्ति तस्मात्केवलमाज्ञयैव ग्राह्याऽस्ति परं तु कथं सन्तोषधृती भवेताम्?१२।

एतन्मतद्वयं धर्म–संग्रहिण्यां च भाष्यके।
अनपेक्षितद्रव्यार्थि–कमते तस्य योजना॥१३॥

एतमन्तद्वयं धर्मसंग्रहिण्यां श्रीहरिभद्रसूरिणा व्याख्यातम्। तथा च तद्वथा–''जं वत्तणाइरूवो, कालो दव्वस्स चेव पज्जाओ। सो चेव तवो धम्मो, कालस्स व जस्स जो ण लोए त्ति''॥१॥ एवमेतन्मतद्वयमलं श्रीहरिभद्रसूरिसम्मत धर्मसंग्रहिणीसूत्रं ज्ञेयम्। तथाच एतन्मतद्वये भाष्यके श्रीतत्त्वार्थभाष्यऽपि वाचकैस्तथैव प्रणीतमस्ति। तथा, तद्ग्रन्थः–''कालश्चेत्येके'' इति वचनाद् द्वितीयमतं श्रीतत्त्वार्थव्याख्याने समर्थितम्। पुनस्तस्य कालस्य अनपेक्षितद्रव्यार्थिकनयमते योजना युक्तिश्च भवति। तथाहि–स्थूललोकव्यवहारसिद्धोऽयं कालोऽपेक्षारहितश्च ज्ञेयः। अन्यथा वर्त्तनापेक्षाकारणत्वेन यत्कालद्रव्यं साधितं तत्पूर्वापरादिव्यवहार–विलक्षणपरत्वापरत्वादिनियामकत्वेन दिग्द्रव्यमपि सिद्धं स्यादिति। अथ च''आकाशमवगाहाय, तदनन्या दिगन्यथा। तावप्येवमनुच्छेदात्ताभ्यां चान्यदुदाहृतम्''॥१॥ इति सिद्धसेनदिवाकरकृतनिश्चयद्वात्रिंशिकार्थं विसृश्य आकाशादेव दिक्कार्यं प्रसिद्ध्यतीति।इम्थमङ्गीकुर्व तां कालद्रव्यं कार्यमपि कथञ्चित्तत एवोपपत्तिः स्यात्। तस्मात् 'कालश्चेत्येके' इति सूत्रमनपेक्षितद्रव्यार्थिकनयेनैव इति सूक्ष्मदृष्ट्या विभावनीयम्॥१३॥

(७)अथ कालद्रव्याधिकारं दिगम्बरप्रक्रियया उपन्यसन्नाह–

मन्दगत्याऽप्यणुर्यावत् प्रदेशे नभसः स्थितौ।
याति तत्समयस्यैव, स्थानं कालाणुरुच्यते॥१४॥

मन्दगत्या मन्दगमनेनाणुः परमाणुः नभसः आकाशस्य प्रदेशे स्थितौ स्थाने यावदिति यावता कालेन गच्छति तत्समस्य तत्कालपरिमितस्य कालस्य स्थानं कालाणुरिति व्यवहारो जायत इति। एकस्य नभसः स्थाने मन्दगतिरणुर्यावता कालेन संचरति तत्पर्यायेण समय उच्यते, तदनुरूपश्च यः स कालः पर्याय समयस्य भाजनं कालाणुरिति। स च एकस्मिन्नाकशप्रदेशे एकैक एवं कुर्वतां समस्तलोकाकाशप्रदेशप्रमाणाः कालाणवो जायन्त इति। इत्थं कश्चिदपरो वदन् जैनाभासो दिगम्बर एवास्ति। उक्तं च द्रव्यसंग्रहे–''रयणाणं रासी इव, ते कालाणु असंखदव्वाणि।'' इति दिगत्बरमतमनुसृत्य योगशास्त्राभ्यासेन अपरोऽपि कश्चिदेतद्वचनमुदाजहार॥१४॥

तदेव दृष्टान्तयन्नाह–

योगशास्त्रान्तर श्लोके, मतमतेदपि श्रुतम्।
लोकप्रदेशेऽप्यणवो, भिन्ना भिन्नास्तदग्रता॥१५॥

योगशास्त्रान्ततरश्लोके एतदपि मतं श्रुतं, दिगम्बरमतेऽपि अन्तरश्लोकव्याख्यानमपीष्टमस्ति। यतो लोकप्रदेशेऽपि भिन्ना भिन्ना अणवस्तन्मुख्यत्वमापादयन्ति। लोकप्रदेशे भिन्ना भिन्नाः कालाणवस्त एव मुख्यकाल इति व्यवहारः।

तथाच तत्पाठः–

''लोकाकाशप्रदेशस्थाः, भिन्नाः कालाणवस्तु ये।
भावानां परिवर्त्ताय, मुख्यः कालः स उच्यते''॥१॥ इति।

अस्य भावार्थः–लोकाकाशे यावन्तः प्रदेशस्तेषु तिष्ठन्तीति लोकाकाशप्रदेशस्थाः, भिन्नाः पृथक् पृथक् एकनभोदेशे एकः, इत्थं सर्वत्र सर्वे ये कालणवः सन्ति त एव तावन्तः कालाणव इति। तु पुनर्भावानां पदार्थानां परिवर्त्ताय नूतनं कृत्वा जीर्णं करोति, जीर्णं कृत्वा नूतनं करोति एवं भावानां परिवर्त्ताय वर्त्तते स एव मुख्यः सर्वत्र प्रधानपदार्थः काल उच्यते इत्यर्थः॥१५॥

पुनस्तदेव चर्चयन्नाह–

प्रचयोर्ध्वत्वमेतस्य, द्वयोः पर्याययोर्भवेत्।
तिर्यक्प्रचयता नास्य, प्रदेशत्वं विना क्वचित्॥१६॥

एतस्य कालाणुद्रव्यस्य प्रचयोर्द्ध्वत्वमूर्द्ध्वताप्रचयः द्वयोः पर्याययोः पूर्वापरयोर्भवेत्। यतो यथा मृद्द्रव्यस्य स्थासकोशकुशूलादिपूर्वापरपर्यायाः सन्ति तथा एतस्य कालस्य समयावलीमुहूर्तादयः पूर्वापरपर्याया वर्त्तन्ते, परं तु स्कन्धस्य प्रदेशसमुदायः कालस्य नास्ति तस्माद् धर्मास्तिकायादीनामिव तिर्यक्प्रचयता न संभवति, एतावता तिर्यक्प्रचयत्वं नास्ति। तेनैव कालद्रव्यमस्तिकाय इति नोच्यते। परमाणुपुद्गलस्येव पुनस्तिर्यक्प्रचयता नास्ति। तस्मात् उपचारेणापि कालद्रव्यस्य अस्तिकायता न कथनीया इति॥१६॥

(८) अथैतद्दिगम्बरमतं वादेन दूषयन्नाह–

एवमणुगतेर्लात्वा, हेतुं धर्माणवस्तदा।
साधारणत्वमेकस्य, समयस्कन्धताऽपि च॥१७॥

एवमनया रीत्या यदि अणुगतेः परमाणुगमनस्य हेतुमिति हेतुत्वं लात्वा गृहीत्वा धर्माणवो धर्मद्रव्याणवो भवन्ति तदैकस्या कस्यचित्पदार्थस्य साधारणत्वं गृहीत्वा समयस्कन्धता स्यादिति। अथ योजना एवम्–यदि मन्दाणुगतिकार्यहेतुपर्यायसमयभाजनं द्रव्यसमयाणुः कल्पते तदा मन्दाणुगतिहेतुतारूपगुणभाजनं धर्मास्तिकायोऽपि सिद्ध्यति। एवमधर्मास्तिकायस्याप्यणुप्रसङ्गता स्यात्। अथ च सर्वसाधारणगतिहेतुतादिकं गृहीत्वा धर्मास्तिकायाद्येकस्कन्धरूपं द्रव्यं कल्पते तदा देशप्रदेशादिकल्पनाऽपि तस्या व्यवहारानुरोधेन पश्चात्कर्त्तव्या स्यात्। यदि च सर्वजीवाजीवद्रव्यसाधारणवर्तनाहेतुतागुणं गृहीत्वा कालद्रव्यमपि लोकप्रमाणं कल्पयितु युज्यते धर्मास्ति कायादीनामधिकारेण साधारणगतिहेतुताऽऽद्युपस्थितिरेवास्ति। अस्या कल्पनायास्तु अभिनिवेशं विना द्वितीयं किमपि कारणं नस्ति॥१७॥

अथ पुनस्तदेवाह–

अप्रदेशत्वमासूत्र्य, यदि कालाणवस्तदा।
पर्यायवचनोद्युक्तं, सर्वमेवौपचारिकम्॥१८॥

अप्रदेशत्वं प्रदेशरहितत्वं यदि आसूत्र्य प्रकल्पितस्य कालस्य अणवः कथ्यन्ते तदा पर्यायवचनेन योजितं क्रियते सर्वमप्युपचारेण इदमिति। तथाच यदा एवं कथयत–सूत्रे कालोऽप्रदेशी कथितः तस्यानुसारेण कालाणवः कथ्यन्ते, तदा तु सर्वम-

पि जीवाजीवपर्यायरूपमेव काल इति कथितमस्ति तत् विरोधो नास्ति द्रव्यकालोऽपि कथं कथ्यते । ततस्तदनुसारेण कालस्यापि द्रव्यत्ववचनम् । तथा लोकाकाशप्रदेशप्रमाणानुवचनादीनि सर्वाण्युपचारेण योज्यानि । मुख्यवृत्त्या स पर्यायरूपः काल एव सूत्रसंमतोऽस्ति । अत एव 'कालश्चेत्येके' अत्रैकवचनेन सर्वसंमतत्वाभावः सूचयामासेति । तेनाप्यत्र अप्रदेशत्वं प्रदेशाऽभावं सूत्रेणानुसृत्य तस्य कालस्य अणुः कथ्यते, तदा सर्वमप्येतत् उपचारेण पर्यायवचनादिकेभ्यो युज्यमानं चारिमाणमञ्चतीति । अथ च–''परमाणुमयो भागोऽवयवस्तदितरस्तु प्रदेशः'' इति वचनाद् व्योमाद्यपरिमाणजतया सप्रदेशं स्यान्न तु सावयवमित्याचक्षीथाः, तथाऽपि–

''दोषोल्लासवशप्रसृत्वरतमस्काण्डेऽपि देदीपया–
मासे नोऽवयवप्रदेशविषयो भेदस्त्वया दीपकः ।
अस्माभिः परमाणुतां प्रकटतामानेष्यमाणं पुरो,
दुर्वारव्यभिचारदीर्घरसनं निध्याय विध्वंसितः ''॥१॥

ननु पूर्वं तावदम्बरादेर्विभागाः परमाणुमया एव सन्ति न खलु कज्जलचूर्णपूर्णसमुद्गकवन्निरन्तरपुद्गलपूरिते लोके स कश्चिन्नभसो विभागोऽस्ति यो निर्भरं न बिभरांबभूवेऽणुभिः तत्कथां न हेतुरेषु व्यभिचरिष्णुरिति दिक् ॥१८॥

अथोपचारप्रकारमेव दर्शयन्नाह–

पर्यायेण च द्रव्यस्य ह्युपचारो यथोदितः ।
अप्रदेशत्वयोगेन, तथाद्धऽणूनां विगोचरः ॥१९॥

षडेव द्रव्याणीति संख्यापूरणार्थं यथा पर्यायेण पर्यायरूपेण द्रव्यस्य कालद्रव्यस्य एतावता पर्यायरूपकालद्रव्यविषये हि निश्चितं द्रव्यस्योपचारो यथा उदितः द्रव्यत्वोपचारकल्पना विहिता भगवत्यादिसूत्रविशेषे कृता तथैव सूत्रे कालद्रव्यस्यापि अदेप्रशत्वयोगेन कालाणूनां विगोचरो विषयता ज्ञेयः । एतावता सूत्रे कालस्यात्र प्रदेशता सूत्रिता तथैव कालाणुताऽपि सूचिताऽस्ति तद्योजनया लोकाऽऽकाशप्रदेशस्थपुद्गलाणूनां विषये एव योगशास्त्रान्तरश्लोकेषु कालाणूनामुपचारो विहितः । मुख्यकाल इत्यस्य चानादिकालीनाप्रदेशत्वव्यवहारनिया-मकोपचारविषय इत्यर्थः । अत एव मनुष्यक्षेत्रमात्रवृत्तिकालद्रव्यं ये वर्णयन्ति तेषामपि मनुष्यक्षेत्रावच्छिन्नाकाशादौ कालद्रव्योपचार एव शरणमिति दिग्मात्रमेतत् ॥१९॥ द्रव्या०१० अध्या०। विशे०। दश०। उत्त०। आव०। आ०चू०।

(९) अथ कालनिक्षेपमाह–

प्रायश्चित्तं च कालापेक्षया दीयत इति कालनिरूपणादिसूत्रम्–

चउव्विहे काले पन्नत्ते । तं जहा–पमाणकाले, अहाउणिव्वत्तिकाले, मरणाकाले, अद्धाकाले ।

प्रमीयते परिच्छिद्यते येन वर्षशतपल्योपमादि तत्प्रमाणं, तदेव कालः प्रमाणकालः । स च अद्धा कालविशेष एव दिवसादिलक्षणो मनुष्यक्षेत्रान्तर्वर्ती ति । उक्तं च–''दुविहो पमाणकालो, दिवसपमाणं च होइ राई य । चउपोरिसिओ दिवसो, राई चउपोरिसी चेव''॥१॥ यथा यत्प्रकारं नारकादिभेदेनायुः कर्मविशेषो यथाऽऽयुस्तस्य रोद्रादिध्यानादिनां निर्वृत्तिर्बन्धनं तस्याः सकाशात् यः कालो नारकादित्वेन स्थितिर्जीवानां स यथाऽऽयुर्निर्वृत्तिकालः । अथवा यथायुषो निर्वृत्तिस्तथा यः कालो नारकादिभवेऽवस्थानं स तथेति । अयमध्यद्धाकाल एवायुष्कर्मानुभवविशिष्टः सर्वसंसारजीवानां वर्त्तनादिरूप इति । उक्तं च–''आउयमित्तविसिट्ठो, स एव जीवाण वत्तणादिमओ । भण्णइ अहाउकालो, वत्तइ यो जं चिरं तेण''॥१॥ मरणस्य मृत्योः कालः समयः तरणकालोऽयमप्यद्धासमयविशेष एव मरणविशिष्टो मरणमेव वा कालो, मरणपर्यायत्वात् । उक्तं च–''कालो त्ति मयं मरणं, जहेव मरणं गओ त्ति कालगओ तम्हा स कालकाला, जस्स मओ मरणकालो त्ति''॥१॥ तथा अद्धैव कालोऽद्धाकालः । कालशब्दो हि वर्णप्रमाणकलादिष्वपि वर्तते, ततोऽद्धाशब्देन विशिष्यते इति। अयश्च सूर्यक्रियाविशिष्टो मनुष्यक्षेत्रान्तर्वर्त्ती समयादिरूपोऽवसेयः।

उक्तं च–

''सूरकिरियाविसिट्ठो, गोदोहाइकिरियासु निरवेक्खो ।
अद्धाकालो भण्णइ, समयक्खेत्तम्मि समयाइ ॥१॥
समयावलियमुहुत्ता, दिवसमहोरत्त पक्खमासा य ।
संवच्छरजुगपलिया–सागरओसप्पिरियट्ठा''॥२॥

द्रव्यपर्यायभूतस्य कालस्य चतुःस्थानमुक्तम्। स्था०४ ठा०१ उ०।

सम्प्रति 'यथोद्देशं निर्देशः' इति न्यायात् प्रथमतः कालप्रमाणरूपं विवक्षुरिदमाह–

लोगाणुभावजणियं, जोइसचक्कं भणंति अरिहंता ।
सव्वे कालविसेसा, जस्स गइविसेसनिप्फन्ना ॥

यस्य ज्योतिश्चक्रस्य चन्द्रसूर्यनक्षत्रादिरूपस्य संबन्धिना गतिविशेषेण निष्पन्नाः सर्वे कालविशेषाश्चन्द्रमाससूर्यमासनक्षत्र–मासादिकाः तज्ज्योतिश्चक्रं लोकानुभावजनितमनादिकाल–सन्ततिपतितया शाश्वतं वेदितव्यं नेश्वारदिकृतमिति भणन्ति प्रतिपादयन्ति भगवन्तोऽर्हन्तः । तीर्थकृतां च वचनमवश्यं प्रमाणयितव्यम्, क्षीणसकलदोषतया तद्वचनस्य वितथार्थत्वाभावात्। उक्तं च–''रागाद्वा द्वेषाद्वा, मोहाद्वा वाक्यमुच्यते ह्यनृतम् । यस्य तु नैते दोषास्तस्यानृतकारणं किं स्यात् ?'' अपि च युक्त्यापि विचार्यमाणो नेश्वरादिर्घटां प्राञ्चति, ततस्तदभावादपि ज्योतिश्चक्रं लोकानुभावजनितमवसेयम् । यथा च युक्त्या विचार्यमाणो नेश्वरादिर्घटते तथा तत्त्वार्थटीकादौ विजृम्भितमिति तत एवावधार्यम् । तदेवं लोकानुभाव-जनिताद् ज्योतिश्चक्रात् कालविशेषो निष्पन्न इति सामान्यतः कालस्य संभवं प्रतिपाद्य सुप्रति संक्षेपतः कालस्य भेदानाचष्टे । ज्यो०१ पाहु०। भ०।

संखेवेण उ कालो,अणागयातीत वट्टमाणो य ।

कालः संक्षेपतः त्रिधा । तद्यथा–अनागतोऽतीतो वर्तमानश्च । ज्यो०१ पाहु ०।

तिविहे काले पण्णत्ते । तं जहा–तीते पडुप्पन्ने अणागए ।

अतिशयेन इतो गतोऽतीतः, पिधानवदकारलोपेऽतीतो वर्त्तमानत्वमतिक्रान्त इत्यर्थः । साम्प्रतं उत्पन्नः प्रत्युत्पन्नो, वर्त्तमान इत्यर्थः । न आगतोऽनागतो वर्त्तमानत्वमप्राप्तो, भविष्यन्नित्यर्थः । उक्तं च–''भवति स नामाऽतीतः, प्राप्तो यो वर्त्तमानत्वम् । एष्यँश्च नाम स भवति, यः प्राप्स्यति वर्त्तमानत्वम्''॥१॥ इति । स्था०३ ठा०४ उ०। सूत्र०।

तदेवमित्थं संक्षेपतः कालस्य त्रैविध्यं प्रतिपाद्य प्रकारान्तरेण संक्षेपत एव कालस्य त्रैविध्यमाह–

संखेज्जमसंखेज्जा, अणंतकालो उ णिद्दिट्ठो ।

त्रिविधः कालो भगवद्भिस्तीर्थङ्करगणधरौनिर्दिष्टः। तद्यथा संख्येयोऽसंख्येयोऽनन्तश्च। तत्र समसयादिः शीर्षप्रहेलिकापर्यन्तः संख्येयः, असंख्येयः पल्योपमादिकः। अनन्तः अनन्तोत्सर्पिण्यवसर्पिण्यादिकः। ज्यो०१ पाहु०।

तत्र प्रथमतः संख्येयं कालं विवक्षुरिदमाह–

समए आवलिआ आण पाणु थोवे लवे मुहुत्ते अहोरत्ते पक्खे मासे उऊ अयणे संवच्छरे जुगे वाससए वाससहस्से पुव्वंगे पुव्वे तुडिअंगे तुडिए अडडंगे अडे अववंगे अववे हुहुअंगे हुहुए उप्पलंगे उप्पले पउमंगे एउमे णलिणंगे णलिणे अत्थिनिऊरंगे अत्थिनिऊरे अउअंगे अउए नउअंगे नउए पउअंगे पउए चूलिअंगे चूलिआ सीसपहेलिअंगे सीसपहेलिआ पलिओवमे सागरोवमे अवसप्पिणी उस्सप्पिणी पोग्गलपरिअट्टि अतीतद्धा अणागतद्धा सव्वद्धा। अनु०।

(अस्य व्याख्या 'आणुपुव्वी' शब्दे द्वितीये भागे १५१ पृष्ठे द्रष्टव्या)

कालो परमनिरुद्धो, अविभज्जो तं तु जाण समयं तु।
समया य असंखेज्जा, हवइ हु उस्सासनिस्सासो।

कालः परमनिरुद्धः परमनिकृष्टः। एतदेव व्याचष्टे–अविभेद्यो विभक्तुमशक्यः। किमुक्तं भवति ?–यस्य भूयोऽपि विभागः कर्तुं न शक्यते स कालः परमनिरुद्धः, इत्थंभूतं परमनिरुद्धं कालविशेषं समयं जानीहि। स च समयो दुरधिगमः, तं हि भगवन्तः केवलिनोऽपि साक्षात् केवलज्ञानेन विदन्ति, न तु श्रृङ्गग्राहिकया परेभ्यो निर्देष्टुं शक्नुवन्ति। निर्देशो हि प्रथमतः कायप्रमाणेन भाषाद्रव्यण्यादाय पश्चाद्वाक्पर्याप्तिकरणप्रयोगतो विधीयते, ततो यावत्समय इत्येतावन्त्यक्षराण्युच्चार्यन्ते तावदसंख्येयाः समयाः समतिक्रामन्तीति न साक्षाद्विनिर्लुठितरूपतया निर्देष्टुं शक्यन्ते। इत्थंभूताः समया असंख्येया एक उच्छ्वासनिःश्वासो भवति। किमुक्तं भवति ?–अनन्तरोक्तस्वरूपाः समया जघन्ययुक्ताः संख्यातकप्रमाणा एका आवलिका, संख्येया आवलिका एक उच्छ्वासः, तावत्प्रमाण एव एको निःश्वासः। तयोश्चायं भेदः–ऊर्द्ध्वगमनस्वभाव उच्छ्वासः, अधोगमनस्वभावो निःश्वासः।

उस्सासो निस्सासो, दोहिं वि पाणु त्ति भन्नए एक्का।
पाणा य सत्त थोवा, थोवा वि य सत्त लवमाहू।
अट्ठ य तीसं तु लवा, अद्धलवो चेव नालिया होइ॥

पुरुषस्य शारीरिकबलोपेतस्यानुपहतकरणग्रामस्य निरुजस्य प्रशस्ते यौवने वर्त्तमानस्यानाकुलचेतसो य एक उच्छ्वासः संख्येयावलिकाप्रमाणः, यश्चैको निश्वासः संख्यातावलिकाप्रमाण एव, तौ द्वावपि समुदितावेकः प्राणो भण्यते। प्राणो नाम कालविशेषः। एतदुक्तं भवति–यथोक्तपुरुषगतोच्छ्वासनिःश्वासप्रमितः कालविशेषः प्राण इति। यच्च पुरुषस्य शारीरिकबलोपेता–दिविशेषकलापोपादानं तदन्यथाभूतपुरुष संबन्धिनावुच्छ्वासनिःश्वासौ न प्राणरूपकालविशेषप्रमितिहेतू भवत इति प्रतिपत्त्यर्थम्। ते च प्राणाः सप्त सप्त संख्या एकः स्तोकः, स्तोकानपि च सप्तसंख्यानेकं लवमाहुः पूर्वसूरयः। ते पि च लवा अष्टात्रिंशत्संख्या अर्द्धलवः। अर्द्धं लवस्य अर्द्धलवम्, समेऽशे। **अर्द्धं नपुंसकम्।२।२।२।** इति समासः। चैवशब्दः समुच्चये। एका नालिका भवति। सार्द्धा अष्टात्रिंशल्लवाः समुदिता एका नालिका भवतीत्यर्थः। ज्यो०१ पाहु०। (नालिकादि (घटिकादि)प्रमाणं स्वस्थाने द्रष्टव्यम्)

(१०) संप्रति मुहूर्त्तादिप्रमाणमाह–

वे नालिया मुहुत्तो, सट्ठिं पुण नालिया अहोरत्तो।
पन्नरस अहोरत्ता, पक्खो तीसं दिणा मासो॥

द्वे नालिकेद्वे घटिके समुदिते एको मुहूर्त्तः, स च धरिमप्रमाणचिन्तायां पलशते, मेयप्रमाणचिन्तायां चत्वार आढकाः। षष्टिः पुनर्नालिका घटिकाः समुदिता एको अहोरात्रस्त्रिंशन्मुहुर्ता एकोऽहोरात्रमित्यर्थः। तत्र च मेयप्रमाणचिन्तायां विंशत्युत्तरमाढकशतम्, धरिमप्रमाणचिन्तायां षट् पलसहस्राणि,तानि यदि भारीकृत्य चिन्त्यन्ते तदा त्रयो भारा भवन्ति। पञ्चदशअहोरात्रा एकः पक्षः, स च मेयप्रमाणचिन्तायामष्टादश आढकशतानि, धरिमप्रमाणचिन्तायां पञ्च चत्वारिंशद् भाराः, तथा त्रिंशद् भाराः। तथा त्रिंशद्दिनान्यहोरात्र एको मासः। स च धरिमप्रमाणचिन्तायां नवतिर्भाराः, मेयप्रमाणचिन्तायां षट्त्रिंशदाढकशतानि।

संवच्छरो उ वरास, मासा पक्खा य ते चउव्वीसं।
तिन्नेव सया सट्ठा, हवंति राइंदियाणं तु॥

ते अनन्तरोक्तप्रमाणा मासा द्वादशसंख्या एकः संवत्सरो भवंति। ते च द्वादश मासाः पक्षतया चिन्त्यमानाः चतुर्विंशतिः पक्षाभवन्ति। रात्रिन्दिवतया चिन्त्यमानास्त्रीणि शतानि षष्टीनि; षट्त्र्यधिकानि भवन्ति रात्रिंदिवानामहोरात्राणाम्। एष च संवत्सरो यदा मेयरूपतया चिन्त्यते तदा शतद्वयाधिकानि त्रिचत्वारिंत्सहस्राण्याढकानां भवन्ति (४३२००) तोल्यरूपतया तु चिन्त्यमानो भारणामेकं सहस्रमशीत्यधिकम् (१०८०)। एष च संवत्सरो लोके कर्मसंवत्सर इति, ऋतुसंवत्सर इति च प्रसिद्धिं गतः। तथाहि–लौकिकास्त्रिंशतमहोरात्रान् मासं परिगणयंति, इत्थंभूतमासद्वयात्मकं च वसन्तादिकमृतुं, तथाभूतानां षण्णां वसन्तादीनामृतूनां समुदायं संवत्सरम्। यानि च लोके कर्माणि प्रवर्तन्ते तानि सर्वाण्यमुं सुवत्सरमधिकृत्य, एष कर्मसंवत्सरः, सावनसंवत्सर ऋतुसंवत्सर इति ख्यातः।

तथा चाह–

इय एस कमो भणिओ, नियमा संवस्सरस्स कम्मस्स।
कम्मो त्ति सावणो त्ति य, उउ त्ति य तस्स नामाणि॥

एष पूर्वोक्तः क्रमो भणितो ज्ञातव्यो नियमात् कर्मणाः कर्मनाम्नः संवत्सरस्य, तस्य चैवंरूपस्य संवत्सरस्यामूनि नामानि। तद्यथा–कर्मेति कर्म लौकिको व्यवहारः तत्प्रधानतः संवत्सरोऽप्युपचारात् कर्म। (सावणो त्ति) सवनं कर्मसु प्रेरणं, सुअप्रेरणे इति वचनात्। तत्र भव एष संवत्सर इति सावनः। ऋतुर्लोकप्रसिद्धो वसन्तादिः, तत्प्रधान एष संवत्सर इत्युपचारात् ऋतुः। ज्यो०२ पाहु० ('संवच्छर' शब्देस्य विशेषः) संप्रत्युत्तरः कालविशेषश्चिन्त्यतेतत्रान्तरोदितस्वरूपैश्च तुभिर्युगैर्विंशतिर्वर्षाणि, पञ्च विंशतानि व षशतं, दश शतवर्षाणि वर्षसहस्रं, शतं सहस्रवर्षाणां वर्षलक्षं, चतुरशीतिवर्षलक्षाण्येकं पूर्वाङ्गं,चतुरशीतिः पूर्वाङ्गलक्षाणि पूर्वम्।

तथा चैतदेवाह–

वाससहस्साइं चुल–सीइगुणाइं य होज्ज पुव्वगं ।
पुव्वंगसहस्साइं, चुलसीइगुणा हवइ पुव्वं ।।

सुगमा।

संप्रति यथोक्तमेव पूर्वपरिमाणं मुग्धजनविबोधनार्थं वर्षकोटिभिः प्ररूपयति–

पुव्वस्स उ परिमाणं, सत्तरि खलु होति सयसहस्साइं ।
छप्पण्णं साहस्सा, बोधव्वा वासकोडीणं ।।

पूर्वस्य परिमाणं खलु निश्चितं भवति वर्षकोटीनां सप्ततिः शतसहस्राणि, तदुपरि षट् पञ्चाशत्सहस्राणि बोद्धव्यानि ।।

पुव्वाण सयसहस्सं, चुलसीइगुणं लयंगमिह भवति ।
तेसिं पि सयसहस्सं, चुलसीइगुणं लया होइ ।।
तत्तो महालया वी, चुलसीइं चेव सयसहस्साणि ।
नलिणंगं नाम भवे, एत्तो वोच्छं समासेण ।।

पूर्वाणां शतसहस्रं लक्षं चतुरशीतिगुणमिह प्रवचने एकं लताङ्गं भवति। किमुक्तं भवति ?–चतुरशीतेः पूर्वलक्षण्येकं लताङ्गमिति । तेषामिति लताङ्गानां शतं प्रवचने सहस्रं च चतुरशीतिगुणमेका लता भवति । चतुरशीतिलताशतसहस्राण्येका महालता । ततो महालतारूपात् संख्यास्थानादूर्द्ध्वं यानि संख्यास्थानानि भवन्ति (एत्तो वोच्छं समासेणं ति) इतो नलिनानि, अत ऊर्ध्वं संख्यास्थानान्येव क्रमेण केवलानि निर्वक्ष्यामि, न प्राक्तमनसंख्यास्थानानीव प्रत्येकं गुणकारनिर्देशेन। यस्तु वक्ष्यमाणसंकलनागुणकारः स पर्यन्ते कथयिष्यते इति।

प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति–

नलिण महानलिणंगं, हवइ महानलिणमेव नायव्वं ।
पउमंगं तह पउमं , तत्तो महापउमअंगं च ।१।।
हवइ महापउमं वि य तत्तो कमलंगमेव नायव्वं ।
कमलं महकमलंगं, तत्तो परतो महाकमलं ।।२।।
कुमुयंगं तह कुमुयं, तत्तो य महाकुमुयअंगं च ।
परतो य महाकुमुयं, तुडियंगं हवइ तुडियं तु ।।
तत्तो महतुडियंगं, महातुडियमेव नायव्वं ।
अडमंगं पि य परतो, अडडमेव हवइ महाअडडंगं ।।
एवं चेव च तत्तो , नायव्वं महाअडडमेवं ।
ऊहंगं पि य ऊहं, भवइ महल्लं च ऊहंगं ।।
तत्तो य महाऊहं, हवइ तु सीसप्पहेलियाअंगं ।
तत्तो परओ सीसग–पहेलिया होइ नायव्वा ।।

इह सर्वत्राऽपि चतुरशीतिशतसहस्रप्रमाणो गुणकारः ''एत्थ सयसहस्साइं'' इत्यादिवक्ष्यमाणवचनाङ्गं चतुरशीतिनलिनाङ्गशतसहस्राण्येकं नलिनं चतुरशीतिनलिनशतसहस्राणि एकं महानलिनाङ्गं, चतुरशीतिमहानलिनाङ्गशतसहस्राण्येकं महानलिनम्, चतुरशीतिमहानलिनशतसहस्राणि एकं पद्माङ्गम्, चतुरशीतिसहस्राण्येकं पद्म। ततश्चतुरशीतिपद्मशतसहस्राण्येकं महापद्माङ्गम् । ''हवइ'' इत्यादि द्वितीयगाथा–चतुरशीतिमहापद्माङ्गशतसहस्राण्येकं महापद्म, महापद्मशतसहस्राण्येकं कमलाङ्गम्। चतुरशीतिकमलाङ्गशतसहस्राण्येकं कमलम्। चतुरशीति कमलशतसहस्राण्येकं महाकमलाङ्गम्, ततः परतश्चतुरशीतिमहाकमलाङ्गशतसहस्राण्येकं महाकमलम्। ''कुमुयंगमित्यादि'' तृतीयगाथा–ततश्चतुरशीतिमहाकमल शतसहस्राणि एकं कुमुदाङ्गम्। चतुरशीतिकुमुदा-ङ्गशतसहस्राण्येकं कुमुदम्। तथा ततः कुमुदरूपात्संख्यास्थानादूर्ध्वं चतुरशीतिकुमुदशतसहस्राण्येकं महाकुमुदाङ्गम्, ततः परतश्चतुरशीतिमहाकुमुदाङ्गशत-सहस्राण्येकं महाकुमुदम् । चतुरशीतिमहाकुमुदशतसहस्राण्येकं त्रुटिताङ्गं बोधव्यम् । ''तुटियेत्यादि'' चतुर्थगाथा–चतुरशीतित्रुटिताङ्गशतसहस्राणि एकं त्रुटितम्, चतुरशीतित्रुटितशतसहस्राणि एकं महात्रुटितम्। ततः परतश्चतुरशीतिमहात्रुटितशतसहस्राण्येकमटटाङ्गम्, चतुरशीत्यटटाङ्गशतसहस्राणि एकमटटम्, ततः परतश्चतुरशीतिअटटशतसीस्राणि एकं महाटटाङ्गम्, चतुरशीतिमहाटटाङ्गशतसहस्राण्येकं महाटटम्, परतश्च महाटटशतसहस्राध्येकमूहाङ्गम्, चतुरशीत्यूहाङ्गशत--सहस्राण्येकमूहम्, चतुरशीत्यूहशतसहस्राण्येकं महोहम्, चतुरशीतिमहोहशतसहस्राण्येकं शीर्षप्रहलिकाङ्गम्, चतुरशीतिप्रहेलिकाङ्गशतसहस्राण्येका शीर्षप्रहेलिका ज्ञातव्या।

संप्रत्येषु संख्यास्थानेषु गुणकारनिर्देशमाह–

एत्थ सयसहस्साइं, चुलसीइं चेव होइ गुणकारो ।
एक्केक्कम्मि उ ठाणे, अह संखा होइ कालम्मि ।।

अत्र एषु नलिनादिषु सर्वसंख्यास्थानेषु शीर्षप्रहेलिकापर्यन्तेषु मध्ये एकैकस्मिन्संख्यास्थाने पूर्वसंख्यास्थानमधिकृत्य गुणकारो भवति चतुरशीतिशतसहस्राणि । किमुक्तं भवति ?–पूर्वं पूर्वं संख्यास्थानं चतुरशीतिशतसहस्रमुत्तरमुत्तरं संस्थास्थानं भवति; एतच्च प्रागेव भावितमिति । इह स्कन्दिलाचार्यप्रवृत्तौ दुःषमानुभावतो दुर्भिक्षप्रवृत्त्या साधूनां पठनगुणनादिकं सर्वमप्यनेशत्, ततो दुर्भिक्षातिक्रमे सुभिक्षप्रवृत्तौ द्वयोः सङ्गमेलापकोऽभवत्। तद्यथा–एको बलभ्यामेको मथुरायाम्। तत्र च सूत्रार्थसंघटनेन परस्परं वाचनाभेदो जातः। विस्मृतयोर्हि सूत्रार्थयोः स्मृत्वा स्मृत्वा संघटने भवत्यवश्यं वाचनाभेद इति न काचिदनुपपत्तिः। तत्रानुयोगद्वारादिक-मिदानीं वर्तमान-मायुरवाचनानुगतम् । ज्योतिष्करण्डकसूत्रकर्ता चाचार्यो बालभ्यः, ततो यदिदं संख्यास्थानप्रतिपादनं तद् बालभ्यवाचनानुगतमिति नास्यानुयोगद्वार-प्रतिपादितसंख्यास्थानैः सह विसदृशत्वमुपलभ्य विचिकित्सितव्यमिति। संप्रत्युपसंहारमाह–(अह त्ति) एषा अनन्तरोदिता संख्या भवति काले कालविषया।

एसो पण्णवणिज्जे, कालो संखेज्जओ मुणयव्वो ।
वोच्छामि असंखेज्जं, कालं उवमाविसेसेणं ।।

एषोऽनन्तरोदितस्वरूपः कालः प्रज्ञापनीय इति । अत्र शक्तावनीयप्रत्ययभूतोऽयमर्थः–प्रतिनियतप्रमाणतया प्रतिपादयितुमशक्यः संख्येयो ज्ञातव्यः । अत ऊर्द्ध्वमसंख्येयं संख्यातीतकालं वक्ष्यामि । ननु यः संख्यातीतः स कथं प्रतिपादनीय इत्यत आहः उपमाविशेषेण उपमाभेदेन, पल्योपमया इत्यर्थः । ज्यो०२ पाहु०।

अथ पल्योपमसागरोपमयोरतिप्रचुरकालत्वेन क्षयमसम्भावयन् प्रश्नयन्नाह–

अत्थि णं भंते ! ए ए किं पलिओवमसागरोवमा णं खएइ

वा, अवचएइ वा ?। हंता अत्थि । भ०११ श०११ उ०।

(पल्योपमसागरोपमाणां स्वस्वस्थाने व्याख्या)

कालभेदानाह–

दुविहे काले पण्णत्ते । तं जहा–ओसप्पिणीकाले चेव, उस्सप्पिणीकाले चेव।

(दुविहे काले इत्यादि) तत्र कल्पते संख्यातेऽसावनेन वा, कलनं कलासमूहो वेति कालः, वर्तनापरत्वाऽपरत्वादिलक्षणः। चावसर्पिण्युत्सर्पिणिरूपतया द्विविधो द्विस्थानकानुरोधदुक्तः । अन्यथा अवस्थितलक्षणो महाविदेहभोगभूमिसंभवी तृतीयोऽप्यस्तीति। स्था०२ ठा०। इह कालस्त्रिविधः। तद्यथा–उत्सर्पिणीकालः, अवसर्पिणीकालः, उभयाभावतोऽवस्थितश्च। तत्र भरतैरवतेषु प्रत्येकं विंशतिसागरोपमकोटाकोटिमानस्य कालचक्रस्य द्वौ मूलभेदौ–उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी च । एकैकाः षड्विभागाः–तत्रावसर्पिण्यां सुषमसुषमाख्यः प्रवाहतश्चतुःसागरोपमकोटाकोटीप्रमाणः प्रथमकालविभागः, द्वितीयः सुषमाख्यः त्रिसागरोपमकोटाकोटीमानः, तुतीयः सुषमदुःषमाख्यः सागरोपमद्वयकोटाकोटीमानः, चतुर्थो दुःषमसुषमाख्यो द्वाचत्वारिंशद्वर्षसहस्रन्यूनसागरोपमकोटाकोटी मानः, पञ्चमो दुःषमाख्य एकविंशतिवर्षसहस्रमानः। षष्ठो दुःषमदुःषमाख्यः, सोऽप्येकविंशतिवर्षसहस्रमानः । अयमेव चोत्क्रमेणोत्सर्पिण्यामपि यथोक्तसंख्यः कालक्रमो वेदितव्यः। अवस्थितश्चतुर्विधः। तद्यथा सुषमसुषमासुखप्रतिभागः, सुषमासुखप्रतिभागः, युषमादुःषमासुखप्रतिभागः, दुःषमासुषमासुखप्रतिभागश्च। तत्र प्रथमो देवकुरूत्तरकुरुषु, द्वितीयो हरिवर्षरम्यकयोः, तुतीयो हैमवतहैरण्यवतयोः, चतुर्थो महाविदेषु। अ० म० द्वि०। ज्यो०। आ०चू०।

कालविशेषान् त्रिधा विभजन्नाह–

तिविहे समए पण्णत्ते । तं जहा–तीते पडुप्पन्ने अणागए । एवं आवलिया आणा पाणू थोवे लवे मुहुत्तं अहोरत्ते० जाव वाससयसहस्से पुव्वंगे पुव्वे जाव ओसप्पिणी । तिविहे पोग्गलपरियट्टे पण्णत्ते । तं जहा–तीते, पडुप्पन्ने, अणागए।

तिविहे समए इत्यादि) कालसूत्राणि समयादयो द्विस्थानकाद्युद्देशकवद् व्याख्येयाः, नवरम्–(पोग्गलपरियट्टे त्ति) पुद्गलानां कपिद्रव्याणासाहारकवर्जितानामौदारिकादिप्रकारेण गृह्ण त एकजीवापेक्षया परिवर्त्तनं सामस्त्येन स्पर्शः पुद्गलपरिवर्त्तःस च वाउा आलेय भवति स कालोऽपि पुद्गलपवित्तः । स चानन्तोत्सर्प्पिण्यवसर्प्पिणीरूप इति । स चेत्थं भगवत्यामुक्तः–''कतिविहे णं भंते ! पोग्गलपरियट्टे पन्नत्ते ? सत्तविहे पन्नत्ते । तं जहा–ओरालियपोग्गलपरियट्टे वेउव्वियपोग्गलपरियट्टे वेउव्वियपोग्गलपरियट्टे, एवं कम्मा मणवइआणपाणुपोग्गलपरियट्टे''। तथा–''से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ ओरालियपोग्गलपरियट्टे२, गोयमा ! जण्णं जीवेणं ओरालियसरीरे वट्टमाणेणं ओरालियसरीरपाओग्गाइं दव्वाइं ओरालियसरीरत्ताए गहियाइं जाव निसट्ठाइं भवंति, से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ, ओरालियपुग्गलपरियट्टे''२। एवं शेषा अपिवाच्याः । तथा–''ओरालिय पोग्गलपरियट्टे णं भंते ! केवइकालस्स निव्वत्तिज्जइ। गोयमा ! अणंता हिं उस्सप्पिणी ओसप्पिणीहिं ति''। एवं शेषा अपीति।

अन्यत्र त्वेवमुच्यते–

''ओराले वेउव्वे, तेय–कम्म–भासाऽणु–पाण–मणेगेहिं।

फासे वि सव्वपोग्गल– मुक्का अह बायरपरट्टो ॥

दव्वे सुहुमपरट्टो, ताहे एगेण अह सरीरेणं।

लोगम्मि सव्वपोग्गल–परिमाणे ऊणतो मुक्क त्ति''॥

द्रव्यपुद्गलपरिवर्त्तनसदृशा येऽन्ये क्षेत्रकालभावपरिवर्तास्तेऽन्यतोऽवसेया इति। स्था ३ ठा०४ उ०।

जबुद्दीवे णं भंते ! दीवे भारहे वासे कतिविहे काले पण्णत्ते? गोयमा ! दुविहे काले पण्णत्ते । तं जहा–ओसप्पिणीकाले अ, उस्सप्पिणी काले अ।

जम्बूद्वीपे द्वीपे भरतवर्षे भगवन्! कतिविधः कालः प्रज्ञप्तः? भगवानाह–गौतम! द्विविधः कालः प्रज्ञप्तः। तद्यथा–अवसर्पति हीयमानाऽऽरकतयाऽवसर्पयति वा क्रमेणायुःशरीरादिभावान् हापयतीत्यवसर्पिणी, सा चासौ कालश्च, प्रज्ञापकापेक्षया चास्या आदावुपन्यासः । क्षेत्रेषु भरतस्येव उत्सर्पति वर्द्धतेऽरकापेक्षया वर्द्धयति वा क्रमेणायुरादीन् भावानित्युत्सर्प्पिणी, सा चासौ कालश्च। चक्कारद्वयं द्वयोरपि समानारकतासमानपरिमाणतादिज्ञापनार्थम्। जं २ वक्ष०।

(११) समयादीनां संख्येयोऽसंख्येयत्वविचारः–

आवलिया णं भंते ! किं संखेज्जा समया, असंखेज्जा समया, अणंता समया ? गोयमा ! णे संखेज्जा समया, असंखेज्जा समया, णो अणंता समया। अणापाणू णं भंते ! किं संखेज्जा ? एवं चेव। थोवे णं भंते । किं? एवं चेव । एवं लवे वि मुहुत्ते वि । एवं अहोरत्ते । एवं पक्खे मासे उऊ अयणे संवच्छरे जुगे वाससए वाससहस्से वाससययहस्से पुव्वंगे पुव्वे तुडियंगे तुडिए अडंडंगे अडडे अववंगे अववे हूहुअंगे हूहुए उप्पलंगे उप्पले पउमंगे पउमे णलिणंगे णलिणे अच्छिणिपूरंगें अच्छिणिपूरे अउयंगे अउए णउयंगे णउए पउयंगे पउए चूलियंगे चूलिया सीसप्पहेलियंगे पलिओवमे सागरोवमे ओसप्पिणी, एवं उस्सप्पिणी वि। पोग्गलपरियट्टे णं भंते ! किं संखेज्जा समया, असंखेज्जा समया पुच्छा ? गोयमा ! णो संखेज्जा समया, णे असंखेज्जा समया, अणंता समया । एवं तीयद्धा अणायद्धा सव्वद्धा। आवलियाओ णं भंते ! किं संखेज्जा समया पुच्छा? गोयमा ! णो संखेज्जा समया सिय, असंखेज्जा समया सिय, अणंता समया। अणापाणू णं भंते ! किं संखेज्जा समया पुच्छा? गोयमा ! एवं चेव। थोवा णं भंते ! पुच्छा? एवं चेव। एवं जाव उस्सप्पिणी ति। पोग्गलपरियट्टा णं किं संखेज्जा समया० पुच्छा? गोयमा ! णो संखेज्जा, णो असंखेज्जा समया, अणंता समया। अणापाणू णं

भंते ! किं संखेज्जा आवलिया पुच्छा ? गोयमा ! संखेज्जाओ आवलियाओ, णो असंखेज्जाओ आवलियाओ, णो अणंताओ आवलियाओ। एवं थोवा वि। एवं जाव सीसप्पहेलिय त्ति। पलिओवमे णं भंते ! किं संखेज्जा पुच्छा ? गोयमा ! णो संखेज्जाओ आवलियाओ, णो असंखेज्जाओ आवलियाओ,एवं सागरोवमे वि। एवं ओसप्पिणी वि उस्सप्पिणी वि। पोग्गलपरियट्टे पुच्छा ? गोयमा ! णो संखेज्जाओ आवलियाओ, णो असंखेज्जाओ आवलियाओ, अणंताओ आवलियाओ। एवं जाव सव्वद्धा। आणापाणू णं भंते ! किं संखेज्जाओ आवलियाओ। पुच्छा ? गोयमा ! सिय संखेज्जाओ आवलियाओ, सिय असंखेज्जाओ सिय अणंताओ। एवं जाव सीसप्पहोलियाओ।

विशेषाधिकारात्कालविशेषसूत्रम्। (आवलिया णमित्यादि)। बहुत्वाधिकारे-(आवलियाओ णमित्यादि)। (नो संखेज्जा समय त्ति) एकस्यामपि तस्यामसंख्याताः समयाः, बहुषु पुनरसङ्ख्याता अनन्ता वा स्युर्न तु सङ्ख्येनया इति।

पलिओवमा णं पुच्छा ? गोयमा ! णो संखेज्जाओ आवलियाओ, सिय असंखेज्जाओ आवलियाओ, सिय अणंताओ आवलियाओ। एवं जाव उस्सप्पिणीओ त्ति। पोग्गलपरियट्टाओ पुच्छा ? गोयमा ! णो संखेज्जाओ आवलियाओ, णो असंखेज्जाओ आवलियाओ, अणंताओ आवलियाओ। थोवे णं भंते ! किं संखेज्जाओ आणापाणूओ असंखेज्जाओ ? जहा आवलिया वत्तव्वया एवं आणापाणूओ वि णिरवसेसा। एवं एएणं गमएणं जाव सीसप्पहेलिया भाणियव्वा। सागरोवमे णं भंते ! किं सूखेज्जा पलिओवमा पुच्छा ? गोयमा ! संखोज्जा पलिओवमा, णो असंखेज्जा पलिओवमा, णो अणंता पलिओवमा। एवं ओसप्पिणीओ वि। पोग्गलपरियट्टे णं भंते ! पुच्छा ? गोयमा ! णो संखेज्जा पलिओवमा, णो असंखेज्जा पलिओवमा, अणंता पलिओवमा, एवं जाव सव्वद्धा। सागरोवमा णं भंते ! किं संखज्जा पलिओवमा पुच्छा ? गोयमा ! सिय संखेज्जा पलिओवमा, सिय असंखेज्जा पलिओवमा, सिय अणंता पलिओवमा। एवं जाव ओसप्पिणीओ वि उस्सप्पिणीओ वि। पोग्गलपरियट्टा णं पुच्छा ? गोयमा ! णो संखेज्जा पलिओवमा, णो असंखेज्जा पलिओवमा, अणंता पलिओवमा। उस्सप्पिणीओ णं भंते ! किं संखेज्जा सागरोवमा ? जहा पलिओवमस्स वत्तव्वया तहा सागरोवमस्स वि। पोग्गलपरियट्टे णं भंते ! किं संखेज्जाओ ओसप्पिणिओ पुच्छा ? गोयमा ! णो संखेज्जाओ ओसप्पिणीओ, णो असंखेज्जाओ, अणंताओ ओसप्पिणीआ। पोग्गलपरियट्टा णं भंते ! किं संखेज्जाओ उस्सप्पिणीओ पुच्छा ? गोयमा ! णो संखेज्जाओ, णो असेखेज्जाओ, अणंताओ। पोग्गलपरियट्टा णं भंते ! किं संखेज्जाओ ओसप्पिणिउस्सप्पिणीओ पुच्छा ? गोयमा ! णो संखेज्जाओ ओसप्पिणिउस्सप्पिणीओ, णो असंखेज्जाओ, अणंताओ ओसप्पिणिउस्सप्पिणीओ। एवं जाव सव्वद्धा। पोग्गलपरियट्टा णं भंते ! किं संखेज्जाओ उस्सप्पिणि-ओसप्पिणीओ पुच्छ ? गोयमा ! णो संखेज्जाओ उस्सप्पिणि-ओसप्पिणीओ, णो असंखेज्जाआ, अणंताओ उस्सप्पिणि ओसप्पिणीओ। तीतद्धा णं भंते ! किं संखेज्जा पोग्गलपरियट्टा ? गोयमा ! णो संखेज्जा पोग्गलपरियट्टा, णो असंखेज्जा, अणंता पोग्गल परियट्टा। एवं अणागया वि। एवं सव्वद्धा वि। अणागयद्धा णं भंते ! किं संखेज्जाओ अतीतद्धाओ, असंखेज्जाओ, अणंताओ ?। गोयमा ! णो संखेज्जाओ तीयद्धाओ, णो असंखेज्जाओ तीयद्धाओ, णो अणंताओ तीयद्धाओ। अणागया णं तीतद्धाओ समयाहिया, तीतद्धा णं अणागयद्धाओ समयूणा। सव्वद्धा णं भंते ! किं संखेज्जाओ तीतद्धाओ पुच्छा ? गोयमा ! णो संखेज्जाओ तीतद्धाओ, णो असेखेज्जाओ तीतद्धाओ, णो अणंताओ तीतद्धाओ। सव्वद्धाणं तीतद्धाओ सातिरेगदुगुणो। तीतद्धा णं सव्वद्धाओ थोवूणाए अद्धे। सव्वद्धा णं भंते ! किं संखेज्जाओ अणागयद्धाओ पुच्छा ? गोयमा ! णो संखेज्जाओ अणागयद्धाओ, णो असंखेज्जाओ, णो अणंताओ अणागयद्धाओ। सव्वद्धा णं अणागयद्धाओ थोवूणगदुगुणो, अण्णगयद्धा णं सव्वद्धाओ सातिरेगे अद्धे॥

(अणागयद्धाणं तीयद्धाओ समयाहिय त्ति) अनागतकालोऽतीत-कालात्समयाधिकः। कथम् ? यतोऽतीतानागतौ कालावनादित्वानन्त-त्वाभ्यां समानौ, तयोश्च मध्ये भगवतः प्रश्नसमयो वर्तते। स चाविनष्टत्वेनातीतेन प्रविशत्याऽविनष्टत्वसाधर्म्यादनागते क्षिप्तस्ततः समयातिरिक्ताऽनागताद्धा भवति। अत एवानागत-कालादतीतकालः समयोनो भवतीति। एतद। एतदेवाह-''तीतद्धाणमित्यादि'' (सव्वद्धाणं तीतद्धाओ साइरेगदुगुण त्ति) सर्वाद्धाऽतीतानागताद्धाद्वयम्। सा चातीताद्धातः सकाशात्सातिरेकद्विगुणा भवति, सातिरेकत्वं च वर्त्तमानसमयेन। अत एवातीताद्धा सर्वाद्धायाः स्तोकोनमर्द्धमूनत्वं च वर्त्तमानसमयेनैव। एतदेवाह-(तीतद्धाणं सव्वद्धाए थोवूणाए अद्धे त्ति) इह काश्चिदाह-अतीताद्धातोऽनागताद्धाऽनन्तगुणा यतो यदि ते वर्त्तमानसमये समे स्यातां ततस्तदतिक्रमेऽनागताद्धा-समयेनोना स्यात्। ततोद्ध्यादिभिरेवं च समत्वं नास्ति। ततोऽनन्तगुणाऽऽ-सावतीताद्धायाः सकाशात्, अत एवानन्तेनापि कालेन गतेन नासौ क्षायत इति। अत्रोच्यते-इह समत्वमुभयोरप्याद्यन्ताभावमात्रेण वि-

वक्षितमिति चादावेव निवेदितमिति पर्यवा उद्देशकादावुक्ताः, ते च भेदा अपि भवन्तीति। भ०२५ श०५ उ०।

(१५) समयादिप्रज्ञानं मनुष्यक्षेत्र एव–

अत्थि णं भंते ! नेरइयाणं तत्थगयाणं एवं पण्णायए तं समयाइ वा आवलियाइ वा जाव ओसप्पिणीइ वा उस्सप्पिणीइ वचा ? णो इणट्ठे समट्ठे। से केणट्ठेणं जाव समयाइ वा आवलियाइ वा ओसप्पिणीइ वा उस्सपिणीइ वा ? गोयमा ! इहं तेसिं माणं इहं तेसिं पमाणं इहं तेसिं एवं पण्णायए तं समयाइ वा जाव उस्सप्पिणीइ वा से तेणं जाव नो एवं पण्णायए समयाइ वा जाव उस्सप्पिणीइ वा एवं जाव पंचिंदियतिरिक्खजोणिया। अत्थि णं भंते ! मणुस्साणं इहगयाणं एवं पण्णायइ तं समयाइ वा जाव उस्सप्पिणीइ वा ? हंता ! अत्थि। से केणट्ठेणं ? गोयमा ! इहं तेसिं माणं इह चेव तेसिं पमाणं इह तेसिं एवं पण्णायइ। तं जहा–समयाइ वा जाव उस्सप्पिणीइ वा से तेणट्ठेणं वाणमंतरजोइसवेमाणियाणं जहा नेरइयाणं।

कालद्रव्याचिन्तासूत्रम्। (तत्थ गयाणं ति) नरके स्थितैः षष्ठ्या-स्तृतीयार्थत्वात्। (एवं पन्नायइ त्ति) एवं प्रज्ञायते इदं विज्ञायते (समयाइ व त्ति) समया इति वा (इह तेसिं ति) इह मनुष्यक्षेत्रे तेषां समयादीनां मानं परिमाणम्, आदित्यगतिसमभिव्यङ्ग्यत्वात्तस्य आदित्यगतेश्च मनुष्यक्षेत्रएव भावान्नरकादौ त्वभावादिति। इहं तेसिं पमाणं ति) इह मनुष्यक्षेत्रे तेषां समयादीनां प्रमाणं प्रकृष्टं मानं, सूक्ष्ममानमित्यर्थः। तत्र मुहमर्त्तस्तावन्मानं, तदपेक्षया लवः सूक्ष्मत्वात्प्रमाणम्। तदपेक्षया स्तोकः प्रमाणं, लवस्तु मानमित्येवं नेयं यावत्समय इति। ततश्च (इहं तेसिमित्यादि) इह मर्त्यलोके मनुजैस्तेषां समयादीनां सम्बन्धि, एवं वक्ष्यमाणस्वरूपं समयं त्वाद्येवं ज्ञायते। तद्यथा–समयाइ वेत्यादि (इह च समयक्षेत्राद्बहिर्वर्तिनां सर्वेषामपि समयाद्यज्ञानमवसेयम्, तत्र समयादिकालस्याभावेन तद्व्यवहाराभावात्। तथा पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चो, भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्काश्च यद्यपि केचिन्मनुष्यक्षेत्रेऽपि सन्ति, तथापि तेऽल्पाः प्रायस्तदव्यवहारिणश्चेतरे तु बहव इति तदपेक्षया ते न जानन्तीत्युच्यत इति। भ०५ श०६ उ०। (मन्दरस्य पर्वतस्य दक्षिणोत्तराभ्यां कालविभागः 'उदयसंठिइ' शब्दे द्वितीयभागे ७८५ पृष्ठे उक्तः) ''कालो वाघाइम, इयरो य नायव्वो''। इह कालो द्विविधो भवति। तद्यथा–व्याघातिम इतरश्च। व्यघातेन निवृत्तोव्याघातिमः, भावादिम-प्रत्ययः। इतरो निर्व्याघातः। व्य० ७ उ०। ''कालग्गहणं'' कालस्य प्रस्तावात्प्रादोषिकस्य ग्रहणम्। अयं च कालो व्याघातिकोऽप्युच्यते। (तस्य ग्रहणप्रकारप्रदर्शनं 'सज्झाय' शब्दे करिष्यामि)

निद्धेयरो य कालो, एगंतसिणिद्ध मज्झिम जहन्नो।
लुक्खे वि होइ तिविहो, जहन्न मज्झतो य उक्कासो ॥४३॥

इह कालः सामान्यतो द्विविधः। तद्यथा–स्निग्धो रूक्षश्च। तत्र सजलः सशीतश्च स्निग्धः। उष्णो रूक्षः। स्निग्धोऽपि त्रिधा। तद्यथा–एकान्तस्निग्धः मध्यमो जघन्यश्च। तत्र एकान्तस्निग्धोऽतिस्निग्धः। रूक्षोऽपि त्रिधा। तद्यथा–जघन्यो मध्यमउत्कृष्टः। उत्कृष्टो नाू अतिशयेन रूक्षः। पिं० औ० ''कालः पचति भूतानि, कालः संहरते प्रजाः। कालः सुप्तेषु जागर्ति, कालो हि दुरतिक्रमः'' ॥१॥ आव०४ अ०।

तेणं कालेणं तेणं समएणं चंपानामं नयरी होत्था।

तस्मिन् काले तस्मिन् समये यस्मिन्नयौ नगरी बभूवेति। अधिकरणे चेयं सप्तमी। अथ कालसमययोः कः प्रतिविशेषः ? उच्यते–काल इति सामान्यकालः अवसर्पिण्याश्चतुर्थविभागलक्षणः। समयस्तु तद्विशेषः। अथवा तेन कालेन अवसर्पिणीचतुर्थारकत्वलक्षणेन हेतुभूतेन, समयेन तद्विशेषभूतेन हेतुना, चम्पा नाम नगरी (होत्थ त्ति) अभवदासीदित्यर्थः। ज्ञा०१ श्रु०१ अ०। सूत्र०। विपा०। रा०। नि०। तेन कालेनेति दुःषमसुषमादिलक्षणे, आचा०। ते इति प्राकृतशैलीवशात् तस्मिन्निति द्रष्टव्यम्। अस्यामर्थः– यस्मिन् काले भगवान् वर्द्धमानस्वामी स्वयं विहरति तस्मिन्निति। णमिति वाक्यीलङ्कारे। दृष्टश्चान्यत्रापि णंशब्दो वाक्यालङ्कारार्थः। यथा ''इमा णं पुढवी'' इत्यादाविति। काले अधिकृतावसर्पिणीचतुर्थविभागरूपे, रा०।

(१३) काले ज्ञानाचरः

काले विणए वहुमाणे उवहाणे तहा अनिण्हवणे।
वंजणअत्थ तदुभए, अट्ठविहो नाणमायारो॥

तत्र यो यस्याऽङ्गप्रविष्टादेः श्रुतस्य काल उक्तः, तस्य तस्मिन्नेव स्वाध्यायः कार्यः, नान्यदा, प्रत्यवायसम्भवात्। (तीर्थकरवचनविरोधात्। ध०१ अधि०। दृश्यते च लोकेऽपि कृष्यादेः कालकरणे फलं, विपर्यये तु विपर्यय इति। यत उक्तम्–''कालम्मि कीरमाणे, किइकम्मं बहुफलं जहा भणियं। इय सव्वा वि य किरिया नियनियकालम्मि कायव्वा''॥१॥ इति। प्रव०६ द्वार०। दश०। ''कालो विव निरणुकंपाओ''। स्त्रियः (कालो त्ति) दुर्भिक्षकालः, एकान्तदुःषमाकालो वा। यद्वा–लाकेक्तौ दुष्टसर्पः, तद्वद् निरनुकम्पाः दयावर्जिताः। तं०। तथाविधाऽवस, भ०११ श०११ उ०। पञ्चा०। अभावे, कालशब्दोऽभाववाची। बृ०४ उ०। मरणे, भ०११ श०११ उ०। मृत्यौ, आचा०१ श्रु०२ अ०३ उ०। काल इव कालः। मारणान्तिकसमुद्घते, भ०१४ श०७ उ०। क्रूरप्रकृतित्वात् कृतान्तसदृशे कृष्णे, जं०२ वक्ष०। घनमेघसदृशे सान्द्रजलदसमाने कालके, भ०२ श०१ उ०। कृष्णवर्णे, प्रज्ञा०२ पद। प्रश्न०। सू०प्र०। सप्तमनरकपृथिव्यास्तृतीये नरके, पुं०। सूत्र० श्रु०१ अ०१ उ०। आ० क०। स०। षोडशानां पिशाचानां मध्ये पञ्चमे पिशाचे, प्रज्ञा०१ पद। दाक्षिणात्यानां पिशाचानामिन्द्रे, प्रज्ञा०२ पद। जं०। भ०। स्था०। काल्या अयमपत्यं वा कालः। कोणिकभार्य्यायाः काल्या आत्मजे, नि०।

(१४) तद्वक्तव्यता–

एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं इहेव जंबूदीवे दीवे भारहे वासे चुपा नामं नयरी होत्था। रिद्धपुन्नभद्दे

चेइए तत्थ णं चंपाए नयरीए सेणियस्स रन्नो पुत्ते चेल्लणाए देवीए अत्तए कूणिए नाम राया होत्था। कहता तस्स एं कूणियस्स रन्नो पउमावई नामं देवी होत्था। सुखमाल० जरव विहरइ, तत्थ णं चंपाए नयरीए सेणियस्स रन्नो भज्जा कूणिण्स्स रन्नो चुल्लमाउया काली नामं देवी होत्था। सुखमाल० जाव सुरूवा, तीसे णं कालीए देवीए पुत्ते काले नामं कुमारे होत्था। सुखमाल० जाव सुरूवे तते णं से काले कुमारे अनन्दा कदाइ तिहिं दंतीसहस्सेहिं तिहिं रहस्स सहस्सेहिं तिहिं आससहस्सेहिं तिहिं मणुयकोडीहिं गरूलवूहे एक्कार सतेणं खंडे णं कूणिएणं रन्ना सद्धिं रहमुसलं संगामं उवागए। तते णं से कालीदेवीए अन्नदा कदाइ कुटुंबजागरियं जागरमाणीए अयमेयारूवे अज्झत्तिए० जाव समुप्पज्जित्था। एवं खलु ममं पुत्ते कालकुमारे तिहिं दंतीसहस्सेहिं० जाव ओयाए से मन्ने किं जतिस्सति, नो जतिस्सति, जीविस्सइ, नो जीविस्सति, पराजणिस्सइ, णो पराजणिस्स। काले णं कुमारं अहं जीवमाणं पासिज्जओ हयमणी जाव जियाति। तेणं कालेणं तेणं समयेणं समणं भगवं महावीरे समोसरिते परिसा निग्गया। तते णं तीसे कालीए देवीए इमीसे कहाए लद्धट्ठाए समाणीए अयमेयारूवे अज्झत्थिए जाव समुप्पज्जित्था। एवं खलु समणे भगवं महावीरे पुव्वाणुपुव्विं इहमागते जाव विहरति। तं गहाफलं खलु तहारूवाणं ताव विउलस्स अट्ठस्स गहणताए तं गच्छामि णं समणं जाव पज्जुवासामि। इमं च णं एयारूवं वागरणं पुच्छिस्सामि तिकट्टु एवं संपेहेति, संपेहेत्ता कोडुंवियपुरिसे सद्दावेति, सद्दावेत्ता एवं वदासि खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया! धम्मियं जाणपवरं जुत्तामेव उवट्ठावेह, उवट्ठावित्ता जाव पच्चुप्पिणंति। तेणं से काली देवी ण्हायाकयवलिकम्मा० जाव अप्पमहग्घाभरणालंकियसरीरा बहूहिं खुज्जाहिं० जाव महत्तरगवंदपरिखित्ता अंतेउरातो निग्गच्छति, निग्गच्छत्ता जेणेव बाहिरिया उवट्ठाणसाला जेणेव धम्मिए जाणपवरे तेणेव उवागच्छइ, धम्मियं जाणप्परं दुरूहति, दुरूहित्ता नियगपरियालं संपरिवुडा चंपानयरिं मज्झं मज्झेणं निग्गच्छति। जेणेव पुण्णभद्दे चेइए तेणेव उवागच्छइ, धम्मियं जाणप्पवरं दुरूहिंति दुरुहिंत्ता नियगपरियालसंपरिवुडा चंपानयरी० छत्तादीए धम्मियं जाणप्पवरं ठवेति, धम्मियाओ जाणप्पवराओ पच्चोरुहति। बहूहिं जाव खुज्जाहिं वंदपरिखि० जेणेव समणे भगवे महावीरे तेणेव समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो वंदति, वंदित्ता ठिया चेव सपरिवारा सुस्सूसमाणी नमंसमाणा अभिमूहा विणएणं पंजलिपुडा पज्जुवासति। तते णं समणे भगवं जाव कालीए देवीए तीसे य तहइ महालियाए धम्मकहा भाणियव्वा, जाव समणोवासए वा समणोवासिया वा विहरमाणा आणाए आराहए भवंति। तते णं सा काली देवी समणस्स भगवाओ अंतिए धम्मं सोच्चा निसम्म जाव हयहियया समणं भगवं तिक्खुत्तो जाव एवं वयासी–एवं खलु भंते! मम पुत्ते काले कुमारे तिहिं दंतिसहस्सेहिं जाव रहमुसलसंगामे आयाति से णं भंते! किं जइस्सति जाव कालेण कुमारं अहं जीवमाणं पासिज्जा कालीति समणे भगवं कालिं देविं एवं वयासी– एवं खलु कालि! तव पुत्ते काले कुमारे तिहिं दंतिसहस्सेहिं जाव कूणिएणं रन्ना सद्धिं रहमुसलं संगामं संगामेमाणे हयमहितए वरवीरवाति-विवाडितचिंधद्धयपडागे निरालोयातो दिसातो कारेमाणे चेडगस्स रन्नो सपक्खं सपडिदिसिं रहेणं पडिरहं हव्वमागते।

''एवं खलु जंबे! तेणं कालेणमित्यादि''(इहेव त्ति) इहैव देशतः प्रत्यक्षासन्नेन पुनरसंख्येयत्वाज्जम्बूद्वीपानामन्यत्रेति भावः। भारते वर्षे क्षेत्रे चैषा नगरी अभूत्। रिद्धेत्यनेन ''रिद्धिउमियसमिद्ध'' इत्यादि दृश्यम्। व्याख्या तु प्राग्वत्। तत्रोत्तर पूर्वदिग्भागे पूर्णभद्रनामकं चैत्यं व्यन्तरायतनम्। (कोणिय नाम राय त्ति) कूणिकनामा श्रेणिकनामा राजपुत्रो राजा (होत्थ त्ति) अभवत् तद्वर्णकः (महयाहिमवंतमलय-मंदरमहिंदसारे इत्यादि माणे विहरइ) इत्येतदन्तः। तत्र महाहिमवानिय महान् शेषराजापेक्षया। तथा मलयः पर्वत विशेषो, मन्दरो मेरुर्महेन्द्रः शक्रादिदेवो यस्य स तथा। तथा प्रशान्तानि डिम्बानि विघ्नाडम्बराणि च राजकुमारादिकृता विड्वरा यस्मिन् तत्तथा। प्रसाधयन् पालयन् विहरत्यास्ते स्म। कूणिकदेव्याः। पद्मावतीनाम्न्या वर्णको यथा– (सुखमाल जाव विहरति) यावत्करणादेवं दृश्यम्–''सुकुमालपाणिपाया अहीणपंचेंदियसरीरा'' अहीनान्यूनानि लक्षणतः स्वरूपतो वा पञ्चापीन्द्रियाणि यस्मिंस्तत्तथाविधं शरीरं यस्याः सा तथा। (लक्खणवंजणगुणोववेया) लक्षणानि स्वस्तिकचक्रादीनि व्यञ्जनानि मषीतिलकादीनि तेषां यो गुणः प्रशस्तता, तेन उपपेता युक्ता या सा तथा। उप अप एते शब्दत्रयस्थाने शकन्ध्वादिदर्शनादुपपेति स्यात्। ''माणुम्माणप्पमाण-पडिपुन्नसु–जायसव्वंगसुंदरंगं'' तत्र मानं जलद्रोणप्रमाणता, कथम्? जलस्थातिभृते कुण्डे पुरुषे निवेशितं यज्जलं निःसरति, तद्यदि द्रोणमानं भवति तदा स पुरुषो मानप्राप्त उच्यते। तथा उन्मानमर्द्धभारप्रमाणता, कथम्?–तुलारोपितः पुरुषो यद्यर्द्धभारं तुलति तदा स उन्मानप्रमाणमुच्यते। प्रमाणं तु स्वाङ्गुलेनाष्टोत्तरश-तोच्छ्रायिता। ततश्च मानोन्मान प्रमाणप्रतिपूर्णान्यन्यूनानीति। सुजाजानि सर्वाणि अङ्गानि शिरः प्रभृतीनि यस्मिन् तत्तथाविधं सुन्दरमङ्गं यस्याः सा तथा। ''ससिसोमाकारकंत पियदंसणा'' शशिव-त्सौम्याकारं कान्तं च कमनीयमत एव प्रियं द्रष्टृणां दर्शनं रूपं यस्माः सा तथा। अत एव सुरूपा स्वरूपतः सा पद्मावती देवी ''कूणिएण सद्धिं ओरालाइं भेगभोगाइं भुंजमाणी विहरई'' भोगभोगान् अतिशयवद्भोगान् (तत्थ णमित्यादि) ''सुकुमालपणिपाया'' इत्यादि पूर्ववद्वाच्यम्। अन्यच्च ''कोमुईप्पणियरविमलपडिपुन्नसोमवयणा'' कौमुदीरजनिकरवत् कार्तिकी-

चन्द्र इव विमलं प्रतिपूर्णं सौम्यं वदनं यस्याः सा तथा । ''कुंमलुल्लिडियगंडलेहा'' कुण्डलाभ्यामुल्लिखिता घृष्टा गण्डलेखा कपोलविरचितमृगमदादिरेखा यस्थाः सा तथा। ''सिंगारागारचारुवेसा'' शृङ्गारस्य रसविशेषस्यागारमि-वागारम्, तथा चारुवेषो नेपथ्यं यस्याः सा तथा । ततः कर्मधारायः । काली नाम देवी श्रेणिकस्य भार्या, सा कूणिकस्य राज्ञश्छुल्लजननी लघुमाताऽभवत् । सा च काली देवी ''सेणियस्स रन्नो इट्ठा वल्लभा'' कान्ता काम्यत्वात्, प्रिया सदाप्रेमविषत्वात् । 'मणुन्ना' सुन्दरत्वात्, नामधेया, प्रशस्तनाम-धेयवतीत्यर्थः । नामं चाधार्यवह हृदि धरणीयं यस्याः सा तथा । ''वेयासिया'' विश्वसनीयत्वात् । ''सम्मया'' तत्कृतकार्यस्य संमतत्वात्। बहुतो बहुशो बहुभ्यो वाऽन्येभ्यः सकाशात् बहुमानपात्रं च 'अणुमया' विप्रियकरणस्यापि यश्चात्मना अनुमता ''भंडकरंडक-समाणा'' आभरणकरण्डकसमाना उपादेयत्वात् सुसंरक्षितत्वाच्च ''तेलकेल इव सुसंगोविया'' तिलकेलः सौराष्ट्रप्रसिद्धो मृन्मयस्तैलस्य भाजनविशेषः । स च भङ्गभयाल्लेखनभयाच्च सुष्ठु सगोप्यते, एवं सापि तथोपच्यते ।''वेलापेडाइसुसंपग्गहिया'' वस्त्रमञ्जूषेवेत्यर्थः । ''सा काली देवी सेणिएणं सद्धिं विउलाइं भोगभोगाइं भुंजमाणी विहरइ''। कालानामा च तत्पुत्रः। ''सुखमालपाणिपाए'' इत्यादि प्रागुक्तवर्णकोपेतो वाच्यः, यावत् ''पासाइए दरिसणिज्जे अभिरूवे पडिरूवे'' इति पर्यन्तः ।''सेणियस्स रन्नो दुवे रयणा अट्ठारसं च कोहा सेयणगहत्थीए, तत्थ किरि सेणियस्स रन्नो जावइयं रज्जस्स मुल्लं, तावइयं देवदिन्नहारस्स सेयणगस्य य गंधहत्थिरस्स, तत्थ हारस्सय उप्पत्तीपत्थावे कहिज्जिस्सइ, कूणियस्स य एत्थो व उप्पत्तीवित्थरेण भणिस्सइ'' तत्कार्येण कालादीनां मरणसंभवादारभ्य संग्रामतो नरकयोग्यकर्मोपचयविधानात्, नवरं कूणिकस्तदा कालादिदश-कुमारान्वितश्चम्पायां राज्यं चकार । सर्वेऽपि च ते दोगुंदुकदेव इव कामभोगपरायणास्त्रयस्त्रिंशाख्या देवाः ''फुट्टमाणेहि मुईगमत्थएहिं वरतरुणिसत्थिणिहिएहिं वत्तीसवद्धनिबद्धेहिं नाडएहिं उवगिज्जमाणा भेगाभोगाइं भुंजमाणा विहरति, हल्लवेहल्लनामाणो कूणियस्स चिल्लणादेवीअंगजया दो भायरा अत्थि। अहुणा हारस्स उपपत्ती भन्नइ– इत्थ सक्कोसेणिपस्स भगवंतं पइ निच्चजभत्तिस्स य पसंसं करेइ। तओ से दूयस्स जाव देवो तब्भत्तिरंजिओ सेणियस्स तुट्ठो संतो अट्ठारसवंकं हारं देइ। दोन्नि य वट्टगोलगे देइ। सेणिए णं सो हारो चेल्लणाए दिण्णो पिओ त्ति काउं, वट्टदुगुंनंदाए अभयसंतिजणणीए ताए रुट्ठाए किं अह चेडरूवं किं ति काउं अत्थोडियभग्गा, तत्थ एगम्मि कुंडलं एगम्मि वत्थजुयलं उट्ठाए गहियाणि। अन्नया अभयो सामी पुच्छए–को अ पच्छिमो रायसिरि त्ति ? सामी उद्दायिणो वागरिओ। अओ परं वद्धमउडा न पव्वयंति। ताहे अभएणं रज्जं दिज्जमाणं न इच्छियंति। पच्छा सेणिओ चिंतेइ–कोणियस्स दिज्जिहि त्ति। हल्लस्स हत्थी दिन्नो सेयणगो, वेहलस्स देवदिन्नो हारो, अभएणं वि पव्वयंतेन सुनंदाए छोमजुयलं कुंडलजुयलं च हल्लवेहल्लाणं दिन्नाणि, महया विहवेण उभयो नियजणणीसमेओ पव्वइओ सेणियस्स चेल्लणा देवी अंगसमुब्भूया तिन्नि पुत्ता–कूणिओ हल्लवेहल्ला य । कुणियस्स उत्पत्ती इत्थेव भणिस्सइ । काली महाकालीपमुहदेवीणं अन्नेसिं तणया सेणियस्स बहवे पुत्ता कालप्पमुहा संति । अभयम्मि गहियव्वए अन्नया कोणिओ कालाईहिं दसाहिं कुमारोहिं समं मंतेइ– सेणियसत्थं विग्घकारयं बंधित्ता एक्कारस भाए रज्जं करेमो त्ति । तेहिं पडिसुयं । सेणिओ वद्धो। पुव्वन्हे अवरन्हे य कससयं दवावेइ। सेणियस्स कुणिओ पुव्वभववेरियत्तणेण चेल्लणाए कयाइं भोयणं न देइ, भत्तं वारियं, पाणियं न देइ। ताहे चेल्लणा कहं वि कुम्मासे वालेहिं बंधित्ति सयारं च सुरपवेसेइ, सा किर धोव्वए सयवारे सुरा वाणियं सव्वं होइ। तीए पहावेण से वेयणं न वेएइ। अन्नया तस्स पउमावईदेवीए पुत्तो एवं पिओ अत्थि। माया एसो भणिओ–दुरात्मन्! तव अंगुली किमि एवं संतापियमुहे काऊण अच्छियाउ इयरहातो मरोवंतो चेव चिट्ठेसु ताहे वित्तमणागु व संजायते, तुमए पिया एव वसणपाविओ तस्स आधई जाया। भुंजंतओ चेव उट्ठाय परसुहत्थो गओ । अन्ने भणंति–लोहडंडं गहाय नियलाणि भंजामि त्ति पहाविओ रक्खवालगो तह ण भणइ, एस पासो ण वा लोहदंडं परसुं वा गहाय एय त्ति । सेणियेण चिंतियं न–नज्जइ केण कुमारेण मारेइ, तओ तालपुडगं वि संखइयं जाव एह ताव मओ, सुद्धयरं अधिई जाया । ताहे मयकिच्चं काऊण घरमागओ रज्जधुरामक्कत्तीओ तं चेव चिंततो अत्थई । एवं कालेणं वि सोगोच्चाओ पुणरवि सयणआसणाईए पेईसंतिए दट्ठूण अधिई होइ । तओ रायगिहाओ निग्गंतुं चंपं रायहाणिं करेई एवं चंपाए कूणिओ राया रज्जं करेइ, नियगभाए मुहसयणसंयोगओ''। इह निरयाव-लीयसुयक्खंधे कुणिकवक्तव्यता आदावुत्क्षिप्ता, तत्साहाय्यकरण-प्रवृत्तानां कालादीनां कुमाराणां दशानामपि संग्रामे रथामुशलाख्ये प्रभूतजनक्षयकरणेन नरकयोग्यं कार्मपार्जितम् । तत्संपादनान्नरक-गमितया ''निरियाउ त्ति''प्रथमाध्ययनस्य कालादीनां कुमारवक्तव्यता प्रतिबद्धस्य पत्तं नाम । अथ रथमुशलाख्यं सग्रामस्योत्पत्तौ किं निबन्धनम् ? अत्रोच्यते–एवं किलायं संग्रामः संजातः। चम्पायां कूणिको राजा राज्यं चकार, तस्य वा अनुजौ हल्लवेहिल्लाभिधानौ भ्रातरौ पितृदत्ततसेचनाभिधाने गन्धहस्तिनि समारूढौ दिव्यकुण्डलदिव्यहार-विभूषितौ विलसन्तौ दृष्ट्वा पद्मावत्यभिधाना कूणिकराजस्य भार्या कदाचिद्दन्तिनोपहाराय तं कूणिकराजं प्रति उक्तवती कर्णे विषोपमम्– अयमेव कुमारो राजा तत्तो, न त्वं, यस्येदृशा विलासाः । प्रज्ञाप्यमा-नाऽपि सा न कथञ्चिदस्यार्थस्योपरमिति । ततः प्रेरितकूणिकराजेन तौ याचितौ, तौ च तद्भयाद्वैशाल्यां नेर्य्यां स्वकीयमातामहस्य चेटकाभिधानस्य राज्ञोऽन्तिकं सहस्तिकौ सान्तःपुरपरिवारितौ गतवन्तौ । कूणिकेन च दूतप्रेषणेन याचितौ, न च तेन प्रेषितौ, कुणिकस्य तयोश्च तुल्यमातृकत्वात्। ततः कूणिकेन भणितम् यदि न प्रेषयसि तदा युद्धसज्जो भव । तेनापि भणितम्–एष सज्जोऽस्मि ततः कूणिकेन सह कालादयो दश भिन्नमातृकाभ्रातरो राजानश्चेटकेन सह संग्रामान्यायाताः । तत्रैकैस्य त्रीणि त्रीणि हस्तिनां सहस्राणि । एवं रथानामश्वानां च मनुष्याणां च प्रत्येकं तिस्रस्तिस्रः कोटयः, कूणिकस्याप्येवमेव । तत्र एकादशभागीकृतराजस्य कूणिकस्य कालादिभिः सह निजेन एकादशांशेन संग्रामे काल उपगतः । एतमर्थं वक्तुमाह–''तए णं से काले'' इत्यादिना । एवं च व्यतिकरं ज्ञात्वा चेटकेनाप्यष्टादश गणराजानो मीलिताः, तेषां चेटकस्य च प्रत्येकमेवमेव हस्त्यश्वरथबलपरिमाणम् । ततो युद्धं संप्रलग्नं चेटकस्य, राज्ञस्तु प्रतिपन्नतत्वेन दिनमध्ये एकमेव शरं मुञ्चति, अमोघबाणश्च सः । तत्र च कूणिकसैन्ये गरुडव्यूहः, चेटकसैन्ये सागरव्यूहो विरचि-

तश्च। कूणिकस्य कालो दण्डनायको निजबलान्वितो बुध्यमानस्तावद्वतो यावच्चेटकः। ततस्तेनैकशरनिपातेनासौ निपातितः। भग्नं च कूणिकबलम्, गतं बद्धमपि बलं निजमावासस्थानम्। द्वितीयेऽह्नि सुकालो नाम दण्डनायको निजबलान्वितो युध्यमानस्तावद्वतो यावच्चेटकः। एवं सोऽप्येकशरेण निपातितः।२। एवं तृतीयेऽह्नि महाकालः, सोऽप्येवम् ३। चतुर्थेऽह्नि कृष्णकुमारस्तथैव ४, पञ्चमे सुकृष्णः ५ षष्ठे महाकृष्णः ६, सप्तमे वीरकृष्णः ७, ष्टिमे रामकृष्णः८, नवमे पितृसेनकृष्णः ९, दशमे पितृसेननमहाकृष्णः १०, चेटकेन एकैकशरेण निपातिताः। एवं दशसु दिवसेषु चेटकेन विनाशिता दशापि कालादयः। एकादशेऽपि दिवसे चेटकजयार्थं देवताऽऽराधनाय कूणिकोऽष्टमभक्तं प्रजग्राह। ततः शक्रचमरावागतौ। ततः शक्रोयभाषेचेटकः श्रावक इत्यहं न तं प्रहरामि, नवरं भवन्तं संरक्षामि। ततोऽसौ तद्रक्षार्थं वज्रप्रतिरूपकमग्रेद्यं कवचं कृतवान्। चमरस्तु द्वौ संग्रामौ विकुर्वितवान्—महाशिलाकण्टकं रथमुशलं चेति। तत्र महाशिलेव कण्टको जीवितभेदकत्वात् महाशिलाकण्टकः। ततश्च यत्र तृणशूकादिनाप्यभिहतस्याश्वस्त्यादेर्महाशिलाकण्टकेनेवास्याहतस्य वेदना जायते स संग्रामो महाशिलाकण्टक एवोच्यते। (रथमुसले त्ति) यत्र रथो मुशलेन युक्तः परिधावन् महाजनक्षयं कृतवान् अतो रथमुशलः उपाए त्ति) उपयातः संप्राप्तः। (किं जइस्सति) जयश्लाघां प्राप्स्यति। पराजेष्यति अभिभविष्यति, परं सैन्यं परानभिभविष्यति। तेन कालनामानं पुत्रं जीवन्तं द्रक्ष्याम्यहं न वेत्येवमुपहतो मनःसंकल्पो युक्तायुक्तविवेचने यस्याः सा उपहतमनःसंकल्पा। यावत्करणात्—''करयलपल्हत्थिपमुही अट्टज्झाणोवगयाओ मंथियवणनयणकमलाओ'' मंथियं अधोमुखीकृतं वदनं च नयनं कमलेव यया सा तथा। ''दीणविवन्नवयणा'' दीनस्येव विवर्णं वदनं यस्याः सा तथा (झियायति) आर्त्तध्यानं ध्यायति ''मणोमाणसिएण दुक्खेण अभिभूया'' मनसि जातं मानसिकम्, मनस्येव वर्द्धते तन् मानसिकं, दुःखवचनेनाप्रकाशितत्वात् तन्मनोमानसिकं, तेन (अव्वहि) वर्त्तनाभिभूता। ''तेणं कालेणमित्यादि'' (अयमेयारूवे त्ति) अयमेतद्रूपो वक्ष्यमाणरूपः। (अब्भत्थइ त्ति) आध्यात्मिक आत्मविशेषचिन्तितस्मरणरूपं प्रार्थितं लब्धमाशंसितं मनोगतं मनस्येव वर्तते यद् न बहिः प्रकाशितं संकल्पविकल्पसमुत्पन्नं प्रादुर्भूतम्। तदेवाह—(एवमित्यादि)। यावत्करणात्—''पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गामाणुगामं दूइज्जमाणे इहमागए इह संपत्ते इह समोसढे इहेव चंपाए नयरीए पुन्नभद्दे चेइए अहापडिरूपं उग्गहं उग्गिहित्ता सयमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ, तं महफलं खलु भो देवाणुप्पिया! तहारूवाणं अरहंताणं भगवंताणं नामगोयस्स वि सवणयाए किमंग! पुण अभिगमणवंदनणमंसणापडिपुच्छणपज्जुवासणाए एगस्स वि आयरियस्स धम्मियस्स सुवयणस्स सवणयाए किमंग! पुण विउलस्स अट्ठगहणयाए इच्छामि णं अहं समणं भगवं महावीरं वंदामि णमंसामि सक्कामि सम्माणेमि कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासामि। एवं तो पिच्चभवे हियाए सुहाए पमाए निस्सेयसाए आणुगामियत्ताए भविस्सइ, इमं च णं एयारूवं वागरणं पुच्छिस्सामि त्ति कट्टु एवं संपेहेत्ति।'' संप्रेक्षते पर्यालोचयति सूगमं, नवरम् (इहागइ त्ति) चम्पां (इह संपत्ते त्ति) पूर्णभद्रे चैत्ये इह (समोसढेत्ति) साधूचितावग्रहे। एतदेवाह—''इहेव चंपाए इत्यादि''(अहापडिरूव त्ति) यथा प्रतिरूपमुचितमित्यर्थः। (तमिति) तस्मात् (महाफलं त्ति) महत्फलमाभ्यां भवतीति गम्यम्। (तहारूवाणं ति) तत्प्रकारस्वभावानां, महाफलजननस्वभावानामित्यर्थः। (नामगोयस्स त्ति) नाम्नो यादृच्छिकस्याभिधानस्य गोत्रस्य गुणनिष्पन्नस्य (सवणयाए त्ति) श्रवणेन (किंमग! पुण इति) किं पुनरिति पूर्वोक्तार्थविशेषद्योतनार्थम्। अङ्गेत्यामन्त्रणे। यद्धापरिपूर्ण एवायं शब्दो विशेषणार्थः। अभिगमनं वन्दनं स्तुतिः नमनं प्रणमनं प्रतिप्रच्छनं शरीरादिवार्ताप्रश्नः, पर्युपासनं सेवा, तद्भावस्तत्ता, तया एकस्याप्यर्थस्यार्थप्रणेतृकत्वाद् धार्मिकस्य धर्म्मप्रतिबद्धत्वाद् वन्दामि वन्दे स्तौमि नमस्यामि, सत्कारयामि आदरं करोमि। वस्त्राद्यर्चनं वा संमानयामि उचितप्रतिपत्त्येति, कल्याणं कल्याणहेतुं मङ्गलं दुरितोपशमनहेतुं दैवं चैत्यं पर्युपासयामि सेवे। एतत् नोऽस्माक प्रेत्यभवे जन्मान्तरे हिताय पथ्यान्न वत् सुखाय शर्मणे क्षेमाय संगतित्वाय निःश्रेयसाय मोक्षाय अनुगामिकत्वाय भवपरपरासु सानुबन्धसुखाय भविष्यमिति कृत्वा इति हेतोः संप्रेक्ष्यते पर्यालाचयति। संप्रेक्ष्य च एवमवादीत्—शीघ्रमेव भो देवाणुप्पिया! धर्म्माय नियुक्तंधार्मिकं यानप्रवरम् (चाउग्घंटं आसरहं ति) चतस्रो घण्टाः पृष्ठतोऽग्रतः पार्श्वतश्चालम्बामाना यस्य स चतुर्घण्टः, अश्वयुक्तो रथोऽश्वरथं युक्तमेवाऽश्वादिभिरुपस्थापयन्ति प्रगुणीकृत्य मम समर्पयत (ण्हायन्ति) कृतमज्जनाः, स्नानान्तरम् (कयवलिकम्म त्ति) स्वगृहे देवतानां कृतवलिकर्म्मा, (कयकोउयमंगलपायच्छित्त त्ति) कृतानि कौतुकमङ्गलान्येव प्रायश्चित्तानीव दुःस्वप्नादिव्यपोहायावश्यं कर्मकर्तव्यत्वात् प्रायश्चित्तानि यया सा तथा। तत्र कौतुकानि मषीतिलकादीनि, मङ्गलादीनि सिद्धार्थदध्यक्षतदूर्वाङ्कुरादीनि। ''सुद्धप्पावेसाइं वत्थाइं परिहिया अप्पमहग्घाभरणालंकिय सरीरा'' सुगमम्। (उवट्ठाणसालो) उपवेशनमण्डपः। (दुरूहइ) आरोहति (बहूहिं खुज्जाहि) तत्र कुब्जिकाभिर्वक्रजङ्घाभिः, चिलातिभिरनार्यदेशोत्पन्नाभिः, वामनाभिः ह्रस्वशरीराभिः, रूवाभिः पडहकोष्ठाभिः, वव्वरीभिः वव्वरदेशे संभवाभिः, बहुसिकाभिः योनिकाभिः, पण्हकाभिः, इसिनिकाभिः, थासिकाभिः लासिकाभिः लकुसिकाभिः द्रविडीभिः सिंहलाभिः आरवीभिः पक्कणीभिः बाहुलीभिः मुसंडीभिः सवरीभिः पारसीभिः नानादेशीभिः, बहुविधानार्यदेशोत्पन्नाभिरित्यर्थः। विदेशः, तदीयदेशापेक्षया चत्पा नगरी विदेशः। तस्याः परिमण्डिकाभिः, ''इंगियं चिंतियं पच्छियं वियाणियाहिं'' तत्र इङ्गितेन नयनादिचेष्टाविशेषेण, चिन्तितं च परेण दूतस्थापितप्रार्थितं चाभिलाषितं च विजानन्ति यास्तास्तथाभिः, स्वस्वदेशे यन्नेपथ्ये परिधानादिरचना तद्वद् गृहीतो वेषो यकाभिस्तत्तथा, ताभिः। निपुणानां मध्ये कुशला यास्तास्तथा, ताभिः, अत एव विनीताभिर्युक्तेति गम्यते। तथा चेटिकाचक्रवालेन, अर्थात् स्वदेशसंभवेन वृन्देन परिक्षिप्ता या सा तथा। यत्रैव श्रमणो भगवान् तत्रैवोपागता संप्राप्ता, तदनु महावीरं त्रिःकृत्वा वन्दते स्तुत्या नमस्यति प्रणामतः स्थिता उर्द्धस्थानेन कृताञ्जलिपुटा अभिमुखा सती पर्युपास्ते, धर्म्मकथाश्रवणानन्तरं त्रिः—कृत्वा वन्दयित्वा एवमवादीत्—''एवं खलु भंते!'' इत्यादि सुगमम्। अत्र कालीदेव्याः पुत्रः कालनामा कुमारो हस्तितुरगरथपदाति-रूपनिजसैन्यपरिवृतः कूणिकराजनियुक्तो चेटकराजेन सह रथमुसलं संग्रामयन् सुभटैश्चेटकसत्कैर्यदस्य कृतं तदाह—(हयकहियपसरवीरघाइय—विवाडियचिद्धद्धयपडागे) सैन्यस्य हतत्वात् महतो मानस्य मन्थनान् प्रवरवीराः सुभटाः, घातिता

विनाशिता यस्य स तथा। विपातिताश्चिह्नयुक्ताः गरुडादिचिह्नयुक्ताः केतवः पताकाश्च यस्य स तथा। ततः पदचतुष्टस्य कर्मधारायः। अतएव (निरालोयाओ दिसाओ कारेमाणे त्ति) निर्गतलोका दिशः कुर्वन्, चेटकराजस्य (सपक्खं सपडिदिसिं ति) सपक्षं समानपार्श्व-समावितरपार्श्वतया, सप्रतिदिक्तयात्यर्थमभिमुखतयेत्यर्थः। अभिमुखागमनो हि परस्परसामर्थ्याविव दक्षिणेवामपार्श्वेति। तत एवं विदिशावपीति।

तते णं से चंडए राया कालं कुमारं एज्जमाणं पासति, कालं एज्जमाणं पासित्ता आसुरुत्ते जाव मिसिमिसेमाणे तिवलियं भिउडिं निडाले साहट्टु, धणुं परामुसति, तओ उसुं परामुसइ, परामुसइत्ता विसाहं ठाणं ठाति, ठातित्ता आययकण्णायंतं उसुं करेति, करेत्ता कालं कुमारं एगाहच्चं कूडाहच्चं जीवियाओ ववरोवेति। तं कालगतेणं काली काले कुमारे नो चेव णं तुमं कालकुमारं जीवमाणं पसिहति। तते णं सा काली देवी समणस्स भगव ओ अंतिए एयमट्ठं सोच्चा निसम्म महया पुत्तसोएणं अप्फणा समाणी परसुविवाडिया विव चंपगलता धसति धरणीतलंसि सव्वंगेहिं सन्निवडिया। तते णं सा काली देवी मुहुत्तंतरेणं आसत्था समाणी उट्ठाए उट्ठेत्ति, उट्ठित्ता समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ० एवं वयासीएवमेयं भंते ! तहमेयं भंते ! अवितहमेयं भंते ! असंदिद्धमेयं भंते ! सच्चे णं एसमट्ठे से जहे तं तुब्भे वदह त्ति कट्टु समणं भगवं वंदइ नमंसइ, वंदइत्ता नमंसइत्ता तमेव धम्मियं जाणप्पवरं दुहति जामेव दिसं पाउब्भूया तामेव दिसं पडिगता भंते ! त्ति भगवं गोयमे वंदति नमंसंति, वंदइत्ता नमंसइत्ता एवं वयासी–काले णं भंते ! कुमारे तिहिं दंतिसहस्सेहिं जाव रहमुसलं संगामं संगासेमाणे चेडएणं रन्ना एगाहच्चं कूडाहच्चं जीवियाओ ववरोविते समाणे कालमासे कालं किच्चा कहिं गइहिं गते कहिं उववन्ने ?, गोयमेति समणे भगवं गोयमं एवं वयासर–एवं खलु गोयमा ! काले कुमारे तिहिं दंतिसहस्सेहिं जाव जीवियाओ ववरोविते समाणे कालमासे कालं किच्चा चउत्थीए पंकप्पभाए पुढवीए हेमाभे नरगे दससागरोवमट्ठिइएसु नेरइयसु नेरइयत्ताए उववन्ने। काले णं भंते ! कुमारे केरिसएहिं आरंभसमारंभेहिं केरिसएहिं भोगेहिं संभोइएहिं केरिसएहिं संभोइएहिं भोगसंभोगेहिं केरिसेणं वा असुभकडकम्मपब्भारेणं कालमासे कालं किच्चा चउत्थीए पुढवीए० जाव नेरइयत्ताए उववन्ने। एवं खलु गोयमा ! तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे नामं नयरे होत्था रिद्धत्थमियसमिद्धा। तत्थ णं रायगिहे नयरे सेणिए नामं राया होत्था। महता तस्स णं सेणियस्स रन्नो नंदा नामं देवी होत्था। सुखमाला० जाव विहरति। तस्स णं सेणियस्स रन्नो नंदाए देवीए अत्तए अभय नामं कुमारे होत्था, सुखमाल० जाव सुरूवे सामे दंडे जहा चित्ते जाव रज्जधुरा चिंतए यावि होत्था।

इत्येवं स कालश्चेटकराजस्य रथेन प्रतिरथं (हव्वं) शीघ्रमासन्नं संमुखीनमागच्छन्तं दृष्ट्वा चेटकराजस्तं पश्यति दृष्ट्वा च (आसुरुत्ते रुट्ठे चंडिक्किए मिसिमिसीमाणे त्ति) तथा आशु शीघ्रं रुष्टः क्रोधेन विमो हितो यः स आशुरुष्टः। आसुरं वा आसुरसत्ककोपेन दारुणत्वात् उक्तं भणितं यस्य स आसुरुक्तः रुष्टो रोषवान् (कुविए त्ति) मनसा कोपवान्, चाण्डिकितो दारुणीभूतः, ततः (मिसिमिसीमाणे त्ति) क्रोधज्वालया ज्वलत् (तिवलियं भिउडिं निडाले साहट्टु त्ति) त्रिवलिकां भृकुटिं लोचनविकारविशेषं ललाटे संहृत्य विधाय धनुः परामृशति विशाखं स्थानं तिष्ठति (आययकण्णायंतं त्ति) बाणमाकृष्य (एगाहच्चं ति) एकयैवाहत्या हननप्रहारो यत्र च जीवितव्यपरोपणे तदेकाहत्यम्, तद्यथा प्रभवत्येवम्। कथमित्याह–''कूडाहच्चं'' कूटस्येव पाषाणमयमहामारणवन्त्रस्यैव आहननं यत्र तत् कूटाहत्यत्। भगवतोक्तेयं व्याख्या। नि०॥ (कूणिकजन्मकथा 'कूणिय' शब्दे वक्ष्यते)

तत्थ णं चम्पाए नयरीए सेणियस्स रन्नो पुत्तो चेल्लणाए देवीए अत्तए कूणियस्स रन्नो सहोयरे कणीयसे भाया वेहल्ले नामं कुमारे होत्थ, सुकमाल० जाव सुरूवे। तते णं तस्स वेहल्लस्स कुमारस्स सेणिएणं रन्ना जीवत्तएणं चेव सेयणए गंधहत्थी अट्ठारसवंके हारे पुव्वं दिन्ने। तए णं से वेहल्लकुमारे सेयणएणं गंधहत्थिणा अंतेउरपरियालसंपरिवुडे चंपं नगरं मज्झमज्झेणं निग्गच्छित्ता अभिक्खणं गंगं महानइं मज्जणयं ओयरति। तए णं से सेणए गंधहत्थी देवीओ सोंडाए गिन्हति, गिन्हित्ता अप्पेगइयाओ खंधे उवेति, एवं अप्पे कुंभे ठवेति, अप्पे सीसे ठवेति, अप्पे दंतमुसले ठवेति, अप्पेगइयाओ सोंडाए गहाय उड्ढं वेहासं उव्विहइ। अप्पे सोंडगया ओ अंदालावेति, अप्पेगइया दंतंतरेसु तीणेति। अप्पे सा करेणं ण्हाणेति। अप्पेमइयाओ अणेगेहिं कीलावणेहिं कीलावेति। तते णं चंपाए नयरीए सिंघड- गतिगचएक्कचच्चरमहापहपहेसु बहुजणो अन्नमन्नस्स एवमाइक्खइ जाव परूवेति–एवं खलु देवाणुप्पिया ! वेहल्ले कुमारे सेयणएणं गंधहत्थिणा अंतेउरं तं चेव जाव णेगेहिं कीलावणएहिं कीलावेति। तए णं वेहल्ले कुमारे रज्जसिरिफलं पच्चणुभवमाणे विहरति, नो कुणिए राया, तते णं तीसे पउमावइए देवीए इमीसे कहाए लद्धट्ठाए समाणीते अयमेयारूवे० जाव समुप्पज्जित्था, एवं खलु वेहल्ले कुमारे सेयणएणं गंधहत्थिणा० जाव अणेगेहिं कीलावणएहिं कीलावेति। तए णं से

वेहल्ले कुमारे रज्जसिरिफं पच्चणुभवमाणे विहरति, ना कूणिए राया, तं किणं अम्हं रज्जेणं वा जाव जणवएणं वा जइ णं अत्हं सेयणगे गंधहत्थी नत्थि तं सेयं खलु ममं कूणियं रायं एयमट्ठं विन्नवए त्ति कट्टु एवं संपेहेति, संपेहेत्ता जेणेव कूणियराया तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छतित्ता करतल० जाव एवं वयासी–एवं खलु सामी ! वेहल्ले कुमारे सेयणगंधहत्थिणा० जाव अणेगेहिं कीलावणेहिं कीलावेति, तं केणं सामी ! अम्महं रज्जेणं वा जाणज्ज जणवएणं वा, जति णं अम्हं सेयणए गंधहत्थी नत्थि, तए णं से कूणिए राया पउमावईदेवीए एवमट्ठं नो आढाति, नो परिजाणति, तुसिणीए संचिट्ठति । तते णं सा पउमावई देवी अभिक्खणं कूणियं रायं एवमट्ठं विन्नवेइ। तते णं से कूणियराया पउमावईदेवीए अभिक्खणं अभिक्खणं एवमट्ठं विन्नविज्जमाणे अन्नदा कयाइं वेहल्लं कुमारं सद्दावेति, सद्दावेत्ता सेयणगं गंधहत्थि अट्ठारसवंकं च हारं जायति। तते णं से वेहल्ले कुमारे कूणियं रायं एवं वयासी–एवं खलु सामी ! सेणिएणं रन्ना जीवंतेणं चेव सेयणे गंधहत्थी अट्ठारसवंके यहारे दिन्ने, तं जइ णं सामी ! तुब्भे ममं रज्जस्स य अद्धं दलहतो णं अहं तुब्भे सेयणयं गंधहत्थिं अट्ठारसवंकं च हारं दलयामि । तते णं से कूणिए राया वेहल्लस्स कुमारस्सएयमट्ठं नो आढाति, नो परिजाणइ, अभिक्खणं अभिक्खाणं सेयणगं गंधहत्थिं अट्ठारसवंकं च हारं जायति। तते णं तस्स वेहलस्स कुमारस्स एयमट्ठं नो आढाति, नो परियाणति, अभिक्खणं अभिक्खणं सेयण० तते णं० वेहल्ले कुमारे कूणिएणं रन्ना अभिक्खणं अभिक्खणं सेयण० हारं एवं अभिक्खविउकामेणं गिण्हिउकामेणं उद्दालेउकामेणं ममं कूणिए राया सेयणिगं गंधहत्थिं अट्ठारसवंकं च हारं तं जाव ताव ममं कूणिएणं रन्ना सेयणगं अभिक्खणं अभिक्खणं हारं गहाय अंतेउरपरिवुमस्स सभंडमत्तोवकरणमाताए चंपातो नयरीतो पडिनिक्खमित्ता वेसालीए नयरीए अज्झंगं चेडयं रायं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए एवं संपेहेति, संपेहेत्ता कूणियस्स रन्नो अंतराणि जाव पडिजागरमाणे परिजागरमाणे विहरति । तते णं से वेहल्ले कुमारे अन्नदा कदाइं कूणियस्स रन्नो अंतरं जाणति सेयणिगं गंधहत्थिं अट्ठारसवंकं च हारं गहाय अंतेउरपरियालपरिवुडे सभंडमत्तोवकरणमायाए चंपाओ नयरीतो पडिनिक्खमति, पडिनिक्खमत्ता जेणेव वेसाला नयरी तेणेव उवागच्छति, वेसालीए नयरीए अज्झंगं चेडयं रायं उवसंपज्जित्ता णं विहरति। तते णं से कूणिए राया इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे एवं खलु वेहल्ले कुमारे ममं असंविदितेण सेयणगं गंधहत्थिं अट्ठारसवंकं च हारं गहाय अंतेउरपरियाल संपरिवुडे जाव अज्झयं चेडयं रायं उवसंपज्जित्ता णं विहरति । तं सेयं खलु ममं सेयणगं गंधहत्थिं अट्ठारसवंकं हारं दूतं पेसित्तए एवं संपहेति, दूतं सद्दावेति, सद्दावेत्ता एव वयासी–गच्छह णं तुम्हं देवाणुप्पिया ! वेसालिनगरिं, तत्थ णं तुमं ममं चेडगं रायं करतलवद्धावेत्ता एवं वयासी–एवं खलु सामी ! कूणिए राया विन्नवेतिएस ण वेहल्ले कुमारे कूणियस्स रन्नो असंविदितेणं सेयणगं अट्ठारयवंकं च हारं गहाय इहं हव्वमागए, तेणं तुब्भे सामी ! कूणिअं रायं अणुगिण्हमाणा सेयणगं गंधहत्थिं अट्ठारसवंकं हारस्स कूणियस्स रन्नो पच्चप्पिणाह, वेहल्लं कुमारे पेसइ । तते णं से दूए कूणिए करतल० जाव पडिसुणित्ता जेणेव स ते गिहे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता तहेव चित्तो० जाव बद्धावित्ता एकं वयासी–एवं खलु सामी ! कूणिए राया विन्नेइ । एस णं वेहल्ले कुमारे तहेव भाणियव्वं जाव वेहल्लं कुमारं संपेसह । तए । णं से चेडए राया तं दूयं एवं वयासी जह चेव णं देवाणुप्पिया ! कूणिए राया सेणियस्स रन्नो पुत्ते चिल्लणाए देवीए अत्तए ममं न तुए तहेव णं वेहल्ले वि कुमारे सेणियस्स रन्नो पुत्ते चिल्लणाए देवीए अत्तए ममं न तुए सेणियेणं रन्ना जीवं तते णं चेव वेहल्ल कुमारस्स सेणगे गंधहत्थी अट्ठारसवंके हारे पुव्वदिन्ने तं जइ णं कूणिए राया वेहल्लस्स रज्जस्स य जणवयस्स अद्धं दलयति। तो णं अहं सेयणगं अट्ठारसवंकं हारं कुणियस्स रन्नो पच्चप्पिणामि, वेहल्लं च कुमारं पेसेमि तं, दूयं सम्माणेति पडिविसज्जेति। तते णं से दूते चेडएणं रन्ना पडिविसज्जिए समाणे जेणेव चाउग्घंटे आसरहे तेणेव उवागच्छइ, चाउग्घंटं आसरहं दुरुहंति वेसालिनगरिमज्झं मज्झेणं निग्गछइ, निगच्छइत्ता सुभेहिं वसहीहिं पायरासीहिं जाव वद्धावित्ता एवं वयासी–गच्छ णं तुम्हं देवाणुप्पिया ! चंपं नगरिं चेडए राया आणवेति। जह चेव णं कुणिए राया सेणियस्स रन्नो पुत्ते चेल्लणाए देवीए अत्तए मम न तुए तं चेव भाणियव्वं, जाव वेहल्लं च कुमारं पेसेमि, तं न देति, णं सामी ! चेडए राया सेयणगं अद्धारसवंकं हारं वेहल्लं नो पेसेति । तते णं से कूणिए राया दुचं पि दूयं सद्दावेत्ता एवं वयासी–गच्छह णं तुमं देवाणुप्पिया ! वेसालिं नगरिं, तत्थ णं तुमं मम अज्झगं चेडं जाव एवं वयासी–एवं खलु सामी ! कूणिए राया विन्नवेइ जाणि काणि रयणाणि समुप्पज्जंति सव्वाणि ताणि रायकुलगामीणि। सेणियस्स रन्नो रज्जसि-रिकारेमाणस्स पालेमाणस्स दुवे रयणसमुप्पण्णा। तं जहा–सेयणए गंधहत्थी, अट्ठारसवंके हारे । तन्नं तुब्भे

सामी ! रायकुलपरंपरागयं ठिईयं आलोएमाणे सेयणगं गंधहत्थिं अट्ठारसवंकं च हारं कूणियस्स रन्नो पच्चप्पिणह, वेहल्लं कुमारं पेसेह। तते णं से दूते कुणियस्स रन्नो तहेव० जाव वद्धावित्ता एवं वयासी–यवं खलु सामी ! कूणिए राया विन्नवेइ–जाणिति जाव वेहल्लं कुमारं पेसेह। तते णं से चेडए राया तं दूयं एवं वयासी – जह चेव णं देवाणुप्पि ! कूणिए राया सेणियस्स रन्नो पुत्ते चिल्लणाए देवीए अत्तए जहा पढमं० जाव वेहल्लं च कुमारं पेसेह त्ति दूतं सक्कारेति सम्माणेति पडिविसज्जेति। तते णं से दूए जाव कोणियस्स रन्नो वद्धतित्ता एवं वयासी–चेडए राया आणवेति जह चेव णं देवाणुप्पिया ! कोणिए राया सेणियस्स रन्नो चेल्लणाए देवीए अत्तए० जाव वेहल्लं कुमारं पेसेमि तं न देति णं सामी ! चेडए राया सेयणगं गंधहत्थिं अट्ठारसवंकं च हारं वेहल्लं कुमारं नो पेसेति। तते णं से कूणिए राया तस्स दूयस्स अंतिए एवमट्ठं सोच्चा निसम्म आसुरुत्ते रुट्ठे कुविए जीव मिसिमिसेमाणे तच्चं दूतं सद्दावेति, सद्दावेतित्ता एवं वयासी– गच्छह णं तुमं देवाणुप्पिया ! वेसालीय नयरीए चेडगस्स रन्नो वामेणं पादेणं पायपीढं अक्कमाहि, अक्कमित्ता कुंतग्गेणं लेहं पणावेहि, पणावेहित्ता आसुरुत्ते० जाव मिसिमिसेमाणे तिउली भिउडी निडाले साहट्टु चेडगं रायं एवं वयासी–हं भो चेडगराया ! अपत्थियपत्थिया दुरंत० जाव परिवज्जित्ता एस णं कूणिए राया आणवेइ– पच्चप्पिणाहि णं कूणियस्स रन्नो सेयणगं अट्ठारसवंकं च हारं हल्लवेहल्लं कुमारं पेसेहि, अहवा जुद्धं सज्जेह चिट्ठाहि, एस णं कूणिए राया सवलसवाहणे जुद्धसज्जे इह हव्वमागच्छति। तते णं से दूते करतल० तहेव जाव जेणेव चेडए राया तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता करतल० जाव वद्धावेत्ता एवं वयासी– एस णं सामी ! ममं विणयपडिवत्ती इयाणिं कूणियस्स रन्नो आणुत्ती चेडगस्स रन्नो वामेणं पाएणं पादपीढं अक्कमति, अक्कमित्ता आसुरुत्ते कुंतग्गेणं लेह पणावे, तं चेव सवलखंधावारेण इह हव्वमागच्छति। तते णं से चेडए राया तस्स दूयस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा निसम्म आसुरुत्ते० जाव साहट्टु एवं वयासी– ता अप्पमेणं कूणियस्स रन्नो सेयणगं अट्ठारसवंकं हारं वेहल्लं च कुमारं नो पेसेमि, एस णं जुद्धसज्जे चिट्ठामि, तं दूयं असक्कारितं असंमाणितं अवद्दारेणं निच्छुहावेइ। तते णं से कूणिए तस्स दूतस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म आसुरुत्ते कालादीए दसकुमारे सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी–एवं खलु देवाणुप्पिया ! वहेल्ले कुमारे ममं असंविदितेणं सेयणगं गंधहत्थिं अट्ठारसवकं अंतेउरं सभंडं गहाय चंपाओ निक्खमिति, वेसालिं अज्जगं० जाव उवसंपज्जित्ता णं विहरति। तते णं मए सेयणगस्स गंधहत्थिस्स अट्ठारसवंकं अट्ठाए दूया पेसिया, ते य चेडए रन्ना इमेणं कारणेणं पडिसेहिता अदुत्तरं च णं ममं तच्चे दूते असक्कारिते असंमाणिते अवद्दारेणं निच्छुहावेति, तं सेयं खलु देवाणुप्पिया ! अम्हं चेडगस्स रन्नो जुज्झं गिन्हित्तए, कालाइया दस कुमारा कूणियस्स रन्नो एयमट्ठं विणएणं पडिसुणेति। तते णं से कूणिए राया कालादीए दस कुमारे एवं वयासीगच्छ णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! सएसु सएसु रज्जेसु पत्तेयं पत्तेयं ण्हाया जाव पायच्छित्ता हत्थिखंधवरगया पत्तेयं पत्तेयं तिहिं दंतिसहस्सेहिं एवं तिहिं रहसहस्सेहिं तिहिं आससहस्सेहिं तिहिं मणुस्सकोडीहिं सद्धिं संपरिवुडा सव्विड्ढीए जाव रवेणं सएहिं सएहिंतो नगरेहिंतो पडिनिक्खमंति, पडिनिक्खमंतित्ता ममं अंतियं पाउब्भवह। तते णं ते कालाइया दस कुमारा कोणियस्स रन्नो एयमट्ठं सोच्चा सएसु सएसु रज्जेसु पत्तेयं ण्हाया जाव तिहिं मणुस्सकोडीहिं सद्धिं संपरिवुडा सव्वड्ढीए जाव रवेणं सएहिं सएहिंतो नगरेहिंतो पडिनिक्खमंति जेणेव अंगजणचए जेणेव चंपा नगरी जेणेव कूणिए राया तेणेव उवागता करतल० जाव वद्धावेंति। ततेणं से कूणिए राया कोडुंवियपुरिसे सद्दावेति, सद्दावेति, सद्दावेतित्ता एवं वयासी– खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! आभिसेक्कं हत्थिरयणं पडिकप्पह, से णं हयगयचाउरंगिणीसेणं सन्नावेह, ममं एयमाणत्तियं पच्चप्पिणह० जाव परिप्पणंति। तते णं से कूणिए राया जेणेव मज्जणघरे तेणेव उवागच्छइ, जाव पडिनिग्गच्छित्ता जेणेव बाहिरिया उवट्ठाणसाला जाव नरवई दुरूढे, तते णं कूणिए राया तिहिं दंतिसहस्सेहिं जाव रवेणं चंपं नगरिं मज्झं मज्झेणं निग्गच्छति, निग्गच्छित्ता जेणेव कालादीया दस कुमारा तेणेव उवागच्छति, उवागच्छित्ता कालाइएहिं दसकुमारेहिं सद्धिं एगंततो मेलायंति। तते णं से कूणिए राया तेत्तीसाए दंतिसहस्सेहिं तेत्तीसाए आससहस्सेहिं तेत्तीसाए मणुस्सकोडीहिं सद्धिं संपरिवुडे सव्वड्ढीए० जाव रवेणं सुभेहिं वसहीहिं पातरासेहिं नातिविगिट्ठेहं अंतरावासेहिं वसमाणे वसमाणे अंगजणवयस्स मज्झं मज्झेणं जेणेव विदेहे जणवए जेणेव वेसाली नगरी तेणेव पहारेत्थगमणा ते तते णं से चेडए राया इमीसे कहाए लट्ठे समाणे नवमल्लिई नवलेच्छई कासीकोसलका अट्ठारस वि गणरायाणो सद्दावेत्ता एवं वयासी– एवं खलु देवाणुप्पिया ! वेहल्ले कुमारे कूणियस्स रन्नो असंवि-दितेणं सेयणगं अट्ठारसवंकं च हारं गहाय इहं हव्वमागते, तते णं कूणिएणं सेयणगस्स अट्ठारसवंकस्स अट्ठाए तओ दूया पेसिया, ते य गए इमेणं कारणेणं पडिसेहिया, तते णं से कूणिए मम एयमट्ठं अपडिसुणमाणे चाउरंगिणीए सेणाए सद्धिं संपरिवुडे जुज्झसज्जे इह हव्वमागच्छति,

तं किन्नं देवाणुप्पिया ! सेयणगं गंधहत्थिं अट्ठारसवंकं कूणियस्स रन्नो पच्चप्पिणामो वेहल्लं कुमारं पेसेमो उदाहु जुज्झित्था, तते णं नवमल्लई नवलेच्छई कासीकोसलगा अट्ठारस वि गणरायाणो चेडगं रायं वयासी–न एयं सामी ! जुत्तं वा पत्तं वा रायसरिसं वा जं ते सेययणगं अट्ठारसवंकं कूणियस्स रन्नो पच्चप्पिणिज्जति, वेहल्ले य कुमारे सरणागते पेसेज्जति, तं जइ णं कूणिए राया चाउरंगिणीसेणाए सद्धिं संपरिवुडे जुज्झं सज्जेइ इहं हव्वमागच्छति ततो णं अम्हे कूणएणं रन्ना सद्धिं जुज्झामो, ततो णं से चेडए राया ते नवमल्लई नवलेच्छई कासीकोसलगा अट्ठारस वि गणरायाणो एवं वयासी–जइ णं देवाणुप्पिया ! तुब्भे कूणिएणं रन्ना सद्धिं जुज्झह तं गच्छह णं देवाणुप्पिया ! सएसु सएसु रज्जेसु ण्हाया जहा कालादीया जाव जएणं विजएणं वद्धावेति। तते णं से चेडए राया कोडुंबियपुरिसे सद्दावेति, सद्दावेइत्ता एवं वयासी – आभिसेक्कं जहा कूणिए जाव दुरूढे। तते णं से चेडए राया तिहिं दंतिसहस्सेहिं जहा कूणिए जाव वेसालिं नगरिं मज्झं मज्झेणं निग्गच्छति, जेणेव ते नवमल्लई नवलच्छई कासीकोसलजगा अट्ठारस वि गणरायाणो तेणेव उवागच्छति। तते णं से चेडए राया सत्तावन्नाए दंतिसहस्सेहिं सत्तावन्नाए आससहस्सेहिं सत्तावन्नाए मणुस्सकोडीहिं सद्धिं संपरिवुडे सव्वड्ढीए जाव रवेणं सुभेहिं वसहीहिं पातरासेहिं नातिविगिट्ठेहिं अंतरेहिं वसमाणे वसमाणे विदेहिं जणवयं मज्झं मज्झेणं जेणेव देसपंते तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता खंधावारनिवेसनं करेति, करेतित्ता कूणियं रायं पडिवालेमाणे जुज्झसज्जे चिट्ठति। तते णं से कूणिए राया सव्वड्ढीए जाव रवेणं जेणेव देसप्पंते तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता चेडगस्स रन्नो जोयणंतरियं खंधावारनिवेसं करेति, करेतित्ता ततो णं से दोन्नि वि रायाणो रणभूमिं सज्जावेंति, रणभूतिं सज्जयंति, तते णं से कूणिए राया तेत्तीसाए दंतिसहस्सेहिं० जाव मणुस्सकोडीहिं गरुलं वूहं रएति, रइत्ता गरुलवूहेणं रहमुसलं संगामं उवायाते, तते णं से चडए राया सत्तावण्णाए दंतिसहस्सेहिं० जाव सत्तावण्णाए मणुस्सकोडीहिं सगडवूहं रएति, सगडवूहेणं रहमुसलं संगामं उवायाते। तते णं से दोन्नि वि राईणं अणीया सन्नद्धं जाव गहियाउहपहरणं मगतेहिं फलतेहिं निक्कट्ठाहिं असीहिं असागएहिं तोणेहिं सजीवेहिं धणूहिं समुक्खित्तेहिं सरेहिं समुल्लालितेहिं तदाहिं ओसारियाहिं उरूवंटाहिं छिप्पंतरेणं वज्जमाणेणं महया उक्किट्ठसीहनादं वोलकलरवेणं समुद्दरवभूयं पिव करेमाणा सव्वड्ढीए जाव रवेणं हयगया हयगतेहिं गयगया गयगतेहिं पायत्तिया पायत्तिएहिं अन्नमन्नेहिं सद्धिं संपलग्गया वि होत्था। ततो णं ते दोण्ह वि रायाणं अणीया णियसामीसासणाणुरत्ता महता जणवहं जणप्पमद्दं जणसंवट्टकप्पं नच्चंतकबंधवारभीमं रुहिरकद्दमं करेमाणा अन्नमन्नेणं सद्धिं जज्झंति। तते णं से काले कुमारे तिहिं दंतिसहस्सेहिं जाव मणूसकोडीहिं गरुलवूहे एक्कारसमेणं खंडेणं कूणिएणं रण्णा सद्धिं रहमुसलं संगामं संगामेमाणा हयमहिं तं जहा भगवता कालीए देवीए परिकहियं० जाव जीवियातो ववरोवेति। तं एयं खलु गोयमा ! काले कुमारे एरिसएहिं आरंभेहिं जाव परिसएणं असुभकडकम्मपब्भारेणं कालमासे कालं किच्चा चउत्थीए पंकप्पभाए पुढवीए हेमाभे नरए जाव नेरइयत्ताए उववन्ने। काले णं भंते ! कुमारे चउत्थीए पुढवीए अंतरं उव्वट्टित्ता कहिं गच्छहिंति कहिं उववज्जिहिंति ? गोयमा ! महाविदेहे वासे जाइकुलाइं भवंति अड्ढाइं जहा दढप्पइन्ने जाव सिज्झिहिंति बुज्झिहिंति जाव अंतं काहिंति तं एयं खलु जुबू ! समणेणं भगवया जाव संपत्तेणं निरयावलियाणं पढमस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते त्ति॥

(मणोमाणसिएणं ति) मनसि जातं मानसिकम्। मनस्येव यद् वर्तते वचनेनाप्रकाशितत्वात् तन्मनोमानसिकम्। तेनाबहिर्वृत्तिना अभिभूता। ''अंतेउरपरियालसंपरिवुडे चम्पानयरिं मज्झंमज्झेणं'' इत्यादिवाक्यानि कण्ठ्यम्। (अक्खिविउकामेणं ति) स्वीकर्तुं कामेन। एतदेव स्पष्टयति–''गिण्हिउकामेणं'' इत्यादिना। ''तं जाव न उद्दालेइ ताव मम कूणियरायाओ'' इत्यादि सुगमम्। (अज्जं ति) मातामहं (संपेहेत्ति) पर्यालोचयति। अन्तराणि छिद्राणि प्रतिजायन् परिभावयन् विचरत्यास्ते। अनन्तरं प्रविरलमनुष्यादिकम्। (असंविदिएणं ति) असम्प्राप्ति (हव्वं ति) शीघ्रम्। जहा चित्तो ति) राजप्रश्नीये द्वितीयोपाङ्गे यथा श्वेताम्व्यां नगर्यां चित्रनामा दूतः प्रदेशिराज्ञा प्रेषितः श्रावस्त्यां नेर्यां जितशत्रुसमीपे स्वगृहान्निर्गत्य गतस्तथाऽयमपि कोणिकराजा यथा एवं विहल्लकुमारोऽपि। (चाउग्घंटेति ति) चतस्रो घण्टाश्चचतसृष्वपि दिक्षु अवलम्बिता यस्य स चतुर्घण्टो रथः (सुभेहिं वसहेहिं पायरासेहिं ति) प्रातराशा आदित्योदयादावाद्यप्रहरद्वयसमयवर्ती भोजनकालः, निवासश्च निवसनभूमिभागः, तौ द्वावपि सुखहेतुकौ न पीडाकारिणौ, ताभ्यां संप्राप्तौ नगर्यां दृष्टश्चेटकराजः। ''जएणं विजए णं वद्धावेत्ता'' एवं दूतो यदवादीत्तद्दर्शयति–''एवं खलु सामीत्यादिना'' (आलोचेमाणे त्ति) एवं परागतं प्रति ओलोचयन्तः (जहापढमं ति)''रज्जस्स य जणवयस्स य अद्धं काणिओ राजा जइ वेहल्लस्स देइ तोऽहं सेयणगं अट्ठारसवंकं च हारं कोणयस्स पच्चप्पिणामि, वेहल्लं च कुमारं पेसेमि, न अन्नहा'' तदनु द्वितीयदूतस्तस्य समीपे एनमर्थं श्रुत्वा कोणिकराजः ''आसुरुत्ते'' इत्येतावद्रूपरोषसंपन्नो यदसौ तृतीयदूतप्रेषणेन कारयति भाणयति चव तदाह–''एवं वयासीत्यादिना''। हस्तिहारसमर्पणकुमारप्रेषणस्वरूपं यदि न करोषि तदा युद्धसज्जो भवेति दूतः प्राह। ''इमेणं कारणेणं ति'' तुल्ययात्रिक

संबन्धेन दूतद्वयं कोणिकराजप्रेषितं निषेधितम्। तृतीयदूतस्त्वसत्कारितोऽपद्वारेण निष्कासितः। ततो यात्रां सग्रामयात्रां ग्रहीतुमुद्यता वयमिति कूणिकराजः कालादीन् प्रति भणितवान्। तेऽपि च दशापि तद्वचो विनयेन प्रतिशृण्वन्मि गृह्णन्ति। (एवं वयासि त्ति) एवमवादीत् तान् प्रति–गच्छत यूयं स्वराज्येषु निजनिजसामग्र्या सन्नह्य समागन्तव्यं मम समीपे, तदनु कूणिकोऽभिषेकार्हं हस्तिरत्नं निजमनुष्यैरुपस्थापयति प्रगुणीकारयति। ''प्रतिकल्पयतेति पाठे'' सन्नाहवन्तं कुरुत इत्याज्ञां प्रच्छति। (तओ दूय त्ति) त्रयो दूताः कोणिकेन प्रेषिताः। (मगणहि ति) हस्तपाशितैः फलकादिभिः (तोणेहिं ति) इषुभिः (सजीवेहिं ति) सप्रत्यञ्चैर्धनुर्भिर्नृत्यद्भिः कवन्धैः शरैश्च हस्तच्युतैर्भी मं रौद्रं श्रेणिकनृपस्य पौत्राणां कालमहाकालाद्यङ्गजानां क्रमेण व्रतं पर्यायाभिधायिकम्। ''दोण्हं च पंच'' इत्यादिगाथा। अस्यार्थः–दशसु मध्ये द्वयोः कालसुकालसत्कयोः पुत्रयोर्व्रपर्यायः पञ्चवर्षाणि त्रयाणां चत्वारि त्रयाणां त्रीणि द्वयोर्द्वे द्वे वर्षे व्रतपर्यायः। तत्राद्यस्य यः पुत्रः पद्मनामा स कामान् परित्यज्य भगवतो महावीरस्य समीपे गृहीतव्रत एकादशाङ्गधारीभूत्वाऽत्युग्रं बहु चतुर्थषष्ठाष्टमादिकं तपःकर्म कृत्वा अतीव शरीरेण कृशीभूतः चिन्तां कृतवान्–यावदस्ति मे बलवीर्यादिशक्तिस्तावद्भगवन्तमनुज्ञाप्य भगवदनुज्ञया मम पादपोपगमनं कर्तुं श्रेय इति तथैवासौ समनुतिष्ठति। ततोऽसौ पञ्चवर्षव्रतपालनपरः मासिक्या संलेखनया कालगतः सौधर्मे देवत्वेनोत्पन्नो द्विसागरोपतकस्थितिकः, ततश्च्युत्वा महाविदेहे उत्पद्य सेत्स्यति। इति कल्पावतंसकोत्पन्नस्य प्रथममध्ययनं समाप्तमः। नि०१ वर्ग। जम्बूद्वीपे आमलकल्पानगरीवास्तव्ये स्वनामख्याते गृहपतौ, ज्ञा०२ श्रु०१ अ०। यस्य पुत्री काली देवी चमरस्याग्रमहिषी जाता (इति 'अग्गमहिसी' शब्दे प्रथमभागे १६६ पृष्ठे उक्तम्) महानिधिभेदे,

''काले कालण्णाणं, सव्वपुराणं च तिसु वि वंसेसु।
सिप्पसयं कम्माणि य, तिन्नि पजाए हितकराणि'' ॥१॥

अष्टमषष्ठो निधिः (काले कालण्णाणमित्यादि) कालनामनि निधौ कालज्ञानं सकलज्योतिःशास्त्रानुबन्धि ज्ञानम्, तथा जगति त्रयो वंशाः, वंशः प्रवाहः, आवलिका इत्येकार्थाः। तद्यथा–तीर्थकरवंशश्चक्रवर्तिवंशो बलदेववासुदेववंशश्च। तेषु त्रिष्वपि वंशेषु यद्भाव्यं यच्च पुराणमतीतम्। उपलक्षणमेतत्–वर्तमानं शुभाशुभं तत् सर्वमत्रास्ति इतो महानिधितो ज्ञायते इत्यर्थः। शिल्पशतं विज्ञानशतम्, घटलोहचित्रवस्त्रनापितशिल्पानां पञ्चानामपि प्रत्येकं विंशतिभेदत्वात् कर्माणि च कृषिवाणिज्यादीनि जघन्यमध्यमात्कृष्ट भेदभिन्नानि त्रीण्येतानि प्राजाया हितकराणि निर्वाहाभ्युदयहेतुत्वात् एतत् सर्वमेवाभिधीयते। जं०३ वक्ष०। स्था०। अङ्गानुसारेण षट्पञ्चाशत्तमे महाग्रहे, सू०० प्र०२६ पाहु०। कण्डवादिषु नारकाणां पाचके यातनाकारके वर्णतश्च काले सप्तमे परमाधार्मिके, भ०३ श०६ उ०। आ० चू०। प्रश्न०।

अपि च–

मीरासु सुंठएसु य, कंडूसु य पयणएसु य पयंति।
कुंभीसु य वल्लीसु य, पयंति काला उ णेरइ ॥७६॥

(मीरासु इत्यादि) तथा कालाख्या नरकपालाः सुरा मीरासु दीर्घचुल्लीषु, तथा शुण्ठकेषु, तथा कण्डुकेषु प्रचण्डकेषु तीव्रतापेषु नारकान् पचन्ति, तथा कुभीषूष्ट्रिकाकृतिषु, तथा वल्लीष्वायसकवल्लिषु नारकान् व्यवस्थाप्य जीवान्मत्स्यानिव पचन्ति। सूत्र०१ श्रु०५ अ०१ उ०। कालावतंसकभवने स्वनातख्याते सिंहासने, ज्ञा०२ श्रु०१ अ०। यत्र चमराग्रमहिषी काली देवी उपपन्ना। लौहे, न०। धातुषु, तस्य कृष्णत्वात् तथात्वम्। कक्कोले, न०। कालीयके गन्धद्रव्यभेदे, न। तयोर्गन्धद्रव्येषु कृष्णत्वात्तथात्वम्। कोकिले, पुं० स्त्री०। तस्य पक्षिषु कृष्णत्वोक्तथात्वम्। ङीष्। राले, रक्तचित्रके, कंसमर्दे (कालकसेन्दा) वृक्षे च। पुं०। शनिग्रहे, कृष्णत्वात्तस्य तथात्वम्। वारविशेषे, दिग्भेदेन ज्योतिषोक्ते यात्रादौ निषिद्धे योगभेदे, ''कौवेरीतो वैपरित्येन कालो, वारेऽर्काद्ये संमुखे तस्य पाशः। रात्रावेतौ वैपरीत्येन गम्यौ, यात्रायुद्धे संमुखौ वर्जनीयौ''॥१॥ कालाये शिम्बीभेदे, वाच०। अष्टपञ्चाशत्तमे महाग्रहे, ''दो काला'' स्था०२ ठा०।

कालओ अव्य०(कालतस्) कालं प्रतीत्यर्थे, पा०। धूर्ते, दे० ना०२ वर्ग।

कालंजर पुं०(कालञ्जर) कालं जरयति जृ णिच् अच् वा। मुम्। पर्वतभेदे, ''एणं पुण वीयरणी कालंजरवत्तिणीए'' गंगाए महानदी विंझस्य य अंतरा''आ०म०द्वि०। देशभेदे, ध०२०। सच कालञ्जरगिरिरूपजनपदावधिभूतः, ततो भवादौ रोपधत्वात् प्राग्वर्तित्वाच्च वुञ्। कालञ्जरके तद्भवे, त्रि०। कालं मृत्यु जरयति, तृ वा खच्। कालस्य मृत्युर्जरके, त्रि०। वाच०।

कालकंरिव (ण्) त्रि०(कालकाङ्क्षिण्) अवसरज्ञे, उत्त०६ अ०। ''समिते सहिते सदाजते कालकंखी परिव्वए'' काल इति मूलोत्तरप्रकृतिभेदभिन्नं प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशबन्धात्मकबन्धोदयसत्कर्मतया व्यवस्थापितम्, तथा बद्धस्पष्टनिधत्तनिका–चितावस्थां गतं कर्म, तच्च न हरसीयसाकालेन क्षयमुपयातीत्यतः कालकाङ्क्षीत्युक्तम्। आचा०१ श्रु०३ अ०२ उ०।

कालकप्प पुं०(कालकल्प) मासकल्पादौ, पं०भा०।

एत्तो उ कालकप्पं, वोच्छामि जहक्कमेणं तु।
मासं पज्जोसवणा, वुड्ढावास परियाय कप्पो य॥
उस्सग्गपडिक्कमणे, कितिकम्मे चेव पडिलेहा।
सज्झायझाणभिक्खे, भत्तवियारे तहेव सज्झए।
णिक्खमणे य पवेसे,.....पं०भा०।

मासकल्पादीनाम्–

....., अहुणा वोच्छामि कालकप्पं तु।
जावाउतंतुझीणं, अणुपालेत्ता व सामण्णं॥
गीतसहाओ विहरे, संविग्गेहिं च जतण जुत्तो उ।
असती वि मग्गमाणे, खेत्ते काले इमं माणं।
पंच व छ सत्तसत्ते, अतिरेगं वा वि जोयणाणं तु।
गीतत्थपादमूलं, परिमग्गे जो अपरितंतो॥
एक्कं व दो तिण्हि व,उक्कोसं वारसेव वासाइं।
गीतत्थपादमूलं, परिमग्गेज्जा अपरितंतो॥
संविग्गे गीयत्थे, भंगचउक्के तु पढमउवसंपा।
असती ततिय वितीए, चउत्थगणो ऊ उवसंपे॥
उक्कमओ खलु लहुगो, चउरो लहुगा चउत्थभंगम्मि।

जस्सट्ठा उवसंपद, तं नत्थि चउत्थभंगम्मि।
एतेसिं तु अलंभे, एगो थामावहारमकरेंतो ॥
विहरेज्ज गुणसमिद्धो, अणिदाणो आगमसहाओ।
कालम्मि संकिलिट्ठे, छक्कायदयावरो वि संविग्गो ॥
जयजोगीण अलंभे, पणगेण्हतरेण संवासो।
पणगेण्हतरयसत्थे--मादिभंगे चउत्थए जयणा।
जत्थवसंती ते तु ह्वाति तहिं वीसुवसहीए ॥
तेसिं निवेदिऊणं, अह तत्थ ण होज्ज अण्णवसहीओ।
ण वहेज्ज वा उदंतं, वसेज्ज तो एक्कवसहीए ॥
अपरीभोगोगासे, तत्थ ठितो पुणो वि य जएज्जा।
आहारमादिएहिं, इमेण विहिणा जहाकमसो ॥
आहारे उवहम्मि य, गेलण्णागाढकारणे वा वि।
थामावहारविजढो, असतीजुत्तो ततो गहणं ॥
आहारउवहिमादी, उप्पादे अप्पणा विसुद्धं तु।
असती सतलाभस्स उ, जो तेसिं साहुपक्खीओ ॥
सो तु कुलाइं पुछिज्जती मुदा एत्ति वा वि सो तेसिं।
तह वि अलंभंतो तू, जतती पण्हाणि जो लहुगा ॥
संविग्गपक्खिसहिओ, ताहे उप्पादएज्ज सुद्धं तु।
असती पणहाणी वा, जातित्तु अप्पे पडिग्गहगं ॥
तह वसती तब्भादण--माणीयं गिण्हती तहिं चेव।
णियगे वि पडिग्गहगेण्हति पासत्थणाओ य ॥
उवहिं पुराणगहितं, अपरीभुत्तं तु गेण्हती तेसिं।
असती तएतरं पी, जदि गिलाणो भवे तत्थ ॥
तत्थ वि जएज्ज एवं, असती सव्वं पि से करेज्जितरे।
अहवा ते वि गिलाणा, हवेज्ज ताहे करे सो वि ॥
एतत्थं इच्छिज्जाति, गच्छो अण्णेण्णजं तु साहज्जं।
कीरति ण पमाओ खलु,तम्हा गेलण्हें कायव्वो ॥
दीहो व मडहओ वा, कम्मो चइउ हवेज्ज आतंको।
मडहो अदिग्घरोगो, तव्विवरीओ भवे इतरो ॥
कालचउक्के वी खलु, कायव्वं होति अप्पमत्तेणं।
उडुवद्धे वासासु अ, दियराओ चउक्कमेतं तु ॥
जिणवयणभासियम्मी, णिज्जरगेलण्हकारणे विउला।
आतंकपउरताए, कतपडिकइया जहण्णेणं ॥
जह भमरमहुयरगणा, णिवयंती कुसुमियम्मि वणसंडे।
इय होति णिवयव्वं, गेलण्हे कइवयजढेणं ॥
सयमेव दिट्ठिवादी, करेति पुच्छंति जाणगो वेज्जं।
वेज्जाण अट्ठगं पुण णायव्वमिणं समासेणं ॥
संविग्ग असंविग्गो, दिवसत्थे लिंगि सावए सण्ही।
असन्नीसन्नि इतरे परतित्थियकुसलए इत्थं ॥
जदि दिणमलब्भमाणे, तत्थ ठवेयव्वगं भवे किंचि।
तत्थ तु भणेज्ज को वी, सुक्खं तु ठवे दवे दोसो ॥
संसत्तं पि सुखं तु अणिद्धं वसु सोहगंमु सारत्थं।
अतगं होति इतरे, दोसा वा बहु इमे णिद्धे ॥
दव्वे पडणीए य पमज्जणपाणतक्कणाहरणा।
एते दोसा जम्हा, तम्हा तु दवं ण ठावेज्जा ॥
भण्णति जेणं कज्जं, तं ठावेज्जा तहिं तु जयणाए।
आतंकविवच्चासे, चउरो लहुगा य गुरुगा य ॥
जं सेवियं तु किंची, गेलण्णे तं तु जातु पउणो वि।
आसेवते तु साधू, रसगिद्धो सेलओ चेव ॥
तंवोलपत्तणा तेण माहु सेसा वि तू विणस्सेज्जा।
णिज्झूहंजी तं तू, मा अण्हे वी तहा कुज्जा ॥
कालकप्पहिगारे, तुमत्थुणा होति सो वि तस्सरिसो।
कालविकप्पण्हो वी, असिवादीओ मुणेयव्वो ॥
असिवे ओमोदरिए, रायदुट्ठे पवाददुट्ठे वा।
आगाढे अण्णलिंगं, कालक्खेवोवगमणं च ॥
असिवे जदि जतियं ता, लिंगविवेगेण तक्खणं गच्छे।
सव्वत्थ वा वि असिवे, कालक्खेवो विवेगेणं ॥
ओमे चेवं कुज्जा, पवादिदुट्ठे ण वुड्ढिलोयाणं।
तत्थ वि य अन्नलिंगे, गिहिलिंगे वा वि भासेज्जा ॥
एयं चिय आगाढं, अहवा देहस्स जा तु वावत्ती।
णिव्वसयाणत्तीण व, भत्तस्स णिसेहणे चेव ॥
एतेसामण्णतरं, अणगाढं लंपणो णिसेवेज्जा।
तट्ठाणतावराहे, संवड्ढितमोवराहाणं ॥
संवड्ढितावराहे, तवो व छेदो तहेव मूलं च।
आयारे कप्पे जं, पमाणणिम्माणचरिमम्मि ॥
एसो तु कालप्पो,.....। पं०भा०।

इयाणिं कालप्पो। कलणं कालः, कालसमूहो नीयते अनेनार्थ इति नयः। केवइयं पुण कालं साहुणा संजमं अणुपालेयव्वं ? उच्यते--जाव आउसेसं ताव अणुपालेयव्वं। सो पुण कत्थ अणुपालेयव्वे ?। उच्यते--गीयत्थसंविग्गसगासे, जइ पुण वाघाएण गीयत्थसंजया न होज्जा ताहे मग्गियव्वा। तत्थ गाहा--(पंचछसत्तसया) गाहा सिद्धा, एवं संविग्गे वि दो दो गाहाओ, जत्थ गओ तत्थचउभंगो, तेसिं अगीयत्थसंविग्गाणे अलंभे एगो वि रागदोसविप्पमुक्को थामावहारं न करेंति विहरेज्जा, परीसहेसु अपरितंतो अणगूहियबलवीरिओ आगमसहाओ। आगमो नाम सुत्तोऽत्थाणि। एएसु पएसु जयंतो गीयत्थसंविग्गो पुव्वभणिओ चउभङ्गो, तस्स सगासे अत्थइ, तस्सासइ विइयतइयाणं कत्थ अत्थियव्वं ? गीयत्थसंविग्गपायमूले, तस्सा सइ वियए गीयत्थअसंविग्गे पच्छा संविग्गअगीयत्थे पच्छा चउत्थे पडिसेहो, आयतियं भंगाण असइ य एगो वि थामावहारविजढो विहरिओ गाहाकालम्मि संकिलिट्ठे। संकिलिट्ठकाओ नाम जम्मि काले गीयत्थसंविग्गा नत्थि, सो संकिलिट्ठकालो, तत्थ छक्कायदयावरो जुत्तजोगी भावसंविग्गो, अलाभे पासत्थादयो जत्थ गामेतत्थ अत्थइ, अण्णाए वसहीए सकवाडदड्ढकुड्डे विलवज्जियाए ठवणायरियं काऊण ओहनिज्जुत्ति-

विहीए एएसिं निवेण्यां काऊण। अन्ना वसही न होज्जा, तत्थ वा ठियस्स उदंतं न वहति, ताहे तेसिं चेव वसहीए अवरिभुंजमाणे उवासे वाद तत्थ ड्डिओ आहारोवहिम्मि य जइ आहारो सयाए एसणाए हिंडमाणो व लभेज्जा ताहे पणयपविहाणीए जयइ जाव चउलहुं पत्तो जइ तह वि न लभेज्जा ते य पासत्थाइ निमंतेज्जा ताहे भणइ–उवएसं देह, कुलाणि वा मम साहह भणइ, अह तह वि एगस्स न दें ति ताहे जो धम्मसड्ढियतरो तं पुव्वं चेव गाहेइ, संविग्गभावणं ताहेक भणइ–एएण समं हिंडामि। तेण वि समं हिंडंतो सयाए एसणाए लइए तं च भणइ–अहं अप्पणा चेव जाणिस्सामि जं मम गेण्हियव्वं मा तुमं मड्ढाए गेण्हावेहिसि। अह तेण वि समं भायणे देज्जा तेहे धम्मसड्ढियं भणइ–तुमं मम हिंडाहि, अहवा तुमं एसणज्जं देहि, असइ उक्कड्ढियं पि गेण्हइ , उवहि य अप्पणा जयइ जाव चउलहुं पत्तो जाहे न लभइ तहा वि ताहे ते भणइ–मम दव्वावेह। अह तहा वि न लभइ ते य भणेज्जा–इमं सीयं गाढं तुमं च परित्तोवही इमे गेण्हाहि, ताहे तेसिं तणयं जं अहिणवगहियं उग्गमुप्पायणे सुद्धं अपरिभुत्तं तं गेण्हइ, तस्स असइ मंदपरिभुत्तं गेण्हइ, तं चेव असइ परिभंत्तं पि पच्छा पुराणगहियं उग्गमाइसुद्धं अपरिभुत्तं, असइ परिभुत्तडवि तस्स सइ एसणाए असुद्धं अभिवगहियं अपरिभुत्तं मंदपरिभुत्तं पि पच्छाओ उप्पायणाए असुद्धं अभिणवगहियाइ पच्छा उग्गमेण वि सुद्धं अभिणवपुराणपरिभुत्तं च एव जाव हंसाइं पि रागद्दोसविमुक्को, गाहा–(दीहो व मडहओ वा) अह तत्थ अत्थमाणो होज्जा, तत्थ जइ समत्थो अप्पणा चेव जयइ आइ लंभे ताहे ते आणेते ,एवं सो थामावहारविजढो असइ गिण्हइ, सो पुण आयंको दीहो मडहओ वा होआ दोसु वि कायव्वं। अहवा तेसिं गेलण्हं होज्जा ताहे सो तेसिं करेज्जा, एयनिमित्तं गच्छवासो इच्छिज्जइ, परोप्परसाहिल्लगा य कालचउक्कतिओ उ वासासु रत्तिदिवसओ वा जिणवयणनिद्दिट्ठा गेलण्हे करेमाणस्स विपुला निज्जरा, तम्हा कायव्वं निज्जराकामेण। दव्वप्पमाणे ति वेज्जो पुच्छियव्वो। केइ भणंति –गिलाणो नेयव्वो वेज्जसगासं, एवं भणंतस्स चउगुरु, सो गिलाणो निज्जमाणो परितावणाइ गाढमगाढं अह सउणा वा मइलकुले वेलाइ वेज्जा वा गिहेण समाणोऽसमाणो वि अब्भंगिओ एगसाडओ छारउक्कुरडे वि ठिओ वा कसाइओ वाभणज्जा–किं मम घरं सुसाणकुडी, अहवा तत्थ वेज्जगिहे अन्ने आउरा पासंडगिहत्था य सेज्जासु नवणीयतूलिमिउलासु उक्खेवणयतालियंटमाइसु सीयघरे वासारत्ते सकप्पूरचंदणेण हेमंते वा कालागुरुमाइ आहारे य नाणपगारे पासित्ता संतविभवो रायमत्तो वा पव्वइओ, पडिगमणाइ असंतविभवो निदाणं करेज्जा, जम्हा एए दोसा तम्हा न ने यव्वो गिलाणो वेज्जघरं। सा पुण वेज्जपुच्छा विहिअविही य एगो डंडो दो जमट्टया चत्तारि नीहारी तम्हा तिण्णि व पंच व सत्त व ते पुण गच्छंता आकड्ढविड्ढी करेंति, कालयरपहरणं निसेज्जमइलाणि वा गेण्हंति एक्केक्कम्मि चउगुरु। तम्हा सुक्किलया पसत्थचोलपट्टपहरणकप्पं तत्थ गया वेज्जा कसाइओ अब्भंगिओ वा पुच्छंति चउगुरु, पसत्थासणगओ य संतो पुप्फपडहत्थगओ आउरसत्थाणि वा वाएमाणो पुच्छिज्जइआयाणनिदाणं च सेसा सहिज्जइ सो पुच्छओ उवदेसं देज्जा, दव्वाइदव्वओ कलमसालितंडुलचाउरक्केण गोखीरेण अट्ठारसबंजणाओलंबा भोयणं उवइसेज्जा. खेत्तओ सीयकाले गम्मघरे उण्हकाले सीयघरे उक्खे वयतालियंटमाइ सकप्पूरचंद्रणाइ वा कालओ पुव्वण्हाइ जाव अड्ढरत्ते वा तावओ जत्थ गीयवाइनाडयकुभकाररहकारसुवण्णकारकंसकार–हयसालं वा रंगसालाओ य जत्थ अणिट्ठा रद्दा नत्थि जहा रन्नो अपडिकूलेसु सव्वकज्जेसु वि भावियव्वं। एवं भाणए जइ भणइ कओअम्ह पयाणि चउगुरु गिलाणो परिचित्तो, एवमुवदिट्ठे भाणियव्वं–सावग ! तुब्भे रायमाइण्णं दरिद्दाण य तिगिच्छं करेह, विभवाणुरूवं जाणह, तुब्भे जओ परदत्तोवजीवी सव्वमन्नओ मग्गियव्वं, जया कलमसालीचाउरक्कं वा न लभेज्जा तया किं कायव्वं, तया इतरं इतरं वा गोखीरं, एवं जाव कोद्दवकूरो उल्लणाइसु वा ठिओ। खेत्तओ य किट्टियमाइ जाव रुक्खमूले वि चिलिमिणी काऊण कालओ जाहे लब्भइ। भावओ जाणासु अम्हे वड्ढावइउं। तदुक्तं भवति– ''निद्देसमलुद्धत्तं, निकायणा पच्छ इच्छा य। आयंकपउरयाए, पुण कयपडिकइया जहण्णिया ॥'' तं पुण कहं गंतव्वं गिलाणस्स (जह भमरमहुकरगणा) गाहासिद्ध। अह वेज्जो भणेज्जा–जाति पासामि गिलाणं, सो वेज्जो संविग्गो गीयत्थो कुसलो तेण पढमं पच्छा असंविग्गो ति गीयत्थो कुसलो एवं सावए गीयत्थसंवेग्गपुराणकुसले पच्छा गीयत्थअसंविग्गपुराणे कुसले गहियाणुव्वए गीयत्थे संविग्गभाविए कुसले अग्गहियाणुव्वए गीयत्थे संविग्गभाविए कुसले अग्गहियाणुव्व वि कुसले असंभाविकुसले पच्छाराया सन्नी गीयत्थकुसलो स एव सम्मद्दिट्ठीकुसले, एव तरतमजोगेण सव्वत्थकुसलेण ते इच्छा सेसं जहाकप्पे गिलाण सुत्ते कयाइ संनिही कायव्विया होज्जा, सा पि होव्वरए जहा गीयत्था ण यांणंति असइ कडयंतरिए वा चिलिमिणिअंतरिए वा उस्सग्गेण ताव पडिदिवस मयिज्जइ नेहाइपवणगपरिहाणीए जाव चउगुरुं पत्ता असइ वसहीए थारगस्स संनिभीए सावयस्स अम्मापिउसमाणस्स गिहे कोलालभायणे तस्स सयलाआ एस परिकम्म अहाकडे वि असइए जहा छिप्पमाणादयो दोसा न भवंति पडिदिवस पडिलेहिज्जइ इच्छाकारेण गुंडिज्जइ जहा कीडियाइणं विराहणा न भवइ , तत्थ कोइ भणेज्जानिद्धे दव्वे य एए य दोसा तत्थ छिप्पमाणे य निक्खिप्पमाणे य पाणाइविराहणा आणिज्जंतेय अडवीओ पढमियमाइयसचित्त पुढविमाइविराहणा, एवं भणंतस्स चउगुरू आयंकविवच्चासे। आयंकविवच्चासो नाम आगाढे अहिदट्ठाइ अणागाढं करेइ चउलहुगा जं च वय उवजीवइ जो पुण पउणो वि समाणो तं चेव आहारे पडिबंधं करेइ, सेलओ विव तस्स तं चोलपत्तदिट्ठं तेण सेसदोसरक्खणट्ठाए मा अण्णो वि पडिसेविहिंति ताहे निच्छुभणा से। गाहा–(असिवे ओमोयरिए) अह काल कप्पाहिगारे वट्टमाणे असिवाईणि कारणाणि होज्जा, असिवे य जइ सपक्खघाई होज्जा संजयपंताए तम्मि आगाढे ताहिं लिंगविवेगं काऊण सिव वच्चइ। अह सव्वत्थ वि असिवं होज्जा तहे कालक्खेवं करें ति लिंगविवेगं काऊण अत्थंति जाव सिवं जायं। एवं ओमे वि रायदुट्ठे परप्पवायदुट्ठे वि पुट्ठिलाइ अन्नलिंगे पुण गहिये इमा जयणा। जइ भिच्छुओ ताहे पिंडवाइयत्तणं करेइ, अह न लभेज्जा सामण्णं च समुद्देसं जाव पवारओ न एइ-

ताव अन्नत्थ वच्चइ। अन्नत्थ य गओ ताहे कप्पियारीओ भणति–तुब्भे चेव जाणह जं कायव्वं जं च पमाणं गिण्हयव्वेत्ति, पंतीए य पोग्गलपत्तफलाइ परिहरइ। वेज्जाहारो वित्तित्थूभयंतीए जिणे मणसी करेऊण मइराइनियत्तणं च भावेइ, अह सरक्खो ताहे उद्दंडयत्तणं करेइ, भण्णइ य–मम वेज्जोवए सेण उसिणोदगं पायव्वं। गाहा–(एतेसामण्णतरं) एएसिं कारणाणं विणा अणागाढे निरालंवणो जो पडिसेवइ तद्वाणारोवणा (संवड्ढिया वराहे) गाहा। एस कालकप्पो सम्मत्तो। पं०चू०।

कालकरण न०(कालकरण) कालभेदे, सूत्र०१ श्रु०१ अ० उ०। (तत्सम्भवस्तृतीयभागे ३६५ पृष्ठे 'करण' शब्द उक्तः।

कालकाल पुं०(कालकाल) एकः कालशब्दः प्राङ्निरूपित एव, द्वितीयस्तु सामायिकाः। कालो मरणमुच्यते। मरणक्रियाकलने, दश०१ अ०। आ०म०द्वि०। संप्रति कालकालः प्रतिपाद्यः–कालो मरणं तस्य कालः कालकालः। तथाचाह–''कालो त्ति मये मरणं, जहेह मरणं गतो त्ति कालगते। तम्हा स कालकालो. जो जस्स मओ मरणकालो''॥१॥

अमुमेवार्थं प्रतिपादयन्नाह–

कालेण कओ कालो, अम्हं सज्झायदेसकालम्मि।
तो तेण हतो कालो अकाले कालं करेमाणे॥

कालेन शुना कृतः कालः कृतं मरणं मरणमस्माकं स्वाध्यायदेशकाले स्वाध्यायकरणप्रस्तावे ततस्तेन शुना हतो भग्नः कालः स्वाध्यायकरण-कालः। अकाले प्रस्तावे मरणं कुर्वतेति। तदनेन कालशब्दस्य मरणवाचित्वपदर्शितम्। आ०म०द्वि०। आ०चू०।

कालकूडकवलुग्गार पुं०(कालकूटकवलोद्गार) उद्गीर्य्यमाणकालकूट-कवले, ''लब्ध्याप्तादिति कालकूटकवलोद्गारा गिरः पाप्मनाम'' प्रति।

कालकेय पुं०(कालकेय) काल्या अपत्ये, आ०चू०१ अ०।

कालगञ्ज पुं०(कालकार्य्य) श्यामाचार्ये, विशे०। आ०म०। प्रति०।

***कालकाचार्य** पुं०। स्वनामख्याते आचार्ये, विशे। तद्वृत्तं चैवमाख्यान्ति–धरावासनाम्नि नगरे वैरसिंहनाम्नो राज्ञः सुरसुन्दर्या नाम देव्याः कुक्षेः कालको नाम कुमारो जज्ञे। एकदा अयं बालोऽश्वस्कन्धारूढ उद्यानं गतस्तत्र देशनां ददतो गुणकरमुनेरन्तिके उपविष्टः। तेन च मुनिना योग्यं श्रोतारं ज्ञात्वा अगारधर्ममनगारधर्मं च सम्यग्व्याख्याय प्रतिबोधितः संविग्नः सन्! मातापित्रोराज्ञां गृहीत्वा तत्पादमूले प्राव्रजत्। ततस्सहैव तद्भगिनी सरस्वती नाम्नी अपि प्रव्रजिता। ततः सर्वशास्त्रेष्वचिरेण कालेन पारगतममुं ज्ञात्वा स्वपदे स्थापयित्वा श्रीगुणाकरसूरिः स्वरगमत्। अन्यदा कालकाचार्य उज्जयिनीं नगरीं गतस्तत्र सह विहारेण समागतां मार्गे गच्छन्तीं सरस्वतीं नामैतस्य भगिनीं तत्रत्यो गर्दभिल्लो नाम राजा बलादहरत्। ततस्तं बहुभिरुपायैः प्रतिबोध्यपि तां मोचयितुमशक्नुवन् कालकाचार्यस्तन्निग्रहे कृतप्रतिज्ञः सिन्धुनद्याः परतीरे शकान् सहायीकृत्य गर्दभिल्लं निगृह्य सरस्वतीं मुमोच, मूलच्छेदेन शोधयित्वा पुनः श्रामण्येऽपिस्थापयत्। (इत्येतदस्माभिः प्रथमभागे ५८३ पृष्ठे० अधिगरण शब्दे गर्द्दभिल्ले शब्दे च नि० चूर्णिपाठेन दर्शितम्) अथैकदा भृगुकच्छनगरराजो बलमित्रः कालकाचार्यस्य भागिनेय एतस्य दर्शनोत्कण्ठितः स्वमन्त्रिणः प्रेष्य आहूय विहारक्रमेण तत्र समागततेनं महतोत्सवेन नगरे प्रावेशयत्। तत्र शकुनिकातीर्थे मुनिसुव्रतस्वामिनं नत्वा स आचार्यस्तन्महिमानं राज्ञेऽश्रावयत्। राजा चाऽऽचार्ये भक्ति-भरनिर्भरो जातः। ततस्तदसहिष्णुना पुरोहितेनानुकूलोपसर्गैरुपसृष्टः प्रतिष्ठानपुरे शातवाहननृपतेः प्रार्थनया विहृतवान्। तत्र च प्राप्तपर्युषणा-पर्वणि राजा प्रार्थयामास–भगवन्! भाद्रपद शुक्लपञ्चम्या मिन्द्रध्वजमहेत्सवो भवतीति षष्ठ्यां सार्म्येत्सरिकं कर्तव्यमिति। तदाऽऽकर्ण्याचार्योक्तम्–नैव भवितुमर्हति। तदा राज्ञोक्तम्–चतुर्थ्यां तर्हि कर्तव्यम्। गुरुणोक्तम्–कथञ्चिदेवं भवितुमर्हतीति। ततः प्रभृति चतुर्थ्यामेवैतत्पर्व भवति स्मेति। तुरियिण्यां नगर्यामस्यैव जामिजः दत्तो नाम राजा बहुयज्ञकृद् यज्ञानां नरेः फलमित्येनेन स्पष्टमुक्तः क्रुद्ध एतद्वचनन ततः सप्तमेऽहनि रौद्रध्यानेन मृत्वा नरकं गत्। सागरचन्द्रस्य स्वशिष्यस्य गर्वावमोकोऽन्यत्र दर्शितः। अयं च कालकाचार्यः वीरमोक्षात् ३३६ वर्षे वि०सं०प्राक् १३६ वर्षे आसीत्। प्रभावकचरित्रानुसारेण अस्मादेवाचार्यात् चतुर्थ्यां पर्युषणापर्व प्रचलितमित्युक्तम्। अन्ये पुनरन्यमेव कालकाचार्य पर्युषणापर्वप्रश्चतुर्थ्यां प्रथमकारकं व दति, स च वीरमोक्षत् ६६० वर्षे जातः। तृतीयोऽप्येकः कालकाचार्यो वीरमोक्षात् ६५३ वर्षेऽभवत्। प्रज्ञापनासूत्रं च प्रथमेनैव रचितमिति प्रतीयते। जै०इ०।

कालगय त्रि०(कालगत) दिवंगते, कप०८ क्षण। (कालगतस्य साधोः पारिष्ठापनिकी 'परिट्ठावणिया' शब्दे वक्ष्यते। आचार्ये मृतेऽन्यस्योपसंत् 'उपसंपया' शब्दे द्वितीयभागे ६८६ पृष्ठे उक्ता। आचारकल्पधरे व्युच्छिन्ने अन्यत्रोपसंपदित्यपि 'उपसंपया' शब्दे द्वितीय भागे ६८४ पृष्ठे उक्ता। कालगतासु संयतीसु प्रवर्त्तिनीषु साध्वीनामन्यत्र गमनं 'विहार' शब्दे वक्ष्यते)

कालग्ग न०(कालाग्र) कलनं कालः तस्याग्रम्। सर्वाद्धायाम् ''कहं समयो आवलिया लवो मुहुत्तो पहरो दिवसो अहोरत्तं पक्खे मासो उउ अयण संवच्छरो जुगपलिओवमं सागरोवमं ओसप्पिणी उस्सप्पिणी पुग्गलपरियट्टो तीतद्धमणागतद्धा सव्वद्धा एवं सव्वेसिं अग्गं भवति बुहत्वात् कालग्गं''। नि०चू०१ उ०।

कालगहिय त्रि०(कालगृहीत)कालेन मृत्युना गृहीतैः कालगृहीतः। पौनःपुन्येन मरणभाजि, आचा०१ श्रु०४ अ०२ उ०।

कालचउक न०(कालचतुष्क) चतुर्षु कालेषु, नि०चू०१६ उ०।

कालचक्क न०(कालचक्र) विंशतिसागरोपमकोटाकोटीप्रमाणे उत्सर्पिणी-लक्षणे काले, नं०। ('काल' शब्दे तुतीयभागे ४७५ पृष्ठे उत्सर्पिण्यादि-मानमुक्तम्)। ''जाहे एवमिव न सक्कइ ताहे कालचक्कं विउव्वई'' आ०म०द्वि०।

कालचणग पुं०(कालचणक)पलिमन्थे, स्था०५ ठा०३ उ०।

कालचूला स्त्री०(कालचूडा)अधिमासादौ अधिके काले, नि०चू०१ उ०।('चूला' शब्देऽस्य विवृतिः)

कालचयावदिट्ठ पुं०(कालात्ययापदिष्ट)कालात्ययेनापदिष्टः। ३ त०। हेतुदोषे, तल्लक्षणं गौतमसूत्रे दर्शितम्। यथा ''कालात्ययापदिष्टः कालातीतः''। कालात्ययेन प्रयुक्तो यस्यार्थस्यैकदेशोऽपदिश्यमानः स कालात्ययापदिष्टः कालातीत इत्युच्यते। निदर्शनम्–नित्यः शब्दः संयोगव्यङ्ग्यत्वात् रूपवत्। प्रागर्द्धं च व्यक्तरेवस्थितं रूपं प्रदीपघटसंयोगेन व्यज्यते, तथा

च शब्दोऽप्यवस्थितो भेरीदण्डसंयोगेन व्यज्यते, दारुपशुसयोगेन वा। तस्मात् संयोगव्यङ्ग्यत्वात् नित्यः शब्द इत्ययमहेतुः, कालात्ययापदेशात्, व्यञ्जकस्य संयोगस्य कालं न व्यङ्ग्यस्य रूपस्य व्यक्तिरित्येति, सति प्रदीपघटसंयोग रूपस्य ग्रहणं भवति न निवृत्ते संयोगे रूपं गृह्यते, निवृत्ते दारुपरशुसंयोगे दूरस्थेन शब्दः श्रूयते, विभागकाले सेयं शब्दव्यक्तिः संयोगकालमत्येतीति न संयोगनिर्मितो भवति, कस्मात् कारणाद् ? भावाद्धि कार्याभाव इति। एवमुदाहरणसाधनस्याभावाद साधनमयं हेतुर्हेत्वाभास इति। वाच०। कालात्ययापदिष्टोऽपि। तथा ह्यस्य रूपं कालात्ययापदिष्टः कालातीत इति हेतोः प्रयोगकालः प्रत्यक्षागमानुपहतपक्षपरिग्रहसमयस्तमतीत्य प्रयुज्यमानः प्रत्यक्षागमबाधिते विषये वर्त्तमानः कालात्ययापदिष्टो भवतीति। अयं च किञ्चित्क रदूषणेनैव दूषितोऽवसेयः। रत्ना० ६ परि। कालात्ययापदिष्टोऽपि हेत्वाभासोऽपराभ्युपगतः। यथा–पक्वान्येतान्याम्रफलान्येकशाखा प्रभवत्वादुपयुक्तफलवत्। अस्य हि रूपत्रययोगिनोऽपि प्रत्यक्षबाधितकर्मानन्तरप्रयोगात् अपदिष्टागमकत्वे निबन्धनं हेतोः कालाद् दुष्टकर्मानन्तरं प्रयोगः प्रत्यक्षादिविरुद्धस्य दुष्टकर्मानन्तरं प्रयोगाद्धेतुकालव्यत्तिक्रमे ण प्रयोगः। तस्माच्च कालात्ययापदिष्टशब्दाभिधेयता, हेत्वाभासता च। सम्म०२ काण्ड।

कालच्छेय पुं०(कालच्छेद) कालविभागे ध०३ अधि०।

कालणरय पुं०(कालनरक) नरकभेदे, यत्र यावती स्थितिरिति। सूत्र०१ श्रु०५ अ०१ उ०।

कालणाण न०(कालज्ञान) कालस्य शुभाशुभरूपस्य ज्ञाने, ''काले कालणाणं'' स्था०१० ठा०। ''कालण्णणसमासो, पुव्वायरिएहि णिण्णिओ एसो। दिणकरपक्खज्झीओ, सीसजणविवोहणट्ठाए''॥१॥ ज्यो०२१ पाहु०। वाच०।

कालणाणि(ण्) त्रि०(कालज्ञानिन्) कालज्ञे, ''कालं कालणाणी जाण्इ वेज्जयं वेज्जो'' अनु०।

कालणिवेसि (ण्) पुं०(कालनिवेशिन्)अनस्तमिते रात्रि प्रथमायां पौरुष्यां निवेशं कृत्वा तिष्ठति, बृ०१ उ०। ''कालणिवेसी जे अणत्थमिए आइच्चेऽवक्कमति'' नि०चू०१६ उ०।

कालण्णु त्रि०(कालज्ञ) कालं योग्यकालं ज्योतिषाक्तकालावयवं वा जानाति। ज्ञा–क। कालज्ञानयुक्ते ज्योतिषिके, वाच०। उचितानुचिताऽवसरज्ञे, आचा०१ श्रु०८ अ०३ उ०। कालज्ञान् वैद्यान्तिके प्रविशतो यः कालः प्रस्तावस्तद्वेदिनः। बृ०१ उ०।

कालण्णुया स्त्री०(कालज्ञता) कालं प्रस्तावमुपलक्षणत्वाद् देशं च जानातीति कालज्ञस्तद्भावः कालज्ञता। देशकालपरिज्ञाने, तस्मिन् हि सति गुर्वादिछन्दसा गुर्वादिभ्य आहारादिप्रदानं करोति ततो विनयहेतुत्वात्तदपि देशकालपरिज्ञानं विनय इति औपचारिकः षष्ठेऽयं विनयः। व्य०१ उ०।

कालतिग न०(कालत्रिक) अतीतानागतवर्त्तमानकालरूपे कालत्रये, प्रश्न०२ संव०द्वार।

कालदव्व न०(कालद्रव्य) काल एव तत्र तद्रूपद्रवणात् द्रव्यं कालद्रव्यम्। द्रव्यभेदे, कर्म०। कालद्रव्यस्य निष्प्रदेशता, ततः काल एव तत्तद्रूपद्रवणद्रव्यं कालद्रव्य, तत्र च कालस्य वस्तुतः समयरूपस्य निर्विभागत्वान्न देशप्रदेशसंभवः। अत एव नास्ति कालत्वाभावो वेदितव्यः। नन्वतीतानागतवर्तमानभेदेन कालस्यापि त्रैविध्यमस्तीति किमिति नोक्तम् ? सत्यम्। अतीतानागतयोर्विनष्टाऽनुत्पन्नत्वेनाऽविद्यमानत्वाद्वार्तमानिक एव समयरूपः सद्रूपः, यद्येवं तर्हि पूर्वसमयनिरोधेनैवोत्तरसमयसद्भाव असंख्यातानां समुदयसमित्याद्यसंभवादावलिकादयः शास्त्रान्तर प्रतिपादितः कालविशेषाः कथं संगच्छन्ते ?। सत्यम्। तत्त्वतो न संगच्छन्त एव, केवलं व्यवहारार्थमेव कल्पिता इति। कर्म०४ कर्म।

कालदेव पुं०(कालदेव) द्वीपसमुद्रविशेषाधिपतौ, द्वी०।

कालदोस पुं०(कालदोष) दुःषमाऽनुभावे, पञ्चा०१७ विष०। अवसर्पिणीलक्षणस्य हीनहीनतरादिस्वभावस्य समयस्याऽपराधे, हारि०१८ अष्ट०। सूत्रदोषविशेषे च। यत्र हि अतीतादिकालव्यत्ययो यथा रामो वनं प्राविशदिति वक्तव्ये रामो वनं प्रविशतीत्याह। अनु०। आ० म०। विशे०। बृ०।

कालद्धाणाइक्कंत त्रि०(कालाध्वातिक्रान्त) प्रहरत्रयादूर्ध्वं ध्रियमाणे कालातिक्रान्त, अर्द्धयोजनातिरेकादानीते च। तत्र साधूनामपरिभोगम्। आह–साधूनामुपयुक्तत्वात्कथं कालातिक्रान्तत्वसम्भवः। सत्यम्। सम्भवत्येव ग्लानादिहेतोः त्वक्तुं वा स्थण्डिलं न स्यात् सागारिका वा स्युश्चैरादिभयं वा तथा स्यादिति तत्र विवेकार्हं प्रायश्चित्तम्। जीज०।

कालधम्म पुं(कालधर्म) कालो मरणं स एव धर्मो जीवपर्यायः कालधर्मः। ज्ञा०१ अ०। कालो मरणं तल्लक्षणो धर्मः पर्य्यायः कालधर्मः। विशे०। मरणे, स्था०३ ठा०३ उ०। ''तेणं कालेणं मय्याउआ मणुस्सा कालधम्मुणा संजुत्ता भवंति'' स्था०४ ठा०३ उ०। ''कालधम्मुणा संजुत्त ति'' मृतमित्यर्थः। विपा०१ श्रु०२ अ०।

कालपच्चक्खाण न०(कालप्रत्याख्यान) नमस्कारपौरुषीयप्रत्याख्यानादौ, ''कालपच्चक्खाणं णमोकारपोरिसीपुरिमड्ढं पच्छिमड्ढामि अद्धमासावड्ढेण दो दिवसा तिण्णि दिवसा मासो वा जाव छम्मासो त्ति''। आ०चू०६अ०।

कालपडिलेहणा (कालप्रतिलेखणा)स्त्री०(प्रत्युप्रेक्षणा) कालस्य व्याघातिकप्रभृतिकालचतुष्टयप्रतिलेखना प्ररूपणा कालग्रहणरूपा कालप्रतिलेखना। कालग्रहणे, उत्त०।

तत्फलम्–

कालपडिलेहणयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?।
कालपडिलेहणयाए णं नाणावरणिज्जं कम्मं खवेइ ॥२५॥

हे भदन्त ! कालप्रतिलेखनया कालस्य प्रादोषिकप्राभाति–कादिकस्य प्रतिलेखना प्रत्युपेक्षणा सिद्धान्तोक्तविधिना सत्यप्ररूपणा ग्रहणप्रतिजागरणसावधानत्वं कालप्रतिलेखना, तया जीवः किं जनयति ?। गुरुराह–हे शिष्य ! कलप्रतिलेखनया जीवो ज्ञानावरणीयं कर्म क्षपयति : उत्त०२६ अ०।

कालपरियाय पुं०(कालपर्य्याय)मृत्योरवसरे, आचा०१ श्रु०८ ५ उ०।

कालपरियायमरण न०(कालपर्यायमरण) संलेखनाकालपर्यायेण भक्तपरिज्ञादिमरणे, आचा०१ श्रु०८ अ०४ उ०।

कालपुरिस पुं०(कालपुरुष) कालः कालचक्रं पुरुष इव मेषादिद्वादशराशिस्वरूपे कालव्यवहारकारके पुरुषाकारे गगनस्थे वायुचक्रभेदे, वाच। 'पुरिस' शब्दे वक्ष्यमाणस्वरूपे पुरुषभेदे, सूत्र०१ श्रु०४ अ०१ उ०।

कालपोग्गलपरियट्ट पुं०(कालपुद्गलपरावर्त्त) कालतः पुद्गलपरावर्त्ते, कालतस्तु यदोत्सर्पिण्यवसर्पिणीसमयेषु सर्वेषु अपि क्रमेणोत्क्रमेण वा अनन्तानन्तैर्भवैरेको जन्तुर्मृतो भवति तदा बाद कालपुद्गलपरावर्तो भवति, केवलं येषु समयेष्वेकदा मृतोऽन्यदपि तेष्वेव समयेषु म्रियते तदा ते न गण्यन्ते पुनरेकद्वितीयादिसमयक्रममुल्लङ्घ्यापि अपूर्वेषु समयेषु म्रियते तदा ते व्यवहिता आप समया गण्यन्त इति। कर्म० ५ कर्म०।

कालपरिहीण न०(कालपरिहीन) परिहानिः परिहीनं कालस्य परिहीनम्। कालविलम्बे, रा०।

कालप्पभ पुं०(कालप्रभ) धरणादेरुत्पातपर्वते, स्था१० ठा०। (स च येषां यावत्प्रमाणस्तथोक्तो द्वितीयभागे ८३३ पृष्ठे 'उप्पाय' शब्दे)

कालप्पमाण पुं०(कालप्रमाण) चतुःप्रमाणभेदे, स्था०४ ठा१ उ०।

कालबह पुं०(कालवध) कालव्याघाते, ''कविहसिअविज्जुगंमि अ, गज्जिअउक्काय कालवहो''। आव०५ अ०।

कालबाल पुं०(कालपाल) व्यन्तरेन्द्राणां लोकपाले, स्था० १० ठा०।

कालभूमि स्त्री(कालभूमि) कालमण्डल्याम्, ''ते पुण ससूरिउ च्चिअ पासवणुच्चारकालभूमिओ'' आव०४ अ०।

कालभोगि(ण) त्रि०(कालभोगिन्) मध्याह्ने सूर्येणापि ध्रियमाणे भुञ्जाने बृ०१ उ०।

कालमाण न०(कालो न्यतेऽसौ। मन्–कर्मणि घञ् सुप्–स०। कालपरिमाणे, वाच०। कालपरिमाणापेक्षायाम्, पञ्चा १० विव०। (देवानामाहारोच्छ्वासयोः कालमान मान शब्दे वक्ष्यते)

कालमास पुं०(कालमास) कालो मरणं तस्य मासः प्रक्रमादवसरः कालमासः। मरणमासे, भ०७ श०१० उ०। ''कालमासे कालं किच्चा'' भ०७ श०६ उ०।

कालमासिणी स्त्री०(कालमासिनी) कालमासवत्यां गर्भाधानान्नवमासवत्याम्, ''सिया य समणट्ठाए गुव्विणी कालमासिणी'' दश०५ अ०१ उ०।

कालमिगपदृ पुं०(कालमृगपदृ) कालमृगचर्माणि, जं०२ वक्ष०। जी०।

कालय पुं०(कालक) भ्रमरे, विशे०। श्यामे, ''तेण तेल्लेण डज्झंतो कालओ जातो कागवन्नो नामे विक्खातो'' आ० म० द्वि०।

काललंघ पुं०(काललङ्घ)कालस्य साधूचितभिक्षासमयस्य लङ्घो लङ्घनमतिक्रम इति यावत्। अतिथिसंविभागव्रतस्याऽतिचारे, कालं न्यूनमधिकं वा ज्ञात्वा साधवो न ग्रहीष्यन्ति, ज्ञास्यन्ति च यथाऽयं ददातीत्येवं विकल्पो दानार्थमभ्युत्थानमतीचार इति चतुर्थः। ध०२ अधि०।

काललोहसिंचण न०(काललोहसेचन) काललोहेनाऽभिषेचनरूपे शारीरदण्डे, प्रश्न०५ सत्व० द्वार।

कालवट्ट (देशी) धनुषि, दे०ना०२ वर्ग।

कालवडिंसग न०(कालावतंसक) चमरचञ्चाराजधान्यां स्वनाम्न्याते विमाने, यत्र चमराग्रमहिषी काली देवी उपपन्ना। ज्ञा०१ अ०।

कालवाइ(ण्) पुं० (कालवादिन्) कालकृतमेव सर्वं जगन्मन्यमाने, नं०। कालवादिनश्च नाम ते मन्तव्या ये कालकृतमेव सर्वं जगन्मन्यन्ते। तथा च ते आहुः–न कालमन्तरेण चम्पकाशोकसहकारादिवनस्पतिकुसुमोद्गम फलबन्धादयो हिमकणानुषक्तशीतप्रपातनक्षत्रगर्भाधानवर्षादयो वा ऋतुविभाग संपादिता बालकुमारयौवनवलिपलितागमादयो वाऽवस्थाविशेषाः घटन्ते प्रतिनियतकालविभाग एव तेषामुपलभ्यमानत्वात्। अन्यथा सर्वमव्यवस्थया भवेत्। न चैतत् दृष्टमिष्टं वा। अपि च–मुद्गपंक्तिरपि न कालमन्तरेण लोके भवन्ति दृश्यते, किंतु कालक्रमेण, अन्यथा स्थलीन्धनादि-सामग्रीसंपर्कसंभवे प्रथमसमयेऽपि तस्याभावप्रसंगो न च भवति, तस्माद्यतकं तत्सर्वं कालकृतमिति। तथाचोक्तम्–

''न कालव्यतिरेकेण, गर्भबालशुभादिकम्।
यत्किञ्चियते लोके, तदसौ कारणं किल ॥१॥
किंच कालादृते नैव, मुद्गपङ्क्तिरपीक्षते।
स्थाल्यादिसंनिधानेऽपि, ततः कालादसौ मता ॥२॥
कालाभाव च गर्भादि, सर्वं स्यादव्यवस्थया।
परेष्टहेतुसद्भावमात्रादेव तदुद्भवात्॥३॥
कालः पचति भूतानि, कालः संहरते प्रजाः।
कालः सुप्तेषु जागर्ति, कालो हि दूरतिक्रमः'' ॥४॥

अत्र परेष्टहेतु सद्भावमात्रादिति पराभिमतवनितापुरुष-संयोगादिमात्ररूपहेतुसद्भावमात्रादेव, तदुद्भवादिति गर्भाद्युद्भव-प्रसंगात्। तथा कालः पचति परिपाकं नयति परिणतिं नयति भूतानि पृथिव्यादीनि, तथा कालः संहरते प्रजाः पूर्वपर्या-पर्यायात्प्रच्याव्य पर्यायान्तरेण प्रजाः लोकान् स्थापयति, तथा कालः सुप्तेषु जनेषु जागर्ति काल एवं तं तं सुप्तं जनमापदो रक्षतीति भावः। तस्माद्धि स्फुटं दुरतिक्रमोऽपाकर्तुमशक्यः काल इति। न०। खण्डनम्–तत्र ये कालवादिनः सर्वं कालकृतं मन्यन्ते तान् प्रति ब्रुमः–कालो नाम किमेकस्यभावो नित्यो व्यापी, किं वा समयादिरूपतया परिणमतीति ?। तत्र यद्याद्यः पक्षः। तदयुक्तम्। तथा भूतकालग्राहकप्रमाणाभावान्न खलु तथा भूतं कालं प्रत्यक्षेणोपलभामहे। नाप्यनुमानेन, तदविनाभाविलिङ्गाभावात्। अथ कथं तदविनाभाविलिङ्गाभावो यावत दृश्यते भरतरामादिषु पूर्वापरव्यवहारः, स च न वस्तुस्वरूपमात्रनिमित्तो, वर्त्तमाने च काले वस्तुस्वरूपस्य विद्यमानतया तथा व्यवहारप्रवृत्तिपशक्तेः, ततो यन्निमित्तोऽयं भरतरामादिषु पर्वापरव्यवहारः स काल इति। तथाहि–पूर्वकालयोगी पूर्वो भरतचक्रवर्ती, अपरकालयोगी चापरो रामादिरिति। ननु यदि भरतरामादिपूर्वापरकालयोगतः पूर्वापरव्यवहारस्तर्हि कालस्यैव कथं स्वयं पूर्वापरव्यवहारः ? तदन्यकालयोगादिति चेत्, न।

तत्राऽपि य एव प्रसङ्ग इत्यनवस्था। अथ्क मा भूदेष दोष इति. तस्य स्वयमेव पूर्वत्वमपरत्वं चेष्यते, नान्यकालयोगादिति। तथाचोक्तम्– ''पूर्वकालादियोगी यः पूर्वादिव्यपदेशभाक्। पूर्वापरत्वं तस्यापि, स्वरूपादेव नन्यतः'' ॥१॥ तदप्याकण्ठपीताऽऽसवप्रलापदेशीयम्। यत एकान्तैनैको व्यापी नित्यः कालोऽभ्युगम्यते ततः कथं तस्य पूर्वादित्यसंभवः ? अथ सहचारिसंपर्कवशादेकस्यापि तथात्वकल्पना। तथाहि–सहचारिणो भरतादयः पूर्वा अपरे च रामादयोऽपराः, ततस्तत्संपर्कवशात्कालस्यापि पूर्वपरव्यपदेशो भवति।सहचारिणो व्यपदेशो यथा–तश्चाः क्रोशन्ति इति। तदेतदपि बालिशजल्पितम्। इतरेतराश्रयदोषप्रसंगात्। तथाहि सहचारिणां भरतादीनां पूर्वादित्यं कालगतपूर्वादित्वयोगात्, कालस्य च पूर्वादित्वं सहचारिभरतादिगत-पूर्वादित्वयोगतः, तत एकाऽसिद्धावन्यतर–स्याप्यसिद्धिः। उक्तं च–

''एकत्वव्यापितायां हि, पूर्वादित्यं कथां भवेत् ?।
सहचारितवशात्तत्त-दन्योऽन्याश्रयश्तागमः ॥१॥
सहचारिणां हि पूर्वत्वं, पूर्वकालसमागतात्।
कालस्य पूर्वादित्वं च, साहचर्यवियोगतः ''॥२॥

प्रागसिद्धावेकस्य कथमन्यस्य सिद्धिरिति त्राद्यः पक्षः श्रेयान्। अथ द्वितीयः पक्षः, सोऽप्ययुक्तः, यतः समयादिरूपे परिणामिति काले विशिष्टेऽपि फलवैचित्र्यमुपभ्यते। तथाहि–समकालमारभ्यमाणायामपि मृद्गपंक्तिरविकला कस्यचिद् दृश्यते, अपरस्य तु स्थाल्यादिसंगतावेव विकला। तथा समयकालमेकस्मिन्नेव राजनि सेव्यमाने सेवकस्यैकस्य फलमचिराद्भवति, अपरस्य तु कालान्तरेऽपि; तथा समानेऽपि समकालमपि क्रियामाणे कृष्यादिकर्मण्येकस्य परिपूर्णा धान्यसंपदुपजायते, अपरस्य तु खण्डस्फुटिता वा न किञ्चिदपि। ततो यदि काल एव केवलः कारणं भवेत्तर्हि सर्वेषामपि सममेव मुद्गपंक्त्यादिकं फलं भवेत्, न च भवति, तस्मान्न कालमात्र कृतंविश्वैचित्र्यम्, किं तु कालादिसामग्रीसापेक्षं तत्तत्कर्मनिबन्धनमिति स्थितम्। नं०। (अनेकान्तेन स्याद्वादिनामपि कालस्य कारणत्वं सम्मतमेव) कालोऽपि कर्त्ता, यतो वकुलचम्पकाशोकपुन्नागसहकारादीनां विशिष्ट एव काले पुष्पफलाद्युद्भवो न सर्वदेति। यच्चोक्तम्कालस्यैकरूपत्वाज्जगद्वैचित्र्यं न घटत इति, तदस्मान् प्रति न दूषणम्, यतोऽस्माभिर्न काल एवैकः कर्तृत्वेनाभ्युपगम्यते, अपि तु कर्मापि, ततो जगद्वैचित्र्यमित्यदोषः। एकान्तवादसमाश्रयणे तु दोषः। सूत्र०१ श्रु०१ अ०२ उ०।

कालादेकान्तवादोऽपि मिथ्यात्वमेवेत्याह–

कालो सहाव णियई, पुव्वकयं पुरिसकारणेगंता।
मिच्छत्तत्तो चेव उ, समासओ होति सम्मत्तं ॥१५०॥

कालस्वभावनियतिपूर्वकृत पुरुषकारणरूपा एकान्ताः सर्वेऽप्येकका मिथ्यात्वम् त एव समुदिताः परस्परराजहद्वृत्तयः सम्यक्त्वरूपतां प्रतिपद्यन्त इति तात्पर्यार्थः। तत्र काल एवैकान्तैन जगतः कारणमिति कालवादिनः प्राहुः। तथाहि–सर्वस्य शीतोष्णवर्षावनस्पतिपुरुषादेर्जगतः प्रभवस्थितिविशेषेषु ग्रहोपरागयुतियुद्धोदयास्तमयगतिगमागमनादौ वा कालः कारणं, तमन्तरेण सर्वस्यास्योत्पत्तिकारणत्वाभिमतभावसद्भावेऽप्यभावात् तत्सद्भावे च भावान्न युक्तम् ''कालः पचति भूतानि'' इत्यादि। असदेतत्। तत्कालसद्भावेऽपि वृष्ट्यादेः कदाचिददर्शनात्। नच तदभवनमपि तद्विशेषकृतमेव, नित्यैकरूपतया तस्य विशेषाभावात्। विशेषे वा तज्जननाजननस्वभावतया तस्य नित्यत्वव्यतिक्रमात् स्वभावभेदाद् भेदसिद्धे। नच ग्रहमण्डलादिकृतो वर्षादिविशेषः, तस्याप्यहेतुकतयाऽभावात्। नच काल एव तस्य हेतुः, इतरेतराश्रयदोषप्रशक्तेः सति कालभेदे वर्षादिभेदहेतोर्ग्रहमण्डलादेर्भेदः, तद्भेदाच्च कालभेद इति परिस्फुटमितरेतराश्रयत्वम्। अन्यतः कारणाद्वर्षादिभेदेन काल एव एकः कारणं भवेत् इत्यभ्युपगमविरोधः। कालस्य कुतश्चिद्भेदाभ्युपगमे अनित्यत्वमित्युक्तम्। तत्र च प्रभवस्थितिविनाशेषु यद्यपरः कार्लः कारणं, तदा तत्रापि स एव पर्यनुपयोग इत्यनवस्थानान्न वर्षादिकार्योत्पत्तिः स्यात्। नचैकस्य कारणत्वं युक्तम्, क्रमयौगपद्याभ्यां तद्विरोधात्। तत्र काल एवैकः कारणं जगतः। सम्म०२ काण्ड। आचा०।

कालवासि(ण्) पुं०(कालवर्षिण्) अवसरवर्षिणि मेघे, अवसरे दानव्याख्यानादिपरोपकारार्थप्रवर्तके पुरुषजाते च। स्था०४ ठा०४ उ०।

कालविमोक्ख पुं०(कालविमोक्ष) चैत्यमहिमादिकेषु कालेषु समायातादिघोषणापादितो यावन्तं कालमुच्यते यस्मिन् वा काले व्यख्यायते तस्मिन् विमोक्षभेदे, आचा०१ श्रु०८ अ०१ उ०।

कालविभाग पुं(कालविभाग) अनाद्यपर्यवसितादिकालभेदेषु, ''इत्तो कालविभगं तु, तेसिं वोच्छं चउव्विहं''। उत्त.०३६ अ०।

कालविरुद्ध त्रि०(कालविरुद्ध) कालप्रतिकुले, कालविरुद्धं त्वेवम्– शीतर्तौ हिमालयपरिसरे, गीष्मर्तौ मरौ, वर्षासु अपरदक्षिणसमुद्रपर्य्यन्तभूभागेणुमयहारण्ये यामिनीमुखवेलायां वा प्रस्थानम्, तथा फाल्गुनमासाद्यनन्तरं तिलपीलनम्, तद्व्यवसायादि वर्षासु वा पत्रशाकग्रहणादि ज्ञेयम्। ध०२ अधि०।

कालविवच्चास पुं०(कालविपर्य्यास) ऋतुबुद्धे अधिकवासे, वर्षासु विहारे च। ''उडुबद्धकाले अतिरेगो वासो एवं संभवति दुल्लभदव्वट्ठता वा वासासु विहरंति, एवं कालविवच्चासं करेंति'' नि० चू०१ उ०।

कालवेला स्त्री०(कालवेला) कालस्य शनेर्वेला कालभेदः। रव्यादिवारेषु दिवानिशोरर्द्धयामभेदे, वाच०। कालवेलायां प्रकरणानि निर्युक्तयो वा साधुभिर्गण्यन्यते, न वा ? तथा कालवेलायां श्राद्धैरपि संग्रहणीप्रमुखं गण्यते, न वेति प्रश्ने, कालवेलायां सर्वेषामप्याचारप्रदीपादौ निर्युक्तिभाष्यादिप्रभृति सर्वं पठनपाठनादि प्रतिषिद्धमस्ति। २६ प्र० सेन० उ०।

कालवेसिय पुं०(कालवैश्यक) कालाख्यायाः वैश्यायाः पुत्रः कालवैश्यकः। मथुरानृपतेः कालवेश्यायां संजाते पुत्रे, उत्त०२ अ०। ('रोगपरीसह' शब्दे तत्कथा वक्ष्यते)

कालसंजोग पुं०(कालसंयोग) वर्तमानादिकाललक्षणानुभूतौ, मरणयोगे च। स्था०३ ठा०२ उ०।

कालसंदीव पुं०(कालसन्दीप) रुद्रमहेश्वरमारितत्रिपुरासुरे, आ० क०। आ०चू०। सूत्र०। ('सिक्खा' शब्दे दर्शयिध्यमाणाकथया स्पष्टीभविष्यति)

कालसमय पुं०(कालसमय) कालश्चासौ समयश्च कालसमयः। कालरूपे समये, ''पुरक्खडे कालसमयंसि वासाणं पढमे समए पडिवज्जइ।'' पूर्वस्मिन् काले (समयंसि त्ति)समयः सङ्केतादिरपि भवति। सू० प्र०८ पाहु०।

कालसमा स्त्री०(कालसमा) अवसर्पिण्य उत्सर्पिण्या वा अरके कालविभागे, प्रथमः कालविभागः सुषमसुषमा, द्वितीयः सुषमा, तृतीयः सुषमदुःषमा, चतुर्थो दुःषमसुषमा, पञ्चमो दुःषमा, षष्ठो दुःषमदुःषमा इत्यर्थः। उक्तानि कालसमानामानि। ज्यो०२ पाहु०।

कालसमाहि पुं०(कालसमाधि) समाधिभेदे, यस्य यं कालमवाप्य समाधिरुत्पद्यते। तद्यथा–शरदि गवां नक्तमुलकानातहनि वलिभुजां यस्य वा यावन्तं कालं समाधिर्भवति यस्मिन् वा समाधिर्व्याख्यायते स कालप्राधान्यात् कालसमाधिरिति। सूत्र०१ श्रु०१० अ०।

कालसमोसरण न०(कालसमवसरण) समवसरणभेलापकभेदे, कालसमवसरणं तु परमार्थतो नास्ति, विवक्षया तु यत्र द्विपदादयः समवसरन्ति व्याख्यायते च समवसरणं यत्र तत्कालप्राधान्यादिदमुच्यते। सूत्र०१ श्रु०१२ अ०।

कालसहाव पुं०(कालस्वभाव) कालसामर्थ्ये, पञ्चा०१७ विव०।

कालसिला स्त्री०(कालशिला) मरणार्थपादपोपगमनशिलायाम्, संथा०।

कालसोअरिय पुं०(कालसौकरिक) कालनामके सूनावृत्तिके, य चाऽविनीतो मृत्वा सप्तमपृथिवीं गतः, तत्पुत्रः सुलसः सुश्रावकोऽभूदिति। आ०क०। नि०चू०। स्था० सूत्र०। ('सुलस'शब्दऽस्य कथा वक्ष्यते)

कालहत्थि(ण्) पुं०(काहस्तिन्) कालम्बुकासन्निवेशस्थे प्रात्यन्तिके मेघस्य भ्रातरि, आ० म० द्वि०। आ०चू०। ('वीर'शब्देऽस्य कथा वक्ष्यते)

काला स्त्री०[काला(ली] कालो वर्णोऽस्त्यस्या अर्श अच्।काली वर्णश्चेदिति वार्तिकोक्तेः कालशब्दस्यैव वर्णवाचित्वे ङीष्। इह तु अर्श आद्यजन्तत्यात् न ङीष्। नीलिन्यां कुष्णत्रिवृतायां कृष्णजीरके च। कल विक्षेपे, णिच् पचाद्यच्। मञ्जिष्ठायाम्, कुलिकवृक्षे, अश्वगन्धावृक्षे, पाटलावृक्षे च। वाच०। प्राकृते तु **''अजातेः पुंसः''।८।३।३२।** इति अजातिवाचिनो जातिभिन्नवाचकात् कालशब्दात् वा ङीष्। काला काली। जातीवाचकात्तु ङीवेव, काली। प्रा०३ पाद।

कालाइक्कंत न०(कालातिक्रान्त) कालं दिवस्य प्रहरत्रयलक्षण–मतिक्रान्तं कालातिक्रान्तम्। ''जेणं णिग्गंथे वा जाव साइमं पढमाए *पोरिसीए पडिग्गहेत्ता पच्छिमं पोरिसिं उवायणावित्ता आहारमाहारेइ एस णं गोयमा ! कालाइक्कंते पाणभोयणे*'' इत्युक्तस्वरूपे कालांतिक्रमदोषदुष्टे पानभोजने, भ०७ श०१ उ०। तृष्णाबुभुक्षाकालाऽप्राप्ते वा पानभोजने, ''कालाइक्कंतेहि य पमाणाइक्कंतेहि य पाणभोअणेहिं अण्णया कयाइ सरीरिगसंविउलरोगांतके पाउब्भूए'' भ० ६ श०३३ उ०।

काल इक्कंतकिरिया स्त्री०(कालातिक्रान्तक्रिया) वसतेः कालातिक्रमदेषि, आचा०।

से आगंतारेसु वा आरामागा रेसु वा गाहावइकुलेसु वा परियावसहेसु वा जे भयंतारो उउवहिंयं वचा वासावासियं वा कप्पं उवातिणावेत्ता तं दुगुणा दुगुणेण अपरिहरित्ता तत्थेव भुज्जो संवसंति अयमाउसो ! इतरा उवट्ठाणकिरिया या वि भवति इह खलु पाईणं वा ४ संते गतिया सड्ढा भवंति। तं जहा–गाहावईउ वा जाव कम्मकरीउ वा तेसिं च णं आयारगोयरे णो सुणिसंते भवति तं सद्दहमाणेहिं तं पत्तियमाणेहिं तं रोयमाणेहिं बहवे समणमादण अतिहिकिवणवणीमए समुद्दिस्स तत्थ तत्थ अगारीहिं अगाराइं चेतिताइं भवंति। तं जहा– आएसणाणि वा आयतणाणि वा देवकुलाणि वा सभाओ वा पवाणि वा पणियगिहाणि वा पणियसालाओ वा जाणगिहाणि वा जाणसालाओ वा सुधाकम्मं ताणि वा डब्भकम्मं ताणि वा वणकम्मं पुव्वकम्मं इंगालकम्मं ताणि वा कट्ठकम्मं ताणि वा सुसाणकम्मं संतसुण्णा-गारगिरिकंदरा संति सेलोवट्ठाणकम्मं भवणगिहाणि वा जे भयंतारो तहप्पगाराइं आएसणाणि वा जाव भवणगिहाणि वा तेहिं उवयमाणेहिं उवयंति अयमाउसो ! अभिकंतकिरिया वि भवति, इह खलु पाईणं वा ४ जाव तं रोयमाणेहिं बहवे समणमाहणअतिहिकिवणवणीमए समुद्दिस्स तत्थ तत्थ अगारीहिं अगाराइं चेइयाइं भवंति। तं जहा– आएसणाणि वा जाव गिहाणि वा जे भयंतारो तहप्पगाराइं आएसणाणि वा जाव गिहाणि वा तेहिं अणोवयमाणेहिं उवयंति अयमाउसो ! अणभिक्कंतकिरिया वा विभवति, इह खलु पाईणं वा ४ संतेगइया सड्ढा भवंति। तं जहा–गाहावई वा जाव कम्मकरी वा तेसिं च णं एवं वुत्तपुव्वं भवति, जे इमे भवंति समणा भगवंतो सीलमंता जाव उवरया मेहुणाओ धम्माओ णो खलु एसिं भयंताराणं कप्पति आहाकम्मि ए उवस्सए वत्थए सेज्जाणिमाणि अम्हं अप्पणो अट्ठाए चेइयाइं भवंति। तं जहा– आएसणाणि वा जाव गिहाणि वा सव्वाणि ताणि समणा णं णिसिराओ अवियाइं वयं पच्छा अप्पणो सयट्ठाए चेतिस्सामो तं आएसणाणि वा जाव गिहाणि वा एतप्पगारं णिग्घोसं सोच्चा णिसम्मं जे भयंतारो तहप्पगाराइं आएसणाणि जाव गिहाणि वा उवागच्छंति, इयरा इतरेहिं पाहुडेहिं वट्टंति अयमाउसो ! वज्जकिरिया वि भवति, इह खलु पाईणं वा ४ संतेगइया सड्ढा भवंति तेसिं च णं आयागोयरे जाव तं रोएमाणेहिं समणमाहण० जाव वणीमगे पगणिय २ समुद्दिस्स तत्थ तत्थ अगारीहिं अगाराइं चेइयाइं भवंति। तं जहा–आएसणाणि वा जाव गिहाणि वा जे भयंतरो तहप्पगाराइं आएसणाणि वा उवागच्छंति, इतरा इतरे

हिं पाहुडेहिं अयमाउसो ! महावज्जकिरिया यावि भवति, इह खलु पाईणं वा ४ संते गइया जाव तं रोयमाणेहिं बहवे समणजाए समुद्दिस्स तत्थ अगारीहिं अगाराइं चेइयाइ भवंति। जं जहा–आएसणाणि वा जाव भवणगिहाणि वा जे भयंतारो तहप्पगाराइं आएसणाणि वा जाव गिहाणि वा उवागच्छिंति, इयरा इयरेहिं पाहुडेहिं अयमाउसो ! सावज्जकिरिया यावि भवति, इह खलु पाईणं वा ४ संतेगइया सड्ढा भवंति। तं जहा–गाहावई वा जाव कम्मकरीओ वा तेसिं च णं आयारगोयरे णो सुणिसंते भवति, तं सद्दहमाणेहिं ३ एक्कं समणजायं समुद्दिस्स तत्थ तत्थ अगारीहिं अगाराइं चेइयाइ भवंति। तं जहा–आएसणाणि वा जाव भवणगिहाणि वा महया पुढविकायसमारंभेण एवं आउतेउवाउणस्सइ महया तसकायसमारंभेणं तहया संरंभेणं महया समारंभेण महता आरंभेणं महया विरुवरूवेहिं पावकम्मकिच्चेहिं तं जहा–छायणओ लेवणओ संथारदुवारपिहाणओ सीतोदए वा परिट्ठविय पुव्वे भवति, अगणिकाए वा उज्जालियपुव्वे भवति, जे भयंतारो तहप्पगाराइं आएसणाणि वा जाव भवणगिहाणि वा उवागच्छंति इतरा इतरेहिं पाहुडेहिं दुपक्खंते कम्मं सेवंति अयमाउसो ! महासावज्जकिरिया यावि भवति, इह खलु पाईणं वा ४ जाव तं रोयमाणेहिं अप्पणो सयट्ठाए तत्थ तत्थ अगारीहिं अगाराइं चेइयाइं भवंति, तं आएसणाणि वा जाव गिहाणि वा महया पुढविकाय समारंभेणं जाव अगणिकाए वा उज्जालियपुव्वे भवति, जे भयंतारो तहप्पगाराइं आएसणाणि वा जाव गिहाणि वा उवागच्छंति, इतरा इतरेहिं पाहुडेहिं एगपक्खंते कम्मं सेवंति अयमाउसो ! अप्पसावज्जकिरिया यावि भवति एवं खलु तस्स भिक्खुस्स वा भिक्खुणीए वा सामग्गियं।

साम्प्रतं कालातिक्रान्तवसतिदोषमाह–(से) इत्यादि। तेष्वारामागारेषु ये भगवन्त ऋतुबद्धमिति शीतोष्णकालयोर्मासकल्पमुपनीयतिबाह्य वर्षासु वा चतुरो मासानतिवाह्य तत्रैव पुनः कारणमन्तरेणासते, अयमायुष्मन् ! कालातिक्रमदोषः संभवति। तथाच स्त्रयादिप्रतिबन्धः स्नेहाद्युद्गमादिदोषसंभवो वेत्यत स्तथा स्थानं न कल्पते इति। इदानीमुपस्थानदोषमभिधित्सुराह–(से) इत्यादि। ये भगवन्तः साधव आगन्तारादिषु ऋतुबद्धं वर्षा वाऽतिवाह्यान्यत्र मासमेकं स्थित्वा द्विगुणत्रिगुणादिना मासकल्पेनापरिहृत्य द्वित्रैर्मासैर्व्यवधानमकृत्वा पुनस्तत्रैव वसन्ति। अयमेवं भूतः प्रतिश्रय उपस्थानक्रियादोषदुष्टो भवतीत्यतस्त्रावस्थातुं न कल्पत इति। इदानीमतिक्रान्तवसति-प्रतिपादनायाह– इह प्रज्ञापकाद्यपेक्षया प्राच्यादिषु दिक्षु श्रावकाः प्रकृतिभद्रका वा गृहपत्यादयो भवेयुः तेषां च साध्वाचारगोचरः (णो सुणिसन्तो इति) न सुष्ठु निशान्तः श्रुतोऽवगतो भवात साधूनामेवं भूतः प्रतिश्रयः कल्पते, नैवंभूत इत्येवं न ज्ञातं भवतीत्यर्थः। प्रतिश्रयदानफलं च स्वर्गादिकं तैः कुतश्चिदवगतं तच्छ्रद्दधानैः प्रतीयमानै रोचयद्भिरेकार्था एते, किञ्चिद्भेदाद्वा भेदः। तदेवंभूतैरगारिभिर्गृ हस्थैर्बहून् श्रमणादीनुद्दिश्च तत्र तत्राऽऽरामादौ यानशालादीनि स्वार्थं कुर्वद्भिः श्रवणाद्यवकाशार्थम् (चेइयांति) महान्ति कृतानि भवन्ति चागाराणि, स्वनामग्राहं दर्शयति। तद्यथा–आवेशनानि लोहकारादिशाला, आयतनानि देवकुलपार्श्वप-वरकदेपकुलानि प्रतीतानि, सभाश्चातुर्वेद्यादिशालाः, प्रपा उदकदान-स्थानानि, पण्यगृहाणि पण्यापणाः, शाला घंघशाला, यानगृहाणि यत्र यानानि तिष्ठन्ति, यानशाला यत्र यानानि निष्पाद्यते (सुधाकम्मं ति) तानि यत्र सुधा परिकर्म्म क्रियते। एवं दर्भवल्कवनाङ्गारकाष्ठकर्मगृहाणि द्रष्टव्यानि। श्मशानगृहं प्रतीतम्, शान्तिकर्म्मगृहं यत्र शान्ति कर्म्म क्रियते, गिरिगृहं पर्वतोपरिगृहं, कन्दरं गिरिगुहा सुस्कृता, शैलोपस्थानं पाषाणमण्डपः, तदेवंभूतानि गृहाणि तैश्चरकब्राह्मणादिभिरभिक्रान्तानि पूर्वं पश्चाद् भगवन्तः साधवोऽवपतन्त्यवतरन्ति। अयमायुष्मन् विनेयामन्त्रणम्। अतिक्रान्तक्रिया वसतिर्भवत्यल्प दोषा चेयम्। इहेत्यादि सुगमं, नवरं चरकादिभिरनवसेवित पूर्वानभिक्रान्तक्रियावसतिर्भवतीयं वाऽनभिक्रान्तत्वादेवाकल्पनीयेति। साम्प्रतं वर्जाभिधानं वसतिमाह–इह खल्वित्यादि प्रायः सुगमम्। समुदार्यान्यात्मार्थं गृहाणि निर्वर्तितानि साधुभ्यो दत्त्वा आत्मार्थं त्वन्यानि कुर्व न्ति, ते च साधवस्तेष्वित-रेतरेषूच्चावचेषु (पाहुडेहिं ति) प्रदत्तेषु गृहेषु यदि वर्त्तन्ते ततो वर्ज्यक्रिया-भिधाना वसतिः सा च न कल्पते इति। इदानीं महावर्जाभिधानां वसतिः सा च न कल्पते इति। इदानीं महावर्जाभिधानां वसतिमधिकृत्याह–इहेत्यादि प्रायः सुगममेव, नवरं श्रमणाद्यर्थं निष्पादितायां यावन्ति वसतौ स्थानादि कुर्व तो महावर्जाभिधाना वसतिर्भवत्यकल्प्या चेयं विशुद्ध-कोटिश्चेति। इदानीं सावद्याभिधानामधिकृत्याह–इहेत्यादि प्रायः सुगमं, नवरं पञ्चविधश्रमणाद्यर्थमेवैषा कल्पिता,ते चामी श्रमणाः–''णिग्गंथ-सक्कतावसगेरु-अआजीवपञ्चहा समणा इति ''अस्थां च स्थानादि कुर्वतः सावद्यक्रियाऽभिधाना वसतिर्भवति, अकल्पनीया चेयं चिशुद्धकोटिश्चेति। महासावद्याभिधानामधिकृत्याह–(इहेत्यादि) इह कश्चिद् गृहपत्यादि-रेकं साधर्मिकमुद्दिश्य पृथिवीकायदिसंरम्भसमारम्भैरन्यतरेण वा महता तथा विरूपरूपैर्नानारूपैः पापकर्मकृत्यैरनुष्ठानैस्तद्यथा छादनतो लेपनतस्तथा संस्तारकार्थं द्वारडक्कनार्थं चेत्यादीनि प्रयोजनान्युद्दिश्य शीतोदकं त्यक्तपूर्वं भवेत्, अग्निर्वा प्रज्वालितपूर्वो भवेत्, तदस्यां वसतौ स्थानादि कुर्वन्तस्ते द्विपक्षं कर्मासेवन्ते। तद्यथा–प्रवज्यां आधाकर्म्मि-कवसत्यासेवनाद् गृहस्थत्वं च रागद्वेषं च ईर्यापथां सांपरायिकं चेत्यादि-दोषान् महासावद्यक्रियाभिधाना वसतिर्भवतीति। इदानीमल्पक्रिया-भिधानामधिकृत्याह–इहेत्यादि सुगमं, नवरम् अल्पशब्दोऽभाववाचीति, एतत्तस्य भिक्षोः सामग्र्यं संपूर्णो भिक्षुभाव इति। ''कालाइक्कंतु वज्जाणा अभिक्कता चेव अणभिक्कन्ता य वज्जा य महावज्जा सावज्जमहप्पकिरिया य''। एताश्च नव वसतयो यथाकमं नवभिरनन्तरसूत्रैः प्रतिपादिताः, आसु च अभिक्रान्ता अल्पक्रिये योग्ये, शेषास्त्वयोग्या इति। आचा०२ श्रु०२ अ०२ उ०। पं०। व०।

कालाइक्कंता स्त्री०(कालातिक्रान्ता) कालमतिक्रान्ता कालाति-क्रान्ता। कालातिक्रान्तक्रियाख्ये वसतिदोषभेदे, ''उउमासं समईआ, कालाईआ उ सा भवे सिज्जा'' (ऋताविति) ऋतुबद्धे मासं समतीता या निवासेन, उपलक्षणाद्वर्षाकाले वा चतुरकालातीता-सुकालातीतैव, सा भवेच्छय्या, शय्येति वसतिः अन्ये तु पाठा-

न्तरं इत्थं व्याचक्षते–ऋतुवर्षयोः समतीता निजं कालमृतुबद्धे मासं वर्षाकाले चतुर इति शेषं मूलवत्। पं० व ३ द्वार।

कालाइक्कम पुं०(कालातिक्रम) कालस्य साधूचितभिक्षासमयस्याऽतिक्रमोऽदित्सयाऽनागतभोजनपश्चाद्भोजनद्वारेणोल्लङ्घनं कालातिक्रमः। अतिथिसंविभागस्य चतुर्थशिक्षाव्रतस्याऽतिचारे, पञ्चा०१ विव०। कालस्यातिक्रमः कालातिक्रम इत्युचितो यो भिक्षाकालः साधूनां, तमतिक्रम्यानागतं वा भुक्तेऽतिक्रान्ते वा तदा च किञ्चित्तेन लब्धेनापि कालातिक्रान्तत्वात्तस्य। उक्तं च–''काले दिन्नस्स पहेणयस्स अग्घो न तीरई किं तु। तस्सेव अ कालपणामियस्स गेण्हंतया नत्थि''॥ आव०६ अ०।

कालाइचार पुं०(कालातिचार) दीर्घस्थितिके, ''आउस्स कालाइचरं व घाए, लद्धाणुमाणे य परेसु अट्ठे।'' सूत्र०१ श्रु०१३ अ०।

कालाएस पुं०(कालादेश) कालप्रकारे कालत इत्यर्थे, भ०२४ श०१ उ०।

कालाकाल पुं०(कालाकाल) संचरणस्य उचिताऽनुचितरूपयोः समयाऽसमयोः, प्रश्न०३ आश्र० द्वार।

कालाग(गु)रु न०[कालाग(गु।ऱ्)कृष्णागुरुणि, ज्ञा०१ अ०। ''कालागुरुकंदुरुक्कधूवमघमघायमाणगंधुद्धुयाभिरामे''। प्रज्ञा०२ पद। औ०। रा०।

कालाणुओग पुं०(कालानुयोग)तृतीयेऽनुयोगे, स च सूर्यप्रज्ञप्तिः, उपलक्षणमेतत्–चन्द्रप्रज्ञप्त्यादिरपि। आ०म०द्वि०।

कालाणुट्ठाइ(ण्) त्रि०(कालानुष्ठायिन)यद्यस्मिन् काले कर्त्तव्यं तस्मिन्नेवानुष्ठातुं शीलमस्येति कालानुष्ठायी। कालानतिपातकर्त्तव्योद्यते, आचा०१ श्रु०२ अ०५ उ०।

कालादेस पुं०(कालादेश) एकादिसमयस्थितिकत्वे, भ०५ श०८ उ०। कालविशेषितत्वलक्षणप्रकारे, भ०१४ श०४ उ०।

कालायस न०(कालायस्)लोहविशेषे, भ०१ श०५ उ०। औ०। जं०। ''कालायससुकयणेमिअंतकम्मं'' कालायसेन लोहविशेषेण सुष्ठु अतिशयेन कृतनेमेर्बाह्यपरिधेर्यन्त्रस्य चारकोपरि फलकचक्रवालस्य कर्म यस्मिन् स कालायस्सुकृततनेमियन्त्रकर्मा। जी०३ प्रति०। लोहमात्रे, जी० प्रति०।

कालायार पुं०(कालाचार)ज्ञानाचारभेदे, नि०चू०।

जं जम्मि होइ काले, आयरियव्वं स कालमायारो।
वइरित्तो तु अकालो, लहुगा तु अकालकारिस्स॥६॥

(जमिति)अणिद्दिट्ठं सुयं घेप्पइ (जम्मि)काले आधारभूते (होति) भवतीत्यर्थः। (आयरियव्वं) णाम पढियव्वं सोयव्वं वा, जहा सुत्तपोरिसीए सुत्तं कायव्वं, अत्थपोरिसीए अत्थो, अहवा कालियं कालए वणउग्घाडपोरिसीए, उक्कालियं सव्वासु पोरिसीसु कालवेलं मोत्तुं (स) इति निद्देशे। अओ स एव कालो कालायारो भवति। वइरित्तो णाम जहाऽभिहियकालाओ अण्णो अकालो भवति, जहा सुत्तं वितियाए, अत्थं पढमाए पोरिसीए वा सज्झाए वा असज्झाए वा, तुसद्दो कारणावेक्खी, कारणं पप्प विवच्चासो वि कज्जति, अतो तम्मि अकाले दप्पेण पढंतस्स सुणे तस्स वा पच्छित्तं भवति। तं च इमं लहुयाओ अकालकारिस्स सुत्ते अत्थे य। तुसद्दो केवि मतविसेसावेक्खी, तं च उवरिं भणीहि त्ति।

इयाणिं चोदगो भणति–

को आउरस्स कालो, मइ णवर धोवणे व्व को कालो।
जदि मोक्खहेउनाणं, को कालो तस्स कालो वा॥१०॥

(को) क आतुरो रोगी, कलनं कालः, कलासमूहः कालः, तेण वा कारणभूतेन दिव्वादिचउक्कयं कलिज्जतीति कालः, ज्ञायत इत्यर्थः। कोकारसद्दाभिहाणेण य ण कोइ कालो कालोऽभिधारिज्जइ। यथाऽन्यत्राप्यभिहितम्–को राजा न रक्षति मलो जस्स विज्जति, तं मइलं अंबरं वत्थं तस्स य मइलंबरस्स धोवाणं प्रति कालाकालो न विद्यते, भणिया दिट्ठंता। इयाणिं दिट्ठंतितो अत्थो भण्णति–एवं (जइ) जइ त्ति अब्भुवगमो सव्वकम्मावगमो मोक्खो भण्णति, तस्स य हेउं कारणं निमित्तमिति पज्जाया। ज्ञायते अनेनेति ज्ञानं, यद्येवमभ्युपगम्यते ज्ञानं कारणं व भवति मोक्षस्यातो कालो तस्स अकालो वा कालः। (तस्सेति) तस्स णाणस्स अ कालो वा, मा भवति इति वक्कसेसं।

आयरिओ भणति–सुणेहि चोदग ! समयपसिद्धेहिं लोगपसिद्धेहि सय कारणेहिं पव्वाइ –

आहारविहारादिसु, मोक्खहिगारेसु काल अकालो।
जइ दिट्ठो तह सुत्ते, विज्जाणं साहणे चेव॥११॥

आहारिज्जतीति आहारो, सो य मोक्खकारणं भवति, जहा तस्स कालो अकालो य दिट्ठो, भणियं च अकाले चरसि भिक्खुसिलोगे, विहरणं विहारो, सो य उडुबद्धेन वासासु अहवा दिवा न रातो, अहवा दिवसातो वि तितियाए न सेसासु, सो य विहारो मोक्खकारणं भवति। (मोक्खहिगारेसुत्ति) मोक्खकारणेसु, अहवा मोक्खत्थं आहाराइसु अहिगारो कीरति, जहा जेण पगारेण दिट्ठो उवलद्धो कालो अकालो य तहा तेणप्पगारेण (सुत्ते त्ति) सुयणाणे तम्मि वि कालाकालो भवतीति वक्कसेसं। किं च– विज्जाणं साहणे चेव कालाकालो दिट्ठो, जहा काइ विज्जा कण्हचाउद्दसिअट्ठमीसु साहिज्जति, अकाले पुण साहिज्जमाणी उवघायं जणयति, तहा णाणं पि काले अहिज्जमाणं णिज्जराहेऊ भवति, अकाले पुण उवघातकरं कम्मबंधाय भवति, तम्हा काले पढियव्वं, अकाले पढंतं पडिणीया देवता छलेज्ज।

जहा–

तक्क कुडेणाहरणं, दोहियधमएहि होति णायव्वं।
अतिसिरिमिच्छंतीए, विणासितो अप्पहारं तु॥१२॥

तक्कं उदसी, कुडो घडो आहारणं दिट्ठंतो, तक्कभरिएण कुडेण आहरणं दिज्जति, जहा महुराए णयरीए एगो साहू पाउसियं कालं घेत्तुं अइक्कंताए पोरिसीए कालियसुयमणुवओगेण पढति, तं सम्मद्दिट्ठी देवया पासति, ताए चिंतियं–मा एयं साहुं पंता देवता छलेहि, तओ णं पडिवोहेमि, ताए य आहीरीरूवं काउं तक्ककुडं घेत्तुं तस्स पुरओ तक्कं विक्कायइ त्ति घोसंती गताऽऽगताणि करेति, तेण साहुणा विरस्स सज्झायवाघारं करेति त्ति भणिया–को इमो तक्कवक्कयकालो ? तयाऽऽलवियं–तुब्भं पुणाइ को इमो कालियस्स सज्झायकालो अ। भणियं च–''सूईपदप्प-माणाणि, परिच्छिदाणि पाससि। अप्पणो बिल्लमेत्ता–

णि पस्संतो वि ण पाससि ॥१॥ साहू उवउत्तो, णायं मिच्छा मि दुक्कडं ति आउट्टो। देवया भणति-मा अकाले पढमाणो पंतदेवयाए छलिज्जिहिसि। अहवा इदमुदाइरणम्-दोहि य धमएहिं धमे धमे णातिधमे अतिधंतं न सोभति, जं अज्जियं धम्मं ते तेण तहारियं अतिधम्मं तेण एगो सामाइओ, छेत्तेसु अंतो सुअराइसावज्जनासणत्थं सिंगं धमति। अण्णया तेणो वासे चोरा गावीओ हरंति, तेण समावत्तीए धंतं चोरा कुदो आगओ त्ति गावीओ छड्डेत्तु गया, तेण पभाए दट्ठुनीया इओ घरं चिंतेइ यधंत्रप्पभावेण मे पत्ताओ, अभिक्खं धमामि अण्णा वि पाविस्सं एवं छेत्तं गावीओ य रक्खंतो अत्थति, अण्णया तेण चेव अंतेण ते चोरा गावीओ हरंति, तेण य सिंगयं धंतं चोरेहिं आणक्खेऊण हओ, गावीओ य णीयाओ। तम्हा काले चेव धम्मियव्वं। इदाणिं चितिओ धमओ भण्णति-एगो राया दंडयत्ताए चलिओ, एक्केण य संखधमेण समावत्तीए तम्मि काले संखो पूरितो, तुट्ठो राया थके पूरितो त्ति वाहिरितरे संखपूरओ, सयसहस्सं से दिण्ण, सो तेणं चेव हेवाएणं धम्मंतो अत्थति। अण्णया राया विरेयणपीडितो वच्चगिहमेतीति, तेण य संखो दिण्णो, परबलकोट्टं च वट्टति, राया संतत्तो, वेगधारणं च से जायं, गिलाणो संवुत्तो, तओ उट्ठिएण रण्णा सव्वस्सहरणो कओ। जम्हा एते दोसा अकालकारीणं तम्हा काले चेव पढियव्वं, ण अकाले। अहवा इमो दिट्ठंतो। अतिसिरिमिच्छंतीए पच्छद्धं। आयरिओ भणइ-हे चोदग। अकाले तुमं पढंतो अतिसिरिमिच्छसि, अतिसिरिमिच्छंतो य विणासं पाविहिसि। कहं सिरीए मतिमंतुस्से अतिसिरिणाइ पत्थए "अतिसिरिमिच्छंतीए, थेरीए विणासिआ"। अप्पा एगा थाणहारिगथेरीए वाणमंतरमाराहियं, अच्चणं करेंतीए अण्णया छगणाणि एलुत्थयंतीए रयणाणि जायाणि, इस्सरीभूया चाउस्सालं घरं कारियं अणेगधणरयणसयणासणभरियं, सइब्भियथेरी य तं पेक्खति, पुच्छति य-कुत्रो एयं दविण त्ति। तीएय जहा भूयं कहियं। ताए वि उवलेवणधूवमादीहिं आराहितो वाणमंतरो, भणति य-वूहि वरं। तया लवितं-जं तीए तं मम दुगुणं भवउ, तं व तीए सव्वं दुगुणं जायं। ततो तुट्ठा अत्थति।ताए य पुरिमत्थेरीए तं सव्वं सुयं, ताए य अमरिसपुण्णाए वितियं मम चाउस्सालं फिट्टउ, तणकुडिया भवउ, बितियाए दो ती कुडिआओ जायाओ पुणो तीए चिंतियं-मम एक्कं अत्थि फुल्लयं भवउ इयरीए दो वि फुल्लाइं, एवं हत्थे पाए वसंमिआ विणासमुवगता। एसो असंतोसदोसो। तम्हा अतिरित्ते काले सज्झाओ ण कायव्वो, मा एवं विराहणा भविस्सति त्ति। भणिओ कालायारो। नि० चू० १ उ०।

कालावइ-स्त्री०(कालापत्) दुष्कालादौ, जीत०।

कालावग न०(कालापक) कालापकस्य कलापिना प्रोक्तस्य शाखाभेदस्य धर्म आम्नायो वा। (चरणादू धर्माम्नाययोः) **चरणेभ्यो धर्मवत्। ४।५।४६।** इति (पाणि०) वुञ्। कलापिप्रोक्तशाखा-भेदस्य धर्मे, आम्नाये च। वाच०। व्याकरणभेदे, कल्प० १ क्षण।

कालासवेसियपुत्त पुं०(कालाश्यवैशिकपुत्र) स्वनामख्याते पार्श्वापत्यीये, भ०।

तेणं कालेणं तेणं समएणं पासावच्चिज्जे कालासवेसियपुत्ते णामं अणगारे जेणेव थेरा भगवंतो तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता थेरं भगवं एवं बयासी-थेरा सामाइयं ण याणंति, थेरा सामाइयस्स अट्ठं ण याणंति, थेरा पच्चक्खाणं न याणंति, थेरा पच्चक्खाणस्स अट्ठं ण याणंति, थेरा संजमं ण याणंति, थेरा संजमस्स अट्ठं ण याणंति, थेरा संवरं ण याणंति, थेरा संवरस्स अट्ठं न याणंति, थेरा विवेगं ण याणंति, थेरा विवेगस्स अट्ठं ण याणंति, थेरा विउस्सग्गं ण याणंति, थेरा विउस्सग्गस्स अट्ठं न याणंति। तए णं ते थेरा भगवंतो कालासवेसियपुत्तं अणगारं एवं वयासी-जाणामो णं अज्जो। सामाइयं, जाणामो णं अज्जो। सामाइयस्स अट्ठं । जाव जाणामो णं अज्जो ! विउस्सग्गस्स अट्ठं। तए णं से कालासवेसियपुत्ते अणगारे थेरे भगवंते एवं वयासी-जइ णं अज्जो। तुब्भे जाणह सामाइयं, जाणह सामाइ-यस्स अट्ठं ०, जाव जाणह विउस्सग्गस्स अट्ठं। के भे अज्जो। समाइए, के भे सामाइयस्स अट्ठे० जाव के भे विउस्सग्गस्स अट्ठे। तए णं ते थेरा भगवंतो कालासवेसियपुत्तं अणगारं एवं वयासी-आयाणो अज्जो। सामाइए, आयाणे अज्जो ! सामाइ-यस्स अट्ठे, जाव विउस्सग्गस्स अट्ठे। तए णं से कालासवेसियपुत्ते अणगारे थेरे भगवंते एवं वयासी-जइ भे अज्जो ! आया सामाइए आया सामाइयस्स अट्ठे,०जाव आया विनस्सग्गस्स अट्ठे, अवहट्टु कोहमाणमायालोभे किमट्ठं अज्जो। गरहह ?। कालासा। संजमट्ठयाए। से भंते। किं गरहासंजमे अगरहासंजमे ?। कालासा। गरहासंजमे, नो अगरहासंजमे। गरहा वि य णं सव्वं दोसं पविणेइ सव्वं बालियं परिण्णाए एवं खु णे आयासंजमे उवहिए भवइ, एवं खु णे आयासंजमे उवचिए भवइ, एवं खु णे आयासंजमे उवट्ठिए भवइ, एत्थ णं से कालासवेसियपुत्ते अणगारे संबुद्धे थेरे भगवंते वंदइ णमंसइ, वंदित्ता णमंसइत्ता एवं वयासी-एएसि णं भंते। पयाणं पुव्विं अण्णाणयाए असवणयाए अबोहियाए अणभिगमेणं अदिट्ठाणं अस्सुयाणं असुयाणं अविण्णायाणं अव्वोकडाणं अव्वोच्छिण्णाणं अणिज्जूढाणं अणुवधारियाणं एयमट्ठं णो सद्दहिए णो पत्तिइए णो रोइए, इयाणिं भेतं। एएसि णं पयाणं जाणणयाए सवणयाए बोहियाण अभिगमेण दिट्ठाणं स्सुयाणं सुयाणं विण्णा-यागं वोगडाणं वोच्छिण्णाणं णिज्जूढाणं उवधारियाणं एयमट्ठं सद्द-हामि पत्तियामि रोएमि एवमेयं से जहेयं तुब्भे वयह। तए णं ते थेरा भगवंतो कालासवेसियपुत्तं अणगारं एवं वयासी- सद्दहाहि अज्जो ! पत्तिआहि अज्जो ! रोएहि अज्जो ! से जहेयं अम्हे वयामो। तए णं से कालासवेसियपुत्ते अणगारे थेरे भगवंतो वंदइ नमंसइ, वंदित्ता

णमंसइत्ता एवं वयासी-इच्छामि णं भंते। तुब्भे अंतिए चाउज्जामाओ धम्माओ पंचमहव्वइयं सपडिक्कमणं धम्मं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए। अहासुहं देवाणुप्पिया। मा पडिबंधं करेह। तए णं से कालासवेसिए पुत्ते अणगारे थेरे भगवंते वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसइत्ता चाउज्जामाओ धम्माओ पंचमहव्वइयं सपडिक्कमणं धम्मं उवसंपज्जित्ता णं विहरइ। तए णं से कालासवेसियपुत्ते अणगारे बहूणि वासाणि सामण्णपरियागं पाउणइ, पाउणइत्ता जस्सट्ठाए करीइ नग्गभावे मुंडभावे अन्हाणयं अदंतधुवणयं अच्छत्तयं अणोवाहणयं भूमिसेज्जा फलहसेज्जा कट्ठसेज्जा केसलोओ बंभचेरवासो परघरप्पवेसो लद्धावलद्धी उच्चावया गामकंटया बावीसं परीसहोवसग्गा अहियासिज्जइ तमट्ठं आराहेइ, आराहेइत्ता चरमेहिं उस्सासनीसासेहिं सिद्धे बुद्धे मुक्के परिनिव्वुए सव्वदुक्खप्पहीणे।

(तेणमित्यादि) (पासावच्चिज्जे त्ति) पार्श्वापत्यानां पार्श्वजिनशिष्याणामयं पार्श्वापत्यीयः। (थेर त्ति) श्रीमन्महावीरजिनशिष्याः श्रुतवृद्धाः। (सामाइयं ति) समभावरूपम्। (न याणंति त्ति) न जानन्ति सूक्ष्मत्वात्तस्य (सामाइयस्स अट्ठं ति) प्रयोजनं कर्मानुपादाननिर्जरणरूपम्। (पच्चक्खाणं ति) पौरुष्यादिनियमं, तदर्थं चाश्रवद्वारनिरोधम्। (संजमं ति) पृथिव्यादिसंरक्षणलक्षणं, तदर्थं चानाश्रवत्वम् (संवरं ति) इन्द्रियनोइन्द्रियनिवर्तनं, तदर्थं तु अनाश्रवत्वमेव (विवेगं ति) विशिष्टबोधं, तदर्थं च त्याज्यत्यागादिकम्। (विउस्सग्गं ति) व्युत्सर्गं कायादीनां, तदर्थं चानभिष्वङ्गताम्। (अज्जो त्ति) हे आर्य। ओकारान्तता सम्बोधने प्राकृतत्वात्। [के भे ति] किं भवतामित्यर्थः (आयाणे त्ति) आत्मनोऽस्माकं मते सामायिकमिति। यदाह- "जीवो गुणपडिवण्णो, न यस्स दव्वट्ठियस्स सामइयं"। सामायिकार्थोऽपि जीव एव, कर्मानुपादानादीनां जीवगुणत्वात्, जीवाव्यतिरिक्तत्वाच्च तदगुणानामिति, एवं प्रत्याख्यानाद्यप्यवगन्तव्यम्। (जइ भे अज्जो त्ति) यदि भवतां हे आर्याः स्थविराः। सामायिकमात्मा, तथा (अवहट्टु त्ति) अपहत्य त्यक्त्वा क्रोधादीन् किमर्थं गर्हध्वे। "निन्दामि गरहामि अप्पाणं वोसिरामि" इतिवचनात् क्रोधादीनेव, अथवा अवद्यमिति गम्यते। अयमभिप्रायः-यः सामायिकवान् त्यक्तक्रोधाश्च स कथं किमपि निन्दति। निन्दा हि किल द्वेषप्रभवेति। अत्रोत्तरम्। संयमार्थमिति। अवद्ये गर्हिते संयमो भवति, अवद्यानुमतेर्व्यवच्छेदनात्। तथा गर्हासंयमस्तद्धेतुत्वान्न केवलमसौ, गर्हाकर्मानुपादानहेतुत्वात्संयमो भवति। (गरहा वि य त्ति) गर्हेव च सर्वं (दोसं ति) दोषं रागादिकं, पूर्वकृतपापं वा, द्वेषं वा, प्रविनयति क्षपयति। किं कृत्वेत्याह-(सव्वं बालियं ति) बाल्यं बालतां मिथ्यात्वमविरतिं च (परिण्णाए त्ति) परिज्ञाय ज्ञपरिज्ञया ज्ञात्वा प्रत्याख्यानपरिज्ञया च प्रत्याख्यायेति। इह च गर्हायास्तद्वतश्चाभेदादेककर्तृकत्वेन परिज्ञायेत्यत्र क्त्वाप्रत्ययविधिरदुष्ट इति। (एवं खु त्ति) एवमेव (णे इति) अस्माकम्। (आयासंजमे उवहिए त्ति) उपहितः प्रक्षिप्तो न्यस्तो भवति। अथवा-आत्मरूपः संयम उपहितः प्राप्तो भवति। (आयासंजमे उवचिए त्ति) आत्मा संयमविषये पुष्टो भवति। आत्मरूपो वा संयम उपचितो भवति। (उवट्ठिए त्ति) उपस्थितोऽत्यन्तावस्थायी। (एएसिणं भंते। पयाणं इति) अस्य "अदिट्ठाणमित्यादिना" सम्बन्धः। कथमदृष्टानामित्यत आह-(अण्णा णयाए त्ति) अज्ञानो निर्ज्ञानस्तस्य भावोऽज्ञानता, तयाऽज्ञानतया, स्वरूपेणानुपलम्भादित्यर्थः। एतदेव कथमित्याह- (असवणयाए त्ति) अश्रवणः श्रुतिवर्जितस्तद्भावस्तत्ता, तया (अबोहिए त्ति) अबोधिर्जिनधर्मानवाप्तिः, इह तु प्रक्रमान्महावीरजिनधर्म्मानवाप्तिस्तया, अथ वौत्पत्तिक्यादिबुद्ध्यभावेन। (अणभिगमेणं ति) विस्तरबोधाभावेन हेतुना अदृष्टानां साक्षात्स्वयमनुपलब्धानामश्रुतानामन्यतोऽनाकर्णितानाम् (असुयाणं ति) अस्मृतानां दर्शनाकर्णनाभावेनाननुध्यानानाम्, अत एवाविज्ञातानां विशिष्टबोधाविषयीकृतानाम्। एतदेव कुत इत्याह- (अव्वोकडाणं ति) अव्याकृतानां विशेषतो गुरुभिरनाख्यातानाम्। (अव्वोढिण्णाणं ति) विपक्षादव्यवच्छेदितानाम् (अनिज्जूढाणं ति) महतो ग्रन्थात् सुखावबोधाय संक्षेपनिमित्तमनुग्रहपरगुरुभिः अनुद्धृतानाम्, अत एवास्माभिरनुपधारितानामनवधारितानाम् (एयमट्ठं ति) एवं प्रकारार्थोऽथवाऽयमर्थो (नो सद्दहिए त्ति) न श्रद्धितः (नो पत्तिए त्ति) नो नैव पत्तियं ति प्रीतिरुच्यते, तद्योगात् पत्तिए त्ति प्रीतः प्रीतिविषयीकृतोऽथवा न प्रतीतो न प्रत्ययितो वा हेतुभिः (नो रोए इ त्ति) न चिकीर्षितः (एवमेयं से जहेयं तुब्भे वयह त्ति) अथ यथा एतद्वस्तु यूयं वदथ, एवमेव तद्धस्त्विति भावः (चाउज्जामाओ त्ति) चतुर्महाव्रतान्, पार्श्वनाथजिनस्य हि चत्वारि महाव्रतानि, नापरिगृहीतास्त्री भुज्यत इति मैथुनस्य पारग्रहेऽन्तर्भावादिति। (सपडिक्कमणं ति) पार्श्वनाथधर्मो हि अप्रतिक्रमणः कारण एव प्रतिक्रमणकरणादन्यथात्वकरणादः, महावीरजिनस्य तु सप्रतिक्रमणः, कारणं विनाऽप्यवश्यं प्रतिक्रमणकरणादिति। (देवाणुप्पिय त्ति) प्रियामन्त्रणम् (मा पडिबंधं)। मा व्याघातं, कुरुष्वेति गम्यम्। (मुंडभावे त्ति) मुण्डभावो दीक्षितत्वम्। (फलगसेज्ज त्ति) प्रतलायतविष्कम्भवत् काष्टारूपा (इट्ठसेज्ज त्ति) असंस्कृतकाष्ठशयनं काष्ठशय्या वा अमनोज्ञा वसतिः। (लद्धावलद्धी त्ति) लब्धं च लाभोऽपलब्धिश्च अलाभोऽपरिपूर्णलाभो वा लब्धापलब्धिः। (उच्चावय त्ति) उच्चावचा अनुकूलप्रतिकूला असमञ्जसा वा (गामकंटयत्ति) ग्रामस्येन्द्रियसमूहस्य कण्टका इव कण्टका बाधकः शत्रवो ग्रोकण्टकाः। क एत इत्याह- (बावीसं परीसहोवसग्ग त्ति) परीषहाः क्षुधादयः त एवोपसर्गाः उपसर्जनाद्धर्मभ्रंशनात्परीषहोपसर्गाः। अथवा द्वाविंशतिः परीषहाः। तथा उपसर्गा दिव्यादयः, कालाश्यवैशिकपुत्रः प्रत्याख्यानक्रियया सिद्ध इति। भ० १ श० ९ उ०।

काली (ण)पुं०(कालिन्)। कायति, कल नोदने णिनिः। प्रेरके, त्रि०। वाच०। चम्पापुरीसमीपे कादम्बर्य्यटवीस्थे पर्वतभेदे, ती० १३ कल्प०।

कालिंग न०, पुं०(कालिङ्ग) कुत्सितं लिङ्गमस्य। हस्तिनि, सर्पे, लौहभेदे च। कलिङ्गानां राजा अण्। कलिङ्गदेशनृपतौ, बहुषु तस्य लुक्-कलिङ्गाः। "कलिङ्गदेशमारभ्यप-श्चाद्योजनं शिवे। दक्षिणस्यां महेशानि। कालिङ्गः परिकी-

र्तित: ॥१॥ इत्युक्तदेशभेदे, गौरा० । ङीष् । राजकर्कटयाम् वाच० । प्रज्ञा० ।

कालिंजणं-देशी-तापिच्छे, दे० ना० २ वर्ग ।

कालिंजणी-देशी-तापिच्छलतायाम्, दे० ना० २ वर्ग ।

कालिंजर-कालिञ्जर-पुं० । स्वनामख्याते पर्वते, उत्त । "दासा दस न्नेआ सीयमिया कालिंजरे नगे" । उत्त० १३ अ० ।

कालिंजरतित्थ-कालिञ्जरतीर्थ-न० । मथुरास्थे लौकिकतीर्थभेदे, ती० ६ कल्प ।

कालीआ-देशी-शरीरे, दे० ना० ५ वर्ग ।

कालिगा (य) कालिक-पुं० । स्त्री० । काले वर्षाकाले चरति तञ् । के जले अलति, अल वा इकन् । ७ त० वा । क्रौञ्चे, वके, स्त्रियां ङीप् । कालो वर्णोऽस्त्यस्य ठन् । कालादू वर्णवाचित्वे जानपदा० ङीष् । तत: स्वार्थे के ह्रस्व इति वा । कालिका । देवीमिर्तिभेदे, वृश्चिकपत्रवृक्षे, क्रमदेयवस्तु मूल्ये, धूसर्य्याम्, जटामास्याम्, काक्याम्, पटोलशाखायाम्, रोमावल्याम्, शिवायाम्, मेघावल्याम्, स्त्री० । क्षीरकीटे, मत्स्याम्, काकोल्याम्, श्यामापक्षिणि, स्त्री० । हिमाचल भवायां त्रिशिरायां हरीतक्याम्, स्त्री० । कालस्य भावो वा वुण । कृष्णवर्णे, स्त्री० । स्वर्णदोषे, वह्निना दाहे, यच्छोपात् स्वर्णस्य कृष्णता भवति सा च ताम्रादिधातुयोगै: । काय जलाय अलति पर्याप्नोति । अल पर्याप्तौ एवुल् टापू । अतइत्वम् । कुज्झटिकायाम्, नवमेघे, स्त्री० । काले, दीयते ठक् । प्रतिमासदेयवृद्धौ, कं जलमलति भूषयति अल भूषणे रावुल् टापू । अत इत्वम् । सुरायाम्, स्त्री० । कालो वर्णोऽस्त्यस्य ऊन् । कालयिके कृष्णचन्दने, न० । प्रकृष्टो दीर्घ: कालोऽस्य प्रकृष्टे ठञ् । वैरे, न० । तस्य दीर्घकालस्थायित्वात् तथात्वम् । "वर्णे चानित्यै" ।५ ।४ ।३३ । (पाण०) कन् कालक: । स्त्रियां टापू । अत इत्वम् । कालिका शाटी कालेननिर्वृत्त: ठञ् कालिक: । कालनिर्वृत्ते कालकृते, त्रि० । विशेष: कालिकोऽवस्था । काले भव: ठञ् । कालभवे, त्रि० । उभयत्र स्त्रियां ङीपू इति भेद: । वाच० । "इत्था गया इमे कामा, कालिया जे अणागया ।" काले भवा: कालिका: । उत्त० ५ अ० । काले संभवन्ति कालिका: । उत्त० ५ अ० ।

कालिगसणि-कालिकसंज्ञिन्-त्रि० । कालिकसंज्ञा दीर्घकालिकीसंज्ञा साऽस्त्यस्येति कालिकसंज्ञी, तत्संज्ञिनि, विशे० । (स च "सन्नी" शब्दे विवेचित: ।

कालिग (य) सुय-कालिकश्रुत-न० । यदिह दिननिशाद्यन्तपौरुषीद्वय एवाऽस्वाध्यायाभावे पठयते तत्कालेन निर्वृत्तं कालिकम् । ध० ३ अधि० । काले प्रथमचरमपौरुषीलक्षणे कालग्रहणपूर्वकं पठयते इति कालिकम् । विशे० । तच्च श्रुतं च । उत्तराऽध्ययनादौ, अङ्गबाहाऽऽवश्यकव्यतिरिक्तश्रुतभेदे, यदिह दिवसनिशाप्रथमपश्चिम पौरुषीद्वय एव पठयते । स्था० २ ग० १ उ० ।

तानि च-

से किं तं कालियीं ? कालियं अणेगविहं पन्नत्तं । तं जहा उत्तराज्झयणाइं दसाउकप्पो ववहारो निसीयं महानिसीयं इसिभासियाइं जंबुद्दीवपन्नत्ती दीवसागरपन्नत्ती चंदपन्नती खुड्डिया विमाणपविभत्ती महल्लया विमाणपविभत्ती अंगचूलिया वंगचूलिया विवाहचूलिया अरुणोववाए वरुणोववाए गरुलोववाए धरणोववाए वेसमणोववाए वेलंधरोववाए देविंदोववाए उट्ठाणसुए समुट्ठाणसुए नागपरियावणियाउ निरयावलियाउ कप्पियाउ कप्पिवडिंसियाउ पुप्फियाउ पुप्फिचूलियाउ वण्हीदसाउ एवमाइयाइं चउरासीइं पन्नगसहस्साइं भगवतो अरहओ उसहसामिस्स आइतित्थयरस्स तहा संखिज्जाइं पइन्नगसहस्साइं मज्झिमगणजिणवराणं चोद्दस पइन्नगसहस्साणि समणगस्स भगवओ वद्धमाणसामिस्स अहवा जस्स जत्तिया सीसा उप्पत्तियाए वेणइयाए कम्मियाए पारिणामियाए चउव्विहाए बुद्धीए उववेया तस्स तत्तियाइं नइण गसहस्साइं पत्तेयबुद्धा वि तत्तिया चेव । सेत्तं कालियं, सेत्तं आवस्सयवइरित्तं सेत्तं अणंगपविट्ठं । न० । पा० ।

कालिकश्रुतेऽनुयोगपार्थक्यमार्यरक्षितसूरिभ्य: सभारभ्य जातम् । आह-कियन्तं कालं यावम् पुनरिदमपृथक्त्वमासीत्, कुतो वा पुरुषविशेषादारभ्य पृथक्त्वमभूदित्यहि-

जावं ति अज्जवइरा, अपुहत्तं कालियाणुओगस्स ।
तेणारेण पुहत्तं, कालियसुय दिट्ठिवाए य ॥

यावदार्यवैरा गुरवो महामतयस्तावत्कालिकं श्रुजानुयोगस्यापृथक्त्व मासीत्तदा व्याख्यातृणां श्रोतृणां च तीक्ष्णप्रज्ञत्वात्, कालिकग्रहणं च प्राधान्यख्यापनार्थमन्यथोत्कालिकेऽपि सर्वत्र प्रतिसूत्रं चत्वारोऽपि अनुयोगास्तदानीमासन्नेवेति । तदारतस्त्वार्यरक्षितेभ्य: समारभ्य कालिकश्रुते दृष्टिवादे चाऽनुयोगानां पृथक्त्वमभूदिति निर्युक्तिगाथार्थ: । विशे० । ('अज्जरक्खिय' शब्दे प्र०भा० ५१५ पृष्ठे 'अणुओग' शब्दे प्र०भा० ३५० पृष्ठे वा न्येक्षेण प्ररुपितमेतत्)

कालिकश्रुतस्य परं पृच्छात्रयात् पृच्छति-

जे भिक्खू कालियसुयस्स परं तिण्हं पुच्छाणं पुच्छइ, पुच्छंतं वा साइज्जइ ॥ ९ ॥ ते भिक्खू दिट्ठिवायस्स परं सत्तएहं पुच्छाणं पुच्छइ, पुच्छंतं वा साइज्जइ ॥१०॥

कालियसुयस्स उक्काले संझासु वा असंझाइ वा तिएहं पुच्छाणं परेण पुच्छति तस्स चउलहुं । दिट्ठिवायस्स संझासु असज्झाइए वा सत्तएहं परेण पुच्छं तस्स ह ।

तिएहुवरि कालियस्सा, सत्तएह परेण दिट्ठिवायस्स ।
जो जो भिक्खू पुच्छा, णं च सब्भ पुच्छताऽऽणादी ॥३२॥

चउसु संझासु अणयरीए वा तस्स आणादी पुच्छा ।

ते पुण किं पमाणं अतो भणति-

पुच्छाणं परि णं जा-वतियं पुच्छते अनुणरुत्तं ।
पुच्छेज्जाही भिक्खू, पुच्छणिसज्झा य चउभंगो ॥३३॥

अपुणरुत्तं जावतिओ कट्ठिओ पुच्छति सा एगा पुच्छा । एत्थ उचबभायं करेंतस्स इमे दोसा-

पुव्वगहितं च नासति, अपुव्वगहणं कओ स विकहाहिं।
दिवसनिमिआदिचरमा-सु चुतुसु सेसासु भइयव्वं ॥३४॥

सुत्तत्थो मोत्तुं देस-भक्त-राय-इत्थिकहादिसु पमत्तो अत्थति, गुणेतस्स पुव्वगहितं णासति, विकहापमत्तस्स य अपुव्वं गहणं णत्थि, तम्हा णो विकहासु रमेज्जा, दिवसस्स पढमचरिमासु, णीसए य पढमचरिमासु य, एयासु चउसु वि कालिवसुयस्स गहणं गुणणं व करेज्ज, सेसासु त्ति दिवसस्स वितियाए उक्कालियसुयस्स गहणं करेति, अत्थं वा सुणंति, एसा चेव भयणा, रतियाए वा भिक्खं हिंमइ, अहण हिंडति तो उक्कालियं पढति, पुव्वगहियासु लक्कालियं वा गुणेति, अत्थं वा सुणइ वा, णिसिस्स ततियाए णिद्दामोक्खं करेति, उक्कालियं गेएहति गुणेति वा, कालिकं यं वा सुत्तमत्थं वा कूरति, एवं सेसासु भावणा भावेयव्वा उक्कालिया।

सज्झायस्स च अकरणे इमे कारणा-

असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे भए व गेलणे।
अद्धाणरोहए वा, कालं व पमुच्च णो कुज्जा ॥३५॥
सज्झायवज्जमसिवे, रायदुट्ठभयरोहएअसुद्धो।
इतरमविरोह असिवे, भइतं इतरे पलंभयसु ॥३६॥

(सज्झायवज्जमसिवे त्ति) लोगे असिवे वा साधू अप्पणा अगहिता तत्थ सज्झायंण पट्ठवेंति आवस्सगादि उक्कालियं करेति, रायदुट्ठे वोहिगभए य तुण्हिक्का अत्थंति माणफिहामो, तत्थ कालिगमुक्कालिंग वा ण करेंति, अहवा रायदुट्ठे भए त्ति णिव्विसया भत्तपाणे एमिसेहे य ण करेंति सज्झायं, उनकरणइरे दुविधे भेरवेय ण करेति माणझीहामो त्ति, रोधगे असुद्धेण कालेण करेंति, इयरमवि आवस्सगादि उक्कालियं जत्थं रोधगे अवियत्तं असिवेण य गडिया तत्थ तंपिण करेंति, इयरे ओमोदरिया तत्थ भयणा, जइ वितियजामादिसु वेलाओण करेंति सज्झायं, अह णं पुव्व ति पुव्वसेयवेलातो आदिच्चोदयाओ आरद्धातो व हिडंति जाव अवराएहो त्ति गेलणहाणेसु न लंभयमुत्ति, जइ गिलाणो सत्तो अहाणिगेण वा न खिणो तो करेंति अह सत्ता तो ण करेंति, अहवा गिलाणपडियरगा वा ण करेंति, कालं वा पडुच्च णो कुज्जति असुद्धेण ता कालेण करेंति, तत्थ आवस्सगादी ण करेंति, अणुप्पेहा सव्वत्थ अविरुद्धा। वि० चू० १६ उ०।

कालिकश्रुतस्य व्यवच्छेदः-

एएसु णं भंते। तेवीसाए जिणंतरे कस्स कहिं कालियसुयस्स वोच्छेदे पणते? । गोयमा। एएसु णं तेवीसाए जिणंतरेसु पुरिमे पच्छिमएसु अट्ठसु अट्ठसु जिणंतरेसु एत्थ णं कालियसुयस्स वोच्छेदे पणते। मज्झिमएसुसत्तसु जिणंतरेसु, एत्थ णं कालिसुयस्स वोच्छेदे पणत्ते। सव्वत्थ वि णं वोच्छेदे दिट्ठिवाए॥

कस्य जिनस्य सम्बन्धिनः कसिमन् जिनान्तरे कथोर्जिनयोरन्तरे कालिकश्रुतस्यैकादशाङ्गीरूपस्य व्यवच्छेदः प्रज्ञप्त इति प्रश्नः। उत्तरं तु-"एएसु णमित्यादि" इह च कालिकस्य व्यवच्छेदेऽपि पृष्टे यदपृष्टस्याव्यवच्छेदस्याभिधानं तद्विएकज्ञापने सति विवक्षितार्थ-बोधनं सुकरं भवतीति कृत्वा कृतमिति। (मज्झिमएसु सत्तसु त्ति) अनेन "कस्स कहिं" इत्यस्योत्तरमवसेयम्। तथाहि-मध्यमेषु सप्तस्वित्युक्ते सुविधिजिनतीर्थस्य सुविधिशीतलजिनयोरन्तरे व्यवच्छेदो बभूव। तद्व्यवच्छेदकालश्च पल्योपमचतुर्भागः। एवमन्ये षट् जिनाः, षट् च जिनान्तराणि वाच्यानि, केवलं व्यवच्छेदकालः सप्तस्वप्येवमवसेयः १। "चउभागो १ चनभागो २, तिणि य चउभाग ३ पलियमेगं च ४, तिक्षेव य चउभागा ५, चउत्थभागो य ६ चउभागो ७ त्ति"। ५ (एत्थणंति) एतेषु प्रज्ञापकेनोपदर्श्यमानेषु जिनान्तरेषु कालिकश्रुतस्य व्यवच्छेदः प्रज्ञप्तः। दृष्टिवादाकेक्षया त्वाह- (सव्वत्थवि णं वोच्छिण्णे दिट्ठिवाए त्ति) सर्वत्रापि सर्वेष्वपि जिनान्तरेषु न केवलं सप्तस्वेव क्वचित्कियन्तमपि कालं व्यवच्छिन्नो दृष्टिवाद इति। भ० २० श० ८ उ०। बृ०। सुसंज्ञाप्यशब्दे एकादशाङ्गरूपे श्रुते, एकादशाङ्गरुपं सर्वमपि श्रुतं कालग्रहणादि-विधिनाऽऽधीयत इति कालिकमुच्यंत। विशे०।

कालिगा (या) - स्त्री०। कृष्णायां रात्रौ, व्य० ५ उ०। कालीदेव्यां च। ज्ञस० २ श्रु० १ अ०।

कालिगायरिय-कालिकाचार्य्य- पुं०। आर्य्यश्यामे, येन प्रज्ञापनासूत्रं विरचितम्। (तत्प्रयोजनं स्त्रीवेदस्य स्थितिचिन्तायामुक्तम्)। यथा-एतेषां पञ्चानामादेशानां मध्येऽन्यतमादेशसमीचीनतानिर्णयोऽतिशयज्ञानिभिः पूर्वोत्कृष्टश्रुतलब्धिसम्पन्नैर्वा कर्तुं शक्यते, ते च भगवदार्यश्यामप्रतिपत्तौ नासीरन् केवलं तत्कालानेक्षया पूर्वपूर्वतनाः सूरयस्तत्कालभाविग्रन्थपौर्वापर्यपर्यालोचनया यथास्वमति स्त्रीवेदस्य स्थितिं प्ररुपयन्ति स्म, न च तेषां मतं कियपि मिथ्या ज्ञातुं शक्यते, ततस्तेषां सर्वेषामपि प्रावचनिकसूरीणां मतानि भगवानार्यश्याम उपदिष्टवान्, तेऽपि प्रावचनिकसूरयः स्वमतेन सूत्रं पठन्तो गौतमप्रश्नभगवन्निर्वचनरुपतया पठन्ति, ततस्तदवस्थान्येव सूत्राणि लिखितानि-गोयमा। इत्युक्तम्। अन्यथा भगवति गौतमाय साक्षान्निर्देष्टरि न संशयकथनमुपपद्यते, भगवतः सर्वसंशयातीतत्वात्, ततः एगेणं आएसेणं ति वचनं आर्यश्यामस्य प्रतिपत्तव्यं न भगवद्वर्द्धमानस्वामिन इति। पं० सं० २ द्वार। दर्श०। आ० क०। ती०। (अधिगरण शब्दे प्रथमभागे ५८५ पृष्ठे अस्य गर्दभिल्लेन राज्ञा सह वैरमुपदर्शितम्) (चतुर्थभागे 'सुयमद' शब्दे सागरचन्द्रस्य एनं प्रति गर्वकरणम्)

कालिगा (या) वाय-कालिकावात- - पुं०। प्रतिकृतवायौ, ज्ञा० १ श्रु० अ०।

कालिज्ज-कालेय- न०। कलायै रक्तधारिणयै हितं ढक्। य कृति, वाच०। वक्षोऽन्तर्गूढे मांसविशेषे, तं०।

कालिदास-कालिदार्स- पुं०। ६ त०। संज्ञायां ह्रस्वः। रघुवंशादिकाव्य-कर्तरि महाकविभेदे, वाच०। नं०।

कालियजोग-कालिकयोग- पुं०। साध्वीनां कालिकयोगक्रियायां श्रावकदत्तानि वन्दनकानि शुद्धयन्ति नवेति प्रश्ने, साध्वीनां कालिकयोगक्रियायां श्राद्रदत्तानि वन्दनकानि शुद्धयन्तीति। सेन प्र० ६५ उल्ला०।

कालियदीव-कालियद्वीप- पुं०। स्वनामख्याते लवणसमुद्रान्त-

र्गते द्वीपभेदे, यत्र हस्तिशीर्षनगरवास्तव्या वाणिजका गत्वा रत्नान्यानीतवन्त इति। ज्ञा० १७ अ०। (एतच्च ' दुवई ' शब्दे वक्ष्यते)

कालियसुयआणुओगिय पुं०(कालिकश्रुताऽऽनुयोगिक) कालिकश्रुतानुयोगे व्याख्याने नियुक्ताः कालिकश्रुतानुयोगिकाः। कालिकश्रुतानुयोग एषां विद्यते इति कालिकश्रुतानुयोगिनः, ततः स्वार्थिककप्रत्ययविधानात्कालिक श्रुतानुयोगिकाः। कालिकश्रुतव्याख्याने नियुक्ते, '' अयलपुरा णिक्खंते, कालियसुयआणु-ओगिए धीरे। '' नं०।

काली स्त्री०(काली) कालस्य शिवस्य पत्नी ङीष्। शिवपत्न्याम् स्त्री०। कालाद् वर्णश्चेत्, कालपर्णा। कृष्णवर्णायां स्त्रियाम्, वाच०। ''सामा गायइ महुरं, काली गायइ खरं च रुक्खं च। '' स्था० ६ ठा०। अनु०। अभिनन्दनस्य शासनाधिष्ठाव्यां देव्याम्, श्री अभिनन्दनस्य काली नाम्नी देवी श्यामकान्तिः पद्मासना चतुर्भुजा वरदपाशाधिष्ठितदक्षिणकरद्वया नागाङ्कशालङ्कृत्तवामपाणि-द्वया च। प्रव० २६ द्वार। पञ्चा०। चमरस्याऽसुरेन्द्रस्य प्रथमा-ग्रमहिष्याम्, स्था० ५ ठा० १ उ०। (अस्या भवान्तरवक्तव्यता 'अग्गमहिसी ' शब्दे प्रथमभागे १६६ पृष्ठे उक्ता) काकजङ्घयाम्, उत्त० २ अ०। श्रेणिकस्य भार्यायाम्, कूणिकस्य राज्ञो लघुमातरि, नि० १ वर्ग। ग०। ('काल ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ४८३ पृष्ठे चैतदुक्तम्)

**जइ णं भंते। अट्ठमस्स वग्गस्स दस अज्झयणा पाणत्ता। तं जहा-पढमस्स अज्झयणस्स समणेणं भगवया महावीरेणं के अट्ठे पण्णते। एवं खलु जंबू। तेणं कालेणं तेणं समयेणं चंपा नामं णयरी होत्था, पुण्णभद्दे चेइए कोणियराया, तत्थ णं चंपाए णयरीए सेणियस्त रण्णो भज्जा कूणियस्स रणो चुल्लु-माउया काली नामं देवी होत्था। वण्णओ जहा-णंदा जाव सामातियाति एग्गारस अंगाइं अहिज्जंति, अहिज्जंतित्ता बहुहिं चउत्थ जाव अप्पाणं भावेमाणे विहरति, तते णं सा काली अज्जा अण्णया कयाइ जेणेव अज्जवंदणो अज्जा तेणेव उवागया एवं वयासी-इच्छामि णं अज्जातो तुज्झेहिं अब्भणुणाया समाणा रयणावलितवो उवसंपज्जिता णं विहरति, ते अहासुहं तसा काली अज्जा अज्जचंदणा ते अब्भणुण्णासमाणे रयणावलित-वोकम्मं उवसंपज्जिता णं विहरति। तं जहा-चउत्थं करेतित्ता सव्वकामगुणे य परित्ता छट्ठं करेति, छट्ठं करेतित्ता सव्वकामगु० पारि० अट्ठमं करेति २ ता सव्वकाम० पारि० दसमं करेति २ त्ता सव्व० पारि० दुवालसमं करेति २ त्ता सव्वकाम० पारि० चउद्दसमं करेति २ त्ता सव्व० पारि० सोलसमं करेति २ त्ता सव्व० पारि० अट्ठारसमं० करेति २ त्ता सव्व० पारि० वीसमं करेति २ त्ता सव्व० पारि० वावीसमं० करेति २ त्ता सव्व० पारि० चउवीसमं करेति २ त्ता सव्व० पारि० छवीसमं करेति २ त्ता सव्व० पारि० अट्ठावीसं करेति २ त्ता सव्व० पारि० तीसमंकरेति २ त्ता सव्व० पारि० वत्तीसं० करेति २ त्ता सव्व० पारि० चउतीसमं करेति २ त्ता सव्व० पारि० चउतीसमं करेति २ त्ता सव्वकामगुणे य परित्ता चउतीसं छठाइं करेति २ त्ता सव्व० पारि० चोत्तीस करेति २ त्ता सव्व० पारि० वत्तीसं करेति २ त्ता सव्व० पारि० तीसं करेति २ त्ता सव्व० पारि० अट्ठावीसमं करेति २ त्ता सव्व० पारि० छवीसं करेति २ त्ता सव्व० पारि० चउवीसं करेति २ त्ता सव्व० पारि० वावीसमं करेति २ त्ता सव्व० पारि० वीसमं करेति २ त्ता सव्व० पारि० अट्ठारसमं करेति २ त्ता सव्व० पारि० सोलसमं करेति २ त्ता सव्व० पारि० चउदसमं करेति २ त्ता सव्व० पारि० वारसमं करेति २ त्ता सव्व० पारि० दसमं करेति २ त्ता सव्व० पारि० अट्ठमं० करेति २ त्ता सव्व० पारि० छट्ठं करेति २ त्ता सव्व० पारि० चतुत्थं करेति २ त्ता सव्व० पारि० अट्ठमछट्ठातिं करेति २ त्ता सव्व० पारि० अट्ठमं करेति २ त्ता सव्व० पारि० छट्ठं करेति २ त्ता सव्व० पारि० चउत्थं करेति २ त्ता सव्व० पारि० एवं खलु एसा रयणावलीए तवोकम्मस्स पढमा परिवाडी एगेणं संवच्छरेणं तिहिं मासेहिं वावीसाए य अहोरत्तेहिं अहासुत्तं जाव आराहिय भवेहि, तयाणंतरं च णं दोवाए परिपाडीए चउत्थं करेति विगतिवज्जं पारेति छट्ठं करेति, करेतित्ता विगतिवज्जं पारोति २ त्ता एवं जहा पढमा ए परि-वाडीए तहा विइयाए वि, नवरं सव्वत्थपारणए विगइवज्जं पारेति जाव आराहिया भवति, तयाणंतरं च णं तच्चाए परि-वाडीए चउत्थं करेति२त्ता अलेवाडं पारेति, पारेतित्ता सेसं तहेव णवरं अलेवाडं पारेत्ता, एवं चउत्था वि परिवाडी, नवरं सव्वपारणए आयंबिलं पारेति२त्ता सेसं तं चेव, पढमम्मि सव्वकामगुणं पारणयं, वितियए विगतिवज्जं, तइयम्मि अले-वाडं आयंविलेमो, चउत्थम्मि तते णं सा काली अज्जा तं रयणावलीतवोकम्मं पंचहिं संवच्छरेहिं दोहि य मासे य अट्ठावीसाए य दिवसहिं अहासुत्तं जाव आराहेत्ता जेणेव अज्जचंदणा अज्जा तेणेव उवागच्छति, उवागच्छतित्ता अज्जचंदणं अज्जं वंदति, २ त्ता बहुहिं चउत्थ जाव अप्पाणं भावेमाणे विहरति, तते णं सा काली अज्जा तेणे उरालेण जावद्धमणी संतया जाया या वि होत्था, सेज्जं जहा इंगाल जाव मुहुयहुयासणेति व भासरासि पलिच्छणा तवेणं तेएणं तवतेयसिरीए अतीव २ उवसोभेमाणी २ चिट्ठति, तते णं से कालीए अज्जाए अण्णया कयाइ पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि अयं अज्झत्थि ते जहा खंदयस्स चिंता जहा जाव अत्थि उ ठाणेणं वा ताव ता मे सेयं कल्लं जाव जलंते अज्जचंद णं अज्जं आपुच्छित्ता अज्जचंदणाए अज्जाए अब्भणुण्णायाए समाणीए संलेहणा फुसणा २ भत्तपाण २ पडियातिखे

कालं अणवकंखमाणं विहरात ति कट्टु एव सपेहति, संपेहेतित्ता जेणेव अज्जचदणा अज्जा तेणेव उवागच्छति, उवागच्छतित्ता अज्जचंदणं वंदति नमसति, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी इच्छामि णं अज्जो। तुज्झेहिं अब्भणुण्णाते समाणी संलेहणाए जाव विहरित्ता, ते अहासुहं, तते णं से काली अज्जा अज्जचंदणाए० अब्भणुण्णाया समाणी संलेहणा झसिय जाव विहरति, तसा काली अज्जा अज्जचंदणाए अंतिए सामातिमातियाइ एकारस अंगाइं अहिज्जित्ता वहुपडिपुण्णालाई अट्ठसवच्छाराइं सामण्णपरियागं पालिउण ता मासिया ते संलेहणा ते अत्ताणं झुसिया छट्ठं भत्ताइ अणसणा ते छेदेति, छेदेतित्ता जस्सुट्ठा ते कीरति नगिणभावे जाव चरिमुस्सासनिस्सासेहिं सिद्धं ५ प्रथमं अज्झयणं १। निक्खेवोतेणं कालेणं तेणं समएणं चंपा णामं णायरी होत्था, पुण्णभद्दे चेइए कोणिए राया तत्थ णं सेणियस्स रण्णो भज्जा कोणियस्स रणो चुल्लमाउया सुकाली नामं देवी होत्था, जहा काली तहा सुकाली वि निक्खंता जाव बहुहिं चउत्थं० जाव भावेमाणे विहरति, तते णं सा सुकाली अज्जा अण्णया कयाइ जेणेव अज्जा चंदणा अज्जा जाव इच्छामि णं अज्जो। तुज्झेहिं अब्भणुण्णाया समाणी कणगावलिं तवोकम्मं उवसंपज्जिता णं विहरति, ते एवं जहा रयणावली तहा कणगावली वि, नवरं तिसु ठाणेसु अट्ठमातिकरे जहा रयणावलीए छट्ठातो एक्काए परिवाडीए एगे संवच्छरे पंच मासा वारस य अहोरत्ता चउण्हं पंच वरिसा नव मासा अट्ठारस दिवसा सेसं तहेव नव वासा परियातो पावणित्ता० जाव सिद्धा ॥५॥ अन्त० ८ वर्ग॥

कालीपव्वंगसंकास-त्रि० (कालीपर्वाङ्गसङ्काश) काली का-कजङ्घा, तस्याः पर्वाणि, स्थूराणि मध्यानि च तनूनि भवन्ति, ततः कालीपर्वाणि जानुकूर्परादीनि येषु तानि कालीपर्वाणि, उष्ट्रमुखीवन्मध्यमपदलोपी-समासः। तथाविधैरङ्गैः शरीरावयवैः सम्यक् काशते तपसि वा दीप्यते इति कालीपर्वाङ्गसंकाशः। यद् वा प्राकृते पूर्वापरनिपातस्यातन्त्रत्वाद् ग्रामो दग्ध इत्यादिवद् अवयवधर्म्मेणाप्य वयविनि व्यपदेशदर्शना चाङ्गसन्धीनामपि कालीपर्व सदृशतायां कालीपर्वभिः संकाशानि सदृशान्यङ्गानि यस्य स तथा। विकृष्टतपोऽनुष्ठानतोऽपचितपिशित-शोणिते, उत्त० २ अ०।

कालुट्ठाइ-त्रि० (कालोत्थायिन्) उद्गते आदित्ये दिवसतो गच्छति कालुट्ठइ कालणिवेशी, ठाणट्ठई य कालभोई य। नि० चू० १६ उ०।

कालुणवडिया-स्त्री०(कारुण्यप्रतिज्ञा) कारुण्यवृत्तौ, विपा० १ श्रु० १ अ०।

कालुणिय-त्रि० (कारुणिक) करुणा शीलमस्य ठक्। दयालौ दयाशीले वाच०। करुणाप्रधाने विलापापाये वचसि, अनुष्ठाने च। सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०। कारुण्यं शोकस्तेन पुत्रवियोगादि-जनितेन तदीयस्यैव तत्पादेः सजन्मान्तरे सुखितो भवत्विति वासनातोऽन्यस्य यद्दानं तत्कारुण्ययदानं, कारुण्यजन्मत्वाद् वा दानमापिकारुण्यमुक्तम् उपचादिति। दानभेदे, स्था० १ ठा० १ उ०।

कालुसियझाण-न०(कालुष्यध्यान) अपमानतोऽपरगुण प्रशं-सायामीर्ष्यातो वा चित्तस्य कलुषभावः कालुष्यं मलिनता, तस्यध्यानं कालुष्यध्यानम्। बाहुसुबाहुप्रशंसामसहमानयोः सिंहगुहास्थितक्षपक-स्येव ध्याने, आतु०।

कालेज्ज-(देशी०) तापिच्छकुसुमे, दे० ना० २ वर्ग।

कालेज्ज-पुं०(कालेय) काल्या अपत्यम् ढक्। कालकेये, काल-चन्दने, न०। कलायै रक्तधारिण्यै हितं ढक्। यकृति, वाच०। हृदयान्तर्वर्तिमांस-खण्डे सूत्र० ३ श्रु० ४ अ० १ उ०।

कालोद(य)-पुं०(कालोद) धातकीखण्डमस्य सर्वतः परिक्षेपके समुद्रभेदे, धातकीपरितोऽपि शुद्धोदकरसास्वादः कालोदसमद्रः। अनु०। स्था०।

संप्रति कालोदसमुद्रवक्तव्यतामाह-

धायइसंडे णं दीवे कालोदे नामं वट्टे वलयागारसंठाण-संठिते सव्वतो समंता संपरिक्खिवित्ता णं चिट्ठइ॥

(धायइसंभे णं दीवमित्यादि) धातकीखण्डं, णमिति पूर्ववत्, द्वीपं कालोदसमुद्रो वृत्तो वलयाकारसंस्थानसंस्थितः सर्वतः समन्तात् संपरिक्षिप्य वेष्टयित्वा तिष्ठति।

कालोदे णं समुद्दे किं समयक्कवालसंठिते विसमचक्कवाल-संठिए? गोयमा। समचक्कवाहासंठिए, णो विसमचक्कवाल-संठिए। कालोदे णं भेते। समुद्देकेवतियं चक्कवालपिक्खंभेणं केवतियं परिक्खेवेणं पन्नते? गोयमा। अट्ठजोयणसय-सहस्साइं चक्कवालविक्खंभेणं एक्कणउतिजोयणसयसह-स्साइं सत्तरिसयसहस्साइं छच्च पंचुत्तरे जोयणसये किंचि-विसेसाहिए परिक्खेवेणं पण्णत्ते। से णं एक्काए पउमवरवेदि-याए एगेण वणसंडेण य दोण्ह वि विण्णवो॥

कालोए णं भंते। समुद्रे किं समचक्कवालसंठिए इत्यादि प्राग्वत् प्रश्नसूत्रं सुगमम्। भगवानाह-गौतम। अष्टौ योजनशतसहस्राणि चक्रवालविष्क-म्भेन एकनवतियोजनशतसहस्राणि सप्ततिसहस्राणि षट्शतानि पञ्चोत्तराणि किञ्चिद्विशेषाधिकानि परिक्षेपेण, एकं च योजनसहस्रमुद्वेधे-नेति गम्यते। उक्तं च-

''अट्ठे य सयसहस्सा, कालोयचक्कवालविक्खंभो।
जोयणसहस्समेगं, उग्गाहेणं मुणेयव्वो॥
इगनउइसयसहस्साइ हवंति तह सत्तरीसहस्सा य।
छच्च सया पंचऽहिया, कालोयहिपरिअरो एसो''॥

(से णं एक्काए इति) स कालोदः समुद्रः एकया पद्मवरवेदि-कया, अष्टयोजनोच्छ्रयजगत्युपरिभाविन्येति गम्यते। एकेन च वनखण्डेन सर्वतः समन्तात् संपरिक्षिप्तो, द्वयोरपि वर्णकः, प्राग्वत्। जी० ३ प्रति०। परिक्षेपगणितभावना इयम्-कोलादस-समुद्रस्य एकतोऽपि चक्रवालतायाः विष्कम्भोऽष्टौ योजनलक्षा

अपरतोऽपि इति षोडश, धातकीखण्डभस्यकतोऽपि चतस्रो लक्षा अपरतोऽष्यष्टौ, लवणसमुद्रस्य एकतोऽपि द्वे लक्षे , अपर-तोऽपीति चतस्रः, एको लक्षो जम्बूद्वीपस्येति सर्वसंख्यया एकोनत्रिंशल्लक्षा जाताः २९००००० । तेषां च वर्गो विधीयते, जातोऽष्टकश्चतुष्क एकक:, शून्यानि दश, ततो दशभिर्गुणने जातान्येकादश शून्यानि ८४१००००००००००० । तेषां वर्गमूलानयने लब्धं यथोक्तं परिधिपरिमाणम्-९१७०६०५ । शेषं त्रिको नवकस्त्रिकस्त्रिको नवकः सप्तकः पञ्चकः ३९३३९७५ इति यदवतिष्ठन्ते तदपेक्षया विशेषाधिकत्वमुक्तम् । एकनवतिशतसहस्राणि सप्तशतानि सप्ततिसहस्राधिकानि नक्षत्रादिपरिमाणं चाष्टाविंशत्यादिसंख्यानि नक्षत्रादीनि द्वाचत्वारिंशता गुणयित्वा परिभावनीयम् । चं० प्र० १ पाहु० । सु० प्र० ।

कालोए ण समुद्दे एकाणउइजोयणसयसहस्साइं साहि- याइं परिक्खेवेणं ॥

(कालोए णत्ति) कालोदः समुद्रः, स चैकनवतिर्लक्षाणि साधि-कानि परिक्षेपेण आधिक्यं च सप्तत्या सहस्रैः षड्भिः शतः पञ्चोत्तरे सप्तदशभिर्धनुःशतैः पञ्चादशोत्तरैः सप्ताशीत्या चाङ्गुलैः साधि-कैरिति । स० ९१ सम० ।

द्वाराणि-

कालोयस्य णं भंते । समुद्दस्स केवति दारा पण्णत्ता ? गोयमा । चत्तारि दारा पणत्ता । तं जहा-विजये वेजयंते जयंते अपराजिए । कहि णं भेते । कालोदस्स समुद्दस्स विजए णामं दारे पण्णते ? गोयमा । कालोदसमुद्दपुरच्छिमापरंतेपुक्खर-वरदीवपुरच्छिमद्धस्स पच्चच्छिमे णं सीतोदाए महानदीए उप्पिं, एत्थ णं कालोदस्स विजये नामं दारे पण्णत्ते गोयमा । अट्ठ जोयणं तं चेव पमाणं जाव रायहाणीओ । कहि णं भेते । कालोयस्स समुद्दस्स वेजयंते णामं दारे पण्णत्ते ? गोयमा ! कालोयसमुद्दस्स दक्खिणापरंते पुक्खरवरदीवद-क्खिणद्धस्स उत्तर एत्थ णं कालोय समुद्दस्स जयंते णामं दारे पण्णत्ते । कहिं णं भंते ! कालोयसमुद्दस्स जयंते णामं दारे पण्णत्ते ? गोयमा । कालोयसमुद्दस्स पच्चच्छिमापरंते पुक्खरवरदीव पच्चच्छिमद्धस्स पुराच्छिमेणं सीताए महाणदीए उप्पिं जयंते नामं दारे पण्णत्ते । कहि णं भंते । अपराजिए णामं दारे पण्णत्ते ? गोयमा । कालोदसमुद्दस्स उत्तरद्धापरंते पुक्ख-रवरदीवोत्तरद्धस्स दाहिणओ एत्थ णं कालोयसमुद्दस्स अप-राजियनामं दारे, सेसं तं चेव ॥

कालोदस्य भदन्त । समुद्रस्य कति द्वाराणि प्रज्ञप्तानि ? भगवा-नाह-गौतम ! चत्वारि द्वाराणि प्रज्ञप्तानि । तद्यथा-विजयं वैज-जयन्तं जयन्तमपराजितम् । क्व भदन्त ! कालोदसमुद्रस्य विजयं नाम द्वारं प्रशप्तम् । भगवानाह-गौतम ! कालोदस्य समुद्रस्य पूर्वपर्यन्ते पुष्करवरद्वीपस्य पूर्वार्द्धस्य पश्चिमदिशि शीतोदाया महानद्या उपरि, अत्र कालोदस्य विजयं नाम द्वारं प्रज्ञप्तम् । एवं विजयद्वारवक्तव्यता पूर्वानुसारेण वक्तव्या, नवरं राजधानी अन्य-स्मिन् कालोदे समुद्रे । वैजयन्तद्वारप्रश्नसूत्रं सुगमम् । भगवानाह-गौतम ! कालोदसमुद्रदक्षिणपर्यन्ते पुष्करवरद्वीपदक्षिणार्द्धस्य उत्तरतोऽत्र कालोदसमुद्रस्य वैजयन्तं नाम द्वारं प्रज्ञप्तम् । एवं जम्बू-द्वीपगतवैजयन्तद्वारं वक्तव्यम् । नवरं राजधानी अन्यस्मिन् कालोदसमुद्रे, जयन्तद्वारप्रश्नसूत्रं सुगमम् । भगवानाह-गौतम ! कालोदसमुद्रपश्चिमपर्यन्ते पुष्करवरद्वीपपश्चिमार्द्धस्य पूर्वतः शीताया महा-नद्या उपरि, अत्र कालोदसमुद्रस्य जयन्तं नाम द्वारं प्रज्ञप्तम् , एतदपि जम्बूद्वीपगतजयन्तद्वारवत्, नवरं राजधानी अन्यस्मिन् कालोदे समुद्रे । अपराजितद्वारप्रश्नसूत्रमपि सुगमम् । भगवानाह-गौतम ! कालोदसमुद्रोत्तरार्द्धपर्यन्ते पुष्करवरद्वीपोत्तरार्द्धस्य दक्षि-णतोऽत्र कालोदसमुद्रस्यापराजितं नाम द्वारं प्रज्ञप्तम्, तदपि जम्बू-द्वीपगतापराजितद्वारवत्, नवरं राजधानी अन्यस्मिन् कालोद-समुद्रे ।

संप्रति द्वाराणां परस्परमन्तरं प्रतिपिपादयिषुराह-

कालोदस्स णं भंते ! समुद्दस्स दारस्स २ य एस णं केव-तियं अवाहाए अंतरे पण्णत्ते ? गोयमा ! बावीससयसहस्सा बाणउतिं खलु भवे सहस्साइं छच्च सया छत्ताला दारंतर ति-ण्णि कोसा ये दारस्स २ य अवाहा अंतरे पण्णत्ते । कालोदस्स णं भंते ! समुद्दपदेसा पुक्खरवरदीव० तहवे, एवं पुक्खर वरदविस्स वि जीवा उद्दाइत्ता तहेव भाणियव्वं ।

प्रश्नसूत्रं सुगमम् । भगवानाह-गौतम ! द्वाविंशतिर्योजनशत-सहस्राणि द्विनवतिः सहस्राणि षट् योजनशतानि षट् चत्वारिंशदधिकानि त्रयश्च क्रोशा द्वारस्य द्वारस्य परस्परमबाधया अन्तरं प्रज्ञप्तम् । तथाहि-चतुर्णामपि द्वाराणामेकत्र पृथुत्वमीलने अष्टादश योजनानि, तानि कालोदसमुद्रपरिमाणात् १७०६०५ इत्येवंरूपात् शोध्यन्ते, शोधितेषु च तेषु जातमिदम्-एकनवतिर्लक्षाः सप्ततिः सहस्राणि, पञ्च शतानि सप्ताशीत्यधिकानि ९१७०५८७, तेषां चतुर्भिर्भागे हृते लब्धं यथोक्तं द्वाराणां परस्परमन्तरपरिमाणम् २२९२६४६ । उक्तं च-छायाला छच्च सया, बाणउइ सहस्सल-क्खवावीयं । कोसा य तिन्नि दारं-तरं तु कालोयहिस्स भवे ॥ १ ॥ कालोदस्स णं भेते । समुइस्स पएसा इत्यादिसूत्रचतुष्टयं पूर्व-वद्भावनीयम् ।

नामान्वर्थमभिधित्सुराह-

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चति कालोयसमुद्दे कालो० २ ? गोयमा ! कालोयस्स णं समुद्दसस उदके आसले मांसले पेसले मासरासिवण्णाभे पग्गतीए उदगरसेणं पण्णत्ते , काला महा-काला यऽत्थ दुवे देवा महिड्ढिया० जाव पलिओवमट्ठितीया परिवसंति, से तेणट्ठणं गोयमा ! जाव णिच्चे ।

(से केणट्ठेणमित्यादि) अथ केनार्थेन भदन्त । एवमुच्यतेकलोदः समुद्रः कालोदः समुद्र इति ? भगवानाह-गौतम ! कालोदस्य समुद्रस्य उदकम् आसलमास्वाद्यम्, उदकरसत्वात् । मांसलं गुरुधर्मत्वात्, पेसलमास्वादं मनोज्ञत्वात् । कालं कृष्णम् एतदेवोपमया प्रतिपादयति माषराशिवर्णाभम् । उक्तं च- '' पगई उदकरसं कालोए उदगमासरासिनिभमिति । '' ततः कालमुदके यस्यासौ कालोदः तथा कालमहाकालौ च तत्र द्वौ देवौ पूर्वार्द्ध-पश्चिमार्द्धाधिपति महर्द्धिकौ यावत्पल्योपम स्थितिकौ परि- वसतः ततः स कालोदः । तथानाह-' से तेणट्ठेण मित्यादि '

चन्द्रादित्यौ-

कालोयणे णं भंते । समुद्दे चंदा पभासिंसु वा ३ पुच्छा ? गोयमा ! कालोयणे णं समुद्दे बायालीसं चंदा पभासिंसु वा ३ बायालीसं चंदा बायालीसं चं दिणगरा दित्ता कालोदहिम्मि एते चरंति संबंधलेसागा णक्खत्तसहस्सं एगमेगं छावत्तरं च सतमण्णं छच्च सया छण्णउया महग्गहा तिण्णि य सहस्सा अट्ठावीसं कालोदहिम्मि वाराइं सतसहस्साइं नव य सता पण्णासा तारागणकोडीकोडीणं सोभं सोभंसु वा ३ ॥

चन्द्रादित्यादिसूत्रं पाठसिद्धम्। एवं रुपं च चन्द्रादीनां परिमाणमन्यत्राप्युक्तम्-

बायालीसं चंदा, बायालीसं च दिणयरा दित्ता।
कालोयहम्मि एए, चरंति संबंधलेसागा।
नक्खत्ताण सहस्सा, सयं च बावत्तरं मुणेयव्वं।
छच्च सया छ नउया, गहाण तिन्नेव य सहस्सा।
अट्ठावीसं कालो-दहिम्मि वारसयसहस्साइं।
नव य सया पन्नासा, तारागणकोडिकोडीणं।
तं च पुष्करवरद्वीपः सर्वतः संपरिक्षिप्य स्थितः। जी० ३ प्रति०।

(तद्वक्तव्यता ' पुक्खरवरदीव ' शब्दे दृष्टव्या) नन्दीश्वरद्वीपा-न्तरस्थे समुद्रभेदे, स्था० ७ ठा०।

कालोदाइ(ण्) पुं०(कालोदायिन) स्वनामख्यातेऽन्ययूथि-कभेदे, भ० ७ श० १० उ०। (अण्णउत्थिय शब्दे प्रथमभागे ४४५ पृष्ठे तद्वक्तव्यता उक्ता)

कालोभास त्रि०(कालावभास) कालदीप्तौ, भ० ६ श० ५ उ०। यः काल एवाऽवभासते पश्यताम्। स्था० ८ ठा०।

कालोवक्कम पुं०(कालोपक्रम) कालस्योपक्रमः कालोपक्रमः। उपक्रमभेदे, ''से किं तं कालोवक्कमे ? कालोवक्कमे जण्णं नालिआईहिं कालस्सोवजणं कीरईसेत्तं कालोवक्कमे ''। अनु०। नि० चू०।

(इति ' उवक्कम ' शब्दे द्वितीयभागे ८७२ पृष्ठे व्याख्यतम्)

काव पुं०(काव) भारोद्वहने, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ०। कावडिवाहके, त्रि०। जी० ३ प्रति०।

कावकोडिय त्रि०(कावकोटिक) कावो भारोद्वहनं तस्य कोटी भागः कावकोटी, तया ये चरन्ति ते कावकोटिकाः। कावटिकेषु, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ०। अनु०।

कावडिक त्रि०(कापटिक) कपटचारिणी, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ०।

कावण्णचाग न०(कार्पण्यत्याग) कृपणभावपरित्यागेऽतुच्छवृत्तौ, षो० ४ विव०।

कावध पुं०(कावध्य) सप्तत्रिंशत्तमे महाग्रहे, चं० प्र० २० पाहु०।

कावलिओ (देशी) असहने, दे० ना० २ वर्ग।

कावलिय न०(कावलिक) कवलैर्भवं कावलिकम्। आहारादौ, नं०। कवलप्रक्षेपनिष्पादिते प्रक्षेपाहारे, सूत्र०१ श्रु० १ अ० ३ उ०।

कावलिय पुं०(कापालिक) अस्थिरजस्के पाखण्डिकसाधौ, बृ० १ उ०। कावालिकरूपेण तेण सह वच्चइ। आव० ४ अ०। अनु०।

काविट्ठ न०(कापित्थ) स्वनामख्याते विमानभेदे, स० १४ सम०।

काविल पुं० (कापिल) कपिलो देवता येषां ते कापिलाः। निरीश्वर साङ्ख्येषु, औ०। '' जं काविलं दरिसणं, एवं दव्वट्ठियस्स वत्तव्वं '' यत्कापिलं दर्शनं साङ्ख्यथमतमेतत्। सम्म० १ काण्ड।

काविलिय न०(कापिलीय) उत्तराध्ययनानामष्टमेऽध्ययने, स० ३५ सम०। यत्र कपिलस्य महामुनेर्दृष्टान्तगर्भितनिर्लोभत्वदृढीकरणं कथितम्। उत्त० ७ अ०। सूत्र०। (' कविल ' शब्दे अस्मिन्नेव भागे ३८७ पृष्ठे उक्तम्)

काविसायण न०(कापिशायन) मद्यविशेषे, जी० ३ प्रति०।

कावी (देशी) नीलवर्णायाम्, दे० ना० ५ वर्ग।

कावोडी स्त्री०(कापोती) भारकाये, दश० ४ अ०। (' काय ' शब्दे अस्मिन्नेव भागे ४४६ पृष्ठे तद्व्याख्यानेन स्पष्टीकृतम्)

कास पुं०[काश (स)] केन जलेन कफात्मकेन अश्यते व्याप्यतेऽत्र। अश व्याप्तौ आधारे घञ्। काशरोगे, वाच०। उपा०। ज्ञा०। सप्तचत्वारिंशत्तमे महाग्रहे ' दो कासा ' स्था० २ ठा० ४ उ०। क्षुते, जलेनाकीर्णत्वात्तथात्वम्। काश दीप्तौ अच्। केशियातृणभेदे, तद्गुणद्युक्तम्। तत्पुष्पे, न०। ईषदश्राति अश्-अच्। कोः का। मूषिकभेदे, पुं०। स्त्रीयां ङीष्। ऋषिभेदे, पुं०। काशस्य गोत्रापत्यम्। अश्या० फञ् काशायनः। तद्गोत्रापत्ये, पुं०। स्त्री०। वाच०। काशे भवः काश्यः। रसे, स्था० ७ ठा०। कस्यन्तेऽस्मिन्निति कासः। संसारे, आचा० १ श्रु० ८ अ० ३ उ०। कस हिंसने कर्त्तरि णः। सिंसके, काशतेऽनेन काश करणे घञ्। रोगभेदे, पुं०। कं जलमस्यतेऽनेन, असु क्षेपणे करणे घञ्। शोभाञ्जनवृक्षे, पुं०। तदञ्जनसेवने नेत्राञ्जलनिसारणात्तस्य तथात्वम्। वाच०।

***काष** पुं० कष्यतेऽनेन कष करणे घञ्। कषणपाषाणे प्रस्तरभेदे, ऋषिभेदे च। वाच०।

कासंकस पुं०(कासंकष) कस्यन्तेऽस्मिन्निति कासः संसारस्तं कषतीति तदभिमुखो यातीति कासङ्कषः। ज्ञानादिप्रमादवति, आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ०।

कासंत त्रि०(काशमान) रोगविशेषे, '' कासंता वाहिया य आमाभिभूयगता ''। प्रश्न० ३ आश्र० द्वार।

कासग पुं०(कर्षक) कृषीवले, बृ० ३ उ०। जेण रोइंति वीजाइ, जेण जीवंति कासगा। नि० चू० १ उ०। उत्त०। क्षेत्रीकारके, उत्त० १२ अ०।

कासण न०(कासन) खट्करणे, ओघ०।

कासदह पुं०(कासह्रद) स्वनामख्याते तीर्थभेदे, यत्र त्रिभुवन-मङ्गलकलशः श्रीआदिनाथः। ती० ४३ कल्प०।

कासमाण त्रि०(काशमान) काशं कुर्वाणे णीससमाणे कासमाणे छीयमाणे वा। आचा० १ श्रु० २ अ० २ उ०।

कासव पुं०(काश्यप) काश्यंपिबति घञर्थकः। उप० स०। वाच०। **कगचजतदपयवां प्रायो लुक् । ८ । १ । १७७ ।**

इति यलोपे। '' **लुप्तयरवशषसां शषसां दीर्घः** ''। ८। १। ४३। इति शकारस्यादेः स्वरस्यादेर्दीर्घः। प्रा०१ पाद। ब्रह्मणो मानस-पुत्रस्य मरीचेः पुत्रे ऋषिभेदे, वाच०। भगवत ऋषभदेवस्य पूर्वपुरुषे, काशे भवः काश्यो रसस्तं पीतवानिति काश्यपः, तदपत्यान्यपि काश्यपाः। तदपत्येषु, ते च मुनिसुव्रतनेमिवर्जा। जिनाश्चक्र-वर्त्यादयश्च क्षत्रियाः सप्तमगणधरादयो द्विजाः जम्बूस्वाम्यादयो गृहपतयश्चेति। तत्सत्के मूलगोत्रभेदे च। '' सत्त महामूलगोत्ता पण्णत्ता। तं जहा-कासवा गोयमा! '' इह च गोत्रस्य गोत्रवद्भ्यो भेदादेवं निर्देशोऽन्यथाकाश्यपमिति वाच्यं स्यादेव सर्वत्र। स्था० ७ ठा० आव०। सूत्र०। जे कासवा ते सत्तविहा पण्णत्ता। तं जहा-ते कासवा से संडिल्ला ते गोला ते वाला ते मुंजतिणो ते पव्वतिणो ते वरिसकण्हा। स्था० ७ ठा०। चं० प्र०। जं०। भ०। काश्यपगोत्रे श्रीमन्महावीरवर्द्धमानस्वामिनि, सूत्र० १ श्रु० १६ अ०। दश०। कल्प०। ''जंसि विरता समुट्ठिता कासवस्स अणुधम्मचारिणो ''। काश्यपस्य ऋषभस्वामिनो वर्द्धमानस्वामिनो वा। सूत्र० १ श्रु० ६ अ०। कापिलीयाऽध्ययनोक्तकपिलस्य पितरि, उत्त० ७ अ०। काश्यं राजभेदं पाति नरकात् पा-कः। काश्यनृपस्य पुत्रे, मृगभेदे, पुं०। स्त्री०। स्त्रियां जातित्वात् ङीष्। कश्यपस्येदम् अण्। कश्यपसम्बन्धिनि, त्रि०। स्त्रियां ङीष्। पृथिव्याम्, स्त्री०। तस्याः संबन्धितया काश्यपपत्न्याम् स्त्री०। काश्यपेयः। कश्यप-गोत्रोत्पन्ने विषचिकित्साभिज्ञे ऋषिभेदे, वाच०। '' समणस्स णं भगवओ महावीरस्स जेट्ठा भइणी सुदंसणा कासवी गोत्तेणं ''। आचा० २ श्रु० १३ अ०। नापिते, आ० म० प्र०। ज्ञा०। सूत्र०। राजगृहवास्तव्ये स्वनामख्याते गृहपतौ, (तद्वक्तव्यता अन्तकृद्-शासु षष्ठे वर्गे चतुर्थेऽध्ययने सूचिता) तथाहि- '' तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे णयरे गुणसीलए चेइए, तत्थ णं सेणिए राया कासवे नामं गाहावती परिवसति, जहाकामकाइ सोलेसे वासा परियाउ पावणित्ता विपुले पव्वत्ते सिद्धी ''। अन्त० ७ वर्ग०।

कासवग पुं०(काश्यपक) नापिते, भ० ६ श० १० उ०। आ० चू०। तस्य राज्ञः श्रेणीष्यन्तर्भावः। जं० ३ वक्ष०।

कासवगोत्त पुं०(काश्यपगोत्र) काश्यपाख्यगोत्रवति, '' थेरे मोरियपुत्ते कासवगोत्तेणं अद्धट्ठाइ समणसयाइं वा एइ '' कल्प० ८ क्षण।

कासवज्जिया स्त्री०(काश्यपपार्जिका) माणवकगणस्य प्रथम-शाखायाम्, कल्प० ८ क्षण।

कासवणालिय न०(काश्यपनालिका) श्रीपर्णीफले, आचा० २ सु० १ अ० ८ उ०।

कासवी स्त्री०(काश्यपी) पञ्चमतीर्थकरस्य प्रथमशिष्यायाम्, स०। काश्यपगोत्रायां स्त्रियाम्, '' समणस्स णं भगवओ महावीर-स्स जेट्ठा भइणी सुंदसणा कासवी गोत्तेणं '' आचा० २ श्रु० ३ चूलि०।

कासायवत्थ त्रि०(काषायवस्त्र) काषायवस्त्रपरिधाने, बृ० १ उ०।

कासारं (देशी) सीसपत्रे, दे० ना० २ वर्ग।

कासार पुं०(कासार) कस्य जलस्य सारोऽत्र। सरोवरे, विंशत्यारगणैः रचिते दण्डकच्छन्दोभेदे च। वाच०। आ० क०।

कासिअं (देशी) श्वेतवर्णे, दे० ना० २ वर्ग।

कासिज्जं (देशी) काकस्थलाभिधाने देशे, दे० ना० २ वर्ग।

कासित्ता स्त्री०(काशित्वा) क्षुप्त्वेत्यर्थे, जी० ३ प्रति०।

कासिय न०(कासित) क्षुते, ध० २ अधि०।

कासिराय पुं०(काशिराज) काशीनां जनपदानां राजा, टच्। वाच०। काशिमण्डलाधिपतौ, उत्त० १८ अ०। तत्थ तस्स भागिणिज्जे कासिराया तेण चेव रज्जे ठाविओ केसी कुमारो आव० ३ अ०।

काशिकराजकथा-

तहेव कासीराया, सेऊसच्चपरक्कमो।
कामभोए परिच्चज्ज, पहणे कम्ममहावणं॥ ४६॥

हे मुने। तथैव तेनैव प्रकारेण पूर्वोक्तनृपवत् काशिदेशपति-र्नन्दननामा राजा सप्तमबलदेवः कर्मरूपं महावनं प्राहणत् उन्मूलयामासेत्यर्थः। किं कृत्वा-भोगान् परित्यज्य, कीदृशो नन्दनः श्रेयः सत्यपराक्रमः श्रेयः कल्याणकारकं यत्सत्यं संयमः श्रेयः सत्यं तत्र पराक्रमो यस्य सः श्रेयः सत्यपराक्रमः मोक्षदायकचारित्रधर्मे विहितवीर्य इत्यर्थः। अत्र काशिराजदृष्टान्तः- वाराणस्यां नगर्याम् अग्निशिखो राजा, तस्य जयन्त्यभिधादेवी, तस्याः कुक्षिसमुद्भूतः सप्तमबलदेवो नन्दनो नाम, तस्याऽनुजो भ्राता शेषवतीराज्ञीसुतो दत्तो वासुदेवः, स च पित्राप्रदत्तराज्यः साधितभरतार्द्धो नन्दनानुगतो राज्यश्रियं स्फीतामनुबभूव। कालेन षट्पञ्चाशद्वर्ष सहस्राण्या-युरतिबाह्यं मृत्वा दत्तः पञ्चमनरकपृथिव्या-मुत्पन्नः नन्दनोऽपि च गृहीतश्रामण्यः समुत्पादितकेवलज्ञानः पञ्चषष्टिवर्ष-सहस्राणि जीवितमनुपाल्य मोक्षं गतः षड्विंशतिधनूंषि चानयोर्देहप्रमाण-मासीदिति काशिराजदृष्टान्तः॥ ४६॥ उत्त० १८ अ०।

कासी स्त्री०(काशी) काशते काश इन् स्त्रियां ङीष्। काशणिच्। गौरा ङीष्। वाच०। वाराणस्यां, तज्जनपदे च। भ० ७ श० २ उ०। काशी जनपदो, यत्र वाराणसी नगरी। ज्ञा० १ श्रु० ८ अ०। तस्या आर्यक्षेत्रेषु गणना। प्रज्ञा० १ पद। प्रव०। स्था०। सूत्र०। '' तेणं कालेणं तेणं समएणं कासी नामं जगणवए होत्था, तस्य वाणारसी नामं णयरी होत्था, तत्थ णं संखे नामं राया होत्था ''। ज्ञा० १ श्रु० ८ अ०। स्वल्पार्थे ङीष्। स्वल्पकाशतृणे, वाच०।

कासीवद्धण पुं०(काशीवर्द्धन) वाराणसीनगरी संबन्धिजनपद-वृद्धिकरे, स्था० ८ ठा०।

काहर पुं०(काहर) जलाहारके, '' एगो काहरो तलाए दो धडा पाणियस्स भरेऊण ''। दश० ४ अ०। दे० ना० २ वर्ग।

काहल त्रि०(कातर) तस्य हः। **हरिद्रादौ लः ८। १। २५४**। इति रस्य लः। प्रा० १ पाद। अधीरे व्यसनाकुले, वाच०।

***काहल** पुं० स्त्री०। कुत्सितं हलति लिखति हन्-अच्। कोः का०विडाले, कुक्कुटे, स्त्रियां ङीष्। शब्दमात्रे, पुं० अव्यक्त-वाक्ये, शुके, भृशे, खले च। त्रि०। महाढक्कायाम्, स्त्रीयां टाप्।

धूस्तूराकारो वाद्यशब्दभेदे, वाच०। तूर्य्यविशेषे, आ० म० प्र०। औ०। नं०। खरमुख्याम्, आ० म० प्र०। जं०। गोमुख्याम्, स्था० ७ ठा०।

काहलिया स्त्री०(काइलिका) रत्नावलीनामभूषणस्य सौवर्णेऽव यवभेदे, अन्त० ८ वर्ग।

काइली (देशी) तरुण्याम्, दे० ना० २ वर्ग।

काहिय पुं०(काथिक) कथया चरति काथिकः। सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ०। कुशीलभेदे, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ०। योभिक्षार्थे प्रविष्टो धर्मकथां महतीं करोति। ओघ०। कथाकथनैकनिष्ठे, ध० ३ अधि०।

अक्खाइयाउ अक्खाणाइं गीयाइ छलियकव्वाइं।
कहयंता य कहाओ-ऽभिसमुत्था काहिया होंति।

आख्यायिकास्तरङ्गवतीमलयवतीप्रभृतयः, आख्यानकानि धूर्ताख्यानकादीनि, गीतानि ध्रुवकादिछन्दोनिबद्धानि गीतपदानि, तथा छलितानि शृङ्गारकाव्यानि, कथा, वासुदेवचरितचेटक-कथाः, दन्तकथया चरन्तीति व्युत्पेर्यच्छ्रेयःसमुत्था धर्मकामार्थ-त्रयवक्तव्यताप्रभवाः, संकीर्णकथा इत्यर्थः। एता आख्यायिकादि-नि कथयन्तः काथिका उच्यन्ते, तद्वन्दनं निषिद्धम्। बृ० १ उ०।

जे भिक्खू काहियं वंदइ वंदंतं वा साइज्जइ ॥ ५१ ॥
जे भिक्खू काहियं पसंसइ पसंसंतं वा साइज्जइ ॥ ५२ ॥

द्वे सूत्रे सज्झायादिकरणिज्जे जोगे मोत्तुं जो देसकहादिकहाओ कधेति सो काहिओ। इमा णिज्जुती-

आहारादीणट्ठा, जसहउं अहव पूयणणिमित्तं।
तक्कमो जो धम्मं, कधेति सो काधितो होति ॥ ६३ ॥

धम्मकहं पि जो करेति आहारादिनिमित्तं, वत्थपातादिणिमित्तं वा, जसत्थी वा , वंदणादिपूयानिमित्तं वा, सुत्तत्थपोरिसिसु कव-डाचारो अहो य रातो य धम्मकहादिपढणकहणवज्झो तदेवास्य केवलं कर्म्म एवं विधो काहितो भवति। चोदग आह- अणुसज्झा-ओ पंचविधो वायणादिगो, तस्स पंचमो भेदो धम्मकहा, तेण भव्वसत्ता पडिवुज्झंति, तित्थे य अव्वोच्छित्ती, पभावणा य भवति, अतो ताओ णिज्जरा चेव भवति, कहं काहियं तं पडिसिज्झति ? आचार्य आह-

कामं खलु धम्मकहा, सज्झायस्सेव पंचमं अंगं।
अव्वोच्छित्तीऐं ततो, तित्थस्स पभावणा चेव ॥ ६४ ॥

पूर्वाभिहितनोदकार्थानुमते कामशब्दः, खलुशब्दोऽवधार-णार्थः, किमवधारयति-इमं सज्झायस्स पंचमए वागं धम्मकहा, जइ य एवं-

तह वि य ण सव्वकालं, धम्मकहा जीयसव्वपरिहाणी।
नाउं व खेत्तकालं, पुरिसं च पवेदिते धम्मं ॥ ६५ ॥

सव्वकालं धम्मो ण कहेयव्वो, जतो पडिलेहणादिसंजमजो- गाणं सुत्तपोरसीणय आयरियगिलाणमादिकिच्चाण य परिहाणि भवति, अतो ण काहियत्तं कायव्वं, जहा पुण धम्मं कहेति तदा णाउं साधुं साधुणीण य वहुगच्छवग्गहं, खेत्तं ति ओमकाले बहुणं साधुसाधुणीण उवग्गहकरा इमे दाणसड्ढादि भविस्संति, धम्मं कहए रायादिपुरिसं वा णाउं करेज्जा, महाकुले वा इमेण एक्केण उवसंतेणं पुरिसेणं वहू उवसमंतीति कहेज्जा। नि० चू० १३ उ०।

काहीइदाण न०(करिष्यतिदान) करिष्यति कञ्चनोपकारं ममायमिति बुद्ध्या यद्दानं तत्करिष्यतीति दानमुच्यते। दानभेदे, स्था० १० ठा०।

किइ स्त्री०(कृति) कृ भावादौ क्तिन्। ''इत्कृपादौ''। ८।१।१२८। डुकृञ् करणे इति ऋत इत्वम्। प्रा० १ पाद। करणे, विशे०। आ० म०। अनुष्ठाने, स्था० ३ ठा० ४ उ०। अवनामा-दिकरणे, क्रियतेऽसाविति कृतिः। मोक्षायावनामादिचेष्टायाम्, आव० २ अ०। कृतिकर्मणि वन्दने, दश० ६ अ० १ उ०। व्य०। पुरुषप्रयत्ने कर्तृव्यापारे, कृ वधे क्तिन्। हिंसायाम् विंशति-संख्यायाम्। कृत-वा-करणे-इक् कर्त्तन्याम् स्त्री०। वाच०।

किइकम्म नं०(कृतिकर्मन्) कृतिरेव कृतेर्वा कर्म क्रिया कृतिकर्म। वन्दनके, आव० ३ अ०। स०। आचा०। आ०। चू०। कर्मापि द्विधा, द्रव्यतः कृतिकर्म्म निह्नवादीनामवनामादिकरणमनुपयुक्त-सम्यग्दृष्टीनां च, भावतः सम्यग्दृष्ट्युपयुक्तानामिति। एतच्च द्वाविंशतिजिनसमये स्थितम्। बृ० ६ उ०।

(१) कृतिकर्मद्वारं निरूप्य कृतिकर्मणि संयतेभ्यः संयतीनां विशेषप्रतिपादनम्।
(२) यथार्हं वन्दनस्याकरणे दोषाः।
(३) कृतिकर्मणि द्रव्यभावप्रचिकटयिषया दृष्टान्तप्रतिपाद- नम्।
(४) कृतिकर्मकरणार्हसंयतादिनिरूपणानन्तरं वन्दनाहसंयता-दिनिरूपणम्।
(५) द्रव्यक्षेत्रकालभावतो भेदाः।
(६) आचरणालक्षणं प्रतिपाद्य पर्यायज्येष्ठैराचार्यस्य वन्दनविचारः।
(७) दैवसिकरात्रिकप्रतिक्रमणयोर्मध्ये तिसृभिरेव स्तुतिभिराचार्या-दिभिर्मङ्गलं विधेयम्।
(८) कृतिकर्म कस्य कर्त्तव्यं कस्य नेति विचारः।
(९) कारणतः पार्श्वस्थादीनां वन्दनप्रकारं निरूप्य तद्वन्दनकारण प्रतिपादनम्।
(१०) पार्श्वस्थादिवन्दनं निष्फलमिति निरूप्य तत्प्रतिषेधमकुर्वत मपायप्रदर्शनम्।
(११) गुणवतामपि पार्श्वस्थादिसंसर्गतो दोषसंभवात्सदृष्टान्तं वन्दननिषेधप्रतिपादनम्।
(१२) पार्श्वस्थादिवन्दने चापायप्रदर्शनम्।
(१३) सुसाधुवन्दने गुणप्रदर्शनम्।
(१४) कृतिकर्मकरणस्यानुचितानामुचितानां च प्रतिनादनम्।
(१५) कदा कृतिकर्म कर्तव्यं कदा वा नेति प्ररूपणम्।
(१६) कतिकृत्वः कृतिकर्म कर्त्तव्यमिति नियतानियतत्वेन निरूप्य नियतवन्दनस्थानसंख्याप्रतिपादनम्।
(१७) कृतिकर्मस्वरूपनिरूपणम्।
(१८) कतिभिरावश्यकैः परिशुद्धमित्येतन्निरूपणम्।
(१९) विराधनगुणोपदर्शनम्।
(२०) वन्दनकरणकारणप्रतिपादनम्।
(२१) वन्दनकविधिनिरूपणम्।

(१) अथ कृतिकर्मद्वारमाह-

कितिकम्मं पि य दुविहं, अब्भुट्ठाणे तहेव वंदणगा।
समणेहि य समणीहि य, जहारिहं होति कायव्वं ॥

कृतिकर्माऽपिद्विविधम्-अभ्युत्थानं, तथैव वन्दनकमाद्विविधमपि तृतीयोद्देशके व्याख्यातम। बृ० ६ उ०। (अभ्युत्थानम् '' अब्भुट्ठाण '' शब्दे प्र० भा० ६९३ पृष्ठे उक्तम्, वन्दनं तु ' वंदनग ' शब्दे व्याख्यास्यते) उभयमपि च श्रमणैः श्रमणीभिश्च यथार्हं यथारत्नाधिकं परस्परं कर्त्तव्यम्। तथा श्रमणीनामयं विशेषः-

सव्वाहि संयतीहिं, कितिकम्मं संजताण कायव्वं।
पुरिसत्तरितो धम्मो, सव्वजिणाणं पि तित्थम्मि ॥

सर्वाभिरपि संयतीभिश्चरप्रव्रजिताभिरपि संयतानां तद्दिनदीक्षितानामपि कृतिकर्म कर्त्तव्यम्। कुत इत्याह-सर्वजिनानां सर्वेषामपि तीर्थकृतां तीर्थं पुरुषोत्तरो धर्म इति।

किञ्च-

तुच्छत्तणेण गव्वो, जायति ण य संकते परिभवेणं।
अण्णो वि होज्ज दोसो, थियासु माहुज्जहज्जासु ॥

स्त्रियाः साधुना वन्द्यमानायास्तुच्छत्वेन गर्वो जायते, गर्विता च साधुं परिभवबुद्ध्या पश्यति, ततः परिभवेन च नैव साधोः शङ्कते विभेति। अन्योऽपि दोषः स्त्रीषु माधुर्यहार्यासु मार्दवग्राह्यासु वन्द्यमानासु भवति, भावसंबन्ध इत्यर्थः-

अवि य हु पुरिसपणीतो, धम्मो पुरिसो य रक्खिउं सत्तो।
लोगविरुद्धं चेयं, तम्हा समणाण कायव्वं ॥

अपिचेति कारणान्तराभ्युच्चये, पुरुषैस्तीर्थकरगणधरलक्षणैः प्रणीतः पुरुषप्रणीतो धर्मः, पुरुष एवं च तं धर्मं रक्षितुं प्रत्यनीकादिनोपद्रूयमाणं पालयितुं शक्तः, लोकविरुद्धं चैतत्पुरुषेण स्त्रियो वन्दनम्, तस्मात् श्रमणानां ताभिः कर्तव्यम्। बृ० ६ प्र०। कल्प०। प्रव० पञ्चा०।

(२) यथार्हं वन्दनस्याकरणे दोषानाह-

एयस्स अकरणम्मी, माणो तद्द णीयकम्मबंधो त्ति।
पवयणखिंसाऽयाणग, अबोहिभवबुड्ढि अरिहम्मि ॥ २५ ॥

एतस्य कृतिकर्म्मणोऽकरणेऽविधाने मानोऽहङ्कारः कृतो भवति। तथेति समुच्चये। नीचकर्मबन्धो नीचैर्गोत्रकर्मबन्धनमिति, एतस्मान्मानात् स्यात्। तथा प्रवचनखिंसा शासननिन्दा नूनमेतत्प्रवचने विनयो नाभिधीयते, यत एते वन्दनं यथायोग्यं न कुर्वन्तीत्येवंरूपा। तथा (अयाणग त्ति) अज्ञायका अविज्ञा एते लोकरूढिमपि नानुवर्त्तयन्ति एवं विनिन्देति। अत एवाबोधिः सम्यग्दर्शनालाभः। अबोधिलाभफलं कर्मेत्यर्थः। ततश्च भववृद्धिः संसारवर्द्धनमिति दोषः। क्वैतस्याकरणे इत्याह-अर्हं योग्ये वन्द-नस्य, न यत्र कुत्रचिदिति गाथात्रयार्थः। पञ्चा० ७ विव०। प्रव०। स्था०। जीत०। पं० भा०। पं० चू०।

वंदणचिइकिइकम्मं, पूआकम्मं च विणयकम्मं च।
कायव्वं कस्स व के-ण वा वि काहे व कइखुत्तो ? ॥

(गाथापूर्वार्द्धं ' वंदनग ' शब्दे वक्ष्यते) आह-इदं वन्दनं कर्त्तव्यं कस्य वा केन वा कदा वा कस्मिन्वा काले कतिकृत्वो वा कियत्यो वा वारा इति।

किइओणयं कइ सिरं, कइहि व आवस्सएहि परिसुद्धं।
कंतिदोसविप्पमुक्कं, कितिकम्मं कीस कीरइ वा ? ॥

अवनतिरवनतं कृत्यवनतं तद्वन्दनं कर्तव्यम्, कति शिरः कति शिरांसि, तत्र भवन्तीत्यर्थः। कतिभिर्वाऽऽवश्यकैरावर्तादिभिः परिशुद्धं, कतिदोष विप्रमुक्तं टोलगत्यादयो दोषाः। कृतिकर्म वन्दनकर्म (कीस किरइ व त्ति) किमिति वा क्रियत इति गाथासंक्षेपार्थः। आव० ३ अ०।

(३) सांप्रतं वन्दनादिषु द्रव्यभावभेदं प्रचिकटयिषुर्दृष्टान्तान् प्रतिपादयन्नाह-

सीयले खुड्ड ए कन्ने, सेवए पालए तहा।
पंचेते दिट्ठंता, कितिकम्मं होंति णायव्वा ॥३॥

शीतलः, क्षुल्लकः, कृष्णः, सेवकः पालकस्तथा पञ्चैते दृष्टान्ताः कृतिकर्मणि भवन्ति ज्ञातव्याः। आव० ३ अ०। (तत्र सकथानकः शीतलदृष्टान्तः ' सीयल ' शब्दे वक्ष्यते)

अथ क्षुल्लकदृष्टान्तमाह, तत्रेदं कथानकम्-

''एगो खुड्डगो आयरिएण कालं करेमाणेण लक्खणजुत्तो आयरिओ ठविओ। ते सव्वे पव्वइया तस्स खुड्डगस्सआणानिदेसे वट्टंति। तेसिं च कडादीणं थेराण मूले पढइ। अन्नया मोहणिज्जेण वाहिज्जंतो भिक्खाए गएसु साहुसु वीतिज्जएण सण्णापाणयं आणवेत्ता पत्तयं गहाय उवहयपरिणामो वच्चइ एगदिसाए, परिस्संतो एगम्मि वणसंडे वीसमर, तस्स य पुप्फियफलियस्स मज्झे समिज्झंकरस्स पीढं बद्धं। लोगो तत्थ पूयं करेइ तिलगचउलादीणं, किंचि वि सो चिंतेइ। एयस्स पेढस्स गुणेण एइसे पूया किज्जर चितिनिमित्तं। सो भणइ - एए किं अचेइ ? ते भणंति-पुविल्लेहिं कएल्लयं एयं, तं च जणो वंदइ। तस्स वि चिंता जाया-पेच्छ जारिसं समिज्झंकरं तारेसो मि अहं, अन्ने वि तत्थ बहुस्सुया रायपुत्ता इब्भपुत्ता अत्थि, ते ण ठविया, अहं ठविओ, ममं पूएति, कओ मज्झ समणत्तेणं रयह-रणचितिगुणेणं वंदंति, पडिनियत्ता इयरे वि भिक्खाओ आगया मग्गंति, न लभंति सुतिं वा पउत्तिं वा, सो आगओ अलोएइ-जहा-ऽहं सन्नाभूमिं गओ सुलो उट्ठाइओ तत्थ पडिओ अत्थिओ, इयाणिं उवसंते आगओ मि, ते तुट्ठा, पच्छा, कडाईणं आलोएइ, पायाच्छित्तं च पडिवज्जइ। तस्स पुव्विं दव्वचित्ती, पच्छा भावचिती जाया।''

इदानीं कृष्णकथानकमाह-

बारवईए वासुदेवो, वीरओ कोलिओ, सो वासुदेवभत्तो। सो य किर वासुदेवो वरिसारत्ते बहवे जीवा बहिज्जंति तिन्नो नइं। सो वीरगो बारं अलंभंतो पुप्फछल्लियाए अच्चणं काऊण वत्तइ, दिणे दिणे न य जेमेइ, परूढमंसू जाओ। वत्ते वरिसारत्ते नीतिराया सव्वे वि रायाणो उवट्ठिया, वीरओ पाएसु पडिओ। राया पुच्छइ-वीरओ दुव्वलोत्ति। वारवालेहिं कहियं जहावत्तं। रन्नो अणुकंपा जाया, अवारिओ पावेसो कओ वीरगस्स। वासुदेवो य किर सव्वाओ धूयाओ जाहे विवाहकाले पायं वंदिया उएंति, ताहे पुच्छइ-किं पुत्ति। दासी होइहि उदाहु सामिणि त्ति ? तओ भणंति-सामिणिओ होहामु त्ति। राया भणइ तोक्खाइं पव्वयह भट्टारगस्स पायमूले, पच्छा महया निक्कमणसक्कारेण सक्कारियाओ पव्वयंति, एवं वच्चइ कालो। अन्नया एगाए देवीए धूया, सा चिंतेइ-सव्वाओ पव्वाविज्जंति।

तीए धूया सिक्खाविया-भणाहि, दासी होहामि त्ति। ताहे सव्वालंकियभूसिया उवणीया पुच्छिया भणइ-दासी होहामि त्ति। वासु-देवो चिंतेइ-मम धूयाओ संसारं हिंडिहिंति कह वा अन्नेहिं अवमन्निज्जंति तो न लद्धो एको उवाओ, जेण अन्ना वि एवं न कारहिंति त्ति चिंतेइ लद्धो उवाओ वीरग पुच्छइ-अत्थि ते किंचि कयपुव्वयं ? भणति-नत्थि। राया भणइ-चिंतेहि य। सुचिरं चिंतेत्ता भणइ-अत्थि वयरीए उवरिं सरडो, सो पाहाणेण आहणेत्ता पाडिओ मओ य, सगडवट्टाए पाणियं वहंतं वामपाएण धारियं उव्वेलाए गयं, पज्जणघडियाए मच्छियाओ पविट्ठाओ हत्थेण ओहाडियाओ गुम-गुमंतीओ होउंति। वीए दिवसे अत्थाणीए सोलसन्नं रायसहस्साणं मज्झे सो भणति-सुणह भो। एयस्स वीरयस्स कुलुप्पत्ती सुया, कम्माणि य। काणि कम्माणि ? वासुदेवो भणति-जेण रत्तसिरो नागो वसंतो वदरीवणे पाडिओ पुढविसत्थेण, वेमती नाम खत्तिओ, जेण च क्खुया गंगा वहंती। कलुसोदयं धारिया वामपाएण, वेमती नाम खत्तिओ, जेण घोसवती सेणा वसंती कलसीपुरे धारिया वामइत्थेणं, वेमती नाम खत्तिओ, एयस्स धूयं देमि त्ति। सो भ-णिओ-धूयं ते देमि, तो नेच्छति, भीउडी कया, दिन्ना, नीया य घरं, सयणिज्जे अत्थति, इमो से सव्वं करेति। अन्नया राया पुच्छति, किह ते वयणं करेति। वीरओ भणति-अहं सामिणीएदासो त्ति। राया भणति-सच्चं जइ न कारावेसि तो नत्थि ते निप्फेडओ। तेण रन्नो आकूयं नाऊण घरं गएण भणिया-जहा पज्जणं करेहि त्ति। सा रुट्ठा, कोलिय। अप्पयं न याणसि, तेण उट्ठेऊण रज्जुए आहया कूयंती रन्नो मूलं गया। पाए वडिया भणइ-तेणाहं कोलिएण आहया। राया भणतितेण चेव सि मए भणिया-सामिणी होहिहिति त्ति, तो दा-सत्तणं मग्गसि, अहमेत्ताहे न वसामि। सा भणति-सामिणी होमि। राया भणति-वीरओ जइ मन्निहिति। मोइया पव्वइया। अहिट्ठ-नेमिसामी समोसरिओ। राया निग्गओ। सव्वेसाहू वारसावत्तेणं वंदंति, रायाणो परिस्संताविया। वीरओ वासुदेवाणुवतीए वंदति, कन्ने वद्धसेओ जाओ। भट्टारओ पुच्छिओ-तिहिं सङ्केहिं सएहिं संग-माणं न एवं परिस्संतो मिभगवं। भगवया भणियं-कत्र। खाइंग ते संमत्त, उप्पाइयं तित्थगरनामगोयं च, जया किर पाए विद्धा तया निंदणगरिहणाए सत्तमाए पुढवीए वद्धेल्लयं आउयं उव्वढंतेण तच्च पुढविमाणीयं जइ आउयं धरे तो पढमपुढ-विमाणेतो अन्ने भणंति-इहेव वंदंतेणं ति भावकितिकम्मं वासुदेवस्स दव्वकिति-कम्मं वीरयस्स।

अथ सेवककथानकमाह-

''एगस्स रन्नो दो सेवया, तेसिं अल्लीणागामा। तेसिं सीमा-निमित्तेणं भंडणं जातं, रायकुलं पहाविया। साहू दिट्ठो, एगो भणति भावेणं साधुं दृष्टवा- ' धूवासिद्धिः '। पयाहिणीकाउं वंदित्तागओ। वितिओ तस्स किर उग्घोट्टयं करेति, सो वि वंदति, तहेव भणति। ववहारो आवद्धो, जियो, तस्स दव्वपूजा, इयरस्स भावपूजा''।

इदानीं पालककथानकमाह-

''वारवतीए वासुदेवो राया पालयसंवादओ, से पुत्तो नेमी समोसढो। वासुदेवो भणति-जो कल्लं सामिं पढमं वंदति तस्साइं जं मग्गति तं देमि। संवेण सयणीज्जाओ उट्ठित्ता वंदिओ। पालएण लोभेण सिग्घेण आसरयणेणं वंदिउं गंतूण सो किर अभवसिद्धिओ वंदति, हियएण अक्कोसति। वासुदेवो निग्गओ पुच्छति-केण तुज्झे अज्ज। पढमं वंदिया। दव्वओ पालएणं, भावओ संबेणं। संवस्स तं दिन्नं''। एवं तावद् द्वन्द्वपर्य्यायशब्दद्वारेण निरूपितम्।

अधुना यदुक्तं कर्त्तव्यं कस्य चेति, स निरूप्यते, तत्र येषां न कर्तव्यं तानभिधित्सुराह-

अस्सजयं न वंदिज्जा, मायरं पिअरं गुरुं।
सेणावइं पसत्थारं, रायाणं देवयाणि अ ॥ ४ ॥

न संयता असंयताः, अविरता इत्यर्थः, तान्न वन्देत। कान् ? मातरं जननीं, तथा पितरं जनकम्, असंयतमिति वर्त्तते। प्राकृत-शैल्या वाऽसंयतशब्दो लिङ्गत्रयेऽपि यथायोगमभिसंबध्यते। तथा गुरुं पितामहादिलक्षणम्, असंयतत्वं सर्वत्र योजनीयम्। तथा हस्त्यश्वरथपदातिलक्षणा सेना, तस्याः पतिः सेनापतिः, गणराज इत्यर्थः। तं सेनापतिं, प्रशास्तारं प्रकर्षेण शास्ता, तं धर्मपाठकादिलक्षणम्, तथा बद्धमुकुटो राजाऽभिधीयते, तं राजानं, दैवतानि च न वन्देत, देवदेवीसंग्रहार्थं देवताग्रहणम्। चशब्दाल्लेखाचार्य्य-दिग्रहो वेदितव्य इति गाथार्थः ॥४॥

(४) इदानीं यस्य वन्दनं कर्त्तव्यं स उच्यते-

समणं वंदिज्ज मेहावी, संजयं सुसमाहिअं।
पंचसमिअं तिगुत्तं, अस्संजमदुगुंछगं ॥५॥

श्रमणः प्राग्निरूपितशब्दार्थः, तं श्रमणं वन्देत नमस्कुर्यात्, कः ? मेधावी न्यायावस्थितः। स खलु श्रमणो नामस्थापनादिभेद-भिन्नोऽपि भवति, अत आह-संयतम्, समेकीभावेन यतः संयतः, क्रियां प्रयत्नवानित्यर्थः। असावपि च व्यवहारनयाभिप्रायतो लब्ध्यादिनिमित्तमसंपूर्णदर्शनादिरपि संभाव्यते, अत आह-सुसमा-हितम्, दर्शनादिषु सुष्ठु सम्यगाहितः सुसमासहितस्तम्। सुसमा-हितत्वमेव दर्शयते-पञ्चभिरीर्य्यासमित्यादिभिः समितिभिः समितः पञ्चसमितस्तम्। तिसृभिर्मनोगुप्ताप्यादिभिर्गुप्तं त्रिगुप्तम्। प्राणाति-पातादिलक्षणोऽसंयमः या असंयमं गर्हति जुगुप्सतीत्यसंयम-जुगुप्सकस्तम्। अनेन दृढधर्मता ऽस्यावेदिता भवतीति गाथा-र्थः ॥६॥

आह-किमिति यस्य कर्त्तव्यं वन्दनं स एवादौ नोक्तः, येन येषांन कर्तव्यं मात्रादीनांतेऽप्युक्ता इति ? उच्यते-सर्वपार्षदं हीदं शास्त्रम्, त्रिविधाश्च विनेया भवन्ति-केचिदुद्घटितज्ञा भवन्ति केचिन्मध्य-मबुद्धयः, केचित्प्रपञ्चितज्ञा इति। तत्र मा भूत् प्रपञ्चितज्ञानां मतिः-उक्तलक्षण-श्रमणस्य कर्त्तव्यं, मात्रादीनां तु न विधिनं प्रतिषेध इत्यतस्तेऽप्युक्ता इति। यद्येवं किमिति तेषां न कर्त्तव्यं त एवादावुक्ता इति ? अत्रोच्यते-हिताप्रवृत्तेरहित प्रवृत्तिर्गरीयसी। गुरु संसारकारणमिति प्रदर्शनार्थमित्यलं प्रयङ्गेन, प्रकृतं प्रस्तुमः। श्रमणं वन्देत मेधावीसंयतमित्युक्तम्।

तत्रेत्थंभूतमेव वन्देत न तु पार्श्वस्थादीन्, तथा चाह-

पंचन्हं किइकम्मं, मालामरुएण होइ दिट्ठंतो।
वेरुलिअ नाण दंसण, नीआवासे अ जे दोसा ॥६॥

पञ्चानां पार्श्वस्थावसन्नकुशीलसंसक्तयथाच्छन्दानां कृतिकर्म्म, न कर्त्तव्यमिति वाक्यशेषः। अयं च वाक्यशेषः श्रमणं वन्देत मेधावी संयतमित्यादिग्रन्थादवगम्यते, पार्श्वस्थादीनां यथोक्तश्रमण-

गुणविकलत्वात्। तथा संयतानामपि ये पार्श्वस्थादिभः सार्द्धं संसर्गं कुर्वन्ति तेषामपि कृतिकर्म न कर्त्तव्यम्। आह-कुतोऽयमर्थोऽवगम्यते ? उच्यते-मालामरुकाभ्यां भवंति, दृष्टान्त इति वचनात्। वक्ष्यते च-''असुइट्ठाणे पडियेत्यादि'' ''पक्कणकुलेत्यादि'' (वेरुलिय त्ति) संसर्गज-दोषनिराकरणाय वैडूर्यदृष्टान्तो भविष्यति। वक्ष्यते च - ''सुचिरं पि अत्थमाणा '' इत्यादि। तत्प्रत्यवस्थानं च ''अंबस्स य लिंबस्स य'' इत्यादिना सप्रपञ्चं वक्ष्यते। (णाणे त्ति) दर्शनचारित्राऽऽसेवनसामर्थ्य-विकला ज्ञाननयप्रधाना एवमाहुः-ज्ञानिन एव कृतिकर्म कर्त्तव्यम्। वक्ष्यते च ''कामं चरणं भावो, तं पुण णाणसहिओ समाणे त्ति। न य नाणं तु न भावो, तेण णाणिं पणिवयामो '' इत्यादि (दंसणे त्ति) ज्ञानचरणधर्म-विकलाः स्वल्प-सत्त्वा एवमाहुःदर्शनिन एव कृतिकर्म्म कर्त्तव्यम्। वक्ष्यते च '' जड नाणेण विणा चरणं नाणदंसणिस्सइ य नाणं। ण य दरिसणं ण भावो, ते णरदिट्ठिं पणिवयामो'' इत्यादि। तथाऽन्ये संपूर्णचरण-धर्मानुपालनासमर्था नित्यवासादि प्रशंसन्ति संगमस्थविरो-दाहरणेनापरे चैत्याद्यालम्बनं कुर्वन्ति। वक्ष्यते च ''जाहे वि य परितंता, गामागरनगरपट्ठणमदुता। तो केती नियवासी, संगमथेरं ववइसंति'' इत्यादि। तदत्र नित्यवासे च ये दोषाः, चशब्दा-त्केवलज्ञानदर्शनपक्षे चैत्यभक्तिपक्षे चार्यिकालाभविकृतिपरि-भोगपक्षे च ते वक्तव्या इति वाक्यशेषः। एष तावद्गाथासंक्षे-पार्थः ॥६॥

सांप्रतं यदुक्तं पञ्चानां कृतिकर्म न कर्त्तव्यम्, अथ के एते पञ्च इति तान्स्वरूपतो निदर्शयन्नाह-

पासत्थो ओसन्नो, होइ कुशीलो तहेव संसत्तो।
अहछंदो वि अ एए, अवंदणिज्जा जिणमयम्मि ॥७॥

इयमन्यकर्तृकी सोपयोगा चेति व्याख्यायते-तत्र पार्श्वस्थः दर्शनादीनां पार्श्वे तिष्ठतीति पार्श्वस्थः। अथवा मिथ्यात्वादयो बन्धहेतवः पाशाः, पाशेषु तिष्ठतीति पाशस्थः। आव० ३ अ०।

कृतिकर्म कर्त्तव्यम्-

कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अहारायणियाए किइकम्मं करित्तए।

अथ कोऽस्य सूत्रस्य संबन्ध इत्याह-

संथारं हु रुहंते, किइकम्मं कुणइ वाचियं सायं।
पातो वि य पणिवायं, पडिबुद्धो एक्कमेक्कस्स ॥

सायं प्रदोषसमयपौरुष्यां पूर्णायां गुरुप्रदत्तायां भुवि प्रस्तीर्थ संस्तारकमारोहन् वाचिकं कृतिकर्म 'नमः क्षमाश्रमणेभ्यः' इति लक्षणं वाचनिकं प्रणामं करोति। प्रातरपि च प्रभातेऽपि प्रतिबुद्धः, सन् एकैकस्य साधोः प्रणिपातं वन्दनं यथारत्नाधिकं करोति, अत इदं कृतिकर्मसूत्रमारभ्यते। अनेन संबन्धेनायातस्यास्य व्याख्या-कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा यथारात्निकं यो यो रत्ना-धिकस्तदनतिक्रमेण कृतिकर्म कर्तुमिति सूत्रसंक्षेपार्थः।

अथ विस्तरार्थं भाष्यकार आह-

किइकम्मं पि य दुविहं, अब्भुट्ठाणं तहेव वंदणगं।
वंदणगं तहि ठप्पं, अब्भुट्ठाणं तु वोच्छामि ॥

कृतिकर्म द्विविधम्। तद्यथा-अभ्युत्थानं, वन्दनकं च। तत्र वन्दनकं स्थाप्यम्, अभ्युत्थानं तु सांप्रतमेव वक्ष्यामि। बृ० ३ उ०। (अभ्युत्थानम् अब्भुट्ठाण शब्दे प्र० भा० ६६३ पृष्ठे उक्तम्। वन्दकं ' वंदगण ' शब्दे वक्ष्यते।)

(५) अथ द्रव्यक्षेत्रकालभावतः कृतिकर्मकरणविधिमाह-

आयरियवज्झाए, काऊणं सेसगाण कायव्वं।
उप्परिवाडी मासिग, मदरहिए तिण्णि य थुईओ ॥

प्रतिक्रमणसूत्राकर्षणानन्तरमाचार्योपाध्याययोः प्रथमं कृतिकर्म कृत्वा ततः शेषसाधूनां यथारत्नाधिकक्रमं कर्त्तव्यम्। अथोत्प-रिपाटया वन्दते ततो लघुमासिकं, तेनापि चाचार्यादिना मदरहितेन वन्दनकं प्रतीच्छनीयम्। प्रतिक्रमणे च समापिते तिस्रः स्तुतयः स्वरेण छन्दसा व प्रवर्द्धमाना दातव्याः।

आह-शेषसाधूनां किं सर्वेषामपि वन्दनं विधेयम्, उत नेत्य-त्रोच्यते-

जा दुचरिमो त्ति ता हो-इ वंदणं तीरिए पडिक्कमणे।
आइण्णं पुण तिएह, गुरुस्स दुण्हं व देवसिए ॥

प्रतिक्रमणसूत्रे तीरिते पारं प्रापिते सति वन्दनं भवति यावद् द्विचरमसाधुः। द्वौ साधू अवशिष्यमाणौ यावत् सर्वेषामपि वन्दनं कृत्वा क्षामणकं कर्तव्यमिति भावः। एष विधिः पूर्वं चतुर्दशपूर्वधर-दशपूर्वधरादिकाले आसीत, संप्रति पुनः पूर्वाचार्यैराचीर्णमिदम्-त्रयाणां साधूनां वन्दकं कर्तव्यम् तत्रेकस्य गुरोर्द्वयोश्चाशेषसाध्वोः पर्यायज्येष्ठयोः दैवसिके, उपलक्षणत्वाद् रात्रिके वा आवश्यके अयं विधिरवगन्तव्यः। पाक्षिके तु पञ्च साधवो वन्दित्वा क्षमयितव्याः। चातुर्मासिके सांवत्सरिके च सप्त। आह चावश्यकचूर्णिकृत्- '' पक्खिए पंच अवस्सं, चाउम्मासिए संवच्छरिए सत्त अवस्सं ति ''।

आह-किमत्र कारणं मौलं विधिमुल्लङ्घ्य पूर्वं सूत्र्य इत्थम-भिनवां सामाचारीं स्थापयन्तीत्युच्यते-

धिइसंघयणादीणं, मेराहाणिं तु जाणिउं थेरा।
सेहअगीतट्ठा वि य, ठवणे आइण्णकप्पस्स ॥

धृतिर्मानसावष्टम्भरूपा, संहननं वज्रऋषभनाराचादि, तयोः, आदि-शब्दाद् द्रव्यक्षेत्रकालादीनां च या परिहाणिर्या च मर्यादा या सिद्धान्ता-भिहितनिरपवादसमाचारीरूपा हानिः, तां ज्ञात्वा पूर्वसूरयः ऐदंयुगीन-साधुजनोचितस्याचीर्णकल्पस्य स्थापनां कुर्वन्ति। किमर्थमित्याह-शैक्षाणामगीतार्थानां वाऽनुग्रहार्थम्मा भूदमीषां बहुतरसाधूनां वन्दित्वा क्षमयतां विशिष्टधृतिसंहननादिबलाभावात्परिभग्नानां विपरिणाम इति।

(६) अथाचीर्णस्यैव लक्षणमाह-

असढेण समाइण्णं, जं कत्थइ कारणे असावज्जं।
ण णिवारियमण्णेहिं, बहुमणुमयमेतमाइण्णं ॥

अशठेन रागद्वेषरहितेन कालिकाचार्यादिवत्प्रमाणस्थेन सता समाचीर्णम् आचरितं भाद्रपदशुद्धचतुर्थीपर्युषणापर्ववत्। कुत्रचित् द्रव्यक्षेत्रकालादौ कारणे पुष्टालम्बने असावद्यं प्रकृत्या मूलोत्तर-गुणसाधनाय अबाधकम्। न च नैव निवारितमन्यैस्तथाविधैरेव तत्काल-प्रवृत्तिभिर्गीतार्थैः, अपि तु बहु यथा भवत्येवमनुमतमेतदाचीर्णमुच्यते।

अथ ये आचार्यस्यापि पर्यायज्येष्ठास्तैः किमाचार्यस्य वन्दनकं कर्त्तव्यमुत नेत्यत्रोच्यते-

वियडणपच्चक्खाणे, सुए खुराईणिगा वि हु करेंति।
मज्झिल्ले न करिंती, सो चेव करेइ तेसिं तु॥

विकटनमनालोचनं, प्रत्याख्यानं प्रतीतं, तयोः, तथा श्रुते चोद्दिश्यमानसमुद्दिश्यमानादौ रात्निका अपि ज्येष्ठाचार्या अप्युपसंपदं प्रतिपन्ना अवमरात्निकस्याचार्यस्य वन्दनकं कुर्वन्ति। ये तु मध्यमं क्षामणकवन्दनं तन्न कुर्वन्ति, किं तु स एवाचार्यस्तेषां रात्निकानां करोति।

(७) अथ यदुक्तं तिस्रः स्तुतयो दातव्या इति तत्र विधिमाह-

थुइमंगलम्मि गणिणा, उच्चरिते सेसगा थुती दिंति।
धम्मट्ठ मेरसारण, विणयो य ण फेडितो एवं॥

पाक्षिकादिषु यद्यप्याचार्य्योऽवमरात्निकस्तथापि स एवावश्यके समापिते प्रथमतस्तिस्रः स्तुतीर्ददाति। दैवसिकरात्रिकयोरपि प्रथममाचार्येण स्तुतिमङ्गलं प्रारम्भणीयम्, ततः शेषैः। अतएवाह-स्तुतिमङ्गले गणिना आचार्येणोच्चारिते सति शेषाः साधवः स्तुतीर्ब्रुवते, ददतीत्यर्थः। धर्मार्थं गुरुपादमूल एव कियन्तमपि कालं तिष्ठन्ति। किमर्थमिति चेत्? अत आह-काचिन्मर्यादा सामाचारी विस्मृता भवेत् तस्याः स्मारणं गुरवः कुर्वीरन्, परमोपकारिणश्च गुरवः, तत एवं प्रतिक्रमणानन्तरं कियन्तमपि कालं तेषु पर्युपास्यमानेषु विश्रमणादिविधानेन विनयोऽपि प स्फेटितो न हापितो भवति॥

अथ के पुनस्ते ये आचार्यस्यापि रत्नाधिका भवन्तीत्युच्यते-

अन्नेसिं गच्छाणं, उवसंपन्नाण वंदणं तहियं।
बहुमाण तस्स वयणं, उवसेवाऽऽलोयणा भणिया॥

अन्येषां गच्छानां संगन्धिन आचार्या रत्नाधिकतराः सूत्रार्थनिमित्तं कमप्यवमरात्निकमाचार्यमुपसंपन्नास्तेषां मध्यमवन्दनकम् अवमरात्निकेन दातव्यं शेषं कालं, तेऽपि रात्निकास्तस्यावमरात्निकस्य बहुमानं पूज्योऽयमस्माकं गुणाधिकतयैति लक्षणं वचनमाज्ञानिर्देशं कुर्वन्ति। अवमेऽपि च तत्रालोचना भणिता भगवद्भिः। किमुक्तं भवति ?-तस्य पुरत आलोचनं प्रत्याख्यानं च वन्दनकं दत्वा विहितमिति भगवतामुपदेशः।

(५) अथ परः प्राह-कस्य पुनः कृतिकर्म कर्त्तव्यं कस्य वा नेति ? उच्यते -

सेढीठाणठियाणं, कितिकम्मं वाहिराण भयितव्वं।
सुत्तत्थजाणएणं, कायव्वं आणुपुव्वीए॥

संयमश्रेण्याः संबन्धीनि विशुद्धिप्रकर्षापकर्षकृतस्वरूपभेद-रूपाणि यानि स्थानानि तेषु स्थितानां कृतिकर्म कर्त्तव्यम्। ये तु संयमश्रोणिस्थानेभ्यो बाह्यास्तेषां भक्तव्यं कर्त्तव्यं वा न वेतिभावः। तत्र कारणे समुत्पन्ने सूत्रार्थज्ञेन गीतार्थेन आनुपूर्व्या '' वायाइ नमोक्कारो '' इत्यादिकया वक्ष्यमाणपरिपाट्या, कर्त्तव्यम्, अन्यथा तु नेति पुरातनीगाथासमासार्थः।

सांप्रतमेनामेव विवरीषुराह-

सेढीठाणठियाणं, कितिकम्मं सेढि इच्छिमो णाउं।
तम्हा खलु सेढीए, कायव्य परूवणा इणमो॥

संयमश्रेणिस्थानस्थितानां कृतिकर्म कर्तव्यमित्युक्ते कश्चिद् विनेयोब्रूयात्-वयं तामेव श्रेणिं प्रथमतो ज्ञातुमिच्छामः। सूरिराह यत एवं भवतः श्रेणिविषया जिज्ञासा साऽऽस्माभिरपि कर्त्तव्या श्रेणेः प्ररूपणया इयं वक्ष्यमाणलक्षणा।

अतस्तामेव चिकीर्षुः प्रथमतः श्रेणिस्थितानां कृतिकर्मकरणे विधिमाह-

पुव्वं चरित्तसेढी, ठियस्स पच्छा ठिएण कायव्वं।
सो पुण तुल्लचरित्तो, हविज्ज ऊणो व अहियो वा।

पूर्वं प्रथमं यः सामायिकस्य छेदोपस्थापनीयस्य वा प्रतिपत्त्या चारित्रश्रेण्यां स्थितस्तस्य पश्चात्स्थितेन कृतिकर्म कर्त्तव्यम्। स पुनः पूर्वस्थितस्तं पश्चात्स्थितमपेक्ष्य निश्चयतस्तुल्यचारित्रो न्यूनो वा अधिको वा भवेत्। यतः-

निच्छयओ दुन्नेयं, को भावे कम्मि वट्टई समणो।
ववहारओ य कीरइ, जो पुव्वठिओ चरित्तम्मि॥

निश्चयतस्तस्ववृत्त्या कः पूर्वस्थितः पश्चात्स्थितो वा श्रमणः, कस्मिन् भावे चारित्राध्यवसायरूपे मन्दे मध्ये तीव्रे वा वर्तते इति दुर्ज्ञेयम्, तदपरिज्ञानाच्च कथं निश्चयनयाऽभिप्रायेण कृतिकर्म कर्तुं शक्यम्। व्यवहारतस्तु व्यवहारनयमङ्गीकृत्य पुनः क्रियते कृतिकर्म यः पूर्वं चारित्रे स्थितस्तस्येति।

ननु फलसाधकत्वान्निश्चयस्यैव प्रामाण्यं, न व्यवहारस्येत्याह-

ववहारो वि हु बलवं, जं छउमत्थं पि वंदई अरहा।
जा होइ अणाभिन्नो, जाणंतो धम्मओ एयं॥

व्यवहारोऽपि, आस्तां निश्चय इत्यपिशब्दार्थः। हु निश्चितम् बलवान्। यद्यस्माच्छद्मस्थमपि स्वगुरुप्रभृतिकं वन्दते अरहा केवली। कियन्तं काल-मित्यादियावदसौ (अणाभिन्नो त्ति) केवलितया अनभिज्ञानो भवति तावदेनं व्यवहारनयबलवत्त्व लक्षणं धर्मतो जानन् छद्मस्थमपि वन्दते इति।

कथं पुनरसौ केवलितया ज्ञायत इत्याह-

केवलिणा वा कहिए, अवंदमाणो व केवलिं अन्नं।
वागरणपुव्वकहिए, देवयपूआसु व सुणंति॥

अन्येन केनापि केवलिना कथिते-अयं केवली ज्ञात इत्यास्याते सति अवन्दमानो वा केवलिनमन्यं केवलितया ज्ञायते। व्याकरणपूर्वं वा अतिशयज्ञानगम्यार्थकथनपुरस्सरं तेनैव केवलिना स्वयमेव कथिते सति, देवतापूजासु वा यथासंविहितदेवैः क्रियमाणां महिमां दृष्ट्वा गुरुप्रभृतयस्तं केवलिनं विदन्ति।

अथ श्रेणिप्ररूपणामाह-

अविभागपलिच्छेया, ठाणंतरकंडए य छट्ठाणा।
हिट्ठा पज्जवसाणे, वड्ढी अप्पाबहुं जीवा।

अविभागपरिच्छेदप्ररूपणा, स्थानान्तरप्ररूपणा, कण्डकप्ररूपणा, षट्स्थानप्ररूपणा, अधःप्ररूपणा, पर्यवसानप्ररूपणा, वृद्धिप्ररूपणा, अल्पबहुत्वप्ररूपणा, जीवप्ररूपणा, चामूनि प्रतिद्वाराणि।

तद्यथा-

आलावगणणविरहिय-अविरहिय फासणा परुपणया।
गणणपयसेढिअवहा-रभाग अप्पावहुं समया॥

आलापकप्ररूपणा, गणनाप्ररूपणा, विरहितप्ररूपणा, अविरहितप्ररूपणा, स्पर्शनाप्ररूपणा, गणनपदप्ररूपणा, श्रेण्यपहारप्ररूपणा, भागप्ररूपणा, अल्पबहुत्वप्ररूपणा, समयप्ररूपणा इति द्वारगाथाद्वयम्।

तत्राविभागपरिच्छेदप्ररूपणां करोति-

अविभागपलिच्छेओ, चरित्तपज्जवपएसपरमाणू।
घरमाणस्स परूपण, चउव्विहा भावओ णं सा॥

इह संयमस्थानकेवलिप्रज्ञाच्छेदनकेन छिद्यमानं निरंशतया यदा विभागं न यच्छति तदाऽसावन्तिमोऽशांशविभागपरिच्छेद उच्यते। स चारित्रपर्यायश्चारित्रप्रदेशश्चारित्रपरमाणुर्वा भण्यते। परमाणोश्च सामान्यतश्चतुर्विधा प्ररूपणा, द्रव्यक्षेत्रकालभावभेदात्। द्रव्यत एकाणुकः, क्षेत्रत आकाशप्रदेशः, कालतः समयः भावतस्त्वेकगुणकालकादि। अत एव वा चारित्रादिभागपरिच्छेदाः। ते चानन्ता अनन्तानन्तकप्रमाणाः।

तथा चाह-

ते कित्तिया पएसा, सव्वागासस्स मग्गणा होइ।
ते जत्तिआ पएसा, अविभागतओ अणंतगुणा॥

ते चारित्रस्य प्रदेशाः कियन्तः किं प्रमाणा इति चिन्तायां निर्वचनमाह-सर्वस्य लोकालोकगतस्याकाशस्य मार्गणा भवति। यावन्तः किल सर्वाकाशस्य प्रदेशास्ततस्तेभ्यः सर्वाकाशप्रदेशेभ्यश्चारित्रस्याविभागपरिच्छेदाः, अनन्तगुणाः सर्वजघन्येऽपि संयमस्थाने प्रतिपत्तव्याः, एषा प्रतिभागपरिछेदप्ररूपणा। सर्वजघन्यात् संयमस्थानात् द्वितीयं संयमस्थानं ततस्तस्मादनन्तभागवृद्धम्। किमुक्तं भवति ? प्रथम संयमस्थानगतनिर्विभागापेक्षया द्वितीये संयमस्थाने निर्विभागा भागा अनन्ततमेन भागेनाधिका भवन्तीति, एषा स्थानान्तरप्ररूपणा। तस्मादपि यदवन्तरं तृतीय तत्र तेऽनन्तभागवृद्धाः एवं पूर्वस्मादुत्तरोत्तराणि अनन्ततमेन भागेन वृद्धानि निरन्तरं संयमस्थानानि तावद्वक्तव्यानि यावदङ्गुल-मात्रक्षेत्रासंख्येयभागगतदेशराशिप्रमाणानि भवन्ति। एतावन्ति च समुदितानि स्थानानि कण्डकमित्युच्यते। एषां कण्डकप्ररूपणे अस्माच्च कण्डकात्परतो यद्यदनन्तरं संयमस्थानं भवति तत् पूर्व-स्मादसंख्येयभागाधिकम्। एतदुक्तं भवति-पाश्चात्यकण्डकसत्कचरमसंयम स्थानगतनिर्विभागभागापेक्षया कण्डकानन्तरे संयमस्थाने निर्विभागाभागा असंख्येयतमेन भागेनाधिकाः प्राप्यन्ते, ततः पराणि पुनरपि कण्डमक मात्राणि संयमस्थानानि यथोत्तरमनन्तभागवृद्धानि भवन्ति। ततः पुनरेकं संख्येयभागाधिकं संयमस्थानं, भूयोऽपि ततः पराणि कण्डकमात्राणि संयमस्था-नानि यथोत्तरमनन्तभागवृद्धानि भवन्ति, ततः पुनरप्येकमसंख्येयभागाधिकं संयमस्थानम्। एवमनन्तभागाधिकैः कण्डकप्रमाणैः संयमस्थानैर्व्यवहितानि असंख्येयभागाधिकानि संयमस्थानानि तावद्वक्तव्यानि यावत्तान्यपि कण्डकप्रमाणानि भवन्ति। ततश्चरमादसंख्येयभागाधिकसंयमस्थानात्पराणि यथोत्तरमनन्तभागवृद्धानि कण्डकमात्राणि संयमस्थानानि भवन्ति, ततः परमेकं संख्येयभागाधिकं संयमस्थानम्, ततो मूलादारभ्य यावन्ति संयमस्थानानि प्रागतिक्रान्तानि तावन्ति भूयोऽपि तेनैव क्रमेणाभिधाय पुनरप्येकं संख्येयभागाधिकं संयमस्थानं वक्तव्यम्, इदं द्वितीयं संख्येयभागाधिकं संयमस्थानमनेनैव क्रमेण तृतीय यावत् संख्येयभागाधिकानि संयमस्थानानि कण्डकमात्राणि भवन्ति तावद्वाच्यम्, तत उक्तक्रमेण भूयोऽपि संख्येयभागाधिक-संयमस्थान-प्रसङ्गे संख्येयगुणाधिकमेकं संयमस्थानं वक्तव्यम्, ततः पुनरपि मूलादारभ्य यावन्ति संयमस्थानानि प्रागतिक्रान्तानि तावन्ति भूयोऽपि च वक्तव्यानि, ततः पुनरप्येकं संख्येयगुणाधिकं संयमस्थानं वक्तव्यम्, ततो भूयोऽपि मूलादारभ्य तावन्ति संयमस्थानानि तथैव वक्तव्यानि, ततः पुनरप्येकं संख्येयगुणाधिकं संयमस्थानम्। अमून्यप्येवं संख्येयगुणाधिकानि संयमस्थानानि तावद्वक्तव्यानि यावत् कण्डकमात्राणि भवन्ति, तत उक्तक्रमेण पुनरपि संख्येयगुणाधिकं संयमस्थानं वक्तव्यं, ततः पुनरपि मूलादारभ्य यावन्ति संयमस्थानानि प्रागतिक्रान्तानि भवन्ति तेनैव क्रमेण भूयोऽपि वक्तव्यानि, ततः पुनरप्येकमसंख्येयगुणाधिकं संयमस्थानं वक्तव्यं, ततो भूयोऽपि मूलादारभ्य तावन्ति संयमस्थानानि तथैव वक्तव्यानि, ततः पुनरप्येकमसंख्येयगुणाधिकं संयमस्थानं वक्तव्यम्, अमूनिचैवमसंख्येयगुणाधिकसंयमस्थानानि तावद्वक्तव्यानि यावत्कण्डकप्रमाणानि भवन्ति, ततः पूर्वपरिपाट्या पुनरप्यसंख्येयगुणाधिकसंयमस्थानप्रसङ्गे अनन्तगुणाधिकं संयमस्थानं वक्तव्यं, ततो भूयोऽपि मूलादारभ्य यावन्ति संयमस्थानानि प्रागतिकान्तानि तावन्ति तथैव क्रमेण भूयो वक्त-व्यानि, ततः पुनरप्येकमनन्तगुणाधिकं संयमस्थानं वक्तव्यं, ततो भूयोऽपि मूलादारभ्य तावन्ति संयमस्थानानि तथैव वक्तव्यानि, ततः पुनरप्येकमनन्तगुणाधिकं संयमस्थानं वक्तव्यम्, एवमनन्तगुणाधिकानि तावद्वक्तव्यानि यावत्कण्डमात्राणि भवन्ति। ततो भूयोऽपि तेषामुपरि पञ्चवृद्ध्यात्मकानि संयमस्थानानि मूलदारभ्य तथैव वक्तव्यानि, यत्पुनरनन्तगुणवृद्धिस्थानं तत्र प्राप्य षट्-स्थानस्य परिसमाप्तत्वात्। इत्थंभूतात्मसंख्येयानि कण्डकानि समुदितानि षट्स्थानकं भवति, तस्माच्च प्रथमषट्स्थानका-दूर्ध्वमुक्तक्रमेणैव द्वितीयं षट्स्थाननमुत्तिष्ठति, एवमेव च तृतीयम, एवं षट्स्थानककान्यपि तावद्वाच्यानि यावदसंख्येया लोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि भवन्ति। उक्तं च-छट्ठाणमए अवसाणे अन्नं छट्ठाणयं पुणोऽनंतं। एवमसंखा लोगा, छट्ठाणाणं मुणेयव्वा। इत्थंभूतानि चासंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि षट्स्थानकानि संयमश्रेणि-रुच्यते। तथा चोक्तम्-'' छट्ठाणा उ असंखा, संजमसेढी मुणेयव्वा'' तदैवंकृताऽविभागपरिच्छेदस्थानान्तरकण्डकषट्स्थानकानां प्ररूपणा। साम्प्रतमधः स्थानरूपणाः क्रियन्तेप्रथमादसंख्येय-भागवृद्धात्स्थानादधः कियन्ति संयमस्थानान्यनन्तभागवृद्धानि ? उच्यतेकण्डकमात्राणि तथा प्रथमासंख्येयभागवृद्धात् स्थानादधः कियन्ति असंख्येयभागवृद्धानि स्थानानि ? उच्यते-कण्डकमात्राणि। एवमुत्तरोत्तरस्थानादधोऽध आनन्तर्येण तावत् मार्गणा कर्त्तव्या यावत्प्रथमादनन्तगुणवृद्धात् स्थानादधः कियन्ति असंख्येयगुणवृद्धानि स्थानानि ? उच्यते-कण्डकमात्राणि॥ इदानीमेकान्तरिता मार्गणाः क्रियन्ते-तत्र प्रथमात्संख्येयभागवृद्धात् स्थानादधः कियन्त्यनन्तभागवृद्धानि स्थानानि ? उच्यते कण्डक-वर्गः कण्डकं च। तथा प्रथमासंख्येयगुणवृद्धात् स्थानादधः कियन्ति असंख्येयगुणवृद्धानि स्थानानि ? उच्यते कण्डकवर्गः कण्डकं च। एवमुक्तप्रकारेण द्वयन्तरिता त्र्यन्तरिता चतुरन्तरिता च मार्गणा सुधिया परिभावनीया॥ अथ पर्यवसानद्वारम्-तत्रानन्तगुणवृद्धकण्डकादुपरि पञ्चवृद्ध्यात्मकानि सर्वाणि स्थानांनि गत्वा पुनरनन्तगुणवृद्धं स्थानं न प्राप्यते, षट्स्थानस्य परिसमाप्तत्वात्। ततस्तदेव सर्वान्तिमस्थानं षट्स्थानकस्य पर्यवसानम्।

अथ भाष्यकारः प्रकारान्तरेणाधःपर्यवसानद्वारयोः युगपत्प्ररूपणायाऽऽह-

एयं चरित्तसेढिं, पडिवज्जइ हिट्ठ कोइ उवरिं वा।
जो हिट्ठा पडिवज्जइ, सिज्झइ नियमा जहा भरहे ॥

एवं चारित्रश्रेणिं कश्चिज्जीवोऽधस्तात् जघन्यसंयमस्थानेषु प्रतिपद्यते, कश्चित्पुनरुपरि उपरितनेषु पर्यन्तवर्त्तिषु उपलक्षणत्वान्मध्यमेषु वा संयमस्थानेषु प्रतिपद्यते। तत्र योऽधस्तनेषु संयमस्थानेषु चारित्रश्रेणिं प्रतिपद्यते, स नियमात्तत्रैव भवग्रहणेन सिद्ध्यति, यथा भरतश्चक्रवर्त्ती।

मज्झे वा उवरिं वा, नियमा गमणं तु हिट्ठिमं ठाणं।
अंतो मुहुत्तवुड्ढी, हीणा वि तहेव नायव्वा ॥

यः पुनर्मध्ये वा मध्यमेषु, उपरि वा उपरितनेषु संयमस्थानेषु चारित्रश्रेणिं प्रतिपद्यते, तस्य नियमादधस्तनं सर्वजघन्यं संयमस्थानं यावद्गमनं भवति, ततोऽसौ तेनान्येन वा भवग्रहणे सर्वाणि संयमस्थानानि स्पृष्ट्वा सिध्यति, या पुनरधस्तनसंयमस्थानेभ्य उपरितनसंयमस्थानारोहणलक्षणा वृद्धिः सा अन्तर्मुहूर्त्तमात्रं भवति, या चोपरितनसंयम स्थानेभ्योऽधस्तनसंयमस्थानेषु वाऽऽरोहणरूपा हानिः साऽपि तथैवान्तर्मुहूर्त्तमात्राऽवज्ञातव्याः, एतेन वृद्धिद्वारप्ररूपणाऽपि कृता। संप्रति अल्पबहुत्वद्वारं प्ररूप्यते-तत्र सर्वस्तोकान्यनन्तगुणवृद्धानि स्थानानि, कण्डकमात्रत्वात्तेषाम्। तेभ्योऽसंख्येयगुणवृद्धानि स्थानानि,कण्डकमात्रत्वात्तेषाम्। तेभ्योऽसंख्येयगुणवृद्धानि स्थानानि असंख्येयगुणानि। गुणकारश्च इह कण्डकप्रमाणो ज्ञातव्यः। एकैकस्यानन्तगुणवृद्धस्य स्थानस्याधस्तात्प्रत्येकमसंख्येयगुणवृद्धानि स्थानानि कण्डकमात्राणि प्राप्यन्ते इतिकृत्वा अनन्तगुणवृद्धस्थानकण्डकस्योपरि कण्डक-मात्राणि असंख्येयगुणवृद्धानि प्राप्यन्ते, तत्त्वनन्तगुणवृद्धं स्थान तेन उपरिष्टादेकस्य कण्डस्याधिकस्य प्रक्षेपः, तेभ्योऽप्यसंख्येयगुणवृद्धेभ्यः स्थानेभ्यः संख्येयगुणवृद्धानि असंख्येयगुणानि, तेभ्योऽपि संख्येयभागाधिकानि स्थानानि असंख्येयगुणानि, तेभ्योऽसंख्येयभागाधिकानि स्थानान्यसंख्येयगुणानि, तेभ्योऽनन्तभागवृद्धानि स्थानानि असंख्येयगुणानि, गुणकारेषु सर्वत्रापि कण्डकानामुपरि चैव कण्डकप्रक्षेपः। प्ररूपितमल्पबहुत्वद्वारम्। जीवपदप्रतिबद्धानां तु आलापगणनादीनां द्वाराणां प्ररूपणा संप्रदायाभावन्न क्रियते।

अथ प्रस्तुतयोजनां कुर्वन्नाह-

सेढीठाणठियाणं, किइकम्मं वाहरे न कायव्वं।
पासत्थादी चउरो, तत्थ वि आणादिणो दोसा।

अनन्तरोक्तायाः श्रेणेः संबन्धिषु संयमस्थानेषु स्थितानां साधूनां कृतिकर्म कर्त्तव्यं, ये तु श्रेणेर्बाह्यास्तेषां न कर्त्तव्यम्। के पुनस्ते इत्याह-पार्श्वस्थादयश्चत्वारः, तत्र पार्श्वस्थावसन्नकुशीलसंसक्तयथाछन्दाः पञ्चाप्येको भेदः। काथिकप्राश्निचकमीमांसकसं-प्रसारका द्वितीयः। अन्यतीर्थिकास्तृतीयः। गृहस्थाश्चतुर्थः। एते चत्वारोऽपि श्रेणिबाह्याः मन्तव्याः। तत्राप्येतेषां कृतिकर्मकाणेऽपि, न केवलमभ्युत्थाने इत्यपिशब्दार्थः। आज्ञादयो दोषाः, प्रायश्चित्तं च प्राग् यथा अभ्युत्थाने पार्श्वस्थान्यतीर्थिकादिविषयं वर्णितं तथैव वक्तव्यम्।

शिष्यः पृच्छति-

लिंगेन निग्गतो जो, पागडलिंगं धरेइ जो समणो।
किध होइ णिग्गतो त्ति य, दिट्ठंतो सक्करकुडेणं ॥

लिङ्गेन रजोहरणादिना यो मुक्तः स संयमश्रेण्या निर्गतः प्रतीयते, यस्तु श्रमणः प्रकटमेव लिङ्गं धारयति स कथं निर्गतः श्रेणिबाह्यो भवति। श्रमणलिङ्गस्योपलभ्यमानत्वाद् न भवतीति भावः। अत्र सूरिराह-दृष्टान्तः शर्कराकुटेनात्र क्रियते। जहा कस्सइ रन्नो दो घडया सक्करा भरिया, ते अन्नया मुद्दं दाऊण दोण्हं पुरिसाणं समप्पिया, भणितो य-जहा सा सक्खह, जया मग्गिज्जइ तया दिस्सह।

ततः किमभूदित्याह-

दाउं हिट्ठा खारं, सव्वत्तो कंटियाहि वेढित्ता।
सकवाडमणाबाधे, पालेति तिसंज्झमिक्खंतो ॥

तयोरेकः पुरुषस्तं राज्ञा समर्पितं घटं गृहीत्वा तस्याधः क्षारं दत्त्वा, यथा कीटिका नागच्छेयुरिति भावः। ततः सर्वतः कण्टिकाभिः तं वेष्टयित्वा सकपाटे पिधानमुक्तेऽनाबाधे प्रदेशे स्थापयित्वा त्रिसंध्यमीक्षमाणः सम्यक् पालयति।

द्वितीयः पुनः किंभूतवानित्याह-

मुद्दं अविद्धवंती-हि कीडियाहिं सवालणी चेव।
जज्जरितो कालेणं, पमायकुडए णिवे दंडो ॥

द्वितीयः पुरुषस्तं घटं कीटिकानगरस्यादूरे स्थापयित्वा मध्ये मध्ये नावलोकते। ततः शर्करागन्धघ्राणतः समायाताभिः कीटिका-भिर्मुद्रा मविद्धवतीभिः स घटोऽधस्तात् कालेन जर्जरीकृतः, शर्करा सर्वाऽपि भक्षिता, अन्यदा राज्ञा तौ पुरुषौ घटं याचितौ, ततो द्वाभ्यामप्यानीय दर्शितयोर्घटयोः (पमायकुडए त्ति) येन कुटरक्षणे प्रमादः कृतः तस्य नृपेण दण्डः कृतः। उपलक्षणमिदं तेन यस्तं सम्यक् पालितवान् तस्य विपुलां पूजां विदधे। एव दृष्टान्तः। अय-मर्थोपनयः- राजस्थानीया गुरवः पुरुषस्थानीयाः साधवः, शर्करास्थानीयं यारित्रं, घटस्थानीय आत्मा, मुद्रास्थानीयं रजोहरणं, कीटिकास्थानीयान्यपराधपदानि, दण्डस्थानीया दुर्गतिप्राप्तिः, पूजास्थानीया स्वर्गादिसुखपरम्पराप्राप्तिः॥

तथा चामुमेवोपनयन् लेशतो भाष्यकारोऽप्याह-

निवसरिसो आयरिओ, लिंगं मुद्दा उ सक्करा चरणं।
पुरिसा य हुंति साहू, चरित्तदोसा मुइंगाओ ॥

गतार्था, नवरं मुयिङ्गाः कीटिकाः। यथा तस्य प्रमत्तपुरुषस्य मुद्रासद्भावेऽप्यधः प्रविशन्तीभिः कीटिकाभिर्घटं विभज्य शर्करा विनाशिता, एवं साधोरपि प्रमादिनो रजोहरणमुद्रासद्भावेऽप्यपराधपदैरात्मभिः जर्जरितशर्करातुल्यं चारित्रं कालेन वा सद्यो वा विनाशमाविशति।

तत्र कालेन यथा विनश्यति, तथा दर्शयति-

एसणदोसे सीयइ, अणाणुतावीण चेव वियडेइ।
णेवइ करेइ सोधिं, ण य विरमति कालतो भस्से ॥

एषणादोषेषु सीदति, तद्दोषदुष्टं भक्तपानं गृण्हातीत्यर्थः। एवं कुर्वन्नपि पश्चात्तापं करिष्यतीत्याह-अननुतापी पुरःकर्मादिदोषदुष्टाहारग्रहणादनु पश्चात्तप्तं 'दुष्टं कृतं मयेत्यादि' मानसिकतापं धर्तुं शीलमस्येत्यनुतापी, न तथेत्यननुतापी, कथमेतज्ज्ञायते इति ? आह-न चैव विकटयति गुरूणां पुरतः स्वदोषं न प्रकाशयति विकटयति वा, परं तस्य शोधिं प्रायश्चित्तं गुरुप्रदत्तं नैव करोति, नच वैवाशुद्धाहारग्रहणाद्विरमति। एवं कुर्वन् कालतः कियताऽपि कालेन चारित्रात्परिभ्रंश्येत्। यस्तु मूलगुणान् विराधयति स सद्यः परिभ्रंश्यति।

अमुमेवार्थं सविशेषमाह-

मूलगुणउत्तरगुणे, मूलगुणेहिं तु पागडो होइ।
उत्तरगुणपडिसेवी, संचयवोच्छेदतो तस्स॥

इह प्रतिसेवको द्विधा-मूलगुणप्रतिसेवक उत्तरगुणप्रतिसेवकश्च। तत्र मूलगुणप्रतिसेवायां वर्त्तमानः प्रकट एव प्रतीयते, यथा चारित्रात्परिभ्रश्यति। उत्तरगुणप्रतिसेवी तु संचयेन बहुपराधमीलकेन योऽशुद्धाहारग्रहणादेव व्यवच्छेदः परिणामस्यानुपरमस्ततो भ्रश्येत्, चारित्रात्परिभ्रंशमाप्नुयात्।

अत्रैवार्थे दृष्टान्तमाह-

अंतो भयणा वाहि तु, निग्गते न तत्थ मरुगादिट्ठंतो।
संकर सरिसव सगडे, मंडववत्येण दिट्ठंतो॥

इह संबन्धानुलोम्यतः प्रथममुत्तरार्द्धं व्याख्ययते-संकरस्तृणादिकचवरः, तद्दृष्टान्तो यथा- ''आरामे सारणीए वहंतीए एगं तणं सयं लग्गं, तं ण अवणीयं, अन्न लग्गं, तं पि न अवणीयं, एवं बहूहिं लग्गंतेहिं तत्थ तेण आश्रयेण चिक्खल्लधूलीए संचओ जाओ। तेणं संचएणं तं पाणियं रुद्धंअन्नओ गंतुं पयट्टं, ताहे सो आरामो सुक्खो। एवमभिक्खणं अभिक्खणं उत्तरगुणपडिसेवाए अवराहसंचओ भवइ, तेण संजमजलं वहमाणं निरुज्झइ, तओ चारित्तारामो सुक्खइ'' सर्षपशकटमण्डपदृष्टान्तो यथा-शकटे मण्डपे च कोऽप्येकः सर्षपः प्रक्षिप्तः, स तत्र यातः, अन्यः प्रक्षितः, सोऽपि यातः, एवं प्रक्षिप्यमाणैः सर्षपैर्भविष्यति सुसर्षपो यः तं शकटं मण्डपं वा भनक्ति। एवं चारित्रेऽप्यशुद्धाहारग्रहणादिरेकोऽपराधः प्रक्षिप्तः, स तत्राव-स्थितिं कृतवान् द्वितीयः प्रक्षिप्तः सोप्यवस्थितः, एवमपरापरै-रुत्तरगुणापराधैः प्रक्षिप्यमाणैर्भविष्यति स उत्तरगुणापराधः, येन चारित्रं सर्वथाभङ्गमुपगच्छति। अथ वस्त्रदृष्टान्तो भाव्यते-वस्त्रे क्वचिदेकस्तैलबिन्दुः कथमपि लग्नः, स न शोधितः, तदाश्रयेण रोणुपुद्गला अप्यवतस्थिरे, एवमन्यत्राप्यवकाशे तैलबिन्दुर्लग्नः, सोऽपि न शोधितः, एवमन्यान्यैस्तैलबिन्दुभिर्गलद्भिरप्यशोध्यमानैः सर्वमपि तद्वस्त्रं मलिनीभूतम्। एवं चारित्रवस्त्रमप्यपरापरै-रुत्तरगुणापराधैरुपलिप्यमानमचिरादेव मलिनीभवतीति, तदेव-मुत्तरगुणप्रतिसेवी कालेन चारित्रात् परिभ्रश्यतीति स्थितम्। अथ कृतिकर्मविषयं विशेषं विभणिषुराह-अंतो भयणा इत्यादि पूर्वार्द्धम्। यः संयमश्रेणेरन्तर्मध्ये स्थितस्तस्य कृतिककर्मकाणे भजना, सा चाग्रे दर्शयिष्यति, यस्तु श्रेणेबहिर्निर्गतस्तस्य न कर्त्तव्यम्, तथा च मरुको वा स्तेनः, तस्य दृष्टान्तः क्रियते-

पक्कणउले वसंतो, सउणीपारो वि गरहितो होइ।
इय गरहिया सुविहिया, मज्झि वसंता कुसीलाणं॥

पक्वणकुलं मातङ्गगृहं, तत्र वसन् शकुनीपारगोऽपि द्विजो गर्हितो भवति। शकुनीशब्देन चतुर्दशविद्यास्थानानि गृह्यन्ते। तानि चामूनि-अङ्गानि वेदाश्चत्वारो, मीमांसा न्यायविस्तरः। पुराणं धर्मशास्त्रं च, स्थानान्याहुश्चतुर्दश॥१॥ तत्राङ्गानि षट्शिक्षा, व्याकरणं, कल्पः, छन्दो, निरुक्तं, ज्योतिषमिति। (इय त्ति) एवं सुविहिताः साधवः कुशीलानां मध्ये वसन्तो गर्हिता भवन्ति, अतो न तेषु वस्तव्यम्, न वा कृतिकर्मादि विधेयम्।

ननु च पार्श्वस्थादीनां कृतिकर्म न कर्त्तव्यमिति भवद्भिरभिहितं, तत्र पार्श्वस्थादीनां लक्षणं क्वचिदअपिण्डभोक्तित्वादिकल्पदोषरूपं, क्वचित् तु स्त्रीसेवादिमहादोषरूपमावश्यकादिशास्त्रेष्वभिधीयते। तदत्र वयं तत्त्वं न जानीमहे कस्य कर्त्तव्यं कृतिकर्म कस्य वा नेत्याशङ्कावकाशमवलोक्य विषयविभागमुपदर्शयति-

संकिन्नऽवराहपदे, अणाणुतावी य होइ अवरद्धे।
उत्तरगुणपडिसेवी, आलंवणवज्जितो वज्जो॥

इह यो मूलगुणप्रतिसेवी स नियमादचारित्रीति कृत्वा स्फुटमेवावन्दनीय इति न तद्विचारणा, परं य उत्तरगुणविषयैर्बहुभिरपराधपदैः संकीर्णः शवलीकृतचारित्रः, अपरं च अपराधे अशुद्धाहारग्रहणादावपराधेकृतेऽपि अननुतापी, 'हा दुष्ठु कृतम्' इत्यादिपश्चात्तापं न करोति, निःशङ्को निर्दयश्च प्रवर्तत इत्यर्थः। एवंविध उत्तरगुणप्रतिसेवी यथालम्बनेन ज्ञानदर्शनचारित्ररूपविशुद्धकारणेन वर्जितः, कारणमन्तरेण प्रतिसेवत इति भावः। तदाऽसौ वज्यः, कृतिकर्मकरणे वर्जनीयः। शिष्यः प्राहः नन्वेवमर्थादापन्नं आलम्बनसहित उत्तरगुणप्रतिसेव्यपि वन्दनीयः। सूरिराहन केवलमुत्तर-गुणप्रतिसेवी, मूलगुणप्रतिसेव्यप्यालम्बनसहितः पूज्यः।

कथामिति चेदुच्यते-

हिट्ठट्ठाणठितो वी, पावयणिगगणट्ठया उ अधरे उ।
कडजोगि जं निसेवइ, आदिणिगंथो व सो पुज्जो॥

अधस्तनस्थानेषु जघन्यसंयमस्थानेषु स्थितोऽपि, मूलगुणप्रतिसेव्यपीति भावः। कृतयोगी गीतार्थः, प्रावचनिकस्याचार्यस्य गण-स्य च गच्छस्यानुग्रहार्थमधरे आत्यन्तिके कारणे समुपस्थिते यन्निषेवते, तत्रासौ संयमश्रेण्यामेव वर्त्तत इति कृत्वा पूज्यः। क इवेत्याह-आदिनिर्ग्रन्थ इव। इह पुलाकबकुशकुशीलनिर्ग्रन्थस्नातकाख्याः पञ्च निर्ग्रन्थाः। तेषामादिभूतः पुलाकस्तद्वत्, तस्य ह्येतादृशी लब्धिर्यया चक्रवर्तिस्कन्धावारमपि अभिवादनादौ कुलादिकार्ये स्तम्भनीयात्, विनाशयेद्वा, न च प्रायश्चित्तमाप्नुयात्।

तथा चाह-

कुणमाणो वि य कडणं, कतकरणो णेव दोसमब्भेति।
अप्पेण बहुं इच्छइ, विसुद्धआलंवणो समणो॥

कडणं कटकमर्दं कुर्वाणोऽपि कृतकरणः पुलाको नैव स्वल्पमपि दोषमभ्येति प्राप्नोति। कुत इत्याह-यतोऽसौ श्रमणो विशुद्धालम्बनः सन् अल्पेन संयमव्ययेन बहुं संयमलाभमिच्छति।

अमुमेवार्थं समर्थयन्नाह-

संयमहेउं अज्झे-तणं पि ण हु दोसकारगं विंति।
पावण वोच्छेयं वा, समाहिकारो वणादीणं॥

प्रावचनिकादेः प्राणव्यपरोपणात् द्विप इव रक्षणेन यः संयमस्तद्धेतोस्तन्निमित्तं पुलाकादेरयतमपि नहि नैव दोषकारकं ब्रुवते। यथा समाधिकरो वैद्यो व्रणादीनां यत्तथाविधौषधप्रलपनेन पावनं, यच्च शस्त्रादिना विच्छेदनं, यद्वा व्यवच्छेदं लङ्घनं कारयति, तत्तु इदानीं पीडाकरमपि परिणामसुन्दरमिति कृत्वा न सदोषम् एवमिदमपीति।

अथ परस्याभिप्रायमाशङ्कमान आह-

तत्थ भवे जति एवं, अण्णं अण्णेण रक्खए भिक्खु ।
अस्संजया वि एवं, अणं अण्णेण रक्खंति ॥

तत्रेत्यनन्तरोक्तार्थे अभिहिते सति भवेत, परस्याभिप्राय इति वाक्यशेषः। यद्येवं भिक्षुः पुलाकादिरन्यमाचार्यादिकमन्येन स्कन्धावारादिता कृत्वा रक्षति, एकस्य विनाशेनापरं पालयजीतिभावः। तत एवमसंयता गृहस्था अप्यन्यमन्येन रक्षन्त्येव, अतो न कश्चिदसंयतानां संयतानां च प्रतिविशेषः।

एवं परेणोक्ते सूरिराह-

न हु ते संजमहेउं, पालिंति असंजता अजतभावा ।
अच्छित्तिसंजमट्ठा, पालिंति जती जतिजणं तु ॥

न हु नैव तेऽसंयता अयतभावव्यवस्थितान् गृहस्थान् संयमहेतोः पालयन्ति, किं तु स्वात्मनो जीविकादिनिमित्तं, ये तु यतयस्तथा तीर्थस्याव्यवच्छित्तिर्यश्च तेषां रक्ष्यमाणानामात्मनश्चान्योन्योपकारद्वारेण संयमस्तदर्थं यतिजनं पालयन्ति, तुशब्दो विशेषणार्थः। एष विशेषः साधूनां गृहस्थानां चेति।

किञ्च-

कुणइ वयं धणहेओ, धणस्स धणितो उ आगमं णाउं ।
इय संजमस्स वि वतो, तस्सेवट्ठा ण दोसाय ॥

यथा धनिको वाणिज्यं कुर्वन्नागमं लाभं ज्ञात्वा धनहेतोर्द्रव्यो-पार्जनार्थं शुक्लकर्मकरवृत्तिभाटकादिप्रदानेन धनस्य व्ययं करोति। (इयत्ति) एवं पुलाकादेर्मूलगुणप्रतिसेवनां कुर्वाणस्य यः कोऽपि संयमस्य व्ययः स तस्यैव संयमस्याथीय विधीयमानो न दोषाय संजायते ततः पुष्टालम्बनसहितो मूलगुणमतिसेव्यपि शुद्ध इति स्थितम्, अथापुष्टालम्बनो निरालम्बनो वा प्रतिसेवते ततः संसारो पनिपातमासादयति।

तथा चात्र दृष्टान्तमाह-

तुच्छमवलंबमाणो, पतति निरालम्बनो य दुग्गम्मि ।
सालंबनिरालंगे, अह दिट्ठंतो णिसेवंतो ॥

इहालम्बनं द्रव्यभावभेदाद्विधा, तत्र गर्तादौ पतद्विर्यद् द्रव्यमाल-म्ब्यते तद् द्रव्याऽबनम्। तच्च द्विधापुष्टमपुष्टञ्च। अपुष्टं दुर्बलं कुशवल्कलादि, पुष्टं बलिष्ठं तथाविधकठोरवल्ल्यादि। एवं भावालम्बनमपि पुष्टापुष्टभेदात् द्विधा, पुष्टं तीर्थाव्यवच्छित्तिग्रन्थाध्ययनादि, अपुष्टं शठतया स्वमतिमात्रोत्प्रेक्षितमालम्बनमात्रम्। ततश्च द्रव्यालम्बनमपुष्टमवलम्बमानो निरालम्बनो वा यथा दुर्गे गर्तादौ पतति, यस्तु पुष्टालम्बनमवलम्बते स सुखेनैवात्मानं गर्तादौ पतन्तं धारयति। एवं साधोरपि मूलगुणाद्यपराधान्निषेवमाणस्य सालम्ब-निरालम्बविषयः, अथायं दृष्टान्तो मन्तव्यः किमुक्तं भवति ? - यो निरालम्बनोऽपुष्टालम्बनो वा प्रतिसेवते स आत्मानं संसारगर्तादौ पतन्तं न संधारयितुं शक्नोति। यस्तु पुष्टालम्बनः स तदवष्टम्भादेव संसारगर्तं सुखेनैवातिलङ्घयति, यत एवमतः पुष्टालम्बनवर्जितः कृतिकर्मणि वर्जनीय इति।

अथ श्रेणिस्थानस्थिता अपि ये कृतिकर्मणि नियमेन भजनया वा न व्यवह्रियन्ते तान्प्रतिपादयति-

सेढीठाणे सीमा-कज्जे चत्तारि वाहिरा होंति ।
सेढीठाणे दुयभे-ययाऐं चत्तारि भइयव्वा ॥

श्रेणीस्थानं सीमास्थानमित्यनर्थान्तरम्, तत्र प्रवर्तमाना अपि चत्वारो जनाः प्रत्येकबुद्धादयो वक्ष्यमाणाः कार्ये बाह्या भवन्ति। इह कार्ये द्विधा-वन्दनकार्यं, कार्यकार्यं च। तत्र वन्दनकार्यं द्विधा-अभ्युत्थानं, कृतिकर्म च। कार्यकार्यं कुलकार्यादिभेदादनेकविधम्, कार्यमवश्यकर्तव्यरूपं यत्कार्यं तत्कार्यकार्यमिति व्युत्पत्तेः। एतद् द्विविधमपि प्रत्येकबुद्धादयो न कुर्वन्तीति भावः। तथा श्रेणिस्थाने वर्तमाना अपि गच्छप्रतिबद्धयथालन्दिकादयश्चत्वारो (दुयभेययाए त्ति) द्विकभेदकमनन्तरोक्त कार्यद्वयविधानमङ्गीकृत्य भक्तव्याः, तत्र व्यवहृयन्ते वा न वेति भावः।

इदमेव स्फुटतरमाह-

पत्तेयबुद्ध जिणक-प्पिया य सुद्धपरिहारिण जहालंदे ।
एए चउरो दुगभे-दया य कज्जेसु वाहिरगा ॥

प्रत्येकबुद्धा जिनकल्पिकाः शुद्धपरिहारिणोऽप्रतिबद्धयथालन्दिकाश्च, एने चत्वारो जना द्विकभेदानङ्गीकृतेषु कृतिकर्मकुलकार्यादिषु बाह्या भवन्ति, न द्विषयं व्यवहारपथमवतरन्तीति भावः।

गच्छम्मि णियमकज्जं, कज्जे चत्तारि होंति भइयव्वा ।
गच्छपडिबद्धआव-ण्णपडिम तह संजतीतो य ॥

गच्छे पिनिमादवश्यंतया कर्त्तव्यं यत्कार्यं कुलगणसङ्घविषयं तत्र कार्ये चत्वारो जना भक्तव्या भवन्ति-गच्छप्रतिबद्धयथालन्दिकाः, (आ-वण्ण त्ति) आपन्नपरिहारिकाः, प्रतिमाप्रतिपन्नाः, संयत्यश्चेति। यथा सङ्घः कुलादिकार्यं कर्तुं न शक्नोति तत एतेऽपि कुर्वन्तीति, वन्दनकार्यं तु प्रतिबद्धयथालन्दिका यस्याचार्यस्य पार्श्वं तत्रार्थ-ग्रहणं कुर्वते, तस्यावमस्यापि कुर्वन्ति, शेषसाधूनां तु न कुर्वन्ति। आपन्नपरिहारिणां प्रतिमाप्रतिपन्नानां संयतीनां च कृतिकर्म क्रियते वा न वा, तेऽपि कुर्वन्ति वा न वेति।

इदमपि सविशेषमाह-

अंतो वि होइ भयणा, ओमे आवण्णसंयतीओ य ।
वाहिं पि होइ भयणा, अयवालगवायगे सीसा ॥

अन्तरेऽपि श्रेणेरभ्यन्तरतः स्थितानामपि वन्दनकं प्रतीत्य भजना भवति। कथमित्याद- (ओमे त्ति) योऽवमरात्निकः स आलोचनादौ कार्ये वन्द्यते, अन्यदा तु नेति। (आवन्न त्ति) आपन्नपरिहारिको न वन्द्यते स पुनराचार्यान् वन्दते। (संजइओ त्ति) संयत्योऽपि उत्सर्गतो न वन्द्यन्ते, अपवादपदे तु यदि बहुश्रुता महत्तरा क्वाचिदपूर्वश्रुतस्कन्धं धारयति ततस्तस्याः सकाशसदृगृहीतव्येषु उद्देशसमुद्देशादिषु सा फेटावन्दनकेन वन्दनीया, न केवलमन्तः किं तु श्रेणेर्बहिरपि स्थितानां कृतिकर्मणि भजना मन्तव्या, कारणे तेषामपि कृतिकर्म विधेयमिति भावः। अथ न कुर्वन्ति ततो महान् दोषो भवति। यथा अजापालकवाचकमवन्दमाना अगीतार्थाः शिष्याः,-दोषं प्राप्नवन्त इति वाक्यशेषः। अथवा (सीस त्ति) संविग्नविहारालिङ्गाद्वा परिच्युतं त्यगुरुं रहसि शीर्षेण प्रणम्य वक्तव्यम्-भगवन्। युष्माभिः परित्यक्ताः सन्तः सांप्रतमनाथा वयमतः कुरुतोद्यमं भूयश्चरण-करणानुपालनायामिति।

अथ ' ओमे आवण्णसंजईओ त्ति ' गाथाऽवयवं विवृणोति-

आलोअणसुत्तत्था, खामण ओमे य संजतीसुं वा ।
आवण्णे कज्जकज्जं, करेइ ण य वंदती अगुरुं ॥

आलोचनानिमित्त सूत्रार्थग्रहणार्थं वाचकस्यापि वन्दनकं दात्त-व्यम, क्षामणके तु स एव रत्नाधिकानां वन्दनं दद्यात्। संयतीनामपि आलोचनासूत्रार्थ निमित्तं कृतिकर्म कर्त्तव्यम् यः पुनरापन्नपरिहारिकः स कार्यकार्यं कुलकार्यादि करोति (अगुरुं ति) गुरुं मुक्त्वा न कमपि साधुं वन्दते। उपलक्षणमिदम्तेन नचासौ केनाऽपि साधुना वन्द्यते।

अथाजापालकदृष्टान्तमाह-

पेसविया पच्चंतं, गीतासति क्खित्तपहेग अगीया।
पहियक्खित्ता पुच्छं-ति वायगं कत्थऽरण्णे त्ति॥
ओसंकं मे दट्ठं, संकच्छेती उ वातगो कुविओ।
पल्लिवतिकहण रुंभण, गुरुआगम वंदणं सेहा।

केनचिदाचार्येण गीतार्थाभावे अगीतार्थाः साधवः प्रत्यन्तपस्यां क्षेत्रप्रत्युपेक्षकाः प्रेषिताः, तत्र च भ्रष्टवत एको वाचको राजकुले कृतप्रमाणः परिवसति, ते च प्रत्युपेक्षितक्षेत्राः साधवस्तं वाचकं लोकस्य समीपि पृच्छन्ति-कुत्रासौ तिष्ठति ? लोकेनोक्तम्-अरण्ये। ततस्तेऽपि तत्र गताः, तं चाजारक्षणप्रवृत्तं भ्रष्टवतं दृष्ट्वा अद्रष्टव्योऽयमिति विमृश्यागीतार्थत्वेन शनैरवष्वष्कन्ति। तांश्च तथा दृष्ट्वा वाचकस्य शङ्का ? - किमेतेऽपसर्पन्तीति नूनमत्र भ्रष्टव्रतं ज्ञात्वा, ततः शङ्कोच्छेदी स वाचकः कुपितः सन् पल्लीपतेः कथयित्वा तेषामगीतार्थानां (रुम्भण) गुप्तौ प्रक्षेपणं कृतवान्, ततस्तदन्वेषणार्थं गुरुणां तत्रागमनम्, ते च तं वाचकं वन्दित्वा 'शिक्षका अगीतार्था एते ' इत्युक्त्वा स्वशिष्यान् मोचितवन्तः, एवं श्रेणिबाह्यानामपि वन्दनकं कर्त्तव्यम्।

अथ 'सीस त्ति ' पदं प्रकारान्तरेण व्याचष्टे-

अहवा लिंगविहारा-उ-पडुच्च तं पणिवयत्तु सीसेणं।
भणति रहे पंजलिओ, उज्जम भंते। तवगुणेहिं॥

अथवा लिङ्गाद्वा संविग्नविहाराद्वा प्रत्युत तं स्वगुरुं रहसि शीर्षेण प्रणिपत्य प्राञ्जलिको रचिताञ्जलिपुटो भणति-भदन्त। प्रसादं विधायोद्यच्छत गुणेष्वनशनादौ तपः कर्मणि मूलगुणोत्तरगुणेषु च, प्रयत्नं कुर्विति भावः। एवमादिके कारणे श्रेणिबाह्यानामपि कृतिकर्म कर्त्तव्यम्।

अथ न करोति तत इदं प्रायश्चितम्-

उप्पन्नकारणम्मी, किंतिकम्मं जो न कुज्ज दुविहं पि।
पासत्थादीयाणं, उग्घाया तस्स चत्तारि॥

उत्पन्ने वक्ष्यमाणे कारणे यः कृतिकर्म द्विविधमप्यभ्युत्थान-वन्दनकरूपं पार्श्वस्थादीनां न कुर्यात् तस्य चत्वार उद्घाता मासा भवन्ति, चतुर्लघुकमित्यर्थः।

शिष्यः प्राह-

दुविहे किइकम्मम्मी, वाउलिया मो णिरुद्धबुद्धीया।
आलिपडिसेहितम्मि, उवरिं आरोवणा गुविया॥

एवं द्विविधे अभ्युत्थाने वन्दनकलक्षणकृतकर्मणि पूर्वं प्रतिषिध्य पश्चादनुज्ञाते सति व्याकुलिता आकुलीभूता वयमत एवं निरुद्धा सशयक्रोडीकृता बुद्धिर्येषां ते निरुद्धबुद्धिकाः संज्ञाता वयम्। कुत इत्याह-आदौ प्रथमं प्रतिषिद्धं द्विविधमपि कृतिकर्म पार्श्वस्थादीनां कर्तुम्, आरोपणा च महती तत्कुर्वतो निर्दिष्टा (उवरि त्ति) इदानीं पुनस्तेषां वन्दनकर्म प्रयच्छतो या चतुर्लघुकाख्या आरोपणा प्रतिपाद्यते, सा गुपिला गम्भीरा, नान्यतोवाऽर्थं वयमवबुद्ध्यामहे इति भावः।

(ण) सूरिराह-उत्सर्गतो न कल्पते पार्श्वस्थादीन् वन्दितुं परम्-

गच्छपरिरक्खणट्ठा, अणागतं आउवायकुसलेण।
एवं गुणाधिवतिणा, सुहसीलगवेसणा कज्जा॥

अवमराजद्विष्टादिषु ग्लानत्वे वा यदशनपानाद्युपग्रहकरणेन गच्छ-परिपालनं तदर्थमनागतमवमादिकारणे अनुत्पन्न एव आयोपाय-कुशलेन, आयो नामपार्श्वस्थादेः पार्श्वान्निष्प्रत्यूहसंयमपालनादिको लाभः। उपायो नाम-तथा कथमपि करोति यथा तेषां वन्दनकमददान एव शरीरवार्त्तां गवषेयति, न च तथा क्रियमाणो तेषामप्रीतिकमुपजायते, प्रत्युत स्वचेतसि ते चिन्तयन्ति-अहो एते स्वयं तपस्विनोऽपि एवं यस्मात्सुस्निह्यन्ति, तत एतयोरायो पाययोः कुशलेन गणाधिपतिना भवितव्यम्, एवं वक्ष्यमाणप्रकारेण सुखशीलानां गवेषणा कार्या।

तत्र येषु स्थानेषु कर्त्तव्या तानि दर्शयति-

बाहिं आगमणपहे, उज्जाणे देउले सभाए वा।
रत्थउवस्सयवहिया, अंतो जयणा इमा होइ॥

यत्र ते ग्रामनगरादौ तिष्ठन्ति तस्य बहिः स्थितो यदा तान् पश्यति तदा निराबाधवार्तां गवेषयति। यदा वा भिक्षाचर्यादौ तत्रागच्छन्ति, तदा तेषामागमनपथे स्थित्वा गवेषणं करोति। एवमुद्याने दृष्टानां, चैत्यवन्दननिमित्तं गतैर्देवकुले वा समवसरणे वा दृष्टानां रथ्यायां वा भिक्षामटतामभिर्भुचागमने मिलितानां वार्तां गवेषणीया। कदाचित्ते पार्श्वस्थादयोऽब्रवीरन्-अस्माकं प्रतिश्रयं कदाऽपि नागच्छत् ? ततस्तदनुवृत्या तेषां प्रतिश्रयमपि गत्वा तत्रोपाश्रयस्य बहिः स्थित्वा सर्वमपि निराबाधनादिकं गवेषयतिव्यम्। अथ गाढतरं निर्बन्धं ते कुर्वन्ति तत उपाश्रयस्यान्तरमभ्यन्तरतोऽपि प्रविश्य गवषेयतां साधूनामियं वक्ष्यमाणा पुरुषविशेषवन्दनविषया यतना भवति।

पुरुषविशेषं तावदाइ-

मुक्कधुरा संपागड-अकिच्च चरणकरणपरिहीणा।
लिंगावसेसमित्ते, जं कीरइ तारिसं वोच्छं॥

धूः संयमधुरा सा मुक्ता परित्यक्ता येन स मुक्तधुरः, संप्रकटानि प्रवचनो यथा तन्निरपेक्षतया समस्तजनप्रत्यक्षाण्यकृत्यानि मूलो-त्तरगुणप्रतिसेव नारूपाणि यस्य तत्संप्रकटाकृत्यः। अत एव चरणेन व्रतादिना करणेन पिण्डभविशुद्ध्यादिना परिहीनः। एतादृशे लिङ्गावशेषमात्रे केवलद्रव्यलिङ्गयुक्ते यत् यादृशं वन्दनं क्रियते तादृशमहं वक्ष्ये।

वायाएँ नमोक्करो, हत्थुस्सेहो य सीसनमणं वा।
संपुच्छणं बण च्छो-भवंदएं वंदणं वा वि॥

बहिरागमनपथादिषु दृष्टस्य पार्श्वस्थादेर्वा नमस्कारः क्रियते, वन्दामहे भवन्तं वयमित्येवमुच्चार्यते इत्यर्थः। प्रणामं करोति। अथासौ विशिष्टतर उग्रतरस्वभावो वा ततोवाचा नमस्कृत्य हस्तोत्सेधमञ्जलिं कुर्यात्, ततो विशिष्टतरे अत्युग्रवस्वभावे वा द्वावपि वा नमस्कारहस्तोत्सेधौ कृत्वा तृतीयं शिरःप्रणामं

करोति। एवमुत्तरोत्तरविशेषकरणे पुरुषकार्यभेदः प्राक्तनोपचारानुपृत्तिश्च द्रष्टव्या। (संपुच्छणं ति) पुरतः स्थित्वा भक्तिमिव दर्शयता शरीरवार्तायाः संप्रच्छनं कर्त्तव्यम्-कुशलं भवतां वर्तते इति। (अत्थणं ति) शरीरवार्त्तां प्रश्नयित्वा क्षणमात्रं पर्युपासनम्। अथवा पुरुषविशेषं ज्ञात्वा तदीयं प्रतिश्चयमपि गत्वा बोभवन्दनं संपूर्णं वा वन्दनं दातव्यम्।

अथ किमर्थमत्र वाचैव नमस्कारः क्रियन्ते कारणाभावे वा किमिति मूलत एव कृतिकर्म न क्रियते इत्याशङ्क्याह-

जइ नाम सुइओ मि ति, विवज्जितो वा वि परहरति कज्जो।
इय वि हु सुहसीलजणो, परिहज्जो अणुमती मा सा।

यदि नाम कश्चित्पार्श्वस्थादिर्वा नमस्कारमात्रकरणेन अहो! सूचितस्तिरस्कृतोऽहममुना भङ्क्ष्यन्तरेणेति। सर्वथा कृतिकर्मकरणेन विवर्जितः परित्यक्तोऽइममीभिरिति पराभवं मन्यमानः सुखशीलविहारितां परिहरति। (इय त्ति) एवंविधमपि कारणमवलम्ब्य परिहार्यः कृतिकर्मणि सुखशीलजनः, न केवलं पूर्वोक्तं दोषजालमाश्रित्येत्यपिशब्दार्थः। अपिचतस्य कृतिकर्मणि विधीयमानेन तदीयायाः संवेद्यक्रियाया अप्यनुमतिः कृता भवति, अतः सूक्ष्मा भूदिति बुद्ध्याऽपि न वन्दनीयोऽसौ।

किञ्च-

लोए वेदे समए, दिट्ठो दंडो अकज्जकारीणं।
वस्सेंति दारुणा वि हु, दंडेण जहावराहेण॥

लोके लोकाचारे, वेदे समस्तदर्शनिनां सिद्धान्ते, समये राजनीतिशास्त्रे, अकार्यकारिणां चौरिकाद्यपराधिनां दण्डोऽसंभाप्यता शलाकाभिर्ग्रहण दिलक्षणः प्रयुज्यमानो दृष्टः। कुतः पुनरसौ प्रयुज्यत इत्याह-दारुणा रौद्रास्ते अपि यथापराधेनापराधानुरुपेण दण्डेन दीयमानेन वश्यन्ते वशीक्रियन्ते, अत इहापि मूलगुणाद्यपराधकारिणां कृतिकर्मवर्जनादिको दण्डः प्रयुज्यते, एतच्च कारणाभावमङ्गीकृत्योक्तम्, कारणे तु वाग्नमस्कारादिकं वन्दनकपर्यन्तं सर्वमपि कर्त्तव्यम्।

यत आह-

वायाएँ कम्मणा वा, तह चेट्ठति जह ण होति से मंतुं।
पस्सति जने अवायं, तदभावे दूरतो वज्जे॥

यतः पार्श्वस्थादेः सकाशात् कृतिकर्मरायविधीयमाने अपायं संयमात्मविराधनादिकं पश्यति। संप्रति वाचा मधुरसंभाषणादिना, कर्मणा शिरः-प्रणामादिक्रियया, तथा चेष्टते यथा तस्य मन्युः, स्वल्पमप्यप्रीतिकं, न भवति, अथावन्दनेऽपि संयमोपघातादि-रपायो न भवति, ततस्तस्यापायस्याभावे दूरतस्तं सुखशीलजनं वर्जयेत्। एष विषयविभागः कृतिकर्मकरणाकारणयोरिति भावः॥

किं पुनस्तेषां वन्दने कारणानीत्याह-

एताइ अकुव्वंतो, जहारिहं अरिहदेसिए मग्गे।
ण भवति पवयणभत्ती, अभत्तिमंतादिया दोसा॥

एतानि वाङ्नमस्कारादीनि पार्श्वस्थादीनां यथार्हं यथायोग्यम्, अर्हद्दर्शिते मार्गे स्थितः सन् कषायोत्कटतया यो न करोति, तेन प्रवचने न भक्ति कृता भवति किं तु अभक्तिमावादयो दोष भवन्ति, तत्राऽऽज्ञाभङ्गेन भगवतां न शक्तिमत्त्वं भवति। आदिशब्दात्स्वार्थपरिभ्रंशश्चारिकाहरिकाद्यभ्याख्यानप्राप्तिर्बन्धनादयश्च दोषा भवन्ति।

कानि पुनस्तेषां वन्दने कारणानीत्याह-

परिवार परिस पुरिसं, खित्तं कालं च आगमं नाउं।
कारणजाते जाते, जहारिहं जस्स कायव्वं॥

परिवारं पर्षदं पुरुषं क्षेत्रं कालं च आगमं ज्ञात्वा यथा कारणानि कुलगणादिप्रयोजनानि तेषां जातं प्रकारः कारणजातं तत्र जाते उत्पन्ने सति यथार्हं यस्य पुरुषस्य यद् वाचिकं कायिकं वा वन्दनमनुकूलं तस्य तत्कर्त्तव्यम्।

अथ परिवारादीनि पदानि व्याचष्टे-

परिवारो से विहितो, परिसगतो साहती व वेरग्गं।
माणी दारुणभावे, णिसंस पुरिसरधमो पुरिसो॥
लोगपगतो निवे वा, अहव स रायादिदिक्खित्तो अज्जो।
चित्तं विहिमादि अभा-वियं च कालो वऽणाकालो॥

से तस्य पार्श्वस्थादेर्यः परिवारः स सुविहितानुष्ठानयुक्तो वर्त्तते। पर्षदि गतो वा सभायामुपविष्टो वैराग्यमिति कारणे कार्योपचारात् संसारवैराग्यजनकं धर्मं स कथयति, येन प्रभूताः प्राणिनः संसारविरक्तचेतसः संजायन्ते। तथा कश्चित्पार्श्वस्थादिः स्वभावादेव मानी साहंकारः तथा दारुणभावो रौद्राध्यवसायः नृशंसो नाम क्रूरकर्मा अवन्द्यमानो वधबन्धादिकं कारयतीत्यर्थः। अत एव पुरुषाणां मध्ये अधमः पुरुषाधमः एतादृशः पुरुष इह गृहाते। यद्वा-लोके प्रकृतो बहुलोकसंमतो, नृपप्रकृतो वा धर्मकथादिलब्धि-संपन्नतया राजबहुमतः (अहव त्ति) अथवा राजादिदीक्षितोऽसौ शैलकाचार्यादिवत्। एवं विधपुरुष इह प्रतिपत्तव्यः। क्षेत्रं नाम-विहादिकमभावितं वा। विहं कान्तारम्, आदिशब्दात्प्रत्यनीकाद्युपद्रवयुक्तम्, तत्र वर्त्तमानानां साधूनामसाधूपग्रहं करोति। अभावितं नाम-संविग्नः साधुविषयः श्रद्धाविकलं पार्श्वस्थादि-भावितमित्यर्थः तत्र तेषामनुवृत्तिं विद्धानैः स्थातव्यम्। कालश्च अनाकालो वा दुष्काल उच्यते, तत्र साधूनां वर्त्तापनं करोति। एवं परिवारादीनि कारणाणि विज्ञाय कृतिकर्म विधेयम्।

आगमग्रहणेन च द्वारगाथायां दर्शनज्ञानादिको भावः सूचितः, अतस्तमङ्गीकृत्य विधिमाह-

दंसणनाणचरित्तं, तवविणयं जत्थ जत्तियं जाणे।
जिणपन्नत्तं भत्ती-इ पूयए तं तहिं भावं।

दर्शनं च निःशङ्कितादिगुणोपेतं सम्यक्त्वम्, ज्ञानं चाऽऽचारादिश्रुतं, चारित्रं च मूलोत्तरगुणानुपालनात्मकम्-दर्शनज्ञानचारित्रम्। द्वन्द्वैकवद्भावः। एवं तपश्चानशनादिविविधं तावत्यैव भक्त्या कृतिकर्मादिलक्षणया पूजयत्। बृ० ३ उ० । आव०।

(१०) पार्श्वस्थादिवन्दनं निष्फलमित्याह-

पासत्थाइ वंदमाणस्स नेव कित्ती न निज्जरा होइ।
कायकिलेसं एमेव कुणइ तह कम्मबंधं च॥ ३१॥

पार्श्वस्थादीनुक्तलक्षणान्वन्दमानस्य नमस्कुर्वतः नैव कीर्तिर्न निर्जरा भवति। तत्र कीर्तनं कीर्तिरहाऽयं पुण्यभसगित्येवं लक्षणा, सा न भवति, अपि त्वकीर्तिर्भवति-नूनमयमप्यवेस्वरूपो ये- नैषां वन्दनं करोति। तथा निर्जरणं निर्जरा कर्मक्षयलक्षणा

सा न भवति, तीर्थकराद्यविराधनाद्वारेण निर्गुणत्वात् तेषामिति। वीयत इति कायः देहः, तस्य क्लेशः अवनामादिलक्षणः कायक्लेशः, तं कायक्लेशम्, स एवमेव मुधैव, करोति निर्वर्तयति। तथा क्रियत इति कर्म ज्ञानावरणीयादिलक्षणं, तस्य बन्धो विशिष्टरचनया आत्मनि स्थापनं, तेन वाऽऽत्मनो बन्धः स्वस्वरूपतिरस्करणलक्षणः कर्मबन्धः, तं कर्मबन्धं करोति वर्तते। चशब्दादाज्ञाभङ्गादींश्च दोषानवाप्नुते। कथम् ? भगवंत्प्रतिकुष्टवन्दन आज्ञाभङ्गः तं दृष्टाऽप्येऽपि वन्दन्ति इत्यनवस्था, तान्वन्दमानान् दृष्ट्वाऽन्येषां मिथ्यात्वम्, कायक्लेशतो देवताभ्यो वाऽऽत्मविराधना, तद्वन्दनेन तत्कृतासंयमानुमोदनात् संयमविराधनेति गाथार्थः॥ ३१॥

एवं तावत् पार्श्वस्थादीन् वन्दमानस्य दोषा उक्ताः, साम्प्रतं पार्श्वस्थादीनामेव गुणाधिकवन्दनप्रतिषेधमकुर्वताम- पायान् प्रदर्शयन्नाह-

जे बंभचेरभट्ठा, पाए उड्डेंति बंभयारीणं।
ते हुंति कुंटमंटा, वोही अ सुदुल्लहा तेसिं॥ ३२॥

ये पार्श्वस्थादयः भ्रष्टब्रह्मचर्याः, अपगतब्रह्मचर्या इत्यर्थः। ब्रह्म-चर्यशब्दो मैथुनविरतिवाचकः, तथौघतः संयमवाचकश्च। (पाए उड्डेंति बंभयारीणं ति) पादावभिमानतो व्यवस्थापयन्ति ब्रह्मचारिणां वन्दमानानामिति, तद्वन्दननिषेधनं न कुर्वन्तीत्यर्थः। ते तदुपात्तकर्मजं नारकत्वादिलक्षणं विपाकमासाद्य यथाकथञ्चित्कृच्छ्रेण मानुषत्वमासादयन्ति, तदापि भवन्ति कोण्टमण्टाः, बोधिश्च जिनशासनावबोधलक्षणा सकलदुःख-विवेकभूता सुदुर्लभा, तेषां सकृत्प्राप्तौ सत्यामप्यनन्तसंसारत्वादिति गाथार्थः॥ ३२॥

तथा-

सुट्ठतरं नासंती, अप्पाणं जे चरित्तपब्भद्र।
गुरुजण वंदावंती, सुस्समण जहुत्तकारिं च॥ ३३॥

(सुट्ठुतरंति) सुतरां नाशयन्त्यात्मानं सन्मार्गात्, के ? ये चारि-त्रात् प्राग्निरूपितशब्दार्थात्प्रकर्षेण भ्रष्ट अपेताः सन्तः, गुरुजनं गुण-स्थसाधुवर्गं, वन्दयन्ति कृतिकर्म कारयन्ति। किंभमतं गुरुजनम् ? शोभनाः श्रमणा यस्मिन् स शुश्रमणस्तम्। अनुस्वारलोपोऽत्र द्रष्टव्यः। तथा यथोक्तं क्रियाकलापं कर्त्तुं शीलमस्येति यथोक्तकारी, तं यथोक्तकारिणं चेति गाथार्थः॥ ३३॥

(११) एवं वन्दकवन्द्यदोषसंभवात्पार्श्वस्थादयो न वन्दनीयाः, तथा गुणवन्तोऽपि ये तैः सार्द्धं संसर्गं कुर्वन्ति तेऽपि न वन्दनीयाः, किमित्यत आह-

असुइट्ठाणे पडिआ, चंपगमाला न कीरई सीसे।
पासत्थाईठाणसु, पवट्टमाणा तह असुज्झा॥ ३४॥

यथा अशुचिस्थाने पतिता विट्प्रधानस्थाने पतिता, चम्पकमाला स्वरूपतः शोभनाऽपि सती अशुचिस्थानसंसर्गाद् न क्रियते शिरसि, पार्श्वस्थादिस्थानेषु प्रवर्त्तमानाः साधवः तथा अपूज्या अवन्दनीयाः। पार्श्वस्थादीनां स्थानानि वसतिनिर्गमनभूम्यादीनि परिगृह्यन्ते। अन्ये तु शय्यातरपिण्डाद्युपभोगवक्षणानि व्याचक्षते। तत्संसर्गात्पार्श्वस्थादयो भवन्ति, नचैतानि सुष्ठु घटन्ते, तेषामपि तद्भावापत्तेः। चम्पकमालोदाहरणोपनस्य च सम्यग् घटमानत्वादिति। तत्र कथानकम् ''एगो चंपगपिओ कुमारो चंपयमालाए सिरे कयाए आसगओ वच्चति। आसेण उद्धूतस्स सा चंपकमाला अमेज्झे पडिया, गेण्हामि त्ति अमेज्झं दट्ठूण मुक्का, सो य चंपएहिं विणा धितिं न लभइ, तहा वि द्रुणदोसेण मुक्का। एवं चंपयमाला-थाणीया साहू, अमेज्झथाणिया पासत्थादओ, जा विसुद्धो तेहिं मिलति संवसति वा सो वि परिहरणिज्जो।

अधिकृतार्थप्रसाधनायैव दृष्टान्तान्तरमाह-

पक्कणकुले वसंतो, सउणीपारो वि गरहिओ होइ।
इय गरहिआ सुविहिआ, मज्झि वसंता कुसीलाणं॥ ३॥

पक्कणकुलं गर्हितकुलं तस्मिन् पक्कणकुले वसन् पारं गतवानिति पारगः शकुन्याः पारगः शकुनीपारगः, असावपि गर्हितो निन्द्यो भवति। शकुनीशब्देन चतुर्दशविद्यास्थानानि परिगृह्यन्ते- ''अङ्गानि चतुरो वेदान्, मीमांसां न्यायविस्तरम्। पुराणं धर्मशास्त्रं च, स्थानान्याहुश्चतुर्दश॥ तत्राङ्गानि षट्। तद्यथा-शिक्षा, व्याकरणं, कल्पः, छन्दो, निरुक्तं, ज्योतिषमिति। (इय त्ति) एवं गर्हिताः साधवो मध्ये वसन्तः कुशीलानां पार्श्वस्थादीनाम्। अत्र कथानकम्- एगस्स धिज्जाइसस्स पंच पुत्ता सउणीपारगा, तत्थेगो मरुगो एगाए दासीए संलग्गो, सा मज्जं पियति, इमो यइ। तीए भन्नइजइ तुमं पीयइ ताहे सोहणरत्ती होज्जा, इयरहा विसरिसो संजोगो त्ति। एवं सो बहुसो भणंतीए पाइओ, सो पढमं पच्छन्नं पियति, पच्छा पयडं पिइ उमाढत्तो। पच्छा अतिप्पसंगेणं मंसासेवी संवुत्तो। पक्कणेहिं सह लोट्टेउमाढत्तो। तेहिं चेव सह खाति, पिवति, संवसतिय। पच्छा पिउणा सयणेण य सव्ववज्जो अप्पवंसो कओ, अन्नया सो पडिलग्गो वितिओ। सो वि भायासिणेहेणं तं कुडिं पविसिऊण पुच्छति, देति य से किंचि। सो पिउणा उवलंभिऊण निच्छूढो। ततिओ वाहिर-पाडए वीयं पुच्छति, विसज्जेति से किंचि। सो वि निच्छूढो। चउत्थो परंपरएण देवावेति, सो वि निच्छूढो। पंचमो गंधं पि नेच्छति, तेण मरुएण करणं चडिऊण सव्वस्स घरस्स सो सामी कओ। इयरे चत्तारि वि वाहिरा कया, लोगगरहिया य जाया। एस दिट्ठंतो। उवणओ सो इमो-जारिसा पक्कणा तारिसा पासित्थादी, जारिसो धिज्जाइओ तारिसो आसरिओ, जारिसा पुत्ता तारिसा, साहू, जहा ते निच्छूढा, एवं निच्छूभंतो कुसीलसंगिं करेंता गरहिया य पवयणे भवंति। जो पुण परिहरति सो पुज्जो सातीअपज्जवसियं निव्वाणं पावेति। एवं संसग्गी विणासीया कुसीलेहिं। उक्तं च- '' जो जारिसेण मेत्तिं, करेति अचिरेण तारिसो होइ। कुसुमेहि सह वसंता, तिला वि तग्गंधिया होंति ''॥ १॥ मरुय त्ति दिट्ठंतो गओ।

पार्श्वस्थादिसंसर्गदोषादवन्दनीयाः साधवोऽप्युक्ताः, तत्राह चो-दकः क: पार्श्वस्थादिसंसर्गमात्राद्गुणवतो दोषः ? तथा चाह-

सुचिरं पि अत्थमाणो, वेरुलिओ कायमणिअउम्मीसो।
न उवेइ कायभावं, पाहन्नगुणेण निअएण॥ ३६॥

सुचिरमपि प्रभूतमपि कालं तिष्ठन् वैडूर्य्यो मणिविशेषः काचाश्च ते मणयश्च काचमणयः। कुत्सिताः काचमणयः काचमणिकाः। तैरुत्प्रावल्येन मिश्रः काचमणिकोन्मिश्रः, नापैति न याति काचभावं काचधर्मं प्राधान्यगुणेन विमलगुणेन निजेनात्मीयेन। एवं सुसाधुरपि पार्श्वस्थादिभिः सार्द्धं संवसन्नपि शीलगुणेनात्मीयेन न पार्श्व-स्थादिभावमुपैत्ययं भावार्थ इतिगाथार्थः॥ ३६॥

अत्राह चाचार्य्यः- यत्किञ्चिदेतद्, न हि दृष्टान्तमात्रादेवाभिलषितार्थसिद्धिः संजायते, यतः-

भावुगअभावुगाणि अ, लोए दुविहाइँ हुंति दव्वाइं ।
वेरुलिओ तत्थ मणी, अभावगो अन्नदव्वोहिं ॥३७॥

भाव्यन्ते प्रतियोगिनां स्वगुणैरात्मभावमापद्यन्त इति भाव्यानि कपिल्लुकादीनि, प्राकृतशैल्या भावुकान्युच्यन्ते । अथवा प्रतियोगिनि सति तद्गुणापेक्षया तथा भवनशीलानि भावुकानि, लषपतपदस्थाभूवृषहनकमगमशृभ्य उकञ् ॥ ३७ ॥ इत्युकञ् । तस्य ताच्छीलिकत्वादिति । तद्विपरीतानि अभाव्यानि च नलादीनि । लोके द्विविधानि द्विप्रकाराणि भवन्ति द्रव्याणी वस्तूनि । वैडूर्य्यस्तत्र मणिरभाव्यः अन्यद्रव्यैः काचादिभी रहित इति गाथार्थः ॥३७॥

स्यान्मतिर्जीवोऽप्येवम्भूत एव भविष्यति, न पार्श्वस्थादिसंसर्गेण तद्भावं यास्यतीत्येतच्चासन् । यतः-

जीवो अणाइनिहणो तब्भावणभाविओ अ संसारे ।
खिप्पं सो भा इ, मेलणदोसाणुभावेणं ॥ ३८ ॥

जीवः प्राङ्निरूपितशब्दार्थः, सोऽनादिनिधनः, अनाद्यपर्य्यन्त इत्यर्थः । तद्भावनाभावितश्च पार्श्वस्थाद्याचरितप्रमादादिभावनाभावितश्च, संसारे तिर्यङ्नरनारकामरभवानुभूतिलक्षणे, ततश्च तद्भावनाभावितत्वात् क्षिप्रं शीघ्रं स भाव्यते प्रमादादिभावनया आत्मीक्रियते, मीलनदोषानुभावेन संसर्गदोषानुभावेनेति गाथार्थः ॥३८॥

अथ भवतो दृष्टान्तमात्रेण परितोषः, ततो मद्विवक्षितार्थप्रति-पादकोऽपि दृष्टान्तोऽस्त्येव । शृणु-

अंबस्स य निंबस्स य, दुन्हं पि समागयाइँ मूलाइं ।
संसग्गीइं विणट्ठो, अंबो निंगत्तणं पत्तो ॥ ३९ ॥
सुचिरं पि अत्थमाणो, नलथंभो उच्छुवाडमज्झम्मि ।
कीस न जायइ महुरो, जइ संसग्गी पमाणं ते ॥ ४० ॥

चिरंपतिततिक्तनिम्बोदकवासितायां भूमौ अम्बवृक्षः समुत्पन्नः, पुनस्तत्राम्रस्य निम्बस्य च द्वयोरपि समागते एकीभूते मूले, ततश्च संसर्गात्यंगत्या विनष्ट आम्रः, निम्बत्वं प्राप्तः, तिक्तफलः संवृत्त इति गाथार्थः ॥३९॥ तदेवं संसर्गिदोषदर्शनात् त्याज्या पार्श्वस्थादिसंसर्गिरिति । पुनरप्याह चोदकःनन्वेतदपि सप्रतिपक्षम्, तथाहि- (सुचिरं पि त्ति) सुचिरमपि प्रभूतमपि कालं तिष्ठन् नलस्तम्बो वृक्षविशेषः इक्षुवाटमध्ये इक्षुसंसर्गतः किमिति न जायते मधुरः, यदि संसर्गिः प्रमाणं तवेति गाथार्थः ॥४०॥ आचार्य आह-ननु विहितोत्तरमेतत्-''भावुगअभावुगाणि'' इत्यादिना ग्रन्थेन, अत्रा-पि च केवली अभाव्यः पार्श्वस्थादिभिः, सरागास्तु भाव्या इति ।

आह-तैः सहालापमात्रतायां संसर्गी क इव दोष उच्यते-

ऊणगसयभागेणं, बिंबाइं परिणमंति तब्भावं ।
लवणागराइसु जहा, वज्जेह कुसीलसंसग्गिं ॥ ४१ ॥

ऊनश्चासौ शतभागश्चोनशतभागः, शतभागोऽपि न पूर्य्यत इत्यर्थः । तेन तावतांशेन प्रतियोगिना सह संगच्छानीति प्रक्रमाद्गम्यते । बिम्बानि रूपाणि परिणमन्ति तद्भावमासादयन्ति, लवणीभवन्तीत्यर्थः । लवणाकरादिषु यथा, आदिशब्दात्खण्ड खादिखारकादिग्रहः, तत्र किल लोहमपि तद्भावमासादयति । तथा पार्श्वस्थाद्यालापमात्रसंसर्गादपि सुविहितास्तमेव भावं यान्ति, अतः (वज्जेह कुसीलसंसग्गिं) वर्जयत कुशीलसंसर्गिं परित्यजत कुशील-संसर्गमिति गाथार्थः ॥ ४१ ॥

पुनरपि संसर्गिदोषप्रतिपादनायैवाह-

जह नाम महुरसलिलं, सागरसलिलं कमेण संपत्तं ।
पावइ लोणभावे, मेलणदोसागुभावेणं ॥ ४२ ॥
एवं खु सीलवंतो, असीलवंतेहि मीलिओ संतो ।
पावइ गुणपरिहाणिं, मेलणदोसागुभावेणं ॥ ४३ ॥

यथेत्युदाहरणोपन्यासः, नामेति निपातः । मधुरसलिलं नदीपयः, तत्र लवणसमुद्रं क्रमेण परिपाट्या प्राप्तं सत् (पावेति लोणभावं ति) प्राप्नोति आसादयति लवणभावं क्षारभावं मधुरमपि सन्मीलनदोषानुभावेनेति गाथार्थः ॥ ४२ ॥

(एवं खु त्ति) खुशब्दोऽवधारणे, एवमेव, शीलमस्यास्तीति शीलवान्, स खल्वशीलवद्भिः पार्श्वस्थादिभिः सार्द्धं मिलितः सन्प्राप्नोति आसादयति, गुणाः मूलोत्तरगुणलक्षणाः, तेषां परिहाणिरपचयः, तांस्तथैहिकांश्चापायान् तत्कृतदोषसमुत्थानिति मीलनदोषानुभावेनेति गाथार्थः ॥ ४३ ॥

यतश्चैवमतः-

खणमवि न खमं काउं, अणाययणसेवणं सुविहिआणं ।
हंदि समुद्दमइगयं, उदयं लवणत्तणमुवेइ ॥ ४४ ॥
सुविहिअ दुव्विहिअं वा, नाहं जाणामि हं खुछउमत्थो ।
लिंगं तु पूअयामी, तिगरणमुद्धेण भावेणं ॥ ४५ ॥
जइ ते लिंग पमाणं, वंदेही निन्हए तुमं सव्वे ।
एए अवंदमाण-स्स लिंगमवि अप्पमाणं ते ॥ ४६ ॥
जइ लिंगमप्पमाणं, न नज्जई निच्छएण को भावो ।
दट्ठूण समणलिंगं, किं कायव्वं तु समणेणं ॥ ४७ ॥
अप्पुव्वं दट्ठूणं, अभ्युट्ठाणं तु होइ कायव्वं ।
साहुम्मि दिट्ठपुव्वे, जहारिहं जस्स जं जुग्गं ॥ ४८ ॥

लोचननिमेषमात्रः कालः क्षणोऽभिधीयते, तं क्षणमपि, आस्तां तावन्मुहूर्तोऽन्यो वा कालविशेषः, न क्षमं न समर्थमयोग्यम् किं कर्तुम् ? (अणाययणसेवणं ति) कर्तुं निष्पादयितुं अनायतनं पार्श्वस्थाद्यायतनं, तस्य सेवनं भजनम् अनायतनसेवनम् केषाम् ? सुविहितानां साधूनाम्, किमित्यत आहहन्दीत्युपप्रदर्शने, समुद्रमतिगतं लवणजलधिप्राप्तमुदकं मधुरमपि सत् लवणत्वमुपैति क्षारभावमुपैति । एवं सुविहितोऽपि पार्श्वस्थादिदोषसमुद्रं प्राप्तस्तद्भावमाप्नोति । अतः परलोकार्थिना तत्संसर्गिस्त्याज्योति ॥ ४४ ॥ ततश्च व्यवस्थितमिदम्ये ऽपि पार्वस्थादिभिः सार्द्धं संसर्गिं कुर्वन्ति तेऽपि न वन्दनीयाः, सुविहिता एव वन्दनीया इत्यत्राह- (सुविहिय त्ति) शोभनं विहितमनुष्ठानं यस्यासौ सुविहितस्तम् । अनुस्वारलोपोऽत्र द्रष्टव्यः । दुर्विहि तस्तु पार्श्वस्थादिस्तं दुर्विहितं वाऽहं न जानामि नाहं वेद्मि, यतोऽन्तः करणशुद्धयशुद्धिकृतं सुविहितदुर्विहितत्वम्, परभावस्तु तत्वतः सर्वज्ञविषयः, (अहं खु छउमत्थो त्ति)

अहं पुनश्छद्मस्थः। अतो लिङ्गमेव रजोहरणं गच्छप्रतिग्रहधर-णलक्षणं, पूजयामि वन्दे इत्यर्थः, त्रिकरणशुद्धेन भावेन वाक्कायशुद्धेन मनसेति गाथार्थः ॥ ४५ ॥ आचार्य आह- (जइते) यदीत्य-यमभ्युपगम-प्रदर्शनार्थः। ते तव लिंङ्गं द्रव्यलिङ्गम्। अनुस्वारोऽत्र लुप्तो वेदितव्यः। प्रमाणं कारणं वन्दनकरणे, इत्यं तर्हि वन्दस्व समाव निह्नवान् जमालिप्रभृतीन् त्वं सर्वान्निरवशेषान्, द्रव्यलिङ्गादियुक्तत्वात्तेषामिति। अथैतान्मिथ्यादृष्टित्वान्न वन्दसे, ननु एतान् द्रव्यलिङ्गयुक्तानप्य-वन्दमानस्याप्रणमतः लिङ्गमप्यप्रमाणं तव वन्दनप्रवृत्ताविति गाथार्थः ॥ ४६ ॥ इत्थं लिङ्गमात्रस्य वन्दनप्रवृत्तावप्रमाणतायां प्रतिपादितायां सत्यामनभिनिष्ट एव सामाचारी जिज्ञासया आह चोदकः (जइ त्ति) यदि लिङ्गं द्रव्यलिङ्गमप्रामाणम् अकारणं वन्दनप्रवृत्तौ, इत्थं तर्हि न ज्ञायते नावगम्यते, निश्चयेन परमार्थेन, छद्मस्थेन जन्तुना कस्य को भावः ? यतोऽसंयता अपि लब्धयादिनिमित्तं संयतवच्चेष्टन्ते, संयता अपि च कारणतः असंयतवदिति। तदैवं व्यवस्थिते दृष्टा आलोक्य, श्रमणलिङ्गं साधुलिङ्गं, किं पुनः कर्त्तव्यं श्रमणेन साधुना। पुनःशब्दार्थ-स्तुशब्दः, व्यवहितश्चोक्तगाथानुलोभ्यादिति गाथार्थः ॥ ४७ ॥ एवं चोदकेन पृष्टः सन्नाहाचार्यः- (अपुव्वं ति) अपूर्वमदृष्टपूर्वं साधुमिति गम्यते। दृष्टवाऽवलोक्याभिमुख्येनोत्थानमभ्युत्थानम् आसन-त्यागलक्षणम्, तुशब्दाद्दण्डकादिग्रहणं च भवति कर्त्तव्यम्। किमिति कदाचित्कश्चिदसौ आचार्यादिः विद्याऽऽद्यतिशयसंपन्नः तत्प्रदाना-यैवागतो भवेत् शिष्यसकाशमाचार्य्यकालकवत्, स खल्वविनीतं संभाव्य न तत्प्रयच्छति। तथा दृष्टपूर्वास्तु द्विप्रकाराः-उद्यत-विहारिणः, शीतलविहारिणश्च। तत्रोद्यतविहारिणि साधौ दृष्टपूर्वे उपलब्धपूर्वे यथार्हं यथायोग्यमभ्युत्थानं वन्दनादि यस्य बहुश्रुतादेर्यद्योग्यं, तत्कर्त्तव्यं भवति। यः पुनः शीतलविहारी, न तस्याभ्युत्थानवन्दनादि उत्सर्गतः किञ्चित्कर्तव्यमिति गाथार्थः ॥ ४८ ॥ आव० ३ अ०।

एतच्च वाङ्नमस्कारादिना विशेषेण क्रियते, किं तर्हि-

परिआउ बंभचेरं, परिसविणीआ सि पुरिस नच्चा वा।
कुलकज्जादांयत्ता, आघवउ गुणागमसुअं वा ॥ ५४ ॥
खित्तिम्मि संवसिज्जइ, जस्स पभावेण निरुवसग्गं तु ॥
ओमम्मि अपडितप्पइ, साहूणं आगमं तू अ ॥ ५५ ॥
एवं विहस्स कुज्जा, उत्पन्ने कारणप्पगारम्मि।
कलिऊण जहाजुग्गं, वायाईणि अ समग्गाणि ॥ ५६ ॥

पर्यायो ब्रह्मचर्यमुच्यते, तत्प्रभूतं कालमनुपालितं येन, परिषद्विनीता वा तत्प्रतिबद्धा साधुसंहतिः शोभना (से) तस्य (पुरिस नच्चा व त्ति) पुरुषं ज्ञात्वा वा। अनुस्वारोऽत्र द्रष्टव्यः। कथं ज्ञात्वा ? कुलकार्यादीन्यनेनायत्तानि, आदिशब्दाद्गणसंघकार्यपरिग्रहः। (आघवउ त्ति) आख्यातस्तस्मिन् क्षेत्रे प्रसिद्धः, तद्बलेन तत्रास्यत इति क्षेत्रद्वारार्थः। (गुणागमसुयं व त्ति) गुणा अवमप्रतिजागरणादय इति कालद्वारावयवार्थः। आगमः सूत्रार्थोभयरूपः, श्रुतं सूत्रमेव, गुणाश्चागमश्च श्रुतं चेत्येकवद्भावः। तद्वाऽस्येति विद्यत इत्येवं ज्ञात्वेति गाथार्थः। आव० ३ अ०। ('एआइ' ५७ गाथा ५१६ पृष्ठे बृहत्कल्पपाठेन गतार्था) एवमुद्यतेतरविहारिगतविधौ प्रतिपादिते सत्याह चोदकः- भिन्नोऽनेन पर्यायान्वेषणेन सर्वथा भावशुद्ध्या कर्मापनयनाय जिन-प्रणीतलिङ्गिनमेव युक्तं, तद्गतगुणविचाराय निष्फलत्वात्। न हि तद्गतगुणप्रभवा नमस्कर्तुर्निर्जरा अपि तु आत्मीयाध्यात्म-शुद्धिप्रभवा। तथाहि-

तित्थयरगुणा पडिमा- सु नत्थि निस्संसयं विआणंतो।
तित्थयरु त्ति नमंतो, सो पावइ निज्जरं विउलं ॥ ५८ ॥

तीर्थकरस्य गुणा ज्ञानादयस्तीर्थकरगुणाः ते प्रतिमासु बिम्ब-लक्षणासु (नत्थि) न सन्ति निःसंशयं संशयरहितं विजानन् अवबुध्यमानस्तथापि तीर्थकरोऽयमित्येवं भावशुद्ध्या नमन् प्रणमन्प्रणामकर्त्ता प्राप्नोत्या-सादयति निर्जरां कर्मक्षयलक्षणां विपुलां विस्तीर्णामिति गाथार्थः ॥ ५८ ॥

एष दृष्टान्तोऽयमर्थोपनयः-

लिंगं जिणपन्नत्तं, एवं नमंतस्स निज्जरा विउला।
जइ वि गुणविप्पहीणं, वंदइ अज्झप्पसोहीए ॥ ५९ ॥

लिङ्ग्यतेऽनेन साधुरिति लिङ्गं रजोहरणादिधरणलक्षणम् जिनैरर्हद्भिः प्रज्ञप्तं प्रणीतम्। एवं यथा प्रतिमा इति नमस्कुर्वतः प्रणमतः निर्जरा विपुला, यद्यपि गुणैर्मूलोत्तरगुणैर्विविधमनेकधा प्रकर्षेण हीनं रहितं गुणविप्रहीणं वन्दते नतस्करोति, अध्यात्मशुद्ध्या चेतःशुद्ध्येति गाथार्थः ॥ ५९ ॥

इत्थं चोदकेनोक्ते दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्यमुपदर्शयन्नाहा चार्य्यः-

संता तित्थयागुणा, तित्थयरें तेसिमं तु अज्झप्पं।
न य सावज्जा किरिआ, इअरेसु धुवा समणुमन्ना ॥ ६० ॥

सन्तो विद्यमानाः शोभना वा तीर्थकरस्य गुणाः ज्ञानादयः, क्व तीर्थकरे अर्हति भगवति, इयं च प्रतिमा तस्य भगवतः। (तेसिमं तु अज्झप्पं) तेषा नमस्कुर्वतामिदमध्यात्मम् इदं चेतः, तथा न च तासु सावद्या सपापा, क्रिया चेष्टा, प्रतिमासु, इतरेषु पार्श्वस्थादिषु ध्रुवा अवश्यंभाविनी सावद्या क्रिया। प्रणमतस्तत्र किमित्यत आह-(समणुमन्ना) समनुज्ञा सावद्यक्रिययायुक्त पार्श्वस्थादिषु प्रणमनात्सावद्यक्रियानुमतिरिति हृदयम्। अथवा सन्तस्तीर्थङ्करगुणास्तीर्थकरे तान् वयं प्रणमामः, तेषामिदमध्यात्मम् इदं चेतः, ततोऽर्हद्गुणाध्यारोपेण प्रतिमाप्रणम-नान्नमस्कर्तुर्नच सावद्यक्रिया परिस्पन्दनलक्षणा, इतरेषु पार्श्वस्थादिषु पूज्यमानेष्वशुभक्रियोपेत्वात् तेषां नमस्कर्तुर्ध्रुवा समनुज्ञेति गाथाऽर्थः ॥ ६० ॥

पुनरप्याह चोदकः-

जह सावज्जा किरिया, नत्थि उ पाडिमासु एवमिअरा वि।
तयभावे नत्थि फलं, अह होइ अहेउअं होइ ॥ ६१ ॥

यथा सावद्या क्रिया सपापा क्रिया नास्त्येव न विद्यत एव प्रतिमासु, एवमितराऽपि निरवद्याऽपि नास्त्येव। ततश्च तदभावे निरवद्यक्रियाभावे नास्ति फलं पुण्यलक्षणम्, अथ भवति, अहेतुकं भवति निष्कारणं च भवति, प्रणम्य वस्तुगतक्रियाहेतुकत्वात्फलस्येत्यभिप्रायः। अहेतुकत्वे चाकस्मिककर्मसंभवान्मोक्षाद्यभाव इति गाथाऽर्थः ॥ ६१ ॥

इत्थं चोदकेनोक्ते सत्याहाऽऽचार्यः -

कामं उभयाभावो, तह वि फलं अत्थि मणविसुद्धीए।

तीइ गुण मणविसुद्धी-इ कारणं हुंति पडिमाओ ॥ ६२ ॥

कामम् अनुमतमिदं यदुत उभयाभावः सावद्येतरक्रियाभावः प्रतिमासु, तथापि फलं पुण्यलक्षणम्, अस्ति विद्यते, मनसो विशुद्धिः मनोविशुद्धिः, तस्या मनोविशुद्धेः सकाशात्। तथाहि स्वगतमनोविशुद्धिरेव नमस्कर्तुः पुण्यकारणं, न नमस्करणीयवस्तुगता क्रिया, आत्मान्तरे फलाभावात्। यद्येवं किं प्रतिमाभिरिति ? उच्यते-तस्याः पुनर्मनोविशुद्धेः कारणं निमित्तं भवन्ति प्रतिमाः, तद्द्वारेण तस्याः संभूतिदर्शनादिति गाथार्थः ॥ ६२ ॥

आह- एवं लिङ्गमपि प्रतिमावन्मनोविशुद्धिकारणं भवत्येव-मेवत्युच्यते-

जइ वि अ पडिमा उ जहा, मुणिगुणसंकप्पकारणं लिंगं।
उभयमवि अत्थि लिंगे, न य पडिमासूभयं अत्थि ॥ ६३ ॥

यद्यपि च प्रतिमा यथा, मुनीनां गुणाः मुनिगुणाः व्रतादयः, तेषु संकल्पः अध्यवसायः मुनिगुणसंकल्पः तस्य कारणं निमित्तं मुनिगुणसंकल्पकारणम् लिङ्गं द्रव्यलिङ्गम्, तथापि प्रतिमाभिः सह वैधर्म्यमेव, यत उभयमप्यस्ति लिङ्गे, सावद्यकर्म निरवद्यकर्म च। तत्र निरवद्यकर्मयुक्त एव यो मुनिगुणसंकल्पः स सम्यक्संकल्पः, स एव च पुण्यफलः। यः पुनः सावद्यकर्मयुक्तेऽपि मुनिगुणसंकल्पः स एव विपर्याससंकल्पः, क्लेशफलश्चासौ, विपर्यासरूपत्वादेव। न च प्रतिमासूभयमस्ति, चेष्टारहित्वात्। ततश्च तासु जिनगुणविषयस्य क्लेशफलस्य विपर्यासंकल्पस्याभावः, सावद्यकर्मरहितत्वात् प्रतिमानाम्। आह- इत्थं तर्हि निरवद्यकर्मरहितत्वात् सम्यक्संकल्पस्याऽपि पुण्यफलस्याप्यभाव एव प्राप्त इति ? उ-च्यते-तस्य तीर्थकर गुणाध्यारोपेण प्रवृत्तेर्नाभाव इति।

तथा चाह-

निअमा जिणेसु उ गुणा, पडिमाओ दिस्स जं मणे कुणइ।
अगुणे उ विआणंतो, कं नमइ मणे गुणं काउं ॥ ६४ ॥

नियमादिति नियमेनावश्यतया, जिनेषु तीर्थकरेष्वेव, तुशब्दस्यावधारणार्थत्वात्, गुणा ज्ञानादयः, न प्रतिमासु, प्रतिमाः दृष्ट्वा तास्वध्यारोपद्वारेण यन्मनसि करोति चेतसि स्थापयति, न पुनर्नमस्करोति, अत एवासौ तासु शुभपुण्यफलो जिनगुणसंकल्पः, सावद्यकर्मरहितत्वात्। न चायं तासु निरवद्यकर्माभावमात्राद्विपर्याससंकल्पः, सावद्यकर्मोपेतवस्तुविषयत्वात् तस्य। ततश्चोभयविकल एवाकारमात्रतुल्ये कतिपयगुणान्विते वाऽध्यारोपोऽपि युक्तियुक्तः, (अगुणे तु इत्यादि) अगुणानेव; तुशब्दस्यावधारणार्थत्वात्, अविद्यमानगुणमेव विजानन्नवबुध्यमानः पार्श्वस्थादीन् (कं नमउ मणे गुणं काउं ति) कं मनसि कृत्वा गुणं, नमस्करोतु तानिति। स्यादेतत्, अन्यसाधुसंबन्धिनं तेष्वध्यारोपमुखेन मनसि कृत्वा नमस्करोतु, न तेषां सावद्यकर्मयुक्ततया अध्यारोपविषयलक्षण-विकलत्वात्, अविषये चाध्यारोपमपि कृत्वा नमस्कुर्वतो दोष-दर्शनात्।

आह च-

जह वेलंबगलिंगं, जाणंतस्स नमओ हवइ दोसो।
निद्धंधसमिअ नाऊ-ण वंदमाणे धुवो दोसो ॥ ६५ ॥
कह लिंगमप्पमाणं, उप्पन्ने केवलेवि जं नाणे।
न नमंति जिणं देवा, सुविहि अनेवत्थपरिहीणं ॥ ६६ ॥

यथा विडम्बकालिङ्गं भण्डादिकृतं जानतोऽवबुद्धमानस्य नमतो नमस्कुर्वतो सतोऽस्य भवति दोषः, प्रवचनहीलनादिलक्षणः। निद्धन्धसं प्रवचनोपघातानिरपेक्षं पार्श्वस्थादिकं (इय त्ति) एवं ज्ञात्वाऽवगम्य (वन्दमाणे धुवो दोसो त्ति) वन्दति नमस्कुर्वन्ति नमस्कर्त्तरि ध्रुवोऽवश्यंभावी दोषः, आज्ञाविराधनादिलक्षणः। पाठान्तरं वा-''निद्धंधसं पि नाऊण, वंदमाणस्स दोसा उ '' इदं प्रकटार्थमेवेति गाथार्थः ॥ ६५ ॥ एवं न लिङ्ग मात्रमकारणतोऽवगतसावद्यक्रियं नमस्क्रियत इति स्थापितम् भावलिङ्गमपि द्रव्यलिङ्गरहितमित्थमेवावगन्तव्यम्। भावलिङ्गं तु द्रव्यलिङ्गं नमस्क्रियते, तस्यैवाभिलषितार्थक्रियाप्रसाधकत्वात्।

रूपकदृष्टान्तश्चात्राह-

रुप्पं टंकं विसमा-हयक्खरं न विउ रूवओ छेओ।
दुन्हं पि समाओगे, रुप्पो छेअत्तणमुवेइ ॥ ६७ ॥

अत्र तावच्चतुर्भङ्गाः-रूपमशुद्धं, टङ्कं विषमाहताक्षरमित्येको भङ्गः। रूपमशुद्धं, टङ्कं समाहताक्षरमिति द्वितीयः। रूपं शुद्धं, टङ्कं विषमाहताक्षरमिति तृतीयः। रूपं शुद्धं, टङ्कं समाहताक्षरमिति चतुर्थः। अत्र च रूपकल्पं भावालिङ्गं, टङ्ककल्पं द्रव्यलिङ्गम्। इह च प्रथम-भङ्गतुल्याश्चरकादयः, अशुद्धोभयलिङ्गत्वात्। द्वितीयभङ्गतुल्याः पार्श्वस्थादयः, अशुद्धभावलिङ्गत्वात्। तृतीयभङ्गतुल्याः प्रत्येक-बुद्धाः, अन्तर्मुहूर्त्तमात्रं कालमगृहीतद्रव्यलिङ्गाः। चतुर्थभङ्गतुल्याः साधवः शीलयुक्ताः गच्छगता निर्गताश्च जिनकल्पिकादयः। यथा रूपको भङ्गत्रयान्तर्गतः अत्थेक इत्यविकलतदर्थक्रियार्थिना नोपादीयते, चतुर्थभङ्ग निरूपित एवोपादीयते, एवं भङ्गत्रयानिदर्शितपुरुषा अपि परलोकार्थिनौघतो न नमस्करणीयाः, चरमभङ्गकानिदर्शिता एव नमस्करणीया इति भावना। अक्षराणि त्वेवं नीयन्तेरूपं शुद्धाशुद्धभेदं, टङ्कं विषमाहताक्षरं, विपर्य्यस्तनिविष्टाक्षरं, नैव रूपकश्छेकः, असांव्यवहारिके इत्यर्थः। द्वयोरपि शुद्धरूपसमाहताक्षरटङ्कयोः समायोगे सति रुपकश्छेकत्वमुपैतीति गाथार्थः ॥ ६७ ॥

रूपकदृष्टान्ते दार्ष्टान्तिकनियोजनां निदर्शयन्नाह-

रुप्पं पत्तेअबुहा, टंकं जे लिंगधारिणो समणा।
दव्वस्स य भावस्स य, छेओ समणो समाओगे ॥ ६८ ॥

रुपं प्रत्येकबुद्धा इत्यनेन तृतीयभङ्गकाक्षेपः, टङ्कं ये लिङ्गधारिणः श्रमणा इत्यनेन तु द्वितीयस्य, अनेनैवाशुद्धशुद्धोभयात्मकस्यापि प्रथमचरमभङ्गद्वयस्येति। तत्र द्रव्यस्य च भावस्य च छेकः श्रमणः समायोगे समाहत क्षरटङ्कशुद्धरूपककल्पद्रव्यभावलिङ्गसंयोगे शोभनः साधुरिति गाथार्थः ॥ ६८ ॥ आव० ३ अ०। (ज्ञानप्राधान्यविचारोऽतथोपयुक्तत्वान्नात्र कृतः)

अवसितमानुषङ्गिकम्, तस्मात् स्थितमिदं पञ्चानां कृतिकर्म न कर्त्तव्यम्, तथा च निगमयन्नाह-

दंसणनाणचरित्ते, तवविणए निच्चकालपासत्था।
एए अवंदणिज्जा, जे जसघाई पवयणस्स ॥ १२६ ॥

(दंसणणाणचरित्ते त्ति) प्राकृतशैल्या छान्दसत्वाद्य दर्शनज्ञानचारित्राणां, तथा तपोविनययोः (निच्चकालपासत्थ त्ति)

नित्यकालं सर्वकालं पार्श्वे तिष्ठन्तीति नित्यकालपार्श्वस्थाः। नित्यकालग्रहणमित्वरप्रमादव्यवच्छेदार्थं, तथा चेत्वरप्रमादान्निश्चयतो ज्ञानाद्यपगमेऽपि व्यवहारतस्तु साधव एवेति। एते प्रस्तुता अवन्दनीयाः, किंभूताः ? यशोघातिनः यशोविनाशकाः। कस्य ? प्रवचनस्य, कथं यशोघातिनः ?, श्रमणगुणोपात्तं यद्यशः तत्तद्गुणवितथासेवनतो घातयन्तीती गाथाऽर्थः ॥ १२६ ॥

(१२) पार्श्वस्थादिवन्दने चापायान् निदर्शयन्नाह-

किइकम्मं च पसंसा, सुहसीलजणम्मि कम्मबंधाय।
जे जे पमायठाणा, ते ते उववूहिया हुंति ॥ १२७ ॥

कृतिकर्म वन्दनं, प्रशंसा च- बहुश्रुतो विनीतो वाऽयमित्यादि-लक्षणा, सुखशीलजने पार्श्वस्थजने, कर्मबन्धाय। कथम् ? यतस्ते पूज्या एव वयमिति निरपेक्षतरा भवन्ति। एवं यानि यानि प्रमादस्थानानि, येषु विषीदन्ति पार्श्वस्थादयः, तानि तानि उपबृंहितानि भवन्ति समर्थितानि भवन्त्यनुमतानि भवन्ति तत्प्रत्ययश्च बन्ध गाथाऽर्थः ॥ १२७ ॥

यस्मादेतेऽपायास्तस्मात्पार्श्वस्थादयो न वन्दनीयाः, साधव एव वन्दनीया इति निगमन्नाह-

दंसणनाणचरित्ते, तवविणए निच्चकालमुज्जुत्ता।
एए उ वंदणिज्जा, जे जसकारी पवय णस्स ॥ १२८ ॥

दर्शनज्ञानचारित्रेषु, तथा तपोविनययोः, नित्यकालं सर्वकाल म् , उद्युक्ता उद्यता एते एव वन्दनीयाः, ये विशुद्धमार्गप्रभावनया यशःकारिणः प्रवचनस्येति गाथार्थः ॥ १२८ ॥

(१३) अधुना सुसाधुवन्दने गुणमुपदर्शयन्नाह-

किइकम्मं च पसंसा, संविग्गजणम्मि निज्जरट्ठाए।
जे जे विरइट्ठाणा, ते ते उववूहिआ हुंति ॥ १२९ ॥

कृतिकर्म वन्दनं, प्रशंसा च-बहुश्रुतो विनीतः पुण्यभागित्यादि-लक्षणा, संविग्नजने निर्जरार्थाय कर्मक्षयाय, कथम् ? यानि यानि विरतिस्थानानि, रुषु वर्तन्ते ते संविग्नाः, तानि तान्युपबृंहितानि भवन्त्यनुमतानि भवन्ति, तदनुमत्या च निर्जरा। संविग्नाः पुनर्द्विविधाः द्रव्यतो भावतश्च। द्रव्यसंविग्ना मृगाः, पत्रेऽपि चलति सदा त्रस्तचेतसः, भवसंविग्नास्तु साधवः, तैरिहाधिकार इति गाथाऽर्थः ॥ १२९ ॥

गता समग्रश्च पञ्चानां कृतिकर्मेत्यादिद्वारगाथा। निगमयतो-क्तमोघतो दर्शनाद्युपयुक्ता एव वन्दनीया इत्यधुना तानेवाचार्यादिभेदतोऽभिधित्सुराह-

आयरिअ उवज्झाओ, पवति थेरे तहेव रायणिए।
एएसिं किइकम्मं, कायव्वं निज्जरट्ठाए ॥ १३० ॥

आचार्य उपाध्यायः प्रवर्तकः स्थविरस्तथैव रत्नाधिकः। एतेषां कृतिकर्म कर्तव्यं निर्जरार्थम्। तत्र चाचार्यः सूत्रार्थोभयवेत्ता, लक्षणादि-युक्तश्च। आव० ३ अ०। (अधिकमत्रत्यम्, पवत्तग शब्दे वक्ष्यते)

प्रथमद्वारगाथायां गतं कस्येति द्वारम्-

(१४) अधुना केनेति द्वारम्। केन कृतिकर्म कार्यं, केन वा न कर्त्तव्यम्, कः पुनरस्य करणोचितः, अनुचितो वेत्यर्थः। तत्र मातापित्रादिरनुचितो गणः। तथाचाह ग्रन्थकारः -

मायरं पिअरं वा वि, जिट्ठगं वा वि भायरं। १३१।
किइकम्मं न कारिज्जा, सव्वे रायणिए तहा ॥ १३८ ॥
विअडप्पचक्खाणे, सुए अ रयणाहिआ वि हु करंति।
मज्झिल्ले न करेई, सा चेव य तेसि पकरेई ॥ १३९ ॥

मातरं पितरं वाऽपि ज्येष्ठकं चापि भ्रातरम्, अपिशब्दान्माता-महपितामहा दिपरिग्रहः, कृतिकर्म अभ्युत्थितवन्दनं न कारयेत्, सर्वान् रत्नाधिकान्। तथा पर्यायज्येष्ठानित्यर्थः। किमिति ? मात्रादीन्वन्दनं कारयतः लोकगर्हा पजायते, तेषां च कदाचिद्विपरिणामो भवति। आलोचनप्रत्या ख्यानसूत्रार्थेषु तु कारयेत्, सागारिकाध्यक्षं तु यतनया कारयेत्, एष प्रवज्याप्रतिपन्नानां विधिः। गृहस्थांस्तु कारयेदिति गाथार्थः ॥ १३६ ॥

साम्प्रतं कृतिकर्मकरणोचितं प्रतिपादयन्नाह-

पंच महव्वयजुत्तो, अणलस माणपरिवज्जिअमईओ।
संविग्ग निज्जरट्ठी, किइकम्मकरो हवइ साहू ॥ १४० ॥

पञ्च महाव्रतानि प्राणातिपातादिनिवृत्तिलक्षणानि तैर्युक्तः, (अ-णलस त्ति) आलस्यरहितः, मानवर्जितमतिः जात्यादिमानपराङ्मुखमतिः, संविग्नः प्राग्व्याख्यात एव, निर्जरार्थी कर्मक्षयार्थी, एवंभूतः कृतिकर्म-कारको भवति साधुः, एवं भूतेन साधुना कृतिकर्म कर्त्तव्यमिति गाथार्थः ॥ १४० ॥ गतं केनेति द्वारम्।

(१५) सांप्रतं कदेत्यायातम्, कदा कृतिकर्म कर्तव्यं कदा वा न कर्त्तव्यमित्यत आह-

वक्खित्त पराहुत्ते, अ पमत्ते मा कयाइ वंदिज्जा।
आहारं च करंते, नीहारं वा जई करइ ॥ १४१ ॥

व्याक्षिप्तं धर्मकथादिना, (पराहुत्ते य त्ति) पराङ्मुखं च, चश-ब्दादुज्झनादिपरिग्रहः। प्रमत्तं क्रोधादिप्रमादेन, मा कदाचिद्वन्देत् आहारं कुर्वाणं, नीहारं वा यदि करोति। इह च धर्मेन्तरायाः नव-धारणप्रकोपाहारान्तरायपुरीषनिर्गमादयो दोषाः प्रपञ्चेन वक्तव्या इति गाथार्थः ॥ १४१ ॥

कदा तर्हि वन्देत इत्यत आह-

पसंते आसणत्थे अ, उवसंते दवट्ठिए।
अणुन्नवित्तु मेहावी, किइकम्मं उद्वंजए ॥ १४२ ॥

प्रशान्तं व्याक्षेपरहितम्, आसनस्थं निषद्यागतम्, उपशान्तं क्रोधादि-प्रमादरहितम्, उपस्थितं छन्देनेत्याद्यभिधानेन प्रत्युद्यतम्, एवंभूतं सन्तम्, अनुज्ञाप्य मेधावी, ततः कृतिकर्म प्रयुञ्जीत, वन्दनं कुर्यादित्यर्थः। अनुज्ञापनायां च आदेशद्वयम्-यानि ध्रुववन्दनानि तेषु प्रतिक्रमणादौ नानुज्ञापयति। यानि पुनरौत्पत्तिकानि तेष्वनुज्ञापयतीति गाथार्थः ॥ १४२ ॥ गतं कदेति द्वारम्।

(१६) अधुना कतिकृत्वः कृतिकर्म कार्यं, कियन्तो वारा इत्यर्थः। तत्र प्रत्यहं नियतान्यनियतानि वन्दनानि भवन्त्यत उभयस्थान-निदर्शनायाह निर्युक्तिकारः-

पडिकमणे सज्झाए, काउस्सग्गावराहपाहुणए।
आलोअणसंवरणे, उत्तमट्ठे अ वंदणयं ॥ १४३ ॥

प्रतीपं क्रमणं प्रतिक्रमणम्, अपराधस्थानेभ्यो गुणस्थानेषु वर्त्तनमित्यर्थः। तस्मिन्सामान्यतो वन्दनं भवति। तथा स्वा-ध्याये वाचनादिकक्षणे, कायोत्सर्गे यो हि विगतिपरिभोगा-यायाम्लविसर्जनार्थं क्रियते। अपराधे गुरुविनयलङ्घनरूपे यतस्तं वन्दित्वा क्षामयति पाक्षिकवन्दनान्यपराधे पतन्ति। प्राघूर्णके

ज्येष्ठे समागते सति वन्दनं भवति, इतरस्मिन्नपि प्रतीच्छितव्यम्। अत्र चायं विधिः-

''संभोइयमसंभोइ-या य दुविहा भवंति पाहुणया।
संभोइय आयरियं, आपुच्छित्ता उ वंदति॥
इयर पुण आयरियं, वंदित्ता संदिसाविउं तह य।
पच्छा वंदंति जई, गयमोहो अहव वंदावे॥''

तथा आलोचनायां विहारापराधभेदभिन्नायां संवरणं भुक्ते प्रत्याख्यानम्। अथवा कृतनमस्कारसहितादिप्रत्याख्यानस्यापि पुनरजीर्णादिकारणतोऽभक्तार्थं गृह्णतः संवरणं तस्मिन्वन्दनं भवति। उत्तमार्थे चानशनसंलेखनायां वन्दनमित्येतेषु प्रतिक्रमणादिषु स्थानेषु वन्दनं भवतीति गाथार्थः॥१४३॥

इत्थं सामान्येन नियतानियतस्थानानि वन्दनानि प्रदर्शितानि, सम्प्रतं नियतवन्दनस्थानसंख्याप्रदर्शनायाऽऽह-

चत्तारि पडिक्कमणे, किइकम्मा तिन्नि हुंति सज्झाए।
पुव्वन्हे अवरन्हे, किइकम्मा चउदस हवंति॥१४४॥

चत्वारि प्रतिक्रमणे कृतिकर्माणि, त्रीणि भवन्ति स्वाध्याये, पूर्वाह्णे प्रत्यूषसि। कथम्- गुरुं पुव्वसंझाए वंदित्ता आलोएंति एयं एक्कं। अब्भुट्ठियावसाणे जं पुणो वंदंति गुरुं एतं वितीयं। एत्थ य विही पच्छा जहन्नेण तिन्नि। मज्झिमं पंच वा सत्त वा, उक्कोसं सव्वे वि वंदियव्वा। जइ वाउलावक्खेवो वा तो एक्केण ऊणगा जाव तिन्नि अवस्सं वंदियव्व। एवं देवसिए पक्खिए पंच अवस्सं, चाउम्मासिए संवच्छरिए वि सत्त अवस्सं ति। ते वंदिऊण जं पुण आयरियस्स अल्लिविज्जति तं ततियं, पच्चक्खाणे चतत्थं सज्झाए पुणो वंदिता पट्ठवेंति। पढमे पट्ठविए पवेदयंतस्स वितियं पच्छा उदिट्ठं समुद्दिट्ठं पढति। उद्देससमुद्देसवंदणाणमिहेवं तब्भावो ततो जाहे चउ-ब्भागावसेसा पोरुसी ताहे पाए पभिलेहेति। जति न पढिउकामो तो वंदति, अह पढिउकामो तो अवंदित्ता पाए पडिलेहेति। पडिलेहिता पच्छा पढति, कालवेलाए वंदिउं पडिक्कमति। एवं तइयं, एवं पूर्वाह्णे सत्त, अपराह्णेपि सत्तैव भवन्ति, अनुज्ञावन्दनानां स्वाध्यायवन्दनेष्वेवान्तर्भावात्। प्रतिक्रमणिकानि तु चत्वारि प्रसिद्धान्येवमेतानि ध्रुवाणि प्रत्यहं कृतिकर्माणि चतुर्दश भवन्ति अभक्तार्थिकस्य। इतरस्य तु प्रत्याख्यानवन्दनेनाधिकानि भवन्तीति गाथार्थः॥१४४॥ गतं कतिकृत्वो द्वारम्। आव० ३ अ०।

(१५) कृतिकर्मस्वरूपनिरूपणम्-

दुवालसावत्ते कितिकम्मे पण्णत्ते। तं जहा-दुओणयं जहाजायं किइकम्मं बारसावयं चउसिरं तिगुत्तं दुपवेसं एगनिक्खमणं॥

द्वादशावर्तं कृतिकर्म वन्दनकं प्रज्ञप्तम्। द्वादशावर्ततामेवास्यानुवन्दनशेषांश्च तद्धर्मानभिधित्सितं रूपकमाह- (दुओणयेत्यादि) अवनतिरवनतम्, उत्तमाङ्गप्रधानं प्रणमनमित्यर्थः। द्वे अवनते यस्मिंस्तद् द्व्यवनतम्। तत्रैकं यदा प्रथममेव-इच्छामि खमासमणो! वंदिउं जावणिज्जाए निसीहियाए त्ति अभिधायावग्रहानुज्ञापनायात्रनमति, द्वितीयं पुनर्यदावग्रहानुज्ञापना यैवावनमतीति यथाजातं श्रमणत्वभवनलक्षणं जन्माश्रित्य योनिनिष्क्रमणलक्षणं च, तत्र च रजोहरणमुखवस्त्रिकाचोलपट्टमात्रया श्रमणो जातो रचितकरपुटस्तु योन्या निर्गत एवंभूत एव वन्दते, तदव्यतिकोद्भा यथाजातं भण्यते, कृतिकर्म वन्दनकम्। (बारसावयं ति) द्वादशावर्ताः सूत्राभिधानगर्भाः कायव्यापारविशेषाः यतिजनप्रसिद्धा यस्मिंस्तद् द्वादशावर्त्तम्। तथा- (चउसिर त्ति) चत्वारि शिरांसि यस्मिंस्तच्चतुःशिरः। प्रथमप्रविष्टस्य क्षामणाकाले शैष्याचार्यशिरोद्वयं पुनरपि निष्क्रम्य प्रविष्टस्य द्वयमेवेति भावना। तथा-(तिगुत्तं त्ति) तिसृभि-र्गुप्तिभिर्गुप्तः। पाठान्तरेऽपि तिसृभिः श्रद्धागुप्तिभिरेवेति। तथा (दुपवेसं ति) द्वौ प्रवेशौ यस्मिंस्तद् द्विप्रवेशम्। तत्र प्रथमोऽवग्रह-मनुज्ञाप्य प्रविशतो, द्वितीयः पुनर्निर्गत्य प्रविशत इति। (एगनि-क्खमणं ति) एकं निष्क्रमणमवग्रहादावश्यिक्यान्निर्गच्छतः। द्वितीय-वेलायां ह्यवग्रहान्न निर्गच्छति पादपतित एव सूत्रं समापयतीति। स० १२ सम०। नि० चू०।

कत्यवनतमित्याद्यद्वारं तदर्थप्रतिपादनायाऽऽह-

दुओणय जहाजायं, किइकम्मं बारसावत्तं।
चउस्सिरं तिगुत्तं च, दुपवेसं एगनिक्खमणं॥१४५॥

अवनतिरवनतम्, उत्तमाङ्गप्रधानं प्रणमनमित्यर्थः। द्वे अवनते यस्मिंस्तद् द्व्यवनतम्। एवं यदा प्रथममेव-''इच्छामि खमासमणो! वंदिउं जावणिज्जाए निसीहियाए'' त्ति अभिधाय छन्दोऽनुज्ञापनाया वनमति द्वितीयं पुनर्यदा कृतावर्तो निष्क्रान्तः इच्छा-मीत्यादिसूत्रमभिधाय छन्दोऽनुज्ञापना यैवावनतमिति यथाजातं जन्मश्रमणत्वमाश्रित्य योनिनिष्क्रमणं च। तत्र रजोहरणमुखव-स्त्रिकाचोलपट्टकमात्रया श्रमणो जातः, रचित करपुटस्तु योन्या निर्गतः, एवंभूत एव वन्दते। तद्व्यतिरेकश्च यथाजातं भण्यते, कृतिकर्म वन्दनम्। (बारसावत्तं ति) द्वादशावर्त्तैः सुजाभिधान-गर्भाः कायव्यापारविशेषा यस्मिन्निति समासः, तद् द्वादशावर्त्तम्। इह च प्रथमप्रविष्टस्य षडावर्त्ताः भवन्ति- अहोकायं कायसंफासं खमणिज्जो भे किलामो अप्पकिलंताण बहसुभेण भे दिवसो वइक्कंतो, जत्ता मे जवणिज्जं च डे '' एतत्सूत्रगर्भाः गुरुचरणन्यस्तहस्तशिरः स्थापनरूपा निष्क्रम्य पुनः प्रविष्टस्याप्येत एव षडिति, एतच्चा-पान्तरालद्वारद्वयमाद्यद्वारोपलक्षितमवगन्तव्यम्। गतं कत्यवनत-द्वारम्। सांप्रतं कतिशिर एत्येद् द्वारं व्याचिख्यासुरिदमपरं गाथाशकलमाह- (चउसिरमित्यादि) चत्वारि शिरांसि यस्मिंस्तच्चतुःशिरः, प्रथमप्रविष्टस्य क्षामणाकाले शिष्याचार्यशिरोद्वयं, पुनरपि निष्क्रम्य प्रविष्टस्य शिरोद्वयमेवेति भावनाद्वारम्। तिस्रो गुप्तयो यस्मिंस्तत् त्रिगुप्तम्। मनसा सम्यक् प्रणिहितम्, वाचा अस्खलितान्यक्षराण्युच्चारयन्, कायेन आवर्तने विराधयन् वन्दनं करोति यतः। चशब्दोऽवधारणार्थः। द्वौ प्रवेशौ यस्मिंस्तद् द्विप्रदेशम्। प्रथमोऽनुज्ञाप्य प्रविशतो, द्वितीयः पुनर्निर्गत्य प्रविशत इति। एकं निष्क्रमणम् आवश्यकया निर्गच्छतः। एतच्चापान्तरालद्वारत्रयं कतिशिरोद्वारेणैवोपलक्षितमवगन्तव्यमिति गाथार्थः॥१४५॥

(१८) सांप्रतं कतिभिर्वाऽऽवश्यकैः परिशुद्धमिति द्वारार्थोऽभि-धीयते। तथाचाह-

अवणामा दुहा जायं, आवत्तो बारसे व य॥
सीसा चत्तारि गुत्तीओ, तिन्नि दो अ पसेवणा॥१४६॥
एगनिक्खमणं चेव, पणवीसं विराहिआ।
आवस्सएहि परिसुद्धं, किइकम्मं जेहि कीरई॥१४७॥

इदमन्यकर्तृकं गाथाद्वयं निगद सिद्धमेव। एभिर्गाथाद्वयोक्तैः पञ्चविंशतिभिरावश्यकैः परिशुद्धं कृतिकर्म कर्त्तव्यम्, अन्यथा द्रव्यकृतिकर्म भवत्यत आह- (एग त्ति) कृतिकर्म्मापि कुर्वन्न भवति कर्मनिर्जराभागी पञ्चविंशतेरावश्यकानाम् अन्यतरत् साधुस्थानं विराधयन्, विद्यादृष्टान्तोऽत्र। यथाहि-विद्या विकलानुष्ठाना फलदा न भवति, एवं कृतिकर्मापि निर्जराफलं न भवति, विकलत्वादेवेति गाथार्थः ॥१४७॥

(१६) अधुना विराधनगुणोपदर्शनायाऽऽह-

पणवीसा परिसुद्धं, किइकम्मं जो पउंजइ गुरूणं।
सो पावइ निव्वाणं, अचिरेण विमाणवासं वा ॥१४८॥

पञ्चविंशत्याऽऽवश्यकान्यवनतादीनि प्रतिपादितान्येवं तच्छुद्धं, तदविकलं कृतिकर्म यः कश्चित्प्रयुङ्क्ते, करोतीत्यर्थः। कस्मै ? गुरवे आचार्याय, अन्यस्मै वा गुणयुक्ताय, स प्राप्नोति निर्वाणं मोक्षम्, अचिरेण स्वल्पेन कालेन, विमानवासं वा सुरलोकं वेति गाथार्थः ॥१४८॥ (कतिदोषविप्रमुक्तामिति यदुक्तं तत्र द्वात्रिंश-दोषदर्शनं च 'वंदण' शब्दे अनादृतादिशब्दव्याख्या 'अणादिय' आदिशब्देषु वक्ष्यते)

किइकम्मं पि करंतो, न होइ किइकम्मनिज्जराभागी।
बत्तीसामन्नयरं, साहू ठाणं विराहंतो ॥१७५॥
बत्तीसदोससुद्धं, किइकम्मं जो पउंजइ गुरूणं।
सो पावइ निव्वाणं, अचिरेण विमाणवासं वा ॥१७६॥

कृतिकर्मापि कुर्वन्न भवति कृतिकर्मा निर्जराभागी, द्वात्रिंशद्दोषाणामन्यतरत्साधुः स्थानं विराधयन्निति गाथार्थः ॥ १७५॥ दोषविप्रमुक्ते कृतिकर्मकरणे गुणमुपदर्शयन्नाह-द्वात्रिंशद्दोषपरिशुद्धं कृतिकर्म यः प्रयुक्ते करोति गुरवे, स प्राप्नोति निर्वाणम्, अचिरेण विमानवासं वेति गाथार्थः ॥१७६॥

अहो दोषपरिशुद्धाद्वन्दनात्को गुणः, येन तत एव निर्वाणप्राप्तिः प्रतिपाद्यते, इत्यत्रोच्यते-

आवस्सएसु जह जह, गुणइ पयत्तं अहीणमइरित्तं।
तिविहकरणोवउत्तो, तह तह से निज्जरा होइ ॥१७७॥

आवश्यकेष्ववनतादिषु दोषत्यागलक्षणेषु च यथा यथा करोति प्रयत्नम्, अहीनातिरिक्तं न हीनं नाप्यतिरिक्तम्। किंभूतः सन् ?-त्रिविधकरणोपयुक्तः मनोवाक्कायैरुपयुक्त इत्यर्थः। तथा तथा (से) तस्य वन्दनकर्तुर्निर्जरा भवति कर्मक्षयो भवति। तस्मान्निर्वाणप्राप्तिरित्यतो दोषपरिशुद्धादेव फलावाप्तिरिति गाथार्थः ॥१७७॥ गतं सप्रसङ्गं दोषविप्रमुक्तद्वारम्।

(२०) अधुना 'किमिति क्रियते' इति द्वारम्। तत्र-वन्दन करणकारणानि प्रतिपादयन्नाह-

विणओवयार माणस्स भंजणा पूअणा गुरुजणस्स।
तित्थयराण य आणा, सुअधम्माराहणाऽकिरिया ॥१७८॥

विनय एवोपचारो विनयोपचारः कृतो भवति। स एव किमर्थ इत्याह-मानस्याहङ्कारस्य भञ्जना विनाशः तदर्थः। मानेन च भग्नेन पूजना गुरुजनस्य कृता भवति, तीर्थकराणां चाज्ञा अनुपालिता भवति। यतो भगवद्भिर्विनयमूल एवोपदिष्टो धर्मः, स च वन्दनादिलक्षण एव विनय इति। तथा श्रुतधर्माराधना कृता भवति, यतो वन्दनपूर्वं श्रुतग्रहणम्, (अकिरिय त्ति) पारंपर्येणाक्रिया भवति। यतः- अक्रियः सिद्धः असावपि पारम्पर्येण वन्दनलक्षणाद्विनयादेव भवति। उक्तञ्च परमर्षिभिः-

''तहारूवे णं भंते। समणं वा माहणं वा वंदमाणस्स पज्जुवासमाणस्स किं फला वंदणपज्जुवासण- या ? गोयमा ! सवणफला सवणे णाणफले, नाणे विन्नाणफले, विन्नाणे पच्चक्खाणफले, पच्चक्खाणे संजमफले, संजमे अणन्न-यफले, अणन्नए तवफले, तवे वोदाणफले, वोदाणे अकिरियाफले, अकिरिया सिद्धगतिगमणफला।'' तथा वाचकमुख्येनाप्युक्तम्-

''विनयफलं शुश्रुषा, गुरुशुश्रुषाफलं श्रुतज्ञानम्।
ज्ञानस्य फलं विरति-र्विरतिफलं चाऽऽश्रवनिरोधः ॥१॥
संवरफलं तपोबल-मथ तपसो निर्जराफलं दृष्टम्॥
तस्मात्क्रियानिवृत्तिः, क्रियानिवृत्तेरयोगित्वम् ॥२॥
योगनिरोधाद्भवसं-ततिक्षयः संततिक्षयान्मोक्षः।
तस्मात्कल्याणानां सर्वेषां भाजनं विनयः''॥ इति गाथार्थः ॥१७८॥

किञ्च-

विणओ सासणमूलं, विणीओ संजओ भवे।
विणयाओ विप्पमुक्कस्स, कओ धम्मो कओ तवो ॥१७९॥

शास्यन्तेऽनेन जीवा इति शासनं द्वादशाङ्गं, तस्मिन्विनयो मूलम्। यत उक्तम्-

''मूलाउ खंधप्पभवो दुमस्स, खंधाउ पच्छा समुवेंति साहा।
साहा प्पसाहा वि रुहंति पत्ता, पत्ता सि पुप्फं च फलं रसो य''।
''एवं धम्मस्स विणओ, मूलं परमो से मोक्खो। जेण कित्ती सुयं सिग्धं, नीसेसं चाभिगच्छति''। अतो विनीतः संयतो भवेत् पिनयाद् विप्रमुक्तस्य कृतो धर्मः कुतस्तप इति गाथार्थः ॥१७९॥

अतो विनयोपचारार्थं कृतिकर्म क्रियत इति स्थितम्। आह-विनय इति कः शब्दार्थ इत्युच्यते-

जम्हा विणयइ कम्मं, अट्ठविहं चाउरंतमोक्खाय।
तम्हा उ वयंति विओ, विणओ त्ति विलीणसंसारा ॥१८०॥

यस्माद्विनयति नाशयति कर्म अष्टविधम्। किमर्थम् ? चतुरन्तमोक्षाय, संसारविनाशायेत्यर्थः। तस्मादेव वदन्ति विद्वांसःविनय इति विनयनाद् विलीनसंसाराः क्षीणसंसाराः। अथवा 'विणीअसंसारा' इति पाठे विनीतसंसारा पष्टसंसारा इत्यर्थः। यथा विनीता गौर्नष्टक्षीरा अभिधीयत इति गाथार्थः ॥१८०॥

किमिति क्रियत इति द्वारं गतम्। व्याख्याता द्वितीया कत्यवनतमित्यादिद्वारगाथा। अत्रान्तरेऽध्ययनशब्दार्थो निरूपणीयः स चान्यत्र न्यक्षेण निरूपितत्वान्नेहाधिकृतः। गतो नाम निष्पन्नो निक्षेपः।

(२१) सांप्रतं सूत्रालापकनिष्पन्नस्य निक्षेपस्यावसरः, स च सूत्रे सति भवति, सूत्रं च सूत्रानुगम इत्यादि प्रपञ्चतो वक्तव्यम्, यावच्चेदं सुत्रम्-

इच्छामि खमासमणो ! वंदिउं जावणिज्जाए निस्सिहियाए अणुजाणह मे मिओग्गहं निसीहि अहोकायं कायसंफासं खमणिज्जो मे किलामो अप्पकिलंताणं बहुसुभेण भे दिवसो वइक्कंतो जत्ता भे जवाणिज्जं च भे खामेमि खमासमणो ! देवसियं वइक्कम्मं आवसियाए पडिक्कमामि खमासमणाणं देवसियसए आसायणाए तेत्तीसन्नयराए

जं किं चि मिच्छाए मणदुक्कमाए वयदुक्कमाए कायदुक्कडाए कोहाए माणाए मायाए लोभाए सव्वकालियाए सव्वमिच्छोवयाराए सव्वधम्माइक्कमणाए आसायणाए जो मे अइयारो कओ तस्स खमासमणो। पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि॥

अस्य व्याख्या, तल्लक्षणं चेदम्। 'संहिता चेत्यादि'। तत्रास्खलितपदोच्चारणं संहिता। सा च- इच्छामि खमासमणो। वंदिउं जावणिज्जाए णिस्सिहीआए त्ति इत्येवं सूत्रोच्चारणरूपा। अधुना पदविभागः- इच्छामि क्षमाश्रमण। वन्दितुं यापनीयया नैषेधिक्या अनुजानीत मम मितावग्रहं नैषेधिकी अधःकायं कायसंस्पर्शः क्षमणीयः भवतां क्लमः अल्पक्लान्तानां बहुशुभेन भवतां दिवसो व्यतिक्रान्तः, यात्रा भवतां, यापनीयं च भवतां क्षमयामि क्षमाश्रमण। दैवसिकव्यतिक्रमम्, आवशिक्या प्रतिक्रमामि, क्षमाश्रमणानां दैवसिक्या अशातनया त्रयस्त्रिंशदन्यतरया यत्किञ्चिन्मिथ्यया मनोदुष्कृतया वाग्दुष्कृतया कायदुष्कृतया क्रोधया मानया मायया लोभया सर्वकालिक्या सर्वमिथ्योपचारया सर्वधर्मातिक्रमणया अशातनया यो मया अतीचारः कृतः तस्य क्षमाश्रमण। प्रतिक्रमामि निन्दामि गर्हामि आत्मानं व्युत्सृजामि। एतावन्ति सर्वसूत्रपदानि। साम्प्रतं पदार्थः पदविग्रहश्च यथासंभवं प्रतिपाद्यते-तत्र 'इषु' इच्छायामित्यस्योत्तमपुरुषैकवचनान्तस्य इच्छामीति भवति। क्षमूष् सहने इत्यस्य अङ्प्रत्ययान्तस्य क्षमा। 'श्रमु' तपसि खेदे च, अस्य कर्त्तरि ल्यूट्। श्राम्यत्यसाविति श्रमणः। क्षमाप्रधानः श्रमणः क्षमाश्रमणः, तस्यामन्त्रणम्। वन्देस्तुमुद्धप्रत्ययान्तस्य वन्दितुम् 'या' प्रापणे अस्य ण्यन्तस्य पुक् कर्त्तर्यनीयः, यापयतीति यापनीया, तया। 'षिधु' गत्यामस्य निपूर्वस्य घञि निषेधनं निषेधः, निषेधेन निवृत्ता नैषेधिका। प्राकृतशैल्या छान्दसत्वाद्वा नैषेधिकीत्युच्यते। एवं शेषपदार्थोऽवि प्रकृतिप्रत्ययव्युत्पत्त्या वक्तव्यः, विनेयासंमोहार्थं तु न ब्रूमः। अयं प्रकृतसूत्रार्थः- अवग्रहाद् बहिः स्थितो विनेयोऽर्द्धावनतकायः करद्वयगृहीतरजोहरणो वन्दनायोद्यत एवमाह- इच्छाम्यभिलाषामि हे क्षमाश्रमण। वन्दितुं नमस्कर्तुं, भवन्तमिति गम्यते। यापनीयया यावत्शक्त्या नैषिधिक्या प्राणातिपातादिनिवृत्तया तया, शरीरेणेत्यर्थः। अत्रान्तरे गुरुर्व्याक्षेपादियुक्तः त्रिविधेनेति भणति। ततः शिष्यः संक्षेपवन्दनं करोति, व्याक्षेपादिविकलस्तु 'छन्देणं ति भणति'। ततो विनेयस्तत्रस्य एवमाहअनुजानीत अनुज्ञां प्रयच्छत, ममेत्यात्मनिर्देशिकम्। मितश्चासाववग्रहश्चेति मितावग्रहस्तं चतुर्दिक्विहाचार्यस्यात्मप्रमाणं क्षेत्रमवग्रहस्तमनुज्ञां विहाय प्रवेष्टुं न कल्पते। ततो गुरुर्भणति-अनुजानामि। ततः शिष्यो नैषेधिक्या प्रविश्य गुरुपादान्तिकं निधाय तत्र रजोहरणं तल्ललाटं च कराभ्यां संस्पृशन्निदं भणति-अधस्तात् कायः अधः कायः पदलक्षणः, तमधः- कायं प्रतिकायेन निजदेहेन संस्पर्शः कायसंस्पर्शः, तं करोम्येत-च्चानुजानीत, तथा क्षमणीयः, सह्यो भवताम्। अधुना क्रमः देहग्लानिरूपः, तथा अल्पं स्तोकं क्लान्त क्रमो येषां तेऽल्पक्लान्तास्तेषामल्पक्लान्तानां बहु च तत् शुभं च बहुशुभं, तेन बहुशुभेन, प्रभूतसुखेनेत्यर्थः। भवतां दिवसो व्यतिक्रान्तः, युष्माकमहर्गत-मित्यर्थः। अत्रान्तरे गुरुर्भणति-तथेति, यथा भवान् ब्रवीत। पुनराह विनेयः- यात्रा तपोनियमादिलक्षणा, क्षायिकोपशमिकभावलक्षणा वा उत्सर्पति भवताम्। अत्रान्तरे गुरुर्भणतियुष्माकमपि वर्त्तते। मम तावदुत्सर्पते, भवतोऽप्युत्सर्पत इत्यर्थः। पुनरप्याह विनेयः- यापनीयं च इन्द्रियनोइन्द्रियोपशमादिना प्रकारेण भवतां, शरीरमिति गम्यते। अत्रान्तरे गुरुराहएवं आमं, यापनीयमित्यर्थः। पुनराह विनेयः- क्षमयामि मर्षयामि। क्षमाश्रमणेति पूर्ववत्। दिवसेन निवृत्तो दैवसिकस्तं व्यतिक्रममपराधम्, दैवसिकग्रहणं रात्रिकाद्युप लक्ष-णार्थम्। अत्रान्तरे गुरुर्भणति-अहमपि क्षामयामि दैवसिकं व्यतिक्रमं, प्रमादोद्भवमित्यर्थः। ततो विनेयः प्रणम्यैवं क्षामयित्वा लोच-नार्हेण च प्रमिक्रमणार्हेण प्रायीश्चत्तेनात्मानं शोधयन् अत्रान्तरे अकरणतयोत्थायाऽवग्रहान्निर्गच्छन्यथा योव्यवस्थितस्तया क्रियया-प्रदर्शयन्नावशिक्येत्यादिकं दण्डकसूत्रं भणति। अवश्यं कर्तव्यैश्चरण-करणयोगैर्निर्वृत्ता आवश्यकी, तया आसेवनाद्वारेण हेतुभूतया, यदसाध्वनुष्ठितं तस्य प्रतिक्रमामि निवर्तयामीत्यर्थः। इत्थं सामान्येनाभिधाय विशेषेण भणतिक्षमाश्रमणानां व्यावर्णित स्वरूपाणां संबन्धितया दैवसिक्या दिवसेन निर्वृत्तया ज्ञानाद्याशातना तया, किं विशिष्टया ? त्रयस्त्रिंशदन्यतरया। आशातनाश्च यथा दशासु तथा द्रष्टव्याः। अत्रैव वाऽनन्तराध्ययने तथा द्रष्टव्या- ''ताओ पुण तेत्तीसं पि आसायणाओ इमासु चउसु मूलासायणासु समोयरंति। तं जहा-दव्वासायणाए दव्वासायणाराइणिएण समं भुंजंतो मणुन्नं असणं पाणं अप्पणो भुंजति, एवमुवहिसंथारगादिसु वि, भासा खेत्तासायणा आसन्नं गंता भवति राइणियस्स। काला-सायणा राओ वा वियाले वा वाहरमाणस्स तुसिणीए चिट्ठइ। भावासायणा आयरियं तुमं ति वत्ता भवंति। एवं तेत्तीसंपि चउसु दव्वादिसु समोयरंति। यत् किञ्चिन्मिथ्याया यत्किञ्चिदाश्रित्य मिथ्यया, मनसा दुष्कृता मनोदुष्कृता, तया, प्रद्वेषनिमित्तयेत्यर्थः। वाग्दुष्कृतया असाधुवचननिमित्तया, कायदुष्कृतया आसन्न-गमनादिनिमित्तया, क्रोधयेति क्रोधवत्येति प्राप्ते अशदिराकृति गणत्वाद् अच्प्रत्ययान्तत्वाक्रोधया क्रोधानुगतया, मानया मानानुगतया, मायया मायानुगतया, लोभया लोभानुगतया। अयं भावार्थः-क्रोधानुगतेन या काचिद्विनयभ्रंशादिलक्षणा आशातना कृता तयेतिः, एवं दैवसिकी भणिता। अधुनेह भवान्यभवगतातीतानागतकालसंग्रहार्थ माहसर्व कालेनातीतादिना निर्वृत्ता सार्वकालिकी, तया। सर्वे एव मिथ्योपचाराः मातृस्थानगर्भाः क्रियाविशेषा यस्यामिति समासः, तया, सर्वधर्म्मा अष्टौ प्रवचन-मातरः तासामतिक्रमणं लङ्घनं यस्यसः सा सर्वधर्मातिक्रमणा, तया, एवंभूतया अशातनया इति निगमयति, यो मयाऽति- चारः अपराधः कृतो निर्वर्तितः, तस्यातिचारस्य हे क्षमाश्रमण। युष्मत्साक्षिकं प्रतिक्रम्य पुनः करणतया निर्वर्तयामीत्यर्थः। तथा दुष्टकर्मकारिणं निन्दाम्यात्मानं प्रशान्तेन भवोद्विग्नेन चेतसा, तथा गर्हाम्यात्मानं युष्मत्साक्षिकं, व्युत्सृजाम्यात्मानं दुष्टकर्मकारिणम्। तदनुमतित्यागेन सामायिकानुसारेण च निन्दादिपदार्थो न्यक्षेण वक्तव्यः। एवं क्षामयित्वा पुनस्तत्रस्थ एवा-र्द्धावनतकायः एवं भणति-''इच्छामि खमासमणो''। इत्यादि सर्वं द्रष्टव्यमित्येवम् नवरमयं विशेषः- ''खामेमि खमासमणो।'' इत्यादि सर्वं सूत्रभावशिक्या विरहितं तत्पादपतित एव भ णति। शिष्यासंमोहार्थं सूत्रस्पर्शिकगाथां स्वस्थाने

खलु अनादृत्य लेशतस्तदर्थकथनयैव पदार्थो निदर्शितः। आव० ३ अ०। इत्थं सूत्रे प्रायशो वन्दमानस्य विधिरुक्तः, निर्युक्तिकृताऽपि स एव व्याख्यातः। अधुना वन्द्यगतविधिप्रतिपादनायाऽऽह निर्युक्तिकारः-

छंदेणऽणुजाणामी, तह त्ति तुज्झं पि वट्टए एवं।
अहमवि खामेमि तुमे, वयाणाइं वंदणरिहस्स ॥ १८७ ॥

छन्देन अनुजानामि, तथेति युष्माकमपि वर्तते। एवमहमपि क्षामयामि त्वां, वचनानि वन्दनार्हस्य वन्दनयोग्यस्य। विषयविभागस्तु पदार्थनिरूपणायां निदर्शित एवेति गाथार्थः ॥ १८६ ॥

तेण वि पडिच्छियव्वं, गारवरहिएण सुद्धहियएण।
किइकम्मकारगस्स, संवेगं संजणंतेणं ॥ १८८ ॥

तेन वन्दनार्हेण एवं प्रत्येष्टव्यम्, अपिशब्दस्यैवकारार्थत्वात्। ऋद्ध्यादिगौरवरहितेन शुद्धहृदयेन कषायविप्रमुक्तेन कृतिकर्मकारकस्य वन्दनकर्तुः संवेगं जनयताः, संवेगः शरीरादिपृथग्भावो मोक्षौत्सुक्यं चेति गाथार्थः ॥१८८॥ इत्थं सूत्रस्पर्शनिर्युक्त्या व्याख्यातं सूत्रम्।

सांप्रतं चालनासूत्रानुपपत्तिचोदना, तथाचाह-

आवत्ताइसु जुगवं, इह भणिओ कायवायवावारो।
दुन्हेगया य किरिआ, जओ निसिद्धा अओ जुत्तो ॥१८९॥

इहावर्त्तादिषु, आदिशब्दादावश्यक्यादिपरिग्रहः। युगपदेकदा, भणितः उक्तः, कायवाव्यापारः, तथा च सत्येकदा क्रियाद्वयप्रसङ्गः। द्वयोरेकदा च क्रिया यतो निषिद्धा, अन्यत्रोपयोगद्वयाभावात्, अतो युक्तः स व्यापार इति।

ततश्च सूत्रं पठित्वा कायव्यापारः कार्य इत्युच्यते-

भिन्नविसयं निसिद्धं, किरियादुगमेगया न एगम्मि।
जोगतिगस्स विभंगिअ, सुत्ते किरिया जओ भणिया ॥१९०॥

इह भिन्नविषयं विलक्षणवस्तुविषयं क्रियाद्वयं निषिद्धम् एकदा यथोत्प्रक्षते सूत्रार्थं नयादिगोचरमटति च। तत्रोत्प्रेक्षायां यदोपयुक्तो, न तदाऽटने, यदा चाटने, न तदोत्प्रक्षायामिति कालस्य सूक्ष्मत्वादविलक्षणविषयानुयोगत्रयक्रियाऽप्यविरुद्धा। यथोक्तम्-''भंगियसुयं गुणंतो, वट्टइ तिविहे वि ज्झाणम्मि '' इत्यादि गतं प्रत्यवस्थानम्।

सीसो पढमपवेसे, वंदिउमावस्सियाऐं पडिकमिउं।
वीअपवेसम्मि पुणो, वंदइ किं चालणा अहवा ॥१९१॥
जह दूओ रायाणं, नमिउं कज्जं निवेइउं पच्छा।
वीसाज्जिओ वि वंदिअ, गच्छति साहू वि एमेव ॥१९२॥

इदं प्रत्यवस्थानम्, उक्तमानुषङ्गिकम्। सांप्रतं कृतिकर्मविधिसंसेवनाफलं समाप्तावुपदर्शयन्नाह-

एअं किइकम्मविहिं, जुंजंता चरणकरणमाउत्ता।
साहू खवंति कम्मं, अणेगभवसंचिअमणंतं ॥१९३॥

एवमन्तरदर्शितं, कृतिकर्मविधिं वन्दनविधिं, युञ्जानाश्चरणकरणोपयुक्ताः साधवः क्षपयन्ति कर्म अनेकभवसंचितं, प्रभूतभवोपात्तमित्यर्थः। कियत् ? अनन्तमिति गाथार्थः। उक्तोऽनुगमः। नयाः सामायिकनिर्युक्ताविव द्रष्टव्या इति। आव० ३ अ०। ध० २०। कार्यकारणे, भ० १४ श० ३ उ०।

किइकम्मविहिण्णु त्रि०(कृतिकर्मविधिज्ञ) वन्दनाकारादिप्रकारज्ञे, आव० १ अ०।

किइभोय पुं०(कृतिभोज) द्रव्यानुयोगतर्कणाकारके, द्रव्या० १ अ०।

किं त्रि०(किम्) कु शब्दे, वा डिमुः। परिप्रश्ने, नि० चू० १ उ०। सूत्र०। स्था०। नं०। प्रश्न०। ज्ञा०। विशे०। आचा०। ''से किं तं जीवाजीवाभिगमे '' ? किंशब्दः परिप्रश्ने, स चाभिधेययथावत्स्वरूपनिर्ज्ञानि नपुंसकलिङ्गितया निर्दिश्यते। तथा चोत्कम-अव्यक्तगुणसन्दोहे नपुंसकलिङ्गं प्रयुज्यते, ततः पुनरर्थापेक्षया यथाऽभिधेयमभिसंबध्यते इति। जी० १ प्रति०। '' किणा लद्धा किणा पत्ता किणा अभिसमण्णागया'' (किणा पत्तेति) केन हेतुना प्राप्ता उपार्जिता सती प्राप्तिमुपगता। विपा० १ श्री० ५ अ०। कारणैः प्रयोजनैः (किं ते त्ति) किं तत्। प्रश्न० १ आश्र० द्वार। '' किं जीवो तप्परिणतो पुव्वपडिवन्नओ उ जीवा- णं '' किंशब्दः क्षेपप्रश्नपुंसकव्याकरणेषु, तत्रेह प्रश्ने, अयं च प्राकृतेऽलिङ्गः सर्वादिर्नपुंसकनिर्देशः पूर्वलिङ्गैः सह यथायोगमभिसंबध्यते। आ० म० द्वि०। आ० चू०। किमित्यतिशयार्थे, नि० चू० १३ उ०। **'' मांसादेर्वा '' ॥ ६ । १ । ५८ ॥** इत्यनुस्वारस्य वा लुक्। ' किं करेमि ' ' किं करेमि ' प्रा० १ पाद। जिज्ञासिते, वितर्कविषये, कुत्सायां, वितर्के, कुत्सिते, सादृश्ये, करणे, इषदर्थे च। भाव०।

किंकत्तव्वयाभाव पुं०(किंकर्त्तव्यताभाव) मूढत्वे, आचा० २ श्रु० २ अ० २ उ०।

किंकम्म पुं०(किङ्कर्मन्) स्वनामख्याते गृहपतौ, (तद्वक्तव्यता अन्तकृद्दशासुषष्ठे वर्गे द्वितीयेऽध्ययने सूचिता, तत्रैव प्रथमाध्ययनोक्तमकायीगमेन नेतव्या) ''दोच्चस्स उक्खेवओ किंकम्मे वि एवं जाव विपुले सिद्धे'' अंत० ७ वर्ग। स्था०।

किंकर त्रि०(किङ्कर) किञ्चित् करोति अच्। आदेशसमाप्तौ पुनः प्रश्नकारिणिः, प्रश्न० ५ आश्र० द्वार। प्रतिकर्म प्रभोः पृच्छापूर्वकारिणि, औ०। भ०। रा०। प्रश्न०। किंकुर्वाणे कर्मकरपुरुषे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। स्त्रियां तु टाप्। किंकरस्य पत्नी ङीष्, किङ्करी। दासपद्म्याम्, स्त्री०। किङ्करस्य गोत्रापत्यम् मडा० फक् कैङ्करायणः। तद्गोत्रापत्ये, पुं०। स्त्री०। वाच०।

किंकिअं (देशी) धवले, दे० ना० ५ वर्ग।

किंकिडी (देशी) सर्पे, दे० ना० २ वर्ग।

किंगिरिड पुं०(किङ्किरिट) त्रीन्द्रियजीवभेदे, प्रज्ञा०१ पद।

किंच अव्य०(किञ्च) किं च च च द्वन्द्वः। आरम्भे, समुच्चये, साकल्ये, संभावनायां, अवान्तरे च। वाच०। अभ्युच्चये, पञ्चा० ३ विव०। ''किंचेत्थ अत्थि निज्जुत्ती, विपयमहरिभद्दसूरिवय-णाउ।'' जीवा० ६ अधि०।

किंचि अव्य०(किञ्चित्) किम् चिच्च। असाकल्ये, वाच०। स्तोके, उत्त० २ अ०। स्वल्पतरे, नि० चू० १ उ०। रा०। किंचि बहुयं च थोवं च। प्रश्न० ३ आश्र० द्वार। '' किंचि लब्भा पावेउं '' किञ्चिदल्पमपि लभ्या योग्या प्रापयितुम। प्रश्न० ३ सम्ब० द्वार। अनिर्दिष्टे, किंचि दव्वं मणिमुत्तसिलप्प

वालकंसदूसरयवरकणगरयणमादिपडियं''। किञ्चिदनिर्दिष्टस्वरूपं द्रव्यम्। प्रश्न० ३ सम्ब० द्वार। अस्य पदद्वयत्वमते अकिञ्चित्कर इत्यादौ ''सह सुपा'' । २ । १ । ४ । इति समास इति बोध्यम्। इदंतया निर्देष्टमशक्यत्वमेव किञ्चित्वम्। वाच०।

किंजक्क पुं०(किञ्जल्क) किञ्चित् जलति। जल अपवारणे, कः, तस्य नेत्वम्। पुष्पकेशरे, पुष्परेणौ, नागकेशरे च। पद्ममध्यस्थे केशाकारे पदार्थे, वाच०। कुसुमासवलोला किञ्जल्कलम्पटा। ज्ञा० १ श्रु० १ अ०।

किंजक्खा (देशी) शिरीषे, दे० ना० २ वर्ग।

किंजोणिय त्रि०(किंयोनिक) का योनिः उत्पत्तिस्थानं येषां ते किंयोनिकाः। तेषां का योनिरितिप्रश्नविषयेषु, भ० १ श० ६ उ०।

किंणो (देशी) प्रश्ने, दे० ना० २ वर्ग।

किंतु अव्य०(किन्तु) पूर्ववाक्यसंकोचज्ञापने, प्रागुक्तविरुद्धार्थे, किंपुनरित्यर्थे च। वाच०। अभ्युपगमपूर्वकविशेषद्योतने, स्या०।

किंथुग्घ न०(किंस्तुघ्न) बबादिकरणेष्वन्यतमे, आ० म० द्वि०। तच्च शुक्लपक्षप्रतिपदि भवति। विशे०। जं०। उत्त०। आ० चू०।

किंधरो (देशी) लघुमत्स्थे, दे० ना० २ वर्ग।

किंपओ (देशी) कृपणे, दे० ना० २ वर्ग।

किंपज्जवसिय त्रि०(किंपर्य्यवसित) कस्मिन् स्थाने निष्ठां गते, प्रज्ञा० ११ पद।

किंपत्तिय न०(किंप्रत्यय) किं कारणमाश्रित्येत्यर्थे, '' किंपत्तिय णं भंते। असुरकुमारा देवा वुड्ढिकायं पकरेंति ''। भ० १४ श० ५ उ०।

किंपरिणाम त्रि०(किम्परिणाम) किमाहारतिं सत् परिणाम-यतीति प्रश्नविषये, भ० १४ श० ६ उ०।

किंपहव त्रि०(किंप्रभव) कस्मात्प्रभव उत्पादो यस्य तत्। सत्येऽपि मौले कारणे पुनः कस्मात् कारणान्तरादुत्पद्यत इति प्रश्नविषये, प्रज्ञा० ११ पद।

किंपाग न०(किम्पाक) कुत्सितः पाको यस्य। महाकाल-लतायाम्, वाच०। किंपागफलमिव मुहमहुराओ किम्पाफलमिव मुखे आदौ मधुरा महाकामरसोत्पादिकाः परं पश्चाद्विपाकदारुणाः, ब्रह्मदत्तचक्रिवत् (स्त्रियः) नं०।

किंपागफलोवम त्रि०(किम्पाकफलोपम) अपुषीफलनिबन्धनकटौ, आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ०।

किंपुरिस पुं०(किम्पुरुष) रत्नप्रभायाः उपरि योजनसहस्र वर्तिव्यन्तरनिकायाष्टकमध्यगतषष्ठनिकायरूपे व्यन्तरविशेषे, जं० १ वक्ष०। स०। भ०। अनु०। ते च दश। प्रज्ञा० १ पद। औ०। स्था०। सत्यपुरुषो महापुरुषश्चैषामिन्द्रौ। भ० ३ श० ८ अ०। प्रज्ञा०। बलिनो वैरोचनेन्द्रस्य रथानीकाधिपतौ, स्था० ५ ठा० २ उ०। देवगायके, स च अश्वाकारजघनः नराकारमुखः। वाच०।

किंपुरिसकंठ पुं०(किम्पुरुषकण्ठ) किम्पुरुषकण्ठप्रमाणे रत्न-विशेषे, '' अट्ठसयं किंपुरिसकंठाणं '' रा०। जी०।

किंपुरिससंघाड पुं०(किम्पुरुषसंघाट) किंपुरुषयुग्मे, संघाटश-ब्दो युग्मवाची। जं० १ वक्ष०।

किंपुरिसुत्तम पुं०(किम्पुरुषोत्तम) किन्नरभेदे, प्रज्ञा० १ पद।

किंभय त्रि०(किंभय) कस्माद् भयमेषां ते किम्भयाः। कुतो विभ्यत्सु, स्था०।

अज्जो त्ति समणे भगवं महावीरे गोयमाई समणे निग्गंथे आमंतित्ता एवं वयासी-किंभया पाणा समणाउसो। गोयमाई समणा निग्गंथा समणं भगवं महावीरं उवसंकमंति, उवसंकमित्ता वंदंति नमंसंति, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी-णो खलु वयं देवाणुप्पिया। एयमट्ठं जाणामो वा, पासामो वा। तं जहा-जइ णं देवाणुप्पिया ! एयमट्ठं नो गिलायंति परिकहेत्तए तमिच्छामो णं देवाणुप्पियाणं अंतिए एयमट्ठं जाणित्तए अज्जो त्ति समणे भगवं महावीरे गोयमाई समणे निग्गंथे आमंतित्ता एवं वयासी-दुक्खभया पाणा समणाउसो। से णं भंते। दुक्खे केण कडे ?, जीवोण कडे पमाएणं, से णं भंते। दुक्खे कहं भेइज्जंति ? अप्पमाएणं।

(समणाउसो त्ति) हे श्रमणाः। हे आयुष्मन्तः। इति गौतमादीनामेवामन्त्रणमिति। अयं च भगवतः प्रश्नः शिष्याणां व्युत्पादनार्थ एवानेनापृच्छतोऽपि शिष्यस्य हिताय तत्वमास्येयमिति ज्ञापयति। उच्यते च-

'' कत्थइ पुच्छइ सीसो, कहिं चऽपुट्ठा वयंति आयरिया।
सीसाणं तु हियट्ठा, विउलतरागं तुऽपुच्छाए '' ॥१॥

ततश्च (उवसंकमंति त्ति) उपसंक्रामन्ति उपगच्छन्ति तस्य समीपवर्तिनो भवन्ति। इह च तत्कालापेक्षया क्रियाया वर्तमानत्वमिति वर्त्तमाननिर्देशो न दुष्टः। उपसंक्रम्य वन्दन्ते स्तुत्या, नमस्यन्ति प्रमाणतः, एवमनेन प्रकारेण (वयासि त्ति) वान्दसत्वा-द्बहुवचनार्थे एकवचनमिति। अवादिषुरुक्तवन्तः। नोजानीमो विशेषतो, नो पश्यामः सामान्यतः। वाशब्दौ विकल्पार्थौ, तदिति तस्मादेतमर्थं किंभयाः प्राणा इत्येवं लक्षणं। (नोगिलायंति त्ति) न ग्लायन्ति न श्राम्यन्ति परिकथयितुं परिकथनेन (तं ति) ततो (दुक्खभय त्ति) दुःखान्मरणादिरूपाद्भयमेषामिति दुःखभयाः (से णं ति) तद् दुःखं (जीवेण कडे त्ति) दुःखकारणकर्मकरणाद् जीवेन कृतमित्युच्यते। कथमित्याह (पमाएणं ति) प्रमादेनाज्ञानादिना बन्धहेतुना कारणभूतेनेति।

उक्तं च-

''पमायो य मुणिंदेहिं, भणियो अट्ठभेयओ।
अन्नाणं संसओ चेव, मिच्छानाणं तहेव य ॥ १ ॥
रागो दोसो मइब्भंसो, धम्मम्मि य अणायरो।
जोगाणं दुप्पणीहाणं, अट्ठहा वज्जियव्वओ '' ॥ २ ॥

तच्च भेद्यते क्षिप्यते, अप्रमादेन बन्धहेतुप्रतिपक्षभूतत्वादिति। अस्य च सूत्रस्य '' दुक्खभया पाणा १ जीवेणं कडे दुक्खे पमाएणं २ अपमाएणं भेइज्जइ '' इत्येवंरूपप्रश्नोत्तरत्रयोपेतत्वात् त्रिस्थान-कावतारो दृष्टव्य इति, जीवेन कृतं दुःखमित्युक्तम्। स्था० ३ ठा० २ उ०।

किंमज्झ त्रि०(किम्मध्य) किं मध्यं यस्य तत् किम्मध्यम्। किं शब्दस्याक्षेपार्थत्वात् असारे, प्रश्न० ४ सम्ब० द्वार।

किंसंठिय त्रि०(किंसंस्थित) किं संस्थितं संस्थानं संस्थितिर्यस्याः सा किं संस्थिता। चं० प्र० ४ पाहु०। केन कारणेन संस्थितार्या कस्येव संस्थानमस्या इति भावः। प्रज्ञा० ११ पद।

किंसुय-पुं०(किंशुक) किञ्चित् शुक इव शुकतुण्डाभपुष्पत्वात् पलाशे, वाच०। स्था०। अनु०। रा०। औ०। पलाशकुसुमे, ज्ञा०१ श्रु० ६ अ०।

किंसुयफुल्ल-न०(किंशुकपुष्प) पलाशकुसुमे, स्था० ८ ठा०।

किंसुयफुल्लसमाण-त्रि०(किंशुकपुष्पसमान) रक्ततया पलाशकुसुमसमाने, ''किंसुयफुल्लसमाणाणि उक्कासहस्साइं विणिम्मुयमाइं'' स्था० ८ वा०।

किंसुयवण-न०(किंशुकवन) पलाशवने, रा०।

किच्चंत-त्रि०(कृत्यमान) छिद्यमाने, पीड्यमाने च। सूत्र० १ श्रु० ११ अ०।

किच्च-त्रि०(कृत्य) उचितकार्ये, उत्त० १ अ०। कार्य्ये, तं०। कर्त्तव्ये, सूत्र० २ श्रु० ६ अ०। तं०। नि० चू०। प्रयोजने, नित्यकरणीये च। ''किच्चाई करणिज्जाइं''। उचितानुष्ठाने, उत्त० १ अ०। अनुष्ठाने, आचा० २ श्रु० ५ अ० २ उ०। सूत्र०। विहितानुष्ठाने, पं० व० ४ द्वार। कर्त्तव्यानि, प्रयोजनानीत्यर्थः। अथवा कृत्यानि नैत्यिकानि, करणीयानि कादाचित्कानि। ज्ञा० ३ अ०। कृत्यं करणीयं पचनपाचनकण्डनपेषणादिनो भूतोपमर्दकारी व्यापारः। सूत्र० १ श्रु०१ अ० ४ उ०। ''पडिसिद्धाणं करणे किच्चाणमकरणे'' कृत्यानामासेवनीयानां कालस्वाध्यायादीनां योगादीनामकरणेऽनिष्पादनेऽनासेवने। आव० ४ अ०। कृतिं वन्दकं तदर्हति कृत्याः, दण्डादित्वाद् घप्रत्ययः। अर्थात् आचार्य्यादिषु, उत्त० १ अ०। ''न पिट्ठओ न पुरओ नेव किच्चाण पिट्ठओ'' उत्त० ३ अ०। व्याकरणप्रसिद्धे पाणिन्यादिपरिभाषिते तव्यादौ प्यत्-क्यप्त व्यानीयर्यत्केलिमाख्ये प्रत्यये, वाच०। कृत्यं कर्त्तव्यं सावद्यानुष्ठानं, तत्प्रधानः कृत्यः। गृहस्थे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ०।

किच्चकर-पुं०(कृत्यकर) ग्रामकृत्ये नियुक्ते ग्रामव्यापके, नि० चू० २ अ०। बृ०।

किच्चा-स्त्री०(कृत्या)कृ क्यम् टाप्। **''इत्कृपादौ''। ८। १। १५८।** इति ऋत इत्वम्। प्रा० १ पाद। व्यभिचारक्रियाजन्येऽभिचारोद्देश्यनाशके देवमूर्त्तिभेदे च। सा च वैदिकाद्यभिचारक्रियाजन्या अदृष्टविशेषनिर्वर्त्त्या देवादिमूर्त्तिरूपतयोत्पद्य अभिचारोद्देश्यं पुरुषं निहत्य नश्यतीति अथर्ववेदे प्रसिद्धम्। वाच०।

***कृत्वा**-स्त्री०। उपादायेत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०। विधायेत्यर्थे, हिंसित्वेत्यर्थे च। वाच०।

किच्ची-स्त्री०(कृति) कृत्यते कृत् कर्मणि क्तिन् **''कृत्तिचत्वरे चः''। ८। २। १२।** इति संयुक्तस्य चः। **''अनादौशेषादेशयो-र्द्वित्वम्। ८। २। ८९।** इत्यादेशस्य चस्य द्वित्वम्। प्रा० ५ पाद। मृगादिचर्मणि, कृत्तिवाससि, त्वचि, भूर्जपत्रे, कृतिकानक्षत्रे च। गृहे, वाच०।

किच्चोवएसग-पुं०[कृत्योपदेशक(ग)] कृत्य करणीयं पचनपाचनकण्डनपेषणादिको भूतोपमर्दव्यापारस्तस्योपदेशः, तं गच्छन्तीति कृत्योपदेशगाः, कृत्योपदेशका वा। गृहिकृत्योपदे ष्टृषु, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ०।

किच्चोवएसिय-पुं०(कृत्योपदेशिक) कृत्यं कर्त्तव्यं कर्त्तव्यानुष्ठानं तत्प्रधानाः कृत्या गृहस्थाः, तेषामुपदेशः संरम्भसमार म्भारम्भरूपः, स विद्यते येषां ते कृत्योपदेशिकाः। सावद्यगृहिव्या-पारे प्रवर्त्तकेषु, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ०। ''हिच्चा णं पुव्वसंजोगं, सिया किच्चोवएस (सि) गा।'' सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ०।

किच्छ-पुं०न०(कृच्छ्र) कृत रक्, बोऽन्तादेशः **''इत्कृपादौ''। ८। १। १२८।** इति ऋत इत्वम्। प्रा० १ पाद। वाच०। स्वनामख्याते व्रते, द्वा०।

संतापनादिभेदेन, कृच्छ्रमुक्तमनेकधा।
अकृच्छ्रादतिकृच्छ्रेषु, हन्त। संतारणं परम् ॥१९॥

(संतापनादीति) संतापनादिभेदेन कृच्छ्रं कृच्छ्र नामकं तपोऽनेकधोक्तम्, आदिना पादसंपूर्णकृच्छ्रग्रहः। तत्र संतापनकृच्छ्रंयथा-'' त्र्यहमुष्णं पिबेदम्बु, त्र्यहमुष्णं घृतं। पिबेत्। त्र्यहमुष्णं पिबेन्मूत्रं, त्र्यहमुष्णं पिबेत्पयः'' इति। पादकृच्छ्रं त्वेतत्-'' एकभक्तेन नक्तेन, तथैवायाचितेन च। उपवासेन चैकेन, पादकृच्छ्रं विधीयते'' इति। सम्पूर्णकृच्छ्रं पुनरेतदेव चतुर्गुणितमिति। अकृच्छ्रादकष्टादतिकृच्छ्रेषु नरकादिपातफलेष्वपराधेषु, हन्तेति प्रत्यवधारणे, संतारणं संतर-णहेतः परं प्रकृष्टं प्राणिनाम्॥१९॥ द्वा० १२ द्वा०। यो० बिं०। कष्टे, दुःखे, कष्टसाध्ये, कष्टयुक्ते च। त्रि०। वाच०। ''परं किच्छेण जनो सो अतीव विसमो'' आ० म० द्वि०। पापे, न० मूत्रकृच्छ्र रोगे, पु०। कृच्छ्रं वेदयते सुखा० क्यङ्। पापचिकीर्षायाम्, कृच्छ्राय पापं चिकीर्षति, सुखा० अस्त्यर्थे वामतुप्, मस्य वः, कृच्छ्रवत् पक्षे इनिः। कृच्छ्रिन् तिद्युक्ते, त्रि०। वाच०।

किच्छप्पाणगय-त्रि०(कृच्छ्रप्राणगत) कष्टे पतितप्राणे, ''किच्छप्पाणगए दिसो दिसिं पडिसेहित्था।'' भ० ७ श० ९ उ०।

किच्छलब्भ-त्रि०(कृच्छ्रलभ्य) दुर्लभे दुष्प्राप्ते, स्था० ६ उ०।

किच्छवित्ति-स्त्री०(कृच्छ्रवृत्ति) दुर्गमे, दुःखेन गमने, दुःखेन गम्यमाने च। स्था० ५ ठा० १ उ०।

किज्जंत-त्रि०(क्रियमाण) मूल्येन गृह्यमाणे, प्रश्न० २ आश्र० द्वार०।

किट्ट-न०(किट्ट) किट् क्ते इडभावः। धातूनां मले, तैलादधोभाग-स्थे मले च। वाच०। लोहादिमले, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ०।

किट्टइत्ता-अव्य०(कीर्तयित्वा) गुरुं प्रति विनयपूर्वकं मया भवद्-भ्यः सकाशात् सम्यक् प्रकारेण सम्पूर्णमधीतमिति कथनेन कीर्त्तनं कृत्वेत्यर्थे, ''किट्टइत्ता सोहस्सा आराहित्ता'' उत्त० २९ अ०। आविर्भावयित्वेत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० १६ अ०। यथावस्थितान् भावान् प्रतिपादयित्वेत्यर्थे, आचा० २ श्रु० ६ अ० २ उ०।

किट्टण-न०(कीर्तन) कृतः कीर्त्तादेशः। सौत्र० कीर्त० वा, भावे ल्यूट्। वाच०। कीर्त्तनं नाम या प्रथमव्रतरूपा अहिंसा, सा भगवती सदेवमनुजासुरस्य लोकस्य पूज्या द्वीपस्त्राणं गतिः प्रतिष्ठेत्यादि। एवं सर्वेषामपि प्रश्नव्याकरणाङ्गोक्तान् गुणान् कीर्त्तयति, बृ० ३ उ०। सूत्रार्थकथने, बृ० ३ उ०।

किट्टि स्त्री०(किट्टि) एकोत्तरां वृद्धिं च्यावयित्वाऽनन्तगुण हीनैकैकवर्गणास्थापनेन योगस्याल्पीकरणे, आ० म० द्वि०। ''अप्पुव्वविसोहीए अणुभागोणूणविभयणं किट्ट'' अपूर्वया विशुद्धचाऽनुभागस्योनस्योनस्य एकोत्तरवृद्धिच्यावनेन हीनस्य हीनतरस्य यद् विभजनं सा किट्टिः। किमुक्तं भवति ?- पूर्वस्पर्द्धकेभ्योऽपूर्वस्पर्द्धकेभ्यश्च वर्गणा गृहीत्वा तासामनन्तगुणहीनरसतामापाद्य बृहदन्तरालतया यद् व्यवस्थानं यथा यासां वर्गणानामसंकल्पनया अनुभागानां शतं त्र्युत्तरं द्युत्तरमेकोत्तरं चाऽसीत्, तासामनुभागानां यथाक्रमं पञ्चविंशतिः पञ्चदशकं पञ्चकमिति ताः किट्टयः। पं० सं० १५ द्वार। कर्म०।

किट्टिघोस न०(कीर्तिघोष) स्वनामख्याते विमानभेदे, स० ६ सम०।

किट्टित्ता अव्य०(कीर्तयित्वा) अन्येभ्यः उपदिश्येत्यर्थे, कल्प० ६ क्षण।

किट्टिय त्रि०(कीर्तित) कृतः कीर्तदेशे क्तः। व्यावर्णिते, सूत्र० २ श्रु० ६ अ०। कथिते, प्रतिपादिते च। सूत्र० २ श्रु० २ अ०। ''सत्त सत्त मियाणं भिक्खुपडिमा अहाकप्पं फासिया तीरिया किट्टिया जाव आराहिया भवइ'' कीर्तिता नामत इदं चेदं च कर्तव्यमस्यां तत्कृतं मयेत्येवमिति। स्था० १० उ०। कीर्तितापारणकदिनेऽयमयं चाभिग्रहकविशेषः कृत आसीदस्यां प्रतिमायां स चाराधित एवाधुना मुत्कलोऽहमिति गुरुसमक्षं कीर्तनात्। स्था० ७ ठा०। दशा०। आ० चू०।

किट्टिया स्त्री०(कीटिका) साधारणशरीरबादरवनस्पति- कायिकविशेषे, प्रज्ञा० १ पद। जी०। अनन्तजीवविशेषे, भ० ७ श० ५ उ०।

किट्टिस न०(किट्टिस) खलांशे, अरसांशे, अनु०। सूत्रभेदे, कर्णादीनां यदुद्धरितं किट्टिसं तन्निष्पन्नं सूत्रमपि किट्टिसम्, अथवा एतेषामेवोर्णादीनां द्विकादिसंयोगनिष्पन्नं सूत्रं किट्टिसम्, अथवा उक्तशेषपश्वादिजीवलोमनिष्पन्न किट्टिसम्। अनु०। विशे०। आ० म०।

किट्टिसिय पुं०(किट्टिसिक) भाण्डादौ, भ० ६ श० ३३ उ०। औ०।

किट्टीकय त्रि०(किट्टीकृत) श्लक्ष्णीकृते, प्रव० ८६ द्वार।

किट्ठ त्रि०(कृष्ट) कृष कर्मणि क्तः। हलविदारिते, पिं०। भावे न०। कर्षणे, ततः दृढा० भावे इमनिच्। ऋतोरः। कष्टिमन्। कृष्टत्वे, कर्षणे, पुं०। वाच०।

किडि पुं०स्त्री०(किरि) **''किरिभेरे रो डः''। ८। १। ८२।** इति रस्य डः। शूकरे, प्रा० १ पाद।

किडिकिडिया स्त्री०(किटिकिटिका) निर्मांसास्थिसंबन्धिनि उपवेशनादिक्रियासमुत्थे शब्दविशेषे, भ० २ श० १ उ०।

किडिकिडियाभूय त्रि०(किटिकिटिकाभूत) किटिकिटिकां भूतः प्राप्तो यः स किटिकिटिकाभूतः। कृशत्वादुपवेशनादि क्रियासमये शब्दायमानास्थिके, भ० २ श० १ उ०।

किडिभ पुं०(किटिभ) किटिरिव भाति कृष्णत्वात्। भा-कः। केशकीटे, सर्पदशनोपद्रवभेदे, न०। तल्लक्षणं तन्त्रोक्तं यथा-'' यत् स्रावि वृत्तं घनमुग्रकण्डु, तत् स्निग्धकृष्णं किटिभं वदन्ति '' वाच०। इत्युक्तलक्षणे क्षुद्रकुष्ठविशेषे, भ० ७ श० ६ उ०। ''किडिभं जंघासु कालं तं रसियं वहति'' नि० चू० १ उ०।

किडी स्त्री०(किटी) स्थविरश्राविकायाम्, बृ० २ उ०। शूकरे, पुं०। दे० ना० २ वर्ग।

किडुंत त्रि०(क्रीडत्) अन्तर्भूतकारितार्थत्वात् अन्यान् क्रीडयति, भ० १३ श० ६ उ०।

किड्डा स्त्री०(क्रीडा) क्रीड भावे अः। प्रमोदे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ०। हास्यकन्दर्पहस्तसंस्पर्शनालिङ्गनादिकायां वट्टकण्डुका-दिकायाम्, सूत्र० १ श्रु० ६ अ०। ''सहस्सं दप्पं रतिं किड्डं, सह भुत्तासणाणि य'' उत्त० १६ अ०। नि० चू०। सारिचतुरङ्गद्यूताद्यायां क्रियायाम्, जीत०। क्रीडाप्रधानायां दशायाम् बाला किड्डा मंदा इति दशदशास्वियं द्वितीया। तं०।

किड्डापरिहार पुं०(क्रीडापरिहार) सर्वद्यूतान्दोलकजलकुछुट युद्धादिवर्जने, दर्श०।

किड्डारतिपत्तिय न०(क्रीडारतिप्रत्यय) क्रीडायां रतिरानन्दः क्रीडारतिः, अथवा क्रीडा च रतिश्च क्रीडारती, सा, ते, वा, प्रत्ययो निमित्तं यत्र तत्क्रीडारतिप्रत्ययम्। भ० १३ श० ६ उ०। क्रीडारूपा रतिः, अथवा क्रीडा च खेलनं, रतिश्च निधुवनं क्रीडारती, सैव, त एव वा प्रत्ययः कारणं यत्र तत्क्रीडारतिप्रत्ययम्। क्रिडानिमित्तके, ''किं पत्तिय णं भंते। असुरकुमारा देवातमुकायं पकरेंति ? गोयमा ! किड्डारतिपत्तियं वा ''। भ० १४ श० ५ उ०।

किढि पुं(कृष्टि) कृष्यते इति कृष्टिः। संभोगाय प्रतिरिक्ते स्थाने नीयमाने, ''लिंगविवेगं काउं, सड्ढिकिढी पण्णवितो'' व्य०३ उ०। स्थविरे, बृ० १ उ०। आव०। आ० चू०।

किढिण न०(किठिन) वंशमये तापससंबन्धिनि भाजनविशेषे, भ० ७ श० ६ उ०।

किढिणपडिरूवग न०(किठिनप्रतिरूपक) किठिनं वंशमयस्तापससम्बन्धी भाजनविशेषः तत्प्रतिरूपके किठिनाकारे वस्तुनि, ''एगं महं आयसं किठिणपडिरूवगं विउव्वित्ता'' भ० ७ श० ६ उ०।

किढिणसंकाइस न०(किठिनसाङ्कायिक) किठिनं वंशमयस्तापसभाजनविशेषः, ततश्च तयोः साङ्कायिकं भारोद्वहनयश्चं किठिनसाङ्कायिकम्। कावटे, 'कावड' इति प्रसिद्धेऽर्थे, भ० ११ श० ६ उ०।

किढिय पुं(किठिक) स्थविरे, बृ० १ उ०।

किणं त्रि०(क्रीणत्) किञ्चित् क्रयेण गृण्हाति ''से किणं किणा-वेमाणे हणं घायमाणे'' सूत्र० २ श्रु० १ उ०।

किण पुं(किण) कण गतौ अच्, पृषो० अत इत्वम्। शुष्कव्रणे, मांसग्रन्थौ, घर्षणजे चिह्ने च। वाच०। आचा०।

किणण न०(क्रयणा) मूल्येन ग्रहणे, प्रश्न ५ सम्ब० द्वार।

किणवेमाण त्रि०(क्रापयत्) क्रयेण परं ग्राहयति, ''से किणं किणवेमाणे'' सूत्र० २ श्रु० १ अ०।

किणिय पुं०(किणिक) जुङ्गितजातिभेदे, ये वादित्राणि

परिणह्यन्ति, वध्यानां च नगरमध्ये नीयमानायां पुरतो वादयन्ति। व्य० ३ उ०। " किणियाउ वरत्ताओ वलिंति " पं० चू०।

कणित न० वाद्यभेदे, रा०।

किणो – अव्य०। प्रश्ने, **"किणो प्रश्न" । ८।२।२१६ ।** किणो इति प्रश्ने प्रयोक्तव्यम् । ''किणो धुवसि'' प्रा० २ पाद । कस्मात् , किं ङसि **"किमो डिणोडीसौ "। ८ । ३ । ६८ ।** इति ङसेर्डिणादेशः। कुत इत्यर्थे, प्रा० ३ पाद०।

किण्ण न०(किण्व) सुराबीजे,पापे च । वाच०। अनन्तजीविकवनस्पतिभेदे , आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ०।

कीर्ण त्रि० कृ – क्तः। क्षिप्ते, स्था० ६ ठा०। प्रश्न०। आच्छन्ने, निहिते, विक्षिप्ते, हिंसिते च। वाच०।

किण्णअ त्रि०(क्लिन्न) आर्द्र , प्रा० ४ पाद।

किण्णपुडसंठाणसंठिअ त्रि० (किण्वपुटसंस्थानसंस्थित) सुरागोणकरूपतण्मुलकिण्वभृतगोणीपुटद्वयसंस्थानसंस्थिते, उत्त० २ अ०।

किण्णपुत्तग पुं० (क्रीतपुत्रक) दत्तकराजपुत्रे , आ० चू० ४ अ०।

किण्णर पुं० (किन्नर) रत्नप्रभाया उपरितनयोजनसहस्रवर्ति–व्यन्तरनिकायाष्टकमध्यगतपञ्चमनिकायरूपे व्यन्तरविशेषे, जं० १ वक्ष०। कल्प०। भ० प्रज्ञा०। रा०। उत्त०। अनु०। ज्ञा०। 'किन्नरा' इत्यादि किन्नरा दशविधाः। तद्यथा–किन्नराः १ किंपुरुषाः २ किंपुरुषोत्तमा : ३ किन्नरोत्तमाः ४ हृदयंगमाः ५ रूपशालिनः ६ अनिन्दिना : ७ मनोरमा रतिप्रियाः ६रतिश्रेष्ठा १० चमरस्यासुरेन्द्रस्यासुरराजस्य रथानीकाधिपतौ, स्था० ४ ठा० ४ उ०। वाद्यविशेष० प्रश्न०४ आश्र० द्वार। श्रीधर्मस्य तीर्थकरस्य शासनयक्षे, स च त्रिमुखो यक्षः रक्तवर्णः कूर्मवाहनः षड्भूजो श्रीजपूरकगदाऽभययुक्तदक्षिणपाणित्रयो नकुलपदोऽक्षमालायुक्तपाणित्रयश्च। प्रव० २६ द्वार। उत्तराहाणां द्वीपकुमाराणामिन्द्रे, स्था० २ ठा० ३ उ०।

किण्णरकंठ न० (किन्नरकण्ठ) किन्नरकण्ठप्रमाणे रत्नविशेषे, जी० ३ प्रति०।

किण्णरगेज्जसवण न० (किन्नरगेयश्रवण) दिव्यगीतश्रवणे, षो० ११ विव०।

किण्णरसंघाम पुं० (किन्नरसङ्घाट) किन्नरयुग्मे, संघाटशब्दो युग्मवाची, जं० १ वक्ष०।

किण्हं –देशी–शोभमाने, दे० ना० २ वर्ग।

किण्ह पुं० (कृष्ण) वर्णविशेषे, प्रज्ञा० १ पद। औ०। रा०। ''एके किण्हे'' स्था० १ ठा० १ उ०। कृष्णवर्णयुक्ते, सू० प्र० २० पाहु०। कालवर्णे, औ०। प्रश्न०। कृष्णेनाष्टादशसहस्र–साधूनां वन्दनकानि दत्तानि, तानि किं लब्ध्या, अन्यथा वा?, यदि लब्ध्या तदा वीराशालविकस्यापि तथैव,अन्यथा वेति प्रश्ने, उत्तरम्–कृष्णेनसहस्रादिपरिवारसहितं यावच्चापुत्रादीनामग्रे–सराणां वन्दनकानि दत्तानि, तदनुयायिसमस्तपरिवारस्यापि तानि समागतान्येव, ततो मनसा त्वष्टादशसहस्रसाधूनां दत्तान्येव, यदीत्थं न कथ्यते तदा वेला न प्राप्नोति, यतो दिनमानं तदा महन्नाभूत, तथा कृष्णस्यापि वन्दनकदानलब्धिर्ज्ञातास्ति, तस्माद्वीराशालविकस्य वन्दनकदाने न काऽप्याशङ्केतिभ्येयम्। ५१७ प्र०। सेन० ३ उल्ला०।

किण्हकंजुअ न० (कृष्णकङ्गुक) कृष्णवर्णे कङ्गफले, स० १ सम०।

किण्हकरवीर पुं० (कृष्णकरवीर) कृष्णे वृक्षभेदे, रा०।

किण्हकेसर पुं० (कृष्णकेशर) कृष्णबकुले, रा०।

किण्हगंग पुं० (कृष्णगङ्ग) सप्तमे वासुदेवस्याचार्ये , ति०।

किण्हचामरज्झय पुं० (कृष्णचामरध्वज) कृष्णवर्णचामरयुक्तध्वजे, औ० रा० जं०।

किण्हच्छाय त्रि० (कृष्णच्छाय) कृष्णा छाया आकारः सर्वाविसंवादितया येषां ते तथा। सर्वान् प्रति कृष्णाकारेषु, रा०। **किण्हच्छाया** स्त्री० (कृष्णच्छाया) आदित्यावरणजन्ये वस्तुविशेषे, औ०।

किण्हपक्खिय पुं० (कृष्णपाक्षिक) " जेसिमवड्ढो पोग्गलपरियट्टो होइ संसारो। ते सुक्कपक्खियाखलु, इयरेसुं किण्हपक्खीय" इत्युक्तलक्षणे शुक्लपाक्षिकव्यतिरिक्ते, स्था० १ ठा० १ उ०।

किण्हपत्त पुं० (कृष्णपत्र) चतुरिन्द्रियसंमूर्च्छिमनपुंसके चतुरिन्द्रियजीवभेदे, प्रज्ञा १ पद। जी०।

किण्हबंधुजीव पुं० (कृष्णबन्धुजीव) कृष्णवर्णे बन्धुजीववृक्षे, रा०।

किण्हमिगाइण न० (कृष्णमृगाजिन) कृष्णहरिणचर्मणि, आचा० १ श्रु० ३ अ० ६ उ०।

किण्हलेस्सा स्त्री० (कृष्णलेश्या) कृष्णादिद्रव्योपाधिकजीवपरिणामविशेषे, पा०।

किण्हवासुदेव पुं०(कृष्णवासुदेव) पाण्डवचरित्रे आश्विनसिताष्टम्यां कृष्णजन्मोक्तम्, नेमिचरितादौ लोकोक्तौ च श्रावणासिताष्टम्यामिति, कथमनयोः संगतिरिति प्रश्ने? उत्तरम्अत्र मतान्तरं ज्ञेयमिति। ६१ प्र०। सेन०१ उल्ला०। **किण्हसप्प** पुं० (कृष्णसर्प) सर्पजातिविशेषे, जं० १ वक्ष०। रा०।

किण्हसिरी स्त्री० (कृष्णश्री) श्रीकुन्थुनाथस्य भारुर्यायाम्, स०।

किण्हा स्त्री० कृण्हा (कृष्णा) जम्बूद्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्योत्तरेण वहन्त्या रक्तायां महानद्याः समर्पिकायां महानद्याम, स्था० १० ठा०।

किण्होभास त्रि०(कृष्णावभास) कृष्णोऽवभासौ येषां ते कृष्णावभासाः। रा०। कृष्णप्रभेषु, कृष्णा एवावभासतः कृष्णावभासाः। औ०। ज्ञा०।

कित्त पुं० (कीर्त्त) संशब्दने आ० चू० २ अ०। 'कृत' संशब्दने, "उपधायाश्च" ।७। १। १०१। इति (पाणि.) ऋत इद् रपरत्वम्। उपधायां चेति दीर्घः। वाच०। "अरिहंते कित्तइस्सं, चउव्वीसं पि केवली"। कीर्त्तयिष्ये नामोच्चारणपूर्वकं स्तोष्ये। ध० २ अधि०। कीर्तियिष्यामि प्रतिपादयिष्यामि। आ० म० प्र०। संशब्दयिष्यामि। आ०चू०२ अ०। कीर्त्तयिष्ये अभिधास्ये। आचा०१ श्रु०१ अ० १ उ०। "कित्तइस्सामि परूविस्सामि पन्नवेस्सामि एगट्ठा"। आ० चू० १ अ०। पारणकदिने इदं चेदं चैतस्याः कृत्यं कृतामित्येवं कीर्त्तनात। ज्ञा० १ श्रु०२ अ०।

कित्तण न० (कीर्त्तन) संशब्दने, व्य० ७ उ०। गुणोच्चारणस्य करणे, उत्त० ३१अ०।

कित्ति स्त्री. (कीर्ति) कीर्त्तनं कीर्त्तिः। अहोपुण्प्रागित्येवं लक्षणे, आव० ३ अ०। सर्वदिग्व्यापिनि साधुवादे, स्था० १० ठा०। भ०। कीर्त्तने, संशब्दने, श्लाघने च। कर्म० १ कर्म०। दानपुण्यकृतायाम्, एकदिग्गामिन्यां वा (कर्म० ६ कर्म०) प्रसिद्धौ, स्था०८ ठा०। प्रश्न०। प्रं० सं०। औ०। आ०म०। भ०। सूत्र०। श्लाघायाम्, ष० १२ विव० गुणोत्कीर्त्तनरूपायां प्रशंसायाम्, पं० सं० ३ द्वार। सर्वत्र शुभ्रप्रवादे, दश ७ अ०। कीर्त्या उपलक्षितः "तहेव विजयो राया, अणट्ठा कित्तिपव्वए" उत्त० १५ अ०। पञ्चमगणहिंसायाम्, तस्याः ख्यातिहेतुत्वात्। प्रश्न०१ सम्ब०द्वार। केसरिमहाह्रदाधि–पतिदेवतायाम्, नीलवति केसरिह्रदे कीर्तिदेवता। स्था०२ ठा०३ उ०। नीलवद्वर्षधरपर्वतस्थे केशरिह्रसुरीकूटे, जं० ४ वक्ष०। स्था०। सौधर्मे कल्पे कीर्त्यवतंसकविमानदेव्याम्, नि०। (तत्पूर्वभववक्तव्यता निरयावलिकादीनां चतुर्थवर्गस्य पुष्पचूलिकायां चतुर्थेऽध्ययने सूचिता, तत्रैवोक्तेश्रीदेवीवक्तव्यतयाऽवगन्तव्या) विस्तरे, कर्दमे च। वाच०।

कित्तिकर त्रि०(कीर्तिकर) सर्वदिग्व्यापिसाधुवादकरे, तं०। ख्यातिकरे, ज्ञा० १ श्रु०१ अ०। श्रीऋषभनाथस्य चत्वारिंशत्तमे पुत्रे, तत्पालिते देशभेदे च। पुं०। कल्प०७ क्षण।

कित्तिचंद पुं०(कीर्तिचन्द्र) स्वनामख्याते चम्पेश्वरे, ध० २०। (तत्कथा 'अक्कूर' शब्दे प्र० भा० १२६ पृष्ठे उदाहृता)

कित्तिधम्म पुं० (कीर्त्तिधर्म) स्वनामख्याते राजभेदे, "सीहउरे नयरे कित्तिधम्मो नाम राया, तस्स कुमइणीए देवीए धूयाऽहं पउमसिरी णामा एसा वि मज्झ वयं सिया"। दर्श०।

कित्तधर पुं० (कित्तिधर) स्वनामख्याते राजभेदे, यस्य भार्य्यायाः कोशलजनन्याः निरनुकम्पतायां कथा प्रसिद्धा। तं०।

कित्तिपुरिस पुं०(कीर्त्तिपुरुष) कीर्त्तिप्रधाने पुरुषे, "एए खलु पडिसत्तू, कित्ति (त्ती) पुरिसाण वासुदेवाणं" स्था०९ठा आव०। **कित्तिम त्रि० (कृत्रिम)** कर्त्रकरणव्यापारसाध्ये, सूत्र २ श्रु० १ अ०। आ० म०।

कित्तिमई स्त्री०(कीर्त्तिमती) अजितसेनाचार्य्यसत्कमहत्तरिकासाध्व्याम्, यदन्तिके कण्डरीकयुवराजभार्या प्रव्रजिता। आ० क०। "अलोभिया" शब्दे प्र० भा० ७६५ पृष्ठे कथा उक्ता।) आव०। ब्रह्मदत्तचक्रवर्तिलब्धायां कीर्तिसेनकन्यायाम्, उत्त० १३ अ०। कीर्तियुक्ते त्रि०। वाच०।

कित्तिय त्रि० (कीर्त्तित) स्वनामभिः प्रोक्तेषु, ल०। आव। "कित्तिय-वंदियमहिया, जे जे लोगस्स उत्तमा सिद्धा" कीर्त्तिता स्वनामभिः प्रोक्ताः वन्दितास्त्रिविधयोगेन सम्यक् स्तुताः, महिताः पुष्पादिभिः पूजिताः। ध०२ अधि.। नामत उपादेयधिया संशब्दिते, स्था० २ ठा० ४ उ०। निरूपिते, तं०। कीर्तितं भोजनवेलायाममुकं मया प्रत्याख्यातं तत्पूर्वमधुना भोक्ष्ये इत्युच्चारणेन शब्दिते विशुद्धे प्रत्याख्याने प्रव० ४ द्वार। आव०।

कीर्त्तिद त्रि० कीर्तिप्रदे, औ०।

कियत् त्रि० किम्प्रमाणे, "कित्तिया सिद्धा" व्य० २ उ०। तं०। **कित्तियमित्त** त्रि० (कियन्मात्र) कियत्प्रमाणे, तं०।

कित्तिविजय पुं० (कीर्तिविजय) श्रीहीरविजयसूरिशिष्ये, कल्प०।

"श्रीहीरसूरिसुगुरोः प्रवरौ विनेयौ,
जातौ शुभौ सुरगुरोरिव पुष्पदन्तौ।
श्रीसोमसोमबिजयाभिधवाचकेन्द्रः,
सत्कीर्तिकीर्तावजयाभिधवाचकश्च" ॥१॥ कल्प० ६ क्षण।

कित्तिसेण पुं० (कीर्तिसेन) ब्रह्मदत्तलब्धकन्यारत्नस्य पितरि, उत्त० १३ अ०।

किध (अव्य) कथम् **"कथंयथातथां थादेरेमेमेहेधा डितः"** ।८।४।४०१। इतिथादेरवयवस्यडित् इधादेशः। केन प्रकारेणेत्यर्थं, प्रा० ४ पाद।

किमस्स पुं० (किमश्व) स्वनामख्याते राजभेदे, यः शक्रं समरे निर्जित्याऽपि शापशाप्तोऽजगरोजातः। नि०चू०१उ०। [इति 'धुत्तक्खाण' शब्दे वक्ष्यते]

किमाहार त्रि० (किमाहार) किमाहारयन्तीति प्रश्नविषये, भ० १४ श० ६ उ०।

किमि पुं० [कृ (क्रि) मि] क्रम इन्, अत इत्त्वम्। "भ्रमेः सं० प्रसारणं च" ॥५७०॥ (उणादि) इत्यतः संप्रसारणानुवृत्तौ "क्रमितमिशमिस्तन्भामत इच्च" ॥५७६॥ (उणादि) इति कृमिः। अन्यथाकिमिः। क्षुद्रजन्तुभेदे, लाक्षायां, कृमियुक्तेखरे, गर्दभे च। वाच०। विष्टानीलङ्गौ, तं०। आचा०। सूत्र। "किमिउण्णुयंतपगलंतपूयरुहिरं" कृमिभिरुत्पद्यमानानि ऊर्ध्वं वर्ध्यमानानि प्रगलत्पूयरूधिराणि यस्य स तथा तम्। प्रश्न०३ आश्र० द्वार।

किमिच्छय नं० (किमिच्छक) कः किमिच्छति, यो यदिच्छति तस्य तद्दानम्, समयपरिभाषयैव किमिच्छकमुच्यते। इच्छादाने, आ० म०प्र०। दश.। किमिच्छसि किमिच्छसीति पृच्छंति प्रश्नकारके, भोजनाद्यर्थमाह्वनाय नियुक्तेभृत्यादौ, इच्छाविषयप्रश्नपूर्वके पृच्छानुरूपदेयमात्रेऽपि, वाच०।

किमिण त्रि० कृमिण कृमियुक्ते, प्रश्न० ३ द्वार। "किमिण–बहुदुरभिगंधेसु" प्रश्न०५ संब० द्वार। कृमिरस्त्यस्य। कृमिवति, वाच०।

किमिय नं०। (कृमिज) "कोसेज्जपट्टमादी, जं किमियं तु पवुज्जति" इत्युक्तलक्षणे कौशेयादौ वस्त्रभेदे, पं० भा०। पं० चू०।

किमिरागकंबल पुं० (कृमिरागरक्त) कृमिरागरक्ते वस्त्रे, प्रज्ञा० १७ पद।

किमिरागरत्त नं० (कृमिरागरक्त) कीटजसूत्रभेदे, वस्त्रभेदे च। आ० म०। अत्र वृद्धव्याख्या–क्वचिद् विषये मनुष्यादिशोणितं गृहीत्वा केनाऽपि योगेन युक्तं भाजनसंपुटे स्थाप्यते, तत्र च प्रभूताः कृमयः समुत्पद्यन्ते, ते च वाताभिलाषिणो भाजनच्छिद्रैर्निर्गत्य तदासन्नं पर्यटन्तो लात्राजालं प्रमुञ्चन्ति, ताश्च कीलकेषु लग्नाः परिगृह्यन्ते, तत्कृमिरागं पट्ट सूत्रमुच्यते। तच्च रक्त वर्णकृमिसमुत्थत्वात् स्वपरिणामत एव रक्तंभवति। अन्ये त्वभिदधति – यदा तत्र। शोणिते कृमयः समुत्पन्ना भवन्ति तदा सकृमिकमेव तन्मलित्वा किट्टिं संपरित्यज्य रसो गृह्यते, तत्र च कश्चिद्योगः प्रक्षिप्यते, तेन यद्रज्यते पट्ट सूत्रं तत् कृमिरागमिति। तच्च धौताद्यवस्थास्वपि न मनागति रागं मुञ्चति। आ० म० प्र०। अनु०। ये रुधिरकृमय उत्पद्यन्ते तान् तत्रैव मृदित्वा कचवरमुत्सार्य तद्रसे किञ्चित् योगं प्रक्षिप्य पट्टसूत्रं रञ्जयति, स

च रसः कृमिरागो भण्यते अनुत्तारीति, तत्र कृमीणां रागो रञ्जकरसः कृमिरागस्तेन रक्तंकृमिरागरक्तम्। स्था० ४ ठा० २ उ०। **किमिरायं** (देशी) लाक्षारक्ते, दे० ना० २ वर्ग।

किमिरासि पुं० (कृमिराशि) अनन्तजीवे वनस्पतिभेदे, प्रज्ञा० १ पद।

किमु अव्य०(किमु) कै डिमुः। प्रश्ने, विशे०। आ० म० द्वि०। निषेधे, वितर्के, निन्दायां च। वाच०।

किम्मय त्रि० (किम्मय) किंविकारे, जी० ३ प्रति०।

किम्मिय न० (किम्मित) जाड्यतायाम्, सर्वशरीरावयवानामवशित्वे आचा० १ श्रु० ६ भ० १ उ०।

किया स्त्री० (क्रिया) **"हंश्रीहिकृत्स्नक्रियादिष्ट्यास्वित्।"** ८।२। १०४। इति इकारो भवति "करणे, व्यापारे," "हअं नाणं कियाहीणं हया अन्नाणिणो क्रिया" प्रा० २ पाद।

कियापर त्रि० (क्रियापर) चारित्रमोहनीयकर्मक्षयो पशमान्मुक्ति साधनानुष्ठानकरणपरायणे, पञ्चा० ३ विव०।

किर अव्य० (किल) "किलाथवादिवासहनहेः किराहवइदिवे– **अहुंनाहिं"** ॥८।४।४१६। इत्यएभ्रंशे किलस्य किरः। प्रा० ४ पाद। **"किरेरहिरकिलार्थे वा"** ॥८।२।१८६। इति प्राकृतेऽपि किलार्थे किरः। प्रा० २ पाद। दे०ना० २ वर्ग। संभावनायाम्, तं०। निश्चये, तं० संशये, आ० म० द्वि०। परोक्षाप्तागमवादसंसूचने, दश० १ अ०।

किरण पुं० (किरण) कीर्य्यते परितः कृ कर्म णि ल्युः। वाच०। रविकिरणे, अभिनवादित्यकरे, औ०। रश्मौ, क० प्र०। को०। **किरणावली** स्त्री०(किरणावली) स्वनामख्यातायां पर्युषणाकल्पवृत्तौ, कल्प० १ क्षण।

किरमाण त्रि० (क्रियमाण) आवर्त्तमाने, "तह सावज्जं जोगं परस्य ठाए निट्ठियं किरमाणं" दश० ७ अ०। आचा०।

किराय पुं० स्त्री० (किरात) किरमवस्कारादेर्निःक्षेपस्थानं पर्यन्तमतति अत अण्, उप, स०। "तप्तकुण्डं समारभ्य, रामक्षेत्रान्तिकं शिवे !। किरातदेशो विज्ञेयो, विन्ध्यशैलेऽ–तिष्ठिते।" इत्युक्तलक्षणे देशे, वाच. अनार्य्यदेशविशेषे, प्रव० १४८ द्वार। सूत्र। तद्देशानां राजा अण् कैरातः, तद्देशनृपे, बहुषु अणोलुक् किरातः। जातौ स्त्रियांङीष्। मत्स्यभेदे, पुं०। स्त्री०। चामरवाहिन्याम्, स्त्री०। भूमिनिम्बे, पुं०। घोटकरक्षके, अल्पतनौ, त्रि०। वाच०। **"किराते चः"** ॥८।१।१८३॥ इति किराते कस्य चो भवति। 'चिलाओ' पुलिन्द एवायं विधिः। कामरूपिणि तु नेष्यते "नमिमो हरकिराअं" प्रा० १ पाद।

किरितड न० पुं० (गिरितट) **"चूलिकापैशाचिके तृतीयचतुर्थ– योराद्यद्वितीयौ"** ।८।४।३२५। इति चूलिकापैशाचिके तृतीयस्य प्रथमः। गिरितटं, किरितटं। पर्वतप्रान्ते, प्रा० २ पाद।

किरिया स्त्री० (क्रिया) भावे करणादौ वा यथायथं **"कृ ञः श च"**।३।३।१००। वाच०।" **"हंश्रीहीकृत्स्नक्रियादिष्ट्यास्वित्"** ।८।२।१०४। इति संयुक्तस्यान्त्यव्यञ्जनात्पूर्व इकारः। प्रा० २ पाद। करणे, नि० चू० १ उ०। व्यापृतौ, स्था० ३ ठा० ३ उ०। व्यापारः, कर्म,क्रियेत्यनर्थान्तरम्। विशे०। आव०। आरम्भे, निष्कृतौ, शिक्षायाम्, पूजायाम्, संप्रधारणे, विवादविचाराङ्गे साधने, सामाद्युपाये, वाच०। करोतीत्यादिके आख्याते, प्रव० ३ द्वार।

(१) कियायाः स्वरूपनिरूपणम्।
(२) क्रियाया निक्षेपः।
(३) क्रियाया भेदनिरूपणम्।
(४) स्पृष्टास्पृष्टत्वादिना प्राणातिपातक्रियां निरूप्य क्रियायाः सक्रियत्वमक्रियत्वं प्राणातिपातक्रियायाः प्रकारस्य च निरूपणम्।
(५) मृषावादादिकमाश्रित्य क्रियाकरणप्रकारः।
(६) अष्टादश स्थानान्यधिकृत्य एकत्वपृथक्त्वाभ्यां कर्मबन्धत्वोपदर्शनम्।
(७) ज्ञानावरणीयादि कर्म बध्नन् जीवः कतिभिः क्रियाभिः समापयतीति बहुत्वमाश्रित्यैतन्निरूपणम्।
(८) चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेणैतन्निरूपणम्।
(९) मृगबधादावुद्यतस्य क्रियां निरूप्य क्रियाजन्यं कर्म तद्वेदनां चाधिकृत्य क्रियानिरूपणम्।
(१०) स्वामिभावतः क्रियां निरूप्य क्रियान्तराणां विषयनिरूपणम्।
(११) श्रमणोपासकस्य क्रियाः कथयित्वा अनायुक्ते गच्छतोऽनगारस्य क्रियाप्ररूपणम्।
(१२) सण्डासकेन तप्तलोहमुत्क्षिपतः क्रियाः।
(१३) वर्षाज्ञानार्थं हस्तादिप्रसारयतः क्रियां निरूप्य तालमारुह्य तत्फलं पातयतः क्रियानिरूपणम्।
(१४) शरीराणि निर्वर्त्तयतः क्रियामुक्त्वा प्राणतिपातादिना क्रियमाणायाः क्रियाया निरूपणम्।
(१८) ज्ञानयुक्तेनापि क्रिया विधेयेति क्रियाऽष्टकम्।

(१) क्रियायाः स्वरूपनिरुपणम्–

क्रिया च भावना उत्पादयितुर्व्यापाररूपा साध्यत्वेनाभिधीयमानेति बोध्यम्। "व्यापारो भावना सैवोत्पादना सैव च क्रिया" इति हर्य्युक्तेः "यावत्सिद्धमसिद्धं वा, साध्यत्वेनाभिधीयते। आश्रितक्रमरूपत्वात्, सा क्रियेत्यभिधीयत" इति। "साध्यत्वेन क्रिया तत्र, तिङ्पदैरभिधीयते" इति वाक्यपदीयाच्च। (यावदिति) सर्वमित्यर्थः। तदेव विवृणोति(सिद्धमसिद्धं वेति) सिद्धं वर्त्तमानध्वंसप्रतियोगि, तद्भिन्नमसिद्धम्। तच्च वर्त्तमानं भविष्यच्चेति द्विविधम्; तेनापचत् पक्ष्यति पचतीत्यादौ सर्वत्र साध्यत्वेन असत्त्वरूपत्वेनाभिधीयमाना क्रियेति, क्रियाशब्दस्य रूढिरनेन दर्शितेति भावः। यौगिकत्वमप्याह (आश्रितक्रमरूपत्वादिति) आश्रितः क्रमो रूपं यस्यास्तत्त्वात्, पूर्वापरीभूतावयवकत्वादित्यर्थः। तदीयावयवानामधिश्रयणाद्यधःश्रयेणपर्य्यन्तानां क्रमेणोत्पत्तेः क्रियापदेन तत्समुदायोऽभिधीयते। यत्र च न क्रमिको व्यापारोऽस्ति तत्र रूढिरादरणीयेति पौर्वापर्य्यारोपेण वा सर्वत्र फलस्य स्वजनकव्यापारगतपौर्वापर्य्यारोपवत् यौगिकत्वम्। अत एव फलमात्रबोधकस्यापि क्वचित् धातुत्वसिद्धिरिति फलितार्थः। इयांस्तु विशेषः पाक इत्यादौ धातुना साध्यत्वेनोपस्थाप्यायाः क्रियायाः सिद्धक्रियारूपे घञर्थे विशेषणत्वम्, पचतीत्यादौ तु नैवमिति। अत एव–"साध्यत्वेन क्रिया तत्र, तिङ्पदैरभिधीयते" इति वाक्यपदीयकारिकाव्याख्यायां भूषणसारदर्पणे तिङ्पदैरित्येतत् तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिणा तिङन्तपदैर्धातुभिरित्यभिहितम्। तेन सर्वत्र [illegible]

साध्यरूपक्रियाबोधकत्वम् । किञ्च– क्रमिकावयवानामेकदाऽसत्त्वेऽपि यत्किञ्चिदवयवसत्त्वकाले वर्त्तमानत्वव्यवहारः, अवयवावयविनोरभेदारोपात्। भूतभविष्यत्वव्यवहारस्तु सर्वे षाभवयवानां भूतभविष्यत्वयोरेव, न तु यत्किञ्चित्क्रियाव्यक्तिभूतत्वादौ। उक्तञ्च वाक्यपदीये –

"गुणभूतैरवयवैः, समूहः क्रमजन्मनाम्।
बुद्ध्या प्रकल्पिताऽभेदः, क्रियेति व्यपदिश्यते" ॥१॥ इति।

अस्यार्थः–क्रमिकतत्तद्व्यापारं प्रति गुणभुतैर्गुणभावेन भासमानैरवयवैरुपलक्षितः बुद्ध्या प्रकल्पितोऽभेदो यस्मिन् तद्रूपः क्रमजन्मनां व्यापाराणां समूहः क्रियेति । अत्र क्षणनश्वराणां व्यापाराणां मेलनात्सिद्धया बुद्ध्येत्युक्तम्। तथा च बुद्धिजन्यसंस्कारद्वारा तेषां मेलनसम्भव इति भावः। अत एव भाष्ये क्रिया हि नामेयमत्यन्तापरिदृष्टा पूर्वापरीभूतावयवा न शक्यते पिण्डीभूता निदर्शयितुमिति व्यापारसमुदायात्मिकायाः क्रियाया दर्शनायोग्यत्वोक्त्या तदवयवानां तद्विषयत्वं व्यातरकमुखेन दर्शितम्। तस्याश्चाभिन्नैकबुद्धिविषयतया एकत्वव्यवहार इत्यपि बोद्धव्यम्। अथवाऽनेकव्यापारव्यतिवृत्तिर्जातिरेव क्रियेति सिद्धान्तकल्प आदरणीय :; तस्याश्च व्याक्तद्वारैव साध्यत्वम्। अस्ति च पचित्वादिकं जातिः, पचतीत्याद्यनुगतव्यवहारात । तज्जातेश्चैक्यादेकत्वव्यवहार इति मन्तव्यम् । तदुक्तं वाक्यपदीये– "जातिमन्ये क्रियामाहुरनेकव्यक्तिवर्तिनीम् ।असाध्यां व्यक्तिरूपेण, सा साध्येत्यभिधीयते" इति। युक्तश्चैतत्। सर्वत्रैव लाघवाज्जातिशक्तिस्वीकारेण पच्यादिधातूनामपि तत्रैव शक्तिरुचितेति दिक्। सा च क्रिया धातुवाच्या फलन्यापारोभयरूपा, तद्विशिष्टरूपा वा। "फलव्यापारयोर्धातुः" इत्यग्रिवनचनात् व्यवस्थापयिष्यते च मतभेदेन फलव्यापारयोः पृथक्शक्त्या विशिष्टशक्त्या वा धातुवाच्यता । अत्र फलांशस्य कर्तुरुद्देश्यत्वेऽपि प्राधान्याभावात् व्यापारस्यैव प्राधान्यं समुचितम्। तस्य च साध्यतया कर्मातिरिक्तसर्वकारकाणां तत्रैव स्वस्वव्यापारद्वारा साधकत्वेनान्वयः । कर्मणस्तु फल एव, क्रियाजन्यफलाश्रयतयैव तस्योद्देश्यत्वादिति विवेकः। उक्तं च वाक्यपदीये –

"प्राधान्यात्तु क्रिया पूर्व– मर्थस्य प्रविभज्यते।
साध्यप्रयुक्ताङ्गानि,फलं तस्याः प्रयोजकमिति"।

अर्थस्य फलस्य तदपेक्षयेत्यर्थः। प्राधान्यात् विशेष्यत्वात् साध्यं प्रयुक्तं यैः तानि साध्यसाधकानि अङ्गानि, कारकाणीत्यर्थः । अत्र फलस्य क्रियाप्रयोजकत्वाभिधानम्, तदुद्देशेनैव क्रियायां प्रवृत्तिरित्येवाभिसंधाय, तथा च सर्वो लोकः स्वाभीष्टफलमभिप्रेप्सुस्तत्साधनाय यतते,लभते च ततस्तत्तत्फमुपायसंसाधनेन । एवं च क्रियाफलं विक्लित्त्यादिकमभीत्सुः पाकाय यतमानो जनः पाक संसाधनेन फलं लभते । ततश्च फल साधनतया पाकादेरपीष्टत्वात् साध्यत्वम् । फलविशिष्टक्रियाया धात्वर्थत्वमते तु विशिष्टत्वेनैवेष्टत्वात् विशिष्टस्यैव साध्यत्वमिति विशेषः । कारकान्वयस्त्वेतन्मते पूर्वोक्तदिशाऽसेयः; एकदेशान्वयस्वीकाराच्च न कर्म्मणोऽनन्वयमिति बोध्यम्। तथा चैवंरीत्या साध्यत्वेन क्रियां जानता जनेन तस्याः प्राधान्यबुबोधयिषयैवाख्यातान्ततया धातुः प्रयुज्यते। अन्यथा कृदन्ततयेति, एतच्च भावकृदन्तस्थले धातुना साध्यरूपक्रियाऽवबोधनेऽपि तस्याः प्रत्ययार्थसिद्धरूपक्रियाविशेषणत्वेन न प्राधान्यम्। भावप्रधानमाख्यात मित्यादिनिरुक्त वचनस्य, प्रकृतिप्रत्ययार्थयोः प्रत्ययार्थस्यैव प्राधान्यमिति न्यायस्य च परस्परं विरोधपरिहाराय न्यायस्य आख्यातातिरिक्तविषयत्वव्यवस्थापनम् । हरिणाऽपि धातुभावकृतो : क्रियावचित्वाविशेषेऽपि धातुना साध्यत्वेन, कृता तु सिद्धत्वेन क्रियाया बोधनमिति व्यवस्थापितम्। यथा – "साध्यत्वेन क्रिया तत्र, धातुरूपनिबन्धना। सिद्धभावस्तु यस्तस्याः, स घञादिनिबन्धनः" ॥१॥ इति "आख्यातशब्दे भागाभ्यां, साध्यसधनवर्तिता। प्रकल्पिता यथा शास्त्रे, स घञादिष्वपि क्रमः" ॥१॥ इत्येताभ्यां भागाभ्यां पश्च मृगो धावतीत्यादौ तिङन्ताभ्यां साध्यसाधनवर्तितेति। मृगो धावतीत्येतस्य साधनत्वम्, अपरस्य साध्यत्वम्, क्रियाकारकभावेन तयोरन्वयात् । घञर्थक्रियायास्तु इतरक्रियायामेव साधनत्वमिति विवेकः। साध्यत्वञ्च लिङ्ग संख्याऽनन्वयित्वम्, तद्विपरीतं सिद्धत्वम् । तथा च घञाद्युपस्थाप्यक्रिया याः लिङ्गसंख्यान्वयित्वेनापरक्रियायां साधनत्वम्। युक्तञ्चैतत्। यत् घञन्तादौद्विविधक्रियायां भानम्, कारकाणां साध्यक्रियायामेवान्वयोपगमात्। कृदन्तस्थले कारकविभक्तिप्रयोगस्य सार्वजनीनतया साध्यत्वेन तदुपस्थितावेव कारकान्वयोपपत्तिः। "साध्यस्य साधनाकाङ्क्षेति" "नियतं साधने साध्यं, क्रिया नियतसाधनेति" "साध्यत्वेन निमित्तानि, क्रिया परमपेक्षते" इति चाभियुक्तोक्तेः । श्रत एव स्तोकं पाक इत्यादौ द्वितीयान्ततोपपद्यते, साध्यक्रियाफस्य विशेषणेऽपि द्वितीयानुशासनात्। घञाद्युपस्थाप्यक्रियाविशेषणस्य तु विशिष्य लिङ्गतया प्रथमाद्यन्तता,"कृदभिहितो भावो द्रव्यवत् प्रकाशते" इति भाष्योक्तेः। कृदभिहितः कृता बोधितः, भावो भावना, धात्वर्थस्वरूपमिति यावत् द्रव्येण तुल्यं प्रकाशते द्रव्यधर्मान् लिङ्गसंख्याकार कत्वानि भजते इति यावत् । अत्र द्रव्यत्वं लिङ्गसंख्यान्वयित्वमेव योग्यत्वात्, न तु पृथिव्याद्यात्मकत्वं, ज्ञानपाकादौ तदभावात्। नापि "वस्तूपलक्षणं यत्र,सर्वनाम प्रयुज्यते। द्रव्यमित्युच्यते सोऽर्थो , भेद्य त्वेन विवक्षितः" ॥१॥इति पारिभाषिकसर्वनाम-परामर्शयोग्यत्वादिरूपम्, साध्यक्रियाया अपि तथात्वेनाविशेषापत्तेः, किन्तु सत्त्वप्रधानानि नामानीत्येकवाक्यतया सत्त्वद्रव्ययोः पर्यायत्वस्य बहुषु स्थलेषु दर्शनात् सत्त्वभूतत्वमेव द्रव्यत्वामिति फलितार्थः। क्रिया न युज्यते इत्यादिना लिङ्गाद्ययोगस्यासत्त्वलक्षणत्वाभिधानात् तद्योगस्यैव सत्त्वलक्षणत्वौचित्यादिति तु तत्त्वम्। वैयाकरणादिमते चल इत्यादौ क्रियायां शक्तिः। वाच०। देशाद्देशान्तरप्राप्तिहेतौ, सम्म०१ काण्ड । कर्मणि, प्रति०। नचैकस्य देशाद्देशान्तरप्राप्तिहेतुः क्रिया न केनचिन् प्रमाणेनावसातुं शक्येति वक्तव्यम्, पूर्वपर्यायग्रहणपरिणाममुज्झताऽध्यक्षेणोत्तरग्रहणात्, यथा स्तम्भादावधोभागग्रहणमत्यज्यत ऊर्ध्वादिभागग्रहणम्। सम्म० १ काण्ड । द्रव्यसमवायिनि कर्माख्ये वैशेषिकसंमते पदार्थ , सूत्र० १ श्रु० १२ अ०। स्था० । परिस्पन्दे, सूत्र० १ श्रु० १२ अ०। "णत्थि किरिया अकिरिया वा, णेवं सण्णं णिवेसए" क्रि या परिस्पन्दलक्षणा, तद्विपर्यस्ता त्वक्रिया। सूत्र० २ श्रु० १ अ०। करणे, कर्मनिबन्धनचेष्टायाम्, प्रज्ञा० २२ पद। आव०।

(२) तत्र नामस्थापने सुगमत्वादनादृत्य द्रव्यादिकां क्रि यां प्रतिपादयितुमाह –

दव्वे किरिए अ एयण , पयोगुवाय करणिञ्ज समुदाणे।
इरियावहसंमत्तो, सम्मते चैव मिच्छत्ते ॥१ ५६ ॥ सूत्र० नि०।

(दव्वे इत्यादि) तत्र द्रव्ये द्रव्यविषये या क्रिया एजनता। 'एजृ' कम्पने, जीवस्याजीवस्य वा कम्पनरूपा चलनस्वभावा सा द्रव्य–

क्रिया, साऽपि प्रयोगाद्विस्रसया वा भवेत्। तत्राप्युपयोगपूर्विका वाऽनुपयोगपूर्विका वाऽक्षिनिमेषमात्रादिका वा सा सर्वा द्रव्यक्रियेति। भावक्रिया त्वियम्–तद्यथा–प्रयोगक्रिया, उपायक्रिया, करणीयक्रिया, समुदानक्रिया, ईर्यापथक्रिया, सम्यक्त्वक्रिया, मिथ्यात्वक्रिया चेति। तत्र प्रयोगक्रिया मनोवाक्कायलक्षणा त्रिधा। तत्र स्फुरद्भिर्मनोद्रव्यैरात्मन उपयोगो भवति, एवं वाक्काययोरपि वक्तव्यम्। तत्र शब्दे निष्पाद्ये वाक्काययोर्द्वयोरभ्युपयोगः। तथा चोक्तम्–गिण्हइ य काइएणं, णिसिरइ तह वाइएण जोगेण''। गमनादिका तु कायक्रियैव। उपायक्रिया तु घटादिकं द्रव्यं येनोपायेन क्रियते। तद्यथा मृत्खननमर्दनचक्रारोपणदण्डचक्रसलिलकुम्भकारव्यापारैर्यावद्भिरुपायैः क्रियते सा सर्वो पायक्रिया। करणीयक्रिया तु यद्येन प्रकारेण करणीयं तत्तनैव क्रियते नान्यथा। तथाहि–घटो मृत्पिण्डादिकयैव क्रियते, न पाषाणसिकतादिकयेति ३। समुदानक्रिया तु यत्कर्म प्रयोगगृहीतं समुदायावस्थं सत्प्रकृतिस्थित्यनुभावप्रदेशरुपतया यया व्यवस्थाप्यते सा समुदानक्रिया। सा च मिथ्यादृष्टेरारभ्य सूक्ष्मसंपरायं यावद् भवति।४। ईर्यापथक्रिया तूपशान्तमोहादारभ्य सयोगिकेवलिनं यावदिति ५। सम्यक्त्वक्रिया तु सम्यग्दर्शनयोग्याः कर्मप्रकृतीः सप्तसप्ततिसंख्या यथा बध्नाति साऽभिधीयते। मिथ्यात्वक्रिया तु सर्वाः प्रकृतीर्विंशत्युत्तरसंख्यास्तीर्थङ्कराहारकशरीरतदङ्गोपाङ्गत्रिकरहिता यया बध्नाति सा मिथ्यात्वक्रियेत्यभिधीयते। सूत्र० २ श्रु० २ अ०।

(३) क्रियाया भेदानाह–

एगा किरिया।

एका अविवक्षितविशेषतया करणमात्रविवक्षणात् करणं क्रिया कायिक्यादिका। स्था० १ ठा०। आस्तिकमात्रम्। स०१ सम०।

दो किरियाओ पन्नत्ताओ। तं जहा–जीवकिरिया चेव, अजीवकिरिया चेव॥

सूत्राणि षट्त्रिंशत् करणं क्रिया, क्रियत इति वा क्रियेति। ते च द्वे प्रक्षप्ते प्ररूपिते जिनैः। तत्र जीवस्य क्रिया व्यापारो जीवक्रिया। तथा अजीवस्य पुद्गलसमुदायस्य यत्कर्मेर्यापथं, तथा परिणमनं सा अजीवक्रियेति। इह 'चेय' शब्दस्य 'चेव' शब्दस्य च पाठान्तरे प्राकृतत्वाद् द्विर्भाव इति, चेवेत्ययं च समुच्चयमात्र एव प्रतीयते, अपि चेत्यादिवदिति। स्था० २ ठा० १ उ०।

पुनः प्रकारान्तरेण प्रतिपादयति –

दो किरियाओ पन्नत्ताओ। तं जहा–काइया चेव, आहिगरणिया चेव। दो किरियाओ पन्नत्ताओ। तं जहा–पाउस्सिया चेव, पारियावणिया चेव। दो किरियाओ पन्नत्ताओं। तं जहा–पाणाइवायकिरिया चेव, अपच्चक्खाणकिरिया चेव। दो किरियाओ पन्नत्ताओ। तं जहा– आरंभिया चेव, परिग्गहिया चेव। दो किरियाओ पन्नत्ताओ। तं जहा–मायावत्तिया चेव, मिच्छादंसणवत्तिया चेव। दो किरियाओ पन्नत्ताओ। तं जहा–दिट्ठिया चेव, पुट्ठिया चेव। दो किरियाओ पन्नत्ताओ। तं जहा–पाडुच्चिया चेव, सामन्तोवनिवाइया चेव। दो किरियाओ पन्नत्ताओ। तं जहा–साहत्थिया चेव, नेसत्थिया चेव। दो किरियाओ पन्नत्ताओ। तं जहा–आणवणिया चेव, वेयारणिया चेव। दो किरियाओ पण्णत्ताओ। तं जहा– अणाभोगवत्तिया चेव, अणवकंखवत्तिया चेव। दो किरियाओ पन्नत्ताओ। तं जहा–पेज्जवत्तिया चेव, दोसवत्तिया चेव। स्था० ठा० १ उ०।

(अणाभोगवत्तिया चेव त्ति) अनाभोगोऽज्ञानादि, अज्ञानं प्रत्ययो निमित्तं यस्याः सा तथा। (अणवकंखवत्तिया चेव त्ति)अनाकाङ्क्षा स्वशरीराद्यनपेक्षत्वं, सैव प्रत्ययो यस्याः सा। स्था० २ ठा० १ उ०। आ० चू०। (प्रभेदादिप्ररूपणा तत्तच्छब्दे वक्ष्यते)

तिविहा अन्नाणकिरिआ पन्नता। तं जहा– मइअण्णाणकिरिया, सुयअण्णाणकिरिया, विभंगअण्णाणकिरिया॥

(मइअण्णाणकिरिय त्ति) "अविसेसिया मइ च्चिय, समट्ठिइस्स सा मइण्णणं। मइअण्णाणं मिच्छा–दिट्ठिस्स सुयं पि एमेव" त्ति। मत्यज्ञानात्क्रिया अनुष्ठानं मत्यज्ञानक्रिया, एवमितरेऽपि। नवरं विभङ्गो मिथ्यादृष्टेरवधिः स एवाज्ञानं विभङ्गाज्ञानमिति। स्था० ३ ठा० ३ उ०।

"एताहिं पंचहिं पंचवीसकिरियाओ सूचिताओ। तं जहा–मिथ्याक्रिया १ प्रयोगक्रिया २ समुदानक्रिया ३ ईर्यापथिका ४ कायिका ५ अधिकरणक्रिया ६ प्राद्वेषिकी ७ परितापनिका ८ प्राणातिपातक्रिया ९ दर्शनक्रिया १० स्पर्शनक्रिया ११ सामन्तक्रिया १२ अनुपातक्रिया १३ अनाभोगक्रिया १४ स्वहस्तक्रिया १५ निसर्गक्रिया १६ विदारणक्रिया १७ आज्ञापनक्रिया १८ अनाकाङ्क्षक्रिया १९ आरम्भक्रिया २० परिग्रहक्रिया २१ मायाक्रिया २२ रागक्रिया २३ द्वेषक्रिया २४ अप्रत्याख्यानक्रिया २५" इति आ०चू०४ अ०। आ० म०। भ०। दुर्व्यापारविशेषे, स० ४ सम०। औ०।

कइ णं भंते ! किरियाओ पण्णत्ताओ? गोयमा ! पंच किरियाओ पण्णत्ताओ। तं जहा–काइया, आहिगरणिया, पाउसिया, पारियावणिया, पाणाइवायकिरिया॥

करणं क्रिया, कर्मबन्धनिबन्धनं चेष्टा इत्यर्थः। सा पञ्चधा। तद्यथा(काइया इत्यादि) चीयते इति कायः शरीरं, काये भवा, कायेन निर्वृत्ता वा कायिकी। तथा–अधिक्रियते स्थाप्यते नारकादिष्वात्माऽनेनेत्यधिकरणमनुष्ठानविशेषो बाह्यं वस्तु चक्रखड्गादि तत्र भवा, तेन वा निर्वृत्ता आधिकरणिकी। (पाउसिया इति) प्रद्वेषो मत्सरः कर्मबन्धहेतुरकुशलो जीवपरिणामविशेष इत्यर्थः। तत्र भवा, तेन वा निर्वृत्ता, सा एव वा प्राद्वेषिकी। (पारियावणिया इति) परितापनं परितापः, पीडाकरणमित्यर्थः। तस्मिन् भवा, तेन वा निर्वृत्ता, परितापनमेव वा पारितापनिकी (पाणाइवायकिरिया इति) प्राणा इन्द्रियादयः, तेषामतिपातो विनाशः, तद्विषया, प्राणातिपात एव वा क्रिया प्राणातिपातक्रिया। प्रज्ञा० ३१ पद। स्था०।

पाउसिया णं भंते ! किरिया कतिविहा पण्णत्ता ? गोयमा ! तिविहा पण्णत्ता। तं जहा– जेण अप्पणो वा परस्स वा तदुभयस्स वा असुभं मणं पधारेइ, सेत्तं पाउसिरिया किरिया॥

प्राद्वेषिकी त्रिभेदा। तद्यथा – (जेण अप्पणो इत्यादि) येन प्रकारेण जीवा आत्मनः स्वस्य वा, अन्यस्य वा आत्मव्यतिरिक्तस्य,

उभयस्य वा स्वपरलक्षणस्योपरि अशुभमकुशलं मनोऽन्तःकरणं प्रधारयति प्रकर्षेण धारयति, करोतीत्यर्थः । तेन कारणेन विषयस्य त्रैविध्यात् त्रिविधा प्राद्वेषिकी क्रिया । तथाहि – कश्चित्कस्मिन् प्रयोजने स्वयमनुतिष्ठते, पर्यन्ते विपाकदारुणे संवृत्ते सति अविवेकादात्मन एवोपरि अकुशलं मनः संप्रधारयति । एवं कश्चित्परस्य कश्चित्स्वपरयोरपीति ।

पारियावणिया णं भंते ! किरिया कतिविहा पण्णत्ता ? गोयमा ! तिविहा पण्णत्ता । तं जहा– जेणं अप्पणो वा परस्स वा तदुभयस्स वा आसायं वेदणं उदीरेति, सेत्तं परियावणिया किरिया ।

पारितापनिक्यपि त्रिविधा । तद्यथा– "जेणं अप्पणो" इत्यादि । येन प्रकारेण कुश्चित कुतश्चित् हेतोरविवेकत आत्मन एवासातां दुःखरूपां वेदानामुत्पादयति । कश्चित्परस्य, कश्चिदुभयस्य । ततः स्वपरतदुभय-भेदाद्भवति त्रिधा पारितापनिकी क्रि या । आहएवं सति लोचकरणत-पोऽनुष्ठानाकरणप्रसङ्ग, यथायोगं स्वपरोभयासातवेदनाहेतुत्वात् । तदयुक्तम् । विपाकहितत्वेन चिकित्साकरणवत् लोचकरणादेरसात-वेदनाहेतुत्वायोगात्, अशक्यतपोऽनुष्ठानप्रतिषेधाच्च । उक्तञ्च – "सो हु तवो कायव्वो, जेण मणोऽमंगलं न चिंतेइ । जेण न इंदियहाणी, जेण इ जोगा न हायंति "॥१॥ "कायो न केवलमयं परिपालनीयो, मृष्टैरसैर्बहुविधैर्न च लालनीयः । चित्तेन्द्रियाणि न चरन्ति यथोत्पथेषु, वश्यानि येन च तथाऽऽचरितं जिनानाम्" ॥१॥ इति।

पाणाइवायकिरिया णं भंते ! कतिविहा पण्णत्ता? गोयमा ! तिविहा पण्णत्ता । तं जहा– जेणं अप्पाणं वा परं वा तदुभयं वा जीवियाओ ववरोवइ, सेत्तं पाणाइवायकिरिया ।

प्राणातिपातक्रियाऽपि त्रिविधा । तद्यथा – (जेणं अप्पाणं इत्यादि) येन प्रकारेण कश्चिदविवेकी भैरवप्रतापादिनाऽऽत्मानं जीविताद्व्य-परोपयति, कश्चित्प्रद्वेषादिना परम् कश्चिदुभयमपीत्यतः प्राणातिपात-क्रियाऽपि त्रिविधा । अत एव कारूणाद्भगवद्भिरकालमरणमपि प्रतिषिद्धम्, प्राणातिपातक्रियादोषसंभवात् ।

(४) स्पृष्टास्पृष्टत्वादिना प्राणातिपातक्रियां निरुपयति –

अत्थि णं भंते ! जीवाणं पाणाइवाए णं किरिया कज्जइ ? हंता अत्थि । सा भंते ! किं पुट्ठा कज्जइ, अपुट्ठा कज्जइ ? जाव निव्वाघाएणं । छद्दिसिं वाघायं पडुच्च सिय तिदिसिं सिय चउद्दिसिं सिय पंचदिसिं । सा भंते ! किं कडा कज्जइ, अकडा कज्जइ ? गोयमा ! कडा कज्जइ, नो अकडा कज्जइ । सा भंते ! किं अत्तकडा कज्जइ, परकडा कज्जइ, तदुभयकडा कज्जइ ? गोयमा ! अत्तकडा कज्जइ, णो परकडा कज्जइ, णो तदुभयकडा कज्जइ । सा भंते ! किं आणुपुव्विकडा कज्जइ, अणाणुपुव्विकडा कज्जइ ? गोयमा ! आणुपुव्विकडा कज्जइ, नो अणाणुपुव्विकडा कज्जइ। जाय कडा जाय कज्जइ जा य कज्झिस्सइ, सव्वासा आणुपुव्वि कडा नो अणाणुपुविं कड त्ति वत्तव्वं सिया । अत्थि णं भंते नेरइयाणं पाणाइवायकिरिया कंज्जइ ? हंता अत्थि । सा भंते ! किं पुट्ठा कज्जइ, अपुट्ठा कज्जइ जाव नियमा छद्दिसिं कज्जइ । सा भंते ! किं कडा कज्जइ, अकडा कज्जइ, तं चेव जाव नो अणाणुपुव्विं कड त्ति वत्तव्वं सिया । जहा नेरइया तहा एगिंदियवज्जा भाणियव्वा जाव वेमाणिया । एगिंदिया जहा जीवा तहा भाणियव्वा । तहा पाणाइवाए तहा मुसावाए तहा अदिन्ने मेहुणे परिग्गहे कोहे जाव मिच्छादंसणसल्ले । एवं एएणं अट्ठारसचउव्वीसं दंडगा भाणियव्वा । सेवं भंते ! भगवं गोयमे समणं जाव विहरइ ॥

"अत्थीत्यादि" । (अत्थि त्ति) अस्त्ययं पक्षः (किरिया कज्जइ त्ति) । क्रियत इति क्रिया कर्म, सा क्रियते भवति । 'पुट्ठ' इत्यादेर्व्याख्या पूर्ववत् । (कडा कज्जइ त्ति) कृता भवति, अकृतस्य कर्मणोऽभावात् । (अत्तकडा कज्जइ त्ति) आत्मकृतमेव कर्म भवति नान्यथा । (अणाणुपुव्विकडा कज्जइ त्ति) पूर्वपश्चाद्विभागो यत्र नास्ति तदनानुपूर्वी शब्देनोच्यत इति । (जहा नेरइया तहा एगिंदियवज्जा भाणियव्व त्ति) नारकवदसुरादयोऽपि वाच्याः । एकेन्द्रियवर्जाः, ते त्वन्यथा, तेषां हि दिक्पदे "निव्वाघाएणं छद्दिसिं वाघायं पडुश्च सिय तिदिसिं" इत्यादेर्विशेषाभिला पस्य जीवपदोक्तस्य भावात् । अत एवाह–(एगिंदिया जहा जीवा तहा भाणियव्व त्ति जाव मिच्छा-दंसणसल्ले) इह यावत्करणात् –(माणे माया लोभे पेज्जे) अनभिव्यक्त-मायालोभस्वभावमभिष्वङ्गमात्रं प्रेम (दोसे) अनभिव्यक्तक्रोधमान-स्वरूपमप्रीतिमात्रं द्वेष : । कलहो राटि : । (अब्भक्खाणे) असद्दोषावि-ष्करणम् । (पेसुन्ने) प्रच्छन्नमसद्दोषाविष्करणम् । (परपरिवाए) विप्रकर्णं परेषां गुणदोषवचनम् । [अरइरई] अरतिर्मोहनीयोदयाच्चित्तोद्वेगः तत्फ ला, रतिर्विषयेषुमो हनीयोदयात् चित्ताभिरतिः अरतिरतिः [मायामोसे] तृतीयकषायद्वितीयाश्रवयोः संयोगः । अनेन च सर्वसंयोगा उपलक्षिताः । अथवा वेषान्तरभाषान्तरकरणेन यत्परवञ्चनं तन्माया-मृषेति । मिथ्यादर्शनं शल्यमिव विविधव्यथानिबन्धनत्वान्मिथ्यादर्शन-शल्यमिति । भ० १ श० ६ उ० ।

सम्प्रति एताः किमविशेषेण सर्वेषां जीवानां सन्ति किं वा नेति जिज्ञासुरिदमाह –

जीवा णं भंते ! किं सकिरिया अकिरिया ? गोयमा ! जीवा सकिरिया वि, अकिरिया वि । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ जीवा सकिरिया वि अकिरिया वि । गोयमा ! जीवा दुविहा पन्नत्ता । तं जहा–संसारसमावन्नगा य, असंसारसमावन्नगा य । तत्थ णं जे ते असंसारसमावन्नगा, ते णं सिद्धा, सिद्धाणं अकिरिया । तत्थ णं जे ते संसारसमावन्नगा ते दुविहा पण्णत्ता । तं जहा–सेलेसिपडिवन्नगा य, असेलेसि–पडिवन्नगा य । तत्थ णं जे ते सेलेसिपडिवन्नगा ते णं अकिरिया, तत्थ णं जे ते असेलेसिपडिवन्नगा ते णं सकिरिया । से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ–जीवा सकिरिया वि अकिरिया वि ॥

"जीवा णं भंते!" इत्यादि सुगमम, नवरम् (संसारसमावन्नगा इति) संसारं चतुर्गतिभ्रमणरूपं सम्यगकीभावेनापन्ना एवं संसारसमापन्नकाः। प्राकृतत्वात्स्वार्थे कप्रत्ययः। तद्विपरीता असंसारसमापन्नकाः। चशब्दौ स्वगतानेकभेदसूचकौ। तत्र येऽसंसारसमापन्नकास्ते सिद्धाश्च देहमनोवृत्त्यभावतोऽक्रियाः, ये तु संसारसमापन्नकास्ते द्विविधाः– शैलेशीप्रतिपन्नका अशैलेशीप्रतिपन्नकाश्च। शैलेशी नामायोग्यवस्था, तां प्रतिपन्नाः शैलेशीप्रतिपन्नाः, ततः पूर्ववत् स्वार्थिकः कप्रत्ययः। शैलेशी– प्रतिपन्नकाः। तद्व्यतिरिक्ताः अशैलेशीप्रतिपन्नकाः। तत्र शैलेशीप्र- तिपन्नकास्ते सूक्ष्मबादरकायवाङ्मनो योगनिरोधादक्रियाः, ये त्वशैले- शीप्रतिपन्नकास्ते सयोगित्वात् सक्रियाः। "से तेणट्ठेणं" इत्याद्युपसंहार- वाक्यम्। तदेवं से सक्रिया ये वाऽक्रियास्ते उक्ताः॥

संप्रति यथा प्राणातिपातक्रिया भवति तथा दर्शयति –

अत्थि णं भंते ! जीवाणं पाणाइवाएणं किरिया कज्जइ ? हंता अत्थि॥

"अत्थि णं भंते!" इत्यादि अस्त्येतत्, णमिति वाक्यालङ्कारे, भदन्त! जीवानां प्राणातिपातेन प्राणातिपाताध्यवसायेन, क्रिया, सामर्थ्यात् प्राणातिपातक्रिया क्रियते। कर्मकर्त्तर्ययं प्रयोगो भवतीत्यर्थः। अनद्यतनयाऽभिप्रायात्मकोऽयं प्रश्नः। कतमोऽत्र नयोऽयमध्यवसायस्पृष्ट इति चेत्, उच्यते–ऋजुसूत्रम्। तथाहि– ऋजुसूत्रय हिंसापरिणतिकाल एव प्राणातिपातक्रियोच्यते, पुण्यपापकर्मोपादानुपादानयोरध्यवसा- यानुरोधित्वात्, नान्यथा परिणताविति। भगवानपि तां ऋजुसूत्रयमधि- कृत्य प्रत्युत्तरमाह– "हंता अत्थि"। हन्तेति प्रेषणप्रत्यवधारणविवादेषु। अत्र प्रत्यवधारणे, अस्त्येतत् प्राणातिपाताध्यवसायेन प्राणाति– पातक्रिया भवति। "परिणामियं पमाणं, णिच्छयमवलंवमाणाणं" इत्याद्यागमवचनस्य स्थितत्वात्। अमुमेव वचनमधिकृत्यावश्यकेऽपीदं सूत्रं प्रावर्त्तिष्ट – " आया चेव अहिंसा, आयाहिं सत्ति निच्छओ एस" इति। तदेवं यथा प्राणातिपातक्रिया भवति तथोक्तम्।

संप्रति कस्मिन् विषये सा प्राणातिपातक्रिया भवतीत्येतन्निरूपयति–

कम्हि णं भंते ! जीवाणं पाणाइवाए णं किरिया कज्जइ ? गोयमा! छसु जीवणिकाएसु॥

'कम्हि ण' इत्यादि सुगमम्, नवरं मारणाध्यवसायो जीवविषयो भवति नाजीवविषयोऽपि, रज्जवादौ सर्पादिबुद्ध्या मारणाध्यवसायोऽपि सर्पोऽयमिति बुद्ध्या प्रवर्त्तमानत्वात् जीवविषय एव, न खलु रज्जवादौ रज्जवादितया परिच्छिन्ने कश्चित्तद्विषयं मारणाध्यवसायं विदधाति, ततः प्राणातिपातक्रिया षट्सु जीवनिकायेषूक्ता।

एतामेव प्राणातिपातक्रियामुक्तप्रकारेण नैरयिकादिकं चतुर्विंशतिदण्डकमधिकृत्य चिन्तयति–

अत्थि णं भंते ! नेरइयाणं पाणाइवाए णं किरिया कज्जइ ! ? गोयमा ! एवं चेव। एवं जाव निरंतरं वेमाणियाणं।

(अत्थि णं भंते! इत्यादि) नवरमेष सूत्रपाठः – "अत्थि णं भंते! नेरइयाणं पाणाइवाए णं किरिया कज्जइ ? हंता अत्थि। कम्हि णं भंते! पाणाइवाएणं किरिया कज्जइ ? गोयमा ! छसु जीवनिकाएसु" एवं तावद्वाच्यं यावद्वैमानिकसूत्रम्। तदेवं यथा प्राणातिपातक्रिया भवति यद्विषया च तत्प्रतिपादितम्।

(५) संप्रत्येवमेव मृषावादादिविषयाण्यपि सूत्राण्याह–

अत्थि णं भंते! जीवाणं मुसावाएणं किरिया कज्जइ ? हंता अत्थि। कम्हि णं भंते ! जीवाणं मुसावाएणं किरिया कज्जइ ? गोयमा ! सव्वदव्वेसु। एवं निरंतरं णेरइयाणं जाव वेमाणियाणं। अत्थि णं भंते। जीवाणं अदिन्नादाणेणं किरिया कज्जइ ? हंता अत्थि। कम्हि णं भंते ! जीवाणां अदिन्नादाणेणं किरिया कज्जइ ? गोयमा ! गहणधारणिज्जेसु दव्वेसु। वं णेरइयाणं निरंतरं जाव वेमाणियाणं अत्थि णं भंते ! जीवाणं मेहुणेणं किरिया कज्जइ ? हंता अत्थि। कम्हि णं भंते ! जीवाणं मेहुणेणं किरिया कज्जइ? गोयमा! रूवेसु वा रूवसहगतेसु वा दव्वेसु। एवं णेरइयाणं जाव वेमाणियाणं। अत्थि णं भंते ! जीवाणं परिग्गहेणं किरिया कज्जइ? हंता अत्थि। कम्हि णं भंते! जीवाणं परिग्गहेणं किरिया कज्जइ? गोयमा ! सव्वदव्वेसु। एवं णेरइयाणं जाव वेमाणियाणं। एवं कोहेणं माणेणं मायालोभेणं पेज्जेणं दोसेणं कलहेणं अब्भक्खाणेणं पेसुन्नेणं परपरिवाएणं अरतिरतिए मायामोसेणं मिच्छादंसण–सल्लेणं सव्वेसु जीवणेरइयभेदेणं भाणियव्वं निरंतरं जाव वेमाणियाणं ति; एवं अट्ठारस एए दंडगा॥

"अत्थि णं भंते ! मुसावाएणं" इत्यादि सुगमम्, नवरं (किरिया कज्जइ इति) यथायोगं प्राणातिपातादिका क्रिया भवतीत्यर्थः। तथा सतोऽला- पोऽसतश्च प्ररूपणं मृषावादः, स च लोकालोकगतसमस्तवस्तुविषयोऽपि घटते। तदुक्तं मृषावादसूत्रम्– "सव्वदव्वेसु" इति। द्रव्यग्रहणमुपलक्षणम्, तेन पर्यायेष्वपीत्यपि द्रष्टव्यम्। यथा यद्वस्तु गृहीतुं धारयितुं वा शक्यते तद्विषयमादानं भवति न शेषविषयमतोऽदत्तादानसूत्रे "गहण–धारणिज्जेसु दव्वेसु" इत्युक्तम्। मैथुनाध्यवसायेऽपि चित्रलेपकाष्ठादिकर्मगतेषु रूपेषु सहगतेषु वा स्त्र्यादिषु ततो मैथुनसूत्रे उक्तम्– "रूवेसु वा रूवसहगएसु वा इति"। तथा परिग्रहः स्वस्वामिभावेन मूर्च्छा, सा च प्राणिनामतिलो– भात्सकलवस्तुविषयोऽपि प्रादुर्भवति। ततः परिग्रहसूत्रे उक्तम् – "सव्वदव्वेसु" इति। अत एवान्यत्रापि प्रथमव्रतं सर्वजीवावि–षयमुक्तम्, द्वितीयचरमे सर्ववस्तुविषये, चतुर्थे तदेकदेशविषये इति। उक्तञ्च– "पढमम्मि सव्वजीवा, वीए चरिमे य सव्वदव्वाइं। सेसा महव्वया खलु, तदेकदेसम्मि नायव्वा"॥१॥ कोधादयः सुप्रतीताः, नवरं कलहो राटिः अभ्याख्यानमसद्दोषारोपणम्। यथा– अचौरेऽपि चौरस्त्वम्, अपारदारिकेऽपि पारदारिकस्त्वमित्यादि। इदं मृषावादेऽप्यन्तर्गतं परमुत्कृष्टोऽयं दोष इति पृथगुपात्तम्। पैशुन्यं परोक्षे सतोऽसतो वा दोषस्यो–द्घाटनम्। परपरिवादः प्रभूतजनसमक्षपरदोषविकत्थनम्। अरतिरती प्रतीते। इदमेकं समुदितं पापस्थानम्। (मायामोसेणमिति) माया च मृषा च समाहारो द्वन्द्वः। द्वन्द्वैकत्वं नपुंसकत्वमिति **"क्लीबे"** ॥२।४।९७॥ इति ह्रस्वत्वम्, तेन इह समुदायो विवक्षितो म–

हाकर्मबन्धहेतुश्चेति मृषावादमायाभ्यां पृथगुपात्तम्। [मिच्छादंसणसल्लेणं ति] मिथ्यादर्शनं मिथ्यात्वं तदेव शल्यम्, तेन। (अट्ठारस एए दंडगा इति) एते अनन्तरोदितपदोल्लेखोपदर्शिताः सर्वसंख्ययाऽष्टादश दण्डका भवन्ति, प्राणातिपातादीनां पापस्थानानामष्टादशत्वात्। तदेवमष्टादश-पापस्थानान्यधिकृत्य जीवानां क्रियाऽक्रियाविषयश्चोपदर्शितः।

[६] साम्प्रतं तान्येवाधिकृत्य जीवानामेकत्वपृथक्त्वाभ्यां कर्मबन्धत्वमुपदर्शयिषुराह –

जीवे णं भंते ! पाणाइवाएणं कति कम्मपगडीओ बंधइ ? गोयमा? सत्तविहबंधए वा अट्ठविबंधए वा, एवं णेरइए जाव वेमाणिए। जीवा णं भंते ! पाणाइवाएणं कति कम्मपयडीओ बंधंति? गोयमा! सत्तविहबंधगा वि, अट्ठविहबंधगा वि। णेरइयाणं भंते ! पाणाइवाएणं कति कम्मपगडीओ बंधति ! गोयमा सव्वे वि ताव होज्ज सत्तविहबंधगा अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधए य, अहवा सत्तविहबंधगा य, अट्ठविहबंधगा य। एवं असुरकुमारा वि जाव थणियकुमारा। पुढविआउतेउवा–उवणस्सइकाइया य एए सव्वे वि जहा ओहिया जीवा अवसेसा जहा णेरइया। एवं एए जीवा एगिंदियवज्जा तिन्नि भंगा सव्वत्थ भाणियव्व त्ति जाव मिच्छादंसणसल्लेणं। एवं एगल्लपोहत्तिया छत्तीसं दंडगा हों ति।

"जीवे णं भंते ! इत्यादि सुगमम्, नवरं सप्तविधबन्धकत्वमायुर्बन्ध-विरहकाले आयुर्बन्धकाले चाष्टविधबन्धकत्वं पृथक्त्व चिन्तायां सामान्यतोजीवपदे सप्तविधबन्धका अष्टविधबन्धका अपि सदैव बहुत्वेन लभ्यते, तत, उभयत्रापि बहुवचनमित्येवं रूप एक एव बन्धभङ्गः। नैरयिकसुत्रे सप्तविधबन्धका अवस्थिता एव, हिंसापरिणामपरिणतानां सदैव बहुत्वेन लभ्यमानानां सप्तविधबन्धकत्वस्यावश्यंभावित्वात्। ततो यदा एकोऽप्यष्ट–विधबन्धको न लभ्यते तदैष भङ्गः। सर्वेऽपि तावद्भवेयुः सप्तविधबन्धका इति। यदा पुनरेकोऽष्टविधबन्धकः, शेषाः सर्वे सप्तविधबन्धकास्तदा द्वितीयो भङ्गः। सप्तविधबन्धकाश्च अष्टविधबन्ध-काश्च। यदा त्वष्टविधबन्धका अपि बहवो लभ्यन्ते तदोभयगतबहुवचन-रूपस्तृतीयो भङ्गः। सप्तविधबन्धकाश्च अष्टविधबन्धकाश्च। एवं भङ्गत्रयेणासुरकुमाराद योऽपि तावद् वक्तव्या यावत् स्तनितकुमाराः पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिकायिकाः। यथा सामान्यतो जीवा उक्तास्तथा वक्तव्या उभयत्रापि बहुवचनेनैक एव भङ्गो वक्तव्य इति भावः, पृथिव्यादीनां हिंसा–परिणामपरिणतानां प्रत्येकं सप्तविधबन्धकानामष्टाविधबन्ध-कानां च सदैव बहुत्वेन लभ्यमानत्वात्। शेषा द्वित्रिचतुरिन्द्रियतिर्यक्प-श्चेन्द्रियमनुष्यव्यन्तरज्योतिष्कवैमानिका यथा नैरयिका भङ्गत्रिकेणोक्तास्तथा वक्तव्याः। यथा च प्राणातिपातेनैकत्वपृथक्त्वाभ्यां द्वौ दण्डकावुक्तावेवं सर्वपापस्थानैरपि प्रत्येकं द्वौ द्वौ दण्डकौ वक्तव्यौ। तथा चाह– "जाव मिच्छादसणसल्लेणं।" सर्वसङ्ख्यया कियन्तो दण्डका भवन्तीति चेत्, अत आह–"एवं एगल्लपोहत्तिया छत्तीसं दंडगा होंति" अष्टादज्ञानां द्वाभ्यां गुणने षट्त्रिंशद्भावात्।

(७) ज्ञानावरणीयादि कर्म बध्नन् जीवः कतिभिः क्रियाभिः समापयतीति बहुत्वमाश्रित्याह –

जीवे णं भंते ! नाणावरणिज्जं कम्मं बंधमाणे कति किरिए ? गोयमा! सिय तिकिरिए सिय चउकिरिए सिय पंचकिरिए जाव वेमाणिए। जीवा णं भंते ! नाणावरणिज्जं कम्मं बंधमाणा कति किरिया? गोयमा ! तिकिरिया वि चउकिरिया वि पंचकिरिया वि, एवं णेरइया जाव वेमाणिया। एवं दरिसणावरणीयं वेयणिज्जं मोहणिज्जं आउयं नामं गोयं अंतराइयं च अट्ठ वि कम्मपगडीओ भाणियव्वाओ एगत्तपोहत्तिया सोलस दंडगा भवंति।

"जीवा णं भंते !" इत्यादि। अथ कोऽस्य सूत्रस्यापि सम्बन्धः। उच्यते– इह प्रागुक्तं जीवप्राणातिपातेन सप्तविधमष्टाविधं वा कर्म बध्नाति, स तु तमेव प्राणतिपातं ज्ञानावरणीयादि कर्म बध्नन् कतिभिः क्रियाभिः समापयतीति प्रतिपाद्यते। अपिचकार्येण ज्ञानावरणीयाख्येन कर्मणा कारणस्य प्राणातिपाताख्यस्य निवृत्तिभेद उपदर्श्यते, तद्भेदाच्च बन्धविशेषोऽपीति। उक्तञ्च– "तिसृभिः चतसृभिरथ पञ्चभिश्च हिंसा समाप्यते क्रमशः बन्धोऽस्य विशिष्टः स्याद्योगप्रद्वेषिसाम्यं वा" इति। तदेव प्राणातिपातस्य निवृत्तिभेदं दर्शयति– "सिय तिकिरिये" इत्यादि। स्यात्कदाचित् त्रिक्रियः, कदाचिच्चतुष्क्रियः, कदाचित्पञ्चक्रियः। तत्र त्रिक्रि यता कायिक्याधिकरणिकी प्राद्वेषिकीभिः क्रि याभिः। कायिकी नामुहस्तपादादिव्यापारणम्। आधिकरणिकी– खड्गादिप्रगुणीकरणम्। प्राद्वेषिकीमारयाम्येनमित्यशुभमनः– संप्रधारणमिति। चतुष्क्रियता कायिक्याधिकरणि कीप्राद्वेषिकीपारितापनिकीभिः। पारितापनिकी नामखड्गादिघातेन पीडाकरणम्, पञ्चक्रियता यदा प्राणातिपातक्रियाऽपि पञ्चमी भवति, प्राणातिपातक्रि या जीविताद्व्यपरोपणम्। एवं नैरयिकादारभ्य चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण तावद्वक्तव्यं यावद्वैमानिकसूत्रम्। सूत्रपाठस्त्वेवम् – "नेरइया णं भंते ! नाणावरणिज्जं कम्मं बंधमाणे कइ किरिए पन्नत्ते" इत्यादि। तदेवमेकत्वेन दण्डक उक्तः। सम्प्रति बहुत्वेनाह– "जीवा णं भंते !" इत्यादि प्रश्नसुत्रं सुगमम्। भगवानाह– गौतम ! जीवास्त्रिक्रिया अपि चतुष्किया अपि। किमुक्तं भवति? जीवा ज्ञानावरणीयं कर्मबध्नन्तः सदैव बहव एव त्रिक्रिया अपि चतुष्क्रिया अपि पञ्चक्रिया अपि लभ्यन्ते इत्येक एव भङ्गः। यथा च सामान्यतो जीवपदेऽभङ्गकं तथा नैरयिकादिषु चतुर्विंशतौ स्वस्थानेषु प्रत्येकमभङ्गकं द्रष्टव्यम्, नैरयिकादीनामपि ज्ञानावरणीयं कर्म बध्नतां सदैव त्रिक्रि याणामपि चतुष्क्रियाणामपि पञ्चक्रियाणामपि च बहुत्वेन लभ्यमानत्वात्। यथा च ज्ञानावरणीयं कर्माधिकृत्य एकत्वपृथक्त्वाभ्यां द्वौ दण्डकावुक्तौ तथा दर्शनावरणीयादीन्यपि कर्माण्यधिकृत्य प्रत्येकं द्वौ द्वौ दण्डकौ वक्तव्यौ। तत एवं सति सर्वसंख्यया षोडश दण्डकाः॥

जीवे णं भंते ! जीवातो कइ किरिए ? गोयमा ! सिय तिकिरिए सिय चउकिरिए सिय पंचकिरिए सिय अकिरिए॥

(जीवे णं भंते ! जीवाओ कइ किरिए इति)। अथ कोऽस्य सूत्रस्य सम्बन्धः? उच्यते–इह न केवलं वर्तमानभववर्तिनो जीवस्य ज्ञानावरणीयादिकर्मबन्धोभेदप्ररूपणे कायिक्यादिक्रियाविशेषणः प्राणातिपातभेदो भवति, किन्त्वतीतभवकायसम्बन्धः कायिक्यादिक्रियाविशेषेणापि। तत एतस्यार्थस्य प्रतिपादनार्थमिदं सूत्रम्। अस्य चेयमेवं पूर्वाचार्योपदर्शिता भावना– "इह संसाराडवीए परिब्भमंतेहिं सव्वजीवेहिं तेसु तेसु ठाणेसु सरीरोवाहिणा विप्पमुक्का तेहि य सव्वभूएहिं जया कस्सइ" स्वतः परितापनादयो भवन्ति "तया तस्सामिणो भवंतरं गयस्स वि" तत्रानिवृत्तत्वात् "किरिया संभवइ" इति। व्युत्सृष्टे तु न भवति, निवृत्तत्वात्। एत्थ उदाहरणम्– "वसंतपुरे न यरेअज्जसेणस्स रन्नो परिचारणगा दुवे कुलपुत्तगा। तत्थेगो समणसड्ढो, इयरो मिच्छादिट्ठी। अन्नया रयणीए रन्नो निस्सरणं, संभमतुरंताणं तेसिं घोडगारूढाणं खग्गा पब्भट्ठा, सड्ढेण जत्ताकोलाहलो मग्गिओ न लहइ। इयरेण हसियं। किमण्णे ण होसंति। सड्ढेण अहिगरणं ति कट्ठवोसिरियं। इयरे खग्गग्गाहिणो वंदिग्गहसाहसिएहिं लद्धा गहिआ, अन्नेहिं रायवहेल्लओ पलायमाणो वावाइओ। तओ आरक्खिएहिं गहिऊण रायसमीचं नीया। कहिओ वुत्तंतो। कुविओ राया। पुच्छियं च णेण–कस्स तुब्भे? तेहिं कहियं–अणाहा वल्लं चिय कप्पडिया एत्थ एतम्ह लग्गा कहिं लद्धि त्ति पुच्छिएहिं कहियं–पडिया इति। तओ सामरिसेण रन्ना भणियं–गवेसइ तुरियं मम अणवद्धवेरिणं ईसरपुत्तस्स णं महापमत्ताणं केसि इमे खग्गं ति? तओ तेहिं निउणं गवेसिऊण विन्नत्तं रन्नोसामि! गुणचंदबालचंदावियि। तओ रन्ना पि हप्पिहं सद्दावेऊण भणियालेह नियखग्गे। एक्केण गहियं, पुच्छिओ रन्ना कहं ते पणट्ठं ति। तेण कहियं जहावित्तं, कीस न गविट्ठं? भणइ–सामि ! तुम्ह पसाएण एद्दहमेत्तमवि गवेसामि। सड्ढो नेच्छइ। रन्ना पुच्छिओकीस न गेण्हसि? तेण भणियं–सामि ! अम्हाणमेस ठिई चेव नत्थि, जमेवं गिण्हिज्जइ, अहिगरणंतणओ परं संभमेण मग्गंतेण वि लद्धं ति वोसिरियं, अतो न कप्पइ मे गिण्हिउं। तओ पमायकारी अणुसासिओ। इयरो वि मुक्को य। एस दिट्ठंतो य। सो य से अत्थोवणओ–जहा सो पमायगब्भेण अवोसिरियदोसेण अवराहं पत्तो, एवं जीवो वि जम्हंतरब्भत्थं देहोवहाइ अवोसिरंतो अणुभयभावतो पावेइ दोसं" श्रूयते च–जातिस्मरणादिना विज्ञाय पूर्वदेहमतिमोहात् सुरनन्दीप्रत्यस्थिशकलानि नयन्तीति। इदानीं सूत्रव्याख्या–जीवो भदन्त ! जीवमधिकृत्य कतिक्रियः प्रज्ञप्तः? भगवानाह–गौतम!स्यात्कश्चित्त्रिक्रियः, कायिक्याधिकरणकी प्राद्वेषिकीभावात्, ततो वर्तमानभवमधिकृत्य भावना प्राग्वद्भावनीया। अतीतभवमधिकृत्यैव म्कायिकी, तत्सम्बन्धिनः कायस्य कायैकदेशस्य वा व्याप्रियमाणत्वात्। आधिकरणिकीवत्संयोजितानां हलगरकूटयन्त्रादीनां तन्निर्वर्त्तितानां वा असिकुन्ततोमरादीनां परोपघाताय व्याप्रियमाणत्वात्। यदि वा देहोऽप्यधिकरणमित्याधिकरणिक्यपि प्राद्वेषिकी तद्विषया कुशलपरिणामप्रवृत्तेरप्रत्याख्यानत्वात् स्याच्चतुष्क्रियाः। पारितापनिक्यपि कायेन कायैकदेशेनाधिकरणेन वा तत्सम्बन्धिनी क्रिया क्रियमाणत्वात् स्यात्पञ्चक्रियः। यदा तेन जीवितादपि व्यपरोपणमाधीयते स्यादक्रियः, यदा पूर्वजन्मभाविशरीरमधिकरणं वा त्रिविधं त्रिविधेन व्युत्सृष्टं भवति, नचापि तज्जन्मभावना शरीरेण काचिदपि क्रियां करोति। इदं चाक्रियत्वं मनुष्यापेक्षया द्रष्टव्यम्, तस्यैव सर्वविरतिभावात्, सिद्धापेक्षया वा तस्य देहमनोवृत्त्यभावेनाक्रियत्वात्।

(८)अमुमेवार्थं चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण निरूपयति–

जीवे णं भंते ! णेरयियाओ कइ किरिए? गोयमा ! सिय तिकिरिए सिय चउकिरिए सिय अकिरिए। एवं जाव थणियकुमाराओ पुढविकाइयाओ आउकाइयाओ तेउकाइयवाउकाइयवणस्सइकाइयबेइंदियतेइंदियचउरिंदियपंचिंदिए तिरिक्खजोणियमणुस्साओ जहा जीवाओ वाणमंतरजोइसिवेमाणियातो जहा णेरइयाओ।

'जीवेणं भंते ! नेरइयाओ कइ किरिए' इत्यादि सुगमम्। नवरमयं भावार्थः– देवनारकान् प्रति चतुष्क्रिय एव, तेषांजीविताद् व्यपरोपणस्यासम्भवात्, अनपवर्त्यायुषो नारकदेवा इति वचनात्। शेषान् संख्येयवर्षायुषः प्रति पञ्चक्रियोऽपि, तेषामपवर्त्यायुष्कतया जीविताद् व्यपरोपणस्यापि सम्भवात्। तदेवमेकस्य जीवस्य एकजीवं प्रति क्रियाश्चिन्तिताः।

संप्रत्येकस्यैव जीवस्य बहून् जीवान् प्रति क्रियाश्चिन्तयति–

जीवे णं भंते ! जीवेहिंतो कति किरिए पण्णत्ते ? गोयमा ! सिय तिकिरिए सिय चउकिरिए सिय पंचकिरिए सिय अकिरिए। जीवे णं भंते ! नेरइएहिंतो कति करिए? गोयमा ! सिय तिकिरिए सिय चउकिरिए सिय अकिरिए। एवं जहेव पढमो दंडओ तहा एसो वि वितिओ भाणियव्वो। जीवा णं भंते ! जीवाओकति किरिया गोयमा ! सिय तिकिरिया वि, सिय चउकिरिया वि, सिय पंचकिरिया वि॥

"जीवे णं भंते ! जीवेहिन्तो कइ किरिए" इत्यादि। एषोऽपि दण्डकः प्रथमदण्डकवदवसेयः।

अधुना बहूनां जीवानां बहून् जीवानधिकृत्य सूत्रमाह -

जीवा णं भंते ! नेरइयाओ कति किरिए ? गोयमा ! जहेव आदिल्लदंडओ तहेव भाणियव्वो जाव वेमाणिय त्ति। जीवाणं भंते ! जीवेहिंतो कइ किरिया ? गोयमा ! तिकिरिया वि, चउकिरिया वि, पंचकिरिया वि, अकिरिया वि। जीवा णं भंते ! नेरइएहिंतो कति किरिया ? गोयमा ! तिकिरिया वि, चउकिरिया वि, अकिरिया वि, असुरकुमारेहिंतो वि एवं चेव जाव वेमाणिएहिंतो ओरालियसरीरेहिंतो जहा जीवेहिंतो॥

'जीवा णं भंते !'इत्यादि। अत्र प्रश्नः पाठसिद्धः। निर्वचनमिदम्गौतम ! त्रिक्रिया अपि चतुष्क्रिया अपि पञ्चक्रिया अपि। कस्याऽपि जीवस्य कमपि जीवं प्रति त्रिक्रियत्वात्, कस्यापि चतुष्क्रियत्वात्, कस्यापि पञ्चक्रियत्वात् कस्यापि मनुष्यस्य सर्वोत्तमचारित्रिणः सिद्धस्य वा शेषस्याऽक्रियत्वादिति। सर्वत्र बहुवचनरूप एक एव भङ्गः। एवं नैरयिकादिक्रमेण तावद्वक्तव्यं यावद्वैमानिकसूत्रम्, नवरं नैरयिकान् देवाँश्च प्रति त्रिक्रि–

या अपि चतुष्किया अपि अक्रिया अपीति वक्तव्यम् । शेषान् संख्येयवर्षायुषः प्रति पञ्चक्रिया अपीति । तदेवं सामान्यतो जीवपदमधिकृत्य दण्डकचतुष्टयमुक्तम्।

सम्प्रति नैरयिकपदमधिकृत्याऽऽह –

नेरइए णं भंते ! जीवाओ कइ किरिए ? गोयमा ! सिय तिकिरिए सिय चउकिरिए सिय पंचकिरिए । नेरइए णं भंते ! नेरइयातो कइ किरिए ? गोयमा ! सिय तिकिरिए सिय चउकिरए सिय एवं जाव वेमाणिएहिंतो, नवरं णेरइयस्स णेरइएहिंतो देवेहिन्तो य पंचमा किरिया नत्थि । णेरइया णं भंते ! जीवाओ कइकिरिया ? गोयमा ! सिय तिकिरिया सिय चउकिरिया सिय पंचकिरिया । एवं जाव वेमाणियाओ, नवरं णेरयियाओ देवाओ य पंचमा किरिया नत्थि । णेरइए णं भंते! जीवेहिंतो कइ किरिया ? गोयमा ! तिकिरिया वि, चउकिरिया वि, पंचकिरिया वि । णेरइया णं भंते ! णेरइएहिंतो कइ किरिया ? गोयमा ! तिकिरिया वि चउकिरिया वि । एवं जाव वेमाणिएहिंतो, नवरं ओरालियसरीरेहिंतो जहा जीवेहिंतो।।

"नेरए णं भंते ! जीवाओ कइ किरिए ?" इत्यादि । ''एवं जाव वेमणिएहिंतो'' इति । अत्र यावत्करणात् नैरयिको जीवान् प्रति कतिक्रि य इति । इत्यादिरुपो द्वितीयोऽपि दण्डक उक्तो द्रष्टव्यः। सर्वत्र औदारिकशरीरान् संख्येयवर्षायुषः प्रति स्यात्त्रिक्रि यः स्याच्चतुष्क्रियः स्यात्पञ्चक्रिय इति वक्तव्यम् । नैरयिकदेवान् प्रति पञ्चमी जीविताद्व्य परोपणरूपा क्रिया नास्ति, तेषामनपवर्त्यायुष्कत्वात् । ततस्तान् प्रति स्यात्त्रिक्रि यः स्याच्चतुष्क्रि य इति वक्तव्यम्। नैरयिको देवान् प्रति कथं चतुष्क्रिय इति चेत्, उच्यते– इह भवनवास्यादयो देवाः तृतीयां पृथिवीं यावद्गता गमिष्यिन्ति च । किमर्थं गता गमिष्यन्ति ? इति चेत् । उच्यते– पूर्वसाङ्गतिकस्य वेदनामुपशमयितुं पूर्ववैरिणो वेदनामुदीरयितुं तत्र गच्छन्ति, तदानीमनन्तकालादेतदपि भवति तद्गताः सन्तो नारकैर्बध्यन्त इति। आह च मूलटीकाकारोऽपि–तत्र गता नारकैर्बध्यन्ते इत्यप्यनन्त-काल एव कथञ्चित्सम्भवमात्रमिति। अत्रापर आह–तं तु नारकस्य द्वीन्द्रियादीनधिकृत्य कायिक्यादिक्रियासम्भवः।उच्यते–इह नारकैर्य-स्मात्पूर्वभवशरीरं न व्युत्सृष्टं, विवेकाभावात्, तद्भावश्च भवप्रत्ययात्, ततोयावच्छरीरं तेन जीवेन निर्वर्तितं सततं शरीरपरिणामं सर्वथा न परित्यजति, तावद्देशतोऽपि तं परिणामं भजमानं पूर्वभावप्रज्ञापनया तस्येति व्यपदिश्यते, घृतघटवत् । यथा हि घृतपूर्णो घटो घृतेऽपगते पिघृतघट इति व्यपदिश्यते, तथा तदपि शरीरं तेन निर्वर्तितमिति तस्येति व्यपदेशमर्हति । ततस्तस्य शरीरस्य एकदेशेनास्थ्यादिना योऽन्यः प्राणातिपातं करोति ततः पूर्वनिर्वर्तितशरीरजीवोऽपि कायिक्यादिक्रिया-भिर्युज्यते, तेन तस्याव्युत्सृष्टत्वात्। तत्रेयं पञ्चानामपि क्रि याणां भावना– तत्कायस्य व्याप्रियमाणत्वात्कायिकी, कायोधिकरणमपि भवतीत्युक्तं प्राक्, तत आधिकरणकी प्राद्वेषिक्यादयस्त्वेवम्–यदा तमेव शरीरैकदेश अभिघातादिसमर्थमन्यः कश्चनापि प्राणातिपातोद्यतो दृष्ट्वा तस्मिन् आ तेन्द्रियादौ समुत्पन्ने क्रोधादिकारणोऽभिघातादिसमर्थमिदं शस्त्रमिति चिन्तयन् अतीव क्रोधादि परिणामं भजते, पीडां चोत्पादयति, जीविताच्च व्यपरोपयति, तदा तत्संबन्धप्राद्वेषिक्यादि क्रियाकारणत्वात् । नैगमनयाभिप्रायेण तस्यापि प्राद्वेषिकी पारितापनिकी प्राणातिपात-क्रिया च ॥

असुरकुमारे णं भंते ! जीवाओ कति किरिए ? गोयमा ! जहेव णेरइए चत्तारि दंडगा तहेव असुरकुमारे वि चत्तारि दंडगा भाणियव्वा । एवं उववज्जिऊण भावेयव्वं ति । जीवे मणुस्से य अकिरिए वुच्चइ, सेसा अकिरिया ण वुच्चंति सव्वजीवा । ओरालियसरीरेहिंतो पंच किरिया । णेरइयदेवेहिंतो पंच किरिया ण वुच्चंति । एवं एक्केक्कजीवपदे चत्तारि चत्तारि दंडगा भाणियव्वा एवं एतं दंमगसतं सव्वे वि य जीवादिया दंमगा ॥

यथा च नैरयिकपदे चत्वारो दण्डका उक्ताः, तथा असुरकुमारा-दिष्वपि, शेषेषु त्रयोविंशतौ स्थानेषु चत्वारश्चत्वारो दण्डका वक्तव्याः । नवरम् जीवपदे मनुष्यपदे वा क्रिया इत्यादि वक्तव्यम्, विरतिप्रतिपत्तौ व्युत्सृष्टत्वेन तन्निमित्तक्रि यायाः असंभवात्, शेषा अक्रि या नोच्यन्ते, विरत्यभावतः स्वशरीरस्य भवान्तरगतस्याव्युत्सृष्टत्वेनावश्यक्रिया-संभवात् । तदेवं सामान्यतो जीवपदे एकम्, शेषाणि तु नैरयिकादीनि स्थानानि चतुर्विंशतिरिति सर्वसंख्यया पञ्चविंशतिः, एकैकस्मिँश्च स्थाने चत्वारो दण्डका इति सर्वसङ्कलया दण्डकशतम्। प्रज्ञा. २२ पदे।

जीवे णं भंते ! ओरा लियसरीराओ कइ किरिए ? गोयमा ! सिय तिकिरिए सिय चउकिरिए सिय पंचकिरिए सिय अकिरिए । नेरइए णं भंते ! ओरालियसरीराओ कइ किरिए ? गोयमा ! सिय तिकिरिए सिय चउकिरिए सिय पंचकिरिए । असुरकुमारे णं भंते! ओरालियसरीराओ कइ किरिए? एवं चेव जाव वेमाणिए, णवरं मणुस्से जहा जीवे । जीवे णं भंते ! ओरालियसरीरेहिंतो कइ किरिए ? गोयमा ! सिय तिकिरिए जाव सिय अकिरिए । नेरइए णं भंते !ओरालियसरीरोहिंतो कइ किरिए ? एवं एसो जहा पढमो दंडओ तहा इमो वि अपरिसेसो भाणियव्वो जाव वेमाणिए, णवरं मणुस्से जहा जीवे । जीवा णं भंते !ओरालियसरीराओ कइ किरिया ? गोयमा ! सिय तिकिरिया जाव सिय अकिरिय। नेइया णं भंते ! ओरालियसरीराओ कइ किरिया ? एवं एसो वि जहा पढमो दंडओ तहा भाणियव्वो जाव वेमाणिया, णवरं मणुस्सा जहा जीवा । जीवा णं भंते ! ओरालियसरीरेहिंतो कइ किरिया? गोयमा ! तिकिरिया वि चउकिरिया वि पंच किरिया वि अकिरिया वि । नेरइया णं भंते ! ओरालियसरीरेहिंतो कइ किरिया ? गोयम ! चकिरिया वि, एवं जाव वेमाणिया, णवरं मणुस्सा जहा जीवा । जीवे णं भंते ! वेउव्वि–

यसरीराओ कइ किरिए ? गोयमा ! सिय तिकिरिए सिय चउकिरिए सिय अकिरिए। नेरइए णं भंते ! वेउव्वियसरीराओ कइ किरिए ? गोयमा ! सिय तिकिरिए सिय च उकिरिए एवं जाव वेमाणिए , णवरं मणुस्से जहा जावे । एवं जहा ओरालियसरीरेणं चत्तारि दंडगा तहा भाणियव्वा , णवरं पंचमकिरिया न भण्णइ, सेसं तं चेव, एवं जहा वेउव्वियं तहा आहारगं पि, तेयगं पि, कम्मगं पि भाणियव्वं । एक्केक्के चत्तारि दंडगा भाणियव्वा जाव वेमाणिया । वेमाणिया णं भंते ! कम्मगसरीरेहिंतो कइ किरिया ? गोयमा ! तिकिरिया वि, चउकिरिया वि,सेवं भंते भंते त्ति ॥

"जीवे णं" इत्यादि। (ओरालियसरीराओ त्ति) औदारिकशरीरात्परकीयमौदारिकशरिरमाश्रित्य कतिक्रियो जीवः? इति प्रश्नः । उत्तरंतु– (सिय तिकिरिए त्ति) यदैको जीवोऽन्यस्य पृथिव्यादेः सम्बन्ध्यौदारिकशरीरमाश्रित्य कायं व्यापारयति तदा त्रिक्रियः, कायिक्याधिकरणिकीप्राद्वेषिकीनां भावात्। एता सां च परस्परेणाविनाभूतत्वात्स्यात् त्रिक्रि य इत्युक्तम् । न पुनः स्यादेककि यः स्यादक्रिय इति, अविनाभावश्च तासामेव । अधिकृतक्रिया ह्यवीतरागस्यैव नेतरस्य, तथा विधकर्मबन्धहेतुत्वात् । अवीतरागकायस्य चाधिकरणत्वेन प्रद्वेषान्वितत्वेन च कायक्रियासद्भावे इतरयोरवश्यंभावः, इतरभावे च कायिकीसद्भावः। उक्तश्च (वक्ष्यते चाग्रे) प्रज्ञापनायामिहार्थे "जस्स णं जीवस्स काइया किरिया कज्जइ तस्स अहिगरणिया किरिया नियमा कज्जइ" । जस्स अहिगरणिया किरिया कज्जइ तस्स वि काइया किरिया नियमा कज्जइ'' इत्यादि। तथाऽद्यक्रियात्रयसद्भावे उत्तरक्रि याद्वयं भजनया भवति । यदाह–"जस्स णं जीवस्स काइया किरिया कज्जइ तस्स पारियावणिया सिय कज्जइ, सिय नो कज्जइ" इत्यादि । ततश्च यदा कायव्यापारद्वारेणाऽऽद्यक्रि यात्रय एव वर्तते, न तु परितापयति , न चातिपातयति तदा त्रिक्रि य एवेत्यतोऽपि स्यात् त्रिक्रि य इत्युक्तम्, यदा तु परितापयति तदा चतुष्क्रियः, आद्यक्रियात्रयस्य तत्रावश्यंभावात्। यदा त्वतिपातयति तदा पंचक्रियः, आद्यक्रियाचतुष्कस्य तत्रावश्यंभावात्। उक्त श्च "जस्स पारियावणिया किरिया कज्जइ तस्स काइया नियमा कज्जइ" इत्यादीति । अत एवाह–(सिय चउकिरिए सिय पंचकिरिए त्ति)। तथा (सिय अकिरिए त्ति) । वीतरागावस्थामाश्रित्य तस्या हि वीतरागत्वादेन न सन्त्यधिकृतक्रिया इति (नेरइए णमित्यादि) नारको यस्मादौदारिकशरीरबन्धं पृथिव्यादिकं स्पृशति परितापयति विनाशयति च तस्मादौदारिकात् स्यात् त्रिक्रि य इत्यादि। अक्रियस्त्वयंनभवत्यवीतरागत्वेन क्रि याणाम–वश्यंभावित्वादिति। (एवं चेव त्ति) स्यात् त्रिक्रिय इत्यादि सर्वं ष्वसुरादिपदेषु वाच्यमित्यर्थः। (मणुस्से जहा जीवे त्ति) । जीवपदे इव मनुष्यपदेऽक्रि यत्वमपि वाच्यमित्यर्थः जीवपदे मनुष्यसिद्धापेक्षयैवाऽक्रियत्वस्याऽधीतत्वादिति । (ओरालियसरीरेहिंतो त्ति) औदारिकशरीरेभ्य इत्येवं बहुत्वापेक्षोऽयमपरो दण्डकः । एवमेतौ जीवस्यैकत्वेन द्वौ दण्डकौ । एवश्च जीवबहुत्वेनापरौ द्वावेवमौदारिकशरीरापेक्षया चत्वारो दण्डका इति । "जीवे णमित्यादि" जीवः परकीयं वैक्रि यशरीरमाश्रित्य कतिक्रियः? उच्यते–स्यात् त्रिक्रिय इत्यादि । पञ्चक्रियश्चेह नोच्यते, प्राणातिपातस्य वैक्रियशरीरिणः कर्तुमशक्यत्वादविरतिमात्रस्य चेह विवक्षितत्वात्। अत एवोक्तम्–"पंचमकिरियान भण्णइ त्ति" एवं "जहा वेउव्वियं तहा आहारयं पि तेयगंपि कम्मगं पि भाणियव्वं ति" अनेनाहारकादिशरीरत्रयमप्याश्रित्य दण्डकचतुष्टयेन नैरयिकादिजीवानां त्रिक्रियत्व चतुष्कियत्वं चोक्तम्। पञ्चक्रियत्वं तुनिवारितं, मारयितुमशक्यत्वात्तस्येति। अथ नारकस्याधोलोकवर्तित्वादाहारकशरीरस्य च मनुष्यलोकवर्तित्वेन तत्क्रियाणामविषयत्वात् कथमाहारकशरीरमाश्रित्य नारकः स्यात्त्रिक्रि यः स्याच्चतुष्क्रियः? इति । अत्रोच्यते– यावत्पूर्वशरीरमव्युत्सृष्टं जीवनिर्वर्त्तितपरिणामं न त्यज्यति तावत्पूर्वभावप्रज्ञापनानयमतेन निवर्तकजीवस्यैवेति व्यपदिश्यते घृतघटन्यायेनेत्यतो नारकपूर्वभवदेहो नारकस्यैव तद्देशेन च मनुष्यलोकवर्त्तिनाऽस्थ्यादिरूपेण यदाहारकशरीरं स्पृश्यते, परिताप्यते वा, तदाहारकदेहान्नारकस्त्रिक्रियश्चतुष्क्रि या वा भवति,कायिकीभावे इतरयोरवश्यंभावात्, पारितापनिकीभावे चाद्यत्रयस्यावश्यंभावादिति। एवमिहान्यदीप विषयमवगन्तव्यम। यच्च तैजसकार्मणशरीरापेक्षया जीवानां परितापकत्वं तदौदारिकाद्याश्रितत्वेन तयोरवसंयम्, स्वरूपेण तयोः परितापयितुमशक्यत्वादिति। भ०८ अ०६ उ०।

अथ केषां जीवानां कति क्रिया इति निरूपणार्थं
प्रागुक्तमेव सूत्रं पठन्ति –

कति णं भंते ! किरियाओ पण्णत्ताओ ? गोयमा ! पंच किरिया पण्णत्ता । तं जहा–काइया जाव पाणाइवायकिरिया ।

"कइ णं भंते ! किरिआओ पण्णत्ताओ?" इत्यादि प्राग्वत् । एता एव क्रि याश्चतुर्विं शतिदण्मकक्र मेण चिन्तयति –

णेरइयाणं भंते ! कति किरियाओ पण्णत्ताओ ? पंच किरियाओ पण्णताओ । तं जहा–काइया जाव पाणाइवायकिरिया । एवं जाव वेमाणियाणं ।

"णेरइयाणं भंते ! इत्यादि पाठसिद्धम्।"

संप्रत्यासामेव क्रियाणामेकजीवाश्रयेण परस्परमविना–
भावित्वं चिन्तयति

जस्स णं भंते ! जीवस्स काइया किरिया कज्जइ तस्स अहिगरणिया किरिया कज्जइ, जस्स अहिगरणिया किरिया कज्जइ तस्स काइया किरिया कज्जइ ? गोयमा ! जस्स णं जीवस्स काइया किरिया कज्जइ तस्स अधिगरणिया नियमा कज्जइ, जस्साधिगरणिया किरिया कज्जइ तस्स वि काइया किरिया नियमा कज्जइ। जस्स णं भंते ! जीवस्स काइया किरिया कज्जइ तस्स पाओसिया कज्जइ, जस्स पादोसिया कज्जइ तस्स काइया किरिया कज्जइ ? गोयमा ! एवं चेव । जस्स णं भंते ! जीवस्स काइया किरिया कज्जइ तस्स पारियावणिया किरिया कज्जइ तस्स पारियावणिया किरिया कज्जइ, जस्स पारियावणिया किरिया कज्जइ तस्स काइया किरिया कज्जइ ? गोयमा ! जस्स णं जीवस्स काइया किरिया कज्जइ तस्स पारियावणिया सिय कज्जइ, सिय

नो कज्जइ। जस्स पुण पारियावणिया कज्जइ तस्स काइया नियमा कज्जइ। एवं पाणाइवायकिरिया वि। एवं आदिल्लाओ परोप्परं नियमा तिन्नि कज्जइ। तस्स उवरिल्लाओ दोन्नि सिय कज्जइ,सिय नो कज्जइ। जस्स उवरिल्लाओ दोण्णि कज्जइ तस्स आदिल्लाओ नियमा तिन्नि कज्जइ॥

"जस्स णंभंते!" इत्यादि। इह कायिकी क्रिया औदारिका–दिकायाश्रिता प्राणातिपातनिर्वर्तनसमर्था प्रतिविशिष्टा परिगृह्यते। अनयोः काचन कार्मणकायाश्रिता वा ततआद्यानां तिसृणां, क्रियाणां परस्परं नियम्यनियामकभावः कथमिति चेत्? उच्यते–कायोऽधिकरणमपि भवतीत्युक्तं प्राक्। तत : कायस्याधिकरणत्वात् कायिक्यां सत्यामवश्यमाधिकरणिकी, आधिकरणिक्यामवश्यं कायिकी। सा च प्रतिविशिष्टा कायिकी क्रिया प्रद्वेषमन्तरेण न भवति, ततः प्राद्वेषिक्याऽपिसह परस्परमविनाभावः। प्रद्वेषोऽपि च काये स्फुटलिङ्ग एव, वत्क्रूरुक्षत्वादेस्तदविनाभाविनः प्रत्यक्षत एवोपलम्भात्। उक्तञ्च– "रूक्षयति रुक्षतो ननु, वत्क्रं स्निह्यति च रज्यतः पुंसः। औदारिकोऽपि देहो, भाववशात्परिणमत्येवम्" ॥१॥ परितापनस्य प्राणातिपा तस्य चाद्यक्रि यात्रयसम्भवेऽप्यनियमः कथमिति चेत्? उच्यते यद्यसौ घात्यो मृगादिर्घातकेन धनुषा क्षिप्तेन वाणादिना विध्यते ततस्तस्य परितापनं मरणं वा भवति, नान्यथा, ततो नियमा भावः, परितापनस्य प्राणातिपातस्य च भावे पूर्वक्रियाणामवश्यंभावः, तासामभावे तयोरभावात्। ततोऽमुमर्थं परिभाव्य कायिकी शेषाभिश्चतसृभिः क्रि याभिः सह, आधिकरणकी ति सृभिः प्राद्वेषिकी द्वाभ्यां सूत्रतः सम्यक् चिन्तनीया॥

पारितापनिकीप्राणातिपातक्रिययोस्तु सूत्रं साक्षादाह–

जस्स णं भंते ! जीवस्स पारियावणिया किरिया कज्जइ तस्स पाणाइवायकिरिया कज्जइ, जस्स पाणाइवायकिरिया कज्जइ तस्स पारियावणिया किरया कज्जइ? । गोयमा ! जस्स णं जीवस्स पारियावणिया किरिया कज्जइ तस्स पाणाइवायकिरिया सिय कज्जइ, सिय नो कज्जइ। जस्स पुण पाणाइवायकिरिया कज्जइ तस्स पारियावणिया किरिया नियमा कज्जइ। जस्स णं भंते ! णेरइयस्स काइया किरिया कज्जइ तस्स अधिगरणिया कज्जइ ? गोयमा ! जहेव जीवस्स तहेव णेरइयस्स वि। एवं जाव निरंतरं वेमाणियस्स।

"जस्स णं भंते!" इत्यादि। पारितापनिक्याः सद्भावे प्राणातिपातक्रि या स्याद्भवति, स्यान्न भवति। यदा वाणाद्यसिघातेन जीवितात् च्याव्यते तदा भवति, शेषकालं न भवतीत्यर्थः। यस्य पुनः प्राणातिपातक्रिया तस्य नियमात्परितापनमन्तरेण प्राणव्यपरोपणा। संप्रति नैरयिकादिचतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण परस्परमविनाभावं चिन्तयति– "जस्स णं भंते ! नेरइयस्स काइया कज्जइ" इत्यादि प्रतीतम्, भावितत्वात्। तदेवमेको दण्डक उक्तः।

संप्रति कालमधिकृत्योक्तप्रकारेणैव द्वितीयदण्डकमाह –

जं समयं णं भंते ! जीवस्स काइया किरिया कज्जइ तं समयं अधिगरणिया किरिया कज्जइ, जं समयं अहिगरणिया कज्जइ तं समयं काइया किरिया कज्जइ ? एवं जहेव आइल्लओ दंडओ तहेव भाणियव्वो जाव वेमाणियस्स॥

"जं समयं णं भंते !" इत्याद्यारभ्य सर्वं पूर्वोक्तं तदवस्त्र तावद्वक्तव्यं यावद्वैमानिकसूत्रम्। तथा चाह– "एवं जहेव आइल्लओ दंडओ तहेव भाणियव्वो जाव वेमाणियस्स" इति। समय ग्रहणेन चेह सामान्यतः कालो गृह्यते न पुनः परमनिरुद्धो यथोक्तस्वरूपो नैश्चयिकः समयः, परितापनस्य प्राणातिपातस्य वा वाणादिक्षेपजन्यतया कायिक्याः प्रथमसमये एवासम्भवात्। एष द्वितीयो दण्डकः।

सम्प्रति द्वौ दण्डकौ क्षेत्रमधिकृत्याह–

जं देसे णं भंते ! जीवस्स काइया कज्जइ तं देसं अहिगरणिया तहेव जाव वेमाणियस्स। जं पदेसे णं जीवस्स काइया किरिया कज्जइ तं पदेसं अहिगरणिया किरिया कज्जइ। एवं तहेव जाव वेमाणियस्स। एवं एते जस्स जं समयं जं देसं जं पदेसं चत्तारि दंडका होंति॥

"जं देसेणं भंते !" इत्यादि। अत्रापि सूत्रं पूर्वोक्तं तदवस्यं तावद्वक्तव्यं यावद्वैमानिकसूत्रम्। तथा चाह–"तहेव जाव वेमाणियस्स" एष तृतीयो दण्डकः। "जं पदेसे णं भंते ! जीवस्स काइया किरिया कज्जइ" इत्यादिश्चतुर्थः। अत्रापि सूत्रं प्रागुक्तक्रमेण तावद्वक्तव्यं यावद्वैमानिक-सूत्रम्। तथा चाह – "एवं तहेव जाव वेमाणिए" इति। दण्डकसंकलनामाह– एवमेते इत्यादि। एताश्च यथा ज्ञानावरणीयादिकर्मबन्धकारणं तथा संसारकारणमपि, ज्ञानावरणीयादिकर्मबन्धस्य संसारकारणतया तद्धेतुत्वेन तासामपि संसारकारणत्वोपचारात्। तथा चाह–

कति णं भंते ! आओजियाओ किरियाओ पन्नत्ताओ। गोयमा! पंच आओजिताओ किरियाओ पण्णत्ताओ? तं जहाकाइया जाव पाणाइवायकिरिया। एवं नेरइया णं जाव वेमाणिया णं॥

आयोजयन्ति जीवं संसारे इत्यायोजिकाः कायिक्यादिकाः। शेषं सर्वं सुगमम्। सूत्रपाठस्तु पूर्वोक्तप्रकारेण तावद्वक्तव्यो यावत्–

जस्स णं भंते ! जीवस्स काइया आओजिता किरिया अत्थि, तस्स अहिगरणिया आओजिआ किरिया अत्थि, जस्स अधिगरणिया आओजिता किरिया अत्थि, तस्स काइया आओजिया किरिया अत्थि ? एवं एतेणं अभिलावेणं ते चेव चत्तारि दंडगा भाणियव्वा। जस्स जं समयं जं देसं जं पदेसं जाव वेमाणियाणं॥

(जस्सेति) यं समयमिति यं देसमिति यं प्रदेशमिति परिपूर्णाः चत्वारो दण्डकाः। यं समयमित्यादि "कालाध्वनोर्व्याप्तौ" ॥२।२।४२॥ इत्यधिकरणे द्वितीया। ततो यस्मिन् समये यस्मिन् देशे यस्मिन् प्रदेशे, इति व्याख्येयम्।

जीवे णं भंते ! जे समयं काइयाए अहिगरणियाए पाओसियाए किरियाए पुट्ठे तं समयं पारितावणियाए पुट्ठे, पा–

णाइवायकिरियाए पुट्ठे ? गोयमा ! अत्थेगतिए जीवे एगतियाओ जीवाओ जं समयं काइयाए अहिगरणियाए पाओसियाए किरियाए पुट्ठे तं समयं पारियावणियाए पुट्ठे पाणाइ–वायकिरियाए पुट्ठे १। अत्थेगतिए जीवे एगतियाओ जीवाओ जं समयं काइयाए अधिगरणियाए पाओसियाए किरियाए पुट्ठे तं समयं पारितावणियाए पुट्ठे पाणाइवायकिरियाए अपुट्ठे २। अत्थेगतिए जीवे एगतियाओ जीवाओ जं समयं काइयाए अहिगरणियाए पाओसियाए किरियाए पुट्ठे तं समयं पारियावणियाए किरियाए अपुट्ठे पाणाइवायकिरियाए अपुट्ठे ३।

"जीवे णं भंते !" इत्यादि। अत्राऽपि समयग्रहणेन सामान्यतः कालो गृह्यते। प्रश्नसूत्रं सुगमम्। निर्वचनसूत्रे भङ्गत्रयी कञ्चिज्जीवमधिकृत्य कश्चिज्जीवो यस्मिन् समये काले क्रियात्रयेण स्पृष्टस्तस्मिन्समये पारितापनिक्या स्पृष्टः प्राणातिपातक्रिया चेति एको भङ्गः। पारितापनिक्या स्पृष्टः प्राणातिपातेनास्पृष्ट इति द्वितीयः। पारितापनिक्या प्राणातिपातक्रियया वा स्पृष्ट इति तृतीयः। एष च तृतीयो भङ्गो वाणादेर्लक्षात्परिभ्रंशेन घात्यस्य मृगादेः परितापनाद्यसंभवे वेदितव्यः। यस्तु यस्मिन् समयेयं जीवमधिकृत्याऽऽद्यक्रियात्रयेणास्पृष्टः स तस्मिन् समये तमधिकृत्य नियमात्पारितापनिक्या प्राणातिपातक्रियया वा स्पृष्टः, कायिक्याद्यभावे परितापनादेरभावात्। तदेवमुक्ताः क्रियाः।

साम्प्रतं प्रकारान्तरेण क्रियां निरूपयति–

कति णं भंते ! किरियाओ पण्णत्ताओ ? गोयमा ! पंच किरियाओ पण्णत्ताओ। तं जहा–आरंभिया पारिग्गहिया मायावत्तिया अपच्चक्खाणकिरिया मिच्छादंसणवत्तिया॥

"कति णं भंते!" इत्यादि। आरम्भः पृथिव्याद्युपमर्दः। उक्तं च "संकप्पो संरंभो, परितावकरो भवे समारंभो। आरंभो उद्दवतो, सुद्धु नयाणं तु सव्वेसिं" ॥१॥ आरम्भः प्रयोजनं कारणं यस्याः साऽऽरम्भिकी (पारिग्गहियति) परिग्रहो धर्मोपकरणवर्ज्यवस्तुस्वीकारः, धर्मोपकरणमूर्च्छा च। परिग्रह एव पारिग्राहिकी, परिग्रहेण निर्वृत्ता वा पारिग्राहिकी। (मायावत्तिया इति) माया अनार्जवम्, उपलक्षणत्वात् क्रोधादेरपि परिग्रहः। माया प्रत्ययं कारणं यस्याः सा मायाप्रत्यया (अपच्चक्खाणकिरिया इति) अप्रत्याख्यानं मनागपि विरतिपरिणामाभावः, तदेव क्रिया (मिच्छादंसणवत्तिया इति) मिथ्यादर्शनं प्रत्ययो हेतुर्यस्याः सा मिथ्यादर्शनप्रत्यया।

एतासां क्रियाणां मध्ये यस्य या सम्भवति तस्य तां निरुपयति–

आरंभिया णं भंते ! किरिया कस्स कज्जइ ? । गोयमा ! अन्नयरस्स वि पमत्तसंजतस्स। पारिग्गहिया णं भंते ! किरिया कस्स कज्जइ?। गोयमा ! अन्नयरस्स वि संजतासंजतस्स। मायावत्तिया णं भंते!किरिया कस्स कज्जइ ? गोयमा! अन्नयरस्स वि अपमत्तसंजयस्स। अपच्चक्खाणकिरिया णं भंते ! कस्स कज्जइ?। गोयमा ! अन्नयरस्स वि अपच्चक्खाणियस्स। मिच्छादंसणवत्तिया णं किरिया कस्स कज्जइ ? गोयमा ! अन्नयरस्स वि मिच्छादंसणस्स॥

"आरंभिया णं भंते!" इत्यादि। (अन्नयरस्स वि पमत्तसंजयस्स इति)। अत्रापिशब्दो भिन्नक्रमः। प्रमत्तसंयतस्याप्यन्यतरस्य एकतरस्य कस्यचित्प्रमादे सति कायदुष्प्रयोगभावतः पृथिवादेरुपमर्दसम्भवात्। अपिशब्दोऽन्येषामधस्तनगुणस्थानवर्त्तिनां नियमप्रदर्शनार्थः। प्रमत्तसंयतस्याप्यारम्भिकी क्रिया भवति, किं पुनः शेषाणां देशविरतिप्रभृतीनामिति। एवमुत्तरत्रापि यथायोगमपिशब्दभावना कर्त्तव्या। पारिग्राहिकी संयतासंयतस्यापि देशविरतस्यापीत्यर्थः, तस्याऽपि परिग्रहधारणात्। मायाप्रत्यया अप्रमत्तसंयतस्याऽपि। कथमिति चेत्? उच्यते–प्रवचनोड्डाहप्रच्छादनार्थं वल्मीकरणसमुद्देशादिषु अप्रत्याख्यानक्रिया अन्यतरस्याप्यप्रत्याख्यानिनः, अन्यतरदपि न किञ्चिदपीत्यर्थः। यो न प्रत्याख्याति तस्येति भावः। मिथ्यादर्शनक्रिया अन्यतरस्यापि सूत्रोक्तमेकमप्यक्षरं वाऽरोचयमानेत्यर्थः मिथ्यादृष्टिर्भवति।

एता एव क्रियाश्चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण निरूपयति–

णेरइयाणं भंते ! कति किरियाओ पण्णत्ताओ ?। गोयमा! पंच किरियाओ पण्णत्ताओ। तं जहा–आरंभिया जाव मिच्छादंसणवत्तिया; एवं जाव वेमाणियाणं॥

"णेरइयाणं भंते !" इत्यादि सुगमम्। सम्प्रत्यासां क्रियाणां परस्परमविनाभावं चिन्तयतियस्यारम्भिकी क्रिया तस्य पारिग्रहिकी स्याद्भवति, स्यान्न भवति। प्रमत्तसंयतस्य न भवति, शेषस्य भवतीत्यर्थः।

जस्स णं भंते ! जीवस्स आरंभिया किरिया कज्जइ तस्स पारिग्गहिया किरिया कज्जइ, जस्स पारिग्गहिया कज्जइ तस्स आरंभिया किरिया कज्जइ ?गोयमा ! जस्स णं जीवस्स आरंभिया किरिया कज्जइ तस्स पारिग्गहिया किरिया सिय कज्जइ,सिय नो कज्जइ ; जस्स पुण पारिग्गहिया कज्जइ तस्स आरंभिया किरिया नियमा कज्जइ। जस्स णं भंते ! जीवस्स आरंभिया किरिया कज्जइ तस्स मायावत्तिया किरिया कज्जइ ? गोयमा! जस्स णं जीवस्स आरंभिया किरिया कज्जइ तस्स मायावत्तिया किरिया णियमा कज्जइ ,जस्स पुण मायावत्तिया किरिया कज्जइ तस्स आरंभिया किरिया सिय कज्जइ , सिय नो कज्जइ। जस्स णं भंते ! जीवस्स आरंभिया किरिया कज्जइ तस्स पच्चक्खाणकिरिया कज्जइ पुच्छा ? गोयमा ! जस्स जीवस्स आरंभिया कज्जइ तस्स अपच्चक्खाणकिरिया सिय कज्जइ, सिय नो कज्जइ। जस्स पुण आपच्चक्खाणकिरिया तस्स आरंभिया नियमा कज्जइ। एवं मिच्छादंसणवत्तियाए वि समं। एवं परिग्गहिया वि तिहिं वि उवरिल्लाहिं समं संचारेयव्वा, जस्स मायावत्तिया किरिया कज्जइ तस्स उवरिल्लाओ दो वि सिय कज्जइ, सिय नो कज्जइ। जस्स उवरिल्लियाओ दो कज्जइ तस्स मायावत्तिया नियमा कज्जइ। जस्स अपच्चक्खाणकिरिया कज्जइ

तस्स मिच्छादंसणवत्तिया किरिया सिय कज्जइ, सिय नो कज्जइ। जस्स पुण मिच्छादंसणवत्तिया किरिया कज्जइ तस्स अपच्चक्खाणकिरिया नियमा कज्जइ॥

तथा यस्यारम्भिकी क्रिया तस्य मायाप्रत्यया नियमाद्भवति, यस्य मायाप्रत्यया तस्यारम्भिकी क्रिया स्याद् भवति, स्यान्न भवति प्रमत्तसंयतस्य देशविरतस्य च न भवति, शेषस्याविरति सम्यग्दृष्ट्यादेर्भवतीति भावः। यस्य पुनरप्रत्याख्यानक्रिया तस्यारम्भिकी नियमात्, अप्रत्याख्यानिनोऽवश्यमारम्भसम्भवात्। एवं मिथ्यादर्शनप्रत्ययाऽपि सहाविनाभावो भावनीयः। तथाहि–यस्यारम्भिकी क्रिया तस्य मिथ्यादर्शनप्रत्यया स्याद्भवति, स्यान्न भवति। मिथ्यादृष्टेर्भवति, शेषस्य न भवतीत्यर्थः। यस्य तु मिथ्यादर्शनक्रिया तस्य नियमादारम्भिकी, मिथ्यादृष्टेरविरतत्वेनावश्यमारम्भसम्भवात्। तदेवमारम्भिकी क्रिया पारिग्राहिक्यादिभिश्चतसृभिरुपरितनीभिः क्रियाभिः सह परस्परमविनाभावेन चिन्तिता। एवं पारिग्रहिकी तिसृभिर्मायाप्रत्यया, द्वाभ्यामप्रत्याख्यानक्रिया, एकया मिथ्यादर्शनप्रत्ययया चिन्तनीया। तथा चाह– "एवं पारिग्गहिया वितिहिं उवरिल्लाहिं समं संचारेयव्वा" इत्यादि सुगमं भावनीयाः, सुप्रतीतत्वात्।

अमुमेवार्थं चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण निरूपयति–

णेरइयस्स आदिल्लियाओ चत्तारि परोप्परा नियमा कज्जइ, जस्स एताओ चत्तारि कज्जइ तस्स मिच्छादंसणवत्तिया किरिया भइज्जइ, जस्स पुण मिच्छादंसणवत्तिया किरिया कज्जइ तस्स एता चत्तारि नियमा कज्जइ। एवं जाव थणियकुमारस्स पुढविकाइयस्स जाव चउरिंदियस्स पंच वि परोप्परं नियमा कज्जइ।

'नेरइयस्स आइल्लियाओ चत्तारि' इत्यादि। नैरयिका ह्युत्कर्षतोऽप्यविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानकं यावन्न परतः, ततो नैरयिकाणामाद्याश्चतस्रः क्रियाः परस्परमविनाभाविन्यः, मिथ्यादर्शनक्रियां प्रति स्याद्वादः। तमेवाह– "जस्स एयाओ चत्तारि" इत्यादि। मिथ्यादृष्टेर्मिथ्यादर्शनक्रिया भवति, शेषस्य न भवतीति भावः। यस्य पुनर्मिथ्यादर्शनक्रिया तस्याद्याश्चतस्रो नियमान्मिथ्यादर्शने सत्यारम्भिक्यादीनामवश्यं भावात्। एवं तावद्वक्तव्यं यावत्स्तनितकुमारस्य पृथिव्यादीनां चतुरिन्द्रियपर्यवसानानां पञ्चक्रियाः परस्परमविनाभाविन्यो वक्तव्याः, पृथिव्यादीनां मिथ्यादर्शनक्रियाया अप्यवश्यंभावात्।

पंचिंदियतिरिक्खजोणियस्स आइल्लियाओ तिन्नि वि परोप्परं नियमा कज्जंति। जस्स एताओ कज्जंति तस्स उवरिल्लियाओ दो भइज्जंति। जस्स उवरिल्लियाओ दोण्णि कज्जंति तस्स एताओ तिन्नि नियमा कज्जंति। जस्स अपच्चक्खाणकिरिया तस्स मिच्छादंसणवत्तिया सिय कज्जइ, सिय नो कज्जइ,। जस्स पुण मिच्छादंसणवत्तिया किरिया कज्जइ तस्स अपच्चक्खाणकिरिया नियमा कज्जइ। मणुस्सस्स जहा जीवस्स वाणमंतरजोइसियवेमाणियस्स जहा णेरइयस्स। जं समयं भंते! जीवस्स आरंभिया किरिया कज्जइ तं समयं पारिग्गहिया किरिया कज्जइ। एवं एते जस्स जं समयं जं देसं जं पदेसं णं य चत्तारि दंडगा नेयव्वा। जहा णेरइयाणं तहा सव्वदेवाणं नेयव्वं वेमाणियाणं।

तिर्यक्पञ्चेन्द्रियस्याद्यास्तिस्रः परस्परमविनाभूताः, देशविरतिं यावदासामवश्यंभावात्। उत्तराभ्यां तु द्वाभ्यां स्याद्वादः। तमेव दर्शयति– "जस्स एयाओ कज्जंति" इत्यादि। देशविरतस्य न भवतः, शेषस्य भवत इति भावः। यस्य पुनरुपरितन्यौ द्वे क्रिये तस्याद्यास्तिस्रो नियमाद्भवन्ति, उपरितन्यौ हि क्रियेअ–प्रत्याख्यानाक्रिया मिथ्यादर्शनप्रत्यया च। तत्राप्रत्याख्यानक्रिया अविरतिसम्यग्दृष्टिवत्, मिथ्यादर्शनक्रिया मिथ्यादृष्टेराद्याश्चतस्रो देशविरतिवत्।अत उपरितन्योभावेऽश्यमाद्यानांतिसृणांभावः। सम्प्रत्यप्रत्याख्यानक्रियायाः मिथ्यादर्शनक्रियायास्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियस्य परस्परमविनाभावं चिन्तयति- "जस्स अपच्चक्खाणकिरिया" इत्यादि भावितम्। मनुष्ये यथा जीवपदे तथा वक्तव्यम्, व्यन्तरज्योतिष्कवैमानिकानां यथा नैरयिकस्य एवमेष एको दण्डकः। एवमेव "जं समय णं भंते! जीवस्स" इत्यादिको द्वितीयः। "जं देसं णं" इत्यादिकस्तृतीयः। "जं पएसं णं" इत्यादिकश्चतुर्थः।

अथ षट्कायाः प्राणातिपातादिक्रियाहेतव एव भवन्ति, किं वा तद्विरमणहेतवोऽपीति पृच्छति –

अत्थि णं भंते! जीवाणं पाणाइवायवेरमणे कज्जइ? हंता? अत्थि। कम्हि णं भंते! जीवा णं पाणाइवायवेरमणे कज्जइ? गोयमा! छसु जीवनिकाएसु। अत्थि णं भंते! नेरइयाणं पाणाइवायेवरमणे कज्जइ? गोयमा! णो इणट्ठे समट्ठे। एवं जाव वेमाणियाणं नवरं मणुस्साणं जहा जीवाणं एवं मुसावाएणं जाव मायामोसेणं जीवस्स य मणुस्सस्स य, सेसाणं णो इणट्ठे समट्ठे। णवरं अदिन्नादाणे गहणधारणिज्जेसु दव्वेसु मे हुणरूवेसु वारूवसहगतेसु वा दव्वेसु सेसाणं दव्वेसु सव्वेसु। अत्थि णं भंते! जीवाणं मिच्छादंसणमुल्लवेरमणे कज्जइ? हंता अत्थि। कम्हि णं भंते! जीवाणं मिच्छादंस णसल्लवेरमणे कज्जइ? गोयमा! सव्वदव्वेसु। एवं नेर इयाणं जाव वेमाणियाणं नवरं एगिंदियविगलिंदियाणं णो इणट्ठे समट्ठे।

"अत्थि णं भंते!" इत्यादि। सर्वत्र क्रियते कर्मकर्त्तरि प्रयोगः, ततो भवतीति द्रष्टव्यम्। प्राणातिपातादिविरमणविषयाश्च षट्का यादयः प्रागेव भाविता इति न भूयो भाव्यन्ते। विरतिश्च प्राणातिपातादीनां मायामृषापर्यन्तानां जीवपदे मनुष्यपदे च वक्तव्या, शेषेषु तु स्थानेषु नायमर्थः समर्थ इति वक्तव्यम्; तेषां भवप्रत्ययतः सर्वविरत्यसम्भवात्। मिथ्यादर्शनविरमणविषयचिन्तायां सर्वद्रव्येष्विति। उपलक्षणमेतत् सर्वपर्यायेष्वपि, अन्यथा एकस्मिन् द्रव्ये पर्याये वा मिथ्यात्वभावे मिथ्यादर्शनविरमणासम्भवात् सूत्रोक्तस्यैकस्याप्यरोचनादक्षरस्य भवति नरो मिथ्यादृष्टिः मिथ्यादृष्टेर्हि सूत्रं हि न प्रमाणं जिनाभिहितमिति वचना–

त्। मिथ्यादर्शनशल्यविरमणं च एकेन्द्रियविकलेन्द्रियवर्जेषु शेषेषु स्थानेषु। एकेन्द्रियादिषु तु न भवति। कस्मादिति चेत्? उच्यते– पुथिव्यादिषु उभयाभावः, "पुढवाइएसु" इति वचनात्। द्वीन्द्रियादीनां तु यद्यपि करणापर्याप्तावस्थायां केषाञ्चित्सासादनसम्यक्त्वं भवति, तथापि तन्मिथ्यात्वाभिमुखानां तत्प्रतिकूला नाम, अतस्तेषामपि मिथ्यादर्शनशल्यविरमणप्रतिषेधः। आह च. "अत्थि णं भंते! जीवा णं मिच्छादंसणसल्लवेरमणे कज्जइ" इत्यादि।

अथ प्राणातिपातविरतस्य कर्मबन्धो भवति, किं वा नेति? उच्यते– भवत्यपि, न भवत्यपि, तथा च एतदेव प्रश्नसूत्र–पूर्वकमाह–

पाणाइवायविरए णं भंते! जीवे कइ कम्मपगडीओ बंधइ? गोयमा! सत्तविहबंधए वा अट्ठविहबंधए वा छव्विबंधए वा एगविहबंधए वा अबंधए वा। एवं मणुस्से वि भाणियव्वे। पाणातिवायविरया णं भंते! जीवा कइ कम्मपयडीओ बंधंति? गोयमा! सव्वे वि ताव होज्ज सत्तविहबंधगा य एगविहबंधगा य१। अहवा सत्तविहबंधगा य एगविहबंधगा य अट्ठविहबंधए य २। अहवा सत्तविहबंधंगा य एगविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य ३। अहवा सत्तविहबंधगा य एगविहबंधगा य छव्विहबंधए य ४। अहवा सत्तविहबंधगा य एगविहबंधगा य छव्विहबंधगा य ५। अहवा सत्तविहबंधगा य एगविहबंधगा य अबंधगे य ६। अहवा सत्तविहबंधगा य एगविहबंधगा य अबंधगा य ७। अहवा सत्तविहबंधगा य एगविहबंधगा य अट्ठविहबंधगे य छव्विहबंधए य १। अहवा सत्तविहबंधगा य एगविहबंधगा य अट्ठविहबंधगे य छव्विहबंधगा य २। अहवा सत्तविहबंधगा य एगविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य छव्विहबंधगे य ३। अहवा सत्तविहबंधगा य एगविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य छव्विहबंधगा य ४। अहवा सत्तविहबंधगा य एगविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य अबंधए य १। अहवा सत्तविहबंधगा य एगविहबंधगा य अट्ठविहबंधए य अबंधगा य २। अहवा सत्तविहबंधगा य एगविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य अबंधए य ३। अहवा सत्तविहबंधगा य एगविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य छव्विहबंधए य अबंधए य १। अहवा सत्तविहबंधगा य एगविहबंधगा य अट्ठविहबंधए य छव्विहबंधगा य अबंधगा य २। अहवा सत्तविहबंधगा य एगविहबंधगा य अट्ठविहबंधए य छव्विहबंधए य अबंधगा य ३। अहवा सत्तविहबंधगा य एगविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य छव्विहबंधए य अबंधए य ४। अहवा सत्तविहबंधगा य एगविहबंधगा य अट्ठविहबंधए य छव्विहबंधगा य अबंधए य ५। अहवा सत्तविहबंधगा य एगविहबंधगा य अट्ठविहबंधए य छव्विहबंधए य अबंधगा य ६। अहवा सत्तविहबंधगा य एगविहबंधगा य अट्ठविहबंधए य छव्विहबंधए य अबंधए य ७। अहवा सत्तविहबंधगा य एगविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य छव्विहबंधगा य अबंधगा य ८। एवं एते अट्ठभंगा सव्वे वि मेलिया सत्तावीसं भंगा भवंति। एवं मणुस्सा वि, एवं चेव सत्तावीसं भंगा भाणियव्वा। एवं मुसावायविरयस्स जाव मायामोसविरयस्स य जीवस्स य मणुस्सस्स य।

जीवेत्यादि सुगमम्। बहुवचनेऽपि प्रश्नसूत्रं सुगमम्। निर्वचनसूत्रे सर्वेऽपि तावद्भवेयुः सप्तविधबन्धकाश्च एक विधबन्धकाश्च। इह प्रमत्ताऽप्रमत्ताऽपूर्वकरणानिवृत्तबादरसम्परायाः सप्तविधबन्धकाः प्रमत्तः, अप्रमत्ताश्चायुर्बन्धकालेऽष्टविधबन्धकाः, आयुषोऽपि बन्धनात्। आयुर्बन्धश्च कादाचित्क इति कदाचित् सर्वकालं न लभ्यतेऽपि, प्रमत्ताश्चाप्रमत्ताश्च सदैव बहुत्वेन लभ्यन्ते, अनिवृत्तिबादराश्च कदाचिश्च भवन्त्यपि, विरहस्यापि तेषामागमे प्रतिपादनात्। एक विधबन्धका उपशान्तमोहाः-क्षीणमोहाः सयोगिकेवलिनः। तत्र उपशान्तमोहाः क्षीणमोहाश्च कदाचि–ल्लभ्यन्ते, कदाचिन्न लभ्यन्ते, तेषामन्तरस्यापि सम्भवात्। सयोगिकेव-लिनस्तु सदा प्राप्यन्ते, अन्योऽन्यभावेन तेषामव्यवच्छेदात्। ततः सप्तविधबन्धका एकविधबन्धकाश्च व्यवस्थिता इत्यष्टविधबन्धकाद्यभावे एको भङ्गः। अथवा सप्तविधबन्ध का बहव एकविधबन्धका बहव एकोऽष्टविधबन्धक इति द्वितीयः। अष्टविधबन्धकानां तृतीयः, षड्विधबन्धका अपि कदाचिल्लभ्यन्ते, कदाचिन्न, उत्कर्षतः षण्मासविरहाभावात्। यदाऽपि लभ्यन्ते तदाऽपि जघन्यपदे एको द्वौ वा, उत्कर्षपदेऽष्टोत्तरशतम्, ततोऽष्टविधबन्धकभेदाभावे षड्विधबन्ध-कपदेनापि द्वौ भङ्गौ। अबन्धका अयोगिकेवलिनः, तेऽपि कदाचिदवाप्यन्ते, कदाचिन्न, तेषामप्युत्कर्षतः षण्मासविरहभावात्। यदाऽप्यवाप्यन्ते तदाऽपि जघन्यपदे एको द्वौ वा, उत्कर्षतोऽष्टाधिकं शतम्। ततोऽष्टविधबन्धकपदाभावे अबन्धकपदेनापि द्वौ भङ्गौ, तदेवमेक आद्योभङ्गः, एकसंयोगे च षडिति सप्त भङ्गाः। इदानीं द्विकसंयोगेभङ्गा दर्शयन्ते–तत्र सप्तविधबन्धका एकविधबन्धकाश्चवस्थिताः, उभयेषामपि सदा बहुत्वेन लभ्यमानत्वात्। ततोऽष्टविधबन्धकपदे षड्विधबन्धकपदे च प्रत्येकमेकवचनमित्येको भङ्गः। अष्टविधबन्धकपदे एकवचनं, षट्विधबन्धकपदे बहुवचनमिति द्वितीयः। एतौ द्वौ भङ्गावष्टविधबन्धक–पदस्यैकवचनेन लब्धौ। एतावेव द्वौ भङ्गौ बहुवचनेनेति चत्वारः। एवमेव चत्वारो भङ्गा अष्टविधबन्धकाबन्धकपदाभ्यामेवचत्वारः, षड्विधबन्धकाबन्धकपदाभ्यामिति सर्वसंख्यया द्विकसंयोगे

द्वादशभङ्गाः।त्रयाणामष्टविधबन्धकषड्विधबन्धकाबन्धकरू–पाणां पदानां संयोगे प्रत्येकमेकवचनबहुवचनाभ्यामष्टौ भङ्गाः। सर्वसंकलनया सप्तविंशतिभङ्गाः। अत्रापर आहमनु विरतस्य कथं बन्धः ? न हि विरतिर्बन्धहेतुर्भवति। यदि पुनर्विरतिरपि बन्धहेतुः स्यात्ततो निर्मोक्षप्रसङ्गः, उपायाभावात्। उच्यतेन विरतिर्बन्धहेतुः, किं तु विरतस्य ये कषाययोगास्ते बन्धकारणम्। तथाहि–सामायिक-च्छेदोपस्थानपरिहारविशुद्धिकेष्वपि संयमेषुकषायाः संज्वलनरूपा उदयप्राप्ताः सन्ति योगाश्च, ततो विरतस्यापिय देवायुष्कादीनां शुभप्रकृतीनां तत्प्रत्ययो बन्धः यथा च प्राणातिपातविरतस्य सप्तविंशतिर्भङ्गा उक्ताः। तथा मृषावादविरतस्य यावन्मायामृषाविरतस्य।

मिथ्यादर्शनशल्यविरतिमधिकृत्य सूत्रमाह–

मिच्छादंसणसल्लविरए णं भंते ! जीवे कइ कम्मपगडीओ बंधइ? गोयमा ! सत्तविहबंधए वा अट्ठविहबंधेए वा छव्विहबंधए वा एगविहबंधए वा अबंधए वा। मिच्छादंसणसल्लविरए णं भंते! नेरइए कइ कम्मपगडीओ बंधइ ? गोयमा ! सत्तविहबंधए वा अट्ठविहबंधए वा जाव पंचिंदियतिरिक्खजोणिए मणुस्से जहा जीवे। वाणमंतरजोइसियवेमाणिए जहा नेरइए॥

"मिच्छादंसणसल्लविरएणं भंते ! इत्यादि सुगमम्, नवरं सप्त–विधबन्धकत्वमष्टविधबन्धकत्वं षड्विधबन्धकत्वमेकविधबन्धकत्व-मबन्धकत्वं च मिथ्यादर्शनशल्यविरतैरवि–रतसम्यग्दृष्टेरारभ्यायो-गिकेवलिनं यावद्भावात्। नैरयिकादिचतुर्विंशतिदण्डकचिन्तायां मनुष्यवर्जेषु शेषेषु सर्वेष्वपि स्थानेषु सप्तविधबन्धकत्वमष्टविधबन्धकत्वं वा, न षड्विधबन्धकत्वादिश्रेणिप्रतिपत्यसम्भवात् मनुष्यपदे च यथा जीवपदे तथा वक्तव्यं, मनुष्येषु सर्वभावसम्भवात्।"

बहुवचनेनैतद्विषयं सूत्रमाह –

मिच्छादंसणसल्लविरया णं भंते ! जीवा कइ कम्मपगडीओ बंधंति? गोयमा ! ते चेव सत्तावीसं भंगा भाणियव्वा। मिच्छादंसणसल्लविरया णं भंते ! णेरइया णं कइ कम्मपगडीओ बंधंति ? गोयमा ! सव्वे वि ताव होज्ज सत्तविहबंधगा य, अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविबंधगे य। अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य। एवं जाव वेमाणिया नवरं मणुस्सा णं जहा जीवा णं॥

"मिच्छा" इत्यादि। अत्रापि ते एव पूर्वो क्ताः सप्तविंशतिभङ्गाः, नैरयिकपदे भङ्गत्रिकम्। तत्र सर्वेऽपि तावद्भवेयुः सप्तविधबन्धका इत्येको भङ्गः। अयं च यदैकोऽप्यष्टविधबन्धको न लभ्यते तदा भवति, यदा पुनरेकोऽष्टविधबन्धको लभ्यते तदाऽयं द्वितीयो भङ्गः, सप्तविधबन्धकाश्च अष्टविधबन्धकाश्च। यदा पुनरष्टविधबन्धका अपि बहवो लभ्यन्ते तदा तृतीयः। सप्तविधबन्धकाश्चाष्टविधबन्धकाश्च, एवं भङ्गत्रिकं तावद्वाच्यं यावद्वैमानिकसूत्रम्, नवरं मनुष्यपदे सप्तविंशतिभङ्गका यथा जीवपदे इति।

अथारम्भिक्यादीनां क्रियाणां मध्येका क्रिया प्राणातिपातविरतस्येति चिन्तयति –

पाणाइवायविरयस्स णं भंते ! जीवस्स किं आरंभिया किरिया कज्जइ जाव मिच्छादंसणवत्तिया किरिया कज्जइ ? गोयमा ! पाणाइवायविरयस्स जीवस्स आरंभिया किरिया सिय कज्जइ, सिय नो कज्जइ। पाणाइवायविरयस्स णं भंते ! जीवस्स पारिग्गहिया किरिया कज्जइ ? गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे। पाणाइवायविरयस्स णं भंते ! जीवस्स मायावित्तया किरिया कज्जइ ? गोयमा ! सिय कज्जइ, सिय नो कज्जइ। पाणाइवाय-विरयस्स णं भंते ! जीवस्स अपच्चक्खाणवत्तिया किरिया कज्जइ ? गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे। मिच्छादंसणवत्तियाए पुच्छा ? गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे। एवं पाणाइवायविरयस्स मणुस्सस्स वि, एवं जाव मायामो–सविरयस्स जी वस्स मणुस्सस्स य॥

"पाणाइवायविरयस्स णं भंते !" इत्यादि। आरम्भिकी क्रिया स्याद्भवति, प्रमत्तसंयतस्य भवति, शेषस्य न भवतीति भावः। पारिग्रहिकी निषेध्या, सर्वथा परिग्रहान्निवृत्तत्वात्, अन्यथा सम्यक् प्राणातिपातवि-रत्यनुपपत्तेर्मायाप्रत्यया स्याद्भवति, स्यान्न भवति अप्रमत्तस्यापि हि कदाचित्प्रवचनमालिन्यनिरकक्षणार्थं भवति, शेषकालं तु न भवति। अप्रत्ययाख्यानक्रिया मिथ्यादर्शन प्रत्यया च सर्वथा निषेध्यते, तदभावे प्राणातिपातविरत्ययोगात्। प्राणातिपातविरतेश्च द्वे पदे। तद्यथा–जीवो, मनुष्यश्च। तत्र यथा सामान्यतो जीवमधिकृत्योक्तम्, तथा मनुष्यमधि-कृत्य वक्तव्यम्। तथा चाह– "एवं पाणाइवायविरयस्स मणुस्सस्स वि" इति। एवं तावद्वक्तव्यं यावन्मायामृषविरतस्य जीवस्य मनुष्यस्य च।

मिथ्यादर्शनशल्यविरतिमधिकृत्य सूत्रम् –

मिच्छादंसणसल्लविरयस्स णं भंते ! जीवस्स किं आरंभिया किरिया कज्जइ जाव मिच्छादंसणवत्तिया किरिया कज्जइ ? गोयम! मिच्छादंसणसल्लविरयस्स जीवस्स आरंभिया सिय कज्जइ, सिय नो कज्जइ। एवं जाव अपच्चक्खाणकिरिया मिच्छादंसणवत्तिया किरिया नो कज्जइ। मिच्छादंसण–सल्लविरयस्स णं भंते ! णेरइयस्स किं आरंभिया किरिया कज्जइ जाव मिच्छादंसणत्तिया किरिया कज्जइ ? गोयमा! आरंभिया किरिया कज्जइ जाव अपच्चक्खाणकिरिया वि कज्जइ। मिच्छादंसणवत्तिया किरिया नो कज्जइ एवं जाव थणियकुमारस्स। मिच्छादंसणसल्लविरयस्स णं भंते ! पंचिंदियतिरिक्खजोणियस्स एवमेव पुच्छा ? गोयमा! आरंभिया किरिया कज्जइ अपच्चक्खा-णकिरिया सिय कज्जइ, सिय नो कज्जइ, मिच्छादंसणवत्तिया किरिया न कज्जइ, मणुस्सस्स जहा जीवस्स। वाणमंतरजोइ-सियवेमाणियस्स जहा णेरइयस्स।

"मिच्छादंसण" इत्यादि। आरम्भिकी स्याद्भवति, स्यान्न भवति। प्रमत्तसंयतस्य भवति, शेषस्य न भवतीति भावार्थः। पारिग्रहिकी देशविरति यावद्भवति, माया प्रत्ययाऽप्यनिवृत्ति बादरसम्परायं यावद्भाविनी, परतो न भवति। अप्रत्याख्यानक्रियाऽ–

प्यविरतिसम्यन्दृष्टि यावन्न परतः। तत एता अपि क्रिया अधिकृत्य "सिय कज्जइ सिय नो कज्जइ" इति। वक्तव्यम्। तथाचाह–(एवं जाव अपच्चक्खाणकिरिया इति) मिथ्यादर्शनप्रत्यया पुनर्निषेध्या, मिथ्यादर्शनविरतस्य तस्या असम्भवात्। चतुर्विंशतिदण्डकचिन्तायां नैरयिकानां स्तनितकुमारपर्यवसानानां चतस्रः क्रिया वक्तव्याः, मिथ्यादर्शनप्रत्यया निषेध्या तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाद्यास्तिस्रः क्रि या नियमतो वक्तव्याः, अप्रत्याख्यानक्रिया भाज्या। देशविरतस्य न भवति, शेषस्य भवतीत्यर्थः। मिथ्यादर्शनप्रत्यया निषेध्या मनुष्यस्य यथा सामान्यतो जीवस्य व्यन्तरादीनां यथा नैरयिकस्य।

सम्प्रत्यासामेवारम्भिक्यादीनां क्रि याणां परस्परमल्पबहुत्वमाह–

एतासि णं भंते ! आरंभियाणं जाव मिच्छादंसणवत्तिया ण कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा ४ ? गोयमा ! सव्वत्थोवाओ मिच्छादंसणवत्तियाओ किरियाओ अपच्चक्खाणकिरियाओ विसेसाहियाओ पारिग्गहियाओ विसेसाहियाओ आरंभियाओ किरियाओ विसेसाहियाओ मायावत्तियाओ विसेसाहियाओ किरियापदं सम्मत्तं।

"एतासि णं भंते !" इत्यादि। सर्वस्तोका मिथ्यादर्शनप्रत्यया क्रि या, मिथ्यादृष्टीनामेव भावात्। ततोऽप्रत्याख्यानक्रि या विशेषाधिका, अविरतिसम्यग्दृष्टीनां मिथ्यादृष्टीनां च भावात्। ताभ्योऽपि पारिग्रहिक्या विशेषाधिकाः, देशविरतानां पूर्वेषां च भावात्। आरम्भिक्या विशेषाधिकाः, प्रमत्तसंयतानां पूर्वेषां च भावात्, ताभ्योऽपि मायाप्रत्यया विशेषाधिकाः, अप्रमत्तसंयतानामपि भावात्। प्रज्ञा. २२ पद (नैरयिकादीनां समक्रियत्वनिवचनं 'सम' शब्दे करिष्यते)

(६) मृगवधादावुद्यतस्य क्रि या–

पुरिसे णं भंते ! कच्छंसि वा दहंसि वा उदगंसि वा दवियंसि वा बलयंसि वा णूमंसि वा गहणंसि वा गहणविदुग्गंसि वा पव्वयंसि वा पव्वयविदुग्गंसि वा वणंसि वा वणविदुग्गंसि वा मियवित्तीए मियसंकप्पे मियपणिहाणे मियवहाए गंताए एमिए त्ति काओ अण्णयरस्स मियबहाए कूडपासं उद्दाइ; तओ णं भंते ! से पुरिसे कइ किरिए ? गोयमा ! सिय तिकिरिए सिय चउकिरिए सिय पंचकिरिए। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ सिय तिकिरिए सिय चउकिरिए सिय पंचकिरिए ? गोयमा ! जे भविए उद्दवणयाए णो बंधणयाए णोवारणयाए तावं च णं से पुरिसे काइयाए अहिगरणियाए पाओसियाए तिहिं किरियाहिं पुट्ठे जे भविए उद्धवणयाए वि बंधणयाए वि नो मारणयाए तावं च णं से पुरिसे काइयाए अहिगरणियाए पाओसियाए पारियावणियाए चउहिं किरियाहिं पुट्ठे जे भविए उद्धवणयाए वि बंधणयाए वि मारणयाए वि तावं च णं से पुरिसे काइयाए जाव पाणाइवायकिरियाए पंचहिं किरियाहिं पुट्ठे से तेणट्ठेणं जाव पंचकिरिए ॥

तत्र (कच्छंसि व त्ति) कच्छे नदीजलपरिवेष्टिते वृक्षादिमति प्रदेशे। (दहंसि व त्ति) ह्रदे प्रतीते। (उदगंसि व त्ति) उदके जलाशयमात्रे (दवियंसि व त्ति) द्रविके तृणादिद्रव्यसमुदाये ये (वलयंसि व त्ति) वलये वृत्ताकारनद्याद्युदककुटिलगतियुक्तदेशे (णूमंसि व त्ति) नूमे अवतमसे गाढतमसे (गहणंसि व त्ति) गहने वृक्षवल्लीलतावितानवीरुत्समुदाये (गहणवि दुग्गंसि व त्ति) गहनविदुर्गे पर्वतैकदेशावस्थितवृक्षवल्ल्यादिसमुदाये (पव्वयंसि व त्ति) पर्वते (पव्वयविदुयंसि व त्ति) पर्वतसमुदाये (वणंसि व त्ति) वने एकजातीयवृक्षसमुदाये (वणविदुग्गंसि व त्ति) नानाविधवृक्षसमूहे, मृगैर्हरिणैर्वृत्तिर्जीविका यस्य स मृगवृत्तिकः। स च मृगरक्षकोऽपि स्यादित्यत आह– (मियसंकप्पे त्ति) मृगेषु संकल्पो बधाध्यवसायश्छेदनं वा यस्यासौ मृगसङ्कल्पः। स च चलचित्ततयाऽपि भवतीत्यत आह– (मियपणिहाणे त्ति) मृगवधैकाग्रचित्तः (मिगवहाए त्ति) मृगवधाय (गंत त्ति) गत्वा, कच्छादाविति योगः। (कूडपासं ति) कूटं च मृगग्रहणकारणं, गर्तादिपाशश्च तद्बन्धनमिति कूटपाशम्। (उद्दाइ ति) उद्दहति, रचयतीत्यर्थः। (तओ णं ति) ततः कूटपाशकरणात्। (कइ किरिए त्ति) कति क्रि याः, क्रि याश्च कायिक्यादिकाः (जे भविए त्ति) यो भव्यो योग्यः, कर्त्तेति यावत्। "जावं च णं" इति शेषः। यावन्तं कालमित्यर्थः। कस्याः कर्त्तेत्याह– (उद्दवणयाए त्ति) कूटपाश करणतया, ताप्रत्ययश्चेह स्वार्थिकः। (तावं च णं ति) तावन्तं कालं (काइयाए त्ति) गमनादिकायचेष्टारूपया [अहिगरणियाए त्ति]अधिकरणेन कूटपारूपेण निर्वृत्ता या सा तथा, तया। (पाओसियाए त्ति) प्रद्वेषो मृगेषु दुष्टभावः, तेन निर्वृत्ता प्राद्वेषिकी, तया (तिहिं किरियाहिं ति) क्रि यन्त इति क्रि याश्चेष्टाविशेषाः [पारितावणियाए त्ति] परितापनप्रयोजना पारितापनिकी। सा च बद्धे सति मृगे भवति, प्राणातिपातक्रिया च घातिते इति।

पुरिसे णं भंते ! कच्छंसि वा जाव वणविदुग्गंसि वा तणाइं ऊसविय ऊसविय अगणिकायंसि निसिरइ तावं च णं भंते ! से पुरिसे कइकिरिए ? गोयमा ! सिय तिकिरिए सिय चउकिरिए सिय पंचकिरिए। से केणट्ठेणं ? गोयमा ! जे भविए उस्सवणयाए तिहिं उस्सवणयाए वि निसिरणयाए वि नो दहणयाए चउहिं जे भविए उस्सवणाया वि नि सिरणयाए वि दहणयाए वि तावं च ण से पुरिसे काइयाए जाव पंचहिं किरियाहिं पुट्ठे से तेणट्ठेणं गोयमा!।

(ऊसविय त्ति) उत्सर्प्य "उत्तिक्किऊणेत्यादि" उर्द्धीकृत्येति वा [निसिरइ त्ति] निसृजति, क्षिपति, यावदिति शेषः।

पुरिसे णं भंते ! कच्छंसि वा जाव वणविदुग्गंसि वा मियवित्तिए मियसंकप्पे मियपणिहाणे मियबहाए गंता एए मिए त्ति काउं अन्नयरस्स मियस्स बहाए उसुं निसिरइ ततो णं भंते ! से पुरिसे कइकिरिए ? गोयमा ! सिय तिकिरिए सिय चउकिरिए सिय पंचकिरिए। से केणट्ठेणं गोयमा ! जे भविए निसिरणयाए तेहिं जे भविए निसिरणयाए वि विद्धंसणयाए वि नो मारणयाए चउहिं जे भविए निसि–

रणयाए वि विद्धंसणयाए वि मारणयाए वि तावं च णं से पुरिसे जाव पंचहिं किरियाहिं पुट्ठे, से तेणट्ठेणं गोयमा ! सिय तिकिरिए सिय चउकिरिए सिय पंचकिरिए। पुरिसे णं भंते ! कच्छंसि वा जाव अन्नयरस्स मियस्स बहाए आययकण्णाययं उसुं आयामेत्ता चिट्ठिज्जा अन्नयरे पुरिसे मग्गओ आगम्म सयपाणिणा असिणा सीसं छिंदेज्जा से य उसू ताए चेव पुव्वायामणयाए तं मियं विंधेज्जा। से णं भंते ! पुरिसे किं मियवेरेण य पुट्ठे पुरिसवेरेणं पट्ठे ? गोयमा! जे मियं मारेइ से मियवेरेणं पट्ठे, जे पुरिसं मारेइ से परिसवेरेणं पुट्ठो से केणट्ठेण भंते ! एवं वुच्चइ जाव से पुरिसवेरेणं पुट्ठे? से णूणं गोयमा ! कज्जमाणे कडे संधेज्जमाणे संधिए निव्वत्तिज्जमाणे निव्वत्तिए निसिरिज्जमाणे निसिट्ठे त्ति वत्तव्वं सिया। हंता भगवं! कज्जमाणे कडे जाव निसट्ठे त्ति वत्तव्वं सिया। से तेणट्ठेणं गोयमा! जे मियं मारेइ से मियवेरेणं पुट्ठे, जे पुरिसं मारेइ से पुरिसवेरेणं पुट्ठे, अंतो छण्हं मासाणं मरइ काइयाए जाव पंचहिं किरियाहिं पुट्ठे, बाहिं छण्हं मासाणं मरइ काइयाए जाव पारियावणियाए चउहिं किरियाहिं पुट्ठे।

"उसुंति" (बाणं आययकण्णाययंति) कर्णं यावदायत आकृष्टः कर्णायतः॥ आयतम्प्रयत्नवत् यथा भवतीत्येवं कर्णायत आयतकर्णायितः, तम्। (आयामेत्त त्ति) आयम्याकृष्य (मग्गओ त्ति) पृष्ठतः (सयपाणिण त्ति) स्वकपाणिना स्वहस्तेन (पुव्वायामणयाए त्ति) पूर्वाकर्षणेन (से णं भंते ! पुरिसे त्ति) स शिरश्छेत्ता पुरुषः (मियवेरेणं ति) इह वैरं वैरहेतुत्वाद्वधः पापं वा वैरं वैरहेतुत्वादिति,। अथ शिरश्छेत्तृपुरुषहेतुकत्वादिषु निपातस्य कथं धनुर्धरपुरुषो मृगवधेन स्पृष्ट इत्याकूतवतो गौतमस्य तदभ्युपगमेवार्थमुत्तरतया प्राह–क्रियामाणं धनुष्काण्डादिकृतमिति व्यपदिश्यते। युक्तिस्तु प्राग्वत्। तथा सन्धीयमानं प्रत्यञ्चायामारोप्यमाणं काण्डं धनुर्वाऽऽरोप्यमाणप्रत्यञ्चं सन्धितं कृतसन्धानं भवति तथा निर्वृत्यमानं नितरां वर्तुलीक्रियमाणं प्रत्यञ्चाकर्षणेन निर्वृत्तितं वृत्तीकृतं मण्डलाकारं कृतं भवति। तथा निसृज्यमानं निक्षिप्यमाणं काण्डनिसृष्टि भवति, यदा च निसृज्यमानं निसृष्टं तदा निसृज्यमानतया धनुर्द्धरेण कृतात्वात्तेन काण्डनिसृष्टं भवति, काण्डनिसर्गाच्च मृगस्तेनैव मारितः। ततश्चोच्यते– "जे मियं मारेत्यादीति"। इह च क्रियाः प्रक्रान्ताः–स्ताश्चानन्तरोक्ते मृगादिवधे यावत्यो यत्र यत्र कालविभागे भवन्ति तावतीस्तत्र दर्शयन्नाह–"अंतो छण्हमित्यादि" षण्मासान् यावत्प्रहारहेतुकं मरणम्, परतस्तु परिणामान्तरापादितमिति कृत्वा षण्मासदूर्द्धं प्राणातिपातक्रिया न स्यादिति हृदयम्। एतश्च व्यवहारनयापेक्षया प्राणातिपातक्रियाव्यपदेशमात्रोपदर्शनार्थमुक्तम्;अन्यथा यदा कदाऽप्यधिकृतप्रहारहेतुकं मरणं भवति तदैव प्राणातिपातक्रियेति॥

पुरिसे णं भंते ! पुरिसं सत्तीए समभिधंसेज्जा सयपाणिणा वा से असिणा सीसं छिंदेज्जा, तओ णं भंते ! से पुरिसे कइ किरिए ? गोयमा ! जावं च णं से पुरिसे तं पुरिसं सत्तीए समभिधंसेइ सयपाणिणा वा से असिणा सीसं छिंदेइ तावं च णं से पुरिसे काइयाए जाव पाणाइवाए पंचहि किरियाहिं पुट्ठे आसण्णवहएण य अणवकंखवत्तीएणं पुरिसवेरेणं पुट्ठे॥

(सत्तीए त्ति) शक्त्या प्रहणविशेषेण (समभिधंसेज्ज त्ति) हन्यात् (सपाणिण त्ति) स्वकहस्तेन (से त्ति) तस्य(काइयाए त्ति) कायिक्या शरीरस्पन्दरूपया, आधिकरणिक्या शक्तिखड्गव्यापाररूपया, प्राद्वेषिक्या मनोदुष्प्रणिधानेन, पारितापनिक्या परितापरूपया प्राणातिपातक्रियया मारणरूपया (आसन्ने त्ति) इत्यादिशक्तया अभिध्वंसकोऽसिना वा शिरश्छेत्ता पञ्चभिः क्रियाभिः स्पृष्टः, तथा पुरुषवैरेण च स्पृष्टो मारितः पुरुषवैरिभावेन। किम्भूतेनेत्याह–आसन्नो वधो यस्माद्वैरात्तत्तथा तेनासन्नबधकेन भवति च वैराद्वधो वधकस्य तमेव वध्यमाश्रित्यान्यतो वा तत्रैव जन्मनि जन्मान्तरे वा। यदाह– "वहमारणभिब्भिक्खाणदाणपरधणविलोवणाईणं। सव्वजहण्णो उड्ढउ, दसगुणिओ एक्कसि कयाणं" ॥१॥ चः समुच्चये। अनवकाङ्क्षिणा परप्राणनिरपेक्षा स्वगतापायपरिहारनिरपेक्षा वा वृत्तिर्वर्त्तनं यत्रैव वैरे तत्तथा, तेनानवकाङ्क्षणवृत्तिकेनेति॥ भ० १ श० ८ उ०। (पृथ्वीकायमानं यत्तत्कतिक्रिय इति 'आन' शब्दे द्वि० भा० १०८ पृष्ठे समुक्तम्)

अथ क्रियाजन्यं कर्म तद्वेदनां चाधिकृत्याह–

पुव्विं भंते ! किरिया पच्छा वेयणा, पुव्विं वेयणा पच्छा किरिया? मंडियपुत्ता ! पुव्विं किरिया पच्छा वेयणा,णो पुव्विं वेयणा पच्छा किरिया॥

पुव्वि भंते ! इत्यादि क्रियाकरणं तज्जन्यत्वात् कर्मापि क्रिया। अथवा क्रियत इति क्रिया कर्मैव। वेदना तु कर्मणोऽनुभवः, सा च पश्चादेव भवति, कर्मपूर्वकत्वात्तदनुभवनस्येति॥

(१०) अथ क्रियामेव स्वामिभावतो निरूपयन्नाह–

अत्थि णं भंते ! समणाणं निग्गंथाणं किरिया कज्जइ ? हंता अत्थि। कहि णं भंते ! समणाणं निग्गंथाणं किरिया कज्जइ ? मंडियपुत्ता! पमायपच्चया जोगनिमित्तं च, एवं खलु समणाणं निग्गंथाणं किरिया कज्जइ॥

"अत्थि णं" इत्यादि। अस्त्ययं पक्षो यदुत क्रिया क्रियते, क्रिया भवति, प्रमादप्रत्ययात्। यथाऽऽहुःप्रयुक्तकायक्रियाजन्यं कर्म, योगनिमित्तं च, यथैर्यापथिकं कर्म। भ० ३ श० ३ उ०। ('दुक्ख' शब्दे क्रियायाः कृतात्वे करणं भाण्डावहारे वक्ष्यते)

अथ क्रियान्तराणां विषयनिरूपणायाह–

गाहावइस्स णं भंते ! विक्किणमाणस्स केइ भंडं अवहरेज्जा, तस्स णं भंते ! भंडं अणुगवेसमाणस्स किं आरंभिया किरिया कज्जइ, परिग्गहिया मायावत्तिया अपच्चक्खाणीया मिच्छादंसणवत्तिया? गोयमा ! आरंभिया किरिया कज्जइ, परिग्गहिया मायावत्तिया अपच्चक्खाणकिरिया कज्जइ, मिच्छादंसणकिरिया सिय कज्जइ, सिय नो कज्जइ। अह से भंडे अभिसमण्णागए भवइ, तओ से पच्छा

सव्वाओ ताओ पयणुईभवंति । गाहावइस्स णं भंते ! भंडं विक्किणमाणस्स कइए भंडं साइज्जेज्जा भंडे य से अणुवणीए सिया। गाहावइस्स णं भंते ! ताओ भंडाओ किं आरंभिया किरिया कज्जइ, जाव मिच्छादंसणकिरिया कज्जइ । कइयस्स वा ताओ भंडाओ किं आरंभिया किरिया कज्जइ जाव मिच्छादंसणकिरिया कज्जइ? गोयमा ! गाहावइस्स ताओ भंडाओ आरंभिया किरिया कज्जइ जाव अप्पच्चक्खाणकिरिया कज्जइ। मिच्छादंसणकिरिया सिय कज्जइ, सिय नो कज्जइ । कइयस्स णं ताओ सव्वाओ पयणुईभवंति। गाहावइस्स णं भंते ! भंडं विक्किणमाणस्स जाव भंडे से उवणीए सिया, कइयस्स णं भंते ! ताओ भंडाओ किं आरंभिया किरिया कज्जइ, गाहावइस्स वा ताओ भंडाओ किं आरंभिया किरिया ? गोयमा ! कइयस्स ताओ भंडाओ हेट्ठिल्लाओ चत्तारि किरियाओ कज्जंति । मिच्छादंसणकिरिया भयणाए गाहावइस्स णं ताओ सव्वाओ पयणुईभवंति ॥

गृहपतिर्गृही । "मिच्छादंसणकिरिया सिय कज्जइ इत्यादि" मिथ्यादर्शनप्रत्याया क्रिया स्यात्कदाचित् क्रियते भवति, स्यान्नो क्रियते कदाचित्र भवति । यदा मिथ्यादृष्टिर्गृहपतिस्तदाऽसौ भवति, यदा तु सम्यग्दृष्टिस्तदा न भवतीत्यर्थ : । अथ क्रियास्वेव विशेषमाह– (अहेत्यादि) अथेति पक्षान्तरद्योतनार्थः। (से भंडे त्ति) तद्भाण्डम् । (अभिसमण्णागए त्ति) गवेषयतालब्धं भवति।(तओ त्ति) समन्वागमनात् (से त्ति) तस्य गृहपते : पश्चात्समन्वागमानन्तरमेव (सव्वाओ त्ति) यासां सम्भवोऽस्ति ता आरम्भिक्यादिक्रियाः (पयणुईभवंति त्ति) प्रतनुकीभवति ह्रस्वीभवन्ति । अपहृतभाण्डगवेषणकाले हि महत्यस्ता आसन् प्रयत्नविशेषपरत्वात्, गृहपतेस्तल्लाभकाले तु यत्नविशेषो– परतत्वात्ता ह्रस्वीभवन्तीति ।(कइए भंडं साइज्जेज्ज त्ति) क्रयिको ग्राहको भाण्डं स्वादयेत् सत्यङ्कारदानतः स्वीकुर्यात् । (अणुवणीए सिय त्ति) क्रयिकायाः समर्पितं स्यात् (कइयस्स णं ताओ सव्वाओ पयणुईभवंति त्ति) अप्राप्तभाण्डत्वेन तद्गतक्रियाणामल्पत्वादिति, गृहपतेस्तु महत्यो भाण्डस्य तदीयत्वात् १ । क्रयिकस्य भाण्डे समर्पिते महत्यस्ताः, गृहपतेस्तु प्रतनुकाः २ । इदं भाण्डस्यानुपनी तोपनीतभेदात्सूत्रद्वय-मुक्तमेवं धनस्यापि वाच्यम्

गाहावइस्स णं भंते ! भंडं जाव धणे य से अणुवणीए सिया, एयं पि जहा भंडे उवणीए तहा णेयव्वं । चउत्थोआलावगो धणे य से उवणीए सिया जहा पढमो आलावगो भंडे य से अणुवणीए सिया तहा नेयव्वो पढमं चउत्थाणं एक्को गमो बितियतइयाणं एक्को ॥

तत्र प्रथममेवम्– "गाहावइस्स णं भंते ! भंडं विक्किणमाणस्स कइए भंडे साइज्जेज्जा धणे य से अणुवणीए सिया कइयस्स णं भंते ! ताओ धणाओ किं आरंभिया किरिया कज्जइ ४ । गाहावइस्स य ताओ धणाओ किं आरंभिया किरिया कज्जइ ५ ? गोयमा ! कइयस्स ताओ धणाओ हेट्ठिल्लाओ चत्तारि किरियाओ कज्जंति, मिच्छादंसणकिरिया भयणाए गाहावइस्स णं ताओ सव्वाओ पयणुईभवंति" धने अनुपनीते क्रयिकस्य महत्यस्ता भवन्ति, धनस्य तदीयत्वात्। गृहपतेस्तु तास्तनुकाः, धनस्य तदानीमतदीयत्वात्। एवं द्वितीयसूत्रसमानमिदं तृतीयम्। अत एवाह– "एयंपि जहा भंडे उवणीए तहा नेवयव्वंति" द्वितीयसूत्रस मतयेत्यर्थः । चतुर्थं त्वेवमध्येयम्– "गाहावइस्स णं भंडं विक्किणमाणस्स कइए भंडं साइज्जेज्जा धणे य से उवणीए सिया गाहावइस्स णं भंते ! ताओ धणाओ किं आरंभिया किरिया कज्जइ। कइयस्स वा ताओ धणाओ किं आरंभिया किरिया कज्जइ ? गोयमा गाहावइस्स वा ताओ धणाओ आरंभिया किरिया ४ मिच्छादंसणवत्तिया किरिया सिय कज्जइ, सिय नो कज्जइ।कइयस्स णं ताओ सव्वाओ पयणुईभवंति ।" धन उपनीते धनप्रत्ययत्वात्तासां गृहपतेर्महत्यः, क्रयिकस्य तु प्रतनुकाः, धनस्य तदानीमतदीयत्वात्। एवं च प्रथमसूत्रसममिंद चतुर्थमित्येतदनुसारेण च सूत्रपुस्तकाक्षराण्यनुगन्तव्यानि। भ० ५ श० ६ उ०।

(११) श्रमणोपासकस्य क्रियाः–

समणोवासगस्स णं भंते ! सामाइयकडस्स समणोवस्सए अत्थमाणस्स तस्सणं भंते ! किं इरियावहिया किरिया कज्जइ, संपराइया किरिया कज्जइ ? गोयमा ! नो इरियावहिया किरिया कज्जइ, संपराइया किरिया कज्जइ। से केणट्ठेणं जाव संपराइया? गोयमा ! समणोवासयस्स णं सामाइयकउस्स समणोवस्सए अत्थमाणस्स आया अहिगरणी भवइ आयाहिगरणवत्तियं च णं तस्स नो इरियावहिया किरिया कज्जइ, संपराइया किरिया कज्जइ से तेणट्ठेणं ।

"समणेत्यादि" (सामाइयकडस्स त्ति) कृतसामायिकस्य तथा श्रमणोपाश्रये साधुवसतावासीनस्य तिष्ठतः (तस्स त्ति) यो यथार्थस्तस्य श्रमणोपासकस्येति किलाकृतसामायिकस्य तथा साध्वाश्रयेऽनवतिष्ठ-मानस्य भवति सांपरायिकी, क्रिया विशेषणद्वययोगे पुनरैर्यापथिकी युक्ता, निरुद्धकषायत्वादित्या–शङ्कातोऽयं प्रश्नः । उत्तरं तु–(आयाहिगरणी भवइ त्ति) आत्मा जीवोऽधिकरणानि हलशकटादीनि कषायाश्रयभूतानि यस्याः सन्ति साऽधिकरणी, ततश्च (आयाहिगरणवत्तियं च णं ति) आत्मनोऽधि-करणानि आत्माधिकरणानि, तान्येव प्रत्ययः कारणं यत्र क्रियाकरणे तदात्माधिकरणप्रत्ययम्। साम्परायिकी क्रिया क्रियत इति योगः। भ० ७ श०१ उ०।

अनगारस्यानायुक्तेगच्छतः–

अणगारस्स णं भंते ! अणाउत्तं गच्छमाणस्स वा ३ अणाउत्तं वत्थपरिग्गहं कंबलं पायपुच्छणं गेण्हमाणस्स वा निक्खिवमाणस्स वा तस्स णं भंते ! किं इरियावहिया किरिया कज्जइ, संपराइया किरिया कज्जइ ? गोयमा! नो इरियावहिया किरिया कज्जइ,संपराइया किरया कज्जइ । से केणट्ठेणं ? । गोयमा जस्स णं कोहमाणमायालोभा वोच्छिण्णा भवंति तस्स णं इरियावहिया किरिया कज्जइ, जस्स णं कोहमाणमायालोभा अव्वोच्छिण्णा भवंति

तस्स णं संपराइया किरिया कज्जइ । अहासुत्तं रियमाणस्स इरियावहिया किरिया कज्जइ , उस्सुत्तं रियमाणस्स संपराइया किरिया कज्जइ , से णं उस्सुत्तमेव रियइ , से तेणट्ठेणं ।

सुगमम्। भ०७ श०१ उ०।

संवुडस्स णं भंते ! अणगारस्स आउत्तं गच्छमाणस्स जा व आउत्तं वत्थपडिग्गइं कंबलं पायपुच्छणं गेण्हमाणस्स वा निक्खिव–माणस्स वा तस्स णं भंते ! किं इरियावहिया किरिया कज्जइ , संपराइया किरिया कज्जइ ? संवुडस्स णं अणगारस्स जाव तस्स णं इरियावहिया किरिया कज्जइ ,नो संपराइवा किरिया कज्जइ । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ संवुडस्स णं जाव नो संपराइया किरिया कज्जइ ? गोयमा ! जस्स णं कोहमाणमायालोभा वोच्छिण्णा भवंति तस्स णं इरियावहिया किरिया कज्जइ , तहेव जाव उस्सुत्तं रीयमाणस्स संपराइया किरिया कज्जइ , से णं अहासुत्तमेव रियइ से तेणट्ठेणं गोयमा ! जाव नो संपराइया किरिया कज्जइ ।

सुगमम्। भ०६ श०७ उ०।

(१२) सण्डासकेन तप्तलोहमुत्क्षिपत :–

पुरिसे णं भंते !अयं अयकोट्ठंसि अयोमएणं संडासएणं उव्विहमाणे वा पविहमाणे वा कइ किरिए ? गोयमा ! जाव च णं से पुरिसे अयं अयकोट्ठंसि अयोमएणं संडासएणं उव्विहिंति वा पविहिंति वा तावं च णं से पुरिसे काइयाए जाव पाणाइवाय–किरिया पंचहिं किरियाहिं पुट्ठे ; जेसिं पि णं जीवाणं सरीरेहिंतो अयणिव्वत्तिए अयकोट्ठे णिव्वत्तिए संडासए णिव्वत्तिए इंगाला णिव्वत्तिया इंगालकड्ढिणी णिव्वत्तिया भच्छा णिव्वत्तिया ते वि णं जीवा काइयाए जाव पंचहिं किरियाहिं पुट्ठा। पुरिसे णं भंते ! अयं अयकोट्ठाओ अओमएणं संडासएणं गहाय अहिगरिणी उक्खिवमाणे वा णिक्खिवमाणे वा कइ किरिए ? गोयमा ! जावं च णं से पुरिसे अयं अयकोट्ठाओ जाव णिक्खिवइत्ता तावं च णं से पुरिसे काइयाए जाव पाणाइवायकिरियाए पंचहिं किरियाहिं पुट्ठे , जें सि पि य णं जीवाणं सरीरेहिंतो अयणिव्वत्तिए संडासए णिव्वत्तिए चम्मेट्ठए णिव्वत्तिए मुट्ठिए णिव्वत्तिए अधिगरिणी–णिव्वत्तिए अधिगरणिखोडीणिव्वत्तिए उदगदो–णीणिव्वत्तिए अधिगरणसालीणिव्वत्तिया ते वि य णं जीवा काइयाए जाव पंचहिं किरियाहिं पुट्ठा ॥

"पुरिसे णं भंते !" इत्यादि । (अयं ति) लोहं (अयकोट्ठंसि त्ति) लोहप्रतापनार्थे कुशूले (उव्विहमाणे व त्ति) उत्क्षिपन् वा (पविहमाणे व त्ति) प्रक्षिपन् वा (इंगालकड्ढिणि त्ति) ईषद्वङ्काप्रा लोहमययष्टिः। (भच्छ त्ति) ध्यानखल्वापः । इह चायः प्रभृतिपदार्थनिर्वर्त्तकजीवानां पञ्चक्रियत्वमविरतिभावेनावसेयमिति। (चम्मेट्ठि त्ति) लोहमयः प्रतलायतो लोहादिकुट्टनप्रयोजनो लोहाकाराद्युपकरण विशेषः (मुट्ठिए त्ति) लघुतरो घनः (अहिगरणिखोडि त्ति) यत्र काष्ठेऽधिकरणी निवेश्यते (उदगदोणि त्ति) जलभाजनं, यत्र तप्तं लोहं शीतलीकरणाय क्षिप्यते। (अहिगरणसाल त्ति) लोहपरिकर्मगृहम्। भ० १६ श० १ उ०।

धनुषा विध्यतः –

पुरिसे णं भंते ! धणुं परामुसइ २ उसुं परामुसइ २ ठाणं ठाइ २ आययकण्णायतं उसुं करेइ २ उड्ढं वेहासं उसुं उव्विहइ, तए णं से उसुं उड्ढं वेहासं उव्विहिए समाणे जाइं तत्थ पाणाइं भूयाइं जीवाइं सत्ताइं अभिहणइ वत्तेइ लेस्सेइ संघाएइ संघट्टेइ परितावेइ किलामेइ ठाणाओ ठाणं संकामेइ जीवियाओ ववरोवेइ। तए णं भंते ! से पुरिसे कइ किरिए ? गोयमा ! जावं च णं से पुरिसे धणुं परामुसइ २ जाव उव्विहइ, तावं च णं से पुरिसे काइयाए जाव पाणाइवायकिरियाए पंचहिं किरियाहिं पुट्ठे । जेसिं पिय णं जीवाणं सरीरेहिं धणू निव्वत्तिए ते वि य णं जीवा काइयाए जाव पंचहिं किरियाहिं पुट्ठे, एवं धणू पिट्ठे पंचहिं किरियाहिं जीवा पंचहिं ण्हारू पंचहिं उसू पंचहिं सरे पत्ताणे फले ण्हारू पंचहिं अहे णं से उसू अप्पणो गुरुयत्ताए भारियत्ताए गुरुयसंभारियत्ताए अहे वीससाए पच्चोवयमाणे जाइं तत्थ पाणाइं जाव जीवियाओ ववरोवेइ तावं च णं से पुरिसे कइ किरिए ? गोयमा ! जावं च णं से उसू अप्पणो गुरुयत्ताए जाव ववरोवेइ तावं च णं से पुरिसे काइयाए जाव चउहिं किरियाहिं पुट्ठे । जेसिं पि णं जीवाणं सरीरेहिं धणू निव्वत्तिए ते जीवा चउहिं किरियाहिं धणू पुट्ठे , चउहिं जीवा, चउहिं ण्हारू, चउहिं उसू, पंचहिं सरे, पत्ताणे फले ण्हारू पंचहिं जे वि य से जीवा अहे पच्चोवयमाणस्स उवग्गहे चिट्ठंति ते वि य णं जीवा काइयाए जाव पंचहिं किरियाहिं पुट्ठा ॥

(पुरिसे णमित्यादि) (परामुसइ त्ति) परामृशति गृह्णाति (आययकण्णाय त्ति) आयतः क्षेपाय प्रसारितः कर्णायतः कर्ण यावदाकृष्टः, ततः कर्मधारयात् आयतकर्णायतः, अतस्तम् इषुं वाणं (उड्ढं वेहासं ति)। उर्द्धमिति वृक्षशिखराद्यपेक्षयाऽपि स्यादत आह–विहावसीत्साकाशे (उव्विहइ त्ति) उर्द्धं विजहाति, ऊर्द्धं क्षिपतीत्यर्थः । (अभिहणइ त्ति) अभिमुखमागच्छतो हन्ति (वत्तेइ त्ति) वर्तुलीकरोति, शरीरसङ्कोचापादनात्। (लिसेइ त्ति) श्लेषयत्यात्मनिश्लिष्टान् करोति (संघाए त्ति) अन्योऽन्यं गात्रैः सहतान् करोति (संघट्टेइ त्ति) मनाक् स्पृशति (परितावेइ त्ति) समन्ततः पीडयति (किलामेइ त्ति) मारणान्तिकादिसमुद्घातं नयति (ठाणाओ ट्ठाणं संकामेइ त्ति) स्वस्थानात् स्थानान्तरं नयति, (जीवियाओ ववरोवेइ त्ति) व्युतंजीवितान् करोतीति। (किरियाहिं पुट्ठे त्ति) क्रियाभिः स्पृष्टः, क्रियाजन्येन

कर्मणा बद्ध इस्यर्थः। (धणु त्ति) धुनर्दण्डगुणादिसमुदायः। ननु पुरुषस्य पञ्चक्रिया भवन्तु, कायादिव्यापाराणां तस्य दृश्यमानत्वात् धनुरादि निर्वर्तकशरीराणां तु जीवानां कथं पञ्च क्रियाः? कायमात्रस्यापि तदीयस्य तदानीमचेतनत्वात्, अचेतकायमात्रादपि बन्धाभ्युपगमे सिद्धानामपि तत्प्रसङ्गः, तदीयशरीराणामपि प्राणातिपातहेतुत्वेन लोके विपरिर्त्तमानत्वात्।किञ्चवथा धनुरादीनि कायिक्यादिक्रियाहेतुत्वेन पापकर्मबन्धकारणानि भवन्ति तज्जीवानामेवं पात्रदण्डकादीनि जीवरक्षाहेतुत्वेन पुण्यकर्मनिबन्धनानि स्युर्न्यायस्य समानत्वादिति ? अत्रीच्यते–अविरतिपरिणामाद्बन्धः । अविरतिपरिणामश्च यथा पुरुषस्यास्ति एवं धनुरादिनिर्वर्तकशरीरजीवानामपीति, सिद्धानां तु नास्त्यसाविति न बन्धः । पात्रादिजीवानां तु न पुण्यबन्धहेतुत्वं तद्धेतोर्विवेकादे स्तेष्वभावादिति। किञ्चसर्वज्ञवचन प्रामाण्याद्यद्यथोक्तं तत्तथा श्रद्धेयमेवेति। इषुरिति शरपत्रफलादिसमुदायः। "अहे णं से उसू" इत्यादि। इह धनुष्मदादीनां यद्यपि सर्वक्रियासु कथञ्चिन्निमित्तभावोऽस्ति तथापि विवक्षितबन्धं प्रत्यमुख्यवृत्तिकतया विवक्षितवधक्रियायास्तैः कृतत्वेनाविवक्षणात्, शेषक्रियाणां च निमित्तभावमात्रेणापि तत्कृतत्वेन विवक्षणाच्चतस्रस्ता उक्ताः वाणादिजीवशरीराणां तु साक्षाद्बधक्रियायां प्रवृत्तत्वात्पञ्चेति। भ० ५ श० ६ उ०।

(१३) वर्षज्ञानार्थं हस्तादिप्रसारयतः –

पुरिसे णं भंते ! वासंवासति वासं णो वासति हत्थं वा पायं वा बाहुं वा ऊरूं वा आउंट्टविमाणे वा पसारेमाणे वा कइकिरिए ? गोयमा ! जावं च णं से पुरिसे वासं वासइ वासं णो वासतीति हत्थं वा जाव ऊरु वा आउंटावेति वा पसारेति वा तावं च णं से पुरिसे काइयाए जाव पंचहिं किरियाहिं पुट्ठे ।

(वासं वासइ त्ति) वर्षो मेघो वर्षति नो वा वर्षो वर्षतीति ज्ञानार्थमिति शेषः। अचक्षुरालोके हि वृष्टिराकाशे हस्तादिप्रसारणादवगम्यत इतिकृत्वा हस्तादिकं आकुण्टयेद्वा, प्रसार्यप्रसारयेद्वा, आदित एवेति। भ० १६ श० ८ उ०।

तालमरुह्य तत्फलं प्रपातयतः–

पुरिसे णं भंते ! तालमारुहइ, तालमारुहइत्ता तालाओ तालफल पचालेमाणे वा पवाडेमाणे वा कइकिरिए ? गोयमा! जावं च णं से पुरिसे तालमारुहइ, तालमारुहइत्ता तालाओ तालफलं पवालेइ वा पवाडेइ तावं चे णं से पुरिसे काइयाए जाव पंचहिं किरियाहिं पुट्ठे, जेसिं पि य णं जीवाणं सरीरेहिंतो ताले णिव्वत्तिए तालफले णिव्वत्तिए ते वि य णं जीवा काइयाए जाव पंचहिं किरियाहिं पुट्ठे ।

(तालं ति) तालवृक्षं (पचालेमाणे वत्ति) प्रचालयन् वा (पवाडेमाणे वत्ति) अधः प्रपातयन् वा (पंचहिं किरियाहिं पुट्ठे त्ति) तालफलानां तालफलाश्रितजीवानां च पुरुषः प्राणातिपातक्रियाकारी, यश्च प्राणातिपातक्रियाकारको सावाद्यानामपीति कृत्वा पञ्चभिः क्रियाभिः स्पृष्ट इत्युक्तम् १। येऽपि च तालफनिर्वर्तकजीवास्तेऽपि च पञ्चक्रियास्तदन्यजीवान् संघट्टनादिभिरुपद्रावयन्तीति कृत्वा २।

अहे णं भंते ! से तालफले अप्पणो गुरुयत्ताए जाव पच्चोवयमाणा जाइं तत्थ पाणाइं जाव जीवियाओ ववरोवेइ ।।

(अहे णमित्यादि) अथ पुरुषकृततालफप्रचलनादेरनन्तरं तत्तालफलमात्मनो गुरुकतया, यावत्करणात्संभारिकतया, गुरुसम्भारिकतयेति दृश्यम्। (पच्चोवयमाणे त्ति) प्रत्यवपतत् यांस्तत्राकाशादौ प्राणादीन् जीविताद्यपरोपयति।

तए णं भंते ! से पुरिसे कतिकिरिए ? गोयमा ! जावं च णं से पुरिसे तालफले अप्पणो गुरुयत्ताए जाव जीवियाओ ववरोवेइ तावं च णं से पुरिसे काइयाए जाव चउहिं किरियाहिं पुट्ठे ३। जेसिं पि य णं जीवाणं सरीरेहिंतो ताले णिव्वत्तिए ते वि य णं जीवा काइयाए जाव चउहिं किरियाहिं पुट्ठे ४। जेसिं पि य णं जीवाणं सरीरेहिंतो तालफले णिव्वत्तिए ते वि णं जीवा काइयाए जाव पचहिं किरियाहिं पुट्ठा ५। जे वि य से जीवा अहे वीससाए पच्चोवयमाणस्स उग्गहे वट्टंति, ते वि य णं जीवा काइयाए जाव पंचहिं किरियाहिं पुट्ठा ६। पुरिसे णं भंते ! रुक्खस्स मूलं पचालेमाणे वा पवाडेमाणे वा कइकिरिए ? गोयमा! जावं च णं से पुरिसे रुक्खस्स मूलं पचालेइ वा पवाडेइ वा तावं च णं से पुरिसे काइयाए जाव पंचहिं किरियाहिं पुट्ठे, जें सि पि णं जीवाणं सरीरेहिंतो मूले णिव्वत्तिए जाव बीए णिव्वत्तिए ते वि णं जीवा काइयाए जाव पंचहिं किरियाहिं पुट्ठा। अहे णं भंते ! से मूले अप्पणो गुरुयत्ताए जाव जीवियाओ ववरोइ, तए णं से पुरिसे कइ किरिए ? गोयमा ! जावं च णं मूले अप्पणो जाव ववरोवेइ तावं च णं से पुरिसे काइयाए जाव चउहिं किरियाहिं पुट्ठे । जेसिं पि णं सरीरेहिंतो कंदे णिव्वत्तिए जाव बीए णिव्वत्तिए ते वि णं जीवा काइयाए जाव चउहिं किरियाहिं पुट्ठा। जें सि पि य णं जीवाणं सरीरेहिंतो मूले णिव्वत्तिए ते वि णं जीवा काइयाए जाव पंचहिं किरियाहिं पुट्ठा। जे वि य णं से जीवा अहे वीससाए पच्चोवयमाणस्स उग्गहे वट्टंति ते वि णं जीवा काइयाए जाव पंचहिं किरियाहिं पुट्ठा। पुरिसे णं भंते ! रुक्खस्स कंदे पच्चोवयमाणस्स गोयमा! जावं च णं से पुरिसे जाव पंचहिं किरियाहिं पुट्ठे । जेसिं पि य णं जीवाणं सरीरेहिंतो मूले णिव्वत्तिए जाव बीए णिव्वत्तिए ते वि णं जीवा पंचहिं किरियाहिं पुट्ठा। अहे णं भंते ! से कंदे जावं च णं से कंदे अप्पणो जाव चउहिं पुट्ठे । जेसिं पि य णं जीवाणं सरीरेहिंतो मूले णि–

व्वत्तिए खंधे णिव्वत्तिए जाव चउहिं पुट्ठे। जेसिं पि य णं जीवाणं सरीरेहिंतो कंदे णिव्वत्तिए ते वि णं जीवा जाव पंचहिं पुट्ठो। जे वि य से जीवा अहे वीससाए पच्चोवय० जाव पंचहिं पुट्ठो जहा कंदए, एवं जाव बीयं॥

(ततो णं ति) तेभ्यः सकाशात्कतिक्रियोऽसौ पुरुषः। उच्यते चतुष्क्रियः, वधनिमित्तभावस्याल्पत्वेन तासां चतसृणामेव विवक्षणात्। तदल्पत्वं च यथा पुरुषस्य तालफलप्रचलनादौ साक्षाद्वधनिमित्तभावोऽस्ति, न तथा तालफलव्यापादि तजीवेष्विति कृत्वा ३। एवं तालनिर्वर्तकजीवा अपि ४। फलनिर्वर्तकास्तु पञ्चक्रिया एव, साक्षात्तेषां वधनिमित्तत्वात् ५। ये चाधोनिपततस्तालफलस्योपग्रहे उपकारे वर्त्तन्ते जीवास्तेऽपि पञ्चक्रियाः, वधे तेषां निमित्तभावस्य बहुतरत्वात् ६। एतेषां च सूत्राणां विशेषतो व्याख्यानं पञ्चमशतोक्तकाण्डक्षेत्रपुरुषसूत्रादवसेयम्। एतानि चलनद्वारेण षट्क्रियास्थानान्युक्तानि, मूलादिष्वपि षडेव भावनीयानि। "एवं जाव बीयं ति" अनेन कन्दसूत्राणीव कन्दत्वकृशालप्रवालपत्रपुष्पफलबीजसूत्राण्यध्येयानीति सूचितम्। भ०१७ श०१उ०।

(१४) शरीराणि निर्वर्त्तयतः –

जीवे णं भंते! ओरालियसरीरे णं णिव्वत्तिएमाणे कइकिरिए? गोयमा! सिय तिकिरिए सिय चउकिरिए सिय पंचकिरिए; एवं पुढवीकाइए वि। एवं जाव मणुस्से॥

जीवे णं भंते! इत्यादि (सिय तिकिरिए सिय चउकिरिए सिय पंचकिरिए त्ति) यदौदारिकशरीरं परपरितापाघभावेन निर्वर्तयति तदा त्रिक्रियः, यदा तु परपरितापं कुर्वंस्तन्निर्वर्तयति तदा चतुष्क्रियः। यदा तु परमतिपातयंस्तन्निर्वर्तयति तदा पञ्चक्रिय इति। पृथक्त्वदण्डके स्याच्छब्दप्रयोगो नास्ति, एकदाऽपि सर्वविकल्प–सद्भावादिति॥

जीवा णं भंते! ओरालियसरीरणिव्वत्तिएमाणा कइकिरिया? गोयमा! तिकिरिया वि, चउकिरिया वि, पंचकिरिया वि। एवं पुढवीकाइया वि। एवं जाव मणुस्सा। एवं वेउव्वियसरीरेण वि दो दंडगा णवरं जस्स अत्थि वेउव्वियं एवं जाव कम्मगसरीरं। एवं सोइंदियं जाव फासिंदियं। एवं मणजोगं वइजोगं कायजोगं जस्स जंअत्थि तं भाणियव्वं एते एगत्तपुहत्तेणं छव्वीसदंडगा॥

(छव्वीसदंडगत्ति) पञ्चशरीराणि, इन्द्रियाणि च, त्रयो योगाः, एते च मीलितास्त्रयोदश। एते च एकत्वपृथक्त्वाभ्यां गुणिताः षड्विंशतिरिति। भ० १७ श० १ उ०।

प्राणातिपातादिना क्रियमाणायाः क्रियायाः स्पर्शना –

तेणं कालेणं तेणं समएणं जाव एवं वयासी–अत्थि णं भंते! जीवाणं पाणाइपाएणं किरिया कज्जइ? हंता अत्थि। सा भंते! किं पुट्ठा कज्जइ, अपुट्ठा कज्जइ? गोयमा! पुट्ठा कज्जइ, णो अपुट्ठा कज्जइ, एवं जहा पढमसए छट्ठुद्देसए जाव णो अणाणुपुव्विकडे त्ति वत्तव्वं सिया, एवं जाव वेमाणियाणं, णवरं जीवाणं एगिंदियाण य णिव्वाघाएणं छद्दिसिं वाघायं पडुच्च सिय तिदिसिं सिय चउदिसिं सिय पंचदिसिं सेसाणं णियमं छद्दिसिं। अत्थि णं भंते! जीवाणं मुसावाएणं किरिया कज्जइ? हंता अत्थि। सा भंते! किं पुट्ठा कज्जइ, अपुट्ठा कज्जइ? जहा पाणाइवाएणं दंडओ, एवं मुसावाएण वि, अदिण्णादाणेण वि, मेहुणेण वि, परिग्गहेण वि। एवं एए पंच दंडगा। जं समए णं भंत! जीवाणं पाणाइवाएणं किरिया कज्जइ, सा भंते! किं पुट्ठा कज्जइ, अपुट्ठा कज्जइ?; एवं तहेव जाव वत्तव्वं सिया जाव वेमाणियाणं, एवं जाव परिग्गहेणं। एवं एए वि पंच दंडगा जं देसेणं भंते! जीवाणं पाणाइवाएणं किरिया कज्जति जाव परिग्गहेणं जं पदेसेणं भंते! जीवाणं पाणाइवाएणं किरिया कज्जति, सा भंते! किं पुट्ठा कज्जइ? एवं तहेव दंडओ। एवं जाव परिग्गहेणं। एवं एए वीस दंडगा॥

"तेणमित्यादि" (एवं जहा पढमसते छट्ठुद्देसए त्ति) अनेनेदं सूचितम्– "सा भंते! किं ओगाढा कज्जइ, अणोगाढा कज्जइ? गोयमा! ओगाढा कज्जइ णो अणोगाढा कज्जइ" इत्यादि। व्याख्या चास्य प्राग्वत् (जं समयं ति) यस्मिन्समये प्राणातिपातेन क्रिया कर्म क्रियते इह स्थाने, तस्मिन्निति वाक्यशेषो दृश्यः। (जं देसं ति) यस्मिन्देशे क्षेत्रविभागे प्राणातिपातेन क्रिया क्रियते, तस्मिन्निति शेषोऽत्रापि दृश्यः। (जं पदेसं ति) यस्मिनप्रदेशे लघुतमे क्षेत्रविभागे क्रिया प्रागुक्ता सा च कर्म, कर्म च दुःखहेतुत्वाद् दुःखमिति। तन्निरूपणायाह–(जीवाणमिति) तन्निरूपणाय दण्डकद्वयम्। कर्मजन्या च वेदना भवतीति तन्निरूपणाय दण्डकद्वयमाह–(जीवणमित्यादि)। भ० १७ श० ४ उ०।

(कायषट्कस्योच्छ्वासनिश्वासावधिकृत्य क्रिया द्वितीयभागे १०८ पृष्ठे 'आणा' शब्दे समुक्ताः)

पडिक्कमामि पंचहिं किरियाहिं काइयाए अहिगरणिए पाओसियाए पारितावणियाए पाणाइवायकिरियाए॥

प्रतिक्रमामि पञ्चभिः क्रियाभिर्व्या पारलक्षणाभियोऽतिचारः कृतः। तद्यथा–कायिक्येत्यादि। आव० ४ अ०। आ० चू०। "आवत्ताइसु जुगवं, इह भणिओ कायवायवावारो। दुन्हेगया य किरिया, जओ निसिद्धा अओजुत्तो"॥१८६॥ भिन्नविसयं निसिद्धं, किरियादुगमेगया न एगम्मि। जोगतिगस्स विभंगिअ, सुत्ते किरिया जओ भणिया''॥१९०॥ आव ३ अ०। (किइकम्म शब्दे ५२५ पृष्ठे व्याख्यातेऽ) "गहणविसग्गपयत्ता, परोप्परविरोहिणो कहं समए। समए दो उवओगा, नहोज्ज किरियाण को दोसो?"॥ ('भासा' शब्दे चैवा व्याख्यास्यते) ('दोकिरिय' शब्दे क्रियाद्वयस्य युगपदनुभवः खण्डयिष्यते) जीवादिसत्तारूपे, उत्त० १४ अ०। जीवादिपदार्थोऽस्तीतदिके, सूत्र० १ श्रु० १२ अ०। आस्तिक्ये, पञ्चा० १६ विव०। "अकिरियं परियाणामि किरियं उवसं पज्जामि''। सम्यग्वादे, ध० ३ अधि०। ज्ञानपूर्वकसावद्यानवद्यप्रयोगनिवृत्तिप्रवृत्तिरूपे, विशे०। सम्यक्संयमानुष्ठाने, पव०१४६ द्वार। सदनुष्ठाने, सूत्र, २श्रु०। ४अ०। समाचारे, षो० ६ विव०। धर्मानुष्ठाने, उक्त० २८ अ०। ['किरियाणय' शब्दे क्रियाप्रधान्यं वक्ष्यते]

[१५] क्रियाऽष्टकम्–

क्रियते आत्मकर्तृत्वे सा क्रिया कर्तुः द्रव्यस्य प्रवृत्तिः स्वरूपाभिमुख-दर्शनज्ञानोपयोगता ज्ञानं स्वरूपाभिमुखवीर्यप्रवृत्तिक्रिया । एवं ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः । तत्र ज्ञानं स्वपरावभासनरूपम, क्रिया स्वरूपरमणरुपा। तत्र चारित्रवीर्यगुणैकत्वपरिणतिः क्रिया सा साधिका । अत्रानादिसंसारे अशुद्धकायिक्यादिक्रियाव्यापारनिष्पन्नः संसरति, स एव विशुद्धसमितिगुप्त्यादिविनयवैयावृत्यादिसत्क्रियाकरणेन निवर्तते, अतः संसारक्षपणाय क्रिया संवरनिर्जरात्मिका करणीया। नामस्थापने सुगमे। द्रव्यक्रियाशुद्धा अशुद्धा च। तत्र शुद्धा स्वरूपानुयायियोगप्रवृत्ति-रूपा,अशुद्धा कायिक्यादिव्यापाररूपः। भावक्रिया वीर्य्यप्रवृत्तिरूपा । पुद्गलानुयाय्यौदारिकादिकाय–व्यापारसंमुखा अशुद्धा । शुद्धा पुनः स्वगुणपरिणमनत्वनिमित्त–वीर्यव्यापाररूपा क्रिया भावक्रिया। तत्र क्रिया संकल्पः, नैगमेन संग्रहेण सर्वे संसारजीवाः सक्रिया उक्ताः । व्यवहारेण शरीरपर्याप्त्यनन्तरं क्रिया। ऋजुसूत्रनयेन कार्यसाधनार्थं योगप्रवृत्ति-मुख्यवीर्यपरिणामरूपा क्रिया, शब्दनयेन वीर्यपरिस्पन्दात्मिका समभिरूढेन गुणसाधनानुरूपसकर्त्तव्यव्यापाररूपा । एवंभूतनयेन तत्त्वैकत्वत्रीर्यतीक्ष्णतासाहाय्यगुणपरिणमरूपा । अत्र साधकस्य साधनक्रियायाऽवसरः "नाणचरणेन मुक्खो," तेन चरणगुणप्रवृत्तिरूप-रूपग्रहणपरभावत्यागरूपा क्रिया मोक्षसाधका। अतः ज्ञानतत्त्वेन तत्त्वसाधनार्थं सम्यक् क्रिया करणीया । तदुपदेशः क्षायिकसम्यक्त्वं यावत्, निरन्तरं निःशुङ्कादृष्टदर्शनाचारसेवना केवलज्ञानं यावत्, कालविनयादिज्ञानाचारता निरन्तरं यथाख्यातचारित्रादर्वाग्, चारित्राचारसेवना परं शुक्लध्यानं यावत्। तप आचारसेवना सर्वसंवरं यावत् । वीर्याचारस्याराधनाऽवश्यंभाविनी, न हि पञ्चाचारमन्तरेण मोक्षनिष्पत्ति : । दर्शनादिस्वगुणानां प्रवृत्तिः क्रिया, दर्शना-दिगुणविशुद्ध्यर्थं तन्निमित्तमलम्व्य प्रवर्तनम् आचार इति । अत एव गुणपूर्णतानिष्पत्तेरर्वाक् आचारणा करणीया, आचरणातः गुणनिष्पत्ति-र्भव्येव। पूर्णगुणानां तु आचारणा परोपकाराय इति सिद्धम्

अत एव उच्यते–

ज्ञानी क्रियोद्यतः शान्तो, भावित्मा जितेन्द्रियः ।
स्वयं तीर्णो भवाम्भोधेः, परं तारयितुं क्षमः ॥१॥

ज्ञानी यथार्थतत्त्वस्वरूपावबोधी, यदा क्रिया साधनकार-णानुयायियोगप्रवृत्तिरूपा, स्वगुणानुयायिवीर्यप्रवृत्तिरूपा वा, तस्याम् उद्यतः । पुनः शान्तः कषायतापरहितः । भावितात्माभावितः शुद्धस्वरूपरमणमयः आत्मा यस्य स भावितात्मा । जितेन्द्रियः पराजितेन्द्रियव्यापारः । भवसमुद्रात्स्वयं तीर्णः पारं गतः, परम् आश्रितम्, उपदेशदानादिना तारयितुं क्षमः समर्थो भवति । यो हि सम्यग्दर्शन-ज्ञानचारित्रपरिणत आत्मारामी आत्मविश्रामी आत्मानुभवमग्नः स स्वयं संसारात् निवृत्तः, तत्सेवना परान्निस्तारयति। अत्र द्रव्यज्ञानं भावनारहितं वचनव्यापारमनोविकल्परूपं संवेदनज्ञानं यावत्। तच्च भावज्ञानतत्त्वा-नुभवनरूपोपयोगस्य कारणम् । द्रव्यक्रिया योगव्यापारात्मिका । साऽपि भावक्रिया स्वगुणानुयायि स्वगुणप्रवृतिरूपायाः कारणम् । अत्र ज्ञानस्य फलं विरतिः तेन ज्ञानं विरतिकारणम्। उक्तं च तत्त्वार्थटीकायाम्दर्शनज्ञाने चारित्रस्य कारणम, चारित्रं मोक्षकारणम् । उत्तराध्ययनेऽपि–नादंसणिस्स नाणं, नाणेण विना न हुंति चरणगुणा । अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं ॥३०॥ उत्त० २८ अ० ।

क्रियाविरहितं हन्त !, ज्ञानमात्रमनर्थकम् ।
गतिं विना पथज्ञोऽपि, नाप्नोति पुरमीप्सितम् ॥२॥

अतः ज्ञानं क्रियायुक्तं हितावं, नैकमेव इत्वाह–क्रियाविरहितं हन्त ! इति । हन्त ! क्रियाविरहितं, क्रिया साधनप्रवृत्तिरूपा, तया रहितं, ज्ञानमात्रं सवेदनज्ञानम्। अनर्थकं न मोक्षरूपकार्यसाधकम्। तत्र दृष्टान्तः–पथज्ञोऽपि मार्गज्ञाता अपि, गतिं विना चरणविहारक्रियां विना, ईप्सितं इच्छितं, पुरं नगरं, न आप्नोति न प्राप्नोति । चरणचङ्क्रमणेनैव ईप्सितनगरप्राप्तिरिति; "नाणञ्चरणेन मुक्खो" इति वचनात् । "सन्नाणनाणोवगए महेसी, अणुत्तरं चरिउं धम्मसंचयं । अणुत्तरे नाणधरे जसंसी, ओसासई सूरिए वंतलिक्खे ॥२३॥" इति उत्तराध्ययने २१ अ० ।

पुनस्तदेव द्रढयन्नाह –

स्वानुकूलां क्रियां काले, ज्ञानपूर्णो व्यपेक्षत्रे ।
प्रदीपः स्वप्रकाशोऽपि, तैलपूर्त्यादिकां यथा ॥३॥

ज्ञानपूर्णोऽपि स्वपरविवेचनविशिष्टोऽपि, काले अवसरे कार्यसाधनक्षणे, स्वानुकूलां तत्कार्यकरणरूपां, क्रियाम् अपेक्षते। तत्त्वज्ञानी सम्यग्ज्ञानी प्रथमसंवरकार्यरुचिः दिग्विरतिसर्वविरतिग्रहणरूपां क्रियाम् आश्रयति, पुनश्चारित्रयुक्तोऽपि तत्त्वज्ञानी केवलज्ञानकार्यनिष्पादनरसिकः शुक्लध्यानारोहरूपां क्रियाम् आश्र ति । केवलज्ञानी सर्वसंवरपूर्णा-नन्दकार्यावसरे योगरोधरूपां क्रियां करोति । अत एवं उच्यते-ज्ञानी क्रियाम् अपेक्षत एव, तदर्थमेव आवश्यककरणं मुनीनाम्। तत्र दृष्टान्तः–यथा प्रदीपः स्वप्रकाशोऽपि तैलपूर्त्यादिकां क्रियाम् अपेक्षते, एवं सम्यग्ज्ञानी अपि क्रियारङ्गी भवति । क्रिया हि वीर्यशुद्धिहेतुः, अशुद्धवीर्यविहिताश्रवः संसरति संसारे, स एव गुणी सेवनगुणप्राग्भावोद्यतः संवर भवति । कर्मप्रदेशग्रहणं योगैः, योगाः वीर्यप्रभवाः, तेन योगाः परमात्मवन्दनस्वाध्यायाध्ययनादियोजिता न कर्मग्रहणाय भवन्ति, योगनां सत्प्रवृत्तिः क्रिया इति।

बाह्यभावं पुरस्कृत्य, ये क्रियां व्यवहारतः ।
वदने कवलक्षेपं, विना ते तृप्तिकाङ्क्षिणः ॥४॥

बाह्यभावं बाह्यत्वं पुरस्कृत्य अङ्गीकृत्य ये नरा असेवितगुरुचरणाः व्यवहारतः क्रियां निषेधयन्ति, किं बाह्यक्रियाकरणेन इति उक्त्वा क्रियोद्यमं मन्दयन्ति, ते नरा वदने मुखे कवलक्षेपं विना तृप्तिकाङ्क्षिणः तृप्तिवाञ्छका इति ।

गुणवद्बहुमानादे–र्नित्यस्मृत्या च सत्क्रिया ।
जातं न पातयेद्भाव–मजातं जनयेदपि ॥५॥

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रक्षमामार्दवाऽऽर्जवादिगुणवन्तः, तेषां–बहुमानं स्वतोऽधिकगुणवतां बहुमानम्, आदिशब्दाद् दोषपश्चात्तापः पापदुगुच्छा, अतीचारालोचनं, देवगुरुसाधर्मिकभक्तिः, उत्तरगुणारोहणादिकं सर्वं ग्राह्यम्। च पुनःनित्यस्मृतिः पूर्वगृहीतव्रतस्मरणम्, अभिनवप्रत्याख्यानसामायिक चतुर्विंशतिस्तवगुरुवन्दनप्रतिक्रमणकायोत्सर्गप्रत्याख्यानादीनां नित्यस्मृत्या सत्क्रिया भवति। अत्र गाथाः श्रीहरिभद्रपूज्यैर्विंशतिकायाम्–

"तम्हा णिच्च सए बहु–माणेण च अहिगयगुणिम्मि।
पडिवच्छदुगुंछाए, परिवाडिआलोयणयं च ॥१॥
तित्थंकरभत्तीए, सुसाहुजणपज्जुवासणाए य।
उत्तरगुणसद्धाए, एत्थ सया होइ जइयव्वं ॥२॥
एवमसंतो विरई, सो जाइ जिओ अ न पाडइ कया वि।
ता एत्थं बुद्धिमया, अपमाओ होइ कायव्वो ॥३॥
सुहपरिणामो निच्चं, चउसरणगमाइआयरं जीवो।
कुसलपयडीउ बंधइ, बद्धा उ सुहाणुबंधा उ ॥४॥"

इत्यादिक्रिया, जातम् उत्पन्नं, भाव सम्यग्ज्ञानादिसंवेगनिर्वेदलक्षणं, न पातयेत्। अपि च, न जातं धर्मध्यानशुक्लध्यानादिकं भावमपि, अनुत्पन्नम् अपि, जनयेत् निष्पादयेत्, श्रेणिककृष्णादीनां गुणिबहुमानेन, मृगावत्याः पश्चात्तापेन, आलोचनेन अतिमुक्तनिर्ग्रन्थस्य, गुरुभक्त्या चण्डरुद्रशिष्यस्य, इत्याद्यनेकवाचंयमाना परमानन्दनिष्पत्तिः श्रूयते आगमे ॥५॥

क्षायोपाशमिकें भावे, या क्रिया क्रियते तया।
पतितस्यापि तद्भाव–प्रवृद्धिर्जायते पुनः ॥६॥

चारित्रानुगवीर्यक्षयोपशमे जाते या क्रिया वन्दननमनादिका क्रियते, तथा क्रियया, पतित स्यापि गुणपराङ् मुखस्यापि जीवस्य, पुनः तद्भावप्रवृद्धिः सम्यग्ज्ञानादिगुणभावप्रवृद्धिर्जायते। उक्तं च– "खाओवसमिगभावे दृढजत्तकयं सुहं अणुट्ठाणं। पडिवसियं पि अ हुज्जा, पुणो वि तब्भावबोहिकरं" ॥१॥ औदयिभावेऽपि क्रिया भवति, सा न तादृग्गुणवृद्धिकरी। औदयिकी क्रिया च उच्चैर्गोत्रसुभगोदययशोनामकर्मोदयेन अन्तरायोदयेन उच्चैर्गोत्रोदयेन च तपः श्रुतादिलाभः प्रज्ञापनासूत्रतो ज्ञेयः। इति ज्ञानावरणदर्शनावरणदर्शनमोहचारित्रमोहान्तरायक्षयोपशमतः शुद्धधर्मप्राग्भावार्थं या क्रिया क्रियते सा आत्मगुणप्रकाशकरी भवति।

पुनः तदैव दर्शयति–

गुणवृद्ध्यै ततः कुर्यात्, क्रियामस्खलनाय वा।
एकं तु संयमस्थानं, जिनानामवतिष्ठते ॥७॥

ततः स्वधर्मप्राग्भावहेतुत्वात् क्रियां सत्प्रवृत्तिं कुर्यात्। किमर्थम्? गुणवृद्ध्यै गुणाः ज्ञानादयः तेषांवृद्धि तस्यै; गुणप्रोल्लासार्थमिति;न ह्याहारादिपञ्चदशसंज्ञानिमित्तम्। पुनः अस्खलनाय अप्रतिपाताय क्रियारहितः साधकत्वे अवस्थातुमसक्तः, यतो वीर्यस्य चापल्यं, तच्च क्रियावतः सत्क्रियादियुक्तं प्रतिपाताय न भवति। अन्यथा च अनादिप्रवृत्तिप्रवृत्तः सन् स्खलनाय भवति, क्रियया उत्तरोत्तरस्थानारोहणं च श्रूयते आगमे। तथा चएकमप्रतिपाति संयमस्थानं, जिनानां क्षायिकज्ञानं, चारित्रवतां एकं पूर्णस्वरूपैकत्वरूपं स्थानमवतिष्ठते नान्यस्य। अतः साधकेनाभिनवगुणवृद्ध्यर्थं करणीया। अत एव वनंनिवसन्ति निर्ग्रन्थाः, चैत्ययात्राद्यर्थं गच्छन्ति, नन्दी स्वरादिषु कायोत्सर्गं यन्ति, शरीरमाकुञ्चन्ति, विग्रहं वीरसनेन संलेखयन्तयनशानोत्सुका गृह्णन्ति परिहारविशुद्धिजिनकल्पाद्याभिग्रहव्यूहम्।

अथ विषाद्यनुष्ठानदूषिता सानुष्ठाना हि क्रिया भवहेतुरेव, तेन रहिता या क्रिया साधनहेतुः सा एव। आह–

वचोऽनुष्ठानतोऽसङ्गक्रिया सङ्गतिमङ्गति।
सा एव ..... ॥८॥

वचोऽनुष्ठानत इति। वचनमर्हदाज्ञा, तदनुयायि क्रिया धर्महेतुः। यतः–

"प्रशान्तचित्तेन गभीरभावे–नैवादृता सा सफला क्रिया च।
अङ्गारवर्ष्यै सहसा न चेष्टा, नासङ्गदोषैकगुणप्रकर्षा" ॥१॥

विषगरलान्योन्यानुष्ठानत्यागेन श्रीमद्वीतरागवाक्यानसारतः उत्सर्गापवादसापेक्षरूपा क्रिया वचनानुष्ठानक्रियाकरणतः असङ्गक्रियासंगतिं संयोगिताम् अङ्गाति प्राप्नोति वचनक्रियावान्। अनुक्रमेण असङ्गक्रियां निर्विकल्पनिष्प्रयारूपां क्रियां प्राप्नोति। सा एव असङ्गक्रिया एव, ज्ञानक्रियाया अभेदभूमिः ज्ञेया। असङ्गक्रिया भावक्रिया शुद्धोपयोगः शुद्धवीर्योल्लासः तदात्मतां दधाति। ज्ञानवीर्यैकत्वं ज्ञानक्रिया अभेद इत्यनेन यावत् गुणपूर्णता न तावद् निरनुष्ठानादिक्रिया करणीया। न हि तत्त्वज्ञानक्रिया निषेधिका, किन्तु क्रिया हि शुद्धरत्नत्रयीरूपवस्तुसाधने कारणम्, न धर्मम्, धर्म च आत्मस्थमेव। उक्तं च श्रीहरिभद्रपूज्यैः दशवैकालिकवृत्तौ–"धर्मसाधनत्वात् धर्म" इति। अतो द्रव्यक्रियां धर्मत्वेन यद् गृह्णन्त, तत्कारणे कार्योपचार एव, नान्यः। एतच्छूद्धानविकलानां क्रिया न धर्महेतुः। "बहुगुणविज्ञानिलओ, उस्सुत्तभासी तहा वि मुत्तव्वो जह पवरमणीजुत्तो, विग्घकरो विसहरो लोए।१।" इति षष्टिशतप्रकरणे। तथा च आचाराङ्गे–"भयविचिकित्सायां न सयमः" इति। अतो निमित्तहेतुत्वेन क्रिया निरनुष्ठाना करणीया, इयंअसङ्गक्रिया। सा आनाहपिच्छली स्वाभाविकानन्दामृतरसार्द्रा अतआत्मतत्त्वा–व्यावाधानन्दोत्थकैर्निरनुष्ठाना सत्प्रवृत्त्यसतप्रवृत्तिपरित्यागरूपा क्रिया द्रव्यतो भावतः स्याद्वादस्वगुणानुयायी वीर्यप्रवृत्त्यभिनवगुणवृद्धिरूपा संयमस्थानारोहणतत्त्वैकत्वरूपा क्रिया प्रतिसमयं करणीया साध्यसापेक्षत्वेन, अत एवं ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः इति निर्द्धारणीयम्। द्रव्यक्रियोद्यतो भावक्रियावान् भवति, ततश्च स्वरूपास्वादीभवति इति श्रेवः अष्ट० ६ अष्ट०। "अत्थि काइ किरिया वा एवं भणंति नत्थिवादिणो" नास्ति काचित् क्रिया वा अनिन्द्यक्रिया वा अक्रिया वा पापक्रिया वेतरक्रिययोरास्तिक–कल्पितत्वेनापारमार्थिकत्वात्। भणन्ति च– "पिव खाद च चारुलोचने ! यदतीतं वरगात्रि ! तच्चे। न हि भीरु! गतं निवर्त्तते, समुदयमात्रमिदं कलेवरम् ॥१॥" प्रश्न २ आश्र० द्वार। धर्मान्तराये, प्रति. वैद्योपदेशादौषधपाने, नि० चू० १ उ०। चिकित्सायां, श्राद्धे शौचे, प्रयोगे च० वाच०।

किरियाकप्प पुं० (क्रियाकल्प) क्रियायां चिकित्सायां कल्पोविधिः। अथातः क्रियाकल्पं व्याख्यास्याम इत्युएक्रम्य सुश्रुतोक्ते उत्तरतन्त्रे अष्टाध्यायप्रतिपाद्ये क्रियाभेदे, वाच०। स च दशमः स्त्रीकलाभेदः। कल्प० ७ क्षण।

किरियाकय त्रि० (क्रियाकृत) क्रियोद्यमविहिते, अष्ट० ३२ अष्ट०।

किरियाकिरिया स्त्री० (क्रियाक्रिया) द्वि० च० द्वन्द्वः। क्रिया शब्दार्थयोः, सूत्र०। "पुढो य छेदा इह माणवाओ, किरियाकिरीणं च पुढो य वायं। जायस्स बालस्स पकुव्व देहं, पवड्ढती वेरमसं जतस्य" सूत्र१श्रु०१०अ०। (एतद्व्याख्या 'समाहि' शब्दे वक्ष्यते)

किरियाकुसल त्रि० (क्रियाकुशल) सदनुष्ठानकुशले, सूत्र० २ श्रु० ४ अ०।

किरियाचरण पुं० (क्रियाचरण) क्रियामात्रस्यैव प्राणातिपातादेर्जी वैः क्रियमाणस्य दर्शनात् तद्धेतुकर्मणश्चादर्शनात् क्रियैवाचरणं कर्म यस्य स क्रियाचरणः। व्यापारमात्रकर्मा पेते, "किरियाचरणे जीवे" क्रियाचरणः, कोऽसौ ? जीव :, इत्यवष्टम्भपरं यद् विभ–

ङ्गं तत्तृतीयम्। तृतीयो विभङ्गज्ञानभेदः। विभङ्गता चास्य कर्मणोऽदर्शनेनानभ्युपगमात् स्था० ७ ठा०।

किरियाजोग पु० (क्रियायोग) क्रियैव योगो योगोपायः। योगे, "तपः–स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः" इति पातञ्जल्युक्ते योगोपावभूते क्रियाभेदे, वाचं। सदाचारे च। द्वा० १४ द्वा०। क्रियासंबन्धे, वाच०।

किरियाट्ठाण न० (क्रियास्थान) करणं क्रिया, कर्मबन्धनिबन्धना चेष्टेत्यर्थः। तस्याः स्थानानि भेदाः पर्यायाः। निषिद्धकरणादिषु प्रकारेषु, आव० ४ अ०। स० तत्प्रतिपादके सूत्रकृताङ्गस्य द्वितीयश्रुतस्कन्धस्य द्वितीयेऽध्ययने, सूत्र०।

तन्निरुक्तिश्चैवम्–

किरियाओ भणियाओ, किरियाठाणं तितेण अज्झायणं। अहिगारा पुण भणिओ, बंधे तह मोक्खमग्गे य १५७। सूत्र०नि०।

"किरियाओ" इत्यादि। तत्र क्रियन्त इति क्रियाः, ताश्च कर्मबन्धकारणत्वेनावश्यकान्तर्वर्तिनि प्रतिक्रमणाध्ययने, "पडिक्कमामि तेरसहिं किरियाठाणेहिं ति" अस्मिन् सूत्रेऽभिहिताः। यदि वा ऐहिकक्रिया भणिता अभिहितास्तेनेदमध्ययनं क्रियास्थानमित्युच्यते। तश्च क्रियास्थानं क्रियावत्स्वेव भवति, नाक्रियावत्सु। क्रियावन्तश्च केचिद्बध्यन्ते केचिन्मुच्यन्ते अतोऽध्ययनार्थाधिकारः पुनरभिहितः–'बन्धे तथा मोक्षमार्गे चेति'।

(क्रियायाः स्थानस्य च स्वस्थाने निक्षेपः)

इह पुनर्यया क्रियया येन च स्थानेनाधिकारस्तद्दर्शयितुमाह–

ससुदाणियाणिह तओ, समं पउत्ते य भावठाणम्मि।
किरियाह पुरिसपावा–उए सव्वे परीक्खेय १६१।सूत्र०नि०।

"समुदाणीत्यादि"। क्रियाणां मध्ये समुदानिका क्रिया व्याख्याता, तस्याश्च कषायानुगतत्वात् बहवो भेदा यतः, ततस्तासां समुदानिकानां क्रियाणामिह प्रकारे (तओ त्ति) अधिकारो व्यापारः सम्यक्प्रयुक्ते च भावस्थाने, तच्चेह विरतिरूपं संयमस्थानं प्रशस्तभावसंधानरुपं च गृह्यते। सम्यक्प्रयुक्तभावस्थानग्रहणसामर्थ्यदैर्यापथिकी क्रियाऽपि गृह्यते। समुदानिकक्रियाग्रहणाच्चाप्रशस्तभावस्थानान्यपि गृहीतानि। आभिश्च पूर्वोक्ताभिः क्रियाभिः पूर्वोक्तान् पुरुषान् तद्द्वारायातान्प्रावादुकांश्च परीक्षते सर्वानपीति। यथा चैवं तथा स्वत एव सूत्रकारः– "तं जहा से एगइया मणुस्सा भवंति" इत्यादि। तथा प्रावादुकपरीक्षायामपि– "णायउ उगरणं च विप्प जहा भिक्खायरियाए समुट्ठिया" इत्यादिना वक्ष्यतीति। गतो निर्युक्तयनुगमः। सूत्र०।

साम्प्रतं सूत्रानुगमेऽस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारयितव्यम्,

तच्चेदम्–

सुयं मे आउसंतेणं भगवया एवमक्खायं; इह खलु किरियाट्ठाणे णामज्झयणे पण्णत्ते। तस्य णं अयमट्ठे। इह खलु संजूहेणं दुवे ट्ठाणे एवमाहिज्जंति। तं जहा–धम्मे चेव, अधम्मे चेव, उवसंते चेव, अणुवसंते चेव॥१॥

सुयं मे आउसंतेणमित्यादि''। सुधर्मस्वामी जम्बूस्वामिनमुद्दिश्येदमाह–तद्यथा, श्रुतं मयाऽऽयुष्मता भगवतैवमाख्यातम्। इह खलु क्रियास्थानं नामाध्ययनम्। तस्य चायमर्थः–(इहखलु संजूहेणं ति) सामान्येन संक्षेपेण समासतो द्वे स्थाने भवतः। ये क्रियावन्तस्ते सर्वेऽप्यनयोः स्थानयोरेवमाख्यायन्ते। तद्यथा– धर्मे चैवाधर्मे चैव। इदमुक्तं भवति–धर्मस्थानमधर्मस्थानं च। यदि वा धर्मादनपेतं धर्मं, विपरीतमधर्मम्। कारणशुद्ध्या च कार्यशुद्धिर्भवतीत्याह–उपशान्तं यत्तद्धर्मस्थानम्, अनुपशान्तं वाऽधर्मस्थानम्। तत्रोपशान्ते उपशमप्रधाने धर्मस्थानेऽधर्मस्थाने वा केचन महासत्त्वाः समासन्नोत्तरशुभादयो वर्त्तन्ते, परे च तद्विपर्यस्ते विपर्यस्तमतयः संसारभिष्वङ्गिणोऽधोऽधोगतयो वर्तन्ते। इह च यद्यप्यनादिभवाभ्यासादिन्द्रियानुकूलतया प्रायशः पूर्वमधर्मप्रवृत्ता भवति, पश्चात्सदुपदेशयोग्याऽऽचार्यसंसर्गाद्धर्मस्थाने प्रवर्तते, तथाऽप्यभ्यर्हितत्वात्पूर्वं धर्मस्थानमुपशमस्थानं च प्रदर्शितं, पश्चात्तद्विपर्यस्तमिति॥१॥

साम्प्रतं तु यत्र प्राणिनामनुपदेशः स्वपरप्रवृत्त्यादावेवं स्थानं भवति तदधिकृत्याह–

तत्थ णं जे से पढमस्स ठाणस्स अहम्मपक्खस्स विभंगे तस्स णं अयमट्ठे पण्णत्ते। इह खलु पाईणं वा संतेगतिया मणुस्सा भवंति। तं जहा–आरिया वेगे अणारिया वेगे उच्चागोया वेगे णीयागोया वेगे कायमंता वेगे हस्समंता वेगे सुवन्ना वेगे दुवन्ना वेगे सुरूवा वेगे दुरूवा वेगे॥२॥ तेसिं च णं इमं एतारूवं दंडसमादाणं संपेहाए। तं जहा–णेरइएसु वा तिरिक्खजोणिएसु वा मणुस्सेसु वा देवेसु वा जे यावन्ने तहप्पगारा पाणा विन्नू वेयणं वेयंति॥३॥

तत्रेति वाक्योपन्यासार्थे, णमिति वाक्यालङ्कारे, योऽसौ प्रथमानुष्ठेयतया प्रथमस्याधर्मपक्षस्य स्थानस्य विविधो भङ्गो विचारस्तस्यायमर्थ इति। इहास्मिन् जगति प्राच्यादिषु दिक्षु, मध्येऽन्यतरस्यां दिशि सन्ति विद्यन्ते एके केचन मनुष्याः पुरुषास्ते चैवंभूता भवन्तीत्याह। तद्यथा–आराद्याताः सर्वहेयधर्मेभ्य इत्यार्याः। तद्विपरीताश्चाऽनार्याः, एके केचन भविन्त वावद् दुरूपाः,सुरुपाश्चेति। तेषां चाऽऽर्यादीनामिदं वक्ष्यमाणेकमेतद्रूपम् दण्डयतीति दण्डः, पापोदानानसंकल्पः, तस्य समादानं ग्रहणं [संपेहाए त्ति] संप्रेक्ष्य। तश्चतुर्गतिकानामन्यतमस्य भवतीति दर्शयति– ''तं जहेत्यादि''। तद्यथा–नारकादिषु ये चान्ये तथा प्रकारास्तद्वेदवर्तिनः सुवर्णदुर्वर्णादयः प्राणाः प्राणिनो विद्वांसो वेदनां ज्ञानं तद्वेद–यन्त्यनुभवन्ति। यदि वा सातासातरूपां वेदनामनुभवन्तीत्यत्र चत्वारो भङ्गाः। तद्यथा–संज्ञिनोक वेदनामनुभवन्ति विदन्ति च १, सिद्धास्तु विदन्ति नानुभवन्ति२, असंज्ञिनोऽनुभवन्ति न पुनर्विदन्ति ३, अजीवास्तु न विदन्ति नाप्यनुभवन्तीति ४।

इह पुनः प्रथमतृतीयाभ्यामधिकारो, द्वितीयचतुर्थावव–स्तुभूताविति–

तेसिं पि य णं इमाइं तेरस किरियाठाणाइं भवंतीति मक्खायं। तं जहा–अट्ठादंमे अणट्ठादंमे हिंसादंडे अकम्मादंडे दिट्ठीविपरियासियादंडे मोसवत्तिए अदिन्नादाणवत्तिए अज्झत्थवत्तिए माणवत्तिए मित्तदोसवत्तिए मायावत्तिए लोभवत्तिए इरियावहिए॥४॥

तेषां च नारकतिर्यङ्मनुष्यदेवानां तथाविधज्ञानवतामिमानि वक्ष्यमाणलक्षणानि त्रयोदश क्रियास्थानानि भवन्तीत्येवमाख्यातं तीर्थकरगणधरादिभिरिति। कानि पुनस्तानीति दर्शयितुमाह [तं जहेत्यादि] तद्यथेत्ययमुदाहरणवाक्योपन्या-

सार्थः । आत्मार्थाय स्वप्रयोजनकृते दण्डोऽर्थदण्डः पापोपादानम्१। तथाऽनर्थदण्ड इति निष्प्रयोजनमेव सावद्यक्रियानुष्ठानमनर्थदण्डः२। तथा हिंसनं हिंसा प्राण्युपमर्दरूपा तथा, सैव वा दण्डो हिंसादण्डः३। तथाऽकस्मादनुपयुक्तस्य दण्डोऽकस्माद्दण्डः, अन्यस्य क्रियायाऽन्यस्य व्यापादनमिति ४। तथा दृष्टेर्विपर्यासो रज्जुमिव सर्पबुद्धिस्तया दण्डो दृष्टविपर्यासोऽबुद्धिदण्डः । तद्यथा–लेष्टुकादिबुद्ध्या शरादभिघातेन चटकादिव्यापादनम् ५। तथा मृषावादप्रत्ययिकः, स च सद्भूतनिह्नवासद्भूतारोपणः६। तथा अदत्तस्य परकीयस्याऽऽदानं स्वीकरणमदत्तादानं स्तेयं तत्प्रत्ययिको दण्ड इति ७। तथा आत्मन्यध्यध्यात्म, तत्र भव आद्ध्यात्मिको दण्डः। तद्यथा–निर्निमित्तमेव दुर्मना उपहतमनः–संकल्पो हृदयेन ह्रियमाणश्चिन्तासागरावगाढः संतिष्ठते ८। तथा जात्याद्यष्टमदस्थानोपहतमनाः परावमदर्शी तस्य मानप्रत्ययिको दण्डो भवति ९। तथा मित्राणामुपतापेन दोषो मित्रदोषस्तत्प्रत्ययिको दण्डो भवति १०। तथा माया परवञ्चनबुद्धिस्तया दण्डो मायाप्रत्ययिकः ११। तथा लोभप्रत्ययिको लोभनिमित्तो दण्ड इति १२। तथा एवं पञ्चभिः समितिभि समितस्य तिसृभिर्गुप्तिभिर्गुप्तस्य सर्वोपयुक्तस्यैर्याप्रत्ययिकः सामान्येन कर्मबन्धो भवति १३। एतच्च त्रयोदशं क्रियास्थानमिति। सूत्र० २ श्रु० २ अ०। स०प्रश्न०। (अर्थदण्डादीनां व्याख्यासूत्राण्यर्थदण्डादिशब्देषु द्रष्टव्यानि)

एतानि त्रयोदश क्रियास्थानानि न भगवद्वर्धमानस्वामिनै–वोक्तानि, अपि त्वन्यैरपीत्येतद्दर्शयितुमाह–

से वेमि जे य अतीता जे य पडुप्पन्ना जे य आगमिस्सा अरिहंता भगवंता सव्वे ते एयाइं चेव तेरस किरियाठाणाइ भासिंसु वा भासेंति वा भासिस्संति वा पन्नविंसु वा पन्नविंति वा पन्नविस्संति वा एवं चेव तेरसमं किरियाठाणं सेविंसु वा सेवंति वा सेविस्सति वा ॥२४॥

(से वेमीत्यादि) सोऽहं ब्रवीमीति यत्प्रागुक्तं तद्वा ब्रवीमीति। तद्यथा–ये तेऽतिक्रान्ता ऋषभादयस्तीर्थकृतो, ये च वर्त्तमानाः क्षेत्रान्तरे सीमंधरस्वामिप्रभृतयो, ये चाऽऽगामिनः पद्मनाभादयोऽर्हन्तो भगवन्तः सर्वेऽपि ते पूर्वोक्तान्येतानि त्रयोदश क्रियास्थानान्यभाषन्त, भाषन्ते, भाषिष्यन्ते च। तथा तत्स्वरूपतस्तद्विपाकतश्च प्ररूपितवन्तः प्ररूपयन्ति प्ररूपयिष्यन्ति च। तथैतदेव त्रयोदशं क्रियास्थानं सेवितवन्तः सेवन्ते सेविष्यन्ते च। तथाहि–जम्बूद्वीपे सूर्यद्वयं तुल्यप्रकाशं भवति। यथा वा सदृशोपकरणाः प्रदीपास्तुल्यप्रकाशा भवन्त्येवं तीर्थकृतोऽपि निरावरणत्वात् कालत्रयवर्ति नोऽपि तुल्योपदेशा भवन्ति ॥२४॥ सूत्र. २ श्रु. २ अ.। आव.। आ. चू. ध.।

किरियाणय पुं० (क्रियानय) क्रियैव प्रधानमैहिकामुष्मिक फलप्राप्तिकारणं युक्तियुक्तत्वादित्यभ्युपगमपरे नयविशेषे, दश०। क्रियानयदर्शनं चेदम्–क्रियैव प्रधानमैहिकामुष्मिकफलप्राप्तिकारणं युक्तियुक्तत्वात् । तथा चायमप्युक्तलक्षणामेव स्वपक्षसिद्धये गाथामाह–

णायम्मि गिण्हियव्वे, अगिण्हियव्वम्मि चेव अत्थम्मि । जइयव्वमेव इइ जो, उवएसो सो नओ नामं ॥१५५॥ दश० १ अ०।

तत्र क्रियानओ वदति–इह ज्ञातेऽवशुद्धे गृहीतव्यादिकेऽर्थे सर्वामपि पुरुषार्थसिद्धिमभिलषता यतितव्यमिति प्रवृत्त्यादिलक्षणा क्रियैव कर्त्तव्येत्येवम्। अत्र व्याख्याने एवकारः स्वस्थाने एव योज्यते। एवं च सति ज्ञातेऽप्यर्थे क्रियैव साध्या। ततो ज्ञानं क्रियोपकरणत्वाद्गौणमित्यतः सकलस्यापि पुरुषार्थस्य क्रियैव प्रधानं कारणमित्ययमुपदेशः । स नयप्रस्तावत् क्रियानयः। शेषं पूर्ववत् । अयमपि स्वपक्षसिद्धये युक्तीरुद्भावयतिननु क्रियैव प्रधानं पुरुषार्थसिद्धिकारणं प्रयत्नादिक्रियालक्षणविरहेण ज्ञानवतोऽप्यभिलषितार्थसंप्राप्त्यदर्शनात् । तथा चान्यैरप्युक्तम्–''क्रियैव फलदा पुंसां, न ज्ञानं फलदं मतम् । यतःस्त्रीभक्ष्यभोगज्ञो, न ज्ञानात्सुखितो भवेत् ॥१॥ तथा आगमेऽपि तीर्थकरगणधरैः क्रियाविकलानां ज्ञानं निष्फलमेवोक्तम् –

''सुबहुं पि सुयमहीयं, किं काही चरणविप्पमुक्कस्स।
अंधस्स जह पलित्ता , दीवसयसहस्सकोडी वि।
नाणं सविसयनियय, न नाणमेत्तेण कज्जनिप्फत्ती ॥
मग्गन्नू दिट्ठंतो , होइ सचेट्ठो अचेट्ठो व।
जाणंतो वि य तरिउं, काइयजोगं न जुंजई जो उ।
सो वुज्झइ सोएणं, एवं नाणी चरणहीणो'' ॥

"जहा खरो चंदणभारवाही" इत्यादि। एवं तावत्क्षायो पशमिकीं वरणक्रियामङ्गीकृत्य प्राधान्यमुक्तम् । अथ क्षायिकीमप्याश्रित्य तस्या एव प्राधान्यमवसेयम्। यस्मादर्हतोऽपि भगवतः समुत्पन्नकेवलज्ञानस्यापि न तावन्मुक्तयवाप्तिः संपद्यते, यावदखिलकर्मेन्धनानलज्वालाकलापकल्पा शैलेश्यवस्थायां सर्वसंवररूपचारित्रक्रिया न प्राप्नेति, तस्मात् क्रियैव प्रधानं सर्वपुरुषार्थसिद्धिकारणम्। प्रयोगश्चात्र–यद्यत्समनन्तरभावि तत्कारणं, यथाऽन्त्यावस्थाप्राप्तपृथिव्यादिसामग्यनन्तरभावी तत्कारणोऽङ्कुरः, क्रियाऽन्तरभाविनी च सकलपुरुषार्थसिद्धिरिति। ततश्चैष चतुर्विधसामायिके सर्वदेशविरतिसामायिके एव मन्यते । क्रियारूपत्वेन प्रधानमुक्तिकारणत्वात् सम्यक्त्वश्रुत्य, सामायिके तु तदुपकारित्वमात्रतो गौणत्वान्नेच्छतीति। विशे०। आव०। आचा०। आ० म० द्वि०। व्य०। बृ०। सूत्र०। नि० चू०। अधुना क्रियानयाभिप्रायोऽभिधीयते । तद्यथा– क्रियैव प्रधानमैहिकामुष्मिकफलप्राप्तिकारणं, युक्तियुक्तत्वात्, यस्माद्दर्शितेऽपि ज्ञानेनार्थक्रियासमर्थेऽर्थे प्रमाता प्रेक्षापूर्वकारी यदि हानोपादानरूपां प्रवृत्तिक्रियां न कुर्यात्ततो ज्ञानं विफलतामियात्तदर्थत्वात् तस्येति । "यस्य हि यदर्थं प्रवृत्तिस्तत्तस्य प्रधानमितरदप्रधानम्" इति न्यायात् संविदा विषयव्यवस्थानस्याप्यर्थक्रियार्थत्वात् क्रियायाः प्राधान्यमन्वयव्यतिरेकावपि क्रियायां समुपलभ्येते। यतः सम्यक्चिकित्साविधिज्ञोऽपि यथा पथ्यौषधावाप्तवपि प्रयोगनक्रियारहितो नोल्लाघतामेति। तथा चोक्तम् –

"शास्त्राण्यधीत्यापि भवन्ति मूर्खाः,
यस्तु क्रियावान् पुरुषः स विद्वान् ।
संचिन्त्यतामातुरमौषधं हि,
न ज्ञानमात्रेण करोत्यरोगम्" ।

तथा–

"क्रियैव फलदा पुंसां, न ज्ञानं फलदं मतम् ।
यतः स्त्रीभक्ष्यभोगज्ञो, न ज्ञानात्सुखितो भवेत् । " इत्यादि ।

यत्क्रियायुक्तश्च यथाभिलाषितार्थभाग्भवत्यपि, कुत इति चेत् ? न

हि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम, न च सकललोकप्रत्यक्षसिद्धे अर्थे अन्यत्प्रमाणान्तरं मृग्यत इति । तथाऽऽमुष्मिक फलप्राप्त्यर्थिनाऽपि तपश्चरणादिका क्रियैव कर्त्तव्या, मौनीन्द्रप्रवचनमप्येवमेव व्यवस्थितम् । यत उक्तम्– "चेइयकुलगणसंघे, आयरियाणं च पवयणसुए य । सव्वेसु वि तेण कयं, तवसंजमसुज्झमंतेण" ॥१॥ इतश्चैतदेवमङ्गीकर्त्तव्यम् यतस्तीर्थकृदादिभिः क्रियारहितं ज्ञानमप्यफलमुक्तम् । उक्तं च–'सुबहुं पि सुअमधीतं, किं काही चरणविप्पहूणस्स । अंधस्स जह पलित्ता, दीवसतसहस्सकोडी वि ।'' दृशिक्रियापूर्वकक्रियाविकलत्वात्तस्येति भावः । न केवलं क्षायोपशमिकाद् ज्ञानात् क्रिया प्रधाना, किन्तु क्षायिकादपि;यतः सत्यपि जीवाद्यखिलवस्तुपरिच्छेदके ज्ञाने समुल्लसिते न व्युपरतक्रियानिर्वर्तिध्यानक्रियामन्तरेण भवधारणीयकर्मो च्छेदः। तदच्छेदाच्च न मोक्षम् चारित्रतो न ज्ञानं प्रधानम् चरणक्रियायां पुनरैहिकामुष्मिकफलावाप्तिरित्यतः सैव प्रधानभावमनुभवतीति। आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ०।

किरियाणास पुं० (क्रियानाश) स्वाचारभ्रंशे, विटचेष्टायां च। "साहूणमणणुवाओ, किरियाणासो उ उववाए" पञ्चा० ७ विव०।

किरिया (य) रय त्रि० (क्रियारत) भिक्षाशुद्ध्यप्रतिकर्मताप्रान्तोपधितायापनामा सक्षपणाद्यनष्ठानविरते, पञ्चा० ११ विव०।

किरियारुइ स्त्री० पुं० (क्रियारुचि)कर्म० स० दर्शनज्ञानचारित्रतपोविनयाद्यनुष्ठानविषयिण्यां रुचौ, सम्यक्त्वभेदे, ध० २ अधि० क्रिया सम्यक्संयमानुष्ठानम्, तत्र रुचिर्यस्य स क्रियारुचिः दर्शनार्थभेदे, प्रज्ञा०।

क्रियारुचिमाह–

दंसणनाणचरित्ते, तवविणए सव्वसमिइगुत्तीसु ।
जो किरिया–भावरुई, सो खलु किरियारूई नाम ॥

दर्शनं च ज्ञानं च चारित्रं च दर्शनज्ञानचारित्रम् समाहारे द्वन्द्वः, तस्मिन् तथा तपसि विनये च, तथा सर्वासु समितिषु ईर्यासमित्यादिषु, सर्वासु च गुप्तिषु मनोगुप्तिप्रभृतिषु यः क्रियाभावरुचिः । किमुक्तं भवति? यस्य भावतो दर्शनाद्याचारानुष्ठाने रुचिरस्ति, स खलु क्रियारुचिर्नाम । प्रज्ञा०१ प। उत्त०।

किरियावंत त्रि०. (क्रियावत्) क्रियाऽस्त्यस्य मतुप्, मस्य वः। क्रियाविशिष्टे, क्रियानिरते, "यः क्रियावान् स पण्डितः" क्रियाश्रये कर्तरि च। वाच०। जिनकल्पादितुल्यक्रियाऽभ्यासिनि, अष्ट० ११ अष्ट०।

किरियावाइ (ण्) पुं० (क्रियावादिन्) क्रियां जीवजीवादिरर्थोऽस्तीत्येवं रूपां वदन्ति इति क्रियावादिनः । आस्तिकेषु, स्था० ४ ठा० ४ उ०। सूत्र०। रा०। क्रियैव परलोकसाधनायालमित्येवं वदितुं शीलं येषां ते क्रियावादिनः। दीक्षात एव क्रियारूपाया मोक्ष इत्येवमभ्युपगमपरेषु, सूत्र, १ श्रु० ६ अ०। ज्ञानादिरहितां क्रियामेकामेव स्वर्गापवर्गसाधनत्वेन वदितुं शीलवत्सु, सूत्र० २ श्रु० ३ अ०। क्रियामात्मसमवायिनीं वदन्ति तच्छीलालश्च, न कर्तारमन्तरेण क्रिया पुण्यबन्धादिलक्षणा संभवति तत एवं परिज्ञायताम् । क्रियाऽऽत्मसमवायिनीत्यभ्युपगमपरेषु, नं० । ध०। तेषां च १८० भेदाः– "असियसयं किरियाणं" सूत्र० १ श्रु० ११ अ०। तत्र जीवाजीवाश्रवबन्धपुण्यपापसंवरनिर्जरामोक्षाख्या नव पदार्थाः। स्वपरभेदाभ्यां नित्यानित्यविकल्पद्वयेन च कालनियतिस्वभावेश्वरात्माश्रयणादशीत्युत्तरं भेदशतं भवति क्रियावादिनाम्, एते चास्तित्ववादिनोऽभिधीयन्ते । इयमत्र भावनाअस्ति जीवः स्वतो नित्यः कालतः१, अस्ति जीवः स्वतोऽनित्यः कालतः२, अस्ति जीवः परतो नित्यः कालतः३, अस्ति जीवः परतोऽनित्यः कालतः ४ इत्येवं नित्येन कालेन चत्वारो भेदा लबधाः । एवं नियतिस्वभावेश्वरात्मभिरप्येकैकेन चत्वारश्चत्वारो विकल्पा लभ्यन्ते। एते च पञ्च चतुष्कका विंशतिर्भवति। इयं च जीवपदार्थेव लब्धा। एवमजीवादयोऽप्यष्टौ प्रत्येकं विंशतिभेदाश्च । ततश्च नवविंशतयः शतमशीत्युत्तरं भवति (१८०)। तत्र स्वत इति स्वेनैव रूपेण जीवोऽस्ति न परोपाध्यपेक्षया ह्रस्वत्वदीर्घत्वे इव, नित्यः शाश्वतो न क्षणिकः, पूर्वोत्तरकालयोरवस्थितत्वात्, कालत इति काल एव विश्वस्य स्थित्युपत्तिप्रलयकारणम् । उक्तं च –"कालः पचति भूतानि, कालः संहरते प्रजाः। कालः सुप्तेषु जागर्ति, कालो हि दुरतिक्रमः ॥१॥" स चातीन्द्रियो युगपच्चिर क्षिप्रक्रियाभिव्वङ्ग्यो हिमोष्णवर्षाष्व्यवस्थाहेतु : क्षणलवमुहूर्त्तयामाहोरात्रपक्षमासर्त्वयनसंवत्सरयुगकल्पपल्योपमसारोपमोत्सर्पिण्यवसर्पिणी पुद्गलपरावर्तातीतानागतवर्तमानसर्वाद्धादिव्यवहाररूपः। द्वितीयविकल्पे तु कालादेवात्मनोऽस्तित्वमभ्युपेयम्, किन्त्वनित्योऽसाविति विशेषोऽयम्, पूर्वविकल्पात् । तृतीयविकल्पे तु परत एवास्तित्वमभ्युपगम्यते, कथं पुनः परतोऽस्तित्वमात्मनोऽभ्युपेयते? नन्वेतप्रसिद्धमेव सर्वपदार्थानां परपदर्थस्वरूपापेक्षया स्वरूपपरिच्छेदः, यथा दीर्घत्वापेक्षया ह्रस्वत्वपरिच्छेदः, ह्रस्वत्वापेक्षया च दीर्घत्वस्येत्येवमेव वाऽनात्मानम्, स्तम्भकुम्भादिसमीक्षातस्तद्व्यतिरिक्ते वस्तुन्यात्मानं बुद्धिः प्रवर्तत इति। अतो यदात्मनः स्वरूपं तत्परत एवावधार्य्यते, न स्वत इति । चतुर्थविकल्पोऽपि प्राग्वदिति चत्वारो विकल्पाः । तथाऽन्ये नियतिरेवात्मनः स्वरूपमवधारयन्ति । का पुनरियं नियतिरिति ?। उच्यते–पदार्थानामवश्यंतया यद्यथाभवने प्रयोजककर्त्री नियतिः। उक्तं च– "प्राप्तव्यो नियतिय लाश्रयेणयोऽर्थः, सोऽवश्यं भवति नृणां शुभोऽशुभो वा । भूतानां महति कृत्तेऽपि हि प्रयत्ने, नाभाव्यं भवति न भाविनोऽस्ति नाशः ॥१॥" इयं च मस्करिपरिव्राजकानुसारिणां प्राय इति। अपरे पुनः स्वभावादेव संसारव्यवस्थामभ्युपयन्ति। कः पुनरयं स्वभावः ?। वस्तुनः स्वत एव तथापरिणतिभावः स्वभावः। उक्तं च –

''कः कण्टकानां प्रकरोति तैक्ष्ण्यं, विचित्रभावं मृगपक्षिणां च।
स्वभावतः सर्वमिदं प्रवृत्त, न कामचारोऽस्ति कुतः प्रयत्नः ?॥
स्वभावतः प्रवृत्तानां, निवृत्तानां स्वभावतः।
नाहं कर्तेति भूतानां, यः पश्यति स पश्यति॥
केनाञ्जितानि नयनानि मृगाङ्गनानां,
कोऽलङ्करोति रुचिराङ्गरुहान् मयूरान्।
कश्चोत्पलेषु दलसन्निचयं करोति,
को वा दधीत विनयं कुलजेषु पुंसु ?॥''

तथाऽन्येऽभिदधते–समस्तमेज्जीवादि ईश्वरात्प्रसूतम्, तस्मादेव स्वरूपेऽवतिष्ठते। कः पुनरयमीश्वरः ? अणिमाद्यैश्वर्ययोगादीश्वरः। उक्तं च – "अज्ञो जन्तुरनीशः स्यादात्मनः सुखदुःखयोः। ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्, श्वभ्रं वा स्वर्गमेव वा" ॥१॥ तथाऽन्ये ब्रुवतेन जीवादयः पदार्थाः कालादिभ्यः स्वरूपं प्रतिपद्यन्ते, किं तर्ह्यात्मनः । कः पुनरयमात्मा ?, आत्माऽद्वैतवादिनां विश्वपरिणतिरूप आत्मा। उक्तं च – "एक एव हि भूता-

त्मा, भूते भूते व्यवस्थितः। एकधा बहुधा चैव, दृश्यते जलचन्द्रवत्" ॥१॥ तथा–" पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्" इत्यादि। एवमस्त्यजीवः स्वतः नित्यः कालत इत्येवं सर्वत्र योज्यम् आचा० १ श्रु० १ अ०१उ०। आव०। सूत्र०।

सम्मद्दिट्ठी किरिया–वादी सेसा य मिच्छगावाई।
जहिऊण मिच्छवायं, सेवह वायं इमं सच्चं।२३। सूत्र. नि.।

ननु च क्रियावाद्यप्यशीत्युत्तरशतभेदो भवति, तत्र तत्र प्रदेशे कालादीनभ्युपगच्छन्नेव मिथ्यावादित्वेनोपन्यस्तः, तत्कथमिह सम्यग्दृष्टित्वेनोच्यत इति ? उच्यते–स तत्रास्त्येव जीव इत्येवंसावधारणतयाऽभ्युपगमं कुर्वन् काल एवैकः सर्वस्यास्य जगतः कारणम्, तथा स्वभाव एव, नियतिरेव, पूर्वकृतमेव, पुरुषकार एवेत्येवमपरनिरपेक्षतयैकान्तेन कालादीनां कारणत्वेनाश्रवणान्मिथ्यात्वम्। तथाहि–अस्त्येव जीव इत्येवमस्तिना सह जीवस्य सामानाधिकरण्यात्। यद्यदस्ति तत्तज्जीव इति प्राप्तम्, अतो निरवधारणपक्षसमाश्रवणादिह सम्यक्त्वमभिहितम्। तथा कालादीनामपि समुदितानां परस्परसव्यपेक्षाणां कारणत्वेनेहाश्रयणात्सम्यक्त्वमिति। ननु च कथं कालादीनां प्रत्येकं निरपेक्षाणां मिथ्यात्वस्वभावत्वे सति समुदितानां सम्यक्त्वसद्भावः। न हि यत्प्रत्येकं नास्ति तत्समुदायेऽपि भवितुमर्हति। सिकतातैलवत् ? नैतदस्ति, प्रत्येकं पद्मरागादिमणिष्वविद्यमानाऽपि रत्नावली समुदाये भवन्ती दृष्टा। न च दृष्टेऽनुपपन्नं नामेति यत्किञ्चिदेतत्। तथा चोक्तम्–

"कालो सहाव णियई, पुव्वकयं पुरिसकारऽणेगंता।
मिच्छत्तं, ते चेव उ, समासओ हों ति सम्मत्तं ॥१॥
सव्वे वि य कालाइय–समुदायेण साहगा भणिया।
जुज्जत्ति य एमेव य, सम्मं सव्वस्स कज्जस्स ॥२॥
न हि कालादीहिंतो, केवलएहि तु जायए किंचि।
इह मुग्गरंधणादि वि, ता सव्वे समुदिता हेऊ ॥३॥
जहऽणेगलक्खणगुणा, वेरुलियादी मणी वि संजुत्ता।
रयणावली व एसं, ण लहंति महग्घमुल्ला वि ॥४॥
तह णियवादसुविणि–च्छिया वि अण्णाणपक्खनिर-वेक्खा।
सम्मद्दंसणसद्दं, सव्वे वि णया ण पाविंति ॥५॥
जह पुण ते चेव मणी, जहा गुणविसेसभागपडिबद्धा।
रयणावलि त्ति भण्णइ, चयंति पाडिक्कसण्णओ ॥६॥
तह सव्वे णयवाया, जहाणुरुवविणिउत्तवत्तव्वा।
सम्मइंसणसद्दं, लभंति न विसेससण्णओ ॥७॥
तम्हा मिच्छदिट्ठी, सव्वे वि णया सपक्खपडिबद्धा।
अण्णोण्णनिस्सिया पुण, हवंति सम्मत्तसब्भावा ॥८॥"

यत एवं तस्मात् त्यक्त्वा मिथ्यात्ववादं कालादिप्रत्येकैकान्तकारणरूपं, सेवध्वमङ्गीकुरुध्वं सम्यग्वादं परस्परसव्यपेक्षं कालादिकारणरूपमिममिति मयोक्तं प्रत्यक्षावसन्नं सत्यमवितथमिति। सूत्र० १ श्रु० १२ अ०। नि०।

सम्यक्त्वमिथ्यात्वस्थानकयोरुक्तम्, एवं प्रकारं क्रियावादतदितरवादेष्वतिदिशन्नाह–

इत्थमेव क्रियावादे, सम्यक्तवोक्तिर्न दुष्यति।
मिथ्यात्वोक्तिस्तथाऽज्ञाना–क्रियाविनयवादिषु ॥१२७॥

(इत्थमेवेति) इत्थमेव मार्गप्रवेशत्यागाभ्यामेव, क्रियावादे सम्यक्तवोक्तिः'सम्मद्दिट्ठी किरियावाई' इत्यादिलक्षणा, अक्रिया ज्ञानविनयवादिषु च मिथ्यात्वोक्तिः "सेसा य मिच्छगावाई" इत्यादि न दुष्यति न दोषावहा भवति फलतः; इत्थं विभागाभिप्राप्त्या विरोधाज्ञात्या चान्यत्र सर्वतौल्योक्तेरुपपत्तेः ॥१२७॥

क्रियावादस्य सम्यक्त्वरूपतामेव युक्त्यन्तरेण द्रढयति–

क्रियायां पक्षपातो हि, पुंसां मार्गाभिमुख्यकृत्।
अन्त्यपुद्गलभावित्वा–दन्येभ्यस्तस्य मुख्यता ॥१२८॥

(क्रियायामिति) क्रियायां पक्षपातो मोक्षेच्छयाऽऽवेशो हि पुंसां मार्गाभिमुख्यकृत् मार्गानुसारितः स्थैर्याधायको भवति। तेनान्त्यपुद्गलभावित्वाच्चरमपुद्गलपरावर्त्तमात्रसंभवत्वादन्येभ्योऽक्रियावादादिभ्यस्तस्य क्रियावादस्य मुख्यता। तदुक्तं दशाचूर्णौ–"जो अकिरियावाई सो भविओ अभविओ वा कण्हपक्खिओ सुक्कपक्खिओ वा। जो किरियावाई सो णियमा भविओ णियमा सुक्कपक्खिओ अंतोपुग्गलपरिअट्टस्स सिज्झइ" इत्यादि। नयो०।

दीक्षात एव मोक्षवादिनां मतं दुदूषयिषुस्तन्मतमाविष्कुर्वन्नाह–

ते एवमक्खंति समिच्च लोगं, तहा (गया) तहा समणा माहणा य।
सयंकडं णन्नकडं च दुक्खं, आहंसु विज्जाचरणं य मोक्खं ॥११॥

ये क्रियात एव ज्ञाननिरपेक्षाया दीक्षादिलक्षणाया मोक्षमिच्छन्ति, ते एवमाख्यान्ति। तद्यथा–अस्ति माता पिता, अस्ति सुचीर्णस्य कर्मणः फलमिति। किं कृत्वा त एवं कथयन्ति ?–क्रियात एव सर्वं सिध्यतीति स्वाभिप्रायेण लोकं स्थावरजङ्गमात्मकं समेत्य ज्ञात्वा किल वयं यथावस्थितवस्तुनो ज्ञातार इत्येवमभ्युपगम्य सर्वमस्त्येवेत्येवं सावधारणं प्रतिपादयन्ति, न कथञ्चिन्नास्तीति कथमाख्यान्ति ? तथा तेन प्रकारेण यथा यथा क्रिया तथा तथा स्वर्गनरकादिकं फलमिति। ते च श्रमणास्तीर्थिका ब्राह्मणा वा क्रियात एव सिद्धिमिच्छन्ति। किञ्चयत् किमपि संसारे दुःखं तथा सुखं च तत्सर्वं स्वयमेवात्मना कृतं नान्येन कालेश्वरादिना। न चैतदक्रियावादे घटते। तत्रहि–अक्रियात्वादात्मनोऽकृतयोरेव सुखदुःखयोः संभवः स्यात् एवं च कृतनाशाकृतागमौ स्याताम् ? अत्रोच्यतेसत्यम्, अस्त्यात्मसुखदुःखादिकम्, न त्वस्त्येव। तथाहि–यद्यस्त्मेवं सावधारणमुच्येत, ततश्च न कथञ्चिन्नास्तीत्यापन्नम्, एवं च सति सर्वं सर्वात्मकमापद्येत। तथा च सर्वलोकस्य व्यहारोच्छेदः स्यात्। न च ज्ञानहितायां क्रियायाः सिद्धिः, तदुपायपरिज्ञानाभावात्। नचोपायमन्तरेणोपेयमवाप्यत इति प्रतीतम्। सर्चा हि क्रिया ज्ञानवत्येव फलवत्युपलक्ष्यते। उक्तं च–

"ज्ञानस्य ज्ञानिनां चैव, निन्दप्रद्वेषमत्सरैः।
उपेक्षितैश्च विध्नैश्च ज्ञानघ्नं कर्म बध्यते" ॥१॥
"पढमं नाणं तओ दया, एवं चिट्ठति सव्वसंजए॥
अन्नाणी किं काही, किं वा नाणी छेयपावयं" ॥१॥

इत्यतो ज्ञानस्यापि प्राधान्यम्। नापि ज्ञानादेव सिद्धः, क्रियारहितस्य पङ्गोरिव कार्यसिद्धेरनुपपत्तिरित्यालोच्याह–(आहंसु विज्जाचरणं य मोक्खं ति) न ज्ञाननिरपेक्षायाः क्रियायाः सिद्धिरन्धस्येव, नापि क्रियाविकलस्य ज्ञानस्य पङ्गोरित्येवमवगम्याहुरुक्तवन्तः, तीर्थकरगणधरादयः।

किमाहुः ? मोक्षम्। कथम् ? विद्या च ज्ञानं, चरणं च क्रिया, ते द्वे अपि विद्येते कारणत्वेन यस्येति विगृह्य **"अर्श आदिभ्योऽच्" ५।२। १२७।** इति [पाणि०] सूत्रेण मत्वर्थीयोऽच्। असौ विद्याचरणो मोक्षः, ज्ञानक्रियासाध्य इत्यर्थः। तमेव साध्यं मोक्षं प्रतिपादयन्ति।यदि वाऽन्यथा वा पातनिका केनैतानि समवसरणानि प्रतिपादितानि? यच्चोक्तं यच्च वक्ष्यते इत्येतदाशङ्क्याह– [ते एवमक्खंतीत्यादि] अनिरुद्धा क्वचिदप्यस्खलिता, प्रज्ञायतेऽनयेति प्रज्ञा ज्ञानं, येषां तीर्थकृतां तेऽनिरुद्धप्रज्ञास्त एवमनन्तरोक्तया प्रक्रियया सम्यगाख्यान्ति प्रतिपादयन्ति। लोकं चतुर्दशरज्ज्वात्मकं, स्थावरजङ्गमाख्यं वा, समेत्य केवलज्ञानेन करतलामलकन्यायेन ज्ञात्वा। तथाग–तास्तीर्थकरत्वं केवलज्ञानं च गताः श्रमणाः साधवो ब्राह्मणाः संयताऽसंयताः, लौकिकी वाचोयुक्तिः। किंभूतास्त एव माख्यान्तीति संबन्धः। 'तथा तथेति' वा क्वचित्पाठः। यथा यथा समाधिमार्गो व्यवस्थितस्तस्था तथा कथयन्ति। एतच्च कथयन्ति–यथा यत्किञ्चित्संसारान्तर्गतानामसुमतांदुःख–मसातोदयस्वाभावं, तत्प्रतिपक्षभूतं च सातोदयापादितं सुखं, तत्स्वयमात्मना कृतं, नान्येन कालेश्वरादिना कृतमिति। तथा चोक्तम्– "सव्वो पुव्वकयाणं कम्माणं पावए फलविवागं। अवराहेसु गुणेसु, णिमित्तमेत्तं परो होइ" ॥१॥ एतच्च–हुस्तीर्थकरगणधरादयः। तद्यथा– विद्या ज्ञानं, चरणं चारित्रं क्रिया, तत्प्रधानो मोक्षस्तमुक्तवन्तः, न ज्ञानक्रियाभ्यां परस्परनिरपेक्षाभ्यामिति। तथा चोक्तम्–"क्रिया च सज्ज्ञानवियोगनिष्फला, क्रियाविहीना च विबोधसंपत्। निरञ्जताक्लेश–समूहशान्तये, त्वया शिवाया लिखितेव पद्धतिः" ॥१॥

किञ्च–

ते चक्खु लोगंसिह णायगा उ, मग्गाऽणुसासंति हितं पयाणं।
तहा तहा सासयमाहु लोए, जंसी पयामाणव! संपगाढा।१२।

(तेचक्खुलोगंसिहेत्यादि) ते तीर्थकरगणधरादयोऽतिशयज्ञानिनोऽस्मिन् लोके, चक्षुरिव चक्षुर्वर्तन्ते। यथाहि चक्षुर्योग्यदेशावस्थितान् पदार्थान् परिच्छिनत्ति, एवं तेऽपि लोकस्य यथावस्थितपदार्थाविष्करणं कारयन्ति। यथाऽस्मिन् लोके ते नायकाः प्रधानाः। तुशब्दो विशेषणे। सदुपदेशदानतो वा नायका इति। एतदाह–मार्गं ज्ञानादिकं मोक्षमार्गम्, अनुशासन्ति कथयन्ति। प्रजायन्त इति प्रजाः प्राणिनः, तेषाम्। किंभूतम् ? हितं सद्गतिप्रापकमनर्थनिवारकम्। किञ्चचतुर्दशरज्ज्वात्मके लोके पञ्चास्तिकायात्मके वा येन प्रकारेण द्रव्यास्तिकनयाभिप्रायेण यद्वस्तु शाश्वतं तत्तथा आहुरुक्तवन्तः। यदि वा लोकोऽयं प्राणिगणः संसारान्तर्वर्ती यथा यथा शाश्वतो भवति तथा तथैवाहुः। तद्यथा–यथा यथा मिथ्यादर्शनाभिवृद्धिस्तथा तथा शाश्वतो लोकः। तथाहि–तत्र तीर्थकराहारकवर्ज्याः सर्व एव कर्मबन्धाः सम्भाव्यन्त इति। तथाच महारम्भादिभिश्चतुर्भिः स्थानैर्जीवा नरकायुष्कं यावन्निवर्तयन्ति तावत्संसारानुच्छेद इति। अथवा यथा यथा रागद्वेषादिवृद्धिस्तथा तथा संसारोऽपि शाश्वत इत्याहुः। यथा यथा च कर्मोपचयमात्रा तथा तथैव संसाराभिवृद्धिरिति। दुष्टमनोवाक्कायाभिवृद्धौ वा संसाराभिवृद्धिरवगन्तव्या; तदेवं संसारस्याभिवृद्धिर्भवति। यथाऽस्मिंश्च संसारे प्रजायन्त इति प्रजा जन्तवः। हे मानव ! मनुष्याणामेव प्रायश उपदेशार्हत्वान्मानवग्रहणम्। सम्यग्नारकतिर्यङ्नरामरभेदेन प्रगाढाः प्रकर्षेण व्यवस्थिता इति ॥१२॥

लेशतो जन्तुभेदप्रदर्शनद्वारेण तत्पर्यटनमाह–

जेरक्खसा वा जमलोइया वा, जे वा सुरा गंधव्वा य काया।
आगासगामी य पुढोसिया जे, पुणो पुणो विप्परियासुवेंति।१३।

ये केचन व्यन्तरभेदा राक्षसात्मानः; तद्ग्रहणाच्च सर्वेऽपि व्यन्तरा गृह्यन्ते। तथा यमलौकिकात्मनोऽम्बर्ष्यादयः, तदुपलक्षणात्सर्वभवनपतयः, तथा ये च सुराः सौधर्मादिवैमानिकाः। चशब्दाज्ज्योतिष्काः सूर्यादयाः, तथा ये गान्धर्वा विद्याधरा व्यन्तरविशेषा व। तद्ग्रहण च प्राधान्यख्यापनार्थम्। तथा कायाः पृथिवीकायादयः षडपि गृह्यन्ते इति। पुनरन्येन प्रकारेण सत्त्वान्संजिघृक्षुराहये केचनाऽऽकाशगामिनः–संप्राप्ताकाश गमनलब्धयश्चतुर्विधदेवनिकायविद्याधरपक्षिवायवः; तथा ये च पृथिव्याश्रिताः पृथिव्यप्तेजोवायुवनरुपतिद्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियाः, ते सर्वेऽपि स्वकृतकर्मभिः पुनः पुनर्विविधमनेकप्रकारं पर्यासं परिक्षेपमरहट्टघटीन्यायेन परिभ्रमणमुप सामीप्येन यान्ति गच्छन्तीति ॥१३॥

किञ्चान्यत्–

जमाहु ओहं सलिलं अपारगं,
जाणाहि णं भवगहणं दुमोक्खं।
जंसी विसन्ना विसयंगणाहिं,
दुहओ वि लोयं अणुसंचरंति ॥१४॥

यं संसारसागरमाहुरुक्तवन्तस्तीर्थकरगणधरादयः तद्विदः। कथमाहुः?– स्वयंभुरमणसलिलौघवदपारम्, यथा स्वयंभुरमण–सलिलौघो न केनचिज्जलचरेण स्थलचरेण वा लङ्घयितुं शक्यते, एवमयमपि संसारसागरः सम्यग्दर्शनिनमन्तरेण लङ्घयितुं न शक्यत इति दर्शयति, जानीहि अवगच्छ, णमिति वाक्यालङ्कारे। भवगहनमिदं चतुरशीतियोनिलक्षप्रमाणं यथासंभवं संख्येयानन्तस्थितिकम्। दुःखेन मुच्यत इति दुर्मोक्षं दुरुत्तरमस्तिवादिनामपि, किंपुनर्नास्तिकानाम्। पुनरपि भवगहनोपलक्षितं संसारमेव विशिनष्टि–यस्मिन् यत्र संसारे सादद्यकर्मानुष्ठायिनः कुमार्गपतिता असत्समवसरणग्राहिणो विषण्णा अवसन्ना विषयप्रधाना अङ्गना विषयाङ्गनास्ताभिः, यदि वा विषयाश्चाङ्गनाश्च विषयाङ्गनास्ताभिर्वशीकृताः सर्वत्र सदनुष्ठानेऽवसीदन्ति। त एवं विषयाङ्गनादिके पञ्चके विषण्णा द्विधाऽप्याकाशाश्रितं पृथिव्याश्रितं च लोकम्, यदि वा स्थावरजङ्गमलोकमनुसंचरन्ति गच्छन्ति। यदि वा द्विधाऽपि लिङ्गमात्रप्रव्रज्ययाऽविरत्या च रागद्वेषाभ्यां वा लोकं चतुर्दशरज्ज्वात्मकं स्वकृतकर्मप्रेरिता अनुसंचरन्ति बम्भ्रम्यन्त इति ॥१४॥

किञ्चान्यत्–

न कम्मणा कम्म खवेंति वाला,
अकम्मणा कम्म खवेंति धीरा।
मेधाविणो लोभभयावतीता,
संतोसिणो पकरेंति पावं ॥१५॥

ते एवमसत्समयशरणाश्रिता मिथ्यात्वादिभिर्दोषैरभिभूताः

सावद्येतरविशेषानभिज्ञाः सन्तःकर्मक्षपणार्थमप्युद्यता निर्विवेकतया सावद्यमेव कर्म कुर्वते । न च कर्मणा सावद्यारम्भेण कर्म पापं क्षपयन्त्यपनयन्त्वज्ञत्वाद् बाला इव बालास्त इति। यथा च कर्म क्षिप्यते तथा दर्शयति–अकर्मणा त्वाश्रवनिरोधेन तु अन्तशः शैलेश्यवस्थायां कर्म क्षपयन्ति धीरा महासत्त्वाः सद्वैद्या इव चिकित्सयाऽऽमयानिति । मेधा प्रज्ञा विद्यते येषां ते मेधाविनः हिताहितप्राप्तिपरिहाराभिज्ञा लोभमयं परिग्रहमेवातीताः परिग्रहातिक्रमाल्लोभातीता वीतरागा इत्यर्थः । सन्तोषिणो येन केनचित्संतुष्टा अवीतरागा अपीति । यदि वा यत एवातीतलोभा अत एव सन्तोषिण इति । त एवंभूता भगवन्तः पापमसदनुष्ठानापादितं कर्म न कुर्वन्ति नाददति । क्वचित्पाठः– 'लोभभयादतीताः' । लोभश्च भयं च समाहारद्वन्द्वः । लोभाद्वा भयं तस्मादतीताः संतोषिण इति। न पुनरुक्तशङ्का विधेयेत्यतो लोभतीतत्वेन प्रतिषेधांशो दर्शितः । सन्तोषिण इत्यनेन च विध्यंश इति । यदि वा लोभातीतग्रहणेन समस्तलोभाभावः; संतोषिण इत्यनेन तु सत्यप्यवीतरागत्वेन उत्कटलोभा इति । लोभाभावं दर्शयन् अपरकषायेभ्यो लोभस्य प्राधान्यमाह। ये च लोभातीतास्तेऽवश्यं पापं न कुर्वन्तीति स्थितम्।१५।

ये च लोभातीतास्ते किंभूता भवन्तीत्यत आह–

ते तीयउप्पन्नमणागयाइं, लोगस्स जाणंति तहागयाइं ।
णेतार अन्नेसि अणन्नणेया, बुद्धा हु ते अंतकडा भवंति ।१६।

ते वीतरागा अल्पकषाया वा लोकस्य पञ्चास्तिकायात्मकस्य प्राणिलोकस्य वाऽतीतान्यन्यजन्माचरितानि उत्पन्नानि वर्त्तमानवस्थायीन्यनागतानि च भवान्तरभावीनि सुखदुःखादी नि तथागतानि यथाऽवस्थितानि तथैवावितथं जानन्ति, न विभङ्गज्ञानिन इव विपरीतं पश्यन्ति। तथाहि आगमः"अणगारे णं भंते ! माई मिच्छादिट्ठी रायगिहे णयरे संमोहए वाणारसीए नयरीए रूवाइं जाणइ पासइ जाव से दंसणे विवज्जासे भवति" इत्यादि । ते चातीतानागतवर्तमानज्ञानिनः प्रत्यक्षज्ञानिनश्चतुर्दशपूर्वविदो वाऽप्रत्यक्षज्ञानिनोऽन्येषां संसारोत्तितीर्षूणां भव्यानां मोक्षं प्रति नेतारः–सदुपदेशं प्रत्युपदेष्टारो भवन्ति। न च ते स्वयंबुद्धत्वादन्येन नीयन्तेतत्त्वावबोधं कार्यन्त इत्यनन्यनेयाः, हिताहितप्राप्तिपरिहारं प्रति नान्यस्तेषां नेता विद्यत इति भावः । ते च बुद्धाः स्वयंबुद्धास्तीर्थकरगणधरादयः। हुशब्दश्चशब्दार्थे, विशेषणे च, तथा च प्रदर्शित एव । ते च भवान्तकराः, संसारोपादानभूतस्य वा कर्मणोऽन्तकश भवन्तीति ॥१६॥

यावदद्यापि भवान्तं न कुर्वन्ति तावत्प्रतिषेध्यमंशं दर्शयितुमाह–

ते णेव कुव्वंति ण भूताहिसंकाएँ दुगुंछमाणा ।
सया जता विप्पणवंति धीरा, विण्णत्ति वीरा य हवंति एगे ।१७।

ते प्रत्यक्षज्ञानिनः परोक्षज्ञानिनो वा विदितवेद्याः सावद्यमनुष्ठानं भूतोपमर्दाभिशङ्क्या पापं कर्म जुगुत्सन्तः सन्तो न स्वतः कुर्वन्ति, नाप्यन्येन कारयन्ति, कुर्वन्तमप्यपरं नानुमन्यन्ते । तथा स्वतो न मृषावादं जल्पन्ति, नान्येन जल्पयन्ति, नाप्यपरं जल्पन्तमनुजानन्ति, एवमन्यान्यपि महाव्रतान्यायोज्यानीति । तदेवं सदा सर्वकालं, यताः संयताः पापानुष्ठानान्निवृताः, विविधं संयमानुष्ठानं प्रति प्रणमन्ति प्रह्वीभवन्ति । के ते ?, वीरा महापुरुषा इति । तथैके केचन हेयोपादेयं विज्ञाय अपिशब्दात्सम्यक् परिज्ञाय वा तदेव निशङ्कं यज्जिनैः प्रवेदितमित्येवं कृतनिश्चयाः कर्मणि विदारयितव्ये वीरा भवन्ति। यदि वा परीषहोपसर्गानी–कविजयाद्वीरा इति। पाठान्तरं वा – (विण्णत्ति वीरा य भवन्ति एग) एके केचन गुरुकर्मणोऽल्पसत्त्वाः विज्ञप्तिर्ज्ञानं तन्मात्रेणैव वीरा नत्वनुष्ठाने, न च ज्ञानादेवाऽभिलषितावाप्तिरुपजायते । तथाहि– "अधीत्य शास्त्राणि भवन्ति मूर्खाः, यस्तु क्रियावान् पुरुषः स विद्वान्। संचिन्त्यतामौषधमातुरं हि, न ज्ञानमात्रेण करोत्यरोगम्" ॥१॥१७।

कानि पुनस्तानि भूतानि यच्छङ्क्याऽऽरम्भं जुगुप्सन्ति सन्त इत्येतदाशङ्क्याह–

डहरे य पाणे वुड्ढे य पाणे, ते आतओ पासइ सव्वलोए ।
उव्वेहती लोगमिणं, महन्तं बुद्धेऽपमत्तेसु परिव्वएज्जा ॥१८॥

ये केचन (डहरे त्ति) लघवः कुन्थ्वादयः सूक्ष्मा वा, ते सर्वे ऽपि प्राणाः प्राणिनः, ये च वृद्धा वादरशरीरिणस्तान्सर्वानप्यात्मतुल्यान् आत्मवत्पश्यति सर्वस्मिन्नपि लोके; यावत्प्रमाणं मम तावदेव कुन्थोरपि, यथा वा मम दुःखमनभिमतमेवं सर्वलोकस्यापि, सर्वेषामति प्राणिनां दुःखमुत्पद्यते, दुःखाद्विजन्ति । यथा चागमः– " पुढविकाए णं भंते ! अक्कंते समाणे केरिसयं वेयणं वेएइ ?" इत्याद्याः सूत्रालापका इति मत्वा ते ऽपि नाक्रमितव्या न संघट्टनीया इत्येवं यः पश्यति । तथा लोकमिमं महान्तमुत्प्रेक्षते, षड्जीवसूक्ष्मबादरभेदैराकुलत्वान्महान्तम् ; यदि वा अनादिनिधनत्वान्महान् लोकः । तथाहिकालतो भव्या अपि केचन सर्वेणाऽपि कालेन न सेत्स्यन्तीति। यद्यपि द्रव्यतः षड्द्रव्यात्मकत्वात् क्षेत्रतश्चतुर्दशरज्जुप्रमाणत या सावधिको लोकः, तथापि कालतो भावतश्चानाद्यनिधनत्वात्पर्यायाणां चानन्तत्वान्महान् लोकः, तमुत्प्रेक्षत इति । एवं च लोकमुत्प्रेक्षमाणो बुद्धोऽवगन्तव्यः । सर्वाणि प्राणिस्थानान्यशाश्वतानि तथा नात्रापसदे संसारे सुखलेशोऽप्यस्तीत्येवं मन्यमानोऽप्रमत्तेषु संयमानुष्ठायिषु मध्ये तथाभूत एव परिसमन्ताद् व्रजेत् । यदि वा बुद्धः सन् प्रमत्तेषु गृहस्थेषु अप्रमत्तः सन् संयमानुष्ठाने परिव्रजेदिति ॥१८॥

जे आयओ परओ वा वि णच्चा,
अलमप्पणो होंति अलं परेसिं ।
तं जोइभूतं च सयाऽऽवसेज्जा,
जे पाउकुज्जा अणुचिंति धम्मं ॥१९॥

यः स्वयं सर्वज्ञ आत्मनस्त्रैलोक्योदरविवरवर्तिपदार्थदर्शी यथावस्थितं लोकं ज्ञात्वा, तथा यश्च गणधरादिकः परतस्तीर्थकरादेर्जीवादीन् पदार्थान् विदित्वा परेभ्य उपदिशति, स एवंभूतो हेयोपादेयवेद्यात्मनस्त्रातुमलमात्मानं संसारावटात्पालयितुं समर्थो भवति । तथा परेषां सदुपदेशदानतस्त्राता जायते । तं सर्वज्ञं स्वत एव सर्ववेदिनं तीर्थकरादिकं, परतो वेदिनं च गणधरादिकं, ज्योतिर्भूतं पदार्थप्रकाशकतया चन्द्रादित्यमदीपकल्पमात्महितमिच्छन् संसारदुःखोद्विग्नः कृतार्थमात्मानं भावयन् सततमनवरतमावसेत सेवेत गुर्वन्तिक एव यावज्जीवं वसेत्। तथा चोक्तम्–"नाणस्स होइ भागी, थिरपरओ दंस–

णे चरित्ते य। धन्ना आवकहाए, गुरुकुलवासं ण मुंचंति" ॥१॥ के एवं कुर्युरिति दर्शयति– ये कर्मपरिणतिमनविचिन्त्य, "माणुस्सखेत्तजा" इत्यादिदुर्लभां च सद्धर्मावाप्तिं सद्धर्मं वा श्रुतचारित्रख्यं क्षान्त्यादिकं दशविधं साधुधर्मं वाऽनुविचिन्त्य पर्यालोच्य ज्ञात्वा वा तमेव धर्मं यथानुष्ठानतः प्रादुष्कुर्युः प्रकटयेयुः, ते गुरुकुलवासं यावज्जीवमासेवन्त इति। यदि वा ये ज्योतिर्भूतमाचार्यं सततमासेवन्ति, तथा आगमज्ञा धर्ममनुविचिन्त्य लोकं पञ्चास्तिकायात्मकं चतुर्दशरज्ज्वात्मकं वा प्रादुष्कुर्युरिति क्रिया ॥१६॥

किञ्चान्यत्–

अत्ताण जो जाणति जो य लोगं,
गइं च जो जाणइ ऽणागइं च।
नो सासयं जाण असासयं च,
जातिं च मरणं च जणोववायं ॥२०॥

यो ह्यात्मानं परलोकयायिनं शरीराद्व्यतिरिक्तं सुखदुःखधारं जानाति यश्चात्महितेषु प्रवर्तते स आत्मज्ञो भवति। येन चात्मा यथावस्थित-स्वरूपोऽहंप्रत्ययग्राह्योऽभिज्ञातो भवति तैनेवायं सर्वोऽपि लोकः प्रवृत्तिनिवृत्तिरूपो विदितो भवति, स एव चात्मज्ञोऽस्तीत्यादिक्रियावादं भाषितुमर्हतीति द्वितीयवृत्तान्तस्य क्रिया। यश्च लोकं चराचरं वैशाख-स्थानस्थकटिस्थकरयुग्मपुरुषाकारं, चशब्दादलोकं चानन्ताकाशास्ति-कायमात्रं जानाति, यश्च जीवानामागतिमागमनं, कुतः समागता नारका-स्तिर्यञ्चो मनुष्या देवाः? कैर्वा कर्मभिर्नारकादित्वेनोत्पद्यन्त इत्येवं यो जानाति, तथाऽनागतिं चाऽनागमनं च, कुत्र गतानां नागमनं भवति। चकारात्तद्गमनोपायं च सम्यग्दर्शनज्ञान–चारित्रात्मकं यो जानाति, तत्रानागतिः सिद्धिरशेषकर्मच्युतिरूपा लोकाग्राऽऽकाशदेशस्थानरूपा वा ग्राह्या, सा च सादिरपर्यवसाना। यश्च शाश्वतं नित्यं सर्ववस्तुजातं द्रव्यास्तिकनयाश्रयादशाश्वतं वाऽनित्यं प्रतिक्षणविनाशरूपं पर्याय-नयाश्रयणात्, चकारान्नित्यानित्यं चोभयाकारं सर्वमपि वस्तुजातं यो जानाति। तथाहि आगमः– "णेरइया दव्वट्ठयाए सासया, भावट्ठयाए असासया"। एवमन्येऽपि तिर्यगादयो द्रष्टव्याः। अथ वा निर्वाणं शाश्वतं, संसारोऽशाश्वतः, तद्गतानां संसारिणां स्वकृतकर्मवशगानामितश्चेतश्च गमनादिति। तथा जातिमुत्पत्तिं नारकतिर्यङ्मनुष्यामरजन्मलक्षणां च, मरणं चाऽऽयुष्कक्षय–लक्षणम्। तथा जायन्त इति जनाः सत्त्वाः, तेषामुपपातं जानाति; स च नारकदेवयोर्भवतीति। अत्र च जन्मचिन्ता-यामसुमतामुत्पत्तिस्थानं योनिर्भणनीया; सा च सचित्ताऽचित्ता मिश्रा च। तथा शीता उष्णा मिश्रा च। तथा संवृता विवृता मिश्रा चेत्येवं सप्तविंशतिविधेति। मरणं पुनस्तिर्यङ्मनुष्ययोश्च्यवनं ज्योतिष्क-वैमानिकानाम्, उद्वर्तनं भवनपतिव्यन्तरनारकाणामिति ॥२०॥

किञ्च–

अहो वि सत्ताण विउट्टणं च,
जो आसवं जाणति संवरं च।
दुक्खं च जो जाणति निज्जरं च,
सो भासिउमरिहइ किरियवादं ॥२१॥

सत्त्वानां स्वकृतकर्मफलभुजामधस्तान्नारकादौ दुष्कृतकर्मकारिणां विविधां विरूपां वा कुट्टनां जातिजरामरणरोगशोककृतां शरीरपीडां, चशब्दात्तदभावोपायं यो जानाति। इदमुक्तं भवतिसर्वार्थसिद्धादारतोऽधः सप्तमीं नरकभुवं यावदसुमन्तः सकर्माणो विवर्त्तन्ते; तत्रापि ये गुरुतरकर्माणस्तेऽप्रतिष्ठाननरकयायिनो भवन्तीत्येवं यो जानीते। तथा आश्रवत्यष्टप्रकारकं कर्म येन स आश्रवः; स च प्राणातिपारूपो, रागद्वेषरूपो वा, मिथ्यादर्शनादिको वेति तम्। तथा संवरणमाश्रवनिरोधरूपं यावदशेषयोगनिरोधस्वभावं, चकारात्पुण्यपापे च यो जानीते। तथा दुःखमसातोदरूपं, तत्कारणं च यो जानाति, सुखं च तद्विपर्ययभूतं यो जानाति तपसा निर्जरां च। इदमुक्तं भवति–यः कर्मबन्धहेतून् तद्विपर्यासहेतूंश्च तुल्यतया जानाति। तथाहि–"यथाप्रकारा यावन्तः, संसारावेशहेतवः। तावन्तस्तद्विपर्यासाः निर्वाणावेशहेतवः" ॥१॥ स एव परमार्थतो भाषितुं वक्तुमर्हति। किं तत्? इत्याह–क्रियायादम् अस्ति जीवोऽस्ति पुण्यमस्ति च पूर्वचरितस्य कर्मणः फलमित्येवं वादमिति। तथाहि–जीवाजीवाश्रवसंवरबन्धपुण्यपापनिर्जरामोक्षरूपा नवापि पदार्थाः श्लोकद्वयेनोपात्ताः। तत्र य आत्मानं जानातीत्यनेन जीवा-पदार्थो, लोकमित्यनेनाजीवपदार्थः, तथा गत्या गतिः शाश्वतेत्यादि-नानयोरेव स्वभावोपदर्शनं कृतम्। तथा आश्रवसंवरौ स्वरूपेणैवोपात्तौ। दुःखमित्यनेन तु बन्धपुण्यपापानि गृहीतानि, तदविनाभावित्वाद् दुःखस्य। निर्जरायास्तु स्वाभिधानेनैवोपादानम्, तत्फलभूतस्य मोक्षस्योपादानं द्रष्टव्यमिति। तदेवमेतावन्त एव पदार्थाः, तदभ्युपगमे नवास्तीत्यादिकः क्रियावादोऽभ्युपगतो भवतीति। यश्चैतान् पदार्थान् जानात्यभ्युपगच्छति स परमार्थतः क्रियावादं जानाति। ननु चापरदर्शनोक्तपदार्थपरिज्ञानेन सम्यक्त्वादिकं कस्मान्नाभ्युपगम्यते, तदुक्तपदार्थानामेवाघटमानत्वात्। सूत्र.। (नैयायिकदर्शनमन्यत्रा-पाकरिष्यते) तस्मात्पारिशेष्यसिद्धा अर्हदुक्ता नवपदार्थाः सत्याः तत्परिज्ञानं च क्रियावादे हेतुर्नापरपदार्थपरिज्ञानमिति ॥२१॥

सांप्रतमध्ययनार्थमुपसंजिहीर्षुः सम्यग्वादापरिज्ञानफ

लमादर्शयन्नाह–

सद्देसु रूवेसु असज्जमाणो, गंधेसु रसेसु अदुस्समाणे।
णो जीवितं णो मरणाहिकंखी, आयाणगुत्ते वलया विमुक्के ।२२।
त्ति वेमि ॥

"सद्देसु" इत्यादि। शब्देषु वेणुवीणादिषु श्रुतिसुखदेषु, रूपेषु च नयनानन्दकारिष्वासङ्गमकुर्वन् गार्ध्यमकुर्वाणोऽनेन रागो गृहीतः, तथा गन्धेषु कुथितकलेवरादिषु, रसेषु चान्तप्रान्ताशनादिषु अदुष्यमाणो मनोज्ञेषु द्वेषमकुर्वन्। इदमुक्तं भवतिशब्दादिष्विन्द्रियविषयेषु मनोज्ञेतरेषु रागद्वेषाभ्यामनपदि शयमानो जीवितमसंयमजीवितं नाभिकाङ्क्षेत्, नापि परीषहोपसर्गैरभिद्रुतो मरणमभिकाङ्क्षेत्। यदि वा जीवितमरणयोरन-भिलाषी संयममनुपालयेदिति। तथा मोक्षार्थिनादीयते गृह्यात इत्यादानं संयमः, तेन तस्मिन् वा सति गुप्तः, यदि वा मिथ्यात्वादिना दीयते इत्यादानमष्टप्रकारं कर्म, तस्मिन्नादातव्ये मनोवाक्कायैर्गुप्तः समितश्च। तथा भावबलयं माया तथा, विमुक्तो मायामुक्तः। इति ः

परिसमाप्त्यर्थे । ब्रवीमिति पूर्ववत्; नयाः पूर्ववदेव ॥२२॥ सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । क्रियैव चैत्यकर्मादिका प्रधानमोक्षाङ्गमित्येवं वदितुं शीलं येषां ते क्रियावादिनः ।चैत्यमादित एव मोक्षवादिषु, सूत्र० १ श्रु०१ अ० २ उ० । (तेषां मतं चतुर्विधं कर्म नोपचयं यातीति लक्षणं "कम्म" शब्देऽत्रैव भागे ३३१ पृष्ठे दर्शितम्) व्यवहारे साक्ष्यादिप्रमाणरूपक्रियासाध्ययुक्ते वादिनि, वाच० । यो मोक्षार्थं क्रियां करोति स क्रियावादीति प्रघोषः सत्योऽसत्यो वा? यदि सत्यस्तर्हि मोक्षार्थे जीवघातं कुर्वत्सु सत्स्वपि तुरुष्कादिफ-रङ्गिकपर्यन्तसर्वमिथ्यादृष्टिषु क्रियावादित्वं स्यात्, तत्तु केषाञ्चिदात्मश्राद्धानामत्रत्यढुण्ढिकरवाद्यानां च चेतसि प्रतिभासते । प्रत्युत ढुण्ढिका इत्थं कथयन्तिश्रीमतां ये ये गीतार्था अत्र समायान्ति ते सर्वेषां क्रियाकुर्वतां मिथ्यादृशां क्रियावादित्वं कथयन्ति । तदसमीचीनं श्रद्धानम् ॥ ते तु ढुण्ढिकाः सम्यग्दृशां सम्यक्तवातिमुखाणां च क्रियावादित्वं कथयन्ति, नान्येषामिति प्रश्ने उत्तरम्–यो मोक्षार्थं क्रियां करोति स क्रियावादीति प्रघोषः सत्य एव लक्ष्यते । न च कोऽपि मोक्षार्थं जीवघातादिकं करोति, यतः तुरुष्काणामपि मूलशास्त्रेषु जीववधस्य निषिद्धत्वात्, याज्ञिकानामपि स्वर्गाद्यर्थमेव यज्ञस्य प्ररूपणात्; तथा सम्यग्दृश एव, सम्यक्त्वाभिमुखा एव वा क्रियावादिन इत्यक्षराणि शास्त्रे न सन्ति, प्रत्युत भगवतीविवृतावित्युक्तमस्ति–एते च सर्वेऽप्यन्यत्र यद्यपि मिथ्यादृष्टयोऽभिहितास्तथापि इहाद्याः सम्यग्दृष्टयो ग्राह्याः, सम्यगस्तित्ववादिनामैव तेषां समाश्रयणात् ॥ भगवतीसूत्रं च विशेषपरम्, तेन तत्र क्रियावादिपदेन सम्यग्दृष्ट्यो गृहीताः, अत्र तु मिथ्यादृष्टयोऽपि गृहीताः, अत्र तु मिथ्यादृष्टयोऽपि, तत उभयेऽपि क्रियावादिन इति तत्त्वम् । ३२१ प्र० । सेन०३ उल्ला० । अथ न वीनानगरसंघकृतप्रश्नाः; तदुत्तराणि च। यत्र यः सम्यक्त्वमन्तर्मुहूर्तं स्पृशति सोऽर्द्धपुद्गली कथ्यते, क्रियावादीचैकपुद्गली नियमात् शुल्कपक्षीति श्रूयते, तत्कथमिति प्रश्ने उत्तरम्–क्रियावादी सम्यग्दृष्टिः, तथा मिथ्यादृष्टिः, द्वावपि भव्यौ शुक्लपाक्षिकौ च ज्ञेयौ । तौ नियमात् पुद्गलपरावर्तमध्ये सिद्ध्यतः, एवंविधाक्षराणि दशाश्रुतस्कन्धचूर्णिमध्ये सन्ति, परं सम्यग्दृष्टिमिथ्यादृष्ट्योरेकीभूतं सामान्यलक्षणंज्ञेयम् । यतो मलधारिश्री हेमचन्द्रसूरिकृतपुष्पमालासूत्रवृत्तिमध्ये– "अंतो मुहुत्तमेत्तं, पि फासिअं हुज्ज जेहि सम्मत्तं । तेसिं अवड्ढपुग्गल–परिअट्टो चेव संसारो" ।१। एतद्गाथा व्याख्यानुसारेण पुद्गलपरावर्त्तसंसारो ज्ञायते, एतद्विशेषस्तत्तद्ग्रन्थेभ्योज्ञेयः । तथा श्रावकप्रज्ञप्तिसूत्रवृत्तिमध्ये ययोः सम्यग्दृष्टिमिथ्या–दृष्ट्योर्दशोनार्द्ध-पुद्गलपरावर्तसंसारो भवति, तौ शुक्लपाक्षिकौ कथ्येते, यस्य च ततोऽधिकसंसारो भवति स कृष्णपाक्षिकः कथ्यते इति कथितमस्ति, परं तन्मतान्तरं संभाव्यते । प्र० १२०। सेन० ४ उल्ला० । तथा त्रिषष्ट्यधिकशतत्रयपाषण्डिकानां मध्ये अशोत्याधिकशतक्रियावादिनः सन्ति, ते सम्यग्दृष्टयो मिथ्यादृष्टयो वेति प्रश्ने, उत्तरम्–अशीत्यधिक-शतक्रियावादिनो मिथ्यादृष्टयो ज्ञेया इति । १२१ प्र, । सेन० ४ उल्ला० ।

किरियाविसाल न० (क्रियाविशाल) यत्र क्रियाः कायिक्यादिकाः विशालाः विस्तीर्णाः सभेदत्वादभिधीयनते तत् क्रियाविशालं पूर्वम् । स० १४ सम० । क्रियाः कायिक्यादयः संयमक्रियाछन्दः क्रियादयश्च ताभिः प्ररूप्यमाणाभिर्विशालम् । त्रयोदशे पूर्वे , तस्य पदपरिमाणं नवपदकोटयः । नं० । स्था० । ''किरियाविसालस्स णं पुव्वस्स तीसं वत्थू पण्णत्ता'' स० । न०।

किरीय पुं० (किरीय) म्लेच्छदेशभेदे, तत्रोत्पन्ने म्लेच्छे च । सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

किरो–(देशी)–सूकरे,दे०ना०२ वर्ग।

किल अव्य० (किल) वार्त्तायाम्, अनुशयार्थे ,प्रसिद्धार्थद्योतने, हेतौ, अरुचौ, अलीके, तिरस्कारे च । वाच०। सत्ये, अष्ट० ५ अष्ट०। परोक्षागमवादसंसूचने, आव० ५ अ० । पं० व०। आप्तोपदेशे, प्रव०३५ द्वार । आप्तोक्तौ, विज्ञे० । संथा० । नं०। निश्चये, आतु० द्रव्या० स्या० वाक्यालङ्कारे, उत्त० ११ अ० ।

किलंत त्रि० (क्लान्त) क्लम् क्तः । **"लात्" ८।२।१०६।** संयुक्तस्यान्त्यव्यञ्जनाद् लापूर्वमिद् भवति, इतीदागमः। प्रा० २ पाद। परिश्रान्ते, बृ० ३ उ०। ग्लानिमुपगते, 'क्लमु' 'ग्लानाविति' वचनात्। जी० ३ प्रति०। ग्लानीभूते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। प्रश्न०। **किलकिलाइय** न० (किलकिलायित) कृते किलकिलेति संनादे, "ततो तेण जूहाहिवेण तेसिं किलकिलाइयं सइं सोऊण भसिणो गंतूण दिवो सो साहू" । आ० म० द्वि०।

किलणी– (देशी)–रथ्यायाम्, दे०ना०२ वर्ग।

किलाड पुं० (किलाट) 'नष्टदुग्धस्य पक्वस्य पिण्डं प्रोक्तः किलाटकः' इति परिभाषते विश्रथितुदग्धस्य पाकेन घनीभूते पिण्डाकारे पदार्थे , ततः स्वार्थे कः किलाटकः । तत्रार्थे कुर्चिकायां क्षीरविकारभेदे, स्त्री, । गौरा० ङीष्। वाच०। देशविशेषे, तत्रोत्पन्ने जने च। "चन्द्रवक्त्रा सरोजाक्षी, सद्दीः पीनघनस्तनी। किलाटी नामतः सा स्याद्देवानामपि दुर्लभा" ॥१॥ स्था० ४ ठा० २ उ०।

किलाम पुं०(क्लम) संस्पर्शे देहग्लानिरूपे, ध० ३ अधि० । आव०। खेदे, रा०। विशे०। "योऽनायासः श्रमो देहे, प्रवृद्धः श्वाससङ्गतः। क्लमः स इति विज्ञेयो, इन्द्रियार्थप्रबाधकः" ॥१॥ इति । वाच०।

किलामणया स्त्री० (क्लामना) ग्लानिनयने, भ०३ उ०।दश०।

किलामिय त्रि० (क्लामित) मारणान्तिकसमुद्घातं गमिते,अ०८ श० ६ उ० । ग्लानिमापादिते, आव० ४ अ०।

किलामेंत त्रि० (क्लायत्) मारणान्तिक्रसमुद्घातं नयति, भ०५ श० ६ उ०।

किलिट्ठ त्रि० (क्लिष्ट) ल्किश क्त :, वा इडभावः। **"लात्" ८।२।१०६।** इति इदागमः । प्रा०२ पाद । रागाद्युपहितचित्ते, उत्त०३२ अ० । पूर्वापरविरुद्धार्थके वाक्ये, न० । वाच० । क्लिकष्टं यथा– यत्कृतकं,कृतकश्चायम्, यथा घटः, तस्मादनित्यः, तत्तदनित्यम् कृतकत्वाच्छब्दोऽनित्य इत्यादि । रत्ना० ८ परि० । क्लेशयुक्ते, उपतापिते च । वाच० ।

किलिट्ठकम्मकलातीय त्रि० (क्लिष्टकर्मकलातीत) क्लिष्टा क्लेश स्वरूपभवहैतुत्वेन ल्केशिकाः याः कर्मकलाः ज्ञानोवरणाद्यष्ट–प्रकारकर्माशाः, तेभ्योऽतीतोऽपेतो यः स क्लिष्टकर्मकलातीतः । सिद्धे, हा० १ अष्ट० ।

किलिट्ठचित्त त्रि० (क्लिष्टचित्त) क्लिष्टाऽध्यवसाये, ''जो पुण किलिट्ठचित्तो, णिरविक्खो णत्थदंडपाविट्ठो।'' पं०व०४ द्वार।

किलिट्ठया स्त्री० (क्लिष्टता) दुष्टतायाम्, निरुपक्रमतायाम, पञ्चा०१६ विव०।

किलिट्ठसत्त त्रि० (क्लिष्टसत्व) क्लिष्टं सत्त्वं येषां ते तथा। क्लिष्टसत्त्वविशिष्टेषु, संक्लेशबहुलजीवेषु, ''होइ य पाएणं सा, किलिट्ठसत्ताण मंदबुद्धीणं।'' पञ्चा०१६ विव०।

किलिण्ण त्रि० (क्लिन्न) क्लिद० क्तः। नत्वम्। **''लात्''** ।८।२।१०६। संयुक्तास्याऽन्त्यञ्जनाल्लात्पूर्वम् इद् भवति, इतीदागमः। प्रा०२पाद। आर्द्रीकृते, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०। प्रश्न०। बाधिते, उत्त०२ अ०। अनेकार्थत्वाद् धातूनाम् निचिते, उत्त०३ अ०।

किलिण्णगाय त्रि० (क्लिन्नगात्र) क्लिन्नमनेकार्थत्वात् धातूनां निचितं, गात्रं शरीरं यस्य। निचितशरीरे, उत्त०३ अ०। बाधितशरीरे, उत्त०२ अ०।

किलिम्मिअं (देशी) कयिते, दे०ना०२ वर्ग।

किलिव पुं० (क्लीब) नपुंसके, व्य०२ उ०। पं० भा०।

किलिस्संत त्रि०(क्लिश्यत्) क्लेशं कुर्वति, खिद्यमाने, प्रश्न० २ आश्र० द्वार।

किलेस पुं० (क्लेश) **''लात्''** ।८।२।१०६। इतीदागमः। प्रा०२ पाद। रागादौ खेदे, औ०। प्रश्न०। स्था०। शारीर्यां मानस्यां च बाधायाम्, सू०प्र०२० पाहु०। पञ्चा०। उपतापे, क्लिश्नाति। क्लिशबाधने, कर्तरि अच्। वाच०। क्लिश्यन्ते बाध्यन्ते शारीरमानसैः दुःखैः संसारिणः सत्त्वा एभिरिति क्लेशाः। अष्टकर्मसु, बृ०१उ०। अशुभविपाके पापे, ''क्लेशाः पापानि कर्माणि, बहुभदानि नो मते''। क्लेशा इति। नोऽस्माकं मते पापान्यशुभविपाकानि बहुभेदानि विचित्राणि कर्माणि ज्ञानावरणीयानि क्लेशा उच्यन्ते। द्वा०२५द्वा०। क्लेशः साङ्ख्यानां भवकारणम्। द्वा०१६ द्वा०। ''अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः'' इति पतञ्जल्युक्ते अविद्यादिपञ्चके, द्वा०१६द्वा०। कोपे, व्यवसाये च। तयोरपि तद्धेतुत्वात्तथात्वम्। वाच०।

किलेसक्खय पुं० (क्लेशक्षय) कर्मक्षये, ''क्लेशक्षयो हि मण्डूकचूर्णतुल्याः क्रियाकृतः। दग्धस्तच्चूर्णसदृशो, ज्ञानसारकृतः पुरा॥'' अष्ट०३२अष्ट०। (क्लेशहानोपायद्वात्रिंशिका मोक्ख शब्दे वक्ष्यते)

किलेसद्धंस पुं० (क्लेशध्वंस) रागादिपरिक्षये, द्वा०१०द्वा०।

किलेसवित्ति त्रि० (क्लेशवृत्ति) एकान्तक्लेशवेष्टिते, दश०१ चू०। पं० चू०।

किव पुं० (कृप) कृप अच् **''इत्कृपादौ''** ।८।१।१२८। इति ऋत इत्वम्, प्रा० १ पाद। राजर्षिभेदे, कृपाऽस्त्यस्य पालनसाधनत्वेन अर्श अच्। शरद्वतो गौतमस्य पुत्रे तत्सुतायाम् स्त्री०। ङीष्। वाच०।

किवण पुं० (कृपण) कृप–क्युन्। दरिद्रे, अणु०३ वर्ग। आचा०। दुःस्थे, प्रश्न०२ आश्र० द्वार। रङ्के, अत्यागिनि प्रश्न०१ आश्र० द्वार। अपरित्यागशीले, स्वभावतो दरिद्रे, नि० चू०१५। लोभमग्ने, अष्ट०१ अष्ट०। स्वभावत एव स तां कृपास्थाने, द्वा०१२द्वा०। दीने, सूत्रे०१ श्रु०२ अ०३ उ०। क्लीबे, सूत्र० श्रु०२ अ०। पिण्डोलके, दश० ५ अ०२ उ०। मन्दे त्रि०। महाव्यसनप्राप्ते दीने, किमौ, पुं०। कृतः पणो यस्य। वेदे नित्यं तलोपः। कृतपणे पणक्रीते दासादौ, वाच०।

किवणकुल न० (कृपणकुल) तर्कणवृत्तिनि, स्था०८ ठा०। अतातृकुले, कल्प०२ क्षण।

किवणत्त न० (कृपणत्व) नूनं गतैस्तेभ्यः किमपि दातव्यं भविष्यतीत्येवंरूपे, आ०म०द्वि० द्रव्यव्ययासहिष्णुत्वलक्षणे, उत्त० ३ अ०।

किवा स्त्री० (कृपा) क्रप–भिदा० अङ्। ''कृपे संप्रसारणं च''। वाच०। **''इत्यकृपादौ''** ।८।१।१२८। इति ऋत इत्वम्। प्रा० १ पाद। दयायाम्, आचा०१ श्रु० ६ अ०५ उ०। अनुकम्पायाम्, अष्ट०२७ अष्ट०। ''तस्स किवा जाया अधम्मो कतो।'' आ०म०द्वि०।

किवाण पुं० (कृपाण) कुपांनुदति। नुद डः, संज्ञायां णत्वम्। **''इत्कृपादौ''** ।८।१।१२८। इति ऋत इत्वम्। प्रा० १ पाद। खड्गे। गौरा० ङीष्। कर्त्तर्य्याम्, स्त्री०। छुरिकायाम्, स्त्री०। स्वार्थे के कृपाणकः। खड्गे पुं०। टाप्। अत इत्त्वम्। कृपाणिका छुरिकायाम्, स्त्री०। वाच०। आचा०॥

किवाणुग त्रि० (कृपानुग) कृपया करुणया अनुगमनुगतम्। करुणापरे, षो०३ विव०।

किविडी (देशी) पार्श्वद्वारे, दे० ना०२ वर्ग।

किविण त्रि० (कृपण) **''इत्कृपादौ''** ।८।१।१२८। कृपा इत्यादिषु आदेर्ऋत इत्वम्। प्रा०१ पाद। ''इः स्वप्नादौ''।।८।१।४६। इति पकारादेरस्य इत्त्वम्। दरिद्रे, प्रा०१ पाद।

किव्विस न० (किल्विष) किल टिषच् वुक् च। वाच०। पातके, ज्ञा०१श्रु०१अ०। षो०। रोगे, पापहेतुत्वात्तस्य तथात्वम्। वाच०। अष्टादशे गौणालीके, तस्य किल्विषस्य पापस्य हेतुत्वात्। प्रश्न०२ आश्र० द्वार। यतो मायाविशेषाज्जन्मान्तरेऽत्रैव वा भवे किल्विषः किल्विषिको भवति स किल्विष एवेति। भ०१२श०५उ०। द्वादशे गौणमोहनीयकर्मणि, स०५२ सम०। मलिने, अधमे, उत्त०३अ०। कर्बुरे, त्रं०। किल्विषं पापं ज्ञानकेवल्याद्याशातनादिकम्, तद्योगाद्देवा अपि किल्विषाः, प्राक् संयतभवकृतज्ञानाद्याशातनेषु देवमतङ्क्त्वेनोत्पन्नेषु, आतु०।

किव्विसकम्म त्रि० (किल्विषकर्मन्) किल्विषाणि क्लिष्टतयानि–कृष्टान्यशुभानुबन्धीनि कर्माणि येषां ते कर्मकिल्विषाः। किल्विषि–केषु, प्राकृतत्वात्पूर्वापरनिपातः। ''कम्मकिव्विसा'' इति। उत्त०३अ०।

किव्विसत्त न० (किल्वषत्व) चण्डालप्रायदेवविशेषत्वे, प्रश्न०२ संव० द्वार।

किव्विससुर पुं० (किल्विषसुर) किल्विषसुराणां प्रथमद्वितीय–कल्पाधस्तृतीयकल्पाधः षष्ठकल्पाधश्च स्थितिरुक्ताऽस्ति, तत्राधः शब्देन किमभिधीयते ? अधस्तः प्रस्तटं, तस्मादप्यधोदेशोवा, अन्यच्च द्वात्रिंशदादिलक्षविमानानां मध्ये साधारणदेवीना-

मिवैतेषां कतिचिद्विमानानि सन्ति, विमानैकदेशे विमानाद् बहिर्वा तिष्ठन्ति, चण्डालस्थानीयत्वात्तेषां विमानमध्ये वासोऽनुचितः। विमानानामपान्तराले भुवोऽभावाद् बहिरपि तद्वासः कथं घटते ? इति किल्विषानां वासस्थानं ग्रन्थाक्षरपूर्वकं प्रसाद्यमिति प्रश्ने, उत्तरम् किल्विषसुराणां वासः कल्पद्विकादीनामधो भणित इत्यत्राधः शब्दस्तत्स्थानवाचको ज्ञेयः। न चात्राधःशब्दे प्रथमप्रस्तटार्थो घटते, तृतीयषष्ठकल्पसत्ककिल्विषिकामराणां तत्प्रथमप्रस्तटयोस्त्रिसागरोपमत्रयोदशसागरोपमस्थित्योरसंभवात्, तथा तद्विमानानां संख्या शास्त्रे नोपलभ्यते, तथा देवलोकगतद्वात्रिंशल्लक्षादिविमानसंख्याया मध्ये तद्विमानानां गणनं न संभाव्यते, तेषां कल्पवृक्षादीनामधोवासाऽभिधानात्। तत्त्वं तु सर्वविद्वेद्यमिति। ३२७प्र०। सेन०३ उल्ला०।

किव्विसिय पुं० (किल्विषिक) किल्विषिकीभावनोपात्तं किल्विषं पापमुदये विद्यते येषां ते किल्विषिकाः। स्था०३ ठा०४उ०। परविदूषकत्वेन पापव्यवहारिषु भाण्डादिषु, औ०। भ०। प्रज्ञा०। पातकफलवत्सु निःस्वान्धपङ्ग्वादिषु, ज्ञा०१श्रु०अ०। अधमेषु प्रेष्यभूतेषु, सूत्र०१ श्रु०१ अ०३ उ०। (देवकिव्विसिय शब्दे व्याख्यास्यामि चैतत्)

किव्विसिया स्त्री० (कैल्विषिकी) किल्विषाः पापाः, अत एवास्पृश्यादि धर्मकाः देवाः किल्विषाः तेषामियं कैल्विषिकी। संक्लिष्टभावनाभेदे, ध०३ अधि०। सा पञ्चधा द्वादशाङ्गीरूपश्रुतज्ञानकेवलिधर्माचार्य्यसर्वसाधूनामवर्णवदनं, स्वदोषगूहने च मायित्वमिति पञ्चविधाः। ध०३ अधि०। पं० व०।

कैल्विषिकीमाह –

नाणस्स केवलीणं, धम्मायरियाण सव्वसाहूणं।
भासं अवण्णमाई, किव्विसियं भावणं कुणइ ॥३६॥

ज्ञानस्य श्रुतरूपस्य केवलिनां वीतरागाणां धर्माचार्याणां गुरूणां सर्वसाधूनां सामान्येन भाषमाणोऽवर्णमश्लाघारूपं, तथा मायी सामान्येन यः स कैल्विषिकीं भावनां तद्भावाभ्यासरूपां करोतीति गाथार्थः। ग०२ अधि०। (ज्ञानावर्णादिव्याख्याऽन्यत्र)

किस त्रि० (कृश) कृश के। **"इत्कृपादौ" ।८।१।१२८।** इति ऋत इत्त्वम्। प्रा०१ पाद। दुर्बले, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०। उत्त०। भ०। तनुके, आव०३ अ०। तनुशरीरे, स्था०४ ठा०२ उ०। "धुणिया कुलियं च लेववं, किसए देहमणासणा इह। अविहिंसामेव पव्वए, अणुधम्मो मुणिणा पवेदितो ॥" कृशं भवति एवमनशनादिदेंहं कर्शयेत् अपचितमांसशोणितं विदध्यात्। सूत्र०१ श्रु०२ अ०१उ०।

किसमिस–पारसीकशब्दःद्राक्षाभेदे, लघ्वी द्राक्षा किसमिसेति व्यवह्रियते, हरीतकीकिसमिसद्राक्षाखर्जूरमरिचेत्यादि। ध०२ अधि०।

किसर पुं० (कृशर) कृशमल्पमात्रं राति। रा–कः। **"इत्कृपादौ" ।८।१।१२८।** इति ऋत इत्त्वम्। प्रा०१ पाद। "तिलतदुलसम्मिश्रः कृशरः परिकीर्तितः" इत्युक्ते पक्वान्नभेदे, वाच०। वर्णसंयोगनिष्पन्ने वर्णे, आचा०१ श्रु०१ अ०२ उ०।

***केशर** पुं० न० **"एत इद् वा वेदनाचपेटादवरकेसरे" ।८।१।१४६।** इति एत इत्त्वं वा। "महमहियदंसणकिसर किंजक्के"। प्रा०१ पाद।

किसल (अ) पुं, न० [किस (श) लय] किञ्चित् शलति, शलचलने वा कपन्। पृषो०। वाच०। **"किसलयकालायसहृदये यः" ।८।१।२६६।** इति सस्वरव्यञ्जनस्य यकारस्य लुग्वा। "किसलं किसलअं"। प्रा०१ पाद। अवस्थाविशेषोपेते पल्लवविशेषे, रा०। जं०। जी०। औ०। ज्ञाकौमलपत्रविशेषे, अनु०। "सव्वो वि किसलओ खलु, उग्गममाणो अणंतओ भणिओ।" प्रज्ञा०१ पद। (अणंतजीव शब्दे प्र० भा० २६३ पृष्ठे व्याख्यातमेतत्)

किससरीर त्रि० (कृशशरीर) विचित्रतपसा भाविते शरीरेण दुर्बले, स्था०४ ठा०२ उ०।

किसाण त्रि० (कृषाण) कृष् वा आनक्। **"शषोः सः" ।८।१।२६०।** इति षस्य सः। प्रा०१ पाद। कर्षके, वाच०।

किसाणु पुं० (कृशानु) कृश आनुक्, **"इत्कृपादौ" ।८।१।१२८।** इति ऋत इत्त्वम् प्रा०१ पाद। वह्नौ, चित्रकवृक्षे च। तस्य तन्नामकत्वात्। सोमपालके, सव्यपार्श्वस्थरश्मिधारके च। ततः मत्वर्थे गोषदा० टन्। कृशानुकवह्नियुक्ते, त्रि०। तद्गणे कृशानुस्थाने कृशाकु इति वा पाठः। कृशाकोश्च वह्निरेवार्थः। वाच०।

किसि स्त्री० (कृषि) कृष इक्। धान्यार्थक्षेत्रकर्षणे, स्था०।

चउव्विहा किसी पण्णत्ता। तं जहा–वाविया परिवाविया णिंदिया परिणिंदिया॥

कृषिर्धान्यार्थं क्षेत्रकर्षणम्। (वाविय त्ति) सकृद्धान्यवपनवती (परिवाविय त्ति) द्विस्त्रिर्वा उत्पाद्य स्थानान्तरारोपणतः परिवपनवती, शालिकृषिवत्। (णिंदिय त्ति) एकदा विजातीयतृणाद्यपनयनेन शोधिता निन्दिता (परिनिन्दिय त्ति) द्विस्त्रिर्वा तृणादिशोधनेनेति। स्था०४ ठा०४ उ०। ङीप्। कृषीत्यप्यत्र, स्वार्थे के कृषिकाऽप्यत्र। स्त्री०। आधारे, किः। भुवि, वाच०। कृष्युपलक्षितः कृषिः। कृषिकर्मोपजीविनि, तं०।

किसिकम्म न० (कृषिकर्मन्) कृषिसाध्यधान्यनिष्पत्तौ, द्वा०१८ द्वा०। षो०।

किसिपलाल न० (कृषिपलाल) ७त०। कर्षणे, "बुसे अणुसंगयाइं इह किसिपलालं व" कृषौ कर्षणे पलालं बुसं, तद्वदिति। पञ्चा०५ विव०।

किसीवल त्रि० (कृषीबल) कृषिरस्त्यस्य वृत्तित्वेन बलच्, दीर्घः। कर्षके, कृषिजीविनि, वाच०। आचा०।

किस्सइत्ता अव्य०(क्लिशित्वा) क्लेशमनुभूयेत्यर्थं, संसारान्तर्भूत्वेत्यर्थं, सूत्र०१ श्रु०३ अ०२ उ०।

किह अव्य०(कथम्) केन प्रकारेणेत्यर्थे, व्य०३ उ०। नि० चू०। "से काहे त्ता किहं वा केवचिरेण वा किहं व त्ति" केन वा प्रकारेण साक्षात् दर्शनतः श्रवणतो वा। भ०३श०२उ०।

''किह जुज्झामो तुमं भूमिए'' आ०म०प्र० । प्रा०।आचा०।

कीकस पुं० (कीकश) कीति कशति। कश–शब्दे, अच्। कृमिजन्तुभेदे, अस्थिन, न०। कठिने, त्रि०। वाच०। जं०।

कीड पुं० (कीट) कीट अच्। कृमिभ्यः स्थूले क्षुद्रजन्तुभेदे, स्वार्थे के पूर्वोक्तार्थे, मागधजातौ, कठिने च। त्रि०। वाच०। चतुरिन्द्रियजीवविशेषे, उत्त०२अ०। जी०। ''तओ कीडपयंगो य, तओ कुंथुपिपीलिया।'' उत्त०३अ०। अनु०।

कीडय न० (कीटज) कीटाद् जाते सूत्रभेदे, यत्तथाविधकीटेभ्यो लालात्मकं प्रभवतित, यथा पट्टसूत्रम्। उत्त०२६ अ०। ''कीडयं पंचविहं पण्णत्तं। तं जहा–पट्टे मलए अंसुए चीणंसुए किमिरागे'' अनु०। (पट्टादीनां व्याख्या स्वस्वस्थाने द्रष्टव्या)

कीडाविया स्त्री० (क्रीडापिका)। क्रीडनधात्र्याम्, ज्ञा०१ श्रु०१६ अ०।

कीडिया स्त्री० (कीटिका) पिपीलिकायाम् ''ताहे संतो तं सा हरित्ता कीडियाओ वज्जतुंडियाओ विउव्वए'' आ०म०द्वि०।

कीणास पुं० (कीनाश) कुत्सितं नाशयति यमे, वानरे च। पुं० क्षुद्रे, वाच०। को०।

कीय त्रि० (क्रीत) क्री–कर्मणि क्तः। क्रियते स्मार्थदानेन गृह्यते स्मेति क्रीतम्। पञ्चा०१३ विव०। क्रये, न०। सूत्र०१ श्रु०६अ०। मूल्येन गृहीते, त्रि०। आचा०१ श्रु०८ अ०२ उ०। उत्त०। उद्गमदोषभेदे, आचा०१ श्रु०२ अ०५ उ०। ''उद्देसियं कीयं आहट्टु दिज्जमाणं'' भुञ्जमाने सबले, स०३१ सम०। द्रव्येण भावेन वा क्रीतं स्वीकृतं यत्तत् क्रीतमिति। यतोऽभ्यधायि–''दव्वाइएहि किणणं, साहूणं ट्ठाएँ कीयं तु'' स्था०६ ठा०। ''तत्तो यं रायपिंडं कीअं'' आव०४ अ०। स्था०।

***कीच** पुं० युधिष्ठिरसमकालिके विराटनगराधिपतौ, ''नवमं दूयं विराडनगरं, तत्थ णं तुमं कीयं रायं भाउयसयसमग्गं करयल० जाव समोसरह''। ज्ञा०१ श्रु०१६ अ०।

कीयक(ग)ड त्रि० (क्रीतकृत) क्रीतेन क्रयेण कृतं निष्पादितं क्रीतकृतम्। पिं०। क्रयणं क्रीतं, भावे निष्ठाप्रत्ययः। साध्वादिनिमि–त्तमिति गम्यते, तेन कृतं निर्वर्त्तितं क्रयक्रीतम्। दश०३ अ०। क्रीते, अष्टमोद्गम-दोषविशिष्टे, पिं०। साध्वर्थं मूल्येन गृहीते, बृ०१उ०।

तद्भेदादिवक्तव्यता चैवम्। अथ क्रीतद्वारमाह–

कीयगडं पि य दुविहं, दव्वे भावे य दुविहमेक्केक्कं।
आयकीय परकीयं, परदव्वं तिविह चित्ताई ॥३३०॥

क्रयणं क्रीतं, तेन कृतं निष्पादितम; क्रीतकृतमित्यर्थः। तदपि, आस्तां प्रादुष्करणमित्यपिशब्दार्थः। द्विविधं द्विप्रकारम्। तद्यथा (दव्वे भावे य) अत्र तृतीयार्थे सप्तमी। ततोऽयमर्थः–द्रव्येण क्रीतं, भावेन च क्रीतमित्यर्थः। पुनरप्येकैकं द्रव्यक्रीतं भावक्रीतं च प्रत्येकं द्विधा। तद्यथा–आत्मक्रीतं, परक्रीतं च। आत्मद्रव्यक्रीतमात्मभावक्रीतं च। परद्रव्यक्रीतं, परभावक्रीतं चेत्यर्थः। तत्राऽऽत्मना स्वयमेव द्रव्येणोज्झयन्तभगवत्प्रति-माशेषाऽऽदिरूपेण प्रदानतः परमावर्जयन् भक्तादि गृह्यते तदात्मद्रव्यक्रीतम्। यत्पुनरात्मना स्वयमेव भक्ताद्यर्थं धर्मकथादिना परमावर्ज्य भक्तकादि ततो गृह्यते तत् आत्मभावक्रीतं तत्परद्रव्यक्रीतम्। उक्तं च परद्रव्यक्रीतम्–यत्पुनः परेण साध्वर्थं निजविज्ञानप्रदर्शनेन धर्मकथादिना वा परमार्थतो गृहीतं तत्परभावक्रीतम्, तत्र विचित्रा गतिरिति प्रथमतः परद्रव्यक्रीतस्य स्वरूपमाह–परद्रव्यं गृहस्थसत्कं द्रव्यं त्रिविधम्। तद्यथा चित्तादि। सचित्तमचित्तं वा मिश्रं वा। तेन परेण साध्वर्थं यत् क्रीतं तत् परद्रव्यक्रीतम्, उक्तं वा परद्रव्यक्रीतम्।

संप्रति शेषं भेदत्रयं सामान्यतः कथयति–

आयकियं पुण दुविहं, दव्वे भावे य चुन्नदव्वाइ।
भावम्मि परस्सट्ठा, अहवा वी अप्पणा चेव ॥३३१॥

आत्मक्रीतं पुनर्द्विविधम्। तद्यथा (दव्वे भावे य त्ति) अत्रापि तृतीयार्थे सप्तमी। ततोऽयमर्थः आत्मनाऽपि क्रीतं द्विधा। तद्यथा द्रव्येण, भावेन च। तत्र द्रव्येण चूर्णादिना वक्ष्यमाणेन, भावेन पुनः परस्य साधोरर्थाय यन्निजविज्ञानप्रदर्शनादिना पार्ज्यते तत् भावक्रीतम्, परभावक्रीत-मित्यर्थः। अथवा भावेन तदात्मना स्वयमेवाऽऽहारार्थं धर्मकथादिना परमावर्ज्य ततो गृह्यते तद् भावक्रीतम्, आत्मक्रीतमित्यर्थः। तदेवं सामान्यतस्त्रयोऽपि भेदा उक्ताः।

संप्रत्यात्मद्रव्यक्रीतं सप्रपञ्चं विवरीषुरिदमाह–

निम्मल्लगंधगुलिया–वन्नयपोयाइ आयकयदव्वे।
गेलन्ने उड्डाहो, पउणे चाडुगारि अहिगरणं ॥३३२॥

निर्माल्यं तीर्थादिगतसप्रभावप्रतिमाशेषा, गन्धाः पटवासादयः, गुलिका मुखप्रक्षेपकस्वरूपपरावर्त्तादिकारिका गुडिका, वर्णकश्चि-न्तनम्, पोतानि लघुबालकयोग्यानिवस्त्रखण्डानि, आदिशब्दात्कण्ड-कादिपरिग्रहः। एतानि कार्ये कारणोपचारादात्मद्रव्यक्रीतानि। किमुक्तं भवति ? निर्माल्यादिप्रदानेन परमावर्ज्य यत्तयो भक्तादि गृह्यते तदात्मद्रव्यक्रीतमिति। अत्र दोषमाह (गेलन्ने इत्यादि) निर्माल्यप्रदा-नानन्तरं यदि कथमपि दैवयोगतो ग्लानो भवति तर्हि प्रवचनस्योड्डाहः साधुनाऽहं ग्लानीकृत इत्यादिप्रजल्पनतः शासनस्य मालिन्योपपत्तिः। अथ कथमपि प्रगुणो नीरोगो भवति तर्हि स सर्वदा सर्वजनसमक्षं चाटुकारी भवति यथाऽहं साधुना प्रगुणीकृत इति, अतिशयी चासौ साधुः सकलज्ञातव्यकुशलः परिहततिमिर इत्यादि समक्षं परोक्षं वा सदैव प्रशंसां करोति। तथा च सत्यधिकरणं भूयस्यधिकरणप्रवृत्तिः तादृशीं हि तस्य प्रशंसामाकर्ण्याऽन्यः समागत्य तं साधुं निर्माल्यगन्धादि याचते, ततस्तत्प्रार्थनापरवशोऽधिकरणमपि समारभते।

संप्रति परभावक्रीतं विवृण्वन्नाह–

वइयाएँ मंखमाई, परभावकीयं तु संजयट्ठाए।
उप्पायणा निमंतण–कीयगडं अभिहडे ठविए ॥३३३॥

व्रजिकं लघुगोकुलम्, उपलक्षणमेतत्, तेन पत्तनादिपरिग्रहः। तत्र व्रजिकादौ मङ्खादिः, मङ्खः केदारकः, यः पटमुपदर्श्य लोकमावर्जयति। आदिशब्दात् तथाविधान्यपरिग्रहः। भक्तिवशात् संयतार्थं यत् घृतदुग्धादेरुत्पादनं करोति, कृत्वा च निमन्त्रयति तत् परभावक्रीतम्, परेण भङ्खादिना संयतार्थं भावेन स्वपटप्रदर्शनादिरूपेण क्रीतं तत् परभावक्रीतम्। इत्थं

भूते च परभावक्रीते त्रयो दोषाः एकं तावत् क्रीतकृतं, द्वितीयमन्यस्माद् गृहादानीतमित्यभ्याहृतम्, आनीय चैकत्र साधुनिमित्तं स्थाप्यत इति स्थापितम्। तस्मात्तादृशमपि साधूनां न कल्पते।

एतदेव गाथाद्वयेन स्पष्टयन्नाह–

सागारि मंख छंदण, पडिसेहो पुच्छऽवहु गए वासे।
कयरिं दिसिं गमिस्सह, अमुइं तह संथवं कुणइ ॥३३४॥
दिन्नंते पडिसेहो, कज्जे पच्छं निमंतण जईणं।
पुव्वगओ आगएसु, संछुहई एगगेहम्मि ॥६३५॥

शालिग्रामो नाम ग्रामः, तत्र देवशर्माऽभिधानो मङ्खः, तस्य च गृहैकदेशे कदाचित्के चित्साधवो वर्षाकालमवस्थिताः। स च मङ्खस्तेषां साधूनामनुष्ठानमरक्तद्विष्टतां चोपलभ्यातीव भक्तिपरीतो बभूव। प्रतिदिवसं च भक्तादिना निमन्त्रयति। साधवश्च शय्यातरपिण्डोऽयमिति प्रतिषेधन्ति। ततः स चिन्तयामासयथैते मम गृहे भक्तादि न गृण्हन्ति, यदि पुनरन्यत्र दापयिष्यामि तथाऽपि न गृहीष्यन्ति। तस्माद् वर्षाकालानन्तरं यत्रामी गमिष्यन्ति तत्राग्रे गत्वा कथमप्येतेभ्यो ददामीति। ततः स्तोकशेषे वर्षाकाले साधवस्तेन पपृच्छिरे 'यथा भगवन्! वर्षाकालानन्तरं कस्यां दिशि गन्तव्यम्'? ते च यथाभावं कथयामासुर्यथाऽमुकस्यां दिशि। ततः स तस्यामेव दिशि क्वचित् गोकुले गन्धपटमुपदर्श्य वचनकौशलेन लोकमावर्जितवान्। लोकश्च तस्मै घृतदुग्धादिकं दातुं प्रावर्तिष्ट। ततः स बभाण, यदा याचिष्ये तदा दातव्यमिति। साधवश्च वर्षाकालानन्तरं यथाविहारक्रमं तत्राऽऽजग्मुः। तेन चात्मज्ञानमापयता पूर्वप्रतिषिद्धं घृतदुग्धादिकं प्रतिगृहं याचित्वा एकत्र च गृहे संमील्य मुक्तम्, ततः साधवो निमन्त्रिताः, तैश्च यथाशक्ति छद्मस्थदृष्ट्या परिभावितं, परं न लक्षितं, ततः शुद्धमिति कृत्वा गृहीतम्। न च तेषां तथा गृण्हतां कश्चिद्दोषः, यथाशक्तिपरिभावनेन भगवदाज्ञाया आराधितत्वात्। यदि पुनरित्थंभूतं कथमपि ज्ञायते, तर्हि नियमतः परिहर्तव्यम्, क्रीतकृताभ्याहृतप्यापनारूपदोषत्रयसद्भावादिति। सूत्रं सुगमं, नवरं सागारिकः शय्यातरः, संस्तवः परिचयः निजपटप्रदर्शनेन लोकावर्जनमिति तात्पर्यार्थः। तदेवमुक्तं परभावक्रीतम्।

संप्रत्यात्मभावक्रीतं स्पष्टयन्नाह –

धम्मकहवायखमणे, निमित्तमायावणे सुयट्ठाणे।
जाईकुलगणकम्मे, सिप्पम्मि य भावकीयं तु ॥३३६॥

धर्मकथादिषु भावक्रीतं भवति। इयमत्र भावनायेन परिचि तावर्जनार्थं धर्मकथावादं, क्षपणं षष्ठाष्टमादिरूपं तपो, निमित्तमाता–पनां वा करोति। यद्वाश्रुतस्थानमाचार्योऽहमित्यादिकं कथयति। यदि वा जातिं कुलं गणं कर्म शिल्पं वा परेभ्यः प्रकटयति। इत्थं च परभावर्जयन् ततो भक्तादि गृण्हाति तदाऽऽत्मभावक्रीतम्। यदा च दुःखक्षयार्थं च धर्मकथादिकं यथायोगं करोति तदा स प्रवचनप्रभावकतया महानिर्जराभाक् भवति। उक्तं च पावयणी धम्मकहावाई नेमित्तिओ तवस्सी य। विज्जासिद्धो य कई, अट्ठेव पभावगा भणिया ॥१॥''

संप्रति धर्मकथारूपं प्रथमं द्वारं प्रपञ्चयितुमाह–

धम्मकहाअक्खित्ते, धम्मकहाओट्ठियाण वा गिण्हे।
काहिंति साहवोःचिय, तुमं व कहि पुच्छिए तुसिणी ॥३३७॥

आहाराद्यर्थं धर्मकथां कथयता यदा ते श्रोतारो धर्मकथायाः सम्यगाक्षिप्ता भवन्ति तदा तेषां पार्श्वे यत् याचते तर्हि तदा प्रकर्षमागताः सन्तोऽभ्यर्थिता न विमुखं तिष्ठन्ति। यद्वाधर्मकथा त उत्थितानां सतां तेषां पार्श्वे यद् गृण्हाति तदात्मभावक्रीतम्। आत्मना स्वयमेव भावेन धर्मकथनरूपेण क्रीतमात्मभावक्रीतमिति। यद्वाधर्मकथाकथकः कोऽपि प्रसिद्धो वर्तते, तदनुरूपाकारश्च विवक्षितः। ततश्च श्रावकाः पृच्छन्ति यः कथी यो धर्मकथाकथकः श्रूयते स किं त्वमिति? ततः स भक्तादिलोभादेवं वक्ति, यथासाधव एव प्रायो धर्मकथां कथयन्ति, नान्ये। यदि वा तूष्णीं मौनेनावतिष्ठते। ततस्ते श्रावका मौनात् यथा स एवायम् केवलं गम्भीरत्वादात्मानं न साक्षाद्वचसा प्रकाशयतीति; ततः प्रभूततरं तस्मै प्रयच्छन्ति। तच्च तेभ्यः प्रभूततरं लभ्यमानमात्मभावक्रीतं आत्मना स्वयमेव, भावेन स्वयमसावपि कथकः 'सोऽहं कथकः' इति ज्ञापनालक्षणेन, क्रीतमिति कृत्वा।

अथवा –

किं वा कहेज्ज छारा, दगसोयरिआ य अहवऽगारत्था।
किं छगलगगलवलया, मुंडकुडंवी व किं कहए ?॥३३८॥

यो जगति निपुणो धर्मकथाकथकः श्रूयते स किं त्वमिति पृष्टे, एवमुत्तरमाह किं कथाः क्षारागुण्डितवपुषः, कथा यैषु नैव, ते कथयन्ति, किं दकं जलं तस्य निरन्तरं विनाशकाः, तथा शौकरिका इव पापर्द्धिकारिण इव दकशौकरिकाः सांख्याः, किं वा अगारस्थाः गृहस्थाः शास्त्राध्ययनविकलाः। यद्वाछगलकस्य पशोर्गलं ग्रीवां वलयन्ति मोटयन्ति ते छगलकगलवालकाः, यदि मुण्डाः सन्तो ये कुटुम्बिनः सौद्धोदनीयाः, ते कथयेयुः? नैव ते कथयन्ति, किं तु यतय एव। तत एवमुक्ते श्रावकाश्चिन्तयन्तिनूनं स एवायं धर्मकथाकथकः इत्यादि। तदेवं शेषं द्रष्टव्यम्।

तदेवं धर्मकथाद्वारं व्याख्याय शेषाण्यतिदेशेन व्याख्याति–

एमेव वाइखमए, निमित्तमायावगम्मि य विभासा।
सुयठाणं गणिमाई, अहवा वायणायरियमाई ॥३३९॥

यथा धर्मकथके विभाषा भावना कृता, एवमेव अनेनैव प्रकारेण वादिनि क्षपके निमित्तज्ञे आतापके च विभाषा कर्त्तव्या। यथा वादेनाक्षिप्ता याचते, यद्वाये वादिनः श्रूयन्ते ते किं यूयमिति प्रश्ने प्रायो यतय एव वादिनो भवन्तीति ब्रूते, यद्वामौनेनावतिष्ठते, यद्वाकिं भस्मावगुण्ठितवपुषः, किं वा दकशौकरिकाः। यद्वा, धिग्जातीयाः यद्वा सौद्धोदनीया वादिनमवादं दद्युः नैव ते ददति, किं तु यतय एव, एवमुक्ते ते एवं परिजानते 'यथा त एवामी', ततो विशिष्टमाहारादिकं तस्मै वितरन्ति, तच्च तथा लभ्यमानमात्मभावक्रीतमवसेयम्। तथा श्रुतस्थानं गण्यादि, तत्र गणित्वमाचार्यत्वम, आदिशब्दादुपाध्यायत्वादिपरिग्रहः। यद्वा वाचनाचार्यत्वम्, आदिशब्दात् प्रवर्तकत्वादिपरिग्रहः। तत्र भक्ताद्यर्थमाचार्या वयमुपाध्याया वयमित्यादि जनेभ्यः प्रकाशयति, येन जना आचार्यत्वादिकमवगम्य प्रभूततरं वितरन्ति। यद्वा ये आचार्या महाविद्वांसः श्रूयन्ते, किं यूयमित्यादि तथैव भावनीयम्। जात्यादिकं त्वतदर्थं कथयति, येन समानं जात्यादिकम्, उत्कृष्टं वा शिल्पादि ज्ञात्वा प्रभूतं प्रयच्छन्ति, तच्च तथा प्रभूतं लभ्यमानमात्मभाव क्रीतम्। तदेवमुक्तं क्रीतद्वारम्। पिं०। प्रव०। ग०। ध०।

प्रश्न० । दर्श० । पञ्चा० । वृ० । "आयदव्वकीए परदव्वकीए आयभावकीए चउलहुं" पं० चू० । क्रीतं द्विविधम् द्रव्यक्रीतं, भावक्रीतं च । तत्र द्रव्यक्रीतं द्विविधम् आत्म द्रव्यक्रीतं परद्रव्यक्रीतं च । भावक्रीतमपि द्विधा आत्मभावक्रीतं, परभावक्रीतं च । तत्र परभावक्रीते मासलघु, स्वग्रामाभ्याहृते मासलघु । बृ०१ उ० । "'उद्देसियं कीयगडं, पामिच्चं चेव आहडं । पूयं अणेसणिज्जं च, तं विज्जं परिजाणिया" ॥१४॥ सूत्र०१ श्रु०६ अ० । नि० चू० ।

जे भिक्खू पडिग्गाहं कीणइ कीणावेइ कीयमाहट्टु दिज्जमाणं पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहंतं वा साइज्जइ ॥१॥

कयेण कडं कीतगेण वा कडंकीयगडं, तं तिविहेण वि कारणेण करें तस्स चउलहुं ।

कीयकिणावियअणुमो इते व वियडं जमाहितं सुत्ते ।
एक्केक्कं तं दुविहं, दव्वे भावे य णायव्वं ॥

अप्पणा वि जं किणाति तं दव्वे भावे, किणावेंते वि एते चेव दो भेदा, जं पि अणुमोदितं तं ति प एतेहिं चेव कायं । नि० चू०१४ उ० ।

जे भिक्खू वियडं किणइ किणावेइ कीयमाहट्टु दिज्जमाणं पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहंतं वा साइज्जइ ॥१॥

कीयकिणावियअणुमोदिते व वियडं जमाहितं सुत्ते ।
एक्केक्कं तं दुविहं, दव्वे भावे य णायव्वं ॥३॥

अप्पणा किणति, अण्णेण किणावेइ साहुट्ठा वा, कीयं परिभोगओ अणुजाणति, अण्णं वा अणुमोइति, तस्स आणादिया य दोसा, चउलहुं व । सो कयो दुविधो अप्पणा परेण वा । एक्केक्को पुणो दुविहो दव्वे भावे य । शेषं पूर्ववत् । परभावकीए मासलहुं:जं अप्पणा किणति एस उप्पायणा, जं परेण किणावेई एस उग्गमो ।

एतेसामण्णतरं, वियडं कीतं तु जो पडिग्गाहे ।
सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराहणं पावे ॥४॥

कण्ठ्या । वियडग्गहणं अकप्पडिसेवा य, संजमविराहणा य । जतो भण्णति –

इहरहऽकितं ण कप्पति, किं तु वियडं कीतमादि अविसुद्धं ।
असमितेऽगुत्ति गेही, उड्डाहे महव्वया आदी ॥५॥

इहरहा अकीतं, किं पुण कीतं उग्गमदोसजुत्तं सुद्धतरं न कप्पति । वियडत्तो पंचसु वि समितीसु असमितो भवति, गुत्तीसु वि अगुत्तो, तम्मि लहुमासा, जस्स अपरिव्वायगो गेही जणेण णाते उड्डाहो, पराहीणो वा महव्वए भञ्जेज्ज । कहं ? उच्यते–

वियडंतो छक्काए, विराहए वा सती तु सावज्जं ।
अगडागणिउदएसु व, पडणं वा तेसु घेप्पइ वा ॥६॥

परहीणत्तणओ छक्काए विराहेज्जा, मुसं वा भासेज्जा, अदत्तं वा गेण्हेज्जा, मेहुणं वा सेवेज्जा, हिरण्णादिपरिग्गहं वा करेज्जाः आयविराहणा इमा अगडेत्ति कूवे पडेज्ज, पलित्ते य वा डज्झिज्ज, उदगेण वा मरेज्ज, तेणेव कसाएण वा णिक्कासंति तो तेहिं घेप्पइ । अहवा कारणे पत्ते गेण्हेज्जा–

वितियपदं गेलण्णे, विज्जुवदेसे तहेव सिक्खाए ।
एतेहि कारणेहिं, जयणाए कप्पतीं घेत्तुं ॥७॥

वेज्जोवदेसेण गिलाणट्ठा घेप्पेज्ज, कस्स वि कोऽतिवाही, तेणेव उवसमति त्ति ण दोसो, गिलाणट्ठा वा वेज्जो आणीतो तस्सट्ठा घिप्पेज्जा पकप्पं वा सिक्खंतो गहणं करेज्ज । कहं? उच्यते–

संभोइयऽण्णसंभोइयाण असती य लिंगमादीणं ।
कप्पं अहिज्जमाणो, सुद्धासति कीयमादीणि ॥८॥

पकप्पो सिक्खियव्वो सुत्ततो अत्थतो वि, स गुरुस्स पासे, ताहे सगणे, सगणिस्स वि असती ताहे संभोतिताण सगासे सिक्खति, असति संभोतिताणं ताहे अण्णसंभोतिताण सगासे, तेसिं पि असती य लिंगत्थादियाण पासे पकप्पं अधिज्जति, तस्स य लिंगिस्सं तं वियडवसणं हवेज्ज, सो य अप्पणा चेव उप्पाएओ, अह सो उप्पाएउं सुत्तत्थेण तरति दाउं ताहे से साधू उप्पाएइ सुद्ध, जति सुद्धंण लब्भइ ताहे कीयमादी गेण्हेज्जा । नि० चू० १६ उ० ।

कीयकारिय त्रि० (क्रीतकारित) क्रीतेन उत्पादिते, क्रीतकृतदोषदुष्टे, व्य०३ उ० ।

कीर पुं० (कीर) कीति ईरयति णिच् अच् । शुके, पक्षिभेदे, ''खगवागियमित्यतोऽपि किं न मुदं धास्यति कीरगीरिव ।'' जातित्वात् स्त्रियां ङीष् । काश्मीरदेशे पुं० भूम्नि । अल्पार्थे कन् कीरकः । शुकशावे, संज्ञायां कन्, वृक्षभेदे, क्षपणके च । वाच० । दर्श० । आ०क० ।

कीरंत त्रि० (क्रियमाण) कृ- कर्मणि लट् यक् शानच् । **''हृ–कृतृज्ञामीरः'' ।८।४।२५०।** इत्यन्त्यस्य ईरादेशः । तत्संयोगे क्यस्य च लुक् । प्रा०४ पाद आज्ञप्तिकिङ्करैः (प्रश्न०३ आश्र० द्वार) विधीयमाने, पञ्चा०४ विव० । पा० ।

कील पुं० (कील) कील बन्धे यथायथं भावकरणादौ घञ् । वह्निशिखायाम् शङ्कौ, स्तम्भे, लेशे, कफोणौ, कफोणिनिम्नदेशे, ''परिखाश्चापि कौरव्य! कीलैः सुनिचिताः कृताः'' । रतिप्रहारभेदे, स्त्री० । ''कीला उरसि कर्तरी शिरसी विद्धा कपोलयोः'' । बन्धे, वाच० । सूत्र० ।

कीलंत त्रि० (क्रीडमान) कामक्रीडां कुर्वति, भ०१३श०६उ० ।

कीलण न० (क्रीडन) क्रीडायाम्, औ० । प्रज्ञा० ।

कीलणधाई स्त्री० (क्रीडनधात्री) क्रीडनकारिण्यां धात्र्याम्, ज्ञा०१ श्रु०१ अ० ।

कीलमाण त्रि० (क्रीडमान) क्रीडां कुर्वति, ''कण्णगतिं दूसगेण कीलमाणा चिट्ठंति'' आ०म०द्वि० ।

कीलया स्त्री० (क्रीडता) केलीकिलतायाम्, ध०३ अधि० ।

कीलसंठाण त्रि० (कीलसंस्थान) कीलवदुचे, ध०३ अधि० ।

कीलावण न० (क्रीडन) क्ष्वेडने, ''छेलावणमक्किट्ठा इ वाल कीलावणं च सेंटाइ'' आ०म०प्र० ।

कीलावणधाई स्त्री० (क्रीडनधात्री) ''दट्ठुस्सरपुण्णमुहो, मउयगिरासू य मम्मणुल्लावो । उल्लावणकादीहि व, करेति कारेति वा किड्डं'' ॥१३०॥ इत्युक्तस्वरूपे दासीभेदे, नि०चू०१३उ० ।

कीलिय न० (क्रीडित) द्यूतादिरमणे, स्था०६ ठा० । उत्त० । प्रश्न० । स्त्र्यादिभिः सह द्यूतदुरोदरादिरमणे, उत्त०२ अ० ।

कीलिया स्त्री० (कीलिया) शङ्कौ, नासिकादिवेधनं कीलिकादिभिः । आव०४ अ० । कीलिकाविद्धास्थिद्वयसंचिते पञ्च–

मे संहनने, कर्म०६ कर्म०। स्था०। यत्र पुनरस्थीनि कीलिकामात्रबद्धानि एव भवन्ति। कर्म०१ कर्म०। पं० सं०। जी०।

कीलियाणाम न० (कीलिकानामन्) कीलिकानिबन्धने संहननानामभेदे, कर्म०१ कर्म०।

कीलियासंघयण न० (कीलिकासंहनन) पञ्चमे संहनने, यत्रास्थीनि कीलिकामात्रबद्धान्येव भवन्ति तत्कीलिकासंहननम्। कर्म०६ कर्म०।

कीव पुं० (क्लीब) न०। क्लीब कः। क्लिद्यति इति क्लीबः। नि०चू०११ उ०। मन्दसंहनने, भ०६ श०३२ उ०। ज्ञा०। असमर्थे, सूत्र०१ श्रु०३ अ०२ उ०। नपुंसकभेदे, बृ०४उ०। यः स्त्रीभिर्भो–गैर्निमन्त्रितोऽसंवृतायां वा स्त्रियोऽङ्गोपाङ्गानिदृष्ट्वा, शब्दं वा मन्मनोल्लापकं तासां श्रुत्वा समुद्भूतकामाऽभिलाषोऽभिसोढुं न शक्नोति स क्लीबः। ग०१ अधि०। प०भा०। पं० चू०। ध०।

अथ क्लीबमाह –

कीवस्स गोणनामं, कम्मुदएँ निरोहें जायती तंतिओ।
तम्मि वि सो चेव गमो, पच्छित्तुस्सग्गा अववादे ॥३०५॥

क्लीबस्य गौणं गुणनिष्पन्नं नाम, क्लिद्यते इति क्लीबः। किमुक्तं भवति ? मैथुनाभिप्राये यस्याङ्गादानं विकारं भजति वीजविन्दन् वा परिगलति स क्लीबः। अयं च महामोहकर्मोदयेन भवति। यदा च परिगलतस्तस्य निरोधं करोति तदा निरुद्धवीर्यस्तत्कालान्तरेण तृतीयवेद उपजायते। स चतुर्द्धा दृष्टिक्लीबः, शब्दक्लीबः, आदिग्धक्लीबः, निमन्त्रणाक्लीबश्चेति। तत्र यस्यानुरागतो वि वस्त्राद्यवस्थं विपक्षं पश्यतो मेहनं गलतिस दृष्टिक्लीबः। यस्यं तु सुतरां शब्दं शृण्वतः स द्वितीयः। यस्तु विपक्षेणोपगूढो निमन्त्रितो वा व्रतं रक्षितुं न शक्नोति स यथाक्रममादिग्धक्लीबो निमन्त्रणाक्लीबश्चेति। चतुर्विधोऽप्ययमप्रतिसेवमानो निरोधेन नपुंसकतया परिणमति, तस्मिन् अपि क्लीबे स एव प्रायश्चित्तोत्सर्गापवादेषु गमो भवति यः पण्डकस्योक्तः। बृ०४ उ०। ध०। नि० चू०।

दुविहो य होति कीवो, अभिभूतो वा वि अणभिभूतो य।
चउगुरुगा छग्गुरुगा, ततिए मूलं तु बोधव्वं ॥३५०॥
अहवा होई कीवो, अभिभूतो चेव अणभिभूतो य।
अभिभूतो वि य दुविहो, निमंतणाऽऽदिद्धकीवो य ॥३५१॥
दुविहो य अणभिभूतो, सद्दे रूवे य होइ नायव्वो।
अभिभूतो जतुगादी, सेसा कीवा अपडिकुट्ठा ॥३५२॥
संफासमणुप्पत्तो, पडती जो सो तु अभिभूतो।
णिवतति य इत्थिनिमंत णेण एसो चेव अभिभूतो ॥३५३॥

अभिभूतो, अणभिभूतो य। अभिभूतो य पुणो दुविहो णिमं तणा कीवो, आदिद्धकीवो य। अणभिभूतो दुविधो सद्दकीवो, दिट्ठिकीवो य। एस चउव्विहो कीवो। इमा प्ररूवणा इत्थिए णिमंतितो भोगेहिं न तरति अहियासितुं एस णिमंतणाकीवो। जतुघडो जहा अग्गिसंनिकरिसेण विलयति एवं जो हत्थोरुकक्खपयोधरेहिं आदिद्धो पडिसेवति एस आदिद्धकीवो।

इमो दिट्ठीकीवो –

दट्ठूण संनिविट्ठं, निगणमणायारसेवणिं वा वि।
संद्द व सोतु ततितो, सज्जं मरणं वओहाणं ॥३५४॥

दट्ठूण उवरि सरीरमप्पाउयं दुवियउरूसंनिविट्ठं असंवुडं (णिमिणंति) णग्गं मेहुणमणायारसेवणिं वा जो खुब्भति सो दिट्ठीकीवो। इमो सद्दकीवो (सद्दं व सोउं ति) भासाभूसणगीतपरियारणासद्दं च सोतुं जो खुब्भति सो सद्दकीवो। (ततिओत्ति) एस ततिओ कीवो। अहवा एते निरुज्झमाणा ततिय त्ति णपुंसगा भवंति, सज्जं वा मरंति, वओ हाविंति वा। इमं दिट्ठीकीवं भणति।

साहम्मियऽण्णहम्मिय गारत्थिइत्थियाउ दट्ठूणं।
तो उप्पज्जति वेदा, कीवस्स ण कप्पती दिक्खा ॥३५५॥

एया तिविधत्थीउ दट्ठुं उक्कडवेदत्तणओ पुरिसवेदो उदिज्जति, उदिण्णे य वला इत्थिग्गहणं करेज्ज, उड्डाहादी दोसा, तम्हा न दिक्खेयव्वा। दिक्खंतस्स इमं पच्छित्तं आलिद्धकीवे चउगुरुं, णिमं–तणकीवे छग्गुरुं, दिट्ठीकीवे छेदो, सद्दकीवे मूलं। अहवा सामन्नेण कीवे मूलं, एते जदि पव्वाविता अजाणता ततो इमा जयणा परियट्टणे–

संघाडगाणुवद्धा, जावज्जीवा वए णियमियचरित्ते।
दो कीवे परियट्टति, ततियं पुण उत्तिमट्ठम्मि ॥४५६॥

सदा संघाडगाणुवद्धा सविताया एवं अतीव नियतं कज्जति। अभिभूतो दुविहो वि एवं परियट्टिज्जति, ततिओ अणभिभूतो सो परं उत्तिमट्ठे पव्वाविज्जति। एसेवऽत्थो अन्नहा भन्नति–

अभिभूतो पुण भवितो, गच्छस्स वितिज्जगाउ सव्वत्थ।
इयरे पुण पडिसिद्धा, सद्दे रूवे य जे कीवा ॥३५७॥

पुण सद्देण अभिभूतो दुविहो विभयणसद्दो सेवाए, अधवा जति गच्छे, वितिज्जगा अत्थि, तो ते पव्वाविज्जंति, से वितिज्जगा सव्वत्थ गच्छंति, इयरे पुण जे सद्ददिट्ठी कीवा, ते दो वि पडिसिद्धा, एतेसिं परं उत्तिमट्ठे दिक्खा। कीवे त्ति गयं। नि०चू०११ उ०। स्था०। (स प्रवज्याऽयोग्य इति पवज्जा शब्दे वक्ष्यते)

कीवसउण पुं० (क्लीबशकुन) पक्षिभेदे, प्रश्न०१ आश्र०द्वार।

कीस पुं०, स्त्री० (कीश) कस्य वायोरपत्यम्, ''अत इञ्'' ।४।१।९५। (पाणि०)। किः हनुमान् ईशो यस्य। कुत्सितं शेते वा। वानरे स्त्रियां जातित्वात् ङीष्। सर्पे, कपिकपोलतुल्यवर्णत्वात् तत्वम्। पक्षिणि, कुत्सितशयनात्तस्य तथात्वम्। नग्ने, कीशवत् वस्त्ररहित्यात्तस्य तथात्वम्। वाच०॥

***कस्मात्** अव्य० ''किमो डिणोडीसो'' ।८।३।६८। इति किमो डस्सेर्डीसादेशः। प्रा०३ पाद। कुत इत्यर्थे, उत्त०६ अ०। प्रश्न०। व्य०।

कीसु क्रिया० (क्रिये) निर्वर्त्ये इत्यर्थे, ''संता भोग जु परिहरइ, तसु कंतहो बलि कीसु'' साध्यमानावस्थात् क्रिये इति संस्कृतशब्दादेष प्रयोगः। प्रा०४ पाद।

कु अव्य० (कु) कु–डुः। पापे, निन्दायाम्, वाच०। कुरित्यव्ययं निपातो जुगुप्सायामशुद्धवषये वर्तते। सूत्र०१ श्रु०७ अ०। निन्दायामीषदर्थे, निवारणे भूमिभागे, धरायां च, स्त्री०। वाच०। कुरिति पृथिव्याः संज्ञा। बृ०३उ०। आ०म०। आ०चू०। विशे०। कुमारे, विपा०१ श्रु०६ अ०।

कुइय पुं०स्त्री० (कुचिक) कुच् वा इकन्। मत्स्यभेदे, स्त्रियां जातित्वात् ङीष्। भारतवर्षे ऐशान्यां दिशि देशभेदे, वाच०।

***कुंचित** त्रि० कुच् कितच्। परिमिते, वाच०। कुच् क्तः। अवस्यन्दिते, स्था०६ ठा०।

कुंआरी स्त्री० (कुमारी) मांसलप्रणालाकारपत्रावल्याम्, ध०२ अधि।

कुंकण पुं० (कोङ्कण) देशभेदे, तेषां राजा कोङ्कणः। तद्देशनृपे, बहुषु अणो लुक्। तत्रार्थे, स्वार्थे कः। "शाल्वाः कोङ्कणकास्तथा" वाचा स च देशोऽनार्यक्षेत्रम्, तद्वासिनोऽनार्याः। प्रज्ञा०१ पद। अनु०। "अस्ति कोङ्कणदेशेऽत्र, सह्यनामा महागिरिः"। आ० क०। कोकनदे, प्रज्ञा०१ पद। चतुरिन्द्रियजीवविशेषे, उत्त०३६ अ०।

कुंकुम न० (कुङ्कुम) कुक्यते आदीयते। कुक आदाने, उमक्, नि० मम्। काश्मीरादिदेशजे स्वनामख्याते गन्धद्रव्यभेदे, वाच०। रा०। आ० म०। प्रश्न०। ज्ञा०। अनु०। जं०।

कुंच पुं०,स्त्री० (कुञ्च)। क्रुन् च अच्। वकभेदे, स्त्रियां संयोगोपधत्वात् टाप्, पुंयोगे तु अजा० टाप्, टावन्तः। वीणाभेदे, स्त्री०। स्वार्थे अण् कौञ्चः स्वनामख्याते पर्वते, कुमारः कौञ्चदारणः। वकभेदे च। स्त्रियां तु अणन्तत्वात् ङीप्। वाच०। पक्षिविशेषे, स०। शरत्काले क्रौञ्चा माद्यन्ति मधुरध्वनयश्च भवन्ति। स०। प्रश्न०। उत्त०। "अह कुसुमसंभवे काले, कोइला पंचमं सरं। छड्डं च सारसा कुंचा, णेसायं सत्तमं गओ" अनु०। अनार्यदेशभेदे, तद्वासिनि जने च। प्रव०२७४ द्वार।

कुंचग पुं० (क्रौञ्चक) पक्षिविशेषे, "जो कुंचगावराहे पाणिदया कुंचगं तु नाइक्खे। जीवियमणुपेहंतं, मेतज्जरिसिं नमंसामि॥" आ०म०द्वि०।

कुंचज्झय पुं०स्त्री० (क्रौञ्चध्वज) क्रौञ्चा लेखरूपविहोपेते ध्वजे, रा०।

कुंचलं (देशी) मुकुले, दे० ना०२ वर्ग।

कुंचवीरग न० (क्रौञ्चवीरक) शकटपक्षसदृशे जलयाने, नि० चू०१६ उ०।

कुंचारि पुं० (क्रौञ्चारि) स्कन्दे, को०।

कुंचि त्रि (कुञ्चिन्) कुटिले, मायाविनि च। व्य०१ उ०।

कुंचिकण्ण पुं० (कुञ्चिकर्ण) स्वनामख्याते गोमण्डलाधिपतौ, (वग्गणा शब्दे तदुदाहृतिः करिष्यते)

कुंचिय त्रि० (कुञ्चित) ईषत्कुटिले कुण्डलीभूते, जं०२ वक्ष०। भ०। उत्त०। औ०। तगरपुष्पे, न०। वाच०।

कुंचिक पुं०। स्वनामख्याते तापसे, प्रतिकुञ्चनायां दृष्टान्तः। व्य०१ उ०।

कुंचियभाव पुं० (कुञ्चितभाव) कुटिलभावे, व्य०१ उ०।

कुंचिया स्त्री० (कुञ्चिका) कुञ्चिण् आच्छादने, कुञ्चत्यच्छादयति इति कुञ्चिका। रुतपूरितपट्टे, या लोके माणिकीत्युच्यते। जीत०। गुञ्जायाम्, वंशशाखायां, कूर्चिकायाम्, महीलतायां च। वाच०।

कुंजर पुं० (कुञ्जर) कौ जीर्यतीति कुञ्जरः। यदि वा कुञ्जे वनगहने रमते रतिमाबध्नाति इति कुञ्जरः। "क्वचित्।५।१।१७१। इति (हैम०) सूत्रेण डः प्रत्ययः। जी०३ प्रति०। हस्तिनि, स्था०६ ठा०। दन्तिनि, रा०। ज्ञा०। गजे, भ० ११ श० ११ उ०। उत्त०। को०। स्त्रियां जातित्वाद् ङीष्। पिप्पल्याम्, वाच०। श्रीऋषभदेवस्य त्र्यशीतितमे पुत्रे कुञ्जरबले, तत्पालितदेशभेदे च। कल्प०१ क्षण।

कुंजरसेणा स्त्री (कुञ्जरसेना) ब्रह्मदत्तचक्रिणा लब्धे कन्यारत्ने, उत्त०१३ अ०।

कुंजराणीय न० (कुञ्जरानीक) हस्तिसमूहे, स्था०७ ठा०।

कुंट त्रि० (कुण्ट) विकलपाणौ, प्रव०११० द्वार। हीनहस्ते, नि० चू०११ उ०। प्रश्न०। "ते होंति कुंटमंटा" आव०३ अ०।

कुंटत्त न० (कुण्टत्व) पाणिवक्रत्वादिके, कुब्जत्वे च। आचा०१ श्रु०२ अ०३ उ०।

कुंटलविंटल न० (कुण्टलवेण्टल) खटिकावप्पुटिकादौ, "तत्थि मो रागसंनिवेसे अच्छंदो उ कुंटलविंटलेणं जीवइ" आ०म०द्वि०। बृ०। "पाखण्ड्यच्छन्दकस्तत्र, मन्त्रतन्त्रादिजीवकः" आ०क०।

कुंटारं (देशी) स्नानार्थे, दे० ना०२ वर्ग।

कुंटी (देशी) पोट्टले वस्त्रनिबद्धद्रव्ये, दे० ना०२ वर्ग।

कुंठ त्रि० (कुण्ठ) वैकल्ये अच्। बुद्धिविकले, आचा०१ श्रु०६ अ०४ उ०। मूर्खे, क्रियासु मन्दे, अकर्मण्ये, वाच०।

कुंड न० (कुण्ड) कुण्ड्यते रक्ष्यते जलं वन्हिर्वाऽत्र। "कुडि" रक्षणे आधारे अच् णिलोपः। जलाधारे, वृत्ताकारे पात्रभेदे, होमार्थमग्न्याधारे स्थानभेदे, देवादिखातजलाशये, वाच०। गङ्गकुण्डादौ ह्रदे, नं०। स०। कादम्बर्यां कलिंगिरेरुपत्यकावर्तिनि स्वनामख्याते सरोवरभेदे, ती०३४ कल्प। कुण्ड्यते कुलमनेन। कुडि दाहे करणे घञ्। अमृते भर्तरि जारजाते, स्त्रियां टाप्। "पत्यौ जीवति कुण्ड्यः स्यात्" तेन निर्वृत्ताद्यर्थे चातुरर्थ्यां कुण्डरः। तन्निर्वृत्तदौ, त्रि०। कुडि दाहे भावे अः। दाहे, वाच०।

कुंडकोलिय पुं० (कुण्डकोलिक) स्वनामाङ्किते उपासकभेदे, स्था०। कुण्डकोलिको गृहपतिः काम्पिल्यवासी धर्मध्यानस्थो यथा देवस्थ गोशालमतमुद्ग्राहयत उत्तरं ददौ, दिवं च ययौ, यथा यत्राभिधीयते तत्तथेति उपासकदशानां षष्ठेऽध्ययने, स्था०१० ठा०।

तद्वक्तव्यता चासौ –

छट्ठस्स उक्खेवओ ते णं काले णं ते णं समए णं कंपिल्लपुरे णयरे सहसंववणे उज्जाणे जियसत्तू राया, कुंडकोलिए गाहावई, पूसा भारिया, छ हिरण्णकोडिए णिहाणपत्ताओ, छ वुड्ढि छ पवित्थरपत्ताओ छव्वया दस गोसाहस्सीएणं वएणं सामी समोसढो सावयधम्मं पडिवज्जइ जहा काम–

देवो सो सव्वे वत्तव्वया जाव पडिलाभेमाणे विहरइ। तए णं से कुंडकोलिए अण्णया कया वि पुव्वावरण्हकालसमयंसि जेणेव पुढविसिलापट्टए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता णाममुद्दगं च उत्तरियगं च पुढविसिलापट्टए ठवेइ, ठवेइत्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मपण्णत्तिं उवसंपज्जित्ता णं विहरइ। तए णं तस्स कुंडकोलियस्स समणोवासअस्स एगे देवे अंतियं पाउब्भवित्था, तए णं से देवे णाममुद्दं च उत्तरिज्जं च पुढविसिलापट्ट–याओ गिण्हति, गिण्हतित्ता सखिंखिणि अंतलिक्खं पडिवन्ने कुंडकोलियं समणोवासयं एवं वयासी- हं भो ! कुंडकोलिया समणोवासया ! सुंदरी णं देवाणुप्पिया! गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स धम्मपण्णत्ती, नत्थि उट्ठाणे ति वा परिक्कम्मे ति वा वले ति वा वीरिए ति वा पुरिसक्कारपरक्कमे ति वा णितिया सव्वभावा। मंगुली णं समणस्स भगवओ महावीरस्य धम्मपण्णत्ती उट्ठाणे ति वा जाव० परक्कमे ति वा अणितिया सव्वभावा। तए णं से कुंडकोलिए तं देवं एवं वयासी जइ णं देवाणुप्पिया ! सुंदरी गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स धम्मपण्णत्ती, णत्थि० जाव उट्ठाणे ति वा जाव णितिया सव्वभावा, मंगुली णं समणस्स भगवओ महावीरस्स धम्मपण्णत्ती, अत्थि उट्ठाणे ति वा जाव अणितिया सव्वभावा। तुमे णं देवाणुप्पिया! इमे एया दिव्वा देविड्ढी। दिव्वा देवजुई दिव्वे देवाणुभावे किण्णा लद्धे किण्णा पत्ते किण्णा अभिसमण्णागए ? किं उट्ठाणेणं जाव पुरिसक्कारपरक्कमेणं ? उदाहु अणुट्ठाणेणं अकम्मेणं जाव अपुरिसक्कारपरक्कमेणं ? तए णं से देवे कुंडकोलियं एवं वयासी एवं खलु देवाणुप्पिया! मए इमेयारूवा दिव्वा देवेड्ढी अणुट्ठाणेणं० जाव अपुरिसक्कारपरक्कमेणं लद्धा पत्ता अभिसमण्णागया।

किमपि लिख्यते षष्ठे (धम्मपन्नत्ति त्ति) श्रुतधर्मप्ररूपणा दर्शनं मतम्, सिद्धान्त इत्यर्थः। उत्थानम् उपविष्टः सन्सदूर्ध्वीभवति, कर्म गमनादिकं, बलं शारीरं वीर्यं जीवप्रभवं, पुरुषकारः पुरुषत्वाभिमानः, पराक्रमः स एव संपादितस्वप्रयोजनः। इति उपप्रदर्शने, वा विकल्पने, अस्त्येतदुत्थानादि जीवानाम्, एतस्य पुरुषार्थप्रसाधकत्वात्। तत्साधकं च पुरुषकारसद्भावेऽपि पुरुषार्थसिद्ध्यनुपलम्भात् एवं च नियताः सर्वभावाः, यैर्यथा भवितव्यं ते तथैव भवन्ति, न पुरुषकारबलादन्यथाकर्तुं शक्यत इति। आह च–

''प्राप्तव्यो नियतिबलाश्रयेण योऽर्थः,
सोऽवश्यं भवति नृणां शुभोऽशुभो वा।
भूतानां महति कृतेऽपि हि प्रयत्ने,
नाभाव्यं भवति न भाविनोऽस्ति नाशः'' ॥१॥

तथा–

''न हि भवति यन्न भाव्यं,
भवति च भाव्यं विनाऽपि यत्नेन।
करतलगतमिव नश्यति,
यस्य तु भवितव्यता नास्ति'' ॥१॥

(मंगुलि त्ति) असुन्दरा धर्मप्रज्ञप्तिः श्रुतधर्मप्ररूपणा। किंस्वरूपा असावित्याह अस्तीत्यादि अनियताः सर्वभावाः उत्थानादेर्भवन्ति, तदभावान्न भवन्तीति कृत्वा इत्येवं स्वरूपाः। ततोऽसौ कुण्डकोलिकः तदैवमेवमवादीत् यदि गोशालकस्य सुन्दरो धर्मो, नास्ति कर्मादीन्यतो नियताः सर्वभावा इत्येवंरूपः। मङ्गुलश्च महावीरधर्मोऽसित कर्मादीन्यनियताः सर्वभावा इत्येवंस्वरूपमित्येवं तन्मतमनूद्य कुण्डको लिकस्तन्मतदूषणाय विकल्पद्वयं कुर्वन्नाह ''तुमे णं'' इत्यादि। पूर्ववाक्ये यदीतिपदोपादानादेतस्य वाक्यस्यादौ तदेति पदं द्रष्टव्यम्। इति त्वयाऽयं दिव्यो देवद्धर्यादिगुणः केन हेतुना लब्धः? किमुत्थानादिना, (उदाहु त्ति) आहोस्विदनुत्थानादिना तपोब्रह्मचर्यादीनामकरणेनेति भावः।

तए णं से कुंडकोडिए समणोवासए तं देवं एवं वयासीजइ णं देवाणुप्पिया! तुमे इमा एयारूवा दिव्वा देविड्ढी अणुट्ठाणेणं जाव अपुरिसक्कारपरक्कमेणं लद्धा पत्ता अभिसमण्णागया, जेसि णं जीवाणं नत्थि उट्ठाणेति वा० जाव परक्केति वा ते किं न देवाणुप्पिया ! अहण्णा, देवाणुप्पिया ! तुमे इमेयारूवा दिव्वा देविड्ढी दिव्वा देवजुई दिव्वे देवाणुभावे उट्ठाणे ति जाव परक्कमेण वा ताओ जं वदसि सुंदरी गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स धम्मपण्णत्ती, णत्थि उट्ठाणे ति वा जाव णितिया सव्वभावा, मंगुली णं समणस्स भगवओ महावीरस्स धम्मपण्णत्ती, अत्थि उट्ठाणे ति वा जाव अणितिया सव्वभावा, तंते मिच्छा, तए णं से देवे कुंडकोलिएणं समणोवासएणं एवं वुत्ते ससंकिते जाव कलुससमावण्णे णो संचाएति कुण्डकोलियस्स समणोवासयस्स किं वि पामोक्खमाइ खित्तए णाममुद्दं च उत्तरिज्जयं च पुढविसिलापट्टए ठवेति, ठवेतित्ता जामेव दिसं पाउब्भूए तामेव दिसिं पडिगए तेणं कालेणं तेणं समएणं सामी समोसढो। तए णं से कुंडकोलिए इमीसे कहाए लद्धट्ठे हट्ठ तुट्ठ जाव हियया जहा का मदेवे तहा णिग्गच्छइ जाव पज्जुवासइ धम्मकहा कुंडकोलिए त्ति समणे भगवं कुंडकोलियं समणं एवं वयासी से णूणं कुंडकोलिया ! कल्लं तुम्मे पुव्वावरण्हकालसमयंसि असोगवणियाए एगे देवे अंतियं पाउब्भवित्था। तए णं से देवे णाममुद्दं च तं चेव जाव पडिगए, से णूणं कुंडकोलिया ! अट्ठे समट्ठे, हंता अत्थि, तं धण्णेसि णं तुमं जहा कामदेवे अज्जो त्ति समणे भगवं समणा निग्गंथा य निग्गंथीओ य आमंतित्ता एवं वयासी जइ ताव अज्जो ! गिहिणो गिहिमज्झा वसंतो णं अण्णुत्थिए अट्ठेहि य हेउहि य पसिणेहि य कास्णेहि य वागरणेहि य णिप्पट्ठपसिणवागरणे करेइ, सक्का पुणाइ अज्जो ! समणेहिं णिग्गंथेहिं दुवालसंगंगणिपिडयं अहिज्जमाणेहिं अण्णउत्थिया अत्थेहि य० जाव णिप्पट्ठपसिणं करेत्तए, तए णं समणा णिग्गंथा समणस्स

भगवओ महावीरस्स तह त्ति एयमट्ठं विणएणं पडिसुणेइ। तए णं से कुंडकोलिए समणं भगवं वंदइ नमंसइ पसिणाइं पुच्छइ अट्ठमादियइ जामेव दिसं तामेव पडिगया समणोवा–सया बहिया जणवयविहारं विहरइ, तस्स कुंडकोलियस्स बहुहिं सील० जाव भावेमाणे चोद्दस संवच्छरा वितिक्कंता पन्नरसमस्स संवच्छरस्स अंतरा वट्टमाणस्स अण्णया जहा कामदेवो तहा जेट्ठपुत्तं ठवेइ, ठवेइत्ता तहा पोसहसालाए जाव धम्मपण्णत्तीं उवसंपज्जित्ता णं विहरइः एवं एक्कारस उवासगपडिमाओ तहेव जाव सोहम्मे कप्पे अरुणज्झए विमाणे जाव अंतं काहिंति। उवासगदसाणं छट्ठं अज्झयणं सम्मत्तं।

यदुत्थानादेरभावेनेति पक्षो गोशालकमताश्रितत्वात् भवतः तथा येषां जीवानां नास्त्युत्थानादि, तपश्चरणकरणमित्यर्थः। ते इति जीवाः किं न देवाः ? पृच्छतोऽयमभिप्रायः यथा त्वं पुरुषकारं विना देवः संवृत्तः स्वकीयाभ्युपगमतः एवं सर्वजीवाये उत्थानादिवर्जितास्ते किं न देवत्वं प्राप्नुवन्ति, न चैतदेवमिष्टमित्युत्थानाद्यपलापपक्षे दूषणम्। अथ त्वयेयमृद्धिरुत्थानादिना लब्धा ततो यद्धदसि सुन्दरा गोशालकप्रज्ञप्तिः, असुन्दरा महावीरप्रज्ञप्तिरिति तत्ते मिथ्यावचनं भवति तस्य व्यभिचारादिति। ततोऽसौ देवस्तेनैवमुक्तः सन् शङ्कितः संशयवान् जातः किं गोशालकमतं सत्यमुत महावीरमतम्? महावीरस्य युक्तितोऽनेन प्रतिष्ठितत्वात्। एवं विधविकल्पवान् संवृत्त इत्यर्थः। काङ्क्षितोममापि, साध्ये तद्युक्तयुपेतत्वात्। इति विकल्पवान् संवृत्त इत्यर्थः। यावत्करणाद्वेदं समापन्नो मतिभेदमुपागतो गोशालकमतमेव साध्विति निश्चयादपोढत्वात्। तथा कलुषं समापन्नः प्राक्तननिश्चयविपर्ययलक्षणं गोशालकमताऽनुसारिणां मतेन मिथ्यात्वं प्राप्त इत्यर्थः। अथ वा कलुषभावम् जितोऽहमनेनेति खेदरूपमापन्न इति। (नो संचाए इति) न शक्नोति (पामोक्खं ति) प्रमोक्षमुत्तरम् आख्यातुं भणितुमिति। (गिहिमज्झा वसंताणं ति) गृहमध्ये वसन्तः। णमिति वाक्याऽलङ्कारे। अन्ययूथिकान् अर्थजीवादिभिः सूत्राभिधेयैर्वा हेतुभिश्चान्वय-व्यतिरेकलक्षणैः प्रश्नैश्च परप्रश्नीयपदार्थैः कारणैरुपपत्तिमात्ररूपैः व्याकरणैश्च परेण प्रश्नितस्योत्तरदानरूपैः (निप्पट्ठपसिणवागरणे त्ति) निरस्तानि स्पष्टानि व्यक्तानि व्याकरणानि प्रश्नव्याकरणानि येषां ते निस्पष्टप्रश्नव्याकरणाः। प्राकृतत्वाद्वा निष्पिष्टप्रश्नव्याकरणाः, तान् कुर्वन्ति (सक्का पुण त्ति) शक्या एव हे आर्याः ! श्रमणैरन्ययूथिका निष्पष्टप्रश्नव्याकरणाः कर्तुमिति। षष्ठं विवरणतः समाप्तम्। उपा०६ अ०।

कुंडग्गाम पुं० (कुण्डग्राम) स्वनामख्योते मगधदेशग्रामभेदे, स च ब्राह्मणकुण्डग्रामः क्षत्रियकुण्डग्राम इति च द्विधा विभक्त इति प्रतीयते। तत्र श्रीवीरः प्रतिमारूपेण प्रतिष्ठितः। ती०४६ कल्प। ''तेण सामी कुंडग्गामे दिट्ठपुव्वो''। आ०म०द्वि०।

कुंडधार पुं० (कुण्डधार) कुण्डं कुण्डाकारं धारयति। धारि अण् उप० स०। नागभेदे, वाच०। यक्षभेदे च। ''दो कुंडधारपडिमाओ सण्णिखित्ताओ''। जी०३ प्रति०।

कुंडपुर न० (कुण्डपुर) स्वनामख्याते नगरे, यत्र भगवतो महावीरस्य ज्येष्ठा भगिनी परिणीता। ''कुंडपुरं नगरं तत्थ सामिस्स जेट्ठा भगिणी सुदंसणा नाम'' आ० म० द्वि०। आ० चू०। इहैव भरतक्षेत्रे कुण्डपुरं नाम नगरं, तत्र भगवतः श्रीमहावीरस्य भागिनेयो जमालिनामा राजपुत्र आसीत्। विशे०। स्था०। दर्श०। आ० क०। कुण्डग्राम इति नामान्तरम्। तस्य दक्षिणोत्तरक्रमात् ब्राह्मणकुण्डग्रामः क्षत्रियकुण्डग्रामश्चेति द्वौ भागौ। तत्र ब्राह्मणकुण्डग्रामे देवानन्दायागर्भे भूत्वा क्षत्रियकुण्डग्रामे त्रिशलाकुक्षौ संकृष्टो भगवान् महावीरः। आव०१ अ०। आ० म०॥

कुंडभी स्त्री० (कुण्डभी) लघुपताकायाम्, आ०म०प्र०

कुंडमोद पुं० (कुण्डमोद) हस्तिपादाकारे मृण्मये पात्रभेदे दश०६ अ।

कुंडल पुं०,न० (कुण्डल) अर्द्धर्चा०। कुण्ड्यते कुण्डयते 'कुडि' दाहे 'कुडि' रक्षायां वा कर्तरि कर्मणि वा वृषा० डल च् कुण्डं कुण्डाकारं लाति ला० क० कुण्डः। तदाकारोऽस्त्यस्य सिध्मादित्वल्लच् वा। वाच०। कर्णाभरणे, तं०। कर्णाभर–णविशेषे, भ०२ श०५ उ०। रा०। जं प्रज्ञा०। अ० म०। जी०। उत्त०। आचा०। औ०। ''अंगयकुंडलमट्ठ-गजुयलकण्णपीठधारी'' प्रज्ञा०२ पद। अरुणवरावभासपरिक्षेपिणि स्वनामख्याते द्वीपभेदे, तत्परिक्षेपिणि समुद्रभेदे च। तत्र कुण्डले द्वीपे कुण्डलकुण्डलभद्रौ देवौ, कुण्डलसमुद्रे चक्षुः शुभचक्षुःकान्तौ कुण्डलद्वीपदेवौ च। सू० प्र०१६ पाहु०। जी०। चं०। द्वी०। एकादशद्वीपवर्तिनि चक्रवालपर्वते, स्था० १० ठा०। वलये, वेष्टने च। वाच०।

कुंडलउज्जोइआणण त्रि० (कुण्डलोद्योतितानन) कुण्डलाभ्यामुद्योति-तमाननं मुखं यस्य स तथा। कुण्डलशोभितमुखे, औ०। कल्प०।

कुंडलज्जोइय त्रि० (कुण्डलद्योतित) कुण्डलयुक्ते, भ० ११ श० ११ उ०।

कुंडलभद्द पुं० (कुण्डलभद्र) कुण्डलद्वीपाधिपतौ, जी० ३ प्रति०। सू० प्र०। द्वी०।

कुंडलमहाभद्द पुं० (कुण्डलमहाभद्र) कुण्डलद्वीपाधिपतौ, जी०३ प्रति०।

कुंडलमहावर पुं० (कुण्डलमहावर) कुण्डलवरसमुद्राधिपतौ, सू० प्र० १६ पाहु०।

कुंडलवर पुं० (कुण्डलवर) कुण्डलसमुद्रपरिक्षेपिणि द्वीपभेदे, तत्परिक्षेपिणि समुद्रे च। तत्र कुण्डलवरे द्वीपे कुण्डलवरभद्रकुण्डलव-रमहाभद्रौ, कुण्डलवरे समुद्रे कुण्ड–लवरकुण्डलमहावरौ देवौ। जी०३। प्रति०। चं०प्र०। अनु०। सू०प्र०। द्वी०। कुण्डलवराख्ये द्वीपे प्राकारकुण्डलाकृतौ माण्डलिकपर्वतविशेषे, स्था०३ ठा०४ उ०।

कुंडलवरभद्द पुं० (कुण्डलवरभद्र) कुण्डलवरद्वीपाधिपतिदेवे, जी०३ प्रति०।

कुंडलवरमहाभद्द पुं० (कुण्डलवरमहाभद्र) कुण्डलवरद्वीपाधिपतौ देवे, जी०३ प्रति०।

कुंडलवरमहावर पुं० (कुण्डलवरमहावर) कुण्डलवरसमुद्रपरिक्षेपिणि द्वीपे, तत्परिक्षेपिणि समुद्रे च। जी०३ प्रति०। ''कुंडलवरोभासे दीवे कुंडलवरोभासभद्दमहाभद्दा इत्थं दो देवा, कुंडलवरोभाससमुद्दे कुंडलवरोभासवरमहावरा इत्थं दो देवा महड्ढिया जाव पलिओवमट्ठितिया परिवसंति।'' जी०३ प्रति०। चं० प्र०। सू० प्र०।

कुंडलवरोभास पुं० (कुण्डलवरावभास) कुण्डलवरस–मुपरिक्षेपिणि द्वीपे, तत्परिक्षेपिणि समुद्रे च। जी०३ प्रति०। ''कुंडलवरोभासे दीवे कुंडलवरोभासभद्दकुंडलवरोभाससमहाभद्दा जत्थ दो देवा''। जी०३ प्रति०।

कुंडलवरोभासभद्द पुं० (कुण्डलवरावभासभद्र) कुण्डवरावभासद्वीपाऽधिपतौ देवे, जी०३ प्रति०।

कुंडलवरोभासमहाभद्द पुं० (कुण्डवरावभासमहाभद्र) कुण्डलवरावभासद्वीपाधिपतौ देवे, सू० प्र० १६ पाहु०। जी०।

कुंडलवरोभासमहावर पुं० (कुण्डलवराबभासमहावर) कुण्डलवरावभाससमुद्राधिपतौ देवे, जी०३ प्रति०।

कुंडलवरोभासवर पुं० (कुण्डलवरावभासवर) कुण्डलवरावभाससमुद्राधिपतौ, जी०। ''कुंडलवरोभाससमुद्दे कुंडलवरोभासवरमहावरा इत्थं दो देवा महड्ढिया जाव पलिओवमट्ठितिया परिवसति''। जी०३ प्रति०। चं० प्र०। सू० प्र०।

कुंडला स्त्री० (कुण्डला) जम्बूद्वीपे मन्दरस्य पूर्वेण शीतोदाया महानद्या दक्षिणतः। स्था०८ ठा०। सुवत्सविजयक्षेत्रयुगले स्वनामख्याते पुरीयुगले, ''दो कुंडलाओ'' स्था० २ ठा०२३ उ०। जं०।

कुंडलिया स्त्री० (कुण्डलिका) मात्रावृत्तभेदे, तल्लक्षणं यथा–

''कुण्डलिका सा कथ्यते प्रथमं दोहा यत्र।
वोलाचरणचतुष्टयं प्रभवति विमलं तत्र॥
प्रभवति विमल तत्र पदमतिसुललितयमकम्।
अष्टपदी सा भवति विमलकविकौशलगमकम्॥
अष्टपदी सा भवति सुखितपलितमण्डलिका।
कुण्डलिनायकभणिता विवुधकर्णे कुण्डलिका॥'' इति। वाच०।

कुण्डलाकारे वस्तुनि, उत्फणत्वे कुण्डलिकादिपर्यायसमन्वितसर्पद्रव्यवत्। आ०म०द्वि०।

कुंडलुल्लिहियगंडलेह त्रि० (कुण्डलोल्लिखितगण्डलेख) कुण्डलाभ्यामुल्लिखिता स्पृष्टा गण्डलेखा कपोलविरचितमृगमदादिरेखा यस्य स कुण्डलोल्लिखितगण्डलेखः। कर्णाभरणशोभितकपोले, रा०।

कुंडलोद पुं० (कुण्डलोद) कुण्डलद्वीपपरिक्षेपिणि समुद्रे, सू० प्र० १६ पाहु०। जी०।

कुंडाग पुं० (कुण्डाक) स्वनामख्याते सन्निवेशभेदे, ''ततो भयवं आलंभियं नयरिं गतो, तत्थ सत्तमो वासारत्तो चउम्मासखमणं करेइ, ततो वाहिं पारित्ता कुंडागो नाम सन्निवेसो तत्थ एइ।'' आ० म० द्वि०। कल्प०

कुंडिअपेसणं (देशी) ब्राह्मणविष्टौ, दे०ना०२ वर्ग।

कुंडिओ (देशी) ग्रामाधिपतौ, दे० ना०२ वर्ग।

कुंडिया स्त्री० (कुण्डिका) कुडिण्वुल्। कमण्डलौ, पिठरे च। वाच०। ज्ञा०। आचा०। अनु०। भ०। औ०।

कुंत पुं० (कुन्त) कुं भूमिमुनत्ति। उन्द वा तः शकन्ध्वा०। गवेधुकायाम्, धान्यभेदे, प्राशास्त्रे, क्षुद्रकीटभेदे, चण्डभावे, वाच०। तत्र प्राशास्त्रे ''हलगतमुसलचक्कुंत० प्रश्न०१ आश्र० द्वार। विपा०। औ। ''कुंतग्गाहा चावग्गाहा चामरग्गाहा'' औ०।

कुंतल पुं० (कुन्तल) कुन्तं क्षुद्रकीटं लाति। ला कः। केशे, तदा कारत्वात्। हीवेरे च। कुन्तलाकारं केशाग्राकारं लाति। ला०कः। यवे, चषके, पानपात्रे, लाङ्गले च। ध्रुवकभेदे, दाक्षिणात्यजनपद भेदे, तेषां राजा अण् कौन्तलः। तद्देशनृपे, बहुषु तस्य लुक्। क्वचिदेकत्वेऽपि लुक्। सोऽभिजनोऽस्य अण्। कौन्तलः। पित्रादि क्रमेण तद्देशवासिनि, वाच०। आ०क०।

कुंतलो (देशी) सातवाहने, दे० ना०२ वर्ग।

कुंतलदेवी स्त्री० (कुन्तलदेवी) स्वनामख्याताथां राज्ञ्याम्,

तत्कथानकं भण्यते–

कस्यचिन्नरपतेः कुन्तलदेव्यभिधाना पट्टराज्ञी बभूव। साऽवशेषराज्ञीमत्सरेण सर्वज्ञमन्दिरे तत्तत्कृतपूजातः स्नानविलेपनवासधूपवस्त्राभरणाभिषेकरथयात्रास्नात्रादिकां पूजां जिन प्रतिकृतीनां कारितवती। एवं व्रजति कालेऽशुभकर्मोदयात् तस्याः कश्चिदसाध्यो रोगो जातः। जीवितशेषा च संवृत्ता। चैवं दृष्टा पूर्वदत्तं पट्टरत्नं द्वितीयपथेन सर्वमाभरणवस्त्रादि तत्पार्श्वाद् गृहीत्वा राजादेशेन नियोगिभिर्नृपतिभाण्डागारे क्षिप्तम्। ततस्त स्यास्तं पराभवं मन्यमानाया आर्तध्यानमभूत्। तत्परिणामौ च मृता सती शुनीत्वेनोत्पन्ना। अन्यदा तत्र केवली समायातः। स भगवानन्तः पुरिकाभिः सपत्नीभिः कुन्तलदेव्या उत्पत्तिः पृष्टा। भगवताऽपि वृत्तान्ते कथिते तासां संसारविरक्तिर्जाता। ततस्ताभिर्गत्वा दृष्टा सा शुनी, सस्नेहं पुष्पचन्दविशिष्टाहारानादिभिः पूजिता। ततोऽस्या मण्डल्याः पूजादिकं ससंभ्रमं जिनमन्दिरं च दृष्ट्वा जातिस्मरणं संपन्नम् बोधिश्च। क्षामितायाश्च ताभिः कषायोपशमे आराधना जातेतिकुन्तलदेवीकथानकं समाप्तम्। जीवा०१२ अधि०।

कुंतला स्त्री० (कुन्तला) स्वनामख्यातायां राज्ञ्याम्, दर्श०। (तत्कथा चेइय शब्दे स्वयंकृतजिनविम्बपूजाप्रस्तावे वक्ष्यते)

कुंती स्त्री० (कुन्ती) वसुदेवभगिन्याम्, कुन्तिभोजदत्त–कसुदत्तकसुतायां पृथाया युधिष्ठिरादिमातरि, वाच०। पाण्डोः पत्न्याम् स्था० १० ठा०। ''वसुदेवानुजे कन्ये, कुन्ती माद्री च विश्रुते'' अन्त०१ वर्ग। मज्जर्याम्, दे० ना०२ वर्ग।

('दुबई' शब्देऽस्थाः द्वारिकागमनादिकथा वक्ष्यते)

कुंतीपोट्टलयं (देशी) चतुष्कोणो, दे० ना ०२ वर्ग।

कुंतीविहार पुं० (कुन्तीविहार) युधिष्ठिरेणोद्धारिते नासिक्यपुरस्थे चन्द्रप्रभस्वामिचैत्ये, ''इत्थंतरे दावरजुगे पंडुरायपत्तीए कुंतीदेवीए पढमपुत्ते जुहिट्ठिल्ले संजाए चंदप्पहसामिणो पासायं जिण्णं दट्ठूण उद्धारो काराविओ, से हत्थेण चित्तरुक्खो अ तत्थ ठाविओ, कुंतीविहारु त्ति नामं विक्खाअं''। ती०२८ कल्प।

कुंथु पुं० (कुन्थु) अवसर्पिण्यां भरतक्षेत्रजे षष्ठे चक्रवर्त्तिनि सप्तदशे तीर्थकरे, आ०म०। नामनिरुक्त्यन्तरम् संप्रति कुन्थुः कुःपृथिवी तस्यां स्थितवान् कुन्थुः, पृषोदरादित्वादिष्टरूपनिष्पत्तिः । तत्र सर्वेऽपि भगवन्तं एवविधास्ततो विशेषमाह ''थूमं रयणविचित्तं, कुंथुं सुमिणम्मि तेण कुंथुजिणो'' जननी स्वप्ने कुस्थं मनोहरे अभ्युन्नते महीप्रदेशे स्तूपं रत्नविचित्रं दृष्टवा प्रतिबुद्धवती, तेन कारणेन भगवान् नामतः कुन्थुजिनः । आ० म० द्वि०। आ० चू०। आव०। स०। ध०।

इक्खागुरायवसहो, कुंथू नाम नरेसरो ।
विक्खायकित्ती भयवं, पत्तो गइमणुत्तरं ॥३६॥

पुनः कुन्थुनामा नरेश्वरः षष्ठचक्री अनुत्तरां सर्वोत्कृष्टां गतिं प्राप्तः । कीदृशः कुन्थुः? भगवान्' ऐश्वर्यज्ञानवान्, पुनः कीदृशः कुन्थुः? इक्ष्वाकुराजवृषभः इक्ष्वाकुवंशीयभूपेषु वृषभो वृषभसमानः, प्रधान इत्यर्थः । पुनः कीदृशः? विख्यातकीर्तिः । अत्र भगवानिति विशेषणेनाष्टमहाप्रातिहार्याद्यैश्वर्ययुक्तः सप्तदशमस्तीर्थकरः षष्ठचक्री कुन्थुर्ज्ञेयः । अत्र श्रीकुन्थुनाथदृष्टान्तः हस्तिनागपुरे सूरराज्ञः श्रीदेवी भार्या, तस्याः कुक्षौ श्रीभगवान् पुत्रत्वेनोत्पन्नः जन्ममहोत्स–वानन्तरं च स्वप्ने जनन्या रत्नस्तूपः कुस्थो दृष्टः, गर्भस्थे च भगवति पित्रा शत्रवः कुन्थुवत् दृष्टा इति कुन्थुरिति नाम कृतम् । पित्रा प्राप्तयौवनश्चायं विवाहितो राजकुमारिकाभिः। काले च भगवन्तं राज्ये व्यवस्थाप्य सूरराजः स्वयं दीक्षां जग्राह । भगवांश्च उत्पन्नचक्ररत्नप्रसाधितभरतः चक्रवर्तिभोगान् बुभुजे । तीर्थप्रवर्तमानसमये च निष्क्रम्य षोडश वर्षाणि चोग्रविहारेण विहृत्य केवलज्ञानभाग् जातः, देवाश्च समवसरणमकार्षुः । प्रव्रजितः केवलपर्यायेण घनकालं विहृत्य संमेतगिरिशिखरे मोक्षमगमत् । तस्य भगवतः कुमारत्वे त्रयोविंशतिवर्षसहस्राणि, माण्डलिकत्वे च त्रयोवि–शतिवर्षसहस्राणि, चक्रित्वे त्रयोविंशतिवर्षसहस्राणि, श्रामण्ये च त्रयोविंशतिवर्षसहस्राणि सार्द्धानि च सप्तशतानि वर्षाणि अभवन्, सर्वायुर्द्विनवतिवर्षसहस्राणि सार्द्धसप्तशतानि चास्य बभूव । इति श्रीकुन्थुनाथदृष्टान्तः । उत्त०१८ अ०। ''कुंथू णं अरहा पंचाणउइवाससहस्साइं परमाउयं पालइत्ता सिद्धे बुद्धे जाव प्पहीणे'' (स०)। कुन्थुनाथस्य सप्तदशतीर्थकरस्य कुमारत्वमाण्डलिकत्वचक्र-वर्तित्वानगारत्वेषु प्रत्येकं त्रयोविंशतेर्वर्षसहस्राणामर्द्धाष्टमवर्षशतानां च भावात्सर्वायुः पञ्चनवतिवर्षसहस्राणि भवन्तीति। स०९५ सम०। प्रव०। नि०। स्था०। (अन्तरम् 'अंतर' प्रथमभागे ६६ पृष्ठे उक्तम्) (वर्णादि तित्थयर शब्दे वक्ष्यते) ''कुंथू णं अरहा पणतीसं धणूइं उड्ढं उच्चत्तेणं होत्था'' स०३५ सम०। ''कुंथुस्स णं अरहओ सत्ततीसं गणा सत्ततीसं गणहरा होत्था'' *कुन्थुनाथस्येह सप्तत्रिंशद्गणधरा उक्ताः, आवश्यके तु पञ्चत्रिंशत् इति मतान्तरम्* । स०३६ सम०। ''कुंथुस्स णं अरहओ बत्तीसं जिणसया होत्था'' स०३२ सम०। ''कुंथुस्स णं अरहओ एक्कासीतिं मणपज्जवनाणिसया होत्था'' स्था०३ ठा०२ उ०। ''कुंथुस्स णं अरहओ एकाणउइं आहोहियसया होत्था'' स०९१ सम०। लघुशरीरे त्रीन्द्रियजीवे, उत्त०३६ अ०। ''पाणसुहुमे''। प्राणसूक्ष्ममनुद्धरिः कुन्थुः, स हि चलन्नेव विभाव्यते, न स्थितः, सूक्ष्मत्वादिति । स्था०८ ठा०। जी०। प्रज्ञा०। दश०। आचा०। उत्त०। ''जं रयणिं च णं समणे भगवं महावीरे जाव सव्वदुक्खप्पहीणे तं रयणिं च णं कुंथुं अणुद्धरी नामं समुप्पन्ना जाविया अचलमाणा निग्गंथाण य निग्गंथीण य चक्खुफासं हव्वमागच्छइ'' कल्प०६ क्षण।

कुंद पुं० (कुन्द) कुं भूमिमुनत्ति। उन्दअण् शक०। कौतेः अच् दा दन् मुमच् वा। कुन्दुरुनामगन्धद्रव्ये, भ्रमियन्त्रभेदे, कुबेरस्य निधिभेदे च। पुं०। करवीरवृक्षे, पुं०। स्वनामख्याते पुष्पवृक्षे, वाच०। महाजातौ, जं०२ वक्ष०। तत्पुष्पे धवलपुष्पविशेषे, कल्प०३ क्षण। ज्ञा०। उत्त०। रा०। आ० म०। प्रज्ञा०। जी०। औ०। कुन्दाभिधानवनस्पतिकुसुमे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०।

कुंदओ (देशी) कृशे, दे० ना०२ वर्ग।

कुंदं (देशी) प्रभूते, दे० ना०२ वर्ग।

कुंदकुंद पुं० (कुन्दकुन्द) स्वनामख्याते दिगम्बराचार्ये, भद्रबाहुर्गुप्तिगुप्तो माघनन्दिर्जिनचन्द्रः कुन्द कुन्दाचार्य इति तत्पट्टावल्यां शिष्यपरम्परा। अयमाचार्यो विक्रमसं०४९ वर्षे वर्तमान आसीत् । अस्यैव चक्रग्रीवः एलाचार्यः गृद्धपिच्छः मदननन्दिरित्यपराणि नामानि । जै० इ०।

कुंदमालपरिणद्ध त्रि० (कुन्दमालापरिणद्ध) कुन्दादिकुसुममालया व्याप्ते, कल्प०२ क्षण।

कुंदीरं (देशी) बिम्व्याः फले, दे० ना०२ वर्ग।

कुंदुक्क पुं० (कुन्दुक्क) कुहनवनस्पतिभेदे, आचा०१ श्रु०१ अ०५ उ०। ''एए अणंतजीवा, कुंदुक्के होइ भयणाओ।'' प्रज्ञा० २ पद।

कुंदुरुक्क पुं० (कुन्दुरुक्क) चीडाभिधाने गन्धद्रव्यविशेषे, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०। ''कालागरुपवरकुंदु रुक्कतुरुक्कपडिबोहियल्लओ सिद्धओ भणइ'' अत्र कुन्दुरुक्कः कुर्कुटः। आ० म० द्वि०।

कुंभ पुं० (कुम्भ) कुं भूमिं, कुत्सितं वा उम्भति उम्भ पूरणे अच् शक०। घटे, वाच०। स्था०। सूत्र०। 'उभ उम्भ' पूरणे। कुः पृथिवी तस्यां स्थितस्य उम्भनात् पूरणात्कुम्भः। अत्र यत् पृथिव्यां स्थितस्य पूरणं तत्कुम्भशब्दवाच्यम् इति समभिरूढनयमतेन घटात्कुम्भस्य भेदः। आ० म० द्वि०। ''चत्तारि कुंभा पण्णत्ता। तं जहा पुन्ने नाममेगे नो पुन्ने'' स्था०४ ठा०४ उ०। (इत्यादि 'पुरिसजाय' शब्दे व्याख्यास्यते) धान्यप्रमाणभेदे, ''सट्ठी आढयाई जहन्नए कुंभे, असीती आढयाइं मज्झिमए कुंभे, आढयसयं उक्कोसए कुंभे'' अनु०। आढकानां चतुष्षष्ट्या जघन्यः कुम्भः, अशीत्या मध्यमः, शतेनोत्कृष्टः। ज्ञा०१ श्रु०७ अ०। स्था०। तं०। जलतरणद्रव्यभेदे, ''स च कुंभ एव, अह वा चउकट्ठिं काउं कोणे घडओ वज्झति, तत्थ अवलंबिअं आरुहियं संतरणं कज्जति''। नि० चू०१ अ०। कुम्भ्यादिषु नारकाणां पाचनात्कुम्भः। भ०३ श०६ उ०। *एकादशे परमाधार्मिके, प्रश्न०१ सम्ब० द्वार०। प्रव०।*

कुंभीसु य पयणेसु य, लोहियसु य कुंडलोयकुंभीसु ।
कुंभी य णरयपाला, हणंति पायंति णरएसु ॥८०॥सू०नि०।

''कुंभीसु'' इत्यादि। कुम्भीनामानो नरकपालाः नारकान्–रकेषु व्यवस्थितान् निघ्नन्ति तथा पाचयन्ति । क्वेति दर्शयति ? कुम्भीषु उष्ट्रिकाकृतिषु तथा पचनेषु कडिल्लकाकृतिषु तथा लौहीष्वायसभाजनविशेषेषु पाचयन्ति। सूत्र०२ श्रु०८ अ०। आव०।

मिथिलानगर्यधिपतौ अवसर्पिण्यामेकोनविंशतीर्थकरस्य मल्लीत्यभिधानस्य पितरि, ज्ञा०१ श्रु०८ अ० । स्था० । स० । प्रव० । आव० । ति० । ('मल्ली' शब्दे विशेषोऽस्य द्रष्टव्यः) अष्टादशतीर्थकरस्य प्रथमशिष्ये, स० । ''ललाटे पुण्णकुंभपासेहिं'' कुम्भशब्देन ललाटमेव भण्यते । प्रव०२ द्वार । बृ० । हृद्रोगभेदे, हस्तिशिरःस्थमांसपिण्डद्वये, कुम्भकर्णस्य पुत्रभेदे, वेश्यापतौ, प्राणायामाङ्गे श्वासरोधके चेष्टाभेदे, एकादशे राशौ, गुग्गुलौ, त्रिवृति च वाच० ।

कुंभउर न० (कुम्भपुर) नगरभेदे, यदधीशस्य श्रीशेखरस्य कुम्भश्रेणिर्दुहिता उत्पन्ना । दर्श० ।

कुंभग (य) पुं० (कुम्भक) कुम्भशब्दात् स्वार्थे कः । कुम्भ इव कारयति प्रकाशते निश्चलत्वात् । कै क० वा । प्राणायामाङ्गे वायुरोधनव्यापारभेदे, वाच० । मल्लीजिनस्य पितरि च । स्था०१० ठा० । ज्ञा० ।

कुंभगा (या) र पुं० (कुम्भकार) कुम्भं करोति कृ अण् उप स० प्राकृते कलुकि **''स्वरस्योद्वृत्ते''** ।८।१।८। इति सन्धिविकल्पः । ''कुंभयारो कुंभारो'' प्रा०१ पाद । कुलाले, आ० म० द्वि० । (तस्य 'पडिक्कमण' शब्दे मिथ्यादुष्कृते कथा । यथा च कुम्भकाराणां च शिल्पं प्रथमं श्रीऋषभदेवस्वाम्युपादिशत् तथा 'उसभ' शब्दे द्वितीयभागे ११२६ पृष्ठे उक्तम्) कुम्भकारके, वाच० ॥

कुंभगारचक्कभामगदडाहरण न० (कुम्भकारचक्रभ्रमकदण्डाहरण) कुम्भकारचक्रस्य कुलालचक्रस्य यो भ्रमको भ्रमणहेतुर्दण्डो यष्टिस्तल्लक्षणं यदुदाहरणं ज्ञातं तत्कुम्भकारचक्रभ्रमकदण्डोदाहरणम् । यथा कुम्भकारचक्रस्यैकस्मिन्नपि देशे दण्डेन प्रेरिताः सर्वे तद्देशाः भ्रमिता भवन्त्येवमित्येवंरूपे दृष्टान्ते, ''सुत्तादुपायरक्खण गहणंपयत्तविसया मुणेयव्वा । कुम्भारचक्कभामग दंडाहरणेण धीरेहिं ॥३४॥'' पञ्चा०१ विव० ।

कुंभगारावाय पुं० (कुम्भकारापाक) न० । कुम्भकारस्य भाण्डपचनस्थाने, स्था०८ ठा० ।

कुंभग्ग न० (कुम्भाग्र) । मगधदेशप्रसिद्धे कुम्भपरिमाणे, जी०३ प्रति० । रा० । आ० म० । स्था० ।

कुंभगारपक्खेव न० (कुम्भकारप्रक्षेप) उदावनराज–प्रव्रजितशय्यातरकुम्भकारपल्लयाम्, तस्यां देवतया पांशुवृष्टिः कृतेति ततः कुम्भकारप्रक्षेपेति नामकं पत्तनं सा बभूव । आ० चू०३ अ० । ('रसचान' शब्दे कथा वक्ष्यते)

कुंभमुह न० (कुम्भमुख) घटग्रीवायाम्, ओघ० ।

कुंभसेण पुं० (कुम्भसेन) महापद्मस्य उत्सर्पिण्याः प्रथमतीर्थकरस्य प्रथमशिष्ये, ति० ।

कुंभार पुं० (कुम्भकार) 'कुंभगार' शब्दोक्तार्थे, प्रा०१पाद ।

कुंभारचक्कभामगदंडाहरण न० (कुम्भकारचक्रभ्रमकदण्डाहरण) । 'कुंभगारचक्कभामगदंडाहरण' शब्दोक्तार्थे पञ्चा०१ विव० ।

कुंभि (ण्) पुं० (कुम्भिन्) कुम्भोऽस्त्यस्य इनिः । हस्तिनि, कुम्भीरे, स्त्रियां ङीष् । गुग्गुलौ, जटाकलशधारिणि, स्त्रियां ङीष् वा । जयपालवृक्षे, वाच० । नपुंसकविशेषे, प्रव० । यस्य तु मोहोत्कटतया सागरिकं वृषणौ वा कुम्भवत् स्तब्धीभवतः स कुम्भी । प्रव०१०६ द्वार । ''दुविहो य होइ कुंभी, जाईकुंभी य वेदकुंभी य'' । पं०भा० । पं० चू० । नि०चू० । ध० । ग० । कुम्भी द्विधा जातिकुम्भी, वेदकुम्भी च । यस्य सागारिकं प्रान्तद्वयं च ते दोषेण शूनं महाप्रमाणं भवति स जाति कुम्भी । अयं च प्रव्राजनायां भजनीयः, यदि तस्यातिमहाप्रमाणं सागारिकादिकं तदा न प्रव्राज्यते । वेदकुम्भी नाम यस्योत्कटमोहतया प्रतिसेवनामलभमानस्य मेहनं वृषणद्वयं या शूयते स एकान्तेन निषिद्धो न प्रव्राजनीय इति । बृ०४ उ० । कोणिकपूर्वभवजीवे आ० क० ('कूणिय' 'सेणिय' शब्दयोरस्य वक्तव्यता)

कुंभिणी (देशी) जलगर्ते, दे० ना०२ वर्ग ।

कुंभिय पुं० (कुम्भिक) कुम्भो (मुक्ताफलानां) परिमाणतया विद्यते येषु तानि कुम्भिकानि । कुम्भपरिमाण (कुम्भशब्दोक्त) परिमितेष्वर्थेषु, ''तेसि णं वइरामएसु अंकुसेसु चत्तारि कुंभिया मुत्तादामा पण्णत्ता'' । आ०४ ठा०२ उ० ।

कुंभियागुत्त त्रि० (कुम्भ्यागुप्त) कुम्भी मुखाकारा कोष्ठिका, तस्यामागुप्तानि प्रक्षिप्य रचितानि कुम्भ्यागुप्तानि । कुम्भीभाण्डे रक्षितेषु, बृ०२ उ० ।

कुंभिल पुं० (कुम्भिल) कुउम्भ इलच् शक० । चौरे, श्लोकार्थचौरे, श्यालकतुल्ये श्याले च । वाच० । ''अले कुंभिला कधेहि'' प्रा०४ पाद ।

कुंभिल्ल (देशी) खननीये, दे० ना०२ वर्ग ।

कुंभी स्त्री० (कुम्भी) कुम्भ अल्पार्थे ङीष् । क्षुद्रे कुम्भे, तदाकृतित्वात् । उखायाम् वाच० । भाजनविशेषे, स० । कुम्भमुखाकारायां कोष्ठिकायाम्, बृ०२ उ० । संकटमुखे पिठरके, आचा०२ श्रु०१ अ०२ उ० । ''कुंभीसु य पयलोहीसु य कडहिलेहिं कुंभीसु'' आ० चू०४ अ० । आव० । वनस्पतिविशेषे, (तत्प्रतिपादक उद्देशो 'वणप्फइ' शब्दे वक्ष्यते) पाटलावृक्षे, कुम्भिकायां, परिपर्ण्याम्, कट्फले, कुम्भीपुष्पे, पर्पटवृक्षे, कदलीवृक्षे च । वाच० । घटे, ''पुं० । दाहिणिल्लाए कुंभीए णिक्खिवइ'' दाक्षिणात्ये कुम्भे निक्षिपति । 'कुम्भीए' इत्यत्र स्त्रीत्वं प्राकृतत्वात् । जं०३ वक्ष० । केशरचनायाम्, दे० ना०२ वर्ग ।

कुंभीपक्क त्रि० (कुम्भीपक्व) गर्तादावप्राप्तपाककाल एव बलात् पाकमानीयमाने फलादौ, आचा०२ श्रु०१ अ०८ उ० ।

कुंभीपाग पुं० (कुम्भीपाक) कोष्ठिकाकृतितप्तलोहभाजने नरकयातनाहेतौ ''कुंभीपागम्मि णरयसंकासे । वुत्थो अभिज्झमज्झे, असुइप्पभवे असुइयम्मि'' ।४।तं० । ''नरयतिरिएसु कुभीपाएसु कत्थइ'' महा०१ चू० । नरकेषु, करपत्रदारणकुम्भीपाकतप्तायः शाल्मलीसमालिङ्गनादीनि दुःखानि । सूत्र०१ श्रु०१ अ०१ उ० । भाजनविशेषे, (कुम्भ्याम्) पचने, प्रश्न०५ संव० द्वार ।

कुंभीर पुं०, स्त्री० (कुम्भीर) कुम्भिनं हस्तिनमीरयति । ईर अण् । जलजन्तुभेदे नक्रे, स्त्रियां भीष् । संवत्सरं तु कुम्भीरस्ततो जा-

येत मानवः'' । (कम्मविवाग शब्दे वेदनाविस्तरः) कीट भेदे, वाच० । आचा० ।

कुकम्म न० (कुकर्मन्) कुत्सितं कर्म । नित्य स० । लोकशास्त्रनिन्दिते कर्मणि, तद्युक्ते, त्रि० । स्त्रियां ङीष् । वाच० । कुत्सितं कर्म येषां ते कुकर्माणः । अस्थिकेषु, ओघ० ।

कुकम्मि (ण्) त्रि० (कुकर्म्मिन्) अङ्गारदाहककुम्भकारायस्कासदिषु कुत्सितकर्मकेषु, सूत्र०१ श्रु०७ अ० ।

कुकिच्च न० (कुकृत्य) प्राणातिपातारम्भादिकृत्ये ''कुकृत्यं कृत्यमाभाति, कृत्यं चाकृत्यमेव च । द्वा०२२ द्वा० ।

कुकुहाइय न० (कुकुहायित) गतिकाले शब्दविशेषे, तं० ।

कुक्कुअ त्रि० (कुत्कुच) कुदिति कुत्सायां निपातो, निपातानामानन्त्यम् । कुत्सितं च कुचति भ्रूनयनोष्ठनासाकरचरणवदनविकारैः संकुचतीति कुत्कुचः । ध०२ अधि० । अथ वा कुत्सितः कुचः कुकुचः । संकोचादि-क्रियावति, प्रव०६ द्वार ।

कुकूज त्रि० । कुत्सितं कूजति आक्रदन्ति इति कुकूजः । आक्रन्दं कुर्वति, उत्त०२१ अ० ।

कुक्कुआ स्त्री० (कुचकुचा) अवस्यन्दने, बृ०६ उ० ।

कुक्कुइय पुं० [कौकुचिक (त)] कुचण् अवस्यन्दने इति वचनात् कुत्सितमप्रत्युपेक्षितत्वादिना कुचितमवस्यन्दितं यस्य स कुकुचितः । स एव प्रज्ञादिदर्शनात् स्वार्थिकाण्प्रत्यये कौकुचितः । कुकुच्चा अवस्यन्दनं प्रयोजनमस्येति कौकुचिकः । बृ०६ उ० । औ० । कौकुच्यं भण्डचेष्टादिहास्यमुखविकारादिकं , तत्करोतीति कौकुचिकः । भाण्डचेष्टादिकारिणि, उत्त०१७ अ० । स्था० । भाण्डे, भाण्डप्राये च । भ०६श०३१ उ० । ''कप्पस्स पलिमंथू पण्णत्ता । तं जहा कुक्कुइए संजमस्स पलिमंथू'' कौकुचिकः संयमस्य प्रतिमन्थुः ।

कौकुचिकव्याख्यानायाऽऽह–

कोकुइअ संयमस्स उ, मोहरिए चेव सच्चवयणस्स ।
इरियाऐं चक्खुलोलो, एसणसमिईऐं तिंतिणिए ॥१॥
णासेति मुत्तिमग्गं, लोभेण णिदाणताऐं सिद्धिपहं ।
एतेसिं तु पदाणं, पत्तेयपरूवणं वोच्छं ॥२॥

कौकुचिकः संयमस्य, मौखरिकः सत्यवचनस्य, चक्षुर्लोलः ईर्यासमितेः, तिन्तिणिक एषणासमितेः परिमन्थुरिति प्रक्रमा-दवगम्यते । लोभेन च मुक्तिमार्गं नाशयति, निदानतया तु सिद्धिपथम् । एतेषां पदानां प्रत्येकं प्ररूपणां वक्ष्ये ।

प्रतिज्ञातमेव करोति –

ठाणे सरीरभासा, तिविधो पुण कुक्कुइय समासेणं ।
चलणे देहे पत्थर, सविगार कहक्क लहुओ य ॥

स्थाने स्थानविषयः, शरीरविषयो, भाषाविषयश्चेति त्रिविधः समासेन कौकुचिकः । तत्र स्थानकौकुचिको यश्चलनमभीक्ष्णं भ्रमणं करोति, देहं शरीरं तद्विषयः कौकुचिको यः प्रस्तरान् हस्तादिना क्षिपति, यस्तु सविकारं परस्य हास्योत्पादकं भाषते, कहकहं वा महता शब्देन हसति स भाषाकौकुचिकः । एतेषु त्रिष्वपि प्रत्येकं मासलघु ।

आणाइणो य दोसा, विराहणा होइ संजमायाए ।
जंतं व णट्टिया वा, विराहण मतेल्लए सुत्ते ॥

आज्ञादयश्च दोषाः, संयमे आत्मविराधना भवति, यन्त्रकवन्नर्तिकावद्वा भ्राम्यन् कौकुचिक उच्यते । यस्तु महता शब्देन हसति तस्य मक्षिकादीनां मुखप्रवेशेन संयमविराधना, शूलादिरोगप्रकोपेनात्मविराधनाः (मएल्लए सुत्ते त्ति) मृतदृष्टान्तः, सुप्तदृष्टान्तश्चात्र हास्यदोषोदये भवति, स चोत्तरत्र दर्शयिष्यते ।

अथैतदेव निर्युक्तिगाथाद्वयं विभावयिषुः
स्थानकौकुचिकं व्याचष्टे–

आवमइ खंभकुड्डे, अभिक्खणं भमति जंतए चेव ।
कमफंदण आउंटण, ण यावि वद्धासण ट्ठाणे ॥

इहोपविष्ट ऊर्द्ध्वस्थितो वा स्तम्भे कुड्ये य आपतति, यन्त्रकमिव वा अभीक्ष्णं भ्रमति, क्रमस्य पादस्य स्पन्दनमाकुञ्चनं वा करोति, न च नैव, बद्धासनो निश्चलासनस्तिष्ठति कौकुचिकः ।

अत्रामी दोषाः –

संचारोवतिगादी, संजम आया विहिच्छुगादीया ।
उद्धद्ध कुहिय मूले, चंड फडंते य दोसा तु ।

संचरकाः कुड्यादौ संचरणशीलाः ये उवइकादय उद्देहिका–कुन्युकीटिकाप्रभृतयो जीवास्तेषां या विराधना सा संयमविषया मन्तव्या । आत्मविराधनायामहिवृश्चिकादयस्तत्रोपद्रवकारिणो भवेयुः । यदि वा तत्र स्तम्भादौ स आपतति तदूर्द्धाधो, मूले वा कुपितं भवेत् ततस्तस्य पतने परितापनादिका ग्लानारोपणा (चंड फडंते य त्ति) अभीक्ष्णमितस्ततोः भ्राम्यतः संधिविसन्धी भवेदित्यादयो बहवो दोषाः, एवमुत्तरत्रापि दोषा मन्तव्याः ।

अथ शरीरकौकुचिकमाह –

करगोफणधणुपादा दिएहि उच्छुभति पत्थरादीए ।
भमुगादाढिगथणपुत विकंपणं णट्टवाइत्तं ॥

करगोफणधनुष्पादादिभिः प्रस्तरादीन् य उत्प्राबल्येन क्षिपति स शरीरकौकुचिकः भ्रुदाढिकस्तनपुतानां विकम्पनं विविधमनेकप्रकारैः कम्पनं यत्करोति तत् नृत्तपातित्वमुच्यते, नर्तकीत्वामित्यर्थः । एतेन ''नट्टिया व त्ति'' पदं व्याख्यातं प्रतिपत्तव्यम् । गतः शरीरकौकुचिकः ।

अथ भाषाकौकुचिकमाह –

छेलिय मुहवाइत्ते, जंपति वयणं जह परो हसति ॥
कुणइ य रुए वहुविधे, वग्घाडिय देसभासा य ॥

सेण्टितं मुखवादित्रं करोति । तथा च वचनं जल्पति यथा परो हसति । बहुविधानि वा मयूरहंसकोकिलादीनां जीवानां रुतानि करोति । वग्घाडिका उग्घट्टककारिणी, देशभाषा वा मालवमहाराष्ट्रादिदेशप्रसिद्धा, तादृशीं भाषां भाषते यथा सर्वेषामपि हास्यमुपजायते, एष भाषाकौकुचिकः ।

अस्य दोषानाह–

मच्छिगमाइपवेसो, असंपुडं चेव सेट्ठिदिट्ठंतो ।
दंडिय थतणो हासण, तहत्थिए तत्तफालेणं ॥

तदीयभाषणदोषेण ये मुखं विस्फाल्य हसन्ति तेषां मुखे मक्षिकादयः प्राणिनः प्रविशेयुः, प्रविष्टेवेते यत्परितापनादिक प्राप्नुवन्ति तन्निष्पन्नं तस्य प्रायश्चित्तम्, हसतश्च मुखमसंपुटमेव भवेत, न तथा मिलेदित्यर्थः । तथा चात्र श्रेष्ठिदृष्टान्तःकश्चिद्दण्डिको राजा, तस्य थतणो भण्डः, तेन राजसभायामीदृशं किमपि हास्यकारि वचनं भणितं येन प्रभूतजनस्य हास्यमायाम्, तत्र श्रेष्ठिनो महता शब्देन मुखं तथैव स्थितं न संपुटीभवति, वास्तव्यवैद्यानां दर्शितं, नैकेनापि प्रगुणीकर्तुं पारितम्, नवरं प्राघूर्णकेनैकेन लोहमयः फालस्तप्तोऽग्निवर्णः कृत्वा मुखे ढौकितः, ततस्तदीयेन भयेन श्रेष्ठिनो मुखं संपुटं जातम्।

अथ प्रागुद्दिष्टं मृतसुप्तदृष्टान्तद्वयमाह–

गोयरसाहूहसणं, एवक्खे दट्ठुं निवं भणति देवी ।
हसति मयगो कहिं सो, त्ति एस एमेव सुत्तो वी ॥

''एगो साहू गोयरचरियाए हिंममाणो हसंतो देवीए गवक्खोपविट्ठाए दिट्ठो, राया भणिओ सामि ! पेच्छ अच्छेरयं मुयं माणसं हसंतं । दीसइ राया संभंतो कहं कहिं वा? सा साहुं दरिसेइ। राया भणइ कहं मओ त्ति ? देवी भणइ इह भवे शरीरसंस्कारादिसकलसांसारिकसुखवर्जितत्वात् मृत इव मृतः । एवं सुत्तदिट्ठंतो वि भाणियव्वो'' । अक्षरगमनिका त्वियम् गोचरे साधोः पर्यटतो हसनं हास्यं दृष्ट्वा देवी नृपं भणति मृतको हसति। नृपः पृच्छति कुत्र स मृतको हसति? देवी हस्तसंज्ञया दर्शयति एष इति । एवमेव मृतवत् सुप्तोऽपि मन्तव्यः, उभयोरपि निश्चेष्टतया विशेषाभावात् । गतः कौकुचिकः ।

प्रसङ्गतः संप्रति मौखरिकमाह –

मुहरिस्स गोण णामं, आवहति अरिं मुहेण भासंतो ।
लहुगो य होति मासो, आणादि विराहणा दुविहा ॥

मौखरिकस्य गौणं गुणनिष्पन्नं नाम मुखेन प्रभूतभाषणादिमु–खदोषेण प्रभाषमाणः अरिं वैरिणमावहति करोति मौखरिकः, तस्यैवं मौखरिकत्वं कुर्वाणस्य लघुको मासः । आज्ञादयश्च दोषाः । विराधना च संयमात्मविषया द्विविधा । तत्र संयमविराधना मौखरिकस्य व्रतपरिमन्थुतया सुप्रतीता ।

आत्मविराधनां तु दृष्टान्तेमाह –

को गच्छेज्जा तुरियं, अमुगो त्ति य लेहएण सिग्घम्मि ।
सिग्घागतो य ठवितो, केणाहं लेहगं हणति ?॥

''एगो राया, तस्स किंवि तुरियं कज्जं उप्पन्नं, ताहे सभामज्झे भणइ त्ति को सिग्घं वच्चेज्जा ? लेहओ भणइ अमुगो पवणवेगेणं गच्छइ त्ति । रन्ना सो पेसिओ तं कज्जं काऊण तिद्दिवसमेव आगओ । रन्ना एसो सिग्घगामि त्ति काउं धावणओ उविओ । तेण रुट्ठेण पुच्छियं कहियं केणाहं सिग्घो? त्ति अक्खाते अन्नेण सिद्धं जहा लेहएणं । पच्छा सो तेण तिल्लच्छेण छिद्दं दट्ठूण ओढविओ । एवं चेव जो समोहरियत्तं करेइ, सो आयविराहणं पावे इत्ति'' । अक्षरार्थस्त्वयम् कस्त्वरितं गच्छेदिति राज्ञोक्ते लेखकेन शिष्टः अमुक इति । ततः स तत्कार्यं कृत्वा शीघ्रमागतः, ततः स्था पितोऽसौ राज्ञा दौत्ये कर्मणि नियुक्तः । ततः केनाऽहं कथित इति पृष्ट्वा लेखकेनेति विज्ञाय लेखकं हतवान् । गाथायामतीतकाले वर्तमाननिर्देशः प्राकृतत्वात् । गतो मौखरिकः ।

तथैव प्रसङ्गतश्चक्षुर्लोलमाह–

आलोयणा य कहणा, परियट्टणुपेहणा अणाभोए ।
लहुगो य होति मासो, आणादि विराहणा दुविहा ॥

सूपादीनामालोचनां कुर्वाणः कथनां धर्मकथां परिवर्तमानानुप्रेक्षां च कुर्वन् यद्यदभोगेनानुपयुक्तमार्गे व्रजति तस्य लघुमासः आज्ञादयश्च दोषाः द्विविधा विराधना भवेत् ।

इदमेव भावयति –

आलोएंतो वच्चति, थूलादीणि च कहंति वा धम्मं ।
परियट्टणाणुपेहण, न याति पंथं ति उवउत्तो ॥

सूपादीनि स्तूपाचवकुरामादीनि आलोचमानो धर्मं वा कथयन् परिवर्तनामुत्प्रेक्षां वा कुर्वाणो व्रजति, यद्वा सामान्येन न च नैवोपयुक्तः पथि व्रजति, एष चक्षुर्लोल उच्यते।

अस्यैते दोषाः –

छक्कायाण विराहण, संजम आयाऐं कंटगादीया ।
आवमण भाणभेदो, खड्डे उड्डाह परिहाणी ॥

अनुपयुक्तस्य गच्छतः संयमे षट्कायानां विराधना भवेत, आत्मविराधनायां कण्टकादयः पादयोर्लगेयुः विषमे वा प्रदेशे आपतनं भवेत्, तत्र भाजनभेदः, खड्डे च प्रचुरे भक्षपाने भूमौ छर्दिते उड्डाहो भवेत् अहो बहुभक्षका अमी इति भाजने च भिन्ने परिहाणिः । सूत्रार्थपरिमन्थो भाजनान्तरगवेषणे, तत्परिकर्मणायां च भवति । गतश्चक्षुर्लोलः ।

एवं प्रसङ्गतस्तिन्तिणिकमाह–

तिंतिणिए पुव्वभणिते, इच्छालोले य उवहिमतिरेगो ।
लहुओ तिविहं च तहिं, अतिरेगे जे भणिय दोसा ॥

तिन्तिणिक आहारोपधिशय्याविषयभेदात्त्रिविधः । स च पूर्वपीठिकायां सप्रपञ्चमुक्त इति नेहोच्यते । स च सुन्दरमाहारादिकं गवेषयन्नेषणासमितेः परिमन्थुर्भवतीति । इच्छालोलस्तु स उच्यते यल्लाभिभूतत्वेनोपधिमतिरिक्तं गृण्हाति । तत्र लघुको मासः । त्रिविधं वा तत्र प्रायश्चित्तम् । तद्यथा जघन्ये उपधौ प्रमाणेन गणनया वाऽतिरिक्तिधार्यमाणे पाराञ्चितम्, मध्यमे मासलघु, उत्कृष्टे चतुर्लघु । ये चातिरिक्ते उपधौ दोषाः पूर्वं तृतीयोद्देशके भणितास्ते द्रष्टव्याः।

अथ निदानकरणमाह–

अनियाणं निव्वाणं, काउमणुवट्ठितो भवे लहुओ ।
पावति धुवमायाती, तम्हा अणियाणता सेया ॥

योऽनिदानं निदानमन्तरेण साध्वनिर्वाणं भगवद्भिः प्रज्ञप्तं ततो यो निदानं करोति तस्य तद् ज्ञात्वा पुनरकरणेनोपस्थितस्य लघुको मासः प्रायश्चित्तम्, अपिच यो निदानं करोति स यद्यपि तेनैव भवग्रहणेन सिद्धिं गन्तुकामस्तथाऽपि ध्रुवमवश्यमायाति पुनर्भवागमनं प्राप्नोति, तस्मादनिदानता श्रेयसी ।

इदमेव व्याचष्टे–

इहपरलोगनिमित्तं, अवि तित्थकरत्तचरिमदेहत्तं ।
सव्वत्थेसु भगवता, अणिदाणत्तं पसत्थं तु ॥

इहलोकनिमित्तमिहैव मनुष्यलोके अस्य तपसः प्रभावेण

चक्रवर्त्यादिभोगानहं प्राप्नुयामिहैव भावविपुलान् भोगान्ना–सादयेयमिति रूपं, परलोकनिमित्तं मनुष्यापेक्षया देवभवादिकः परलोकस्तत्र महर्द्धिकम् इन्द्रसामानिकादिरहं भूयासमित्यादिरूपं सर्वमपि निदानं प्रतिषिद्धम्। किंबहुना तीर्थकरत्वेन आर्हन्त्येन युक्तं चरमदेहत्वं मे भवान्तरे भूयादित्येतदपि नाशंसनीयम्। कुतइत्वाह सर्वार्थेषु अप्यैहिकामुष्मिकेषु प्रयोजनेषु अभिष्वङ्गविषयेषु भगवता अनिदानत्वमेव प्रशस्तं श्लाघितम्। तुशब्द एवकारार्थः, स च यथा-स्थानं योजितः। व्याख्याताः षडपि परिमन्थवः।

द्वितीयपदमाह–

विइयपदं गेलन्ने, अद्धाणे चेव तह य ओमम्मि।
मोत्तूणं चरिमपदं, णायव्वं ज जहिं कमती॥

द्वितीयपदं ग्लानत्वे अध्वनि तथा अवमे च भवति, तच्च चरमपदं निदानकरणरूपं मुक्त्वा ज्ञातव्यम्। तत्र द्वितीयपदं न भवतीत्यर्थः। शेषेषु तु कौकुचिकादिषु यद्यत्र क्रमते तत्तत्रावतारणीयम्।

एतदेव भावयति–

कडिवेयणमवतंसे, गुदपागऽरिसा भगंदलं वा वि।
गुदकील सक्करा वा, ण तरति वद्धासणे होउं॥

कटीवेदना कस्यापि दुःसहा, अवतंसो वा पुरुषव्याधिनामको रोगो भवेत्, एवं गुदायाः पाकोऽर्शांसि भगन्दरं गुदकीलको भवेत्, शर्करा कृच्छ्रमूत्रको रोगः, स च कस्यापि भवेत्ततो न शक्नोति बद्धासने भवितुं स्थातुम् एवंविधे ग्लानत्वे अभीक्ष्णं परिस्पन्दनादिकं स्थानकौकुचिकत्वमपि कुर्यात्।

उव्वत्तेति गिलाणं, ओसहकज्जे व पत्थरे छुभति।
वेवति य खित्तयित्तो, वितियपदं होति दोसुं तु॥

ग्लानमुद्वर्तयति एकस्मात्पार्श्वतो द्वितीयस्मिन् पार्श्वे करोति, औषधकार्ये वा औषधदानहेतोस्तमेव ग्लानमन्यत्र संक्राम्य भूयस्तत्रैव स्थापयति, यस्तु क्षिप्तचित्तः स परवशतया प्रस्तारान् पाषाणान् क्षिपति, वेपते वा, चशब्दात् सेण्टितमुखवादित्रादिकं प्रकरोति। एतत् द्वितीयपदं यथाक्रमं द्वयोरपि शरीरभाषाकौकुचिकयोर्भवति। बृ०६ उ०।

***कौकुच्य** न०। कुकुचो भण्डचेष्टस्तस्य भावः कौकुच्यम्। बृ०१ उ०। परेषां हास्यजनके बहुविधनेत्रसंकोचादिविक्रियागर्भे भाण्डानामिव चेष्टिते, ध० २०। उपा०। ध०।

अथ कौकुच्यद्वारमाह–

भूनयणवयणदंसण छेदेहि करपादकम्ममाईहि।
तं तं करेइ जह हस्सए परो अत्तणा अहसं॥
वाया कोकुइओ पुण, तं जंपइ जेण हस्सए अन्नो।
नाणाविहजीवरुतं, कुव्वइ मुहतूरए चेव॥

कुकुचो भण्डचेष्टः, तस्य भावः कौकुच्यं, तद्विद्यते यस्य सः कौकुच्यवान्। स च द्वेधाः कायेन, वाचा। तत्र भ्रूनयनदशनच्छदैः करचरणकर्णादिभिश्च देहावयवैस्तां तां चेष्टामात्मना अहसन्नेव करोति यथा परो हसति, एष कायकौकुच्यवानुच्यते। वाचा कौकुच्यवान् पुनस्तत्किमपि परिहासप्रधानं वचनं जल्पति येनान्यो हसति, नानविधानां वा मयूरमार्जारकोकिला दीनां जीवानां रुतानि कूजितानि मुखतूर्याणि वा मुखेनाऽऽतोद्यवादनलक्षणानि तथा करोति यथा परस्य हास्यमायाति। बृ०१ उ०। ध०।

***कौत्कुच्य** न०। कुरिति कुत्सायां निपातः, निपातानामानन्त्यात्। कुत्सितं कुचति भ्रूनयनोष्ठनासाकरचरणवदनविकारैः संकुचतीति कुकुचः, तस्य भावः कौकुच्यम्। अनेकप्रकारे भाण्डानामिव विक्रियाकरणे, अथवा कुत्सितः कुचः कुकुचः संकोचादिक्रियावान्, तस्य भावः कौकुच्यम्। प्रव०६ द्वार। संकोचादिक्रियायाम्, एतद्धि प्रमादाचरितविरतेः द्वितीयोऽतिचारः। अत्र च श्रावकस्य न तादृशं वक्तुं चेष्टितुं वा कल्पते येनान्ये परिहसन्ति, आत्मनश्च लाघवं भवति, प्रमादात्तथा–चरणे चारिचार इति द्वितीयः। ध०२ अधि०। आ०। एवं गत्या गन्तुं स्थानेन वा स्थातुमिति। पञ्चा०१ विव०। ''एत्थ सामायारीतारिसगाणि भासिउं न कप्पति जारिसेहिं लोगस्स हासो उप्पज्जइ, एवं गतिए ट्ठाणेण वा ठाइओ त्ति''। आव०६ अ०। पं० व० आ० चू०। प्रज्ञा०।

कुक्कुड पुं० (कुक्कुट) कुक–संप० क्विप्। कुका आदानेन कुटतीति कुटः, कः। वाच०। ताम्रचूडे, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०। प्रश्न०। औ०। जी०। उपा०। अनु०। ''कुक्कडो रिसभं सरं'' स्था०७ ठा०। स च लोमपक्षिविशेषः। जी०१ प्रति०। आ० क०। विपा०। (तस्य पारिणामिकी बुद्धिरिति 'बुद्धि' शब्दे उदाहरिष्यते) चतुरिन्द्रियजीवविशेषे, जी०१ प्रति०। उत्त०। प्रज्ञा०। आ० म०। स्त्रीयां जातित्वात् ङीष्। तृणोल्कायां, कुक्कुभखगे च। वह्निकणे स्फुलिङ्गे, स्वार्थे कः तत्रार्थेषु, निषादजाते शूद्रपुत्रे च। वाच०। विद्यादिना हस्तप्रयोगलक्षणे, ''मोणेण जं च गहियं, तु कुक्कडं उभयगंठिअविरुद्धं।'' व्य०१ उ०।

कुक्कुडकरण न० (कुक्कुटकरण) कुक्कुटानुद्दिश्य यत्र किञ्चित् क्रियते तथा यत्र स्थाप्यते तादृशे स्थाने, आचा०२ श्रु०१० अ०।

कुक्कुडपोय पुं० (कुक्कुटपोत) कुक्कुटचेल्लके, दश०८ अ०। कुर्कुटडिम्भे, भ०८ श०८ उ०।

कुक्कुडमंसय न० (कुक्कुटमांसक) बीजपूरकटाहे, कुक्कुटपलले च। ''मज्जारकडए कुक्कुडमंसए तमाहराहि'' भ०१५ श०१ उ०। स्था०।

कुक्कुडय न० (कुक्कुटक) खुड्डुणके, ''अदु अंजणि अलंकारं कुक्कुडयं मे पयच्छाहि।'' (कुक्कुडयं ति) खुडखुणकं मे मम प्रयच्छ येनाहं सर्वालङ्कारभूषिता वीणाविनोदेन भवन्तं विनोदयामि। सूत्र०१ श्रु०४ अ०२ उ०।

कुक्कुडलक्खण न० (कुक्कुटलक्षण) कुक्कुटस्त्वृजुतनुरु–हाङ्गुलिस्ताम्रवक्रनखचूलिकः सित इत्यादिके सप्तत्रिंशे कलाभेदे, जं०२ वक्ष०। ज्ञा०। औ०। स०।

कुक्कुमसंडेअगामपउरा स्त्री० (कुक्कुटषण्डेयग्रामप्रचूरा) कुक्कुटाः ताम्रचूडाः षण्ढेयाः षण्डपुत्रकाः षण्डा एव तेषां ग्रामाः समूहास्ते प्रचुराः प्रभूता यस्यां सा तथा। कुक्कुटषण्डपुत्रकप्रयुक्तायां पुर्याम्, औ०। कुक्कुटषण्ढेया ग्रामाः सर्वासु दिक्षु विदिक्षु च प्रचुरा यस्याः सा कुक्कुटषण्ढेयग्रामप्रचुरा। रा०। ''पमुइ-

य जणजाणवया, कुक्कुडसंडेअगामपउरा य। उच्छुजवसालिकलिया॥'' कुक्कुटेत्यनेन लोकप्रमुदितत्वं व्यक्तीकृतम्। प्रमुदितो हि लोकः क्रीडार्थं कुक्कुटान् पोषयति, षण्डाँश्च करोति। औ०।

कुक्कुडिअंडप्पमाणमेत्त पुं० (कुक्कुट्यण्डप्रमाणमात्र) कुक्कुट्यण्डकस्य यत्प्रमाणं मानं तत्परिमाणं मानं येषां ते तथा। अथवा कुटीव कुटीरकमिव जीवस्याश्रयत्वात् कुटी शरीरं, कुत्सिता अशुचिप्रायत्वात् कुटी कुकुटी, तस्या अण्डकमि–वाण्डकमुदरपूरकत्वादाहारः कुकुट्यण्डकं, तस्य प्रमाणतो मात्रा द्वात्रिंशत्तमांशरूपा येषां ते तथा कुक्कुट्यण्डकप्रमाणमात्राः। कुक्कुट्यण्डप्रमितेषु कवलेषु, ''परं वत्तीसाए कुक्कडिअंड-गप्पमाण-मेत्ताणं कवलाणं आहारमाहारेइ'' भ०७ श०१ उ०। (अप्पाहार आदिशब्देषु व्याख्या) कवलानां च प्रमाणं कुक्कुट्यण्टम्। कुक्कुटी च द्विधा–द्रव्यकुक्कुटी, भावकुक्कुटी च। द्रव्यकु क्कुट्यपि द्विधा–उदरकुक्कुटी, गलकुक्कुटी च। तत्र साधोरुदरं यावन्मात्रेणाहारेण न न्यूनं नाप्याध्मातं भवति स आहार उदरकुक्कुटी, उदरपूरक आहारः कुक्कुटीव उदरकुक्कुटीति, मध्यमपदलोपिसमासाश्रयणात्। तस्य द्वात्रिंशत्तमो भागोऽण्डकं, तत्प्रमाणं कवलं स्यात्। तथा गलः कुक्कुटीव गलकुक्कुटी, गल एव कुक्कुटीत्यर्थः। तस्यान्तरालमण्डकम्। किमुक्तं भवति ? अविकृतस्यास्य पुंसो गलान्तराले यः कवलोऽविलग्नः प्रविशति तावत्प्रमाणं कवलमश्नीयात्। अथवा शरीरमेव कुक्कुटी, तन्मुखमण्डकं, तत्राक्षिकपोलकण्ठादिविकृतिमनापाद्य यः कवलो मुखे प्रविशति तत्प्रमाणम्। अथवा कुक्कुटी पक्षिणी, तस्या अण्डकं प्रमाणं कवलस्य। भावकुक्कुटीयेन आहारेण भुक्तेन न न्यूनं नाप्याध्मातमुदरं भवति, धृतिं च समुद्वहति, ज्ञानदर्शनचारित्राणां च वृद्धिरुपजायते तावत्प्रमाण आहारो भावकुक्कुटी। अत्र भावस्य प्राधान्यविवक्षणादेष प्राक् द्रव्यकुक्कुट्यपि उक्त इह भावकुक्कुटी उक्तः। तस्य द्वात्रिंशत्तमो भागोऽण्डकप्रमाणं भक्तस्य। पिं०। ग०।

कुक्कुडी स्त्री० (कुक्कुटी) कुक्कुटपक्षिण्याम्, कुक्कुट्यण्ड–शब्दोक्त-कुक्कुटीशब्दार्थे च। पिं०। व्य०।

कुक्कुडीपायपसार पुं० (कुक्कुटीपादप्रसार) यथा कुक्कुटी पादौ आकाशे प्रथमं प्रसारयति एवं साधुनाऽपि आकाशे पादौ प्रथमं शक्नुवता प्रसारणीयाविति विधिना पादप्रसारणे, औ०। ('पडिक्कमण' शब्दे तदतिचारप्रतिक्रमणम्)

कुक्कुडेसर पुं० (कुक्कुटेश्वर) चारणेश्वरराजकारितजिनप्रासादविभूषिते तीर्थभेदे, ती०। ''पुव्विं पाससामी छउमत्थो रायसिरीए काउस्सग्गे ठिओ, तत्थ वाहकेलीए जंतस्स ईसररण्णो वाणजुणनामा बंभी भयवंतं पिच्छिऊण गुणकित्तणं करेइ–उस्सग्गे ठियो आससेणनिवपुत्तो जिणु त्ति। तं सोउं राया गयाओ उत्तरित्ता पहुं पासंतो मुच्छिओ। पत्तवेयणो य पुट्ठो मंतिणा पुव्वभवे कहेइ–जहाऽहं चारुदत्तो होऊण पुव्वजम्मे वसंतपुरे पुरोहिअपुत्तो दत्तो, कुट्ठाइरोगपीडिओ अ गंगाए निवडंतो चारणरिसिणा बोहिओ, अहिंसाई पंच वए पालेमि, इंदिए अ सासेमि, कसाए य जिणेमि, अण्णया चेइयहरमागओ जिणपडिमं पणमंतो दिट्ठो पुक्खलिसावएणं। तेण पुट्ठो गुण सागरमुणीभयवं ! एयस्स चेयागमणे दोसो, न वा ? मुणिणा भणियंदूरओ देवं पणमंतस्स को दोसो? अज्ज वि एसो कुक्कुडो भविस्सइ त्ति। तं सोऊण खेयं कुणंती पुणरवि गुरुणा संवोहिओऽहंतुमं जाईसरो अणसणे मरिउं रायसरीरं ईसरो नाम राया होहिसि त्ति। तओऽहं तुट्ठो त सव्वं अणुभवित्ता कमेण राया जायाओ, पहुं पिक्खिअ जायं मे जाइसरणं ति। एवं मंतिस्स कहित्ता भगवंतं पणमिश्र तत्थ संगीअं कारेइ। पहुम्मि अन्नत्थ विहरिए तत्थ रण्णा पोसाओ कारिओ, बिंबं च पइट्ठाविअं, कुक्कुडचारणईसररण्णा कारियंति कुक्कुडेसरनाम तित्थं रूढं। सो य राया कमेण खीणकम्मो सिज्झिहिति। एसा कुक्कुडेसरस्स उप्पत्ती''। ती०१६ कल्प। कुक्कुटेश्वरे विश्वगजः। ती०४५ कल्प।

कुक्कुर पुं० (कुक्कुर) कोकते क्विप् कुरति शब्दायते 'कुर' शब्दे कर्म०। स्वनामख्याते पशौ, वाच०। शुनि, आचा०१ श्रु०८ अ०३ उ०। ''कुक्कुरे कुक्कुरेंति ततो ते कुक्कुरा डसंति''। आ० म० द्वि०। स्त्रियां जातित्वात् ङीष्। ग्रन्थिपर्णीवृक्षे, न०। वाच०।

कुक्कुस पुं० (कुक्कुस) कुण्डे, कणिककुण्डं, कणिकाभिर्मिश्राः कुक्कुसा इत्यर्थः। आचा०२ श्रु०१ अ०८ उ०। ''सोरट्ठ पिट्ठ कुक्कुसए य। उक्किट्ठम-संसट्ठं, संसट्ठे चेव बोधव्वे''। दश०५ अ०।

कुक्खि(च्छि) पुं० (कुक्षि) कुष कसि **छोऽक्ष्यादौ** ।८।२।१७। इति संयुक्तस्य छः। आर्षे तु न। प्रा०२ पाद। जठरदेशे, तं० उदरदेशविशेषे, औ०। स्था०। द्विहस्तप्रमाणे भेदे, नं०। ''अडयालीसं अंगुलाई कुच्छी'' जं०२ वक्ष०। ''दो रयणिओ कुच्छी'' रत्निद्वयं कुक्षि। कुक्षौ भवः अण् कौक्षः। उदरभवे, अनु०। मध्यभवे च। त्रि०। स्त्रियां ङीष्। कुक्षिदेशे भवः ''धूमाभ्यिश्च''।४।२।१२६। इति वुञ् कौक्षकमध्यदेशभवे, त्रि०। वाच०।

कुक्खि (च्छि) किमि पुं० (कुक्षिकृमि) कुक्षिप्रदेशोत्पन्ने द्वीन्द्रियजीवभेदे, प्रज्ञा०१ पद। जी०।

कुक्खि (च्छि) पूर पुं० (कुक्षिपूर) उदरपूर्त्तौ, ''आगासकुच्छिपूरो, उग्गहपडिसेहियम्मि जो कालो''। व्य०४ उ०।

कुक्खि (च्छि) वेयणा स्त्री० (कुक्षिवेदना) कुक्षेः शूलादिवेदनारूपे, उत्त०१ अ०। रोगातङ्कभेदे, जी०३ प्रति०।

कुक्खि (च्छि) संभूय त्रि० (कुक्षिसंभूत) अपत्ये, ''णियगकुच्छि-संभूयाइं'' निजापत्यरूपाणीत्यर्थः। विपा०१ श्रु०७ अ०।

कुक्खि (च्छि) संबल त्रि० (कुक्षिसंबल) कुक्षावेव बहिः संचयाभावाज्जठर एव संबलं पाथेयं यत्रासौ कुक्षिसंबलः। संनिधिहीने, ''अपयमाणस्स भिक्खावित्तिस्स कुक्खिसंबलस्स निरग्गिसरणस्स'' पा०। भुक्तिमात्र-पाथेये, ध०३ अधि०।

कुक्खि (च्छि) सूल न०(कुक्षिशूल) पुं०। कुक्षौ शूलः।

''प्रकुप्यति यदा कुक्षौ, वह्निमाक्रम्य मारुतः।
तदाऽस्य भोजनं भुक्तं, सोपस्तम्भं न पच्यते॥१॥

उच्छ्वसित्यामशकृता, शूलेनाऽऽहन्यते मुहुः।
नैवाशने न शयने, तिष्ठन्न लभते सुखम् ॥२॥
कुक्षिशूल इतिख्यातो, वातादामसमुद्भवः''॥
इति शूश्रुतोक्ते शूलरोगभेदे, वाच०। विपा०१ श्रु०१ अ०।
उपा०। जी०। ज्ञा०।

कुक्खि (च्छि) हार पुं० (कुक्षिधार) यानपात्रव्यापारविशेषयोगिनि, ज्ञा०१ श्रु०१६ अ०। नौपार्श्वनियुक्तिके, ज्ञा०१ श्रु०८ अ०।

कुखगइ स्त्री० (कुखगति) अप्रशस्तविहायोगतौ, कर्म०२ कर्म०।

कुग्गह पुं० (कुग्रह) कुत्सितो ग्रहः कुग्रहः। दर्श०। स्वाभिप्रायेण दुष्टाभिनिवेशे, ''कुग्गहविवज्जियाणं, अणिंदणीयाण परिणयवयाणं''। जी०१ प्रति०।

कुग्गहविरह पुं० (कुग्रहविरह) शास्त्रीयाभिनिवेशत्यागे, पञ्चा०३ विव०। असदभिनिवेशवियोगे, ध०३ अधि०।

कुग्गाहिय त्रि० (कुग्राहित) कुत्सितं ग्राहिते, दर्श०।

कुचर त्रि० (कुचर) कुत्सितं चरन्तीति कुचराः। चौरपारदारिकादिषु, आचा०१ श्रु०८ अ०२ उ०।

कुचिइयग्गह पुं० (कुचितिकाग्रह) कौटिल्यावेशे, यो० बिं०।

आस्थितं चैतदाचार्यैस्त्याज्ये कुचितिकाग्रहे।
शास्त्रानुसारिणस्तर्कान्नामभेदानुपग्रहात् ॥२४॥

(आस्थितं चेति) एतच्च कालातीतमतमाचार्यैः श्रीहरिभद्रसूरिभिरास्थितमङ्गीकृतं कुचितिकाग्रहे कौटिल्यावेशे त्याज्ये परिहार्ये, कुचितिकात्यागार्थमित्यर्थः। शास्त्रानुसारिणस्तर्कादर्थसिद्धौ सत्यामिति गम्यम्, नामभेदस्य संज्ञाविशेषस्यानुपग्रहादनभिवेशात्, तत्वार्थसिद्धौ नाममात्रक्लेशो हि योगप्रतिपन्थी न तु धर्मवादेन विशेषविमर्शोऽपीति भावः। तदिदमुक्तम्–

''साधु चैतद्यतो नीत्या, शास्त्रमत्र प्रवर्तकम्।
तथाऽभिधानभेदात्तु, भेदः कुचितिकाग्रहः ॥१॥
विपश्चितां न युक्तोऽयमैदम्पर्यप्रिया हि ते।
यथोक्तास्तत्पुनश्चारु, हन्तात्रापि निरूप्यताम् ॥२॥
उभयोः परिणामित्वं, तथाऽभ्युपगमाद् ध्रुवम्।
अनुग्रहात् प्रवृत्तेश्च, तथाऽद्धाभेदतः स्थितम् ॥३॥
आत्मनां तत्स्वभावत्वे, प्रधानस्याऽपि संस्थिते।
ईश्वरस्याऽपि सन्न्यायात्, विशेषोऽधिकृतो भवेत्''॥४॥

द्वा०१६ द्वा०। यो० बिं०।

कुचेल त्रि० (कुचैल) कुत्सितं चेलं वस्त्रमस्य। कुत्सितवस्त्रधरे, वाच०। जीर्णवस्त्रपरिदधाने, बृ०१ उ०। ''दुहजीविणो कुचेला, कुविति य चोरा चंडालमुद्दिया'' अनु०। कुचा संकुचा इला यस्याः।५ त०। विद्धकर्णत्वां पाठायाम् स्त्री०। ''षिद्गौरादिभ्यश्च''।४।१।४१। इति ङीष्। वृक्षे, स्त्री०। वाच०।

कुच्चग पुं० (कूर्चक) कूर्च स्वार्थे कः। कूर्चशब्दार्थे, वाच०। तृणभेदे, येन कूर्चकाः क्रियन्ते। आचा०२ श्रु०२ अ०३ उ०। अस्त्यर्थे कूर्च किन्। सूच्यग्राकारयुक्ते, त्रि०। पञ्चगव्ये, वाच०।

कुच्चिय पुं० (कूर्चिक) कूर्चधरे, बृ०१ उ०।

कुच्छ पुं० (कुत्स) कुत्सयतें संसारम् कुत्स–अच्। ऋषिभेदे, तस्यापत्यम् ऋष्यण् कौत्सः। तदपत्ये, पुं०। स्त्री०। बहुषु तस्य ''आत्रिभृगुकुत्स०''।२।४।६५। इति पा० लुक् कुत्साः। तदपत्येषु, कृ–वा–स०। ''पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्''।६।३।१०९। कुर्वति, त्रि० वाच०। ''थेरस्स णं अज्जसिवभूई थेरे अंतेवासी कुच्छसगोत्ते'' कल्प०८ क्षण।

कुच्छकुसिइया स्त्री० (कुत्सकुशिकिका) कुत्सानां कुशिकानां च मैथुनम् ''द्वन्द्वाद् वुन वैरमैथुनिकयोः''॥४।३। १२५॥पाणि०। कुत्सगोत्राणां कुशिकगोत्राणां च स्त्रीपुंसां मैथुने, वाच०। ''थेरस्स णं अज्जसिवभूई थेरे अंतेवासी कुच्छसगोत्ते''। कल्प०८ क्षण।

कुच्छग पुं० (कुत्सक) कुत्स भावे ल्युट् वनस्पतिविशेषे, सूत्र०२ श्रु०२ अ०।

कुच्छण न० (कुत्सन) निन्दने, कुत्स्यतेऽनेन करणे ल्युट्। निन्दासाधनद्रव्ये, उपचारात्तद्युक्ते, त्रि०। वाच०।

कोथन–न०। प्रतिभवने, बृ०१ उ०। अङ्गुल्यन्तराणां कोथे, व्य०४ उ०।

कुच्छणिज्ज त्रि० (कुत्सनीय) जुगुप्सास्पदे स्थाने, बृ०१ उ०।

कुच्छल्ल (देशी) वृत्तविवरार्थे, दे० ना०२ वर्ग।

कुच्छा स्त्री० (कुत्सा) कुत्स–अ–भावे। निन्दायाम्, वाच०। आव०। जुगुप्सायाम्, विशे०। कर्म०।

कुच्छिय न० (कुत्सित) कुत्स–कर्मणि क्तः। कुष्टनामौषधौ, भावे क्तः। निन्दायाम् न० कर्मणि क्ते निन्दिते, त्रि० वाच०। निन्द्ये पञ्चा०७ विव०। असारे, विशे०।

कुच्छेअअ पुं० (कौत्सेयक) कुक्षौ बद्धोऽसिः। ढकञ्। **छोऽक्ष्यादौ।८।२।१७।** इति क्षस्थाने छः। कुक्षिप्रदेशे बद्धे तलवारे, वाच०। प्रा०२ पाद।

कुज पुं (कुज) कौ पृथिव्यां जायते जन डः। मङ्गले, वाच०। वृक्षे च। कुजगुम्मा। जं०२ वक्ष०।

कुजय पुं० (कुजय) कुत्सितो जयोऽस्येति कुजयः। द्यूतकारे, महतोऽपि द्यूतजयस्य सद्भिर्निन्दितत्वादनर्थहेतुत्वाच्च कुत्सितत्वमिति। सूत्र०। ''कुजए अपराजिए जहो अक्खेहिं कुसलेहिं दीवियं'' सूत्र०१ श्रु०२ अ०२ उ०।

कुज्ज पुं० (कुब्ज) ईषत् उब्जमार्जवं यत्र शक०। अपामार्गे, खड्गे, हृदयपृष्ठरोगे, पुं०। ''हृदयं यदि वा पृष्ठमुन्नतं क्रमशः सरुक्। क्रुद्धो वायुर्यदा कुर्यात्तदा तं कुब्जमादिशेत्''॥ इति तल्लक्षणम्। तद्युक्ते, त्रि०। वाच०। पृष्ठादौ कुब्जयोगात् कुब्जत्वयुक्ते, ''गर्भे वातप्रकोपेण, दोहदे वाऽपमानिते। भवेत्कुब्जः कुणिःपङ्गुर्मूको मन्मन एव वा''॥ प्रश्न०५ सम्ब० द्वार।

कुज्जग पुं० (कुब्जक) कौ उब्ज ण्वुल् शक०। अतिसुरभिपुष्पे वृक्षभेदे, वाच०। शतपत्रिकाविशेषे, ज्ञा०१, श्रु०८ अ०। प्रज्ञा०।

कुज्जा स्त्री० (कुब्जा) कंसभवनस्थे सैरन्ध्रीभेदे, पादाभ्यामाक्रम्य श्रीकृष्णः सुरूपां चकार। वाच०। कुब्जरोगरुग्णायां योषिति, विशे० (कुब्जायाः पतद्ग्रहधारिण्याः क्षेत्रानुयोगे कथानकम् 'अणणुओग' शब्दे प्रथमभागे २८५ पृष्ठे उक्तम्)

कुञ्जिया स्त्री० (कुब्जिका) अष्टवर्षायां कन्यायाम्, वाच०। वक्रजङ्घायाम् रा०।

कुज्झंत त्रि० (क्रुध्यत्) क्रुध श्यन् शतृ **"युधबुधगृधक्रुधसिधमुहां ज्झः" ।८।४।२१७।** इत्यन्त्यस्य ज्झः। कुप्यति प्रा०४ पाद।

कुट्ट पुं० (कुट्ट) कुट्टनात्कुट्टः। घटे, सूत्र०२ श्रु०७ अ०।

कुट्टण न० (कुट्टन) कुट्ट–ल्युट्। खदिरादेरिव छेदविशेषकरणे, औ०। आचा०। महतीकच्छपीचित्रवीणानां वादने, "'कुट्टिज्जंतीणं कच्छभीणं चित्तवीणाणं" रा०।

कुट्टणा स्त्री० (कुट्टना) जातिजरामरणरोगशोककृतायां शरीरपीडायाम्, सूत्र०१ श्रु०१२ अ०।

कुट्टणी स्त्री० (कुट्टनी) कुट्ट ल्युट् ङीप्। परपुरुषेण सह परस्त्रियाः समागमकारिण्यां स्त्रियाम्, णिनि कुट्टिन्यप्यत्र। वाच०। कुट्टयतीति कुट्टनी। कण्डनकारिण्याम्, बृ०१ उ०।

कुट्टितिया स्त्री० (कुट्टयन्तिका) तिलादीनां चूर्णनकायाम्, ज्ञा०१ श्रु०७ अ०।

कुट्टिज्जमाण त्रि० (कुट्यमान) उदूखलादिषु कुट्यमाने, जं०१ वक्ष०। रा०।

कुट्टिम पुं०,न० (कुट्टिम) "'अर्द्धर्चाः पुंसि च" ।२।४।३१। इति (पाणि०) पुंनपुंसकत्वम्। कुट्ट–भावे घञ् तेन निर्वृत्त इमप्। सुधालिप्तभूतले, वाच०। मणिभूमिकायाम्, भ०८ श०६ उ०। कुटीर, स्वल्पगृहे, दाडिम्बवृक्षे, बद्धभूमिभागे, सौध प्रदेशभेदे, वाच०।

कुट्टिमतल न० (कुट्टिमतल) मणिभूमिकायाम्, औ०। बद्धभूमितले, जी०३ प्रति०। रा०।

कुट्टिय त्रि० (कुट्टित) कुट्ट क्तः। छेदिते, खण्डीकृते, वाच०। "'कुट्टिओ फाडिओ भिण्णो", उत्त०१६ अ०। रजः कुट्टनेन पतितच्छिद्रे, बृ०१ उ०।

कुट्टयित्वा (अव्य०)। उदूखलादौ तिलादिकमिव कण्डयित्वेत्यर्थे "'कुट्टिय कुट्टिया च णं वा पक्खिवेज्जा" भ०१४ श०८ उ०।

कुट्टाओ (देशी) चर्मकारे, दे० ना० वर्ग।

कुट्ठ पुं०,न० (कुष्ठ) कुष्णाति रोगम् कुष क्थन्। गन्धिकहट्टविक्रेये वस्तु–(गन्धद्रव्य) विशेषे, विशे०। ज्ञा०। आ० म०। ल० प्र०। उत्पलकुष्ठे, सूत्र०१ श्रु०४ अ०२ उ०। "'उक्तं पुष्करमूलं तु, पौष्करं पुष्करं च तत्। पद्मपत्रं च काश्मीरं, कुष्ठभेदमिमं जगुः"॥ वाच०। रोगविशेषे च। व्य०६ उ०। पिं०।

कुट्ठा स्त्री० (कुष्ठा) चिञ्चिनिकायाम्, बृ० १ उ०। चण्ड्याम्, दे० ना०२ वर्ग।

कुट्ठाणासणकुसेज्जाकुभोयण त्रि० (कुस्थाशनकुशय्याकुभोजन) कुस्थानासनकुशय्याश्च ते कुभोजनाश्चेति समासः। प्रश्न०३ आश्र० द्वार। कुत्सिताश्रयविष्टरदुःशयनदुर्भोजनेषु, भ०७ श०६ उ०।

कुड पुं० (कुट) कुट–कः। कोटे, शिलाकुट्टे, वृक्षे, पर्वते, कलशे, पुं०। न०। वाच०। घटे, कुटा द्विधानवा जीर्णाश्च। तेऽप्यभावित भाविताः इति कुटदृष्टान्तेन शिष्यप्ररूपणा। बृ०१ उ०। आ० क०। नं०। विशे०। को०। नि०। आ० चू०। समभिरूढनयमते घटपर्यायस्यासाऽपि कुटशब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तं भिन्नमेव। कुट कौटिल्ये, कुटनात्कुटः। अत्र पृथुबुध्नोदरादिकम्बुग्रीवाद्याकारकोटिल्यं कुटशब्दवाच्यम्। आ० म० द्वि०। आ० चू०। स्था०। विशे०।

कुडंग पुं० (कुटङ्ग) कुर्गृहभूमिः टङ्क्यते आच्छाद्यतेऽनेन। टकि आच्छादने करणे घञ्।६ त०। गृहाच्छादने तृणादौ, वंशजालिकायाम्, बृ० १ उ०। वंशादिगहने, ज्ञा०१ श्रु०१८ अ०। वृक्षगहने, बृ०३ उ०। गह्वरे, ओघ०। "'ततो वंसीकुडंगोत्तं छूढो" आ०म०द्वि०।

कुडंड पुं० (कुदण्ड) बन्धनविशेषे, प्रश्न०१ आश्र० द्वार।

कुडंडग न० (कुदण्डक) काष्ठमये प्रान्ते रज्जुपाशे, प्रश्न०३ आश्र० द्वार।

कुंडडिम त्रि० (कुदण्डिम) कुदण्डोऽसम्यङ्निग्रहस्तेन निर्वृत्तं द्रव्यं कुदण्डिमम्। कुदण्डेन निर्वृत्ते द्रव्ये, विपा०१ श्रु०३ अ०।

कुडग पुं० (कुटक) घटे, आ०म०प्र०। द्रव्ये, पृथुबुध्नाद्याकार उदकाद्याकारक्षमे कुटकास्ये शब्दख्य घटादेरभि–निवेशः। सूत्र०१ श्रु०१२ अ०।

कुडभी स्त्री० (कुटभी) लघुपताकायाम्, "'कुडभीसहस्सपरिमाण्डियाभिरामो इंदज्झओ" कुडमिति लघुपताकाः संभाव्यते। स०३४ सम०।

कुडमुह न० (कुटमुख) घटण्टके, बृ०१ उ०। "'कुडमुद्दाओघेप्पंति" नि० चू०१ उ०।

कुडय पुं० (कुटच) कुट–इव चीयते चि० डः। कुटज–वृक्षे, वाच०।

कुटज पुं० कुटे पर्वते जायते जन–डः। वाच०। गिरिम–ल्लिकापर्याये, औ०। वृक्षविशेषे, ज्ञा०१ श्रु० अ०। प्रज्ञा०। पर्वकेष्वस्यान्तर्भावः। प्रज्ञा०१ पद। कुटे घटे जायते। अगस्त्यमुनौ, द्रोणाचार्ये च। वाच०॥

कुडव पुं० (कुटप) कुट–कपन्। मुनौ, गृहसमीपस्थोपवने, पद्मे, न०। वाच०। "'चउसेइओ कुडओ चउकुडओ पत्थओ नेउत्थि" ज्ञा०१ श्रु० ७ अ०।

कुडिआ (देशी) वृत्तविवरार्थे, दे०ना०२ वर्ग।

कुडिल त्रि० (कुटिल) फुट इलच्। वक्रे, जं०२ वक्ष०। उपा०। प्रश्न०। आचा०। स्था०। अतिवक्रे, उपा०२ अ०। "'घणुकुंडलवंकयागारपरिक्खित्ता" औ०। रा०। आचा०। अनृजौ, आचा०१ श्रु०१ अ०३ उ०। जिणवरवयणोवदिट्ठमग्गेण अकुडिलेण" औ०। तगरपुष्पे, न०। युगादिभिः कुटिलमिति मतं 'स्मौ न्यौ गौ' वृत्तरत्नाकरोक्ते छन्दोभेदे, सरस्वत्याम्, स्त्री०। स्पृक्कानामगन्धद्रव्ये, स्त्री०। वाच०।

कुडिलब्भु त्रि० (कुटिलभ्रु) पुरन्ध्र्याम्, "'प्रत्यापिबति नो वान्तमवशः कुटिलभ्रुवाम्"। द्वा०२६ द्वा०।

कुडिलसुसिणिद्धदीहसिरय त्रि० (कुटिलसुस्निग्धदीर्घशिरोज) कुटिलाः सुस्निग्धाः दीर्घाः शिरोजा यस्य सः। वक्रचिक्कणलम्बकेशे, जी०३ प्रति०।

कुडिलविडल न० (कुटिलविटल) हस्तिशिक्षायाम्, सूत्र०१ श्रु०३ अ०३ उ०।

कुडिल्लयं (देशी) कुटिले, दे० ना०२ वर्ग।

कुडिव्वय त्रि० (कुटीव्रत) कुटीचरेषु, ते च गृहे वर्तमाना व्यपगतक्रोधलोभमोहा अहङ्कारं वर्जयन्तीति। औ०।

कुडी स्त्री० (कुटी) कुट इन् ङीष्। गृहे, कुट्टिन्यां, मुरानामगन्धद्रव्ये च। वाच०। तत्र गृहे "एगस्स कुंभगारस्स कुडीए साहुणो ट्ठिया" आ०म०द्वि०।

कुडुंब पुं०,न० (कुटुम्ब) कुटुम्ब अच्। पोष्यवर्गे बान्धवे, सन्ततौ, नामनि, वाच०। स्वजनवर्गे, उत्त०१४ अ०।

कुडुंबय पुं० (कुटुम्बक) वनस्पतिविशेषे, प्रज्ञा०१ पद।

कुडुंबि (ण्) त्रि० (कुटुम्बिन्)। कुटुम्ब इनिः। कुटुम्बयुक्ते, गृहस्थाश्रमे, कर्षके, त्रि०। वाच०। प्रभूतपरिचारकलोकपरिवृते रजोहरणमुख (वस्त्रिका) पोत्तिकादिलिङ्गधारिणि वारत्तकप्रतिच्छन्दे, बृ० १ उ०।

कुडुंबेसर पुं० (कुटुम्बेश्वर) अवन्तीस्थे स्वनामख्याते श्रीऋषभदेवप्रतिमाभेदे, ती०।

"श्वेताम्बरेण चारण–मुनिनाऽऽचार्येण वज्रसेनेन।
शक्रावतारतीर्थे, श्रीनाभेयः प्रतिष्ठितो जीयात् ॥१॥
कुटुम्बेश्वरनाभेय–देवस्यानल्पतेजसः।
कल्पं जल्पामि लेशेन, दृष्ट्वा शासनपट्टिकाम्" ॥२॥

पूर्वं लाटदेशे मण्डनभृगुकच्छपुरालङ्कारे शकुनिकाविहारे स्थिताः श्रीवृद्धवादिसूरयः 'येन निर्जीयते तेन तस्य शिष्येण भाव्यमिति' प्रतिज्ञां विधाय वादकरणार्थं दक्षिणपथायातं कर्णाटभट्टदिवाकरं निर्जित्य व्रतं ग्राहयांचक्रिरे। किं संस्कृतं कर्तुं न जानन्ति श्रीमन्तस्तीर्थङ्करा गणधरा वा यद्मागधेनाम्नायमकुर्वन्। तदेवं जल्पतस्तव महत् प्रायश्चित्तमापन्नम् किमेतत्तवाग्रतः कथ्यते, स्वयमेव जानन्नसि। ततो विमृश्याभिदधेऽसौभगवन्! आश्रीयमाणो द्वादशवार्षिकं पाराञ्चितं नाम प्रायश्चित्तं गुप्तमुखवस्त्रिकारजोहरणादिलिङ्गः प्रकटितावधूतरूपश्चरिष्यामीति। आवश्यकमुपयुक्त इति गुरुभिरभिहितमाकर्ण्य देशान्तरग्रामनगरादिषु पर्यटन् द्वादशे वर्षे श्रीमदुज्जयिन्यां कुटुम्बेश्वरदेवालये शेफालिकाकुसुमरञ्जितचोलपट्टालङ्कृतशरीरः समागत्यासांचक्रे। ततो देवं कस्मान्न नमसीति लोकैर्जल्प्यमानोऽपि नाजल्पत्। एवं जनपरम्परया श्रुत्वा सर्वत्राऽनृणीकृतविश्वविश्वम्भराङ्गितनिजैकवत्सरः श्रीविक्रमादित्यदेवः समागत्य जल्पयांचकारक्षीरं लिलिक्षो ! भिक्षो ! किमिति त्वया देवो न नमस्यते। ततस्त्विदमवादि वादिनामया नमस्कृते देवे लिङ्गभेदो भवतामप्रीतये भविष्यति। राज्ञोचेभवतु क्रियतां नमस्कारः। तेनोक्तम्श्रूयतां तर्हि। ततः पद्मासनेन भूत्वा द्वात्रिंशका–दिभिर्देवं स्तोतुमुपचक्रमे। तथाहि –

"स्वयंभुवं भूतसहस्रनेत्रमनेकमेकाक्षरभावलिङ्गम्
अव्यक्तमव्याहतविश्वलोकमनादिमध्यान्तमपुण्यपापम् ॥१॥

इत्यादि प्रथम एव श्लोके प्रासादस्थितात् शिखिशिखाग्रादिव लिङ्गात् धूमवर्तिरुदस्थात्। ततो जनैर्वचनमिदमूचे 'अष्टविद्येशाधीशः कालाग्निरुद्रोऽयं भगवांस्तृतीयनेत्रानलेन भिक्षुं भस्मसात् करिष्यति। ततस्तडित्तेज इव सतडत्कारं प्रथमं ज्योतिर्निर्गत्याप्रतिचक्रतोऽभ्यमानमिथ्यादृष्टिदैवतमामूलाल्लिङ्गं द्विधा भित्त्वा प्रादुरास पद्मासनासीनः स्वयंभूर्भगवान् नाभिसूनुः। तदनया दर्शनप्रभावनया तीर्णः पाराञ्चितात्म्भोनिधिरिति विमुच्य रक्ताम्बराणि प्रकटीकृत्य मुखवस्त्रिकारजोहरणादिलिङ्गानि महाराजं धर्माक्षरैराशीवादयांचके वादीन्द्रः। ततो विनयपुरस्सरं–

"सूरये सिद्धेनाय, दूरादुच्छ्रितपाणये।
धर्मलाभ इति प्रोक्ते, ददौ कोटिं नराधिपः" ॥१॥

ततः प्रभूतं क्षमयित्वा नृपतिः स्तुतिमकार्षीत्। यथा–

"उद्व्यूढपाराञ्चितसिद्धसेन–दिवाकराचार्यकृतप्रतिष्ठः।
श्रीमान् कुटुम्बेश्वरनाभिसूनुर्देवः शिवायास्तु जिनेश्वरो नः" १।

ततो भगवतो भट्टश्रीदिवाकरसूरेर्दैशनया संजीविनीचारिवरकन्यायितस्वाभाविकभद्रतया विशेषतः सम्यक्त्वमूलां देशविरतिं प्रत्यपादि श्रीविक्रमादित्यः। ततश्च गोह्रदमण्डले सांवडाप्रभृतिग्रामाणामेकनवतिं, चित्रकूटमण्डले वसाडप्रभृतिग्रामाणां चतुरशीतिं, तथा घुण्टरेसीप्रभृतिग्रामाणां चतुर्विंशतिमाहेडवासकमण्डले ईसरोडाप्रभृतिग्रामाणां षट्पञ्चाशतं श्रीकुटुम्बेश्वरऋषभदेवाय शासनेन स्वनिःश्रेयसार्थमदात्। ततः शासनपट्टिकां श्रीमदुज्जयिन्यां संवत् १ चैत्र सुदि१ गुरुभाद्र० देशीयमहाक्षपटलिकपरमार्हतश्वेताम्बरोपासक–ब्राह्मणगौतमसुतकात्यायनेन राजाऽऽलेखयत्, ततः श्रीकुटुम्बेश्वर ऋषदेवः प्रकटीभवति। तद्दिनात् प्रभृति सर्वात्मना मिथ्यात्वोच्छेदेन सर्वानपि जटाधरादीन् दर्शनिनः श्वेताम्बरान् कारयित्वा परिमुक्तमिथ्यादृष्टिदेवगुरुः सकलामप्यवन्तीं जैनमुद्राङ्कितां चकार। ततः परितुष्टैः श्रीसिद्धसेनसूरिभिरभिदधौ वसुधाधवः –

"पुण्णे वाससहस्से, सयम्मि अहिअम्मि नवनवइकलिए।
होही कुमरनरिंदो, तुह विक्कमराय ! सारिच्छो" ॥१॥

इत्थं ख्यातिं सर्वजगत्पूज्यतां चोपगतः श्रीकुटुम्बेश्वरो युगादिदेव इति।
"कुटुम्बेश्वरदेवस्य, कल्पमेतं यथाश्रुतम्।
रुचिरं रचयांचक्रुः श्रीजिनप्रभसूरयः" ॥१॥ ती०४६कल्प।

कुडुंभग पुं० (कुटुम्भक) जलमण्डुके, "कुटुभओ जलमंडूओ भण्णति" नि० चू०१ उ०।

कुडुक्कायरिय पुं० (कुटुक्काचार्य) स्वनामख्याते दार्शनिकपण्डिते, अने०२ अधि०।

कुडुल्ली–स्त्री०–(कुटिका) अल्पकुट्याम्, "एक्क कुडुल्ली पंचहिं रुद्धी, तहं पंचहं वि जुअंजुअं वुद्धी"। प्रा०४ पाद।

कुड्ड न० (कुड्य) कुड्ड कार्कश्येण्यत्। कौतेरन्ध्र्या० यक्, डुगागमश्च इत्युज्ज्वलदत्तः। वाच०। प्राकृते **"अधो मनयाम्"**।८।२।७८। इति यलुक्। प्रा०२ पाद। **"गोणादयः"** ॥८।२।१७४॥ इति वा निपातः। प्रा०२ पाद। मृत्पिण्डादिनिर्मिते, बृ०२ उ०। पाषाणरचिते, उत्त०१६ अ०। खटिकादिरचिते, उत्त०२ अ०। भित्तिशब्दार्थे उत्त०२५ अ०। भ०। "कुड्डा सा भासा कुड्डं गिहं" नि० चू० ८ उ०। विलेपने, कौतूहले, स्वार्थे के भित्तौ, वाच०।

कुड्डंतर न० (कुड्यान्तर) कुड्यमध्ये, कुड्डंतरपुव्वकीलिअपणीए"। इति कुड्यान्तरं पञ्चमब्रह्मचर्यविषयः। आव०४ अ०।

यत्रान्तरस्थेऽपि कुड्यादौ दम्पत्योः सुरतादिशब्दः श्रूयते तत्त्यागः। ध०३ अधि०। प्रश्न०।

कुढ पुं० (कुठ) 'कुठ' छेदने घञर्थे कर्मणि कः। **''ठो ढः'' ।८।१।१९९।** इति ठस्य ढः। प्रा०१ पाद। वृक्षे, वाच०।

कुढार पुं०,स्त्री० (कुठार) कुठ करणे आरन्। **''ठो ढः''।८।१।१९९।** इति ठस्यः ढः। प्रा०१ पाद। परशौ, अनु०। स्त्रीत्वे गौरा० ङीष्। वाच०। परशु–पर्शु–स्वधितिपर्यायाः। वाच०।

कुढाल पुं० (कुठार) स्त्री०। कुढारशब्दोक्तार्थे, अनु०।

कुण– धा०–(कृ)करणे **''कृगेः कृणः''** ।८।४।६५। कृगेः कुण इत्यादेशो वा भवति। **''व्यञ्जनाददन्ते''** ।८।४।२३९। इत्यन्तेकारः। प्रा०४ पाद। कुणइ, करइ, करोति।

कुणंत त्रि० (कुर्वत्) विदधति, जी०१ प्रति०।

कुणक्क पुं० (कुणक) कुहणवनस्पतिभेदे, प्रज्ञा०१पद। आचा०।

कुणमाण त्रि० (कुणवत्) विदधति,''पुढवाइयाणाइवायं कुणमाणे सवले''। आव०४ अ०। आचा०।

कुणव पुं० (कुणप) क्वण–कपन् संप्र०। **''पो वः।'' ।८।१।२३१।** इति पस्य वः। प्रा०१ पाद। त्यक्तप्राणे, मृतदेहे, शबे, पूतिगन्धे, अस्त्रभेदे, वाच०।

कुणाल पुं० (कुणाल) श्रेणिकसुतकोणिकसुतोदायिपट्टोदितनवनन्द-पट्टोद्भूतचन्द्रगुप्तसुतबिन्दुसारसुताऽशोकश्रीसुते, कल्प०। यस्य पुत्रः सम्प्रतिनामा परमार्हतोऽभूत्। कल्प०८ क्षण। तस्यान्धीभूतत्वे कथानकं चेदम्–पाटलीपुत्रनामनगरे मौर्यवंशसमुद्भवोऽशोकश्रीनर्मि भूपालः। तस्य चैकस्या राज्ञ्याः कुणालनामा तनयः समुत्पन्नः। तस्य च भुक्तौ उज्जयिनी नगरी नरपतिना प्रदत्ता। ततश्च सातिरेकाष्टवर्षिके तस्मिन् कुमारे लेखवाहकेनागत्य अशोकश्रीराजाय निवेदितम्, यथा–एतावति वयसि वर्त्तते युष्मत्पुत्रः। ततश्चान्तःपुरोपविष्टेन भूपतिना स्वहस्तेनैव लिखितः कुमाराय लेखः। तस्य तत्र चेदमलेखियथेदानीमधीयतां कुमारः। तं च लेखमसंवर्तितमेव मुक्त्वा शरीरचिन्तार्थमुत्थितो नरनाथः ततश्चैकया राज्ञया गृहीत्वा वाचितोऽसौ लेखः। चिन्तितं च यथा–मामापि विद्यते पुत्रः, केवल लघुरसौ, महांश्च कुणालः, ततस्तस्मिन् राज्ययोग्यतां विभ्रति न मदीयपुत्रस्य राज्याऽऽवाप्तिः, ततस्तथा करोमि यथा कुणालो राज्यस्याऽयोग्यो भवति, अवसरश्चायम्। इति विचिन्त्य निष्ठीवनार्द्रीकृतया हस्तस्थितनयनाञ्जनशलाकयाऽकारस्योपरि प्रदत्तो बिन्दुः। जातं च ततो अन्धीयतां कुमारः। ततस्तथैव राज्ञया मुक्तस्तत्रैव प्रदेशे लेखः राज्ञाऽपि कथमपि पुनरवाचित एव संवर्तितोऽसौ। गतश्च कुमारसमीपम्। अवधारितश्च केनापि नियोगिना, अप्रकटश्च विरुद्ध इति मत्वा न वाचितः। कुमारनिर्बन्धे च वाचितः। ततो विज्ञातलेखार्थेन प्रोक्तं कुमारेण मौर्यवंशोद्भवानामस्माकमाज्ञां भुवनेऽपि न कश्चित खण्डयति, ततः किमहमेव तातस्याज्ञां लङ्घयिष्यामि ? न भवत्येवैतदित्युक्त्वा तत्क्षण एवाग्नितप्तां लोहशलाकां गृहीत्वा मुक्ताहारवे सर्वस्मिन्नपि परिजने निवारयत्यञ्जिते अक्षिणीः जातश्चान्धः। ततो विज्ञातसमस्तैतद्व्यतिकारो राजा महान्तं खेदं विधाय कुणाल-स्योज्जयिनी मुत्सार्योचितं किमप्यन्य ग्राममात्रं दत्तवान्। तत्र च स्थितेन कुणालकुमारेण शिक्षिता प्रकर्षवती गीतकला। पुत्रश्चान्यदा तस्य समुत्पन्नः। ततस्तद्राज्यावाप्तिनिमित्तं गतः पाटलीपुत्रं नगरं कुणालः। समाक्षिप्तश्चातीव तन्नगरनिवासी समस्तोऽपि लोकस्तेन गीतकलया। गता च तत्प्रसिद्धिः। भूपालान्तिकं नीतश्चासौ। तत्र कृतं च यवनिकान्तरे तेन गीतमतीवाऽऽक्षिप्तश्च जगाद पृथिवीपतिः याचस्व भोः! प्रयच्छामि तव समीहितम्। ततः पठितं कुणालेन–

चंदगुत्तपपुत्तो उ, विंदुसारस्स नत्तुओ।
असोगसिरिणो पुत्तो, अंधो जायइ कागणिं ॥८६२॥

अस्याऽयं भावार्थः–पाटलीपुरनगरे चाणक्यप्रतिष्ठितो मौर्यः प्रथमं किल चन्द्रगुप्तो राजा बभूव। ततस्तपुत्रो बिन्दुसारः समभूत्। तदनन्तरं तु तत्पुत्रोऽशोकश्रीर्जातः। तस्य चान्धोऽसौ कुणालः पुत्रः। एवं च सत्येष चन्द्रगुप्तस्य प्रपौत्रः, बिन्दुसारस्य तु नप्तृकः पौत्रः, अशोकश्रीभूपतेस्तु पुत्रः, काकणिं क्षत्रियभाषया राज्यं याचत इति। ततो यवनिकापगमं कारयित्वा किञ्चित्सकौतुकेन राज्ञा सविशेषं पृष्टः सर्वमपि स्वव्यतिकरं कुणालः कथयामास। ततः पृथिवीपतिना पृष्टः अन्धस्त्वं राज्येन किं करिष्यसि ? तेन प्रोक्तम्–देव! मम राज्यार्हः पुत्र उत्पन्नो वर्तते। राज्ञा प्रोक्तम्–कदा ?। कुणालः प्राहसम्प्रति। तत् सम्प्रतिरित्येव तस्य नाम प्रतिष्ठितम्। राज्यं च तस्मै प्रदत्तमिति। तदेवं यथेहाकारस्योपर्येकेना-प्यऽधिकेन बिन्दुना कुमारस्य नेत्रापायो जातः तथा सूत्रेऽपि बिन्द्वाद्याधिक्यादर्थान्तरप्राप्त्या सर्वानर्थसंभव इति भावनीय-मिति।८६२। विशे०।वृ०। आचार्यजिनदेवसत्कभदन्तमित्रस्य भ्रातरि, आव०४ अ०। ('पणिहि' शब्दे कथा)

कुणालणयर न० (कुणालनगर) उज्जयिन्याम्, ''आसी कुणालनगरे रायनामेण वेसमणदासो।'' कुणालनगरे उज्जयिन्यामित्यर्थः। संथा०।

कुणाला स्त्री० (कुणाला) स्वनामख्यातायां नगर्याम्, ''कालाख्ये नरकावासे, संजायेते स्म नारकौ। कुणालाया विनाशस्य, कालाद् वर्षे त्रयोदशे''। आ०क०।आ०म०। ऐरावतीनाम नदी कुणालाया नगर्य्याः समीपे जङ्घार्द्धप्रमाणेनोद्वहति, बृ०४ उ०। ग०। उत्तरस्यां दिशि आर्य्यजनपदभेदे, बृ०१ उ०। यत्र श्रायस्ती नगरी। प्रव० २७४ द्वार। स्था०। ''तेणं कालेणं कुणाला नाम जणवए होत्था तत्थ णं रुप्पी णामं राया होत्था'' ज्ञा०१ श्रु०८ अ०। स्था०।

कुणि पुं० (कुणि) कुण–इन्। तुन्दुवृक्षे, वाच०। गर्भाधानदोषाद् ह्रस्वैकपादे न्यूनैकपाणौ कुण्टे, प्रश्न०५ संव० द्वार। आचा०। पादविकले, वृ०१ उ०।

कुणआ (देशी) वृत्तविवरार्थे, दे० ना०२ वर्ग।

कुणिम न० (कुणप) पुं०। मांसे, स्था०४ ठा०४ उ०। उपा०। औ०। व्य०। पिं०। सूत्र०। शवे, तद्रसे वसादौ, भ०७ श०६ उ०। अनु०। प्रश्न०। ''ते दुब्भिगंधे कसिणे य फासे, कम्मोवगा कुणिमे आवसंति त्ति''। कुणिमे रुधिराद्याकुले। सूत्र०१ श्रु०५ अ०१ उ०। दी०। मांसपेशीरुधिरपूयान्त्रफिफिसकल्मषाकुले सर्वामेध्याधमे बीभत्सदर्शने हाहारवाक्रन्देन कष्टं मा ताददित्यादिशब्दावधीरितदिगन्तराले परमाधमे नरकावासे, सूत्र०१ श्रु०५ अ०१ उ०।

कुणिमाहार पुं० (कुणपाहार) कर्मधारयसमासः । मांसभोजने, भ० ८ श०६ उ० । कुणपः शबस्तद्रसोऽपि वशादिः कुणपः, तदाहारः । मृतकभक्षके, भ०७ श०६ उ० । जं० ।

कुतर्क पुं० (कुतर्क) कुयुक्तौ, अष्ट०१६ अष्ट० ।

अथ कुतर्कत्यागत्रिंशिका–

जीयमानेऽत्र राज्ञीव, चमूचरपरिच्छदः ।
निवर्त्तते स्वतः शीघ्रं, कुतर्कविषमग्रहः ॥१॥

(जीयमान इति) जीयमानेऽत्रावेद्यसंवेद्यपदे महामिथ्यात्वनिबन्धने पशुत्वादिशब्दवाच्ये स्वत एवात्मनैवापरोपदेशेन शीघ्रम्, कुतर्क एव विषमग्रहो दृश्टापायहेतुत्वेन क्रूरग्रहः, कुतर्कस्य विषमग्रहः कुटिलावेशरूपो विनिवर्त्तते । राज्ञि जीयपमान इव चमूचरपरिच्छदः ॥१॥

शमाऽऽरामानलज्वाला, हिमानी ज्ञानपङ्कजे ।
श्रद्धाशल्यं स्मयोल्लासः, कुतर्कः सुनयार्गला ॥२॥
कुतर्केऽभिनिवेशस्तदा, न युक्तो मुक्तिमिच्छताम् ।
युक्तः पुनः श्रुते शीले, समाधौ शुद्धचेतसाम् ॥३॥
उक्तं च योगमार्गज्ञैस्तपोनिर्धूतकल्मषैः ।
भावियोगिहितायोच्चै–र्मोहदीपसमं वचः ॥४॥
वादाँश्च प्रतिवादाँश्च, वदन्तो निश्चितान्स्तथा ।
तत्त्वान्तं नैव गच्छन्ति, तिलपीलकवद् गतौ ॥५॥
विकल्पकल्पनाशिल्पं, प्रायोऽविद्याविनिर्मितम् ।
तद्योजनामयश्चात्र, कुतर्कः किमनेन तत् ?॥६॥

शमेति व्यक्तः ॥२॥ (कुतर्केति) श्रुते आगमे, शीले परद्रोहविरतिलक्षणे, समाधौ ध्यानफलभूते ॥३॥ (उक्तं चेति) उक्तं च निरूपितं पुनर्योगमार्गज्ञैरध्यात्मविद्वि पतञ्जलिप्रभृतिभिस्तपसा निर्धूतकल्मषैः प्रशमप्रधानेन तपसा क्षीणमार्गानुसारिबोधबाधकमोहमलैर्भावियोगिहिताय भविष्यद्विवादबहुलकलिकालयोगिहितार्थम्, उच्चैरत्यर्थं, मोहदीपसमं मोहान्धकारप्रदीपस्थानीयं, वचो वचनम् ॥४॥ (वादाँश्चेति) वा दाँश्च पूर्वपक्षरूपान् प्रतिवादाँश्च परोपन्यस्तपक्षप्रतिवचनरूपान् वदन्तो ब्रुवाणाः, निश्चितान् असिद्धानैकान्तिकादिहेत्वाभासनिरासेन । तथा तेन प्रकारेण तत्तच्छास्त्राप्रसिद्धेन सर्वेऽपि दर्शनिनो मुमुक्षवोऽपि, तत्त्वान्तमात्मादितत्वप्रद्धिरूपं, न नैव, गछन्ति प्रतिपद्यन्ते, तिलपीलकवत्तिलपीलक इव निरुद्धाऽक्षिसंचार, स्तिलयन्त्रवाहनपरः । यथा नित्यं भ्राम्यन्नपि निरुद्धाक्षतया न तत्परिमाणमवबुध्यते, एवमेतेऽपि वादिनः स्वपक्षाभिनिवे शान्धाः विचित्रं वदन्तोऽपि नोच्यमानतत्त्वं प्रतिपद्यन्त इति ॥५॥ (विकल्पेति) विकल्पाः शब्दविकल्पा अर्थविकल्पाश्च, तेषां कल्पनारूपं शिल्पं, प्रायो बाहुल्येनाऽविद्याविनिर्मितं ज्ञानावरणीयादिकर्मसंपर्कजनितं, तद्योजनामयस्तेदकधारात्मा चात्र कुतर्कस्तत्किमनेन मुमुक्षूणां, दुष्टकारणप्रभवस्य सत्कार्याहेतुत्वात् ।६।

जातिप्रायश्च बाध्योऽयं, प्रकृतान्यविकल्पनात् ।
हस्ती हन्तीति वचने, प्राप्ताप्राप्तविकल्पवत् ॥७॥
स्वभावोत्तरपर्यन्त एषोऽत्रापि च तत्त्वतः ।
नार्वाग्दृग्ज्ञानगम्यत्वमन्यथाऽन्येन कल्पनात् ॥८॥

(जातिप्रायश्चेति) जातिप्रायश्च दूषणाभासकल्पश्च, बाध्यः प्रतीतिफलाभ्यामयं कुतर्कः । प्रकृतान्यस्योपादेयाद्यतिरिक्तस्याऽप्रयोजनस्य वस्त्वंशस्य विकल्पनात्, हस्ती हन्तीति वचने हस्यारूढेनोक्ते प्राप्ताप्राप्तविकल्पवन्नैयायिकछात्रस्य, यथा ह्ययमित्थं वक्तारं प्रतिकिमयं हस्ती प्राप्तं व्यापादयत्युताप्राप्तम् ? आद्ये त्वामपि व्यापादयेदन्त्ये जगदपीति विकल्पयन्नेव हस्तिना गृहीतो मिण्डेन कथमपि मोचितः, तथा तथाविधविकल्पकारी तत्तद्दर्शनस्थाऽपि कुतर्कहस्तिना गृहीतः सद्गुरुमिण्डेनैव मोच्यत इति ॥७॥ (स्वभावेऽति) एष कुतर्कः स्वभावोत्तरपर्यन्तः, अत्र च "वस्तुस्वभावैरुत्तरं वाच्यम्" इति वचनात् । अत्रापि च स्वभावेनार्वागदृशश्छद्मस्थस्य ज्ञानगम्यत्वं तत्वतः । अन्यथा क्लृप्तस्यैकेन वादिना स्वभावस्याऽन्येनान्यथाकल्पनात् ॥८॥

तथाहि –

अपां दाहस्वभावत्वे, दर्शिते, दहनान्तिके ।
विप्रकृष्टेऽप्ययस्कान्ते, स्वार्थशक्तेः किमुत्तरम् ? ॥९॥
दृष्टान्तमात्रसौलभ्यात्तदयं केन बाध्यताम् ।
स्वभावबाधने नालं, कल्पनागौरवादिकम् ॥१०॥

(अपामिति) अपां शैत्यस्वभावत्ववादिनं दहनान्तिके दाहस्वभावत्वे दर्शितेऽध्यक्षविरोधपरिहाराद् विप्रकृष्टेऽप्ययस्कान्ते स्वार्थशक्तेर्लोहाकर्षणशक्तेर्विप्रकर्षणमात्रस्याप्रयोजकत्वात् किमुत्तरम् ? अन्यथावादिनः स्वभावस्यापर्यनुयोज्यत्वाद्विशेषस्याविनिगमात् । तदुक्तम् –

"अतोऽग्निः क्लेदयत्यम्बु, सन्निधौ दहतीति च ।
अबग्निसन्निधौ तत्स्वाभाव्यादित्युदिते तयोः ॥१॥
कोशपानादृते ज्ञानोपायो नास्त्यत्र युक्तितः ।
विप्रकृष्टोऽप्ययस्कान्तः, स्वार्थकृद् दृश्यते यतः" ॥२॥

(दृष्टान्तेति) दृष्टान्तमात्रस्य सौलभ्यात्तत्तस्मादयमन्यथा स्वभावविकल्पकः कुतर्कः केन बाध्यताम् ? अग्निसन्निधावपां दाहस्वभावत्वे कल्पनागौरवं बाधकं स्यादित्यत आह स्वभावस्योपपत्तिसिद्धस्य बाधने कल्पनागौरवादिकं नालं न समर्थं, कल्पनासहस्रेणाऽपि स्वभावस्यान्यथाकर्तुमशक्यत्वात् । अत एव न कल्पनालाघवेनापि स्वभावान्तरं कल्पयितुं शक्यमिति द्रष्टव्यम् । अथ स्वस्य भावोऽनागन्तुको धर्मो नियतकारणत्वादिरूप एव, स च कल्पनालाघवज्ञानेन गृह्यते, अन्यथागृहीतश्च कल्पनागौरवज्ञानेन त्यज्यतेऽपीति चेन्न, गौरवेऽपि अप्रामाणिकत्वस्य दुर्ग्रहत्वात्प्रामाणिकस्य च गौरवादेरप्यदोषत्वादिति दिक् ॥१०॥

द्विचन्द्रस्वप्नविज्ञाननिदर्शनबलोत्थितः ।
धियां निरालम्बनतां, कुतर्कः साधयत्यपि ॥११॥
तत् कुतर्केण पर्याप्तमसमञ्जसकारिणा ।
अतीन्द्रियार्थसिध्दर्यं नावकाशोऽस्य कुत्रचित् ॥१२॥

(द्विचन्द्र इति) द्विचन्द्रस्वप्नविज्ञाने एव निदर्शने उदाहरणमात्रे तद्बलादुत्थितः कुतर्कः धियां सर्वज्ञानानां, निरालम्बनतामलीकविषयतामपि साधयति ॥११॥ (तदिति) तदसमञ्जसकारिणा प्रतीतिबाधितार्थसिद्ध्यनुधाविना पर्याप्तं कुतर्केण, अ-

तीन्द्रियार्वानां धर्मार्थिनां सिद्ध्यर्थं नास्य कुत्तर्कस्य कुत्रचिदवकाशः ॥१२॥

शास्त्रस्यैवाऽवकाशोऽत्र, कुतर्काग्रहतस्ततः ।
शीलवान् योगवानत्र, श्रद्धावाँ स्तत्त्वविद् भवेत् ॥१३॥
तत्त्वतः शास्त्रभेदश्च, न शास्त्रीणामभेदतः ।
मोहस्तदधिमुक्तीनां, तद्भेदाश्रयणं ततः ॥१४॥

(शास्त्रस्येति) अत्रातीन्द्रियार्थसिद्धौ शास्त्रस्यैवावकाशः तस्यातीन्द्रियार्थसाधनसमर्थत्वाच्छुस्कतर्कस्यातथात्वात्। तदुक्तम् ''गोचरस्त्वागमस्यैव, ततस्तदुपलब्धितः । चन्द्रसूर्योपरागादि संवाद्यागमदर्शनात्'' ॥१॥ ततस्तस्मात् कुतर्काग्रहतोऽत्र शास्त्रे श्रद्धावान् शीलवान् परद्रोहविरक्तियोगवान् सदायोगतत्परः तत्त्वविद्धर्माद्यतीन्द्रियार्थदर्शी भवेत् ॥१३॥ ननु शास्त्राणामपि भिन्नत्वात्कथं शास्त्रश्रद्धाऽपि स्यादित्यत आह (तत्त्वत इति) तत्वतो धर्मवादापेक्षया तात्पर्यग्रहाच्छास्त्रभेदश्च नास्ति। शास्तृणां धर्मप्रणेतृणामभेदतः तत्तन्नयापेक्षदेशनाभेदेनैव स्थूलबुद्धीनां तद्भेदाभिमानात्। अत एवाह ततस्तस्मात्तदधिमुक्तीनां शास्तृश्रद्धावतां तद्भेदाश्रयणं शास्तृभेदाङ्गीकरणं मोहोऽज्ञानं, निर्दोषत्वेन सर्वेशामैकरूप्यात्। तदुक्तम् ''न तत्त्वतो भिन्नमताः, सर्वज्ञा बहवो यतः। मोहस्तदधिमुक्तीनां, तद्भेदाश्रयणं ततः'' ॥१॥१४॥

सर्वज्ञो मुख्य एकस्तत्– प्रतिपत्तिश्च यावताम् ।
सर्वेऽपि ते तमापन्नाः, मुख्यं सामान्यतो बुधाः ॥१५॥
न ज्ञायते विशेषस्तु, सर्वथाऽसर्वदर्शिभिः ।
अतो न ते तमापन्नाः, विशिष्य भुवि केचन ॥१६॥

(सर्वज्ञ इति) सर्वज्ञो मुख्यस्तात्त्विकाराधनाविषय एकः, सर्वज्ञत्वजात्यविशेषात्। तदुक्तम् ''सर्वज्ञो नाम यः कश्चित्, पारमार्थिक एव हि। स एक एव सर्वत्र, व्यक्तिभेदेऽपि तत्त्वतः'' ॥१॥ तत्प्रतिपत्तिः सर्वज्ञभक्तिश्च यावतां तत्तद्दर्शनस्थानां ते सर्वेऽपि बुधास्तं सर्वज्ञं मुख्यं सामान्यतो विशेषानिर्णयेऽप्यापन्ना आश्रिताः, निरतिशयितगुणवत्त्वेन प्रतिपत्तेर्वस्तुतः सर्वज्ञविषयकत्वाद् गुणवत्ताऽवगाहननैव तस्या भक्तित्वाच्च। यथोक्तम् ''प्रतिपत्तिस्ततस्तस्य, सामान्येनैव यावताम् । ते सर्वेऽपि तमापन्नाः इति न्यायगतिः परा'' ॥१॥१५॥ (नेति) विशेषस्तु सर्वज्ञज्ञानादिगतभेदस्तु असर्वदर्शिभिश्छद्मस्थैः सर्वथा सर्वैः प्रकारैः न ज्ञायते अतो न ते सर्वज्ञाभ्युपगन्तारस्तं सर्वज्ञमापन्ना आश्रिताः, विशिष्य भुवि पृथिव्यां केचन । तदुक्तम् ''विशेषस्तु पुनस्तस्य, कात्स्न्र्येनासर्वदर्शिभिः। सर्वैर्न ज्ञायते तेन, तमापन्नो न कश्चन'' ॥१॥१६॥

अतः सामान्यप्रतिपत्त्यंशेन सर्वयोगिषु परिशिष्टा तुल्यतैव भावनीयेत्याह–

सर्वज्ञप्रतिपत्यंशमाश्रित्याऽमलया धिया ।
निर्व्याजं तुल्यता भाव्या, सर्वतन्त्रेषु योगिनाम् ॥१७॥

अवान्तरभेदस्तु सामान्याविरोधीत्याह –

दुराऽसन्नादिभेदोऽपि, तद्भृत्यत्वं निहन्ति न ।
एको नामादिभेदेन, भिन्नाचारेष्वपि प्रभुः ॥१८॥

(सर्वज्ञेति) सर्वज्ञे प्रतिपत्यंशमाश्रित्य, अमलया रागद्वेषमलरहितया धिया बुद्ध्या निर्व्याजमौचित्येन सर्वज्ञोक्तपालनपरतया तुल्यता भाव्या, सर्वतन्त्रेषु सर्वदर्शनेषु योगिनां मुमुक्षूणाम्। तदुक्तम् ''तस्मात्सामान्यतोऽप्येनमभ्युपैति य एव हि। निर्व्याजं तुल्य एवासौ, तेनांशेनैव धीमता'' ॥१॥१७॥ (दूरेति) दूराऽऽसन्नादिभेदस्तु तद्भृत्यत्वं सर्वज्ञोपासकत्वं न निहन्ति, एकस्य राज्ञो नानाविधप्रतिपत्तिकृतामपि एकभृत्यत्वाविशेषवत् प्रकृतोपपत्तेः। भिन्नाचारेष्वपि तथाधिकारभेदेन नानाविधानुष्ठानेष्वपि योगिषु नामादीनामर्हदादिसंज्ञादीनां भेदेन एकः प्रभुरुपास्यः। तदुक्तम्–

''यश्चैवैकस्य नृपतेर्बहवोऽपि समाश्रिताः ।
दूरासन्नादिभेदेऽपि, तद्भृत्याः सर्व एव ते ॥१॥
सर्वज्ञतत्वाभेदेन, तथा सर्वज्ञवादिनः ।
सर्वे तत्तत्त्वगा ज्ञेयाः, भिन्नाचारस्थिता अपि ॥२॥
न भेद एव तत्त्वेन, सर्वज्ञानां महात्मनाम् ।
तथा नामादिभेदेऽपि, भाव्यते तन्महात्मभिः'' ॥३॥१८॥
देवेषु योगशास्त्रेषु, चित्राचित्रविभागतः ।
भक्तिवर्णनमप्येवं, युज्यते तदभेदतः ॥१९॥
संसारिषु हि देवेषु, भक्तिस्तत्कायगामिनाम् ।
तदतीते पुनस्तत्वे, तदतीतार्थयायिनाम् ॥२०॥

(देवेष्विति) एवमिष्टाऽनिष्टनामभेदेऽपि, तदभेतः तावतः सर्वज्ञाभेदात्, योगशास्त्रेषु सौवाध्यात्मचिन्ताशास्त्रेषु लोकपाल मुक्तादिषु चित्राचित्रविभागतो भक्तिवर्णनं युज्यते। तदुक्तम् ''चित्राचित्रविभागेन, यच्च देवेषु वर्णिता । भक्तिः सद्योगशास्त्रेषु, ततोऽप्येवमिदं स्थितम्'' ॥१॥१९॥ (संसारिष्विति) संसारिषु हि देवेषु लोकपालादिषु भक्तिः सेवा तत्कायगामिनां संसारिदिवकायगामिनाम्, तदतीते पुनः संसारातीते तु तत्त्वे तदतीतार्थयायिनां संसारातीतमार्गगामिनां योगिनां भक्तिः ॥२०॥

चित्रा चाद्येषु तद्रागतदन्यद्वेषसङ्गता ।
अचित्रा चरमे त्वेषा, शमसाराऽखिलैव हि ॥२१॥
इष्टापूर्त्तानि कर्माणि, लोके चित्राऽभिसन्धितः ।
फलं चित्रं प्रयच्छन्ति, तथाबुद्ध्यादिभेदतः ॥२२॥

(चित्रा चेति) चित्रा च नानाप्रकारा च, आद्येषु सांसारिकेषु देवेषु तद्रागतदन्यद्वेषाभ्यां स्वाभीष्टदेवतारागानभीष्टद्वेषाभ्यां सङ्गता युक्ता, मोहगर्भत्वात्। अचित्रा एकाकारा चरमे तु तदतीते तु, एषा भक्तिः, शमसारा शमप्रधानाऽखिलैव हि तथासंमोहाभावादिति ॥२१॥ (इष्टापूर्तानीति) इष्टापूर्त्तानि कर्माणि लोके चित्राऽभिसन्धितः संसारिदेवस्थानादिगतविचित्राध्यवसायात् मृदुमध्याधिमात्ररागादिरूपात्, तथा बुद्ध्यादीनां वक्ष्यमाणल क्षणानां भेदतः फलं चित्रं नानारूपं प्रयच्छन्ति, विभिन्नानां नगराणामिव विभिन्नानां संसारिदेवस्थानानां प्राप्तरुपायस्यानुष्ठानस्याभिसन्ध्यादिभेदेन विचित्रत्वात्। तदुक्तम् –

''संसारिणां हि देवानां, यस्माच्चित्राण्यनेकधा ।
स्थित्यैश्वर्यप्रभावादौ, स्थानानि प्रतिशासनम् ॥१॥
तत्तस्मात्साधनोपायो, नियमाश्चित्र एव हि ।
न भिन्ननगराणां स्या–देकं वर्त्म कदाचन'' ॥२॥२२॥

बुद्धिर्ज्ञानिमसंमोह–स्त्रिविधो बोध इष्यते ।
रत्नोपलम्भतज्ज्ञान–तदवाप्तिनिदर्शनात् ॥२३॥
आदरः करणे प्रीति–रविघ्नः संपदागमः ।
जिज्ञासा तज्ज्ञसेवा च, सदनुष्ठानलक्षणम् ॥२४॥

(बुद्धिरिति) बुद्धिस्तथाविधोहरहितं शब्दार्थश्रवणमात्रजं ज्ञानम् । यदाह ''इन्द्रियार्थाश्रया बुद्धिः'' ज्ञानं तथाविधोहेन गृहीतार्थतत्त्वपरिच्छेदनम् । तदाह–''ज्ञानं त्वागमपूर्वकम्'' । असंमोहोहेयोपादेयत्यागोपादानोपहितं ज्ञानम् । यदा–ह''सदनुष्ठानवच्चैतदसंमोहोऽभिधीयते ।'' एवं त्रिविधो बोध इष्यते स्वस्वपूर्वाणां कर्मणां भेदसाधकः ''तद्भेदात्सर्वकर्माणि भिद्यन्ते सर्वदेहिनाम्'' इति वचनात् । रत्नोपलम्भतज्ज्ञान तदवाप्तीनां निदर्शनात् । यथा ह्युपलम्भादिभेदाद् रत्नग्रहणभेदस्तथा प्रकृतेऽपि बुद्ध्यादिभेदादनुष्ठानभेद इति ॥२३॥ (आदर इति) आदरो यत्नातिशय इष्टाप्तौ करणे प्रीतिरभिष्वङ्गात्मिका अविघ्नः करण एवादृष्टसामर्थ्यादपायाभावः संपदागमस्तत एव शुभभावपुण्यसिद्धेः जिज्ञासा इष्टादिगोचरा तज्ज्ञसेवा चेष्टादिज्ञसेवा, चशब्दात्तदनुग्रहः । एतत्सदनुष्ठानलक्षणं तदनुबन्धसारत्वात् ॥२४॥

भवाय बुद्धिपूर्वाणि, विपाकविरसत्वतः ।
कर्माणि ज्ञानपूर्वाणि, श्रुतशक्त्या च मुक्तये ॥२४॥
असंमोहसमुत्थानि, योगिनामाशु मुक्तये ।
भेदेऽपि तेषामेकोऽध्वा, जलधौ तीरमार्गवत् ॥२६॥

(भवायेति) बुद्धिपूर्वाणि कर्माणि स्वकल्पनाप्राधान्याच्छास्त्रविवेकानादरात् विपाकस्य विरसत्वतो भवाय संसाराय भवन्ति । तदुक्तम् ''बुद्धिपूर्वाणि कर्माणि, सर्वाण्येवेह देहिनाम् । संसारफलादान्येव, विपाकविरसत्वतः'' ॥१॥ ज्ञानपूर्वाणि च तानि तथा- विवेकसंपत्तिजनितया श्रुतशक्त्याऽमृतशक्तिकल्पया मुक्तये निः श्रेयसाय । यदुक्तम् ''ज्ञानपूर्वाणि तान्येव, मुक्तयङ्गं कुलयोगिनाम् । श्रुतशक्तिसमावेशादनुबन्धफलत्वतः'' ॥१॥ २५॥ (असंमोहेति) असंमोहसमुत्थानि तु कर्माणि योगिनां भावातीतार्थयायिनामाशु शीघ्रं न पूनर्ज्ञानपूर्वकवदभ्युदयलाभव्यवधानेऽपि मुक्तये भवन्ति । यथोक्तम् –

''असंमोहसमुत्थानि, त्वेकान्तपरिशुद्धितः ।
निर्वाणफलदान्याशु, भवातीतार्थयायिनाम् ॥१॥
प्राकृतेष्विह भावेषु, येषां चेतो निरुत्सुकम् ।
भवभोगविरक्तास्ते, भवातीतार्थयायिनः'' ॥२॥

भेदेऽपि गुणस्थानपरिणतितारतम्येऽपि तेषां योगिनामेकोऽध्वा एक एव मार्गः जलधौ समुद्रे तीरमार्गवद् दूरासन्नादिदिभेदेऽपि तत्त्वतस्तदैक्यात् । प्राप्यस्य मोक्षस्य सदाशिव परब्रह्मसिद्धात्मतथतादिशब्दैर्वाच्यस्य शाश्वतशिवयोगातिशयितसद्भावालम्बनबृहत्वबृंहकत्वनिष्ठितार्थत्वाकालतथाभावाद्यर्थाभेदेनैकत्वात्तन्मार्गस्यापि तथात्वात् । तदुक्तम् –

''एक एव तु मार्गोऽपि, तेषां शमपरायणः ।
अवस्थाभेदभेदेऽपि, जलधौ तीरमार्गवत् ॥१॥
संसारातीततत्त्वं तु, परं निर्वाणसंज्ञितम् ।
तथैकमेव नियमाच्छब्दभेदेऽपि तत्त्वतः ॥२॥
सदाशिवः परब्रह्म, सिद्धात्मा तथतेति च ।
शब्दैस्तदुच्यतेऽन्वर्था–देकमेवैवमादिभिः ॥३॥
तल्लक्षणाविसंवादा–न्निराबाधमनामयम् ।
निष्क्रियं च परं तत्त्वं, यतो जन्माद्ययोगतः ॥४॥
ज्ञाते निर्वाणतत्त्वेऽस्मिन्, न संमोहेन तत्त्वतः ।
प्रेक्षावतां न तद्भक्तौ, विवाद उपपद्यते'' ॥५॥२६॥

तस्मादचित्रभक्त्याऽऽप्याः, सर्वज्ञा न भिदामितः ।
चित्रा गीर्भववैद्यानां, तेषां शिष्यानुगुण्यतः ॥२७॥
तयैव बीजाधानादेर्यथाभव्यमुपक्रिया ।
अचिन्त्यपुण्यसामर्थ्यादेकस्या वापि भेदतः ॥२८॥
चित्रा वा देशना तत्तन्नयैः कालादियोगतः ।
यन्मूला तत्प्रतिक्षेपाऽयुक्तो भावमजानतः ॥२९॥

(तस्मादिति) तस्मात्सर्वेषां योगिनामेकमार्गगामित्वाद् अचित्रभक्त्या एकरूपया भक्त्या, आप्याः प्राप्याः सर्वज्ञा न भिदामिता न भेदं प्राप्ताः । तदुक्तम् । ''सर्वज्ञपूर्वकं चैतन्नियमादेव यत् स्थितम् । आसन्नोऽयमृजुर्मार्गस्तद्भेदस्तत्कथं भवेत्'' ॥१॥ कथं तर्हि देशनाभेदः ? इत्यत आह–तेषां सर्वज्ञानां भववैद्यानां संसाररोगभिषग्वराणां चित्रा नानाप्रकारा, गीः शिष्यानुगुण्यतो विनेयाभिप्रायानुरोधात्ः यथा वैद्या बालादीन् प्रति नैकभौषधमुपदिशन्ति, किं तु यथायोग्यं विचित्रं, तथा कपिलादीना मपि कालान्तरापायभीरून् शिष्यानधिकृत्योपसर्जनीकृतपर्याया द्रव्यप्रधाना देशना, सुगतादीनां तु भोगाऽऽस्थावतोऽधिकृत्योपसर्जनीकृतद्रव्या पर्यायप्रधाना देशनेति, न तु तेऽन्वयव्यतिरेकवस्तुवेदिनो न भवन्ति, सर्वज्ञत्वानुपपत्तेः । तदुक्तम् ''चित्रा तु देशनैतेषां, स्याद्विनेयानुगुण्यतः । यस्मादेते महात्मानो, भवव्याधिभिषग्वराः'' ॥२७॥ (तयैवेति) तयैव चित्रदेशनयैव बीजाधानादेर्भवोद्वेगदिभावलक्षणात्, यथाभव्यं भव्यसदृशमुपक्रिया उपकारो भवति । यदुक्तम् ''यस्य येन प्रकारेण, बीजाधानादिसंभवः । साधुबन्धो भवत्येते, तथा तस्य जगुस्ततः'' ॥१॥ एकस्या वा तीर्थकरदेशनाया अचिन्त्यपुण्यसामर्थ्यादनिर्वचनीयपरबोधाश्रयोपात्तकर्मविपाकाद्विभेदतः श्रोतृभेदेन विचित्रतया परिणमनाद् यथाभव्यमुपक्रिया भवतीति न देशनावैचित्र्यात् सर्वज्ञवैचित्र्यसिद्धिः । यदाह –

''एकाऽपि देशनैतेषां, यद्वा श्रोतृविभेदतः ।
अचिन्त्यपुण्यसामर्थ्यात्तथा चित्राऽवभासते ॥१॥
यथाभव्यं च सर्वेषामुपकारोऽपि तत्कृतः ।
जायते वन्ध्यताऽप्येवमस्याः सर्वत्र सुस्थिता'' ॥२॥

प्रकारान्तरमाह (चित्रेति) वाऽथवा तत्तन्नयैर्द्रव्यास्तिकादिभिः कालादियोगतो दुःषमादियोगमाश्रित्य यन्मूला यद्वचनानुसरिणी चित्रा नानारुपा देशना कपिलादीनामृषीणां तस्य सर्वज्ञस्य प्रतिक्षेपः, भावं तत्तद्देशनानयाभिप्रायमजानतोऽयुक्तः आर्यापवादस्यानाभोगजस्यापि महापापनिबन्धनत्वात् । तदुक्तम् –

''यद्वा तत्तन्नयापेक्षा, तत्तत्कालादियोगतः ।
ऋषिभ्यो देशना चित्रा, तन्मूलैषाऽपि तत्त्वतः ॥१॥
तदभिप्रायमज्ञात्वा, न ततोऽर्वाग्दृशां सताम् ।
युज्यते तत्प्रतिक्षेपो, महानर्थकरः परः ॥२॥
निशानाथप्रतिक्षेपो, यथाऽन्धानामसङ्गतः ।
तद्भेदपरिकल्पश्च, तथैवार्वाग्दृशामयम् ॥३॥

न युज्यते प्रतिक्षेपः, सामान्यस्यापि तत् सताम्।
आर्यापवादस्तु पुन–र्जिह्वाच्छेदाधिको मतः ॥४॥
कुदृष्ट्यादि च नो सन्तो, भाषन्ते प्रायशः क्वचित्।
निश्चितं सारवत्त्वैव, किं तु सत्त्वार्थकृत्सदा ॥५॥२६॥

तस्मात्सर्वज्ञवचनमनुसृत्यैव प्रवर्तनीयं, न तु तद्विप्रतिपत्त्या–नुमानाद्यास्थया स्थेयं, तदननुसारिणस्तस्याव्यवस्थितत्वादित्यत्र भर्तृहरिवचन–मनुवदन्नाह–

यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः।
अभियुक्ततरैरन्यैरन्य एवोपपद्यते ॥३०॥

(यत्नेनेति) यत्नेनासिद्धत्वादिदोषनिरासप्रयासेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैर्व्याप्तिग्रहादिदक्षैरनुमातृभिः अभियुक्ततरैरधिकव्याप्त्यादि–गुणदोषव्युत्पत्तिकैरन्यैरन्यथैवासिद्धत्वादिनैवोपपद्यते ॥३०॥

अभ्युच्चयमाह–

ज्ञायेरन् हेतुवादेन, पदार्थाः यद्यतीन्द्रियाः।
कालेनैतावता प्राज्ञैः कृतः स्यात्तेषु निश्चयः ॥३१॥
तत् कुतर्कग्रहस्त्याज्यो, ददता दृष्टिमागमे।
प्रायो धर्मा अपि त्याज्याः, परमानन्दसंपदि ॥३२॥

(ज्ञायेरन्निति) हेतुवादेनानुमानवादेन, यदि अतीन्द्रिया धर्मादयः पदार्था ज्ञायेरन् तदा एतावता कालेन प्राज्ञैस्तार्किकैः तेषु अतीन्द्रियेषु पदार्थेषु, निश्चयः कृतः स्यात् उत्तरोत्तरतर्कोपचयात् ॥३१॥

(तदिति) तत्तस्मात् कुतर्कग्रहः शुष्कतर्काभिनिवेशस्त्याज्यो–दृष्टिमागमे ददता। परमानन्दसंपदि मोक्षसुखसंपत्तौ प्रायोधर्मा अपि क्षायोपशमिकाः क्षान्त्यादयस्त्याज्याः, ततः कुतर्कग्रहः सुतरां त्याज्य एव, क्वचिदपि ग्रहस्यासङ्गानुष्ठानप्रतिपन्थित्वेनाश्रेयस्त्वादिति भावः। क्षायिकव्यवच्छेदार्थं प्रायोग्रहणम्। तदिमुक्तम्–

''न चैतदेवं यत्तस्माच्छुष्कतर्कग्रहो महान्।
मिथ्याभिमानहेतुत्वात्, त्याज्य एव मुमुक्षुभिः ॥१॥
ग्रहः सर्वत्र तत्त्वेन, मुमुक्षूणामसङ्गतः।
मुक्तौ धर्मा अपि प्रायस्त्यक्तव्याः किमनेन तत्'' ॥२॥३२॥

इति। द्वा०२३ द्वा०।

कुतक्कग्गह पुं० (कुतर्कग्रह) शुष्कतर्काभिनिवेशे, द्वा० २३ द्वा०।

कुतक्करराहुग्गसण न० (कुतकराहुग्रसन) कुविचाररूपराहुभक्षके, ध०२ अधि०।

कुतक्कविसमग्गह पुं० (कुतर्कविषमग्रह) कुटिलावेशे, ''जीयमानेऽत्र राज्ञीव, चमूचरपरिच्छदः। निवर्तते स्वतः शीघ्रं कुतर्कविषमग्रहः'' ॥१॥द्वा०२३ द्वा०॥

कुतक्किय पुं० (कुतार्किक) नैयायिके, द्वा०२३ द्वा०।

कुतव पुं० (कुतप) कुत्सितं पापं तपति, कुं भूमिं तपति। तप–अव कुत–पन्–वा०। सूर्ये, वह्नौ, अतिथौ, गवि, भागिनेये, द्विजातौ, दौहित्रे, वाद्यभेदे, नेपालकम्बले, कुशतृणे च। न०। पञ्चदशधाविभक्तदिनस्याष्टमे भागे, अर्द्धचादि०। वाच०। छागले, स्था०५ ठा०३ उ०।

कुतार त्रि० (कुतार) कुत्सिततारके, ग०१ अधि०।

कुतित्थ न० (कुतीर्थ) गङ्गादौ, ''गंगाती कुतित्थं केयारादिया एते सव्वे कुतित्था'' नि० चू०११ उ०।

कुतित्थसमय पुं० (कुतीर्थसमय) पाखण्डिकानामात्मीये आगमविशेषे, तदुक्तेऽनुष्ठाने च। सूत्र०१ श्रु०१ अ०१ उ०।

कुतित्थिय पुं० (कुतीर्थिक) दिगम्बरादौ पाखण्डिनि, ध०२ अधि०।

कुतित्थियधम्म पुं० (कुतीर्थिकधर्म) चरकादिधर्मे, दश०१ अ०।

कुतुम्बक पुं० न० (कुटुम्बक) **''टोस्तुर्वा ॥८॥४॥३११॥** इति पैशाच्यां टोः स्थाने तुर्वा। परिवारे, प्रा०४ पाद।

कुतुव पुं०न० (कुतुप) कुत पृषो०। पञ्चदशधाविभक्तदिवशस्याष्टमांशे, ह्रस्वा कुतू ङुपच्। चर्ममये ह्रस्वे स्नेह पात्रे, पुं०। वाच०। तैलादिभाजनविशेषे, भ०६श०३३अ०।

कुतूलखान पुं० (कुतूलखान) पारसीकोऽयं शब्दः। जिनप्रभसूरिसमये दौलतावादनगराधीश्वरे, ती०६ कल्प०।

कुतूहल न० (कुतूहल) कुक्कुटादिक्रीडायाम् उत्त०३ अ०। ''भयसोमा अण्णाणा, वक्खेवं कुतूहला रमणा।'' उत्त०नि०१ खण्ड।

कुतो अव्य० (कुतस्) किम्–तसिल्–किमः कुः। कस्मादित्यर्थे, ''उभयाभावे वि कुतो, वि अग्गओ हंदि एरिसो चेव।'' पञ्चा०५ विव०। निह्नवे च। आक्षेपविषये हेतौ, तत आक्षेपातिशयार्थे तरप् तमप् वा कुतस्तराम् कुतस्तमाम्। आक्षेप विषयहेत्वतिशये, अव्य०। ततो भवार्थे त्यप्। कुतस्त्यः। कुतोभवे, त्रि०। वाच०।

कुत्तिय न० (कुत्रिक) ६ त०। कुरिति पृथिव्याः संज्ञा। तस्यास्त्रिकं कुत्रिकम्। बृ०३ उ०। स्वर्गपातालमर्त्यभूमीनां त्रिके, तात्स्थ्यात्तद्व्यपदेश इति तल्लोकेषु, विश० तद्वस्तुनि च। आ०म०द्वि०।

***कुत्रिज** न०। पृथिव्यां धातुमूलजीवलक्षणेभ्यः तेभ्यो जाते सर्वस्मिन् वस्तुनि, विशे०।

कुत्तियावण पुं० [कुत्रिका (जा) पण] कूनां स्वर्गपाता–लमर्त्यभूमीनां त्रिकं तात्स्थ्यात्तद्व्यपदेश इति कृत्वा तल्लोका अपि कुत्रिकमुच्यते। कुत्रिकमापणायति व्यवहरति यत्र हट्टेऽसौ कुत्रिकापणः। अथवा धातुमूलजीवलक्षणैस्त्रिभ्यो जातं त्रिजं, सर्वमपि वस्त्वित्यर्थः। कौ पृथिव्यां त्रिजमापणयति व्यवहरति यत्र हट्टेऽसौ कुत्रिजापणः। विशे०। आ०म०। देवाधिष्ठितत्वेन स्वर्गमर्त्यपातालभूत्रित्रयसंभविवस्तुसंपादके आपणे हट्टे, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०।

तत्प्ररूपणा चैवम्–

कुं ति पुढवीअ सण्णा, जं विज्जति तत्थ चेदणमचेयं।
गहणुवभोगे अ खमं, न तं तहिं आवणे णत्थि ॥

कुरिति पृथिव्याः संज्ञा, तस्यास्त्रिकं कुत्रिकं स्वर्गमर्त्यपातालललक्षणं, तस्यापणो हट्टः कुत्रिकापणः। किमुक्तं भवती त्याह–तत्र पृथिवीत्रये यत्किमपि चेतनमचेतनं वा द्रव्यं सर्वस्यापि लोकस्य ग्रहणोपभोगक्षमं विद्यते, तत्तत्रापणे न नास्ति, ''द्वौ नञौ प्रकृत्यर्थं गमयतः।'' इति वचनाद् अस्त्येवेति भावः। बृ०३ उ०।

अथोत्कृष्टमध्यमजघन्यमूल्यस्थानानि प्रतिपादयति–

पणतो पागतियाणं, साहस्सेहिं वि इब्भमादीणं।

ओक्कास सतसहस्सं, उत्तमपुरिसाण उवधी उ ॥

प्राकृतपुरुषाणां प्रव्रजतामुपधिः कुत्रिकापणसत्कः पञ्चकः पञ्चरूपकमूल्यो भवति, इभ्यादीनामिति आश्रेष्ठिसार्थवाहादीनां मध्यमपुरुषाणां साहस्रः सहस्रमूल्य उपधिः, उत्तमपुरुषाणां चक्रवर्तिमाण्डलिकप्रभृतीनामुपधिः शतसहस्रमूल्यो भवति । एतच्च मूल्यमानं जघन्यतो मन्तव्यम् । उत्कर्षतः पुनस्त्रयाणा-मप्यनियतम् । अत्र पञ्चकं जघन्यं, सहस्रं मध्यमं, शतसहस्रमुत्कृष्टम् ।

कथं पुनरेकस्यापि रजोहरणादिवस्तुन इत्थं विचित्रं मूल्यं भवतीत्युच्यते –

विक्कीत्तगं जधा प–प्प होइ रयणस्स तव्विहं मुल्लं ।
कायगमासज्ज तहा, कुत्तियमुल्लस्स णिक्कं ति ॥

यथा रत्नस्य मरकतपद्मरागादेर्विक्रेतारं प्राप्य प्रतीत्य तद्विधं मूल्यं भवति; यादृशो मुग्धः प्रबुद्धो वा विक्रेता तादृशमेव स्वल्पं बहु वा मूल्यं भवतीति भावः । एवं क्रायकं ग्राहकमासाद्य कुत्रिकापणे भाण्डमूल्यस्य निष्कं परिमाणं भवति, न प्रतिनियतं किमपीति भावः । इतिः शब्दस्वरूपोपदर्शने ।

एवं तिविहे जाए, मोल्लं इच्छाएँ दिज्ज बहुयं पि ।
सिद्धमिदं लोगम्मि वि, समणस्स य पंचगं भंडं ॥

एवं तावत्त्रिविधे प्राकृतमध्यमोत्तमभेदभिन्ने जाते मूल्यं पञ्चकादिरूप्यकपरिमाणं जघन्यतो मन्तव्यम् । इच्छया तु बह्वपि यथोक्तपरिमाणादधिकमपि प्राकृतादथाऽऽदद्युः न कोऽप्यत्र प्रतिनियमः । न चैतदत्रैवोद्यते किं तु लोकेऽपि सिद्धं प्रतीतमिदम् यथा श्रमणस्यापि पञ्चकं पञ्चरूपकमूल्यं भाण्डं भवति । इह च रूपको यस्मिन् देशे यन्नाणकं व्यवह्रियते तत् प्रतिपत्तव्यः ।

अथ कुत्रिकापणः कथमुत्पद्यते इत्याह –

पुव्वभविगा उ देवा, मणुयाण करेंति पाडिहेराइं ।
लोगच्छेरयभूया, तह चक्कीणं महाणिहओ ॥

ये पूर्वभविका भवान्तरसङ्गतिका देवाः पुण्यवतां मनुजानां 'प्रातिहार्याणि' यथाभिलषितार्थोपढौकनलक्षणानि, कुर्वन्ति यथा लोकाश्चर्यभूता महानिधयो निसर्पप्रभृतयः, चक्रिणां भरतादीनां प्रातिहार्याणि कुर्वन्ति । वर्तमाननिर्देशस्तत्कालमङ्गीकृत्याविरुद्धः एवं कुत्रिकापण उत्पद्यते ।

तथैतेषु स्थानेषु पुरा बभूवुरिति दर्शयति –

उज्जेणी रायगिहं, तोसलिनगरस्स यावि इसिवालो ।
दिक्खाएँ सालिभद्दे, उवकरणं सयसहस्सेहिं ॥

उज्जयिनी, राजगृहं च नगरं कुत्रिकापणयुक्तमासीत्, तोसलिनगरवास्तव्येन च वणिजा ऋषिपालो नाम बाणमन्तर उज्जयिनीकुत्रिकापणात् क्रीत्वा स्वबुद्धिमाहात्म्येन सम्यगाराधितः, तत स्तेन ऋषितडागं नाम सरः कृतम् । तथा राजगृहे श्रेणिके राज्यमनुशासति शालिभद्रस्य सुप्रसिद्धचरितस्य दीक्षायां शतसहस्राभ्यामुपकरणं रजोहरणप्रतिग्रहलक्षणमानीतम् । अतो ज्ञायते यथा राजगृहं कुत्रिपण आसीदिति पुरातनीगाथासमासार्थः ।

सांप्रतमेनामेव विवृणोति –

पज्जोए णर सीहे, णव उज्जेणीऍं कुत्तिया आसी ।
भरुह असद्दह भूय–ड्ड सयसहस्सेण देमि कम्मम्मि ॥
अद्दिज्जंते रुट्ठो, मारेती सो य तं घेत्तुं ।
भरुगच्छाऽऽगम वावा–रदाण खिप्पं च सो कुणति ।
भीएण खंभकरणं, एत्थुस्सर जा ण देमि वावारं ।
णिज्झित्त तत्तलागं, आसेणं पेहसी जाव ॥

चण्डप्रद्योतनाम्नि नरसिंहे अवन्तिजनपदाधिपत्यमनुभवति नव कुत्रिकापणा उज्जयिन्यामासीरन् । ''तदा किल भरुगच्छाओ एगो वाणियओ असद्दहंतो उज्जेणीए आगंतूण कुत्तियावणे भूयं मग्गइ, तेण कुत्तियावणवाणिएण चिंतियं एस ताव मए वंचेइ तो एयं मोल्लेण वारेमि त्ति भणियं ज सयसहस्सं देसि तो देमि भूयं । तेण तं पडिवन्नं । ताहे तेण भन्नइ पंचरन्नं उद्दिक्खाहि तओ दाहामि । तेण अट्ठमं काऊण देवो पुच्छिओ सो भणइ देहि इमं च भणिहिज्ज जइ कम्मं न देसि तो भूओ तुमं ओघाएहिइ । एवं भवउ त्ति भणित्ता गहिओ । तेण भूओ भणइकम्मं मे देहि, दिन्नं खिप्पमेव कयं पुणो मग्गइ अन्नं, एवं सव्वम्मि कम्मे निट्ठिए पुणो भवइदेहि कम्मं । तेण भन्नइएत्थ खंभे चढुत्तरं करेहि जाव अन्नं किंवि कम्मं न देमि । भूओ भणइ–अलाहि, पराजितो मि चिंधं ते करेमि जाव ता पलोएहि तावता तलागं भविस्सइ । तेण अस्सं विलग्गिऊण बारसजोयणाइं गंतूण पलोइयं, जाव तक्खणमेव कयं तेण भरुयच्छस्स उत्तरे पासे भूयतलागं नाम तलागं''। अमुमेवार्थमभिधित्सुराह (भरुगच्छ इत्यादि) भरुकच्छव–णिजा अश्रद्दधता भूतः पिशाचविशेषःकुत्रिकापणे मार्गितः ततोऽष्टमं कृत्वा शतसहस्रेण भूतः प्रदत्तः, इदं च भणितं–कर्मण्यदीयमाने अयं रुष्टः कुपितो मारयतीति । स च भूतं गृहीत्वा भरुकच्छे आराधनं कृत्वा व्यापारदानं तस्य कृतवान् । स च भूतस्तं व्यापारं क्षिप्रमेव करोति । ततः सर्वकर्मपरिसमाप्तौ वणिजा भीतेन भूतस्य पार्श्वात् स्तम्भ एकः कारयांचक्रे । ततस्तं भूतमभिहितवान्यावदपरं व्यापारं न ददामि तावदत्र स्तम्भे उत्सर, आरोहाऽवरोहक्रियां कुर्विति भावः । ततः स भूत उक्तवान्–निर्जितोऽहं भवता, अत आत्मनः पराजयचिह्नं करोमि, अश्वेन गच्छन् यावदत्र प्रेक्षसे, तत्पश्चादवलोकसे तत्र प्रदेशे तडागं करिष्यामि इति भणित्वा तथैव कृते भूततडागं कृतवान् ।

एमेव तोसलीए, इसिवालो वाणमंतरो तत्थ ।
णिज्झित्त इसितलागे, रायगिहे सालिभद्दस्स ॥

एवमेव तोसलिनगरवास्तव्येन वणिजा उज्जयिन्यामागम्य कुत्रिकापणादृषिपालो नाम वाणमन्तरः क्रीतः, तेनापि तथैव निर्जितेन ऋषितडागं नाम सरश्चक्रे । तथा राजगृहे शालिभद्रस्य रजोहरणप्रति-ग्रहश्च कुत्रिकापणात् प्रत्येकशतसहस्रेण क्रीतः । बृ०३ उ० । नि० चू० । स्था० ।

कुत्तियावणभूय–त्रि०–(कुत्रिकापणभूत) । समीहितार्थसम्पादनलब्धियुक्तत्वेन कुत्रिकापणोपमे, औ० ।

कुत्थुम्ब–पुं०–(कुस्तुम्ब) चर्मावनद्धपुटे वाद्यविशेषे, रा० ।

कुत्थुम्भरि–स्त्री०–(कुस्तुम्भरि) गुच्छवनस्पतिभेदे, प्रज्ञा०१ पद । आचा० ।

कुदण्ड–पुं०–(कुदण्ड) कारणिकानां प्रजाद्यपराधान्महत्यपराधिनोऽपराधेऽल्पे राजग्राह्ये द्रव्ये, ज्ञा०१ श्रु०१ अ० ।

कुदंडिम त्रि० (कुदण्डिम) कुदण्डेन निर्वृत्ते द्रव्ये, भ०१ श०११ उ०। ज्ञा०।

कुदंसण न० (कुदर्शन) क०स०। कुमते, ''इमं पि वित्तियं कुदंसणं असब्भाववादिणो पण्णवेंति'' प्रज्ञा०२ पद। कुत्सितं दर्शनं यस्य सः। शाक्यादौ, प्रज्ञा०१ पद। ध०।

कुदाण न० (कुदान) भूम्यादिदाने, ''भूमिदाणं गोदाणं आसहत्थिसुबन्नादिया य सव्वे कुदाणा।'' नि०चू०११उ०।

कुदिट्ठि स्त्री० (कुदृष्टि) क०स०। बौद्धमतादौ, उत्त०२८ अ०। कुत्सिता जिनागमविपरीतत्वाद् दृष्टिर्दर्शनं येषां ते कुदृष्टयः। मिथ्यादृष्टिषु, सर्वज्ञप्रणीतदर्शनव्यतिरिक्तशाक्यकपिलकणादाक्षपादादिप्रणीतानुवर्त्तिषु पाषण्डिषु, पुं०। ध०३ अधि०।

कुदिट्ठिपसंसा स्त्री० (कुदृष्टिप्रशंसा) मिथ्यादृष्टीनां शाक्यादीनां पुण्यभाज एते, सुलब्धमेषां जन्म, दयालुन एते इत्यादिकायां स्तुतौ, एषा सम्यक्त्वस्य पञ्चमोऽतिचारः। ध०२ अधि०।

कुदिट्ठिसंथव पुं० (कुदृष्टिसंस्तव) मिथ्यादृष्टिभिरेकत्र संवासात् परस्परालापादिजनितपरिचये, एष सम्यक्त्वस्यातिचारभेदः, एकत्र वासे हि तत्प्रक्रियाश्रवणात् तत्क्रियादर्शनाच्च दृढसम्यक्त्वस्यापि दृष्टिभेदः संभाव्यते, किमुत मन्दबुद्धेर्नवधर्मस्येति, तत्संस्तवोऽपि दूषणम्। ध०२ अधि०।

कुदेसणा स्त्री० (कुदेशना) सर्वज्ञाऽननुसारिप्ररूपणायाम् ''किंएत्तो पावयरं, संमं अणहि–गतधम्मस्सब्भावो। अन्नं कुदेसणाए, कड्ढयरागम्मि पाडेति'' ॥ दश० टी०४ अ०।

कुदो अव्य० (कुतस्) **''अतो डो विसर्गस्य'' ८।१।३७।**इति संसकृतलक्षणस्य अतः परस्य विसगस्य स्थाने डो इत्यादेशः। कस्मादर्थे, प्रा०१ पाद।

कुद्दव पुं० (कुद्रव) कुं भूमिं द्रवति द्रावयति। अन्तर्भूतण्यर्थे अच्। कोद्रवे धान्यभूते, वाच०। जं०। विशे०।

कुद्दाल पुं० (कुद्दाल) कुं भूमिं दलति। दल अण्–उप–स० पृषो०१ कोविदारवृक्षे, भूमिदारणास्त्रे, वाच०। आचा०।

***कोद्दाल** पुं०। अवसर्पिण्याः प्रथमारके जाते वृक्षजातिभेदे, जं०२ वक्ष०।

कुद्ध त्रि० (कुद्ध) कुपिते, प्रश्न०२ संब० द्वार। ज्ञा०।

कुद्धगामिणी स्त्री० (क्रुद्धगामिनी) कुद्धायां सत्यां गमनशीलायाम्, सूत्र०१ श्रु०३ अ०१ उ०।

कुधम्म पुं० (कुधर्म) मल्लगणादिधर्मे, मल्लगणधम्मो सारस्सयगणधम्मो कूयसन्नाइया सव्वे कुधम्मा।'' नि०चू०११उ०। शाक्यादिप्रवचनेषु च, हा० २७ अष्ट०।

कुधम्माइ त्रि० (कुधर्मादि) ६ब०। श्रुतचारित्रप्रत्यनीकत्वादिभावेषु शाक्यप्रवचनादिषु, अन्यथा देशनाऽप्यलम् कुधर्मादिनिमित्तत्वाद्दोषायैव प्रसज्यते ॥८॥ हा०२७ अष्ट०।

कुधि त्रि० (कुधि) कुत्सितबुद्धौ, प्रति०।

कुपक्ख पुं० (कुपक्ष) कुत्सितान्वये, आचा०२श्रु०४ अ०१उ०।

कुप्प धा० (कुप्) रोषे, दिवा–सक० प० सेट्। **''शकादीनांद्वित्वम्'' ।८।४।२३०।** इत्यन्तस्य द्वित्वम्। कुप्पइ, कुप्यति। प्रा०४ पाद।

***कुप्प**–न०। कुप क्यप् नि०। रूप्यस्वर्णव्यतिरिक्ते कांस्यलोहताम्रसीलकत्रपुमृद्भाण्डत्वचिसारविकारोदङ्किकाष्ठमञ्चकमञ्चिकामसूरकरथशकटहलादिग्रहोपस्करे, ध० २०। ''नाणाविहोयगरणं, णेगविहं कुप्पलक्खणं होइ''। नानाविधोपकरणं ताम्रकलशकडिल्लादि जातितः, अनेकविधं व्यक्तितः, कुप्यलक्षणं भवति। दश०६ अ०। ध०। ''लोहाइ उवक्खरो कुप्पं'' लोहादिरुपस्करः कुप्यमुच्यते। तत्र लोहोपस्करो लोहमयकडल्लीकुद्दालिकाकुठारादिकः, आदिशब्दान्मार्तिकोपस्करो घटादिकः कांस्योपस्करः स्थालकच्चोलकादिकः सर्वोऽपि परिगृह्यते। बृ०१ उ०।

***कूर्प** पुं०। कुरं पाति श० क० दीर्घः। भ्रुवोर्मध्ये, वाच०।

कुप्पपमाणाइक्कम पुं० (कुप्यप्रमाणातिक्रम) कुप्यं शयनाशनकुन्तखडगभाजनकच्चोलकादिगृहोपस्कररूपं तत्प्रमाणस्य भावेन पर्य्यायान्तररूपेणातिक्रमः स्थूलकप्राणातिपातविरमणस्य पञ्चमेऽतिचारे, यथा किल केनापि कच्चोलकदशकलक्षणं जप्यमानं कृतं कथञ्चित् तदधिकसम्भवे सति व्रतभङ्गभयाद् भञ्जयित्वा बहुभिरपि पर्य्यायान्तरेण दशैव कारयतः स्वसंख्यापूरणात् स्वाभाविकसंख्याबाधनाच्चातिचार इति। ध० २०।

कुप्पमाण त्रि० (कुप्रमाण) अतिदीर्घे, अतिह्रस्वे वा। प्रश्न०३ आश्र० द्वार। क० प्र०। प्रमाणहीने, भ०७ श०६ उ०।

कुप्पर पुं० [कु (कू) पॅर] कुर–क्विप्, कुः पिपर्ति अत्त् परः कर्म्म०। जानुनि, कफोणौ च। दीर्घमध्यपाठान्तरे नि० दीर्घः। वाच०। ''से रहवरस्स कुप्परासल्ला'' कूर्परौ कूर्पराकारत्वात् पिञ्जनके इति प्रसिद्धौ रथावयवौ। जं०३ वक्ष०।

कुप्पवयण त्रि० (कुप्रवचन) कुत्सितं प्रवचनं येषां ते कुप्रवचनाः। चरकचीरिकादौ, अनु०।

कुप्पसंखा स्त्री० (कुप्यसंख्या) कुप्यपरिमाणे, तदतिक्रमे च। स्थूलकपरिग्रहविरतेः पञ्चमोऽतिचारः। ''कुप्प संखं च अप्पधणं बहुमोल्लं करेइ पंचमए दोसा''। कुप्यस्स रूप्यसुवर्णव्यतिरिक्तस्य कांस्यलोहताम्रत्रपुसीसकवंशविकारकट्टमञ्चिकामञ्चकमन्थानतूलिकारथशकटहलमृद्भाण्डप्रभृतिकस्यगृहोपकरणकलापस्य संख्यां परिगणनतामल्पधनां बहुधनां करोति। कोऽर्थः? स्थालादीनां कथञ्चिदधिकत्वे प्रतिपन्ननियमस्य जाते सत्यल्पमूल्यस्थालाद्यपरेणोत्कलितेन स्थालादिना मीलयित्वा बहुमूल्यं करोति, यथा नियमो न भज्यते इति पर्य्यायान्तरकरणेन संख्यापूरणात्स्वाभाविकसंख्याबाधनाच्च पञ्चमोऽतिचारः। प्रव०६ द्वार।

कुप्पावणिय न० (कुप्रावचनिक) कुत्सितं प्रवचनं येषां ते कुप्रवचनाः, तेषामिदं कुप्रावचननिकम्। चरकचीरिकादिसम्बन्धिनि आवश्यकादौ, अनु०। (आवस्सय शब्दे द्वि० भा० ४५४ पृष्ठे कुप्रावचनिकभेदेषु स्पष्टम्) जमालिप्रभृतिषु निह्नवेषु, सूत्र०१ श्रु०२ अ०२ उ०।

कुप्पावणियधम्म पुं० (कुप्रावचनिकधर्म्म) चरकपरिव्राजकादिकुतीर्थिकधर्मे, दश०१ अ०।

कुप्पिय न० (कुपित)। भावे क्तः क्रुद्धे, ''कुप्पितं नाम कुज्झितं''। आ० चू०४ अ०।

कुप्पिस पुं० [कू (कु)र्पास] न० कुर्परे अस्यते आस्ते वा घञ्, पृ०। ''**इ:सदादौ वा ८।१।७२।** इति प्रकृतेः अत इत्वम्। प्रा०१ पाद। स्त्रीणां कञ्चुलिकायाम्, स्वार्थे के तत्रैवार्थे, वाच।

कुप्पोवगरण न० (कुप्पोपकरण) णाणाविहोवगरण लक्खणकुप्पं समासतो होंति''। ''कुप्पोवकरणं णाणाविहं अणेगलक्खणं तच्च कंसभंडं लोहभंडं ताम्रमयं मृन्मयसादि च। इति दर्शिते कुप्प शब्दाभिधेये गृहोपकरणे, नि०चू०उ०।

कुबर पुं० (कुबर) मल्लीजिनस्य यक्षे, प्रव०२७ द्वार।

कुबे (वे) र पुं० [कुबे (वे)र] कुम्बति धनम् कुबि० एरक् नि० नलोपश्च। कुत्सितं वेरमस्य इति वा। धनदे, यक्षराजे, वाच०। को०। एकोनविंशजिनस्य शासनयक्षे, श्रीमल्लिजिनस्य कुबेरो यक्षश्चतुर्मुख इन्द्रायुधवर्णो गजवाहनोऽष्टभुजो वरदपरशुशूलाभययुक्तदक्षिण-पाणिचतुष्टयो बीजपूरकमुद्गराक्षसूत्रयुतवामपाणिचतुष्टयश्च। अन्ये कुबरस्थाने कुबेरमाहुः। प्रव०२६ द्वार। तस्येदमित्यण् कौबेरः। तत्सम्बन्धिनि, त्रि०। स्त्रियां ङीप्। कुबेरवनामित्यादौ न णत्वम्। वा कप्। कुबेरकोऽप्य–त्रार्थे कुगतिस०। निन्दितदेहे, न०। वाच०। आर्य्यशान्तिश्रेणिकस्य तृतीयशिष्ये, कल्प०८ क्षण।

कुबेरदत्त पुं० [कुबे (वे) रदत्त] कुबेरसेनायाः वेश्याया अपत्ये कुवेरदत्ताया भ्रातरि, आ०क०।

कुबेरदत्ता स्त्री० [कुबे (वे) रदत्ता] कुबेरसेनायाः वेश्यायाः पुत्र्याम्, आ० क०। ती०।

कुबेरसेणा स्त्री० [कुबे(वे)रसेना] कुबेरत्तकुबेरदत्तानाम्नोः पुत्रयोर्जनन्यां वेश्यायाम्, आ०क०। ती०। ('सदारसंतोस' शब्दे कथा वक्ष्यते)

कुबेरा स्त्री० (कुबेरा) वैश्रवणप्रभस्य नगोत्तमस्य अपरतो जम्बूद्वीपसमायां राजधान्याम्, द्वी०। मथुरास्थायां नरवाहनायां तीर्थ (जैनशास्त्र) देव्यां च। ती०६ कल्प०।

कुबेरी स्त्री० (कुबेरी) आर्य्यकुबेरान्निर्गतायां शाखायाम्, ''थेरेहिंतो णं अज्जकुबेरेहिंतो इत्थ णं कुबेरी साहा णिग्गया''। कल्प०८ क्षण।

कुभोयण त्रि० (कुभोजन) कुभोजिनि, प्रश्न०३ आश्र० द्वार।

कुमइणी स्त्री (कुमतिनी) सिहपुरनगराधीश्वरस्य कीर्तिधर्मस्य राज्ञो भार्यायाम्, दर्श०।

कुमग्ग पुं० (कुमार्ग) शिवपुरप्रापकपथविपरीते पथि, दर्श०।

इड्ढिरससायगुरुसया, छज्जीवनिकायघायनिरयाए।
जे उद्दिसंति मग्गं, कुमग्गमग्गस्सिता ते उ॥१५॥सू०नि०।

(इड्ढिरसेत्यादि) ये केचन अपुष्टधर्माणः शीतलविहारिणो ऋद्धिरससातगौरवेण गुरुका गुरुकर्माणः, आधाकर्माद्युपभोगेन षड्जीवनिकायव्यापादनरताश्चापरे तेभ्यो मार्ग मोक्षमार्गमात्मानुचीर्ण-मुपदिशन्ति तथाहि शरीरमिदमाद्यं धर्मसाधनमिति मत्वा कालसंहन-नादिहानेश्चाधाकर्माद्युपभोगोऽपि न दोषायेत्येवं प्रतिपादयन्ति। तच्चैवं प्रतिपपादयन्तः कुत्सितमार्गास्तीर्थकरास्तन्मार्गाश्रिता भवन्ति। तुशब्दादेतेऽपि स्वयूथ्या एतदुपदिशन्तः कुमार्गाश्रिता भवन्ति इति, किं पुनस्तीर्थिका इति। सूत्र०१ श्रु०११ अ०।

कुमग्गट्ठिइ स्त्री० (कुमार्गस्थिति) शिवपुरप्रापकपथविपरीतस्य स्थितिर-वस्थानम्। कुमार्गावस्थाने, दर्श०।

कुमग्गट्ठिइसंकलाभंग पुं० (कुमार्गस्थितिसङ्कलाभङ्ग) कुमार्गस्य शिवपुरप्रापकपथविरीतस्य स्थितिरवस्थानं कुमार्गस्थितिः सैव संकला लोहमयनिगडबन्धनमिव कुमार्गस्थितिसंकला। तस्याः भङ्गः मिथ्यात्वमोहनीयकर्मापगमतया सत्त्वाधिकतया च परममुनिप्रणीत-मार्गस्थितौ, दर्श० ''दुल्लह गुरुकम्माणं, जीवाणं सुगधम्मबुद्धी वि। तीए सुगुरू तम्मि वि, कुमग्गट्ठिइसंक लाभंगो''॥ (इत्यादि मग्ग शब्दे व्याख्यास्यते)

कुमग्गमग्गसिय त्रि० (कुमार्गमार्गाश्रित) कुत्सितमार्गाणां तीर्थकराणां मार्गानाश्रितेषु, ''इड्ढिरससायगुरुया, छज्जीवनिकायघायनिरयाए। जे उद्दिसंति मग्गं, कुमग्गमग्गस्सिता ते उ॥१५॥'' (इत्यनुपदमेव 'कुमग्ग' शब्दे व्याख्यातम्) सूत्र१ श्रु०११ अ०।

कुमर पुं० (कुमार) कुमारयति क्रीडयति। ''**वाऽव्ययोत्खातादावदातः**'' **। ८।१।६७।** इत्युत्खातादित्वादातोऽत्। प्रा०१ पाद। बाले, राजार्हे च। ''मारियो कुमरेण कावालिओ'' दर्श०।

कुमरण पुं० (कुमरण) दुःखमृत्यौ, उपा०८ अ०।

कुमार पुं० (कुमार) प्रथमवयस्थे, स्था०१० ठा०। डिम्भदारककुमाराणा-मल्पबहुबहुतरकालनकृतो भेदः। ज्ञा०१ श्रु०२ अ०। कौमारं पञ्चमाब्दान्तं, पौगण्डं दशमावधि''। वाच०। राज्यार्हे, प्रश्न०५ आश्र० द्वार। स्था०।

अधुना कुमारमाह –

पच्चंते खुब्भंते, दुद्दंते सव्वतो दुवेमाणो।
संगामनीतिकुसलो, कुमार एयारिसो होइ॥

प्रत्यन्तान् सीमासन्धिवर्तिनः क्षुभ्यति अन्तर्भूतण्यर्थत्वात् समस्ता अपि सीमापर्यन्तवर्तिनीः प्रजाः क्षोभयति दुर्दान्तान् दुःशिक्षितान् संग्रामनीतिकुशलः सर्वतः सर्वासु दिक्षु यो दमयन् वर्त्तते स एतादृशः कुमारो भवति। व्य०१ उ०। ''अभिक्खणं पुणो अकुमारे संते कुमारे हंति भासइ'' आव०४ अ०। दशभवनपतिदेवा असुरकुमारादयः। अथ कस्मादेते कुमारा इति व्यपदिश्यन्ते ? उच्यते–कुमारवच्चेष्टनात्। तथा हिकुमारा एते सुकुमारमृदुमधुरललितगतयः शृङ्गाराभिप्रायकृत-विशिष्टशिष्टतरोत्तररूपक्रियाः कुमारवच्चोद्धतरूपवेषभाषाभरणप्रहरणा-चरणयानवाहनाः कुमारवच्चोल्लवणरागा कीडनपराश्च ततः कुमारा इव कुमारा इति। प्रज्ञा०१ पद। कार्त्तिकेये, शुके पक्षिणि, अश्ववारके, वरुणवृक्षे सिन्धुनदे, शुद्धसुवर्णे, न०। संज्ञायां कन्। वरुणवृक्षे, तिक्तशाके, स्वार्थे कः। बालके, तस्येदं तस्य भावो वा अण्। कौमारशिशुत्वे बाल्यावस्थायाम्, वाच०। पूर्वदेशभाषायामाश्विने मासि, यथा च कुमारशब्दः पूर्वदेशे आश्विनमासे रूढः। स्था०२ ठा०१ उ०। लोहकारे, ''चवेडमुट्ठिमाईहिं, कुमारेहिं अयं पि व''। उत्त०२३ अ०। नासाद्यङ्ककर्तनादिकेन कुत्सितमारे, ''इमं जावज्जीवं वहबंधणं करेह, इमं अन्तयरेणं असुभेणं कुमारेणं मारेह''। सूत्र०२ श्रु०२ अ०।

कुमारग पुं० (कुमारक) बाले, सूत्र०२ श्रु०६ अ०। क्षुल्लके, उत्त०२ अ०।

कुमारग्गह पुं० (कुमारग्रह) कुमार (स्कन्द) कृते उन्मत्त ताहेतौ उपद्रवे, जं०२ वक्ष०।

कुमारग्गाम पुं० (कुमारग्राम) स्वनामख्याते ग्रामभेदे, ''कुमारग्गामसंपत्थिया तत्थञ्ज अंतरा एगो तिलत्थंभओ तं दट्ठूण गोसालो भण्णति।'' आ० चू०१ अ०। आ०म०। ''वोसट्ठकाए चियत्तहेदे दिवसे मुहुत्तसेसे कुमारग्गामं समणुपत्ते ''आचा०२ श्रु०३ चू०।

कुमारणंदि (ण्) पुं० (कुमारनन्दिन) चम्पानगरीवास्तव्ये स्वनामख्याते सुवर्णकारे, स च स्त्रीलोलुपो व्यन्तरीयुगार्थं वह्नौ प्रविश्य पञ्चशैलाधिपतिर्देवो जातः नागिलप्रतिबोधितो वीरप्रतिमामर्चयित्वा वीतभये उदायननृपान्तिके प्रैषयदिति आ०क०। दर्श०। आ०म०। ती०। आ०चू०। ('दसउर' शब्दे वक्ष्यते)

कुमारधम्म पुं० (कुमारधर्म) स्थिरगुप्तात्पश्चिमे देवर्द्धिक्षमाश्रमणात्प्राचीने स्थविरभेदे, ''तत्तो अ णाणदंसणचरित्ततवसुद्धिअं गुणमहंतं। थेरं कुमारधम्मं, वंदामि गणिं गुणोवेयं ॥११॥'' कल्प०८ क्षण।

कुमारपाल पुं० (कुमारपाल) चौलुक्यवंशीये गुर्जरधरित्रीपतौ आर्हतवरिष्ठे नृपभेदे, ''कुमारपालभूपालश्चौलुक्यकुलचन्द्रमाः। श्रीवीरचैत्यमस्योच्चैः, शिखरे निरमीममत्'' ॥ (अर्बुदाद्रेः), ती०८ कल्प। स च श्रीहेमचन्द्रसूरिभिः प्रतिबोध्य परमार्हतीकृत इति तच्चरित्रादिभ्यो ज्ञेयम्। स्था०।

कुमारपुत्तिय पुं० (कुमारपुत्र) वीरतीर्थीये श्रमणभेदे, यस्य प्रत्याख्यानदानप्रकार उदकेन गीतमस्वामिनं प्रति पृष्टः। सूत्र०२ श्रु०७ अ०।

कुमारभिच्च न० (कुमारभृत्य) कुमाराणां बालानां भृतौ पोषणे साधु कुमारभृत्यम्। कुमारभरणक्षीरदोषसंशोधनार्थदुष्टशून्यनिमित्तानां व्याधीनामुपशमनार्थे आयुर्वेदभेदे, स्था०८ ठा०।

कुमारभूय त्रि० (कुमारभूय) कुमारब्रह्मचारिणि, ''अकुमारभूए जे केइ, कुमारभूए तिहं बए। इत्थीहि गिद्धे वसए, महामोहं पकुव्वए''॥ स०३०सम०। क्षुल्लकभूते राजकुमाररूपे च। सूत्र०१श्रु०४अ०२उ०।

कुमारवास पुं० (कुमारवास) कुमाराणामराजभावेन वासे ''कुमारवासमज्झे वसित्ता मुंडे जाव पव्वइया''। स्था०५ ठा०३ उ०।

कुमारसमण पुं० (कुमारश्रमण) कौमार्ये प्रव्रजिते, ''तए णं से अइमुत्ते कुमारसमणे अण्णया कयाइं'' कुमारश्रमणः षड्वर्ष जातस्य तस्य प्रव्रजितत्वात्। आह च–''''छव्वरिसो पव्वइओ, णिग्गंथो रोचिऊण पावयण तिं''। एतदेव चाश्चर्य्यमिहान्यथा वर्षाष्टकादारात् न प्रव्रज्या स्यादिति। भ०५ श०४ उ०।

कुमारा स्त्री० (कुमारा) स्वनामख्याते संनिवेशे, ''ततो भगवं कुमाराए सन्निवेसे गतो, तत्थ पंचए रमणिज्जे उज्जाणे पडिसंठितो''। आ०म०द्वि०।

कुमारिय पुं० (कुमारिक) कुत्सितो मारणीयसत्वस्यातीववेदनोत्पादकत्वाद् निन्द्यो यो मारो मारणं स विद्यते येषां ते कुमारिकाः। सौकरिकेषु, बृ०१ उ०। ओघ०।

कुमारिल पुं० (कुमारिल) पूर्वमीमांसाभाष्यवार्तिककारके मीमांसकभेदे, द्वे व्याख्ये मीमांसाशास्त्रस्य–भट्टमतेन, प्रभाकरमतेन च। तत्र भट्टः कुमारिलाख्यः। वाच०। आह कुमारिलः–''अगोत्वृत्तिः सामान्यं, वाच्यं यैः परिकल्पितम्। गोत्वं वस्त्वेव तैरुक्तमगोऽपोहगिरा स्फुटम्''॥ सम्म०२ काण्ड।

कुमारी स्त्री० (कुमारी) कुमारप्रथमवयोवचनत्वात् स्त्रियां ङीष्। वाच०। सूत्र०। **''अजातेः पुंसः''** ।८।३।३२। इत्यस्य अप्राप्तविभाषात्वात् न प्राकृते ङीविकल्पः, किन्तु नित्यम्। प्रा०३ पाद। अनूढकन्यायाम्, पार्वत्यां, नवमल्लिकायाम्, घृतकुमार्याम्, वाच०। या मांसलप्रणालाकारपत्रा (धिकुआँरी) इति प्रतीता। प्रव०४ द्वार। ल०। अपराजितायां सहायां, सीतायाम्, वन्ध्यकर्कट्याम्, स्थूलैलायाम्, मेदिनीपुष्पे, तरुणीपुष्पे, श्यामापक्षिणि, वाच०।

कुमाल पुं० (कुमार) मागध्यां लः, अपभ्रंशे–**''शेषं शौरसेनीवत्''** ।८।४।३०२। मागध्यां यदुक्तं ततोऽन्यच्छौरसेनीवद् द्रष्टव्यम्। बाले, राजार्हे च। ''अय्य एशे क्खु कुमाले मलयकेदू'' प्रा०४ पाद।

कुमुअ(य) न० (कुमुद) कौ मोदते मुदकः। कैरवे, वाच०। आ०म०। तच्च चन्द्रविकासि। जं०१ वक्ष०। रा०। चन्द्रबोध्ये, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०। जं०। रा०। औ०। जलरुहभेदे, आचा०। कर्पूरे, पुं०। वाच०। जं०। चतुरशीतिलक्षगुणिते कुमुदाङ्गे, ज्यो०२ पाहु०। समादिविमानेष्वन्तर्गते विमानभेदे, स०१७ सम०। जम्बूद्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्यपूर्वे शीतोदाया महानद्या दक्षिणे स्वनामख्याते विजयक्षेत्रयुगले, स्था०८ ठा०। ते च द्वे, ''दो कुमुदा'' स्था०८ ठा०। अत नव कूटाः- ''सिद्धे कुमुए खंडगमाणी वेयड्ढे पुन तिमिसगुहा कुमुए वेसमणे त्ति य, कुमुयकूडाण नामाइं''। स्था०८ ठा०। जम्बूद्वीपे मन्दरे पर्वते भद्रशालवने पञ्चमे दिग्घस्तिकूटे, स्था०८ ठा०।

कुमुअंग न० (कुमुदाङ्ग) चतुरशीतिमहाकमलशतसहस्रेषु, ज्यो०२ पाहु०।

कुमुअगुम्म न० (कुमुदगुल्म) विमानभेदे, स०१८ सम०।

कुमुअणंदि पुं० (कुमुदनन्दि) सिद्धसेनदिवाकरेति प्रसिद्धाऽपरनामके सुरौ, जै० इ०।

कुमुअप्पभा स्त्री० (कुमुदप्रभा) जम्बूद्वीपे उत्तरपौरस्त्ये प्रथमवनखण्डे पञ्चाशद्योजनान्यवगाह्य उत्तरस्यां दिशि नन्दापुष्करिण्याम्, जं०४ वक्ष०। जी०।

कुमुअवण न० (कुमुदवन) मथुरास्थे वनभेदे, ती०२१ कल्प।

कुमुअ(य)वणविवोहग पुं० (कुमुदवनविबोधक) ६त०। चन्द्रविकाशिकमलवनानां विकाशके चन्द्रे, कल्प०३ क्षण।

कुमुआ(या) स्त्री० (कुमुदा) कुत्सितं मोदते मुद कटाप्। कुम्भिकायाम्, गम्भीरीवृक्षे, शालपर्णीवृक्षे, संज्ञायां कन्। कट्फले, गौरा०। ङीष्। कुमुदी। कट्फले। स्त्री०। वाच०। जम्बूद्वीपे मन्दरस्य पश्चिमायां पुष्करिण्याम् जं०४ वक्ष०। जी०। वरुणप्रभशैलस्यापरेण राजधान्याम्, द्वी०। दाक्षिणात्याञ्जनपर्वतस्य पश्चिमायां पुष्करिण्याम्, द्वी०। स्था०। ''दो कुमुदा''। स्था०२ ठा०३ उ०।

कुमुआ(या)गर पुं० (कुमुदाकर) ६त० । कुमदखण्डे, प्रश्न०४ आश्र० द्वार । कुमुदस्थाने ह्रदादौ, वाच० ।

कुमुदग न० (कुमुदक) तृणभेदे, सूत्र०२ श्रु०२ अ० ।

कुम्म–पुं०,स्त्री. (कूर्म) कुत्सितः कौ वा ऊर्मिर्वेगो यस्य पृषो० । कच्छपे, वाच० । सूत्र० । स्था० । ज्ञा० । दश० । भ० । श्रीनमिजिनस्य कूर्मश्चिह्नम् । प्रव०२६ द्वार । पञ्चेन्द्रियगुप्तगुप्तिप्रदर्शनाय कूर्मोदाहरणम् । ज्ञा०१ श्रु०४ अ० । तत्प्रतिपादके ज्ञाताधर्मकथायाः प्रथमश्रुतस्कन्धस्य चतुर्थेऽध्ययने, स०१८ सम० । प्रश्न० । आव० । आ०चू । देहस्थे वायुभेदे, वाच० ।

कुम्मगाम पुं० (कूर्मग्राम) स्वनामख्याते ग्रामभेदे, यत्र वैश्यायनतापसस्याऽऽतापनां कुर्वतो यूकाशय्यातरस्त्वमिति गोशालेन हसितस्य क्रुद्धस्य तेजोलेश्या गोशालं दहन्ती श्रीवीरजिनेन्द्रेण शीतलेश्यया निवारिता । कल्प०६ क्षण । आ०क० । ''तए णं अहं गोयमा ! अण्णया कयाइं गोसालेणं मंखलिपुत्तेणं सद्धिं कुम्मगामाओ नयराओ सिद्धत्थगामं नयरं संपट्ठिए'' । भ०१५श०१उ० ।

कुम्मणाडी स्त्री० (कूर्मनाडी) कण्ठकूपस्याधस्ताद् वर्त्तमानायां नाड्याम्, ''कूर्मनाड्यामचापलम्'' । कूर्मनाड्यां कण्ठकूपस्याधस्ताद् वर्त्तमानायाम् संयमादचापलं भवति, मनःस्थैर्य्यसिद्धेः । तदुक्तं ''कूर्मनाड्यां स्थैर्य्यम्'' । द्वा०२६ द्वा० ।

कुम्मपडिपुण्णचलण त्रि० (कूर्मप्रतिपूर्णचरण) कूर्मवत् कूर्माकाराः प्रतिपूर्णाश्चरणा यस्य तत्तथा । कच्छपाकृतिपूर्णपादे, उपा० । ''कुम्मपडिपुण्णचलणा वीसइ नखं'' उपा०२ अ० ।

कुम्मावलिया स्त्री० (कूर्मावलिका) कच्छपपङ्क्तौ, भ०८ श०३ उ० ।

कुम्मास पुं० (कुल्माष) कोलति कुल क्विप् । कुलमाषेऽस्मिन् ७ व० । ''अर्द्धस्विन्नाश्च गोधूनाः, अन्ये च चणकादयः। कुल्माषा इति कथ्यन्ते'' इत्युक्तेषु अर्द्धस्विन्नगोधूमादिषु, कुत्सिता माषाः पृषो० । कुत्सितमाषे, वाच० उडदे, राजमाषे बृ०१ उ० । उत्त० । पक्के माषे, पिं० । कुल्माषाः सिद्धमाषाः यवमाषा इति केचित् । दश०५ अ०१ उ० । ''एगाए सणाहाए कुम्मासपिंडियाए ।'' कुल्माषा अर्द्धस्विन्ना मुद्गादयः, माषा इत्यन्ये । भ०१५ श०१ उ० । आ०क० । आ०म० । (कुल्माषविषयकोऽभिग्रहो वीरजिनेन्द्रस्य 'वीर' शब्दे वक्ष्यते) सूर्य्यस्य पारिपार्श्वकभेदे, शूकधान्ये, यवादौ च । काञ्जिके, मसीपरिणामे च । न० । माषादिमिश्रार्द्धभ्रष्टभक्ते, रोगभेदे, वनकुलत्थे, वाच० ।

कुम्मीपुत्त पुं० (कुर्मीपुत्र) कूर्म्याः कच्छप्याः स्वनामख्यातायाः कस्याश्चिद् योषितो वा पुत्रे, स च द्विहस्तप्रमाणोऽङ्गुल्यष्टकाधिकरत्निप्रमाणजघन्यावगाहनया सिद्धः । औ० । ''ते पुण होज्ज विहत्था, कुम्मीपुत्तादओ जहन्नेणं'' । आ०म० द्वि० ।

कुम्मुण्णया स्त्री० (कुर्मोन्नता) कूर्मः कच्छपस्तद्वदुन्नता कूर्मोन्नता । योनिभेदे, ''कुम्मुन्नया णं जोणी उत्तमपुरिसमाऊणं कुम्मुन्नया णं जोणीए तिविहा उत्तमपुरिसा गब्भं वक्कमंति । तं जहा–अरहंता, चक्कवट्टी, बलदेववासुदेवा'' । स्था०३ ठा०१ उ० ।

कुम्हा(ण्) पुं० (कुश्मन्) **''पक्ष्मश्मष्मस्मह्मां म्हः''।८।२।७४।** इति श्मभागस्य म्हः । देशविशेषनिवासिनि, ''कुश्मानः कुम्हाणो,'' प्रा०२ पाद । कुश द्युतौ श्लेषे वा मनिन् । द्योतके, श्लेषके च । वाच० ।

कुय पुं० (कुच) कर्तरि कः । स्तने, संकुचिते । त्रि० वाच० । 'कुच' स्पन्दने । कुचतीति कुचः इगुपान्तलक्षणः कः (इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः ।३।१।१३५) शिथिले, व्य०७ उ० ।

कुयबंधण न० (कुचबंधन) कुचं शिथिलं बन्धनं यस्य । बद्धे सति स्पन्दमाने, ''कुयबंधणम्मि लहुगा, विराहणा होइ संजमाघाए'' । व्य०७ उ० ।

कुयर त्रि० (कुचर) कुत्सितं शिष्टजनजुगुप्सितं चरन्तीति कुचराः । उद्भ्रामिकेषु ''किं नागओ सि समणेहिँ ढक्कियं दार कूयरं जं तु ।'' बृ०१ उ० । पारदारिकेषु, नि० चू०१७ उ० ।

कुरंग पुं० (कुरङ्ग) कौ रङ्गति अच् । ''कुरङ्ग ईषत्ताम्रः स्याद्धरिणाकृतिको महान् इत्युक्तलक्षणे, वाच० । गोकर्णे मृगभेदे, जं०२ वक्ष० प्रज्ञा० । को० । मृगे, मृगमात्रे, प्रश्न०१ आश्र० द्वार । पिं० । ''हेतुरिन्दोः कलङ्के यो, विरहे रामसीतयोः । नेमे राजीमतीत्यागे, कुरङ्ग सत्यमेव सः'' ॥१॥ कल्प०७ क्षण ।

कुरंडा स्त्री० (कुरण्डा) कुत्सितरण्डायाम्, रण्डाकुरण्डामुण्डिकादिबहुप्रसङ्गे तदतदभावात् । तं० ।

कुरय पुं० (कुरक) कुहणभेदे, प्रज्ञा०८ अ० ।

कुरर पुं० (कुरर) कुङ् शब्दे, क्रुरन् । उत्कोशविहगे, स्त्रियां जातित्वाद् ङीष् । वाच० । कुररा उत्कोशाः । प्रश्न०१ आश्र० द्वार । ''जिणुत्तमाणं । कुररी विवाऽऽभोगरसागुगिद्धा, निरट्ठसोया परितावमेइ'' ॥५०॥ कुररीव पक्षिणीव । उत्त०२०अ० ।

कुरल पुं० (कुरल) कुरर–रस्य लः । स्वनामख्याते पक्षिभेदे, स्त्रियां जातित्वात् ङीष् । चूर्णकुन्तले, पुं० । वाच० । कुरलो लोमपक्षिविशेषः । जी०१ प्रति० । प्रज्ञा० ।

कुरा स्त्री०,पुं० (कुरु) अकर्मभूमिभेदे, स्था० ।

जंबू ! मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरदाहिणेणं दो कुराओ पण्णत्ताओ । तं जहा–बहुसमउल्ला अविसेसा० जाव देवकुरा चेव उत्तरकुरा चेव । तत्थ णं दो महइ महालया महादुमा पण्णत्ता । तं जहा–बहुसमउल्ला अविसेसमणाणत्ता अन्नमन्नं णाइवट्टंति आयामविक्खंभुच्चत्तोवेहसंठाणपरिणाहेणं । तं जहाकूडसामली चेव जंबू चेव सुदंसणा । तत्थ णं दो देवा महड्ढिया० जाव महासोक्खा पलिओवमट्ठिइया परिवसति । तं जहा–गरुले चेव, वेणुदेवे अणाढिए चेव, जंबूदीवाहिवई।

दक्षिणेन देवकुरवः, उत्तरेण उत्तरकुरवः, तत्राद्याः विद्युत्प्रभसौमनसाभिधानवक्षस्कारपर्वताभ्यां गजदन्ताकाराभ्यामावृताः इतरे तु गन्धमादनमाल्यवदभ्यामावृताः, उभये चामी अर्द्धचन्द्राकारा दक्षिणोत्तरतो विस्तृताः । तत्प्रमाणं चेवम्–''अट्ठसया वायाला, एक्कार–सहस्स दो कलाओ य । विक्खंभो य कुरूणं, तेवन्नसहस्स जीवासिं ॥१॥'' पूर्वापराऽऽयामाश्चैता इति । (महइमहा–लयत्ति) महान्तौ गुरू, अतीति अत्यन्तं, महसां तेजसां महानां वोत्सवानामालयावाश्चयौ, महति महालयौ महातिमहालयौ वा, समवभाषया वा महान्तावित्यर्थः । महाद्रुमौ प्रशस्ततया

आयामो दैर्घ्यं, विष्कम्भो विस्तारः, उच्चत्वमुच्छ्रयः, उद्वेधो भुवि प्रवेशः, संस्थानमाकारः, परिणाहः परिधिरिति।

तत्र अनयोः प्रमाणम्–

''रयणमया पुष्फफला, विक्खभो अट्ठ अट्ठ उच्चत्तं।
जोयणमद्धुव्वेहो, खंधो दोजोयणुव्विद्धो ॥१॥
दो कोसा विच्छिन्नो, विडिया छज्जोयणाणि जंबूए।
चाउद्दिसिं पि साला, पुव्विल्ले तत्थ सालम्मि ॥२॥
भवणं कोसपमाणं, सयणिज्जं तत्थ णाढियसुरस्स।
तिसु पासाया सालेसु तेषु सीहासणा रम्मा'' ॥३॥

शाल्मल्यामप्येवमेवेति, कूटाकारा शिखराकारा शाल्मली कूटशाल्मलीति संज्ञा, सुष्ठु दर्शनमस्या इति सुदर्शनेतीयमपि संज्ञेति। (तत्थि त्ति) तयोर्महाद्रुमयोर्महेत्यादि। महती ऋद्धिरावासपरिवाररत्नादिका ययोस्तौ महर्धिकौ। यावद्ग्रहणात् ''महज्जु इया महाणुभागा महासया महाबला महासोक्खेति''। तत्र द्युतिः शरीराभरणदीप्तिः, अनुभागोऽचिन्त्या शक्तिः वैक्रियकरणादिकाः, यशः ख्याति।, बलं सामर्थ्यं शरीरस्य, सौख्यमानन्दात्मकम् ''महसेक्खा'' इति क्वचित् पाठः। महेसौ महेश्वरावित्याख्या ययोस्तौ, महेशाख्याविति पल्योपमं यावत् स्थितिरायुर्ययोस्तौ, तथा गरुडः सुपर्णकुमारजातीयः वेणुदेवो नाम्ना, 'अणाढिओ त्ति' नाम्ना। स्था०२ ठा०३उ०।

जंबू ! दोसु कुरासु मणुया सया सुसमसुसमिड्ढिं पत्ता पच्चणुब्भवमाणा विहरंति। तं जहा–देवकुराए चेव, उत्तरकुराए चेव।

(जंबू इत्यादि) सदा सर्वदा (सुसमसुसम त्ति) प्रथमाऽऽरकानुभागः सुषमसुषमा, तस्याः सम्बन्धिनी या सा सुषमेव, तामुत्तमर्द्धिं प्रधानविभूतिमुच्चैस्त्वायुःवृक्षदत्तभोगोप भोगादिकां प्राप्ताः प्रत्यनुभवन्तो वेदयन्तो, न सत्तामात्रेणेत्यर्थः। अथवा सुषमसुषमां कालविशेषं प्राप्ता अधिगता उत्तमामृद्धिं प्रत्यनुभवन्तो विहरन्ति आसते इति। अभिधीयते च–

''दोसु वि कूरा मणुया, तिपल्लपरमाउणो तिको सुच्चा।
पिट्ठकरंडसयाइं, दो छप्पन्नाइँ मणुयाणं ॥१॥
सुसमसुसमाणुभावं, अणुभवमाणेण वच्चगोवणया।
अउणा पन्नदिणाइं, अट्ठमभत्तस्स आहारो'' ॥२॥

देवकुरवो दक्षिणाः, उत्तरकुरव उत्तरास्तेष्विति। स्था०२ ठा०३ उ०।

दश कुरवः–

समयखित्तेणं दस कुराओ पण्णत्ता। तं जहा–पंच देवकुराओ, पंच उत्तरकुराओ। तत्थ णं दस महइमहालया महादुमा पण्णत्ता। तं जहा–जंबू सुदंसणे धायइरुक्खे महाधायइरुक्खे पउमरुक्खे महापउमरुक्खे पंच कूडसामलीओ। तत्थ णं दस देवा महिड्ढिया जाव परिवसंति। तं जहा–अणाढिए जंबूद्दीवाहिवई सुदंसणे पियदंसणे पौंडरीए महापौंडरीए पंच गरुला वेणुदेवा। स्था०१० ठा०।

कुराइ(ण्) पुं० (कुराजन्) कुत्सिते राज्ञि, प्रत्यन्तनृपे च। नि० चू०९ उ०। ब० व० आचा०।

कुरु–पुं०–(कुरु)। आर्य्यजनपदभेदे, यत्र हस्तिनापुरं नगरम्। ज्ञा०१ श्रु०८ अ०। सूत्र०। आ० म०। प्रज्ञा०। स्था०। ''आकरः सर्ववस्तूनां, देशोऽस्ति कुरुनामकः। समुद्र इव रत्नानां, गुणानामिव सज्जनः'' ॥१॥ आ०क०। स्वनामके ऋषभदेवपुत्रे, कल्प०७ क्षण। महावीरशान्तिजिनपूर्वजेषु च। स्था०६ ठा०।

कुरुकुया स्त्री० (कुरुकुचा) बहुना जलेन पादप्रक्षालनादौ, ओघ०। आचा०। नि० चू०।

कुरुक्खेत्त न० (कुरुक्षेत्र)। कुरुणा चन्द्रवंश्यनृपभेदेन कृष्टं क्षेत्रं, कुरुदेशान्तर्गतं वा क्षेत्रम्। शाक० मध्यपदलोपः।

''प्रजापतेरुत्तरवेदिरुच्यते,
सनातनी रामसमन्तपञ्चकम्।
समीजिरे तत्र पुरा दिवौकसो,
वरेण सत्रेण महावरप्रदाः ॥१॥
पुरा च राजर्षिवरेण धीमता,
बहूनि वर्षाण्यमितेन तेजसा।
प्रकृष्टमेतत् कुरुणा महात्मना,
ततः कुरुक्षेत्रमितीह पप्रथे'' ॥२॥ वाच०।

लोकोत्तररीत्या ऋषभदेवस्य पुत्रः कुरुः, तस्य क्षेत्रम्। हस्तिनापुरे, ती०१६ कल्प।

''शतपुत्र्यामभूत्राभिसूनोः सूनुः कुरुर्नृपः।
कुरुक्षेत्रमितिख्यातं, राष्ट्रमेतत्तदाख्यया ॥
कुरोः पुत्रोऽभवद्धस्ती, तदुपज्ञमिदं पुरम्।
हस्तिनापुरमित्याहुरनेकाश्चर्य्यसेवधिम्'' ॥ ती०४९कल्प।

कुरुचंद पुं० (कुरुचन्द्र) काञ्चनपुराधीश्वरे स्वनामख्याते नृपभेदे, ध० र०। तत्कथा त्वेवम्–

''गयवज्जियं पि सगयं, केण वि अहयं वि सव्वया सुहयं।
पुरमत्थि कंचणपुरं, कुरुचंदो तत्थ नरचंदो ॥१॥
तस्सासि जिणोइयस–त्ततत्तवरतुरगगमणदुल्ललिओ।
मिहिरु व्व तिमिरभरपसर–रोहगो रोहगो मंती ॥२॥
गड्डरिगपवाहं मुत्तु–मुत्तमं सो नरुत्तमो धम्मं।
सम्मं जिन्नासमाणो, कया वि मंतिं भणइ एवं ॥३॥
मह कहसु सचिवपुंगव ! को धम्मो उत्तमु त्ति सो आह।
हेलाहीलियसुरनर–गणाण करणाण जत्थ जओ ॥४॥
कह नज्जइ त्ति रन्ना, वुत्ते मंती भणेइ वयणेणं।
उग्गारेणं नज्जइ, भुत्तमदिट्ठं पि जह इत्थ ॥५॥
इय सोउं भणइ निवो, जइ एवं तो तुमं महामंति !।
सव्वे दंसणिणो वा–हरित्तुं धम्मं वियारेसु ॥६॥
होउ त्ति एवं भणिऊण मंती, सकुंडलं वा वयणं न व त्ति।
एवं समस्साइपयं लिहेतुं, ओलंबिऊणं च भणेइ एवं ॥७॥
जो सह इमिणा पाएण संगयत्थेण पूरियसमस्सं।
रंजेइ पुहइनाहं, तस्सेव इमो हवइ भत्तो ॥८॥
इय सोऊणं अहमह–मिगाइ सव्वे वि तत्थ दंसणिणो।
तं गहिऊणं पायं, रइउं वित्तं ससत्तीए ॥९॥
पत्ता निवअत्थाणे, आसीवायं भणे वि उवविट्ठा।
तो रन्नोऽणुन्नाए, पढई एवं सुगयसीसो ॥१०॥
मालाविहारम्मि मइज्ज दिट्ठा, उवासिया कंचणभूसियंगी।
वक्खित्तचित्तेण मए न नायं, सकुंडलं वा वयणं न व त्ति ॥११॥

अन्यः प्रोवाच–

भिक्खाभमंतेण मइज्ज दिट्ठं, पमदामुहं कमलविसालनेत्तं।
वक्खित्तचित्तेण मए न नायं, सकुंडलं वा वयणं न व त्ति ॥१२॥

अपरः प्रणिजगाद–

फलोदएण म्हि गिहं पविट्ठो, तत्थाऽऽसणत्था पमया मि दिट्ठा।

वक्खित्तचित्तेण मए न नायं, सकुंडलं वा वयणं न व त्ति ॥१३॥
तो सारेयरभावं, निवेण कव्वाण पुच्छिया विबुहा।
जंपंति न हु विसेसं, एसि वयं देव ! पिच्छामो ॥१४॥
जं इह इमेहिं वक्खित्तचित्तया अक्खिया फुडं सो उ।
अजिइंदियत्तमूलं, स अधम्मो तेण चिंतमिणं ॥१५॥
तं सोऊणं सयमवि, वीमंसित्ता पयंपइ नरिंदो।
कह मतिसत्तम ! अहं, उत्तमधम्मं वियाणिस्सं ॥१६॥
पभणइ मंती नरवर ! जिणदंसणिणो वि अत्थि इह मुणिणो।
विहियपयत्था पालिय-महव्वया पवरगोवसमा ॥१७॥
समतिणमणिणो सममित्तसत्तुणो तुल्लरंकनरवइणो।
महुयरवित्ती कयपाणवित्तिणो धम्मफलतरुणो ॥१८॥
सज्झायज्झाणरया, जिइंदिया जियपरीसहकसाया।
ते आहूया वि इहं, इंति न इंति व न याणामि ॥१९॥
भणियं निवेण वरमंति ! भत्ति वाहरसु ते महामुणिओ।
तत्तो अखुद्दबुद्धी, खुड्डमुणी तेण आहूओ ॥२०॥
नमिउं भणियं रन्ना, खुड्डय ! किं मुणसि काउ तं कव्वं।
गुरुपायपसाएणं, मुणेमि इय भणइ साहू वि ॥२१॥
तो कुरुचंदनरिंदो, तयं समस्सापयं पयंपेइ।
सिंगारस्स विरहिया, मुणिणा वि हु पूरिया एवं ॥२२॥
खंतस्स दंतस्स जिइंदियस्स, अज्झप्पजोगे गयमाणसस्स।
किं मज्झ एएण वि चिंतिएणं, सकुंडलं वा वयणं न व त्ति।२३।
भणइ निवो खुड्ड ! तएं,सिंगारेणं न पूरिया किमियं ?
स भणिइ जिइंदियाणं, जईण वुत्तं न सो जुत्तो ॥२४॥
सिरिअंगारो सिंगारउ त्ति जंपांत तं पि जइ जइणो।
ता नूण चंदबिंबा, अग्गीवुट्ठी समुप्पन्ना ॥२५॥

किञ्च –

उल्लो सुक्को य दो छूढा, गोलिया मट्टियामया।
दो वि आवडिया कुड्डे, जो उल्लो सोऽवलग्गई ॥२६॥
एवं लग्गंति दुम्मेहा, जे नरा कामलालसा।
विरत्ता तु न लग्गंति, जहा से सुक्कगोलए ॥२७॥
इय दुहमइंदियदुद्धस्स अस्संदमस्स वरमुणिणो।
वयणं सुणिउं राया, चमक्खिओ चिंतए चित्ते ॥२८॥
अमयं रसेसु गोसीसचंदणं चंदणेसु जह पवरं।
तह सव्वेसु वि धम्मेसुनूण धम्मो उ जिणभणिओ ॥२९॥
एवं चिंतिय सम्मं खुड्डेण समं गमित्तु गुरुपासे।
सोऊणं धम्मकहं, गिहत्थधम्मं पवज्जेइ ॥३०॥
चिरकालं परिपालिय, धम्मं सचिवेण रोहगेण समं।
कुरुचंदमहाराओ, जाओ सुक्खाण आभागी'' ॥३१॥
''एवं निशम्य चरितं सुविवेकिकेकि,
जीमूतगर्जितनिभं कुरुचन्द्रराज्ञः।
भव्या जनाः सपदि गड्डरिकाप्रवाहं,
मुक्त्वाऽऽश्रयन्तु विशदं जिनराजधर्मम्'' ॥३२॥

इति कुरुचन्द्रनरेन्द्रकथा। ध०२०। आ०म०। आवस्त्यधीश्वरस्य ताराचन्द्रस्य पुत्रे बालवयस्ये, ('ताराचंद' शब्दे कथा वक्ष्यते हरिचन्द्रस्य पितरि कुरुमत्याः पत्यौ नास्तिकवादरते नृपभेदे, आ०म०प्र०।आ०चू०। (तत्कथा 'ललिअंगदेव' वक्तव्यतायाम्)

कुरुचर त्रि० (कुरुचर) कुरुषु चरतीति कुरुचरः। कुरुदेशजे, स्त्रियां टित्वाद् ङीष्। प्राकृते तु **''प्रत्यये ङीर्नवा ८।३।३१।** इति ङीर्वा। कुरुचरी, कुरुचरा। प्रा०३ पाद।

कुरुजंगल न० (कुरुजाङ्गल) जङ्गलमेव जाङ्गलम्। कुरुषुजाङ्गलम् कुरुक्षेत्रे, कुरवश्च जाङ्गलाश्च द्वन्द्वः। कुरुदेशे, जाङ्गलदेशे च। पुं० भूम्नि, कुरवश्च जाङ्गलं च ''विशिष्टलिङ्गो नदीदेशो ग्रामाः'' २।४।७। (पाणि०) समा०। एकद्भावे कुरुजाङ्गलम्। तत्समाहारे, न०। वाच०। ''इहेव जबूदीवे दीवे भारहे वासे मज्झिमखंडे कुरुजंगलजणवए संखावई नाम नयरी।'' ती०७ कल्प।

कुरुड पुं० (कुरुट) कुणालवास्तव्ये उत्कुरुटस्य मातृष्वस्रेयके भ्रातरि, आ०क०। ('सुयकरण' शब्द कथा वक्ष्यते) कुत्सितं रोटति। 'रुट' दीप्तिप्रतीघाते कः। सितावरकशाके, वाच०।

कुरुण न० (कुरुण) राजकीयेऽन्यदीये वा वित्ते, व्य०२ उ०।

कुरुत्थल न० (कुरुस्थल) मथुरास्थे स्थलभेदे, ती०६ कल्प।

कुरुदत्त पुं० (कुरुदत्त) स्वनामख्याते हस्तिनापुरवास्तव्ये इभ्यपुत्रे, स प्रव्रजितो नैषेधिकीं परीषहमधिसह्य सिद्ध इति। उत्त०२ अ०। ''कुरुदत्तो वि कुमारो, संवलिफालि व्व अग्गिणा दड्ढो। सो वि तह दड्ढमाणो, पडिवन्नो उत्तमं अट्ठं॥'' संथा०।

कुरुदत्तपुत्त पुं० (कुरुदत्तपुत्र) कुरुदत्तस्य पुत्रे ईशानेन्द्रपूर्वभवजीवे, भ०।

तत्कथा –

एवं खलु देवाणुप्पिया णं अंतेवासी कुरुदत्तपुत्ते नामं अणगारे पगइभद्दए जाव विणीए अट्ठमं अट्ठमेणं अणिक्खित्तेणं पारणए आयंबिलपरिग्गहिएणं तवोकम्मेण उड्ढं वाहाओ पगिज्झिय पगिज्झिय सूराभिमुहे आयसावणभूमीए आयावेमाणे बहुपडिपुण्णे छम्मासे सामण्णपरियागं पाहुणित्ता अट्ठमासियाए संलेहणाए अत्ताणं झूसइत्ता तीसं भत्ताइं अणसणाइं छेदित्ता आलोइयपडिक्कंते समाहिपत्ते कालमासे कालं किच्चा ईसाणे कप्पे सयंसि विमाणंसि जाइसए वत्तव्वया सव्वे वि अपरिसेसा कुरुदत्तपुत्ते वि, णवरं सातिरेगे दो केवलकप्पे जंबूद्दीवे दीवे, अवसेसं तं चेव॥ भ०३ श०१ उ०।

कुरुदत्तसुय पुं० (कुरुदत्तसुत) हस्तिनापुरे जाते स्वनामख्याते इभ्यपुत्रे, ''कुरुदत्तसुतोऽनगारः'' इति शान्त्याचार्यः कुरुदत्त इति लक्ष्मीवल्लभः। उत्त०३ अ०।

कुरुमइ स्त्री० (कुरुमती) ब्रह्मदत्तचक्रवर्तिनः सकलान्तःपरप्रधानाग्रमहिष्याम्, उत्त०१३ अ०। स०। आचा०। कुरुचन्द्रनृपभार्यायाम्, आ०म०प्र०। आ०चू०।

कुरुया स्त्री० (कुरुका) देशतः सर्वतो वा शरीरस्य प्रक्षालने, व्य०१ उ०।

कुरुराय पुं० (कुरुराज) कुरूणां राजा टच् समा०। वाच०। कुरुदेशनाथे, ''अदीणा सतकुरुराया'' स्था०७ ठा०।

कुरुवासि(ण्) पुं० (कुरुवासिन्) देवकुरूत्तरकुरुजेऽनृद्धिमन्मनुष्यभेदे, स्था०६ ठा०।

कुरुविंद पुं० (कुरुविन्द) कुरुन् मूलकारणत्वेन विन्दति। विदशः। ''शे मुचादीनाम्'' ७।१।५६। इति (पाणि०) मुम्।

मुस्तायाम्, माषे, वाच०। तृणविशेषे, औ०। प्रश्न०। प्रज्ञा०। तं०। आचा०। कुटिलकाभिधाने रोगविशेषे, ओघ०। काचलवणे, माणिक्यरत्ने, न०। कुरुविल्वरत्ने, कुल्माषे, व्रीहिभेदे, दर्पणे, हिङ्गुले च। वाच०।

कुरूव न० (कुरुप) कुत्सितं यथा भवत्येवं रूपयति विमोहयति यत्तत्कुरूपम्। भाण्डादिकर्मणि मायाविशेषे, भ०१२ श०५ उ०। तदात्मके मोहनीयकर्मणि, स०५२ सम०। कुत्सितवर्णे, त्रि०। प्रश्न०४ आश्र० द्वार।

कुल न० (कुल) कुल कः। कुङ् शब्दे कर्मणि वा लक्। कुं भूमिं लाति ला कः। कौ भूमौ लीयते अन्येभ्योऽपि पा० ड० यथायथं व्युत्पत्तिः। जनपदे, देशे, मध्यमहलद्वयेन यावती भूमिः कृष्यते तावत्यां भूमौ, वाच०। वंशस्यावान्तरभेदे, ज्ञा०१ श्रु०१६ अ०। पैतृके पक्षे, नि०। तं० रा०। औ०। ग०। प्रश्न०। ''कुलं, पेइयं माइया जाई।'' उत्त०३ अ०। स्था०। ज्ञा०। गुणवत्पितृकत्वे, स्था०४ ठा०२ उ०। इक्ष्वाकादौ, आचा०१ श्रु०१ अ०१ उ०। सूत्र०। राष्ट्रकूटादौ, सूत्र०१ श्रु०१ अ० उ०। पितृपितामहादिपूर्वपुरुषवंशे ध०१ अधि०। प्रतिनियतपुरुषजन्यत्वे, सम्म०१ काण्ड। स्वगोत्रे, स्था०४ ठा०१ उ०। नागेन्द्रादौ, बृ०१ उ०। विद्याधरादौ, आव०२ अ०। चान्द्रादिके साधुसमुदायविशेषे स्था०५ ठा०१ उ०। प्रश्न०। प्रति०। स्था०। बहूनां गच्छानामेकजातीयानां समूहे, ध०३ अधि०। एकाचार्य्यसन्ततौ, कल्प०८ क्षण। स्था०। पं० व०। ''एत्थ कुलं विण्णेयं, एगायरियस्स संतई जाओ। तिएह कुलाणमिहो पुण, सावेक्खाणं गणे होइ॥'' भ०८श०८उ०। गृहस्थानाम्(सूत्र०१ श्रु०४ अ०१ उ०) गृहे, कल्प०६ क्षण। आचा०। सूत्र०। क्षत्रियादिगृहे, सूत्र०२ श्रु०६ उ०। (ततो भगवान्! श्री ऋषभः राज्ये हस्त्यश्वगवादि-संग्रहपुरस्सरमुग्रभोगराजन्यक्षत्रियलक्षणानि चत्वारि कुलानि व्यवस्थापितवान् इति 'उसभ' शब्दे द्वि० भा०११२४ पृष्ठे दर्शितम्) कल्प० कुटुम्बे, आचा०२ श्रु०२ अ०१ उ०। स्था०। कल्प०। वृन्दे, गजकुलवानरकुलानि। प्रश्न०३ आश्र० द्वार। सान्निध्ये, गुरुकुलं, कुलं सान्निध्यं, गुरोः कुलं गुरुसान्निध्यम्। आचा०१ श्रु०५ अ०१ उ०। कुले भवः यत् कुल्यः। खे कुलीनः। टकञ् कौलेयकः। कुलोद्भवे, त्रि०। वाच०। कुलसंज्ञितेषु नक्षत्रेषु, सू० प्र०।

तानि च –

ता कहं ते कुला आहिता ति वदेज्जा ? तत्थ खलु इमे बारस कुला, बारस उवकुला, चत्तारि कुलावकुलाए। बारस कुला। तं जहा–धणिट्ठाकुलं उत्तरा भद्दवयसाकुलं अस्सिणीकुलं कत्तियाकुलं संठाणाकुलं पुस्सेकुलं महाकुलं उत्तराफग्गुनीकुलं चित्ताकुलं विसाहाकुलं मूलो कुलं उत्तरा साढाकुलं। बारस उवकुला। तं जहा–सवणो उवकुलं पुव्वभद्दवया उवकुलं रेवति उवकुलं भरणी उवकुलं पुणव्वसू उवकुले अस्सेसा उवकुलं पुव्वाफग्गुणी उवकुलं हत्थो उवकुलं साति उवकुलं जेट्ठा उवकुलं पुव्वासाढा उक्कुलं। चत्तारि कुलोवकुलं। तं जहा–अभिई कुलोवकुलं सतभिसया कुलोवकुलं अद्दा कुलोवकुलं अणुराधा कुलोवकुलं।

''ता कहं ते'' इत्यादि। ता इति पूर्ववत्। कथं केन प्रकारेण, भगवन्! त्वया कुलान्याख्यातानीति वदेत ? एवमुक्ते भगवानाह ''तत्थ'' इत्यादि। इह न केवलं भगवता कुलान्येवाख्यातानि, किं तूपकुलानि, कुलोपकुलानि च, ततो निर्धारणार्थप्रतिपत्यर्थम्। तत्रेति भगवान् ब्रूते–तत्र तेषां कुलादीनां मध्ये खल्विमानि द्वादश कुलानि। सूत्रे पुंस्त्व-निर्देशः प्राकृतत्वात्। इमे इति प्रतिपदमभिसंबध्यते। इमानि वक्ष्यमाण-स्वरूपाणि द्वादश उपकुलनि, इमानि वक्ष्यमाणस्वरूपाणि चत्वारि कुलोपकुलानि प्रज्ञप्तानि। अथ किं कुलादीनां लक्षणमुच्यते–इह यैर्नक्षत्रैः प्रायः सदा मासानां परिसमाप्तय उपजायन्ते, मासंसदृशनामानि नक्षत्राणि, तानि कुलानीति प्रसिद्धानि। तद्यथा श्राविष्ठो मासः, प्रायः श्रविष्ठया धनिष्ठाऽपरपर्यायया परिसमाप्तिमुपैति। भाद्रपद उत्तरभद्रपदया, अश्वयुक् अश्विन्या इति। धनिष्ठादीनि प्रायो मासपरिस-मापकानि मासंसदृशनामानि कुलानि, तेषामेव कुलानामधस्तनानि यानि नक्षत्राणि श्रवणादीनि तानि उपकुलानि तानि उपकुलानि, कुलानां समीपमुपकुलं, तत्र वर्त्तन्ते यानि नक्षत्राणि तान्युपचारादुपकुलानि। यानि च कुलानामुपकुलानां चाधस्तनानि तानि कुलोपकुलानि अभिजिदादीनि चत्वारि नक्षत्राणि। उक्तं च –

''मासाणं परिणामा, हुंति कुला उपकुला उ हिट्ठिमगा।
हुंति पुण कुलोवकुला, अभिइसयभद्दअणुराहा''॥१॥

अत्र (मासाणं परिणामा इति) प्रायो मासानां परिसमापकानि। कचित्–''मासाण सरिसनामा'' इति पाठः। तत्र मासानां सदृशनामानीति व्याख्येयम्। (सय त्ति) शतभिषक्। शेषं सुगमम्।

संप्रति यानि द्वादश कुलानि, यानि च द्वादश उपकुलानि, यानि च चत्वारि कुलोपकुलानि तानि क्रमेण कथयति(वारस कुला तं जहा) इत्यादिसुगमम्। सू० प्र०१० पाहु०। चं०प्र०। जं०।

कुलंप पुं० (कुलम्प) आनार्यक्षेत्रभेदे, तद्वासिनि जने च। सूत्र०२ श्रु०२ अ०।

कुलक(ग)र पुं० (कुलकर) कुल करणशीलाः कुलकराः। कुलकरणशीलेषु विशिष्टबुद्धिषु लोकव्यवस्थाकारिषु पुरुष विशेषेषु, स्था०१० ठा०।

इदानीं यस्मिन् काले क्षेत्रे च कुलकराणां प्रभवस्त-
दुपदर्शनायाह –

**उस्सप्पिणी इमीसे, तइयाए समाएँ पच्छिमे भागे।
पलिओवमट्ठभागे, सेसम्मि य कुलगरुप्पत्ती॥
अद्धभरहमज्झल्लतिभागे गंगसिंधुमज्झम्मि।
एत्थ बहुमज्झदेसे, उप्पन्ना कुलगरा सत्त॥**

अस्यामवसर्पिण्यां वर्तमानायां या तृतीया समा सुषमदुःषमाभिधाना, तस्या यः पश्चिमो भागस्तस्मिन्। कियन्मात्रे इत्याह पल्योपमाष्टभागे पल्योपमाष्टभागप्रमाणे शेषे तिष्ठति सति, कुलकरोत्पत्तिभूदिति वाक्यशेषः। कुत्रेत्यत आह–अर्द्धभरतमध्यमत्रिभागे, किं विशिष्टे इत्याह–गङ्गासिन्धुमध्येऽत्र एतस्मिन्नर्द्धभरतमध्यमत्रिभागे बहुमध्येदेशे, न तु पर्यन्तेषु, उत्पन्नाः कुलकराः सप्त। इहार्द्धभरतं विद्याधरालयवैताढ्य-पर्वतादारतः परिग्राह्यं, न तु परतः व्याख्यानात्।

संप्रति कुलकरवक्तव्यताभिधायिकां द्वारगाथां प्रतिपादयति–

**पुव्वभवजम्मनामप्पमाणसंघयणमेव संठाणं।
वन्नित्थियऽऽउ भागा, भवणोवातो य नीई य॥**

कुलकराणां पूर्वभवा वक्तव्याः, ततो जन्म, तदनन्तरं नामानि, तत्प्रमाणानि, तदनन्तरं संहननं वक्तव्यम्, एवशब्दः पूरणार्थः। तथा संस्थानं, ततो वर्णाः प्रतिपादयितव्याः, तदनन्तरं स्त्रियः, तत आयुर्वक्तव्यम्, ततो भागा वाच्याः–कस्मिन् वयोभागे कुलकराः संवृत्ता इति। भवनेषु उपपातो वक्तव्यः, भवनग्रहणं भवनपतिनिकायेषु तेषामुपपातो नान्यत्रेति प्रदर्शनार्थम्, तथा नीतिश्च या यस्स हक्कारादिलक्षणा सा तस्य वक्तव्येति गाथाऽक्षरार्थः। अवयवार्थं तु प्रतिद्वारं स्वयमेव वक्ष्यति।

तत्र प्रथमद्वारावयवार्थाभिधित्सयेदमाह –

अवरविदेहे दो वणियवयंसा माइ उज्जुगे चेव।
कालगया इह भरहे, हत्थी मणुओ य आयाया॥
दट्ठं सिणेहकरणं, गयमारुहणं च नामनिव्वुत्ती।
परिहाणि गेहि कलहो, सामत्थण विन्नवण ह त्ति॥

अपरविदेहे द्वौ वणिगवयस्यावभूताम्। तद्यथा एको मायी, अपरश्च ऋजुः, तौ च कालगताविह भरते आयातौ, मायी हस्ती, इतरो मनुष्य इति। ततो दृष्ट्वा परस्परं स्नेहकरणं, ततो गजारोहणं, तदनन्तरं नामनिर्वृत्तिः। गच्छत्ता च कालेन कल्पद्रुमाणां परिहाणिः ततः प्रभूता प्रभूततरा गृद्धिः, तदनन्तरं कलहः ततः, ''सामत्थणंति'' देशोवचनमेतत्। पर्यालोचनमित्यर्थः। ततो विज्ञपना, तदनन्तरं हा इति हक्कारलक्षणा या नीतिः प्रवृत्तिः। भावार्थः कथानकादवसेयः। तश्चेदम्– ''अवरविदेहे दो मित्ता वाणिया, तत्थेगो माई, इयरो उज्जुगो ते पुण एगतो चेव ववहरंति। तत्थ जो माई सो तं उज्जुगं अइसंधेइ, इयरो सव्वमगूढंतो सम्मंववहरइ। दो वि पुण दाणरुई, ततो सो उज्जुगो कालं काऊण इहेव दाहिणड्ढे मिहुणगो जातो। वंको पुण तम्मि चेव पएसे हत्थिरयणं। सो य सेतो वयणेणं च उट्ठंतो य। जाहे ते दो वि पडुप्पण्णसरीरगा जाया ताहे ते हिंडिउमारद्धा, तेण य हत्थिणा हिंडंतेण सो मिहुणगो दिट्ठो, दट्ठूण य से परमा पीई उप्पन्ना, तं च से अभिओगनिव्वत्तियं कम्म उदिन्नं, ततो तेण मिहुणगं खंधे विलइयं। ततो सव्वेण लोगेण तं मिहुणगं तहारूवं दट्ठूण अम्हेहिंतो मणूसो एसो, इमं च से विमलं वाहणं, तिसे विमलवाहण त्ति नाम कयं, तेसिं च जाईसरणं च जायं, ताहे कालदोसेण इमे सत्त कप्परुक्खा परिहायंति–''मत्तंगया य भिंगा, चित्तंगा चेव तह य चित्तरसा। गेहागारअणिगणा, सत्तमया कप्परुक्ख त्ति'' ॥१॥ तेसु परिहायंतेसुकसाया उप्पण्णा। अयं मम, मा इत्थ कोइ अल्लियउ इति भणिउं पवित्ता, जो ममीकयमल्लियइ, तेण इयरो कसाइज्जइ, ततो परोप्परमसंखडं ताहे चिंतिंतिकंचि अहिवई उवेमो, जो ववत्थाइ, ठवेइ ताहेहिं सो विमलवाहणो, एस अम्हेहिंतो अहिवो इति अहिवई ठवितो। ताहे तेण तेसिं रुक्खा विरिक्का, भणिया यजो तुब्भं एयामरं अइक्कमइ, तं मम कहेज्जह, जेणाहं से दंडं वत्तेमि, सो वि कहं जाणइ, भण्णइसो जाइस्सरो तं वणियत्तं सारइ, तेण जाणइ, ताहे तेसिं जो वि अवरज्झइ सो तस्स कहिज्जइ, ताहे सो तेहिं दंडं वत्तेइ, सो पुण दंडो हक्कारो–हा तुमे दुट्ठु कयं ति। ताहे सो जाणइ, अहं सव्वस्सहरणो कतो, वरं हतो होंतो, सीसं वा मे वरं छिन्नं होतं, न य परिसं विडंवणं पावितो त्ति। एवं बहुं कालं हक्कारदंडो अणुवत्तितो, तस्स य चंदजसा, तीए समं भोगे भुंजंतस्स अवरं मिहुणं जायं, तस्स वि कालंतरेण अवरं, एवं ते एगवंसम्मि सत्त कुलगरा उप्पन्ना॥ ''पूर्वभवाः खल्वमीषां प्रथमानुयोगतोऽवसेयाः, जन्म पुनरिहैव सर्वेषां द्रष्टव्यम्, व्याख्यातं पूर्वभवजन्मरूपं द्वारद्वयम्। आ० म० प्र०।

संप्रति कुलकरनामप्रतपादनार्थमाह –

जंबूद्दीवे दीवेभारहे वासे इमीसे ओसप्पिणीए सत्त कुलगरा होत्था। तं जहा–पढमित्थ विमलवाहण, चक्खुम जससं चउत्थमभिचंदे। तत्तो पसेणई पुण, मरुदेवे चेव नाभी य॥१॥ स्था०७ ठा०।

प्रथमोऽत्र विमलवाहनो, द्वितीयश्चक्षुष्मान्, तृतीयो यशस्वी, चतुर्थोऽभिचन्द्रः, पञ्चमः प्रसेनजित्, षष्ठो मरुदेवः, सप्तमो नाभिरिति। गतं नामद्वारम्। आ० म० प्र०। आ० चू०। आ० क०।

अधुना प्रमाणद्वारावयवार्थमभिधित्सुराह –

नवधणुसयाइ पढमो, अट्ठ य सत्तऽद्धसत्तमाइं च।
छ चेव अद्धछट्ठा, पंच सया पण्णवीसाओ॥

प्रथमो विमलवाहन उच्चैस्त्वेन नवधनुःशतानि, द्वितीयश्चक्षुष्मान् अष्टौ धनुःशतानि, तृतीयो यशस्वी सप्तधनुःशतानि, चतुर्थोऽभिचन्द्रोऽर्द्ध-सप्तमानि धनुःशतानि, पञ्चमः प्रसेनजित् षट्धनुःशतानि, षष्ठो मरुदेवोऽर्द्धषष्ठानि धनुःशतानि, सप्तमो नाभिः पञ्चविंशानिं पञ्चविंशत्यधिकानि पञ्चधनुःशतानि ५२५। गतं प्रमाणद्वारम्।

अधुना संहननसंस्थानप्रतिपादनार्थमाह –

वज्जरिसभसंघयणा, समचउरंसा य हों ति संठाणे।
वण्णं वि य वोच्छामी, पत्तेयं जस्स जो आसी॥

सर्वएव विमलवाहनादयो वज्रर्षभसंहननाः; संस्थाने च चिन्त्यमाने समचतुरस्त्राश्च भवन्ति। वर्णद्वारसंबन्धाभिधानार्थमाह(वर्णः) ''वण्णं वीत्यादि'' वर्णमपि च वक्ष्ये प्रत्येकं यस्य य आसीदिति।

प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति –

चक्खुम जससं च पसेणई य एए पियंगुवण्णाभा।
अभिचंदो ससिगोरा, निम्मलकणगप्पभा सेसा॥

चक्षुष्मान् यशस्वी प्रसेनजित् एते द्वितीयतृतीयपञ्चमाः प्रियङ्गुवर्णा इवाभा छाया येषां ते तथा प्रियङ्गुश्यामाः। अभिचन्द्रश्चतुर्थः कुलकरः शशिवद् गौरः। निर्मलकनकवत् प्रभा छाया येषां ते तथा शेषा विमलवाहनमरुदेवनाभयः। गतं वर्णद्वारम्। आ० म० प्र०।

स्त्रीद्वारप्रतिपादनार्थमाह –

एतेसि णं सत्तएहं कुलगराणं सत्त भारिआ होत्था। तं जहा–चंदजस चंदकता, सुरूवपडिरूवचक्खुकंता य। सिरिकंता मरुदेवी, कुलगरइत्थीण णामाइं॥१॥ स०। स्था०।

विमलवाहनस्य पत्नी चन्द्रयशाः चक्षुष्मतश्चन्द्रकान्ता, यशस्विनः सुरूपा, अभिचन्द्रस्य प्रतिरूपा, प्रसेनजितश्चक्षुष्कान्ता, नाभेर्मरुदेवी। इमानि यथाक्रमं कुलकरपत्नीनां नामानि, एताश्च संहननादिभिः कुलकरतुल्या एव द्रष्टव्याः।

यत आह –

संघयणं संठाणं, उच्चत्तं चेव कुलगरेहिं समं ।
वण्णेण एगवण्णा, सव्वाउ पियंगुवण्णातो ॥

संहननं, संस्थानम्, उच्चैस्त्वं चैव कुलकरैरात्मीयैरात्मीयैः सममनुरूपमासामधिकृतस्त्रीणां नवरं प्रमाणेन ईषन्न्यूना इति संप्रदायः । तथा वर्णेन सर्वा अप्येकवर्णाः प्रियङ्गुवर्णा इति । गतं स्त्रीद्वारम् ।

इदानीमायुर्द्वारमाह –

पलिओवमदसभागो, पढमस्साउं ततो असंखेज्जा ।
ते याणुपुव्विहीणा, पुव्वा नाभिस्स संखिज्जा ॥

प्रथमस्य विमलवाहनस्यायुः पल्योपमदशभागः, तदनन्तरमन्येषां चक्षुष्मदादीनामसंख्येयानि, पूर्वाणीति संबध्यते । तान्यपि चानुपूर्व्या क्रमेण हीनानि । नाभेस्तु संख्येयानि पूर्वाण्यायुष्कमिति । अन्ये तु व्याचक्षतेप्रथमस्य पल्योपमदशमभाग एवायुः ततो द्वितीयस्यासंख्येयाः पल्योपमासंख्येयभागा इति वाक्यशेषः। एवं चानुपूर्व्या हीनाः शेषाणामायुष्कं द्रष्टव्यम्, तावद् यावत्संख्येयानि पूर्वाणि नाभेरायुष्कमित्यविरुद्धम्। अपरे व्याचक्षते प्रथमस्यायुः पल्योपमदशभागः, ततोऽसंख्ये इति शेषाणां समुदितानां पल्योपमासंख्येयभागाः । किमुक्तं भवति ? द्वितीयस्य पल्योपमासंख्येयभाग आयुः शेषाणां तत एवासंख्येयभागः असंख्येयभागः पात्यते तावद्यावन्नाभेरसंख्येयानि पूर्वाणि । तदेतदपव्याख्यानम् । कथमिति चेत् ? उच्यते–इह पल्योपमाष्टभागे अशेषकुलकराणामुत्पत्तिः पलितोवमट्ठभागे, सेसम्मि य कुलगरुप्पत्ती ॥ इति वचनात् । तत्र पल्योपमं किलासत्कल्पनया चत्वारिंशद्भागं परिकल्प्यते, तस्याष्टमो भागः पञ्च चत्वारिंशद्भागाः तत्रापि प्रथमस्य विमलवाहनस्यायुः पल्योपमदशभागः, ततश्चत्वारश्चत्वारिंशद्भागास्तदायुषि गताः, शेष एकः पल्योपमस्य चत्वारिंशत्तमः संख्येयो भागोऽवतिष्ठते, स च चक्षुष्मदादिगतैः पञ्चभिरसंख्येय भागैर्न पूर्यते इत्यपव्याख्या । अथ अत एव नाभेरसंख्येयानि पूर्वाण्यायुष्कमुक्तमिति। इदमयुक्तं तूक्तम्। यतो मरुदव्याः संख्येयानि वर्षाण्यायुरसंख्येयवर्षायुषां केवलज्ञानाभावात् ततो नाभेः संख्येयवर्षायुष्कत्वमेव कुलकराणां कुलकरपत्नीनां च, समानायुष्कत्वात् ।

तथाचाह–

जं चेव आउयं कुलगराण तं चेव होइ तासिं पि ।
जं पढमगस्स आऊ, तावइयं होइ हत्थिस्स ॥

यदेवायुष्कं कुलकराणां प्रामुक्तं, तदेव भवति तासामपि कुलकराङ्गनानां, संख्यासाभ्याच्च तदेवेत्यभिधीयते, यावता प्रत्येकं भिन्नमेव प्राणिनामायुः, तथा यत्प्रथमस्य कुलकरस्य विमलवाहनाख्यस्यायुस्तावदेव भवति हस्तिनः। एवं शेषकुलकरहस्तिनामपि कुलकरतुल्यं द्रष्टव्यम् ।

भागः –

संप्रति भागद्वारं वक्तव्यम्–यथा कः कस्य सर्वायुष्ककुलकरकाल इति । तत्रेदमाह –

जं जस्स आउयं खलु, तं दसभागे समं वि भइऊणं ।
मज्झिल्लट्ठतिभागे, कुलगरकालं वियाणाहि ॥

यद् यस्य कुलकरस्थाऽऽयुस्तत् खलु दशभागान् समं विभज्य मध्यमेऽष्टभागात्मके त्रिभागे कुलकरकालं विजानीहि ।

अमुमेवार्थं प्रकटयन्नाह –

पढमो य कुमारत्ते, भागो चरिमो य वुड्ढभावम्मि ।
ते पयणुपेज्जदोसा, सव्वे देवेसु उववन्ना ॥

तेषां दशानां भागानां मध्ये प्रथमो भागः कुमारत्वे भवति, चरमो वृद्धभावे, शेषा मध्यमा अष्टौ भागाः कुलकरकाल इति। गतं भागद्वारम् ।

उपपातः –

उपपातद्वारमुच्यते–ते प्रतनुप्रेमद्वेषाः प्रेम रागो, द्वेष प्रसिद्धः सर्वे विमलवाहनादयो देवेषूपपन्नाः ।

तत्र न ज्ञायते केषु देवेषूपपन्ना इत्यत आह –

दो चेव सुवण्णसु, उयहिकुमारेसु होंति दो चेव ।
दो दीवकुमारेसुं, एगो नागेसु उववण्णो ।

द्वौ आद्यौ विमलवाहनचक्षुष्मदभिधानौ सुपर्णेषु देवेषूत्पन्नौ, द्वावेव च यशस्व्यभिचन्द्राख्यावुदधिकुमारेषु भवतः, द्वौ प्रसेनजिन्मरुदेवाख्यौ द्वीपकुमारेषु, एको नाभिनामा सप्तमकुलकरो नागेषूपपन्नः ।

संप्रति कुलकरस्त्रीणां हस्तिनां चोपपातमभिधित्सुराह–

हत्थी छच्चित्थीओ, नागकुमारेसु होंति उववन्ना ।
एगा सिद्धिं पत्ता, मरुदेवी नाभिणो पत्ती ॥

हस्तिनः सप्तापि, षट् च स्त्रियश्चन्द्रयशाप्रभृतयो नागकुमारेषूपपन्नाः। अन्ये तु प्रतिपादयन्ति–एक एव हस्ती, षट् स्त्रियो, नागेषूपपन्नाः, शेषाणामिहाऽनभिधानमेवेति । एका सप्तमी मरुदेवी नाभेः सिद्धिं प्राप्ता। उक्तमुपपातद्वारम् । आ० म० प्र० ।

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तया पञ्चदश कुलकरास्तेषां नामायुरादीनि–

तीसे णं सामाए पच्छिमे तिभाए पलिओवमट्ठभागावसेसा, एत्थ णं इमे पण्णरस कुलगरा समुप्पज्जित्था । तं जहा–सु–मई १ पडिस्सुई २ सीमंकरे ३ सीमंधरे ४ खेमंकरे ५ खेमंधरे ६ विमलवाहणे ७ चक्खुमं ८ जसमं ९ अभिचंदे १० चंदाभे ११ पसेणई १२ मरुदेवे १३ णामी १४ उसभे १५ त्ति ॥

अत्राह कश्चित्–आवश्यकनिर्युक्त्यादिषु सप्तानां कुलकराणामभिधानादिह पञ्चदशानां तेषामनिधानं कथम्? यदि वा भवतु नामैतत्, पुण्यपुरुषाणामधिकाधिकवंश्यपुरुषवर्णानस्य न्याय्यत्वात् परं पल्योपमाष्टमभागावशिष्टावचनं कालस्य सुतरां बाधते, अनुपपत्तेः । तथहि–पल्योपमं किलाऽसत्कल्पनया चत्वारिंशद्भागं परिकल्प्यतेऽस्याष्टमो भागश्चत्वारिंशद्भागाः पञ्च। तत्राप्याद्यस्य विमलवाहनस्यायुः पल्योपमदशमभागः ततश्चत्वारश्चत्वारिंशभागास्तदायुषि गताः शेष एकः पल्योपमस्य चत्वरिंशत्तमः संख्येयो भागोऽवतिष्ठते, स चक्षुष्मदादी नामसंख्येय पूर्वैर्नाभेः, संख्येयपूर्वै श्री ऋषभस्वामिनश्चतुरशीत्या पूर्वलक्षैः शेषैश्चैकोननवत्या पक्षैः परिपूर्य्यते; तेन पूर्वेषां सुयमत्यादिकुलकराणां महत्तमायुषां क्वावकाशः? उच्यते आद्यस्य सुमतेस्तावत्पल्यदशमायुः ततो द्वाद-

शवंश्यान् यावत् पूर्वदर्शितन्यायेनैकस्मिंश्चत्वारिंशत्तमेऽवशिष्टे भागेऽसंख्येयानि पूर्वाणि, तानि च यथोत्तरं हीनहीनानि। नाभेस्तु संख्येयानि पूर्वाणीत्यादि; इत्थं चाविरुद्धमिव प्रतिभाति । यत्तु हारिभद्र्यामावश्यकवृत्तौ "पलिओवमदसमं सो पढमस्साउं तओ असंखिज्जा । ते आणुपुव्विहीणा पुव्वा नाभिस्स संखिज्जा" ॥१॥ इति गाथाव्याख्याने मतान्तरेण नाभेरसंख्येयपूर्वायुष्कत्वमुक्तम्, तत्त कुलकरसमानायुष्कत्वेन कुलकरपत्नीनां मरुदेव्या अप्यसंख्यपूर्वायुष्कातापत्तौ मुक्त्यनुपपत्तिरिति तत्रैव दूषितमस्तीति न कोऽपि परस्परं विरोधः । यथाऽऽवश्यकादिषु विमलवाहनस्य पल्यदशमांशयुष्कत्वं, तद्वाचनाभेदादवगन्तव्यम् । यच्च ग्रन्थान्तरे नामपाठे भेदः, सोऽपि तथैवेत्यत्र सर्ववित् प्रमाणमित्यलं विस्तरेण। अथ प्रस्तुतमुपक्रम्यते- तद्यथेति । तान् नामतो दर्शयतिसुमतिः १ प्रतिश्रुतिः २ सीमंकरः ३ सीमंधरः ४ क्षेमंकरः ५ क्षेमंधरः ६ विमलवाहनः ७ चक्षुष्मान् ८ यशस्वी ९ अभिचन्द्रः १० चन्द्राभः ११ प्रसेनजित् १२ मरुदेवः १३ नाभिः १४ ऋषभ इति। यत्पुनः पद्मचरित्रे चतुर्दशानां कुलकरत्वमभिहितम् अत्र तु पञ्चदशस्य ऋषभस्यापि, तद्भरतक्षेत्रप्रकरणे भरतभर्तुर्भरतनाम्नोऽपि महाराजस्य प्ररूपणा प्रकमितव्याऽस्तीति ज्ञापनार्थमिति। जं०२ वक्ष० ।

कल्पवृक्षाः –

विमलवाहणेणं कुलकरे सत्तविहा रुक्खा उवओगत्ताए हव्वमागच्छिंसु। तं जहा–''मत्तंगया य भिंगा, चित्तंगा चेव होंति चित्तरसा। मणियंगा य अणिअणा, सत्तमगा कप्परुक्खा य''॥१॥

तथा विमलवाहने प्रथमकुलकरे सन्ति सप्तविधा इति । पूर्वं दशविधा अभूवन् (रुक्ख त्ति) कल्पवृक्षा (उवभोगत्ताए त्ति) उपभोग्यतया (हव्वं) शीघ्रमागतवन्तो भोजनादिसंपादेनेनोपभोगं तत्कालीनमनुष्याणामागता इत्यर्थः। ''मत्तंगया य'' गाहा। (मत्तंगया इति) मत्तं मदः तस्य कारणत्वाद् मद्यमिह मत्तशब्देनोच्यते, तस्याङ्गभूताः कारणभूताः, तदेवाङ्गमवयवो येषां ते मत्ताङ्गकाः सुखपेयमद्यदायिन इत्यर्थः। चकारः पूरणे। (भिंग त्ति) संज्ञाशब्दत्वात् भृङ्गारादिविविधभाजनसंपादका भृङ्गाः । (चित्तंग त्ति) चित्रस्यानेकविधस्य माल्यस्य कारणत्वात् चित्राङ्गाः। (चित्तरस त्ति) चित्रा विचित्रा रसा मधुरादयो मनोहारिणो येभ्यः सकाशात्संपद्यन्ते ते चित्ररसाः । (मणियंग त्ति) मणीनामाभरणभूतानामङ्गभूताः कारणभूता मण्यो वाऽङ्गन्यवयवा येषां ते मण्यङ्गाः भूषणसंपादका इत्यर्थः । (अणियण त्ति) अनग्नकारकत्वादनग्ना विशिष्टवस्त्रादायिनः, संज्ञाशब्दौ वाऽयमिति । (कप्परुक्ख त्ति) उक्तव्यतिरिक्तसामान्यकल्पितफलदायित्वेन कल्पना कल्पः, तत्प्रधाना वृक्षाः कल्पवृक्षा इति।

अथैते कुलकरत्वं कथं कृतवन्त इत्याह –

(नीतिद्वारम्)

सत्तविहा दंडणीई पण्णत्ता । तं जहा–हक्कारे मक्कारे धिक्कारे परिभासे मंडलिबंधे चारए छविच्छेदे ।

(दंडनीइ त्ति) दण्डनं दण्डोऽपराधिनामनुशासनं, तत्र तस्य वा, स एव वा नीतिर्न्यो दण्डनीतिः । (हक्कारे त्ति) हा इत्यधिक्षेपार्थः तस्य करणं हक्कारः । असमर्थः प्रथमद्वितीयकुलकरकाले अपराधिनो दण्डो हक्कारमात्रं, तेनैवासौ हृतसर्वस्वमिवात्मानं मन्यमानः पुनरपराधस्थाने न प्रवर्तत इति, तस्य दण्डनीतिता । एवं मा इत्यस्य निषेधार्थस्य करणमिधानं माकारः । तृतीयचतुर्थकुलकरकाले महत्यपराधे माकारो दण्डः, इतरत्र तु पूर्व एवेति। तथा धिगधिक्षेपार्थ एव, तस्य करणमुच्चारणं धिक्कार, पञ्चमषष्ठसप्तमकुलकरकाले महापराधे धिक्कारो दण्डः, जघन्यमध्यमापराधयोस्तु क्रमेण हक्कारमक्कारावेति । आह च– ''पढमवितियाण पढमा, तइयचउत्थाण अभिणवा वीया। पंचमछट्ठस्स य सत्तमस्स तइया अभिणवा उ ॥'' इति । तथा परिभाषणं परिभाषा, अपराधिनं प्रति कोपाविष्कारेण मा यासीरित्यभिधानम् । तथा मण्डलबन्धोमण्डलमिङ्गितं क्षेत्रं, तत्र बन्धोनास्मात्प्रदेशाद् गन्तव्यमित्येवं वचनलक्षणः पुरुषमण्डलपरिचारणलक्षणो वा । चारकं गुप्तिगृहम्: छविच्छेदो हस्तपादनासिकाऽऽदिच्छेदः । इयमनन्तरा चतुर्विधा भरतकाले बभूव । चतसृणामन्त्यानामाद्यद्वयमृषभकाले, अन्ये तु भरतकाल इत्यन्ये । आह च – ''परिभासणा उ पढमा, मंडलिबंधम्मि होइ वीयाओ। चारगछविछेदाई, भरहस्स चउव्विहा नीई'' ॥स्था०७ ठा०।

अधुना नीतिद्वारप्रतिपादनार्थमाह–

हक्कारे मक्कारे, धिक्कारे चेव दंडनीईउ ।
वोच्छं तासि विसेसं, जहक्कमं आणुपुव्वीए ॥

हक्कारो मक्कारो धिक्कारश्चेति कुलकराणां दण्डनीतयः, ततो वक्ष्ये तासां दण्डनीतीनां विशेषं यथाक्रमं, या यस्स तां तस्य वक्ष्ये इति भावः । तामपि तथा वक्ष्ये, आनुपूर्व्या परिपाट्या विमलवाहनादारभ्य क्रमेणेति यावत् ।

प्रतिज्ञातमेव करोति –

पढमविइयाण पढमा, तइयचउत्थाण अहिणवा विइया ।
पंचमछट्ठस्स य सत्तमस्स तइया अहिणवा तु ॥

प्रथमद्वितीययोः, सूत्रे द्वित्वेऽपि बहुवचनं प्राकृतत्वात् । कुलकरयोः प्रथमा हक्कारलक्षणा दण्डनीतिः । तृतीयचतुर्थयोः यशस्व्यभिचन्द्राख्ययोः कुलकरयोरभिनवा द्वितीया मक्कारलक्षणा दण्डनीतिः । किमुक्तं भवति ? स्वल्पापराधे प्रथमया दण्डः क्रियते, महापराधे द्वितीययेति । तथा पञ्चमषष्ठयोः सप्तमस्य च तृतीया धिक्काराख्या अभिनवा। एषा उत्कृष्टा, द्वितीया मध्यमा, प्रथमा जघन्या। एताश्च तिस्रोऽपि लघुमध्यमोत्कृष्टापराधेषु यथाक्रमं प्रवर्तिता इति ।

सेसा उ दंडनीती, माणवगनिहीउ होइ भरहस्स ।
उसभस्स गिहावासे, असक्कतो आसि आहारो ।

शेषा चारकछविच्छेदलक्षणा दण्डनीतिर्भरतस्य माणवकनिधेः सकाशाद्भवति । इयमत्र भावना कोपाविष्करणेन ''रे इतः स्थानान्मा यासीः'' इत्येवं यत्परिभाषणं, यश्च मण्डलिबन्धौयथा नास्मात्प्रदेशादगन्तव्यमित्येवंरूपे द्वे दण्डनीती भगवता ऋषभस्वामिना प्रवर्तिते । चारकछविच्छेदाख्ये च द्वे दण्डनीती भरतेन माणवकनिधेरिति। इदं च नीत्युत्पादाभिधानमन्यास्वप्यतीतासु एष्यासु चावसर्पिणीषु अयमेव न्याय इति ख्यापनार्थम्, तस्य च भरतस्य पिता ऋषभनाथः, तस्य च ऋषभनाथस्य गृहवासे आहार आसीदसंस्कृतः स्वभावसंपन्नः । भगवतो हि ऋषभस्वामिनो यावद्गृहवासस्तावद्देवेन्द्रादेशाद्देवा देवकुरूत्तरकुरुक्षेत्रयोः स्वादूनि फलानि, क्षीरोदसमुद्राच्च उदकमुप नीतवन्त इति।

अथ भरतचक्रवर्त्तिकाले कियत्यो दण्डनीतयः प्रावर्त्तिषतेत्यत आह–

परिहासणा उ पढमा, मंडलिबंधो उ होइ बीया उ।
चारगछविछेयाई, भरहस्स चउव्विहा नीती।

भरतस्य साम्राज्यानुभवनकाले चतुर्विधा दण्डनीतिरभूत्। तद्यथा–प्रथमा स्वल्पापराधविषया परिभाषणा प्रागुक्तस्वरूपा भगवता आदिनाथेन प्रवर्त्तिता आसीत्। द्वितीया मण्डलिबन्धो मण्डलिबन्धाख्या आदिनाथेनैव प्रवर्त्तिता, साऽपि किञ्चिन्महापराधविषया। तृतीया चारकलक्षणा भरतेन माणवकविधिं परिभाव्य प्रवर्तिता, सा गुरुतरापराधविषया। चतुर्थी छविच्छदादिका, आदिशब्दाच्छिरः कर्त्तनादिपरिग्रहः। कुलकराणामुत्पत्तिः, ''पलितोवमट्ठभागे, सेसम्मि य कुलगरुप्पत्ती'' इति वचनात्। तत्र पल्योपमं किलासत्कल्पनया चत्वारिंशद्भागं परिकल्पते, तस्याष्टमो भागः, पञ्च च, विधिं परिभाव्य प्रवर्त्तिता, सागुरुतरापराधविषया, चतुर्थी छविच्छेदादिका। आदिशब्दाच्छिरः-कर्त्तनादिपरिग्रहः। सा महापराधविषया, भरतेनैव माणवकनिधेः प्रवर्तितेति। अन्ये तु चतस्त्रोऽप्येताः दण्डनीतयो भरतेनैवोत्पादिता इति व्याचक्षते। आ०म०प्र०।

पञ्चदशकुलकराणां तु–

तत्थ णं सुमई–पडिस्सुई–सीमंकर–सीमंधर–खेमंकराणां एतेसिं णं पंचण्हं कुलगराणं हक्कारे णामं दंडणीई होत्था। तेणं मणुआ हक्कारेणं दंडेणं हया समाणा लज्जिआ विलिआ विड्डा भीआ तुसिणा विणआउणया चिट्ठति। तत्थ णं खेमंधरविमल-वाहणचक्खुमंजसमअभिचंदाण एतेसि णं पंचण्हं कुलगराणं मक्कारणामं दंडणीई होत्था। तेणं मणुआ मक्कारेण दंडेण हया समाणा०जाव चिट्ठंति। तत्थ णं चंदाभपसेणईम-रुदेवणाभिउ-समाणं एतेसि णं पंचण्हं कुलगराणं धिक्कारे णामं दंडणीई होत्था। तेणं मणुआ धिक्कारेणं दंडेणं हया समाणा०जाव चिट्ठंति॥

तेषु पञ्चदशसु कुलकरेषु मध्ये सुमतिप्रतिश्रुतिसीमंकरसीम-न्धरक्षेमंकराणामेतेषां पञ्चानां कुलकराणां हा इत्यधिक्षेपार्थकशब्दस्य करणं हाकारो नाम दण्डोऽपराधिनामनुशासनं तत्र नीतिर्न्यायोऽभवत्। अत्रायं संप्रदायःपुरा तृतीयाऽऽरान्तकालदोषेण व्रतभ्रष्टानामिव यतीनां कल्पद्रुमाणां मन्दायमानेषु स्वदेहावयवेष्विव तेषु मिथुनानां जायमाने ममत्वेऽन्यत्स्वीकृतं तमन्यस्मिन् गृह्णाति, परस्परं जायमाने विवादे सदृशजनकृतपराभवमसहिष्णव आत्माधिकं सुमतिं स्वामितया ते चक्रुः, स च तेषां तान् विभज्य स्थविरो गोत्रिणं द्रव्यमिव ददौ, यो यः स्थिति-मतिचक्राम तच्छासनाय जातिस्मृत्या नीतिज्ञत्वेन हाकारदण्डनीतिं चकार, तां च प्रतिश्रुत्यादत्वारोऽनुचक्रुरितिः, तया च ते कीदृशा अभवन्नित्याह–''तेणमि–त्यादि'' ते (मणुजा णमिति) प्राग्वत्, हक्कारेण दण्डेन हताः सन्तो लज्जिता व्रीडिताः, व्यलीकिताः संजातव्यलीकाः। व्यलीकमपराधः "'विड्डा'' इति विशेषतो जातव्रीडाः, लज्जाप्रकर्षवन्त इत्यर्थः। एते त्रयोऽपि पर्यायशब्दा लज्जाप्रकृष्टतावाचनयोक्ताः। भीता व्यक्तम्, तूष्णीका मौनभाजो विनयावनता न तूल्लण्छा इव निस्त्रपा निर्भया जल्पाका अहंयवश्च तिष्ठन्ति। ते अनेनैव दण्डेन हृतस्वमेवात्मानं मन्यमानाः पुनरपराधस्थाने न प्रवर्तन्त इत्याशयः। अत्र चादृष्टपूर्व-शासनानां तेषां दण्डादिघातेभ्योऽप्यतिशायिसमर्माविच्छासनमिद-मिति हता इति वचनम्। अथोत्तरकालवर्तिकुलकरकाले किं सैव दण्डनीतिरन्या वेत्याशङ्कायां समाधत्ते (तत्थ णमित्यादि) तत्र क्षेमंधरबिमलवाहनचक्षुशस्व्यभिचन्द्राणामेतेषां पञ्चानां कुलकराणां मा इत्यस्य निषेधार्थस्य करणमभिधानं माकारो नाम दण्डनीतिरभवत्। शेषं पूर्ववत्। आवश्यकादौ तुविमलवाहनचक्ष्मुष्मतोः कुलकरयोर्या हाकाररूपा दण्डनीतिः, यच्चाभिचन्द्रप्रसेनजितोरन्तराले चन्द्राभस्या-कथनमित्याद्युत्तरं तद्वाचनान्तरेणेति। अयमर्थःक्रमेणातिसंस्तवादिना जीर्ण भीतिकत्वेन हाकारमतिक्रामंस्तु अङ्कुशमिव गम्भीरवेदिषु गजेषु युग्मिषु क्षेमंधरः कुलकुञ्जरो दुश्चिकित्से हि चिकित्सान्तरं कार्यमिति द्वितीयां माकाररूपां दण्डनीतिं चकार। ते च विमलवाहनादयश्च-त्वारोऽनुचक्रुः। अत्र संपदायविदःमहत्यपराधपदे माकाररूपा इत्यभिप्रयेव। श्रीहेमसूरयस्तु ऋषभचरित्रे सप्तकुलकराधिकारे यशस्विवारके दण्डनीतिमाश्रित्याह ''आगस्यल्पे नीतिमाद्यां, द्वितीयां मध्यमे पुनः। महीयसि द्वे अपि च, स प्रायुङ्क्त महामतिः''॥१॥ इत्याहुः। अथ तृतीयकुलकरपञ्चकव्यवस्थामाह–''तत्थ णमित्यादि''। इदं सूत्रं गतार्थं, नवरं धिगित्याक्षेपार्थ एव, तस्य करणमुच्चारणं धिकारः। संप्रदायस्त्वयम्–पूर्वनीतिमतिक्रामत्सु तेषु त्रपामर्यादे इव कामुकेषु च धिगनाम्नीं धिक्कारदण्डनीतिं विदधे तां च प्रसेनजिदादयश्च-त्वारोऽनुकृतवन्तः। महत्यपराधे धिक्कारो, मध्यमजघन्ययोस्तु माकारहाकाराविति। अन्यास्तु परिभाषणाद्या भरतकाले, ''परिभासणा उ पढमा, मंडलिबंधम्मि होइ बीआउ। चारगछविछेमाई, भरहस्स चउव्विहा नीई''॥ इति वचनात्। ऋषभाकाले इत्यन्ये। जं०२ वक्ष०।

अतीतायामुत्सर्पिण्याम्–

जंबूद्दीवे णं दीवे भारहे वासे तीयाए उस्सप्पिणीए सत्त कुलगरा होत्था। तं जहा–''मित्तदामे सुदामे य, सुपासे य सयंपभे। विमलघोसे सुघोसे य, महाघोसे य सत्तमे''॥ स०। स्था०।

अतीतायामवसर्पिण्याम्–

जंबूद्दीवे णं दीवे भारहे वासे तीयाए ओसप्पिणीए दस कुलगरा होत्था। तं जहा–''सयंजले सयाऊय, जियसेणाणंसेण य। कज्जसेणे भीमसेणे, महासेणे य सत्तमे''॥ दढरहे दसरहे सयरहे। स०। स्था०॥

आगमिष्यन्त्यामवसर्पिण्याम्–

जंबूद्दीवे दीवे भारहे वासे आगमिस्साए ओसप्पिणीए दस कुलगरा भविस्संति। तं जहा–सीमंकरे सीमंधरे खेमंकरे खेमंधरे विमलवाहणे। संमुत्ती पडिस्सुए दढधणू सयधणू दसधणू। स्था०१० ठा०।

आगमिष्यन्त्यामुत्सार्पिपयाम्–

जबूद्दीवे दीवे भारहे वासे आगमिस्साए उस्सप्पिणीए सत्त कुलगरा भविस्संति। तं जहा–''मित्तवाहण सुभोमे य

सुप्पभे य सयंथभे । दत्ते, सुहुमे सुबंधू य, आगमिस्सेण होक्खई'' ॥१॥ स्था०७ ठा० ।

आगमिष्यन्त्यामुत्सर्पिण्यामैरवते –

जंबुद्दीवे णं दीवे आगमिस्साए उस्सप्पिणीए एरवए वासे दस कुलगरा भविस्संति । तं जहा–विमलवाहणे सीमंकरे सीमंधरे खेमंकरे खेमंधरे दसधणू दढधणू सयधणू पडिसुई सुमई ति । स०॥

कुलक(ग)रइत्थी स्त्री० (कुलकरस्त्री) कुलकरपत्नीषु, ''चंदजस चंदकंता, सुरूप पडिरूव चक्खुकंता य। सिरिकंता मरुदेवी, कुलकरइत्थीण णामइं ॥१॥ स्था०७ ठा० ।

कुलक(ग)रंगडिया स्त्री०(कुलकरगण्डिका) कुलकरवक्तव्यतार्थाधिकारानुगतायां वाक्पद्धतौ, यत्र कुलकराणां विमलवाहनादीनां पूर्वजनमाभिधीयते । स० ।

कुलक(ग)रवंस पुं० (कुलकरवंश) कुलकराणां प्रवाहे अचये, तत्प्रतिपादकत्वात् प्रवचने च । स० ।

कुलकहा स्त्री० (कुलकथा) स्त्रीणां कुलप्रशंसायाम्, यथा ''अहो चौलक्यपुत्रीणां, साहसं जगतोऽधिकम् । पत्युर्मृत्यौ विशन्त्यग्निं, याः प्रेमरहिता अपि ॥१॥'' प्रश्न०४ संव० द्वार।

कुलकित्तिकर त्रि० (कुलकीर्तिकर) कुलख्याति (एकदिग्गामिप्रसिद्धि)करे, ज्ञा०१ श्रु०१ अ० । भ० । कल्प० ।

कुलकेउ त्रि० (कुलकेतु) केतुः चिह्नं इत्यनर्थान्तरम्, केतुरिव केतुरद्भुतत्वात्, कुलस्य केतुः कुलकेतुः । भ०११ श०११ उ० । ज्ञा० । कुलेऽत्यद्भुते, कल्प०३ क्षण ।

कुलकोडी स्त्री० (कुलकोटि (टी)) एकेन्द्रियादीनां जातिविशेषे, यथा द्वीन्द्रियाणां गोमये उत्पद्यमानानां कृम्याद्यनेकाकाराणि कुलानि । स्था०१० ठा० ।

इदानीं "'कुलकोडीणं संखा जीवाणं ति" पञ्चाशदधिक – शततमं द्वारमाह –

बारस सत्त य तिन्नि य, सत्त य कुलकोडिसयसहस्साइं ।
नेया पुढविदगागणिवाऊणं चेव परिसंखा ॥६७७॥

पृथिव्युदकाग्निवायूनामेव कुलान्याश्रेत्य परिसंख्यानं परिसंख्या यथाक्रमं ज्ञेया । तद्यथा–द्वादश कुलकोटिशतसहस्राणि लक्षाः पृथिवीकायिकानां, सप्त उदकजीवानां, त्रीण्यग्निकायिकानां, वायूनां पुनः सप्तैव कुलकोटिशतसहस्राणि ।

कुलकोडिसयसहस्सा, सत्तऽट्ठ य नव य अट्ठवीसं च ।
बेइंदिअतेइंदिअ–चतुरिंदियहरियकायाणं ॥६७८॥

अत्रापि यथासंख्येन योजनाद्वीन्द्रियाणां सप्त कुलकोटिशतसहस्राणि, अष्टौ त्रीन्द्रियाणाम्, नव चतुरिन्द्रियाणाम्, अष्टाविंशतिर्हरितकायिकानां समस्तवनस्पतिकायिकानाम् ।

अद्धत्तेरस बारस, दस दस नव चेव सयसहस्साइं ।
जलयरपक्खिचउप्पय–उरभुयसप्पाण परिसंखा ॥६७९॥

अत्रापि यथाक्रमं पदघटना । जले चरन्ति पर्यटन्तीति जलचराः, मत्स्यमकरादयः, तेषामर्द्धत्रयोदशकुलकोटिशतसहस्राणि, सार्द्धद्वादश कुलकोटिर्लक्षा इत्यर्थः । पक्षिणां केकिकादीनां द्वादश, चतुष्पदानां गजगर्दभादीनां दश, उः परिसर्पाणां भुजङ्गादीनां दश, भुजपरिसर्पाणां गोधानकुलादीनां नव कुलकोटिलक्षाणि भवन्ति ।

छव्वीसा पणवीसा, सुरनेरइयाण सयसहस्साइं ।
बारस य सयसहस्सा, कुलकोडीणं मणुस्साणं ॥६८०॥

षड्विंवशतिर्देवानां, पञ्चविंशतिः नारकिणां, मनुष्याणां पुनर्द्वादश कुलकोटीनां शतसहस्राणि भवन्ति ।

अथ पूर्वोक्तानामेव कूलानां सर्वसंख्यामाह –

एगा कोडाकोडी, सत्ताणउई भवे सयसहस्सा ।
पन्नासं च सहस्सा, कुलकोडीणं मुणेयव्वा ॥६८१॥

सर्वसंख्यया एका कुलकोटिकोटिः सप्तनवतिकुलकोटीनां शतसहस्राणि पञ्चाशच्च सहस्राः कुलकोटीनां ज्ञातव्याः । प्रव० १५१ द्वार ।

चउरिंदियाणं नव जाइकुलकोडिजोणिप्पमुहसयसहस्सा पण्णत्ता । भुयगपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं नव जाइकुलकोडिजोणिपमुहसयसहस्सा पण्णत्ता ॥

''नव जाईत्यादि'' । चतुरिन्द्रियाणां जातौ यानि कुलकोटीनां योनिप्रमुखानां योनिद्वाराणां शतसहस्राणि तानि तथा भुजैर्गच्छन्तीति भुजगा गोधादय इति । स्था०९ ठा० ।

चउप्पयथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं दस जाइकुलकोडिजोणीपमुहसयसहस्सा पण्णत्ता । उरपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं दस जाइकुलकोडिजोणिप्पमुहसयसहस्सा पण्णत्ता ॥

''चउप्पए'' इत्यादि । चत्वारि पदानि पादा येषां ते चतुष्पदाः, ते च ते स्थले चरन्तीति स्थलचराश्चेति चतुष्पदस्थलचराः, ते च ते पञ्चेन्द्रियाश्चेति विग्रहः। पुनस्तिर्यग्योनिकाश्चेति कर्मधारयः, तेषां दशेति दशैव, जातौ पञ्चेन्द्रियजातौ, यानि कुलकोटीनां जातिविशेषलक्षणानां योनिप्रमुखानि उत्पत्तिस्थानद्वारकाणि शतसह-स्राणि लक्षाणि तानि तथा प्रज्ञप्तानि सर्वविदा । तत्र योनिर्यथागोमयो द्वीन्द्रियाणामुत्पत्तिस्थानमङ्गलानि तत्रैकत्रापि द्वीन्द्रियाणां कृम्याद्यनेकाकाराणि प्रतीतानि । तथा उरसा वक्षसा परिसर्पन्ति संचरन्तीत्युरःपरिसर्पास्ते च ते स्थलचराश्चेत्यादि । स्था०१० ठा० । आचाराङ्ग-प्रथमाध्ययनषष्ठोद्देशकवृत्तौ–''कुलकोडिसयमहस्सा, बत्तीसमयट्ठनव य पणवीसा । एगिंदिबितेइंदियचउरिंदिअ हरिअकायाणं'' ॥१॥ अत्र गाथायां पृथिव्यादिचतुर्णां कुलकोटिलक्षा द्वात्रिंशद्वनस्पतिकायानां पञ्चविंशतिकुलकोटिलक्षाः । संग्रहण्यां तु–''एगिंदिएसु पंचसु, वारसगतिसत्तअट्ठवीसा य'' इति । अत्र चतुर्णां पृथिव्यादीनां द्वादशसप्तत्रिंसप्तमीलने एकोनत्रिंशत्कुलकोटिलक्षा भवन्ति । आचाराङ्गवृत्तौ तु पृथिव्यादीनां पृथक् २ कति कुलकोटिलक्षा इति सम्यक् प्रसाध्यमिति प्रश्ने, उत्तरं तु आचाराङ्गोक्तपृथिव्यादीनां चतुर्णां द्वात्रिंशत्कुलकोटिलक्षेषु प्रत्येकं व्यक्तिर्नोपलभ्यत इति । प्र०१६ । सेन० प्र०२ उल्ला० ।

तथा–कुलकोटीमध्ये एककुलस्य कियन्त पुरुषाः सन्ति, उत्तममध्यमजघन्यभेदभाजश्च कियन्त इति प्रश्ने, उत्तरम्–अष्टाधिकशतपुरुषा एककुलमध्ये भवन्तीति प्रसिद्धिरस्ति इति, पर म् उत्तममध्यमजघन्यभेदात्ते ज्ञाता न सन्ति, तथा एतस्य व्यक्ताक्षराणि शास्त्रे न दृष्टानीति ।४६८ प्र०। सेन०प्र०३ उल्ला०।

कुलक्ख पुं० (कुलक्ष) अनार्य्यक्षेत्रभेदे, तद्वासिनि जने च। सूत्र०१ श्रु०५ अ०१ उ०।

कुलक्खय पुं० (कुलक्षय) कुलनाशे, जी०३ प्रति०।

कुलराणसंघवज्झ त्रि० (कुलगणसङ्घबाह्य) कुलगणसङ्घेभ्य आर्हतसमुदायविशेषलक्षणेभ्यो बहिष्कृते, तत्र येषु कृत्येषु कुलगणङ्गबाह्यः क्रियते तानि –

गुरुं पडिसूरेज्जा, अन्नं वा गणहराइयं कहिं वि हीजिज्जा, गच्छायार वा संघायारं वा वंदणपडिक्कमणमाइमंडली धम्मं वा अइक्कामेज्जा, अविहीए पव्वावेज्ज वा, उवसग्गस्स वा उवट्ठावेज्ज वा सुत्तं वा अत्थं वा उभयं वा परूवेज्ज अविहीए सारेज्ज वा वारिज्ज वा वाएज्ज वा विहीए वा सारणवारणचोयणं ण करेज्जा उम्मग्गपट्ठियस्स वा, जहा विहीए जाव णं सयलज्झणसन्निजं परिवाडीए ण भासेज्जा हियं भासं सपक्खगुणावहः एतेसुं सव्वेसुं पत्तेगं कुलगणसंघबज्झो; कुलगणसंघवज्झीकयस्स णं अचंतयो खीरतवाणुट्ठाणं मिरयस्स वि ण गोयमा ! अणुप्पेही, तम्हा कुलगणसंघ–ज्झीकयस्स णं खणखणद्धघडिगं वा ण चिट्ठेयव्वं ति। महा०७ अ०।

कुलघर न०(कुलगृह)। पितृगृहे, औ०।

कुलघररक्खिय त्रि० (कुलगृहरक्षित)पितृगृहपालिते, औ०।

कुलजसकर त्रि० (कुलयशष्कर) कुलस्य सर्वदिग्गामिख्यातिकरे ''एकदिग्गामिनी कीर्तिः, सर्वदिग्गामि वै यशः'' इति वचनात्। कल्प०३ क्षण। भ०। ज्ञा०।

कुलजुअ पु० (कुलयुत) कुलं पैतृकं, तथा च लोके व्यवहारःइक्ष्वाकुकुलजोऽयमित्यादि, तेन युतः। कुलीने, कुलयुतः सूरिः प्रतिपन्नार्थनिर्वाहको भवति। द्वितीयगुणवत्त्वं तस्य। प्रव०६४ द्वार।

कुलजोगि(ण्) पुं० (कुलयोगिन्) योगिकुलजाते योगिनि, तल्लक्षणं चेदम्–

ये योगिनां कुले जातास्तद्धर्मानुगताश्च ये।
कुलयोगिन उच्यन्ते, गोत्रवन्तोऽपि नापरे ॥२१॥

(ये इति) योगिनां कुले जाता लब्धजन्मानः, तद्धर्मानुगताश्च योगिधर्मानुसरणवन्तश्च ये प्रकृत्याऽन्येऽपि ते कुलयोगिन उच्यन्ते। द्रव्यतो भावतश्च गोत्रवन्तोऽपि सामान्येन कर्मभूमिं भव्या अपि नाऽपरे कुलयोगिन इति ॥२१॥

सर्वत्राद्वेषिणश्चैते, गुरुदेवद्विजप्रियाः।
दयालवो विनीताश्च, बोधवन्तो जितेन्द्रियाः ॥२२॥

(सर्वत्रेति) एते च तथाविधाग्रहाभावेन सर्वत्राद्वेषिणः, तथा धर्मप्रभावाद् यथास्वाचारं गुर्वादिप्रियाः, तथा प्रकृत्या क्लिष्टपापाभावेन दयालवः विनीताश्च कुशलानुबन्धिभव्यतया बोधवन्तो ग्रन्थिभेदेन जितेन्द्रियाश्चारित्रभावेन। द्वा०१६ द्वा०।

कुलडा स्त्री० (कुलटा) कुलात् कुलान्तरमटति अट अच् शक० पररूपम्। स्वैरिण्यां वेश्यास्त्रियाम्, बृ०१ उ०। या तु भिक्षार्थं कुलभटति सा कुलाटा इति न शक० इतिभेदः। वाच०।

कुलणंदिकर त्रि० (कुलनन्दिकर) कुलस्य नन्दिवृद्धिस्तत्करः। कल्प०३ क्षण। कुलवृद्धिकरे, ज्ञा०१श्रु०१अ०। कुलसमृद्धिहेतौ, भ०११ श०११ उ०।

कुलणाम(ण्) न० (कुलनामन्) कुलमाश्रित्य क्रियमाणे नामस्थापने, अनु०।

से किं तं कुलनाम ? कुलनामे उग्गे भोगे रायणे खत्तिए इक्खागे णाते कोरवे, सेत्तं कुलनामे।

''से किं तं कुलनामे'' इत्यादि। यो यस्मिन्नुग्रादिकुले जातस्तस्य तदेवोग्रादिकुलनाम स्थाप्यमानं कुलस्थापनानामोच्यत इति भावार्थः। अनु०।

कुलतंतु पुं० (कुलतन्तु) ६त०। कुलसन्ताने, व्य०६ उ०। कुलस्य तन्तुरिव। कुलावलम्बने, वाच०।

कुलतिलग(य) त्रि० (कुलतिलक) कुलस्य भूषकत्वादविशेषके, भ०११ श०११ उ०। ज्ञा०।

कुलत्थ पुं० (कुलत्थ) कुलं भूलग्नं सत् तिष्ठति स्थाक–पृषो०। वाच०। धान्यभेदे, प्रव०१५६ द्वार प्रज्ञा०। जं० आचा०। कुलत्थाश्च पलकतुल्याश्चिपिटा भवन्ति। जं०२ वक्ष०। भ०। ''कुलत्था चवलगसरिसा चिप्पडिया भवंति'' स्था०५ठा०३उ०। वाच०। वनकुलत्थे, स्त्री०टाप्।

तत्पर्य्यायादि उक्तम्–

''कुलत्थिका कुलत्थश्च, कथ्यन्ते तद्गुणा अथ।
कुलत्थः कटुकः पाके, कषायो रक्तपित्तकृत्॥
लघुर्विदाही वीर्य्योष्णः श्वासकासकफानिलान्।
हन्ति हिक्काश्मरीशुक्र–दाहानाहान् सपीनसान्॥
स्वेदसंग्राहको भेदो, ज्वरकृमिहरः परः''॥

कुलत्थिकेति निर्देशात् स्त्रीत्वमपि। सा च उपचारात् तदुत्थाञ्जने, वनकुलत्थायाम्, स्त्री०॥ "'कुलाली लोचनहिता चक्षुष्या कुम्भकारिका। (कुलत्थिकेति) वनकुलत्थापरपर्य्याये उक्ते स्वार्थे कः। तत्रेवार्थे कुलत्थे, सज्ञायां कन्। कुलत्थाञ्जनाकारप्रस्तरभेदे, वाच०।

कुलत्थ त्रि० कुले तिष्ठन्तीति कुलस्थाः। कुलीने, नि०३ वर्ग। ज्ञा०। ''कुलत्था ते भंते ! भक्खेया अभक्खेया ? सोमिला ! कुलत्था मे भक्खेया वि अभक्खेया वि''। भ०१८ श०१० उ०। (सोमिलादिशब्देषु वक्ष्यते)

कुलत्थेर पुं० (कुलस्थविर) पं० चू०।

चरणकरणे समग्गो, जो जत्थ जदा कुलप्पहाणो तु।
सो होति कुलत्थेरो, कुलचरित्तवियारओ धीरो।
पासत्थोसन्नकुसीलट्ठाणपरिरक्खितो दुपक्खे वि।
सो होति कुलत्थेरो, कुलथेरगुणेहिं उववेदो ॥पं० भा०।

कुलगणसंपउत्तो पुण सो कुलत्थेरो होइ चरणकरणसमग्गो समग्र उपपेत इत्यर्थः। अहवा–चरणकरणानां सामग्री यो

यदा यस्मिन् कुले प्रधानः, एवंगुणसमत्वागतः स भवान् कुलस्थविरो भवति, कुलाचारविहिन्नू पासत्थाइठाणपरिक्खआ अप्पणं च परं च परिरक्खइ सो कुलथेरो भवइ। कुलथेरो गुणेहिं उववेओ''। इत्कुलक्षणे स्थविरभेदे, पं०चू०।

कुलदिणयर पुं० (कुलदिनकर) कुले दिनकर इव प्रकाशकत्वात् यः सः। कुलप्रकाशके, कल्प०३ क्षण।

कुलदीव पुं० (कुलदीप) कुले दीप इव दीपः प्रकाशकत्वात्। भ०११ श०११ उ०। कुलप्रकाशके, मङ्गलकारके च। कल्प०३ क्षण। ज्ञा०।

कुलदेवया स्त्री० (कुलदेवता) कुले पूज्या देवता। कुलक्रमेणोपास्यदेवतायाम्, वाच०। ''तत्थंतरस्स कुलदेवया मा अकिज्जुमायरओ वाहेमि त्ति''। आ० म० द्वि०। स्वगृहे कुलदेवताऽभिनिवेशात्। स्था०४ ठा०३ उ०।

कुलधम्म पुं० (कुलधर्म) उग्रादिकुलाचारे, कुलं चान्द्रादिकमार्हतानां गच्छसमूहात्मकं तस्य धर्मः। गच्छसामाचार्य्याम्, स्था०१० ठा०।

कुलपत्त न० (कुलप्राप्त) सचित्तनिमित्तोऽचित्तनिमित्तो वा यो व्यवहारः कुले क्षिप्तो यथेदं सचित्तादिकं विवादास्पदीभूतं कुलेन छेत्तव्यमिति तत्कुलप्राप्तम्। सचित्तादिके विवादास्पदीभूते व्यवहारेण छेद्यतया कुलं प्राप्ते, व्य०३ उ०।

कुलपव्वय पुं० (कुलपर्वत) कुले पर्वत इव कुलपर्वतः अनभिभवनीयः, स्थिराश्रयसाधर्म्यात्। भ०११ श०११ उ०। ज्ञा०। कुले अपराभवनीये स्थिरे, कुलस्याधारे, कल्प०३ क्षण। क्षेत्रमर्मादाकादित्वेन कुलकल्पेषु पर्वतेषु, कुलानि हि लोकानां मर्यादानिबन्धनानि भवन्तीतीह तैरुपमा कृता।

समयक्खेत्ते एगूणचत्तालीसं कुलपव्वया पण्णत्ता। तं जहातीसं वासहरा पंच मंदरा चत्तारि उसुकरा।

तत्र वर्षधरास्त्रिंशद्, जम्बूद्वीपधातकीखण्डपुष्करार्द्धपूर्वापरार्द्धेषु च प्रत्येकं हिमवदादीनां षण्णां भावात्। मन्दराः पञ्चेषुकारा धातकीखण्डपुष्करार्द्धयोः पूर्वेतरविभागकारिणश्चत्वारः, एवमेव एकोनचत्वारिंशदिति। स०४० सम०।

कुलपायव पुं० (कुलपादप) छायाकरत्वात आश्रयत्वाच्च कुलस्य पादप इव वृक्ष इव कुलपादपः। कल्प०३ क्षण। कुलस्याश्रयणीयच्छाये, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०। भ०।

कुलपुत्त पुं० (कुलपुत्र) कुलरक्षकः पुत्रः। वंशधरे, पुत्रे, ततः कर्मणि च मनोज्ञा० वुञ् कौलपुत्रकः। तद्भावे, तत्कर्मणि च। न०। वाच०। उत्त०१ अ०। आव०। (एकस्य कुलपुत्रस्य भ्रातृध्नमोचने क्रोधाऽसत्यताकरणे उदाहरणं कोह शब्दे वक्ष्यते)

कुलप्पसूअ त्रि० (कुलप्रसूत) कुले सत्कुले प्रसूतः। सत्कुले जा ते, वाच०। ''तरिअव्वा व पइन्निअ, मरिअव्वं वा समरे समत्थेणं। असरिसजणउल्लावा, न हु सहिअव्वा कुले पसूएणं''॥ आव०४ अ०।

कुलबहु स्त्री० (कुलवधू) कुले गृहे एव स्थिता वधूः। गृहमात्रस्थितायां योषिति, ''बूते बूतां व्रजकुलवधूः क्वापि साध्वी ममाग्रे।'' कुलयोषिदाक्ष्योऽप्यत्र। ''असंस्कृतप्रमीतानां त्यागिनांकुलयोषिताम्'' वाच०। आव०५ अ०।

कुलबहूणाय न० (कुलवधूज्ञात) कुलाङ्गनोदाहरणे, पञ्चा०११ विव०।

कुलमंडण पुं० (कुलमण्डन) स्वनामख्याते आचार्ये, स च वि० सं०१४०६ मिते जातः सं०१४१७ मिते देवसुन्दरसूरिपार्श्वे प्रव्रजितः सं०१४४२ मिते सूरिपदे स्थापितः, सिद्धान्तालोकोद्धारविचारसङ्ग्रहनामानौ ग्रन्थौ रचयित्वा सं०१४४५ मिते देवलोकं गतः। जै०इ०।

कुलमय पुं० (कुलमद) कुलजत्वाभिमाने, ''दसहिं ठाणेहिं अहमंतीति यंभेज्जा। तं जहा–जाइमएण वा कुलमएण वा। स्था०१० ठा०। स०।

कुलमसी स्त्री० (कुलमषी) कुलमालिन्यहेतौ, प्रश्न०३ आश्र० द्वार।

कुलमहत्तरिया स्त्री० (कुलमहत्तरिका) कुले प्रतिष्ठितायां वृद्धस्त्रियाम्, अवतीर्य वरं स्वयमेवाभरणान्युन्मुञ्चति वीरजिनः तानि कुलमहत्तरिका छिन्नमुक्ताफलप्रकाशान्यश्रूणि विनिर्मुञ्चन्ती हंसलक्षणेन पटशाटकेन प्रतीच्छति। आ० म० द्वि०।

कुलय पुं० (कुलज) प्रशस्यकुलजाते, अनिघ्नकुलजाते, पञ्चा०१ विव०। विशिष्टकुलोत्पन्ने, स ह्यङ्गीकृतभारपारगमनं प्रति समर्थो भवतीति तस्य जिनभवनकरणेऽधिकारित्वम्। दर्श०।

***कुलय** न०। गण्डूषे, ध०२ अधि०।

कुलरोग पुं० (कुलरोग) कुलव्यापके रोगे, जं०२ वक्ष०।

कुलल पुं० (कुलल) गृद्धे, उत्त०१४ अ० शकुनौ, उत्त० १४ अ०। जलाश्रये आभिषजीविनि पक्षिविशेषे, सूत्र०१ श्रु०११ अ०। मार्जारे, ''जहा कुक्कुडपोयस्स णिच्चं कुललओ भयं'' कुललतो मार्जारात्। दश०४ अ०।

कुलव पुं० [(कुड(ल)प] मगधदेशप्रसिद्धे धान्यमानविशेषे, रा०। ''चउसेइयाओ'' ओघ०। चतस्रः सेतिकाः कुडवः। अनु०। ''पत्थेण व कुलएण व, जह कोइ मिणेज्ज सव्वधन्नाई'', दश०४ अ०। ''तिण्णि य पलाणि कुलवो, करिसद्धं चेव होइ बोधव्वो। चत्तारि चेव कुलवा, पत्थो पुण मागहो होइ॥'' इह कुलवो मागधदेशप्रसिद्धो यदा धरिमप्रमाणेन मासुमिष्यते तदा स त्रीणि पलानि, एकस्य च कर्षस्य पलचतुर्भागरूपस्यार्द्धं बोद्धव्यः। ज्यो०२ पाहु०।

कुलवइ पुं० (कुलपति) ''मुनीनां दशसाहस्रं, योऽन्नदानादिपोषणात्। अध्यापयति विप्रर्षिरसौ कुलपतिः स्मृतः''॥ इति पुराणोक्तलक्षणे मुनिभेदे, वाच०। ''स चातिकोपनत्वेन, ख्यातोऽभूच्चाण्डकौशिकः। मृते कुलपतौ तत्र, सोऽभूत्कुलपतिस्ततः॥''आ० क०।आ०चू०। वंशश्रेष्ठे च। कुलनायकादयोऽप्यत्र। वाच०।

कुलवंस पुं० (कुलवंश) क०स०। कुलरूपे वंशे, भ०११ श०१० उ०।

***कुलवंश्य** कुललक्षणे वंश्ये, ''आसत्तकामाउं कुलवंसाउ य कामं भोत्तुं परिभाएतुं तआ ण होहि''। भ०६ श०३३ उ०। कुलवंश्यात् कुललक्षणवंशे भवः कुलवंश्यस्तस्मात्सप्तमं पुरुषं यावदित्यर्थः। भ०६ श०३३ उ०। ज्ञा०।

कुलवडिंसय पुं० (कुलावतंसक) कुले अवतंसक इव मुकुट इव यः सः, शोभाकरत्वात्। कल्प०३ क्षण। कुलस्यावतंसकः शेखरः उत्तमत्वात्। भ०११ श०११ उ०। ज्ञा०।

कुलवद्धन त्रि० (कुलवर्द्धन) कुलवृद्धिकारके, नामसत्योदाहरणं यथा कुलमवर्द्धयन्नपि कुलवर्द्धन उच्यते इति। स्था०६ ठा०।

कुलवित्तिकर त्रि० (कुलवृत्तिकर) कुलस्य वृत्तिर्निर्वाहस्तत्करः। कुलनिर्वाहके, कल्प०३ क्षण। ज्ञा०।

कुलविवड्ढणकर त्रि० (कुलविवर्द्धनकर) विविधैः प्रकारैर्वर्धनं विवर्धनं तत्करणशीलः। कुलस्याऽनेकैः प्रकारैर्वर्द्धकैः, भ०११ श०१२ उ०। ज्ञा०। ''अम्हं कुलकेउं अम्हं कुलदीवं कुलपव्वयं कुलबडिंसयं कुलतिलयं कुलकित्तिकरं कुलवित्तिकरं कुलदिणयरं कुलआधारं कुलणंदिकरं कुलजसकरं कुलपायवं कुलविवड्ढणकरं सुकुमालपाणिपायं जाव दारयं पयाहिसि''। कल्प०३ क्षण।

कुलविहि पुं० (कुलविधि) कुलकोटिप्रकारे, ''उववाय–ठिइसमुग्घायं च वणजाई कुलविहीओ'' भ०७ श०५ उ०।

कुलवेयावच्च न० (कुलवैयावृत्य) गच्छसमुदायस्य वैयावृत्ये, औ०।

कुलसंताणतंतुवद्धणकर त्रि० (कुलसन्तानतन्तुवर्द्धनकर)। कुलरूपो यः सन्तानः स एव तन्तुर्दीर्घत्वात्तद्वर्धनकरं माङ्गल्यत्वात्तत्तथा। माङ्गल्यत्वात्कुलवर्द्धके, भ०८ श०२ उ०।

कुलसंपण्ण त्रि० (कुलसंपन्न) कुलं पैतृकः पक्षः तत्सम्पन्नः। उत्तमपैतृकपक्षयुक्ते, नि०। औ०। रा०। ज्ञा०। स्था०। ''जाई कुलसंपन्नोपायमकिंचन सेवई किंचि। आसेविउं च पच्छा, तग्गुणओ सम्ममालोए॥ ति'' स्था०८ ठा०। गुणवत्पितृकत्वे, स्था०३ ठा०१ उ०।

कुलसमय पुं० (कुलसमय) कुलाचारे, यथा शकानां पितृशुद्धिः, आभीरकाणां मन्थनिकाशुद्धिः। सूत्र०१ श्रु०१ अ० उ०।

कुलसयणमित्तभेयणकारग त्रि० (कुलस्वजनमित्रभेदनकारक) वंशज्ञातिसुहृदविनाशजनके, तं०।

कुलसरिस–त्रि०–(कुलसदृस)। कुलप्रतियोगिकसादृश्यवति, यथाबलस्थ राज्ञः पुत्रस्य महाबल इति नाम। तत्र कुलसदृशं तत्कुलस्य बलवत्पुरुषकुलत्वात् महाबल इति नाम्नश्च बलवदर्थाभिधायकत्वात्। कुलस्य महाबल इति नाम्नश्च सादृश्यमिति। भ०१० श०११ उ०।

कुलहेउ पुं० (कुलहेतु) कुलकारणे, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०।

कुलाजीव पुं० (कुलाजीव) कुलमुग्रादिकं गुरुकुलं वाऽऽजीवत्युपजीवति तत्कुलजमात्मानं चूनादिनोपदर्श्य ततो भक्तादिकं गृह्णातीति कुलाजीवः। आजीवभेदे, आजीवपिण्डदोषयुक्साधुभेदे, स्था०४ ठा०२ उ०।

कुलाण पुं० (कुलाण) लणयोर्विपर्ययः। श्रावस्तीनगरीप्रतिबद्धे देशभेदे, ''सावित्थी य कुलाणा कोडीवरिसं च लाढा य''। सूत्र०१ श्रु०५ अ०१ उ०। प्रज्ञा०। नि० चू०।

कुलाणुरूप त्रि० (कुलानुरूप)कुलोचिते, भ०११ श०११ उ०। ज्ञा०।

कुलादिपत्थार पुं० (कुलादिप्रस्तार) कुलस्य गणस्य वा विनाशे, व्य०३ उ०।

कुलाय पुं० (कुलाय) कुलं पक्षिसंघातोऽयतेऽत्र अय घञ् पक्षिनिलये नीडे, वाच०। ''पक्षिणामण्डकान्यत्ति, कोऽप्यारुह्य फणी तरौ। कुलायमागतः सो हि, गृधेण निहितोऽन्यदा॥ आ०क०। स्थानमात्रे, कौ लायो गतिरस्मात्, देहे, न०। वाच०।

कुलायार पुं० (कुलाचार) कुलसमये, यथा शकानां पितृशुद्धिः, अभीरकाणां मन्थनिकाशुद्धिः। सूत्र०१ श्रु०१ अ०१ उ०।

कुलायारसमण्णिय त्रि० (कुलाचारसमन्वित)। कुलदोषरहिते, व्य०१ उ०।

कुलारिय पुं० (कुलार्य) कुलं पैतृकः पक्षः तेन आर्यः। अपापा निर्दोषाः कुलार्याः। विशुद्धपितृकेषु, ''छव्विहा कुलारिया मणुस्सा पण्णत्ता। तं जहा–उग्गा भोगा राइन्ना इक्खगा णाया कोरवा''। स्था०३ ठा०१ उ०।

कुलाल पुं०,स्त्री० (कुलाल) कुल कालन् अल् अण् कुलमालाति आ ला क वा। वाच०। कुम्भकारे, उपा०७ अ०। को०। कर्म०, कुक्कुभपक्षिणि, जातित्वात्स्त्रियां ङीष्। ततस्तेन कृतमित्यर्थे संज्ञायां कुलाला। वुञ् कौलालकः। तत्कृते शरावादौ, त्रि०। वाच०।

कुलालय पुं० (कुलाट) कुलानि गृहाण्यामिषान्वेषणार्थिनो नित्यं येऽटन्ति ते कुलाटाः। माजरिषु, कुलाटा इव कुलाटाः। ब्राह्मणेषु, सूत्र०२ श्रु०६ अ०।

***कुलालय** पुं०। कुलानि क्षत्रियादिगृहाणि तानि नित्यं पिण्डपातान्वेषिणां परतर्कुणामालयो येषां ते कुलालयाः। क्षत्रियादिगृहे नित्यं भिक्षां याचमानेषु, सूत्र०२ श्रु०६ अ०। ''सिणायगाणं तु दुवे सहस्से जे भोयए णितिए कुलालयाणं''। सूत्र०२ श्रु०६ अ०।

कुलिंग न० (कुलिङ्ग) कुत्सितं लिङ्गंकुलिङ्गम्। शिवसुखाऽऽसाधके, दर्श०। तापसपरिव्राजकादीनां स्वरुचिविरचिताकारे, आ० चू०१ अ०। आ० म०। कुतीर्थिनि, पुं०। आ० म० द्वि०।

कुलिंगाल पुं० (कुलाङ्गार) कुलस्य स्वगोत्रस्याङ्गार इवाङ्गारो दूषकत्वादुपतापकत्वाद् वा। कण्डरीककल्पे सुतभेदे, कूलवालुकतुल्ये उदायिनृपमारकसदृशे शिष्यभेदे च। स्था०४ ठा०१ उ०।

कुलिंगि(ण्) पुं (कुलिङ्गिन्) कुत्सितो लिङ्गि कुलङ्गी। विशे०। कुत्सितं लिङ्ग कुलिङ्गं शिवसुखसाधकं, तद्विद्यते येषां ते कुलिङ्गिनः। स्वरुचिविरचिताकाराचारेषु त्रिदण्डिबौद्धापससरजस्कादिषु, ''गिहिलिंगि कुलिंगी य दव्वलिंगिणो तिन्नि हुंति भवमग्गा''। दर्श०। कुतीर्थिकेषु, प्रश्न०२ आश्र० द्वार। कुत्सितानि लिङ्गानि इन्द्रियाणि यस्याऽसौ कुलिङ्गी। द्वीन्द्रियायादौ, कुलिंगी मरिज्ज तं जोगमासज्ज।'' ओघ०।

चोदगाह–किं बुत्तं कुलिंगी काणि वा लिंगाणि को वा लिंगी-

कु–त्थितलिंग कुलिंगी, जस्स व पंचेंदिया असंपुण्णा।
लिंगिंदियाइं आता–उ लिंगं तो घिप्पते तेहिं ॥६६॥

कुसद्दो अणिट्ठवादी, कुत्सितेन्द्रिय इत्यर्थः। सेसं कंठं। (जस्तेत्ति) जस्स पाणिणो (पंचिंदिया असंपुण्ण त्ति) अत्थि पंचिंदिया, किं तर्हि असंपुण्णा, जहा असंणिणणो परिफुडत्थपरिच्छेइणो ण भवंति त्ति भणियं भवति, एरिसे अत्थे एयं वयणं ण भवति, इमं तु पंच ण कज्जंति त्ति भणियं भवति, द्वीन्द्रियादारभ्य यावत् चतुरिन्द्रिय इत्यर्थः। सो कुलिंगी, लिङ्गमिति जीवस्य लक्षणं, यथा अप्रत्यक्षोऽप्यग्निर्धूमेन लिङ्ग्यते ज्ञायत इत्यर्थः। एवं लिंगाणिंदियाणि अतो आत्मा लिङ्गमस्यास्तीति लिङ्गी, आत्मा लिंगी घेप्पते, तेहिं इन्द्रियैरित्यर्थः। नि० चू०१ उ०।

कुलिय–त्रि०(कुलिक) कुलमधीनत्वेन प्राशस्त्येन वाऽस्त्यस्य ठन्। कुलश्रेष्ठे, शिल्पप्रधाने, शाकभेदे पुं०। वाच०। हलविशेषे, प्रश्न०१ द्वार। अधोनिबद्धतर्यक्तीक्ष्णलोहपट्टिकं कुलिकं लघुतरं काष्ठ तृणादिच्छेदार्थं यत् क्षेत्रे वाह्यते तन्मरुदण्डलादिप्रतिद्ध कुलिकमुच्यते। अनु०। दन्तान्तरालवर्तिन्यक्कृतकाष्ठे उभयपार्श्वनिखातकाष्ठमय–कीलकयोस्तिर्यग्व्यवस्थापिततीक्ष्णलोहपट्टकं हरितादिच्छेदनार्थं क्षेत्रेषु यद्वाह्यते तल्लाटादिकृषीबलप्रतीतं वेदितव्यम्। विशे०। कुलितं णाम सुरट्ठा वि सते दुहत्थप्पमाणं कट्ठं, तस्स अंते आयखीलगा, तेसु एगाओ एगहारो य लोहपट्टो अडिज्जति सो जावति तं दोच्चादि तणं तं सव्वं छिंदंतो गच्छति, एयं कुलियं। नि०चू०१उ०। आचा०।

कुड्य–न० भित्तौ, सूत्र०१ श्रु०२ अ०१ उ०। नि० चू०। इष्टकादिरचिता भित्तिः, मृत्पिण्डादिनिर्मितं कुड्यम्। बृ०२ उ०।

कुलियकड–त्रि०(कुलिकाकृत) कुड्यालीने कुड्ये स्थपिते, उ०२ उ०।

कुलिया–स्त्री०(कुलिका) कुड्ये, बृ०२ उ०।

कुलिव्वत–त्रि०(कुलिवत्) समानकुलोद्भवे, "अहवा कुलिव्वतो उप्पव्वज्जा एगपक्खीओ" बृ० ४ उ०। कुलसत्के, "देण्हं वहूणं च पिंडए कुलिव्वमंतं जयभिधारे" (कुलिव्वमंतं ति) कुलसत्कमन्यसामाचार्यमिभिधारयति। व्य०४ उ०।

कुलीण–पुं०स्त्री०(कुलीन) कुले खः। विशुद्धकुलोत्पन्ने, बृ०१ उ०। सत्कुलजे हये, स्त्रियां ङीष्। कौ पृथिव्यां लीनः। भूमिलग्ने, त्रि०। संशायां कन्। वाच०।

कुलोवकुल–न०(कुलोपकुल) कुलानामुपकुलानां चाधस्तने नक्षत्रे, चं० प्र०१० पाहु०। सू० प्र०। जं०। (तानि च कुल शब्देऽत्रैव भागे ५६२ पृष्ठे दर्शितानि)

कुल्ल–न०(कुल्य) कुल–क्यप्। **"सर्वत्र लवरामवन्द्रे"** ।८।२।७६। इति लकरादधः स्थस्य यस्य लोपः। अस्धिन, प्रा०२ पाद। अष्टद्रोण–परिमाणे शूर्पे, आमिषे च। कुले भवः यत् कुलजाते, मान्ये च। त्रि०। कुलाय हितं यत्। कुलहिते, त्रि०। कुल्यायां भवः यत्, यलोपः। कुल्याभवे, त्रि०। वाच०।

कुल्ला–स्त्री०(कुल्या) कुल्य टाप्। **"सर्वत्र लवरामवन्द्रे"** ।८।२।७६। इति लकारादधस्थस्य यस्य लोपः। प्रा०२ पाद। कृत्रिमायां नद्याम् पयःप्रणाल्याम्, जीवन्त्यामौषधौ, नदीमात्रे च। स्त्री०। वाच०।

कुल्लाग–पुं०(कुल्लाग)स्वनामख्याते सन्निवेशे, यत्र धम्मिल्लविप्रस्य भद्रिलःभार्यायां सुधर्मा स्वामी जज्ञे। कल्प०८ क्षण।

कुल्लुडिया–स्त्री०(कुल्लडिका) घटिकायाम्, सूत्र०१ श्रु०४ अ०२ उ०।

कुवणय–(देशी) लकुटे, बृ०१ उ०।

कुवल–न०(कुवल) कौ वलति वल्–अच्। उत्पले, मुक्ताफले च। वदर्याम् **"षिद्गौरादिभ्यश्च" ४।१।४१।** इति (पाणि०) ङीष्। तस्याः फलम्, अण् लुक्। वदरीफले, न०। कौ वलनात् जले, सर्पोदरे च। न०। "कुवलं जुवलनाम वालवुड्ढा, ताण वि जेण समाधी तत्कर्तव्यमिति"। नि० चू०१ उ०।

कुवलय–न०(कुवलय) कोर्वलयमिव शोभाहेतुत्वात्। उत्पले, वाच०। स्था०। चन्द्रविकाशिनि कमले, कल्प०३ क्षण। को०।

कुवलयदलसाम–पुं०(कुवलयदलश्याम) नीलोत्पलदलसदृशे श्यामले, जं०३ वक्ष०।

कुवलयप्पभ(ह)–पुं०(कुवलयप्रभ) पापमतिलिङ्गमात्रोपजीविसाधु–कृतसावद्याचार्यत्यपरनामके मरकतच्छवौ तपस्विनि उग्रविहारिणि आचार्यभेदे, यो हि चारित्रभ्रष्टैः स्वाभिमतचैत्यालयसंपादनायाऽर्थितः, वक्तव्येऽपि पापमित्युक्त्वा भवं तीर्णवान्, भ्रष्टैश्च कुपितैः सावद्याचार्य इति प्रथां नीतः। प्रति०। ग०। (कथानकं च 'सावज्जायरिय' शब्दे भावयिष्यामि)

कुवलयायरिय–पुं०(कुवलयाचार्य) पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् कुवलयप्रभाचार्यः। सावद्याचार्ये, "भ्रष्टैश्चैत्यकृतेऽर्थितः कुवलयाचार्यो जिनेन्द्रालये। यद्यप्यस्ति तथाऽप्यदः सतम इत्युक्त्वा भवं तीर्णवान्"। प्रति०।

कुवसहि–स्त्री०(कुवसति) अमनोज्ञे वासस्थाने, "कुभोयणकुवाससा–कुवसहीसु किलिस्संता नेव सुहं नेवं निव्वुइं उवलब्भंति"। प्रश्न०२ आश्र० द्वार।

कुवाइ(ण्)–त्रि०(कुवादिन्) कुत्सितवादिनि, एकांशग्राहकनयानुयायिनि अन्यतीर्थिके, स्था०। "द्रव्यास्तिकरथारूढः, पर्यायोद्यतकार्मुकः। युक्तिसन्नाहवान् वादी, कुवादिभ्यो भवत्यलम्॥१॥" सूत्र०२ श्रु०७ अ०।

कुवाइकुरंगसंतासणसीहणाद–पुं०(कुवादिकुरङ्ग संत्रासना–सिंहनाद) कुवादिनः कुत्सितवादिन एकांशग्राहकनयानुयायिनोऽन्यतीर्थिकास्त एव संसारवनगहनवसनव्य सनितया कुरङ्गा मृगाः, तेषां सम्यक् त्रासने सिंहनादा इव सिंहनादाः। जिनवचनेषु, यथा सिंहस्य नादमात्रमप्याकर्ण्य कुरङ्गा स्त्रासमासूत्रयन्ति यथा भगवद्जिनप्रणीतैवंप्रकारप्रमाणवचनान्यपि श्रुत्वा कुवादिनस्त्रासतामश्नुवते, प्रतिवचनप्रदानकातरतां बिभ्रतीति यावत्। "अनन्तधर्मात्मकमेव तत्त्वमतोऽन्यथा सत्त्वमसूपपादम्। इति प्रमाणान्यपि ते कुवादि–कुरङ्गसंत्रासनसिंहनादाः" ॥२२॥ स्थे०।

कुवावारपोसह–पुं०(कुव्यापारेपोषध) देशत एकतरस्य कस्यापि कुव्यापारस्याकरणे, सर्वतस्तु सर्वेषां कृषिसेवापशुपाल्य गृहकर्मादीनामकरणे, ध०२ अधि०।

कुवास–त्रि०(कुवासस्) ब० स०। मलिनजीर्णवस्त्रावृत्ते, प्रश्न०२ आश्र० द्वार।

कुविंद–पुं०(कुविन्द) स्त्री०। कुं भुवं कुत्सितं विन्दति विद शः। तन्तुवाये, वाच०। प्रज्ञा०१ पद। स्था०।

कुविंदवल्ली–स्त्री०(कुविन्दवल्ली) वल्लीभेदे, प्रज्ञा०१ पद।

कुवित्ति–स्त्री०(कुवृत्ति) कुगति० समा०। निन्दिताचरणे, ईयच्चरणे च। ब० व०। तद्युक्ते, त्रि०। वाच०। अनु०।

कुविय–त्रि०(कुपित) प्रवृद्धकोपोदये, विपा०१ श्रु०६ अ०। ज्ञा०। जातकोपोदये, भ०३ श०१ उ०। कोपं गते, तं०। कोपवति, विपा०१ श्रु०८ अ०। कृतकोपे, प्रश्न०२ आश्र० द्वार। "आयरियं कुवियं नच्चा, पत्तिएण पसायए"। उत्त०१ अ०। कुपितमिति सकोपमनुशासनोदासीनतादिभिः। "पुरिसजाए वि तहा, विणीयविणयम्मि णत्थि अहिओगो। सेसम्मि दुअहिओगो, जणवयजाए जहा आसे ।। "इत्यागमात् कृतबहिष्कोपं वा। उत्त०१ अ०। आ० म०।

***कुप्य**–नु० आशंनशयनभण्डकरोटकलोहाद्युपस्करजाते, आव०६ श्र०। ध०। "कुवियं घरोवक्खरकणगवारसलोहीकडाहगादि उपस्करः कुप्यमुच्यते। तत्र लोहोपस्करो लोहकवल्ली कुद्दालिकाकुठारादिकः, आदिशब्दान्मार्तिकोपस्करो घटादिकः, कांस्योपस्करः स्थालकचोलकादिकः इत्यादिकः सर्वोऽपि परिगृह्यते। बृ०१ उ०।

कुवियपमाणाइक्कम–पुं०(कुप्यप्रमाणातिक्रम) गृहोपस्करस्य स्थालकचोलकादेः प्रत्याख्यानकालगृहीतप्रमाणोल्लङ्घने, उपा०१ अ०। अयं च इच्छापरिमाणस्य पञ्चमोऽतिचारोऽनाभोगादिना अविा पञ्चैव स्थालानि परिगृहीतव्यानीत्याद्यभिग्रहवतः कस्याप्यधिकतराणां तेषां संपत्तौ प्रत्येकं द्वयादिमीलने पूर्वसंख्यावस्थापनेनातिचारोऽयमिति। उपा०१ अ०। आव०।

कुवियफुंफुगा–स्त्री०(कुपितफुंफुगा) घट्टितकुकुलायाम्, "सिंगाररसत्तइया, मोहकुवियफुंफुगा हसहसिं ति। जं सुणमाणस्स कहं, समणेण न सा कहेयव्वा ॥२१८॥" दश०३ अ०।

कुवियसाला–स्त्री० (कुपितशाला) तल्पादिगृहोपस्करणशालायाम्, प्रश्न०३ संव० द्वार।

कुवुट्ठि–स्त्री०(कुवृष्टि)कुत्सिता वृष्टिः कुवृष्टिः। कर्षकजनानभिलषणीयायां वृष्टौ, जं०१ वक्ष०।

कुवेज्ज–पुं०(कुवैद्य) कुगति० स०। दुर्भिषजि, पञ्चा०१५ विव०। तल्लक्षणदोषादिकं सुश्रुते उक्तम्, यथा–

"यस्तु केवलशास्त्रज्ञः, कर्मस्वपरिनिष्ठितः।
स मुह्यत्यातुरं प्राप्य, प्राप्य भीरुरिवाऽऽहवम् ॥
यस्तु कर्मसु निष्णातो, धार्ष्ट्याच्छास्त्रबहिष्कृतः।
स सत्सु पूजां नाप्नोति, वधं चार्हति राजतः ॥
उभावेतावनिपुणा–वसमर्थौ स्वकर्मणि।
अर्द्धवैद्यधरावेता–वेकपक्षाविव द्विजौ ॥
ओषध्योऽमृतकल्पास्ते, शस्त्राशनिविषोपमाः।
भवन्त्यज्ञैरुपहता–स्तस्मादेतौ विवर्जयेत् ॥
छेद्यादिष्वनभिज्ञो यः, स्नेहादिषु च कर्मसु।
स निहन्ति जनं लोभात्, कुवैद्यो नृपदोषतः ॥
यस्तूभयज्ञो मतिमान्, स समर्थोऽर्थसाधने।
आहवे कर्म निर्वोढुं, द्विचक्रः स्यन्दनो यथा" ॥वाच०।

कुवेज्जकिरियादिणाय–न०(कुवैद्यक्रियादिज्ञात) दुर्भिषक्प्रवर्तितरोगचिकित्साप्रभुत्युदाहरणे, "इहरा विवज्जओ वि हु, कुवेज्जकिरियादिणायतो णेओ। अविच होज्ज तत्थ सिद्धी, आणाभंगो न उ य तत्थ" ॥ आदिशब्दादविधिविद्यासाधनादिपरिग्रहः। पञ्चा०१५ विव०।

कुवेणि(णी)–स्त्री०[कुवेणि(णी)] कु ईषत् वेणन्ते मत्स्याः। अम्। वेण इन्। वा ङीप्। मत्स्य धान्याम्, वाच०। "तो ण कुवेणा पीठा" कुवेण्यत्र रूढिगम्या। प्रश्न०२ आश्र० द्वार।

कुवेरग्ग–न०(कुवैराग्य) दुःखगर्भमोहगर्भवैराग्ये, अष्ट०३२ अष्ट०।

कुव्वकारिया–स्त्री०(कुर्वत्कारिका) गुच्छवनस्पतिभेदे, प्रज्ञा०१ पद।

कुव्वमाण–त्रि०(कुर्वत्) विदधति, "आहेवच्चं पोरेवच्चं जाव कुव्वमाणे विहरइ" प्रज्ञा०२ पद। आचरति, आचा०१ श्रु०८ अ०३ उ०।

कुव्वय–न०(कुव्रत) कुत्सिते व्रते, "गोव्वदियादि सापेक्खिया पचग्गितावया पंचगव्वासणिया एवमादिया सव्वे कुव्वया" नि० चू०११ उ०।

कुस–पुं०(कुश) कौ शेते शी–कः। कुं पापं इयति शे ड वा। **"श–षोः सः ।८।१।२६०।** इति शस्य षः। प्रा०१ पाद। वाच० दर्भे, उत्त०१२ अ०। ज्ञा०। दर्भविशेषे, उत्त०७ अ०। निर्मूलदर्भे, भ०८ श०६ उ०। दर्भाः समूलाः, कुशा : निर्मूलाः विपा०१ श्रु०६ अ०। नि०। कुशैर्दर्भैरवच्छिन्नमूलैः। भ०५ श०६ उ०। औ०। 'कुसो दब्भो' नि० चू० १ उ०। भ०। आचा०। प्रज्ञा०। कुशनामके श्रीरामसुते, पुं०। जले, न०। सर्पोदरे, वाच०। वेधप्रोते काष्ठे, कुशो यो वेधप्रोतः प्रवेश्यते। बृ०१ उ०।

कुसंघयण–त्रि०(कुसंहनन) छेदवर्त्या संहननयुक्ते, प्रश्न०३ आश्र० द्वार। सेवाऽऽर्त्तसंहनने, भ०७ श०६ उ०। जं०। बलविकले, प्रश्न०१ आश्र० द्वार।

कुसंठिय–त्रि०(कुसंस्थित) हुण्डादिसंस्थाने, प्रश्न०३ आश्र० द्वार। दुःसंस्थाने, भ०७ श०६ उ०।

कुसंत–पुं०(कुशान्त) दर्भपर्य्यन्ते, रा०।

कुसंसग्ग–पुं०(कुसंसर्ग) साधुजनैर्निन्दनीये सहवासादौ, ध०३ अधि०।

कुसंसग्गच्चाय–पुं०(कुसंसर्गत्याग) कुत्सितः साधुजनैर्निन्दनीयः संसर्गः सहवासादिस्तस्य त्यागो वर्जनम्। पार्श्वस्थादिभिः सह सम्बन्धत्यागे, ध०। कुसंसर्गश्च साधूनां पार्श्वस्थादिभिः पापमित्रैः सह संबन्धरूपः, तैः सह वासे हि स्वस्मिन्नपि तादृग्भावाप–

त्तिरवश्यंभाविनी । यतः—"जो जारिसेण संगं, करेइ सो तारिसोहोइ । कुसुमेहिँ सह वसंता, तिला वि तग्गंधया जाया" ॥१॥ तत एव च पार्श्वस्थादिरिव पार्श्वस्थादिसंसर्गी अपि शस्त्रगर्हणीयतयोक्तः । ध०३ अधि० । ('कुसील' शब्दे 'पासत्थ' शब्दे चेतद् भावयिष्यामि)

कुसग्ग—न०(कुशाग्र) कुशस्याग्रे, उत्त०१ अ० । "जहा कुसग्गे उदगं, समुद्देण समं मिणे । एवं माणस्सुया कामा, देवकामाण अंतिए ॥२३॥" उत्त०७ अ० । "कुसग्गे जह ओसबिंदुए, थोवं चिट्ठइ लंबमाणए । एवं मणुयाण जीवियं, समयं गोयम ! मा पमादए ॥२॥" उत्त०१० अ० । कुशस्याग्रमिव सूक्ष्मत्वात् । कुशाग्रतुल्यसूक्ष्मे अतिदुर्बोधग्राहके, वाच० । कुशाग्रीयया शेमुष्या । आचा०१ श्रु०२ अ०३ उ० ।

कुसग्गपुर—न०(कुशाग्रपुर) राजगृहे, प्राग् राजगृहस्य कुशाग्रपुरमिति नामाऽऽसीत् । "तत्रापि क्षयिणां प्रेक्ष्य, कुशस्तम्बं महोत्थितम् । तद्विदोऽकारयंस्तत्र, कुशाग्रपुरपत्तनम्" ॥४॥ आ० क० । "क्षितिप्रधतिष्ठ वणक—पुरर्षभपुराभिधम् । कुशाग्रपुरसंज्ञं च, क्रमाद् राजगृहाह्वयम्" ॥१४॥ ती०११ कल्प । आव० ।

कुसच्च(त्त)—त्रि०(कुसत्त्व) कुत्सितं सत्त्वं यस्य भवति स कुसत्वः । अलसत्वे, नि० चू०१६ उ० ।

कुसण न० (कुसण)मुद्गदाल्यादिके, तस्योदके च । बृ० २ उ० ।

कुसत्त—पुं०(कुशक्त) आस्तरणविशेषे, ज्ञा०१ श्रु०१ अ० ।

कुसत्थ—न०(कुशास्त्र) मिथ्यादृष्टिशास्त्रे, "शाक्यमतं कपिलमतं ईसरमतादिया सव्वे कुसत्था ।" नि० चू०११ उ० । "शिवमस्तु कुशास्त्राणां, वैशेषिकषष्टितन्त्रबौद्धानाम् । येषां दुर्विहितत्वात् भगवत्यनुरज्यते चेतः" ॥१॥ आचा०१ चू०२ अ०६ उ० ।

कुसपडिया—स्त्री०(कुशप्रतिमा) मृतकशरीराऽप्रातौ तत्संस्कारार्थं क्रियमाणे पुत्तलके, आ०चू०४अ० । आच० । **कुसमट्टिया**—स्त्री० (कुशमृत्तिका) । दर्भैः सह कुट्यमानायां मृत्तिकायाम, नि०चू०१८ उ० ।

कुसमय—पुं०(कुसमय) कुत्सितः समयः कुसमयः । आचा०१ श्रु०५ अ०१ उ० । कुशास्त्रे, प्रति० । कुसिद्धान्ते, स० । परतीर्थिकप्रवचनने, नं० । कुत्सितः संमयः सिद्धान्तो यस्य सः । कुतीर्थिके, स० ।

कुसमयमयनासणय—न०(कुसमयमदनाशनक) कुत्सिताः समयाः परतीर्थिकप्रवचनानि तेषां मदोऽवलेपस्तस्य नाशनं, ततः स्वार्थिक-कप्रत्यये कुसमयमदनाशनकम् । जिनेन्द्रप्रवचने, कुसमयनाशनत्वं चास्य कुसमयानां यथोक्तसर्वभावदेशकत्वायोगात् । "कुसमयमयनासणयं, जिणिंदवसवीरसासणयं ।" नं० ।

कुसमयमोहमइमोहिय—त्रि०(कुसमयमोहमोहमतिमोहितकुसमयमोघ(मौघ) मोहमतिमोहितकुसमयौघमोहमतिमोहित) । कुत्सितः समयः । सद्धान्तो येषां त कुसमयाः कुतीर्थिकाः, तेषां माहः पदार्थेष्वयथावबोधः कुसमयमोहः, तस्माद् यो मोहः श्रोतमनोमूढता, तेन मतिर्मोहिता मूढतां नीता, येषां ते कुसमयमोहमोहमतिमोहिताः, अथवा कुसमयाः कुसिद्धान्तास्तेषामोघः सङ्घो, मकारस्तु प्राकृतत्वात् तस्माद्यो मोहो मूढता तेन मतिर्मोहिता येषां ते कुसमयोघमोहमतिमोहिताः, अथवा कुसमयानां कुतीर्थिकानां मोघो मौघो वा शुभफलापेक्षया निष्फलो यो मोहस्तेन मतिर्मोहिता येषां ते कुसमयमोघमोहमतिमोहिताः, कुसमयमोहमोहमतिमोहिता वा । परतीर्थिकविपरिणामितेषु, "अचिरकालपव्वइयाणं कुसमयमोहमोहमइमोहियाणं संदेहजायसहजबुद्धिपरिणामसंसइयाणं ।" स० ।

कुसमयविसासण—न०(कुसमयविशासन) कुत्सिताः प्रमाणबाधितैकान्तस्वरूपार्थप्रतिपादकत्वेन समयाः कपिलादि प्रणीतसिद्धान्तास्तेषां सन्ति "पंचमहब्भूया" इत्यादिवचन संदर्भेण दृष्टे विषये विरोधाद्युद्भव्कत्वेन विशासनं विध्वंसकम् । जैनशासने, सम्म०२ काण्ड ।

कुसमयसुइ—त्रि०(कुसमयश्रुति)कुसिद्धान्तमतौ, जीवा०२७ अधि० ।

कुसल—त्रि०(कुशल)हिताहितप्रवृत्ति निपूणे, सूत्र०२ श्रु०१ अ० । आचा० । ज्ञा० । आव० । सूत्र० । जं० । अवगततत्वे, आचा०१ श्रु०२ अ०२ उ० । सूक्ष्मेक्षिणि, आचा०१ श्रु०२ अ०४ उ० । विवेकिनि, कल्प०३ क्षण । तत्त्वाऽभिक्षे, उत्त०२५ अ० । मोक्षमार्गाभिज्ञे, सूत्र०१ श्रु०७ अ० । सम्यक्क्रियापरिज्ञानवति, रा० । आ०म० । जी० । अनुमातरि, उत्त०२ अ० । व्यासिग्रहादिदक्षे, द्वा०२३ द्वा० । आलोलितकारिणि, भ०१४ श०१ उ० । अनु० । उपा० । प्रधाने कर्मक्षपणसमर्थे, नि०चू०१उ० । आश्रवादीनां हेयोपादेयतास्वरूपवेदिनि, भ०२ श०५ उ० । भावकुशान—ष्टविधकर्मरूपान् लुनाति छिनत्ति कुशलः । प्राणिनः कर्मोच्छित्तये निपुणे, सूत्र०१ श्रु०६ अ० । "कुसले पुण णो बद्धे णे मुक्के" । कुशलोऽत्र क्षीणघातिकर्माशो विवक्षितः, स च तीर्थकृत् सामान्यकेवली वा, छद्मस्थो हि कर्मणा बद्धो मोक्षार्थी तदुपायान्वेषकः, केवली तु पुनर्घातिकर्मक्षयान्नो बद्धो भवोपग्राहिककर्मसदभावान्नो मुक्तः । यदि वा छद्मस्थ एवाभिधीयते कुशलोऽवाप्तज्ञानदर्शनचारित्रौ मिथ्यात्वद्वादशकषयोपशमसदूभावात् तदुदयवानिव न बद्धोऽद्यापि तत्सत्कर्मतासदभावान्नो मुक्त इत्यादि । आचा०१ श्रु०२ अ०६ उ० । "स पंचधा आयारकुसल संजमपवयणपण्णति संगहोवग्गहे" अत्र कुशलशब्दः पूर्वार्द्धे प्रत्येकं संबध्यते । व्य०३ उ० । (आचारकुशलशब्दस्य प्रवचनकुशलशब्दस्य प्रज्ञप्तिकुशलशब्दस्य संग्रहकुशलशब्दस्य उपग्रहकुशलश—ब्दस्य च व्याख्या संयमकुशलादिशब्देषु) गीतार्थे, आचा०१ श्रु०५ अ०४ उ० । दक्षे, विशे० । "जे यावि भुंजंति तहप्पगारं सेवंति ते पावमजाणमाणा । मणं न एय कुसला करेंती, वाया वि एसा वुइयाउ मिच्छा" ॥३६॥ कुशल । निपुणा मांसाशित्वविपाकवेदिनस्तन्निवृत्तिगुणाभिज्ञाश्च न कुर्वन्ति । सूत्र०२ श्रु०६ अ० । कुत्सितं शलति इति कुशलः । शल, पल, पवृ गतौ । कुत्सिताद् वा निर्गतः कुशलः । वृद्धे, पं० चू० । प्रधाने, "कुसलं पहाणं विसोहिकारणमिति वुत्तं भवति ।" नि० चू०१ उ० । पुण्ये, पञ्चा०६ विव० । कल्याणे, वाच० । सुखे, रा० ।

कुसलजोग—पुं०(कुशलयोग) प्रशस्तव्यापारे, पञ्चा०८ विव० । "तह किरियाभावाउ, सद्धामेत्तीउ कुसलजोगाउ" कुशलयोगत्वात्प्रशस्तमनोव्यापारत्वात् । पञ्चा०१३ विव० ।

कुसलणर—पुं०(कुशलनर) विज्ञपुरुषे, औ० । रा० । जी० । भ० । "कुसलणरच्छयसारहिसुसंपग्गहिए" कुशलनरच्छेकसारथिसु

संप्रग्रहीतः, कुशलनररूपो यश्छेकः सारथिर्दक्षप्राजिता, तेन सुष्ठु संप्रग्रहीतो यः स तथा। भ०७ श०६ उ०।

कुसलत्त–न०(कुशलत्व) प्रावीण्ये, उत्त०३ अ०।

कुसलदंसण–न०(कुसलदर्शन) तीर्थकृतोऽभिप्राये, "त्ते मा होउ एयं कुसलस्स दंसणं, तद्दिट्ठीए तम्मुत्तीए तप्पुरक्कारे तस्सण्णी तण्णिवेसणे"। आचा०१ श्रु०५ अ०६ उ०।

कुसलदिट्ठ–त्रि०(कुशलदृष्ट) जिनोपलब्धे, ग०१ अधि०। निपुणोपलब्धे, सर्वज्ञप्ररूपिते, पञ्चा०१५ विव०।

कुसलधम्म–पुं०(कुशलधर्म) प्राणातिपातविरमणादिके शुभसमाचारे, पञ्चा०। "पञ्चैतानि पवित्राणि, सर्वेषां धर्मचारिणाम्। अहिंसा सत्यमस्तेयं, त्यागो मैथुनवर्जनम्" ॥१॥ पञ्चा०१० विव०। बौद्धैः पुनरेतानि कुशलधर्मा उक्ताः। यदाहुस्ते दश कुशलानि। तद्यथा "हिंसा स्तैन्योऽन्यथाकाम पैशुन्यपुरुषानृतम्। संभिन्नालापं व्यापाद मभिध्यां दृग्विपर्ययम्। पापं कमेति दशधा कायवाङ्मानसैस्त्यजेत्"। अत्र चान्यथाकामं पारदार्यम्, भिन्नालापोऽसंबद्धभाषणं, व्यापादः परपीडाचिन्तनम्, अभिध्याधनादिष्वसंतोषः परिग्रह इति तात्पर्यम्। दृग्विपर्ययो मिथ्याऽभिनिवेशः, एतद्विपर्ययश्च दश कुलशलधर्मा भवन्तीति। वैदिकस्तु ब्रह्मशब्देनैतान्यभिहितानीति। हा०१३ अष्ट०। द्वा०।

कुसलपक्खहेतु–पुं०(कुशलपक्षहेतु) पुण्यपक्षकारणे, पं० व०१ द्वार।

कुसलपरिणाम–पुं०(कुशलपरिणाम) शुभाध्यवसाये, पञ्चा०४ विव०।

कुसलबंध–पुं०(कुशलबन्ध) पुण्यानुबन्धिपुण्यकर्मबन्धने पञ्चा०६ विव०।

कुसलमणउईरण–न०(कुशलमनउदीरण) धर्मध्यानादिप्रवृत्त्या शुभचित्तोदीरणे, दश०। "अकुसलचित्तणिरोहो कुसलमणउईरणं।" दश०७ अ०१ उ०।

कुसलया–स्त्री०–(कुशलता) कौशल्ये, दर्श०।

कुसलविभाग–त्रि०(कुशलविभाग) कुशलो विभागो कुशलविभागः, राजदन्तादित्वाभ्युपगमात् कुशलशब्दस्य पूर्वनिपातः। वणिजीव विभागकुशले, "कुसलविभागसरिसओ, गुरुसाहूया होंति वणिया य॥" व्य०१ उ०।

कुसला–स्त्री०(कुशला) विनीताया नगर्य्या अदूरस्थिता जना विनीताः। वास्तव्यान् जनान् कलासु विशारदानुपलभ्यैवमूचुःअहो! कुशला अमी जनास्ततः कुशलपुरुषयोगाद् विनीता नगरी कुशलेत्युच्यते। विनीतायाम् अयोध्यायाम्, आ० म० प्र०।

कुसलासय पुं० (कुशलाशय) शुभाभिसन्धौ, हा० २६ अष्ट०।

कुसवर–पुं०(कुशवर) भुजगवरद्वीपाद् असंख्येयान् द्वीपसद्रान् गत्वा सम्भवति द्वीपभेदे, अनु०।

कुसविकुसविसुद्धरुक्खमूल–त्रि०(कुशविकुशविशुद्धवृक्षमूल) कुशा दर्भा विकुशा विल्वजादयस्तृणाविशेषास्तैर्विशुद्धानि तदपेतानि वृक्षमूलानि तदधोभागा येषां ते तथा। कुशविकुशर हितमूलभागे, भ०६ श०७ उ०। (वृक्षवर्ण के चैतत्स्पष्टी भविष्यति)

कुसिय–पुं०(कुशिक) गाधिनृपजनके विश्वामित्रपितामहे वाच०।

***कुशित**–त्रि० कुश इतच्। जलमिश्रिते, उणा०। वाच०।

***कुषित**–त्रि०ईषद्, ज्ञा०१ श्रु०१२ अ०।

***कुसित**–पुं० वृद्धिजीविनि, वाच०।

कुसील–न०(कुशील) कुत्सितं शीलं कुशीलम्। आचा०१ श्रु०६ अ०५ उ०। अब्रह्मणि, स्था०४ ठा०४ उ०। कुत्सितं शीलमाचारो यस्य स कुशीलः। आव०३ अ०। आतु०। व्य०। स्था०। भ०। कुत्सितमुत्तरगुणप्रतिसेवया संज्वलनकषायोदयेन वा दूषितत्वात् शीलमष्टादशशीलाङ्गसहस्रभेदं यस्य स कुशीलः। स्था०५ ठा०३ उ०। मूलोत्तरगुणविराधनात् संज्वलनकषायोदयाद्वा (प्रव०६३ द्वार। ध०) कालविनयादिभेदभिन्नानां ज्ञानदर्शन चारित्राचाराणां विराधके, ज्ञा०१ श्रु०५ अ०। स च निर्ग्रन्थभेदः, पार्श्वस्थाद्यन्यतमो वा।

(१) कुशीलभेदाः।
(२) कुशीलप्ररूपणा।
(३) एतेष्वु कौतुककारिषु प्रायश्चित्तम्।
(४) कुशीलवृत्तम्।
(५) पाखण्डकाधिकारः।
(६) अग्निकायसमारम्भे च प्राणतिपातो भवति।
(७) पार्श्वस्थादिसंसर्गो न कर्तव्यः।
(८) पार्श्वस्थादिसंसर्ग दोषाः।

(१) तद्भेदा यथा–

कुसीले णं भंते ! कइविहे पण्णत्ते ? गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते। तं जहा–पडिसेवणाकुसीले य, कसायकुसीले य।

(पडिसेवणाकुसीले य त्ति) तत्र सेवना सम्यगाराधना, तत्प्रतिपक्षस्तु प्रतिसेवना, तया कुशीलः। (कसायकुसीले त्ति) कषायैः कुशीलः कषायकुशीलः।

पडिसेवणाकुसीले णं भंते कइविहे पण्णत्ते ?। गोयमा! पंचविहे पण्णते। तं जहा–णाणपडिसेवणाकुसीले दंसणपडिसेवणाकुसीले चरित्तपडिसेवणाकुसीले लिंगपडिसेवणाकुसीले अहासुहुमपडिसेवणाकुसीले णामं पंचमे। कसायकुसीले णं भंते ! कइविहे पण्णत्ते ? गोयमा ! पंचविहे पण्णते। तं जहा–णाणकसायकुसीले दंसणकसायकुसीले चरित्तकसायकुसीले लिंगकसायकुसीले अहासुहुमकसायकुसीले णामं पंचमे॥

(नाणपडिसेवणाकुसीले त्ति) ज्ञानस्य प्रतिसेवनया कुशीलो ज्ञानप्रतिसेवनाकुशीलः। एवमन्येऽपि। उक्तं चेह–"इह नाणाइकुसीलो, उवजीवं होइ नाणपभिईए। अह सुहुमो पुण तुरसं, एस तवस्सि त्ति संसाए"॥१॥ (नाणकसायकुसीले त्ति) ज्ञानमाश्रित्य कषायकुशीलो ज्ञानकषायकुशीलः। एवमन्येऽपि।

इह गाथा –

"नाणं दंसणलिंगे, जो जुजइ कोहमाणमाईहिं।
सो नाणाइकुसीलो, कसायओ होइ विन्नेओ॥१॥
चरित्तम्मि कुसीलो, कसायओ जो पयत्थई सावं।
मणसा कोहाईए, निसेवयं हो अहासुहुमो॥२॥
अहवा वि कसाएहिं, नाणाईण विराहओ जो उ।
सो नाणाइकुसीलो, नेओ वक्खाणभेएणं॥३॥

भ०२५ श०६ उ०। प्रव०। नि० चू०। ध०।

(२) अधुना कुशीलप्ररूपणामाह –

एत्तो तिविह कुसीलं, तमहं वुच्छामि आणुपुव्वीए।
दंसणनाणचरित्ते, तिविह कुसीलो मुणेयव्वो ॥

त्रिविधं कुशीलमहमानुपूर्व्या वक्ष्यामि। यथाप्रतिज्ञातमेव करोति (दंसणेत्यादि) त्रिविधः कुशीलो ज्ञातव्यः। तद्यथादर्शने, ज्ञाने, चारित्रे च।

एतदेव व्याचिख्यासुराह–

नाणे नाणायारं, जो उ विराहेइ कालमादी य।
दंसणे दंसणायारं, चरणकुसीलो इमो होइ ॥

यो ज्ञानाचारकाले 'विणएत्यादि' रूपं विराधयति स ज्ञाने ज्ञानकुशील उच्यते। यस्तु दर्शनाचारं निःशङ्कितत्वादिकं विराधयति स दर्शने दर्शनकुशीलः। चरणकुशीलोऽयं वक्ष्यमाणस्वरूपो भवति।

तमेवाह–

कोउय भूईकम्मे, पसिणापसिणा य निमित्तमाजीवो।
कक्क कुरुया य लक्खण–मुवजीवति विज्जमंतादी ॥

कौतुकं नाम आश्चर्यं यथा मायाकारको मुखे गोलकान्प्रक्षिप्य कर्णेन निष्काशयति, नाशिकया वा। तथा मुखादग्निं निष्काशवतीत्यादि। अथवा परेषां सौभाग्यादिनिमित्तं यत् स्वपनादि क्रियते एतत् कौतुकम्। उक्तं च–"सोहग्गावि निमित्तं, परेसिण्हवणादि कोउगं भणियं" इति। एवंभूतानि कौतुकानि। तथा भूतादिकर्म नाम यद् ज्वरितादीनामभिमन्त्रितेन क्षारेण रक्षाकरणम् "जरियादिभूतिदाणं भूतीकम्मं विणिदिट्ठं" इति वचनात्। प्रश्नाप्रश्नं नाम यत् स्वप्नविद्यादिभिः शिष्टस्यान्येभ्यः कथनम्। उक्तं च "सुविणगविज्जाकहियं, सुविणगविज्जाकहियं, आयंखणिघंटियादिकहियं वा। जं सीसइ अण्णेसिं, पसिणापसिणं हवइ एयं॥" निमित्तं मतीतादिभावकथनम्। तथा आजीवो नाम आजीविका, स च जात्यादिभेदः सप्तप्रकारस्तान्। तथा कल्को नाम प्रसूत्यादिषु रोगेषु क्षारपातनमथवाऽऽत्मनः शरीरस्य देशतः सर्वतो वा लोध्रादिभिरुद्वर्तनम्। तथा कुरुका देशतः सर्वतो वा शरीरस्य प्रक्षालनम्। लक्षणं पुरुषलक्षणादि। तथा ससाधना विद्या, असाधनो भवः। यदि वा यस्याधिष्ठात्री देवता सा विद्या, यस्य पुरुषः स मन्त्रः, आदिशब्दान्मूलकर्मचूर्णादिपरिग्रहः। तत्र मूलकर्म नाम पुरुषे द्वेषिण्याः सत्याः सपुरुषद्वेविणीकरणमपुरुषद्वेषिण्याः सत्या अपुरुषद्वेषिणीकरणम्, गर्भोत्पादनं गर्भपातन मित्यादि। चूर्णयोगादयश्च प्रतीताः। एतानि य उपजीवति स चरणकुशीलः।

संप्रत्याजीवं व्याख्यानयति –

जाती कुले गणे या, कम्मे सिप्पे तवे सुए चेव।
सत्तविहं आजीवं, उवजीवइ जो कुसीलो उ॥

जातिर्मातृकी, कुलं पैतृकं, गणो मल्लगणादि, कर्म अनाचार्यकम् आचार्योपदेशजं शिल्पं, तपःश्रुते प्रतीते, एवं सप्तविधमाजीवं य उपजीवति जीवनार्थमाश्रयते। तद्यथा जातिं कुलं वाऽऽत्मीयं लोकेभ्यः कथयति, येन जातिपूज्यतया कुलपूज्यतया वा भक्त पानादिकं प्रभूतं लभेयमिति। अनयैव बुद्ध्या मल्लगणादिभ्यो गणेभ्यो गणविद्याकुशलत्वं कर्मशिल्पकुशलेभ्यः कर्मशिल्पकौशलं कथयति। तपस उपजीवना– तपः कृत्वा क्षपकोऽहमिति जनेभ्यः कथयति विश्रुतोऽमिति। उक्तः कुशील इति।

(३) सांप्रतमेतेषु कौतुकादिषु प्रायश्चित्तमाह –

भूतीकम्मे लहुत्तो, लहु गुरुग निमित्त सेसए इमं तु।
लहुगा य सयं करणे, परकरणे हुंतऽलुग्घाया॥

भूतिकर्मकरणे प्रायश्चित्तं मासलघु, अतीतनिमित्तकथने चत्वारो लघुमासाः, अतीतनिमित्तकथने चत्वारो गुरुमासाः। वर्तमाननिमित्तकथने चत्वारो लघुमासाः, वर्तमाननिमित्तकथने चत्वारो गुरुमासाः। शेषके कौतुकादौ इदं प्रायश्चित्तम् स्वयं कौतुकादिकरणे चत्वारो लघुकाः। परैः कारणे भवन्ति चत्वारोऽनुद्घाता गुरवो मासाः। मूलकर्मकरणे मूलमिति। व्य०१ उ०।

जे भिक्खु कुसीलं वंदह वंदंतं वा साइज्जइ ॥४५॥
जे भिक्खू कुसीलं पसंसइ पसंसंतं वा साइज्जइ ॥४६॥

जे कुसीलं वंदतीत्येवं द्वे सूत्रे। कुत्सितशीलः कुत्सितेषु शीलं करोतीत्यर्थः नि०चू०। वंदणादि उवयारं करेंतस्स आणादिया दोसा, चउलहुं च से पच्छित्तं। नि० चू० १३ उ०।

तत्थ कुसीले ताव समासओ दुविहे णेए–परंपरकुसीले, अपरंपरकुसीले य। तत्थ णं जे ते परंपरकुसीले ते वि उ दुविहे णेए–सत्तट्ठगुरुपरंपरकुसीले एगवितिगुरुपरंपरकुसले य। जे वि य ते अपरंपरकुसीले ते वि उ दुविहे णेएआगमओ णोआगमओ य। तत्थ आगमओ गुरुपरंपरएणं आवलियाएणं केई कुसीले आसीओ ते चेव कुसीले भवंति। नोआगमओ अणेगविहा। तं जहा–णाणकुसीले देसणकुसीले चारित्तकुसीले तवकुसीले वीरट्ठकुसीले। तत्थ णं जे से णाणकुसीले से णं तिविहे णेए–पसत्थापत्थे नाणकुसीले अपसत्थणाणकुसीले सुपसत्थनाणकुसीले। तत्थ जे से पसत्थापसत्थनाणकुसीले से दुविहेणेएआगमओ नोआगमओ य। तत्थ आगमओ विहंगनाणी पन्नविय पसत्थापसत्थपयत्थजालअज्झयणज्झावणकुसीले। नोआगमओ अणेगहापसत्थपसत्थपरपासंडसत्थजालाहिज्झणे अज्झावणवायणापहणकुसीले। तत्थ जे ते अपसत्थनाणकुसीले ते एगूणतीसइविहे दट्ठव्वे। तं जहा सावज्जवायविज्झामंततंताहिज्झणकुसीले वत्थुविज्झापउंजणाहिज्झणकुसीले गहरिक्खवाइजोइसमत्थपउंजणाहिज्झणकुसीले निमित्तलक्खणपउंजणाहिज्झणकुसीले सउणलक्खणपउंजणाहिज्झणकुसीले हत्थिसिक्खापउंजणाहिज्झणकुसीले धणुव्वेयपउंजणाहिज्झणकुसीले गधव्ववयपउंजणाहिज्झणकुसीले पुरिसि-

त्थीलक्खणपउजणाहिज्झणकुसीले कामसत्थपउंजणाहिज्झण-कुसीले कुहुगिंदजालसत्थप उंजणाहिज्झणकुसीले आलेक्खविज्जा-हिज्झणकुसीले लेप्पकम्मविज्जाहिज्झणकुसीले वमणविरेयणाबहु-वेल्लिजालसमुद्धरणकटणकाटणवणस्सईवलिमोडणतच्छा-णाइबहुदोसविज्झगसत्थपउंजणाहिज्झणजावणकुसीले; एवं जाण-योगबुन्नवन्नधाउवायरायदंडणीइसत्थ असणिपच्चअघकंडरयण-परिक्खारसवेहत्थ अमच्चसिक्खागूढमंततंतकालदेससं धिवग्गहोव एससत्थममजाणववहार निरूवणत्थसत्थपउंजणाहिज्झणं अपसत्थ-नाणकुसीले, एवमेएसिं चेव पावसुयाणां वायणापेहणापरावत्तणा-अणुसधणासवणायण अपसत्थनाणकुशीले तत्थ जे य ते सुपसत्थ-नाणकुसीले ते वि य दुविहे णेएआगमओ, नो आगमओ य। तत्थ आगमओ सुपसत्थं पंचप्पयारं णाणं आसयंते सुपसत्थणाणधरेइ वा आसायंते सुप सत्थनाणकुसीले। नो आगमओ य सुपसत्थ-नाणकुसीले अट्ठहा णेए। तं जहा– अकालेणं सुपसत्थणाणाहिज्झण-जावणकुसीले अविणएणं सुपसत्थणाणाहिज्झणजावणकुसीले अबहुमाणेणं सुपसत्थनाणाहिज्झणकुसीले अणोवहाणेणं सुपसत्थ-नाणहिज्झावणकुसीले, जस्सय सयासे सुयसत्थसुत्तत्थाभयमहियं तं निन्हवणसुप सत्थनाणकुसीले सरवंजणहीणक्खरियज्झहीण-जावणसुपसत्थनाणकुसीले विवरियसुत्तत्थोभयाहियजावणसुप-सत्थनाणकुसीले संदिद्धसुत्तत्थोभयाहियज्झावणसुपसत्थनाण-कुसीले तत्थ एएसिं अट्ठण्हं पि पयाणं गोयमा! जे केइ अणोवहाणेणं सुपसत्थं नाणमहीयंति अज्झावयंति वा अहीयंति वा अज्झावयंतेइ वा समणुज्झाणंति ते णं महापापकम्मे महती सुपसत्थनाणस्सासयणं पकुव्वंति। महा०३ अ०। (पञ्चमङ्गलोपधानकर्तव्यता 'उवहाण' शब्दे द्वि० भा०१०४६ पृष्ठे उक्ता)

जइ अन्नहा ण सुत्तं अत्थं वा किं वि वाएज्जा एएणं अट्ठेणं गोयमा! एवं वुच्चइ जहा णं जावजीवं अभिग्गहेणं वा उक्कालियं सज्झायं कायव्वं ति तहा य गोयमा! जे भिक्खविहीए सुपसत्थनाणमहिज्झेउण नाणमयं करेज्जा से वि नाणकुसीले, एवमाइनाणकुसीले अणेगहा पन्नविज्जंति। से भयवं! कयरे ते दंसणकुसीले? दंसणकुसीले दुविहे णेए–आगमओ नोआगमओ य। तत्थ आगमओ सम्मदंसणं संकंते कंखंते वि दुगंछंते दिट्ठिमोहं गच्छते अणोवबूहाए परिवडियधम्मसद्धासंमत्तापुज्झिउकामाणं अथिरिकरणेण साधम्मियाणां अवच्छलतणेणं अप्पभावणाए एतेहिं अट्ठहिं पि ठाणंतरेहिं कुसीले णेए। णो आगमओ दंसणकुसीले अणेगहा। तं जहा–चक्खुकुसीले घाणकुसीले सवणकुसीले जिब्भाकुसीले सरीरकुसीले। तत्थ चक्खुकुसीले तिविहे णेए। तं जहा–पसत्थचक्खुकुसीले, पसत्थापसत्थचक्यचक्खुकुसीले, अपसत्थचक्खुकुसीले। तत्थ जे केइ पसत्था उसभादितित्थयर-बिंबं पुरओ चक्खुगोयरट्ठियं तमेव पासेमाणा अण्णं किंपि मण्णसा अपसत्थमज्झवसेसेणं पसत्थचक्खुकुसीले, तहा पसत्थापसत्थच-क्खुकुसीले तित्थयरविंबहियएणं अच्छीहिं अन्नं किं पि पेहिज्जा से णं पसत्थापसत्यचक्खुकुसीले, तहा, पसत्थाइं अथसत्थाइं दव्वाइं कागवगटंकतित्तिरमयूराइं सुकं तदितिच्छियं वा दट्ठूणं तए हुतं चक्खुं विसज्जे, सो विं पसत्थापसत्थचक्खुकुसीले, तहा अपसत्थचक्खुकुसीले तिसट्ठिपयारेहिं अपसत्था सरागा चक्खु एती। से भयवं! कयरे ठे अपसत्थे तिसट्ठीचक्खुभेए? गोयमा! इमे। तं जहा–सब्भूकडक्खातो रामदा महालसा वंका विवंका कुसीला अद्धक्खिया काणक्खिया साणुरागा भामिया उब्भामियाइ वलियावलिया बलवलिया अट्ठमिल्ला मिलिमिला माणुसा पासवा पक्खा सरीसिवा असंता अपसंता अत्थिरा बहुविगरा साणुरागा रोगाईरणी रोगजन्नामयुप्पायणी मयणी मोहणी वंमोहणी भउइरणी भयजन्ना भयंकरी हिययभेयणी संसयावहरणी चित्तचमक्कुप्पायणी णिबद्धी अनिबद्धा गया आगया गयागया गयगयपच्चागया निद्धाडणी अहिलसणी अरइकरा रइकरा दीणा दीणावणा सूराधीरा हणणी मारणी संतावणी तावणी कुट्ठा पकुट्ठा घोरा महाघोरा चंडा रुद्दा सुरुद्दाहाहाभूयरणा रुक्खा सणिद्धा रुक्खसणिद्धेति महिलाणं चलणंगुट्ठकोडिणट्ठकरणसुविलिहियदिन्नाल्लत्तगायं च णहमणि-किरणनिबद्धसक्कव्वा वा कुमुन्नचयचलणं समग्गनिमग्गबद्धगूढजा-णुजंघापिहुलकडियमभोगानयणनियंवणाही घणगुज्झंतरकट्ठाभूया लट्ठीओ अहरोट्ठदसणं पंती कन्ननासानयणजुयलाभमुहानि मुहा निलाडसिररुहसीमंतया मोडयपट्ठतिलगकुंडलकवोलकज्जलतमाल-कलावहारकडिसुत्तगणे-उरबाहुरक्खगमणिरयणकडगकंकण-मुद्दियाइसुकंतदित्तभरणदुगुल्लवसणनेवत्था कामग्गिमंधुक्खणी निरयतिरियगईसु अणंतदुक्खदायगा एस महिला सससरागदिट्ठत्ति एसव्वचक्कुसीले, तहा घाणकुसीले जे केइ सुरहिगंधिसुसंगं गच्छइ दुरहिगंधि दुगुंछइ से णं घाणकुसीले, तहा सवणकुसीले दुविहे णेए पसत्थे अपसत्थे य। तत्थ जे भिक्खू अपसत्थाई कामराग-संधुक्खणदीवणउज्जालणपज्जालणसंदीवणाइं गंधव्वनट्ट-धणुव्वेयहत्थसिक्खाकामरतीसत्थाई णिग्गंथाइं सुणे–

ऊ णं णालोएज्जा जाव णं णो पायच्छित्तमणुचरेज्जा से णं अपसत्थसवणकुसीले णेए, तहा जे भिक्खू पसत्थाइं सिद्धंतावरियपुराणधम्मकहाओ य अन्नाइं च गंधसत्थाइ सुणेत्ता णं न किंचि आवहियं अणुट्ठे णाणमय वा करेइ से णं पसत्थसवण- कुसीले णेए, तहा जिब्भाकुसीले से णं अणेगहा। तं जहा—तिचकडुयकसायमहुराइं लवणाइं रसाइं आसायंते अदिट्ठासु याइं हियरलोगोभयविरुद्धाइं सदोसाइं मयारजपारुच्चारणाइं आयसज्झाखाणसंताभिओगाइं वा भणंते असमयन्नुधम्मदेसणावत्तणाण य जिब्भाकुसीले णेए। से भयवं ! किं भासाए वि भासियाए कुसीलत्तं भवति ? गोयमा ! भवइ। से भयवं ! जइ एवं नाव धम्मदेसेणं ण कायव्वं ? गोयमा ! सावज्जाणवज्जाणं वयणंणं जो न जाणइ विसेसं वुत्तं पि तस्स न खमं किमंग। पुण देसणं काओ, तहा सरीरकुसीले दुविहे—चिट्ठाकुसीले विभूसाकुसीले य। तत्थ जे भिक्खु एयं किमिकुलनिलयं सिऊ ण साणाइभत्तं सडणपडणेण विद्धंसणधम्मं असुयं असासयं असारं सरीरगं आरादीह णिन्नं चेट्ठेज्जा णो णं इणमो भवसयमुलद्धनाणं दंसणाई समन्निएणं सरीरेणं अच्चंतघोरवीरुग्गकट्ठघोरतवसंयममणुट्ठे सेज्जाणं चेट्ठाकुसीले, तहा जे णं विभूसाकुसीले से वि अणेगहा। तं जहा—तेल्लाभंगणविमद्दणसंवाह—णसिणाणुवट्टणपरिहसण तंबोलधूवणवासणे दसणग्घसणसमालहणपुप्फोमालणकेस-समारणे सोवाहणदुवियट्टगइभणिहसिहरउवविट्ठ ट्ठिइय-सत्तिवन्नेक्खिया विभूसा व त्ति से वि गारणियं सणुत्तरीयपाउरणं दंडगडहणमाई सरीरविभूसाकुसीले णेए। एए य पवयचणउड्डा हपरे दुरंतपंतलक्खणे अदट्ठव्वे महापावकम्मकारीविभूसा-कुसीले भवंति। गयदंसणकुसीले तहा चारित्तकुसीले अणेगहा—मूलगुणउत्तरगुणेसु। तत्थमूलगुणा पंचमहव्वयाणि राई मोयणत्थट्ठाणि, तेसु जे पमत्ते भवेज्जा तत्थ पाणाइवायं पुढविदगागणिमारुयवणप्फईविनिचउपंचिंदियाईणं संघट्टण-परियावणकिलामणोद्दवणोमुभावायमुहुमं बायरं च। तत्थ मुहूमपया—उला उल्लामरुए एवमादि बादरा कन्नालिगादि अदिन्नं दाणं सुहुमं बादरं च। तत्थ सुहुमं तणडगलबारमल्लगादीणं गहणे वादरं हिरण्णसुवण्णदी मेहुणं दिव्वोरालियं मणोसय—म्कायकरणकाराबणाणुमइभेदेण अट्ठारसहा, तहा करकम्मादी सचित्ताचित्तभेदेणं णवगुत्तीविराहणेणं वा विभूसावत्तिएण वा परिग्गहं सुहुमं बायरं च। तत्थ सुहुमं कम्मट्ठगरक्खणसमत्थो बादरं हिरण्णमादीणं गहणे धारणे वा राई भोयणं दिया गहियं दिया भूतं एवमाइ उत्तरगुणा। "पिंडस्स जा विसोही, समितीओ भावणा तवो दुविहो। पडिमा अभिग्गहा वि य, उत्तरगुण सो वियाणाहि। तत्थ पिंडविसोही "सोलस उग्गमदोसा, सोलस उप्पायणा य दोसाओ। दस एसणाएँ दोसा, संजोयणमाइ पंचेव"। तत्थ उग्गमदोसा "आहाकम्मुद्देसिय—पूईकम्मे य मीसजाए य। ठवणा पाहुडियाए, पाउयरकीयपामिच्चे। परियट्टिए अभिहडे, उब्भिन्ने मालोहडे अइ अच्छिज्जे। अणिसट्ठेय—ज्झोरए य, सोलसमे पिंडु ग्गमे दोसा"। इमे उप्पायणादोसा "धाईदूइनिमित्ते, आजीववणीमगतिगिच्छाए। कोहेमाणे माया, लोभे य हवंति दस एए॥ पुव्विं पच्छा संथव—विज्जा मंते य वुन्नजोगे य। उप्पायणाइ दोसा, सोलसमे मूलकम्मे य"। एसणदोसा—"संकियमखियनिखित्तपिहियसाहरियदायगुम्मीसे। अपरिणयलित्तछड्डियएसण दोसा हवंति एए य"। तत्थुग्गमदोसे गिहत्थसमुत्थे। उप्पायणा य दोसे साहुसमुत्थे। एसणादोसे उभयसमुत्थे। संजोयणा पमाणे इंगालधूमकरणे पंचमं लीडयदोसे भवति। तत्थ संजोयणा उवकरणभत्तपाणसब्भिंत-रबहिएणं पमाणं "वत्तीसं किर कवले, आहारो कुच्छिपूरओ भणिओ। रागेण संयगालं, दोसेण सधूमगं ति नायव्वं"। कारणं "वेयणवेयावच्चे, इरियट्ठाए य संजमट्ठाए। तह पाणवत्तियाए छट्ठं पुण धम्मचिंताए। नत्थि बुहाए सरसिया, वियणा भुञ्जिज्ज तपसमणट्ठाए"। तओ वेयावच्चं ण तरइ काउं अओ भुंजे "इरियं पि न सोहिस्सं, पेहाइयं च संजमं काउं। धामो वा परिहायइ, गुणणुप्पेहासु य असुत्तो"। पिंडविसोही गया। ईयाणिं समिती उ पंच जहा—इरियासमिई, भासासमिई, एसणासमिई, आयाणभंडमत्तनिक्खेवणासमिई, उच्चारपासवणखेलसिंघाण-जल्लपारिट्ठावणियासमिई। तहा गुत्तीओ तिन्नि—मणगुत्ती, वयगुत्ती, कायागुत्ती। तह भावणाओ दुवालसं। तं जहा—अणिच्चत्तभावणा, असरणभावना, अन्नत्तभावणा, असुइभावणा, विचित्तसंसारभावणा, कम्मासवभावणा, संवरभावणा, विनिज्जरभावणा, लोगविच्थरभावणा, धम्मं सुयक्खायं सुपन्नत्तं तित्थयेर तत्थ चिंताभावणा, वोहिसुदुल्लहा जम्मंतरको डीहिं वि त्ति भावणा। एवमादियाणंतरेसुं जे पमाई कुज्जा से णं चरित्तकुसील णेए। तहा तवकुसीले दुविहे णेएवज्झतव—कुसीले, अब्भंतरतवकुसीले य। तत्थ जे केइ विचित्त अणसणऊणोदरिया वित्तीसंखेवणं रसपरिच्चाओ। कायकिलेसो संलीणया य त्ति छट्ठाणेसुं न उज्जमेज्जा, से णं वज्झतवकुसीले। तहा जे केइ विचित्तपच्छित्तविणयवेयावच्चे सज्झायज्झाणउस्सग्गम्मि वि एसु छट्ठाणेसु ण उज्जमेज्जा से णं अब्भिंत रतवकुमीले। तहा पडिमाओ बारसा। तं जहा मासादी सत्ता एगदुतिसत्तराइंदिणा अहरातिगराती भिक्खुपडिमाणं बारसगं, तहा अभिग्गहा दव्वओ खत्तओ कालओ

भावओ । तत्थ दव्वे कुम्मासाइं दव्वं गहेयव्वं । खेत्तओ गामे बहिं वा गामस्स, कालओ पढमपोरिसुमासु, भावओ कोहमाइसंपन्नो जं देहं इमं गहिस्सामि । एवं उत्तरगुणा संखेवओ सम्मत्ता । संमत्तोयं संखेवेणं चरित्तायारो । तवायारो वि संखेवेणाहंतरगओ तहा वीरीयारो । एएसु चेव जाअहाणी पएसु पंचसु आयाराइयारेसु जं आयट्ठियाए दप्पओ मएओ कप्पेण वा अजयणाए वा जयणाए वा पडिसेवियं तं तहेवालोइत्ताणं, जं मग्गं वि उ गुरु उवइसंति, तं मुहा पायच्छित्तं णाणुचरेइ । एवं अट्ठारसएहं सीलंगसहस्साणं जं जत्थ एए पमत्ते भवेज्जा से णं ते णं पमायदोसेणं कुसीले णेए । महा०३ अ० । स्था० । ध० र० । उत्त० ।

पार्श्वस्थादीनामन्यतमे, सूत्र०१ श्रु०६ अ० । आव० । वाङ्मात्रेणाविष्कृतवीर्ये, सूत्र०१ श्रु०४ अ०१ उ० । अन्यतीर्थिके, सूत्र०१ श्रु०१ अ०१ उ० । काथिकपश्यकसंप्रसारकमार्मकरूपेषु, सूत्र०१ श्रु०४ अ०१ उ० । निन्दितशीले (वृत्ते), तथाविधेषु द्यूतकारादिषु च । उक्तं च जूइयरसालमेंठावट्टाउब्भामगाइणो जेयं । एते हंति कुसीला, वज्जेयव्वा पयत्तेणं" ॥ आव०४ अ० । "जे एयं उंछं अणुगिद्धा अन्नयरा हुंति कुसीलाणं । सुतवस्सिए वि से भिक्खु, नो विहरे सह णमित्थीसु" ॥१२॥ सूत्र०१ श्रु०४ अ०१ उ० । "धुवमग्गमेव पवयंति वाया वीरियं कुसीलाणं"। सूत्र०१ श्रु०४ अ०१ उ० ।

(४) अथ कुशीलपरिभाषाऽध्ययनोक्तं कुशीलवृत्तं लिख्यते—

पुढवी य आऊअगणी य वाऊ,
तणरुक्खबीया य तसा य पाणा ।
जे अंडया जे य जराउपाणा,
संसेयया जे रसयसाभिहाणा ॥१॥

पृथिवी पृथिवीकायिकाः सत्त्वाः, चकारः स्वगतभेदसंसूचनार्थः स चाऽयं भेदः । पृथिवीकायिकाः सूक्ष्मा बादराश्च । ते च प्रत्येकं पर्याप्तकाऽपर्याप्तकभेदेन द्विधा । एवमप्कायिका अपि । तथाऽग्निकायिकाः, वायुकायिकाश्च द्रष्टव्याः । वनस्पतिकायिकान् भेदेन दर्शयतितृणानि कुशादीनि, वृक्षाश्चाश्वत्थादयो, बीजानि शाल्यादीनि, एवं वल्लीगुल्मादयोऽपि वनस्पतिभेदा द्रष्टव्याः । त्रस्यन्तीति तसा द्वीन्द्रियादयः प्राणिनो ये चाऽण्डाज्जाता अण्डजाः शकुनिसरीसृपादयः, ये च जरायुजा जम्बालवेष्टिताः समुत्पद्यन्ते, ते च गोमहिष्यजाविकमनुष्यादयः । तथा संस्वेदाज्जाताः संस्वेदजा यूका मत्कुणकृम्यादयः, ये च रसजाभिधाना दधिसौवीरकादिषु रूतपक्ष्मसन्निभा इति ॥१॥

नानाभेदभिन्नं जीवसंघातं प्रदर्श्याऽधुना तदुपघाते दोषं दर्शयितुमाह—

एयाइं कायाइं एवेदिताइं, एतेसु जाणे पडिलेह सायं ।
एतेण काएण य आयदंडे, एतेसु या विप्परियासुविंति ॥२॥

(एयाइमित्यादि) एते पृथिव्यादयः काया जीवनिकाया भगवद्भिः प्रवेदिताः कथिताः, छान्दसत्वान्नपुंसकलिङ्गता । एतेषु च पूर्वं प्रतिपादितेषु पृथिवीकायादिषु प्राणिषु सातं सुखं जानीहि । एतदुक्तं भवतिसर्वेऽपि सत्त्वाः सातैषिओ दुःख द्विषश्चेति ज्ञात्वा प्रत्युपेक्षस्य कुशाग्रीयता बुद्ध्या पर्यालोचयेदिति । यथैभिः कायैः समारभ्यमाणैः पीड्यमानैरात्मा दण्ड्यते तत्समारम्भादात्मदण्डो भवतीत्यर्थः । अथवैभिरेव कायैः ये आयतदण्डा दीर्घदण्डाः । एतदुक्तं भवति—एतान् कायान् ये दीर्घकालं दण्डयन्ति पीडयन्तीति तेषां यद्भवति तद्दर्शयति—ते एतेष्वेव पृथिव्यादिकार्येषु विविधमनेकप्रकारं परि समन्तादाशु क्षिप्रमुप सामीप्येन यान्ति व्रजन्ति, तेष्वेव पृथिव्यादिकायेषु विविधमनेकप्रकारं भूयो भूयः समुत्पद्यन्त इत्यर्थः । यदि वा विपर्यासो व्यत्ययः सुखार्थिभिः कायसमारम्भः क्रियते, तत्समारम्भेण च दुःखमेवाऽऽप्यते न सुखमिति । यदि वा कुतीर्थिका मोक्षार्थमेतैः कायैर्या क्रियां कुर्वन्ति तया संसार एव भवतीति ।२।

यथा चाऽसावायतदण्डो मोक्षार्थो तान् कायान् समारभ्य तद्विपर्यासात् संसारमाप्नोति तथा दर्शयति—

जाईवहं अणु परिवट्टमाणे,
तसथावरेहिं विणिघायमेति ।
से जाति जातिं बहुकूरकम्मे,
जं कुव्वती मिज्जति तेण बाले ॥३॥

(जाईवहमित्यादि) जातीनामेकेन्द्रियादीनां पन्थाः जातिपथः, यदि वा जातिरुत्पत्तिर्वधो मरणं जातिश्च वधश्च वधश्च जातिवधं, तदनु परिवर्त्तमान एकेन्द्रियादिषु पर्यटन् जन्मजरामरणानि वा बहुशोऽनुभवंस्त्रसेषु तेजोवायुद्वीन्द्रियादिषु स्थावरेषु च पृथिव्यम्बुवनस्पतिषु समुत्पन्नः सन् कायदण्डविपाकजेन कर्मणा बहुशो विनिघातं विनाशमेत्य—वाप्नोति, स आयतदण्डोऽसुमान् (जाति) जातिमुत्पत्तिमवाप्य बहूनि क्रूराणि दारुणान्यनुष्ठानानि यस्य स भवति बहुकूरकर्मा, स एवंभूतो निर्विवेकः सइसद्विवेकशून्यत्वात् बाल इव बालो यस्यामेकेन्द्रियादिकायां जातौ यत्प्राण्युपभर्दकारि कर्म कुरुते स तेनैव कर्मणा मीयते म्रियते पूर्यते । यदि वा मीङ् हिंसायां मीयते हिस्यते । अथवा बहुकूरकर्मेति चौरोऽयं पारदारिक इति वा इत्येवं तेनैव कर्मणा मीयते परिच्छिद्यत इति ॥३॥

क्व पुनरसौ तैः कर्मभिर्मीयते इति दर्शयति—

अस्सिं च लोए अदुवा परत्था, सयग्गसो वा तह अन्नहा वा ।
संसारमावन्न परं परं ते, बंधंति वेदंति य दुन्नियाणि ॥४॥

(अस्सिं चेत्यादि) यान्याशुकारीणि कर्माणि तान्यस्मिन्नेव जानाति जन्मनि विपाकं, अथवा परस्मिन् नरकादौ तस्य कर्मविपाकं ददत्येकस्मिन्नेव जन्मनि विपाकं तीव्रं ददति (शताग्रशो वेति) बहुषु जन्मसु येनैव प्रकारेण तदशुभमाचरति तथैवोदीर्यते । तथा अन्यथा वेति, इदमुक्तं भवति—किञ्चि—त्कर्म तद्भवत एव विपाकं ददाति, किञ्चिच्च जन्मान्तरे । यथा मृगापुत्रस्य दुःखविपाकाख्ये विपाकश्रुताङ्गश्रुतस्कन्धे कथितमिति दीर्घकालस्थितिकं स्वपरजन्मान्तरितं वेद्यते येन प्रकारेण सकृत्तथैवाऽनेकशो वा, यदि वाऽन्येन प्रकारेण सकृत्सहस्रशो वा शिरश्छेदादिकं हस्तपादच्छेदादिकं चानुभूयत इति । तदेवं ते कुशीला आयतदण्डाश्चतुर्गतिकसंसारमापन्ना अरहट्टघटीयन्त्रन्यायेन संसारं पर्यटन्तः परं परं प्रकृष्टं प्रकृष्टं दुःखमनुभवन्ति, जन्मान्तरकृतं कर्मानुभवन्तश्चैकमार्तध्यानोपह

ता अपरं बध्नन्ति वेक्ष्यन्ति च, दुष्टं नीतानि दुर्नीतानि दुष्कृतानि, न हि स्वकृतस्य कर्मणो विनाशोऽस्तीति भावः। तदुक्तम्–

"मा होहि रे विसन्नो, जीव ! तुमं विमण दुम्मणो दीणो।
ण हु वितिएणं फिट्टइ, तं दुक्खं जं पुरा रइयं ॥१॥
जइ पविससि पायालं, अडइं व दरिं गुहं समुद्दं वा।
पुव्वकयाउ न चुक्कसि, अप्पाणं घायसे जइ वि" ॥२॥

(५) एवं तावदोघतः कुशीलाः प्रतिपादिताः, तदधुना पाषण्डकानधिकृत्याऽऽह –

जे मायरं वा पियरं च हिच्चा,
समणव्वए अगाणिं समारभिज्जा।
अहाहु से लोएँ कुसीलधम्मे,
भूताईं जे हिंसाति आयासाते ॥५॥

ये केचनाऽविदितपरमार्था धर्मार्थमुच्छ्रिता मातरं पितरं च त्यक्त्वा, मातापित्रोर्दुस्त्यजत्वात् तदुपादानम्, अन्यथा भ्रातृपुत्रादिकमपि त्यक्त्वेति द्रष्टव्यम्। श्रमणव्रते किल वयं समुपस्थिता इत्येवमभ्युपगम्याऽग्निकायं समारभन्ते पचनपाचनादिप्रकारेण कृतकारितानुमत्योद्देशिकादिपरिभोगाच्चाऽग्निकायसमारम्भं कुर्युरित्यर्थः। अथेति वाक्योपन्यासार्थः, आहुरिति तीर्थकृद्गणधरादय एवमुक्तवन्तः, यथा-सोऽयं पाषण्डिको लोको गृहस्थलोको वोऽग्निकायसमारम्भात् कुशीलः कुत्सितशीलो धर्मो यस्य स कुशीलधर्मा। अयं किंभूत इति दर्शयति अभूवन् भवन्ति भविष्यन्तीति भूतानि प्राणिनः, तान्यात्मसुखार्थं हिनस्ति व्यापादयति। तथाहि-पञ्चाग्नितपसा निष्टप्तदेहास्तथाऽग्निहोत्रादिकया च क्रियया पाषण्डिकाः स्वर्गावाप्तिमिच्छन्तीति। तथा लौकिकाः पचनपाचनादिप्रकारेणाऽग्निकायं समारभमाणाः सुखमभिलषन्तीति ॥५॥

(६) अग्निकायसमारम्भे च यथा प्राणातिपातो भवति तथा दर्शयितुमाह –

उज्जालओ पाण निवातएज्जा,
निव्वावओ अगणि निवायवेज्जा।
तम्हा उ मेहावि समिक्ख धम्मं,
ण पंडिए अगणि समारभिज्जा ॥६॥

तपनतापनादिप्रकाशहेतुं काष्ठादिसमारम्भेण योऽग्निकायं सगारभते सोऽग्निकायमपरांश्च पृथिव्याद्याश्रितान् स्थावरांस्त्रसांश्च प्राणिनो निपातयेत, त्रिभ्यो वा मनोवाक्कायेभ्य आयुर्बलेन्द्रियेभ्यो वा पातयेन्निपातयेत्, तथाऽग्निकायमुदकादिना निर्वापयेत् विध्यापयंस्तदाश्रितानन्यांश्च प्राणिनो निपातयेद्वा, तत्रोज्ज्वालकनिर्वापकयोर्योऽग्निकायमुज्ज्वलयति स बहूनामन्यकायानां समारम्भकः। तथा चाऽऽगमः– "दो भंते ! पुरिसा अन्नमन्नेण सद्धिं अगणिकायं समारभंति, तत्थ णं एगे पुरिसे अगणिकायं उज्जालेइ, से एगे णं पुरिसे अगणिकायं निव्वावेइ, तेसिं भंते ! पुरिसाणं कयरे पुरिसे महाकम्मतराए अप्पकम्मतराए ? गोयमा ! तत्थ णं जे से पुरिसे अगणिकायं उज्जालेइ से णं पुरिसे बहुतरागं पुढविकायं समारभति। एवं आउकायं वाउकायं वणस्सइकायं अप्पतरागं अगणिकायं समारभइ, तत्थ णं जे से पुरिसे अगणिकायं निव्वावेइ से णं पुरिसे अप्पतरागं पुढविकायं समारभइ जाव अप्पतरागं तसकायं समारभइ बहुतरागं अगणिकायं समारभइ। से एतेणं अट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ"। अपि चोक्तम्- "भूयाणां एसमाघाओ, हव्ववाहे ण संसओ"। इत्यादि। यस्मादेवं तस्मान्मेधावी सद्विवेकः सश्रुतिकः समीक्ष्य धर्मं पापाङ्गीनः पण्डितो नाग्निकायं समारभते, स एव च परमार्थतः पण्डितो योऽग्निकायसमारम्भकृतात् पापान्निवर्तत इति ॥६॥

कथमग्निकायसमारम्भेण अपरप्राणिवधो भवतीत्याशङ्क्याह–

पुढवी वि जीवा आऊवि जीवा, पाणाइ संपाइम संपयंति।
संसेयया कट्ठसमस्सिया य, एते दहे अगणि समारभंते ॥७॥

न केवलं पृथिव्याश्रिता द्वीन्द्रियादयो जीवाः, याऽपि च पृथ्वी मृल्लक्षणा असावपि जीवाः, तथा आपश्च द्रवलक्षणा जीवाः, तदाश्रिताश्च प्राणाः संपातिमाः शलभादयस्तत्र संपतन्ति। तथा संस्वेदजाः करीषादिष्विन्धनेषु घुणपिपीलिकाः कृम्यादयः काष्ठाद्याश्रिताश्च ये केचन, एतान् स्थावर–जङ्गमान् स दहेद्योऽग्निकार्यं समारभतेऽतोऽग्निकायसमारम्भो महादोषायेति ॥७॥

एवं तावदग्निकायसमारम्भकास्तापसास्तथा पाकादनिवृत्ताः शाक्यादयधोपदिष्टाः। साम्प्रतं ते चाऽन्ये वनस्पति–समारम्भादनिवृत्ताः परामृश्यन्ते इत्याह–

हरियाणि भूताणि विलंबगाणि,
आहारदेहाय पुढो सियाई।
जे छिंदती आयसुहं पडुच्च,
पगब्भि पाणे बहुणं–तिवाती ॥८॥

हरितानि दूर्वाऽङ्कुरादीन्येतान्यप्याहारादेर्वृद्धिदर्शनाद् भूतानि जीवाः। तथा-विलम्बकानीति जीवाकारं यानि विलम्बन्ते धारयन्ति। तथाहि-कललार्बुदमांसपेशीगर्भप्रसवबालकुमारयुवमध्यमस्थविरावस्थान्तो मनुष्यो भवति, एवं हरितान्यपि शाल्यादीनि जातान्यभिनवानि संजातरसानि यौवनवन्ति परिपकानि जीर्णानि परिशुष्काणि मृतानि, तथा वृक्षा अप्यङ्कुरावस्थायां जाता इत्युपदिश्यन्ते मूलस्कन्धशाखाप्रशाखादिभिर्विशेषैः परिवर्धमाना युवानः पोता इत्युपदिश्यन्त इत्यादि शेषास्वप्यवस्थास्वायोज्यम्। तदेवं हरितादीन्यऽपि जीवाकारं विलम्बयन्ति तत एतानि मूलस्कन्धशाखापत्रपुष्पादिस्थानेषु पृथक् प्रत्येकं व्यवस्थितानि, न तु मूलादिषु सर्वेष्वपि समुदितेषु एक एव जीवः। एतानि च भूतानि संख्येयाऽसंख्येयानन्तभेदभिन्नानि, वनस्पतिकायाश्रितान्याहारार्थं वा देहक्षतसंरोहणार्थं चात्मसुखं प्रतीत्याश्रित्य यश्छिनत्ति स प्रागल्भ्यात् धार्ष्ट्यावष्टम्भाद्वहूनां प्राणिनामतिपाति भवति, तदतिपाताच्च निरनुक्रोशतया न धर्मो नाऽप्यात्मसुखमित्युक्तं भवति ॥८॥

किञ्च–

जातिं च वुड्ढिं च विणासयंते,
बीयाइ अस्संजय आयदंडे।
अहाहु से लोएँ अणज्जधम्मे,
बीयाइ जे हिंसति आयसाते ॥९॥

जातिमुत्पत्तिं, तथाऽङ्कुरपत्रमूलस्कन्धशाखाप्रशाखाभेदेन वृद्धिं च विनाशयन्, बीजानि च तत्फलानि विनाशयन् हरितानि च्छिनत्तीति। असंयतो गृहस्थः प्रव्रजितो वा, तत्कर्मकारी

गृहस्थ एव, स च हरितच्छेदं विधायाऽऽत्मानं दण्डयतीत्यात्मदण्डः। स हि परमार्थतः परोपघातेनाऽऽत्मानमेवोपहन्ति। अथशब्दो वाक्यालङ्कारे, आहुरेवमुक्तवन्त इति दर्शयति-यो हरितादिच्छेदको निरनुक्रोशः सोऽस्मिन् लोकेऽनार्यधर्म्मा क्रूरकर्मकारी, भवतीत्यर्थः। स च एवंभूतो यो धर्मोपदेशेनात्मसुखार्थं वा बीजानि, अस्य चोपलक्ष—णार्थत्वाद् वनस्पतिकायं, हिनस्ति स पाषण्डिकलोकोऽन्यो वाऽनार्यधर्मा भवतीति संबन्धः ॥९॥

साम्प्रतं हरितच्छेदकर्मविपाकमाह—

गब्भाइ मिज्झंति बुयाऽबुयाणा,
णरा परे पंचसिहा कुमारा।
जुवाणगा मज्झिम थेरगा य,
चयंति ते आउखए पलीणा ॥१०॥

इह वनस्पतिकायोपमर्दका बहुषु जन्मषु गर्भादिकास्ववस्थासु कललार्बुदमांसपेशीरूपासु म्रियन्ते, तथा बुवन्तोऽबुवन्तश्च व्यक्तवाचोऽव्यक्तवाचश्च, तथा परे नराः पञ्चशिखाः कुमाराः सन्तो म्रियन्ते। तथा युवानो मध्यमवयसः, स्थाविराश्च। क्वचित्पाठः — "मज्झिमपोरुसा स त्ति" तत्र मध्यमा मध्यमवयसः (पोरुसा य त्ति) पुरुषाणां चरमावस्थां प्राप्ता अत्यन्तबृद्धा एवेति यावत्। तदेवं सर्वास्वप्यवस्थासु बीजादीनामुपमर्दकाः स्वायुषः क्षये प्रलीनाः सन्तो देहं त्यजन्तीति। एवमपरस्थावरजङ्गमोपमर्दकारिणामप्यनिय—तायुष्कत्वमायोजनीयम् ॥१०॥

किञ्चान्यत्—

संबुज्झहा जंतवो माणुसत्तं,
दट्ठुं भयं बालिसेणं अलंभो।
एगंतदुक्खे जरिए व लोए,
सकम्मणा विप्परियासुवेइ ॥११॥

हे जन्तवः प्राणिनः! संबुध्यध्वं यूयं, नहि कुशीलपाषण्डि—कलोकस्तृणाय भवति, धर्मं च सुदुर्लभत्वेन संबुध्यध्वम्। तथा चोक्तम् —"माणुस्सखेत्तजाई, कुलरूवारोग्गमाउयं वुद्धी। सवणोग्गहसद्ध सं-ममो य लोगम्मि दुल्लहाइं ॥" तदेवमकृधर्माणां मनुष्यत्वमतिदुर्लभमित्य-वगम्य, तथा जातिजरामरणरोगशोकादीनि नरकतिर्यक्षु च तीव्रदुःखतया भयं दृष्टवा, तथाबालिशेनाऽज्ञेन सद्विवेकस्याऽलम्भ इत्येतच्चावगस्य, तथा निश्चयनयमवगस्य एकान्तदुःखोऽयं ज्वरित इव लोकः संसार-प्राणिगणः। तथाचोक्तम् —

"जम्म दुक्खं जरा दुक्खं, रोगा य मरणाणि य।
अहो दुक्खो हु संसारो, जत्थ कीसंति पाणिणो" ॥

तथा—

तण्हारिहस्स पाणं, कूरो छायस्स भुज्जए तेहिं।
दुक्खसयसंपउत्तं, जरियमिव जगं कलयइ" ॥

इत्यत्र चैवंभूतलोके अनार्यकर्मकारी स्वकर्मणो विपर्यासमुपैति सुखार्थी प्राण्युपमर्दं कुर्वन् दुःखं प्राप्नोति तथा मोक्षार्थी संसारं पर्यटतीति ॥११॥

उक्तः कुशीलविपाकोऽधुना तद्दर्शनान्यभिधीयन्ते—

इहेग मूढा पवयंति मोक्खं, आहारसंपज्जणवज्जणेणं।
एगे य सीओदगसेवणेणं, हुएण एगे पवयंति मोक्खं ।१२।

इहेति मनुष्यलोके, मोक्षगमनाधिकरे वा, एके केचन मूढा अज्ञानाऽऽ-च्छादितमतयः परैश्च मोहिताः, प्रकर्षेण वदन्ति प्रतिपादयन्ति। किं तत् ?—मोक्षं मोक्षावाप्तिम्। केनेति दर्शयन्ति—आहियत इत्याहार ओदनादिस्तस्य संपद्रसपुष्टिस्तां जनयतीत्याहारसंपज्जनं लवणं तेन ह्याहारस्य रसपुष्टिः क्रियते तस्य वर्जनं, तेनाऽऽहारसंपज्जनवर्जनेन लवणवर्जनेन मोक्षं वदन्ति। पाठान्तरं वा—"आहारसपंचयवज्जणेण" लवणपञ्चकमाहारसपञ्चकं, लवणपञ्चकं चेदम्—तद्यथा—सैन्धवं सौवर्चलं बिडं रौमं सामुद्रं चेति। लवणेन हि सर्वरसानामभिव्यक्तिर्भवति। तथा चोक्तम्—"लवणविहूणा य रसा, चक्खुविहूणा य इंदियग्गामा। धम्मोदयाएँ रहिओ, सोक्खं संतोसरहियं तो "॥१॥ तथा लवणं रसानां तैलं स्नेहानां घृतं मेध्यानामिति। तदेवंभूतलवणपरिवर्जनेन रसपरित्याग एव कृतो भवति, तत्त्यागाच्च मोक्षावाप्तिरित्येवं केचन मूढाः प्रतिपाद-यन्ति। पाठान्तरं वा—"आहारओ पञ्चकवज्जणेण" आहारत इति, ल्यब्लोपे कर्मणि पञ्चमी। आहारमाश्रित्य पञ्चकं वर्जयन्ति। तथा-लसुनं पलाण्डुः करभीक्षीरं गोमांसं मद्यं चेत्येतत्पञ्चकवर्जनेन मोक्षं प्रवदन्ति तथैके वारिभद्रकादयो भागवतविशेषाः शीतोदकसेवनेन सचित्ताप्कायपरिभोगेन मोक्षं प्रवदन्ति। उपपत्तिं च ते अभिदधति—यथोदकं बाह्यमलमपनयति एवमान्तरमपि। वस्त्रादेश्च यथोदकाच्छुद्धि-रुपजायते एवं बाह्यशुद्धिसामर्थ्यदर्शनादान्तराऽपि शुद्धिरुदकादेवेति मन्यन्ते। तथैके तापसब्राह्मणादयो हुतेन मोक्षं प्रतिपादयन्ति। ये किल स्वर्गादिफलमनाशंस्य समिधा घृतादिभिर्हं व्यविशेषैर्हुताशनं तर्पयन्ति ते मोक्षायाग्निहोत्रं जुह्वति, शेषास्त्वभ्युदयायेति। युक्तिं चात्र ते आहुः— यथा ह्यग्निः सुवर्णादीनां मतं दहत्येवं दहनसामर्थ्यदर्शनादात्मनोऽप्यान्तरं पापमिति ॥१२॥

तेषामसंबद्धप्रलापिनामुत्तरदामायाऽऽह—

पाओ सिणाणादिसु णत्थि मोक्खो,
खारस्स लोणस्स अणासएणं।
ते मज्ज मंसं लसणं च भोच्चा,
अन्नत्थ वासं परिकप्पयंति ॥१३॥

प्रातः स्नानादिषु नास्ति मोक्ष इति प्रत्यूषजलावगाहनेन निःशीलानां मोक्षो न भवति। आदिग्रहणाद् हस्तपादादिप्रक्षालनं गृह्यते। तथा ह्युदकपरिभोगेन तदाश्रितजीवानामुपमर्दः समुपजायते, न च जीवोपमर्दान्मोक्षावाप्तिरिति। न चैकान्तेनोदकं बाह्यमलस्याप्यपनयने समर्थम्, अथाऽपि स्यात्तथाऽप्यान्तरमलं न शोधयति, भावशुध्या तच्छुद्धेः, अथ भावरहितस्यापि तच्छुद्धिः स्यात् ततो मत्स्यबन्धा-दीनामपि जलाभिषेकेण मुक्त्यवाप्तिः स्यात्। तथा क्षारस्य पञ्चप्रकारस्याऽपि लवणस्याऽनशनेनाऽपरिभोगेन मोक्षो नास्ति। तथाहि—लवणपरिभोगरहितानां मोक्षो न भवतीत्युक्तिकमेतत्। नचाऽयमेकान्ततो लवणमेव रसपुष्टिजनकमिति, क्षीरशर्करादि-भिर्व्यभिचारात्। अपि चासौ प्रष्टव्यः किं द्रव्यतो लवणवर्जनेन मोक्षावाप्तिरुत भावतः ? यदि द्रव्यतस्ततो लवणरहितदेशे सर्वेषां मोक्षः स्यात्, न चैवं दृष्टमिष्टं वा। अथ भावतस्ततो भाव प्रधानं किं लवणवर्जनेनेति ? तथा ते मूढा मद्यमांसलशुनादिकं वा भुक्त्वा अन्यत्र मोक्षादन्यत्र संसारे वासमवस्थानं तथाविधानुष्ठानमसद्भावात् सम्यग्दर्शन

ज्ञानचारित्ररूपमोक्षमार्गस्याऽनुष्ठानाच्च परिकल्पयन्ति समन्ताद् निष्पादयन्तीति। (अतः परं चतस्रो गाथाः 'उदग' शब्दे द्वि० भा० ७६६ पृष्ठे उक्ताः। एका च गाथा 'अग्गिहोत्त' शब्दे प्र० भा०१७७ पृष्ठे उक्ता)

उक्तानि पृथक्कुशलदर्शनानि, अयमपरस्तेषां सामान्योपालम्भ इत्याह–

अपरिक्ख दिट्ठं ण हु एव सिद्धी,
एहिंति ते घायमबुज्झमाणा।
भूएहि जाणं पडिलेह सातं,
विज्जं गहायं तसथावरेहिं ॥१६॥

यैर्मुमुक्षुभिरुदकसंपर्केणाऽग्निहोत्रेण वा प्राण्युपमर्दकारिण सिद्धिरिति, ते च परमार्थमबुध्यमानाः प्राण्युपघातेन पापमेव धर्मबुद्ध्या कुर्वन्तो घात्यन्ते वा व्यापाद्यन्ते नानाविधैः प्रकारैर्यस्मिन् प्राणिनः संघातः संसारस्तमेष्यन्ति अप्कायतेजस्कायसमारम्भेण हि त्रसस्थावराणामवश्यंभावी विनाशः, तन्नाशे च संसार एव, न सिद्धिरित्यभिप्रायः, यत एवं ततो विद्वान् सदसद्विवेकी यथावस्थितत्वं गृहीत्वा त्रसस्थावरैर्भूतैर्जन्तुभिः कथं सांप्रतं सुखमवाप्यत इति एतत्प्रत्युपेक्ष्य जानीहि अवबुद्ध्यस्व। एतदुक्तं भवतिसर्वेऽप्यसुमन्तः सुखैषिणो दुःखद्विषः। न च तेषां सुखैषिणां दुःखोत्पादकत्वेन सुखावाप्तिर्भवतीति। यदि वा (विज्जं गहाय त्ति) विद्यां ज्ञानं गृहीत्वा विवेकमादाय त्रसस्थावरैर्भूतैर्जन्तुभिः करणभूतैः सातं सुखं प्रत्युपेक्ष्य पर्यालोच्य जानीह्यवगच्छेति। यत उक्तम्– "पढमं नाणं तओ दया, एवं चिट्ठइ सव्वसंजए। अन्नाणी किं काही, किं वा णाही छेयपावगमित्यादि" ॥१६॥

ये पुनः प्राण्युपमर्दे न सातमभिलषन्तीत्यशीलाः कुशीला–श्च ते संसारे एवंविधा अवस्था अनुभवन्तीत्याह –

थणंति लुप्पंति तसंति कम्मी,
पुढो जगा परिसंखाय भिक्खू।
तम्हा विऊविरतो आयगुत्ते,
दट्ठुं तसे या पडिसंहरेज्जा ॥२०॥

तेजस्कायसमारम्भिणो भूतसमारम्भेण सुखमभिलषन्तो नारकादिगतिगतास्तीव्रदुःखैः पीड्यमाना असह्यवेदनाघ्रातमानसा अशरणाः स्तनन्ति केवलं करुणमाक्रन्दन्तीति यावत्। (तथा लुप्पंतीति) छिद्यन्ते खड्गादिभिः, एवं च कदर्थ्यमा–नास्त्रस्यन्ति प्रपलायन्ते। कर्माण्येषां सन्तीति कर्मिणः, सपापा इत्यर्थः। तथा पृथक् (जगा इति) जन्तव इति। एवं परिज्ञाय ज्ञात्वा भि क्षणशीलो भिक्षुः, साधुरित्यर्थः। यस्मात्प्राण्युपमर्दकारिणः संसारान्तर्गता विलुप्यन्ते तस्माद्विद्वान् पण्डितो विरतः पापानुष्ठानादात्मा गुप्तो यस्य सोऽयमात्मगुप्तो, मनोवाक्कायगुप्त इत्यर्थः। दृष्ट्वा च त्रसान्, चशब्दात् स्थावरांश्च दृष्ट्वा परिज्ञाय तदुपघातकारिणीं क्रियां प्रतिसंहरेन्निवर्तयेदिति ॥२०॥

साम्प्रतं स्वयूथ्याः कुशीला अभिधीयन्त इत्याह –

जे धम्मलद्धं वि णिहाय भुंजे,
वियडेण साहट्टु य जे सिणाइं।
जे धोवती लूसयती व वत्थं,
आहाहु से णागणियस्स दूरे ॥२१॥

ये केचन शीतलविहारिणो धर्मेण सुधिकया लब्धं धर्मलब्धं, उद्देशकक्रीतकृतादिदोषरहितमित्यर्थः। तदेवंभूतमप्याहारजातं निधाय व्यवस्थाप्य सन्निधिं कृत्वा भुञ्जन्ते। तथा–ये विकटेन प्राशुकोदकेनाऽपि संकोच्याङ्गानि प्राशुक एव प्रदेशे देशसर्वस्नानं कुर्वन्ति। तथा यो वस्त्रं धावति प्रक्षालयति, तथा लूषयति शोभार्थं दीर्घमुत्पाटयित्वा ह्रस्वं करोति, ह्रस्वं वा संधाय दीर्घं करोति, एवं लूषयति, तदेवं स्वार्थं परार्थं वा यो वस्त्रं लूषयति अथाऽसौ (णागणियस्स त्ति) निर्ग्रन्थभावस्य संयमानुष्ठानस्य दूरे वर्तते, तस्य न संयमो भवत्येवं तीर्थङ्करगणधरादय आहुरिति ॥२१॥

उक्ताः कुशीलाः, तत्प्रतिपक्षभूताः शीलवन्तः प्रतिपाद्यन्त इत्येतदाह–

कम्मं परिन्नाय दगंसि धीरे,
वियडेण जीविज्ज य आदिमोक्खं।
से वीयकंदाइ अभुंजमाणे,
विरते सिणाणाइसु इत्थियासु ॥२२॥

धिया राजते इति धीरो बुद्धिमान्, (दगंसि त्ति) उदकसमारम्भे सति कर्मबन्धो भवति एवं परिज्ञाय, किं कुर्यादित्याह–विकटेन प्राशुकोदकेन सौवीरादिना जीव्यात् प्राणसंधारणं कुर्यात्। चशब्दात् अन्येनाप्याहारेण प्राशुकेनैव प्राणवृत्तिं कुर्यात्। आदिः संसारः, तस्मान्मोक्ष आदिमोक्षः, संसारविमुक्तिं यावदिति। धर्मकारणानां तावदादिभूतं शरीरं तद्विमुक्तिं, यावज्जीवमित्यर्थः। किञ्चासौ साधुर्बीजकन्दादीन् भुञ्जानः, आदिग्रहणाद् मूलपत्रफलानि गृह्यन्ते। एतान्यप्यपरिणतानि परिहरन् विरतो भवति। कुत इति दर्शयतिस्नानाभ्यङ्गोद्वर्तनादिषु क्रियासु निष्प्रतिकर्मशरीरतयाऽन्यासु चिकित्सादिक्रियासु न वर्तते, तथा स्त्रीषु च विरतः वस्तिनिरोधग्रहणात् अन्येऽप्याश्रवा गृह्यन्ते। यश्चैवंभूतः सर्वेभ्योऽप्याश्रवद्वारेभ्यो विरतो नाऽसौ कुशीलदोषैर्युज्यते, तदयोगाच्च न संसारे बम्भ्रमीति। ततश्च न दुःखितः स्तनति, नापि नानाविधैरुपायैर्विलुप्यत इति ॥२२॥

पुनरपि कुशीलानेवमधिकृत्याह–

जे मायरं च पियरं च हिच्चा–ऽगारं तहा पुत्त पसुं धणं च।
कुलाइं जे धावइ साउगाइं, अहाहु से सामणियस्स दूरे।२३।

(जे मायरं चेत्यादि) ये केचनाऽपरिणतसम्यक्धर्माणस्त्यक्त्वा मातरं च पितरं च मातापित्रोर्दुस्त्यजत्वादुपादानम्, अतो भ्रातृदुहित्रादिकमपि त्यक्त्वेति एतदपि द्रष्टव्यम्। तथा अगारं गृहं, पुत्रमपत्यं, पशुं हस्त्यश्वरथगोमहिष्यादिकं धनं च त्यक्त्वा सम्यक् प्रव्रज्योत्थानेनोत्थाय पञ्चमहाव्रतभारस्य स्कन्धं दत्वा पुनर्हीनसत्त्वतया रससातादिगौरवगृद्धो यः कुलानि गृहाणि स्वादुकानि स्वादुभोजनलवन्ति धावति गच्छति, अथाऽसौ श्रमणभावस्य श्रामण्यस्स दूरे वर्त्तत एव माहुस्तीर्थङ्करगणधरादय इति ॥२३॥

एतदेव विशेषेण दर्शयितुमाह –

कुलाइं जे धावइ साउगाइं,

अघाति धम्मं उदराणुगिद्धे ॥
अहाहु से आयरियाण सयं से,
जो लावएज्जा असणस्स हेऊ॥२४॥

(कुलाइँ जे धावतीत्यादि) कुलानि स्वादुभोजनवन्ति धावति गच्छति, तथा गत्वा धर्ममाख्याति भिक्षार्थं वा प्रविष्टो यद्यस्मै रोचते कथासंबन्धस्तं तस्याऽऽख्याति । किंभूत इति दर्शयतिउदरेऽनुगृद्ध उदरानुगृद्धः उदरभरणव्यग्रः, तुन्दपरिमृज इत्यर्थः । इदमुक्तं भवति–यो ह्युदरगृद्ध आहारादिनिमित्तं दानश्रद्धकाख्यानि कुलानि गत्वाऽऽख्यायिकाः कथयति स कुशील इति, अथाऽसावाचार्यगुणानां वा शतांशे वर्त्तत इति । यो ह्यन्नस्य हेतुं भोजननिमित्तमपरवस्त्रादिनिमित्तं वा आत्मगुणानपरेणालापयेद्भाणयेत् असावप्यार्यगुणानां सहस्रांशे वर्तते किमङ्ग ! पुनर्यः स्वत एवाऽऽत्मप्रशंसां विदधातीति ॥२४॥

किञ्च –

णिक्खम्म दीणे परभोयणम्मि,
मुहमंगलीए उदराणुगिद्धे ॥
नीवारगिद्धे व महावराहे ।
अदूरए एहइ घातमेव ।२५॥

यो ह्यात्मीयं धनधान्यहिरण्यादिकं त्यक्त्वा निष्क्रान्तो निष्क्रम्य च परभोजने पराहारविषये दीनो दैन्यमुपगतो जिह्वेन्द्रियवशादार्त्तो वन्दिवन्मुखमाङ्गलिको भवति मुखेन मङ्गलानि प्रशंसावाक्यानि ईदृशस्तादृशस्त्वमित्येषं दैन्यभावमुपगतो वक्ति । उक्तं च–"सो एसो जस्स गुणा, वियरंत न वारिया दसं दिसासु । इहरा कहासु सुचसि, पञ्चक्खं अत्थ दिट्ठोसि" इत्येवमौदर्यं प्रति गृद्धोऽध्युपपन्नः । किमिव नीवारः सूकरादिमृगभक्ष्यविशेषस्तस्मिन् गृद्ध आसक्तमना गृहीत्वा च स्वयूथं महावराहो महाकायः सूकरः । एवकारोऽवधारणे, अवश्यं तस्य विनाश एव, नाऽपरा गतिरस्तीति, एवमसावपि कुशील आहारमात्रगृद्धः संसारोदरः पौनःपुन्येन विनाशमेवैति ॥२५॥

किञ्च –

अन्नस्स पाणस्सिह लोइयस्स,
अणुप्पियं भासति सेवमाणे ॥
पासत्थयं चेव कुसीलयं च,
निस्सारए होइ जहा पुलाए ॥२६॥

(अण्णस्सेत्यादि) स कुशीलोऽन्नस्य पानस्य वा कृतेऽन्यस्य वैहिकार्थस्य वस्त्रादेः कृते अनुप्रियं भाषते, यद्यस्य प्रियं तत्तस्य वदतोऽनुपश्चाद् भाषतेऽनुभाषते । प्रतिशब्दकवत् सेवकवद्वा राजाद्युक्तमनुवदतीत्यर्थः । तमेव दातारमनुसेवमानः आहारमात्रगृद्धः सर्वमेतत्करोतीत्यर्थः । स चैवंभूतः सदाचारभ्रष्टः पार्श्वस्थभावमेव व्रजति कुशीलतां च गच्छति । तथा निर्गत एकान्ततः सारश्चारित्राख्यो यस्य स निःसारः, यदि वा निर्गतस्य सारो निःसारः, स विद्यते यस्याऽसौ निःसारवान्, पुलाक इव निष्कणो भवति यथा, एवमसौ संयमानुष्ठानं निःसारीकरोति । एवंभूतश्चाऽसौ लिङ्गमात्रावशेषो बहूनां स्वयूथ्यानां तिरस्कारपदवीमवाप्नोति, परलोके च निकृष्टानि यातनास्थानान्यवाप्नोति ॥२६॥

उक्ता कुशीलास्तत्प्रतिपक्षभूतान् सुशीलान् प्रतिपादयितुमाह-

अण्णातपिंडेणऽहियासएज्जा,
णो पूयणं तवसा आवहेज्जा ।
सद्देहिं रूवेहिं असज्जमाणं,
सव्वेहि कामेहिं विणीय गेहिं ॥२७॥

अज्ञातश्चासौ पिण्डश्चाऽज्ञातपिण्डः, अन्तप्रान्त इत्यर्थः । अज्ञातेभ्यो वा पूर्वापरासंस्तुतेभ्यो वा पिण्डोऽज्ञातः उञ्छवृत्त्या लब्धस्तेनात्मानमधिसहेत् वर्त्तयेत् पालयेत् । एतदुक्तं भवतिअन्तप्रान्तेन लब्धेनाऽलब्धेन वा न दैन्यं कुर्यात्, नाऽप्युत्कृष्टेन लब्धेन मदं विदध्यात्, नाऽपि तपसा पूजनं सत्कारमावहेत्, न पूजनसत्कारनिमित्तं तपः कुर्यादित्यर्थः। यदि वा पूजासत्कारनिमित्तत्वेन तथाविधार्थत्वेन वा महताऽपि केनचित्तपो मुक्तिहेतुकं न निःसारं कुर्यात् । तदुक्तम्–"परलोकाधिकं धाम, तपः श्रुतमिति द्वयम् । तदेवाऽर्थित्वनिर्लुप्तसारं तृणलवायते" ।१। तथा च रसेषु गृद्धिं न कुर्यात् एवं शब्दादिष्वपीति दर्शयति–शब्दैर्वेणुवीणादिभिराक्षिप्तः संस्तेष्वसज्जन्नासक्तिमकुर्वन् कर्कशेषु च द्वेषमगच्छन्, तथा रूपैरपि मनोज्ञेतरैः रागद्वेषमकुर्वन् । एवं सर्वैरपि कामैरिच्छा–मदनरूपैः सर्वेभ्यो वा कामेभ्यो गृद्धिं विनीयाऽपनीय संयममनुपालयेदिति । सर्वथा मनोज्ञेतरेषु विषयेषु रागद्वेषं न कुर्यात् ।

तथा चोक्तम् –

"सद्देसु य भद्दयपावएसु, सोयविसयमुवगएसु ।
तुट्ठेण च रुट्ठेण च, समणेण सया ण होयव्वं ॥१॥
रूवेसु य भद्दयपावएसु, चक्खुविसयमुवगएसु ।
तुट्ठेण च रुट्ठेण च, समणेण सया ण होयव्वं ॥२॥
गंधेसु य भद्दयपावएसु, घाणविसयमुवगएसु ।
तुट्ठेण च रुट्ठेण च, समणेण सया ण होयव्वं ॥३॥
भक्खेसु य भद्दयपावएसु, रसणविसयमुपगएसु ।
तुट्ठेण च रुट्ठेण च, समणेण सया न होयव्वं ॥४॥
फासेसु य भद्दयपावएसु, फासविसयभुवगएसु ।
तुट्ठेण च रुट्ठेण च, समणेण सया न होयव्वं" ॥५॥२७॥

यथा चेन्द्रियनिरोधो विधेय एवमपरसङ्गनिरोधोऽपि कार्य इति दर्शयति –

सव्वाइँ संगाइँ अइच्च धीरे,
सव्वाइँ दुक्खाइँ तितिक्खमाणे ।
अखिले अगिद्धे अणिए य चारी,
अभयंकरे भिक्खु अणाविलप्पा ॥२८॥

(सव्वाइ इत्यादि) सर्वान् बाह्याश्च द्रव्यपरिग्रहलक्षणानतीत्य त्यक्त्वा धीरो विवेकी सर्वाणि दुःखानि शारीरमानसानि त्यक्त्वा परीषहोपसर्गजनितानि तितिक्षमाणोऽधिसहन्नखिलो ज्ञानदर्शनचारित्रैः सम्पूर्णः, तथा कामेष्वगृद्धः, तथाऽनियतचारी अप्रतिबद्धविहारी, तथा–जीवानामभयंकरोऽपि भिक्षणशीलो भिक्षुः साधुरेवमनाविलो विषयकषायैरनाकुलात्मा यस्याऽसावनाविलात्मा संयममनुवर्तत इति ॥२८॥

किञ्चान्यत् –

भारस्स जाता मुणि भुंजएज्जा,
कंखेज्ज पावस्स विवेग भिक्खू ॥

दुक्खेण पुट्ठे धुयमाइएज्जा,
संगामसीसे व परं दमेज्जा ॥२९॥

संयमभारस्य यात्राऽर्थं पञ्चमहाव्रतभारनिर्वाहणार्थं, मुनिः कालत्रयवेत्ता, भुञ्जीत आहारग्रहणं कुर्वीत, तथा पापस्य कर्मणः पूर्वचरितस्य विवेकं पृथग्भावं विनाशमाकाङ्क्षे द्भिक्षुः साधुरिति। तथा दुःखयतीति दुःखं परीषहोपजनिता पीडा, तेन स्पृष्टो व्याप्तः सन् धूतं संयमं मोक्षं वा आददीत गृण्हीयात्, यथा सुभटः कश्चित् संग्रामशिरसि शत्रुभिरभिद्रुतः परं शत्रुं दमयति, एवं परं कर्मशत्रुं परीषहोपसर्गाऽभिद्रुतो दमयेदिति ॥२९॥

अपि च–

अवि हम्ममाणे फलगावतट्ठी,
समागमं कंखति अंतकस्स।
णिधूय कम्मं ण पवंचुवेइ,
अक्खक्खए वा सगडं ति बेमि ॥३०॥

(अविहम्ममाणेत्यादि) परीषहोपसर्गैर्हन्यमानोऽपि सम्यक् सहते। किमिव फलकवदकृष्टः। यथा फलकमुभाभ्यामपि पार्श्वाभ्यां तष्टं घट्टितं सत्तनु भवति अरक्तं द्विष्टं वा संभवत्येवमसावपि साधुः सबाह्याभ्यन्तरेण तपसा निष्टप्तदेहो दुर्बलशरीरोऽरक्तद्विष्टश्चान्तकस्य मृत्योः समागमं प्राप्तिमाकाङ्क्षत्यभिलषति। एवं चाऽष्टप्रकारं कर्म निर्धूयाऽपनीय न पुनः प्रपञ्च जातिजरामरणरोगशोकादिकं प्रपञ्च्यते बहुधा नटवद्यस्मिन् स प्रपञ्चः संसारस्तं नोपैति न याति। दृष्टान्तमाह–यथाऽक्षस्य विनाशे सति शकटं गन्त्र्यादिकं समविषमपथरूपं प्रपञ्चमुपष्टम्भकारणभावान्नोपयाति, एवमसावपि साधुरष्टप्रकारस्य कर्मणः क्षये संसारप्रपञ्चं नोपयातीति। गतोऽनुगमोऽनया, पूर्ववदितिशब्दः पूर्ववदितिशब्दः परिसमाप्त्यर्थे, ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥३०॥ सूत्र०१ श्रु०७ अ०।

(७) पार्श्वस्थादिसंसर्गो न कर्तव्यः –

अकुसीले सया भिक्खू, णेव संसग्गियं भए।
सुहरूवा तत्थुवस्सग्गा, पडिबुज्झेज्ज ते विऊ॥२८॥

कुत्सितं शीलमस्येति कुशीलः, स च पार्श्वस्थादीनामन्यतमः न कुशीलो अकुशीलः, सदा सर्वकालं भिक्षणशीलो भिक्षुः कुशीलो न भवेन्न चापि कुशीलैः सार्धं संसर्गं सांगत्यं भजेत सेवेत। तत्संसर्गदोषोद्भिमावयिषयाऽऽहसुखरूपाः सातागौरवस्वभावास्तत्र तस्मिन् कुशीलसंसर्गे संयमोपघातकारिण उपसर्गाः प्रादुष्यन्ति। तथाहि–कुशीलवक्तारो भवन्ति–कः किल प्रासुकोदकेन हस्तपाददन्तादिके प्रक्षाल्यमाने दोषः स्यात् ? तथा नाशरीरो धर्मो भवति इत्यतो येन केनचित्प्रकारेणाधाकर्मसान्निध्यादिना तथा उपानच्छत्रादिना च शरीरं धर्माधारं वर्त्तयेत्। उक्तं च–"अप्पेण बहुमेसेज्जा, एयं पंडियलक्खणं।" इति "शरीरं धर्मसंयुक्तं, रक्षणीयं प्रयत्नतः। शरीरत्स्रवते पापं, पर्वतात्सलिलं यथा ॥१॥" तथा साम्प्रतमल्पानि संहननानि अल्पधृतयश्च संयमे जन्तव इत्येवमादि कुशीलोक्तं श्रुत्वा अल्पसत्त्वास्तत्रानुषज्यन्त्येवं विद्वान् विवेकी प्रतिबुद्ध्येत जानीयात्, बुध्वा चापायरूपं कुशीलसंसर्गं परिहरेदिति।

किञ्चान्यत्–

नन्तत्थ अंतराएणं, परगेहे ण णिसीयए।
गामकुमारियं किड्डं, नातिवेलं हसे मुणी ॥२९॥

तत्र साधुर्भिक्षादिनिमित्तं ग्रामादौ प्रविष्टः सन् परो गृहस्थस्तस्य गृहं परगृहं तत्र न निषीदेन्नोपविशेत्, उत्सर्गतोऽस्यापवादं दर्शयति–नान्यत्रान्तरायेणेति। अन्तरायः शक्त्यभावः, स च जरसा रोगातङ्काभ्यां स्यात्तस्मिंश्चान्तराये सत्युपविशेद्यदि वोपशमलब्धिमान् कश्चित्सुसहायो गुर्वनुज्ञातः कस्यचित्तथाविधस्य धर्मदेशनानिमित्तमुपविशेदपि, तथा ग्रामे कुमारका ग्रामकुमारकास्तेषामियं ग्रामकुमारिकाऽसौ क्रीडा हास्यकन्दर्पहस्तसंस्पर्शनालिङ्गनाऽऽदिका, यदि वा वट्टकन्दुकादिका, तां मुनिर्न कुर्यात, तथा वेला मर्यादा तामतिक्रान्तमतिवेलं, न हसेन्मर्यादामतिक्रम्य मुनिः साधुर्ज्ञानावरणीयाद्यष्टविधकर्मबन्धभयान्न हसेत्। तथा चागमः–"जीवे णं भंते ! हसमाणे उस्सूयमाणे वा कइ कम्मपगडीओ बंधइ ? गोयमा ! सत्तविह बंधए वा अट्ठविह बंधए वा" इत्यादि।

किञ्च –

अणुस्सुओ उरालेसु, जयमाणो परिव्वए।
चरियाए अप्पमत्तो, पुट्ठो तत्थ हियासए॥३०॥

उराला उदाराः शोभना मनोज्ञा ये चक्रवर्त्यादीनां शब्दादिषु विषयेषु कामभोगा वस्त्राभरणगीतगन्धर्वयानवाहनादयः, तथा आज्ञैश्वर्यादयश्चैनेषूदारेषु दृष्टेषु श्रुतेषु वा नोत्सुकः स्यात्। पाठान्तरं वा–न निश्रितोऽनिश्रितोऽप्रतिबद्धः स्याद्। यतमानश्च संयमानुष्ठाने परि समन्तान्मूलोत्तरगुणेषु उद्यमं कुर्वन् व्रजेत् संयमं गच्छेत्। तथा चर्चायां भिक्षादिकायाम–प्रमत्तः स्यात्, नाहारादिषु रसगार्ध्यं विदध्यादिति। तथा स्पृष्टश्चाभिद्रुतश्च परीषहोपसर्गैस्तत्रादीनमनस्कः कर्मनिर्जरां मन्यमानो विषहेत सम्यक् सह्यादिति। सूत्र०१ श्रु०६ अ०।

(८) पार्श्वस्थादिसंसर्गदोषमाह–

वज्जिज्ज य संसग्गिं, पासत्थाईहि पावमित्तेहिं।
कुज्जा य अप्पमत्ता, सुद्धचरित्तेहिं धीरेहिं ॥३०॥

विवर्जयेच्च संसर्गं संबन्धमित्यर्थः। कैरित्याहपार्श्वस्थादिभिः पापमित्रैरकल्याणमित्रैः सह; कुर्याच्च संसर्गमप्रमत्तः सन् शुद्धचारित्रैर्धीरैः साधुभिः सहेति गाथार्थः ॥३०॥

किमित्येतदेवमित्यत्राह–

जो जारिसेण मेत्तिं, करेइ अचिरेण तारिसो होइ।
कुसुमेहि सह वसंता, तिला वि तग्गंधिया हुंति ॥३१॥

यः कश्चित् यादृशेनान्येन केनचित् सह मैत्रीं संसर्गरूपां करोति सोऽचिरात् तादृशो भवति। अत्र निदर्शनमाह–कुसुमैः सह वसन्तः सन्तस्तिला अपि तद्गन्धितो भवन्ति कुसुमगन्धिन एवेति गाथार्थः ॥३१॥

अत्राह–

सुचिरं पि अत्थमाणो, वेरुलिओ कायमणिअउम्मीसो।
न उवेइ कायभावं, पाहण्णगुणेण निअएणं ॥३२॥

सुचिरमपि प्रभूतमपि कालं तिष्ठन् वैडूर्यो मणिविशेषः, काचाश्च ते मणयश्च काचमणयः, कुत्सिताः काचमणयः काचमणिकाः, तैरुत्प्राबल्येन मिश्रः काचमणिकोन्मिश्रः, नोपैति न याति काच भावं काचधर्म्मं प्राधान्यगुणेन वैमल्यगुर्मयेन निजेनात्मीयेन, एवं सुसाधुरपि पार्श्वस्थादिभिर्न यास्यतीति गाथार्थः ॥३२॥

तथा–

सुचिरं पि अत्थमाणो, नलथंभो उच्छुवाडमज्झम्मि।
कीस न जायइ महुरो, जइ संसग्गी पमाणं ते ?॥३३॥

सुचिरमपि प्रभूतमपि कालं तिष्ठन् नलस्तम्बो वृक्षविशेषः इक्षुवाटमध्ये इक्षुसंसर्गात्किमिति न जायते मधुरः यदि संसर्गी प्रमाणं तवेति गाथार्थः ॥३३॥

अत्रोत्तरमाह–

भावुग अभावुगाणि अ, लोए दुविहाणि होंति दव्वाणि।
वेरुलिओ तत्थ मणी, अभावुगो अन्नदव्वेहिं ॥३४॥

भाव्यन्ते प्रतियोगिना स्वगुणैरात्मभावमापद्यन्त इति भाव्यानि केवल लुकादीनि, प्राकृतशैल्या भावुकान्युच्यन्ते। अथ वा प्रतियोगिनी सति तद्गुणपेक्षया तथा भवनशीलानि भावुकानि **"लषपतपदस्थाभूवृषहनकमगमशृम्य उकञ्" ३।२।१५४।** इति पाणिनिसूत्रादुकञ्, तस्य ताच्छीलिकत्वादिति। तद्विपरीतानि अभाव्यानि च नलादीनि लोके द्विविधानि द्विप्रकाराणि भवन्ति द्रव्याणि वस्तूनि, वैडूर्यस्तत्र मणिरभा–व्योऽन्यद्रव्यैः काचादिभिरिति गाथार्थः ॥३४॥

स्यान्मतिर्जीवोऽप्येवंभूत एव भविष्यति न पार्श्वस्थादिसं–

सर्गेण तद्भावं यास्यतीत्येतच्च असद्, यतः –

जीवो अणाइनिहणो, तब्भावणभाविओ अ संसारे।
खिप्पं सो भाविज्जइ, मेलणदोसाणुभावेणं ॥३५॥

जीवः प्राग्निरूपितशब्दार्थः, स ह्यनादिनिधनोऽनाद्यपर्यन्त इत्यर्थः तद्भावनाभावितश्च पार्श्वस्थाद्याचरितप्रमादादिभावनाभावितश्च संसारे तिर्यग्नरनारकामरभवानुभूतिलक्षणे, ततश्च तद्भावनाभावितत्वात् क्षिप्रं शीघ्रं स भाव्यते प्रमादादिभावनया आत्मीक्रियते मीलनदोषानुभावेन संसर्गदोषानुभावेनेति गाथार्थः ॥३५॥

अथ भावतो दृष्टान्तमात्रेण परितोषः, ततो मद्विवक्षितार्थ–

प्रतिपादकोऽपि दृष्टान्तोऽस्त्येव, शृणु–

अंबस्स य निंबस्स य, दोण्हं पि समागयाइं मूलाइं।
संसग्गीऍ विणट्ठो, अंबो निंबत्तणं पत्तो ॥३६॥

तिक्तनिम्बोदकवासितायां भूमावाम्रवृक्षः समुत्पन्नः, पुनस्तत्राम्रस्य च निम्बस्य च द्वयोरपि समागते एकीभूते मूले ततश्च संसर्गात् संगत्या विनष्टः आम्रो निम्बत्वं, तिक्तफलः संवृत इतिगाथार्थः ॥३६॥

दोषान्तरोपदर्शनेन प्रकृतमेव समर्थयन्नाह–

संसग्गीए दोसा, निअमादेवेह होइ अकिरिया।
लोए गरिहा पावे, अणुमइ मो तह य आणाई ॥३७॥

संसर्गात् संसक्तेर्वा पार्श्वस्थादिभिः सहेति गम्यते, दोषा इमे नियमादेवेह, या च भवत्यक्रिया तदुपरोधेन तथा लोके गर्हाभवतिसर्व एवैते एवंभूता इति, तथा पापेऽनुमतिर्भवति पार्श्वस्थादिसम्बन्धिनी, तत्सङ्गमात्रनिमित्तत्वादनुमतेः तथा आज्ञादयश्च दोषा भवन्तीति गाथार्थः ॥३७॥पं० व०।

(कुशीलसंसर्गे दोषाः 'किइकम्म' शब्देऽपि ५०६ पृष्ठेऽस्मिन्नेव भागे भाविताः ततस्ते ततं एवाऽवधार्याः)

कुसीलधम्म–पुं०(कुसीलधर्मन्) कुत्सितशीलो धर्मो यस्य स कुशीलधर्मा। सावद्यकर्मणा धर्मत्वाभिमानिषु, "अहाहु से लोऍ कुसीलधम्मे, भूताइँ जे हिंसति आयसाते। "सूत्र०१ श्रु०७ अ०।

कुसीलपडिसेवणया–स्त्री०–[कुसीलप्रतिसेवनका (ता)] कुशीलमब्रह्म, तस्य प्रतिसेवनं कुशीलप्रतिसेवनं, तद्भावः कुशीलप्रतिसेवनता, उपसर्गकुशीलस्य वा प्रतिसेवनं येषु ते कुशीलप्रतिसेवनकाः। मानुष्योपसर्गभेदेषु, स्था०४ ठा०४ उ०।

कुसीलपडिसेवणा–स्त्री०–(कुशीलप्रतिसेवना) मैथुनप्रतिसेवनायाम्, स्था०४ ठा०४ उ०।

कुसीलपणग–न०–(कुशीलपञ्चक) पार्श्वस्थावसन्नयथाच्छन्दसंसक्तकुशीलपञ्चके, महा०२ अ०।

कुसीलपरिभासा–स्त्री०–(कुशीलपरिभाषा) सूत्रकृताङ्गस्य प्रथमश्रुतस्कन्धस्य सप्तमेऽध्ययने, तत्र कुशीलाः परतीर्थिकाः। पार्श्वस्थादयो वा स्वयूथ्या अशीलाश्च गृहस्थाः परि समन्ताद् भाष्यन्ते प्रतिपाद्यन्ते तदनुष्ठानतस्तद्विपाकदुर्गतिगमनाश्च निरूप्यन्त इति, तथा तद्विपर्ययेण क्वचित्सुशीलाश्चेति। निक्षेपस्त्रिधाओघनामसूत्रालापकभेदात्। तत्रौघनिष्पन्ननिक्षेपेऽध्ययनं, नाम निष्पन्ने कुशीलपरिभाषेति। सूत्र०।

साम्प्रतं कुशीलपरिभाषाख्यस्याऽध्ययनस्याऽन्वर्थतां दर्शयितुमाह –

परिभासिया कुशीला य, एत्थ जावंति अविरता केइ।
मुत्तिपसंसासुद्धो, कुंति दुगुंछा अपरिसुद्धो ॥९०॥

(परिभासिया इत्यादि) परि समन्ताद् भाषिताः प्रतिपादिताः कुशीलाः कुत्सितशीलाः परतीर्थिकाः पार्श्वस्थादयश्च। चशब्दाद् यावन्तः केचनाऽविरता अस्मिन्नित्यत इदमध्ययनं कुशीलपरिभाषेत्युच्यते। किमिति कुशीला अशुद्धा गृह्यन्ते? इत्याह–सुरित्ययं निपातः प्रशंसायां शुद्धविषये वर्त्तते। तद्यथा सौराज्यमित्यादि। तथ कुरित्ययमपि निपातो जुगुप्सायाम्–शुद्धविषये वर्त्तते, कुतीर्थं कुग्राम इत्यादि।

यदि कुत्सितशीलाः कुशीलाः कथं तर्हि परतीर्थिकाः पार्श्वस्थादयश्च तथाविधा भवन्ति इत्याह–

अप्फासुयपडिसेवी, णामं भुज्जो य शीलवादी य।
फासुं वयंति सीलं, अफासुया नो अमुंजंता ॥९१॥

(अप्फासुय इत्यादि) अस्त्ययं शीलशब्दस्तत्स्वाभाव्ये। थाहि–यः फलनिरपेक्षः क्रियास्वाभरणादिषु प्रवर्त्तते स चेह द्रव्यशीलत्वेन प्रदर्शितः, अस्त्युपशमप्रधाने चारित्रे। तथाहि तत्प्रधानः शीलवानयं तपस्वीति, तद्विपर्ययेण दुःशील इति। स चेह भावशीलग्रहणेनोपात्त इति। इह च यतीनां ध्यानाध्ययनादिकं मुक्त्वा धर्माधारशरीरतत्पालनाहाराद्व्यापारं च मुक्त्वा नाऽपरः कश्चिद्व्यापारोऽस्तीत्यतस्तदाश्रयणेनैव सुशीलत्वं च चिन्त्यते–तत्र कुतीर्थिकः पार्श्वस्थादिर्वा अप्राशुकं सचित्तं प्रति सेवितुं शीलमस्य स भवत्यप्राशुकप्रतिसेवी, नामशब्दः संभावनायां, भूयः पुनर्धार्ष्ट्याच्छीलवन्तमात्मानं वदितुं शीलं यस्य स शीलवादी, किमित्येवं, यतः प्राशुकमचेतनं शीलं वदति। इदमुक्तं भवति यः प्राशुकमुद्गमादिदोषरहितमाहारं भुङ्क्ते तं शीलवन्तं वदन्ति तज्ज्ञाः। तथाहि–यतयोऽप्राशुकमुद्गमादिदोषदुष्ट-

मेवाऽऽहारमभुञ्जानाः शीलवन्तो भण्यन्ते नेतर इति स्थितम्। नोशब्दस्य निपातत्वेनाऽवधारणार्थत्वादिति।

अप्राशुकभोजित्वेन कुशीलत्वं प्रतिपादयितुं दृष्टान्तमाह–

जह णाम गोयमा चं–डिदेवगा वारिभद्दगा चेव।
जे अग्गिहोत्तवादी, जलसोयं जे य इच्छंति ॥९२॥

(जह णाम इत्यादि) यथेति दृष्टान्तो पक्षेपार्थं, नामशब्दो वाक्यालङ्कारे। गौतमा इति गोव्रतिका गृहीतशिक्षं लघुकायं वृषभमुपादाय धान्याद्यर्थं प्रतिगृहमटन्ति। तथा (चंडिदेवगा इति) चक्रधरप्रायाः। एवं वारिभद्रका अब्भक्षाः शैवलाशिनो नित्यं स्नानपानादिधावनाभिरता वा। तथा ये चाऽन्येऽग्निहो–त्रवादिनोऽग्निहोत्रादेव स्वर्गगमनमिच्छन्ति, ये चान्ये जल–शौचमिच्छन्ति भागवतादयस्ते सर्वेऽप्यप्राशुकाहारभोजित्वात् कुशीला इति। चशब्दात् ये च स्वयूथ्याः पार्श्वस्थादय उद्गमाद्यशुद्धमाहारं भुञ्जन्ते, तेऽपि कुशीला इति। गतो नामनिष्पन्नो निक्षेपः॥ सूत्र० नि०१ श्रु०७ अ०। आ० चू०। आव०। स०। प्रश्न०।

कुसीललिंग–न०(कुशीललिङ्ग) पार्श्वस्थादीनां चिह्ने, उत्त०२० अ०।

कुसीलविहारि(ण्)–पुं०(कुशीलविहारिन्) आजन्माऽपि ज्ञानाद्याचारविराधके, भ०१० श०४ उ०।

कुसीलसंसग्गि–पुं०(कुशीलसंसर्गि)पार्श्वस्थादिसम्बन्धे, सावद्यमनायतनमशोधिस्थानं कुशीलसंसर्गिः, एतान्येकार्थिकानि पदानि भवन्ति। ओघ०।

कुसीस–पुं०(कुशिष्य) दुष्टशिष्ये, उत्त०२७ अ०।

कुसुंभ–पुं०(कुसुम्भ) लट्ठायाम्, स्था०८ ठा०। भ०। औषधिभेदे, प्रज्ञा०१ पद। आचा०। भ०। नि० चू०। लट्ठकरागे, यत्पुष्पैर्वस्त्रादिरागः समुत्पद्यते। जं०२ वक्ष०। "चत्तारि हुंति तेल्ला, तिलअयसि–कुसुंभसरिसवाणं च।" प्रव० ४ द्वार। "जे सुंभए से कुसुंभए" अनु०। कमण्डलौ, स्वर्णे, न०। वाच०।

कुसुट्ट–पुं०(कुशावर्त) व० व०। आर्यदेशभेदे, यत्र सौरिकं नगरं, सोरियं कुसुट्ठा य सौरिकं नगरं, कुशावर्तो देशः प्रव०२७३ द्वार। सूत्र०।

कुसुम–न०(कुसुम) कुस–उम। गुणा भावः। पुष्पे, जं०१ वक्ष०। जी०। रा०। दश०। स्था०। औ०। कल्प०। प्रज्ञा०। "पुप्फाणि य कुसुमाणि य, फुल्लाणि य तहेव होंति पसवाणि। सुमणाणि य सुहुमाणि य, पुप्फाणं होंति एगट्ठा॥" दश०८ अ०। पद्मप्रभस्य यक्षे, स च नीलवर्णः कुरङ्गवाहन–श्चतुर्भुजः कलाभययुक्तदक्षिणपाणिद्वयो नकुलाक्षसूत्रवामपाणिद्वयश्च। प्रव०२७ द्वार।

कुसुमकुंडल–न०(कुसुमकुण्डल) हृत्पूरकपुष्पसमानाकृतिकर्णाभरणे, अन्त०४ वर्ग।

कुसुमकेउ–पुं०(कुसुमकेतु) अरुणवरद्वीपाधिपतिदेवे, द्वी०।

कुसुमक्खयधूव–पुं०(कुसुमाक्षतधूप)पुष्पमालाद्यखण्डतण्डुलकृष्णागरुसारधूपेषु, दर्श०।

कुसुमग्गथण–न०(कुसुमग्रथन) स्त्रीकलाभेदे, कल्प०७ क्षण।

कुसुमघरय–न०(कुसुमगृहक) कुसुमप्रायवनस्पतिगृहे, ज्ञा०१ श्रु०३ अ०। कुसुमप्रकारोपचिते गृहे, जं०१ वक्ष०। जी०। रा०।

कुसुमणयर–न०(कुसुमनगर) पाटलिपुत्रे, आ०म०द्वि०।

कुसुमदाम–न०(कुसुमदामन्) पुष्पमालायाम्, उपा०१ अ०।

कुसुमदामकोदंड–पुं०(कुसुमदामकोदण्ड) कामदेवे, "मुंडमालिए जं पणएण तं नमहुं कुसुमदामकोदंडकामहुं" प्रा०४ पाद।

कुसुमप्पअर–पुं०(कुसुमप्रकर) **"समासे वा" ८।२।९७।** इति पद्वित्वं वा। पुष्पसमूहे, प्रा०२ पाद।

कुसुमपुर–न०(कुसुमपुर) पाटलिपुत्रे, बृ०३ उ०।

कुसुमभर–पुं०(कुसुमभर) पुष्पसम्भारे, "कुसुमभरसमोणमंतपत्तल–विसालसालं" कुसुमभरेण पुष्पसंभारेण समीषदवनमन्त्यः पत्रसमृद्धाः स्कन्धपत्रलमिति वचनात् विशाला विस्तीर्णाः शालाः शाखा यस्य सः कुसुमभरस– मवनमत्पत्रविशालशालः। रा०।

कुसुमवुट्ठि–स्त्री०(कुसुमवृष्टि) दशार्द्धवर्णपुष्पवर्षे, पञ्चा०२ विव०। दशार्द्धवर्णजलजाधोभागस्थायिवृत्तजाम्बूनदप्रमाणकुसुमवर्षणे, दर्श०।

कुसुमसंथर–पुं०(कुसुमसंस्तर) पुष्पशयने, प्रश्न०५ सम्ब० द्वार।

कुसुमसंभव–पुं०–(कुसुमसम्भव)। वनस्पतिषु बाहुल्येन कुसुमानां मल्लिकापाटलादीनां सम्भवो यस्मिन् स तथा। मधुमासे, "अह कुसुमसंभवे काले, कोइला पंचमं सरं"। अनु०। कल्प०। स्था०। चं० प्र०। जं०। ज्यो०। सू० प्र०।

कुसुमसम–त्रि०(कुसुमसम) पुष्पसदृशे, तं०।

कुसुमसार–पुं०(कुसुमसार)मलयमहायाः पितरि सार्थवाहे, "विजयमणणंदणे णयरे कुसुमसारसत्थवाहसुकुमालियाए भारियाए मलयमहा नाम दुहिया"। दर्श०।

कुसुमालिओ–(देशी) शून्यमनसि, दे० ना०२ वर्ग।

कुसुमासव–न०(कुसुमासव) कुसुमस्य तद्रसस्याऽऽसवम्। पौष्पे मधुनि, तज्जाते मद्ये च। वाच०। किञ्जल्के, औ०।

कुसुमासवलोल–त्रि०(कुसुमासवलोल) किञ्जल्कपानलम्पटे, जी०३ प्रति०। जं०। रा० औ०।

कुसुमिय–त्रि०(कुसुमित) कुसुमानि पुष्पाणि सञ्जातानि एषामिति कुसुमिताः। तारकादिदर्शनादितच् प्रत्ययः। रा०। स्था०। संजातकुसुमेषु, भ०१ श०१ उ०। जी०। औ०। जं०। आ० म०। मुकुलितेषु, बृ०१ उ०।

कुसुर–न०(ताम्बूल) **"गौणाऽऽदयः"।८।२।१७४।** इति ताम्बूलस्थानं कुसुराऽऽदेशः। नागवल्लीदले, प्रा०२ पाद।

कुसूल–पुं०(कुशूल) कोष्ठे, स्था०३ ठा०१ उ०।

कुसेज्ज–त्रि०(कुशय्य) कुत्सितशयने, जं०२ वक्ष०। प्रश्न०।

कुह–पुं०(कुह) कुहयति विस्मापयति ऐश्वर्येण। कुह–अच्। कुबेरे, पुं०। विस्मापके, त्रि०। वाच०। वृक्षे, "कुहा महीरुहा वच्छा, रोवगा रुंजगा विय"। एते द्रुमपर्यायाः। दश०७ अ०।

***कुध्**–स्त्री०। सम्पदादि० भावे क्विप्। क्रोधे, ध०२ अधि०।

कुहंड–पुं०(कूष्माण्ड)रत्नप्रभापृथिव्या उपरितनयोज–नशतवर्तिनि व्यन्तरनिकायविशेषे, औ०।

कुहंडिया–स्त्री०(कूष्माण्डिका) पुष्पफल्याम्, रा०।

कुहंडियाकुसुम–न०(कूष्माण्डिकाकुसुम)पुष्पफली–कुसुमे, रा०। जी०।

कुहग(य)–न०(कुहक) कुह–वा क्विन्। इन्द्रजाले, असद्वस्तुनः सत्त्वेन बोधके व्यापारभेदे, वञ्चनायाम्, स्त्री०। क्षिपकादित्वाद् नेत्वम्। वाच०। धावतोऽश्वस्य उदरप्रदेशसमीपे संमूर्च्छितवायुविशेषे, "घणगज्जियहय–कुहए, विज्जुदुगिज्झगूढहिय्ययाओ"। अत्र कुहकशब्देन योधावतोऽश्वस्यो–दरप्रदेशसमीपे संमूर्च्छितवायुविशेष उत्पद्यते स प्रोच्यते। यत उक्तं परिशिष्टपर्वणि श्रीहेमचन्द्रसूरिपादैः–"दध्यौ च स्वर्णकारोऽपि, चरितं योषितामहो। अश्वानां कुहकाराव–मिह को वेत्तुमीश्वर ?।१। ग०२ अधि०।

कुहडा–(देशी) कुब्जे, दे० ना०२ वर्ग।

कुहण–न०(कुहन) ईषत् प्रयत्नेन हन्यते। हन्–कर्मणि वा अप्। मृद्भाण्डे, काचपात्रे च। तयोरीषत् प्रयत्नेन हन्यमानत्वात्तथात्वम्। कुत्सिताचारेण हन्ति। हन् अच्। ईर्षालौ, त्रि०। कुं पृथिवीं हन्ति, हन अच्। मूषके, सर्पे च। पुं०। स्त्री०। स्त्रियां ङीप्। वाच०। भूमिस्फोटकाभिधाने वनस्प–तिभेदे, आचा०१ श्रु०१ अ०५ उ०। प्रज्ञा०। उत्त०। भ०। से किं तं कुहणा ?। कुहणा अणेगविहा पण्णत्ता। तं जहा–"आए काए कुहणे, कुणक्के दव्वहलियाए। सपब्भाए सत्ताए छत्तोए वंसीणहिया कुहरए"।१। या घणे तहप्पगारा सेत्तं कुहणा"। प्रज्ञा०१ पद। सूत्र०। प्रश्न०।

कुहणी–स्त्री०(कूष्माण्डी)वल्लीभेदे, आचा०१ श्रु०१२ अ०५ उ०।

कुहर–न०(कुहर)विवरे, प्रश्न०४ आश्र० द्वार। रा०। पर्वतान्तराले, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०। रा०। जिनमण्डपादिके, नं०। कर्णे, कण्ठशब्दे, गले, समीपे च। न०। वाच०।

कुहाड–पुं०(कुठार) परशौ, सूत्र०१ श्रु०१ अ०१ उ०। विपा०। 'जो परं कुहाडेहिं छेत्तव्वो' नि० चू०१ उ०। काष्ठसंस्करणसाधनप्रहरणे, उत्त०१६ अ०।

कुहाडहत्थ–त्रि०(कुठारहस्त) परशुपाणौ, सूत्र०१ श्रु० ५ अ०१ उ०।

कुहाडी–स्त्री०(कुठारी) शस्त्रविशेषे, आचा०१ श्रु०१ अ०५ उ०।

कुहावणा–स्त्री०(कुहना) 'कुह' विस्थापने। अदन्तस्य धुरादित्वादिनि "ईषिपन्थ्यासिविदिकारितान्तेभ्यो युः" इति युप्रत्ययः। कुहना। विस्मयकारिण्यां दन्तक्रियायाम, "धावणडेवणसंधरिस–गमणकिड्डा–कुहावणाईसु। उक्किट्ठगो–यछेलिय–जीवरुयाईसु य चउत्था" ॥४५॥ इन्द्रजालगोल–कखेलनाद्याः, आदिशब्दात्समस्या–प्रहेलिकादयो गृह्यन्ते। जीत०।

कुहिय–त्रि०(कुथित) कोथमुपनीते, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०। कोथवति, प्रश्न०५ सम्ब० द्वार। पूतिभावमुपगते, जी०३ प्रति०। विनष्टे च। ज्ञा०१ श्रु०१ अ०।

कुहियकढिणकट्ठभूय–त्रि०(कुथितकठिनकाष्ठभूत) विनष्टकर्कश–दारुभूते, तं०।

कुहियकिमिय–त्रि०(कुथितकृमिक) विनष्टकृमिके, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०।

कुहियपूइय–त्रि०(कुथितपूतिक) अत्यन्तकुथिते, प्रश्न०५ सम्ब० द्वार।

कुहुव्वय–पुं०(कुहुव्रत) कन्दविशेषे, उत्त०३६ अ०।

कुहेडग–पुं० (कुहेटक) कन्दविशेषे, उत्त०३६ अ०।

कुहेडग–पुं०(कुहेटक) अलीकाश्चर्य्यविधायकमन्त्रतन्त्रज्ञानात्मिकायां विद्यायाम्, उत्त०२० अ०। "तेसु न विम्हयइ सयं, आहट्टु कुहेडएहिं व। "अत्र आहट्टु त्ति प्रहेलिका, कुहेडक आभाणकः प्रायः प्रसिद्ध एव। प्रव०७३ द्वार। वक्रोक्तिविशेषे, बृ०१ उ०।

कुहेडगा–स्त्री०(कुहेटका) पिण्डार्यके, पञ्चा०५ विव०। पिण्डालौ, प्रव०४ द्वार।

कुहेडयविज्जासवदारजीवि(ण्)–त्रि०(कुहेटकविद्याश्रवद्वारजीविन्) कुहेटका विद्याः कुहेटकविद्या अलीकाश्चर्यविधायकमन्त्रयन्त्र–तन्त्रज्ञानात्मिकाः, ता एव आश्रवद्वाराणि, तैर्जीवितुमाजीविकां कर्तुं शीलं यस्य स कुहे टकविद्याश्रवद्वारजीवी। कुहेटक विद्यया कर्मोपार्जन–हेतुभूतया जीवननिर्वाहके, "कुहेडविज्जासवदारजीवी, न गच्छई सरणं तम्मि काले"। उत्त०२ अ०।

कुहेवाग–पुं०(कुहेवाक) कुत्सिता हेवाका आग्रहविशेषाः कुहेवाकाः। कदाग्रहेषु, "इमाः कुहेवाकविडम्बनाः स्युस्तेषां न येषामनुशासक–स्त्वमिति"। स्था०३ श्लोक। स्था०।

कूअ–पुं०(कुतप) तैलादिभाजने, "कूअग्गाहा" जं०३ वक्ष०।

कूअणया–स्त्री०(कूजनता) आर्तस्वरकरणे, स्था०३ ठा०३ उ०।

कूइय–न०(कूजित) कासिते, अविधिना मुखवस्त्रिकां करं वा मुखेनाध्मायकृते, आव०४ अ०। पक्षिभेदे, अव्यक्तशब्दे च। वाच०।

कूचिया–स्त्री०(कूर्चिका)विन्दुरूपेषु बुद्बुदेषु, विशे०। "अंबत्तणेण जीहाए, कूचिया होइ खीरमुदगम्मि। हंसो मुत्तूण जलं, आपिपइ पयं तह सुसीसो" ॥१४६७॥ आ०म०प्र०। विशे०।

कूजंत–त्रि०(कूजत्) अव्यक्तं शब्दायमाने, ज्ञा०१ श्रु०८ अ०।

कूड–पुं०(कूट) कूट–अच्। यथायथं कर्मादौ घञ् वा। अगस्त्यमुनौ, गृहे, पुं०। स्त्री०। निश्चले राशौ, लौहमुद्गरे, दम्भे, मायायाम्, वाच०। असद्भूते, आव०६ अ०। प्रव०। भ्रान्तिजनकद्रव्ये, भ०७ श०६ उ०। जं०। कार्षापणतुलाप्रस्थादेः परवञ्चनार्थं नानाविधकरणे, सूत्र०२ श्रु०२ अ०। न्यूनाधिककरणे, ज्ञा०१ श्रु०२ अ०। प्रश्न०। अनेकेषां मृगादीनां ग्रहणाय नानाविधप्रयोगकरणे, रा०। गौणमोहनीयकर्मणि, स०३० सम०। नरके, कश्चिदतिक्रूरकर्मा तन्मध्यात्कूटमिव कूटं प्रभूतप्राणियातना–हेतुत्वात् नरक इत्यर्थः, यथैव हि कूटनिपतितो मृगो व्याधैरनेकधा

हन्यत एवं नरकपतितोऽपि जन्तुः परमाधार्मिकैरिति। उत्त०५ अ०। "जे गिद्धे कामभोएसु, एगे कूडा य गच्छति"॥ उत्त०५ अ०। प्राणिनां पीडाकरे स्थाने, उत्त०६ अ०। दुःखोत्पात्तिस्थाने, सूत्र०१ श्रु०५ अ०१ उ०। हस्त्यादिबन्धनस्थाने, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०। भ०। सत्त्वबन्धनस्थाने, स्था०४ ठा०१ उ०। गलयन्त्रपाशादिके, सूत्र०१ श्रु०५ अ०२ उ०। "एगंतकूडे णरए महंते, कूडेण तत्थावि समे हताओ। "सूत्र०१ श्रु०५ अ०२ उ०। शिखरे, स्था०४ ठा०२ उ०। जं०। जी०। भ०। पर्वतशिखरे, विपा०१ श्रु०३ अ०। रा०। पर्वतोपरि व्यवस्थिते शिखरे, सू० प्र०१६ पाहु०। महति शिखरे, रा०। अधोविस्तीर्णे उपरि संकीर्णे वृत्तपर्वते, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०। पर्वतानां मध्यभागे, जं०२ वक्ष०। रा०। जी०।

अथ क्षुद्रहिमवदादीनां कूटानि। तत्र क्षुद्रहिमवतः—

चुल्लहिमवंते णं भंते वासहरपव्वए कइ कूडा पण्णत्ता ? गोयमा ! इक्कारस कूडा पण्णत्ता। तं जहा—सिद्धाययणकूडे ? चुल्लहिमवंतकूडे २ भरहकूडे ३ इलादेवीकूडे ४ गंगाकूडे ५ सिरिकूडे ६ रोहिअंसाकूडे ७ सिंधुदेवीकूडे ८ सुरादेवीकूडे ९ हेमवयकूडे १० वेसमणकूडे ११। कहि णं भंते ! चुल्लहिमवंते वासहरपव्वए सिद्धाययणकूडे णामं कूडे पण्णत्ते ? गोयमा ! पुरच्छिमलवणसमुद्दस्य पच्चच्छिमेणं चुल्लहिमवंतकूडस्स पुरच्छिमेणं एत्थ णं सिद्धाययणकूडे णामं कूडे पण्णत्ते। पंच जोयणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं मूले पंच जोयणसयाइं विक्खंभेणं मज्झे तिण्णि अ पण्णत्तरे जोअणसए विक्खंभेणं उप्पिं अड्ढाइज्जे जोअणसए विक्खंभेणं मूले एगं जोअणसहस्सं पंच य एगासीए जोअणसए किंचि विसेसाहिए परिक्खेवेणं मज्झे एगं जोअणसहस्सं एगं च छलसीअं जोअणसयं किंचि विसेसूणं परिक्खेवेणं उप्पिं सत्त इक्काणउए जोअणसए किंचि विसेसूणे परिक्खेवेणं मूले वित्थिण्णो मज्झे संक्खित्ते उप्पिं तणुए गोपुच्छसंठाणसंठिए सव्वरयणामए अच्छे से णं एगाए पउमवरवेइआए एगेण य वणसंडेणं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ते सिद्धाययणस्स कूडस्स णं उप्पिं बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते, तस्स णं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहु मज्झदेसभाए एत्थ णं महं एगे सिद्धाययणे पण्णत्ते, पण्णासं जोअणाइं आयामेणं पणवीणं जोयणाइं विक्खंभेणं छत्तीसं जोअणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं जाव जिणपडिमा वण्णओ भाणिअव्वो। कहि णं भंते ! चुल्लहिमवंते वासहरपव्वए चुल्लहिमवंतकूडे णामं कूडे पण्णत्ते ? गोयमा ! भरहकूडस्स पुरच्छिमेणं सिद्धाययणकूडस्स पच्चच्छिमेणं एत्थ णं चुल्लहिमंते वासहरपव्वए चुल्लहिमवंतकूडे णामं कूडे पण्णत्ते। एवं जो चेव सिद्धाययणकूडस्स उच्चत्तविक्खंभपरिक्खेवो जाव बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहु मज्झदेसभाए एत्थ णं महं एगे पासाय वडेंसए पण्णत्ते, बासट्ठि जोअणाइ अद्धजोयणं च उच्चत्तेणं इक्कतीसं जोअणाइं कोसं च विक्खंभेणं अब्भुग्गयमूसिअपहसिए विविहमणिरयणभत्तिचित्ते वाउद्धूअविजयवेजयंतीपडागच्छत्ताइच्छत्तकलिए तुंगे गगणतलमभिलंघमाणसिहरे जालंतररयण पंजरुम्मीलिए व्व मणिरयणथूभिआए विअसिअसयवत्तपुंडरीअतिलयरयणद्धचन्दचित्ते णाणामणिमयदामालंकिए अंतो बाहिं च सण्हे वइरतवणिज्जरुइलवालुगापत्थडे सुहफासे सस्सिरीए अरूवे पासाइए जाव पडिरूवे तस्स णं पासायवडेंसगस्स अंतो बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते० जाव मीहासणपरिवारं। से केणट्ठेणं एवं वुच्चइ चुल्लहिमवंतकूडे कूडे ? गोयमा ! चुल्लहिमवंते णामं देवे महिड्ढीए जाव परिवसइ। कहि णं भंते ! चुल्लहिमवंतगिरिकुमारस्स देवस्स चुल्लहिमवंता णामं रायहाणी पण्णत्ता? गोयमा चुल्लहिमवंतकूडस्स दाहिणेणं तिरिअमसंखिज्जे दीवसमुद्दे वीई वइत्ता अण्णं जंबुद्दीवं दीवं दाहिणेणं बारस जोअणसहस्साइं ओगाहित्ता इत्थ णं चुल्लहिमवंतस्य देवस्स चुल्लहिमवंता णामं रायहाणी पण्णत्ता, बारस जोअणसहस्साइं आयामविष्कभेणं एवं विजयरायहाणी—सरिसा भाणियव्वा। एवं अवसेसाण वि कूडाणं वत्तव्वया णेअव्वा, आयामविक्खंभपरिक्खेवपासायदेवयाओ सीहासणपरिवारो अट्ठो अ देवाण य देवीण य रायहाणीओ णेअव्वाओ, च उसु देवा चुल्लहिमवंत १ भरह २ हेमवय ३ वेसमणकूडेसु ४ सेसेसु देवयाओ॥

व्यक्तं, नवरं सिद्धायतनकूटं, क्षुल्लहिमद्गिरिकुमारदेवकूटं, भरताधिपदेवकूटम्, इलादेवीसुरादेवीकूटे तु षट्पञ्चाशद्दिक्कुमारीदेवीवर्गमध्यगते देवीकूटे, गङ्गादेवीकूटं, श्रीदेवी कूटं, रोहितांशादेवीकूटं, सिन्धुदेवीकूटं, सुरादेवीकुटं, हैमवतवर्षेशसुरकूटं, वैश्रमणलोकपालकूटम्। अथैतेषामेव स्थानादिस्वरूपमाह—(कहिणमि—त्यसादि) क्व भदन्त ! क्षुल्लहिमवद्वर्षधरपर्वते सिद्धायतनकूटं प्रज्ञप्तम् ? गौतमेत्यादिनिर्वचनसूत्रं व्यक्तं, नवरं पञ्चयोजनशतान्युच्चैस्त्वेन मूले पञ्चयोजनशतानि विष्कम्भेण मध्ये त्रीणि च योजनशतानि पञ्चसप्ततिशतानि पञ्चसप्तत्यधिकानि विष्कम्भेण उपरि अर्द्धतृतीयानि योजनशतानि विष्कम्भेण विष्कम्भेण मूले एकं योजनसहस्रं पञ्च एकाशीत्यधिकानि योजनशतानि किञ्चिद्विशेषाधिकानि, किञ्चिदधिकानीत्यर्थः। मध्ये एकं योजनसहस्रम्, एकं षडशीत्यधिकं योजनशतं, किञ्चिदूनमित्यर्थः। अयं भावः—एकं सहस्त्रमेकं शतं पञ्चाशीतियोजनासनि पूर्णानि, शेषं च क्रोशत्रिकम्, धनुषामष्टशतानि त्रयोविंशत्यधिकानि इति किञ्चित् षडशीतितमं योजनं विवक्षितमिति। तथा उपरि सप्त योजनशतानि एकनवत्यधिकानि किञ्चिदूनानि परिक्षेपेण। अत्राप्ययं भावःसप्तशतानि नवतियोजनानि पूर्णानि, शेषं क्रोशद्विकं, धनुषां सप्तशतानि पञ्चविंशत्यधिकानीति किञ्चिद्विशेषोनम्, एकनवतितमं योजनं विवक्षितं, परिक्षेपेणेति सर्वत्र

ग्राह्यम्, शेषं स्पष्टम्। अथात्र पद्मवरवेदिकाद्याह—से णमित्यादि प्रकटम्, अत्र यदस्ति तत्कथनायोपक्रमतेसिद्धायतनमित्यादिनिगदसिद्धम्, नवरं प्रथमयावत्पदेन वैताढ्यगतसिद्धायतनकूटस्यैवात्र वर्णको ग्राह्यः, द्वितीयेन तद्गतसिद्धायतनादिवर्णक इति। अथात्रैव क्षुद्रहिमदिगरिकूट—वक्तव्यमाह—(कहि णमित्यादि) क भदन्त ! क्षुद्रहिमवति वर्षधरपर्वते क्षुद्रहिमवत् कूटं नाम कूटं प्रज्ञप्तम् ? गौतमेत्यादि उत्तरसूत्रं प्राग्वत्, नवरं "एवं जो चेत्यादि" अतिदेशसूत्रे एवमित्युक्तप्रकारेण य एव सिद्धायतनकूटस्योच्चत्वविष्कम्भाभ्यां युक्तः परिक्षेपः उच्चत्वविष्कम्भ-परिक्षेपे मध्यमपदलोपी समासः, स इहापि हिमवत्कूटे बोध्य इत्यर्थः। इदं च वचनं उपलक्षणभूतं, तेन पद्मवरवेदिकादिवर्णनं समभूमि—भागवर्णनं च ज्ञेयम्। कियत्पर्यन्तमित्याह—यावद्बहुसमरमणी—यस्स भूमिभागस्य बहुमध्यदेशभागे, अत्रान्तरे महानेकः प्रासादावतंसकः प्रज्ञप्तः। प्रसादानाम् आयामाद् द्विगुणोच्छ्रितवास्तुविशेषाणामवतंसक इव शेखरक इव प्रासादावतंसकः प्रधानप्रसाद इत्यर्थः। स च प्रासादो द्वाषष्टि योजनान्यर्द्धयोजनं च उच्चत्वेन एकत्रिंशद्योजनानि क्रोशं च विष्कम्भेण समचतुरस्रत्वादस्यायामचिन्ता सूत्रकृता न कृता, तत्र हेतुर्वैताढ्यकूट-गतप्रासादाधिकारे निरूपित इति ततो ज्ञेयः। कीदृश इत्याह—अभ्युद्गता अभिमुखेन सर्वतो विनिर्गता उत्सृता प्रबलतया सर्वासु दिक्षु प्रसृता। यद्वा—अभ्रे आकाशे उद्गता उत्सृता प्रबलतया सर्वतस्तिर्यक् प्रसृता एवंविधा या प्रभा तथा सित इव बद्ध इव, तिष्ठतीति गम्यते। अन्यथा कथमिवासावत्युच्चैर्निरालम्बस्तिष्ठतीति भावः। अत्र हि उत्प्रेक्षया इदं सूचितं भवतिऊर्द्धमधस्तिर्यक् आयततया याः प्रासादप्रभास्ताः किल रज्जवस्ताभिर्बद्ध इति। यदि वा प्रबलश्वेतप्रभापटलतया प्रहसित इव प्रकर्षेण हसित इवेति। विविध अनेकप्रकारा ये मणयो रत्नानि च, मणिरत्नयोर्भेदश्चात्र प्राग्वत्। तेषां भक्तिभिः छित्तिभिश्चित्रो नानारूप आश्चर्यवान् वा। वातोद्धूता वायुकम्पिता विजयोऽभ्युदयः, तत्संसूचिका वैजयन्तीनाम्न्यो याः पताकाः, अथवा विजया इति वैजयन्तीनां पार्श्वकर्णिका उच्यन्ते, तत्प्रधाना वैजयन्त्यः पताकाः, ता एव विजयावर्जिता वैजयन्त्यः, छत्रातिच्छत्राण्युपर्युपरि स्थितान्यातपत्राणि तैः कलितं तुङ्गम् उच्चैस्त्वेन सार्धद्वाषष्टियोजनप्रमाणत्वात्। अत एव गगनतलमभिल—ङ्घ यदनुलिखच्छिखरं यस्य स तथा, जालानि जालकानि गृहभित्तिषु लोके यानि प्रतीतानि, तदन्तरेषु विशिष्टशोभा—निमित्तं रत्नानि रचना वा यस्मिन् स तथा, सूत्रे च विभक्तिलोपः प्राकृतत्वात्। पञ्जरादुन्मीलित इव बहिष्कृत इव, यथा किमपि वस्तु वंशादिमयप्रच्छादनविशेषाद्बहिष्कृतमत्यन्तमविनष्टप्रायं भवति एवं सोऽपि प्रासादावतंसक इति भावः। अथवा जालान्तरगतरत्नपञ्जरै रत्नसमुदायविशेषैः उन्मीलित इव, उन्मिषितलोचन इवेत्यर्थः। मणिकनकमयस्तूपिका इति प्रतीतम्। विकसितानि विकस्वराणि शतपत्राणि पुण्डरीकाणि च कमलाविशेषा द्वारादिषु तैश्चित्रो नानारूप आश्चर्यवान् वा, नानामणिमयचदामालङ्कृत इति व्यक्तम्। अन्तर्बहिश्च श्लक्ष्णो मसृणः स्निग्ध इत्यर्थः। तपनीयस्य रक्तसुवर्णस्य सत्रिसया काकणिस्तासां प्रस्तटः प्रतरः प्राङ्गणेषु यस्य स तथा। शेषं पूर्ववत्। जं०४ वक्ष०। स्था०।

महाहिमवतः कूटानि—

महाहिमवंते वासहरपव्वए कइ कूडा पण्णत्ता ? गोयमा ! अट्ठ कूडा पण्णत्ता। तं जहा—सिद्धाययणकूडे, महाहिमवंतकूडे, हेमवयकूडे, रोहिअकूडं, हिरीकूडे, हरिकंतकूडे, हरिवासकूडे, वेरुलिअकूडे, एवं चुल्लहिमवंतकूडाणं जा वत्तव्वया सा चेव णेअव्वा॥

(महाहिमवंते त्ति) महाहिमवद्वर्षधरपर्वते भगवन् कति कटानि ? गौतमेत्यादिसूत्रं सुगमम्। कूटानां नामार्थस्त्वयम्—सिद्धायतनकूटं महाहिमवदधिष्ठातृकूटं रोहितानदीसुरीकूटं ह्रीसुरीकूटं हरिकान्तानदीसुरीकूटं हरिवर्षपर्वतकूटं, वैडूर्यकूटं तु तद्रत्नमयत्वात् तत्स्वामिकत्वाच्चेति। एवमिति कूटानामुच्चत्वादि सिद्धायतनप्रासादानां चानादित्वं ततस्वा—मिनां च यथारूपं महर्द्धिकत्वं यत्र च राजधान्यस्तत् सर्वमत्रापि वाच्यं, केवलं नामविपर्यास एव देवानां राजधानीनां चेति। जं०४ वक्ष०।

भरते दीर्घवैताढ्यपर्वतस्य—

जंबू ! मंदरदाहिणे णं भरहे दीहवेयड्ढे नव कूडा पण्णत्ता। तं जहा—"सिद्धे भरहे खंडगमाणी वेयड्ढपुण्णतिमिसगुहा। भरहे वेसमणे य, भरहे कूडाण नामाइं" ॥१॥

भरतग्रहणं विजयादिव्यवच्छेदार्थम्, दीर्घग्रहणं वर्त्तुलवैताढ्यव्यवच्छेदार्थमिति। (सिद्धे त्ति) तत्र सिद्धायतनयुक्तं सिद्धकूटं सक्रोशयोजनषट्कोच्छ्रयमेतावदेव मूले विस्तीर्णम् एतदर्द्धोपरि विस्तारं क्रोशायामेनार्द्धक्रोशविष्कम्भेण देशोनक्रोशोच्चेनापरदिग्द्वारवर्गपञ्च-धनुःशतोच्छ्रयं तदर्द्धविष्कम्भद्वारत्रयोपेतेन जिनप्रतिमाष्टोत्तरशता-न्वितेन सिद्धायतनेन विभूषितोपरितनभाग इति; तच्च वैताढ्ये पूर्वस्यां दिशि, शेषाणि तु क्रमेण परतस्तस्मादिवेति। भरतदेवप्रासादावतंस कोपलक्षितं भरतकूटम् (खंडग त्ति) खण्डप्रपाता नाम वैताढ्यगुहा, यया चक्रवर्ती अनार्यक्षेत्रात्स्वक्षेत्रमागच्छति तदधिष्ठायकदेवसंबन्धित्वात्खण्डप्रपातकूटमुच्यते। (माणीति) मणिभद्राभिधानदेवावासत्वान्माणिभद्रकूटम्। (वेयड्ढ त्ति) वैताढ्यगिरिनाथदेवनिवासात् वैताढ्यकूटमिति। (पुण्ण त्ति) पूर्णभद्राऽभिधानदेवनिवासात् पूर्णभद्रकूटम्। तिमिस्रगुहा, यथा स्वक्षेत्राच्चक्रवर्ती चिलातक्षेत्रं याति तदधिष्ठायकदेवावासात्तिमिस्रगुहाकूटमिति। (भरहे त्ति) तथैव वैश्रमणलोकपालावासत्वाद्वैश्रमणकूटमिति। स्था०९ ठा०।

अथ यथोद्देशं निर्देश इति प्रथमं सिद्धायतनकूटस्थानप्रश्नमाह—

कहि णं भंते ! जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे वेयड्ढपव्वए सिद्धायतणकूडे णामं कूडे पण्णत्ते ? गोयमा ! पुरच्छिमलवणसमुद्दस्स पच्चच्छिमेणं दाहिणड्ढभरहकूडस्स पुरच्छिमेणं एत्थ णं जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे वेअड्ढे पव्वए सिद्धाययणकूडे णामं कूडे पण्णत्ते। छ सकोसाइं जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं मूले छ सकोसाइं जोअणाइं विक्खंभेणं मज्झे देसूणाइं पंच जोअणाइं विक्खंभेणं उवरि साइरेगाइं तिण्णि जोअणाइं विक्खंभेणं मूले देसूणाइं वीसं जोअणाइं परिक्खेवेणं मज्झे देसूणाइं पण्णरस जोअणाइं परिक्खेणं उवरि साइरेगाइं णव जोअणाइं परिक्खेवेणं मूले वित्थिण्णे मज्झे संखित्ते उप्पिं तणुए गोपुच्छसंठाणसंठिए सव्ववयणामए—

अत्थे सण्हे जाव पडिरूवे तेणं एगाए पउमवरवेइयाए एगेण य वणसंडेणं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ते पमाणं वण्णओ दोण्हं पि सिद्धायतणकूडस्स णं उप्पिं बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते । ते जहाणामए आलिंगपुक्खरेइ वा जाव वाणमंतरा देवा व जाव विहरंति, तस्स णं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभागे एत्थ णं महं एगे सिद्धाययणे पण्णत्ते कोसं आयामेणं अद्धकोसं विक्खंभेणं देसूणं कोसं उड्ढं उच्चत्तेणं अणेगखंभसयसन्निविट्ठे खंभुग्गयसुकयवइरवेइआतोरणवररइआसालभंजिअसुसिलिट्ठविसिट्ठलट्ठसंठियपसत्थवेरुलिअविमलखंभे णाणामणिरयणखचिअउज्जलबहुसमसुविभत्तभूमिभागे ईहामिगउसभतुरगणरमगरविहगवालगकिंनररुरुसरभचमरकुंजरवणलयपउमलयभत्तिचित्ते कंचणमणिरयणथूमियाए णाणाविहपंचवण्णघंटापडागपरिमंडिअग्गसिहरे धवले मरीइकवयं विणिम्मुअंते लाइउल्लोअमहिए जाव झया तस्स णं सिद्धायतणस्स तिदिसिं तओ दारा पण्णत्ता, तेणं दारा पंच धणुसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं अड्ढाइज्जाइं धणुसयाइं विक्खंभेणं तावइयं चेव पवेसेणं से आवरकणगयूमिअगा दारवण्णओ० जाव वणमाला । तस्स णं सिद्धाययणस्स अंतो बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते, से जहाणामए आलिंगपुक्खेरइ वा सिद्धाययणस्स णं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं महं एगे देवच्छंदए पण्णत्ते । पंच धणुसयाइं आयामविक्खंभेणं साइरेगाइं पंच धणुसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं सव्वरयणामए एत्थ णं अट्ठसयं जिणपडिमाणं जिणुस्सेहमाणमित्ताणं संनिक्खित्तं चिट्ठइ, एवं जाव धूवकडेच्छुगे । कहि णं भंते ! वेअड्ढे पव्वए दाहिणड्ढभरहे कूडे णामं कूडे पण्णत्ते ? गोयमा ! खंडप्पवायकूडस्स पुरच्छिमेणं सिद्धाययणकूडस्स पच्चच्छिमेणं एत्थ णं वेअड्ढपव्वए दाहिणड्ढभरहकूडे णामं कूडे पण्णत्ते । सिद्धाययणकूडप्पमाणसरिसे जाव तस्स णं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं महं एगे पासायवडेंसए पण्णत्ते, कोसं उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धकोसं विक्खंभेणं अब्भुगयमूसिअपहसिए० जाव पासाईए ४ तस्स णं पासायवडेंसगस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं महं एगा मणिपेढिआ पण्णत्ता । पंच धणुसयाइं आयामविक्खंभेणं अड्ढाइज्जाइं धणुसयाइं बाहल्लेणं सव्वमणिमई तीसेणं मणिपेढिआए उप्पिं सिंहासणं पण्णत्ते, सपरिवारं भाणियव्वं से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ दाहिणड्ढभरहे कूडे णामं कूडे ? गोयमा ! दाहिणभरहकूडेण दाहिणड्ढभरहे णामं देवे महड्ढिए जाव पलिओवमट्ठिईए परिवसइ, से णं तत्थ चउण्हं सामाणिअसहस्साणं चउण्हं अग्गमहिसीणं सपरिवाराणं तिण्हं परिसाणं सत्तण्हं अणिआणं सत्तण्हं अणिआहिवईणं सोलसण्हं आयरक्खदेवसाहस्सीणं दाहिणड्ढभरहस्स दाहिणड्ढाए रायहाणीए अण्णेसिं बहूणं देवाण य देवीण य० जाव विहरइ । कहि णं भंते ! दाहिणड्ढभरहकूडस्स देवस्स दाहिणड्ढा णाम रायहाणी पण्णत्ता ?। गोयमा ! मंदरस्स पव्वयस्स दक्खिणेणं तिरियमसंखेज्जे दीवसमुद्दे वीईवइत्ता अण्णं जंबुद्दीवं दीवं दक्खिणेणं बारस जोअणसहस्साइं उग्गहित्ताए एत्थ णं दाहिणड्ढभरहकूडस्स देवस्स दाहिणड्ढभरहा णामं रायहाणी भाणिअव्वा, जहा विजयस्स देवस्स, एवं सव्वकूडा णेयव्वा० जाव वेसमणकूडे परोप्परं पुरच्छिमपच्चच्छिमेणं, इमीसिं वण्णावासे गाहा—"मज्झे वेअड्ढस्स उ, कणगमया तिण्णि होंति कूडाओ । सेसा पव्वयकूडा, सव्वे रयणामया होंति" ॥१॥ माणिभद्दकूडे १ वेयड्ढकूडे २ पुण्णभद्दकूडे ३, एए तिण्णि कूडा कणगमया, सेसा छप्पि रयणमया दोण्हं वि सरिसणामया देवा कयमालए चेव णट्टमालए चेव, सेसाणं छण्हं सरिसणामया "जं णामया य कूडा, तन्नामा खलु हवंति ते देवा । पलिओवमट्ठिईया, हवंति पत्तेअ पत्तेअं" ॥१॥ रायहाणीओ जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेणं तिरिअं असंखेज्जे दीवसमुद्दे वीईवइत्ता अण्णम्मि जंबुद्दीवे दीवे बारस जोअणसहस्साइं ओगाहित्ता एत्थ णं रायहाणीओ भाणिअव्वाओ विजयरायहाणीसरिसयाओ ॥

"कहि णमित्यादि" कण्ठ्यम्, नवरं दक्षिणार्द्धभरकूटं बाह्यमस्मात्पश्चिमदिग्वर्तीनि, ततः पूर्वेणेति तच्चोच्चत्वादिना कियत्प्रमाणमित्याह—(छा सकोसाइं इत्यादि) सक्रोशानि षट्योजनान्यूर्द्ध्वोच्चत्वेन मूले सक्रोशनि षट् योजनानि विष्कम्भेण मध्ये देशोनानि पञ्च योजनानि, सपादक्रोशन्यूनानि पञ्च योजनानीत्यर्थः । विष्कम्भेण उपरि सातिरेकाणि त्रीणि योजनानि, अर्द्धक्रोशाधिकानि त्रीणि योजनानीत्यर्थः। विष्कम्भेणेति, अथास्य शिखरादधोगमने विवक्षितस्थाने पृथुत्वज्ञानाय करणमुच्यतेशिखरादेव प्रत्येकं यावद्योजना दिकमतिक्रान्तं तावत्प्रमाणे योजनादिके द्विकेन भक्ते कूटोत्सेधार्द्धयुक्ते च यज्जायते तदिष्टस्थाने विष्कम्भः । तथाहि—शिखरात्किल त्रीणि योजनानि, क्रोशार्द्धाधिकान्यवतीर्णः ततो योजनत्रयस्य क्रोशार्द्धाधिकस्य द्विकेन भागे लब्धाः षट् क्रोशाः, क्रोशस्य च पादः कूटोत्सेधश्च सक्रोशानि षट् योजनानि अस्यार्द्धं योजनत्रयी क्रोशार्द्धाधिका, अस्मिँश्च पूर्वराशौ प्रक्षिप्ते जातानि सपादक्रोशानि पञ्च योजनानि, इयान्मध्यदेशे विष्कम्भः । एवमन्यत्रापि प्रदेशे भावनीयम् तथा मूलादूर्द्धगमने इष्टस्थाने विष्कम्भपरिज्ञानाय करणमिदम् मूलादतिक्रान्तयोजनादिके द्विकेन भक्ते लब्धं मूलव्यासाच्छोद्ध्यते, अवशिष्टमिष्टस्थाने विष्कम्भः । तथाहि मूलाद् योजनानि क्रो-

शार्द्धाधिकानि ऊर्द्धं गतः, अस्य द्विकेन भागे लब्धाः षट् क्रोशाः, क्रोशस्य च पादः, एतावन्मूलव्यासात् शोध्यते, शेषं पञ्च योजनानि सपाद-क्रोशोनानि, इयान्मध्यभागे विष्कम्भः एवमन्यत्रापि प्रदेशे भाव्यम्। इमे चावरोहावरोकरणे, शेषेषु वैताढ्यकूटेषु पञ्चशतिकेषु हिमवदादिकूटेषु सहस्राङ्केषु च हरिस्सहादिकूटेषु अष्टयोजनिकेषु ऋषभकूटेषु अवतारणीये वाचनान्तरोक्तमानापेक्षया तु—ऋषभकूटेषु करणं जगतीवदिति। अस्य पद्मवरवेदिकादिवर्णनायाह-'तेणमित्यादि' व्यक्तम्। अथ सिद्धायतन-कूटस्योपरि भूभागवर्णनायाह—'सिद्धायतण इत्यादि' प्राग्वत्। अथात्र जिनगृहवर्णनायाऽऽह(तस्स णमि—त्यादि) तस्य बहुसमरमणीयस्य भूमिभागस्य बहुमध्यदेशभागे इत्र महदेकं सिद्धानां शाश्वतानामर्ह-त्प्रतिमानामायतनं स्थानं, चैत्यमित्यर्थः। प्रज्ञप्तम् क्रोशमायामेनाद्धक्रोशं विष्कम्भेन देशोनं क्रोशमूर्द्धोचत्वेन, देशश्चात्र षष्ट्यधिकपञ्चशतधनू-रूप इति। यत उक्तम्—'वीरंजय सेहरे' त्यादि क्षेत्रविचारस्य वृत्तौ—"ताणुवरिं चेइहरा, दहदेवीभवणतुल्लपरिमाणा " इत्यस्याः गाथाया व्याख्यने तेषां वैताढ्यकूटानामुपरि चैत्यगृहाणि द्रहदेवीभवनतुल्य-परिमाणनि वर्त्तन्ते, यथा श्रीगृहं क्रोशैकदीर्घं क्रोशार्द्धविस्तारं चत्वारिंशद-धिकचतुर्दशशतधनुरुच्चमिति। तथा—अनेकेषु स्तम्भशतेषु संनिविष्टं, तदा—धारकत्वेन स्थितमित्यर्थः। तथा—स्तम्भेषु उद्गता संस्थिता सुकृतेव सुकृता निपुणशिल्पपरिचितेवेति भावः। ततः पदद्वयस्य कर्मधारयः। तादृशी वज्रा वेदिका द्वारशुण्डिकोपरि वज्ररत्नमयी वेदिका तोरणं च स्तम्भोद्गतसुकृतं यत्र तत्तथा। तथा वराः प्रधानाः रतिदाः नयनमनः सुखकारिण्यः सालभञ्जिका येषु ते तथा, सुश्लिष्टं संबद्धं विशिष्टं प्रधानं लष्टं मनोज्ञं संस्थितं संस्थानं येषां ते तथा। ततः पदद्वय—कर्मधारये तादृशाः प्रशस्ताः प्रशंसास्पदीभूता वैडूर्यविमलस्तम्भा यत्र तत्तथा। ततः पूर्वपदेन कर्मधारयः। तथा नानामणिरत्नानि खचितानि यत्र स नानामणिरत्नखचितः। निष्ठान्तस्य परनिपातः, भार्यादिदर्शनात्। तादृश उज्ज्वलो निर्मलो बहुसमोऽत्यन्त समः सुविभक्तो भूमिभागो यत्र तत्तथा। (ईहामिगेत्यादि) प्राग्वद् व्याख्येयं, नवरं मरीचिकवं चं किरणजालपरिक्षेपं विनिर्मुञ्चत्, तथा 'लाइअं' नाम यद् भूमेर्गोमयादिना उपलेपनम् 'उल्लोइअं' कुट्यानामालयस्य च सेटिकादिभिः संसृष्टी-करनणं 'लाउल्लोइअं'ताभ्यामिव महितं पूजितम् 'लाउल्लोइअमहिअं'। यथा गोमयादिनोपलिप्तं सेटिकादिना च धवलीकृतं यद् गृहादि सश्रीकं भवति तथेदमपीति भावः। तथां (जाव भया इति) अत्र यावत्कर—णात् वक्ष्यमाणयमिका राजधानी, प्रकरणगतसिद्धायतनवर्णकेऽतिदिष्टा, सुधर्मासभागमो वाच्यो, यावत् सिद्धायतनोपरि ध्वजा उपवर्णिता भवति, यद्यप्यत्र यावत्पदग्राह्यो द्वारवर्णकप्रतिमावर्णकधूपकडुच्छकादिक सर्वमन्तर्भवति तथाऽपि स्थानाशून्यतार्थं किञ्चिल् सूत्रे दर्शयति(तस्स णं सिद्धायतणस्स इत्यादि) तस्य सिद्धायतनस्य तिसृणां दिशां समाहारस्त्रिदिक् तस्मिन्। अनुस्वारः प्राकृतत्वात्। पूर्वदक्षिणोत्तर-विभागेषु त्रीणि द्वाराणि प्रज्ञप्तानि, तानि द्वाराणि पञ्चधनुःशतान्यू-र्ध्वोचत्वेन अर्द्धतृतीयानि धनुःशतानि, विष्कम्भेण तावन्मात्रमेव प्रवेशेन अर्द्धतृतीयानि धनुःशतानीत्यर्थः। (से आवरकणगथूभिअगा इति) पदोपलक्षितो द्वारवर्णको मन्तव्यः, विजयद्वारवद्यावद्वनमालावर्णनम्। अत्रैव भूभागवर्णनायाह (तस्स णमित्यादि) सुगमम्। (सिद्धाययणस्स इत्यादि) तस्य बहुसम रमणीयस्य भूमिभागस्य बहुमध्यदेशभागे, अत्र महानेको देवच्छन्दको देवोपवेशनस्थानं प्रज्ञप्तः, अत्रानुक्ताऽपि आयामविष्कम्भाभ्यां देवच्छन्दकसमाना उच्चैस्त्वेन तु तदर्द्धमाना मणिपीठिका संभाव्यते। अन्यत्र राजप्रश्न्यादिषु देवच्छन्दकाधिकारे तथा मणिपीठिकाया दर्शनात्, तथा सूर्याभविमाने (तस्स णं सिद्धायतणस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं महा एगा मणि पेढिया पण्णत्ता सोलस जोअणाइं आयामविक्खम्भेणं अट्ठ जो अणाइं उच्चत्तेणं ति) तथा विजयराजधान्या-मपि (तस्स णं सिद्धाययणस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं महं एगा मणिपेढिमा पण्णत्ता, दो जोअणाइं आयामविक्खंभेणं जोअणं बाहल्लेणं सव्वमणिमया अत्था जाव पडिरूवा इति)। स च देवच्छन्दकः पञ्चधनुः-शतान्यायामविष्कम्भाभ्यां सातिरेकाणि साधिकानि पञ्चधनुःशता-न्यूर्द्धोच्चत्वेन सर्वात्मना रत्नमयः तत्र देवच्छन्दकाऽष्टशतमष्टोत्तरशतं जिनप्रतिमानां जिनोत्सेधप्रमाणमात्राणां, जिनोत्सेधस्तीर्थकरशरीरो-च्छ्रायः, तस्य च प्रमाणाम् उत्कृष्टतः पञ्चधनुःशतात्मकं, जघन्यतः सप्तहस्तात्मकम्। इह च पञ्चधनुःशतात्मकं गृह्यते, तदेव मात्रं प्रमाणं यासां तास्तथा, तासां तथा जगत्स्वाभाव्यात्, देवच्छन्दकस्य चतुर्दिक्षु प्रत्येकं सप्तविंशतिभागेन सन्निक्षिप्तं तिष्ठन्ति। ननु पद्मवर वेदिकादय इव शाश्वतभावरूपा जिनप्रतिमा भवन्तु, परं प्रतिष्ठितत्वाभावेन तासामाराध्यत्वं कथमिति चेत् ? उच्यते—शाश्वतभावा इव शाश्वतभावरूपा जिनप्रतिमा भावधर्मा अपि सहजसिद्धा एव भवन्ति, तेन शाश्वताः प्रतिमा इव शाश्वतप्रतिमा धर्मा अपि प्रतिष्ठितत्वाराध्य-त्वादयः सहजसिद्धा एवेति किं प्रतिष्ठापनान्तरविचारेण। ततः शाश्वतप्रतिमासु सहजसिद्धमेवाराध्यत्वमिति न किञ्चिदनुपपन्नमिति। अत्र प्रतिमानामुत्सेधाङ्गुलमानेन पञ्चधनुःशतप्रमाणानां प्रमाणाङ्-गुलमानेन पञ्चधनुःशतायामविष्कम्भे देवच्छन्दकेऽनवकाशचिन्ता न विधेयेति।

अत्र प्रतिमावर्णकसूत्रम—

(तासि णं जिणपडिमाणं) अयमेयारूवे वण्णवासे पण्णत्ते। तं जहा—तवणिज्जमया हत्थतलपायतला अंकामयाइ णक्खाइं अंतो लोहिअक्खपडिसेगाइं कणगामया पाया कणगामया गुप्फा कणगामईओ जंघाओ कणगमया जाणू कणगमयाओ ऊरू कणमईओ गायलट्ठीओ रिट्ठामए मंसू तवणिज्जमईओ णाभीओ रिट्ठामईओ रोमराईओ तवणिज्जममया चुचू तवणिज्जमया सिरिवच्छा कणगमईओ बाहाओ कणगामईओ गीवाओ रिट्ठमयाइं मंसूइं सिलप्पवालमया ओट्ठा फलियामया दंता तवणिज्जमईओ जीहाओ तवणिज्जमया तालुआ कणगमईओ णासिगाओ अंतो लोहिअक्खपडिसेगाइओ अंकमयाइं अच्छीणि अंतो लोहिअक्ख-पडिसेगाइं पुलगामईओ दिट्ठीओ रिट्ठामईओ तारगाओ रिट्ठामयाइं अच्छिपत्ताइं रिट्ठामईओ भमुहाओ कणगामया कवोला कणगामया सवणा कणगामईओ णिडालपट्टियाओ बइरामईओ सीसघडाओ तवणिज्जमईओ केसंतके समूमिओ रिट्ठामया उवरि मुद्धया तासि णं जिणपडिमाणं पिट्ठओ पत्तेअं पत्तेअं छत्तधारपडिमा पण्णत्ता, ताओ

णं छत्तधारपडिमाओ हिमरययकुंदिंदुप्पगासाइं सकोरंटमल्लदामांइ धवलाइं आयवत्ताइं सलीलं ओहारेमाणीओ चिट्ठंति। तासि णं जिणपडिमाणं उभओ पासिं पत्तेअं पत्तेअं दो दो चामरधरपडिमाओ पण्णत्ताओ, ताओ णं चामरधरपडिमाओ चंदप्पहवइरवेरुलि अणाणामणिकणगरयणखइअमहरिहतवणिज्जुज्जलविचित्तदंडाओ विल्लियाओ संखंककुंददगरयमयमहिअफेण पुंजसन्निकासाओ सुहुमरययदीहवीलाओ धवलाओ चामराओ सलीलं धारेमाणीओ चिट्ठंति। तासि णं जिणपडिमाणं पुरओ दो दो णागपडिमाओ दो दो जक्खपडिवाओ दो दो भूअपडिमाओ दो दो कुंडधारपडिमाओ विण ओणयाओ पायपडियाओ पंजलिउडाओ सन्निखित्ताओ चिट्ठंति सव्वरयणमईओ अच्छाओ अच्छाओ सण्हाओ लण्हाओ घट्ठाओ मट्ठाओ नीरयाओ निप्पंकाओ० जाव पडिरूवाओ। तत्थ णं जिणपडिमाणं पुरओ अट्ठसयं घंटाणं अट्ठसयं वंदणकलसाणं एवं भिंगाराणं आयंसगाणं थालाणं पाईणं सुपइट्ठगाणं मणगुलिआणं वातकरगाणं चित्ताणं रयणकरंडगाणं हयकंठाणं० जाव उसभकंठाणं पुप्फचंगेरीणं० जाव लोमहत्थचंगेरीणं पुप्फपडलगाणं० जाव लोमहत्थपडलगाणं।)

(तासां जिनप्रतिमानामयमेतद्रूपो वर्णावासः प्रज्ञप्तः। तद्यथातपनीयमयानि हस्ततलपादतलानि, तथा कनकमयाः पादाः, तथा कनकमया गुल्फाः, अङ्करत्नमया अन्तर्लोहिताख्यरत्नप्रतिसेकानम्नाः, कनकमय्यो जङ्घाः, कनकमयानि जानूनि, कनकमया उरवः, कनकमय्यो गात्रयष्टयः, तपनीयमया नाभयः रिष्टरतनमय्यो रोमराजयः, तपनीयमयाश्चुचुकाः स्तनाग्रभागाः, तपनीयमयाः श्रीवक्षाः, तथा कनकमय्यो बाहवः, तथा कनकमय्यो ग्रीवाः रिष्टरत्नमयानि श्मश्रूणि, सिलप्रवालमया विद्रुममया ओष्ठाः, स्फटिकमया दन्ताः, तपनीयमय्यो जिह्वाः, तपनीयमयानि तालुकानि, कनकमय्यो नासिकाः, अन्तर्लोहिताख्यरत्नप्रतिसेकाः, अङ्कमयान्यक्षीणि अन्तर्लोहिताक्षप्रतिसेकानि, रिष्टरत्नमय्योऽक्षिमध्यगतास्तारिकाः, रिष्टरत्नमयान्यक्षिपत्राणि नेत्ररोमाणि, रिष्टरत्नमय्यो भ्रुवः,कनकमयाः कपोलाः, कनकमयाः श्रवणाः, कनकमय्यो ललाटपट्टिकाः, वज्रमय्य शीर्षघटिकाः, तपनीयमय्यः केशान्तकेशभूमयः, केशान्तभमयः केशभूमयश्चेति भावः। रिष्टरत्नमया उपरिमूर्द्धजाः केशः। ननु केशरहितशीर्षमुखानां भावजिनानां प्रतिरूपकत्वेन सद्भावस्थापना, जिनानां कुतः केशकूर्चादिसंभवः ? उच्यते–भावजिनानामपि अवस्थितकेशादिप्रतिपादनस्य सिद्धान्तसिद्धत्वात्। यदुक्तं श्रीसमवायाङ्गे अतिशयाधिकारे– "अवट्ठिअकेसमंसुरोमणहं" इति। तथा औपपातिकोपाङ्गे "अवट्ठिअसुविभत्तचित्तमंसुं" इति। अवस्थितत्वं च देवमाहात्म्यतः पूर्वोत्पन्नानां केशादीनां तथैवावस्थानं, न तु सर्वथाऽभावत्वम्; इत्थमेव शोभाति–रेकदर्शनं पुरुषत्वप्रतिपत्तिश्च, तेन प्रस्तुतेन तत्प्रतिरूपता–व्याघातः। नन्वेवं सति अर्चनकेन किमालम्ब्य तेषां श्रामण्यावस्था भावनीयेति चेत्, उच्यते–परिकल्पितरिष्टमणिमयतथाविधाल्पकेशादिरमणीयमुखादिस्वरूपमिति। यत्तु श्रीतपागच्छनायकश्रीदेवेन्द्रसूरिशिष्यश्रीधर्म घोषसूरिपादैर्भाष्यवृत्तौ भगवतोऽपगतकेशशीर्षमुखनिरीक्षणेन श्रामण्यावस्था सुज्ञानैवेत्यभिदधे, तदवर्द्धिष्णुत्वेनाऽल्पत्वेन चाभावस्य विवक्षणात्;, श्रामण्यावस्थाया अप्रतिबन्धकत्वाद्वेति न किमप्यनुपपन्नम्। तासां जिनप्रतिमानां पृष्ठत एकैका छत्रधारप्रतिमा प्रज्ञप्ता, ताश्च छत्रधारप्रतिमा हिमरजतकुन्देन्दुप्रकाशानि सकोरण्टमाल्यदामानि धवलानि आतपत्राणि सलीलं धारयन्त्यस्तिष्ठन्ति, तासां जिनप्रतिमानमुभयोः पार्श्वयोः प्रत्येकं द्वे द्वे चामरधारप्रतिमे प्रज्ञप्ते, ताश्च चामरधारप्रतिमाः चन्द्रप्रभश्चन्द्रकान्तो, वज्रं हीरकमणिः, वैडूर्यं च प्रतीतं, तानि शेषाणि च नानामणिरत्नानि स्वचितानि येषु दण्डेषु ते तथा, एवंरूपा महार्हस्य महार्घस्य तपनी यस्य सत्का उज्ज्वला विचित्रा दण्डा येषु तानि तथा, (चिल्लियाउ इत्यादि) प्राग्वत्, नवरं (चामराउ त्ति) प्राकृतत्वात्स्त्रीत्वम्, चामराणि सलीलं धारयन्त्यो वीजयन्त्यस्तिष्ठन्ति। तासां जिनप्रतिमानां पुरतो द्वे द्वे नागप्रतिमे द्वे द्वे यक्षप्रतिमे द्वे द्वे भूतप्रतिमे द्वे द्वे कुण्डधारप्रतिमे आज्ञाधारप्रतिमे विनयावनते पादपतिते प्राञ्जलिपुटे संनिक्षिप्ते तिष्ठतः, ताश्च "सव्वरय–णा मईओ" इत्यादि प्राग्वत् (तत्थ णमित्यादि) तस्मिन् देवच्छन्दके जिनप्रतिमानां पुरतोऽष्टशतं घण्टानाम्, अष्टशतं वन्दनकलशानां मङ्गल्यघण्टानाम् अष्टशतं भृङ्गाराणामष्टशतमादर्शानामष्टशतं पात्रीणामष्टशतं सुप्रतिष्ठकानामष्टशतं मनोगुलिकानां पीठिकाविशेषरूपाणामष्टशतं वातकरकाणामष्टशतं चित्राणां रत्नकरण्डकानामष्टशतं हयकण्ठानामष्टशतं गजकण्ठानामष्टशतं नरकण्ठानामष्टशतं किन्नरकण्ठानामष्टशतं किंपुरुषकण्ठानामष्टशतं महोरगकण्ठानामष्टशतं गन्धर्वकण्ठानामष्टशतं वृषभकण्ठानामष्टशतं पुष्पचङ्गेरीणामष्टशतं माल्यचङ्गेरीणामष्टशतं चूर्णचङ्गेरीणामष्टशतं गन्धचङ्गेरीणामष्टशतं वस्त्रचङ्गेरीणामष्टशतमाभरणचङ्गेरीणामष्टशतं सिद्धार्थकचङ्गेरीणामष्टशतं लोमहस्तकचङ्गेरीणां, लोमहस्तका मयूरपिच्छपुञ्जनिकाः, अष्टशतं पुष्पपटलकानामष्टशतं माल्यपटकानां मुत्कलानि पुष्पाणि ग्रथितानि माल्यानि, अष्टशतं चूर्णपटलकानाम्, एवं गन्धवस्त्राभरणसिद्धार्थकलोमहस्तकपटलकानामपि प्रत्येकं प्रत्येकमष्टशतं द्रष्टव्यम्। अष्टशतं सिंहासनानामष्टशतं छत्राणामष्टशतं चामराणामष्टशतं तैलसमुद्गकानामष्टशतं कोष्ठसमुद्गकानामष्टशतं चोअकसमुद्गकानामष्टशतं तगरसमुद्गकानामष्टशतमेलासमुद्गकानामष्टशतं हरितालसमुद्गकानामष्टशतं हिङ्गुलकसमुद्गकानामष्टशतं मनःशिलासमुद्गकानामष्टशतमञ्जनसमुद्गकानां, सर्वाण्यप्येतानि तैलादीनि परमसुरभिगन्धोपेतानि द्रष्टव्यानि, अष्टशतं ध्वजानाम्।

अत्र संग्रहणिगाथे –

"वंदणकलसा भिंगा–रगा य आयंसगा य थाला य।
पाई उ सुपइट्ठा, मणुगुलिया वायकरगा य॥१॥
चित्ता रयणकरंडय–हयगयनरकंठगा य चंगेरी।
पडलगसीहासणछ–त्तचामरा समुग्गयझया य"॥२॥
अट्ठसतं धूपकडुच्छुकानां सन्निक्षिप्तं तिष्ठति।

उक्ता सिद्धायतनकूटवक्तव्यता।

अथ दक्षिणार्द्धभरतकूटस्वरूपं पृच्छन्नाह – (कहि णमित्यादि) अत्र सर्वाऽपि पदयोजना सुगमा, नवरं प्रासा

दावतंसकः क्रोशमूर्द्धोच्चत्वेनार्द्धक्रोशं विष्कम्भेन, अत्र सूत्रेऽनुक्तमप्यर्द्धक्रोशमायामेनेति बोध्यम्। "सेसेसु अ पासाया, कोसुच्चा अद्धोसपिहुदीहा।" इत्यादि श्रीसोमतिलकसूरिकृतसिरिनिलयमिति क्षेत्रविचारवचनात्। श्रीउमास्वातिकृते जम्बूद्वीपसमासे तु प्रासादावतंसकः क्रोशार्द्धक्रोशदैर्ध्यविस्तारः किञ्चिन्न्यूनस्तदुच्छ्रय उक्तोऽस्तीति। (अब्भुग्गयमूसिअ) इत्यादि प्राग्वत्। अथ तत्र यदस्ति तदाह—(तस्स णं) इत्यादि सुगमं, नवरं (सपरिवारं ति) दक्षिणार्द्धभरतकूटाधिपसामानिकादिदेवयोग्यभद्रासनसहितमिति। अथ वा प्रस्तुतकूटनामान्वर्थं पृच्छति—(से केणट्ठेणमित्यादि) सर्वं चैतत्सूत्रं विजयद्वारनामान्वर्थसूचकसूत्रवत्परिभावनीयं, नवरं दक्षिणार्द्धाया इति पदैकदेशे पद समुदायोपचारात् पाठान्तरानुसारद्वारा दक्षिणार्द्धभरताया राजधान्या इति। अत्र सूत्रेऽदृश्यमानमपि "से तेणट्ठेणं" इत्यादि सूत्रं स्वयं ज्ञेयम्। तथा च दक्षिणार्द्धभरतकूटनामा देवः स्वामित्वेनास्यास्तीत्यभ्रादित्वादप्प्रत्यये दक्षिणार्द्धभरतकूटमिति। अथास्य राजधानी क्वास्तीति पृच्छति—(कहि णं) इत्यादि व्यक्तम्। अथापरकूटवक्तव्यता दक्षिणार्द्धभरतकूटातिदेशेनाह—(एवं सव्वइत्यादि) एवं दक्षिणार्द्धभरतकूटन्यायेन सर्वकूटानि तृतीयखण्डप्रपातगुहाकूटादीनि नेतव्यानि बुद्धिपथं प्रापणीयानि यावन्नवमं वैश्रमणकूटम्। (परोप्परं ति) परस्परम् (पुरच्छिमपच्चच्छिमेणं ति) पूर्वापरेण। अयमर्थः—पुर्वं पूर्वं पूर्वस्याम् उत्तरमुत्तरमपरस्यां, पूर्वपरविभागस्यापेक्षिकत्वात्। (इमीसिं इत्यादि) एषां कूटानां वर्णकव्यासे वर्णकविस्तारे इमाः वक्ष्यमाणा गाथाः। "इमा से" इति पाठे तु 'से' इतिवचनव्यत्ययात् तेषां कूटानां वर्णावासे इमा गाथा इति योजनीयम्। (मज्झे वेअड्ढस्स उ इत्यादि) तुशब्दो विशेषे, स च व्यवहितसंबन्धः। तेन वैताढ्यस्य मध्ये तु चतुर्थपञ्चमषष्ठरूपाणि त्रीणि कूटानि कनकमयानि भवन्ति। सूत्रे स्त्रीलिङ्गनिर्देशः प्राकृतत्वात्। शेषाणि पर्वतकूटानि वैताढ्यवर्षधरमेरुप्रभृतिगिरिकूटानि व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिरिति हरिस्सहहरिकूटबलकूटवर्जितानि रत्नमयानि ज्ञातव्यानि। यश्चात्र वैताढ्यप्रकरणे सर्वपर्वतगतकूटज्ञापनं तत्सर्वेषामेकवर्णकत्वेन लाघवार्थम्। तथा वैताढ्य स्येत्यत्र जात्यपेक्षयैकवचनम्, तेन सर्वेषामपि वैताढ्यानां भरतैरवतमहाविदेहविजयगतानां नवसु कूटेषु सर्वमध्यमानि त्रीणि त्रीणि कूटानि कनकमयानि ज्ञातव्यानि। एतदेव वैताढ्ये व्यक्त्या दर्शयति—(माणिभद्द इतयादि) द्वयोः कूटयोर्विसदृशनामकौ देवौ स्वामिनौ। तद्यथा—कृतमालकश्चैव नृत्तमालकश्चैव। तमिस्रगुहाकूटस्य कृतमालः स्वामी, खण्डप्रपातगुहाकूटस्य नृत्तमालः स्वामी। शेषाणां षण्णां कूटानां सदृक् कूटनामसदृशं नाम येषां ते सदृगनामका देवाः स्वामिनः। यथा दक्षिणार्द्धभरतकूटस्य दक्षिणार्द्धभरतकूटनामाः देवः स्वामी। एवमन्येषामपि भावपस कार्या। एनमेवार्थं सविशेष गाथयाऽऽहयन्नामकानि कूटानि तन्नामानः खलु निश्चयेन भवन्ति देवाः पल्योपमस्थितिका भवन्ति प्रत्येकं प्रत्येकं प्रतिकूटमित्यर्थः। एतेनाष्टानां कूटानां स्वामिन उक्ताः। सिद्धायतनकूटे तु सिद्धायतनस्यैव मुख्यत्वेन तत्स्वामिदेवानामभिधानमिति। ननु दक्षिणार्द्धभरतकूटानां स्वसदृशनामकदेवाश्रयभूतत्वात् नामान्वर्थः संगच्छते, यथा दक्षिणार्द्धभरतनामदेवस्वामिकत्वात् उपचारेण दक्षिणार्द्धभरतनामा देवः स्वामित्वेनास्यास्तीति अभ्रादित्वादप्प्रत्यये वा दक्षिणार्द्धभरतम्। एवमन्येष्वपि, परं खण्डप्रपातगुहाकूटतमिस्रगुहाकूटयोः स कथम्? तत्स्वामिनोर्नृत्तमालकृतमालयोर्विसदृशनामकत्वात्। ननु खण्डप्रपातगुहाया उपरिवर्ति कूटं खण्डप्रपातकूटमित्यादिरेवान्वर्थोऽस्त्विति वाच्यम्, अत्र सूत्रे दक्षिणार्द्धभरकूटवत् शेषकूटानामतिदेशात्; बृहत्क्षेत्रसमासवृत्तौ एवं शेषकूटान्यपि स्वस्वाधिपतियोगतः प्रवृत्तान्यवसेयानीति श्रीमलयगिरिसूरिभिरुक्तत्वाच्चेति चेत्। उच्यते—खण्डप्रपातगुहाधिपस्य कूटं खण्डप्रपातकूटं, तमिस्रगुहाधिपस्य कूटं तमिस्रगुहाकूटमिति स्वामिनो यौगिकनामान्तरापेक्षया अत्राप्यन्वर्थो घटत एव। यदुक्तं तैरेव तत्र—तृतीये कूटे खण्डप्रपातगुहाधिपतिदेवाधिपत्यं परिपालयति, तेन तत्खण्डप्रपातगुहाकूटमित्युच्यते इति न किमप्यनुपपन्नम्। अथ तृतीयादिकूटाधिपतीनां राजधान्यः क्व सन्तीति प्रश्नसूत्रमाह—(रायहाणीओ त्ति) अत्र निर्वचनसूत्रम्—(जंबुद्दीवे दीवे इत्यादि) जम्बूद्वीपे द्वीपे इत्यादि सर्वं व्यक्तम्, नवरं खण्डप्रपातगुहाधिपतिदेवस्य राजधानी खण्डप्रपातगुहाऽभिधाना, माणिभद्रस्य माणिभद्रा इत्यादि सर्वाणि चोक्तवक्ष्यमाणानि कूटानि एकैकवनखण्डपद्मवरवेदिकायुतानि मन्तव्यानि जं०१ वक्ष०।

निषधवर्षधरे—

जंबू! मंददाहिणे णं निसढवासहरे पव्वए नव कूडा पण्णत्ता। तं जहा—"सिद्धे निसहे हरिवस्स, विदेहे हिरि धिई य सीओया। अवरविदेहे रुयगे, निसहे कूडाण नामाइं" ॥१॥

(सिद्धे त्ति) सिद्धायतनकूटं, तथा निषधपर्वताधिष्ठातृदेवनिवासोपेतं निषधकूटं, हरिवर्षस्य क्षेत्रविशेषस्याधिष्ठातृदेवेन स्वीकृतं हरिवर्षकूटम्, एवं विदेहकूटमपि, ह्रीदेवीनिवासो ह्रीकूटम्। एवं धृतिकूटं, शीतोदा नदी तद्देवीनिवासः शीतोदाकूटम्, अपर विदेहकूटवदिति। रुचकश्चक्रवालपर्वतः तदधिष्ठातृदेवनिवासो रुचककूटमिति।

नन्दनवने—

जम्बू! मंदरपव्वए णंदणवणे नव कूडा पण्णत्ता। तं जहा—"नंदणे मंदरे चेव, निसहे हेमवयरयतरुयए य। सागरचित्ते वइरे, बलकूडे चेव बोधव्वे" ॥१॥

(नंदणे त्ति) नन्दनवनं मेरोः प्रथममेखलायां, तत्र "कूटानि" नंदण गाहा। तत्र नन्दनवने पूर्वादिदिक्षु चत्वारि सिद्धायतनानि, विदिक्षु चतुश्चतुष्पुष्करिणीपरिवृताश्चत्वारः प्रासादावतंसकाः, तत्र पूर्वस्मात्सिद्धायतनादुत्तरत उत्तरपूर्वस्थप्रासादाद्दक्षिणतो नन्दनकूटं, तत्र देवी मेघंकरा, तथा पूर्वसिद्धायतनादेव दक्षिणतो दक्षिणपूर्वप्रासादादुत्तरतो मन्दरकूटं, तत्र मेघवती देवी, अनेन क्रमेण शेषाण्यपि यावदष्टमम्। देव्यस्तु निषधकूटे सुमेघा, हैमवतकूटे मेघमालिनी, रजतकूटे सुवच्छा, रुचककूटे वच्छमित्रा, सागरचित्रकूटे वैरसेना, वैरकूटे बलाहकेति, बलकूटं तु मेरोरुत्तरपूर्वस्यां नन्दनवने तत्र बलो देव इति। स्था०९ ठा०।

कहि णं भंते! णंदणवणे णंदणवणकूडे णामं कूडे पण्णत्ते? गोयमा! मंदरस्स पव्वयस्स पुरच्छिमिल्लसिद्धाययणस्स उत्तरेणं उत्तरपुच्छिमिल्लस्स पासायवडेंसयस्स दक्खि—

णेणं, एत्थ णं णंदणवणे णंदणवणकूडे णामं कूडे पण्णत्ते, पंचसइआ कूडा पुव्ववण्णिआ भाणिअव्वा, देवी मेहंकरा च, रायहाणी विदिसाए, एआहि देव पुव्वामिलोवेणं णेअव्वा, इमे कूडा इमाहिं दिसाहिं पुरच्छिमिल्लस्स भवणस्स दाहिणेणं दाहिणपुरच्छिमिल्लस्स पासायवडेंसगस्स उत्तरेणं मंदरे कूडे मेहवई देवी रायहाणी पुव्वेणं दक्खिणिल्लस्स भवणस्स पुरच्छिमेण दाहिणपुरच्छिमिल्लस्स पासायवडेंसगस्स पच्चच्छिमेणं णिसहे कूडे सुमेहा देवी रायणी दक्खिणेण दक्खिणिल्लस्स भणस्स पच्चच्छिमेणं दक्खिणपच्चच्छिमिल्लस्स पासायवडेंसगस्स पुरच्छिमेणं हेमवए कूडे हेममालिनी देवी रायहाणी दक्खिणेणं पच्छच्छिमिल्लस्स भवणस्स दक्खिणेणं दाहिणपच्चच्छिमिल्लस्स पासायवडेंसगस्स उत्तरेणं रयए कूडे सुवच्छा देवी रायहाणी पच्चच्छिमेणं पच्चच्छिमिल्लस्स भवणस्स उत्तरेणं उत्तरपच्चच्छिमिल्लस्स पासायवडेंसगस्स दक्खिणेणं रुअगे कूडे वच्छमित्ता देवी रायहाणी पच्चच्छिमेणं उत्तरिल्लस्स भवणस्स पच्चच्छिमेणं उत्तरपच्चच्छिमिल्लस्स पासायवडेंसगस्स पुरच्छिमेणं सागरचित्ते कूडे वइरसेणा देवी रायहाणी उत्तरेणं उत्तरिल्लस्स भवणस्स पुरच्छिमेणं उत्तरपुरच्छिमिल्लस्स पासायवडेंसगस्स पच्चच्छिमेणं वइरे कूडे बलाहया देवी रायहाणी उत्तरेणं ति। कहि णं भंते ! णंदणवणे बलकूडे णामं कूडे पण्णत्ते ? गोयमा !मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरपुरच्छिमेणं एत्थ णं णंदणवणे कूडे णामं कूडे पण्णत्ते। एवं जं चेव हरिस्सहकूडस्स पमाणं रायहाणी अ, तं चेव बलकूडस्स वि, णवरं बलो देवो रायहाणी उत्तरपुरच्छिमेणं ति॥

क्व भदन्त ! नन्दनवनने नन्दनवनकूटं नाम कूटं प्रज्ञप्तम् ? गौतम ! मन्दरस्य पर्वतस्य संबन्धिनः पौरस्त्यसिद्धायतनस्योत्तरतः उत्तरपौरस्त्येशानदिग्वर्तिनः प्रासादावतंसकस्य दक्षिणेन एतस्मिन् प्रदेशे नन्दनवनकूटं नाम कूटं प्रज्ञप्तम्। अत्रापि मेरुतः पञ्चाशद्योजनातिक्रम एव क्षेत्रनियमो बोद्धव्यः। अन्यथाऽस्य प्रासादभवनयोरन्तरालवर्तित्वं न स्यात्। अथ लाघवार्थमुक्तस्य वक्ष्यमाणानां च कूटानां साधारणमतिदिशतिपञ्चशतिकानि कूटानि पूर्वं दिग्हस्तिकूटप्रकरणे वर्णितानि कूटानि पूर्वं दिग्हस्तिकूटप्रकरणे वर्णितानि उच्चत्वव्यासपरिधिवर्णसंस्थानराजधानीदिगादिभिः, तान्यत्र भणितव्यानीति शेषः। सदृशगमत्वात्। अत्र देवी मेघंकरा नाम्नी, अस्या राजधानी विदिशि, अस्य पद्मोत्तरं कूटस्थानीयत्वेन राजधानी विदिगुत्तरपूर्वग्राह्या। अथ शेषकूटानां तद्देवीनां तद्राजधानीनां च का व्यवस्था ? इत्याह—(एआहिं इत्यादि) एताभिर्देवीभिश्चशब्दाद् राजधानीभिरनन्तरसूत्रे वक्ष्यमाणाभिः सह पूर्वाभिलापेन नन्दनवनकूटसत्कसूत्रगमेन नेतव्यानि इमानि वक्ष्यमाणानि कूटानि इमाभिर्वक्ष्यमाणाभिर्दिग्भिः। एतदेव दर्शयति—(पुरच्छिमिल्लस्स इत्यादि) इदं च सर्वं भद्रशालवनगमसदृशम्, तेन तदनुसारेण व्याख्येयम्। विशेषश्चात्रायं पञ्चशतिके नन्दनवने मेरुतः पञ्चाशद्योजनान्तरे स्थितानि पञ्चशतिकानि कूटानि किञ्चिन्मेखलातो बहिराकाशे स्थितानि बोध्यानि, बलकूटवत् एतत्कूटवासिन्यश्च देव्योऽष्टौ दिक्कुमार्यः। अत्र नवमं कूटं सहस्राङ्कमिति पृथक् पृच्छति—(कहि णमित्यादि) क्व भदन्त! नन्दनवने बलकूटं कूटं प्रज्ञप्तम् ? मेरोरीशानविदिशि नन्दनवनेऽन्तरे बलकूटं नाम कूटं प्रज्ञप्तम्। अयमर्थः मेरुतः पञ्चाशद्योजनातिक्रमे ईशानकोणे ऐशानप्रासादः, ततोऽपीशानकोणे बलकूटं, महत्तमवस्तुनो विदिशोऽपि महत्तमत्वात्। एवमनेनाभिलापेन यदेव हरिस्सहकूटस्य माल्यवद्वक्षस्कारगिरेर्नवमकूटस्य प्रमाणं सहस्रयोजनरूपं यथा चाल्पेऽपि स्वाधारक्षेत्रमहतोऽप्यस्यावकाशः, या च राजधानी चतुरशीतियोजनसहस्रप्रमाणा तदेव सर्वं बलकूटस्यापि, नवरमत्र बलो देवः, तत्र तु हरिस्सहनामा। जं०४ वक्ष०।

माल्यवतः—

जंबुद्दीवे दीवे मालवंते वक्खारपव्वए नव कूडा पण्णत्ता। तं जहा—"सिद्धे य मालवंते, उत्तरकुरुकच्छसागरे रयए। सीया य पुन्नामे, हरिस्सकूडे य बोधव्वे" ॥१॥

(मालवंते इत्यादि) माल्यवान् पूर्वोत्तरो गजदन्तपर्वतः, तत्र सिद्धायतनकूटं मेरोरुत्तरपूर्वतः, एवं शेषाणयपि, नवरं सिद्धकूटे भोगा देवी, रजतकूटे भोगमालिनी देवी, शेषेषु स्वसमाननामानो देवाः, हरिस्सहकूटं नीलवत्पर्वतस्य नीलवत्कूटाद्दक्षिणतः सहस्रप्रमाणं, विद्युत्प्रभवर्ति हरिकूटं नन्दनवनवर्ति बलकूटं च, शेषाणि तु प्रायः पञ्चयोजनशतिकानीति। स्था०९ ठा०। सर्वसंग्रहायेति सिद्धायतनकूटं, चः पादपूरणे, माल्यवत्कूटं प्रस्तुतवक्षस्काराधिपतिवासकूटम्, उत्तरकुरुकूटमुत्तरकुरुदेवकूटं कच्छकूटं कच्छविजयाधिपकूटं, सागरकूटं, रजतकूटम्, इदं चान्यत्र रुचकमिति प्रसिद्धं शीताकूटं शीतासरित् सुरीकूटं, पदैकदेशे पदसमुदायोपचार इति सिद्धिः। चः समुच्चये, पूर्णभद्रनाम्नो व्यन्तरेशस्य कूटं पूर्णभद्रकूटं, हरिस्सहनाम्न उत्तरश्रेणिपतिविद्युत्कुमारेन्द्रस्य कूटं हरिस्सहकूटम्। चैवशब्दः पूर्ववत्। जं०४ वक्ष०।

संप्रत्यमीषां स्थानप्ररूपणायाऽऽह—

कहि णं भंते ! मालवंते वक्खारपव्वए सिद्धाययणकूडे णामं कूडे पण्णत्ते ? गोयमा ! मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरपुरच्छिमेणं मालवंतस्स कूडस्स दाहिणपच्चच्छिमेणं एत्थ णं सिद्धाययणकूडे पंच जोअणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं अवसिट्ठं तं चेव, जाव रायहाणी, एवं मालवंतस्स कूडस्स उत्तरकुरुकूडस्स कच्छकूडस्स, एए चत्तारि कूडा दिसाहिं पमाणेहि अ णेयव्वा कूडसरिसणामया देवा। कहि णं भंते ! मालवंते सागरकूडे कूडे पण्णत्ते ? गोयमा ! कच्छकूडस्स उत्तरपुरच्छिमेणं रययकूडस्स दक्खिणेणं, एत्थ णं सागरकूडे णामं कूडे पण्णत्ते; पंच जोअणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं, अवसिट्ठं तं चेव। सुभोगा देवी राय हाणी उत्तरपुरच्छिमेणं रययकूडे भोगमालिणी देवी, रायहाणी उत्तरपुरच्छिमेणं अवसिट्ठा कूडा उत्तरदाहिणेणं णेअव्वा एक्केणं पमाणेणं। कहि णं भंते ! मालवंते हरि-

स्सहकूडे णामं कूडे पण्णत्ते ? गोयमा ! पुण्णभद्दस्स उत्तरेणं णीलवंतस्स दक्खिणेणं, एत्थ णं हरिस्सहकूडे णामं कूडे पण्णत्ते । एगं जोअणसहस्सं उड्ढं उच्चत्तेणं जमगपमाणेणं रायहाणी उत्तरेणं असंखेज्जदीवे अण्णम्मि जंबुद्दीवे दीवे उत्तरेणं बारस जोअणसहस्साइं उग्गहित्ता, एत्थ णं हरिस्सहदेवस्स हरिस्सहा णामं रायहाणी पण्णत्ता । चउरासीइं जोअणसहस्साइं आयामविक्खंभेणं छ जोअणसयसहस्साइं पण्णट्ठिं च सहस्साइं छच्च छत्तीसे जोअणसए परिक्खेणं, सेसं जहा चमरचंचाए रायहाणीए तहा पमाणं भाणिअव्वं महिड्ढीए महज्जुईए ॥

"कहि णमित्यादि" प्रश्नः प्रतीतः । उत्तरसूत्रे मन्दरस्य पर्वतस्य उत्तरपूर्वस्याम् ईशानकोणे प्रत्यासन्नमाल्यवतकूटस्य दक्षिणपश्चिमायां नैर्ऋतके, अत्र सिद्धायतनकूटं प्रज्ञप्तमिति गम्यं, पञ्चयोजनशतान्यूर्द्धोच्चत्वेन, अवशिष्टं मूल विष्कम्भादिकं वक्तव्यं तदेव गन्धमादनसिद्धायतनकूटवदेव वाच्यं यावद्राजधानी भणितव्या स्यात्। अयमर्थः–सिद्धायतनकूटवर्णके सामान्यतः कूटवर्णकसूत्रं, विशेषतः सिद्धायतनादिवर्णकसूत्रं च द्वयमपि वाच्यम्, तत्र सिद्धायतनकूटे राजधानीसूत्रं न संगच्छते इति राजधानीसूत्रं विहाय तदधस्तनसूत्रं वाच्यमिति । अत्र यावच्छब्दो न संग्राहकः, किन्त्ववधिमात्रसूचकः । यथा–'आसमुद्रक्षितीशानाम्' इत्यत्र (रघुकाव्ये) समुद्रं विहाय क्षितीशत्वं वर्णितमिति । लाघवार्थमत्रातिदेशमाह–(एवं मालवंतस्स इत्यादि) एवं सिद्धायतनकूटरीत्या माल्यवतकूटस्य कच्छकूटस्य वक्तव्यं, ज्ञेयमिति गम्यम्। अथैतानि किं परस्परं स्थानादिना तुल्यानि उताऽतुल्यानीत्याह–एतानि सिद्धायतनकूटसहितानि चत्वारि परस्परं दिग्भिरैशानविदिगरूपाभिः प्रमाणैश्च नेतव्यानि, तुल्यानीति शेषः । अयमर्थः प्रथमं सिद्धायतनकूटं मेरोरुत्तरपूर्वस्यां दिशि ततस्तस्यामेव दिशि द्वितीयमाल्यवतकूटं ततस्तस्यामेव दिशि तृतीयमुत्तरकुरुकूटं ततोऽप्यस्यां दिशि कच्छकूटम् । एतानि चत्वार्यपि कूटानि विदिग्भावीनि मानतो हिमवत्कूटप्रमाणानीति कूटस्य दृग्नामकाश्चात्र देवाः । 'अत्र यावत् संभवस्तावद् विधिप्राप्तिः' इति न्यायात् सिद्धकूट–वर्जेषुर त्रिषु कूटेषु कूटनामका देवा इति बोध्यं सिद्धायतनम् । अन्यथा ''छसयपरिकूडेसु तहा, चूला चउवणरूसु जिणभवणं । भणिआ जंबुद्दीवे, सदेवया सेसठाणेसु" ॥१॥ इति स्वोपज्ञक्षेत्रविचारे रत्नशेखरसूरिवचो विरोधमापद्यते इति । अथावशिष्टकूटस्वरूपमाह–(कहि णं) इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमम् । उत्तरसूत्रे कच्छकूटस्य च कूटस्य चतुर्थस्योत्तरपूर्वस्यां रजतकूटस्य दक्षिणस्याम्; अत्रान्तरे सागरकूटं नाम कूटं प्रज्ञप्तं पञ्चयोजनशतान्यूर्द्धोच्चत्वेन, अवशिष्टं मूलविष्कम्भादिकं तदेव । अत्र सुभोगा नाम्नी दिक्कुमारी देवी, अस्या राजधानी मेरोरुत्तरपूर्वस्यां रजतकूटं षष्ठं पूर्वस्मादुत्तरस्याम्, अत्र भोगमालिनी दिग्कुमारी सुरी, राजधानी उत्तरपूर्वस्याम्, अवशिष्टानि शीताकूटादीनि उत्तरदक्षिणाभ्यां नेतव्यानि । कोऽर्थः? पूर्वस्मात् पूर्वस्मादुत्तरमुत्तरस्याम् २ उत्तरस्मादुत्तरस्मात्पूर्व २ दक्षिणस्याम् २ इत्यर्थः। एकेन तुल्यप्रभाणेन सर्वेषामपि हिमवत्कूष्टप्रमाणत्वात् । अथ नवरं सहस्राङ्कमिति पृथग् निर्देष्टुमाह–(कहि णमित्यादि) क भदन्त ! माल्य वति वक्षस्कारगिरौ हरिस्सहकूटं नाम कूटं प्रज्ञप्तम् ? गौतम ! पूर्णभद्रस्योत्तरस्यां नीलवतो वर्षधरपर्वतस्य दक्षिणस्याम्, अत्रान्तरे हरिस्सहकूटं नाम कूटं प्रज्ञप्तम्, एकं योजनसहस्रमूर्द्धोच्चत्वेनः, अवशिष्टं यमकगिरिप्रमाणेन नेतव्यम् । तच्चेदम्– "अड्ढाइज्जाइं जोअणसयाई उव्वेहेणं मूले एगं जोअणसहस्सं आयामविक्खंभेणमित्यादि" । आह परःपञ्चशतयोजनपृथुगजदन्ते सहस्रयोजनपृथु इदं कथं माति ? उच्यतेअगेन गजदन्तस्य ५०० योजनानि रुद्धानि, ५०० योजनानि पुनर्गजदन्ताद्बहिराकाशे, ततो न कश्चिदोष इति । अस्य चाधिपत्यस्याऽपरराजधानीतो दिक्प्रमाणाद्यैर्विशेष इति तं विवक्षुराह–(रायहाणी इत्यादि) राजधानी उत्तरस्यामिति । एतदेव विवृणोति–(असंखेज्जदीवे त्ति) इदं पदं स्मारकम्, तेन "मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरेणं तिरिअमसंखेज्जाइं दीवसमुद्दाइं वीईवइत्ता" इति ग्राह्यम् । अन्यस्मिन् जम्बूद्वीपे उत्तरस्यां द्वादशयोजनसहस्राण्यवगाह्य । अत्रान्तरे हरिस्सहदेवस्स हरिस्सहा नाम्नी राजधानी प्रज्ञप्ता, चतुरशीतियोजनसहस्राण्यायामविष्कम्भाभ्यां द्वे योजनलक्षे पञ्चषष्टिं च योजनसहस्राणि षट् च द्वात्रिंशदधिकानि योजनशतानि परिक्षेपेण, शेषं यथा चमरचञ्चायाश्चमरेन्द्रराजधान्याः प्रमाणं भणितं भवति तथा नेतव्या, प्रमाणं प्रासादादीनां भणितव्यमिति । "महिड्ढिए महज्जुईए" इति सूत्रेणास्य नामनिमित्ताविषयके प्रश्ननिर्वचने सूचिते । तेषां चैवम्–"से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ हरिस्सहकूडे कूडे ? गोयमा ! हरिस्सहकूडे बहवे उप्पलाइं पउमाइं हरिस्सहकूडसमवण्णाइं जाव हरिस्सहे णामं देवे अइत्थमहिड्ढीए जाव परिवसइ, से तेणट्ठेणं जाव अदुत्तरं च णं गोअमा ! जाव सासए णामधेज्जे" । इति ।जं०४ वक्ष० ।

कच्छादिषु वैताढ्यपर्वतेषु–

जंबू कच्छे दीहवेयड्ढे णं नव कूडा पन्नत्ता । तं जहा – "सिद्धे कच्छे खंडग–माणि वेयड्ढपुन्नतिमिसगुहा । कच्छे वेसमणे य, कच्छे कूमाण नामाइं" ॥१॥ जंबू ! सुकच्छे दीहे वेयड्ढे णं नव कूडा पण्णत्ता । तं जहा–"सिद्धे सुकच्छखंडग–माणी, वेयड्ढपुन्नतिमिसगुहा । सुकच्छे वेसमणे य, सुकच्छकूडाण नामाइं" ॥१॥ एवं जाव पुक्खलावइम्मि दीहवेयड्ढे एवं वच्छे दीहवेयड्ढे एवं जाव मंगलावइम्मि दीहवेयड्ढे ।

एवं कच्छादिविजये वैताढ्यकूटान्यपि व्याख्यातानुसारेण ज्ञेयानि। नवरं "एवं जाव पुक्खलावइम्मीत्यादि" यावत्करणात् महाकच्छाकच्छावतीआवर्त्तमङ्गलावर्त्तपुष्कलेषु सुकच्छवद्वैताढ्येषु सिद्धकूटादीनि नव नव कूटानि वाच्यानि, नवरं द्वितीयाष्टमस्थानेऽधिकृतविजयनामवाच्यमिति। (एवं वच्छे त्ति) शीताया दक्षिणे समुद्रासन्ने "एवं जाव मंगलावइम्मि" इत्यत्र यावत्करणात् सुवच्छमहावच्छवच्छावतीरम्यरम्यकरमणी येषु प्रागिव कूटनवकं दृश्यमिति। स्था०९ ठा० । जं० । ('कच्छ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १८३ पृष्ठे वर्णक उक्तः) विद्युत्प्रभे, स्था० ।

जंबू ! विज्जुप्पभे वक्खारपव्वए नव कूडा पण्णत्ता । तं जहा– "सिद्धे य विज्जुनामे, देवकुरा पम्हकणगसोवत्थी ।
सीओदाए सजले, हरिकूडे चेव बोधव्वे" ॥१॥

(जम्बूद्वीवेत्यादि) विद्युत्प्रभो देवकुरुपश्चिमगजदन्तकः, तत्र नव कूटानि पूर्ववत्, नवरं दिक्कुमार्यो वारिसेनाबलाहकाभिधाने क्रमेण कनककूटस्वस्तिककूटयोरिति।

पद्मादिषु विजयेषु दीर्घवैताढ्यानाम्–

जंबू ! पम्हे दीहवेयड्ढे नव कूडा पण्णत्ता। तं जहा–सिद्धे पम्हे खंडगमाणी वेयड्ढए, एवं चेव जाव सलिलावइम्मि दीहवेयड्ढे, एवं वप्पे दीहवेयड्ढे एवं जाव गंधिलावइम्मि दीहवेयड्ढे नव कूडा पण्णत्ता। तं जहा–"सिद्धे गंधिलखंडगमाणीवेयड्ढपुन्नतिमिसगुहा। गंधिलावइवेसमणे, कूडाणं होंति नामाइं ॥१॥" एवं सव्वेसु दीहवेयड्ढेसु दो कूडा सरिसनामगा सेसा ते चेव।

(पम्हे त्ति) शीतोदाया दक्षिणेन विद्युत्प्रभाभिधानगजदन्तकप्रत्यासन्नविजये (जाव सलिलावइम्मि) इत्यत्र यावत्करणात् सुपद्ममहापद्मावतीशङ्खनलिनकुमुदेषु प्रागिव नव नव कूटानि वाच्यानि। एवमित्युक्ताभिलापेन (वप्पे त्ति) शीतोदाया उत्तरेण समुद्रप्रत्यासन्नविजये "जाव गंधिलावइम्मि" इत्यत्र यावत्करणात् सुवप्रमहावप्रवप्रावतीवल्गुसुवल्गुगन्धिलेषु नव नव कूटानि प्रागिव दृश्यानीति, पुनः पद्मादिविजयेषु नव नव कूटानि प्रागिव दृश्यानीति, पुनः पद्मादिविजयेषु षोडश स्वतिदिशति–"एवं सव्वेसु" इत्यादिना कूटानां सामान्यलक्षणमुक्तमिति। स्था०९ ठा०।

सौमनसे वक्षस्कारपर्वते–

जंबुद्दीवे दीवे सोमणसे वक्खारपव्वए सत्त कूडा पण्णत्ता। तं जहा–"सिद्धे सोमणसे य, बोधव्वे मंगलावई कूडे ॥ देवकुरुविमलकंचण–विसिट्ठकूडे य वोधव्वे" ॥१॥

(सिद्धे त्ति) सिद्धायतनोपलक्षितं कूटं मेरुप्रत्यासन्नम्, एवं सर्वगजदन्तकेषु सिद्धयतनानि शेषाणि, ततः परम्परयेति। (सोमणसे त्ति) सौमनसकूटं तत्समाननामकतदधिष्ठातृदेववतोपलक्षितं, मङ्गलावतीविजयसमनामदेवस्स मङ्गलावतीकूटम्, एवं देवकुरुदेवनिवासो देवकुरुकूटमिति, विमलकाञ्चनकूटेयथार्थे, क्रमेण च वत्सवत्समित्राभिधानाऽधोलोकनिवासिदिक्कुमारीद्वयनिवासभूते, विशिष्टकूटं तन्नामदेवनिवास एवमुत्तरत्रापि। स्था०७ ठा०। जं०।

रुक्मिणि–

जंबू मंदरउत्तरेणं रुप्पिम्मि वासहरपव्वए अट्ठ कूडा पण्णत्ता। तं जहा–"सिद्धे रुप्पी रम्मग–नरकंता बुद्धिरुप्पकूडे य। हेरण्णवए मणिकं–चणे य रुप्पिम्मि कूडा य" ॥१॥

जंबू ! मंदरपुरच्छिमेण रुयगवरे पव्वए अट्ठ कूडा पण्णत्ता। तं जहा–"रिट्ठतवणिज्जकंचण–रययदिसा सावत्थिए पलंबे य। अंजणे अंजणपुलए, रुयगस्स पुरच्छिमे कूडा" ॥१॥

अनेनैव क्रमेण रुक्मिकूटान्यप्यूह्यानि। तद्गाथा 'सिद्धे रुप्पी' इत्यादि कण्ठ्यम्। 'जंबुद्दीवे' इत्यादि क्षेत्राधिकारात् रुचकाश्रितसूत्राष्टकं कण्ठ्यम्, नवरं जम्बूद्वीपे यो मन्दरस्तदपेक्षया प्राच्यां दिशि रुचकवरे रुचकद्वीपवर्तिनि प्राग्वर्णितस्वरूपे चक्रवालाकारे अष्टौ कूटानि, तत्र रिष्टेत्यादि गाथा स्पष्टा, तेषु च नन्दोत्तराद्याः दिक्कुमार्यो वसन्ति, भगवतोऽर्हतो या जन्मन्यादर्शहस्ता गायन्त्यस्तं पर्युपासन्ते, एवं दाक्षिणात्या भृङ्गारहस्ता गायन्ति, एवं प्रातीच्यास्तालवृन्तहस्ताः एवमौदीच्याश्चामरहस्ताः देवाधिकारादेव। स्था०८ ठा०।

गन्धमादने–

जंबुद्दीवे दीवे गंधमायणे वक्खारपव्वए सत्त कूडा पण्णत्ता। तं जहा–"सिद्धे य गन्धमायणे, बोधव्वे गंधिलावई कूडे। उत्तरकुरुफलिहे लोहियक्खआणंदणे चेव" ।१। स्था०७ ठा०। गंधमायणे णं वक्खारपव्वए कति कूडा पण्णत्ता ? गोयमा ! सत्त कूडा पण्णत्ता। तं जहा–सिद्धाययणकूडे ? गंधमायणकूडे २ गंधिलावइकूडे ३ उत्तरकुरु कूडे ४ फलिहकूडे ५ लोहिअक्खकूडे ६ आणंदकूडे ७। कहि णं भंते ! गंधमायणे वक्खारपव्वए सिद्धाययणणामं कूडे पण्णत्ते ? गोयमा ! मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरपुरच्छिमेणं गंधमायणकूडस्स दाहिणपुरच्छिमेणं एत्थ णं गंधमायणे वक्खारपव्वए सिद्धाययणकूडे णामं कूडे पण्णत्ते। जं चेव चुल्लहिमवंते सिद्धाययणकूडसस पमाणं तं चेव एएसिं सव्वेसिं भाणिअव्वं, एवं चेव विदिसाहिं तिण्णि कूडा भणिअव्वा, चउत्थे ततिअस्स उत्तरपच्चच्छिमेणं, पंचमस्स दाहिणेणं, सेसाओ उत्तरदाहिणेणं फलोहिअक्खेसु भोगंकराभेगवईओ देवयाओ, सेसेसु सरिसणामया देवा छसु वि पासायवडेंसगरायहाणीओ विदिसासु ॥

"गंधमायणे" इत्यादि व्यक्तं, नवरं स्फटिककूटं स्फटिकरन्तमयत्वात्, लोहिताक्षकूटं लोहितरत्नवर्णत्वात्, आनन्दनाम्नो देवस्य कूटमानन्दकूटम्। ननु यथा वैताढ्यादिषु सिद्धायतनादिकूटव्यवस्था पूर्वापरायतत्वेन तदत्रापि, उत कश्चिद्विशेष इत्याह ?–(कहि णं भंते) इत्यादि व्यक्तं, नवरं यथा वैताढ्यादिषु सिद्धायतनं कूटं समुद्रासन्नं पूर्वेण ततः क्रमेण शेषाणि स्थितानि, तथाऽत्र मन्दरासन्नं सिद्धायतनकूटं मन्दरादुत्तरपश्चिमायां वायव्यां दिशि गन्धमादनकूटस्थ तु दक्षिणपूर्वस्यामाग्नेय्यामस्ति यदेव क्षुद्रहिमवति सिद्धायतनकूटस्य प्रमाणं तदेवैतेषां सर्वेषां सिद्धायतनादिकूटानां भणितव्यम्, अर्थाद्वर्णनमपि तद्वदेवेति। व्यवस्था तु शेषकूटानामत्र भिन्नप्रकारेणेति मनसिकृत्याह–(एवं चेव इत्यादि) एवं चेवेत्यैव सिद्धायतनानुसारेण विदिक्षु वायव्यकोणेषु त्रीणि कूटानि सिद्धायतनादीनि भणितव्यानि। उक्त वक्ष्याव्यानां मिश्रितनिर्देशस्तु "एवं चत्तारि वि दारा भणिअव्वा" इति सूत्रविचारेणोक्तयुक्तया समाधेयः। अयमर्थः मेरुत उत्तरपश्चिमायां सिद्धायतनकूटं, तस्मादुत्तरपश्चिमायां गन्धमादनकूटं, तस्माच्च गन्धिलावतीकूटमुत्तरपश्चिमायामिति। अत्र तिस्रो वायव्यो दिशः समुदिता विवक्षिता इति बहुत्वेन निर्देशः। चतुर्थमुत्तरकुरुकूटं तृतीयस्य गन्धिलावतीकूटस्योत्तरपश्चिमायां पञ्चमस्य स्फटिककूटस्य दक्षिणतः। ननु यथा तृतीयाद्गन्धिलावतीकूटाच्चतुर्थमुत्तरकुरुकूटमुत्तरपश्चिमायां चतुर्थाच्च तृतीयं दक्षिणपूर्वस्यां तथा पञ्चमात् स्फटिककूटात् कथं दक्षिणस्यां चतुर्थं कूटं न संगच्छते ? उच्यतेपर्वतस्य चक्रत्वेन चतुर्थकूटत एवं दक्षिणपूर्वां प्रति वलनात् पञ्चमाच्चतुर्थं दक्षिणस्यामितिः शेषाणि स्फटिककूटादीनि त्रीणि उत्तरद–

क्षिणश्रेणिव्यवस्थया स्थितानि; कोऽर्थः ? पञ्चमं चतुर्थस्यसोत्तरतः षष्ठस्य दक्षिणतः, षष्ठं पञ्चमस्योत्तरतः सप्तमस्य दक्षिणतः, सप्तमं षष्ठस्योत्तरत इति परस्य उत्तरदक्षिणभाव इति। अत्र पञ्चयोजनशतविस्तराध्यपि कूटानि यत्क्रमहीयमानेऽपि प्रस्तुतगिरिक्षेत्रे मान्ति, तत्र सहस्रा कूटरीतिर्ज्ञेया। अथैषामेवाधिष्ठातृस्वरूपं निरूपयति–(फलिहलोहिअक्खे) इत्यादि कूटलो हिताक्षकूटयोः पञ्चषष्ठयोर्भोगकराभोगवत्योर्द्वे देवते दिक्कुमार्यौ वसतः। शेषेषु कूटसदृशनामका देवाः षट्स्वपि प्रासादावतंसकाः स्वस्वाधिपतिवासयोग्याः, एषां च राजधान्योऽसंख्याततमे जम्बूद्वीपे विदिक्षु उत्तरपश्चिमासु॥ अं०४ वक्ष०।

कूटानि–

जंबू मंदरदाहिणे णं छ कूडा पण्णत्ता। तं जहा–चुल्लाहिमवंतकूडे वेसमणकूडे महाहिमवंतकूडे वेरुलियकूडे निसहकूडे रुयगकूडे। जम्बू! मंदरउत्तरे णं छ कूडा पण्णत्ता। तं जहा–नीलवंतकूडे उवदंसणकूडे रुप्पिकूडे मणिकंचणकूडे सिहारिकूडे तिगिच्छिकूडे॥

कूटसूत्रे हिमवदादिषु वर्षधरपर्वतेषु द्विस्थानकोक्तक्रमेण द्वे द्वे कूटे समवसेये इति। स्था०६ ठा०।

जंबू मंदरदाहिणे णं रुयगवरे पव्वए अट्ठ कूडा पण्णत्ता। तं जहा–"कणाए कंचणपउमे, नलिणे ससिदिवाकरे चेव। वेसमणे वेरुलिए, रुयगस्स य दाहिणे कूडा" ॥१॥ स्था०। जंबू! मंदरपब्बच्छिमेणं रुयगवरे पव्वए अट्ठ कूडा पण्णत्ता। तं जहा–"सोत्थिए य अमोहे य, हिमवं मंदरे तहा। रुयगे रुयगुत्तमे चंदे, अट्ठमे अ सुदंसणे" ॥१॥ स्था०।

जंबू! मंदरउत्तररुयगवरे पव्वए अट्ठ कूडा पण्णत्ता। तं जहा–"रयणे रयणुच्चए सव्व–रयणे रयणसंचए।

विजए वेजयंते य, जयवंते अपराजिए"॥१॥ स्था०८ ठा०।

(दिक्कुमारीवक्तव्यता तु दिसाकुमारिया शब्दे वक्ष्यते)

अथात्र कूटानि प्रष्टव्यानि नीलवतः –

णीलवंते णं भंते! वासहरपव्वए कइ कूडा पण्णत्ता?। गोयमा! नव कूडा पण्णत्ता। तं जहा–"सिद्धायणकूडे १ सिद्धे, णीलेर२ पुव्वविदेहे३ सीआ य कित्ति ५ णारी अ ६। अवरविदेहे ७ रम्मग–कूडे ८ उवदंसणे चेव" ॥१॥ सव्वे एए कूडा पंचसइआ रायहाणीओ उत्तरे॥

(णीलवंते णमित्यादि) नीलवति भदन्त! वर्षधरपर्वते कति कूटानि प्रज्ञप्तानि? गौतम! नव कूटानि प्रज्ञप्तानि। तद्यथा–सिद्धायतनकूटम्, अत्र नवानामप्येकत्र संग्रहायेयं गाथा–(सिद्धे त्ति) सिद्धकूटं सिद्धायतनकूटं, तच्च पूर्वदिशि समुद्रा–सन्नं ततो नीलवतकूटं न नीलवद्वक्षस्काराधिषकूटं पूर्वविदेहाधिपकूटं शीताकूटं शीतासुरीकूटं, चः समुच्चये, कीर्त्तिकूटं केसरिद्रहसुरीकूटं नारीकान्तनदीसुरीकूटं, चः पूर्ववत्। अपरविदेहकूटम्, अपरविदेहाधिपकूटं रम्यककूटं रम्यकक्षेत्राधिपकूटम्, उपदर्शनकूटं उपदर्शननामककूटम्। एतानि च कूटानिहिमवत् कूटवत् पञ्चशतिकानि पञ्चशतयो जनप्रमाणानि, वक्तव्यताऽपि तद्वत् कूटाधिपानां राजधान्यो मेरोरुत्तरस्याम्। जं०४ वक्ष०।

जम्बू! मंदरउत्तरे णं एरवए दीहवेयड्ढे नव कूडा पण्णत्ता। तं जहा–"सिद्धेरवए खंडग–माणी वेयड्ढपुण्णतिमिसगुहा। एरवए वेसमणे, एरवए कूडनामाइं" ॥१॥ स्था०९ठा०॥

तत्र यानि समानि –

जंबू मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेणं चुल्लहिमवंते वासहरपव्वए दो कूडा पन्नत्ता। तं जहा–बहुसमउल्ला जाव विक्खंभुच्चत्त संठाणपरिणाहेणं। तं जहा–चुल्लहिमवंतकूडे चेव वेसमणकूडे चेव। जंबू! मंदरदाहिणे णं महाहिमवंते वासहरपव्वए दो कूडा पन्नता। तं जहा–बहुसमतुल्ला जाव महाहिमवंतकूडे चेव वेरुलियकूडे चेव। एवं निसढे वासहरपव्वए दो कूडा पन्नत्ता। तं जहा–बहुसमतुल्ला, जाव निसढकूडे चेव रुयगकूडे चेव। जंबू! मंदरस्स उत्तरे णं नीलवंते वासहरपव्वए दो कूडा पन्नत्ता। तं जहा–बहुसमतुल्ला जाव नीलवंतकूडे चेव उवदंसणकूडे चेव। एवं रुप्पिम्मि वासहरपव्वए दो कूडा पन्नता। तं जहा–बहुसमतुल्ला जाव। तं जहा–रुप्पिकूडे चेव मणिकंचणकूडे चेव। एवं सिहरिम्मि वि वासहरएव्वए दो कूडा पन्नत्ता बहुसमतुल्ला। तं जहा–सिहरिकूडे चेव तिगिच्छिकूडे चेव।

(जंबू इत्यादि) हिमवद्वर्षधरपर्वते होकादश कूटानि–सिद्धा–यतन १ क्षुल्लहिमवत् २ भरत ३ इला ४ गङ्गा ५ श्री ६ रोहितांशा ७ सिन्धु ८ सुरा ९ हैमवत १० वैश्रमण ११ कूटाभिधानानि भवन्ति। पूर्वदिशि सिद्धायतनं कूटमतः क्रमेणापरतोऽन्यानि सर्वरत्नमयानि स्वनामदेवतास्थानानि पञ्च योजनशतोच्छ्रयाणि तावदेव मूले विस्तृतानि उपरि तदर्द्धविस्तृतानि, आद्ये सिद्धायतनं पञ्चाशद्योजनायामं तदर्द्धविष्कम्भं षट्त्रिंशदुच्चम्, अष्टयोजनायामैश्चतुर्योजनविष्कम्भप्रवेशैस्त्रिभिर्द्वारैरुपेतं जिनप्रतिमाष्टोत्तरशतसमन्वितं, शेषेषु प्रासादाः सार्द्धषष्टियोजनोच्चास्तदर्द्धविस्तृतास्तन्निवासिदेवसिंहासनवन्त इति। इह तु प्रकृतनगनायकनिवासभूतत्वाद्देवनिवासभूतानामेषां मध्ये आद्यत्वाच्च हिमवतकूटं गृहीतं, सर्वान्तिमत्वाच्च वैश्रमणकूटमिति द्विस्थानकानुरोधेनेति। आह च–"कत्थइ देसग्गहणं, कत्थइ चिप्पंति निरवसेसाइं। उक्कम कमजुत्ताइं, कारणवसओ निउत्ताइं" ॥१॥ कूटसंग्रहश्चायम्–"वेयड्ढ ९ मालवंते ९, विज्जुप्पह ९ निसढ ९ नीलवंते य ९। नव नव कूडा भणिया, एकारस सिहरि ११ हिमवंते ११ ॥१॥ रुप्पि ८ महाहिमवंते, ८ सोमणस ८ गंधमायणमगे य ७। अट्ठट्ठ सत्त य, वक्खारगिरीसु चत्तारि ४॥२॥"

(जम्बू इत्यादि) महाहिमवति ह्यष्टौ कूटानि–सिद्ध–महाहिमवत्–हैमवत–रोहिता–ही–हरिकान्ता–हरि–वैडूर्यकूटाभिधानानि, द्वयग्रहणे च कारणमुक्तमेव इत्यादि एवं करणात् 'जम्बू' इत्यादिरभिलापो दृश्यः। निषधवर्षधरपर्वते हि सिद्धनिषधहरिवर्षप्राग्विदेहहरिधृतिशीतोदाऽपरवि–

देहरुचकाख्यानि स्वनामदेवतानि नव कूटानि। इहाऽपि द्वितीयान्त्योर्ग्रहणं प्राग्वद् व्याख्येयमिति। (जम्बू इत्यादि) नीलवर्षधरपर्वते हि सिद्ध–नील–पूर्वविदेह–शीताकीर्ति–नारिकान्ताऽपरविदेह–रम्यकोपदर्शनाख्यानि नव कूटानि। इहापि द्वितीयान्त्यग्रहणं प्राग्वदिति। एवमित्यादि। रुक्मिवर्ष–धरे सिद्ध–रुक्मि–रम्यक–नरकान्ता–बुद्धिरुप्यकूला–हैरण्यवत–मणिकाञ्चनकूटाख्यानि अष्ट कूटानि। द्वयाभिधानं च प्राग्वदिति। एवमित्यादि। शिखरिणि हि वर्षधरे सिद्ध–शिखरि–हैरण्यवत–सुरादेवी–रक्ता–लक्ष्मी–सुवर्णकूला–रक्तोदा–गन्धपति–ऐरवत–तिगिच्छि–कूटाक्यानि एकादश कूटानि। इहापि द्वयोर्ग्रहणं तश्चैवेति। स्था०२ ठा०३ उ०।

सिहरिम्मि णं भंते। वासहरपव्वए कइ कूडा पण्णत्ता ? गोयमा! इक्कारस कूडा पण्णत्ता। तं जहा–सिद्धाययणकूडे १ सिहरिकूडे २ हेरण्णवयकूडे ३ सुवण्णकूलाकूडे ४ सुरादेवीकूडे ५ रत्ताकूडे ६ लच्छीकूडे ७ रत्तावइकूडे ८ इलादेवीकूडे ९ एरवयकूडे १० तिगिच्छिदकूडे ११; एवं सव्वे वि कूडा पंचल्लइआ रायहाणीओ उत्तरेणं॥

(सिहरिम्मि णं भंते ! वासहरपव्वए इत्यादि) शिखरिणि पर्वते भगवन्। कति कूटानि प्रज्ञप्तानि ?। गौतम ! एकादश कूटानि प्रज्ञप्तानि। तद्यथा–पूर्वस्यां सिद्धायतनकूटं, ततः क्रमेण शिखरिवर्षधरनाम्ना कूटं, हैरण्यवतक्षेत्रसुरकूटं, सुवर्णकूलानदीसुरीकूटं, सुरादेवीदिक्कुमारी-कूटं, रक्तावर्तनकूटं, लक्ष्मीकूटं, पुण्डरीकद्रहसुरीकूटं, रक्तावत्यावर्तनकूटम, इलादेवीदिक्कुमारीकूटं, ऐरवतक्षेत्रपतिकूटं तिगिच्छिद्रहपतिकूटम्। एवं सर्वाण्यप्येतानि पञ्चशतिकानि ज्ञातव्यानि क्षुद्रहिमवत्कूटतुल्यवक्तव्यताकानि ज्ञेयानि। एतत्स्वामिनां राजधान्य उत्तरस्यामिति। जं०४ वक्ष०।

सव्वे वि णं हरिहरिस्सहकूडा वक्खारपव्वयकूडवज्जा दस दस जोयणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं पण्णत्ता। मूले दस जोयणसयाइं विक्खंभेणं एवं बलकूडा वि नंदणकूडवज्जा।

हरिकूटं विद्युत्प्रभाऽभिधाने गजदन्ताकारवक्षस्कारपर्वते, हरिसहकूटं तु माल्यवद्वक्षस्कारे, तानि च पञ्चस्वपि मन्दरेषु भावात् पञ्च पञ्च भवन्ति सहस्रोच्छ्रितानि (वक्खारकूडवज्ज त्ति) शेषवक्षस्कारकूटेष्वेवमुच्चत्वं नास्त्येतेष्वेवास्तीत्यर्थः। एवं (बलकूडा वि त्ति) पञ्चसु मन्दरेषु पञ्च नन्दनवनानि तेषु प्रत्येकमैशान्यां दिशि बलकूटाऽभिधानं कूटमस्ति, ततः पञ्च शतानि सहस्रोच्छ्रितानि च (नंदनकूडवज्ज त्ति) शेषाणि नन्दनवनेषु प्रत्येकं पूर्वादिदिग्विदिग्व्यस्थितानि चत्वारिंशत्संख्यानि नन्दनकूटानि वर्जयित्वा तानि साहस्रिकाणि न भवन्तीत्यर्थः। स०१०० सम०। पाषाणमयमारणमहायन्त्रे, नि०। समूहे, अण्डककूटमण्डकसमूहमित्यर्थः। नि०१ वर्ग। लौहमुद्गरे, तुच्छे, हलावयवभेदे, फालाधारे यन्त्रे, भग्नशृङ्गे, पुं०। पुरद्वारि, निश्चले, वाच०।

कूडकाहावणोवजीवि (ण्)–त्रि(कूटकार्षापणोपजीविन्) कार्षापणो द्रुमः। असत्यकार्षापणोपजीविनि, प्रश्न०१ आश्र० द्वार।

कूडग–पुं०(कूटक) कूट–ण्वुल् सुरानामगन्धद्रव्ये, कवर्याम्। फाले, न०। वाच०। कूट–क०। असत्ये, "से दक्खिणं दिसे तेण परिक्खावितो जाव कूडगो" आ० म० द्वि०।

कूडग्गह–पुं०(कूटग्रह) क्रूरग्रहे, प्रश्न०२ आश्र० द्वार।

कूडग्गाह–पुं०(कूटग्राह) कूटेन जीवान् गृह्णातीति कूटग्राहः। वञ्चनव्यापारविशेषेण जीवग्राहके, विपा०१ श्रु०२ अ०। स्त्रियां कूटग्राहिणी। "तत्थ णं हत्थिणाउरे भीमे णामं कूडग्गाहे होत्था। अहम्मिए जाव दुप्पडियाणंदे तस्स णं भीमस्स कूडग्गाहस्स उप्पला णामं भारिया होत्था। अहीणतएणं सा उप्पला कूडग्गाहिणी।" विपा०१ श्रु०२ अ०।

कूडजाल–न०(कुटजाल) कूटवागुरादौ, उत्त०१६ अ०।

कूडतुलाकूडमाणकरण–न०(कूटतुलाकूटमानकरण) तुला प्रतीता, मानं कुडवादि। कूटत्वं न्यूनाधिकत्वम्। उपा०१ अ०। तयोर्व्यवस्थापेक्षया न्यूनाधिकयोः करणं कूटतुलाकूटमानकरणम्। ध० २०। तुलामानाभ्यां न्यूनाभ्यां ददतोऽधिकाभ्यां गृह्णतोऽनर्थदण्डविरमणस्य चतुर्थेऽतिचारे, आव०४ अ०। उपा०। आ०।

कूडपास–पुं०(कूटपाश) मत्स्यबन्धनभेदे, विपा०१ श्रु०८ अ०।

कूडप्पओग–पुं०(कूटप्रयोग) प्रच्छन्ने पापे, आव०४ अ०।

कूडया–स्त्री०(कूटता) तुलादीनामन्यथात्वे, प्रश्न०४ आश्र० द्वार।

कूडरूवसमा–स्त्री०(कूटरूपसमा) द्रव्यरहितटङ्कचित्रविशेषयुक्ततृतीयरूपकतुल्यायां वन्दनायाम, पञ्चा०३ विव०।

कूडलेह–पुं०–(कूटलेख)। कूटसमद्भूतं तस्य लेखो लिखनं कूटलेखः। अन्यसरूपाक्षरमुद्राकरणे, ध०२ अधि०। अन्यमुद्राक्षरविन्द्रादिना कूटस्यार्थस्य लेखने, एष च स्थूलकमृषावादस्य पञ्चमोऽतिचारः। ध०२ अधि०।

कूडलेहकरण–न०(कूटलेखकरण) कूटमसद्भूतं लिख्यते इति लेखः करणं क्रिया, कूटलेखक्रिया कूटलेखकरणम्। अन्यमुद्राक्षरबिन्दुसरूपलेखकरणे, आव०६ अ०। असद्भूतार्थस्य लेखस्य विधाने, उपा०१ अ०। असद्भूतार्थसूचकाक्षरलेखनस्य करणे, ध० २०। इहापि मृषाभणनमेव मया प्रत्याख्यातमिदं तु लेखनमिति भावनया मुग्धलुब्धव्रतसत्यापेक्षस्यातिचारता भावनीया। अन्यथा वा अनाभोगादिकारणेभ्योऽसौ वाच्येति। ध०२०। एतच्च यद्यपि कायेनासत्यां वाचं न वदामीत्यस्य न वादयामीत्यस्य वा व्रतस्य भङ्ग एव, तथाऽपि सहसाकारानाभोगादिनाऽतिक्रमादिना वाऽतिचारः। अथ वा सत्यमित्यसत्यभणनं मया प्रत्याख्यातमिदं तु लेखनमिति भावनया व्रतसव्यपेक्षस्यातिचार एवेति चतुर्थोऽतिचारः। प्रव०६ द्वार।

कूडलेहकिरिया–स्त्री०(कूटलेखक्रिया) कूटलेखस्य करणे, आव०६ अ०।

कूडवासि(ण्)–पुं०(कूटवासिन्) कूटेषु चन्दनवनकूटादिषु वस्तुं शीलं ते तथा। वर्षधरादिवासिषु देवेषु, प्रश्न०५ आश्र० द्वार।

कूडवाहि(ण्)–पुं०(कूटवाहिन्) बलीवर्दे, "समभोमे वि अइभारो, उल्लाणे किमु अकूडवाहिस्स।" आव०५ अ०।

कूडसक्ख—न०(कूटसाक्ष्य) लभ्यदेयविषये प्रमाणीकृ—तस्य लञ्चामत्सरादिना कूटं वदतः यथाऽहमत्र साक्षीति साक्षित्वदाने, ध०२ अधि०। कूटसाक्ष्यं तत्क्रोधमत्सराद्य—भिभूतः प्रमाणीकृतः सन् कूटं वक्ति यथाऽस्याहमत्र साक्षी। पञ्चा० १ विव०। उपा०।

कूडसक्खित्त—न०(कूटसाक्षित्व)लभ्यदेयविषये प्रमाणीकृतस्योत्कोचमत्सराद्यभिभूतस्य कूटसाक्षिदाने, ध०२ अधि०। कूटसाक्षित्वमुत्कोचमत्सराद्यभिभूतप्रमाणीकृतः सन् कूटं वक्ति अविधवाद्यनृतस्यात्रैवान्तर्भावो वेदितव्यः। आव०६ अ०।

कूडसामलि—पुं०(कूटशाल्मलि) स्त्री०। कूटाकारः शिखराकारः शाल्मलिः कूटशाल्मलिरिति संज्ञा। स्था०। "दो कूडसामली चेव" स्था०। स च देवकुरुषु, स्था०२ ठा०३ उ०।

कहि णं भंते ! देवकुराए कूडसामलिपेढे पण्णत्ते। गोयमा! मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणपच्चच्छिमेणं णिसहस्स वासहरपव्वयस्स उत्तरेणं विजयप्पभस्स वक्खारपव्वयस्स पुरच्छिमेणं सीओदाए महाणईए पच्चच्छिमेणं देवकुरुपच्चच्छिमद्धस्स बहुमज्झदेसभाए, एत्थ णं देवकुराए कूडसामलीए पेढे णामं पेढे पन्नत्ते, एवं जच्चेव जम्बूए सुदंसणाए वत्त व्वया सच्चेव सामलीए वि भाणिअव्वा णामविहूणा गरुलदेवे रायहाणी दक्खिणेणं अवसिट्ठं तं चेव॥

"कहि णं" इत्यादिप्रश्नसूत्रं प्राग्वत्, नवरं कूटाकारा शिखराकारा शाल्मली तस्याः पीठम्, उत्तरसूत्रे मन्दरस्य पर्वतस्य दक्षिणपश्चिमायां नैर्ऋतकोणे निषधस्योत्तरस्यां विद्युत्प्रभवक्षस्कारस्य सर्वतः शीतोदाया महानद्याः पश्चिमायां देवकुरूणां शीतयोत्तरकूरूणामिव शीतोदयाद् द्विधाकृतानां पश्चिमार्द्धस्य बहुमध्येदेशभागे, अत्र प्रज्ञापकनिर्दिष्टदेशे देवकुरुषु कूटशाल्मल्याः कूटशाल्मलीपीठं नाम पीठं प्रज्ञप्तम्। एवमुक्तसूत्रानुसारेण यैव जम्ब्वाः सुदर्शनाया वक्तव्यता सैव शाल्यमल्या अपि भणितव्या। अत्र विशेषमाहनामभिः प्राग्व्यावर्णितैर्द्वादशभिर्जम्बूनामभिर्वि—हीना भणितव्येति संयोजना। इह शाल्मलीनामानि न सन्तीत्यर्थः। तथा अनादृतस्थाने गरुडदेवः, अत्र गरुडो गरुडजातीयो वेणुदेवनामा, मतान्तरे गरुडवेगनामा देवः, राजधान्यस्य मेरुतो दक्षिणस्यां, तथा सूत्रेऽनुक्तमपीदं बोध्यम्। अस्य पीठं कूटानि च प्रासादभवनान्तरालवर्त्तीनि रजतमयानि, जम्बूवृक्षस्य तु सुवर्णमयानि। अपि चायं शाल्मलीवृक्षो यदा तदा वा सुवर्णकुमा राधिपवेणुदेववेणुदालिक्रीडास्थानम्। तथा चाह सूत्रकृताङ्गचूर्णिकृत् शाल्मलीवृक्षवक्तव्यताऽवसरे—"तत्थ वेणुदेवे वेणुदाली अ वसइ"। तयोर्हि तत् क्रीडास्थानमिति, अवशिष्टं तदेव जम्बूप्रकरणतोक्तमेव यो विशेषः स दर्शित इत्यर्थः। जं०४ वक्ष०।

कूडसामली णं गरुलावासे अट्ठ जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं पन्नत्ता।

कूटशाल्मली वृक्षविशेषः, देवकुरुषु गरुडजातीयस्य वेणुदेवाभिधानस्य देवस्याऽऽवास इति। स०७ सम०। नरकस्थे वृक्षविशेषे च, "अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूडसामली"। उत्त०२० अ०। स्था०।

कूडागार—पुं०(कूटाकार) पर्वतशिखरस्य संस्थाने, औ०। शिखराकृतौ, रा०।

कूटागार—न० कूटानि शिखराणि स्तूपिकाः, तद्वन्ति अगाराणि गेहानि। स्था०४ ठा०२ उ०। पर्वतोपरिगृहेषु, आचा०२ श्रु०३ अ०३ उ०। हैमवत्कूटस्थेषु देवभवनेषु, स्था०२ ठा०४ उ०। "पव्वयसंठियं उवरुवरिभूमियाहिं उव्वट्टमाणं" कूडागारं कूडेवागारं कुट्टितमित्यर्थः। नि० चू०१२ उ०। कूटं सत्त्वबन्धनस्थानं तद्वदगाराणि कूटागाराणि। हिंसास्था नगृहेषु, स्था०४ ठा०१ उ०। (कूटागार—चातुर्विध्यदर्शनेन पुरुषजातप्ररूपणं 'पुरिसजाय' शब्दे वक्ष्यते)

कूडागारसाला—स्त्री०[कूटाका(गा)रशाला] कूटस्येव पर्वतशिखरस्येवाकारो यस्याः सा कूटाकारा। रा०। सा चासौ शाला चेति समासः। विपा०१ श्रु०३ अ०। स्था०। शिखराकृत्योपलक्षितायां शालायाम्, भ०३ श०१ उ० यस्या उपरि आच्छादनं शिखराकारं सा कूटाकारेति भावः। रा०।

कूटागारशालास्वरूपं चेत्थम्—

सूरियाभस्से णं भंते ! देवस्स एसा दिव्वा देवड्ढी दिव्वा देवजुती दिव्वे देवाणुभावे कहिं गते कहिं अणुप्पविट्ठे ? गोयमा ! सरीरं गते सरीरं अणुपविट्ठे। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ सरीरं गते सरीरं अणुपविट्ठे ? गोयमा ! से जहा णामए कूडागारसाले सिया दुहतो गुलित्ता गुत्तदुवारा णिवाया णिवायगंभीरा तीसे णं कूडागारसालाए अदूरसामंते एत्थ णं महेणं जणसमूहे चिट्ठइ, तते णं से जहा जणसमूहे एगं महं अब्भवद्दलगं वा वासवद्दलगं वा महावायं वा एज्झमाणं पासति, पासित्ता णं कूडागारसालं अंतो २ अणुपविसित्ता णं चिट्ठइ, से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ सरीरं अणुप्पविट्ठे॥

(कहिं अणुप्पविट्ठे इति) कवानुप्रविष्टः, क्वानुलीन इति भावः। भगवानाह—गौतम ! शरीरं गतः शरीरमनुप्रविष्टः। पुनः पृच्छति—(से कणट्ठेणमित्यादि) अथ केनार्थेन केन हेतुना भदन्त ! एवमुच्यते शरीरं गतः शरीरमनुप्रविष्टः। भगवानाह—गौतम ! "से जहा णामए" इत्यादि कूटस्येव पर्वतशिखरस्येवाकारो यस्याः सा कूटाकारा, यस्या उपरि आच्छादनं शिखराकारं सा कूटाकारेति भावः। कूटाकारा चासौ शाला व कूटाकारशाला। यदि वा कूटाकारेणा शिखराकृत्योपलक्षिता शाला कूटाकारशाला या सा। (दुहतो गुलित्ता इति) बहिरन्तश्च गोमयादिना लिप्ता बहिः प्रकारावृता गुप्तद्वारा द्वारस्थगनात् यदि गुप्ताऽगुप्तद्वारा केषां केषां चित् द्वाराणां स्थगितत्वात्केषाञ्चिच्चास्थगितत्वादिति, निवाता वायोरप्रवेशात् किल महत् गृहं निवातं प्रायो न भवति, तत आह—निवातगम्भीरा निवाता सती विशाला इत्यर्थः। ततस्तस्याः कूटाकारशालाया अदूरसामन्ते नातिदूरे नातिनिकटे वा प्रदेशे महान् एकोऽन्यतरो जनसमूहस्तिष्ठति। स च एकं महत् अभ्ररूपं बार्दलमभ्रबार्दलं धारानिपातरहितं सम्भाव्य वर्ष वार्दलमित्यर्थः। वर्षप्रधानं बार्दलकं वर्षं कुर्वन् वार्दलकं महावातं (वा-

एज्जमाणमिति) आयान्तमागच्छन्तं पश्यति, दृष्ट्वा च तं (कूडागारसालं ति) षष्ठ्यर्थे द्वितीया। तस्याः कूटाकारशालाया अन्तरं ततोऽनु प्रविशति तिष्ठति। एवं सूर्याभस्यापि देवस्य सा तथा विशाला दिव्या देवद्युतिर्दिव्यो देवानुभावः शरीरमनुप्रविष्टः। (तेणट्ठेणमित्यादि) तेन प्रकारेण गौतम ! एवमुच्यते (सूरियाभस्येत्यादि)। रा०। भ०।

कूडाइच्च–न०–(कूटाहत्य)। कूटे इव तथाविधपाषाणसम्पुटादौ कालविलम्बाभावसाधर्म्यादाहत्याहननं यत्र तत्कूटाहत्यम्। भ०७ श०६ उ०। कूटस्येव पाषाणमयमारणमहायन्त्रस्ये वाहत्याऽऽहननं यत्र तत्कूटाहत्यम्। भ०१५ श०१ उ०। नि०। कूटे कूटस्येवाऽऽघातेन मरणे, "तो णं तवेणं एगाहच्चं कूडाहच्चं भामरासिं करेमि"। भ०१५ श०१ उ०।

कू(को)णिय–पुं०–[कू (को)णिक]। श्रेणिकराजपुत्रे राज्ञि, कल्प०८ क्षण। ज्ञा०।

तस्योत्पत्तिः –

**तते णं सा चेल्लणा देवी अन्नदा कयायि तंसि तारिसथंसि वासघरंसि० जाव सीहं सामिणे पासित्ता णं पडिबुद्धा जहा पभावती० जाव सुमिणपाढगा पडिविसज्जित्ता० जाव चिल्लाणा से वयणं पडिच्छित्ता जेणेव सए भवणे तेणेव अणुपविट्ठा तते णं तीसे चेल्लणाए देवीए अन्नदा कदायि तिण्हं मासाणं बहुपडिपुण्णाणं अयमेयारूवे दोहले पाउब्भूते धन्नाओ णं ततो अम्हयातो० जाव जंमजीववियफले। जओ णं सेणियस्स रन्नो उदरवलिमंसेहिं सोल्लेहि य तलिएहि य भज्जितेहि य सुरं च० जाव पसन्नं च आसा देमाणीओ० जाव परिभाएमाणी ते दोहलं पविणेंति ततो णं सा चेल्लणा देवी तंसि दोहलंसि अवणिज्जमाणंसि सुक्खा भुक्खा लुक्खा णिम्मंसा ओलग्गा ओलग्गसरीरा नित्तेया दीनविमणवयणा पंडुलु इत्तमुही ओमंथियनयणवयणकमला जहोचियं पुप्फवत्थगंधमल्लालंकारं अपरिभुंजमाणी करत लमलियव्व कमलमालाओ हतमणसंकप्पा० जाव ज्झियाति, तते णं तीसे चेल्लणाए देवीए अंगपडियारिया तो चेल्लणादेविं सुक्कं भुक्कं० जाव ज्झियायमाणी पासंति, पासित्ता जेणेव सेणिए राया तेणेव उवागच्छंति करतलपरिग्गहियं दसनहं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु सेणियं रायं एवं वयासी एवं खलु सामी ! चेल्लणा देवी न जाणामो केणइ कारणेणं सुक्खा भुक्खा० जाव ज्झियाति। तते णं से सेणिए राया तासिं अंगपडियाणं अंतिए एयमट्ठं सोच्चा निसम्म तहेव संभंते समाणे जेणेव चेल्लणा देवी तेणेव उवागच्छति, उवागच्छिता चिल्लणं देविं सुक्खं भुक्खं० जाव ज्झियायमाणिं पासति, पासित्ता एवं वयासीकिं णं तुमं देवाणुप्पिए ! सुक्खा भुक्खा० जाव ज्झियासि। तते णं सा चिल्लणा देवी मेणियस्स रण्णो एयमट्ठं णो आढाती णो परिजाणति तुसिणीया संचिट्ठंति। तते णं से सेणिए राया चिल्लणादेविं दोच्चंपि तच्चं पि एवं वयासी–किं णं अहं देवाणुप्पिए ! एयमट्ठस्स नो अरिहे सवयणयाए जं णं तुमं एयमट्ठं रहस्सीकरेसि ? तते णं सा चेल्लणा देवी सेणिएणं रन्ना दोच्चं पि एवं वुत्ता समाणी सेणियं रायं एवं वयासीणत्थि णं सामी ! से के वि अट्ठे जस्स णं तुब्भे अरिहा सवणयाए नो चेव णं इमस्स अट्ठस्स सवणयाए एवं खलु सामी ! ममं तस्स उरालस्स० जाव महासुमिणस्स तिण्हं मासाणं बहुपडिपुण्णाणं अयमेया रूवे दोहले पाउब्भूए धन्नातो णं तातो अम्मयाओ जाओ णं तुब्भं उदरबलिमंसेहिं सोल्लेहि य० जाव दोहलं विणेति, तते णं अहं सामी ! तंसि दोहलंसि अविणिज्जमाणंसि सुक्खा भुक्खा० जाव ज्झियामि। तते णं से सेणिए राया चेल्लणं देविं एवं वदासिमाणं तुमे देवाणुप्पिए ओहय० जाव ज्झियासि, अह णं तहा पत्तिहामि जहा णं तव दोहलस्स संपत्तीभविस्सतीति कट्टु चेल्लणं देविं ताहिं इट्ठाहिं कंताहिं पियाहिं मणुन्नाहिं मणामाहिं उरालाहिं कल्लाणाहिं सिवाहिं धन्नाहिं मंगलाहिं मियमहुरसस्सिरियाहिं वग्गूहिं समासासेति चिल्लणाए देवीए अंतियातो पडिनिक्खमति, पडिनिक्खमतित्ता जेणेव बाहिरिया उवट्ठाणसाला जेणेव सिंहासणे तेणेव उवागच्छति, उवागच्छतित्ता सीहासणवरंसि पुरत्थाभिमुहे निसीयति, तस्स दोहलस्स संपत्तिनिमित्तं बहूहिं आएहिं उवाएहि य उप्पत्तियाए य वेणइयाए य कम्मयाहि य पारिणमियाति, पारिणमेमाणे परिणामेमाणे तस्स दोहलस्स आयं वा उवायं वा वियक्कं वा अविंदमाणे ओमणसंकप्पे हय० जाव ज्झियाए इमं च णं अभए कुमारे ण्हाए० जाव सरीरे। सयाओ गेहाओ पडिनिक्खमति, पडिनिक्खमतित्ता जेणेव बाहिरिया उवट्ठाणसाला जेणेव सेणिए राया तेणेव उवागच्छति, उवागच्छतित्ता सेणियं रायं ओहय० जाव ज्झियायमाणं पासति, पासतित्ता एवं वदासि अन्नता णं तात ! तुब्भे ममं पासित्ता हट्ठ० जाव हयहियया भवह। किं णं ततो अज्ज तुब्भे ओहय० जाव ज्झियाह। तं जइ णं अहं तातो एयमट्ठस्स अरिहे सवणयाए तो णं तुब्भे मम एयमट्ठं जहाभूतमवितहं असंदिद्धं परिकहेह, जाणं अहं तस्स अट्ठस्स अंतगमणं करेमि। तते णं से सेणिए राया अभयं कुमारं एवं वदासिणत्थि णं पुत्ता ! से केति अट्ठे जस्स णं तुमं अणरिहो सवणयाए, एवं खलु पुत्ता ! तव चुल्लमाउयाए चेल्लणाए देवीए तस्स उरालस्स० जाव महासुमिणस्स तिण्हं मासाणं बहुपडिपुन्नाणां० जाव जओ णं मम उदरबलिमंसेहिं सोल्लेहि य० जाव दोहलं विणिंति। तते णं सा चिल्लणा देवी तंसि दोहलंसि अणुवणिज्जमाणंसि सुक्खा०जाव ज्झियाति तते णं अहं पुत्ता ! तस्स दोहलस्स संपत्तिनिमित्तं बहूहिं आएहि य०जाव ठितिं वा

अविंदमाणे ओहय० जाव ज्झियामि। तए णं से अभए कुमारे सेणियं रायं एवं वदासिमाणं तातो तुब्भे ओहय० जाव ज्झियाह अह णं तहा जत्तिहामि जहा णं मम चुल्लमाउआए चेल्लणाए देवीए तस्स दोहलस्स संपत्ती भविस्सतीति कट्टु सेणियं रायं ताहिं इट्ठाहिं जाव वग्गूहिं समासासेति, समासासेतित्त। जेणेव सए गिहे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छतित्ता अब्भिंतरए रहस्सिए ठाणिज्जे पुरिसे सद्दावेति, सद्दावेतित्ता एवं वयासीगच्छाह णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! सूणातो अल्लं मंसं रुहिरं वत्थिपुडगं च गिण्हह, तते णं ते ठाणिज्जा पुरिसा अभएणं कुमारेण एवं वुत्ता समाणा हट्ठतुट्ठा० जाव करतले पडिसुणेत्ता अभयस्स कुमारस्स अंतियाओ पडिनिक्खमंति, पडिनिक्खमंतित्ता जेणेव सूणा तेणेव उवागच्छइ, अल्लं मंसं रुहिरं वत्थिपुडगं च गिण्हंति, गिण्हंतित्ता जेणेव अभए कुमारे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता करतल० अल्लं मंसं रुहिरं वत्थिपुडगं च उवणेंति, तते ण ते अभए कुमारे तं अल्लं मंसं रुहिरं कप्पणिकप्पियं करेति, करेतित्ता जेणेव सेणिए राया तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता सेणियं रायं रहस्सिगयं सयणिज्जंसि उत्ताणयं निच्चज्जावेति, निच्चज्जावे—तित्ता सेणियस्स उदरबलीसु तं उल्लं मंसं रुहिरं विरचेति, विरचेतित्ता वत्थपुडएणं वेढेती सवंती करणेणं करेति, करेतित्ता चेल्लणं देविं उप्पिं पासादे अवलोयणवरगयं ठवेति, ठवेतित्ता चेल्लणाए देवीए अहे सपक्खं स पडिदिसिं सेणियं रायं सयणिज्जंसि उत्ताणगं निच्चज्जावेति, सेणियस्स रन्नो उदरवलिमंसाइं कप्पणिकप्पियाइं करेति, करेतित्ता सेयभायणंसि पक्खिवति, तते णं से सेणिए, राया अलीयमुच्छियं करेति, करेतित्ता मुहुत्तंतरेणं अन्नमन्नेणं सद्धिं संलवमाणे चिट्ठति, तते णं से अभयकुमारे सेणियस्स रन्नो उदरवलिमंसाइं गिण्हति, गिण्हतित्ता जेणेव चिल्लणा देवी तेणेव उवागच्छति, उवागच्छतित्ता चिल्लणाए उवणेति, तते णं सा चिल्लणा सेणियस्स रन्नो तेहिं उदरवलिमंसेहिं सोल्लेहिं० जाव दोहलं विणेति तते णं सा चिल्लणा देवी संपुण्णा दोहलाए वसमाणी विच्छिन्नदोहलाए वसमाणी तं गब्भं सुहं सुहेणं परिवहति, तते णं तीसे चेल्लणाए देवीए अन्नया कयायि पुव्वरत्तवारत्तकालसमयंसि अयमेया० जाव समुप्पज्जित्था जइ ताव इमेणं दारएणं गब्भगएणं चेव पिउणो उदरवलिमंसाणि खाइयाणि तं सेयं खलु मम एयं गब्भं साडित्तए वा पाडित्तए वा गालित्तए वा विद्धंसित्तए वा एवं संपेहेति, संपेहेतित्ता तं गब्भं बहूहिं गब्भसाडणेहि य गालणेहि य गब्भविद्धंसणेहि य इच्छति सामित्तए वा पाडित्तए वा गालित्तए वा नो चेव णं से गब्भे साडति वा गालति वा विद्धंसति वा, तते णं सा चेल्लणा देवी तं गब्भं जाहे नो संचाएति बहूहिं गब्भसाडएहि य० जाव गब्भपाडणेहि य साडित्तए वा० जाव विद्धंसित्तए वा ताहे संता तंता परितंता निव्विन्ना समाणी अकामिया अवसवसा अट्टवसट्टदुहट्टा तं गब्भं परिवहति।

(अप्फुणा समाणी) व्याप्ता सती शेषं सुगमं यावत् (सोल्लेहिय त्ति) पक्वैः (तलिएहिं ति) स्नेहपक्वैः (भज्जिएहिं) भ्रष्टैः (पसन्नं च) द्राक्षादिद्रव्यजात्या मनः प्रसत्ति हेतुः (आसाएमाणीओ त्ति) ईषत् स्वादयन्त्यो बहूंश्च त्यजन्त्यः इक्षुखण्डा देरिव (परिभाएमाणीओ) सर्वमुपभुञ्जानाः (सुख त्ति) शुष्केव शुष्काभाः रुधिरक्षयात् (भुक्ख त्ति) भोजनाकरणतो बुभुक्षितेव (निम्मंसा) मांसोपचयाभावतः (ओलुग्ग त्ति) अवरुग्णा भग्नमनोवृत्तिः (ओलग्गसरीरा) भग्नदेहाः, निस्तेजाः गतकान्तिः, दीना विमनोवदना, पाण्डुकितमुखी पाण्डुरीभू—तवदना (ओमंथिय त्ति) अधोमुखीकृतोपहतमनः संकल्पा, गतयुक्तायुक्तविवेचना (करयल। कट्टु त्ति) (करयलपरिग्गहि—अं दसनहं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु सेणियं रायं एवं वदासी) इति स्पष्टम्। एनमर्थं नाद्रियते अत्रार्थे आदरं न कुरुते, न परिजानीते नाभ्युपगच्छति, कृतमौना तिष्ठति (धन्नाओ णं कयलक्खणाओ णं सुलद्धे णं तासिं जम्मजीवियफले इट्ठाहि अवणिज्जमाणंसि त्ति)अपूर्यमाणा (ज्झियामि त्ति) इट्ठादि इत्यादीनां व्याख्या प्रागिहैवोक्ता। (उवट्ठाणसाला) आस्थानमण्डपं (ठिइं वा) तथा (अविंदमाणे) अलभमाने (अंतगमनं) पारगमनं तत्संपादने उद्यतमनः स्थानात् (वत्थिपुडगं) उदरान्तर्वर्तिप्रदेशे (कप्पिणिकप्पियं) आत्मसमीपस्थं सपक्षं संमतं पार्श्वसमवामेतरपार्श्वतया संप्रति दिक्तया अत्यर्थम—भिमुखमित्यर्थः। अभिमुखावस्थानेन हि परस्परं समावेव दक्षिणवामपार्श्वे भवतः। एवं विदिशावपि (अयमेयारूवे अब्भत्थिए मणोगए संकप्पे समुपज्जित्था) सातनं पातनं गालनं विध्वंसनमिति कर्तुं संप्रधारयति उदरान्तर्वर्त्तिन औषधेः सातनम्, उदराद्बहिष्करणं पातनं, गालनं रुधिरादितया कृत्वा, विध्वंसनं सर्वं गर्भपरिशाटनेन च शटनाद्यवस्थाऽस्य भवति। 'संता तंता परितंता' इत्येकार्थाः खेदवाचका एते ध्वनयः 'अट्टवसट्टदुहट्टा' इत्यादि पूर्ववत्।

तते णं सा चिल्लणा देवी नवण्हं मासाणं बहुपडिपुण्णा णं० जाव सुकमालं सुरुवं दारयं पयाया। तते णं तीसे चूल्लणाए देवीए इमे एतारूवे० जाव समुप्पज्जित्था जइ ताव इमेणं दारएणं गब्भगएणं चेव पिउणो उदरवलिमंसाइं खाइयाइं तं तं नज्जइ एस णं दारए संवड्ढमाणे अम्हं कुलस्स अंतकरे भविस्सति, तं सेयं खलु अम्हं एयं दारगं एगंते उक्कुरुडियाए उज्झाहिवित्तए एवं संपेहेति, संपेहेतित्ता दासचेडिं सद्दावेति, सद्दावेतित्ता एवं वयासीगच्छ णं तुमे देवाणुप्पिए एयं दारगं एगंते उक्कुरुडियाए उज्झाहि। तते णं सा दासचेडी चेल्लणाए देवीए एवं वुत्ता समाणी करतल० जाव कट्टु चिल्लणाए देवीए तमट्ठं विणएणं पडिसुणेति, पाडिसुणेतित्ता तं दारगं करतलपुडेणं गिण्हति जेणेव असोगवणिया

तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता तं दारगं एगंते उक्कुरु–डियाए उज्झति, तते णं तेणं दारएणं एगंते उक्कुरुडियाए उज्झितेणं समाणेणं सा असोगवणिया उज्झोविता यावि होत्था, तते णं सेणिए राया इमी से कहाए लद्धट्ठे समाणे जेणेव असोगवणिया तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता तं दारगं एगंते उक्कुरुडियाए उज्झियं पासेति, पासेतित्ता आसुरत्ते० जाव मिसिमिसेमाणे तं दारगं करतलपुडेणं गिण्हति, गिण्हतित्ता जेणेव चेल्लणा देवी तेणेव उवागचछइ, उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता चेल्लणं देविं उच्चावयाहिं आओसणाहिं आसोसति, आओसतित्ता उच्चावयाहिं निब्भत्थणाहिं निब्भत्थणाहिं निब्भत्येति, निब्भत्थेतित्ता एवं उद्धंसणाहिं उद्धंसेति, उद्धंसेतित्ता एवं वयासी–किस्स णं तुमं मम पुत्तं एगंते उक्कुरुडियाए उज्झावेसि त्ति कट्टु चेल्लणं देविं उच्चावयाहिं सावितं करेति, करेतित्ता एवं वयासी–तुमं णं देवाणुप्पिए। एवं दारगं अणुपुव्वेणं सा रक्खमाणी संगोवेमाणी संवड्ढेहि। तते णं सा चेल्लणा देवी सेणिएणं रन्ना एवं वुत्ता सामाणी लज्जिया विलिता करतलपरिग्गहियं सेणियस्स रन्नो विणएणं एयमट्ठं पडिसुणेति, पडिसुणेतित्ता तं दारगं अणुपुव्वेणं सा रक्खमाणी संगोवेमाणी संवड्ढेत्ति। तते णं तस्स दारगस्स एगंते उक्कुरुडियाए उज्झिज्जमाणस्स अग्गंगुलिआए कुक्कुडपिच्छएणं दूमिया वि होत्था अभिक्खणं अभिक्खणं पूयं च सोणियं च अभिनिस्सवेति, तते णं से दारए वेदणाभिभूए समाणे महता महता सद्देणं आरसति, तते णं से सेणिए राया तस्स दारगस्स आरसितसद्दं सोच्चा निसम्म जेणेव से दारए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता तं दारगं करतलपुडेणं गेण्हइ, गेण्हइत्ता तं अग्गंगुलियं आसयंसि पक्खिवति, पक्खिवतित्ता पूइं च सोणियं च आसएणं आमुसति, आमुसतित्ता तते णं से दारए निव्वेदणे तुसिणीए संचिट्ठइ जाहे वि य णं से दारए वेदणाए अभिभूते समाणे महता महता सद्देणं आरसति ताहे वि य णं सेणिए राया जेणेव से दारए तेणेव उवागच्छइ, उवाच्छइत्ता तं दारणं करतलपुडेणं गिण्हति, तं चेव० जाव निव्वेयणे तुसिणीए संचिट्ठइ। तते णं तस्स दारगस्स अम्मापियरो ततिए दिवसे चंदसूरदंसणियं करेति० जाव संपत्ते। वारसाहे दिवसे अयमेयारूवं गुणं गुणनिप्फन्नं नामधिज्जं करेति जहा णं अम्हं इमस्स दारगस्स एगंते उक्कुरुडियाए उज्झिज्जमाणस्स अंगुली कुक्कुडपिच्छएणं दूमिया तं होऊणं अम्हं इमस्स दारगस्स नामधेज्जं कूणिए, तते ण तस्स दारगस्स अम्मापियरो नामधिज्जं करें ति कूणिय त्ति, तते णं तस्य कूणियस्स दारगस्स अणुपुव्वेणं ठिति वडियं च जहा महेस्स० जाव उप्पिं पासाए विहरति अट्ठदातिओ। तते णं तस्स कूणियस्स कुमारस्स अन्नदा पुव्वरत्ता० जाव समुप्पिज्जि एवं खलु अहं सेणियस्स रन्नो वाघाएणं नो संचाएमि सयमेव रज्जसिरिं करेयाणे पालेमाणे विहरित्तए तं सेयं मम खलु सेणियं रायं नियलबंधणं करेत्ता अप्पाणं महता रायाभिसेएणं अभिसिंचावित्तए त्ति कट्टु एवं संपेहेति, संपेहेतित्ता सेणियस्स रन्नो अंतराणि य छिद्दाणि य विरहाणि य पडिजागरमाणे विहरति। तते णं से कूणिए कुमारे सेणियस्स रन्नो अंतरं वा० जाव संवा अलभमाणे अन्नदा कदायि कालादिए दस कुमारे नियघरे सद्दावेति, सद्दावेतित्ता एवं वयासी–एवं खलु देवाणुप्पिया अम्हे सेणियस्स रन्नो वाघाएणं णो संचाएमो सयमेव रज्जसिरिं करेमाणा पालेमाणा विहरित्तए तं सेयं खलु देवाणुप्पिया ! अम्हं सेणियरायं नियलबंधणं करेत्ता रज्जं च रट्ठं च बलं च वाहणं च कोसं च कोट्ठागारं च जणवयं च एक्कारसभाए विरचित्ता सयमेव रज्जं करेमाणा णं पालेमाणाणां० जाव विहरित्तए, तते णं कालादीया दस कुमारा कूणियस्स कुमारस्स एयमट्ठं विणएणं पडिसुणेंति, तते णं से कूणिए कुमारे अन्नदा कदायि सेणियस्स रन्नो अंतरं जाणति, जाणतित्ता सेणियं रायं नियलबंधणं करेति, करेतित्ता अप्पाणं महता रायाभिसेएणं अभिसिंचावेति, तते णं से कूणिए कुमारे राजा जाते महता महता तते णं से कूणिए राया अन्नदा कदायि न्हाए० जाव सव्वालंका रविभूसिए चेल्लणाए देवीए पायवंदए हव्वमागच्छति, तते णं से कूणिए राया चेल्लणं देविं ओहय० जाव ज्झियायमाणिं पासति, पासतित्ता चेल्लणाए देवीए पायग्गहं करेति चेल्लणं देविं एवं वयासी–किं णं अम्मो न तुट्ठी वा न ऊसए वा न हरिसे वा ण णंदे वा जं नं अहं सयमेव रज्जसिरिं० जाव विहरामि, तते णं सा चेल्लणा देवी कूणियं रायं एवं वयासी–कहं णं पुत्ता ! मम तुट्ठी वाउस्सहरिसाणंदे वा भविस्सति, जं णं तुम्हं सेणियं रायं पियं देवयं गुरुजणगं अच्चंतनेहाणुरागरत्तं नियलबंधणं करित्ता अप्पाणं महता महता रायाभिसेएणं अभिसिंवेसि। तते णं से कूणिए राया चेल्लणं देविं एवं वदासी–घातेउकामे णं अम्मो ! मम सेणिए राया एवं मारेतुं बंधितुं निच्छुभिउकामए णं अम्मो ! ममं सेणिए राया तं कहं णं अम्मो ! मम सेणिए राया अच्चंतनेहाणुरागरत्ते ? तते णं सा चेल्लणा देवी कूणियं कुमारं एवं वयासी–एवं खलु पुत्ता ! तुमंसि मम गब्भे आभूते समाणे तिण्हं मासाणं बहुपडिपुन्नाणं ममं अयमेयारूवे दोहले पाउब्भूते धन्ना तो णं तातो अम्मया तो० जाव अंगपडिचारियाओ

निरवसेसं भाणिव्वं० जाव जाहे वि य णं तुमं वेयणे य अभिभूते महता० जाव तुसिणीए संचिट्ठसि एवं खलु तव पुत्ता ! सेणिए राया अचंतनेहाणुरागरत्ते। तते ण से कूणिए राया चेल्लणादेवीए अंतिए एयमट्ठं सोच्चा निसम्म चेल्लणं देविं एवं वयासीदुट्ठु णं अम्मो ! मए कयं सेणियं रायं पियं गुरुजणगं अचंतनेहाणुरागरत्तं नियलबंधणं करेंति, तेणं तं गच्छामि णं सेणियस्स रन्नो सयमेव नियलानि छिंदामि त्ति कट्टु परसुहत्थगते जेणेव चारगसाला तेणेव पहारित्थगमणाए। तते णं सेणिए राया कूणियं कुमारं परसुहत्थगयं एज्जमाणं पासति, पासतित्ता एवं वयासी–एस णं कूणिए कुमारे अपत्थियपत्थिए० जाव सिरिहिरिपरिवज्जिए परसुहत्थगए इह हव्वमागच्छति तं न नज्जइ णं ममं केणइ कुमारेणं मारिस्सतीति कट्टु० जाव संजायभए तालपुडगं विसं आसगं विसं आसगंसि पक्खिवइ। तते णं से सेणिए राया तालपुडगविसंसि आसगंसि पक्खित्ते समाणे मुहुत्तंतरेणं परिणममाणंसि निप्पाणे निच्चिट्ठे० जाव विप्पजढे उए। तते णं से कूणिए कुमारे जेणेव चारगसाला तेणेव उवागए २ त्ता सेणियं रायं निप्पणं निच्चिट्ठं० जाव विप्पजढं उ इणं पासति, पासतित्ता महता पितुसोएणं अण्णपरसुनियत्ते विव चंपगव–रपादवे धसति धरणीतलंसि सव्वंगेहिं संनिवडिए, तते णं से कूणिए कुमारे मुहुत्तंतरेणं आसत्थे समाणे रोयमाणे कंदमाणे सोयमाणे विलवमाणे एवं वदासी–अहो णं मए अधन्नेणं अपुण्णेणं अकयपुन्नेणं दुट्ठु कयं सेणियं रायं पियदेवयं अचंतनेहाणुरागरत्तं नियलबंधणे करेंति तेण मम मूलागं चेव णं सेणिए राया कालगति त्ति कट्टईसरतलवर० जाव सन्धिवालसद्धिं संपरिवुडे रोयमाणे कंदमाणे सोयमाणे विलवमाणे महया इड्ढिसक्कारसमुदएणं सेणियस्स रन्नो नीहरणं करेति, बहूइं लोइयाइं मयकिच्चाइं करेति, तते णं से कूणिए कुमारे एतेणं महया मणोमाणसिएण दुक्खेणं अभिभूते समाणे अन्नदा कदायि अंतेउरपरियालपडिवुडे संमडमत्तोवगरणमातए रायगिहातो पडिनिक्खमति, पडिनिक्खमित्ता जेणेव चम्पा नगरी तेणेव उवागच्छइ। तत्थ वि णं विपुलभोगसमितिसमन्नागए कालेणं अप्पसोए जाए यावि होत्था। तते णं से कूणिए राया अन्नया कयाइं कालादीए दस कुमारे सद्दावेति, सद्दावेत्तिा रज्जं च० जाव जणवयं च एक्कारसभाए विरचेति, विरचेतित्ता सयमेव रज्जसिरिं करेमाणे पालेमाणे विहरति।

(उच्चावयाहिं ति) उच्चाभिराक्रोशे सति निर्भर्त्सना उद्घोषणाऽभिलज्जिता व्रीडिता (विइवडियं ति) स्थितिपतितं कुलक्रमागतं पुत्रजन्मानुष्ठानम् (अंतराणि य)अवसरान् (छिद्दाणि) अल्पपरिवारादीनि, विरहो विजनत्वं, तुष्टिरुत्सवः हर्ष आनन्दः प्रमोदर्था एते घोषाः। (घाएउकामेणं) घातयितुकामः। णं वाक्यालङ्कारे, मां श्रेणिको राजा हननं मारणं बन्धनं निर्भर्त्सनं एते पराभिभवसूचकाः ध्वनयः। निश्चेष्टः जीवितविप्रजढः प्राणापहारसूचकाः एते। अवतीर्णो भूमौ पतितः आपन्नो व्यासः सन् (रोअमाणे त्ति) रुदन् (कंदमाणे) कन्दनं कुर्वन् (सोयमाणे) शोकं कुर्वन् (विलवमाणे) विलापं कुर्वन् (नीहरणं ति) परोक्षस्य यन्निर्गमादिकार्यम्। (मणोमानसिएणं ति) मनसि जातं मानसिकं मनस्येव यद्वर्तते वचनेनाप्रकाशितत्वात् तन्मनोमानसिकंतेनाबहिर्वृत्तिना अभिभूता (अंतेउरपरियाल संपरिवुडे) नि०१ वर्ग। भ०। व्य०। आ० क०। आ० चू०। आव०। अंत०। आ० म०। (चेटकराजेन सहाऽस्य सङ्ग्रामः काल कुमारवक्तव्यतायां 'काल' शब्दे अस्मिन्नेव भागे ४८१ पृष्ठे उक्तः। 'रहमुसल' शब्दे 'महासिलाकंटय' शब्देऽपि वक्ष्यते)

स च चम्पानगरीपतिर्जातः –

एवं खलु जम्बू तेणं कालेणं तेणं समएणं इहेव जम्बुद्दीवे दीवे भारहे वासे चम्पा नामं नयरी होत्था, रिद्धपुन्नभद्दे चेइए, तत्थ णं चंपाए नयरीए सेणियस्स रन्नो पुत्ते चेल्लणाए देवीए अत्तए कणिए नाम राया होत्था। महता तस्स णं कूणियस्स रन्नो पउमावई नामं देवी होत्था, सुखमाल० जाव विहरइ। तत्थ णं चम्पाए नयरीए सेणियस्स रन्नो भज्जा कूणियस्स रन्नो चुल्लमाउया काली नामं देवी होत्था सुकुमाल० जाव सुरूवा। नि०१ वर्ग।

तद्वर्णक औपपातिके यथा –

तत्थ णं चम्पाए णयरीए कूणिए णामं राया परिवसइ महया हिमवंतमहंतमलयमंदरमहिंदसारे अचंतविसुद्धदीहरायकूलवंससुप्पसूए णिरंतरं रायलक्खणविराइअंगुवंगे बहुजणबहुमाणपूजिए सव्वगुणसनिद्धे खत्तिए मुइए मुद्धाहिसित्ते माउपिउसु जाए दयपत्ते सीमंकरे सीमंधरे खेमंकरे खेमंधरे मणुस्सिंदे जणवयपिया जणवयपाले जणवयपुरोहिए सेउंकरे केउंकरे णरपवरे पुरिसवरे पुरिससीहे पुरिसवग्घे पुरिसासीविसे पुरिसपुंडरीए पुरिसवरगंधहत्थी अड्ढे दित्ते वित्ते वित्थिण्णे विउलभवणसमयणासणजाणवाहणाईण बहुधणबहुजायरूवे रयते आओगपओगसंपउत्ते वित्थडिअपउरभत्तपाणे बहुदासीदासगोमहिसगवेलकप्पभूते पडिपुण्णजंतकोस-कोट्ठागाराउधागारे बलवं दुव्बलपच्चामित्ते ओहयकंटयं मलिअकंटयं उद्धियकंटयं अकंटयं उक्कंटयं ओहयसत्तुं निहयसत्तुं मलियसत्तुं उद्धिअसत्तुं निज्झिअसत्तुं पराइअसत्तुं ववगयदुब्भिक्खं मारिभयविप्पमुक्कं खेमं सिवं सुभिक्खं पसंतडिंबडमरं रज्जं पसासेमाणे विहरति।

तद्राज्ञीवर्णकः –

तस्स णं कोणियस्स रण्णो धारिणी नामं देवी होत्था सुकुमालपाणिपाया अहीणपडिपुण्णपंचिंदियसरीरा लक्ख-

णवंजणगुणोववेआ माणुम्माणप्पमाणपडिपुण्णसुजायसव्वंगसुंदरंगी ससिसोमाकारा कंतपियदंसणा सुरूवा करयलपरिमिअपसत्थतिवलियवलियमज्झा कोमुइरयणियरविमलपडिपुण्णसोमवयणा कुंडलुल्लिहिअगंडलेहा सिंगारागारचारुवेसा संगयगयहसिअभणिअचिट्ठिअविलासललिअसंलावणिउणजुत्तोवयारकुसला पासादीआ दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा कोणिएणं रण्णा भंभसारपुत्तेण सद्धिं अणुरत्ता अविरत्ता इट्ठे सद्दफरिसरसरूवगंधे पंचविहे माणुस्सए कामभोए पच्चणुभवमाणी विहरति। तस्स णं कोणिअस्स रण्णो एक्के पुरिसे विउलकयवित्तिए भगवओ पवित्तिवाउए भगवतो तद्देवसिअं पवित्तिं णिवेएइ। तस्स णं पुरिसस्स बहवे अण्णे पुरिसा दिण्णा भत्तिभत्तवेअणा भगवतो पवित्तिवाउआ भगवतो तद्देवसिअं पवित्तिं णिवेदेंति। तेणं कालेणं तेणं समएणं कोणिए राया भंभसारपुत्ते बाहिरियाए उवट्ठाणसालाए अणेगगणनायकदंडनायकराइ-ईसरतलवरमांडविअकोडंवि अमंतिमहामंतिगणकदोवारिअअमच्चचेढपीढमद्दनगरनिगमसेट्ठिसेणावइसत्थवाहदूतसंधिवालसद्धिं संपरिवुडे विहरइ। तेणं कालेणं तेणं समयेणं समणे भयवं महावीरे आइगरे (औ०) पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गामाणुगामं दूइज्जमाणे सुहंसुहेणं विहरमाणे चंपाए णयरीए बहिया उवणगरग्गामं उवागए चंपं नगरिं पुण्णभद्दं चेइअं समोसरिउकामे। तए णं से पवित्तिवाउए इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे हट्ठतुट्ठचित्तमाणंदिए पीइमणे परमसोमणस्सिए हरिसवसविसप्पमाणहियए ण्हाए कयबलिकम्मे कयकोउअमंगलपायच्छित्ते सुद्धप्पवेसाइं मंगल्लाइं वत्थाइं पवरपरिहिए अप्पमहग्घाभरणालंकियसरीरे सआओ गिहाओ पडिनिक्खमइ, सआओ गिहाओ पडिनिक्खमित्ता चंपाए णयरीए मज्झं मज्झेणं जेणेव कोणियस्स रण्णो गिहे जेणेव बाहिरिया उवट्ठाणसाला जेणेव कूणिए राया भंभसारपुत्ते तेणेव उवागच्छति, उवागच्छइत्ता करयलपरिग्गहियं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु जएणं विजएणं बद्धावेइ, वद्धावेइत्ता एवं वयासी–जस्स णं देवाणुप्पिया दंसणं कंखंति, जस्स णं दवाणुप्पिया दंसणं पीहंति, जस्स णं देवाणुप्पिया दंसणं पेत्थंति, जस्स णं देवाणुप्पिया दंसणं अभिलसंति, जस्स णं देवाणुप्पिया णामगोत्तस्स वि समणयाए हट्ठतुट्ठ० जाव हिअया भवंति, से णं समणे भगवं महावीरे पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गामाणुगामं दूइज्जमाणे चंपाए णयरीए उवणगरगामं उवागए चंपं णगरिं पुण्णभद्दं चेइअं समोसरिउकामे तं एअं णं देवाणुप्पियाणं पिअट्ठयाए पिअं णिवेदेमि–पिअं ते भवओ। तए णं से कूणिए राया भंभसारपुत्ते तस्स पवित्तिवाउअस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठ० जाव हिअए विअसियवरकमलणयणवयणे पअलियवर कडगतुडियकेयूरमउडकुंडलहारविरायंतरइयवच्छे पालंबपलंबमाणघोलंतभूसणधरे ससम्भमं तुरिअं चपलं नरिन्दे सीहासणओ अब्भुट्ठेइ, अब्भुट्ठेइत्ता पायपीढाओ पच्चोरुहइ, पच्चोरुहइत्ता पाउओ उम्मुअइ, उम्मुअइत्ता अवहट्टु पंच रायककुहाइं। तं जहा–खग्गं १ छत्तं २ उप्फेसं ३ वाहणाउ४ वालवीअणं ५, एक्कसाडिअं उत्तरासंगं करेइ, करेइत्ता आयंते चोक्खे परमसुइभूए अंजलिमउलिअग्गहत्थे तित्थगराभिमुहे सत्तट्ठपयाइं अणुगच्छति, सत्तट्ठपयाइं अणुगच्छतित्ता वामं जाणुं अंचेइ, अंचेत्ता दाहिणं जाणुं धरणितलंसि निवेसेइ त्ति साहट्टु तिक्खुत्तो मुद्धाणं धरणितलंसि निवेसइत्ता ईसिं पच्चुण्णमति, पच्चुण्णमित्ता कडगतुडियथंभिआओ भुआओ पडिसा हरति, हरतित्ता करयल० जाव कट्टु एवं वयासीणमोऽत्थु णं अरिहंताणं भगवंताणं आइगराणं तित्थगराणं सयं संबुद्धाणं पुरिसुत्तमाणं पुरिससीहाणं पुरिसवरपुंडरीआणं पुरिसवरगंधहत्थीणं लोगुत्तमाणं लोगनाहाणं लोगहियाणं लोगपईवाणं लोगपज्जोअगराणं अभयदयाणं चक्खुदयाणं मग्गदयाणं सदणदयाणं जीवदयाणं बोहिदयाणं धम्मदयाणं धम्मदेसयाणं धम्मनायगाणं धम्मसारहीणं धम्मवरचाउरंतचक्कवट्टीणं दीवोत्ताणं सरणंगइपइट्ठा अप्पडिहयवरनाणदंसणधराणं विअट्टच्छउमाणं जिणांण जावयाणं तिण्णाणं तारयाणं बुद्धाणं बोहयाणं मुत्ताणं मोअणाणं सव्वन्नूणं सव्वदरिसीणं सिवमयलमरुअमणंतमक्खयमव्वाबाहमपुणरावित्तिसिद्धगइनामधेयं ठाणं संपत्ताणं, नमोऽत्थु णं समणस्स भगवओ महावीरस्स आदिगरस्स तित्थगरस्स० जाव संपाविउकामस्स मम धम्मायरियस्स धम्मोवदेसगस्स वंदामि णं भगवं तत्थ गयं इह गते पासउ मे भगवं तत्थ गए इह गयं तिकट्टु वंदंति, णमंसंति, वंदित्ता णमंसित्ता सीहासणवरगए पुरत्थाभिमुहे पुरत्थाभिमुहे निसीअइ, निसीइत्ता तस्स पवित्तिवाउअस्स अट्ठुत्तरसयसहस्सं पीतिदाणं दलयति, दलइत्ता सक्कारेति, सम्माणेति, सक्कारित्ता संमाणित्ता एवं वयासी–जया णं देवाणुप्पिया! समणे भगवं महावीरे इह मागिच्छेज्जा, इह समोसरिज्जा, इहेव चंपाए णयरीए बहिआ पुण्णभद्दे चेइए अहापडिरूवं उग्गहं उगिण्हित्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरेज्जा, तया णं मम एअमट्ठं निवेदिज्जासि त्ति कट्टु विसज्जिते। तए णं समणे भगवं महावीरे कल्लं पाओ पभायाए रयणीए फुल्लप्पलक–

मलकोमलुम्मिलितम्मि अहा पंडुरे पहाए रत्तासोगप्प–गासकिंसुअमुहगुंजद्धरागसरिसे कमलागरसंडवोहए उट्ठियंमि सूरे सहस्सरस्सिम्मि दिणअरे तेयसा जलंते जेणेव चंपा णयरी जेणेव पुण्णभद्दे चेइए तेणेव उवागच्छति, उवागच्छतित्ता अहापडिरूवं उग्गहं उगिण्हित्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणा विहरति (औ०)। तए णं चंपाए णयरीए सिंघाडगतिगचउक्कचच्चर-चउम्मुहमहापहपहेसु महया जणसद्देति वा जणवूहेति वा जणवोलंति वा जणकलकलेति वा जणुम्मीति वा जणुक्कलियाति वा जणसन्निवाएति वा बहुजणो अण्णमण्णस्स एवमाइक्खइ, एवं भासइ, एवं पण्णवेइ, एवं परूवेइ–एवं खलु देवाणुप्पिया! समणे भगवं महावीरे आदिगरे तित्थगरे सयं संबुद्धे पुरिसुत्तमे० जाव संपाविउकामे पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गामा–णुगामं दूइज्जमाणे इहमागए इह संपत्ते इह समोसढे इहेव चंपाए णयरीए बाहिं पुण्णभद्दे चेइए अहापडिरूवं उग्गहं उगिण्हित्ता संजमेणं अप्पणं भावेमाणे विहरति; तं महप्फलं खलु भो देवाणुप्पिया! तहारूवाणं अरहंताणं भगवंताणं णामगोअस्स वि सवणताए, किमंग! पुण अभिगमणवंद–णणमंसणपडिपुच्छणपज्जुवासणयाए, एकस्स वि आयरि–यस्स धम्मिअस्स सुवणयस्स सवणताए किमंग! पुण विपुलस्स अत्थस्स गहणयाए, तं गच्छामो णं देवाणुप्पिया! समणं भगवं महावीरं वंदामो णमंसामो सक्कारेमो सम्माणेमो कल्लाणं मंगलं देवयं चेइअं विणएणं पज्जुवासामो, एतेण पेच्चभवे इहभवे अ हियाए सुहाए खमाए निस्सेअसाए आणुगामिअत्ताए भविस्सइ त्ति कट्टु बहवे उग्गा उग्गपुत्ता भोगा भोगपुत्ता एवं दुपडोआरेणं राइण्णा खत्तिआ माहणा भडा जोहा पसत्थारो मल्लई लेच्छई लेच्छईपुत्ता अण्णे य बहवे राईसरतलवरमांड-वियकोडुंबिअइब्भसेट्ठिसेनावइसत्थवाहपमितिआ अप्पेगइआ वंदणवत्तिअं अप्पेगइआ पूअणवत्तियं एवं सक्कारवत्तियं सम्माणवत्तियं दंसणवत्तिअं कोऊहलवत्तियं अप्पेगइआ अट्ठविणिच्छयहेउं ओस्सुयाइ सुणेस्सामो, सुआइ निस्संकियाइं करिस्सामो, अप्पेगइआ अट्ठाइं हेऊइं कारणाइं वागरणाइं पुच्छिस्सामो, अप्पेगईआ सव्वओ समंताए मुंडे भवित्ता अगाराओ अहागारिअं पव्वइस्सामो, पंचाणुव्वइयं सत्त सिक्खावइयं दुवालसविहं गिहिधम्मं पडिवज्जिस्सामो, अप्पेगइआ जिणभत्तिरागेण अप्पेगइआ जीअमेअं ति कट्टु ण्हाया कायबलिकम्मा कयकोउअमंगलपायच्छित्ता सिरसा कंठमाल-कडा आविद्धमणिसुवन्ना कप्पियहारद्धहार-तिसरयपालंबपलं-बमाण-कडिसुत्तयसुकयसोहाभरणा पवरवत्थपरिहिआ चंदणालित्तगायसरीरा अप्पेगइआ हयगया एवं गयगया रहगया सिवियागया संदमाणियागया अप्पेगइया पायविहारचारिणो पुरिसवग्गुरा परिखित्ता महया उक्किट्ठसीहणायबोलकलकलरवेणं पक्खुब्भिअमहासमुद्दरवभूतं पि व करेमाणा चंपाए नयरीए मज्झं मज्झेण निग्गच्छति, णिग्गच्छतित्ता जेणेव पुण्णभद्दे चेइए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छतित्ता समणस्स भगवयो महावीरस्स अदूरसामंते छत्तातीए तित्थयराभिसेसे पासंति, पासित्ता जाणवाहणाइं ठावइंति, ठावइंतित्ता जाणवाहणेहिंतो पच्चोरुहंति, पच्चोरुहित्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेंति, करित्ता वंदंति, णमंसंति, वंदित्ता णमंसित्ता णच्चासण्णे णाइदूरे सुस्सूसमाणा णमंसमाणा अभिमुहा विणएणं पंजलिउडा पज्जुवासंति। तए णं से पवित्तिवाउए इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे हट्ठतुट्ठ० जाव हियए ण्हाए० जाव अप्पमहग्घाभरणालंकिअसरीरे सयाओ गिहाओ पडिनिक्खमइ, सयाओ गिहाओ पडिणिक्खमित्ता चंपानगरिं मज्झं मज्झेणं जेणेव बाहिरिया सव्वे बहेट्ठिल्ला वत्तव्वया० जाव णिसीयइ, णिसीइत्ता तस्स पवित्तिवाउअस्स अद्धतेरससयसहस्साइं पीइदाणं दलयति, दलय–त्तिा सक्कारेति, सम्माणेति, सक्कारेत्ता सम्माणेत्ता पडिवि–सज्जेइ। तते णं से कूणिए राया भंभसारपुत्ते बलवाउअं आमंतेति, आमंतेत्ता एवं वयासी–खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया आभिसेक्कं हत्थिरयणं पडिकप्पेहि, हयगयरहपवर-जोह–कलिअं च चाउरंगिणं सेणं सण्णाहेहि, सुभद्दापमुहाण य देवीणं बाहिरियाए उवट्ठाणसालाए पाडिएक्कपाडिएक्काइं जत्ताभिमुहाइं जुत्ताइ जाणाइ उवट्ठवेह, चंपं णगरिं सब्भितरबाहिरिअं आसित्तसित्तसुइसम्मट्ठरत्थंतरावणवीहिअं मंचाइमंचकलिअं णाणाविहरागउत्थियज्झयं पडागाइपडाग-मंडिअं लाउल्लोइयमहियं गोसीससरसरत्तचंदण० जाव गंधिवट्टिभूअं करेह, कारवेह, करित्ता कारवेत्ता एअमाणत्तिअं पच्चप्पिणहनिज्जाइसामि समणं भगवं महावीरं अभिवंदए; तए णं से वलवाउए कूणिएणं रण्णा एवं वुत्ते समाणे हट्ठतुट्ठ० जाव हिअए करयलपरिग्गहियं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कए एवं बयासीसामि त्ति आणाइ विणएणं वयणं पडिसुणेइ, पडिसुणेइत्ता हत्थिवाउअं आमंतेति, आमंतेत्ता एवं वयासीखिप्पामेव भो देवाणुप्पिया कूणिअस्स रण्णो भंभसारपुत्तस्स आभिसेक्कं हत्थिरयणं पडिकप्पेहि, हयगयरहपवरजोहकलियं चाउरंगि-णिसेणं सण्हाहेहि, सण्हाहित्ता एअमाणत्तिअं पच्चप्पिणाहि। तए णं से हत्थिवाउए वलवाउअस्स एअमट्ठं सोच्चा आ-

णाए विणएणं वयणं पडिसुणेइ, पडिसुणित्ता छेआयरिअ-उवदेसमतिविकप्पणाविकप्पेहिं सुणिउणेहिं उज्जलणेवत्थ-हत्थपरिवत्थिअसुसज्जं धम्मिअसण्णद्धवद्धकवइयउप्पी-लियकच्छवच्छगेवेयबद्धगलबरभूसणविराइयं ति अहिय-तेअजुत्तं सललिअवरकण्णपूरविराइअं पलंबउच्चूलमहूअर-कयंधयारं चित्तपरिच्छेअपच्छंदं पहरणावरणभरिअजुद्धसज्जं सच्छत्तं सज्झयं सघंटं सपडागं पंचामेलअपरिमंडि आभिरामं ओसारिअजमलजुअलघंटं विज्जुपणाद्धं व कालमेहं उप्पाइयपव्वयं व चंकमंतं मत्तं गुलगुलंतं मणपवणजइणवेगं भीमं संगामियाओग्गं आभिसेक्कं हत्थिरयणं पडिकप्पइ, पडिकप्पेत्ता हयगयरहपवरजोहकलियं चाउरंगिणिं सेणं सण्णाहेइ, सण्णहित्ता जेणेव बलवाउए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता एअमाणत्तिअं पच्चप्पिणइ। तए णं से बलवाउए जाणसालिअं सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी—खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया! सुभद्दापमुहाणं देवीणं बाहिरियाए उवट्ठाणसालाए पडिअक्कपाडिअक्काइं जुत्ताभि—मुहाइं जुत्ताइं जाणाइं उवट्ठवेह, उवट्ठवेत्ता एअमाणत्तिअं पच्चप्पिणाहि। तते णं से जाणसालिए बलवाउअस्स एअमट्ठं आणाए विणएणं वयणं पडिसुणेइ, पडिसुणित्ता जेणेव जाणसाला तेणेव उवागच्छइ, तेणेव उवागच्छित्ता जाणाइं पच्चुवेक्खेइ, पच्चुवेक्खेइत्ता जाणाइं संपमज्जेइ, संपमज्जेइत्ता जाणाइं संवट्टेइ, जाणाइं संवट्टेत्ता जाणाइं णीणेइ, जाणाइं णीणेत्ता जाणाणं दूसे पवीणेइ, पवीणेइत्ता जाणाइं समलंकरेइ, समलंकरइत्ताजाणाइं वरभंडकमंडियाइं करेति करेतित्ता जेणेव वाहणसाला तेणेव उवागच्छइ, तेणेव उचागच्छित्ता वाहणाइं पच्चुवेक्खेइ, पच्चुवेक्खेइत्ता वाहणाइं संपमज्जइ, संपमज्जइत्ता वाहणाइं णीणेइ, णीणेइत्ता वाहणाइं अप्पफालेइ, अप्पफालेइत्ता दूसे पवीणेइ, पवीणेइत्ता वाहणाइं समलंकरेति, करेतित्ता वाहणाइं वरभंडकमंडियाइ करेइ, करेइत्ता वाहणाइं जाणाइं जोएइ, जोएइत्ता पतोदलट्ठिपउअधरे अ समं आउहइ, आउहित्ता वट्टमग्गं गाहेइ, गाहेइत्ता जेणेव बलवाउए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता बलवाउअस्स एअमाणत्तिअं पच्चप्पिणाइ। तते णं से बलवाउए णगरगुत्तिए आमंतेइ, आमंतेइत्ता एवं वयासीखिप्पामेव भो देवाणुप्पिया! चंपं णगरिं सब्भिंतरबाहिरियं असिय० जाव कारवेत्ता एअमाणत्तिअं पच्चप्पिणाहि। तते णं से णगरगुत्तिए बलवाउअस्स एअमट्ठं आणाए विणएणं पडिसुणेइ, पडिसुणेइत्ता चंपं णगरिं सब्भिंतरबाहिरिअं आसिअ० जाव कारवेत्ता जेणेव बलवाउए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता एअमाणत्तिअं पच्चप्पिणइ। तते णं से बलवाउए कोणिअस्स रन्नो भंभसारपुत्तस्स आभिसेक्कं हत्थिरयणं पडिकप्पिअं पासेइ, हयगय० जाव सण्णाहिअं पासति, सुभद्दापमुहाणं देवीणं पडिजाणाइ उवट्ठविआइ पासति, चंपं णगरिं अब्भिंतर० जाव गंधवट्टिभूअं कयं पासति, पासित्ता हट्ठतुट्ठि त्ति माणंदिए पीअमणे० जाव हिअए (औ०) जेणेव मज्जणघरे तेणेव उवागच्छइ, तेणेव उवागच्छित्ता मज्जणघरं अणुपविसइ, अणुपविसइत्ता समुत्तजालाउलाभिरामे विचित्तम-णिरयणकुट्टिमतले रमणिज्जे ण्हाणमंडवंसि णाणामणिरयण-भत्तिचित्तंसि ण्हाणपीढंसि सुहणिसण्णे सुद्धोदएहिं गंधोएहिं पुप्फोदएहिं सुहोदएहिं पुणो पुणो कल्लाणपवरमज्जणविहीणे मधिए, तत्थ कोउअसएहिं बहुविहेहिं कल्लाणपवरमज्जणाव-साणे पम्हलसुकमालगंधकासाइयलूहिअंगे सरससुरहिगोसीस-चंदणाणुलित्तगत्ते अहयसुमहग्घदूसरयणसुसंवूए सुइमालावण्ण-गविलेवणे आविद्धमणिसुवण्णे य कप्पियहारिद्धहारतिसरय-पालंबपलंबमाणिकडिसुत्तसुकयसोभे पिणद्धगेविज्जअंगुलि-ज्जगललियंगयललियकयाभरणे वरकडगतुडियथंभिअभुए अहियरूवसस्सिरीए मुद्दिआपिंगलंगुलिए कुंडलउज्जोविआणणे मउडदित्तसिरए हारोत्थयसुकयरइयवच्छे पालंबपलंबमाणपड-सुकयउत्तरिज्जे णाणामणिकणगरयणविमलमहरिहणिउणो वि अ मिसिमिसंतविरइयसुसिलिट्ठविसिट्ठलट्ठआविद्धवीरवलए किं बहुणा कप्परुक्खए चेव अलंकियविभूसिए णरवईसकोरंट-मल्लदामेणं छत्तेणं धरिज्जमाणेणं चउचामरचालवीजियंगे मंगलजयसद्दकयालोए मज्जणघराओ पडिनिक्खमइ, मज्जण-घराओ पडिणिक्खमित्ता अणेगगणनायगदंडनायकराई-सरतलवरमांडवियकोडंबियइब्भसेट्ठिसेणावइसत्थवाहदू-असंधिवालसद्धिं संपरिवुडे धवलमहामेहणिग्गए इव गहगणदि-प्पंतरिक्खतारागणाण मज्झे ससिव्वपिअदंसणे णरवई जेणेव बाहिरिआ उवट्ठाणसाला जेणेव आभिक्खे हत्थिरयणे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता अंजणगिरिकूडस-णिण नं गयवई णरवई दुरूढे, तए णं तस्स कूणियस्स रण्णो भंभसारपुत्तस्स आभिसिक्कं हत्थिरयणं दुरूढस्स समाणस्स तप्पढमयाए इमे अट्ठट्ठमंगलया पुरओ अहाणुपुव्वीए संपट्ठिआ, तं जहा—सोवत्थियसिरिवत्थणंदिआवत्तवद्धमाणकभद्दा-सणकलसमच्छदप्पणा तयाणंतरं च णं पुण्णकलसभिंगारं दिव्वा य छत्तपडागा सचामरा दंसणरइअआलोअदरसणिज्जा वाउद्धूयविजयवेजयंती उस्सिआ गगणतलुमणुलिहंत। पुरओ अहाणुपुव्वीए संपट्ठिआ, तयाणंतरं च णं वेरुलिअभिसंत-विमलदंडं पलंवकोरंटमल्लदामोवसोभिअं चंदमंडलणि भं समूसि अवि-

मलं आयवत्तपवरं सीहासणं वरमणिरयणपादपीठं सपाउ—आयो अ समाउत्तं बहुकिंकरकम्मकरपुरिसपायत्तपरिक्खित्तं पुरओ अहाणुपुव्वीए संपट्ठियं, तयाणंतरं बहवे लट्ठिग्गाहा कुंतग्गाहा चावग्गाहा चामरग्गाहा पासग्गाहा पात्थयग्गाहा फलकग्गाहा पीढग्गहा वीणग्गाहा हडफग्गाहा पुरओ अहाणुपुव्वीए संपट्ठिया, तयाणंतरं बहवे मंडिणो मुंडिओ सिहिंडिणो जडिणो पिच्छिणो हासकरा डमरकरा चाटुकरा वादकरा कंदप्पिकरा दव्वकरा कोकुइआ किट्टिकरा वायंता गायंता हसंता णच्चंता भासंता सावेंता रक्खंतो आलोअं च करेमाणा जयजयसद्दं पउंजमाणा पुरओ अहाणुपुव्वीए संपट्ठिआ, तयाणंतरं जच्चाणंतरमल्लिहायणाणं हरिमेलामउलमलियत्थाणं चुंचुब्बिअललियपुलियचलचवलचंचलगईणं लंघणवग्गणधावणधोरणतिवई-जइणसिक्खिअगईणं ललंतलामगललायवर भूसणाणं मुहभंडणउच्चूलगथासगअहिलाणचामरदंडपरिमंडियकडीणं किंकरवरतरुणपरिग्गहिआणं अट्ठसयं वरतुरगाणं पुरओ अहाणुपुव्वीए संपट्ठियं, तयाणंतरं च णं ईसीदंताणं ईसीमत्ताणं ईसीतुंगाणं ईसीउच्छंगविसालधवलदंताणं कंचणकोसीपविट्ठदंताणं कंचणमणिरयणभूसियाणं वरपुरिसारोहगसंपउत्ताणं अट्ठसयं गयाणं पुरओ अहाणुपुव्वीए संपट्ठियं, तयाणंतरं सछत्ताणं सज्झयाणं सघंटाणं सपडागाणं सतोरणवराणं सणंदिघोसाणं सखिंखिणीजालपरिक्खित्ताणं हेमवयचेत्ततिणिसकणकणिउत्तदारुआणं कालायससुकयणेमिजंतकम्मणं सुसिलिट्ठवत्तमंडलधराणं आइण्णवरतुरगसंपउत्ताणं कुसलनरछेअसारहिसुसंपग्गहिआणं छत्तीसतोणपरिमंडिआणं सकंकडवडंसकाणं सचावसरपहरणावरणभरिअजुद्धसज्जाणं अट्ठसयं रहाणं पुरओ अहाणुपुव्वीए संपट्ठियं, तयाणं तरं च णं असिसत्तिकोंततोमरसूललउडभिंडिमालधणुपाणिसज्जं पायत्ताणीयं पुरओ अहाणुपुव्वीए संपट्ठिअं। तलेणं से कूणिए राया हारोत्थयसुकयरइयवच्छे कुंडलउज्जोवियाणणे मउडदित्तसिरए णरसीहे णरवई णरिंदे णरवससहे मणुअरायवसभकप्पे अब्भहिअरायतेअलच्छीएदिप्पमाणे हत्थिक्खंधवरगए सकोरंटमल्लदामेणं छत्तेणं धरिज्जमाणेणं सेअवरचामराहिं उद्धुव्वमाण। हिं उद्धुव्वमाणीहिं वेसमणे चेव णरवई अमरवइसण्णिभाए इड्ढीए पहिअकित्ती हयगयरहपवरजोह-कलियाए चाउरंगिणीए सेणाए समणगम्ममाणमग्गे जेणेव पुण्णभद्दे चेइए तेणेव पहारित्थगमणाए, तए णं तस्स कूणिअस्स रण्णो भंभसारपुत्तस्स पुरओ महं आसा आसधरा उभतो पासिं णागा णागधरा पिट्ठओ रहसंगेल्ली। तए णं से कूणिए राया भंभसारपुत्ते अभुग्गयभिंगरिपग्गहियतालियंटे उत्थियसेअच्छत्ते पवीइअवालवीयाणि सव्विड्ढीए सव्वजुतीए सव्ववलेणं सव्वसमुदएणं सव्वादरेणं सव्वविभूइए सव्वविभूसाए सव्वसंभमेणं सव्वपुप्फगंधमल्लालंकारेणं सव्वतुडिअसद्दसण्णिणाएणं महया इड्ढीए महया जुतीए महया वलेणं महया समुदएणं महया वरतुडिअजमगसमगप्पवाइएणं संखपणवपडहभेरिझल्लरिखरमुहिहुडिक्कमुरयमुअंगदुंदुभिणिग्घोसणाइयरवेणं चंपाए णयरा ए मज्झं मज्झेणं णिग्गच्छइ। तए णं कूणिअस्स रन्नो चंपानगरिं मज्झं मज्झेणं णिगच्छमाणस्स बहवे अत्थत्थिया कामत्थिआ भोगत्थिआ किव्विसिआ करोडिआ लाभत्थिया कारवाहिआ संखिआ चक्कियालंगलिया मुहमंगलिया वद्धमाणा पुस्समाणाआ खंडियगणा ताहिं इट्ठाहिं कंताहिं पिआहिं मणुण्णाहिं मणामाहिं मणाभिरामाहिं हिययगमणिज्जाहिं वग्गूहिं जयविजय मंगलसएहिं अणवरयं अभिणंदंता य अभियुणंता य एवं वयासीजय जय णंदा, जय जय भद्दा, भंद्दते अजिअं जिणाहिं जिअपालेहिं जिअमज्झवसाहिं इंदो इव देवाणं चमरो इव असुराणं धरणो इव नागाणं चंदो इव ताराणं भरहो इव मणुआणं बहुइ वासाइं बहूइ वाससआइं बहूइ वाससहस्साइं बहूइं वाससयसहस्साइं अणहसमग्गो हट्ठतुट्ठो परमाउं पालयाहिं इट्ठजणसंपरिवुडो णयरीए अण्णेसिं च बहूणं गामागरणगरखेडकव्वडमंडव-दोणमुहपट्टणआस्समनिगमसंवाहसंनिवेससाणं आहेवच्चं पारेवच्च सामित्तं भट्टित्तं महत्तरगत्तं आणाईसारे सेणावच्चं कारेमाणे पालेमाणे महया हयणट्टगीयवाइयतंतीतलतालतुडिअघणमुअंगपडहप्पवाइअरवेणं विउलाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहराहि ति कट्टु जयजयसद्दं पउंजंति। तए णं से कूणिए राया भंभसारपुत्ते णयणमालासहस्सेहिं पेच्छिज्जमाणे पेच्छिज्जमाणे हिअयमालासहस्सेहिं अभिणंदिज्जमाणे अभिणंदिज्जमाणे मणोरहमालासहस्सेहिं विच्छिप्पमाणे विच्छिप्पमाणे वयणमालासहस्सेहिं अभिथुव्वमाणे अभिथुव्वमाणे कंतिसोहग्गगुणेहिं पित्थिज्जमाणे पित्थिज्जमाणे बहूणं णरणारिसहस्साणं दाहिणहत्थेणं अंजलिमालासहस्साइं पडिच्छमाणे पडिच्छमाणे मंजुमंजुणा घोसेणं पडिबुज्झमाणे पडिबुज्झमाणे भवणपतिसहस्साइं समइज्जमाणे समइज्जमाणे चंपाए णयरीए मज्झं मज्झेणं णिग्गच्छइ, णिग्गच्छइत्ता जेणेव पुण्णभद्दे चेइए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स अदूरसामंते छत्ताईए तित्थयराइसए पासइ, पासित्ता आभिसेक्कं हत्थिरयणं ठवेइ,

उवित्ता अभिसेक्काओ हत्थिरयणाओ पच्चोरुहइ, पच्चोरुहइत्ता अवहट्टु पंच रायककुहाइं। तं जहा—खग्गं छत्तं उप्फेसं वाहणाओ वालवीअणं, जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता समणं भगवं महावीरं पंचविहेणं अभिगमेणं अभिगच्छंते। तं जहा—सचित्ताणं दव्वाणं विउसरणयाए अचित्ताणं दव्वाणं अविउसरणयाए एगसाडिअं उत्तरासंगं करणं चक्खुप्फासं अंजलिपग्गहेणं मणसो एगत्तभावकरणेणं समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ, तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेत्ता वंदति, णमंसति, वंदित्ता णमंसित्ता तिविहाए पज्जुवासणाए पज्जुवासइ। तं जह—काइयए वाइआए माणसिआए, कायाइए ताव संकुइअग्गहत्थपाए सुस्सूसमाणे णमंसमाणे अभिमुहे विणएणं पंजलिउडे पज्जुवासइ, वाइआए जं जं भगवं वाकरेइ एवमेवं भंते ! तहमेयं भंते ! अवितहमेयं भंते ! असंदिद्धमेअं भंते ! इच्छिअमेअं भंते ! पडिच्छिअमेअं भंते ! इच्छिपडिच्छियमेअं भंते ! से जहेयं तुब्भे वदह अपडिकूलमाणे पज्जुवासंति, माणसियाए महया संवेगं जणइत्ता तिव्वधम्माणुरागरत्ते पज्जुवासइ। तते णं ताओ सुभद्दापमुहाओ देवीओ अंतो अंतेउरं से ण्हायाए० जाव पायच्छित्ताओ सव्वालंकारविभूसियाओ बहूहिं खुज्जाहिं चेलाहिं वामणीहिं वडभीहिं बव्वरीहिं पयाउसियाहिं जोणिआहिं पण्हविआहिं इसिगणिआहिं वासिइणिआहिं लासिआहिं लउसियाहिं सिंहलीहिं दमिलिहिं आरबीहिं पुलिंदीहिं पक्कणीहिं बहलीहिं मुरुंडीहिं सबरियाहिं पारसीहिं णाणादेसविदेसपरिमंडिआहिं इंगियचिंतियपत्थिअविजाणियाहिं सदेसणेवत्थग्गहिअवेसाहिं चेडियाचक्कवालवरिसधरकंचुइज्ज-महत्तरगवंदपरिक्खित्ताओ अंतेउराओ णिग्गच्छंति, अंतेउराओ णिग्गच्छित्ता जेणेव पाडिएक्कजाणाइ तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता पाडिएक्कपाडिएक्काइं जत्ताभिमुहाइं जुत्ताइ जाणाइ दुरुहंति, दुरुहित्ता णिअगपरिआलसद्धिं संपरिवुडाओ चंपाए णयरीए मज्झं मज्झेणं णिग्गच्छंति, णिग्गच्छित्ता जेणेव पुण्णभद्दे चेइए तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स अदूरसामंते छत्तिंदिए तित्थयराभिसेसे पासंति, पासित्ता पाडिएक्कपाडिएक्काइ जाणाइं ठवंति, ठवित्ता जाणेहिंतो पच्चोरुहंते, जाणेहिंतो पच्चोरुहित्ता बहूहिं खुज्जाइ० जाव परिक्खित्ताओ जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छंति, तेणेव उवागच्छित्ता समणं भगवं महावीरं पंचविहेणं अभिगमेणं अभिगच्छंति। तं जहा—सचित्ताणं दव्वाणं विउसरणयाए अचित्ताणं दव्वाणं अविउसरणयाए विणओणताए गायलट्ठीए चक्खुप्फासे अंजलिपग्गहेणं मणसो एगत्तकरणेणं समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ, वंदंति, णमंसंति, वंदित्ता णमंसित्ता कूणियं रायं पुरओ कट्टु ठिइयाओ चेव सपरिवाराओ अभिमुहाओ विणएणं पंजलिउडाओ पज्जुवासंति। तते णं समणे भगवं महावीरे कूणिअस्स भंभसारपुत्तस्स सुभद्दापमुहाणं देवीणं तीसे अ महति महालियाए परिसाए इसीपरिसाए मुणिपरिसाए जइपरिसाए देवपरिसाए अणेगसयाए अणेगसयवंदाए अणेगसयवंदपरिवाराए ओहबले अइबले महब्बले अपरिमिअबलवीरियतेयमाहप्पकंतिजुत्ते सारयनव-त्थणियमहुरगंभीरकोंचणिग्घोसदुंदुभिस्सरे उरे वित्थिडाए कंठे वट्टिआए सिरे समाइण्णाए अगरलोए अमम्मणाए सव्वक्खरसण्णिवाइयाए पुण्णरत्ताए सव्वभासाणुगामिणीए सास्सईए जोयणणीहारिणा सरेणं अद्धमागहाए भासा भासति, अरिहा धम्मं परिकहेइ, तेसिं सव्वेसिं आरियमणारियाणं अगिलाए धम्माइक्खइ, मा विय णं अद्धमागहा भासा तेसिं सव्वेसिं आरियमणारियाणं अप्पणो सभासाए परिणमइ। तं जहा—अत्थि लोए, अत्थि अलोए, एवं जीवा अजीवा बंधे मोक्खे पुण्णे पावे आसवे संवरे वेयणा णिज्जरा अरिहंता चक्कवट्टी बलदेवा वासुदेवा नरका णेरइया तिरिक्खजोणिआ तिरिक्खजोणिणीओ माया पिया रिसओ देवा देवलोआ सिद्धी सिद्धा परिणिव्वापरिणिव्वुया, अत्थि पाणाइवाए मुसावाए अदिण्णदाणे मेहुणे परिग्गहे, अत्थि कोहे माणे माया लोभे० जाव मिच्छादंसणसल्ले, अत्थि पाणाइवायवेरमणे मुसावायवेरमणे अदिण्णादाणवेरमणे मेहुणवेरमणे परिग्गहवेरमणे० जाव मिच्छादंसणसल्लविवेगे, सव्वं अत्थि भावं अत्थि त्ति वयति, सव्वं णत्थि भावं णत्थि त्ति वयति, सुचिण्णा कम्मा सुचिण्णफला भवंति, दुच्चिण्णा कम्मा दुच्चिण्णफला भवंति, फुसइ पुण्णपावे, पच्चायंति जीवा, सफले कल्लाणपावए धम्ममाइक्खइ इणमेव णिग्गंथे पावयणे सच्चे अणुत्तरे केवलए संसुद्धे पडिपुण्णे णेआउए सल्लकत्तणे सिद्धिमग्गे मुत्तिमग्गे णिव्वाणमग्गे णिज्जाणमग्गे अवितहमविसंधि-सव्वदुक्खप्पहीणमग्गे इह ट्ठिआ जीवा सिज्झंति बुज्झंति मुच्चति परिणिव्वायंति सव्वदुक्खाणमंतं करंति, एगच्चा पुण एगे भयंतारो पुव्वकम्मावसेसेणं अण्णयरेसु देवलोएसु देवदत्ताए उववत्तारो भवंति, महड्ढीए० जाव महासुक्खेसु दूरगइएसु चिरट्ठिइएसु तेणं तत्थ देवा भवंति महड्ढीए० जाव चिरट्ठिई आहारविराइयवच्छा० जाव पभासमाणा कप्पोवगा गतिकल्लाणा आगमे से भद्दा० जाव पडिरूवा तमाइक्खइ। एवं खलु चउहिं ठाणेहिं जीवा णेरइअत्ताए कम्मं पकरंति,

णेरइअत्ताए कम्मं पकरेत्ता णेरइसु उववज्जंति । तं जहा–महारंभयाए महापरिग्गहयाए पंचिंदियवहेण कुणिमाहारेणं एवं एएणं अभिलावेणं तिरिक्खजोणिएसु माइल्लयाए णिअडिल्लयाए अलिअवयणेणं उव्वंचणयाए वंचणयाए मणुस्सेसु पगतिभद्दयाए पगतिविणततताए साणुक्कोसयाए अमच्छरियताए देवेसु सरागसंजमेणं संजमासंजमेणं अकामणिज्जराए वालतवोकम्मेणं तमाइक्खइ, जह णरगा गमंती, जे णेरगा जातवेयणा णरए सारीरमाणसाइं दुक्खाइं तिरिक्खजोणिए माणुस्सं च अणिच्चं वाहिजरामरणवेयणापउरं देवे अ देवलोए देविड्ढिं देवसोक्खाइं नरगं तिरिक्खजोणिं माणुस्सभावं च देवलोअं च सिद्धे अ सिद्धवसिहिं छज्जीवणियं परिकहेइजह जीवा वज्झंति मुच्चंति,जह य परिकिलिस्संति, जह दुक्खाणं अंतं करंति, केइ अपडिबद्धा अट्टदुहट्टियचिता जह जीवा दुक्खसागरमुवेंति, जह वेरग्गमुवगया कम्मसु मुग्गं विहाडंति, जहा रागेण कडाणं कम्माणं पावगो फलविवागो, जह य परिहीणकम्मा सिद्धा सिद्धालयमुवंति, तमेव धम्मं दुविहं आइक्खइ। तं जहा–अगारधम्मं अणगारधम्मं च, अणगारधम्मो ताव इह खलु सव्वओ सव्वयाए मुंडे भवित्ता अगारातो अणगारियं पव्वइस्स सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं मुसावायअदिन्नादाणमेहुणपरिग्गहराईभोअणाओ वेरमणं, अयमाउसो ! अणगारसामाइए धम्मे पण्णत्ते, एअस्स धम्मस्स सिक्खाए उवट्ठिए निग्गंथे वा निग्गंथी वा विहरमाणे आणाए आराइए भवति। अगारधम्मं दुवालसविहं आइक्खइ । तं जहा–पंच अणुव्वयाइ, तिण्णि गुणव्वयाइ, चत्तारि सिक्खावयाइ । पंच अणुव्वयाइ तं जहा–थूलाओ पाणाइवायाओ वेरमणं थूलाओ मुसावायाओ वेरमणं थूलाओ अदिन्नादाणाओ वेरमणं सदारसंतोसे इच्छापरिमाणे । तिण्णि गुणव्वयाइं–तं जहा–अणत्थदंडे वेरमणं दिसिव्वयं उवभोगपरिभोग–परिमाणं । चत्तारि सिक्खावयाइ–तं जहा–सामाइअं देसावगासिअं पोसहोववासे अतिहिसंविभागे अपच्छिम–मारणंतिआ संलेहणा झूसणा राहणा, अयमाउसो ! अगार–सामाइए धम्मे पण्णत्ते । एअस्स धम्मस्स सिक्खाए उवट्ठिए समणोवासए समणोवासिआ वा विहरमाणे आणाइआराहए भवति । तए णं सा महति महालिआ मणूसपरिसा समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठ० जाव हिअया उट्ठाए उट्ठेंति, उट्ठाए उट्ठित्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ, करेइत्ता वंदंति णमंसंति, वंदित्ता णमंसित्ता अत्थेगइआ पंचाणुव्वइयं सत्त सिक्खावइयं दुवालसविहं गिहिधम्मं पडिवण्णा, अवसेसा णं परिसा समणं भगवं महावीरं वंदंति, णमंसंति, वंदित्ता णमंसित्ता एवं वयासी–सुअक्खाए ते भंते ! णिग्गंथे पावयणे, एवं सुपण्णत्ते सुभासिए सुविणीए सुभाविए, अणुत्तरे ते भंते ! णिग्गंथे पावयणे धम्मेणं आइक्खमाणा तुब्भे उवसमं आइक्खह, उवसमं आइक्खमाणा विवेगं आइक्खह, विवेगं आइक्खमाणा वेरमणं आइक्खह, वेरमणं आइक्खमाणा अकरणं पावाणं कम्माणं आइक्खह, णत्थि णं अण्णे केइ समणे वा माहणे वा जे परिसधम्ममाइक्खत्तिए किमंग ! पुण इत्तो उत्तरतरं, एवं वदित्ता जामेव दिसं पाउब्भूआ तामेव दिसं पडिगया । तए णं कूणिए राया भंभसारपुत्ते समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठ० जाव हियए उट्ठाए उट्ठिए, उट्ठाए उट्ठित्ता समणं भगवं महावीर तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेति, वंदति, णमंसति, वंदित्ता णमंसित्ता एवं वयासीसुअक्खाए ते भंते ! णिग्गंथे पावयणे० जाव किमंग ! पुण एत्तो उत्तरतरं, एवं वदित्ता जामेव दिसं पाउब्भते तामेव दिसं पडिगए । तते णं ताओ सुभद्दापमुहाओ देवीओ समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठ० जाव हिअयाओ उट्ठाए उट्ठेंति, उट्ठाए उट्ठित्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेंति, वंदंति, णामंसंति, वंदित्ता णमंसित्ता एवं वयासी–सुअक्खाए ते भंते ! णिग्गंथे पावयणे० जाव किमंग ! पुण एत्तो उत्तरतरं, एवं वदित्ता जामेव दिसं पाउब्भूआओ तामेव दिमं पडिगयाओ । समासरणं सम्मत्तं । औ० ।

केन कृतमित्यादि यत्र विधेयतयोपदिश्यते सा पृच्छा । यथा पृच्छनीया ज्ञानिनो निर्णयार्थिभिः, यथा भगवान् कोणिकेन पृष्टः । तथाहि–किल कोणिकः श्रेणिकराजपुत्रः श्रमणं भगवन्तं महावीरं पप्रच्छ । तद्यथा–भदन्त ! चक्रवर्तिनः परित्यक्तकामा मृताः क्वोपपद्यन्ते ? भवताऽभिहितम्–सप्तमनरकपृथिव्याम् । ततोऽसौ बभाण–अहं क्वोत्पत्स्ये ? स्वामिनोक्तम्षष्ठ्याम् । स उवाच–अहं किं न सप्तम्याम् ? स्वामिना जगदे सप्तम्यां चक्रवर्तिनो यान्ति । ततोऽसावभिदधौ किमंह न चक्रवर्ती, यतो ममापि हस्त्यादिकं तत्समा–नमस्ति ? स्वामिन प्रत्यूचे–तव रत्ननिधयो न सन्ति । ततोऽसौ कृत्रिमाणि रत्नानि कृत्वा भरतक्षेत्रसाधनप्रवृतः कृतमालकयक्षेण गुहाद्वारे व्यापादितः षष्ठीं गत इति । स्था०४ ठा०३ उ० ।

प्रथमोपाङ्गे कूणिकवर्णके "माउपिउसुजाओ" एतत्सूत्रवृत्तौ पित्रोर्विनीततया सत्पुत्र इत्युक्तं, तत्कथमिति प्रश्ने उत्तरम्–कूणिकः पित्रोर्विनीत एवास्ति, एवास्ति, यत्वन्तराले श्रेणिकस्य किञ्चिद्विरूपमाचरितं तन्निदानवशादेव, कथमन्यथा पितृमरणशोकाकुलितो राजगृहं विहाय चम्पायामुषित इति । २३६ प्र० सेन० ३ उल्ला० । कूणिकरावणयोस्तीर्थकरत्वं कुत्र ग्रन्थे प्रोक्तमस्ति कस्मिन् क्षेत्रे कतिभवेतिरि प्रश्ने उत्तर मूरावणाख्यभवादारभ्य रावणजीवस्य चतुर्दशे भवे तीर्थक–

रत्वं त्रिषष्टीयपद्मचरित्रे प्रोक्तमस्ति, क्षेत्रव्यक्तिस्तु न दृश्यते। कूणिकस्य तु तीर्थकरत्वप्राप्तयक्षराणि कुत्रापि दृष्टानि न सन्तीति। १५७ प्र० सेन०३ उल्ला०। ('रावण' शब्दे स्पष्टीकरिष्यते चैतत्)

कूयमाण–त्रि०(कूजत्) अव्यक्तं भणति, विपा०१ श्रु०७ उ०।

कूर–पुं०(कूर) वेञ् भावे क्विप् ऊः। कौ भूमौ उवं वयनं लाति ला–कः। लस्य रः। अन्ने, वाच०। ओदने, उत्त०१२ अ०। "एगंतेण न कप्पइ, सीयलकूरो अवुसिणो अ" स०१ सम०। अवह्लादननिमित्ते कलिञ्जादौ, स्था०३ ठा०३ उ०। "असणाणि य चउसट्ठा, कूरे जाणहे एगतीसं तु"। स०१ सम०।

***कूर**–त्रि० रौद्रे, ज्ञा०१ श्रु०८ अ०। आचा० निष्कृपे, सूत्र०२ श्रु०२ अ०। दारुणे, सूत्र०१ श्रु०७ अ०। जीवोपघातोपदेशत्वात क्षुद्रे, प्रश्न०३ आश्र० द्वार। स्था०।

कूरकम्म(ण्)–त्रि०(कूरकर्मन्) अनार्ये, आचा०१ श्रु०४ अ०२ उ०। कूरे कर्मणि, "कूराइं कम्माइं वाले पकुव्वमाणे तेण दुक्खेण मूढे विप्परियासमुवेति" कूराणि गलकर्त्तनादीनि कर्माण्यनुष्ठानानि बालोऽशः प्रकुर्वाणो विदधानः तेन कर्मविपाकोत्पादितदुःखेन सातोदये मूढोऽप–गतविवेको विपर्यासमुपैति। आचा०१ श्रु०२ अ०३ उ०। कूराणि निरनुक्रोशानि कर्माणि अनुष्ठानानि हिंसाऽनृतस्येयादीनि सकल-लोकाऽसुकृतिकारीणि, अष्टादश वा पापस्थानानि। आचा०१ श्रु०५ अ०१ उ०।

कूरगडुय–पुं०(कूरगडुक) प्रत्यहभोजिनि, आचा०१ श्रु०६ अ०३ उ०।

कूरपिउड–(देशी) देशीवचनमेतत् कूरसिक्थादौ, आ० म० द्वि०। कूरसिक्थादिदाने, विशे०।

कूरपिक्क–त्रि०(ईषतपक्व) **"गौणस्येषतः कूरः"।८।२।१२ ६।** ईषच्छब्दस्य गौणस्य कूर इत्यादेशो वा भवति। अल्पपक्वे, 'चिंच व्व कूरपिक्का' पक्षे–'इसिपिक्का' प्रा०२ पाद।

कूरभोयण–न०(कूरभोजन) कूरमात्रभोजने, पिं०।

कूल–न०(कूल) कूलति आवृणोति जलप्रवाहम्। कूल अच्। नद्युदस्तीरे, कर्मणि घञर्थे कः। स्तूपे, तडागे, सैन्यपृष्ठे च। अन्तिके, वाच०। "रययामयकूलाओ" रजतमयं रूप्यमयं कूलं यासां ता रजतमयकूलाः। रा०। आ० म०। सैन्यस्य पश्चाद्भागे, दे० ना०२ वर्ग।

कूलधमग–त्रि०(कूलध्मायक) वानप्रस्थभेदे, ये कूले स्थित्वा शब्दं कृत्वा भुञ्जते। औ०। नि०।

कूलबालग–पुं०(कूलबालक) स्वनामख्याते मुनौ, आ० क०।

तत्कथा चैवम्–

इतश्च श्रेणिकपुत्रः कोणिको राजा स्वपत्नीपद्मावतीप्रेरितः स्वभ्रातृहल्लविहल्लपार्श्वे जनकश्रेणिकार्पितादिव्यकुण्डले अष्टादशसरिकहारं सेचनकहस्त्यादिकं वस्तु मार्गितवान्। तौ च सर्वं लात्वा मातामहचेटकमहारापार्श्वे वैशालीनगर्यां गतौ। कोणिकेन मातामहचेटकमहाराजपार्श्वात्सर्ववस्तुसहितौ तौ भ्रातरौ मार्गितौ। शरणागतवज्रपञ्जरविरुदं वहता तेन न प्रेषितौ। ततो रुष्टः कोणिकः समाराधितशक्रचमरप्रभावेण स्वजीवितं रक्षन् अमोघवाणमपि चेटकमहाराजं संग्रामे निर्जित्य वैशालीनगरीमध्ये क्षिप्तवान्, सञ्जितवप्रां च तां वैशालीं नगरीं कोणिको रोधयति स्म, नगरीमध्यस्थितश्री–मुनिसुव्रतस्वामिस्तूपप्रभावात् ता नगरीं ग्रहीतुं न शक्नोति। ततो बहुना कालेन देवतयैवमाकाशे भणितम्–"समणे जइ कूलवालए, मागहिअं गणिअं रमिस्सए। राया य असोगचंदए, वेसालिं नगरिं गहिस्सए॥१॥" कोणिकेनेमां वाणीं श्रुत्वा स कूलवालकश्रमणे विलोक्यमानस्तत्र स्थितो ज्ञातः। राजगृहादाकारिता मागधिका गणिका। तस्याः सर्वं कथितम्। तयाऽपि प्रतिपन्नम्–तं कूलबालकश्रमणमहमत्राऽऽनेष्यामीति। कपटश्राविका जाता, सार्थेन तत्राऽऽगता। तं वन्दित्वा भणतिस्थाने चैत्यानि साधूँश्च वन्दित्वाऽहं भोजनं कुर्वे। यूयमत्र श्रुताः, ततो वन्दनार्थमागता, अनुग्रहं कुरुत, प्रासुकमेषणीयं भक्तं गृह्णीत। इति श्रुत्वा कूलवालुकश्रमणस्तस्या उत्तारके गतः। तया च नेपालगोटकचूर्ण-संयोजिता मोदका दत्ताः। तद्भक्षणानन्तरं तस्य अतीसारो जातः। तया ओषधप्रयोगेण निवर्तितः। प्रक्षालनोद्वर्तनादिभिस्तया तस्य चित्तं भेदितम्; स कूलवालकश्रमणस्तस्यामाशक्तोऽभूत् तयाऽपि स्ववशी भूतः स कोणिकसमीपमानीतः। कोणिकेनोक्तम्–भोः कूलबालक श्रमण! यथेवं वैशाली नगरी गृह्यते तथा क्रियताम्। तनापि तद्वचः प्रतिपद्यनैमित्तिकवेषेण वैशालीनगर्यभ्यन्तरे गत्वा मुनिसुव्रतस्वामि-स्तूपप्रभावो नगरीरक्षको ज्ञातः। नैमित्तिकोऽयं नगरीलोकैः पृष्टःकदा नगरीरोधोऽपगमिष्यति। स प्राह–यदा एनं स्तूपं यूयम् अपनयत तदा नगरीरोधापगमो भविष्यतीति श्रुत्वा तैर्लोकैस्तथा कृतम्। कूलबालकश्रमणेन बहिर्गत्वा सञ्जितः कोणिकः। तेन तदैव स्तूपप्रभावरहिता सा नगरी भग्ना एव, पतितः कूलबालक–श्रमणः, अविनीतत्वात्। अति कूलबालककथा॥ उत्त०१ अ०क०।

कूव–पुं०(कूप) कु ईषत् आपो यत्र। कुवन्ति मण्डुकाः अस्मिन् कु–पक् दीर्घश्च वा। स्वनामख्याते जलाधारे, "भूमौ खातोऽल्पविस्तरो, गम्भीरो मण्डलाकृतिः। बद्धोऽबद्धः स कूपः स्यात्, तदम्भः कौपमुच्यते"॥१॥ वाच०। "कूवे तोयं सिणाया जहा कूवे केया पडिता" नि० चू०१ उ०। आ०क०।

***कूजक**–त्रि०। व्यावर्त्तकबले, ज्ञा०१ श्रु०१६ अ०।

कूवणय–पुं०(कूपनक) स्वनामख्याते कुम्भकारे, यस्य हि कुमारसन्निवेशे परमरमणीये उद्याने प्रतिसंस्थिते श्रीवीरभगवति शालायां मुनिचन्द्रः स्थविरः स्थितः। आ० म० द्वि०।

कूवणाय–न०(कूपज्ञात) अवटोदाहरणे, इह चैवं साधनप्रयोगः किञ्चि-त्सदोषमपि स्नानादि विशिष्टशुभभाव–हेभूतं यत्तद् गुणकरं दृष्टं, यथा कूपखननम्। विशिष्टशुभभा–वहेतुश्च यतनया स्नानादि ततो गुणकर-मिति। कूपखननपक्षे शुभभावाद् तृष्णादिव्युदासेनाऽऽनन्दावाप्तिरिति। इदमुक्तं भवति–यथा कूपखननं श्रमतृष्णाकर्दमोपलेपादिदोषदुष्टमपि जलोत्पन्नानन्तरमुक्तदोषानपोह्य स्वोपकाराय परोपकाराय किल भवति। प्रति०।

कूवतड–पुं०(कूपतट) कूपसमीपे, "छहिं मासेहिं संखित्तविउलतेयलेसो जातो कूवतडे दासीए विनासियं" आ० म० द्वि०।

कूवत्थंभ–पुं०(कूपस्तम्भ) कूपमध्यस्थापितस्तम्भे, विशे० कूपक-स्तम्भो यत्र सितपटो निबध्यते। ज्ञा०१ श्रु०८ अ०।

कूवमंडुक्क–पुं०(कूपमण्डूक) कूपस्थे मण्डूके, तक्षुल्ये एकदेशज्ञे, "तुमं किं जाणयंसि कूवमण्डुक्को" नि०चू०१उ०।

कूवर–पुं०(कूवर) 'कू' शब्दे कुटादि० वरच्। कूजके, मनोहरे, युगन्धरे, रथावयवभेदे, वाच०। जं०। तुडे, ज्ञा०१ श्रु०६ अ०।

कूवल–(देशी) जघनवसने, दे० ना०२ वर्ग।

कूविय–पुं०(कूपिक)स्वनामख्याते सन्निवेशे, यत्र भगवान् वीरस्वामी उवसर्गितः पश्चात्पार्श्वनाथान्तेवासिनीभ्यां मोचितः। आ०म०द्वि० मोषव्यावर्त्तके, ज्ञा०१ श्रु०१८ अ०। चौरगवेषके, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०।

कूवियबल–न०(कूपिकबल) मोषव्यावर्त्तकसैन्यनिवर्त्तकसैन्ये, "सुवहुस्स वि कुवियबलस्स आठायस्स दुपयंसया वि होत्था" ज्ञा०१ श्रु०१८ अ०।

कूविया–स्त्री०(कूपिका)कूप–इन्–ङीष्। स्वार्थे कः। स्नेहपात्रभेदे, वाच०। "जो कुणति कूवियत्तं कूविया कूढिया भण्णति" नि० चू०१ उ०।

कूवोदाहरण–न०(कूपोदाहरण) समयप्रसिद्धे कूपज्ञाते, षो०८ विव०। ('कूवणाय' शब्देऽनुपदमेव दर्शितम्)

कूसारो–(देशी) गर्ताकारे, दे० ना०२ वर्ग।

कूहंड–पुं०(कूष्माण्ड)व्यन्तरनिकायानामुपरिवर्तिनि व्यन्तरजातिविशेषे, प्रश्न०३ आश्र० द्वार।

केअण–न०(केतन)वक्रे वस्तुनि, पुष्पकरण्डसंबन्धिनि मुष्टिग्रहणस्थाने वंशादिदलके, स्था०।

"चत्तारि केअणा पण्णत्ता। तं जहा–वंसीमूलकेअणए, मेंढविसाणकेअणए, गोमुत्तिकेअणए, अवलेह णियाकेअणए।

"चत्तारी" इत्यादि प्रकटम्, किन्तु केतनं सामान्येन वक्रं वस्तु पुष्पकरण्डस्य वा संबन्धि मुष्टिग्रहणस्थानं वंशादिदलकं तच्च वक्रं भवति, केवलमिह सामान्येन वक्रं केतनं गृह्यते, तत्र वंशीमूलं च तत्केतनं च वंशीमूलकेतनम् एवं सर्वत्र, नवरं मेढविषाणं मेढशृङ्गं, गोमूत्रिका प्रतीता(अवलेहणिय त्ति) अवलिङ्ग्यमानस्य वंशशलाकादेर्वा प्रतन्वी त्वक् साऽवलेखनिकेति। स्था०४ ठा०२ उ०।

केआ–(देशी) दामनि, दे० ना०२ वर्ग।

केआरवाणो–(देशी) पलाशे, दे०१ ना०२ वर्ग।

केइ–अव्य०(कश्चित् केचित्)। किमः सौ–जसि वा कः के, चित् प्रत्ययः। पदद्वयमित्यन्ते। वाच०। अनिर्दिष्टस्वरूपे, विशे०। "केइ राया रायपुत्तो वा" विपा०१ श्रु०२ अ०। स्था०। अनु०। अन्यशब्दार्थे, प्रश्न०३ आश्र० द्वार।

केउ–पुं०(केतु) चाय–तु क्यादेशः। प्रज्ञायाम्, राहोरर्द्ध–देहात्मके ग्रहभेदे, वाच०। ज्ञा०। अङ्कविन्यासप्रामाण्याभ्युपगामे अष्टाशीतितमे महाग्रहे, कल्प०६क्षण। अन्यथा अष्टाशीतितमो भावकेतुः। सू० प्र०२० पाहु०। स्था०। चिन्हे, ध्वजे, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०। जं०। रा०। जी०। औ०। स०। दीप्तौ, ज्योतिषप्रसिद्धे उत्पादभेदे च। वाच०। कन्दे, दे० ना०२ वर्ग।

केउकर–पुं०(केतुकर) अद्भुतकार्यकारित्वेन चिह्नकारिणि औ०। ज्ञा०। स्था०। सूत्र०।

केउखेत्त–न०(केतुक्षेत्र) आकाशोदकनिष्पाद्यशस्ये क्षेत्रभेदे, आव०६ अ०। ध०।

केउभूय–त्रि०–(केतुभूत)। दृष्टिवादस्य सिद्धश्रेणिकापरिकर्मणः चतुर्थे दशमे च भेदे, स०।

केउमई–स्त्री०(केतुमती) किन्नरस्य किन्नरेन्द्रस्य किंपुरुषस्य किंपुरुषेन्द्रस्य चाग्रमहिष्याम्, भ०१० श०५ उ०। स्था०। (अस्या भवान्तरकथा 'अग्गमहिसी' शब्दे प्र०भा०१७१ पृष्ठे दर्शिता)

केउय–पुं०(केतुक) जम्बूद्वीपस्य बाह्याया वेदिकाया दक्षिणस्यां पञ्चनवतियोजनान्यवगाह्य स्थिते द्वितीयमहापाताले, स्था०४ ठा०२ उ०।

केऊर–पुं(केयूर) के बाहुशिरसि याति, या ऊर किच, अलुक्समासः। वाच०। बाह्वाभरणविशेषे, आ०म०प्र०। औ०। रा०। जं०। "अंगयाइं केउराइं कडगाइं तुडियाइं कडिसुत्तयं दसमुद्दियाणंतयं" इत्यादि। अङ्गदं केयूरं च बाह्वाभरणविशेष एतयोश्च यद्यपि नामकोशे एकार्थतोक्ता, तथाऽपीहाकारविशेषाद भेदोऽवगन्तव्यः। भ०६ श०३३ उ०। ज्ञा०। मेरोर्दक्षिणस्यां दिशि पातालकलशे, "बलयामुह–केऊरे, जूए य तह ईसरे य वोद्धव्वे"। केयूरः किऊरो वा। समवाया–ङ्गटीकायां तु केतुकः। प्रव०२७२ द्वार।

केंसुअ–न०(किंशुक) किंशुकस्य पुष्पम्। पुष्पफले, **"बहुलम्"**।८।१।२। इति अणो लुक्। **"किंशुके वा"**।८।१।८६। इत्यादेरित एकारः। प्रा०१ पाद। पलाशपुष्पे, ज्ञा०१ श्रु०१६ अ०।

केकई–स्त्री०[कै(के)क(के)यी] कैकयानां राजा अण् कैकेयः। जन्यजनकभावरूपे पुंयोगे ङीप्। कैकेयी, कैकयी, केकयी वा। केकयनृपकन्यायाम्, वाच०। अष्टमवासुदेव–लक्ष्मणमातरि, आव०१ अ०। आ०चू०। ति०। अस्याः सुमित्रेति द्वितीयं नाम (भाषाटीका) स०। अपरविदेहे, सलिलावतीविजये वीतशोकायां नगर्याम्, विभीषणवासुदेवस्य मातरि च। आ०म०प्र०।

केयई–स्त्री०[कै(के)क(के)यी] पूर्वोक्तशब्दार्थे, वाच०।

केक(य)य–पुं०(केकय)देशभेदे, स च श्रर्द्धेन आर्योऽर्द्धेनानार्यः। "केकयकिरायहयमुहखरमुहगयतुरगमिंढयमुहा य" प्रव०२७५ द्वार। प्रज्ञा०। सूत्र०। "केकय अद्धं च आरियं भणियं" सूत्र०१ श्रु०५ अ०१ उ०। केकयार्द्धजनपदः श्वेतवीनगरीराजस्य। स्था०८ ठा०। स च देशः कर्मविभागे उत्तरस्यामुक्तः। वाच०।

केका(गा)इय–न०(केकायित) मयूराणां शब्दे, ज्ञा०१ श्रु०३ अ०।

केज्ज–त्रि०(क्रय्य) क्रयणीये, स्था०६ ठा०।

केढव–पुं०(कैटभ) **"ऐत एत्"** ८।१।१४८। इति ऐत एत्वम्। प्रा०१ पाद। **"सटाशकटकैटभे ढः"** ८।१।१६६।

इति टस्य ढः। प्रा०१ पाद। **"कैटभे भो वः"** ८।१।२४०। इति भस्य वः। मधुभ्रातरि दैत्यभेदे, प्रा०१ पाद।

केतिअ–त्रि०(कियत्) किमः परिमाणे वतुप्। वस्य यः। **"इदं किमश्च डेत्तिअडेत्तिलडेद्दहाः"** ॥८।२।१५७॥ इदंकिंभ्यां यत्तदेतद्भ्यश्च परस्यातोर्डावतोर्वा डित् एत्तिअ एत्तिल एद्दह इत्यादेशा भवन्ति, एत्तल्लुक् च। इत्यतः स्थाने डेत्तिअ डेत्तिल डेद्दह रूपमादेशत्रयम्; डित्वादिलोपः। केत्तिअं, केत्तिलं केद्दहं। किंपरिमाणपरिमिते, प्रा०२ पाद।

केतिस–त्रि०(कीदृश)किम् दृशः कञ् **"इदंकिमो रीश्कीः"** ॥६।३।९०॥इति(पाणि०) किमः की। पैशाच्याम्–**"यादृशा–देर्दुस्तिः"** ८।४।३१७। इति दृ इत्यस्य स्थाने तिरादेशः। किंप्रकारे, प्रा०४ पाद।

केतूव–पुं०(केयूप) मेरोर्दक्षिणस्यां दिशि महापाताले, जी०३ प्रति०।

केत्तुल–त्रि०[(केवड) कियत्] **"अतोर्डेत्तुलः** ८।४।४३५। इति किमः परस्यातोः प्रत्ययस्य डेत्तुल इत्यादेशः। प्रा०४ पाद। **"वेदंकिमोर्यादेः"**।८।४।४०८। इति अत्वन्तस्य किमो यादेरवयवस्य डित् एव ड इत्यादेशः।प्रा०४ पाद। किम्परिमाणपरिमित्ते, प्रा०४ पाद।

केत्थु–अव्य०(कूत्र) **"एत्थु कुत्रात्रे"** ।८।४।४०५। अपभ्रंशे कुत्र इत्येतस्य शब्दस्य डित् एत्थु इत्यादेशः। कस्मिन्नित्यर्थे, प्रा०४ पाद।

केम्ब–अव्य०(कथम्) अपभ्रंशे तथारूपता। केन प्रकारेणेत्यर्थे, "जो पुण अग्गिं सीअला, तसु उण्हत्तणु केम्ब" ? प्रा०४ पाद।

केय–पुं०(केत) 'कित' निवासे इत्यस्य धातोः कित्यन्ते उष्यन्तेऽस्मिन्निति घञि केतः। गृहे, प्रव०४ द्वार। चिह्ने, अङ्गुष्ठमुष्टि-गृहादिके, स्था०४ ठा०। केयमिति गृहम्। "केयं णाम चिन्हं" आ०चू०६अ०। भावे घञ्। वासे, प्रज्ञायां, संकल्पे, मन्त्रणे, ज्ञातरि च। वाच०।

***क्रेय**–त्रि० क्रयणीये, स्था०८ ठा०।

केयइअद्ध–न०(कैकयार्द्ध) कैकयजनपदस्यार्द्धे, यत्र श्वेताम्बिका नगरी, तच्च आर्य्यक्षेत्रम्। "सेयविया न नयरी, केयइअद्धं च आरियं भणियं"। प्रज्ञा०१ पद। प्रव०।

केयई–स्त्री०(केतकी) केतकशब्दात् **"षिद्गौरादिभ्यश्च"** ४।१।४१। षिद्भ्यो गौरादिभ्यश्च ङीष् इति (पाणि०) ङीष् वलयाख्यवनस्पतिभेदे, प्रज्ञा०१ पद। आचा०। गुच्छवनस्पतिभेदे, प्रज्ञा०१ पद। संख्यातजीवन-स्पतिभेदे, भ०८श० २ उ०। गन्धद्रव्यभेदे च। रा०। केतकी पाटला। जं०१ वक्ष०।

केयग–पुं०(केतक) कित निवासे ण्वुल्, केतकः। सूचिकापुष्पोजम्बुकः *क्रकचच्छद इत्युक्तलक्षणे वृक्षे, तत्पुष्पे, न०। केत स्वार्थे कः। ध्वजे,* पुं०। वाच०। अङ्गुष्ठमुष्टिग्रन्थिगृहादिके चिह्ने, स्था०१० ठा०।

केयण–न०(केतन) सङ्केते, व्य०४ उ०। शृङ्गमयधनुर्मध्ये काष्ठमय-मुष्टिकायाम्, उत्त०। "धणुं परक्कमं किच्चा, जीवं च इरियं सया॥ धिइं च केयणं किच्चा, सच्चेणं पलिमंथए॥२१॥" केतनं शृङ्गमयं धनुर्मध्ये काष्ठ मुष्टिस्थानं कृत्वा। उत्त०९ अ०। मत्स्यबन्धते, सूत्र०१ श्रु०३ अ०१ उ०। सामान्येन वक्रे वस्तुनि, पुष्पकरण्डस्य वा सम्बन्धिनि मुष्टिग्रहणस्थाने वंशादिदलके, स्था०४ ठा०२ उ०। नि० चू०। (तच्चतुर्विध्यदृष्टान्तेन मायाप्ररूपणं 'माया' शब्दे करिष्यते) "से केयणं अरिहइ पूरित्तए" द्रव्यकेतनं चालनीपरिपूर्णकः समुद्रो वेति, भावकेतनं लोभेच्छा, तदसावनेकचित्तं केनाप्यभृतः पूर्वं पूरयितुमर्हति। आचा०१ श्रु०३ अ०२ उ०। निमन्त्रणे, ध्वजे, गृहे, चिन्हे, स्थाने, कृत्ये, ध्वजे, वाच०।

केयव–न०(कैतव)कितवस्य भावः कर्म्म वा। नाट्ये, द्यूते, वैडूर्य्यमणौ, स्वार्थे अण्। कितवे, शठे, द्यूतकारके, धत्तूरे च। पुं०। "कैतवेनाक्षवत्यां वा, युद्धे वा नाम्यतां धनुः"। "दीव्य यत् कैतवं पाण्डव ! तेऽवशिष्टम"। यदवोचस्तदवैमि कैतवम्। वाच०। आ०म०द्वि०।

केयाघडिया–स्त्री०(केयाघटिका) रज्जुप्रान्तबद्धघटिकायाम् भ०१३ श०९ उ०।

केयाघडियाकिच्चहत्थगय–त्रि०(केयाघटिकाकृत्यहस्तगत) केयाघटिकालक्षणं यत्कृत्यं कार्य्यं तद्धस्ते गतं यस्य स तथा। हस्तधृतकेयाघटिकाके, "केयाघटियं किच्चं हत्थगयाइं रूवाइं विउव्वित्तए"। भ०१३ श०९ उ०।

केयार–पुं०(केदार) केशिरसि दारोऽस्य, केन जलेन दारो यस्य वा। एत्वम्। हिमालयस्थे पर्वतभेदे, तत्स्थे शिवलिङ्गभेदे, जलनिवारणार्थं चतुष्पार्श्वे सेतुबन्धयुक्ते क्षेत्रे आलवाले, वाच० वप्रे, आचा०२ श्रु०११ अ०।

केरव–पुं०(केरव) स्त्री०। के जले रौति रु अच्, अलुक्समासः। हंसे, वाच०। तस्य प्रियम् अण्। कुमुदे, शुक्लोत्पले, शत्रौ, पुं०। कैतवे, न०। वाच०। आ० म०।

केरिस–त्रि०(कीदृश) **"दृशेः क्विप् टक्सकः"** ८।१।१४२। इति ऋतौ रिरादेशः। प्रा०१ पाद। **"एत्पीयूषापीडबिभीतककीदृशेदृशे"** ।८।१।१०५। इति ईत एत्वम्। प्रा०१ पाद। किम्प्रकारे, "अणुभावे केरिसे वुत्ते" सू० प्र०१ पाहु०।

केल–पुं०(कदल) वृषा०कलच्। **"वा कदले"** ।८।१।१६ ७। इत्यादेः स्वरस्य परेण सस्वरव्यञ्जनेन सह एद्वा। प्रा०१ पाद। रम्भावृक्षे, वाच०।

केलाय–णिच् धा०(समारच्)सम्यक् समन्तात् प्रतियत्ने, **"समारचेरुवहत्थसारवसमारकेलायाः"**॥८।४।९५॥ इति समारचेः केलायाऽऽदेशः। "केलायइ, समारअइ, समारचयति" प्रा०४ पाद।

केलास–पुं०(कैलास) केला विलासः सीदत्यस्मिन्निति। सद आधारे–वा *ड। स्फटिके, वाच०।*

केलास–पुं० के जले लासो लसनं दीप्तिरस्य। अलुक्समासः। केलासः स्फटिकस्तस्येव शुभ्रः अण्। केलीनां समूहः अण्। कैलम्। तेनास्यतेऽत्र। आस–आधारे घञ् वा। वाच०। **"ऐत एत्"**।८।१।१४८। इत्यैकारस्य एत्वम्। प्रा०१ पाद। शिवकुबेरयोः स्थाने पर्वतभेदे, वाच०। "केलासभवणा एए, गुज्झगा अगया महिं। चरंति जक्खरूवेणं, पूयापूया हियाहिया॥१॥" स्था०

५ ठा०३ उ०। अनुबेलन्धरनागराजभेदे, तदावासपर्वते च। स्था०४ ठा०२ उ०। भाजनविशेषे, तैलकैलासो राष्ट्रप्रसिद्धो मृण्मस्तैलभाजनविशेषः। नि०३ वर्ग। ज्ञा०। नन्दीश्वरस्थे तदधि पदेवे, सू० प्र०१० पाहु०। राहुमण्डलस्थे नवमे कृत्स्ने पुद्गले, सू० प्र०२० पाहु०। चं० प्र०। साकेतनगरे जाते स्वनामख्याते गृहपतौ, तत्कथा अन्तकृद्दशासु षष्ठे वर्गे सप्तमेऽध्ययने सूचिता। यथा–स च साकेतनगरे जातस्तत्रैव श्रीवीरान्तिके प्रव्रज्य द्वादश वर्षाणि प्रव्रज्यापर्यायं परिपाल्य विपुले सिद्धः। अन्त०६ वर्ग।

केलाससम–त्रि०(कैलाससम) कैलासपर्वततुल्ये, उत्त० ८ अ०। "सुवन्नरुप्पस्स य पव्वया भवे, सिया हु केलाससमा असंखया। नरस्स लुद्धस्स न तेहि किंचि, इच्छा हु आगाससमा अणंतिया"॥४८॥ उत्त०९ अ०।

केलि–पुं०,स्त्री०(केलि) केल–इन्। द्यूतक्रीडादिकायां क्रीडायाम् ध०२ अधि०। प्रव०। जी०। परिहासे, बृ०१ उ०। नर्मणि, कामे च। औ०। "विहारे सह कान्तेन, क्रीडितं केलिरुच्यते।" पृथिव्याम्, वाच०।

केली–स्त्री०(कदली) **"वा कदले"** ॥८।१।१६७॥ इति आदेः स्वरस्य परेण सस्वरव्यञ्जनेन सह एद् वा। रम्भायाम् प्रा०१ पाद।

केवइय–त्रि०(कियत्) किंपरिमाणे, भ०६ श०१ उ०। कियत्संख्याके, "केवइया णं भंते ! दीवसमूहा पण्णत्ता।" जी०३ प्रति०। "ओभासति केवतियं, सेयाए किं ते संठिती।" सू० प्र०१ पाहु०। "केवइयं कालं ति" कियता कालेन निर्वर्त्यते। भ०१२ श०४ उ०। कतिकालं यावति इत्यर्थे, स्था०३ ठा०१ उ०।

केवट्ट–पुं०(कैवर्त्त) स्त्री०। के जले वर्तते वृत् अलुक्स–मासः। ततः स्वार्थे अण्। **"त्तस्याधूर्ताऽऽदौ"** ।८।२।३०। इति त्तस्य ट्टः। 'केवट्टो'। प्रा०१ पाद। धीरवरजातौ, वाच०।

केवडिय–(देशी) रूपके, बृ०१ उ०।

केवल–न०(केवल) केवृ सेवने, वृषा० कल। शिरसि बलयति चुरा० बल प्रापणे अच्। वाच०। संपूर्णे, आ०चू०३ अ०। परिपूर्णे, नि०१ वर्ग। विशे०। स्था०। ज्ञा०। अनु०। भ०। अनन्ते, एकस्मिन् स्था०३ ठा०४ उ०। असहाये, स्था०२ ठा०१ उ०। पा०। दशा०। औ०। आ०म०। कर्म०। अद्वितीये, भ०९ श०३३ उ०। ज्ञा०। शुद्धे अन्यपदार्थासंसृष्टे, दश०४ अ०। "केवलं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइज्जा" केवलां शुद्धां संपूर्णां वा, अनगारतामिति योगः। भ०९ श०३१ उ०। 'केवलमाण' शब्दे दर्शयिष्यमाण–स्वरूपे परिपूर्णे ज्ञाने, स्था०४ ठा०१ उ०।

केवलकप्प–पुं०(केवलकल्प) केवलः परिपूर्णः कल्पत इति कल्पः, स्वकार्य्यकरणसामर्थ्योपेतः। ततः कर्मधारयः। भ०३ श०१ उ०। ज्ञा०। स्था०। नि०। केवलकल्पे परिपूर्णे, भ०६ श०५ उ०। "केवलकप्पं जंबूद्दीवं" जी०३ प्रति०। केवलकप्पा पुढवी चलेज्जा" केवलैव केवलकल्पा, ईषदूनता चेह न विवक्ष्यते, अतः परिपूर्णेत्यर्थः। परिपूर्णप्राया चेति। स्था०३ ठा०४ उ०।

केवलक्खर–न०(केवलाक्षर) केवलज्ञाने, विशे०।

केवलजुयलावरण–न०(केवलयुगलावरण) केवलयुगलं केवलज्ञानकेवलदर्शनरूपं तस्य आवरणे आच्छादके कर्मणि केवलज्ञानावरणकेवलदर्शनावरणद्विके, कर्म०५ कर्म०।

केवलणाण–न०(केवलज्ञान) केवलणाणे दुविहे पन्नत्ते। तं जहा–भवत्थकेवलनाणे चेव, सिद्धकेवलनाणे चेव"। (व्याख्याऽस्य स्वस्वस्थाने व्याख्यास्यते) स्था०२ ठा०१ उ०। कर्म०। भ०। यथावस्थिताशेषभूतभवदभाविभावस्वभावावभासिनि, स्था०५ ठा०३ उ०। समस्तपदार्थाविर्भावके, सूत्र०१ श्रु०६ अ०। अनु०। प्रत्यक्षज्ञानभेदे, विशे०।

(१) केवलज्ञानशब्दार्थनिरूपणम्।
(२) केवलज्ञानस्वरूपनिर्वचनम्।
(३) केवलज्ञानलक्षणम्।
(४) केवलज्ञानस्य सिद्धिः।
(५) केवलज्ञानस्य प्रतिपादनम्।
(६) केवलज्ञानस्य साद्यपर्यवसितत्वनिरूपणम्।
(७) अस्याप्राप्य विषयपरिच्छेदकत्वप्ररूपणम्।
(८) केलज्ञानभेदाः।
(९) सिद्धकेवलज्ञानस्य द्वैविध्यनिरूपणम्।
(१०) सिद्धस्वरूपनिरूपणम्।
(११) समुत्पन्नकेवलज्ञानस्य शब्देन देशनां ददतो न काऽपि क्षतिः।
(१२) सत्पदप्ररूपणा।
(१३) कीदृशं केवलज्ञानं भवति।
(१४) केवलज्ञानदर्शनयोः प्रतिबन्धः।

(१) अथ केवलज्ञानविषयं शब्दार्थमाह–

केवलमेगं सुद्धं, सगलमसाहारणं अणंतं च।
पायं च नाणसद्दो, नामसमाणाहिगरणोऽयं ॥८४॥

केवलमिति व्याख्येयं पदम्। ततः केवलमिति कोऽर्थः ? इत्याह–एकमसहायम्, इन्द्रियादिसाहाय्यानपेक्षित्वात्, तद्भावे शेषछाद्मस्थिकज्ञाननिवृत्तेर्वा। शुद्धं निर्मलं, सकलावरणमलकलङ्कविगमसंभूतत्वादिति। सकलं परिपूर्णं, संपूर्णज्ञेयग्राहित्वात्। असाधारणमनन्यसदृशं, तादृशापरज्ञानाभावात्। अनन्तम्, अप्रतिपातित्वेनाविद्यमानपर्यन्तत्वात्। इत्येकादिष्वर्थेषु केवलशब्दोऽत्र वर्त्तते। केवलं च तद् ज्ञानं च केवलज्ञानमिति समासः। आह–नन्वाभिनिबोधिकादीनि ज्ञानवाचकानि नामान्येव भाष्यकृता "अत्थाभिमुहो नियओ" इत्यादौ सर्वत्र व्युत्पादितानि, ज्ञानशब्दस्तु न क्वचिदुपात्तः, स कथं लभ्यते ? इत्याशङ्क्याह (पायं चेत्यादि) प्रक्रमलब्धो ज्ञानशब्द आभिनिबोधिकश्रुतादिभिर्ज्ञानाभि–धायकैर्नामभिः समानाधिकरणः स्वयमेव योजनीयः, स च योजित एव। तद्यथा–आभिनिबोधिकंच तद् ज्ञानं च, श्रुतं च तज्ज्ञानं चेत्यादि। क्वचिद्वैयधिकरण्यसमासोऽपि संभवतीति प्रायोग्रहणम्। स च मनः पर्यायज्ञाने दर्शित एव। अन्यत्रापि च यथासंभवं द्रष्टव्यम्। इति गाथार्थः ॥८४॥ विशे। बृ०। आ०म०। नं०

(२) केवलज्ञानस्वरूपनिर्वचनम्–

केवलमेकमसहायं, मत्यादिज्ञाननिरपेक्षत्वात्। केवलज्ञान–

प्रादुर्भावे मत्यादीनलाभसंभवात् । ननु पुनः कथमसंभवः ? यावता मतिज्ञानादीनि स्वस्वावरणक्षयोपशमेऽपि प्रादुष्यन्ति, ततो निर्मूलस्वस्वावरणविलये तानि सुतरां भविष्यन्ति ? चारित्रपरिणामवत्। उक्तं च "आवरणदेसविगमे, जाइं विजंति मइसुयाईणि। आवरणसव्वविगमे, कह ताइं न होंति जीवस्स?"॥१॥ उच्यते—इह जात्यस्य मरकतादिमणेर्मलोपदिग्धस्य यावन्नाद्यापि समूलमलापगमस्तावद्यथा यथा देशतो मलविलयस्तथा तथा देशतोऽभिव्यक्तिरुपजायते, सा च क्वचित्कदाचित्कथञ्चिद्भवति इत्यनेकप्रकारा, तथाऽऽत्मनोऽपि सकलकालावलम्बिनिखिलपदार्थपरिच्छेदरकरणैकपारमार्थिकस्वरूपस्याप्याऽऽवरणमलपटलतिरोहितस्वरूपस्य यावन्नाद्यापि निखिलकर्म-मलापगमस्तावद्यथा देशतः कर्ममलोच्छेदः तथा तथा देशतः तस्य विज्ञप्तिरुज्जृम्भते, सा च क्वचित्कदाचित्कथञ्चिदित्यनेकप्रकारा। उक्तं च—"मलविद्धमणिव्यक्तिर्यथाऽनेकप्रकारतः। कर्मविद्धाऽऽत्मविज्ञप्तिस्तथाऽनेकप्रकारतः"॥१॥ सा चानेकप्रकारतः मतिश्रुतादिभेदेनावसेया। ततो यथा मरकतमणेरयशेषमला-पगमसंभवे समस्तास्पष्टदेशव्यक्तिव्यवच्छेदेन परिस्फुटरूपैकाऽभिव्यक्तिरुपजायते, तद्वदात्मनोऽपि ज्ञानदर्शन चारित्रप्रभावतो निःशेषाऽऽवरणप्रहाणादशेषज्ञदेशज्ञानव्यवच्छेदेनैकरूपा अतिपरिस्फुटा सर्ववस्तुपर्यायसाक्षात्कारिणी विज्ञप्तिरुल्लसति । तथा चोक्तम्—"यथा जात्यस्य रत्नस्य, निःशेषमलहानितः । स्फुटैकरूपाभिव्यक्ति र्विज्ञप्तिस्तद्वदात्मनः"॥१॥ ततो मत्यादिनिरपेक्षं केवलज्ञानम् । नं० । तथा चागमः —"केवली णं भंते ! आयाणेहिं जाणइ पासइ ? गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे। से केणट्ठेणं ?। गोयमा ! केवली णं पुरच्छिमेणं मियं पि जाणइ, अमियं पि जाणइ० जाव निव्वुडे दंसणे केवलिस्स से तेणट्ठेणं जीवाण य सुहं दुक्खं जीवे जीवइ तहेव भविया य एगंतदुक्खवेयण अत्तमाया य केवली, सेवं भंते त्ति ।" भ०६ श०१० उ० । अथ वा शुद्धं केवलं, तदाऽऽवरणमलकलङ्कस्य निःशेषतोऽभ्युपगमात्; सकलं वा केवलं, प्रथमत एवाशेषतदाऽऽवरणापगमतः संपूर्णोत्पत्तेः; असाधारणं वा केवलम्, अनन्यसदृशत्वात्, अनन्तं वा केवलं, ज्ञेयानन्तत्वात्। केवलं च तज्ज्ञानं च केवलज्ञानम्। नं०।

अथ किंस्वरूपं केवलज्ञानम् ? इत्याह—

स्वरूपमात्मनो द्योतत्, किं त्वनादिमलाऽऽवृतम्।
जात्यरत्नांशुवत्तस्य, क्षयात्स्यात्तदुपायतः ॥३॥

स्वरूपं स्वभाव एव, अवधारणार्थस्य हिशब्दस्येह संबन्धात् कस्थेत्याह—आत्मनो जीवस्य एतत् केवलज्ञानम्। एतेन चेदमुक्तं भवति—न प्रतिवियोगमात्रं केवलज्ञानं, तस्याभावरूपत्वात्। नाप्यात्मनो भिन्नं, पुरुषान्तरज्ञानसंवेदनप्रसङ्गात् नापि समवायवशात् तत्र वर्तत इति समवायकृतो विशेषः, तस्यैकत्वेन सर्वत्र तद्वर्तनप्रसङ्गादिति । ननु यद्येतदात्मनः स्वरूपं तत्कुतः सदा नोपलभ्यते ?इत्यत्राह—किं तु केवलमनादिरप्राथम्यो योमलो ज्ञानावरणादिकर्मरूपः, तेनावृतमाच्छादितम्; अनादिमलावृतमिति कृत्वा सदा नोपलभ्यते । अनादित्वं च कर्ममलस्य प्रवाहापेक्षया, सादित्वे चास्य मुक्तस्येव बन्धाभावः स्यादिति । किंवदित्याहजात्यं प्रधानं यद्रत्नं माणिक्यमरकतादि, तस्यांशवः किरणास्त इव, जात्यरत्नांशुवत् तस्यानादिमलस्य, क्षयाद्विनाशात्, स्यात्संजायते तत्केवलज्ञानम् । मलक्षय एव कथं स्यादित्याह उपायत उपायाद्धेतोः, सामायिकाभ्यासलक्षणात् । नन्वनादित्वादेव न युक्तोऽस्य कर्ममलवियोगो व्योमात्मनोरिव । नैवम्। अनादित्वेऽपि रत्नांशुमलसंयोगस्योपायतः क्षयदर्शनात्। आह च—"जह चह कंचणोवल—संजोगोऽणाइ संतइगओ वि। वोच्छिज्जाइ सुवायं, तह जोगो जीवकम्माणं ॥३॥"

नन्वाऽऽत्मस्वरूपत्वेऽपीदं केवलज्ञानं कथं लोकालोकप्रकाशकमित्यत आह—

आत्मनस्तत्स्वभावत्वा—ल्लोकालोकप्रकाशकम्।
अत एव तदुत्पत्ति—समयेऽपि यथोदितम् ॥४॥

आत्मनो जीवस्य, तल्लोकालोकप्रकाशनं, स्वभावो यस्य स तथा, तद्भावस्तत्त्वं, तस्मात्तत्स्वभावत्वात् लोकालोकप्रकाशकं सकलपदार्थसार्थाविर्भावकमित्यर्थः, केवलमिति प्रकृतम् । ननूत्पत्तिसमये तद्यथोक्तप्रकाशं न संगतम्, उत्पद्यमानत्वात् दीपादिरिव। दीपो हि क्रमेण स्वप्रकाश्यं प्रकाशयतीत्यत आह (अत एवेति) यत एव तल्लोकालोकप्रकाशकस्वभावात्मरूपम् अत एव कारणात्तत्केवलज्ञानमुत्पत्तिसमयेऽपि प्रादुर्भावक्षणेऽपि, आस्तामुत्पत्तिसमयानन्तरम् । यथोदितमुक्तस्वरूपमेव, युगपल्लोकालोकप्रकाशकमित्यर्थः ॥४॥ हा०३अष्ट० । सम्भ०।

(३) तल्लक्षणम्। सकलप्रत्यक्षं लक्षयन्ति—

सकलं तु सामग्रीविशेषतः समुद्भूतसमस्तावरणक्षयाऽपेक्षं निखिलद्रव्यपर्यायसाक्षात्कारिस्वरूपं केवलज्ञानमिति।२३।

सामग्री सम्यग्दर्शनादिलक्षणाऽन्तरङ्गा तु बहिरङ्गा तु जिनकालिकमनुष्यभवादिलक्षणा, ततः सामग्रीविशेषात्प्रकर्षप्राप्तसामग्रीतः, समुद्भूतो यः समस्तावरणाक्षयः सकलघातिसंघातविघातः, तदपेक्षं सकलवस्तुप्रकाशस्वभावं, केवलज्ञानं ज्ञातव्यम्।

(४) केवलज्ञानस्य सिद्धिः—

यस्तु नैतदमंस्त मीमांसकः, मीमांसनीया तन्मनीषा । तथाहि बाधकभावात्साधकाभावाद्वा सकलप्रत्यक्षप्रतिक्षेपः ख्याप्येत आद्यपक्षे प्रत्यक्षम्, अप्रत्यक्षं वा बाधकमभिदध ीः ? प्रत्यक्षं चेत्पारमार्थिकं, सांव्यवहारिकं वा ? पारमार्थिकमपि विकलं, सकलं वा ?। विकलमप्यवधिलक्षणं, मनःपर्यायरूपं वा ? नैतत्पक्षद्वयमपि क्षेमाय, द्वयस्यास्य क्रमेण रूपिद्रव्यमनोवर्गणागोचरत्वेन तद्बाधनविधावधीरत्वात्। सकलं चेत्, अहो ! शुचिविचारचातुरी, यत्केवलमेव केवलप्रत्यक्षस्यास्याभावं विभावयतीति वक्षि, वन्ध्याऽपि प्रसूयतामिदानीं स्तनन्धयान्, बान्ध्येयोऽपि च विधत्तामुत्तंसान्। सांव्यवहारिकमप्यनिन्द्रियोद्भवम्,इन्द्रियोद्भवं वा ? न तावत् प्रथमम्, अस्य प्रातिभाऽतिरिक्तस्य स्वात्माविष्वग्भूतसुखादिमात्रगोचरत्वात्। प्रातिभं तु तद्बाधकं नानुभूयत एव। ऐन्द्रियं तु स्वकीयं, परकीयं वा ?। स्वकीयमपीदानीमत्र तद्बाधेत, सर्वत्र वा ? प्राचि पक्षे पिष्टं पिनष्टि भवान्, तथा तदभावस्यास्माभिरभ्यभीष्टेः । द्वितीये तु सर्वदेशकालानाकलय्येदं तदभावमुद्भावयेत्, इतरथा वा? आकलय्य चेदाकालं नन्दताद्भवान्, भवत्येव सकलकाल-कलाकलापाशेषदेशविशेषवेदिनि वेदनस्य तादृशप्रसिद्धेः। अनाकलय्य चेत्, कथं सकलदेशकालाऽनाकलने सर्वत्र सर्वदा वेदनं तादृक् नास्तीति प्रतीतिरुल्लसेत्, परकीयमपीदानीमत्र

तद्भावं बाधेत, सर्वत्र सर्वदा वेत्यादिविकल्पजालजर्जरीभूतं न तद्बाधनधुरां धारयितुं धीरतां दधाति। कथं वा परगृहरहस्याभिज्ञो भवानेवमभूत् ? तादृक्षप्रत्यक्षप्रतिक्षेपदक्षं प्रत्यक्षं प्रावर्तिष्ट ममेति तेन कथनाच्चेत्: यदि कथिते प्रत्ययः, तर्हि तादृक्षाध्यक्षप्रतिक्षेपि प्रत्यक्षं वास्त्येव,ख इत्युत्तम्भितहस्ता वयं व्याकुर्म्महे इति किं न तथाऽनुमन्यसे ? अथ न यौष्माकीणः प्रमाणप्रवीणः समुल्लापः परकीयः कथमिति वाच्यम् ? न खल्वयं स्वप्रत्यक्षं त्वत्प्रत्यक्षं कर्तुं शक्नोति, वचसा तु यथाऽसौ कथयति, तथा वयमपि। अथ तदुपदर्शितेऽर्थे संवादात्तद्वचः प्रमाणम्। नन्वेवं प्रत्यक्षम्, अप्रत्यक्षं वा संवादकं स्यात् ? इत्यादि पूर्वोक्तावर्त्तनेनानवस्थावल्लिरुल्लसन्ती कथं कर्तनीया ? किञ्चसंविदापमिन्द्रियागोचरत्वादैन्द्रियमध्यक्षं सकलप्रत्यक्षस्य विधौ, प्रतिषेधे वा मूकमेव वराकम्। न च त्वन्मतेनाऽभावः प्रत्यक्षेण प्रेक्ष्यते। तथात्वे हि किमिदानीमपहतसर्वस्वेन तपस्विनाऽभावप्रमाणेन कर्त्तव्यम् ? तन्न प्रत्यक्षं तद्बाधविधानसंविधानोद्धुरम्। अप्रत्यक्षमपि प्रत्यक्षाभावमात्रम्, अपरप्रमाणरूपं वा प्रणिगद्येत ? आद्यं चेद् तर्हि निद्राणदशायामम्भस्तम्भकुम्भाम्भोरुहाम्भोधरादिगोचरप्रत्यक्षाभावात् तेषामभावो भवेत्। द्वितीयं चेद्भावस्वभावम्, अभावस्वभावं वा ? भावस्वभावमप्यनुमानम्, शाब्दम्, अर्थापत्तिः उपमानं वा ? अनुमानं चेत्, कस्तत्र धर्मी?—सकलप्रत्यक्षं, पुरुषो वा कश्चित् ? सकलप्रत्यक्षं चेत्, तत्रोपादीयमानः समस्तो हेतुराश्रयासिद्धतामाश्रयेत्, भवतस्तस्याऽप्रसिद्धेः। पुरुषोऽपि सर्वज्ञः, तदन्यो वा धर्म्मी वर्ण्यते ? सर्वज्ञश्चेत् किं सर्वज्ञत्वेन निर्णीतः, पराभ्युपगतो वा ? निर्णीतश्चेत् कथं तत्र तादृक्षप्रत्यक्षप्रतिक्षेपः प्रेक्षाकारिणः कर्तुमुचितः ? तन्निर्णायकप्रमाणेनैव तद्बाधनात्। अथ सर्वज्ञत्वेन परैरभ्युपगतः पुमान् वर्द्धमानादिर्धर्मी, तर्हि किं तत्र साध्यम् ?—नास्तित्वम्, असर्ववित्त्वं वा ? न तावन्नास्तित्वं, तथाविधपुरुषमात्रसत्तायामुभयोरविवादात्, तथा व्यवहारपारमार्थिकापारमार्थिकत्व एव विप्रतिपत्तेः। असर्ववित्त्वं चेत्, कस्तत्र हेतुः?—उपलब्धिः अनुपलब्धिर्वा उपलब्धिश्चेत्, अविरुद्धोपलब्धिः, विरुद्धोपलब्धिर्वा? अविरुद्धोपलब्धिस्तावद् व्यभिचारिणी, नित्यत्वनिषेधाभिधीयमानप्रमेयत्ववत्। विरुद्धोपलब्धिस्तुकिं साक्षाद्विरुद्धोपलब्धिः, विरुद्धव्याप्तोपलब्धिः विरुद्धकार्योपलब्धिः, विरुद्धकारणोपलब्धिः, विरुद्धसहचराद्युपलब्धिर्वा स्यात् ? नाद्या, सर्वज्ञत्वेन साक्षात् विरुद्धस्य किञ्जिज्ज्ञत्वस्य तत्र प्रसाधकप्रमाणाभावात्। नाग्रेतनविकल्पचतुष्टयमपि घटामटाट्यते, प्रतिषेधस्य हि सर्ववित्त्वस्य विरुद्धं किञ्चिज्ज्ञत्वम् तस्य च व्याप्यं कतिपयार्थसाक्षात्कारित्वं कार्यं, कतिपयार्थप्रज्ञापकत्वं कारणमावरणक्षयोपशमः, सहचरादिरागद्वेषादिकम्: न च विवादोपादाने पुंसि तेषामन्यतमस्यापि किञ्चित्प्रमाणं तवास्ति, यतस्तदुपलब्धीनां सिद्धिः स्यात्। वक्तृत्वरूपा विरुद्धकार्योपलब्धिरस्त्येव तन्निषेधे साधनं साधिष्ठमिति चेत्। ननु कीदृग् वक्तृत्वमत्र विवक्षाचक्रे, यत्सर्ववित्त्वविरुद्धस्य कार्यं स्यात् ?—प्रमाणविरुद्धार्थवक्तृत्वं, तदविरुद्धार्थवक्तृत्वं वक्तृत्वमात्रं वा ? आद्यभिदायाम् असिद्धं साधनम्, वर्द्धमानादौ भगवति तथाभूतार्थवक्तृत्वाभावात्। द्वितीयभिदि तु, नेयं विरुद्धकार्योपलब्धिः, किन्तु कार्योपलब्धिरेव तद्विधिसाधनी, धूमध्वजसिद्धिनबन्धनोपन्यस्तधूमोपलब्धिवत्, तथा च विरुद्धो हेतुः। तृतीयभेदे त्वनेकान्तः, वक्तृत्वमात्रे सर्ववित्त्वकार्यत्वस्याविरोधात्। अनुपलब्धिरपि विरुद्धानुपलब्धिः, अविरुद्धानुपलब्धिर्वा? विरुद्धानुपलब्धिस्तावद्विधिसिद्धावेव साधीयस्तां दधाति, अनेकान्तात्मकं वस्तु, एकान्तस्वरूपानुपलब्धेः, इत्यादिवत्। अविरुद्धानुपलब्धिरपि स्वभावानुपलब्धिः, व्यापकानुपलब्धिः, कार्यानुपलब्धिः, कारणानुपलब्धिः, सहचराद्यनुपलब्धिर्वाऽभिधीयेत ? स्वभावानुपलब्धिरपि सामान्येन, उपलब्धिक्षणप्राप्तत्वविशेष्ज्ञाणा वा व्याक्रियेत ? पौरस्त्या तावन्निशाचरादिना व्यभिचारिणी। द्वितीया पुनरसिद्धा, सर्ववित्त्वस्य स्वभावविप्रकृष्टत्वात्। व्यापकानुपलब्धिप्रभृतयोऽपि विकल्पा अल्पीयांसः यतः सर्ववित्त्वस्य व्यापकं सकलार्थसाक्षातकारित्वं कार्यमतीन्द्रियवस्तूपदेशः, कारणमखिलावरणविलयः, सहचरादि क्षायिकचारित्रादिकम्; न च तत्र तदनुपलब्धीनां सिद्धौ साधनं किञ्चित्तेऽस्ति, इत्यसिद्धा एवाम्:। अथ सर्वज्ञादन्यः कश्चिद्धर्मी, तर्हि तस्यासर्ववित्त्वेसाद्ध्ये सिद्धसाध्यता, तन्नानुमानं तद्बाधकम् नापि शाब्दम् यतस्तदपौरुषेयं, पौरुषेयं वा स्यात् ? न तावदपौरुषेयम्, अपौरुषेयत्वस्य वचस्सु सम्भवाभावात्। पौरुषेयमपि केवलालोकाकलितपुरुषप्रणीतं, तदितरपुरुषप्रणीतं वा ?। आद्यां कथं बाधकं ?, विरोधात्। द्वितीये त्वसौ पुरुषः केवलालोकविकलाः सकलाः पुरुषपर्षदः प्रेक्षते, न वा ? प्राच्यपक्षे, कथं तत्प्रतिषेधः ? तस्यैवतदाकलितत्वात्। द्वितीयेऽपि क थन्तराम् तत्प्रणीतशब्दस्य पांशुलपादकोपदिष्टशब्दस्येव प्रमाणत्वासम्भवात्॥ नाप्यर्थापत्तिस्तद्बाधिका, तदभावमन्तरेणानुपपद्यमानस्य प्रमाणषट्कनिष्टङ्कितस्यार्थस्य कस्यचिदसत्त्वात्॥ नाप्युपमानं, तस्य सादृश्यमात्रगोचरत्वात्। तन्न भावरूपं प्रमाणं तद्बाधबद्धकक्षम्॥ नाप्यभावरूपम्, तस्य सत्तापरामर्शिप्रमाणपञ्चकाप्रवृत्तौ सत्यां भावात्। न चासौ समस्ति विवादास्पदं कस्यचित्प्रत्यक्षं, प्रमेयत्वात्पटवत्, इति तद्ग्राहकानुमानस्य प्रवृत्तेः। प्रवृत्तेः। तत्र बाधकभावात् सकलप्रत्यक्षाऽभावः। नापि साधकाभावाद्, अनुमानस्यैव तत्साधकस्येदानीमेव निवेदनात्। इति सिद्धं करतलकलितनिस्तुलस्थूलमुक्ताफलायमानाकलितसकलवस्तुविस्तारं केवलनामधेयं संवेदनम्। इति सिद्धमेवं केवलज्ञानम्॥२३॥ रत्ना०२ परि०।

(अह दिङ्मात्रमुपदर्शितं, विस्तरस्तु सर्वज्ञसिद्धिप्रक्रियाऽवसरे वक्ष्यते मतिज्ञानादिज्ञानचतुष्कभणनानन्तरम्)

(५) इदानीमवसरप्राप्तं केवलज्ञानं प्रतिपादयन्नाह—

अह सव्वदव्वपरिणा—मभावविण्णत्तिकारणमनंतं।
सासयमप्पडिवाई, एगविहं केवलं णाणं॥८२३॥

अथशब्द इहोपन्यासार्थः, पूर्वसमुद्देशसूत्रे मनःपर्यायानन्तरं केवलज्ञानमुपन्यस्तं, तत्संप्रति तात्पर्यनिर्देशार्थमुपन्यस्यते, इति पठितश्चाप्युपन्यासार्थोऽथशब्दः। यत उक्तम्—'अथ प्रक्रियाप्रआनन्तर्यमङ्गलोपन्यासप्रतिवचनसमुच्चयेष्विति'। सर्वाणि च तानि द्रव्याणि च जीवादीना, तेषां परिणामाः प्रयोगविस्र सोभयजन्या उत्पादादयः पर्यायाः सर्वद्रव्यपरिणामाः, तेषां भावः सत्ता स्वलक्षणं स्वं स्वमसाधारणं रूपं, तस्य विशेषेण ज्ञापनं विज्ञप्तिः, विज्ञानं वा विज्ञप्तिः, परिच्छेद इत्यर्थः। तस्याः कारणं हेतुः सर्वद्रव्यपरिणामविज्ञप्तिकारणं, केवलज्ञानमिति संबध्यते। उक्तं च—

"सव्वदव्वाण पओ—गवीससा—मीसजा जहाजोग्गं।
परिणामा पज्जाया, जम्मविणासादओ सव्वे ॥८२५॥
तेसिं भावो सत्ता, सलक्खणं वा विसेसओ तस्स।
नाणं विण्णत्तीए, कारणं केवलण्णाणं" ॥८२६॥

तच्च ज्ञेयानन्तत्वादनन्तं, तथा शश्वद्भवं शाश्वतं, सदोपयोगवदिति भावार्थः। तथा प्रतिपतनशीलं प्रतिपाति, न प्रतिपाति अप्रतिपाति, सदाऽवस्थायीति भावः। ननु यत् शाश्वतं तदप्रतिपात्येव, ततः किमनेन विशेषणेन? तदयुक्तम्, सम्यक् शब्दार्थापरिज्ञानात्। शाश्वतं हि नाम अनवरतं भवदुच्यते, शश्वद्भवं शाश्वतमिति व्युत्पत्तेः। तच्च कियत्कालमपि भवति, यावद्भवति तावन्निरन्तरं भवनात्ततः सकलकालसभावप्रतिपत्त्यर्थमप्रतिपाति विशेषणोपादानम्। एष तात्पर्यार्थः—अनवरतं सकलकालं भवतीति, अथवा एकपदव्यभिचारेऽपि विशेषणविशेष्यभावो भवतीति ज्ञापनार्थं विशेषणद्वयोपादानम्। तथाहिशाश्वतमप्रतिपात्येव, प्रतिपाति तु शाश्वतमशाश्वतं च भवति। यथा अप्रतिपात्यवधिज्ञानमिति। तथा एकविधमेकप्रकारं, तदावरणक्षयस्यैकरूपत्वात्।

उक्तं च —

"पज्जायओ अणंतं, सासयमिदं सदोवओगाओ।
अव्वयओ पडिवादी, एगविहं सव्वसुद्धीए" ॥८२८॥

(विशे०) केवलं च तद् ज्ञानं च केवलज्ञानम्। आ०म०प्र०। (६)अथ साद्यपर्यवसितं केवलज्ञानं सूत्रे प्रदर्शितम्। अनुमानं च तथाभूतस्य तस्य प्रतिपादकं संभवति। तथाहि— घातिकर्म चतुष्टयक्षयादाविर्भूतत्वात् केवलं सादि। न च तथोत्पन्नस्य पश्चात्तस्यावरणमस्त्यतोऽनन्तमिति न पुनरुपद्यते, विनाशपूर्वकत्वादुत्पादस्य।

न हि घटस्याविनाशे कपालानामुत्पादो दृष्ट इत्यनुत्पादव्ययात्मकं केवलमित्यभ्युपगमवतो निराकर्तुमाह —

केवलणाणं साई, अपज्जवसियं ति दाइयं सुत्ते।
तेत्तियमित्तो तूणा, केइ विसेसं ण इच्छंति ॥८८॥

केवलज्ञानं साद्यपर्यवसितमिति दर्शितं सूत्रे इत्येतावन्मात्रेण गार्विताः केचन विशेषं पर्यायं पर्यवसितत्वस्वभावं विद्यमानमपि नेच्छन्ति, ते न च सम्यग्वादिनः ॥८८॥

यतः—

जे संघयणाईया, भवत्थकेवलिविसेसपज्जाया।
ते सिज्झमाणसमये, ण होंति विगयं तओ होई ॥८९॥

ये वज्रऋषभनाराचसंहननादयो भवस्थकेवलिजन्मपुद्गलप्रदेशयोरन्योऽन्यानुवेधात् व्यवस्थितेः विशेषपर्यायाः, ते सिध्यत्समये अपगच्छन्ति। तदपगमे तदव्यतिरिक्तस्य केवलज्ञानस्याप्यात्मद्रव्यद्वारेण त्रिगमात्: अन्यथाऽवस्था—तुरवस्थानामात्यन्तिकभेदप्रसक्तेः, केवलज्ञानं ततो विगतं भवतीति सूत्रकृतोऽभिप्रायः।

विनाशवत्केवलज्ञानस्योत्पादोऽपि सिद्धयत्समय इत्याह—

सिद्धत्तणेण य पुण्णो, उप्पण्णो एस अत्थपज्जाओ।
केवलभावं तु पडुच्च केवलं दाइयं सुत्ते ॥९०॥

सिद्धत्वेनाशेषकर्मविगमस्वरूपेण पुनः पूर्ववदुत्पन्न एष केवलज्ञानस्योऽर्थपर्यायः, उत्पादविगमध्रौव्यात्मकत्वाद् वस्तुनोऽन्यथा वस्तुहानिः। यत्त्वपर्यवसितत्वं सूत्रे केवलस्य दर्शितं, तत्तस्य केवलभावं सत्तामात्रमाश्रित्य, कथञ्चिदात्मव्यतिरिक्तत्वात्तस्यात्मनश्च द्रव्यरूपतया नित्यत्वात् ॥९०॥

ननु केवलज्ञानस्याऽऽत्मरूपतामाश्रित्य तस्योत्पादविनाशाभ्यां केवलस्य तौ भवतः, न चात्मनः केवलरूपतेति कुतस्तद्वारेण तस्य तावित्याह —

जीवो अणाइणिहणो, केवलणाणं तु साइयमणंतं।
इय थोरम्मि विसेसे, कह जीवो केवलं होई ? ॥९१॥

जीवोऽनादिनिधनः, केवलज्ञानं तु साद्यपर्यवसितम्, इति स्थूरे विरुद्धधर्माध्यासलक्षणे विशेषे च्छायाऽऽतपवदत्यन्तभेदात् कथं जीवः केवलं भवेत् ? जीवस्यैव तावत् केवलरूपता असङ्गता दूरतः संहननादेरिति भावः।

तम्हा अण्णो जीवो, अण्णे णाणाइपज्जवा तस्स।
उवसमियाईलक्खण—विसेसओ केइ इच्छंति ॥९२॥

तस्माद् विरुद्धधर्माध्यासतोऽन्यो जीवः, अन्ये ज्ञानादिपर्यायाः लक्षणभेदाच्च तयोर्भेदः। तथाहि—ज्ञानदर्शनयोः क्षायिकः, क्षयोपशमिको वा भावो लक्षणम्। जीवस्स तु पारिणामिकादिभावो लक्षणमिति केचित् व्याख्यातारः प्रतिपन्नाः।

एतन्निषेधाऽऽह—

अह पुण पुव्वपउत्तो, अत्था एगंतपक्खपडिसेहो।
तह वि उयाहरणमिणं, ति हेउपडिजोयणं वोच्छं ॥९३॥

यदप्ययं पूर्वमेव द्रव्यपर्यायो भेदाभेदैकान्तपक्षप्रतिषेधलक्षणोऽर्थः प्रयुक्तो योजितः। "अप्पायड्डी भंगा" इत्यादिना अनेकान्तव्यवस्थापनात्, तथापि केवलज्ञाननैकान्तात्मकैकप्ररूपप्रसाधकस्य हेतोः साध्येनानुगमप्रदर्शकप्रमाणविषयमुदाहरणमिदमुत्तरगाथया वक्ष्ये ॥९३॥

तदेवाऽऽह—

जह कोइ सट्ठिवरिसो, तीसइवरिसो णराहिवो जाओ।
उभयत्थ जायसद्दो, वरिसविभागं विसेसेइ ॥९४॥

यथा कश्चित्पुरुषः षष्टिवर्षः सर्वायुष्कमाश्रित्य, त्रिंशद्वर्षः सन्नराधिपो जातः, उभयत्र मनुष्ये राजनि च जातशब्दोऽयं प्रयुक्तो वर्षविभागमेवास्य दर्शयति। षष्टिवर्षायुष्कस्य पुरुषसामान्यस्य नराधिपपर्यायो जातोऽभेदाध्यवसितभेदात्मकत्वात् पर्यायस्य, नराधिपपर्यायात्मकत्वेन वाऽयं पुरुषः पुनर्जातो, भेदानुषक्ताभेदात्मकत्वात्। सामान्यस्यैकान्तभेदे अभेदे तयोरभावप्रसङ्गान्निराश्रयस्य पर्यायप्रादुर्भावस्य तद्विकलस्यवा सामान्यस्यासंभवात् संशयविरोधवैयधिकरण्येऽनवस्थोभयदोषादीनामनेकान्तवादे च प्रागेव निरस्तत्वात् ॥९४॥

दृष्टान्तं प्रसाध्य दार्ष्टान्तिकयोजनायाऽऽह —

एवं जीवद्दव्वं, अणाइनिहणमविसेसियं जम्हा।
रायसरिसो उ केवलि—पज्जावो तस्स सविसेसो ॥९५॥

एवमन्तरोक्तदृष्टान्तवज्जीवद्रव्यमनादिनिधनमविशेषितभव्यजीवरूपं सामान्यं, यतो राजत्वपर्यायसदृशः केवलित्वपर्यायस्तस्य तथाभूतजीवद्रव्यस्य विशेषस्तस्माद् तेन रूपेण जीवद्रव्य सामान्यस्यापि कथञ्चिदुत्पत्तेः सामान्यमप्युत्पन्नं, प्राक्तनरूपस्य विगमात्। सामान्यमपि तदभिन्न कथञ्चिद्विगतपू-

वोत्तरपिण्डघटपर्यायपरित्यागोपादानप्रवर्तकमृद्द्रव्यत्केवलरूपतया जीवरूपतया वा अनादिनिधनत्वाच्चिन्त्यं द्रव्यमभ्युपगन्तव्यं, प्रतिक्षणभाविपर्यायद्युतस्य च मृद्द्रव्यस्याध्यक्षतोऽनुभूतेर्न दृष्टान्तासिद्धि। तस्मात्केवलं कथञ्चित्सादिकं, कथञ्चिदनादिकं, कथञ्चित्सपर्यवसानं, कथञ्चिदपर्यवसानं सत्त्वादात्मवदिति स्थितम्॥६५॥

न द्रव्यं पर्यायेभ्यो भिन्नमेवेत्याह–

जीवो अणाइनिहणो, जीव त्ति य णियमओ ण वत्तव्वो।
जं पुरिसाउयजीवो, देवाउयजीवियविसिट्ठो॥६६॥

जीवोऽनादिनिधनो जीव एव विशेषविकल्प इति न नियमतो वक्तव्यं, यतः पुरुषायुष्कजीवो देवायुष्कजीवाद्विशिष्टो जीव एव इति तत्त्वभेदे पुरुषजीव इत्यादिभेदो न भवेत्, केवलस्य सामान्यस्य विशेषप्रत्ययाभिधानान्निर्निमित्तस्यापि विशेषप्रत्ययाऽभिधानस्य संभवे सामान्यस्याभिधानस्यापि निर्निमित्तस्यैव भावात्तन्निबन्धनसामान्याऽभ्युपगमोऽप्ययुक्तः स्यादिति सर्वाभावः। न च विशेषप्रत्ययस्य बाधारहितस्यापि मिथ्यात्वम्, इतरथाऽपि तत्प्रसक्तेरिति प्रतिपादनात्, केवलज्ञानस्य कथञ्चिदात्मव्यतिरेकादात्मनो वा केवलज्ञानाव्यतिरेकात्॥६६॥

कथञ्चिदेकत्वं तयोरित्याह–

संखेज्जमसंखेज्जं, अणंतकप्पं च केवलं णाणं।
तह रागदोसमोहा, अण्णे वि य जीवपज्जाया॥६७॥

आत्मन एकत्वात् कथञ्चित्तदव्यतिरिक्तं केवलमप्येकम्, केवलस्य वा ज्ञानदर्शनरूपतया द्विरूपत्वात्तदव्यतिरिक्त आत्माऽपि द्विरूपोऽसङ्ख्येयप्रदेशात्मकत्वादात्मनः केवलमप्यसङ्ख्येयम्। अनन्तार्थविषयतया केवलस्यानन्तत्वादात्माऽप्यनन्तः, एवं रागद्वेषमोहा अन्येऽपि जीवपर्याया छद्मस्थाऽवस्थाभाविनः सङ्ख्येयासङख्येयानन्तप्रकारा आलम्ब्यभेदात्तदात्मकत्वात्स आत्माऽपि तद्वत् तथैव स्यात्। सोमिलब्राह्मणप्रश्नप्रतिवचने चागमे एतदर्थं प्रतिप्रश्न उत्तरम– "सोमिल ! एगे वि अहं० जाव अणेगभूयभावभविए य अहं। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ एगे वि अहं" इत्याद्युत्तरहेतुप्रश्ने हेतुप्रतिपादनम्– "सोमिल ! दव्वट्ठयाए एगे अहं णाणदंसणट्ठयाए अणेगे अहं" इत्यादि प्रकृतार्थसंवादिसिद्धे रागादीनां चैकाद्यनन्तभेदत्वमात्मपर्यायत्वात्, यो ह्यात्मपर्यायः स एकाद्यनन्तभेदो, यथा केवलावबोधः, तथा च रागादय इति स्थित्युत्पत्तिनिरोधात्मकत्व मर्हत्यपि सिद्धमिति यत्परेणोक्तमनेकान्तात्मकत्वाभावेऽपि केवलिनि सत्त्वाद्, यत् सत्तत्सर्वमनेकान्तात्मकमिति प्रतिपादकस्य शासनस्याव्यापकत्वात् शासनस्याव्यापकत्वात् कुसमयविशासित्वं तस्यासिद्धमिति, तत्प्रत्युक्तं द्रष्टव्यम्। सम्म०२ काण्ड।

(६) अथेदं किं प्राप्य विषयं परिच्छिनत्ति, अप्राप्य वा ?

अप्राप्येति ब्रूमः, कथम् ?, यतः –

आत्मस्थमात्मधर्मत्वात्, संवित्त्या चैवमिष्यते।
गमनादेरयोगेन, नान्यथा तत्त्वमस्य तु॥५॥

आत्मनि जीवे शरीरपरिमाणे तिष्ठति इत्यात्मस्थम्, शरीरपरिमाणता चास्य तत्रैव तदुपलब्धेः। कुतः ? आत्मस्थं तदित्याह- आत्मधर्मत्वात् जीवपर्यायत्वात्। यो हि यस्य धर्मः स तत्रैव वर्तते, तथा घटे रूपम्, आत्मधर्मश्च केवलज्ञानमिति, न केवलमात्मधर्मत्वात्तदात्मसंस्थं, संवित्त्या च स्वसंवेदनाच्च हेतोः। तथाहियद्यत्र संवेद्यते तत्तत्रैव प्रवर्तते, यथा घटे रूपं, संवेद्यते चात्मनि ज्ञानमित्यात्मस्थज्ञानसिद्धिः। तथा यद् यज् ज्ञानं तत्तदात्मस्थं, यथा रूपज्ञानं ज्ञानं च केवलमिति। एवमनेन प्रकारेणाऽऽत्मस्थतालक्षणेनेष्यतेऽभिमन्यते, केवलमिति प्रक्रमः। तदेवं संवेदनात् प्रणालिकयाऽऽत्मस्थकेवलसिद्धिः। अथ वा आत्मस्थं केवलमात्मधर्मत्वात्। अथाऽऽत्मधर्मत्वमेव कथम् ? इत्याह संवित्या पुनरेवमात्मधर्मत्वेन इष्यते केवलज्ञानं, संवेद्यते ह्यात्मधर्मतया ज्ञानं, ज्ञानं च केवलमित्यात्मधर्मस्तदित्यात्मधर्मलक्षणहेतुसिद्धिः। तथा गमनादेः केवलज्ञानस्थ ज्ञेपदेशे गत्यादेः, आदिशब्दात् ज्ञेयदेशं गत्वा पुनः स्वस्थानागमनग्रहः। अयोगेनलायुज्यमानत्वेन, केवलस्य ज्ञेयदेशगमने आत्मनो निःस्वभावत्वं स्यात्, तत्स्वरूपत्वादात्मनः, केवलस्थ चात्मधर्मत्वं न स्यात्, आत्मविरहेऽपि भावादिति। किमित्यत आह–नान्यथा नैवान्येन प्रकारेण प्राप्य परिच्छेदतो नात्मस्थतालक्षणेन तत्वं तत् रूपम् अस्य केवलस्य, तुशब्दोऽवधारणे, तस्य च प्रयोगो दर्शित एव। ततो यदभिधीयते–"अज्ञ वि धावइ नाणं, तह वि अलोओ अणंतओ चेव। अज्ञ वि न कोइ एवं, पावइ सव्वस्सुयं जीवो॥१॥" इति। तन्निरस्तमिति। अथ वा गमनादेरयोगेनाऽऽत्मस्थं तदिति योगोऽन्यथेति गमनादिसद्भावे पुनस्तत्त्वं केवलमस्य न स्यात्, केवलज्ञानं हि सकलज्ञानमुच्यते, अलोकश्चानन्तत्वेन गमनतः सकलो ज्ञातुमशक्यः। तुशब्दः पुनरर्थो, योजितश्चेति॥५॥

अथ यदीदमात्मस्थमेव तदा कथं चन्द्रादिप्रभोपमानमेतदभिधीयते– "स्थितः शीतांशुवज्जीवः प्रकृत्या भावशुद्धया। चन्द्रिकावच्च विज्ञानं, तदावरणमभ्रवत्" ॥१॥ इति।

अथोत्तरमाह मूलसूत्रम्–

यच्च चन्द्रप्रभाऽऽद्यत्र, ज्ञातं तज् ज्ञातमात्रकम्।
प्रभा पुद्गलरूपा य–त्तद्धर्मो नोपपद्यते॥६॥

आत्मस्थमेवेदं तावत्केवलज्ञानं, यच्च यत्पुनश्चन्द्रप्रभाऽऽदिः शीतांशुरश्मिप्रभृतिकम्, आदिशब्दादादित्यदीपादिपरिग्रहः। अत्र केवलज्ञानस्वरूपे ज्ञापयितव्ये प्रकाशमात्रसाधर्म्यात् ज्ञातं ज्ञापकम्। तत्किमित्याह–ज्ञातमेव ज्ञातमात्रं, तदेव चावगीतं ज्ञातमात्रकं, विशिष्टसाधर्म्याभावात्। कुत एतदेवमित्याह–प्रभा दीप्तिः, पुद्गलरूपा परमाणुप्रचयस्वभावा, यद् यस्मात्कारणात् ततोऽसौ प्रभा तद्धर्मश्चन्द्रादिपर्यायो नोपपद्यते, न घटते। न हि पुद्गलानां धर्मताऽस्ति, द्रव्यत्वात्, तदेवं केवलस्य जीवधर्मत्वात्, प्रभायाश्चाधर्मत्वात् न सर्वसाधर्म्यं, ततो ज्ञातमात्रकर्मवैतदिति। अथ वा प्रभा पुद्गलरूपा यत्तत्तश्च प्रभाकेवलयोर्विशिष्टसाधर्म्याभ्युपगमे तदिति केवलज्ञानं धर्मो जीवपर्यायो नोपपद्यते, द्रव्यत्वेन प्रभायाः केवलस्यापि द्रव्यत्वप्राप्तेः, अन्यथा सर्वसाधर्म्यं न स्यादित्यातो ज्ञानमात्रत्वमिति॥६॥

पुनर्ज्ञातमात्रतामेवास्य समर्थयन्नाह –

अतः सर्वगताऽऽभास–मप्येतन्न यदन्यथा।
युज्यते तेन सन्नयायात्, संवित्त्याऽदोऽपि भाव्यताम्॥७॥

अत एतस्माच्चन्द्रप्रभाज्ञानात्, सर्वेषु समस्तेषु वस्तुषु, गतः प्राप्तः, आभासः प्रकाशो यस्य तत्सर्वगताभासं, न केवलमात्मस्थमात्मधर्मो वा, न युज्यते सर्वगताभासमपि न युज्यत इति संबन्धः।

एतत्केवलज्ञानं, न नैव, यद् यस्मात्कारणात्, अन्यथा अनन्तरोक्त-प्रकारात् प्रकारान्तरेण चन्द्रप्रभाज्ञातस्य सर्वसाधर्म्यज्ञाततालक्षणे न युज्यते घटते। अघटना चैवम् चन्द्रप्रभा हि न सर्वगताभासा, तत्साधर्म्याच्च केवलमपि तथा स्यादिति (तेनेति) तस्मात्कारणात् सन्नयायादुक्त-लक्षणया शोभनोपपत्त्या संवित्त्या स्वसंवेदनेन च अदोऽप्येतदपि प्रभाज्ञातस्य ज्ञातमात्रत्वमपि न केवलमात्मस्थत्वं केवलस्य भाव्यतां पर्यालोच्यताम्। तथाहि–संवेद्यत एव ज्ञातस्य ज्ञातमात्रत्वं प्रभायाः पद्गलद्रव्यत्वेन, केवलस्य च जीवधर्मत्वेन वैधर्म्यस्य स्पष्टत्वादिति ॥७॥

अथ पूर्वोक्तस्वरूपं केवलज्ञानं निगमयन्नाह–

नाऽद्रव्योऽस्ति गुणोऽलोके, न धर्मान्तौ विभुर्न च।
आत्मा तद्वमनाऽऽद्यस्य, नास्तु तस्माद्यथोदितम् ॥८॥

न नैव, अद्रव्यो द्रव्यवर्जितोऽस्ति विद्यते, गुणो धर्मः, "द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः" इति वचनात्। अत आत्मगुणत्वात् केवलस्यात्मस्थमेव तदिति गर्भः। तथा अलोके केवलाऽऽ–काशे, न नैव, धर्मश्च धर्माऽस्तिकायो जीवपुद्गलानां गत्युपष्टम्भकारी, अन्तश्च पर्यवसानं, धर्मान्तौ, स्त इति गम्यते। इद मुक्तं भवति–लोके गमनसंभवात् संभवति तदनात्मस्थ–मपि लोकप्रकाशम्, अलोके पुनर्धर्मास्तिकायाभावाद् गमनाभावेन अन्ताभावाच्च सर्वत्रालोकं गन्तुमशक्तत्वेनात्मस्थमेव सत्तदलोकप्रका-शकमिति। अथ सर्वगतत्वादात्मन आत्मस्थमपि केवलं लोकालोक-प्रकाशकं भविष्यतीत्याशङ्क्याऽऽह–विभुः सर्वव्यापी, नच नैव, आत्मा जीवः, शरीरमात्र एव चैतन्योपलब्धेरतः शरीरावगाहमानमेव सत्तत्सर्वाभासकमिति भावः। तदिति यस्मादेवं तस्माद्गमनादि गत्यादिका क्रिया, आदिशब्दादागमनपरिग्रहः। अस्य केवलज्ञानस्य, न नैवास्तीति गम्यते। अस्तु भवतु, तस्मात्कारणाद्, यथोदितं यथाऽभिहितमात्मस्थं केवलमित्यर्थः। इति ॥८॥ हा०३० अष्ट०। (केवलज्ञानकेवलदर्शनयोर्युगपदुपयोगचिन्ता 'उवओग' शब्दे द्वितीयभागे ८६२ पृष्ठे कृता)

(८) तद्भेदाः–

से किं तं केवलनाणं ? केवलनाणं दुविहं पण्णत्तं। तं जहा–भवत्थकेवलनाणं च, सिद्धेवलनाणं च। से किं तं भवत्थकेवल-नाणं ? भवत्थकेवलनाणं दुविहं पण्णत्तं। तं जहा–सजोगिभ-वत्थकेवलनाणं च, अजोगिभवत्थकेवलनाणं च। से किं तं सजोगिभवत्थकेवलनाणं ? सजोगिभवत्थकेवलनाणं दुविहं पण्णत्तं। तं तहापढमसमयसजोगिभवत्थकेवलनाणं च, अपढमसमयसजोगिभवत्थकेवलनाणं च। अहवा चरमसमय-सजोगिभवत्थकेवलनाणं च, अचरमसमयसजोगिभवत्थ-केवलनाणं च। सेत्तं सजोगिभवत्थकेवलनाणं। से किं तं अजोगिभवत्थकेवलनाणं ? अजोगिभवत्थकेवलनाणं दुविहं पण्णत्तं। तं जहा–पढमसमयअजोगिभवत्थकेवलनाणं च, अपढमसमयअजोगिभवत्थकेवलनाणं च। अह वा चरमसमय–अजोगिभवत्थकेवलनाणं च, अचरसममयअजोगिभव–त्थकेवलनाणं च; सेत्तं अजोगिभवत्थकेवलनाणं।

(से किं तमित्यादि) अथ किं तम् केवलज्ञानम् ? सूरिराह–केवलज्ञानं द्विविधं प्रज्ञप्तम्। तद्यथा–भवस्थकेवलज्ञानं, सिद्धकेवलज्ञानं च। भवन्ति कर्मवशवर्तिनः प्राणिनोऽस्मिन्निति भवो नारकादिजन्म, तत्र इह भवो मनुष्यभव एव ग्राह्यः, अन्यत्र केवलोत्पादाभावात्। भवे तिष्ठतीति भवस्थः। **"स्थादिभ्यः कः"** ॥५।३।८२॥ इति (हैम०) कः प्रत्ययः। तस्य केवलज्ञानं भवस्थकेवलज्ञानम्। चशब्दः स्वगतानेक–भेदसूचकः। तथा 'षिधू' संसिद्धौ, सिध्यति स्म सिद्धः। यो येन गुणेन परिनिष्ठितो न पुनः साधनीयः स सिद्ध उच्यते। यथा सिद्ध ओदनः। स च कर्मसिद्धादिभेदादनेकविधः। उक्तं च–"कम्मे सिप्पे य विज्जाए, मंते जोगे अ आगमे। अत्थ जत्ता अभिप्पाए, तवे कम्मक्खए इय" ॥१॥ अत्र कर्मक्षयसि–द्धेनाधिकारोऽन्यस्य केवलज्ञानाभावात्। अथवा सितं बद्धंध्मातं भस्मीकृतमष्टप्रकारं कर्म येन स सिद्धः। **"पृषोदरादयः"** ।३।२।११५। इति (हेम०) रूपसिद्धिः। सकलकर्मविनिर्मुक्तो, मुक्ताऽवस्थामुपगत इत्यर्थः। तस्य केवलज्ञानं सिद्धकेवलज्ञानम्। अत्राऽपि चशब्दः स्वगतानेकभेदसूचकः। (से किं तमित्यादि) अथ किं तत् भवस्थकेवलज्ञानम्। भवस्थकेवलज्ञानं द्विविधं प्रज्ञप्तम्। तद्यथा–सयोगिभवस्थकेवलज्ञानं च, अयोगिभवस्थकेवलज्ञानं च। तत्र योजनं योगो व्यापारः। उक्तं च–"कायवाङ्मनः कर्मयोगः" इह औदारिकादि-शरीरस्याऽऽत्मनो वीर्यपरिणतिविशेषः काययोगः, औदारिकवैक्रिया-हारकशरीरव्यापाराहृतवाग्द्रव्यसमूहसाचिव्याज्जीवव्यापारो वाग्योगः। उक्तं च–"अहवा तणु ओगाहिय, वइदव्वसमूहजीववावारो। सो वयजोगो भण्णइ, वाया निसरिज्ज एतेणं" ॥१॥ तथा औदारिकं वैक्रियाहारकशरी-व्यापाराहृतमनोद्रव्ययसाचिव्याज्जीवव्यापारो मनोयोगः। उक्तं च "तह तणु वावाराहियमणदव्वसमूहजीववावारो। सो मणजोगो भण्णइ, मन्नइ नेयं जओ तेण" ॥१॥ततः सह योगेन वर्तन्ते ये ते सयोगाः मनोवाक्कायाः, ते यथासंभवमस्य विद्यन्ते इति सयोगी, सयोगी चासौ भवस्थश्च सयोगिभवस्थः, तस्य केवलज्ञानं सयोगिभवस्थकेवलज्ञानम्। तथा योगोऽस्य विद्यते इति योगी, न योगी अयोगी, अयोगी चासौ भवस्थश्च अयोगिभवस्थः शैलेश्यवस्थामुपगत इत्यर्थः। तस्य केवलज्ञानमयोगि-भवस्थकेवलज्ञानम्। अथ किं तत् सयोगिभवस्थकेवलज्ञानम् ? सयोगि-भवस्थकेवलज्ञानं द्विविधं प्रज्ञप्तम्। तद्यथाप्रथमसमयसयोगिभवस्थ केवलज्ञानं च, अप्रथमसमयसयोगिभवस्थकेवलज्ञानं च। तत्रेह प्रथमसमयः केवलज्ञानोत्पत्तिसमयः अप्रथमसमयः केवलोत्पत्तिसमया-दूर्द्धं द्वितीयादिकः सर्वोऽपि समयो यावत्सयोगित्वचरमसमयः। अथ वेति प्रकारान्तरे, एष एवार्थः, समयविकल्पनेन अन्यथा प्रतिपाद्यत इत्यर्थः। (चरमसमयेत्यादि) तत्र चरमसमयः सयोग्यवस्थाऽन्तिम-समयः, न चरमसमयः अचरसममयः, सयोग्यवस्थाचरमसमययाद-र्वाक्तनः सर्वोऽप्याकेवलप्राप्तेः। "सेत्तमित्यादि" निगमनं सुगमम् (से किं तमित्यादि) अथ किं तत् अयोगिभवस्थकेवलज्ञानम् ? अयोगिभवस्थकेवज्ञानं द्विविधं प्रज्ञप्तम्। तद्यथा–प्रथमसमयायोगिभवस्थकेवलज्ञानम्, अप्रथमसमयायो-गिभस्थकेवलज्ञानं च। अत्र प्रथमसमयोऽयोगित्वोत्पत्तिसमयो वेदितव्यः; शैलेश्यवस्थाप्रतिपत्तिसमय इत्यर्थः। प्रथमसमयादन्यः सर्वोऽप्यप्रथमसमयो यावच्छैलेश्यवस्थाचरमसमयः। अथवेति प्र–

कारान्तरे (चरमसमयेत्यादि) इह चरमसमयः शैलेश्यवस्थाऽन्तिसमयः, स चरमसमयादन्यः सर्वोऽप्यन्यः सर्वोऽप्यचरमसमयो यावच्छैलेश्यवस्थाचरमसमयः। "सेत्तं" अयोगिभवस्थकेवलज्ञानम्, नदेतदयोगिभ्रावस्थकेवलज्ञानम्। नं० । स्था० ।

(६) सिद्धेवलज्ञानस्य द्वैविध्यम्—

से किं तं सिद्धकेवलणाणं ?। सिद्धकेवलणाणं दुविहं पण्णत्तं अणंतरसिद्धकेवलनाणं च, परंपरसिद्धकेवलनाणं च ॥

"से किं तमित्यादि" अथ किं तत् सिद्धेवलज्ञानम् ? सिद्धेवलज्ञानं द्विविधं प्रज्ञप्तम्। तद्यथाअनन्तरसिद्धकेवलज्ञानं च, परम्परसिद्धकेवलज्ञानं, च। तत्र न विद्यते अन्तरं समयेन व्यवधानं यस्य सोऽनन्तरः, स चासौ सिद्धश्चानन्तरसिद्धः, सिद्धत्वप्रथमसमये वर्तमान इत्यर्थः। तस्य केवलज्ञानमनन्तरसिद्धकेवलज्ञानम्। चशब्दः स्वगतानेकभेदसूतकः। तथा विवक्षिते प्रथमसमये यः सिद्धः तस्य यो द्वितीयसमयसिद्धः स परः, तस्यापि यस्तृतीयसमयसिद्धः स परः। एवमन्येऽपि वाच्याः। परे च परे चेति वीप्सायां **"पृषोदरादयः"** ।३।२।१५५। इति परम्परशब्दनिष्पत्तिः। परस्परे च ते सिद्धाश्च परम्परसिद्धाः। विवक्षितसिद्धत्वप्रथमसमयात्प्राग् द्वितीयसमयादिषु समयेष्वनन्तामतीताद्धां यावद्वर्तमाना इत्यर्थः। तेषां केवलज्ञानं परम्परसिद्धकेवलज्ञानम्। अत्रापि चशब्दः स्वगतानेकभेद—संसूचकः। नं०।

(१०) संप्रति विशेषान्तरं जिज्ञासुरनन्तरसिद्धस्वरूपं शिष्यः प्रश्नयन्नाह—

से किं तं अणंतरसिद्धेवलनाणं ?। अणंतरसिद्धकेवलनाणं पन्नरसविहं पण्णत्तं। तं जहा—तित्थसिद्धा १ अतित्थसिद्धा २ तित्थयरसिद्धा ३ अतित्थयरसिद्धा ४ सयंबुद्धसिद्धा ५ पत्तेयबुद्धसिद्धा ६ बुद्धबोहियसिद्धा ७ इत्थिलिंगसिद्धा ८ पुरिसलिंगसिद्धा ९ नपुंसयलिंगसिद्धा १० सलिंगसिद्धा ११ अन्नलिंगसिद्धा १२ गिहिलिंगसिद्धा १३ एगसिद्धा १४ अणेगसिद्धा १५। सेत्तं अणंतरसिद्धकेवलनाणं ॥

अथ किं तत् अनन्तरसिद्धकेवलज्ञानम् ? सूरिराह—अनन्तरसिद्धकेवलज्ञानं पञ्चदशविधं प्रज्ञप्तम्। पञ्चदशविधता च तस्यानन्तरसिद्धानामनन्तरपाश्चात्यभवरूपोधिभेदापेक्षया, पञ्चादशविधत्वात्, ततोऽनन्तरसिद्धानामेवानन्तरभवो पाधिभेदतः, पञ्चदशविधतां मुख्यत आह—तद्यथेत्युपदर्शनम्, "तित्थसिद्धा" इत्यादि।

से किं तं परंपरसिद्धकेवलनाणं ?। परंपरसिद्धकेवलनाणं अणेगविहं पण्णत्तं। तं जहा—अपढमसमयसिद्धा दुसमयसिद्धा तिसमयसिद्धा० जाव दससमयसिद्धा संखिज्जसमयसिद्धा असंखिज्जसमयसिद्धा अनंतसमयसिद्धा, सेत्तं परंपरसिद्धकेवलनाणं।

"से किं तं परंपर" इत्यादि। न प्रथमसमयसिद्धा अप्रथमसमयासिद्धाः परंपरसिद्धविशेषणं प्रथमसमयवर्तिनः सिद्धत्वसमयात् द्वितीयसमयवर्तिन इत्यर्थः। आदिषु द्वितीयसमयसिद्धादय उच्यन्ते। यद्वासामान्यतोऽप्रथमसमयसिद्धा इत्युत्कम्। तत एतदेव विशेषेण व्याचष्टेद्विसमयसिद्धास्त्रिसमय इत्यादि। नं०।

अणंतरसिद्धकेवलनाणे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा—एक्काणंतरसिद्धकेवलनाणे चेव, अणेक्काणंतरसिद्धकेवलनाणे चेव। परंपरसिद्धकेवलणाणे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा—एक्कपरंपरसिद्धकेवलणाणे चेव, अणेक्कपरंपरसिद्धकेव—लणाणे चेव। स्था०२ ठा०१ उ०।

द्रव्यक्षेत्रादिविषयाः—

तं समासओ चउव्विहं पण्णत्तं। तं जहा—दव्वओ खेत्तओ कालओ भावओ। तत्थ दव्वओ णं केवलनाणी सव्वदव्वाइं जाणइ पासइ, खित्तओ णं केवलनाणी सव्वं खेत्तं जाणइ पासइ, कालओ णं केवलनाणी सव्वं कालं जाणइ पासइ, भावओ णं केवलनाणी सव्वे भावे जाणइ पासइ।

(समासतो इत्यादि) तदिदं सामान्येन केवलज्ञानमभिगृह्यते समासतः संक्षेपेण चतुर्विधं प्रज्ञप्तम्। तद्यथा—द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भवतश्च। तत्र द्रव्यतो, णमिति वाक्यालङ्कारे। केवलज्ञानी सर्वद्रव्वयाणि धर्माऽस्तिकायादीनि साक्षाज्जानाति, पश्यति। क्षेत्रतः केवलज्ञानी सर्वं क्षेत्रं लोकालोकभेदभिन्नं जानाति, पश्यति। इह यद्यपि सर्वद्रव्यग्रहणेनाऽऽकाशास्तिकायोऽपि गृह्यते, तथाऽपि तस्य क्षेत्रत्वेन रूढत्वाद्वैदेनोपन्यासः। कालतः केवलज्ञानी सर्वकामतीतानागतवर्तमानभेदभिन्नं जानाति, पश्यति। भावतः केवलज्ञानी सर्वान् जीवाजीवगतान् भावान् गतिकषायागुरुलघुप्रभृतीन् जानाति, पश्यति। (अग्रेतनपाठस्तु ६४४ पृष्ठस्थ आ० म० प्र० पाठेन गतार्थः)

(११) इह तीर्थकृत्समुपजातकेवलालोकः तीर्थकरनामकर्मोदयतः तथा स्वाभाव्यादुपकार्यकृतोपकारानपेक्षं सकलसत्त्वाऽनुग्रहाय सवितेव प्रकाशं देशनामातनोति, तत्राव्युत्पन्नविनेयानां केषाञ्चिदेवमाशङ्काभावात् भगवतोऽपि तीर्थकृतस्तावद् द्रव्यश्रुतं ध्वनिरूपं वर्तते, द्रव्यश्रुतं च भावश्रुतपूर्वकं, ततो भगवानपि श्रुतज्ञानीति ततस्तदाऽऽशङ्कऽपनोदार्थमाह—

केवलनाणेणऽत्थं, नाउं जे तत्थ पण्णवणजोग्गे।
ते भासइ तित्थयरो, वइजोगसुयं हवइ सेसं ॥६२६।(नं०)

इह समुत्पन्नकेवलज्ञानः तीर्थकरादिरर्थान् धर्मास्तिकायादीन् मूर्ताऽमूर्ताभिलाप्याऽनभिलाप्यान् केवलज्ञानेनैव ज्ञात्वा अवबुध्य न तु श्रुतज्ञानेन, तस्य क्षायोपशमिकत्वात्। केवलिनश्चावरणस्य सर्वथा क्षीणत्वेन तत् क्षयोपशमाभावात् नहि सर्वशुद्धे पटे देशशुद्धिः संभवति, तद्वदिहापीति भावः। ततः किम् ? इत्याह—तत्र तेषामर्थानां मध्ये ये प्रज्ञापनीयाः प्ररूपणीयाः योग्यास्तानभिलप्यान् भाषते, नेतरान्—अनभिलप्यान्। प्रज्ञापनीयानपि न सर्वानेव भाषते तेषामनन्तत्वात्, आयुषस्तु परिमितत्वात्, किं तर्हि, योग्यानेव भाषते गृहीतृशक्त्यऽपेक्षया, यो हि यावतां योग्य इति। यत्र चाऽभिहिते शेषमनुक्तमपि विनेयोऽभ्यूहति तदपि योग्यं भाषते, तथा .''प'' ऋषभसेनादीनामुत्पादादिपदत्रयोपन्यासेनैव शेषगतिः। तत्र केवलज्ञानोपलब्धार्थाभिधायकः शब्दराशिर्भाष्यमाणः तस्य भगवतः। (वइजो-

गत्ति) वाग्योग एव भवति, नतु श्रुतं, नाम कर्मोदयजन्यत्वात् रुतस्य च क्षायोपशमिकत्वात्, ज्ञानमप्यस्य क्षायिकत्वात्केवलमेव, न भावश्रुतम्। आह—ननु वाग्योगो वाक्परिस्पन्दो वाग्वीर्यमित्यनर्थान्तरम्। अयं च भवतु नामकर्मोदयजन्यः, भाष्यमाणस्तु पुद्गलात्मकः किं भवतु ? इति चेत्। उच्यते—सोऽपि श्रोतॄणां भावश्रुतकारणत्वात् द्रव्यश्रुतमात्रं भवति, न तु भावश्रुतम्। तर्हि किं तद् भावश्रुतम् ? इत्याह—(सुयं हवइ सेसंति) यच्छद्मस्थानां गणधरादीनां श्रुतग्रन्थानुसारि ज्ञानं तदेव केवलगताज्ञानापेक्षया शेषमन्यद्भावश्रुतं भवति, क्षायोपशमिकोपयोगात्, न तु केवलिगतं, तस्य क्षायिकत्वादिति। अथ वा 'सुयं हवइ' सेसं इत्यन्यथा व्याख्यायते—तद्भण्यमानं शब्दमात्रं तत्काल एव श्रुतं न भवति, किं तर्हि? शेषं, कालमिति वाक्यशेषः। इदमुक्तं भवति—तत् केवलिनः शब्दमात्रं श्रोतॄणां श्रवणानन्तरलक्षणे शेषकाले श्रोतृगतज्ञान-कारणत्वेनोपचारात् श्रुतं भवति, न तु भणनक्रियाकाल इति। अथ वा अन्यथा व्याख्यायते—स केवलिनः संबन्धी वाग्योगः श्रुतं भवति, कथंभूतम्? शेषंगुणभूतम्—प्रधानम्, औपचारिकत्वादिति। अन्ये तु पठन्ति—'वइजोगसुयं हवइ तेसिं' ति। तत्र तेषां भाष्यमाणानां संबन्धी वाग्योगः श्रोतृगतश्रुतकारणात्वात् श्रुतं भवति, द्रव्यश्रुतमित्यर्थः। अथ वा तेषामिति श्रोतॄणां तानाश्रित्येत्यर्थः, भाषकगतं वाग्योग एव श्रुतं वाग्योगश्रुतं भवति, भावश्रुतकारणत्वाद्द्रव्यश्रुतमेवेत्यर्थः। अथ वा, तानर्थान् भाषते केवली, वाग्योगश्चायमस्य भाषमाणस्य भवति, तेषां श्रोतॄणां भावश्रुतकारणत्वात् श्रुतमसौ भवतीति निर्युक्ति गाथार्थः ॥८२९॥

अथ भाष्यम्—

नाऊण केवलेणं, भासइ न सुएण जं सुयाईओ।
पण्णवणिज्जे भासइ, नाणभिलप्पे सुयाईए ॥८३०॥
तत्थ वि जोग्गे भासइ, नाजोग्गे गाहयाणुवित्तीए।
भणिए व जम्मि सेसं, सयमूहइ भणइ तम्मत्तं ॥८३१॥
वइजोगो तं न सुयं, खओवसमियं सुयं जओ न तओ।
विन्नाणं से खइयं, सद्दो उणे दव्वसुयमित्तं ॥८३२॥
सेसं छउमत्थाणं, विन्नाणं सुयाणुसारेणं।
तं भावसुयं भण्णइ, खओवसमिओवओगाओ ॥८३३॥
भन्न तं वा न सुयं, सेसं कालं सुयं सुणेंताणं।
तं चेव सुयं भण्णइ, कारणकज्जोवयारेण ॥८३४॥
अह वा वइजोगसुयं, सेसं सेसं ति जं गुणब्भूयं।
भावसुयकारणाओ, जमप्पहाणं तओ सेसं ॥८३५॥
वइजोगसुयं तेसिं, ति केइ तेसिं ति भासमाणाणं।
अह वा सुयकारणओ, वइजोगसुयं सुणेंताणं ॥८३६॥

सप्तापि व्याख्यातार्था एव। नवरं, प्रथमगाथायां यद् यस्माच्छुतातीतः केवलज्ञानेनैवाभासितसमस्तत्रिभुवनोदरत्वात् श्रुतातिक्रान्तोऽसौ भगवान् केवली(सुयाईए त्ति) वाग्गोचरातिक्रान्तत्वेन श्रुतातीतानर्थान्न भाषत इति। तृतीयगाथायां (न तओ त्ति) तकः क्षयोपशमोऽस्य केवलिनो नास्तीति। विशे०।

(१२) सत्पदप्ररूपणा—अथास्य गत्यादिद्वारेषु सत्पदप्ररूपणतादयो वाच्याः। तत्र गतौ तावत्—मनुष्यसिद्धयोः केवल—ज्ञानं प्राप्यते। इन्द्रियद्वारे—अतीन्द्रियाणाम्, कायद्वारे—त्रस—कायाकाययोः; योगद्वारे—सयोगायोगयोः, वेदद्वारे—अवेदका—नाम्; कषायद्वारे—अकषायाणाम्, लेश्याद्वारे—सलेश्यालेययोः सम्यक्त्वद्वारे—सम्यग्दृष्टीनाम्, ज्ञानद्वारे—केवलज्ञानिनाम्; दर्शनद्वारे—केवलदर्शनिनाम्; संयतद्वारे—संयतानाम्, नोसंयतासंयतानां च; उपयोगद्वारे—साकारानाकारोपयोगयोः; आहारकद्वारे—आहारकानाहारकयोः; भाषकद्वारे—भाषकाऽभाषकयोः; परीत्तद्वारे—परीत्तानां, नोपरीत्तापरीत्तानां च; पर्याप्तद्वारेपर्याप्तानां, नोपर्याप्तापर्याप्तानां च; सूक्ष्मद्वारे—बाद—राणां, नोबादरसूक्ष्माणां च; संज्ञिद्वारे—नोसंज्ञ्यसंज्ञिनाम्; भव्यद्वारे भव्यानां, नोभव्याभव्यानां च। चरमद्वारे—चरमाणां भवस्थ केवलिनां, नोचरमाचरमाणां च, सिद्धानां केवलज्ञानं प्राप्यते। पूर्वप्रतिपन्नप्रतिपद्यमानकयोजना तु स्वबुद्ध्या कर्तव्येति। द्रव्यप्रमाणद्वारे—प्रतिपद्यमानकानाश्रित्योत्कृष्ट—तोऽष्टोत्तरशतं केवलिनां प्राप्यते, पूर्वप्रतिपन्नास्तु जघन्यत उत्कृष्टतश्च कोटिपृथक्त्वप्रमाणा भवस्थकेवलिनः प्राप्यन्ते, सिद्धास्त्वनन्ताः। क्षेत्रस्पर्शनाद्वारयोस्तु जघन्यतो लोकस्यासंख्येयभागे केवली लभ्यते, उत्कृष्टतस्तु सर्वलोके। कालद्वारेसाद्यपर्यवसित कालं सर्वोऽपि केवली भवति, अन्तरं तु केवलज्ञानस्य नास्ति, उत्पन्नस्य प्रतिपाताभावात् भागद्वारं मतिज्ञानवदिति। भावद्वारे—क्षायिके भावे केवलमवाप्यते। अल्पबहुत्वद्वारे—मतिज्ञानवद्वाच्यमिति। तदेवं, केवलज्ञानं समाप्तम्। विशे०।

तदेवं "तस्स फलजोगमंगल—समुदायत्था तहेव दाराइं" इत्यादिकायां धुरि निर्दिष्टद्वितीयगाथायां मङ्गलरूपं तृतीयद्वारं परिसमाप्य, चतुर्थं समुदायार्थद्वारमभिधानीयम्, इति चेतसि निधाय तावदिदमाह—

केवलनाणं नंदी, मंगलमिति चेह परिसमत्ताइं।
अहुणा समंगलत्थो, भण्णइ पगओऽणुओग त्ति ॥८३७॥

विशे०। ध० २०। आ० चू०।

(१३) अथ कीदृशं केवलज्ञानं भवति ? तदाह—

जता से णाणावरणं, सव्वं होति खतं गतं।
ततो लोमगजोगं च, जिणो जाणति केवली ॥८॥

"जता से" इत्यादि। यदा यस्मिन्नवसरे, "से इति" अनिर्दिष्टनाम्नो जीवस्य ज्ञानावरणं विशेषावबोधरूपप्रस्तावात् केवलज्ञानावरणं सर्वं निरवशेषं क्षयं गतं भवति। ननु केवलज्ञज्ञनं तदैवोत्पद्यते यदा सर्वावरणविगमो भवतीति अर्थादागते किमर्थं सर्वग्रहणमित्याशङ्का। तत्रोच्यते—सर्वग्रहणं ज्ञानान्तरभेदसूचकं ज्ञेयं यावदावरणविगमे ज्ञानान्तरव्यपदेशाद् दर्शितः ततो न निरर्थकता आशङ्कनीया। "तत" इति तदा लोकं चतुर्दशरज्ज्वात्मकमलोकं चानन्तं जिनो जानाति केवली लोकालोकं च सर्वं नान्यतरमेवेत्यर्थः। दशा०५ अ०। विशे०। अथाऽऽवरणक्षये केवलज्ञानलाभ इत्यत्र निश्चयव्यवहारनय वादमुपदर्शयन्नाह—

आवरणक्खयसमये, नेच्छइअनयस्स केवलुप्पत्ती।
तत्तोऽणंतरसमये, ववहारो केवलं भणइ ॥१३३४॥

निश्चयनयस्यायमभिप्रायः यस्मिन्नेव समये आवरणस्य क्षयः—

क्षीयमाणमावरणमित्यर्थः। तस्मिन्नेव समये केवलज्ञानोत्पत्तिः क्षीयमाणस्य क्षीणत्वात्, क्रियाकालनिष्ठाकालयोरेकत्वाद्; भेदे चान्यत्र काले क्रिया, अन्यत्र च कार्योत्पत्तिरिति स्यात्। इदं चाऽयुक्तम्। क्रियाविरहेऽपि कार्योत्पत्यभ्युपगमात्, इत्थं च क्रियाऽऽरम्भकालात्पूर्वमपि कार्योत्पत्तिप्राप्तेरतिप्रसङ्गादिति। व्यवहारनयस्तुआवरणक्षयसमयादनन्तरसमये केवलोत्पत्तिं भणति, आवरणस्य क्षयसमये क्षीयमाणत्वात्, क्षीयमाणस्य चाऽक्षीणत्वात्, क्रियाकालनिष्ठाकालयोर्भेदाद्; तदेकत्वे च क्रियाकालेऽपि कार्यस्य सत्त्वे क्रियावैयर्थ्यप्रसङ्गात्। न च समानकालभाविनोः क्रियाकार्ययोः कार्यकारणभावो युज्यते, सव्येतरगोविषाणदीनामपि तत्प्रसङ्गादिति ॥१३३४॥

तथा च व्यवहारनयो निजपक्षं समथयति –

नाणं न खिज्जमाणे, खीणे जुत्तं जओ तदावरणे।
न य किरियानिट्ठाणं, कालेगत्तं जओ जुत्तं ॥१३३५॥

यस्मात्क्षीयमाणे तदावरणे ज्ञानमुत्पद्यते, इत्येतन्न युक्तम्। अस्यक्रियाकालत्वात्, तत्काले च कार्यसत्त्वाभ्युपगमस्य दूषितत्वात्; किं तु क्षीणे एव तदावरणे ज्ञानं युज्यते, अस्य निष्ठाकालन्वात्, न च क्रियानिष्ठयोः कालैकत्वं युज्यते, प्रतिविहितत्वादिति ॥१३३५॥

जइ किरियाए न खओ, को हेऊतत्परिक्खए अन्नो ?।
अह ताए किह काले, अण्णत्थ तई खओ णत्थ ?॥१३३६॥

हन्त व्यवहारवादिन्! आवरणस्य क्षये भवता केवलोत्पत्ति–रिष्यते, न तु तत्र क्षीयमाणे। तदत्र भवन्तं पृच्छामः–आवर–णक्षयकाले क्रियासमस्ति, न वा?। यदि नास्ति, तर्हि क्रियान्तरेणावरणक्षये कोऽन्यो हेतुरिति वक्तव्यम् ?–न कोऽपि प्राप्नोतीत्यर्थः। अथास्त्यावरणक्षयकाले तद्धेतुभूता क्रिया, तया च तत्क्षयो विधीयते; तर्ह्यायातं क्रियाकालनिष्ठाकालयोरेकत्वम्, इति कथमुच्यते–अन्यसमये क्रिया, अन्यत्र च तत्परिक्षयः?॥१३३६॥

किं च –

किरियाकालम्मि खओ, जइ नत्थि तओ न होज्ज पच्छा वि।
जइ वा किरियस्स खओ, पढमम्मि वि कीस किरियाए ?१३३७।

यदि क्रियाकालेऽप्यावरणक्षये नास्ति, ततः पश्चादप्यसौ न भवेत्, अक्रियत्वात्, पूर्वकालवदिति। अथ वा यदि क्रियानि वृतौ द्वितीयसमयेऽक्रियस्य सत आवरणक्षयोऽभ्युपगम्यते, तर्हि क्रियाऽन्वितप्रथमसमये किं क्रियया ? तामन्तेणाप्यावरणक्षयोपपत्ते, क्रियाविरहितद्वितीयसमयवदिति ?॥१३३७॥

क्रियाकालनिष्ठाकालयोश्चैकत्वमागमेऽप्युक्तम्, इति निश्चयः स्वपक्षं द्रढयन्नाह –

जं निज्जरिज्जमाणं, निज्जिन्नं ति भणियं सुए जं च।
नो कम्मं निज्जरिइ, नावरणं तेण तस्स मए।१३३८॥

यद्यस्माद् "चलमाणे चलिए० जाव निज्जरिज्जमाणे निज्जिन्ने " इति *वचनान्निर्जीर्यमाणं कर्म निर्जीर्णं श्रुतेऽप्युक्तम्, अतः क्षीयमाणं क्षीणमेव, इति नानयोः कालभेदः। (जं च त्ति) यस्मादिदं चागमे प्रोक्तम्। किम् ?* इत्याह–"कम्म वेइज्जइ नो कम्मं निज्जरेज्ज" इति, एतावत् सूत्रं द्रष्टव्यं, वेद्यमानावस्थायां कर्म वेद्यते, निर्जरावस्थायां तु नोकर्म–अकर्मेत्यर्थः। अन्यश्च वेदनासमयः निर्जरासमयः। ततः तस्मात् कारणात्तत्समये आवरणक्षीयमाणतासमये–आवरणस्य निर्जरणसमये इत्यर्थः। (नावरणं ति) नास्त्यावरणंनास्ति प्रतिबन्धकं कर्म, क्षीयमाणस्य क्षीणत्वादित्यर्थः ॥१३३८॥

प्रतिबन्धकाभावाच्च भवत्येवावरणक्षीयमाणतासमये केवलज्ञानोत्पत्तिः कस्तां निरुणद्धि? अहमिति चेदित्या–

जइ नाणमणावरणे, वि नत्थि तो तं न नाम पच्छा वि।
जायं च अकारणओ, तमकारणओ चिय पडेज्जा ॥१३३९॥

यद्यनावरणेऽप्यावरणाभावेऽपि केवलज्ञानमुत्पत्तिं न लभते, ततः पश्चादप्यावरणक्षयोत्तरकालं यदा किल त्वया इष्यते तदाऽपि तदुत्पत्तिर्न स्यात्। अथावरणाभावाविशेषेऽप्यावरणक्षयसमये केवलज्ञानं न भवति, तदुत्तरकालं तु पश्चाद्भवति इति यदृच्छया प्रोच्यते; हन्त ! तर्ह्यकारणा यदृच्छयैव प्रसूतिरस्य, ततोऽकारणत एव जातम्, अकारणतयैव तत् प्रतिपतेत्, विशेषाभावादिति ॥१३३९॥

तस्मात् किमिह स्थितम् ?, इत्याह–

नाणस्सावरणस्स य, समयं तम्हा पगासतमसो व्व।
उप्पायव्वयधम्मा, तह नेया सव्वभावाणं ॥१३४०॥

तस्मात्केवलज्ञानस्य तदावरणस्य च युगपदेवोत्पादव्ययधर्मो द्रष्टव्यौ। कयोरिव ? इत्याह–प्रकाशतमसोरिव। यथा हि युगपदेव तमो निवर्तते, प्रदीपादिप्रकाशस्तूत्पद्यते, इति य एव तमसो निवृत्तिसमयः स एव प्रकाशस्योत्पादसमयः। एवमिहापि युगपदेवावरणं निवर्तते, केवलज्ञानं तूत्पद्यते। आत्मद्रव्यं त्ववतिष्ठते इति। य एवावरणस्य क्षयसमयः स एव केवलज्ञानस्योत्पादसमयः; तत्र हि समय आवरणस्य क्षीयमाणस्य क्षीणत्वात्, केवलज्ञानस्य चोत्पद्यमानस्योत्पन्नत्वात् आत्मद्रव्यस्य त्ववस्थितत्वादिति। एवं सर्वेषामपि भावानां मृदङ्गुल्यादिप्दार्थानां घटऋजुतादिभिरपूर्वपर्यायैरुत्पादः, पिण्डशिवकस्थासकोशादिभिः, वक्रत्वाभिश्च प्राक्तनपर्यायैर्व्ययः, मृदङ्गुल्यादि द्रव्यरूपतया त्ववस्थानं युगपद्भवतीति ज्ञातव्यमिति ॥१३४०॥

यदि चरमसमये केवललाभः, ततः किम् ? इत्याह–

उभयावरणाईओ, केवलवरनाणदंसणसहावो।
जाणइ पासइ य जिणो, नेयं सव्वं सयाकालं ॥१३४१॥

ततश्च सर्वमपि क्षेयं साद्यपर्यवसितं सदाकालं जिनः केवली जानाति केवलज्ञानेन, पश्यति च केवलदर्शनेन। स कथंभूतः सन्? केवलवरज्ञानदर्शनस्वभावस्तदव्यतिरिक्तस्वरूपः। तर्हि पूर्वमित्थमदृष्टवा किमितीदानीमेवं पश्यति ?, इत्याह–यत इदानीमुभयावरणातीतः केवलज्ञानकेवलदर्शनावरणद्वितयातीतत्वादित्यर्थः ॥१३४१॥

अत एवाह–

संभिन्नं पासंतो, लोगमलोगं च सव्वओ सव्वं।
तं नत्थि जं न पासइ, भूयं भव्वं भविस्सं च ॥१३४२॥

सम्–एकीभावेन भिन्नं संभिन्नं–यथा बहिस्तथा मध्येऽपीत्यर्थः। अथ वा द्रव्यक्षेत्रकालभावलक्षणं सर्वमपि ज्ञेयमत्र के

वलज्ञानस्य विषयत्वेन दर्शितम्, तत्र संभिन्नमिति द्रव्यं गृह्यते कालभावौ च तत्पर्यायत्वाद् गृह्येते; ताभ्यां च समस्ताभ्यां समन्ताद्वा भिन्नं संभिन्नमिति कृत्वा द्रव्यं संभिन्नमुच्यते । तत्पश्यन्नुपलभमानो 'लोकमलोकं' च प्रसिद्धस्वरूपं पश्यन् अनेन च क्षेत्रं प्रतिपादितं भवति । एतावदेव द्रव्यादिचतुर्विधं ज्ञेयं, नान्यदिति । किमेवमेकया दिशा पश्यन् ? इत्याह–सर्वतः सर्वासु दिक्षु । तास्वपि किं कियदपि द्रव्यादि, उत न ? इत्याह–सर्वं निरवशेषम् । अमुमेवार्थं स्पष्टयन्नाह–तन्नास्तिकिमपि ज्ञेयं भूतमतीतं, भवतीति भव्यं वर्तमानं, भविष्यच्च यन्न पश्यति केवली इति निर्युक्तिगाथाऽक्षरार्थः ।१३४२।

संभिन्नं पश्यन्नित्युक्तं, तत्र संभिन्नम् इति कोऽर्थः ? इत्याह–

बाहिं जहा तहंऽतो, संभिन्नं सव्वपज्जवेहिं वा ।
अत्तपरनिव्विसेसं, स–परपज्जायओ वा वि ।।१३४३।।

यथा बहिस्तथाऽन्तश्चेति संभिन्नम् । अथवा–सर्वपर्यायैः संकीर्णं व्याप्तं संभिन्नम्, यदि वा–यथाऽत्मानं जानाति तथा परमपि, यथा परं तथाऽऽत्मानमपि निर्विशेषं जानाति, इत्येवं

स्वपरनिर्विशेषं संभिन्नं, स्वपरपर्यायैर्वा युक्तं संभिन्नमिति ।।१३४३।।

अथवा–

संभिन्नग्गहणेणं, व दव्वमिह सकालपज्जवं गहियं ।
लोगालोगं सव्वं, ति सव्वओ खित्तपरिमाणं ।।१३४४।।

संभिन्नग्रहणेनेह सकालपर्यायं द्रव्यं गृह्यते, कालश्च पर्यायाश्च कालपर्यायाः, सह तैर्वर्तत इति सकालपर्यायं, संभिन्नम् । "लोकालोकं च सर्वतः सर्वम्" इत्यनेन क्षेत्रपरिमाणं गृहीतम् । एतावदेव च ज्ञेयं यद्द्रव्यादिचतुष्टयमिति ।।१३४४।।

तच्च पश्यन् किम् ? इत्याह–

तं पासंतो भूया–ईं जं न पासइ तओ तयं नत्थि ।
पंचत्थिकाय पज्जय–माणं नेयं जओऽभिहियं ।।१३४५।।

तच्च द्रव्यादि चतुर्विधं ज्ञेयं पश्यँस्तकोऽसौ केवली भूतादिकालविशिष्टं तत्किमपि वस्तु नास्ति, यन्न पश्यति । कुतः ? इत्याह–यतो यस्मात्पञ्चास्तिकायपर्यायराशिप्रमाणमेव गेयमागमेऽभिहितं, नान्यत् । एतच्च द्रव्यादिचतुष्टयं न गृहीतमेवेति भावः ।।१३४५।। विशे० । आ० म० ।

(१४) केवलज्ञानदर्शनयोः प्रतिबन्धः –

चउहिं ठाणेहिं णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा अस्सिं समयंसि अइसेसे नाणदंसणे समुप्पज्जिउकामे वि णो समुप्पजेज्जा, अभिक्खणं अभिक्खणं इत्थिकहं भत्तकहं देसकहं रायकहं कहेत्ता भवइ ।१। विवेगेणं विउस्सग्गेणं णो सम्ममप्पाणं भावेत्ता भवइ ।२। पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि णो धम्मजागरियं जागरित्ता भवइ ।३। फासुयस्स एसणिज्जस्स उंछस्स सामुदाणियस्स णो सम्मं गवेसइत्ता भवइ ।४। इच्चेएहिं चउहिं ठाणेहिं णिग्गंथाणा वा णिग्गंथीण वा० जाव नो समुप्पज्जेज्जा, चउहिं ठाणेहिं निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अइसेसे नाणदंसणे समुप्पज्जिउकामे समुप्पज्जेज्जा । तं जहा–इत्थिकहं भत्तकहं देसकहं रायकहं णो कहेत्ता भवइ । विवेगेण विउस्सग्गेणं सम्मप्पाणं भावेत्ता भवइ । पुव्वरत्तकालसमयंसि धम्मजागरियं जागरित्ता भवइ । फासुयस्स एसणिज्जस्स उंछस्स सामुदाणियस्स सम्मं गवेसइत्ता भवइ ।४। इच्चेएहिं चउहिं ठाणेहिं णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा० जाव समुप्पज्जेज्जा ।

"चउहीत्यादि" सूत्रं स्फुटं, परं निर्ग्रन्थीग्रहणात् स्त्रिया अपि केवलमुत्पद्यत इत्याह–अस्मिन्निति प्रत्यक्ष इवानन्तं प्रत्यासन्ने समये (अइसेसेत्ति) शेषाणि मत्यादिचक्षुर्दर्शनादीनि अतिक्रान्तं सर्वावबोधादिगगुणैर्यत्तदतिशेषमतिशयवतः केवलमित्यर्थः । (समुत्पत्तुकाममपीति) इहैवार्थो द्रष्टव्यः ज्ञानादेरभिलाषाभावात्कथयितेति शीलार्थिकस्तृन् । तेन द्वितीया न विरुद्धा इति विवेकेनेति अशुद्धादित्यागेन (विउस्सग्गेणंति) कायव्युत्सर्गेण पूर्वरात्रश्च रात्रेः पूर्वो भागः अपररात्रश्च रात्रेरपरो भागस्तावेव कालः समयोऽवसरो जागरिकायाः पूर्वरात्राप्पररात्रकालसमयः, तस्मिन् कुटुम्बजागरिकाव्यवच्छेदेन धर्मप्रधाना जागरिका निद्राक्षयेण बोधो धर्मजागरिका भावप्रत्युपेक्षेत्यर्थः । यथा –

"किं कय किं वा सेसं, किं करणिज्जं तवं च न करेमि ।
पुव्वावरत्तकाले जा–गरओ भावपडिलेह त्ति ।।१।।
अहवा को मम कालो, किमेयस्स उचियं असारा वि ।
विसया नियमगामिणो, बिस्सावसाणा भीसणो मच्चू" ।।२।।

इत्यादिरूपा विभक्तिपरिणामात् तया जागरिता जागरको भवति, अथवा धर्मजागरिकां जागरिता कर्तेति द्रष्टव्यमिति । तथा प्रगता असव उच्छ्वासादयः प्राणा यस्मात् स प्रासुको निर्जीवः, तस्य एष्यते गवेष्यते छद्गमादिदोषरहिततयेत्येषणीयः कल्पः, तस्य उञ्छ्यते अल्पाल्पतया गृह्यत इत्युञ्छो भक्तपानादिः, तस्य समुदाने भैक्षणे याञ्चायां भवः सामुदानिकः तस्य नो सम्यग्गवेषयिता अन्वेष्टा भवतीति । एवंप्रकारैरेतैरनन्तरोदितैरित्यादि निगमनम् । एतद्विपर्यसूत्रं कण्ठ्यम् । स्था०४ ठा०२ उ० ।

केवलणाणजिण–पुं०–(केवलज्ञानजिन) । केवलप्रधानो जिनः केवलज्ञानजिनः । स्था०३ ठा०४ उ० ।

केवलणाणदंसण–पुं०–(केवलज्ञानदर्शन) । केवले संपूर्णे ज्ञानदर्शने येषां ते तथाविधाः । सर्वज्ञेषु सर्वदार्शिषु, पं० सू०१ सू० । ("पंचहिं ठाणेहिं केवलवरणाणदंसणे समुप्पज्जिउकामे न खुब्भइ" इत्यादि 'ओहिदंसण' शब्देऽत्रैव भागे १६० पृष्ठे प्रोक्तम्)

केवलणाणायरिय–पुं०–(कूवलज्ञानार्य) । केवलज्ञानेनाप्ये ज्ञानार्यभेदे, प्रज्ञा०१ पद ।

केवलणाणावरण–न०–(केवलज्ञानावरण) । केवलज्ञानस्याऽऽवरणं केवलज्ञानावरणम् । ज्ञानावरणकर्मण उत्तरप्रकृतौ, कर्म०१ कर्म० ।

केवलणाणि(ण्)–पुं०–(केवलज्ञानिन्) । प्रथमे भारताती–तजिने, प्रव०६ द्वार ।

केवलत्त–न०–(कैवलत्व) । शुद्धे भावे (केवल्ये) "शुद्धो भावः केवलत्व–मन्यश्चौपाधिकः स्मृतः । शुद्धं विना न मुक्तिश्च, विनाऽशुद्धं न लेपता" ।।६।। द्रव्या०१२ अध्या० ।

केवलदंस(दरि)ण–न०–(केवलदर्शन)। केवलेन संपूर्णवस्तुतत्त्वग्राहकबोधविशेषरूपेण यद्दर्शनं सामान्यांशग्रहणं तत्केवलदर्शनम्। कर्म०१ कर्म०। केवलदर्शनावरणकर्मक्षयाविर्भूते कारणक्रमव्यधानानिवर्तिसकललोकालोकविषयत्रिकालस्वभावपरिणामभेदानन्तपदार्थसामान्यसाक्षात् करणप्रवृत्ते,सम्म०२ काण्ड। सकलजगद्भाविवस्तुसामान्यपरिच्छेदरूपे दर्शनभेदे, पं० सं०१ द्वार। स्था०। "जया से दरिसणावरणे सव्वं होइ खयं गयं। तओ लोगमलोगं च, जिणो पासइ केवली" ॥६॥ दशा०५ अ०।

केवलदंस(दरिस) णावरण–न०–(केवलदर्शनावरण)। केवलमुक्तस्वरूपं, तच्च दर्शनं च, तस्यावरणं केवलदर्शनावरणम्। दर्शनावरणकर्मण उत्तरप्रकृतौ, स्था०८ ठा०। स०।

केवलदुग–न०–(केवलद्विक)। केवलज्ञानकेवलदर्शनरूपे केवलयुग्मे, पं० सं०११ द्वार।

केवलवोहि–स्त्री०–(केवलबोधि)। शुद्धे सम्यग्दर्शने, "केवलं बोहिं बुज्झेज्जा" इति सूत्रे समासाभावेऽपि समाससंभवादेवमुपन्यस्तः शब्दः। भ०६ श०३१ उ०। (अश्रुत्वा केवलबोधिलाओ 'असोच्चा' शब्दे प्र० भा० ८५६ पृष्ठे उक्तः)

केवलवरणाणदंसण–न०–(केवलवरज्ञानदर्शन)। केवलमभिधानतो वरंज्ञानान्तरापेक्षया प्रधानं च दर्शनं च ज्ञानदर्शनम्। समाहारद्वन्द्वः। केवलज्ञानकेवलदर्शनयुगे, भ०६ श०३१ उ०। स्था०।

केवलसिरि–स्त्री०–(केवलश्री)। केवलज्ञानलक्ष्म्याम्, द्वा०२५ द्वा०।

केवलिआराहणा–स्त्री०–(केवल्याराधना)। आराधनाभेदे, स्था०२ ठा०१। (केवल्याराधनाऽपि द्विविधा 'आराहणा' शब्दे, द्वि० भा०३८३ पृष्ठे सव्वयाख्याऽवसेया)

केवलि(ण्)–पुं०–(केवलिन्)। केवलं परिपूर्णं केवलं शुद्धमनन्तं वा। उपा०७ अ०। ज्ञानादित्रयमस्यास्तीति केवली। स्था०५ ठा०३ उ०। अनु०। आव०। आ०म०। औ०। संपूर्णसहायज्ञानादित्रययोगात् सर्वज्ञे, स्था०६ ठा०। आतु०। सूत्र०। कल्प०। आचा०। भ०। उत्पन्नकेवलज्ञानो, ध०२ अधि०। तीर्थकृति, सूत्र०१ श्रु०११ अ०। "लोगस्सुज्जोयगरे, धम्मतित्थयरे जिणे। अरिहंते कित्तइस्सं, चउवीसं पि केवली" ॥ आ० म० द्वि०। समस्तवस्तुस्तोमवेदिनि, ध०३ अधि०। अतीतानागतवर्तमानसूक्ष्मव्यवहितपदार्थवेदिनि, सूत्र०१ श्रु०५ अ०१ उ०। जिने, भ०५ श०४ उ०।

(१) केवलिलक्षणम्।
(२) शल्योद्धरणानुसारेण केवलिभेदाः।
(३) अनुत्तराणि केवलिनः।
(४) अन्तक्रिया।
(५) अवगाहना।
(६) अनुत्तरोपपातिकैः सहाऽऽलापः।
(७) केवलिनामाहारविषये दिगम्बरैः सह विप्रतिपत्तिः।
(८) उन्मेषनिमेषौ।
(९) केवलिपरिज्ञानम्।
(१०) केवलिनोऽन्तरज्ञानम्।
(११) चरमकर्मणो ज्ञानम्।
(१२) भाषणम्।
(१३) मनोवग्योगः।

(१–) लक्षणम्–

कसिणं केवलकप्पं, लोगं जाणंति तह य पासंति।
केवलिचरित्तनाणी, तम्हा ते केवली होंति।४०।आव०नि०।

कृत्स्नं संपूर्णं, केवलकल्पं केवलोपमम्, इह कल्पशब्द औपम्ये गृह्यते। उक्तं च–"सामर्थ्ये वर्णनायां च, छेदने करणे तथा। औपम्ये वाऽधिवासे च, कल्पशब्दं विदुर्बुधाः"॥१॥ लोकं पञ्चास्तिकायात्मकं, जानन्ति विशेषरूपतया, तथैव संपूर्णमेव, चशब्दस्यावधारणार्थत्वात्, पश्यन्ति सामान्यरूपतया। इह ज्ञानदर्शनयोः संपूर्णलोकविषयत्वे बहुवक्तव्यं, तत्तु नोच्यते, ग्रन्थविस्तरभयात् इति, केवलं निर्विशेषं विशेषाणां ग्रहो दर्शनमुच्यते, विशिष्टग्रहणं ज्ञानमेवं सर्वगं द्वयमित्यनया दिशा स्वयमेवाभ्यूह्यमिति। धर्मसंग्रहणिकायाः। परिभावनीया यतश्चैव केवलचारित्रिणः केवलज्ञातिनश्च तस्मात्ते केवलिनो भवन्ति, केवलमेषां विद्यते इति केवलिन एषां व्युत्पत्तेः। अहो अत्राकाण्ड एव केवलचारित्र इति किमर्थमुक्तम् ?। उच्यते–केवलचारित्रप्राप्तिपूर्विका नियमतः केवलज्ञानावाप्तिरिति न्यायदर्शनार्थमित्यदोषः। तदेवं व्याख्याता लोकस्येत्यादिरूपस्तत्र प्रथमश्लोकः ॥४०॥ (आव०) आ०म०द्वि०। (अस्य भवस्थसिद्धकेवल्यादि–भेदाः 'केवलणाण' शब्देऽनन्तरमेव तद्विशेषणभूताः प्रोक्ताः सुविचक्षणैः स्वयमूह्याः)

भवस्थकेवली तु–

उप्पण्णणादंसणधरे णं अरहा जिणे केवली चत्तारि कम्मं से वेदेंति। तं जहा–वेयणिज्जं, आउयं, णाम, गोयं। स्था०४ ठा०१ उ०।

(२) शल्योद्धरणानुसारेण केवलिभेदाः–

परमत्थतत्तसारत्थं, सल्लुद्धरणमिमं सुणे।
सुणेत्ता तह मालोए, जह आलोयतो चेव ॥६५॥
उप्पाएँ केवलं णाणं, दिन्ने रिसभावत्थेहिं।
नीसल्लऽऽलोयणा जेण (आलोयमाणाणं चेव)
उप्पन्नं तत्थेव केवलं ॥६६॥
केसिंचि साहिमो नामे, महासत्ताण गोयमा !।
जेहिं भावेणालोययंते–हिं केवलणाणमुप्पाइयं ।६७॥
हा हा दुट्ठ कडे साहू, हा हा दुट्ठ विचिंतिरे।
हा हा दुट्ठ भाणिरे साहू, हा हा दुट्ठ मणुमते ॥६८॥
संवेगालोयगे तह य, भावालोयणकेवली।
पयखेवकेवली चेव, मुहणंतगकेवली ॥६६॥
तह पच्छित्तकेवली सम्मं, महावेरग्गकेवली।
आलोयणकेवली तह य, हाहं पावित्तिकेवली ॥७०॥
उस्सुत्तमग्गं पन्नवए, हा हा अणयारकेवली।
सावज्जं न करेमि त्ति, अक्खंडियसीलकेवली ॥७१॥
तवसंजमवयसंरक्खे, निंदणगरहणे तहा।
सव्वतो सीलसंरक्खे, कोडीपच्छित्ते वि य ॥७२॥
निप्परिकम्मे अकंडु– पणे अणिमिसच्छी य केवली।
एगपासित्तदोपहरे, मूणव्वयकेवली तहा ॥७३॥

न सक्को काउ सामन्नं, अणसणे वामिकेवली।
नवकारकेवली तह य, निच्चालोयणकेवली ॥७४॥
नीसल्लकेवली तह य, सल्लुद्धरणकेवली।
धन्नो मित्तिसंपुन्नो, सताहं पी किन्न केवली ॥७५॥
ससल्लोऽहं न पारेमि, बलकट्ठपयकेवली।
पक्खसुद्धाविहाणे य, चाउम्मासीयकेवली ॥७६॥
संवच्छरमहपच्छित्ते, जहा चलजीविते तहा।
अणिच्चे खणविद्धंती, मणुयत्ते केवली तहा ॥७७॥
आलोयंनिंदबंदियए, घोरपच्छित्तदुक्करे।
लक्खोवभग्गपचिछत्ते, सम्महियासणकेवली ॥७८॥
हत्थोसरणनिवासे य, अट्ठकवलासिकेवली।
एगसिद्धगपच्छित्ते, दसवासो केवली तहा ॥७९॥
पच्छित्ताढवगे चेव, पच्छित्तद्धकयकेवली।
पच्छित्तपरिसमत्ती य, अट्ठसउक्कोसकेवली ॥८०॥
न सुद्धी वि न पच्छित्ता, ता वरं खिप्पकेवली।
एगं काऊण पच्छित्तं, वीयं न भवे जह चेव केवली ॥८१॥
तं वायराम पच्छित्तं, जेण गच्छइ केवली।
तं वायराम जेण समं, सफली होइ केवली ॥८२॥
किं पच्छित्तं चरंतो, हं च्छिणो तवकेवली।
जिणाण माणं लंघेयं, पाणपरिच्चयणकेवली ॥८३॥
अन्नं होही सरीरं मे, नो बोही चेव केवली।
सुलद्धमिणं सरीरेणं, पाविणिदुहणकेवली ॥८४॥
अणाइपावकम्ममलं, निद्धोवेमीह केवली।
वीयं तं न समायरियं, पमाया केवली तहा ॥८५॥
देहे खवउ सरीरं मे, निज्जराभावउ केवली।
सरीरस्स संजमं सारं, निक्कलंकं तु केवली ॥८६॥
मणसा वि खंडिए सीले, पाणे ण धरामि केवली।
एवं वइकायजोगेणं, सीलं रक्खे अह केवली ॥८७॥
एवमाई अणादीया, कालाऊणंते मुणी।
केईयाऽऽलोयणासिद्धे, पच्छित्ता जाइ गोयमा ! ॥८८॥

महा०१ अ०। आ० म०।

(३) अनुत्तराणि–

केवलिस्स णं पंच अणुत्तरा पण्णत्ता। तं जहा–अणुत्तरे णाणे, अणुत्तरे दंसणे, अणुत्तरे चरित्ते, अणुत्तरे तवे, अणुत्तरे वीरिए।

तथा न सन्त्युत्तराणि प्रधानानि येभ्यस्तान्यनुत्तराणि, यथा स्वसर्वथाऽऽवरणक्षयात्, तत्राद्ये ज्ञानदर्शनावरणक्षयादनन्तरमोहक्षयात्तपश्चारित्रभेदत्वात्तपश्च केवलिनामनुत्तरं शैलेश्यवस्थायां शुक्लध्यानभेदद्वयस्वरूपं ध्यानस्याभ्यन्त–रतपोभेदत्वाद्वीर्यान्तरायक्षयादिति। स्था०५ ठा०१ उ०।

केवलिस्स णं दस अणुत्तरा पण्णत्ता। तं जहा–अणुत्तरे णाणे अणुत्तरे दंसणे अणुत्तरे चरित्ते अणुत्तरे तवे अणुत्तरे वीरिए अणुत्तरा खंती अणुत्तरा मुत्ती अणुत्तरे अज्जवे अणुत्तरे मद्दवे अणुत्तरे लाघवे। स्था०१० ठा०।

(४) अन्तक्रिया। केवलीभूत्वैव सिद्ध्यति–

एस णं भंते ! पोग्गले तीतमणंतं सासयं समयं भुवीति वत्तव्वं सिया ? हंता गोयमा ! एस णं पोग्गले तीतमणंतं सासयं समयं भुवीति वत्तव्वं सिया। एस णं भंते ! पोग्गले पडुप्पण्णसासयं समयं भवतीति वत्तव्वं सिया ? हंता गोयमा ! तं चेव उच्चारेयव्वं। एस णं भंते ! पोग्गले अणागयमणंतं सासयं समयं भविस्सतीति वत्तव्वं सिया ? हंता गोयमा ! तं चेव उच्चारेयव्वं, एवं खंधेण वि तिण्णि आलावगा, एवं जीवेण वि तिण्णि आलावगा भाणियव्वा। छ उमत्थे णं भंते ! मणूसे तीतमणंतं सासयं समयं केवलेणं संजमेणं केवलेणं संवरेणं केवलेणं बंभचेरवासेणं केवलीहिं पवयणमायाहिं सिज्झिंसु वुज्झिंसु० जाव सव्वदुक्खाणमंतं करिंसु ? गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ, तं चेव० जाव अंतं करिंसु ? गोयमा ! जे केइ अंतकरा वा अंतिमसरीरिया वा सव्वदुक्खाणमंतं करिंसु वा, करिंति वा, करिस्संति वा, सव्वे ते उप्पण्णणाणदंसणधरा अरहा जिणे केवली भवित्ता तओ पच्छा सिज्झंति, वुज्झंति, मुच्चंति, परिनिव्वायंति० जाव सव्वदुक्खाणमंतं करिंसु वा, करिंति वा, करिस्संति वा, से तेणट्ठेणं गोयमा !० जाव सव्वदु–क्खाणमंतं करिंसु, पडुप्पन्ने वि एवं चेव, नवरं सिज्झंति भाणियव्वं, अणागए वि एवं चेव, नवरं सिज्झिस्संति भाणियव्वं, जहा छउमत्थो तहा आहोहिओ वि, तहा परमोहिओ वि तिन्नि आलावगा भाणियव्वा॥

इह छद्मस्थोऽवधिज्ञानरहितोऽवसेयः, न पुनरकेवलिमात्रम्, उत्तरत्रावधिज्ञानिनो वक्ष्यमाणत्वादिति। (केवलेणं ति) असहायेन शुद्धेन वा परिपूर्णेन वा असाधारणेन वा। यदाह– "केवलमेगं सुद्धं, सगलमसाहारणं अणंतं च"। (संजमेणं ति) पृथिव्यादिरक्षणरूपेण (संवरेणं ति) इन्द्रियकषायनिरोधेन, "सिज्झिंसु" इत्यादौ च बहुवचनं प्राकृतत्वादिति। एतच्च गौतमेनानेनाभिप्रायेण पृष्टम्– यदुत उपशान्तमोहाद्यवस्थायां सर्वविशुद्धाः संयमादयोऽपि भवन्ति, विशुद्धसंयमादिसाध्या च सिद्धिरिति, सा छद्मस्थस्यापि स्यादिति। (अंतकरे त्ति) भवान्तकारिणः, ते च दीर्घतरकालापेक्षयाऽपि भवन्तीत्यत आह–(अंतिमसरीरिया व त्ति) अन्तिमं शरीरं येषामस्ति तेऽन्तिमशरीरिकाः, चरमदेहा इत्यर्थः। वाशब्दौ समुच्चये, "सव्वदुक्खाणमंतं करिंसु" इत्यादौ "सिज्झिंसु सिज्झंति" इत्याद्यपि द्रष्टव्यम्, सिद्ध्याद्यविनाभूतत्वात् सर्वदुःखान्तकरणस्येति। (उप्पन्ननाणदंसणधरा) उत्पन्ने ज्ञानदर्शने धारयन्ति ये ते तथा, न त्वनादिसंसिद्धज्ञानाः, अत एव (अरह त्ति) पूजार्हाः (जिण त्ति) रागादिजेतारः। ते छद्मस्था अपि भवन्तीत्यत आह– (केवलीति) सर्वज्ञाः। "सिज्झंति" इत्यादिषु चतुर्षु पदेषु वर्तमान–

निर्देशस्य शेषोपलक्षणत्वात् "सिज्जिंसु सिज्झंति सिज्झिस्संति" इत्येवमतीतादिनिर्देशो द्रष्टव्यः । अत एव "सव्वदुक्खाणं" इत्यादौ पञ्चमपदेऽसौ विहित इति । "जहा छउमत्थो" इत्यादेरियं भावना– "अहोहिए णं भंते ! मणूसे तीतमणंतं सासयं" इत्यादिदण्डकत्रयं, तत्र अधः परमावधेरधस्ताद्योऽवधिः सोऽधोऽवधिः, तेन यो व्यवहरत्यसावाऽधोऽवधिकः, परिमितक्षेत्रविषयावधिकः । (परमाहोहिउ त्ति) परम आधोऽवधिकाद्यः स परमाधोऽवधिकः । प्राकृतत्वाच्च व्यत्ययनिर्देशः । परमोहिउ त्ति" क्वचित्पाठो व्यक्तश्च। स च समस्तरूपिद्रव्यासंख्यातलोकमात्रालोकखण्डासंख्यातावसर्पिणीविषयावधिज्ञानः । (तिण्णि आलावग त्ति) कालत्रयवेदिनः केवलिनोऽप्यत एव त्रयो दण्डकाः, विशेषस्तु सुत्रोक्त एवेति।

से नूणं भंते ! उप्पन्ननाणदंसणधरे अरहा जिणे केवली अलमत्थु त्ति वत्तव्वं सिया ? हंता गोयमा ! उप्पन्ननाण दंसणरे अरहा केवली अलमत्थु त्ति वत्तव्वं सिया, सेवं भंते भंते त्ति ।।

"से नूणं" इत्यादिषु कालत्रयनिर्देशो वाच्य एवेति । (अलमत्थु त्ति) अलमस्तु पर्याप्तं भवतु, नातः परं किञ्चिज्ज्ञानान्तरं प्राप्तव्यमस्यास्तीति एतद्वक्तव्यं स्याद्भवेत्, सत्यत्वादस्येति। भ०१ श०४ उ०।

(५) अवगाहना। केवली यस्मिन्नाकाशप्रदेशेऽवगाढस्तत्रहस्ताद्यवगाह्य स्थातुं शक्तः–

केवली भंते अस्सिं समयंसि जेसु आगासपएसेसु हत्थं वा पायं वा बाहं वा ऊरुं वा उग्गाहित्ता णं चिट्ठइ पभू ! णं केवली से य कालंसि विएसु चेव आगासपएसेसु हत्थं वा० जाव **उग्गाहित्ता णं चिट्ठित्तए ? गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे। से केणट्ठेणं भंते !० जाव केवली णं अस्सिं समयंसि जेसु आगासपएससु० जाव चिट्ठइ णो णं पभू ! केवली से य कालंसि विएसु चेव हत्थं वा० जाव चिट्ठित्तए । गोयमा ! केवलिस्स णं वीरियस्स सजोगसद्दव्वयाए चलाइं उवगर–णाइं भवंति चलोवगरणट्ठयाए णं केवली अस्सिं समयंसि जेसु आगासपएसेसु हत्थं वा० जव चिट्ठइ णो णं पभू ! केवली से य कालंसि विएसु चेव० जाव चिट्ठित्तए से तेणट्ठेणं जाव वुच्चइ केवलीणं अस्सिं समयंसि० जाव चिट्ठित्तए।**

(अस्सिं समयंसि त्ति) अस्मिन् वर्तमानसमये (ओगाहित्ता णं ति) अवगाह्याऽऽक्रम्य (से य कालंसि व त्ति) एष्यत्कालेऽपी (वीरियस जोगसद्दव्वणाए त्ति) वीर्यं वीर्यान्तरायक्षयप्रभवा शक्तिः, तत्प्रधानं सयोगं मानसादिव्यापारयुक्तं यत्सत् विद्यमानं द्रव्यं जीवद्रव्यं तत्तथा, वीर्यसद्भावेऽपि जीवद्रव्यस्य योगान् विना चलनं स्यादिति; सयोगशब्देन सद् द्रव्यं विशेषितं, सदिति विशेषणं च, तस्य सदा सत्ताऽवधारणार्थम्। अथवा स्वआत्मा, तदूपं स्वद्रव्यं, ततः कर्मधारयः। अथवा वीर्यप्रधानः सयोगो योगवान् वीर्यसयोगः, स चासौ सद्द्रव्यश्च मनःप्रभृतिवर्गणायुक्तो वीर्यसयोगसद्द्रव्यः, तस्य भावस्तत्ता, तया हेतुभूतया (चलाइं ति) अस्थिराणि (उवगरणाइं ति) अङ्गानि (चलोवगरणट्ठयाए त्ति) चलोपकरणलक्षणो योऽर्थस्तद्भावश्चलोपकरणार्थता, तया । चशब्दः पुनरर्थः। भ०५ श०४ उ०।

(६) अनुत्तरोपपातिकैः सहाऽऽलापः –

पभू णं भंते ! अणुत्तरोववाइया देवा तत्थ गया चेव समाणा इह गएण केवलिणा सद्धिं आलावं वा संलावं वा करेत्तए ? हंता पभू। से केणट्ठेणं० जाव पभू णंअणुत्तरोववाइया देवा० जाव करेत्तए ? गोयमा ! जण्णं अणुत्तरोववाइया देवा तत्थ गया चेव समाणा अट्ठं वा हेउं वा पसिणं वा कारणं वा वागरणं वा पुच्छंति तण्णं इह गए केवली अट्ठं वा० जाव वागरणं वा वागरेइ, से तेणट्ठेणं भंते ! इह गए केवली अट्ठं वा० जाव वागरेइ, तण्णं अणुत्तरोववाइया देवा तत्थ गया चेव समाणा जाणंति, पासंति, से केणट्ठेणं० जाव पासंति। गोयमा ! तेसि णं देवाणं अणंताओ मणोदव्वग्गणाओ लद्धाओ पत्ताओ अभिसमण्णागयाओ भवंति, से तेणट्ठेणं जण्णं इह गए केवली० जाव पासइ।

(आलावं व त्ति) सकृज्जल्पं (संलावं व ति) मुहुर्मुहुर्जल्पं मानसिकमेवेति, (लद्धाओ त्ति) तदवधेर्विषयभावं गताः (पत्ताओ त्ति) तदवधिना सामान्यतः प्राप्ताः, परिच्छिन्ना इत्यर्थः । (अभिसमण्णागयाओ त्ति) विशेषतः परिच्छिन्नाः यतस्तेषामवधिज्ञानं संभिन्नलोकनाडीविषयं, यच्च लोकनाडीग्राहकं तन्मनोवर्गणाग्राहकं भवत्येव, यतो योऽपि लोकसंख्येयभागविषयोऽवधिः सोऽपि मनोद्रव्यग्राही, यः पुनः संभिन्नलोकनाडीविषयोऽसौ कथं मनोद्रव्यग्राही न भविष्यति, इष्यते च लोकसंख्येयभागावधेर्मनोद्रव्यग्राहित्वम् । यदाह–"संखेज्जमणोदव्वे, भागो लोगपलियस्स बोधव्वो" त्ति। भ०५ श०४ उ०।

(७) आहारः। तत्र दिगम्बरैः सह विप्रतिपत्तिः –

सर्वथा दोषविगमात्, कृतकृत्यतया तथा।
आहारसंज्ञाविरहा–दनन्तसुखसङ्गतेः ।।१।।
दग्धरज्जुसमत्वाच्च, वेदनीयस्स कर्मणः।
अक्षोद्भवतया देह–गतयोः सुखदुःखयोः ।।२।।
मोहात्परप्रवृत्तेश्च, सातवेद्यानुदीरणात्।
प्रमादजननादुच्चै–राहारकथयाऽपि च ।।३।।
भुक्त्या निद्रादिकोत्पत्तेः, तथा ध्यानतपोव्ययात्।
परमौदारिकाङ्गस्य, स्थास्नुत्वात्तां विनाऽपि च ।।४।।
परोपकारहानेश्च, पुरीषादिजुगुप्सया।
व्याध्युत्पत्तेश्च भगवान्, भुङ्क्ते नेति दिगम्बराः ।।५।।

(सर्वथेति) सर्वथा सर्वप्रकारैर्दोषविगमात्, क्षुधायाश्च दोषत्वात्तदभावे कवलाहारानुपपत्तेः । तथा कृतकृत्यतया केवलिनः कवलभोजित्वे तद्धान्यापत्तेः । आहारसंज्ञाविरहात् तस्याश्चाहारहेतुत्वात् । अनन्तसुखस्य संगतेः केवलिनः कवलभुक्तौ तत्कारण क्षुद्वेदनोदयावश्यभावात्तेनानन्तसुखविरो–

धात् ॥१॥ (दग्धेति) च पुनर्वेदनीयकर्मणो दग्धरज्जुसमत्वात्तादृशेन तेन स्वकार्यस्य क्षुद्वेदनोदयस्य जनयितुमशक्यत्वात् । देहगतयोः शरीराश्रितयोः सुखदुःखयोरक्षोद्भवतयेन्द्रियाधीनतयाऽतीन्द्रियाणां भगवतां तदनुपपत्तेः ॥२॥ (मोहादिति) मोहाद् मोहनीयकर्मणः परप्रवृत्तेः परद्रव्यप्रवृत्तेर्निर्मोहस्य सत आहारादिपरद्रव्यप्रवृत्त्यनुपपत्तेः । सातवेद्यस्य सातवेदनीयस्यानुदीरणात् सातासातमनुजायुषामुदीरणायाः सप्तमगुणस्थान एव निवृत्तेः केवलिनः कवलभुक्तौ तज्जन्यसातोदीरणप्रसङ्गात् । च पुनराहारकथयाऽप्युचैरत्यर्थं प्रमादजननादाहारस्य सुतरां तथात्वात् ॥३॥ (भुक्त्येति) भुक्त्या कवलाहारेण निद्रादिकस्योत्पत्तेः, आदिना रासनमतिज्ञानेर्यापथपरिग्रहः । केवलिनां च निद्राद्यभावात् तद्व्याप्यभुक्तेरप्ययोगात् । तथा भुक्तौ सत्यां ध्यानतपसोर्व्ययात्, केवलिनश्च तयोः सदातनत्वात् तां विनाऽपि च भुक्तिं विनाऽपि च परमौदारिकाङ्गस्य स्थास्नुत्वाच्चिरकालमवस्थितिशीलत्वात्तदर्थं केवलिनस्तत्कल्पनायोगात् ॥४॥ (परेति) परोपकारहानेश्च भुक्तिकाले धर्मदेशनाऽनुपपत्तेः सदा परोपकारस्वभावस्य भगवतस्तद्व्याघातायोगात् । पुरीषादिजुगुप्सया भुक्तौ तद्धौव्यात् । व्याध्युत्पत्तेश्च भुक्तेस्तन्निमित्तत्वात् । भगवान् केवली भुङ्क्ते न इति दिगम्बरा वदन्ति ॥५॥

सिद्धान्तश्चायमधुना, लेशेनास्माभिरुच्यते ।
दिगम्बरमतव्याल—पलायनकलागुरुः ॥६॥
हन्ताज्ञानादिका दोषाः, घातिकर्मोदयोद्भवाः ।
तदभावेऽपि किं न स्या—द्वेदनीयोद्भवा क्षुधा ॥७॥
अव्याबाधविघाताच्चेत्, सा दोष इति ते मतम् ।
नरत्वमपि दोषः स्यात्, तदा सिद्धत्वदूषणात् ॥८॥
घातिकर्मक्षयादेवा—क्षता च कृतकृत्यता ।
तदभावेऽपि नो बाधा, भवोपग्राहिकर्मभिः ॥९॥
आहारसंज्ञा चाहार—तृष्णाख्या न मुनेरपि ।
किं पुनस्तदभावेन, स्वामिनो मुक्तिबाधनम् ॥१०॥
अनन्तं च सुखं भर्तु—र्ज्ञानादिगुणसङ्गतम् ।
क्षुधादयो न बाधन्ते, पूर्णं त्वस्ति महोदये ॥११॥
दग्धरज्जुसमत्वं च, वेदनीयस्स कर्मणः ।
वदन्तो नैव जानन्ति, सिद्धान्तार्थव्यवस्थितिम् ॥१२॥

सिद्धान्तश्चायमिति व्यक्तः ॥६॥ (हन्तेति) हन्त अज्ञानादिका घातिकर्मोदयोद्भवा दोषाः प्रसिद्धाः । तदभावेऽपि वेदनीयोद्भवा क्षुधा किं न स्यात् । न हि वयं भवन्तमिव तत्त्वमनालोच्य क्षुत्पिपासादिनैव दोषानभ्युपेमो येन निर्दोषस्य केवलिनः क्षुधाद्यभावः स्यादिति भावः ॥७॥(अव्याबाधेति) अव्याबाधस्य निरतिशयसुखस्य विघातात् सा क्षुधा दोषो, गुणदूषणस्यैव दोषलक्षणत्वादिति चेद् यदि ते तव मतं, तदा नरत्वप्रपिभवतो दोषः स्यात्, सिद्धत्वदूषणात् । तस्मात्केवलज्ञानप्रतिबन्धकत्वेन घातिकर्मोदयोद्भवानामज्ञानादीनामिव दोषत्वं, न तु क्षुधादीनामिति युक्तमुत्पश्यामः ॥८॥ (घातीति) घातिकर्मक्षयादेवाक्षताऽहीना च कृतकृत्यता भवोपग्राहिकर्माभिर्वेदनीयादिभिः सद्भिः । तद्भावेऽपि कृतकृत्यत्वाभावेऽपि (नो) नैव बाधा । सर्वथा कृतकृत्यत्वस्य सिद्धेष्वेव संभवात् उपादित्साभावेऽप्युपादेयस्य मोक्षस्य सयोगिकेवलित्वकालेऽसिद्धेः । रागाद्यभावमात्रेण कृतकृत्यत्वस्य च मुक्तिपक्षेऽप्यबाध एवेति कथितप्रायमेव ॥९॥ (आहारसंज्ञा चेति) आहारसंज्ञा चाहारतृष्णाख्या मोहाभि—व्यक्तचैतन्यस्य संज्ञा पदार्थत्वान्न मुनेरपि भावसाधोरपि, किं पुनस्तदभावेनाहारसंज्ञाभावेन स्वामिनो भगवतो मुक्तिबाधनम् ? तथा चाहारसामान्ये तद्विशेषे वा आहारसंज्ञाया हेतुत्वमेव नास्तीत्युक्तं भवति । न च तद्विशेषे तद्धेतुत्वमेवाप्रमत्तादीनां चाहाराभावान्न व्यभिचार इति कुचोद्यमाशङ्कनीयम्, आहारसंज्ञाया अतिचारनिमित्तत्वेन कदापि निरतिचाराहारस्य साधूनामप्राप्तिप्रसङ्गात् ॥१०॥ (अनन्तं चेति) अनन्तं च सुखं भर्तुर्भगवतो ज्ञानादिगुणसङ्गतं तन्मयीभूतमिति यावद् अज्ञानादिजन्यदुःखनिवृत्तेः सर्वेषामेव कर्मणां परिणामदुःखहेतुत्वाच्च क्षुदादयो न बाधन्ते, स्वभावनियत सुखानामेव तैर्बाधनं, पूर्णं तु निरवशेषं तु सुखं महोदये मोक्षेऽस्ति, तत्रैव सर्वकर्मक्षयोपपत्तेः ॥११ (दग्धेति) दग्धरज्जुसमत्वं च वेदनीयस्य कर्मणो वदन्तः सिद्धान्तार्थव्यवस्थितिं नैव जानन्ति ॥१२॥

पुण्यप्रकृतितीव्रत्वा—दसाताद्यनुपक्षयात् ।
स्थितिशेषाद्यपेक्षं वा, तद्वचो व्यवतिष्ठते ॥१३॥
इन्द्रियोद्भवता ध्रौव्यं, बाह्ययोः सुखदुःखयोः ।
चित्रं पुनः श्रुतं हेतुः, कर्माध्यात्मिकयोस्तयोः ॥१४॥
आहारादिप्रवृत्तिश्च, मोहजन्या यदीष्यते ।
देशनाऽऽदिप्रवृत्त्याऽपि, भवितव्यं तदा तथा ॥१५॥
यत्नं विना निसर्गाच्चेद्, देशनाऽऽदिकमिष्यते ।
भुक्त्यादिकं तथैव स्याद्, दृष्टबाधा समोभयोः ॥१६॥
भुक्त्या या सातवेद्यस्यो—दीरणाऽऽपाद्यते त्वया ।
साऽपि देशनयाऽसात—वेद्यस्यैतां तवाक्षिपेत् ॥१७॥
उदीरणाख्यं करणं, प्रमादव्यङ्ग्यमत्र यत् ।
तस्य तत्त्वमजानानाः, खिद्यसे स्थूलया धिया ॥१८॥
आहारकथया हन्त, प्रमादः प्रतिबन्धतः ।
तदभावे च नो भुक्त्या, श्रूयते सुमुनेरपि ॥१९॥
निद्रा नोत्पाद्यते भुक्त्या, दर्शनावरणं विना ।
उत्पाद्यते न दण्डेन, घटो मृत्पिण्डमन्तरा ॥२०॥
रासनं च मतिज्ञान—माहारेण भवेद्यदि ।
घ्राणीयं स्यात्तदा पुष्पं, घ्राणतर्पणयोगतः ॥२१॥
ईर्यापथप्रसङ्गश्च, समोऽत्र गमनादिना ।
अक्षते ध्यानतपसी, स्वकालासंभवे पुनः ॥२२॥

(पुण्येति) पुण्यप्रकृतीनां तीर्थकरनामादिरूपाणां तीव्रत्वात्तीव्रविपाकत्वात्तज्जन्यसातप्राबल्ये वेदनीयमात्रस्य दग्धरज्जुसमत्वासिद्धेरसातादीनामनुपक्षयादसातवेदनीयस्यापि तदसिद्धेः पापप्रकृतीनां भगवति रसघातेन नीरसत्वाभ्युपगमे स्थितिघातेन निःस्थितिकत्वस्याप्यापत्तेः, अपूर्वकरणादौ वध्यमानप्रकृतिविषयकस्यैव तस्य व्यवस्थितेः । ननु तर्हि कथं भवोपग्राहिकर्मणां केवलिनां दग्धरज्जुकल्पत्वाभिधानम् आवश्यक—

वृत्त्यादौ श्रूयते ? इत्यत आह—स्थितिशेषाद्यपेक्षं वा तद्वचो दग्धरज्जुकल्पत्ववचो व्यवतिष्ठते, न तु रसापेक्षया, अन्यथा सूत्रकृद्वृत्ति विरोधप्रसङ्गात्, असातादिप्रकृतीनामसुखदत्वाभिधानमप्यावश्यक-निर्युक्त्यादौ घातिकर्मजन्यबहुतरासुखविलयेनाल्पस्याविवक्षणात् । अन्यथा भवोपग्राहायोगादिति विभावनीयं सुधीभिः ॥१३॥ (इन्द्रियेति) इन्द्रियोद्भवताया ध्रौव्यमावश्यकत्वं बाह्ययोरिन्द्रियार्थसम्बन्धापेक्षयो-र्विलक्षणयोरेव सुखदुःखयोः आध्यात्मिकयोस्तयोः सुखदुःखयोः पुनश्चित्रं कर्महेतु श्रुतं क्वचिद् बहिरिन्द्रियव्यापाराभावेऽपि मनोमात्रव्यापारेण सदसच्चिताभ्यामेव तयोत्पत्तेः क्वचिच्च तस्याऽप्यभावे आध्यात्मिकदोषोपशमोद्रेकाभ्यामेव तदुत्पत्तेर्दर्शनाद्भगवत्यपि द्विविधवेदनीयोदयध्रौव्ये तयोः सुवचत्वादिति । वस्तुतो बाह्ययोरपि सुखदुःखयोरिष्टानिष्टार्थशरीरसंपर्कमात्रं प्रयोयोजकं, न तु बहिरिन्द्रि-यज्ञानमपीति भगवति तृणस्पर्शादिपरीषहाभिधानं सांप्रदायिकं संगच्छत इति न किञ्चिदेतत् ॥१४॥ (आहारादीति) आहारादिप्रवृत्तिश्च यदि मोहजन्या इष्यते भगवता बुद्धिपूर्वकपरद्रव्यविषयकप्रवृत्तेर्मोहजन्यत्व-नियमात्तदा देशनादिप्रवृत्त्याऽपि भगवतस्तथा मोहजन्यत्वेन भवितव्यम् ॥१५॥ इच्छाभावाद्भगवतो नास्त्येव देशनाप्रवृत्तिः स्वभावत एव च तेषां नियतदेशकाला देशनेतीष्टापत्तावाह—(यत्नमिति) यत्न ताल्वोष्ठादिव्या-पारजनकप्रयत्नं विना निसर्गात् स्वभावाद्येद् देशनादिकमिष्यते भगवतः तदा भुक्त्यादिकं तथैव यत्नं विनैव स्यात् दृष्टबाधोभयोः पक्षयोः समा। भुक्तेरिव देशनाया अपि यत्नं विना क्वाप्यदर्शनात् । चेष्टाविशेषे यत्नहेतुत्वकल्पनस्य चोभयत्र साम्यात् । ननु प्रयत्नं विना चेष्टामात्रं न भवत्येव, देशना च भगवतामव्यापृतानामेव ध्वनिमयी संभवति, अक्षरमय्यामेव तस्यां यत्नजन्यत्वेनेच्छाजन्यत्वादिनि यमावधारणा-दिति न साम्यम्। यदाह समन्तभद्रः— "अनात्मार्थं विना रागैः, शास्ता शास्ति सतो हितम्। ध्वनन् शिल्पिकरस्पर्शान्मुरजः किमपेक्षते"?॥१॥ इति, मैवं, शब्दस्य शब्दान्तरपरिणामकल्पनस्य साजात्येन न्याय्यत्वे-ऽपि ध्वनेस्तत्कल्पनस्यातिशयातोऽप्यन्याय्यत्वाद्, भगवद्देशनाया ध्वनिरूपत्वेऽपि वाग्योगापेक्षत्वेन तादृशशब्दमात्रे पुरुषप्रयत्नानुसरण-ध्रौव्यात्। अन्यथा 'अपौरुषेयमागमं' वदतो मीमांसकस्य दुर्जयत्वा-पत्तेरिति न किञ्चिदेतत्। अथ सुहृद्भावेन पृच्छामः बुद्धिपूर्वकप्रवृत्तावि-च्छाया हेतुत्वात् कथं केवलिनो देशनादावाहारादौ च प्रवृत्तिरिति चेत् ? सुहृद्भावेन ब्रूमः बुद्धिः खल्विष्टसाधनताधीरन्यस्यातिप्रशक्तत्वात्, तत्पूर्वकत्वं च यदीष्टसाधनताधीजन्यतावच्छेदकं तदाऽप्यबुद्धिपूर्वकप्रवृ-त्ते—र्जीवनयोनिभूताया इव भवोपग्राहिकर्मवशादुपपत्तेर्न कश्चिद्दोष इति । प्रवृत्तिसामान्ये तु योगानामेव हेतुत्वादिच्छापूर्वकत्वमार्थसमाजसिद्धमेव। यदवदाम—"परदव्वम्मि पवित्तीणमोहजणिया व मोहजण्णा वा। जोगकया हु पवित्ती, फलकंखा रागदोसकाया" ।१। इत्यधिकमन्यत्र ॥१६॥ (भुक्त्येति) भुक्त्या कवलाहारेण वा सातवेद्यस्य सातवेदनीयस्योदीरणा त्वयाऽपाद्यते। भुक्तिव्यापारेण सातोत्पत्तेः साऽपि देशनया सातवेद्यस्यैता-मुदीरणां तवापि क्षिपेत्, ततोऽपि परिश्रमदुःखसंभवात् प्रयत्नजन्यत्वस्य तत्र व्यवस्थापितत्वादिति भावः ॥१७॥ सुहृद्भावेन समाधत्ते (उदीरणा-ख्यमिति) उदीरणाख्य करणं यदान्तरशक्तिविशेषलक्षणं प्रमादव्यङ्ग्यं वर्तते, तस्य तत्त्वं स्वरूपमजानानाः स्थूलया धिय बहिर्योगमात्रव्यापार-गोचरया खिद्यसे त्वम् । योग व्यापारमात्रस्य तदाक्षेपकत्वे ततो मनोयोगेनाप्यप्रमत्ते सुखोदीरणप्रसङ्गात्, तदीयसुखस्य ज्ञानरूपत्वे सुखान्तरस्यापि तथात्वप्रसङ्गात् । सुख्यहमित्यनुभवस्य चाप्रमत्तेऽ-प्यक्षतत्वादिति ॥१८॥ (आहारकथयेति) आहारकथया हन्त ! प्रतिबन्धतस्तथाविधाहारेच्छासंस्कारप्रवृद्धेः प्रमादो भवति, न त्वन्यथाऽपि । अकथा विकथानां विपरिणामस्य परिणामभेदेन व्यवस्थितत्वात्। तदभावे च प्रतिबन्धाभावे च 'नो' नैव भुक्त्या श्रूयसे सुमुनेरपि उत्तमसाधोरपि प्रमादः किं पुनर्भगवत इति भावः । बहिर्योगव्यापारमात्रोपरम एवाप्रमत्तत्वलाभ इति तु न युक्तम्, आरब्धस्य तस्य तत्रासङ्गतया निष्ठाया अविरोधादिति ॥१९॥ निद्रेति स्पष्टः ॥२०॥ रासनं चेति स्पष्टः ॥२१॥ (ईर्येति) ईर्यापथप्रसङ्गश्चात्र भगवतो भुक्तौ गमनादिना समस्तेनापि तत्प्रसङ्गस्य तुल्ययोगक्षेमत्वात्, स्वाभाविकस्य च तद्गमनस्य दृष्टबाधेन कल्पयितुमशक्यत्वादिति भावः। स्वकालासंभवे भुक्तिकालासंभविनी ध्यानतपसी पुनरक्षते । योगनिरोधदेहाप-वर्गकालयोरेव तत्स्वभावात् स्वभावसमवस्थितिलक्षणयोश्च तयोर्गमनादिमेव भुक्त्याऽपि न व्याघात इति द्रष्टव्यम् ॥२२॥

परमौदारिकं चाङ्गं, भिन्नं चेत्तत्र का प्रमा ?।
औदारिकादभिन्नं चेत, विना भुक्तिं न तिष्ठति ॥२३॥
भुक्ताद्यदृष्टसंबन्ध—मदृष्टं स्थापकं तनोः ।
तत्त्यागे दृष्टबाधा त्व—त्पक्षभणराक्षसी ॥२४॥
प्रतिकूलानिवर्त्यत्वा—त्तत्तनुत्वं च नोचितम् ।
दोषजन्म तनुत्वं च, निर्दोषे नोपपद्यते ॥२५॥
परोपकारहानिश्च, नियतावसरस्य न ।
पुरीषादिजुगुप्सा च, निर्मोहस्य न विद्यते ॥२६॥
ततोऽन्येषां जुगुप्सा चेत्, सुरासुरनृपर्षदि ।
नाग्न्येऽपि न कथं तस्या—वर्तमानोऽनुभूयते ॥२७॥
(गुणहानेरनिष्टत्वं, वैराग्यान्नाथ वेद्यते ।
इच्छाबन्धं विना नैवं, प्रवृत्तिः सुखदुःखयोः ॥२८॥)

(परमौदारिकं चेति) परमौदारिकं चाङ्गं शरीरं भिन्नं चेदौदारिकादिभ्यः क्लृप्तशरीरेभ्यस्तर्हि तत्र का प्रमा किं प्रमाणम् ? न किञ्चिदित्यर्थः । औदारिकादभिन्नं चेत्तत्केवलमतिशयितरूपाद्युपेतं तदेव तदा भुक्तिं विना न तिष्ठति । चिरकालीनौदारिकशरीरस्थितेर्भुक्तिप्रयोज्यत्वनियमात् । भुक्तेः सामान्यतः पुद्गलविशेषोपचयव्यापारकत्वेनैवोपयोगाद्वन-स्पत्यादीनामपि जलाद्यभ्यादानेनैव चिरकालस्थितेः शरीरविशेषस्थितौ विचित्रपुद्गलोपादानस्यापि हेतुत्वेन तं विना केवलिशरीरस्थितेः कथमप्यसंभवात् तत्र परमौदारिकभिन्नतवस्य कैवल्याकालीनत्वपर्य-वशितस्य विशेषणस्याप्रामाणिकत्वादिति ॥२३॥ (भुक्त्यादीति) भुक्त्याद्यदृष्टेन भोजनादिफलहेतुजाग्रद्विपाककर्मणा संबन्धं तनोः शरीरस्य स्थापकमदृष्टम् दृष्टमिति शेषः । तत्त्यागे केवलिन्यभुपगम्यमाने त्वत्पक्षभक्षणराक्षसी दृष्टबाधा समुपतिष्ठते। तथा च तद्भयादपि तव नेत्थं कल्पना हितावहेति भावः ॥२४॥ ननु तनुस्थापकादृष्टस्य भुक्त्याद्यदृष्टनि-यतत्वेऽपि भुक्त्याद्यदृष्टस्य तनुत्वादभुक्त्याद्युपपत्तिर्भगवतो भविष्यतीत्यव आह—(प्रतिकूलेति) तस्य भुक्त्याद्यदृष्टस्य तनुत्वं च नोचितं, प्रतिकूले न विरोधिपरिणामेनानिवर्त्यत्वात् । न हि वीतरागत्वादिपरिणा-

मेन रागादीनामिव क्षुधादीनां तथाविधपरिणामेन निवर्त्यत्व–मस्ति, येन ततस्तज्ज्ञानकादृष्टतनुत्वं स्यात्। अस्त्येवाभोजनभावनातारतम्येन क्षुन्निरोधतारम्यदर्शनादिति चेन्न। ततो भोजनादिगतस्य प्रतिबन्ध-मात्रस्यैव निवृत्तेः; शरीरादिगतस्येव शरीरादिभावनया। अन्यथा भोजनभावनाऽत्यन्तोत्कर्षेण भुक्तिनिवृत्तिवदशरीरभावनाऽत्य-न्तोत्कर्षेण शरीरनिवृत्तिरपि प्रसज्येतेति महत्सङ्कटमायुष्मतः। नन भुक्त्यादिविपरीतपरिणामेन भुक्त्याद्यदृष्टस्य मोहरूपप्रभूतसामग्रीं विना स्वकार्याक्षमत्वलक्षणं तनुत्वमेव क्रियते। तनुस्थापकादृष्टस्यापि अशरीरभावनया तद्भवबाह्ययोगक्रियां निरुणद्धयेव। शरीरं तु प्रागेव निष्पादितं न बाधितुं क्षमत इत्यस्माकं न कोऽपि दोषः? इति चेन्न, विपरीतपरिणामनिवर्त्यत्वे भुक्त्यादेस्तददृष्टस्य रागाद्यर्जकादृष्टवद् योगप्रकर्षवति भगवति निर्मूलनाशापत्तेर्विशेषाभावात्। घात्यघातिकृत-विशेषाभ्युपगमे तु अघातिनां भवोपग्राहिणां यथाविपाकोपक्रममेव निवृत्तिसंभ–वादिति न किञ्चिदेतत्। दोषजन्म अग्निमान्द्यादिदोषजनितं तनुत्वं च चिरकालविच्छेदलक्षणं निर्दोषे भगवति नोपपद्यते। नियतविच्छेदश्च नियतकालभुक्त्याद्यापेक्षक एवेति भावः ॥२५॥ (परोपकारेति) परोपकारस्य हानिश्च नियतावसरस्य भगवतो न भवति, तृतीययाममुहूर्त्तमात्र एव भगवतो भुक्तेः, शेषमशेषकालमुपकारावसरात्। पुरुषादिजुगुप्सा च निर्मोहस्य क्षीणजुगुप्सामोहनीयकर्मणो न विद्यते भगवतः ॥२६॥

(तत इति) ततः पुरीषादेरन्येषां लोकानां जुगुप्सा चेत्सुरासुरनृपर्षदि, उपविष्टस्येति शेषः। नान्येऽपि तेषां कथं न जुगुप्सा? अतिशयश्चोभयोः पक्षयोः। समः। ततो भगवतो नान्यादर्शनवत्पुरीषाद्यदर्शनस्याप्युपपत्तेः। सामान्यकेवलिभिस्तु विविक्तदेशे तत्करणान्न दोष इति वदन्ति ॥२७॥

स्वतो हितमिताहाराद्, व्याध्युत्पत्तिश्च काऽपि न।
ततो भगवतो भुक्तौ, पश्यामो नैव बाधकम् ॥२८॥

(स्वत इति) स्वतः पुण्याक्षिप्तनिसर्गतः हितमिताहाराद् व्याध्युत्पत्तिश्च काऽपि न भवति। ततो भगवतो भुक्तौ कवलभोजने नैव बाधकं पश्यामः; उपन्यस्तानां तेषां निर्दलनात्। अन्येषामप्येतज्जातीयानामुक्तजातीय-तर्केण निर्दलयितुं शक्यत्वादिति। तत्त्वार्थिना दिगम्बारमतिभ्रमध्वान्तह–रणतरणिरुचिरध्यात्ममतपरीक्षा निरीक्षणीया सूक्ष्मधिया ॥२८॥ द्वा०३० द्वा०। अतः शास्त्रे "विग्गहगइमावन्ना, केवलिणो समुहया अयोगी या। सिद्धा य अनाहारा, सेसा आहारगा जीवा" ॥१॥ सूत्र०२ श्रु०३ अ०। ('उवओग' शब्दे द्वि० भागे ८६० पृष्ठे उपयोगद्वयविचारे चैतत्स्प-ष्टीकृतम्)

(८) उन्मेषनिमेषौ–

केवली णं भंते ! उम्मिसेज्ज वा निम्मिसेज्ज वा ? हंता गोयमा! उम्मिसेज्ज वा निम्मिसेज्ज वा एवं चेव, एवं आउट्टेज्ज वा पसारेज्ज वा, एवं ठाणं वा सेज्जं वा णिसीहियं वा वेएज्जा ॥

(ठाणं ति)ऊर्द्ध्वस्थानं, निषदनस्थानं, त्वग्वर्तनस्थानं चेति। (सेज्जं ति) शय्यां वसतिं (निसीहियं ति) अल्पतरकालिकां वसतिं (वेएज्ज त्ति) कुर्यादिति। भ०१४ श०१० उ०। (उपयोगद्वययौगपद्यविचार 'उवओग' शब्दे द्वि० भागे ८६५ पृष्ठे उक्तः। चतुर्दशपूर्वी केवलज्ञानिना सह 'चउद्दस पुव्वि' शब्दे वक्ष्यते)

(९) केवलिपरिज्ञानम्–

सत्ताहिं ठाणेहिं केवली जाणेज्जा। तं जहा–णो पाणे अइवा–एत्ता भवइ० जाव जहा वाई तहा कारीया वि भवइ ॥ स्था०७ ठा०।

कथं पुनरसौ केवलितया ज्ञायत इत्याह–

केवलिणा वा कहिए, अवंदमाणो व केवलिं अन्नं।
वागरणपुव्वकहिए, देवयपूआसु व सुण्णंति ॥

अन्येन केनापि केवलिना कथिते अथ केवली ज्ञात इत्याख्याते सति अवन्दमानो वा केवलिनमन्यं केवलितया ज्ञायते व्याकरणपूर्वं वा अतिशयज्ञानगम्यार्थकथनपुरस्सरं तेनैव केवलिना स्वयमेव कथिते सति दैवतपूजासु वा यथा सन्निहित देवैः क्रियमाणां महिमां दृष्ट्वा गुरुप्रभृतयस्तं केवलिनं विदन्ति। बृ०३ उ०।

(१०) केवलिनोऽन्तकरज्ञानम्–

केवली णं भंते ! अंतिकरं वा अंतिमसरीरियं वा जाणइ, पासइ ? हंता गोयमा ! जाणइ पासइ। जहा णं भंते ! केवली अंतकरं वा अंतिमसरीरियं वा जाणइ पासइ, तहा णं छउमत्थे वि अंतकरं वा अंतिमसरीरियं वा जाणइ पासइ ? गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे, सोच्चा जाणइ पासइ, पमाणओ वा। से किं तं सोच्चा ? सोच्चा णं केवलिस्स वा केवलिसाव–यस्स वा केवलिसावियाए वा केवलिउवासगस्स वा केवलिउवासियाए वा तप्पक्खियस्स वा तप्पक्खियसावयस्स वा तप्पक्खियसावियाए वा तप्पक्खियउवासगस्स वा तप्पक्खियउवासियाए वा।

यथा केवली जानाति तथा छद्मस्थो,न जानाति। कथञ्चि–त्पुनर्जानात्यपीत्येतदेव दर्शयन्नाह–"सोचेत्यादि" (केवलिस्स व त्ति) केवलिनो जिनस्य अयमन्तकरो भविष्यतीत्यादि वचनं श्रुत्वा जानातीति (केवलिसावयस्स व त्ति) जिनस्य समीपे यः श्रवणार्थी सन् शृणोति तद्वाक्यान्यसौ केवलिम्श्रावकः, तस्य वचनं श्रुत्वा जानाति, स हि किल जिनसमीपे वाक्यान्तराणि शृण्वन् अयमन्तकरो भविष्यतीत्यादिकमपि वाक्यं श्रृणुयात्, ततश्च तद्वचनश्रवणाज्जानातीति। (केवलिउवासगस्स व त्ति) केवलिनमुपास्ते यः श्रवणानाकाङ्क्षी तदुपासनामात्रपरः सन्नसौ केवल्युपासकः, तस्य वचः श्रुत्वा जानाति भावना प्रायः प्राग्वत्। (तप्पक्खियस्स व त्ति) केवलिपाक्षिकस्य स्वयंबुद्धस्येत्यर्थः। इह च श्रुत्वेति वचनेन प्रकीर्णकं वचनमात्रं ज्ञाननिमित्ततया अवसेयं, न त्वागमरूपं, तस्य प्रमाणग्रहणेन ग्रहीष्यमाणत्वादिति। भ०५ श०४ उ०।

तओ केवली पण्णत्ता। तं तहा–ओहिनाणकेवली, मणप–ज्जवनाणकेवली, केवलनाणकेवली।

केवलमेकमनन्तं पूर्णं वा ज्ञानादि येषामस्ति ते केवलिनः। उक्तं च–"कसिणं केवलकप्पं, लोगं जाणंति तह य पासंति। केवलचरित्तनाणी, तम्हा ते केवली होंति"॥१॥ इहापि जिनवद् व्याख्या। स्था०३ ठा०४ उ०। (केवलिनो यक्षावेशो न भवति इति 'जक्खावेस' शब्दे वक्ष्यते)

केवली छद्मस्थमाधोवधिकं वा जानाति—

केवली णं भंते ! छउमत्थं जाणइ पासइ ? हंता जाणइ पासइ। जहा णं भंते ! केवली छउमत्थं जाणइ पासइ, तहा णं सिद्धे वि जाणाइ पासइ ? हंता जाणइ पासइ। केवली णं भंते ! आधोधियं जाणइ पासइ ? एवं चेव। एवं परमाहोहियं, एवं केवलिं, एवं सिद्धे० जाव। जहा णं भंते! केवली सिद्धं जाणइ पासइ तहा णं सिद्धे वि सिद्धं जाणइ पासइ ? हंता ! जाणइ पासइ।

"केवलीत्यादि"। इह केवलिशब्देन भवस्थकेवली गृह्यते, उत्तरत्र सिद्धग्रहणादिति। (आहोहियं ति) प्रतिनियतक्षेत्रावधिज्ञानम्। (परमाहोहियं ति)परमावधिकम्। भ०१४ श०१० उ०।

केवली णं भंते ! इमं रयणप्पभं पुढविं रयणप्पभपुढवीति जाणइ पासइ ? हंता गोयमा ! जाणइ पासइ। जहा णं भंते ! केवली इमं रयणप्पभं पुढविं रयणप्पभपुढवि त्ति जाणइ पासइ, तहा णं सिद्धे वि इमं रयणप्पभं पुढविं रयणप्पभपुढवीतिजाणइ पासइ ? हंता ! जाणइ पासइ। केवली णं भंते ! सक्करप्पभं पुढविं सक्करप्पभपुढवीति जाणइ पासइ ? एवं चेव। एवं० जाव अहे सत्तमं। केवली णं भंते ! सोहम्मं कप्पं सोहम्मकप्पेति जाणइ पासइ ? एवं चेव, एवं ईसाणं, एवं० जाव अच्चुयं। केवली णं भंते ! गेविज्जगविमाणं गेविज्जगाविमाणे ति जाणइ पासइ ? एवं चेव, एवं अणुत्तर विमाणे वि। केवली णं भंते ! ईसिप्पभारं पुढविं इसिप्पभारा पुढवीति जाणइ पासइ ? एवं चेव। केवली णं भंते। परमाणुपोग्गलं परमाणुपोग्गलेति जाणइ पासइ ? एवं चेव। एवं दुपदेसियं खंधं एवं० जाव जहा णं भंते ! केवली अणंतपदेसिए खंधेति जाणइ पासइ तहा णं सिद्धे वि अणंतपदेसियं० जाव पासइ? हंता। जाणइ पासइ। सेवं भंते भंते त्ति। भ०१४ श०१० उ०। उप्पण्णनाणदं—सणधरे अरहा जिणे केवली सव्वभावेणं जाणइ पासइ, धम्मत्थि—कायं० जाव परमाणुपोग्गलं। स्था०५ ठा०३ उ०।

(११) चरमकर्मणः—

केवली णं भंते ! चरिमकम्मं वा चरिमणिज्जरं वा जाणइ पासइ ? हंता गोयमा ! जाणइ पासइ। जहा णं भंते ! केवली चरिमकम्मं वा जहा णं अंतकरेणं आलावगो तहा चरिमकम्मेण वि अपरिसेसिओ णेयव्वो।

"केवली णं" इत्यादि चरमकर्म यच्छैलेशीचरमसमयेऽनुभूयते चरमनिर्जरा तु यत्ततोऽनन्तरसमये जीवप्रदेशेभ्यः परिशटतीति। भ०५ श०४ उ०। ('परीषह' सहनहेतुः परीसहशब्दे वक्ष्यते)

(१२) भाषणम्—

केवली णं भंते ! भासेज्ज वा वागरेज्ज वा ? हंता भासेज्ज वा वागरेज्ज वा। जहा णं भंते ! केवली भासेज्ज वा वागरेज्ज वा तहा णं सिद्धे वि भासेज्ज वा वागरेज्ज वा ? णो इणट्ठे समट्ठे। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ जहा णं केवली भासेज्ज वा वागरेज्ज वा णो तहा णं सिद्धे भा सेज्ज वा वागरेज्ज वा ? गोयमा ! केवली णं सउट्ठाणे सकम्मे सवले सवीरिए सपुरिसक्कारपरक्कमे सिद्धे णं अणुट्ठाणे० जाव अपुरिसक्का—रपरक्कमे से तेणट्ठेणं० जाव णो वागरेज्ज वा।।

(भासेज्ज त्ति) भाषेताऽपृष्ट एव (वागरेज्ज त्ति) पृष्टः सन् व्याकुर्यात्। भ०१४ श०१० उ०।

(१३) मनोवान्योगः—

केवली णं भंते ! पणीणं मणं वा वइं वा धारेज्जा ? हंता धारेज्जा। जण्णं भंते ! केवली पणीयं मणं वा वइं वा धारेज्जा तं णं वेमाणिया देवा जाणंति पासंति ? गोयमा ! अत्थेगइया जाणंति पासंति; अत्थेगइया जाणंति ण पासंति। से केणट्ठेणं० जाव ण पासति ? गोयमा ! वेमाणिया देवा दुविहा पण्णत्ता। तं जहा—माइमिच्छादिट्ठि उववण्णगा य, अमायिसम्मद्दिट्ठिउववण्णगा य। तत्थ णं जे ते माइमिच्छादिट्ठिउववण्णगा ते न जाणंति न पासंति, एवं अणंतरपरंपरपज्जत्तअपज्जत्ता य, उवउत्ता अणुवउत्ता, तत्थ णं जे ते उवउत्ता ते जाणंति पासंति, से तेणट्ठेणं तं चेव।

(पणीय त्ति) प्रणीतं शुभतया प्रकृष्टं (धारेज्ज त्ति) धारयेद्, व्यापारयेदित्यर्थः। "एवं अणंतरेत्यादि"। अस्यायमर्थःयथा वैमानिका द्विविधा उक्ता मायिमिथ्यादृष्टीनां च ज्ञाननिषेध एवममायिसम्यग्दृष्टयोऽनन्तरोपपन्नपरम्परोपपन्नकभेदेन द्विधा वाच्याः। अनन्तरोपपन्नकानां च ज्ञाननिषेधस्तथा परम्परोपपन्नकाः पर्याप्तापर्याप्तकभेदेन द्विधा वाच्याः। अपर्याप्तकानां च ज्ञाननिषेधस्तथा पर्याप्तका उपयुक्तानुपयुक्तभेदेन द्विधा वाच्याः। अनुपयुक्तानां च ज्ञाननिषेधश्चेति। वाचनान्तरे त्विदं सूत्रं साक्षादेवोपलभ्यत इति। भ०५ श०४ उ०। चक्षुर्विकलस्य केवलज्ञानमुत्पद्यते न वेति प्रश्ने ? उत्तरम्—उत्पद्यत इति। १८६ प्र० सेन०२ उल्ला०। (अमनस्कस्यापि केवलिनो ध्यानं 'झाण' शब्दे वक्ष्यते) (केवलिनः समुद्घातः 'केवलिसमुग्घाय' शब्देऽनुपदमेव वक्ष्यते) केवलिनः पट्टधरा भवन्ति न वेति प्रश्ने, उत्तरम—

"प्राप्ते निर्वाणसमये, पूर्णवर्षशतायुषा।
सुधर्मास्वामिनाऽस्थापि जम्बूस्वामी गणाधिपः ॥५६॥
तप्यमानस्तपस्तीव्रं, जम्बूस्वाम्यपि केवलम्।
आसाद्य सदयो भव्य—भविकान् प्रत्यबूउधत् ॥६०॥
श्रीवीरमोक्षदिवसादपि हायनानि,
चत्वारि षष्टिमपि च व्यतिगम्य जम्बूः।
कात्यायनं प्रभवमात्मपदे निवेश्य,
कर्मक्षयेण पदमव्ययमाससाद" ॥६१॥

इति परिशिष्टपर्वणि चतुर्थसर्गप्रान्तवचनानुसारेण केवलिनः पट्टधरा भवन्तीति प्रकटमेवावसीयत इति। ३६ प्र० सेन०२ उल्ला०। पन्यासचन्द्रविजयगणिकृतप्रश्ना, तदुत्तराणि यथा—तीर्थंकरस्य सामान्यकेवलिनो वा वीर्यान्तरायः सदृगेव क्षयं गतस्तन्कथं सा—

मर्थ्ये न्यूनाधिक्यं दृश्यत इति प्रश्ने, उत्तरम्–तीर्थकृत्केवलीनां सामान्यकेवलिनां च वीर्यान्तरायकर्मक्षयजनित्यस्यात्मवीर्यस्य समानत्वेऽपि नामकर्मभेदरूपशरीरलक्षणबाह्योपकरणभेदाद्बले भेदोऽत एव सामान्यकेवलिशरीरेभ्यस्तीर्थंकरशरीरमनन्तबलवज्जीर्णं, तुलादृष्टान्तोऽत्र भावनीय इति। ३६१ प्र० सेन०३ उल्ला०। केवलिनां कति परीषहा भवन्तीति प्रश्ने ? उत्तरम्–केवलिनां क्षुधा १ तृषा २ शीतोष्ण ३–४ दंस ५ चर्या ६ शय्या ७ बध ८ रोग ९ तृणस्पर्श १० मल ११ रूपैकादश परीषहा भवन्तीति भगवत्यष्टशतकनवमोद्देशके इति। ८६ प्र० सेन०३ उल्ला०।

केवलिआगासपएस–पुं०–(केवल्याकाशप्रदेश)। "केवली णं भंते ! अस्सिं समयंसि जेसु आगासपदेसेसु हत्थं वा पायं वा ओगाहित्ता णं चिट्ठति" इत्यालापकेऽपि भगवतीत आचाराङ्गवृत्तौ द्वितीयाध्ययनप्रथमोद्देशके पाठभेदोऽस्ति, सोऽपि कथं घटते ? इति प्रश्ने, उत्तरम्–आचाराङ्गवृत्तावुक्तं चेत्युक्तमस्ति न तूक्तं भगवत्यामिति, तेनायं पाठो ग्रन्थान्तरगतः संभाव्यते। अथवा आचाराङ्गवृत्तिकारकालवर्तिभगवत्यादर्शेष्वयं पाठोदृष्टः संभाव्यत इति। १२ प्र० सेन०२ उल्ला०।

केवलिउवासग–पुं०–(केवल्युपासक)। केवलिनमुपास्ते यः श्रवणाद्याकाङ्क्षी तदुपासनामात्रपरः सन्नसौ केवल्युपासकः। भ०५ श०४ उ०। केवलिन उपासनां विदधानेन केवलिनैवान्यस्य कथ्यमानं श्रुतं येनासौ केवल्युपासकः। केवलिन उपासनामात्रं विदधाने, अन्य प्रति उपदिशतः केवलिनः आवके च। भ०९ श०३१ उ०।

केवलिखीणकसायवीयरागदंसण–न०–(केवलिक्षीणकषायवीतरागदर्शन)। क्षणिकषायवीतरागदर्शनभेदे, प्रज्ञा०१ पद।

केवलिपक्खिय–पुं०–(केवलिपाक्षिक)। स्वयम्बुद्धे, भ०९ श०३१ उ०।

केवलिपन्नत्त–त्रि०–(केवलिप्रज्ञप्त)। सर्वज्ञोपदिष्टे, पा०।

केवलिपन्नत्तो धम्मो जावज्जीवं मे भगवं सरणं।

केवलिप्रज्ञप्तः केवलिप्ररूपितो धर्मः श्रुतादिरूपः। पं० सू०५ सूत्र। आ० चू०। आव०।

अम्हे णं देवाणुप्पिए ! णं तवविचित्तं केवलिपन्नत्तं धम्मं परिकहेमो।

केवलिप्रज्ञप्तधर्मश्च–"जीवदया सच्चवयणं, परधणपरिवज्जणं सुसीलं च। खंती पंचिंदियऽभिग्गहो य धम्मस्स मूलाइं" ॥१॥ नि०३ वर्ग।

केवलिपरियाय–पुं०–(केवलिपर्याय)। जिनपर्याये, आ० म० द्वि०।

केवलिमरण–न०–(केवलिमरण)। उत्पन्नकेवलज्ञानस्य सकलकर्मपुद्गलपरिशाटनतो म्रियमाणस्य मरणे, प्रव०१५७ द्वार। "केवलिमरणं तु केवणिणो" उत्त० नि०२ खण्ड। केवलिमरणं तु ये केवलिन उत्पन्नकेवलज्ञानाः सकलकर्मपुद्गलपरिशाटनतो म्रियन्ते तज्ज्ञेयमिति। उत्त०५ अ०।

केवलिय–त्रि०–(केवलिक)। केवलमेव कैवलिकम्। आव०४ अ०। अद्वितीये, यस्मान्नापरमित्थंभूतमित्यर्थः। "इणमेव णिग्गंथं पावयणं सच्चं अणुत्तरं केवलियं पडिपुन्नं"। ध०३ अधि०।

केवलिन इदं कैवलिकम्। केवलिना कथिते, सूत्र०१ श्रु०१४ अ०। ज्ञा०। "तं सोयकारी पुढो पवेसे, संखाइमं केवलियं समाहिं" सूत्र० १ श्रु०१४ अ०। ज्ञा०। केवलिसंबन्धिनि च। स्था०४ ठा०२ उ०।

केवलियणाणलंभ–पुं०–(कैवलिकज्ञानलाभ)। केवलज्ञानोपलब्धौ, आ० म० प्र०। आव०।

केवलिलद्धि–स्त्री०–(केवलिलब्धि)। केवलिनः केवलज्ञानऋद्धिरूपे लब्धिभेदे, प्रव०२७० द्वार।

केवलिसमुग्घाय–पुं०–(केवलिसमुद्घात)। केवलिन्यन्तर्मुहूर्तभाविपरमपदे भवः समुद्घातः केवलिसमुद्घातः। पं० सं०२ द्वार। प्रव०। जिनसमुद्घाते, समुद्घातभेदे, विशे०।

अशेषकेवलिसमुद्घातवक्तव्यता। संप्रति केवलिसमुद्घातविधौ यथास्वरूपैर्यावत्प्रमाणस्य क्षेत्रस्यापूरणमुपजायते तथास्वरूपैः पुद्गलैस्तावत्प्रमाणस्य क्षेत्रस्यापूरणमभिधि–त्सुराह–

अणगारस्स णं भंते ! भावियप्पणो केवलिसमुग्घाएणं समोहयस्स जे चरिमा निज्जरा पोग्गला सुहुमा णं ते पोग्गला सव्वलोगं पि य णं भंते ! फुसित्ता णं चिट्ठंति ? हंता गोयमा! अणगारस्स भावियप्पणो केवली समुग्घा एणं समोहयस्स जे चरिमा निज्जरा पोग्गला सुहुमा णं ते पोग्गला पण्णत्ता समणाउसो ! सव्वलोगं पि य णं फुसित्ता णं चिट्ठंति।

इह समुद्घातः केवलिनो भवति, न छद्मस्थस्य। केवली च निश्चयनयमते नानगारो न गृहस्थो मापि पाखण्डी, स च नियमाद् भावितात्मा, विशिष्टशुभाध्यवसणनकलितत्वात्; अन्यथा केवलित्वानुपपत्तेः, तत उक्तमनगारस्य भावितात्मनः। इह केवलिसमुद्घातेनोक्तस्वरूपेण समवहतस्य ये चरमाश्चरमसमयभाविन इत्यर्थः। तैरेव सकललोकापूरणात् (निर्जराः पुद्गला इति) निर्जरा निर्जीर्णा इत्यर्थः। ते च ते पुद्गलाश्चेति विशेषणसमासः। किमुक्तं भवति ?–ये लोकापूरणसमये पुद्गला आत्मप्रदेशेभ्यो विशिष्टाः परित्यक्तकर्मत्वपरिणामा इति (सुहुमा णं भंते ! पुग्गला) आत्मप्रदेशेभ्या विशिष्टाः परित्यक्तकर्मत्वपरिणामा इति। (सुहुमा णं भंते ! पुग्गला इति) णमिति निश्चये, सूक्ष्माश्चक्षुरादीन्द्रियपथमतिक्रान्तास्ते पुद्गलाः प्रज्ञप्ताः भगवद्भिः हे श्रमण हे आयुष्मन् !, गौतमकृतं भगवतः सम्बोधनमेतत्। तथा (णमिति) निश्चितमेतत्। सर्वलोकमपि ते पुद्गलाः स्पृष्ट्वा, णमिति वाक्यालङ्कारोतिष्ठन्ति। गौतमेन प्रश्ने कृते भगवानाह– "हन्ता गोयमा!" इत्यादि। हन्तेति प्रीतौ। यदाह शाकटायनः हन्तेति संप्रदानं प्रीतिश्चात्र यथावस्थितस्वरूपप्रतिपादकत्वात् प्रश्नसूत्रस्य सामान्यलक्षणा वेदितव्या, न तु हर्षरूपा। क्षीणमोहत्वेन भगवतो हर्षविषादातीतत्वात्। सामान्यमेव ख्यापयति–यदुक्तं गौतमेन तदनुवदति "अणगारस्येत्यादि "भावितार्थसूक्ष्मपुद्गला इत्युक्तम्। तच्च सूक्ष्मत्वमपि भवति यथा वदरादीनामामलकाद्यपेक्षया वा, ततश्चक्षुरादीन्द्रियगोचरातिक्रान्तरूपः।

तत्प्रतिपिपादयिषुरिदमाह–

छउमत्थे णं भंते ! मणूसे तेसिं निज्जरापोग्गलाणं वन्नेणं वन्नं गंधेणं गंधं रसेणं रसं फासेणं वा फासं जाणइ, पासइ ? गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे। से केणट्ठे णं भंते ! एवं

वुच्चइ—छउमत्थे णं मणुस्से तेसिं निज्जरापोग्गलाणं नो किं चि वि वन्नेणं वन्नं गंधेणं गंधं रसेणं रसं फासेणं फासं जाणइ पासइ ? गोयमा ! अयन्नं जंबुद्दीवे दीवे सव्वदीवसमुद्दाणं सव्वब्भंतरए सव्वखुड्डाए वट्टे तेल्ला पूयसंठा णसंठिए वट्टे रहचक्कवालसंठाणसंठिए वट्टे पुक्खरकणिण यासंठाण—संठिए वट्टे पडिपुण्णचंद्रसंठाणसंठिए चेव एगं जोयणसयसहस्सं आयामविक्खंभेणं तिन्नि जोयणसयसहस्साइं सालससह-स्ससाइं दोण्णि सत्तावीसे जायणसए तिन्नि य कोसे अट्ठावीसं च धणुसयं तेरस अंगुलाइं अद्धंगुलं च किंचि विसेसाहिए परिक्खेवेणं पण्णत्ते देवे णं महड्ढिए० जाव महासोक्खे एगं महं सविलेवणं गंधसमुग्गयं गहाय तं अवद्दालेइ, तं महं एगं सविलेवणं गंधसमुग्गयं अवद्दालइत्ता इणमेव णं तिकट्टु केवलकप्पं जंबुद्दीवं दीवं तिहि अच्छराणि वा तेहिं सत्तखुत्तो अणुपरियट्टित्ता णं हव्वमागच्छेज्जा । से नूणं गोयमा ! से केवलकप्पे जंबुद्दीवे हीवे तेहिं घाणपुग्गलेहिं फुडे ? हन्ता फुडे । छउमत्थे णं गोयमा ! मणूसे तेसिं घाणपोग्गलाणं किंचि वण्णेणं वण्णं गंधेणं गंधं रसेणं रसं फासेणं फासं जाणइ पासइ ? भगवं! णो इणट्ठे समट्ठे । से केणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ छउमत्थेणं मणुस्से तेसिं निज्जरापोग्गलाणं नो किंचि वन्नेणं वण्णं गंधेणं गंधं रसेणं रसं फासेणं फासं जाणइ पासइ ? जे सुहुमा णं ते पोग्गला पन्नत्ता समणाउसो ! सव्वलोगं पि य णं फुसित्ता णं चिट्ठंति ॥

(छउमत्थे णमित्यादि) छद्मस्थो भदन्त ! मनुष्यः, तेषामनन्तरो दृष्टानां निर्जरापुद्गलानां किञ्चिदिति प्रथमतः सामान्येन प्रयुक्तं जानाति पश्यतीति संबध्यते । एतदेव विशेषता व्याचष्टेवर्णेन वर्णग्राहकेण चक्षुरिन्द्रियेण वर्ण्यते यथास्थितं वस्तुस्वरूपं निर्णीयतेऽनेनेति वर्ण इति व्युत्पत्तेः वर्णं कृष्णादिरूपम् । गन्धनं गन्धग्राहकेण नासिकेन्द्रियेण 'गन्ध' आघ्राणे, चुरादिभ्यो णिच्, गन्ध्यत आघ्रायते शुभोऽशुभो वा गन्धोऽनेनेति गन्ध इति व्युत्पादनात् गन्धं शुभाशुभं वा । रसेन रसग्राहकेण रसनेन्द्रियेण रस्यते आस्वाद्यतेऽनेनेति शब्दार्थत्वात् रसं तिक्तादिरूपम् । स्वर्शन स्पर्शग्राहकेण स्पर्शनेन्द्रियेण स्पृश्यतेऽनेनेति कर्कशादिरूपः परिच्छेद्यवस्तुगतः स्पर्श इति व्युत्पादनात् स्पर्शं कर्कशादिरूपं जानाति पश्यतीति । भगवानाह—गौतम ! नायमर्थ उपपन्न इत्यर्थः । पुनर्गौतमः प्रश्नयति—"से केट्ठेणं भंते !" इत्यादि उत्तानार्थम् । भगवानाह—गौतम ! "अयण्णमित्यादि" अयं प्रत्यक्षत उपलभ्यमानो, णमिति वाक्यालङ्कारे, अष्टयोजनोच्छितया रत्नमय्या जम्बा उपलक्षितो द्वीपो जम्बूद्वीपः, द्वीपसमुद्राणां सर्वाभ्यन्तरक इति सर्वेषामभ्यतरो मध्यवर्ती सर्वाभ्यन्तरः, सर्वाभ्यन्तर एव सर्वाभ्यन्तरकः, 'जातौ वा स्वार्थे कः' **(स्वार्थे कश्च वा) ॥८।२।१६४॥**इति प्राकृतलक्षणवशात् स्वार्थे कः प्रत्ययः । केषां सर्वेषामभ्यन्तर इत्याह—सर्वद्वीप—समुद्राणां, तथाहि—सर्वे शेषा द्वीपसमुद्रा जम्बूद्वीपादारभ्याऽऽगमाभिहितेन क्रमेण द्विगुणद्विगुणविस्तारा व्यस्थिताः, ततो भवति द्वीपसमुद्राणां च चम्बूद्वीपोऽभ्यन्तरः । तथा (सव्वाखुड्डागे इति) सर्वेभ्यो द्वीपसमुद्रेभ्यः क्षुल्लकोह्रस्वः सर्वक्षुल्लक इति । तथाहि—सर्वे लवणादयः समुद्राः सर्वे च धातकीखण्डादयो द्वीपाः अस्माज्जम्बूद्वीपादारभ्य प्रवचनोक्तेन क्रमेण द्विगुणचक्रवालचिन्तनाः ततः शेषद्वीपसमुद्रापेक्षया सर्वलघुरिति । तथा वृत्तो वर्तुलो यतस्तैलापूप-संस्थानसंस्थितः; तैलेन हि पक्वोऽपूपः प्रायः परिपूर्णवृत्तो भवति न घृतपक्व इति तैलविशेषणं, तस्येव संस्थानसंस्थितस्तथा वृत्तो जम्बूद्वीपो यतो रथचक्रवालसंस्थानसंस्थितः रथस्य रथाङ्गस्य चक्रवालं मण्डलं तस्येव यत् संस्थानं तेन संस्थितः । एवमुत्तमपि पदद्वयं भावनीयम् (आयामविक्खंभेणं ति) आयामश्च विष्कम्भकश्चेति समाहारो द्वन्द्वः । तेन आयामेन विष्कम्भेण च प्रत्येकमेकं योजनशतसहस्रमित्यर्थः । परिधिपरिमाणानयनगणितं च जम्बूद्वीपप्रज्ञप्त्यादावनेकशो भावितमिति ततोऽवधार्यम् । "देवे णामित्यादि" देवश्च, णमिति वाक्यालङ्कारे । (महड्ढिए इति) महती ऋद्धिर्विमानपरिवारादिका यस्याऽसौ महर्द्धिकः । (जाव महासोक्खे इति) यावच्छब्दकरणात् "महज्जुईए इति महाबले महाजसे" इति द्रष्टव्यम् । तत्र महती द्युतिः शरीराभरणविषया यस्य सः महाद्युतिः, महद्बल शारीरप्राणो यस्य स महाबलः महत् यशः ख्यातिर्यस्य सः महायशाः, तथा महत् प्रभूतं सौख्यं यस्य प्रभूतसद्वेद्यकर्मोदयभावादिति । महासौख्यः । क्वचित् "महेसक्खे" इति पाठः, तत्र महान् ईशः ईश्वरः इत्याख्या शब्दप्रथा यस्य लोके स महेशाख्यः । अथवा ईशानमीशो भावे घञ्प्रत्ययः ऐश्वर्यमित्यर्थः, 'ईश' ऐश्वर्य इति वचनात् । तत ईशमैश्वर्यमात्मनः ख्यातिम् । अन्तर्भूतण्य-र्थतया ख्थापयति प्रकाशयति । तथा परिवारादिस्फीत्या वर्तत इति ईशाख्यः महांश्चासावीशाख्यश्च महेशाख्यः । अन्यत्र 'महासक्खे ति' पाठः तत्रैवं वृद्धव्याख्या—आशुगमनादश्वं मनः, अक्षाणि इन्द्रियाणि, स्वस्वविषयव्यापकत्वात् । अक्षशब्दो हि प्रायेण 'असूङ्' व्याप्तावित्यस्य धातोर्निष्पाद्यते, अश्वश्च अक्षाणि च अश्वाक्षाणि महान्ति स्फीतिमन्ति अश्वाक्षाणि यस्याऽसौ महाश्वाक्षः; स्फीतमनाः, स्फूर्तिमच्चक्षुरादीन्द्रि-यश्चेत्यर्थः । एकं महान्मति च गुरुकमन्यथा स्तोकं तथा तद्गतेर्गन्धपुद्गलैः सकलस्य जम्बूद्वीपस्य व्याप्तुमशक्यत्वात् । (सविलेवणमिति) सह विशिष्टमतिसूक्ष्मरन्ध्राणामपि स्थगनात् लेपनं लेपो जत्वादिकृतं पिधानोपरि वर्तते येन स तथा तम् । विशिष्टलेपप्रदानाभावे हि बहवः सूक्ष्मरन्ध्रैर्गन्धपुद्गला निर्गच्छन्ति, तत उद्घाटनवेलायां तेषां स्तोकीभावेन सकलजम्बूद्वीपापूरणं नोपद्यते (गंधसमुग्गधं ति) गन्धद्रव्यैरतिविशिष्टैः परिपूर्णभृतः समुद्रको गन्धसमुद्गकस्तम् । (अवदाले इति) अवदलयति, उत्पाटयतीत्यर्थः (इणमेवेति) एवमेवेत्यर्थः । (केवलकप्पं ति) केवलं केवलज्ञानं तत्कल्पं परिपूर्णतया तत्सदृशं परिपूर्णमित्यर्थः । जम्बूद्वीपं त्रिभिरप्सरोनिपातो नाम चप्पुटिका, ततस्तिसृभिश्चप्पुटिकाभिरिति द्रष्टव्यम् । चप्पुटिकाश्च कालोपलक्षणम् । ततोऽयमर्थः यावत्कालेन तिसृश्चप्पुटिकाः पूर्यन्ते तावत्कालमध्ये इति त्रिःसप्तकृत्वः एकविंशतिवारान् अतिपरिवर्त्य सामस्त्येन परिभ्रम्य (हव्वं) शीघ्रमागच्छेत् । "से नूणमित्यादि" 'से' शब्दो मगधदेशप्रसिद्ध्या अथशब्दार्थः । अथशब्दस्य चार्थो वाक्योपन्यासादयः । उक्तं च— "अथ प्रक्रियाप्रश्नानन्तर्यमङ्गला-धिकारवाक्योपन्यासेषु अत्राथ वाक्योपन्यासे । तद्भावना चैवम् । उक्तास्तावत्

विवक्षितार्थप्रतिपत्तिहेतोर्दृष्टान्तस्य पीठिकाबन्धः। संप्रति विवक्षितार्थप्रतिपत्तिहेतुदृष्टान्तवाक्यमुपन्यस्यते–नूनं निश्चितं गौतम ! स केवलकल्पो जम्बूद्वीपस्तैर्गन्धसमुद्रकाद् विनिर्गतैर्घ्राणपुद्गलैः स्पृष्टो व्याप्तः। काङ्क्षा चेदं सूत्रमभिधीयते, ततः प्रश्नोऽवगम्यते। अथवा प्रश्नार्थः सशब्दः। ततोऽञ्जसे प्रश्नयतीति गौतम आह–हन्त ! स्पृष्टो, गन्धपुद्गलनां सर्वतोऽभिसर्पणशीलत्वात्। पुनरपि भगवानाह–"छउमत्थे णमित्यादि" सुगमम्। एष चात्र भावार्थः–यथा ते सकल–जम्बूद्वीपव्यापिनो गन्धपुद्गलाः सूक्ष्मत्वान्न छद्मस्थानां चक्षुरादीन्द्रियगम्याः, तथा सकललोकव्यापिनो निर्जरापुद्गला अपीति। उपसंहारमाह–(एसुहुमा णं ते) एतावत्सूक्ष्माः।

अथ यन्निमित्तं केवली समुद्घातमारभते तत् पितृच्छिषुरिदं प्रश्नसूत्रमाह–

कम्हा णं भंते ! केवली समुग्घायं गच्छइ। गोयमा ! केवलिस्स चत्तारि कम्मस्स अंता अक्खीणा अवेदिता अनिज्जिन्ना भवंति। तं जहा–वेदणिज्जे आउए नामे गोत्ते सव्वबहुए, से वेदणिज्जे कम्मे हवइ, सव्वत्थोवे, से आउए कम्मे हवइ, विसमं समं करेइ बंधणेहिं ठिईहि य विसमसमी–करणयाए बंधणेहिं ठिईहिं, एवं खलु केवली समोहण्णइ; एंव खलु समुग्घायं गच्छइ। सव्वे वि णं भंते ! केवली समोहण्णइ, सव्वे वि णं भंते ! केवली समुग्घायं गच्छंति ?। गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे। "जस्साउ पुण तुल्लाइ, बंधणेहिं ठिईहि य ॥ भवोवग्गहकम्माइं, समुग्घातं(से) न गच्छइ ॥१॥ अणंताणं समुग्घायं, अणंता केवली जिण। जरामरणविप्पमुक्का, सिद्धिं वरगतिं गया"॥२॥

"कम्हा णमित्यादि" कस्मात्कारणात्, णमिति वाक्यालङ्कारे भदन्त ! केवली केवलज्ञानोपेतः समुद्घातं गच्छत्यारभते, कृतकृत्यत्वात्किल तस्येति भावः। भगवानाह–"गोयमेत्यादि" गौतम ! केवलिनश्चत्वारः कर्मांशाः कर्मभेदा अक्षीणाः क्षयमनुपगताः। कुत इत्याह–अवेदिताः, अत्र "निमित्तकारणहेतुषु सर्वासां विभक्तीनां प्रायो दर्शनम्" इति न्यायात् हेतौ प्रथमा। ततोऽमयर्थः–यतो वेदिताः ततोऽक्षीणकर्मणां हि क्षयो नियमतः प्रदेशतो विपाकतो वा वेदनाद्भवति, "सव्वं च पएसतया, भुज्जइ कम्मणुभावतो भइयं" इत्यादि वचनात्। ते चत्वारोऽपि कर्मांशा अवेदिता अतोऽक्षीणाः। एतदेव पर्यायेण व्याचष्टेअनिर्जीर्णाः सामस्त्येनात्मप्रदेशेभ्यो परिशाटिता भवन्ति तिष्ठन्ति। तानेव नामग्राहमभिधित्सुराह–"तं जहा" इत्यादि सुगमम्। तत्र यदा (से) तस्य केवलिनः सर्वबहुप्रदेशं वेदनीयम्, उपलक्षणमेतत् नामगोत्रे च। तथा सर्वस्तोक प्रदेशमायुःकर्म तदा। (सबंधणेहि ठिईहि य त्ति) बध्यते भवचारकात् विनिर्गच्छन् प्रतिबध्यते यैस्ते बन्धनाः। **"करणाधारे"** ॥५।३।१२६॥ इति (हैम०) करणे अन्ट्प्रत्ययः। अथ वा बध्यन्ते आत्मप्रदेशैः सह लोलीभावेन संश्लिष्टाः क्रियन्ते योगवशात् ये ते बन्धनाः **"बहुलम्"** ॥५।१।२॥ कृत् इति (हैम०) वचनात् कर्मणि अनट्। उभयत्रापि कर्मपरमाणवो वाच्याः स्थितयो वेदनाकालाः। तथा चोक्तं भाष्यकृता–"विसमं करेइ समं, बंधणेहिं ठिईहि य। कम्म दव्वाइँ बन्धेणँ, विय कालो वई तेसिं॥ ततश्च तैर्बन्धनैः स्थितिभिश्च विषमं सद्वेदनीयादिकं समुद्घातविधिना समयायुषा सह करोति स एवं खलु केवली बन्धनैः स्थितिभिश्च विषमस्य सतो वेदनीयादिकस्य कर्मणः (समीकरणयाए इति) अत्र ताप्रत्ययः स्वार्थिकः। ततोऽयमर्थः–समीकरणाय(समोहन्नइ त्ति) समवहन्ति समुद्घाताय प्रयतन्त एवं खलु समुद्घातं गच्छति। उक्तञ्च–आयुषि समाप्यमाने शेषाणां कर्मणां यदि समाप्तिर्न स्यात्, स्थितिवैषम्याद्गच्छति। स ततः समुद्घातं स्थित्या च बन्धनेन च समीक्रियार्थं हि कर्मणां तेषामन्तर्मुहूर्तशेषे तदायुः समुज्झिघांसति स न तु प्रभूतस्थितिकसय वेदनीयादेरायुषा सह समीकरणार्थं समुद्घातमारभते इति। यदुक्तमतन्नोपपन्नं, कृतनाशादिदोषप्रसङ्गात्। यथाहि–प्रभूतकालोपभोगस्य वेदनीयादेरारत एवापगमसम्भवात् कृतनाशः वेदनीयादिवच्च कृतस्यापि कर्मक्षयस्य पुनर्नाशसम्भवान्मोक्षेऽप्यनास्थाप्रसङ्ग। तदसत्। कृतनाशदिदोषप्रसङ्गात्। तथाहि इह यथा प्रतिदिवसं सेतिकापरिभोगेन वर्षशतोपभोग्यस्य कल्पितस्याहारकस्य भस्मकव्याधिना तत्सामर्थ्यात्स्तोकदिवसैर्निःशेषतः परिभोगान्न कृतनाशोपमः, तथा कर्मणोऽपि वेदनीयादेः तथाविधशुभाध्यवसायानुबन्धदुपक्रमेण साकल्यतो भोगान्न कृतनाशरूपदोषप्रसङ्गः। द्विविधो हि कर्मणोऽनुभवःप्रदेशतो विपाकतश्च। तत्र प्रदेशतः सकलमपि कर्मानुभूयते न तदस्ति, किञ्चित्कर्म यत्प्रदेशतोऽप्यनुभूतं सत् क्षयमुपयाति, ततः कथं कृतनाशदोषापत्तिः। विपाकतस्तु किञ्चिन्न, अन्यथा नोक्षाभावप्रसङ्गात्। तथाहि–यदि विपाकानुभूतित एव सर्वंकर्म क्षपणीयमिति नियमस्तर्ह्यसङ्ख्यातेषु भवेषु तथाविधविचित्राध्यवसायवि–शेषैर्यन्नरकगत्यादिकं कर्मोपार्जितम्, तस्मान्नैकस्मिन् मनुष्यादावेव भवेऽनुभवः, स्वस्वनिबन्धनत्वात्तद्विपाकानुभवस्य क्रमेण च स्वभवानुगमनेन वेदने नारकादिभवेषु चारित्राभावेन प्रभूततरकर्मसन्तानोपचयात्तस्यापि स्वभवानुगमनेनानुभवोपगमात् कुतो मोक्ष ? तस्मात्सर्वं कर्म विपाकतो भाव्यप्रदेशतोऽवश्यमनुभवनीयमिति प्रतिपत्तव्यम्, एवञ्च न कश्चिद्दोषः। नन्वेवमपि दीर्घकालभोग्यतया तद्वेदनीयादिकं कर्मोपचितम्। अथ च परि णामविशेषादुपक्रमेणारादेव तदनुभवति, ततः कथं न कृतनाशदो षापत्ति ? तदप्यसम्यक्। बन्धकाले तथाविधाध्यवसायवशादादा–वुपक्रमयोग्यस्यैव तेन बन्धात्। अपि च–जिनवचनप्रामाण्यादपि वेदनीयादिकर्मणमुपक्रमो मन्तव्यः। यदाह भाष्यकृत्–उदयक्खय–ओवसमो, व समाजं च कम्मुणो भणिया। दव्वाइ पंचमं पइजुत्तमवक्कमेण मत्तो वि ॥१॥ न चैवं मोक्षोपक्रमः हेतुः कश्चिदस्ति तथाविधोऽन्तिमसूत्रे भावयिष्यते। ततो युदक्तं वेदनीयादिवच्च कृतस्यापि कर्मक्षय इत्यादि, न तत्सम्यगु–पपन्नमिति स्थितम्। अपर आहननु यदा वेदनीयादिकमतिप्रभूतं सर्वस्तोकं वाऽऽयुस्तदा समधिकवेदनीयादेः सोपक्रमत्वात्, यदा समधिकमायुः सर्वस्तोकं तदा का वार्ता? न खल्वायुषः समधिकस्य समुद्घाताय समुद्घातः कल्पते, चरमशरीरिणामायुषो निरुपक्रमत्वात्, चरमशरीराय "निरुवक्कमा" इति वचनात्। तदयुक्तम्। एवं विधभावस्य कदाप्यभावात्। तथाहि–सर्वदैव वेदनीयाद्येवायुषः सकाशादधिकस्थितिकं भवति, न तु कदाचिदपि वेदनीयादेरायुः। अथैवंविधो नियमः कुतोलभ्यते? उच्यते–परिणामस्वाभाव्यात्। तथाहि–इत्थंभूत एवात्मनः परिणामो येना–स्यायुर्वेदनीयादेः संभवति, न्यूने वा, न तु कदाचनाऽप्यधिकं, यथैत–स्यैवायुषः खलु ध्रुवबन्धः। तथाहि–ज्ञानावरणीयादीनि कर्माणि आयुर्वर्ज्यानि सप्तापि सदैव बध्यन्ते, आयुस्तु प्रतिनियत एव काले स्वभवत्रि–

भागादिशेषरूपे, तत्र चैवंविधवैचित्र्यनियमनं स्वभावादृते परः कश्चिदस्ति हेतुरेवमिहापि स्वभावविशेष एव नियामको द्रष्टव्यः। आह च भाष्यकृत्– "असमठिईणं नियमो, को थोवं आउयं उ सेवंति ? परिणाममहावाओ, अद्धुवबंधा वि तस्सेव ॥१॥"अथ विशेषपरिज्ञानाय गौतमो भगवन्तं पृच्छति–(सव्वे वि णमित्यादि) णमिति निश्चये। सर्वेऽपि खलु केवलिनः समवघ्नन्ति समुद्घाताय प्रयतन्ते, प्रयत्नानन्तरं च सर्वेऽपि खलु केवलिनः समुद्घातं गच्छन्ति ? गौतमेन प्रश्ने कृते भगवान्निर्वचनमाह– (गोयमेत्यादि) गौतम ! नायमर्थः समर्थः उपपन्नः। किमुक्तं भवति ? सर्वेऽपि केवलिनः समुद्घाताय प्रयतन्ते नापि समुद्घातं गच्छन्ति, किं तु येषामायुषः समधिकं वेदनीयादिकं, यस्य पुनः स्वभावत एवायुषा सह समस्थितिकानि वेदनीयादीनि कर्माणि सोऽकृतसमुद्घात एव तानि क्षपयित्वा सिद्ध्यति। तथा चाह–(जस्सेत्यादि) यस्य केवलिन आयुषा भवो मनुष्यभव उप समीपेन गृह्यते अवष्टभ्यते यैस्तानि भवोपग्रहकर्माणि तानि च तानि कर्माणि च भवोपग्रहर्माणि वेदनीयनामगोत्राणि बन्धनैः प्रदेशैः स्थितिभिश्च तुल्यानि समानि भवन्ति समुद्घातं न गच्छन्ति, अकृतसमुद्घात एव तानि क्षपयित्वा स सिद्धिसौधमध्यास्ते इति भावः। उक्तञ्च–"जस्स उ तुल्ला भवइ य, कम्मचउक्कं सभावतो जायं। भो अकयसमुग्घाओ, भिज्जइ जुगवं स्ववेउग्गं ॥१॥" अथायं कादाचित्को भव उत बाहुल्यभावः?, यत आह–(अगंतूहण समुग्घायमित्यादि) अगत्वा समुद्घातं केवलिसमुद्घातं सिद्धिं चरमगतिं गता इति सम्बन्धः कियत्संख्याका इत्याहअनन्ता अनन्तसंख्याकाः, केवलिनः केवलज्ञानदर्शनोपेताः। अनेन ये 'नवानामात्मगुणानामत्यन्तोच्छेदो मोक्षः'इति प्रतिपन्नास्ते अपास्ता द्रष्टव्याः। ज्ञानस्य निरुपचरितात्मस्वभावत्वात्, तस्य च विनाशायोगात्। अन्यथाऽऽत्मन एवाभावापत्तेः। नचात्मनो निरन्वयो विनाशः सतः सर्वथा विनाशायोगात्, "नासतो विद्यते भावो, नाभावो विद्यते सतः "इति न्यायात्। तथा जिना जितरागादिशत्रवः, अनेन गोशालकमतापाकरणमाह, ते हि मुक्तिपदमध्यासीनमपि तन्वतो वीतरागमपि मन्यन्ते, अवाप्तमुक्तिपदा अपि तीर्थनिकार दर्शनार्थमिहागच्छन्तीति वचनात् तत्त्वतो वीतरागस्य च पराभवबुद्धेरिहागमनस्य चासंभवात्। पुनः कथंभूता इत्याह जरामरणविप्रमुक्ताः, जरा च मरणं च जरामरणे ताभ्यां विप्रमुक्ताः, जरामरणग्रहणमुपलक्षणं, तेन समस्तरोगशोकादिसांसारिकक्लेशविप्रमुक्ता इति द्रष्टव्यम्। एतेन एकान्ततो मोक्षस्योपादेयतामाह, अन्यस्यैवंस्वरूपस्य स्थानस्यासम्भवात्। न हि संसारे प्रकर्षसुखप्राप्तमपि स्थानमेवंविधमस्ति, सर्वस्यापि मरणपर्यवसानत्वात्। सेधनं सिद्धिरशेषकर्मापगमेनात्मनः स्वरूपे अवस्थानता, वरा सर्वगतिनामुत्तमा, गम्यते इति गतिर्वरगतिस्तां वरगतिरूपामित्यर्थः; गताः प्राप्ताः। प्रज्ञा०। इह सर्वोऽपि केवली केवलिसमुद्घातं गच्छन् प्रथमत आवर्जी करणमुपगच्छति। प्रज्ञा०। (तच्च ''आउज्जीकरण'' शब्दे द्वितीयभागे २६ पृष्ठे उक्तम्)

आवर्जीकरणानन्तरं चाव्यवधानेन केवलिसमुद्घातमारभते। स च कतिसामायिक इत्याशङ्कायां तत्समयनिरूपणार्थमाह–

कइ समए णं भंते ! केवलिसमुग्घाए पन्नत्ते ? गोयमा ! अट्ठ समए पण्णत्ते। तं जहा–पढमे समए दंडं करेइ बीए कवाडं करेइ, ततिए समए मंथं करेइ, चउत्थे समए लोगं पूरेइ, पंचमे सयए लोयं पडिसाहरइ, छट्ठे समए मंथं पडिसाहरइ, सत्तमे समए कवाडं पडिसाहरइ, अट्ठमे समए दंडं पडिसाहरइ, पडिसाहरित्ता ततो पच्छा सरीरत्थे हवइ। से णं भंते ! तहा समुग्घायगए किं मणजोगं जुंजइ वइजोणं जुंजइ कायजोगं जुंजइ ? गोयमा ! नो मणजोगं जुंजइ, ना वइजोगं जुंजइ, गोयमा ! कायजोगं जुजइ। कायजोगेणं भंते ! जुंजमाणे किं उरालियसरीरकायजोगं जुंजति उरालियमीससरीरकायजोगं जुंजइ, किं वेउव्वियसरीरकायजोगं जुंजइ वेउव्वियमीससरीरकायजोगं जुंजइ, किं आहारगसरीरकायजोगं जुंजइ आहारगमीससरीकायजोगं जुंजइ, किं कम्मगसरीरकायजोगं जुंजइ ? गोयमा ! उरालियसरीरकायजोगं पि जुंजइ उरालियमीसरीरकायजोगं पि जुंजइ, नो वेउव्वियसरीरकायजोगं जुंजइ नो वेउव्विमीसरीरकायजोगं जुंजइ, नो आहारगसरीरकायजोगं जुंजइ नो आहारगमीससरीरकायजोनं जुंजइ, कम्मगसरीरकायजोगं वि जुंजइ पढमट्ठमेसु समएसु उरालियसरीरकायोगं जुंजइ बितीयछट्ठसत्तमेसु समएसु उरालियमीससरीरकायजोगं जुंजइ ततियचउत्थपंचमेसु समएसु कम्मगसरीरकायजोगं जुंजइ ॥

"कइ समए णमित्यादि" सुगमम्। तत्र यस्मिन् समये यत्करोति तद्दर्शयति–"तं जहा–पढमसमए" इत्यादि। इदमपि सुगमं, प्रागेव व्याख्यातत्वात् नवरमेव भावार्थः–यथाद्यैश्चतुर्भिःसमयैः क्रमेणात्मप्रदेशानां विस्तरणे तथैव प्रतिलोमं क्रमेण संहरणमिति। उक्तं चैतदन्यत्रापि–

"उड्ढदेहो य लोगं–तगामिणं, सोसेदेहाविक्खंभं।
पढमसयम्मि दंडं, करेइ विइयम्मि य कवाडं॥
तइयसमयम्मि, मंथं, चउत्थए लोगपूरणं कुणइ।
पडिलोमं साहरणं, काउं तो होइ देहत्थो" ॥२॥

अस्मिंश्च समुद्घाते क्रियमाणे सति यो योगो व्याप्रियते तमभिधित्सुरिदमाह–"से णं भंते" इत्यादि। तत्र मनोयोगं वाग्योगं वा न व्यापारयति, प्रयोजनाभावात्। आह च धर्म्मसारमूलटीकायां हरिभद्रसूरिः–मनोवचसी तदा न व्यापारयति, प्रयोजनाभावात् काययोगं पुनर्युज्यत औदारिककाययोगमौदारिकमिश्रकाययोगं वा युनक्ति, न शेषं लब्ध्युपजीवनाभावेन शेषस्य काययोगस्यासम्भवात्। तत्र प्रथमेऽष्टमे च समये केवलमौदारिकमेव शरीरं व्याप्रियते इत्यौदारिककाययोगः। द्वितीये षष्ठे सप्तमे च समये कार्मणशरीरस्यापि व्याप्रियमाणत्वात् औदारिकमिश्रकाययोगः। तृतीयचतुर्थपञ्चमेषु तु समयेषु केवलमेव कार्मणशरीरव्यापारभागिति कार्मणकाययोगः। आह च भाष्यकृत् –

"न किर समुग्घायगओ, मणवइजोगप्पयोयणं कुणइ॥
ओरालियजोगं पुण, जुंजइ पढमट्ठमे समए॥
छभयव्वावाराओ, तम्मीसं बीयछट्ठसत्तमए।
तिचउत्थपंचमे कम्मगं तु कम्मत्तचेट्ठाओ" ॥ प्रज्ञा०३६ पद। स्था०।

संग्रहः–केवलिसमुद्घातगतः केवली सदसद्वेद्यादिकर्म-पुद्गल परिशातं करोतिः स च यथा कुरुते तथा विनेयजनानुग्र–

हाय भाव्यते इति–केवलिसमुद्घातोऽष्टसामयिकः तथाकुर्वन् केवली प्रथमसमयबाहुल्यतः स्वशरीरप्रमाणमूर्ध्वमधश्च लोकान्तपर्यन्तमात्मप्रदेशनां दण्डमारचयति । द्वितीयसमये पूर्वापरं दक्षिणोत्तरं वा कपाटं, तृतीये मन्थानं, चतुर्थेऽवकाशान्तराणां पूरणं, पञ्चमेऽवकाशान्तराणां संहारं, षष्ठे मन्थः, सप्तमे कपाटस्य, अष्टमे स्वशरीरस्थो भवति। वक्ष्यति च "पढमसमयम्मि दंडं करेइ" इत्यादि । तत्र दण्डकसमयात् प्राक् या पल्योपमाऽसंख्येयभागमात्रा वेदनीयनामगोत्राणां स्थितिरासीत्, तस्या बद्ध्याऽसंख्येया भागाः क्रियन्ते, ततो दण्डसमये दण्डं कुर्वन् असंख्येयान् भागान् हन्ति, एकोऽसंख्येयो भागोऽवतिष्ठते; यश्च प्राक् कर्मत्रयस्यापि रसस्यस्याप्यनन्ता भागाः क्रियन्ते, ततस्तस्मिन् दण्डसमये असातवेदनीयप्रथमवर्जसंस्थानपञ्चाकाऽप्रशस्तवर्णादिचतुष्टयोपघाताप्रशस्तविहायोगतिदुर्भगास्थिराऽपर्याप्तश्चाशुभानादेययशः कीर्त्तिनीचैर्गोत्ररूपाणां पञ्चविंशतिप्रकृतीनामनन्तान् भागान् हन्ति, एकोऽनन्तभागोऽवशिष्यते; तस्मिन्नेव च समये सातवेदनीयदेवगतिदेवानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजातिशरीरपञ्चकाङ्गोपाङ्गत्रयप्रथमसंस्थानसंहननप्रशस्तवर्णादिचतुष्टयागुरुलघुपराघातोच्छ्वासप्रशस्तविहायोगतित्रसबादरपर्याप्तप्रत्येकाऽतपौद्योतस्थिरशुभसुस्वरादेययशः कीर्त्तिनिर्माणतीर्थकरोच्चैर्गोत्ररूपाणामेकोनचत्वारिंशतः प्रकृती नामनुभागोऽप्रशस्तप्रकृत्यनुभागमध्यप्रवेशनेनोपहन्यते । समुद्घातमाहात्म्यमेतत्; तस्य चोद्धरितस्य स्थितेः संख्येयभाग स्यानुभागस्य चानन्तभागस्य पुनर्यथाक्रमं असङ्खचेया अनन्ताश्च भागाः क्रियन्ते । ततो द्वितीये कपाटसमये स्थितेरसंख्येयान् भागान् हन्ति, एकोऽवशिष्यते; अनुभागस्य चानन्तान् भागान् हन्ति, एकं मुञ्चति । अत्राप्यप्रशस्तप्रकृत्यनुभागमध्यप्रवेशनेन प्रशस्तप्रकृत्यनुभागघातो द्रष्टव्यः । पुनरप्येतत्समयेऽवशिष्टस्य स्थितेरंसख्येयभागस्यानुभागस्य चानन्ततमभागस्य पुनर्बुद्ध्या यथाक्रममसंख्येया अनन्ताश्च भागाः क्रियन्ते । ततश्च तृतीये समये स्थितेरसंख्येयान् भागान् हन्ति, एकं मुञ्चति, अनुभागस्य चानन्तान् भागान् हन्ति, एकमनन्तभागं मुञ्चति। अत्रापि प्रशस्तप्रकृत्यनुभागघातोऽप्रशस्तप्रकृत्यनुभाग मध्यप्रवेशनेनाऽवसेयः । ततः पुनरपि तृतीयसमयावशिष्टस्य स्थितेरसंख्येयभागस्यानुभागस्य चानन्ततमभागस्य बुद्ध्या यथाक्रमसमङ्खचेया अनन्ताश्च भागाः क्रियन्ते; ततश्चतुर्थसमये स्थितेरसंख्येयान् भागन् हन्ति, एकस्तिष्ठति, अनुभागस्याप्यनन्तान् भागान् हन्त्येकोऽवशिष्यते; प्रशस्तप्रकृत्यनुभागघातश्च पूर्ववदवसेयः। एवं च स्थितिघातादिकुर्वतश्चतुर्थसमये स्वप्रदेशापूरितं समस्तलोकस्य भगवतः केवलिनो वेदनीयादिकर्मत्रयस्थितिरायुषः संख्येयगुणाः जाताः, अनुभागस्त्वद्याप्यनन्तगुणः चतुर्थसमयावशिष्टस्य च स्थितेरसंख्येयभागस्यानुभागस्य चानन्ततमभगस्य भूयोऽपि बुद्ध्या यथाक्रमं संख्येया अनन्ताश्च भागाः क्रियन्ते। ततोऽवकाशान्तरसंहारसमयेस्थिते संख्येयान् भागान् हन्ति, एकं संख्येयभागं शेषीकरोति; अनुभागस्यानन्तान् भागान् हन्ति, एकं मुञ्चति । एवमेतेषु पञ्चसु दण्डादिसमयेषु प्रत्येकं सामायिकं दण्डकमुत्कीर्णं समये समये स्थितिदण्डकानुभागदण्डकघातनात्। अतः परं षष्ठसमयादारभ्य स्थितिकण्डकमनुभागकण्डकं चान्तर्मुहूर्त्तेन कालेन विनाशयति, प्रयत्नमन्दीभावात् । षष्ठादिषु च समयेषु दण्डकस्य प्रतिसमयमेकैकं शकलं तावदुत्किरति, यावदन्तर्मुहूर्त्तचरमसमयसकलमपि तत्कण्डकमुत्कीर्णं भवति । एव मान्तर्मुहूर्त्तकानि स्थितिकण्डकमनुभागकण्डकानि च घातयन् तावद्वेदितव्यौ यावत्सयोग्यवस्थाचरमसमयः; सर्वाण्यपि चामूनि स्थित्यनुभागकण्डकान्यसंख्येयान्यवगन्तव्यानीति। प्रज्ञा०२६ पद। विशे०॥

अथ यदुक्तम्–"चउहिं समएहिं लोगो" इत्यादि (गाथा ३७६)

तत्राह–

जइणसमुग्घायगइए, केई भासंति चउहिं समएहिं ।
पूरइ सयलो लोगो, अन्ने उण तीहिं समएहिं ॥३८३॥

रागादिजेतृत्वाज्जिनः केवली, तस्याऽयं जैनः, स चाऽसौ समुद्घातश्च जैनसमुद्घातः केवलिसमुद्घात इत्यर्थः। तस्य गतिः प्रवृत्तिः क्रम यावत्। तया जैनसमुद्घातगत्या । "दण्डं प्रथमे समये, कपाटमथ चोत्तरे तथा समये । मन्थानमथ तृतीये, लोकव्यापी चतुर्थे च ॥१॥" इत्यादिग्रन्थेनोक्तेन केवलिसमुद्घातक्रमेण चतुर्भिः समयैः सर्वोऽपि लोको भाषाद्रव्यैरापूर्यत इति केचिद्भाषन्ते। अयं चानादेश एव; पुरस्तान्निराकरिष्यमाणत्वादिति। अन्ये पुनस्त्रिभिः समयैः सर्वोऽपि लोकः पूर्यत इति ब्रुवत इति ॥३८३॥

किं वाङ्मात्रेण ? इत्याह –

पढमसमये चिय जओ, मुक्काइं जंति छद्दिसिं ताइं ।
बितियसमयम्मि ते चिय, छ द्दंडा होंति छ म्मंथा ॥३८४॥
मं थंतरेहिं तइए, समए पुन्नेहिं पूरिओ लोगो ।
चउहिं समएहिं पूरइ, लोगंते भासमाणस्य ॥३८५॥

यतो लोकमध्यस्थितेन महाप्रयत्नभाषकेण मुक्तानि तानि भाषाद्रव्याणि प्रथमसमय एव षट्सु दिक्षु लोकान्तमाप्नुवन्ति जीवसूक्ष्मपुद्गलानामनुश्रेणिगमनात्। ततो द्वितीयसमये त एव षट् दण्डाश्चतुर्दिशमेकैकशोऽनुश्रेण्या वासितद्रव्यैः प्रसरन्तः षट् मन्थानो भवन्ति । तृतीयसमये तु मन्थान्तरैः पूरितैः पूरितो भवति सर्वोऽपि लोकः, स्वयंभूरमणपरतटवर्तिनि लोकान्तेऽलोकस्याऽत्यन्तं निकटीभूय भाषमाणस्य भाषकस्य त्रसनाऽया बहिर्वा चतसृणां दिशामन्यतमस्यां दिशि भाषमाणस्य तस्येति स्वयमपि द्रष्टव्यं, चतुर्भिः समयैर्लोकः सर्वोऽपि पूर्यत इति ॥३८४॥३८५॥

कथम् ? इत्याह–

दिसिं विट्ठियस्स पढमोऽ–तिगमे ते चेव सेसया तिन्नि ।
विदिसिं ट्ठियस्स समया, पंचातिगमम्मि जं दोण्णि ।३८६।

त्रसनाड्या बहिश्चतसृणां दिशामन्यतमस्यां दिशि व्यवस्थितस्य भाषकस्य प्रथमःसमयोऽतिगमे नाडीमध्यप्रवेशे भवति । शेषसमयत्रयभावना तु–"होइ असंखेज्ज इमे भागे"(३६०) इत्यादिवक्ष्यमाणगाथावृत्तौ 'कथमिति' च इत्यादिना वक्ष्यते। लोकान्तेऽपि स्वयंभूरमणपरतटवर्तिनि चतसृणां दिशामन्यतमस्यां दिशि व्यवस्थितस्य भाषकस्योद्धर्वाधोलोकस्खलितत्वाद्भाषाद्रव्याणां प्रथमः समयोऽतिगमे लोकमध्यप्रवेशे, त्रयस्तु समयाः शेषास्तथैव । त्रसनाडीबहिर्विदिग्व्यवस्थितस्य तु भाषकस्य भाषाद्रव्यैः सर्वलोकापूरणे पञ्च समया लगन्तीति

विशेषः। कुतः?, इत्याह—"अतिगमम्मि जं दोण्णि त्ति" विदिशः सकाशात् भाषाद्रव्याणि लोकनाडीबहिरेव प्रथमे समये दिशि समागच्छन्ति, द्वितीये तु लोकनाडीमध्ये प्रविशन्ति, इत्येवं यस्मादतिगमे नाडीमध्यप्रवेशे द्वौ समयौ लगतः शेषास्तु, त्रयः समयाः चतुःसमयव्याप्तिवत् द्रष्टव्याः, इत्येवं पञ्च समयाः, सर्वेऽपि च लोकापूरणे प्राप्यन्त इति ॥३८६॥

ननु यद्युक्तन्यायेन त्रिभिश्चतुर्भिः पञ्चभिश्च समयैर्लोको वाग्द्रव्यैः पूर्यते, तर्हि किमिति निर्द्धार्य निर्युक्तिकृता चतुःसमयग्रहणमेव कृतम् ? इत्याशङ्क्याह—

चउसमयमज्झगहणे, तिपंचगहणं तुलाईं मज्झस्स ।
जह गहणे पञ्चंत—ग्गहणं चित्ता य सुत्तगई ॥३८७॥

(तिपंचगहणमिति) आद्यन्तवर्त्तिनां त्रयाणां पञ्चानां च समयानां ग्रहणमिह निर्युक्तिकृता विहितमेव द्रष्टव्यम् । क्व सतीत्याहचतुःसमयरूपस्य मध्यस्य ग्रहणे कृते सति । ननु किमन्यत्रापि मध्यग्रहणे सत्याद्यन्तग्रहणं क्वापि दृष्टम् ? इत्याह (तुलाईत्यादि) यथा तुलादीनाम् । आदिशब्दान्नाराचयष्ट्यादीनां, मध्यस्य ग्रहणेकृते पर्यन्तयोराद्यन्तलक्षणयोर्ग्रहणं पर्यन्तग्रहणं कृतमेव भवति, एवमिहापीति । नत्वऽयं न्यायः क्वाप्यागमे दृश्यते, येनैवमुच्यते ? इत्याह—चित्रा च भगवतः सूत्रस्य गतिः प्रवृत्तिर्दृश्यते ॥३८७॥

तथाहि—

कत्थइ देसग्गहणं, कत्थइ घेप्पंति निरवसेसाइं ।
उक्कमकमजुत्ताइं, कारणवसओ निउत्ताइं ॥३८८॥

क्वापि सूत्रे देशस्यैकपक्षलक्षणस्य ग्रहणं, यथाऽत्रैव चतुःसमय—लक्षणस्यः, क्वचित्सूत्रे निरवशेषाण्यपि पक्षान्तराणि गृह्यन्ते । अपरं चकानिचित्सूत्राणि कुलोऽपि कारणवशात् उत्क्रमयुक्तानि नियुक्तानि निबद्धानि दृश्यन्ते, कानिचित्तु क्रमयुक्तानीति एवं चिचित्रा सूत्रगतिः ॥३८८॥

अथ प्रस्तुतार्थस्यैव शास्त्रान्तरसंवादकारिणं दृष्टान्तमाह—

चउसमयविग्गहे सति, महल्लबंधम्मि तिसमओ जह वा ।
मोत्तुं तिपंचसमये, तह चउसमओ इह निबद्धो ॥३८९॥

यथा वा भगवत्यामष्टमशते महाबन्धोद्देशके सत्यपि चतुःसामायिके विग्रहे त्रिसामायिकोऽयमुपनिबद्धः, तथाऽत्रापि त्रीन् पञ्च च समयान् मुक्त्वा चतुःसामयिक एव लोकव्याप्तिपक्ष उपनिबद्ध इत्यदोष इति ॥३८९॥

तदुक्तम्—"लोगस्स य कइ भावे, कइ भाओ होइ भासाए" (३७८)

एतद्व्याचिख्यासुराह—

होइ असंखेज्ज इमे, भागे लोगस्स पढमबिइएसु ।
भासा असंखभागो, भयणा सेसेसु समएसु ॥३९०॥

चतुर्दशरज्जूच्छ्रितस्य लोकस्याऽसंख्याततमे भागे भाषाया अपि समस्तलोकव्यापिन्या असंख्याततम एव भागो भवति। कदा ? इत्याह—प्रथमद्वितीयसमययोः। इदमुक्तं भवति त्रिसमयव्याप्तौ, चतुःसमयव्याप्तौ, पञ्चसमयव्याप्तौ च प्रथमसमयद्वितीयसमययोस्तावन्नियमेन सर्वत्र लोकाऽसंख्येयभागे भाषाऽसंख्येयभागलक्षण एव विकल्पः संभवति, नान्यः। त्रिसमयव्याप्तौ हि प्रथमसमये दण्डषड्कं भवति, द्वितीयसमये तु षट् मन्थानः संपद्यन्ते। एते च दण्डादयो दैर्घ्येण यद्यपि लोकान्तस्पर्शिनो भवन्ति, तथापि वक्तृमुखविनिर्गतत्वात् तत्प्रमाणानुसारतो बाहुल्येन चतुरङ्गुलादिमाना एव भवन्ति। चतुरादीनि चाङ्गुलानि लोकाऽसंख्येयभागवर्त्तीन्येवाइति सिद्धस्त्रिसमयव्याप्तौ प्रथमद्वितीयसमययोर्लोकाऽसंख्येयभागे भाषाऽसंख्येयभागः। चतुः समयव्याप्तावप्येतदित्थमवगम्यत एव प्रथमसमये लोकमध्यमात्र एव प्रवेशात्, द्वितीयसमये तु वक्ष्यमाणगत्या दण्डानामेव सद्भावादिति। पञ्चमसमयव्याप्तिपक्षे तु सुबोधमेव, प्रथमसमये भाषाद्रव्याणां विदिशो दिश्येव गमनात्, द्वितीयसमये तु लोकमध्यमात्र एव प्रवेशात्तस्मात् व्यादिसमयव्याप्तौ सर्वत्र प्रथमद्वितीयसमययोर्लोकाऽसंख्येयभागे भाषाया असंख्येयभाग एव भवति। (भयणा सेसेसु समएसु त्ति) उक्तशेषेषु तृतीयचतुर्थपञ्चमसमयेषु भजना विकल्परूपा बोद्धव्या । क्वाऽपि लोकासंख्येयभागे स एव भाषाऽसंख्येयभाग एव भवति, क्वचित्पुतर्लोकस्य संख्येयभागे भाषासंख्येयभागः, क्वापि समस्तलोव्याप्तिः । तथाहि—त्रिसमयव्याप्तौ तृतीयसमये भाषायाः समस्तोकव्याप्तिः, चतुःसमयव्याप्तितृतीयसमये तु लोकसंख्येयभागे भाषासंख्येयभागः । कथम् ? इति चेत्। उच्यते—स्वयंभूर—मणपश्चिमपरतटवर्तिनि लोकान्ते, त्रसनाडीबहिर्वा पश्चिमदिशिस्थित्वा ब्रुवतो भाषकस्य प्रथमसमये चतुरङ्गुला दिबाहुल्याः रज्जुदीर्घो दण्डस्तिरश्चीनं गत्वा स्वयंभूरमण पूर्वपरतटवर्तिनि लोकान्ते लगति । ततो द्वितीयसमये तस्माइण्डादूर्ध्वाश्चतुर्दशरज्जूच्छ्रितः पूर्वापरतस्तिरश्चीनरज्जूविस्तृतः पराघातवासितद्रव्याणां दण्डो निर्गच्छति। लोकमध्ये तु दक्षिणतः, उत्तरश्च पराघातवासितद्रव्याणामेव चतुरङ्गुलादिबाहुल्यं रज्जुविस्तीर्णदण्डद्वयं विनिर्गत्य स्वयंभूरमणदक्षिणोत्तरवर्तिलोकान्ययोर्लगति । एवं च सति चतुरङ्गुला दिबाहुल्यं सर्वतोऽपि रज्जुविस्तीर्णं लोकमध्ये वृत्तच्छत्वरं सिद्धं भवति। तृतीयसमये तूर्द्ध्वाधो व्यवस्थितदण्डाच्चतुर्दिशं प्रसृतः पराघातवासितद्रव्यसमूहो मन्थानं साधयति । लोकमध्यव्यवस्थितसर्वतो रज्जुविस्तीर्णच्छत्वरादूर्ध्वाधः प्रसृतः पुनः स एव त्रसनाडीं समस्तामपि पूरयति। एवं च सति सर्वाऽपि त्रसनाडी ऊर्ध्वाधोव्यवस्थितदण्डमन्थिभावेन च लोकस्य पूरितं भवति। एतच्चैतावत् क्षेत्रं तस्य संख्याततमो भागः। तथा च सति चतुःसामयिक्या व्याप्तेस्तृतीयसमये लोकस्य संख्याततमे भागे भाषाया अपि समस्तलोकव्यापिन्याः संख्याततमो भाग इति स्थितम्। पञ्चसामयिक्यास्तु व्याप्तेस्तृतीयसमये लोकासंख्येयभागे भाषाऽसंख्येयभागाः । कुतः ?इति चेत्। उच्यते—तस्यां दण्डसमयत्वात्, तत्र च संख्येयभागवर्तित्वस्य प्रागेव भावित्वादिति । चतुर्थसमये चतुः सामयिक्यां व्याप्तौ मन्थान्तरपूरणात्समस्तलोकव्याप्तिः । पञ्चसामयिक्यां तु व्याप्तौ चतुर्थसमये लोक संख्येयभागे भाषासंख्येयभागः, तस्यां तस्य मन्थिसमयत्वात्, तत्र च संख्येयभागवर्तित्वस्व प्रागेव भावितत्वादिति । पञ्चमसमये तु पञ्चसामयिक्यां व्याप्तौ मन्थाऽन्तरालपूरणात्समस्तलोकव्याप्तिरिति । एवं तृतीयचतुर्थपञ्चमसमयेशु भाविता भजना । तद्भावने च व्याख्यातम्—(भयणा सेसु समयेसु त्ति) एतच्च महाप्रयत्नवक्तृनिसृष्टद्रव्यापेक्षयैवोक्तं, मन्दप्रयत्नवक्तृनिसृष्टानि तु लोकासंख्येयभाग एव वर्त्तन्ते, दण्डादिक्रमेण तेषां लोकपूरणासंभवादिति ॥३९०॥

अथ यदुक्तं "लोगस्स य चरिमंते चरिमंमो होइ भासाए" (३७६) तदेतद्भावयन्नाह—

आपूरियम्मि लोगे, दोण्ह वि लोगस्स तह य भासाए।
चरिमंते चरिमंतो, चरिमे समयम्मि सव्वत्थ ॥३६१॥

त्रादिसमयैरापूरिते लोके द्वयोरपि लोकभाषयोश्चरमान्ते चरमान्तो भवति। क? इत्याह—चरमे समये। केषु विषये योऽसौ चरमः समयः? इत्याह—सर्वत्र सर्वेष्वपिव्यादि—समयव्याप्तिपक्षेषु, इदमुक्तं भवति—त्रिभिश्चतुर्भिः पञ्चभिश्च समयैर्भाषया पूरिते लोके तेषामेव त्रादीनां लोकापूरकसमयानां यथास्वं योऽसौ चरमः समयस्तत्र लोकस्य चरमः पर्यन्तवर्ती अन्तो भवति भषायाश्च चरमःपर्यन्तवर्त्ती अन्तो भवति, त्रादिसमयानां चरम समये लोके निष्ठाङ्गते भाषाऽपि निष्ठां याति, न पुनः परतोऽप्यलोके गच्छतीति भावः। जीवपुद्गलानां तत्र गतेरेवाभावादिति। इह च विवक्षया आदिरप्यन्तो भवति, तद्व्यवच्छेदार्थं चरमग्रहणं, चरमः पर्यन्तवर्त्ती अन्तो, न पुनरादिभूत इत्यर्थ इति॥३६१॥

तदेवं "कइहिँ समएहिँ लोगो" (३७८) इत्यादिनिर्युक्तिगाथा—द्रव्यव्याख्यानेन निराकुलीकृत्य "जइणसमुग्घायगई, केई भासंति" (३८३) इत्यादिना यदादेशान्तरसुक्तं, सोऽनादेश एवेति ख्यापनार्थम्। तत्र दूषणमाह—

न समुग्घायगईए, मीसयसवणं मयं च दंडम्मि।
जइ तो वि तीहिँ पूरइ, समएहिँ जओ पराघाओ ॥३६२॥

(न समुग्घायगईए त्ति) जैनसमुद्घातगत्या भाषया लोकपूरणे इष्यमाणे न प्राप्नोतीति। किम् ? इत्याह—मिश्रस्य शब्दस्य श्रवणं मिश्रश्रवणं, सर्वासु दिक्षिवति शेषः। इदमुक्तं भवतिजैनसमुद्घाते ऊर्ध्वाधोदिगद्वयगाम्येव प्रथमसमये दण्डो भवति, तद्यदि भाषाद्रव्येष्वपप्येवमिष्यते, तर्हि ऊर्ध्वाधोदिगद्वय एव मिश्रशब्दश्रवणं प्राप्नोति, न पूर्वपश्चिमदक्षिणोत्तरदिक्षु, तासु विदिक्षिवच वक्रनिसृष्टद्रव्याणामगमनेन पराघातवासितत-तदद्रव्याणामेव श्रवणादिति; अविशेषेण तु "भासासमसेढीओ, सद्दं जं सुणइ मीसयं सुणइ" (३५१) इत्यनेन दिक्षु मिश्रशब्दश्रवणमुक्तम्। अथवा—व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तेर्यदि तव मतं संमतम्, ऊर्ध्वाधोदिगद्वयवर्त्तिदण्ड एव मिश्रशब्दश्रवणं, शेषदिक्षु पराघातवासितद्रव्यश्रवणेऽप्यदोषादिति। भवत्येवं,(तो वि) तथापि त्रिभिस्समयैः पूर्यते लोको न चतुर्भिः, यतो भाषाद्रव्येषु पराघातोऽस्ति। यदि नाम तेषु पराघातस्ततः किम्? इति चेत्। उच्यते—स खलु दण्ड ऊर्ध्वाधो गच्छन्नविशेषेण चतुर्दिशमपि शब्दप्रायोग्यद्रव्याणि पराहन्ति, वासयित्वा शब्दपरिणामवन्ति करोति, ततस्तानि द्वितीयसमये मन्थानं साधयन्ति, तृतीयसमये तु तदनन्तरालपूरणात्पूर्यते लोक इति। एवं त्रिभिः समयैर्लोकपूरणं प्राप्नोति ॥३६२॥

ननु यथा जैनसमुद्घातश्चतुर्भिः समयैर्लोकमापूरयति, तथा भाषाऽपि तैः समापूरयिष्यति, को दोषः? इत्याशङ्क्याऽऽह—

जइणेन पराघाओ, सजीवजोगो य तेण चउसमओ।
हेऊहोऽन्नाहि तहिं, इच्छा कम्मं सहावो वा ॥३६३॥

इह जैनसमुद्घाते जीवप्रदेशाः स्वरूपेणैव लोकमापूरयन्ति, न पुनस्तत्र कस्यापि पराघातोऽस्ति। ततो न द्वितीयसमये मन्थाः, किं तु कपाट एव भवति। किं च—स केवलिसमुद्घातो जीवस्य संबन्धी योगो व्यापारस्तेन लोकव्याप्तिमपेक्ष्याऽयं चत्वारः समयाः, यत्र चतुः समयो भवति। यदि नाम जीवयोगस्तथापि कथं तस्य चतुःसमयता ? इत्याह—तत्र तस्मिन् जीवव्यापारलक्षणे केवलीसमुद्घाते द्वितीयसमये मथ्यऽभावे हेतुर्भवेत्। कः ? इत्याह—(इच्छेत्यादि) तथाहि—तत्रैतच्छक्यते वक्तुम्—केवलज्ञानरूपा येयमिच्छाऽभिप्रायस्तद्वशाद् गुणदोषौ पर्यालोच्य केवली द्वितीयसमये मन्थानं न करोति। भवोपग्राहिकर्मवशाद्वा, स्वभावाद्वाऽऽसौ तदा तं न करोति ततो द्वितीयसमये कपाट एव, तृतीयसमये मन्थाः, चतुर्थे त्वऽन्तरालपूरणम्, इति युज्यते जैनसमुद्घाते चतुस्समयता। विशे०।

अत्रैव विशेषपरिज्ञानायाऽऽह—

से णं भंते ! तहा समुग्घायगए किं मणजोगं जुंजइ, वइजोगं जुंजइ, कायजोगं जुंजइ ? गोयम ! नो मणजोगं जुंजइ, नो वइजोगं जुंजइ, गोयमा ! कायजोगं जुंजइ। कायजोगे णं भंते ! जुंजमाणे किं उरालियसरीरकायजोगं जुजइ, उरालियमीससरीरकायजोगं जुंजइ, किं वेउव्वियसरीरकायजोगं जुजइ, वेउव्वियमीससरीरकायजोगं जुंजइ, किं आहारगसरीरकायजोगं जुंजइ, आहारगमीससरीकायजोगं जुंजइ, किं कम्मगसरीरकायजोगं जुंजइ ? गोयमा ! उरालियसरीरकायजोगं पि जुंजइ, उरालियमीससरीरकायजोगं पि जुंजइ, नो वेउव्वियसरीरकायजोगं जुंजइ नो वेउव्वियससरीकायजोगं जुंजइ, ना आहारगसरीरकायजोगं जुंजइ, नो आहारगमीससरीरकायजोगं जुंजइ, कम्मगसरीरकायजोगं पि जुंजइ, पढमट्ठमेसु समएसु उरालियसरीरकायजोगं जुंजइ, वितीयछट्ठसत्तमेसु समएसु उरालियमीससरीरकायजोगं जुंजइ, ततियचउत्थपंचमेसु समएसु कम्मगसरीरकायजोगं जुंजइ। से णं भंते ! तहा समुग्घायगए सिज्झइ, बुज्झइ, मुचइ, परिनिव्वाति, सव्वदुक्खाणं अंतं करेइ ? गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे।

स भदन्त ! केवली तथा दण्डकपाटादिक्रमेण समुदघातं गतः सन् सिद्धयतिनिष्ठितार्थो भवति। स च **"वर्त्तमानसामीप्ये वर्त्तमानवद्वा"॥३।३।१३१॥** इति (पाणि०) वचनात् सेत्स्यन्नपि व्यवहारत उच्यते। तत आह—बुद्धयते अवगच्छति केवलज्ञानेन यथाऽहं निश्चयतो निष्ठितार्थो भविष्यामि निःशेषकर्मोशापगमतस्तत आह—मुच्यते, शेषकर्मोशैरिति गम्यते मुच्यमानश्च कर्माणुवेदनापरितापरहितो भवति तत आह—परिनिर्वाति सामस्त्येन शीतीभवति। समस्तमेतदेकेन पर्यायेण स्वष्टयतिसर्वदुःखानामन्तं करोतीति। भगवानाह—गौतम ! नायमर्थः समर्थः, नायमर्थः सङ्गतो यः समुद्घातं गतः सन् सर्वदुःखान्तं करोतीति योगनिरोधस्याद्याप्यकृतत्वात् सयोगस्य च वक्ष्यमाणयुक्त्या सिद्धयभावादिति भावः।

किंकरोतीत्यत आह—

से णं भंते ! तओ पडिनियत्तति, तओ पच्छा मणजोगं—

पि जुंजइ, वइजोगं पि जुंजइ, कायजोगं पि जुंजइ ? हंता० जाव कायजोगं पि जुंजइ, मणजोगं जुंजमाणे किं सच्चमण–जोगं जुंजइ, मोसमणजोगं जुंजइ, सच्चामोसमणजोगं जुंजइ, असच्चामोसमणजोगं जुंजइ ? गोयमा ! सच्चमणजोगं जुंजइ, नो मोसमणजोगं जुंजइ, नो सच्चामोसमणजोगं जुंजइ, असच्चामोसामणजोगं पि जुंजइ । वइजोगं जुंजमाणे किं सच्चवइजोगं जुंजइ, मोसवइजोगं जुंजइ, सच्चामोसवइजोगं जुंजइ, असच्चामोसवइजोगं जुंजइ ? गोयमा ! सच्चवइजोगं जुंजइ, नो मोसवइजोगं जुंजइ, नो सच्चामोस–वइजोगं जुंजइ, असच्चामोसवइजोगं पि जुंजइ। कायजोगं जुंजमाणे आगच्छेज्ज वा, गच्छेज्ज वा, चिट्ठेज्ज वा, निसीएज्ज वा, तुयट्टेज्ज वा, उल्लंघिज्ज वा, पलंघिज्ज वा, पाडिहारियपीढफलगसेज्जासंथारगं पच्चप्पिणेज्जा।

(से णमित्यादि) सोऽधिकृतसमुद्घातगतः, णमिति वाक्याल–ङ्कारे, ततः समुद्घातात् प्रतिनिवर्तते इति । निवर्त्य च ततः प्रतिनिवर्तनात्, पश्चादनन्तरं, मनोयोगमपि वाग्योगमपि काययोगमपि युनक्ति व्यापारयति, यतः भगवान् भवधारणीयकर्मसु नामगोत्रवेदनीयेष्वचिन्त्यमाहात्म्यसमुद्घातवशतः प्रभूतमायुषा सह समीकृतेष्वप्यन्तर्मुहूर्तभाविपरमपदस्तस्मिन् काले यद्यनुक्षरोपपातिकादिना देवेन मनसा पृच्छ्यते, तर्हि व्याकरणाय मनःपुद्गलान् गृहीत्वा मनोयोगं युनक्ति, तमपि सत्यमसत्यामृषारूपं वा मनुष्यादिना पृष्टः सन्नपृष्टो वा कार्यवशतो वा पुद्गलान् गृहीत्वा वाग्योगं, तमपि सत्यमसत्यं मृषा वा, न शेषान् वाङ्मनसो योगान् क्षीणरागादित्वात् आगमनादौ वौदारिकादिकाययोगम् । तथाहि–भगवान् कार्यवशतः कुतश्चित् स्थानात् विवक्षिते स्थाने आगच्छेत्, यदि वा क्वापि गच्छेत्, अथवा तिष्ठेत्, ऊर्ध्वस्थाने वा तिष्ठेत्, निषीदेद्वा, तथाविधश्रमापगमनाय त्वग्वर्तनं कुर्यात्, अथवा विवक्षिते स्थाने तथाविधसम्पातिमसत्वाकुलां भूमिमवलोक्य तत्परिहारायजन्तुरक्षानिमित्तमुल्लङ्घ कुर्यात् सहजात्यादिविक्षेपान्मनागधिकतरः पादविक्षेप उल्लङ्घनम्, स एवातिविकटः प्रलङ्घनम्, यदि वा प्रातिहारिकपीठफलकशय्यासंइतारकं प्रत्यार्प्यते यस्मादानीतं तस्मै समर्पयेत्, इह भगवताऽऽर्यश्यामेन प्रातिहारकपीठफलकादिना प्रत्यर्पणमेवोक्तं ततोऽवसीयते, नियमादन्तर्मुहूर्ताविशेषायुष्क एवाऽऽवर्जी करणादिकमारभते न प्रभूतावशेषायुष्कः, अन्यथा ग्रहणस्थापि सम्भवात्–दप्युपादीयते। एतेन यदाहुः–एके जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तशेषे समुद्घातमारभते, उत्कर्षतः षट्सु मासेषु शेषेष्विति तदपास्तं द्रष्टव्यम्। षट्सु मासेषु कदाचिदपान्तराले वर्षाकालसम्भवात् तन्निमित्तपीठफलकादीनामादानमप्युपपद्यते। न च तत्सूत्रसम्मतमिति तत्प्ररूपणमुत्सूत्रमवसेयम्। एतच्चोत्सूत्रमावश्यकेऽपि समुदघातानन्तरमव्यवधानेन शैलेस्यभिधानात्। तत्सूत्रम्–"दण्डकवाडे मंथंतरे य साहारणा सरीरत्थे। भासाजोगनिरोहे, सेलेसीसिज्झणा चेव ॥१॥ यदि पुनरुत्कर्षतः षण्मासरूपसपान्तरालं भवेत्ततस्तदप्यभिधीयेत, न चोक्तं, तस्मादेवं तदयुक्तमेतदिति। तथाचाह भाष्यकारः–

"कम्मलहुयाएँ समओ, भिन्नमुहुत्ता विसेसओ कालो।
अन्नं जहन्नमेयं, छम्मासुक्कोसमिच्छंति।
तत्तोऽनंतरसेले–सिवयणो जं च पाडिहारीणं।
पच्चप्पिणमेव सूए, इराइगहणं पि होज्जाहि" ॥

अत्र कर्मलघुतानिमित्तं समुद्घातस्य समयोऽवसरो भिन्नमुहूर्त्त विशेषकालः, शेषं सुगमं, तदेवमन्तरमुहूर्त्तं कालं यथायोगं योगत्रयव्यापारभाक् केवलीभूत्वा तदन्तरमत्यन्ताप्रकम्पं लेश्यातीतं परमनिर्जराकारणं ध्यानप्रतिपित्सुरवश्यं योगनिरोधायोपक्रमते, योगे सति यथोक्तरूपस्य ध्यानस्याऽसम्भवात् । तथाहि–योगपरिणामो लेश्या, तदन्वयव्यतिरेकानुविधानात्, ततो यावद्योगस्तावदवश्यभाविनी लेश्येति, लेश्यातीते ध्यानसम्भवः । अपि चयावद् योगस्तावत्कर्मबन्धोऽपि–"जोगापयडिपएसं, ठिइअणुभागं कसायओ कुणइं" इति वचनात् केवलं स कर्मबन्धः केवललियोगनिमित्तता समयत्रयावस्थायाम्। तथाहि–प्रथमसमये कर्म बध्यते, द्वितीयसमये वेद्यते, तृतीयेन तु समयेन कर्माकर्मीभवति । तत्र यद्यपि समयद्वयरूपस्थितिकर्माणि क्रियान्तः पूर्वाणि प्रलयमुपग–च्छन्ति प्रलयमुपगच्छन्ति, तथाऽपि समये समये सन्तत्या कर्मादाने प्रवर्त्तमाने सति न मोक्षः स्यात्। अथवा अवश्यं मोक्षं गन्तव्यं तस्मात्कुरुते सयोगनिरोधमिति। उक्तं च–

"सततं योगनिरोधं, करोति लेश्यानिरोधमभिकाङ्क्षन्।
समयस्थितिं च बन्धं, योगनिमित्तं स निधणासुः ॥१॥
समये समये कर्मा–ऽऽदाने सति सन्ततेन मोक्षः स्यात्।
यद्यपि हि विमुच्यन्ते, स्थितिक्षयात् पूर्वकर्माणि ॥२॥
नाकर्मणा हि वीर्यं, योगद्रव्येण भवति जीवस्य।
तस्यावस्थानेन तु, सिद्धः समयवस्थितेर्बन्धः ॥३॥

अत्र बन्धस्य समयमात्रस्थितिकता बन्धसमयमतिरिच्य वेदितव्या। भाष्यमप्येनं पूर्वोक्तं स कलमपि प्रमेयं पुष्णाति। तथा च तद्वतो ग्रन्थः –

**"विणिवित्तसमुग्घाओ, तिन्नि व जोगे जिणो पउंजिज्जा।
सच्चमसच्चामोसं, च सोमणं तहा वईजोगं ॥१॥
ओरालकायजोगं, गमणाई, पाडिहारियाणं वा।
पच्चप्पिणं करेज्जा, जोगनिरोहं तओ कुरुते ॥२॥
किं न सजोगी सिज्झइ, सबंधहेउ त्ति जं सजोगी य।
न समेइ परमसुक्कं, सनिज्जराकारणं परमं" ॥३॥**

अत एवाह –

से णं भंते ! तहा सजोगी सिज्झइ० जाव अंतं करंति ? गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे ।

"से णं भंते ! तहा सजोगी सिज्झइ" इत्यादि सुगमम्। योगनिरोधं च कुर्वन् प्रथमं मनोयोगं निरुणद्धि । तच्च पर्याप्तमात्रसञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य प्रथमसमये यावन्ति मनोद्रव्याणि, यावन्मात्रश्च तद्व्यापारः तस्मादसंख्येयगुणहीनं मनोयोगं प्रतिसमयं निरुन्धानोऽसंख्येयैः समयैः साकल्येन निरुणद्धि। उक्तं च पज्जत्तमेत्तसन्निस्स जत्तियाइं जहन्नजोगिस्स।

होंति मणोदव्वाइं, सव्वावारो य जम्मत्तो।
तदसंखगुणविहीणं, समए समए निरुंभमाणो सो।
सव्वंनिरोहं जोगी, करेइ संखेज्जसमएहिं"॥

एतदेवाह–"से णं भंते !" इत्यादि। सोऽधिकृतकेवली योगनिरोधं चिकीर्षन् पूर्वमेव सञ्ज्ञिनः पर्याप्तस्य जघन्ययोगिनः स-

त्कस्य, मनोयोगस्येति गम्यते। अधस्तात् असंख्येयगुणपरि–हीनं समये समये निरुन्धानो संख्येयैः समयैः साकल्येनेति गम्यते। प्रथमं मनोयसोगं निरुणद्धि, (तत्तोऽनंतरं च णं) इत्यादि। तस्मान्मनोयोगनिरुन्धानादनन्तरं, चशब्दो वाक्ये, णमिति वाक्यालङ्कारे, द्वीन्द्रियस्य पर्याप्तस्य जघन्ययोगिनः सत्कस्य, वाग्योगस्येति गम्यते। अधस्तात् वाग्योगं संख्येयगुणपरिहीनं समये समये निरुन्धानोऽसंख्येयैः समयैः साकल्येनेति गम्यते। द्वितीयं वाग्योगं निरुणद्धि। आह च भाष्यकारः –

"पज्जत्तमित्तविंदिय–जहन्नवइजोगपज्जवासेओ।
तदसंखगुणविहीणे, समए समए निरुंभंतो।
सव्ववइजोगरोहं, संखाईएहिं कुणइ समएहिं"॥

तत्तो अणंतरं सुहुमपणगजीवस्स अपज्जत्तगस्स जहन्नजो–गिस्स हेट्ठा असंखेज्जगुणपरिहीणं तच्चं कायजोगं निरुंभइ, से णं एएणं उवाएणं पढमं मणजोगं निरुंभइ, निरुंभइत्ता वइजोगं निरुंभइ, निरुंभइत्ता कायजोगं निरुंभइ, निरुंभइत्ता जोगनिरोहं करेइ, जोगनिरोहं करेत्ता अजोगतं पाउणइ, अजोगतं पाउणित्ताईसिं हस्सपंचक्खरुच्चारणद्धाए असंखेज्जसमइयं अंतोमुहुत्तियं सेलेसिं पडिवज्जइ, पुव्वरइयगुणसेढीयं च णं कम्मं तीसे सेलेसिमद्धाए असंखेज्जाहिं गुणसेढीहिं असंखेज्जे कम्मखंधे खवयति, खवयइत्ता वेदणिज्जउयनामगोए, इच्चेते चत्तारि कम्मं से जुगवं खवेइ, खवेइत्ता उरालियतेयाकम्माइं सव्वाहिं विप्पजहन्नाहिं विप्पजहयइ, विप्पजहयइत्ता उज्जुसेढीपडिवन्ने अफुसमाणगती एगसमएणं अविग्गहेणं उड्ढं गता सागारोवउत्ते सिज्झइ, वुज्झइ।

"ततोऽणंतरं च णं" इत्यादि। ततो वाग्योगादनन्तरं 'च णं' प्राग्वत्। सूक्ष्मस्य पनकजीवस्यापर्याप्तकस्य, प्रथमसमयोत्पन्नस्येति भावार्थ। जघन्ययोगिनः सर्वाल्पवीर्यस्य पनकजीवस्य यः काययोगस्तस्याधस्तात् असंख्येयगुणहीनं काययोगं समये समये निरुन्धन् असंख्येयैः समयैः समस्तमपीति गम्यते। तृतीयं काययोगं निरुणद्धि, तं च काययोगं निरुन्धानः सूक्ष्मक्रियमप्रतिपाति ध्यानमधिरोहति, तत्सामर्थ्याच्च वदनोदरादिविवरपूरणेन संकुचितदेहत्रिभागवर्तिप्रदेशो भवति। तथा चाह भाष्यकृत–

**"तत्तो य सुहुमपणग–स्स पढमसमयोववन्नस्स।
जो किर जहन्नजोगो, तदसंखेज्जगुणहीणमेक्केक्के ॥१॥**
समए निरुंभमाणो, देहतिभागं च मुंचंतो।
रुंभइ स कायजोगं, संखाईएहिं चवणसमएहिं"॥२॥

काययोगनिरोधकालान्तरचरमे अन्तर्मुहूर्तवेदनीयादित्रयस्य प्रत्येकं स्थितिसर्वापवर्तनयाऽपवर्त्ययोग्यवस्थासमानं द्रियन्ते गुणश्रेणिक्रमविरचितप्रदेशाः। तद्यथा–प्रथमस्थितौ स्तोकाः प्रदेशाः, द्वितीयस्यां स्थितौ ततोऽसंख्येयगुणाः, तृतीयस्यां ततोऽप्यसंख्येयगुणाः। एवं तावद्वाच्यं यावच्चरमा स्थितिः। एताः प्रथमसमयगृहीतदलिकनिवर्तिता गुणश्रेणयः एवं प्रतिसमयगृहीतदलिकनिवर्तिताः कर्मत्रयस्य प्रत्येकमसंख्येया द्रष्टव्याः, अन्तर्मुहूर्तसमयानामसंख्यातत्वात् आयुषः स्थितिर्यथा बद्धैवावतिष्ठते। सा च गुणश्रेणिक्रमदलिकरचना स्थापना चेयम्। अयञ्च सर्वोऽपि मनोयोगादिनिरोधो मन्दमतिसुखावबोधार्थमाचार्येण स्थूरदृष्ट्या प्रतिपादितः, यदि पुनः सूक्ष्मदृष्ट्या तत्स्वरूपजिज्ञासा भवति तदा पञ्चसङ्ग्रहटीका निभालनीया। तस्यामतिनिपुणं प्रपञ्चेन तस्याभिधानादिह तच्च ग्रन्थगौरवभयान्नास्माभिरभिहितः। (से णमित्यादि) सोऽधिकृतकेवली। णमिति पूर्ववत्। एतेनानन्तरोदिते नोपायप्रकारेण। शेषं सुगमं यावदयोगितां (पाउणइ त्ति) प्राप्नोति, अयोगितामाप्तयभिमुखो भवतीति भावार्थः। अयोगितां च प्राप्य अयोगितामाप्तयभिमुखो भूत्वा, (ईसित्ति) स्तोकं कालं शैलेशीं प्रतिपद्यत इति संबन्धः। कियता कालेन न विशिष्टमित्यत आह–ह्रस्वपञ्चाक्षरोच्चारणाद्धया। किमुक्तं भवति ? नातिद्रुतं नातिविलम्बितं, किन्तु, मध्येन प्रकारेण, यावता काले न ऽऋणनम इत्येवं रूपाणि, पञ्चाक्षराणि उच्चार्यन्ते, तावता काले न विशिष्टामिति। एतावान् कालः किं समयप्रमाण इति निरूपणार्थमाह–असंख्येयसामायिकासंख्येयसमयप्रमाणां तच्च जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणं, तत एषाऽप्यन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणेति ख्यापनायाऽऽह–आन्तर्मौहूर्त्तिकीं शैलेशीमिति। शीलं चारित्रं, तच्चेह निश्चयतः सर्वसंवररूपं, तद् बाह्यं, तस्यैव सर्वोत्तमत्वात्, तस्येशः शैलेशः, तस्य या अवस्था सा शैलेशी तां प्रतिपद्यते, तदानीं च ध्यानं ध्यायति व्यवच्छिन्नक्रियमप्रतिपाति। उक्तञ्च –

"सीलं य समाहाणं, निच्छयओ सव्वसंवरो सो य।
तस्सेसो सेलेसो, सेलेसी होइ तदवत्था ॥१॥
हस्सक्खराइमज्झं, ण जेण कालेण पंच भन्नंति।
अत्थइ सेलेसिगतो, तत्तियमित्तत्तओ कालं ॥२॥
तणुरोहारंता उ–ज्जायइ सुहुमकिरियानियट्टं।
सो विच्छिन्नकिरियम–प्पडिवाई सेलेसिकालम्मि" ॥३॥

न केवलं शैलेशीं प्रतिपद्यते पूर्वरचितगुणश्रेणीकंच वेदनीयादिकं कर्म, अनुभवितुमिति शेषः। प्रतिपद्यते च तत्पूर्वं काय योगनिरोधगते चरमे अन्तर्मुहूर्त्ते रचिता गुणश्रेणयः प्राग् निर्दिष्टस्वरूपा यस्य तत्तथा। ततः किं करोतीत्याह(तो सेलेसिअद्धाए इत्यादि) तस्यां शैलेश्यद्धायां वर्त्तमानोऽसंख्ये–याभिर्गुणश्रेणीभिः पूर्वनिर्वर्त्तिताभिः प्रापिता ये कर्मत्रयस्य पृथक् प्रतिसमयमसंख्येयाः कर्मस्कन्धास्तान् क्षपयन् विपाकतः प्रदेशतो वा वेदनेन निर्जरयन् चरमे समये वेदनीयमायुर्नामगोत्रमित्येतान् चतुरः कर्मांशान् कर्मच्छेदान् युगपत् क्षपयति,युगपच्च क्षपयित्वा ततोऽनन्तरसमये औदारिकतैजसकार्मणरूपाणि त्रीणि शरीराणि (सव्वाहिं विप्पजहन्नाहिं इति) सर्वैर्विप्रहीनैः, सूत्रे स्त्रीत्वं प्राकृतत्वात् विप्रजहीति। किमुक्तं भवति ? यथा प्राक् देशतस्त्यक्तव्यान् तथा न त्यजति किन्तु सर्वैः प्रकारैः परित्यजतीति। उक्तञ्च–"ओरालियाइं च याइं, सव्वाइं विप्पजहन्नाईहिं। जं भणियं निस्सेसं, तहा न जहा देसचाएण सोपुव्वं" ॥ परित्यज्य च तस्मिन्नेव समये कोशबन्धविमोक्षलक्षणसहकारिसमुत्थस्वभावविशेषादेरण्डफलमिव भगवानपि कर्मसम्बन्धविमोक्षलक्षणसहकारिसमुत्थस्वभावविशेषादूर्द्ध लोकान्ते गत्वेति सम्बन्धः। उक्तञ्च –"एरंडाइ फलं जह, बंधच्छेदे रियं दुहं जाति। तह कम्मबंधणच्छेदणेरितो जाति सिद्धो वि" ॥१॥ कथं गच्छत्यत आह–अविग्रहेण विग्रहस्याभावोऽविग्रहः, तेन एकेन समयेन स्पृशन्, समयान्तरप्रदेशान्तरास्पर्शनेनेत्यर्थः। ऋजुश्रेणिञ्च प्रतिपन्नः। एतदुक्तं भवतियावच्चाकाशप्रदेशेष्विहावगाहस्तावत एव प्रदेशनूर्द्ध्वसृजुश्रेण्यावगाहमा–

नो विवक्षिताच्च समयादन्यत् समयान्तरमस्पृशन् गत्वा । तथा चोक्तमावश्यकचूर्णौ –"जावतिए जीवोऽवगाढो तावइयाए ओगाहणाए उज्जुगं गच्छइ न च किंचिइयं च समयं न फुसइ इति। भाष्यकारोऽप्याह– "रिउसेढिं पडिवन्नो, समयपएसंतरं अफुसमाणो। एगसमएण सिज्झइ, इति इह सागरोवउत्तो सो"॥१॥ इत्थमूर्द्धं गत्वा किमित्याह– साकारोपयोगोपयुक्तः सन् सिद्ध्यतिनिष्ठितार्थो भवति। सर्वा हि लब्धयः साकारोपयोगयुक्तस्य उपजायन्ते, नानाकारोपयुक्तस्य सिद्धिरप्येष्या, सर्वलब्ध्युत्तमा लब्धिरिति साकारोपयोगोपयुक्तस्योपजायते। आह च– "सव्वाओ लद्धीओ, जं सागारोवओगलाभाओ । तेणेहसिद्धिलद्धी, उप्पज्जइ तदुवउत्तस्स" ॥१॥ तदनन्तरं तु क्रमेणोपयोगप्रवृत्तिः, तदेवं केवली यथा सिद्धो भवति तथा प्रतिपादितम्। प्रज्ञा०३६ पद। स्था०। कर्म०।

जह अल्ला साडीया, आसुं सुक्कइ विरल्लिया संती।
तह कम्मलहुयसमए, वच्चंति जिणा समुग्घायं ॥

यथेत्युदाहरणोपन्यासार्थः। आर्द्रा साटिका, जलेनेति गम्यते। (आसु त्ति) शीघ्रं, शुष्यति शोषमुपयाति विरल्लिता विस्तारिता सती। तथा तेऽपि भगवन्तो जिनाः प्रयत्नविशेषात् कर्मोदयमधिकृत्याऽऽशु, शुष्यन्तीति शेषः। यतश्चैवमतः कर्म्मलघुतासमये कर्म्मण आयुष्कस्य लघुता, लघोर्भावो लघुता, स्तोकता इत्यर्थः। तस्याः समयः कालः कर्मलघु–तासमयः। सर्वान्तर्मुहूर्त्तप्रमाणः,तस्मिन्। अथ वा कर्म्मभि–र्लघुता, स्तोकतेत्यर्थः। तस्याः समयः कालः कर्मलघुता–समयः, सर्वान्तर्मुहूर्तप्रमाणः, तस्मिन्। अथवा कर्मभिर्लघुता कर्मलघुता, जीवस्येति सामर्थ्यादवसीयते। सा च समुद्घातानन्तरभाविन्येवं भूतोपचारं कृत्वा अनावृतैव गृह्यते। तस्याः समयः कालः कर्म्मलघुतासमयस्तस्मिन् जिना व्रजन्ति, समुद्घातं प्राक् प्रतिपादितस्वरूपमिति॥ आ० म० द्वि०। केवली केवलिसमुद्घातं यदा करोति तदाऽऽत्मप्रदेशैस्त्रसनाडीमेव पूरयति, किं वा संपूर्णं लोकमिति प्रश्नेउत्तरम्–अत्र केवली केवलिसमुद्घातं यदा करोति तदा संपूर्णं लोकं पूरयतीति। १७ प्र० ही०४ प्रका०।

केवल्ल–न०–(कैवल्य)। केवलस्य भावः ष्यञ्। आत्यन्तिकदुःख–विगमरूपे मुक्तिभेदे, वाच०।

स्मृता सिद्धिर्विशोकेयं, तद्वैराग्याच्च योगिनः।
दोषबीजक्षये नूनं, कैवल्यमुपदर्शितम् ॥१८॥

(स्मृतेति) इयं विशोका सिद्धिः स्मृता। तस्यां विशोकायां सिद्धौ वैराग्याच्च योगिनो योगभाजः। दोषाणां रागादीनां बीजस्याविद्यादेः, क्षये निर्मूलने, नूनं निश्चितम्, कैवल्यं पुरुषस्य गुणानामधिकारपरिसमाप्तेः स्वरूपप्रतिष्ठितत्वमुपदर्शितम्। यतः–"तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यमिति"। द्वा०२६ द्वा०। कैवल्यं स्वरूपेनास्त्यस्य अर्श० अच्। कैवल्यस्वरूपे, त्रि०। केवल एवं स्वार्थे ष्यञ्। अद्वितीये वस्तुनि, न०। वाच०।

केवल्लप्पाय–पुं०–(कैवल्यपाद)। योगानुशासनचतुर्थपादे, द्वा०११ द्वा०।

केस–पुं०–(केश)। चिहुरकचपर्याये, क्लिश्यते क्लिश्नाति वाक्रश अच् ललोपश्च। कस्य जलस्य ब्रह्मणो वा ईशो वा। वरुणे, हीवर, दैत्यभेदे, केशिनि, विष्णौ, काशते काश अच् पृषो०। सूर्याग्निप्रभृतिरश्मौ, के शिरसि शैते शीङ् अलुक् स०। चिकुरे, वाच०। शिरोजे, तं०। स्था०। शिरसिजे, रा०। नि० चू०। स०। आ० चू०। शिरःकूर्चसम्भवे, प्रव०४० द्वार। को० बालवर्षे, आ० चू०४ अ०।

केसंत–पुं०–(केशान्त)। केशानन्तयति छेदनात् हन्ति, अन्ति अण्। द्विजातीनां षोडशादिषु वर्षेषु कर्तव्ये केशच्छेनाख्ये गोदानाख्ये कर्मणि, वाच०। बालसमीपे, औ०। केशभूमिपर्यन्ते च। जी०३ प्रति०। मध्यकेशे, तं०।

केसंतकेसभूमि–स्त्री०–(केशान्तकेशभूमि)। बालसमीपे केशोत्पत्ति–स्थानभूतायां मस्तकत्वचि, औ०। तं०। जी०। केशान्तभूमौ, केशभूमौ च। औ०। दालिमपुप्फकासतवणिज्जसरिसणिम्मलसुणिद्धकेसंत–केसभूमी" औ०।

केसपास–पुं०–(केशपाश)। केशानां समूहः वा० पाशादेशः। केशः पाश इव वा। केशसमूहे, "करेण रुद्धोऽपि च केशपाशः" "तां काचन प्रधावन्तीं केशपाशे परामृशत्" वाच०। आ० क०।

केसबल्लरी–स्त्री०–(केशबल्लरी)। बल्लर्योपमितेषु केशेषु, "क्षालय–न्त्यास्तदा तस्या–स्त्रुटिता केशबल्लरी"॥ आ० क०।

केसबाणिज्ज–न०–(केशवाणिज्य)। केशशब्दः केशवदुपलक्षकरततो दासादिनृणां गवाश्वादितिरश्चां केश्वताम् (ध०२ अधि०) बाणिज्यम्। केशवज्जीवानां गोमहिषीस्त्रीप्रभृतिकानां विक्रये, भ०८ श०५ उ०। केश्वाणिज्यं" दासी उ गहाय अन्नत्थ विक्किणइ" आव०६ अ०। श्रा०। आ० चू०। यत्र दासीदासहस्त्यश्वगवोष्ट्रादिजीवान् गृहीत्वा तत्रान्यत्र वा विक्रीणीते जीविकानिमित्तं तत्केशवाणिज्यम्। प्रव०६ द्वार। एतच्च कर्मत उपभोगपरिभोगस्य भेदः पापकर्मादानाम्। उपा०१ अ०।

केसभूमि–स्त्री०–(केशभूमि)। केशोत्पत्तिस्थानभूतायां मस्तकत्वचि, औ०।

केसर–पुं०,न०–[केश(स)र] केजले शिरसि वा शीर्य्यति शृ–अच्। सरति सृ–अच् अलुक् स०। केशः केशाकरोऽस्त्यस्य वा। किञ्जल्के, पद्मादिपुष्पमध्यस्थे केशाकारपदार्थभेदे, वाच०। जं०। कर्णिकापरि–तोऽवयवे, भ०११ श०१ उ०। स्कन्धसंबन्धिरोमणि, कल्प०२ क्षण। तुरगस्कन्धस्थलोमपुञ्जरूपजटायाम्, हेमकेशरप्रधाने फुल्ले, जी०३ प्रति०। वकुले, आ० म० प्र०। मिञ्चफले, प्रज्ञा०१ पद। हिडगुवृक्षे, पुन्नागवृक्षे, कासीसे, बीजपूरके, पुं०। स्वर्णे, न०। "अर्था –श्वाश्वैः ४–७–७–भभनयरयुगैर्वृत्तं मतं केसरम्" वृत्तरत्नाकरोक्ते छन्दोभेदे, न०। वाच०। स्वनामख्याते काम्पिल्योद्याने, उत्त०१८ अ०।" अह केसरम्मि उज्जाणे नामेणं गद्दभालिअणगारे"। उत्त०१७ अ०। ती०।

केसरि(ण्) केसरिन्–स्त्री० पुं० केश (स) राः सन्त्यस्य इनिः। सिंहे, अश्वे च। वाच०। सूत्र०। को०। स्त्रियां ङीप्। पुन्नागवृक्षे, नागकेशरवृक्षे, पुं०। बीजपूरकवृक्षे, पुं०। हनुमत्पितरि, वानरभेदे, पुं०। वाच०। चतुर्थवासुदेवस्य सुप्रभस्य प्रतिशत्रौ, स०। ति०।

केसरिदह–पुं०–(केशरिह्रद)। नीलवद्वर्षधरपर्वतस्थे ह्रदभेदे, तत्र कीर्तिर्देवता। स्था०३ ठा०४ उ०।

केसरिया–स्त्री०–(केशरिका)। प्रमार्जनार्थे चीवरखण्डे, भ०३ श०२ उ०। औ०। ज्ञा०।

केसलोय—पुं०—(केशलोच)। ६त०। केशानामुत्पाटने, सूत्र०१ श्रु०३ अ०१ उ०। स च नियमेन वीरमहापद्मर्यास्तीर्थकृतोर्धर्मः। स्था०६ ठा०। "संसत्ता केसलोएणं, बंभचेरपराइया। तत्थ मंदा विसीयंति, मच्छा विद्धा व केयणे"। सूत्र०१ श्रु०३ अ०१ उ०।

केसव—पुं०—(केशव)। केशाः प्रशस्ताः सन्त्यस्य **"केशाद् वोऽन्यतरस्याम्"। ५।२।१०९॥** पा० वः। प्रशस्तकेशयुक्ते, केशं केशिनं वा निहन्ति वा कः। विष्णौ: "यस्मात्त्वया हतः केशी, तस्मान्मच्छासनं शृणु। केशवो नाम नाम्ना त्वं, ख्यातो लोके भविष्यसि"॥ वाच०। नारायणनाम्नि वासुदेवे, प्रव०३५ द्वार। नवस्वपि वासुदेवेषु, स०। आ०म०। आव०। ति०। ('वासुदेव' शब्देऽस्य व्याख्या) यच्च केशवस्य बलं तद् द्विगुणं भवति चक्रवर्तिनः। विशे०। प्राचीने पञ्चमे भवे श्रीऋषभदेवस्य जीवे, तदुक्तं भगवन्तं प्रति श्रेयसा—"वच्छ सत्रावतीविजये पभंकराइ णगरी य, तत्थ सामी पितामहो सुवेज्जस्स पुत्तो केसवो णाम जातो, अहं पुण सेट्ठिसुतो अभयघोसो, तत्थ वि णे सिणेहाधिकता" आ० चू०१ अ०। अत्र ततोभगवानपरविदेहे वैद्यपुत्रस्तदाऽहं जीर्णश्रेष्ठिपुत्रः केशवनामा मित्रम्। कल्प०७ क्षण। जलस्थे शवे च। वाच०

केसवुट्ठि—स्त्री०—(केशवृष्टि)। केशानां वर्षणे, यदुपरिभागात्केशाः पतन्ति। प्रव०१३४ द्वार। व्य०। केशवृष्टिचिन्ताकारके शास्त्रे च। सूत्र०२ श्रु०२ अ०।

केसहत्थ—पुं०—(केशहस्त)। केशो हस्त इव। केशसमूहे, वाच०। केशपाशे, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०। वेण्याम्, कल्प०२ क्षण।

केसालंकार—पुं०—(केशालङ्कार)। केशा एवालङ्कारः केशालङ्कारः। अलङ्कृतेषु केशेषु, केशानामलङ्कारे पुष्पादौ, भ०६ श०३३ उ०। केशेनोपलक्षितोऽलङ्कारः। कटककेयूरहारकङ्कणवस्त्राद्यलङ्कारे, आ०म० द्वि०।

केसि(ण्)—पुं०—(केशिन्)। केशसंस्पृष्टशुक्रपुद्गलसम्पर्काज्जाते निर्ग्रन्थीपुत्रे, पं०व०१ द्वार। (स च यथा जालस्तथा 'अज णियकन्निया' शब्दे, प्र० भागे२०१ पृष्ठे दर्शितः) स च कुमार एव प्रव्रजितः पार्श्वापत्यीयश्चतुर्ज्ञानी अनगारगुणसम्पन्नः सूर्याभदेवजीवं पूर्वभवे प्रदेशिनामानं राजानं प्राबोधयदिति। रा०। नि०। ध० र०। (तद्वर्णकविशिष्टं 'पएसि' शब्दे वक्ष्यते) ('गोयमकेसिज्ज' शब्दे गौतमेन सहास्य सम्वादो वक्ष्यते) उदायननृपभागिनेये, आव०२ अ०। स च उदायनेन स्वपुत्रमभिजितं वञ्चयित्वा राज्ये स्थापितः। (रोगग्रस्तं च उदायनं विषप्रदानेन मारितवानिति उदायन शब्दे द्वि० भा०७८६ पृष्ठे दर्शितम्) स्था०। ध०। आ० चू०। भ०। अश्वरूपधारके कृष्णेन निहते दानवभेदे, वाच०। केश्वे वासुदेवे, प्रव०३५ द्वार।

***केदृश**—त्रि०। किम्प्रकारे, "केसी गायइ मधुरं, केसी गायइ खरं च रुक्खं च"। स्था०७ ठा०।

केसिआ—स्त्री०—(केशिका)। केशीव कायति, कै—कः। शतावरी वृक्षे, वाच०। केशा विद्यन्ते यस्याः सा केशिका। केशवत्यां स्त्रियाम्, "जइ केसिआणं मए भिक्खू णो विहरे सह णमित्थीए केसाण वि लुंचिस्सं तत्थ मए चरिज्जासि। "सूत्र०१ श्रु०४ अ०२ उ०।

केहिं—अव्य०। किमर्थ, **"तादर्थ्ये केहिं—तोहिं—रेसि—रेसिं—तणेणाः।" ।८।४।४२५।** इति तादर्थ्ये केहिं इति निपातः। प्रा०४ पाद।

केअव—न०—(कैतव)। मले, कपटे, यद्यपि प्राकृते ऐकारो नास्ति तथापिव क्वचिद् भवत्येव 'कैअवं'। प्रा०१ पाद।

कोआस—धा०—(विकस)। भ्वादि० अक०। विशेषेण दीप्तौ, **"विकसेः कोआसवोसट्टौ" ८।४।१९५।** इति विपूर्वस्य कसेः कोआसादेशः। प्रा०४ पाद।

कोआसिय—त्रि०—(विकसित)। विशेषेण दीप्ते, **"कोआसिअ धवलपत्तच्छा, (कोआसिअ त्ति)" विकसेः कोआसवोसट्टौ ॥८।४।१९५।** इति विपूर्वस्य कसेः कोआसादेशः। कोआसिते विकसिते धवले च क्वचिद्देशे पत्तले पक्ष्मवती अक्षिणी नेत्रे वेषां ते तथा। जं०२ वक्ष०।

कोइल—पुं०—(कोकिल)। कुक् इलच्। परपुष्टे, स्था०१० ठा०। परभृते, प्रश्न० २ आश्र० द्वार। पिके, रा०। स्वनामख्याते पक्षिणी, स्त्रियां जातित्वेऽपि अजा० टाप्। वाच०। औ०। "अह कुसुमसंभवे काले, कोइला पंचमं सरं" अनु०। स्था०। वर्द्धिष्णुस्तालपिशाचो, लीलयेव हतः स्वयम्। कोकिलौ श्वेतचित्रौ च, सेवकाविव पार्श्वगौ"॥ आ०क०। अङ्गारे, पुं०। संज्ञायां कन् "हयदशभिर्गजौ भजजला गुरु नर्दटकम्। मुनिगुहकार्णवैः कृतयति वद कोकिलकम्" इति वृत्तरत्नाकरोक्ते छन्दोभेदे, न०। वाच०।

कोइलच्छय—पुं०—(कोकिलच्छद)। तैलकटके, "कोइलच्छा कुसुमेह वा" कोकिलच्छदस्तैलकटकः। तथा च मूलटीकाकृत्—"वन्नाहिगारं जो एत्थ कोइलच्छदो, सो तिलकंटओ भन्नइ त्ति"। प्रज्ञा०१७ पद।

कोउय—न०—(कौतुक)। कुतुकस्य भावः। युवादि० अण्। प्रज्ञा० स्वार्थे अण् वा। कूतूहले, तच्च अद्भूतजिज्ञासाऽतिशयः। वाच०। उत्सवविशेषे, रा०। सुरतविषये औत्सुक्ये, पं० व०१ द्वार। वचननयनादिभवे तं०—आश्चर्य्ये, तच्च यथा मायाकारको मुखे गोलकान् प्रक्षिप्य कर्णेन निष्काशयति नाशिकया वा, तथा मुखादग्निं निष्काशयति। व्य०१ उ०। मषीपर्वादिके, विपा०१ श्रु०१ उ०। मषीतिलकादिके, रा०। ज्ञा०। औ०। कल्प०। नि०। मषीपुण्ड्रकादिके, विपा०१ श्रु०३ अ०। "कयकोउयमंगलपायच्छित्ता" औ०। अवतारणकादिके, सूत्र०२ श्रु०२ अ०। रक्षादिके, प्रश्न०२ आश्र० द्वार। औ०। आ०म०। समवसरणादिके, बृ०१ उ०। सौभाग्याद्यर्थे, प्रज्ञा०२० पद। बालादीनां रक्षार्थं स्नपनकरभ्रमणथुकूथूक्करणहोमधूपादिके, ध०३ अधि०। परेषां सौभाग्यादिनिमित्तं यत् स्नपनादि क्रियते तत् कौतुकम्। उक्तं च—"सोहग्गादिनिमित्तं, परेसिं ण्हवणादि कोउगं भणियम्" एवंभूतानि कौतुकानि। व्य०१ उ०। आव० पं० व०।

कौतुकद्वाराऽऽवयवार्थमाह—

विम्हवणहोमसिरपरि—रयाइ खारडहणाणि धूपे अ।
असरिसवेसग्गहणा, अवयासणउच्छुभणबंधो॥४३॥

विस्मापनं बालस्नापनं, होममग्नि हवनं, शिरःपरिरयः करभ्रमणाभिमन्त्रणम्। आदिशब्दः स्वभेदप्रख्यापकः। बालस्नपनादी—

नामनेकप्रकारत्वात्। क्षारदहनानि तथाविधव्याधिशमनाय धूपश्चायोगगर्भः; असदृशवेशग्रहणानि नार्यादेरनार्यादिनेपथ्य कारणानि, अवत्रासनं वृक्षादीनां प्रभावेन चालनम्, एवमवस्तम्भनम्, अनिष्टोपशान्तये तनुकनिष्ठीवना थुक्थुक्करणम्। एवं बन्धमन्त्रादिनाप्रतिबन्धनं कौतुकमिति गाथार्थः। पं० व०४ द्वार। बृ०। कौतुकं कुर्वन् आभियोगिकीं भावनां करोति। पं०व०। नि०चू०। अभिलाषे, नर्मणि, हर्षे, परम्परायातमङ्गले, गीतादिभोगे, भोगकाले च। वाच०।

कोउयकम्म–न०–(कौतुककर्मन्)। सौभाग्यनिमित्तं स्नपनादिके, ज्ञा०१ श्रु० १४ अ०।

कोउयकरण–न०–(कौतुककरण)। सौभाग्यादिनिमित्तं परस्नपनादिकरणे, स्था०४ ठा०४ उ०।

कोउयदंसण–न०–(कौतुकदर्शन)। उत्सवप्रेक्षणे, यथा वीरजिनेन्द्रनिष्क्रमणे –

"तिन्नि वि थीआँ वल्लहाँ कलिकञ्जलसिंदूर।
एए पुण अतीँ हिँ वल्लहाँ दूधजामई तूर" ॥ चेष्टाश्चेमाः–
"स्वगल्लयोः काचन कज्जलाङ्क, कस्तूरिकाभिर्नयनाञ्जनं च।
गले चलन्नूपुरमंह्रिपीठे, ग्रैवेयकं चारु चकार बाला ॥१॥
कटीतटे काऽपि बबन्ध हारं, काचित् क्वणत्किङ्किणिकां च कण्ठे।
गोशीर्षपङ्केन ररञ्ज पादा–वलक्तपङ्केन वपुर्लिलेप ॥२॥
अर्द्धस्नाता काचन बाला, विगलत्सलिला विश्लथबाला।
तत प्रथममुपेता त्रांस, व्यधित न केषां ज्ञाता हासम् ॥३॥
काऽपि परिच्युतविश्लथवसना, मूढा करघृतकेलरसना।
चित्रं तत्र गता न ललज्जे, सर्वजने जिनवीक्षणसज्जे ॥४॥
संत्यज्य काचित्तरुणी रुदन्तं, स्वपोतमोतुं च करे विधृत्य।
निवेश्य कट्यां त्वरया व्रजन्ती, हासावकाशं न चकार केषाम् ५॥
अहो महोरूपमहो महौजः सौभाग्यमेतत्कटरे शरीरे।
गृह्णामि दुःखानि करस्य धातुर्यच्छिल्पमीदृग् वदति स्म काचित्॥
काश्चिन्महेला विकसत्कपोलाः, श्रीवीरवक्त्रेक्षणगाढलोलाः।
विस्रस्य दूरं पतितानि तानि, नाज्ञासिषुः काञ्चनभूषणानि ॥७॥
हस्ताम्बुजाभ्यां शुचिमौक्तिकौघैरवाकिरन्काश्चन चञ्चलाक्ष्यः।
काश्चिज्जगुर्मञ्जुलमङ्गलानि, प्रमोदपूर्णा ननृनुश्च काश्चित् ॥८॥
कल्प०५ क्षण॥

कोउ(ऊ)हल(ल्ल)–न०–(कुतूहल)। **"कूतूहले वा ह्रस्वश्च ।८।१।११७।** कुतूहलशब्दे उत ओद् वा भवति, तत्सन्नियोगे ह्रस्वश्च, कोऊहलं कुऊहलं कोउहल्लम्, प्रा०१ पाद। **"सेवादौ वा" ॥८।२।९९॥** इति लद्वित्वम्। प्रा०२ पाद। औत्सुक्ये, "जायकोउहले" जातं कूतूहलं यस्य स तथा, जातौत्सुक्य इत्यर्थः। ज्ञा०१ श्रु०१ अ०। चं०प्र०। "ते सव्वे परेण कोउहलेन पुच्छंति "आ०म०प्र०। ज्ञा०। औ०। नि०। कुतूहलाद गीतनृत्तनाटकादिनिरीक्षणं कामशास्त्रप्रवृत्तिश्च द्यूतमद्यादिसेवनं प्रमादाचरणम्। ध०२ अधि०। कैतुके, बृ०१ उ०। रा०।

कुतूहलार्थं प्राणिविघातादिषु प्रायश्चित्तम् –

जे भिक्खू कोउहल्लवडियाए अण्णयरं तसपाणजायं तणपासएण वा मुंजपासएण वा कट्ठपासएण वा चम्मपासएण वा वेतपासण्ण वा रज्जुपासएण वा सुत्तपासएण वा बंधइ, बंधंत वा साइज्जइ ॥१॥ जे भिक्खू कोउहल्लवडियाए वद्धेल्लयं वा मुयइ, मुयंतं वा साइज्जइ ॥२॥

तसपाणगतणगादी, कोतूहल्ल वडियाएँ जो उ बंधिज्जा।
तणपासगमादीहिं, सो पावति आणमादीणि ॥२॥
तण्णगवानरवरहिण–चगोरहंससुगमाइणो पक्खी।
गामारणिय चउप्पद, दिट्ठादिट्ठभूयउरपरिसप्पा ॥३॥

तसपाणगो वज्झमादि सेदुरं, आणादी चउलहुं च (तण्णगाहा) तण्णगगहणातो इमे वि पक्खिणो गहीता। वरहिणो त्ति मोरो, रक्तपादो दीर्घग्रीवो जलचरो पक्खी चकोरो, अण्णं वा किंचि किसोरादि गामेयगं मृगादि वा, आरण्णं दिट्ठपुव्वं वा अदिट्ठपुव्वं बा, णकुलादि वार भुयपरिसप्पं, सप्पादि वा उरपरिसप्पं, एवमादि बंधति मुयति वा। बंधमुयणे वा इमं कारणं –

दिस्सिहि ति चिरं वद्धो, णयणादि च उप्पडेंति दुप्पस्सा।
गमणादुतादिकुतूहल, मुयति व जे तारिसे दोसा ॥४॥
वितियपदमणप्पज्झे, बंधे अविकोविते व अप्पज्झा।
जाणंते वा वि पुण्णो, कज्जेसु बहुप्पगारेसु ॥५॥
वितियपदमणप्पज्झे, मुंचे अविकोविते व अप्पज्झे।
जाणंतो वा वि पुणो, कज्जेसु बहुप्पगारेसु ॥६॥

उस्सग्गो अववादो जहा बारसमे उद्देसमे तहा भाणियव्वो।

जे भिक्खू कोउहल्लवडियाए तणमालियं वा मुंजमालियं वा भिंडमालियं वा मयणमालियं वा पिच्छमालियं वा दंतमालियं वा सिंगमालियं वा संखमालियं वा हड्डमालियं वा कट्ठमालियं वा वत्तमालियं वा पुप्फमालियं वा फलमालियं वा बीजमालियं वा हरियमालियं वा करेइ, करंतं वा साइज्जइ ॥३॥ जे भिक्खू कोउहल्लवडियाए तणमालियं वा मुंजमालियं वा भिंडमालियं वा मयणमालियं वा पिच्छमालियं वा दंतमालियं वा सिंगमालियं वा संखमालियं वा कट्ठमालियं वा पत्तमालियं वा पुप्फमालियं वा फलमालियं वा बीजमालियं वा हरियमालियं वा धरेइ, धरतं वा साइज्जइ ॥४॥ जे भिक्खू कोउहल्ल वडियाए तणमालियं वा मुंजमालियं वा० जाव हरियमालियं वा परिभुंजइ, परिभुंजंतं वा साइज्जइ ॥५॥ जे भिक्खू कोउहल्लवडियाए तणमालियं वा मुंजमालियं वा० जाव हरियमालियं वा पिणद्धइ, पिणद्धंतं वा साइज्जइ ॥६॥ जे भिक्खू कोउहल्लवडियाए अयल्लोहाणी वा तंवलोभाणी वा सीसलोभाणी वा रूपलोभाणी वा सुवन्नलोभावी वा करेइ, करंतं वा साइज्जइ ॥७॥ जे भिक्खू कोउहल्लवडियाए अयल्लोभाणी वा तंवलोभाणी वा सीसलोहाणी वा रूपलोहाणी वा सुवन्नलोहाणी वा धरेइ, धरंतं वा साज्जइ ॥९॥ जे भिक्खू कोउहल्लवडियाए अयल्लोहाणी वा० जाव सुवण्णलोहाणी वा परिभुं–

जइ, परिभुंजंतं वा साइज्जइ ॥९॥ जे भिक्खू कोउहल्लवडियाए हाराणि वा, अद्धहाराणि वा, एकावली वा, मुत्तावली वा, कणगावली वा, रयणावली वा, कणगाणि वा, तुडियाणि वा, कवरीणि वा, कुंडलाणि वा, पट्टाणि वा, मउडाणि वा, पलंबसुत्ताणि वा, सोवण्णसुत्ताणि वा करेइ, करंतं वा साइज्जइ ॥१०॥ जे भिक्खू कोउहल्लवडियाए हाराणि वा० जाव सोवण्णसुत्ताणि वा धरेइ, धरंतं वा साइज्जइ ॥११॥ जे भिक्खू कोउहल्लवडियाए हाराणि वा० जाव सोवण्णसुत्ताणि वा परिभुंजइ, परिभुंजंतं वा साइज्जइ ॥१२॥ जे भिक्खु कोउहल्लवडियाए आइण्णाणि वा आइण्णपावाराणि वा कंबलाणि वा कंबलपावारीणि वा सामायाणि वा कायपावारीणि वा गोरमियाणी वा कालमियाणि वा मेहसाणमायाणि वा उद्दीणि वा उद्देलेस्साणि वा वग्घाणि वा विवग्घाणि वा परवंगाणि वासहिणीणि वा साहाकल्लाणि वा खोमाणि वा तीरीडपट्टणाणि वा पउल्लाणि वा सामाआवरंताणि वा चाणीणि वा अंसुयाणि वा कणककताणि वा कणकखचियाणि वा कणकचित्ताणि वा कणकविचित्ताणि, आभरणाणि वा आभरणविचित्ताणि वा करेइ, करंतं वा साइज्जइ ॥१३॥ जे भिक्खू कोउहल्लवडियाए आइण्णणि वा आइण्णपावाराणि वा० जाव आभरणाणि आभरणविचित्ताणि वा धरेइ, धरंतं वा साइज्जइ ॥१४॥ जे भिक्खू कोउहल्लवडियाए आइण्णाणि वा आइण्णपावारीणि वा० जाव आभरणविचित्ताणि वा परिभुंजइ, परिभुंजंतं वा साइज्जइ ॥१५॥

एतेसिं सुत्ताणं भासगाहाण य अत्थो सत्तमुद्देसगे तहा भाणियव्वो, णवरं तत्थ माउगामस्स मेहुणपडियाए करेंति, इह पुण काउअपडियाए करेंति वि कयट्ठा वा काउं धरेंति, कारणे परलिंगट्ठिते वा पिणिंधति, एवं सेसा वि अवओगा भावेयव्वा।

तणगादिमालियाओ, जत्तियमेत्ताउ आहिया सुत्ते।
ताओ कुतूहलेणं, चारित्तं आणमादीणि ॥७॥
वितियपदमणपप्पज्झे, बंधंते अविकोविते व अप्पज्झे।
जाणंते वा वि पुणो, कज्जेसु बहुप्पगारेसु ॥८॥
अयमादि आगरा खलु, छत्तियमेत्ताउ आहिया सुत्ते।
ताइं कुतूहलेणं, मालेंती आणमादीणि ॥९॥

जे भिक्खू णिग्गंथे निग्गंथस्स अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा आमज्जेज्ज वा पमज्जेज्ज वा आमज्जंतं वा पमज्जंतं वा साइज्जइ ॥१६॥

आमज्जणं सकृत्, पुनः प्रमार्जनम्। नि०चू०१७ उ०।

कुतूहलेनाहरग्रहणं निषिद्धम् –

जे भिक्खू आगंतारेसु वा आरामागारेसु वा गाहावइकुलेसु वा परियावसहेसु वा अन्नउत्थियं वा गारत्थियं वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा ओभासियं ओभासिय जायति, जायंतं वा साइज्जइ ॥१॥ जे भिक्खू आगंतारेसु वा आरामागारेसु वा गाहावइकुलेसु वा परियावसहेसु वा अण्णउत्थियं वा गारत्थियं वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा ओभासियं ओभासिय जायति, जायंतं वा साइज्जइ ॥२॥ जे भिक्खू आगंतारेसु वा आरामागारेसु वा गाहावइकुलेसु वा परियावसहेसु वा अन्नउत्थियाणि वा गारत्थियाणि वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा ओभासियं ओभासिय जायति, जायंतं वा साइज्जइ ॥३॥

जे 'भिक्खू' पूर्ववत्। आगंतारो जत्थ आंगारा आगंतु विहरंति तं आगंतागारं, गामपरिसट्ठाणं ति वुत्तं भवति। आगंतुगाण वा कथं अगारं आगंतागारं, बहियावासो त्ति। आरामे अगारं आरामागारं गिहस्स पती गिहपती, तस्स कुलं गिहवतिकुलं, अन्यगृहमित्यर्थः। गिहपज्जायं मोत्तुं पव्वजापरियाए ठिता, तेसिं आवस हो परियावसहो; एतेसु ठाणेसु ठितं अण्णउत्थियं वा गारत्थियं वा असणाइ ओभासति साइज्जति वा, तस्स मासलहुं। एस सुत्तत्थो। इमा सुत्तफासिया गाहा–

आगंतारादीसुं, असणादी मासती तु जो भिक्खू।
सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराधणं पावे ॥२॥

आगंतारादिसु गिहत्थमन्नतित्थियं वा जो भिक्खू असणाती ओभासति सो पावति आणाअणवत्थमिच्छत्तविराहणं च॥

आगमेहि कतमा–गारं आगंतु जत्थ चिट्ठंति।
आगारा परिगमणं, पज्जाओ चरगादी णेगविधो ॥३॥

आगमा रुक्खा, तेहिं कतं अगारं आगंतुं जत्थ चिट्ठंति अगारातं आगंतागारं, परि समंता गमणं, गिहभावगतेत्यर्थः। पज्जायो पवज्जा, सो यं चरगपरिव्वासक्कआजीवागमादि णेगविधो॥

भद्देतरा तु दोसा, हवेज्ज ओभासिते अठाणम्मि।
अवियत्तोभावणता; पंतं भद्दे इमे होंति ॥४॥

अट्ठाणट्ठितोभासिते पंतभद्दोसा, पंतस्स अवियत्तं भवति, ओभावणता। अहो इमे भद्दोसा–

जह आतरो सि दीसइ, जह य विमग्गंति मं अठाणम्मि।
दंतेंदिया तवस्सी, तो देमि णं भारितं कज्जं ॥५॥

जहा एयं साहुस्सातरो दीसति, जह अयं अट्ठाणट्ठियं विमग्गंति दंतेंदिया तवस्सी तो देमि अहं एतेसिं णूणं से भारितं कज्जं, आपत्कल्पमित्यर्थः।

सड्ढिगिहिं अण्णतित्थी, करिज्ज ओभासिते तु सो सण्हो।
उग्गमदोसेगतरं, खिप्पं से संजतट्ठाए ॥६॥

श्रद्धाऽस्तीति श्राद्धी, सो य गिही अण्णतित्थिओ वा ओभासिए समाणसे इति स गिही अण्णतित्थिओ वा खिप्पं तुरियं सण्हं उग्गमदोसाणं अणंतरं करेज्जा संजयट्ठाए।

एवं खलु जिणकप्पे, गच्छो णिक्कारणम्मि तह चेव।
कप्पति य कारणम्मी, जतणा ओभासितुं गच्छे ॥७॥

एवं ता जिणकप्पे भणियं गच्छवासिणो वि णिक्कारणे। एवं चेव कारणजाते पुण कप्पति।

थेरकप्पियाणं ओभासितुं किंचित्कारणं इमं–

गेलण्णरायदुट्ठे, रोहगअद्धाण अंचिते ओमे।
एतेहि कारणेहिं, असती लंभम्मि ओभासो ॥८॥

गिलाणट्ठा रायदुट्ठे वा रोहगे वा अंतो अपच्चंता अंचिते वा अचियणं णाम दात्रसंधी तत्थ भवणाओ खंधियाओ ण वा णिप्फण्णणं णिप्फण्णे वा ण लब्भति, ओमं दुर्भिक्षम् एवं अंचिए ओमे दीर्घं दुर्भिक्षमित्यर्थः। एतेहिं कारणेहिं अलब्भंते ओभासेज्जा।

भिण्णं समतिक्कंतो, पुव्वं जतिऊण पणगपणगेहिं।
तो मासियठाणेसुं, ओभासणमादिसूमसढो ॥९॥

इमा जयणा–पढमं पणगदोसेण गेण्हति, पच्छा दस–पण्णर–सवीसभिन्नमासदोसेण य एवं पणगभेदेहिं जाहे भिण्णं समतिक्कंतो ताहे मासिअट्ठाणेसु ओभासणादिसु जतति असढो।

तत्थ ओभासणे इमा जयणा–

तिगुणगतेहि ण दिट्ठो, णीया वुत्ता तु तस्स उ कहेह।
पुट्ठाऽपुट्ठा व ततो, करें ति जं सुत्तपडिकुट्ठं ॥१०॥

पढमं घरे ओभासिज्जति अदिट्ठे, एवं तओवारा घरे गवेसियव्वो तत्थ भज्जादि णीया वत्तव्वा, तस्स आगयस्स कहेज्जाह–साधू तव सगासं आगया, कज्जेणं घरे अदिट्ठे पच्छा आगंतारादिसु दिट्ठस्स घरगमणाति सव्वं कहेउं तेण वंदिते अवंदिते वा तेणेव पुट्ठा अपुट्ठा वा जं सुत्ते पडिसिद्धं तं कुव्वंति, ओभासंति इत्यर्थः।

जे भिक्खु आगंतारेसु वा आरामागारेसु वा गाहावइकुलेसु वा परियावसहेसु वा अन्नउत्थियं वा गारत्थियं वा कोउहल्लपडियाए पडियागयं समाणं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा ओभासियं ओभासिय जायति, जायंतं वा साइज्जइ ॥४॥

एवं अण्णउत्थिया वा गारत्थिया वा एवं अण्णउत्थिणीओ वा गारात्थिसणीओ वा।

पढमम्मी जो तु गमो, सुत्ते वितिए वि होति सो चेव।
ततियचउत्थे वि तहा, एगत्तपुहत्तसंजुत्ते ॥११॥

पढमे सुत्ते जो गमो वितिए वि पुरिसपोहत्तियसुत्ते सो चेव गमोः ततियचउत्थेसु वि इत्थिसुत्तेसु सो चेव गमो॥

जे भिक्खू आगंतारेसु वा आरामागारेसु वा गाहावइकुलेसु वा परियावहेसु वा अण्णउत्थियाउ वा गारत्थियाउ वा कोउहल्लपडियाए पडियागयं समाणं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा ओभासियं ओभासिय जायति, जायंतं वा साइज्जइ ॥५॥ जे भिक्खू आगंतारेसु वा आरामागारेसु वा गाहावइकुलेसु वा परियावसहेसु वा अण्णउत्थियाण वा गारत्थियाण वा गारत्थियाउणी वा कोउहल्लपडियाए पडियागयं समाणं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा ओभासियं ओभासिय जायति, जायंतं वा साइज्जइ ॥६॥ जे भिक्खू आगंतारेसु वा आरामागारेसु वा गाहावकुलेसु वा परियावसहेसु वा अण्णउत्थियाउणी वा गारत्थियाउणी वा कोउहल्लपडियाए पडियागयं समाणं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा ओभासियं ओभासिय जायति, जायंतं वा साइज्जइ ॥७॥

"जे भिक्खू आगंतारेसु वा इत्यादि" कोउहल्लप्रतिज्ञया कौतुकेनेत्यर्थः।

आगंतागारेसुं, आरामागारे तथेह वसहे वा।
पुव्वट्ठिताण पच्छा, एज्ज गिही अण्णतित्थी वा ॥१२॥

तमागतं जे असणातीतोभसति तस्स सासलहुं। धम्मं सावगधम्मं वा पेच्छामो एत्तो –

आहाभावेणं कोऊहल्लं केइ वंदणणिमित्तं।
पुचिछस्सामो केई, धम्मं दुविधं व पेच्छामो ॥१३॥
एगो एगतरेणं, कारणजाएण आगंतं संतं।
जो भिक्खू ओभासति, असणादी तस्सिमो दोसो ॥१४॥

तस्सिमे भद्दपंतदोसा–

आतपरोभावणता, अदिण्णदिण्णे व तस्स अवियत्तं।
पुरिसोभावाणदोसा, सविसेसतरा य इत्थी य ॥१५॥

अलद्धे अप्पणो ओभावणा सुद्धा न लभंति तिण्णि अदिण्णे परस्स ओभावणा किवणो त्ति अदिण्णे वा अवियत्तं भवति, महायणमज्झे वा पणइ तो देमि त्ति पच्छा अवियत्तं भवति, दाओ पुरिसे ओभावणदोसा एवं केवला इत्थिआसु ओभावणदोसा संकादोसा य आयपरसमुत्था य दोसा।

भद्दो उग्गमदोसे, करेज्ज पच्छण्णअभिहडादीणि।
पंता पेलवगहणं, पुणरावत्तिं तथा दुविधं ॥१६॥

भद्दओ उग्गमेगतरदोसं कुज्जा, पच्छण्णाभिहडं वा आणेज्ज पंतो साहुसु पेलवगहणं करेज्ज। अहो इमे अदिण्ण–दाणा जो आगच्छति तं ओभासंति साहु सावगधम्मं वा पडिवज्जामि त्ति ओभसिउं उद्दुरूढो पडिणियत्तो जाहे सा–वगो होहामि ताहे ण सुइहिं ति, जइ पव्वज्जं घेच्छामो त्ति एगो विपरिणमति, तो मूलं, दोसु णवमं, तिसु चरिमं जं च ते वि परिणया अस्संजमं काहिंति तमावज्जंति, अथ वा णिण्हएसु वच्चंति, जम्हा एतेदोसा तम्हा ण ओभासियव्वो आगओ, एवं वि पच्छित्तं परिहरियं, आणा अणुपालिया, अणवत्था मिच्छत्तं च परिहरियं, दुविहा विराहणा परिहरिया कारणे पुण ओभासति। इमे य कारणा–

असिवे ओमोदरिए, रायद्दुट्ठे भए व गेलण्णे।
अद्धाण रोहण वा, जतणा ओभासितुं कप्पे ॥१७॥
तिगुणगतेहि ण दिट्ठो, णीया वुत्ता तु तस्स तु कहेह।
पुट्ठापुट्ठा व ततो, करें ति संमुत्तपडिकुट्ठं ॥१८॥
एगत्ते जो तु गमो, णियमा पोहत्तिथम्मि सो चेव।
एगत्तातो दोसा, सविसेसतरा पुहत्तम्मि ॥१९॥

असिवे जता मासं पत्तो ताहे घरं गंतुं ओभासिज्जति, अदिट्ठे महिला से भण्णति, अक्खेज्जासि सावगस्स साधुणो दड्ढभागता, ते आसिसो अविरईए समीवे सोउं अह भावेण वा आगता, सव्वं से घरगमणं कहिज्जति, कारणं च से दीविज्जति, ततो जयणाए ओभासिज्जति, जइ सो भणति–घरं पज्जह, ताहे तेणेव समं गंतव्वं, मा अभिहडं काहिति, असुद्धं वा। एवं रायदुट्ठादिसु वि एगत्तियसुत्तातो पोहत्तिएसु सविसेसतरा दोसा।

पुरिसाणं जो उ गमा, णियमा सो चेव होइ इत्थीसु।
आहारे जो उ गमो, णियमा सो चेव उवधिम्मि ॥२०॥

जो पुरिसाणं गमो दोसु सुत्तेसु, इत्थीण वि सो चेव दोसु सुत्तेसु वत्तव्वो। जो आहारे गमो सो चेव अवसेसिओवकरणो दट्ठव्वो। नि० चू० ३ उ०।

कोऊहल्लवडिया स्त्री० (कौतूहलप्रतिज्ञा) कौतुकार्थमित्यर्थे, रा०। नि० चू०।

कोंकण पुं० (कोङ्कण) कोङ्क एव स्वार्थे अण् कौङ्कणः। पुं०। अनार्यक्षेत्र (देश) भेदे, सूत्र० २ श्रु० १ अ०। नि० चू०। विशे०। आ० चू०। तस्य राजा अण्। तद्देशनृपे च। वाच०। आ० चू०। आ० ड०। आव०। नि० चू०। आतु०।

कोंकणदारग पुं० (कोङ्कण्दारक) कोङ्कणदेशनिवासिनि दारके, विशे०। ('अणणुआगे' शब्दे प्रथमभागे २८७ पृष्ठेऽस्य कथा निरूपिता)

कोंकणायरिय पुं० (कोङ्कणार्य) स्वनामख्याते साधौ, आचा० १ श्रु० ४ अ० २ उ०।

कोंच पुं० (क्रौञ्च) कुश्च अच् वा गुणः। कैलाशे, धनदावासे कौञ्चः कोञ्चोऽभिधीयते इति। वाच०। अनार्यदेशभेदे, तद्वासिनि, सूत्र० २ श्रु० १ अ०। प्रश्न०। कुश्च स्वार्थे प्रज्ञा० अण्। **''औत ओत्''॥ ८॥ १॥ १५६॥** इत्यौकारस्य ओकारः। वकपक्षिभेदे, स्त्रियामणन्तत्वात् ङीप्। निशम्य रुदती क्रौञ्चम्। कुररीखगे, वाच०। ''छट्ठं च सारसा कों चा, णेसायं सत्तमं गआ'' स्था० ७ ठा०। मयदानवपुत्रे च, वाच०।

कोंचदीव पुं० (क्रौञ्चद्वीप) कोञ्चवरद्वीपे, कौञ्चदीपे, सिंहलद्वीपे, हंसद्वीपे, श्रीसुमतिनाथदेवपादुकाः। ती० ४५ कल्प।

कोंचवर पुं० (क्रौञ्चवर) कुशवरद्वीपादसंख्येयान् द्वीपानतिक्रम्य स्थित द्वीपभेदे, अनु०।

कोंचवीरग पुं० (क्रौञ्चवीरक) पेटासदृशे जलयानभेदे, बृ० १ उ०।

कोंचस्सर त्रि० (क्रौञ्चस्वर) क्रौञ्चस्येव मधुरः स्वरो यस्य स तथा। क्रौञ्चस्येव मधुरारावके, जी० ३ प्रति०। जं०। क्रौञ्चस्येवाप्रयासेन विनिर्गतोऽपि दीर्घदेशव्यापी स्वरो येषां ते क्रौञ्चस्वराः। क्रौञ्चसदृशेषु निर्हादिस्वरेषु, तं०। रा०।

कोंचासण न० (क्रौञ्चासन) आसनभेदे, यस्मादधोभागे क्रौञ्चा व्यवस्थिताः। जी० ३ प्रति०। जं०।

कोंचिय त्रि० (कुञ्चित) आकुञ्चिते, ''पलंबकों चियवरधरा'' प्रश्न० ४ आश्र० द्वार। १६६

कोंडल न० (कुण्डल) कर्णाभरणे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार।

कोंडलमेत्तग पुं० (कुण्डलमित्रक) स्वनामख्याते व्यन्तरे, ''कोंडलमेत्तपभासे, अच्चुययादीण वाहम्मि।'' कुण्डलमैत्रनाम्नो वाणमन्तरस्य यात्रायाम्, बृ० ३ उ०।

कोंडिआ स्त्री० (कुण्डिका) कमण्डलौ, प्रश्न० ५ संब० द्वार।

कोंडिण्ण पुं० स्त्री० (कौण्डिन्य) कुण्डिनस्यर्षेः गोत्रापत्यं गर्गा० यञ्। कुण्डिनगौत्रापत्ये, वाच०। कौण्डिन्यो मेतार्यः, प्रभासश्च। आ० म० द्वि०। शिवभूतेः (वोटिकनिह्नवाचार्य्यस्य) शिष्ये विशे०। महागिरेराचार्य्यस्य शिष्ये, ''महिला नगरी लच्छीघरं चेतियं महागिरी य आयरिया सीसो कोंडिणे, तस्स वि आसमित्तो सीसो'' आ० चू० १ अ०। स्त्रियां तु ङीपि यलोपः। वंशब्राह्मणे, कुण्डिनस्य युवाऽपत्यम् गर्गा० यञन्तात् फक्, कौण्डिन्यायनः। कुण्डिनस्य युवापत्ये, पुं०। स्त्री०। वाच०।

कोंडिण्णकोट्टवीर न० (कौण्डिन्यकोट्टवीर) कौण्डिन्यश्च कोट्टवीरश्चेति सर्वो द्वन्द्वो विभाषया एकवद् भवतीति वचनात्। कौण्डिन्यकोट्टवीरे, शिवभूतेः शिष्यद्वये, विशे०।

कोकंतिया स्त्री० (कोकन्तिका) लोमटिकायाम्, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। प्रश्न०। जीवा०। जं०। प्रज्ञा०। सा च शृगालाकृतिः लोमटिका रात्रौ 'कोको' इत्येवं रारटीति। आचा० २ श्रु० १ अ० ५ उ०। त्रसकायाम्, प्रति०। जी०।

कोकणय न० (कोकनद) कोकान् चक्रवाकान् नदति नादयति अन्तर्भूतण्यर्थे नद अच्। रक्तकुमुदे, रक्तपद्मे च। वाच०। प्रज्ञा०।

कोकणयच्छवि पुं० (कोकनदच्छवि) कोकनदस्य छविरिव छविर्दीप्तिर्यस्य। रक्तवर्णे, तद्वति च। त्रि०। वाच०। प्रज्ञा०।

कोकय पुं० (कोकक) कोकावसतिपार्श्वनाथप्रतिष्ठापकेः, ती० ४० कल्प। ('कोकावसहिपासणाह' शब्दे कथा वक्ष्यते)

कोक(ग)स्सर पुं० (कोकस्वर) श्लक्ष्णस्वरेण उत्ताले, जी० ३ प्रति०।

कोकावसहिपासणाह पुं० (कोकावसतिपार्श्वनाथ) कोकावसतिस्थे पार्श्वनाथे, ती०।

''नमिऊण पासणाहं, पउमावइनागरायकयसेवं।
कोकावसही पास–स्स किं पि वत्तव्वयं भणिमो'' ॥१॥

सिरिपण्हवाहणकुलसंभूओ हरिसओ सरीयगच्छालंकारभूमीओ अभयदेवसूरी, हरिसओ राओ, एगया गामाणुगामं विहरंतो सिरिअण-हिल्लवाडयपट्टणमागओ ठिओ बाहिं पएसे सपरिवारो, अन्नया सिरिजयसिंहदेवनरिंदेण गयखंधारूढेण रायवाडियागएण दिट्ठो मलमलिणवत्थदेहो, रण्णा, गयखंधाओ ओअरिऊण दुक्करकाउ त्ति दिण्णं 'मलधारि' त्ति नामं, अब्भत्थिऊण नयरमज्झे नीओ रण्णा, दिण्णो उवस्सओ घयवसहीसमीवे, तत्थ ट्ठिआ सूरिणो, तस्स पट्टे कालक्कमेणं आणगगंधनिम्माणविक्खायकित्ती सिरिहेमचंदसूरी संजाओ, ते अ पइदिअहं वासारत्तचउम्मीसीए घयवसहीए गंतूण वक्खाणं करेंति, अन्नया कस्स वि घयवसहीए गुट्ठियस्स पिउकज्जे बलि-वित्थाराइकरणं घयवसहीचेइए आढत्तं, तओ वक्खाणकरणत्थमागया सिरिहेमचंदसूरी; पडिसिद्धा गुट्ठिएहिं। जहा–अज्ज व–

क्खाणं इत्थ न कायव्वं, इत्थ बलिमंडलाइणा नत्थि ओगासो। तओ सूरीहिं भणियंथोवमेव अज्ज वक्खाणिस्सामो, मा चाउम्मासीवक्खाणविच्छेओ भविस्सइ त्ति, तं चेव न पडिवन्नं गुट्ठिएहिं। तओ अमरिसविक्खमाणसा पडिआगया उवस्सयमायरिया, तओ दूमिअचित्ते गुरुणो नाऊण सोवन्निअमोक्खदेवनायगनामगेहिं सड्ढेहिं मा अन्नया वि पराभवइए एवंविहो अवमाणो होउ त्ति घयवसहीसमीवे चेइअकरोवणत्थं भूमी मागया, न य कच्छविद्धा, तओ कोकओ नाम सिद्धिभूमिं मग्गओ, वारिओ अ सो घयवसहीगुट्ठिएहिं ति उणदम्मदाणइच्छणेण। तओ ससंघा आगया सूरिणो कोकयस्स घरं, तेण वि पडिवन्नं काऊण भणिअं–दिन्ना मए भूमी जहोचिअमुल्लेण, परं मज्झ ना मेणं चेइअं कारेअव्वं। तओ सूरीहिं सावएहिं अ 'तह' त्ति पडिवन्नं काउण, तत्थ य घयवसहीआसन्नं कारिअं चेइअं, 'कोकावसहि' त्ति ठाविओ तत्थ सिरिपासनाहो पूइज्जए तिकालं, कालक्कमेण सिरिभमिदेवरज्जे पट्टणं भंजंतेण मालवरण्णा सा पासनाहपडिमा वि भग्गा, तओ सोवन्नियमोक्खदेवनायगसंताणुप्पन्नेहिं रामदेवआसाधरसड्ढीहिं उद्धारो करेउमाढत्तो, आएसणाओ फलहीतिगं आणीयं, नियत निद्दोसं, तओ बिंवतिगे वि घडिए न परितोसो संजाओ गुरूणं सावयाणं च, तओ रामदेवेन अभिग्गहो गहिओ–जहा हं अकाराविअ पाससामिबिंबं न भुजामि त्ति, गुरुणो वि वासे कुणंति म्ह, तओ अट्ठमोववासे रामदेवस्स देवादेव सो जाओ, जहा जत्थ गोहलिआसपुष्फपक्खया दीसइ तस्स हिट्ठा इत्थेव चेइअ परिसरेइ त्ति, एहिं हत्थेहिं फलही चिट्ठइ त्ति खणिऊण लद्धा फलही, कारिअं निरुवमरूवं पासनाहबिंवं, वारससयच्छासट्ठे (१२६६) विक्कमसंवच्छरे देवाणंदसूरीहिं पइट्ठियं ठाविअं च चेइए, पसिद्धं च कोकापासनाह त्ति। रामदेवस्स पुत्ता निहुणजाजानामाणो निहुणणामस्स पुभो मल्लओ, तस्स पुत्ता लेण्हणजइलसीहनामधेया, ते अ पूअंति पइदिणं पासनाहं, अन्नया लेण्हणस्स सिरिसंखेसरपासनाहेण सुमिणयं दिण्णं। जहा–पहाए घडिआचउक्के जाव अहं कोकापासनाहपडिमाए सन्निहिस्सामि, तम्मि घडिआचउक्के एअम्मि विंवे पूइए किर अहं पूइओ त्ति, तहेव लोगेहिं पूइज्जमाणो कोकापासनाहो पूरेइ संखेसरपासनाह व्व पएव्वए, संखेसरपासनाहविसया पुज्जाजत्ताइअभिग्गहा तत्थेव पुज्जंति जणाणं, एवं सन्निहिअपाडिहे राजाओ भयवं 'कोकयपासनाहो' तित्तीसपचमाणमुत्ती मलधारिगच्छपडिबद्धो। '' अणहिलपट्टणमंडणसिरिकोकावसहिपासनाहस्स। इय एस कप्पलेसो, होउ जिणाणं धुअकिलेसो'' ॥१॥ इति कोकापार्श्वनाथकल्पः समाप्तः। ती० ४० कल्प।

कोकासिय त्रि० (विकसत) पद्मवद्विकसिते, जी० ३ प्रति०। तं०। जं०। ''कोकासियधवलपत्तच्छा'' कोकासिते पद्मवद् विकसिते धवले क्वचिद्देशे पत्तले पद्मवती अक्षिणी लोचने येषां ते कोकासितधवलपत्राक्षाः। जी० ३ प्रति०। तं०।

कोकुइय त्रि० (कौकुचिक) भाण्डे, भाण्डप्राये वा। औ०। ग०।

कोक्क–धा०(वि–आ–हृ) आह्वाने, **''व्याहृगेः कोक्कपोक्कौ''**। ८। ४। ७६। इति व्याहरतेः कोक्कादेशः। ''कोक्काइ, वाहरइ'' व्याहरति। प्रा० ४ पाद।

कोक्कास पुं० (कोक्कास) स्वनामख्याते वर्द्धकिरत्ने, आ० म० द्वि०। (स च शिल्पसिद्ध इति 'सिप्पसिद्ध' शब्दे वक्ष्यते) ''कोक्कासो उज्जेणिं गतो किह रायं जाणावे'' आ० चू० १ अ०।

कोगंडी स्त्री० (कोकाण्डी) पुरीभेदे, यत्र षष्ठवासुदेवो निदानम-कार्षीत्। ती० १० कल्प।

कोच्चित पुं० (कोचित) शैक्षके, ''खमगो इड्ढिमाबुड्ढो न कोचितो वावि।'' व्य० ६ उ०।

कोच्छ पुं० स्त्री० (कौत्स) कुत्सस्य ऋषेरपत्यम् ऋष्यण्। कुत्सापत्ये, वाच०। कुत्साऽऽख्यपुरुषप्रभवे मनुष्यसन्ताने तदरूपे मूलगोत्रभेदे, बहुष्वणो लुक्, कुत्साः शिवभूत्यादयः। ''कोच्छं सिवभूइं पि य'' इति वचनात्। ''जे कोत्था ते सत्तविहा पण्णत्ता। तं जहा–ते कोत्था ते पोग्गलायणा ते पिंगायणा ते कोडीणा ते मंडलिणो ते हारिया ते सोमया''। स्था० ७ ठा०।

***कुक्ष** पुं० उदरदेशे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०।

कोट्ट पुं० (कोट्ट) दुर्गे, उत्त० ३० अ०। अटव्यां चतुर्वर्णजनपदभिश्रे भिल्लदुर्गे, बृ० १ उ०। नि० चू०।

कोट्टइत्ता अव्य० (कुट्टयित्वा) खण्डशः कृत्वेत्यर्थे, ''समीरिया कोट्टबलिं करेंति'' सूत्र० १ श्रु० अ० २ उ०।

कोट्टकिरिया स्त्री० (कोट्टक्रिया) महिषकुट्टनक्रियावत्यां रौद्ररूपायां चण्डिकायाम्, भ० ३ श० १ उ० ज्ञा०। अनु० उपचारात्तदायुतने च। ग० २ अधि०।

कोट्टग पुं० (कुट्टक) काष्ठतक्षके वर्द्धकिनि, आचा० २ श्रु० १ अ० २ उ०। प्रचुरफलायामटव्याम्, गत्वा फलानि, पर्याप्तं गृहीत्वा यत्र गत्वा शोषयति पश्चाद् गन्त्री पौट्टलिकादिभिरानीय नगरे विक्रीणातीत्येवं फलशोषणस्थाने, न०। बृ० १ उ०।

कोट्टण न० (कुट्टन) चूर्णने, प्रश्न० १ आश्र० द्वार।

कोट्टवीर पुं० (कोट्टवीर) शिवभूतेर्वोटिकाचार्यस्य शिष्ये, विशे०।

कोट्टिज्जमाण त्रि० (कुट्ट्यमान) उद्खलेन क्षुद्यमाने, आ० म० प्र०।

कोट्टिम न० (कुट्टिम) **''ओत्संयोगे''**। ८। १। ११६। इति उकारस्यौकारः। प्रा० १ पाद। उपरिबद्धभूमिकगृहे, व्य० ४ उ०।

कोट्टिमतल न० (कुट्टिमतल) मणिभूमिकायाम्, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० बद्धभूमितले, जं० १ वक्ष०।

कोट्टिय अव्य० (कुट्टयित्वा) खण्डशः कृत्वेत्यर्थे, जी० ३ प्रति०।

कोट्टिल पुं० (कौट्टिक) ह्रस्वमुद्गरविशेषे, विशे०।

केट्टुम् धा० (रम्) क्रीडायाम्, **''रमेः संखुड्डखेड्डोब्भावकिलिकिञ्चिकोट्टममोट्टायणीसरवेल्लाः''** ॥८। ४। १६८॥ इति रमेः कोट्टमादेशः। कोट्टमइ, रमते। प्रा० ४ पाद।

कोट्ठ पुं० (कोष्ठ) कुष थन्। गृहमध्ये, वाच०। धान्यभाजने, स्था० ३ ठा० ४ उ०। कुशले, स्था० ३ ठा० १ उ०। ब०। ''झाणकोट्ठोवगए'' औ०। भ० जं०। उदरमध्ये आत्मीये, त्रि०। ''स्थानान्यामगिपक्वानां, मूत्रस्य रुधिरस्य च। हृदुण्डुकः पुप्पुषश्च, कोष्ठ इत्यभिधीयते'' ॥१॥ इति सुश्रुतोक्ते आमाग्निपक्वमूत्ररुधिरस्थाने, वाच०। ''पंचकोट्ठे पुरिसे, छक्कोट्ठा इत्थिया'' पञ्चकोष्ठः पुरुषः, पुरुषस्य पञ्च कोष्ठका भवन्तीत्यर्थः।

ष्ट् कोष्ठा स्त्री। कोष्ठकस्य रूपं संप्रदायादवगन्तव्यमित्यर्थः। तं०। कोष्ठ इव कोष्ठः। अविनष्टसूत्रार्थधारणे, नं०। प्रज्ञा०।

कुट्ठ पुं०,न० (को)ष्ठ वाससमुदाये, भ० १६ श० ६ उ०। उत्पलकुष्ठे, प्रश्न० ५ सम्ब० द्वार। रा०।

कोट्ठग न० (कोष्ठक) आश्रयविशेषे, व्य० १ उ०। लोहकोष्ठकादौ, षो० ११ विव०। आवासविशेषे, आचै०। अपवरके, दश० ५ अ० १ उ०। श्रावस्तीनगरीस्थे तिन्दुकोद्याने स्वनामख्याते चैत्ये, ज्ञा० २ श्रु० १ अ० भ०। आच०। स्था०। उत्त०।

कोट्ठघर न० (कोष्ठगृह) धान्यानां कोष्ठागारे गृहे, रा०।

कोट्ठपुड पुं० (कोष्ठपुट) कोष्ठे यः पच्यते वाससमुदायः स कोष्ठ एव, तस्य पुटः पुटिकाः कोष्ठपुटः। भ० १६ श० ६ उ०। ज्ञा०। जं०। वाससविशेषे, ज्ञा० १ श्रु० १७ अ०।

कोट्ठबलि पुं० (कोष्ठबलि) कोष्ठबलौ, "विवद्धतप्पेहिँ विवण्णचि-त्ते, समीरिया कोट्ठबलिं करिंति।" सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ०।

कोट्ठबुद्धि पुं० (कोष्ठबुद्धि) कोष्ठकप्रक्षिप्तधान्यमिव यस्य सूत्रार्थौ सुचिरमपि तिष्ठतः स कोष्ठबुद्धिः। विशे०। लब्धिमत्पुरुषभेदे, यथा कोष्ठके धान्यं प्रक्षिप्तं तदवस्थमेव चिरमप्यवतिष्ठते न किमपि कालान्तरेऽपि गलति, एवं येषु सूत्रार्थौ निक्षिप्तौ तदवस्थावेव चिरमप्यवतिष्ठेते ते कोष्ठबुद्धयः। बृ० १ उ०। "कुट्ठयधण्णसुनिग्गलसुत्तत्था कोट्ठबुद्धीए" कोष्ठकधान्य-वत्सु-निर्गलावविस्मृतत्वाच्चिरस्थायिनौ सूत्रार्थौ येषां ते कोष्ठकधान्य-सुनिर्गलितसूत्रार्थाः कोष्ठबुद्धयः। विशे०। पा०। प्रश्न०। ग०। लब्धिभेदे, "कोट्ठबुद्धि य कोट्ठयवंतसुनिग्गलसुत्तत्था" कोष्ठ इव धान्यं वा बुद्धिराचार्यमुखाद्विनिर्गतौ तदवस्थावेव सूत्रार्थौ धारयति न किमपि तयोः सूत्रार्थयोः कालान्तरेऽपि गलति सा कोष्ठबुद्धिः। प्रव० २७७ द्वार। आ० म०। प्रज्ञा०। आ० चू०।

कोट्ठसमुग्ग पुं० (कोष्ठसमुद्ग) कोष्ठा आवासविशेषास्तेषां समुद्गकः संपुटकः। आधारविशेषे, जी० ३ प्रति०।

कोट्ठागुत्त त्रि० (कोष्ठागुप्त) कोष्ठे कुशूले आगुप्तानि तत्प्रक्षेपणेन संरक्षितानि कोष्ठागुप्तानि। भ० ६ श० ६ उ०। कुशूले संरक्षितेषु, बृ० २ उ०।

कोट्ठागार न० (कोष्ठागार) भाण्डागारे, नि० चू० ६ उ०। कोष्ठा धान्यपल्यस्तेषामगारं तदाधारभूतं गृहम्, उत्त० ११ उ०। धान्यगृहे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। स्था०। औ०। रा०। कल्प०।

कोट्ठि(ण्) त्रि (कुष्ठिन्) कुष्ठमष्टादशभेदं, तदस्यास्तीति कुष्ठी। कुष्ठरोगिणि, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ०। (कुष्ठभेदाः 'कुष्ठ शब्दे अस्मिन्नेव भागे ५७८ पृष्ठे उक्ताः)

कोट्ठिया स्त्री० (कोष्ठिका) लोहादिधातुधमनार्थमृत्तिकामय्यां कुशूलिकायाम्, उपा० २ अ०। आचा०। "पुरिसप्पमाणा हीणधिया वा चिक्खल्लमती कोट्ठिया भवति"। नि० चू० १७ उ०। "जमलकोट्ठिय-संठाणसंठियं तस्स दो वि उरू" समतया व्यवस्थापितकुशूलिका-द्वयसंस्थानसंस्थितौ द्वावपि तस्य उरू जङ्घे। उपा० २ अ०।

कोट्ठुइ पुं० (क्रोष्टुकि) नेमिराजीमतीविवाहमुहूर्त्तदे ज्योतिर्विद्भेदे, लग्नं पृष्ठश्च क्रोष्टुकिनामा ज्योतिर्वित्प्राह-"वर्षासु शुभकार्याणि, नान्यान्यपि समाचरेत्। गृहिणां मुख्यकार्यस्य, विवाहस्य तु का कथा"॥१॥ कल्प० ७ क्षण।

कोड पु० (कोट) कुट घञ्। कौटिल्ये, आधार घञ्। दुर्ग, वाच०।

***क्रोड** पुं० 'क्रुड' घनीभावे। संज्ञायां घञ्। शूकरे, भुजयारन्तरे, न०। स्त्री०। वृक्षकोटरे, घनीभूते, अश्वानामुरसि, उत्तरग्रामभेदे, वाराहीकन्दे, पुं०। शनिग्रहे, वाच०। पत्रादिशाटने, ज्ञा० १ श्रु० ११ अ०।

कोडग पुं० स्त्री० (कोटक) कुटण्वुल्। जातिभेदे, वाच०। 'काउंकगे मुंडकोडगादीणि खइताणि तेहिं सज्जेणहमंतो" नि० चू० १ उ०।

कोडर पु० नं० (कोटर) कोटं कौटिल्यं राति रा०– कः। वृक्ष–स्कन्धादिस्थगह्वरे दुर्गसन्निकृष्टदेशादौ, कोटरं दुर्गसन्निकृष्टं वनं तथाभूतवृक्षाणां वा वनम् कोटरा। पूर्वपददीर्घः णत्वं च। कोटरावणम्। वनभेदे, न०। वाच०। आव०।

कोडल पुं० (कोटर) पक्षिभेदे, जीवा० १ अधि०। औ०।

कोडाल पुं० (कोडाल) गोत्रप्रवर्त्तके ऋषिभेदे, "उसभदत्तस्स माहणस्स कोडालसगोत्तस्स देवाणंदाए माहणीए" आचा० ३ चू०। आ० म०। "कोडालैः समानं गोत्रं यस्य स तथा तस्य कोडालगोत्रस्येत्यर्थे, कल्प० १ क्षण।

कोडालसगोत्त त्रि० (कोडालसगोत्र) कोडालैः समानं गोत्रं यस्य स तथा। कोडालसगोत्रे, कल्प० १ क्षण।

कोडि स्त्री० (कोटि) कुट इञ्। धनुषोऽग्रभागे, वस्तुमात्रस्याग्रभागे, अस्त्राणां कोणे, उत्कर्षे, वाच०। स्था०। कर्णिकाकोणविभागे, स्था० ८ ठा०। विभागमात्रे, "नवकोडिपरिसुद्धे भिक्खे पन्नत्ते" नवभिः कोटिभिर्विभागैः परिशुद्धं निर्दोषं नवकोटिपरिशुद्धम्। स्था० ६ ठा०। दश०। द्रव्यसंघातानां स्वरूपपरिमाणे, औ०। प्रयुते, कल्प० ७ क्षण। शतं लक्षाणामेका कोटिः। अनु०। शतलक्षेषु विंशतौ च। ही० ३ प्रका०। तत्संख्येये च, पृक्कायाम्, संशयस्यालम्बने वादे निर्णयार्थं कृते पूर्वपक्षे, पा० ङीष् कोटित्यप्यत्र। वाच०।

कोडिक पुं० (कोटिक) कोट्या बहुधा कायति प्रकाशते कै–कः इन्द्रगोपकीटे, वाच०। सुहस्तिशिष्ये सुस्थितसुप्रतिबद्धे, स्थविरे, कोटिशः सूरिमन्त्रजपात् कोटिशः सूरिमन्त्रजापके, कल्प० ८ क्षण। द्वा०। "तदनु च सहुस्तिशिष्यौ, कौटिककाकन्दकावजायेताम्। सुस्थितसुप्रतिबद्धौ, कौटिकगच्छस्ततः समभूत'। ठा० ४ अधि०।

कौटिक त्रि० कूटेन मृगबन्धनयन्त्रेण चरति ठक्। मांसविक्रयोपजीविनि, वाच०।

कोडिग(य)गण पुं० (कोटिकगण) कोटिकान्निर्गते गणे, "थेरेहिंतो सुट्ठिय-सुप्पभिबद्धेहिंतो कोटिककाकंदिएहिंतो वग्घावच्चसगोत्तेहिंतो इत्थ णं कोडियगणे णामं गणे निग्गए" कल्प० ८ क्षण।

कोडिग्गसो अव्य० (कोट्यग्रशस्) कोटिसंख्ययेत्यर्थे, व्य० १ उ०।

कोडिण्ण पुं० (कौण्डिन्य) कौत्सगोत्रविशेषभूते पुरुषे, तदपत्येषु च। स्था० ७ ठा०। कौण्डिन्यो मेतार्य्यः, प्रभासश्च। आ० म० द्वि०। महागिरिसूरीणां कौण्डिन्यो नाम शिष्यः यस्य शिष्योऽश्वामित्रः। विशे०। स्था०। आ० चू०। कल्प०। आ० म०। उत्त०। शिवभूतेः सहस्तमल्लदीक्षितस्य (विशे०। आ०

चू०)गौतमस्वामिना प्रव्राजिते अष्टापदे प्रथममेखलामारुढे तापसगुरौ च। वाच०।

कोडिण्णदंडणीइ स्त्री० (कौण्डिन्यदण्डनीति) कौण्डिन्यप्रणीतासु दण्डनीतिषु, व्य० १ उ०।

कोडिबद्ध त्रि० (कोटिबद्ध) कोटिसंख्याके, व्य० ३ उ०।

कोडिभूमि स्त्री० (कोटिभूमि) चतुरशीतितीर्थेष्वन्यतमे कोटिभूमौ वीरकोटिभूमिनामके तीर्थे, यत्र श्रीवीरः प्रतिमारूपेण विराजते। ती० ४३ कल्प।

कोडिल्ल न० (कौटिल्य) कुटिलस्य भावः ष्यञ्। वक्रीभावे, चाणक्यमुनौ, वाच०। मुद्गले, विपा० १ श्रु० ६ अ०।

कोडिल्लय न० (कौटिल्लक) लौकिके नोआगमतो भावश्रुते, अनु०।

कोडिसिला स्त्री० (कोटिशिला) भरतक्षेत्रमध्ये मगधेषु तीर्थभेदे, ती०।

''नमिअ जिणे उवजीविअ, वक्काइं पुरिससीहाणं।
कोडिसिलाए कप्पं, जिणपहसूरी पयासेइ ॥१॥
इह भरहखित्तमज्झे, तित्थमगहेसु अत्थि कोडिसिला।
अज्ज वि जं पूइज्जइ, चारणसुरअसुरजक्खेहिं ॥२॥
भरहद्धवासिणाहिं, अहिट्ठियदेवसयाइँ जास सयं।
जोअणमेगं पिहुला, जोयणमेगं च उस्सेहो ॥३॥
तिक्खंडपुहविपइणो, निअ परिरक्खंति बाहुबलमखिला।
उप्पाडिअ जं हरिणो, सुरनरखयराण पच्चक्खं ॥४॥
पढमेण कया छत्तं, वीएण पाविआ सिरं जाव।
तइएणं गीवाए, तओ चउत्थेण वच्छयले ॥५॥
अउरंतं पंचमएण, तह य छट्ठेण कडियडं नीआ।
उरुपज्जंतेणं सत्तेमेणं उप्पाडिया हरिणा ॥६॥
जाणूसु अट्ठमेणं, नीआ चउरंगुलं तु भूमीओ।
उद्धरिआ चरमेणं, कण्हेणं वामवाहाए ॥७॥
अवसप्पिणिकालवसा, कमेण हायंति माणवबलाइं।
तित्थयराणं तु बलं, सव्वेसिं होइ गुरुरूवं ॥८॥
उप्पाडेउं तीरइ, जं बलवतीए सुहडकोडीए।
तेणेसा कोडिसिला, इक्कल्लेणावि हरिणाओ ॥९॥
चक्काउहो त्ति नामेण संति नाहस्स गणहरो पढमो।
काऊण अणसणविहिं, कोडिसिलाए सिवं पत्तो ॥१०॥
सिरिसंतिनाहतित्थे संखिज्जाओ मुणीण कोडीओ।
इत्थेव य सिद्धाओ, एवं सिरिकुंथुसिद्धे वि ॥११॥
अरणहजिणतित्थम्मि वि, बारस सिद्धा उ समणकोडिओ।
छ क्कोडी उ रिसीणं, सिद्धाओ मल्लिजिणतित्थे ॥१२॥
मुणिसुव्वयजिणतित्थे, सिद्धाओ तिन्नि साहुकोडीओ।
इक्का कोडी सिद्धा, नमिजिणतित्थेऽणगाराणं ॥१३॥
अण्णे वि अणेगेति–त्थमहसीसा सयं सयं पत्ता।
इह कोडिसिला तित्थं, विक्खायं पुहविवलयम्मि ॥१४॥
पुव्वायरिएहिं च इत्थ सविसेसं किं पि भणिअं। तं जहा–
जोअणपिहुलायामा, दसन्नपब्वयसमीवि कोडिसिला।
जिणछक्कतित्थसिद्धा, तत्थ अणेगाउ मुणिकोडी ॥१५॥
संखिज्जा मुणिकोडी, अडवीसजुगेहि कुंथुनाहस्स।
अरजिण चुव्वीसजुगा, बारस कोडीउ सिद्धाओ ॥१६॥
मल्लिस्स वि वीसजुगा, छ कोडि मुणिसुव्वयस्स कोडितिगं।
नमितित्थे इगकोडी, सिद्धा तेणेस कोडिसिला ॥१७॥
छत्ते सिरम्मि गीवा, वच्छे उअरे कडीइ ऊरूसु।
जाणू कहमवि जाणू, नीया सा वासुदेवेण ॥१८॥
इय कोडिसिलातित्थं, तिहुअणजणजणिअनिव्वुआवत्थं।
सुरनरखेअरमहिअं, भविआणं कुणउ कल्लाणं''॥१९॥ती०४१ कल्प।

वासुदेवोत्पाट्या कोटिशिला शाश्वत्यशाश्वती वा ? सा च कुत्र स्थानकेऽस्ति ? तथा सर्वैर्वासुदेवैः सर्वाऽप्युत्पाट्य तेऽथ वैकदेशेन ? तथा नराणां कोट्योत्पाट्या कोटिशिलेति यथार्थं नाम, अन्यथा वेति प्रश्ने, उत्तरम्–कोटिशिलाऽशाश्वतीति ज्ञायते, गङ्गासिन्धुवैताढ्यादिशाश्वतपदार्थानां मध्ये शास्त्रे तस्या अदर्शनात्, तथा सा मगधदेशे दशार्णपर्वतसमीपे चास्तीति, तथा सर्वैरपि वासुदेवैः सर्वथाऽप्युत्पाट्यते, न त्वेकदेशेन, परं प्रथमेन छत्रस्थानं, चरमेण च भूमेश्चतुरङ्गुलानि यावन्महता कष्टेन जानू यावद्वा नीयते, तथा नराणां कोट्योत्पाट्यत्वेन श्रीशान्तिनाथादि जिनष्टक तीर्थगतानेकमुनिकोटीनां तत्र सिद्धत्वेन च कोटिशिलेत्यभिधीयते इत्येतदक्षरादि तीर्थकल्पादौ सन्तीति। ७ प्र० सेन० १ उल्ला०। आ० म०।

कोडीकरण न० (कोटीकरण) कोट्येव कोटीकरणमिति। विभागे, दश०।

पिंडेसणा य सव्वा, संखेवेणोयरइ नवसु कोडीसु।
न हणइ न पयइ न किणइ, तह कारवणअणुमईहिं नव ॥३०५॥

पिण्डैषणा च सर्वा उद्गमादिभेदभिन्ना संक्षेपेणावतरति नवसु कोटीषु। ताश्चेमाः–न हन्ति, न पचति, न क्रीणाति स्वयम्। तथा न घातयति, न पाचयति, न क्रापयत्यन्येन। तथा घ्नन्तं वा पचन्तं वा क्रीणन्तं वा न समनुजानात्यन्यमिति नव। एतदे वाह–कारणानुमतिभ्यां नवेति गाथार्थः ॥३०५॥

सा नवहा दुह कीरइ, उग्गमकोडी विसोहिकोडी य।
छसु पढमा ओयरई, कीयतियम्मी विसोही उ ॥३०६॥

सा नवधा स्थिता पिण्डैषणा द्विविधा क्रियतेऽउद्गमकोटी, विशुद्धिकोटी च। तत्र षट्सु हननघातनानुमोदनपचनपाचनानुमोदनेषु प्रथमा उद्गमकोटी अविशोधिकोट्यामवतरति। क्रीतत्रितये क्रयणक्रायणानुमतिरूपे विशोधिस्तु विशोधिकोटी द्वितीयेति गाथार्थः ॥३०६॥

एतदेव व्याचिख्यासुराह भाष्यकारः –

कोडीकरणं दुविहं, उग्गमकोडी विसोहिकोडी य।
उग्गमकोडीछक्कं, विसोहिकोडी अणेगविहा ॥३०७॥

कोटीकरणमिति कोट्येव कोटीकरणम्। कोटीकरणं द्विविधम्–उद्गमकोटी, विशोधिकोटी च। उद्गमकोटीषट्कं हननादिनिष्पन्नमाधाकर्मादि, विशोधिकोटी क्रीतत्रितयनिष्पन्ना अनेकविधा औद्देशिकादिभेदेनेति गाथार्थः ॥३०७॥

षट्कोट्याऽऽह –

कम्मुद्देसियचरिमति–गं पूइय मीस चरिमपाहुडिया।
अज्झोयरअविसोही, विसोहिकोडी भवे सेसा ॥३०८॥

कर्म संपूर्णमेव, औद्देशिकचरमत्रितयं, कर्मौद्देशिकस्य पाखण्डश्रमणनिर्ग्रन्थविषयं पूति भक्तपानपूत्येव, मिश्रग्रहणात् पाखण्डश्रमणनिर्ग्रन्थमिश्रजम्, चरमप्राभृतिका बादरेत्यर्थः। अध्यय-

पूरक इत्यविशोधिरित्येतत्षट्कम्, विशोधिकोटी भवति शेषा, ओघौद्देशिकादिभेदभिन्नाऽनैकविधेति गाथार्थः ॥३०८॥

इहैव रागादियोजनया कोटीसंख्यामाह–

नव चेवऽट्ठारसगा, सत्तावीसा तहेव चउपन्ना।
नउई दो चेव सया, सत्तरा हुंति कोडीणं ॥३०९॥
रागाई मिच्छाई, रागाईसमणधम्मनाणाई।
नव नव सत्तावीसा, नव नउई एयगुणगारा ॥३१०॥

नव चैव कोट्यः, तथा अष्टादशकं कोटीनाम्, तथा सप्तविंशतिः कोटीनां, तथैव चतुःपञ्चाशत्कोटीनां, तथा नवतिः कोटीनां, द्वे एव च शते सप्तत्यधिके कोटीनामिति गाथाऽक्षरार्थः। भावार्थस्तु वृद्धसंप्रदायादवसेयः। स चायम्–'' नव कोडीओ दोहिं रागद्दोसेहिं गुणियाओ अट्ठारस हवंति। ताओ चेव नवतिहिं मिच्छत्ताणाणअविरतीहिं गुणिताओ सत्तावीसं हवंति, सत्तावीसा रागदोसेहिं गुणिया चउपन्ना हवंति, ताओ चेव णवदसविहेण समणधम्मेण गुणियाओ विसुद्धाओ णउती भवंति, सा णउती तिहिं नाणदंसणचरित्तेहिं गुणिया दो सया सत्तरा हवंतीति गाथाऽर्थः ॥३०९। ३१०॥ दश० ५ अ० २ उ०। पिं०। ('उग्गम' शब्दे द्वि० भागे ६६५ पृष्ठे चैतद् भावितं न्यक्षेण)

कोडीणार न० (कोटीनार) सौराष्ट्रविषये स्वनामख्याते नगरे, ''अत्थि सुरट्ठाविसए धणकणयसंपन्नजणसमिद्धं कोडीणारं नाम नयरं, तत्थ सोमो नाम रिद्धिसमिद्धो छक्कम्मपरायणो वा आगमपरायणो बंभणो हुत्था।'' ती० ५६ कल्प।

कोडीवरिस न० (कोटीवर्ष) लाटदेशराजधान्याम्, तस्यानार्यक्षेत्रेष्वन्तर्भावः। सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०। ''कोडीवरिसं च लाडा य'' प्रव० १७४ द्वार। आ० क०। आव०।

कोडीवरिसिया स्त्री० (कोटीवर्षिका) स्थविराद् गोदासात्कश्यपगोत्रान्तर्गतस्य गणस्य प्रथमशाखायाम्, कल्प० ८ क्षण।

कोडीसहिय न० (कोटीसहित) कोटीभ्यामेकस्य चतुर्थादेरन्तर्विभागोऽपरस्य चतुर्थादेरेवारम्भविभाग इत्येवं लक्षणाभ्यां सहितं मिलितं युक्तं कोटीसहितम्। मिलितोभयप्रत्याख्यानकोटेश्चतुर्थादेः करणे, स्था० १० ठा०। प्रत्याख्यानभेदे, प्रव०।

कोटीसहितमाह–

गोसेऽभत्तट्ठं जो, कायं तं कुण्इ वीयगोसे वि।
इय कोडीदुगमिलणे, कोडीसहियं तु नामेणं ॥१४॥

(गोसे त्ति) प्रभाते अभक्तार्थमुपवासं यः कृत्वा तमुपवासं करोति द्वितीयप्रभातेऽपि, इति कोटीद्विकमिलने पूर्वदिनकृतोपवासप्रत्याख्याननिष्ठापनालक्षणाया द्वितीयदिनप्रभातक्रियमाणोपवासप्रस्थापना-लक्षणायाश्च कोटेर्मेलने तस्य कोटीसहितमिति नाम्ना प्रत्याख्यानमेवमष्टमादिषु एकतः कोटिद्वयनिष्ठापनारूपमन्यतश्च तृतीयोपवासस्य प्रस्थापनरूपमनयोर्मीलने कोटिसहितम्, एवमाचामाम्लनिर्विकृतिकैकासनकैकस्थानेष्वपीति। यदाहुर्गणभृतः–''पट्ठवणओ य दिवसो, पच्चक्खाणस्स निट्ठवणीओ य। जहिअं समिंति दोन्नि वि, तं भन्नइ कोडिसहिअं ति''॥ प्रव० ४ द्वार। ''कोडीसहितं णाम जत्थ कोणो य मिलंति गोसे आवासे एकए अभत्तट्ठो गहितो अहोरत्तं अत्थिऊणं पच्छा पुणरवि अभत्तट्ठं करेति, वीयस्स ठवणा पढमस्स य निट्ठावणा, एएदोण्णि कोणा एगत्थ मिलिता, एवं अट्ठमिमादि दुहओ कोडीसाहियं जो चरिमदिवसो तस्स वि एगा कोडी, एवं आयंबिलं णिव्विए य एगासण-एगट्ठाणाण वि, अहवा इमो अण्णो विही, अभत्तट्ठो कतो आयंबिलेण पारियं, पुणरवि अभत्तो कीरति, एत्थ संजोगा कायव्वा णिवित्तिकादिसु सव्वेसु सरिसे विसरिसेसु य''। आ० चू० ६ अ०। आव०। ल०।

कोडुंबिणी स्त्री० (कौटुम्बी) उत्तरबलिसहगणस्य तृतीयशा-खायाम्, कल्प० ८ क्षण।

कोडुंबि(ण्) त्रि० (कुटुम्बिन्) प्रधानकर्मकारिणि, कौटुम्बिका नरकं यान्ति। स्था० ३ ठा० १ उ०।

कोडुंबिय त्रि० (कौटुम्बिक) कुटुम्बभरणे प्रसृतः ठक्। कुटुम्बभरणे व्यापृते, कुटुम्बे भवः ठक्। कुटुम्बमध्यपातिनि, वाच०। कतिपयकुटुम्बप्रभौ, (स्वामिनि) नायके, राजसेवके, भ० २ श० १ उ०। कल्प०। स्था०। औ०। अन्त०। रा०। जं०। अनु०। ज्ञा०। प्रज्ञा०। जी०।

अथ कौटुम्बिकदृष्टान्तं भावयति–

वद्धीधन्नसुभरियं, कोट्ठागारं तु डज्झते कुंडुबिस्स।
किं अम्ह मुहा देई, केई तहियं न अणणीणा ॥

एकः कौटुम्बिकः स कर्षणां कारणे उत्पन्ने वृद्ध्या कालान्तररूपया धान्यं ददाति, तया च वृद्ध्या कौटुम्बिकस्य कोष्ठागाराणि धान्यस्य सुभृतानि जातानि, अन्यदा च तस्यैकं कोष्ठागारं वृद्धिधान्तरसुभृतं वह्निना प्रदीप्तेन दह्यते, तत्र केचित् कर्षका विध्यापननिमित्तं तत्र प्रदह्यमाने कोष्ठागारे समागताः। किमेष कौटुम्बिकोऽस्माकं डुधा ददाति येन वयं विद्ध्यापनार्थमभ्युद्यता भवामः।

एयस्स पभावेणं, जीवा अम्हे ति एव नाऊणं।
अण्णे उ समल्लीणा, विज्झविए तेसि सो तुट्ठो ॥

अन्ये कर्षका एतस्य कौटुम्बिकस्य प्रभावेण वयं जीवन्ति स्म। जीवाः, अच्प्रत्ययः, जीविता इत्यर्थः। एवं ज्ञात्वा समालीनास्तत्र समागता विध्यापनाय च प्रवृत्तास्ततो विध्यापिते कोष्ठागारे स कौटुम्बिकस्तेषां तुष्टः।

ततः किमकार्षीदित्यत आह –

जे उ सहाएगत्तं, करेसु तेसिं अवड्ढियं दिन्नं।
दड्ढं ति न दिण्णियरे, अकासगा दुक्खजीवीया ॥

ये तु विध्यापने सहायत्वमकार्षुः तेषामवृद्धिकं कालान्तररहितं धान्यं दत्तम्, इतरेषां तु सहायत्वमकृतवतां दग्धमित्युत्तरं विध्यापने दत्तं ततस्ते अकर्षकाः सन्तो दुःखजीविनो जाताः।

एष दृष्टान्तः। अथ उपनयमभिधित्सुराह –

आयरिय कुंटुबी वा, सामाणियथाणिया भवे साहू।
वावाह अगणितुल्ला, सुत्तथा जाण धन्नं तु ॥

आचार्यः कुटुम्बीव, कुटुम्बीतुल्य इत्यर्थः। सामान्यकर्षकस्थानीयाः साधवः आचार्यस्य भिक्षाटने वातादिव्यावाधाग्नितुल्यान् सूत्रार्थान् जानीहि धान्यं धान्यतुल्यान्।

एमेव विणीयाणं, करें ति सुत्तत्थसंगहं थेरा।
हावेंति उदासीणे, किलेसभागी य संसारे ॥

एवमेव कौटुम्बिकदृष्टान्तप्रकारेण ये विनीतास्तेषां स्थविरा आचार्याः सूत्रार्थसंग्रहं कुर्वन्ति सूत्रार्थान् प्रयच्छन्ति । यस्तदा उदासीनस्तत्र हापयन्ति इति, न प्रयच्छन्तीति भावः । स चोदा सीनो वर्तमानः केवलं सूत्रार्थायोग्यो भवेत्, क्लेशभागी च संसारे जायते । व्य० ६ उ० । कुटुम्बभवेषु कायेषु, जी० ३ प्रति० ।

कोडूसग पुं० (कोदूषक) कोद्रवविशेषे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

कोढ न० (कुष्ठ) रोगभेदे, ज्ञा० १ श्रु० १३ अ० । विपा० । आव० । उपा० । सप्त महाकुष्ठानि । तद्यथा—अरुणोदुम्बरनिश्यजिह्वकापा लकाकनाद-पौण्डरीकदद्रुकुष्ठानीति । महत्वं चैषां सर्वधात्वन्तः प्रवेशादसाध्यात्वाच्चेति । एकादश क्षुद्रकुष्ठानि । तद्यथा—स्थूलारुष्कमहाकुष्ठचर्मदलपरिसर्पवि-सर्पसिध्मविचर्चिकाकिटिभपामापशतारुकसंज्ञानीति सर्वाण्यप्यष्टादश । सामान्यतः कुष्ठं सर्वं संनिपातजमपि वातादिदोषोत्कटतयाऽनुभेदभाग्भ-वतीति । आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

कोढि त्रि० (कुष्ठिन्) कुष्ठमष्टादशभेदमस्यास्तीति कुष्ठी । कुष्ठरोगग्रस्ते, प्रश्न० ५ सम्ब० द्वार । आचा० ।

कोण पुं० (कोण) कुणकरणे घञ्, कर्त्तरि अच् वा । येन धनुराकृतिना काष्ठेन वीणादयो वाद्यन्ते । तस्मिन् वादनसाधने काष्ठभेदे, अत्रौ, वाच० । वीणावादनदण्डे, जी० ३ प्रति० । लकुटे, ''कोणओ लगुडो भण्णति'' नि० चू० १ उ० । गृहादीनामेकदेशे, नि० चू० १ उ० । अस्त्राणामग्रभागे, मङ्गलग्रहे, शनिग्रहे, द्वयोर्दिशोर्मध्यभागे विदिशि० वाच० ।

कोणालग पुं० स्त्री० (कोनालक) कोने जलोने अलति अपर्याप्नोति । अल प्वुल् । सङ्कचारिणि, शवे, कृष्णपुच्छे, श्वेतोदरे, जलचरपक्षिभेदे, वाच० । प्रश्न० । कुन्थुजिनेन्द्रस्य पूजके, ''सट्ठि तु सहस्साइं, कुंथुजि-णिंदस्स परिवारो । कोणालगमहियस्स य, सिरीऍ सूरस्स य सुयस्स'' ॥ ती० ९ कल्प० ।

कोणाली स्त्री० (कोनाली) गोष्ठ्याम्, बृ० १ उ० । नि० चू० ।

कोणिग (अ) पुं० (कूणिक) श्रेणिकराजस्य चेल्लणायां जाते पुत्रे, कल्प० ८ क्षण । ('कूणिय' शब्देऽत्रैव भागे ६२९ पृष्ठे कथोक्ता)

कोण्ठ त्रि० (कुण्ठ) 'कुठि' वैकल्ये । अच् । **''ओत्संयोगे'' ८ । १ । ११६** । इत्यादेरुत ओत्त्वम् । प्रा० १ पाद ।

कोत अव्य० (कुत्र) ''ओत्संयोगे'' ८ । १ । ११६ । इति आदेरुत ओत्त्वम् । कस्मिन्नित्यर्थे, प्रा० १ पाद ।

कोतव न० (कौतव) मूषिकलोमनिष्पन्ने सूत्रे, विशे० । अनु० । आ० म० । बृ० ।

कोत्तिय पुं० (कौत्रिक) भूमिशायिनि वानप्रस्थे, औ० । नि० । भ० । मधुभेदे, स्था० ९ ठा० । आव० ।

कोत्थ न० (कुत्स) गोत्रभेदे, ''जे कोत्था ते सत्तविहा पण्णत्ता । तंजहा—ते कोत्था ते पुग्गलायणा ते पिंगायणा ते कोडीणा ते मंडलीणा ते हारिया ते सोमया'' । स्था० ७ ठा० ।

कोत्थलकारा स्त्री० (कोत्थलकारी) भ्रमर्य्याम्, त्रीन्द्रियजीवे, बृ० १० उ० । प्रज्ञा० ।

कोत्थुंभर स्त्री० (कौस्तुम्भरी) कुस्तुम्भशालिषु, जं० ३ वक्ष० । नि० चू० ।

कोत्थुभ (ह) पुं० (कौस्तुभ) कुं भूमिं स्तुभ्राति कुस्तुभो जलधिः । तत्र भवः अण् । **''औत ओत्''** । ८ । १ । **१५९** । इत्यौकारस्य ओकारः । प्रा० १ पाद । विष्णोर्वक्षस्थे मणौ, वाच० । ''कोत्थुभो य मणी दिव्वो वासुदेवस्स'' । ती० १०, कल्प ।

कोदं (डं) न० (कोदण्ड) 'कु' शब्दे विच् । कोः शब्दितो दण्डोऽस्य, धनुषि, तत्तुल्यत्वात् भूलतायाम्, देशभेदे च । धनराशौ च । वाच० । ''कोदंडविप्पमुक्केणं उसुणा वामे पादे विद्धे समाणो'' अन्त० ५ वर्ग ।

कोदंडिम त्रि० (कुदण्डिम) कुदण्डेन निर्वृत्ते, जं० ३ वक्ष० ।

कोदूसग पुं० (कोदूषक) कोद्रवविशेषे, भ० ६ श० ७ उ० ।

कोद्दव पुं० (कोद्रव) कु-विच् । कोः सन् द्रवति । द्रु-अच् । धान्यभेदे, वाच० । जं० । प्रज्ञा० । नि० चू० । आचा० । स्था० । सूत्र० । मदने, मदनकोद्रवे, कर्म० ६ कर्म० । ('सम्मत' शब्दे त्रिपुञ्जीकरणप्रस्तावे मदनकोद्रवदृष्टान्तो द्रष्टव्यः)

कोप्पर पुं० न० (कूर्पर) **''ओत् कूष्माण्डी-तूणीर-कूर्पर-स्थूल-ताम्बूल-गुडूचीमूल्ये''** ॥८ । १ । **१२४** ॥ इति उकारस्य ओकारः । प्रा० १ पाद । प्रश्न० । कुहणिकायाम्, पञ्चा० ३ विव० ।

कोभीसणि पुं० (कौभीषणि) गोत्रप्रवर्तकर्षिभेदे, उमास्वाति-वाचकः कौभीषणिगोत्रः । ती० ३६ कल्प ।

कोमल त्रि० (कोमल) कु कलच्, मुट् च, गुणः । जले, मृदौ, वाच० । अकठोरे, भ० २ श० १ उ० । औ० । रा० । विपा० । आतु० । मनोज्ञ, नं० । रा० । क्षीरिकायाम्, स्त्री० । टापू । वाच० ।

कोमलंबिलिया स्त्री० (कोमलाम्लिका) अवद्धास्थिकायां चिञ्चिणि-कायाम्, ध० २ अधि० । प्रव० ।

कोमारिया स्त्री० (कौमारिकी) कुमारस्येयं कौमारी, सैव कौमारिकी । कुमारप्रव्रज्यायाम्, भ० १५ श० १ उ० ।

कोमुइया स्त्री० (कौमुदिका) कोमुदोत्सवाद्युत्सवज्ञापनार्थं वाद्यमानायां कृष्णवासुदेवभेर्य्याम्, विशे० । आ० म० । आ० चू० ।

कोमुई (दी) स्त्री० (कौमुदी) कुमुदस्येयं प्रकाशकत्वात् प्रिया० अण्, ङीप् । **''औत ओत्''** ॥८ । १ । **१५९**॥ इत्यौकारस्य ओकारः । प्रा० १ पाद । वाच० । चन्द्रिकायाम्, औ० । ज्ञा० । तद्वत्प्रकाशिकायाम्, कुमुदस्येयम् अण्, ङीप् । ''कुशब्देन मही ज्ञेया, मुद हर्षे ततो द्वयम् । धातुज्ञैर्नियमैश्चैव, तेन सा कौमुदी स्मृता'' इत्युक्तायां कार्त्तिकपौर्णमा-स्याम्, वाच० । जं० । ज्ञा० । रा० । व्य० । आश्विनपौर्णमास्याम्, दीपोत्स-वतिथौ, उत्सवे, कार्त्तिकोत्सवे, स्वार्थे के ह्रस्वे कौमुदिका । ज्योत्स्ना-याम्, संज्ञायां कन् कुमुदकः । चातुरर्थ्याम् कुमुदात् ठक् कौमुदिकः । कुमुदसन्निकृष्टदेशादौ, त्रि० । वाच० ।

कोमुई (दी)चार पुं० (कौमुदीचार) कौमुद्याः ज्योत्स्नायाश्चारः प्राशस्त्य-मत्र काले । आश्विनपौर्णमास्याम्, वाच० । कौमुदीमहे च । आ० क० । ''अभओ सोणिओ य पच्छन्नं कोमुदीचारं पेच्छति'' नि० चू० १ उ० । आव० ।

कोमईजोगजुत्त त्रि० (कौमुदीयोगयुक्त) कौमुदी कार्त्तिकीपूर्णमासी, तद्योगयुक्तः । कार्त्तिक्यामभ्युदिते, ''कोमुदीजोगजुत्तं व, तारापरिवुडं ससिं' । व्य० ४ उ० ।

कोमुईरयणीयर पुं० (कौमुदीरजनीकर) कौमुदी कार्त्तिकी पौर्ण–मासी, तस्यां रजनीकरश्चन्द्रः । रा० । कार्त्तिकीरजनीकरे, नि० १ वर्ग । ''कोमुईरयणिगरविमलपडिपुन्नसोमवयणा'' कौमुदी कार्त्तिकी पौर्णमासी, तस्यां रजनीकरश्चन्द्रस्तद्वत विमलं निर्मलं प्रतिपूर्णमन्यूनानतिरिच्यमानं सौम्यमरौद्राकारं वदनं यस्याः सा तथा । रा० । जी० । नि० ।

कोयवि पुं० (कोयवि) रूतपूरिते पटे, यो लोके माणिकी प्रसिद्धा । बृ० ३ उ० । प्रव० । नि० चू० ।

कोरंट(ग) पुं० [कोरण्ट(क)] पुष्पजातिविशेषे, रा० । ज्ञा० । जं० । स च कण्ठसेलियाख्यः संभाव्यते । जं० १ वक्ष० । अग्रबीजाः कोरण्टकादयः । आ० म० द्वि० । कोरण्टकादीनि लता, इति लतासु अग्रबीजवनस्पतिष्वन्तर्भवति । औ० । स्था० । आ० म० । स्वनामख्याते भरुकच्छीये, ''कोरण्टगं जहाभवियधम्मं पुच्छिऊण'' कोरण्टकं नाम भरुकच्छे उद्यानं तत्र भगवान् मुनिसुव्रतस्वाम्यर्हन्नभीक्ष्णं समवसृतः । व्य० १ उ० ।

कोरंटदाम न० (कोण्टदामन्) कोरण्टकाभिधाने पुष्पदामनि, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

कोरंटमल्लदाम न० (कोरण्टमाल्यदामन्) कोरण्टकः पुष्पजा–तिविशेषः, स च कण्ठासेलियाख्यः संभाव्यते, तस्य मालावै हितानीति कृत्वा माल्यानि पुष्पाणि तेषां दाम माला । जं० १ वक्ष० । कोरण्टकाभिधानकुसुमस्तवकवति माल्यदामनि, औ० । रा० । कोरण्टपुष्पमालायम्, रा० प्रज्ञा० । औ० ।

कोरय पुं० न० (कोरक) 'कुल' संख्याने ण्वुल्, लस्य रः । कलिकायाम्, वाच० । फलनिष्पादके मुकुले, (आम्रप्रलम्बकोरकदृष्टान्तेन कोरकचातुर्विध्यं 'पुरिसजाय' शब्दे वक्ष्यते) स्था० । कक्कोले, मृणाले च । चोरनामगन्धद्रव्ये, ततः तारका० संजातेऽर्थे इतच्, कोरकितः । जातमुकुले, त्रि० । वाच० । जालके, विशे० । पक्षिभेदे, रा० ।

कोरव पुं० स्त्री० (कौरव) कुरोरपत्यादि, उत्सादित्वा० अञ् । तद्देश्य राजा अण् । तेषु भवो वा अण् । वाच० । कुरुवंशोद्भवे, बृ० १ उ० । औ० । भ० । कुरुवंशभूते क्षत्रिये, औ० । तद्देशनृपे पुं० । कुरुसंबन्धिनि, तद्देशभवे च । त्रि० । स्त्रियां ङीप् । वाच० ।

कोरव्व पुं० स्त्री० (कौरव्य) कुरोरपत्यम् । कुर्वादि० ण्यः । कुरुवंश्ये वाच० । करौरव्यगोत्रे ब्रह्मदत्ते चुलनीसुते, जी० ३ प्रति० । सचाऽवसर्पिण्यामष्टमश्चक्रवर्त्ती । आव० ४ अ० । स० । प्रव० । ('बम्हदत्त' शब्दे कथाऽस्य वक्ष्यते) तस्यापत्यं फिञ्, कौरव्यायणिः । कुरुकुलोत्पन्ने ब्राह्मणादावपत्ये पुं० । स्त्री० । कुरूणां राजा ण्यः, कौरव्यः । कुरुदेशराजे, स्त्रियां ङीष्, कौरवी । स्त्री० । ण्यन्तत्वात् यून्यपत्ये फिञो लुक् । कौरव्यः–पिता पुत्रश्च । वाच० ।

कोल पुं० (कोल) 'कुल' संस्त्याने । अच् । शूकरे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । तं० । पल्वे, कोडे, शनिग्रहे, चित्रके, अङ्कपालौ, आलिङ्गने, देशभेदे, पुं० । वाच० घुणकीटे, आचा० १ श्रु० ८ अ० ८ उ० । उन्दुराकृतौ जन्तौ, प्रश्न १० आश्र० द्वार । अस्त्रभेदे, पुं० । ध० २० । नटात् धीवरकन्याजातिभेदे, मरिचे, न० । चव्ये, कर्कन्धूवृक्षे, स्त्री० । गौरा० । ङीष् । तस्याः फलम् अण्, तस्य लुक् । वदरीफले, न० । वाच० । आचा० । वदरचूर्णे, बृ० १ उ० ।

कोलंब पुं० (कोलम्ब) अवनते शाखाग्रे, कोलम्बो हि लोके अवनतवृक्षशाखाग्रमुच्यते, विपा० १ श्रु० ३ अ० । ज्ञा० ।

कोलग पुं० (कोलक) कुल ण्वुल् । अङ्कोटवृक्षे, बहुवारवृक्षे, गन्धद्रव्यभेदे, मरिचे, कक्कोले च । न० । वाच० । कोलजातौ, स्त्रियां तु ''यदि एसा कोलगिणी एवं करेति' आ० चू० ४ अ० ।

कोलघरिय पुं० (कौलग्रहिक) कुलगृहसम्बन्धिनि, उपा० २ अ० ।

कोलचुण्ण पुं० (कोलचूर्ण) वदरशकुषु, दश० ५ अ० १ उ० ।

कोलज्जा स्त्री (कोलार्या) अधोवृत्तखाताकारे धान्यस्थाने, आचा० २ श्रु० १ अ० ७ उ० ।

कोलट्ठिय न० (कुवलयास्थिक) वदरकुलके, भ० ६ श० १० उ० ।

कोलपा(वा)गपट्टण न० (कोलपाकपत्तन) स्वनामख्याते तीर्थीभूते नगरे, कोलपाकपत्तने माणिक्यदेवः श्रीऋषभो मन्दोदरीदेवतावसरः । ती० ४५ कल्प० ।

कोलपा(वा)ल पुं० (कोलपाल) धरणस्य नागकुमारेन्द्रस्य द्वितीये लोकपाले, भूतानन्दस्य च लोकपाले, स्था० ४ ठा० १ उ० । जं० । आ० चू० । विशे० । आ० म० ।

कोलव न० (कौलव) बबादिषु तृतीये करणे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । भ० ।

कोलवण न० (कोलवन) मथुरास्थे वनभेदे, ती० ६ कल्प ।

कोलसुणह पुं० [कोलश्वन् (शुनक्)] महाशूकरे, आचा० २ श्रु० १ अ० ५ उ० । प्रश्न० । जं० । प्रज्ञा० । मृगया कुशले शुनि, प्रज्ञा० ११ पद ।

कोलसुणिया स्त्री० (कोलशुनिका) स्त्रीत्वविशिष्टे कोलशुन–कजातौ, प्रज्ञा० ११ पद ।

कोलाल न० (कौलाल) कुलालाः कुम्भकारस्तेषामिदं कौलालम् । मृद्भाण्के, अनु० ।

कोलालभंड न० (कौलालभाण्ड) कुलालाः कुम्भकारास्तेषामिदं कौलालं, तच्च तद् भाण्डं च पण्यं भाजनं वा कौलालभाण्डम् । कुम्भकारकृते मृद्भाण्डे, ''से सद्दालपुत्ते अण्णया कयाइं वाता–हतयं कोलालभंडं अंतो सालहिंतो वहितो णीणेई'' उपा० ७ अ० ।

कोलालिय पुं० (कौलालिक) कौलालानि मृद्भाण्डानि पण्यमस्येति कौलालिकः । अनु० । कुलालक्रयविक्रयिणि, बृ० २ उ० ।

कोलालियावण पुं० (कौलालिकापण) कौलालिकाः कुलालक्रय–विक्रयिणस्तेषामापणः । पणितशालायाम्, ''कौलालियावणो खलु पणितसाला'' कौलालिकापणः पणितशाला मन्तव्या । किमुक्तं भवति ? यत्र कुम्भकारा भाजनानि विक्रीणते, वणिजो वा कुम्भकार हस्ताद् भाजनानि क्रीत्वा यत्रापणे विक्रीणन्ति । बृ० २ उ० ।

कोलावास पुं० (कोलावास) कोला घुणस्तेषामावासः । दारुणि, ''चित्तमंताए सालाए कोलावासं ति वा दारुए ठणं वा स–

हियं वा चेतेमाणे सवले' स २१ सम०। आव०।दशा०। आचा०। अनु०।

कोलाह पुं० (कोलाभ) दर्वीकरसर्पभेदे, प्रज्ञा० १ पद।

कोलाहल पुं० (कोलाहल) कुल–घञ्, तमाहलति अच्। वाच०। बहुजनमहाध्वनौ, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ०। प्रति०। अव्यक्ते (उत्त० ६ अ०) बोले, जी० ३ प्रति०। ''ण य कोलाहलं करे'' सूत्र० १ श्रु० ८ अ०। आर्तशकुनिसमूहध्वनौ, भ० ७ श० ६ उ०। विलपिताक्रन्दिकले, उत्त० ६ अ०।

कोलाहलगभूय त्रि०(कोलाहलकभूत) कोलाहलो विलपिताक्रन्दिकलः, कोलाहल एव कोलाहलकः, स भूत इति जातोऽस्मिन् तत् कोलाहलकभूतम्, आहितादेराकृतिगणत्वात् निष्ठान्तस्य परनिपातः। संजाबहुध्वनौ, यदि वा भूतशब्द उपमार्थस्ततः कोलाहलभूतम्। कोलाहलकरूपतामिवापन्ने, हा मातर्हा मातरित्यादिकलकलाकुलितया सीदद्भूते, ''कोलाहलयपभूयं आसी मिहलाए पव्वयंतं'' उत्त० ८ अ०।

कोलाहलसंकुल त्रि० (कोलाहलसंकुल) बहलकलकलात्मकेन कोलाहलेन व्याकुले, ''किण्णु तो अज्ज महिलाए, कोलाहलसंकुला। सुचंति दारुणा सद्दा पसाए सुगिहेसु य''। उत्त० ६ अ०।

कोलिय त्रि० (कोलिक) कुलादागतः ठक्। कुलपरम्परागते आचारादौ कुले, कुलागमे सिद्धः ठक्। तन्त्रोक्ते कुलाचारे, कौलं कुलधर्मं प्रवर्त्तयति ठक्। कुलधर्मप्रवर्त्तके, शिवे, पाखण्डे, कुलं तदाचारः प्रयोजनमस्य ठक्। कौले ब्रह्मविदि, वाच०। तन्तुवाये, नं०। आ० म०। आव०। ''पढमाए कोलियकन्नाए दिट्ठंतो कीरइ (नियति शब्दे भावतः कृष्णस्य, द्रव्यतः कौलिकवीरस्य 'किइकम्म' शब्दे ५०७ पृष्ठे दृष्टान्त उक्तः प्रव० ५ द्वार। आव०।

कोलियाजाल न० (कोलिकाजाल) मर्कटकसन्ताने, आव० ४ अ०। नि० चू०। जालाकारे कोलिकाजालसन्ताने, बृ० १ उ०।

कोलुण्ण न० (कारुण्य) अनुकम्पायाम्, नि० चू० ११ उ०।

कोलुण्णपडिया स्त्री० (कारुण्यप्रतिज्ञा) अनुकम्पाप्रतिज्ञायाम्, नि० चू०।

जे भिक्खू कोलुण्णपडियाए अण्णयरिं तसपाणजायं तणपासएण वा मुंजपासएण वा कट्ठपासएण वा चम्मपासएण वा बंधइ, बंधंतं वा साइज्जइ ॥१॥ जे भिक्खू बंधेल्लयं वा मुयइ, मुयंतं वा साइज्जइ ॥२॥

भिक्खू पुव्वभणिओ, कोलुण्णं ति कारुण्यं अनुकंपा, पडियाए त्ति प्रतिज्ञा, अनुकम्पाप्रतिज्ञया इत्यर्थः। त्रसन्तीति त्रसाः, ते च तेजोवायू द्वीन्द्रियादयश्च प्राणिनो त्रसाः एच्छ तेउवाउहिं णाहिकारो जाइग्गहणीउं वि सिद्धगो जाइवन्नयाईहिं अहिगारो, तणा दग्घाइया, पासो त्ति बंधणं, दग्धा रज्जुः इत्यर्थः ॥ वत्तपासग्गहणाओ सव्वे पासा गहिया, कट्ठपासग्गहणाओ कयलि-खोडाइया गहिया, एवमाईहिं बंधेतस्स चतुलहुं, विइयसुत्ते वि वद्धेल्लगं मुयंतस्स चतुलहुं। इमा सुत्तफासिया गाहा –

तसपाणगतणगादी, कलुणपरं नाऍ जो उ बंधेज्जा।
तणपासगमादीहिं, मुंचति वा आणमादीणि ॥२॥

गतार्था। जइ सेज्जगसेज्जायराई वलगखेत्ताई वच्चंता भणेज्जा–

ओहाण ति अज्जोती, देज्जेवं तण्णदाजीणं।
अम्हे तुब्भं इहयं, भायणभूता परिवसामो ॥३॥

ओहाणं ति उवयोगो, अज्जो त्ति आमंत्रणे, इह त्ति घरे, तन्नगाईणं, आइसद्दाओ गवाइसु विविहोवक्खारेसुं च, एवं भणंतेसु साहुआ वत्तव्वं पच्छद्धं, भूतशब्दः भयणे तुल्यवाची, जहा अ लंदाइभायणं गिहंतो वाहिरे वा ठियं न किंचि घरवावारं करें ति, तहेव अम्हे इह परिवसामो वसहिग्गहणकाले। अथवा वसंतो जइ गिही किंचि विज्जं पत्थेज्जा तत्थिमं भासेज्जा –

न वि जोइसं न गणितं, ण अक्खारेणेव किंवि रक्खामो।
अप्पस्सगा असुणगा, भोयणखंभावमावसिमो ॥४॥

घरे किंवि सुणगाइणा अवरज्झंते अपस्सगा अम्हे, गिहिणो संदिसंतस्स असुणगा, अम्हे झाणोवगया वा अण्णं ण पस्सामो, सुणेमो वा, सेसं कंठं। तन्नगगहणं किमर्थं चेत्?

घणजीवितगं खलु त–न्नगगहणं तु तं बहु अवातं च।
सेसा वि सूईया खलु, तण्णगगहणं तु गोणादी ॥५॥

बालवत्थं तन्नगं, तं घणजीवी बहुअवायं च। अओ तग्गहणं कयं सुत्ते तन्नगग्गहणाओ य सेसा वि गोणाई सव्वे सूइया, न संबंधितया इत्यर्थः। अहवा बंधं इंतो आणाइया दोसा इमे य अन्ने य।

अच्चावेटण मरणं–तराय फडुंत अत्तपरहिंसा।
सिंगखुरपेल्लणं वा, उड्डहो भद्द पंता वा ॥६॥

अईव आवेटियं परिताविज्जइ, मरइ वा अंतरायं च भवइ। बद्धं च तडफडंतं अप्पाणं परं वा हिंसइ, एसा संजमविराहणा, तं वा वज्झंतं सिंगेण खुरेण वा काएण वा साहुं पेलेज्जा, एवं लाहुस्स आयविराहणा। तं च दट्ठुं जणो उड्डाहं करेज्ज–अहो! दुट्ठिट्ठधम्मा परतत्तिवाहिणो, एवं पवयणोवघाओ, भद्दपंतदोसा वा भवे। भद्दो भणाइ–अहो इमे साहवो अम्हं परोवक्खाणघरे वावारं करेंति। पंतो पुणो भणेज्जदुदिट्ठधम्मचाडुकारिणो कीस व अम्हं वच्छे वंधति, मुयंति वा, दिया वा राओ वा निच्छुभेज्जा, वोच्छेयं वा करेज्ज, एए बंधणे दोसा।

इमे मुयणे –

छक्काय अगड विसमे, हिय णट्ठ पलाय खइय पीते वा।
जोगक्खेम वहंती, णेवं दोसा य जे वुत्ता ॥७॥

तन्नगाइ मुक्कमडंतं छक्कायविराहणं करेज्ज, अगडे विसमे वा पडिज्ज, तेणेहिं वा हीरेज्जा, नट्ठं अडवीए रुलंतं अत्थेज्ज, मुक्कं वा पलाइयं वा पुणो वंधितुं न सक्कइ, दुगादिसणप्फडहिं वा खज्जइ, मुक्कं वा माऊए थणात खीरं पिएज्ज। जइ वि एवमाइदोसा न होज्ज तहा वि गिहिणो वीसत्था अत्थेज्ज, अम्हं घरे साहवो सुत्तत्थजोगक्खेमवावारं वहंति मण त्ति एवं मणेण चिंतित्ता अणुत्तसत्ता अप्पणो कम्मं करेंति, अह तद्दोसभया मुक्कं पुणो बंधति, तत्थ बंधणे दोसा जे वुत्ता ते भवंति। जम्हा एते दोसा तुम्हा ण बंधंति मुयंति वा।

कारणे पुण बंधमुयणं करेज्जा –

वितियपदमणप्पज्झे, बंधे अविकोविते व अप्पज्झे।
विसमगडअगणिआऊ–वणप्फगादीसु जाणमवी ॥८॥

अणप्पज्झो बंधइ, अविकोविओ वा, सेहो अहवा विकोवि–

ओ वा सेहो, अहवा विकोविओ अप्पजझो, इमेहिं कारणेहिं बंधति, विसमा अगडिअगणिऊसु मरिज्जिहि इति दुगादिसणप्फएण वा मा खज्जिहि त्ति एवं जाणणा वि बंधइ, मुंचइ।

तस्स इमं विइयपदं–

वितियपदमणप्पज्झ, मुंचे अविकोविते व अप्पज्झे।
जाणंते वावि पुणो, वलिपासगअगणिमादीसु ॥९॥

वलिपासगोत्तिबंधणा तेण अईव गाढं बद्धो मूढो वा तडफडेइ, मरइ वा जया, तया मुंचइ, मा मज्झिहि त्ति।

बंधणमुयणे इमा जयणा –

तेसु असाहीणेसुं, अहवा साहीणपत्थणे जयणा।
केणं बद्धविमुक्को, पुच्छंति न जाणिमो केणे ? ॥१०॥

(तेसु त्ति) जया घरे गिहत्था असाहीणा तया एयं करेइ, साहीणेसु वा अपच्छमाणेसु भिगेसु, अह गिही पुच्छज्जाकेण तन्नगं बद्धं मुक्कं वा, तत्थ साहूहिं वत्तव्वं–न जाणामो अम्हे ॥ नि०चू०१२ उ०।

कोल्लइर न० (कोल्लकिर) वार्द्धक्ये, पिं०। कोल्लाकपुरे, यत्र सङ्गमस्थाविरा नित्यवासमाश्रिताः। आव०३ अ०। आ०चू०।

कोल्लग पुं० (कोल्लक) दग्धकाष्ठलघुखण्डेषु, ''कोल्लपरंपरं संकेल्लियाग्गसण्णेति।'' नि०चू०१०स०।

कोल्लपागपुर न० (कोल्लपाकपुर) माणिक्यदेव ऋषभस्थाने तीर्थे, ती०५१ कल्प। ('माणिक्कदेव' शब्दे कथा वक्ष्यते)

कोल्लयरपुर न० (कोल्लयरपुर) स्वनामख्याते पुरे, यत्र धर्म–सिंहाभिधानः क्षत्रियमुनिः। संथा०।

कोल्लाग पुं० (कोल्लाक) स्वनामख्याते सन्निवेशे, कल्प०२ क्षण। यत्राऽव्यक्तः सुधर्मा च गणधरो जातः। आ० म० द्वि०। यत्र च बहलब्राह्मणगृहे श्रीवीरजिनेन्द्रेण प्रथमभिक्षा लब्धा। कल्प० १ क्षण। आ० म०। भ०। यत्र वा सङ्गमस्थाविराः नित्यवासं समाश्रिताः। ''इहासन् कोल्लाकपुरे, निर्मलश्रुतसम्पदः सङ्गमस्थविराचार्य–स्तैर्दुभिक्षे स्वसाधवः''। आ० क०।

कोल्लापुर न० (कोल्लापुर) दक्षिणदेशस्थे पुरभेदे, यत्र शुद्रकनृपेण महालक्ष्मी तोषिता, सातवाहननृपभार्य्याः सातवाहनं महिषीप्रवृत्तिं व्यजिज्ञपन्। ती० ३४ कल्प०। (सातवानशब्दे कथा वक्ष्यते)

कोल्लासुर पुं० (कोल्लासुर) स्वनामख्याते असुरभेदे, यो हि कोल्लापुर महालक्ष्यादेशात्कृतहवनप्रत्यूहकरणाय वृत्तः शूद्रकनृपतिना मारितः। ती० ३४ कल्प। (सातवाहन शब्देऽस्य कथा)

कोल्लुग पुं० (कोल्लुक) इक्षुरसोत्पादके यन्त्रविशेषे, वध्वा च ''कोल्लुकचक्रन्यायेन परंपराया'' बृ० १ ल०।

कोल्लुगाणुग पुं० (क्रोष्टुकानुग) क्रोष्टुकः शृगालस्तदनुगः। शृगालोपमे आचार्य्यभेदे, वृषभभेदे, भिक्षुभेदे, यो हि रजोहरणनिषद्याया-मौपग्रहिकपांदप्रोच्छने वा स्थितो वा वाचयति तिष्ठति वा शृगालानुगः। व्य० १ ल०। नि० चू०।

कोव पुं० (कोप) कुप भावे घञ्। कामाग्निजे चित्तवृतिभेदे, वधाद्यनुकूलचित्तवृत्तिभेदे, ''मानः कोपः स तु द्वेधा, प्रणयेर्ष्यास-मुद्भवः। द्वयोः प्रणयमानः स्यात्, प्रमोदे तु महत्यपि ॥ प्रेम्णः कुटिलगामित्त्वात्, कोपो यः कारणं विना।'' इति साहित्यदर्पणोक्ते शृङ्गाररसाङ्गे, प्रणयकोपे च। धातुवैषम्यकारिदोषाणां विकारभेदे, वाच०। क्रोधोदयात् स्वभावाज्ज्वलनमात्रे, भ० १२ श० ५ उ०। तद्रूपे द्वितीये मोहनीये कर्मणि, स० ५२ सम०। ('कसाय' शब्दे अस्मिन्नेव भागे ३९६ पृष्ठे प्ररूपितम्)

कोवघर न० (कोपगृह) मानिनीनां कोपभवने, ''देवी ईसाए कोवघरं पविट्ठा।'' आ० म० प्र०।

कोविय त्रि० (कोपित) दूषिते, सूत्र० १ श्रु० ८ अ०।

कोविद् पु० 'कुङ्' शब्दे। विच्। कोर्विदस्तं वेत्ति। विद–कः। पण्मिते, विदुषि, वाच०। कुशले, आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ०। निपुणे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ०। अभ्यस्तसर्वागमत्वात् निपुणे, सूत्र० १ श्रु० १४ अ०। विपश्चिति, दश० ९ अ०३ ल०।

कोवीण न०(कौपीन) कूपे पतनमर्हति खञ्। अकार्य्ये, पापे, गुह्यप्रदेशे, चीरे, मेखलाबद्धे वरुखण्डे, (कपनी) तद्धारणेन कूपे पतनात् तस्य तथात्वम्। अकार्यवदाच्छद्यत्वात् पुरुषलिङ्गे, तदावरकतया वस्त्रखण्डस्य कौपीनत्वम्। 'कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः'। 'पुरा कौपीनाच्छादनं यावत्तावदिच्छेच्च चीवरम्'। ''अबलाः स्वल्पकौपीनाः सुदृढ़ सत्यजिष्णवः।'' वाच०। ति०।

कोस पुं० न०। [कोष (श)] अर्द्धचादि०। कुश (ष) आधा–रादौ घञ्, कर्तरि अच् वा। अण्डे, कृताकृतयोर्हेमरूप्ययोः कुङ्मले, मुकुले, समूहे, दिव्यभेदे, शब्दपर्यायज्ञापके अभिधाने, पानपात्रे, चषके, शिम्बायां, पनसादिमध्यस्थे (कोवा) ख्याते पदार्थे, ध० र०। शब्दान्तरपूर्व तु गोलकाकारे पदार्थे, यथा नेत्रकोषः। वाच०। आश्रये, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार। धान्यनिधौ, स्था० ५ ठ० ३ ल०। भाण्डागारे, व्य० ४ ल०। औ०। कल्प०। रा०। स्था०। ज्ञा०। श्रीगृहे, स्था० ९ ठ०। वारकादिभाजने, ''कोसं यमो च मेहाए'' सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ०। खड्गपिधानके, तं०। अंसिपरिवारे, ''से जहाणामए केइ पुरिसे कोसाओ असिं अभिनिव्वाट्टित्ता णं'' सूत्र० १ श्रु० ९ अ०। प्रत्याकारे, व्य० १० ल०। त्वगाद्यावरणे कोषवदावरकत्वात् पिधानमात्रे, कोशाधारे गृहे, कुशा भूमौ सन्त्यत्र अण्। कान्यकुब्जदेशे, मेघे, वाच०। धनुःसहस्त्रद्वये, स्था० ६ ठ०।

कोसंब पुं० कोशा (षा) प्र० कोशे, (षे) आम्र इव फल–प्रधानवृक्षभेदे, फलवृक्षे, वाच०। प्रज्ञा०। भ०। आचा०। ति०।

कोसंबकाणण न० (कोशाम्रकानन) स्वनामख्याते वने, यत्र पाण्डुर्मथुरां प्रति चलितः कृष्णवासुदेवजराकुमारेण पादे विद्धः। स्था० ठा०।

कोसंबगंडिया स्त्री० (कोशाम्रगण्डिका) ६ त०। कोशाम्रस्य वृक्षविशेषस्य गण्डिकायां, खड्गविशेषे, भ० १६ श० ३ ल०।

कोसंबपल्लवपव्विभत्ति न० (कोशाम्रपल्लवप्रविभ क्ति) कोशाम्रपल्ल-वप्रविभागाकाराभिनयात्मके नाट्यभेदे, रा०।

कोसंबी स्त्री० (कौशाम्बी) वत्सदेशप्रतिबद्धे पुरीभेदे, ''वार–वईए सुरट्ठा, मिहिलविदेहा य वच्छकोसंवी।'' सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ०। आ० म०। आव०। स्था०। प्रज्ञा०। अत्रैव भरतक्षेत्रे यमुनानदीकूले पूर्वदिग्वधूकण्ठ–

निवेशितमुक्ताकलकण्ठिकेव कौशाम्बी नगरी, तत्र सहस्त्रानीकराजसूनुः स्वकुलमहासरिस जायमानः शतानीको नाम राजा । विशे० । भ० । संथा० । बृ० आव० । विपा० । वत्सदेशे कौशाम्बी नगरी । प्रव० १७४ द्वार ।

अथ कौशाम्ब्यां यद्यदभूत्तत्संगृह्णन्नाहविविधतीर्थकल्पकृत् ''वच्छाजणवए कौसंबी नाम नगरी, जत्थ चंदसूरा सविमाणा सिरिबद्धमाणं नमंसिउं समागया । तत्थ तस्स भज्जा य वेलं अजाणंती अज्जमिगावई समोसरणे पत्थाविआ चंदाइच्चेसु सट्ठाणं गएसु अज्जचंदणाइसाहुणीसु कयावस्सयासु पडिस्सयं हव्वमागया अज्जचंदणाए उवालद्ध । निआवराहं खमंती पायपडिया चेव केवलं संपत्ता, जत्थ य उज्जेणीओ पुरिसपरंपराणीयइट्ठयाइ पयोअरण्णा मियावईअज्झोववण्णेण दुग्गं कारिअं अज्ज चिट्ठिज्जइ, तत्थ य मिगावईकुक्खिसंभवो गंधव्ववेयनिउणो सयाणीयपुत्तो उदयणो वच्छाहिवो अहेसि । जत्थ चेइएसु पिक्खगजणनयण-अमयंजणरूवा जिणपडिमाओ, जत्थ य कालिंदिजललहरि-आलिंगिज्जमाणाणि वणाणि, जत्थ पोसबहुलपाडिवयपडिवण्णाभिग्गहस्स सिरिमहावीरस्स चंदणबालाए पंचदिवसण-छम्मासेहिं सुप्पकोणट्ठियकुम्मासेहिं पारणं कारियं, वसुहारा य अद्धतेरसकोडिपमाणा देवेहिं बुद्धा, अओ चेव सुहारत्तिगामो नयरीसन्निहिओ पसिद्धो वसइ, पंच दिव्वाणि अपाउज्जआणि इत्तुच्चिअ तद्दिणाओ पहुडजिट्ठसुद्धदसमीए सामिपाएण दिणे वित्थन्हाणपाणाई आयारा, तत्थ अज्ज विलोए पउमप्पहसामिणो चरणजम्मणदिक्खनाणकल्लाणगाइं संवुत्ताइ, जत्थ य सिणिद्धच्छाया कोसंबितरुणो महापमाणा दीसंति जच्छ य पउमप्पहचेइए पारणकारावणदसाभिसंधिघडिया चंदणबाला-भुत्ती दीसइ । जत्थ य अज्ज वि तम्मि चेव चेइए पइदिणं पसंत मुत्ती सीहो आगंतूण भगवओ भत्तिं करेइ ।

''सा कोसंबी नयरी, जिणजम्मणप्पवित्तिआ महातित्थं ।
अम्हाण वेउसिव्वं, युवंती जिणप्पहसूरीहिं'' ॥१॥

इति श्रीकौशाम्बीकल्पः । ती० १२ कल्प० ।

दक्षिणस्यां दिशि यावत्कौशाम्बीविहारयोग्यो देशः । बृ०१ उ० ।

कोसंबिया स्त्री० (कोशाम्बिका) स्थविरादुत्तरबलिसहान्निर्गतस्य गणस्य शाखायाम्, कल्प० ८ क्षण ।

कोसकोट्ठागारकहा स्त्री० (कोषकोष्ठागारकथा) राजकथाभेदे, स्था० । ('रायकहा' शब्दे व्याख्या)

कोसग पुं० (कोषग) कोषस्वार्थे कः । अण्डकोषे, वाच० ।

कोसक पुं० चर्ममयकोत्थलीप्राये पाषाणादिस्स्वलनया भज्यमानन-खैरङ्गुष्ठादौ क्षिप्यमाने नखरदनगृहरूपे वा साधूनां चर्मोपकरणे, ध० ३ अधि० । ''कोसगनहरक्खट्ठा, अंगुलीकोसो'' नखभङ्गरक्षार्थं गृह्यते, स च पादयोरङ्गुष्ठके च प्रक्षिप्यते । बृ० १ उ० । अनु० । सूत्रयोनौ, अनु० ।

कोसकार पुं० [कोश (ष) कार] कोशं (षं) करोति, कृण्वुल् उप० स० । खड्गाद्यावरणकारके, वाच० । तस्य पत्नी ङीष् । इक्षुभेदे, कोषं स्ववेष्टनं तन्तुभिः करोति । कृ–अण् चटकसूत्रादिकारणे, अनु० । कीटभेदे, वाच० ।

कोसल पुं० [कोश (स) ल] व० व० । श्रीऋषभदेवस्य चतुर्विंशतितमे पुत्रे, तद्राज्यभूते देशभेदे च । स च देशः) साकेत अयोध्याप्रतिबद्धआर्यक्षेत्रेषु अन्यतमः । कल्प० ६ क्षण । ''साकेयं कोसलागयपुरं कुमुदा य'' सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । ज्ञा० । स्था० । प्रज्ञा० । कोकेऽपि– ''कोश (स) लो नाम मुदितः, स्फीतो जनपदो महान् । निविष्टः सरयूतीरे, पशुधान्यसमृद्धिमान् ॥'' कोशलदेशो द्विविधः प्राच्योत्तरभेदात् । तत्र अयोध्यायुक्तदेशस्योत्तरकोशलत्त्वम् प्राच्यकोशलास्तु पूर्वस्याम् । वाच० ।

कौशल न० कुशलस्य भावो युवा० अण् । दक्षतायाम्, वाच० ।

कोसलग पुं० (कोशलक) कोशला अयोध्या, तज्जनपदोऽपि कोशला, तत्सम्बन्धिनः कोशलकाः । भ० ७ श० ६ ल० । कोशलदेशोद्भवेषु, पिं० । कोशलदेशोत्पन्नत्वात् । कौशलिकेषु भरतादिषु, स्था० ५ ठा० २ उ० । कोशलदेशस्य राजसु, कल्प० ६ क्षण ।

कोसलपुर न० (कोशलपुर) अयोध्यायाम्, आव० १ अ० ।

कोसला स्त्री० [कोश (स) ला] कुश (स) वृषा० कल नि० गुणः । वाच० । अयोध्यायाम् ती० ११ कल्प । ''अवज्झा कोसंविणिया साकेयं इक्खागुभूमी रायपुरि कोसल त्ति'' अयोध्याया एकार्थिकानि । कल्प० जं० । ('अउज्झा' शब्दे प्र० भा० ३४ पृष्ठे कल्प उक्तः) साकेतप्रतिबद्धे जनपदे च । कोशला अयोध्या, तज्जनपदोऽपि कोशला । भ० उ श० ६ उ० । आ० म० द्वि० । प्रव० ।

कोसलाउर न० (कोशलापुर) अयोध्यायाम्, ''कोशलाउरे, नंदस्स धूया सिरिसमती ।'' आ० म० द्वि० ।

कोसलिय पुं० (कौशलिक) कुशला विनीता अयोध्या, तस्या अधिपतिस्तत्र भवो वा कौशलिकः, अध्यात्मादित्वादिकण्-प्रत्ययः । आ० म० प्र० । कोशलदेशे भवः कौशलिकः । स० ८३ सम० । कोशलायामयोध्यायां भवः । जं० २ वक्ष० । कोशलदेशे जाते, भ० २० श० ८ उ० । कोशलदेशोत्पन्नत्वात् श्रीऋषभदेवे, ''उसभेणं अरहा कोसलिए पंचसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं होत्था'' स्था० ५ ठा० ३ उ० । कुशलाय कर्मणि दीयते, ठक् । निजकार्यसाधनार्थं राजादिकार्य्यकरेभ्यो दीयमाने उत्कोचे, वाच० ।

कोसल्ल न० [कौश (स)ल्य] कुशलमेव ब्राह्म० ष्यञ् । दक्षतायाम् वाच० । निपुणत्वे, ''निउणत्तणं च कोसल्लं तत्थ निसेवासयणं'' संथा० ।

कोसा स्त्री० (कोशा) स्वनामख्यातायां वेश्यायाम्, यस्या गृहे द्वादश वर्षाण्युषित्वाऽपि श्रीस्थूलभद्रस्वामी न धैर्याच्चलितः । कल्प० ८ क्षण । आ० म० द्वि० । ती० । आ० चू० । (तत्कथा 'थुलभद्द' शब्दे कथयिष्यते)

कोसागर पुं० (कोशागार) कमलकोरकाकृतिषु, पञ्चा० ३ विव० । विकसितकमलसदृशे, दर्श० ।

कोसातग पुं० [कोशा (षा) तक] कोश (ष) मतति । अत–कुन् । कठे वेदशाखाभेदे, पटोल्याम्, घोषके, (तरुई, वाच० । आचा० ।

कोसिय न० (कौशिक) कुशिकस्यापत्यम् ऋष्यण् । कुशेन वृत्तः अध्या० ठञ् । कुशिके, तद्वंशे भवः अण्वा । वाच० । कुशिकाऽऽख्यपुरुषप्रभवे मनुष्यसन्ताने, तद्रूपे मूलगोत्रभेदे, स्था० ७ ठा० । ''जे कोसिया ते सत्तविहा पण्णत्ता । तं जहा–ते कोसिया ते कच्चयणा ते सालंकायणा ते गोलिकायणा ते पक्खिकायणा ते अग्गिच्चा ते लोहिच्चा'' । कौशिकाः पुङ्लूकादयः । स्था०

६ ठा० । बहुलो बलिसहश्च द्वौ जमलभ्रातरौ कौशिकगोत्रौ, नं० । विंशतितमनक्षत्रस्य गोत्रं कौशिकम् । चं० प्र० १० पाहु० जं० । सूत्र० । अङ्गर्षिरुद्रकयोर्गुरौ, स्वनामख्याते ब्राह्मणोपाध्याये, आ०क० । ('अज्जव' शब्दे प्र० भागे २१५ पृष्ठे कथोक्ता) आव० । आ० चू० । चण्डकौशिके, तस्य कौशिक इति मुख्यं नाम, चण्ड इति तीव्रकोपत्वाद् विशेषणम् । आ० म० द्वि० । आ० चू० । ('चंद्धकोसिय' शब्दे कथा) कोलाकसन्निवेशे जाते ब्रह्मलोकाच्च्युते मरीचिजीवे ब्राह्मणे, आ० म० प्र० । आ० चू० । सिद्धार्थपुरेऽभव्यैर्गृहीतस्य वीरभगवतो मोचके स्वनामख्यातेऽश्ववणिजि, आ० म० द्वि० । आ० चू० । द्वी० ।

कोसियार पुं० (कोशिकार) चीनविषये उत्पद्यमाने चीनांशुके स्था० ५ ठा० ३ उ० । हंसगर्भे सूत्रकारणे, अनु० । कोशकारके जीवभेदे, पुं० । कोशिकारकीटो हि दिग्भ्योऽनुदिग्भ्यश्च विभ्यदात्मसंरक्षणार्थं वेष्टनं करोति । आचा० १ श्रु० १ अ० ६० ल० ।

कोसी स्त्री० [कोशी (षी)] कुश (कुष) अच्, गौरा० ङीष्, चर्मपादुकायाम्, धान्याद्यग्रभागे च । वाच० ।

कौशी स्त्री० गङ्गामहानदीं सलिलैः समर्पयति । नदीभेदे, स्या० ५ ठा० ३० उ० । प्रतिमायाम्, स्था० ५ ठा० ३ उ० । ज्ञा० । उपा० ।

कोसेय न० (कौशेय) कोशा (षा) दुत्थितम् ढक् । कृमिकोशादिजाते वस्त्रे, वाच० । त्रसरितन्तुनिष्पन्ने वस्त्रे, जी० ३ प्रति० । कौशेयकारोद्भवे वस्त्रे, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार । ''कोसेज्जो वडओ भण्णति'' । नि० चू० १ उ० । आ० म० । 'हलधरकोसेयं' । बलदेववस्त्रम् । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

कोस्टागार न० (कोष्ठागार) मागध्यां ''दृष्टयोःस्टः'' ८।४।२९०। इति पकाराक्रान्तस्य ठकारस्य सकाराक्रान्तः टः । धान्यागारे, प्रा० ४ पाद ।

कोह पुं० (कोथ) कुथित्वे शटने, भ०३ श० ६ उ० ।

क्रोध पुं० क्रोधनं कुध्यति वा येन स क्रोधः । स्था० ४ ठा० १ उ० ।

(चतुर्द्धा क्रोधः 'कसाय' शब्दे अस्मिन्नेव भागे ३६५ पृष्ठे उक्तः) क्रुध घञ् । कोपे, पा० । प्रव० । दर्श० । उत्त० । रोषे, स्था० ४ ठा० ४ उ० । आव० । अक्षान्तिपरिणतिरूपे, प्रव० २१६ द्वार । अविचार्य्य परस्यात्मनो वाऽपायहेतौ अन्तर्बहिर्वा स्फुरणात्मनि, ध० १ अधि० । उत्त० । सूत्र० । स्वपरात्मनाऽप्रीतिलक्षणे, सूत्र० २ श्रु० ५ अ० । क्रोधमोहनीयोदयसंपाद्ये जीवस्य परिणतिविशेषे, स्था० ४ ठा० १ उ० । जातिकुलरूपबलादिसमुत्थे, आचा० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० । कृत्याकृत्यविवेकोन्मूलके प्रज्वलनात्मके चित्तधर्मे, द्वा० २१ द्वा० ।

क्रोधनिक्षेपः—तत्र क्रोधो नामादिभेदाच्चतुष्प्रकारः । नामस्थापने क्षुण्णे, नोआगमनतो ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तो द्रव्यक्रोधः । प्राकृतशब्दसामान्यापेक्षया चर्म्मकारकोथः रजककोथो नीलिकोयश्च कोय इति गृह्यते । नोआगमतो भावक्रोधः क्रोधोदय एव । स च चतुर्भेदः । उक्तं च— ''जलरेणुपुढविपव्वय—राईसरीसो चउव्विहो कोहो'' ॥ (२९९ ०) विशे० । आ० म० द्वि० ।

अथ नामादिके द्रव्यक्रोधे ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं द्रव्यक्रोधमाह —

दुविहो दव्वक्कोहो, कम्मदव्वे य नो य कम्मम्मि ।
कम्मद्दव्वे कोहो, तज्जोगा पोग्गलाऽणुइया ॥२९८७॥
नो कम्मदव्वकोहो, नेओ चम्मारनीलिकोहाई ।
जं कोहवेयणिज्जं, समुइण्णं भावकोहो सो ॥२९८८॥

ज्ञभव्यशरीरव्यतिरिक्तो द्रव्यक्रोधो द्विधाकर्म्मद्रव्यक्रोधो, नोकर्म्मद्रव्यक्रोधश्च । तत्र योग्यादयोऽनुदिताश्चतुर्विधाः पुद्गलाः कर्म्मद्रव्यक्रोधः ॥२९८७॥ नोकर्म्मद्रव्यक्रोधस्तु—(कोहि त्ति) प्राकृतशब्दमाश्रित्य चर्म्मकारचर्म्मकोथो नीलकोथादिश्च ज्ञेयः । भावक्रोधमाहयत्क्रोधवेदनीयं कर्म्म विपाकतः समुदीर्णमुदयमागतं तज्जनितश्च क्रोधपरिणामः स भावक्रोध इति ॥२९८८॥ विशे० । ''एगे कोहे'' स्था० १ ठा० १ उ० ।

दुविहे कोहे पन्नत्ते । तं जहा—आयपइट्ठिए चेव, परपइ—ट्ठिए चेव । एवं णेरइयाणं० जाव वेमाणियाणं एवं० जाव मिच्छादंसणसल्ले॥

(दुविहे कोहे इत्यादि) आत्मापराधादैहिकापायदर्शनादात्मनि प्रतिष्ठित आत्मविषयो जात आत्मना वा परत्राक्रोशादिना प्रतिष्ठितो जनित आत्मप्रतिष्ठितः, परेणाक्रोशादिना प्रतिष्ठित उदीरितः परस्मिन् वा प्रतिष्ठितो जातः परप्रतिष्ठित इति । (एव मिति) यथा सामान्यतो द्विधा क्रोध उक्तः, एवं नारकादीनां चतुर्विंशतेर्वाच्यं, नवरं पृथिव्यादीनामसंज्ञिनामुक्तलक्षणमात्मप्रतिष्ठितत्वादि पूर्वभवसंस्कारात् क्रोधद्वयमवगन्तव्यमिति । एवं मानादीनि मिथ्यात्वान्तानि पापस्थानकान्यात्मप्रतिष्ठितविशेषणानि, सामान्यपदपूर्वकं चतुर्विंशतिदण्डकेनाऽध्येतव्यानि । अत एवाह— (एवं जाव मिच्छादंसणसल्ले त्ति) एतेषां च मानादीनस्वविकल्पजातपरजनितत्वाभ्यां स्वात्मवर्त्तिपरात्मवर्त्तित्वाभ्यां वा स्वपरप्रतिष्ठितत्वमवसेयम्, एते पापस्थानाश्रितास्त्रयोदश दण्डका इति । स्था० २ ठा० ४ उ० (क्रोधस्यात्मप्रतिष्ठितत्वादिभेदाः सदण्डकाः कसाय शब्दे अस्मिन्नेव भागे ३६५ पृष्ठे उक्ताः)

राजयः—

चत्तारि राईओ पण्णता । तं जहा—पव्वयराई पुढविराई बालुयराई उदगराई । एवामेव चउव्विहे कोहे पण्णत्ते । तं जहापव्वय-राईसमाणे पुढविराईसमाणे बालुयराईसमाणे उदगराईसमाणे । पव्वयराइसमाणं कोहमणुप्पविट्ठे जीवे कालं करेइ, णेरइएसु उववज्जइ, पुढविराइसमाणं कोहमणुप्पविट्ठे जीवे कालं करेइ, तिरिक्खजोणिएसु उववज्जइ, वालुयराइसमाणं कोहं अणुप्पविट्ठे जीवे कालं करेइ, मणुस्सेसु उववज्जइ, उदगराइसमाणं कोहमणुप्पविट्ठे समाणे जीवे कालं करेइ देवेसु उववज्जइ ।

अस्य चायमभिसम्बन्धः—पूर्वं चारित्रमुक्तं तत्प्रतिबन्धकश्च क्रोधादिभावः इति क्रोधस्वरूपनिरूपणायेदमुच्यते—तदेवं संबन्ध—स्यास्य दृष्टान्तभूतादिसूत्रव्याख्या राजी रेखा, शेषं क्रोधव्याख्यानं मायादिवत् मायादिप्रकरणाद्यान्यत्र क्रोधविचारो विचित्रत्वात्सूत्रगतेः । द्वितीयं च सुगममेव । अयश्च क्रोधो भावविशेष् इति । भावप्ररुपणाय दृष्टान्तादिसूत्रद्वयमाह—(चत्तारीत्यादि) प्रसिद्धं किन्तु कर्दमो यत्र प्रविष्टः पादादिना क्रष्टुं शक्यते, कष्टेन वा शक्यते. खञ्जनं दीपादिखञ्जनतुल्यः पादादि-

लेपकारी कर्दमविशेष एव, बालुका प्रतीता, सा तु लग्नाऽपिजलशोषे पादादेरल्पेनैव, प्रयत्नेनापैतीत्यल्पलेपकारिणी, शैलास्तु पाषाणाः श्लक्ष्णरूपाः, ते पादादेः स्पर्शनेनैव किञ्चित् दुःखमुत्पादयन्ति, न तु तथाविधं लेपमुपजनयन्ति ॥ स्था० ४ ठा० ३० उ० । आचा० ।

जलरेणुपुढविपव्वय–राईसरिसो चउव्विहो कोहो ।

इह राजिशब्दः सदृशशब्दश्च प्रत्येकं संबध्यते, ततो जलराजिसदृशस्तावत्संज्वलनः क्रोधः । यथा यष्ट्यादिभिर्जलमध्ये राजी रेखा क्रियमाणा शीघ्रमेव निवर्त्तते, तथा यः कथमप्युदयं प्राप्तोऽपि सत्वरमेव व्यावर्त्तते, स संज्वलनक्रोधोऽभिधीयते, रेणुराजिसदृशः प्रत्याख्यानावरणः क्रोधः । अयं हि संज्वलनक्रोधापेक्षया तीव्रत्माद्रेणुमध्यविहितरेखावच्चिरेण निवर्त्तत इति भावः । पृथिवीराजिसतदृशस्त्वप्रत्याख्यानावरणः, यथा स्फुटितपृथिवीसंबन्धिनी राजी कचवरादिभिः पूरिता कष्टेनापनीयते, एवमेषोऽपि प्रत्याख्यानावरणापेक्षया कष्टेन विनिवर्त्तत इति भावः । विदलितपर्वतराजीसदृशः पुनरनन्तानुबन्धी क्रोधः कथमपि निवर्तयितुमशक्य इत्यर्थः । उक्तश्चतुर्विधः क्रोधः । कर्म० १ कर्म० । ''कोहे कोवे रोसे दोसे अखमासंजलणे कलहे चंडिक्के भंडणे विवाए'' इति दश नामानि क्रोधकषायस्य गौणमोहनीयकर्मणि अन्तर्भवन्ति । स० ५२ सम० । आ० म० । आ० चू० । (क्रोधे उदाहरणम् 'जमदग्गि' शब्दे)

कोहं असच्चं कुवेज्जा, धारेज्जा पियमप्पियं ।

क्रोधमसत्यं कुर्यात् गुरुभिर्निर्भर्त्सितः कदाचित् सक्रोधः स्यात्तदाऽपि क्रोधं विफलं कुर्यात् अप्रियमपि गुरुवचनं प्रियमिव आत्मनो हितमिव स्वमनसि धारयेत् ।१४। अथ क्रोधस्य असत्यकरणे उदाहरणम् । यथा–कस्यचित् कुलपुत्रस्य भ्राता वैरिणा व्यापादितः, अन्यदा कुलपुत्रो जनन्या भणितः–पुत्र ! त्वद्भ्रातृघातुकं वैरिणं घातय । ततः स वैरी तेन कुलपुत्रेण शीघ्रं निजबलात् जीवग्राहं गृहीत्वा जननीसमीपे आनीतः भणितश्च । अरे । भ्रातृघातक ! अनेन खड्गेन त्वामहं क्व हन्मि? तेनापि उद्गमितं प्रचण्डं दृष्ट्वा भयभीतेन भणितम्–यत्र शरणागता न हन्यन्ते एतद्वचः श्रुत्वा कुलपुत्रेण जननीमुखमवलोकितम् । जनन्या च सत्वमवलम्ब्य उत्पन्नकरुणया भणितम्–हे पुत्र ! शरणागगता न हन्यन्ते । यतः– ''सरणागयाणं विस्संभियाण पणयाण वसणपत्ताणं । रोगी अजुंगमाणं, सप्पुरिसा नेव पहरंति'' ॥१॥ तेन कुलपुत्रेण भणितम्–कथं रोषं सफलीकरोमि? जनन्या उक्तम् वत्स ! सर्वत्र न रोषः सफलीक्रियते । जननीवचनात् स तेन मुक्तः । तयोश्चरणेषु पतित्वा क्षामयित्वा चापराधं स गतः एवं क्रोधमसत्यं कुर्यात् । इति कुलपुत्रस्य कथा । उत्त० १ अ० ।

''कोहो अप्पीइकरो, उव्वेयकरो य सुगइनिइलणो ।
वेरणुबंधजलणो, जलणो वरगुणगणवणस्स ॥८४॥
कोहंधा निहणंती, पुत्तं भित्तं गुरुं कलत्तं च ।
जणयं जणिं अप्पिं पि, निग्घिणा किंच न कुणंति ?॥८५॥
कोहग्गी पज्जलिओ, न केवलं दहइ अप्पणो देहं ।
सत्ताविई य परंपि हु, पहवइ परभवविणासाय ॥८६॥
ता कोहमहाजलणं, विज्झावियव्वो खमाजलेण सया ।
न कारणरुषां संख्याऽसंख्याताः कारणक्रुधः ।
कारणेऽपि न कुप्यन्ति, ये ते जगति पञ्चषाः'' ॥ अङ्का०१ प्रस्ता०।

क्रोधकषायमुद्भावयितुमाह –

जे कोहणे होइ जगट्ठभासी,
विओसियं जे उ उदीरएज्जा ॥
अंधे व से दंडपहं गहाय,
अविओसिए घासति पावकम्मी ॥५॥

यो ह्यविदितकषायविपाकः प्रकृत्यैव क्रोधनो भवति, तथा जगदर्थभाषी यश्च भवति । जगत्यर्था जगदर्था ये यथा व्यवस्थिततः पदार्थास्तानाभाषितुं शीलमस्य जगदर्थभाषी तद्यथा–ब्राह्मणं 'डोमं' इति ब्रूयात्तथा वणिजं 'किराटं' इति, शुद्धम् 'आभीरं' इति, श्वपाकं 'चाण्डालं' इत्यादि । तथा काणं काणमिति, तथा खंजं कुब्जं वडभमित्यादि, तथा कुष्ठिनं क्षयिणमित्यादि । यो यस्य दोषस्तं तेन खरं परुषं ब्रूयात् यः स जगदर्थभाषी । यदि वा जयार्थभाषी यथैवात्मनो जयो भवति तथैवाविद्यमानमप्यर्थं भाषते तच्छीलश्च, येन केनचित्प्रकारेणाऽसदर्थभाषणेप्यात्मनो जयमिच्छतीत्यर्थः। (विओसियं त्ति) विविधमवसितं पर्यवसितमुपशान्तं द्वन्द्वं कलहं यः पुनरप्युदीरयेत् । एतदुक्तं भवति-कलहकारिभिर्मिथ्या दुष्कृतादिना परस्परं क्षामितेऽपि तद् ब्रूयाद्येन पुनरपि तेषां क्रोधादयो भवन्ति । सांप्रतमेतद्विपाकं दर्शयति–यथा ह्यन्धश्चक्षुर्विकलो दण्डपथं गोदण्डमार्गं प्रमुखोज्ज्वलं गृहीत्वाऽऽश्रित्य व्रजन् सम्यग्कोविदतया घृष्यते कण्टकश्वा पदादिभिः पीड्यते, एवमसावपि केवलं लिङ्गधार्यनुपशान्तक्रोधः कर्कशभाष्याधिकरणो–द्दीपकः, तथा (अविओसिय त्ति) अनुपशान्तद्वन्द्वः पापमनार्यं कर्मानुष्ठानं यस्यासौ पापकर्मा घृष्यते, चतुर्गतिके संसार यातनास्थानगतः पौनःपुन्येन पीड्यत इति ॥५॥ सूत्र०१ श्रु० १३ अ० । ''णत्थि कोहे व माणे वा, णेवं सन्नं निवेसए । अत्थि कोहे व माणे वा, एवं सन्नं निवेसए'' ॥२०॥ इति क्रोधसिद्धिः 'अत्थिवाय' शब्दे प्र० भागे ५२१ पृष्ठे उक्ता) ''विगिंच कोहं अविकंपमाणे'' कारणेऽकारणे वाऽतिक्रूराध्यवसायः क्रोधः, तं त्यज, तस्य च कार्यं कम्पनं तत्प्रतिषेधं दर्शयत्यविकम्पमानः । सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । ''लोभी पश्येद्धनप्राप्तिं, कामिनीं कामुकस्तथा । भ्रमन् पश्येदथोन्मत्तो, न किञ्चिच्च कुधाऽऽकुलः'' ॥१॥ उत्त० अ० । क्रोधपरिणामजनके (मोहनीय) कर्मणि, भ० १२ श० ५ उ० ।

कोहंगक पुं० (कोहङ्गक) पक्षिभेदे, औ० । (अनन्तानुबन्ध्यादि चतुर्द्धा क्रोधः 'कसाय' शब्दे अस्मिन्नेव भागे ३६५ पृष्ठे उक्तः)

कोहंझाण न० (क्रोधध्यान) कूलबालुकगोशालककपालकनमुचिशिवभूतिप्रभृतीनामिव क्रोधाध्यवसितै ध्याने, आतु० ।

कोहंड पुं० (कूष्माण्ड) रत्नप्रभाया उपरि योजनशते स्थानवति अप्रज्ञप्त्यादिषुसप्तमे व्यन्तरनिकाये, प्रव० १६४ द्वार । पुष्पफले, अनु० । सौधर्मकल्पे स्वनामख्याते विमाने, ती० ५६ कल्प ।

कोहंडिदेव पुं० (कूष्माण्डिदेव) सौमभट्टभार्य्याया अम्बिका–याः कूष्माण्डे कल्पे देवत्वेनोत्पन्ने जीवे, ती० ।

तत्कल्प इत्थम् –

''सिरिउज्जयंतगिरिसिहर–सेहर पणमिऊण नेमिजिणं ।
कोहंडिदेवकप्पं, लिहामि वुड्ढोवएसाओ'' ॥१॥
अत्थि सुरट्ठाविसए धणकणयसंपन्नजणसमिद्धं कोडीनारं

नाम नयरं, तत्थ सोमो नाम रिद्धिसमिद्धो छक्कम्मपरायणो य आगमपारगो बंभणो हुत्था । तस्स घरणी अंबिणी नाम महग्घसीलालंकार-भूसिअसरीरा आसि । तेसिं विसयसुहमणुभवंताणं खप्पन्ना दुवे पुत्ता । पढमो सिद्धो, बीओ, वुद्धु त्ति । अन्नया समागयाए पिअरपक्खे भट्टसोमेणं निमंतिआ बंभणा सिद्धदिण्णे कत्थ वि ते वेअमुच्चारंति, कत्थ वि आढवंति पिंडप्पयाणं, कत्थ वि होमं करिंति, वइस्सदेवं च, संपाडिआ सालिदालिबंजणपक्कन्नभेअखीणखंडपमुहा, जे मरणरा अबि णीएअ सासुआ ण्हाणं काउं पयट्टा, तम्मि अवसरे एगो साहू मासोववासपरेणं एनम्मि घरे सिक्खट्ठा संपत्तो, तं पालइत्ता हरिसभरनिज्झरतुलइअंगी उट्ठिआ अंबिणी, पडिलाभिओ तीए मुणिवरो भत्तिबहुमाणपुव्वं अहापवित्तेणं भत्तपाणेहिं जाव गहिअभिक्खो साहू वलिओ ताव सासुआ वि ण्हाऊण रसवईठाणमागया, तं पिच्छइ पढमसिहं, तओ तीए कुविआए पुट्ठा बहुआ । तीए जहट्ठिए वुत्ते अंबामिआ साअज्झइ । जहा–पावे ! किमेअं तए कयं ?, अज्ज वि कुलदेवया न पूइआ, अज्ज वि न भुंजाविआ विप्पा, अज्ज वि न भरियाइ पिंडाइं, अग्गसिहो तए किमच्छं साहुणो दिन्ना, तओ तीए भणिओ सव्वो वि वइअरो सोमभट्टस्स, तेण रुट्ठेण भप्पच्छंदिअ त्ति निक्कालिआ गिहाओ । सा पडिभवदूसिआ सिद्धं करंगुलीए धरित्ता बुद्धं च कडीण् चडावित्ता चलिआ नयराओ बहिं, पंथे तिसाभिभूएहिं दारएहिं जलं मग्गिआ जाव सा अंसुजलपुन्नलोअणा संवुत्ता ताव पुरओ ठिअं सुक्कसरोवरं तिस्स अणग्घेणं सीहमाहप्पेणं तक्खणं जलपूरिअं जायं, पाइआ दो वि सीअलं नीरं । तओ बुहिएहिं भोअणं मग्गिआ बालएहिं, पुरओ ठिओ सुक्कसहयारतरू, तक्खणं फलिओ, दिन्नाइं फलाइं । अविणीए तेसिं जायो सुत्तथा जाव साहू अट्ठयाए वीसमइ ताव जं जायं तं निसामेह – तीए बालयाई पढमं जेमाविआ तैसिं भुत्तुत्तरं पत्तलीओ तीए ठाहिं उज्झिआउ आसि, ताओ सीलमाहप्पा कंपिअमणाए सासणदेवयाए सोवन्नपालकच्चोलयरुवाओ कयाओ जअउव्विट्ठमिच्छ-कराणा भूमीण् पडिआ । ते मुत्ति आइं संपाइआइं, अग्गिसिहा य सिहरेसु तहेव दंसिआए अमच्चुज्झअं सासए दट्ठण निवेइअं सोमविप्पस्स–सिद्धं च जहा वच्छ! सुलक्खाणिआ पश्च्चया य एसा वहु ता पच्चगोहि एअं कुलहरं ति, जणणीपेरिओ पच्छातावानलडज्झंतमाणसो गओ बहुअं वालेउं सोमभट्टो, तीए पिट्ठओ आगच्छतं दिअवरं दट्ठण दिसाओ पलोइआओ, दिट्ठओ अग्गओ मग्गओ कूवओ, तओ जिणवरं मणे अणुसरिऊण सुपत्तदाणं अणुमेअंतीए अप्पा कूवम्मि झंपाविओ, सुहज्झवसाणेण पाणे चइऊण उप्पन्ना कोहंडविमाणे सोहम्मकप्पहिट्ठे चउहिं जोअणेहिं अंबिआ देवी नाम महिड्ढिया देवी, विमाणनामेणं कोहंडी वि भन्नइ । सोमभट्टेण वि तीसे महासईए कूवे पडणं दट्ठुं अप्पा तत्थेव झंपाविओ, सो अ मरिऊण तत्थेव जाओ देवो, आभिओगिअकम्मुणा सिंहरूवं विउव्वित्ता तीसे चेव वाहणं जाओ । अण्णे भणंति–अंबिणी रेवयासिहरिओअप्पाणं झंपावित्ता तप्पिट्ठओ सोमभट्टो वि तहेव मओ, सेसं तहेव । सा य भगवई चउब्भुआ दाहिणहत्थेसु अंबलुंवि पासं च धारेइ, वामहत्थेसु पुण पुत्तं अंकुसं च धारेइ, उत्तत्तकणयसवन्नं च वण्णं समुव्वहइ सरीरे, सिरिनेमिनाहस्स सासणदेवयत्ति निवसइ रेवयगिरिसिहरे मउलकुंडलमुत्ताहलहाररयणेकंकणनेउराइं सव्वंगीणा-भरणरमणिज्जा पूरेइ सम्मदिट्ठीणमा णाहरेहिं निवारेइ विग्घसंघायं, तीए मंतमंडलाईणि आराहइत्ता णं भविआणं दीसंति अणेगरुवाओ रिद्धिसिद्धिओ, न पहवंति भूतपिसायसाइणोविसमग्गहा, संपज्जंति पुत्तकलत्तमित्तधणधन्नरज्जसिरिओ त्ति । अंबिआमंता इमे –

''बयवीअमकुलकुलजल–हरिहयअक्कंतपेआइं ।
पणइणिवायावसिओ, अंबिअदेवीए अह मतो ॥१॥
थुवभुवणदेविसंबु–द्धिपासअंकुसतिलोअपंचसरा ।
णहसिहिकुलकलअज्झा–सिरिमायाएँ पण्णमपयं ॥२॥
वागुज्झवंति लोअं, पाससिणीहाउ तइअवन्नस्सा ।
कूहंडअंबियाए, नमु त्ति आराहणाभंतो'' ॥३॥

एवं अंते वि अंबादेवीमंता अप्परक्खाविसया सुरमणा जुग्गा मग्गखेमा इइ गोअद्धा य बहवो चिट्ठंति, ते अ तहामंडलाणि अइच्छंतभणिआणि गंथवित्थरभएणं ति गुरुमुहाओ नायव्वाणि ।

''एयं अंबियदेवी–कप्पं अवि अप्पवित्तवित्तीणं ।
वायंतसुणंताणं, पुज्जंति समीहिआ अत्था'' ॥१॥ ती० ५६ कल्प ।

कोहंडिया स्त्री० (कूष्माण्डी) पुष्पफल्याम्, आ० म० प्र० ।

कोहंडी स्त्री० (कूष्माण्डी) ईषदूष्माऽण्डेऽस्याः । गौरा० ङीप् ।

''ओत्कूष्माण्डीतूणीरकर्पूरस्थूलताम्बूलगुडूचीमूल्ये'' ८।१।१२४।

इति उकारस्य ओकारः । 'कोहंडी, कोहली' । प्रा० १ पाद । औषधिभेदे, कर्कर्यौ, दुर्गायाम्, दुर्गायाः कूष्माण्डबलि–प्रियत्वाच्च तथात्वम् । वाच० ।

कोहकंडूइ स्त्री० (क्रोधकण्डूति) क्रोधकण्डूवाम्, षो० ।

तस्या लिङ्गम् –

सत्येतरदोषश्रुति–भावादन्तर्बहिश्च यत् स्फुरणम् ।
अविचार्य्य कार्यतत्त्वं, तच्चिह्नं क्रोधकण्डूतेः ॥१३॥

(सत्येत्यादि) सत्येतरदोषश्रुतिभावाद्यन्तर्बहिश्चाभ्यन्तरपरि–णाममाश्रित्यान्तर्बहिर्गता अप्रसन्नताद्याकारद्वारेण बहिश्च यत् स्फुरणं वा वृद्धिश्चलनं वा अविचार्यानालोच्य कार्य्यतत्त्वं कार्यपरमार्थं तच्चिह्नं लक्षणं क्रोधकण्डूतेः कोधकण्डूवाः । षो० ४ विव० ।

कोहकसाय पुं० (क्रोधकषाय) कोपात्मके प्रथमकषाये, प्रज्ञा० १४ पद । सं० ।

कोहकायरियाइपीसण त्रि० (क्रोधकातरिकादिपीषण) क्रोधग्रहणात् मानो गृहीतः, कातरिका माया, तद्ग्रहणात् लाभो गृहीतः । आदिग्रहणा-त्तच्छेषमोहनीयपरिग्रहः, तत्पीषणं तदपनेतारः। विगतमोहनीयकर्मांशेषु, ''वीरया वीरा समुट्ठिया कोहकायरियाइपीसणा ।'' सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

कोहकिरिया स्त्री० (क्रोधक्रिया) क्रोधाश्रिते क्रियाभेदे, यथाऽऽत्मना कुद्धयति परस्य क्रोधमुत्पादयति । आ० चू० ४ अ० ।

कोहकिलाम पुं० (क्रोधल्कम) क्रोधाच्छरीयासे, भ० ७ श० १ उ० ।

कोहण (न०) क्रोधन – क्रोधकरणशीले, उत्त० २७ अ० । रोषिणि, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० । नवमाऽसमाधिस्थानं प्राप्तः क्रोधनः । स च सकृत्क्रोद्धोऽत्यन्तक्रुद्धो भवति । स० २ ० सम० । दशा० ।

आव०। आ० चू०। कोहं परियाणइ से णिग्गंथे णो कोहेणे सिया इत्यादि मृषावादविरतेर्द्वितीया भावना। आचा०२ श्रु० ३ चू०।

कोहणिग्गह पुं० (क्रोधनिग्रह) क्रुध कोपे, क्रोधनं क्रोधः। निग्रहणं निग्रहः। तितिक्षात्मके चरणभेदे० ओध०। प्रव०।

कोहणिरोह पुं० (क्रोधनिरोध) क्षमायाम्, ''खम त्ति वा तितिक्ख त्ति वा कोहनिरोह त्ति वा एगट्ठा।'' आ० चू० ४ अ०।

कोहणिस्सिय न० (क्रोधनिश्रित) क्रोधे निश्रितं क्रोधनिश्रितम्। क्रोधाश्रिते वृथाशब्दार्थे, तच्च यथा क्रोधाभिभूतोऽदासमपि दासमभिधत्त इति। स्था० १० ठा०। क्रोधे च माने च मूर्च्छाभेदे, स्था० २ ठा० ४ उ०।

कोहदंसिण् (त्रि०) क्रोधदर्शिन्–क्रोधस्य स्वरूपतो वेत्तरि, 'जे कोहदंसी से मानदंसी।' यो हि क्रोधं स्वरूपतो वेत्त्यनर्थपरित्यागरूपत्वात् ज्ञानस्य परिहरति च समानमपि पश्यति परिहरति चेति, यदि वा यः क्रोधं पश्यत्याचरित समानमपि पश्यति मानध्मातो भवतीत्यर्थः। आचा० १ श्रु० ३ अ० ४ ल०।

कोहपमिसंलीण त्रि० (क्रोधप्रतिसंलीन) क्रोधं प्रति उदयनिरोधेनौदय-प्राप्तविफलीकरणेन प्रतिसंलीनः। क्रोधनिरोधबति, स्था० १ ठा० १ उ०।

कोहपिंम पुं० (क्रोधपिण्ड) क्रोधः कोपस्तद्धेतुकः पिण्डः क्रोधपिण्कः। प्रव० ६७ द्वार। विद्यातपःप्रभावज्ञापनं राजपूजादिख्यापनं क्रोधफल-दर्शनं वा भिक्षार्थं कुर्वतः सप्तमे उत्पादनादोषे, ध० ३ अधि०। पञ्चा०। उत्त०।

अस्य सम्भवमाह–

विज्जा तवप्पभावं, रायकुले वा वि वलभत्तं।
से नाउ उरस्सवलं, जो लब्भइ कोहपिंमो सो॥

(से) साधोर्विद्याप्रभावमुच्चाटनमरणादिकं, तपःप्रभावं शापदानादिकं, राजकुले वल्लभत्वं वा ज्ञात्वा, यदि वा उरस्यं बलसहस्रं योधित्वादिकं ज्ञात्वा यः पिण्डो लभ्यते गृहस्थेन दीयते स क्रोधपिण्डः।

अथवा वृथा क्रोधपिण्डसंभवस्तमेव दर्शयति–

अन्नेसि दिज्जमाणे, जाचेंतो वा अलद्धिओ कुप्पे।
कोहफलम्मि वि दिट्ठे, जो लब्भइ कोहपिंडो सो॥

अन्येभ्यो ब्राह्मणादिभ्यो दीयमाने याचमानोऽपि साधुर्यदा न लभते तदा अलब्धिमान् सन् कुप्येत्, कुपिते च सति (तस्मात् साधुः कुपितो भव्यो न भवती ति) यद्दीयते स क्रोधपिण्डः, यदि वा तस्मिन्नप्येवं वा क्रोधफले मरणादिशापे फलवति दृष्टवा लभ्यते स क्रोधपिण्डः।

अत्रैवोदाहरणमाह–

करडुयमुत्तमलद्धुं, अन्नहि दाहित्थ एव वच्चंतो।
थेरा भोयण तइए, आइखणा खामणा दाणे॥

हस्तकल्पे नगरे क्वचित् ब्राह्मणगृहे मृतकभक्ते मासिके दीयमाने कोऽपि साधुः मासक्षपणपर्यवसाने भिक्षार्थं प्रविशेश, दृष्टाश्च तेन घृतपूरा ब्राह्मणेभ्यो दीयमानाः, सोऽपि च साधुः प्रतिषिद्धो दौवारिकेण, ततः कुपितोऽवादीत्–(अन्नहिं दाहित्थत्ति) अस्य चायमर्थः–अस्मिन् मासिके तावन्मया न लब्धं ततोऽन्यस्मिन् मासिके दास्यथेति। एवं अभुक्त्वा निर्गतो, दैवयोगेन च तत्रान्यमानुषं पञ्चमदिनमध्ये मृतं, ततस्तस्य मासिके दीयमाने भूयः स एव साधुर्मासक्षपणपारणे गतः, तथैव च प्रतिषिद्धो दौवारिकेण, ततो भूयोऽपि कुपितोऽवादीत्–(अन्नहिं दाहित्थ त्ति) ततः पुनरपि दैवयोगतस्तत्रान्यमानुषं मृतं, ततस्तस्यापि मासिके स एव साधुर्मासक्षपणपारणे भिक्षार्थमागतः, तथैव च प्रतिषिद्धो दौवारिकेण भणति–(अन्नहिं दाहित्थ त्ति) एतश्च श्रुत्वा तेन स्थविरेण दौवारिकेण चिन्तितम्पुराऽप्येतेन बारद्वयमित्थं शापो वितीर्णस्ततो द्वे मानुषे उपगते, संप्रति तृतीया बेला, ततो मा किमपि मानुषं प्रियतामिति निजानुकम्पया सर्वोऽपिवृतान्तो गृहनायकाय निवेदितः, तेन च समागत्य सादरं साधुं क्षमयित्वा घृतपूरादिकं तस्मै यथेच्छं व्यतारि, स क्रोधपिण्डः। सूत्रं सुगमं, नवरं करडुकभुक्तं मृतकभोजनं मासिकादि, पिं०। अत्राचाम्लं प्रायश्चित्तम्। जी० १ प्रति०।

जे भिक्खू कोहपिंडं भुंजइ, भुंजंतं वा साइज्जइ॥६५॥

क्रोधात् प्रमादात् यः पिण्डो लभ्यते स कोपपिण्डः।

जे भिक्खु कोहपिंडं, भुंजेज्ज सयं तु अहव सातिज्जा।
सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराहणं पावे॥१७७॥

पूर्ववत्। नि०चू० १३ उ०।

कोहपत्त त्रि० (क्रोधप्राप्त) क्रोधोदये वर्तमाने, ''कोहप्पत्ते को ही समावदेज्जा मोसवयणाइं।'' आचा० २ श्रु० ३ चू०।

कोहमुंड पुं० (क्रोधमुण्ड) क्रोधे मुण्डः कोधमुण्डः। क्रोधच्छेद-नान्मुण्डशब्दार्थतां प्राप्ते, स्था० ५ ठा० ३ उ०।

कोहल न० (कुतूहल) **''न वा मयूख–लवण–चतुर्गुण–चतुर्थ–चतुर्दशचतुर्वारसुकुमारकुतूहलोदूखलोलूखले''। ८। १। १७१।** 'कोहलं, कोहल्लम्' औत्सुक्ये, ''तहमन्ने कोहलिए'' प्रा० १ पाद।

कोहली (स्त्री०) कूष्माडी–''ओत्कूष्माण्डीतूणीरकूर्परस्थूलता-म्बूलगुडूचीमूल्ये।'' ८। १। १२४। इति उत ओत्वम्। प्रा० १ पाद। **''कूष्माण्ड्यांष्मो लस्तुण्डो वा''। ८। २। ७३।** कूष्माण्ड्यां मा इत्येतस्य हो भवति, ण्ड इत्येतस्य तु वा लो भवति। ''कोहली, कोहंडी।'' पुष्पफल्याम्, प्रा० २ पाद।

कोहविजय (पुं०) क्रोधविजय–क्रोधस्य विजयो दुरन्तादिपरिभावने-नोदयनिरोधः क्रोधविजयः। क्रोधनिग्रहे, उत्त० २९ अ०।

क्रोधफलं प्रश्नपूर्वकमाह–

कोहविजयेणं भंते! जीवे किं जणयइ? कोहविजएणं खंति जणयइ, कोहवेयणिज्जं कम्मं न बंधइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ॥६७॥

हे भगवन्! क्रोधविजयेन जीवः किं जनयति? गुरुराह–हे शिष्य! क्रोधविजयेन जीवः क्षान्तिं जनयति, क्रोधविजयी क्षान्तिमान् भवति इत्यर्थः। पुनः क्रोधवेदनीयं न कर्म बध्नाति, क्रोधोदयेन वेद्यते इति क्रोधवेदनीयं क्रोधहेतुभूतं पुद्गलरूपं मोहनीयकर्मणो भेदं न बध्नाति, पूर्वबद्धं च कर्म निर्जरयति। उत्त०। तत्र क्रोधस्य विजयो दुरन्ततादिपरिभावनेनोदयनिरोधः क्रोध–

विजयः, तेन क्रोधेन कोपाध्यवसायेन वेद्यत इति क्रोधवेदनीयः, तद्धेतुभूतं पुद्गलरूपं कर्म न बध्नाति। ''जं वेयति तं बंधइ'' इति वचनात्तथा पूर्वबद्धं प्रक्रमात्तदेव निर्जरयति, तत एवं विशिष्टजीववीर्योल्लासात्। उत्त० २६ अ०।

कोहविवेग पुं० (क्रोधविवेक) कोपत्यागे, क्रोधस्य, दुरन्ततादिपरिभाववेनोदयनिरोधे, भ० १७ श० ३ उ०। ''एगे कोहविवेगे'' स्था० १ ठा० १ उ०।

कोहवेयणिज्ज न० (क्रोधवेदनीय) क्रोधेन कोपाध्यवसायेन वेद्यत इति क्रोधवेदनीयम्। कोपेन वेद्यमाने कर्मभेदे, उत्त० २६ अ०।

कोहण्णा स्त्री० (क्रोधसंज्ञा) क्रोधोदयात्तदावेशगर्भा मरूक्षमुखनयनदन्तच्छदस्फुरणादिचेष्टैव संज्ञायते अनयेति क्रोधसंज्ञा। भ० ७ श० ८ उ०। प्रज्ञा०। संज्ञाभेदे, स्था० १० ठा०। आचा०

कोहा स्त्री० (क्रोधा) क्रोध–अर्शआदित्वात् अच्। क्रोधवत्याम्, क्रोधानुमतायाम्, ''से कोहाए माणाए लोहाए आसायणाए।'' क्रोधयेति क्रोधवत्या इति प्राप्त अर्शआदेराकृति गणत्वाद् अच्प्रत्ययान्तत्वात् क्रोधया क्रोधानुमतया। आव० ३ अ०।

कोहाइ पुं० (क्रोधादि) क्रोधप्रभृतिकषाये, ''कोहाती, आदिसद्दातो माणया लोभा घेप्पंति।'' नि० चू० १ ल०।

कोहाइदूसियमण त्रि० (क्रोधादिदूषितमनस्) कोपलोभादिकषायकलङ्कितान्तःकरणे प्राणिप्राणप्रहाणनिरपेक्षे, पञ्चा० १ विव०।

कोहाइमाण न०। पुं० (क्रोधादिमान) क्रोध आदिर्येषां ते क्रोधादयः, मीयते परिच्छिद्यतेऽनेनेति मानं स्वलक्षणमनन्तानुबन्ध्यादिर्विशेषः क्रोधादीनां मानं क्रोधादिर्वा यो मानो गर्वः क्रोधकारणः। आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ०। कषायमाने, ''कोहाइमाणं हणियाय वीरे, लोभस्स पासे णिरयं महंतं॥ तम्हा हि वीरे विरए वहाओ, छिंदेज्ज सोयं लहुभूयगामी॥१॥'' आचा० १ श्रु० ३ अ० ५ उ०।

कोहाइविवेग पुं० (क्रोधादिविवेक) क्रोधादयोऽप्रशस्ता भावास्तेषां विवेकः नरकयातनाद्यपायहेतुत्वात्परित्यागः। क्रोधादि भावे, दश० १ अ०।

कोहि पुं० (क्रोधिन्) कुध्यतीति क्रोधी। हेतुमन्तरेणापि कुप्यति धर्म्मणि, सत्त० ७ अ०। ''कोही समावदेज्जा।'' आचा० ३ चू०। अनु०। क्रोधकषायिणि, सूत्र० १ श्रु० ८ अ०।

कोहिल्ल त्रि० (क्रोधवत्) क्रोधिनि, वृ० १ ल०।

कोहुप्पत्ति स्त्री० (क्रोधोत्पत्ति) क्रोधजनने, स्था०।

दसहिं ठाणेहिं कोहुप्पत्ती सिया। तं जहा–मणुन्नाइं मे सद्द० जाव गंधाइं अवहरिंसु ॥१॥ अमणुन्नाइं मे सद्दाइं० जाव उवहरिंसु ॥२॥ मणुन्नाइं मे सद्दफरिसरसरूवगंधाइं अवहरइ ॥३॥ अमणुन्नाइं मे सद्दफरिसरसरुवगंधाइं उवहरइ ॥४॥ मणुन्नाइं मे सद्दफरिसरसरूवगंधाइं अवहरिस्सइ ॥५॥ अमणुन्नाइं मे सद्दाइं० जाव उवहरि–स्सइ ॥६॥ मणुन्नाइं मे सद्द० जाव गंधाइं अवहरिंसु, अवहरइ, अवहरिस्सइ ॥७॥ अमणुन्नाइं मे सद्द० जाव उवहरिंसु, उवहरइ, उवहरिस्सइ ॥८॥ मणुण्णा–मणुन्नाइं मे सदाइं० जाव अवहरिंसु, अवहरइ, अवहरिस्सइ ॥९॥ उवहरिंसु उवहरइ उवहरिस्सइ ॥१०॥ अहं च णं आयरियउवज्झायणं सम्मं वट्टामि ममं च णं आयरियउवज्झाया मिच्छं वि पडिवन्ना॥

गतार्थं, नवरं स्थानविभागोऽयं, तत्र मनोज्ञान् शब्दादीन् मे अपहृतवानित्येवं भावयतः क्रोधोत्पत्तिः स्यादित्येकमेवममनोज्ञानुपहृतवानुपनीतवानिह चैकवचनबहुवचनयोर्नविशेषः, प्राकृतत्त्वादिति। द्वितीय एवं वर्तमाननिर्देशेनापि द्वयं भविष्यताऽपि द्वयमित्येवं षट्। तथा मनोज्ञानामपहारतः कालत्रयनिर्देशन सप्तम एवममनोज्ञानामुपहरतोऽष्टमं मनोज्ञामनोज्ञानामपहारोपहारतः कालत्रयनिर्देशन नवमम्। (अहं चेत्यादि) दशमं (मिच्छं ति) वैपरीत्यं विशेषेण प्रतिपन्नो विप्रतिपन्नाविति॥ स्था० १० ठा०।

(चर्तुर्द्धा क्रोधोत्पत्तिः 'कसाय' शब्दैऽत्रैव भागे ३६५ पृष्ठे उक्ता)

इति श्रीमत्सौधर्मबृहत्तपागच्छीय–कलिकालसर्वज्ञ कल्पप्रभु श्रीमद्भट्टारक–जैन श्वेताम्बराचार्य श्री श्री १००८ श्री विजयराजेन्द्रसूरिविरचिते अभिधानराजेन्द्रे ककारादिशब्दसङ्कलनं समाप्तम्।

खकार

ख पुं० (ख) खकारः व्यञ्जनवर्णभेदः। कवर्गद्वितीयवर्णे कण्ठ्ये, खन–धा० ड०। सुखे, सूर्ये, वितर्के, वेदने, निन्दायां, नृपे, क्षेपे, दिवि, अवसाने, अपवर्गे, परब्रह्मणि, न०। कृशे, दीने, उदरे, अग्नौ, कृपणे, निश्चये, शान्ते रसे, विहगनायके, क्षेत्रे, पुरे, इन्दौ, दन्तधावने, कुणहे, संवेशे, फुल्लणे, एका०। इन्द्रिये, न०। आ० म० प्र०। विशे०। खमित्याकाशम्० आ० चू० ६ अ०। ''गज्जंते खे मेहा'' प्रा० १ पाद। लग्नाद्दशमे स्थाने वाच०।

खअ त्रि० (क्षत) **''क्षः खः क्वचित्तु छ–कौ'' ८। २। ३**। इति प्राकृतसूत्रेण क्षस्य खः। प्रा० २ पाद्। विदारिते, पीडिते, धर्षिते, क्षये, पुं०। विनाशे, वाच०।

खअजलहल पुं० (क्षयजलधर) **''क्षः खः क्वचित्तु छ–झौ''। ८। २। ३**। इति क्षस्य खः। क्षस्य कः अनादावित्येव, जिह्वामूलीयः। प्रलयमेघे, प्रा० ४ पाद।

खइत त्रि० (खचित) निर्युक्ते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। रञ्जिते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। मण्डिकते, औ०। विच्छुरिते, आ० भ० प्र०।

खइय पुं० [क्ष (क्षा)यिक] क्षयकर्मणामत्यन्तोच्छेदः। क्षय एव क्षायिकः, क्षयेण वा निर्वृतः क्षायिकस्तत्कर्माभावफलरूपो विचित्रो जीवस्य परिणतिविशेषः। भावभेदे परिणतिविशेषे, प्रव० २२१ द्वार। आ० म०। ल०। उत्त०। कर्म०। क्षयाज्जातः क्षायिकोऽप्रतिपातिज्ञानदर्शनचारित्रलक्षणः। अप्रतिपातिज्ञानादौ, सूत्र० १ श्रु० १३ अ०। अनु०। क्षायिको नवप्रकारः केवलज्ञानं, केवलदर्शनं, दानादिलब्धयः पञ्च, सम्यक्त्वं चरित्रं चेति। सूत्र० १ श्रु० २ अ०। कर्म०। 'खइत' शब्दार्थे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०।

क्षायिको भावो द्विधा। तद्यथा –

से किं तं खइए ? खइए दुविहे पण्णते। तं जहा–खइए अ, खयनिप्पण्णे अ। से किं तं खइए ? खइए अट्ठण्हं कम्मपयडीणं। सेत्तं खइए। से किं तं खयनिप्पण्णे ? खयनिप्पण्णे अणेगविहे पण्णते। तं जहा–उप्पण्णनाणदंसणधरे अरहा जिणे केवली खीणआभिणिबोहिअणाणावरणे खीणसुअणाणावरणे खीणओहिणाणावरणे खीणमणपज्जवणाणावरणे खीणकेवलणाणावरणे अणावरणे निरावरणे खीणावरणे णाणावरणिज्जकम्माविप्पमुक्के केवलदंसी सव्वदंसी खीणनिद्दे खीणनिद्दानिद्दे खीणपयले खीणपयलापयले खीणथीणगिद्धे खीणचक्खुदंसणावरणे खीणअचक्खुदंसणावरणे खीणओहिदंसणावरणे खीणकेवलदंसणावरणे निरावरणे खीणावरणे दरिसणावरणिज्जकम्मविप्पमुक्के खीणसायावेआणिज्जे खीणअसायावेयणिज्जे अवेअणए निव्वेअणे खीणवेअणे सुभासुभवेअणिज्जविप्पमुक्के खीणकोहे० जाव खीणलोहे खीणपेज्जे खीणदोसे खीणदंसणमोहणिज्जे खीणचरित्तमोहणिज्जे अमोहे निम्मोहे खीणमोहे मोहणिज्जकम्मविप्पमुक्के खीणणेरइआउए खीण-तिरिक्खजोणिआउए खीणमणुस्साउए खीणदेवाउए अणाउए निराउए खीणाउए आउकम्मविप्पमुक्के गइजा–इसरीरंगोवंगबंधणसंघायणसंघयणसंठाणअणेगवो दिविंदिसंघायविप्पमुक्के खीणसुभनामे खीणअसुभनामे अणामे निणामे खीणनामे सुभासुभणामकम्मविप्पमुक्के खीणउच्चगोए खीणणीअगोए अगोए निगोए खीणगोए उच्चनीचगोत्तकम्मविप्पमुक्के खीणदाणंतराए खीणलाभंतराए खीणभोगंतराए खीणउवभोगंतराए खीणवीरियंतराए अणंतराए णिरंतराए खीणंतराए अणंतरायकम्मविप्पमुक्के सिद्धे बुद्धे मुत्ते परिणिव्वुए अंतगडे सव्वदुक्खप्पहीणे, सेत्तं खयनिप्पण्णे, सेतं खइए॥

(से किं तमित्यादि) एषोऽपि द्विधा क्षयस्तन्निष्पन्नश्च। तत्र ''खएणं'' अत्र णामिति पूर्ववत्। क्षयोऽष्टानां ज्ञानावरणादिकर्मप्रकृतीनां सोत्तरभेदानां सर्वथाऽपगलमलक्षणः। स च स्वार्थिकठक्प्रत्यये क्षायिकः, क्षयनिष्पन्नस्तु तत्फलरूपः, तत्र च सर्वेष्वपि कर्म्मसु सर्वथा क्षीणेषु विषये पर्यायाः संभवन्ति, तत्क्रमेण दिदर्शयिषुर्ज्ञानावरणक्षये तावदेवं भवन्ति। तानाह– (उप्पण्णनाणदंसणेत्यादि) उत्पन्ने श्यामतापगमेनादर्शमण्डलप्रभावसकलतदावरणापगमादभिव्यक्ते ज्ञानदर्शनं धरति यः स तथा। अरहा अविद्यमानरहस्यो, नास्य गोप्यं किञ्चिदंस्तीति भावः। आवरणशत्रुजेतृत्वाज्जिनः, केवलं संपूर्णं ज्ञानमस्यास्तीति केवली, क्षीणमाभिनिबोधिकं ज्ञानावरणं यस्य स तथा। एवं नेयं यावत् क्षीणकेवलज्ञानावरणम्। अविद्यमानमावरणं यस्य स विशुद्धाम्बरश्वेतरोचिरिवानावरणः, तथा निर्गत आगन्तुकादप्यावरणाद्राहुरहितरोहिणीशवदेवं निरावरणः। तथा क्षीणप्रकाशेनापुनर्भावितया आवरणमस्येत्यपाकृतमनावरणजात्यमणिवत् क्षीणावरणः। निगमयन्नाहज्ञानावरणीयेन कर्मणा विविधमनेकैः प्रकारैः प्रकर्षेण मुक्तो ज्ञानावरणीयकर्मविप्रमुक्तः। एकार्थकानि वा एतान्यनावरणा-दिपदानि, अन्यथा वा नयमतभेदेन सुधिया भेदा वाच्याः। तदेवमेतानि ज्ञानावरणीपेक्षाणि नामान्युक्तानि। अथ दर्शनावरणीयक्षयापेक्षाणि तान्यप्याहकेवलेन क्षीणावरणेन दर्शनेन पश्यतीति केवलदर्शी, क्षीणदर्शनावरणत्वादेव सर्वं पश्यतीति सर्वदर्शीत्येवं निद्रापञ्चकदर्शनावरणचतुष्कक्षय संभवीन्यपराण्यपि नामान्यत्र पूर्वोक्तानुसारेण व्युत्पादनीयानि, नवरं निद्रापञ्चकस्वरूपमिदम्–

''सुहपकिवोहो निद्दा, दुहपडिवोहो य निद्दनिद्दा य।
पयला होइ ठियस्सा, पथलापयाला य चंकमओ॥१॥
अइसंकिलिट्ठकम्मा–णुवेयणे होइ थीणगिद्धीओ।
महानिद्दादि ण चिंतिय, वावारपसाहणीपायं''॥२॥

अपरं ज्ञानावरणादिशब्दाः पूर्वं ज्ञानावरणाभावापेक्षाः प्रवृत्ताः,

अत्र तु दर्शनावरणापरमोपेक्षा इति विशेषः। वेदनीयं द्विधा–प्री-त्युत्पादकं सातम्, अप्रीत्युत्पादकं त्वसातम्। तत्क्षयापेक्षास्तु क्षीणसातावेदनीयादयः शब्दाः सुखोन्नेया, नवरमवेदनो वेदना-रहितः, स च व्यवहारतोऽल्पवेदनोऽप्युच्यते। ततः प्राह–निर्वेदनोपगतः सर्ववेदनः, स च पुनः कालान्तरभाविवेदनोऽपि स्यादित्याह–क्षीणवेदनोऽपुर्नर्भाविवेदनः। निगमयन्नाह–(सुभासुभवेअ-णिज्जकम्मविप्पमुक्के ति)। मोहनीयं द्विधादर्शनमोहनीयं, चारित्रमोहनीयं च। तत्र दर्शनमोहनीयं त्रिधासम्यक्त्वमिश्रमिथ्यात्वभेदात्। चारित्रमोहनीयं च द्विधा–क्रोधादिकषायहास्यदिनोकषायभेदात्। तत एतत्क्षयसंभवीनि सूत्रलिखितानि क्षीणकोधादीनि नामानि सुबोधान्येव, नवरं मायालोभौ प्रेम, क्रोधमानौ तु द्वेषः। तथाऽमोहोऽपगतमोहनीयकर्म्मा, स च व्यावहारिकैरल्पमोहोदयोऽपि निर्दिश्यते। अत आह–निर्गतो मोहन्निर्मोहः, स च पुनः कालान्तरभाविमोहोदयोऽपि स्यादुपशान्तमोहवत्तद्व्य–वच्छेदार्थमाहक्षीणमोहोऽपुनर्भाविमोहोदय इत्यर्थः। निगमयतिमोहनीयकर्म्मविप्रमुक्त इति। नारकाद्यायुष्कभेदेनायुश्चतुर्द्धा। तत्क्षयसमुद्भवानि च नामानि सुगमानि, नवरमविद्यमानायुष्कोऽनायुष्कस्तद्भविकायुःक्षयमात्रेऽपि स्यादत उक्तम्–निरायुष्कः। स च शैलेशीं गतः किञ्चिदवतिष्ठमानायुः शेषोऽप्युपचारतः स्यादत उक्तम्–क्षीणायुरिति। आयुःकर्म्मविप्रमुक्त इति निगमनं, नामकर्म्मसामान्येन शुभाशुभभेदतोद्विविधम्, विशेषतस्तु गतिजातिशरीराङ्गोपाङ्गादिभेदाद् द्विचत्वारिंशद्भेदाः स्थानान्तरादवसेयाः, तत्रेह तत्क्षयभावीनि कियन्ति नामानि ? अभिधत्ते–(गइजाइसरीरेत्यादि) इह प्रक्रमान्नामशब्दो यथासंभवं द्रष्टव्यः, ततश्च नारकादिगतिचतुष्टयहेतुभूतं गतिनाम, एकेन्द्रियजाति-पञ्चककारणं जातिनाम, औदारिकादिशरीरपञ्चकनिबन्धनं शरीरनाम, औदारिकवैक्रियाहारकशरीरत्रयाङ्गोपाङ्गनिर्वृत्तिकारणमङ्गोपाङ्गनाम, काष्ठादीनां लाक्षादिद्रव्यमिव शरीरपञ्चकपुद्गलानां परस्परं बन्धहेतुः बन्धननाम, तेषामेव पुद्गलानां परस्परबन्धनार्थमन्योऽन्यसानिध्यलक्षणसंघातकारणं काष्ठसन्निकर्षकृत्तथाविधकर्म्मकर इव संघातनाम, कपाटादीनां लोहपट्टादिरिवौदारिकशरीरास्थिपरस्परबन्धविशेषनिबन्धनं संहननंनाम। एतच्च बन्धनादिपदत्रयं क्वचिद्वाचनान्तरे न दृश्यत इति। बोन्दिस्तनुः शरीरमिति पर्यायाः। अनेकाश्च नाना भवेषु तासां भावात् तस्मिन्नेव वा भवे जघन्यतोऽप्यौदारिकतैजसकार्मणलक्षणानां तिसृणां भावानेकबोन्दयः, तासां वृन्दं पटलं, तदेव पुद्गलसंख्यातरूपत्वात् सङ्घातोऽनेकबोन्दिवृन्दसंघातः, गत्यादीनां च द्वन्द्वे गतिजातिशरीराङ्गोपाङ्गबन्धनसंहननानेकबोन्दिवृन्दसंघातास्तैर्विमुक्तो यः स तथा। प्राक्तनेन शरीरशब्देन शरीराणां निबन्धनं नाम कर्मगृहीतं, बोन्दिवृन्दग्रहणेन तु तत्कार्यभूतशरीराणामेव ग्रहणमिति विशेषः। क्षीणमपगतं तीर्थकरशुभसुभगसुस्वरादेययशःकीर्त्यादिकं शुभं नाम यस्य स तथा, क्षीणमपगतं नरकगत्यशुभदुर्भगदुःस्वरानादेययशोऽकीर्त्यादिकमशुभं नाम यस्य स तथा। अनामनिर्नामक्षीणनामादिशब्दास्तु पूर्वोक्तानुसारणे भावनीयाः। शुभाशुभनामविप्रमुक्त इति निगमनम्। गोत्रं द्विधाऽुच्चैर्गोत्रं, नीचैर्गोत्रं च। ततस्तत्क्षयसम्भवीनि क्षीणगोत्रादिनामान्युक्तानुसारतः सुखावसेयान्येवं दानान्तरायादिभेदादन्तरायं पञ्चधा, तत्क्षयनिष्पन्नानि च क्षीणदानान्तरायादिनामानि विषमाण्येव। तदेवमेकैकं प्रकृतिक्षयनिष्पन्ननामानि प्रत्येकं निर्दिश्य साम्प्रतं पुनः समुदितप्रकृत्यष्टकक्षयनिष्पन्नानि सामान्यतो यानि नामानि भवन्ति तान्याह (सिद्धे इत्यादि) समस्तप्रयोजनत्वात् सिद्धः, बोधात्मकत्वादेव बुद्धः, बाह्याभ्यन्तरग्रन्थिबन्धनमुक्तत्वान्मुक्तः, परि समन्तात् सर्वप्रकारैः निर्वृतः सकलसमीहितार्थलाभप्रकर्षप्राप्तत्वात् शीतीभूतः परिनिर्वृतः, समस्तसंसारान्तं कृत्वाऽन्तकृदिति, एकान्तेनैव शारीरमानसदुःखप्रहाणात् सर्वदुःखप्रहाण इति। (सेत्तमित्यादि) निगमनद्वयम्। उक्तो द्विविधोऽपि क्षायिकः। अनु० । पं० सं० । क्षायिकभावगुणश्चतुर्द्धा। तद्यथाक्षीणसप्तकस्य पुनर्मिथ्यागतगमनं क्षीणमोहनीयस्यावश्यंभाविशेषघातिकर्म्मक्षयः क्षीणघातिकर्म्मणोऽनावरणज्ञानदर्शनाविर्भावोपगताशेषकर्मणोऽपुनर्भवस्तथाऽत्यन्तिकैकान्तिकानां बाधः परमानन्दलक्षणः सुखावाप्तिश्चेति। आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ०। गुणशब्दभवं क्षायिकं त्रिविधस्यापि दर्शनमोहनीयस्य क्षयेण निर्मूलमपगमेन निवृत्तम्। सम्यक्त्वस्य तृतीयभेदे, नं०। उत्त०। नि०। ध०। पं० सं०। दर्श०। कर्म०।

खादित त्रि० भक्षिते, आव० ४ अ०। (क्षायिकसम्यक्त्वस्यान्या व्याख्या 'सम्मत्त' शब्दे विलोकनीया)

खइर पुं० [खदिर (खयर)] इति ख्याते वृक्षभेदे, तस्य सारे स्थितत्वात्तथात्वम्। इन्द्रे, शत्रुहिंसकत्वात्तथात्वम्। खेआकाशे दीर्यते इष्टापूर्तकारिभिर्यतः। 'दृ' अपादाने किरच्। चन्द्रे, वाच०। खदिरे मध्यगुरुत्त्वम्। आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ०। ''खइरो होइ दुमो अखयरो खयरो वा''। आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ०। खादिरं **''दाऽव्ययोत्खातादावदातः''** ॥८।१।६७॥ इति आत्वम्। प्रा० १ पाद।

खइरवण न० (खदिरवन) मथुरातीर्थे द्वादशवनानां खदिरवने सप्तमे, ती० ६ कल्प।

खइरोल्लग न० खरखटादौ, महा० ७ अ०।

खउड पुं० (खपुट) विद्यासिद्धाचार्यभेदे, आ० म० प्र०। आ० क०। नि० चू०। (कथाऽस्य 'विज्जा' शब्दे)

खउर धा० (क्षुभ) अङ्गचालने, दिवादि आ० अक० सेट्। वाच०। **''क्षुभेः खउरपङ्कहौ''। ८।४। १५४।** इति क्षुभेः खउरादेशः। 'खउरइ, खुब्भइ' प्रा० ४ पाद।

खपुर पुं० खं पिपर्ति उच्चतया, पॄ कः। गुवाके, खमिन्द्रियं पिपर्ति पॄ–कः। अलसे, त्रि०। खेन पूर्यते घञर्थे कर्मणि कः। मद्रमुस्तके, व्याघ्रनखवृक्षे, गन्धर्वनगरे, न०। वाच०। चिक्कणद्रव्ये, बृ० ३ उ०। नि० चू०। ''चुण्णखउराइ दाउं, चुण्णो वदरादियाणं गोरखदिरमादियाणं खउरो''। नि० चू० १६ उ०।

खउरकढिण न० (खपुरकठिन) तापसानां भोजनादिनिमित्ते उपकरणविशेषे, तच्च किल वंशकुन्दादिकं द्रव्यमिति श्लक्ष्णं कुट्टयित्वा कमठाकारं क्रियते। विशे०। विल्वरसभिल्लातकरसाभ्यां लिप्तत्वात् कठिनमतिशयेन घनं तदद्रवमपि पानीयमप्यवस्रवति। बृ० १ उ०।

खउरिय त्रि० (क्षुभित) कलुषितचेतसि, बृ० ३ उ०। खरण्टिते, नि० चू० ५ उ०।

खओवसमिय पुं० (क्षायोपशमिक) क्षयेणोदेयप्राप्तकर्मणो विनाशेन सहोपशमो विष्कम्भितोदयत्वं क्षयोपशमः। भ० १४ श०

७ उ०। कर्मे०। उदीर्णस्यांशस्य क्षयोऽउदीर्णस्यांशस्य विपाकमाधिकृत्योपशमः क्षयोशमः। प्रव० २२१ द्वार। स एव क्षायोशमिकः। क्रियामात्रे भावभेदे, क्षयोपशमेन वा निर्वृतः क्षायोपशमिकः। भ० ७ श० १४ उ०। क्षयोपशमसंपाद्ये मतिज्ञानादिलब्धिरूपे आत्मनः परिणामविशिषे मिथ्यात्वमोहनीयादिकर्मविगमविशेषविहितात्मपरिणामे, पञ्चा० ३ विव०। भावभेदे, प्रव० ८७ द्वार। सूत्र०। अनु०।

''ओहीखओवसमिए, भावे भणिओ भवो तहोदइए।
तो किह भवपच्चइओ, वोत्तुं जुत्तोऽवही दोण्हं'' ॥१॥ इति।

यतः–

''उदयक्खओवसमओ, व समाजं च कम्मुणो भणिया।
दव्वं खेत्तं कालं, भवं च भावं च संपप्प'' ॥१॥

तथा तदावरणस्य क्षयोपशमे भवं क्षायोपशमिकमिति। स्था०। ''दोण्हं खओवसमिए पण्णत्ते। तं जहा–मणुस्साणं चेव, पंचिंदियातिरिक्खजोणियाणं चेव।'' स्था० २ ठा० १ उ०। कर्म०। पं० सं०। आ० म०। ''खओवसमितो णाम तस्स कम्मस्स सव्वघातिड्ढगाणं'' उदयक्षयात् तेषामेव सदुपशमात् देशघातिफड्ढगाणं उदयात् खतोवसमितिभावो भवति औपशमिकादस्य भेदः। आ० चू० १ अ०। ''से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ संठाणतुल्लए? संठणतुल्लए गोयमा! परिमंडलसंठाणे'' भ० ७ श० १४ उ०।

क्षायोपशमिकभेदानाह –

से किं तं खंओवसमिए? खओवसमिए दुविहे पण्णत्ते। तं जहा–खओवसमिए खओवसमनिप्पण्णे य। से किं तं खओवसमे? खओवसमे चउण्हं घाइकम्माणं खओवसमेणं तं जहा–णाणावरणिज्जस्स दंसणावरणिज्जस्स मोहणिज्जस्स अंतरायस्स, सेत्तं खओवसमे।

असावपि द्विरूपः क्षयोपशमस्तन्निष्पन्नश्च। तत्र विवक्षितज्ञानादिगुणविघातकस्य कर्मण उदयप्राप्तस्य क्षयः सर्वथाऽपगमः, अनुदीर्णस्य तु तस्यैवोपशमो विपाकत उदयाभाव इत्यर्थः। ततश्च क्षयोपलक्षित उपशमः क्षयोपशमः। ननु चोपशमिकेऽपि यदुदयप्राप्तं तत्सर्वथा क्षीणं शेषं तु न क्षीणं नाप्युदयप्राप्तमतस्तस्योपशम उच्यते इत्यनयोः कः प्रतिविशेषः? उच्यते–क्षयोपशमावस्थे कर्मणि विपाकत एवोदयो नास्ति प्रदेशतोऽस्त्येव, उपशान्तावस्थायां तु प्रदेशतोऽपि नास्त्युदय इत्येतावाता विशेषः। तत्र चतुर्णा घातिकर्मणां केवलज्ञानप्रतिबन्धकानां ज्ञानावरणदर्शनावरणमोहनीयान्तरायाणां यः क्षयोपशमः स क्षयोपशमरूपः क्षायोपशमिको भावः। णामिति पूर्ववत् ''तद्यथेत्यादिना'' स्वत एव घातिकर्माणि विवृणोति, शेषकर्मणां तु क्षायोपशमो नास्त्येव, निषिद्धत्वात्। ''सेत्तमित्यादि'' निगमनम्। तेन च क्षायोपशमेनोक्तस्वरूपेण निष्पन्नः क्षयोपशामिको भावोऽनेकधा भवति। तमाह–(खाओवसमिया आभिनिवोहयनाणलद्धीत्यादि) आभिनिवोधिकज्ञानं मतिज्ञानं तस्य लब्धिर्योग्यता स्वस्वावरणकर्म्मक्षयोपशमसाध्यत्वात् क्षयोपशामिकी, एवं वक्तव्यं यावन्मनः पर्यायज्ञान-लब्धिः। केवलज्ञान-लब्धिस्तु स्वस्वावरकर्म्मणः क्षय एवोत्पद्यत इति नेहोक्ता। कुत्सितं ज्ञानमज्ञानं, मतिरेव अज्ञानं मत्यज्ञानम्। कुत्सितत्वं चेह मिथ्यादर्शनोदयदूषितश्वाद् दृष्टव्यम्। दृष्टा च कुत्सार्थे नञो वृत्तिर्यथा–कुत्सितं शीलमशीलमिति। मत्यज्ञानस्य लब्धिर्योग्यता, साऽपि स्वावरणक्षयोपशमेनैव निष्पद्यते। एवं श्रुताज्ञामलब्धिरपि वाच्या। भङ्गः प्रकारो, भेद इत्यर्थः। स चेह प्रकमादवधिरेव गृह्यते विरूपः कुत्सितो भङ्गो विभङ्गः, स एवार्थ परिज्ञानात्मकत्वात् ज्ञानं विभङ्गज्ञानं, मिथ्यादृष्टिदेवादेरवाधिर्वि भङ्गज्ञानमुच्यते इत्यर्थः। इह च विशब्देनैव कुत्सितार्थप्रतीतेर्न नञो निर्देशः तस्य लब्धिर्योग्यता, साऽपि स्वावरणक्षयोपशमेनैव पादुरस्ति, एवं मिथ्यात्वादिकर्मणः क्षयोपशमसाध्या शेषा अपि सम्यग्दर्शनादिलब्धयो यथासम्भवं भावनीयाः, नवरं बाला अविरताः पण्डिताः साधवः, बालपण्डितास्तु देशविरताः, तेषां यथा स्ववीर्यलब्धिर्वीर्यान्तरायकर्मक्षयोपशमाद्भावनीया, इन्द्रियाणि चेह लब्ध्युपयोगरूपाणि भावेन्द्रियाणि गृह्यन्ते, तेषां च लब्धिर्योग्यता मतिश्रुतज्ञानचक्षुरचक्षुर्दर्शनावरणक्षयोपशमत्वात् क्षायोपशमिकीति भावनीयम्। आचारधरत्वादिपर्यायाणां च श्रुतज्ञानप्रभवत्वात्तस्य च तदावरणकर्म्मक्षयोपशमसाध्यत्वादाचारधरादिशब्दा इह पठ्यन्ते इति प्रतिपत्तव्यम्। ''श्वेतमित्यादि' निगमनद्वयम्।

से किं तं खओवसमनिप्पण्णे? खओवसमनिप्पण्णे अणेगविहे पण्णत्ते। तं जहा–खओवसमिआ आभिणवोहिअणाणलद्धी,० जाव खओवसमिआ मणपज्जवणाणलद्धी, खओवसमिआ मतिअण्णाणलद्धी, खओवसमिआ सुअअण्णाणलद्धी, खओवसमिआ विभंगणाणलद्धी, खओवसमिआ चक्खुदंसणलद्धी, अचक्खुदंसणलद्धी, ओहिदंसणलद्धी, एवं सम्मदंसणलद्धी, मिच्छादंसणलद्धी, सम्ममिच्छादंसणलद्धी, खओवसमिआ सामाइअचरित्तलद्धी, एवं छेदोवट्ठावणलद्धी, परिहारविसुद्धिअलद्धी, सुहुमसंपरायचरित्तलद्धी, एवं चरित्ताचरित्तलद्धी, खओवसमिआ दाणलद्धी, एवं लाभभोगउवभोगलद्धी, खओवसमिआ वीरिअलद्धी, एवं पंडिअवीरिअलद्धी, बलवीरिअलद्धी, वालपंडिअवीरिअलद्धी, खओवसमिआ सोइंदिअलद्धी० जाव खओवसमिआ फासिंदि अलद्धी, खओवसमिआ आयारंगधरे, एवं सूअगडांगधरे ठाणंगधरे समवयांगधरे चेव, विवाहपण्णत्ती नायाधम्मकहा उवासगदसा अंतगडदसा अणुत्तरोववाइअदसा पण्हवागरणधरे विवागसुअधरे खओवसमिए दिट्ठवायधरे खओवसमिए० णवपुव्वी खओवसमिए० जाव चउद्दस पुव्वी खओवसमिए गणी वायए खओवसमिए, सेत्तं खओवसमनिप्पन्ने, सेत्तं खओवसमिए। अनु०।

अधुना क्षायोपशमिकभावभेदानष्टादशसंख्यानाह –

चउणाणमणाणातिगं, दंसणतिग पंचदानलद्धीओ।
सम्मत्तं चारित्तं, च संजमासंजमो तइए ॥३॥

चत्वारि ज्ञानानि मतिश्रुतावधिमनः पर्य्यायरूपाणि, अज्ञानत्रिकं मतिश्रुताज्ञानविभङ्गरूपं, दर्शनत्रिकं चक्षुरचक्षुरवधिदर्शनस्वभावं, पञ्चेतिसंख्या दानेनोपलक्षिता लब्धयो दानलब्धयो

दानलाभोपभोगभोगवीर्यलब्धयः समक्त्वं सम्यग्दर्शनं चारित्रं च सामायिकच्छेदोपस्थापनीयपरिहारविशुद्धिकसूक्ष्मसंपरायलक्षणं संयमासंयमोद्देशविरतिरूप इत्येते अष्टादश भेदास्तृतीये क्षायोपशमिके भावे भवन्ति। तथाहि–ज्ञानचतुष्कमज्ञानत्रिकं च यथास्वमाचारकस्य मतिज्ञानावरणादिकर्मणः क्षायोपशमिक एव भवति। दर्शनत्रिकं तु चक्षुर्दर्शनावरणादिक्षायोपशमिके दानादिकाः पुनः पञ्च लब्धयः, अन्तरायकर्म्मक्षयोपशमे भवन्ति। ननु दानादिलब्धयः पूर्वं क्षायिकभाववर्तिन्य उक्ताः, इह तु क्षायोपशमिक इति कथं न विरोधः?। नैतदेवम्। अभिप्रायाऽपरिज्ञानात्। दानादिलब्धयो हि द्विधा भवन्त्यन्तरायकर्म्मणः क्षयसंभविन्यः, क्षायोपशमसंभविन्यश्च। तत्र याः क्षायिकाः पूर्वमुक्तास्ताः क्षयसंभूतत्वेन केवलिन एव भवन्ति। यास्त्विह क्षायोपशमिक उच्यन्ते ताः क्षयोपशमसंभूताः छद्मस्थानामेव भवन्ति। सम्यक्त्वमपि क्षायोपशमिकं दर्शनसप्तकक्षयोपशमे, चारित्रचतुष्कं तु चारित्रमोहनीयक्षयोपशमे इति। प्रव० २५१ द्वार। कर्म०। सूत्र०। उत्त०। ('भावे खओवसमिए, दुवालसंगं पि होइ सुयनाणं' इत्यादि 'मोक्खशब्दे' व्याख्यास्यामि) उदयावलिकाप्रविष्टस्यांशस्य क्षयेण शेषस्य तूपशमेन निर्वृत्तं क्षायोपशमिकम्। उदयावलिकाप्रविष्टस्यांशस्य क्षये सति शेषस्य भस्मच्छन्नाग्नेरिवानुद्रेकावस्था उपशमः, तेन निर्वृत्तमौपशमिकम्। सम्यक्त्वभेदे, न०। नं०।

अधुना क्षायोपशमिकं सम्यक्त्वमाह –

जो उ उदिण्णे खीणे, मिच्छे अणुदिन्नगम्मि उवसंते।
संमीभावपरिणतो, वेयंतो पोग्गले मीसे॥

यस्तु उदीर्णे उदयावलिकाप्रविष्टे मिथ्यात्वे क्षीणेऽनुदयप्राप्ते चोपशान्ते उपशान्तं वा सन् किञ्चिन्मिथ्यात्वरूपतामपनीय सम्यक्त्वरूपतया परिणतं किञ्चिन्मिथ्यात्वरूपमेव सन् भस्मच्छन्नाग्निरिवानुद्रेकावस्थाप्राप्तं तस्मिन् तथारूपे सति पुद्गलान् सम्यक्त्वरूपान् वेदयमानः सम्यग्भावपरिणतः स मिश्रक्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टिः सम्यक्त्वरूपधर्मनिर्देशप्रक्रमेऽपि धर्मिणो निर्देशो धर्मधर्मिणोः कथञ्चिदभेदख्यापनार्थमेवं पूर्वत्र परत्र च भावनीयम्। बृ० १ उ०। श्रा०। विशे०। दश०। क्षयश्चोपशमश्च क्षयोपशमौ, ताभ्यां निवृत्तं क्षायोपशमिकम्। अवधिज्ञानादिभेदे, न०। स्था०। निपा०। (अत्र हेतुः 'ओहि' शब्दे अस्मिन्नेव भागे १३७ पृष्ठे उक्तः)

खंखर पुं० (खङ्खर) वृक्षभेदे, (पलास) इति ख्याते "खंखरप--लासमज्झे सयं सयं भूसिरीपासनाहो अत्थद तत्थ पुरोदेवं वंदेहा" ती० ५३ कल्प।

खंखुणग पुं० (खङ्खुनक) बालक्रीडोपकरणविशेषे, आ०म०द्वि०।

खंगार पुं० (खङ्गार) नृपविशेषे ती०। यो जयसिंहदेवेन मारितः "गुज्जरधराए जयसिंहदेवेणं खंगाररायं हणित्ता सज्झणो दंडाहिवो ठाविओ"। ती० कल्प। विक्रमादेकादशशतके, जाते गुर्जरधरित्र्या राजनि, ती० ५ कल्प।

खंगारगढ न० (खङ्गारगढ) जीर्णदुर्गे, (जूनागढ) इति ख्याते, ती० ५ कल्प।

खंज न० [खञ्ज (खोडा)] पादविकले, स्था० ५ ० ठा०। श्यामीभूते सकटचक्रान्तर्गतलोहदण्डोपरिघृतादिसिक्तसणादिबन्धने, उस० ३४ अ०। स्वार्थे कः, एवुल्वा खञ्जकः। तत्रार्थे, वाच०।

खंजण (खञ्जन) खञ्जि भावे ल्युट्। विकलगतौ, कर्तरि ल्युः। स्वनामख्याते पक्षिभेदे, स्त्रियां ङीष्। वाच०। दीपमल्लिकामले, जी० ३ प्रति०। आ० म०। जं०। रा०। स्था०। बृ०। भ०। चन्द्रं सूर्यं वा ग्रसतो राहोः कृष्णपुद्गलानां षष्ठे भेदे, चं० प्र० २० पाहु०। सू० प्र०। दीपकलिकासमाने, स्था० ४ ठा० २ उ०।

खंजणाभ स्त्री० (खञ्जनाभ) खञ्जनं दीपमल्लिकामलः, तस्य यो वर्णस्तद्वदाभा यस्य तथा। कृष्णवर्णे, भ० २२ श० ६ उ०।

खंजरीड पुं० स्त्री० (खञ्जरीट) खञ्ज इव ऋच्छति। 'ऋ' गतौ। कीटन्। खञ्जनविहगे, स्त्रियां जातित्वात् ङीष्। वाच०। आचा०।

खंड पुं० (खण्ड) भागे, अंशे, आ० चू० १ अ०। उभयोः पर्व–देशसहिते इक्षुखण्डादौ, नि० चू० १५ उ०। अपरिपूर्णे, विपा० १ श्रु० १ अ०। वनसमूहे, स्था० २ ठा० ३ उ०। अनेकजातीयवृक्षसमूहे, जी० ३ प्रति०। शर्करायाम् (जं०) गुडविकारे, जं० २ वक्ष०। इक्षुरसविकारसंस्कारे, उत्त० ३४ अ०। देशविशेषभाषया लवणे, औ०। विड्लवणे, कर्मणि घञ्। खण्डिमति, त्रि०। वाच०। विरोधिते, नं०।

खंडकण्ण पुं० (खण्डकर्ण) अवन्त्यधीशचण्डप्रद्योतमन्त्रिणि, व्य० १ उ०। खण्ड इव कर्णः कन्दो यस्य (सकरकंद) आलुभेदे, वाच०।

खंडखंडग न० (खण्डखण्डक) चतुर्भिः खण्डकैरेका रज्जुः परिकल्पिता, ततो रज्जुचतुर्थभागत्वात् खण्डकं (लोक) रज्जुपादे, प्रव० १४३ द्वार। (चतुर्दशरज्ज्वात्मकस्य लोकस्यासत्कल्पन या खण्डकपरिभागो 'लोक' शब्दे दर्शयिष्यते) दीर्घवैताढ्यपर्वतभरतैरवतवर्षयोः कच्छादिषु गन्धिलावतीपर्यन्तेषु विजयक्षेत्रेषु सन्ति तेषां तृतीयं कूटं खण्डकनामकम्। स्था० ९ ठा०।

खंडण न० (खण्डन) 'खडि' भावे ल्युः। देशतो भञ्जने, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ०। छेदने, निराकरणे च। भावे युच्। वाच०। विनाशे, स्त्री०। नि० चू० १ उ०। "विराहणा खंडणा भंजणा य एगट्ठा।" नि० चू० १ उ०।

खंडदेउलिया स्त्री० (खण्कदेवकुलिका) द्वादशव्रतभङ्गकसंस्थाप्रदर्शकयन्त्रे, ध० २ अधि०। तत्स्थापना च प्र० भा० ४२० पृष्ठे द्रष्टव्या। (तदुपपत्तिः श्रावकव्रतव्याख्यातोऽवसेया)

खंडपट्ट पुं० (खण्डपट्ट) खण्डोऽपरिपूर्णः पट्टः परिधानपट्टो यस्य स द्यूताभिव्यसनाभिभूततयाऽपरिपूर्णः परिधानं प्राप्तः स खण्डपट्टः। द्यूतकारे, अन्यायव्यवहारिणि इत्यन्ये। विपा० १ श्रु० ३ अ०। धूर्ते, विपा० १ श्रु० १ अ०।

खंडपाणा स्त्री० [खंडपा (प्रा)णा] धूर्ताख्यानं रूपयन्त्यां पञ्चशतधूर्तस्वामिन्यां स्वनामख्यातायां स्त्रियाम्, नि० चू० १ उ०। (अस्याः कथा धूर्ताख्याने)

खंडप्पवायगुहा स्त्री० (खण्मप्रपातगुहा) वैताढ्यगुहायाम्, यया चक्रवर्त्ती अनार्यक्षेत्रात् स्वक्षेत्रमागच्छति। स्था० ९ ठा०। "खंडप्पवायगुहाणं अट्ठ जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं।" स्था० ८ ठा०। एवं धातकीखण्डे पुष्करार्द्धे च प्रत्येकमष्टषष्टिरासां प्रमाणम्। यथा–गिरिविस्तारायामा द्वादशयोजनविस्तारा अष्टयोजनोच्छ्राया आयतचतुरस्रसंस्थाना विजयद्वाराप्रमाण

द्वारा वज्रकपाटपिहिता बहुमध्ये द्वियोजनान्तराभ्यां त्रियोजन-विस्ताराभ्यामुन्मग्ननिमग्नजलाभिधानाभ्यां नदीभ्यां मुक्ता। स्था० २ ठा० ३० उ०। स०। जं०। (तत्र भरतचक्रिगमनं 'भरह' शब्दे)

खंडप्पवायगुहाकूड न० (खण्डप्रपातगुहाकूट) खण्डप्रपातगुहाधिदेवनिवासभूतं कूटं खण्डप्रपातगुहाकूटम्। वैताढ्यकूटानां तृतीयेषु कूटेषु, जं० १ वक्ष०। स्था०।

खंडभेय पुं० (खण्डभेद) लोहखण्डादेरिव यथा क्षिप्तमृतपिण्डस्येव (स्था० १० ठा०) लोष्टादेर्वा खण्डशो जायमाने द्रव्यभेदे, भ० ५ श० ४ उ०। सूत्र०। प्रज्ञा०।

खंडरक्ख पुं० (खण्डरक्ष) दण्डपाशिके, रा०। ज्ञा०। आहिण्डके, बृ० २ उ०। शुल्कपाले, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार। उपा०। कम्पिल्यपत्तन-वासिषु शौल्किकेषु श्रावकेषु, यैः समुच्छेदं वदन् अश्वमित्रनिह्नवः प्रतिबोधितः। विशे०। आ० क०। आ० म०। आ० चू०।

खंडाभेय पुं० (खण्डभेद) 'खंभमेय' शब्दार्थे, स्था० १० ठा०।

खंडित्तए अव्य० (खण्डयितुं) देशतो भङ्क्तुमित्यर्थे, उपा० २ अ०। ज्ञा०।

खंडिया पुं० (खण्डिक) छात्रे, विशे०। उत्त०। कक्षे, क्रुद्धे, त्रि०। वाच०।

खंडित त्रि० देशतो भग्ने, ध० २ अधि०। आ० चू०। ग०। सर्वथा भग्ने, ''खंडिअविराहियाणं, मूलगुणाणं सउत्तरगुणाणं।'' आव० ५ अ०। छिन्ने, द्विधाकृते च। ''ज्ञातान्यासंगविकृतेः, खण्डितेर्ष्याकषायिता'' इत्युक्तक्षणायां स्त्रियाम्, स्त्री०। वाच०।

खंडियगण पुं० (खण्डितगण) छात्रगणे, औ०।

खंडियविहूण त्रि० (खण्डितविहीन) छात्ररहिते, नि० १ वर्ग।

खंडी स्त्री० (खण्डी) खडि अच्, गौरा० ङीष्। वनमुद्गे प्राकार-च्छिद्ररूपायां छिण्डिकायाम्, ज्ञा० १ श्रु० २ अ०। बृ०। नश्यत्तरनिर्गमा-पद्वारे, ज्ञा० १ श्रु० १८ अ०।

खंत त्रि० (क्षान्त) क्षाम्यति क्षमां करोतीति क्षान्तः। बहुलवचनात्कर्तरि निष्ठा। क्षमागुणप्रधानभिक्षौ, दश० १० अ०। आ० चू०। नि० चू०। द्वा०। क्रोधविजयिनि, दश० २ अ०। ज्ञा०। क्षमायुक्ते, ग० २ अधि०। प्रश्न०। सूत्र० आलोचनादानयोग्ये, व्य० १ उ०। क्षान्तो नाम क्षमायुक्तः स कस्मिँश्चित्प्रयोजने गुर्वादिभिः खरपरुषमपि भणितः सम्यक्प्रीतिपद्यते, यदपि च प्रायश्चित्तमारोपितं तत्सम्यग् वहति। आह च-''खंतो आयरिएहिं, फरुसं भणिओ वि न रूसेति।'' स्था० ८ ठा०। (खन्तपुत्तस्स 'अर्हन्नक' शब्दे प्र० भा० ७५६ पृष्ठे कथा)

खंतलक्ख न० (क्षान्तलक्ष्य) वृद्धव्याजे, वृद्धवेषधारणेन, स्वरूपप्रच्छादने, बृ० १ उ०।

खंताइजुय त्रि० (क्षान्त्यादियुत) क्षमामार्दवार्जवसंतोषसमन्विते, षो० ६ विव०।

खंति स्त्री० (क्षान्ति) आक्रोशादिश्रवणेऽपि क्रोधत्यागे, द्वा० २७ द्वा०। दश०। षो०। पञ्चा०। जं०। पा०। उत्त०। शक्तस्याऽशक्तस्य वा सहन-परिणामे सर्वथा क्रोधविवेके, ध० ३ अधि०। आव०। उत्त०। ज्ञा०। स्था०। आव०। परुषभाषणादिसहने, उत्त० १ अ०। क्रोधोदयनिरोध, औ०। कषायोपशमे, दर्श०। तितिक्षायाम्, ध० ३ अधि०। क्षान्तिश्च प्रथमः श्रमणधर्मः। स ६ सम०। स्था०। शुक्लध्यानस्य प्रथममालम्बनम्। स्था० ४ ठा० १ उ०। क्षान्तेः फलम्। ''खंतिए णं भंते! जीवे किं जणयइ? खंतिए णं परीसहे जणयइ।'' हे भगवन्! क्षान्त्या क्षमया कृत्वा जीवः किं फलं जनयति? तदा गुरुराहशिष्य! क्षमया किं परीषहान् जनयति, क्षान्तिः क्रोधनिग्रहस्तदनन्यत्वात् त्रयोदश्यां गौण्यामहिं सायाम्, उत्त० २६ अ०। प्रश्न०।

इहादौ वचनक्षान्ति-र्धर्मक्षान्तिरनन्तरम्।
अनुष्ठानं च वचना-नुष्ठानात्स्यपादसङ्गतम् ॥६॥
उपकारापकाराभ्यां, विपाकाद्वचनात्तथा।
धर्माच्च समये क्षान्तिः, पञ्चधा हि प्रकीर्तिता ॥७॥

(इहेति) इह दीक्षायामादौ प्रथमं वचनक्षान्तिः, अनन्तरं धर्मक्षान्ति-र्भवति। अनुष्ठानं च वचनानुष्ठानादध्ययनाद्यभिरतिलक्षणादनन्तरं तन्मयीभावेन स्पर्शात्तौ सत्यामसङ्गकं स्यात् ॥६॥ (उपकारेति) उपकारेण क्षान्तिरूपकारिप्रोक्तदुर्वचनाद्यपि सहमानस्य; अपकारेण क्षान्तिर्मम दुर्वचनाद्यसहमानस्याऽयम-पकारी भविष्यतीत्याशयेन क्षमां कुर्वतः। विपाकाच्चेह परलोकगतानर्थपरम्परालक्षणादालोच्यमात् क्षान्तिर्विपाकक्षान्तिः। तथा वचनात्क्षान्तिरागममेवावलम्बनीकृत्योप-कारित्वादिनैरपेक्ष्येण क्षमां कुर्वतः। धर्माच्चात्मशुद्धस्वभावलक्षणा-ज्जायमाना क्षान्तिश्चन्दनस्येव शरीरस्य छेददाहादिषु सौरभादिस्वधर्म-कल्पापरोपकारिणी सहजत्वेनावस्थिता अविकारिणी। एवं पञ्चधा क्षान्तिः समये प्रकीर्तिता। यदुक्तम्- ''उपकार्यपकारिविपाकवचनध-र्मोत्तरा मता क्षान्तिः'' इति ॥७॥ द्वा० ५ द्वा०।

खंतिखम त्रि० (क्षान्तिक्षम) क्षान्त्या क्षमया क्षमते न त्वसमर्थतया यः सः क्षान्तिक्षमः। कल्प० ५ क्षण। जं०। भ०। सत्यामपि शक्तौ तितिक्षौ, ''कोहनिग्गहो खंती अक्कुस्समाणस्स विजस्स खमाकरणे सामत्थमत्थि सो खंतिए खमो भण्णति,'' अहवा खंतिखमो क्षमाया आधार इत्यर्थः। नि० चू० १० उ०।

खंतिखमणया स्त्री० (क्षान्तिक्षमणता) क्षान्त्या क्षम्यत इति क्षान्तिक्रमणः। क्षान्तिग्रहणमसमर्थताव्यवच्छेदार्थं, यतः समर्थोऽपि क्षमत इति। क्षान्तिक्षमणस्य भावस्तत्ता। शक्तस्यापि सहने, स्था० १० ठा०।

खंतिजुय त्रि० (क्षान्तियुत) क्षमान्विते, कर्म० १ कर्म०।

खंतिप्पहाण पुं० (क्षान्तिप्रधान) क्षान्तिः क्षमा प्रधाना सारभूता यस्याऽसौ क्षान्तिप्रधानः। क्षमासारे, पा०।

खंतिसंजमरय त्रि० (क्षान्तिसंयमरत) क्षान्तिप्रधानसंयमासेविनि, दश० ४ अ०।

खंतिसूर पुं० (क्षान्तिसूर) क्षमाधीरे शूरभेदे, ''खंतिसूरा अरिहंता'' क्षान्तिशूरा अर्हन्तो महावीरवत्। स्था० ४ ठा० ३ उ०। संथा०।

खंद पुं० (स्कन्द) स्कन्दते उत्प्लुत्य गच्छति, अच्। वाच०। **''शुष्ककन्दे वा''। ८। २। ५।** इति स्कस्य वा खः। प्रा० २ पाद। स्वामिकार्तिकेये, आचा० २ श्रु० १अ० २ उ०। अनु० जं०। भ०। जीवा०। नि० चू०। रा०। पात्रालकग्रामवास्तव्ये ग्रामकूट-

पुत्रे, येन खग्रामे। गोशालकः कदर्थितः। आ० म० द्वि०। आ० चू०। आचा०। ज्ञा० अनु०।

खंदग पुं० (स्कन्दक) श्रावस्त्यां नगर्यां जाते मुनिसुव्रता-शिष्ये, उत्त०। तत्संबन्धो यथश्रावस्त्यां जितशत्रुर्नृपौ, धारिणी प्रिया, तयोः पुत्रः स्कन्दकः, पुरन्दरयशा पुत्री, कुम्भकारकटके पुरे दण्डकनृपस्य दत्ता, तस्य पुरोहितः पालको, मिथ्यादृक्, अन्यदा श्रावस्त्यां मुनिसुव्रतस्वामी समवसृतः, तस्य देशनां श्रुत्वा स्कन्दकः श्रावको जातः। एकदा पालकपुरोहितो दूतत्वेन श्रावस्त्यां प्राप्तः राजसभायां जैनसाधूनामवर्णवादं वदन् स्कन्दकेन निरुत्तरीकृत्य निर्द्धारितः सन् स्कन्दककुमारोपरि रुष्टः छिद्राणि पश्यति। अन्यदा स्कन्दककुमारः श्रीमुनिसुव्रतस्वामिपार्श्वे पञ्चशतकुमारैः सह प्रव्रजितोगीतार्थो जातः, स्वामिना ते कुमारशिष्यास्तस्यैव दत्ताः, अन्यदा स स्कन्दकः स्वामिनं पृच्छति–हे भगवन्! भगिनीवन्दापनार्थं गच्छामि। स्वामिना भणितम्–तत्र मारणान्तिकोपसर्गोऽस्ति। स्कन्दकेनोक्तम्–भगवन्! वयमाराधका विराधका वा ?। स्वामिनाभणितम्त्वां मुक्त्वा सर्वेऽप्याराधकाः। स्वामिनैव मुक्तेऽपि भवितव्यतावशेन पञ्चशत–शिष्यपरिवृतः कुम्भकारकटकपुरे गतः। पालकेन तमागच्छन्तं ज्ञात्वा पूर्ववैरं स्मरता साधुस्थितियोगौद्याने षट्त्रिंशदायुधानि भूमौ स्थापितानि स्कन्दकाचार्यस्तु तत्रैव समवसृतः। ततः पालकेन नृपस्याऽग्रे कथितम्–महाराज! अयं स्कन्दकः पञ्चशतसाधवोऽपि च सहस्त्रयोधिनः परीषहभग्नास्तव राज्यं गृहितुकामाः समायातास्त्वां हनिष्यन्ति, राज्यञ्च गृहीष्यन्ति। यदि न प्रत्ययस्तदा उद्यानं विलोकय। एभिरायुधानि भूमौ गोपितानि सन्ति, नृपेण उद्यानं विलोकितम्, आयुधानि दृष्टानि, क्रोधात्तेन ते साधवस्तस्यैव दत्ताः, तेन सर्वेऽपि यन्त्रेण पीलिताः। वधपरीषहस्य सम्यग् अधिसदृनात् उत्पन्नकेवलज्ञानाः सिद्धाः, स्कन्दकाचार्यस्तु सर्वेषां शिष्याणां तथाविधमरणं दृष्ट्वोत्पन्नक्रोधः सर्वस्याप्यस्य देशस्य दाहकोऽहं स्यामिति कृतनिदानोऽग्निकुमारेषूत्पन्नः। अथाचार्यस्य रजोहरणं रुधिरलिप्तं सद् गृध्रैः पुरुषहस्तं ज्ञात्वा चञ्चुपुटेनोत्पाट्य पुरन्दरयशापुरः पातितम्। साऽपि महतीमधृतिं चकार। साधवो गवेषिता न दृष्टाः, प्रत्यभिज्ञातानि कम्बला-द्युपकरणानि, ज्ञातं च तया–साधवो मारिता इति, ततोधिक्कृतस्तया नृपतिः, अहं तव मुखं न पश्यामि, प्रव्रजिष्याम्येवेति वदन्तीं तां स्कन्दकभगिनीं देवाः श्रीमुनिसुव्रतस्वामिसमीपे मुक्त्वन्तः। स्वामिना सा दीक्षिता। ततोऽग्निकुमारदेवेन सनगरो देशो दग्धः, ततो दण्डाकारण्यं जातम्। अद्यापि तथैव तज्जनैर्भण्यते। यथा एभिः साधुभिर्वधपरीषहः सोढस्तथा परैरपि सोढव्यः। उत्त० २ अ०। दृ०। ग०। नि० चू०। संथा०। भूतभेदे च, प्रज्ञा० १ पद। श्रावस्त्यां गर्दभालिशिष्ये। कात्यायनगोत्रे परिव्राजके, भ०।

तच्चरित्रम्–

तेणं कालेणं तेणं समएणं कयंगला णामं नयरी होत्था। वण्णओतीसे णं कयंगलाए नयरीए बहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए छत्तपलासए णामं चेइए होत्था, वण्णओतए णं समणे भगवं महावीरे उप्पन्ननाणदंसणधरे० जाव समोसरणं परिसा निग्गया, तीसेणं कयंगलाए नयरीए अदूरसामंते सावत्थी णामं नयरी होत्था। वण्णओतत्थ णं सावत्थीए णयरीए गद्दभालिस्स अंतेवासी खंदए नामं कच्चायणसगोत्ते परिव्वायगे परिवसइ। रिउव्वेय–जजुव्वेय–सामवेय–अहव्वणवेय–इतिहासपंचमाणं निघंटुछट्ठाणं चउएहं वेयाणं संगोवंगाणं सरहस्साणं सारए वारए धारए पारए संडगवी–सट्ठितंतविसारए संखाणे सिक्खा कप्पे वागरणे छंदे निरुत्ते जोइसामयणे अण्णेसु य बहूसु बंभण्णएसु परिव्वायएसु नएसु सुपरिनिट्ठिए यावि होत्था। (पिङ्गलपृच्छा) तत्थ णं सावत्थीए नयरीए पिंगलए नामं नियंठे वेसालियासावए परिवसइ। तए णं से पिंगलए नामं नियंठे वेसालिसावए अण्णया कयाइं जेणेव खंदए कच्चायणसगोत्ते तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता खंदयं कच्चायणसगोत्तं इणमक्खेवं पुच्छे मागहा? –किं सअंते लोए, अणंते लोए, सअंते जीवे, अणंते जीवे, सअंता सिद्धि, अणंता सिद्धी, सअंते सिद्धे, अणंते सिद्धे, केण वा मरणेणं मरमाणे जीवे वड्ढइ वा, हायइ वा, एतावं ताव आइक्खाहि वुच्चमाणो, एवं तए णं से खंदए कच्चायणसगोत्ते पिंगलएणं नियंठेणं वेसालीसावएणं इणमक्खेवं पुच्छिए समाणे संकिए कंखिए वितिगिंछिए भेदसमावण्णे कलुससमावण्णे णो संवाएइ पिंगलयस्स नियंठस्स वेसालियसावयस्स किंचि विप्पमोक्ख-मक्खाइओ तुसिणीए संचिट्ठइ, तेणं से पिंगलए नियंठे वेसालीसावए, खंदयं कच्चायणसगोत्तं दोच्चं पि इणमक्खेवं पुच्छे मागहाकिं सअंते लोए० जाव केण वा मरणेणं मरमाणे जीवे वड्ढइ वा, हाइए वा, एतावं ताव आइक्खाहि वुच्चमाणो, एवं तए णं ते खंदए कच्चायणसगोत्तं पिंगलएणं नियंठेणं वेसालीसावएणं दोच्चं पि तच्चं पि इणमक्खेवं पुच्छिए समाणे संकिए कंखिए वितिगिंछिए भेदसमावन्ने कलुसमावन्ने नो संवाएइ, पिंगलस्स नियंठस्स वेसालियसावयस्स किंचि विपमोक्खमक्खाइओ तुसिणीए संचिट्ठइ, तए णं सावत्थीए नयरीए सिंघाडग० जाव पहेसु महया जणसम्मद्देइ वा जणवूहेइ वा निग्गच्छइ, नए णं तस्स खंदयस्स कच्चायणसगोत्तस्स बहुजणस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा निसम्म इमे एयारुवे अब्भत्थिए चिंतिए पच्छिए मणोगए संकप्पे समुप्पज्जित्था, एवं खलु समणे भगवं महावीरे कयंगलाए नयरीए बहिया छत्तपलासए चेइए संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ, तं गच्छामि णं समणं भगवं महावीरं वंदामि, नमंसामि, सेयं खलु मे समणं भगवं महावीरं वंदित्ता नमंसित्ता सक्कारेत्ता सम्माणेत्ता कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासेत्ता इमाइं च णं एयारूवाइं अट्ठाइं हेऊइं पसिणाइं वागरणाइं पुच्छित्तए त्ति कट्टु एवं संपेहेइ, संपेहेइत्ता जेणेव परिव्वायगा वसही तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता तिदंडं च कुंडियं च कंचणियं च क-

रोमियं च मिसियं च केसरियं च छण्णालियं च अंकुसयं च पवित्तयं च गणेत्तियं च छत्तयं च वाहणाउ य पाउयाउ य धाउरत्ताउ य गेण्हइ, गेण्हइत्ता परिव्वायगवसहीओ पडिनिक्खमइ, पडिनिक्खमइत्ता तिदंडं कुंडियं कंचणियं करोडियं भिसिय-केसरियच्छनालियअंकु सयपवित्तियगणेत्तिय हत्थगए छत्तोवाहणसंजुत्ते धाउरत्तवत्थपरिहिए सावत्थीए नयरीए मज्झं मज्झेणं निग्गच्छइ, निग्गच्छइत्ता जेणेव कयंगला नगरी जेणेव छत्तपलासए चेइए जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव पहारेच्छगमणाए गोयमाइ समणे भगवं महावीरे भगवं गोयमं एवं वयासीदिच्छसि णं गोयमा ! पुव्वसंगइयं कंतं ? कं भंते ! खंदयं नाम से काहे वा किहं वा केवच्चिरेण वा ? एवं खलु गोयमा ! तेणं कालेणं सावत्थी णामं णयरी होत्था। वण्णओ-तत्थ णं सावत्थीए नगरीए गद्दभालिस्स अंतेवासी खंदए णामं कच्चायणसगोत्ते परिव्वायए परिवसइ, तं चेव. जाव जेणेव मम अंतिए तेणेव पहारेच्छगमणाए से अदूरामए वहुसंपत्ते अद्धाण पडिवण्णे अंतरापहे वट्टइ, अज्जेव णं दिच्छसि गोयमा ! भंते त्ति भगवं गोयमे समणं भगवं महावीरं वंदइ, नमंसइ, नमंसइत्ता एवं वयासीपहू णं भंते ! खंदए कच्चायणसगोत्ते देवाणुप्पियाणं अंतिए मुंमे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइत्तए। हंता पभू ! जावं च णं समणे भगवं महावीरे भगवओ गोयमस्स एयमट्ठं परिकहेइ, तावं च णं से खंदए कच्चायणसगोत्ते तं देसं हव्वमागए, तए णं भगवं गायेमे खंदयं कच्चायणसगोत्तं तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता खंदयं कच्चायणसगोत्तं एवं वयासी-हे खंदया ! सागयं खंदया !, सुसागयं खंदया !, अणुरागयं खंदया !, सागयमणुरागयं खंदया !, से णुणं तुमं खंदया ! सावत्थीए णयरीए पिंगलएणं नियंठेणं वेसालियसावएणं इणमक्खेवं पुच्छिए। मागहा ! किं सअंते लोए, एवं तं चेव जेणेव इहं तेणेव हव्वमागए, से पूणं खंदया ! अट्ठे समट्ठे, हंता अत्थि, तए णं से खंदए कच्चायणसगोत्ते भगवं गोयमं एवं वयासी-से केसि णं गोयमा ! तहारूवे णाणी वा तवस्सी वा जेणं तव एस अट्ठे मम ताव रहस्सकडे हव्वमक्खाए जओ णं तुमं जाणासि, तए णं से भगवं गोयमे खंदयं कच्चायणसगोत्तं एवं वयासी-एवं खलु खंदया ! मम धम्मायरिए धम्मोवएसए समणे भगवं महावीरे उप्पण्णणाणदंसणधरे अरहा जिणे केवली तीयपच्चुप्पण्णमणागयवियाणए सव्वण्णू सव्वदरिसी, जेणं मम एस अट्ठे तव ताव रहस्सकहे हव्वमक्खाए, जओ णं अहं जाणामि खंदया ! तए णं से खंदए कच्चायण सगोत्ते भगवं गोयमं एवं वयासी-गच्छामो णं गोयमा ! तव धम्मायरियं धम्मो-वदेसयं समणं भगवं महावीरं वंदामो, नमंसामो. जाव पज्जुवासामो। अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं, तए णं भगवं गोयमे खंदएणं कच्चायणसगोत्तेणं सद्धिं जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव पहारेच्छगमणाए, तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे वियट्टभोजी यावि होत्था, तए णं समणस्स भगवओ महावीरस्स वियट्टभोइस्स सरीरयं उरालं सिंगारं कल्लाणं सिवं धन्नं मंगल्लं अणलंकि-यविभूसियं लक्खणवंजणगुणोववेयं सिरीए अतीव अतीव उवसोभेमाणे चिट्ठइ, तए णं से खंदए कच्चायणसगोत्ते समणस्स भगवओ महावीरस्स वियट्टभोइस्स सरीरयं उरालयं. जाव अतीव अतीव उवसोभेमाणं पासइ, पासइत्ता हट्ठतुट्ठचित्त-माणंदिए पीइमणे परमसोमणसिए हरिसवसविसप्पमाणहियए जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ. जाव पज्जुवासइ, खंदयाइ, समणे भगवं महावीरे खंदयं कच्चायण-सगोत्तं एवं वयासी-से णूणं तुमं खंदया ! सावत्थीए णयरीए पिंगलएणं नियंठेणं वेसालिसावएणं इणमक्खेवं, मागहा-किं सअंते लोए, अणंते लोए एवं ते चेव. जाव जेणेव मम अंतिए तेणेव हव्वमागए, से णूणं खंदया ! अट्ठे समट्ठे, हंता अत्थि, जे वि य ते खंदया ! अयमेयारूवे अब्भत्थिए चिंतिए पत्थिए मणोगए संकप्पे समुप्पाज्जित्था, किं सअंते लोए, अणंते लोए, तस्स वि य णं अयमट्ठे, एवं खलु मए खंदया ! चउव्विहे लोए पण्णत्ते। तं जहा-दव्वओ खेतओ कालओ भावओ। दव्वओ णं एगे लोए सअंते, खेत्तओ णं लोए असंखेज्जाओ जोयणकोडाकोडीओ आयामविक्खं भेणं, असंखेज्जाओ जोयणकोडाकोडीओ परिक्खेवेणं पण्णत्ता, अत्थि पुण से अंते, कालओ णं लोए न कयाइ न आसि, न कदाइ न भवइ, न कदाइ न भविस्सइ, भविंसु य, भवति य भविस्सइ य, धुवे णियए सासए अक्खए अव्वए अवट्ठिए णिच्चे णत्थि पुण से अंते। भावओ णं लोए अणंता वण्णपज्जवा, गंधरसफासा अणंता संठाणपज्जवा, अणंता गुरुयलहुयपज्जवा, अणंता अगुरुयलहुयपज्जवा, नत्थि पुण से अंते, सेत्तं खंदया। दव्वओ लोगे सअंते, खेत्तओ लोए सअंते, कालओ लोए अणंते, भावओ लोए अणंते, जे वि य ते खंदया ! जाव सअंते जीवे अणंते जीवे तस्स वि य णं अयमट्ठे, एवं खलु. जाव दव्वओ णं एगे जीवे सअंते, खेत्तओ णं जीवे असंखेज्ज-पएसिए असंखेज्ज-पएसोगाढे, अत्थि पुण से अंते, कालओ णं जीवे न

कदाइ न आसि, णिच्चे, नत्थि पुण से अंते, भावओ णं जीवे अणंता नाणपज्जवा, अणंता दंसणपज्जवा, अणंता चरित्तपज्जवा, अणंता गुरुयलहुयपज्जवा, अणंता अगुरुयलहुयपज्जवा। नत्थि पुण से अंते सेत्तं दव्वओ जीवे सअंते, खेत्तओ जीवे सअंते, कालओ जीवे अणंते, भावओ जीवे अणंते, जे वि य णं ते खंदया पुच्छा ?। अंता सिद्धी, अणंता सिद्धी, तस्स वि य णं अयमट्ठे, मए चउव्विहा सिद्धी पण्णत्ता। तं जहा–दव्वओ खेत्तओ कालओ भावओ। दव्वओ णं एगा सिद्धी सअंता, खेत्तओ णं सिद्धी पणयालीसजोयण-सयसहस्साइं आयामविक्खं-भेणं, एगा जोयणकोडी वायालीसं सयस-हस्साइं तीसं च सहस्साइं दोण्णि य अउणापण्णे जोयण–सए किंचि विसेसाहिए परिक्खेवेणं पण्णत्ता, अत्थि पुण से अंते, कालओ णं सिद्धी न कदाइ न आसि, भावओ य जहा लोयस्स तहा भाणियव्वा। तत्थ दव्वओ सिद्धी सअंता, खेत्तओ सिद्धी सअंता, कालओ सिद्धी अणंता, भावओ सिद्धी अणंता, जे वि य ते खंदया ! जाव किं अणंते सिद्धे तं चेव जाव दव्वओ णं एगे सिद्धे सअंते, खेत्तओ णं सिद्धे असंखेज्जपएसिए असंखेज्जपएसोगाढे अत्थि पुण अंते, कालओ णं सिद्धे सादिए अपज्जवसिए, नत्थि पुण से अंते, भावओ णं सिद्धे, अणंता णाणपज्जवा, अणंता दंसणपज्जवा, अणंता अगुरुवहुय-पज्जवा, नत्थि पुण से अंते सेत्तं दव्वओ सिद्धे सअंते, खेत्तओ सिद्धे सअंते, कालओ सिद्धे अणंते, भावओ सिद्धे अणंते, जे वि य ते खंदया ! इमेयारूवे अब्भत्थिए चिंतिए जाव समुप्पज्जित्था। केण वा मरणेणं मरमाणे जीवे वड्ढइ वा, हायइ वा, तस्स वि य णं अयमुट्ठे एवं खलु खंदया ! मए दुविहे मरणे पण्णत्ते। तं जहा–वालमरणे य, पंडियमरणे य। से किं तं वालमरणे ? वालमरणे दुवालसविहे पण्णत्ते। तं जहा–वलयमरणे वसट्टमरणे अंतोसल्लमरणे तब्भवमरणे गिरिपडणे तरुपडणे जलप्पवेसे जलणप्पवेसे विसभक्खणे सत्योवाडणे वेहाणसे गिद्धपिट्ठे, इच्चेएणं खंदया ! दुवालसविहेणं वालमरणेणं मरमाणे जीवे अणंतेहिं नेरइयभवग्गहणेहिं अप्पाणं संजोएइ, तिरियमणुदेवअणाइयं च णं अणवदग्गं दीहद्धं चाउरंत-संसारकंतारं अणुपरियट्टइ, सेत्तं वालमरणेणं मरमाणे वड्ढइ, वड्ढइ, सेत्तं वालमरणे। से किं तं पंडियमरणे? पंडियमरणे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा–पाओवगमणे य, भत्तपच्चक्खाणे य। से किं तं पाओवगमणे ? पाओवगमणे दुविहे पणत्ते। तं जहा-नीहारिमे य, अनीहारिमे य नियमा अपडिक्कमे। सेत्तं पाओवगमणे। से किं तं भत्तपच्चक्खाणे? भत्तपच्चक्खाणे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा–नीहारिमे य, अनीहारिमे य, नियमा सपडिक्कमे, सेत्तं भत्तपच्चक्खाणे। इच्चेतेणं खंदया ! दुविहेणं पंडियमरणेणं मरमाणे जीवे अणंतेहिं नेरइयभवग्गहणेहिं अप्पाणं वि संजोएइ., जाव वीयीवयइ, सेत्तं मरमाणे हायइ, सेत्तं पंडियमरणे। इच्चेएणं खंदया ! दुविहेणं मरणेणं मरमाणे जीवे वड्ढइ वा, हायइ वा, एत्थ णं से खंदए कच्चायणसगोत्ते संबुद्धे समणं भगवं महावीरं वंदइ, नमंसइ, नमंसइत्ता एवं वयासी–इच्छामि णं भंते ! तुज्झं अंतिए केवलिपन्नत्तं धम्मं निसामित्तए। अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं, तए णं समणे भगवं महावीरे खंदयस्स कच्चायणसगोत्तस्स तीसे य महइ महालियाए परिसाए धम्मं परिकहेइ, धम्मकहा भाणियव्वा, तए णं से खंदए कच्चायणसगोत्ते समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मं सोच्चानिसम्म हट्ठतुट्ठ. जाव हयहियए उट्ठाए उट्ठेइ, उट्ठेइत्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ, करेइत्ता एवं वयासी–सद्दहामि णं भंते ! निग्गंथं पावयणं, रोएमिणं भंते ! निग्गंथं पावयणं, पत्तियामि णं भंते ! निग्गंयं पावयणं, अब्भुट्ठेमि णं भंते ! निग्गंयं पावयणं, एवमेयं भंते ! तहमेयं भंते ! अवितहमेयं भंते ! असंदिद्धमेयं भंते ! इच्छियमेयं भंते ! पडिच्छियमेयं भंते ! इच्छियपडिच्छियमेयं भंते ! से जहेयं तुज्झे वदह त्ति कट्टु समणं भगवं महावीरं वंदइ, णमंसइ, वंदित्ता णमंसइत्ता उत्तरपुरच्छिमं दिसिभायं अवक्कमइ, अवक्कमइत्ता तिदंडं च कुंडियं च. जाव धाउरत्ताउ य एगंते एडेइ, एडेइत्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता समणं भगवं महावीरं तिखुत्तो आदाहिणं पयाहिणं करेइ, करेइत्ता. जाव नमंसइत्ता एवं वयासी–आलित्ते णं भंते ! लोए, जराए मरणेण य, से जहानामए केइ गाहावई आगारं सिज्झिया–यमाणंसि जे से तत्थ भंडे भवइ, अप्पभारे मोल्लगुरुए तं गहाय आयाए एगंतमंतं अवक्कमइ, एस मे नित्थारिए समाणे पच्छा पुराए हियाए सुहाए खमाए निस्सेयसाए आणुगामियत्ताए भविस्सइ, एवामेव देवाणुप्पिया ! मज्झ वि आया एगे भंडे इट्ठे कंते पिए मणुण्णे मणामे थेज्जे विस्सासिए समए बहुमए अणुमए भंडकरंडगसमाणे माणं सीयं माणं उण्हं माणं खुहा माणं पिवासा माणं चोरा माणं वाला माणं दंसा माणं मसया माणं वाइयपित्तियसंभि–यसण्णिवाइयविविहा रोगायंका परीसहोवसग्गा फुसंतु त्ति कुट्टु, एस नित्थारिए समाणे परलोयस्स हियाए सुहाए खमाए नो सेसाए आणुगामियत्ताए भविस्सइ, तं इच्छामि णं देवाणुप्पिया ! सयमेव पव्वावियं सयमेव मुंडावियं सयमेव सेहावियं सयमेव सिक्खावियं सयमेव आयारगो–

यरं, विणयवेणयियचरणकरणजायामायावत्तियं धम्ममाइक्खियं, तए णं समणे भगवं महावीरे खंदयं कच्चायणसगोत्तं सयमेव पव्वावेइ. जाव धम्ममाइक्खइ, एवं देवाणुप्पिया! चिट्ठियव्वं गंतव्वं, एवं निसीइयव्वं, एवं तुयट्टियव्वं, एवं भुंजियव्वं, एवं भासियव्वं, एवं उट्ठाय उट्ठाय पाणेहिं भूएहिं जीवेहिं सत्तेहिं संजमेणं संजमियव्वं, अस्सिं च णं अट्ठे णो किंचि पमाइयव्वं, तए णं से खंदए कच्चायणसगोत्ते समणस्स भगवओ महावीरस्स इमं एयारूवं धम्मियं उवएसं सम्मं संपडिवज्जइ, तमाणाए तह गच्छइ, तह चिट्ठइ, तह नियीयइ, तह तुयट्टइ, तह भुंजइ, तह भासइ, तह उट्ठाएइ, उट्ठाएइ, तह पाणेहिं भूएहिं जीवेहिं सत्तेहिं संजमेणं संजमेइ, अस्सिं च णं अट्ठे णो पमायइ। तए णं से खंदए कच्चायणसगोत्ते अणगारे जाए इरियासमिए भासासमिए एसणासमिए आयाणभंडमत्तनिक्खेवणासमिए उच्चार-पासवणखेलसिंघाणजल्लपारिट्ठावणियासमिए मणसमिए वयसमिए कायसमिये मणगुत्ते वयगुत्ते कायगुत्ते गुत्ते गुत्तिं-दिए गुत्तबंभचारी लज्जू धन्ने खंतिक्खमे जिइंदिए सोहिए अणियाणे अप्पुस्सुए अवहिल्लेस्से सुसमण्णए दंते इणमेव निग्गंथं पावयणं पुरओ काउं विहरइ, तए णं समणे भगवं महावीरे कयंगलाओ णयराओ छत्तपलासयाओ चेइयाओ पडिनिक्खमइ, पडिनिक्खमइत्ता बहिया जणवयविहारं विहरइ, तए णं से खंदए अणगारे समणस्स भगवओ महावीरस्स तहारूवाणं थेराणं अंतिए सामाइयमाइयाइं एक्कारस अंगाइं अहिज्जइ, अहिज्जइत्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता समणं भगवं महावीरं वंदइ, नमंसइ, नमंसइत्ता एवं वयासी-इच्छामि णं भंते ! तुज्झेहिं अब्भणुण्णाए समाणे मासियं भिक्खुपडिमं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं। तए णं खंदए अणगारे समणेणं भगवया महावीरेणं अब्भणुण्णाए समाणे हट्ठतुट्ठ. जाव नमंसित्ता मासियं भिक्खुपडिमं उवसपज्जित्ता णं विहर। तए णं से खंदए अणगारे मासियं भिक्खुपडिमं अहासुत्तं अहाकप्पं अहामग्गं अहातच्चं अहासमं सम्मं काएण फासेइ, पालेइ, सोभेइ, तीरेइ, पूरेइ, किट्टेइ, अणुपालेइ, आणाए, आराहेइ, सम्मं काएण फासित्ता. जाव आराहेत्ता, जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता समणं भगवं. जाव नमंसित्ता एवं वयासी-इच्छामि णं भंते! तुज्झेहिं अब्भणुण्णाए समाणे दोमासियं भिक्खुपडिमं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पमिबंधं। तं चेव एवं दोमासियं तिमासियं चाउम्मासियं पंच छ सत्त, पढमं सत्तराइंदियं, दोच्चं सत्तरादिइंयं, तच्चं सत्तराइंदियं, अहाराइंदियं, एगराइंदियं। तए णं से खंदए अणगारे एगराइं भिक्खुपडिमं अहासुत्तं. जाव आराहेत्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता समणे भगवं महावीरं. जाव नमंसित्ता एवं वयासी-इच्छामि णं भंते ! तुज्झेहिं अब्भणुण्णाए समाणे गुणरयणं संवच्छरं तवोकम्मं उवसंपज्जिता णं विहरित्तए, अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं। तए णं से खंदए अणगारे समणेणं भगवया महावीरेणं अब्भणुण्णाए समाणे. जाव नमंसित्ता गुणरयणं संवच्छरं तवोकम्मं उवसंपज्जित्ता णं विहरइ, तं जहा-पढमं मासं चउत्थं चउत्थेणं अनिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं दिया ठाणुक्कुडुए सूराभिमुहे आयावणभूमीए आयावेमाणे, रत्तिं वीरासणेणं अवाउडेण य दोच्चं मासं उट्ठं छट्ठेणं अनिक्खित्तेणं दिया ठाणुक्कुडुए सूराभिमुहे आयावणभूमीए आयावेमाणे, रत्तिं वीरासणेणं अवाउडेण य, एवं तच्चं मासं अट्ठमं अट्ठमेणं चउत्थं मासं दसमं दसमेणं पंचमं मासं बारसमं बारसमेणं छट्ठं मासं चोद्दसमं चोद्दसमेणं सत्तमं मासं सोलसमं सोलसमेणं अट्ठमं मासं अट्ठारसमं अट्ठारसमेणं नवमं मासं वीसइमं वीसइमेणं दसमं मासं बावीसइमं बावीसइमेणं एक्कारसमं मासं चउवीसइमं चउवीसइमेणं बारसमं मासं छव्वीसइमं छव्वीसइमेणं तेरसमं मासं अट्ठावीसइमं अट्ठावीसइमेणं चोद्दसमं मासं तीसइमं तीसइमेणं पन्नरसमं मासं बत्तीसइमं बत्तीसइमेणं सोलसमं मासं चउत्तीसइमं चउत्तीसइमेणं अनिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं दिया ठाणुक्कुडुए सूराभिमुहे आयावणभूमीए आयावेमाणे रत्तिं वीरासणेणं अवाउडेणं तए णं से खंदए अणगारे गुणरयणं संवच्छरं तवोकम्मं अहासुत्तं अहाकप्पं. जाव आराहित्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइत्ता समणं भगवं महावीरं वंदइ, नमंसइ, बहूहिं चउत्थछट्ठट्ठमदसम-दुवालसेहिं मासद्धमासखमणेहिं विचित्तेहिं तवोकम्मेहिं अप्पाणं भावेमाणे विहरइ। तए णं से खंदए अणगारे तेणं उरालेणं विउलेणं पयत्तेणं पग्गहिएणं कल्लाणेणं सिवेणं धन्नेणं मंगलेणं सस्सिरीएणं सस्सिरीएणं उदग्गेणं उदत्तेणं उत्तमेणं उदारेणं महाणुभागेणं तवोकम्मेणं सुक्के लुक्खे निम्मंसे अट्ठिचम्मावणद्धे किडिकिडियभूए किसे धम्मणिसंतए जाए यावि होत्था, जीवं जीवेणं गच्छइ, जीवं जीवेणं चिट्ठइ, भासं भासित्ता वि गिलाइ, भासं भासमाणे गिलाइ, भासं भासिस्सामीति गिलाइ, से जहानामए कट्ठसगमियाइ वा, पत्तसगमियाइ वा, पत्ततिलभंडगसगडियाइ वा, एरंडकट्ठसगडियाइ वा

इंगालसगडियाइ वा उण्हे दिण्णा सुक्का समाणी ससद्दं गच्छइं, ससद्दं चिट्ठइ, एवामेव खंदए अणगारे ससद्दं गच्छइ, ससद्दं चिट्ठइ, उवचिते तवेणं अवचिए मंससोणिएणं हुयासणे विव भासरासिपडिच्छण्णो तवेणं तेएणं तवेतेयसिरीए अतीव उवसोभेमाणे उवसोभेमाणं चिट्ठइ। तेणं कालेणं तेणं समएँ रायगिहे नयरे समोसरणं० जाव परिसा पडिगया। तए णं तस्स खंदयस्स अणगारस्स अण्णया कयाइ पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि धम्मजागरियं जागरमाणस्स इमेयारूवे अब्भत्थिए चिंतिए० जाव समुप्पज्जेत्था। एवं खलु अहं इमेणं एयारूवेणं उरालेणं० जाव किसे धमणिसंतए० जाव जीवं जीवेणं गच्छामि, जीवं जीवेणं चिट्ठामि० जाव गिलाम, ० जाव एवामेव अहं पि ससद्दं गच्छामि ससद्दं चिट्ठामि, तं अत्थि तामे उट्ठाणे कम्मे बले वीरिए पुरिसक्कारपरक्कमे तं० जाव तामे अत्थि उट्ठाणे कम्मे बले वीरिए पुरिसक्कारपरक्कमे० जाव य मे धम्मायरिए धम्मोवदेसए समणे भगवं महावीरे जिणे सुइत्थी विहरए, ताव तामे सेयं कल्लं पाउप्पभायाए रयणीए फुल्लु-प्पलकमलकोमलुम्मिलियम्मि अहपंडुरे पभाए रत्तासोगप्प-कासे किंसुयसुहमुहगुंजद्धरागसरिसे कमलागारसंभवोहए उट्ठियम्मि सूरे सहस्सरस्सिंमि दिणयरे तेयसा जंलते समणं भगवं महावीरं वंदित्ता नमंसित्ता० जाव पज्जुवासेत्ता समेणेणं भगवया महावीरेणं अब्भणुण्णाए समाणे सयमेव पंचमहव्वयाणि आराहेत्ता समणा य समणीओ य खामेत्ता तहारूवेहिं थेरेहिं कडाईहिं सद्धिं विपुलं पव्वयं सणियं सणियं दुरूहित्ता मेहघणसंनिगासं देवसन्निवायं पुढविसिलापट्टयं पडिलेहेत्ता दब्भसंथारयं संथरित्ता दब्भसंथारोवगयस्स संलेहणाझूसणाझूसियस्स भत्तपाणपडियाइक्खियस्स पाओवगयस्स कालं अणवकंखमाणस्स विहरित्तए त्तिकट्टु एवं संपेहेइ, एवं संपेहेइत्ता कल्लं पाउप्पभायाए रयणीए० जाव जलंते जेणेव समणे भगवं महावीरे० जाव पज्जुवासइ खंदयादि, समणे भगवं महावीरे खंदयं अणगारं एवं वयासी-से णूणं तव खंदया पुव्वारत्तावरत्तं० जाव जागरमाणस्स इमेयारूवे अब्भत्थिए० जाव समुपज्जित्था, एवं खलु अहं इमेणं एयारूवेणं उरालेणं विउलेणं तं चेव० जाव कालं० अणवकंखमाणस्स विहरित्तए त्ति कट्टु एवं संपेहेइ, संपेहेइत्ता कल्लं पाउप्पभायाए० जाव जलंते जेणेव मम अंतिए तेणेव हव्वमागए, से णूणं खंदया ! अट्ठे समट्ठे। हंता अत्थि, अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं, तए णं से खंदए अणगारे समणेणं भगवया महावीरेणं अब्भणुण्णाए समाणे हट्ठतुट्ठ० जाव हयहियए उट्ठाए उट्ठेइ, उट्ठेइत्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ० जाव नमंसित्ता सयमेव पंच महव्वयाइं आरुहेइ, आरुहेइत्ता समणा य समणीओ य खामेइ, खामेइत्ता, तहारूवेहिं थेरेहिं कडाईहिं सद्धिं विपुलं पव्वयं सणियं सणियं दुरुहेइ, दुरूहेइत्ता मेहघणसन्निगासं देवसन्निवायं पुढविसिलावट्टयं पडिलेहेइ, पडिलेहेइत्ता उच्चारपासवणभूमिं पडिलेहेइ, पडिलेहेइत्ता दब्भसंथारयं संथरइ, संथरइत्ता पुरत्थाभिमुहे संपलियंकनिसन्ने करयलपरिग्गाहियं दसनहं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु एवं वयासी–न–मोऽत्थु णं अरहंताणं भगवंताणं० जाव संपत्ताणं, नमोऽत्थु णं समणस्स भगवओ महावीरस्स० जाव संपाविउकामस्स वंदामि णं भगवं तं तत्थ गतं इह गओ पासउ, मे से भयवं तत्थ गए इह गयं ति त्तिकट्टु वंदइ, णमंसइ, वंदित्ता णमंसित्ता वओ महावीरस्स अंतिए सव्वे पाणाइवाए पच्चक्खाए जावज्जीवाए, जाव इमच्छादंसणसल्ले पच्चक्खाए जावज्जीवाए, इयाणं पि य णं समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए सव्वं पाणाइवायं पच्चक्खामि जावज्जीवाए० जाव मिच्छादंसणसल्लं पच्चक्खामि जावज्जीवाए, सव्वं असणपाणखाइमसाइमं चउव्विं पि आहारं पच्चक्खामि जावज्जीवाए, जं पि य इमं सरीरं इट्ठं कंतं पियं० जाव फुसंतु त्ति कट्टु एयं पि णं चरिमेहिं उस्सासनीसासेहिं वोसिरामि त्ति कट्टु संलेहणाझूसणा-झूसिए भत्तपाणपडियाइक्खिए पाओवगए कालं अणवकं खमाणे विहरइ। तए णं से खंदए अणगारे समणस्स भगवओ महावीरस्स तहारूवाणं थेराणं अंतिए सामाइय-माइयाएं एक्कारस अंगाइं अहिज्झित्ता वहुपडिपुण्णाइं दुवालसवासाइं सामण्णपरियागं पाउणित्ता मासियाए संलेहणाए अत्ताणं झूसित्ता सट्ठिं भत्ताइं अणसणाए छेदित्ता आलोइयपडिक्कंते समाहिपत्ते आणुपुव्वीए कालगए, तए णं ते थेरा भगवंतो खंदयं अणगारं कालगयं जाणित्ता परिनिव्वावत्तियं काउस्सग्गं करेइ, पत्तचीवराणि गिण्हंति, विपुलाओ पव्वयाओ सणियं सणियं पच्चोरुहंति, पच्चोरुहइत्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता समणं भगवं महावीरं वंदइ, नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी–एवं खलु देवाणुप्पियाणं अंतेवासी खंदए णामं अणगारे पगइभद्दए पगइउवसंते पगइपयणुकोहमाण-मायालोभे मिउमद्दव-संपण्णे अल्लीणे भद्दए विणीए से णं देवाणुप्पिएहिं अब्भणुण्णाए समाणे सयमेव पंच महव्वयाणि आराहेत्ता समणा य समणीओ य खामेत्ता अम्हेहिं सद्धिं विपुलं पव्वयं तं चेव निरवसेसं० जाव आणुपुव्वीए कालगए इमे य से आयारभंकए भंते त्ति भयवं गोयमे समणं भगवं महावीरं वंदइ,

णमंसइ, वंदित्ता णमंसित्ता एवं वयासी–एवं खलु देवाणप्पियाणं अंतेवासी खंदए णामं अणगारे कालमासे कालं किच्चा कहिं गए कहिं उववण्णे ? गोयमादि, समणे भगवं महावीरे भगवं गोयमं एवं वयासी–एवं खलु गोयमा ! मम अंतेवासी खंदए णामं अणगारे पगइभद्दए० जाव से णं मए अब्भणुण्णाए समाणे सयमेव पंच महव्वयाइं आरुहेत्तां तं चेव सव्वं अवसेसयं नेयव्वं० जाव आलोइयपडिक्कंते समाहिपत्ते कालमासे कालं किच्चा अच्चुए कप्पे देवत्ताए उववण्णे, तत्थ णं अत्थेगइयाणं देवाणं बावीसं सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता, तत्थ णं खंदयस्स वि देवस्स बावीसं सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता, से णं भंते ! खंदए देवत्ताओ देवलोयाओ आउक्खएणं भवक्खएणं ठिइक्खएणं अणंतरं चयं चइत्ता कहिं गमिहिति कहिं उववज्जिहिति ? गोयमा ! महाविदेहे सिज्झिहिति, बुज्झिहिति, मुच्चिहिति, परिनिव्वाहिति, सव्वदुक्खाण–मंतं करिहिति। खंदओ सम्मत्तो। भ० २ श० १ उ०। ज्ञा०।

खंदगग्ह पुं० (स्कन्दग्रह) उन्मत्तताहेतौ स्कन्ददेवकृतोपद्रवे, जं० २ वक्ष०। ज्वरविशेषे, भ० ३ श० ६ उ०।

खंदमह पुं० (स्कन्दमह) स्कन्दः स्वामी कार्त्तिकेयस्तस्य महोमहिमा पूजा। आचा० २ श्रु० १ अ० २ उ०। कार्त्तिकेयोत्सवे, भ० ६ श० ३३ उ०। विपा०।

खंदसिरी स्त्री० (स्कन्दश्री) शालाटव्यां चोरपल्ल्यां विजयस्य सेनापतेर्भार्यायाम्, विपा० १ श्रु० ३ अ०। ('अभग्गसेण' शब्द प्र० भाग ७०१ पृष्ठे कथा)

खंदिल पुं० (स्कन्दिल) स्वनामख्याते आचार्ये, तेन मथुरायां संघमेलापकं कृत्वा शास्त्रवचनाऽनुगमिता। ग० १ अधि०। नं०।

जेसि इमो अणुओगो, पयरइ, अज्जावि अड्ढभरहम्मि।
बहुनयरनिग्गयजसे, तं बंदे खंदिलायरिए॥३७॥

(जेसिमित्यादि) येषामयं श्रवणप्रत्यक्षत उपलभ्यमानोऽनुयोगोऽद्यापि अर्द्धभरते वैताढ्यादर्वाक् प्रचरित व्याप्रियते, तान् स्कन्दिलाचार्यान्, सिंहवाचकसूरीशिष्यान् बहुषु नगरेषु निर्गतं प्रसृतं यशो येषां ते बहुनगरनिर्गतयशसः, तान् वन्दे। अथ येषामद्युयोगोऽर्द्धभरते व्याप्रियमाणः, कथं तेषां स्कन्दिलनाम्नामाचार्याणां संबन्धी ? उच्यते–इह स्कन्दिलाचार्यप्रतिपत्तौ दुःषम्सुषमाप्रतिपन्थिन्यास्तद्गतसकलशुभभावग्रसनैकसमारम्भायाः दुःषमायाः सहायकमाधातुं परमसुहृदिव द्वादशवार्षिकं दुर्भिक्षम् उदपादिः, तत्र चैवंरूपे महति दुर्भिक्षे भिक्षालाभस्यासंभवात् अवसीदतां साधऊनाम पूर्वाधिग्रहणपूर्वार्थस्मरणश्रुतपरावर्तनानि मूलत एवापजग्मुः, श्रुतिमपि चातिशायि प्रभूतमनेशत्। अङ्गोपाङ्गादिगतमपि भावतो विप्रनष्टं तत्परावर्तनादेरभावात्, ततो द्वादशवर्षानन्तरमुत्पन्ने महति सुभिक्षे मथुरापरि स्कन्दिलाचार्यप्रमुखश्रवणसंघेनैकत्र मिलित्वा यो यस्मरति स तत्कथयतीत्येवं कालिकश्रुतपूर्वगंत च किञ्चिदनुसंधाय घटितं, ततश्चैतत् मथुरापरि संघटितम्, अत इयं वाचना माथुरीत्यभिधीयते। सा च तत्काल-*युगप्रधानानां स्कन्दिलाचार्याणामभिमता, तैरेव चार्थतः शिष्यबुद्धिं* प्रापिता इति तदनुयोगः तेषामाचार्याणां संबन्धीति व्यपदिश्यते। अपरे पुनरेवमाहुःन किमपि श्रुतं दुर्भिक्षवशादनेशत्, किन्तु तावदेव तत्काले श्रुतमनुवर्तते स्म, केवलमन्ये प्रधाना येऽनुयोगधराः ते सर्वेऽपि दुर्भिक्षकालकवलीकृताः, एक एव स्कन्दिलसूरयो विद्यन्ते स्म, ततस्तैर्दुर्भिक्षापगमे मथुरापुरि पुनरनुयोगः प्रवर्तित इति माथुरी वाचना व्यपदिश्यते, अनुयोगश्च तेषामाचार्याणामिति। नं०। येन (स्कन्दिलाचार्येण) च मथुरायां देवनिर्मितस्तूपे पक्षाक्षपणेन देवतामाराध्य जिनभद्रक्षमाश्रमणैरुद्देहिकाभक्षितपुस्तकपत्रत्वेन त्रुटितं भद्रं महानिशीथं सन्धितम्। ती० ६ कल्प। स्थूणानगर्यामेकस्यैवाचार्यस्य शिष्याणां पुष्पमित्रादीनामष्टानामन्यतम एवमेते त्रयः स्कन्दिलाचार्याः संभाव्यन्ते, तत्त्वं पुनः पुरातत्त्वविद्भिः स्वयमूह्यम्। व्य०। स च दशपूर्वी, युगप्रधानप्रवरश्च। कल्प० ८ क्षण।

खंध पुं० (स्कन्ध) स्कन्दन्ति शुष्यन्ति क्षीयन्ते च पुष्पयन्ते पुद्गलानां चटनेन विचटनेन चेति स्कन्धाः। पृषोदरादित्वा-द्रूपनिष्पत्तिः। प्रव० १ द्वार। "ष्कस्कयोर्नाम्नि" ८। २। ४। इति स्कभागस्य खः। प्रा० २ पाद। पुद्गलप्रचयरूपेषु, आ० चू० १ अ०। अणुसमुदायेषु, स्था० १ ठा० १ उ०।

निक्षेपः–

से किं तं खंधे ? खंधे च उव्विहे पण्णत्ते। तं जहा–नामखंधे, ठवणाखंधे, दव्वखंधे, भावखंधे, नामट्ठवणाओ पुव्वभणिआणुक्कमेण भाणिअव्वाओ।

अथ किं तत् स्कन्ध इत्युच्यते ?, इति प्रश्ने निर्वचनमाह–"खंधे चउव्विहे" इत्यादि। अत्र नामस्कन्धम् आवश्यकसूत्रं स्थापनास्कन्धप्रतिपादकसूत्रं नामस्थापनावश्यकप्रतिपादकसूत्रव्या ख्याऽनुसारेण स्वयमेव भावनीयम्।

(द्रव्यस्कन्धः)

से किं तं दव्वखंधे ?। दव्वक्खंधे दुविहे पण्णत्ते। तंजहा–आगमतो अ, नोआगमतो अ। से किं तं आगमओ दव्वक्खंधे? आगमतो दव्वक्खंधे जस्स णं खंधेत्ति पयं भिक्खितं, सेसं जहा दव्वावस्सए तहा भाणिव्वं, नवरं खंधाभिलावो जाव। से किं तं जाणियसरीरभवियसरीरवइरित्ते दव्वखंधे ? जाणियसरीरभविय-सरीरवइरित्ते दव्वखंधे तिविधे पण्णत्ते। तं जहा–सचित्ते अचित्ते, मीसए।

द्रव्यस्कन्धसूत्रमपि भव्यशरीरद्रव्यस्कन्धसूत्रं यावद् द्रव्यावश्यकोक्तव्याख्याऽनुसारणैवं भावनीयम्। प्रायस्तुल्यवक्तव्यत्वादिति। "से किं तं जाणयसरीरभवियसरीरवइरित्ते दव्वखंधे"? इति प्रश्ने निर्वचनमाह–"जाणगसरीरभवियसरीरवइरित्ते दव्वखन्धे तिविहे पन्नत्ते" इत्यादि। ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तद्रव्यस्कन्धस्त्रिविधः प्रज्ञप्तः। तद्यथा–सचित्तोऽचित्तो मिश्रः।

तत्राद्यभेदं जिज्ञासुः पृच्छति–

से किं तं सचित्ते दव्वखंधे ? सचित्ते दव्वखंधे अणेगविहे पण्णत्ते। तं जहा–हयखंधे गंधव्वखंधे उसभखंधे, सेत्तं सचित्ते दव्वखंधे।

"से किं तमित्यादि"। अत्रोत्तरम् –"सचित्तदव्वखंधे अणे–*गविहे पण्णत्ते" इत्यादि। चित्तं मनो विज्ञानमिति पर्यायाः।* सहचित्तिन वर्तन इति सचित्तः, स चासौ द्रव्यस्कन्धश्चेति सचित्त–

द्रव्यस्कन्धः । अनेकविधोक्तिभेदतोऽनेकप्रकारः प्रज्ञप्तः । तद्यथा-हयस्कन्ध इत्यादि । हयस्तुरगः, स एव विशिष्टपरिणामपरिणतत्यात् स्कन्धो हयस्कन्धः । एवं गजस्कन्धादिष्वपि समासः । नवरं किं नरकिं पुरुषमहोरगादिव्यन्तरविशेषाः। (उसभ त्ति) वृषभः कचिद्नन्धर्वस्कन्धादीन्याधिकान्यप्युदाहरणानि दृश्यन्ते, सुगमानि च, नवरं ''पसुपसयविहगवानरखंधे त्ति'' क्वचिद् दृश्यन्ते । तत्र पशुः छागलकः, पसयस्त्वाटविको द्विखुरः चतुष्पदविशेषः, विहगः पक्षी, वानरः प्रतीतः, स्कन्धशब्दस्तु प्रत्येकं द्रष्टव्यः । इह च सचित्तस्कन्धाधिकाराज्जी वानामेव च परमार्थतः सचेतनात्वात्कयञ्चिच्चरीरैः सह भेदे सत्यपि हयादीनां संबन्धिनो जीवा एव विवक्षिता न तु तदधिष्ठितशरीराणीति संप्रदायः । न च जीवानां स्कन्धत्वं नोपपद्यते, प्रत्येकमसंख्येयप्रदेशात्मकत्वेन तेषां स्कन्धत्वस्य सुप्रतीतत्वादिति हयस्कन्धादीनामन्यतरेणैकेनाप्युदाहरणेन सिद्धम, किं प्रभूतोदाहरणाभिधानेति चेत्सत्यम् । किं तु पृथग् भिन्नस्वरूपं विजातीयं स्कन्धबहुत्वाभिधानेनात्माद्यद्वैतवादं निरस्यति, तथाऽभ्युपगमे मुक्तेतरादिव्यवहारोच्छेदप्रसङ्गात् । ''सेत्तं'' इत्यादि निगमनम् ।

अथाचित्तद्रव्यस्कन्धनिरूपणार्थमाह –

से किं तं अचित्ते दव्वखंधे ?। अचित्ते दव्वक्खंधे अणेगविहे पण्णत्ते । तं जहा–दुपएसिए तिएसिए० जाव दसपएसिए, संखिज्जपएसिए असंखिज्जपएसिए अणंतपएसिए, सेत्तं अचित्ते दव्वखंधे ।

''से किं तं'' इत्यादि । अत्र निर्वचनम्–''अचित्तदव्वखंधे'' इत्यादि। अविद्यमानचित्तोऽचित्तः, स चासौ द्रव्यस्कन्धश्चेति समासः। अयमनेकविधः प्रज्ञप्तः। तद्यथा–द्विप्रदेशस्कन्ध इत्यादि । तत्र प्रकृष्टः पुद्गलास्तिकायदेशः प्रदेशः, परमाणुरित्यर्थः । द्वौ प्रदेशौ यत्र स द्विप्रदेशिकः स चासौस्कन्धश्च द्विप्रदेशिकस्कन्धः । एवमन्यत्रापि यथायोगं समासः । ''सेत्तं'' इत्यादि निगमनम् । अनु०।

अथ मिश्रद्रव्यस्कन्धनिरूपणायाऽऽह –

से किं तं मीसए दव्वखंधे ?। मीसए दव्वक्खंधे अणेगविहे पण्णत्ते । तं जहा–सेणाए अग्गिमे खंधे, सेणाए मज्झिमे खंधे, सेणाए पच्छिमे खंधे । सेत्तं मीसए दव्वखंधे ।

अयमपरोऽचित्तमद्दाद्रव्यस्कन्धः । तद्व्याख्यानार्थमाह –

जइणसमुग्घायगइएँ, चउहिं समएहिँ पूरणं कुणई ।
लोगस्स तेहिँ चेव य, संहरणं तस्स पडिलोमं ॥६४३॥

इह निर्युक्तिगाथायां ''तहाऽचित्तित्ति'' न केवलं मिश्रः, तथा एकदेशेन समुदायस्य गम्यमानत्वादचित्तमहास्कन्धश्च भवतीति गम्यते। स चास्यां प्रस्तुतगाथायां योज्यते । कथमिति चेत् ?, उच्यते–अचित्तमहास्कन्धः स भवति, यः किमित्याह–जैनसमुद्घातगत्या ''दण्डं प्रथमे समये, कपाटमथ चोत्तरेत्यादि'' केवलिसमुद्घातन्यायेन विस्त्रसापरिणामवशाच्चतुर्भिः समयैः लोकस्य पूरणं करोति। संहरणमपि प्रतिलोमं पश्चान्मुखं तस्याचित्तमहास्कन्धस्य तैरेव चतुर्भिः समयैर्द्रष्टव्यम् । एवं च सत्यष्टौ समयान् कालमानेनासौ भवतीति ॥६४३॥

आह–ननु पुद्गला इह विचारयितुमुपक्रान्तास्ततश्च पुद्गलमहास्कन्धोऽचेतन एव भवित, किं तस्याचित्तत्वविशेषणेन, व्यवच्छेद्याभावादित्याशङ्क्याह –

जइणसमुग्घायसचि–त्तकम्मपोग्गलमयं महाखंधं ।
पइ तस्समाणुभावो, होइ अचित्तो महाखंधो ॥६४४॥

जैनसमुद्घाते यः सचेतनजीवाधिष्ठितत्वात्सचित्तः कर्मपुद्गलमयो महास्कन्धस्तं प्रति तमाश्रित्य, तद्व्यवच्छेदायेत्यर्थः । किमित्याह–प्रस्तुतः पुद्गलमहास्कन्धोऽचित्तमहास्कन्धः इति व्यपदेश्यो भवति अचित्तविशेषणेन विशेभ्यो भवतीत्यर्थः । कुत इत्याहयतस्तत्समानभावः उपलक्षणत्वात्तत्समक्षेत्रकालानुभावः–तेन केवलिसमुद्घातवर्त्तिना कर्म्मपुद्गलमयमहास्कन्धेन समास्तुल्याः क्षेत्रकालानुभावा यस्यासौ तत्समक्षेत्रकालानुभावः तत्र क्षेत्रं सर्वलोकलक्षणं, कालोऽष्टसमयमानः, अनुभावो वर्ण्णगन्धादिगुणः । अयमत्र भावार्थः–अनन्तानन्तपरमाणुपुद्गलोपचितस्कन्धे वक्तुं प्रस्तुते यदि महास्कन्ध इत्येतावन्मात्रमेवोच्यते, तदा केवलसमुद्घातगतोऽनन्ताऽनन्तकर्म्मपुद्गलमयस्कन्धोऽपि लभ्येत, प्रस्तुतमहास्कन्धस्य केवलिसमुद्घातकर्म्मपुद्गमयमहास्कन्धस्य च समानक्षेत्रकालानुभावत्वात्। तथाहि–चतुर्थे समये द्वावपि लोकक्षेत्रं व्याप्नुतः, अष्टसानयिकं च कालं द्वावपि तिष्ठतः, वर्णपञ्चकगन्धद्वयरसपञ्चकस्पर्शचतुष्टयलक्षणगुणयुक्तौ द्वावपि भवतः। तदेवं महास्कन्ध इत्युक्तेऽनन्तानन्तकर्मपुद्गलमयमहास्कन्धः केवलिसमुद्घातगतोऽपि सभ्येत, तस्यापि प्रस्तुतमहास्कन्धे समानक्षेत्रकालानुभावत्वात्। न च तेनेह प्रयोजनमतोऽचित्तविशेषणेन तद्व्यवच्छेदः क्रियते, जीवाधिष्ठितत्वेन किल तस्य सचेतनत्वादिति ॥६४४॥

अथाऽत्र केषांचिन्मतमुपदर्श्य निराकुर्वन्नाह –

सव्वुक्कोसपएसो, एसो केई न चायमेगंतो ।
उक्कोसपएसो जम–वग्गहविइओ चउट्ठाणो ॥६४५॥
अट्ठप्फासो य जओ, भणिओ एसो य जं चउप्फासो ।
अण्णे वि तओ पोग्गल–भेया संति त्ति सद्धेयं ॥६४६॥

एष प्रस्तुतोऽचित्तमहास्कन्धः सर्वोत्कृष्टप्रदेशनिर्वृत्तो, नान्यः । अयं ह्यौदारिकादिवर्गणाः सर्वा अप्यभिधाय पर्यन्ते प्रोक्तौऽतो ज्ञायतेऽयमेव सर्वोत्कृष्टपरमाणुसंख्याप्रचितो, न स्कन्धान्तराणि। निवर्तते ह्यत ऊर्द्धं सर्वाऽपि पुद्गलविशेषाणां कथेति भावः । इत्येवं केचित् व्याचक्षते । नचायमेकान्तो, नैतध्याख्यानं सङ्गतमित्यर्थः, यद्यस्मादुत्कृष्टप्रदेशः स्कन्धः प्रतियोग्युत्कृष्टप्रदेशस्कन्धान्तरापेक्षया प्रज्ञापनायामवगाहनास्थितिभ्यां चतुस्थानपतित उक्तः। तथा च तत्सुत्रम्–''उक्कोसपएसिआणं भंते ! खंधाणं केवइया पज्जवा पण्णत्ता ? गोयमा ! अणंता । सेकेणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चति ? गोयमा ! उक्कोसपएसिए खंधे, उक्कोसपएसिअस्स खंधस्स दव्वट्ठयाए तुल्ले'' (एकैकद्रव्यत्वात्) पएसट्ठयाएतुल्ले, (उत्कृष्टप्रदेशिकस्यैव प्रस्तुतत्वात्) ओगाहणट्ठियाए चउट्ठा-णवडिए । तं जहा–असंखेज्जभागहीणे वा संखेज्जभागहीणे वा संखेज्जगुणहीणे वा असंखेज्जगुणहीणे वा असंखेज्जभागब्भहिए वा संखज्जभागब्भहिए वा संखेज्जगुणब्भहिए वा असंखेज्जगुणब्भहिए वा । एवं ठिईए वि चउट्ठाणवडिए वण्णगंधरस० । अट्ठहिं फासेहिं छट्ठाणवडिए''॥ अयं पुनरचित्तमहास्कन्धोऽचित्तमहास्कन्धान्तरेण सहावगाहना-स्थितिभ्यां तुल्य एव । अतो ज्ञायते–एतस्मादपर एव केचित्ते प्रज्ञापनोक्ता उत्कृष्टप्रदेशिकाः स्कन्धा इति । किं च–'अ–

ट्ठप्फासो य जओ, भणिओ'' 'उक्कोसपएसो' इत्यनन्तरगाथागतं संबध्यते। ततश्चाष्टस्पर्शस्य यतः ''प्रज्ञापनायां'' भणित उत्कृष्टप्रदेशिकः स्कन्धः। एष पुनरचित्तमहास्कन्धो यस्मा श्चतुःस्पर्श इष्यते। तस्मादनयैवोत्कृष्टप्रदैशिकस्कन्धानां भेदसिद्वया पूर्वोक्तवर्गणामिश्राचित्तमहास्कन्धेभ्योऽन्येऽपि केचिदसंगृहीताः पुद्गलविशेषा अद्यापि सन्तीति श्रद्धेयम्, न पुनरेतावता सर्वोऽपि पुद्गलास्तिकायः संगृहीत इति भावः ॥६४५। ६४६॥ विशे०। प्रज्ञा०। आ० म०।

अहवा जाणयसरीरभवियसरीरवइरित्ते दव्वखंधे तिविहे पण्णत्ते। तं जहा–कसिणखंधे, अकसिणखंधे, अणेगद्वियखंधे ॥

''अहवा जाणगेत्यादि'' अथ वा अन्येन प्रकारेण ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तो द्रव्यस्कन्धस्त्रिविधः प्रज्ञप्तः। तद्यथा–कृ–त्स्नस्कन्धोऽकृत्स्नस्कन्धोऽनेकद्रव्यस्कन्धः।

से किं तं कसिणखंधे ? कसिणखंधे सो चेव हयक्खंधे गयक्खंधे० जाव उसभखंधे। सेत्तं कसिणखंधे ॥

''से किं तमित्यादि''। अत्रोत्तरम्–''कसिणक्खन्धइत्यादि''। यस्मादन्यो वृहत्तरः स्कन्धो नास्ति कृत्स्नः परिपूर्णः स्कनधः कृत्स्नस्कन्धः। कोऽयमित्याह–''सो चेत्यादि'' स एव ''हयक्खन्ध'' इत्यादिनोपन्यस्तो हयादिस्कन्धः कृत्स्नस्कन्धः। आह–यद्येवं प्रकारान्तरत्वमसिद्धं सचित्तस्कन्धस्यैव संज्ञान्तरेणोक्तत्वात्। नैतदेवम्। प्राग् सचित्तद्रव्यस्कन्धाधिकारात् तथा चाभिसन्नोऽपि बुद्धया निकृष्य जीवा एवोक्ताः, इह तु जीवाधिष्ठितः शरीरावयवलक्षणसमुदायः कृत्स्नस्कन्धत्वेन विवक्षित इत्यतोऽभिधेयभेदात्सिद्धं प्रकारान्तरत्वम्; यद्येवं तर्हि हयादिस्कन्धस्य कृत्स्नत्वं नोपपद्यते, तदपेक्षया गजादिस्कन्धस्य वृहत्तरत्वात्। नैतदेवम्। यतोऽसंख्येयप्रदेशात्मको जीवस्तदधिष्ठिताश्च शरीरावयवा इत्येवंलक्षणः समुदायो हयादिस्कन्धत्वेन विवक्षितो जीवस्य वा संख्येयप्रदेशात्मकभयात्सर्वत्र तुल्यत्वात् गजादिस्कन्धस्य बृहत्तरत्वमसिद्धम्, यदिह जीवप्रदेशपुद्गलसमुदायः सामस्त्येन वर्द्धेत, तदा स्याद्गजादिस्कन्धस्य वृहत्वं, तच्च नास्ति, समुदायवृद्धयभावात्, तस्मादितरेतरापेक्षया जीवप्रदेशपुद्गलसमुदायस्य हीनाधिक्याभावात्सर्वेऽपि समुदायादिस्कन्धाः परिपूर्णत्वात् कृत्स्नस्कन्धाः, अन्ये तु दूरं सचित्त स्कन्धविचारे जीवाधिष्ठितशरीरावयवसमुदायः सचित्तस्कन्धोऽत्र तु शरीरात् बुद्धया पृथक्कृत्य जीव एव केवलः कृत्स्नस्कन्ध इति व्यत्पयं व्याचक्षते। अत्र च व्याख्याने प्रेर्यमेव नास्ति, हयगजादिजीवानां प्रदेशतो हीनाधिक्याभावेन कृत्स्नस्कन्धत्वस्य सर्वत्राविरोधादित्यलं प्रसङ्गेन। ''सेत्तं'' इत्यादिनिगमनम्।

अथाकृत्स्नस्कन्धनिरूपणार्थमाह –

से किं तं अकासिणखंधे ? अकसिणखंधे सो चेव दुपएसियाइ खंधे० जाव अणंतपएसिए खंधे। सेत्तं अकसिणखंधे।

''से कि तं मित्यादि।'' अत्रोत्तरम् –''अकसिणखंधे सोचेत्यादि। न कृत्स्नोऽकृत्स्नः, स चासौ स्कन्धश्चाकृत्स्नस्कन्धो, यस्मादन्योऽपि वृहत्तरस्कन्धोऽस्ति सोऽपरिपूर्णत्वादकृत्स्नस्कन्ध इत्यर्थः। कस्यायमित्याह–''सो चेवेत्यादि''। स एव ''दुपदेसिएखंधे तिपएसिए खंधे'' इत्यादिना पूर्वमुपन्यस्तो द्विप्रदेशकादिकृत्स्नस्कन्ध इत्यर्थः। द्विप्रदेशिकस्य विप्रदेशिकापेक्षया कृत्स्नत्वात् त्रिप्रदेशिकस्यापि चतुःप्रदेशिकापेक्षया कृत्स्नत्वादेवं तावद्वाच्यं यावत् कृत्स्नं नापद्यत इति पूर्वं द्विप्रशिकादिः सर्वोत्कृष्टप्रदेशश्च स्कन्धः सामान्येनाचित्ततया प्रोक्त ॥ इह तु सर्वोत्कृष्टस्कन्धादद्योवर्तिन एवोत्तरापेक्षया पूर्वपूर्वतरा अकृत्स्नस्कन्धत्वेनोक्ता इति विशेषः। ''सेत्तं'' इत्यादिनिगमनम्।

अथानेकद्रव्यस्कन्धनिरूपणार्थमाह –

से किं तं अणेगदव्वियखंधे ? अणेगदव्वियखंधे तस्स चेव देसे अवचिए, तस्स चेव देसे उवचिये, सेत्तं अणेगदव्विअखंधे। सेत्तं जाणगसरीरभविअसरीरवतिरित्ते दव्वखंधे। सेत्तं नोआगमतो दव्वखंधे।

''से किं तमित्यादि''। अत्रोत्तरम्–''अणेगदवियखंधस्येत्यादि'' अनेकद्रव्यश्चासौ स्कन्धश्चेति समासः। तस्यैवेत्यत्रानुवर्तमानं स्कन्धमात्रं संबध्यते, ततश्च तस्यैव यस्य कस्यचित् स्कन्धस्य यो देशो नखदन्तकेशादिलक्षणोऽपि चितो जीवप्रदेशैर्विरहितस्तस्यैव देशः पृष्ठोदरचरणादिरुपचितो, जीवप्रदेशैर्व्याप्त इत्यर्थः। तयोर्यथोक्तदेशयोर्विशिष्टैकपरिणामपरिणतयोर्यो देहाख्यः समुदायः सोऽनेकद्रव्यस्कन्ध इति विशेषः। सचेतनमचेतनानेकद्रव्यात्मकत्वादिति भावः। स चैवंभूतः सामर्थ्यात्तुरगादिस्कन्ध एव प्रतीयते। यद्येवं तर्हि कृत्स्नस्कन्धादस्य को विशेष इति चेद् ? उच्यते–स किल यावानेव जीवप्रदेशानुगतस्तानेव विवक्षितो, न तु जीवप्रदेशाव्याप्तनखाद्यपेक्षया, अयं तु नखाद्यपेक्षयाऽपीति विशेषः। पूर्वोक्तमिश्रस्कन्धादस्य तर्हि को विशेष इति चेद् ? उच्यते–तत्र खङ्गाद्यजीवानां हस्त्यादिजीवानां च अपृथग्व्यवस्थितानां समूहकल्पनया मिश्रस्कन्धमुक्तम्। अत्र तु जीवप्रयोगतो विशिष्टैकपरिणामपरिणतानां सचेतनद्रव्याणामनेकद्रव्यस्कन्धत्वमिति विशेष इत्यलं प्रसङ्गेन। ''सेत्तमित्यादि'' निगमनं, तदेवमुक्तो ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तो द्रव्यस्कन्धः, तद्भणने च समर्थितो 'नोआगमतो' द्रव्यस्कन्धविचारः, तत्समर्थने च समर्थितो द्रव्यस्कन्ध इति। अनु०। उत्त०। दश०। सूत्र०। आ० म०। आचा०।

भावस्कन्धनिरूपणार्थमाह –

से किं तं भावखंधे ? भावक्खंधे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा–आगमतो अ, नोआगमतो अ। से किं त आगमतो भावक्खंधे। जाणए उवउत्ते सेत्तं आगमतो भावखंधे। से किं तं नोआगमतो भावखंधे। एएसिं चेव सामाइअमाइयाणं छण्हं अज्झयणाणं समुदयसमिइसमागमेणं आवस्सयं सुअखंधे भावखंधे त्ति लब्भइ। सेत्तं नो आगमओ भावखंधे। सेत्तं भावखंधे ॥

''सेकिंतमित्यादि।'' अत्रोत्तरम्–''भावखंधे दुविहे'' इत्यादि। भावश्चासौ स्कन्धश्च भावस्कन्धः, भावमाश्रित्य वा स्कन्धो भावस्कन्धः स च द्विविधः प्रज्ञप्तः। तद्यथा–आगमतश्च, नोआगमतश्च। तत्रागमतः स्कन्धपदार्थज्ञः, तत्र चोपयुक्तस्तु तदुपयोगित्वाद्भावस्कन्धः। नोआगमतस्तु एतेषामेव प्रस्तुतावश्यकभेदानां सामायिकादीनां षण्णामध्ययनानां समुदायः। स चैतेषां विशकलितानामपि तथाविधदेवदत्तादीनामिव स्यात्। अत उच्यतेसमुदयस्य समितिर्नैरन्तर्येण मीलना, सा च नैरन्तर्यावस्थापितानां शलाकानामिव परस्परनिरपेक्षाणामपि स्यात्, अत उच्यते–

तस्याः समुदयसमितेर्यः समागमः परस्परं संबद्धतया विशिष्टैकपरिणामसमुदायसमितिसमागमस्तेन निष्पन्नोऽयम् आवश्यकश्रुतस्कन्धः स भावस्कन्ध इति लभ्यते प्राप्यते भवति इति हृदयम्। इदमुक्तं भवतिसामायिकादिषडध्ययनसंहितिनिष्पन्न आवश्यकश्रुतस्कन्धो मुखवस्त्रिकारजोहरणादिव्यापारलक्षणक्रियायुक्ततया विवक्षितो नो आगमतो भावस्कन्धः नो शब्दस्य देश आगमनिषेधपरत्वात्, क्रियालक्षणस्य च देशस्यानागमत्वादिति भावः। ''सेत्तमित्यादि''। तदेवं प्रतिपादितो द्विवि–धोऽपि भावस्कन्ध इति। निगमयति–''सेत्तं भावखंधे त्ति''। अनु०। आ० चू०। विपा०।

इदानीं त्वस्यैव एकार्थिकानभिधित्सुराह –

तस्स णं सेत्तं इमे एगट्ठिया णाणा घोसा णाणा वंजणा नामधेज्जा भवंति। तं जहा–''गणकाए अ निकाए, खंधे वग्गे तहेव रासी अ। पुंजे पिंडे निगरे, संघाए आउलसमूहे''॥१॥ सेत्तं खंधे। अनु०।

द्विप्रदेशिका यावदनन्तप्रदेशिकाः स्कन्धान्ताः। स्था० १ ठा० १० उ०। ('पज्जाय' शब्देऽस्य पर्याया द्रष्टव्याः) समुच्चयेषु, स्था० १० ठा०। सर्वास्थिकायसंघाते, आ० म० द्वि०। सूत्र०। ('पंच खंधे वयंतेगे' त्यादि 'खणिअवाइ' शब्दे उपपादयिष्यते, निराकरिष्यते च)वनस्पतीनां स्थूमे, यतो मूलशाखाः प्रभवन्ति। जी० ३ प्रति०। स्था०। औ०। जं०। रा०। ज्ञा०। अंशदेशे, उत्त० २ अ०। औ०। पृष्ठे स्कन्धप्रदेशप्रत्याशक्ते, पृष्ठमपि स्कन्ध इति व्यपदिश्यते। ज्ञा० १ श्रु० १२ अ०। एकस्य स्तम्भस्योपरि आश्रये, आचा० २ श्रु० २ अ० १ उ०। अर्द्धप्राकारे, नि० चू० १३ उ०। द्वीन्द्रियभेदे, प्रज्ञा० १ पद।

खंधंतर न० (स्कन्धान्तर) एकस्मात् स्कन्धादन्यस्मिन् स्कन्धे, स्था० ४ ठा० ३ उ०।

खंधकरणी स्त्री० (स्कन्धकरणी) साध्वीनामुपकरणविशेषे, सा च ''खंधकरणी अ चउह–त्थवित्थडा वायविहूयरक्खट्ठा।'' स्कन्धकरणी च चतुर्हस्तविस्तरा समचतुरस्रा प्रावरणस्य वातविधूतरक्षणार्थं चतुष्पला (चतुःपुटीकृत्य) स्कन्धे कृत्वा प्रव्रियते। बृ० ३ उ०। प्रव०। ध०।

खंधकुमार पुं० (स्कन्धकुमार)स्वनामख्याते कुमारे, ''जंतेहिं पीलिआवि'' इत्यादि उपदेशमालागाथावृत्तौ स्कन्दकुमारः पञ्चशतपरिकरो निष्क्रान्त इत्युक्तम्। ऋषिमण्डले तु ''एगूणे पंचसया।'' इत्युक्तम्। तत्कथमिति प्रश्ने, उपदेशमालावृत्तौ प्रव्रज्याधिकारे पञ्चशतपरिकरितत्वमुक्तम्, ऋषिमण्डले तु निर्वाणाधिकारे एकोनपञ्चशतत्वमिति न कश्चिद्विरोध इति। २४३० प्र० सेन० ३ उल्ला०।

खंधचढियविहार पुं० (स्कन्धचटितविहार) निजशिष्यसाध्वंसारूढाटने, जी०।

एकविंशतितममधिकारमाह –

अन्ने उणऽहम्माणी, नियया भिप्पायउज्जुयविहारी।
नियसिस्सखंधचढिया, अडंति बहुगामनगरेसु॥१॥

अन्ये पुनरपरे अहंमानिनोऽहंकारिणो निजकाभिप्रायोद्युक्तविहारिणः सुमतसुविहिताः निजशिष्यस्कन्धचटिताः स्वसाध्वंसारूढाः अटन्ति ग्रामनगरेषु प्रभूतनिवासेष्वशेषकलाविहारिणो वयमिति शेष इति गाथार्थः॥१॥

अत्रापि जीवोपदेशगर्भविरोधं दर्शयन् गाथाद्वयमाह –

तत्थ वि भावसु अहहा, अण्णाणविलसियं एयं।
जं जत्था वलहीणा–इविहरणं वारियं वहुहा॥२॥
ववहारपंचकप्पा–इएसु गंथेसु सुत्तकेवलिणा।
अइवित्थरेण भणियं पज्जंते तत्थिमा गाहा॥३॥

तत्रापि स्कन्धे चटितविहरणेऽपि हे जीव! भावय चिन्तय। अहहा इत्याश्चर्ये अज्ञानविलसितं मूढताविकल्पितमेतत् विहरणं यद् यस्माद्यया वलहीनादिविहरणम्। आदिशब्दाद् ग्लानादिपरिग्रहः। वारितं निषिद्धं वहुधाऽनेकप्रकारं व्यवहारपञ्चकल्पादिषु प्रतीतेषु ग्रन्थेषु शास्त्रेषु सूत्रकेवलिना भद्रवाहुस्वामिना, कथंभूतमित्याह–अतिविस्तरेण महाप्रपञ्चेन भणितमुक्तं पर्यन्ते तदधिकारव्युच्छित्तौ तत्र तेषु ग्रन्थेषु, इयमग्रे भणिष्यमाला गाथा छन्दोविशेषलक्षणा। इति गाथाद्वयार्थः॥२॥३॥

तामेवाह –

जा गाउयं समत्थो, सूरादारब्भ भिक्खवेलाओ।
विहरउ एसो सप–रक्कमाउ नो विहरि तेण परं॥४॥

सुबोधा। नवरं प्रहरद्वयेन गव्यूतमेकं यावत् गन्तुं शक्नोति चरणाभ्यां तावद्विहरतु, तदभावे स्थानस्थितेनैवासितव्यमिति तात्पर्यार्थः॥४॥

एवमवगत्य जीवोपदेशमाह –

ता जइ तुहऽत्थि सत्ती, विज्जंते सोहणा जइ सहाया।
जीव! तुमं तो विहरसु, अथ नो संस विहरंते॥५॥

ततो यदि तव भवतोऽस्ति विद्यते शक्तिः सामर्थ्यं, विद्यन्ते सन्ति शोभना भव्या यदि सहायाः गीतार्थादिसाधवः, जीवाऽऽत्मन्! ततो विहर पर्यट, अथेति विकल्पार्थे। नो नैव, ततः शंस श्लाघय विहरत आगमोक्तविधिना चरत इति गाथार्थः॥५॥ जीवा० २१ अधि०।

खंधछिरा स्त्री० (स्कन्धशिरा) असंधमन्याम्, तं०।

खंधणिवेस स्त्री० (स्कंधनिवेश) सैन्यस्थापनपरिज्ञानात्मिकायां सप्तचत्वारिंशकलायाम्, स० ७४ सम०।

खंधदेस पुं० (स्कंधदेश) स्कन्धानां स्कन्धत्वपरिणामपरिणतानां बुद्धिपरिकल्पितेषु ह्यादिप्रदेशात्मकेषु विभागेषु, ते च धर्म्मास्तिकायादीनां भवन्ति। जी० १ प्रति०। प्रज्ञा०। सूत्र०।

खंदप्पएस पुं० (स्कन्धप्रदेश) स्कन्धानां स्कन्धत्वपरिणामपरिणतानां बुद्धिपरिकल्पिताः प्रकृष्टा देशाः निर्विभागभागाः। परमाणुषु, जी० १ प्रति०। प्रज्ञा०। सूत्र०।

खंधप्पभव पुं० (स्कन्धप्रभव) स्थूडोत्पादे, ''मूलाओ खंधप्पभावो दुमस्स'' दश० ६ अ० १ उ०।

खंधमत त्रि० (स्कन्धवत्) स्कन्धोऽस्यास्तीति। अतिशयितस्थूमे, वहुस्थूमे च। जी० ३ प्रति०। ज्ञा०। रा०।

खंधवीय पुं० (स्कन्धवीज) स्कन्धं स्थुडमिति प्रसिद्धम्। (स्था० ४ ठा० १ उ०) वीजं येषां ते स्कन्धवीजाः। सल्लक्यादिषु, स्था०५

ठा० २ उ०। सूत्र०। विपा०। दश०। आ० म०। आचा०। इक्षु वंशवेत्रादिषु, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ०। तृणवनस्पतिभेदे स्था० ४ ठा० १ उ०।

खंधसालि पुं० (स्कंधशालिन्) दशानां महोरगाणां पञ्चमे व्यन्तरभेदे, प्रज्ञा० १ पद।

खंधार पुं० (स्कन्धाबार) स्कन्ध० आ० वृ० घञ्। वाच०। **''ष्कस्कयोर्नाम्नि''। ८। २। ४।** इति कभागस्य खः। प्रा० २ पाद। कटकोत्तरणनिवासे, उत्त० २७ अ०। ठाकटकनिवेशे, स्था० ६ ठा०। राजबिम्बसहिते स्वचक्रे, परचक्रे च। बृ० ३ उ०। चक्रवर्त्यादिस्कन्धावारेषु आशालिक उत्पद्यते। प्रज्ञा० १ पद। राजधान्याम्, वाच०।

खंधावार पुं० (स्कन्धावार) 'खंधार' शब्दार्थे, बृ० ३ उ०।

खंधावारमाण न० (स्कन्धावारमान) सैन्यप्रमाणज्ञानलक्षणे चतुश्चत्वारिंशे कलाभेदे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। जं०। स०।

खंभ पुं० (स्तम्भ) **''स्तम्भे स्तो वा ८। २। ८।** इति स्तस्य वा खः। **''खघथधभाम्''। ८। १। १८७।** इति हः प्राप्तः। स्वरादित्येव इति हो न। **''अनादौ''। ८। २। ८९।** इति न द्वित्वम्। प्रा० २ पाद। स्थूणायाम्, भावे घञ्। जडीभावे, पुं०। वाच०। प्रासादावष्टम्भहेतौ जी ४ प्रति०। प्रासादाधारे, ग० १ अधि०। खंभे वा कुड्ये वा अवष्टभ्य, स्थानम्, इति कायोत्सर्गदोषे तृतीये, प्रव० ५ द्वार। आव०। औत्पत्तिबुद्धौ स्तम्भोदाहरणम्। आ० क०।

खंभतित्थ न० (स्कम्भतीर्थ) चतुरशीतितीर्थानामन्यतमे, यत्र पातालगङ्गाभिधः श्रीनेमिनाथः। ती० ४५ कल्प।

खंभवाहा स्त्री० (स्तम्भवाहा) स्तम्भपार्श्वे, जी० ३ प्रति०।

खंभवुडंतर न० (स्तम्भपुटान्तर) द्वौ स्तम्भौ स्तम्भपुटं, तस्यान्तरं स्तम्भपुटान्तरं, द्वयोः स्तम्भयोरन्तराले, जी० ३ प्रति०।

खंभाइत न० (स्तम्भादित्य) ''खंभात'' इति ख्याते गुर्जरदेशीयपत्तने, यत्र यशोभद्रसूरिभिर्विक्रमात् ५०२ वर्षेष्वतिक्रान्तेषु तत्रत्यानां प्रतिमानां ध्वजारोपमहः कृतः। ती० २३ कल्प।

खंभागरिसग पुं० (स्तम्भाकर्षक) मन्त्रबलेन स्तम्भानामुत्पाटके, प्रभावके द्रव्यसिद्धे, आ० म० प्र०। ('मंतसिद्ध' शब्देऽस्य कथा वक्ष्यते)

खंभालण न० (स्तम्भालन–स्तम्भालगन) स्तम्भालगने, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार०।

खंभुग्गय त्रि० (स्तम्भोद्गत) स्तम्भेषु उद्गतो निविष्टः। भ० ६ श० ३३ उ०। स्तम्भोपरिवर्तिनि, ''खंभुग्गयवइरवेइयावरिगताभिरामा' स्तम्भोद्गतवज्रवेदिकापरिगताभिरामाणि स्तम्भोद्गताभिः स्तम्भोपरिवर्तिनीभिः वज्ररत्नमयीभिर्वेदिकाभिः परिगतानि सन्ति यानि अभिरमणीयानि तानि। जी० ३ प्रति०। स्तम्भेषूद्गता निविष्टा या वज्रवेदिका तथा परिगता परिकरिता अत एवाभिरामा रम्या या सा। भ० ६ श० ३३ उ०।

खक्खर पुं० (खर्खर) अश्वत्रासनाय चर्ममयवस्त्रविशेषे, स्फुटितंबशै च। विपा० १ श्रु० २ अ०।

खक्खरग न० (खर्खरक) अग्निशुष्करोटके, (खाखरा) इति ख्याते, ध० २ अधि०।

खगइ स्त्री० (खगति) प्रशस्ताप्रशस्तविहायोगतौ, कर्म० ५ कर्म०।

खगइदुग न० (खगतिद्विक) प्रशस्तविहायोगत्यप्रशस्तविहायोगतिलक्षणे, कर्म० ५ कर्म०।

खगमुह न० (खगमुख) विहङ्गतुण्डे तं०।

खग्ग पुं० (खम्ग) **''क–ग–ट–ड–त–द–प–श–ष–स–क्ष क्ष्मामूर्ध्वं लुक्''। ८। २। ७७॥** इति मलुक्। प्रा० २ पाद। **''डो लः''॥ ८। १। २०२॥** इत्यनेनासंयुक्तस्यैव लत्वम्। प्रा० १ पाद। **''गुणाद्याः क्लीवे वा''॥ ८। १। ३४॥** इति वा नपुंसकत्वम्। 'खग्गो, खग्गं'। प्रा० १ पाद। उज्जवलविकोशीकृतकरवाले, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार। तच्च प्रथमं राजककुदम्। औ०। आटव्ये चतुष्पदविशेषे, प्रश्न ५ सम्ब० द्वार। ज्ञा०। स्था०। यस्य गच्छतो द्वयोरपि पार्श्वयोः पक्षवच्चर्माणि लम्बन्ते शृङ्गं चैकं शिरसि भवति। प्रश्न० १ आश्र० द्वार। बृ०। स चाटव्यश्चतुष्पथे जनं मारयित्वा खादयति। नं०। नि० चू०। प्रज्ञा०। औ०। चोरनामगन्धद्रव्ये, वाच०।

खग्गधेणुया स्त्री० (खम्गधेनुका) छुरिकायाम्, 'तओ गहिय–खग्गधेणुया मए'' दर्श०।

खग्गपुरा स्त्री० [खड्गपुरा (री)] सुवल्गुविजयक्षेत्रवर्त्तिनि पुरीयुगले, ''दो खग्गपुराओ''। स्था० २ ठा० ३ उ०। नवयोजनविस्तारा द्वादशयोजनायामा। स्था० ८ ठा०। ''सुवग्गुविजयखग्गपुरा रायहाणी गंभीरमालिणी अंतरणदी'' जं० ४ वक्ष०।

खग्गी स्त्री० (खम्गी) आवर्ताख्यविजयक्षेत्रयुगलवर्त्तिनि पुरीयुगले, ''दो खग्गीओ''। स्था० २ ठा० ३ उ०। जं०।

खग्गूड स्त्री० (खगूढ) स्निग्धमधुराद्याहारलम्पटे, बृ० १ उ०। स्वभावाद्वक्राचारे, व्य० ३ उ०। निद्रालौ, बृ० १ उ०।

खज्ज स्त्री० (खाद्य) क्लूरमोदकादौ, ज्ञा० १ श्रु० १० अ०। 'सुक्कं तु खज्जगं सुइयं'' शष्कुलिकामोदकादिकं सर्वमपि खाद्यं सूचितम्। बृ० २ उ०।

खज्जगवंजणविहि पुं० (खाद्यकव्यञ्जनविधि) खाद्यकानि अशोकवृत्तयो व्यञ्जनं तक्रादीनि शालनकानि वा तेषां ये विधयः प्रकारास्ते खाद्यकव्यञ्जनविधयः। खाद्यव्यञ्जनलक्षणभोजनप्रकारेषु, प्रश्न० ५ सम्ब० द्वार।

खज्जगविहि पुं० (खाद्यकविधि) अशोकवृत्तिमोदकादिपरिग्रहे, पञ्चा० ५ विव०। खण्डखाद्यादिलक्षणभोजनप्रकारे, भ० १५ श० १ उ०।

खज्जागावण पुं० (खाद्यकापण) कुल्लूरिकाहट्टे, विशे०। कल्लेरिकापणे, आ० म० द्वि०।

खज्जू पुं० (खर्ज्जू) स्त्री०। खर्ज्ज उन्। कण्ड्वाम्, स्था० १० ठा०। खर्जूरीवृक्षे, कीटभेदे, वाच०।

खज्जूर पुं० स्त्री० (खर्जूर) खर्ज्ज ऊरच्। 'खजूर' इति ख्याते वृक्षे, वाच०। स च संख्येयजीविकः। भ० ८ श० ३ उ०। प्रज्ञा०। जं० पिण्डखर्जूरे, उत्त० ३४ अ०। तस्य फलम् अण्, तस्य लुक्। तत्फले, न०। रौप्ये, हरिताले, खले, तृणजातिभेदे, स्त्री० वाच०।

खज्जूरमत्थय (खर्जूरमस्तक-खर्जूरमध्यवर्त्तिनि) गर्भे, आचा०।

खज्जूरसार पुं० (खर्जूरसार) मूलदलखरसारनिष्पन्ने, आसवविशेषे, जी० १ प्रति०। प्रज्ञा०।

खज्जूरीपत्तमुंज पुं० (खर्जूरीपत्रमुञ्ज) खर्जूरीपत्रमयप्रमार्जन्यां मुञ्जमयबहुर्यां वा। ''खज्जूरिपत्तमुंजेण, जो पमज्जे उवस्सयं। नो दया तस्स जीवेसु, सम्मं जाणाहि गोयमा!'' ॥ ग० २ अधि०।

खज्जोय पुं० (खद्योत) खे द्योतते द्युत् अच्। कीटभेदे, वाच०। ''जह देहपरिणामो रत्तिं खज्जोअगस्स सा उवमा'' देहपरिणामः प्रतिविशिष्टा शरीरशक्तिः रात्राविति विशिष्टकालनिर्देशः। खद्योतक इति प्राणिविशेषपरिग्रहः। यथा तस्याऽसौ देहपरिणामो जीवप्रयोगनिर्वृत-शक्तिराविश्चकास्ति, एवमङ्गनादीनामपि। आचा० १ श्रु० १ अ० ४ उ०।

खट्ट त्रि० (खट्ट) अम्ले, प्रज्ञा० १ पद।

खट्टंग न० (खट्वाङ्ग) (खाट के पाया) खट्वापादे, पट्टिकायुतखट्वा-चरणरूपे अस्त्रे, चतुर्थव्यन्तराणां मुकुटे चिह्नं खट्वाङ्गम्। औ०।

खट्टमेह पुं० (खट्टमेघ) अम्लजले मेघे, उत्पातमेघे, भ० ७ श० ६ उ०।

खट्टामल्ल पुं० (खट्वामल्ल) प्रबलजराजर्जरितदेहतया यः खट्वाया उत्थातुं न शक्नोति तस्मिन्, बृ० १ उ०।

खट्टिय त्रि० (खट्टिक) खट्टनमाचरणं खट्टः, स शिल्पत्वेनास्त्यस्य वुन्। जालादिना पक्षिमारके, वाच०। शौकरिके, सूत्र० २ श्रु० २ अ०।

खट्टोदग न० (खट्वोदक) ईषदम्लपरिणते जले, जी० १ प्रति०। प्रज्ञा०।

खडखडग त्रि० (खटखटक) लघुष्वायतेषु च। जी० ३ प्रति०।

खड्डग पुं० (खड्डक) टक्करे, 'खड्डया मे चवेडा मे'' उत्त० १ अ०।

खड्डा स्त्री० पुं० (गर्त्त) रन्ध्राकारे निम्नमध्यभागे, उत्त० २ अ०। क्षुद्रे, पञ्चा० ७ विव०।

खड्डातम पुं० (गर्त्ततट) क्षुद्रतट्याम्, पञ्चा० ७ विव०।

खड्डुय पुं० न० (खड्डुक) टक्करे, (टक्करा) व्य० १ उ०। अंगुलीयक-विशेषे, औ०। ज्ञा०। मुद्रारत्ने, आ० चू० १ अ०। आ० म०।

खण पुं० (क्षण) **''क्षण उत्सवे'' ८। २। २०।** इति उत्सवार्थे छः, अन्यत्र तु न। प्रा० २ पाद। बहुतरोच्छ्वासरूपे, ज्ञा० १ श्रु० ५ अ०। मुहूर्त्ते, स्था० ४ ठा० ३ उ०। दशभिर्लवैः परिमिते काले, तं०। परमनिकृष्टे काले, सूत्र० १ श्रु० १ उ०। लोचननिमेषमात्रे काले, आव० ३ अ०। संख्यातप्राणलक्षणे काले, स्था० २ ठा० ४ उ०।

स्यात् क्षणक्रमसंबन्ध-संयमाद्यद्विवेकजम्।
ज्ञानं जात्यादिभिस्तच्च, तुल्ययोः प्रतिपत्तिकृत्॥२०॥

(स्यादिति) क्षणः सर्वान्त्यः कालावयवस्तस्य क्रमः पौर्वापर्यं तत्संबन्धसंयमात्सूक्ष्मान्तरसाक्षात्करणसमर्थात् यद्विवेकजं ज्ञानं स्यात्। यदाह-''क्षणक्रमयोः संबन्धसंयमाद्विवेकजं ज्ञानमिति'' (३-५२) तच्च जात्यादिभिस्तुल्ययोः पदार्थयोः प्रतिपत्तिकृत् विवेचकम्। तदुक्तम्-''जातिलक्षणदेशैरन्यतानवच्छेदात् तुल्ययोस्ततः प्रतिपत्ति-रिति'' (३-५३) पदार्थानां भेदहेतवो हि जातिलक्षणदेशा भवन्ति, जातिः पदार्थभेत्री, यथा गौरयं महिषोऽयमिति। जात्या तुल्ययोर्लक्षणं भेदकं यथेयं कर्वुरा, इयं चारुणेति। उभाभ्यामभिन्नयोर्देशो भेदहेतुर्यथा-तुल्यप्रमाणयो-रामलकयोर्भिन्नदेशस्थितयोः। यत्र च त्रयमपि न भेदकं, यथैकदेशस्थितयोः शुक्लयोः पार्थिवयोः परमाण्वोः, तत्र संयमजनिता-द्विवेकजज्ञानादेव भवति भेदधीरिति ॥२०॥ द्वा० २६ द्वा०। अवसरे, सूत्र २ श्रु० ५ अ०।

इणमेव खणं वियाणिया, णो सुलभं वोहिं च आहितं॥
एवं सहिएऽहिपासए, आहि जिणे इणमेव सेसगा॥१६॥

इदमः प्रत्यक्षासन्नवाचित्वात् इमं द्रव्यक्षेत्रकालभावलक्षणं, क्षणमवसरं, ज्ञात्वा तदुचितं विधेयम्। तथाहि-द्रव्यं जङ्गमत्वपञ्चेन्द्रियत्वसुकुलो-त्पत्तिमानुष्यलक्षणं, क्षेत्रमप्यार्यदेशार्धषड्विंशतिजनपदलक्षणम्। कालोऽप्यवसर्पिणी चतुर्थाकरादि धर्मप्रतिपत्तियोग्यलक्षणः। भावश्च धर्मश्रवणतच्छ्राद्धनचारित्राचरणकर्मक्षयोपशमाहितविरतिप्रतिपत्त्युत्सा-हलक्षणः, तदेवंविधं क्षणमवसरं परिज्ञाय, तथा बोधिं च सम्यग्दर्शनावा-प्तिलक्षणां नो सुलभामित्येवमाख्यातामवगम्य, तदवाप्तौ तदनुरूपमेव कुर्यादिति शेषः। अकृतधर्माणां च पुनर्दुर्लभा बोधिः। तथा हि-''लद्धेल्लियं च बोहिं, अकरेंतो अणागयं च पत्थंतो। अन्नं दाइं बोहिं, लब्भिसि कयरेण मोल्लेणं''? तदेवमुत्कृष्टतोऽपार्धपुद्गलपरावर्त्तप्रमाण-कालेन पुनः सुदुर्लभा बोधिरित्येवं सहितो ज्ञानादिभिरधिपश्येत् बोधिसुदुर्लभत्वं पर्यालोचयेत्। पाठान्तरं वा (अहियासए त्ति) परीषहानुदीरणान् सम्यगधिसहेत। एतच्चाह जिनो रागद्वेषजेता नाभेयोष्टपदस्थान्सुतानुद्दिश्य। तथा अन्येऽपि इदमेव शेषका जिना अभिहितवन्त इति,॥१६॥ सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ०। पञ्चा०। विश्रामे, निर्व्यापारस्थितौ, पराधीनतायाम्, वाच०।

खणजोइ त्रि० (क्षणयोगिन्) परमनिकृष्टकालः क्षणः, क्षणेन योगः संबन्धः क्षणयोगः। स विद्यते येषां ते क्षणयोगिनः। क्षणमात्रावस्थायिषु, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०।

खणट्ठिइधम्मय त्रि० (क्षणस्थितिधर्मक) क्षणभावस्वभावे, विशे०।

खणण न० (खनन) भूमिविदारणे, नि० चू० १ उ०। (भूमिखननस्य दोषा अपवादपदं च 'पडिसेवना शब्दे वक्ष्यते)

खणमित्तपियरोह त्रि० (क्षणमित्रप्रियरोष) तदैव रुष्टे तदैव अनवस्थितचित्ते, बृ० १ उ०।

खणयन्नु त्रि० (क्षणकज्ञ) क्षण एव क्षणकोऽवसरो भिक्षार्थमुपसर्पणादिकस्तं जानाति। भिक्षाद्यवसराभिज्ञे, आचा० १ श्रु० २ अ ५ उ०।

खणलवसमाहि पु० (क्षणलवसमाधि) क्षणलवग्रहणमशेषकाल-विशेषोपलक्षणम्। लवादिषु कालविशेषेषु निरन्तरं संवेगभावतो ध्यानासेवना, तस्य समाधौ, प्रव० १० द्वार।

खणलाभदीवणा स्त्री० (क्षणलाभदीपना) क्षणेनापि लाभस्य प्रकाशना-याम्, पञ्चा०।

आउयपरिहाणीए, असमंजसचेट्ठियाण व विवागे।
खणलाभदीवणाए, धम्मगुणेसुं च विविहेसु ॥४८॥

क्षणे कालविशेषे स्तोककालेऽपीत्यर्थः, लाभोऽशुभाध्यवसायेन महतोऽशुभकर्मणः शुभाध्यवसायेन च महत इतरस्यार्जनं तस्य दीपना प्रकाशना क्षणलाभदीपना। अथवा, क्षणोऽवसरो मोक्षसाधनस्य। स च द्रव्यादिभेदाच्चतुर्विधः—तत्र द्रव्यतो मानुषत्वं, क्षेत्रत आर्यक्षेत्रं, कालतो दुःखमसुषमादि कालविशेषो, भावतो बोधिरिति। तस्य क्षणस्य यो लाभो युगसमिलान्यायेन कष्टात्प्राप्तिस्तस्य या दीपना सा तथा, तस्याम्। पञ्चा. २ विव.।

खणि स्त्री. (खनी) खन् इन् वा ङीप्। धातुरत्नादेरुत्पत्तिस्थाने, वाच.। आकरे, उत्त. १४ अ.। तं.।

खणिअवाइ त्रि. (क्षणिकवादिन्) सर्वपदार्थानां क्षणभङ्गुरत्व—प्रतिपादके शौद्धोदनिशिष्ये बौद्धे, ते च क्षणिकवादिनः एकान्त—क्षणिकान् पञ्च स्कन्धान् वदन्ति। सूत्र.।

(१) स्कन्धपञ्चकप्ररूपणपुरस्सरं तन्निराकरणम्।
(२) क्षणिकत्वप्ररूपणखण्डने।
(३) क्षणिकवादिनामैहिकामुष्मिकव्यवहारानुपपत्तिरविमृश्यकारित्वं च।
(४) वासनाप्ररूपणम्।
(५) सर्वथाविनाशाभावप्ररूपणम्।
(६) क्षणभङ्गवादे यन्नोपपद्यते तन्निरूपणम्।
(७) क्षणभङ्गवादे दीक्षायां वैफल्यप्ररूपणम्।
(८) स्थविराणामश्वमित्रं प्रति शिक्षणम्।

(१०) सांप्रतं बौद्धमतं पूर्वपक्षयन् निर्युक्तिकारोपन्यस्तमफलवादाधिकारमाविर्भावयन्नाह —

पंच खंधे वयंतेगे, बालाउ खणजोइणो।
अण्णो अणण्णो णेवाहु, हेउयं च अहेउयं ॥१७॥

एके केचन वादिनो बौद्धाः पञ्च स्कन्धान् वदन्ति। रूप—वेदना—विज्ञान—संज्ञा—संस्काराख्याः पञ्चैव स्कन्धा विद्यन्ते, नापरः कश्चिदात्माख्यः स्कन्धोऽस्तीत्येवं प्रतिपादयन्ति। तत्र रूपस्कन्धः—पृथिवीधात्वादयो, रूपादयश्च ॥१॥ सुखा दुःखा अदुःखसुखा चेति वेदना वेदनास्कन्धः ॥२॥ रूपपविज्ञानं—रसविज्ञानमित्यादिविज्ञानं विज्ञानस्कन्धः ॥३॥ संज्ञास्कन्धःसंज्ञानिमित्तोऽवग्रहणात्मकः प्रत्ययः ॥४॥ संस्कारस्कन्धःपुण्यापुण्यादिधर्मसमुदायः इति ॥५॥ न चैतेभ्यो व्यतिरिक्तः कश्चिदात्माख्यः पदार्थोऽध्यक्षेणाऽध्यवसीयते, तदव्यभि-चारिलिङ्ग-ग्रहणाऽभावात्। नाप्यनुमानेन। न च प्रत्यक्षानुमानव्यतिरिक्तमर्थाऽविसंवादि प्रमाणान्तरमस्तीत्येवं बाला इव बाला यथाऽवस्थितार्थापरिज्ञानात् बौद्धाः प्रतिपादयन्ति। तथा ते स्कन्धाः क्षणयोगिनः परमनिकृष्टः कालः क्षणः, क्षणेन योगः संबन्धः क्षणयोगः, स विद्यते येषां ते क्षणयोगिनः, क्षणमात्राऽवस्थायिन इत्यर्थः। तथा च तेऽभिदधति—स्वकारणेभ्यः पदार्थ उत्पद्यमानः किं विनश्वरस्वभाव उत्पद्यतेऽविनश्वरस्वभावो वा? यद्यविनश्वरः ततस्तद्व्यापिन्या क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाया अभावात् पदार्थस्यापि व्याप्यस्याभावः प्रसज्यति। तथाहि—यदेवार्थक्रियाकारि तदेव परमार्थतः सदिति। स च नित्योऽर्थः क्रियायां प्रवर्त्तमानः क्रमेण वा प्रवर्तते, यौगपद्येन वा ? न तावत्क्रमेण, यतो ह्येकस्याऽर्थक्रियायाः काले तस्यापरार्थक्रियाकरणस्वभावो विद्यते वा, नवा ? यदि विद्यते किमिति क्रमकरणम् ? सहकार्यपेक्षयेति चेत्। तेन सहकारिणा तस्य कश्चिदतिशयः क्रियते, न वा ? यदि क्रियते किं पूर्वस्वभावपरित्यागेनापरित्यागेन वा ? यदि परित्यागेन, ततोऽतादवस्थ्यापत्तेरनित्यत्वम्। अथ पूर्वस्वभावापरित्यागेन, ततोऽतिशयाभावात्किं सहकार्यपेक्षया ? अथाकिञ्चित्करोऽपि विशिष्टकार्यार्थमपेक्षते। तदयुक्तम्। यतः ''अपेक्षेत परं कश्चिद्यदि कुर्वीत किञ्चन। यदि किञ्चित्करं वस्तु, किं केनचिदपेक्ष्यते?'' ॥१॥ अथ तस्यैकार्थक्रियाकरणकालेऽपरार्थ-क्रियाकरणस्वभावो न विद्यते। तथा च सति स्पष्टैव नित्यताहानिः। अथासौ नित्यो यौगपद्येनाऽर्थक्रियां कुर्यात्तथासति प्रथमक्षण एवाऽशेषार्थक्रियाणां करणात् द्वितीयक्षणेऽकर्तृत्वमायाताम्। तथा च—सैवानित्यता। अथ तस्य तत्स्वभावत्वात्ता एवार्थक्रिया भूयो भूयो द्वितीयादिक्षणेष्वपि कुर्यात्। तदसांप्रतम्। कृतस्य करणाभावादिति। किं च—द्वितीयादिक्षणसाध्या अप्यर्थाः प्रथमक्षण एव प्राप्नुवन्ति, तस्य तत्स्वभावत्वात्। अतस्तत्स्वभावत्वे च तस्यानित्यत्वापत्तिरिति। तदेवं नित्यस्य क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरहान्न स्वकारणेभ्यो नित्यस्योत्पाद इति। अथाऽनित्यस्वभावः समुत्पद्यते। तथा च सति विघ्नाभावादायातमस्मदुक्तक्रमशेषपदार्थजातस्य क्षणिकत्वम्। तथा चोक्तम्—''जातिरेव हि भावानां, विनाशे हेतुरिष्यते। यो जातश्च न च ध्वस्तो, नश्येत्पश्चात्स केन च ?'' ॥१॥ ननु च सत्यप्यनित्यत्वे यस्य यदा विनाशहेतु सद्भावस्तस्य तदा विनाशः। तथा च स्वविनाशकारणापेक्षाणामनित्यानामपि पदार्थानां न क्षणिकत्वमित्येतच्चानुपासितगुरोर्वचः। तथाहि—तेन मुद्गरादिकेन विनाशहेतुना घटादेः किं क्रियते ? किमत्र प्रष्टव्यम्? अभावः क्रियते। अत्र च प्रष्टव्यो देवानांप्रियःअभाव इति किं पर्युदासप्रतिषेधोऽयम्, उत प्रसज्यप्रतिषेध इति ? तत्र यदि पर्युदासस्तदोऽयमर्थो भावादन्यो भावो भावान्तरं घटात्पटादिः सोऽभाव इति। तत्र भावान्तरे यदि मुद्गरादिव्यापारो न तर्हि तेन किञ्चिद् घटस्य कृतमिति। अथ प्रसज्यप्रतिषेधस्तदा यथार्थो विनाशहेतुरभावं करोति। किमुक्तं भवति ? भावं न करोतीति। ततश्च क्रियाप्रतिषेध एव कृतः स्यात्। न च घटादेः पदार्थस्य मुद्गरादिना करणम्। तस्य स्वकारणैरेव कृतत्वात्। अथ भावाभावोऽभावस्तं करोतीति, तस्य तुच्छस्य नीरूपत्वात्। कुतस्तत्र कारणानां व्यापारोऽथ तत्रापि कारणव्यापारो भवेत्, खरशृङ्गादावपि व्याप्रियेरन् कारणानीति। तदेवं विनाशहेतोर-किञ्चित्करत्वात् स्वहेतुत एवाऽनित्यताक्रोडी कृतानां पदार्थानामुत्पत्तेर्विघ्नहेतोश्चाभावात् क्षणिकत्वमवस्थितमिति। तुशब्दः पूर्वादिभ्योऽस्य व्यतिरेकप्रदर्शकः। तमेव श्लोकपश्चार्धेन दर्शयति — (अण्णो अणण्णो इति) ते हि बौद्धा यथाऽत्मषष्ठवादिनः—सांख्यादयो भूतव्यतिरिक्तमात्मानमभ्युपगतवन्तः। यथा चार्वाका भूताऽव्यतिरिक्तं चैतन्याख्यमात्मानमिष्टवन्तस्तथा नैवाहुर्नैवोक्तवन्तः। तथा हेतुभ्यो जातो हेतुकः, कायाकारपरिणतभूतनिष्पादित इति यावत्। तथाऽहेतुकोऽनाद्यपर्यवसितत्वान्नित्य इत्येवमात्मानं ते बौद्धा नाऽभ्युपगतवन्त इति ॥१७॥ (सूत्र.) यदि पञ्चस्कन्धव्यतिरिक्तः कश्चिदात्माख्यः पदार्थो न विद्यते, ततस्तदभावात्सुखदुःखादिकं कोऽनुभवतीत्यादिगाथा प्राग्वद् व्याख्येयेति। तदेवमात्मनोऽभावाद्योऽयं स्वसंविदितः सुखदुःखानुभवः स कस्य भवत्विति चिन्त्यताम्?

ज्ञानस्कन्धस्यायमनुभव इति चैत् । न । तस्यापि क्षणिकत्वात् । ज्ञानक्षणस्य चातिसूक्ष्मत्वात्सुखदुःखानुभवाभावः । क्रियाफलवतोश्च क्षणयोरत्यन्तासङ्गते कृतनाशाकृताभ्यागमाऽऽत्तिरिति ज्ञानसन्तान एकोऽस्तीति । तस्यापि सन्तानिव्यतिरिक्तस्याभावात् यत्किञ्चिदेतत्। पूर्वक्षण एवं उत्तरक्षणे वासनामाधाय विनङ्क्ष्यतीति चेत्। तथाचोक्तम्– ''यस्मिन्नेव हि सन्ताने, आहिता कर्मवासना। फलं तत्रैव संधत्ते, कार्पासे रक्तता यथा'' ।१। अत्रापीदं विकल्प्यते–सा वासना किं क्षणेभ्यो व्यतिरिक्ता, अव्यतिरिक्ता वा ? यदि व्यतिरिक्ता, वासकत्वानुपपत्तिः। अथाव्यतिरिक्ता क्षणवत्क्षणक्षयित्वं तस्याः । तदेवमात्माभावे सुखदुःखानुभवाभावः स्यादस्ति च सुखदुःखानु भवोऽतोऽस्त्यात्मेति। अन्यथा पञ्चविषयानुभवोत्तरकालमिन्द्रियज्ञानानां स्वविषयादन्यत्राप्रवृत्तेः सङ्कलनाप्रत्ययो न स्यात्। आलयविज्ञानाद्भविष्यतीति चेत् । आत्मैव तर्हि संज्ञाऽन्तरेणाभ्युपगत इति । तथा बौद्धागमोप्यात्मप्रतिपादकोऽस्ति । स चायम् – ''इत एकनवतेः कल्पे, शक्त्या मे पुरुषो हतः । तेन कर्मविपाकेन, पादे विद्धोऽस्मि भिक्षवः'' ॥१॥ तथा– ''कृतानि कर्माण्यतिदारुणानि, तनूभवन्त्यात्मनिगर्हणेन। प्रकाशनात्संवरणाच्च तेषामत्यन्तमूलोद्धरणं वदामि'' ॥१॥ इत्येवमादि। सूत्र. १ श्रु. १ अ. १ उ.।

(२) शौद्धोदनिशिष्यः समाचष्टे –

अहो ! कष्टः शिष्टैरुपक्रान्तोऽयमेकस्यानेककालावस्थितिवादः। यतः– प्रतिक्षणभङ्गुरभावात्रभासनायामेव हि प्रमाणमुद्रा साक्षिणी । तथाहि– यत्सत्तत्क्षणिकं, सँश्च विवादाध्यासितः शब्दादिः । सत्त्वं तावद्यत्किञ्चिदन्यत्रास्तु, प्रस्तुते तावदर्थक्रियाकारित्वमेव मे संमतं, तच्च शब्दादौ धर्म्मिणि प्रत्यक्षप्रमाणप्रतीतमेव । विपक्षाच्च व्यापकानुपलब्ध्या व्यावृत्तम् । सत्त्वस्य हि क्षणिकत्वक्रमाक्रमावपि व्यापकावेव । न हि क्रमाक्रमाभ्यामन्यः प्रकारः शङ्कितुमपि शक्यते, व्याघातस्योद्भटत्वात्, न क्रम इति निषेधादेवाक्रमोपगमात्, नाक्रम इति निषेधादेव च क्रमोपगमात् । तौ च क्रमाक्रमौ स्थिराद्यावर्त्तमानावर्थ क्रियामपि ततो व्यावर्त्तयतः । वर्त्तमानार्थक्रियाकरणकाले ह्यतीतानागतयोरप्यर्थक्रिययोः समर्थत्वे तयोरपि करणप्रसङ्गः । असमर्थत्वे पूर्वापरकालयोरप्यकरणाऽऽपत्तिः । समर्थोऽप्यपेक्षणीयासन्निधेर्न करोति, तत्सन्निधेस्तु करोतीति चेत् । ननु किमर्थं सहकारिणामपेक्षा? किं स्वरूपलाभार्थम्, उतोपकारार्थम्, अथ कार्यार्थम्। न प्रथमः, स्वरूपस्य करणाधीनस्य नित्यस्य वा पूर्वसिद्धत्वात् । न द्वितीयः, स्वयं सामर्थ्येऽसामर्थ्ये वा तस्यानुपयोगात्। तथा च–''भावः स्वतः समर्थश्चेदुपकारः किमर्थकः ? भावः स्वतोऽसमर्थश्चेदुपकारः किमर्थकः?''॥१॥ अत एव न तृतीयः । उपकारवत्सहकारिणामप्यनुपयोगात् । तथा च– ''भावः स्वतः समर्थश्चेत्, पर्याप्तं सहकारिभिः । भावः स्वतोऽसमर्थश्चेत्, पर्याप्तं सहकारिभिः'' ॥ १॥ अनेकाधीन् स्वभावतया कार्यमेव तानपेक्षत इति चेत् । न । तस्यास्वतन्त्रत्वात्, स्वातन्त्र्ये वा कार्यत्वव्याघातात्, तद्धि तत्शाकल्येऽपि स्वातन्त्र्यादेव न भवेदिति । एवं च यत्क्रमाक्रमाभ्यामर्थक्रियाकारि न भवति, तदसत्, यथा गगनेन्दीवरं, तथा चाक्षणिकाभिमतो भाव इति व्यापकानुपलब्धिरुत्तिष्ठते । तथा च– क्रमयौगपद्ययोर्व्यापकयोर्व्यावृत्तेरक्षणिकादु व्यावर्त्तमानार्थक्रिया क्षणिके विश्राम्यतीति प्रतिबन्धसिद्धिः ॥ (उत्तरम्) अत्राचक्ष्महेननु क्षणभिदेलिमभावाभिधायिभिक्षुणा कारणग्रहिणः, कार्यग्राहिणः तद्द्वयग्राहिणो वा प्रत्यक्षादर्थक्रियाकारित्वप्रतीतिः प्रोच्येत, यतस्तच्च शब्दादौ धर्मिणि प्रत्यक्षप्रमाणप्रतीतमेवेत्युक्तं युक्तं स्यात् । न तावत्पौरस्त्यात्, तस्य कारणमात्रमन्त्रणपरायणत्वेन कार्यकिं - वदन्तीकुण्ठत्वात्। नापि द्वितीयात्, तस्य कार्यमात्रपरिच्छेद-विदग्धत्वेन कारणावधारणवन्ध्यत्वात् । तदुभयावभासे चेदमस्य कारणं, कार्यं चेत्यर्थक्रियाकारित्वावसायोत्पादात्। वस्तुस्वरूपमेव कारणत्वं, कार्यत्वं चेति तदन्यतर परिछेदेऽपि तद्बुद्धिसिद्धिरिति चेत्, एवं तर्हि नालिकेरद्वीपवासिनोऽपि वह्निदर्शनादेव तत्र धूमजनकत्वनिश्चयस्य, धूमदर्शनादेव वह्निजन्यत्वनिश्चयस्य च प्रसङ्गः । नापि तृतीयात्, कार्यकारणोभयीग्राहिणः प्रत्यक्षस्यासंभवात्, तस्य क्षणमात्रजीवित्वात्, अन्यथाऽनेनैव हेतोर्व्यभिचारात् । तदुभयसामर्थ्यसमुद्भूतविकल्पप्रसादात् तदवसाय इति चेत् तर्हि कथं प्रत्यक्षेण तत्प्रतीतिः । प्रत्यक्षव्यापारपरामर्शित्वाद्विकल्पस्य तद्द्वारेण प्रत्यक्षमेव तल्लक्षकमिति चेत् । ननु न कार्यकारणग्राहिणोरन्यतरेणापि प्रत्यक्षेण प्राक्कार्यकारणभावो भासयामासे, तत्कथं विकल्पेन तद्व्यापारः परामृश्येत् ? इति न क्षणिकवादिनः क्वापि अर्थक्रिया-प्रतीतिरस्तीति वाद्यसिद्धं सत्त्वम् । संदिग्धानैकान्तिकं च क्षणिकाऽक्षणिके क्षणिकैकान्तविपक्षे क्रमाक्रमव्यापकानुपलम्भस्यासिद्धत्वेन तद्व्याप्तार्थक्रियायास्ततो व्यावृत्त्यनिर्णयात् । यतः–किञ्चिन्कृत्वाऽन्यस्य करणं हि क्रमः । अयं च कलशस्य कथञ्चिदेकरूपस्यैव क्रमवत् सहकारिकारणकलापोपढौकनवशेन क्रमेण घटचेटिकामस्तकोपरि पर्यटनात् तासां क्लमं कुर्वतः सुप्रतीत एव। अत्र हि भवानत्यन्ततार्किकमन्योऽप्येतदेव वक्तुं शक्नोति, यस्मादक्षेपक्रियाधर्मणः समर्थस्वभावादेकं कार्यमुदपादि, स एव चेत्पूर्वमप्यस्ति, तदा तत्कालवत्तदैव तद्विदधानः कथं वार्यताम् ? ''कार्याणि हि विलम्बन्ते, कारणासन्निधानतः। समर्थहेतुसद्भावे, क्षेपस्तेषां नु किं कृतः ?'' ॥१॥ इति । नचैतदवदातम् । एकान्तेनाक्षेपक्रियाधर्म्मत्वानभ्युपगमात् द्रव्यरूपशक्त्यपेक्षया हि तत्समर्थमभिधीयते, पर्यायशक्त्यपेक्षया त्वसमर्थमिति। यदेव हि कुशूलमूलावलम्बि बीजद्रव्यम्, तदेवावनिवनपवनाऽऽतपसमर्पिता-तिशयविशेषस्वरूपपर्यायशक्तिसमन्वितमङ्कुरं करोति। नन्वसौ पर्यायशक्तिः कुशूलमूलावस्थानावस्थायामविद्यमाना, क्षेत्रक्षितिक्षेपक्षणे तु संपद्यमाना बीजद्रव्यादिभिन्ना वा स्यात्, अभिन्ना वा, भिन्नाभिन्ना वा ? यदा भिन्ना, तदा किमनया काणनेत्राञ्जनरेखाप्रख्यया ? विभिन्नाः सन्निधिभाजः संवेदनकोटीमुपागताः सहकारिण एवासताम् । अथ सहकारिणः कमपि बीजस्यातिशेष-विशेषमपोषयन्तः कथं सहकारितामपि प्राप्नुयुः ? इति चेत्, तर्हि अतिशयोऽप्यतिशयान्तरमनारचयन् कथं तत्तां प्राप्नुयात् ? अथायमारचयति तदन्तरं, तर्हि समुपस्थितमनवस्थादौस्थ्यम्। अथाभिन्नाभावात् पर्यायशक्तिः, तर्हि तत्करणे स एव कृत इति कथं न क्षणिकत्वम् ? भिन्नाभिन्नपर्यायशक्तिपक्षोऽप्यंशे क्षणिकत्वमनर्पयन् न कुशलीति। अत्र ब्रूमः–एषु चरम एव पक्षः कक्षीक्रियते । नचात्र कलङ्कः कश्चिद् द्रव्यांशद्वारेणाक्षणिके वस्तुनि पर्यायांशद्वारेण क्षणिकत्वोपगमात्, क्षणिकैकान्तस्यैव कुट्टयितुमुपक्रान्तत्वात्। क्षणिकपर्यायेभ्योऽव्यतिरेकात् क्षणिकमेव द्रव्यं प्राप्नोतीति चेत्। न । व्यतिरेकस्यापि संभवात् । न च व्यतिरेकाऽव्यतिरेकावेकस्य

विरुध्येते। न हि नञः प्रयोगाप्रयोगमात्रेण विरोधगतिः, अतिप्रसङ्गात्।

''दलति हृदयं गाढोद्वेगं द्विधा न तु भिद्यते,
वहति विकलः कायो मोहं न मुञ्चति चेतनाम्।
ज्वलयति तनूमन्तर्दाहः करोति न भस्मसात्,
प्रहरति विधिर्मर्मच्छेदी न कृन्तति जीवितम्'' ॥१॥

इत्यादिष्वपि तत्प्राप्तेः। न च स्थिरभावस्यापि येनैव रूपेण व्यतिरेकं, तेनैवाव्यतिरेकं व्याकुर्महे। द्रव्यमेतत्, एते च पर्याया इतिरूपेण हि व्यतिरेकः, वस्त्वेतदितिरूपेण त्वव्यतिरेकः। एकमेव च विज्ञानक्षणं सविकल्पाविकल्पकं, भ्रान्ताभ्रान्तं, कार्यं कारणं चायं स्वयमेव स्वीकरोति, भेदाभेदे तु विरोधप्रतिरोधमभिदधातीति महासाहसिकः, इति क्षणिकाक्षणिकेऽपि क्रमाक्रमाभ्यामर्थक्रियायाः संभवात् सिद्धं संदिग्धानैकान्तिकं सत्त्वम्। क्षणिकैकान्ताभ्यामर्थक्रियाया अनुपपत्तेर्विरुद्धं वा। तथाहि-क्रमस्तावत् द्वेधा, देशक्रमः कालक्रमश्च। तत्र देशक्रमो यथा-तरलतरतरङ्गपरम्परोत्तरणरमणीयश्रेणीभूतश्वेतच्छदमिथुनानाम्। कालक्रमस्त्वेकस्मिन्कलशे क्रमेण मधुमधूकबन्धूकशम्बूकादीनां धारणक्रियां कुर्वाणे। क्षणिकैकान्ते तु द्वयोरप्येतयोरभाव एव। येन हि वस्तुना क्वचिद्देशे, काले वा किञ्चित्कार्यमर्जयामासे, तत्तत्रैव, तदानीमेव च निरन्वयमनश्यत्, ततो देशान्तरकालान्तरानुसरणव्यसनशालिनः कस्याप्येकस्यासंभवात् क्व नाम क्षणिकैकान्ते क्रमोऽस्तु? नाप्यत्र यौगपद्यमनवद्यम्। यतः क्षणिकानंशस्वरूपं रूपं युगपदेव स्वकार्याणि कार्याणि कुर्वाणं येनैव स्वभावेन स्वोपादेयं रूपमुत्पादयति तेनैव ज्ञानक्षणमपि, यद्वा-येनैव ज्ञानक्षणं तेनैव रूपक्षणमपि, स्वभावान्तरेण वा? प्राचिपक्षे, ज्ञानस्य रूपस्वरूपत्वापत्तिः। रूपोत्पादकैकस्वभावाभिनिर्वर्त्यत्वात्, रूपस्वरूपवत्। द्वितीये, रूपस्य ज्ञानरूपतापत्तिः, ज्ञानोत्पादनैकस्वभावसंपाद्यत्वात्, ज्ञानस्वरूपवत्। तृतीये रूपक्षणस्य क्षणिकानंशस्वरूपस्यापत्तिः., स्वभावभेदस्य भेदकस्य सद्भावात्। अथानंशैकस्वरूपमपि रूपं सामग्रीभेदाद्भिन्नकार्यकारिभविष्यति को दोष इति चेत्, तर्हि नित्यैकरूपोऽपि पदार्थस्तत्तत्सामग्रीभेदात्तत्तत्कार्यकर्त्ता भविष्यतीति कथं क्षणिकैकान्तसिद्धिः स्यात्? ततो न क्षणिकैकान्ते क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियासंभवतीति सिद्धं विरुद्धं सत्त्वमिति॥ यदप्याचक्षते भिक्षवः क्षणक्षयैकान्तप्रसाधनाय प्रणामम्-ये यद्भावं प्रत्यनपेक्षाः ते तद्भावनियताः, यथा अन्त्या कारणसामग्री स्वकार्यजनने, विनाशं प्रत्यनपेक्षाश्च भावा इति। तत्र विनाशं प्रत्यनपेक्षत्वमसिद्धतावष्टब्धमेव नोच्छ्वसितुमपि शक्नोतीति कथं वस्तूनां विनाशनैयत्यसिद्धौ सावधानतां दध्यात्? तथाहि-तरस्वि-पुरुषप्रेरितप्रचण्डमुद्गरसंपर्कात् कुम्भादयो ध्वंसमानाः समीक्ष्यन्ते। न त्वेतत्साधनसिद्धिवद्धकक्षेष्वस्मासु सत्सु कथमसिद्धताऽभिधातुं शक्या? तथाहि वेगवन्मुद्गरादिर्नाशहेतुर्नश्वरं वा भावं नाशयति, अनश्वरं वा। तत्रानश्वरस्य नाशहेतुशतोपनिपातेऽपि नाशानुपपत्तिः, स्वभावस्य गीर्वाणप्रभुणाऽप्यन्यथाकर्तुमशक्यत्वात्। नश्वरस्य च नाशे तद्धेतूनां वैयर्थ्यम्। न हि स्वहेतुभ्य एवावाप्तस्वभावे भावे भावान्तरव्यापरः फलवान्, तदनुपरितप्रसक्तेः। उक्तं च ''भावो हि नश्वरात्मा चेत्, कृतं प्रलयहेतुभिः। अथाप्यनश्वरात्माऽसौ, कृतं प्रलयहेतुभिः''।१॥ अपि च भावात् पृथग्भूतो नाशो नाशहेतुभ्यः स्यात्, अपृथग्भूतो वा? यद्यपृथग्भूतस्तदा भाव एव तद्धेतुभिः कृतः स्यात्, तस्य च स्वहेतोरेवोत्पत्तेः कृतस्य करणायोगात् तदेव तद्धेतुवैयर्थ्यम्। अथ पृथग्भूतोऽसौ, तदा भावसमकालभावी, तदुत्तरकालभावी वा स्यात्? तत्र समकालभावित्वे निर्भरप्रतिबन्धबन्धुरबान्धवयोरिव भावाभावयोः समकालमेवोपलम्भो भवेत् अविरोधात्। तदुत्तरकालभावित्वे तु घटादेः किमायातं? येनासौ स्वोपलम्भं स्वार्थक्रियां च न कुर्यात्। न हि तन्त्वादेः समुत्पन्ने पटे घटः स्वोपलम्भं स्वार्थक्रियां च कुर्वन् केनचित्प्रतिषेद्धुं शक्यः। ननु पटस्याविरोधित्वान्न तदुत्पत्तौ तद्भावः, अभावस्य तु तद्विपर्ययादसौ स्यात्। ननु किमिदमस्य विरोधित्वं नाम? नाशकत्वं, नाशस्वरूपत्वं वा। नाशकत्वं चेत्, तर्हि मुद्गरादिवन्नाशोत्पादद्वारेणानेन घटादिरुन्मूलनीयः; तथा च तत्रापि नाशेऽयमेव पर्यनुयोग इत्यनवस्था। नाशस्वरूपत्वं चेत्। नन्वेवमर्थान्तरत्वाविशेषात् कथं कूटस्यैवासौ स्याद्? अन्यस्यापि कस्मान्नोच्यते? तत्संबन्धित्वेन करणादिति चेत्, कः संबन्धः? कार्यकारणाभावः, संयोगः, विशेषणीभावः, अविष्वग्भावो वा? न प्राच्यः पक्षः, मुद्गरादिकार्यत्वेन तदभ्युपगमात् न द्वितीयः, तस्याद्रव्यत्वात्, कुटादिसमकालतापत्तेश्च। न तृतीयः, भूतलादिविशेषणतया तत्कक्षीकारात्। तुरीये त्वविष्वग्भावः सर्वथा भेदः, कथञ्चिद् भेदो वा भवेत्। नाद्यः पक्षः पृथग्भूतत्वेनास्य कक्षं कारात्। न द्वितीयः, विरोधावरीधात्। इति नाशहेतोरयोगतः सिद्धं वस्तूनां तं प्रत्यनपेक्षत्वमिति। तदेतदेतस्य समस्तमुत्पादेऽपि समानं पश्यतः प्रध्वंस एव पर्यनुयुज्जानस्य लुप्तैकलोचनतामाविष्करोति। तथाहि-उत्पादहेतुरपि सत्स्वभावस्य, असत्स्वभावस्य वा भावस्योत्पादकः स्यात्। न सत्स्वभावस्य, तस्य कृतो पस्थायिता प्रसङ्गात्। नाप्यसत्स्वभावस्य, स्वभावस्यान्यथाकर्तुमशक्तेः, अभ्युपगमविरोधाच्च। न ह्यसत्स्वभावजन्योत्पादकत्वमिष्यते त्वया। अथाऽनुत्पन्नस्यासत्त्वादुत्पन्नस्य सत्स्वभावत्वाट्ट्यर्थो विकल्प-युगलोपन्यासपरिश्रम इति चेत्। नैवम्। नष्टेतर विकल्पापेक्षयाऽस्य नाशेऽपि तुल्यत्वात्। तथा च-''भावो भवत्स्वभावश्चेत्, कृतमुत्पादहेतुभिः। अथाभवत्स्वभावोऽसौ, कृतमुत्पादहेतुभिः''॥१॥ तथाऽयमुत्पद्यमानाद् व्यतिरिक्तः, अव्यतिरिक्तो वा। तत्र जन्याव्यतिरिक्तोत्पादजनकत्वेन जन्यस्योत्पादः, जन्याद् व्यतिरिक्तत्वेनोत्पादस्य कस्यचिदयोगात्। न हि कथञ्चित् भिन्नमुत्पादमन्तरेण तदेवोत्पद्यत इत्यपि वक्तुं शक्यते, किं तु वस्तिवदमित्येव वक्तुं शक्यम्। न च तथा तदुत्पादः कथितः स्यात्। उत्पद्यमानाद् व्यतिरिक्तोत्पादजनकतायां न तस्योत्पादः तद्वदन्यस्यापि वा कथमसौ न भवेत्? तस्यैव संबन्धिनस्तस्य करणादिति चेत्। तदप्यवद्यम्। उत्पादेनापि साकंकार्यकारणभावादेस्त्वन्मतेन संबन्धस्यासंभवात्। तस्मान्नेयमीदृग्विकल्पपरिकल्पजल्पाकता परिशीलनीया। इदं पुनरिहैदंपर्यम्। यथा दण्डचक्रचीवरादिकारणकलापसहकृतात् मृत्स्नालक्षणोपादानकारणात् कुम्भ उत्पद्यते, तथा वेगवद्मुद्गरसहकृतात् तस्मादेव विनश्यत्यपि। नचैकान्तेन विनाशः कलशाद्भिन्न एव, मृल्लक्षणैकद्रव्यतादात्म्यात्। विरोधित्वं चाऽस्य विनाशरूपत्वमेव। न चैवं घटवत् पटस्यापि तदापत्तिः, मृदद्रव्यतादात्म्येनैवावस्थानादुत्पादवत्। न च सर्वथा तादात्म्यं, तदन्यतरस्यासत्त्वापत्तेः। न चैवमत्र विरोधावरोधः, चित्रैकज्ञानवदन्यथोत्पादेऽपि तदापत्तेः। इत्यसिद्धं विनाशं प्रत्यनपेक्षत्वम्-

र्थानाम् ! अतः कथं क्षणभिदेलिमभावस्वभावसिद्धिः स्यात् ? एवं च सिद्धं पूर्वापरपरिणामव्यापकमूर्द्ध्वतासामान्यस्वभावं समस्तं वस्त्विति ॥५॥ अथ विशेषस्य प्रकारौ प्रकाशयन्ति -

विशेषोऽपि द्विरूपो, गुणः पर्यायश्चेति ॥६॥

सर्वेषां विशेषणां वाचकोऽपि पर्यायशब्दो गुणशब्दस्य सहवर्तिविशेषवाचिनः सन्निधानेन क्रमवर्त्तिविशेषवाची गोवलीवर्दन्यायादत्र गृह्यते॥६॥

तत्र गुणं लक्षयन्ति –

गुणः सहभावी धर्मो यथाऽऽत्मनि विज्ञानव्यक्तिशक्त्यादिरिति ॥७॥

सहभावित्वमत्र लक्षणम् । यथेत्यादिकमुदाहरणम् । विज्ञानव्यक्तिर्यत्किञ्चिज्ज्ञानं तदानीं विद्यमानम् । विज्ञानशक्तिरुत्तरज्ञानपरिणामयोग्यता। आदिशब्दात् सुखपरिस्पन्दयौवनदयो गृह्यन्ते।

पर्यायं प्ररूपयन्ति -

पर्यायस्तु क्रमभावी, यथा तत्रैव सुखदुःखादिरिति ॥८॥

धर्म्म इत्यनुवर्त्तनीयम् । क्रमभावित्वमिह लक्षणम् । परिशिष्टं तु निदर्शनम् । तत्रेत्यात्मनि । आदिशब्देन हर्षविषादादीनामुपादानम् । अयमर्थः–ये सहभाविनः सुखज्ञानवीर्यपरिस्पन्दयौवनादयः, ते गुणाः, येतु क्रमवृत्तयः सुखदुःखहर्षविषादादयः, ते पर्यायाः । नन्वेवं त एव गुणास्त एव पर्याया इति कथं तेषां भेदः? इति चेत् । मैवम् । कालाभेदविभेदविवक्षया तद्भेदस्यानुभूयमानत्वात् । न चैवमेषां सर्वथा भेद इत्यपि मन्तव्यम्; कथञ्चिद्भेदस्याप्यविरोधात् । न खल्वेषां स्तम्भकुम्भादिवद्भेदः, नापि स्वरूपवद् भेदः, किं तु धर्म्यपेक्षयाऽभेदः स्वरूपापेक्षया तु भेदः इति ॥ अथैतदाकर्ण्य यौगाः शालूककण्टकाक्रान्तमर्णाण इवोत्प्लवन्ते-यदि धम्यपेक्षया धर्मिणो धर्मा अभिन्ना भवेयुस्तदा तद्वत्तस्यापि भेदापत्तेः प्रत्यभिज्ञाप्रतिपन्नैकत्वव्याहतिरिति । तन्नाविततम्। कथञ्चित्तद्भे-दस्याभ्युपेत्वात्, प्रत्यभिज्ञायाश्च कथञ्चिदेकत्वगोचरत्वेनावख्यानात्, नित्यैकान्तस्य प्रमाणभूमित्वात् । तथाहि–यद्यसौ नित्यैकस्वरूपः पदार्थो वर्तमानार्थक्रियाकरणकालवत् पूर्वापरकालयोरपि समर्थः स्यात्, तदा तदानीमपि तत्क्रियाकरणप्रसङ्गः । अथासमर्थः पूर्वं पश्चाद्वाऽयं स्यात्, तदा तदानीमिव वर्तमानकालेऽपि तत्करणं कथं स्यात् ? अथ समर्थोऽप्ययमपेक्षणीयासंनिधेर्न करोति, तत्संनिधौ तु करोतीति चेत् । ननु केयमपेक्षा नाम ? किं तैरुपकृतः करोतीत्युपकारभेदः ? किं वा तैः सह करोतीत्यन्वयपर्य्यवसायी स्वभावभेदः, अथ तैर्विना न करोतीति व्यतिरेकनिष्ठं स्वरूपं, यद्वा–सहकारिषु सत्सु करोति, तद्विरहे तु न करोतीति तद्द्वयावलम्बिवस्तुरूपम्। तत्र प्राच्यः प्रकारस्तावदसारः, अनवस्थाराक्षसीकटाक्षितत्वात् । तथाहि-उपकारेऽपि कर्तव्ये सहकार्यन्तरमपेक्षणीयम्, उपकरणीयं च तेनापीत्युपकारपरम्परा समापततीत्यनवस्था । तथाऽमी उपकारणारभमाणा भावस्वभावभूतम्, अतत्स्वभावं वाऽऽरभेरन्। स्वभावभूतोपकाराम्भभेदे भावस्याप्युत्पत्तिरापतति । न ह्यनुत्पद्यमानस्योत्पद्यमानः स्वभावो भवति, विरुद्धधर्माऽध्यासात् । द्वितीयपक्षे तु धर्मिणः किमायातम् ? न ह्यन्यस्मिन् जाते विनष्टे वाऽन्यस्य किञ्चिद्भवति, अतिप्रसङ्गात्, अथ तेनाऽपि तस्य किञ्चिदुपकारान्तरमारचनीयमित्येषाऽपरा अनवस्था । तैः सह करोतीत्यादिपक्षोऽपि नाक्षूणः स्वभावस्य तादवस्थ्यात् । न ह्यस्य सहकारिव्यावृत्तौ स्वभावव्यावृत्तिरिति तैर्विनाऽपि कुर्यात् । ननु यत एव सहकारिव्यावृत्तावस्य स्वभावो न व्यावर्तते, अत एव तैर्विनाऽपि न करोति । कुर्वाणो हि तैः सहैव करोतीति स्वभावं जह्यात् । स तर्हि स्वभावभेदः सहकारिसाहित्ये सति कार्यकरणनियतः सहकारिणो न जह्यात्, प्रत्युत पलायमानानपि गले पादिकयोपस्थापयेद्, अन्यथा स्वभावहानिप्रसङ्गात् । अत एव न तृतीयोऽपि । कर्तृस्वभावापरावृत्तेः। अथ तद्विरहाकर्तृस्वभावः, तर्हि कालान्तरेऽपि स्वहेतुवशादुपसर्पतोऽपि सहकारिणः पराणुद्य न कुर्यात्, तद्विरहाकर्तृशीलः खल्वयमिति। तुरीयभेदे विरुद्धधर्म्माध्यासः, यः खलु सहकारिसहितः, स कथं तद्विरहितः स्यात्, तथा च भावभेदो भवेत् । अथायं कालभेदेन सुपरिहर एव; अन्यदा हि सहकारिसाकल्यम्, अन्यदा च तद्वैकल्यमिति । तदसत् । धर्म्मिणोऽनतिरेकात् ।,कालभेदेऽपि ह्येक एव धर्म्मी स्वीचक्रे । तथा चास्य कथं तत्साकल्यवैकल्ये स्याताम् ? सत्त्वे वा सिद्धो धर्म्मिभेदः । अथ सहकारिसाकल्यं तद्वैकल्यं च धर्मः । न च धर्म्मभेदेऽपि धर्म्मिणः किञ्चित्, ततो भिन्नत्वात्तेषामिति चेत् । अस्तु तावदेकान्तभिन्नधर्म्मधर्म्मिवादापवाद एव पृष्टः परीहारः । तत्त्वेऽपि न साकल्यमेव कार्यमर्जयति, किं तु सोऽपि पदार्थः । तथा च तस्य भावस्य यादृशश्चरमक्षणेऽक्षेपक्रियाधर्मस्वभावः, तादृश एव चेत्प्रथमक्षणेऽपि, तदा तदैवासौ प्रसह्य कुर्वाणो गीर्वाणशापेनापि नापहस्तयितुं शक्यः। यथा हि विरुद्धधर्माध्यासेन भेदप्रङ्गपरिहाराय साकल्यवैककल्य-लक्षणौ धर्म्मौ भिन्नस्वभावौ परिकल्पितौ तौ, तथा न सोऽप्यक्षेपक्रिया-धर्मस्वभावो भावाद्भिन्न एवाभिधातुं शक्यः भावस्याकर्तृत्वप्रसङ्गात् । ततः सिद्धो विरुद्धधर्म्माध्यासः । एवं च यद्विरुद्धधर्म्माध्यस्तं, तद्भिन्नं, यथा शीतोष्णे, विरुद्धधर्म्माध्यस्तश्च विवादास्पदीभूतो भाव इति न नित्यैकान्तसिद्धिः । एवं चोपस्थितमिदं नित्यानित्यात्मकं वस्तु, उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकत्वान्यथाऽनुपपत्तेरिति । तथाहि-सर्वं वस्तु द्रव्यात्माना नोत्पद्यते वा, विपद्यते वा; परिस्फुटमन्वयदर्शनात्। लूनपुनर्जातनखादिष्वन्वयदर्शनेन व्यभिचार इति न वाच्यम्, प्रमाणेन वाध्यमानस्यान्वयस्यापरिस्फुटत्वात्। न च प्रस्तुतोऽन्वयः प्रमाणविरुद्धः; सत्यप्रत्यभिज्ञानसिद्धत्वात् । ततो द्रव्यात्मना स्थितिरेव सर्वस्य वस्तुनः । पर्यायात्मना तु सर्वं वस्तूत्पद्यते, विपद्यते च । अस्खलित-पर्यायानुभवसद्भावात् । न चैवं शुक्ले शङ्खे पीतादिपर्यायानुभवेन व्यभिचारः, तस्य स्खलद्रूपत्वात । न खलु सोऽस्खलद्रूपो येन पूर्वाकारविनाशाजहद्वृत्तोत्तराकारोत्पादाविनाभावी भवेत् । न च जीवादौ वस्तुनि हर्षामर्षादासीन्यादिपर्यायपरंपरानुभवः स्खलद्रूपः कस्यचिद्बाधकस्याभावात्। ननूत्पादादयः परस्परं भिद्यन्ते, न वा ? यदि भिद्यन्ते, कथमेकं वस्तु त्र्यात्मकम् ? न भिद्यन्ते चेत्, तथाऽपि कथमेकं वस्तु त्र्यात्मकम् ? तथा च-''यद्युत्पत्त्यादयो भिन्नाः, कथमेकं त्रयात्मकम् ? अथोत्पत्त्यादयोऽभिन्नाः, कथमेकं त्रयात्मकम्''? ॥१॥ इति चेत् । तदयुक्तम् । कथञ्चिद्भिन्नलक्षणत्वेन तेषां कथञ्चिद्भेदाभ्युपगमात् । तथाहि–उत्पादविनाशध्रौव्याणि स्याद्भिन्नानि, भिन्नलक्षणत्वात्, रूपादिवत् । न च भिन्नलक्षणत्वमसिद्धम् । असतः आत्मलाभः, सतः सत्तावियोगः द्रव्यरूपतयाऽनुवर्त्तनं च खलूत्पादादीनां परस्परमसंकीर्णानि लक्षणानि सकललो–

कसाक्षिकाण्येव । न चाऽमी भिन्नलक्षणा अपि परस्परानपेक्षाः, खपुष्पवदसत्त्वापत्तेः । तथाहि-उत्पादः केवलो नास्ति, स्थितिविगमरहितत्वात्कूर्म्मरोमवत् । तथा-विनाशः केवलो नास्ति, स्थित्युत्पत्तिरहितत्वात्, तद्वत् । एवं स्थितिः केवला नास्ति, विनाशोत्पादशून्यत्वात्, तद्वदेव; इत्यन्योऽन्यापेक्षाणामुत्पादादीनां वस्तुनि सत्त्वं प्रतिपत्तव्यम् । तथा च कथं नैकं त्र्यात्मकम् ? किं च, अपरमभ्यधीष्महि पञ्चाशति –

''प्रध्वस्ते कलशे शुशोच तनया मौलौ समुत्पादिते,
पुत्रः प्रीतिमुवाह कामपि नृपः शिश्राय मध्यस्थताम् ।
पूर्वाकारपरिक्षयस्तदपराकारोदयस्तद्द्वया –
धारश्चैक इति स्थितं त्रयमयं तत्त्वं तथाप्रत्ययात्'' ॥१॥

तथा च स्थितं नित्यानित्यानेकान्तः कान्त एवेति । एवं सदसदनेकान्तोऽपि । नत्वत्र विरोधः । कथमेकमेव कुम्भादि वस्तु सच्च, असच्च भवति ? सत्त्वं ह्यसत्त्वपरिहारेण व्यवस्थितम्, असत्त्वमपि सत्त्वपरिहारेण; अन्यथा तयोरविशेषः स्यात् । ततश्च तद्यदि सत्, कथमसत् ? अथासत्, कथं सदिति ? तदनवदातम् । यतो यदि येनैव प्रकारेण सत्त्वं, तेनैवासत्त्वं, येनैव चासत्त्वं, तेनैव सत्त्वमभ्युपेयेत, तदा स्याद्विरोधः । यदा तु स्वरूपेण घटादित्वेन, स्वद्रव्येण हिरण्डयादित्वेन, स्वक्षेत्रेण नागरादित्वेन, स्वकालत्वेन वासन्तिकादित्वेन सत्त्वं, पररूपादिना तु पटत्वतन्तुत्वग्राम्यत्वग्रैष्मिकत्वादिनाऽसत्त्वं, तदा क्व विरोधगन्धोऽपि ? ये तु सौगताः परासत्त्वं नाभ्युपयन्ति, तेषां घटादेः सर्वात्मकत्वप्रसङ्गः । तथाहि-यथा घटस्य स्वरूपादिना सत्त्वं, तथा यदि पररूपादिनाऽपि स्यात्, तथासति स्वरूपादित्ववत् पररूपादित्वप्रसक्तेः कथं न सर्वात्मकत्वं भवेत् ? परासत्त्वेन तु प्रतिनियतोऽसौ सिद्ध्यति । अथ न नाम नास्ति परासत्त्वं, किं तु स्वसत्त्वमेव तदिति चेद् । अहो ! नूतनः कोऽपि तर्कवितर्ककर्कशः समुल्लापः । न खलु यदेव सत्त्वं, तदेवासत्त्वं भवितुमर्हति, विधिप्रतिषेधरूपतया विरुद्धधर्माध्यासेनानयोरैक्यायोगात् । अथ पृथक् तन्नाभ्युपगम्यते, न च नाभ्युपगम्यत एवेति किमिदमिन्द्रजालम् ? ततश्चास्यानक्षरमसत्त्वमेवोक्तं भवति । एवं च यथा स्वासत्त्वासत्त्वात्स्वसत्त्वं तस्य, तथा परासत्त्वासत्त्वात्परसत्त्वप्रसक्तिरनिवारितप्रसरा, विशेषाभावात् । अथ नाभावनिवृत्त्या पदार्थो भावरूपः, प्रतिनियतो वा भवति, अपि तु स्वसामग्रीतः स्वस्वभावनियत एवोपजायते इति किं परासत्त्वेनेति चेत् ? न किञ्चित् । केवलं स्वसामग्रीतः स्वस्वभावनियतोत्पत्तिरेव परासत्त्वात्मकत्वव्यतिरेकेण नोपपद्यते । पारमार्थिकस्वासत्त्वासत्त्वात्मकस्वसत्त्वेनैव परासत्त्वासत्त्वात्मकपरसत्त्वेनाप्युत्पत्ति प्रसङ्गात् । यौगास्तु प्रगल्भन्तेसर्वथा पृथग्भूतपरस्परभावाभ्युपगममात्रेण पदार्थप्रतिनियमप्रसिद्धेः पर्याप्तं तेषामसत्त्वात्मककल्पना कदर्थनेनेति । तदसुन्दरम् । यतो यदा पटाद्यभावरूपी घटो न भवति, तदा घटः पटादिरेव स्यात् । यथा च-घटस्य घटाभावात्, भिन्नत्वात् घटरूपता, तथा पटादेरपि स्यात् । घटाभावाद्भिन्नत्वादेव । किं च-अमीषां भावानां स्वतो भिन्नानाम-भिन्नानां वा भिन्नाभावेन भेदः क्रियते ? नाद्यः पक्षः, स्वहेतुभ्य एव भिन्नानामेषामुत्पत्तेः । नापि द्वितीयः, स्वयमभिन्नानामन्योऽन्या-भावासंभवात् । भावाभावयोश्च भेदः स्वत एव वा स्यात्, अभावान्तरेण वा । प्राचि पक्षे, भावानामपि स्वरूपेणैवायमस्तु, किमपरेणाभावेन परिकल्पितेन ? द्वितीये, पुनरनवस्थानापत्तिः, अभावान्तरेष्वप्यभावान्तराणां भेदकानामवश्यस्वीकरणीयत्वात् । कथञ्चिदभिन्ने तु भावादभावे न कश्चिदमूदृशकलङ्कावकाशः । वस्त्वेव हि तत्तथा, सदसदंशयोस्तथा परिणतिरेव हि घटः पटो वाऽभिधीयते, न केवलः सदंशः, ततः कथं घटादिः परेणात्मानं मिश्रयेत् ? इति सूक्तः सदसदनेकान्तवादः । एवमपरेऽपि भेदाभेदानेकान्तादयः स्वयं चतुरैर्विवेचनीयाः । रत्ना० ५ परि० ।

(३) अधुना क्षणिकवादिन ऐहिकामुष्मिकव्यवहारानुपपन्नार्थसमर्थनमविमृश्यकारिताकारितं दर्शयन्नाह -

कृतप्रणाशाऽकृतकर्म्मभोग–
भवप्रमोक्षस्मृतिभङ्गदोषान् ।
उपेक्ष्य साक्षात्क्षणभङ्गमिच्छ–
न्नहो ! महासाहसिकः परस्ते ॥१८॥

कृतप्रणाशदोषमकृतकर्मभोगदोषं भवभङ्गदोषं प्रमोक्षभङ्गदोष स्मृतिभङ्गदोषमित्येतान् साक्षादित्यनुभवसिद्धान् उपेक्ष्यानादृत्य साक्षात्कुर्वन्नपि गजनिमीलिकामवलम्बमानः सर्वभावानां क्षणभङ्गमुदयानन्तरविनाशरूपक्षणक्षयितामिच्छन् प्रतिपाद्यमानस्ते तव परः प्रतिपक्षी वैनाशिकः (सौगत इत्यर्थः) अहो ! महासाहसिकः । सहसाऽविमर्शात्मकेन बलेन वर्तते साहसिकः । भाविनमनर्थमविभाव्य यः प्रवर्तते स एवमुच्यते । महांश्चासौ साहसिकश्च महासाहकोऽत्यन्तमभिमृश्य प्रवृत्तिकारं । इति मुकुलितार्थः । विवृतार्थस्त्वयम् बौद्धा बुद्धिक्षणपरम्परामात्रमेवात्मानमामनन्ति, न पुनर्मौक्तिककण-निकरानुस्यूतैकसूत्रवत् तदन्वयनिमेकम् । तन्मते येन ज्ञानक्षणेन सदनुष्ठानमसदनुष्ठानं वा कृतं तस्य निरन्वयविनाशान्न तत्फलोपभोगः । यस्य च फलोपभोगस्तेन तत्कर्म न कृतम् । इति प्राच्यज्ञानक्षणस्य कृतप्रणाशः, स्वकृतस्य कर्मणः फलानुपभोगात् । उत्तरज्ञानक्षणस्य चाकृतकर्मभोगः, स्वयमकृतस्य परकृतस्य कर्मणः फलोपभोगादिति । अ च कर्मशब्द उभयत्रापि योज्यः । तेन कृतप्रणाश इत्यस्य कृतकर्मप्रणाश इत्यर्थो दृश्यः । बन्धानुलोपम्याद्येत्थमुपन्यासः । तथा भवभङ्गदोषः । भव आर्जवीभावलक्षणः संसारस्तस्य भङ्गो विलोपः स एव दोषः क्षणिकवादे प्रसज्यते । परलोकाभावप्रसङ्ग इत्यर्थः । परलोकिनः कस्यचिदभावात् । परलोको हि पूर्वजन्मकृत कर्म्मानुसारेण भवति । तच्च प्राचीनज्ञानक्षणानां निरन्वयं नाशात्केन नामोपभ्युज्यतां जन्मान्तरे ? यच्च मोक्षाकरगुप्तेन ''यच्चितं तच्चित्तान्तरं प्रतिसंधत्ते यथेदानीन्तनं चित्तं, चित्तं च मरणकालभावि'' इति भवपरंपरासिद्धये प्रमाणमुक्तं, तद् व्यर्थम्ः, चित्तक्षणानां निरवशेषनाशिनां चित्तान्तरप्रतिसन्धानायोगात् । द्वयोरवस्थितयोर्हि प्रतिसन्धानमु-भयानुगामिना केनचित् क्रियते । यश्चान्योः प्रतिसन्धाता स तेन नाभ्युपगम्यते । स ह्यात्माऽन्वयी । न च प्रतिसन्धते इत्यस्य जनयतीत्यर्थः, कार्यहेतुप्रसङ्गात् । तेन वादिनाऽस्य हेतोः स्वभावहेतुत्वेनोक्तत्वात् । स्वभावहेतुश्च तादात्म्ये सति भवति । भिन्नकालभाविनोश्च चित्तचित्तान्तरयोः कुतस्तादात्म्यम् ? युगपद्भाविनोश्च प्रतिसन्धेयप्रतिसन्धायकत्वाभावापत्तिः । युगपद्भावित्वेऽविशिष्टेऽपि किमत्र नियामकं यदेकः प्रतिसन्धायकोऽपरश्च प्रतिसन्धेय इति ? अस्तु वा प्रतिसन्धानस्य जननमर्थः । सोऽप्यनुपपन्नः, तुल्यकालत्वे हेतुफलभावस्थाभावात् । भिन्नकालत्वे च पूर्वचित्तक्षणस्य विनष्टत्वात्, उत्तरचित्तक्षणः कथमुपादानमन्तरेणोत्पद्यताम् ? इति । यत्किञ्चिदेतत् । तथा प्रमोक्षभङ्गदोषः । प्रकर्ष–

णापुनर्भावेन कर्मबन्धनान्मुक्तिः प्रमोक्षस्तस्यापि भङ्ग प्राप्नोति। तन्मते तावदात्मैव नास्ति, *कः प्रेत्य सुखीभवनार्थं यतिष्यते ? ज्ञानक्षणोऽपि* संसारी कथमपरज्ञानक्षणसुखीभवनाय घटिष्यते ? न हि दुःखी देवदत्तो यज्ञदत्तसुखाय चेष्टमानो दृष्टः। क्षणस्य तु दुःखं स्वरसनाशित्वात्तेनैव सार्द्धं दध्वंसे। सन्तानस्तु न वास्तवः कश्चित्। वास्तवत्वे तु आत्माऽभ्युपगमप्रसङ्गः। अपि च-बौद्धा निखिलवासनोच्छेदे विगतविषयाकारोपप्लवविशुद्धज्ञानोत्पादो मोक्ष इत्याहुः, तच्च न घटते; कारणाभावादेव तदनुपपत्तेः। भावनाप्रचयो हि तस्य कारणमिष्यते। स च स्थिरैकाश्रयाभावाद्विशेषाणाधायकः प्रतिक्षणमपूर्ववदुपजायमानो निरन्वयविनाशी गगनलङ्घनाभ्यासवदनासादितप्रकर्षो न स्फुटाभिज्ञानजननाय प्रभवतीत्यनुपपत्तिरेव तस्य। समलचित्तक्षणानां स्वाभाविक्याः सदृशारम्भणसक्तेसदृशारम्भं प्रत्यशक्तेश्चाकस्मादनुच्छेदात्। किं च-समलचित्तक्षणाः पूर्वं स्वरसपरिनिर्वाणाः। अयमपूर्वो जातः। सन्तानश्चैको न विद्यते। बन्धमोक्षौ चैकाधिकरणौ; न विषयभेदेन वर्त्तेते। तत् कस्येयं मुक्तिर्य एतदर्थं प्रयतते ? अयं हि मोक्षशब्दो बन्धनविच्छेदपर्यायः। मोक्षश्च तस्यैव घटते यो बद्धः। क्षणक्षयवादे त्वन्यः क्षणो बद्धः क्षणान्तरस्य च मुक्तिरिति मोक्षाभावः प्राप्नोति। तथा स्मृतिभङ्गदोषः। तथाहि-पूर्वबुद्ध्याऽनुभूतेऽर्थे नोत्तरबुद्धीनां स्मृतिः संभवति, ततोऽन्यत्वात्, सन्तानान्तरबुद्धिवत्। न ह्यन्यदृष्टोऽर्थोऽन्येन स्मर्यते। अन्यथा एकेन दृष्टोऽर्थः सर्वैः स्मर्येत। स्मरणाभावे च कौतस्कुती प्रत्यभिज्ञाप्रसूतिः ? तस्याः स्मरणानुभवोभयसंभवत्वात्। पदार्थप्रेक्षणप्रबुद्धप्राक्तनसंस्कारस्य हि प्रमातुः स एवायमित्याकारेणेयमुत्पद्यते। अथ स्यादयं दोषो यद्यविशेषेणान्यदृष्टमन्यः स्मरतीत्युच्यते, किं त्वन्यत्वेऽपि कार्यकारणभावादेव च स्मृतिः। भिन्नसन्तानबुद्धीनां तु कार्यकारणभावो नास्ति; तेन सन्तानान्तराणां स्मृतिर्न भवति। न चैकसान्तानिकीनामपि बुद्धीनां कार्यकारणभावो नास्ति, येन पूर्वबुद्ध्यनुभूतेऽर्थे तदुत्तरबुद्धीनां स्मृतिर्न स्यात्। तदप्यनवदातम्। एवमपि अन्यत्वस्य तदवस्थत्वात्। न हि कार्यकारणभावाभिधानेऽपि तदपगतं, क्षणिकत्वेन सर्वासां भिन्नत्वात्। न हि कार्यकारणभावात् स्मृतिरित्यत्रोभयप्रसिद्धोऽस्ति दृष्टान्तः। अथ-''यस्मिन्नेव हि सन्ताने, आहिता कर्मवासना। फलं तत्रैव संधत्ते, कार्पासे रक्तता यथा''॥१॥ इति कार्पासे रक्तादृष्टान्तोऽस्तीति चेत्, तदसाधीयः, साधनदूषणयोरसंभवात्। तथाहि-अन्वयाद्यसंभवान्न साधनम्। न हि कार्यकारणभावो यत्र तत्र स्मृतिः, कार्पासे रक्तावदित्यन्वयः संभवति। नापि यत्र न स्मृतिस्तत्र न कार्यकारणभाव इति व्यतिरेकोऽस्ति। असिद्धत्वाद्यनुद्भावनाच्च न दूषणम्। न हि ततोऽन्यत्वादित्यस्य हेतोः कार्पासे रक्तावदित्यनेन कश्चिद्दोषः प्रतिपाद्यते। किं च-यद्यन्यत्वेऽपि कार्यकारणभावेन स्मृतेरुत्पत्तिरिष्यते, तदा शिष्याचार्यादिबुद्धीनामपि कार्यकारणभावसद्भावेन स्मृत्यादिः स्यात्। अथ नाऽयं प्रसङ्ग एकसन्तानत्वे सतीति विशेषणादिति चेत्, तदप्ययुक्तम्। भेदाभेदपक्षाभ्यां तस्योपक्षीणत्वात्। क्षणपरंपरातस्तस्याऽभेदे हि क्षणपरंपरैव सा। तथा च सन्तान इति न किञ्चिदतिरिक्तमुक्तं स्यात्। भेदे त्वपारमार्थिकः, पारमार्थिको वाऽसौ स्यात् ? अपारमार्थिकत्वेऽस्य तदेव दूषणम्, अकिञ्चित्करत्वात्। पारमार्थिकत्वे स्थिरो वा स्यात्, क्षणिको वा ? क्षणिकत्वे सन्तानिनिर्विशेष एवायमिति किमनेन स्तेनभीतस्य स्तेनान्तरशरणस्वीकरणानुकारिणा। स्थिरश्चेदात्मैव संज्ञाभेदति-रोहितः प्रतिपन्नः। इति न स्मृतिर्घटते क्षणक्षयवादिनाम्। स्मृतेरभावे चानुमानस्यानुत्थानमित्युक्तं प्रागेव। अपि च-स्मृतेरभावे निहितप्रत्युन्मार्गणप्रत्यर्पणादिव्यवहारा विशीर्येरन्। ''इत एकनवतेः कल्पे, शक्त्या मे पुरुषो हतः। तेन कर्मविपाके न, पादे विद्धोऽस्मि भिक्षवः''॥१॥ इति वचनस्य च का गतिः ? एवमुत्पत्तिरुत्पादयति, स्थितिः स्थापयति, जरा जर्जरयति, विनाशो नाशयति, इति चतुःक्षणिकं वस्तु प्रतिजानानाऽपि प्रतिक्षेप्याः। क्षणचतुष्कानन्तरमपि निहितप्रत्युन्मार्गणादिव्यवहाणां दर्शनात्। तदेवमनेकदोषापातेऽपि यः क्षणभङ्गमभिप्रैति तस्य महत्साहसम्॥१८॥

(४) अथ ताथागताः क्षणक्षयेपक्षे सर्वव्यवहारानुपपत्तिं परैरुद्भावितामाकार्ण्यैत्थं प्रतिपादयिष्यन्ति, यत्पदार्थानां क्षणिकत्वेऽपि वासनाबललब्धजन्मना ऐक्याध्यवसायेन ऐहिकामुष्मिकव्यवहारप्रवृत्तेः कृतप्रणाशादिदोषा निरवकाशा एवेति। तदाकूतं परिहर्तुकामस्तत्कल्पितवासनायाः क्षणपरम्परातो भेदाभेदानुभय-लक्षणे पक्षत्रयेऽपि अघटमानत्वं दर्शयन् स्वाभिप्रेतभेदाभेदस्याद्वा-दमकामयमानानपि तानङ्गीकारयितुमाह-

सा वासना सा क्षणसन्ततिश्च,
नाभेदभेदाऽनुभयैर्घटते।
ततस्तटाऽदर्शिशकुन्तपोत-
न्यायात्त्वदुक्तानि परे श्रयन्तु॥१९॥

सा शाक्यपरिकल्पिता त्रुटितमुक्तवलीकल्पनां परस्परविशकलितानां क्षणानामन्योऽन्यानुस्यूतप्रत्ययजनिका एकसूत्रस्थानीया सन्तानापरपर्याया वासना। **वासनेति** पूर्वज्ञानजनितामुत्तरज्ञाने शक्तिमाहुः। सा च क्षणसन्ततिस्तद्दर्शनप्रसिद्धा प्रदीपकलिकावन्नवनवोत्पद्यमाना परापरसदृशक्षणपरम्परा। एते द्वे अपि अभेदभेदानुभयैर्न घटेते। न तावद्भेदेन तादात्म्येन ते घटेते। तयोर्हि अभेदे वासना वा स्यात्, क्षणपरम्परा वा; न द्वयम्। यद्धि यस्मादभिन्नं न तत्ततः पृथगुपलभ्यते। यथा घटात् घटस्वरूपम्। केवलायां वासनायामन्वयिस्वीकारः। वास्याऽभावे च किं तया वासनीयमस्तु? इति तस्या अपि न स्वरूपमवतिष्ठते। क्षणपरंपरामात्राङ्गीकरणे च प्राग्व एव दोषाः। न च भेदेन ते युज्येते। सा हि भिन्ना वासना क्षणिका वा स्यादक्षणिका वा ? क्षणिका चेत्तर्हि क्षणेभ्यस्तस्याः पृथक् कल्पनं व्यर्थम्। अक्षणिका चेदन्वयिपदार्थाभ्युपगमेनाऽऽगमबाधः। तथा च-पदार्थान्तराणां क्षणिकत्वकल्पनाप्रयासौ व्यसनमात्रम्। अनुभयपक्षेणापि न घटते। स हि कदाचिदेवं ब्रूयातनाङ्गं वासनायाः क्षणश्रेणितोऽभेदं प्रतिपद्ये, न च भेदं; किं त्वनभयमिति तदप्यनुचितम्, भेदाभेदयोर्विधिनिषेधरूपयोरेकतरप्रतिषेधेऽन्यतरस्यावश्यं विधिभावात्। अन्यतरपक्षाभ्युपगमस्तत्र च प्रागुक्त एव दोषः। स्या. १९ श्लोक।

(५) अयमेवाशयः सामुच्छेदिकनिह्नवादेः प्रतिपादित इहोपयोगित्वाद्योज्यते-

नेउणमणुप्पवाए, अहिज्जओ वत्थुमासमित्तस्स।
एगसमयाइवेच्छे-यसुत्तओ नासपडिवत्ती॥२३९१॥
उप्पायाणंतरओ, सव्वं चिय सव्वहा विणासि त्ति।

गुरुवयणमेगनयमय-मेयं मिच्छं न सव्वमंय ॥२३९२॥

अनुप्रवादपूर्वमध्यगतं नैपुणं वस्त्वधीयानस्याश्वमित्रस्य पूर्वोक्तादेकसमयादिव्यवच्छेदसूत्रान्नाशप्रतिपत्तिरुत्पन्ना । कोऽर्थः ? इत्याह–''उत्पादान्तरमेव सर्वं वस्तु सर्वथा विनश्वररूपम्'' इत्येवंभूतो बोधः समुत्पन्नः । अत्र प्रतिविधानार्थं गुरुवचनम्-'ननु प्रतिसमयविनाशित्वं वस्तूनाम्' इत्येतदेकस्यैव क्षणक्षयवादिन ऋजुसूत्रनयस्य मतं, न तु सर्वनयमतं, ततो मिथ्यात्वमेवेति ॥२३९१। २३९२॥

कुतः पुनरेतन्मिथ्यात्वम् ? इत्याह –

न हि सव्वहा विणासो, ऽद्धापज्जायमेत्तनासम्मि।
स-परपज्जायाणंत-धम्मणो वत्थुणो जुत्तो ॥२३९३॥

न हि सर्वथैव वस्तुनो विनाशो युक्तः । क्व सति ? इत्याह-अद्धापर्यायमात्रनाशे । तत्रेहाद्धा नारकादीनामुत्पत्तिप्रथमादिसमयः, स एव पर्यायमात्रं तस्य नाशोऽपगमस्तस्मिन्सति । कथंभूतस्य वस्तुनः ? इत्याह-स्वपरपर्यायानन्तधर्मकस्य । इदमुक्तं भवति-यस्मिन्नेव समये तन्नारकवस्तु प्रथमसमयनारकत्वेन समुच्छिद्यते, तस्मिन्नेव समये द्वितीयसमयनारकत्वेनोत्पद्यते, जीवद्रव्यतया त्ववतिष्ठते । अतो यदि नामाद्धापर्यायमात्रमुच्छिन्नं, ततः सर्वस्यापि वस्तुनः समुच्छेदे किमायातम्, अनन्तपर्यायात्मकस्य वस्तुनः एकपर्यायमात्रेच्छेदे सर्वोच्छेदस्य दूरविरुद्धत्वाद् ? इति ॥२३९३॥

अत्र पराभिप्रायमाशङ्क्य परिहरति –

अह सुत्ताउ त्ति मइ, सुत्ते नणु सासयं पि निद्दिट्ठं ।
वत्थुं दव्वट्ठाए, असासयं पज्जयट्ठाए ॥२३९४॥

अथ पूर्वोक्तालापकरूपात्सूत्रात्सूत्रप्रामाण्यात्प्रतिसमयं सर्वथा वस्तुच्छेदः प्रतिपाद्यत इति तव मतिः; ननु यदि सूत्रं तव प्रमाणं, तर्हि सूत्रे द्रव्यार्थतया शाश्वतमपि वस्त्वन्यत्रोक्तमेव, पर्यायार्थतथैव चाशाश्वतम् । तथा चू सूत्रम्–''नेरइया णं भंते ! किं सासया, असासया ? गोयमा ! सिय सायया, सिय आसासया। से केणट्ठेणं ? गोयमा ! दव्वट्ठयाए सासया, भावट्ठयाए असासया'' इति ॥२३९४॥

अपि च -

एत्थ वि न सव्वनासो, समयाइविसेसणं जओऽभिहियं ।
इहरा न सव्वनासे, समयाइविसेसणं जुत्तं ॥२३९५॥
को पढमसमयनारग-नासे वितिसमयनारगो नाम ।
न सुरो घडो अभावो, व होइ जइ सव्वहा नासो ?। २३९६॥

अत्रापि 'प्रथमसमयनारका व्यवच्छेदं यास्यन्ति' इति सूत्रे न सर्वनाशः सर्वात्मना नाशो गम्यते । कुतः ? इत्याह–यतो यस्मात्समयादि विशेषणमभिहितं ततो न सर्वथा नाशोऽत्र गम्यते, किं तु प्रथमसमयनारका व्यवच्छेत्स्यन्ति । कोऽर्थः ? प्रथमसमयनारकत्वेन विनङ्क्ष्यन्ति । एवं द्वितीयादिसमयनारका अपि द्वितीयादिसमयनारकत्वेनैव विनङ्क्ष्यन्ति । न तु सर्वथा, द्रव्यार्थतया शाश्वतत्वात् । इतरथा सर्वनाशे अभिप्रेते प्रथमसमयादिविशेषणं न युक्तं स्यादिति । कथमयुक्तम् ? इत्याह-''को पढमे'' इत्यादि । प्रथमसयोत्पन्नानां हि नारकाणां सर्वथा विनाशे को नाम द्वितीयतृतीयादिसमयनारकः ? अवस्थितस्यैव हि कस्यचित् प्रथमद्वितीयतृतीयादि समयोत्पन्नविशेषणं युज्यते, यदि तु सर्वथा नाशः, तर्हि प्रथमसमयोत्पन्नरकस्य निरन्वयनाशेन नष्टत्वात् द्वितीयसमयोत्पन्नो नारक इति व्यपदेष्टुं कथं युज्यते ? यन्नारकात्सर्वथा विलक्षणत्वादसौ सुरो घटोऽभावो जा नोच्यते ? सुरादिव्यपदेशे च न द्वितीयादिसमयनारकाः । तस्मात्प्रथमद्वितीयतृतीयादिसमयोत्पन्ना इति विशेषणं कथञ्चिद्-दवस्थितस्यैव नारकादेर्युज्यत इतयस्मिन्नपि सूत्रे न नारकादेः सर्वोच्छेदः प्रतिपाद्यते। इति निर्मूल एव निजाशुभकर्म्मविपाकजनितस्तवैष व्यामोह इति ॥२३९५-२३९६॥

अथ पराशङ्कापरिहारार्थमाह –

अह व समाणुप्पत्ती, समाणसंताणओ मई होज्जा ।
को सव्वहा विणासे, संताणो किं व सामन्नं ॥२३९७॥

अथवैवंभूता मतिः परस्य भवेद्, यदुतनारकादीनां प्रतिसम-यमपरापरसमानक्षणोत्पत्तिर्भवति । ततस्तया समानक्षणोत्पत्त्या यः समानक्षणसन्ततिरूपः सन्तानस्तस्मात्सन्तानात्सन्तानमाश्रित्य नारकादेः कथञ्चिद् ध्रौव्यमन्तरेणापि प्रथमद्वितीयादि-समयोत्पन्नविशेषणमुपपद्यत एव । अत्रोत्तरमाह-''को सव्वहा'' इत्यादि । ननु सर्वथा विनाशे समुच्छेदेऽङ्गीक्रियमाणे कःकस्य सन्तानः, किं वा कस्य समानम् ? इति निर्निबन्धनमेवेदमुच्यते । न हि निरन्वयविनाशेऽवस्थिताः केचनापि नारकादिक्षणाः सन्ति, यानाश्रित्येदमुच्यते-'अयमेषां सन्तानः, इदं चाऽस्य समानम्' इति ॥२३९७॥

किञ्च–

संताणिणो न भिन्नो, जइ संताणो न मान संताणो ।
अह भिन्नो न क्खणिओ, खणिओ वा जइ न संताणो ।२३९८॥

यदि सन्तानिभ्यो न भिन्नः, किं त्वभिन्नः सन्तानः, तर्हि न नामाऽसौ सन्तानः, सन्तानिभ्योऽनर्थान्तरभूतत्वात्, तत्स्व रूपवत् । अथ सन्तानिभ्यो भिन्नः सन्तानः, तर्हि क्षणिकोऽसौ नेष्टव्यः, अवस्थितत्वाभ्युपगमात् । अथ क्षणिकोऽसाविष्यते, तर्हि नासौ सन्तानः, सन्तानिवत् । ततस्त एव सन्तानाभावपक्षोक्ता दोषा इति । तदेवं सर्वथोच्छेदेऽभ्युपगम्यमाने सन्तान उत्पद्यत इति भावितम् ॥२३९८॥

अथ यदुक्तम्-''किं व सामन्नमिति'' (२३९७) तद्भावनार्थमाह-

पुव्वाणुगमे समया, हुज्ज न सा सव्वहा विणासम्मि ।
अह सा न सव्वनासे, तेण समं वा नणु खपुप्फं ॥२३९९॥

यदि पूर्वक्षणस्योत्तरक्षणे केनाऽपि रूपेणानुगमोऽन्वयो भवेत्तदा तत्रानुगमे पूर्वोत्तरक्षणयोः समता समानरूपता भवेत् । सर्वथा तु सर्वात्मना पूर्वक्षणस्य निरन्वयविनाशे न सा समता उत्तरक्षणस्य युज्यते । अथ सा समता तयोरभ्युपगम्यते, तर्हि तद्रूपस्य कथञ्चिदवस्थितत्वान्न पूर्वक्षणस्य सर्वथा विनाशः । अथ सर्वथा विनाशेऽपि तस्य समताऽभ्युपगम्यते, हन्त ! तर्हि तेन सर्वथाऽभावीभूतेन पूर्वक्षणेन समं तुल्यं युज्यते यदि, परंखपुष्पम्, सर्वथा भावरूपतया द्वयोरपि तुल्यत्वादिति ॥२३९९॥

किञ्च–

अन्नविणासे अन्नं, जइ सरिसं होइ होउ तेलुक्कं ।
तदसंवद्धं व मई, सो वि कओ सव्वनासम्मि ॥२४००॥

सर्वथा निरन्वयविनाशे घटात्पट इवोत्तरक्षणात्सर्वथाऽन्यएव पूर्वक्षणस्तस्माच्चान्य एवोत्तरक्षणः । ततः सर्वथाऽन्यस्य पूर्वक्षणस्य विनाशे तस्मात्सर्वथा अन्यदुत्तरक्षणरूपं यदि सदृशं भवतीत्यभ्युपेयते, तर्हि भवतु त्रैलोक्यमपि ततस्तत्सदृशम्, अनन्वयित्वे अन्यत्वस्य सर्वत्र तुल्यत्वात् । अथ तत् त्रैलोक्यं प्रस्तुतपूर्वक्षणेन सह देशादिव्यवहित-त्वादसंबद्धमिति न तत्सदृशम्, उत्तरक्षणस्तु तेन सह संबद्ध इति तत्सदृश इति परस्य मतिः स्यात् । ननु सोऽपि पूर्वोत्तरक्षणयोः संबन्धः पूर्वस्य सर्वथा विनाशे कुतः ? न कुतश्चिदित्यर्थः । तत्संबन्धाभ्युपगमेऽन्य-संबन्धायोगेनान्वया-भ्युपगमप्रसङ्गादिति भावः ॥२४००॥

अपि च पर्यनुयुञ्ज्महे भवन्तम् । किम ? इत्याह -

किह वा सव्वं खणियं, विण्णायं जइ मई सुयाउ त्ति ।
तदसंखसमयसुत्त-त्थगहणपरिणामओ जुत्तं ॥२४०१॥
न उ पइसमयविणासे, जेणिक्किक्किक्खरं चिय पयस्स ।
संखाइयसामइयं, संखिज्जाइं पयं ताइं ॥२४०२॥
संखिज्जपयं वक्कं, तदत्थगहणपरिणामओ हुज्जा ।
सव्वक्खणभंगनाणं, तदजुत्तं समयनइस्स ॥२४०३॥

वा इत्यथव, पर्यनुयुज्यते भवान् ननु 'सर्वं वस्तु क्षणिकम्' । इत्येत्कथं भवता विज्ञानमिति वक्तव्यम् ? श्रुतादिति चेत् । ननु तत् श्रुतादर्थविज्ञानमसंख्येयसमयैर्निष्पन्नो यः सूत्रार्थग्रहण-परिणामस्त-स्मादेव युक्तं, न तु प्रतिसमयविनाशे । इदमुक्तं भवतिअसंख्येयानेव समयान् यावच्चित्तस्यावस्थाने 'सर्वं क्षणिकम्' इति विज्ञानोपयोगो युज्यते, न तु प्रतिसमयोच्छेदे । अत्र कारणमाह-येन यस्मात्कारणा-त्पदस्य सावयवत्वात् तत्संबन्ध्येकैकमप्यक्षरं संख्याऽतीतसामयिकम-संख्यातैः समयैर्निष्पद्यत इत्यर्थः । तानि चाक्षराणि संख्यातानि समुदितानि पदं भवति । संख्यातैश्च पदैर्वाक्यमिष्यते, तदर्थग्रहण-परिणामाच्च वाक्यार्थग्रहणपरिणामादित्यर्थः, सर्वक्षणभङ्गज्ञानं भवेत् । तच्चोत्पत्तिसमयानन्तरमेव नष्टस्य समुच्छिन्नस्य मनसोऽयुक्त-मेवेति ॥२४०१।२४०२। २४०३॥

(६) अन्यदपि क्षणभङ्गवादे यन्नोपपद्यते तद्दर्शयति-

तित्ती समो किलामो, सारिक्ख-विवक्ख-पच्चयाईणि ।
अज्झयणं झाणं भावणा य का सव्वनासम्मि ? ॥२४०४॥

तृप्तिर्घ्राणिः, मार्गगमनादिप्रवृत्तस्य खेदः श्रमः, क्लमो ग्लानिः, सादृश्यं साधर्म्यं, विपक्षो वैधर्म्यं, प्रत्ययः प्रत्यभिज्ञानादिः, आदिशब्दात्स्व-र्गहितप्रत्ययनुमार्गणस्मरणादिपरिग्रहः । अध्ययनं पुनः पुनर्ग्रन्थाभ्यासः, ध्यानमेकालम्बने मनःस्थैर्यं, भावना पौनः पुन्येनानित्यत्वादिप्रकारतो मनसोऽनैर्गुण्यपरिभावनरूपा । एतानि सर्वाण्यप्युत्पत्त्यनन्तरमेव वस्तुनः सर्वनाशेऽङ्गीक्रियमाणे कथमुपपद्यन्ते ? इति ॥२४०४॥

यथा च नोपपद्यन्ते तथा दर्शयन्नाह –

अन्नन्नो पइगासं, भुत्ता अंते न सो वि का तित्ती ?।
गंतादओ वि एवं, इय संववहारवोच्छित्ती ॥२४०५॥

'ग्रसु–ग्लसु' अदने । ग्रसनं ग्रासः कवलप्रक्षेपः, ग्रस्यत इति वा ग्रासः कवलः । ततश्च प्रतिग्रासं प्रतिकवलं भोक्ता देवदत्तः क्षणिकत्वादन्यश्चान्यश्च भवति, भोजनक्रियायाश्चान्ते पर्यन्ते सोऽपि भोक्ता सर्वथा न भवति, भुजिक्रियाविशेषणस्याभावे तद्विशिष्टस्य देवदत्तस्यापि सर्वथोच्छेदात् । ततश्चैकस्मिन्नन्त्य-कवलप्रक्षेपे का तृप्तिः, भोक्तुश्चाभावात्कस्याऽसौ तृप्तिः ? एव-मुक्तानुसारेण गन्त्रादीनामपि श्रमाद्यभावः स्वबुद्ध्या भावनीय इति। एवं समस्तलोकव्यवहारोच्छेदप्रसक्तिरिति ॥२४०५॥

अत्र परः प्राह -

जेणं चिय पइगासं, भिन्ना तित्ती अओ चिय विणासो ।
तित्तीए तित्तस्य य, एवं चिय सव्वसंसिद्धी ॥२४०६॥

येनैव यत एव प्रतिग्रासमन्योऽन्यश्च भोक्ता भवति, अपराऽपरा च तृप्तिमात्रा भवति, अत एव तृप्तेः, तृप्तस्य च प्रतिक्षणं विनाशो-ऽभ्युपगम्यते अस्माभिः, विशेषणभेदे विशेष्यस्याप्यवश्यं भेदात्, अन्यथा विशेषणभेदस्याप्ययोगात् । प्रतिक्षणविनाशित्वे तृप्त्या-द्ययोगोऽभिहित एवेति चेत् । तदयुक्तम् । कुतः ? इत्याह–(एवंचिय सव्वसंसिद्धि त्ति) एवमेव प्रतिक्षणविनाशित्व एव सर्वस्यापि तृप्तिश्रमक्लमादेर्लोकव्यवहारस्य संसिद्धिः । इदमुक्तं भवति-तृप्त्यादिवासनावासितः पूर्वपूर्वक्षणादुत्तरोत्त-रक्षणः समुत्पद्यते तावत्, यावत्पर्यन्ते उत्कर्षवन्तस्तृप्त्यादयो भवन्ति । एतच्च क्षणिकत्व एवोपपद्यते न नित्यत्वे । नित्यस्याप्रच्युतानुत्पन्न-स्थिरैकस्वभावत्वेन सर्वदैव तृप्त्यादिसद्भावात्, सर्वदैव तद्भा-वाद्वेति ॥२४०६॥

अत्रोत्तरमाह-

पुव्विल्लसव्वनासे, वुड्ढी तित्ती य किंनिमित्ता तो ?
अह सा वि तेऽणुवत्तइ, सव्वविणासो कहं जुत्तो ? ॥२४०७॥

(तो त्ति) यद्येवं ततः पूर्वक्षणस्य सर्वथा विनाश उत्तरोत्तरक्षणेषु तृप्त्यदीनां या क्रमेण वृद्धिरुत्कर्षवती पर्यन्ते तृप्तिः श्रमादि संभूतिश्च, सा किंनिमित्ता किंकारणा ? इति वक्तव्यम् ? पूर्वपूर्वक्षणेनोत्तररोत्तरक्षणस्य या तृप्त्यादिवासना जन्यते तन्निमित्तेति चेत् । नः तस्यास्तदनर्थान्तरत्वे पूर्वपूर्वक्षणनाशे नाशात् । अथोत्तरोत्तरक्षणेषु साऽनुवर्तत एवेति ते तवाभिप्रायः, तर्हि पूर्वपूर्वक्षणस्य सर्वविनाशः कथं युक्तो वक्तुम्, तदनर्थान्तरभूततृप्त्यादिवासनायाः समनुवर्त्तनात् ? इति ॥२४०७॥

(७) सर्वस्य क्षणिकत्वे दूषणान्तरमप्याह -

दिक्खा व सव्वनासे, किमत्थमहवा मई विमोक्खत्थं ।
सो जइ नासो सव्व-स्स तो तओ किं व दिक्खाए ? ॥२४०८॥

दीक्षा वा क्षणानां सर्वनाशे किमर्थमिति वाच्यम् ? निरर्थिकेयमिति भावः । अथ मोक्षार्थं दीक्षेति परस्य मतिः, तर्ह्यत्रापि वक्तव्यम्-स मोक्षो नाशरूपो वाऽभ्युपगम्यते, अनाशरूपो वा ? तत्र (सो जइ नासो त्ति) स मोक्षो यदि नाशरूप इति पक्षः, (सव्वस्स तो तओ त्ति) ततस्तर्हि तकोऽसौ मोक्षः सर्वस्यापि वस्तुनः स्वरसतः प्रयत्नमन्तरेणापि त्वदभिप्रायेण सिद्ध एव, किं दीक्षाप्रयत्नेन ? इति ॥२४०८॥

अथानाशरूपो नित्यो मोक्षस्तत्राऽऽह–

अह निच्चो न क्खणियं, तो सव्वं अह मई ससंताणो ।
अहउ त्ति तओ दिक्खा, निस्संताणस्स मुक्खो त्ति॥२४०९॥

अथ नित्यो मोक्षः (तो त्ति) ततस्तर्हि 'सर्वं वस्तु क्षणिकम्' इत्येतन्न भवति, मोक्षेणैव व्यभिचारात् । अथ स्व आत्मीयो वि-

ज्ञान-वेदना-संज्ञा-संस्कार-रूपात्मकस्कन्धस्य क्षण-परंपरारूपः सन्तानो नाद्यापि हतः, निःसन्तानस्यैव च मोक्षः, अतो निःसन्तानार्थं दीक्षा विधीयत इति ॥२४०९॥

अत्रोत्तरमाह-

छिन्नेणाछिन्नेण व, किं संताणेण सव्वनट्ठस्स ।
किं चाभावीभूयस्स स-परसंतानचिंताए ? ॥२४१०॥

सर्वनष्टस्य सर्वप्रकारैर्विनाशमापन्नस्य छिन्नेन, अच्छिन्नेन वा सन्तानेन किं प्रयोजनं, येन सन्तानहननार्थं दीक्षां गृह्णीयात् ? किं च-सर्वथाऽभावीभूतस्य क्षणभङ्गुरतया सर्वथा विनष्टस्य किमनया चिन्तया-अयं स्वसन्तानः, अयं तु परसन्तानः, अयं तु न हतः, येनोच्यते-''स संताणो अहउ त्ति तओ दिक्खा'' इति ॥२४१०॥

अथ क्षणिकत्वसाधकपराभिमतप्रमाणमुपन्यस्य दूषणमाह-

सव्वं पयं व खणियं, पज्जंते नासदरिसणाउ त्ति ।
नणु इत्तो चिय न खणिय-मंते नासोवलद्धीओ ॥२४११॥

सर्वं वस्तु क्षणिकं, पर्यन्ते नाशदर्शनात्, पयोवदिति । आहननु यदि वस्तूनां पर्यन्ते नाशो दृश्यते, तर्हि प्रतिक्षणविनाशित्वे किमायातं, येन सर्वं क्षणिकमुच्यते ? सत्यं, किं त्वयमिह तदभिप्रायः-पर्यन्तेऽपि घटादीनां विनाशः तावन्निर्हेतुक एव भवति, मुद्गरादेर्विनाशहेतोरयोगात् । तथाहि-मुद्गरादिना किं घट एव क्रियते, कपालानि वा, तुच्छरूपोऽभावो वा ? इत्यादियुक्तितो विनाशस्य निर्हेतुकत्वं प्रागत्रैव दर्शितम् । ततो निर्हेतुकोऽसौ भवन्नादित एव भवतु, अन्यथा पर्यन्तेऽपि तदभवनप्रसङ्गादिति पर्यन्ते नाशदर्शनाद्धेतोः क्षणिकत्वसिद्धिः । अत्र सूरिराह-नन्वेतस्मादेव पर्यन्ते नाशदर्शनलक्षणाद्धेतोरस्माभिरेतच्छक्यते वक्तुम् । किम् ? इत्याह-न क्षणिकं, न प्रतिक्षणं वस्तु विनश्यतीत्यर्थः, पर्यन्त एव तन्नाशोपलम्धेः, घटादिवत् । न च युक्तिबाधितत्वाद्भ्रान्तेयमुपलब्धिरिति शक्यते वक्तुम्, सर्वेषां सर्वत्रेत्थमेव प्रवर्तनात्, युक्तीनामेवानया बाधनात्, शून्यवादियुक्तिवदिति ॥२४११॥

यदि पुनरादित एव वस्तूनां विनाशः स्यात्, तदा किं भवेद् ? इत्याह -

इहराइउ चिय तओ, दीसेज्जंते व्व कीस व समाणो ।
सव्वविणासे नासो, दीसइ अंते न सोऽन्नत्थ ? ॥२४१२॥

इतरथा यदि प्रतिक्षणं नाशो भवेत्तदा यथा पर्यन्ते सर्वेणाऽपि भवन्नसौ दृश्यते, तथा आदित एव आदिमध्येषु सर्वत्र तकोऽसौ नाशो दृश्यते । अथ पर्यन्तेऽसौ दृश्यते नादि-मध्येषु किं कुर्म्मः? तर्हि प्रष्टव्योऽसि । किम् ? इत्याह-''कीस व'' इत्यादि । किमिति चाऽसौ नाशो वस्त्वभावरूपतया सर्वत्र समानो निरवशेषस्वरूपोऽपि सन् सर्वविनाशे मुद्गरादिना विहिते दृश्यते उपलक्ष्यते अन्ते पर्यन्ते न पुनरन्यत्राऽऽदिमध्येषु सर्वत्र भवताऽभ्युपगतोऽप्यसौ भवन्नुपलक्ष्यत इत्यत्र कारणं वाच्यम्? न पुनः पादप्रसारिका श्रेयस्करीति भावः ॥२४१२॥

अपि च-पर्यन्ते नाशदर्शनरूपस्य हेतोः सिद्धत्वमभ्युपगम्य दूषणमुक्तं यावता जैनानां हेतरप्ययमसिद्धः, पर्यन्तेऽपि घटादीनां सर्वथा नाशानभ्युपगमादिति दर्शयन्नाह-

अंते व सव्वनासो, पडिवन्नो केण जदुवलद्धीओ ।
कप्पेसि खणविणासं, नणु पज्जायंतरं तं पि ॥२४१३॥

यदि वा, भोः क्षणभङ्गवादिन् ! अन्ते पर्यन्तेऽपि मुद्गरादिसंनिधाने घटादिवस्तुनः सर्वनाशः सर्वथा विनाशः केन प्रतिवादिना जैनेनाभ्युपगतो, यदुपलब्धेर्यद्दर्शनावष्टम्भेन त्वं क्षणभङ्गरूपं प्रतिक्षणविनाशं कल्पयसि घटादेः? यदि मुद्गरादिसन्निधाने सर्वविनाशस्तस्य जैनैर्नाभ्युपगम्यते, तर्हि तदवस्थायां घटो न दृश्यते, कपालान्येव च दृश्यन्त इत्येत्किमिष्यते ? इत्याह-''नणु'' इत्यादि। नन्वहो ! मृद्रूपतया अवस्थितस्यैव घटद्रव्यस्य भूतभविष्यदनन्तपर्यायापेक्षया तदपि पर्यायान्तरं, पर्यायविशेष एव कपालानि, न पुनस्तदानीं घटस्य सर्वथा विनाशः, मृद्रूपताया अप्यभावप्रसङ्गात्, तथा च कपालानाममृद्रूपतापत्तेरित्यसिद्धिः पर्यन्ते सर्वनाशस्येति ॥२४१३॥

भवतु वा तत्सिद्धिः, तथाऽपि नातः सर्वव्यापिनी क्षणिकत्वसिद्धिरिति दर्शयन्नाह-

जेसिं व न पज्जंते, विणासदरिसणमिहंबराईणं ।
तन्निच्चब्भुवगमओ, सव्वक्खणविणासिमयहाणी ॥२४१४॥

घटादीनां तावत्पर्यन्ते सर्वनाशदर्शनात्प्रसङ्गेनादित एव प्रतिक्षणनश्वरतां साधयति भवान्, ततो येषामम्बरादीनां व्योमकालदिगादीनां पर्यन्ते विनाशदर्शनं कदाचिदपि नास्ति, तेष्वस्मात्प्रसङ्गसाधनात्प्रतिसमयनश्वरत्वं न सिध्यति । ततस्तेषां नित्यत्वमेवाभ्युपगन्तव्यम् । तन्नित्यत्वाभ्युपगमे च सर्वं 'क्षणिकम्' इति व्याप्तिपरं यन्मतं भवतस्तस्य हानिरघटमानतैव प्राप्नोतीति ॥२४१४॥

(८) भङ्गयन्तरेणापि स्थविरा अश्वमित्रं शिक्षयन्ति। कथम् ?

इत्याह -

पज्जायनयमयमिणं, जं सव्वं विगमसंभवसहावं ।
दव्वट्ठियस्स निच्चं, एगयरमयं च मिच्छतं ॥२४१५॥

पर्यायवादिन एव नयस्येदं मतं यत् त्वं ब्रूषे-सर्वमेव त्रिभुवनान्तर्गतं वस्तु विगमसंभवस्वभावम्-प्रतिक्षणमुपद्यते, विनश्यति चेत्यर्थः। द्रव्यमेवार्थो यस्य न पर्यायः स द्रव्यार्थिकस्तस्य तु द्रव्यार्थिकनयस्य तदेव सर्वं वस्तु नित्यं मतम् । एवं च स्थिते यद्भवानेकतरस्यैव पर्यायनयस्य प्रतिक्षणविनश्वरत्वलक्षणं मतमभ्युपगच्छति तन्मिथ्यात्वमेवेति मुश्चेदमिति भावः ॥२४१५॥

किमित्येतन्मिथ्यात्वम् ? इत्याह -

जमणंतपज्जयमयं, वत्थुं भुवणं व चित्तपरिणामं ।
ठिइविभवभंगरूपं, निच्चानिच्चाइ तोऽभिमयं ॥२४१६॥

यद्यस्मान्नैकान्ततः पर्यायमयं, नाऽप्येकान्तेन द्रव्यरूपं, किं त्वनन्तपर्यायं स्थित्युत्पादविनाशरूपत्वाद् भूभवनविमानद्वीपसमुद्रादिरूपतया त्रिभुवनमिव समस्तमपि वस्तु नित्याऽनित्यादिरूपतया विचित्रपरिणाममनेकस्वरूपं भगवतामभिमतम् । अतोऽस्यैकान्तविनश्वरलक्षणैकरूपाभ्युपगमो मिथ्यात्वमेवेति।

अपि च-

सुहदुक्खबंधमोक्खा, उभयनयमयाणुवट्टिणो जुत्ता ।
एगयरपरिच्चाए, सव्वव्वहारवोच्छित्ती ॥२४१७॥

भावितार्थैवेति ॥२४१७॥

किमित्येकतरपरित्यागे सुखादिव्यवहाराभावः?
इत्याशङ्क्य प्रमाणयन्नाह-

न सुहाइ पज्जयमए, नासाओ सव्वहा मयस्सेव।
न य दव्वट्ठियपक्खे, निच्चत्तणओ नभस्सेव ॥२४१८॥

एकस्मिन्नेव पर्यायनयमतेऽङ्गीक्रियमाणे न सुखादि, जगतो घटत इति प्रतिज्ञा, सुखदुःखबन्धमोक्षादयो न घटन्त इत्यर्थः। उत्पत्त्यनन्तरं सर्वथा नाशादिति हेतुः। मृतस्येवेति दृष्टान्तः। न च द्रव्यार्थिकनयपक्षे केवल समाश्रीयमाणे सुखादि घटते, एकान्तनित्यत्वेनाविचलितरूपत्वात्। नभस इवेति। तस्माद्द्रव्य-पर्यायोभयपक्ष एव सर्वमिदमुपपद्यत इत्ययमेव ग्राह्यः, केवलै-कनयपक्षस्तु दोषलक्षकक्षीकृतत्वात् त्याज्य एवेति।२४१८।

पुनरप्यश्वमित्रमनुकम्पमानाः स्थविरास्तच्छिक्षामाहुः-

जइ जिणमयं पमाणं, तो मा दव्वट्ठियं परिचयसु।
सक्कस्स व होइ जओ, तन्नासे सव्वनासो त्ति ॥२४१९॥

पूर्वदर्शितसूत्रालापकभावार्थमजानन्नपि विभ्रमितचित्ततया तत्प्रामाण्यं पूत्कुर्वाणः किल जिनवचनप्रामाण्यावलम्बिनमात्मानं मन्यते भवान्। तद्यति हन्त! सत्यमेव जिनमतं भवतः प्रमाणं, ततः केवलपर्यायवादितया जिनमताभिमतमपि द्रव्यास्तिकनयं मा परित्याक्षीः, द्रव्यास्तित्वं मा प्रतिषेधयेत्यर्थः। यतो यस्माच्छाक्यस्य बौद्धस्येव तव तन्नाशे द्रव्यस्य सर्वथा विनाशे स्वीक्रियमाणे 'सर्वनाशोऽस्ति' सर्वस्यापि तृप्तिश्रमादेर्बन्धमोक्षादेश्च व्यवहारस्य नाशो भवति, विलोपः प्राप्नोतीत्यर्थः॥२४१९॥

इत्यादियुक्तिप्रबन्धतः प्रज्ञाप्यमानोऽप्यसौ यावन्न किञ्चित्प्रतिपद्यते, ततस्तत्र किं संजातम्? इत्याह-

इय पण्णविओ वि जओ, न पवज्जइ सो कओ तओ बज्झो।
विहरंतो रायगिहे, नाउं तो खंडरक्खेहिं ॥२४२०॥
गहिओ सीसेहिँ समं, एएऽहिमर त्ति जंपमाणेहिं।
संजयवेसच्छन्ना, सज्जं सव्वे समाणेह ॥२४२१॥
अम्हे सावय! जयओ, कत्थुप्पन्ना कहिं च पव्वइया।
अमुगत्थ वेंति सड्ढा, ते वोच्छिन्ना तया चेव ॥२४२२॥
तुब्भे तव्वेसधरा, भणिए भयओ सकारणं च त्ति।
पडिवन्ना गुरुमूलं, गंतूण तओ पडिक्कंता ॥२४२३॥

उक्तार्था एव, नवरं (भणिए भयओ सकारणं च त्ति) तैः खण्डरक्षश्रावकैरेवं पूर्वोक्ते भणिते सति भयतो भयात्सकारणं च सयुक्तिकं च समाकर्ण्यानुशास्तिरूपं तद्वचः प्रतिपन्नास्तेऽश्वमित्रप्रमुखा निह्नवसाधव इति॥२४२०-२४२१-२४२२-२४२३॥ (विस्तरस्तु प्रमाणग्रन्थेभ्यः सम्मत्यादिभ्योऽवसेयः) विशे०। आचा०। नं०। अनु०। अने०। नयो०।

खणेत्तु अव्य० (खनित्वा) खननं कृत्वेत्यर्थे, ''खणेत्तु वा कहेत्तु वा'' आचा०।

खण्ण त्रि० (खन्य) खननीये, खनिविद्यायाम्, वाच०। कल्प०। केनचिद्दते खाते, बृ० ३ उ०। (खण्णमिति) देशीपदम्, सर्वात्मना लूषिते, व्य० १ उ०।

खण्णु पुं०(स्थाणु) ''**सेवादौ वा** ८।२।९९॥ इत्यन्त्यद्वित्वं वा। खणु, खण्णु, शिवे, शाखाशून्यवृक्षे च। वाच०। प्रा० २ पाद।

खत्त पुं० न० (क्षत्र) शस्त्रेणाभिहते करीषविशेषे, ओघ०। पिं०। क्षतात् त्रायते। त्रै-क। ५ त। क्षत्रिये, वाच०। उत्त०। क्षत्रियजातौ, वर्णसङ्करोत्पन्ने च। उत्त० १२ अ०। मुखद्वारे, संधौ, उत्त० ४ अ०। राष्ट्रे, उदके, धने, देहे, तगरे च, न०। वाच०।

खात नं० उभयत्रापि समे गर्ते, प्रज्ञा० २ पद। ज्ञा०।

खत्तखाणय पुं० (क्षत्रखानक) संधिकृच्चौरेषु, ये संधानवर्जितभित्तीः काणयन्ति। ज्ञा० १ श्रु० १८ अ०।

खत्तमेह पुं० (क्षत्रमेघ) करीषसमानरसलोपेतमेघे, भ० ७ श० ६ उ०।

खत्तय त्रि० (खातक) क्षेत्रस्य खानके, चौरे च। ज्ञा० १ श्रु० २ अ०। राहुविमानस्य तृतीये कृष्णपुद्गले, सू० प्र० २० पाहु०। चं० प्र०। भ०।

खत्ता पुं० स्त्री० (क्षत्ता) शूद्रपुरुषेण क्षत्रियस्त्रियां जाते, ऋकारान्तोऽयं शब्दः। आचा० १ श्रु० ४२९ पत्र।

खत्तिखकारपविभत्ति न० (ख इति खकारप्रविभक्ति) खकारा-कृतिनर्तकमण्डलाभिनयात्मके नाट्यविधौ, रा०।

खत्तिय पुं० स्त्री० (क्षत्रिय) क्षतात्त्रायते इति क्षत्रियः। सूत्र० १ श्रु० ६ अ०। क्षणनानि क्षतानि, तेभ्यस्त्रायते इति क्षत्रियः। उत्त० ३ अ०। भ०। सूत्र०। आरक्षके, नि० चू० ५ उ०। क्षत्रस्यापत्यं क्षत्रियः, ''**क्षत्रादियः**'' **।६।१।९३।** इति (हैम०) इयप्रत्ययः। रा०। सामान्यराजकुलीने, औ०। भ० ज्ञा० रा०। इक्ष्वाकुवंश्यादिके, सूत्र० १ श्रु० १३ अ०। श्रीऋषभदेवसजातीये, कल्प० ५ क्षण। श्रीआदिनाथेन प्रजालोकतया स्थापिते, कल्प० २ क्षण। प्रधानप्रकृतौ, कल्प० ७ क्षण। आ० म०। (श्रीऋषभदेवेन कृतस्य उग्र-भौग-राजन्य-क्षत्रिय-चतुष्कसंग्रहस्य मध्ये उग्रादयस्त्रय आरक्षकादय आसन्, शेषाः क्षत्रिया इति 'उसभ' शब्दे द्वि० भागे ११२४ पृष्ठे उक्तम्) राष्ट्रकूटादौ, आचा० २ श्रु० १ अ० २ उ०। श्रेष्ठ्यादौ, ''माहणा अदुव खत्तिया पुच्छंति'' दश० ६ अ०। चक्रवर्त्तिबलदेववासुदेवप्रभृतिषु क्षत्रियेषु, आचा० २ श्रु० १ अ० ३ उ०। सामान्यतो राजोपजीविनि, बृ० १ उ०। नृपात् अपरिणीतायां क्षत्रियजातिस्त्रियां गूढोत्पन्ने पुत्रे च। तस्य पत्नी, ङीष् वा आनुक्। क्षत्रियाणी क्षत्रियी, (आर्यक्षत्रियाभ्यां वा) इति स्वार्थे आनुक् ङीष् च। पत्न्यां तु ङीषेवेत्युक्तं, जातौ तु योपधत्वान्न ङीष्, किंतु टाप्, क्षत्रिया। वाच०।

खत्तियकुंडगाम पुं० (क्षत्रियकुण्डग्राम) मगधदेशे ब्राह्मणकुण्डग्रामात्पश्चिमायां श्रीमहावीरजन्मग्रामे, कल्प० २ क्षण। ''तस्स णं माहणकुंडग्गामस्स णयरस्स पच्छिमे णं एत्थ णं खत्तियकुंडग्गामे णामं णयरे होत्था, वण्णओ तत्थ णं खत्तियकुंडग्गामे णयरे जमाली णामं खत्तियकुमारे परिवसइ।'' भ० ९ श० ३३ उ०।

खत्तियकुंडपुर न० (क्षत्रियकुण्डपुर) ज्ञातानां क्षत्रियाणां आवाससन्निवेशे वीरजन्मपुरे, तच्च ब्राह्मणकुण्डग्रामात् उत्तरस्याम्। ''दाहिणमाहणकुंडपुरसण्णिवेसाओ उत्तरखत्तियकुंडपुर-

संणिवेसंसि णायाणं खत्तियाणं सिद्धत्थस्स खत्तियस्स कासवगोत्तस्स तिसलाए खत्तियाणीए पच्छिमायां'' यथोक्तं पूर्वम्। आचा० ३ चू०।

खत्तियकुल नं० (क्षत्रियकुल) श्रीआदिदेवेन प्रजालोकतया स्थापितानां कुलेषु, कल्प० २ क्षण।

खत्तियपरिव्वायग पुं० (क्षत्रियपरिव्राजक) क्षत्रियो भूत्वा परिव्राजकतां गते, ''अट्ठ खत्तियपरिव्वाययां होंति। तं जहा-सीलई ससिहारे णगई भग्गई तियविदेहे राया रामे वलेति य।'' औ०।

खत्तियपव्वइय पुं० (क्षत्रियप्रव्रजित) चातुर्पर्ये द्वितीयवर्णभूतेषु सत्सु दीक्षामाश्रितेषु, औ०।

खत्तियविज्जा (क्षत्रियविद्या) क्षत्रियाणां धनुर्वेददिकायां सगोत्रक्रमेण आयातायां च विद्यायाम्, सूत्र० २ श्रु० २ अ०।

खद्ध त्रि० (खद्ध) बृहत्प्रमाणे, विशे०। प्रचुरे, खद्धशब्देन सैद्धान्तिकेन प्रचुरमभिधीयते। प्रव० २ द्वार। ओघ०। दशा०। आचा०। प्रभूते, बृ० ४ उ०। ''खद्धं डायं २ सियं २ आहारेत्ता भवइ आसायणा सेहस्स।'' स० ३३ सम०। ''खद्धं २ त्ति चड्डे चड्डे लंबणे'' आव० ४ अ०। ''खद्धं २ ति'' शीघ्रं २ द्विर्वचनमादरख्यापनार्थम्। आचा० २ श्रु० १ अ० ६ उ०।

खद्धपजणण न० (खद्धप्रजनन) बृहत्प्रमाणे मेहने, (शेफे) स्था० ३ ठा० ४ उ०। ओघ०।

खद्धलोह पुं० (खद्धलोभ) प्रभूते अन्नादौ लभ्यमाने लुब्धतायाम्, पञ्चा० १७ विव०।

खद्धाइयण न० (खद्धाद्यदन) प्रचुरादिभक्षणे, प्रव०। खद्धाद्यदने इत्यत्र पदे खद्धशब्देन बहु भण्यते, (अयणे त्ति) अदनमशनमित्यर्थः, ततः खद्धं बहु आदिर्यस्य तत् खद्धादि अदनं 'चड्डचड्डेहिं लंबणेहिं'' खादनमित्यर्थः। आदिशब्दादे डाकादिपरिग्रहोऽत एवाह –'आइसद्दा डागं होइ पुणो पत्तसागं तं,'' प्रव० २ द्वार। आचा०।

खद्धादणीयगिह न० (खद्धादनीयगृह) खद्धम् अदनीयं येषु गृहेषु तानि खद्धादनीयगृहाणि। ईश्वरगृहेषु, नि० चू० ११ उ०।

खपुसा स्त्री० (खपुसा) उपानद्भेदे, ''खपुसा य खलुगमेत्तं'' खल्लुको घुण्टकः, तन्मात्रं यावदाच्छादयन्ती खपुसा। बृ० ३ उ०। नि० चू०।

खप्पर पुं० (कर्पर) कृप् अरन् लत्वाभावः। **''कुब्जकर्परकोलके कः खोऽपुष्पे'। ८। १। १८१।** इति कस्य खः। प्रा० १ पाद। कपाले, घटावयवे, शीर्षोऽर्द्धस्थानि, शस्त्रभेदे, कटाहे च। उदुम्बरे वृक्षे, वाच०। आव०।

खर्पर पृषोदरादित्वात्कस्य खत्वम्। तस्करे, भिक्षापात्रे, भिन्नमृन्मयखण्डे, तुच्छाञ्जने, वाच०।

खव्व पुं० (खर्व–खरव) 'खर्व' गर्वे, अच्। कुबेरनिधिविशेषे, कुब्जकवृक्षे, अन्त्यस्थमध्यः। 'खर्व'गतौ, अच्। वर्ग्यमध्यह्रस्वे, वामने, त्रि०। गर्वसमूहपूरिततनौ, संख्याभेदे, वाच०। अनुन्नते, स्था० ४ ठा० १ उ०। दशगुणितेऽब्जे, कल्प० ६ क्षण।

खव्वड न० (**ख (क) र्व (र्ब) ट**) क्षुल्लकप्राकारवेष्टिते, व्य० १ उ०। जी०। ज्यो०। पर्वतेनाभितः परिवृते वा। सूत्र० २ श्रु० २ उ०। कुनगरे, नि० चू० १२ उ०। बृ०। ग०।

खम त्रि (क्षम) क्षमते इति क्षमः। प्रश्न० सम्ब० ५ द्वार। दृढे, बृ० ३ उ०। समर्थे, अष्ट० ६ अष्ट। तारणसमर्थे, ध० ३ अधि०। सङ्गते, दशा० १० अ०। औ०। युक्ते, पा०। स्था०। आचा०। योग्ये, आव० ०४ अ० ''न वंभयारिस्स खमो निवासो'' उत्त० ३२ अ०। कुशले, विशे०। उचिते, स्था० ३ ठा० ४ उ०। क्षमत्वे, सङ्गतत्वे, ''खमाए भविस्सइ,'' भ० ६ श० ३३ उ०। स्था०।

खमग पुं० (क्षपक) विकृष्टतपस्विनि, जीवा० १२ अधि० ''भिक्खुत्ति वा जभि त्ति वा खमग त्ति वा,'' नि० चू० २० उ०।

खमण नं० (क्षपण) अभक्तार्थे, नि० चू० २० उ०। व्य०। उपवासे, बृ० १ उ०।

क्षमण पुं० क्षमते इति क्षमणः। क्षान्ते, अनु०।

खमणोवसंपया स्त्री० (क्षमणोपसंपत्) चारित्रनिमित्तं गच्छान्तरे क्षपणार्थमुपसंपत्तौ, (अस्याः स्वरूपम् 'उवसंपया' शब्दे द्वि० भा० ६८५ पृष्ठे उक्तम्) नवरमिह स च क्षपको द्विधा–इत्वरो, यावत्कथिकश्च। यावत्कथिक उत्तरकालेऽनशनकर्त्ता। इत्वरस्तु द्विविधः–विकृष्टक्षपकः, अविकृष्टक्षपकश्च। पञ्चा० १२ विव०। नि० चू०। आ० चू०। व्य०। आ० म०।

खमया स्त्री० (क्षमता) क्षाम्यतीति क्षमः तद्भावः क्षमता। अभिग्रहे, पञ्चा० १६ विव०।

खमयाभिग्गह पु० (क्षमताभिग्रह) क्षान्तियार्दवार्जवादौ नियमे, पं० सं० ५ द्वार।

खमा स्त्री० (क्षमा) 'क्षमूष्' सहने, अच्। आव० ३ अ०। **''क्षमायां कौ''। ८। २। १८।** इत्यनेन पृथिव्यां वाच्यायां छः, अन्यत्र तु खः। प्रा० २ पाद। आ० चू०। मर्षणे, स्था० ३ ठा० ३ उ०। क्रोधोपशमे, अष्ट० २६ अष्ट०। संथा०। कल्प०। आव०। क्रोधाभावेन तितिक्षायाम्, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। सत्येतरदोषश्रवणेन कार्यतत्त्वमविचार्यान्तर्बहिश्च कोपोदयात् विक्रियामापद्यमानस्यात्मनो निरोधने, यो० विं०। ''तत्थ खमा अक्कोसणतालणादी अहियासे तस्स कम्मखओ भवति, अणहियासे न तस्स कम्मखओ भवति, तम्हा क्रोधोदयनिरोहो कातव्वो। उदयप्पत्तस्स चाविफलीकरणं एसा खम त्ति वा''। आव० १ अ०। खदिरे, वाच०।

खमाधीसर पुं० (क्षमाधीश्वर) विजयरत्नसूरिपट्टारूढ-विजयक्षमासूरि इति ख्याते तपागच्छीये आचार्ये,

''तत्पट्टोदयशैलसङ्गतरविर्मिथ्यातमस्त्रासने,
भव्याम्भोरुहभासने सुविपुलं ज्ञानास्त्रभारं वहन्।
कुग्राहग्रहतारतारकमिलदोषाविलं पुष्करं,
शोभावद् विदधद् बभूव विजयाच्छीमत्क्षमाधीश्वरः'' ॥१२॥

द्रव्या० १५ अ०।

खमावणया स्त्री० (क्षमापनता) परस्यासंतोषवतः क्षमोत्पादने, भ० १७ श० ३ उ०।

खमावणा स्त्री० (क्षमापना) अपराधक्षामणे, उत्त०।

तत्फलम् -

खमावणयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ? खमावण–

याए णं पल्हायणभावं जणयइ । पल्हायणभावमुवगए य सव्वपाणभूयजीवसत्तेसु मित्तीभावं उप्पाएइ मित्तीभावमुवगए यावि जीवे भावविसोहिं काऊण निब्भए भवइ ॥१७॥

हे भदन्त ! क्षामणया दुष्कृतानन्तरं क्षन्तव्यमिदं मम अपराधं पुनर्न करिष्यामि एतादृशम् इत्यादिरूपया जीवः किं जनयति ? गुरुराह – हे शिष्य ! क्षामणया गुरोरग्रे स्वदुष्कृतनिन्दया। प्रह्लादनभावं चित्तप्रसत्तिरूपं जनयति । प्रह्लादनभावमुपगतो जीवः सर्वप्राणभूतजीवसत्वेषु प्राणाश्च भूताश्च जीवाश्च सत्त्वाश्च प्राणभूतजीवसत्त्वाः, सर्वे च ते प्राणभूतजीवसत्त्वाश्च सर्वप्राणभूतजीवसत्त्वास्तेषु मैत्रीभावमुत्पादयति । मैत्रीभावं गतस्तु जीवो भावविशोधिं कृत्वा रागद्वेषनिवारणं विधाय इहलोकादिसप्तभयानि निवार्य निर्भयो भवति। उत्त० २९ अ०।

खमाविय त्रि० (क्षामित) **''लुगावी क्तभावकर्मसु''** ८ । ३ । १५२। इति णेः स्थाने लुक् आवि इत्यादेशः। लुकि जाते वृद्ध्यभावः। क्षमां कारिते, प्रा० ४ पाद।

खमासमण पुं० (क्षमाश्रमण) 'क्षमूष्' सहने इत्यस्यार्थत्वादडि, अडन्तस्य वा क्षमा, सहनमित्यर्थः। श्राम्यति संसारविषये खिन्नो भवति, तपस्यतीति वा नन्द्यादित्वात्कर्तर्यने श्रमणः। क्षमाप्रधानः श्रमणः क्षमाश्रमणः। ध० २ अधि०। आव०। आ० चू०। क्षमादिगुणप्रधानमहातपस्विनि, पा०। (''इच्छामि खमासमणो वंदिउं'' इत्यादि 'किइकम्म' शब्दे अस्मिन्नेव भागे ५२३ पृष्ठे व्याख्यातम्) देवान् वन्दित्वा भगवन्नित्यादि चत्वारि क्षमाश्रमणानि क्रियासंबद्धान्यन्यथा वा ? तथा पट्टिकप्रभोः क्षमाश्रमणं पृथक् दातव्यं, न वेति प्रश्ने, उत्तरम् – भगवन्नित्यादि चत्वारि क्षमाश्रमणानि क्रियासंबद्धानि सन्ति। तत्र सर्वेऽपि तीर्थकृतो वन्दिताः। अथ ये विशेषतो गुरून् तथा पट्टिकप्रभुं वन्दते तदौचित्यसत्यापनार्थमिति। १४० प्र० सेन० ४ उल्ला०।

खमिय पुं० (क्षामित) क्षामिते, ज्येष्ठोऽपि शैक्षं क्षामयति। कल्प० ६ क्षण।

खम्म पुं० (घर्म्म) **''चूलिकापैशाचिके तृतीयतुर्ययोराद्यद्वितीयौ''** । ८ । ४ । **३२५** । इति घस्य खः। आतपे, प्रा० ४ पाद।

खम्मंत त्रि० (खन्यमान) **''हन्खनोऽन्त्यस्य''** ८ । ४ । २४४ । इति अगत्यस्य द्विरुक्तो मः। विदार्यमाणे, प्रा० ४ पाद।

खय त्रि० (क्षत) क्षतियुक्ते, भाव क्तः। विदारणे, न०। घर्षणे, श्रवद्रक्तपूयादौ व्रणे, वाच०।

***क्षय** पुं०। ध्वंसे, उत्त० ५ अ०। विनाशे, आतु०। सूत्र०। सर्वविनाशे, भ० ११ श० ११ उ०। अवसाये, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ०। राजक्ष्यरोगे, स च क्षयः संनिपातजश्चतुर्भ्यः कारणेभ्यो भवतीति। उक्तं च –''त्रिदोषे जायते यक्ष्मा, गदो हेतुचतुष्टयात्। वेगरोधात् क्षयाच्चैव, कासाच्च विषमाशनात्।'' आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ०। लावकादिपिशिताशिनः किल क्षयव्याधेरुपशमः। आचा० १ श्रु० ६ अ० १० उ०। कर्मण उदयावस्थात्यन्ताभावे, कर्म० ४ कर्म०। स्था०। सूत्र०। प्रश्न०। पूर्णीकरणे, कल्प० १ क्षण। स्था०।

खयनाणि पुं० (क्षयज्ञानिन्) क्षयेण ज्ञानी क्षयज्ञानी। केवलिनि, विपा० १ श्रु० ६ अ०।

खयायार पुं० स्त्री० (क्षताचार) आवश्यकादिषु अनुद्यमेऽवसन्ने, ''ओसन्ने खयायारो'' व्य० ३ उ०। क्षताचारस्य निर्ग्रन्थस्य निर्ग्रन्थ्या वा तादृश्या उपस्थापनादि न कल्पते –

नो कप्पति निग्गंथाणं वा निग्गंथीणं वा णिग्गंथी अण्णगणाओ आगइय खयायारं सबलायारं भिण्णायारं संकिलिट्ठायारं चरित्तस्स अणालोयावेत्ता अपडिक्कमावेत्ता पायच्छित्तं अपडिवज्जावेत्ता उवट्ठावित्तए वा संभुंजित्तए वा संवसित्तए वा तीसे इत्तरयं दिसं वा अणुदिसं ओदिसित्तए वा धारित्तए वा ॥ ६॥

न कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा निर्ग्रन्थी क्षताचारां सबलाचारां भिन्नाचारां सक्लिष्टाचारां, क्षतादीनां शब्दानामर्थः प्राग्वत्। तस्य स्थानस्य अनालोचयित्वा यस्मिन् सेवते सा क्षताचारा भवेत् तत्स्थानमनालोच्य तस्मात्स्थानादपरिक्राम्य तथा तस्य स्थानस्य विषये प्रायश्चित्तमप्रतिपाद्य उपस्थापयितुं वा संभोक्तुं वा संवस्तुं वा तस्याम् इत्वरां दिशमनुदिशं वा उद्देष्टुमनुज्ञापयितुं वाऽपि तस्याः स्वयं धारयितुं कल्पते इत्येष सूत्राक्षरार्थः। व्य० अ०।

सम्प्रति भाष्यविस्तरः। तत्र परप्रश्नावकाशमाह –

जा होइ परिभवंती–ह निग्गया सीयइ कहं स त्ति।
संवासमाइएहिं, सवलिज्जइ उज्जमंता वि॥

या प्रमादिगणं परिभवन्ती धर्मश्रद्धया गृहवासादिह निर्गता, सा कथं सीदति, येन सा क्षताचारादिजाता। अत्र सूरिराह-संवासादिभिः सा उद्यच्छन्त्यपि उद्यमं कुर्वत्यपि शवलीक्रियते। इयमत्र भावना–सा एकाकित्वेन विहरन्ती गृहस्थाभिः समं वसन्ती स्वशक्त्यनुसारेणोद्यमं कुर्वत्यपि छलनां प्राप्नोति। आदिशब्दात् गोचरचर्यायां विचारभूमौ वा यतः सत्येकाकिनी छलनामाप्नुयादिति।

अथैकाकिनी सा कथं जातेत्यत आह –

अद्धाण निग्गयादी, कप्पट्ठिं संभरंति जा वितिया।
आगमणदेसभंगे, चउत्थि पुण मग्गए सिक्खं॥

अध्वनि अवमौदर्येणाऽशिवेन वा निर्गता अध्वनिर्गता, आदिशब्दात् राजद्विष्टेन वा, सार्थेन वा, स्तेनैरभिहते निर्गतेति परिगृह्यते, एषा प्रथमा। द्वितीया 'कप्पट्ठिं' दुहितरं संस्मरन्ती एकाकिनी जाता। तृतीया परचक्रागमनेन देशभङ्गे एकाकिनी। चतुर्थी शिक्षां मृगयमाणा एकाकिनी जाता।

तत्र ''अध्वनिर्गतादीनम्'' व्याख्यानार्थमाह –

गोउडमुगमादीया, नाया पुव्वमुदाहडा।
ओमेऽसिवे रायदुट्ठे, सत्थे वा तेणऽभिद्दुते॥

अवमौदर्ये संयत्यो न संस्तरन्ति। तत्र गोज्ञातं पूर्वमुदाहृतम्, यथा– अल्पं गोब्राह्मणं न हन्ति, तत एतत् ज्ञातमवधार्य या यत्र संस्तरति सा तत्र गच्छति। अशिवे समुपस्थिते उल्मूकज्ञातमुदाहृतं पूर्वं कल्पाध्ययने। यथा–उल्मूकानि बहूनि मिलितानि ज्वलन्ति एकं, द्वे वा न ज्वलतः। एवमशिवमपि बहुषु गाढमुपतिष्ठति नैकस्मिन् द्वयोर्वा। ततो वृन्दघाते एकाकिनी जाता। एताभ्यां प्रकाराभ्यामध्वानं प्राप्ता। तथा–राजद्विष्टेन पूर्वभणितेनैकाकिनी जायते। सार्थे वा स्तेनैराभिद्रुते एकाकिनी जायते। त–

तः सा आचार्योपाध्यायप्रवर्त्तिनीविरहिता निर्धर्मीभूता पार्श्वस्थादिविहारं विहृत्य पुनरपि संवेगमापन्ना कञ्चिदाचार्यमुपाध्यायं गणावच्छेदकं वा दृष्टमुपस्थिता विज्ञपयति–यथाऽहं पार्श्वस्थादिविहारात्प्रतिक्रमामि, ततो मम संग्रहं कुरुत, यावदाचार्यमुपाध्यायं चाऽऽत्मीयं पश्यामि। एवमन्यगणादागतां तस्मात्स्थानादप्रतिक्राम्य न कल्पते उपस्थापयितुं, नापि षड्विधेन संभोगेन यथासंभवमार्यिकाणां संयतानां च संभोक्तुं, नापि यावदात्मीयमाचार्यादिकं न गच्छति तावदित्वर आचार्यः, एषा दिगित्युच्यते। इत्वर उपाध्यायप्रवर्त्तिनी वा दीयते, एषा अनुदिक्। गतमध्वानं प्रतिपन्नादिति।

अधुना ''कप्पट्ठि संभरंति जा वितिया'' इति व्याख्यानार्थमाह –

अन्नत्थ दिक्खिया थेरी, तीसे धूया या अन्नहिं।
वारिज्जंती य सा एज्जा, धूयानेहेण तं गणं॥

अन्यत्र गच्छे स्थविरा माता दीक्षिता। अन्यत्र गच्छान्तरे (तीसे) तस्य दुहिता। ततः सा माता दुहितुः स्नेहेनाऽऽत्मीयानाचार्योपाध्याया-न्पृच्छति–वज्रामि तां दुहितरं द्रष्टुम्। सा वार्यमाणाऽप्याचार्योपाध्या-यैर्निर्गता, एवमेकाकिनी सा जाता। एकाकितया निर्द्धर्म्मीभूता यत्र सा दुहिता दीक्षिताऽस्ति तं गणमागता, दृष्टा दुहिता, संवेगमापन्ना, शेषं प्राग्वत्।

इदानीम्, ''आगमणदेसभंगे'' इत्यादिव्याख्यानार्थमाह --

परचक्केण रट्ठम्मि, विद्दुते वोहिकाइणा।
जहा सिग्घे पणट्ठासु, एय एगाऽसहायिका॥

परचक्रेण बोधिकादिनी विद्रुते अभिहते राष्ट्रे तथा शीघ्रमार्यिकाः प्रनष्टाः, यथा तासु प्रनष्टासु मध्ये सा एका असहायिका जाता, एकाकितया धर्म्मरहिता बभूव। ततो गणान्तरं दृष्टवा पुनः संवेगमापन्ना, शेषमध्वानं प्रतिपन्ना इव वाच्यम्।

अधुना ''चतुर्थी पुनर्मृगयते शिक्षामिति'' व्याख्यानार्थमाह –

सोऊण काइ धम्मं, उवसंता परिणया य पव्वज्जं।
निक्खंत मंदपुन्ना, सो चेव जहिं तु आरंभो॥

श्रुत्वा काचन संविग्नानां पार्श्वे धर्म्मं उपशान्ता प्रव्रज्यां प्रति परिणता च, सा च निष्क्रान्ता पार्श्वस्थादीनां समीपे, ततः सा अचिन्तयत्–यस्मादारम्भात्संयमरूपात् भीताऽहं मन्दपुण्या स एव मे समापतित आरम्भो यस्मादत्राहं प्रव्रजिता वर्त्त इति।

एतदेवाह –

आभीरिं पण्णवित्ताण, गया ते आययट्ठिया।
अह तत्थेतरे पत्ता, निक्खमंति तमुज्झयं॥

आयतो मोक्षस्तत्र स्थिता आयतस्थिता उद्यतविहारिणः संविग्ना इत्यर्थः। ते आभीरीं काञ्चन प्रज्ञाप्यान्यत्र विहारक्रमेण गताः, अथानन्तरं तत्र ग्रामे इतरे पार्श्वस्थादयः प्राप्तास्ते तामुद्यतां निष्क्रामयन्ति, सा चापूर्वप्रकारेणासंयमाद्भीता तत्र समाधिं न लभते।

दट्ठुं वा सोऊं वा, मग्गंती तु पडिच्छिया विहिणा।
संविग्गसिक्ख मग्गइ, पवित्तिणिमायरिय उवज्झं॥

ततः सा मूलधर्म्मग्राहकानाचार्यान् मृगयन्ती दृष्टुं श्रोतुं वा स्नानादिस-मवसरणादौ समागतान् संविग्नाशिक्षां ग्रहणशिक्षामासेवनाशिक्षां च मार्गयति। अन्यां च प्रवर्त्तिनीमन्यमाचार्यन्यं चोपाध्यायं सा चैवं मार्गयन्ती विधिना तैः प्रतीच्छिता स्वीकृता कर्त्तव्या तत्र यत्र ते दृष्टाः श्रुता वा मूलधर्म्मग्राहका यथावत् तैर्विधिना प्रतीच्छनीया।

तदेतदभिधित्सुराह –

ण्हाणाइएसु मिलिया, पव्वावें ति भणंति तेहिं से।
होह व उज्जुयचरणा, इमं व वइणिं वयं नेमो॥

स्नानादिसमवसरणं गतया तया ते मूलधर्मग्राहका आचार्या दृष्टा भवेयुः, श्रुता वा, यथा अमुकग्रामनगरादौ वर्त्तन्ते, ततः स्नानादिसमवसरणे, अन्यत्र वा गत्वा तेषां मिलित्वा शिक्षां प्रवर्त्तिन्यादिकं च याचते, ततो विधिना तस्याः प्रतीच्छनं कुर्वन्ति। तमेव विधिमाह – ते मूलधर्मग्राहका आचार्यास्तस्याः प्रव्राजयतः प्रव्राजकान् आचार्यान् भणन्ति–यूयं वा भवत उद्यतचरणाः, अथवा इमां व्रतिनीं नयाम।

भण्णति पवत्तिणी ते–सिमसति विसज्जेह वतिणिमेतं ति।
विस्सज्जिए नयंती, अविसज्जंतीए मासलहुं॥

तेषां प्रव्राजकानामाचार्योपाध्यायानामसति अभावे, प्रवर्तिनी भण्यते। यथा–एतां व्रतिनीं विसर्जय। एवं भणिते यदि विसर्जयति ततो विसर्जिते विसर्जने कृते नयन्ति, अथैवं भणिताऽपि सती सा प्रवर्त्तिनी न विसर्जयति, तर्हि तस्या अविसर्जयन्त्याः प्रायश्चितं मासलघु। अत्रायं विधि–प्रथमतः सा प्रवर्तिनी संयत्या भण्यते। यथा–विसर्जयेमां साध्वीमिति, एवमुक्ता यदि न विसर्जयति ततो मासलघु।

वसभे न उवज्झाए, आयरिऐं कुलेण वावि थेरेण।
गणथेरेण गणेण व, संघत्थेरेण संघेणं॥
भणिया न विसज्जंती, लहुगादी सोहि जाव मूलं तु।
तीए हरिऊण ततो, अण्णो से दिज्जते उ गणे॥

यदा संयत्या भणितेऽपि सा प्रवर्त्तिनी न विसर्जयति तदा वृषभो गीतार्थः कोऽपि साधुर्गत्वा तामापृच्छति। तत्रापि यदि न विसर्जयति तदा प्रायश्चितं चतुर्लघु। ततो यः साधुरुपाध्यायस्थानं प्राप्तस्तेन सा आपृच्छ्यते, तत्राप्यविसर्जने चतुर्गुरु। ततो यः साधुराचार्यस्थानं प्राप्तः स तामापृच्छति, यदि न विसर्जयति तर्हि तस्याः प्रायश्चितं षड् लघु। ततः कुलेन कुलस्थविरेण सा भणनीया, तत्राविसर्जने षड् गुरु। ततो गणेन गणस्थविरेण वा सा प्रज्ञापनीया। तथाप्यमुत्कलने प्रायश्चितं छेदः, तदनन्तरं सङ्घेन सङ्घस्थविरैण वा सा भणनीया। तथाऽपि चेन्न विसर्जयति तर्हि प्रायश्चित्तं तस्या मूलम्। अन्यच्च यदि सा सङ्घमपक्रामति ततस्तस्याः सकाशात् हृत्वा (से) तस्या अन्यो गणो दीयतेः अन्यस्याः प्रवर्तिन्याः सा समर्प्यत इत्यर्थः।

एमेव उवज्झाए, अविसज्जंते हवंति लहुगा उ।
भण्णंते गुरुगादी, वसभादी जाव नवमं तु।
एमेव य आयरिए, अविसज्जंते हवंति गुरुगा उ।
वसभाइए हि भणिए, छल्लहुगाई उ जा चरमो॥

संयत्या भणितया स्वयं प्रवर्त्तिन्यास्तस्यामविसर्जनायां यदि तस्यामुपाध्यायो न तां भणति–यथा विसर्जयैनां साध्वीमिति, तदा तस्य प्रायश्चित्तं चत्वारो लघुकाः। उपाध्यायातिक्रमणे यद्याचार्यो न भणति–यथेमां विसर्जयेति, तदा तस्यापि प्रायश्चित्तं चतुर्लघु। एवं तावत्प्रवर्त्तिन्यामविसर्जयन्त्यामुक्तम्। इदानीमाचार्यस्योपाध्यायस्य वा अविसर्जयतः प्रतिपाद्यते–एवमेव अनेनैव प्रकारेणोपाध्यायेऽप्यविसर्जयति प्रथमतो भवन्ति चत्वारो लघुकाः। ततो वृषभादिक्रमेण प्रायश्चित्तं वर्द्धमानं तावत् द्रष्टव्यं यावत्पर्यन्ते नवममनवस्थाप्यलक्षणं प्रायश्चित्तम्। आचार्ये प्रथमतो भण्यन्ते गुरुकाश्चत्वारः, ततस्तदधिकं वृषभादिक्रमेण प्रवर्द्धमानं तावदवसेयं यावत्पर्यन्ते चरमं पाराञ्चितम्, इति ॥ इयमक्षरयोजना ॥ भावार्थस्त्वयम्–संयत्याः प्रेषणे प्रवर्त्तिन्याः विसर्जितायामविसर्जितायां वा यद्युपाध्यायो न विसर्जयति तदा तस्य प्रायश्चित्तं चत्वारो लघुकाः। ततोऽन्येन साधुना गीतार्थेन स उपाध्यायो भण्यते, तथाऽप्यमुत्कलने चतुर्गुरु। ततो यः साधुरुपाध्यायस्थानं प्राप्तः स प्रज्ञाप्यते, तथाऽप्यविसर्जने षट् लघु। तदनन्तरमाचार्यस्थानं प्राप्तः साधुः प्रेष्यते तेनाप्यविसर्जने षड् गुरु। ततः कुलेन, कुलस्थविरेण वा भावनीयः, तथाऽप्यविसर्जने छेदः। गणेन, गणस्थविरेण वा भणनेऽप्यविसर्जने मूलम्। सङ्घेन, स्थविरेण वा प्रज्ञापनायामप्यमुत्कलने अनवस्थाप्यम्। तथा संयत्या भणने प्रवर्त्तिन्या विसर्जितायां वा यद्याचार्यो न विसर्जयति, तदा तस्य प्रायश्चित्तं चतुर्गुरुकम्। तदनन्तरं तस्य समीपे वृषभः प्रेष्यते, तथाऽप्यमुत्कलने षड् लघु। तत उपाध्यायस्थानं प्राप्तेन साधुना भणनेऽप्यविसर्जने षड् गुरु। तदनन्तरमाचार्यस्थानं प्राप्तः साधुः प्रेषणीयस्तथाऽप्यमुत्कलने छेदः। कुलेन, कुलस्थविरेण वा भणितेऽप्यविसर्जने मूलम्। गणेन, गणस्थविरेण वा अनवस्थाप्यम्। सङ्घेन, सङ्घस्थविरेण वा पाराञ्चितम्। सङ्घातिक्रमे तस्या गणादपहरणं सङ्घेन।

तथा चाह–

सयहत्थमुंडियं ग–च्छवासिणिं बंधवा विमग्गंती।
अण्णस्स देइ संघो, णाणचरणरक्खणा जत्थ ॥

पार्श्वस्थादिभिः स्वकहस्तमुण्डितां गच्छवासिनीं, पार्श्वस्थादि–गच्छवासिनीं वा बान्धवा उद्यतविहारिणो ये संसारान्निस्तारयन्ति, तान्विमार्गयन्ती अन्वेषयन्ती, अन्यस्याचार्यस्योपाध्यायस्यान्यस्याश्च प्रवर्त्तिन्याः सङ्घो ददाति, यत्र तस्या ज्ञानचरण रक्षणा भवति।

किं ? इत्येवम्। अत आह–

नाण–चरणस्स पव्व–ज्जकारणं नाणचरणतो सिद्धी।
जेँहि नाणचरणवुड्ढी, अज्जाठाणं तहिं वुत्तं ॥

प्रव्रज्याकारणं ज्ञानस्य, चरणस्य च, ज्ञानचरणनिमित्तं प्रव्रज्या प्रतिपद्यते इति भावः। यतो ज्ञानचरणवृद्धिस्तत्रार्याणामार्यिकाणां स्थानमवस्थानमुक्तं तीर्थकरगणधरैः पार्श्वस्थादीनां सकाशे ज्ञानचरणे न, ततस्तेभ्यस्तामपहृत्य सङ्घोऽन्यस्य ददाति।

मुत्तूण इत्थ चरिमं, इत्तरितो होइ ऊ दिसाबंधो।
ओसण्णदिक्खियाए, आवकहाए दिसाबंधो ॥

अत्र एतासु चतसृषु मध्ये, चरमां चतुर्थीं "पुण मग्गए सिक्खं" इत्येवंरूपां मुक्त्वा शेषाणां तिसृणामध्वनिर्गतादिकादीनां दिग्बन्ध इत्वरो भवति। चरमयोः पुनरवसन्नदीक्षिताया यावत्कथिको दिग्बन्धः ॥ व्य० ६ उ०।

नो कप्पति निग्गंयाण वा निग्गंयीण वा अण्णगणातो आगतं खयायारं सवलायारां संकिलिट्ठायारं चरित्तं तस्स ठाणस्स आलोयावेत्ता पडिक्कमावेत्ता पायच्छित्तं पडिवज्जित्ता उवट्ठावित्तए वा संभुंजित्तए वा संवसित्तए वा तीसेइ तिरियादिसि वा अणुदिसि वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा ति वेमि ॥१०॥ व्य० अ० ६ उ०।

एसेव गमो नियमा, निग्गंथाणं पि होइ नायव्वो।
नवरं पुण नाणत्तं, अणवट्ठप्पो या पारंची ॥

एष एवानन्तरोदितो गमः प्रकारो निर्ग्रन्थानामप्यन्यगणादागच्छतां भवति। नियमाद् ज्ञातव्यः, नवरं पुनः प्रायश्चित्ते नानात्वम्, अनवस्थाप्यं, पाराञ्चितं च। इयमत्र भावनायेन प्रव्राजितः स क्षुल्लको, भिक्षुर्वा, स चेत् संयते प्रेषिते न मुत्कलयति तदा तस्य प्रायश्चित्तं चतुर्लघु। ततो वृषभादिक्रमेण प्रायश्चित्तं पूर्वप्रकारेण वर्द्धमानं तावत् द्रष्टव्यं यावत्सङ्घेन, सङ्घस्थविरेण वा भणनेऽप्यमुत्कलने अनवस्थाप्यम्। तथा तस्य साधुना भणनेऽप्यमुत्कलने यद्युपाध्यायस्तं प्रव्राजकं न भणति–यथा विसर्जयैनमिति तदा तस्य प्रायश्चित्तं चतुर्लघु। आचार्यस्याभणने चतुर्गुरु। तथा उपाध्यायः साधुप्रेषण यदि न मुत्कलयति तदा चतुर्लघु। ततो वृषभादिक्रमेण पूर्ववत् वर्द्धमानं प्रायश्चित्तं तावत् द्रष्टव्यं, यावत्सङ्घातिक्रमेऽनवस्थाप्यम्। आचार्यस्य तु चतुर्गुरुकादारभ्य तावद्वक्तव्यं यावत्सङ्घातिक्रमे पाराञ्चितम्, अत्रापि निर्ग्रन्थ्या इव चत्वारो भेदाः।

तथा चाह–

अद्धाण निग्गयादी, कप्पट्ठग संभरंत तो विइतो।
आगमणदेसभंगे, चतुत्थओ मग्गए सिक्खं ॥

प्रथमोऽध्वनिर्गतादिको, द्वितीयः कल्पस्थकं बालकं संस्मरन्। तृतीयः–परचक्रागमनेन देशभङ्गे, चतुर्थः पार्श्वस्थादिदीक्षितः शिक्षां मार्गयति। अमीषां च व्याख्यानं सविस्तरं प्राग्वन्निरवशेषं द्रष्टव्यम्। अत्रापि चरमं मुक्त्वा शेषाणां त्रयाणामित्वरो दिग्बन्धः, चतुर्थस्य तु यावत्कथिकः। व्य० ६ उ०।

सूत्रम्–जे निग्गंथा य णिग्गंथीउ य संभोइया सिया णो कप्पति निग्गंथीणं निग्गंथे अणापुच्छित्ता णिग्गंथिं अण्णगणाओ आगयं खयायारं सबलायारं संकिलिट्ठायारं चरित्तं तस्स ठाणस्स अणालोयावित्ता अपडिक्कमावेत्ता० जाव पायच्छित्तं अप्पमिवण्णा पुच्छित्तए वा वाइत्तए वा उवट्ठावित्तए वा संभुंजित्तए वा संवसित्तए वा तीसे इत्तरियं दिसं अणुदिसं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा ॥१॥ व्य० अ० ७ उ०।

अस्य सूत्रस्य संबन्धमाह–

णिग्गंथीणऽहिगारे, ओसन्नत्ते य समणुवत्तंते।
सत्तमए आरंभो, नवरं पुण दो वि निग्गंथी ॥१॥

निर्ग्रन्थीनामधिकारे अवसन्नत्वे षष्ठोद्देशके चरमसूत्रद्वयादनुवर्त्त–माने, सप्तमे उद्देशके सूत्रद्वयस्यारम्भो भवति। तत्र यथा षष्ठोद्देशके चरमसूत्रद्वये एकस्मिन् सूत्रे निर्ग्रन्थीद्वितीयसूत्रे निर्ग्रन्थ एवमिहापि न। यत आह– नवरं सूत्रद्वयेऽपि द्वे अपि निर्ग्रन्थ्यौ, एवमनने संबन्धेनायातस्यास्य व्याख्या–ये निर्ग्रन्था निर्ग्रन्थ्यश्च सांभोगिकाः स्युस्तेषां मध्ये निर्ग्रन्थीनां न कल्पते निर्ग्रन्थाननापृच्छ्यान्यस्मात् गणादागतां, क्षताचारां संक्लिष्टाचारमर्मीषां शब्दानामर्थः प्राग्वत्। यस्मिन् स्थाने सीदति स तस्य स्थानस्य अनालोच्य अप्रतिक्रम्य प्रायश्चित्तमप्रतिपाद्य प्रष्टुं वा वाचयितुं वा उपस्थापयितुं वा षण्णां संभोगानामन्यतमेन संभोगेन संभोक्तुं वा तस्याम् इत्वरां दिशमाचार्यलक्षणामनुदिशं वा उपाध्यायप्रवर्त्ति-नीलक्षणामुपदेष्टुं वा अनुज्ञातुं, नापि तस्याः स्वयं धारयितुमित्येष प्रथमसूत्राक्षरार्थः।

सम्प्रति भाष्यविस्तरः –

सुत्तं धम्मकहनिमि–त्तमादि घेत्तूण निग्गया गच्छा।
षण्णवणचेइयाणं, पूयं काऊण आगमणं ॥२॥

कस्याप्याचार्यस्य शिष्या, सा, सूत्रम्, उपलक्षणमेतदर्थं च गृहीत्वा, तथा धर्म्मकथाः पठित्वा, निमित्तं चातीतानागतादिकं गृहीत्वा, आदिशब्दाद्विद्यामन्त्रचूर्णयोगांश्च ज्ञात्वा गच्छान्निर्गता। ततः संनिमित्तादिबलेन धर्मकथया च इभ्यादीनामीप्सिता जाता। ततः संस्तवेनानावृन्य चैत्यायतनप्रज्ञापनाश्चैत्यायतनं कारितवती, विपुलं तत्र सत्कारसमुदयमनुभवति। अन्यदा सा महत्तरिका तस्याः संबोधनार्थं विहारप्रत्ययं वा चैत्यमहमुद्दिश्य वा तत्र समागता, सा तस्याः शिष्या परितुष्टा, तत इभ्यगृहेषु विविधान्यशनादीनि वस्त्राणि च महार्हाणि तस्या महत्तराया महत्तरिकया साऽनुशिष्टाकिंसद्याप्यर्ये! पार्श्वस्थेन तिष्ठासि, कुरु संयमे समुद्योगं, स्वयं वा सा उद्यतकामा, एवं तस्यामुपस्थितायां यदि चैत्यानामन्यः शुश्रूषकोऽस्ति ततस्तस्मात्स्थानात्प्रतिक्राम्यते। अथ नास्ति चैत्यानामन्यः शुश्रूषकस्ततो यदितस्मात्स्थानात् प्रतिक्राम्यतां महत्तरिका नयति, तदा चैत्यभक्तिनिमित्तं तस्याः प्रायश्चित्तं चतुर्गुरुकम् ॥५॥

एवं पूजां महत्तरिकायाः कृत्वा महत्तरिकया सह गुरुसन्निधावागमनम्, एतदेवाभिधित्सुराह –

धम्मकहनिमित्तेहि य, विज्जामंतेहि य चुण्णजोगेहिं।
इत्यादि जोसिया णं, संथवदाणे जिणाययणं ॥३॥

धर्म्मकथाभिर्निमित्तैर्विद्यामन्त्रैश्चूर्णयोगैश्च इत्यादि जोषित्वा प्रीणयित्वा संस्तवदाने परिचयकरणे तथाविधप्रज्ञापनया जिनायतनं कारितवती ॥३॥

संवोहणट्ठयाए, विहारवित्ती व जिणवरमहे वा।
महयरिया तत्थ गया, निज्जरणं भत्तवत्थाणं ॥४॥

तस्याः संबोधनार्थं विहारवृत्त्या वा जिनवरमहे वा तस्या महत्तरिका तत्र गता तत्र इभ्यगृहेषु तस्या विविधस्य भक्तस्य महार्हाणां वस्त्राणां निर्जरणं दानं तथा कारितम् ॥४॥

अणुसट्ठ उज्जमंती, व विज्जए चेइयाण सारवए।
पडिवज्जंति अविज्जं–तए उ गुरुगा अभत्तीए ॥५॥

ततः सा महत्तरिकया संयमोद्योगकरणे समनुशिष्टा, स्वयं वा उद्यच्छन्ती वर्तते। तत्र विद्यमाने चैत्यानां सारापके सारकारके तां नेतुं प्रतिपद्यन्ते। अविद्यमाने तु चैत्यसारकारके तस्या नयने अभक्तिनिमित्तश्चत्वारो गुरुकास्तासां महत्तरिकाणां प्रायश्चित्तम् ॥५॥

आगमणं सक्कारं, हिंडंति तहिं विरूवरूवेहिं।
लाभेण सन्नियट्टा, हिंडंती तो तहिं दिट्ठा ॥६॥

एवं सत्कारं संमानं च प्रतिगृह्य गुरुसमीपे आगमनं, ततो लाभेन वस्तुलाभेनोपेताः सन्निवृत्ता विरूपरूपैरन्यदेशसत्कैस्तैर्वस्त्रैः प्रावृतास्तत्र भिक्षां हिण्डन्ते चैत्यवन्दनाय वा व्रजन्ति, तत्र हिण्डमाना वृषभैर्दृष्टा ॥६॥

एतदेव स्पष्टं भावयति –

सक्कारिया य आया, हिंडंति तहिं विरूवरूव्वेहिं।
वत्थेहिँ पाउया ते, दिट्ठा य तहिं तु वसभेहिं ॥७॥

सत्कारिताश्च महत्तराः प्रवृत्तकार्या यत्र गुरवस्तिष्ठन्ति तत्रायातास्तत्र च विरूपरूपैर्नानाप्रकारैर्महार्हैर्वस्त्रैः प्रावृता हिण्डन्ति, ताश्च तत्र हिण्डमाना वृषभैर्दृष्टाः ॥७॥

भिक्खा ओसरणम्मि व, अपुव्ववत्थाउ ताउ दट्ठूणं।
गुरुकहण तासि पुच्छा, अम्हे दिन्ना न वा दिट्ठा ॥८॥

भिक्षायामवसरणे वा अपूर्ववस्त्रास्ता दृष्टवा वृषभा गुरुकथनं कृतवन्तो, वृषभैर्गुरोर्निवेदितम्। तत आचार्येण वृषभा भणिताःपृच्छत ता आर्यिकाः, कुतो युष्माकं तानि वस्त्राणि ? ततो वृषभैस्तासां समीपं गत्वा पृच्छा कर्त्तव्या–यथा आर्याः ! नास्माभिरेतानि वस्त्राणि दत्तानि, नापि केनचिद्दीयमाजानि अस्माभिर्दृष्टानि ॥८॥

न निवेदियं च वसभे, आयरिए दिट्ठ एत्थ किं जायं।
तुम्हे अम्हे निवेयह, किं तुज्झऽहियं नवर दोण्णि ॥९॥
लहुगो लहुगा गुरुगा, छम्मासा होंति लहुग गुरुगा य।
छेदो मूलं च तहा, गणं च हाओ विगिंचेज्जा ॥१०॥

अत्र द्वयोर्गाथयोर्यथासंख्येन पदघटना। सा चैवम्–संयताभिर्यत्किमपि वस्त्रादिकं लभ्यते तत्सर्वं गुरवे निवेदनीयम्, अनिवेदिते प्रायश्चित्तं लघुको मासः। (वसभे इति वृषभे पृच्छके वृषभेण पृच्छायां कृतायां यदि न निवेदयन्ति तदा चत्वारो लघुकाः। आचार्येऽपि पृच्छके यदि न कथयन्ति तदा चत्वारो गुरुकाः। यदि पुनराचार्यैरधिक्षिप्ताः–यथा किं युष्माभिर्न निवेदितानि, तदा यद्धयावृता तदा चतुर्लघुकम्। अथानावृताः सत्यो न कथयन्ति तदा चतुर्गुरुकम्। अथ ता ब्रुवते–यद् भणन्ति तद् दृष्टं स्यात् तदा षण्मासा लघवः। अथाभिदधति–किमत्र जातं यदि न निवेदितम् तदा षण्मासा गुरवः प्रायश्चित्तम्। अथवा भाषन्ते–यूयं किमस्माकं निवेदयत, अत्र प्रायश्चित्तं छेदः। किं युष्माकमस्मदधिकं नवरमावां परस्परं द्वे भ्रातृभाण्डे, एवं तासां ब्रुवतीनां प्रायश्चित्तं मूलम्। तस्याश्च प्रवर्त्तिन्या गणो हृत्वा अन्यस्या दीयते। अथ साऽपि नेच्छति ततोऽन्यस्या दातव्यः अथ साऽपि नेच्छति तर्ह्यन्यस्या दीयते ॥९॥१०॥

एतदेवाह –

अण्णस्सा देंति गणं, अह नेच्छत तो विगिंचते तं पि।
पुणरवि दिंतन्नस्सा, एवं तु कमेण सव्वासिं ॥११॥

अन्यस्या गणमाचार्या ददति गणं हृत्वा तं पूर्वा प्रवर्तिनी

विगिञ्चयेत् परित्यजेत् । पुनरन्यस्या गणं ददति । एवं क्रमेण ससामपि पूर्वस्याः पूर्वस्या अनिच्छायां गणो दातव्यः । सर्वासामनिच्छायां सर्वासां परित्यागः ॥१॥

अथ कस्मात् ता गणं दीयमानं नेच्छन्ति, तत आह –

पवत्तिणिममत्तेण, गीयत्थातो गणं जई ।
धारइत्ता ण इच्छंति, सव्वासिं पि विगिंचणा ॥१२॥

यदि गीतार्था अपि गणं धारयितुं प्रवर्तिनीममत्वेन नेच्छन्ति तदा सर्वासां विगिञ्चना परित्यागः ॥१२॥

चोयग गुरुको दंडो, पक्खेवग चरियसिद्धपुत्तीहिं ।
विसयहरणट्ठया ते–णियं च एयं न नाहिंति ॥१३॥

चोदकः प्राह-प्रवर्तिन्याः तुच्छे अपराधे गुरुको दण्डो दत्तः ? आचार्यः प्राह-अपराधोऽपि तासां गरीयान्, यत् व्याहृताः सत्यो निष्ठुरं भाषन्ते । अन्यच्चता एवमशिक्ष्यमाणा अनापृच्छ्योपधिं गृह्णन्त्यश्चरिकासिद्ध-पुत्रीणां प्रक्षेपमुपचारं विषयनिमित्तहरणार्थ-तया न ज्ञास्यन्ति, नापि कयाचित्सिद्धपुत्रिकया स्तैन्यकरणाय प्रव्रजितया एतत् उत्कृष्टवस्त्रादिकं स्तेनितं न ज्ञास्यन्ति, तस्मादेतच्छिज्ञापननिमित्तमेष गुरुको दण्डः ॥१३॥

एतदेव सप्रपञ्चमाह –

अवराहो गुरु तासिं, सच्छंदेणोवहिं तु जा घेत्तुं ।
न कहंती भिन्ना वा, जं निट्ठुरमुत्तरं वैंति ॥१४॥

अपराधोऽपि तासां संयतीनां गुरुरेव । यतः स्वच्छन्दास्ता उपधिं गृहीत्वा न कथयन्ति । भिन्ना वा ज्ञाता वा सत्योयन्निष्ठुरमुत्तरं ब्रुवते । अन्यश्च अनापृच्छ्य गृह्णन्त्यो विषयहरणार्थतया चरिकासिद्धपुत्रीभिः प्रक्षेपकं न ज्ञास्यन्ति ॥१४॥

एतदेव भावयति –

अवियत्ता निक्खंता, निरोह लावन्नलंकियं दिस्सा ।
विरहालंभे चरिया, आराहणा दिक्खलक्खेण ॥१५॥

काऽपि महेला कुटुम्बिनोऽवियत्ता अप्रीतिमती अहमिति प्रव्रजिता, नवरं संयतीत्वे निरोधेन कुतोऽपि कर्मकरणादीनामर्थाय निर्गमनम्, ततः शरीरस्य लावण्यमुद्भूतं यातं, तां लावण्यालङ्कृतां भिक्षामटन्तीं स भर्त्ता दृष्टवा लोभं गतः, सा चात्मतृतीया भिक्षामटतीति विरहो न विद्यते यत्र तामालपयति, ततः स चरिकां दानसंमानाभ्यामाराधयति । ततश्चरिका ब्रूते-संदिश यन्मया कर्तव्यम् । स प्राह-एतां सतीं तथा कुरुत यथा प्रतिभज्यते, ततः सा दीक्षालक्ष्येण दीक्षाव्याजेनाहं प्रव्रजिष्यमीत्येवं-रूपेण तां संयतीमुपागता ॥१५॥

अहवा अण्णो कोई, रूवगुणुम्माइतो सुविहियाए ।
चरिगाए पक्खेवं, करेज्ज छिद्दं अविंदंतो ॥१६॥

अथ वा कोऽप्यन्योऽविरतः सुविहितायाः संयत्या रूपगुणेनोन्मादित उन्मादं ग्राहितः छिद्रमविन्दन् अलभमानश्चरिकया दानसंमानाभ्यामा-राधितया प्रक्षेपमुपचारं कुर्यात् ॥१६॥

सिद्धा वि कावि एवं, अहवा उक्कोसणंतगा भिन्ना ।
होहं वीसंभेउ य, गहियागहिए य लिंगम्मि ॥१७॥

अथ व चरिकाया अभावे चरिकया प्रयोजनासिद्धौ, काऽपि सिद्धाऽपि सिद्धपुत्रिकाऽपि एवं दानसंमानाभ्यां गृहीत्वा प्रयुज्येत, ततोऽनापृच्छ्या ग्रहणे जानन्त्यस्तास्तमप्युपचारं गृह्णीयुः, तथा च सति महान् दोषः । अथ वा सा सिद्धपुत्रिका तासां संयतीनामुत्कृष्टान्यनन्तकानि वस्त्राणि दृष्टवा भिन्ना वस्त्रग्रहणलोभेन वित्तभक्तिमुपागताभविष्याम्यहं प्रव्रजितेति विश्रभ्य गृहीते अगृहीते च लिङ्गे उत्कृष्टवस्त्राणां स्तैन्यं कुर्यात् ॥१७॥

पर आह -

वीसज्जिय नासिहित्ती, दिट्ठंतो तत्थ घंटलोहेण ।
तम्हा पवत्तिणीए, सारण जयणाऍ कायव्वा ॥१८॥

चोदकः प्राह-नन्वेवं विसर्जितास्ता नङ्क्ष्यन्ति, तस्मान्मा क्रियतामीदृशो गुरुको दण्डः । आचार्यः प्राह-दृष्टान्तस्तत्र घण्टालोहेन । किमुक्तं भवति-यस्मिन्नेव दिने यत्र लोहे घण्टा कृता तल्लोहं तस्मिन्नेव दिने विनष्टम् । एवं यत्र दिवसे ताः स्वच्छन्दतो वस्त्राणि गृहीतवत्यस्त-स्मिन्नेव दिने ता विनष्टाः, यत एते दोषास्तस्मात् प्रवर्तिन्याः सारणा यतनया कर्त्तव्या ॥१८॥

तामेवाह-

धम्मं जई काउ समुट्ठियासिं, अप्पेव दुग्गं तु कुमंसएहिं ।
तदाणि वच्चामो गुरूण पासं, भव्वं अभव्वं च वदंति ते उ ॥१९॥

सा परिव्राजिका, सिद्धपुत्रिका वा यदि संयतानामुत्तिष्ठति, ततः सा प्रवर्तिन्या वक्तव्या, यदि धर्म्मं कर्तुं समुत्थिताऽसि तर्हि संप्रति व्रजामो गुरुणां पार्श्वे यतो भव्यमभव्यं वा ते विदन्ति वयं तु किं जानीमः ।

गुरवः कथं जानन्तीति चेत् आह –

जो जेण अभिप्पाए–ण एति तं भो गुरू वियाणंति ।
पारगमपारग त्ति य, लक्खणतो दिस्स जाणंति ॥२०॥

यो येनाभिप्रायेण समागच्छति तत् भोः ! गुरवो विजानन्ति । तथा प्रव्रज्याग्रहीतुकामं दृष्टवा लक्षणत एतत् जानन्ति, यथा-एष प्रव्रज्यायाः पारगो भविष्यत्येषोऽपारग इति ॥२०॥

तथा –

पत्ता पोरिसिमादी, छाया मुव्वाय वत्थु साहंति ।
चोदेति पुव्वदोसे, रक्खंती नाउ से भावं ॥२१॥

प्राप्ता पौरुष्यादिकं प्रथमपौरुष्यादिकं गुरवे निवेदनीया । तथा (छाता) बुभुक्षिता, उद्घाता परिश्रान्ता, तथा उषिता, एतदपि संयत्यो गुरूणां कथयन्ति । गुरुश्च पूर्वदोषान् चोदयति । तथा (से) तस्या दीक्षितायाः भावमभिप्रायं द्रष्टुं ज्ञात्वा गुरवो रक्षयन्ति ॥२१॥

साम्प्रतमेनामेव विवरीषुः प्रथमतः प्राप्तपौरुष्यादिकमिति विवृणोति–

जा जीऍ होति पत्ता, नयंति ता तीऍ उ गुरुसमीवे ।
छाउव्वायनिमित्तं, वितिया तइयाऍ चरमाए ॥२२॥

यस्यां पौरुष्यां संयतीनां पार्श्वे प्राप्ता भवति, तस्यां पौरुष्यां संयत्यो गुरुसमीपं नयन्ति । अथ सा छाता, उद्घाता वा, तर्हि तन्निमित्तं तेन कारणेन तस्यां तु द्वितीयस्यां, तृतीयस्यां, चरमायां वा गुरुसमीपं नीयते, नीत्वा च छातादिकं सर्वं कथ्यते । एतेन छातोद्घातेति व्याख्यातम् ॥२॥

साम्प्रतम् ''उषिता'' इति भावयति –

चरमाऍ जाव दिज्जइ, भत्तं विस्सामयंति णं जाव ।

ता होइ निसा दूरं, च अंतरं तेण वुच्छम्मि ॥२३॥

चरमायां पौरुष्यां समागतायां, सा च छाता, ततो यावत् तस्यां चरमायां पौरुष्यां भक्तं दीयते, भक्तानन्तरं च संयत्यस्तां विश्रामयन्ति, तावन्निशा भवति दूरं वा गुरूणामुपाश्रयात्तेन सा तत्रैव संयतीनामुपाश्रये उषिता, प्रभाते च गुरूसमीपे नेष्यते ॥२३॥

नाहिंति समं ते ऊ, काई नासेज्ज अप्पसंकाए।
जा उ न नासेज्ज तहिं, तं तु गयं वेंति आयरिया ॥२४॥

प्रभाते हि गुरुसमीपे नेष्यते, ते तु गुरवो मां ज्ञास्यन्ति, इति विचिन्त्य काचिदात्मशङ्कया नश्येत् । या तु न नश्यति, तां तत्र गुरूपाश्रये गतामाचार्याणां संयत्यः कथयन्ति, यथैषाऽस्माकमुपाश्रयेऽनेन कारणेनोषिता। एतेन ''वुच्छ साहंतीति'' व्याख्यातम् ॥२४॥

एवं कथिते आचार्यास्तां ब्रुवते। किम् ? इति आह –

नहु कप्पइ दूती वा, चोरी वा अम्ह काइ इति वुत्ते।
गुरुणा नायामि अहं, पवज्ज नाहं ति वा बूया ॥२५॥

(नहु) नैव कल्पते दूती चौरी चास्माकं काचित्तु दीक्षयितुम् इति गुरुणोक्ते-ज्ञाताऽहमिति विचिन्त्य ब्रजेत्, यदि वा ब्रूयान्नाहं तादृशीति। एतेन पूर्वदोषान् चोदयतीति व्याख्यातम् ॥२५॥

संप्रति ''रक्खंति नाउ से भावमिति'' व्याख्येम्। तत्र कथं तस्या भावं लक्षयन्ति ? इत्यत आह –

अतिसयरहिया थेरा, भावं इत्थीण नाउ दुण्णेयं।
वेंति इमं जयणाए, रक्खह से लक्खऽभिप्पायं ॥२६॥

अतिशयरहिता अपि स्थविराः स्त्रीणां दुर्विज्ञेयं भावमिङ्गिताकारकुशलतया ज्ञात्वा वदन्ति-एतामुत्पथपरां यत्नेन रक्षत, लक्षयत च (से) तस्या अभिप्रायम्।

कथं लक्षयन्ति ? इत्यत आह -

उच्चार भिक्खे अद्भुवा विहारे,
थेरीहि जुत्तं गणिणीउ पेसे।
थेरीण असती तु अतव्वयाहि,
ठावंति एमेव उवस्सयम्मि ॥२७॥

यदा सा ब्रूते-नाहं तादृशीति, तदा तस्या उपरिस्थितेन लिङ्गमात्रं समर्पितम्, तत उच्चारभूम्यां भिक्षायमथवा विहारे गणिनी प्रवर्तिनी, तां स्थविराभिर्युक्तां प्रेषयेत्, स्थविराणामभावे अतद्वयाभिस्तस्याः सकाशात् या याः क्षुल्लकतरास्तरुण्यस्ताभिः समुच्चारभूम्यादिषु प्रेषयति; एवमेव प्रथमतः स्थविराभिः, तासामभावे असदृशवयोभिरित्यर्थः, उपाश्रये स्थापयति ॥२७॥

कइयविया उ पविट्ठा, अत्थति छिद्दं निलिच्छंती।
विरहालंभे अहवा, भण्णइ इणमो तहिं सा उ ॥२८॥

कैतविका कैतववती प्रविष्टा सती सा तत्र छिद्रं निरीक्षमाणा तिष्ठति। अथवा विरहालाभे तत्र सा इदं भणति ॥२८॥

किं तद्भणति ? इत्यत आह -

अविहामाऽहं अव्वो ! मा संपस्सेज्ज नीयवग्गो वा।
तं दाणि चेइयाइं, वंदइ रक्खामहं वसहिं ॥२९॥

पाक्षिकादिषु आर्यिकाश्चैत्यवन्दनार्थं प्रस्थिता अवलोक्य सा शैक्षी ब्रूते-'अव्वो' इति संबोधने, अहमविघाटा अविकटा वर्ते, यदि वा मा मां प्रव्रजितां निजवर्गः पश्येत्, ततः स व्रतात् त्याजयेत्, तस्मादिदानीं यूयं चैत्यानि वन्दध्वमहं वसतिं रक्षामि, एवमुक्ते एकया तरुण्या सह प्रतिश्रयपालिका स्थापिता, ततो गतास्वार्यिकासु सा शैक्षा तरुणीमार्यिकां ब्रूते ॥२९॥

उव्वण्णो सो धणिय तुज्झ धवो जो तयासि नित्तण्हो।
वभिचारिं उव्वण्णो, इति नाते विगिंचणा तीसे ॥३०॥

तव धवो भर्त्ता यस्तदा निसृष्ट आसीत्, स इदानीं 'धणियं' अत्यर्थं तव विषये 'उव्वण्ण' उत्कण्ठितः । अथवा-अन्यः कोऽपि व्यभिचारी पारदारिकः संयतीं प्रार्थयामास, तां प्रव्रज्याव्याजेन व्यापारितवान्। तत एवं विरहं ज्ञात्वा ब्रूयात्-को वा तरुणो रूपादिगुणोपेतस्तवानुगोऽनुरूपो वर्तते, स तव समागममिच्छति। एवं तस्या भावे ज्ञाते विगिञ्चना परित्यागः कर्त्तव्यः ॥३०॥

अथ वा काचित् सिद्धपुत्रिका वा, अन्या वा, संयतीनां वस्त्राद्यपहर्तुकामा निष्क्रमणव्याजेन प्रविष्टा चैत्यवन्दनार्थं गतास्वार्यिकासु तरुणीक्षुल्लकाः प्रतीदं ब्रूते -

पारावयादियाइं, दिट्ठा णं नासि यंऽतगाणि मए।
तुब्भं नत्थिहि तिरिहे, वुत्ता खुड्डीउ दंसंति ॥३१॥

पारापतादिकानि, आदिशब्दात् पुण्ड्रवर्द्धनकादिपरिग्रहः, न मयाऽनन्तकानि वस्त्राणि दृष्टानि। णमिति वाक्यालङ्कारे, तत् किं युष्माकं महत्तरिकायाः पार्श्वे तानि न सन्ति, एवमुक्तास्ताः क्षुल्लकाः तुच्छतयाऽस्माकं महत्तरिकायाः परिभवो भूयादिति कृत्वा दर्शयन्ति ॥३१॥

कानि कानि ? इत्यत आह –

कोट्टंब तामलित्तिग, सिंधवए कासिण जुंगिए चेव।
बहुदेसिए य अन्ने, पेच्छसु अम्हं खमज्जाणं ॥३२॥

कोट्टम्बानि गौडदेशोद्भवानि, तामलित्तिकानि सैन्धवानि, अन्यानि च बहुदेशिकानि कृत्स्नानि परिपूर्णानि जुङ्गितानि खण्डीकृतानि अस्माकं क्षमार्याणां क्षमाप्रधानानामार्याणां, प्रवर्त्तिन्या इत्यर्थः, प्रेक्षस्व वस्त्राणीति ॥३२॥

उपसंहारमाह –

सच्छंद गेण्हमाणी, होंति दोसा जतो उ इच्चाती।
इइ पुच्छिउं पडिच्छा, न तासिं सच्छंदया सेयं ॥३३॥

स्वच्छन्दत उपधिं शिक्षां वा गृह्णतीनां संयतीनां यत इत्यादय एवमादयो दोषा भवन्ति, इत्यस्मात्कारणात् गुरूनापृच्छ्यं उपधेः शिष्याया वा प्रतीच्छा ग्रहणं, न तु स्वच्छन्दता तासां श्रेयसी ॥३३॥ व्य० ७ उ०।

जे णिग्गंथा णिग्गंथीओ य संभोइया सिया कप्पति णिग्गंथीणं णिग्गंथे आपुच्छित्ता णिग्गंथिं अण्णगणाओ आगयं खयायारं सवलायारं भिण्णायारं संकिलिट्ठायारं तस्स ठाणस्स आलोयावेत्ता पडिक्कमित्ता० जाव उवट्ठावित्तए वा संभुज्जित्तए वा संवसित्तए वा तीसे इत्तरियं दिसं वा अणुदिसं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा ॥२॥ जे निग्गंथा य णिग्गंथीओ य संभोइया सिय कप्पति निग्गंथाणं निग्गंथीओ य आपुच्छित्ता णिग्गंथिं अण्णगणाओ आगयं खयायारं० जाव तस्स ठाणस्स आलोयावेत्ता पडिक्कमि-

त्ता० जाव उवट्ठावित्तए वा संभुंजित्तए वा संवसित्तए वा तीसे इत्तरियं दिसं वा अणुदिसं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा तं च णिग्गंथीओ णो इच्छेज्जा, सेहिमेव णियं ठाणं ॥३॥ व्य० अ० ७ उ०।

अस्य सूत्रस्य संबन्धमाह–

अत्थेण गंथतो वा, संबंधो, सव्वहा अपडिसिद्धो।
सुत्तं अत्थमवेक्खति, अत्थो वि न सुत्तमतियाति ॥३४॥

अर्थतो ग्रन्थतश्च संबन्धोऽप्रतिषिद्धः सर्वथा यतः सूत्रमर्थमपेक्षते। अर्थेऽपि च निर्ग्रन्थीनामधिकारे सूत्रमिदं प्रवृत्तमतः सूत्रतोऽर्थतश्च संबन्धोऽस्तीति न किंचिदनुपपन्नम् ॥३४॥

नदिसोयसरिसओ वा, अहिगारो एस होई दट्ठव्वो।
छट्ठाणंतरसुत्ता, समणीणमयं तु जा जोगे ॥३५॥

अथ वा षष्ठोद्देशके चरमानन्तरसूत्रद्वयादारभ्य एषोऽधिकारो नदीस्रोतःसदृशो द्रष्टव्योऽयं तु योगस्तावद्यावत् श्रमणीनामधिकारः ॥३५॥ अनेन संबन्धेनायातस्य व्याख्या। कल्पते निर्ग्रन्था निर्ग्रन्थीरापृच्छ्य अनापृच्छ्य वा निर्ग्रन्थीमन्यगणादागतां क्षताचारां संक्लिष्टाचारचरित्रं तस्मात्स्थानात् आलोच्य प्रतिक्रम्य प्रायश्चित्तं प्रतिपाद्य प्रष्टुं वा वाचायितुं वा उप स्थापयितुं वा संभोक्तुं वा संवस्तुं वा तस्या इत्वरां दिशमाचार्यलक्षणमनुदिशमुपाध्यायलक्षणां च उद्देष्टुं वा धारयितुं वा ता च निर्ग्रन्थ्यः सांभोगिक्यो वा नेच्छेयुस्तर्हि (सेहिमेव नियं ठाणं) निजमात्मीयं स्थानं प्रतिगमयतामपि तां परित्यजतामपीति भावः। निर्दोषस्त्वां प्रति सिद्धिरेव न कश्चनापि दोष इति सूत्र संक्षेपार्थः। (२-३)

सम्प्रति भाष्यविस्तरः-

संविग्गाणुवसंती, आभीरी दिक्खिया य इतरेहिं।
तत्थाऽऽरंभं दट्ठुं, विपरिणमति-तरे व दिट्ठा उ ॥३६॥

काचित् आभीरी संविग्नानां समीपे धर्मं श्रुत्वा उपशान्ता। ते च संविग्ना अन्यत्र विहृताः। इतरे असंविग्नाः समागताः। तैः सा आभीरी दीक्षिता। तेषां वा असंविग्नानामारम्भं रन्धनादिकं दृष्टवा सा विपरिणमति। विपरिणामे च तस्या अभिप्रायो जातस्तेषामेव संविग्नानां समीपमुपगच्छामि। एवं चिन्तयन्त्या यया से इतरे संविग्नाः स्नानादिसमवसरणे दृष्टाः श्रुता वा। यथा अमुकस्थाने तिष्ठन्ति ॥३६॥

तइ चेव अब्भुवगया, जह छट्ठुद्देस वण्णिया पुव्वं।
अविसज्जंताणं पि य, दंडो तह चेव पुव्वुत्तो ॥३७॥

सा तत्र गता यत्र ते संविग्नाः गत्वा श्रुत्वा च ग्रहणशिक्षासेवनाशिक्षामन्यमाचार्यमन्यमुपाध्यायमन्यां च प्रवर्तिनीं यावत्ते एवमुक्ते यथैव षष्ठोद्देशे-चतुर्थी ''मग्गए सिक्ख'' मित्यर्थः पूर्वं वर्णिता, तथैव एषामविसंविग्नैरभ्युपगता। यथा विसर्जयतां प्रवर्तिन्युपाध्यायाचार्याणां पूर्वं च दुःप्रायश्चित्त दण्डस्तथैयात्रापि दृष्टव्यः ॥३७॥

तं पुण संविग्गमणं, तत्थाऽऽणीयं तु जइ न इच्छेज्जा।
नियग तो संजईउ, ममकाराईहिँ कज्जेहिं ॥३८॥

तां पुनः संविग्नमानसां तत्रानीतां यदि निजकाः संयत्यो मडकारादिभिः कार्यैर्नेच्छेयुः ॥३८॥

तान्येव 'ममकारादीनि' कारणान्याह –

पासत्थमडत्तेणं, पगती विस्सा अचक्खुकंता य।
गुरुगणतण्णीयस्स व, नेच्छंती पाडिसिद्धीतो ॥३९॥
ओमाणं नो काहिति, सिंखलबद्धा व तलो सव्वातो।
मा होहिइ सागरियं, सीयंति व उज्जुयं नेच्छे ॥४०॥

यस्याः सा शिष्या तया सह तासां मैत्री ततो मा ते पार्श्वस्थाः अस्माकमुपरि मन्युं कार्षीरिति, पार्श्वस्थममत्वेन नेच्छन्ति। अथ वा सा कर्मानुभावतः प्राकृत्या प्रायः सर्वजनस्यापि द्वेष्या। यदि वा पूर्वभवानुभावत एकस्याः प्रवर्तिन्या अचक्षुःकान्ता। अथ वा सा प्रवर्तिनी आत्मीयस्याचार्यस्य विषये केनाऽपि कारणेनु कुपिता वर्तते, यदि वा गणस्य गच्छस्योपरि, एतद्वाचार्यो न जानाति। यद्वा तस्याः संयत्या यो निजवर्गस्तस्य विषये प्रवर्तिन्याः प्रतिसिद्धिः प्रतिस्पर्द्धता विद्यते ॥३९॥ अथ वा ताः सर्वा अपि संयत्यः शृङ्खलाबद्धाः परस्परं स्वजनाः ततो नोऽस्माकमपमानमेषा करिष्यति। तस्मान्मा सागारिकं भवतु। यदि वा ताः सीदन्ति तद्वाऽऽचार्या न जानन्ति। सा च धर्मश्रद्धया पार्श्वस्थाविग्रहायान्यत्र समागता साऽस्माकं सागारिकीतिकारणैस्तामुद्यतामपि नेच्छन्ति ॥४०॥

अत्र प्रायश्चित्तविधिमाह -

भणिय वसभामिसेए, आयरिय कुले गणेण संघेण।
लहुगादि जाव मूलं, अण्णोसि गणो य दायव्वो ॥४१॥
एवं पुव्वगमेणं, विगिंचणं जाव होइ सव्वासिं।
देवगण मणुण्णीणं, अमणुण्ण चउण्हमेगयरं ॥४२॥

वृषभैरानीतां यदि पूर्वकारणैस्तां नेच्छन्ति तदा गणं प्रायश्चित्तं चतुर्लघु। अभिषेक उपाध्यायस्तेन ताः संयत्यो भणनाय प्रतीच्छते मा संयतीति तथापि चेन्नेच्छति चतुर्गुरु। एवमाचार्येणापि भणनेऽनिच्छायां षड् लघु। कुलेन षड्गुरु, गणे छेदः। सङ्घेन मूलम्। तथाचाह–लघुकादि चतुर्लघ्वादि प्रायश्चित्तं क्रमेण तावत् द्रष्टव्यं यावन्मूलं सङ्घभणनेऽप्यनिच्छायां प्रवर्तिन्या गणोऽपहियते अन्यस्या गणो दातव्यः। अथ सा प्रवर्तिनी ममत्वेन गणं नेच्छति तर्ह्यन्यस्या दीयते ॥४१॥ एवं पूर्वगमेन (विगिंचणं) परित्यजनं, तावत् द्रष्टव्यम् यावत् सर्वासामपि भवति। ततो यस्तस्याचार्यस्य द्वितीयो गच्छः तत्र नीयते। तत्राऽपि यदि तथैव ता नेच्छन्ति। ततोऽन्यगच्छसक्ताः साम्भोगिक्यः संयत्यस्तासां दीयते। ता अपि यदि नेच्छेयुस्तर्हि अन्यसाम्भोगिकानां दीयते। तथा चाह–अन्यासां मनोज्ञानाममनोज्ञानां च सर्वसंख्यया चतसृणामेकतरं स्थानं ददाति। तत्र प्रथमं स्थानमात्मीयाः संयत्यः द्वितीयं गच्छवर्त्तिन्यः। तृतीयमन्याः साम्भोगिक्यः। चतुर्थममनोज्ञाः। अथ वा अन्यथा चतुर्णामेकतरमिति व्याख्यायते ॥४२॥

समणुण्णमणुण्णाणं, संजय तह संजतीण चउरो य।
पासत्थममत्तादि व, अद्धाणादि व्व जे चउरो ॥४३॥

समनोज्ञानां संयतानां समुदाय एकं स्थानम्। समनोज्ञानां संयतीनां चतुर्थम्। एवमेतानि चत्वारि स्थानानि। एतेषामेकतरं समनोज्ञसंयतीनामात्मतृतीयानाम्, द्वितीयं गच्छवर्त्तिनीनामन्य गच्छवर्त्तिनीनां वा स्थानं दीयते। तदभावे अमनोज्ञसंयतीनामपि। अथ वा-पार्श्वस्थममत्वं, प्रकृत्या सर्वजनद्वेष्या प्रवर्त्तिन्या

वा, अचक्षुष्कान्तो, गुर्वादिप्रतिस्पर्द्धता, वा प्रवर्त्तिन्या एतानि यानि चत्वारि कारणानि एतेषामेकतरत्कारणमधिकृत्यान्यसांभोगिकीनाम-सांभोगिकीनां च दीयते । अथ वा अध्वनिर्गतादिका, दुहितरं वा संस्मरन्ती, परचक्रागमनेन देशभङ्गे वा, शिक्षां वा मृगयमाणा एत याः चतस्रस्तासामेकतरामन्यसाम्भोगिकीनां दातव्या ॥४४॥

यघन्यसाम्भोगिक्योऽपि नेच्छन्ति तदा किं कर्त्तव्यम् ? इति आह–

'सेहि त्ति नियं ठाणं,' एवं सुत्तंमि जं तु भणियमिणं ।
एवं कयप्पयत्ता, ताहे य ताउ ते सुद्धा ॥४४॥

एवमसाम्भोगिकीनामप्यनिच्छायां यत्सूत्रे भणितं (सेहिमेव नियं ठाणमिति) तत्कर्तव्यमस्यायमर्थ एवं कृतप्रयत्ना अपि यदा संयत्यो नेच्छन्ति तदा ते तां मुञ्चन्तोऽपि शुद्धाः ॥४४॥ व्य० ६ उ० ।

खर न० (क्षर) क्षरति स्यन्दते मुञ्चति वा अच । जले, मेघे, पुं० । चले, त्रि० । देहे, वाच० । आ० म० ।

***खर** पुं० । खं मुखविलमतिशयेनास्ति अस्य खरः । गर्दभे, वाच० । व्य० । जी० । औ० । विष्ठाभक्षकगर्दभे, तं० । अश्वतरे, राक्षसभेदे, कण्टकवृक्षे, अजयकाके, अजयपालकङ्कविहगे, कुररपक्षिणि, धर्मे, वाच० । दासे, बृ० २ उ० । स्तब्धतादिकारणे दृषदादिगते चतुर्थे स्पर्शे, कर्म० १ कर्म० । निष्ठुरे, स्था० ४ ठा० ३ उ० । कठिने, आव० ५ अ० । परुषे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । ज्ञा० । खरस्थानरूपे गेयदोषे, ''केसी गायइ खरं च रक्खं च'' स्था० ७ ठा० ।

खरट न० खरण्ट । खरण्टयति छेण्दन्तं करोतीति एत् तत् खरण्टम् । अशुच्यादौ, स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

खरंटण न० खरण्टन । निर्भत्सने, व्य० १ उ० । प्रवचनोपदेशपूर्वकं परुषभणने, ओघ० ।

खरंटसमाण पुं० खरण्टसमान । अशुच्यादितुल्ये श्रमणोपासके, यो हि कुबोधापनयनप्रवृत्तं संसर्गमात्रादेव दूषणवन्तं करोति । कुबोधकुशीलता दुःप्रसिद्धिजनकत्वेनोत्सूत्रप्ररूपकोऽयमित्यसद्दूषणोद्भावकत्वेन चेति । स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

खरकंट न० खरकण्ट । खरा निरन्तरा निष्ठुरा वा कण्टका यस्मिंस्तत्खर-कण्टम् । वव्वुलादिडाले, 'खरणमिति' लोके यदुच्यते । स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

खरकंटसमाण पुं० खरकण्टसमान । खरकण्टं खरणं तच्च विलग्नं चीवरं न केवलमविनाशितं न मुञ्चति अपि तु तद्विमोचकपुरुषादिहस्तादिषु कण्टकैर्विध्यति तत्समानः । श्रमणोपासकभेदे, यो हि प्रज्ञाप्यमानो न केवलं स्वाग्रहान्न चलति अपि तु प्रज्ञापकं दुर्वचनकण्टकैर्विध्यति । स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

खरकंड न० खरकाण्ड । खरं कठिनं काण्डम् । रत्नप्रभायाः प्रथमे काण्डे, जी० ।

तच्च षोडशविधम्–

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए खरकंडे कतिविधे पण्णते? गोयमा ! सोलसविधे पण्णत्ते तं जहा–रतणकंडे, वइरे, वेरुलिए, लोहितक्खे, सारगल्ले, हंसगब्भे, पुलए, सोइंधिए, जोतिरसे, अंजणे, अंजणपुलए, रयते, जातरूवे, अंके, फरिहे, रिट्ठे, कंडे । इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए रयणकंडे कतिविहे पण्णत्ते? गोयमा ! एगागारे पण्णत्ते । एवं जाव रिट्ठे कंडे ॥

''इमीसे णं भंते !'' इत्यादि । अस्यां भदन्त ! रत्नप्रभायां पृथिव्यां खरकाण्डं कतिविधं प्रज्ञप्तम् ? भगवानाह–गौतम ! षोडशविधं षोडशविभागं प्रज्ञप्तं तद्यथा–'रयणे' इति पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् रत्नकाण्डं तच्च प्रथमं, द्वितीयं वज्रकाण्डं, तृतीयं वैमूर्यकाण्डं, चतुर्थं लोहिताक्षकाण्डं, पञ्चमं सारगल्लकाण्डं, षष्ठं हंसगर्भकाण्डं, सप्तमं पुलककाण्डम्, अष्टमं सौगन्धिककाण्डं, नवमं ज्योतीरसकाण्डं, दशममञ्जनककाण्डम्, एकादशम् अञ्जनपुलाककाण्डं, द्वादशं रजतकाण्डं, त्रयोदशं जातरूपकाण्डं, चतुर्दशम् अङ्ककाण्डं, पञ्चदशं स्फटिककाण्डं, षोडशं रिष्टकाण्डं, तत्र रत्नानि कर्केतनादीनि तत्प्रधानं काण्डं रत्नकाण्डं वज्ररत्नप्रधानं काण्डं वज्रकाण्डम् एवं शेषाण्यपि एकैकं च काण्डं योजनसहस्रबाहुल्यम् । जी० ।

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए खरकंडे केवतियं बाहल्लेणं पण्णत्ते ? गोयमा ! सोलसजोयणसहस्साइं बाहल्लेणं पण्णत्ते ।

''इमीसे णं भंते !'' इत्यादि । अस्या भदन्त ! रत्नप्रभायाः पृथिव्याः संबन्धि यत् प्रथमं खरं खराभिधानं काण्डं तत् कियत् बाहल्येन प्रज्ञप्तं भगवानाह–गौतम ? षोडशयोजन सहस्राणि ॥ जी० ।

रत्नादि०००००००००००००००००००००-

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए रतणकंडे केवतियं बाहल्लेणं पण्णत्ते ? गोयमा ! एक्कजोयणसहस्सबाहल्लेणं पण्णत्ते । एवं जावरिट्ठे ।

''इमीसे णं भंते !'' इत्यादि । अस्या भदन्त ! रत्नप्रभायाः पृथिव्या रत्नं रत्नाभिधानं काण्डं तत् कियत् बाहल्येन प्रज्ञप्तं भगवानाह–गौतम ! एकं योजनसहस्रम् । शेषाण्यपि काण्डानि वक्तव्यानि यावत् रिष्ट रिष्टाभिधानं काण्डम् । जी० ३ प्रति० । स० ।

(अत्र नरकावासा भुवनपतीनां भुवनानि च स्वस्थाने ज्ञेयानि)

खरकम्म न० खरकर्म्मन् । खरं कठोरं कर्म कोट्टपालनगुप्त पालनादिरूपे कर्मोपादानहेतौ भोगोपभोगव्रतस्यातिचारे, ध० ३ अधि० ।

खरकंडिय त्रि० खरकर्डिक । आसन्नपरिकरे यथासंभवं गृहीतायुधे, बृ० १ उ० । क्रूरकर्मणि, सा० च ''गोखरकंडिओ अहाभद्दगो वा'' आ० म० द्वि० ।

खरकर पुं० खरकर । खरास्तीव्राः करा यस्य । सूर्ये, वाच० । श्लक्ष्णपाषाण-भृतचर्मकोशकविशेषे, स्फुटितवंशे च । प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

खरचावकर त्रि० खरचापकर । निष्ठुरकोदण्डहस्ते धानुष्के, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

खरण न० खरण । बव्वूलादिडाले, स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

खरतर पुं० खरतर । वैक्रमसंवत् १०८० श्रीपत्तने वादिनो जिन्वा खरतरेत्यास्यं विरुदं प्राप्तेन जिनेश्वरसूरिणा प्रवर्त्तिते गच्छे, आत्मप्रबोध १४१ ''आसीत् तत्पादपङ्कजैकमधुकृत् श्रीवर्द्धमानाभिधः, सूरिस्तस्य जिनेश्वराख्यगणभृज्ज्ञातो विनेयोत्तमः । यः प्रापत् शिवसिद्धिपद्धिक्त (संव० १०८०) शरदि श्रीपत्तने वादिनो, जित्वा सद्विरुद्धं कृती खरतरेत्याख्यां नृपादेर्मुजात्,'' अष्ट० ३२ अष्ट०।

खरतिक्खनखकंडूइयविकयतणु त्रि० खरतीक्ष्णनखकण्डूयित-विकृततनु । खरतीक्ष्णनखानां कण्डूयितेन विकृता कृतव्रणा तनुः शरीरं येषां ते । खज्वादिविकृतशरीरेषु, भ० ७ श० ६ उ०।

खरपम्ह न० खरपक्ष्म । खराणि पक्ष्माणि दशा यस्य तत् खरपक्ष्म । तीक्ष्णखरदशाके रजोहरणे, नि० चू० ५ उ०।

खरफरुस त्रि० खरपरुष । खरमतिशयेन परुषं खरपरुषम् । जी० ३ प्रति० । अतिकर्कशे, प्रश्न० । अतिकठोरे, प्रश्न० २ आश्र० द्वार। ''खरफरुस-ज्झामवण्णा'' खरपरुषास्पर्शतोऽतीकठोरा ध्यामवर्णा अनुज्ज्वलवर्णा ततः कर्मधारयः । भ० ७ श० ६ उ० । ''खरफरुसधूलीमइला'' खरपरुषा अत्यन्तकठोरा धूल्या च मलिना ये वातास्ते तथा । भ० ७ श० ६ उ०।

खरफरुसवयण न० खरपरुषवचन । अतिकर्कशभणिते, प्रश्न ३ आश्र० द्वार।

खरफासणाम न० खरस्पर्शनामन् । नामकर्मभेदे, यदुदयाज्जन्तुशरीरं खरं कर्कशं पाषणादिवद्भवति । कर्म० १ कर्म०।

खरबादरपुढविकाइय पुं० खरबादरपृथिवीकायिक । खरा नामपृथिवीसंघातविशेषं काठिन्यविशेषं चापन्ना तदात्मका जीवा अपि खराः ते च ते बादरपृथिवीकायिकाः । अथवा खरा च सा बादरपृथ्वी सा कायः शरीरं येषां ते खरबादरपृथिवीकायास्त एव स्वार्थे कप्रत्ययः । बादरपृथिवीकायभेदेषु, प्रज्ञा० १ पाद (एतद्भेदाः 'पुढवीकाइय' शब्दे)

खरमज्झ त्रि० खरमध्य । कठिनान्तःकरणे, यो हि कठोर वचनभणनमन्तरेण शिक्षां न प्रतिपद्यते । बृ० ६ उ०।

खरमुह पुं० खरमुख । अनार्यक्षेत्रविशेषे, तद्वासिनि जने च । प्रश्न० ४ आश्र० द्वार । सूत्र० ।

खरमुही स्त्री० खरमुखी । तोमहिकायां काहलायाम्, आचा० २ श्रु० २ चू० । ज्ञा० । जं० । रा० । प्रव० । आ० म० । जी० । भ० । नि० चू० । कल्प० । औ० । नपुंसक्यां दास्यां च । व्य० ६ उ०।

खरय त्रि० क्षरक । दुष्पक्वत्वात् परिस्राविणि, स्था० ४ ठा० ४ उ० । खरडे, चन्द्रं सूर्यं वा गृहतो राहोश्चतुर्थे कृष्णपुद्गले, सू० प्र० २ पाहु० । चं० प्र० । तद्ग्रेदाद्ग्राहौ, भ० १२ श० ६ उ० । दासे, बृ० ३ उ० । मध्यमग्रामवास्तव्यसिद्धार्थवणिङ्मित्रे स्वनामख्याते वैद्ये, आ० म० द्वि० । येन महावीरस्वामिनः कर्णयोः कण्टशलाका निर्हारिता । आ० चू० १ अ०।

खरयर खरतर 'खरतर' शब्दार्थे ।

खरवाय पुं० खरवात । मन्दरस्यापि चालनासमर्थे, तीव्रवायौ, आ० म० द्वि०।

खरसद्द पुं० खरशब्द । खरः उग्रः शब्दोऽस्य । कुररखगे, गर्दभशब्दे, वाच० । व्य० ७ उ०।

खरस्सर पुं० खरस्वर । चतुर्दशे परमाऽधार्म्मिके, यो वज्रकण्टकाकुल-शाल्मलिवृक्षमारोप्य नारकं खरस्वरं कुर्वन्तं कुर्वन्वाऽऽकर्षत्यसौ खरस्वरः । भ० ३ श० ६ उ० । प्रव० । स० । आ० चू० ।।

कप्पेंति करकरएहिं, तत्थिंति परोप्परं सु एहिं ति ।
सिंबलितमारुहंती, खरस्सरा तत्थ णेरइए ।।८३।।

''कप्पेंति' इत्यादि खरस्वराख्यास्तु परमाधार्मिका नरकानेवं कदर्थयन्ति । तद्यथा–क्रकचपातैर्मध्यं मध्येन स्तम्भमिव तान् पातानुसारेण कल्पयन्ति पाटयन्ति । तथा परशुभिश्च तानेव नारकान् परस्परमन्योन्यं तक्षयन्ति सर्वशो देहावयवापनयनेन तनून् कारयन्ति । तथा शाल्मलीं वज्रमयभीषणकण्टकाकुलां खरस्वरैराटन्तो नारकानारोह यन्ति पुनरारूढानाकर्षयन्तीति ।। ८३ ।। सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ०।

खरा स्त्री० खरा । भुजपरिसर्पिणीभेदे, जी० २ प्रति० ।

खरामरिस पुं० खरामर्श(र्ष) कर्कशस्पर्शे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार।

खरावट्ट पुं० खरावर्त्त । खरो निष्ठुरोऽतिवेगतया पातकः छेदको वा आवर्त्तनमावर्तः समुद्रादेश्चक्रविशेषाणां च निष्ठुरे आवर्ते, स्था० ४ ठा० २ उ०।

खरिंसुक पुं० खरिंशुक । कन्दभेदे, ध० २ अधि०।

खरिया स्त्री० खरिका । चूर्णाकृतिकस्तूरीभेदे, वाच० । दास्याम् । बृ० ३ उ० । द्व्यक्षरिकायां कर्मकर्यां च । ओघ० ।

खरुट्ठी स्त्री० खरोष्ट्री । ब्राह्म्याः लिपेश्चतुर्थे लेख्यविधाने, प्रज्ञा० १ पद।

खल पुं०न० खल । खल–अच् अर्द्धर्चादि० । धान्यमेलनपवनादि स्थण्मिले, जं० २ वक्ष० । ज्ञा० । व्य० । धान्यतुषपृथक्करणस्थाने, कल्प० ६ क्षण । स्खलनकृति, प्रति० । कुथितादिविशिष्टेऽल्प-धान्यादौ, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । धूलिराशौ, तिलादिकल्के, 'सरिसवखलो' अत्र **'खघथध-भाम्''** । ८ । १ । १८७ । इति हत्वं न प्रायोग्रहणाद् । प्रा० १ पाद । 'खल' इत्यत्र तु आदिभूतत्वान्न खस्य हः । नीचे, अधमे, दुर्जने, त्रि० । खे लीयते लि-ड–सूर्ये, खं तद्वर्णं लाति ला–क–तमालवृक्षे, पुं० । प्रस्तरमये औषधमर्दनपात्रे, वाच०।

खलइ पुं० खलति । स्खलन्ति केशा यस्मात् भीमा० अपादाने, पृषो० । इन्द्रलुप्तरोगे, तद्वति, त्रि० । खल्वाटे, वाच० नदीमुत्तरन् खलतिना शिरसा । स्था० ७ ठा० ।

खलंत त्रि० स्खलत् । निपतति, ''खलंतविब्भलगई'' स्खलन्ती विह्वला चार्दवितर्दा गतिर्येषां ते । भ० ७ श० ६ उ०।

खलखिल त्रि० खलखिल । निर्जीवे, व्य० १ उ०।

खलगय त्रि० खलगत । धान्यमलनस्थानाश्रिते, प्रश्न० ३ सम्ब० द्वार।

खलजनपीला स्त्री० खलजनपीडा । दुर्जनदुःखोत्पादने, न० । ''इक्को उ ण इह दोसो, जं जाइ खलजणस्स एलि त्ति । तह वि पयट्टो इत्थं, दट्ठुं सुयनाममइत्तोसं'' नयो०।

खलण न० स्खलन । पुद्गलप्रतिघाते, स्था० ३ ठा० ४ उ० । निपतने, आचा० १ श्रु० ६ अ० ३ उ०।

खलणा स्त्री० स्खलना। खण्डनायाम्, तं० ''खलना य उवधाओ सबलिकरणं च एगट्ठा'' ओघ०। सूत्र०।

खलदाण न० खलदान। कुथितादिविशिष्टस्य अल्पधान्यादे र्वा दाने, सूत्र०। कुपितस्य दाने, सूत्र०। २ श्रु० २ अ०।

खलपू त्रि० खलपू। खलं भूमिं पुनाति। पुं०। क्विप् स्थानशोधनकारिणि, वाच०। संबोधने, **''ईदूतोर्ह्रस्वः''** ८। ३। ४२। इति प्राकृते ह्रस्वः हे खलपु! प्रा० ३ पाद।

खलिअचरण त्रि० स्खलितचरण। स्खलितचारित्रे, व्य० ४ उ०।

खलिअपरिसुद्धि स्त्री० स्खलितपरिशुद्धि। अविचाराणामालोचनया शुद्धौ, ध० २०।

संप्रति स्खलितपरिशुद्धिरिति चतुर्थ श्रद्धालक्षणमाह–

अइयारमलकलंकं, पमायमाईहिँ कह वि चरणस्स।
जणियं पि वियडणाए, सोहंति मुणी विमलसद्धा।१०४॥

अतिचरणमतिचारो मूलोत्तरगुणमर्यादसतिक्रमः स एव डिण्डीरपिण्ड-पाण्डुरगुणगणमालिन्यहेतुत्वान्मलं तच्चरणं शशधरस्य कलङ्क इव तं प्रमादादिभिः प्रमाददर्पकल्पैराकुट्टिकायाश्चारित्रिणः प्रायेणासंभवात् कथमपि कण्टकाकुलमार्गे यत्ने नापि गच्छतः कण्टकभङ्गवच्चरणस्य चारित्रस्य जनितमुत्पादितम्। आकुट्टिकादीनां पुनः स्वरूपमिदम्।

''आउट्टिया उ तिव्वा, दप्पो पुण होइ वग्गणाईओ।
विगहाइओ पमाओ, कप्पो पुण कारणे करणं''॥

उपलक्षणं चैतद्दशविधायाः, प्रतिसेवायाः सा चेयम्–

''१ दप्प २ प्पमायणाभोग, ३ आउरे ४ आवईसु य ५।
संकिए ६ सहसागारे, ७ भए ८ पओसेय ९ वीमंसा''॥१०॥

अपिशब्दः संभावने संभाव्यत एतच्चारित्रिणो विकटनयाऽऽलोचनया शोधयन्त्यपनयन्ति मुनयो यतयो विमलश्रद्धा निष्कलङ्कधर्माभिलाषाः शिवभद्रमुनिवत्॥१०४॥ ध० २०।

खलिण न० खलीन। कविके, (लगाम)। ज्ञा० १ श्रु० १७ अ०। आ० म०। कायोत्सर्गदोषभेदे, ''ठायइ खलिणं व जहा रयहरणमग्गओ काउं'' खलिनमिव कविकमिव रजोहरणमग्रतः कृत्वा तिष्ठत्युत्सर्गे इति खलीनदोषः वाऽत्र समुच्चये अन्ये खलिनार्तवा जीवादूर्ध्वाधः शिरःकम्पनं खलीनदोषमाहुः। प्रव० ५ द्वार०। आ० चू०। आव०।

खलिय त्रि० स्खलित। उपलशकलाद्याकुलभूभागे, लाङ्गलमिव यत्तत्स्खलितम्। अनु०। कार्यमकृत्वा प्रपतिते, नि० ३ वर्ग। निपतिते, आव० ३ अ०। ''खलिओ नेहो'' प्रा० २ पाद। (स्खलितप्रायश्चित्तं 'सुत्त' शब्दे)

खलीण न० खलीन। 'खलिण' शब्दार्थे,

खलु अव्य० खलु। अवधारणे, आ० म० द्वि०। पं० सू०। नि० चू०। नि०। श्रा०। विशे०। दशा०। सूत्र०। पञ्चा०। स०। एवकारार्थे, दर्श०। उत्त०। सूत्र०। निश्चये, आ० चू० १ अ०। संथा०। रा०। तं०। उत्त०। पुनः शब्दार्थे, आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ०। उत्त०। विशेष०, दश० ४ अ०। नि० चू०। नि० सूत्र०। विपा०। वाक्यालङ्कारे, आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ०। ज्ञा०। विपा०। कर्म०। प्रव०। जं०। स्था०। दशा०। भ० जी०। सूत्र०। उत्त०। पञ्चा०। पादपूरणे, नि० चू० १० उ०। श्रा०। वीप्सायाम्, निषेधे, वाच०।

खलुंक पुं० खलुङ्क। अविनीते गलौ, स्था० ४ ठा० ३ उ०।

(निर्युक्तिस्थः) अस्य निक्षेपः –

निक्खेवो खलुंकम्मि, चउव्विहो दुविहो उ दव्वम्मि।
आगम–नोआगमतो, नोआगमतो य सो तिविहो॥२२॥
जाणगसरीरभविए, तव्वइरित्ते य गल्लमाईसु।
पडिलोमो सव्वत्थे, स भावओ होइ खलुंको॥२३॥

गाथाद्वयं व्याख्यातप्रायमेव। नवरं वलीवर्दादिषु इत्यादि-शब्देनाश्वादिपरिग्रहो निधीरणे चेयं सप्तमी, ततो वली वर्दादिषु यो गल्यादिरिति गम्यते, स द्रव्यतः खलुंक इति। प्रतिलोमः प्रतिकूलसर्वार्थेषु पाठान्तरतः सर्वस्थानेषु। ज्ञानादिषु भावतो भवति खलुंक इति गाथाद्वयार्थः॥२२–२३॥

तद्व्यतिरिक्तद्रव्यखलुंकस्वरूपमाह–

अवदाली उत्तसओ, जुत्तजुगं भंज तोत्तभंजो य।
उप्पहविप्पहगामी, एएँ खलुंका भवे गोणा॥२४॥
जं किर दव्वं खुज्जं, कक्कसगुरुगं तहा दुरोनामं।
तं दव्वेसु खलुंकं, वंककुडिल चेट्ठ माइद्धं॥२५॥
सुचिरं पि वंकुडाइं, होहिंति अणुज्जुइज्जमाणाइं।
करमद्दिदारुगाइं, गयंकुसाइं व विटाइं॥२६॥

(अवदालि त्ति) अवदारयति शकटं, स्वस्वामिनं वा विनाशय-त्यवंशीलोऽवदारी उत्त्रासको यो यत् किंचनावलोक्य् उत्त्रस्यति (जोत्तजुगं भंज त्ति) योक्तुं तथाविधसंयमनं युगं प्रतीतमेव, स भनक्ति तोत्रभञ्जश्च उभयत्र ''कर्म्मण्यण्। ३। २। १। इति (पाणि०) अण् उत्पथविपथगामी उत्पथ उन्मार्गो विपथो विरूपमार्गस्ताभ्यां गमनशील एतेऽवदार्यादयः खलुंका भवन्ति। भवेयुर्गोणा वलीवर्दा उपलक्षणत्वाद-श्वादयश्च॥२४॥ अमुमेवार्थं प्रकारान्तरेणाहयदिति सामान्यनिर्देशे किलेति परोक्षाप्तवादसूचकः, द्रव्यं दार्वादि कुब्जमिव कुब्जं मध्यस्थूल-तया कर्कशं च तत् कठिनतया गुरुकं चातिनिचितपुद्गलतया कर्कशगुरुकम्। तथा तदेव दुःखेनावनमयितुं शक्यत इति दुरवनामं कशरीरकाष्ठवत् तदे द्रव्येषु खलुंकं वक्रमनृजुत्वात् कुटिलं विशिष्ट कौटिल्ययोगात् (वेढमाइट्ठं ति) मकारोऽलाक्षणिकः। ततश्च चेष्टै र्ग्रन्थिभिराविद्धं व्याप्तं चेष्टाविद्धम, एषां विशेषणसमासः॥२५॥ इहैव दृष्टान्तमाह–सुचिरमपि प्रभूतकालमपि (वंकुमाइं ति) वक्राण्यवधारण-फलत्वाच्च वाक्यस्य, वक्राण्येव भविष्यन्ति। न कदाचित्। ऋजुभावम-नुभविष्यन्ति। (अणुज्जुइज्जमाणाइं ति) एकं स्वरूपतोऽनृजू-न्यपरं च तेषां क्वचित् कार्येऽनुपयोगात् के नचिद् ऋजूक्रियमाणानि। कान्येवंविधानीत्याहकरमर्दी गुल्मभेदस्तद्वारुकानि। तथा–(गयंकुसाइं व विटाइं ति) चस्य गम्यमानत्वाद् गजाङ्कुशानीव वक्रतया वृन्तानि च फलबन्धनानि प्रक्रमात् करमर्द्या एवोक्तरूपाण्यनेकधा द्रव्यखलुंकामि-धानं च काक्वाऽनेकविधकुशिष्यदृष्टान्तप्रदर्शनार्थमिति गाथात्रयार्थः॥२७॥

सम्प्रति यदुक्तं (२३ गाथायाम्) प्रतिलोमः सर्वार्थेषु भावतो भवति। तदभिव्यक्तीकर्त्तुमाह –

दंसगमसगसमाणा, जलूगवेच्छुगसमा य जे होंति।
ते किर होंति खलुंका, तिक्खमिऊ चंडमद्दविया॥

जे किर गुरुपडिणीया, सवला असमाहिकारगा पावा।
कलहकरणस्सभावा, जिणवयणे ते किर खलुंका॥२८॥
पिसुणा परोवयावी, भिन्नरहस्सा परं परिभवंति।
निव्वेयणिज्जा सढा, जिणवयणे ते किर खलुंका॥२९॥

(दंसगमसगसमाण त्ति) दंशमशकैः समानास्तुल्या दंशमशकसमानास्ते हि जात्यादिभिः तद्वत् तुदन्तीति, तथा जलौकावृश्चिकसमाश्च प्रस्तावाच्छिष्या ये भवन्ति दोषग्राहितया अप्रस्तुतपृच्छादिनोद्वेजकतया च पठन्ति। (जलूगविच्छुगसमा य त्ति) यथा वृश्चिकोऽदृष्टब्धो विध्यति कण्टकेनैवं ये शिष्यमाणा गुरुं वचनकण्टकैर्विध्यन्ति ते एवंविधाः किल भवन्ति खलुंका भावत इति गम्यते। तीक्ष्णा असहिष्णवः, मृदवोऽलसतया कार्यकरणं प्रत्यदक्षाः चण्डाः कोपनतया, मार्दवेन चरन्ति मार्दविकाः शतकृत्वोऽपि गुरुप्रेरिता न सम्यगनुष्ठानं प्रति प्रवर्तन्ते किंत्वलसा एव अमीषां द्वन्द्वः॥२७॥ अन्यच्चये किल गुरुप्रत्यनीकाः आचार्यादिप्रतिकूलाः कुलवालकवत्, वलाः सवलचारित्रयोगात्, असमाधिकारका गुर्वादिनामसमाधानजनकाः, अत एव पापा अधिकरणकारकात्मानः, कलहकर्तृस्वभावाः सदनुष्ठानं प्रति प्रेर्यमाणा युद्धायैवोपतिष्ठन्ते। जिनवचने सर्वज्ञशासने ते किल खलुंका उच्यन्त इति शेषः॥२८॥ तथा पिशुनाः सूचकाः, अत एव (परोवयावीति) परोपतापिनः, भिन्नरहस्या विश्वस्तजनकथितरहस्यभेदिनः, तथा परमन्यं परिभवन्ति येन केनचित्यप्रकारेणाभिभवन्ति। (निव्वेयणिज्ज त्ति) निर्वेदनीया निर्वेदं प्राप्याः प्रक्रमाद्यतिकृतेन। पाठान्तरतो निर्गता वचनीयादुपदेशवाक्यात्मकाद् ये ते निर्वचनीयाः, चः समुच्चये, भिन्नक्रमश्च, ततः शठाश्च मायाविनः, पठ्यते च-''निद्दयनिस्सील-सङ्कत्ति'' सुगममेव जिनवचने सर्वज्ञशासने भणिता ये इति शेषः। ते प्रागभिहितस्वरूपाः किल खलुंका इति गाथात्रयार्थः॥२९॥

ततः किमित्याह-

तम्हा खलुंकभावं-चइऊणं पंडिएण पुरिसेण।
कायव्वा होइ मई, ऊजुसहावम्मि भावेणं॥३०॥

तस्मात् इत्थं दोषवन्तं खलुंकभावं त्यक्त्वा, पण्डितेन बुद्धिमता पुरुषेणोपलक्षणत्वात् स्त्र्यादिना च कर्त्तव्या भवति। मतिर्बुद्धिः क्व ऋजुस्वभावे आर्जवे भावे परमार्थे न तु बहिर्वृत्यै वेति गाथार्थः॥३०॥ उत्त० २६ अ०।

खलुंकदृष्टान्तेन विनीतशिष्यप्ररूपणा-

थेरे गणहरे गग्गे, मुणी आसि विसारए।
आइन्ने, गणिभावम्मि, समाहिं पडिसंधए॥१॥

गार्ग्यो नाम गणधरो मुनिः स्थविरः आसीत्। गणस्य गच्छस्य धारकत्वाद्गणधरः, धर्मे स्थिरीकरणत्वात् स्थविरः, गर्गगोत्रोत्पन्नतत्वात् गार्ग्यो, मनुते सर्वसावद्यविरमणस्य प्रतिज्ञां कुरुते इति मुनिः। कीदृशो गार्ग्यः-विशारदः सर्वशास्त्रनिपुणः। पुनः कीदृशः सः-आकीर्णः आचार्यगुणैर्व्याप्तः। पुनः कीदृशः सः-गणिभावे आचार्यत्वे स्थितः। पुनः स गार्ग्यो गणधरः समाधिं धत्ते। कुशिष्यैः त्रोटितं ज्ञानदर्शनचारित्राणां समाधिं प्रतिसंधयतीत्यर्थः।

वहणे वहमाणस्स, कंतारं अइवत्तई।
जोए य वहमाणस्स, संसारं अइवत्तई॥२॥

यथा यथा वहने शकटादौ विनीततरगवृषभादीन् (वहमाणस्स इति) उह्यमानस्य सारथ्यादेः (कंतारम्) अरण्यमतिवर्त्तते सम्पूर्णं भवति। तथा योगे संयमव्यापारेषु शिष्यान् वाहयतः आचार्यस्य संसारः अतिवर्तते शिष्याणां विनीतत्वं दृष्ट्वा स्वयं समाधिमान् जायते। शिष्यास्तु बिनीतत्वेन स्वयं संसारमुल्लङ्घयन्ते एव, एवं उभयोर्विनीत शिष्यसदाचार्ययोर्योगः सम्बन्धः संसारच्छेदकर इति भावः॥२॥

खलुंके जो उ जोएइ, विहम्माणो किलस्सई।
असमाहिं च वेएइ, तोत्तओ य से भज्जई॥३॥

यस्तु सारथिः, खलुंकान् गलिवृषभान् योजयति रथे स्थापयति। स सारथिः (विहम्माणो इति) विशेषेण तान् खलुंकान् घ्नन् प्राजनकेन ताडयन् संक्लिश्यते संक्लेशं प्राप्नेति। अत एव असमाधिम् असातां वेदयते प्राप्नोति च पुनस्तस्य खलुंकवृषभयोजयतुः, पुरुषस्य तोत्रकः प्राजनको भज्यते खलुंकानामतिकुट्टनात् प्राजनको भज्यते इति भावः॥३॥

एगं मसइ पुच्छंमि, एगं विंधइ अभिक्खणं।
एगो भंजइ समिलं, एगो उप्पहपट्ठिओ॥४॥

पुनः खलुंकवृषभस्वामी रथारोहको रुष्टः सन् तं खलुंकं पुच्छे दन्तैर्दशति एकम्। स एवं एकं गलिवृषभम् अभीक्ष्णं बारं २ विध्यति प्राजनकस्य आरया व्यथयति। एको गलिर्वृषभः समिलां युगकीलिकां भनक्ति। एकः पुनर्गलिवृषभः उत्पथमार्गं प्रस्थितो भवति॥४॥

एगो पडइ पासेणं, निवेसइ निवज्जई।
उक्कुद्दइ उप्फिडई, सढे बालगवीवए॥५॥

एको गलिस्ताडितः सन् पार्श्वेन वामदक्षिणभागेन पतति। अन्यः कश्चिद्भूमौ निवसने नीचैस्तिष्ठति। एकः कश्चिन्निपद्यते स्वपिति प्रलम्बो भूत्वा शेते। एक उत्कूर्दति उच्छलति दर्दुरवत् चतुःफालो भवति। अन्यः शठो भवति धूर्तत्वमाचरति। अन्यः कश्चित् गलिर्वलिवर्दो बालगवीं लघिष्ठां धेनुं दृष्ट्वा तामनुव्रजति॥५॥

माई मुद्धेण पडइ, कुद्धे गच्छइ, पडिपहं।
मयलक्खेण चिट्ठइ, वेगेण य पहावई॥६॥

एको मायी मायावान् भूत्वा मस्तकं भूमौ निक्षिप्य पतति। एकः कश्चित् कुद्धः सन् प्रतिपथं प्रतिकूलः पन्थाः प्रतिपथस्तं प्रतिपथम् अग्रेतनमार्गं त्यक्त्वा पश्चान्मार्गं गच्छति। एकः कश्चित् मृतलक्ष्येण तिष्ठति मृतस्य लक्षणं कृत्वा तिष्ठति निश्चेष्टो भूत्वा पततीत्यर्थः। यदा च पुनः कथञ्चित् सज्जीकृत्य उत्थापितस्तदा वेगेन प्रधावति, अनया रीत्या धावति यथा पश्चात्स्वामी ग्रहीतुं न शक्नोति॥६॥

छिन्नाले छिंदई सल्लिं, दुद्दन्ते भज्जई जुगं।
से वि य सुस्सुया इत्ता, उज्जूहित्ता पलायई॥७॥

एकश्छन्नालो दुष्टजातीयः कश्चित् (सल्लिं इति) रश्मिं बन्धरतज्जुं छिनत्ति बलात् त्रोटयति। अन्यो दुर्दान्तो दमितुमशक्यो युगं जूसरं भनक्ति। (से वि य इति) स च दुष्टो बलीवर्दः सुतराम् अतिशयेन पूत्कृत्य अत्यन्तपूत्कारं कृत्वा उत्प्रावल्येन(जूहि

त्ता इति) स्वस्वामिनं शकटम् उन्मार्गे लात्वा कुत्रचिद्विषमप्रदेशे भङ्क्त्वा स्वयं पलायते॥७॥

खलुका जारिसा जोज्जा, दुस्सीसा वि हु तारिसा।
जोइया धम्मजाणंमि, भज्जंती धिइदुव्वला ॥८॥

गार्ग्यनामा आचार्य एवं वदति भो मुनयो! यथा लोके खलुंकाः अत्र उक्तलक्षणाः गलिवृषभाः योज्याः रथस्याग्रे धुरियोत् कृताः सन्तो यादृशा भवन्ति। रथारोहकस्य असमाधिक्लेशकरा भवन्ति। 'हु' इति निश्चयेन, आचार्यस्यापि दुःशिष्या दुष्टाः शिष्याः विनयरहिताः कुशिष्यास्तादृशा भवन्ति। धर्मयाने मुक्तिनगरप्रापकत्वेन संयमरथे योजिताः व्यापारिताः भज्यन्ते संयमकियानुष्ठानात् स्खलन्ते। सम्यग् न प्रवर्त्तन्ते इत्यर्थः। कीदृशास्ते धृतिदुर्बलाः निर्बलचित्ताः धर्मेदुस्थिराइत्यर्थः ।८।

इड्ढिगारवए एगे, एगेत्थ रसगारवे।
सायागारविए एगे, एगे सुचिरकोहणे ॥९॥
भिक्खालसिए एगे, एगे ओमाणभीरुए।
एगं च अणुसासम्मी, हेउहिं कारणेहि य ॥१०॥

एकः कश्चित् ऋद्धिगौरविकः ऋद्ध्या गौरवमस्यास्तीति ऋद्धिगौरविको मम श्राद्धा आढ्याः, मम श्राद्धाः वश्याः, मम उपकरणं वस्त्रपात्रादिसमीचीनम् इत्यादि आत्मानं बहुमानरूपं मनुते सऋद्धिगौरविक उच्यते एतादृशो गुर्वादेशे न प्रवर्त्तते। एकः कश्चित् पुनरत्र रसगौरविकः आहारादिषु रसलोलुपः एतादृशो हि ग्लानाद्याहारदानतपसे न प्रवर्त्तते। एकः कश्चित् कुशिष्यः सातागौरविको भवति साताया गौरवे भवः सातागौरविकः एतादृशो हि विहारं कर्त्तुं न शक्नोति। एकः कश्चित् कुशिष्यः सुचिरक्रोधनः चिरं क्रोधकरणशीलः एतादृशो हि तपःक्रियानुष्ठानकरणे योग्यो न भवति ॥९॥ एकः कश्चित् भिक्षालसिकः भिक्षायामालस्ययुक्तः एतादृशो हि गोचरीपरीषहसहनयोग्यो न भवति। एकः कश्चिदपमानभीरुर्भवति अपमानात् भीरुः अपमानभीरुः एतादृशो हि कस्यचिद् गृहे न प्रविशति। एकः कश्चित् स्तब्धोऽहङ्कारी भवति एतादृशो नि जकुग्रहात् विनयं कर्त्तुं न शक्नोति। च पुनः एकं कुशिष्यं प्रतिशिक्षादाने आचार्यः एवं विचारयतिहेतुभिः कारणैः अहमेनं कुशिष्यमनुशास्मि कथम्। इति अध्याहारः कथं शिक्षयिष्यामि आचार्य इति चिन्तापरो भवति इति भावः ॥१०॥ युग्मम्।

सो वि अंतरभासिल्लो, दोसमेव पकुव्वई।
आयरियाणं तं वयणं, पडिकूलेइ अभिक्खणं ॥११॥

सोऽपि कुशिष्यः आचार्येण शिक्षितः सन् अन्तरभाषावान् पुनर्दोषमेव अपराधमेव प्रकरोति आचार्यस्य शिक्षायां दोषमेव प्रकाशयति अपगुणग्राही भवतीत्यर्थः। पुनः स कुशिष्यः आचार्याणां यद्वचनं तद्वचनं वारं वारं प्रतिकूलयति संमुखं जल्पति। यदा आचार्याः किञ्चित् शिक्षावचनं वदन्ति तदा अभीक्ष्णं मुहुरेवं वदति–किं मां यूयं वदत यूयमेव किं न कुरुत इत्यर्थः ॥११॥

न सा ममं वियाणाइ, न वि सा मज्झ दाहिई।
निग्गया होहि सा मन्ने, साहु अन्नोत्थ वच्चओ ॥१२॥

तदा आचार्यः किञ्चित् कुशिष्यं प्रति वदति–भो! शिष्य! अमुकस्य गृहस्थस्य गृहात् मह्यमाहाराद्यानीय देहि। तदा स कुशिष्यो वदति–सा श्राद्धी(ममं इति) मां न विजानीते मां न उपलक्षयति सा श्राद्धी मह्यमाहारादिकं न दास्यति। अथवा स गुरुं प्रति एवं वदति–हेगुरो! अहमेवं मन्ये सा श्राद्धी निर्गता भविष्यति स्वगृहादपरत्र इदानीं गता भविष्यति। अथवा–अन्यः साधुः अस्मिन् कार्ये व्रजतु, अहं न व्रजामि इत्यर्थः ॥१२॥

पेसिया पलिओविंति, ते पलियन्ति समंतओ।
रायवेट्ठिं व मन्नंता, करिंति भिउडिं मुहे ॥१३॥

पुनस्ते कुशिष्याः आचार्येण कुत्रचित् गृहस्थगृहे आहाराद्यर्थं गृहस्थस्य आकारणाय वा प्रेषिताः सन्तः (पलिओविंति) अपद्रवन्ति। वयं भवद्भिः कुत्र मुक्ता अस्माकं न स्मरसि। अथवा मिष्टाहारादिकं गोपयन्ति। अथवा उक्तं कार्यं न निष्पादयन्ति। अनुत्पादितमपि उत्पादितमिति वदन्ति। उत्पादितं च अनुत्पादितं वदन्ति। अथवा यत्र भवद्भिर्वयं प्रेषिताः स गृही न किञ्चत् दृष्टः इति पृष्टाः सन्तः अपलपन्ति। पुनस्ते कुशिष्याः समन्ततः सर्वासु दिक्षु परियन्ति पर्यटन्ति। गुरुपार्श्वे कदाचिन्न आयान्ति न उपनविशन्ति कदाचिद्वयं गुरुणां पार्श्वे स्थास्यामस्तदाऽस्माकं किञ्चित्कार्यं कथयिष्यन्ति इति मत्वा अन्यत्र भ्रमन्तिइति भावः। कदाचित्कस्मिन् कार्ये गुरुभिः प्रेषितास्तदा राजवेष्टिम् इव मन्यमानास्तत्कार्यं कुर्वन्ति, नृपस्य वेष्टिः (राजभृतिः) पतिता इति जानतो मुखे भृकुटीं भ्रूभङ्गरचनां कुर्वन्ति। अन्यामपि ईर्ष्याशूचिकां चेष्टां कुर्वन्तीति भावः ॥१३॥

वाइया संगहिया चेव, भत्तपाणेण पोसिया।
जायपक्खा जहा हंसा, पक्कमंति दिसो दिसिं ॥१४॥

पुनस्ते कुशिष्याः गुरुभिर्वाचिताः सूत्रं ग्राहिताः शास्त्राभ्यासं कारयित्वा पण्डिताः कृताः, पुनः संगृहीताः सम्यक् स्वनिश्रायां रक्षिताः, पुनर्भक्तपानैः पोषिताः पुष्टिं नीताः, चकारात् दीक्षिताः स्वयमेव उपस्थापिताः, पश्चात् ते कार्ये सृते दिशो दिशि प्रकमन्ति यथेच्छं विहरन्ति, ते कुशिष्याः के ? यथा–जातपक्षाः हंसाः यथा जाताः पक्षास्तनूरुहाणि येषां ते जातपक्षाः हंसा इव यथा उत्पन्नपक्षा हंसाः स्वजननीं जनकं च त्यक्त्वा दशसु दिक्षु व्रजन्ति। तथा ते कुशिष्याः अपि इति भावः ॥१४॥

अह सारही विचिन्तेइ, खलुंकेहिं समं गओ।
किं? मज्झ दुट्ठसीसेहिं, अप्पा मे अवसीयई ॥१५॥

अथाऽनन्तरं सारथिर्गर्गाचार्यो धर्मयानस्य प्रेरकः चेतसि चिन्तयति। खलुंकैर्गलिवृषभसदृशैः कुशिष्यैः समं गतः सहितः किंचिन्तयति? –एभिर्दुष्टशिष्यैः प्रेरितैः सद्भिः (किं मज्झ इति) किम् ऐहिकामुष्मिकफलं वा मम प्रयोजनं सिद्ध्यति। दुष्टशिष्यैः प्रेरितैः केवलं मे मम आत्मा एव अवसीदति। तेषां प्रेरणात् स्वकृत्यहानिरेव भविष्यति नान्यत्किमपि फलं तत् एतेषां कुशिष्याणां त्यागेन मया उद्यतविहारिणा एव भाव्यमिति चिन्तयति ॥१५॥

जारिसा मम मीसा उ, तारिसा गलिगद्दिहा।
गलिगद्दहे चइत्ता णं, दढं परिमण्हई तवं ॥१६॥

पुनः स आचार्यश्चिन्तयतियादृशाः मम शिष्याः सन्ति तादृशा गलिगर्दभा भवन्ति। अत्र गलिगर्दभदृष्टान्तेन शिष्याणामत्यन्तनिन्दा सूचिता। ततः गर्गाचार्यो गलिगर्दभसदृशान्

कुशिष्यान् त्यक्त्वा दृढं यथा स्यात्तथा तपो बाह्यमाभ्यन्तरं च प्रगृह्णाति प्रकर्षेणाङ्गीकरोति। तुशब्दः पादपूरणे यदा एतान् कुशिष्यान् अहं न त्यक्ष्यामि तदा मदीयः कालः क्लेशेन एव प्रयास्यतीति आचार्यो विचारयति ॥१६॥

मिउमद्दवसंपन्ने, गम्भीरे सुसमाहिए।
विहरइ महिं महप्पा, सीलभूएण अप्पणो त्ति वेमि ॥१७॥

स गार्ग्य आचार्यस्तदा ईदृशः सन् महीं पृथिवीं ग्रामानुग्रामं विहरति, कीदृशः सः? मृदुर्बहिर्वृत्त्या विनयवान्, पुनः कीदृशः? मार्दवसंपन्नः अन्तःकरणेऽपि कोमलतायुक्तः, पुनः कीदृशः? गम्भीरः अलब्धमध्यः। पुनः कीदृशः? सुसमाहितः सुतरामतिशयेन समाधिसहितः। पुनः कीदृशः? शीलभूतेन आत्मना उपलक्षितः, शीलं चारित्रं भूतः प्राप्तो यः स शीलभूतः तेन शीलभूतेन शीलयुक्तेनाऽऽत्मना सहितः यतो हि खलुंकत्वं कुशिष्यत्वं तत्तु अविनीतत्वं तच्च स्वस्य गुरोश्च दोषहेतुरस्ति। अतः अविनीतत्वं त्यक्त्वा विनीतत्वमङ्गीकर्तव्यमिति भावः ॥१७॥

इति अहं ब्रवीमि इति श्रीसुधर्मास्वामी जम्बूस्वामिनं प्राह।

खलुंकिज्ज न० (खलुंकीय) सप्तविंशे उत्तराध्ययने, स० ३६ सम०। (निर्युक्तिरनुपदमेव 'खलुंक' शब्दे उक्ता)

खलुखित्त न० (खलुक्षेत्र) यत्र किमपि प्रायोग्यं लभ्यते-तस्मिन्, व्य० ८ उ०।

खलुय पुं० (खलुक) पादमणिबन्धे, विपा० १ श्रु० ३ अ०।

खल्लग पुं० (खल्लक) पादत्राणे चर्मणि, तानि च विचर्चिकावा तेन स्फुटितपादैः धार्याणि। ध० ३ अधि०।

खल्लाड पुं० (खल्वाट) खलं क्विप् तं वटते वेष्टयते। अण् उप स० वाच०। **"ईस्त्यानखल्वाटे" ८।१।७४।** इति आत ईत्वम्। प्रा० १ पाद। आर्षे तु क्वचिदात्वम्। न०। इन्द्रगुप्तरोगे, तद्रोगवति, त्रि०। वाच०। "सो य खल्लीडो तस्स उण्हे तडज्जइ" आ० म० द्वि०। "एक्को खल्लाडो तंबोलियवाणियओ पण्णिविक्केति"। नि० चू० २० उ०। "तसुदइवेण-विमुंडिअउंजसखल्लिहडउं सीसु" इत्यपभ्रंशः। प्रा० ४ पाद।

खल्ली स्त्री० (खल्ली) खलती रोगवत्यां शिरस्तत्यां, खल्वाटस्ततः तस्योपरिष्टादुष्णेन दह्यते खल्ली। विशे । आ० चू०।

खल्लीड पुं० (खल्वाट) खल्लाडशब्दार्थे,

खल्लूड पुं० (खल्लूट) कन्दभेदे, प्रव० ४ द्वार। ध०। प्रज्ञा०।

खवइत्ता अव्य० (क्षपयित्वा) अतिवाह्येत्यर्थे, "तिण्णि कम्मंसे अणुपुव्वेण खवइत्ता" भ० १५ श० १ उ०।

खवग पुं० (क्षपक) पापं क्षपयति, द्वा०। प्रवचनप्रभावके, दश० २ अ०। अविरतसम्यग्दृष्टौ, कल्प० ३ क्षण। क्षपकश्रेण्यन्तर्गते अपूर्वकरणादि-क्षीणमोहपर्यन्ते, पञ्चा० ५ विव०। क्षपकाः क्षपकश्रेण्यन्तर्गताः अपूर्वकरणानि वृत्तिबादरसूक्ष्मसंपरायाः। पञ्चा० ५ विव०। क्षपकश्रेण्यारूढो निवृत्तिबादरसूक्ष्मसंपरायश्च निगद्यते-कर्म० ५ कर्म० क्षेपकश्रेणौ, कल्प० ८ क्षण। तस्य तिर्यगानुपूर्वीनामक्षपणप्रतिपादने-नोक्तार्थत्वात्। आव०। तत्क्षपयति। सर्वमिदमन्तर्मुहूर्तमात्रेणेति। आव० १ अ०।

सा चेत्थम्-

अण-मिच्छ-मीस-संमं, अट्ठ नपुंसि त्थिवये छक्कं च।
पुममेयं च खवेई, कोहाईए य संजलणे ॥१३१३॥

इह-('उपशमश्रेणिन्यायेन' आव० १ अ०) क्षपकश्रेणि-(प्रस्थापकः सोऽवश्यं मनुष्यो वर्षाष्टकाद्योपरि वर्त्तमानः। आ० म० प्र०)-अविरतदेशविरतप्रमत्ताप्रमत्तसंयतानामन्यतम उत्तमसंहननः प्रशस्त-ध्यानोपगतमानसः प्रतिपद्यते, यदुक्तं क्षपकश्रेणिप्रक्रमे-(एकस्मिन्नप्य-न्तर्मुहूर्ते लघुतराणामसंख्येयानामन्तर्मुहूर्तानां भावात्। आ० म० प्र०।) विशेषावश्यके-"पडिवत्तीए अवरियदेसपमत्तापमत्तविरयाणं। अन्नयरो पडिवज्जइ, सुद्धज्झाणोवगयचित्तो ॥१३१४॥" तत्र पूर्वविदप्रमत्तः शुक्लध्यानोपगतोऽपि एतां प्रतिपद्यते। शेषास्तु अविरतादयो धर्मध्यानोपगता एवेति।

क्षपणक्रमश्चायम्-

प्रथममन्तर्मुहूर्तेनानन्तानुबन्धिनः क्रोधादीन् चतुरो युगपत् क्षपयति। तदनन्तभागं तु मिथ्यात्वे प्रक्षिप्य तेन स मिथ्यात्वं क्षपयति। तस्याप्यनन्तभागं सम्यग्मिथ्यात्वे प्रक्षिप्य तदपि सविशेषं क्षपयति। आह- किं पुनः कारणं सविशेषं क्षपयति? इति। उच्यते-यथा खलु अतिसंभृतो दावानलः अर्द्धदग्धेन्धन एव इन्धनान्तरमासाद्य उभयमपि दहति। एवमसावपि क्षपकस्तीव्रशुभपरिणामत्वात् प्राक्तने कर्मण्यल्पशेषिते एवापरं क्षपयितुमारभते, एवं सम्यग्मिथ्यात्वस्यावशेषं सम्यक्त्वे प्रक्षिप्य तेन सम्यक्त्वं निरवशेषमेव क्षपयति। तदाह चूर्णिकृत्-"जंसेसं तं संमत्ते छुभित्ता निरवसेसं खवेइ त्ति" एतच्च इद्धायुष्कापेक्षं संभाव्यते। आवश्यकादौ तमेवाधिकृत्य सम्यक्त्वनिरवशेषक्षपणस्यो-क्तत्वात्, इह च यदि बद्धायुः प्रतिपद्यते अनन्तानुबन्धिक्षये च (मरणसंभवतो, आ० म० प्र०। आव०।) व्युपरमति। ततो मिथ्यादर्शनोदयतस्तान् पुनरप्यनुचिनोति मिथ्यात्वे तद्बीजसंभवात् क्षीणमिथ्यात्वस्तु नोपचिनोति। मूलाभावात्। तदवस्थश्च मृतोऽवश्यमेव त्रिदशेषूपपद्यते, क्षीणदर्शनसप्तकोऽप्यप्रतिपतितपरिणामो म्रियमाणः सुरगतावेवोपपद्यते। प्रतिपतितपरिणामस्तु नानागतित्वात् सर्वगतिभाग्भवति। तथा चोक्तं (विशेषावश्यके)-

"बद्धाऊ पडिवन्नो, पढमकसायक्खए जइ मरिज्जा।
तो मिच्छत्तोदयओ, विणिज्ज भुज्जो न खीणम्मि ॥१३१६॥
तम्मि मओ जाइ दिवं, तप्परिणामो य सत्तए खीणे।
उवरयपरिणामो पुण, पच्छा नाणामईगइओ"॥ १३१७॥

स च यदि बद्धायुः प्रतिपद्यते-(स च सम्यग्दर्शनमशेषमेवक्षपयति। आव० १ अ०।) ततो नियमाद्दर्शनसप्तके क्षीणे सति उपरमति। अबद्धायुष्कः पुनरनुपरत एव समस्तां श्रेणिं समापयति। स च स्वल्पसम्यग्दर्शनावशेष एवाऽप्रत्याख्यानप्रत्याख्यनावरणकषायाष्टकं क्षपयितुं युगपदारभते। एतेषां च अर्द्धक्षपितेषु, आ० म० प्र०।) संख्येयतमं भागं क्षपयन्नेताः षोडश(सप्तदश आव० १ अ०) कर्म प्रकृतीः क्षपयति। तद्यथा-नैरयिकगतिनाम, तिर्यग्गतिनाम, एके न्द्रियजातिनाम, द्वीन्द्रियजातिनाम, त्रीन्द्रियजातिनाम, चतुरिन्द्रियजातिनाम, नरकानुपूर्वीनाम तिर्यगानुपूर्वीनामेति, अप्रशस्तविहायोगतिनाम, स्थावरनाम, सूक्ष्मनाम, अपर्याप्तनाम, साधारणनाम, निद्रानिद्रां, प्रचलाप्रचलां, स्त्यानर्द्धिनामेति। अधिकम्-आतपनाम, उद्योतनाम, ततोऽष्टानां कषायाणामविशेषं क्षपयति। ततो नपुंसकवेदं, ततः स्त्रीवेदं, ततो हास्यादिषट्कं, ततः पुरुषवेदं त्रिधा कृत्वा खण्डद्वयं युगपत् क्षपयति, तृतीयं तु खण्डं ज्वलनक्रोधे प्रक्षिपति पुरुषे प्रतिपत्तर्ययं क्रमः। स्त्रीनपुंसकयोः प्रतिपत्तौ-

रुपशमश्रेणिन्यायो वक्तव्यः । क्रोधादींश्च संज्वलनान् प्रत्येकमन्त र्मुहूर्तेनानेनैव खण्डत्रयरचनान्यायेन क्षपयति। श्रेणिपरिसमाप्ति कालोऽप्यन्तर्मुहूर्तप्रमाण एव दृष्टव्यः । केवलं बृहत्तरमत्रान्तर्मुहूर्तम् । अन्तर्मुहूर्तानामसंख्येयभेदात् लोभचरमखण्डं तु संख्येयानि खण्डानि कृत्वा पृथग् पृथक् कालभेदेन क्षपयति । चरमसंख्येयखण्डं पनुरसंख्येयानि खण्डानि करोति। तान्यपि समये समये एकैकं क्षपयति । इह च क्षीणदर्शनसप्तको निवृत्तिबादरसंपरायः (उच्यते–आव०) तत ऊर्द्धमनिवृत्तिबादरसंपरायो, यावत् संज्वबनलोभस्य द्विचरमं संख्येयखण्डं चरमसंख्येयं खण्डस्य पुनरसंख्येयानि खण्डानि क्षपयन् सूक्ष्मसंपराय उच्यते । तत ऊर्द्धं क्षीणमोहछद्मस्थवीतरागो यथाख्यातचारित्री भवति। ततो यथा कश्चिन्महापुरुषो बाहुभ्यामपारां गम्भीरां महानदीं तीर्त्वा तीरमासाद्यक्षणमेकम् (अनाभोगनिवर्त्तितेन करणेन आ० म० प्र०) विश्राममादत्ते एवमयमपि दुस्तरं मोहसागरं तीर्त्वा संजातपरिश्रमो विश्राम्यतीति । ततश्छद्मस्थवीतरागसंहबन्धिनि समयद्वयेऽविशेष्यमाणे (यदाह–चूर्णिकृत्–''पढमे निद्दं पयलं'' ॥ ४६॥ आव० १ अ०) ततः प्रथमे समये निद्रां १, प्रचलां २, देवगतिं ३, देवानुपूर्व्वीं ४, वैक्रियशरीरनामकर्म ५, वज्रऋषभनाराचसंहननं मुक्त्वा शेषाणि संह ननानि षण्णां संस्थानानां मध्ये यस्मिन् व्यवस्थितस्तदेकं मुक्त्वा शेषाणि संस्थानानि १५। आहारकशरीरनाम १६ । यद्यतीर्थकरः प्रतिपत्ता ततस्तीर्थकरनामकर्मापीति १ वाच्यं १७ एवं सप्तदश प्रकृतीः क्षययति । ततो द्वितीयसमये पञ्चप्रकारं ज्ञानवरणम् । चतुर्विधं दर्शनावरणम् । पञ्चविधमन्तरायं च (युगपत् आ०म०प्र०) क्षपयित्वा विमलकेवलश्रियमवाप्नोतीति। बृ० १ उ०। आ० म० प्र०। आ० चू०। भ०। कर्म०। स्थापना चेयम्–

अधोभागाद् वाचनक्रमेणाऽयमुपशमश्रेणिक्रमः।

०	संज्वलनलोभम्	१
० ०	अप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणलोभौ	२
०	संज्वलमायाम्	१
० ०	अप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणमये	२
०	संज्वलमानम्	१
० ०	अप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानवरणौ मानौ	२
०	संज्वलक्रोधम्	१
० ०	अप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणौ क्रोधौ	२
०	स्त्रीवेदम्	१
००० ०००	कषायषट्कम्	१
०	पुरुषवेदम्	१
०	नपुंसकवेदम्	१
०००	मिथ्यात्वमिश्रसम्यक्त्वम्	३
०० ००	क्रोध–मान–माया–लोभाः–	४

स्त्रीनपुंसकयोर्मध्ये–यदि स्त्री प्रारम्भिका तदा उपशमश्रेणिन्यायेनायं क्षपकश्रेणिक्रमः।

अथ नपुंसकः प्रारम्भकः तदा–प्रथमं क्रोध–मान–माया–लोभान्–ततः स्त्रीवेदम्–ततः पुरुषवेदम्–ततः षट्कादि–संज्वलनान्तम्। क्षपयति उपशमश्रेणिन्यायचक्रोद्धारः 'उवसमसेढि' शब्दे द्वितीयभागे १०४६ पृष्ठे १६ पङ्क्तौ गतो द्रष्टव्यः।

अधोभागाद्वाचनक्रमेणायं क्षपकश्रेणिक्रमः–

०	पुरुषवेदम्	१
००० ०००	हास्यादिषट्कम्	६
०	स्त्रीवेदम्	१
०	नपुंसकवेदम्	१
०	उद्योतनाम	१
०	आतपनाम	१
०	स्त्यानर्द्धिनाम	१
०	प्रचलाप्रचलां	१
०	निद्रानिद्रां	१
०	साधारणनाम	१
०	अपर्याप्तनाम	१
०	सूक्ष्मनाम	१
०	स्थावरनाम	१
०	अप्रशस्तविहायोगतिनाम	१
०	तिर्यगानुपूर्वीं	१
०	नरकानुपूर्वीं	१
०	चतुरिन्द्रियजातिनाम	१
०	त्रीन्द्रियजातिनाम	१
०	द्वीन्द्रियजातिनाम	१
०	एकेन्द्रियजातिनाम	१
०	तिर्यग्गतिनाम	१
०	नैरयिकगतिनाम	१
००००००००	कषायाष्टकम्	८
०	सम्यक्त्वम्	१
०	मिश्रम्	१
०	मिथ्यात्वम्	१
००००	क्रोध–मान–माया–लोभाः	४

पुरुषेप्रतिपत्तर्ययं क्षपकश्रेणिक्रमः।

तथा चाह निर्युक्तिकृत्–

संभिन्नं पासंतो, लोगमलोगं च सव्वतो सव्वं।
तं नत्थि जं न पासइ, भूयं भव्वं भविस्सं च ॥१३४२॥

सम्–एकीभावेन भिन्नं संभिन्नं–यथा बहिस्तथा मध्येऽपीत्यर्थं। अथ वा, द्रव्य क्षेत्रकालभावलक्षणं सर्वमपि ज्ञेयं विषयत्वेन दर्शनीयम् । तत्र संभिन्नमिति द्रव्यं विशेष्यं सूचितं, कालभा–

वौ तद्विशेषकौ। कालभावौ हि द्रव्यस्य पर्यायौ। ततस्ताभ्यां समन्ताद्भिन्नं द्रव्यमिति, संभिन्नग्रहणेन त्रितयमपि सूचितम्। तत् पश्यन् उपलभमानो लोकं धर्म्माद्याधारभूतं क्षेत्रम्, अलोकं च तद्विपरीतं क्षेत्रम्, अनेन क्षेत्रं प्रतिपादितम्। एतावदेव चतुर्विधं ज्ञेयम्। नान्यदिति। किमेकया दिशा पश्यन् नेत्याह– सर्वतः सर्वासु दिक्षु तास्वपि किं कियदपि द्रव्यादि उत नेत्याह– सर्वं निवशेषम्। अमुमेवार्थं स्पष्टयन्नाह–तन्नास्ति किमपि ज्ञेयं भूतमतीतम्, भवतीति भव्यं वर्त्तमानम्, भविष्यच्च यन्न पश्यति केवलीति। आ० म० प्र०। कर्म०।

पढमकसायचउक्कं, एत्तो मिच्छत्तमीससंमत्तं।
अविरयदेसे विरए, पमत्ति अपमत्ति खीयंति ॥६६॥

इह यः क्षपकश्रेणिमारभते सोऽवश्यं मनुष्यो वर्षाष्टकाच्चोपरि वर्त्तमानः, स च प्रथमतः प्रथमकषायचतुष्कमनन्तानुबन्धिसंज्ञं विसंयोजयति। तद्विसंयोजना च प्रागेवोक्ता। तत इतः प्रथमकषायचतुष्कक्षयादनन्तरं मिथ्यात्वमिश्रसम्यक्त्वानि क्षपयति। सूत्रे चैकवचनं समाहारविवक्षणात्। समाहारविवक्षा चामीषां त्रयाणामपि युगपत् क्षपणाय यतते इति ज्ञापनार्था। मिथ्यात्वादीनि च क्षपयन् यथा प्रवृत्तादीनि त्रीणि करणान्यारभते। करणानि च प्रागिव वक्तव्यानि। नवरम् अपूर्वकरणस्य प्रथमसमयेऽनुदितयोर्मिथ्यात्वसम्यग्मिथ्यात्वयोर्दलिकं, गुणसंक्रमेण सम्यक्त्वे प्रक्षिपति। उद्वलनासंक्रममपि तयोरेवमारभते, तद्यथा– प्रथमस्थितिखण्डं वृहत्तरमुद्वलयति, ततो द्वितीयं, विशेषहीनं, ततोऽपि तृतीयं विशेषहीनम्, एवं तावद्वाच्यं यावदपूर्वकरणचरसमयः। अपूर्वकरणे प्रथमसमये च यत् स्थितिकर्म्मासीत्तत्तस्यैव चरमसमये संख्येयगुणहीनं जातम्। ततोऽनिवृत्तिकरणे प्रविशति। तत्रापि स्थितिघातादीन् सर्वानपि तथैव करोति। अनिवृत्तिकरणप्रथमसमये च दर्शनत्रिकस्यापि देशोपशमनानि धत्ते, निकाचना व्यवच्छिद्यन्ते। दर्शनमोहनीयत्रिकस्य च स्थितिसत्कर्मानिवृत्तिकरणप्रथमसमयादारभ्य स्थितिघातादिभिर्घात्यमानम्। घात्यमानं स्थितिखण्डसहस्रेषु गतेष्वसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्थितिसत्कर्मसमानं भवति। ततः स्थितिखण्डसहस्रपृथक्त्वे गते सति चतुरिन्द्रियस्थितिसत्कर्मसमानं भवति। ततोऽपि तावन्मात्रेषु खण्डेषु गतेषु त्रीन्द्रियस्थितिसत्कर्मसमानम्। ततोऽपि तावन्मात्रेषु गतेषु द्वीन्द्रियस्थितिसत्कर्मसमानम्। ततोऽपि तावन्मात्रेषु खण्डेषु गतेष्वेकेन्द्रियस्थितिसत्कर्म्मसमानम्। ततोऽपि तावन्मात्रेषु खण्डेषु गतेषु पल्योपमासंख्येयभागप्रमाणं भवति। तस्त्रयाणामपि प्रत्येकमेकैकं संख्येयभागं मुक्त्वा शेषं सर्वमपि घातयति। ततस्तस्यापि प्राग्मुक्तस्य संख्येयभागस्यैकं संख्येयतमं भागं मुक्त्वा शेषं सर्वं विनाशयति। एवं स्थितिघाताः सहस्रशो व्रजन्ति। तदनन्तरं च मिथ्यात्वस्या संख्येयान् भागान् खण्डयति। सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वयोस्तु संख्येयान्। तत एवं स्थितिखण्डेषु प्रभूतेषु गतेषु सत्सु मिथ्या त्वस्य दलिकमावलिकामात्रं संजातम्। सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वयास्तु पल्योपमासंख्येयभागमात्रम्। अमूनि च स्थितिखण्डानि खण्ड्यमानानि मिथ्यात्वसत्कानि सम्यक्त्वसम्यग् मिथ्यात्वयोः प्रक्षिपति। सम्यग्मिथ्यात्वसत्कानि सम्यक्त्वे। सम्यक्त्व सत्कानि तु अधस्तात् स्वस्थाने इति। तदपि च मिथ्यात्वदलिकमावलिकामात्रं स्तिवुकसंक्रमेण सम्यक्त्वे प्रक्षिपति। तदनन्तरं सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वयोरसंख्येयान् भागान् खण्डयति, एकोऽवशिष्यते। ततस्तस्याप्यसंख्येयान् भागान् खण्डयति, एकं मुञ्चति। एवं कतिपयेषु स्थितिखण्डेषु गतेषु सम्यग्मिथ्यात्वमावलिकामात्रं जातम्। तदानीं सम्यक्त्वस्य स्थितिसत्कर्मवर्षाष्टकप्रमाणं भवति। तस्मिन्नेव च काले सकलप्रत्यूहापगमतो निश्चयमतेन दर्शनमाहेनीयक्षपक उच्यते। तत ऊर्द्धं सम्यक्त्वस्य स्थितिखण्डमन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणमुत्किरति। तद्दलिकं तूदयसमयादारभ्य प्रक्षिपति। केवलमुदयसमये सर्वस्तोकम्। ततो द्वितीयसमये असंख्येयगुणम्। ततोऽपि तृतीयसमयेऽसंख्येयगुणम्। एवं तावद्वक्तव्यं यावद् गुणश्रेणीशिरः। तत ऊर्ध्वं तु विशेषहीनं यावच्चरमा स्थितिः। एवमान्तर्मुहूर्तिकान्यनेकानि खण्डान्युत्किरति, निक्षपति च, तानि च तावत् यावत् द्विचरमं स्थितिखण्डम्। द्विचरमात्तु स्थितिखण्डाच्चरमखण्डमसंख्येयगुणम्। चरमे च स्थितिखण्डे उत्कीर्णे सति असौ क्षपकः कृतकरण इत्युच्यते। अस्यां च कृतकरणाद्धायां वर्त्तमानः कश्चि त्कालमपि कृत्वा चतसृणां गतीनामन्यतमस्यां गतावुत्पद्यते। लेश्यायामपि च पूर्वं शुक्ललेश्याया-मासीत्, संप्रति त्वन्यतमायां गच्छति। तदेवं प्रस्थापको मनुष्यो निष्ठापकश्चतसृष्वपि गतिषु प्राप्यते। उक्तं च–"पट्ठवगो उ मणुस्सो, निट्ठवगो चउसु वि गईसु" इह यदि बद्धायुः क्षपकश्रेणिमारभते, अनन्तानुबन्धिनां च क्षयादनन्तरं मरणसंभवतो व्युपरमते। ततः कदाचित् मिथ्यात्वोदयाद्बध्नोऽप्यनन्तानुबन्धिन उपचिनोति, तद्बीजस्य मिथ्यात्वस्याविनाशात्। क्षीणामिथ्यात्वदर्शनस्तु नोपचिनोति, बीजाभावात्। क्षीणसप्तकस्तु प्रतिपतितपरिणामोऽवश्यं त्रिदशेषूत्पद्यते। प्रतिपतितपरिणामस्तु नानापरिणामसंभवाद्यथा परिणाममन्यतमायां गतावुत्पद्यते। उक्तं च (विशेषावश्यके)–

"बद्धाऊ पडिवन्नो, पढमकसायक्खए जइ मरेज्जा॥
तो मिच्छत्तोदयओ, चिणेज्ज भूयो न खीणम्मि ॥१३१६॥
तम्मि मओ जाइ दिवं, तप्परिणामो य सत्तए खीणे।
उवरयपरिणामो पुण, पच्छा नाणामइगईओ ॥१३१७॥"

बद्धायुष्कोऽपि यदि तदानीं कालं न करोति, तथापि सप्तके क्षीणे नियमादवतिष्ठते, न तु चारित्रमोहक्षपणाय यत्नमारभते, यत आह– (विशेषावश्यककारः)–"वद्धाऊ पडिवन्नो, नियमा खीणम्मि सत्तए ठाइ। इयरोऽणुवरओच्चिय, सयलं सेढिं समाणेइ" ॥१३२५॥ अथोच्यते–क्षीणसप्तको गत्यन्तरं संक्रामन् कतितमे भवे मोक्षमुपयाति? उच्यते–तृतीये चतुर्थे वा भवे, तथाहि–यदि देवगतिं नरकगतिं वा संक्रामति ततो देवभवान्तरितो नरकभवान्तरितो वा तृतीयभवे मोक्षमुपयाति। अथ तिर्यक्षु मनुष्येषु वा समुत्पद्यते, तर्हि सोऽवश्यमसंख्येयवर्षायुष्केषु मध्ये गच्छति, न संख्येयवर्षायुष्केषु। ततस्तद्भवनन्तरं देवभवे, तस्माच्च देवभवाच्च्युत्वा मनुष्यभवे, ततो मोक्षं यातीति चतुर्थे भवे मोक्षगमनम्। उक्तं च पञ्चसंग्रहे–"तइयचतुत्थे तम्मि व, भवम्मि सिज्झंति दंसणे खीणे। जं देवनिरयसंखाउ चरिमदेहेसु ते होंति॥१॥" एतानि च सप्त कर्माणि क्षपयति, अविरतसम्यग् दृष्टिर्देशविरतिः प्रमत्तः अप्रमत्तो वा। तत एतेषु चतुर्ष्वपि सत्पकक्षयः प्राप्यते। तथा चाह सूत्रकृत् (अविरत इत्यादि) अविरते देशे देशविरते प्रमत्तेऽप्रमत्ते च प्रथमकषाय-चतुष्कादीनि सप्त कर्माणि क्षीयन्ते क्षयमुपयान्ति, यदि पुनरबद्धायुः क्षपक–

श्रेणिमारभते, ततः सप्तके क्षीणे नियमादनुपरतपरिणाम एव चारित्रमोहनीयक्षपणाय यत्नमारभते । यत आह–भाष्यकृत्–''इयरो अणुवरओच्चिय, सयलं सेढिं समाणेई'' चारित्रमोहनीयं च क्षपयितुं यतमानो यथा प्रवृत्तादीनि त्रीणि करणानि करोति, तद्यथा–यथा प्रवृत्तकरणमपूर्वकरणनिवृत्तिकरणं च । एतेषां च स्वरूपं पूर्ववदेवावगन्तव्यम् नवरमिह यथा प्रवृत्तकरणमप्रमत्तगुणस्थानके द्रष्टव्यम्, अपूर्वकरणमपूर्वगुणस्थानके । अनिवृत्तिकरणमनिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थानके । तत्रापूर्वकरणेस्थितिघातादिभिरप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणकषायाष्टकं तथा क्षपयति स्म, यथा अनिवृत्तिकरणाद्धायाः प्रथमसमये तत्पल्योपमासंख्येयभागमात्रस्थितिकं जातम् । अनिवृत्तिकरणाद्धायाश्च संख्येयेषु भागेषु गतेषु सत्सु स्त्यानर्द्धित्रिकनरकगतितिर्यग्गतिनरकानुपूर्वीतिर्यगानुपूर्व्यकद्वित्रिचतुरिन्द्रियजातिस्थावरातपोद्योतसूक्ष्मसाधारणरूपाणां षोडश प्रकृतीनामुद्वलनासंक्रमेणोद्वल्यमानानां पल्योपमासंख्येयभागमात्रा स्थितिर्जाता । ततो वध्यमानासु प्रकृतिषु तानि षोडश कर्माणि गुणसंक्रमेण प्रतिसमयं प्रक्षिप्यमाणानि प्रक्षिप्यमाणानि निःशेषतः क्षीणानि भवन्ति । इहाप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणकषायाष्टकं पूर्वमेव क्षपयितुमारब्धं, परं तन्नाद्यापि क्षीणं, केवलमपान्तराल एव पूर्वोक्तप्रकृतिषोडशकं क्षपितम् । ततः पश्चात्तदपि कषायाष्टकमन्तर्मुहूर्त्तमात्रेण क्षपयति । तथा चाह–

''अनियट्टिवायरं थी–णगिद्धितिगनिरयतिरियनामा उ ।
संखेज्ज इमे सेसे, तप्पाउग्गा य खीयंति।
एत्तो हणइ कसाय–ट्ठगं पि पच्छा नपुंसगं इत्थीं ।
तो नो कसायछक्कं छुब्भइ संजलणकोहंम्मि''॥२॥

अनिवृत्तिबादरगुणस्थानके संख्येयतमे भागे शेषे स्त्यानर्द्धित्रिकं निरयगतितिर्द्यग्गतिनाम्नी तत्प्रायोग्याश्च निरयगतितिर्यग्गतिप्रायोग्याश्च एकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियजातिनिरयानुपूर्वी तिर्यगानुपूर्वीस्थावरातपोद्योतसूक्ष्मसाधारणरूपाः सर्वसंख्यया षोडश प्रकृतयः क्षीयन्ते । तत इतः प्रकृतिषोडशकक्षयादनन्तरं निःशेषतः कषायाष्टकं हन्ति । अन्ये पुनराहुः षोडश कर्माण्येव पूर्वं क्षपयितुमारभते, केवलमपान्तरालेऽष्टौ कषायान् क्षपयति, पश्चात् षोडश कर्माणि । ततोऽन्तर्मुहूर्त्तमात्रेण नवानां नोकषायाणां चतुर्णां संज्वलनानामन्तरकरणं करोति । तच्च कृत्वा नपुंसकवेददलिकमुपरितनस्थितिगतमुद्वलनविधिना क्षपयितुमारभते । तच्चान्तर्मुहूर्तमात्रेण पल्योपमासंख्येयभागमात्रं जातम् । ततः प्रभृति वध्यमानासु प्रकृतिषु गुणसंक्रमेण दलिकं प्रक्षिपति । तच्चैवं प्रक्षिप्यमाणमन्तर्मुहूर्त्तमात्रेण निःशेषं क्षीणम्, अधस्तनदलिकञ्च यदि नपुंसकवेदेन क्षपकश्रेणिमारूढः ततोऽनुभवतः क्षपयति, अन्यथा त्वावलिकामात्रं, तच्च वेद्यमानासु प्रकृतिषु स्तिबुकसंक्रमेण संक्रमयति । तदेवं क्षपितो नपुंसकवेदः । ततोऽन्तर्मुहूर्त्तमात्रेण स्त्रीवेदोऽप्यनेनैव क्रमेण क्षिप्यते । ततः षट् नोकषायान् युगपत् क्षपयितुमारभते । ततः प्रभृति च तेषामुपरितनस्थितिगतं दलिकं न पुरुषवेदे संक्रमयति, किं तु संज्वलनक्रोधे । तथा चाह सूत्रकृत्–''पच्छा नपुंसगं इत्थीं नोकषायछक्कं बुब्भइ संजलणकोहम्मि'' कषायाष्टकक्षयानन्तरं पश्चात् (नपुंसगं) नपुंसकवेदं क्षपयति । ततः (इत्थीं) स्त्रीवेदम् । ततः षट् नोकषायान् क्षपयन् । तेषामुपरितनस्थितिगतं दलिकं संज्वलनक्रोधे (छुब्भइ ति) क्षिपति, न पुरुषवेदे । एतेऽपि च षट् नोकषायाः संज्वलनक्रोधे पूर्वोक्तविधिना क्षिप्यमाणा अन्तर्मुहूर्त्तमात्रेण निःशेषाः क्षीणाः । तत्समयमेव च पुरुषवेदस्य बन्धादयोदीरणाव्यवच्छेदः समयोनावलिकाद्विकबद्धं मुक्त्वा शेषदलिकस्य क्षयश्च, ततोऽसाविदानीमवेदको जातः । एवं पुरुषवेदेन क्षपकश्रेणिं प्रतिपन्नस्य द्रष्टव्यम् । यदा तु नपुंसकवेदेन क्षपकश्रेणिं प्रतिपद्यते तदा प्रथमं स्त्रीवेदनपुंसकवेदौ युगपत् क्षपयति । स्त्रीवेदनपुंसकवेदक्षयसमकालमेव पुरुषवेदस्य बन्धो व्यवच्छिद्यते । तदनन्तरं चावेदकः सन् पुरुषवेदहास्यादिषट्के युगपत् क्षपयति । यदा तु स्त्रीवेदेन प्रतिपद्यते तदा प्रथमतो नपुंसकवेदं, ततः स्त्रीवेदं, स्त्रीवेदक्षयसमकालमेव च पुरुषवेदस्य बन्धव्यवच्छेदः । ततोऽवेदकः पुरुषवेदहास्यादिषट्के युगपत् क्षयपति । संप्रति पुरुषवेदन क्षपकश्रेणिं प्रतिपन्नमधिकृत्य प्रस्तुतमभिधीयतेक्रोधं वेद यमानस्य सतस्तस्याः क्रोधाद्धायास्त्रयो विभागा भवन्ति, तद्यथा–अश्वकर्णकरणाद्धा, किट्टिकरणाद्धा, किट्टिवेदनाद्धा च । तत्राऽऽश्वकर्णकरणाद्धायां वर्त्तमानः प्रतिसमयमनन्तानि अपूर्वस्पर्द्धकानि चतुर्णामपि संज्वलनानामन्तरकरणादुपरितनस्थितौ करोति । अस्यां च अश्वकर्णकरणाद्धायां वर्त्तमानः पूरुषवेदमपि समयोनावलिकाद्विकेन कालेन क्रोधे गुणसंक्रमेण संक्रमयन् चरमसमये सर्वसंक्रमेण संक्रमयति । तदेवं क्षीणः पुरुषवेदः । अश्वकर्णकरणाद्धायां च समाप्तायां किट्टिकरणाद्धायां प्रविशति । तत्र च प्रविष्टः सन् चतुर्णामपि संज्वलनानामुपरितनस्थितिगतस्य दलिकस्य किट्टीः करोति । ताश्च किट्टयः परमार्थतोऽनन्ता अपि स्थूरजातभेदापेक्षया द्वादश कल्प्यन्ते । एकैकस्य च कषायस्य तिस्रस्तिस्रः, तद्यथा–प्रथमा, द्वितीया, तृतीया च । एवं क्रोधेन क्षपकश्रेणिं प्रतिपन्नस्य द्रष्टव्यम् । यदा तु मानेन प्रतिपद्यते, तदा उद्वलनविधिना क्रोधे क्षपिते सति त्रयाणां पूर्वक्रमेण नव किट्टीः करोति । मायया चेत्प्रतिपन्नस्तर्हि क्रोधमानयोरुद्वलनविधिना क्षपियतोः सतोः शेषद्विकस्य पूर्वक्रमेण षट् किट्टीः करोति । यदि पुनर्लोभेन प्रतिपद्यते तत उद्वलनविधिना क्रोधादित्रिके क्षपिते सति लोभस्य किट्टित्रिकं करोति । एष किट्टीकरणविधिः । किट्टीकरणाद्धायां निष्ठितायां क्रोधेन प्रतिपन्नः सन् क्रोधस्य प्रथमकिट्टिदलिकं द्वितीयस्थितिगतम् आकृष्य प्रथमस्थितिं करोति वेदयते च तावद्यावत्समयाधिकावलिकामात्रं शेषः । ततोऽनन्तरसमये द्वितीयकिट्टिदलिकं द्वितीयस्थितिगतमाकृष्य प्रथमस्थितिं करोति वेदयते च तावद्यावत्समयाधिकावलिकामात्रं शेषः । ततोऽनन्तरसमये तृतीयकिट्टिदलिकं द्वितीयस्थितिगतमाकृष्य प्रथमस्थितिं करोति वेदयते च तावद् यावत्समयाधिकावलिकामात्रं शेषः । तिसृष्वपि चामूषु किट्टिवेदनाद्धासूपरितनस्थितिगतं दलिकं गुणसंक्रमेणापि प्रतिसमयमसंख्येयगुणवृद्धिलक्षणेन संज्वलनमाने प्रक्षिपति । तृतीयकिट्टिवेदनाद्धायाश्च चरमसमये संज्वलनक्रोधस्यबन्धोदयोदरिणानां युगपद् व्यवच्छेदः सत्कर्मापि च तस्य समयोनावलिकाद्विकबद्धं मुक्त्वाऽन्यन्नास्ति, सर्वस्यापि माने प्रक्षिप्तत्वात् । ततोऽनन्तरसमये मानस्य प्रथमकिट्टिदलिकं द्वितीयस्थितिगतमाकृष्य प्रथमस्थितिं करोति वेदयते च तावद्यावदन्तर्मुहूर्त्तम् । क्रोधस्यापि च बन्धादौ व्यवच्छिन्ने सति तस्य संबान्ध दलिकं समयोनावलिकाद्विकमात्रेण कालेन गुणसंक्रमेण संक्र-

मयन् चरमसमये सर्वसंक्रमेणं संक्रमयति। मानस्याऽपि च प्रथमकिट्टिदलिकं प्रथमस्थितीकृतं वेद्यमानं समयाधिकावलिकाशेषं जातम्। ततोऽनन्तरसमये मानस्य द्वितीयकिट्टिदलिकं द्वितीयस्थितिगतमाकृष्य प्रथमस्थितिं करोति वेदयते च तावद्यावत्समयाधिकावलिकामात्रं शेषः। ततोऽनन्तरसमये तृतीयकिट्टिदलिकं द्वितीयस्थितिगतमाकृष्य प्रथमस्थितिं करोति वेदयते च तावत् यावत् समयाधिकावलिकामात्रं शेषः। तस्मिन्नेव च समये मानस्य बन्धोदयोदीरणानां युगपद्व्यवच्छेदः, सत्कर्मापि च तस्य समयोनावलिकाद्विकबद्धमेव, शेषस्य मायायां *प्रक्षिप्तत्वात्। ततो मायायाः प्रथमकिट्टिदलिकं द्वितीयस्थितिगतमाकृष्य प्रथमस्थितिं करोति वेदयते च तावद्यावदन्तर्मुहूर्त्तम्। मानस्यापि च* बन्धादौ व्यवच्छिन्ने सति तस्य संबन्धिदलिकं समयोनावलिकाद्विकमात्रेण कालेन गुणसंक्रमेण मायायां प्रक्षिपति। मायाया अपि च प्रथमकिट्टिदलिकं द्वितीयस्थितिगतं प्रथमस्थितिकृतं वेद्यमानं समयाधिकावलिकाशेषं जातम्। ततोऽनन्तरसमये मायायाः द्वितीयकिट्टिदलिकं द्वितीयस्थितिगतमाकृष्य प्रथमस्थितिं करोति वेदयते च तावत् यावत्समयाधिकावलिकामात्रं शेषः। ततोऽनन्तरसमये तृतीयकिट्टिदलिकं द्वितीयस्थितिगतमाकृष्य प्रथमस्थितिं करोति वेदयते च तावद् यावद् समयाधिकावलिकामात्रं शेषः। तस्मिन्नेवसमये मामायाः बन्धोदयोदीरणानां युगपद्व्यवच्छेदः, सत्कर्मापि च तस्याः समयोनावलिकाद्विकबद्धमात्रमेव, शेषस्य गुणसंक्रमेण लोभे प्रक्षिप्तत्वावात्। ततोऽनन्तरसमये लोभस्य प्रथमकिट्टिदलिकं *द्वितीयस्थितिगतमाकृष्य प्रथमस्थितिं करोति वेदयते च तावद्* यावदन्तर्मुहूर्त्तम्। संज्वलनमायायाश्च बन्धादौ व्यवच्छिन्ने तस्याः संबन्धि दलिकं समयोनावलिकाद्विकमात्रेण कालेन गुणसंक्रमेण लोभे सर्वं संक्रमयति। लोभस्य च प्रथमकिट्टिदलिकं प्रथमस्थितिकृतं वेद्यमानं समयाधिकावलिकामात्रं शेषं जातम्। ततोऽनन्तरसमये लोभस्य द्वितीयकिट्टिदलिकं द्वितीयस्थितिगतमाकृष्य प्रथमस्थितिं करोति वेदयते च। तां च वेदयमानस्तृतीयकिट्टिदलिकं गृहीत्वा सूक्ष्म किट्टीः करोति, तावद् यावद् द्वितीयकिट्टिदलिकस्य प्रथमस्थितिकृतस्य समयाधिकावलिकामात्रं शेषः। तस्मिन्नेव च समये संज्वलनलोभस्य बन्धव्यवच्छेदो बादरकषायोदयोदीरणा व्यवच्छेदोऽनिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थानकव्यवच्छेदश्च युगपज्जायते। ततोऽनन्तरसमये सूक्ष्मकिट्टिदलिकं द्वितीयस्थितिगतमाकृष्य प्रथमस्थितिं करोति वेदयते च। तदानीमसौ सूक्ष्मसंपराय उच्यते। पूर्वोक्ताश्चा-वलिकास्तृतीयकिट्टिगताः शेषीभूताः सर्वा अपि वेद्यमानासु परप्रकृतिषु स्तिबुकसंक्रमेण संक्रमयति। प्रथमद्वितीयकिट्टिगताश्च यथास्वं द्वितीयतृतीयकिट्ट्यन्तर्गता वेद्यन्ते। सूक्ष्मसंपरायश्च लोभस्य सूक्ष्मकिट्टीर्वेदयमानः सूक्ष्मकिट्टिदलिकं समयोनावलिकाद्विकवद्धंच प्रतिसमयं स्थितिघातादिभिस्तावत् क्षपयति यावत्सूक्ष्म-संपरायाद्धायाः संख्येया भागा गता भवन्ति, एकोऽवशिष्यते। ततस्तस्मिन् संख्येयभागे संज्वलनलोभं सर्वापवर्त्तनयाऽपवर्त्य सूक्ष्मसंपरायाद्धासमं करोति। सा च सूक्ष्मसंपरायाद्धा अद्याप्यन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणा। ततः प्रभृति च स्थितिघातादयो निवृत्ताः शेषकर्मणां तु प्रवर्तन्त एव। तां च लोभस्यापवर्त्तितां स्थितिमुदयोदीरणाभ्यां वेदयमानस्तावद्गतो यावत्समयाधिकावलिकामात्रं शेषः। ततोऽनन्तरसमये उदीरणा स्थिता। तत उदयेनैव केवलेन तां वेदयते यावच्चरमसमयः। तस्मिं श्चरमसमये ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणचतुष्कयशःकीर्त्युच्चैर्गोत्रान्तरायपञ्चकरूपाणां षोडश कर्म्मणां बन्धव्यवच्छेदः मोहनीयस्योदयसत्ताव्यवच्छेदश्च॥६६॥

अमुमेवार्थं संकलय्य सूत्रकृत्प्रतिपादयति–

पुरिसं कोहे कोहं, माणे माणं च बुहइ मायाए।
मायं च बुहइ लोहे, लोहं सुहुमं पि तो हणई॥६७॥

पुरुषं पुरुषवेदं बन्धादौ व्यवच्छिन्ने सति गुणसंक्रमेण क्रोधे संज्वलनक्रोधे (बुहइ त्ति) संक्रमयति। क्रोधस्यापि च बन्धा दौ व्यवच्छिन्ने तं क्रोधं माने संज्वलनमाने संक्रमयति। संज्वलनमानस्यापि बन्धादौ व्यवच्छिन्ने तं संज्वलनमानं गुणसंक्रमेण मायायां संज्वलनमायायां प्रक्षिपति। संज्वलनमायाया अपि बन्धादौ व्यवच्छिन्ने तो संज्वलनमायां लोभे संज्वलनलोभे गुणसंक्रमेण संक्रमयति। संज्वलनलोभस्यापि च बन्धादौ व्यवच्छिन्ने। तं संज्वलनलोभं सूक्ष्ममपि, अपिशब्दाच्छेषमपि हन्ति स्थितिघातादिभिर्विनाशयति। लोभे च साकल्येन विनाशिते सत्यनन्तरसमये क्षीणकषायो जायते। तस्य च क्षीणकषायस्य मोहनीयवर्ज्जानां शेषकर्मणां स्थितिघातादयः पूर्वत् प्रवर्तन्ते तावद् यावत् क्षीणकषायाद्धायाः संख्येया भागा गता भवन्ति, एकः संख्येयो भागोऽवतिष्ठते। तस्मिंश्च ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणचतुष्टयान्तरायपञ्चकनिद्राद्विकरूपाणां षोडशकर्म्मणां स्थितिसत्कर्म्म सर्वापवर्त्तनयाऽपवर्त्य क्षीणकषायाद्धासमं करोति। केवलं हि निद्राद्विकस्य *स्वरूपापेक्षया समयन्यूनं, कर्मत्वमात्रापेक्षया तु तुल्यम्।* सा च क्षीणकषायाद्धा अद्याप्यन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणा, ततः प्रभृति च तेषां स्थितिघातादयः स्थिताः, शेषाणां तु भवन्त्येव। तानि च षोडशकर्माणि निद्राद्विकहीनानि उदयोदीरणाभ्यां वेदयमानस्तावद्गतो यावत्समयाधिकावलिकामात्रं शेषः। ततोऽनन्तरसमये उदीरणा निवृत्ता, तत आवलिकामात्रं कालं यावदुदयेनैव केवलेन वेदयते यावत् क्षीणकषायाद्धाया द्विचरमसमयः तस्मिंश्च द्विचरमसमये निद्राद्विकं स्वरूपसत्तापेक्षया क्षीणं चतुर्दशानां च शेषप्रकृतीनां चरमसमये क्षयः। तथा चाह सूत्रकृत्–''खीणकसायदुचरिमे, निद्दापयला य हणइ छउमत्थो। आवरणमंतराए, छउमत्थे चरिमसमयम्मि॥१॥' व्याख्यातार्था। ततोऽनन्तरसमये सयोगिकेवली भवति। स च लोकमलोकं वा सर्वं सर्वात्मना परिपूर्णं पश्यति। न हि तदस्ति भूतं भवद्भविष्य द्वा यद् भगवान् न पश्यति उक्तं च–विशेषावश्यके–''संभिन्नं पासंतो, लोगमलोगं च सव्वओ सव्वं। तं नत्थि जं न पासइ, भूयं भव्वं भविस्सं च।१३४२।'' इत्थंभूतश्च सयोगिकेवली जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तम्, उत्कर्षतो देशोनां पूर्वकोटिं विहृत्य कश्चित्कर्मणां समीकरणार्थं समुद्घातं करोति। यस्य वेदनीयादिकमायुषः सकाशात् अधिकतरं भवति। अन्यस्तु न करोत्येव। तथा चोक्तं प्रज्ञापनायम्–''सव्वो वि णं भंते! केवलिसमुग्घायं गच्छति? गोयमा! नो इणट्ठे समट्ठे, जस्साऽऽउएण तुल्लाइं बंधणेहिं ठिईए य भवोवग्गहकम्माइं स न समुग्घायं गच्छइ ''अगंतूणं समुग्घाय–मणंता केवली जिण जरमरणविप्पमुक्का, सिद्धिं वरगइं गया।१।'' अत्र (बंधणेहिं ति) बध्यन्ते इति बन्धनाः कर्मपरमाणवः। कृत् ''बहुलम्'' ।५।१।३।

इति(हैम)वचनात् कर्मण्यनट्प्रत्ययः। तैः। शेषं सुगमम्। गत्वाऽगत्वा च समुद्घातं भवोपग्राहिकर्म्मक्षपणाय लेश्यातीतमत्यन्ता प्रकम्पं परमनिर्ज्जराकारणं ध्यानं प्रतिपित्सुर्योगनिरोधायोपक्रमत एव। तत्र पूर्वं बादरकाययोगेन बादरमनोयोगं निरुणद्धि, ततो वाग्योगम्। ततः सूक्ष्मकाययोगेन बादरकाययोगम्। ततस्तेनैव सूक्ष्मकाययोगेने सूक्ष्ममनोयोगं, ततः सूक्ष्मवाग्योगं निरुन्धानः सूक्ष्म क्रियाऽप्रतिपातिध्यानमारोहति। तत्सामर्थ्याच्च वदनोदरादिवि वरपूरणेन संकुचितदेहत्रिभागवर्तिप्रदेशो भवति। तस्मिंश्च ध्याने वर्तमानः स्थितिघातादिभिरायुर्वर्जानि सर्वाण्यपि भवोपग्राहिकर्माणि तावदपवर्तयति यावत्सयोग्यवस्थाचरमसमयः। तस्मिंश्च चरमसमये सर्वाण्यपि कर्माणि अयोग्यवस्थासमस्थितिकानि जातानि। नवरं येषां कर्मणामयोग्यवस्थायामुदयाभावस्तेषां स्थितिं स्वरूपं प्रतीत्य समयोनां विधत्ते। कर्मत्वमात्ररूपतां त्वाश्रित्यायोग्यवस्थासमानामेव स्थितिं करोति। तस्मिंश्च सयोग्यवस्थाचरमसमये अन्यतरद्वेदनीयमौदारिकतैजसकार्मणशरीरसंबद्धे बन्धनसङ्घातनसंस्थानषट्कप्रथमसंहननौदारिकाङ्गोपाङ्गवर्णादिचतुष्टया गुरुलघूपघातपराघातोच्छ्वासशुभाशुभविहायोगतिप्रत्येकस्थिराऽस्थिरशुभाशुभसुस्वरदुःस्वरनिर्माणनाम्नामुदयोदीरणाव्यवच्छेदः। ततोऽनन्तरसमये अयोगिकेवली भवति। अयोगिकेवली च भवस्थो जघन्योत्कर्षमन्तर्मुहूर्त्तं कालं भवति। स च तस्यामवस्थायां वर्त्तमानो भवोपग्राहिकर्मक्षपणाय व्युपरतक्रियमप्रतिपातिध्यानमारोहति। एवमसावयोगिकेवली स्थितिघातादिरहितो यान्युदयवन्ति कर्माणि तानि स्थितिक्षयेणानुभवन् क्षपयति। यानि पुनरुदयवन्ति तदानीं न सन्ति तानि वेद्यमानासु प्रकृतिषु स्तिबुकसंक्रमेण संक्रमयन् वेद्यमानप्रकृतिरूपतया च वेदयमानस्तावद्याति यावदय-योग्यवस्थाद्विचरसमयः॥६७॥

देवगइसहगयाउ, दुचरमसमयभवसिद्धियम्मि खीयंति।
सविवागेयरनामा, नीया गोयं पि तत्थेव॥६८॥

देवगत्या सह गताः स्थिताः देवगतिसहगताः देवगत्या सह एकान्तेनेह बन्धो यासां ताः देवगतिसहगता इत्यर्थः। कास्ता इति चेत्? उच्यते-वैक्रियाहारकशरीरे, वैक्रियाहारकबन्धने, वैक्रियाहारकसङ्घाते, वैक्रियहारकाङ्गोपाङ्गे, देवगतिर्देवानुपूर्वीच एता देवगतिसहगताः। द्विचरसमयभवसिद्धिके इति। द्वौ चरमौ समयौ यस्य भवसिद्धिकस्य स द्विचरमसमयः, स चासौ भवसिद्धिकश्च तस्मिन् द्विचरसमयभवसिद्धिके क्षीयन्ते क्षयमुपगच्छन्ति। तथा तत्रैव द्विचरसमयभवसिद्धिके सविपाकेतरनामानि विपाक उदयः, सह विपाकेन यानि वर्त्तन्ते तानि सविपाकानि, तेषामितराणि प्रतिपक्षभूतानि यानि नामानि तानि सविपाकेतरनामानि, अनुदयवत्योनाम प्रकृतय इत्यर्थः। ताश्चेमाः-औदारिकतैजसकार्मणशरीरम् औदारिकतैजसकार्मणबन्धनसङ्घातानि, संस्थानषट्कम्, संहननषट्कम्, औदारिकाङ्गोपाङ्गं, वर्णगन्धरसस्पर्शा, मनुजानुपूर्वी, पराघातम्, उपघातम् अगुरु, लघु, प्रशस्ताप्रशस्तविहायोगती, प्रत्येकमपर्याप्तकमुच्छ्वासनाम्, स्थिरास्थिरे, शुभाशुभे, सुस्वरदुःस्वरे, दुर्भगम्, अनादेयम् यशः कीर्तिनिर्माणमिति, तथा नीचैर्गोत्रम्, अपिशब्दादन्यतरनुदितं वेदनीयं सर्वसंख्यया सप्तचत्वारिंशत् प्रकृतयः क्षयमुपयान्ति॥६८॥

अन्नयरवेयणिज्जं, मणुयाउयउच्चगोयनवनामा।
वेएइ अजोगिजिणो, उक्कोसो जहन्नइक्कारं॥६९॥

अन्यतरद्वेदनीयं सातमसातं वा द्विचरमसमयक्षीणादितरद् मनुष्यायुरुच्चैर्गोत्रं नव नामानि नव नामप्रकृतीः, सर्वसंख्यया द्वादश प्रकृतीर्वेदयते। अयोगिजिनोऽयोगिकेवली जघन्येन एकादश, ताश्चता एव द्वादश, तीर्थकरवर्जा द्रष्टव्याः॥६९॥

नवनाम इत्युक्तं ततस्ता एव नवनामप्रकृतीर्दर्शयति-

मणुयगइजाइतस-बायरं च पज्जत्तसुभगमाइज्जं।
जसकित्ती तित्थयरं, नामस्स हवंति नव एया॥७०॥ गतार्था।

अत्रैव मतान्तरं दर्शयति-

तच्चाणुपुव्वीसहिया, तेरस भवसिद्धियस्स चरिमम्मि।
संतं सगमुक्कोसं, जहन्नयं बारस हवंति॥७१॥

तृतीयानुपूर्वी मनुष्यानुपूर्वी तया सहितास्ता एव द्वादश प्रप्रकृतयस्त्रयोदश सत्यो भवसिद्धिकस्य तद्भवमोक्षगामिनः (संतं सगत्ति) सत्कर्म उत्कृष्टं भवति। जघन्यं पुनर्द्वादश प्रकृतयो भवन्ति ताश्च द्वादश प्रकृतयस्ता एव त्रयोदशतीर्थकरनामसहिता वेदितव्याः॥७१॥

अथ कस्मात्ते एवमिच्छन्ति? इति। आह-

मणुयगइसहगया उ, भवखित्तविवागजीवविवागि त्ति।
वेयणियन्नयरुच्चं, व चरिमभवियस्स खीयम्मि॥७२॥

मनुजगत्या सह गताः स्थिताः मनुजगतिसहगताः, मनुष्यगत्या सह यासामुदयस्ता मनुजगतिसहगता इत्यर्थः। किं विशिष्टास्ता इत्याह-(भवखित्तविवागजीविवागि त्ति) भवविपाकाः क्षेत्रविपाका जीवविपाकाश्च। तत्र भवविपाका मनुष्यायुः, क्षेत्रविपाका मनुष्यानुपूर्वी, शेषा नव जीवविपाकाः। तथाऽन्यतरद्वेदनीयमुच्चैर्गोत्रं च, सर्वसंख्यया त्रयोदश प्रकृतयो भविकस्य भवसिद्धिकस्य चरमे समग्रे क्षीयन्ते, न द्विचरमसमये। ततश्चरमसमये भवसिद्धिकस्योत्कृष्टं सत्कर्म त्रयोदशप्रकृतयो जघन्यतो द्वादश भवन्तीति। अन्ये पुनराहुः-मनुष्यानुपूर्व्या द्विचरमसमय एव व्यवच्छेदः उदयाभावात्। उदयवतीनां हि स्तिबुकसंक्रमाभावात् स्वस्वरूपेण चरमसमये दलिकं दृश्यत एवेति युक्तस्तासां चरमसमये सत्ताव्यच्छेदः। आनुपूर्वीनाम्नां तु चतुर्णामपि क्षेत्रविपाकितया भवापान्तरालगतावेवोदयः, तेन न भवस्थस्य तदुदयसंभवः, तदसंभवाच्चायोग्यवस्थाद्विचरमसमय एव मनुष्यानुपूर्व्याः सत्ताव्यवच्छेद इति। एतदेवमतमधिकृत्य प्राक् द्विचरमसमये सप्तचत्वारिंशत्प्रकृतीनां सत्ताव्यवच्छेदो दर्शितः। चरमसमये तूत्कर्षतो द्वादशानां जघन्यत एकादशानामिति। ततोऽनन्तरसमये कोशबन्धमोक्षलक्षणसहकारिसमुत्थस्वभा-वविशेषाद् एरण्डलफलमिव भगवानपि कर्मसंबन्धमोक्षलक्षण-सहकारिसमुत्थस्वभावविशेषादूर्द्धं लोकान्ते गच्छति। सचोर्द्धं गच्छन् ऋजुश्रेण्या यावत्स्वाकाशप्रदेशेष्विहावगाढस्तावतः प्रदेशानूर्द्ध्वमप्यवगाहमानो विवक्षितसमयाच्चान्यत्समयान्तरमस्पृशन् गच्छति। उक्तं चावश्यक चूर्णौ-"जत्तिए जीवो अवगाढो तावइयाए ओगाहणाए उड्ढं उज्जुगं गच्छइ नवकंबीयं च समयं न फुसइ त्ति"॥ इत्थं चानेके भगवन्तः कर्म्मक्षयं कृत्वा तत्र गताः सन्तः सिद्धिसुखं शाश्वतं कालमनुभवन्तोऽवतिष्ठन्ते। कर्म० ६ कर्म०। पं०सं० आचा०॥

खवण न० (क्षपण) प्रकृत्यन्तरसंक्रमितस्य कर्मणः प्रदेशोदयेन निर्जरणे, विशे० । अप्रत्याख्यानादिप्रक्रमेण क्षपकश्रेण्यां मोहाद्यभावापादने, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ०।

कर्मांशक्षपणकालो देवानाम्–

अत्थि णं भंते ! देवा अणंते कम्मंसे जहण्णेणं एक्केण वा दोहिं वा तिहिं वा उक्कोसेणं पंचहिं वाससएहिं खवयंति ? हंता अत्थि । अत्थि णं भंते ! देवा जे अणंते कम्मंसे जहण्णेणं एक्केण वा दोहिं वा तिहिं वा उक्कोसेणं पंचहिं वाससहस्सेहिं खवयंति ? हंता अत्थि । अत्थि णं भंते ! देवा जे अणंते कम्मंसे जहण्णेणं एक्केण वा दोहिं वा तिहिं वा० जाव पंचहिं वाससएहिं खवयंति । कयरे णं भंते ! देवा० जाव पंचहिं वासयसहस्सेहिं खवयंति । कयरे णं भंते ! देवा० जाव पंचहिं वाससहस्सेहिं खवयंति ? गोयमा ! वाणमंतरा अणंते कम्मंसे एगेण वाससएणं खवयंति । असुरिंदवज्जियाणं भवणवासी देवा अणंते कम्मंसे दोहिं वाससएहिं खवयंति । असुरकुमारा देवा अणंते कम्मंसे तिहिं वाससएहिं खवयंति । गहगणणक्खत्ततारारूवा जोइसिया देवा अणंते कम्मंसे चउवास० जाव खवयंति । चंदिमसूरिया जोइसिंदा जोइसरायाणो अणंते कम्मंसे पंचहिं वाससएहिं खवयंति । सोहम्मीसाणगा देवा अणंते कम्मंसे एगेणं वाससहस्सेणं० जाव खवयंति । सणंकुमारमाहिंदगा देवा अणंते कम्मंसे दोहिं वाससहस्सेहिं खवयंति । एवं एएणं अभिलावेणं बंभलोगंतगा देवा अणंते कम्मंसे तिहिं वाससहस्सेहिं खवयंति । महासुक्कसहस्सारगा देवा अणंते कम्मंसे चउहिं वाससहस्सेहिं खवयंति । आणयपाणयआरणअच्चुयगा देवा अणंते कम्मंसे पंचहिं वाससहस्सेहिं खवयंति । हेट्ठिमगेवेज्जगा देवा अणंते कम्मंसे एगेणं वाससयसहस्सेणं खवयंति । मज्झिमगेवेज्जगा देवा दोहिं वससयसहस्सेहिं खवयंति । उवरिमगेवेज्जगा देवा अणंते कम्मंसे तिहिं वाससयसहस्सेहिं खवयंति । विजयवेजयंतजयंतअपराजियगा देवा अणंते कम्मंसे चउहिं वाससयसहस्सेहिं खवयंति । सव्वट्ठसिद्धगा देवा अणंते कम्मंसे पंचहिं वाससयसहस्सेहिं खवयंति । एएणं गोयमा ! ते देवा जे अणंते कम्मंसे जहण्णेणं एक्केण वा दोहिं वा तिहिं वा उक्कोसे णं पंचहिं वाससएहिं खवयंति । एएणं गोयमा ! ते देवा० जाव पंचहिं वाससयहस्सेहिं खवयंति । एएणं गोयमा ! ते देवा० जाव पंचहिं वाससयसहस्सेहिं खवयंति, एएणं गोयमा ! ते देवा० जाव पंचहिं वाससयसहस्सेहिं खवयंति, सेवं भंते ! भंते त्ति । भ० १८ श० ७ उ० ।

संस्तारस्थिसाधुः कर्मलघु क्षपयति–

**जो संख्येज्जभवट्ठिइं, सव्वं पि खवेइ सो तहिं कम्मं ।
अणुसमयं साहुपयं, साहू वुत्तो तहिं समए ॥४६॥**

यः साधुः (संखिज्जभवट्ठिइं ति) संख्याता संख्यायुर्लक्षणा भवे एकस्मिन् भवे एकजन्मस्थितिकः असंख्यातवर्षायुषो हि चारित्रप्रतीतिरपि न भवतीति संख्यातवर्षस्थितिकत्वमुक्तम् (सव्वं पि खवेइ सो तहिं कम्मं ति) सर्व्वमपि क्षपयति निर्जरयति स साधुस्तत्र तस्मिन्संस्तारके व्यवस्थितः प्रथमसंहननवत्प्रकृष्टाराधनः क्षपयति अष्टप्रकारमपि कर्म्म । अयं प्रतिसमयं स साधु साधुपदं प्रतिपन्नः सन् तस्मिन्नेव भवे प्रायः कर्म्म क्षपयति । अनुसमयं तस्मिन्सुपर्यन्ताराधना-समयैर्व्युक्तो विशेषेणोक्तः तस्यामवस्थायां विशेषतः क्षपणात् लाभप्रश्नस्य गुरुणा निर्वचनं दत्तम् ॥४६॥ संथा० ॥ 'जं अन्नाणी कम्मं खवेइ' इत्यादि ज्ञानमये उपवासे, । ''चउत्थं छट्ठं अट्ठमं दसमं दुवालसमं अद्धमासखमणं मासदुमासतिमासचउमासपंचमासछम्मासा सव्वं पि इत्तरं आवकहियं वा''॥ नि० चू० १ उ० । (ये ये क्षपणाः शोध्याः तान् एकत्रीकृत्य गाथाद्वयेन 'उग्गम' शब्दे द्वि० भागे ६६६ पृष्ठे)

कालद्धाणाईए, निव्विगइ खमणमेव परिभोगे (४६) ॥

विकथादिप्रमादेन विस्मृत्य भक्तादौ कालाध्वातीतस्य परिभोगे कृते सति (निव्विगइ खमणमेवे ति) एवशब्दः पुनरर्थे स च परिभोगशब्दादग्रे प्रोच्यते । ततश्च कालाध्वातीतस्य परिभोगे पुनः क्षपणम् ॥जीत० ॥

(जीएणेगासणयं,) सेसगमाया तु खमणं तु (॥६६॥)

पूर्वोक्तमायातोऽन्याः यथा–

''सिया एगयओ लद्धुं, विविहं पाणभोयणं ।
भद्दगं भद्दगं भुच्चा, विवन्नं विरसमाहरे ॥१॥ ''
जाणं तु ता इमे समणा, आययट्ठी(मोक्षार्थी) अयं मुणी ।
संतुट्ठो सेवए पंतं लूहवित्तीसु तोसओ ॥२॥''

इत्यादिकासु यशोऽर्थं कृतासु मायासु पुनः क्षपणम् । जीत०। त्रैकालिकचैत्यवन्दनस्यैकवारमकरणे क्षपणम् । महा० ७ अ०। क्षपयति कर्म्माणि इति क्षपणः पुं० क्षपकर्षौ, पिं०। ''खवेति जं च आणं'' क्षपयति यद्यस्मात् ऋणं कर्म तस्मात् क्षपणः । दश० ७ अ०। क्षुते, आ०म०प्र०।

खवणा स्त्री (क्षपणा) क्षपणमपचयो निर्जरा पापकर्मक्षपणहेतुत्वात् क्षपणा। भावाध्ययने सामायिकादिश्रुतविशेषे, अनु०। आ०म०। अस्या 'झवणा' इत्यादि रूपं भवति।

अस्य निक्षेपः।

से किं तं? झवणा । झवणा चउव्विहा पण्णत्ता । तं जहा नामज्झवणा, ठवणज्झवणा, दव्वज्झवणा, भावज्झवणा, नामठवणज्झवणा उ पुव्वं भणिआओ । से किं तं दव्वज्झवणा । दव्वज्झवणा दुविहा पण्णत्ता । तं जहा–आगमओ अ, नोआगमओ अ । से किं तं आगमओ, दव्वज्झवणा? २ जस्स णं झवणे त्ति पदं सिक्खिअं ठिअं जिअं मिअं परिजिअं०जाव सेत्तं आगमओ दव्वज्झवणा । से किं तं नोआगमओ दव्वज्झवणा ? नो आगम–

ओ दव्वज्झवणा तिविहा पणत्ता । तं जहा–जाणगसरीरदव्वज्झवणा, भविअसरीरदव्वज्झवणा, जाणगसरीरभविअसरीरवइरित्ता दव्वज्झवणा । से किं तं जाणगसरीदव्वज्झवणा? पयत्थाहिगारजाणयस्स जं सरीरयं ववगयचुअचाविअचत्तदेहं सेसं जहा दव्वज्झयणे जाव सेत्तं जाणगसरीरदव्वज्झवणा। से किं तं भविअसरीरदव्वज्झवणा? भविअसरीरदव्वज्झवणाए जे जीवे जोणी जम्मण णिक्खंते सेसं जहा दव्वज्झयणे० जाव सेत्तं भविअसरीदव्वज्झवणा । से किं तं जाणगसरीरभविअसरीरवइरित्तादव्वज्झवणा ? २ जहा जाणगसरीरभवि-असरीरवइरित्ते दव्वाए तहा भाणियव्वा० जाव सेत्तं मीसिआ । सेत्तं लोगुत्तरिआ । सेत्तं जाणगसरीरभविअसरीरवइरित्ता दव्वज्झवणा । सेत्तं नोआगमओ दव्वज्झवणा । सेत्तं दव्वज्झवणा । से किं तं भावज्झवणा ? भावज्झवणा दुविहा पण्णत्ता । तं जहा–आगमओ अ, णोआगमओ अ। से किं तं आगमओ भावज्झवणा? भावज्झवणा जाणए उवउत्ते सेत्तं आगमओ भावज्झवणा । से किं तं णोआगमओ भावज्झवणा ? णोआगमओ भावज्झवणा दुविहा पण्णत्ता । तं जहा–पसत्थाय, अपसत्थाय । से किं तं पसत्था ? पसत्था तिविहा पण्णत्ता । तं जहा–णाणज्झवणा, दंसणज्झवणा, चरित्तज्झवणा । सेत्तं पसत्था । से किं तं अपसत्था ? अपसत्था चउव्विहा पण्णत्ता । तं जहा–कोहज्झवणा, माणज्झवणा, मायज्झवणा, लोभज्झवणा । सेत्तं अपसत्था । सेत्तं नोआगमओ भावज्झवणा । सेत्तं भावज्झवणा । सेत्तं नोआगमओ भावज्झवणा । सेत्तं ओहनिप्पन्ने ॥अनु०॥

क्षपणा द्विधा । द्रव्यतो, भावतश्च । द्रव्यतः सकषायस्यैहिकापायभीरोः भावतः संवेगमापन्नस्य सम्यग्दृष्टेरिति ॥ आव० ३ अ० दश०।

खवल्लमच्छ पुं० (खवल्लमत्स्य) मत्स्यभेदे, विपा० १ श्रु० ८ अ० । जी०।

खवा स्त्री० (क्षपा) रात्रौ, हरिद्रायां च । वाच० । बृ० ।

खवाजल न० (क्षपाजल) अवश्याये, स्था० ४ ठा० ४ उ०।

खस पुं० [ख(श)स] अनार्यक्षेत्रभेदे, म्लेच्छजातौ च । सूत्र० २ श्रु० २ अ० प्रव० प्रश्न० सू० प्र० मुरानामगन्धद्रव्ये, वाच० । (खस) इति ख्याते वृक्षे, वाच० ।

खसखस पुं० (खसखस) खसप्रकारः द्वित्वं पृषो० खसतिले (पोस्ता) वृक्षभेदे, धान्यभेदे, वाच० । ध० ।

खसदुम पुं० (खशद्रुम) चित्रितशृगाले, बृ० १ उ० । (तत्कथा 'कप्प' शब्दे अस्मिन्नेव भागे २२२ पृष्ठे उक्ता)

खसिअ न० (खचित) **"खचितपिशाचयोश्चः स–ल्लौ वा"।८।१।१६३।** इति चस्य सः । मण्डिते, प्रा० १ पाद।

कसित त्रि० आर्षत्वात्कस्य खः। कासरोगे, प्रा० १ पाद ।

खह न० (खह) खनने भुवो हाने च त्यागे यद्भवति तत् खहमिति निर्युक्तिवशाद् । आकाशे, भ०२० श० २ उ०।

खहचर पुं० (खचर) खे आकाशे चरन्तीति खचराः प्राकृतत्वाद् दीर्घत्वाच्च खहचरा इति सूत्रे पाठः। प्रज्ञा० १ पद।

तद्भेदाः खचरप्रतिपादनार्थमाह–"से किं तमित्यादि" अथ केते संमूर्च्छिम खचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाः? सूरिराह–संमूर्च्छिमखचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाश्चतुर्विधाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा–"भेदो जहा पण्णवणाए" इति भेदो यथा प्रज्ञापनायां तथा वक्तव्यः सचैवं "चम्मपक्खी लोमपक्खी समुग्गपक्खी वितततपक्खी" (चरमपक्षादीनां भेदाः स्वस्वशब्दे) (अवगाहनादिरस्य अवगाहनादि शब्देषु) वैताढ्यवासिनि विद्याधरे, जं० २ वक्ष० । ('आहार' शब्दे द्वि० भागे ४६७ पृष्ठे एषामाहारः)

खहयरमंस पुं० (खचरमांस) लावकचटकादीनां खेचराणां सबन्धिनि मांसे, प्रव० ४ द्वार ।

खहयरी स्त्री० (खचरी) खचरस्त्रियाम्, स्था० ३ ठा० १ उ०।

खाअ न० (खात) खन–भावे क्तः **"द्वितीयतुर्ययोरुपरिपूर्वः" ८।२।६०।** इति द्वित्वाभावान्न प्रवर्त्तते । प्रा० २ पाद । खनने,

खादित त्रि० (खादक्त) **"खादधावोर्लुक्"।८।४।२२८।** इत्यत्ययस्य लुक् । भक्षिते, प्रा० ४ पाद ।

खाइ स्त्री० (ख्याति) ख्या क्तिन् प्रशंसायाम्, कथने, वाच० गुणवन्तो विशिष्टाः साधवः इत्यादिप्रवादरूपायाम्, स्था० ५ ठा० ३ उ० यशःपराक्रमकृत्यायां प्रसिद्धौ, स्था० ३ ठा० ४ उ० ज्ञाने चतसः ख्यातयः। अख्यातिः, अन्यथाख्यातिः, आत्मख्यातिः, असत्ख्यातिश्च । तत्राख्यातिर्नाम विवेकाख्यातिः अन्यथाख्यातिर्विपरीताख्यातिः । वाच० ।

ख्यातयो लिख्यन्ते–तत्र प्रभाकरमतानुसारिणो विवेकाख्यातिं मन्यन्ते विपर्यस्तज्ञाने । तथाहि–इदं रजतमिति ज्ञाने अन्योऽन्यविभिन्नं ज्ञानद्वयं प्रत्यक्षस्मरणरूपं विभिन्नकारणप्रभवत्वात् विभिन्नविषयत्वाच्च सिध्यत्येव । इन्द्रियं हीदमंशोल्लेखिनः प्रत्यक्षस्य कारणं संस्कारश्च स्मरणस्येति सिद्धमत्र भिन्नकारणप्रभवत्वं, ययोश्च भिन्नकारणप्रभवत्वं तयोरन्योऽन्यं भेदो यथा प्रत्यक्षानुमानयोः विभिन्नकारणप्रभवत्वं चात्र विभिन्नविषयत्वं चात्र सुप्रसिद्धम् । इदमिति ज्ञानस्य पुरोवर्तिशक्तिशकलालम्बनत्वात् । रजतमिति ज्ञानस्य च व्यवहितरजतविषयत्वात् । यत्र विभिन्नविषयत्वं तत्रान्योऽन्यं भेदो यथा रूपरसाऽऽदिज्ञाने अस्ति चात्र विभिन्नविषयत्वमिति इत्थं प्रत्यक्षात् स्मृतिर्विभिन्नापि प्रसृष्टेति न विवेकेन प्रतिभासत इत्यविवेकख्यातिः । न त्वेकमेवेदं ज्ञानम् । तथात्वेन तदुत्पत्तौ कारणाभावत् । तत्र हि कारणमिन्द्रियमन्यद्वा ? न तावदन्यदुपरतेन्द्रियव्यापारस्यापि तदुत्पत्तिप्रसङ्गात् । नपीन्द्रियं । तद्धि रजतसदृशे शुक्तिशकले संप्रयुक्तं सत्तत्र निर्विकल्पकमुपजनयेत् सविकल्पकमपि तत्रैव, न रजते, तस्येन्द्रियेणासंबन्धात् अवर्त्तमानत्वाच्च । नचासंबद्धमवर्त्तमानं चेन्द्रियग्राह्यम् । संबद्धं वर्त्तमानं च गृह्यते चक्षुरादिना इत्यभिधानात् । अन्यथा विप्रकृष्टाशेषार्थानामपि ग्राह्यत्वप्रसङ्गतोऽनुपाये सिद्धमशेषस्याशेषज्ञत्वं स्यात् । न च दोषाणामयं महिमेत्यभिधातव्यम् यतः कोऽयं तन्महिमा नाम इन्द्रियशक्तेः प्रतिबन्धः, प्रध्वंसो वा, विपरीतज्ञानविर्भा–

वो वा। तत्राद्यविकल्पद्वयमयुक्तम्। कार्यानुत्पादप्रङ्गात्। न हि मणिमन्त्रादिना दहनशक्तेः प्रतिबन्धे प्रध्वंसे वा स्फोटादिकार्योत्पत्तिर्दृष्टा। तृतीयविकल्पोऽप्यनुपपन्नः न खलु दुष्टावयवाः विपरीतं कार्यमाविर्भावयन्तः प्रतीयन्ते। अतो ज्ञानद्वयमेतदिदमिति हि प्रत्यक्षं पुरो व्यवस्थितार्थग्राहि, रजतमिति चानुभूतरजतस्मरणमिति, रजताकारा हि प्रतीती रजतविषयैव, न शुक्तिविषया, अन्याकारायाः प्रतीतेरन्यविषयत्वायोगात्, तद्योगे वा, सर्वज्ञानं सर्वविषयं स्यादिति, सर्वस्य सर्वदर्शित्वापत्तिः। प्रयोगे यद् यदाकारं ज्ञानं तत्तद्विषयमेव। यथा घटाकारं घटविषयमेव, रजताकारं चेदमिति। यदि वाऽन्याकारापि प्रतीतिरन्याविषया स्यात्तदा स्वार्थव्यभिचारतः सर्वत्राप्यनाश्वासः स्यात् ततो रजताकारं रजतविषयमेव ज्ञानमभ्युपगन्तव्यम्। न च रजतमग्रतः संनिहितमतोऽतीतमेव तत्तदा स्मर्यते इति, न तज्ज्ञानं प्रत्यक्षमिन्द्रियार्थसंप्रयोगजत्वाभावात्। ननु यद्यतीतं रजतं स्मर्यते तदाऽतीतस्यातीततयैव प्रतिभासः स्यात्, न तु वर्त्तमानरजततुल्ययेत्यपेशलम्। अतीतस्यापि रजतस्य दोषतोऽतीतत्वेनाप्रतिभासनात्। वर्त्तमानस्य च शुक्तिलक्षणार्थस्य ग्राहकं ज्ञानं शुक्तिकेयमिति तल्लक्षणमर्थं स्वरूपेण प्रतिपत्तुमसमर्थं शुक्तित्वलक्षणविशेषणस्य रजतात् शुक्तेर्भेदकस्याग्रहणात् साधारणात्मभावो रजतान्वयिना स्थितं वस्तुप्रतिपद्यमानं रजतस्मृतिज्ञानस्य स्मरामीत्याकाराशून्यस्य कारणतां प्रतिपद्यते। स्मरामीत्याकारशून्यत्वमेव चास्याः प्रमोष इति। न च स्मृतिप्रमोषाऽभ्युपगमे रजतज्ञानस्य सत्यत्वादुत्तरज्ञानेन बाध्यतानुपपत्तिरित्यभिधातव्यम्। शुक्तिकेयमिति भेदबुद्धौ भेदानध्यवसायानिवारणेन पूर्वप्रत्ययप्रसञ्जितरजतो चितप्रवृत्त्यादिव्यवहारनिवारणतस्तस्या उपपत्तेः। ये तु स्मृतिप्रमोषमनिच्छन्तस्तत्र विपरीतख्यातिं प्रतिपद्यन्ते तेषां बाह्यार्थसिद्धिर्न प्राप्नोति। तद्दृष्टान्तेनाशेषप्रत्ययानां निरालम्बनत्वप्रसङ्गात्। यथैव हिरजतप्रत्ययो रजताभावेऽपि रजतमवभासयति तथा—सर्वे बाह्यार्थप्रत्ययास्तदभावेऽपि तदवभासिनः इत्यद्वैतवादिमतसिद्धिः स्यात्। तामनिच्छता स्मृतिप्रमोष एवाऽभ्युपगन्तव्यः इति विवेकाख्यातिः ॥१॥ अपरे अख्यातिं मन्यन्ते—तथाहीदं रजतमिति ज्ञाने रजत सत्ताविषयभूता तावन्नास्ति अभ्रान्तत्वानुषङ्गात्। रजताऽभावोऽपि न तदालम्बनं तद्विषयपरत्त्वेनास्य प्रवृत्तेः अत एव शुक्तिशकलमपि न तदालम्बनं रजताकारेण शुक्तिशकलमित्यप्ययुक्तम्। अन्यस्यान्याकारेण ग्रहणाप्रवृत्तेः। न खलु घटाकारेण पटस्य ग्रहणं प्रतीतम्। अतो न किञ्चिदत्र ज्ञाने ख्यातीति, सिद्धा अख्यातिः।२। अपरे तु असत्ख्यातिं मन्यन्ते॥ तथाहि—इदं प्रतिभासमानं वस्तुस्वरूपं ज्ञानधर्मः, अर्थधर्मो वा स्यात् न तावज्ज्ञानधर्मोऽनहङ्कारास्पदत्वात्। बहिरिदंतया प्रतिभासमानत्वाच्च। नाप्यर्थ धर्मः। तत्साध्यार्थक्रियाकारित्वाभावात्। बाधकप्रत्ययेन तद्धर्मतयाऽस्य बाध्यमानत्वाच्च। असदेव तत्तत्र प्रतिभासते। इत्यसत्ख्यातिः ॥३॥ अन्ये तु प्रसिद्धार्थख्यातिं प्रतिपन्नाः तथा हि—प्रतीतिसिद्ध एवार्थो विपर्ययज्ञाने प्रतिभाति। न चास्य विचार्यमाणस्यासत्त्वं वाच्यं, प्रतीतिव्यतिरेकेणापरस्य विचारस्यैवासंभवात्, प्रतीतिबाधितत्वाच्च। न च तत्प्रसिद्धेऽर्थे विचारो युक्तः। करतलगतामलकादेरपि हि प्रतिभासबलेनैव सत्त्वम्। स च प्रतिभासोऽन्यत्राऽप्यविशिष्टः। अथ मरीचिकाचक्रादौ जलार्थस्य प्रतिभा, तस्य तद्देशोपसर्पणे सत्युत्तरकात्वे प्रतिभासाभावादसत्त्वम्। तदयुक्तम्। यतो यद्यप्युत्तरकाले सोऽर्थो न प्रतिभाति, तथापि यदा प्रतिभाति, तदा तावदस्त्येव। अन्यथा विद्युदादेरपि स्वप्रतिभासकाले सत्त्वसिद्धिर्न स्यात्तस्मात्प्रसिद्धार्थख्यातिरेवेयमिति ॥४॥ अन्ये त्वात्मख्यातिं मन्यन्ते। तथाहि—शुक्तिकायामिदं रजतमिति रजतं प्रतिभासते, तस्य च बाह्यस्य बाधकप्रत्ययात्प्रतिभासो नोपपद्यते। न खलु यथैव प्रतिभासते तथैवार्थ इत्यभ्युपगन्तुं युक्तम्। भ्रान्तत्वाभावप्रसङ्गात्। अतो ज्ञानस्यैवायमाकारोऽनाद्यविद्यावासनासामर्थ्याद्बहिरिव प्रतिभासत इत्यात्मख्यातिः ॥५॥ केचिदनिर्वचनीयख्यातिं मन्यन्ते। तथाहि—शुक्तिकायां रजताकाराः सन्, असन्, उभयरूपो वा? न तावत् सन्, उत्तरकाले बाधकानुत्पत्तिप्रसङ्गतस्तर्हि तद्रजतत्वप्रसक्तेः। नाप्यसन्—आकाशकुशेशयवत् प्रतिभासाभावप्रसङ्गात्। नाप्युभयरूपः, उभयदोषानुषङ्गात्। सदसतोरैकात्म्यविरोधाच्च। तस्मादयं बुध्यिदर्शितोऽर्थः सत्त्वेनासत्त्वेनोभयधर्मेण वा निर्वक्तुं न शक्यत, इत्यनिर्वचनीयार्थख्यातिः।६। इति ख्यातिग्रन्थपाठः। अत्रविवेकाख्यातिवादी वदति—विवादास्पदमिदं रजतमिति प्रत्ययो, न वैपरीत्येन स्वीकर्त्तव्यः, तथा विचार्यमाणस्य तस्यानुपपद्यमानत्वाद्, यद्यथा विचार्यमाणं नोपपद्यते, न तत्तथा स्वीकर्त्तव्यम्, यथा—स्तम्भः कुम्भरूपतयेति। न चेदं साधनम् सिध्दिमधारयत्, तथाहि—किमिदं प्रत्ययस्य वैपरीत्यं स्याद्? अर्थक्रियाकारिपदार्थाप्रत्यायकत्वम्, अन्यथा प्रथनं वा? आद्ये भेदे, विवादास्पदप्रत्ययप्रत्यायिते पदार्थे किमर्थक्रियामात्रमपि नास्ति, तद्विशेषसाध्या वा सा न विद्यते? नाद्यः पक्षः, शुक्तिसाध्यायास्तस्या भावात्। द्वितीये तु, ज्ञानकालो सा नास्ति, कालान्तरेऽपि वा? ज्ञानकाले तावत्तथ्यकलधौतबोधेऽपि क्वापि सा नास्त्येव। कालान्तरे तु प्रचुरतरसमीरसमीरणाशुव्यपायपियोवुद्वुद बोधेऽपि सा न विद्यत एव। तन्नार्थक्रियेत्यादिपक्षः क्षेमकारः। तत्पुरस्सरपक्षे तु, तथाविधवैपरीत्यं तस्य स्वेनैव, पूर्वज्ञानेन, उत्तरज्ञानेन वा अवसीयेत? न स्वेनैव, तेन स्वस्य वैपरीत्यावसाये प्रमातुः प्रवृत्त्यभावप्रसङ्गात्। अथ पूर्वज्ञानेन, किं स्वकालस्थेन, तत्कालस्थेन वा? नाद्येन, तत्काले वैपरीत्यास्पदसंवेदनस्यासत्वात्। नाऽपि द्वितीयेन, ज्ञानयोर्यौगपद्यासंभवात्। अथोत्तरज्ञानेन, तत्किं विजातीयं, सजातीयं वा स्यात्? विजातीयमप्येकसन्तानं, भिन्नसन्तानं वा? भेदद्वयेऽपि घटज्ञानं पटज्ञानस्य वैपरीत्याऽवसायि भवेत्। सजातीयमप्येकविषयं, भिन्नविषयं वा? एकविषयमप्येकसन्तानं, भिन्नसन्तानं वा? द्वयमपीदं संवाददत्तहस्तावलम्बं कथं वैपरीत्यावबोधधुराधौ रेयतां दधीत? भिन्नविषयमप्येकसन्तानं, भिन्नसन्तानं वा? उभयत्राऽपि पटज्ञानं पटान्तरज्ञानस्य तथा भवेत्। अथ न सर्वमेवोत्तरज्ञानं प्राक्तनस्यान्यथात्वावबोधबद्धकक्षं, किं तु यदेव बाधकत्वेनोल्लसति। ननु किमिदं तस्य तद्बाधकत्वं?—तदन्यत्वं, तदुपमर्दकत्वं, तस्य स्वविषये प्रवर्तमानस्य प्रतिहन्तृत्वं, प्रवृत्तस्यापि फलोत्पादप्रतिबन्धकत्वं वा? प्राचि पक्षे, मिथ्याज्ञानमपि तस्य बाधकं स्याद् अन्यत्वस्योभयत्राविशेषात्। द्वितीये घटज्ञानं पटज्ञानस्य बाधकं स्यात्, तस्यापि तदुपमर्देनोत्पादात्। तृतीये, न प्रवृत्तिः तस्य तेन प्रतिहर्त्तुं शक्या, यत्र क्वचन गोचरे प्रागेव प्रवृत्तत्वात्। तुरीयेऽपि, न फलोत्पत्तिस्तस्य तेन प्रतिबद्धुं पार्यते, उपादानादिसंविदोऽपि प्रथममेव समुत्पन्नत्वात्। किंच—विपरीतप्रत्यये रजतम्, असत् चकास्ति, सद्वा? असच्चेत्। असत्ख्यातिरेवेयं स्यात्। सच्चेत्। तत्रैव, अन्यत्र वा? यदि

तत्रैव, तदा तथ्यपदार्थख्यातिरेवेयं भवेत्। अन्यत्र तु सतः कथं तत्रः प्रतीतिः?, पुरस्सरगोचर एव चक्षुरादेर्व्यापारात्। दोषमाहात्म्यादिति चेत्। न, दोषाणामिन्द्रियसामर्थ्यकदर्थनमात्रचरितार्थत्वेन विपरीतकार्योत्पत्तिं प्रत्यकिञ्चित्करत्वात्। ततस्तथा विचार्यमाणस्य तस्यानुपपद्यमानत्वमसिध्यदेव। 'नापि व्यभिचारि, विपक्षादत्यन्तं व्यावृत्तेः, अत एव न विरुद्धमपि। ततः सम्यमेवैतत् संवदेनद्वयम्–इदमिति प्रत्यक्षं, रजतमिति तु स्मरणं, करावोद्भणदोषवशाच्छुक्तिरजतयोः प्रत्यक्षस्मणयोश्च भेदाप्रतिभासाद्भेदाख्यातिरियमुच्यत इति। अत्राऽभिदध्महे–ये तावत्साधनासिद्धिविध्वंसनाय व्यधायिषत विकल्पाः, तत्र शुक्त्यादिरूपतयाऽन्यथास्थितार्थस्यान्यथा रजताद्यर्थप्रकारेण यत्प्रथनं तत्स्वरूपं वैपरीत्यं नेदं रजतमित्येवं तदुपमर्दतः पञ्चादुज्जृम्भमाणेन बाधकेनावधार्यते इति ब्रूमः। तथा चान्यथा प्रथनोत्तरज्ञानतदुपमर्दकत्वविकल्पाभ्यां शेषं तु विकल्पनिकुरम्बं तुण्डताण्डवडम्बरविडम्बनामात्रफलमेव। अथ विजातीयं सजातीयं वा तदित्यादिप्रकारेषु किमुत्तरं ते स्यात् ? ननु वितीर्णमेव। अस्तु यत्किञ्चित्, तदुपमर्द्दन चेदुत्पद्यते, तदा तदरिवंलं बाधकं सत्तस्य तथात्वमाविष्करोतीति। उपमर्दश्च न प्रध्वंसः, यतः पटज्ञानप्रध्वंसेनोत्पद्यमानस्य घटज्ञानस्य बाधकत्वं स्यात्, किं तु तत्प्रतिभातवस्त्वऽसत्त्वख्यापनम्–यन्मदीयवेदने रजतमिति प्रत्यभात्, तद्रजतं न भवत्येवेति। अपि च, भेदाख्यातावपि प्रत्यक्षस्मरणयोर्भेदाख्यानं किं स्वेनैव वेद्यते? इत्यादिसकलविकल्प पेटकमाटीकत एव, इति स्ववधाय कृतोत्थापनमेतद्भवतः। अथ प्रकृतज्ञाने रजतप्रतिभाने कथं तेन शुक्तिकाऽपेक्ष्येत? तन्न, संवृतस्वाकारायाः समुपात्तरजताकारायाः शुक्तिकाया एवात्र प्रतिभानाद्। वस्तुस्थित्या हि शुक्तिरेव सा, त्रिकोणत्वादिविशेषग्रहणाभावात्तु संवृतस्वाकारा, चाकचिक्यादिसाधारणधर्म्मदर्शनोपजनितरूप्यस्मरणाऽऽरोपितरजताकारत्वाच्च समुपात्तरजताकारा, इत्यभिधीयते। यत्खलु यत्र कर्म्मतया चकास्ति तत्तत्रालम्बनम्, एतच्च शृङ्गग्राहिकया निर्दिश्यमानायां शुक्तौ समस्त्येव। सैव हि दोषवशात्तथा प्रतिभाति। दृष्टं च दोषवशाद्विपरीतकार्योत्पादकत्वं, यथा क्षिप्तमन्दाक्षलक्ष्मीकायाः कुलपक्ष्मलाक्ष्यास्तत्तद्विरुद्धवीक्षणभाषणादि। त्वयाऽपि चैतदङ्गीकृतमेव, प्रकृतरजतस्मरणस्यानुभूतरजतदेशानुसारिप्रवृत्तिजनकत्वौत्सर्गिककार्यपरिहारेण पुरोदेश एव प्रवृत्तिजनकत्त्वस्वीकारात्। भेदाऽग्रहणं सहकारिणमपेक्ष्य प्रकृतरजतेस्मरणस्य तदविरुद्धमिति चेत्। दोषान् सहकारिणोऽपेक्ष्य हृषीकस्यापि तत्तथास्तु। किंच, प्रत्यभिज्ञानेन रजतसंवित्तेः शुक्तिगोचरत्वमवस्थाप्यते–यदेव मम रजतत्वेन पूर्वमचकात् तदेवेदं शुक्तिशकलम्, इत्येवं तस्योत्पादात्। अनुमानेन च विवादपदं रजतज्ञानं शुक्तिगोचरं, तत्रैव प्रवर्त्तकत्वात्, यदेवं तदेवं यथा सत्यरजतज्ञानं रजतगोचरम्, इति विचारेण वैपरीत्यस्योपपत्तेरसिद्धिदुर्गन्धमेव त्वत्साधनमिति स्थितम्। यच्चोक्तम्–शुक्तिरजतयोः प्रत्यक्षस्मरणयोश्च भेदाप्रतिभासादिति, तत्र भेदाप्रतिभासस्तुच्छः कश्चिदुच्येत, अभेदप्रतिभासो वा ? नाद्यः, प्राभाकरैरभावानभ्युपगमात्। नापि द्वितीयः, विपरीतख्यातिप्रसक्तेः, भिन्नयोरभेदेन प्रतिभासात्। अथ भेदो व्यावर्त्तकधर्म्मयोगः, तस्य चाप्रतिभासः। साधारणधर्म्मप्रतिभास इति चेत्। न, शुक्तिज्ञाने सत्येऽपि तस्य भावाद् दीप्रतादेस्तत्राऽपि प्रतिभासात्। अथ न तत्र तस्यैव प्रतिभासः, त्रिकोणतादिव्यावर्त्तकधर्म्माणामपि प्रतिभासादिति चेत्। तर्हि सावधारणः साधारणधर्मप्रतिभासः प्रकृतरजतबोधेऽपि नास्त्येव, रजतगतस्य रजतत्वस्येव शुक्तिगतस्य त्वनियतदेशकालस्मर्यमाणरजतासंभविनियतदेशकालत्वस्य व्यावर्तकधर्मस्य प्रतिभानादिति। ग्रहणस्मरणसंवित्ती अपि स्वसंविदिते प्राभाकराणाम्। ते च यदि स्वरूपेण प्रतिभातः, तदा न रजतार्थिनस्तथा प्रवृत्तिः स्याद्। अथ ग्रहणं स्मरणरूपतया प्रतिभाति, तदा विपरीतख्यातेरस्पष्टतया प्रतिभानम्, अनुभूतरजतदेशे प्रवृत्तिश्च स्यात्। अथ स्मरणं ग्रहणरूपतया, तदाऽपि विपरीतख्यातिरेव। प्रभूतं चात्र वक्तव्यं, तच्चोक्तमेव बृहद्बृत्तौ वितत्य श्रीपूज्यैः ॥१०॥ रत्ना० १ परि०। (विस्तरस्तु संमतितर्कादवसेयः)

खाइं अव्य० **''घइमादयोऽनर्थकाः''** ८। ४। ४२४। इति अपभ्रंशे 'खाइमिति' निपातः। प्रा० ४ पाद। पुनरर्थे, ''किं खाइं णं भंते'' भ० ५ श० ४ उ०। देशभाषया वाक्यालङ्कारे, औ०।

खाइम न० खादिम 'खादृ' भक्षणे। खादनं खादो भावे घञ्। खादेन निवृत्तं खादिमम् ''तेन निर्वृत्तम्'' ४। २। ६८। (पाणि०) अस्याधिकारे इमप्रत्ययः। प्रव० ४ द्वार। स्था०। खमित्याकाशं तच्च मुखविवरमेव तस्मिन् मातीति खादिमम्। पृषोदरादित्वात्सिद्धिः। प्रव० ४ द्वार। आव०। आ० चू०। खादः प्रयोजनमस्येति खादिमं स्था० ४ ठा० २ उ०। खाद्यते इति खादिमम्। दश० १ अ०। आव०। भक्तौषधखर्जूरफलादिके आहारभेदे, प्रव०।

संप्रति खादिममाह–

भत्तोसं दंताई, खज्जूरगनालिकेरदक्खाई।
कक्कडिअंबगफणसाइ, बहुविहं खाइमं नेयं ॥१३॥

भक्तं च तद्भोजनमोषं च दाह्यं भक्तौषं रूढितः परिभ्रष्टचणक गोधूमादि, दन्त्यादि दन्तेभ्यो हितं दन्त्यं गुडादि, आदिशब्दाच्चारुकुलिकाखण्डेक्षुशर्करादिपरिग्रहः। यद्वा दन्तादि देशविषेशप्रसिद्धं गुडसंस्कृतदन्तपवनादिः। तथा खर्ज्जूरकनालिकेरद्राक्षादि आदिशब्दादक्षोटदाडिमादिपरिग्रहः। तथा कर्कटिकाम्रपनसादि आदिशब्दात्कदल्यादिफलपटलपरिग्रहः बहुविधं खादिमं ज्ञेयम्। प्रव० ४ द्वार। ध० पं०। सं०। दर्श०। प्रव०।

भत्तोसं दंताई, टोप्परखारिक्कदक्खज्जूरं।
अंबगफणसं चव्वी, चारुलिया पत्तणागं च ॥४७॥
भट्ठं धन्नं सव्वं, बदामअक्खोडउच्छुगंडुलिया।
फलपक्कन्नं सव्वं, बहुबिहं खाइमं नेयं ॥४८॥ ल०प्र० उत्त०।

खाइय पुं० (खाजिक) खेऽर्द्धदेशे आजः क्षेपः तत्र साधुः ठन्लाजेषु, तस्य खाजिकस्य भर्जनपात्रात् उर्द्धदेशे स्फोटनेन तथात्वम्। वाच०। 'खइय' शब्दार्थे,

खाइया स्त्री० (खातिका) उपरिविस्तीर्णाधःसंकटखातरूपे, भ० ५ श० ७ उ०। खातबलये, प्रश्न० ५ सम्ब० द्वार।

खाओदग त्रि० (खातोदक) कृतप्रणालिरूपजलमार्गे गृहादौ, कल्प० ६ क्षण।

खाओवसमिअ क्षायोपशमिक–'खओवसमिश्र' शब्दार्थे।

खाओसिय न० (खातोत्सृत) भूमिगृहस्योपरिप्रासादे वास्तुभेदे, आव० ६ अ०। नि० चू०।

खाडखड पुं० (खाडखड) पङ्कप्रभायाः षष्ठे अपक्रान्ते महानरके, स्था० ६ ठा०।

खाडहिना स्त्री० (खाडहिना) शुक्लकृष्णपटाकाररोमाङ्कितशरीरायां शून्यदेवकुलादिवासिन्यां (टाली) (टीली) (गिलहरी इतिलोके प्रसिद्धायां) चतुष्पादविशेषजातौ, प्रश्न० १ आश्र० द्वार। नं०।

खाण न० (ख्यान) कथने, स्था० ४ ठा० १ उ०।

खाणि स्त्री० (खानि) स्वर्णाद्युत्पत्तिस्थाने, आकरे, वा ङीप् तत्रार्थे, वाच०। आचा०।

खाणु पुं० (स्थाणु) स्था–नु–पृषोदरादित्वात् णत्वं ''स्थाणावहरे'' ८। २। ७ इति स्थाणौ संयुक्तस्य खो भवति हरश्चेत् वाच्यो न भवति। प्रा० २ पाद। ऊर्ध्वकाष्ठे। जं० २ वक्ष०। दश०। स्थूलकीलकेषु, ये छिन्नावशिष्टवनस्पतीनां शुष्का अवयवाः (ठूँठा) इति लोके प्रसिद्धाः। जं० १ वक्ष०। ''खाणु व्व उच्छकाये'' स्थाणुरिवोर्द्धकायः। कायोत्सर्गकाले, प्रश्न० ५ सम्ब० द्वार।

खाणुबहुल त्रि० (स्थाणुबहुल) स्थाणवो बहुला यत्र तत् तथा स्थाणुप्रचुरे, स्थाणुभिर्व्याप्ते, जं० १ वक्ष०।

खाणुसमाण पुं० (स्थाणुसमान) स्थाणुतुल्ये श्रमणोपासके, यो हि कुतोऽपि कदाग्रहात् न गीतार्थप्रदेशनया चाल्यते सोऽनमन स्वभावो बोधकेनाऽप्रज्ञापनीयः स्थाणुसमान इति। स्था०४ ठा० ३ उ०।

खात न० (खात) उपरि विस्तीर्णोऽधः संकुचिते, रा०। ज्ञा०। अधः उपरि च समे, स०। जी०। कूपादौ, अनु०। भूमिगृहादौ वास्तुभेदे, नि० चू० १ उ०। ओ० चू०।

ख्यात त्रि० प्रसिद्धे, ध० १ अधि०।

खामण न० (क्षामण) पाक्षिकचातुर्मासिकसांवत्सरिकक्षामणकानि तत्तपांसि च कियद्दिनानि यावत्कृतानि शुद्ध्यन्तीति प्रश्ने–उत्तरम्। तत्क्षामणकानि च यथाक्रमं द्वितीयां, पञ्चमीं, दशमीं च। यावत्कृता नि परम्परया शुद्ध्यन्तीति। किं च पाक्षिकाद्यवांगपि तद्दिनसंख्यया यथासंभवं तत्तपांसि च प्रापणीयानि इति श्रद्धेयम्। ४४ प्र० सेन० ३ उल्ला०।

खामणगपडिक्कमण न० (क्षामणकप्रतिक्रमण) दन्तधावनं कल्पवर्त च विधाय क्षामणप्रतिक्रमणादि कर्तुं शुद्ध्यति न वेति प्रश्ने–उत्तरम् कारणे वेलामध्ये क्षामणकप्रतिक्रमणादि कर्तुं शुद्ध्यतीति। ३६२ प्र०सेन० ३उल्ला०।

खामणा स्त्री० (क्षामणा) कृतापराधत्वेनान्यस्य क्षमोत्पादने, सा च द्वेधा द्रव्यतो, भावतश्च। द्रव्यतः सकलुषाशयस्यैहिकापायभीरोः। भावतः संवेगापन्नस्य सम्यग्दृष्टेः। आव० ३ अ०।

खमावेमि अहं सव्वे, सव्वे जीवा खमंतु मे।
मित्ती मे सव्वभूएसु, वेरं मज्झं ण केण वि ॥६१॥
खमामिऽहं पि सव्वेसिं, सव्वभावेण सव्वहा।
भवभवेसु वि जंतूणं, वाया मणसा य कम्मुणा ॥ ६२॥
एवं घोसेतु वंदिज्जा, चेइय साहू विही जओ।
गुरुस्साऽवि विही पुव्वं, खामणमरिसामणं करे ॥६३॥
खमावेंतु गुरुं सम्मं, णाणमहिमंससित्तिउ।
काऊणं वंदिऊणं च, विहिपुव्वेण पुणो वि य ॥६४॥ महा० १ अ०।

क्षमयामि सर्वजीवननन्तभवेष्वप्यज्ञानमोहाभ्यामावृतेन मया तेषां पीडा कृता याभ्यामज्ञानमोहाभ्यामावृतेन मया पीडा कृता तयोरपगमान्मर्षयामि। सर्वे जीवाः क्षाम्यन्तु मे दुश्चेष्टितम्। अत्र हेतुमाह–मैत्री मे सर्वभूतेषु वैरं मम न केनचित्। कोऽर्थः मोक्षलाभहेतुभिस्तान् सर्वान् स्वशक्त्या न *लम्भयामि न च केषांचिद्विघ्नकृतामपि विघाते वर्तेऽहमिति, वैरं हि भूरिभवपरम्पराऽनुयायिकडमरुभूत्यादीनामिवेति ॥६१॥* ध० २ अधि०। (अधिकरणे उत्पन्ने क्षामणा 'अधिगरण' शब्दे प्र० भागे ५०५ पृष्ठे उक्ता) (क्षामणां कृत्वा जिनकल्पादिप्रतिपद्यते इति जिनकल्पिकादिशब्देषु) केवलस्थापनाचार्यनिकटे प्रतिक्रमणं कुर्वन्तः श्रद्धालवः क्षामणावसरे कतिवारं क्षामयन्तीति प्रश्ने–उत्तरम् केवलस्थापनाचार्याग्रे प्रतिक्रमणे श्राद्धा एकां क्षामणां कुर्वन्तीति। ३६५ प्र० सेन ३ उल्ला०।

खामिय त्रि० (क्षामित) क्षम–णिच्–क्त–प्राकृते णिलोपः ''अदेल्लुक्या-देरत आः'' ।८।३। १५३। इति आदेरकारस्याऽऽकारः। प्रा० ३ पाद। अपगमितरोषे, रोसावगमे खमा तं च खामियं भण्णति। नि० चू० ४ उ०।

खाय पुं० (खाद) खादने भक्षणे, स्था० ३ ठा० २ उ०।

खायणिद्धमण न० खातनिर्धमन सञ्जिनखालेगृहे, कल्प० ६ क्षण।

खायदेसायारपवालण न० (ख्यातदेशाचारप्रपालन) ख्यातस्य प्रसिद्धस्य तथाविधापरशिष्टसंमततया दूररूढिमागतस्य देशाचारस्य सकलस्य प्रपालनमनुवर्त्तनम्। देशाचाराऽनुवर्त्तनरूपे गृहिधर्म, तदाचाराऽतिलङ्घने तद्देशवासिजनतया सह विरोधसंभवे–नाऽकल्याणलाभः स्यादिति। पठन्ति चात्र लौकिकाः।''यद्यपि सकलां योगी, छिद्रां पश्यति मेदिनीम्। तथापि लौकिकाचारं, मनसापि न लङ्घयेदिति'' ध० १ अधि०।

खायमाण त्रि० (खादत्) भक्षयति, जी० ३ प्रति०।

खार पुं० (क्षार) क्षरणं क्षारः। संचलने, स्था० ८ ठा०। करीषादिप्रभवे, दश० ४ अ०। सद्यो भस्मनि, ज्ञा० १ श्रु० १२ अ०। मृत्खटीवर्णिकादौ, ध० २ अधि०। यवतिलक्षारादौ, पिं०। प्रश्न०। बब्बुलादिके, नि० चू० १ उ०। भर्जिकादौ, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ०। लवणे, बृ० ४ उ०। ''खारस्य लोणस्स अणासएणं'' क्षारस्य पञ्चप्रकारस्यापि लवणस्या-ऽनशनेनाऽपरिभोगेन मोक्षो नास्ति। सूत्र० १ श्रु० ७ अ०। भक्तादौ, शस्त्रभेदे, वाच०।

खार पुं० खमवकाशमाधिक्येन ऋच्छति, ऋ अण् उपसंखारी परिमाणे, वाच०। भुजपरिसर्पभेदे, च प्रज्ञा० १ पद।

खारकरीर न० (क्षारकरीर) वस्तुविशेषे, क्षारकरीरादिकमातपे दत्वा पश्चात्तैलादिदाने सन्धानकं भवति न वेति। प्रश्ने–उत्तरम् क्षारकरीरादिकं दिनत्रयमातपे दत्वा पश्चात्तैलादिदापनेन सन्धानकं जायते इत्थं श्रीपरमगुरुपार्श्वे श्रुतं नास्ति एवंविधान्यक्षराण्यपि दृष्टानि न सन्ति प्रत्युत क्षारकरीरादिकमध्यस्थितं पानीयं दिनत्रयोपरि यदि न शुष्यति तदा सन्धानकं जायत इति। ११२ प्र० सेन० ३ उल्ला०।

खारखत्त त्रि० (क्षारक्षत) लवणशस्त्राभिहते, ओघ०।

खारगालण न० क्षारगालन सर्जिकादेर्गालनके गृहस्थोपकरणेषु, खलणं च खारगालणं च। सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ०।

खारताउसी स्त्री० (क्षारत्रपुषी) क्षारशब्दः कटुकवाची तथागमेऽनेकधा प्रसिद्धेस्ततः कटुकायां त्रपुष्याम्, प्रज्ञा० १० पद।

खारतंत न० (क्षारतन्त्र) क्षरणं क्षारः शुक्रस्य तद्विषयं तन्त्रं यत् तत्तथा। वाजिकरणतन्त्रे, तद्धि अल्पक्षीणविशुष्करेतसामाप्यायनप्रसादोपजननिमित्तं प्रहर्षजननार्थं च कृतम्। सप्तम आयुर्वेदः। स्था० ८ ठा०।

खारतिल्ल न० (क्षारतैल) करणशूलनिवारके, निर्लोमतासाधने च क्षारपक्वतैले, वाच०। ''लक्खारससखारतिल्लकलकलतओ'' प्रश्न० ५ संव० द्वार।

खारपइद्धियंग त्रि० (क्षारप्रदिग्धाङ्ग) क्षारेण प्रदिग्धाङ्गेषु ''पज्जोइया खारपइद्धियंगा'' सूत्र० १ श्रु० ५ अ० ५ उ०।

खारमेह पुं० (क्षारमेघ) सर्जादिक्षारसमानरसजलोपेतमेघे, भ०७ श० ६ उ०।

खारवत्तिय त्रि० (क्षारपात्रित) क्षारपात्रकृता क्षारपात्रिता क्षारपात्रभोजितो, क्षारपात्रस्याधारतां नीते, औ०।

खारवर्तित त्रि० क्षारेण क्षारे वा तीक्ष्णकतरुनिर्मितमहाक्षारे वर्त्तितो वृत्तिं कारितः। क्षारक्षिप्ते, औ०। शस्त्रेण छित्त्वा लवणक्षारादिभिः सिच्यमाने दण्डविशेषं प्राप्नुवति, दशा० ६ अ०।

खारवावी स्त्री० (क्षारवापी) क्षारद्रव्यभृतवाप्याम्, प्रश्न० १ आश्र० द्वार।

खारसाविया स्त्री० ब्राह्मीलिपिभेदे, अस्याः सम्यग् अववो धो नास्ति स० १८ सम०।

खारसिंचण न० (क्षारसिञ्चन) क्षारोदकसेचने, पारदारिकाः वास्यादिना तक्षयित्वा क्षारोदकसेचनानि प्राप्यन्ते। सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ०।

खारायण पुं० (क्षारायण) माण्डवगोत्रान्तर्गतक्षारपुरुषापत्येषु, स्था० ७ ठा०।

खारिखारी स्त्री० (खारिखारी) एकत्र समुदितेषु षोडशद्रोणेषु ज्यो० १ पाहु०। रत्ना०।

खारिय त्रि० (क्षारित) क्षर–णिच्–क्त। अभिशस्ते, प्राप्तदोषे, श्राविते, ''लवणखरण्टिते शालनकादिके'' व्य० ६ उ०।

खारुगणिय पुं० (क्षारुगणिक) म्लेच्छदेशभेदे, अनार्ये, तज्ञे मनुष्ये च। भ० १२ श० २ उ०।

खारोदय न० (क्षारोदक) ईषल्लवणपरिणामे जले, । जी० १ प्रति०। प्रज्ञा०। अम्लोदके, अन्तःक्षारजले च। कूपादौ, त्रि०। पिं०।

खारोदा स्त्री० (क्षारोदा) क्षीरोदापरनामिकायां सुपद्मविजये महानद्याम्। स्था० २ ठा० ३ उ०। जं०।

खाल न० (क्षाल) नगरादेर्निर्द्धमने स्था० २ ठा० ३ उ०।

खावणा स्त्री० (क्षापणा) प्रकथने, विशे०।

खावियंत त्रि० (खाद्यमान) भक्ष्यमाणे, ''काकणिमंसाइं खावियंतं'' विपा० १० श्रु० २ अ०।

खास पुं० (कास) आर्षत्वात्कस्य खः। प्रा० १ पाद। खासिकायाम्, प्रश्न० १ आश्र० द्वार। द्वितीये रोगातङ्के, ''सोलस रोगाइंका, पाउब्भूया तं जहा–सासे १ खासे २ जरे ३ इत्यादि।'' विपा० १ श्रु० १ अ०।

खासिय न० (कासित) कासने, (खाँसना) इति लोकप्रसिद्धे, ल०। आ० म०। आव०। ''खासिएणं ठीएणं'' आ० चू० ५ अ०। अनक्षरश्रुतभेदे, । नं०। विशे०। अनार्यदेशभेदे, तत्र जाते मनुष्येऽपि। सूत्र० १ श्रु ५ अ० १ उ०। प्रश्न०। प्रव०।

खिइ स्त्री० (क्षिति) धर्माद्यासु ईषत् प्राग्भारावसानासु अष्टसु भूमिषु, आव० ४ अ०। दर्श०।

खिइपइट्ठिअ त्रि० (क्षितिप्रतिष्ठित) भूम्यां प्रतिष्ठायुक्ते नगरादौ, आ०म० द्वि०। ''क्षितिप्रतिष्ठचणक, पुरर्षभपुराभिधम्। कुशाग्रपुरसंज्ञं च, क्रमाद्राजगृहाह्वयम् ॥१४॥'' इति राजगृहनगरमेव पूर्वं क्षितिप्रतिष्ठितं नामाऽऽसीत्। ती० १० कल्प। आव०। आ०चू०।

खिंखिणिया स्त्री० (किङ्किणिका) क्षुद्रघण्टिकायाम्, औ०।

खिंखिणिसर पुं० (किङ्किणिस्वर) क्षुद्रघण्टिकाध्वनौ, स्था० ६ ठा०।

खिंखिणी स्त्री० (किङ्किणी) क्षुद्रघण्टिकायाम्, स्था० १० ठा०। जं०। रा०। औ०। प्रश्न०।

खिंखिणीजाल न०(किङ्किणीजाल) क्षुद्रघण्टिकासमूहे, जी० ३ प्रति०। रा०।

खिंसण न० (खिंसन) निन्दावचने, प्रश्न० ५ सम्ब० द्वार। प्रव०। स०। अत्यन्तनिन्दायाम्, औ०। लोकसमक्षमेव जात्याद्युद्घाटने, न०। ज्ञा० १ श्रु० ३ अ०। स्था०। अन्त०। परस्याग्रतः तद्दोषकीर्तने, न०। ज्ञा० १ श्रु० ८ अ०। धिङ् मुण्डेत्यादि वाक्यरूपे गर्हणे, रा०।

आचार्यखिंसनम्–

वितियपदमणप्पज्झे, अप्पज्झे वा वएज्ज खिंसंतो।
उवलंभं वा य तधा, सीतंते वा वदेज्जाहि ॥२२॥

अणप्पज्झो वा साहू भणेज्ज। अणप्पज्झो वा भदंतो भणेज्ज। अप्पज्झो वा भणेज्ज। खिंसणपरं भदंतं, सो आयरिओ बहुस्सुओ जातीहीणो सीसपडिच्छए अभिक्खं जातिमादीहिं खिंसति। सो सुत्तत्थे उवजीवितं ण सक्कति। ताहे तस्स जातिसारेण एए खिंसं उवालंभं वा करेज्ज। जो आयरिओ जाइहीणो, अहं ण जाणामि त्ति।

अण्णा साहू जातिमादिएहिं खिंसंति। तस्स अण्णावदेसेण इमा खिंसा–

जातिकुल्लस्स सरिसयं, करेहि ण हु कोद्दवो भवे साली।
आसललितं वराओ, वाएति ण गद्दभो काउं ॥२३॥

तुज्झ वि जं कुलं जाती वा तं अम्हेहिं परिण्णायं, तो अप्पणे चेव जातिकुलं सरिसं करेहि। मा कोद्दवसमाणो होउं अप्पाणं सालिसरिसं मण्णतु। ण वा गद्दभेहिं होउं। जती अस्सललियं काउं सक्कति ॥२३॥

विरूवरूवेण खिंसमाणो इमं भण्णति–

रूवस्सेव सरिसयं, करे हि ण हु कोद्दवो भवे साली।

अस्सललितं वराओ, वाएति ण गद्दभो काउं । २४। कंठा ।

वायगो, गणी, आयरिओ वा जेण कओ तस्स इमा खिंसा–

अह वायगो त्ति भण्णति, एस किर गणी अयं व आयरिओ ।
सो वि मणे एरिसओ, जेण कओ एस आयरिओ ॥२५॥

इमो उवालंभो खिंसंते सीतंते वा–

जातिकुलस्स सरिसयं, करेहि मा अप्पवेरिओ होहि ।
होज्ज हु परिवादो वि, गिहि पक्खे साहुपक्खे य ॥२६॥

परिवयणं परिवादो अयसो गुणकित्तणं वा इत्यर्थः ।

अह वा इमो उवालंभो–

जुत्तं णाम तुमे वाय–एण गणिणा च परिसकातुं ।
आयरिएण व होउ, काऊणं किं व काहामो ॥२७॥

(जुत्तमिति) युज्यते योग्यं वा णामशब्दः पादपूरणे इदमेति निर्देशवाचको वा। आयरियस्स वा होउं किं एरिसं काऊण जुज्जति अह तुमे चेव । मज्जायं रक्ख । तो अम्हे किं कहामो ।

सीदंते वा इमो उवालंभो–

अह वा ण मज्झ जुत्तं, भदंत एयारिसाणि वोत्तुं जो ।
गुरुमत्ति वोदित्तमणा, भणामि लज्जं पयहिऊणं ।२८। कंठा

किंचान्यत्–

वरतरं मरसि भणितो, नया वि अण्णेण पच्चुवालद्धो ।
छण्णे मम वेणप्पं, भणेज्ज अण्णो पगासेंतो ॥२९॥

अह पच्छन्ने दोसा पच्छायणं करेंतो भणामि । अण्णा पुण देसकित्तणं करेंतो बहुजणमज्झे भणेज्ज तेण वरतरं मरसि भणितो संतो जातेति रूसेज्ज तो।

इमं भण्णति–

तुम्हे मम आयरिया, हितोवएसि त्ति तेण सीसो हं ।
एवं वियाणमाणा, ण हु जुज्जह रूसितुं भंतो ॥३०॥

जेण मे हितोपदेसं देहा तेण तुम्हे मम आयरिया हिओवदसणो त्ति काउं। अहं पि सीसत्तणं ते पडिवण्णो । किं च जो जेण जंमि ठाणंमि ठाविती दंसणे चरणे चा सो तं तओ वुत्तंतम्मि चेव कोउं भावणिरिण्णो एवं वियाणमाणा तुज्झे किं रूसह ।

एमेव सेसएसु वि, तस्सेव हितट्ठयावदागाढं ।
रागं कुसुंभओ सु य, इण विहु अ विकोइओ संभो ।३१।

एतं पायसो खिसंतं सीदंते भणितं (सेसेसु वि) अणप्पज्झादिएसु । तस्सेव गुरुस्स हियट्ठतावदे आगाढं अहवा एयं आगाढं वयणं च भदंते भणियं सेसेसु वि उवज्झायादिएसु हियट्ठ तावदे आगाढं ॥ चोदगाऽऽह– जाणंतेहिं गुरू कहं आगाढं भण्णति । उच्यते–कुसुंभो अ वि को वि रागं जहा ण मुचंति तहा गरूबि एगंते जाव फुडोवदेसेण ण विकोवितो ताव अणायारसेवणं ण मुंचति।

किंचान्यत्–

वच्छुं वि जाणिऊणं, एवं खिंसे उवालंभेज्ज वा।
खिंसा तु णिप्पवासा, सपिवासा होउवालंभो ॥३२॥

आयरिय उवज्झायादीया खरमओ य सज्झावारोयमादिइट्ठिमं वा एते वच्छुं जाणिऊणं खिंसा उवालभो वा पयुंजियव्वो । णिट्ठुरं णिण्हेहवयणं खिंसाउयं । सणेहवयणं उवालंभो ।

खिंसा खलु ओमंमी, खरमज्झे वा वि सीयमाणंमि ।
राइणिओवालंभो, पुव्वो गुरु महिड्ढिमाणीए ॥३३॥

ओमे, खरमज्झे वा खिंसा पउंजते । रातिणिओ, आयरिओ, जेट्ठो वा पुव्वं गुरू आसी सो य कम्मभारिय याएपासत्थीदाना तो उ णिक्खंते वायारायादि महिड्ढियं पि जो माणीए तेसु उवालंभो पयुंजति। नि० चू० १० उ०। आव०। अशातनायाम् आव०। ४ अ०। ('आगाढ' शब्दे द्वि० भागे ६० पृष्ठे उत्सर्गसूत्रमुक्तम् अत्र तु अपवादत्वम्)

खिंसणा स्त्री० (खिंसना) लोकसमक्षं कुत्सने, औ०।

खिंसा स्त्री० (खिंसा) लोकसमक्षं निंदायाम्, आव० २ अ०। खरण्टनायाम्, व्य० १ उ० । शासननिन्दायाम्, पञ्चा० १७ विव० । ''खिंसिज्ज'' खिंस्यते निन्द्यते । बृ० १ उ०।

खिंसिज्जमाण त्रि० (खिंस्यमान) परोक्षकुत्सनेन निन्द्यमाने, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । आव०।

खिंसिय त्रि० (खिंसित) जन्मकर्माद्युद्घाटनतो निन्दिते, स्था० ६ ठा०। प्रव०।

खिंसियवयण न० (खिंसितवचन) जन्मकर्माद्युद्घाटनतो निन्दावचने, स्था० ६ ठा० ।

तच्च न वाच्यम्–

अतिंतिणे अचवले, अप्पभासी मियासणे ।
हविज्ज उअरे दंते, थोवं लद्धुं न खिंसए ॥२६॥

अतिंतिणो भवेत् अतिन्तिणो नामालाभोऽपि नेषद् यत्किं चनभाषी। तथा अचपलोभवेत् सर्वत्र स्थिर इत्यर्थः । तथाअल्पभाषी कारणे परिमितवक्ता । तथा मिताशनो मितभोक्ता भवेदित्येवंभूतो भवेत् । तथा उदरे दान्तो येन वा तेन वा वृत्तिशीलः । तथा स्तोकं लब्ध्वा न खिंसयेत् । देयं दातारं वा न हीलयेत् इति सूत्रार्थः ॥२६॥ दश० ८ अ०।

अथ खिंसितवचनमाह–

गहियं च जहाघोसं, तहियं परिपिंडियाण संलावो ।
अमुएणं सुत्तत्थो, सो वि य उवजीवितुं दुक्खो ॥

एकेन साधुना यथाघोषं यथा गुरुभिरभिलापा भणिताः तथा श्रुतं गृहीतं मयैव गृहीतः सूत्रार्थः । प्रतीच्छकादीन् वाचयति । यदा च प्रतीच्छक उपतिष्ठते तदा तस्य जातिकुलादीनि पृष्ट्वा पश्चात्तैरेव खिंसां करोति । इतश्चान्यत्र साधूनां परिपिण्डितानां स्वाध्यायमण्डल्या उच्छिन्नानां संलापो वर्त्तते । कुत्र सूत्रार्थो परिशुद्धौ प्राप्येते । तत्रैकस्तं यथा घोषश्रुतग्राहकं साधु व्यपदिशति। तथाऽमुकेन सूत्रार्थौ शुद्धौ गृहीतौ परं स उपजीवितुं (दुक्खो) दुष्करः।

कथम्? इति । आह–

जह को वि अमयरुक्खो, विसकंटगवल्लिवेढितो संतो ।
ण वइज्जइ अल्लीतुं, एवं सो खिंसमाणो उ ॥

यथा कोऽपयमृतवृक्षो विषकण्टकवल्लीभिर्वेष्टितः सन् आलीतुमाश्रयितुं न शक्यते । एवमसावपि साधुः प्रतीच्छकान् खिंसन् न श्रयितुं शक्यः ।

तथाहि–

ते खिंसणा परद्धा, जातीकुलदेसकंमपुच्छाहिं ।
आसाऽऽगता णिरासा, वच्चंति विरागसंजुत्ता ।।

यस्तस्योपसंपद् यतिनं पूर्वमेव पृच्छति–का तव जातिः? किं नामिका माता?, को वा पिता?, कस्मिन् वा देशे संजातः ?, किंच कृष्यादिकं कर्म पूर्वं कृतवान् ?, एवं पृष्ट्वा पश्चात् तान् पठतो हीनाधिकाक्षराद्युच्चारणादेः कुतोऽपि कारणात् कुपितस्तैरेव जात्यादिभिः खिंसति। ततस्ते प्रतीच्छका जातिकुलदेशकर्मपृच्छाभिः पूर्वं पृष्टाः ततः खिंसनया प्रारब्धात्याजिताः सन्तः सूत्रार्थौ ग्रहीष्याम् इत्याशया आगता निराशाः क्षीणमनोरथा विरागसंयुक्ताः ''चिट्ठसि कसेरुमई, अणुभूयासि कसेरुमई ? पीतं ते पाणिययं, चरित्तु हता मनदंसणयं'' इति भणित्वा स्वगच्छं व्रजन्ति।

सुत्तत्थाणं गहणं, अहगं काहं ततो परीनियतो ।
जातिकुलदेसकम्मं, पुच्छंति खल्लाडधन्नागं ।।

एवं तदीयवृत्तान्तमाकर्ण्य कोऽपि साधुर्भणति–अहं तस्य सकाशे गत्वा सूत्रार्थयोर्ग्रहणं करिष्ये, तं वाचार्यं खिंसनादोषान्निवर्त्तयिष्यामि। एवमुक्तो येषामाचार्याणां स शिष्यस्तेषामन्तिके गत्वा पृच्छति–योऽसौ युष्माकं शिष्यः स कुत्र युष्माभिः प्राप्तः ? आचार्याः प्राहुः–वैदसनामकस्य नगरस्यासन्ने गोचरग्रामे। ततोऽसौ साधुस्ततः प्रतिनिवृत्तो गोचरग्रामं गत्वा पृच्छति– अमुकनामा युष्मदीये ग्रामे पूर्वं किम् आसीत् ?, ग्रामेयकैरुक्तम्। आसीत्। ततः का तस्य माता? को वा पिता ? किं वा कर्म?, तैरुक्तम् (खल्लाडधन्नागं ति) नापितस्य धन्निका नाम दासी सा खल्वाटकौलिकेन सममुषितवती। तस्याः संबन्धी पुत्रोऽसौ एवं श्रुत्वा तस्य साधोः सकाशं गत्वा भणति–अहं तवोपसंपदं प्रतिपद्ये। ततस्तेन प्रतीच्छ्य पृष्टः। कुत्र त्वं जातः, का वा ते मातेत्यादि। एवं पृष्टोऽसौ न किमपि ब्रवीति। तत इतर श्चिन्तयति–जानाम्येषोऽपि हीनजातीयः।

ततो निर्बन्धे कृते स साधुः प्राह–

ठाणम्मि पुच्छियम्मि, हणुदाणिं कहेमि ओहिता सुणध ।
सोहस्सण्णे कस्स व, इमाइँ तिक्खाइँ दुक्खाइं ।।

स्थाने भवद्भिः पृष्ठे सति (हणुदाणिं ति) तत इदानीं कथयामि अवहिताः शृणुत यूयं कस्यान्यस्येमानि ईदृशानि तीक्ष्णानि दुःक्खानि कथयिष्यामि।

वइदिसगोचरगामे, खल्बाडगधुत्तकोलिओ थेरो ।
नावियघणियदासी, तेसिम्मि सुतो कुलह गुज्झं ।।

वैदिसनगरासन्ने गोचरग्रामे धूर्तः कोलिकः कश्चित् खल्वाटस्थविरः, तस्य नापितदासी धन्निका नाम भार्या, तयोः सुतोऽम्यहम् एतत् गृह्यं कुरुत मा कस्यापि प्रकाशयतेत्यर्थः।

जेट्ठो मइ भाया ग–ब्भत्थे किर ममम्मि पव्वइतो ।
तमहं लद्धसुतीओ, अणुपव्वइतो ऽणुरागेणं ।।

मम ज्येष्ठो भ्राता गर्भस्थे किल मयि प्रव्रजित इति मया श्रुतम्। ततोऽहमेवं लब्धश्रुतिको भ्रातुरनुरागेण तमनु तस्य पश्चात्प्रव्रजितः।

एवं श्रुत्वा स खिंसनकारी साधुः किं कृतवान् ?इति। आह–

आगारविसंवइयं, तं नाउं सेसचिंधसंविदियं ।
णिउणो वा पच्छलितो, आउंटण दाणमुभयस्स ।।

न मदीयस्य भ्रातुरेवंविध आकारो भवतीत्याकारविसंवदिनं तं ज्ञात्वा शेषैश्च जात्यादिभिश्चिह्नैः संविदितं ज्ञात्वा चिन्तयति अहो अमुना निपुणं पापेन छलितोऽहं यदेवमन्यव्यपदेशेन मम जात्यादिकं प्रकटितम्, तत आवर्त्तनं मिथ्यादुष्कृतंदानपूर्वम्, ततो दोषादुपरमणं, ततस्तस्मै सूत्रार्थरूपस्योभयस्य नदानमिति गतं खिंसितवचनम् बृ० ६ उ०। (अत्र शोधिश्चतुर्गुरुकादिका भिन्नमासान्ता इत्यादि 'अवयण' शब्दे प्र० भागे ७९६ पृष्ठे भाषितम्)

खिज्जणिया स्त्री० (खेदनिका) **''खिदां ज्ञः''** ८।४।२२४॥ इति खिदेरन्त्यस्य द्विरुक्तो ज्जः। प्रा० ४ पाद। खेदक्रियायाम्, ज्ञा० १ श्रु०१६ अ०।

खिण्ण त्रि० (खिन्न) दैन्ययुक्ते, निर्विण्णे, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ०। अलसे, खेदयुक्ते च। वाच०। लवणाब्धौ कच्छपादिजलचरे, जी० ३ प्रति०।

खितिपइट्ठिय त्रि० (क्षितिप्रतिष्ठित) 'खिइपइट्ठिअ' शब्दार्थे।

खित्त त्रि० (क्षिप्त) न्यस्ते, कर्म० ३ कर्म०। रागभयापमानैर्नष्टाचित्तादौ, स्था० ५ ठा० २ उ०। प्रेरिते, विकीर्णे, अवज्ञोन, वाच०।

खेत्त न० कृषिकर्मादिविषयभूतायाम्, अनु०। धान्यवपनभूमौ, प्रश्न० २ आश्र० द्वार। ('खेत्त' शब्दे सर्वेऽर्था ज्ञेयाः)

खित्तचित्त त्रि० (क्षिप्तचित्त) क्षिप्तं नष्टं रागभयापमानैश्चित्तं यस्य सः। स्था० ५ ठा० २ उ०। चित्तभ्रमिणि, ध० ३ अधि०। यस्य पुत्रशोकादिना (स्था० ५ ठा० २ उ०) द्रविणाद्यपहारेण वा चित्तभ्रमो जातः। ओघ०।

क्षिप्तचित्तस्य वैयावृत्तिः–

सूत्रम्–खित्तचित्ते भिक्खू गिलायमाणं नो कप्पइ तस्स गणाऽवच्छेइयस्स निज्जूहित्तए अगिलाए तस्स करणिज्जं वेयावडियं० जाव रोगायंकाओ विप्पमुक्के तओ पच्छा तस्स अहालहुयस्सए नामं ववहारे पट्ठवेसिया ।।१०।। व्य० अ० १ उ०।

अथास्य सूत्रस्य कः संबन्धः ? उच्यते–

घोरम्मि तवे दिण्णे, भएण सहसा भवेज्ज खित्तो उ ।
गेलन्नं वा पगयं, अगिलाएँ करणं व संबन्धो ।।

घोरे रौद्रे परिहारादिरूपे तपसि दत्ते भयेन सहसा भवेत् क्षिप्तः क्षिप्तचित्तः अपहतचित्त इत्यर्थः। अथ वा ग्लान्यं प्रकृतं क्षिप्तचित्तोऽपि च ग्लानकल्पः तस्याऽपि (अगिलया) अग्लान्या यथोक्तस्वरूपया कर्तव्यमिति।

संप्रति क्षिप्तचित्तप्ररूपणार्थमाह–

लोइय लोउत्तरिओ, दुविहो खित्तो समासतो होइ ।
कह पुण हवेज्ज खित्तो, इमेहिँ सुण कारणेहिं तु ।।

समासतः संक्षेपतो द्विविधो द्विप्रकारः क्षिप्तो भवति। तद्यथा– लौकिको, लोकोत्तरिकश्च। तत्र लोके भवो लौकिकः। अ–

ध्यात्मादित्वाद् इकण्। एवं लोकोत्तरे भवो लौकोत्तरिकः। अथ कथं केन प्रकारेण पुनः क्षिप्तः क्षिप्तचित्तो भवेत्? सूरिराह–शृणु एभिर्वक्ष्यमाणैः कारणैर्भवति।

तान्येव कारणान्याह–

रागेण वा भएण व, अह वा अवमाणितो नरिंदेण।
एएहिं खित्तचित्तो, वणियाइपरूवणा लोए॥

रागेण, यदि वा भयेन। अथ वा नरेन्द्रेण प्रजापतिना। उपलक्षणमेतत्–सामान्येन वा प्रभुणा अपमानितोऽपमानं ग्राहितः। एतैः खलु कारणैः क्षिप्तचित्तो भवति। ते च लोके उदाहरणत्वेन प्ररूपिता वणिगादयः। अत्र रागे क्षिप्तचित्तो यथा–वणि–भार्या। तथाहि–काचिद्वणिग्भार्या। भर्त्तरि मृतं श्रुत्वा क्षिप्तचित्ता जाता।

भयेनापमानेन च क्षिप्तचित्तत्वे उदाहरणान्याह–

भयतो सोमिलवडुओ, सहसोत्थरितो व संजुयादीसु।
धणहरणेण व पहुणा, विमाणितो लोइया खित्ते॥

भयतो भयेन क्षिप्तचित्तः। यथा–गजसुकुमालमारको जनार्दनभयेन। सोमिलनामा वटुको ब्राह्मणः। अथ वा संयुगादिषु संयुगं संग्रामस्तत्र, आदिशब्दात्परबलधाटीसमापतनादिपरिग्रहः तैः। गाथायां सप्तमी तृतीयार्थे। सहसा अतर्कितः समन्ततः परिगृहीतो भयेन क्षिप्तचित्तो भवति। स च प्रतीत एव। भयेनोदाहरणमुक्तम्। संप्रत्यपमानत आह–प्रभुणा वा नरेन्द्रेण धनहरणेन समस्तद्रव्यापहरणतो विमानितोऽपमानितः क्षिप्तो भवति। एवमादिकानि लौकिकान्युदाहरणानि क्षिप्ते क्षिप्तचित्तविषयाणि।

संप्रति लोकोत्तरिकान्यभिधित्सुराह–

रागम्मि रायखुड्डो, जड्डादितिरिक्खचरियवायम्मि।
रागेण जहा खित्तो, तमहं वुच्छं समासेणं॥

रागे सप्तमी तृतीयार्थे, रागेण क्षिप्तचित्तो यथा राजक्षुल्लकः–शाकपार्थिवादिदर्शनादिह मध्यमपदलोपी समासः। उभयेन यथा जड्डादीन् हस्तिप्रभृतीन् तिरश्चो दृष्ट्वा। अपमानेन यथाचरकेण सह वादे पराजितः। तत्र रागेण यः राजक्षुल्लकः क्षिप्तचित्तोऽभवत्तमहं तथा समासेन वक्ष्ये।

यथाप्रतिज्ञातं करोति–

जियसत्तुनरवइस्सा, पव्वज्जा सिक्खणा विदेसम्मि।
काऊण पोयणम्मी, तव्वादं निव्वुतो भयवं॥
एक्को य तस्स भाया, रज्जसिरिं पयहिऊण पव्वइतो।
भाउगअणुरागेणं, खित्तो जातो इमो उ विही॥

जितशत्रुर्नाम नरपतिस्तस्य प्रव्रज्याऽभवत्, धर्म्मं तथाविधानां स्थविराणामन्तिके श्रुत्वा प्रव्रज्यां स प्रतिपन्नवानित्यर्थः। प्रव्रज्यानन्तरं च तस्य शिक्षा ग्रहणशिक्षा, आसेवना शिक्षा च प्रवृत्ता। कालान्तरे च पोतनपुरे विदेशरूपे परतीर्थिभिः सह वाद उपस्थितः। ततस्तैः सह शोभनो वादस्तान् जित्वा महतीं जिनशासने प्रभावनां कृत्वा स भगवान् निर्वृत्तो मुक्तिपदवीमधिरूढः। (एक्को य इत्यादि) एकश्च तस्य जितशत्रोः राज्ञः प्रव्रजितस्यानुरागेण राज्यश्रियं प्रहाय परित्यज्य जितशत्रुप्रव्रज्याप्रतिपत्त्यनन्तरं कियता कालेन प्रव्रजितः प्रव्रज्यां प्रतिपन्नः। स च तं ज्येष्ठभ्रातरं विदेशे पोतनपुरे कालगतं श्रुत्वा भ्रात्रनुरागेणापहतचित्तो जातः। तत्र चायं वक्ष्यमाणस्तत्प्रगुणीकरणाय विधिः।

तमेवाह–

तेल्लोक्कदेवमहिया, तित्थयरा नीरया गया सिद्धिं।
थेरा वि गया केई, चरणगुणपहावगा धीरा॥

तस्य भ्रात्रादिमरणं श्रुत्वा क्षिप्तचित्तीभूतस्याऽऽश्वासनार्थमियं देशना कर्त्तव्या। यथा–मरणपर्यवसानो जीवलोकः। तथाहि–ये तीर्थकरा भगवन्तस्त्रैलोक्यदेवैस्त्रिभुवननिवासिभिर्भवनपत्यादिभिर्देवैर्महितास्तेऽपि नीरजसो विरतसमस्तकर्म, परिमाणवः सन्तो गताः सिद्धिम्। तथा–स्थविरा अपि केचिन्म हीयांसो गौतमस्वामिप्रभृतयश्चरणप्रभावका धीरा महासत्त्वाः देवदानवैरप्यक्षोभ्याः सिद्धिं गताः। तद्यदि भगवतामपि तीर्थकृतां महतामपि महर्षीणामीदृशी गतिस्तत्र का कथा शेषजन्तूनां तस्मादेतादृशीं संसारस्थितिमनुचिन्त्य न शोकः कर्त्तव्य इति।

अन्यच्च–

न हु होइ सोइयव्वो, जो कालगतो दढो चरित्तम्मि।
सो होइ सोइयव्वो, जो संजमदुव्वलो विहरे॥

न 'हु' निश्चितं स शोचयितव्यो भवति, यश्चारित्रे दृढः सन् कालगतः। स खलु भवति शोचयितव्यो यः संयमे दुर्बलः सन् विहृतवान्।

स कस्माच्छोचयितव्यः? इत्यत आह–

जो जह व तह व लद्धं, भुंजइ अहारउवहिमाईयं।
समणगुणमुक्कजोगी, संसारपवड्ढगो भणिओ॥

यो नाम यथा वा तथा वा दोषदुष्टं, सदोषतया इत्यर्थः। लब्धमाहारोपध्यादिकं भुङ्क्ते उपभोगविषयीकरोति। श्रमणानां गुणाः मूलोत्तरगुणरूपाः श्रमणगुणास्तैर्मुक्ताः परित्यक्तास्तद्रहिता ये योगा मनोवाक्कायव्यापारास्ते श्रमणगुणमुक्तयोगास्ते यस्य सन्ति सश्रमणगुणमुक्तयोगी संसारप्रवर्द्धको भणितस्तीर्थकरगणधरैः। ततो यः संयमदुर्बलो विहृतवान् स शोच्य एव। भवदीयस्तु भ्राता यदि कालगतो दृढश्चारित्रे ततः स परलोकेऽपि सुगतिभागिति। न करणीयः शोकः।

संप्रति 'जड्डादितिरिक्ख' इत्यंशस्य व्याख्यानार्थमाह–

जड्डाई तेरिच्छे, सत्थं अगणी य मेहविज्जू य।
ओमे पडिभीसणया, चरगं पुव्वं परूव्वेह॥

जड्डो हस्ती आदिशब्दात् सिंहादिपरिग्रहः तान्। तिरश्चो दृष्ट्वा किमुक्तं भवतिगजं वा मदोन्मत्तं, सिंहं वा गर्जन्तं, व्याघ्रं वा, तीक्ष्णखरनखरविकरालमुखं दृष्ट्वा कोऽपि भयतः क्षिप्तचित्तो भवति। कोऽपि पुनः शस्त्राणि खड्गादीन्यायुधानि दृष्ट्वा। इयमत्रभावनाकेनापि परिहासेनोद्गीर्णं खड्गं वा कुन्तं वा छुरिकादिकं वा दृष्ट्वा कोऽपि हा मारयति मामेष इति सहसा क्षिप्तचित्त उपजायते। तथा अग्नौ प्रदीपनके लग्ने कोऽपि भयतः क्षिप्तो भवति। कोऽपि स्तनितं मेघगर्जितमाकर्ण्य। कोऽपि विद्युतं दृष्ट्वा। एवं क्षिप्तचित्ततां यातस्य (ओमे पडिभीसणया इति) अवमो लघुतरस्तेन प्रतिभीषणं हस्त्यादेः कर्त्तव्यं येन क्षिप्तचित्तताऽपगच्छति। यदि पुनश्चरकेण वादे पराजितः इति क्षिप्तचित्तो भवेत् ततश्चरकं

पूर्वं प्ररूप्य तदनन्तरं तेन स्वमुखोच्चारितेन वचसा तस्य क्षिप्तचित्ता-तारयितव्या।

संप्रत्यपमानतः क्षिप्तचित्ततां भावयति--

अवहीरितो व गणिणा, अहव ण सगणेण कम्हिइ पमाए य।
वायंमि वि चरगाई, पराइतो तत्थिमा जयणा॥

गणिना आचार्येण सोऽवधीरितः स्याद् अथ वा (णमिति) वाक्यालङ्कारे स्वगणेन स्वगच्छेन गणावच्छेद्यादिना कस्मिँश्चित्प्रमादे वर्त्तमानः सन् गाढं शिक्षितो भवेत्। ततोऽपमानेन क्षिप्तचित्तो जायते। यदि वा चरकादिना परतीर्थिकेन वादे पराजित इत्यपमानतः क्षिप्तचित्तः स्यात्। तत्र तस्मिन् क्षिप्तचित्ते इयं वक्ष्यमाणा यतना।

तत्र प्रथमतो भयेन क्षिप्तचित्ते यतनामाह-

कण्णम्मि एस सीहो, गहितो अह धाडितो य सो हत्थी।
खुड्डगतरेण उ तुमे, ते वि य गमिया पुरा पाला॥

इह पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् पाला इत्युक्ते हस्तिपालाः, सिंहपाला द्रष्टव्याः। तेऽपि पुरा पूर्वं गमिताः प्रतिबोधिताः कर्त्तव्याः, यथाऽस्माकंक्षुल्लको युष्मदीयं सिंहं हस्तिनं वा दृष्ट्वा क्षोभमुपागतः ततः स यथा क्षोभं मुञ्चति तथा कर्तव्यम्। एवं तेषु प्रतिबोधितेषु, स क्षिप्तचित्तीभूतस्तेषामन्तिके नीयते, नीत्वा च तेषां मध्ये यः क्षुल्लकादपि लघुतरः तेन सिंहः कर्णेधार्यते, हस्ती वा तेन धाट्यते। ततः स क्षिप्तचित्तः प्रोच्यते-त्वत्तोऽपि यः क्षुल्लकतरोऽतिशयेन लघुः तेन एष सिंहः कर्णे गृहीतः। अथ वा स हस्ती अनेन धाटितः। त्वं तु बिभेषि, किं त्वमेतस्मादपि भीरुर्जातः ? ततो धार्ष्ट्यमवलम्ब्यतामिति।

सत्थऽग्गिं थं भेत्तुं, पणोल्लणं तस्स एस सो हत्थी।
थेरो चम्मविकड्ढण, अलायचक्कं च दोसुं च॥

यदि शस्त्रं, यदि वाऽग्निं दृष्ट्वा क्षिप्तोऽभवत्, ततः शस्त्रमग्निं च विद्यया स्तम्भित्वा तस्य पादाभ्यां प्रणोदनं कर्तव्यं, भणितव्यं च तं प्रति-एषोऽस्माभिरग्निः शस्त्रं च पादाभ्यां प्रणोद्यते, त्वं पुनरेताभ्यां बिभेषीति। यदि वा पानीयेनाऽऽर्द्रीं कृत्य हस्तादिभिः सोऽग्निः स्पृशते, भण्यते-एतस्मादपि तव किं भयम् ? तथा यतो हस्तिनः तस्य भयमभूत् स हस्ती स्वयं पराङ्मुखो गच्छन् दर्श्यते, यथा-यतस्त्वं बिभेषि स हस्ती नश्यति नश्यन् वर्तते, ततः कथं त्वमेवं भीरोरपि भीरुर्जातः। तथा यो गर्जितं श्रुत्वा भयमग्रहीत्, तं प्रत्युच्यतेस्थविरो नभसि शुष्कं चर्म्म विकर्षति आकर्षति, एवं चोक्त्वा शुष्कचर्मण आकर्षणशब्दः श्राव्यते, ततो भयं जरयति। तथा यद्यग्नेः स्तम्भनं न ज्ञायते, तदा द्वयोः अग्नौ च विद्युति च भयं प्रतिपन्नः सन् अलातचक्रं पुनरकस्मात्तस्य दर्श्यते, यावदुभयोरपि भयं जीर्णं भवति।

सम्प्रति वादे पराजयापमानतः क्षिप्तचित्तीभूतस्य यतनामाह--

एएण जितोऽमि अहं, तं पुण सहसा न लक्खिय जणेण।
धिक्कयकइयवलज्जा, खित्तो पउणो ततो खुड्डो॥

इह येन चरकेण वादे पराजितः स च ज्ञाप्यते यथोक्तं प्राक्। ततः स आगत्य वदति--एतेनाहं वादे पराजितोऽस्मि। तत्पुनः स्वयं जनेन सहसा न लक्षितम्। ततो मे लोकतो जयप्रवादोऽभवत्। एवमुक्ते स चरको धिक्कृतो धिक्कारेण लज्जाप्यते लज्जां ग्राह्यते लज्जां च ग्राहितः सन् सोऽपसार्यते। ततः स क्षिप्तो भण्यते--किमपि त्वमपन्थानं गृहीतवान् वादे हि ननु स त्वया पराजितः। तथा च त्वत्समक्षमेवैष धिक्कारं ग्राहित इति, एवं यतनायां क्रियमाणायां यदि स क्षुल्लकः प्रगुणीभवति ततः सुन्दरम्।

तह वि य अनियट्टमाणे, संरक्खमरक्खणे य चउ गुरुगा।
आणाइयो य दोसा, जं सेवति जं य पाविहिती॥

तथाऽपि च एवं यतनायां क्रियमाणायामपि तिष्ठति अनिवर्त्तमाने क्षिप्तचित्तत्वे, संरक्षणं वक्ष्यमाणयतना कर्त्तव्या अरक्षणे प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुका गुरुमासाः। तथा आज्ञादय आज्ञाऽ--नवस्था-मिथ्यात्व-विराधना दोषाः। तथा असंरक्ष्यमाणो यत्सेवने षड्जीवनिकायविराधनादिकं यच्च प्राप्तोऽत्यनर्थं तन्निमित्तं च प्रायश्चित्तम्।

अथ किं सेवते ?, किं वा प्राप्स्यति? , इति। तन्निरूपणार्थमाह-

छक्कायाण विराहण, झामणतेणा निवायणं चेव।
अवडे विसमे य पडिए, तम्हा रक्खंति जयणाए॥

षण्णां कायानां पृथिवीकायिकादीनां विराधना क्रियेत। ध्मापनं प्रदीपनकं तद्वा कुर्यात्। यदि वा स्तैन्यम्। अथवा निपातमात्मनः परस्य वा विधीयते, अवटे कूपे, अथ वाऽन्यत्र विषमे पतितो भवेत्, तदेवमसंरक्षणे इमे दोषास्तस्मात् रक्षन्ति यतनया वक्ष्यमाणया।

साम्प्रतमेनामेव गाथां व्याचिख्यासुराह-

सस्सगिहादीणि महे, तेणे अह सो सयं वाही।
रज्जा मारणपिट्टण--मुभये तद्दोस जं च सेसाणं॥

सस्यं धान्यं तद् गृह्णतीति तद्गृहं, तद्गृहं सस्यगृहं तदादीनि आदिशब्दात् शेषगृहापणादिपरिग्रहः दहेत् स क्षिप्तचित्ततया अग्निप्रदानेन भस्मसात्कुर्यात् एतेन ध्मापनमिति व्याख्यातम्। यदि वा स्तेनयेत्। अथ वा स्वयं किमपि भिद्येत एतेन स्तैन्यं व्याख्यातम्। मारणं पिट्टनमुभयस्मिन्स्यात् किमुक्तं भवति-स क्षिप्त चित्तत्वेन परवश इव स्वयमात्मानं मारयेत् पिट्टयेत् यद्वापरं मारयन् पिट्टयित्वा स परमारणेण पिट्येत वा इति (तद्दोसा जं च सेसाणमिति) तस्य क्षिप्तचित्तस्य दोषात् यच्च शेषाणां साधूनां मारणं पिट्टनं वा तथा हि स क्षिप्तचित्तः परान् यदाव्यापादयति तदा परे स्वरूपमजानानाः शेषसाधूनामपि घातप्रहारादिकं कुर्युस्तन्निमित्तं मारणे द्रष्टव्यं शेषाणि तु स्थानानि सुगमानीति व्याख्यानयति यदुक्तम्-तस्माद्रक्षन्ति यतनयेति।

तत्र यतनामाह-

महिड्ढीए उड्डनिवेसणा य, आहाराविगिंचणा वि उस्सग्गो।
रक्खंताण य फिडिए, अगवेसणे होंति चउ गुरुगा॥

महर्द्धिको नाम ग्रामस्य नगरस्य वा रक्षाकारी तस्य कथनीयम्, यथा-(उड्डनिवेसणा इति) मृदुवधैस्तथा संयमनीयो यथा स्वयमुत्थानं निवेशनं च कर्तुमीशो भवति तथा। यदि वातादिना धातुक्षोभोऽस्याभूदिति ज्ञायते तदाऽपथ्याहारपरिहारेण स्निग्धमधुरादिरूप आहारः प्रदातव्यः (विगिंचण त्ति) उच्चारादेस्तस्य परिष्ठापनं कर्तव्यम्। यदि पुनर्दैवताकृत एष उपद्रव इति ज्ञायते तदा प्रासुकैषणा क्रिया यत्नेन कार्या। तथा (वि उस्सग्गो इति) किमयं वातादिना क्षोभः, उत देवताकृत-

उपद्रव इति परिज्ञानाय देवताराधनार्थं कायोत्सर्गः करणीयः। ततस्तया आकम्पितया कथिते सति तदनुरूपो यत्नो यथोक्तस्वरूपः करणीयः एवं रक्षतामपि यदि स कथञ्चित् स्फिटितः स्यात् ततस्तस्य गवेषणं कर्त्तव्यम्। अन्यथाऽगवेषणे प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः। एष द्वारगाथासंक्षेपार्थः।

साम्प्रतमेनामेव विवरीषुः प्रथमतो महर्द्धिकद्वारं विवृणोति–

अम्हं एस पिसाओ, रक्खंताणं पि फिडिए कयाइ।
सो परिरक्खेयव्वो, महिड्ढिए चेव कहणा उ॥

रक्षा अस्यास्तीति रक्षको, रक्षायां नियुक्तो राक्षिको वा ग्रामस्य नगरस्य वा रक्षको कारणिके महर्द्धिके कथना कर्त्तव्या तस्मै कथयितव्यमिति भावः। यथा अत्र तस्मिन्नुपाश्रये अस्माकं रक्षतामपि एष पिशाचो ग्रथिलः कदाचित्स्फिटति अपगच्छति। स 'हु' निश्चितं परिरक्षितव्यः प्रतिपन्नवत्सलत्वाद्। इति व्याख्यातं महर्द्धिकद्वारम्।

अधुना 'उड्डनिवेसणाय' इति व्याख्यानयति–

मिउबंधेहिँ तहा णं, जमेंति जह सो सयम्मि उट्ठेइ।
अपवरग सत्थरहिते, वाहि कुदंडे असुण्णं च॥

मृदुबन्धैस्तथा (णमिति) तं क्षिप्तचित्तं यमयन्ति वाध्नन्ति। यथा स स्वयमुत्तिष्ठति, तुशब्दस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वान्निविशते च, तथा स तस्मिन्नपवरके स्थाप्यते। यत्र न किमपि शस्त्रं भवति। अन्यथा स क्षिप्तचित्ततया युक्तमयुक्तं चाऽजानानः शस्त्रं दृष्ट्वा तेनात्मानं व्यापादयेत्, तस्य वाऽपवरकस्य द्वारं बहिः कुदण्डेन वा विशङ्कटादिना वध्यते येन न निर्गत्याऽपगच्छति। तथा अशून्यं यथा भवति एवंप्रकारेण प्रतिजाग्रियते। अन्यथा शून्यमात्मानमुपलभ्य बहुतरं क्षिप्तो विक्षिप्येत॥

उव्वरयस्य य असती, पुव्वखया सती य खंभए अगडो।
तस्सोवरिं च चक्कं, न प्फिडइ जह उप्फिडंतो वि॥

अपवरकस्य असति अभावे, पूर्वखनितकूपे निर्जले स प्रक्षिप्यते, तस्याप्यभावे अवटो नवः खन्यते, खनित्वा तत्र स क्षिप्यते, प्रक्षिप्य च तस्यावटकस्योपरि चक्रं रथाङ्गं स्थगनाय दीयते, यथा स उत्स्फिटन्नपि उल्लपमानोऽपि न स्फिटति न बहिर्गच्छति।

साम्प्रतम् 'आहारविगिंचणेत्यादि' व्याख्यानयति–

निद्धमहुरं च भत्तं, करीससेज्जा उ नो जहा वाऊ।
दव्विय धातुक्खोभे, नाउं उस्सग्ग तो किरिया॥

यदि वातादिना धातुक्षोभोऽस्य संजात इति ज्ञायते, तदा भक्तमपथ्यपरिहारेण स्निग्धं मधुरं च तस्मै दातव्यम्, शय्या च करीषमयी कर्त्तव्या, सा हि सोष्णा भवति, उष्णे च वातश्लेष्मापहारः। तथा किमयं दैविको दैवेन भूतादिना कृत उपद्रवः। धातुक्षोभज इति ज्ञाते देवताऽऽराधनाय उत्सर्गः क्रियते। तस्मिंश्च क्रियमाणे यदा किञ्चित्तया देवतया कथितं तदनुसारेण ततः क्रिया कर्त्तव्या यदि दैविक इति।

संप्रति 'रक्खंताणं पि फ्फिडिए' इत्यादि व्याख्यानयति–

अगडे पलाय मग्गण, अन्नगणा वा वि जे ण सारक्खो।
गुरुगा य जं च जुत्तो, तेसिं च निवेयणाकरणं॥

'अगडे' इति सप्तमी पञ्चमर्थे, ततोऽयमर्थः अवटात् कूपात् उपलक्षणमेतत्, अपवरकाद्वः, यदि पलायते, कथमपि ततस्तस्य मार्गणमन्वेषणं कर्त्तव्यम्। तथा ये तत्रान्यत्र वा आसन्ने, दूरे वा अन्यगणा विद्यन्ते तेषां च निवेदनाकरणं, तेषा मपि निवेदनं कर्त्तव्यमिति भावः। यथाऽस्मदीय एकः साधुः क्षिप्तचित्तो नष्टो वर्त्तते। ततस्तैरपि गवेषणीयः दृष्टे च स संग्रहणीयः। यदि पुनर्न गवेषयन्ति स्वगणवर्त्तिनोऽन्यगणवर्त्तिना वा, तदा तेषां प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुमासाः। यच्च करिष्यिति षट्जीवनिकायविराधनादिकं तन्निमित्तं च तेषां प्रायश्चित्तमिति॥

छम्मासे पडियारिउं, अणिच्छमाणेसु भुज्जतरगो वि।
कुलगणसंघसमाए, पुव्वगमेणं निवेएज्जा॥

पूर्वोक्तेन प्रकारेण तावत्स प्रतिधरणीयो यावत्षण्मासा भवन्ति। ततो यदि प्रगुणो जायते, तर्हि सुन्दरम्। अथ न प्रगुणीभूतस्ततो भूयस्तरकमपि तस्य प्रतिचरणं विधेयम्। अथ ते साधवः परिश्रान्ता भूयस्तरकं प्रतिचरणं नेच्छन्ति, ततस्तेष्वनिच्छत्सु कुलगणसङ्घ समवायं कृत्वा पूर्वगमेन कल्पोक्तप्रकारेण तस्मै निवेदनीयम्, निवेद्य च तदाज्ञया वर्त्तितव्यमिति।

अथ स साधुः कदाचिद् राजादीनां स्वजनः स्यात्, तत इयं यतना विधेया–

रण्णो निवेइयम्मी, तेसिं वयणे गवेसणा हुंति।
ओसहवेज्जा संबं–धुवस्सए तीसु वी जयणा॥

यदि राज्ञोऽन्येषां वा स पुत्रादिको भवेत्, ततो राज्ञः, उपलक्षणमेतत्। अन्येषां वा स्वजनानां निवेदनं क्रियते। यथा–युष्मदीय एष पुत्रादिकः क्षिप्तचित्तो जात इति। एवं निवेदिते यदि राजादयो ब्रुवते मम पुत्रादीनां क्रिया स्वयमेव क्रियमाणा वर्तते। तत इहैव तमप्यानयतेति। ततः स तेषां वचनेन तत्र नीयते। नीतस्य तत्र गवेषणादि भवति। अयमत्र भावार्थः– साधवोऽपि तत्र गत्वा औषधं भेषजानि प्रयच्छन्ति प्रतिदिवसं च शरीरस्योदन्तं वहन्ति। यदि पुनःसंबन्धिनः स्वजना वदेयुर्वयमौषधानि वैद्यं वा संप्रयच्छामः। परमस्माकमासन्ने प्रदेशे स्थित्वा यूयं प्रतिचरथ, तत्र यदि शोभनो भावस्तदैवं क्रियते। अथ गृहस्थीकरणाय तेषां भावः। तदा न तत्र नयनम्। किन्तुस्वोपाश्रय एव ध्रियते। तत्र च त्रिष्वपि आहारोपधिशय्यासु यतना कर्त्तव्या। एष द्वारगाथा संक्षेपार्थः।

साम्प्रतमेनामेव विवरीषुः प्रथमतो 'रण्णो निवेइयम्मी' इत्येतद् व्याख्यानयति–

पुत्तादीणं किरियं, सयमेव घरम्मि को वि कारेज्जा॥
अणुजाणंते य तहिं, इमे व गंतुं पडियरंति॥

यदि कोऽपि राजा, अन्यो वा तस्य क्षिप्तचित्तस्य साधोः स्वजनो गृहे स्वयमेव साधुनिवेदनात् प्राक् आत्मनैव पुत्रादीनां क्रियां चिकित्सां कारयति, तदा तस्मै निवेदिते युष्मदीयः क्षिप्तचित्तो जात इति कथिते यदि अनुजानीते यथा तमत्र समानयतेति, ततः स तत्र नीयते नीतं वसन्तमिमेऽपि गच्छवा सिनः साधवो गत्वा प्रतिचरन्ति।

ओसहवेज्जे देमो, पडिजग्गह णं तहिं ठियं चेव।
तेसिं च नाय भावं, न देंति मा णं गिही कुज्जा॥

कदाचित्स्वजना ब्रूयुः। यथा–औषधानि वैद्यं च वयं दद्मः केवलमिह अस्मिन्नस्माकमासन्ने प्रदेशे स्थितं णमित्येवं प्रतिजागृत, तत्र यदि तेषां भावो विरूपो गृहस्थीकरणात्मकस्ततस्ते–

षां तथारूपं भावमिङ्गिताकारं कुशलो ज्ञात्वा न ददाति न प्रयच्छति। न तेषामासन्नप्रदेशे नयतीति भावः। कुतः ? इति आह–मा एतं गृहस्थीकुर्युरिति हेतोः।

सम्प्रति 'तीसु वि जयणा' इत्येतद्व्याख्यानयति–

आहारनुवहिसेज्जा–उग्गमउप्पायणादिसु जयंता।
वायादि खोभम्मि वि, जयंति पत्तेय मिस्सा वा॥

आहारे उपधौ शय्यायां च विषये उद्गमोत्पादनादिषु, आदिशब्दादेषणादिदोषपरिग्रहः। यतन्ते प्रयत्नपरा भवन्ति। उद्गमोत्पादनादिदोषविशुद्धाहाराद्युत्पादनेन प्रतिचरन्तीति भावः। एषा यतना दैविके क्षिप्तचित्तत्वे द्रष्टव्या। एवं वातादिना धातुक्षोभेऽपि प्रत्येकं साम्भोगिका मिश्रा वा असाम्भोगिकैः संमिश्रा वा पूर्वोक्तप्रकारेण यतन्ते।

पुव्वं दिट्ठो उ विही, इह वि करेत्ताण होति तह चेव।
तेगिच्छंमि कयम्मी, आदेसा तिन्नि सुद्धो वा॥

यः पूर्वं कल्पाध्ययने ग्लानस्तत्र उद्दिष्टः प्रतिपादितो विधिः, स एव इहापि क्षिप्तचित्तसूत्रेऽपि वैयावृत्यं कुर्वता तथैव भवति ज्ञातव्यः। चैकित्स्ये च चिकित्सायाः कर्म्मणि च कृते प्रगुणीभूते च तस्मिन् त्रयः आदेशाः। एके ब्रुवते–गुरुको व्यवहारः प्रस्थापयितव्यः। अपरे ब्रुवते–लघुकः। अन्ये आचक्षते–लघुस्वकः। तत्र तृतीयः आदेशः प्रमाणं, सूत्रोपदिष्टत्वात्। अथवा स शुद्धो न प्रायश्चित्तभाक्।

परवशतया रागद्वेषाभावेन प्रतिसेवनादेव विभावयिषु–

रिदमाह–

चउरो य हुंति भंगा, तेसिं वयणम्मि होंति पण्णवणा।
परिसाए मज्झम्मी, पट्ठवणा होइ पच्छित्ते॥

इह चारित्रविषये बृद्धिहान्यादिगताश्चत्वारो भवन्ति भङ्गाः। ते चाग्रे वक्ष्यन्ते–येषां च भङ्गानां वचनेन, गाथायां सप्तमी तृतीयार्थे, भवन्ति पर्षदो मध्ये प्रज्ञापना प्ररूपणा तदनन्तरं यदि भवति शुद्धिमात्रनिमित्तं प्रायश्चित्तं दातव्यम्। ततस्तस्य प्रायश्चित्तस्य लघुकस्वरूपस्य, गाथायां सप्तमी षष्ठ्यर्था, भवति प्रस्थापनादानमिति।

सम्प्रति चतुरो भङ्गान् कथयन् प्रायश्चित्तदानाभावं भावयति–

वड्ढति हायति उभयं, अवट्ठियं च चरणं भवे चउहा।
खइयं तहोवसमियं, मीस अह खायखित्तं च॥

कस्यापि चारित्रं वर्द्धते, कस्यापि हीयते, कस्यापि वर्द्धते हीयते च, कस्याप्यवस्थितं वर्तते। एते चत्वारो भङ्गाश्चारित्रस्य। सांप्रतममीषामेव चतुर्णां भङ्गानां यथासंख्येन विषयान्प्रदर्शयति– (खइयमित्यादि) क्षपकश्रेणिं प्रतिपन्ने क्षायिकं चरणं वर्त्तते। उपशमश्रेणीतः प्रतिपतने औपशमिकं चरणहानिमुपगच्छति। क्षायोपशमिकं तद्रागद्वेषोत्कर्षापकर्षवशतः क्षीयते परिवर्द्धते च यथा क्षिप्तं च 'पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात्' क्षिप्तचित्तचारित्रं चावस्थितं ख्यातचारित्रे सर्वथा रागद्वेषोदयाभावात्, क्षिप्तचित्तचारित्रे परवशतया प्रवृत्तेः ततो रागद्वेषाभावात्तीव्रे तदेवं यतः क्षिप्तचित्ते चारित्रमवस्थितमसौ प्रायश्चित्तभागिति। पर आह–ननु स क्षिप्तचित्त आश्रवद्वारेषु चिरकालं प्रवर्त्तितः बहुविधं वाऽसमञ्जसं तेन प्रलपितं लोकलोकोत्तरविरुद्धं च। समाचरितम्।

ततः कथमयमप्रायश्चित्तभाक् ? अत्र सूरिराह–

कामं आसवदारे–सु वट्टितो पलवियं बहुविहं च।
लोगविरुद्धा य पया, लोगोत्तरिया स आइण्णा॥

काममित्यनुमतौ, अनुमतमेतत्। यथा स आश्रवद्वारेषु चिरकालं प्रवर्तितो बहुविधं च तेन प्रलपितं लोविरुद्धानि लोकोत्तरिकाणि च, लोकोत्तरविरुद्धानि च पदानि आचीर्णानि प्रतिसेवितानि।

न य बंधहेउविगल–त्तणेण कम्मस्स उवचओ होइ।
लोगो वि एत्थ सक्खी, जह एस परव्वसो कासी॥

तथाऽपि च नैव तस्य च क्षिप्तचित्तस्य बन्धहेतुविकलत्वेन बन्धहेतवो रागद्वेषास्तद्विकलत्वेन तद्रहितत्वेन कर्मण उपचयो भवति। कर्मोपचयस्य रागद्वेषाधीनत्वात्। तस्य च रागद्वेषविकलत्वात्। न च तद्रागद्वेषविकलत्वं वचनमात्रसिद्धम्, यतो लोकोऽप्यत्रास्मिन्विषये साक्षी, यथा एष सर्व परवशोऽकार्षीदिती। ततो रागद्वेषाभावान्न कर्मोपचयः। तस्य तदनुगत्वात्।

तथा चाह–

रागद्दोसाणुगया, जीवा कम्मस्स वंधगा हुंति।
रागादिविसेसेण वि, बंधविसेसो वि अविगीतो॥

रागाद्वेषाभ्यामनुगताः सन्तो जीवाः कर्मणो बन्धका भवन्ति। ततो रागद्वेषातारतम्येन बन्धविशेषो बन्धतरतमभावोऽविगीतो विप्रतिपन्नः। ततः क्षिप्तचित्तस्य रागद्वेषाभावतः कर्मोपचयाभावः।

अमुमेवार्थं दृष्टान्तेन द्रढयति–

कुणमाणी वि य चिट्ठा, परतंता णट्टिया बहुविहा उ।
किरियाफलेण जुज्जइ, न जहा एमेव एयं पि॥

यथा नर्त्तकी यन्त्रकाष्ठमयी परतन्त्रा परायत्ता परप्रयोगत इत्यर्थः। बहुविधा बहुप्रकारा अपि तुशब्दोऽपिशब्दार्थः। चेष्टाः कुर्वाणा क्रियाफलेन कर्म्मणा न युज्यते। एवमेव अनेनैव प्रकारेण अयमपि क्षिप्तचित्तोऽप्यनेका अपि विरुद्धाः क्रियाः कुर्वाणो न कर्म्मोपचयं प्राप्नोति।

अत्र परस्परमतशङ्कमानमाह–

जइ इच्छासि सा सेरी, अचेयणा तेण से विओ नत्थि।
जीवपरिग्गहिया पुण, वोंदी असमंजसं समया॥

यदि त्वमेतदिच्छसि अनुमन्यते। यथा (सेरीति) देशीवचनमेतत्। यन्त्रमयी नर्त्तकी अचेतना तेन कारणेन (से) तस्याश्च कर्म्मोपचयो नास्ति। वोन्दिस्तनुः पुनर्जीवपरिगृहीता जीवेनाधिष्ठिता जीवपरिगृहीतत्वाच्चावश्यं तद्विरुद्धचेष्टातः कर्मोपचयसंभवस्ततो या 'सेरी' दृष्टान्तेन संमता आपादिता, सा असमञ्जसमयुज्यमाना अचेतना, ऽचेतनत्वे दृष्टान्ते च दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्यात्।

अत्राचार्य आह–

चेयणमचेयणं वा, परतंतत्तेण दो वि तुल्लाइं।
न तया विसेसियं एत्थ किं वी भणती सुण विसेसं।

चेतनं वा स्याद्, अचेतनं वा चेतनत्वाऽचेतनत्वविशेषस्यात्राऽप्रयोजकत्वात्। कथमप्रयोजकत्वम् ? अत आह–परतन्त्रत्वेन प–

रायत्ततया यतो द्वे अपि तुल्ये ततो न किञ्चिद्वैषम्यम्। पर आह–न त्वया अत्र कर्म्मोपचयचिन्तायां किञ्चिदपि मनागपि विशेषितं येन जीवपरिगृहीतत्वेऽप्येकत्र कर्मोपचयो भवत्येकत्र नेति। प्रतिपाद्यमाह–आचार्यो भणति ब्रूते शृणु भण्यमानविशेषम्।

तमेवाह–

नणु सो चेव विसेसो, जं एगमचेयणं सचित्तेयं।
जह चेयणे विसेसो, तह भणमु इमं निसामेह।

ननु स एव च यन्त्रनर्त्तकी स्वाभाविकनर्त्तकदृष्टान्ततस्ततो विशेष एवं शरीरं जीवपरिगृहीतमपि परायत्ततया चेष्टमानमचेतनमेकं स्वायत्ततया प्रवृत्तेः सचित्तं सचेतनमिति। पर आह–यथैष चेतने विशेषो निस्सन्दिग्धप्रतिपत्तिविषयो भवति। तथा भणतः प्रतिपादयतः। आचार्य आह–तत इदं वक्ष्यमाणं निशमय आकर्णय।

तदेवाह–

जो पल्लितो परेणं, हेऊ वसहस्स होइ कायाणं।
तत्थ न दोसं इच्छसि, लोगेण समं तहा तं च॥

यः परेण प्रेरितः स च कायादीनां पृथिव्यादीनां व्यसनस्य सङ्घट्टनपरितापनादिरूपस्य हेतुः कारणं भवति। तत्र तस्मिन् परेण प्रेरिततया कायव्यसनहेतोर्न त्वं दोषमिच्छसि। अनात्मवशतया प्रवृत्तेः। कथं पुनर्दोषं नेच्छसि ? इत्यत आह–लोकेन समं लोके तथादर्शनमित्यर्थः। तथाहि–लोको यो यत्राऽनात्मवशतया प्रवर्त्तते तं तत्र निर्दोषमभिमन्यते। ततो लोके तथादर्शनतस्तमपि कायव्यसनहेतुं निर्दोषमभिमन्यताम्। यथा च तं निर्दोषमिच्छसि। तथा तमपि च क्षिप्तचित्तं निर्दोषं पश्य तस्यापि परायत्ततया तथारूपासु चेष्टासु प्रवृत्तेः।

एतदेव सविशेषं भावयति–

पासंतो वि य काए, अपच्चलो अप्पगं वि धारेउं।
जह पेल्लितो अदोसो, एमेवमिमं पि पासामो॥

यथा परेण प्रेरितः आत्मानं विधारयितुं संस्थापयितुमप्रत्यलोऽसमर्थः सन् पश्यन्नपि कायान् पृथिवीकायिकादीन् विराधयन्। अग्निकापुत्राचार्य इव, अदोषो निर्दोषः। एवमेव अनेनैव प्रकारेण परायत्ततया प्रवृत्तिलक्षणेन इममपि क्षिप्तचित्तमदोषं पश्यामः।

इह पूर्वं प्रगुणीभूतस्य प्रायश्चित्तदानविषये त्रय आदेशा गुरुकादय उक्तास्ततस्तानेव गुरुकादीन् प्ररूपयति–

गुरुगो गुरुगतरागो, अहागुरूगो य होइ ववहारो।
लहुओ लहुयतरागो, अहालहूगो य होइ ववहारो॥
लहुसो लहुसतरागो, अहालहूसो य होइ ववहारो।
एएसिं पच्छित्तं, वुच्छामि अहाणुपुव्वीए॥

व्यवहारास्त्रिविधः। तद्यथा–गुरुकः, गुरुतरकः, यथागुरुकश्च। लघुकः, लघुतरकः, यथालघुकश्च। लघुस्वः, लघुस्वतरकः, यथालघुस्वश्च। एतेषां व्यवहाराणां यथानुपूर्व्या यथोक्तपरिपाट्या प्रायश्चित्तं वक्ष्यामि। किमुक्तं भवति? एतेषु व्यवहारेषु समुपस्थितेषु यथापरिपाट्या प्रायश्चित्तपरिमाणमिधास्ये।

गुरुकादिव्यवहारप्रायश्चित्तमाह–

गुरुगो य होइ मासो, गुरुगतरागो य होइ चउमासो।
अहगुरुगो छम्मासो, गुरुगपक्खम्मि पडिवत्ती॥

गुरुको नाम व्यवहारो मासः मासपरिणामः, गुरुके व्यवहारे समापतिते एकः मासः प्रायश्चित्तं दातव्यमिति भावः। एवं गुरुतरको भवेति चतुर्मासपरिमाणः। यथागुरुकः षण्मासः, षण्मासपरिमाणः। एषा गुरुकपक्षे, गुरुके व्यवहारे त्रिविधेऽपि यथाक्रमं प्रायश्चित्तप्रतिपत्तिः।

अथ लघुकादिव्यवहारप्रायश्चित्तमाह–

तीसा य पण्णवीसा य, वीसा पण्णरसे व य।
दस पंच य दिवसाइं, लहुसगपक्खम्मि पडिवत्ती॥

लघुको व्यवहारः त्रिंशद्दिवसपरिमाणः। एवं लघुतरकः पञ्चविंशतिदिनमानः। यथालघुको विंशतिदिनमानः। एषा लघुकव्यवहारे त्रिविधे यथाक्रमं प्रतिपत्तिः। लघुस्वकः पञ्चदशदिवसप्रायचित्तपरिमाणः। एवं लघुस्वतरकः दशदिवसमानः। यथालघुस्वकः पञ्चदिवसप्रायश्चित्तपरिमाणः एषा लघुस्वकव्यवहारपक्षे प्रायश्चित्तप्रतिपत्तिः।

अथ कं व्यवहारं केन तपसा परिपूरयति ? इति प्रतिपादनार्थमाह–

गुरुगं चअट्ठमं खलु, गुरुगतरागं व होइ दसमं तु।
अहगुरुगदुवालसमं, गुरुगगपक्खम्मि पडिवत्ती॥

गुरुकं व्यवहारं मासपरिमाणम्, अष्टमं कुर्वन् पूरयति गुरुकं व्यवहारं मासपरिमाणमष्टमेन वहति। यथा–गुरुतरकं चतुर्मासप्रमाणं व्यवहारं दशमं कुर्वन् पूरयति दशमेनवहतीत्यर्थः। यथागुरुकं कुर्वन् द्वादशे(शमे) नेत्यर्थः। एषा गुरुकपक्षे गुरुकव्यवहारपूरणविषये प्रतिपत्तिः।

छट्ठं च चउत्थं वा, आयंविलएगठाणपुरिमड्ढं।
निव्वायं दायव्वं, अहलहुस्सम्मि सुद्धो वा॥

लघुकं व्यवहारं त्रिंशद्दिनपरिमाणं षष्ठं कुर्वन् पूरयति। लघुतरकं पञ्चविंशतिदिवसपरिमाणव्यवहारं चतुर्थं कुर्वन्। यथालघुकव्यवहारं विंशतिदिनमानम् आचाम्लं कुर्वन्। एषा लघुकत्रिविधव्यवहारपूरणे तपःप्रतिपत्तिः। तथा–लघुस्वकं व्यवहारं पञ्चदशदिवसपरिमाणम्, एकस्थानकं कुर्वन् पूरयति। लघुस्वकतरकव्यवहारं दशदिवसपरिमाणं पूर्वार्द्धकं कुर्वन्। यथालघुस्वकव्यवहारं पञ्चदिनपरिमाणं निर्विकृतिकं कुर्वन्पूरयति। तत एतेषु गुरुकादिषु व्यवहारेषु अनेनैव क्रमेण तपो दातव्यम्। यदि वा लघुस्वके व्यवहारे प्रस्थापयितव्ये सप्रतिपन्नव्यवहारतपःप्रायश्चित्तम् एवमेवालोचनाप्रदानमात्रतः शुद्धः क्रियते। व्य० २ उ०।

सूत्रम्–खित्तचित्तं निग्गंथिं निग्गंथे गिण्हमाणे वा अवलंबमाणे वा नाइक्कमइ।

अस्य सूत्रस्य संबन्धमाह–

उदुज्झंती व भया, संफासा रागतो व खिप्पेज्जा॥
संबंधविहिण्णा ते, वदंति संबंधमेयं तु।

पानीयेनापोह्यमाना सा भयात् क्षिप्येत क्षिप्तचित्ता भवेदित्यर्थः। यद्वा संस्पर्शतो यो राग उत्पद्यते तस्माद्वा। तत्र साधौ अन्यत्र गते सति क्षिप्तचित्ता भवेत्। अथ क्षिप्तचित्ततासूत्रमारभ्यते एवं संबन्धार्थं विधिज्ञाः सूरयोऽत्र सूत्रे एन संबन्धं वदन्ति–

अनेन संबन्धेनायातस्यास्य व्याख्या (खित्तचित्तं ति) क्षिप्तं नष्टं रागभयापमानैः चित्तं यस्याः सा क्षिप्तचित्ता तां निर्ग्रन्थीं निर्ग्रन्थो गृह्णाति वा अवलम्ब्यमानो वा नातिक्रामति आज्ञामिति सूत्रार्थः । वृ० ६ उ० क्षिप्तचित्ताया निर्ग्रन्थ्याः प्ररूपणा क्षिप्तचित्तस्य निर्ग्रन्थस्येव भावनीया नवरं पुरुषाभिलापे स्त्र्यभिलापः कर्त्तव्यः)

खिप्प न० (क्षिप्र) शीघ्रे, उत्त० ४ अ० । विशे । सूत्र० । रा० । संथा० । आ०म० । अचिरे, षो ३ विव० । ''खिप्पमेव गिण्हइ'' क्षिप्रमेव गृण्हाति तूल्यादिस्पर्शं क्षयोपशमपटुत्वादविचिरेणैवेति । स्था० ६ ठा० । ''खिप्पामेव दुवालसजोयणाइं'' जं० ३ वक्ष० १ । क्रियाविशेषणत्वे क्लीवता । तद्वति, त्रि० । वाच० । ''खिप्पं हवइ सुचोइए'' क्षिप्रं भवति शीघ्रं कार्यकृद्भवति । उत्त० १ उ० ।

खिप्पगइ पुं० (क्षिप्रगति) दिक्कुमारेन्द्रयोः अमितगत्यमितवाह नयोः लोकपालयुगले, भ० ३ श० ८ उ० । स्था० ।

खिप्पचारि त्रि० (क्षिप्रचारिन्) शीघ्रसंचरणशीले, विशे ।

खिर (क्षर) सिञ्चने, भ्वा० पर० अक०सेट् । **''क्षर, खिर–झर–पज्झर–पच्चड–णिच्चल–णिट्ठुआः'' ८।४। १७३।** इति खिरादेशः 'खिरइ' क्षरति । प्रा० ४ पाद ॥

खिलभूमि स्त्री० (खिलभूमि) हलैरकृष्टायां भूमौ, प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

खिल्ल पुं० (खिल्ल) खील इति जनोक्तिप्रसिद्धे, तं० ।

खिल्लहल पुं० (खिल्लहल) स्वनाम्ना लोकप्रसिद्धे कन्दे, ध० २ अधि० । प्रव० ।

खिव धा० (क्षिप्) प्रेरणे तुदा० उभ० सक० । **''क्षिपेर्गलत्थाऽड्डक्ख–सोल्ल–पेल्ल–णोल्ल–छुह–हुल–परी–घत्ताः।'' ८।४।१४३।** इत्यादेशो वा । पक्षे 'खिवइ' क्षिपति । प्रा० ४ पाद ॥

खीण त्रि० (क्षीण) क्षिप्त **''क्षः खः क्वचित्तु छ–झौ''।८।२।३।** इति क्षस्य खः । प्रा० २ पाद । अपगते । अनु० । निर्जीर्णे, विशे ।

खीणअसुभणाम पुं० (क्षीणाशुभनामन्) क्षीणमपगतं नरकगत्यशुभ–दुर्भगदुःस्वरानादेययशःकीर्त्यादिकमशुभं नाम यस्य सः । अशुभनाम-विप्रमुक्ते, अनु० ।

खीणकसाय पुं० (क्षीणकषाय) क्षीणा अभावमापन्ना कषाया यस्य स क्षीणकषायः । क्षपकश्रेणिद्वारा प्रतिहतकषाये, प्रव० २६ द्वार ।

खीणकसायवीयरागछउमत्थ पुं० (क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थ) क्षीणा अभावमापन्नाः कषाया यस्य स क्षीणकषायः तच्चाऽन्येष्वपि गुणस्थानकेषु क्षपकश्रेणिद्वारोक्तयुक्त्या क्वापि कियतामपि कषायाणां क्षीणत्वसंभवात् क्षीणकषायव्यपदेशः संभवति । ततस्तद्व्यच्छेदार्थं वीतरागग्रहणं, क्षीणकषायवीतरागत्वं च केवलिनोऽप्यस्तीति तद्व्यवच्छेदार्थं छद्मस्थग्रहणम् । यद्वा छद्मस्थस्य रागोऽपि भवतीति तदपनोदार्थं वीतरागग्रहणं वीतरागश्चासौ छद्मस्थश्च वीतरागच्छद्मस्थः स चोपशान्तकषायोऽप्यस्तीति तद्व्यवच्छेदार्थं क्षीणकषायग्रहणं क्षीणकषायश्चासौ वीतरागच्छद्मस्थश्च । द्वादशे गुणस्थाने वर्त्तमाने जीवे, प्रव० २२४ द्वार । पञ्चा० । दर्श० । कल्प० ।

खीणकसायवीयरागछउमत्थगुणट्ठाण न० (क्षीणकषायवीतरागच्छद्मस्थगुणस्थान) द्वादशे गुणस्थाने, पञ्चा० १ द्वार । (इदं च यथा चाप्यते, तथा मूलत एव भावितं 'खवगसेढि' शब्दे अस्मिन्नेव भागे ७२८ पृष्ठे)

खीणकोह त्रि० (क्षीणक्रोध) क्षीणक्रोधमोहनीयकर्मणि, औ० ।

खीणप्पायासुभकम्म पुं० (क्षीणप्रायाऽशुभकर्मन्) क्षीणप्रायाणि बाहुल्येन क्षीणानि अशुभकर्माणि चारित्रप्रतिबन्धकानि यस्य स तथा । क्षीण-क्लिष्टकर्मणि, ध० ३ अधि० ।

खीणभोगि त्रि० (क्षीणभोगिन्) भोगो जीवस्य यत्रास्ति तद्भोगि शरीरं तत् क्षीणं तपोरोगादिभिर्यस्य स क्षीणभोगी । क्षीणतनौ दुर्बले, भ० २ श० ५ उ० ।

खीणमोह पुं० (क्षीणमोह) क्षीणो निःसत्ताकीभूतो मोहो यस्य स तथा । क्षयवीतरागे द्वादशगुणस्थाने वर्त्तमाने जीवे, स० १४ सम० । सूक्ष्मसंपरायावस्थायां संज्वलनलोभमपिनिःशेषं क्षपयित्वा सर्वथा मोहनीयकर्माभावं प्रतिपन्ने निर्ग्रन्थभेदे, प्रव० ६३ द्वार ।

खीणमोहस्स णं अरहओ तओ कम्मंसा जुगवं खि–ज्जंति तं णाणावरणिज्जं दंसणावरणिज्जं अंतरायं ॥

क्षीणमोहस्य क्षीणमोहनीयकर्मणोऽर्हतो जिनस्य त्रयः कर्मांशाः कर्मप्रकृतय इति उक्तश्च–''चरमे नाणावरणं, पंचविहं दंस णं चउविगप्पं। पंचविहमंतरायं, खवइत्ता केवली होइ '' त्ति ॥३॥ स्था० ३ ठा० ४ उ०।

खीणराग पुं० (क्षीणराग) वीतरागे, ग० १ अधि० ।

खीणरागदोसमोह पुं० (क्षीणरागद्वेषमोह) क्षीणा रागद्वेषमोहा यस्य सः। वीताभिष्वङ्गाप्रीत्यज्ञाने, पं० सू० ४ सू० ।

खीणवित्ति त्रि० (क्षीणवृत्ति) क्षीणा वृत्तिः परा जीविका यस्य सः । जीविकारहिते, अष्ट० ३० अष्ट० । क्षीणमले, ''मणेरिवाभिजातस्य, क्षीणवृत्तेरसंशयम्'' द्वा० २० द्वा० ।

खीर न० (क्षीर) क्षि क्रन् दीर्घश्च । जले, सरलद्रव्ये, वाच० । स्तन्ये, बृ० १ उ० । पिं० । प्रज्ञा० प्रश्न० । विशे । उत्त० । सूत्र० । पञ्च क्षीराणि गोमहिष्यजोष्ट्रैलकसंबन्धिभेदात् विकृतयः । ध० २ अधि० । आ० चू० । नि० चू० । आव० । पञ्चा० । प्रव० । स्था० । ''एगंतेण अपेयं, खीरं दुरजाइयं तहिं देसे । संसेइमं तत्थ जिया, गंडुलया सप्पमंडुक्का'' ॥ १५॥ संस० नि०क्षीरवरद्वीपस्य अधिपतौ देवे, जी० ३ प्रति० ॥

खीरइय त्रि० (क्षीरकित) संजातक्षीरके, ज्ञा० १ श्रु० ७ अ० ।

खीरकाउली स्त्री० (क्षीरकाकोली) क्षीरविदारीनामके साधारणशरीरबा-दरवनस्पतौ, प्रज्ञा० १ पद । वाच० । आचा० ।

खीरजल पुं० (क्षीरजल) क्षीरसमुद्रे, द्वी ।

खीरण्ण न० (क्षीरान्न) परमान्ने, अष्ट० ५६ अष्ट० ।

खीरदुम पुं० (क्षीरद्रुम) घटोदुम्बरपिप्पलादौ, क्षीरप्रधाने वृक्षे, णि० चू० १ उ० । पिं० । आव० । 'दव्वे खीरदुमादि' न्यग्रोधादि । पञ्चा० १५ विव० ।

खीरधाई स्त्री० (क्षीरधात्री) स्तनदायिन्यां धात्र्याम्, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। नि० चू०। (धात्रीपिण्डे स्वरूपमस्या ज्ञेयम्)

खीरपूरसमप्पह त्रि० (क्षीरपूरसमप्रभ) दुग्धपूरसदृशवर्णे, उत्त० ३४ अ०।

खीरप्पभ पुं० (क्षीरप्रभ) क्षीरवरद्वीपाधिपतौ देवे, जी० ३ प्रति०।

खीरमहुसप्पियासव पुं० (क्षीरमधुसर्पिराश्रव) क्षीराश्रवादिलब्धित्रिके।

खीरमहुसप्पिसाऊव–माणवयणा तयाऽऽसवा हुंति।५१६।

क्षीरं दुग्धं, मधु मधुरद्रव्यं, सर्पिर्घृतम्, एतत्स्वादूपमानवचना वैरस्वाम्यादिवत् तदाश्रवाः क्षीरमधुसर्पिराश्रवा भवन्ति। इयमत्र भावना। पण्ड्रेक्षुचारिणीनां गवां लक्षस्य क्षीरम् अर्द्धार्द्धक्रमेण दीयते यावत् एवमेकस्याः पीतगोक्षीरायाः क्षीरं तत्किल चातुरिक्यमित्यागमे गीयते। तद्यथोपभुज्यमानमतीव मनःशरीरप्रह्लादहेतुरुपजायते। तथा यद्वचनमाकर्ण्यमानं मनःशरीरसुखोत्पादनाय प्रभवति, ते क्षीराश्रवाः क्षीरमिव वचनम् आसमन्तात् श्रवन्तीति व्युत्पत्तेः। एवं मधु किमप्यतिशायि शर्करादि मधुरद्रव्यममृतमपि पुण्ड्रेक्षुचारिगोक्षीरं मन्दाग्निक्वथितमपि विशिष्टवर्णाद्युपेतं मधिव वचनमाश्रवन्तीति मध्वाश्रवाः घृतमिव वचनमाश्रवन्तीति घृताश्रवाः। उपलक्षणत्वाच्चामृताश्रविणः इक्षुरसाश्रविण इत्यादयोऽप्यवसेयाः। अथ वा येषां पात्रे पतितं कदन्नमपि क्षीरमधुसर्पिरादिरसवीर्यविपाकं जायते क्रमेण क्षीराश्रविणो मध्वाश्रविणः सर्पिराश्रविण इत्यादि॥ प्रव० २७० द्वार। ग०। विपा०।

खीरमेह पुं० (क्षीरमेघ) भरतैरवतयोर्भूम्या वर्णगन्धरसस्पर्शजनके दुःखमदुःखमान्ते वृष्टिकारके द्वितीये महामेघे, ति०। जं०। ('सप्पिणी' शब्दे वर्णकोऽस्य)

खीरवती स्त्री० (क्षीरवती) क्षीरं विद्यते यस्याः सा। भूम्नि, मतुप् प्रत्ययः। बहुक्षीरायाम्, ''दुग्धासे खीरवती गावी'' बृ० ३ उ०।

खीरवर पुं० (क्षीरवर) चतुर्थे द्वीपे, स्था० ३ ठा० ४ उ०। अनु०

वारुणोद णं समुद्द खीरवरे णामं दीवे वट्टे० जाव चिट्ठति सव्वं। संखेज्जगं विक्खंभो परिक्खेवो य० जाव अट्ठो वहूउ खुड्डुवावीउ० जाव सरपंतियासु खीरोदगपडिहत्थाउ पासादीयाउ तासु णं खुड्डियासु० जाव विलपंतियासु बहवे उप्पायपव्वयगा सव्वरयतामया० जाव पडिरूवा पंडरगपुप्फदंता इत्थ दो देवा महिड्ढिया० जाव परिवसंति। से तेणट्ठेणं० जावणिचे जोतिसं सव्वं संखेज्जं॥

(वरुणोद णमित्यादि) वरुणोदं णमिति पूर्ववत् समुद्रं क्षीरवरनामद्वीपो वृत्तो बलयाकारसंस्थानसंस्थितः सर्वतः समन्तात् संपरिक्षिप्य तिष्ठति। एवं यैव वरुणवरद्वीपस्य वक्तव्यता सैवेहापि द्रष्टव्या यावज्जीवोपपातसूत्रम्। संप्रति नामान्वर्थमभिधित्सुराह–''से केणट्ठेणमित्यादि'' अथ केनार्थेन भदंत एवमुच्यते ? क्षीरवरो द्वीपः क्षीरवरो द्वीपः, प्रभूतजनोक्तिसंग्रहार्थं वीप्सायां द्विर्वचनं भगवानाह–गौतम–क्षीरवरे द्वीपे तत्र देशे तस्य तस्य देशस्य तत्र प्रदेशे बहवः (खुड्डुवावीउ इत्यादि) वरुणवरद्वीपवत्सर्वं वक्तव्यं यावत् ''वाणमन्तरा देवा देवी उपआसयंति सयंति०जाव विहरंति'' नवरमत्र वाप्यादयः क्षीरोदकपरिपूर्णा वक्तव्याः पर्वतापर्वतकेषु आसनानि गृहकाणि गृहकेष्वासनानि मण्डपकेषु पृथिवीशिलापट्टकाः सर्वरत्नमया वाच्याः शेषं तथैव। पुण्डरीकपुष्पदन्तौ चात्र क्षीरवरे द्वीपे यथाक्रमं पूर्वार्द्धापरार्द्धाधिपती द्वौ देवौ महर्द्धिकौ यावत् पल्योपमस्थितिकौ परिवसतस्ततो यस्मात्तत्र वाप्यादिषूदकं क्षीरतुल्यं क्षीरक्षीरप्रभौ तदधिपतिदेवाविति स द्वीपः क्षीरवरः तथा चाह–(से एएणट्ठेणमित्यादि) उपसंहारवाक्यं चन्द्रादिसूत्रं प्राग्वत्॥ जी० ३ प्रति०। चं० प्र०। सू० प्र०।

खीरसागर पुं० (क्षीरसागर) दुग्धसमुद्रे, कल्प २ क्षण।

खीरादिलद्धिजुत्त पुं० (क्षीरादिलब्धियुक्त) क्षीरादिकलब्धिसम्पन्ने आदिशब्दाद्विद्यामन्त्रयोगवशीकरणादिकुशले, व्य० १ उ०।

खीरादिविग्घिततणु त्रि० (क्षीरादिवृंहिततनु) प्रचुरदध्या–द्युपचितशरीरे, बृ० ४ उ०।

खीरामलय न० (क्षीरामलक) अवद्धास्थिके फले, क्षीरवन्मधुरे, आमलके, ''फलपरिमाणं करेइ तत्थ एगेणं क्षीरामलएणं'' उत्त० १ अ०।

खीरासव पुं० (क्षीराश्रव) यद्वचनमाकर्ण्यमानं मनःशरीरसुखोत्पादनाय प्रभवति स लब्धिविशेषसंपन्नः तस्मिन्, क्षीरमिव वचनसमन्तात् श्रवतीति व्युत्पत्तेः। प्रव० २७० द्वार०। आ० चू० पा०।

खीरासवलद्धि पुं० (क्षीराश्रवलब्धि) क्षीरमिवाश्रवति कथयन् यस्या लब्धेः सा क्षीराश्रवा सा लब्धिर्यस्यासौ क्षीराश्रवलब्धिः। क्षीराश्रवलब्धियुक्ते, व्य० ३ उ०।

खीरिज्जमाण त्रि० (क्षीर्यमाण) दुह्यमाने, ''खीरिणीओ गावीओ खीरिमाणाओ वेहाए'' आचा० २ श्रु० १ अ० ४ उ०।

खीरोद पुं० (क्षीरोद) क्षीरवदुदकं यस्य। संथा० क्षीरवरद्वीपस्य परितः समुद्रभेदे, जी०।

तद्वक्तव्यता–

खीरवरे णं दीवं खीरोदे णामं समुद्दे, वलयागारसंठाणसंठिते जाव परिक्खित्ताणं चिट्ठंति समचक्कवालसंठिते, नो विसमचक्कवालसंठिते, संखेज्जाइं जोयणसयाइं क्विक्खंभपरिक्खेवो तहेव सव्वं० जाव अट्ठो। गोयमा! खीरोयस्स णं समुद्दे उदगे से जहानामतेसु उ महामारुपल्लअब्भणतणसरस पत्तकोमलअच्छिण्णतणगपोंडगरुथुवारिणीणं लवंगपत्तपुप्फपल्लकंकोलगसफलरुक्खा बहुगुच्छ गुम्मकलिते लट्ठिमहुपउरपिप्पलीफलितवल्लिवरविवर चारिणीणं अप्पोदगपीतसइरसमभूमिभागणिज्झयसुहे सीताणं सुपोसितसुधाताणं रोगपरिवज्जिताणं निरुवहतसरराणं कालप्पसंठाणं वितियसमप्पसूताणं अंजणवरगवलवलय जलधरजव्वं जणरिट्ठभमरपरहुतसमप्पभाणं गावीणं कुंडदोहणाणं बद्धतथी पवुत्ताणं रूढाणं मधुमासकाले संगहिते होज्ज,

चातुरक्केव होज्ज, तासि खीरे मधुररसविवगत्थवहुदव्वसंपयुत्ते पयत्तमंदग्गिसुकड्ढिते । आउत्तडगुडमच्छंडितोववेतरण्णो । चाउरंतचक्कवट्टिस्स उवठवित्ते आसादणिज्जे वीसादणिज्जे धीणणिज्जे० जाव सव्विंदियगातपल्हायणिज्जे वण्णेणं उववेते० जाव फासेणं भवे तारूवे सिया । नो तिणट्ठे समट्ठे । खीरोदस्स णं से उदए एत्तो इट्ठयराये चेव आसायेणं पण्णत्ते विमलप्पभाय इत्थ दो देवा महिड्ढिया० जाव परिवसंति । से तेणट्ठेणं संखेज्जा चंदा० जाव तारा ।

(खीरवरेणमित्यादि) क्षीरवरे णमिति पूर्ववत् द्वीपं क्षीरोदो नाम समुद्रो वृत्तो वलयाकारसंस्थानसंस्थितः समन्तात् संपरिक्षिप्य तिष्ठति शेषा वक्तव्यता क्षीरवरद्वीपस्येव वक्तव्या यावज्जीवोवपातसूत्रम् । संप्रति नामनिमित्तमभिधित्सुराह–(से केणमित्यादि) अथ केनार्थेन भदन्त ! एव मुच्यते ? क्षीरोदः समुद्रःक्षीरोदसमुद्र इति भगवानाह–गौतम ! क्षीरोदस्य समद्रस्योदकं यथा राज्ञश्चक्रवर्तिनश्चातुरक्यं चतुःस्थान–परिणामपर्यन्तगोक्षीरं चतुःस्थानपरिणामपर्यन्तता च प्रागेव व्याख्याता । खण्डगुडमत्स्यण्डिकोपनीतं खण्डगुडमत्स्यण्डि–काभिरतिशयेन प्रापितरसं प्रयत्नेन मन्दाग्निना क्वथितम् । अत्यग्निपरितापे वैरस्यापत्तेः । अत एवाह–वर्णोपपेतं गन्धोपपेतं रसोपपेतम् स्पर्शोपपेतम् आस्वादनीय बिस्वादनीयं दीपनीयं दर्प्पणीयं मदनीयं वृंहणीयं सर्वेन्द्रियगात्रप्रल्हादनीयमिति पूर्ववत् । एवमुक्ते । गौतम आह– ''भवे एयारूवे सिया'' भवेत् क्षीरसमुद्रस्योदकमेतद्रूपम् । भगवानाह–गौतम ! नायमर्थः समर्थः । क्षीरोदस्य यस्मात्समुद्रस्योदकमितो यथोक्तरूपात् क्षीरादिष्टतरमेव यावन्मनआप्यायनमेवास्वादेन प्रज्ञप्तं विमल–विमलप्रभौ च यथाक्रमं पूर्वार्द्धापरार्द्धाधिपती द्वौ देवौ महर्द्धिकौ यावत्पल्योपमस्थितिकौ परिवसतः ततः क्षीरमिवोदकं यस्य क्षीरवन्निर्मलस्वभावयोः सुरयोः संबन्धि उदकं यत्रेति वा क्षीरोदः । तथा चाह– ''से एएणट्ठेणमित्यादि'' गतार्थम् । जी० ३ प्रति० । सू० प्र० । अनु० । चं०प्र० । स्था० । (चतुर्दशमहास्वप्नमध्यगतोऽस्य वर्णकः)

खीरोदगा स्त्री० (क्षीरोदका) क्षीरमिव (मेव) उदकं यासांताः । दुन्धजलासु वापीषु । जी० ३ प्रति० ।

खीरोदा स्त्री० (क्षीरोदा) सुपक्ष्माविजये अन्तर्नद्याम्, जं० ४ वक्ष० । स्था० । ''दो खीरोदाओ'' स्था० ठा० ३ उ० ।

खील पुं० (कील) **''कुब्जकपर्परकीले कःखोऽपुष्पे''** ।८।१।१८१। इति कस्य खः । प्रा० शङ्कौ, प्रा० १ पाद ।

खीलगमग्ग पुं० (कीलकमार्ग) मार्गभेदे, यत्र वालुकोत्कटे मरुकादिविषये कीलिकाभिज्ञानेन गम्यते । सूत्र० १ श्रु० ११ अ० ।

खीलसंठिय न० (कीलसंस्थित) कीलकाकृतिपात्रे, ''जं ठविज्जा तं णट्ठाति तं खीलसंठियं'' नि० चू० १ उ० ।

खीलिया स्त्री० (कीलिका) ह्रस्वकीले, ''खीलियापओ गनिम्मातो गरुडो कतो'' आ०म०द्वि० ।

खु अव्य०(खु) **''हु खु निश्चयवितर्कसंभावनविस्मये''** ८।२।१९८। इति । निश्चयादिषु, (खु) तत्र निश्चये तं खु सिरीए रहस्सं । ऊहे एअं खु हसइ । संशये जलहरो खु धूमवडलो खु । संभावने–एयं खु हसइ । विस्मये–को खु एसो सहस्ससिरो । प्रा० २ पाद । अवधारणे, आव० ३ अ० । सूत्र० । दश० । दशा० । पञ्चा० । उत्त० । आचा० । निश्चये, तं० । ग० । वाक्यालङ्कारे, आचा० १ श्रु० ६ अ० ३ उ० । सूत्र० । हेतुप्रदर्शने, उत्त० २ अ० ।

खुइ स्त्री० (क्षुति) क्षवणं क्षुतिः । छीत्कारादौ शब्दविशेषे, ''मम कत्थ वि सुइं वा खुइं वा पवित्तिं वा अलब्भमाणे'' श्रुतिं वार्त्तामात्रं, श्रुतिं तस्यैव सबन्धिनं शब्दं तच्चिह्नं वा । ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । एषाऽप्यदृश्य-मनुष्यादिगमिका भवतीति गृहीता । भ० ३ श० १ उ० ।

खुज्ज न० (कुब्ज) **''कुब्जकर्प्परकीले कः खोऽपुष्पे''** ८।१।१८१॥ इत्यनेन कस्य खः । चतुर्थे संस्थाने, यत्र शिरो ग्रीवं हस्तपादादिकं च यथोक्तप्रमाणलक्षणोपेतम् उदरादिमण्डलं तत्तु कुब्जम् । जी० १ प्रति० । तं० । कल्प० । ''हिट्ठिल्लकायमडहं । अधस्तनकायं मडहम् '' । इहाधस्तनकायशब्देन पादपाणिशिराग्रीवमुच्यते, तद्यत्र शरीरल-क्षणोक्तप्रमाणव्यभिचारि यत्पुनः शेषं तद्यथोक्तप्रमाणं तत्कुब्जमिति । स्था० ६ ठा० । वक्रशरीरे, त्रि० बृ० १ उ० । वक्रे, ओघ० । एकपार्श्वहीने, प्रव० ११० द्वार । नि० चू० ।

खुज्जणाम न० (कुब्जनामन्) संस्थाननामकर्मभेदे, यदुदयाज्जीवानां कुब्जसंस्थानं भवति । कल्प० १ क्षण।

खुज्जत्त न० (कुब्जत्व) वामनलक्षणे संस्थाने, आचा० १ अ० २ अ० ३ उ० ।

खुज्जा स्त्री० (कुब्जा) वक्रजङ्घायां शातवाहनदास्याम्, भ० १२ श० २ उ० । (अस्या उदाहरणम् 'अणणुओग' शब्दे प्र० भागे २८५ पृष्ठे उक्तम्)

खुज्जिआ स्त्री० (कुब्जिका) वक्रजङ्घायां दास्याम्, नि० १ वर्ग० । ज्ञा० । भ० ।

खुज्जि(ण्) त्रि० (कुब्जिन्) कुब्जं पुष्ठादावस्यास्तीति कुब्जी । कुब्जे, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

खुद धा० (तुड) द्विधाकरणे, भ्वा० पर० सेट् **''तुडेः–स्तोतोड-तुट्ट–खट्ट–खुडोक्खडोल्लुक्क–णिल्लुक्क–लुक्के–ल्लूराः''** ।८।४।११६॥ इति तुडेः खुट्टखुडावादेशौ भवतः । खुट्टइ, खडइ, तोडति । प्रा० ४ पाद० ।

खुडिय त्रि० (खंडित) **''चण्डखण्डिते णा वा''** ॥८।१।५३॥ इति णकारेण सहितस्यादेरस्य उत्त्वम् । छिन्ने, खुडिओ, खण्डिओ । प्रा० १ पाद ।

खुडुक्क नामधातु (शल्याय) शल्यसये वाचरणे, **'' तक्ष्यादीनां छोल्लादयः ''** ॥८।४।३९५॥ इति शल्यायस्य खुडुक्कादेशः ''हियइ खुडुक्कइ गौरडी'' गौरी स्त्री हृदये शल्यायते । प्रा० दुं० ४ पाद ।

खुड्ड त्रि० (क्षुद्र) क्षुद्रकर्मकारिणि, ज्ञा० १ श्रु० १८ अ० । दशा० । लघुनि, आचा० २ श्रु० २ अ० ३ उ० । नि० चू० । बाले, उत्त० १ अ० । नि० चू० । अधमे, क्रूरे, अल्पे, दरिद्रे च । वाच० ।

खुड्डग पुं० (क्षुद्र (ल्ल) क) **''गोणादयः''** ॥८।२।१७४॥

इति लस्य डः। प्राः २ पाद। महत् प्रतिपक्षे द्रव्यभावबाले, ''खुड्डगो सिसू बालो त्ति वुत्तं भवति'' नि० चू० १ उ०।

अत्र निक्षेपः।

नामं ठवणा दविए, खेत्ते काले पहाणपइभावे।
एएसि महंताणं, पडिवक्खे खुड्डया होंति॥१८४॥

नामदिमहतां प्रतिपक्षे क्षुल्लकानि भवन्ति। अभिधेयवल्लिङ्गवचनानि भवन्तीति न्यायात्। यथार्थं क्षुल्लकलिङ्गवचनमिति। तत्र नामस्थापने क्षुण्णे। द्रव्यक्षुल्लकः—परमाणुः द्रव्यं चासौ क्षुल्लकश्चेति। क्षेत्रक्षुल्लकः—आकाशप्रदेशः। कालक्षुल्लकः—समयः। प्रधानक्षुल्लकं त्रिविधम्—सचित्ताऽचित्तमिश्रभेदात्। सचित्तं त्रिविधम्—द्विपदचतुष्पदापदभेदात्। द्विपदेषु क्षुल्लकाः प्रधानाश्चानुत्तरासुराः। शरीरे क्षुल्लकमाहारकम्। चतुष्पदेषु प्रधानः क्षुल्लकः सिंहः। अपदेषु जातीकुसुमानि। अचित्तेषु—वज्रम् प्रधानं क्षुल्लकं च। मिश्रेषु—अनुत्तरसुरा एव शयनीयगता इति। दश० ३ अ०। प्रतिक्षुल्लकमामलकाद्बदरं बदराच्चणक इत्यादि। भावक्षुल्लकम्—क्षायिको भावः। उक्तं हि वृद्धैः—''सव्वत्थो वा जीवा खाइयभावे वट्टंति'' सांसारिकत्वापेक्षं चैतदन्यथौपशमिक एव सर्वस्तोकतया भावक्षुल्लकं संभवतीति। उत्त० ६ अ०। लघौ साधौ सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ०। क्षुद्रकोदाहरणमौपपातिकबुद्धौ, आ० क०। नं०। आ० म०। (भिक्षार्थं गतानां क्षुल्लकानां 'उवसग्ग' शब्दे द्वि० भागे ९०२० पृष्ठे कथा उक्ता) (भ्रष्टाचारनिग्रहे तादृशक्षुल्लकस्य कथा)

क्षुल्लकविपरिणामसंभवे यतनामाह—

उज्जलवेसे खुड्डे, करिंति उव्वट्टणाइचोक्खे य।
न य मुच्चं असहाए, चिंतिमणुन्ने य आहारे॥

क्षुल्लकान् उज्ज्वलवेषान् पाण्डुरचोलपट्टधारिणः उद्वर्त्तनप्रक्षालनादिना च चोक्षान् शुचिशरीरान् कुर्वन्ति, न च, ते क्षुल्लका असहाया एकाकिनो मुच्यन्ते। वृषभाश्च, तेषां मनोज्ञान् स्निग्धमधुरानाहारानानीय ददति। उरभ्रदृष्टान्तेन च प्रज्ञापयन्ति।

तमेवाह—

आतुरचिण्णाइं एयाइं, जाइं चरइ नंदिओ।
सुक्कत्तणेहि जावोहिं, एयं दीहाउलक्खणं॥

''जहा एगो ऊरणगो पाहुणनिमित्तं पोसिज्जइ, सो य पीणि यसरीरो हलद्दाइयंगराओ कयकन्नलओ सुहं सुहेणं अभिरमइ, कुमारगा वि य तं नाणाविहेहिं कीडाविसेसेहिं कीलाविंति, तं च एवं लालिज्जमाणं दट्ठूण वच्छगो माऊए नेहेण गोवियं दोहणए य तहाऽणुकंपाए सुक्कमवि खीरं न पिबइ। रोसेणं ताए पुच्छिओ, वच्छ ! किं न धावसि ? तेण भणियं अम्मो ! एस नन्दियगो इट्ठेहि० जाव सजोगासणेहिं अलंकारविसेसेहिं अलंकारिओ मुत्त इब परिपालिज्जई, अहं तु मंदभग्गो सुक्काणि तणाणि कयाइ लभामि, ताणि विपज्जत्तगाणि, एवं पाणियं पि न य मं कोई लालइ। ताए भन्नइ—पुत्त ! आउरचिंताई एयाइं जहा आउरो मरिउकामो जं मग्गइ पत्थं वाअपत्थं वा तं दिज्जइ, एवमेसो वि नन्दियओ पोसिज्जइ, जया मारिज्जिहिऽ तया पिच्छिहिसि। अन्नया सो वच्छगो तं नन्दियगं पाहुणएसु गदिज्जमाणं दट्ठंति सिओवि माउपच्छन्नं नाभिलसइ। भए भन्नइ किं पुत्त ! संपमीओ सि नेहेण पहुयं पि मं न पियसि। तेण भन्नइ। कत्तो मे वन्नाभिलासो, नणु से वराओ नन्दियओ अन्नपाहुणएहिं आगएहिं मम अग्गओ विनिययजीहो विलोलनपणो विस्सरं रसंतो मारिओ मिच्छा ताए भण्णइ, नणु पुत्तया तया चेव ते कहियं आउरचिंताइं एयाइं ति। एस तेसिं विवागो अणुपत्तो त्ति''। अथाक्षरार्थः। आतुरश्चिकित्साया अविषयभूतो रोगी, तस्य यथा मर्तुकामस्य पथ्यमपथ्यं वा दीयते, एवमयमपि नन्दिको यानि मनोज्ञाहारजातानि चरति तानि आतुरचीर्णानि, अतो वत्स ! शुष्कतृणैर्यापय स्वशरीरं निर्वाहय यत एतद्दीर्घायुषो लक्षणम् एवमेतेऽप्यसंविग्नक्षुल्लका यन्मनोज्ञाहारादिभिरुपलाल्यन्ते तद् नन्दिकपोषणवद्वष्टव्यम्। बृ० १ उ०। अङ्गुलीयकविशेषे, औ०। जं०।

खुड्डाकुमार पुं० (क्षुल्लककुमार) पुण्डरीकमारितकण्डरीकस्य भार्यायाः यशोभद्रायाः पुत्रे, आव० ४ अ०। आ० चू०। ('अलोभया' शब्दे प्र० भागे ७८५ पृष्ठे कथाऽस्य)

खुड्डगगणि पुं० (क्षुल्लकगणिन्) क्षुल्लके गणिनि, व्य० ३ अ०। ('पण्णत्तिकुसल' शब्देऽस्य स्वरूपम्)

खुड्डगपयर पुं० (क्षुल्लकप्रतर) सर्वलघुप्रदेशप्रतरे, भ० १३ श० ४ उ०। अथ किमिदं क्षुल्लकप्रतर इति ? उच्यते—इह लोकाकाशप्रदेश उपरितनाधस्तनप्रदेशरहिततया विवक्षिता मण्डलाऽऽकारतया व्यवस्थिताः प्रतरमित्युच्यते। तत्र तिर्यग्लोकस्य उद्धर्वाऽधोऽपेक्षयाऽष्टादशयोजनशतप्रमाणस्य मध्यभागे द्वौ सर्वलघू क्षुल्लकप्रतरौ तयोर्मध्यभागे जम्बूद्वीपे रत्नप्रभाया बहुसमे भूमेः भागे मेरुमध्येऽष्टप्रादेशिको रुचकस्तत्र गोस्तनाकाराश्चत्वार उपरितनाः प्रदेशाश्चत्वारश्चाधस्तनाः। एष एव च रुचकः सर्वासां दिशां विदिशां वा प्रवर्तकः। एतदेव च सकलतिर्यग्लोकमध्यं तौ च द्वौ सर्वलघू प्रतरावङ्गुलाऽसंख्येयभागबाहल्याच्च लोकसंवर्तितौ रज्जुप्रमाणौ। तत एतयो रुपर्यन्येऽन्ये प्रतराः। तिर्यग् अङ्गुलासंख्येयभागवृद्ध्या वर्द्धमानास्तावद् द्रष्टव्या यावदूर्द्धलोकमध्यं तत्र पञ्चकरज्जुप्रमाणः प्रतरः। ततः उपर्यन्येऽन्ये प्रतराः। तिर्यक् अङ्गुलासंख्येयभागहान्या हीयमानाः २ तावदेवाऽवसेयाः यावल्लोकान्ते रज्जुप्रमाणः प्रतरः। इहोर्ध्व लोकमध्यवर्तिनं सर्वोत्कृष्टं पञ्चरज्जुप्रमाणं प्रतरमवधीकृत्यान्ये उपस्तिना अधस्तनाश्च क्रमेण हीयमानाः सर्वेऽपि प्रतराः क्षुल्लकप्रतरा इति व्यवहियन्ते, यावल्लोकान्ते तिर्यग्लोके च रज्जुप्रमाणः प्रतर इति। तथा तिर्यग्लोकमध्यवर्त्ति सर्वलघुक्षुल्लकप्रतरस्याधस्तिर्यगङ्गुलासंख्येयभागवृद्ध्या वर्द्धमानाः २ प्रतरास्तावद्वक्तव्याः यावदधोलोकान्ते सर्वोत्कृष्टः सप्तरज्जुप्रमाणः प्रतरः। तं च सप्तरज्जुप्रमाणं प्रतरमपेक्ष्यान्ये उपरितनाः सर्वेऽपि क्रमेण हीयमानाः क्षुल्लकप्रतरा अभिधीयन्ते, यावत्तिर्यग्लोकमध्यवर्ती सर्वलघुः क्षुल्लकः प्रतरः। एषा क्षुल्लकप्रतरप्ररूपणा। तत्र तिर्यक्लोकमध्यवर्त्तिनः सर्वलघो रज्जुप्रमाणात् क्षुल्लकप्रतरादारभ्य यावदधो नवयोजनशतानि तावदस्यां रत्नप्रभायां पृथिव्यां ये प्रतराः ते उपरितनक्षुल्लकप्रतरा भण्यन्ते। तेषामपि चाधस्ताद् ये प्रतरा यावदधोलौकिकग्रामेषु सर्व्वान्तिमः प्रतरःतेऽधस्तनक्षुल्लकप्रतराः। नं०।

खुड्डजंतु पुं० (क्षुद्रजन्तु) क्षुद्रप्राणिनि। व्य० ४ ज०।

खुड्डपाण पुं० (क्षुद्रप्राण) क्षुद्रा अधमा अनन्तरभवे सिद्धयभावात् प्राणा उच्छ्वासादिमन्तः क्षुद्रप्राणाः एकद्वित्रिचतुरिन्द्रियसम्मूर्च्छिमेषु अल्पकायेषु वा सत्त्वेषु, सूत्र० २ श्रु० ५ अ०।

चउव्विहा खुद्दपाणा पण्णत्ता तं जहा–वेइंदिया तेइंदिया चउरिंदिया संमुच्छिमपंचिंदियतिरिक्खजोणिया। स्था० ४ ठा० ४ उ०।

छव्विहा खुड्डा पाणा पण्णत्ता। तं जहा– वेइंदिया तेइंदिया चउरिंदिया समुच्छिमपंचिंदिय तिरिक्खजोणिया तेउकाइया वानुकाइया।

(छव्विहेत्यादि) सुगमम्। परमिह क्षुद्रा अधमा यदाह–''अल्पमधमं पण्यस्त्रीं, क्रूरं सरघां नटीं च षट् क्षुद्रान् ब्रुवत इति'' अधमत्वं च विकलेन्द्रियतेजोवायूनामनन्तरभवे सिद्धिगमनाभावाद्। यत उक्तम्–''भूदगपंकप्पभवा, ओरोहरिया उवच्चसिज्झेज्जा। विगलालभेज्ज विरइं, न उ किं च लभेज्ज सुहुमतसा'' ॥१॥ सूक्ष्मत्रसास्तेजोवायव इति। तथा एतेषु देवानुत्पत्तेश्च। यत उक्तम्–''पुढवीआउवणस्सइ–गब्भे पज्जत्तसंखजीवीसु। सग्गुच्चुयाणवासो, सेसा पडिसेहिया ठाणं'' इति॥१॥ संमूर्च्छिमपञ्चेन्द्रियतिरश्चां चाधमत्वं तेषु देवानुत्पत्तेः। तथा–पञ्चेन्द्रियत्वेऽप्यमनस्कतया विवेकाभावेन निर्गुणत्वादिति वाचनान्तरे तु सिंहा व्याघ्रा वृका दीपिका ऋक्षा इति क्षुद्रा उक्ताः क्रूरा इत्यर्थः। स्था० ६ ठा०।

खुड्डपायालकलस पुं० (क्षुद्रपातालकलश) लघुपातालकलशेषु, जी० ३ प्रति०। (ते च 'लवणसमुद्द' शब्दे व्याख्यास्यन्ते)

खुड्डमड्ड (देशी) बहुशो व्याख्याने, ''खुड्डमड्डत्ति वा बहुसोत्ति वा भुज्जोत्ति वा पुणोपुणो त्ति वा एगट्ठं'' नि० चू० २० उ०।

खुड्डमिग पुं० (क्षुद्रमृग) क्लिष्टकर्मसत्त्वहरिणे, पञ्चा० ३ विव०। क्षुद्रा टव्यपशौ हरिणजात्यादौ, सूत्र० १ श्रु० १० अ०।

खुड्डमुह पुं० (क्षुद्रमुख) मधुरमुखे मधुरभाषिणि, बृ० १ उ०।

खुड्डसत्त पुं० (क्षुद्रसत्त्व) अधमप्राणिनि, अल्पाध्यवसानविशेषे च। पञ्चा० १४ विव०।

खुड्डा स्त्री० (क्षुद्रा) क्षुद रक्। वेश्यायां, कण्टकायां, सरघायां मक्षिकायां, चाङ्गेर्यां, हिंस्रायां गवेधुकायाम्, वाच०। अखातसरस्याम्, जं० १ वक्ष०। दर्याम्, दशा० ७ अ०।

खुड्डागजुम्म पुं० (क्षुल्लकयुग्म) महायुग्मापेक्षया अल्पेषु रात्रिविशेषेषु, भ०।

कइ णं भंते ! खुड्डागजुम्मा पण्णत्ता ? गोयमा ! चत्तारि खुड्डागजुम्मा पण्णत्ता। तं जहा–कडजुम्मे, तेओगे, दावरजुम्मे, कलिओए। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ, चत्तारि खुड्डागजुम्मा पण्णत्ता। तं जहा–कडजुम्मे० जाव कलिओए ? गोयमा ! जेणं रासीचउक्कएणं अवहारेणं अवहीरमाणे चउपज्जवसिए, सेत्तं खुड्डागकमजुम्मे। जे णं रासीचउक्कएणं अवहारेणं अवहीरमाणे तिपज्जवसिए, सेत्तं खुड्डागतेओगे। जेणं रासीचउक्कएणं आवहारेणं अवहीरमाणे दुपज्जवसिए सेत्तं खुड्डागदावरजुम्मे। जेणं रासीचउक्कएणं अवहारेणं अवहीरेमाणे एगपज्जवसिए, सेत्तं खुड्डागकलिओगे से तेणट्ठेणं जाव कलिथोगे ॥

(खुड्डागजुम्म त्ति) युग्मानि वक्ष्यमाणा राशिविशेषास्ते च महान्तोऽपि सन्त्यतः क्षुल्लकशब्देन विशेषिताः तत्र चत्वारोऽष्टौ द्वादशेत्यादि-संख्यावान् राशिः क्षुल्लककृतयुग्मोऽभिधीयते, एवं त्रिसप्तैकादशादिको राशिः क्षुल्लकस्त्र्योजः। द्विषष्टिप्रभृतिको राशिःक्षुल्लकद्वापरः। एकपञ्चप्रभृतिकस्तु क्षुल्लककल्योज इति। भ० ३१ श० १ उ०। क्षुद्रकयुग्मविशेषणेन नैरयिकादीनामुपपातः 'उववाय' शब्दे द्वि० भागे ९६३ पृष्ठे उक्तः)

खुड्डागणियंठ न० (क्षुद्रकनैर्ग्रन्थ्य) उत्तराध्ययने षष्ठे, उत्त०। पूर्वस्मिन् अध्ययने अकामसकाममरणे उक्ते। तत्र सकाममरणं निर्ग्रन्थस्य भवति ततो निर्ग्रन्थस्य आचारः षष्ठे अध्ययने कथ्यते। अयं पञ्चमषष्ठाध्ययनयोः सम्बन्धः।

जावन्तिऽविज्जा पुरिसा, सव्वे ते दुक्खसम्भवा।
लुप्पन्ति बहुसो मूढा, संसारम्मि अनन्तगे ॥१॥

यावन्तोऽविद्या पुरुषाः ते सर्वेऽपि मूढाः, संसारे बहुशो वारं वारं लुप्यन्ते आधिव्याधिवियोगादिभिः पीड्यन्ते। न विद्यते विद्या सम्यक् ज्ञानं येषां ते अविद्या अत्र नञ् कुत्सार्थवाचकः ये कुत्सितज्ञानसंहिताः मिथ्यात्वोपहतचेतसो वर्त्तन्ते ते मूर्खाः संसारे दुःखिनो भवन्ति। कीदृशे संसारे? अनन्तके अपारे। कीदृशास्ते? अविद्याः दुःखसम्भवा दुःखस्य सम्भवो येषु ते दुःखसम्भवाः दुःखभाजनमित्यर्थः। यावन्तः अविद्या इत्यत्र प्राकृततत्वात् अकारोऽदृश्यः ॥१॥ अत्र अविद्यापुरुषोदाहरणं यथाकश्चिद् द्रमकोऽभाग्यात् क्वापि किञ्चिद् प्राप्नुवन् पुराद्बहिरेकस्मिन् देवकुले रात्रावुषितः। तत्रैकं पुरुषं कामकुम्भप्रसादेन यथेष्टभोगान् भुञ्जानं वीक्ष्य प्रकामं सेवितवान्। तुष्टेन तेनास्य भणितम्। भो! तुभ्यं कामकुम्भं ददानि। उत कामकुम्भविधायिकां विद्यां ददानि ? तेन विद्यासाधन-पुरश्चरणादिभिरुणा विद्याभिमन्त्रितं घटमेव मे देहीति भणितम्। विद्यापुरुषेण विद्याभिमन्त्रितो घट एव तस्मै दत्तः। सोऽपि तत्प्रसादात् सुखी जातः। अन्यदापीतमद्योऽयं पुरुषस्तं कामकुम्भं मस्तके कृत्वा नृत्यन् पातितवान्। भग्नः कामकुम्भः। ततो नाऽसौ किञ्चिदर्थमवाप्नोति। शोचति चैवम्–यदि मया तदा विद्या गृहीताऽभविष्यत् तदाऽभिमन्त्र्य नवं कामकुम्भमकरिष्यं पूर्ववदेवं सुखी अभविष्यम् एवं अविद्या नरः दुःखसम्भवाः क्लिश्यन्ते ॥१॥

समिक्ख पण्डिए तम्हा, पासजाई पहे बहू।
अप्पणा सच्चमेसिज्जा, मित्तिं भूएसु कप्पए ॥२॥

तस्मादज्ञानिनां मिथ्यात्विनां संसारभ्रमणत्वात् पण्डितः तत्वज्ञः आत्मना स्वयमेव परोपदेशं विनैव सत्यमेषयेत् सद्भ्यो हितं सत्यम् अर्थात् संयममभिलषेत्। पुनः पण्डितः भूतेषु पृथिव्यादिषु षट्कायेषु मैत्रीं कल्पयेत्। किं कृत्वा ? बहून् पाशजातिपथान् समीक्ष्य, पाशाः पारवश्यहेतवः पुत्रकलत्रादिसंम्बन्धास्ते एव मोहहेतुतया एकेन्द्रियादि-जातीनां पन्थानः पाशजातिपथास्तान् पाशजातिपथान् दृष्ट्वा यदा हि पुत्रकलत्रादिषु मोहं करोति तदा हि एकेन्द्रियत्वं जीवो बध्नाति ॥२॥

माया पिया ण्हुसा भाया, भज्जा पुत्ता य ओरसा।
नालन्ते मम ताणाय, लुप्पंतस्स सकम्मुणा ॥३॥

पण्डितः इति विचारयेदिति अध्याहारःकर्त्तव्यः। इतीति किं ? एते मम त्राणाय मम रक्षायै न अलं समर्थाः। कथंभूतस्य मम

स्वकर्म्मणा पीड्यमानस्य। एते के माता, पिता, स्नुषाः पुत्रवधूः, भ्राता सहोदरः, भार्या पत्नी, पुत्राः पुत्रत्वेन मानिताः, च पुनः औरसाः स्वयमुत्पादिता एते सर्वेऽपि स्वकर्मसमुद्भूतदुःखात् रक्षणाय न समर्था भवन्तीत्यर्थः ॥३॥

एयमट्ठं सपेहाए, पासे समियदंसणे।
छिंदे गेहिं सिणेहं च, न कंखे पुव्वसंथवं ॥४॥

शमितदर्शनः शमितं ध्वस्तं दर्शनं मिथ्यादर्शनं येन स शमितदर्शनः। अथवा सम्यक् प्रकारेण इतं प्राप्तं दर्शनं सम्यक्त्वं येन स समितदर्शनः एतादृशः संयमी एतदर्थं पूर्वोक्तमर्थम् अशरणादिकम् (सपेहाए) स्वप्रेक्षया स्वबुद्ध्या (पासे इति) पश्येत् हृदि अवधारयेत् च पुनः गेहिं) गृद्धिं रसलाम्पट्यं च पुनः स्नेहं पुत्रकलत्रादिषु रागं छिन्द्यात्। पुनः पूर्वसंस्तवः पूर्वपरिचयः एकत्र ग्रामादिवासस्तं न स्मरेत् ॥४॥

गवासं मणिकुण्डलं, पसवो दासपोरुसं।
सव्वमेयं चइत्ताणं, कामरूवी भविस्ससि ॥५॥

पुनरपि पण्डितः आत्मानमिति शिक्षयेत्। अथवा गुरुः शिष्यं प्रत्युपदिशति–हे आत्मन्! अथवा हे शिष्य! एतत् सर्वं त्यक्त्वा कामरूपी स्वेच्छाचारी भविष्यसि। एतेषु ममत्वं त्यजसि। तदा इह भवे तु वैक्रियलब्धिः अणिमामहिमागरिमालघिमाप्राप्तिप्राका–म्येशित्ववशित्वादिमान् भविष्यसि। परलोके च निरतीचारसंयमपालनात् देवभवे वैक्रियादिलब्धिमान् त्वं भविष्यसि। तत्किं ? तदाह– गवाश्वं गावश्च अश्वाश्च गवाश्वं पुनर्मणिकुण्डलं मणयश्चन्द्रकान्ताद्याः कुण्डलग्रहणेन अन्येषामप्यलङ्काराणां ग्रहणं स्यात्, सर्वे मणयः सर्वाण्यलङ्काराणि च इत्यर्थः। पशवः अजैडकपक्ष्मपट्याद्युत्पादकरोमधारककुक्कुरादयश्च, दासा गृहदासीभ्यः समुत्पन्नाः, दासाश्च पौरुषाश्च दासपौरुषम् एते सर्वेऽपि मरणान्न त्रायन्ते इत्यर्थः। तस्मात् पूर्वम् एतत् त्यक्त्वा संयमं परिपालयेदित्यर्थः।

थावरं जंगमं चेव, धणं धण्णं उवक्खरं।
पच्चमाणस्स कम्मेहिं, नालं दुक्खाउ मोअणे ॥६॥

पुनरेतत्सर्वं वस्तु कर्मभिः पच्यमानस्य जीवस्य दुःखान्मोचने अलं समर्थं न भवति। एतत्किम् ? स्थावरं, गृहादिकं। पुनर्जङ्गमं च पुत्रमित्रभृत्यादि। पुनर्धनं गवादि, धान्यं व्रीह्यादि। पुनरुपस्करं गृहोपकरणम् ॥६॥

अज्झत्थं सव्वओ सव्वं, दिस्स पाणे पियाऽऽयए।
न हणे, पाणिणो पाणे, भयवेराउ उवरए ॥७॥

साधुः सर्वतः सर्वप्रकारेण सर्वमध्यात्मं सुखदुःखादिकं (दिस्स इति) दृष्ट्वा सर्वप्रकारेण सर्वं सुखदुःखादिकमात्मनि स्थितं ज्ञात्वा सुखदुःखयोर्वेदकमात्मानं ज्ञात्वा। इष्टसंयोगादिहेतुभ्यः समुत्पन्नं सुखं सर्वस्यात्मनः प्रियं स्यात्। इष्टवियोगादिहेतुभ्यः समुत्पन्नं दुःखं सर्वस्यात्मनः अप्रियं ज्ञात्वा इत्यर्थः। च पुनः प्राणिनो जीवान् प्रियात्मनो दृष्ट्वा, प्रियः आत्मा येषां ते प्रियात्मानः ''सव्वे जीवा वि इच्छंति जीविउं न मरिज्जिउं'' इति दृष्ट्वा हृदि विचार्य प्राणिनो जीवस्य प्राणान् इन्द्रियोच्छ्वासनिःश्वासायुर्बलरूपान् न हन्यात्। भयात् वैरात् च उपरमेत् निवर्तेत। अथ वा कथंभूतः साधुः भयात् वैराच्च उपरतो निवर्तितः इति साधुविशेषणं कर्त्तव्यम् ॥७॥

आयाणं नरयं दिस्स, नायइज्ज तणामवि।
दोगुंछी अप्पणो पाए, दिन्नं भुंजिज्ज भोयणं ॥८॥

साधुस्तृणमपि (नायइज्ज इति) न आददीत अदत्तं न गृह्णीत। किं कृत्वा आदानं नरकं दृष्ट्वा, आदीयते इत्यादानं धनधान्यादिकपरिग्रहं नरकं नरकहेतुत्वात् नरकं ज्ञात्वा इत्यर्थः। पुनः साधुः (पाए दिन्ने) पात्रे दत्तं गृहस्थेन पात्रमध्ये प्रक्षिप्तं भोजनं शुद्धाहारम् (भुंजेज्ज इति) भुञ्जीत। कथम्भूतः सन् (अप्पणो दुगुंछी) आत्मनो जुगुप्सी सन्। आहारसमये आत्मनिन्दकः सन् अहो धिक् मम आत्मानमयं ममात्मा देहो वा आहारं विना धर्म्मकरणे असमर्थः। किं करोमि धर्मनिर्वाहार्थमस्मै भाटकं दीयते इति चिन्तयन् आहारं कुर्यात्। न तु बलवीर्य पुष्ट्याद्यर्थमाहारो विधीयते इति चिन्तयेत्। अत्रादत्तपरिग्रहाश्रवद्वदनिरोधात् अन्येषामप्यश्रवाणां निरोधोऽप्युक्त एव ॥८॥

इह एगे उ मन्नंति, अपचक्खायपावगं।
आयरियं विदित्ता णं, सव्वदुक्खा विमुच्चई ॥९॥

इह अस्मिन् संसारे एके केचित् कापिलिकादयो ज्ञानवादिन इति मन्यन्ते। इतीति किं ? पापकं हिंसादिकमप्रत्याख्याय पापमनालोच्याऽपि मनुष्यः आचारिकं स्वकीयमतोद्भवानुष्ठानसमूहं विदित्वा ज्ञात्वा सर्वदुःखात् विमुच्यते। एतावता तत्वज्ञानात् मोक्षावाप्तिः इति वदन्ति। जैनानां तु ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः ज्ञानवादिनां

तु ज्ञानमेव मुक्त्यङ्गमिति ॥९॥

भणन्ता अकरेन्ता य, बन्धमोक्खपइण्णिणो।
वायावीरियमेत्तेणं, समासासन्ति अप्पयं ॥१०॥

पुनस्ते एव ज्ञानवादिनो बन्धमोक्षप्रतिज्ञिनः वाचावीर्यमात्रेण केवलं वाक्शूरत्वेन आत्मानं समाश्वासयन्ति। बन्धश्च मोक्षश्च बन्धमोक्षौ, तयोः प्रतिज्ञा आद्यं ज्ञानं येषां ते बन्धमोक्षप्रतिज्ञिनः, बन्धमोक्षज्ञा इत्यर्थः। ''मन एव मनुष्याणां, कारणं बन्धमोक्षयोः। यत्रैवालिङ्गिता कान्ता, तत्रैवालिङ्गिता सुता'' इत्यादि प्रतिज्ञां कुर्वाणाः। ते किं कुर्वन्तः आत्मानम् आश्वासयन्ति भणन्तो ज्ञानमभ्यस्यन्तः, च पुनः अकुर्वन्तः क्रियामनाचरन्तः, प्रत्याख्यानतपःपौषधव्रतादिकां क्रियां निन्दन्तः ज्ञानमेव मुक्त्यङ्गतयाऽङ्गीकुर्वन्त इत्यर्थः ॥१०॥

न चित्ता तायए भासा, कुओ विज्जाणुसासणं।
विसन्ना पावकम्मेहिं, बाला पण्डियमाणिणो ॥११॥

पण्डितमानिनः आत्मानं पण्डितं मन्यन्ते इति पण्डितम्मन्याः ज्ञानाहङ्कारधारिण इति जानन्तीत्यध्याहारः। इतीति किं ? चित्राः प्राकृतसंस्कृताद्याः षट् भाषाः। अथ वा अन्या अपि देशविशेषात् नानारूपा भाषा वा पापेभ्यो दुःखेभ्यो न त्रायन्ते न रक्षन्ति। तर्हि विद्यानां न्यायमीमांसादीनाम् अनुशासनमनुशिक्षणं विद्यानुशासनं कुतः त्रायते ?, न त्रायते इत्यर्थः। अथ वा–विद्यानां विचित्रमन्त्रात्मिकानां रोहिणीप्रज्ञप्तिकागौरीगान्धार्यादिषोडशविद्यादेव्यधिष्ठितानामनुशासनम् अनुशिक्षणम् आराधनं कुतो नरकात्त्रायते ? कीदृशास्ते ? बाला अतत्वज्ञाः। पुनः कीदृशास्ते ? पापकर्मभिर्विषण्णाः, विविधमनेकप्रकारं यथा स्यात्तथा सन्नाः, पापपङ्केषु कलिता इत्यर्थः ॥११॥

जे केई सरीरे सत्ता, वन्ने रूवे य सव्वसो।
मणसा कायवक्केणं, सव्वे ते दुक्खसम्भवा ॥१२॥

ये केचन ज्ञानवादिनः शरीरे शक्ताः सन्ति, शरीरे सुखान्वेषिणः सन्ति। तथा–पुनर्ये वर्णे शरीरस्य गौरादिके, च पुनस्तथारूपे सुन्दरनयननासादिके, चशब्दात् शब्दे रसे गन्धे स्पर्शे च। सर्वथा मनसा कायेन वाक्येन सक्ताः संलग्नाः सन्ति। ते सर्वे दुःखसम्भवाः दुःखस्य संभवा दुःखभाजनं भवन्ति। मृगपतङ्गमीनधुपमातङ्गवत्। इहलोके यथा मरणदुःखभाजः मृताः, तथा परलोकेऽप्यार्तध्यानेन दुःखिनः स्युरित्यर्थः ॥१२॥

आवन्ना दीहमद्धाणं, संसारम्मि अणन्तए।
तम्हा सव्वदिसं पस्स, अप्पमत्तो परिव्वए ॥१३॥

ते ज्ञानवादिनो विषयिणः अनन्तके अपारे संसारे दीर्घ मध्वानं दीर्घं मार्गमापन्नाः प्राप्ताः सन्ति। तस्मात्कारणात् सर्वां दिशं भवभ्रमणरूपाम्। अष्टादश भावदिशः दृष्ट्वा साधुरप्रमत्तः प्रमादरहितः सन् परिव्रजेत् विचरेत्। अष्टादश भावदिशश्च इमाः–

''पुढवि १ जल २ जलण ३ वाऊ ४–
मूला ५ खंध ६ ग्ग ७ पोरबीया य ८।
वि ९ ति १० चउ ११ पंचिंदियतिरि–
१२ नारया १३ देवसंघाया १४ ॥१॥
संमुच्छिम १५ कम्मा १६ क–
म्मगा य १७ मणुया १८ तहंतरद्दीवा १९।
भावदिसा दिस्सइ जं, संसारी नियमेआहिं '' ॥२॥ इति।

संसारे प्रमादिनो जीवा इमासु अष्टादशभावदिशासु पुनः पुनर्भ्रमन्तीत्यर्थः ॥१३॥

वहिया उड्ढमादाय, नावकंखे कयाइ वि।
पुव्वकम्मक्खयट्ठाए, इमं देहं समुद्धरे ॥१४॥

साधुः पूर्वकर्मक्षयार्थमिमं देहं समुद्धरेत्, सम्यक् शुद्धाहारेण धारयेत्। पुनः कदापि च परीषहोपसर्गादिभिः पीडितोऽपि न कस्यापि साहाय्यमवकाङ्क्षेत् अभिलषेत्। अथवा–कदापि विषयादिभ्यो न स्पृहयेत्। किं कृत्वा?–वहिया) संसाराद्बहिस्तात् संसाराद्बहिर्भूतमूर्द्धं लोकाग्रस्थानं मोक्षमादाय अभिलष्य ॥१४॥

विगिंच कम्मुणो हेउं, कालकंखी परिव्वए।
मायं पिंडस्स पाणस्स, कडं लद्धुण भक्खए ॥१५॥

कालकाङ्क्षी अवसरज्ञः साधुः कर्मणां हेतुं कर्मणां कारणं मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगादिकम् (विगिंच) विविच्य आत्मनः सकाशाद् पृथक्कृत्य परित्यजेत्संयममार्गे सञ्चरेत्। कालं स्वक्रियानुष्ठानस्य अवसरं काङ्क्षतीत्येवंशीलः कालकांक्षी, पुनः स साधुः पिण्डस्य आहारस्य तथा–पानस्य पानीयस्य मात्रां परिमाणं लब्ध्वा भक्षयेत्; यावत्या मात्रया आत्मसंयमनिर्वाहः स्यात्, तावत्परिमाणम् आहारं पानीयं च गृहीत्वा, आहारं पानीयं च कुर्यादित्यर्थः। कथंभूतमाहारम् ?–(कडं) गृहस्थेन आत्मार्थं कृतं, प्राकृतत्वात् विभक्तिव्यत्ययः ॥१५॥

संनिहिं च न कुव्विज्जा, लेवमायाएँ संजए।
पक्खी पत्तं समादाय, निरविक्खो परिव्वए ॥१६॥

च पुनः संयतः साधुर्लेपमात्रयापि संनिधिं न कुर्यात् लेपस्य मात्रा लेपमात्रा तया लेपमात्रया, सं सम्यक्प्रकारेण निधीयते स्थाप्यते दुर्गतौ आत्मा येन स सन्निधिः, घृतगुडादिसञ्चयस्तं न कुर्यात्, यावता पात्रं लिप्यते तावन्मात्रमपि घृतादिकं न सञ्चयेत्। भिक्षुराहारं कृत्वा (पत्तं) पात्रं समादाय गृहीत्वा निरपेक्षः सन् निःस्पृहः सन् परिव्रजेत्, साधुमार्गे प्रवर्तेत। क इव?, (पक्खी इव) यथा–पक्षी आहारं कृत्वा (पत्तं) पत्रं तनूरुहमात्रं गृहीत्वा उड्डीयते तथा साधुरपि कुक्षिसंवलो भवेत् ॥१६॥

एसणासमिओ लज्जू, गामे अनिअओचरे।
अप्पमत्तो पमत्तेहिं, पिंडवायं गवेसए ॥१७॥

एषणासमितो निर्दोषाहारग्राही ग्रामे नगरे वा, अनियतो नित्यवासरहितः सन् चरेत् संयममार्गे प्रवर्तेत। कीदृशः साधुः ?– (लज्जू) लज्जालुः लज्जा संयमस्तेन सहितः। पुनः कीदृशः ?–अप्रमत्तः प्रमादरहितः। पुनः साधुः ?–(पमत्तेहिं इति) प्रमत्तेभ्यो गृहस्थेभ्यः पिण्डपातं भिक्षां गवेषयेत् गृह्णीत। प्राकृतत्वात्पञ्चमीस्थाने तृतीया ॥१७॥

एवं से उदाहु, अणुत्तरनाणी अणुत्तरदंसी अणुत्तरनाणदंसणधरे अरहा नायपुत्ते भयवं वेसालिए वियाहिए त्ति बेमि ॥१८॥

सुधर्मास्वामी जम्बूस्वामिनं प्रत्याह–हेजम्बु ! (से इति) स अर्हन् ज्ञातपुत्रो महावीर एवं (उदाहु) उदाहृतवान्। अहं तवाग्रे इति ब्रवीमि। अर्हन् इन्द्रादिभिः पूज्यः ज्ञातः प्रसिद्धः सिद्धार्थक्षत्रियः तस्य पुत्रो ज्ञातपुत्रः। कीदृशः महावीरः?–भगवान् अष्ट महाप्रतिहार्याद्यतिशयमाहत्म्ययुक्तः। पुनः कीदृशः? विशाला त्रिशला तस्याः पुत्रो वैशालिकः। अथवा–विशालाः शिष्य–तीर्थ–यशःप्रभृतयो गुणाः अस्येति वैशालिकः। पुनः कीदृशो महावीरः–(वियाहिए इति) व्याख्यातविशेषेण आख्याता द्वादशसु परिषदासु समवसरणे धर्मोपदेशं व्याख्याता, धर्मोपदेशक इत्यर्थः। पुनः कीदृशो महावीरः?–अनुत्तरज्ञानी सर्वोत्कृष्टज्ञानधारी। पुनः कीदृशः ?–अनुत्तरदर्शी अनुत्तरं सर्वोत्कृष्टं पश्यतीत्येवंशीलोऽनुत्तरदर्शी। पुनः कीदृशः?–अनुत्तरज्ञानदर्शनधरः ज्ञानं च दर्शनं च ज्ञानदर्शने, अनुत्तरे च ते ज्ञानदर्शने च अनुत्तज्ञानदर्शने, अनुत्तरज्ञानदर्शने धरतीति अनुत्तरज्ञानदर्शनधरः, केवलवरज्ञानदर्शनधारी इत्यर्थः। अत्र पूर्वम् अनुत्तरज्ञानी अनुत्तरदर्शी इति विशेषणद्वयं मुक्त्वा पुनरनुत्तरज्ञानदर्शनधर इति विशेषणमुक्तं, तेन केवलज्ञानकेवलदर्शनयोरेकसमयान्तरेण युगपदुत्पत्तिः सूचिता, अनयोः कथञ्चिद्भेदोऽभेदश्च सूचितः, पुनरुक्तिदोषो न ज्ञेयः ॥१८॥ इति क्षुल्लकनिर्ग्रन्थित्वाध्ययनं संपूर्णम् अत्राध्ययने क्षुल्लकस्य साधोर्निर्ग्रन्थित्वमुक्तमित्यर्थः। उत्त० ६ अ०।

खुड्डागनिरगंथसुत्त न० (क्षुल्लकनिर्ग्रन्थसूत्र) क्षुल्लकनिर्ग्रन्थनामकसूत्रे षष्ठे उत्तराध्ययने, उत्त० ६ अ०।

खुड्डागभव पुं० (क्षुल्लकभव) क्षुल्लकः सर्वभवापेक्षया लघीयान् भवतीति क्षुल्लकभवः। तस्मिन् क्षुल्लकभवग्रहणं च सर्वेषामप्यौदारिकशरीरिणां भवतीत्यवसेयम्, भगवत्यामेवमेवोक्तत्वात्; कर्मप्रकृत्यादिषु औदारिकशरीरिणां तिर्यङ्मनुष्यणामायुषां जघन्यस्थितिः क्षुल्लकभवग्रहणप्रमायाः प्रतिपादनाच्च। यत्पुनरावश्यकटीकायां क्षुल्लकभवग्रहणं वनस्पतिष्वेव प्राप्यते इत्युक्तं तन्मतान्तरमित्यवीसयते इति। साम्प्रतमेकस्मिन् क्षुल्लकभवग्रहणे आवलिकाद्वारेण कालमानं निरूपयितुकामो यावत्यः आवलिका ए–

कस्मिन् क्षुल्लकभवग्रहणे भवन्ति एतदेवाह--(आवलियाणं दोसे येत्यादि) आवलिकानाम् ''असंखिज्जाणं समयाणं समुदयसमिई समागमेणं सा एगा आवलिय त्ति वुच्चइ'' इति । इत्यागमप्रतिपादितस्वरूपाणां द्वे शते षट्पञ्चाशदधिके भवत एकक्षुल्लकभवे एकक्षुल्लकभवग्रहणे इति। कर्म० ५ कर्म०।

खुड्डागभवग्गहण न० (क्षुल्लकभवग्रहण) क्षुल्लं लघु स्तोकमित्येकर्थाः। क्षुल्लमेव क्षुल्लकम् एकायुष्कसंवेदनकालो भवः तस्य ग्रहणं संबन्धनं भवग्रहणं क्षुल्लकं च तद्भवग्रहणं च क्षुल्लकभवग्रहणम्। क्षुल्लकभवसंबन्धने, जी० १ प्रति०। (अस्य विस्तारो 'भवग्गहण' शब्दे)

खुड्डागसव्वओभद्दपडिमा स्त्री० (क्षुद्रकसर्वतोभद्रप्रतिमा) महत्यपेक्षया क्षुद्रायां सर्वतोभद्रप्रतिमायाम्, अन्त०।

तत्स्वरूपं चेत्थम्--

खुड्डायं सव्वतोभद्दं उवसंपज्जित्ताणं विहरति तं चउत्थं करोति कचउत्थं करेतित्ता सव्वकामगुणेय पारति पारित्ता छट्ठं क० २ सव्व० २। अट्ठमं २ सव्व०२। दसमं २ सव्व० २। दुवालसमं २ सव्व० २। अट्ठमं २ सव्व० २। दसमं २ सव्वं० २। दुवालसमं २ सव्व० २। चउत्थं २ सव्व० २। छट्ठं क० २ सव्व० २। दुवालसमं २ सव्व० २। छट्ठं क० २ सव्व० २। अट्ठमं २ सव्व०२। दसमं २ सव्व० २। छट्ठं क० २ सव्व० २। सव्व० २। अट्ठमं २ सव्व०२। दसमं २ सव्व० २। दुवालसमं २ सव्व० २। चउत्थं क० २। सव्व० २। दसमं २ सव्व० २। दुवालसमं २ सव्व० २। चउत्थं २ सव्व० २। छट्ठं क० २। सव्व० २। अट्ठमं २ सव्व०२। एवं खलु एयं खुड्डागसव्वतोभद्दस्स तवोकम्मस्स पढमं परिवाडी, तिहिं मासेहिं दसहिं दिवसेहिं अहासुत्तं० जाव आराहेती। दोच्चा ते परिवाडी ते चउत्थं करेति करेतित्ता विगतवज्जं पारेति पारेतित्ता जहा रयणावलीए तहा एत्थ वि॥

(खुड्डायं सव्वओभद्दपडिमं) भिक्षुः प्रकामं महत्यपेक्षया सर्वतः सर्वासु दिक्षु विदिक्षु च भद्रा समसंख्येति सर्वतो भद्रा तथाहि--एकादीनां पञ्चकानामङ्कानां सर्वतो भावात् पञ्चदश सर्वत्र तस्या जायन्त इति स्थापनोपायगाथा ''एगाई पंचंडते व, विओ मज्झंतु आइमणुयंति। सेसे कमेण ठविउं, जाण लहुं सव्वओभद्दं ॥१॥'' इति तपोदिनानीह पञ्चसप्ततिः। अन्त० ८ वर्ग।

खुड्डागसिंहनिक्कीलिय न० (क्षुद्रकसिंहनिष्क्रीडित) महासिंहनिष्क्रीडितापेक्षया क्षुद्रकसिंहनिष्क्रीडितनामके तपसि, औ०। अन्त०। (तत्स्वरूपं 'सीहनिक्कीलिय' शब्दे वक्ष्यते)

खुड्डिय त्रि० (खण्डित) ''**चण्डडखण्डिते णा वा**''। ८।१।५३। इति णकारेण सहितस्यादेरत उत्त्वम्। छिन्ने, खुड्डिओखंडिओ। प्रा० १ पाद

खुड्डिया स्त्री० (क्षुद्रिका) लघ्व्यामखातसरस्याम्, जं १ वक्ष०। जलाशयविशेषे, प्रश्न० ५ सम्ब० द्वार। लघुनि, स्त्रीत्वविशिष्टेऽर्थे, ''खुड्डियाओ खुड्डदुवारियाओ'' क्षुद्रिका लघ्व्यस्तथा क्षुद्रद्वाराः। आचा० २ श्रु० २ अ० ३ उ०। रा०। सूत्र० ''खुड्डिया चैव मोयपडिमा'' स्था० २ ठा० ३ उ०। इयं च द्रव्यतः प्रश्रवणविषया क्षेत्रतो ग्रामादेर्बहिः, कालतः शरदि, निदाघे वा प्रतिपद्यते। भुक्त्वा चेत् प्रतिपद्यते चतुर्दशभक्तेन समाप्यते अभुक्त्वा तु षोडशभक्तेन भावतस्तु दिव्याद्युपसर्गसहनमिति। स्था० २ ठा० ३ उ०। औ०। (विस्तरस्तु 'मोयपडिमा' शब्दे अभिधास्यते) ''खुड्डियाविमाणपविभत्ति'' अल्पग्रन्थार्था विमानप्रविभक्तिः कालिकश्रुतविशेषः। पा०।

खुड्डियाए णं विमाणपविभत्तीए पढमे वग्गे। सत्त तीसं उद्देसणकाला पण्णत्ता॥

क्षुद्रिकायां विमानप्रविभक्तौ कालिकश्रुतविशेषस्तत्र किल बहवो वर्गा अध्ययनसमुदायात्मका भवन्ति। तत्र प्रथमे वर्गे प्रत्यध्ययनमुद्देशस्य ये काला इति स० ३ सम०।

खुण्ण त्रि० (क्षुण्ण) मर्दिते, नि० चू० १ उ०। मग्ने, संथा०। अभ्यस्ते, विहते, चूर्णीकृते च। वाच०।

खुण्णिय त्रि० (क्षुण्णित) भूमीपतनात् प्रदेशान्तरेषु नमिते, भ० १ श० २ उ०।

खुत्त त्रि० (क्षुप्त) संसारसागरे बुडिते, ''जम्ममरणं च ते खुत्ता'' संथा०।

खुद्द त्रि० (क्षुद्र) अधमे, स्था० ६ ठा०। क्षुद्रजनाचरितत्वात् प्राणबधे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार। क्षुद्रकर्मकारिणि, सूत्र० १ श्रु० ७ अ०। नीचे, उत्त० ३१ अ०। ''खुद्दो जणो नत्थि'' क्षुद्रो जनो दुर्जनलोकः। बृ० १ उ०। कृपणे, द्वा० १० द्वा०।

खौद्र न० क्षौद्राभिर्भ्रमरीभिः कृतः। मधुनि, वाच०।

खुद्दकुट्ठ न० (क्षुद्रकुष्ठ)एकादशकुष्ठादिषु एकादशकुष्ठभेदेषु, एकादश क्षुद्रकुष्ठानि तद्यथा--स्थूलारूष्कमहाकुष्ठचर्मदलपरिसर्पविसर्पसिध्मविचर्चिकाकिटिभपामापशततारुकसंज्ञानीति। आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ०।

खुद्दमुह पुं० (क्षुद्रमुख) मधुमुखे, मधुरभाषिणि, बृ० १ उ०।

खुद्दाय त्रि० (क्षुद्रात्मन्) क्रूरस्वभावे, ''खुद्दाए भासरसी'' कल्प ६ क्षण।

खुद्दिमा स्त्री० (क्षुद्रिमा) गान्धारग्रामस्य द्वितीयमूर्च्छनायाम्, स्था० ७ ठा०।

खुधिय त्रि० (क्षुधित) बुभुक्षिते, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ०।

खुप्प धा० (मज्ज) स्नाने, तुदा० पर० अक० अनि०। वाच०।

''मस्जेराउड्ड-णिउड्ड-बुड्ड-खुप्पाः'' ८। ४।१०१। इति मस्जेः खुप्पादेशः। 'खुप्पइ' मज्जति। प्रा० ४ पाद।

खुप पुं० लतासमुदाये, प्रा० ४ पाद।

खुप्पिउं अव्य० (मङ्क्तुम्) खुचयितुमित्यर्थे, ''पङ्कुव्व खुप्पिउं जे'' तं०।

खुब्भंत त्रि० (क्षुभ्यत्) अधो निमज्जति, स्था० ७ ठा०।

खुब्भण न० (क्षोभण) बहुमोहने, ओघ०। संचलने प्रश्न० १ आश्र० द्वार।

खुभिय त्रि० (क्षुभित) भीते, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार क्षोभे, न०।

ओघ०। कलहे, बृ० ३ उ०। आलोडिते, व्याकुले, वाच०। ''समंतआ खुभियचक्कबाल'' क्षुभितानि चक्रवालानि जनमण्डलानि यत्र गमने तत्तथा भवत्येवं निर्गच्छतीति संबन्धः। भ० ६ श० ३३ उ०।

खुभियव्व न० (क्षुभितव्य) क्षोभे कार्ये, प्रश्न० ३ सम्ब० द्वार।

खुमा स्त्री० (क्षुमा) अतस्याम्, शणे, नीलिकायाम्, वाच०। रोममुण्डनसाधने, उत्त० १७ अ०।

खुर पुं० (क्षुर) नापितोपकरणे, अनु०। सूत्र०। तीक्ष्णे शरीरावयवकर्त्तने, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ०। ज्ञा०। क्षुरे, स्था० ४ ठा० ४ उ०। ''खुरे चेव एगधारत्ति'' यथा क्षुर एकधार एवं साधुरुत्सर्गलक्षणैकधारः। प्रश्न० ५ सम्ब० द्वार। कोकिलाक्षे, गोखुरे, महापिण्डीतके बाणे च। वाच०।

खुर पुं० शफे, ज्ञा० १ श्रु० ३ अ०। कोलदले, नखिनां गन्धद्रव्ये, खट्वापादे, वाच०।

खुरदुगुत्ता स्त्री० (क्षुरद्विकोक्ता) चर्मकीटतायाम्, ''एवं खुरदुगुत्ताए'' चर्मकीटत्वेन जायन्ते तथा हि–जीवतामेव गोमहिष्यादीनां चर्मणोऽन्तः प्राणिनः संमूर्च्छन्ति। सूत्र० २ श्रु० ३ अ०।

खुरधार त्रि० (क्षुरधार) क्षुरस्येव धारा यस्यातिच्छेदकत्वादसौ क्षुरधारः। क्षुरवत्तीक्ष्णधारे, ''असिं खुरधारं गहाय'' उपा० २ अ०। क्षुरो ह्यतितीक्ष्णधारो भवति। अन्यया केशानाममुण्डनात्। इति क्षुरेणोपमा खड्गधारायाः। ज्ञा० १ श्रु० ८ अ०।

खुरनिबद्ध पुं० (क्षुरनिबद्ध) शैफबद्धयोः रासभबलीवर्दयोः, पि ।

खुरपत्त न० (क्षुरपत्र) क्षुरः (छुरः) एव पत्रं क्षुरपत्रम्। स्था० ४ ठा० ४ उ०। क्षुरे, विपा० १ श्रु० ६ अ०। ज्ञा०।

खुरप्प पुं० (क्षुरप्र) प्रहरणविशेषे, दशा० ६ अ०। श्रोत्रेन्द्रियं क्षुरप्रसंस्थानसंस्थितम्। स्था० ५ ठा० ३ उ०। प्रज्ञा०। विशे० सूत्र०। घासच्छेदनशस्त्रे, (खुरपी) लोके तत्तुल्याग्रफलके शरे, वाच०।

खुरि पुं० स्त्री०(खुरिन्) खुरोऽस्यास्तीति खुरी खुररूपावयवयुक्ते, आव० ३ अ०।

खुल्ल त्रि० (क्षुल्ल) लघौ, प्रज्ञा० १ पद। द्वीन्द्रियभेदे, जी० १ प्रति०।

खुल्लक त्रि० (क्षुल्लक) ह्रस्वे, अन्त० ४ वर्ग। बाले, क्षुल्लकसम्बन्धश्चायम्–वसन्तपुरे देवप्रियः श्रेष्ठी तस्य यौवने भार्या मृता पुत्रेणाष्टवार्षिकेण सह प्रव्रजितः। ततश्च स क्षुल्लकः परीषहैर्बाध्यमानो वक्ति–तात ! न शक्नोमि उपानहौ विना प्रव्रजितुम्। मोहेन पिता ते अनुजानाति। पुनर्वक्ति–तात! न शक्नोमि शीर्षे सोढुमातपम्। पिता शीर्षे छत्रमनुजानाति। पुनर्वक्ति–तात ! न शक्नोमि भिक्षाटनं कर्तुम्। ततः पिता आनीय दत्ते। एवं भूमौ न संस्तारयितुं शक्नोमि। ततः पिता फलकमर्पयति। एवं लोचस्थाने क्षौरं कारयति। प्रक्षालयत्यङ्गं प्रासुकनीरेण। पुनर्वक्ति–तात! न शक्नोमि ब्रह्मव्रतं पालयितुम्। ततोऽयोग्योयमिति पित्रा निष्काशितः मृत्वा महिषो जातः। पिता चारित्रमाराध्य देवो जातः। अवधिना सुतं महिषं पश्यति। स सार्थवाहरूपं कृत्वा तं महिषं गुरुभारमवाहयत्। तात! न शक्नोमि इत्यादि पूर्वभवोक्तं पुनः कथयन् स्मारयति। तस्य जातिस्मरणमुत्पन्नम्। गृहीताऽनशनो महिषो मृत्वा वैमानिकदेवो जातः। इति क्षुल्लककथा। ग० २ अधि०। (क्षुल्लकस्य धर्मपरिक्षायां समस्यापादपूर्तिः 'सम्मत्त' शब्दे ज्ञेया। गच्छक्षुल्लकस्य पिपासापरिषहसहनं च 'पिवासा' शब्दे)

खुल्लगपायसमास पुं० (क्षुल्लकपादसमास) लिङ्गिनां परीक्षणाय कृतायां सभायां क्षुल्लकेन कृते गाथापादसंक्षेपे, आचा० १ श्रु० ४ अ० २ उ०।

खुव पुं० (क्षुप) ह्रस्वशाखामूले वृक्षे। ज्ञा० १ श्रु० १ अ०।

खुव्वय न० (खुव्वक) पलाशादिपत्रमये दोन्निके, १ व्य० २ उ०।

खुहंझाण न० (क्षुद्ध्यान) क्षुधा क्षुत्परीषहोदयजन्मपीडाविशेषः। तया यद्ध्यानं क्षुद्ध्यानं राजगृहपाशगतलोकसहगतद्रमकस्येव क्षुधार्त्तध्याने, आतु०।

खुहपिवास न० (क्षुत्पिपास) क्षुच्च पिपासा च क्षुत्पिपासम्। बुभुक्षा तृष्णयोः। जी० ३ प्रति०।

नैरयिकाणां क्षुत्पिपासे चिन्तयति–

इमीसे णं भंते ! रयणप्पहाए णेरतिया केरिसयं खुहपिवासं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति। गोयमा ! एगमेगस्स णं रयणप्पभापुढविनेरतियस्स असज्झाव पत्थवणाए सव्वोदधी वा सव्वपोग्गले वा आसयंसि पक्खिवेज्जा। णो चेव णं से रयणप्पभाए पुढवीए नेरइए वितित्ते वा सित्ता वितण्हे वा सित्ता एरिसिया णं। गोयमा ! रयणप्पभाए जे णेरइया खुधं पिवासं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति। एवं जाव अहे सत्तमाए॥

(रयणेत्यादि) रत्नप्रभापृथिवीनैरयिकाः भदन्त ! कीदृशं क्षुधं पिपासां प्रत्यनुभवन्तः प्रत्येकं वेदयमाना विहरन्त्ययवतिष्ठन्ते भगवानाह–गौतम ! (एगमेगस्स णमित्यादि) एकैकस्य रत्नप्रभापृथिवीनैरयिकस्य असद्भावस्थापना असद्भावकल्पनया ये केचन पुद्गला उदधयश्चेति शेषाः तान् आस्यके मुखे सर्वपुद्गलान् सर्वोदधीन् प्रक्षिपत् तथाऽपि (नो चेव णमित्यादि) नैव स रत्नप्रभापृथिविनैरयिकस्तृप्तो वा वितृष्णो वा स्यात्। लेशतोऽत्र प्रवलभस्मकव्याध्युषेतः पुरुषो दृष्टान्तः (एरिसिया णमित्यादि) ईदृशीं णमिति वाक्यालङ्कृतौ गौतम ! रत्नप्रभापृथिवीनैरयिकाः क्षुधं पिपासां प्रत्यनुभवन्तो विहरन्ति। एवं प्रतिपृथिवि तावद्वक्तव्यं यावदधः सप्तमी। जी० ३ प्रति०। वाच०।

देवानाम्–

सोधम्मीसाणे देवा केरिसयं खुहं पिवासं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति। गोयमा ! णत्थि खुहं पिवासं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति० जावअणुत्तरो॥

(सोधम्मीत्यादि) सौधर्म्मेशानयोर्भदन्त ! कल्पयोर्देवाः कीदृशं क्षुत्पिपासं क्षुच्च पिपासा च क्षुत्पिपासं प्रत्यनुभवन्तो विहरन्ति–आसते? गौतम ! नास्त्येतत् यत्तत्क्षुत्पिपासं प्रत्यनुभवन्तो विहरन्तीति। एवं यावदनुत्तरोपपातिकाः। जी० ४ प्रति०।

खुहपिवासमहण त्रि० (क्षत्पिपासामथन) क्षुच्च पिपासा च तयोर्मथनः क्षुत्पिपासामथनः क्षुत्तृण्नाशने प्रबलाहारे, जी० ३ प्रति०।

खुहा स्त्री० (क्षुध्) **''क्षुधो हा'' ८। १। १७।** इत्यन्तस्य हाऽऽदेशः। प्रा० १ पाद। बुभुक्षायाम्, स्था० १० ठा०। तं०। आव०। कल्प०। क्षुध इति कर्मण आख्यानम् 'भिनत्तीति' भिक्षुः। नि० चू० २० उ० व्य०।

खुहापरिसह पुं० (क्षुत्परिषह) क्षुदेवात्यन्तव्याकुलत्वहेतुरप्या-संयमभीरुतया आहारपरिपाकादिवाञ्छानिवर्त्तनने परीति सर्वप्रकारं सह्यते इति क्षुत्परिषहः। उत्त० २ अ०। प्रथमपरीषहे, क्षुद्वेदनामुदिता-मशेषवेदनातिशायिनीं सम्यग्विषहमाणस्य जठरान्नविदाहिनीमागम-विहितेन भक्तेन शमयतोऽनेषणीयं च परिहरतः क्षुत्परीषहविजयो भवति अनेषणीयग्रहणे तु न विजतः स्यात् क्षुत्परीषहः। प्रव० ८ द्वार। आव०। ''क्षुधार्त्तः शक्तिमान् साधु-रेषणां नातिलङ्घयेत्। अदीनोऽविह्वलो विद्वान्, यात्रामात्रोद्यतश्चरेत्''॥ १॥ ध० २ अधि०। आ० म०।

एतदेव सूत्रकृद् विवण्वन्नाह-

दिगिंच्छापरियए देहे, तवस्सी भिक्खु थामवं।
ण छिंदे ण छिंदावए, न पए न पयावए॥ २॥ उत्त०

दिगिञ्छोक्तरूपा तया परितापः सर्वाङ्गीणसन्तापो दिगिञ्छा परितापस्तेन छेदादिक्रियापेक्षा हेतौ तृतीया। पाठान्तरम्-दिगिञ्छापरिगते बुभुक्षाव्याप्ते देहे शरीरे सति तपोऽस्यास्तीति अतिशायने विनिः, तपस्वी। विकृष्टाष्टमादितपोऽनुष्ठानवान्। स च गृहस्थादिरपि स्यात्। अत आह-भिक्षुर्यतिः। सोऽपि कीदृग ? स्थाम बलं तदस्य संयमविषयमस्तीति स्थामवान्। ''भूम्नि प्रशंसायां वा मतुप्'' अयं च किमिति ? आह-न छिन्द्यान्न द्विधा विदध्यात्, स्वयमिति गम्यते। न छेदयेद्वाऽन्यैः फलादिकमिति शेषः। तथा-न पवेत् स्वयं, न चान्यैः पाचयेत्, उपलक्षणत्वाच्च नान्यं छिन्दन्तं वा पचन्तं वाऽनुमन्येत तत एव च न स्वयं क्रीणीयात्, नापि क्राययेत्, न च परं क्रीणन्त मनुमन्येत। छेदस्य हननोपलक्षणत्वात्क्षुत्प्रपीडितोऽपिन नवकोटीशुद्धिबाधां विधत्ते इति गाथार्थः॥२॥

किं च-

कालीपव्वंगसंकासे, किसे धमणिसंतए।
मायन्ने असणपाणस्स, अदीणमणसो चरे॥३॥

काली काकजङ्घा, तस्याः पर्वाणि स्थूराणि मध्यानि च तनूनि भवन्ति, ततः कालीपर्वाणीव पर्वाणि जानुकूर्परादीनि येषु तानि कालीपर्वाणि उष्ट्रमुखीवत् मध्यपदलोपी समासः। तथा-एवंविधैरङ्गैः शरीरोवयवैः सम्यक् काशते तपःश्रिया दीप्यत इति कालीपर्वाङ्गसंकाशः। यद्वा-प्रकृते पूर्वापरनिपातस्यातन्त्रत्वाद् ग्रामो दग्ध इत्यादिवत् अवयवधर्मेणाप्य-वयविनि व्यपदेशदर्शनाच्चाङ्गसन्धीनामपि कालीपर्वसदृशतायां कालीपर्वभिः संकाशानि सदृशान्यङ्गानि यस्य स तथा। स हि विकृष्टतपोऽनुष्ठानतोऽपचितपिशितशोणित इत्यस्थिचर्मावशेष एवंविध एव भवति अत एव-कृशः कृशशरीरः। धमनयः शिरास्ताभिः सन्ततो व्याप्तो धमनिसन्ततः। एवंविधावस्थोऽपि मात्रां परिमाणरूपां जानातीति मात्राज्ञो, नातिलौल्यतोऽतिमात्रोपयोगी। कस्येति ? आह-अश्यत इत्यशनम् ओदनादि, पीयत इति पानं सौवीरादि, अनयोः समाहारेऽशनपानं तस्य तथा (अदीणमणसो त्ति) सूत्रत्वाददीनमनाः अदीनमानसो वा अनाकुलचित्तश्चरेत् संयमाध्वनि यायात्। किमुक्तं भवति-अतिबाधितोऽपि क्षुधा नवकोटीशुद्धमध्याहारमवाप्य न लौल्यतोऽतिमात्रोपयोगी तदप्राप्तौ वा दैन्यवानित्येवं क्षुत्परिषह्यमाणा क्षुत्परिषहः सोढव्यो भवतीति सूत्रार्थः॥३॥ उत्त०।

इदानीं निर्युक्तिकार एव ''न छिंदे'' इत्यादिसूत्रावय-वसूचितं कुमारकेत्यादिद्वारोपक्षिप्तं च-क्षुत्परीषहोदाहरणमाह-

उज्जेणि हत्थिमित्तो, भोयट्ठिपुरहत्थिभूइखुड्डो य।
अडवीये वयणीत्तो, पातोवगओ य सोदव्वं॥ उत्त० नि० १ खण्ड

(उज्जेणि त्ति) उज्जयिनिहस्तिमित्रो भोगकटकपुरं हस्तिभूतक्षुल्ल-कश्चाटव्यां वेदनार्त्तः पादपोपगतश्च सादेव्यं देवसन्निधा नमिति गाथाक्षरार्थो वृद्धसंप्रदायादव सेयः। उत्त०। सचायम्उज्जयिन्यां हस्तिमित्रो श्रेष्ठी वर्तते। तस्य हस्तिभूतलामवालकोऽस्ति अन्यदा हस्तिमित्रश्रेष्ठिनः प्रिया मृता दुःखगर्भवैराग्येन हस्तिमित्रश्रेष्ठी हस्तिभूतदारकेण समं प्रव्रजितः। अन्यदा दुर्भिक्षे साधुभिः समं विहरन्नसौ हस्तिमित्रसाधुर्भोजकटकनगरमार्गाऽटव्यां कण्टकेन विद्धपादोऽग्रे विहर्तुमक्षमोऽटव्यामेव स्थितः। तमक्षमं दृष्ट्वा साधुभिर्भणितं दारकेण त्वां मार्गे बहिष्यामो मा विषादं कृथाः। तेन भणितम्-मदायुः स्तोक मेवास्ति, अतोऽहमत्रैव भक्तं प्रत्याख्यामि, यूयं यात, मदर्थमत्र स्थितस्यान्यस्य कस्यापि साधोर्मा भूद्विनाशः। इत्युक्तवन्तं तं क्षमयित्वा भक्तपानप्रत्याख्यानं कारयित्वा तत्रैवमुक्त्वा च अनिच्छन्तमपि क्षुल्लकं गृहीत्वा ते साधवश्चेलुः। क्षुल्लकोऽर्द्धमार्गात्तान्विप्रतार्य पितृमो हात्तत्राऽऽयातः। तावत्तत्र गृहीताऽनशनः स मृतो देवोऽभूत्। क्षुल्लको मौग्ध्यात्तं मृतं न जानाति। सुप्तस्य तत्कलेवरस्य पार्श्व एव भ्रमति। क्षुधार्तोऽपि फलादिकं न गृह्णाति। स देवः क्षुल्लकमोहेन निजदेहमधिष्ठाय अवदत्। वत्स ! गच्छ भिक्षायां क्षुल्लकेन भणितं कुत्र व्रजामि। तेन भणितम् एषु धवनिकुञ्जेषु व्रज। तन्निवासिनो जना भिक्षां दास्यन्ति। ततः तथेति भणित्वा क्षुल्लकस्त त्र गतः धर्मलाभमुच्चचार। स देवो नरनारीरूपं विधाय करं प्रसार्य दिव्यशक्त्या तस्मै भक्तपानादि ददौ। तावद् यावद् दुर्भिक्षे निवृत्ते भोजकटकनगरात् पश्चाद्वलिताः साधवस्तेनैव मार्गेण तत्राऽऽगताः। जीर्णं शवं दृष्ट्वा ज्ञातदिव्यप्रयोगास्तं क्षुल्लकं गृहीत्वा विजह्रुः। यथा ताभ्यां पितृपुत्राभ्यां क्षुत्परीषहः सोढः तथा साम्प्रतिकमुनिभिरपि सोढव्यः। उत्त० २ अ०। ('परीसह' शब्दे साधारणवक्तव्यता)

खुहापरिसहविजय पुं० (क्षुत्परिषहविजय) साधोर्निरवद्याहारगवेषिणः निरवद्यस्याहारस्यालाभे, ईषल्लाभे, वा अनपगतक्षुद्वेदनस्याकाल-भिक्षोप्रतिनिवृत्तेच्छस्यावश्यकपरिहार्णां मनागप्यसहमानस्य स्वाध्या-यध्यानभावनापरीतचेतसः उदीरणप्रबलक्षुद्वेदनस्यापि सतोऽनेषणीय-परिहारतोऽपरिदेवनेन क्षुद्वेदना-सहने, पञ्चा० १ विव०।

खुहापरीसह पुं० (क्षुतपरीषह) 'खुहापरिसह' शब्दार्थ।

खुहियजल त्रि० (क्षुभितजल) क्षोभयुक्तजले, लवणसमुद्रे, ''खुहियजले'' क्षुभितजलः वेलावशात् वेला च महापातालकलशगतवायुक्षोभात्। भ० ६ श० ८ उ०।

खेज्जणा स्त्री० (खेदना) खेदसंसूचिकायां वाचि, ज्ञा० १ श्रु० १८ अ०।

खेड न० (खेट) धूलिप्राकारपरिक्षिप्ते, नि० चू० १२ उ०। औ०। रा०। विपा०। ग०। कल्प०। जी०। नि० चू०। प्रांशुप्राका-

रनिवद्धे । नं० । भ० । उत्त० । ज्ञा० । स्था० । बृ० । आचा० । प्रश्न० । क्षुल्लकप्राकारावेष्टिते, आचा० १ श्रु० ८ अ० ८ उ० । व्य० । नद्यद्रिवेष्टिते, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । नगरविशेषे, विशे० । खे अटति अट् अच् । खिट् अच् वा । सूर्यादिग्रहे, सुनिन्दके, अधमे, अस्त्र भेदे, स च यष्टिरूपः । चर्मणि, खिट् भावे करणे घञ् । मृगयायाम्, कर्त्तरि अच् । तृणे, न० धनवृद्धिजीविनि, कफे, वाच० ।

खेडअ पुं० (क्वेटक) **"क्वेटकादौ" । ८। २। ६।** इति संयुक्तस्य खः विषे, प्रा० २ पाद ।

स्फेटक त्रि० **"क्वेटकादौ" ८ । २। ६ ।** इति स्फस्य खः । हिंसके, अनादरकारके च । प्रा० २ पाद ।

खेडग न० (खेटक) फलके, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

खेडठाण न० (खेटस्थान) धूलिप्राकारवृत्तनगरविशेषे, विशे आ०म०प्र० ।

खेडिअ पुं० (स्फेटिक) **"क्वेटकादौ" ८ । २। ६।** संयुक्त स्य खः । प्रा० २ पाद ।

खेड्ड पुं० (खेल) **"गोणादयः" ८। २। १७४।** इत्यन्तस्य डः । क्रीडायाम् , प्रा० २ पाद ।

खेड्डा स्त्री० (खेला) खेला क्रीडा । शरिचतुरङ्गद्यूताद्यायामन्ताक्षरिकाप्रहेलिकादानादिजनितायाम् इन्द्रजालकगोलकखेलनाद्यायां वा क्रीयायाम्, ग० २ अधि० ।

खेत्त न० (क्षेत्र) 'क्षि' निवासगत्योः इति क्षियन्ति निवसन्ति जीवा अजीवाश्च अत्र इति उणादिके त्रप्रत्यये क्षेत्रमिति । विशे० । 'क्षि' निवासगत्योः अस्मादधिकरणे ष्ट्रन् सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । अवगाहदानलक्षणे आकाशे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । सम्म० । स० । आ० चू० । स्था० । "खित्तं खलु आगास" इति वचनात् । आ० म० प्र० । नि० चू० । स्था० । पिण्ड० नि० । यत्रावगाढस्तत् क्षेत्रमुच्यते, यथा परमाणोरागमे यत्रैकस्मिन् प्रदेशे अवगाढस्तदेकं प्रदेशं क्षेत्रमभिहितम् । विशे । विपा० ।

खेत्तं मयमागासं, सव्वदव्वावगाहणा लिंगं ।
तं दव्वं चेव निवा–समेत्तपज्जायओ खेत्तं ॥२०८८॥
तं च महासेणवणो–वलक्खियं जत्थ निग्गयं पुव्वं ।
सामाइयमन्नेसु य, परंपरविणिग्गमो तस्स ॥२०८९॥

'क्षि' निवासगत्योः, क्षियन्ति–अवगाहन्ते निवसन्ति जीवादयोऽस्मिन्निति क्षेत्रम् । तच्चाकाशं सर्वार्थवेदिनां मतम् । कथंभूतम् ?–सर्वेषामपि जीवादिद्रव्याणां याऽवगाहनाऽवस्थानरूपा सैव लिङ्गं चिन्हमुपयोगो यस्य तत्सर्वद्रव्यावगाहनालिङ्गम् । तच्चापरपर्यायेषु द्रव्याणां गमनाद् द्रव्यमेव, केवलं निवासमात्रपर्यायमाश्रित्य क्षेत्रमुच्यते । तच्चोपाधिभेदाद् बहुभेदम् । अत इह महासेनवनोपलक्षितमेव गृह्यते । विशे । धर्मादीनां द्रव्याणां वृत्तिर्भवति यत्र तत् क्षेत्रम् । ल० । आव० । क्षेत्र यथा संख्येयप्रदेशावगाहनोऽसौ स० । धान्यनिष्पत्तिस्थाने, कल्प० ६ क्षण । सस्योत्पत्तिभूमौ, पञ्चा० १ विव० ।

तच्च त्रिविधम्–

खेत्तं सेउं केउं, सेउ ऽरहट्टाइ केउ वरिसेणं ।
भूमि घरवत्थु सेउं, केउं पासायगिहमाई ॥

क्षेत्रं द्विधा–सेतुः केतुश्च, तत्र (सेउऽरहट्टाइति) अरहट्टादिना सिच्यमानं यन्निष्पद्यते तत्सेतुः । अत्रादिशब्दात्तडागादिपरिग्रहः । यत्पुनर्वर्षेण मेघवृष्ट्या निष्पद्यते तत् केतुः । बृ० १ उ० । ध० । उत्त० । स्था० । आव० । आ० चू० । ग्रामादियोग्यस्थाने, ध० ३ अधि० । "खेत्ते काले जम्मे" इत्यादि (२०२५) । क्षेत्रं जनपदग्रामनगरादि, यदुक्तम्–"मगहागोव्वरगामे" इत्यादि । विशे० । संयमनिर्वाहार्थं क्षेत्रगुणा अन्वेषणीयाः, जघन्ये क्षेत्रे चत्वारो गुणाः । तच्च क्षेत्रं त्रिविधम् जघन्यम्, उत्कृष्टं, मध्यमं च । तत्र चतुर्गुणयुक्तं जघन्यम् ।

ते चामी–

सुलहा विहारभूमी, विआरभूमी य सुलहसज्झाओ ।
सुलहा भिक्खा य जहिं, जहन्नयं वासखेत्तं तु ॥१॥

यत्र विहारभूमिः सुलभा, आसन्नो जिनप्रासाद इत्यर्थः ।१।

यत्र स्थण्डिलं शुद्धं, निर्जीवमनालोक्यं ।२। यत्र स्वाध्यायभूमिः सुलभा, अस्वाध्यायादिरहिता ३ । यत्र भिक्षा च सुलभा ४। तज्जघन्यं वर्षायोग्यं क्षेत्रम् । कल्प० १ क्षण ।

उत्कृष्टं त्रयोदशगुणोपेतं तानेव गुणानाह–

चिक्खल्लपाण–थंडिल, वसही–गोरस–जनाउलो य वेज्जो य ।
ओसह–निचया–ऽहिवती, पासंडा भिक्ख–सज्झाए ॥

यत्र (चिक्खल्लः) कर्दमो भूयान् भवति । प्राणाश्च द्वीन्द्रियादयो भूयांसो न संमूर्च्छन्ति । यत्र भूयांसि स्थण्डिलानि, वसतयश्च द्वित्रादयो यत्र प्राप्यन्ते । गोरसं च प्रभूतं, प्रत्येकं भूयो जन समाकुलः कुलवर्गः, वैद्यश्च यत्र विद्यते । औषधानि च सुप्रतीतानि । यत्र धान्यमतिप्रभूतम् । यत्र अधिपतिः प्रजानामतीवसुरक्षको वर्तते । पाषण्डाश्च स्तोका विद्यन्ते । भिक्षा च सुलभा । स्वाध्यायश्च निर्व्याघातः । एतदुत्कृष्टं वर्षासु योग्यं क्षेत्रम् ।

साम्प्रतमेतद्गुणाभावे वर्षासु वसतां प्रायश्चित्तमाह–

पाणा थंडिलवसही, अहिवतिपासंडभिक्खसज्झाए ।
लहुया सेसे लहुओ, केसिंची सव्वहिं लहुगा ॥

यदि यत्र प्राण अतिबहवो, यदि वा न विद्यन्ते । स्थण्डिलानि, वसतयो वा द्वित्रादिका न विद्यन्ते । अधिपतिर्वा नास्ति । पाषण्डा वा बहवः । भिक्षा वा न सुप्रापा । स्वाध्यायो वा न निर्वहते । तत्र वर्षाकालं करोति । तदैतेषु दोषेषु प्रत्येकं प्रायश्चित्तं चत्वारो लघुकाः । शेषे (चिक्खल्लादिके) दोषे प्रत्येकं लघुको मासः । केषांचिदाचार्याणां मतेन–पुनः सर्वत्र सर्वेष्वपि दोषेषु प्रत्येकं चत्वारो लघुकाः ।

संप्रति (चिक्खल्ले) दोषानभिधित्सुराह–

नीसरण कुच्छणागा–रकंटगा सिज्ज आयभेदो य ।
संजमतो पाणादी, अगाहनिमज्जणादीया ॥

निस्सरणं नाम फेल्हसणम्, कुत्सना अङ्गुल्यन्तराणां कोथकाराः कर्करकाः, कण्टका बब्बूलशूलादयः (सिज्ज त्ति) देशीपदमेतत् परिश्रम इत्यर्थः । एष आत्मभेदः, एते आत्मविराधनादयो दोषा इत्यर्थः । संयमतः संयमे पुनरयं दोषः–प्राणा द्वीन्द्रियादयः आदिशब्दात् पृथिवीकायादिपरिग्रहः ते विद्यन्ते तथा यदि सुखेनात्र गच्छामिति विचिन्त्य सोदके कर्दमे गच्छति तथा क्वचि–

गाधे निमज्जति। आदिशब्दात्पादजङ्घादिक्षोभिताः सकदर्मजलविप्रुष उत्थापयति। ताभिश्च प्राणादिविघातः, संमुखं गच्छन् पुरुषादिखरण्टनं निजशरीरोपकरणखरण्टनं चेति परिग्रहः।

धुवणे वि होंति दोसा, उप्पीलणादी य वाउसत्तं च।
सेहादीणमवण्णा, अधोवणे चीरनासो वा॥

कर्दमाकुले मार्गे गमनेन कदर्म उपकरणे लगति। तथा चोपकरणस्य धावनेऽपि आस्तामधावने इत्यपिशब्दार्थः। दोषाः के ते? इति। आह–उत्पीडनादय उत्पीडनं प्राणादीनां प्लावनमादिशब्दात् शरीरायास-स्वाध्यायविघातादिपरिग्रहः। अपि च–वस्त्राणि शरीरं च प्रक्षालयतो वा कुशिकत्वमुपजायते। शरीरे, उपकरणे च कुशीकरणात्। अथ न प्रक्षालयति तर्ह्यधावने शैक्षकादीनामवज्ञासंभवः, चीरनाशश्च कर्दमेन शटनात् वाशब्दः समुच्चये।

सम्प्रति प्राणसंभवे दोषानाह–

मुइंगविच्छुगादिसु, दो दोसा संजमे य सेसेसु।
नियमा दोसु दुगुंछिय, अथंडिल–निसग्ग–धरणे य॥

'मुइंगा' नाम पिपीलिका, पिपीलिकावृश्चिकादिषु शेषेषु च प्राणेषु बाहुल्येन संभवत्सु द्वौ दोषौ। तद्यथा–संयमे चशब्दादात्मनि च, आत्मविराधना संयमविराधना चेत्यर्थः। तत्र वृश्चिकादिभिर्दंशादा-त्मविराधना, कीटकादिसत्त्वव्याघातच्च संयमविराधना। स्थण्डिलाभावे दोषानाह–(नियमेत्यादि) स्थण्डिलाऽभावे अस्थण्डिले, जुगुप्सिते वा स्थण्डिले, निसर्गे पुरीषप्रश्रवणोत्सर्गे नियमात् दोषाः संयमविरा-धनादयः, तत्रास्थण्डिले हरितकायादिव्यापादनात् संयमविराधना, पादादिल्हसनादात्मविराधना, जुगुप्सिते स्थण्डिले प्रवचनविराधना, अथैतद्दोषभयान्न व्युत्सृजति। किंतु–धारयति। तत आह–धारणे दोषा आत्मविघातादयः। तथा च–पुरीषादिधारणे जीवितनाशादि ''मुत्तनिरोहे चक्खुं, वच्चनिरोहे य जीवियं चयति'' इत्यादिवचनात्। ग्लानत्वे चिकित्साकरणतः संयमव्याघातः॥

यत्र संकटा वसतिर्यत्र च द्वित्रादयो वसतयो न लभ्यन्ते तत्र (वासे) दोषानाह–

वसहीऐं संकडाए, विरल्ल अविरल्लणे भवे दोसा।
वाघातेण व अण्णा, तीऐं दोसा ओवच्चंते॥

वसतौ संकटायां सत्याम् उपधेः (विरल्ले त्ति) विस्तारणे वा दोषा भवन्ति। के ते इति चेत? उच्यते–यदि उपधिस्तीमितो विस्तार्यते तर्हि स कोथमुपयाति, तत्संसर्गतः शरीरस्य च मान्द्यमुपजायते। एकस्याश्च वसतेः कथमपि व्याघाते अन्यस्याश्च अभावे ग्रामान्तरं व्रजनीयम्। तत्र च व्रजति संयमात्मप्रवचनविराधना। तथाहि–मार्गे जलहरितकाया-दिव्यापादनात्संयमविराधना। अगाधे सलिले प्रविशत आत्मविराधना। वसत्यलाभतो वर्षाकालेऽपि वर्षप्रपाते नाऽवरुध्यमानात् पथि गच्छतस्तान् दृष्ट्वा लोकः प्रवचनं कुत्सयते ईदृशा एवैते वर्षास्वपि नाश्रमं क्वचिदपि लभन्ते इति प्रवचनविराधना।

गोरसाऽभावे दोषानाह–

अतरंत–वाल–वुड्ढा, अभाविता चेव गोरसस्स ऽसती।
जं पावहिंति दोसं, आहारमएसु पाणेसुं॥

अतरन्तो नाम असहाः (असमर्थाः) तथा–वालाः, वृद्धाश्च तथा–ये अभाविता येषां गोरसव्यतिरेकेण नान्यत्किमपि प्रतिभासते। ते गोरसस्य असति अभावे आहारमयेषु प्राणेषु सत्सु यत् आगाढाऽनागाढपरि-तापनादिकं दोषं प्राप्स्यन्ति। तन्निमित्तं सर्वमपि प्रायश्चित्तमाचार्य्यो-लप्स्यते तस्माद्यत्र तदभावस्तत्र न वस्तव्यम्।

अत्र पर आह–

नणु भणितो रसचाओ, पणीयरसभोयणे य दोसा उ।
किं गोरसेण? भंते!, भण्णइ सुण चोयग! इमं तु॥

ननु सूत्रे रसानां क्षीरादीनां त्यागो भणितः। ''अनशनम्, ऊनोदर-तावृत्तिः, संक्षेपणं, रसत्यागः'' इत्यादि बाह्यतपोव्यावर्णनात् प्रणीतर-सभोजने दोषाः कामोद्रेकादयः शरीरोपचयादिभावात्। ततः किं भदंत! गोरसेन कर्त्तव्यम्? सूरिराहभण्यते। शृणु चोदक! इदं वक्ष्यमाणम्।

तदेवाह–

कामं तु रसच्चागो, चतुत्थमंगंतु वाहिरतवस्स।
सो पुण सहू(हा)ण जुज्जति, असहू(हा)ण य सज्ज वावत्तिं॥

कामं तपस्तमुमेतत् रसत्यागश्चतुर्थमङ्गं वा चतुर्थो भेदो बाह्यतपसः। षड्भेदात्मकस्य केवलं पुनःशब्दः केवलार्थः। स रसत्यागः सहानां युज्यते संगच्छते। असहानामसमर्थानां रसाभावे सद्यस्तत्कालं व्यापत्तिः मृत्युः।

अन्यच्च–

अगिलाएँ तवोकम्मं, परक्कमे संजतोत्ति इति वुत्तं।
तम्हा उत्तरसव्वा, न नियमतो होति सव्वस्स॥

संयतः तपः कर्म्म प्रति, अग्लान्या पराक्रमेत् इत्युक्तं भगवता। तस्मात् न नियमतः सर्वस्य रसत्यागो भवति।

जस्स नु सरीरजवणा, रुतै पणीयं न होइ साहुस्स।
सो वि य हु मिण्णपिंडं, भुंजउ अहवा जह समाही॥

यस्य साधोः शरीरयापना न प्रणीतं प्रणीतरसमृते भवति। सोऽपि च अश्नुताम् पूर्वोक्ता असहा इत्यपिशब्दार्थः। 'हु' निश्चितं भिन्नपिण्डं घृतादिना मिश्रितं गलितपिण्डं भुञ्जीत। अथवा–यथा–समाधि क्षीरादि भुङ्क्ते केवलं मा गृद्धिर्भूयादिति संपृष्टपानकादिना मीलयित्वा क्षीरमापिबेत्।

सम्प्रति ''जनाऽऽकुल'' पदव्याख्यानार्थमाह–

चउ भंगो अजणाउल–कुलाउले चेव ततिय भंगो उ।
भोइयमादि जणाउल, कुलानल–मडंबमादीसुं॥

जनाऽऽकु लकु लाऽऽकु लयो श्चतुर्भङ्गिका। जनाऽऽकु लमपि कुलाऽऽकुलमपीति प्रथमो भङ्गः। जनाऽऽकुलं, न कुलाऽऽकुलमपि द्वितीयः। न जनाऽऽकुलं कुलाऽऽकुलमिति तृतीयः। न जनाऽऽकुलं नाऽपि कुलाऽऽकुलमिति चतुर्थः। प्रथमभङ्गे–बहूनि मानुषाणि, बहूनि च कुलानि। द्वितीयभङ्गे–कुलानि स्तोकानि, जनास्त्वतिबहवः, कुले कुले भोजकादिजनानां सहस्रसंख्याभावात्। तृतीयभङ्गे–बहूनि कुलानि, जनाः स्तोकाः, गृहे गृहे एकस्य द्वयोर्वा मानुषयोर्भावात्। चतुर्थभङ्गे–न बहूनि कुलानि, नापि बहवो जनाः, कतिपयकुलानां प्रतिकुलं च स्तोकमानुषाणां भावात्। अत्र यौ भङ्गौ ग्राह्यौ तावाह–अजनाऽऽकु लेत्यादिना, न जनाऽऽकु लं, कु लाऽऽकु लमिति तृतीयो ग्राह्यः। एतदनुज्ञानात् प्रथमः सुतरामनुज्ञातो द्रष्टव्यः,

तस्योभयगुणोपेतत्वात्। आह च चूर्णिकृत्–"जइ ताव तइओ भंगो अणुण्णाओ, प्रागेव पढमो भंगो अणुण्णातो" इति। शेषौ तु द्वौ भङ्गौ ज्ञाताऽनुज्ञातौ कुलानामल्पत्वात्। सम्प्रति जनाऽऽकुलतां कुलाऽऽकुलतां च व्याख्यानयति (भोइय) इत्यादि प्रथमभङ्गे च जनाऽऽकुलं भोजिकादिभिरतिप्रभूतैर्जनैराकीर्णत्वात्। कुलाऽऽकुलं मडम्बादिषु स्थानेषु। तथाहि–मडम्बे अष्टादश कुलसहस्राणि आदिशब्दात् पत्तनादिपरिग्रहः व्याख्यातं जनाऽऽकुलद्वारम्।

अधुना वैद्यद्वारमौषधद्वारं च युगपदाह–

वेज्जस्स ओसहस्स च, असतीए गिलाणो उ जं पावे।
वेज्जसगासं नेंतो, आणेंतो चेव जे दोसा॥

यदि नाम कोऽपि ग्लानो जायते तदा, वैद्यस्य औषधस्य च असति अभावे यत् ग्लानोऽनागाढाऽऽगाढपरितापनादि प्राप्नोति तन्निमित्तं सर्वं प्रायश्चित्तमाचार्यः प्राप्नोति। अन्यच्च–तादृशक्षेत्रेऽवतिष्ठमाने वैद्योऽत्र नास्तीति ग्लानेऽन्यस्मिन् ग्रामे वैद्यस्य सकाशं नीयमाने अनीयमाने वा दोषा अनागाढमागाढं वा परितापनं, स्तेनैरुपकरणाद्यपहरणं व्याघ्रादिश्वापदैर्भक्षणमित्यादि तद्धेतुकमपि प्राप्नोति। एवमौषधस्याऽप्यानयनाय साधुषु ग्रामान्तेर प्रेष्यमाणेषु दोषा वाच्याः॥

अधुना निचयद्वारमधिपतिद्वारं चाह–

नेचइया पुण धन्नं, दलंति असारअंचितादीसु।
अहिवम्मि होइ रक्खा, निरंकुसेसुं वहू दोसा॥

निचयेन संचयेन अर्थात् धन्यानां ये व्यवहरन्ति ते नैचयिकाः। ते?; असारा दरिद्राः अञ्चिताः पूज्या राज्यमान्याः पितृपितृव्यादयो वा आदिशब्दादनञ्चितादिपरिग्रहः तेषु, क्रयेणाऽन्यथा वा धान्यं ददति। ततः सर्वत्र भिक्षा सुलभोपजायते। तथ अधिपेऽधिपतौ विद्यमाने रक्षा भवति। निरङ्कुशेषु लोकेषु मध्ये पुनर्वसतो बहवो दोषा उपकरणापहारापमानादिलक्षणाः।

पाषण्डद्वारमाह–

पासंडभाविएसुं, लभंति ओमाणमतिबहूसुं।
अवि य विसेसुवलद्धी, हवंति कज्जेसु य सहाया॥

यदि स्तोकाः पाषण्डास्ततोऽशनादीनि वस्त्राणि भेषजानि तदाऽतिसुलभानि भवन्ति। अतिबहुषु पुनः पाषण्डेषु सत्सु पाषण्डभावितेभ्यो जनेभ्यो गाथायां सप्तमी पञ्चम्यर्थे अपमानं लभन्ते। अपीति संभावने, चः पुनरर्थे संभाव्यते पुनरियं विशेषोपलब्धिरन्यपाषण्डेभ्योऽतिशयोपलब्धिर्यथा यदन्यत् पाषण्डिनां कल्पते। तत्साधूनां न कल्पते। तत एवं लोको भावितः सन् साधूनां कल्पिकं ददाति। तथा कार्येषु च बहुप्रकारेषु शृङ्गनादिताऽऽदिलक्षणेषु वयमपि पाषण्डा, एतेऽपि पाषण्डा धर्मस्थिता इति कृत्वा सहाया भवन्ति।

सम्प्रति भिक्षाद्वारमाह–

नाणतवाण विसिट्ठा, गच्छस्स य संपया सुलभभिक्खे।
न य एसणाएँ घातो, नेव ठवणाए भंगो उ॥

सुलभा भिक्षा यत्र तस्मिन् सुलभभिक्षे ग्रामादौ वसतां ज्ञानस्य श्रुतज्ञानस्य, तपसश्चानशनादेर्विशिष्टा वृद्धिर्भवत्याहारोपष्टम्भतः, स्वाध्यायस्य तपसश्च कर्तुं शक्यत्वात्। तथा गच्छस्य संपत् स्फीता अतिविशिष्टा भवति। शिष्याणां प्रातीच्छिकानां च अनेकेषामागमात् न च एषणाया घातःप्रेरणा, नापि स्थापनायाः मासकल्पवर्षाकल्परूपायाः। अथवा–स्थापनाकुलानां भङ्गः प्रेरणा।

स्वाध्यायद्वारमाह–

वायंतस्स उ पणगं, पणगं पडिच्छतो भवे सुत्तं।
एगग्गं बहुमाणो, कित्ती य गुणा य सज्झाय॥

यत्र स्वाध्यायश्चतुःकालं निर्वहति। तत्र वर्षावासः कर्त्तव्यः। यतः स्वाध्यायेऽमी गुणाःसूत्रमाचारादिकं सूत्रतोऽर्थतस्तदुभयतश्च वाचयतः। पञ्चकं वक्ष्यमाणं संग्रहादिकं भवति। यथा च–वाचयतः पञ्चकं, तथा प्रतीच्छतः श्रोतुरपि पञ्चकं तस्यापि संग्रहादिनिमित्तं श्रुतश्रवणाय प्रवृत्तेः। तथा वाचयतः प्रतीच्छतश्चैकाग्र्यं श्रुतैकपरतोपजायते। सा च विस्रोतसिकाऽवारिता भवति। तथा बहुमानं भक्तिः श्रुतस्य तीर्थकरस्य च कृतं भवति। कीर्त्तिश्च अवदाता सकलधरामण्डलव्यापिनी। यथा–भगवतः आर्यवैरस्येति। व्य० ४ उ०।

क्षेत्रगुणसंख्यामाह–

चउग्गुणोववेयं तु, खेत्तं होइ जहन्नगं।
तेरसगुणमुक्कोसं, दोण्हं मज्झम्मि मज्झिमगं॥

चतुर्भिर्गुणैर्वक्ष्यमाणैरुपेतं भवति क्षेत्रं जघन्यम्। त्रयोदशगुणमुत्कृष्टम्। द्वयोर्जघन्योत्कृष्टयोर्मध्ये मध्यमकम्।

तत्र जघन्यं चतुर्गुणोपेतमाह–

महती विहारभूमी, वियारभूमी य सुलभवित्ती य।
सुलभा वसही य जहिं, जहण्णगं वासखेत्तं तु॥

यत्र महती विहारभूमिः भिक्षापरिभ्रमणभूमिः। महती च विचारभूमिः। तथा–यत्र वृत्तिर्भिक्षा सुलभा। वसतिश्च सुलभा। तत् जघन्यं वर्षक्षेत्रम्॥ व्य० १० उ०। पूर्वोक्तचतुर्गुणादधिकं पञ्चादिगुणं त्रयोदशगुणाच्च न्यूनं द्वादशगुणपर्यन्तं मध्यमं क्षेत्रम्। एवं च उत्कृष्टे क्षेत्रे, तदप्राप्तौ मध्यमे, तस्यापि अप्राप्तौ जघन्ये। कल्प १ क्षण०।

अथ क्षेत्रस्याभवनव्यवहारः। तत्र क्षेत्रे तावदाभवनं प्राह–

वासासु निग्गयाणं, अट्ठसु मासेसु मग्गणा खेत्ते।
आयरिय कहण सेहेण, नयणे गुरुगा य सच्चित्ते॥

अष्टसु ऋतुबद्धेषु मासेषु विहरतां वर्षासु विषये क्षेत्रे मार्गणा भवति क्षेत्रमार्गणा। यच्च निर्गतानां साधूनां क्षेत्रं प्रत्युपेक्ष्य प्रत्यागतानामाचार्यस्य पुरतः क्षेत्रगुणकथनं तच्च गच्छान्तरादागतप्राघूर्णकसाधुभिराकर्ण्य निजाऽऽचार्यसमीपं गत्वा तस्य कथनम्। तत्र नयने प्रायश्चित्तं तत्र गतैः सचित्ते गृह्यमाणे चत्वारो गुरुकाः।

साम्प्रतमेनामेव गाथां विवृणोति–

उउवद्धे विहरंता, वासाजोग्गं तु पेहए खेत्तं।
वत्थव्वा य गता वा, उवेच्च खित्ता नियत्ता वा॥

ऋतुबद्धे काले विहरन्त आचार्यप्रायोग्यं क्षेत्रं प्रत्युपेक्षन्ते। वास्तव्या वा क्षेत्रप्रत्युपेक्षणायोपेत्य गताः। यदि वा–तस्मात् क्षेत्रान्निवृत्ताः केचित् स्वगच्छसाधवः समागताः।

आलोयंते सोउं, साहंते ते उ अप्पणो गुरुणो।
कहणम्मि होइ मासो, गयाण तेसिं न तं खेत्तं॥

ते वास्तव्या गताः क्षेत्रं प्रत्युपेक्ष्य समागताः। ततो वा क्षेत्राद्

निवृत्ता आचार्याणां पुरतः आलोचयन्ति क्षेत्रस्य गुणान् कथयन्ति। तत्र चान्येऽन्यस्मात्प्राघूर्णकाः समागतास्ते च तान् तथा आलोचयतः श्रुत्वा गत्वा आत्मानो गुरोराचार्यस्य (साहंते) कथयन्ति। ततो ध्रुवं ते यावत्तत्र तिष्ठन्ति, तावद्वयं गच्छामः, एवं कथने तेषां प्रायश्चित्तं लघुको मासः। नव गतानां तेषां तत् क्षेत्रमाभवति।

सामच्छण निज्जविए, पयभेदे चेव पंथ पत्ते य।
पणवीसादी गुरुगा, गणिणो गाहेण वेज्जस्स॥

तत् श्रुत्वा यद्याचार्याः (सामच्छणं ति) संप्रधारयन्ति तत् क्षेत्रं गच्छाम इति, तदा तेषां प्रायश्चित्तं पञ्चविंशतिदिनानि। निर्यापितं नाम अवश्यं गन्तव्यमिति निर्णयनं तत्र लघुको मासः। पदभेदे क्रियमाणे गुरुको मासः। पथि व्रजतां चतुर्लघुकम्। क्षेत्रं प्राप्तानां चतुर्गुरुकम्। एतत् प्रायश्चित्तं गणिन आचार्यस्य, यस्य वाऽऽग्रहेण ते आचार्या व्रजन्ति। तस्याप्येतदेव प्रायश्चित्तम्। न च तत् क्षेत्रं तेषाम् आभवति। तत्र गत्वा यदि सचित्तमाददति तदा प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः। आदेशान्तरेण अनवस्थाप्यम्, अचित्ते उपधिनिष्पन्नं, तस्मादविधिरेष न कर्त्तव्यः।

तथा चाह–

एसा अ विही भणिया, तम्हा एवं न तत्थ गंतव्वं।
गंतव्वविहीए पडि–लेहे ऊणं य तं खेत्तं॥

यस्माद्दोषोऽनन्तरोदितो विधिर्गाथायां स्त्रीत्वं प्राकृतत्वादेवं तत्र न गन्तव्यम्।

खेत्तपडिलेहणविही पढमुद्देसम्मि वण्णिया कप्पे।
सच्चेव इहोद्देसे, खेत्तविहाणम्मि नाणत्तं॥

क्षेत्रप्रत्युपेक्षणविधिः कल्पे कल्पाध्ययने प्रथमोद्देशे वर्णितः। स एवेह अस्मिन्नपि व्यवहारस्य दशमे उद्देशके द्रष्टव्यः। नवरमत्र क्षेत्रभेदकथन नानात्वं इहाधिकं क्षेत्रभेदकथनमित्यर्थः।

तदेव करोति–

खेत्तपडिलेहणविही, खेत्तगुणा चेव वण्णिया एए।
पेहेयव्वं खेत्तं, वासाजोग्गं तु जं कालं॥

क्षेत्रप्रत्युपेक्षणविधिः, क्षेत्रगुणाश्च एते अनन्तरोदिता वर्णिताः। तत्र कस्मिन्काले वर्षायोग्यं क्षेत्रं प्रत्युपेक्षितव्यमनुज्ञपयितव्यम्।

अत आह–

खेत्ताण अणुण्णवणा, जेट्ठा मूलस्स सुद्धपाडिवए।
अहिगरणोमाणो मा, मणसंतावो तहा होति॥

ज्येष्ठा, मूलस्य मासस्य शुद्धप्रतिपदि शुक्लपक्षे प्रतिपदि। क्षेत्राणामनुज्ञापना भवति। किं कारणम्? अत आह–"अहिगरणो" इत्यादि। अन्येऽपि तत्राज्ञानतस्तिष्ठेयुस्तावद्विधिकरणं भवेत्। तथास्वपक्षेभ्योऽपमानं भूयात्। तथा च सतिमहान्मनःसंतापः प्रेरिता वयं परिभूताः स्म इति। अथवा–कलहं प्रवृत्तं वा अयुक्तवचनैर्मनः संतापः स्यात्। तस्मात् ज्येष्ठामूलशुद्धप्रतिपदि कर्त्तव्या तथा ज्ञापना।

एतदेवाह–

एएहिँ कारणेहिं, अणागयं चेव होइ ऽनुण्णवणा।
निग्गम–पवेसणम्मि य, पहेंताणं विहिं वुच्छं॥

एतैरनन्तरोदितैः कारणैरनागतमेव भवति क्षेत्रस्यानुज्ञापना। संप्रति तेषां क्षेत्रं प्रेक्ष्यमाणानां निर्गमे प्रवेशे च विधिं वक्ष्यामि।

प्रतिज्ञातमेव करोति–

केई पुव्वं पच्छा, निग्गया पुव्वमइगया खेत्तं।
सम सीमं पत्ताण य, तत्थ इमा मग्गणा होइ॥

केचित् क्षेत्रप्रत्युपेक्षणाय पूर्वं निर्गताः, केचित्पश्चान्निर्गताः, तथा प्रवेशे पूर्वमतिगताः प्राप्ताः क्षेत्रं, केचित्तत्र। समकालं सीमानं प्राप्तानामियं वक्ष्यमाणा मार्गणा भवति–अनया गाथया पादत्रयेऽत्र समकं किल चतुर्भङ्गी सूचिता।

ततस्तामेव दर्शयति–

पुव्वं विणिग्गतो पुव्वं, पत्तो य पुव्व निग्गतो।
पुव्वं तु अतिगतो दो, ति पच्छा खेत्तमागओ॥

जातावेकवचनम्, अतो बहुवचनं द्रष्टव्यम्। पूर्वं निर्गताः पूर्वमेव समकं प्राप्ताः।१। पूर्वनिर्गताः पश्चादेकतरे प्राप्ताः।२। पश्चाद् विनिर्गताः पूर्वं प्राप्ताः।३। इतरे पश्चाद्विनिर्गताः पश्चादेव च तत् क्षेत्रमागताः।४।

पढमगभंगे इणमो, उ मग्गणो पुव्वऽणुण्णवेजइओ।
तो तेसिं होइ खेत्तं, आहे पुण अच्छंति दप्पेण॥

तत्र भङ्गचतुष्टयमध्ये, प्रथमके भङ्गे इयं मार्गणा भवति–यदि पूर्वमेव समकं निर्गतैः, पूर्वमेव च समकं तत् क्षेत्रं प्राप्तैः, पूर्वमेव च समकमनुज्ञापयन्ति। तदा तेषां भवति साधारणं क्षेत्रम्। अथ पुनः समकं प्राप्ता अपि एकतरे दर्पेण तिष्ठन्ति। दर्पो नाम निष्कारणं, तदा यैः पूर्वमनुज्ञापितं तेषां तत् क्षेत्रम्। नेतरेषाम्।

एतदेव स्पष्टतरमाचष्टे–

खेत्तमतिगया मो त्ति, वासत्ता जइ अच्छहो।
पच्छा गयऽणुण्णवए, तेसिं खेत्तं विपाहियं॥

क्षेत्रमतिगताः प्राप्ताः स्म इति यदि विश्वस्ता आसीरन् न क्षेत्रानुज्ञापनाय प्रयतन्ते। तदा आसतां पूर्वं प्राप्ताः किं,पश्चरद्वता अपि ये तेभ्यः पूर्वमनुज्ञापयन्ति क्षेत्रं तेषाम्। तत् क्षेत्रं पूर्वं समकं प्राप्तानामविसमकं पूर्वं वा न तु ज्ञापनमभूत्तदा कारणस्थितशतेष्टमाभवति। तत् क्षेत्रमन्यस्य पूर्वप्राप्तस्य पूर्वानुज्ञापकस्य वा? तथा क्षपको निष्कारणे क्षेत्रप्रत्युपेक्षणाय न पूर्वं वर्तयितव्यो निषेधात्तेन कारणेन तस्य क्षपकस्य यत् क्षेत्रं तेन क्षपकेण यदनुज्ञापितं क्षेत्रमित्यर्थः। ततैर्न लभ्यते। किं वा यैः पश्चादप्यागतैरनुज्ञापितं तेषां तत् क्षेत्रम्। अथ कारणे क्षेत्रप्रत्युपेक्षणाय क्षपकःप्रवर्त्तितस्तदा तेनानुज्ञापितं न लभन्ते क्षेत्रम्। तथा–क्षपकस्य पारणके व्याकुला इति नाऽनुज्ञापयन्ति। तदा न ते तत् क्षेत्रम्। किं तु–यैरनुज्ञापितं तेषामिति। तदेवं गतः प्रथमो भङ्गः।

सम्प्रति द्वितीयं तृतीयं च भङ्गमधिकृत्य विवक्षुरिदमाह–

सुव्वविणिग्गय पच्छा, पविट्ठ पच्छा य निग्गया पुव्वं।
पविट्ठ कयरें सि खेत्तं, तत्थ इमा मग्गणा होई॥

पूर्वं विनिर्गताः पश्चादन्यापेक्षया क्षेत्रे प्रविष्टाः। अत्र परेपश्चाद्विनिर्गतापेक्षया पूर्वं प्रविष्टाः कतरेषां क्षेत्रं भवति? तत्रेयं भवति मार्गणा।

तामेवाह–

गेलन्नादिहिँ कज्जे–हिं पच्छा(इं) ताण होति खेत्तं तु।

निक्कारणविस्सामा, पच्छा ते ताउ न लभन्ति।

पूर्वं विनिर्गताः सन्तो यदि ग्लानादिभिः कारणैः पश्चादागच्छन्ति तदा तेषां पश्चादनियतमागच्छतां भवति क्षेत्रम्। अथ निष्कारणं यत्र तत्र वा स्थितास्तेन पश्चात् गतास्तदा ते पश्चादागच्छन्तो न लभन्ते क्षेत्रम्, गतो द्वितीयो भङ्गः।

तृतीयमधिकृत्याह–

पच्छा विणिग्गओ वि हु, दूराऽऽसन्ना समा व अद्धाणं।
सिग्घगई उ सभवा, पुव्वं पत्तो लभति खेत्तं॥

गाथायामेकवचनं स्पर्द्धकस्वाम्यपेक्षया पश्चाद्विनिर्गतोऽपि 'हु' निश्चितं दूरात् आसन्नात् समाद्वा अध्वनः स्वभावात् शीघ्रगतिरिति कृत्वा पूर्वं प्राप्तस्तदा स लभते क्षेत्रम्।

अह पुण असुद्धभावो, गतिभेदं काउ वच्चती पुरतो।
मा एए गच्छंति य, पुरओगी ताहे न लभंति॥

अथ पुनर्मा एते, अन्ये, पुरतो न गच्छन्तीति, यास्यन्तीति। एवमशुद्धभावो गतिभेदं कृत्वा पुरतो याति। तदा स पुरोगाम्यऽपि न लभते क्षेत्रम्। भावस्याऽशुद्धत्वात्।

समयं पि पत्थियाणं, सभावसिग्घगतिणो भवे खेत्तं।
एमेव य आसन्ने, दूरद्धाणी य जो एति॥

समकमपि विवक्षितानां प्रस्थितानां मध्ये यः स्वभावशीघ्रगतिः सन् पुरतो याति तस्य तत् क्षेत्रम्। एवमासन्ने आसन्नाऽध्वनीनो दूराऽध्वनीनो वा यः पुरतः समागच्छति, अनुज्ञापयति च स लभते क्षेत्रम्।

अहवाऽऽसमऽद्धं पत्ता, समयं चेव अणुन्नावितो दाहिं।
साहारणं तु तेसिं, दोण्ह वि वग्गाण तं होइ॥

अथवा–आसन्नात् दूरात् वा समध्वा अध्वनः समकमेव तत् क्षेत्रं प्राप्ताः, समकमेव द्वाभ्यामपि वर्गाभ्यां तत् क्षेत्रमनुज्ञापितं तदा तयोर्द्वयोरपि वर्गयोः साधारणं तत् क्षेत्रम्। गतस्तृतीयो भङ्गः। चतुर्थे तु भङ्गे–यदि पूर्वप्रविष्टैः सह समनुज्ञापितं तदा साधारणम्। अथ पश्चात्प्राप्तैरपि पूर्वमनुज्ञापितं तदातेषामिति। तदेवमुक्ता चतुर्भङ्गिका।

सम्प्रति ''समसीमं पत्ताण'' इत्येतद्व्याख्यानमाह–

अहवा समयं दोण्णि वि, सीमं पत्ता उ तत्थ जे पुव्वं।
अणुजाणा वा तेसिं, न जे उ दप्पेण अच्छंति॥

(अथ वेति) प्रागुक्तापेक्षया प्रकारान्तरौ द्वावपि वर्गौ समकं सीमानं प्राप्तौ तत्र ये पूर्वमनुज्ञापयन्ति तेषां तत् क्षेत्रं, न ये दर्पेण निष्कारणमेव तिष्ठन्ति तेषामिति। सीमाग्रहणं द्वारगाथायामुद्यानादीनामुपलक्षणम्।

तेन तद्विषयामपि मार्गणामाह–

उज्जाण–गामदारे, वसहिं पत्ताण मग्गणा एवं।
समयमणुन्ने साहरणं, तु न लभंति जे पच्छा॥

उद्यानं ग्रामद्वारं ग्रामग्रहणं नगरादीनामुपलक्षणम्। तथा वसतिं समकं प्राप्तानामेवमुक्तप्रकारेण मार्गणा कर्त्तव्या। तामेव दर्शयति–यदि समकमनुज्ञापयन्ति, ततः साधारणं, ये पुनः पश्चादनुज्ञापयन्ति ते न लभन्ते।

ते पुण दोणी वग्गा, गणि–आयरियाण होज्ज दोण्हं तु।
गणिणं व होज्ज दोण्हं, आयरियाणं व दोण्हं तु॥

तौ पुनर्द्वौ वर्गौ द्वयोर्गण्याचार्ययोर्भवेताम्। गणी नामात्र वृषभः। एको वर्गो वृषभस्य, अपर आचार्यस्य। अथवा–द्वयोर्गणिनोः यदि वा द्वयोराचार्ययोर्द्वौ वर्गाविति।

तत्रेयं मार्गणा–

अच्छंति संथरे सव्वे, गणी नीति असंथरे।
जत्थ तुल्ला भवे दो ऽवी, तत्थिमा होति मग्गणा॥

यदि तत्र क्षेत्रं संस्तरणं तदा सर्वेऽपि तिष्ठन्ति। अथ सर्वेषामसंस्तरणं तदा असंस्तरेण गणी वृषभो निर्गच्छति। आचार्यस्तिष्ठति। अथ द्वावपि वर्गौ तुल्यौ द्वावपि गणिनौ द्वावप्याचार्यौ वा तदा तत्रेयं भवति मार्गणा।

तामेवाह–

निप्फण्णतरुणसेद्दे, जुंगियपायच्छिनासकरकण्णा।
एमेव संयतीणं, नवरं वुड्ढा उ नाणत्तं॥

एकस्य निष्पन्नः परिवारः, एकस्याऽनिष्पन्नः। यस्य निष्पन्नः स गच्छतु। इतरस्तिष्ठतु। अथ द्वयोरपि परिवारो निष्पन्नः केवलमेकस्य तरुणः, एकस्य वृद्धः। बृद्धास्तिष्ठन्तु। इतरे गच्छन्तु। अथ द्वयोरपि तरुणा वृद्धा वा। नवरमेकस्य शैक्षा अपरस्य चिरप्रव्रजितास्ते गच्छन्तु। इतरे तिष्ठन्तु। अथ द्वयोरपि शैक्षाः चिरप्रव्रजिता वा केवलमेकस्य जुङ्गितपादाक्षिनासाकरकर्णाः, अपरस्याऽजुङ्गितास्तत्र जुङ्गितास्तिष्ठन्तु। इतरे गच्छन्तु। अथ द्वयोरपि जुङ्गितास्तत्र ये पादजुङ्गिताः ते तिष्ठन्तु, इतरे गच्छन्तु। सम्प्रति प्रवर्त्तिन्या संयतीनां अभिषेकयोश्च मार्गणा कर्त्तव्या। ततस्तामाह–(एमेव) अनेनैव प्रकारेण संयतीनां मार्गणा कर्त्तव्या। नवरं वृद्धास्तु नानात्वम्। तच्चेदम्–तरुणवृद्धानां तरुण्यस्तिष्ठन्ति, वृद्धा गच्छन्ति। शेषं तथैव।

सम्प्रति संयतानां संयतीनां च समुदायेन मार्गणां करोति–

समणाण संजतीण य, समणी अच्छंति नेति समणा उ।
संजोगे वि य बहुसो, अप्पावहुयं असंथरणे॥

श्रमणानां, संयतीनां च एकस्थानेऽवस्थितानामसंस्तरणे श्रमण्यस्तिष्ठन्ति। निर्गच्छन्ति श्रमणाः। संयोगेषु च बहुशः प्रवर्त्तमानेष्वसंस्तरणे अल्पबहु परिभाव्य वक्तव्यम्। अथैवम्–यत्र संयता जुङ्गिताः श्रमण्यो वृद्धाः, तत्र जुङ्गितास्तिष्ठन्ति। वृद्धाः श्रमण्यो निर्गच्छन्ति। एवं गुरुलाघवं परिभव्यं स्वबुद्ध्या भावनीयम्।

संप्रति क्षेत्रिकाऽक्षेत्रिकाणां संस्तरणाऽसंस्तरणयोर्मार्गणां करोति–

एमेव भत्तसंसट्ठा, तस्साऽलंभम्मि अप्पभू निंति।
जुंगियमादीएसु य, वयंति खेत्तीण ते तेसिं॥

एवमेव अनेनैव प्रकारेण क्षेत्रिकाऽक्षेत्रिकाणामपि संस्तरणे, असंस्तरणे च भावनीयम्। तच्चैवम्–यदि संस्तरणं तदा क्षेत्रिका अपि नवरमक्षेत्रिका भक्तसंतुष्टास्तिष्ठन्तु। सचित्तमुपधिं वन लभन्ते। तस्मात् (तस्साऽलंभम्मि त्ति)तस्य भक्तस्य अलाभे असंस्तरणे इत्यर्थः। अप्रभवोऽक्षेत्रिका निर्गच्छन्ति। अथ क्षेत्रिका जुङ्गिता, आदिशब्दाद् अजुङ्गिता वा। तदा तेष्वक्षेत्रेषु जुङ्गितादिक्षेत्रिणो व्रजन्ति। अजुङ्गितादयस्तिष्ठन्तु। येषां च संबन्धिनस्ते जुङ्गितादयस्तिष्ठन्तु येषां चासंबन्धिनस्ते जुङ्गिता वृद्धा वा न तेषां तत् क्षेत्रम् आभवति। उपलणमेतत् तेनादेशिनां कुडुक्कादीनां च न आभवति क्षेत्रम्।

पत्ताण अणुन्नवणा, सारूविय–सिद्धपुत्त–सण्णीया।
भोइय–महयर–णाविय–निवेयण दु–गाउयाइं वा ॥
तग्गाम सन्नि असती, पडिवसभे पल्लिए व गंतूणं।
अम्हं रुइयं खेत्तं, नाऽयं खु करेह अन्नेसिं ॥

क्षेत्रप्रत्युपेक्षकाणां यत्र वर्षारात्रः कर्त्तव्यस्तत् क्षेत्रं प्राप्तानामनुज्ञापना भवत्यमीषां कर्त्तव्या। तानेवाह–सारूपिकासिद्धपुत्रौ प्रागहिभितौ। संज्ञिनौ गृहीताऽनुव्रतदर्शनश्रावकाः। भोजिको ग्रामस्वामी। महत्तरा ग्रामप्रधानाः पुरुषाः। नापिता नखशोधका वारिका इत्यर्थः। एतेषामनुज्ञापना कर्त्तव्या। यथा–वयमत्र वर्षारात्रं कर्तुकामास्तद्यद्यन्ये क्वचित्साधव आगच्छेयुस्तदा तेषामेतत् यूयं कथयतेति (दुगाउयाइं वेत्यादि) तत्र ग्रामे संज्ञी श्रावको न विद्यते। तदा द्वे गव्यूती गत्वा प्रतिवृषभे अन्तरपल्ल्यां वा गत्वा। यदि श्रावकोऽस्ति ततस्तस्य निवेदना कर्त्तव्या यथाऽस्माकमिदं रुचितं क्षेत्रमेतत् ज्ञातव्यम्। नाऽन्येषां कुरुष्वेति।

जयणाए समणाणं, अणुण्ण वि ता वसंति खेत्तवहिं।
वासावासट्ठाणं, आसाढे सुद्धदसमीए ॥

यतनया सारूपिकादिकं सन्तमनुज्ञाप्य क्षेत्रस्य बहिर्वसन्ति। वर्षावासस्थानं पुनराषाढशुद्धदशम्याम्।

सम्प्रति ''जयणाए'' इत्यस्य व्याख्यानमाह–

सारूवियादिजयणा, अन्नेसिं वा वि साहए।
वाहिं वा वि, ठिता वा सापायोग्गं ता वि गेण्हए ॥

सारूपिकादीनामनयेषां वा यत्साधयति एषा यतना। इयं च प्रागेवोक्ता। अथवा–पूर्वगाथाप्रथमार्द्धस्यैवं व्याख्या–सन्तं सारूपिकादिकमनुज्ञाप्य क्षेत्रस्य बहिर्यतनया वसन्ति। तत्र तामेव यतनामाह–बहिर्वाऽपि स्थितास्तत्र वर्षाप्रायोग्यमुपधिं गृह्णन्ति। उत्पादयन्ति। तं चैवं सङ्घाटकाः सर्वासु दिक्षु प्रत्यासन्नं प्रेक्षन्ते। एकैकश्च सङ्घाट आत्मनः परिपूर्णमुपधिमुत्पादयति। एकस्य च जनस्याधिकस्येति।

एतदेवाह–

दोण्हं जतो एगस्सा, निप्पज्जइ तत्तियं वहिट्ठा उ।
दुगुणस्साणुवासवहिं, संथरे पल्लिं च वज्जंति ॥

द्वयोरुपधिर्यस्मादेकस्मादन्यस्य निष्पद्यते। उपधिरात्मनश्च सङ्घाटस्य तदपेक्षया द्विगुणस्तावन्मात्रमुपधिं वर्षायोग्यं सर्वासु दिक्षु वहिः स्थिताउत्पादयन्ति। यदि पुनः संस्तरन्ति तदा बहिः प्रति वृषभग्रामान् अन्तरपल्लीं च वर्जयन्ति। न तत्र गच्छन्ति।

उच्चारमत्तगादी, छाराऽऽदी चेव वासपाउग्गं।
संथारफलगसेज्जा, तत्थ वि ये चेव ऽणुण्णवणे ॥

तथा तत्र बहिः स्थिता एव उच्चारमात्रकादि आदिशब्दात्प्रश्रवणक्षेत्र-मात्रकपरिग्रहः। तथा क्षारादि आदिशब्दात् डगगादिपरिग्रहः। वर्षाप्रायोग्यं तथा संस्तरकफलकशय्या अनुज्ञापयन्ति। अथ कस्मात्सर्वेषां सारूपिकादीनामनुज्ञापना क्रियते। उच्यते–एकस्य कथिते कदाचित्सोऽसद्भूतः स्यात् ततोऽनुज्ञापितमेव जायते। सर्वेषां पुनः कथिते यदि केचिदसद्भूतीभवन्ति तदा ये शेषाः सन्तस्ते अन्येषां साधूनामागतानां कथयन्ति। चैवं वहिस्तिष्ठन्ति। प्रतिवृषभे अन्तरपल्ल्यां च तत्र ये न भोक्ष्यन्ते।

तथा चाह–

पुन्नो य तेसिं तहि मासकप्पो,
अण्णं व दूरे खलु वासजोग्गं।
ठायंति तो अंतरपल्लियाए,
जं एस्स कालेन य भुज्जिहत्ती ॥

पूर्णः खलु तेषां तत्र वर्षाप्रायोग्यतया संभाविते क्षेत्रे। अथवा–आषाढशुद्धदशमी अद्यापि दूरे। अन्यच्चवर्षाकालयोग्यं क्षेत्रं दूरे ततः आषाढशुद्धदशमीप्रतीक्षणार्थं यामेष्यत्कालेन भोक्ष्यन्ते तस्यामनन्त-रपल्यामुपलक्षणमेतत् प्रतिवृषभे वा ग्रामे तिष्ठन्ति।

अत्र आषाढशुद्धदशम्यां वर्षायोग्ये क्षेत्रे समागच्छति–

संविग्गबहुलकाले, एसा मेरा पुरा य आसीय।
इयरबहुले उ संपइ, पविसंति अणागयं चेव ॥

एषा मर्यादा पुनरसंविग्नबहुले काले आसीत्। संप्रति इतरबहुले पार्श्वस्थादिबहुले अनागतमेव प्रविशन्ति।

किं कारणम्? अत आह–

पेहिए न हु अन्नेहिं, पविसंता य पट्ठिया।
इयरे कालमासज्ज, पल्लेज्जा परिवज्जिया ॥

अन्यैः प्रेक्षिते क्षेत्रे ननु नैवायतार्थिनो मोक्षार्थिनः प्रविशन्ति। इतरे तु पार्श्वस्थादयः कालमासाद्य परिवर्जिताः पूर्वप्रत्युपेक्षितक्षेत्रानपि प्रेरयेयुस्ततोऽनागतमेव प्रविशन्ति।

तत्रार्थे कल्पितमुदाहरणमाह–

रुण्णं तगराहारे, वएहि कुसुमस्सुयं मुयंतेहिं।
उज्झाणपडिवत्तीहिं, वव्वूलाहि वयं तिहिं ॥

तगराहारे आम्रकास्तैराम्रोद्यानप्रतिपन्नैर्बब्बूलैर्वृत्तिकरणायावस्था-प्यमानैर्गाथायां स्त्रीत्वं प्राकृतत्वात्, वयमाच्छादिता इति हेतोः कुसुमाश्रुभिर्मुच्यमानैरुदितम्। इयमत्र भावनातगराहारे पूर्वं बहव आम्रका आसीरन्, स्तोका वा बब्बूलास्ततो लोकेन बब्बूलान् छित्वा तैराम्रोद्यानस्य वृत्तिः कृताऽत्र बब्बूलफलपतनतो बब्बूला जातास्तैः परिवर्द्धमानैः शालिं सस्यमेव तृणैः आम्रा विनाशिताः। तत उत्प्रेक्षितमाम्रोद्यानप्रतिपन्नैर्बब्बूलैर्वृत्तिकरणाय स्थाप्यमानैः। वयमाच्छादिता नूनमेतैरिति कुसुमाऽश्रुमोक्षणेनाऽऽम्रैरुदितमिति।

अत्रोपनयमाह–

एवं पासत्थमादीओ, कालेण परिवद्धिया।
पेलेज्जा माइठाणेहिं, सोचादी ते इमे पुण ॥

एवमाम्रस्थानीयान् साधून् बब्बूलस्थानीयाः पार्श्वस्थादयः कालेन परिवार्द्धिताः असंयतो मातृस्थानैः प्रेरयन्ति। किं विशिष्टास्ते पार्श्वस्थादय? इति आह–श्रुत्वादयस्ते पुनरित्थमेव वक्ष्यमाणाः।

तानेवाऽऽह–

सोचाऽऽउट्टी अणापुच्छा, मायापुच्छा जहट्ठिते।
अजयट्ठिएँ भंडंते, ततिए समणुण्णया दोण्हं ॥

एके–श्रुत्वा उपेत्य, समागताः। अपरे–अनापृच्छाः, समाययुः। अथवा–मायापृच्छाः। एते द्वयेऽप्ययतस्थिताः। तृतीयाः यत-स्थिताः। तत्राऽऽद्यानां द्वयानां भण्डमानानां कलहयतां गाथायां सप्तमी

षष्ठ्यर्थे, बहुवचने एकवचनं प्राकृतत्वात् न किंचिदाभाव्यम् । तृतीये यतस्थिते समानाज्ञता । साधारणं क्षेत्रम् । एष द्वारगाथासमासार्थः ।

सांप्रतमेनामेव विवरीषुः प्रथमतः ''सोच्चा उट्ठीति'' पदं व्याख्यानयति–

गुरुणो सुंदरं खेत्तं, साहणं सोच्च पाहुणो ।
नएज्ज अप्पणो गच्छं, एस आउट्टिया ठितो ॥

गुरोराचार्यस्यात्मीयस्य क्षेत्रं पुत्त्यपेक्ष्यं, समागतैः सुन्दरं क्षेत्रमिति कथ्यमानं श्रुत्वा, प्राघूर्णकः आत्मनो गच्छं तत्र नयति । एष 'श्रुत्वा उपेत्य स्थित' उच्यते ।

सांप्रतमनापृच्छां मायापृच्छां च दर्शयति–

पेहितमपेहितं वा, ठायइ अण्णो अपुच्छिया खेत्तं ।
गोवालवच्छवाले, पुच्छइ अण्णो उ दुप्पुच्छी ॥

प्रेक्षितमिदं क्षेत्रम् । अन्यैः । अप्रेक्षितं च इति । अन्योऽनापृच्छ्य तिष्ठति । अन्यः पुनः दुःपुच्छी यो न किमपि जानते । तान् गोपालवत्सपालान् पृच्छति । अन्यैरिदं क्षेत्रं प्रत्युपेक्षितं किं वा न ? इति ।

अविहिट्ठिया उ दो वे, ते तत्तिओ पुच्छियं विहीऐं ठितो ।
सारूवियमादि काऊं, वेतण्णेहिं न पे हियं ॥
तं तु वीसरियं तेसिं पउत्था वा वि ते भवे ।
खेत्तिओ य तहिं पत्तो, तत्थिमा होइ मग्गणा ॥

तावनन्तरोदितौ द्वावपि । श्रुत्वोपेत्य स्थितौ अनापृच्छया मायापृच्छयाऽवस्थित इत्येवं लक्षणविधिस्थितौ । तृतीयः पुनः सारूपिकमादि कृत्वा सूत्रोक्तेन विधिना पृष्ट्वा स्थितः यतस्तेषां सारूपिकादीनां यत्पूर्वैरनुज्ञापितम् । तत् विस्मृतम् । अथ वा–ये अनुज्ञापितास्ते प्रोषिता अभवन् । अन्ये चस्वरूपं न जानते । ततस्ते कुर्वते । अन्यैर्न प्रेक्षितमिदं क्षेत्रमिति येन पूर्वं सङ्घाटकं प्रेषणेन क्षेत्रं प्रत्युपेक्षितं स क्षेत्रिकस्तत्र प्राप्तस्तत्रेयं वक्षमाणा भवति मार्गणा ।

तामेवाह–

आउट्टियाठितो जे उ, तस्स नामं पि नेछिमो ।
अणापुच्छिय–दुप्पुच्छी, भंडंते खेत्तकारणा ॥

तत्र या उपेत्य स्थितस्य नामाऽपि नेच्छामः सर्वथा सर्वज्ञाऽऽज्ञाप्रतिकूलतया दुर्गृहीतनामधेयत्वात् । यस्त्वनापृच्छी दुःपृच्छी वा तौ द्वावपि क्षेत्रकारणेन भण्डाते कलहं कुरुतः ।

अहवा दो वि भंडंते, जयणापट्ठिएण ते ।
खेत्तिओ दो वि जेऊण, भत्तं देइ न नुग्गहं ॥

अथवा–द्वावपि तौ यतनाप्रस्थितेन सह भण्डाते । ततः अवहारे जाते क्षेत्रिकः सूत्रोक्तेन विधिना तौ जित्या तयोर्भक्तं ददाति । अनुजानाति तत्ववग्रहं सचित्तमुपधिं वा नानुजानातीति भावः ।

तइयाणं सयं सोच्चा, सड्ढादीए व पुच्छियं ।
होइ साहारणं खेत्तं, दिट्ठं तो खमण्ण उ ॥

तृतीयानां यतनां स्थितानां तद्वचनतः क्षेत्रिकः स्वयं श्रुत्वा, श्राद्धादीन्वा पृष्ट्वा, ज्ञातं स्वरूपम्, यथा पृष्ट्वा विधिनैते स्थिताः । इयमत्र भावना–क्षेत्रिकेण यतनास्थिता अपि पृष्टाः । किं भवन्तोऽत्र स्थिताः ? तेऽवादिषुःवयमत्र पृष्टाः स्थिताः । परं न केनापि कथितं यथाऽन्यैरनुज्ञाप्तिमिदं क्षेत्रमिति । ततस्तेन क्षेत्रिकेण श्राद्धदयः पृष्टाः । तेऽप्यूचुःयत् पुनर्युष्माभिरनुज्ञापितं तदस्माकं विस्मृतम् । यदि वा–वयं प्रोषिता अभूमयथै तैरनुज्ञापितास्तैरप्यस्माकं कथितं तथैतैर्वयमनुज्ञापिता इति एवं तेषां यथास्थिते स्वरूपे ज्ञाते साधारणमुभयेषां भवति क्षेत्रम् । विधिना पृच्छातो यतनास्थितानामपि शुद्धत्वात् । अत्र दृष्टान्तः क्षपकेण पिण्डनिर्युक्तिप्रसिद्धेन यथा स क्षपको विधिना शुद्धं गवेषयन् आधाकर्मण्यपि शुद्धः। तथा इमे यतना स्थिता अपि शुद्धाः ।

एतदेवाह–

सुद्धं गवेसमाणो, पायसखमतो जहा भवे सुद्धो ।
तह पुच्छिय ठायंता, सुद्धा उ भवे असढभावा ॥

यथा पायसस्य क्षीरान्नस्य प्रतिग्राहकः शुद्धं गवेषयेत् । आधाकर्मण्यपि पयांसि गृह्यमाणो शुद्धः तथा विधिना पृष्टाः तिष्ठन्तोऽशठभावाः शुद्धा भवन्ति ।

अत्रैव प्रकारान्तरमाह–

अतिसंथरणे तेसिं, उपसंपन्ना उ खेत्ततो इयरे ।
अविहिट्ठिया उ दो वी, अहव इमा मग्गणा अन्ना ॥

अतिसंस्तरणातिक्रमेण तेषां क्षेत्रिकाणामितरे यतनास्थायिनः क्षेत्रत उपसंपन्ना द्वौ पुनः प्रागुक्ताविधिस्थितौ तेषाम् । अथ वा इयमन्या मार्गणा ।

तामेवाह–

पेहेऊणं खेत्तं, एहाणादिगं तु ओसारणं ।
पुच्छंताण कहेंती, अमुगत्थ वयं तु गच्छामो ॥

केचित्साधावो वर्षाप्रायोग्यं क्षेत्रं प्रत्युपेक्ष्याऽनुज्ञाप्य वेदं चिन्तयन्ति । यथा–अत्र प्रत्यासन्नेषु स्थानेषु समन्ततो बहवो गच्छाः क्षेत्राणि च वर्षाप्रायोग्याणि । तत्र प्रचुराणि । न सन्ति समासन्नश्च वर्षाकालः ततो मा केचिदज्ञानतोऽत्र तिष्ठेयुरिति स्नानादिसमवसरणे सर्वेऽपि मिलिता भविष्यन्तीति, तत्र गत्वा सर्वेषां विदितं कुर्म्मः । एवं चिन्तयित्वा तदनन्तरं स्नानादिसमवसरणं गत्वा । तेषां पृच्छतां कथयन्ति । अमुकत्र वयं वर्षाकरणाय गच्छाम इति ।

घोसणं सोच्च सन्निस्स पिच्छणा पुव्वमतिगए पुच्छा ।
पुव्वठिते परिणते, पच्छ भणंते न से इच्छा ॥

प्रागुक्तां घोषणां श्रुत्वा कोऽपि धर्मकथालब्धिसंपन्नः 'धर्मश्रद्धिकास्तत्र श्रावका भूयांसः तिष्ठन्तीति, परिभाव्य निर्मर्यादस्तत्र पूर्वतरं गतो गत्वा च संज्ञिनः संज्ञिवर्गस्य प्रेक्षणा संस्तवधर्मकथादिभिरात्मीकरणम् । ततः पश्चादागताः क्षेत्रिकास्तैः स पुष्टो युष्माकमग्रे कथितं ततः कस्मादिह त्वमागतः ? स तूष्णीक आसीत् । ततः क्षेत्रिकैरुक्तं गच्छत यूयं संप्रत्यपि श्रावकवर्गश्च तस्मिन्पूर्वस्थिते परिणत आसीत् । ततः पश्चाद् ब्रूते–मा निर्गच्छन्तु, वयं द्वयोरपि वर्तिष्यामहे । अत्र यत् क्षेत्रिकाणामाभवति (से) तस्य न निर्मर्यादा तस्य वा इच्छा भवति ।

साम्प्रतमिमामेव गाथां व्याचिख्यासुः प्रथमतो घोषणां संभवायति–

बाहुल्ला संजयाणं तो, उवग्गेया वि पाउसो ।
ठियामो अमुगे खेत्तं, घोसण ऽण्णोऽण्णसाहणं ॥

संयतानां समंततः प्रत्यासन्नेषु बाहुल्यात् उपाग्रश्चाऽतिप्रत्यासन्नश्च प्रावृट्काले अपिशब्दादन्यानि च वर्षाप्रायोग्याणि क्षेत्राणि प्रचुराणि न सन्ति ततो मा अन्ये प्रविशन्त्विति, स्नानादिसमव–

सरणे घोषदिकमन्योऽन्यकथनं कृतवन्तो वयं त्वमुकक्षेत्रे स्थिताः स्म इति।

घोषणस्यैव प्रकारान्तरमाह–

विभिज्जंते व ते पत्ता, ण्हाणादीसु समागमो।
पहुप्पत्ते य नो कालो, सल्लो घोषणयं ततो॥

साधूनां स्नानादिषु समागमो यो यत आगतः स तत्र प्रस्थितस्ते च विवक्षिताः क्षेत्रमनुज्ञाप्य, तत्र प्राप्तास्तत्र यदेकैकगच्छस्य समीपे गत्वा क्रमेण कथ्यते। तदा कालो न प्राप्यते। उत्सूत्रस्य भवनात्। ततो ये संयममवाप्य चैत्याद्वा संप्रस्थितास्तान् आसन्नान् कृत्वा मेलापके मेलयित्वा महता शब्दं घोषणकं कुर्वते। यथा शृणुत साधवः। अस्माभिरमुकं क्षेत्रं वर्षानिमित्तमनुज्ञापितामिति।

''सोच्चा सन्निस्से'' त्यादिव्याख्यानार्थमाह–

दाणादीसङ्कलियं, सोऊणं तत्थ कोइ गच्छेज्जा।
रमणिज्जं खेत्तं ति य, धम्मकहालद्धिसंपन्नो॥

तद्घोषणं श्रुत्वा कोऽपि धर्मकथालब्धिसंपन्नो दानादिप्रधानश्राद्धकलितं तत् रमणीयं क्षेत्रमिति कृत्वा तत्र गच्छेत्।

संथवकहाहि आउ–ट्टिऊण अत्तीकरेहि ते सद्धे।
ते वि य तेसु परिणया, इयरे वि तहिं अणुप्पत्ती॥

संस्तवेन धर्मकथाभिश्च तान् श्राद्धान् आवर्त्य आवर्ज्य आत्मीकरोति। तेऽपि च श्राद्धास्तेषु परिणता इतरेऽपि च क्षेत्रिकास्तत्राऽनु पश्चात्प्राप्ताः।

नीह त्ति तेण भणिते, सड्ढे पुच्छंति ते वि य भणंति।
अच्छह भंते ! दोण्ह वि, न तेसि इच्छाएँ सचित्तं॥

तैः क्षेत्रिकैर्निर्गच्छतेति भणिते, ते पूर्वगताः श्राद्धान् पृच्छन्ति। यामो वयम्। निष्काश्यमानास्तिष्ठामः। तेऽपि च श्राद्धाः क्षेत्रिकान् समागत्य भणन्ति–असीध्वं भदन्ताः ! यूयं द्वयेऽपि यतो द्वयोरपि वयं वर्तिष्यामहे। तत्र तेषां पूर्वगतानामिच्छया सचित्तमुपलक्षणमेतदुपधिश्च न भवति। किं तु क्षेत्रिकाणामेवेति।

असंथरे अनिंतणे, कुलगणसंघे य होइ ववहारो।
केवइयं पुण खेत्तं, होइ पमाणेण बोधव्वं॥

असंस्तरे अन्यत्र असंस्तरणे पुनरनिर्गच्छन्तां कुले गणे सङ्घे च भवति। प्रमाणेन बोद्धव्यम्।

तत्राऽऽह–

एत्थ सकोसमकोसं, मूलनिबद्धं गाममुयंताणं।
सचिते अचित्ते, मीसे य विदिन्नकालम्मि॥

अत्र क्षेत्रमार्गणायां यत् क्षेत्रं मासयोग्यं, वर्षाप्रायोग्यं वा। तत् सक्रोशम्, अक्रोशं च। तत्र यत् सक्रोशम्–तत्पूर्वासु दिक्षु प्रत्येकं सगव्यूतमूर्ध्वमधश्चाऽर्द्धक्रोशम् अर्द्धयोजनेन च समन्ततो यस्य ग्रामाः सन्ति। अक्रोशं नामयस्य मूलनिबन्धात्परतः षण्णां दिशामन्यतरस्यामेकस्यां द्वयोस्तिसृषु वा दिक्षु अटवीजलश्वापदास्तेन पर्वतनदीव्याघातेन गमनं भिक्षाचर्या च न संभवति तत् मूलनिबद्धमात्रमक्रोशम्। तं ग्राममुच्चतां किमुक्तं भवति–तस्मिन् सक्रोशे अक्रोशे वा क्षेत्रे स्थितानामृतुबद्धे काले निष्कारणमेकैकां मासकल्पो वितीर्णोऽनुज्ञातः, कारणेन पूनर्भूयानपि कालो वर्षासु निष्कारणं चत्वारो मासाः कालो वितीर्णः। कारणेन पुनरपि प्रभूतोऽपि एवं वितीर्णे काले सचित्ते अचित्ते मिश्रे च विग्रहो भवति। नाऽवितीर्णे काले तेषामसंस्तरणे अनिर्गच्छतां तत्साधारणं भवति क्षेत्रम्।

तत्र चाऽऽयं क्षेत्रव्यवहारः–

अच्छिहु वसहगामा, कुदेसनगरोवमा सुहविहारा।
बहुगच्छवग्गहकरा, सीमाछेएण वसियव्वं॥

विवक्षितस्य स्थानस्य समन्ततः सन्ति वृषभग्रामाः। किंविशिष्टा ? इति आह–कुदेशे नगरोपमा बहुगच्छोपग्रहकारिणस्तेषु सीमाच्छेदेन वस्तव्यम्। तत्र वृषभक्षेत्रं द्विविधम्। ऋतुबद्धे वर्षाकाले वा। एकैकं त्रिविधम्। तद्यथा–जघन्यं, मध्यम् उत्कृष्टं च।

तत्र ऋतुबद्धे जघन्यमाह–

जहियं व तिन्नि गच्छा, पण्णरसुभया जणा परिवसंति।
एयं वसभा खेत्तं, तव्विवरीयं भवे इयरं॥

उभौ जनौ। आचार्यो, गणाऽवच्छेदकश्च। तत्राऽऽचार्य आत्मद्वितीयः, गणाऽवच्छेदी आत्मतृतीयः। सर्वसंख्यया पञ्च परिवसन्ति। एतत् जघन्यम्, ऋतुबद्धे काले वृषभक्षेत्रम्। तद्विपरीतं यत्र तादृशाः पञ्च जना न संस्तरन्ति तत् भवति इतरत्, न वृषभक्षेत्रम्। यत्र द्वात्रिंशत् साधुसहस्राणि संस्तरन्ति। यथा–ऋषभस्वामिकाले ऋषभसेनगणधरस्य। जघन्योत्कृष्टयोर्मध्ये मध्यमं वर्षाकले यत्राऽऽचार्यः आत्मतृतीयः। गणऽऽवच्छेदी त्वात्मचतुर्थः। सर्वसंख्यया सप्त। एवं प्रमाणा यत्र त्रयो गच्छाः संस्तरन्ति। एतत् जघन्यं वर्षाकालप्रायोग्यं वृषभक्षेत्रम्। उत्कृष्टं, मध्यमं च। यथा–ऋतुबद्धे काले ईदृशेषु बहुगच्छोपग्रहकरेषु वृषभग्रामेषु सत्सु। यदि वा–एतेष्वेव साधारणेषु क्षेत्रेषु न परस्परं भण्डनं कर्तव्यम्। सचित्ताऽऽदिनिमित्तं किंतु–सीमाच्छेदेन वस्तव्यम्।

तमेव सीमाच्छेदमाह–

तुज्झं तो मम वाहिं, तुज्झ सचित्तं ममेतरं वा वि।
आगंतुग–वच्छव्वा, थी–पुरिस–कुलेसु व विरेगो॥

परस्परं वर्गेऽन्तर्गो व्यवहार एवं कर्तव्यः। मूलग्रामस्याऽन्तर्मध्ये यत् सचित्ताऽऽदि, तत् युष्माकम्। अस्माकंतु बहिः प्रतिवृषभाऽऽदिषु। अथ वायुष्माकमितरत्, अचित्तम्। यदि वायुष्माकमागन्तुकाः, अस्माकं वास्तव्याः। युष्माकं स्त्रियः, अस्माकं पुरुषाः। यदि वा एतेषु कुलेषु यो लाभः स युष्माकम्। एतेषु तु कुलेष्वस्माकमिति।

एवं सीमच्छेदं, करें ति साहारणम्मि खेत्तम्मि।
पुव्वं ठितेसु जे पुण, पुच्छा एज्जाहि अण्णे उ॥

अन्ये तु एवमुक्तेन प्रकारेण साधारणे क्षेत्रे सीमाच्छेदं कुर्वन्ति। ये पुनरन्ये तत्र पूर्वस्थितेष्वन्येषां क्षेत्राणां न समागच्छन्ति।

खेत्ते उवसंपन्ना, ते सव्वे नियमाउ बोद्धव्वा।
आभव तत्था तेसिं, सचित्ताऽऽदीण किं भवइ॥

ते सर्वे नियमेन क्षेत्रतः उपसंपन्ना ज्ञातव्याः। अथ०तत्र क्षेत्रे तेषां तथास्थितानां सचित्तादीनां मध्ये किमाभाव्यं भवति ? किं वा नेति?

तत्राऽऽह–

नाल पुर पच्छ संथुय, मित्ताइ व वंसया सचित्ते य।
आहारमेत्तगतिगं, संथरग–वसहि–अचित्ते॥

उग्गहम्मि परे एयं, लभते उ अखत्तितो ।
वत्थगादी वि दिन्नं तु, कारणम्मिव सो लभे ॥

नालबद्धाः पूर्वं संस्तुताः, पश्चात्संस्तुतानि मित्राणि, वयस्याश्च । एतत्सचित्ते परे परकीये अवग्रहे अक्षेत्रिको लभते । अचित्ते आहारम् अशनाऽऽदिकम्, प्रश्रवणमात्रकं, लेखमात्रकं च संस्तरकं परिशाटिरूपम-भावेऽपरिसाटिरूपं वा वसतिं च वस्त्राऽऽदिकं पुनर्दत्तं लभते । कारणे अतिस्तरणाऽऽदिलक्षणे पुनरदत्तमपि लभते । तदेवं गतं क्षेत्रद्वारम् । व्य० १० उ० ।

एकक्षेत्रे उपसंपद्यमानानां कस्य क्षेत्रमाभवति सम्प्रति
''साहरणपत्तेगे'' इत्यादि व्याख्यानयति–

दोमादि ठिया साहर–णम्मि सुतत्थकारणा एक्के ।
जति तं उवसंपज्जे, पुव्वठिया दी य सेकंतं ॥

द्व्यादयो द्विप्रभृतयो गच्छाः समाप्तकल्पाः । समकमेकस्मिन् क्षेत्रे स्थितास्तेषां तत् क्षेत्रम् आभाव्यतया साधारणम् । तस्मिन् साधारणे क्षेत्रे स्थिताः सन्तो यदि तमेके गच्छमन्ये सूत्रार्थ कारणादुपसंपद्यन्ते । अथवा–ये पूर्वं समाप्तकल्पतया स्थितास्तेषाम् आभवति तत् क्षेत्रम् । न पश्चादागतानां समाप्तकल्पानामपि । परं ते पूर्वस्थिता अपि यदि पश्चादागतं गच्छं सूत्रार्थकारणादुपसंपद्यन्ते । तर्हि यस्य समीपमुपसंपद्यन्ते तस्य तत्क्षेत्रं संक्रान्तं तस्य तदाभवति । नान्येषामिति भावः । ते हि तस्य प्रतीच्छकीभूतास्तेन तेषां क्षेत्रमितरस्य संक्रामतीति । अथ नोपसंपद्यन्ते । किं तु सूत्रमर्थं वा पृच्छन्ति ।

तत्राऽऽह–

पुच्छाहि तीहि दिवसं, सत्तहिँ पुच्छाहिँ मासियं हरति ।
अक्खेत्तुवस्सए पु–च्छमाणे दूराऽऽवलियमासो ॥

तिसृभिः पृच्छाभिः कृताभिः पृच्छ्यमानः परिपूर्णं दिवसं यावत् तत्क्षेत्रगतं सचित्तादि हरति गृह्णाति । त्रिपृच्छादानततस्य क्षेत्रस्यैकं दिवसं यावत्तदाभवनात् । सप्तभिः पृच्छाभिर्मासिकं हरति । किमुक्तं भवति–सप्तपृच्छासु कृतासु पृच्छ्यमानः परिपूर्णमासं यावत्तत्क्षेत्रगतं सचित्तादि लभते मासं यावत्तस्य क्षेत्रस्य तदाभवनादिति । (अक्खेत्तुवस्सए इति) अक्षेत्रे स्थितानामुपाश्रये विशेषा मार्गणा कर्त्तव्या । सा चाऽऽग्रे करिष्यते । तथा–यदि पृच्छ्यमानः आत्मीयमुपाश्रयं दूरम्, उपलक्षणमेतत् आसन्नं वा । आवलिकाप्रविष्टम् उपलक्षणमेतत् मण्डलिकाप्रविष्टं वा, पुष्पाऽऽवकीर्णं वा कथयति । तदा तस्मिन् प्रायश्चित्तं मासो लघुकः, तं च पृच्छन्तं लभन्ते । एष संक्षेपाऽर्थो व्यासाऽर्थोऽग्रे कथयिष्यते । अक्षेत्रे उपाश्रयस्य मार्गणा कर्त्तव्येत्युक्तम् ।

तत्र तावदक्षेत्रमाह–

ण्हाण ऽणुजाणं अद्धाण, सीसए कुलगणे चउक्के य ।
गामादिवाणमंतर–हेय उज्जाणमादीसुं ।
इंदकीलमणोग्गाहो, जत्थ राया जेहिं व पंच इमे ।
अमच्चपुरोहियसेट्ठी–सेणावतिसत्थवाहा य ॥

स्नानमर्हतः प्रतिमानां तन्निमित्तमेकत्र मिलितानामनुयानं रथयात्रा तन्निमित्तं मिलितानाम् । अथवा–अर्द्धशीर्षकं यतः परं समुदायेन सार्थेन सह गन्तव्यं सम्यग् मार्गवहनात् । तत्र मिलितानां (कुल त्ति) कुलसमवायमिलितानाम् (गण त्ति) गणमसवायमिलितानां चतुष्कं सङ्घः तत्समवायमिलितानाम् (गामाइ) इत्यादि । गाममहे वा, आदिशब्दान्न-गराऽऽदिमहे वा, उद्यानमहे वा, आदिशब्दात्तमागाऽऽदिमहेषु वा । इन्द्रकीलकमहे वा यत्र च सकलजनमनोग्राहो राजा यत्र वा इमे अमात्य–पुरोहितश्रेष्ठिसेनापतिसार्थवाहाः पञ्च गता वर्त्तन्ते । तत्र कथमपि गताः समकं स्थिताः तर्हि साधारणा वसतिः । अथ विषमं स्थितास्तर्हि ये पूर्वं स्थितास्तेषां वसतिः आभवति । नेतरेषां पश्चादागतानाम् । तस्यां च वसतौ यः शिष्यतया उपतिष्ठति तं वसतिस्वामिनो लभन्ते नेतरे ।

''पुच्छमाणे दूराऽऽवलियमासो'' इत्यस्य व्याख्यानार्थमाह–

पुप्फाऽवकिण्णमंडलि–याऽऽवलिय उवस्सया भवे तिविहा ।
जा अब्भासे तस्स उ, दूरे कहंतो न लभे मासो ॥

क्वचित् ग्रामे नगरे वा साधवः पृथक् उपाश्रये स्थिताः । ते चोपाश्रया स्त्रिविधा भवेयुः । तद्यथा–पुष्पाऽवकीर्णकाः, मण्डलिकाबद्धाः, अवलिकास्थिता वा । स्थापना एतेषामुपाश्रयाणां मध्ये कुतश्चिदेकत-रस्मादुपाश्रयाद्विचारादिनिमित्तं कोऽपि विनिर्गतस्तं दृष्ट्वा कोऽपि प्रविव्रजिषुः पृच्छेत् । यथाकुत्र साधूनां वसतिरिति । स ब्रूते–किं कारणं त्वं पृच्छसि ? शिष्यः प्राह–प्रव्रजिष्यमीति । तत्र यदि स एवं पृष्टः सन् (दूरे कहंतो न लभे मासो इति) आत्मीयमुपाश्रयं दूरम्, आसन्नं वा कथयति । तर्हि तस्य प्रायश्चित्तं लघुको मासः । न च तं शिष्यं लभते । कस्य पुनः स आभवतीति चेत् ? तत आह–योऽभ्यासे तस्य किमुक्तं भवति–तस्मादवकाशात् यस्य प्रत्यासन्नतर उपाश्रयस्तस्य आभवति ।

किह पुण साहेयव्वा, उद्दिसियव्वा जहक्कमं सव्वे ।
अह पुच्छइ संविग्गे, तत्थ व सव्वे व अद्धा वा ॥

कथं पुनः कथयितव्या उपाश्रयाः ? सूरिराह–उद्देष्टव्याः यथाक्रमं सर्वे । यथा–अमुकस्याऽमुकप्रदेशे । एवं कथिते यत्र व्रजति तस्य य आभवति । अथ पृच्छति संविग्नान् बहुश्रुततरान् तपस्वितरांश्चेत्यर्थः । तत्र यथाभावमाख्यातव्यम् । वितथाऽऽख्याने मासलघुः । न च स तं लभते । किं–तु ये तपस्वितरा बहुश्रुततराश्च तेषां स आभवति । अथ सर्वे अर्द्धा वा संविग्नास्ततस्तथैवाऽऽख्याने यत्र स व्रजति तस्य य आभवति । न शेषस्येति ।

एतदेव सविशेषमाह–

मुत्तूण असंविग्गे, जे जहियं ते य साहती सव्वे ।
सिट्ठम्मि जेसि पासं, गच्छति तेसिं न अन्नेसिं ॥

इह ये पार्श्वस्थाऽऽदयोऽसंविग्नास्ते यदि पृच्छ्यन्ते तदा ते न कथनीयास्तेन मुक्त्वा शेषेषु पृष्टेषु ये यत्र विद्यन्ते तान् तत्र सर्वान् कथयति । शिष्टे च कथिते सति, येषां पार्श्वं गच्छति तेषामाभवति । नाऽन्येषाम् ।

नीयल्लगाण व भया, हिरिवत्ति असंजमाऽहिगारे वा ।
एमेव देसरज्जे, गामेसु व पुव्वकहणं तु ॥

इह कोऽपि तस्मिन् ग्रामे नगरे देशे राज्ये वा न प्रव्रजति । किं

कारणमिति चेत ? उच्यते–निजकानां स्वज्ञातीयानां भयात् । मा निजका उत्प्रव्राजयेयुः प्रव्रजन्तं वा मा रुन्ध्युरिति । यदि वा–तेषां निजकानां समक्षं लज्जते । ततो हीनो वा । अथवा–असंयमाऽधिकारः असंयमाधिकरणं तत् ग्रामादि अप्कायादिप्रचुरत्वात् । ततोऽन्यत् ग्रामादिकं गन्तुमनास्तथैव विचारादिगतं पृच्छेत् । यथा–कस्मिन् ग्रामि नगरे देशे राज्ये वा साधवः ? एवमन्यस्मिन् राज्ये ग्रामेषु वा पृच्छायामेवं पूर्वोक्तेनैव प्रकारेण यथाभाव कथनं कर्त्तव्यम् । किमुक्तं भवति–यथा–त्रिविधेषूपाश्रयेषु आसन्नदूरतपस्विबहुश्रुतानां पृच्छायां व्याकरणमनाभाव्य, आभाव्य च वर्णितम् तथाऽत्राऽपि द्रष्टव्यम् । तद्यथा–यत् यथा कथनीयं वितथाऽऽख्याते तस्यं प्रायश्चित्तं मासलघु । तत्र च गतस्तेषां समीपमुपगच्छति । स तेषामाभवति । नान्येषामिति।

अहवा वि अण्णदेसं, संपट्ठियगं तगं मुणेऊण ।
मायानियडिपहाणो, विप्परिणामो इमेहिं तु ॥

अथवेति प्रकारान्तरे तच्च प्रकारान्तरं विपरिणामविषयं वक्ष्यमाणरीत्या द्रष्टव्यम् । विचाराऽऽदिविनिर्गतं साधुं दृष्ट्वा कोऽपि परण आदरेण वन्दते । तं च तथा वन्दमानं पृच्छति । कुतस्त्वं ? कुत्र वा संप्रस्थित इति ? स प्राऽऽह–अमुकं देशं संस्थितः तत्र गत्वा प्रव्रजिष्यामि । तत एनमन्यदेशं संप्रस्थितं तं ज्ञात्वा । मायी परवञ्चनाऽऽभिप्रायी निकृतिराकारवचनाऽऽच्छादनं यथाकूटाऽऽख्यातृत्वेन नड्क्ष्यते मायानिकृती प्रधाने यस्य स तथा । एभिर्वक्ष्यमाणैश्चैत्याऽऽदिभिर्विपरिणामयति ।

तान्येव विपरिणामिस्थानानि चैत्याऽऽदीनि दर्शयति–

चेइय साहू वसही, वेज्जा व न संति तम्मि देसम्मि ।
पडिणीय–सण्णि–साण्णो, वियारखेत्ता अहिगमग्गो ॥

यत्र त्वया गन्तव्यं तस्मिन् देशे चैत्यानि, यदि वा–साधवः, अथ वा–संवसतयः, यद्वा–वैद्या न सन्ति । तथा–बहवस्तत्र प्रत्यनीकाः । न च दानाऽऽदिनप्रधानानि संज्ञिकुलानि । श्वानः प्रभूताः, न च तत्र विचारभूमिः, सर्वत्र पानीयाऽऽकुलत्वात् । नाऽपि तत्र विहारयोग्यानि क्षेत्राणि । अधिकश्च भूयान् मार्गः पन्था एतैः प्रकारैर्विपरिणामयति ।

तत्र प्रथमतश्चैत्यमधिकृत्याह–

वंदण पुच्छा कहणं, अमुगं देसं वयामि पव्वइउं ।
नत्थि तहिं चेइयाइं, दंसणसोही जतो होइ ॥

परया भक्त्या विचाराऽऽदिनिर्गतस्य साधोर्वन्दनम् । ततः पृच्छा कुत्र गन्तव्यम् ? तदनन्तरं तस्य कथनम्–अमुकं देशं व्रजामि प्रव्रजितुमिति । एवमुक्ते स प्राऽऽह– न सन्ति तत्र चैत्यानि यतो येभ्यो दर्शने शोधिः सम्यग्दर्शने निर्मलता भवति ।

कथं तेभ्यो दर्शनशोधिः ? इति । अत आह–

पूयं तु दट्ठुं जगबंधवाणं,
साहू विचित्ता समुवें ति तत्थ ।
डब्भंगं च दट्ठूण उवासगाणं,
सेहस्स वी थीरइ धम्मसद्धा ॥

जगद्बान्धवानां पूजां द्रष्टुं तत्र तेषु चैत्येषु साधवो विचित्रा भव्या भव्यतराः समुपयन्ति मूर्तिं दृष्ट्वा देशनां वा समाकर्ण्य तथा उपासकानां श्रावकाणां स्नानविलेपनाऽऽदिषु अभ्यङ्गं च दृष्ट्वा आस्तामन्येषां शुभपरिणामोल्लासः सैक्षस्याऽपि धर्मश्रद्ध स्थिरति स्थिरीभवतीत्यर्थः ।

चैत्यानि तु तत्र न विद्यन्ते । ततः किं तत्र गत्वा त्वया कार्यम् ? इति द्वारमाह–

न संति साहू तहियं विवित्ता,
ओसण्णकिण्णो खलु सो उदेसे ।
संसग्गिहज्जम्मि इमम्मि लोए,
सा भावणा तुब्भ वि मा ह वेज्जा ॥

न सन्ति तत्र साधवो विविक्ता एकान्तसंविग्नाः । किं तु०अव–सन्नकीर्णोऽवसन्नव्याप्तः खलु स कुदेशः । अथं च लोकः संसर्गिहार्यः संसर्गात् ह्रियते संसर्ग्यनुयायी भवति । तथास्वाभाव्यात्ततः संसर्गिहार्येऽस्मिन् लोके वर्तमानस्य तवाऽपि सा अवसन्नभावना मा भूदिति तत्र न गन्तव्यम् ।

शय्याद्वारमाह–

सेज्जा न संती अहवेसणिज्जा,
इत्थीपसुंपंडगमादिकेण्णा ।
आउच्छमादीसु य तासु निच्चं,
ठायंतयाणं चरणं न सुद्धे ॥

तत्र शय्या न सन्ति । अथवा–एषणीया न विद्यन्ते । यदिपरमात्मकृताःस्युः । यदि वा–स्त्रीपशुपण्डकाऽऽद्याकीर्णाः सचित्तासु चाऽऽत्मोत्थाऽऽदिषु आत्मकृताऽऽदिषु नित्यं सर्वकालं तिष्ठतां चरणं न शुद्ध्यति चारित्रशुद्धिर्न जायते ।

वैद्याऽऽदिद्वारचतुष्टयमाह–

वेज्जा तहिं नत्थि तहोसहाइं,
लोगो य पाएण सपच्चणीओ ॥
दाणाइ सण्णी य तहिं न संति,
सोणेहिं किण्णो सहलूसएहिं ॥

तत्र वैद्याः, तथा औषधानि च न संन्ति । लोकश्च प्रायेण तत्र सप्रत्यनीकः । दानादिप्रधानाश्च संज्ञिनः श्रावकास्तत्र न संन्ति । तथा इवभिः सहलूषकैश्चौरैः कीर्णो व्याप्तः ।

विहारक्षेत्रद्वारमाह–

अणूवदेसम्मि वियारभूमी,
विहारखेत्ताणि य तत्थ णत्थी ।
साहूसु आसण्णठिएसु तुज्झं,
को दूरमग्गेण मडप्फरो ते ॥

यत्र त्वया गन्तव्यं तस्मिन् अनूपदेशे जलमयदेशे विचारभूमिर्नास्ति । नाऽपि तत्र सन्ति विहारयोग्यानि क्षेत्राणि । अन्यच्चसाधुष्वासन्नस्थितेषु तव को दूरमार्गेण (मण्डफरो) गमनोत्साहः तदेवमृतुवद्धकालविषयं सूत्रं भावितम् ।

अधुना वर्षावासविषयं भावयन्ति–

वासासु अमणुण्णा, असमत्ता जे वि या भवे वीसुं ।
तेसिं न होइ खेत्तं, अह पुण समणुण्णय करेंति ॥
तो तेसि होति खेत्तं, को उ पभू सिं जो उ रायणिओ ।
लाभो पुण जो तत्था, सो सव्वेसिं तु सामण्णो ॥

वर्षासु वर्षाकाले ये अमनोज्ञाः परस्परोपसंपद्विकला असमा–

ना असमाप्तकल्पा विष्वक् पृथक्स्थिता भवेयुस्तेषां न भवति क्षेत्रम्। आभ्यामसमाप्तकल्पत्वात्। अथ पुनः—सुखदुःखादिनिमित्तं समनोज्ञतां परस्परोपसंपदं कुर्वन्ति। ततो भवति तेषाभाव्यं क्षेत्रम्। परस्परोसंपदा समाप्तकल्पीभूतत्वात्। अथ तेषां कः प्रभुः? उच्यते—यो रात्निको रत्नाधिको यस्य पर्यायाधिकतया वन्दनादीनि क्रियन्ते (त्ति) तेषां प्रभुर्लाभः पुनर्यस्तत्र भवति स सर्वेषां सामान्यः साधारणः सर्वेषामप्याचार्यत्वादुपाध्यायत्वाद्वा।

अहव जइ वीसु वीसु, ठिया उ सम्मत्तकप्पिया हुज्जा।
अण्णो समत्तकप्पी, एज्जाही तस्स तं खेत्तं॥

अथवा—असमाप्तकल्पिका यदि विष्पक्विष्वक्स्थिता भवेयुरन्यः समाप्तकल्पः समाप्तकल्पोपेतः पश्चादागच्छेत् तस्य तत् आभवति क्षेत्रम्। नेतरेषां पूर्वस्थितानामपि असमाप्तकल्पत्वात्।

अहवा दोणि व तिण्णि व, समगं पत्ता समत्तकप्पीओ।
सव्वेसिं वी तेसिं, तं खेत्तं होइ साहरणं॥

अथवा—द्वौ वा, त्रयो वा, गच्छाः समाप्तकल्पिताः पृथक् पृथक् कल्पोपेताः समकं प्राप्तास्ततस्तेषां सर्वेषामपि तत्क्षेत्रम्। आभाव्यतया साधारणं भवति।

अपुण्णकप्पो व दुवे तओ वा,
जं कालकुज्जा समणुण्णयं तु।
तक्कालपत्तो य समत्तकप्पो,
साहारणं तं पि हु तेसि खेत्तं॥

अपूर्णकल्पा असमाप्तकल्पा द्वौ त्रयो वा गच्छाः स्थिता न च परस्परमुपसंपत् गृहीता पश्चात् सूत्रार्थाऽऽदिनिमित्तमुपसंपदं गृहीतुमारब्धाः। ते च यत्कालं यस्मिन्काले समनोज्ञतां परस्परमुपसंपदं कुर्युः कुर्वन्ति। तत्कालप्राप्तस्तस्मिन्काले प्राप्ताऽन्यः समाप्तकल्पस्तेषामपि तत् क्षेत्रम् भवति साधारणम्। परस्परोसंपद्ग्रहणवेलायामेव सामाप्तकल्पस्याऽपि प्राप्तत्वात्।

संप्रति परस्परोपसंपन्नानां साधारणाऽवग्रहाऽवस्थितानां सूत्रमर्थं वाऽधिकृत्य य आभवनविशेषस्तमभिधित्सुराह—

साहारणट्ठियाणं, जो भासति तस्स तं व हरति खेत्तं।
बारगतं दिण्ण पोरिसि, मुहुत्त भासे उ जे ताहे॥

साधारणस्थितानां साधारणाऽवग्रहाऽवस्थितानां मध्ये यः सूत्रमर्थं वा भाषते। तस्य तद्भवति क्षेत्रम्। न शेषाणाम्। अथ ते वारवारेण भाषन्ते। तत आह—यो यदा वारकेण। दिनं, पौरुषीं मुहूर्त्तं वा भाषते। तस्य तावन्तं कालमाभाव्यम्। न शेषकालम्। इयमत्र भावना—यो (यति) दिवसा भाषते तस्य (तति) दिवसा नाभाव्यम्। अथवा—प्रतिदिवसं यो (यति) पौरुषीर्भाषते तस्य (तति) पौरुषीखग्रहः। यदि वा—यो (यति) मुहूर्त्तान् भाषते तस्य तावत्कालमवग्रहः। न शेषकालमपीति।

आवलिया मंडलिया, घोडगकंडूइए व भासेज्जा।
सुत्तं भासतिमा—सा इयादि जा अट्ठसीतिं तु॥

इह सूत्रस्याऽर्थस्य वा भाषणे त्रयः प्रकाराः। तद्यथा—आवलिकया मण्डल्या घोटककण्डूयितेन च तया विच्छिन्ना एकान्ते भवति मण्डली सा आवलिकायाः। पुनः स्वस्थान एव सा मण्डली घोकटकण्डूयितं नाम यद्वारं वारं परस्परं प्रच्छन्नं तत्तयोः परस्परं कण्डूयितमिव घोटककण्डूयितं तत्र सूत्रमर्थं वा भाषते। आवलिकया मण्डलिकया घोटककण्डूयितेन वा सूत्रं भाषते। सामायिकाऽऽदि तावत् यावत् दृष्टिवादगतान्यष्टाऽशीतिसूत्राणि। पूर्वेषु तु विशेषो वक्तव्य इति तदनुपादानम्। संप्रति यथोक्तप्रमाण आवश्यकप्रतिप्रच्छकस्य समीपे दशवैकालिकमधीते दशवैकालिकवाचनाऽऽचार्यस्य भवति क्षेत्रम्। तथा एकस्य पार्श्वे दशवैकालिकमधीते दशवैकालिकवाचनाचार्यः। पुनर्दशवैकालिकप्रतिप्रच्छकस्य पार्श्वे उत्तराध्ययनान्यधीते उत्तराध्ययनवाचनाऽऽचार्यस्य आभाव्यं क्षत्रम्। एवं यथोत्तरं तावद्भावनीयं यावदष्टाऽशीतिसूत्राणि।

सुत्ते जहुत्तरं खलु, विलिया जा होति दिट्ठि वातो ति।
अत्थे वि होइ एवं, छेअसुअत्थं नवरिमुत्तुं॥

यथा—सूत्रे यथोत्तरं बलिष्ठता एवमर्थेऽपि भावनीया। तद्यथा—एक एकस्य पार्श्व आवश्यकार्थं वाचनाचार्यः। पुनरावश्यकाऽर्थं—प्रतिप्रच्छकस्य समीपे दशवैकालिकार्थवाचनाऽऽचार्यस्य आभवति क्षेत्रम्। एवं तावद्वाच्यं यावदष्टाशीतिसूत्रार्थमुक्त्वा अथाऽऽचार्याणामुपरि छेदसूत्राऽऽर्थाऽऽचार्यो वक्तव्यः। तद्यथा—एकस्य पार्श्वे दृष्टिवादगतानामष्टाशीतेः सूत्राणामर्थमधीते, अष्टाशीतिसूत्रार्थवाचनाचार्यः। पुनरष्टाशीतिसूत्रार्थप्रतिप्रच्छकस्य समीपे छेदसूत्रार्थमधीते, छेदसूत्रार्थवाचनाचार्यस्य आभाव्यं तत् क्षेत्रम्।

एमेव मीसगम्मि वि, सुत्तातो वलवगो पगासो उ।
पुव्वगयं खलु वलियं, हेट्ठिल्लत्था किमु सुयातो॥

एवमेव अनेनैव प्रकारेण मिश्रकेऽपि सूत्राऽर्थरूपोभयस्मिन्नपि वक्तव्यं सर्वत्र सूत्रात् बलवान् प्रकाशोऽर्थस्य प्रकाशकः तद्यथा— एक एकस्य पार्श्वे आवश्यकसूत्रमधीते। तस्य समीपे पुनः सूत्र—वाचनाचार्य आवश्यकस्यार्थमधीते। आवश्यकार्थवाचनाचार्यस्य आभवति तत् क्षेत्रम्। एवं तावद्भावनीयं यावदष्टाशीतिसूत्रार्थं वाचनाऽऽचार्यः सर्वत्राऽधस्तनात्सूत्रादर्थाद्वा पूर्वगतं वलीयः तथा चाह—(पुव्वगयम्मित्यादि) यदि पूर्वगतं सूत्रं खलु अधस्तनादर्थाद्भवति बलीयः किमङ्ग! सूत्रात् सुतरामधस्तनात् सूत्राद्वलीय इत्यर्थः। तद्यथा—एक एकस्य पार्श्वे आवश्यकस्य सूत्रमर्थं तदुभयं वाऽधीते। तस्य समीपे पुनरावश्यकसूत्रार्थतदुभयवाचनाचार्यः पूर्वगतं सूत्रमधीते। आवश्यकसूत्रादिप्रतीच्छकस्य आभवति। एवं तावद्वाच्यं यावदष्टाशीतिः सूत्राणि पूर्वगत सूत्राच्च पूर्वगताऽर्थो वलीयान्। तत एकस्य पार्श्वे पूर्वगतसूत्रमधीते तस्य समीपे पूर्वगतसूत्रवाचनाचार्यः पूर्वगतमर्थं पूर्वगतसूत्रमर्थं पूर्वगतसूत्रप्रतीच्छकस्य आभवति।

अथ किं कारणं शेषात्सूत्रादर्थाच्च पूर्वगतं सूत्रं वलीयः? तत आह—

परिकम्मेहि य अत्था, सुत्तेहि य जेहि सूइया तेसिं।
होइ विभासा उवरिं, पुव्वगयं तेण वलियं तु॥

दृष्टिवादः पञ्चप्रस्थानः। तद्यथा—परिकर्मणि सूत्राणि पूर्वगतमनुयोगश्चूलिकाश्च। तत्र ये परिकर्मभिः सिद्धश्रेणिकाप्रभृतिभिः सूत्रैश्चाष्टाशीतिसङ्ख्यैर्यैरर्थाः सूचितास्तेषां सर्वेषामन्येषां च उपरि पूर्णेषु विभाषा भवति। अनेकप्रकारात् तत्र भाष्यन्ते इत्यर्थः तेन कारणेन पूर्वगतं सूत्रं बलिकम्।

सम्प्रति येन कारणेन सूत्रार्थो बलियान् तदभिधित्सुराह—

तित्थगरत्था(ट्ठा)णं खलु, अत्थो सुत्तं तु गणहरत्था(ट्ठा)णं।

अत्थेण य वंजिज्जइ, सुत्तं तम्हा उ सो वलवं ।

अर्थः खलु तीर्थकरस्थानं तस्य तेनाऽभिहितत्वात् । सूत्रं तु गणधरस्थानं तस्य तैर्दृष्टत्वात् । अर्थेन च यस्मात्सूत्रं व्यज्यते प्रकटीक्रियते तस्मात्सोऽर्थः सूत्राद् बलवान् ।

अथ कस्मात् ? शेषाऽर्थेभ्यश्छेदसूत्राऽर्थौ वलीयनित्यत आह–

जम्हा उ होइ सोही, छेयसुयत्थेण खलियचरणस्स ।
तम्हा छेयसुअत्थो, वलवं मुत्तूण पुव्वगयं ॥

यस्मात् स्खलितचरणस्य स्खखितचारित्रस्य छेदश्रुताऽर्थेन शोधिर्भवति । तस्मात्पूर्वगतमर्थं मुक्त्वा शेषात्सर्वस्मादप्यर्थात् छेदश्रुताऽर्थौ बलवान् तदेवमावलिकामधिकृत्योक्तम् ।

अधुना मण्डलीमधिकृत्याह–

एमेव मंडलीए, पुव्वाहिय नट्ठधम्मकहिवादी ।
अहवा पइण्णगसुए, अहिज्जमाणे बहुस्सुए वि ॥

यथा अधस्तादावलिकायामुक्तम् एवमेव मण्डल्यामपि द्रष्टव्यम् । सा मण्डली क्व भवति ? इति चेत् । उच्यते–पूर्वाधीते नष्टे जज्ज्वाल्यमाने धर्मकथायां धर्मकथाशास्त्रेषु, वादे वादशास्त्रेषु उज्ज्वाल्यमानेष्वधीयमानेषु वा । अथवा–प्रकीर्णकश्रुते अधीयमाने बहुश्रुतेऽपि बहुश्रुतविषयेऽपि मण्डली भवति । तत्राप्याभाव्यमावल्लिकायामिव । अथ कथमावलिकायामिव मण्डल्यामपि द्रष्टव्यमिति चेत् ? उच्यते–एक एकस्य पार्श्वे पूर्वाधीतं नष्टमावश्यकमुज्ज्वालयति । आवश्यकवाचनाचार्यः पुनस्तस्य समीपे दशवैकालिकं दशवैकालिकवाचनाचार्यस्याभवति इत्यादिसर्वं तथैव । तथा–एक एकस्य पार्श्वे आवश्यकं नष्टमुज्ज्वालयति एषोऽप्यावश्यकवाचनाचार्योऽन्यस्य समीपे दशवेकालिकं, दशवैकालिकवाचनाचार्योऽप्यपरस्य समीपे उत्तराध्ययनानि, उत्तराध्ययनवाचनाचार्योऽप्यन्यस्य समीपे आचाराङ्गम् । एवं यावत् विपाकश्रुतवाचनाचार्यः पूर्वाधीतं नष्टमन्यस्य पार्श्वे दृष्टिवादमुज्ज्वालयति । दृष्टिवादवाचनाचार्यस्य आभवति । न शेषाणामाभवनस्योत्तमसंक्रान्त्यान्तिमेऽवस्थानादेतच्चावलिकायामपि द्रष्टव्यम् । तथा–यस्य पार्श्वे धर्मकथाशास्त्राणि वोज्ज्वाल्यधीयते वा संघाटस्य आभवति । न पाठ्यमानस्य । तथा बहुश्रुततरोऽपि यद्यन्यस्य समीपे प्रकीर्णकश्रुतमधीयते तदा तस्य प्रकीर्णकश्रुतवाचनाचार्यस्य आभवति । न बहुश्रुततरस्य । किं बहुना यो यो स्य समीपे पठत्युज्ज्वालयति वा तस्य भक्तमाभाव्यमितरो वाचनाऽऽचार्यो हरतीति ।

अयाऽऽवलिकाया मण्डल्याश्च कः प्रतिविशेषः ? इति अत आह–

छिण्णाछिण्णविसेसो, आवलियाए उ अंतए ठाति ।
मंडलिए सट्ठाणं, सचित्तादीसु संकमति ॥

आवलिका-मण्डल्योः परस्परं छिन्नाऽछिन्नरूपो विशेषः । आवलिका छिन्ना विविक्त एकान्तो भवति । मण्डलिका त्वाच्छन्ना । ''आवलिया तत्थ छिन्ना, मण्डलिया होइ अच्छिन्ना उ'' इति वाचनात् । एतदेव सुव्यक्तमाह–आवलिकायामुपाध्यायकोऽन्तर्मध्ये विविक्ते प्रदेशे तिष्ठति । मण्डल्या पुनः स्वस्थानमाभवनं च पाठयितरि संक्रामति सचिताऽऽदिषु तत्क्षेत्रगतसचित्ताऽऽदि विषयम् ।

अधुना घोटककण्डूयितमधिकृत्याऽऽह–

दोण्हं तु संजयाणं, घोडककंडूइयं करेंताणं ।
जो जाहे जं पुच्छइ, सो ताहे पडिच्छतो तस्स ॥

द्वयोः संयतयोर्घोटककण्डूयितमिव (घोटककंडूइयं) परस्परं प्रच्छन्नमित्यर्थः । न कुर्वतां यो यदा यं पृच्छति स तदा तस्य प्रतीच्छकः । इतरः प्रतीच्छ्यः । तावत्तस्य आभवति । न शेषकालमिति ।

उपसंहारमाह–

एवं ता असमत्ते, कप्पे भणितो विही उ जो एस ।
एत्तो समत्तकप्पे वुच्छामि विहिं समासेणं ॥

एवं तावत् असमाप्ते कल्पे यो विधिर्भवति । स एष भणितः । इतःऊर्द्धं समासेन समाप्तकल्पे विधिं वक्ष्यामि ।

प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति–

गणिआयरियाणंतो, खेत्तम्मि ठियाण दोसु गामेसु ।
वासासु होति खेत्तं, निस्संचारेण वाहिरतो ।

गणोऽस्याऽस्तीति गणी गणाऽवच्छेदकः । आचार्यः प्रतीतः । तयोर्ग्रामयोः पृथक् पृथक् स्थितयोर्वर्षासु आभवति क्षेत्रम् । ग्रामद्वयलक्षणम् । अन्तः क्षेत्रं स्थितयोः क्षेत्रमध्यव्यवस्थितयोर्न पुनः परस्परं गमनाऽऽगमनतः । कुतः ? इति । आह–बहिर्निःसंचारेण स्वस्वग्राभाद्बहिः पानीयहरिताऽऽद्याकुलतया संचारौ भवतः ।

वासासु समत्ताणं, उग्गहो एगदुगपिंडियाणं पि ।
साहारणं तु सेहं, वोच्छं दुविहं च पच्छ कडं ॥

वर्षासु बहूनामाचार्याणां परस्परोपसंपदा समाप्तकल्पानां वर्षासु समाप्तजनाः समाप्तकल्पाः । असमाप्तकल्पा जनाः असमाप्तकल्पाः (एगदुगपिंडियाणं पि) संप्राप्त्याऽप्येककाः सन्तः पिण्डिता एकपिण्डिताः । अथवा–द्विकेन वर्गद्वयेन एकः एकाकी, एकः षड्वर्गो । यदि वा–एको द्विवर्गः, एकः पञ्चवर्ग इत्यादिरूपेण पिण्डिताः द्विकपिण्डितास्तेषामेकद्विकपिण्डितानाम् अपिशब्दात्त्रिकचतुष्कादिपिण्डितानां चाग्रह आभवति । न शेषाणामसमाप्तकल्पस्थितानाम् । तथा साधारणं शैक्षं वक्ष्ये साधारणः शैक्षो यस्य भवति । तस्यं तं वक्ष्ये। तथा द्विविधं च–गृहस्थसारूपिकभेदतो द्विप्रकारं च । पश्चात्कृतमुपरिगणावस्छेदकपृथक्त्वं सूत्रे वक्ष्यामि । व्य० ४ उ० । (क्षेत्रे प्राप्तस्य शिष्यस्य आभवनव्यवहारः 'सीस' शब्दे) (समकं क्षेत्रप्राप्तानामाभवनम् 'उवसंपया' शब्दे द्वि० भागे १००१ पृष्ठे उक्तम्) (संयतनिर्ग्रन्थपरिहारविशुद्ध्यादीनां स्वस्वस्थाने क्षेत्रतो मार्गणाऽवसेया) (अविधिक्षेत्रम् 'ओहि' शब्दे अस्मिन्नेव भागे १५१ पृष्ठे उक्तम्) ''एताओ य कालातो खेत्तो सुहुमतरागं भवति । कहं जेण अंगुलपमाणमेत्ते आगासे जावतिया आगासपएसा ते बुद्धीए समए समए एगमेगं आगासपदेसं गहायअवहीरमाणा अवहीरमाणा असंखेज्जाहिं ओसप्पिणीहिं अवहिता भवंति अतो कालातो खेत्तं सुहुमतरागं भवति'' आ० चू० १ अ० । (वर्षक्षेत्रस्थापना 'पज्जुसणा' शब्दे) (सामायिकक्षेत्रद्वारम् 'सामाइय' शब्दे) ''जम्बुद्दीवे दीवे दस क्खेत्ता पण्णत्ता । तं जहा–भरहे, एरवए, हेमवए, हेरण्णवए, हरिवस्से, रम्मगवस्से, पुव्वविदेहे, अवरविदेहे, देवकुरा , उत्तरकुरा'' ॥ देहे, अन्तःकरणे, कलत्रे, सिद्धिस्थाने क्षेत्रकारे, त्रिकोणचतुष्कोणादिकपदार्थे, वाच० । ('खेत्तारिय' शब्दे आर्यक्षेत्राणि)

खेत्तओ अव्य० (क्षेत्रतस्) क्षेत्रमाश्रित्येत्यर्थे । तत्र क्षेत्रं द्रव्याऽऽधारमाकाशमात्रं वा । भ० ७ श० ६ उ० ।

खेत्तकप्प पुं० (क्षेत्रकल्प) देशविशेषाऽऽचारे, बृ० ६ उ० । क्षेत्रकल्पापाकल्पत्वे । पं० भा० ।

समासतः क्षेत्रकल्पप्रतिपादनायाह–

एतो समासतो हं, वोच्छामि खेतकप्पं तु ।
जं देवलोगसरिसं, खेत्तं निप्पव्ववातियं जं च ॥ १ ॥
एसो तु खेत्तकप्पो, देसा खलु अद्धछव्वीसं । पं० भा०
जत्थ य गुणा इमे तू, खेमाईया मुणेयव्वा ।
खेमो सिवो सुभिक्खो, अप्पप्पाणो उवस्सयमणुन्नो ॥६॥
एसो तु खेत्तकप्पो, गामनगरपट्टणाइन्नो ।

(खेमो सिवादि) खेमो–डमरविरहिओ । सिवो–रोगविरहिओ । सुभिक्खो–पउरन्नपाणो । अप्पपाणो पि–वीलियाविरहिओ । उवस्सयमणुन्नो–इत्थिनपुंसकाइविरहिओ । समासेज्ज कयपवर-विवज्जिओ, गामणगराकराणि बहूणि बसामासपाउग्गाणि खेत्ताणि ॥६॥

व्यासतो गाथाभिरेव तद्विवर्णमाह–

खेमो डमरविरहितो, रोगाइविरहितो य सिवो होति ।१०।
पउरन्न–पाणदोसा, होति सुभिक्खो मुणेयव्वो ।
जलूगासंखण मुइंग–पिसुगमसगादिविरहितो जो तु ॥११॥
सो होति अप्पपाणो, अप्पअभावम्मि थोवे य ।
समभूमिरेणुवज्जिय, परितुक्खमोवस्सया मणुन्नाओ ॥१२॥
गामणगरा वि य बहू, पाउग्गा मासकप्पस्स ।
सज्जणजणो य भद्दो, जहियं च मणुन्नसाहुजोणीओ ।१३।
तारिसए खेत्तम्मी, समणुन्नाओ विहारो तु ।
खेमो य सिवो य तहा, खेमसुभिक्खो य एव संजोगा ।१४।
णेयव्वा छसु पदेसुं, सत्तसु वा आणुपुव्वीए ।
अहवोदयऽग्गिसावग–तक्करबालभयवज्जिओ रंमो ॥१५॥

.....

.....॥१६॥

णिरविक्खा वि य जहियं, समणगुणविदूय जत्थ जणो ।

(उदय त्ति) उदएण य पेलिज्जंति न वुज्झंतीर्थः । अग्गिणा न भज्झंति, घणकवाडहम्मियग्गओ कोट्टिमताणाओ य । अहाकडाओ वसहीओ सरीरोवहितेण सावगतक्करपरचक्कविरहिएसु देसेसु साहुविहारो अणुण्णाओ । तत्थ य साहूणं कालपरिभोगी जणो सुतत्थपोरिसीं काउं तइयाए पोरिसीए भिक्खवेलाए ॥१५॥ (गाहा)पुढवीपइ य सूरो विसेसो जाणइ साहूणं जहा एए अहिरन्नसोवन्नियमंगलभूया सव्वसंगवज्जिया समणगुणा य जणो जाणइ आहाराइ ॥१६॥

एताणि चेवमाई–याणि आरीय खेत्तसहिआणि ॥१७॥
पुव्वभणियाणि जाणि उ, ताइं खलु सत्त य हवंति ।
णाणस्स दंसणस्स य, जत्थ य नत्थी य उवघातो ॥१८॥
एसो तु खेत्तकप्पो, जहियं च अणायणा नच्छि ।
उदगभयतुणादी, जह कुंकणसिंधुतामलितादी ॥१९॥

(नाणस्स)नाणदंसणचरित्ताईणि जत्थ विही तवणियमसंजमजोगाण य परिवुड्ढी अणायतयाणि य जत्थ लोइया । इत्थिपुरुसनपुंसका वा, वाउरिया वा वाहलोद्धियचरगसक्काइया विवक्खभूया नत्थि लोउत्तरं च अणाययणं पासत्थोसन्नकुसीलाइलिंगमेत्तपडिच्छन्ना नत्थि एरिसे खेत्ते विहरियब्वं को इ पुण आलंवणाइं काऊणं ण विहरइ तत्थ ॥ १८॥ १९॥

एत्थि जहं अग्गिभयं, निरग्गिताहंमि य गिहा वा ।
जहियं च सावयभयं, सीहादीणं ण विज्जए देसे ॥२०॥
जहियं च णत्थि चोरा–देरुवही पंथि मोसादी ।
वालाउ सप्पगोणस्स, मादीदावोहिगभयं च णत्थि जहिं ॥२१॥
मणसो समाहिकारो, सो रंमो होति णायव्वो ।
सूरो अणन्नगम्मो, जत्थ णरिंदो तहिं सुहविहारं ॥२२॥
साहुगुणे व वियाण–ति कुणति य साहूण जा रक्खं ।
अहिरन्नसुवन्ने ते, छज्जिवनिकायसंजमे णिरता ॥२३॥
जाणति जणो य एवं, जत्थ तु साहूण गुणनिसहं ।
सज्झाओ जहि सुज्झति, कुदिट्ठिगिन्नो णयविओ होति ॥२४॥
एसण इत्थी सोही, य जत्थ तहियं निवासे तु ।
जहियं च अणायतना, ण संति के पुण अणायतणा ॥२५॥
मणिय साहम्मि भिन्न–वित्ता मूलुत्तरदेसपडिसेवी ।
एतेहिं जो देसो, आइन्नो तहय अन्नतित्थीहिं ॥२६॥
सत्थंधवाहगामा, पुलिंददेसा अणायतणा ।
एतारिसम्मि खेत्ते, अप्पडिबद्धेण विहरियव्वं तु ॥२७॥
आलंवणा विकित्तुं, तु इमातिकांतु ण विहरंति ।
वसही संथारो भ–त्तपाणवत्थे पाडिग्गहे सेहा ॥२८॥
सद्धा य पुव्वसंथुय, असद्दहं ते ये पडिबंधो ।

(वसहि) संथारवसहि सीयकाले निवाया, उण्हकाले सीयला, वासासु सीयविवज्जिया, अणोवरिसा संथारगा च । मरुक्खमाइ पाणयं च सीयलं वत्थाइतामलित्तकं सिंधवाइ लब्भंति पडिग्गहा इत्थं पारंपरया लब्भंति । सेहा उ उप्पज्जंति सद्धा य दुद्धदहिघयाइ देंति । पुव्वपच्छासंथुएसु नेहाणुरायपडिवंधेण वा असद्दहंतस्स वा मासकप्पं पडिबंधो होइ । किं मासकप्पेण बहुतरीरियासु विराहणा नारगाईणं च परिहाणी, को इ तित्थवोच्छेओ य यो इ जं च भणध णितियवासे संवासाइदोसा अंतोमासं संवसमाणस्स तो वधसंवासाइं दोसा होहिंति । एवं निइपावसे दोसे असद्दहंतस्स आह ॥२८॥

फासुया एसरिज्जायं, णिवातापरितुक्खमा ॥२९॥
एरिसा साहुयानुग्ग, वसही दुल्लभं न हि ।
एमेव य संथारा, सुलभा जोग्गा य साहूणं ॥३०॥
भत्तं सुलभमणुन्नं च, परिसंणत्थि अन्नहि ।
वत्था पडिग्गहा वि य, सुलभा सहाये एत्थ खेत्तम्मि ॥३१॥
अन्नत्थ दुल्लभा तु, तेण तु एत्थं बहुगुणं तु ।
सद्धा आहारादी, देंति जोग्गणिसंयुता चेव ॥३२॥
पुर पच्छ दड्ढभट्ठा, य अन्नहिं णत्थि णरिसग्गा ।
उडुबद्धे मासकप्पे–ण विहारो तं ण सद्दह इमेहिं ॥३३॥
संजम आतविराहण, वच्चंते गामणुग्गामं ।
णाणादीण य हाणी, जोग्गं खेत्तं तु मग्गमाणेणं ॥३४॥

खेत्ताओ वि य खेत्तं, संकममाणे भुवमसायो।
जे णीवत्ते दोसा, गासंते परिवसेण ते चेव ॥ ३५ ॥
एवं मासविहारे, मन्नंतो बहुविहे य दोसे य।
णो सद्दहति विहारं, ण तु विहरति तस्स आणादी ॥ ३६ ॥
मासोवरिं च लहुओ, णीया वासे य जे दोसा।
ते सो पावति सव्वं, एते सालंवणेहिं अत्थंतो ॥ ३७ ॥
किं एगंतेणेवं, ण विसेसो भन्नती मुणसु।
णिक्कारणम्मि एवं, पडिबंधे कारणम्मि णिद्दोसा ॥ ३८ ॥
ते चेव अजयणाए, पुणो व सो पावती दोसो।
काणि पुण कारणाणि, जेहिं चिट्ठिज्ज एकठाणम्मि ॥ ३९ ॥
भणंति पुव्वुदिट्ठा, जे खेमसिवादिया दारा।
तेसिंचिय पडिवक्खा, अक्खेमे असिव तह य दुभिक्खं ॥ ४० ॥
वहुपाणवस्सओ वा, अमणुन्नो जो तु दयमादी।
एतेहिं एगट्ठा-णम्मि अ उ अत्थमाणाओ ॥ ४१ ॥
जदि जयण ण कुव्वंती, तेच्चिय नीयादिया दोसा।
का पुण जयणा तहियं, भन्नति तहिं कारणेहिं तुट्ठितस्स ॥
अन्नउवस्सयभिक्खा-दिया तु जयणा मुणेयव्वा।
अक्खेममादिएसु वि, अक्खेत्तेसु तु कारणवसेणं ॥ ४३ ॥
चिट्ठंताणं तहियं, इमा तु जयणा मुणेयव्वा।
अक्खेमें विसंति पुरं, संवट्टं वा वि आसयंतीओ ॥ ४४ ॥
अक्खेमं व ऽन्नत्था, तहिं खेमं तो ण णिग्गच्छे।
जदि असिवं तु पहिद्धा, ताहे अच्छंति ते तहिं चेव ॥ ४५ ॥
दुब्भिक्खे व ण णीति, अहवा सव्वत्थ दुभिक्खं।
दुब्भिक्खजयण तहियं, अच्छंते वा वि जयण तह चेव। ४६।
बहुपाणे आउत्ता, पचक्कडंते तु जयणा उ।
उवस्सए आउत्ता, कुडुमुहभूती नवाविलक्खंति ॥ ४७ ॥
अन्नाए वसहीए, ठंति य मज्झंति य अभिक्खं।
जा जत्थ जयण जुज्जति, अमणुन्ने उवस्सयम्मि तं कुव्वे ।४८।
कयवरसोहणमादी, दुग्गंधे गंधपकिरंती।
उदगभए थलगामे, थले व वसही तहिं तु गेण्हंति ॥ ४९ ॥
अगिभए मालवद्धे, हंमिततलगम्मि व वसंति।
रोगवहुले य वत्थाणि, वज्जए चोरकिण्हेण तु विहारे ॥ ५० ॥
सत्थेण वा वि गच्छे, वायं ति व जत्थ णिरवायं।
जहियं सावयदोचा, तहियं एगाणितो ण गच्छेज्जा ॥ ५१ ॥
गेण्ह वसहिं च गुत्तं, गामस्स तु मज्झयारम्मि।
विज्जामंतादीहिं, वाले णीणंतिए तो ण विगच्छे ॥ ५२ ॥
राया व पन्नवेती, साहुगुणमजाणमाणं तु।
जत्थ जणो न विजाणति, साहुगुणे तहि कहिंति साहुगुणे ॥
परिभोगे अकालम्मी, रत्तिं कुव्वंति सज्झायं।
दूरेण कुतित्थीए, वज्जेंति एस णं व पन्नवए ॥ ५४ ॥
कुलटा इत्थीचारिया-दिया य वज्जेंति चरणट्ठा।
वज्जेज्ज अणायतणा, णाणादीण जत्थ उवघातो ॥ ५५ ॥
एवं जहसंभवंतु, करेज्ज जयणं णिवसमाणो।
एसो तु खेत्तकप्पो, उवसग्गऽवायसंजुत्तो ॥ ५६ ॥ पं० भा०।

(निक्कारणम्मि गाहा-३८-) निक्कारणम्मि दोसा निक्कारणे एएसिं चेव वितियपयं ॥ कारणं जत्थ वाहिं विहरंताणं अक्खेमं। तत्थ अत्थेज्ज वि तत्थ य अक्खेमे जयणा णगरं पविसइ। संवट्टयं वा आसयंति ॥ अहवा-जत्थ अन्हे अच्छं ति तत्थ खेमं तेण न विहरइ। असिवं वा अन्नत्थ वट्टमाणे तत्थ सिवं ताहे अच्छंति। अन्नत्थ वा दुब्भिक्खं ताहे अच्छंति। दुब्भिक्ख वा पणगपरिहाणाइ जयणा बहुपाण उवस्सए जडमुहाइसु जयंति कीडियासंचारएसु कुंथुमाइपउरे वा अभिक्खं वा मज्झणाइ जयणा छप्पइयपयरे अन्हो परिभोगे अन्नासु वा वसहीसु अविज्जमाणीसु य मणुण्णे उवस्सए गंवे करेंति। सुषमज्झियं च करेंति। उदयभएण वलाणि दहंति। उच्चे वसहिं गिण्हंति। अगिभएण घणकवाडाइसु हम्मि-यतलेसु वा वसंति। रोगे असिवाइअ वत्थाणि परिहरंति। लोणनेहाइ सावयभए एगाणियाणि संचरंति। गाममज्झे वसहिं गेण्हंति। सप्पेमं ते हि नीणेंति। तेण तक्कभएण सत्थेण संचरंति। अकालपरिभोगिसु रत्तिं सज्झायं करेंति। अन्ने धम्मं कहिंति। सज्झायं च गाहेंति। अहवा-वसहीए वि एक्कम्मि वसंतस्स मासाइयं वा वासाइ वा अन्नदेसे वा वस-हीओ इत्थिनपुंसएसु दोसा कुलाउ सीयकाले वा मंदोवकरणाणं निवा-या, उण्हकाले वा सीयलप्पवाया, वासासु वा निग्गलनिच्चिक्खिल्ला घडकवाडदढकुडुपिलवज्जियासु। अन्नेसु य खेत्तेसु एयग्गुणसमाउत्ता वसही नत्थि। संथारगा चम्मरुक्खाइ अहाकुडयामं कुणाइ। दोसवज्जि-या ते य तेसु खेत्तेसु नत्थि भत्तं पाणं वा सबालवुड्ढाउलगच्छे पाउग्गं मणुन्नं सपक्खपरपक्खोमाणविवज्जियं उग्गमाइसुद्धं पाणगं च सीयलं असंसत्तं पउरं तत्थ लब्भइ। अन्नेसु य खेत्तेसु तारिसयं नत्थि। वत्थाय वासत्ताणाइ अहाकडया गुरुमाइया उग्गाणि तत्थ लब्भंति। पडिग्गहाय (अलथिर) भिक्खुवधारणीया अहाकडया तत्थ लब्भंति। सेहाइ जाइकुलरूवसंपत्ताइ तत्थ गामे नगरे मेहाविणो तित्थ वोच्छित्तिकरा। सड्ढाय तत्थ गामे नगरे देसे वा सेणावइइब्भसेट्ठिसत्थवाहाइ साहू विवज्जिया वरगतित्थुं डविज्जाईहिं विप्परिणामिज्जंति। पुव्वपच्छ-संथुया वा तम्मि अच्छमाणे सम्मद्दंसणं गेण्हंति। पव्वयंति वा। एयनिमित्तं अच्छमाणो निद्दोसो निक्कारणे पच्छित्तं अच्छमाणस्स। जइ पुण कारणं अच्छमाणो अजयणाए अच्छइ तत्थ दोसो। का पुण जयणा ? जइ सपरिक्खेवो सवाहिरिया तत्थ जइ अंतो मासकप्पो वा वासावासो वा कुओ वाहिरिगा य अपरिभूता तत्थ वाहिरियाए अण्णवसहिं गेण्हं-ति। अन्नेत्तणसंथारगा डगलयकुडमुहउच्चारपासवणमत्ताइ वाहिं चेव भिक्खायरिया वाहिं चेव उच्चारपासवणभूमी। अहवावाहिरिया वि य चित्तभुत्ता वसही वा नत्थि पाउग्गा इत्थिनपुंसगपसुविरहिया धणकुड्ड-कवाडा ताहे तम्मि चेव वसही एत्तणसंथारगकुममुहउच्चारमत्तयाइ अन्ने गिण्हंति। असइत्ते चेव परिभुंजंति। वाहिं वा अपरिभूते वाहिं भिक्खा-यरियं हिंडंति। पुव्वि पच्छा संथवाइ परिहरंता उग्गममाइसु जयंति। पं० चू०।

।.....।

आदी छक्कनियत्ती, तु वन्निता जम्मि जम्मि खेत्तम्मि। १।

एतेसि सण्णिकासे, सालंबो मुणी व से खेत्ते ॥
छव्विहकप्पो आदी, तहि जारिसगाणि सेविया खेत्ता ।२।
अक्खेमअसिवामादी–णि कप्पती तारिसे वासे ॥
खेमादि अलब्भंतो, परिकुट्ठेहिं पि वसति जयणाए ।३।
दुयगादी संजोगा, वक्खाणं सन्निकासस्स ॥
अक्खेमे असिवम्मि य, असिवं वज्जे वसेज्ज अक्खेमे ।४।
तहियं उवहिविणासो, असिवे पुण जीवणासो तु ॥
एवं ओमादीसुं, संजोगा तिगचउग्गमादीया ।५।
वसियव्वं जेसु जहा, तमहं वोच्छं समासेणं ॥
कडिजोगिसण्णिकासे, बहुतरगं जत्थ अवगाहं ।६।
जाणे थोवंतरियं, च हाणिं तच्छ णयरे दुविहकाले ॥
एतेसामन्नतरे, आलंबणविरहिओ वसे खेत्ते ।७।
कालदुया अवराहे, संवड्ढिय मो वराहाणं ॥
संवड्ढितावराहे, तवोवछेदो तहेव मूलं वा ।८।
आयारपकप्पे जं–पमाणणेमाण चरिमम्मि ॥
एसो तु खेत्तकप्पो .....। ९।

(आई छक्कनियत्ती) आई खेत्तकप्पो छविहकप्पे वन्निओ। खेत्तकप्पविहीखेमो सिवाइ जइ पुण एगो अक्खेमो, एगो असिवो होज्जा। अक्खेमो नाम जत्थ उवहिविणासो, उच्यतेक्खोमे उवहि विणासो अत्थिज्जइ। असिवे उ सव्वनासो चेव, अह अक्खेमो य दुभिक्खं च दुब्भिक्खे य णगरपरिहाणी। जयणाए गुरुलाघवं वा नाऊण एव एक्कगसंजोएण जावइया संजोगा उट्ठेति तावइएसु अप्पाबहुयं नाऊणं जत्थ अप्पदोसं तत्थ वाइयव्वं सालवो नाणदरिसणाइ (आलंवणं गाहा) कडजोगी वि ह कडजोगी वि संन्निगासं, सन्निगासो नाम अब्भासो वा अववादो वा नाऊण अप्पदोसतरे अच्छेज्जा जत्थ गुणा बहुतरा नाणाइअप्पतरिया य हाणी दुविहा तत्थ काले वि उसुवद्धे वासासु य वसमाणो सुद्धो एए सामन्नतरेखेत्ते आलंबणविरहिओ पडिकुट्ठे खेत्ते वसइ तस्ससंवदित्तावराहे तवोवछेदो वा। एस खेत्तकप्पो ॥ पं० चू०। गणिविद्याप्रकीर्णकेन च क्षेत्राणि कथितानि तानि कतीति प्रश्ने सप्त क्षेत्राणि चैत्यादीनि प्रसिद्धानि। प्रतीष्ठातीर्थयात्रालक्षणक्षेत्रद्वयप्रक्षेपेण च न व क्षेत्राणि भवन्ति इति। ११७ प्र० सेन० ४ उल्ल०।

खेत्तक्खा स्त्री० (क्षेत्राख्या) एकत्र पट्टादौ चतुर्विंशतिप्रतिमासु, ध० २ अधि०।

खेत्तगय त्रि० (क्षेत्रगान) कर्षणभूमिसंश्रिते, प्रश्न० ३ संब० द्वार।

खेत्तट्ठाणाउक्षे न० (पेत्रस्थानाऽयुष्) क्षेत्रस्याऽऽकाशस्य स्थानं भेदः पुद्गलाऽवगाहकृतः तस्याऽऽयुः स्थितिः। अथवा क्षेत्रे एकप्रदेशाऽऽदौ स्थानं यत्पुद्गलानामवस्थानं तद्रूपमायुः क्षेत्रस्थानाऽऽयुः पुङ्गलानामाकाशावगाहस्थितौ, भ० ५ श० ७ उ०।

खेत्तनाण न० (क्षेत्रज्ञान) किमिदं मायाबहुलम् ? अन्यथा वा तथा साधुभिरभावितं भावितं वा नगराऽऽदीति विमर्षणरूपे प्रयोगमतिसंपद्भेदे, उत्त० १ अ०। स्था०।

खत्तपइट्ठा स्त्री० (क्षेत्रप्रतिष्ठा) क्षेत्रेषु जिनानां प्रतिष्ठायाम्, षो ७ विवि०। जीवा०। ('पइट्ठा' शब्दे विलोकनीया)

खेत्तपमाण न० (क्षेत्रप्रमाण) क्षेत्रविषयप्रमाणभेदे, अनु०।

अथ क्षेत्रप्रमाणमभिधित्सुराह–

से किं तं खेत्तपमाणे? खेत्तपमाणे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा–पएसणिप्पण्णे अ विभागनिप्पण्णे अ। से किं तं पएसनिप्पन्ने ?–पएसनिपन्ने एगपएसोगाढे, दुपएसोगाढे, तिपएसोगाढे, संखिज्जपएसोगाढे, असंखिज्जपएसोगाढे। सेत्तं पएसणिप्पन्ने। से किं तं विभागनिप्पण्णे ? –विभागनिपन्ने ''अंगुलविहत्थीरयणी, कुत्थी धणुगानुअं च बोधव्वं। जोयणसेढीपयरं, लोगमलोगे वि अ तहेव ''॥१॥

(से किं तं खेत्तप्पमाणे ? इत्यादि) इदमपि द्विविधं, प्रदेशा इह क्षेत्रस्य निर्विभागास्तैर्निष्पन्नं प्रदेशनिष्पन्नम्, विभागः पूर्वोक्तस्वरूपस्तेन निष्पन्नं विषगनिष्पन्नम् (से कि तं पएसनिष्पन्ने) तत्रैकप्रदेशावगाढाद्यसंख्येयप्रदेशाऽवगाढपर्यन्तं प्रदेशनिष्पन्नम्। एकप्रदेशाऽऽद्यवगाढतया एकाऽऽदिभिः क्षेत्रप्रदेशैर्निष्पन्नत्वादत्राऽपि प्रदेशनिष्पन्नता भावनीया। प्रमाणता त्वेकप्रदेशाऽवगाहित्वादिना स्वस्वरूपेणैव प्रमीयमानत्वादिति विभागनिष्पन्नं त्वङ्गुलाऽऽदि। तदेवाऽऽह–(अंगुलविहत्थिगाहा) अंगुलादिस्वरूपं च स्वत एव शास्त्रकारो वक्ष्यति। अनु०।

खेत्तपलिओवम न० (क्षेत्रपल्योपम) क्षेत्रमाकाशं तदुद्धारप्रधानं पल्योपमं क्षेत्रपल्योपमम्। आकाशाद्धारकालविशेषे, अनु०। कर्म०। ('पलिओवम' शब्दे स्वरूपतो ज्ञेयम्)

खेत्तपाल त्रि० (क्षेत्रपाल) क्षेत्रं पालयति। पाल अण्। क्षेत्ररक्षके व्यन्तरविशेषे, भैरवे, पुं०। वाच०। मथुरायां क्षेत्रपालसारमेयवाहनः तीर्थस्य रक्षां करोति। ती० ६ कल्प। टिप्पुर्यः क्षेत्रपालभुजषट्कमास्वरसङ्गस्य विघ्नौघमपोहति। ती०४४ कल्प।

खेत्तपोग्गलपरियट्ट पुं० (क्षेत्रपुद्गलपरावर्त्त) क्षेत्रविषये पुद्गलपरावर्त्ते, कल्प ७ क्षण। (अस्य स्वरूपं 'पुद्गलपरावट्ट' शब्दे ज्ञेयम्)

खेत्तय पुं० (क्षेत्रज) क्षेत्रं भार्या तस्यां जातः क्षेत्रजः। स्वधर्मेण नियुक्तायां पत्न्यां पुरुषाऽन्तरेण जनिते पुत्रभेदे, यथा पाण्डोः पाण्डवाः, लोकरूढ्या तद्भार्याकुन्त्या एव तेषां पुत्रत्वात् न तु पाण्डोरादित्यादिभिर्जनितत्वादिति। स्था० १० ठा०।

खेत्तरोग पुं० (क्षेत्ररोग) रोगाऽन्तराऽऽधारभूते कुष्ठाऽऽदिरोगे, द्वा० १० द्वा०।

खेत्तलोय पुं० (क्षेत्रलोक) क्षेत्रमेव लोकः क्षेत्रलोकः लोकभेदे, आ० म० द्वि०। (लोकशब्दे व्याख्यास्यते)

खेत्तवत्थुपमाणाइक्कम्म पुं० [क्षेत्रव(वा)स्तुप्रमाणाऽतिक्रम] क्षेत्रमेव वस्तु क्षेत्रवस्तु ग्रन्थान्तरे तु क्षेत्रं च वास्तुगृहमिति ख्यायते। उत्त० १ अ०। तयोः क्षेत्रवास्तुनोः प्रमाणस्य योजनेन क्षेत्रान्तरादिमीलनेनाऽतिक्रमोऽतिचारः। ध० २०। क्षेत्रवस्तुनः प्रत्याख्यानकाले गृहीतप्रमाणोल्लङ्घने, एकक्षेत्रादिपरिमाणकर्तृमदन्यक्षेत्रस्य वृत्तिप्रवृत्तिसीमाऽपनयनेन पूर्वक्षेत्रे योजनात्प्रमाणातिक्रमे च। एष च इच्छापरिमाणस्य द्वितीयोऽतिचारः। उ० १ अ०। आव०।

खेत्तवासि पुं० (क्षेत्रवर्षिन्) धन्याद्युत्पत्तिस्थाने वर्षणशीले मेघे, तद्वत्पात्रे दानश्रुतादीनां निक्षेपके पुरुषजाते, स्था० ४ ठा० ४ उ०।

खेत्तविवागा स्त्री० (क्षेत्रविपाका) क्षेत्रमाकाशं तत्रैव विपाक उदयो यासां ताः, क्षेत्रविपाकाः कर्मप्रकृतिषु, कर्म० ५ कर्म० पञ्चा०। (ताश्च 'कम्म' शब्दे अस्मिन्नेव भागे २५८ पृष्ठे उक्ताः)

खेत्तवृद्धि स्त्री० (क्षेत्रवृद्धि) दिग्व्रतस्य चतुर्थेऽतिचारे, आव० १ अ०। क्षेत्रस्य पूर्वाऽऽदिदेशस्य दिग्व्रतविषयस्य ह्रस्वस्य यतो वृद्धिर्वर्धनं पश्चिमाऽऽदिक्षेत्राऽन्तरपरिमाणप्रक्षेपेण दीर्घीकरणं क्षेत्रवृद्धिः। यथा किल केनाऽपि पूर्वाऽपरदिशोः प्रत्येकं योजनशतं गमनपरिमाणं कृतम्। स चोत्पन्नप्रयोजन एकस्यां दिशि नवतियोजनानि व्यवस्थाप्याऽन्यस्यां तु दशोत्तरं योजनशतं करोति। उभ्याभ्यामपि प्रकाराभ्यां योजनशतयरूपस्य परिमाणस्याऽव्याहतत्वादित्येवमेकत्र क्षेत्रं वर्द्धयतो व्रतसापेक्षत्वादतिचारः चतुर्थः ध० २ अधि०। पञ्चा०।

खेत्ताइक्कंत न० (क्षेत्राऽतिक्रान्त) क्षेत्रं सूर्यसन्धितपक्षेत्रं दिनमित्यर्थः। तदतिक्रान्तं येन तत् क्षेत्रातिक्रान्तम्। तस्मिन्, ''जे णे निग्गंथे णिग्गंथी वा फासुएसणिज्जं असणं पाणं खाइमं साइमं अणुग्गए सूरिए पडिग्गहित्ता उग्गए सूरिए आहारमाहारेइ एस णं गोयमा ! खेत्ताइक्कंते पाणभोयणे'' भ० ७ श० १ उ०।

खेत्ताभिग्गह पुं० (क्षेत्राऽभिग्रह) स्वग्रामपरग्रामादिविषये क्षेत्राश्रितभिक्षाऽभिग्रहे, औ०। ग०।

खेत्तारिय पुं० (क्षेत्राऽऽर्य) आर्यक्षेत्रजाते मनुष्ये, प्रज्ञा० १ पद। [आर्यक्षेत्राणि 'आयरिय' शब्दे द्वि० भागे ३३५ पृष्ठे उक्तानि] [अनार्यक्षेत्राणि 'अणारिय' शब्दे प्र० भागे ३१६ पृष्ठे द्रष्टव्यानि]

खेत्तावद्द स्त्री० (क्षेत्रापत्) प्रत्यासन्नग्रामनगरादिरहिताल्पक्षेत्रे, जी० १ प्रति०।

खेत्तोववायगइ स्त्री० (क्षेत्रोपपातगति) उपपातगतिभेदे, प्रज्ञा० १६ पद। ('गइप्पवाय' शब्दे वक्ष्यते)

खेम पुं० न० (क्षेम)। क्षि–मन्। चोरनामगन्धद्रव्ये, वाच०। शिवे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। स्था०। उत्त०। व्याधिरहिततया शिवे, उत्त० २३ अ०। उपद्रवाऽभावे, स्था० ३ ठा० ३ उ०। रा०। निरुपद्रवे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। स्वचक्रपरचक्राद्युपप्लवाऽभावे, बृ० १ उ०। राजविप्लवशून्ये, दश० ७ अ०। जी०। तत्तदुपद्रवाद्यभावापादने, रा०। शान्तौ, सूत्र० २ श्रु० ६ अ०। लब्धस्य परिपालने, ज्ञा० १ श्रु० ५ अ०। प्राप्तज्ञानादिरक्षणे, कल्प० १ क्षण। अशिवाभावात् देशसौख्ये, उत्त० ३ अ०। ज्ञा०। औ०। मुक्तौ, न०। हैम०। पाटलीपुत्रनगरराजजितशत्रोरमात्ये आ० चू० १ अ०। आव०। ''दो खेमाओ'' स्था० २ ठा० ४ उ०।

खेमंकर पुं० (क्षेमङ्कर) क्षेमं करोति ''क्षेमप्रियद्रेऽण् च'' ३। २।४४। इति (पाणि०) खच् मुम् च। वाच०। अनुपद्रवकारिणि रक्षके, सूत्र० २ श्रु० ६ अ०। स्था०। ज्ञा०। औ०। अष्टषष्टितमे महाग्रहे, कल्प० ६ क्षण। चं० प्र०। एकोनसप्ततिमे महाग्रहे ''दो खेमंकरा'' स्था० २ ठा० ४ उ०। भारते वर्षेऽवसर्प्पिण्यां जाते पञ्चमे (जं० २ वक्षे०) ऐरवते वर्षे भविष्यति उत्सर्प्पिण्यां चतुर्थे (स०) भारते वर्षे उत्सर्प्पिण्यां भविष्यति तृतीये च कुलकरे, स्था० १० ठा०। वसन्तपुरस्थनिलयश्रेष्ठिपुत्रे, पिं०। ('परावत्तिय' शब्दे तस्य कथा)

खेमंधर पुं० (क्षेमन्धर) क्षेमं धारयत्यन्यकृतमिति यः स तथा। स्था० ९ ठा०। अनुपद्रवताधारके राज्ञि, ज्ञा० १ श्रु० १ उ०। औ०। भारते वर्षेऽवसर्प्पिण्यां जाते षष्ठे (जं० २ वक्ष०) उत्सर्पिण्यां भविष्यति चतुर्थे, (स्था० १० ठा०।) ऐरवते वर्षे उत्सर्प्पिण्यां भविष्यति पञ्चमे च कुलकरे, स०।

खेमकित्ति पुं० (क्षेमकीर्त्ति) श्रीविजयेन्दुसूरीणां शिष्ये, येन कल्पवृत्तिपूर्त्तिः कृता।

''तार्तीयीकस्तेषां, विनेयपरमाणुरनणुशास्त्रेऽस्मिन्।
श्रीक्षेमकीर्तिसूरि–र्विनिर्ममे विवृतिकल्पमिति ॥२२॥
श्रीविक्रमतः क्रामति, नयनामिगुणेन्दुपरिमिते (१३८६) वर्षे।
ज्येष्ठस्तेतदशम्यां, समर्थितैषा च हस्ताऽर्के ॥२३॥
प्रथमादर्शे लिखिता, नयप्रभप्रभृतियतिभिरेषा।
गुरुग्रन्थेगुरुभक्ति–भरोद्वहनादिवाऽऽनतशिरोभिः ॥२४॥
सूत्रादर्शेषु यतो, भूयस्यो वाचना विलोक्यन्ते।
विषमाश्च भाष्यगाथाः, प्रायः स्वल्पाश्च चूर्णिगिरः ॥२५॥
सूत्रे वा भाष्ये वा, यन्मतिमोहान्मयाऽन्यथा किमपि।
लिखितं वा विवृतं वा, तन्मिथ्या दुष्कृतं भूयात्। बृ० ६ उ०।''

खेमत पुं० (क्षेमत) काकन्दिनगरीवासिनि स्वनामख्याते गृहपतौ, यो हि महावीरान्तिके प्रव्रज्य षोडशवर्षपर्य्यायोऽनशनेन केवलमुत्पाद्य विपुले पर्वते सिद्ध इति। अन्त० ६ वर्ग ५ अ०।

खेमदेव पुं० (क्षेमदेव) कौशाम्ब्यां जाते स्वनामख्याते वणिजे, यस्तृतीयभावे ब्रह्मसेनो नाम वणिग् जातः ध० २ अधि०। ('बम्हसेन' शब्देऽस्य कथा)

खेमपुरा स्त्री० (क्षेमपुरा) पुरीभेदे, 'दो खेमपुराओ'। स्था० २ ठा० ३ उ०। जं०।

खेमपुरी स्त्री० (क्षेमपुरी) पुरीभेदे, या पूर्वं धन्यानामासीत्। दर्श० (अस्याः कथा नैवेद्यपूजायाम्)

खेमराय पुं० (क्षेमराज) विक्रमवत्सराणामष्टशतके अणहिलपट्टननगरराज्यं कृतवति चापोत्कटवंश्ये नृपे, ती० ६ कल्प०।

खेमरूव त्रि० (क्षेमरूप) आकारेण निरुपद्रवे, स्था० ४ ठा० २ उ०। सूत्र।

खेमलज्जिया स्त्री० (क्षेमिलिया) वेशपाटिकगणस्य चतुर्थशाखायाम्, कल्प० ८ क्षण।

खेमलिज्जिया स्त्री० (क्षेमिलिया) 'खेमलज्जिया' शब्दार्थे,

खेय पुं० (खेद) खेदयति मन्दीकरोति कर्म अनेनेति खेदः। संयमे, उत्त० १५ अ०। स्वपरसमयतत्वाधिगमे, आव० ४ अ०। जन्तुदुःखे, आचा० १ श्रु० ४ अ० १ उ०। परिश्रमे, अभ्यासे, ध० २ अधि०। आचा०। श्रमे, आ० म० द्वि०। विशे०। क्लेशे, स्था० ७ ठा०। दैन्ये, 'दैन्ये' इतिवचनात्, औ०। शोके, रोगे, वाच०। प्रवृत्तिजे, क्लमे, द्वा० १८ द्वा०। क्रियास्वप्रवृत्तिहेतौ श्रान्तितायाम्, षो० १४ विव०।

खेय त्रि० खन–कर्मणि यत् टेरेत्। खननीये, परिखायाम्, न० तोयप्रवर्तनाज्ञाते सेतौ, वाच०।

खेयण्ण त्रि० (खेदज्ञ) खेदोऽभ्यासस्तेन जानातीति खेदज्ञः। खेदः श्रमः संसारपर्यटनजनितस्तं जानातीति। आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ०। निपुणे, आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ०। सूत्र० आव०। जन्तुदुःखपरिच्छेत्तरि, आचा० १ श्रु० ४ अ० १ उ०।

खेदं संसारान्तर्वर्तिनां प्राणिनां कर्मविपाकजं दुःखं जानातीति खेदज्ञो दुःखापनोदनसमर्थोपदेशदानात् सूत्र० १ श्रु० ६ अ०। गीतार्थे, ओघ०। ''खेयन्नो'' खेदः सम्यक् प्रायश्चित्तविधेः परिश्रमोऽभ्यासः इत्यर्थस्तं जानातीति खेदज्ञः। तथाविधे आलोचनार्हे गुरौ, ध०२ अधि०।

क्षेत्रज्ञ त्रि०। संसक्तविरुद्धद्रव्यपरिहार्यकुलादिक्षेत्रस्वरूपपरिच्छेदके, आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ०। ''खेयन्ने से कुसले महेसी'' यदि वा क्षेत्रज्ञो यथाऽवस्थितात्मस्वरूपपरिज्ञानादात्मज्ञ इति। अथवा क्षेत्रमाकाशं तज्ज्ञानातीति क्षेत्रज्ञो लोकालोकस्वरूपपरिज्ञातेत्यर्थः। सूत्र० १ श्रु० ६ अ०।

खेयाणुगय त्रि० (खेदानुगत) खेदः संयमस्तेनानुगतः खेदानुगतः। सप्तदशविधसंयमरते, उत्त० १५ अ०।

खेरि स्त्री० (खेरि) परिशाटौ, ''धण्णखेरिं वा'' धान्यस्य खेरिं परिशाटिं दृष्ट्वा पृच्छति। बृ० २ उ०।

खेल न० (खेल) कण्ठमुखश्लेष्मणि, भ० २ श० १ उ०। तं०। आ० म०। प्रव०। स्था०। आव०। विशे०। कफसंघाते, जं० २ वक्ष। निष्ठीवने, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ०। स्था०। उत्त०। ध०। प्रश्न०। तं०। नि० चू०।

खेलग पुं० (खेलक) राज्ञस्तोत्रपाठकेज्ञा० १ श्रु० १ अ०।

खेलण न० (खेलन) खेल ल्यट्। क्रीडायाम्, आधारे ल्युट्। शारिफलके, करणे ल्युट् वाच०। क्रीडासाधने, आ० क०।

खेलपडिय त्रि० (खेलपतित) श्लेष्मपतिते, ''खेलपडियमप्पाणं न तरइ मच्छिआ जहा विमोहे'' ग० २ अधि०।

खेलमल्लग न० (खेलमल्लक) श्लेष्मपरिष्ठापनभाजने, आ० म० प्र०। खेलमल्लकाद् दीक्षां गृहीत्वा स्वयमेव लोचः कृतः। विशे०।

खेलसंचाल पुं० (खेलसंचाल) श्लेष्मसंचारे, ध० २ अधि०। ल०।

खेलासव त्रि० (खेलाऽऽश्रव) खेलं निष्ठीवनं तदाश्रवति क्षरतीति खेलाश्रवम्। श्लेष्मक्षरके, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ०।

खेलोसहि पुं० (खेलौषधि) खेलः श्लेष्म औषधिर्यस्य स तथा। आ० म० प्र०। ग०। तृतीयलब्धियुक्ते, पा०। यत्प्रभावतः श्लेष्मा सर्वरोगापहारकः सुरभिश्च भवति। प्रव० २७० द्वार०। आ० चू०।

खेल्ल न० (खेल) 'खेल' शब्दार्थे।

खेल्लावणधाइ स्त्री० (खेलापनधात्री) कीडनधात्र्याम्, आचा०।

खेल्लूड पुं० (खेल्लूड) अनन्तकायेऽन्नदे लोकरूढिगम्ये, भ० ७ श० २ उ०।

खेव पुं० (क्षेप) खिप घञ्। निन्दायाम्, प्रेरणे, लेपने, हेलायाम्, लङ्घने, करणे घञ्। गर्वे, विलम्बे, कर्मणि घञ् गुच्छे, वाच०। ''क्षेपोन्तरान्तरान्यत्र, चित्तन्यासोऽफलावहः'' (१७) अन्तरान्तरा योगकरणकालस्यैवान्यत्राधिकृतान्यकर्मणि चित्तन्यासः क्षेपः। द्वा० १८ द्वा०। इत्युक्तलक्षणायां क्षिप्तचित्ततायाम्, षो० १४विव०।

खेवण न० (क्षेपण) प्रेरणे, ज्ञा० १ श्रु० २ अ० (नौकायाः क्षेपणं नौकाशब्दे) अपवादे, लङ्घने, मारणे, विक्षेपे, यापने च वाच०।

खोखुब्भमाण त्रि० (क्षोक्षुभ्यमाण) भृशं क्षुभ्यमाणे, औ०। अभिक्षुभ्यति, भयभ्रान्ते, कल्प० ३ क्षण। प्रश्न०। व्याकुलीक्रियमाणे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार।

खोड पुं० (क्षोट) हस्तोपरिप्रस्फोटने, उत्त० १२ अ०।

खोड (घञ्) आलाने, गजबन्धन्याम्, वा। खोटराजकुलदातव्यहिरण्यादिद्रव्ये, व्य० १ उ०। नि० चू०।

खोड त्रि० खोम गतिप्रतिघाते। अच्। खञ्जे, वाच०। काष्ठभयप्राकारे, बृ० १ उ०।

खोडअ पुं० (क्षोटक) **''क्ष्वेटकादौ'' ८।२।६** इत्येनन क्ष्वोः स्थाने खः। अङ्गुलीनखाग्रेण चर्मखण्डनिष्पीमने, प्रा० २ पाद।

स्फोटक पुं० पूर्वसूत्रेण स्फोः अत्र खो। व्रणे, वाच०।

खोडभंग पुं० (खोटभङ्ग) खोटं नामं यत् राजकुले हिरण्याऽऽदि द्रव्यं दातव्यम्। तस्य भङ्गः। खोटभञ्जने ''खोडभंगो त्ति वा अखोडभंगो त्ति वा उक्कोडभंगो त्ति वा एगट्ठं'' व्य० १ उ०। नि० चू०।

खोडिय पुं० (खोटिक) खेतगिरेः क्षेत्रपाले, ती० २ कल्प०।

खोद पुं० (क्षोद) इक्षुरसे, रा०। मधुनि, भ० ७ श० ६ उ०। चूर्णने, पेषणे, (नायं क्षोदक्षमः) आ० म० द्वि०। कर्मणि घञ् रजसि, वाच०।

खोदरस पुं० (क्षोदरस) क्षोदोदसमुद्रे, द्वी०।

खोदवर पुं० (खोदवर) जम्बूद्वीपाऽपेक्षया सप्तमे द्वीपे, स्था० ३ ठा० ४ उ०। चं० प्र०। सू० प्र०।

घतोदे णं समुद्दं खोदवरे णामं दीवे वट्टबलायागारे जाव चिट्ठंति। तहेव जाव० अट्ठो खोदवरेणं दीवे तत्थ तत्थ देसे देसे तहिं खुड्डवावीओ जाव खोदोदगपडहत्थओ उप्पातपव्वतगा सव्ववेरुलिया मया० जाव परिवसंति। से तेणट्ठेणं सव्वं जोइसं तहेव० जाव तारा॥

(से केणंट्ठिणमित्यादि) अथ केनार्थेन भदन्त! एवमुच्यते। क्षोदवरो द्वीपः। भगवानाह–गौतम! क्षोदवरे द्वीपे तत्र तत्र देशे तस्य २ देशस्य तत्र २ प्रदेशे बहवः (खुड्डवावीओ) इत्यादि पूर्ववत् तावद्वक्तव्यं–''यावत् वाणमंतरा देवा देवीउ आसयंति सयंति० जाव विहरंति'' नवरं वाप्यादयः क्षोदोदकवरपरिपूर्णा इति वक्तव्यम्। तथा पवर्तकाः पर्वतेष्वासनानि गृहकाणि गृहकेष्वासनानि मण्डपका मण्डपकेषु पृथिवीशिलापट्टकाः सर्वात्मना वैडूर्यमयाः प्रज्ञप्ताः। सुप्रभमहाप्रभौ च यथाक्रमं पूर्वार्द्धापरार्द्धाधिपती द्वौ देवावत्र क्षोदवरे द्वीपे महर्द्धिकौ यावत्पल्योप-मस्थितिकौ परिवसतः। तत्र क्षोदोदकवाप्यादियोगात् क्षोदवरः स द्वीपः। अत एवाह–(से एएणट्ठे–णमित्यादि) चन्द्रादिसूत्रं प्रागवत् (खोदवरेणं दीवमित्यादि) क्षोदवरं णमिति पूर्ववत्। द्वीपं क्षोदोदो नाम समुद्रो वृत्तो वलयाकारसंस्थानसंस्थितः सर्वतः समन्तात् संपरिक्षिप्य तिष्ठति। चक्रवालविष्कम्भादिवक्तव्यता पूर्ववत् यावज्जीवोपपातसूत्रम्। जी० ३ प्रति०।

खोदोदय पुं० (क्षोदोदक) क्षोद इक्षुरस इवोदकं यस्य स तथा सूत्र० १ श्रु० ६ अ०। लवणसमुद्रापेक्षया सप्तमे समुद्रे, स्था ७ ठा०।

खोदवरं णं दीवं खोदोदे नाम समुद्दे वट्टे वलया० जाव संखेज्जाइं जोयणसतपरिक्खेवेणं० जाव अट्ठे, गोयमा ! खोओदस्स णं समुद्दस्य उदये जहा से आसलमासलपसत्थे वीसंतनिद्धसुकु-मालभूमिभागेसु छिन्नेसु कट्ठलट्ठविसट्ठनि रूवहयवीयवावितेसु कासगपत्तयनिउणपरिकम्मअणुपालियसुबुद्धिवुट्ठाण सुजाताणं लवणतणदोसवज्जिताणं णयायपरिवट्टियाणं निम्मातसुन्दराणं परिणयमउपीण-परिभंगुरसुजातमधुररसपुप्फविरियाणं उपहवविवज्जिताणं सीयपरिफासियाणं अभिणवभग्गाणं अभिलताणं तिभायाणिच्छोडियवडगाणं अविणीतमूलाणं गंधपरिसोहिताणं कुसलनरकप्पियाणं उव्वुट्ठाणं जाव पंडुयाणं चवलगणरजं तजुत्तपरिगालितमेत्ताणं खोयरसे होज्ज वत्यवपरिपूये चाउजातगसुवासिते अहियपसत्थलहुगोवण्णेणं उववेतो तहेव भवेयारूवे सिया, नो तिणट्ठे समट्ठे खोयरस्स णं समुद्दस्स उदये एत्तो इट्ठतराए चेव० जाव आसाएणं पण्णत्ते पुण्णभद्दमाणिभद्दा इत्थ दुवे देवा० जाव परिवसन्ति। सेसं तहेव जोतिसं संखेज्जं चंदाई ॥

अथ केनाऽर्थेन भदन्त ! एवमुच्यते क्षोदोदः समुद्रः क्षोदोदसमुद्र? इति। भगवानाह–गौतम ! क्षोदोदस्य समुद्रस्य उदकं स यथा नाम इक्षूणां जात्यानाम्। जात्यत्वमेवाह–वरपुन्द्रगाणां विशिष्टानां पुन्द्रदेशोद्भवानां हरितानां शाड्वलानां भेरण्डेक्षूणां वा भेरण्डदेशोद्भवानां वा इक्षूणां (कासपोराणं ति) कृष्णपर्वणाम् उपरितनपत्रसमूहापेक्षया हरितालवत् पिञ्जराणां अपनीतमूलानामपनीमूलत्रिभागानां त्रिभागनिर्वाटितवाटा-नामूर्ध्वभागादपि त्रिभागहीनानामितिभावः, मध्यत्रिभागाव-शेषाणामिति समुदायाऽर्थः। (गंठिपरिसोहियाणं ति) ग्रन्थिः पर्वग्रन्थिः शोधितोऽपनीतो येभ्यस्ते तथा, तेषां मूलत्रिभाग उपरितनत्रिभागे पर्वग्रन्थौ च नातिसमीचीनो रस इति वद्वर्जनं क्षोदरसो भवेत् वस्त्रपरिपूतः श्लक्ष्णवस्त्रपरिपूतश्च चतुर्जातकेन सुष्ठु अतिशयेन वासितश्चतुर्जातकं त्वगेलाकेसराख्यगन्धद्रव्यमरिचात्मकम्। ''त्वगेलाकेसरैस्तुल्यं, त्रिसुगन्धं त्रिजातकम्। मरिचेन समायुक्तं, चतुर्जातकमुच्यते ॥१॥ अधिकमतिशयेन पथ्यं न रोग हेतुः लघुः परिणामलघुर्वर्णन सामर्थ्यादतिशायिना उपपेतः। एवं गन्धेन रसेन स्पर्शनोपपेतः आस्वादनीयो विस्वादीनयो दर्पणीयो मदनीयो बृंहणीयः सर्वेन्द्रियो गात्रप्रल्हादनीयः। एवमुक्ते गौतम आह–(भवेयारूवे) भवेद् भगवन् ! क्षोदोदकसमुद्रस्योदकमेतद्रूपम्। भगवानाह–नायमर्थः समर्थः, क्षोदोदकस्य यस्मात्समुद्रस्य उदकमस्मात् यथोक्तरूपात् क्षारोदरसात् इष्टतरमेव यावन्मन आपतरमेव आस्वादेन प्रज्ञप्तम्। इह प्रविरलपुस्तके अन्यथाऽपि पाठो दृश्यते, सोऽप्येतदनुसारेण व्याख्येयो बहुषु पुस्तकेषु न दृष्ट इति न लिखितः। पूर्णापूर्णप्रभौ च यथाक्रमं पूर्वार्द्धापरार्द्धाधिपती अत्र क्षोदोदे समुद्रे द्वौ देवौ महर्द्धिकौ यावत्पल्योपमस्थितिकौ परिवसतः। ततः क्षोद इव क्षोदरस इव उदकं यस्य स क्षोदोदः। तथा चाह– (से एएट्ठेणमित्यादि) गतार्थम्। चन्द्रादिसङ्ख्यासूत्रं प्राग्वत्। जी० ३ प्रति०। सू० प्र०। चं० प्र०। प्रज्ञा०। इक्षुरसवद् मिष्टोदकासु वापीषु, जी० ३ प्रति०। जं०। रा०। इक्षुसमुद्रसत्केक्षुरसोदके, प्रज्ञा० १ पद। जी०।

खोद्दाहार त्रि० (क्षौद्राहार) मधुभोजिनि, भ० ७ श० ६ उ०।

खोभ पुं० (क्षोभ) संभ्रमे, आव० ५ अ०। आ० म०।

खोभित्तए अव्य० (क्षोभयितुम्) एतद् (विवक्षित) विषयं क्षोभं कर्तुमित्यर्थे। उपा० २ अ०। संशयिनो विपरिणामयितुमित्यर्थे च, उपा० २ अ०। रा०।

खोभिय त्रि० (क्षोभित) स्वस्थानाचालिते, रा०। जं०।

खोभेत त्रि० (क्षोभयत्) ईषद् भूमिमुत्कीर्य्य तत्र प्रवेशयति। ज्ञा० १ श्रु० ३ क०। सीदयति च। नि० चू० १७ उ०।

खोम न० (क्षौम) कार्पासिकेऽतसीमये वा वस्त्रे, भ० ११ श० ११ उ०। जं०। रा०। ज्ञा०। जी०। स्था०।

खोमगपसिण न० (क्षौमकप्रश्न) प्रश्नविद्याभेदे, यया क्षौमके (वस्त्रे) देवतावतारः क्रियते। पूर्वं प्रश्नव्याकरणानां षष्ठमासीदिदानीं तु नोपलभ्यते। स्था० १० ठा०।

खोमजुयल न० (क्षौमयुगल) कार्पासिकवस्त्रयुगले, उपा० १ अ०।

खोमिय न० (क्षौमिक) अतसीमये–(कल्प २ क्षण)–कार्पासिके वा वस्त्रे, नि० चू० ५ अ०। सू० प्र०। आचा० स्था०।

खोय पुं० (क्षोद) 'खोद' शब्दार्थे।

खोयाहार पुं० (क्षोदाहार) भूक्षोदेनाहारो येषां ते भूमिं विदार्य्य मत्स्याद्याहारकेषु, दुःषमदुःषमामनुष्येषु, भ० १७ श० ६ उ०।

खारेय न० (खोरक) वृत्ताकारे भाजनविशेषे, व्य० १ उ०। रूप्यमये महाप्रमाणभाजने, ''तुज्झ पिया मह पिउणो, धारेइ अणूणगं सयसहस्सं। जइ सुयपुव्वं दिज्जउ, अह ण सुयं खोर यं देहि '' नं०। दश०। व्य०। आ० चू०। आ० म०। ('वेणइया' शब्दे कथा)

खोल न० (खोल) मद्याधःकर्दमे, आचा० २ श्रु० १ अ० ८ उ०। मद्यकिट्टविशेषे, बृ० १ उ०। तच्च मध्येन विकृतिः। पं० व० २ द्वार। गोरसभाविते वस्त्रोपेते, बृ० १ उ०। राजपुरुषे, पिं०।

खोल्ल न० (खोल) कन्थायाम्, खोल्लं कोत्थरम्, नि० चू० १५ उ०। कोरण्टे, बृ०।

॥ इति श्रीमत्सौधर्मबृहत्तपागच्छीय–कलिकालसर्वज्ञकल्प–श्रीमद्भट्टारक–
जैनश्वेताम्बराचार्य श्री श्री १००८ श्री विजयराजेन्द्रसूरिविरचि–
ते अभिधानराजेन्द्रे खकारादिशब्दसङ्कलनं समाप्तम् ॥

गकार

गज पुं०(गज) **''क–ग–च–ज–त–द–प–य–वां प्रायो लुक्''** ८। १। **७७।** इति जलुक्, हस्तिनि,प्रा० १ पाद।

गत पुं०। **क–ग–च–ज०** ८।१। **१७७।** इत्यादिना तुलक् प्रा० १ पाद। याते, अह आसगओ राया '' उत्त० १८ अ०।

गआ स्त्री० (गदा) **''क–ग–च–ज–त–द०''** ८।१। **१७७।** इत्यादिना दलुक् 'गआ' दण्डकीलितलौहादिमयगोलकलक्षणेऽस्त्रभेदे, प्रा० १ पाद।

गइ स्त्री० (गति) गम् भावादौ यथायथं क्तिन्। गमने, औ०। सूत्र०। स्था०। दर्श०। चलने, मण्ड०। गतिः प्रवृत्तिः क्रम इति यावत् विशे । पादविहरणादिक्रियायाम्, दर्श०।

देवगतिः–

उक्किट्ठाए तुरियाए चवलाए चंडाए जयणाए उद्धूआए सिग्घाए दिव्वाए देवगईए॥

(उक्किट्ठाए त्ति) उत्कृष्टया अन्येषां गतिभ्यो मनोहरया (तुरियाए त्ति) त्वरितया, चित्तौत्सुक्यवत्या (चवलाए त्ति) कायचापल्यवत्या (चंडाए त्ति) चण्ड्या तीव्रया (जयणाए त्ति) शेषगतिजयनशीलया (उद्धूआए त्ति) उद्धूतया प्रचण्डपवनोद्धूतधूमादेरिव (सिग्घाए त्ति) शीघ्रया 'छेयाए' त्ति कुत्रचित्पाठः तत्र छेकया विघ्नपरिहारदक्षया (दिव्वाए त्ति) देवयोग्यया ईदृश्या (देवगईए त्ति) देवगत्या। कल्प २ क्षण। भ०। सञ्चरणे, जं० ३ वक्ष०। (ज्योतिष्काणां गतिः 'जोइसिय' शब्दे वक्ष्यते) अण्वादीनां गमनपरिणामे, विशे । उत्पत्तिस्थानगमने, स्था० ६ ठा०। प्रज्ञापकस्थानापेक्षया मृत्वान्यत्र गमने, (सा चतसृषु दिक्षिवति 'दिसा' शब्दे वक्ष्यते) मरणानन्तरं मनुजत्वादेः सकाशात् नारकत्वादौ जीवस्य गमने, ''एगा गती'' सा चैकस्यैकैव ऋज्वादिका नरकगत्यादिकपुद्गलस्य वा स्थितिवैलक्षण्यमात्रतया चैकतयैकस्वरूपा सर्वजीवपुद्गलामिति। स्था० १ ठा० १ उ०। ''एगस्स जंतो गतिरागती य'' एकस्याऽसहायस्य जन्तोः शुभाशुभसहायस्य गतिर्गमनं परलोके भवति। तथा आगतिरागमनं भवान्तरादुपजायते, कर्मसहायस्यैवेति। उक्तं च– ''एकः प्रकुरुते कर्म, भुनक्त्येकश्च तत्फलम्। जायते म्रियते चैक, एको याति भवान्तरम् ॥१॥'' इत्यादि। तदेवं संसारे परमार्थतो न कश्चित्सहायो धर्ममेकं विहायैतद्विगणय्य मुनीनामयं मौनः संयमस्तेन तत्प्रधानं वा ब्रूयादिति। सूत्र० १ श्रु० १३ अ०। गतिर्द्विधा, स्पृशद्गतिः, अस्पृशद्गतिश्च, उपरिष्टाद् व्याख्यास्यते। आ० म० द्वि०। ''गई दुविहा'' (१२३ गाथाङ्क) गतिर्वा द्विविधेति। तत्र गमनं गच्छति वा अनयेति गतिः। द्वे विधे यस्याः सेयं द्विविधा, दैविध्यं वक्ष्यमाणलक्षणमिति गाथार्थः। तथा चेदमेव द्वैविध्यमुपदर्शयन्नाह–द्विविधा गतिः, कन्दुकगतिरिलिकागतिश्च। पं० सं० (अनयोः स्वरूपं स्वस्वथाने उक्तम्) गम्यते तथाविधकर्मसचिवैर्जीवैः प्राप्यते इति गतिः। कर्म ६ कर्म०। प्रज्ञा०। गम्यते प्राप्यते स्वकर्मरजसा समाकृष्टैर्जन्तुभिरिति गतिः। प्रव० १५ द्वार। गतिः नामकर्मोदयान्नारकत्वतिर्यक्त्वमनुजत्वलक्षणपर्यायपरिणतौ, कर्म० ४ कर्म०। पं० सं०। सा चतुर्धा नारकगतिस्तिर्यग्गतिर्मनुष्यगतिर्देवगतिश्च। तद्विपाकवेद्यायां कर्मप्रकृतौ च। साऽपि चतुर्धा। पं० सं० ३ द्वार। अत्राह–ननु सर्वेऽपि पर्याया जीवेन गम्यन्ते प्राप्यन्ते इति सर्वेषामपि तेषां गतित्वप्रसङ्गस्तथा च प्राग्गतिशब्दस्यैवमेव व्युत्पत्तिर्दर्शितेति ? नैवम्। यतो विशेषेण व्युत्पादिता अपि शब्दा रूढितो गोशब्दवत्प्रतिनियतमेवार्थं विषयीकुर्वन्तीत्यदोषः। कर्म० १ कर्म०। आचा०। स०। विशे । उत्त०। दर्श०। भ०। प्रव०।

पञ्चधा–

पंच गईओ पण्णत्ताओ। तं जहा–निरयगई, तिरियगई, मणुयगई, देवगई, सिद्धिगई॥

गमनं गतिर्गम्यत इति वा गतिः क्षेत्रविशेषो गम्यते वा अनया कर्मपुद्गलसंहत्येति गतिर्नामकर्मोत्तरप्रकृतिरूपा तत्कृता वा जीवावस्थितिः। तत्र निरये नरके १ गतिर्निरयश्चासौ गतिश्चेति वा २ निरयप्रापिका वा गतिः ३ निरयगतिः। एवं तिर्यक्षु ? तिरश्चां २ तिर्यक्त्वप्रसाधिका वा गतिः ३ तिर्यग्गतिः एवं मनुष्यदेवगती सिद्धौ गतिः सिद्धिश्चासौ गतिश्चेति वा सिद्धिगतिरिह नामप्रकृतिर्नास्तीति। स्था० ५ ठा० ३ उ०। प्रव०।

अष्टधा वा–

अट्ठ गईओ पण्णत्ताओ। तं जहा–निरयगई, तिरियगई,० जाव सिद्धिगई, गुरुगई पणोल्लणगई, पब्भारगई॥ **स्था०**॥

(अट्ठगईओ इत्यादि) सुगमम्। नवरम् गुरुगइ त्ति भावप्रधानत्वात् निर्देशस्य गौरवेण ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्गमनस्वभावेन या परमाण्वादीनां स्वभावतो गतिः सा गरुगतिरिति। या तु परप्रेरणात्सा प्रणोदनगतिर्वादीनामिव। या तु द्रव्यान्तराक्रान्तस्य सा प्राग्भारगतिर्यथा नावादेरधोगतिरिति। स्था० ८ ठा०।

यद्वा दशधा–

दसविहा गई पण्णत्ता। तं जहा–निरयगई, निरयविग्गहगई, तिरियगई, तिरियविग्गहगई, एवं० जाव सिद्धगई, सिद्धविग्गहगई॥

(विशेषः निरयगत्यादिशब्देषु) (एकेन्द्रियादयो जीवा मृत्वा क्व गच्छन्ति इत्यत्र 'उववाय' शब्दे द्वि० भा० ६१६ पृष्ठे गतीनामुपपातविरहश्च तत्रैव ६१५ पृष्ठे च) सर्वं सूत्रकदम्बकमवतारणीयम्। प्रज्ञा०। नवरमिह–प्रव० १६१ द्वार। (गतिषु जीवस्थानगणस्थानचिन्तामार्गणा 'ठाण' शब्दे करिष्यते) नारकादीनां शीघ्रा गतिः–

णेरइयाणं भंते ! कहं सीहा गई कहं सीहागइविसए पण्णते ? गोयमा ! से जहाणामए केइ पुरिसे तरुणे वलवं

जुगवं० जाव णिनुणसिप्पोवगए आउंटिअं वाहं पसारेज्जा, पसारियं वाहं आउंटेज्जा, विकिण्णं वा मुट्ठिं साहरेज्जा, साहरियं वा मुट्ठिं विक्खिरेज्जा, उम्मिसियं वा अच्छिं णिम्मिसेज्जा, णिम्मिसियं वा अच्छिं उम्मिसेज्जा, भवे एआरूवे णो इणट्ठे समट्ठे णेरइयाणं एगसमएण वा दुसमएण वा तिसमएण वा विग्गहेणं उववज्जंति ऐरइयाणं तहा सीहा गई तहा सीहे गइविसइए पण्णत्ते एवं० जाव वेमाणियाणं। णवरं एगिंदियाणं चउसमइए विग्गहे भाणियव्वे सेसं तं चेव।

''णेरइयाणं'' इत्यादि (कहं सीहा गइ त्ति) कथं केन प्रकारेण कीदृशीत्यर्थः। शीघ्रा गतिर्नारकाणामुत्पद्यमानानां शीघ्रा गतिर्भवतीति प्रतीतम्। यादृशेन च शीघ्रत्वेन शीघ्राऽसावि ति च न प्रतीतमित्यतः प्रश्नः कृतः (कहं सीहे गइविसए त्ति) कथमिति कीदृशः (सीहे त्ति) शीघ्रगतिहेतुत्वाच्छीघ्रः गतिविषयो गतिगौचरस्तद्धेतुत्वात्काल इत्यर्थः। कीदृशी शीघ्रा गतिः कीदृशश्च तत्काल इति तात्पर्यम् (तरुणे त्ति) प्रवर्द्धमानवयाः स च दुर्बलोऽपि स्यादत आह–(बलवं ति) शरीरप्राणवान्, बलं च कालविशेषा द्विशिष्टं भवतीत्यत आह–(जुगवं ति) युगं सुषमदुःषमादिः कालविशेषस्तत्प्रशस्तविशिष्टबलहेतुभूतं तस्यास्त्यसौ युगवान् यावत्करणादिदं दृश्यम्। (जुवाणे) वयः प्राप्तः (अप्पायङ्के) अल्पशब्दस्याभावार्थत्वादनातङ्को नीरोगः (थिरग्गहत्थे) स्थिराग्रहस्तः सुलेखकवत् (दढपाणिपायपासविट्ठंतरोरुपरिणए) दृढं पाणिपादं यस्य पार्श्वौ पृष्ठ्यन्तरे च उरू च परिणते परिनिष्ठिततां गते यस्य स तथा उत्तमसंहनन इत्यर्थः। (तलजमलजुयलपरिघनिभबाहू) तलौ तालवृक्षौ तयोर्यमलं समश्रेणीकं यद्युगलद्वयं परिघश्चार्गला तन्निभौ तत्सदृशौ दीर्घसरलपीनत्वादिना बाहू यस्य स तथा (चम्मेट्ठदूहणमुट्ठियसमाहयनिचियगायकाए) चर्म्मेष्टया द्रुघणेन मुष्टिकेन च समाहतानि अभ्यासप्रवृत्तस्य निचितानि गात्राणि यत्र स तथाविधः कायो यस्य स तथा। चर्मेष्टादयश्च लोकप्रतीताः (''ओरसबलसमण्णागए'') आन्तरबलयुक्तः (लंघणपवणजइणवायामसमत्थे) जवनशब्दः शीघ्रवचनः (छेए) प्रयोगज्ञः (दक्खे) शीघ्रकारी। (पत्तट्ठे) अधिकृतकर्म्मणि निष्ठां गतः (कुसले) आलोचितकारी (मेहावी) सकृच्छ्रुतदृष्टकर्मज्ञः [निउणे त्ति] उपायारम्भकः एवं विधस्य हि पुरुषस्य शीघ्रं गत्यादिकं भवतीत्यतो बहुविशेषणोपादानमिति। (आउंटियं ति) संकोचितम् (विकिण्णं ति) विकिर्णां प्रसारिताम्। [साहरेज्जत्ति] संहरेत्। संकोचयेत् [विक्खिरेज्ज त्ति] विकिरेत् प्रसारयेत् (उम्मिसियं ति) उन्मिषितं उन्मीलितम्। (निमिसेज्जत्ति) निमीलयेत् (भवे एआरूवे त्ति) काङ्क्षा ध्येयं, काकुपाठे चायमर्थः। स्याद्यदुत एवं मन्यसे त्वं गौतम! भवेत् तद्रूपं भवेत्स स्वभावः शीघ्रताया नारकगतेस्तद्विषयस्य च यदुक्तविशेषणपुरुषबाहुप्रसारणादेरिति। एवं गौतममतमाशङ्क्य भगवानाह–नायमर्थः। अथ कस्मादेवम्? इत्याह–(णेरइयाणं इत्यादि) अयमभिप्रायः नारकाणां गतिरेकद्वित्रिसमया बाहुप्रसारणादिका असङ्ख्येयसमयेति। कथं तादृशी गतिर्भवति नारकाणामिति तत्र च (एगसमएण व त्ति) एकेन समयेन उपपद्यन्त इति योगः। ते च ऋजुगतावेव, वाशब्द विकल्पे। अह च विग्रहशब्दो न सम्बन्धितस्तस्यैकसामायिकस्याऽभावात्। (दुसमयेण व त्ति) द्वौ समयौ यत्र स द्विसमयः तेन विग्रहेणेति योगः। एवं त्रिसमयेन वा विग्रहेण वक्रेण, तत्र द्विसमयो विग्रह, एवं यदा भरतस्य पूर्वस्या दिशो नरके पश्चिमायामुत्पद्यते तदैकेन समयेनाधो याति द्वितीयेन तु तिर्यगुत्पत्तिस्थानमिति। त्रिसमयविग्रहस्त्वेवम् यदा भरतस्य पूर्वदक्षिणाया दिशो नरकेऽपरोत्तरायां दिशि गत्वोत्पद्यते तदा एकेनाधः समश्रेण्या याति, द्वितीयेन च तिर्यक्पश्चिमायां, तृतीयेन तु तिर्यगेव वायव्यां दिश्युत्पत्तिस्थानमिति। तदनेन गतिकाल उक्तः। एतदभिधानाच्च शीघ्रा गतिर्यादृशी तदुक्तमिति। *अथ निगमयन्नाह–('णेरइयाणं'* इत्यादि) (तहा सीहा गइ त्ति) यथोक्तष्टतः समयत्रये भवति। (तहा सीहे गइविसए त्ति) तथैव (एगिंदियाणं चउसमइए विग्गहे त्ति) उत्कर्षतश्चतुःसमय एकेन्द्रियाणां विग्रहो वक्रगतिर्भवति। कथम्? उच्यते–त्रसनाड्या बहिस्तादधोलोके विदिशो दिशं यात्येकेन जीवानामनुश्रेणिगमनात्। द्वितीयेन तु लोकमध्ये प्रविशति तृतीयेनोर्ध्वं याति। चतुर्थेन तु त्रसनाडीतो निर्गत्य दिग्व्यवस्थितमुत्पादस्थानं प्राप्नोतीति। एतच्च बाहुल्यमङ्गीकृत्योच्यते, अन्यथा पञ्चसमयोऽपि विग्रहो भवेदेकेन्द्रियाणाम्। तथाहि–त्रसनाड्या बहिस्तादधोलोके विदिशो दिशं यात्येकेन, द्वितीयेन लोकमध्ये, तृतीयेनोर्ध्वलोके, चतुर्थेन ततस्तिर्यक्पूर्वादिदिशो निर्गच्छति। ततः पञ्चमेन विदिग्व्यवस्थितमुत्पत्तिस्थानं यातीति। उक्तं च–''विदिसा उ दिसिं पढमे, बीए पइसरइ नाडि मज्झम्मि। उड्ढुत्तइए तुरिए, दिसिइ विदिसिं तु पंचमए''॥१॥ इति। (सेसं तं चेव त्ति) ''पुढविकाइयाणं भंते! कहं सीहा गई'' इत्यादि सर्वं यथा नारकाणां तथा वाच्यमित्यर्थः। भ० १४ श० १ उ०। (निर्ग्रन्थानां गतिः 'णिग्गंथ' शब्दे) (सामायिकादिसंयतानाञ्च 'संजय' शब्दे) (सामाइयशब्दे च सामायिकवताम्) (गतिमाश्रित्याल्पबहुत्वादि 'अप्पाबहुय' शब्दे प्र० भागे ६३० पृष्ठे विचिन्तितम्) (अथ के कतिगतिका कत्यागतिक इति 'आगइ' शब्दे द्वि० भागे ४६ पृष्ठे विचिन्तितम्) भवान्तरस्थितौ, कल्प ६ क्षण। गम्यते सौस्थ्याय दुस्थैराश्रीयते इति गतिः। कल्प २ क्षण। दुस्थितैः सुखार्थमभिगम्यमाने शरणे, औ०। सिद्धैर्गम्यते इति गतिः कर्म्मसाधनः। दश० १ अ०। सिद्धौ तस्याः सिद्धैर्गम्यमानत्वात् भ० १ श० १ उ०। विशे । रा०। सर्वे गत्यर्था ज्ञानार्था इति। सूत्र० १ श्रु० १५ अ०। अवबोधे, विशे । प्रमाणे, आधारे क्तिन्। शरणे, पथिस्थाने च। गम्यते कर्म्मणि क्तिन् स्वरूपे, विषये, करणे क्तिन् अभ्युपाये, नामीद्गणे, पाणिन्युक्तेषु प्रादिषु शब्दविशेषेषु, ''उपसर्गाः क्रियायोगे'' १। ४५६। ''गतिश्च'' १। ४। ६०। वाच०।

सम्प्रति किं सर्वा अपि प्रकृतयः सर्वासु गतिषु प्राप्यन्ते किं वा न? इतिसंशये सति तदपनोदार्थमाह–

तित्थगरदेवनिरियाउगं च तिसु तिसु गइसु बोधव्वं।
अवसेसा पयडीओ हवंति, सव्वासु वि गइसु॥६४॥

तीर्थकरनामदेवायुर्नरकायुश्च प्रत्येकं तिसृषु तिसृषु गतिषु बोद्धव्यम्। तथाहि–तीर्थकरनाम नरकदेवमनुष्यगतिरूपासु तिसृषु गतिषु सत्प्राप्यते, न तिर्य्यग्गतावपि तीर्थकरसत्कर्म्मणस्तिर्यक्षूत्पादाभावात्। तत्र गतस्य च तीर्थकरनामबन्धासंभवात्तथा भवस्वाभाव्यात्। तथा तिर्यग्मनुष्यदेवगतिषु च देवायुर्न

नरकगतौ, नैरयिकाणां देवायुर्बन्धाऽभवात्। तिर्यङ्मनुष्यनरकगतिषु च नरकायुः, न देवगतौ देवानां नरकायुर्बन्धाभावात्। शेषाः प्रकृतयः सर्वास्वपि गतिषु सत्तामधिकृत्य प्राप्यन्ते ॥६४॥ कर्म० ६ कर्म०।

गइंद पुं० (गजेन्द्र) गजानामिन्द्रो गजेन्द्रः। शेषगजेभ्योऽधिके, ''वीरो गइंदमयगलसललियगयविक्कमो भयवं'' गजेन्द्रमदकलसललितगत-विक्रमः। अत्रापि मदकलशब्दस्य विशेषणभूतस्य विशेष्यात्परनिपातः प्राकृतत्वात्, मदकलो मदमभिगृद्धानस्तरुणो, गजानामिन्द्रो गजेन्द्रः शेषगजेभ्यो गुणैरधिकत्वात्, मदकलश्चासौ गजेन्द्रश्च मदकलगजेन्द्रः तस्येव सललितो मनोज्ञलीलया सहितो गतरूपो गमनरूपो विक्रमो यस्य स तथा। चं० प्र० १ पाहु०।

गइंदपय न० (गजेन्द्रपद) गिरिनालपर्वतशिरस्थे जलतीर्थे, ती० ३ कल्प ।(दशार्णकूटपर्वते तस्य गजेन्द्रपदता 'अणिस्सिओवहाण' शब्दे ३३८ पृष्ठे)

गइकल्लाण पुं० (गतिकल्याण) गतिर्देवगतिलक्षणा, कल्याणं येषां ते गतिकल्याणाः। स०। स्था०। देवलोकरूपया शोभनगत्या वा कल्याणेषु, सूत्र०। २ श्रु० २ अ०। गता, आगामिन्यां मनुष्यगतौ, कल्याणं मोक्षप्राप्तिलक्षणं येषां ते। अनन्तरागामिनि भवे मोक्ष्यमाणेषु, ''अणुत्तरोववाइयाणं गइकल्लाणाणं ठिइकल्लाणाणं'' कल्प ६ क्षण।

नइकाय पुं० (गतिकाय) चतसृष्वपि गतिषु नारकादीनां देहाभिन्नत्वेन शरीरसमुच्छ्राये, आव० ५ अ०। निरयगत्यादिषु, प्रत्येकं प्रत्येकं समापद्यमाने काये, आ० चू० ५ अ०। (गतिसमापन्नस्य कायः 'काय' शब्दे अस्मिन्नेव भागे ४४५ पृष्ठे उपापादि)

गइचंचल त्रि० (गतिचञ्चल) चञ्चलशब्दवक्ष्यमाणार्थके चञ्चलभेदे, वृ० १ उ०।

गइचवल त्रि० (गतिचपल) गतिश्चपला स्वरूपत एव यस्य तद्गतिचपलम्। चञ्चले, औ०।

गइणाम न० (गतिनामन्) गतिर्नारकादिपर्यायपरिणतिः, तद्विपाका कर्म्मप्रकृतिरपि गतिः सैव नाम गतिनाम। कर्म्म० १ कर्म०। नामकर्म्मभेदे, यदुदयात् नारकादित्वेन जीवो व्यपदिश्यते। स० ४२ सम०। प्रव०। श्रा०। पं० सं०।

गइनामनिहत्ताउ न० (गतिनामनिधत्तायुष्) गतिर्नारकगत्यादि तल्लक्षणं नामकर्म्म तेन सह निधत्तं निषिक्तमायुर्गतिनामनिधत्तायुः। आयुर्बन्धभेदे। स०। भ०। प्रज्ञा०।

गइपरिणाम पुं० (गतिपरिणाम) गतिर्देवादिका तां नियतां येन स्वभावेनायुर्जीवं प्रापयति स आयुषो गतिपरिणामः। आयुः परिणामभेदे, स्था० ६ ठा० ग०। देशान्तरप्राप्तिलक्षणे जीवपरिणामे, सूत्र० १ श्रु० १३१ उ०।

अधुना द्विविधं गतिपरिणाममाह–

गतिपरिणामे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ? गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते, तं जहा–फुसमाणगतिपरिणामे य, अफुसमाणगति-परिणामे य।

(गतिपरिणामे णं भंते ! इत्यादि) द्विविधो गतिपरिणामः। तद्यथा–स्पृशद्गतिपरिणामः, अस्पृशद्गतिपरिणामश्च। तत्र वस्त्वन्तरं स्पृशतो यो गतिपरिणामः स स्पृशद्गतिपरिणामः, यथा–ठिक्करिकाया जलस्योपरि यत्नेन तिर्यक् प्रक्षिप्तायाः, सा हि तथा प्रक्षिप्ता सती अपान्तराले जलं स्पृशन्ती स्पृशन्ती गच्छति बालजनप्रसिद्धमेतत्। तथाऽस्पृशतो गतिपरिणामोऽस्पृशद्गतिपरिणामो यद्वस्तु न केनापि सहाऽपान्तराले संस्पर्शनमनुभवति तस्यास्पृशद्गतिपरिणाम इतिभावः। अन्ये तु व्याचक्षतेस्पृशद्गतिपरिणामो नाम येन प्रयत्नविशेषात् क्षेत्रप्रदेशात् स्पृशद्गच्छति। अस्पृशद्गतिपरिणामो येन क्षेत्रप्रदेशान्न स्पृशन्नेव गच्छति। तन्न बुद्ध्यामहे , नभः सर्वव्यापितया तत्प्रदेशसंस्पर्शव्यतिरेकेण गतेरसम्भवात्। बहुश्रुतेभ्यो वा परिभावनीयम्।

अत्रैव प्रकान्तरमाह–

अहवा दीहगतिपरिणामे य हस्सगतिपरिणामे य इति।

अथवेति प्रकारे अन्यथा वा गतिपरिणामो द्विविधः। तथा-दीर्घगतिपरिणामः, ह्रस्वगतिपरिणामश्च। तत्र विप्रकृष्टदेशा-न्तरप्राप्तिपरिणामो दीर्घगतिपरिणामः। तद्विपरीतो ह्रस्वगतिपरिणामः। प्रज्ञा० १३ पद। गतिर्नैरयिकत्वादिपर्य्यायपरिणतिः, गतिरेव परिणामो गतिपरिणामः, जीवपरिणामभेदे, प्रज्ञा० १२ पद। स चतुर्द्धा ''गतिपरिणामे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ? गोयमा ! चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा–नेरइयगतिपरिणामे, तिरियगतिपरिणामे, मणुयगतिपरिणामे, देवगतिपरिणामे।'' प्रज्ञा० १२ पद।

गइपरियाय पुं० (गतिपर्य्याय) चलने, स्था०। (सा च त्रिभिः षड्भिर्वा दिग्भिः प्रवर्त्ततोस्था० ६ ठा०। इति ''दिसा'' शब्दे) मृत्वा वा गत्यन्तरे गमनलक्षणो यच्च वैक्रियलब्धिमान् गर्भान्निर्गत्य प्रदेशतो बहिः संग्रामयति स वा गतिपर्य्यायः। स्था० २ ठा० ३ उ०। (गतिपर्यायश्च द्वयोरेव गर्भस्थयोः मनुष्याणां पञ्चेन्द्रियतिरश्चां च)

गइपुव्विदुग न० (गतिपूर्वीद्विक) इह पूर्वीशब्देनाऽऽनुपूर्वी भण्यते। आनुशब्दलोपः ''ते लुग्वा'' सिद्ध० ३। २। १०८। इतिसूत्रेण, यथा देवदत्तः देवः दत्त इति। ततो नरकादिगतिनरकाद्यानुपूर्वी स्वरूपे नरकादिद्विके, कर्म्म० १ कर्म०।

गइपुव्वितिग न० (गतिपूर्वीत्रिक) नरकाद्यायुःसमन्विते नरकादित्रिके, कर्म० १ कर्म०।

गइप्पवाय पुं० (गतिप्रपात) गमनं गतिः प्राप्तिरित्यर्थः। प्राप्तिश्च देशान्तरविषया पर्य्यायान्तरविषया च, उभयत्रापि गतिशब्दप्रयोग-दर्शनात्। तथाहि–क्व गतो देवदत्तः ? पत्तनं गत; तथा वचनमात्रेणाप्यसौ गतः कोपमिति लोकान्तरेऽप्युभयथा प्रयोगः। परमाणुरेकसमयेन एकस्माल्लोकान्तादपरं लोकान्तं गच्छति। तथा तानि तान्यध्यव-सायान्तराणि गच्छतीति। गतेः प्रपातो गतिप्रपातः। प्रज्ञा० १६ पद। गतिशब्दप्रवृत्तिरूपनियततायाम्, प्रज्ञा० १६ पद।

गतिप्रपातभेदाः–

कतिविहेणं भंते ! गइप्पवाए पण्णत्ते ? गोयमा ! पंचविहे गइप्पवाए पण्णत्ते। तं जहा–पओगगति ततगति बन्धन–

च्छेदनगती उववायगती विहायगती। से किं तं पओगगती ? पओगगती पन्नरसविहा पण्णत्ता। तं जहा—सच्चमणप्पओगगती, एवं जहा पओगो भणिओ तहा एसा वि भाणियव्वा० जाव कम्मगसरीरकायप्पओगगती। जीवा णं भंते ! कइविहा पओगगती पण्णत्ता ? गोयमा ! पन्नरसविहा पण्णत्ता। तं जहा—सच्चमणप्पओगगती० जाव कम्मासरीरकायप्पओगगती। नेरइयाणं भंते ! कतिविहा पओगगती पण्णत्ता ? गोयमा ! एक्कारसविहा पण्णत्ता। तं जहा—सच्चमणप्पओगगती, एवं उववज्जिउण जस्स जतिविहा तस्स ततिविहा भाणियव्वा० जाव वेमाणियाणं। जीवाणं भंते ! किं सच्चमप्पओगती ० जाव कम्मासरीरकायप्पओगगती ? गोयमा ! जीवा सव्वे वि ताव होज्जा सच्चमणप्पओगगती वि एवं ते चेव पुव्ववन्नियं भाणियव्वं भंगा, तहेव० जाव वेमाणियाणं। सेत्तं पओगगती। से किं तं ततगती ? ततगती जेणं जं गामं वा० जाव सन्निवेसं वा संपट्ठिए असंपत्ते अंतरापहे व वट्टइ। सेत्तं ततगती। से किं तं बंधनछेदनगती ?बंधनछेदनगती जीवो वा सरीराओ सरीरं वा जीवाओ। सेत्तं बंधणछेदनगती। से किं तं उववायगती ? उववायगती तिविहा पण्णत्ता। तं जहा—खित्तोववायगती भवोववायगती नोभवोववायगती। से किं तं खित्तोववायगती ? खित्तोववायगती पंचविहा पण्णत्ता। तं जहा—नेरइयखेत्तोववायगती तिरिक्खजोणियखेत्तोववायगती मणुस्सखेत्तोववायगती देवखेत्तोववायती सिद्धखेत्तोववायगती। से किं तं नेरइयखेत्तोववायगती ?णेरइयखेत्तोववायगती सत्तविहा पण्णत्ता। तं जहा—रयणप्पभापुढवीनेरइयखेत्तोववायगती० जाव अहेसत्तमपुढवीनेरइयखेत्तोववायगती। सेत्तं नेरइयखेत्तोववायगती। से किं तं तिरिक्खजोणियखेत्तोववायगती ? तिरिक्खजोणियखेत्तोववायगती पंचविहा पण्णत्ता। तं जहा—एगिंदियतिरिक्खजोणियखेत्तोववायगती० जाव पंचिंदियतिरिक्खजोणियखेत्तोववायगती। सेत्तं तिरिक्खजोणियखेत्तोववायगती। से किं तं मणुस्सखेत्तोववायगती ? मणुस्सखेत्तोववायगती दुविहा पण्णत्ता। तं जहा—संमुच्छिममणुस्सगब्भवक्कंतियमणुस्सखेत्तोववायगती। सेत्तं मणुस्सखेत्तोववायगती। से किं तं देवखेत्तोववायगती ? देवखेत्तोववायगती चउव्विहा पण्णत्ता। तं जहा—भवणवई० जाव वेमाणियखेत्तोववायगती। सेत्तं देवखेत्तोववायगती। से किं तं सिद्धखेत्तोववायगती ? सिद्धखेत्तोववायगती अणेगविहा पण्णत्ता। तं जहा—जंबुद्दीवे दीवे भरहेरवयवासस्स सपक्खं सपडिदिसिं सिद्धखेत्तोववायगती। जंबुद्दीवे दीवे चुल्लहिमवंत-सिहरिवास-हरपव्वयसपक्खं सपडिदिसिं सिद्धखेत्तोववायगती। जंबुद्दीवे दीवे हेमवयएरण्णवयवाससपक्खं सपडिदिसिं सिद्धखेत्तोववायगती। जंबुद्दीवे दीवे सद्दावइवियट्टावइवट्टवेयड्ढसपक्खं सपडिदिसिं सिद्धखेत्तोववायगती। जंबुद्दीवे दीवे महाहिमवंत-रुप्पिवासहरपव्वयसपक्खं सपडिदिसिं सिद्धखेत्तोववायगती। जंबुद्दीवे दीवे हरिवासरम्मगवासपक्खं सपडिदिसिं सिद्धखेत्तोववायगती। जंबुद्दीवे दीवे गंधावइयमालवंतपरितायावट्टवेयड्ढसपक्खं सपडिदिसिं सिद्धखेत्तोववायगती। जंबुद्दीवे दीवे णिसहनीलवंतवासहरसपक्खं सपडिदिसिं सिद्धखेत्तोववायगती। जंबुद्दीवे दीवे पुव्वविदेहावरविदेहसपक्खं सपडिदिसिं सिद्धखेत्तोववायगती। जंबुद्दीवे दीवे देवकुरुउत्तरकुरुसपक्खं सपडिदिसिं सिद्धखेत्तोववायगती। जंबूद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स सपक्खं सपडिदिसिं सिद्धखेत्तोववायगती। लवणसमुद्दस्स सपक्खं सपडिदिसिं सिद्धखेत्तोववायगती। धायइखंडे दीवे पुरिमद्धपच्छिमद्धमंदरस्स पव्वयस्स सपक्खं सपमिदिसिं सिद्धखेत्तोववायगती। कालोयसमुद्दे सपक्खं सपमिदिसिं सिद्धखेत्तोववायमती। पुक्खरवरदीवड्ढे पुरिमद्धभरहेरवयवाससपक्खं सपडिदिसिं सिद्धखेत्तोववायगती। एवं० जाव पुक्खरवरदीवड्ढे पच्छिमद्धपुरिमद्धमंदरपव्वयसपक्खं सपडिदिसिं सिद्धखेत्तोववायगती। सेत्तं सिद्धखेत्तोववायगई। सेत्तं खेत्तोववायगई। से किं तं भवोववायगई ? भवोववायगई चउव्विहा पण्णत्ता। तं जहा—नेरइय० जाव देवभवोववायगती। से किं तं नेरइयभवोववायगई ? ऐरइयभवोववायगती सत्तविहा पण्णत्ता। एवं सिद्धवज्जो भेदो भाणियव्वो जो चेव खेत्तोववायगतीए सो चेव भवोववायगतीए। सेत्तं भवोववायगती। से किं तं नोभवोववायगती ? नोभवोववायगई दुविहा पण्णत्ता। तं जहा—पुग्गलनोभवोववायगती य सिद्धनोभवोयवायगती य। से किं तं पुग्गलनोभवोववायगती ? पुग्गलनोभवोववायगती जन्नं परमाणुपोग्गले लोगस्स पुरच्छिमिल्लाओ चरिमंताओ पच्चच्छिमिल्लं चरिमंतं एगसमएणं गच्छइ। पच्चच्छिमिल्लाओ चरिमंताओ उत्तरिल्लं चरिमंतं एगसमएणं गच्छइ। दाहिणिल्लाओ वा चरिमंताओ उत्तरिल्लं चरिमंतं एगसमएणं गच्छति। एवं उत्तरिल्लाओ दाहिणिल्लं० जाव हेट्ठिल्लाओ उवरिल्लं। सेत्तं पोग्गलनोभवोववायगती। से किं तं सिद्धनोभवोयवायगती ? सिद्धनोभवोववायगती दुविहा पण्णत्ता, तं जहाअणंतरसिद्धनोभवोववायगती परंपरसिद्धनोभवोववायगती य। से किं तं अणंतरसिद्धनोभवोववायगती ? अ—

णंतरसिद्धनोभवोववायगई पन्नरसविहा पण्णत्ता, तं जहातित्थसिद्धअणंतरनोभवोववायगती य० जाव अणेगसिद्धनोभवोववायगती। से किं तं परंपरसिद्धनोभवोववायगती ? परंपरसिद्धनोभवोववायगती अणेगविहा पण्णत्ता, तं जहा–अपढमसमयसिद्धनोभवोववायगती, दुसमयसिद्धनोभवोववातगती० जाव अणंतसमयसिद्धनोभवोवायगती। सेत्तं नोभवोववायगती। सेत्तं उववायगती। से किं तं विहायगती ? विहायगती सत्तरसविहा पण्णत्ता। तं जहा–फूसमाणगती अफूसमाणगती उवसंपज्जमाणगती अणुवसंपज्जमाणगती पोग्गलगती मंडूयगती नावागती नयगती छायागती छायाणुवातगती लेस्सागती लेस्साणुवातगती उद्दिस्सयपविभत्तगती चउपुरिसपविभत्तगती वंकगती पंकगती बंधणविमोयणगती। से किं तं फूसमाण गती ? फूसमाणगती जण्णं परमाणुपोग्गले दुपदोसिए० जाव अणंतपदेसियाणं खंधाणं अन्नमन्नं फुसित्ताण गती पवत्तइ। सेत्तं फूसमाणगती। से किं तं अफूमाणगती ? अफूसमाणगती जन्नं एतेसिं चेव अफुसित्ताण गती पवत्तइ। सेत्तं अफूसमाणगती। से किं तं उवसंपज्जमाणगती ? उवसंपज्जमाणगती जण्णं जं रायं वा जुवरायं वा ईसरं वा तलवरं वा माडंवियं वा काडंवियं वा इब्भ वा सेट्ठिं वा सेणावइं वा सत्थवाहं वा उवसंपज्जित्ताणं गच्छति। सेत्तं उवसंपज्जमाणगती। से किं तं अणुसंपज्जमाणगती ?अणुवसंपज्जमाणगती जन्नं एतेसिं चेव अन्नमन्नं अणुवसंपज्जित्ताणं गच्छति। सेत्तं अणुवसंपज्जमाणगती। से किं तं पोग्गलगती ? पोग्गलगती जन्नं परमाणुपोग्गलाणं० जाव अणंतंपदेसियाणं खंधाण गती पवत्तइ। सेत्तं पोग्गलगती। से किं तं मंडूयगती ? मंडूयगती जन्नं मंडूए उप्पडित्ता उप्पडित्ता गच्छति। सेत्तं मंडूयगती। से किं तं णावागती ? णावागती जन्नं णावा पुव्ववेतालीओ दाहिणवेतालिं जलपहेणं गच्छति, दाहिणवेतालिं वा अवरवेतालिं जलपहेणं गच्छति। सेत्तं णावागती। से किं तं नयगती ? नयगती जन्नं नेगमसंगहववहारउज्जुसुयसद्दसमभिरूढएवंभूताणं णयाणं जा गती, अहवा सव्वणया वि जं इच्छन्ति। सेत्तं नयगती। से किं तं छायागती ? छायागती जेणं हयच्छायं वा गयच्छायं वा नरच्छायं वा किन्नरच्छायं वा महोरगच्छायं वा गंधव्वच्छायं वा रहच्छायं वा छत्तच्छायं वा उवसंपज्जित्ताणं गच्छति। सेत्तं छायागती। से किं तं छायाणुवायगती ? छायाणुवायगती जं णं पुरिसच्छाया अणुगच्छति। नो पुरिसे छायं अणुगच्छति। सेत्तं छायाणुवायगती। से किं तं लेस्सामती ? लेस्सागती जन्नं कण्हले स्सा नीललेस्सा नीललेस्सं पप तारूवत्ताए तारसत्ताए ताफासत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमति। एवं नीललेस्सा काउलेस्सं पप्प तारूवत्ताए जाव० फासत्ताए परिणमति। एवं काउलेस्सा वि तेउलेस्सं, तेउलेस्सा वि पम्हलेस्सं, पम्हलेस्सा वि सुक्कलेस्सं, पप्प तारूवत्ताए० जाव परिणमति। सेत्तं लेस्सागती। से किं तं लेस्साणुवायगती ? लेस्सा णुवायगती जं लेस्साइं दव्वाइं परित्ताइत्ता कालं करेइ तल्लेसेसु उववज्जइ। तं जहा–कण्हलेस्सेसु वा० जाव सुक्किल्ललेस्सेसु वा। सेत्तं लेस्साणुवायगती। से किं तं उद्दिस्सपविभत्तगती ? उद्दिस्सपविभत्तगति जेणं आयरित्तं वा उवज्झायं वा थेरं वा पवत्तिं वा गणिं वा गणहरं वा मणावच्छेदं वा उद्दिसिय उद्दिसिय गच्छति। सेत्तं उद्दिस्सपविभत्तगती। से किं तं चउपुरिसपविभत्तगती ? चउपुरिसपविभत्तगती से जहा नामए चत्तारि पुरिसा समगं पज्जवट्ठिया, समगं पट्ठित्ता विसमं पट्ठित्ता समगं पज्जवट्ठिया विसमं पज्जवट्ठित्ता विसमं पज्जवट्ठिया। सेत्तं चउपुरिसपविभत्तगती। से किं तं वंकगती ? वंकगती चउव्विहा पण्णत्ता। तं जहा–घट्टणता थंडणता लेसणता पवडणया। सेत्तं वंकगती। से किं तं पंकगती ? पंकगती से जहा नामए केइ पुरिसे सेइंसि वा पंकंसि वा उदयंसि वा कायं उव्विहित्ता गच्छति। सेत्तं पंकगती। से किं तं बंधणविमोयणगती ? बंधणविमोयणगती जन्नं अंबाण वा अंबाडगाण वा माउलिंगाण वा चिल्लाण वा कविट्ठाण वा भव्वाण वा फणसाण वा दालिमाण वा पारेवताण वा अक्खोलाण वा चाराण वा तंदुयाण वा पक्काणं परियागत्ताणं बंधणाओ विप्पमुक्काणं वा णिव्वाघाएणं अहेवीसाए गती पवत्तई। सेत्तं बंधणविमोयणगती।

सुगममापदपरिसमाप्तेः, नवरं (जबूद्दीवे दीवे भरहेरवयवासस्स सपक्खं सपडिदिसिं सिद्धखेत्तोववायगइत्ति) जम्बूद्वीपे द्वीपे यद्भरतवर्षमैरवतवर्षं च तयोरुपरि सिद्धिक्षेत्रोपपातगतिर्भवति। कथमित्याह–सपक्षं सप्रतिदिक्, तत्र सह पक्षाः पार्श्वाः पूर्वापरदक्षिणोत्तररूपा यस्मिन् सिद्धक्षेत्रोपपातगतिभवने ततः सपक्षं, सह प्रतिदिशो विदिश आग्नेय्यादयो यस्मिन् तत्सप्रतिदिक्, क्रियाविशेषणमेतत्। एषोऽत्र भावार्थः–जबूद्वीपे द्वीपे भरतैरावतवर्षयोरुपरि सर्वासु दिक्षु विदिक्षु च सर्वत्र सिद्धक्षेत्रोपपातगतिर्भवतीति। एवं शेषभूतेष्वपि भावनीयम्। उपसम्पद्यमानगतिसूत्रे–(जण्णं जं राइयं वा) इत्यादि। राजा पृथिवीपतिः, युवराजा राज्यचिन्ताकारी राजप्रतिशरीरं, ईश्वरः आणिमाद्यैश्वर्ययुक्तः, तलवरः परतुष्टनरपतिप्रदत्तपट्टबन्धविभूषितो राजस्थानीयः, माडम्बिकः छिन्नमडम्बाधिप; कौटुम्बिकः कतिपयकुटुम्बस्वामी, इभमर्हतीति इभ्यो धनवान्, श्रेष्ठी श्रीदेवताध्यासितसौवर्णपट्टभूषितोत्तमाङ्गः, सेनापतिर्नृपतिनिरूपितचतुरङ्गसैन्यनायकः, सार्थवाहः सार्थनायकः, नौग–

तिसूत्रेषु (जन्नं नावा पुव्ववेतालि) इत्यादि। वेतालिशब्दो देशीवचनत्वाद्वेतालातटवाची। प्रज्ञा० १६ पद। गतेर्वा प्रवृत्तेः क्रियायाः प्रपातः प्रपतनं सम्भवः प्रयोगादिष्वर्थेषु वर्त्तनं गतिप्रपातस्तत्प्रपातकमध्ययनं गतिप्रपातम्। भ० ८ श० ७ उ०। गतिप्रपातप्रतिपादकेऽन्ययूथिकान्प्रति स्थविरैः कथिते अध्ययने, भ० "तएणं ते थेरा भगवंतो अण्णउत्थिए एवं पडिहणन्ति, एवं पडिहणेत्ता गइप्पवायनामं अज्झयणं पण्णवइंसु। कइविहे णं भंते ! गइप्पवाए पण्णत्ते ? गोयमा ! पंचविहे गइप्पवाए पण्णत्ते। तं जहा—पओगगई तवगई बंधणच्छेयणगई उववायगई विहायगई एत्तो आरब्भ पओगपदं निरवसेसं भाणियव्वं० जाव सेत्तं विहायगई सेवं भंते ! भंते ! त्ति" ॥ भ० ८ श० ७ उ०।

गतिप्रवाद न० गतिः प्राद्यते प्ररूप्यते यत्र तद्गति प्रवादम्। भ० ८ श० ७ उ०।

गइबन्धनपरिणाम पुं० (गतिबन्धनपरिणाम) येनायुःस्वभावेन प्रतिनियतगतिकर्म्मबन्धो भवति, यथा नारकायुःस्वभावेन मनुष्यतिर्य्यग्गतिनामकर्म बध्नाति; तदेव नारकगतिनामकमिति स गतिबन्धनपरिणामः। आयुःपरिणामभेदे, स्था० ६ ठा०।

गइय त्रि० (गदित) प्रतिपादिते, प्रति०।

गइरइय त्रि० (गतिरतिक) गतौ रतिरासक्तिः प्रीतिर्येषां ते गतिरतिकाः समयक्षेत्रवर्तिषु अनुपरतगतिकेषु देवेषु। स्था० २ ठा० २ उ०।

गइरागइलक्खण न० (गतिरागतिलक्षण) लक्षणभेदे, विशे० तत्स्वरूपं च विशे०।

अथ "गइरागइ त्ति" गत्यागतिलक्षणस्वरूपं प्रचिकटयिषुराह—

अवरोप्परं पयाणं, विसेसण—विसेसणिज्जया जत्थ।
गच्चागई य दोण्हं, गच्चागइलक्खणं तं तु ॥२१५६॥

परस्परं द्वयोर्द्वयोः पदयोर्यत्र विशेषणविशेष्यतया आनुकूल्येन गमनं गतिः। 'यथा जीवो भदन्त ! देवः' इति, जीवमनूद्य देवत्वं पृच्छ्यते। अत्र जीवपदाद् देवपदे आनुकूल्येन यथास्थित्या गतिः। तथा प्रत्यावृत्त्या प्रातिकूल्येनागमनमागतिर्यथा 'देवो जीवः' इत्यत्र देवमनूद्य जीवत्वं पृच्छ्यते इतीह प्रत्यावृत्त्या देवपदाज्जीवपदे आगतिः। गतिश्चागतिश्च गत्यागती ताभ्यां ते वा लक्षणं तदेतद् गत्यागतिलक्षणम्। एतच्च चतुर्धा, तद्यथा—पूर्वपदव्याहतम्, उत्तरपदव्याहतम्, उभयपदव्याहतम् उभयपदाव्याहतं चेति। तत्र पूर्वपदं व्याहतं व्यभिचारि यत्र तत्पूर्वपदव्याहतं लक्षणं पूर्वपदव्यभिचारीत्यर्थः। एवमन्यत्रापि यथायोगं समासः।

एतानेव चतुरो भङ्गान् सोदाहरणानाह भाष्यकारः—

पुव्वावरोभएसुं, वाहयमव्वाहयं च तं तत्थ।
जीवो देवो देवो, जीवो त्ति विगप्पनियमोऽयं ॥२१५७॥

इह पूर्वपदव्याहतम् अपरपदव्याहतमुभयपदव्याहतमुभय पदाव्याहतं चेति चतुर्द्धा तद् गत्यागतिलक्षणमुक्तम्। तत्र 'जीवे भंते ! देवे देवे जीवे गोयमा ! जीवे सिय देवे सिय नो देवे देवे पुण नियमा जीवे' इति भुवनगुरुवचनाज्जीवो देव इति विशेषणविशेष्यभूते पदद्वये जीव इति पूर्वपदं देवत्वं व्यभिचरत्यपि। जीवस्य देवस्यादेवस्य च नरकादेर्दर्शनात्। 'देवः किं जीवः ?' इति प्रत्यावृत्तौ देवो जीवत्वं न व्यभिचरत्येव, देवस्य नियमेन जीवत्वात्तस्मात्पूर्वपदव्याहतो विकल्पनियमोऽयं भङ्गः। विकल्पो व्याहतिर्भजना व्यभिचार इत्यर्थः। नियमो निश्चयोऽव्यभिचार इत्यर्थः। ततश्च पूर्वपदविकल्पोपलक्षित उत्तरपदनियमो यत्रासौ विकल्पनियमः प्रथमो भङ्ग इति।

शेषं भङ्गत्रयं सोदाहरणं यथा—

जीवइ जीवो जीवो, जीवइ नियमो मओ विगप्पो य।
देवो भव्वो भव्वो, देवो त्ति विगप्पमो दो वि ॥२१५८॥
जीवो जीवो जीवो, जीवो त्ति दुगे वि गम्मए नियमो।
जीवो जहोवओगो, तहोवओगो य जीवो त्ति ॥२१५९॥

व्याख्या—(जीवइ जीवो जीवो जीवइ त्ति) इत्यनेन द्वितीयभङ्गप्रतिपादकं भगवतीसूत्रं सूचितम्। तच्चेदम्—"जीवइ भंते ! जीवे जीवे जीवइ गोयमा ! जीवइ ताव नियमा जीवे जीवे पुण सिय जीवइ सिय नो जीवइ" इति। इह 'जीवइ' शब्देन दशविधप्राणलक्षणं जीवनं जीवितव्यमुच्यते। तत्र जीवनं तावन्नियमाज्जीवे, अजीवे तस्य सर्वथाऽसंभवात्। जीवः पुनः स्याज्जीवति स्यान्न जीवति, सिद्धजीवस्य जीवनासंभवादत इहोत्तरपदं व्याहतं व्यभिचारात्। पूर्वपदं त्वव्याहतं, जीवनस्य जीवमन्तरेणाभावादत एवाह—(नियमो मओ विगप्पो य त्ति) पूर्वपदेऽव्यभिचारान्नियमो मतः। उत्तरपदे तु विकल्पो भजना व्याहतिर्व्यभिचार इत्यर्थः। ततश्च नियमेनोपलक्षितो विकल्पो यत्रासौ नियमविकल्पनामकोऽयमुत्तरपदव्याहतो द्वितीयो भङ्गः। (देवो भव्वो भव्वो देवो त्ति) अनेनापि तृतीयभङ्गप्रतिपादकं प्रज्ञप्तिसूत्रं सूचितम्। तद्यथा—"देवे णं भंते ! भवसिद्धिए भवसिद्धिए ? देवे गोयमा ! देवे सिय भवसिद्धिए सिय अभवसिद्धिए भवसिद्धिए वि सिय देवे सिय नो देवे त्ति" अत्र पूर्वपदवर्ती देवो भव्यत्वं व्यभिचरति अभव्यस्यापि तस्य संभवात्, उत्तरपदवर्त्यपि भव्यो देवत्वं व्यभिचरत्यदेवस्यापि तस्य नरकादौ संभवादत उभयपदव्याहतमिदमत एवाह—(विगप्पमो दो वि त्ति) इह प्राकृतशैल्या द्वयोरपि पदयोर्विकल्पो व्यभिचार इत्यर्थः। ततश्च विकल्पयुक्तो विकल्पो यत्रासौ विकल्पविकल्पनामकोऽयमुभयपदव्याहतस्तृतीयो भङ्ग इति। (जीवो जीवो जीवो जीवो त्ति) इहापि व्याख्या प्रज्ञप्तिसूत्रमेतद्दृष्टव्यं, तद्यथा—"जीवे भंते ! जीवे जीवे जीवे ? गोयमा ! जीवे ताव नियमा जीवे, जीवे वि नियमा जीवे त्ति" इहैकस्य जीवशब्दस्योपयोगो वाच्यस्ततश्चोपयोगो नियमाज्जीवः, जीवोऽपि नियमादुपयोगोऽत उभयपदव्याहतमिदमत एवाह—"दुगे वि गम्मए नियमो" इत्यादि। पदद्वयेऽप्यत्र नियमो गम्यते। ततश्च नियमान्वितो नियमो यत्रासौ नियमनियमाभिधान उभयपदाऽव्याहतश्चतुर्थो भङ्ग इति।

अथ लोकेऽपि चतुर्विधमिदं गत्यागतिलक्षणं प्रसिद्धमिति दर्शयन्नाह—

रूवी घडो त्ति चूओ, दुम्मो त्ति नीलुप्पलं च लोयम्मि।
जीवो सचेयणो त्ति य, विगप्पनियमादओ सिद्धा।२१६०।

पूर्वपदव्याहतं यथा—'रूपी घटः' इति। अत्र रूपिणो घटस्य पटादेश्च भावात्पूर्वपदव्याहतिः, उत्तरपदं तु न व्याहतं; घटस्य रूपिण एव भावादिति विकल्पनियमः प्रथमो भङ्गः। उत्तरपदव्याहतं 'चूतो द्रुमः' इति। इह चूतो द्रुम एव भवतीति न व्याहतिः, द्रुमस्तु चूतोऽचूतश्च स्यादित्युत्तरपदव्याहतिरिति नियमविकल्पो द्वितीयो भङ्गः। उभयपदव्याहतं यथा—नीलोत्पलमिति। नीलमुत्पलं मरकतादि च भवति, उत्पलमपि नीलं शु—

क्लादिरूपं च भवतीत्युभयपदव्यभिचाराद् विकल्पविकल्पस्तृतीयो भङ्गः। उभयपदाव्याहतं यथा–'जीवः सचेतनः' इति। जीवः सचेतन एव भवति चेतनापि जीवस्यैवेत्युभयपदाव्यभिचाराद् नियमनियमश्चतुर्थो भङ्गः इति। इत्येवं विकल्पनियमादयश्चत्वारो भङ्गा लोकेऽपि सिद्धा इति। तदेवमभिहितं गत्यागतिलक्षणम्। विशे आ० म० द्वि०।

गइविसय पुं० (गतिविषय) गतिगोचरविषये क्षेत्रे। प्रति०। ''असुरकुमाराणं देवाणं अहे गइविसये सिग्घे'' इह यद्यपि गतिगोचरभूतं क्षेत्रं गतिविषयशब्देनोच्यते तथापि गतिरेव गृह्यते शीघ्रादिविशेषणानां क्षेत्रे युज्यमानत्वादिति। भ० ३ श० २ उ०।

गइसमावन्न पुं० (गतिसमापन्न) गतिर्गमनं तां समापन्नाः प्राप्तास्तद्वन्तो गतिसमापन्नाः गतिमत्सु पृथ्वीकायिकादिषु। स्था०।

दुविहा दव्वा पण्णता तं जहा–गइसमावन्नगा चेव अगइसमावन्नगा चेव॥

गतिर्गमनं तां समापन्नाः प्राप्तास्तद्वन्तो गतिसमापन्नाः। ये हि पृथ्वीकायिकाद्यायुष्कोदयात् पृथिवीकायिकादिव्यपदेशवन्तो विग्रहगत्या उत्पत्तिस्थानं व्रजन्ति, अगतिसमापन्नास्तु स्थितिमन्तः। स्था०। २ ठा० १ उ०। सू० प्र०।

गइसमावन्नग पुं० (गतिसमापन्नक) गतिर्गमनं समिति संततमापन्नकाः प्राप्ताः गतिसमापन्नकाः अनुपरतगतिकेषु देवेषु, स्था० २ ठा० २ उ०। ('अगइसमावण्ण' शब्दे प्र० भागे १५३ पृष्ठे दण्डक उक्तः)

गउअ पुं० (गो) गच्छत्यनेन गमः करणे डो। **''गव्यउआआः''** ८। १।१५८। गोशब्दे ओतः अउआआ इत्यादेशौ भवतः। गउओ गउआ गाओ प्रा० १ पाद। स्वनामख्याते पशुभेदे, वृषभस्य यानसाधनत्वात्। वाच०।

गउआ स्त्री (गो) स्त्रियां **''स्वस्रादा''** ८। ३। ३५। इति डा प्रत्ययः ''गउआ'' प्रा० ३ पाद।

गउड पुं० (गौड) **''डोलः''** ८। १। २०२। इत्यस्य क्वाचित्कत्वान्न मस्य लः। प्रा० १ पाद। देशभेदे, तद्देशस्थे जने, ब० व० ब्राह्मणभेदे, गुडविकारे मदिराभेदे, स्त्री०। वाच०।

गउरि स्त्री० (गौरी) **''स्वराणां स्वराः प्रायोऽपभ्रंशे''** ८। ४। ३२९। इति प्रायिके स्वरादेशे। गउरि गोरि प्रा० ४ पाद। गौरवर्णायां स्त्रियाम्, ''कपोलभित्तीरिव लोध्रगौरीः'' वाच०।

गंग पुं० (गङ्ग) द्वैक्रियनिह्नवानां धर्म्माचार्य्ये (तद्वक्तव्यता च 'दोकिरिय' शब्दे) आ० म० द्वि०। विशे । स्था०। उत्त०। नि०।

गंगदत्त पुं० (गङ्गदत्त) पूर्वभवे नवमे वासुदेवे, (स च गङ्गदत्तनामा मल्लः पितृभ्यां त्यक्तः चारित्रं गृहीत्वा क्रमेण वासुदेवो जात इति 'वसण' शब्दे कथा) आ० क०। आ० म० द्वि०। आ० चू०। स०। ति०। षष्ठबलदेववासुदेवयोः पूर्वभविके धर्माचार्य्ये, स०। हस्तिनापुरजाते मुनिसुव्रतशिष्ये श्रेष्ठिनि, स च प्रव्रज्य कालं कृत्वा सम्यग्दृष्टिदेवो जात इति। भ०।

तेणं कालेणं तेणं समएणं उल्लुयातीरे णामं एयरे होत्था वण्णओ एगजंबुए चेइए, वण्णओ। तेणं कालेणं तेणं समएण सामी समोसढे० जाव पज्जुवासइ। तेणं कालेणं तेण समएणं सक्के देविंदे देवराया वज्जपाणी एव१ं जहेव बितिए उद्देसए तहेव दिव्वेणं जाणविमाणेणं आगओ जाव जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छइत्ता० जाव णमंसित्ता एवं वयासी–देवे णं भंते ! महिड्ढिए० जाव महेसक्खे बाहिरए पोग्गले अपरियाइत्ता पभू आगमित्तए ? णो इणट्ठे समट्ठे। देवे णं भंते ! महिड्ढिए० जाव महेसक्खे बाहिरए पोग्गले परियाइत्ता पभू आगमित्तए ? हंता पभू ? देवे णं भंते ! महिड्ढिए एवं एएणं अभिलावेणं गमित्तए २, एवं भासित्तए वा वियागरित्तए वा ३, उंमिसावेत्तए वा निम्मिसावेत्तए वा ४, आउंटावेत्तए वा पसारेत्तए वा ५, ठाणं वा सेज्जं वा णिसिहियं वा वेत्तित्तए वा ६, एवं विउव्वित्तए वा ७, एवं परियाएत्तए वा० ८, जाव हंता पभू इमाइं अट्ठउक्खित्तपसिणवागरणाइं पुच्छइ संभंति य वंदणएणं वंदेइ। वंदेइत्ता तमेव दिव्वं जाणविमाणं दुरूहइ, दुरूहइत्ता जामेव दिसिं पाउब्भूए तामेव दिसिं पडिगए। भंते ! त्ति भगवं !, गोयमे समणं भगवं महावीरं वंदइ णमंसइ। वंदित्ता णमंसित्ता एवं वयासी–अण्णदा णं भंते ! सक्के देविंदे देवराया देवाणुप्पियं वंदइ णमंसइ० जाव पज्जुवासइ। किण्णं भंते ! सक्के देविंदे देवराया देवाणुप्पियं अट्ठ उक्खित्तपसिणवागरणाइं पुच्छइ, पुच्छइत्ता संभंतियं वंदइ, वंदइत्ता० जाव पडिगए। गोयमादि !, समणे भगवं महावीरे भगवं गोयमं एवं वयासी–एवं खलु गोयमा ! तेणं कालेणं तेणं समएणं महासुक्के कप्पे महासामाणियविमाणे दो देवा महिड्ढिया० जाव महेसक्खा एगविमाणंसि देवत्ताए उववण्णा। तं जहा–मायीमिच्छद्दिट्ठी उववण्णए य, अमायी सम्मद्दिट्ठी, उववण्णए य। तए णं से मायीमिच्छद्दिट्ठीउववण्णए देवे तं अमायीसम्मद्दिट्ठिउववण्णयं देवं एवं वयासी–परिणममाणा पोग्गला, णो परिणया; अपरिणया, 'परिणमंतीति पोग्गला' णो परिणया, अपरिणया '। तए णं से अमायीसम्मद्दिट्ठीउववण्णए देवे तं मायीमिच्छद्दिट्ठीउववण्णगं देव एवं वयासीपरिणममाणा पोग्गला परिणया, णो अपरिणया, 'परिणमंतीति पोग्गला' परिणया, णो अपरिणया। तं मायीमिच्छद्दिट्ठीउववण्णगं देवं एवं पडिहणइ। एवं पडिहणइत्ता ओहिं पउंजइ, ओहिं पउंजइत्ता मम ओहिणा आभोएइ। आभोएइत्ता अयमेयारूवे० जाव समुप्पज्जित्था। एवं खलु समणे भगवं महावीरे जंबुद्दवे दीवे भारहे वासे जेणेव उल्लुयातीरे णयरे जेणेव एगजंबुए चेइए अहापडिरूवं० जाव विहरइ, तं सेयं

खलु समणं भगवं महावीरं वंदित्ता० जाव पज्जवासित्ता इमं एयारूवं वागरण पुच्छित्तए त्ति कट्टु एवं संपेहेइ। संपेहेइत्ता चउहिं समाणियसाहस्सीहिं परियारो जहा सूरियाभस्स० जाव णिग्घोसणादितरवेणं जेणेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे जेणेव उल्लुयातीरे णयरे जेणेव एगजंबूए चेइए जेणेव मम अंतिए तेणेव पहारेत्थगमणाए। तएण से सक्के देविंदे देवराया तस्स देवस्स तं दिव्वं देविड्ढिं दिव्वं देवज्जुतिं दिव्वं देवाणुभावं दिव्वतेयलेस्सं असहमाणे अट्ठउक्खित्तपसिणवागरणाइं पुच्छइ, पुच्छइत्ता संभंतिय० जाव पडिगए, जावं च णं समणे भगवं महावीरे भगवओ गोयमस्स एयमट्ठं परिकहेइ, तावं च णं से देवे तं देसं हव्वमागए। तएणं से देवे समण भगवं महावीरं तिक्खुत्तो वंदइ णमंसइ, वंदइत्ता णमंसइत्ता एव वयासी–एवं खलु भंते ! महासुक्के कप्पे महासामाणे विमाणे एगे मायी उववण्णए देव मम एवं वयासी–परिणममाणा पोग्गला, णो परिणया; अपरिणया, 'परिणमंतीति पोग्गला' णो परिणया, अपरिणया। तएणं अहं तं मायीमिच्छद्दिट्ठिउववण्णगं देवं एवं वयासी–परिणममाणा पोग्गला परिणया, णो अपरिणया, 'परिणमन्तीति' पोग्गला परिणया, णो अपरिणया। से कहमेयं भंते ! एवं गंगदत्तादि ! समणे भगवं महावीरे गंगदत्ता ! एवमाइक्खामि ४, परिणममाणा पोग्गला० जाव णो अपरिणया, सव्वमेसे अट्ठे। तए णं से गंगदत्ते देवे समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठ, समणं भगवं महावीरं वंदइ णमंसइ, वंदित्ता णमंसित्ता एव्वा सण्णे० जाव पज्जुवासइ। तए णं से गंगदत्ते देवे समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठे उट्ठाए उट्ठेइ। उट्ठेइत्ता समणं भगवं महावीरं वंदइ णमंसइ, वंदइत्ता णमंसइत्ता एवं वयासी–अहं णं भंते ! गंगदत्ते देवे किं भवसिद्धिए अभवसिद्धिए एवं जहा सूरियाभो० जाव बत्तीसविहं उवदंसेइ। उवदंसेइत्ता० जाव तामेव दिसिं पडिगए ? भंते ! त्ति भगवं गोयमे समणं भगवं० जाव एवं वयासी–गंगदत्तस्स णं भंते ! देवस्स सा दिव्वा देविड्ढि दिव्वा देवज्जुती० जाव अणुप्पविट्ठा ? गोयमा ! सरीरं गया सरीरं अणुप्पविट्ठा कूमागारसालादिट्ठंतो जाव सरीरं अणुप्पविट्ठा। अहो णं भंते ! गंगदत्ते देवे महिड्ढिए० जाव महेसक्खे गगदत्तेणं भंते ! देवेणं सा दिव्वा देविड्ढि दिव्वा देवज्जुती किंणो लद्धा० जाव जेणं गंगदत्तणं देवेणं सा दिव्वा देविड्ढा० जाव अभित्तसमण्णागया ? गोयमादि ! समणे भगवं महावीरे भगवं गोयमं एवं वयासी–एवं खलु गोयमा ! तेणं कालेणं तेणं समएणं इहेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे हत्थिणापुरे णामं णयरे होत्था वण्णओ, सहसंववणे उज्जाणे वण्णओ। तत्थ ण हत्थिणापुरे णयरे गंगदत्ते णामं गाहावई परिवसइ, अड्ढे जाव अपरिभूए। तेणं कालेणं तेण समएणं मुणिसुव्वए अरहा आदिगरे० जाव सव्वण्णू सव्वदरिसी आगासगएणं चक्केणं० जाव पकट्टिज्जमाणेणं पकट्टिज्जमाणेणं सीसगणसंपरिवुडे पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गामाणुगामं० जाव जेणेव सहसववणे उज्जाणे० जाव विहरइ। परिसा णिग्गया० जाव पज्जुवासइ। तएणं से गंगदत्त गाहावई ईमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे हट्ठतुट्ठ० जाव कयवलिसरीरे साओ गिहाओ पडिणिक्खमइ। पडिणिक्खमइत्ता पादविहारचारेणं हत्थिणाउरं णयरं मज्झं मज्झेणं णिग्गच्छइ णिग्गच्छइत्ता जेणेव सहसंववणे उज्जाणे जेणेव मुणिसुव्वए अरहा तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छइत्ता मुणिसुव्वयं अरहं तिक्खुत्तो आयाहिणप्पयाहिणं० जाव तिविहाए पज्जुवासणाए पज्जुवासइ। तए णं मुणिसुव्वए अरहा गंगदत्तस्स गाहावइस्स तीसे य महति० जाव परिसा पडिगया, तए णं से गंगदत्ते गाहावई मुणिसुज्वयस्स अरहओ अतियं धम्म सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठ उट्ठाए उट्ठेइ। उट्ठेइत्ता मुणिसुव्वयं अरहं वंदइ णमंसइ। वंदइत्ता णमंसइत्ता एवं वयासी–सद्दहामि णं भंते ! णिग्गंथ पावयणं जाव से जहेयं तुब्भे वदह। जं णवरं देवाणुप्पिया ! जेट्ठपुत्त कुडुंबे ठावेमि। तए णं अहं देवाणुप्पियाणं अंतियं मुंडे० जाव पव्वयामि। अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं ! तए णं से गंगदत्ते गाहावई मुणिसुव्वएणं अरहा एवं वुत्ते समाणे हट्ठतुट्ठे मुणिसुव्वयं अरहं वंदइ णमंसइ। वंदइत्ता णमंसइत्ता मुणिसुव्वयस्स अरहओ अंतियाओ सहसंववणाओ उज्जाणाओ पडिणिक्खमइ। पडिणिक्खमइत्ता जेणेव हत्थिणापुरे णयरे जेणेव सए गिहे तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छइत्ता विपुलं असणं पाणं० जाव उवक्खडावेइ, उवक्खडावेइत्ता मित्तणाइणियग० जाव आमंतेइ। आमंतेइत्ता तओ पच्छा ण्हाए जहा पूरणे०जाव जेट्ठपुत्तं कुडुंबे ठावेइ। तं मितणाइ० जाव जेट्ठपुत्तं च आपुच्छइ। आपुच्छइत्ता पुरिससहस्सवाहिणिं सीयं दुरूहइ। दुरूहइत्ता मित्तणाइणियग० जाव परिजणेणं जेट्ठपुत्तेण य समणुगम्ममाणमग्गे सव्विड्ढीए जाव० णादितरवेणं हत्थिणापुरं णयरं मज्झं मज्झेणं णिग्गच्छइ। णिग्गच्छइत्ता जेणेव सहसंववणे उज्जाणे तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छइत्ता छत्ताइच्छत्ते तित्थगरादि पासइ। एवं जहा–उदायणे० जाव सयमेव आभरणे उम्मुयइ। उम्मुयइत्ता सयमेव पंचमुट्ठियं लोयं करेइ। करेइत्ता जेणेव मुणिंसुव्वए अरहा एवं जहा उदायणे

तहेव पव्वइए, तहेव एक्कारस अंगाइं अहिज्जइ० जाव मासियाए संलेहणाए सट्ठिं भत्ताइं अणसणाए० जाव च्छेदेइ। छेदेइत्ता आलोइयपडिक्कंते समाहिपत्ते कालमासे, कालं किच्चा महासुक्के कप्पे महासामाणे विमाणे उववायसभाए देवसयणिज्जंसि० जाव गंगदत्तदेवत्ताए उववण्णे। तए णं से गंगदत्ते देवे अहुणोववण्णमेत्तए समाणे पंचविहाए पज्जत्तीए पज्जत्तिभावं गच्छइ। तं जहा–आहारपज्जत्तीए० जाव भा समणपज्जत्तीए। एवं खलु गोयमा! गंगदत्तेणं देवेणं सा दिव्वा देविड्ढि० जाव अभिसमण्णागया। गंगदत्तस्स णं भंते! देवस्स केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता? गोयमा! सत्तसागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता। गंगदत्ते णं भंते! देवे ताओ देवलोगाओ आउक्खएणं० जाव महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ० जाव अंतं काहिति॥ सेवं भंते! भंते त्ति।

(तेणं) इत्यादि। इह सर्वोऽपि संसारी बाह्यान् पुद्गलाननुपादाय न काश्चित् क्रियां करोतीति सिद्धमेव, किन्तु देवः किल महर्द्धिको, महर्द्धिकत्वादेव च गमनादिक्रियां मा कदाचित्करिष्यति इति सम्भावनया शक्रः प्रश्नं चकार–(देवे णं भंते!) इत्यादि। (भासित्तए वा वागरित्तए व त्ति) भाषितुं वक्तुं व्याकर्तुमुत्तरं दातुमित्यनयोर्विशेषः। प्रश्नश्चायं तृतीय, उन्मेषादिश्चतुर्थः, आकुण्टनादिः पञ्चमः, स्थानादिः षष्ठः, विकुर्वयितुमिति सप्तमः, परिचारयितुमित्यष्टतः। (उक्खित्तपसिणवागरणाइं ति) उत्क्षिप्तानीवोत्क्षिप्तानि अविस्तारितस्वरूपाणि, प्रच्छनीयत्वात्प्रश्नाः, व्याक्रियमाणत्वाच्च व्याकरणानि यानि तानि तथा। (संभंतियवंदणएणं ति) संभ्रान्तिः सम्भ्रमः औत्सुक्यं तया निर्वृत्तं सांभ्रन्तिक यद्वन्दनं तत्तथा तेन। (परिणममाणा पोग्गला णो परिणय त्ति) वर्तमानातीतकालयोर्विरोधादत एवाह–(अपरिणय त्ति) इहैवोपपत्तिमाहपरिणमन्तीति कृत्वा नो परिणतास्ते व्यपदिश्यन्त इति मिथ्यादृष्टिवचनम्। सम्यग्दृष्टिः पुनराह–(परिणममाणा पोग्गला परिणया नो अपरिणय त्ति) कुत इत्याह–परिणमन्तीति कृत्वा पुद्गलाः परिणता नोऽपरिणताः, परिणमन्तीति हि यदुच्यते तत्परिणामसद्भावे, अन्यथाचान्य-थाऽतिप्रसङ्गात्। परिणामसद्भावे तु परिणमन्तीति व्यपदेशे परिणतत्वमवश्यं भावि। यदि हि परिणामे सत्यपि परिणतत्वं न स्यात्तदा सर्वदा तदभावप्रसङ्ग इति। (परिवारो जहा सूरियाभस्स त्ति) अनेनेदं सूचितम्–"तिहिं परिसाहिं सत्तहिं अणिएहिं सत्तहिं अणियाहिवईहिं सोलसहिं आयरक्खदेवसाहस्सीहिं अण्णेहि य बहूहिं महासामाणविमाणवासीहिं वेमाणिएहिं देवेहिं सद्धिं संपरिवुडे" इत्यादि। (दिव्वं तेयलेस्सं असहमाणे त्ति) इह किल शक्रः पूर्वभवे कार्तिकाभिधानोऽभिनवश्रेष्ठी बभूव। गङ्गदत्तस्तु जीर्णश्रेष्ठीति। तयोश्च प्रायो मत्सरो भवतीत्यसावसहनकारणं सम्भाव्यत इति। एवं (जहा सूरियाभो त्ति) अनेनेदं सूचितं "सम्मादिट्ठी मिच्छादिट्ठी परित्तसंसारिए अणंतसंसारिए सुलहबोहिए दुल्लबोहिए आराहए विराहए चरिमे अचरिमे इत्यादि" इति। भ० १६ श० ५ उ०। ती०। नि०। विजयपुरस्थे मगधाया भर्तरि, गृहपतौ च। ध० २०। सागरदत्तस्य भार्यायां उदुम्बरदत्तस्य मातरि, स्त्री० विपा० ७ अ०।

गंगप्पवायद्दह पुं० (गङ्गाप्रपातहद) हिमवद्वर्षधरपर्वतोपरिवर्तिपद्महृदस्य पूर्वतोरणेन निर्गत्य क्रमेण यत्र प्रपतति तस्मिन् हृदविशेषे, स्था० २ ठा० ३ उ०। ('गंगा' शब्देऽस्य स्वरूपं दर्शयिष्यामि) "दो गंगप्पवायद्दहा" स्था० २ ठा० ३ उ०।

गंगा स्त्री० (गङ्गा) पद्महृदान्निर्गतायां लवणसमुद्रे सङ्गतायां महानद्याम्। स्था० ३ ठा० ४ उ०।

अथ गङ्गामहानदीस्वरूपमाह–

तस्स णं पउमद्दहस्स पुरच्छिमिल्लेणं तोरणेणं गंगा महाणई पव्वूढा समाणी पुरच्छाभिमुही पंचजोअणसयाइं पव्वएणं गता। गंगावत्तणकूडे आवत्ता समाणी पंचतेवीसं जोअणसए तिण्णिअ एगुणवीसइभाए जोअणस्स दाहिणाभिमुही पव्वएणं गंता महया घडमुहपवत्तिएणं मुत्तावलिहारसंतिएणं साइरेगं जोअणसएणं पवाएणं पवडइ। गंगामहाणई जओ पवडइ इत्थ णं महं एगा जिब्भिआ पण्णत्ता। सा णं जिब्भिआ अद्धजोअणं आयामेणं छसकोसाइं जोअणाइं विक्खंभेणं अद्धकोसं बाहल्लेणं मगरमुहविउट्ठं संठाणसंठिआ सव्वइरामई अच्छा सण्हा। गंगा महाणई जत्थ पवडइ एत्थ णं महं एगे गंगप्पवायकुंडे णामं कुंडे पण्णत्ते सट्ठिजोअणाइं आयामविक्खंभेणं एउअं जोअणसयं किंचि विसेसाहिअं परिक्खेवेणं दस जोअणाइं उव्वेहेणं अच्छे सण्हे रययामयकूले समतीरे वइरामयपासाणे वइरवले सुवमसुब्भरययामयवलुआए वेवलिअमणिकलिअपडलपच्चोअडे सुहोआर-सुहोत्तारे णाणामणितित्थसुबद्धो वट्टे अणुपुव्व-सुजायवप्पगंभीरसीअलजले संछण्णपत्तभिसमुणाले बहुउप्पलकुमुअणलिणसुभगसोगंधिअपोंडरीअमहापोंडरीअसयपत्तसहस्सपत्त सयसहस्सपत्ताए फुल्लकेसरोवचिए छप्पयपरिभुज्जमाणकमले अच्छविमलपत्थसलिलपुण्णपडि-हत्थभमंतमच्छकच्छभअणे सउणगणमिहुणपविअपरिसद्दभइअमहुरसरणाइए पासाइए ४। से णं एगाए पउमवरवेइआए एगेण य वणसंडेणं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ते वेइआ वणसंडगाणं पमाणं वण्णओ अ भाणियव्वो। तस्स णं गंगप्पवायकुंडस्स तिदिसिं तओ तिसोवाणपडिरूवगा पण्णत्ता। तं जहा–पुरच्छिमेणं दाहिणेणं पव्वच्छिमेणं तेसिणं तिसोवाणपडिरूवगाणं। अयमेआरूवे वण्णावासे पण्णत्ते। तं जहा–वइरामया। फलया लोहिक्खमईओ सुईओ वइरामया संधा णाणामणिमया आलंबणा बाहाओ। तेसिणं तिसोवाणपडिरूवगाणं पुरओ पत्तेअं पत्तेअं तोरणा पण्णत्ता। ते णं तोरणा णाणामणिमया णाणामणिमएसु खंभेसु उवणिविट्ठसंणिविट्ठा विविहमुत्तंतरोव–

इआ विविहतारारूवोवचिआ ईहामिअउसहतुरगणरमगरविहगवालगकिण्णररुरुसरभचमरकुंजरवणलयपउमलभत्तिचित्ता खंभुग्गयवइरवेइअपरिगयाभिरामा विज्जाहरजमलजुअलजंतजुत्ता विवअचीसहस्समालणिआ रूवगसहस्सकलिआ भिसमाणा भिब्भिसमाणा चक्खुल्लोअणलेसा सुहफासा सस्सिरीअरूवा घंटावलिचलिअमहुरमणहरसरा पासादीआ ४। तेसिणं तोरणाणं उवरिं बहवे अट्ठट्ठमंगलगा पण्णत्ता। तं सोच्छियसिरिवच्छ० जाव पडिरूवा। तेसिणं तोरणाणं उवरिं बहवे किण्हचामरद्धया० जाव सुक्किलचामरद्धया अच्छा सण्हा रूप्पपट्टा वइरामयदंडा जलयामलगंधिया सुरम्मा पासाईआ ४। तेसिणं तोरणाणं उप्पिं बहवे छत्ताइच्छत्ता पडागाइपडागा घंटाजुअला चामरजुआलउप्पलहत्थगा पउमहत्थगा० जाव सयसहस्सपत्तहत्थगा सव्वरयणामया अत्था० जाव पडिरूवा। तस्स णं गंगाप्पवायकुंडस्स बहुमज्झदेसभाए। एत्थ णं महं एगे गंगादीवे णामं दीवे पण्णत्ते अट्ठजोअणाइं आयामविक्खंभेणं साइरेगाइं पणवीसं जोअणाइं परिक्खेवेणं दोकोसउसिए जलंताओ सव्ववइरामए अच्छे सण्हे। से णं एगाए पउमवरवेइआए एगेण य वणसंडेण सव्वओ समंता संपरिक्खत्ते वण्णओ भाणिअव्वो। गंगदीवस्स णं दीवस्स उप्पिं बहुसमरणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते। तस्स णं बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं महं गंगाए देवीए एगे भवणे पण्णत्ते। कोसं आयमेणं अद्धकोसं विक्खंभेणं देसूणंगकोसं उड्डं उच्चत्तेणं अणेगखंभसयसण्णिविट्ठे० जाव मज्झदेसभाए मणिपेढिआए सयणिज्जे से केणट्ठेणं० जाव सासऐ णामधेज्जे पण्णत्ते। तस्स णं गंगप्पवायकुंडस्स दक्खिणिल्लेणं तोरणेणं गंगामहाणई पव्वूढा समाणी उत्तरड्ढभरहवासए जेमाणी जेमाणी सत्तहिं सलिलासहस्सेहि आउरेमाणी अउरेमाणी अहे खंडप्पवायगुहाए वेअड्डपव्वयं दालइत्ता दाहिणड्ढभरहवासए जेमाणी जेमाणी दाहिणड्ढभरहवासत्थ बहुमज्झदेसभागं गंता पुरच्छाभिमुही आवत्ता सग्गाणी चोद्दसहिं सलिलासहस्सेहिं समाणा अहेज्ज गइं दालइत्ता पुरच्छिमेणं लवणसमुद्दं समुप्पेइ गंगा णाम महाणई पवहेच्छस्स कोसाइं जोअणाइं विक्खंभेणं अद्धकोसं उव्वेहेणं, तयणंतरं च णं मायाए मायाए परिवड्ढमाणी परिवड्ढमाणी मुहे वा सट्ठिं जोअणाइं अद्धजोअणं च विक्खंभेणं सकोसं जोअणं उव्वेहेणं उभओ पासिं दोहिं पउमवरवेइआहिं दोहिं वणसंडेहिं संपरिक्खित्ता वेइया वणसंडवण्णओ भाणियव्वो।

(तस्स णं) इत्यादि। तस्य पद्मद्रहस्य पौरस्त्येन तोरणेन गङ्गानाम्नी महानदी स्वपरिवारभूतचतुर्दशसहस्रनदीसंपदुपेतत्वेनस्वतन्त्रतया समुद्रगामित्वेन च प्रकृष्टा नदी, एवं सिन्ध्वादिष्वपि ज्ञेयम्। प्रव्यूढा निर्गता सती पूर्वाभिमुखी पञ्चयोजनशतानि पर्वतेन पर्वतोपरीत्यर्थः। अथवा णं इति प्राग्वत्, पर्वते गत्वा गङ्गावर्तननाम्नि कूटे, अत्र सामीप्ये सप्तमी। 'वटे गावः सुशरते' इत्यादिवत्। गङ्गावर्त्तनकूटस्याधस्तादावृत्ता सती प्रत्यावृत्येत्यर्थः। पञ्चयोजनशतानि त्रयोविंशत्यधिकानि त्रींश्चैकोनविंशतिभागान् योजनस्य दक्षिणाभिमुखी पर्वतेन गत्वा महान् यो घटस्तन्मुखादिव प्रवृत्तिर्निर्गमो यस्य स तथा तेन। अयमर्थः—यथा घटमुखाज्जलौघो निर्यन् 'खुभिखुभीति' शब्दायमानो बलीयाँश्च निर्याति तथाऽयमपीति। मुक्तावलीनां मुक्तासरीणां यो हारस्तत्संस्थितेन तत्संस्थानेनेत्यर्थः, सातिरेकं योजनशतं क्षुद्रहिमवच्छिखरतलादारभ्य दशयोजनोद्वेधप्रपातकुण्डं यावद्धारापातो मानं यस्येति सातिरेकयोजनशतिकस्तेन। तथा प्रपातेन प्रपतज्जलौघेन, अत्र करणे तृतीया, प्रपतति प्रपातकुण्डं प्राप्नोतीत्यर्थः। प्रदक्षिणाभिमुखगमनपञ्चयोजनशतादिसंख्यात्वे च हिमवद्गिरिव्यासात् योजन १०५२ कला १२ रूपात् गङ्गाप्रवाहव्यासे योजन ६ क्रोश १ प्रमिते शोधिते, शेष १०४६ क्रोशे तु पादोनं कलापञ्चकं, तत्कलाद्वादशकात् शोध्यं, ततः शेषाः सप्त सपादाः कलाः। गङ्गाप्रवाहः पर्वतस्य मध्यभागेन पद्मद्रहाद्विनिर्याति, तेनास्या दक्षिणाभिमुखगङ्गाप्रवाहो न गिरिव्यासार्द्धस्य, गन्तव्यत्वेन गङ्गाव्यासो न गिरिव्यासः योजन १०४६ कलासपादसप्त ७ रूपोऽर्द्धीक्रियते। जातं यथोक्तं योजन५२३ कला ३। यद्यप्यत्र कलात्रिकं किंचित् समधिकार्द्धयुक्तमायाति तथाप्यल्पत्वान्न विवक्षितमिति। अथ जिह्विकाया अवसरः (गङ्गा महाणई जओ पवडइ इत्थ णं) इत्यादि। गङ्गा महानदी यतः स्थानात् प्रपतति, अत्रान्तरे महती एका जिह्विका प्रणालापरपर्याया प्रज्ञप्ता। (सा णं) इत्यादि। सा जिह्विका अर्द्धयोजननमायामेन षट्सक्रोशानि योजनानि विष्कम्भेन गङ्गामूलव्यासस्य मातव्यत्वात् अर्द्धक्रोशं बाहल्येन पिण्डेन विवृतं प्रसारितं यन्मकरमुखं जलचरविशेषमुखं तत्संस्थानसंस्थिता, विशेषणस्य परनिपातः प्राग्वत्। सर्वात्मना वज्रमया इत्यादिकत्वम्। अथ प्रपातकुण्डस्वरूपमाह—(गंगा महाणई) इत्यादि। गङ्गा महानदी यत्र प्रपतति, अत्रान्तरे महदेकं गंगाप्रपातकुण्डं नाम यथार्थनामकं प्रज्ञप्तं कुण्डं षष्टियोजनान्यायामविष्कम्भाभ्याम्। अत्र करणविभावनायां मूले ''पणासं जोअणवित्थारो ५० उवरिं सट्ठा ६०'' इति विशेषोऽस्ति। श्रीउमास्वातिवाचककृतजम्बूद्वीपमसमास—सूत्रादावपि तथैव। इत्थं च कुण्डस्य यथार्थनामतोपपत्तिरपि भवति। एवमन्येष्वपि यथायोगं ज्ञेयमिति। तथा नवतिं नवत्यधिकं योजनशतं किञ्चिद्विशेषाधिकं परिक्षेपेण श्रीजिनभद्रगणिक्षमाश्रमणपादाः स्वोपज्ञक्षेत्रविचारसूत्रे ''आयामो विक्खंभो, सट्ठि कुंडस्स जोअणा हुंति। नउअसयं किंचूणं, परिही दसजोअणोगाहो'' ॥१॥ इत्यूचुः। तद्वृत्तावपि श्रीमलयगिरिपादास्तथैव कणरीत्यापि तथैवागच्छन्ति, तेन प्रस्तुतसूत्रं गम्भीरार्थं बहुश्रुतैर्विचार्यं, नाऽस्मादृशां मन्दमेधसां मतिप्रवेश इति। यद्वा प्रस्तुतसूत्रं पद्मवरवेदिकासहितकुण्डपरिधि—विवक्षया प्रवृत्तमिति संभाव्यते, तेन न दोषस्तत्त्वं तु केवलिगम्यमिति। दशयोजनान्युद्वेधेन उच्चत्वेन अच्छस्फटिकबद्धादीर्निर्मलप्रदेशं श्लक्ष्णश्लक्ष्णपुद्गलनिष्पादितबहिःप्रदेशं रजतमयं रूप्यमयं कूलं यस्य तत्तथा। समं न गर्तासद्भावतो विषमं तीरवर्तिजलापूरितं स्थानं यस्मिन् तत्तथा। वज्रमयाः पाषाणाः भित्तिबन्धनाय यस्य तत्। तथा वज्रमयं तलं यस्य तत्तथा। सुवर्णं पीतहेम, शुक्लरूप्यविशेषः

रजतं प्रतीतं, तन्मयी वालुका यस्मिन् तत्तथा । वडूर्यमणिमयानि स्फटिकरत्नसंबन्धिपटलमयानि प्रत्यवटानि तटस मीपवर्त्यभ्युन्नतप्रदेशा यस्य तत् तथा। सुखेनावतारो जलमध्ये प्रवेशनं यस्मिन् तत्तथा । सुखेनोत्तारो जलमध्याद् बहिर्विनिर्गमनं यस्मिन् तत्तथा। ततः पूर्वपदेन विशेषणसमासः । तथा नानामणिभिः सुबद्धं तीर्थं यत्र तत्तथा । अत्र बहुव्रीहावपि क्तान्तस्य परनिपातो, भार्यादिदर्शनात्, प्राकृतशैलीवशाद्वा। तेथा वृत्तं वर्तुलम् आनुपूर्व्येण क्रमेण नीचैर्नीचैस्तरभावरूपेण सुष्ठु अतिशयेन यो जातो वप्रः केदाराजलस्थानं तत्र गम्भरीमलब्धस्ताघं जलं यस्मिन् तत् तथा। संछन्नानि जलेनान्तरितानि पत्रबिसमृणालानि यस्मिन् तत्तथा । अत्र बिसमृणालसाहचर्यात् पत्राणि पद्मिनिपत्राणि द्रष्टव्यानि बिसानि कन्दाः, मृणालानि पद्मनाभानि । बहूनामुत्पलकुमुदनलिनसुभगसौगन्धिकपुण्डरीकमहपुण्डरिकशतपत्रसहस्त्रपत्राणां प्रफुल्लानां विकस्वराणां करैः किञ्जक्लैरुपशोभितं भृते, विशेषणस्य व्यस्ततया निपातः, प्राकृतत्वात् । षट्पदैर्भ्रमरैः परिभुज्यमानानि कमलानि उपलक्षणमेतत् कुमुदादीनि यस्मिन् तत्तथा । अच्छेन स्वरूपतः स्फटिकवत् शुद्धेन् विमलेनागन्तुकमलरहितेन पथ्येनारोग्यकारणेन सलिलेन पूर्णम् । तथा (पडिहत्था) अतिप्रभूता, देशी शब्दोऽयं; भ्रमन्तो मत्स्यकच्छपा यत्र तत्तथा । अनेकशकुनिमिथुनकानां प्रविचरितमितस्ततो गमनं यत्र तत्तथा । ततः पूर्वपदेन विशेषणसमासः । तथा शब्दोन्नतिकं उन्नतशब्दकं, सारसादिजलचररुतापेक्षया, मधुरस्वरं च हंसभ्रमरादिकूजितापेक्षया, एवंविधं नादितं पलितं यत्र तत्तथा । अत्र च यत् कानिचिद्विशेषणानि प्रस्तुतसूत्रदृश्यमानादर्शापेक्षया व्यस्ततया लिखितानि सन्ति तज्जीवाभिगमवाप्यादिवर्णकसूत्रस्य बहुसमानगमनकतया तदनुसारेणेति बोध्यम्, एवमन्यत्रापि । (पासाईए त्ति) अनेन ''पासाईए दरिसणिज्जे अभिरूवे पडिरूवे'' इति पदचतुष्टयं ग्राह्यं, तच्च प्राग्वत् । अथात्र पद्मवरवेदिकादिवर्णनायाह–(से णं) इत्यादि व्यक्तम् । अत्र मुखावतारोत्तारौ कथं भवतः ? इत्याह–(तस्स णं) इत्यादि। तस्य गङ्गाप्रतापकुण्डस्य त्रिदिशि दिक्त्रये वक्ष्यमाणलक्षणे त्रीणि सोपानप्रतिरूपकाणि प्रज्ञप्तानि, एतद्व्याख्या प्राग्वत्, शेषं व्यक्तम् । (तेसिणं) इत्यादि । व्यक्तं, जगतीवर्णकतुल्यत्वात्। नवरम्–(आलंबणा) अवतारोत्तारयोरालम्बनहेतूभूताः अवलम्बनबाहावयवाः, अवलम्बन-बाह्या नाम द्वयोः पार्श्वयोरवलम्बनाश्रयभूता भित्तयः । (तेसिणं) इत्यादि । तेषां त्रिसोपानप्रतिरूपकाणां पुरतः प्रत्येकं प्रत्येकं तोरणानि प्रज्ञप्तानि। तानि तोरणानि नानामणिमयानि नानामणिमयेषु स्तम्भेषु उपनिविष्टानि सामीप्येन स्थितानि तानि च कदाचिच्चलानि स्थानभ्रष्टानीत्यर्थः । अथवा पदप्रतीतानि भवेयुरिति सन्निविष्टानि सम्यग् निश्चलतया अपदपरिहारेण च निविष्टानि, ततो विशेषणसमासः । विविधा नाना विच्छित्तिककलितामुक्ताफलानि, अन्तराशब्दोऽगृहीतवीप्सोऽपि सामर्थ्याद्वीप्सां गमयति । (अंतरांतरोवइआ) आरोपिता यत्र तानि । तथा विविधैस्तारारूपैस्तारिकारूपैरुपचितानि, तोरणेषु हि शोभार्थं तारिकाणि बध्यन्ते इति प्रतीतं लोकेऽपि । ईहामृगाः वृकाः, ऋषभा वृषभाः, व्याला भुजङ्गाः, रुरवो मृगविशेषाः, शरभा अष्टापदाः, चमराः आटव्या गावः वनलता अशोकादिलताः प्रतीताः पद्मलताः पद्मिन्यः, शेषं प्रतीतम्; एतासां भक्तयो विच्छिन्ना याभिस्ताभिश्चित्राणि । स्तम्भोद्गतया स्तम्भोपरिवर्त्तिन्या वज्रवेदिकया परिगतानि परिकरितानि सन्ति यानि अभिरामाणि अभिरमणीयानि तानि तथा । विद्याधरयोर्विशिष्टशक्तिमत्पुरुषविशेषयोर्यमलं समश्रेणिकं युगलं द्वन्द्वं तेनैव यन्त्रेण संचरिष्णुपुरुषप्रतिमाद्वयरूपेण युक्तानि, आर्षत्वाच्चैवंविधः समासः । अथवा प्राकृतत्वेन तृतीयालोपात् । विद्याधरयमलयुगलेन वेति, शेषं पूर्ववत् । अच्चिषां मणिरत्नप्रभाणां सहस्त्रैर्मालनीयानि परिवारणीयानि रूपकसहस्त्रकलितानीति स्पष्टम् । भृशमत्यर्थं मानं प्रमाणं येषां तानि तथा । (भिब्भिसमाण त्ति) ''भासेर्भिसः'' ८ । ४ । २०३ । इत्यनेन भिसादेशे प्रकृष्टार्थप्रत्यये रूपसिद्धिः । अत्यर्थं देदीप्यमानानि लोकने सति चक्षुषो लेशः श्लेषो यत्र तानि, त्रिपदो बहुव्रीहिः । पदविपर्यासः प्राकृतत्वात्, शेषं सुबोधम् । नवरं घण्टावलेर्वातवशेन चलिताया मधुरो मनोहरश्च स्वरो येषु तानि तथा । (तेसिणं) इत्यादि । अस्य व्याख्या प्राग्वत् । (तेसिणं) इत्यादि । तेषां तोरणानामुपरि बहवः कृष्णचामरध्वजाः, एवं नीलचामरध्वजादयोऽपि वाच्याः, ते च सर्वेऽपि कथंभूताः? इत्याह–अच्छा आकाशस्फटिकवदतिनिर्मलाः, श्लक्ष्णाः श्लक्ष्णपुद्गलस्कन्धनिर्मापिताः, रूप्यमया वज्रमयस्य दण्डस्योरि पादा येषां ते तथा। वज्रमयो दण्डो रूप्यपट्टमध्यवर्ती येषां ते तथा । जलजानामिव जलजकुसुमानां पद्मादीनामिवाऽमलो, न तु कुद्रव्यगन्धसन्निभो यो गन्धः स विद्यते येषां ते जलजामलगन्धिकाः । ''अतोऽनेकस्वरात्'' ७। २। ६ । इति (हैम०) इकप्रत्ययः । अत एव सुरम्याः (पासाईआ) इत्यादि प्राग्वत् । (तेसिणं) इत्यादि । अस्य व्याख्या प्राग्वत् । अथ गङ्गाद्वीपवक्तव्यतामाह–(तस्स गंगप्पवाय) इत्यादि । तस्य गङ्गाप्रपातकुण्डसय बहुमध्यदेशभागेऽत्र महानेको गङ्गादेव्या वासभूतो द्वीपो 'गङ्गाद्वीप' इति नाम्ना द्वीपः प्रज्ञप्तः, मध्यलोपिसमासात् साधुः। अष्टौ योजनान्यायामविष्कम्भेण सातिरेकाणि पञ्चविंशतिं योजनानि परिक्षेपेण द्वौ क्रोशौ यावदुच्छितौ जलं तावत् जलपर्यन्तात् सर्वतोवर्तिजलस्य जलेनावृतस्य क्षेत्रस्य द्वीपव्यवहारात्। शेषं व्यक्तम्। (से णं) इत्यादि। स गङ्गाद्वीप एकया पद्मवरवेदिकया एकेन वनखण्डेन सर्वतः समन्तात् संपरिक्षिप्तः, वर्णकश्च भणितव्यो जगतीपद्मवरवेदिकावदिति । अथ तत्र यद्यदस्ति तदाह–(गंगादीवस्स णं) इत्यादि। गङ्गाद्वीपस्योपरि बहुसमरमणीयो भूमिभागः प्रज्ञप्तः। तस्य बहुमध्यदेशभागे अत्रान्तरे गंङ्गाया देव्या महदेकं भवनं प्रज्ञप्तम् । आयामादि विभागादिकं शय्यावर्णकपर्यन्तं सूत्रं सव्याख्यानं श्रीभवनानुसारेण ज्ञेयम् । अथ तामन्वर्थं पृच्छति (से केणट्ठेणं) इत्यादि। व्यक्तम्। अथ गङ्गा यथा समुपसर्पति तथाह–(तस्स णं) इत्यादि । तस्य गङ्गाप्रपातकुण्डस्य दाक्षिणात्येन तोरणेन प्रव्यूढा निर्गता सती गङ्गा महानदी उत्तरार्द्धभरतवर्षं इयूती इयूती गच्छन्ती गच्छन्ती सप्तभिः सलिलानां नदीनां सहस्त्रैरापूर्यमाणा अपूर्यमाणा भ्रियमाणा भ्रियमाणा अधः खण्डप्रपातगुहाया वैताढ्यपर्वतं दारयित्वा भित्त्वा दक्षिणार्द्धभरतं वर्षं इयूती इयूती दक्षिणार्द्धभरतवर्षस्य बहुमध्यदेशभागं गत्वा पूर्वाभिमुखा आवृत्ता सती चतुर्दशभिः सलिलासहस्त्रैः समग्रा सम्पूर्णा आपूर्यमाणा इत्यर्थः । अधोभागे जगतीं जम्बूद्वीपप्राकारं दारयित्वा पूर्वेण लवणसमुद्रं समुपसर्पति अवतरतीत्यर्थः । अथास्या एव प्रवाहमुखयोः पृथुत्वोद्वेधौ दर्शयति (गंगा णं) इत्यादि। गंगा महानदी प्रवहे यतःस्थानात् उद्वोढुं प्रवर्त्तते स प्रवाहः । पद्मद्र हतोरणान्निर्गम इत्यर्थः । तत्र षट् सक्रोशानि योजनानि

विष्कम्भेण तथा क्रोशार्द्धमुद्वेधेन महानदीनां सर्वत्रोद्वेधस्य स्वव्यासपञ्चाशत्तमभागरूपत्वात्, अस्तीति शेषः। तदनन्तरमिति पद्मद्रहतोरणीयव्यासादनन्तरम, एतेन यावत्क्षेत्रं स व्यासोऽनुवृत्तस्तावत् क्षेत्रादनन्तरं गङ्गाप्रपातकुण्डनिर्गमादनन्तरमित्यर्थः। एतेन च योऽन्यत्र प्रवहशब्दे मकरमुखप्रणालनिर्गमः प्रपातकण्डनिर्गमो वाऽभिहितः स नेति श्रीअभयदेवसूरिपादैः समवायाङ्गवृत्तौ, श्रीमलयगिरिपादैश्च वृहत्क्षेत्रसमासवृत्तौ; पद्मद्रतोरणनिर्गमपरत्वेनैव व्याख्यानात्। एवमुद्वेधेऽपि ज्ञेयम्। मात्रया मात्रया क्रमेण क्रमेण प्रतियोजनं समुदितयोरुभयोः पार्श्वयोर्धनुर्दशकवृद्ध्या प्रतिपार्श्वधनुःपञ्चक-वृद्ध्येत्यर्थः। परिवर्धमाना परिवर्धमाना मुखे समुद्रप्रवेशे द्वाषष्टिं योजनानि अर्धयोजनं च विष्कम्भेण प्रवहनान्मुखमानस्य दशगुणात्वात् सक्रोशं योजनमुद्वेधेन सार्धद्वाषष्टियोजनप्रमाणमुखव्यासस्य, पञ्चाशत्तमभागे एतावत एव लाभात्। उभयोः पार्श्वयोर्द्वाभ्यां पद्मवरवेदिकाभ्यां वनखण्डाभ्यां सपरिक्षिप्ता गङ्गेत्यर्थः। प्रतियोजनं धनुर्दशकवृद्धिस्त्वेवम्-मुखव्यासात् प्रवहव्यासेऽपनीतेऽवशिष्टे धनूरूपे कृते सूरिवदायामेन भक्ते लब्धमिष्टप्रदेशगतयोजनसंख्याया गुण्यते यावत् स्यात्तावत्युभयपार्श्वयोर्वृद्धिर्वाच्या। तथाहि-गङ्गायाः प्रवहे व्यासः योजन ६ क्रोशमुखे तु योजन ६२ क्रोश २। तत्र मुखव्यासात् प्रवहव्यासेऽपनीते जातं योजन ५६ क्रोश १, योजनानां च क्रोशकरणाय चतुर्भिर्गुणने उपरितनैकक्रोशप्रक्षेपे च जाताः २२५। क्रोशे च धनुषां सहस्त्रद्वयमिति सहस्त्रद्वयेन गुण्यन्ते, जातानि धनूंषि ४५०००। ततः पञ्चचत्वारिंशता सहस्त्रैर्भज्यन्ते, लब्धानि १० धनूंषि। एकेन गुण्यन्ते, जातानि १०। 'एकेन गुणितं तदेव भवति' इति न्यायात्। एतावती च समुदितयोरुभयोः पार्श्वयोः प्रवहदिकस्मिन् योजने गते जलवृद्धिः। अथ मूलाद् योजद्वयान्ते यदा वृद्धिर्ज्ञातुमिष्यते तदा दश धनूंषि द्विकेन गुण्यन्ते, जातानि २०। एतावती प्रवहादुभयपार्श्वयोर्योजनद्विकान्ते वृद्धिः स्यात्। अस्याश्चार्धे १०, एतावत्येकपार्श्वे वृद्धिः। एवं सर्वत्र भाव्यम्। जं० ४ वक्ष०।

गंगासिंधूओ णं महाणदीओ पणवीसं गाउयाणि पोहत्तेणं घडमुहपवित्तिएणं मुत्तावलिहारसंठिएणं पवातेण पडन्ति।

(गंगा) इत्यादि। पञ्चविंशतिगव्यूतानि पृथृत्वेन यः प्रपातस्तेनेति शेषः। (दुहओ त्ति) द्वयोर्दिशोः पूर्वतो गङ्गा, अपरतः सिन्धुरित्यर्थः। पद्मह्रदादू विनिर्गते पञ्च पञ्च योजनशतानि पर्वतोपरि गत्वा दक्षिणाभिमुखे प्रवृत्ते (घममुडपवित्तिएणं ति) घटमुखादिव पञ्चविंशतिक्रोशे पृथुलजिह्वाकाद् मकरमुखप्रणालात् प्रवृत्तेन मुक्तावली नाम मुक्ताशरीराणां यो हारस्तत्संस्थितेन प्रपतज्जलसन्तानेन योजनशतोच्छ्रितस्य हिमवतोऽधोवर्तिनोः स्वकीययोः प्रपातकुण्ड्योः प्रपततः। स० २५ सम०।

गंगासिंधूओ णं महाणदीओ पवाहे सातिरेगेणं चउवीसं कोसे वित्थारेणं पण्णत्ता॥ स० २४ सम०।

जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स दाहिणेणं गंगामहाणदिं पंच महाणदीओ समप्पेंति। तं जहा- जउणा, सरऊ, आदी, कोसी, मही। स्था० ५ ठा० ३ उ०।

गङ्गाऽवतारः-

अन्यदा जह्नुकुमारेण कथञ्चित्सगरः सन्तोषितः। स उवाच-जुह्नुकुमार! यत्तव रोचते तन्मार्गय। जुह्नुरुवाच-तात! ममास्त्ययमभिलाषः यत्तातानुज्ञातोऽहं चतुर्दशरत्न-सहितोऽखिलभ्रातृपरिवृतः पृथ्वीं परिभ्रमामि। सगरचक्रिणा तत् प्रतिपन्नम्। प्रशस्तमुहूर्त्ते सगरचक्रिणः समीपात् स निर्गतः सबलवाहनः। अनेकजनपदेषु भ्रमन् प्राप्तोऽष्टापदपर्वते। सैन्यमधस्तान्निवेश्य स्वयमष्टापदपर्वतमारूढः। दृष्टवाँस्तत्र भरतनरेन्द्रकारितं मणिकनकमयं चतुर्विंशतिजिनप्रतिमाधिष्ठितं स्तूपशतसङ्कुलं जिनायतनम्। तत्र जिनप्रतिमा अभिवन्द्य जुह्नुकुमारेण मन्त्रिणं पृष्टम्-केन सुकृतवता इदमतीव रमणीयं जिनभवनं कारितम् ? मन्त्रिणा कथितम्-भवत्पूर्वजेन श्रीभरतचक्रिणेति श्रुत्वा जह्नुकुमारोऽवदत्-अन्यः कश्चिदष्टापदसदृशः पर्वतोऽस्ति यत्रेदृशमन्यच्चैत्यं कारयामः ? चतसृषु दिक्षु पुरुषास्तद्गवेषणाय प्रेषितास्ते सर्वत्र परिभ्रम्य समायाता ऊचुः-स्वामिन! ईदृशः पर्वतः क्वापि नास्ति। जह्नुना भणितम्-यद्येवं वयं कुर्म्म एतस्यैव रक्षां, यतोऽत्र क्षेत्रे कालक्रमेण लुब्धाः सर्वे नरा भविष्यन्ति; अभिनवकारणात्। पूर्वकृतपरिपालनं श्रेयः, तच्च दण्डरत्नं गृहीत्वा समन्ततोऽष्टापदपार्श्वेषु जह्नुप्रमुखाः सर्वेऽपि कुमाराः खातुं लग्नाः। तच्च दण्डरत्नं योजनसहस्रं भित्त्वा प्राप्तं नागवनेषु। तेन तानि (योजनानि) भिन्नानि दृष्ट्वा नागकुमाराः शरणं गवेषयन्तो गताः नागराजज्वलनप्रभसमीपेः कथितः स्वभवनविदारणवृत्तान्तः। सोऽपि संभ्रान्त उत्थितोऽवधिना ज्ञात्वा क्रोधोद्धरः समागतः सगरसुतसमीपम्। भणितवांश्च-भो भोः! किं भवद्भिर्दण्डरत्नेन पृथ्वीं विदार्य अस्मद्भवनोपद्रवः कृतः ? अविचार्यं भवद्भिरेतत्कृतम्। यत उक्तम्-"अप्पवहाए नूणं, होइ बलं उत्तणाण भुवणम्मि। णियपक्खुबलेणं चिय, पडेइ पयंगो पइवम्मि" ॥१॥ ततो नागराजोपशमननिमित्तं जह्नुना भणितम्-भो नागराज! कुरु प्रसादम्, उपसंहर क्रोधसम्भरं, क्षमस्वास्मदपराधमेकं; न ह्यस्माभिर्भवतामुपद्रवनिमित्तमेत्कृतम्; किन्तु अष्टापदचैत्यरक्षार्थमेषा परिखा कृता, न पुनरेवं करिष्यामः। ततः उपशान्तकोपो ज्वलनप्रभः स्वस्थानं गतः। जह्नुकुमारेण भ्रातृणां पुर एवं भणितम्-एषा परिखा दुर्लङ्घ्यापि जलविरहिता न शोभते, तत इमां नीरेण पूरयामः। दण्डरत्नेन गङ्गां भित्त्वा जह्नुना जलमानीतं, भृता परिखा। तज्जलं नागभवनेषु प्राप्तम्। जलप्रवाहसन्त्रस्तं नागनागिनीप्रकरमितस्ततः प्रणश्यन्तं प्रेक्ष्य प्रदत्तावधिज्ञानोपयोगः कोपानलज्वालामालाकुलो ज्वलनप्रभ एवमचिन्तयत्-अहो! एतेषां जह्नुकुमारादीनां महापापानां मया एकवारमपराधः क्षान्तः। पुनरधिकतरमुपद्रवः कृतः। ततो दर्शयाम्येषामविनयफलम्। इति ध्यात्वा ज्वलनप्रभेण तद्वधार्थं नयनविषा महाफणिनः प्रेषितास्तैः परिखाजलान्तर्निर्गत्य नयनैस्ते कुमाराः प्रलोकिता भस्मराशीभूताः सर्वेऽपि सगरसुताः। तथाभूतांस्तान् वीक्ष्य सैन्ये हाहारवो जातः। मन्त्रिणा उक्तम्-एते तु तीर्थरक्षां कुर्वन्तोऽवश्यभावितया इमामवस्थां प्राप्ताः सद्गतावेव भविष्यन्तीति किं शोच्यन्ते ? अतस्त्वरितमितः प्रयाणः क्रियते। गम्यते महाराजचक्रिसमीपम्। सर्वसैन्येन मन्त्रिवचनमङ्गीकृतम्। ततस्त्वरितप्रयाणकरणेन क्रमात् प्राप्तं स्वपुरसमीपे। ततः सामन्तामात्यादिभिरेवं विचारितम्-समस्तपुत्रवधोदन्तः कथं चक्रिणो वक्तुं पार्यते ? ते सर्वे दग्धा, वयं चाऽक्षताङ्गाः समायाता एतदपि प्रकामं त्रपाकरं, ततः सर्वेऽपि वयं प्रविशामोऽग्नौ। एवं विचारयतां तेषां पुरः समायात एको द्विजः। तेनेदमुक्तम्-"भो वीराः! किमेवमाकुलीभूताः ?, मुञ्चत विषादं; यतः संसारे न किञ्चित्सुखं दुःखमत्यन्तमदभुतम

स्ति। भणितं च–''कालम्मि अणाईए, जीवाणं विविहकम्मवसगाणं। तं नत्थि संविहाणं, जं संसारे न संभवइ'' ॥१॥ अहं सगरचक्रिणः पुत्रवधव्यतिकरं कथयिष्यामि। सामन्तादिभिस्तद्वचः प्रतिपन्नम्। ततः स द्विजो मृतं बालकं करे कृत्वा 'दृष्टोऽस्मि' इति वदन् सगरचक्रिगृहद्वारे गतः। चक्रिणा तस्य विलापशब्दः श्रुतः। चक्रिणा स द्विज आकारितः। केन दष्टोऽसि ? इति चक्रिणा पृष्टः, स प्राह–देव ! एक एव मे सुतः सर्प्पेण दष्टो मृतः, एतद्दुःखेनाहं विलपामीति। करुणासागर ! त्वमेनं जीवय। अस्मिन्नवसरे तत्र मन्त्रिसामन्ताः प्रापिताः, प्राप्ताः, चक्रिणं प्रणम्य उपविष्टाः। तदानीं चक्रिणा राजवैद्यमाकार्य उक्तम्–एनं निर्विषं कुरु। वैद्यैन तु चक्रिसुतमारण श्रुतवता उक्तम–राजन्! यस्मिन् कुले कोऽपि न मृतः तत्कुलाङ्गस्य यद्यानयसि तदैनमहं जीवयामि। द्विजेन गृहे गृहे प्रश्नपूर्वकं भस्म मार्गितं, गृहमनुष्या स्वमातृपितृभ्रातृदुहितृप्रमुखकुटुम्बमरणान्याचख्युः। द्विजश्चक्रिसमीपे समागत्य उवाच–नास्ति वैद्योपदिष्टादृशभस्मोपलब्धिः, सर्वगृहे कुटुम्बमनुष्यमरणसद्भावात्। यद्येवं तत् किं स्वपुत्रं शोचसि ? सर्वसाधारणमिदं मरणम्। उक्तं च–''किं अत्थि कोइ भुवणे, जस्स जायाइन्नेव पायाइं। नियकम्मपरिणईए, जम्मणमरणाइं संसारे'' ॥१॥ ततो ब्राह्मण ! मा रुद्र, शोकं मुञ्च; आत्महितं कार्यं चिन्तय यावत् त्वमपि एवं मृत्युसिंहेन न कवलीक्रियसे। विप्रेण भणितम्–देव! अहमपि जानाम्येवं, परं पुत्रमन्तरेण सम्प्रति मे कुलक्षयः। तेनाऽहमतीव दुःखितः। त्वं तु दुःखिताऽनाथवत्सलोऽप्रतिहतप्रतापश्चासि, ततो मे देहि पुत्रजीवितदानेन मनुष्यभिक्षाम्। चक्रिणा भणितम्–भद्र ! इदमशक्यप्रतीकारम्। उक्तञ्च–''सीयन्ति सव्वसत्ताइं,एत्थ न कम्मन्तिमन्ति तं ताइं। अदिट्ठपहरगम्मी, विहिम किं पौरसं कुणइ'' ॥१॥ ततः परित्यज्य शोकं कुरु परलोकहितम्। मूर्ख एव हृते नष्टे मृते करोति शोकम्। विप्रेण भणितम्–महाराज ! सत्यमेतत्; न कार्योऽन जनकेन शोकः। ततस्त्वमपि मा कुर्याः शोकम्, असम्भावनीयं भवतः शोककारणं जातम्। संभ्रान्तेन चक्रिणा पृष्टम्–भो विप्र ! कीदृशं मम शोककारणं जातम् ? विप्रेण भणितम् देव ! तव षष्टिसहस्राः पुत्राः कालं गताः। इदं श्रुत्वा चक्री वज्रप्रहाराहत इव नष्टचेतनः सिंहासनान्निपतितो मूर्च्छितः सेवकैरुपचरितश्च। मूर्च्छाऽवसाने च शोकातुरमना मुत्कलकण्ठेन रुरोद। एवं विलापांश्चकारहा पुत्राः ! हा हृदयदयिताः ! हा बन्धुवल्लभाः ! हा शुभस्वभावाः ! हा विनीताः ! हा *सकलगुणनिधयः ! कथं मामनाथं मुक्त्वा यूयं गता ? युष्मद्विरहार्तस्य* मम दारुणं ददतः हा निर्दय पापविधे ! एकपदे चैव सर्वान् बालकान् संहरतस्तव किं पूर्णं जातं ? हा निष्ठुरहृदय ! त्वमसह्यसुतमरणदुःखसन्तप्तं किं न शतखण्डं भवसि ? एवं विलपंश्चक्री तेन विप्रेण भणितः–महाराज ! त्वं मम माम्प्रत्येवम् उपदिष्टवान्, स्वयं च कथं शोकं गच्छसि ? इति। उक्तञ्च–''परवसणम्मि सुहेणं, संसारासायरं कहइ लोओ। णियबन्धुजणविणासो, सव्वस्स वि चलइ धीरत्तं'' ॥१॥ एकपुत्रस्यापि मरणं दुःसहं, किं पुनः षष्टिसहस्रपुत्राणां ?, तथापि सत्पुरुषा व्यसनं सहन्ति, पृथिव्येव वज्रनिपातं सहति नापर इति। अवलम्ब्य सुधीरत्वमलमत्र विलपितेन। यत उक्तम्–''सोयं ताणं पि नो ताणं, कम्मबन्धो उ केवलो। तो पंडिया न सीयन्ति, जाणंता भवरूवयं'' ॥१॥ एवमादिवचनाविन्यासैर्विप्रेण स्वस्थीकृतो राजा। भणिताश्च तेनैव सामन्तमन्त्रिणः–वदन्तु यथावृत्तं षष्टिसहस्रपुत्रमरणव्यतिकरम्। तैरुक्तः सकलोऽपि तद्व्यतिकरः। प्रधानपुरुषैः सर्वैरपि राजा धीरतां नीत उचितकृत्यं कृतवान्। अत्रान्तरेऽष्टापदासन्नवासिनो जनाः प्रणतशिरस्काश्चक्रिणे एवं कथयन्ति यथा–देव ! यो युष्मदीयसुतैरष्टापदरक्षणार्थे गङ्गाप्रवाह आनीतः स आसन्नग्रामनगराण्युपद्रवान् प्रसरतीति तं भवान् निवारयतु। देव ! अन्यस्य कस्यापि तन्निवारणशक्तिर्नास्तीति। चक्रिणा स्वपौत्रो भगीरथिर्भणितःवत्स ! नागराजमनुज्ञाप्य दण्डरत्नेन गङ्गाप्रवाहं नय समुद्रम्। ततो भगीरथिरष्टापदसमीपं गतः। अष्टमभक्तेन नागराज आराधितः समागतो भणति–किं ते सम्पादयामि ?, प्रणामपूर्वं भगीरथिना भणितम्–तव प्रसादेनामुं गङ्गाप्रवाहम् उदधिं नयामि। अष्टापदासन्नलोकानां महानुपद्रवोऽस्तीति। नागराजेन भणितम्–'विगतभयस्त्वं कुरुष्व समीहितं, निवारयिष्याम्यहं भरतनिवासिनो नागान्' इति भणित्वा नागराजः स्वस्थानं गतः। भगीरथिनापि कृता नागानां बलिकुसुमादिभिः पूजा। ततः प्रभृति लोको नागबलिं करोति। भगीरथिर्दण्डेन गङ्गाप्रवाहमाकर्षन् भञ्जंश्च बहून् स्थलशैलप्रवाहान्, प्राप्तः पूर्वसमुद्रं तत्रावतारिता गङ्गा। तत्र नागानां बलिपूजा विहिता। यत्र गङ्गा सागरे प्रवाहिता तत्र 'गङ्गासागर' तीर्थं जातम्। गङ्गा जह्नुना नीतेति 'जाह्नवी' भगीरथिनीतेति 'भागीरथी'। भगीरथिस्तदा मिलितैर्नागैः पूजितो गतोऽयोध्यां, पूजितश्चक्रिणा तुष्टेन स्थापितः स्वराज्ये। उत्त० १८ अ०। आ० म०। गङ्गासंख्या–एका भारते, अष्ट मन्दरस्य पूर्वे शीताया महानद्या उत्तरे, अष्ट च मन्दरस्य पश्चिमे शीतोदाया महानद्या दक्षिणे; इत्येवं सप्तदश। स्था० ८ ठा०। तदधिष्ठातृदेव्यां च। ''ततो भरहो गंगाओ य वेइ, पच्छा सेणावती उत्तरिल्लं गंगानिक्खुडंओ य वेइ। भरहो गंगाए सद्धिं वाससहस्सं भोगे भुंजइ'' आ० म० प्र०। गोशालकमतेन कालप्रमाण भेदे। ('गोसालय'शब्दे व्याख्या) भ०। जी०॥ ''गंगापुलिनवालुकीया अवदालो विदलनं''पादादिन्यासेऽधोगमनामिति भावस्तेन (सालिसं) इति सदृशकं मङ्गापुलिनवालुकावदालसदृशम्। जी० ३ प्रति०। भ०।

गंगाकुंड न० (गङ्गाकुण्ड) गङ्गाप्रपाह्रदे, जं० ४ वक्ष०। तानि च सप्तदश गङ्गावद्भावनीयानि। नवरं गङ्गाकुण्डानि नीलवर्द्वषधरपर्वतदक्षिणनितम्बस्थितानि षष्टियोजनायामविष्कम्भाणि मध्यवर्त्तिगङ्गादेवीसभवनद्वीपानि त्रिदिक्सतोरणद्वाराणि येभ्यः। प्रत्येकं दक्षिणतोरणेन गङ्गा विनिर्गत्य विजयानि विभजन्त्यो भरतगङ्गावच्छीतामनुप्रविशन्तीति। स्था० ८ ठा०। (एतच्च सूत्रतः 'कच्छ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १८५ पृष्ठे दर्शितम्)

गंगाकूड न० (गङ्गाकूट) क्षुद्रहिमवतः पञ्चमे कूटे, स्था० २ ठा० ३ उ०। जं०। ('कूड' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ६१७ पृष्ठे तत्स्वरूपं दर्शितम्)

गंगाण्हाण न० (गङ्गास्नान) जाह्नवीमज्जने, व्रासु महारिसि एउ, भणइ जइ सुइसत्थु पमाणु। मायहं चलण नवंताहं, दिवि दिवि गंगाण्हाणु'' प्रा० ४ पादे।

गंगादीव पुं० (गङ्गाद्वीप) गङ्गाप्रपातमध्यस्थे गङ्गादेवीभवनशोभिते द्वीपे। स्था० २ ठा० ३ उ०। (तद्वर्णको 'गंगा' शब्दे उक्तः) ''गंगासिंधुरत्तारत्तवईदेवीणं दीवा अट्ठट्ठजोयणाइं आयामविक्खंभेणं पण्णत्ता'' स्था० ८ ठा०।

गङ्गावत्त पुं० (गंगावर्त्त) आवर्त्तविशेषे, कल्प० ३ क्षण।

जी०। ''गंगावत्त व्व पयाहिणावत्ततरंगभंगुररविकिरणतरुणबोहिय आकोसायंतपउमगंभीरवियडनाभा'' गंगावर्त्तक इव प्रदक्षिणावर्त्ततरङ्गैरिवंतरङ्गै स्तिसृभिर्वलिभिर्भङ्गुराः तरङ्गभङ्गुराः। रविकिरणैः सूर्यकिरणैस्तरुणमभिनवं तत्प्रथमतया तत्कालमित्यर्थः, यद्बोधितं उन्निद्रीकृतम्, अत एवाकोशायन्त इत्याकोशायमानं विकचीभवदित्यर्थः, पद्मं तद्वत्गम्भीरा च विकटा च नाभिर्येषां ते गङ्गावर्तकप्रदक्षिणापवर्ततरङ्गभङ्गुररविकिरणतरुणबोधिताकोशायमानपद्मगम्भीरविकटनाभाः। जी० ३ प्रतिः। औ०।

गंगासय न० (गङ्गाशत) गोशालकमतेन महाकल्पान्तर्गतकालपरिमाणभेदे। भ० १५ श० १ उ०। ('गोसलय' शब्दे वक्तव्यता)

गंगासागर पुं० (गङ्गासागर) यत्र गङ्गा सागरे प्रवहिता तस्मिन् तीर्थविशेषे, उत्त० १८ अ०।

गंगेय पुं० (गाङ्गेय) भीष्मपितामहे, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ०। आर्यमहागिरिशिष्यधनगुप्तशिष्ये, द्वैक्रियनिह्नवानां धर्माचार्ये, आ० चू० १ अ०। स्वनामख्याते पार्श्वापत्ययेऽनगारे,

तद्वक्तव्यता चैवम्–

तेणं कालेणं तेणं समएणं वाणियगामे णामं णयरे होत्था वण्णओ दूइपलासे चेइए सामी समोसड्ढे, परिसा णिग्गया, धम्मो कहिओ, परिसा णिग्गया। तेणं कालेणं तेणं समएणं पासावच्चिज्जा गंगेयं णामं अणगारे जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छइत्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स अदूरसामंते ट्ठिच्चा समणं भगवं महावीरं एवं वयासी। भ० ९ श० ३२ उ०।

(स्वतोऽस्वतो वा नैरयिकादय उत्पद्यन्ते इत्याद्युत्पादोद्वर्त्तनाविषयाणि प्रश्नोत्तरसूत्राणि ''उववाय'' शब्दे द्वि० भागे ९६५ पृष्ठे उक्तानि)

(प्रवेशनकवक्तव्यता च 'पवेसणय' शब्दे वक्ष्यते)

तप्पभिइं च णं से गंगेये अणगारे समणं भगवं महावीरं पच्चभिजाणइ सव्वण्णू सव्वदरिसी० तएणं से गंगेये अणगारे समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेइ वंदेइ णमंसइ। वंदित्ता णमंसित्ता एवं वयासी–इच्छामि णं भंते ! तुब्भे अंतिए चाउज्जामाओ धम्माओ पंचमहव्वयं एवं जहा कालासवेसियपुत्ते अणगारे तहेव भाणियव्वं० जाव सव्वदुक्खप्पहीणे सेवं भंते ! भंते ! त्ति॥

(तप्पभिइं च त्ति) यस्मिन् समयेऽनन्तरोक्तं वस्तु भगवता प्रतिपादितं स एव समयः प्रभृतिरादिर्यस्य प्रत्यभिज्ञानस्य तत्तथा। च शब्दः पुनरर्थे समुच्चये वा। (से त्ति) असौ (पच्चभिजाणइ त्ति) प्रत्यभिजानाति स्म। किं कृत्वा ? इत्याह–सर्वज्ञं सर्वदर्शिनं जातप्रत्ययत्वादिति। भ० ९ श० ३२ उ०।

गंगेयभंग पुं० (गाङ्गेयभङ्ग) गाङ्गेयभङ्गानां गतिचतुष्टयमाश्रित्य सर्वाग्रसंख्याऽनया रीत्या, तेषामयं लक्षतमो भेद इति च प्रसाद्यमिति प्रश्नः। अत्रोत्तरम्–नरकगतौ सर्वप्रवेशनकेष्वसंयोगिकान् सप्तसप्तभङ्गान् रत्नप्रभादिगतद्विकादिसंयोगसत्कभङ्गैर्द्विप्रवेश–नरकादिगतद्विकादिसंयोगाश्च गणयित्वा यथा जीतभङ्गानेकीकृत्य भङ्गसर्वाग्रमानयपरं प्रति प्रवेशनकं भिन्नं भिन्नं सर्वाग्रमायान्ति। प्रवेशनकभङ्गसंबन्धस्तु न संभवतीति संभाव्यते। एवं गतित्रयमाश्रित्यापि यथासंभवं ज्ञेयम्। किञ्चैतद्विषये भगवतीसूत्रवृत्तौ करणं दर्शितं नास्ति तेन लक्षतमो भागो व्यक्तया न लिखितुं शक्यत इति। ७७ प्र० सेन० १ उल्ला०।

गंज पुं० (गञ्ज) गजि–घञ्–अवज्ञायाम्, आधारे घञ् गोष्ठागारे, भाण्डागारे, खनौ, पामरगृहे, हट्टस्थाने, मद्यभाण्डे, मदिरागृहे। स्त्री० टाप्० वाच०। भोज्यविशेषे च, प्रश्न० ५ सम्ब० द्वार।

गंजसाला स्त्री० (गञ्जशाला) वृणेन्धनादिस्थाने, ''जत्थंधणं दभिज्जति सा गंजसाला'' नि० चू० ९ उ०।

गंठ धा० (ग्रन्थ) सन्दर्भे, वा चु० पक्षे क्र्या० प सक० सेट्। वाच०। **ग्रन्थो गंठः। ८। ४। १२०।** इति ग्रन्थो गंठादेशः। 'गंठेइ' ग्रन्थयति०। प्रा० ४ पाद।

ग्रन्थ पुं० ''ग्रन्थो गंठुः'' इति गंठः। मिथ्यात्वादौ आन्तरे ब ह्वो च। धनादौ तस्य धर्मोपकरणवर्जनात्तथात्वम्। स्था० ५ ठा० ३ उ०। आचा०।

गंठि पुं० (ग्रन्थि) 'ग्रन्थ सन्दर्भे' इति। कार्षापणादिपोटलिकायाम्, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। औ०। पर्वणि, भङ्गस्थाने च, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ०। प्रव०। प्रज्ञा०। ग्रन्थिरिव ग्रन्थिः। जीवेन कर्मनिर्जरयलाऽनतिक्रान्तपूर्वकर्मस्थितिविशेषे, पञ्चा०।

घंसणघोलणजोगा, जीवेण जया हमेज्ज कम्मट्ठिती।
खविया सव्वा सागरकोडीकोडीए मोत्तूणं॥ १॥
तीयबियघेवमेत्तं, खवियं एत्थंतरंमि जीवस्स।
हवति हु अभिन्नपुव्वो, गंठी एवं जिणा वेंति॥ २॥
गंठि त्ति सुदुब्भेओ, कक्खडघणरूढगूढगंट्ठि व्व।
जीवस्स कम्मजणिओ, घणरागदोसपरिणामो॥ ३॥
ता इति तावद् ग्रन्थिभेदप्रदेशं यावदित्यर्थः। पञ्चा० ३ विव०।

ग्रन्थिः किमुच्यते ? इत्याह–

गंठि त्ति सुदुब्भेओ, कक्खडघणरूढगूढगंठिव्व।
जीवस्स कम्मजणिओ, घणरागदोसपरिणामो॥ ११११॥

ग्रन्थिरिति भण्यते, कः ? इत्याह–घनोऽतिनिबिडो रागद्वेषोदयपरिणामः। कस्य ? जीवस्य, कथंभूतः ? कर्मजनितः कर्मविशेषप्रत्ययः। अयं च दुर्भेदो दुर्गोचो दुःक्षेपणीयो भवति। क इव ?वल्कादेर्दारुविशेषस्य संबन्धी, कर्कशघनगूढरूढग्रन्थिरिव। कर्कशोऽतिपरुषः, घनः सर्वतो निबिडः, स चार्द्रोऽपि स्यादित्याह रूढः शुष्कः, गूढः कथमप्युद्वेष्टयितुमशक्योऽतिप्रचयमापन्नः, यथैवंभूतो द्रव्यग्रन्थिर्दुर्भेदो भवत्येवं रागद्वेषोदयपरिणामोऽप्यसौ दुर्भेदो भवत्यतो ग्रन्थिरिव ग्रन्थिर्व्यपदिश्यत इति। विशे०।

गंठिभेय पुं० (गन्थिभेद) अतितीव्ररागद्वेषपरिणामविदारणे, द्वा० १५ द्वा०। इह गम्भीराऽपारसंसारसागरमध्यमध्यासीनो जन्तुर्मिथ्यात्वप्रत्ययमनन्तान् पुद्गलपरावर्त्तानन्तदुःखलक्षाण्यनुभूय कथमपि तथाभव्यत्वपरिपाकवशतो गिरिसरिदुपलघोलनाकल्पे नानाभोगनिर्वर्तितयथाप्रवृत्तिकरणेन 'करणं परिणामोऽत्रेति' वचनादध्यवसायविशेषरूपेणायुर्वर्जानि ज्ञानावरणीयादिकर्माणि सर्वाण्यपि पल्योपमासं–

ख्येयभागन्यूनैकसागरोपमकोटाकोटीस्थितिकानि करोति। अत्र चान्तरे जीवस्य कर्मजनितो घनरागद्वेषपरिणामरूपः कर्कशनिबिमचिरप्ररूढ-गुपिलवक्रग्रन्थिवद् दुर्भेदोऽभिन्नपूर्वो ग्रन्थिर्भवति। तदुक्तम्–

''तीए वि थोवमित्ते, खविए इत्थंतरंमि जीवस्स।
हवइ हु अभिन्नपुव्वो, गंठी एवं जीणा विंति ॥१॥
गंठि त्ति सुदुब्भेओ, कक्खडघणरूढगूढगंठि व्व।
जीवस्स कम्मजणिओ, घणरागदोसपरिणामो ॥२॥ इति।

इमं च ग्रन्थिं यावदभव्या अपि यथाप्रवृत्तिकरणेन कर्म क्षपयित्वा अनन्तशः समागच्छन्ति। उक्तं आवश्यकटीकायाम्–अभव्यस्यापि कस्यचिद्यथाप्रवृत्तिकरणतो ग्रन्थिमासाद्य अर्हदादिविभूतिदर्शनतः प्रयोजनान्तरतो वा प्रवर्तमानस्य श्रुतसामायिकलाभो भवति न शेषलाभ इति। एतदनन्तरं कश्चिदेव महात्मा समासन्नपरमनिर्वृतिसुखः समुल्लसितप्रचुरदुर्निवारवीर्यप्रसरो निशितकुठारधारयेव परमविशुद्ध्या यथोक्तस्वरूपस्य ग्रन्थेर्भेदं विधाय मिथ्यात्वस्थितेरन्तर्मुहूर्तमुदय-क्षणादुपर्यतिक्रम्यापूर्वकरणानिवृत्तिकरणलक्षणविशुद्धिजनित-सामर्थ्योऽन्तर्मुहूर्तकालप्रमाणं तत्प्रदेशवेद्यदलिकाभावरूपमन्तरकरणं करोति। अत्र यथाप्रवृत्तिकरणाऽपूर्वकरणाऽनिवृत्तिकरणानामयं क्रमः–

''जा गंठी ता पढमं, गंठिं समइच्छओ भवे बीयं।
अणियट्टीकरणं पुण, संमत्तपुरक्खडे जीवे'' ॥ ६ ॥

(गंठि समइच्छओ त्ति) ग्रन्थिं समतिक्रामतो भिन्दानस्येति। (संमत्तपुरक्खडे त्ति) सम्यक्त्वं पुरस्कृतं येन तस्मिन्नासन्नसम्यक्त्वे जीवे अनिवृत्तिकरणं भवतीत्यर्थः। एतस्मिँश्चान्तकरणे कृते सति तस्य मिथ्यात्वकर्मणः स्थितिद्वयं भवति। अन्तरकरणादधस्तनी प्रथमा स्थितिरन्तर्मुहूर्तप्रमाणा। तस्मादेवान्तरकरणादुपरितनी शेषा द्वितीया स्थितिः स्थापना। तत्र प्रथमस्थितौ मिथ्यात्वदलिवेदनादसौ मिथ्याकृष्टिरेव। अन्तर्मुहूर्तेन पुनस्तस्यामपगतायामन्तरकर-णप्रथमसमय एवौपशमिकसम्यक्त्वमवाप्नोति, मिथ्यादलिकवेदना-भावात्। यथा हि वनदावानलः पूर्वदग्धेन्धनमूषरं वा देशमवाप्य विध्यायति तथा मिथ्यात्ववेदनवनदवोऽप्यन्तरकरणमवाप्य विध्यायति। तथा च सति तस्यौपशमिकसम्यक्त्वलाभः। यदाहुः श्रीपूज्यपादाः–

''ऊसरदेसं दड्ढिल्लयं च विब्भाइ वणदवो पप्प। इअ मिच्छस्स अणुदए, उवसमसम्मं लहइ जीवो'' ॥१॥ इति व्यावर्णितं ग्रन्थिभेदसंभवमौपश-मिकसम्यक्त्वम्। कर्म० ४ कर्म०। ततः किमित्याह–

भिन्नम्मि तम्मि लाभो, सम्मत्ताईण मोक्खहेऊणं।
सो य दुलभो परिस्सम–चित्तविघायाइविग्घेहिं ॥ ११९६ ॥

तस्मिन् ग्रन्थौ भिन्ने क्षपयित्वा समतिक्रान्ते मोक्षहेतुभूतानां सम्यक्त्वादीनां लाभो भवति। स च ग्रन्थिभेदो मनोविघातपरिश्रमा-दिविघ्नैरतिदुर्लभो अतिशयेन दुष्करः, तस्य हि जीवस्य ग्रन्थिभेदं चिकीर्षोर्विद्यासाधकस्येव विभीषिकादिभ्यो मनोविघातो मनःक्षोभो भवति, प्रचुरदुर्जयकर्मशत्रुसंघातजयाश्च महासमरगतसुभटस्येव परिश्रमश्चातिशयेन संजायत इति।

एतदेवाह–

सो तत्थ परिस्सम्मइ, घोरमहासमरनिग्गयाइ व्व।
विज्जा य सिद्धिकाले, जह बहुविग्घा तह सो वि ॥ ११९७ ॥

स जीवस्तत्र ग्रन्थिभेदे प्रवृत्तो घोरमहासमरशिरसि दुर्जयापाकृताऽनेक-शत्रुगणसुभट इव, आदिशब्दाद् महासमुद्रादितारकवत् परिश्राम्यति। यथा च सिद्धिकाले विद्या बहुविघ्ना संपद्यते साधकस्योपसर्गैर्मनः क्षोभं जनयति, तथा सोऽपि ग्रन्थिभेद इति।

अथ प्ररकः प्राह–

कम्मट्ठिई सुदीहा, खविया जइ निग्गुणेण सेसं पि।
स खवेउ निग्गुणो चिय, किं पुणो दंसणाईहिं ॥ ११९८ ॥

यदि ग्रन्थिभेदात् पूर्वं सम्यक्त्वादिगुणविकलेनैवानेन जन्तुना सुदीर्घा द्राघीयसी कर्मस्थितिः क्षपिता, तर्हि शेषमपि कर्मासौ सम्यक्त्वादिगुण-शून्य एव क्षपयतु, ततो मोक्षमप्येवमेवासादयतु; किं पुनः सम्यग्दर्शनादि-गुणैस्तद्धेतुभिर्विकल्पितैः ? इति।

अत्रोत्तरमाह–

पाएण पुव्वसेवा, परिमउई साहणम्मि गुरुतरिया।
होइ महाविज्जाए, किरिया पायं सविग्घा य ॥ ११९९ ॥
तह कम्मट्ठिइखवणे, परिमउई मोक्खसाहणे गुरुई।
इह दंसणाइकिरिया, दुलहा पायं सविग्घा य ॥ १२०० ॥

महाविद्यासाधनवदेतद् द्रष्टव्यम्। यथा महाविद्यायाः सिसाध-यिषितायाः प्रायः पूर्वसेवा नातिगुर्वी, किन्तु परिमृद्वी। भवति, तत्साधनकाले तु या क्रिया सा गुरुतरा अतिगरीयसी भवति, सविघ्ना च प्रायः संजायते ॥ विशे० ॥ ग्रन्थिभेदेनात्यन्तसंक्लेश इति। इह ग्रन्थिरिव ग्रन्थिर्दृढो रागद्वेषपरिणामः, तस्य ग्रन्थर्भेदे अपूर्वकरण-वज्रसूच्या विदारणे सति लब्धशुद्धतत्त्वश्रद्धानसामर्थ्यान्नात्यन्तं न प्रागिवातिनिविडतया संक्लेशो रागद्वेषपरिणामः प्रवर्त्तते। नहि लब्धवेधपरिणामो मणिः कथञ्चिन्मलापूरितरन्ध्रोऽपि प्रागवस्थां प्रतिपद्यत इति। एतदपि कुतः ? इत्याह–न भूयस्तद्बन्धमिति। यतो न भूयः पुनरपि तस्य ग्रन्थेर्बन्धनं निष्पादनं भेदे सति संपद्यत इति। किमुक्तं भवति ? यावती ग्रन्थिभेदकाले सर्वकर्म्मणामायुर्वर्जानां स्थितिरन्तः सागरोपमकोटीकोटिलक्षणाऽवशिष्यते तावत्प्रमाणेमेवासौ सम्यगुपल-ब्धसम्यग्दर्शनो जीवः कथञ्चित् सम्यक्त्वापगमात्तीव्रायामपि तथाविध-संक्लेशप्राप्तौ बध्नाति, न पुनस्तं बन्धेनामिक्रामतीति॥ ध० १ अधि०। ग्रन्थिच्छेदे, रा०। अथ ग्रन्थिभेदस्वरूपम्–तत्र पञ्चेन्द्रियत्वसंज्ञित्वप-र्याप्तत्वरूपा-भिस्तिसृभिः लब्धिभिर्युक्तः। अथवा उपशमलब्धिः उपदेशश्रवणलब्धिकरणत्रयहेतुप्रकृष्टयोलब्धित्रिकयुक्तः। करणकालात् पूर्वमपि अन्तर्मुहूर्तकालं यावत् प्रतिसमयमनन्तगुणवृद्ध्या विशुद्ध्या विशुध्यमानोऽवदायमानचित्रसन्ततिः। ग्रन्थिकसत्त्वानामभव्य-सिद्धिकानां या विशोधिस्तामतिक्रम्य वर्तमानः। ततोऽनन्तगुण-विशुद्धः। अन्यतरस्मिन् मतिश्रुतविभङ्गान्यतमस्मिन् साकारोपयोगे चान्यतमस्मिन् वर्तमानस्तिसृणां विशुद्धानां लेश्यानामन्यतमस्यां लेश्यायां वर्तमानः, जघन्यतस्तेजोलेश्यायां मध्यमपरिणामेन पद्मलेश्यायामुत्कृष्टपरिणामेन शुक्ललेश्यायाम्। तथाऽऽयुर्वर्जानां सप्तानां कर्मणां स्थितिमन्तःसागरोपमकोटाकोटीप्रमाणां कृत्वा अशुभानां क–

र्मणामनुभागचतुःस्थानकं सन्तं द्विस्थानकं करोति। शुभानां च कर्मणां द्विस्थानकं सन्तं चतुःस्थानकं करोति। तथा ध्रुवप्रकृतिसप्तचत्वारिंशत्सङ्ख्यया बध्नन् परावर्तमानाः स्वस्वभावप्रायोग्याः प्रकृतीः शुभा एव बध्नाति। ता अप्यायुर्वर्जाः, अतिविशुद्धपरिणामो हि बन्धमारभते। यदुत तिर्यग् मनुष्यो वा प्रथमसम्यक्त्वमुत्पादयन् देवगतिप्रायोग्याः शुभाः प्रकृतीर्बध्नाति। देवो नैरयिको वा प्रथमसम्यक्त्वमुत्पादयन् मनुजगतिप्रायोग्याः शुभाः प्रकृतीर्बध्नाति। सप्तमनरकनारकः तिर्यग्द्विकं नीचैर्गोत्रं बध्नाति, भवप्रायोग्यात्। बध्यमानस्थितिमन्तः सागरकोटाकोटिं बध्नाति, नाधिकां, योगवशात्। प्रदेशाग्रमुत्कृष्टजघन्यमध्यगं च बध्नाति। स्थितिबन्धे पूर्णे सत्यन्यस्थितिबन्धं प्राक्तनस्थितिबन्धाऽपेक्षया पल्योपमासंख्येयभागन्यूनं करोति। ततः अन्यं पल्योपमासङ्ख्येयभागन्यूनं करोति। अतोऽन्यं स्थितिबन्धं पूर्वपूर्वापेक्षया पल्योपमाऽसंख्येयभागन्यूनं करोति। अशुभानां च प्रकृतीनां बध्यमानानामनुभागं द्विस्थानकं बध्नाति। तमपि प्रतिसमयमनन्तगुणहीनं, शुभानां च चतुःस्थानकं प्रतिसमयमनन्तगुणवृद्धं कुर्वन् करणं यथाप्रवृत्तं करोति, अपूर्वकरणं ततः अनिवृत्तिकरणमिति। करणं परिणामविशेषः। एतानि च त्रीण्यपि करणानि प्रत्येकमान्तमुहूर्तकानि। ततः उपशान्ताद्धां लभते, सापि चाऽऽन्तर्मुहूर्त्तकी यथाप्रवृत्तकरणं च। ''अणुसमयं वदंतो, अप्पवसाणणंतगुणणाए। परणाममहाणाणं, दोसु वि लोगा असंखिज्जा'' ॥ १ ॥ इति कर्मप्रकृतौ। प्रतिसमयमध्यवसानानामनन्तगुणतया विशुद्ध्या वर्धमानानां करणसमाप्ति यावत् वर्धते। ते कियन्ति अध्यवसानानि भवन्ति। द्वयोरपि यथाप्रवृत्त्यपूर्वकरणयोः परिणामस्थानानामनुसमयं लोकाऽसंख्येया भवन्ति। यथाप्रवृत्तकरणे अपूर्वकरणे च प्रतिसमयेऽसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमाणानि अध्यवसा—यस्थानानि भवन्ति। तथाहि—यथाप्रवृत्तकरणे प्रथमसमये विशोधिस्थानानि नानाजीवापेक्षया असङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि, द्वितीयसमये विशेषाधिकानि, ततोऽपि तृतीयसमये विशेषाधिकानि, एवं यावच्चरमसमयः। एवमपूर्वकरणेऽपि द्रष्टव्यम्। अमूनि चाध्यसायस्थानानि यथाप्रवृत्ताऽपूर्वकरणयोः संबन्धीनि स्थाप्यमानानि विषमचतुरस्रं क्षेत्रमावरणन्ति। तयोरुपरि चाऽनिवृत्तिकरणाध्यवसायानि मुक्तावलीसंस्थानि उपर्युपरि अमूनि अनुचिन्त्यमानानि प्रतिसमयमनन्तगुणवृद्ध्या प्रवर्तमानान्यवगन्तव्यानि तिर्यक्षट्स्थानपतितानि। इह कल्पनया द्वौ पुरुषौ युगपत् करणप्रतिपन्नौ विवक्ष्येते। तत्रैकः सर्वजघन्यया श्रेण्या प्रतिपन्नः, अपरः सर्वोत्कृष्ट्या विशोध्या। प्रथमजीवस्य प्रथमसमय मन्दा, द्वितीयसमये अनन्तगुणा, तृतीयेऽनन्तगुणा, एवं यावत् यथाप्रवृत्तकरणस्याऽसंख्येयभागो गतो भवति। ततः प्रथमसमये द्वितीयस्य जीवस्य उत्कृष्टं विशोधिस्थानमनन्तगुणं वक्तव्यम्। ततोऽपि द्वितीये उत्कृष्टा विशोधिरनन्तगुणा, तत उपरि जघन्यविशोधिरनन्तगुणा, एवमुपर्यधश्च एकैकं विशोधिस्थानमनन्तगुणं द्वयोर्जीवयोस्तावज्ज्ञेयं यावच्चरमसमये जघन्या विशोधिः। तत आचरमात् चरममभिव्याप्य यानि अमुक्तानि शेषाणि उत्कृष्टानि स्थानानि तानि क्रमेण निरन्तरमनन्तगुणानि वक्तव्यानि। तदेवं समाप्तं यथाप्रवृत्तकरणम्। अस्य च यथाप्रवृत्तकगणस्य पूर्वप्रवृत्तं द्वितीयं नाम शेषकरणाभ्यां पूर्वं प्रथमं प्रवृत्तं पूर्वप्रवृत्तमिति। अस्मिंश्च यथाप्रवृत्तकरणे स्थितिघातरसघातौ गुणश्रेणिर्वा न प्रवर्तन्ते, केवलमुक्तरूपा विशोधिरेवानन्तगुणा। यानि वा प्रशस्तानि कर्माण्यत्र स्थितौ बध्नाति तेषामनुभागं द्विस्थानकं बध्नाति। यानि च शुभानि येषां चतुःस्थानकं स्थितिबन्धेऽपि च पूर्णे पूर्णे सत्यन्यं स्थितिबन्धं प्रल्योपमसंख्येयभागन्यूनं च बध्नाति। संप्रत्यपूर्वकरणमभिधीयते—''वीयस्स वीयसमये, सहण्हमविअणंतरुक्कस्सा'' इत्यादि वचनात्। द्वितीयस्याऽपूर्वकरणस्य यो द्वितीयः समयः कृतजघन्यमपि विशोधिस्थानाद् अनन्तगुणं वक्तव्यम्। एतदुक्तं भवति, नेह यथाप्रवृत्तकरणवत् प्रथमतो निरन्तरं विशोधिस्थानमनन्तगुणं वक्तव्यं, किन्तु प्रथमसमये प्रथमतो जघन्या विशोधिः सर्वस्तोका, सापि च यथाप्रवृत्तकरणचरमसमयवत् तावद् उत्कृष्टाद् विशोधिस्थानात् अनन्तगुणा। ततः प्रथमसमये एवोत्कृष्टा विशोधिरनन्तगुणा, ततोऽपि द्वितीयसमये जघन्या विशोधिरनन्तगुणा, ततोऽपि तस्मिन्नव द्वितीयसमये उत्कृष्टा विशोधिरनन्तगुणा, एवं प्रतिसमये तावद् वाच्यं यावच्चरमसमये उत्कृष्टा विशोधिः। अपूर्वाणि करणानि स्थितिघातरसघातगुणश्रेणिस्थितिबन्धादीनि वर्त्तनानि यस्मिन् तत् अपूर्वकरणम्। तथाहि—अपूर्वकरणे प्रविशन् प्रथमसमयमेव स्थितिघातं रसघातं गुणश्रेणिस्थितिबन्धं चान्यं युगपदारभते। तत्र स्थितिघातः स्थितिसत्कर्म्मणोऽग्रिमभागादुत्कर्षत उदधिपृथक्त्वप्रमाणं, जघन्येन पुनः पल्योपमसङ्ख्येयभागमात्रं स्थितिकण्डकमुत्किरति। उत्कीर्य च या स्थितिः अधो न खण्डयिष्यति तत्र तद्दलिकं प्रक्षिपति अन्तर्मुहूर्तेन कालेन, तत् स्थितिकण्डकमुत्कीर्यते। एवं द्वितीयम्, एवं तृतीयम्, एवं प्रभूतानि स्थितिखण्डसहस्राणि व्यतिक्रामन्ति। तथा च सति यद् अपूर्वकरणस्य प्रथमसमये सत्कर्माऽऽसीत् तत् तस्यैव चरमसमये सङ्ख्येयगुणहीनं जातम्। रसघाते तु अशुभानां प्रकृतीनां यद् अनुभागसत्कर्म तस्यानन्ततमं भागं मुक्त्वा शेषाननन्तानुभागभागान् अन्तिमवृत्तेन विनाशयति। ततः पुनरपि तस्य प्रागुक्तस्यानन्ततमं भागं शेषाद् विनाशयति। एवमनेकानि अनुभागखण्डसहस्राणि एकस्मिन् स्थितिखण्डे व्यतिक्रामन्ति। तेषां च स्थितिकण्डानां सहस्रे द्वितीयमपूर्वकरणं परिसमाप्यते। स्थितिबन्धाद्धा तु अपूर्वकरणस्य प्रथमसमये अन्य एव अपूर्वपल्योपमसङ्ख्येयभागहीनस्थितिबन्ध आरभ्यते। जीर्णस्थितिघातस्थितिबन्धौ तु युपषदेवारभ्येते, युगपदेव निष्ठां यातः। गुणश्रेणिस्तु ''गुणसेढी निक्खेवो, समये असंखगुणणाए। अद्धादुगाइरित्तो, सेसे सेसे य निक्खेवो'' ॥१॥ भावितायां घातिस्थितिखण्डमध्याद्दलिकं गृहीत्वा उदयसमयात् प्रतिसमयमसंख्येयगुणतया निक्षिपति। प्रथमसमये स्तोकं, द्वितीयसमये असङ्ख्येगुणं, तृतीयसमये असंख्येगुणम्, एवं यावच्चरमसमयः। एष प्रथमसमयगृहीतदलिकनिक्षेपविधिः, एवं द्वितीयादिसमयगृहीतानामपि। इत्यनेन प्रथमसमय स्तोकः, द्वितीयसमये असङ्ख्येयगुणःतृतीयसमये असंख्येगुण—श्रेणिदलिकनिक्षेपो भवति। इति अपूर्वकरणस्वरूपम्। अनिवृत्तकरणे एतदुक्तं भवति। अनिवृत्तकरणस्य प्रथमसमयेऽपि ये वर्त्तन्ते ये च वृत्ता ये च वर्तिष्यन्ते तेषां सर्वेषामपि समाना एकरूपा विशोधिः। द्वितीयसमयेऽपि ये वर्त्तन्ते, ये च वृत्ता, ये च वर्तिष्यन्ते तेषामपि समा विशोधिः। एवं सर्वेष्वपि समयेषु। नवरं पूर्वतः उपरितनेऽनन्तगुणाऽधिका विशोधि चरमसमयं यावदस्मिन् करणे प्रविष्टानां तु—

ल्यकालानामसुमतां परस्परमध्यवसानानां या निवृत्तिव्यीवृत्तिः सा न विद्यते। इत्यनिवृत्तिकरणम्। अनिवृत्तिकरणे यावन्तः समयास्तावन्ति अध्यवसायस्थानानि पूर्वस्मात् पूर्वस्माद् अनन्तगुणवृद्धानि भवन्ति। अनिवृत्तिकरणद्धायाः सङ्ख्येषु भागेषु गतेषु सत्सु एकस्मिंश्च भागे सङ्ख्येतमे शेषे तिष्ठति। अन्तर्मुहूर्त्तमात्रमधो मुक्त्वा मिथ्यात्वस्यान्तरकरणं करोति। अन्तरकरणकालश्चान्तर्मुहूर्त्तप्रमाणः। अन्तरकरणे च क्रियमाणे गुणश्रेणेः सङ्ख्येतमं भागमुत्किरति। उत्कीर्यमाणं च दलिकं प्रथमस्थितौ द्वितीयस्थितौ च प्रक्षिपति। एवमुदीरणा आगालबलेन मिथ्यात्वोदयं निवार्य उपशमिकं सम्यक्त्वं लभते। उक्तं च–''मिच्छजुदये झीणे, लहइ सम्मत्तमोचसमीयं सो। लंभेण जस्स न लब्भइ, आयहियं अलद्धपुव्वजं '' ॥ १ ॥ मिथ्यात्वस्योदये क्षीणे सति स जीव उक्तेन प्रकारेण उपशमिकं सम्यक्त्वं लभते। यस्य सम्यक्त्वस्य लाभेन यदात्महितमलब्धपूर्वमर्हदादितत्त्वप्रतिपत्त्यादि तल्लभ्यते। तथाहि–सम्यक्त्वलाभे सति जात्यन्धस्य पुंसश्चक्षुर्लाभे सति, एवं जन्तोर्यथावस्थितवस्तुतत्त्वाऽवलोको भवति। महाबाध्यातिभूतस्य बाध्यापगमे इव महांश्च प्रमोदः। अत्राऽनिवृत्तिकरणे क्रियमाणे यदि पुञ्जत्रयं करोति तदा प्रथमं क्षयोपशमसम्यक्त्वं लभते। अकृतत्रिपुञ्जः प्रथममुपशमसम्यक्त्वं लभते इति सिद्धान्ताशयः। कर्मग्रन्थमते तु प्रथममुपशममेव लभते। अयं च त्रिपुञ्जीकरणं उपशमे करोति इति ग्रन्थिभिज्ज्ञानं तत्त्वोपयोगलक्षणं तस्य अन्यविकल्पैः। किम् ? ॥ ६ ॥ अष्ट० ५ अष्ट०। (अत्र विशेषः 'सम्मदंसण' शब्दे वीक्ष्यः)

गंठिभेयकाल पुं० (ग्रन्थिभेदकाल) यस्मिन् कालेऽपूर्वकरणाऽनिवृत्तिकरणाभ्यां ग्रन्थिर्भिन्नो भवति तस्मिन्, ध० १ अधि०।

गंठिभेयग पुं० (ग्रन्थिभेदक) न्यासाऽन्यथाकारिणि, ज्ञा० १ श्रु० १८ अ०। चौरविशेषे, प्रश्न० २ आश्र० द्वार। घुर्घुरादिना ग्रन्थिच्छेदके, विपा० १ श्रु० ३ अ०।

गंठिम न०(ग्रन्थिम) गन्थनं ग्रन्थस्तेन निर्वृत्तं ग्रन्थिमम्। भावादिमप्रत्ययः। रा०। जी०। सूत्रसन्दर्भे, स्था० ४ ठा० ४ उ०। सूत्रग्रथिते माल्यादौ, भ० ६ श० ३३ उ०। ज्ञा०। नि० चू०। दश०। कौशलातिशयाद् ग्रन्थिसमुदायनिष्पादिते रूपके, अनु०। ग०। ग्रथितपुष्पादिनिर्वर्त्तितस्वस्तिकादौ, आचा० २ श्रु० १२ अ०। गुल्मभेदे, प्रज्ञा० १ पद।

गंठिय त्रि० (ग्रन्थित) सूत्रीकृते, विशे ।जं०।

ग्रन्थिक पुं० कर्म्मात्मको ग्रन्थो विद्यते येषां ते ग्रन्थिकाः। कर्म्मग्रन्थोऽपि तेषु प्राणिषु ग्रन्थिकसत्त्वेषु ग्रन्थिभेदं कर्तुमसमर्थेषु, सूत्र० २ श्रु० ५ अ०। वाच०।

गंठिल्ल त्रि० (ग्रन्थिमत्) ग्रन्थियुक्ते, भ० १ श० १० उ०।

गंठियसहियपच्चक्खाण न० (ग्रन्थिसहितप्रत्याख्यान) ग्रन्थिभेदरूपे प्रत्याख्याने। तत्स्वरूपम्–ग्रन्थिसहितं च नित्यमप्रमत्ततानिमित्ततया महाफलम्। उक्तं च–

''जे निच्चमपमत्ता, गंठिं बंधन्ति गंठिसहिअस्स।
सग्गापवग्गसुक्खं, तेहिं निबद्धं सगंठंमि ॥ १ ॥
भणिऊण नमुक्कारं, निच्चं थिस्सरणवज्जिआ धन्ना।
ठोडन्ति गंठिसहियं, गंट्ठि सह कम्मगंठीहिं ॥ २॥
इइ कुणई अब्भासं, अच्चासं सिवपुरस्स जइ महसि।
अणसणसरिसं पुण्णं, वयंति एयस्स समयण्णू ॥३॥

रात्रिचतुर्विधाहारपरिहारस्थानोपवेशनपूर्वकताम्बूलादिव्यापारणमुखशुद्धिकरणादिविधिना ग्रन्थिसहितप्रत्याख्यान पालने एकवारभोजिनः प्रतिमासमेकोनत्रिंशद्, द्विवारभोजिनस्त्वष्टाविंशतिर्निर्जला उपवासाः स्युरिति वृद्धाः। भोजनताम्बूलजलव्यापारणादौ हि प्रत्यहं घटीद्वय २ संभवे मासे एकोनत्रिंशद्, घटीचतुष्टय ४ संभवे त्वष्टाविंशतिः। यदुक्तं पद्मचरित्रे–

''भुंजइ अणंतरेणं, दुन्निउ वेलाउ जो निओगेणं।
सो पावइ उववासं, अट्ठावीसं तु मासेणं ॥ १ ॥
इक्कं पि अह मुहुत्तं, परिवज्जइ जो चउव्विहाहारं।
मासे तस्स जायइ, उववासफलं तु परलोए ॥ २ ॥
दसवरिससहस्साउं, भुंजइ जो अण्णदेवयाभत्तो।
पलिओवमकोडी पुण, होइ ठिई जिणवरत्तवेणं ॥ ३ ॥
एवं मुहुत्तवुड्ढी, उववासे छट्ठअट्ठमाईणं।
जो कुणइ जहाथामं, तस्स फलं तारिसं भणिअं ॥ ४॥

एवं युक्त्या ग्रन्थिसहितप्रत्याख्यानफलमप्यनन्तरोदितं भाव्यम्। ध० २ अधि०।

गंड पुं० न० (गण्ड) 'गडि' वदनैकदेशे, अच्। कपोले, जी० ३ प्रति०। ज्ञा०। जं०। प्रज्ञा०। हस्तिकपोले, गण्डके, पुं०। स्त्री०। प्रव० २६ द्वार। वीथ्यङ्गे, पिटके, चिह्ने, वीरे हयभूषणे, बुद्बुदे च। वाच०। गच्छतीति गण्डम्। गण्डमालायाम्, 'जं च अण्णं सुपादगं तं गण्डं' नि० चू० ३ उ०। रुधिरप्रकोपोद्भूतस्फोटके, उत्त० १० अ०। आचा०। अपद्रव्ये, उदकफेने, सूत्र० १ श्रु० ६ अ०। गण्डसाधर्म्यात् कुचे, उत्त० ८ अ०। वने, दाण्डपाशिके, लघुमृग, नापिते च। दे ना० २ वर्ग।

गंडइया स्त्री० (गण्डकिका) वैशालीविणग् ग्रामयोरन्तराले वहति नदीभेदे, यामुत्तरन् वीरस्वामी नाविकैर्मौल्यं याचितः।आ० म० द्वि०। आ० चू०।

गंडग पुं० (गण्डक) एकशृङ्गे पशुभेदे, ग्रन्थौ, वाच०। नापिते, यो हि ग्रामे उद्घोषयति। आचा० २ श्रु० १ अ० २ उ०। चतुर्वेदसमवायसमयज्ञापनाय ब्राह्मणैः स्थाप्यमाने पुरुषे, व्य० ७ उ०। ओघ०।

गंडयल न० (गण्डतल) कपोलतटे, ''अंगदकुंमलमट्ठगंडतल'' उत्त० २ अ०। स्था०।

गंडमाणिया स्त्री० (गण्डमाणिका) गण्डयुक्ता माणिका गण्डमाणिका। देशविशेषप्रसिद्धे धान्यमानभेदे, रा०।

गंडलेहा स्त्री० (गंडरे(ले)खा) कपोलपाल्यम्, जं० २ वक्ष०। कपोलविरचितमृगमदादिलेखायाम्, नि० १ वर्ग०। रा०। ज्ञा०।

गंडवच्छा स्त्री० (गण्डवक्षस्) गण्ड इह चोपचितपिशितपिण्डरूपतया गलत्पूतिरुधिरार्द्रतासम्भवाच्च तदुपमितत्वाद्गण्डे कुवावुक्तौ, ते च वक्षसि यासां तास्तथा। मांसपिण्डोपमस्तनयुक्तोरस्कासु स्त्रीषु, ''नो रक्खसीसु गिज्झिजा, गंडवच्छासु णेगचित्तासु '' उत्त० ८ अ०।

गंडवाणिया स्त्री० (गण्डपाणिका) वंशमयभाजनविशेषे, भ० ७ श० ७ उ०।

गंडि पुं० (गण्डि) गच्छति प्रेरितः प्रतिपथादिना मीयते च कूर्दमानो विहायोगमनेनेति गण्डिः। गण्ड्यश्वे, उत्त० १ अ०।

गंडि(ण्) त्रि० (गण्मिन्) चतुर्धा गण्डं, तदस्यास्तीति गण्डी। गण्डमालावति, आचा० ०१ श्रु० ६ अ० १ उ०। नि० चू०। उच्छून्गुल्फपादे, ''गंडीगंभीति वा णेवए'' आचा० २ श्रु० ४ अ० १ उ०।

गंडिया स्त्री० (गण्डिका) सुवर्णकारादीनामधिकारिण्याम्, स्था० ४ ठा० ४ उ०। दश०। खण्डे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। आचा०। इक्ष्वादीनां पूर्वापरपरिच्छिन्ने मध्यभागे। गण्डिकेव गण्डिका। एकार्थाधिकारायां ग्रन्थपद्धतौ, नं०।

गंडियाणुओग पुं० (गण्डिकानुयोग) इहैकवक्तव्यतार्थाधिकाराऽनुगता वाक्यपद्धतयो गण्डिका उच्यन्ते। तासामनुयोगोऽर्थकथनविधिर्गण्डिकाऽनुयोगः, स०। भरतनरपतिवंशजातानां निर्वाणगमनानुत्तर विमानवक्तव्यताऽऽख्यानग्रन्थे, स्था० १० ठा०।

से किं तं गंडियाणुओगे ?, गंडिआणुओगे–कुलगरगंडियाउ, तित्थयरगंडियाउ चक्कवट्टीगंडियाउ दसारगंडियाउ बलदेवगंडियाउ वासुदेवगंडियाउ गणधरगंडियानु भद्दबाहुगंडियाउ तवोकम्मगंडियाउ हरिवंसगंडियाउ उसप्पणिगंडियाउ अवसप्पिणिगंडियाउ चित्तंतरगंडियाउ अमरनरतिरियनिरइगइगमणविविहप–रियट्टणाणुओगेसु एवमाइयाउ गंडियाउ आघविज्जंति। पण्णविज्जंति सेत्तं गंडियाणुओगे। सेत्तं अणुओगे॥

(से किं तमित्यादि) अथ कोऽयं गण्डिकानुयोगः ?, सूरिराह–गण्डिकानुयोगेन, अथवा गण्डिकानुयोगे सप्तमी, 'णं' इति वाक्यालङ्कारे, कुलकरगण्डिकाः। इह सत्रत्राप्यन्तरालवर्त्तिन्यो बह्व्यः प्रतिनियतैकार्थाधिकाररूपा गण्डिकाः कुलकरगण्डिकाः। ततो बहुवचनं, कुलकराणां गण्डिकाः कुलकरगण्डिकाः, यासु कुलकराणां विमलवाहनादीनां पूर्वभवजन्मनामादीनि सप्रपञ्चमुपवर्ण्यन्ते। एवं तीर्थकरगण्डिकादिष्वभिधानवशतो भावनीयं यावत् (चित्तंतरगंमियाउ त्ति) चित्रा अनेकार्था अन्तरे ऋषभाऽजिततीर्थकरापान्तराले गण्डिकाश्चित्रान्तरगण्डिकाः। एतदुक्तं भवति, ऋषभाजिततीर्थकरान्तरे ऋषभवंशसमुद्भूतभूपतीनां शेषगतिगमनव्युदासेन शिवगतिगमनानुत्तरोपपातप्राप्तिपादिका गण्डिकाः चित्रान्तरगण्डिकाः। तासां च प्ररूपणा पूर्वाचार्यैरेवमकारि–इह सुबुद्धिनामा सगरचक्रवर्त्तिनो महाऽमात्योऽष्टापदपर्वते सगरतिचक्रवसुतेभ्य आदित्ययशःप्रभृतीनां भवगदृषभवंशजानां नरपतीनामेवं सङ्ख्यामाख्यातुमुपक्रमते स्म। आह च–''आइच्चजसाईणं, उसभस्स प उप्पए नरवईणं। सगरसुयाण सुबुद्धी, इणमो संखं परिकहेइ'' ॥१॥ आदित्ययशःप्रभृतयो भगवन्नाभेयवंशजाः त्रिखण्डभरतार्द्धमनुपाल्य पर्यन्ते पारमेश्वरीं दीक्षामतिगुह्य तत्प्रभावतः सकलकर्म्मक्षयं कृत्वा चतुर्दशलक्षा निरन्तरं सिद्धिमगमन्। तत एकः सर्वार्थसिद्धे, ततो भूयोऽपि चतुर्दशलक्षा निरन्तरं निर्वाणे। ततोऽपि एकः सर्वार्थसिद्धिमहाविमाने। एवं चतुर्दशचतुर्दशलक्षान्तरितः सर्वार्थसिद्धौ एकैकस्तावद्वक्तव्यः, यावत्तेऽप्येकैकका असङ्ख्येया भवन्ति। ततो भूयः चतुर्दशलक्षा नरपतीनां निरन्तरं निर्वाणे, ततो द्वौ सर्वार्थसिद्धे। ततः पुनरपि चतुर्दशलक्षा निरन्तरं निर्वाणे, ततो भूयाऽपि द्वौ सर्वार्थसिद्धे। एवं चतुर्दशचतुर्दशलक्षान्तरितौ द्वौ द्वौ सर्वार्थसिध्दे तावद्वक्तव्यौ यावत्तेऽपि द्विकाद्विकसङ्ख्या असङ्ख्येया भवन्ति। एवं त्रिकत्रिकसङ्ख्चादयोऽपि प्रत्येकमसङ्ख्चेयास्तावद् वक्तव्या यावन्निरन्तरं चतुर्दशलक्षा निर्वाणे। ततःपञ्चाशत्सर्वार्थसिद्धे, ततो भूयोऽपि चतुर्दशलखा निर्वाणे। ततः पुनरपि पञ्चाशत् सर्वार्थसिद्धे। एवं पञ्चाशत्पञ्चाशत्सङ्ख्याका अपि चतुर्दशलक्षान्तरितास्तावद्वक्तव्या यावत्तेऽपि असंङ्ख्येया भवन्ति। उक्तं च–

''चउदस लक्खा निवई, सिद्धा एक्को य होइ सव्वट्ठे।
एवेक्केक्कट्ठाणे, पुरिसजुगा होन्तऽसंखेज्जा॥ १॥
पुणरवि चोद्दसलक्खा, सिद्धा निवईण दो वि सव्वट्ठे।
दुगट्ठाणे वि असंखा, पुरिसजुगा होन्ति नायव्वा॥ २॥
जाव य लक्खा चोद्दस, सिद्धा पन्नास होन्ति सव्वट्ठे।
पन्नासट्ठाणे वि उ, पुरिसजुगा होन्तऽसंखेज्जा॥ ३॥
एगुत्तराउ ट्ठाणा, सव्वट्ठे चेव जाव पन्नासा।
एक्केक्कंतरट्ठाणे, पुरिसजुगा होंतऽसंखेज्जा॥ ४॥

स्थापना–

१४	१४	१४	१४	१४	१४	१४	१४	१४	१४	१४	सिद्धि
१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	५०	सर्वा०

ततोऽनन्तरं चतुर्दश लक्षा नरपतीनां निरन्तरं सर्वार्थसिध्दे, एकः सिद्धौ। भूयश्चतुर्दश लक्षाः सर्वार्थसिद्धे, एकः सिद्धौ। एवं चतुर्दशचतुर्दशलक्षान्तरित एकैकःसिद्धौ तावद्वक्तव्यो यावतेऽप्येकैकका असंख्येया भवन्ति। ततो भूयोऽपि चतुर्दशलक्षा निरन्तरं नरपतीनां सर्व्वार्थसिद्धे, ततो द्वौ निर्व्वाणे। ततः पुनरपि चतुर्दशलक्षाः सर्वार्थसिद्धे, ततो भूयोऽपि द्वौ निर्वाणे। एवं चतुर्दशचतुर्दशलक्षान्तरितौ द्वौ निर्वाणे तावद्वक्तव्यौ यावत्तेऽपि द्विकद्विकसङ्ख्या असंख्येया भवन्ति। एवं त्रिकत्रिक संख्यादयोऽपि, यावत्पञ्चाशत्पञ्चाशत्संख्याः चतुर्दशचतुर्दशलक्षान्तरिताः सिद्धौ प्रत्येकमसंख्येया वक्तव्याः। उक्तं च–विवरीयं सव्वट्ठे, चोद्दलक्खा उ निव्वुओ एगो। सव्वे वयपरिवामी, पन्नासा जाव सिद्धीए।

स्थापना चेयम्–

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	५०	सिद्धि
१४	१४	१४	१४	१४	१४	१४	१४	१४	१४	१४	सर्वा०

ततः परं द्वे लक्षे नरपतीनां निरन्तरं निर्वाणे, ततो द्वे लक्षे निरन्तरं सर्वार्थसिध्दे। ततस्तिस्रो लक्षा निर्वाणे, ततः पुनरपि तिस्रो लक्षाः सर्व्वार्थसिद्धे। ततश्चतस्रो लक्षा निर्वाणे, ततः पुनरपि चतस्रो लक्षाः सर्वार्थसिद्धे। एवं पञ्च पञ्च षट् षट् यावदुभयात्राप्यसंख्येया असंङ्ख्येया लक्षा वक्तव्याः।

आह च–

तेण परदुलक्खाई, दो दो ठाण य समगवच्चन्ति।
सिवगइसव्वट्ठेहिं, इणमो तेसिं विहि होइ॥ १॥
दो लक्खा सिद्धीए, दो लक्खा नरवईण सव्वट्ठे।
एवं तिलक्खचउपंच, जाव लक्खा असंखेज्जा॥ २॥

स्थापना चेयम्–

२	३	४	५	६	७	८	९	१०	मोक्षे गताः
५	३	४	५	६	७	८	९	१०	सर्वार्थसिद्धिगताः

ततः परं चतस्रः चित्रान्तरिगण्डिकास्तद्यथा–प्रथमा एकादिका एकोत्तरा, द्वितीया एकादिका द्व्युत्तरा, तृतीया एकादिका त्र्युत्तरा, चतुर्थी त्र्यादिका द्व्यादिविषमोत्तरा। आह च– सिवगइसव्वट्ठेहिं, चित्तंतरगंडिया तओ चउरो।

एगा एगोत्तरिया, एगाइबिउत्तरा बिइया ॥ १ ॥
एगाइतिउत्तरगा, तिगादिविसमुत्तरा चउत्थीओ ।

तत्र प्रथमा भाव्यते–प्रथममेकः सिद्धौ, ततो द्वौ सर्वार्थसिद्धे। ततः त्रयः सिद्धौ, ततश्चत्वारः सिद्धार्थे । ततः पञ्च सिद्धौ, ततः षट् सर्वार्थे । एवमेकोत्तरया वृद्ध्या शिवगतौ सर्वार्थे च तावद्वक्तव्यं यावदुभयत्राऽप्यसङ्ख्येया भवन्ति। उक्तं च–

''पढमाए सिद्धेक्को, दोण्णिओ सव्वट्ठसिद्धम्मि।
तत्तो तिन्नि नरिंदा, सिद्धा चत्तारि होन्ति सव्वट्ठे ॥ १ ॥
इय जाव असंखेज्जा, सिवगतिसव्वट्ठसिद्धेहिं '' ॥

१ स्थापना चेयम्–

१	३	५	७	६	११	१३	१५	१७	१६	मोक्षे
२	४	६	८	१०	१२	१४	१६	१८	२०	सर्वा०

सम्प्रति द्वितीया भाव्यतेतत ऊर्ध्वमेकः सिद्धौ, त्रयः सर्वार्थे। ततः पञ्च सिद्धौ, सप्त सर्वार्थे । ततो नव सिद्धौ, एकादश सर्वार्थे, ततस्त्रयोदश सिद्धौ, पञ्चदश सर्वार्थे। एवं द्व्युत्तरया वृद्ध्या शिवगतौ सर्वार्थे च तावद्वक्तव्यं यावदुभयत्राप्यसंख्येया भवन्ति। उक्तं च–''ताहे विउत्तराए, सिद्धेक्को तिण्णि होंति सव्वट्ठे। एवं पंच छ सत्त व, जाव असंखेज्जा दो वि त्ति '' ॥ १ ॥

२ स्थापना चेयम्–

१	५	६	१३	१७	२१	२५	मोक्षे
३	७	११	१५	१६	२३	२७	सर्वार्थे सिद्धौ

संप्रति तृतीया भाव्यते–ततः परमेक सिद्धौ, चत्वारः सर्वार्थे । ततः सप्त सिद्धौ, दश सर्वार्थे। ततस्त्रयोदश सिद्धौ, षोमश सर्वार्थे। एव त्र्युत्तरया वृद्ध्या शिवगतौ सर्वार्थे च क्रमेण तावदवसेयं यावदुभयत्रापि असंख्येया गता भवन्ति। उक्तं च– ''एगचउसत्तदसगं, जाव असंखेज्जा होन्ति ते दो वि। सिवगतिसव्वट्ठेहिं, तिउत्तराए उ नायव्वा ॥ १ ॥

३ स्थापना चेयम्–

१	७	१३	१६	२५	३१	३७	४३	४६	५५	मो०
४	१०	१६	२२	२८	३४	४०	४६	५२	५८	सर्वा०

सम्प्रति चतुर्थी भाव्यते । सा च विचित्रा, ततस्तस्याः परिज्ञानार्थमयमुपायः पूर्वाचार्यैर्दर्शितः–इह एकोनत्रिंशत्संख्यास्निका ऊर्ध्वाधः परिपाट्या पट्टिकादौ स्थाप्यन्ते। तत्र प्रथमे त्रिके न किञ्चिदपि प्रक्षिप्यते। द्वितीये द्वौ प्रक्षिप्येते। तृतीये पञ्च, चतुर्थे नव, पञ्चमे त्रयोदश, षष्ठे सप्तदश, सप्तमे द्वाविंशति, अष्टमे षट्, नवमेऽष्टौ, दशमे द्वादश, एकादशे चतुर्दश, द्वादशेऽष्टाविंशतिः, त्रयोदशे षड्विंशतिः, चतुदशे पञ्चविंशति, अष्टादशे एकादश षोडशे त्रयोविंशति सप्तदशे सप्तचत्वारिंशत्, अष्टादशे सप्ततिः, एकोनविंशे सप्तसप्ततिः, विंशे एकः, एकविंशे द्वौ, द्वाविंशे सप्ताशीतिः, त्रयोविंशे एकसप्ततिः, चतुर्विंशे द्विषष्टिः, पञ्चविंशे एकोनसप्तति, षड्विंशे चतुर्विंशतिः, सप्तविंशे षट्चत्वारिंशत्, अष्टाविंशे शतम्, एकोनत्रिंशे षड्विंशतिः।

उक्तञ्च–

''ताहे तियमाइविसमुत्तराए अउणतीसं तु तियगट्ठा।
वेत्तं पढमे नत्थि, उक्खेवो सेसेसु इमो भवे क्खेवो ॥ १ ॥
दुगपणगं नव तेरस, सत्तस्स दुवीस छ च अट्ठेव।
यारस चोद्दस तह, अट्ठवीस छव्वीस एणवीसा ॥ २ ॥
एक्कारस तेवीसा, सीयाला सयरिसत्तहत्तरिया।
इगदुगसत्तासीती, एगत्तरिमेव छावट्ठी ॥ ३ ॥
अउणुत्तरिचउवीसा, छायालसयं तहेव छव्वीसा।
एए रासिक्खेवा, तिगअंतं ता जहा कमसो '' ॥ ४ ॥

एतेषु च राशिषु प्रक्षिप्तेषु यद्भवति तावन्तस्तावन्तः क्रमेण सिद्धौ सर्वार्थे चेत्येवंरूपेण वेदितव्याः । तद्यथा–त्रयः सिद्धौ, पञ्च सर्वार्थे । ततः सिद्धावष्टौ, द्वादश सर्वार्थे । ततः षोडश सिद्धौ, सर्वार्थे विंशतिः। ततः पञ्चविंशतिः सिद्धौ, नव सर्वार्थे । तत एकादश सिद्धौ, पञ्चदश सर्वार्थे। ततः सप्तदश सिद्धौ, एकत्रिंशत् सर्वार्थे । तत एकोनत्रिंशत्सिद्धौ, अष्टाविंशतिः सर्वार्थे । ततश्चतुर्दश सिद्धौषड्विंशतिः सर्वार्थे । ततः पञ्चाशत् सिद्धौ, त्रिसप्ततिः सर्वार्थे। ततोऽशीतिः सिद्धौ, चत्वारः सर्वार्थे। ततः पञ्च सिद्धौ,नवतिः सर्वार्थे। ततश्चतुःसप्ततिर्मुक्तौ, पञ्चषष्टिः सर्वार्थे। ततो द्विसप्ततिः सिद्धौ, सप्ताविंशतिः सर्वार्थे। एकोनपञ्चाशन्मुक्तौ, त्र्युत्तरं शतं सर्वार्थे। तत एकोनत्रिंशत् सिद्धौ। उक्तञ्च–''सिवगइसव्वट्ठेहिं, दो दो ट्ठाणा धिसमुत्तरा नेया। जावोणतीसट्ठाणे, गुणतीस पुण छवीसाए'' ॥ १ ॥ अत्र ''जावेत्यादि'' यावदेकोनत्रिंशत्तमे स्थाने त्रिकरूपे षड्विंशतौप्रक्षिप्तायाऽमेकोनत्रिंशद् भवति।

४ स्थापना–

३	८	१६	३५	११	१७	२६	१४	५०	८०	५	७५	७२	४६	२६	मो०
५	१२	२०	६	१५	३१	२८	२६	७३	४	६०	६५	२७	१०३	०	स०

एवं त्र्यादिविषमोत्तरा गण्डिका असंख्येयास्तावद्वक्तव्वा यावदजितस्वामिपिता जितशत्रुः समुत्पन्नः । नवरं पाश्चात्यायां गण्डिकायां यदन्त्यमङ्कस्थानं तदुत्तरस्यामुत्तरस्यामादिमं द्रष्टव्यम्। तथा प्रथमायां गण्डिकायामादिममङ्कस्थानं सिद्धौ, द्वितीयस्यां सर्वार्थसिद्धे, तृतीयस्यां सिद्धौ, चतुर्थ्यां सर्वार्थे । एवमसंख्येयास्वपि गण्डिकास्वादिमान्यङ्कस्थानानि क्रमेणैकान्तरितानि शिवगतौ सर्वार्थे च वेदितव्यानि । एतदेव दिमात्रप्रदर्शनतो भाव्यते–तत्र प्रथमायां गण्डिकायामन्त्यमङ्कस्थानमेकोनत्रिंशत्, तत एकोनत्रिंशद्वारान् सा एकोनत्रिंशदूर्ध्वाधः क्रमेण स्थाप्यते । तत्र प्रथमेऽङ्के नास्ति प्रक्षेपः । द्वितीयादिषु चाङ्केषु ''दुगपणनवगं तेरस'' इत्यादयः क्रमेण प्रक्षेपणीया राशयः प्रक्षिप्यन्ते । तेषु च प्रक्षिप्तेषु सत्सु यद्युत्क्रमेण भवति तावन्तस्तावन्तः क्रमेण सिद्धौ सर्वार्थे एवं वेदितव्याः । तद्यथा–एकोनत्रिंशत्सर्वार्थे, सिद्धावेकत्रिंशत् । ततश्चतुस्त्रिंशत् सर्वार्थे, सिद्धावष्टात्रिंशत्। ततो द्विचत्वारिंशत्सर्वार्थे,षट्चत्वारिंशत् सिद्धौ। तत एकपञ्चाशत्सर्वार्थे, पञ्चत्रिंशत् सिद्धौ । सप्तत्रिंशत्सर्वार्थे, सिद्धावेकचत्वारिंत्। त्रिचत्वारिंशत्सर्वार्थे, सप्तपञ्चाशत् सिद्धौ। ततः पञ्चपञ्चाशत्सर्वार्थे, चतुःपञ्चाशत्सिद्धौ। चत्वारिंशत्सर्वार्थे, द्विचत्वारिंशत् सिद्धौ। सर्व्वार्थे षट्सप्ततिः, सिद्धौ नवनवतिः। षडुत्तरं शतं सर्व्वार्थे, त्रिंशत् सिद्धौ। एकत्रिंशत् सर्वार्थे, सिद्धौ षोडशाधिकं शतम्। शतं सर्वार्थे, सिद्धावेकनवतिः। सर्वार्थेऽष्टानवतिः, त्रिपञ्चाशत् सिद्धौ। पञ्चसप्ततिः सर्वार्थे, सिद्धावेकोनत्रिंशं शतम्। ततः पञ्चपञ्चाशत् सर्व्वार्थे।

स्थापना–

२	३	५	५१	३७	४३	५५	३०	७६	१०६	३१	१००	६८	७५	५५	८०
३१	२८	४६	३५	५१	५७	५४	४२	६६	७०	११६	६१	५३	१२६	०	६०

एषा द्वितीया गण्डिका। अस्यां च गण्डिकायामन्त्यमङ्कस्थानं पञ्चपञ्चाशत्। ततस्तृतीयस्यां गण्डिकायामिदमेकादिममङ्क–

स्थानम्। ततः पञ्चाशत् एकोनत्रिंशद्वारान् स्थाप्यते। ततः प्रथमेऽङ्के नास्ति प्रक्षेपो, द्वितीयादिषु चाङ्केषु क्रमेण द्विकपञ्चनवकत्रयोदशादयः पूर्वोक्तराशयः क्रमेण प्रक्षेपणीयाः प्रक्षिप्यन्ते। इह चादिमसङ्कस्थानं सिद्धौ, ततस्तेषु प्रक्षेपणीयेषु राशिषु प्रक्षिप्तेषु सत्सु यद्युत्क्रमेण भवति तावन्तस्तावन्तः प्रथमादङ्कादारभ्य सिद्धौ सर्वार्थे इत्येवं क्रमेण वेदितव्याः। एवमन्यास्वपि गण्डिकासूत्रप्रकारेण भावनीयम्। उक्तं च–

''विसमुत्तरा य पढमा, एवमसंखविसमुत्तरा नेया।
सव्वत्थ वि अंतिल्लं, अन्नाए आइमं ठाणं॥ १॥
अउणंतीसं वारा, ठावेउं नत्थि पढमपक्खेवो।
सेसे अडवीसाए, सव्वत्थ दुगाइओ क्खेवो॥ २॥
सिवगइपढमादीए, बीयाए तह य होइ सव्वट्ठे।
इय एगंतरियाइं, सिवगइसव्वट्ठठाणाइं॥ ३॥
एवमसंखेज्जाओ, चित्तंतरगंडिया मुणेयव्वा।
जाव जिअसत्तुराया, अजियजिणपिया समुप्पन्नो''॥ ४॥

तथा अमरेत्यादिविविधेषु परिवर्त्तेषु भवभ्रमणेषु, जन्तूनामिति गम्यते। अमरनरतिर्यग्निरयगतिगमनमेवमादिका गण्डिका बहव आख्यायन्ते। (सेत्तं गंडियाणुओगे) सोऽयं गण्डिकानुयोगः। नं०। स०।

गंडी स्त्री० (गण्डी) सुवर्णकारादीनामधिकरण्यां गण्डिकायाम्, स्था० ४ठा० ४ उ०। कमलमध्यस्थकर्णिकायाम्, उत्त० ३६ अ०।

गंडीतिंदुग पुं० (गण्डीतिन्दुक) वाराणस्यां तिन्दुकोद्याने स्वनामख्याते यक्षे, ती० ३८ कल्प।

गंडीपय पुं० (गण्डीपद) गण्डी च सुवर्णकाराधिकरणिस्थानमिव पदं येषां ते गण्डीपदाः। हस्त्यादिषु चतुष्पदेषु, प्रज्ञा० १ पद। स्था०। जीवा०। भ०। सूत्र०।

गंडीपोत्थय न० (गण्डीपुस्तक) पुस्तकभेदे, ''बाहल्लपुहुत्तेहिं गडीपोत्थओ तुल्लगो दीहो'' बृ० ३ उ०। बाहल्यं पिण्डः, पृथुत्वम् विस्तारस्ताभ्यां तुल्यः समानश्चतुरस्रो दीर्घश्च गण्डीपुस्तको ज्ञातव्यः, स्था० ४ ठा० २ उ०। नि० चू०। प्रव०। आव०। ध०। दश०। जीत०।

गंडीरी इक्षुखण्डे, दे ना० २ वर्ग।

गंडीव धनुषि, दे ना० २ वर्ग। अर्जुनस्यधनुषि, धनुर्मात्रे, वाच०।

गंडूपय पुं० स्त्री० (गण्डूपद) गण्डूदः ग्रन्थयस्तद्युतानि पदानि यस्य। किञ्चुलुके, वाच०। अहिवृश्चिककर्कटकादौ च, आचा० १ श्रु० १ अ० ४ उ०।

गंडूस पुं० (गण्डूष) गडि उषन्। मुखपूरणे, मुखान्तर्जलादौ च। वाच०। गण्डूषोऽपि अभावे दन्तकाष्ठस्य मुखशुद्धविधिः पुनः कार्य्यो, द्वादशगण्डूषैर्जिह्वोल्लेखस्तु सर्वदेति विधिना कार्य्यः। ध० २ अधि०। सूत्र०।

गंडोपहान न० (गण्डोपधान) गल्लमसूरिकायाम्, बृ० ३ उ०।

गंतव्व त्रि० (गन्तव्य) यातव्ये ''तम्हा ण उ वीसंभो गन्तव्वो'' सूत्र० ३ श्रु० ४ अ० १ उ०। गंतव्वमवसस्स मे, उत्त० १२ अ०।

गंता अव्य० (गत्वा) गम्–क्त्वाप्रत्ययः। 'प्राप्य' इत्यर्थे, स्था० ३ ठा० २ उ०।

गंतिय न० (गन्तृक) तृणभेदे, प्रज्ञा० १ पद।

गंतुं अव्य० (गत्वा) गमनं कृत्वेत्यर्थे, ''गंतुं ताय! पुणो गच्छे'' तात पुत्र! गत्वा गृहम्। सूत्र १ श्रु० ३ अ० २ उ०।

गंतुकाम त्रि० (गन्तुकाम) गन्तुमनस्के, गन्तुकामो नाम सोऽभिधीयते यः सदैव गन्तुमना व्यवतिष्ठते, वक्ति च कोऽस्य गुरोः संनिधानेऽवतिष्ठते?, समर्थतामेतत् श्रुतस्कन्धादि, ततो यास्मामीति। तदेवंभूतः शिष्यो न योग्यः श्रवणस्य। आ० म० प्र०।

गंतुपच्चागइया स्त्री० (गत्वाप्रत्यागतिका) गत्वा प्रत्यागतं यस्यामिति। गोचरभूमिभेदे, उपाश्रयान्निर्गतः सन् एकस्यां गृहपङ्क्तौ भिक्षमाणः क्षेत्रपर्य्यन्तं गत्वा प्रत्यागछन् पुनर्द्वितीयायां गृहपङ्क्तौ यस्यां भिक्षते। स्था० ६ ठा०। पञ्चा०। पं०। व०। ध०। ग०। बृ०।

गंतूए अव्य० (गत्वा) गम्–क्त्वा **''क्त्वस्तूण''। ८। ४। ३१२।**

इति पैशाच्यां क्त्वाप्रत्ययस्य तूनादेशः। प्राकृते तु तूणादेशः। यात्वेत्यर्थे, प्रा० ४ पाद। ''गंतूण जणस्स'' गत्वा जनस्य सांयात्रिकलोकस्य। प्रश्न० ३ आश्र० द्वार। ''कत्थ गंतूण सिज्झइ'' क्व गत्वा सिध्यति। औ०।

गंथ पुं० (ग्रन्थ) ग्रथ्यतेऽनेन अस्मादस्मिन्निति वा अर्थ इति ग्रन्थः। ग्रन्थ्यते इति वा ग्रन्थः। श्रुते शास्त्रे, आ० म० प्र०। शब्दसंदर्भे, आ० म० प्र०। रा०। ''गंथिज्जइ तेण तओ, तम्मि व तो तं मयं गंथो'' (१३८३) ग्रथ्यतेऽनेनास्मादस्मिन्वाऽर्थ इति तदेव ग्रन्थ उच्यते। अथवा तदेव ग्रथ्यते विरच्यते इति ग्रन्थः। विशे०।

ग्रन्थनिक्षेपः–

सचित्ताई गंथो, दव्वे भावे इमं चेव।

ग्रन्थद्वारमाह–द्रव्यतो नोआगमतो व्यतिरिक्तो ग्रन्थस्त्रिविधः। सचित्तादि, सचित्तोऽचित्तो मिश्रश्च। एषा त्रिविधोऽप्युपरि प्रथमसूत्रे। वक्ष्यते भावे ग्रन्थः, इदमेव कल्पाध्ययनम्॥ बृ० १ उ०। अनु०। आ० चू०। स्था०। विशे । आचा०। ग्रथ्यते बध्यते कषायवशगेनात्मनेति ग्रन्थः। अथवा गथ्नाति बध्नाति आत्मानं कर्म्मणेति ग्रन्थः। उत्त० ६ अ०। बन्धहेतौ हिरण्यादौ, मिथ्यात्वादौ च, स्था० २ ठा० १ उ०। सूत्र०। परिग्रहे, विशे०। स्था०। सूत्र०।

अथ ग्रन्थपदं, तस्य च नामादिभेदाच्चतुर्द्धा निक्षेपः। तत्र नामस्थापने गतार्थे। द्रव्यग्रन्थस्त्रिधा, सचित्ताऽचित्तमिश्रभेदात्। सचित्तश्चम्पकमालेत्यादि। अचित्त एकावलिहारादिकः। मिश्रः शुष्कपत्रमिश्रिता प्रशस्तमाला। भावग्रन्थस्तु स उच्यते येन क्षेत्रवस्त्वादिना क्रोधादिना वाऽभी जन्तवः कर्मणा सहात्मानं ग्रन्थयन्ति। तं च भाष्यकार एव सविस्तरं व्याख्यानयति–

सो वि य गंथो दुविहो, बज्झो अब्भिंतरो अ बोधव्वो।
अंतो अ चोद्दसविहो, दसहा पुण बाहिरो गंथो॥ १॥

सोऽपि च भावग्रन्थो द्विविधस्तद्यथा–बाह्योऽभ्यन्तरश्च बोद्धव्यः। तत्राभ्यन्तरो ग्रन्थश्चतुर्दशविधो वक्ष्यमाणः, बाह्यः पुनर्ग्रन्थो दशधा दशप्रकारो वक्ष्यमाण एव।

यदि नामैवं द्विविधो ग्रन्थस्ततो निर्ग्रन्थ इति किमुक्तं भवति?, इत्याह–

सहिरन्नगो सगंथो त्ति, तेण निग्गंथ अहव निक्खेवो।

करिसे अवचियगंथो, पतणुगंथो च निग्गंथो ॥

सहिरण्यक इत्येकग्रहणे तज्जातीयग्रहणमिति न्यायाद् हिरण्यसुवर्णादिबाह्यग्रन्थसहित उपलक्षणत्वादान्तरग्रन्थ उच्यते। नास्ति न विद्यते यस्य तथाविधो द्विविधोऽपि ग्रन्थः स निर्ग्रन्थः। अथवा निर्ग्रन्थ इत्यत्र यो निर्शब्दः सोऽपकर्षेऽपचये वर्त्तते, ततश्चापचितः प्रतनुकृतो ग्रन्थो बाह्य आभ्यन्तरश्च येन स निर्ग्रन्थ उच्यते॥

अथ यदुक्तं बाह्यो ग्रन्थो दशधेति तद्विवरीषुराह०

खेत्तं१ वत्थुं २ धण ३ अन्न४–संचओ ५ मित्तणाइसंजोगो ६।
जाण७सयणासणाणि य८, दासीदासं च९कुवियं च १०॥

क्षेत्रं धान्यनिष्पत्तिस्थानम् १, वस्तु भूमिगृहादि २, धनं सुवर्णादि, ३, धान्यं बीजजातिः ४, संचयस्तृणकाष्ठादिसंग्रहः ५। मित्राणि सुहृदया, ज्ञातयः स्वजनाः, संयोगः श्वशुरकुलसबन्ध इति त्रिभिरप्येक एव ग्रन्थः ६। यानानि वाहनानि ७, शयनासनानि च पल्यङ्कपीठकादीनि ८, दास्यश्च दासाश्च दासीदासं ९, कुप्यं चोपस्कररूपं १०, इत्येष दशविधो ग्रन्थः॥ बृ० १ उ०॥

सम्प्रति चतुर्दशविधमभ्यन्तरग्रन्थमाह–

कोहे १ माणे २ माया ३,
लोभे ४ पेज्जं ५ तहेव दोसो अ ६।
मिच्छत्तं ७ चेव ८ अरई ९,
रई १० हास ११ सोगो १२ भय १३ दुगुंछा १४॥

क्रोधो मानो माया लोभश्चेति चत्वारः प्रतीताः ४। प्रेमशब्देनाभिष्वङ्गलक्षणो रागोऽभिधीयते ५। दोषशब्देन तु अप्रीतिकलक्षणो द्वेषः ६। मिथ्यात्वमर्हत्प्रणीतत्वविपरीतऽवबोधरूपम् तच्च द्विविधं वा, त्रिषष्टाधिकशतत्रयभेदं वा, अपरिमितभेदं वा। तत्राऽनाभिग्रहिकं आभिग्रहिकं चेति द्विविधम्, अनाभिग्रहिकं पृथिव्यादीनाम्।

आभिग्रहिकं तु षड्विधम्–

नत्थि न तित्थो कुणइ, कयं भवे एइ नत्थि निव्वाणं।
नत्थि य मोक्खो वाओ, छव्विहमिच्छत्तमिग्गहिय॥

षष्ट्यधिकशतत्रयविधं पुनरिदम्–

असियसयं किरयाणं, आकिरियवाईण होइ चुलसीई।
अण्णाणी सत्तट्ठी, वेणइयाणं च बत्तीसा॥

अपरिमितभेदं तु–

जावइया नयवाया, तावइया चेव हों ति परसमया।
जावइया परसमया, तावइया चेव मिच्छता॥

एवमनेकविकल्पमनि सामान्यतो मिथ्यात्वशब्देन गृह्यते, इति सप्तमो भेदः ७। वेदस्त्रिविधः पुंस्त्रीनपुंसकभेदात्। तत्र यत् स्त्रियाः पित्तोदये मधुराभिलाष इव पुंस्यभिलाषो जायते स स्त्रीवेदः। यत्पुनः पुंसः श्लेष्मोदयादम्लाभिलाषवत् स्त्रियामभिलाषो भवति स पुंवेदः। यत्तु षण्डकस्य पित्तश्लेष्मोदये मञ्जिकाभिलाषवदुभयोरपि स्त्रीपुंसयोरभिलाषः समुदेति स नपुंसकवेदः। इति त्रयोऽप्येक एव भेदः ८। तथा यदमनोज्ञेषु शब्दादिविषयेषु संयमे वा जीवस्य चित्तोद्वेगः सा अरतिः ९। यत्पूनस्तेष्वेव मनोज्ञेषु असंयमे वा रमणं सा रतिः १०। यत्तु सनिमित्तमनिमित्तं वा हसति तद् हास्यम् ११। प्रियविप्रयोगादिविह्वलचेतोवृत्तिराक्रन्दनादिका यत् करोति स शोकः १२। सनिमित्तमनिमित्तं वा यद्विभेति तद्भयम् १३। यत्पुनरस्नानदन्तपावनमण्डलीभोजनादिकमपरं मृतकलेवरविष्ठादिकं जुगुप्सते सा जुगुप्सा॥ १४॥ एष चतुर्दशविधोऽप्याभ्यन्तरग्रन्थ उच्यते। बृ० १ उ०। उत्त०। "गंथेहिं विचित्तेहिं, आउकालस्स पारए" (११)। ग्रन्थैः सबाह्याभ्यन्तरैः शरीररागादिभिर्विविक्तैस्त्यक्तैः सद्भिर्ग्रन्थैर्वाऽङ्गानङ्गप्रविष्टैः। आचा० १ श्रु० ८ अ० ८ उ०। ग्रन्थत्वं हि कर्मबन्धहेतुत्वेन व्याप्तम्, गथ्नाति संबध्नाति जीवः कर्ममलानिति ग्रन्थ इति व्युत्पत्तेः। आ० म० द्वि०। यत्र वस्तु–देहा–ऽऽहार–कनकादौ मूर्छा संपद्यते तन्निश्चयतः परमार्थतो ग्रन्थः। (वस्त्रपरिभोगेऽपरैः सह 'कप्प' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २३१ पृष्ठे विचारितम्) "सव्वं गंथं कलहं च विप्पज हे भिक्खू" भिक्षुः साधुः तथाविधं पूर्वोक्तं कर्मबन्धहेतुं सर्वग्रन्थं बाह्याभ्यन्तरभेदेन द्विविधं परिग्रहं विशेषेण परिजह्यात् परित्यजेत्। उत्त ८ अ०। "गंथं परिण्णाय इहज्ज धीरे" ग्रन्थं बाह्यान्तभेदभिन्नं ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाय इहाद्यैव कालानतिपातेन धीरः सन् प्रत्याख्यानपरिज्ञया परित्यजेत्। आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ०। शालकादिसंबन्धेषु, तद्भार्यादुहित्रादिषु, प्रश्न० ४ सम्ब० द्वार। चतुर्दशे सूत्रकृताङ्गस्याऽध्ययने, स० २३ सम०। सूत्र०। आ० चू०। प्रश्न०। ('विणय' शब्दे समस्तमध्ययनं वक्ष्यते)

गंथदिट्ठ त्रि० (ग्रन्थदृष्ट) प्रतिष्ठाकल्पादौ ग्रन्थे दृष्टे, ध० २ अधि०।

गंथातीत पुं० (ग्रन्थातीत) निर्ग्रन्थे, सूत्र० १ श्रु० ६ अ०।

गंथिम न० (ग्रन्थिम) 'गंठिम' शब्दार्थे।

गंदीणी चक्षुःस्थगनक्रीडायाम्, दे ना० २ वर्ग।

गंध पुं० (गन्ध) 'गन्ध' अदर्शने। गन्ध्यते आघ्रायते इति गन्धः। कर्म० ६ कर्म०। पं० सं०। विशे । जी०। आ० म०। उत्त०। अनु०। गन्धो घ्राणग्राह्ये पृथिवीवृत्तौ, सम्म० ३ काण्ड। वाच०। दुर्गन्धसुगन्धात्मके गुणे, उत्त २८ अ०। जी०। औ०। गन्धो द्वेधा, सुरभिश्च, दुरभिश्च तत्र सौमुख्यकृत्सुरभिः, वैमुख्यकृद् दुरभिः। साधारणपरिणामोऽस्येष्टो दुर्ग्रह इति संसर्गजत्वादेव नोक्तः। (स्था०) "एगे गंधे" घ्रायते सिंघ्यते इति गन्धो घ्राणविषयः। स्था० १ ठा० १ उ०। विशे । आ० म०। प्रज्ञा०। प्रव०। "दुविहा गंधा पण्णत्ता। तं जहा–अत्ता चेव अणत्ता चेव, मणामा चेव अमणामा चेव"। स्था० २ ठा० ३ उ०। प्राणातिपातादीनां वर्णगन्धादयो 'वण्ण' आदिशब्देवक्ष्यन्ते। (सौधर्मेशानयोर्गन्धोऽन्यत्र)। गन्धेष्विति, गुणगुणिनोरभेदाद् मतुब्लोपोद्वा गन्धवत्सु, सूत्र० १ श्रु० ६ अ०। कोष्टपुटपाकादौ, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ०। आ० म०। दशा०। भ०। नि० चू०। पटवासादिरूपे, व्य० २ उ०। कर्पूरसम्बन्धिनि, प्रज्ञा० २३ पद। चूर्णविशेषे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार। रा०।

सुरभिगन्धवर्णकः। तत्र सुरभिगन्धस्वरूपप्रतिपादयन्नाह–

तेसिं णं भंते ! तणाण य मणीण य केरिसये गंधे पण्णत्ते ? से जहा नामए कोट्ठपुडाण वा पत्तपुडाण वा चोयपुडाण वा तगरपुडाण वा एलापुडाण वा हिरमेवपुडाण वा चंद–

णपुमाण वा कुंकुमपुडाण वा उसीरपुडाण वा चंबयपुडाण वा मरुगपुडाण वा दमणगपुडाण व जातिपुडाण वा जूहियपुडाण वा मल्लियपुडाण वा एहाणमल्लियपुडाण वा वासंतियपुडाण वा केतियपुडाण वा कप्पूरपुडाण वा पामलिपुडाण वा अणुवायंति उज्झिज्जमाणाण वा निज्झिज्जमाणाण वा कोट्ठिज्जमाणाण वा उविज्जमाणाण वा उक्खिरिज्जमाणाण वा विकरिज्जमाणाण वा परिभुज्जमाणाण वा भंडाउ वा भंडं साहरिज्जमाणाणं उराला मणुण्णा घाणसणोनिव्वुत्तिकरा सव्वतो समंता गंधा अभिणिस्सवंति। भवे एयारूवे सिया नो तिणट्ठे समट्ठे तेसिं णं तणाणं मणीण य एत्तो इट्ठतराए चेव० जाव गंधणं पण्णत्ते ॥

सम्प्रति गन्धस्वरूपप्रतिपादनार्थमाह–(तेसिं णं मणीणं तणाण येत्यादि) तेषां मणीनां तृणानां च कीदृशो गन्धः प्रज्ञप्तः ? भगवानाह– (से जहा नामए इत्यादि) प्राकृतत्वात् 'से' इति बहुवचनार्थः। ते यथा नाम गन्धाः अभिनिःस्रवन्तीति संबन्धः। कोष्टं गन्धद्रव्यं, तस्य पुटाः कोष्टपुटाः, तेषां 'वा' शब्दः सर्वत्रापि समुच्चये, इह एकस्य पुटस्य न तादृशो गन्ध आयाति, द्रव्यस्वल्पत्वात्, ततो बहुवचनम्। तगरमपि गन्धद्रव्यम्। एलाः प्रतीताः चोयकं गन्धद्रव्यम् चम्पकदमनककुङ्कुम-चन्दनोशीरमरुकजातियूथिकामल्लिकास्त्रानमल्लिकाकेतकी पाटली नवमालिकावासकर्पूराणि प्रतीतानि। नवरमुशीरं वीरणमूलं, स्नान-मल्लिका स्नानयोग्या मल्लिकाविशेषः। एतेषामनुकूलवाते आघ्रायक-विवक्षितपुरुषाणामनुकूलवाते वाति, उद्भिद्यमानानामुद्भाट्यमानानां, वाशब्दः सर्वत्रापि समुच्चये, निर्भिद्यमानानां नितरामतिशयेन भिद्यमानानाम्। (कोट्ठिज्जमाणाण वा इति) इह पुटैः परिमितानि यानि कोष्टादिगन्धद्रव्याणि तान्यपि परिमेये परिमाणोपचारात् कोष्टपुटादीनी-त्युच्यन्ते, तेषां कुट्यमानानां उदूखले कुट्यामानानाम्। (उविज्जमाणाण वा इति) श्लक्ष्णखण्डीक्रियमाणानाम्, एतच्च विशेषणद्वयं कोष्टादिद्रव्या-णामवसेयम्। तेषामेव प्रायः कुट्टतः श्लक्ष्णखण्डीकरणसंभवात्, न तु यूथिकानाम्। (उक्खिरिज्जमाणाण वा इति) क्षुरिकादिभिः कोष्टादि-पुटानां कोष्टादिद्रव्याणां वा उत्कीर्यमाणानाम्। (विकरिज्जमाणाण वा इति) विकीर्यमाणानामितस्ततो विकीर्यमाणानाम्। (परिभुज्जमाणाण वा) परिभोगाय उपभुज्यमानानाम्। क्वचित् पाठे "परिभाज्जमाणाण वा" इति। तत्र परिभाज्यमानानां पार्श्ववर्तिभ्यो मनाग् मनाग् दीयमानानाम्। (भंडाउ भंडं साहरिज्जमाणाण वा इति) भाण्डात् स्थानाद् एकस्माद् अन्यद् भाण्डं भाजनान्तरं संहियमाणानाम्। उदाराः स्फारास्ते वा मनोज्ञा अपि स्युरत आह–मनोज्ञा मनोऽनुकूलास्तच्च मनोज्ञत्वं कुत इत्याह–मनोहरा मनो हरन्ति आत्मवशं नयन्तीति मनोहरा यतस्ततो मनोज्ञाः। तदपि मनोहरत्वं कुत इत्याह–घ्राणमनोनिर्वृत्तिकरा एवंभूताः सर्वतः सर्वासु दिक्षु समन्ततः सामस्त्येन गन्धा अभिनिःस्रवन्ति, जिघ्रतामभिमुखं निस्सरन्ति। एवमुक्ते शिष्यः पृच्छति– (भवे एयारूवे) इत्यादि प्राग्वत्। जी० ३ प्रति०।

दुरभिगन्धवर्णकः–

घाणिंदिएण अग्घाइय गंधाणी अमणुण्णपावकाइं, किं ते ? अहिमडआसमडहत्थिमडगोडविगसगसियालमणुयमज्जारसीहदी वियमयकुहियविणट्ठकिमिणबहुदुरभिगंधेसु अण्णेसु य एवमाइएसु अमणुण्णपावएसु न तेसु समणेण रुसियव्वं।

अहिमृतादीन्येकादश प्रतीतानि। नवरं वृक ईहामृगः, द्वीपी चित्रकः, एषां चाहिमृतकादीनां द्वन्द्वः। द्वितीयाबहुवचनं दृश्यम्। तत आघ्रायेति क्रिया योजनीया। ततस्तेष्विति योगात्तेषु किं विधेष्वित्याह–मृतानि जीवविमुक्तानि, कुथितानि कोथमुपगतानि, विनष्टानि पूर्वाकारविनाशेन (किमिण त्ति) कृमिवन्ति, बहुदुरभिगन्धानि चात्यन्तामनोज्ञगन्धानि यानि तानि तथा। तेषु अन्येषु चैवमादिकेषु गन्धेषु अमनोज्ञपापकेषु च श्रमणेन रोषितव्यमिति। प्रश्न० ५ सम्ब० द्वार। ज्ञा०। आचा०।

सचित्तगन्धग्रहणे दोषाः–

जे भिक्खू सचित्तं पइट्ठियं गंधं जिग्घइ, जिग्घंतं वा साइज्जइ ॥ १० ॥

जे भिक्खू पूर्ववत् सचित्ते दव्वे जो गंधो सो सचित्तपतिट्ठितो, सो य अइमुत्तगपुप्फातियं जो जिंघति तस्स मासगुरुं आणादिणो य दोसा।

इदाणिं णिज्जुत्ती–

जो गंधो जीवजुए, दव्वंमि सो तु होति सचित्तो।
संबद्धमसंबद्धा व, जिंघणा तस्स दुविधा तु ॥ ११७ ॥

जीवजुत्तं दव्वं सवेयणं, तंमि जो गंधो सो सचित्तपतिट्ठितो भण्णति। तं पुणो दव्वं पुप्फफलानि, तस्स जिंघणा दुविहा, नासाग्रे संबद्धा वा, नासाग्रेऽसंस्पृष्टा, असंस्पृष्टा दूरे कृत्वा जिघ्रतीत्यर्थः।

जिग्घंतस्स इमे दोसा–

जो तं संबद्धं वा, अधवाऽसंबद्ध जिंघते भिक्खू।
सो आणाअणवत्थं, मिच्छत्तविराधणं पावे ॥ ११८ ॥

जो साहू तं गंधं णासाए संबद्धं वा असंबद्धं व जिग्घति सो आणाभंगे अणवत्थाए य वट्टति, अण्णेसिं च मिच्छत्तं जणयति, आयसंजमविराह-णाए य वट्टति।

इमा संजमविराहणा–

णासामुहणिस्सासा, पुप्फजीववधो तदस्सितार्णं च।
आयाए विसपुप्फं, तब्भावियमचदिट्ठंतो ॥ ११९ ॥

णीससंतस्स णासामुहेसु जो वायू तेण पुप्फजीवस्स संघट्टणादी भवति। (तदस्सियाणं ति) तम्मि पुप्फे ये आश्रिता अलिकादयः तेषां च संघट्टणादि संभवति। इमा आयविराहणा, आयाए पच्छद्धं आयविराहणाकयाइ विसपुप्फं भवति तेण मरति। (तब्भावियंति) तेण विसेण भावितं तद्भावितं प्रत्यनीकादिना अमच्चो वा णक्को तदुवलक्खित्तो दिट्ठंतो जहा तेण वा णक्केण जोगविसभाविता गंधा कता सुबुद्धिमंत्रिवहाय इदमावश्यके गतार्थम्।

इदाणिं अववातो–

बितियपदमणप्पज्जे, अप्पज्जे वा पयागरादीसु।

बाधा हवेज्ज कोयी, विज्जुविदेसा ततो कप्पे ॥ १२० ॥

अणपज्जो जिंघेज्जा, अणपज्जो अजाणमाणो जिंघति अप्पज्जो व जाणमाणो पयागरादिसु त्ति रातो जग्गियव्वं। तत्थ किंचि एरिसं पुप्फफलं जेण जिंघिएण णिद्दाणए त्ति। आदिसद्दातो निद्रालाभे वा निमित्तं जिंघति। वाहीवाकोतिजिंघिएण उवसमति तं विज्जुवदेसा जिंघति।

इमेण विहिणा–

अचित्तमसंबद्धं, पुव्वं जिंघे ततो य संबद्धं।
अचित्तमसंबद्धं, सचित्तं वेव संबद्धं ॥ १२१ ॥

अच्चित्ते दव्वे गंधं असंबद्धं नासिकाग्रे (पुव्वं ति) पढमं जिंघति। ततो तं चेव अचित्तं संबद्धं। ततो सचित्तं संबद्धं जिंघति ॥ नि० चू० १ उ०।

जे भिक्खू अचित्तपतिट्ठियं गंधं जिंघति, जिंघंतं वा साइज्जइ ॥ ६ ॥

जे भिक्खू अचित्तं गंधं जिंघतीत्यादि णिज्जीवे चंदणादिकट्ठे गंधं जिंघति मासलहुं ॥

जो गंधो जीवदट्ठे, दव्वमीसो य होति अचित्तो।
संबद्धासंबद्धा य, सिंघणा तस्स णातच्चा ॥ ३४ ॥

सो तं संबद्धा वा बितीयपदसचित्तमसंबद्धम्। एता उ जिंघा पढमुद्देसो ॥ नि० चू० २ उ०।

अह भंते ! कोट्ठपुडाण वा केतईपुडाण वा अणुवायंसि उब्भिज्जमाणाण वा० जाव ठाणा ओट्ठाणं संकामिज्जमाणाणं किं कोट्ठे वाइ०जाव केतई वाति ? गोयमा ! णो कोट्ठे वाति० जाव णो केतईवाइ, घाणसहगया पोग्गला वाइ ॥

(अहेत्यादि) (कोट्ठपुडाण व त्ति) कोष्टे यः पच्यते वाससमुदायः स कोष्ट एव, तस्य पुटाः पुटिकाः कोष्टपुटास्तेषां, यावत्करणादिदं दृश्यम्– ''पत्तपुडाण वा चोयपुडाण वा तगरपुडाण वेत्यादि'' तत्र पत्राणि तमालपत्राणि। (चोय त्ति) त्वक्, तगरं च गन्धद्रव्यविशेषः। (अणुवायंसि त्ति) अनुकूलो वातो यत्र देशे सोऽनुवातोऽतस्तत्र, यस्माद्देशाद् वायुरागच्छति तत्रेत्यर्थः। (उब्भिज्जमाणाण व त्ति) प्राबल्येनोर्ध्वं वा दार्यमाणानाम्। इह यावत्करणादिदं दृश्यम्–''निब्भिज्जमाणाण वा'' प्राबल्याभावेनाधो वा दार्यमाणानाम्। ''उक्करिज्जमाणाण वा विकिरिज्जमाणाणाण वा'' इत्यादि। प्रतीतार्थाश्चैते शब्दाः। (किं कोट्ठे वा इति) कोष्टो वाससमुदयो, (वाति) दूरादागच्छत्यागत्य घ्राणग्राह्यो भवतीति भावः। (घाणसहगय त्ति) घ्रायत इति घ्राणो गन्धो, गन्धोपलम्भक्रिया वा, तेन सह गताः प्रवृत्ता ये पुद्गलास्ते घ्राणसहगताः, गन्धगुणोपेता इत्यर्थः। इति। भ० १६ श० ६ उ०। गन्धस्य घ्राणेन्द्रियग्राह्यस्याऽऽसक्तिः ''इंदिय'' शब्दे द्वि० भागे ५५६ पृष्ठे उक्ता।

गंधंग न० (गन्धाग) वालकप्रियङ्गुपत्रकदमनकत्वक्कंदनोशीरदेवदार्वादिषु गन्धकारणेषु, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ०।

कई णं भंते ! गंधंगा पन्नत्ता ? कई णं भंते ! गंधसया य ? गोयमा ! सत्त गंधंगा, सत्तगंधसया पन्नत्ता।

(कई णमित्यादि) कति भदन्त ! गन्धाङ्गानि, क्वचित् गन्धा इति पाठः, तत्र पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् 'गन्धाङ्ग' इति गन्धाङ्गानीति द्रष्टव्यं, प्रज्ञप्तानि ? तथा कति गन्धाङ्गशतानि प्रज्ञप्तानि ? भगवानाह–गौतम ! सप्त गन्धाङ्गानि सप्त गन्धाङ्गशतानि प्रज्ञप्तानि। इह सप्त गन्धाङ्गानि परिस्थूलजातिभेदादमूनितद्यथा, मूलं त्वक् काष्ठं निर्यासः पत्रं पुष्पं फलं च। तत्र मूलं मुत्सावालकोशीरादि, त्वक् सुवर्णवल्लीत्वचाप्रभृति, काष्ठं चन्दनागरुप्रभृति, निर्यासः कर्पूरादि, पत्रं जातिपत्रतमालपत्रादि, पुष्पं प्रियङ्गुनागरपुष्पादि, फलं जातिफलककङ्कोलकैलालवङ्गप्रभृति, एते च वर्णमधिकृत्य प्रत्येकं कृष्णादिभेदात् पञ्च पञ्च भेदा इति वर्णपञ्चकेन गुण्यन्ते, जाताः पञ्चत्रिंशत्। गन्धचिन्तायामेते सुरभिगन्धयः एवेत्येकेन गुणिताः, पञ्चत्रिंशद् जाताः। पञ्चत्रिंशदेव एकेन गुणिताः, तदेव भवतीति न्यायात् तत्राप्येकैकस्मिन् वर्णभेदे रसपञ्चकं द्रव्यभेदेन विविक्तं प्राप्यते, इति सा पञ्चत्रिंशद् रसपञ्चकेन गुण्यते, जातं पञ्चसप्ततं शतम्। स्पर्शाश्च यद्यप्यष्टौ भवन्ति तथापि गन्धाङ्गेषु यथोक्तरूपेषु प्रशस्या व्यवहातरश्चत्वार एव मृदुलघुशीतोष्णरूपास्ततः पञ्चसप्ततं शतम्। स्पर्शचतुष्टयेन गुण्यते, जातानि सप्तशतानि। उक्तं च–मूलतयकट्ठनिज्जास–पत्तपुप्फफलभो य गंधंगा। वण्णादुत्तरभेया, गंधंगसया मुणेयव्वा ''॥ १ ॥

अस्या व्याख्यानरूपं गाथाद्वयम्–

''मुच्छा सुवण्णवल्ली, अगरुवालो तमालपत्तं च।
तह य पियंगू (जाईफलं च) जाईए गंधंगा गुणणाए।
सत्तसया पंचहिं, वण्णेहिं सुरभिगंधेण।
रसपणगेणं तह फासेहिं यवउहिं मेत्तेहिं ''॥

''अत्र (जाईए गंधंगा इति) जात्यजात्यभेदेनामूनि गन्धाङ्गानि। शेषं भावितम्। (कई णमित्यादि) कति भदन्त ! पुष्पजातिकुलकोटियोनिप्रमुखशतसहस्राणि प्रज्ञप्तानि ? भगवानाह–गौतम ! षोडश पुष्पजातिकुलकोटियोनिप्रमुखशतसहस्राणि प्रज्ञप्तानि। तद्यथा–चत्वारि जलजानां पद्मानां जातिभेदेन, तथा चत्वारि स्थलजानां कोरिण्टकादीनां जातिभेदेन, चत्वारि महागुल्मिकादीनां जात्यादीनां, चत्वारि महावृक्षाणां मधुकादीनामिति। जी० ३ प्रति०।

गंधकासाइया स्त्री० (गन्धकाषायिका) गन्धप्रधानेन कषायेण रक्ता शाटिका गन्धकाषायिका। उपा० १ अ०। गन्धप्रधानायां कषायरक्तायां शाटिकायाम्, भ० ६ श० ३३ उ०। कल्प ।

गंधघाणि स्त्री० (गन्धघ्राणि) घ्राणेन्द्रियस्य पूर्णवृत्तिकरे गन्धद्रव्ये, यावद्भिर्गन्धपुद्गलैर्गन्धविषये घ्राणिरुपजायते तावतीर्गन्ध–पुद्गलसंहतिरुपचाराद् गन्धघ्राणिरित्युच्यते। रा०। जी०।

गंधट्ठय न० (गन्धाष्टक) गन्धद्रव्यक्षोदे, ''गन्धट्ठएणं उव्वट्टित्ता'' स्था० ३ ठा० १ उ०।

गंधड्ढ त्रि० (गन्धाढ्य) सद्गन्धगुणसमृद्धे, पञ्चा० २ विव०। कर्पूरकस्तूरिकादिगन्धैः पूर्णे, वाच०।

गंधणाम न० (गन्धनामन्) गन्ध्यत आघ्रायत इति गन्धस्तद्धेतुत्वान्नामकर्म्म गन्धनाम। कर्म्म० १ कर्म्म०। नामकर्म्मभेदे।

अथ गन्धनाम द्विधाऽऽह–

सुरहिदुरही रसा पण, तित्तकडुकसायअंबिला महुरा।

फासा गुरुलघुमिउखर-सीउण्हसिणिद्धरुक्खट्ठा ॥ ४० ॥

इह गन्धशब्दः प्रक्रमाद्गम्यते । ततः सुरभिगन्धोदुरभिगन्धश्च द्वेधा गन्धः । तत्र सौमुख्यकृत्सुरभिगन्धः, यदुदयाज्जन्तुशरीरं कर्पूरादिवत् सुरभिगन्धं भवति, तत्सुरभिगन्धनाम । वैमुख्यकृद् दुरभिगन्धः, यदुदयाज्जन्तुशरीरं लशुनादिवद् दुरभिगन्धं भवति तद् दुरभिगन्धनाम । अत्राप्युभयसंयोगजाः पृथग् नोक्ताः, एतत्संसर्गजत्वादेव भेदाऽविवक्षणात् । उक्तं द्विधा गन्धनाम ॥ कर्म्म० १ कर्म । स० । श्रा० । पं० सं० । गन्धरूपे अर्थे, से किं तं गंधनामे ?, गंधनामे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा– सुरभिगंधनामे दुरभिगंधनामे । सेत्तं गंधनामे । अनु० ।

गंधदव्व न० (गन्धद्रव्य) गन्धप्रधाने श्रीखण्डादौ, उत्त० १ अ० । आ० म० । नागकेसरे, वाच० ।

गंधदेवी स्त्री० (गन्धदेवी) सौधर्म्मे कल्पे देवीभेदे, सा च पूर्वभवे पार्श्वस्वाम्यन्तिके प्रव्रज्य कालं कृत्वा सौधर्म्मे कल्पे गन्धविमाने देवीत्वेनोपपन्नेति । नि० ४ वर्ग ।

गंधपरिणय त्रि० (गन्धपरिणत) गन्धतः परिणतः । गन्धभाजि, प्रज्ञा० १ पद ।

गंधपरिणाम पुं० (गंधपरिणाम) अजीवपरिणामभेदे, ''गंधपरिणामे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ? गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते । तं जहा– सुब्भिगंधपरिणामे दुब्भिगंधपरिणामे य '' ॥ प्रज्ञा० १३ पद ।

गंधपिसाअ (देशी) गान्धिके, दे ना० २ वर्ग ।

गंधप्पिय पुं० (गन्धप्रिय) पद्मखण्डनगरराजज्येष्ठपुत्रे ग० २ अधि० । आ० म० । आचा० । (स चाऽपरमात्रा गन्धेन मारित इति 'घाणेंदिय' शब्दे द्रष्टव्यम्)

गंधमंत त्रि० (गन्धवत्) प्रशंसायामतिशायने वा मतुः । प्रशस्तगन्धयुक्ते, अतिशयितगन्धयुक्तेच । स्था० ४ ठा० ४ उ० । आचा० सूत्र० ।

गंधमायण पुं० (गन्धमादन) गजदन्तकगिरिविशेषे, प्रश्न० २ संव० द्वार ।

गन्धमादनवक्षस्कारगिरिप्रश्नमाह–

कहि णं भंते ! महाविदेहे वासे गंधमायणे णामं वक्खार पव्वए पण्णत्ते ? गोयमा ! णीलवंतस्स वासहरपव्वयस्स दाहिणेणं, मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरपच्चच्छिमेणं, गंधिलावइस्स विजयस्स पुरच्छिमेणं, उत्तरकुराए पच्चच्छिमेणं; एत्थ णं महाविदेहे वासे गंधमायणे णामं वक्खारपव्वए पण्णत्ते । उत्तरदाहिणायए पाईणपडीणविच्छिण्णे तीसं जोअणसहस्साइं दुण्णिं अयणवुत्तरे जोअणसए छच्च य एगूणवीसइभाए जोअणस्स आयामेणं णीलवंतवासहरपव्वयं । तेणं चत्तारि जोयणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं, चत्तारी गाउअसयाइं उव्वेहेणं, पंचजोअणसयाइं विक्खंभेणं, तयाणंतरं च णं मायाए मायाए उस्सेउव्वेहपरिवुड्ढमाणे परिवुड्ढमाणे विक्खंभपरिहाणीए परिहायमाणे परिहायमाणे मंदरपव्वयंतेणं पंचजोअणसयाइं उड्ढं उच्चतेणं, पंचगाउअसयाइं उव्वेहेणं, अंगुलस्स असंखिज्जइभागं विक्खंभेणं पण्णत्ते । गयदंतसंठाणसंठिए सव्वरयणामए अच्छे । उभओ पासिं दोहिं पउमवरवेइआहिं दोहिं अ वणसंमेहिं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ते गंधमायणस्स णं वक्खारपव्वयस्स उप्पिं बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे० जाव आसयं तिसयं ति ॥

(कहि णमित्यादि) भदन्त ! महाविदेहे वर्षे गन्धमादनो नाम वक्षसि मध्ये गोप्यं क्षेत्रं द्वौ संभूय कुर्वन्तीति वक्षस्कारः, तज्ञातीयोऽयमिति वक्षस्कारपर्वतो गजदन्ताऽपरपर्यायः प्रज्ञप्तः ? गौतम ! नीलवन्नाम्नो वर्षधरपर्वतस्य दक्षिणभागेन, मन्दरपर्वतस्य मेरोरुत्तरपश्चिमायां च, अन्तरालवर्तिना दिग्विभागेन वायव्यकोणेनेत्यर्थः । गन्धिलावत्याः शीतोदोत्तरकूलवर्तिनोऽष्टमविजयस्य पूर्वेण, उत्तरकुरूणां सर्वोत्कृष्टभोगभूमिक्षेत्रस्य पश्चिमेन, अत्रान्तरे महाविदेहे वर्षे गन्धमादनो नाम वक्षस्कारपर्वतः प्रज्ञप्तः । उत्तरदक्षिणयोरायतप्राचीनप्रतीचीनयोः पूर्वपश्चिमयोर्दिशोर्विस्तीर्णः त्रिंशद्योजनसहस्राणि द्वे च नवोत्तरे योजनशते षट् एकोनविंशतिभागान् योजनस्यायामेन । अत्र यद्यपि वर्षधराद्रिसम्बन्धमूलानां वक्षस्कारगिरीणां साधिकैकाऽष्टशतद्विचत्वारिंशद्योजनप्रमाणकुरुक्षेत्रान्तर्वर्तिनामेतावानायामो न संपद्यते, तथाऽप्येषां चक्रीभावपरिणतत्वेन बहुतरक्षेत्राऽवगाहित्वात् संभवतीति । नीलवद्वर्षधरसमीपे चत्वारि योजनशतानि उर्ध्वोच्चत्वेन, चत्वारि गव्यूतशतानि उद्वेधेन, पञ्चयोजनशतानि विष्कम्भेण, तदनन्तरं मात्रया मात्रया क्रमेण क्रमेणोत्सेधोद्वेधयोरुच्चत्वोच्चत्वपरिवृद्ध्या परिवर्धमानः परिवर्धमानो विष्कम्भपरिहीयमाणः परिहीयमाणो मन्दरपर्वतस्य मेरोरन्ते समीपे पञ्चयोजनशतान्यूर्ध्वोच्चत्वेन, पञ्चगव्यूतिशतान्युद्वेधेन, अङ्गुलस्यासंख्यभागविष्कम्भेण प्रज्ञप्तः । गजदन्तस्य यत् संस्थानं प्रारम्भे नीचत्वमन्ते उच्चत्वमित्येवं, तेन संस्थितः सर्वात्मना रत्नमयः । श्रीउमास्वातिवाचककृतजम्बूद्वीपसमासप्रकरणे तु कनकमय इति, शेषं प्राग्वत् । अथास्य भूमिसौभाग्यमावेदयति–(गंधमायणस्स इत्यादि) गन्धमादनस्य वक्षस्कारपर्वतस्योपरि बहुसमरमणीयो भूमिभागः प्रज्ञप्तः । अत्र यावत्पदात्पद्मवरवेदिकाद्यद्रिशिखरतलवर्णकगतं सर्वं बोध्यम् । जं० ४ वक्ष० । (कूटान्यस्य 'कूड' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ६२५ पृष्ठे उक्तानि)

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ गंधमायणे वक्खारपव्वए गंधमायणे वक्खारपव्वए ? गोयमा ! गंधमायणस्स णं वक्खारपव्वयस्स गंधे से जहा णामए कोट्ठपुडाण वा० जाव पिसिज्जमाणाण वा उक्किरिज्जमाणाण वा विकिरिज्जमाणाण वा परिभुज्जमाणाण वा० जाव उराला मणुण्णा० जाव गंधा अभिणिस्सवंति । भवे एआरूवे ? णो इणट्ठे समट्ठे, गंधमायणस्स णं इत्तो इट्ठतराए चेव० जाव गंधे पण्णत्ते, से एणट्ठेणं गोअमा ! एवं वुच्चइ गंधमायणवक्खारपव्वए गंधमायणवक्खारपव्वए । गंधमायणे अ इत्थ देवे महिड्ढीए परिवसइ, अदुत्तरं च णं सासए णामधिज्जे ॥

सम्प्रति नामार्थं पिपृच्छिषुराह–(से केणट्ठेणमित्यादि) प्रश्नसूत्रं सुगमम् । उत्तरसूत्रे गन्धमादनस्य वक्षस्कारपर्वतस्य गन्धः स यथा नाम कोष्ठपुटानां यावत् पदात्, तगरपुटादीनां

संग्रहः । पिष्यमाणानां वा संचूर्ण्यमानानां, उत्कीर्यमाणानां वा, विकीर्यमाणानां वा, परिभुज्यमानानां वा, यावत् पदाद् भाण्डाद् भाण्डान्तरं वा संह्रियमाणानामिति । उदारा मनोज्ञाः, यावत्पदाद् गन्धा इति कर्तृपदम्, अभिनिःस्रवन्ति । एवमुक्ते शिष्यः पृच्छति–भवेत् तद्भूतो गन्ध इति ? भगवानाह–नायमर्थः समर्थः । गन्धमादनस्य इतो भवदुक्ताद्गन्धादिष्टतरक एव । यावत् करणात् कान्ततरक एवेत्यादि पदग्रहो निगमनवाक्ये, ते नार्थेन गौतम ! एवमुच्यते–गन्धेन स्वयं माद्यतीव मदयति वा तन्निवासिदेवदेवीनां मनांसीति गन्धमादनः । **''बहुलम्''** । **५ । १ । २** । इति वचनात् कर्त्तर्यनट् कृत्प्रत्ययः **''घञ्युपसर्गस्य बहुलम् । ३ । २ । ८६** । इत्यत्र बहुलाधिकारादतिशायनादिवद् मकाराकारस्य दीर्घत्वमिति । गन्धमादननामा चात्र देवो महर्द्धिकः परिवसति, तेन तद्योगादितिनाम । अन्यत् सर्वं प्रागवत् । जं० ४ वक्ष० । 'दो गंधमायणा' स्था० २ ठा० ३ उ० । स० ।

गंधमायणकूड न० (गन्धमादनकूट) गन्धमादनस्य तृतीये कूटे, जं० ४ वक्ष० ।

गंधलया (देशी) नासायाम्, दे ना० २ वर्ग ।

गंधवई स्त्री० (गन्धवती) भूतानन्दावासस्थाने, ''धरणस्स नागरन्नो, सुहवतिपरियाए दक्खिणे पासे । गन्धवईपरियाओ, भूयाणंदस्स उत्तरओ'' ॥२१६॥ द्वी० ।

गंधवट्टय न० (गन्धवर्त्तक) गन्धयुक्तोद्वर्त्तनचूर्णे, यद्धि, ''गन्धद्रव्ययणामुपलकोष्टादीनां यद्वर्तिचूर्णं गोधूमचूर्णं वा गन्धयुक्तं तत्'' । उपा० १ अ० ।

गंधवट्टि स्त्री० (गन्धवर्ति) गन्धद्रव्याणां गन्धयुक्तशास्त्रोद्देशेन निर्वर्तितगुटिकायाम्, स० । कस्तूरिकागुटिकायाम्, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

गंधवट्टिभूय त्रि० (गंधवर्त्तिभूत) गन्धवर्तिभूतं सौरभ्याऽतिशयात् । गन्धद्रव्यगुटिकाकल्पे, रा० । जी० । प्रज्ञा० । औ० । स० । भ० । ज्ञा० । कल्प० ।

गंधवर पुं० न० (गन्धवर) प्रधानचूर्णे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । गन्धप्रधाने चूर्णे, पञ्चा० ४ विव० ।

गंधवाइकूम न० (गन्धपातिकूट) अष्टमे शिखरिवर्षधरपर्वतस्य कूटे, स्था० २ ठा० ३ उ० ।

गंधवाय पुं० (गन्धवाद) द्वासप्ततिकलाभेदे, कल्प ७ क्षण ।

गंधवास पुं० (गन्धवर्ष) गन्धद्रव्यवृष्टौ, ''एगं महं अभयवासं च गंधवासं'' आचा० ३ चू० ।

गंधविहि पुं०(गन्धविधि) कोष्टपुटपाकादीनां गन्धानां प्रकारे, बृ० १ उ० ।

गंधव्व पुं० (गन्धर्व) देवगायने, उत्त० १ अ० । व्यन्तराऽष्टभेदे, औ० । स्था० । भ० । उत्त० । सूत्र० । स० । गन्धर्वा द्वादशविधास्तद्यथा–हाहा १–हूहू २–तुम्बुरवः ३नारदाः ४ ऋषिवादिकाः ५ । भूतवादिकाः ६ कादम्बाः ७ महाकादम्बाः ८ रेवताः ९ विश्वावसवः १० गीतरतयः ११ गीतयशसः १२ । प्रज्ञा० १ पद । ('इदं' आदिशब्देष्वेषामिन्द्रादयः) मनुष्यगायने राज्ञां श्रेणिभेदे, जं० ३ वक्ष० । एकविंशतितमे अहोरात्रमुहूर्ते, ज्यो० २ पाहु० । चं० प्रं० । कल्प । स० । कुन्थुयक्षे, श्री कुन्थोर्गन्धर्वयक्षः श्यामवर्णः सिंहवाहनश्चतुर्भुजो वरदपाशकान्वितदक्षिणपाणिद्वयो मातुलिङ्गाऽङ्कुशाधि–ष्ठितवामकरद्वयश्च । प्रव० २६ द्वार० । मृगभेदे कस्तूरीमृगे, घोटके, अन्तराभवसत्त्वे च । वाच० ।

***गान्धर्व** न० गन्धर्वैः कृतं गान्धर्वम् । नाट्यादिके, रागगीत्यादिकं गीतं, पदस्वरतालाऽवधानात्मकं गान्धर्वमिति भरतादिशास्त्रवचनात् । जं० १ वक्ष० । आव० । नुत्तयुक्तगीते, विपा० १ श्रु० २ अ० । कल्प० । ध० । ''गंधव्वेण विवाहेण, सयमेव विवाहिया'' आ० म० प्र० । स्था० ।

गंधव्वकंठ न० (गन्धर्वकण्ठ) गन्धर्वकण्ठप्रमाणे रत्नविशेषे, रा० ।

गंधव्वगण पुं० (गन्धर्वगण) गन्धर्वसमुदाये, जी० ३ प्रति० ।

गंधव्वघरग न० (गन्धर्व्वगृहक)गीतनृत्याभ्यासयोग्येषु गृहकेषु, जं० १ वक्ष० । रा० । जी० ।

गंधव्वणागदत्त पुं० (गान्धर्व्वनागदत्त) गान्धर्वप्रिये नागदत्तकुमारे, आव० ४ अ० । (''पडिक्कम'' शब्देऽस्य कथा द्रष्टव्या)

गंधव्वणिकाय पुं० (गन्धर्व्वनिकाय) गन्धर्वाणां व्यन्तराष्टमभेदभूतानां निकायो वर्गो येषां ते गन्धर्वनिकायाः । गन्धर्वेषु, औ० ।

गंधव्वनगर न० (गन्धर्वनगर) सुरसद्मप्रासादोपशोभितनग–राऽऽकारतया दृश्यमानेऽर्थे अनु० । गन्धर्वनगरं नाम यच्चक्रवर्त्त्यादिनगरस्योत्पातसूचनाय सन्ध्यासमये तस्य नगरस्योपरि द्वितीयं नगरं प्राकाराट्टालादिसंस्थितं दृश्यते । प्रव० १६८ द्वार० । व्य० ।

''कपिलं सस्यघाताय, माञ्जिष्ठं हरणं गवाम् ।
अव्यक्तवर्णं कुरुते, बलक्षोभं न संशयः ॥ १ ॥
गन्धर्व्वनगरं स्निग्धं, सप्राकारं सतोरणम् ।
सौम्यां दिशं समाश्रित्य, राज्ञस्तद्विजयंकरम् ॥ २ ॥
स्था० ८ ठा० ॥

गंधव्वमंडलप्पविभत्ति न० (गन्धर्वमण्डलप्रविभक्ति) गन्धर्वमण्डलाऽऽकृत्यभिनयात्मके नाट्यभेदे, रा० ।

गंधव्वसंघाड पुं० (गन्धर्वसङ्घाट) गन्धर्वयुग्मे, जं० १ वक्ष० ।

गंधव्वसाला स्त्री० (गन्धर्वशाला) गानशालायाम्, व्य० १० उ० ।

गंधव्वाणीय न० (गन्धर्वानीक) गायनसमूहे, स्था ७ ठा० । नाट्यानीके, रा० ।

गंधव्विय त्रि० (गान्धर्विक) गन्धर्वे कुशलः ठक् । सङ्गीतकुशले, वाच० । प्रत्युत्पन्नविनाशिज्ञाततायां गान्धर्विकाऽऽख्यानं तत्रैव । स्था० ४ ठा० ३ उ० । दश० ।

गंधसमिद्ध न० (गन्धसमृद्ध) गन्धिलावतीविजये गन्धारजनपदप्रधाननगरे, आ० म० प्र० । आ० चू० ।

गंधसालि पुं० (गन्धशालि) गन्धप्रधानः शालिः । आमोदवति धान्यभेदे, वासमतीप्रसिद्धे सुगन्धके शालौ, वाच० । ''तेहिं गन्धसालिं अवहरई'' आ० म० द्वि० ।

गंधहत्थि(ण्) पुं० (गन्धहस्तिन्) मदगलहस्तिनि, ''तहेव पवित्थरितो सेयणतो गंधहत्थी'' । आ० म० द्वि० । स्व–

नामख्याते आचार्यभेदे, आह च गन्धहस्तीनिद्रादयः समधिगताया एव दर्शनलब्धेरुपपाते वर्त्तन्ते । कर्म्म० ६ कर्म० । स महानाचार्यः, आचाराङ्गादिषु पूर्वं तस्य वृत्तय आसन्, ततः शीलाङ्काचार्येण वृत्तिः कृता । तथा च आचाराङ्गव्याख्योपक्रमे शीलाङ्काचार्य एव–''शस्त्रपरिज्ञाविवरण–मतिगहनं च गन्धहस्तिकृतम् ।तस्मात् सुखबोधार्थं, गछाम्यहमञ्जसा सारम् '' ॥ १ ॥ आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

गंधहारग पुं० (गन्धहारक) म्लेच्छजातीयभेदे, तेषां देशे च । प्रश्न० १ आश्र० द्वार । प्रज्ञा० ।

गंधार पुं० (गांधार) ''वायुः समुत्थितो नाभेः, कण्ठशीर्षसमाहतः । नानागन्धावहः पुण्यो, गान्धारस्तेन हेतुना ॥ १ ॥'' इति । तृतीये स्वरे, स्था० ७ ठा० । अनु० । अपरविदेहे गन्धिलावतीगन्धमादनवक्षस्कारगिरिवरासन्नवैताढ्यपर्वते, स्वनामख्याते जनपदे, आ० चू० १ अ० । आ० म० । 'खन्धार' इति ख्याते भरतक्षेत्रीये जनपदभेदे, ''इतो य गंधारविसए सुपुरिसपुरं नयरं, तत्थ नग्गई राया '' आचू० ४ अ० । आव० । उत्त० । वैताढ्ये पर्वते दक्षिणविद्याधरश्रेण्यां स्वनामख्याते निकाये, कल्प० ७ क्षण । श्रीवीरप्रतिमार्चनाऽऽगते नीरोगीभूते स्वनामख्याते श्रावके, कल्प० ९ क्षण । आ० म० । संघा० ।

गंधारराय पुं० (गन्धारराज) गन्धारजनपदराजे नग्नजिति, जो चूअरुक्खं तु मणाभिरामं, सो मंजरीपल्लवपुप्फचित्तं । रिद्धिं अरिद्धिं समुपेहियाणं, गंधारराया वि समिक्ख धम्मं ॥ १८ ॥ आव० ४ अ० । नि० चू० । आ० क० ।

गंधारी स्त्री० (गान्धारी) सा चाऽरिष्टनेमेरन्तिके प्रव्रज्यां गृहीत्वा सिद्धा, इत्यन्तकृद्दशासु पञ्चमे वर्गे तृतीयेऽध्ययने सूचितम् । अन्त० ५ वर्ग । गन्धारदेशोत्पन्नायां कृष्णाग्रमहिष्याम्, अन्त० ५ वर्ग । स्था० । आ० क० । श्रीनेमिजिनस्य शासनदेव्याम्, श्रीनेमिजिनस्य गान्धारी देवी श्वेतवर्णा हंसवाहना चतुर्भुजा वरदखड्गयुतदक्षिणकरद्वया बीजपूरककुन्तकलितवामकरद्वया च । प्रव० २७ द्वार । महाविद्याभेदे, आ० चू० । कल्प० ।

गंधावइ पुं० (गन्धापातिन्) हरिवर्षे वृत्तवैताढ्यपर्वते, स्था० ४ ठा० २ उ० । ''गंधावइवासी अरुणा देवी'' स्था० २ ठा० ३ उ० । (रम्यग्वर्षेऽस्य वृत्तवैताढ्यपर्वते 'रम्मग' शब्दे व्याख्या)

गंधावईवासि(ण्) पुं० (गन्धावतीवासिन्) गन्धावतीवासिनि देवे, 'दो गंधावईवासी अरुणादेवा' स्था० २ ठा० ३ उ० ।

गंधियसाला स्त्री० (गन्धिकशाला) गन्धप्रधानशालायाम्, गन्धिकशाला शौण्डिकशाला अन्याऽपि च एवमादिका गन्धप्रधाना सा गन्धिकशालेत्युच्यते । व्य० ९ उ० ।

गंधिल पुं० (गन्धिल) मन्दरस्य पश्चिमे शीतोदया उत्तरे चक्रवर्तिविजयक्षेत्रयुगले, ''दो गंधिला'' स्था० २ ठा० ३ उ० । ''गंधिले विजय अवज्झा रायहाणी देवे वक्खारपव्वए'' । गन्धिले विजयेऽवध्या राजधानी देवो वक्षस्कारः । जं० ४ वक्ष० ।

गंधिलावई स्त्री० (गन्धिलावती) मन्दरस्य पश्चिमेन शीतोदाया महानद्या उत्तरेऽष्टानामन्तिमे चक्रवर्तिविजये, स्था० ८ ठा० । ''गन्धिलावईविजए अउज्झा रायहाणी'' गन्धिलावतीविजयेऽयोध्या राजधानी । जं० ४ वक्ष । 'दो गंधिलावई' । स्था० २ ठा० ३ उ० ।

गंधिलावईकूड पुं० (गन्धिलावतीकूट) गन्धमादनवक्षस्कारपर्वतस्य तृतीये कूटे, जं० ४ वक्ष० । स्था० । गन्धिलावतीदीर्घवैताढ्यपर्वतस्याऽष्टमे कूटे च । स्था० ९ ठा० ।

गंधोदय न० (गन्धोदक) श्रीखण्डादिरसमिश्रे जले, औ० । कल्प । ज्ञा० । सुगन्धवारिणि, कल्प ३ क्षण ।

गंधोदगदाण न० (गन्धोदकदान) सुरभिजलवर्षणे, पञ्चा० २ विव० ।

गंधोदगदाणाइ त्रि० (गन्धोदकदानादि) सद्गन्धद्रव्योन्मिश्रजलप्रभृतौ, पञ्चा० ८ विव० ।

गंधोदगपुप्फवुट्ठि स्त्री० (गन्धोदकपुष्पवृष्टि) तीर्थकरदानसमये जायमाने चतुर्थे दिव्ये, कल्प ७ क्षण० ।

गंप्पि अव्य० (गत्वा) गम्–क्त्वा । **''एप्पयेप्पिणवेव्येविणवः'' । ८ । ४ । ४४०** । इति अपभ्रंशे क्त्वाप्रत्ययस्य एप्पिरादेशः । ततो **''गमेरेप्पिणवेप्पयोरेलुग्वा'' । ८ । ४ । ४४२** । इति एप्पिप्रत्ययस्यैकारस्य लोपः । गमनं कृत्वेत्यर्थं, ''गंप्पिणु वाणारसिहिं, नर अह उज्जेणिहिं गंप्पि । मुआ परावहिं परम–पउ दिव्वं तरिइं म जम्पि '' ॥ प्रा० ४ पाद ।

गंप्पिणु अव्य० (गत्वा) 'गंप्पि' शब्दार्थे ।

गंभीर न० (गम्भीर) अलब्धस्ताधे, जी० ३ प्रति० । औ० । गम्भीरं नाम भग्नत्वादिदोषवर्जितं शेषजनेन च प्रायेणाऽलक्षणीयमध्यमभागं स्थानं, गम्भीरमस्ताघमितिवचनात् । व्य० १ उ० । ज्ञा० । रोषतोषाद्यवस्थायामप्यलब्धमध्ये, ध० ३ अधि० । रा० । जितेन्द्रिये, दर्श० । रा० । अतुच्छस्वभावे, प्रव० ६४ द्वार । ग० । व्य० । स्था० । सूक्ष्ममतिविषयभावाभिधायिनि, षो ९ विव० । दैन्यादिवत्त्वेऽपि कारणवशात् संवृताऽऽकारतया महति, स्था० ४ ठा० ४ उ० । ज्ञा० । रा० । प्रति० । गम्भीरो नाम संयतीनां पुरुषाद्याचरणं दृष्ट्वाऽपि विपरिणामं न याति । बृ० १ उ० । अलक्ष्यमाणहर्षदैन्यादिभावे,पञ्चा० ११ विव० । अदर्शितरोषतोषशोकादिकारे, स० । विपुलचित्ते, पं० व० १ द्वार । खेदसहे, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० । अप्रकाशे, दश० ५ अ० १ उ० । मेघशब्दवद् अतुच्छे स्वरे, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । गम्भीरो नाम यतः प्रतिशब्द उत्तिष्ठते । बृ० १ उ० । एकत्रिंशत्तमे ऋषभदेवनन्दने, कल्प ७ क्षण । जम्बीरे, पद्मे च । वाच० ।

गंभीरतर त्रि० (गम्भीरतर) गन्तुमत्यन्तमलब्धमध्ये, जीवा० १ अधि० । गम्भीरतरो मधुरः शब्दो यस्याः सा तथा । आ० म० प्र० ।

गंभीरदरिसणिज्ज त्रि० (गम्भीरदेशनीय) अलक्ष्यमाणाऽन्तर्वृत्तित्वेन दृश्यमानेषु, स० ।

गंभीरदेसणा स्त्री० (गम्भीरदर्शनीय) सूक्ष्मदेशनायाम्, परिणते गम्भीरायाः पूर्वदेशनापेक्षयाऽत्यन्तसूक्ष्माया आत्मास्तित्वं तद्बन्धमोक्षादिकाया देशनाया योगो व्यापारः कार्यः । इदमुक्तं भवति–यः पूर्वं साधारणगुणप्रशंसादिरनेकधोपदेशः प्रोक्त आस्ते स यदा तदाचारककर्म्महासातिशयादङ्गाङ्गीभावलक्षणं परिणाममुपगतो भवति, तदा जीर्णे भोजनमिव गम्भीरदेशनायामसौ देशनार्हेऽवतार्यत इति । ध० १ अधि० ।

गंभीरपयत्थभणियमग्ग पुं० (गम्भीरपदार्थभणितमार्ग) बन्धमोक्षस्वतत्त्वलक्षणे वचनपथे, पं० व० ४ द्वार ।

गंभीरपयत्थविरइय त्रि० (गम्भीरपदार्थविरचित) गम्भीररैतुच्छैः पदार्थानां शब्दानामर्थैरभिधेयैर्विरचितानि दृब्धानि गम्भीरपदार्थविरचितानि। महार्थेषु, ''सारा पुण थुई थोत्ता, गंभीरपयत्थविरइया जे उ, '' पञ्चा० ७ विव०।

गंभीरपोयपट्टण न० (गम्भीरपोतपट्टन) समुद्रतटस्थे पोतावलगनस्थाने ग्रामे, ''जेणेव गंम्भीरपोयपट्टणे तेणेव उवागच्छति'' ज्ञा० १ श्रु० १७ अ०।

गंभीरमज्झ त्रि० (गम्भीरमध्य) गम्भीरं मध्यं यस्य स गम्भीरमध्यः। अप्राप्तमध्ये भवार्णवे, अष्ट० २२ अष्ट ०।

गंभीरमालिणी स्त्री० (गम्भीरमालिनी) गम्भीरं जलं मलते धारयतीति गम्भीरमालिनी। महाविदेहे सुवल्गुविजयेऽन्तर्नदीभेदे, जं० ४ वक्ष०। स्था०। 'दो गम्भीरमालिणीउ' स्था० २ ठा० ३ उ०।

गंभीररोमहरिस त्रि० (गम्भीररोमहर्ष) गम्भीरोऽतीवोत्कटो रोमाञ्चहर्षो भयवशाद् येभ्यस्ते गम्भीररोमहर्षाः। दृष्टिभयानकेषु, यद्दर्शनमात्रे जन्तूनां भयसम्पादनेन मात्रागलरोमहर्ष मुत्पादयन्तीति। जी० ३ प्रति०।

गंभीरलोमहरिसजणण त्रि० (गम्भीररोमहर्षजनन) गम्भीरश्चासौ भीषणत्वाद्रोमहर्षजननश्चेति गम्भीररोमहर्षजननः। भीषणे रोमहर्षजनने, भ० ६ श० ५ उ०।

गंभीरविजय पुं० (गम्भीरविजय) गम्भीरमप्रकाशं विजय आश्रयः। अप्रकाशाश्रये, ''गंभीरविजया एए, पाणा दुप्पडिलेहणा '' (५६) दश० ६ अ०।

गंभीरसद्दत्त न० (गम्भीरशब्दत्व) मेघस्येव शब्दनत्वे चतुर्थे सत्यवचनाऽतिशये, औ०।

गंभीरा स्त्री० (गम्भीरा) ग्लानसाधुं प्रति जागरणयोग्यायां साध्व्याम्, ''काउं न उत्तणेइ'' गम्भीरा या वैयावृत्त्यं कृत्वा न उत्तणेइ, गर्वबुद्ध्या न प्रकाशयति सा। व्य० ५ उ०। चतुरिन्द्रियभेदे, प्रज्ञा० १ पद। जी०।

गंभीराहरण न० (गम्भीरोदाहरण) महापुरुषगतेऽतुच्छज्ञाने, पञ्चा० ६ विव०।

गंभीरिम न० (गाम्भीर्य्य) परैरलब्धमध्यो गम्भीरस्तद्भावो गाम्भीर्य्यम्। षो० ४ विव०। अल्पशेमुष्याऽज्ञातमध्यत्वे, जीवा० ३ अधि०।

गगण न० (गगन) अम्बरे, चं० प्र० १८ पाहु०। आकाशे, उत्त० २६ अ०। रा०। ''गगणमिव निरालंबो'' स्था० ६ ठा०।

गगणतल न० (गगनतल) अम्बरतले, रा०। चं० प्र०। जी०। कल्प०। स०। ''गगणतलविमलविपुलगमणगश्चवलचलियमणप्पवणजइण-सिग्घवेगा'' गगनतले विमले विपुले च यद्गमनं तस्य सम्बन्धी शीघ्रवेग इति सत्बन्धः। गतिश्चपला स्वरूपत एव यस्य तद्गतिचपलं, तच्च तच्चलितं च गन्तु प्रवृत्तं तद्विधं यन्मनः पवनश्च तयोर्जयनशीलोऽत एव शीघ्रो वेगो येषां ते तथा। औ०। आकाशतले, भ० ६ श० ३३ उ०। कल्प । गगनतलमम्बरमनुलिखन्ति अभिलङ्घयन्ति शिखराणि येषां ते गगनतलानुलिखच्छिखराः। जी० ३ प्रति। रा०। स०। सू०। प्र०।

गगणवल्लह न० (गगनवल्लभ) वैताढ्ये नगे उत्तरश्रेण्यां नमिविनमिभ्यां निवासिते नगरभेदे, कल्प० ७ क्षण०।

गग्ग पुं० (गर्ग) गौतमगोत्रविशेषभूतपुरुषे, स्था० ७ ठा०। स च भरद्वाजगोत्र इति स्मृतिः। तस्य गोत्रापत्यं गर्ग–यत्–गा–र्य्यः। तद्गोत्रापत्ये, पुं०। स्त्री०। वाच०। स्वनामख्याते मुनौ, ''थेरे गणहरे गग्गे मुणी आसी'' गार्य्यो नाम गर्गगोत्रोत्पन्नत्वाद् गार्य्यः। उत्त० २६ अ०। (तस्य कुशिष्यत्यागः 'खलुंक' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ७२५ पृष्ठे द्रष्टव्यः) प्रश्नः गर्गाचार्यत्यक्तपञ्चशतसाधूनां साधुत्वं सम्भाव्यते नवा ? स्वेच्छाचारित्वात्। उत्तरम्–गर्गाचार्यत्यक्तशिष्याणां व्यवहारतः साधुत्वेऽपि परमार्थतः साधुत्वाऽभाव एव संभाव्यते। ही० २ प्रका०। पाशकेवलिकर्मविपाकनाम्नोर्ग्रन्थयोः कर्त्तरि स्वनामख्याते आचार्ये, स च विक्रमसंवत् ६६२ वर्षे आसीत्। जै० इ०। यून्यपत्ये फक्–गार्ग्यायणः। यूनि तद्गोत्रापत्ये, पुं०। स्त्री०। बहुषु यञो लुग् अस्त्रियाम्। कुणिरोगाक्रान्ते मुनिभेदे, वाच०।

गग्गर न० (गद्गद) **''संख्यागद्गदे रः ''। ८। १। २१६॥** इति दस्य रः। ''गग्गरं'' प्रा० १ पाद॥

गर्गर पुं० स्त्री० गर्गेति शब्दं राति। रा–क। गृ–वा गरन्। तरुणपशौ, दधिमन्थनभाण्डे च। वाच०।

गग्गरी स्त्री० (गर्गरी) गर्गर–अल्प्यार्थे ङीप्। स्वल्पघटे, वाच०। यावता वृष्टेनाकाशबिन्दुभिर्महती गर्गरी भूयते। विशे अनु०।

गच्छ पुं० (गच्छ) समुदाये, आ० म० प्र०। अनु०। एकाचार्य्यपरिवारे, औ०। जीवा०। एकाचार्यप्रणेयसाधुसमुदाये, पञ्चा० १८ विव०। ध०। गच्छमानम्–तिगमाइया गच्छा, सहस्सवत्तीसई उसभेण। त्रिकादयस्त्रिचतुःप्रभृतिपुरुषपरिमाणा गच्छा भवेयुः। किमुक्तं भवति ? एकस्मिन् गच्छे जघन्यतस्त्रयो जनाः भवन्ति, गच्छस्य साधुसमुदायरूपत्वात्तस्य च त्रयाणामधस्तादभावादिति। तत ऊर्ध्वं ये चतुःपञ्चप्रभृति-पुरुषसंख्याका गच्छास्ते मध्यमपरिमाणतः प्रतिपत्तव्यास्तावद्यावदुत्कृष्टं परिमाणं न प्राप्नोति। किं पुनस्तद् ? इति चेदत आह–(सहस्स बत्तीसई उसभेण त्ति) द्वात्रिंशत्सहस्राण्येकस्मिन् गच्छे उत्कृष्टं साधूनां परिमाणं, यथा श्रीऋषभस्वामिप्रथमगणधरस्य भगवत ऋषभसेनस्येति। बृ० १ उ०। व्य०।

अथ गच्छाचारोक्तगच्छविधिरभिधीयते–

नमिऊण महावीरं, तिअसिंदनमंसिअं महाभागं।
गच्छायारं किंची, उद्धरिमो सुयसमुद्दाओ॥ १॥ ग०।

इह हि साधुना इहपरलोकहितार्थं सदाचारगच्छसंवासो विधेयोऽसदाचारगच्छसंवासश्च परिहार्यः, क्रमेण परमशुभाशुभफलत्वात्। तत्रापि अपरिकर्म्मितप्रदेशं चित्रकरणमिव, सच्छिद्रप्रवहणं समुद्रतरणमिव, अपरिवर्जिताऽपथ्यं तथ्यौषधकरणमिव, अव्याकरणाध्ययनमन्यशास्त्राऽध्ययनमिव, अपरिबद्धपीठं भित्ति चयनमिव, सधूलीकं लिम्पनमिव, अनम्भः सङ्गं कमलरोपणमिव, अलोचनं मुखमण्डनमिव, अन्तर्गृद्धं च अपरित्यक्तोन्मार्गगामिगच्छसङ्गं सदाचारगच्छसंवसनमित्युन्मार्ग–

गामिगच्छसङ्गतिं परित्यज्यैव सन्मार्गगामिनि गच्छे संवसनीयमितिज्ञापनार्थं प्रथममुन्मार्गगामिगच्छसंवासे परमाऽपायफलं दर्शयति –

अत्थेगे गोयमा ! पाणी, जे उम्मग्गपइट्ठिए ।
गच्छम्मि संवसित्ता णं भमई भवपरंपरं ॥२॥

हे गौतम ! सन्त्येके केचन प्राणिनः सत्त्वा ये उन्मार्गप्रतिष्ठते उन्मार्गगामिनि गच्छे संवस्य संवासं कृत्वा, 'णं' णं इति वाक्यालङ्कारे, भवपरम्परां संसारपरिपाटीं भ्रमन्ति । अत्र वचनव्यत्ययो दीर्घत्वं च प्राकृतत्वात्। एवमग्रेऽपि तत्र तत्र वचनादिव्यत्यय-ह्रस्वत्वदीर्घत्वविभक्तिलोपादि प्राकृतत्वादिनिबन्धमनुतनुक्तमपि स्वयमभ्यूह्यम्। असत्सङ्गो हि सतोऽपि शीलस्य विलयेन पातहेतुरेव । उच्यते चान्यत्रापि–''यदि सत्सङ्गनिरतो, भविष्यसि भविष्यसि। अथाऽसज्जनगोष्ठीषु, पतिष्यसि पतिष्यसि ''॥१॥ इह च ''अत्थेगे गोयमा ! पाणी'' इत्यादि सगौतमामन्त्रणश्रीमन्महावीर निर्वचनवाक्योपलम्भाद् हे भदन्त ! किं सन्ति केचन प्राणिनः, ये उन्मार्गगामिनि गच्छे संवस्य भवपरम्परां भ्रमन्तीत्यादिरूपं यथासवि सभगवदामन्त्रण श्रीगौतमप्रश्नवाक्यमनुक्तमपि ज्ञेयम्; प्रश्नमन्तरेण निर्वचनस्य प्रायोऽसंभवात्। एवमुत्तरत्रापि तत्र तत्र प्रश्नवाक्यं यथासंभवि स्वयमेव वाच्यमिति। (ग०)

सदाचारलक्षणो गच्छः–

अथ गाथात्रयेण सदाचारगच्छसंवासगुणानाह–

जामद्ध–जाम–दिण पक्खं, मासं संवच्छरं पि वा ।
सम्मग्गपट्ठिए गच्छे, संवसमाणस्स गोयमा ! ॥३॥
लीलाअलसमाणस्स, निरुच्छाहस्स वीमणं ।
पिक्खविक्खइ अण्णेसिं, महाणुभागाण साहुणं ॥४॥
उज्जमं सव्वथामेसु, घोरवीरतवाइयं ।
लज्जं संकं अइक्कम्म, तस्स विरियं समुच्छले ॥५॥

यामार्द्धं चतुर्घटिकं, यामं प्रहरं, दिनमहोरात्रम्; अत्र पदत्रयेऽपि विभक्तिलोपः प्राकृतत्वात् । समाहारद्वन्द्वो वा चतुर्णां पदानाम् । पक्षं पञ्चदशदिनात्मकं, मासं पक्षद्वयात्मकं, संवत्सरं द्वादशमासात्मकं, अपिशब्दाद्वर्षयादिकंयावत् । वाशब्दो विकल्पार्थः । सन्मार्गप्रस्थिते आप्तोक्तमार्गप्रवृत्ते, गच्छे गणे संवसतो निवासं कुर्वाणस्य, जन्तोरिति शेषः, हे गौतम ! कथंभूतस्य ?, लीलया अलसायमानस्य, अनलसोऽलसो भवतीति अलसायते; अलसायते इति अलसायमानः, तस्य । अत्र ''डाच् लोहिताभ्यः पित्''।३।४।३०। इति (हैम) सूत्रेण लोहितादेराकृतिगणत्वात् च्व्यर्थे क्यङ्ष् प्रत्ययः । निरुत्साहस्य निरुद्यमस्य (वीमणं ति) षष्ठ्यर्थे द्वितीया, विमनस्कस्य शून्यचित्तस्य, (पिक्खविक्खइत्ति) पश्यतः; अन्येषां महानुभागानां महाप्रभावाणां साधूनाम्, उद्यममनालस्यं, सर्वस्थामसु सर्वक्रियासु, कथंभूतमुद्यमम् ?, घोरवीरतपाइयं ति) घोरं दारुणमं अल्पसत्वे दुरनुचरत्वात् (वीर त्ति) वीरं भवं वैरं, वीरैः साध्यमानत्वात्, एवंविधं तपआदिर्यत्र तम् । आदिशब्दाद्वैयावृत्त्यादिकम्। लज्जां व्रीडां, शङ्कां जिनोक्ते संशयरूपाम्, अतिक्रम्य परित्यज्य, स्थितस्येति शेषः । तस्य सुखशीलत्वादिदोषयुक्तस्यापि, वीर्यं प्रधानधर्मानुष्ठानकरणोत्साह रूपं, समुच्छलेत् प्रादुर्भवेत्। सोऽपि जिनोक्तमोक्षमार्गक्रियां कुर्यादित्यर्थः, षष्ठाङ्गोक्तशेलकाचार्यवदिति। त्रीण्यपि विषमाक्षराणीति गाथाच्छन्दांसि। ग०१ अधि०।

गच्छस्याऽगच्छत्वं यथा स्यात्तथाऽऽह–

पजलंति जत्थ धगधग–धगस्स गुरुण वि चोइए सीसा ।
रागद्दोसेण विअणु–सए तं गोयम ! न गच्छं ॥५०॥

प्रज्वलन्ति अग्निवद् यत्र गच्छे (धगधगधगस्स त्ति) अनुकरणशब्दोऽयं धगधगिति, धगधगायमानं यथा स्यात्तथेत्यर्थः। प्राकृतत्वाच्चैवं प्रयोगः। गुरुणाऽऽचार्येण, अपिशब्दादुपाध्यायादिनाऽपि (चोइए त्ति) भवादृशामयुक्तमेतदित्यादिना प्रकारेण नोदिते सति। के ?, शिष्या अन्तेवासिनः, केन प्रज्वलन्ति ?, रागद्वेषेण, अत्रा समाहारद्वन्द्वांदेकवचनम् । तथाऽनुशयेनापि 'हा ! कथं निरन्तरातिदुःसहदुःखसन्तापव्याकुलीकृतान्तःकरणा प्रव्रज्योररीकृता मया' इत्यादिपश्चात्तापकरणेन चेत्यर्थः। अपिशब्दः चशब्दार्थे। यद्वा रागद्वेषेण, किंभूतेन ?, (विअणुसएण त्ति) विगतोऽनुशयः पश्चात्तापो यत्र तद् व्यनुशयं, तेन, पश्चात्तापरहितेनेत्यर्थः। हे गौतम ! स गच्छो न भवतीति। ग०२ अधि०।

उम्मग्गपट्ठियं गच्छं, जे वासे लिंगजीवा णं ॥
से णं निव्विग्घमकिलिट्ठं, सामन्नं संजमं तवं ।
ण लभेज्जा ते सिया भावे, मोक्खे दूरयरंतिए ॥ (महा०)

(अत्थेगे गोयमेत्यादिगाथास्तु गच्छाचार पाठेन गतार्थाः)

वीरिएणं तु जीवस्स, समुच्छलिएण गोयमा ! ॥
जम्मंतरकए पावे, पाणी मुहुत्तेण निद्दहे ।
तम्हा निउणं निभालेउं, गच्छं संमग्गपट्ठियं ॥
निवसेज्ज तत्थ आजम्मं, गोयमा ! संजए मुणी ।

से भयवं ! कयरेणं से गच्छे जेणं वासेज्जा ? एवं तु गच्छस्स पुच्छा० जाव णं वयासी जत्थ गोयमा ! णं समसत्तुमित्तपरेके अचंतसुनिम्मलविसुद्धतकरणे आसायणाभीरू सपरोवयार–मब्भुज्जइ अचंतं छज्जीवनिकायवच्छले सव्वालंबणविप्पमुक्के अचंतमप्पयादी सविसेसवितियसमयसब्भावे रोद्दऽट्टज्झाण–विप्पमुक्के सव्वत्थ अणिगूहियबलवीरियपुरिसक्कारपरक्कमे एगंतेणं संजई कप्पपरिभोगविरए एगंतेणं धम्मंतरायभीरू एगंतेणं तत्तरुई एगंतेणं इत्थिकहा भत्तकहा तेणकहा रायकहा जणवयकहा परिमट्ठायारकहा एवं तिन्नि तिय अट्ठारस बत्तीसं विचित्तसप्पभेयसव्वविगहाविप्पमुक्के एगंतेणं जहासत्तीए अट्ठारसण्हं सीलंगसहस्साणं आराहगे सयलमहन्निसाणु–समयगिलाए जहोवइयमग्गपरूवए बहुगुणकलिए मग्गट्ठिए अक्खलियसीलंगमहासत्ते महाणुभागे नाणदंसणचरणगुणोववेए गाणी । महा०५ उ०।

गच्छे वसंता बह्वी निर्जरा स्यादित्याह–

गच्छो महाणुभावो, तत्थ वसंताण निज्जरा विउला ।
सारणवारणचोयण माईहिं न दोसपडिवत्ती ॥५१॥

गच्छः सुविहितमुनिवृन्दरूपः, महाननुभावः प्रभावो यस्याऽसौ

महानुभावः । (तत्थ त्ति) तत्र गच्छे, वसतां वासं कुर्वतां, निर्जरा कर्मक्षयरूपा, भवतीति शेषः । किं भूता ?, विपुला महती । कुतः?, इत्याह–यतस्तत्र वसतां सारणावारणाचोदनादिभिः, मोऽलाक्षणिकः; न दोषप्रतिपत्तिर्न दोषाभिर्भवति । तत्र विस्मृते क्वचित् कर्तव्ये भवतेदं न कृतमिति सारणा, अकर्तव्यानां निषेधो वारणा, संयमयोगेषु स्खलितस्याऽयुक्तमेतद्भवादृशां विधातुमित्यादिखरमधुरवचनैः प्रेरणं चोदना । आदिशब्दात्तथैव पुनः पुनः प्रेरणरूपा प्रतिचोदनेति । ग०२ अधि०।

अथ शिष्यस्वरूपप्रतिपादनद्वारेण गच्छस्वरूपमेव प्रतिपादयन्नाह–

गुरुणो कज्जमकज्जं, खरकक्कसदुट्ठनिट्ठुरगिराए ।
भणिए तह त्ति सीसा, भणंति तं गोयमा ! गच्छं ॥५६॥

गुरुणाऽऽचार्येण कार्यं चाकार्यं च कार्याकार्यं, तस्मिन्, मकारोऽलाक्षणिकः । खरकर्कशदुष्टनिष्ठुरगिरा अत्यन्तनिष्ठुरतरवाण्या भणिते प्रवृत्तिनिवृत्त्यर्थं कथिते सति (तह त्ति) तथेति यद्यथा यूयं वदथ तत्तथैवेति यत्र गच्छे शिष्या विनेया भणन्ति, प्रतिपाद्यन्ते इत्यर्थः, तं गच्छं हे गौतम ! घण्टालालान्यायेन भणन्तीति क्रियाया अत्रापि संबन्धात् भणन्ति प्रतिपादयन्ति, तीर्थंकरगणधरादय इति शेषः । ग०२ अधि)।

आर्थिकाभिः सह न संवदन्ति–

जत्थ य अज्जाहि समं , थेरा वि न उल्लवंति गयदसणा ।
न य झायंति त्थीणं, अंगोवंगाइ तं गच्छं ॥६२॥

यत्र च गच्छे आर्याभिः साध्वीभिः समं सार्धं स्थविरा अपि साधवः, किं पुनस्तरुणाः, 'न उल्लवंति' नाऽऽलापादि कुर्वन्ति । किं भूताः ?, गता नष्टा दशना दन्ता येषां ते गतदशनाः; न च ध्यायन्ति स्त्रीणां नारीणामङ्गोपाङ्गानि । तत्राऽङ्गान्यष्टौ–बाहुद्वयम्, ऊरुद्वयं, पृष्टिः, शिरः, हृदयम्, उदरं च । उपाङ्गानि–कर्ण–नेत्र–नासिकादीनि । तं गच्छं वदन्तीति शेषः । ग०२ अधि०। (व्याख्या ६३ गाथा च 'अज्जासंसग्गी' शब्दे प्र०भा० २२४ पृष्ठे द्रष्टव्या)

षट्कायाययतनावान् गच्छः

अथ पृथिव्यादिषम्जीवयतनामाश्रित्य प्रस्तुतमेवाह–

पुढविदगअगणिमारुअवाउणस्सइतसाण विविहाणं ।
मरणंते वि न पीमा, कीरइ मणसा तयं गच्छं ॥७५॥

पृथिवी च पृथिवी च पृथिवीकायः, उदकं च उदकं च, अग्निश्च वह्निश्च, मारुतश्च वायुश्च, क्षुद्रजन्तवोऽनेनेति मरुत्, मरुदेव मारुतः, स चासौ वायुश्च म्रियन्ते मारुतवायुः, अतिचञ्चलत्वेन क्षुद्रसत्त्वोपद्रवकारी समीरणः; वनस्पतिश्च प्रत्येकसाधारणरूपः, त्रसाश्च द्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियरूपास्ते तथा, तेषां विविधानामनेकप्रकाराणां, पीडा बाधा, मरणान्तेऽपि यत्र गच्छे मनसा, उपलक्षणत्वाद्वचनकायाभ्यां च न क्रियते मुनिभिः, हे गौतम ! स गच्छः स्यादिति । गाथाच्छन्दः । क्वचिद् 'वाउ त्ति' पदं न दृश्यते, तत्र व्याख्यानं सुकरमेव, छन्दस्तूपगीतिः । तल्लक्षणं चेदम्–''आर्या द्वितीय केऽर्द्धे, यद् गदितं लक्षणं तत्स्यात् ॥ यद्युभयोरपि दलयो–रूपगीतिं तां मुनिब्रूते'' ॥१ इति ॥

खज्जूरिपत्तमुंजेणं, जो पमज्जे उवस्सयं ।
नो दया तस्स जीवेसु, सम्मं जाणाहि गोयमा ! ॥७६॥

(खज्जूरिपत्तमुंजेण त्ति) खर्जूरिपत्तमयप्रमार्जन्या मुञ्जमयबहुकर्या वा यः साधुरूपाश्रयं वसति प्रमार्जयति तस्य मुनेर्जीवेषु दया घृणा नास्ति, हे गौतम ! त्वं सम्यग् जानीहीति । अनुष्टुप् छन्दः ।

जत्थ य बाहिरपाणिअ–बिंदूमित्तं पि गिम्हमाईसु ।
तिण्हासोसियपाणा, मरणे वि मुणी न गिण्हंति ॥७७॥

(अस्या व्याख्या 'आउकाय' शब्दे द्वि० भागे २४ पृष्ठे द्रष्टव्या) ग०२ अधि०।

अथ स्त्रीकरस्पर्शादिकमिदमवसेयमित्यधिकृत्य प्रस्तुतमेवोद्भावयति–

जत्थित्थीकरफरिसं, अंतरियं कारणे वि उत्पन्ने ।
दिट्ठीविस–दित्तग्गी–वीसं व विवज्जए गच्छे ॥८३॥

यत्र गणे स्त्रीकरस्य स्पर्शः, अथवा स्त्रियाः करेण स्पर्शः स्त्रीकरस्पर्शस्तम् उपलक्षणत्वात् स्त्रीपादादिस्पर्शं च कथंभूतम् ?, (अंतरियं) अपिशब्दस्येहाऽपि संबन्धाद् अन्तरितमपि वस्त्रादिना जातान्तरमपि किं पुनरनन्तरितम्, कारणेऽपि कण्टकरोगोन्मत्तत्वादिके उत्पन्ने संजाते सति, किं पुनरकारणे, दृष्टिविषश्च सर्पविशेषः, दीप्ताग्निश्च ज्वलितवह्निः, विषंच हालाहलदीनि, समाहारद्वन्द्वः तदिव वर्जयेद् उत्सर्गमार्गेण दूरतः त्यजेन्मुनिसमुदायः (गच्छ त्ति) स गच्छः स्यादिति शेषः ॥८३॥

बालाए बुड्ढाए, नत्तुअ दुहिआएँ अहव भइणीए ।
न य कीरइ तणुफरिसं, गोयम ! गच्छं तयं भणियं ॥८४॥

इहापवर्गस्य सर्वत्र सुबन्धाद् बालाया अपि अप्राप्तयौवनाया अपि, किं पुनःप्राप्तवनायाः, वृद्धाया अपि अतिक्रान्तयौवनाया अपि, किं पुनरनतिक्रान्तयौवनायाः, एवंविधायाः कस्याः ?, इत्याह–नप्तृका पौत्री, तस्या अपि दुहिता पुत्री, तस्या अपि, अथवा भगिनी स्वसा, तस्या अपि, बालनद्धोपलक्षणत्वादस्य दौहित्री–भ्रातृजा–जामेयी–पितृष्वसृ–मातृष्वसृ –जननी–माता–मही–पितामहीग्रहः । कोऽर्थः ?, नप्तृकादीनामेकादशानां नालबद्धानामपि स्त्रीणां, किंपुनरनालबद्धानां तनुस्पर्शः, उपलक्षणत्वात् सविलासशब्दश्रवणादि च यत्र गच्छे न च नैव क्रियते हे गौतम ! स गच्छो भणित इति । इह हि सबन्धिन्या अपि स्त्रिया अङ्गस्पर्शादिवर्जनं, स्त्रीस्पर्शस्योत्कटमोहोदयहेतुत्वात् । ग०२ अधि०।

क्रयविक्रयकारी गच्छो न भवति–

जत्थ य मुणिणो कयवि–क्कयाइँ कुव्वंति संजमब्भट्ठा
तं गच्छं गुणसायर !, विसं व दूरं परिहरिज्जा ॥१०३॥

यत्र गणे मुनयो द्रव्यसाधवः क्रयं मुल्येन वस्त्रपात्रौषधशिष्यादिग्रहणं, विक्रयं च मूल्येनान्येषां वस्त्रपात्रादिकार्पणं कुर्वन्ति । चशब्दादन्यैः कारयन्ति, अनुमोदयन्ति वा, किंभूता मुनयः ?, संयमभ्रष्टा दूरीकृतचारित्रगुणाः, गुणसागरेति गौतमामन्त्रम्, तं गच्छं विषमिव हालाहलमिव दूरतः परिहरेत् सन्मुनिः । अत्र विषस्योपमा देशसाम्येन, यतो विषादेकं मरणं भवति, संयमभ्रष्टगच्छात्त्वनन्तानि जन्ममरणानि भवन्तीति । ग०२ अधि०।

सूगच्छे वसेत्।

एवं शुभाऽशुभगच्छस्वरूपेऽवगते सति मुनिः किं कुर्यात् ?

इत्याह–

तम्हा सम्मं निहालेउं, गच्छं सम्मग्गपट्ठिअं।

वसिज्जा पक्ख मासं वा, जावज्जीवं तु गोयमा !॥१०५॥

यस्मात् सद्गच्छः संसारोच्छेदकारी, असद्गच्छश्च संसारवर्द्धकः; तस्मात् सम्यग् निभाल्य सम्यग् विलोक्य, गच्छं गणं सन्मार्गप्रस्थितं, तत्र पक्षं वा मासं वा, उपलक्षणत्वाद् मासद्वयादिकं वा, यावज्जीवम् वातुरपि विकल्पार्थे एव, वसेन्मुनिः, हे गौतम ! इति । ग०३ अधि०। (वसतिरक्षणमधिकृत्यैकाकिन्या क्षुल्लिकादिकया व्रतिन्योपाश्रयरक्षणे दोषो, रात्रौ वसतेर्बहिर्गमने निर्मर्यादत्वादि च भागेऽस्मिन्नेव ३२ पृष्ठे 'एगाइ' शब्दे गच्छाचारपाठे द्रष्टव्यम्) (आर्यया गृहिसमक्षं दुष्टभाषणे दोषस्तु 'अज्जा' शब्दे प्र०भागे २२० पृष्ठे द्रष्टव्यः)

गच्छमर्यादा–

से भयवं ! केवइयं कालं० जाव गच्छस्स णं मेरा पण्णविया ?, केवइयं कालं० जाव णं गच्छस्स मेरा णाइक्कमे यव्वा ? गोयमा ! जाव णं महायसे महासत्ते महाणुभागे दुप्पसहे अणगारे ताव णं गच्छमेरा पण्णविया, जाव णं महायसे महासत्ते महाणुभागे दुप्पसहे अणगारे ताव णं गच्छमेरा नाइक्कमेयव्वा। महा०॥

जत्थ य गोयम ! पंच–एह कह वि सूणाण एक्कमवि होज्जा।

तं गच्छं तिविहेणं, वोसिरिय वइज्ज अत्तत्थं ॥

सुणारंभवित्तं, गच्छं वेसुज्जलं ब ण वसेज्जा।

जं चारित्तगुणेहिं, तु उज्जलं ते निवासेज्जा। महा०५ अ०।

गच्छे आचार्यादीनामभावे न वसेत्। यत्र गच्छे पञ्चानामाचार्योपाध्यायगणावच्छेदिप्रवर्तिस्थविररूपाणामसद्भावो, यदि वा यत्र पञ्चानामन्यतमोऽप्येको न विद्यते तत्र न वस्तव्यम्, अनेकदोषसंभवात्, तानेव दोषानाह–

एवं असुभगिलाणे, परिण्णकुलकज्जमादिवग्गो उ।

अण्णस्स ससल्लस्सा, जीवियघाते चरणघातो।

एवमुक्तेन प्रकारेण एकादिहीने गच्छे, एकोऽशुभकार्ये मृतकस्थापनादौ, अपरो ग्लानप्रयोजनेषु, अन्यः परिज्ञायां कृतभक्तप्रत्याख्यानस्य देशनादौ, अपरः कुलकार्यादौ व्यग्र इति;अन्यस्य पञ्चमस्याप्यन्त्यावस्थाप्राप्तस्य आलोचनाया असंभवेन सशल्यस्यसतो जीवनाशे चरणव्याघातश्चरणगात्रभ्रंशः, चरणभ्रंशे च शुभगतिविनाशः।

अत्र पर आह–

एवं होइ विरोहो, आलोयणपरिणतो उ सुद्धो उ।

एगंतेण पमाणं, परिणामो वी न खलु अम्हं ॥

नन्वेवं सति परस्परविरोधः। तथाहि–भवद्भिरिदानीमेवमुच्यते–सशल्यस्य सतो जीवितनाशे चरणभ्रंशः, प्राक्तवेवमुक्तम्–अदत्तालोचनेऽप्यलोचनापरिणामपरिणतः शुद्ध इति, ततो भवति परस्परविरोधः। अत्र सूरिराह–(एगंतेणेत्यादि) नखल्वस्माकं स्वशक्तिनिगूहनेन यथाशक्तिप्रवृत्तिविरहितः केवलपरिणाम एकान्तेन प्रमाणं, तस्य परिणामाऽऽभासत्वात्; किन्तु सूत्रं प्रमाणीकुर्वतो यथाशक्तिप्रवृत्तिसमन्वितः, न चैकाद्यभावे गच्छे वसन् सूत्रमनुवर्तते, ततस्तस्य तात्त्विकपरिणाम एव नेति सशल्यस्य जीवितनाशे चरणनाशः।

पुनरपि वक्तव्यान्तरं विवक्षुः प्रश्नमुत्थापयति–

चोयग किं वा कारण, पंचण्हऽसती तहिं न वसियव्वं।

दिट्ठंतो वणियए, पिंडियअत्थे वसिउकामे ॥

चोदक आह–यत्र पञ्चानां परिपूर्णानामसद्भावस्तत्र न वस्तव्यमित्यत्र किं वा कारणम् ? को नाम दोषः ?। सूरिराह–अत्र अधिकृतार्थे वणिजा पिण्डितार्थेन वस्तुकामेन दृष्टान्त उपमा, गाथायां सप्तमी तृतीयाऽर्थे। इयमत्र भावना कोऽपि वणिक्, तेन प्रभूतोऽर्थः पिण्डितः, ततः सोऽचिन्यत्–कुत्र मया वस्तव्यम् ?, यतैनमर्थं परिभुञ्जेऽहमिति। ततस्तेन परिचिन्त्येदं निश्चिक्ये–

तत्थ न कप्पइ वासो, आहारो जत्थ नत्थि पंच इमे।

राया वेज्जो धणिडं, नेवइया रूवजक्खा य ॥

तत्र न कल्पते वासो यत्रेमे वक्ष्यमाणः पञ्चनाधाराः। केते ?, इत्याह–राजा नृपतिः, वैद्यो भिषग्, अन्ये च धनवन्तो, नैतिकिका नीतिकारिणो, रूपयक्षा धर्मपाठकाः।

कस्मादीति चेदत आह–

दविणस्स जीवियस्स व, वाघातो होज्ज जत्थ नत्थे ते।

वाघाए चेगतर स्स दव्वसंघाडणा अफला ॥

यत्र न सन्त्येते राजादयः परिपूर्णाः पञ्च, नियमतो द्रविणस्य धनस्य, जीवितस्य वा व्याघातो भवत्। वैद्येन विना जीवितस्य, राजादिभिर्विना धनस्य, व्याघाते चैकस्य धनस्य जीवितस्य वा द्रव्यसंघाटना द्रव्योपार्जना विफला, परिभोगस्यासंभवात्।

अथवा

रण्णा जुवरण्ण वा, महतरय अमच्च तह कुमारेहिं।

एएहि परिग्गहियं, वसेज्ज रज्जं गुणविसालं।

राज्ञा युवराजेन महत्तरकेणामात्येन तथा कुमारैः, एतैः पञ्चभिः परिगृहीतं राज्यं गुणविशालं भवति, गुणविशालत्वाच्च तद्वसेत्। व्य०१ उ०। (राजादीनां लक्षणानि स्वस्वस्थाने द्रष्टव्यानि)

गच्छो जिनल्पश्च द्वावप्येतौ महर्द्धिकौ

अथ शिष्यः प्रश्नयति–

गच्छे जिणकप्पम्मि वि, दोण्ह वि कयरो भवे महिड्ढीओ ?

निप्फण्णगनिप्फण्णा, दोन्नि वि हों ती महिड्ढीया ॥

गच्छजिनकल्पयोर्मध्ये कतरो महर्द्धिकः प्रधानतरो भवेत् ? गुरुराह–निष्पादकनिष्पन्नाविति कृत्वा द्वावपि महर्द्धिकौ भवतः। तत्र गच्छः सूत्रार्थग्रहणादिना जिनकल्पिकस्य निष्पादकः, अतोऽसौ महर्द्धिकः; जिनकल्पिकस्तु निष्पन्नो ज्ञानदर्शनचारित्रेषु परिनिष्ठित इत्यसौ महर्द्धिकः।

इदमेव भावयति–

दंसणनाणचरित्ते, जम्हा गच्छम्मि होइ परिवुड्ढी।

एएण कारणेणं, गच्छो उ भवे महिड्ढीओ ॥

दर्शनज्ञानचारित्राणां यस्माद्गच्छे परिवृद्धिर्भवति, एतेन कारणेन गच्छो महर्द्धिको भवति।

पुरतो व मग्गतो वा, जम्हा कत्तो वि नत्थि पडिबंधो।
एएण कारणेणं, जिणकप्पीओ महिड्ढीओ ॥

पुरतो वा विहरिष्यमाणक्षेत्रे, मार्गतो वा पृष्ठतः पूर्वविहृतक्षेत्रे यस्मात्कुतोऽपि द्रव्यतः कोलतो भावतो वा प्रतिबन्धस्तस्य भगवतो न विद्यते एतेन कारणेन जिनकल्पिको महर्द्धिकः।

अथ द्वयोपपि महर्द्धिकत्वं दृष्टान्तेन दर्शयति–

दीवा अन्नो दीवो, पइप्पई सो य दिप्पइ तहेव।
सीसो चिय सिक्खंतो, आयरिओ होइ नन्नत्तो ॥

दीपादन्यो द्वितायो दीपो दीप्यते, स च मूलो दीपस्तथैव दीप्यते, एवं जिनकल्पिकदीपोऽपि गच्छदीपादेव प्रादुर्भवति, स च गच्छदीपस्तथैव ज्ञानदर्शनचारित्रैः स्वयं प्रदीप्यते। यद्वा–यथा शिष्य एव शिष्यमाणः सन् क्रमेणाचार्यो भवति, नान्यतो नान्येन प्रकारेण, एवं स्थविरकल्पिक एव तपःप्रभृतिभिर्भावनाभिरात्मानं भावयन् क्रमेण जिनकल्पिको भवति, नान्यथा। अतो द्वावपि महर्द्धिकौ।

अस्यैवार्थस्य समर्थनायाऽपरं दृष्टान्तत्रयं दर्शयितुं निर्युक्तिगाथामाह–

दिट्ठंत गुसासीहे, दोन्नि य महिला पया य अपया य।
गावीण दोन्नि वग्गा, सावेक्खो चेव निरवेक्खो ॥

दृष्टान्तोऽत्र गुहासिंहविषयः प्रथमः। द्वितीयो द्वे महिले, एका प्रजा अपत्यवती, द्वितीया अप्रजा अपत्यविकला। तृतीयो गवां द्वौ वर्गौ, एकः सापेक्षोऽपरो निरपेक्ष इति।

तत्र गुहासिंहदृष्टान्तं भावयति–

सीहं पालेइ गुहा, अविहाडं तेण सा महिड्ढीया।
तस्स पुण जोव्वणम्मी, पओअणं किं गिरिगुहाए ? ॥

''अविहाडं'' इति देशीभाषया बालकं सिंहं गुहा पालयति वनमहिषव्याघ्रादिभ्यो रक्षति, तन्निर्गतस्य तेभ्यः प्रत्यपायसंभवात्। तेन कारणेन गुहा महर्द्धिका। यदा तु सिंहो यौवनं प्राप्तो भवति तदा तस्य किं प्रयोजनं गिरिगुहया ?, न किञ्चिदित्यर्थः। स्वयमेव वनमहिषाद्युपद्रवादात्मानं पालयितुं प्रत्यलीभूतत्वादित्थं सिंहो महर्द्धिकं।

अथाऽर्थोपनयमाह–

दव्वावदमाईसुं, कुसीलसंसग्गिअन्नउत्थीहिं।
रक्खइ गणी पुरोगो, गच्छो अ वि कोवियं धम्मे ॥

गणी आचार्यः, स पुरोगः पुरःसरो नायको यस्य तथाविधो गच्छो गुहास्थानीयः। सिंहशावकस्थानीयसाधुधर्मे श्रुतचारित्रात्मकोविदमध्याप्य प्रबुद्धं द्रव्यापदि, आदिशब्दात् क्षेत्रकालभावापत्सु, तथा कुशीलाः पार्श्वस्थादयस्तैरन्यतीर्थिकैर्वा सार्द्धं यः संसर्गस्तत्र च रक्षति। विश्रोतसिकाप्रमादमिथ्यात्वाद्युपद्रवात् पालयति, अतो गच्छो महर्द्धिकः। यदा त्वसौ द्विविधेऽपि धर्मे व्युत्पन्नमतिः कृतपरिकर्मा जिनकल्पं प्रतिपन्नस्तदा स्वयमेवाऽऽत्मानं द्रव्यापदादिष्वपि विश्रोतसिकादिविरहितः सम्यक् परिपालयति, अतो जिनकल्पिको महर्द्धिकः।

अथ महे लाद्वयदृष्टान्तमाह–

आणाइस्सरियसुहं, एगा अणुभवति जइ वि बहुपुत्ती।
देहस्स य संठप्पं, भोगसुहं चेव कालम्मि ॥
परवावारविमुक्का, सरीराकारतप्परा निच्चं।
मंडणए वक्खित्ता, भत्तं पि न चेयई अपया ॥

द्वयोर्महेलयोर्मध्ये एका सप्रसवा यद्यपि बहुतरापत्यस्नपनादि बहुव्यापारव्यापृता तथापि सा गृहस्वामिनीत्वादाज्ञैश्वर्यं सुखमनुभवति, काले च प्रस्तावे देहस्य संस्थाप्यं संस्थापनं भोगसुखमपि च प्राप्नोति। याचा ऽप्रजा अप्रसवा सा परव्यापारविमुक्ता अपत्यादिचिन्तावर्जिता नित्यं सदा शरीरस्य संस्कारमुखधावनादौ तत्परा मण्डनके विलेपनाभरणादौ व्याक्षिप्ता सती भक्तमपि भोजनमपि न चेतयति न संस्मरति।

अर्थोपनयमाह–

वेयावच्चे चोयण–वारणवावारणासु य बहूसु।
एमादी वक्खेवो, सययं झाणं न गच्छम्मि ॥

यथा सप्रसवायाः स्त्रियो बहुव्यापारव्यग्रता भवति तथा गच्छऽपि, यथाऽऽचार्योपाध्यायादिवैयावृत्त्यम्। यावच्चक्रबालसामाचारीं हापयतो नोदनां चाकृत्य प्रतिसेवनां कुर्वतो, वारणीयाश्च बहवो, वस्त्रपात्रत्पादनविषया व्यापारणाः, तदेवमादिषु यो व्याक्षेपो व्याकुलत्वं तस्माद्धेतोर्गच्छे सततं निरन्तरं ध्यानमेकाग्रशुभाऽध्यवसायात्मकमात्मनो मण्डनकल्पं न भवति। जिनकल्पिकस्य तु वैयावृत्त्यादिव्याक्षेपरहितस्य निरपत्यस्त्रिया आत्मनो मण्डनमिव निन्तरमेव तथा तदुपजायते, यथा भोक्तुमपि स्पृहा न भवति।

अथ गोवर्गद्वयदृष्टान्तमाह–

सद्दूपाइयाओ, नस्संतीओ वि णेव धेनूओ।
मोत्तूण वण्णगाइं ,हवन्ति सपरक्कमाओ वि ॥
न वि वच्छएसु सज्जं–ति वाहिओ नेव वच्छमाऊसु।
सबलमगूहंतीओ, नस्संति भएण वग्घस्स ॥

धेनवोऽभिनवप्रसूता गावः, ताः शार्दूलेन व्याघ्रेण पातितास्त्रासिताः सत्यो नश्यन्त्योऽपि वर्णकानि वत्सरूपाणि मुक्त्वा सपराक्रमा अपि समर्था अपि नैव प्रधावन्ति न शीघ्रं पलायन्ते, अपत्यसापेक्षत्वात्। यास्तु 'वाहिओ' बष्कयण्यः, ता नापि वत्सकेषु सज्जयन्ति ममत्वं कुर्वन्ति, नापि वत्समातृषु धेनुषु, किन्तु स्वबलमगूहमाना व्याघ्रस्य भयेन नश्यन्ति, निरपेक्षत्वात्। एष दृष्टान्तः।

अथार्थोपनयमाह–

आयसरीरे आयरि–यबालबुड्ढेसु अवि य सावेक्खा।
कुलगण्धसंघेसु तहा, चंइयकज्जाइएसुं च ॥

यथाधेनवस्तथः गच्छवासिनोऽप्यात्मशरीरे आचार्यबाल-वृद्धेष्वपि च कुलगणसङ्घकार्येषु चैत्यादिकार्येषु च सापेक्षाः, अतः संसारव्याघ्रभयेन नश्यतोऽपि संहननादिबलोपेता अपि न शीघ्रं पलायन्ते। जिनकल्पिकास्तु भगवन्त आत्मशरीरादिनिरपेक्षा अधेनुगाव इव स्ववीर्यमगुहमानाः संसारव्याघ्रान्निप्रत्यूहं पलायन्ते।

यद्येवं तर्हि जिन कल्पो महर्द्धिकतर इत्यापन्नम्, नैवम्, यत आह–

रयणायर इव गच्छो, निप्फादअ नाणदंसणचरित्ते ।
एएण कारणेणं, गच्छो उ भवे महिड्ढीओ ॥

रत्नाकरइव जिनकल्पिकादिरत्नानामुत्पत्तिस्थानं यतो गच्छे वर्त्तते, निष्पाद कश्च ज्ञानदर्शनचारित्रेषु तेन कारणेन गच्छो महर्द्धिकः।

इदमेव भावयति–

रयणेसु बहुविहेसुं, नीणिज्जंतेसु नेव नीरयणो ।
अतरो तीरइ काउं, उप्पत्ती सो य रयणाणं ॥
इय रयणसरिच्छेसुं, विणिग्गएसुं पि नेव नीरयणो ।
जायइ गच्छो कुणइ य, रयणब्भूते बहू अन्ने ॥

न तरीतुं शक्यते इति अतरो रत्नाकरः, स यथा बहुविधेषु रत्नेषु विष्कास्यमानेष्वपि नैव नीरत्नो रत्नविरहितः कर्तुं शक्यते। कुतः?, इत्याह–यत उत्पत्तिराकरोऽसौ रत्नानां रत्नानाम्। 'इय' एवं गच्छरत्नाकरोऽपि रत्नसदृक्षेषु जिनकल्पिकादिषु विनिर्गतेष्वपि नैव नीरत्नो जायते, आचार्यादिरत्नानां सर्वदैव तत्र सद्भात्। करोति च पश्चादपि बहूनन्यान् साधून् रत्नभूतानिति गच्छो जिनकल्पिकश्च उभावपि महर्द्धिकौ। वृ०१ उ०।

प्रश्नः– तन्मध्यस्थः (क्षपणकादिदशमध्यस्थः)कश्चिद् ज्ञान–दर्शन–चारित्र–तपःप्रभृति शुभं कुर्वतां सङ्गस्थानां सान्निध्यम्, तदन्यस्तु वैपरीत्यं करोति, तयोः साम्यं न वेति ?॥७॥

उत्तरम्–यथा प्रासादादिरक्षणविधाने शुभमेव फलं, तद्विपरीतविधाने त्वशुभमेव, एवं ज्ञानादिशुभं समाचरतां सङ्गस्थानां सान्निध्या ऽसान्निध्ययोरपि (शुभाऽशुभफले) ॥७॥

प्रश्नः वर्णादिभिर्भेदे जात्या शुनामिव दशानां परस्परमतभेदेऽपि आज्ञाविराधकत्वेन साम्यम्, किं वा विशेष इति ?॥८॥

उत्तरम्–दशानां वर्णादिविचित्रत्वे साम्यप्रतिपादकं वचस्तु नात्मीयं, किन्तु परकीयमेव ॥८॥

प्रश्नः–चैत्यादिधर्मकार्यं कुर्व तामेषां तपागणसम्बन्धी शक्तिमान् श्राद्धः सान्निध्यं माध्यस्थ्यं विकारं वा भजते तदा लाभो न वेति ? ॥९॥

उत्तरम्–चैत्यादिधर्मकार्यं कुर्वतां तेषां श्रीपरमगुरुपादैरादेयतयाऽऽ–दिष्टचैत्यादि धर्मकार्ये सान्निध्यकरणमायाति सुन्दरम् तदिरकार्ये तु माध्यस्थ्यमेव, न तु क्वापि वैपरीत्यकरणेन विरोधोत्पादनं श्रेयसे ॥९॥

प्रश्नः–नवानां लुम्पाकव्यतिरिक्तानां प्रतिमापूजा–स्तुती अशुचिविलेपनगालीप्रदानरूपे? अथवा–पूजास्तुतिरूपे ? इति ॥१०॥

उत्तरम्–नवानां पूजास्तुती अशुचिविलेपनगालीप्रदानरूपे इत्यादिवचनं तु सतामुच्चारार्हमेव न भवतीति किं प्रतिवचनेन ? ॥१०॥

प्रश्न–केषाञ्चित्सङ्ग भक्तिं च कुर्वतां भूतार्त्तमद्यपवत् साम्यम्, उत भक्तिजनितशुभप्रकृतिफलोदयो वा जन्मान्तरे ?॥११॥

उत्तरम्–सङ्गभक्तिमभक्तिं च कुर्वतां भूतार्त्तमद्यपवत् साम्यमित्यादिवाक्यं पूर्ववदेव प्रत्युत्तरितं बोध्यम् ॥११॥

प्रश्न०–एतेषां नमस्कारपाठ बन्दिमोचन–ब्रह्मपालनादिकं किञ्चित केषाञ्चिन्मार्गानुयायि, किं वा सर्वेषां शौनिक–लुब्धकधीवराध्यवसायवत्पापहेतुः ?॥१२॥

उत्तरम्–एतेषां नमस्कारपाठ–बन्दिमोचन–ब्रह्मपालनादिकं किञ्चित्केषाञ्चिन्मार्गानुयायि किं वा सर्वेषां शौनिक–लुब्धक धीवराध्यवसायवत्पापहेतुरिति वचः सतां वक्तुमेवानुचितमिति किं प्रतिवाचसा ?॥१२॥

प्रश्न–परपाक्षिकसंपादितस्तोत्रादिकं मातङ्ग–तुरुष्कादिसंपादित रसवतीवदनास्वाद्यमेव, कश्चिद्विशेषो वा ?॥१३॥

उत्तरम्–परपाक्षिकसंपादितस्तोत्रादीनां मातङ्ग तुरुष्कादिसंपादितरसवत्युपमानं सतां वक्तुमेवानुचितमिति किं प्रतिवचनेन ?॥१३॥

प्रश्न–तपागणसम्बन्धिश्राद्धः स्वकीय–स्वकीयेतरचैत्येषु चन्दनादिकं मुञ्चति, तत्र स्वकीयचैत्ये लाभहेतुरन्यत्र पापहेतुः, किं वोभयत्र साम्यम्?॥१४॥

उत्तरम्–तपापक्षीयः श्राद्धः स्वकीयेषु परकीयेषु वा चैत्येषु चन्दनादि मुञ्चति, तत्र स्वकीयेषु यथा लाभस्तथा श्रीपरमगुरुपादैरादेयतया ऽऽदिष्टेषु परकीयेष्वपि लाभ एव ज्ञातोऽस्ति न तु पापम् ॥१४॥

प्रश्न–द्वितीयादिपञ्चपर्वी श्राद्धविध्यादिस्वीयग्रन्थातिरिक्तग्रन्थे क्वास्ति ?॥१५॥

उत्तरम्–द्वितीयादिपपर्व्या उपादेयत्वं संविग्नगीतार्थाऽऽचीर्णतया संभाव्यते, अक्षराणि तु श्राद्धविधेरन्त्र दृष्टानि न स्मरन्ति ॥१५॥

गच्छइल्ल त्रि०(गामिन्) गमनशीले, प्रा०४ पाद।

गच्छंत त्रि०(गच्छत्) पथिा वहति, आचा०२ श्रु०१ अ०३ उ०।

गच्छगय त्रि०(गच्छगत) गच्छमध्यवर्तिनि, ग०१ अधि०।

गच्छणिग्गय त्रि०(गच्छनिर्गत)अशिवेत्यादिभिः कारणैरेकाकीभूते, ग०१ अधि०। परित्यक्तगच्छे, ओघ०।

गच्छपडिबद्ध त्रि०(गच्छप्रतिबद्ध)गच्छवशवर्तिनि अयथेष्टचेष्टया धर्मचारिणि, दर्श०। गच्छपरिपालनप्रवृत्ते, व्य०४ उ०।

गच्छमाण त्रि०(गच्छत्) स्वभावचारेण चरति, भ०१२ श०६ उ०।

गच्छवरं पुं०(गच्छवर)सकलगच्छप्रतिबद्धे, ग०३ अधि)।

गच्छवास पुं०(गच्छवास) गच्छो गुरुपरिवारस्तस्मिन् वासो वसनम्। गुरुकुलवासे, (तत्रैव विषयं दर्शयिष्यामः) गच्छवासे हि केषाञ्चित्स्वतोऽधिकानां विनयकरणं भवति, अन्येषां च शैक्षकादीनां विनयस्य कारणं भवति, तथा विध्यादिकमुल्लङ्घ्य प्रवर्तमानेषु केषुचित्सारणं क्रियते, तथाविधे च स्वस्मिन् केचित्कुर्वन्ति, एवं द्विरूपं वारणादि द्रष्टव्यम्। एवं च परस्पराऽपेक्षया विनयादियोगे प्रवर्तमानस्य गच्छवासिनोऽवश्यं मुक्तिसाधकत्वमिति गच्छवासोऽपि मुख्यो धर्मः। यतः पञ्चवस्तुके–

''गुरुपरिवारो गच्छो, तत्थ वसंताण णिज्जरा विउला।
विणयाओ तह सारण–माईहिं ण दोसपडिवत्ती ॥१॥
अन्नोन्नाविक्खाए, जोगम्मि तहिं तहिं पयट्टंतो।
णियमेण गच्छवासी, असंगपदसाहगो णेओ''॥२॥ इति।

गच्छे सारणादिगुणयोगादेव तं त्यक्त्वा स्वेच्छया विचरतां ज्ञानादिहानिरुक्ता। तथा चौघनिर्युक्तिः–

''जह सागरम्मि मीणा, संखोहं सागरस्स असहंता।

णिंति तओ सुहकामी, णिग्गयमित्ता विणस्संति ॥१॥

एवं गच्छसमुहे, सारणमाईहि चोइआ संता।

णिंति तओ सुहकामी, मीणा व जहा विणस्संति ॥२॥''

सारणादिवियुक्तस्तु गच्छस्त्याज्य एव परमार्थतोऽगच्छत्वात्तस्य। धर्म०३ अधि० ओघ० पञ्चा०।

गच्छे पुण वसंतस्स इमे गुणा–

भत्तो वासो रती धम्मे, अणायतणवज्जणं।

णिग्गहो य कसायाणं, एवं धीराण सासणं ॥ ३६१॥

'भत्तो वासो त्ति'। अस्य व्याख्या–

आयरियादीण मया, पच्छित्तभया ण सेवति अकज्जं।

वेयावच्चऽज्झयणे सु सज्जते तदुपयोगेणं ॥३६२॥

पुव्वद्धं कंठं। 'रती धम्मे' अस्य व्याख्या वेयावच्चपच्छद्धं; आयरियादीणं वेयावच्चं करेति, 'अज्झयणं ति' सज्झायं करेति। 'तदुवओगण' सुत्तत्थोवओगेण वेयावच्चज्झयणेसु रज्जति रतिं करेइ त्ति वुत्तं भवति। अहवा तदुवओगे अप्पणा आयरियादीहिं य भण्णमाणो वेयावच्चज्झयणादिसु रज्जति।

'अणणायणवज्जण त्ति' अस्य व्याख्या

एगो इत्थीगम्मो, तेणादिभया य अल्लियतगारे।

कोहादी व उदिण्णे, परिणिच्चावेन्ति से अण्णे ॥३६३॥

पुव्वद्धं कंठं ''कसायणिग्गहो अस्य व्याख्या कोहादीपच्छद्धं; गच्छवासे वसंतस्य अण्णे य आयरियादि परिणिच्चावेंति सकसाए गच्छवासे वसंतेण एयं वीरसासणं, वरिसासणे वाजं भणियं तं आराहियं भवति।

इमे य अण्णे गच्छवासे वसंतस्स गुणा–

णाणस्स होइ भागी, थिरयरओ दंसणे चरिते य।

धण्णा आवकहाए, गुरुकुलवासं न मुंचुंति ॥३६४॥

कंठा। जम्हा गच्छवासे वसंतस्स एवमादी गुणा तम्हा णिक्कारणे संविग्गे अवि अन्नगणसंकमो ण कायव्वो। नि० चू०१७६ उ०।

गच्छवासि (ण्) त्रि०(गच्छवासिन्) गच्छप्रतिबद्धेषु साधुषु, वृ० उ०। (तेषां प्रव्रज्यादिद्वारैर्मासकल्पप्ररूपणा 'थविरकप्पं' शब्दे वक्ष्यते)

गच्छविहार पुं०(गच्छविहार) गच्छसामाचार्य्याम् व्य०१ उ०।

गच्छ सइया स्त्री०(गच्छशतिका)शतसङ्ख्यपुरुषपरिमाणेषु गच्छेषु० बृ०१ उ०।

गच्छसारणा स्त्री०(गच्छसारणा) गच्छपरिपालने, बृ०। अगीतार्थस्तदयोग्यः। (प्रलम्बग्रहणे प्रायश्चित्तमुपदर्श्यह) अथ 'कस्स अगीयत्थेति' पदं व्याचिख्यासुराह–

कस्सेयं पच्छित्तं ?, गणिणो गच्छं असारविंतस्स।

अहवा वि अगीयत्थस्स भिक्खुणो विसयलोलस्स॥

शिष्यः प्रश्नयति–यदेतदन्यत्र ग्रहणादावनेकधा प्रायश्चित्तमुक्तं तत्कस्य भवति ?। सूरिराह–गणिन आचार्यस्य गच्छमसारयतः सतः, असारणा नाम अगवेषणा–कः कुत्र गतः ?, को वा मामापृच्छ्य गतः ?, को वाऽनापृच्छया ?, यद्वा–प्रलम्बं गृहीत्वा आगत्याऽऽलोचिते अन्येन वा निवेदिते यत्प्रायश्चित्तं न ददाति, दत्त्वा वा न कारयति, न वा नोदनादिना खरण्टयति, एषा सर्वाप्यसारणाऽभिधीयते।

आह–किं कारणमाचार्यस्य षट्कायानविराधयतोऽपि प्रायश्चित्तम् ?, उच्यते–स्वसाधूनुत्पथे प्रवर्त्तमानानसारयन्नसौ गच्छस्य विराधनायां वर्त्तते। तथा चोक्तमिदमेव सहेतुकं बृहद्भाष्यते–

''किं कारणं तु गणिणो, असारविंतस्स होइ पच्छित्तं ?

चिट्ठति यो ण गणहरे, विराहणाए सगच्छस्स॥

भण्णति खलु स जह गणी, विराहओ होति गच्छस्स।

जह सरणमुवगयाणं, जीवियववरोवणं नरो कुणति।

एवं सारणियाणं, आयरिओ असारओ गच्छे।

किह सरणमुवगया पुण, पक्खे पक्खम्मि जं उवट्ठंति।

इच्छामि खमासमणो, कतकितिकम्मे उ जं अम्हे''॥

अत आचार्यस्य सर्वमेतत् प्रायश्चित्तम्–

अथवा यो भिक्षुरगीतार्थः, अपिशब्दाद् गीतार्थोऽपि, विषयलोलः सुस्वादुरसास्वादलम्पटो भूत्वा प्रलम्बानि गृह्णत तस्यैव प्रायश्चित्तम्।

अत्र चाचार्यविषया अष्टौ भङ्गाः– अगीतार्थ आचार्यो गच्छं न सारयति विषयलोलश्च। अगीतार्थ आचार्यो गच्छं न सारयति विषयनिःस्पृहश्च, इत्यादि। अत्र चान्तिमो भङ्गः शुद्धः, शेषाः सप्त परित्यक्तव्याः।

देसो व सेवसग्गो, वसणी व जहा अजाणगनरिंदो।

रज्जं विलुत्तसारं, जह तह गच्छो वि निस्सारो॥

भङ्गसप्तकवर्ती आचार्यो देश इव सोपसर्गो, व्यसनी व, यथा अज्ञायकनरेन्द्रो परित्यज्यते तथा परित्याज्यः। यथा च राज्ञा अचिन्त्यमानं राज्यं विलुप्तसारं भवति, तथा गच्छोऽप्याचार्येणासार्यतमाणो निस्सारो भवतीति परिहरणीय इति संग्रह गाथाऽक्षरार्थः।

अथैनामेव विवरीषुः प्रथमतो ''देसो व सेवग्गो''

इति पदं व्याचष्टे–

ऊणोदरिया य जहिं, असिवं च न तत्थ होइ गंतव्वं।

तत्थ भवे न हि वासो, एमेव गणी असारणिओ॥

यत्र देशे अवमौदारिका, अशिवं च, उपलक्षणत्वादपरोऽप्युपद्रवो भवति तत्र गन्तव्यं न भवति। अथ यत्र देशे वसतामेवमौदर्य्यादिकमुत्पन्नं तत्र उत्पन्ने सति न वस्तव्यम्। एवमेव गणी आचार्यो असारणिको गच्छसारणाविकलो नाऽनुगन्तव्यः।

अथ ''वसणी व जहा अजाणगनरिंदो त्ति'' व्याख्याति–

सत्तण्हं वसणाणं, अन्नयरजुतो न जाणई रज्जं।

अंतेउरो व अत्थइ, कज्जाइं सयं न सीलेइ॥

यथा सप्तानां व्यसनानामन्यतरेण व्यसनेन युतो राजा राज्यं पालयितुं न जानाति। यो वा शेषव्यसनैरनभिभूतोऽपि विषयलोलुपतया नित्यमन्तःपुरे आस्ते, सोऽपि कार्याणि व्यवहारादीनि स्वयमात्मना न शीलयति, भावलोक इत्युक्तं भवति। ततश्च यथेच्छमुद्वृत्तं खलाः प्रजाः संजायन्ते। एवमाचार्य्योऽप्यगीतार्थो वा सातगौरवादिव्यसनोपहततया यदि स्व-

गच्छं न सारयति तदा गच्छः सर्वोऽपि निरङ्कुशः संजायते। यतश्चैवमतो असारणिक आचार्यो दूरं दूरेण परिहर्त्तव्यः ॥ वृ० उ०। (व्यसनसप्तकं 'वसण' शब्दे द्रष्टव्यम्)

अथ प्रकारान्तरेण भङ्गानाह–

अहवा वि अगीयत्थो, गच्छ न सारेइ इत्थ चउभङ्गो।
विइए अगीयदोसो, तइअ न सारे–तरो सुद्धो ॥

अथवा अगीतार्थो गच्छं न सारयतीत्यत्र चतुर्भङ्गी। गाथायां पुंस्त्वं प्राकृतत्वात्। सा चेयम्–अगीतार्थो न गच्छं न सारयति १। अगीतार्थो गच्छं न सारयति २। गीतार्थो गच्छं न सारयति ३। गीतार्थो गच्छं सारयति ४। अत्र प्रथमस्य द्वौ दोषौ, अगीतार्थत्वदोषः, असारणादोषश्च। द्वितीयस्य पुनरेक एव गीतार्थत्वदोषः। तृतीयस्तु यन्न सारयति स एकस्तस्यासारणादोषः। इतरश्चतुर्थो भङ्गः शुद्धः।

आद्यानां त्रयाणां भङ्गानां भावनामाह–

देसो व सोवसग्गो, पढमो तइओ तु होइ वसणी व।
विइओ अजाणतुल्लो, सारो दुविहो दुहेक्केक्को ॥

प्रथमः प्रथमभङ्गवर्ती आचार्यः सोपसर्गदेश इव परित्यक्तव्यः। तृतीयो गीतार्थोऽप्यसारणिकत्वाद्व्यसनीव राजा परित्यक्तव्यः। द्वितीयः सारणिकोऽप्यगीतार्थत्वादज्ञनरेन्द्रतुल्य इति कृत्वा परिहार्य इति चूर्ण्यभिप्रायः। अथ निशीथचूर्ण्यभिप्रायेण व्याख्यायते–प्रथमः सोपसर्गदेश इव परिहार्य इति। द्वितीयः पुनरगीतार्थः परं सारणिकः, स च व्यसनीय ज्ञातव्यः। किमुक्तं भवति ? सोऽगीतार्थः सन् यत्किमपि स्वशिष्यान् नोदयति सा नोदना तस्य व्यसनमिव द्रष्टव्या। अतो व्यसनाभिभूतभूपतिवदसौ परिहार्यः। तृतीयः पुनरसारणिकत्वादगीतार्थोऽप्युज्ज्वलनृपतुल्य इति कृत्वा परित्याज्यः। अस्मिंश्च व्याख्याने ''देसो व सोवसग्गो, पढमो बिइओ होइ वसणी व। तइओ अजाणतुल्लो, त्ति'' पाठो द्रष्टव्यः। पुस्तकेष्वपि बहुष्वयमेव दृश्यते इति। यदुक्तम्–''रज्जं विलुत्तसारं, जह तह गच्छो वि निस्सारो ति'' तदेतद्भावयति–''सारो दुविहो दुहेक्केक्को'' सारो द्विविधः–लौकिको लौकोत्तरिकश्च। पुनरेकैको द्विधा, बाह्य आभ्यन्तरश्च।

एतदेव व्यचष्टे–

गोमंगलधण्णाई, वज्झो कणगाईं अंत लोगम्मि।
लोगुत्तरिओ सारो, अंतो बहि नाण–वत्थाई ॥

गोशब्देन गावो बलीवर्दाश्चोच्यन्ते, उपलक्षणत्वाद् हस्त्यश्वादीनामपि परिग्रहः। मण्डलमिति देशखण्डम्; यथा षण्णवतिमण्डलानि सुराष्ट्रदेशः। अथवा गोमण्डलं नाम गोवर्गः, उपलक्षणत्वान्महिष्यादिवर्गोऽपि। धान्यानि शालिप्रभृतीनि। आदिशब्दाद् वास्तुकुट्यादिपरिग्रहः। एष लौकिको बाह्यसारः। कनकं सुवर्णम्। आदिग्रहणेन रूप्यरत्नादीनि, एष अन्तरित्याभ्यन्तरः सारो लोके लोकविषये मन्तव्यः। एतेन द्विप्रकारेणापि सारेण राज्यं पार्थिवेनाऽचिन्त्यमानं निस्सारम्। लौकोत्तरिकः सारो द्विधा, अन्तर्बहिश्च। तत्रान्तःसारो ज्ञानम्, आदिशब्दाद्दर्शनचारित्रे च। बहिःसारो वस्त्रादिकः। आदिग्रहणेन शय्यापात्रादीनि गृह्यन्ते। अनेन च द्विविधेनापि लौकोत्तरिकसारेणाचार्येणासार्यमाणो गच्छो निस्सारो भवतीति प्रकृतं, तस्माद्गणिनो गच्छमसारयत एतत्प्रायश्चित्तम्। अथवा यो भिक्षुरगीतार्थो गुरूणामनुपदेशेन प्रलम्बानि गृह्णाति तस्य सर्वमेतत्प्रायश्चित्तम्।

गीतार्थोऽपि यदि देशमन्तरेण चाऽगीतार्थस्य स्वयमेव कार्येषु प्रवर्त्तमानः; तस्यायं दोषो भवति–

सुहसाहगं पि कज्जं, करणविहूणमणुवायसंजुत्तं।
अन्नायदेसकाले, विवत्तिमुवजाति सेहस्स ॥

सुखेन साधः साधनं यस्य तत् सुखसाधकम् ''शेषाद्वा'' ७।३।१७५। इति कच्प्रत्ययः, सुखसाध्यमित्यर्थः। तदपि कार्यं करणमारम्भस्तद्विहीनं, तथा यस्य कार्यस्य यः साधनोपायस्तद्विपरीतेनानुपायेन संयुक्तम्। (अन्नाय त्ति) यद्यस्य कार्यमज्ञातं तत्तेनारभ्यमाणम् अदेशकाले चाऽनवसरे विधीयमानं शैक्षस्याज्ञस्य विपत्तिमुपयाति, विपत्तिशब्देन कार्यस्यासिद्धिरत्राभिधीयते। तदुक्तम्–''संपत्तिश्च विपत्तिश्च, कार्याणां द्विविधा स्मृता। संपत्तिः सिद्धिरर्थेषु, विपत्तिश्च विपर्ययः''॥१॥ ततो न निष्पद्यते इत्युक्तं भवति।

तत्रैव निदर्शनमाह–

नक्खेणावि हु छिज्जइ, पासाए अभिनवुट्ठितो रुक्खो।
दुच्छेज्जो वड्ढंता, सोच्चिय वत्थुस्स भेदाय ॥
जो य अणुवायछिन्नो, तस्स इं मूलाइं वत्थुभेदाय।
अहिनव उवायछिन्नो, वत्थुस्स न होइ भेदाय ॥

प्रासादे वटपिप्लादिर्वृक्षोऽभिवोत्थितोऽधुनोद्वृतः सन्नखेनापि, दुर्निर्यिचतं, छिद्यते छेत्तुं शक्यते, इत्यनेन कार्यस्य सुखसाध्य-तोक्ता। स एव वृक्षो वर्द्धमानः शाखाप्रशाखाभिः प्रसरन् दुश्छेद्यो भवति, कुठारेणापि छेत्तुं न शक्यत इति भावः। अपरं च वास्तुनः प्रासादस्य भेदाय जायते। यश्चानुपायेन मूलोद्धारेणलक्षणोपाय-मन्तरेण छिन्नः तस्यापि मूलान्यनुद्धृतानि वास्तुभेदाय जायन्ते। एतेन चाऽनारम्भे, अदेशकालारम्भे, अनुपायारम्भे च सुखसाध्यस्यापि कार्यस्य विपत्तिः, क्लेशसाध्यता चोक्ता। अथ देशकाले उपायेन विधीयमानस्य यथा निष्पत्तिर्भवति तथा निदर्शयति–''अहिनव'' इत्यादि उत्तरार्द्धम्। यस्तु वृक्षोऽभिनव उद्धृतमात्र उपायेन प्रयत्नपूर्वकं छिन्नः, मूलान्यपि तस्योद्धृत्य करीषाग्निना दग्धानि, स वास्तुनो भेदाय न भवति। एष दृष्टान्तः।

अयमस्यैवोपनयः–

पडिसिद्ध त्ति तिगिच्छा, जो उ न करेइ अभिनवे रोगे।
किरिय सो उ न मुच्चइ, पुच्छा जत्तेण वि करेंतो ॥
सहसुप्पइअम्मि जरे, अट्ठम काऊण जो वि पारेइ।
सीयलअंबदवाणी, न हु पउणइ सो वि अणुवाया ॥

यस्य साधोर्ज्वरादिको रोग उत्पन्नः स यदि, ''तेगिच्छं नाभिनंदेज्जा, सेविक्खुत्तगवेसए। एवं खु तस्स सामन्नं, जं नकुज्जा न कारवे''॥१॥ इति सूत्रमनुश्रित्य प्रतिषिद्धा चिकित्सेतिकृत्वा अभिनवे रोगे क्रियां चिकित्सां न कारयति, स पश्चात्तस्मिन् रोगे प्रवृद्धिं गते सति यत्नेनापि महताऽप्यादरेण क्रियां कुर्वाणो न मुच्यते रोगात्। यदि पुनरधुनोत्थित एव रोगे क्रियामकारयिष्यत् ततो नीरुगभविष्यत्। यो वा अनुपायेन क्रियां करोति सोऽपि न प्रगुणीभवति, यथा सहसोत्पन्ने

ज्वरेऽन्यस्मिन् वा अजीर्णप्रभवे रोगे सह समुत्पन्नं रोगम् ''अट्ठमेण निवारए'' इति वचनादष्टमं कृत्वा योऽपि न केवलं क्रियाया अकारक इत्यपिशब्दार्थः । (सीयलअंबदवाणि त्ति)शीतलकूराम्रद्रव्यादीनि पारयति, मा पेया कारणीया भवत्वितिकृत्वा सोऽपि न प्रगुणीभवति, अनुपायात् उपायाभावात् । प्रत्युत तेन शीतलकुरादिना सरोगस्तस्य गाढतरं प्रकृप्यति । यदि पुनस्तेन पेयादिनाऽपारयिष्यत् ततः पटुरभविष्यत् । यच्चानेषणीयपारणकसमुत्थं पापं तत्पश्चात्प्रायश्चित्तेनाऽशोधयिष्यते इत्युपायानुपायरूपमगीतार्थो न जानाति, ततश्चाज्ञातमदेशकाले वा कार्यं कुर्वतस्तस्य शैक्षस्य विपत्तिमुपयातीति प्रकृतम् ।

अत्रैव तात्पर्यमाह–

संपत्ती य विपत्ती, य होज्ज कज्जेसु कारगं पप्प ।
अणुवायतो विपत्ती, संपत्ती कालुवाएहिं ॥

संपत्तिश्च विपत्तिश्च कार्येषु कारकं कर्तारं प्राप्य भवति, यदज्ञः कर्ता ततस्तेनादेशकाले अनुपायत आरब्धस्य कार्यस्य विपत्तिर्भवति । अथासौ ज्ञस्ततस्तेन कालोपायाभ्यां देशकाले उपायेन चारब्धस्य कार्यस्य संपत्तिः सिद्धिर्भवति ।

उपसंहरन्नाह–

इय दोसाउ अगीय -त्थि उ गीयम्मि कालहीणकारिम्मि ।
गीयत्थस्स गुणा पुण, हों ति इमे कालकारिस्स ॥

'इय' एवमगीतार्थे कार्यकर्त्तरि दोषा भवन्ति । गीतार्थेऽपि कालहीनकारिणि हीने वाऽधिके वा काले कार्यकारिणि एत एवदोषाः । यः पुनः गीतार्थ उपायेनाऽतिरिक्ते काले कार्यं करोति, तस्य गीतार्थस्य कालकारिण इमे गुणा भवन्ति ।

तानेवाह–

आयं कारण गाढं वत्थुं जुत्तं ससत्ति जयणं च ।
सव्वं च सपडिवक्खवं फलं च विधिं वियाणाई ॥

'आयं' लाभं 'कारणं' आलम्बनं गाढमागाढं ग्लानत्वं च, वस्तु द्रव्यं, दलिकमित्यनर्थान्तरम्, युक्तं योग्यं, सशक्तिकं समर्थं, यतनांत्रिःपरिभ्रमणादिलक्षणाम्; एतयादिकं सर्वमपि सप्रतिपक्षं गीतार्थो विजनाति । आयस्य प्रतिपक्षोऽनायः, कारणस्याकारणम्, अगाढस्यानागाढं, वस्तुनोऽवस्तु, युक्तस्यायुक्तं, सशक्तिकस्याशक्तिको, यतनाया अयतनेति यथाक्रमं प्रतिपक्षाः । तथाफलं चैहिकादिकं विधिमान् गीतार्थो विजानातीति निर्युक्तिगाथासमासमासार्थः ।

अथ प्रतिपदं विस्तरार्थमाह–

सुंकादीपरिसुद्धे, सइ लाभे कुणइ वाणिओ चिट्ठं ।
एमेव य गीयत्थे, आयं दट्ठुं समायरइ ॥

शुल्कं राजदेयं द्रव्यम्, आदिशब्दाद्भावकर्मकरवृत्त्यादिपरिग्रहः । यथा शुल्कादिभिर्द्रव्योपक्षयहेतुभिः परिशुद्धो निर्वर्तितो यदि कोऽपि लाभ उत्तिष्ठिते, तत एवं शुल्कादिपरिशुद्धे लाभे सति वाणिजो देशान्तरं गत्वा वाणिज्यचेष्टां करोति आरभते । अथ लाभमुत्तिष्ठमानं न पश्यति ततो नारभते । एवमेव च गीतार्थोऽपि ज्ञानादिकमायं लाभं दृष्ट्वा प्रलम्बाद्यकल्पां प्रतिसेवां समाचरति, नान्यथा ।

इदमेव स्पष्टयन्नाह–

असिवाइसु सुंकत्था–णिएसु किंचि खलियस्स तो पच्छा ।
वायणवेयावच्चे, लाभे तवसंजमऽज्झयणे ॥

स हि गीतार्थः प्रलम्बादिकं प्रतिसेवमान एवं चिन्तयति अशिवादिषु शुल्कस्थानीयेषु अकल्पप्रतिसेवया कल्पोऽपि संयमस्थानेभ्यः स्खलितस्यापि मम ततः पश्चादशिवादिषु व्यतीतेषु वाचनां ददत आचार्यादीनां वैयावृत्त्ये तपःसंयमाध्ययनेषु उद्यमं कुर्वाणस्य भूयानायो लाभो भविष्यति । अकल्प्यं प्रति सेवाजनितं चातीचारं प्रायश्चित्तेन शोधयिष्यामिति बहुतरं लाभमल्पतरं व्ययं परिभाव्य गीतार्थः समाचरति । अगीतार्थः पुनरेव तदाप्यायव्ययरूपं न जानातीति । गतमायद्वारम् ।

अथ कारणगाढद्वारद्वयमाह–

नाणाइतिगस्सट्ठा, कारण निक्कारणं तु तव्वज्जं ।
अहिमक्कविसविसूइय सज्जक्खयसूलमागाढं ॥

गीतार्थः कारणे एव प्रतिसेवते, नाकारणे । आह–किमिदं कारणं ? किं अकारणमिति ?। आह–ज्ञानादित्रयस्य ज्ञानदर्शनचारित्र–रूपस्याऽर्थाय यत्प्रतिसेवते तत्कारणं, तद्वर्जं सेवमानस्य निष्कारच्यते । तथाऽगीतार्थो यद्देशमागाढे प्रतिसेव्यं तादृशमागाढ एव, यादृशं पुनरनागाढे तादृशमनागाढ एव प्रतिसेवते । अथ किमिदमागाढम् ? किं वाऽनागाढम् ?। उच्यते–अहिना सर्पेण दष्टः कश्चित्साधुः, विषं वा केनचिद्भक्तादि मिश्रं दत्तं, विसूचिका वा कस्यापि जाता, सद्य क्षयकारि वा कस्यापि शूलमुत्पन्नम्, एवमादिकमाशुघाति सर्वमप्यागाढम्, एतद्विपरीतं तु चिरघाति कुष्ठादिरोगात्मकमनागाढम् ।

अथ वस्तुयुक्तद्वारे व्याचष्टे–

आयरियाई वत्थुं, तेसिं चिय जुत्त होइ जं जोग्गं ।
गीय परिणामगा वा, वत्थुं इयरे पुण अवत्थुं ॥

आचार्यादिः प्रधानपुरुषो, यद्वा गीतार्थः सामान्यतो वस्तु भण्यते, परिणामका वा साधवो वस्तु, एतादृशमात्मानं परं वा वस्तुभूतं ज्ञात्वा प्रतिसेवते, प्रतिसेवाऽऽप्यते वा । इतरे प्रतिपक्षभूताः पुनरनाचार्यादिरगीतार्थो वा अपरिणामका अतिपरिणामका वा सर्वेऽप्यवस्तु भण्यन्ते, एतेषामेवाऽऽचार्यादीनां यद्योग्यं भक्तपानौषधादिकं तद् युक्तं, तद्विपरीतं पुनरयुक्तम् । एतत् युक्तायुक्तस्वरूपं गीतार्थो जानाति, नेतर इति ।

अथ सशक्तिकयतनाद्वारद्वयमाह–

धिई सरीरो सत्ती, आयपरगता उ तं न हावेति ।
जयणा खलु तिपरिरया, अलभे पच्छा पणगहाणी ॥

शक्तिर्द्वेधा, धृति–संहनभेदात् । तत्र धृतिरूपा, शरीरा च संहननरूपाऽऽत्मगतां परगतां च शक्तिं ज्ञात्वाऽऽचार्योऽन्यो वा गीतार्थस्तां न हापयतीत्यत्र चतुर्भङ्गी सूचिता । सा चेयम्–आत्मगता शक्तिर्विद्यते न परगता १, परगता नाऽऽत्मगता २, आत्मगताऽपि परगताऽपि ३, नाऽऽत्मगता न परगता ४। तत्र प्रथमभङ्गे आचार्य आत्मनः शक्तिं न हापयति, परस्य पुनरशक्तित्वाद्यथायोगं प्रतिसेवनामनुजानीते । द्वितीय भङ्गे ऽशक्तत्वादात्मना प्रतिसेवते, परस्य तु समर्थत्वान्नाऽनुजानाति । तृतीय भङ्गे उभयोरपि शक्तिसद्भावादात्मनाऽपि न प्रतिसेवते, परस्यापि

न वितरति। न वितरति। चतुर्थभङ्गे पुनरुभयोरप्यशक्तत्वादात्मनाऽपि प्रतिसेवते, परेणापि प्रतिसेवापयति। तथा यतना खलु त्रिपरिरया द्रष्टव्या। 'रींश्' गतौ, परि समन्तात् रयणं परिरयः;परिभ्रमणमित्यर्थः। त्रय; परिरया यस्यां सा त्रिपरिरया। किमुक्तं भवति?—एषणीयाहारान्वेषणार्थं स्वग्रामादौ तिस्रो वाराः सर्वतः पर्यट्य यद्येषणीयं न लभते ततः पश्चादलाभे अप्राप्तौ पञ्चकपरिहाण्या यतते। अथफलद्वारम्—गीतार्थः प्रथममेव कार्यं प्रारभमाणः परिभावयति। एवमनुत्तिष्ठतो ममाऽन्यस्य वा फलं भविष्यति, न वा तत्तु फलं द्विविधम्। तदेवाह—

इह परलोगे य फलं, इह आहाराइ इक्कमेकस्स।
सिद्धि सग्ग सुकुलत ा, फलं तु परलोइयं एयं॥

इहलोकफलं परलोकफलं चेति फलं द्विधा। तत्रेहलोकफलमाहारादि, आदिशब्दाद्वस्त्रपात्रादि। तथा सिद्धिगमनं, स्वर्गगमनं, सुकुलोत्पतिश्च, एतत्पारलौकिकं फलम्। एतद् द्वयमप्येकैकस्याऽऽत्मनः परस्य च परस्परोपकारेण यथा भवति तथा गीतार्थः समाचरति। यच्च गीतार्थोऽरक्तद्विष्टः प्रतिसेवते, तत्र नियमादप्रायश्चित्ती भवति।

आह—केन पुनः कारणेन प्रायश्चित्ती? उच्यते—

खेत्ताऽयं कालोऽयं, करणमिणं साहओ उवाओऽयं।
कत्त त्ति य जोगि त्ति य, इय कडजोगी वियाणाहि॥

यो न रागे न द्वेषे किन्तु तुलादण्डवद् द्वयोरपि मध्ये मप्रवर्त्तते स ओजा भण्यते। क्षेत्रेऽध्वादौ ओजाः क्षेत्रौजाः। काले अवमौदर्यादौ ओजाः कालौजाः, क्षेत्रे काले च प्रतिसवमानो न रागद्वेषाभ्यां दूष्यते इत्यर्थः। कथम्? इत्याह—यतः स गीतार्थः करणमिदं सम्यक् क्रियेयम्, एवं क्रियमाणे महती कर्मनिर्जरा भवतीति विमृशति। तथा ज्ञानदर्शनचारित्राणि साधनीयानि, तेषां च साधकोऽयमुपायो यदसंस्तरणे यतनया प्रलम्बसेवनम्। तथा कृतयोगी गीतार्थः स कर्तेति च योगीति भण्यते। 'इय' एवं विजानीहि, इति निर्युक्तिगाथासमासार्थः।

अथैनामेव विवृणोति—

ओयब्भूतो खित्ते, काले भावे य जं समायरइ।
कत्ता उसो अकोप्पो, जोगी व जहा महावेज्जो॥

य ओजोभूतो रागद्वेषाविरहितो गीतार्थः क्षेत्रेऽध्वादौ, काले दुर्भिक्षादौ, भावे च रनत्वादौ, प्रलम्बादिप्रतिसेवारूपं यत्किमपि समाचरति, स सम्यक् क्रियेयं साधकोऽयमुपाय इत्यालोच्यकारी कर्त्ता, अकोप्योऽकोपनीयः, अदूषणीय इत्युक्तं भवति। कश्चेत्याह—योगीव यथा महावैद्य इति। यथेतिदृष्टान्तोपन्यासे, स योगी धन्वन्तरिः, तेन च विभङ्गज्ञानबलेनाऽऽगामिनि काले प्राचुर्येण रोगसंभवं दृष्ट्वा अष्टाङ्गायुर्वेदरूपं वैद्यकशास्त्रं चक्रे, तच्च यथाऽऽम्नायं येनाधीतं स महावैद्य उच्यते। स चायुर्वेदप्रामाण्येन क्रियां कुर्वाणो योगीव धन्वन्तरिरिव न दूषणभ ग् भवति। यथोक्तक्रियाकारिणश्च तस्य तच्चिकित्साकर्म सिध्यति। एवमत्रापि योगी तीर्थकरस्तदुपदेशानुसारेणोत्सर्गाऽपवादाभ्यां यथोक्तां क्रियां कुर्वन् गीतार्थोऽपि न वाच्यतामर्हति।

अथ ''कत्त त्ति य जोगि त्ति य'' पदद्वयमेव प्रकारान्तरेण व्याख्याति—

अह ण कत्ता सत्था, न तेण कोविज्जती कपं किंचि।
कत्ता इव सो कत्ता, एवं जोगी वि नायव्वो॥

'अहवण त्ति' अखण्डमव्ययम् अथवाऽर्थे, कर्त्ता शास्ता तीर्थकर उच्यते; यथा तेन तीर्थकरणे कृतं कार्यं किञ्चिदपि न कोप्यते, एवमसावपि गीतार्थो विधिना क्रियां कुर्वन् कर्त्ता इव तीर्थकर इवाऽकोपनीयत्वात्कर्त्ता द्रष्टव्यः। एवं योग्यपि ज्ञातव्यः। किमुक्तं भवति ? यथा तीर्थकरः प्रशस्तमनोवाक्काययोगं प्रयुञ्जानो योगी भण्यते, एवं गीतार्थोऽप्युत्सर्गापवादबलवेत्ता अपवादक्रियां कुर्वाणोऽपि प्रशस्तमनोवाक्काययोगं प्रयुञ्जानो योगीवज्ज्ञातव्यः।

एवमाचार्योक्तं शिष्य प्राह—

किं गीयत्थो किवचलि, चउव्विहे जाणणे य गहणे य।
तुल्ले रागद्दोसे, अणंतकायस्स वज्जणया॥

किं गीयत्थोर्थः केवली येन तीर्थकृत इव तस्य वचनं करणं वा कोपनीयम्। सूरिराह—ओमिति ब्रूमः। तथाहि—द्रव्यादिभेदाच्चतुर्विधं ज्ञानं, तद्यथा केवलिनस्तथा गीतार्थस्यापि, तथा यत्प्रलम्बानामेकानेग्रहणविषयं विषमप्रायश्चित्तप्रदानं, यश्च तत्र तुल्येऽपि जीवत्वे रागद्वेषाभावो, या वाऽनन्तकायस्य वर्जना, एतानि यथा केवली प्ररूपयति तथा गीतार्थोऽपीति द्वारगाथासमासार्थः।

विस्तरार्थं प्रतिपदं विभणिषुराह—

सव्वं जेयं चउहा, तं वेइ जिणो जहा तहा गीतो।
चित्तमचित्तं मीसं, परित्तऽणंतं च लक्खणतो॥

सर्वमपि जगतोत्रयगतं जेयं चतुर्धा। तद्यथा—द्रव्यतः, क्षेत्रतः, कालतो, भावतश्च। तच्चतुर्विधमपि यथा जिनः केवली ब्रूते तथा गीतार्थोऽपि। यद्वा—(तं वेइ त्ति) तच्चतुर्विधं ज्ञेयं यथा जिनो वेत्ति जानाति तथा गीतार्थोऽपि श्रुतज्ञानी जानात्येव। तथाहियथा केवल सचित्तमित्तं मिश्रं परीत्तमनन्तं च लक्षणतो जानाति प्रज्ञापयति वा, तथा श्रुतधरोऽपि श्रुतानुसारेणैव सचित्तलक्षणेन सचित्तम्। एवमचित्तमिश्रपरीत्ताऽनन्तान्यपि स्वस्वलक्षणावैपरीत्येन जानाति, प्ररूपयति चेति केवलीव द्रष्टव्यः। आह—केवली समस्तवस्तुस्तोमवेदी, श्रुतकेवली पुनः केवलज्ञानानन्ततमभागमात्रज्ञानवान्, ततः कथमिव केवली तुल्यो भवितुमर्हति? इत्याह—

कामं खलु सव्वणू, नाणेणऽहिओ दुवालसंगीतो।
पन्नत्ताइ उ तुल्लो, केवलनाणं जओ मूयं॥

काममनुगतं खल्वस्माकं सर्वज्ञः केवली द्वादशाङ्गिनः श्रुतकेवलिनः सकाशाद् ज्ञानेनाऽधिकः, परं प्रज्ञप्त्या प्रज्ञापनया श्रुतकेवलिनः केवली तुल्यः। कुतः? इत्याह—यतः केवलज्ञानं मूकम् अमुखम्। किमुक्तं भवति ?—यावतः पदार्थान् श्रुतकेवली भाषते तावत एव केवल्यापि। ये तु श्रुतज्ञानस्याऽविषयभूता भावाः केवलिनाऽवगम्यन्ते तेषामप्रज्ञापनीयतया केवलिनाऽपि वक्तुमशक्यत्वात्। बृ० (इतोऽग्रे 'णाण' शब्दे मतिश्रूतभेदप्रस्तावादवगन्तव्यः) श्रुते द्वादशाङ्गलक्षणे सूत्ररचनया निबद्धोऽनन्तस्यानन्तभेदभिन्नत्वादित्यभिप्रायः।

आह—कथमेतत्प्रतीयते, यथा प्रज्ञापनायामनन्तभागः श्रुते निबद्धः?उच्यते—

जं चउदसपुव्वधरा, छट्ठाणगया परोप्परं होंति।

तेण उ अणंतभागो, पन्नवणिज्जाण जं सुत्तं ॥

यद् यस्माच्चतुर्दशपूर्वधराः षट्स्थानगता अनन्तभागादिस्थानवर्तिनः परस्परं भवन्ति। कथमिति चेत्, उच्यते–इह चतुर्दशपूर्वी चतुर्दशपूर्विणः किं तुल्यः, किं वा हीनः? किं वा अभ्यधिकचिन्तायां निर्वचनम्–तुल्यो वा, हीनो वा, अभ्यधिको वा? यदि तुल्यस्तर्हि नास्ति विशेषः, अथ हीनस्ततो यदपेक्षया हीनस्तमुद्दिश्यानन्तभागहीनो वा, असंख्येयभागहीनो वा, संख्येयभागहीनो वा, संख्येयगुणहीनो वा, असंख्येयगुणहीनो वा, अनन्तगुणहीनो वा? अथाभ्यधिकस्ततो यदपक्षेयाभ्यधिकस्तं प्रतीत्याऽनन्तभागाभ्यधिके वा, असंख्येयभागाभ्यधिके वा, संख्येयभागाभ्यधिको वा, संख्येयगुणाभ्यधिको वा, असंख्येयगुणाभ्यधिको वा, अनन्तगुणाभ्यधिको वा? असहमाने सर्वेषामप्यक्षरलाभे षट्स्थानपतितत्वमेव कथं जाघटीति? उच्यते–एकस्मात् सूत्रादनन्ताऽसंख्येयसंख्येयगम्यार्थगोचरा ये मतिविशेषाः श्रुतज्ञानाभ्यन्तरवर्तिनस्तैः षट्स्थानपतितत्वं न विरुध्यते। तदुक्तम्–''अक्खरलंभेण समा, ऊणऽहिआ हुंति मइविसेसेहिं। ते पुण मईविसेसे, सुयनाणऽब्भंतरे जाण॥'' एवंविधं च षट्स्थानपतितत्वं प्रज्ञापनीयानामनन्ततमभागमात्र एव श्रुतनिबद्धे घटमानकं भवति। यदिह सर्व एव प्रज्ञापनीया भावाः श्रुते निबद्धा भवेयुस्तर्हि चतुर्दशपूर्विणोऽपि परस्परं तुल्या एव भवेयुर्न षट्स्थानपतिता इति। अत एवाह–तेन कारणेन यत्किमपि श्रुतं चतुर्दशपूर्वरूपं तत् प्रज्ञापनीयानामनन्ततमो भागो वर्तते इति।

अथ यदुक्तं प्रज्ञापनायां द्वावपि तुल्यौ, तद्भवनामाह–

केवलविन्नेयऽत्थे, सुयनाणेणं जिणो पगासेइ।
सुयनाणकेवली वि हु, तेणेऽत्थे पगासेइ॥

केवलेन विज्ञेया ये अर्थास्तान् यावत् श्रुतज्ञानेन जिनः केवली प्रकाशयति। इह च केवलिनः संबन्धी वाग्योग एव, श्रोतृणां भावश्रुतकारणत्वात् कारणे कार्योपचारात् तज्ज्ञानमुच्यते, न पुनस्तस्य भगवतः किमप्यपरं केवलज्ञानव्यतिरिक्तं श्रुतज्ञानं विद्यते। ''नट्ठम्मि उ छाउमत्थिए नाणे'' इति वचनात्। श्रुतज्ञानकेवल्यपि तानेव भावतस्तेनैव श्रुतज्ञानेनार्थान् जीवादीन् प्रकाशयति। अतः श्रुतकेवलिकेवलिनौ द्वावपि प्रज्ञापनया तुल्याविति स्थितम्। तदेवं यथा केवली द्रव्यक्षेत्रकालभावैर्वस्तु जानाति तथा गीतार्थोऽपि जानीते। बृ०१ उ०। नि० चू०।

गच्छसारणायोग्यो गुरुः, तथाभूतेन गुरुणा स्वाध्यायः कार्यः–

**से भयवं ! केरिसगुणजुत्तस्स णं गुरुणो गच्छनिक्खेवं कायव्वं? गोयमा ! जे णं सुव्वए, जे णं सुसीले, जे णं दढचारित्ते, जे णं अणिंदियंगे, जे णं अरहे, जे णं गयरागे, जे णं गयदोसे, जे णं निज्झियमोहमिच्छत्तमलकलंके, जे णं उवसंते, जे णं सुविण्णयजगट्ठिती, जे णं सुमहावेरग्गमग्गमल्लीणे, णं इत्थिकहापमिणीए, जे णं भत्तकहापडिणीए, जे णं तेणगकहापडिणीए, जे णं रायकहापडिणीए, जे णं जणवयकहापडिणीए, जे णं अच्चंतमणुकंपसीले, जे णं परलोगपच्चवायभीरू, जे णं कुसीलपडिणीए जे णं विन्नायसमयसब्भावे, जे णं गहियसमयपेयाले, जे णं अहन्निसाणुसमयट्ठिए अहिंसालक्खणे दसविहे समणधम्मे, जे णं उज्जते अहन्निसाणुसमयं दुवालसविहे तवोकम्मे, जे णं सुउवउत्ते सयं च समिईसु, जे णं सुमुत्ते सययं तिसु गुत्तीसु, जे णं आराहगे सम्मत्तीए अट्ठारसण्हं सीलंगसहस्साणं, जे णं अविराहगे, एतगंतेणं ससत्तीए सत्तरसविहस्स णं संजमस्स उस्सग्गरुई, जे णं तत्तरुई, जे णं समसत्तुमित्तपक्खो, जे णं सत्तभयट्ठाणविप्पमुक्के, जे णं अट्ठमयट्ठाणविप्पजढे, जे णं नवण्हं बंभ चेरगुत्तीणं विराहणाभीरु, जे णं बहुसुए, जे णं आयरियकुलुप्पन्ने, जे णं अदीणे, जे णं अकिंविणे, जे णं अणालसिए, जे णं संजइवग्गस्स पडिपक्खे, जे णं सययं धम्मोवएसदायगे, जे णं सययं ओहसामायारीपरूवगे, जे णं मेरावट्ठिए, जे णं असामायारीभीरुे, जे णं आलोयणारिहपायच्छित्तदाणपयच्छणक्खमे, जे णं वंदणमंडलिविराहणजाणगे, जे णं पडिक्कमणमंडलिविराहणजाणगे, जे णं उद्देसमंडलिविन्नाणजाणगे, जे णं झाणमंडलिविराहणजाणगे, जे णं वक्खाणमंडलिविराहणजाणगे, जे णं आलोयणामंडलिविराहणजाणगे, जे णं समुद्देसमंडलिविराहणजाणगे, जे णं पव्वज्जाविराहणजाणगे, जे णं उवट्ठावणाविराहणजाणगे, जे णं उद्देससमुद्देसाणुविराहणजाणगे, जे णं दव्वखेत्तकाल-भावंतरायवियाणगे, जे णं दव्वक्खेत्तकालभावालंबणाविप्पमुक्के, जे णं सवालवुड्ढगिलाणसेहसिक्खगसाहम्मिगहज्जावट्टावणकुसले, जे णं परुवगे नाणदंसणचारित्ततवोगुणाणं, जे णं वरणधरए पभावगे नाणदेसणचारित्तवोगुणाणं, जे णं दढसंमत्ते, जे णं सययं अपरिसाई, जे णं धीइमा, जे णं गंभीरे, जे णं सुसोमणेसे, जे णं दिणयरमिय अणामिभवणीए तवतेएणं, जे णं सरीरोवरमे वि छक्कायसमारंभविवज्जो, जे णं तवसीलदाणपभावणामयचउव्विहधम्मंतरायभीरू, जे णं सव्वासायणाभीरू, जे णं इड्ढिरससायागारवरोहऽट्टज्झाणविप्पमुक्के, जे णं सव्वावस्सगमुज्जुत्ते, जे णं सविसेसलद्धिजुत्ते, जे णं आवडियपिल्लियामंतिओ वीणायरेज्जा अयज्जं, जे णं नो बहुनिद्दे, जे णं नो बहुभोई, जे णं सव्वावस्सगग्गझायज्झाणपडिमाभिग्गहे घोरपरीसहोवसग्गे सूजियपरीसहे, जे णं सुपत्तसंगहसीले, जे णं अपत्तपरिट्ठवणविहिन्ने, जे णं अणट्ठयवोदी, जे णं परसमयससमयवियाणगे, जे णं कोहमाणमायालोभममकारदितिहासखेडकं दप्पणाहवायविप्पमुक्के धम्मकहासंसारवासविसयाभिलासादीणं वेरग्गुप्पायगे पडिबोहगे भव्वसत्ताणं, से णं गच्छनिक्खेवणाजोग्गं, से णं गणी, से णं गणहरे, से णं तित्थे, से णं तित्थयरे, से णं आरहा, से णं केवली, से णं जिणे, से णं तित्थुब्भासगे, से णं वंदे, से णं पुज्जे, से णं नमंसणिज्जे, से णं दट्ठव्वे, से णं परमपवित्ते, से णं परमकल्लाणे, से णं परमंगले, से णं सिद्धी, से णं मुत्ती, से णं सिवे, से णं मोक्खे, से णं वाया, से णं संमग्गे, से णं म-

ती, से णं रन्ने, से णं सिद्धे, से णं मुत्ते, से णं पारगए, से णं देवे, से णं देवेदेवे एयस्स गोयमा ! गणणिक्खेवं कुज्जा, एयस्स णं गणनिक्खेवं कारेज्जा, एयस्स णं गच्छनिक्खवणं समणुजाणज्जा। अन्नहा गोयमा ! आणाभंगे। कहा०५ अ०।

पार्श्वस्थदीक्षितात्साधेर्गणश्चलतीति कुत्रोक्तमस्ति ? अत्र संविग्न आचार्यादिः संविग्नगीतार्थाद्यभावे संविग्नभक्तपार्श्वस्थादिपार्श्वे यदा प्रायश्चित्तमङ्गीकरोति तदा पुनर्व्रतारोपरूपं प्रायश्चित्तं कश्चित्प्रतिपद्यते, एवं छेदग्रन्थोक्तानुसारेण समाधानमवसेयम्। इति श्रीहीरविजयसूरिणं प्रति पण्डितकेवलर्षिगणिकृतः प्रश्नः। ही०३ प्रका०।

गच्छाणुकंपणट्ठ पुं०(गच्छानुकम्पनार्थ)सबालवृद्धस्य गच्छस्यानुकम्पनहेतौ, नि०चू०१ उ०। पं०भा०। पं०चू०।

गच्छायार पुं०(गच्छाचार)गच्छस्य सुविहितमुनिसमुदायस्याचारः। शिष्टजनसमाचरितक्रियाकलापप्रकीर्णकविशेषाभिधेये, तादृशे प्रकीर्णके च०।ग०।

''उद्बोधो विदधेऽजानामिव भव्यशरीरिणाम्।
गवां विलासैर्येनासौ, जीयाद्वीररविश्चिरम् ॥१॥
पदपद्मं स्वगुरूणां, सदा सदाचारचरणचुञ्चूनाम्।
नत्वा विदधे विवृतिं, गच्छाचाराख्यसूत्रस्य''॥२॥

इह तावच्छास्त्रादौ मङ्गलसम्बन्धाभिधेयप्रयोजनान्यभिधातव्यानि। तत्र विघ्नविनायकोपशान्तये शिष्यजनप्रवर्त्तनाय शिष्टसमयपरिपालनार्थं चेष्टदेवतानमस्काररूपं भावमङ्गलमुपादेयम्। तथाश्रोतृजनप्रवृत्त्यर्थं शिष्टसमयपरिपालननार्थं च संबन्धादित्रयं वाच्यम्। तथाहि – इह श्रेयोभूते वस्तुनि प्रवर्त्तमानानां प्रायो विघ्नः संभवति, श्रेयोभूतत्वादेव, श्रेयोभूतं चेदम्, स्वर्गापवर्गहेतुत्वात्। विघ्नोपहतशक्तेश्च-शास्त्रकर्तुश्चिकीर्षितशास्त्राऽसंसिद्धयाऽभिप्रेतपरुषार्थस्याऽनिष्पत्तिर्मा भूदिति विघ्नविनायकोपशमनाय मङ्गलमुपादेयम्। आह च–''बहुविग्घाइ सेयाइ, तेण कयमंगलोवयारेहिं। सत्थे पयट्टियव्वं, विज्जाए महानिहीए व्व ॥' ननु मानसादिनमस्कारतपश्चरणादिना मङ्गलान्तरेणैव विघ्नोपघातसद्भावादिष्टसिद्धिर्भविष्यतीति किमनेन ग्रन्थगौरवकारिणा वाचनिकनमस्कारेणेति? सत्यम्, किन्तु श्रोतृप्रवृत्त्यर्थमिदं भविष्यति। तथाहि–यद्यप्युक्तन्यायेन कर्तुरविघ्नेष्टसिद्धिः स्यात्तथापि प्रमादवतः शिष्यस्येष्टदेवतानमस्काररूपमङ्गलं विना प्रक्रान्तग्रन्थाध्ययनश्रवणादिषु प्रवर्तमानस्य विघ्नसंभवादप्रवृत्तिः स्यात्। मङ्गलवाक्योपन्यासे तु मङ्गलवचनाभिधानपूर्वकं प्रवर्तमानस्य मङ्गलवचनापादितदेवताविषयशुभभावव्यपोहितविघ्नत्वेन शास्त्रे प्रवृत्तिरप्रतिहततरा स्यात्। तथा देवताविशेषनमस्कारोपादाने सति देवताविशेषगदितागमानुसारीदं शास्त्रमत उपादेयमित्येवंविध-बुद्धिनिबन्धनत्वेन शिष्यप्रवृत्त्यर्थमिदं भवतीति। आह च ''मंगलपुव्वपवत्तो, पमत्तसीसो वि पारमिह जाइ। सत्थे विसासणाओ, गोरवादिह पयट्टेज्जा''॥१॥ ननु मङ्गलविकलानामपि बहुतमशास्त्राणां दृश्यते संसिद्धिः, श्रोतृजनप्रवृत्तिश्चेति, ततः किमनेनानैकान्तिकेन शास्त्रगौरवकारिणा च मङ्गलेनाभिहितेन? सत्यम्, किं तु शिष्टसमयपरिपालनार्थमिदं भविष्यति तथाहि–शिष्टाः क्वचिदिष्टे वस्तुनि प्रवर्तमाना इष्टदेवतानमस्कारपूर्वकं प्रायः प्रवर्तन्ते। शिष्टश्चायमप्याचार्य इति शिष्टसमाचारः परिपालितो भवत्विति मङ्गलमभिधेयम्। आह च–''शिष्टाः शिष्टत्वमायान्ति, शिष्टमार्गानुपालनात्। तल्लङ्घनादशिष्टत्वं, तेषां समनुपद्यते''॥१॥ तथा सम्बन्धादीनि श्रोतृजनप्रवृत्त्यर्थमभिधेयानि। तथाहि–यदसंबद्धं तत्र न प्रवर्तन्ते प्रेक्षावन्तो दशदाडिमादिवाक्ये इव, एवं निरभिधेयेऽपि काकदन्तपरीक्षायामिव, एवं निष्प्रमार्जनेऽपि कण्टकशाखामर्दन इवेति। अतः संबन्धादिप्रतिपादनं श्रोतॄणां शास्त्रे प्रवृत्त्यङ्गम्। अथासर्वज्ञाऽवीतरागवचनानां व्यभिचारित्वसंभवेन सम्बन्धादिसद्भावनिश्चयाभावान्नेतः प्रेक्षावतां प्रवृत्तिरत्र भविष्यति। या पुनः संशयात्प्रवृत्तिस्तां संबन्धादिवचनं विनैव भवन्तीं को निवारयितुं पारयतीति न श्रोतृप्रवृत्त्यङ्गं संबन्धादिवचनम्। सत्यं, किं तु शिष्टसमयपरिपालनार्थं भविष्यति, शास्त्रकारा ह्येवं प्रवर्तमानाः प्रायः प्रेक्ष्यन्ते इति।

ग्रन्थकृद् गच्छाचाराऽभिधप्रकीर्णकं चिकीर्षुर्मङ्गल संबन्धाभिधेय प्रयोजनाभिधायिकामिमां गाथामाह–

नमिऊण महावीरं, तिअसिंदनमंसिअं महाभागं।
गच्छायारं किंची, उद्धरिमो सुयसमुद्दाओ ॥१॥

नत्वा प्रणम्य, कमित्याह–महावीरं, विशेषण ईरयति क्षिपति कर्माणीति वीरः। ''विदारयति कर्माणि, तपसा च विराजते। तपोवीर्येण युक्तश्च, तस्माद्वीर इति स्मृतः''।१। इति लक्षणान्निरुक्ताद्वा वीरः, महांश्चासौ इतरवीरापेक्षया वीरश्च महावीरः, तम्। जन्ममहोत्सवसमये *तनुशरीरोऽयं कथं जलप्राग्भारं सोढा?* इति *शक्रशङ्काशङ्कुसमुद्धरणाय* भगवता वामचरणाङ्गुष्ठनिपीमितसुमेरुशिखरप्रकम्पमानमहीतलोल्लसितसरित्पतिक्षोभशङ्कितब्रह्माण्डभाण्डांदरदर्शनप्रयुक्तावधिज्ञानज्ञातपभावातिशयविस्मितेन वास्तोष्पतिना व्यवस्थापितैवंविधनामकं चरमतीर्थाधिपतिं; शेषजिनत्यागेन च महावीरग्रहणं प्रवर्तमानतीर्थाधिपत्वेन परमोपकारित्वात्। किंभूतम्? त्रिदशेन्द्रनमस्यितं, त्रिदशाः सुमनसस्तेषामिन्द्रास्त्रिदशेन्द्रास्तैर्नमस्यितस्तम्। तथा महाभागं, महान् भागः ''भागो रूपार्द्धक भाग्यैकदेशयो'' इति हेम वचनाद्भाग्यं परमैश्वर्यादिप्राप्तिहुत तीर्थकृन्नामभिर्भोदयरूपं यस्यासौ महाभागस्तम्। ततः किमित्याह–गच्छस्य सुविहितमुनिसमुदायस्याचारः शिष्टजनसमाचरितः क्रियाकलापो गच्छाचारस्तमुद्धरामः प्रकीर्णकरूपत्वेन पृथक्कुर्मो, वयमिति शेषः। अनेन चास्याभिधेयमुक्तम्। ननु भद्रयाहुस्वाम्यादिभिरेव गच्छचारस्योद्धृतत्वात् किं नु तदुद्धरणेनेत्याशङ्क्याह-किञ्चित् संक्षिप्तमेव, पुर्वाचार्यैर्हि प्रपञ्चतः स उद्धृतो, वयं तु मन्दमति-सत्त्वानुग्रहार्थं संक्षेपेण तमुद्धराम इत्यर्थः। अनेन च प्रकीर्णककरणविषयायाः स्वप्रवृत्तेः प्रयोजनमुक्तम्। यतः ''प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्त्तते''। तथा संक्षिप्तप्रकीर्णकस्य सुखाध्येयत्वादिना विस्तरवद् ग्रन्थत्यागेन श्रोतारोऽत्र प्रवर्त्तिता भवन्ति, ननु श्रोतृजनप्रवर्त्तकविशेषणकदम्बकोऽयमपीदं प्रकीर्णकमसर्वज्ञेनावीतरागेण च भवतोद्ध्रियमाणमविसंवादार्थिनां न प्रवृत्तिविषयो भविष्यत्यसर्वज्ञवचने विसंवादाशङ्कानिवृत्तेरित्याशङ्क्यमान आह श्रुतसमुद्रात्, श्रुतं कल्पव्यवहारादिरूपं तदेव गम्भीरत्वादिगुणैः समुद्रः श्रुतसमुद्रस्तस्मात्। यदि हि स्वरचितादेर्भयोद्ध्रियेत तदा व्यभिचारशङ्कया नेदं प्रवृत्तिवि-

षयः स्यात्। तदेवमस्या गाथायाः पूर्वार्द्धेन मङ्गलमभिहितम्। उत्तरार्द्धेन तु सविशेषणमभिधेयं मुख्यवृत्त्याऽभिहितं, तदभिधाने च गौणवृत्त्या प्रयोजनं, संबन्धश्चोक्तः। तथाहि–अस्य द्विविधं प्रयोजनम्–अनन्तरं, परम्परं च। पुनरेकैकं कर्तृश्रोत्रपेक्षया द्विधा, तत्र कर्तुरनन्तरप्रयोजनं संक्षेपतो विनेयानां गच्छाचाराधिगमकरणं, परम्परं तूपकारद्वारेण कर्मक्षयान्निर्वाणम्। श्रोतॄणां पुनरनन्तरं प्रकीर्णकस्य संक्षिप्तत्वादल्पायासेन गच्छाचाराधिगमः, परम्परं निर्वाणमेवेति। इदं च प्रयोजनमभिधेयाभिधानेन सामर्थ्यादीभिहितम्। न हि पुरुषार्थाऽनुपयोगिवस्तुनोऽभिधानाय सन्तः प्रवर्त्तन्ते, तत्वहानिप्रसङ्गात्। तथाऽस्य प्रकीर्णकस्येदं प्रयोजनमिति दर्शयता दर्शित एवास्योपायभावलक्षणः संबन्धस्तर्कानुसारिणः प्रति। तथाहीदं प्रकीर्णकमुपायो वर्त्तते, उपायान्तरेण विवक्षिताधिगमकरणादीनामसिद्धेः, अत एवेदमेवाधिगमादिकरणमस्योपेयमिति। आह च ''संबन्धः प्रोक्त एव स्यादेतस्यैतत्प्रयोजनम्। इत्युक्ते तेन नो वाच्यो, भेदेनासौ प्रयोजनात्''॥१॥ इति। तथा श्रुतसमुद्रादित्यनेन श्रद्धानुसारिणः प्रति गुरुपर्वक्रमलक्षणोऽपि संबन्धोऽभिहितः। तथाहि–प्रथमतो भगवता परमार्हत्यमहिम्ना विराजमानेन वर्द्धमानस्वामिना गच्छाचारः प्रतिपादितः, ततः सुधर्मस्वामिना द्वादशस्कन्धे सूत्रतया निबद्धः, ततोऽप्यार्यभद्रबाहुस्वाम्यादिभिःकल्पादिषु समुद्धृतः, तेभ्योऽपि मन्दमेधसामवबोधाय संक्षिप्याऽस्मिन् प्रकीर्णके समुद्ध्रियते। अत एव परम्परया सर्वज्ञमूलमिदं प्रकीर्णकमित्यवश्यमवदातधियामुपादेयमिति गाथाछन्दः (ग०) नन्विदं प्रकीर्णकं केन विरचितमिति? उच्यते–''महानिसीहकप्पाओ, ववहाराओ तहेव य। साहुसाहुणिअट्ठाए, गच्छायारं समुद्धिअं''॥१॥ इतीहैव वक्ष्यमाणवचनादेवे-दमवसीयतेयदुतेदं प्रकीर्णकं श्रीभद्रबाहुस्वामि पादविरचितग्रन्थादिभ्य उद्धृतत्वेन तदर्वाग्भाविना पूर्वान्तर्गत सूत्रार्थधारकेण केनाप्याचार्येण विरचितमिति प्रायो ज्योतिष्करण्डकप्रकीर्णकं चालभ्यवाचनानुगतेन पूर्वगतसूत्रार्थधारिणा केनाप्याचार्येण विरचितम्। उक्तं च श्रीमलयगिरिसूर्यादिस्तप्रथमगाथावृत्तौ–अयमत्र पूर्वाचार्योपदर्शित उपोद्घातःकोऽपि शिष्योऽल्पश्रुतः कश्चिदाचार्यं पूर्वगते सूत्रार्थधारकं चाऽलभ्य श्रुतसागरपारगतं शिरसा प्रणम्य विज्ञपयति स्म। यथा–भगवन्! इच्छामि युष्माकं श्रुतनिधीनामन्ते यथावस्थितं कालविभागं ज्ञातुमिति। तत एवमुक्ते सति आचार्य आह–श्रुणु वत्स! तावदित्यादि। तथा तद्वितीयप्राभृतवृत्तावपि संख्यास्थानके सदृशत्वमाश्रित्योक्तम्। यथा–इह स्कन्दिलाचार्यप्रवृत्तौ दुःषमानुभावतो दुर्भिक्षप्रवृत्या साधूनां पठनगुणनादिकं सर्वमप्यनेशत्। ततो दुर्भिक्षातिक्रमे सुभिक्षप्रवृत्तौ द्वयो संघयोर्मेलापकोऽभवत्। तद्यथा–एको वलभ्यामेको मथुरायाम्। तत्र च सूत्रार्थसंघटने परस्परवाचनाभेदो जातः। विस्मृतयोर्हिसूत्रार्थयोः स्मृत्वा संघटने भवत्यवश्यं वाचनाभेदो न काचिदनुपपत्तिः। तत्रानुयोगद्वारादिकमिदानीं वर्तमानं माथुरवाचनाऽनुगतं ज्येतिष्करण्डकसूत्रकर्ता चाचार्यो वालभ्यः, तत इहेदं संख्यास्थानप्रतिपादनं वालभ्यवाचनाऽनुगतमिति नास्यानुयोगद्वारप्रतिपादितसंख्यास्थानैः सह विसदृशत्वमुपलभ्य विचिकित्सितव्यमिति। यथा वा नन्द्यध्ययनं देववाचकेन, उक्तं च श्रीमलयगिरिसूरिपादैरेव तद्वृत्तौ। यथा–तदेवमभीष्टदेवतास्तवादिसंपादितसकलसौविहित्यो भगवान् दूषगणिपादोपसेवी पूर्वान्तर्गतसूत्रार्थधारको देववाचको योग्यविनेयपरीक्षां कृत्वा संप्रत्यधिकृताऽध्ययनविषयस्य ज्ञानस्य प्ररूपणां विदधाति–''नाणं पंचविहं पण्णत्तं'' इत्यादीति। ननुतर्ह्यत्र गौतमप्रश्ने श्रीमन्महावीरनिर्वचनरूपं सूत्रमतो भगवान् गच्छाचारप्रकीर्णककर्ताऽपीत्थमेव सूत्रं रचयति स्मेति। ग०१ अधि०।

श्रीगच्छाचारप्रकीर्णकटीकातः–

''प्रायः स्वकीयोदितमप्यतादृशं, सर्वाङ्गभाजां जगतीह रोचते।
इयं मदुक्तिस्तु ममैव नो तथा, कथं परेषां रुचये भविष्यति ?॥१॥
न चाभूद्बुद्धोक्तवृत्ति–रस्यादर्शस्तु भूरिशः।
तथाऽप्यस्ति गुरूपास्तिः, समस्तस्वस्तिदाऽत्मनः॥२॥
यदत्र मजिवैगुण्यात्, ग्रन्थानभ्यासतस्तथा।
भ्रमाद्वा विवृतं सर्वा–गमेनापि विरोधभाक्॥३॥
विभक्त्यादिविरुद्धं च, मिथ्यादुष्कृतमस्तु तत्।
शोधयन्तु च तत्त्वज्ञाः कृत्वा तत्र घृणा मयि॥४॥(युग्मम्)
विचारोपनिषद्भेद–समुच्चयचिकीर्षया।
गच्छाचाराभिधग्रन्थः–वृत्तिं निर्मितवानहम्''॥५॥(ग०)
''तेषां श्रीसुगुरूणां, प्रसादमासाद्य सुंश्रुतानन्दः।
वेदाग्निरसेन्दु १६३४ मिते, विक्रमभूपालतो वर्षे॥७३॥
शिष्यो भूरिगुणानां युगोत्तमानन्दविमलसूरीणाम्।
निर्मितवान् वृत्तिमिमा–मुपकारकृते विजयविमलः॥७४॥
कोविदविद्याविमला, विवेकविमलाभिधाश्च विद्वांसः।
आनन्दविजयगणयो, विचिन्तयन्तो गुरौ भक्तिम्॥७५॥
शोधनलिखनादिविधा–वस्या वृत्तेर्व्यधुः समुद्योगम्।
स्युर्बाढमादरपराः, उतेह कृत्ये कृतज्ञा वा॥७६॥ ग०४ अधि०।

गच्छिय–गच्छिदूण अव्य०(गत्वा)''**कृ–गमो ढमुअः**'' ।८।४।२७२। इत्यस्य वैकल्पिकत्वात् पक्षे ''**क्त्वः इय–दूणौ**''८।४।२७१। शौरसेन्यां क्त्वाप्रत्यस्य इय दूण इत्यादेशौ भवतः। गमनं कृत्वेत्सर्थे, प्रा०४ पाद०।

गच्छिल्ल त्रि०(गच्छवत्)गच्छवासिनि, बृ०१ उ०।

गच्छुवज्झाय पुं०(गच्छोपाध्याय)गच्छनायके, व्य०२ उ०।

गज्ज धा०(गर्ज) ऊर्ज्जाहेतुकशब्दे, भ्या० प० अक० सेट्। ''गर्जेबुक्कः''।८।४।९८। इत्यस्य पाक्षिकत्वात् 'गज्जइ' गर्ज्जति, प्रा०४ पाद।

गद्य न०। ब्रह्मचर्य्याध्ययनवत्; (सूत्र०१ श्रु०१ अ० उ०।) शत्रपरिज्ञाध्ययनवद् वाऽछन्दोनिबद्धे (स्था०४ ठा०४ उ०) प्रथमेऽष्टविधगेयभेदे, यत्र स्वरसंचारेण गद्यं गीयते। जं०१ वक्ष०। जी०। पं०भा०।

गद्यलक्षणमाह–

महुरं हेउनिजुत्तं, गहियमपायं विरामसंजुत्तं।
अपरिमियं चऽवसाणे, कव्वं गज्जं ति नायव्वं॥७७॥

मधुरं सूत्रार्थोभयैः श्राव्यम्, हेतुनियुक्तं सोपपत्तिकम्, ग्रथितं बद्धमानुपूर्व्या, अपादं विशिष्टच्छन्दारचनाऽयोगात्पादवर्जितम्, विरामोऽवसानं तत्संयुक्तमर्थतो न तु पाठत इत्येके। यथा ''जिणवरपादारविंदसंदाणिउरुणिम्मल्लस्साहस्स'' एवमादि ''अस

माणिउं न चिट्ठइ त्ति'' यतिविशेषसंयुक्तमन्ये, अपरिमितं चावसाने बृहद्भवतीत्येके। अन्ये तु अपरिमितमेव भवति, बृहदित्यर्थः; अवसाने मृदु च पठ्यत इति शेषः। कव्यं गद्यम्, इति एवंप्रकारं, ज्ञातव्यमिति गाथार्थः॥७७॥ दश०२ अ०।

गज्जंत त्रि०(गर्जत्) घनध्वनिं मुञ्चति, उत्त०२ अ०।

गज्जणग न०(गर्जनक) पुरभेदे, यत्र मासकल्पविहारे स्थितैर्विजयसेनसूरिभिरङ्गारदाहकः परीक्षितः। पञ्चा०६ विव०। 'गजनी' (अफगानिस्तान) इति ख्याते म्लेच्छराजनगरे, यद धीश्वरेण हम्मीरनाम्ना म्लेच्छराजेन वल्लभीपुरे श्वरः शिलादित्यो मारितः। ती०१७ कल्प।

गज्जणसद्द (देशी) मृगवारधध्वनौ, दे० ना०२ वर्ग।

गज्जभ पुं०(गर्जभ) अपरोत्तरस्यां शुद्धविदिग्वाते, आ०म०द्वि०।

गज्जरग न०(गर्जरक)'गाजर' इति प्रसिद्धे कन्दभेदे, प्रव०४ द्वार। ध०।

गज्जल न०(गर्जल) गर्जितसमानशब्दं कुर्वति वस्त्रविशेषे, नि०चू०७ उ०। आचा०।

गज्जह पुं०(गर्जभ) 'गज्जभ' शब्दोक्तार्थे, आ०म०द्वि०।

गज्जाण पुं०(गद्याण) वल्लषोडशके, ''गुञ्जात्रयेण वल्लः स्याद्, गद्याणं ते च षोडश''। कल्प० क्षण।

गज्जिता त्रि०(गर्जिता) गर्जितकृति, स्था०४ ठा०।

गज्जिय न०(गर्जित) मेघध्वनौ, प्रश्न०३ आश्र० द्वार। प्रव० ज्ञा०। स्था०। जी०

गज्जियसद्द पुं०(गर्जितशब्द) गर्जितशब्दो जलसमुत्थो, वायुसमुत्थो वाऽन्यद्वा किमपीति प्रश्ने, उत्तरम्–स्थानाङ्गवृत्तौ स्थाने स्थाने स्तनितानि शब्दानां व्याख्याने मेघगर्जितमित्यर्थकरणान्मेघस्य च जलमयत्वाद् गर्जितशब्दो जलसमुद्भवः संभाव्यते। वायुसमुत्थः शब्दो गर्जितमित्यक्षराणि तु शास्त्रे नोपलभ्यन्त इति। ५ प्र०। सेन०२ उल्ला०।

गज्झवक्क त्रि०(गाह्यवाक्य) नायके, आचा०१ श्रु०२ अ०१ उ०।

गट्ठण पुं०(गट्टन)धरणस्य नागकुमारेन्द्रस्य नाट्याऽनीकाधिपतौ, स्था०७ ठा०।

गठिय न०(ग्रथित) शास्त्रेषूपविबद्धे, स्था०२ ठा०१ उ०।

गमु अ अव्य०(गत्वा) ''**कृगमोमडुअः**''।८।४।२१२। इति क्त्वाप्रत्ययस्य मडुआदेशः। गमनं कृत्वेत्यर्थे, प्रा०४ पाद।

गमुल न० (गमुल) तन्दुलधावनादौ पानीये, ध० अधि०। स्था०।

गड्ड पुं०(गर्त्त) ''**गर्ते डः**''।८।२।३५। गर्तशब्दे संयुक्तस्य तः। प्रा०२ पाद। श्वभ्रे, भ०७ श०६ उ०। निम्ने भूभागे, अधोलोकग्रामादौ च। भ०६ श०३१ उ०।

गड्डरिया स्त्री०(गड्डरिका) पूतनायाम्,'भेंड' इतिख्याते चतुष्पदजीवे, सूत्र०१ श्रु०३ अ०४ उ०।

गड्डरियापवाह पुं०(गड्डरिकाप्रवाह) ६ त०। एडकानामेकस्या अनुमार्गेण सर्वासां सञ्चरणे, ध० २०।

अधुना गड्डरिकाप्रवाह इति नवमं भेदमाह–

गड्डरिगपवाहेणं, गयाणुगइयं जणं वियाणंतो।
पडिहरइ लोगसन्नं, सुपरिक्खियकारओ धीरो॥६८॥

गड्डरिका एडका, तासां प्रवाहः संचरणम्। एकस्या अनुमार्गेण सर्वासां गमनं गड्डरिकाप्रवाहः। द्वारगाथायामादिशब्दः कीटिकामक्कोटकादिप्रवाहसंसूचनार्थः, तेन कृत्वा गतानुगतिकमविचारितकारिणं, जनं लोकं विजानन्नवबुध्यमानः परिहरति, लोकसंज्ञामविचारितरमणीयां लोकहेरिं, कुरुचन्द्रनरेन्द्रवत्। कथंभूतः सन्नित्याह–सुपरीक्षितकारकः सुपर्यालोचितविधायी, धीरो मतिमानिति। ध०२०। (कुरुचन्द्रनरेन्द्रकथा तु 'कुरुचंद' शब्दे ऽत्रैव भागे ५६० पृष्ठे द्रष्टव्या)

गड्डह पुं०(गर्दभ)''**गर्दभे वा**''।८।२।३७। गर्दभे र्दस्य डो वा भवति, इति दस्य डः प्रा०२ पाद। खरे,''गड्डहे व्व गवं मज्झे, विस्सरं नयई नयं'' स०३० सम०।

गड्डा स्त्री०(गर्त्ता) महत्यां खड्डायाम्, जी०३ प्रति०। आचा० जं०।

गढ धा०(घट) चेष्टायाम्, भ्वा०आत्म०अक० सेट्। **घटेर्गढः**'' ८।४।११२।घटेर्गढ इत्यादेशो वा भवति इति गढादेशः। 'गढइ' घटते। प्रा०४ पाद।

गढित्तए अव्य०(ग्रथयितुम्) दृढबन्धनबन्धीकर्तुमित्यर्थे, जी०४ प्रति।

गढिय त्रि०(गृद्ध) अध्युपपन्ने, आचा०२ श्रु०२ अ०२ उ०। दशा। अवबद्धे, सूत्र०२ श्रु०१ अ०। आचा०। प्रश्न०। ग्रथित इव ग्रथितः आहारविषयस्नेहरज्जुभिः संदर्भिते, भ०१४ श०७ उ०। ज्ञा०। विपा०। सूत्र०। पदपाठमन्धेन वा श्लोकबन्धेन वा बद्धे, बृ०३ उ०। शास्त्रेषूपनिबद्धे, स्था०२ ठा०१ उ०।

गढियगिद्ध त्रि०(ग्रथितगृद्ध) अत्यन्तं गृद्धिमति, प्रश्न०२ आश्र०। द्वार।

गण पुं०(गण) मल्लादीनां समूहे, उत्त०१५ अ०। स्था०। आ०चू०। एकवाचनाऽऽचारक्रियास्थानां (आ०म०प्र०। स्था०। कल्प) परस्परसापेक्षाणामनेकुलानां साधूनां समुदाये, पं०व०१ द्वार। स्था०। प्रति०। चं०प्र०। भ०।गच्छे, नं०। प्रव०। व्य०। आ०चू०। प्रश्न०। ग०।

सम्प्रति गणस्य निक्षेपमभिधित्सुराह–

नामादिगणो चउहा, दव्वगणो खलु पुणो भवे तिविहो।
लोइय कुप्पवयणिओ, लोउत्तरियं बोधव्वो।

नामदिरूपो गणश्चतुर्द्धा चतुष्प्रकारः। तद्यथा–नामगणः, स्थापनागणो, द्रव्यगणो, भावगणश्च। तत्र यस्य गण इति नाम स नामगणः। गणस्य स्थापनाऽक्षवराटकादिषु स्थापनागणः। द्रव्यगणो द्विधाआगमतो,नोद्यागमतश्च। तत्राऽऽगमतो गणशब्दार्थज्ञाता, तत्र चानुपयुक्तः। नोआगमतस्त्रिधाज्ञशरीरभव्यशरीरतद्व्यतिरिक्तभेदात्। तत्र ज्ञशरीरभव्यशरीरे प्राग्वत्, तद्व्यतिरिक्तस्त्रिधा। तद्यथा–लौकिकः कुप्रावचनिको, लौकात्तरिकश्च।

एतेषां त्रयाणामपि प्रतिपादनार्थमाह–

सच्चित्तादिसमूहो, लोगम्मि गणो उ मल्लपूरादी।
कुप्पावयणम्मी लो–उत्तरओसन्नगीयाणं॥

सचित्तादिसमूहःसचित्तसमूहः, अचित्तसमूहो, मिश्रसमूहश्च द्रव्यगणः। तत्र सचित्तसमूहो यथा–मल्लगणः, तथा पुरे भवः पौरस्तस्य गणः। अचित्तसमूहो यथा–वसुगणः। मिश्रसमूहो यथा–सुवर्णालङ्कारभूषितो मल्लगणः, पौरगणो वा। कुप्रावचने द्रव्यगणो यथा चरकादिगणः। चरकः परिव्राजकः, आदिशब्दाभ्यां दुरङ्गादिपरिग्रहः। लौकोत्तरिको द्रव्यगणः– अवसन्नागीतार्थानां समूहः। किमुक्तं भवति ?–पार्श्वस्थादिगणैर्यदि वा प्रवचनविडम्बककुमतप्ररूपकगणोऽथवाऽगीतार्थगणो लौकोत्तरिको द्रव्यगण इति भावगणो द्विधा–आगमतो, नोआगमतश्च। तत्रागमतो ज्ञाता तत्र चोपयुक्तो नोआगमतः।

आह–

छउमत्थउज्जुयाणं, गीयपुरोगामिणं अगीयाणं।
एसो खलु भावगणो, नाणादितिगं व जत्थऽत्थि॥

गीतार्थानामुद्युक्तानां शक्त्यनुपगूहनेन संयमे प्रवर्तमानानाम् अथवा अगीतानामपि, अपिशब्दो लुप्तोऽत्र द्रष्टव्यः, गीतपुरोगामिनां तथा मिश्रितानां समूहो भावगणः। एष अनन्तरोदितो भावगणो नोआगमतो भावगणः। अथवा किं बहुनोक्तेन? यत्र ज्ञानादित्रिकमस्ति स नोआगमतो भावगणः।

भावगणेऽहिगारो, सो उ अपव्वाविए न संभवति।
इच्छातियगहणं पुण, नियमणहेउं तओ कुणइ॥

भावगणेन नोआगमतो भावगणेनाधिकारः प्रयोजनम्, स च भावगणो यथोक्तरूपः स्वयमप्रव्राजिते नास्ति तस्मात्स्वयं साधवः प्रव्राजनीयास्ते परिवारया कर्त्तव्याः। अथवा प्रमाद्यत्याचार्ये यः परिवारः सको निर्युक्तिकारद्वारगाथायामिच्छात्रिकग्रहणं नियमहेतुं करोतीति। व्य०३ उ०। (तीर्थकृतां गणसंख्या 'तित्थयर' शब्दे वक्ष्यते) मल्लादिगणवद्गणः। स्कन्धे, अनु०। विशे०। परिवारे, आ०म०प्र०। चोरनामगन्धद्रव्ये, गणेशे, स्वपथे, वाच०। पार्श्वस्थादिदीक्षितसाधोर्गणो भवति, न वेति प्रश्नः। उत्तरम्–पार्श्वस्थादिदीक्षितमुनेर्गणो भवति। यदुक्तं महानिशीथतृतीया–ध्ययनप्रान्तप्रस्तावे–''सत्तट्ठ गुरुपरंपरकुसीले इगविहितिगुरु–परंपरकुसीले'' इत्यस्यार्थोऽत्र विकल्पद्वयभणनादेवमवसीयते–यदेकद्वित्रिगुरुपरम्परां यावत्कुशीलत्वेऽपि तत्र साधुसामाचारी सर्वथोच्छिन्ना न भवति। तेन यदि कश्चित्कियोद्धारं करोति तदाऽन्यसांभोगिकादिभ्यश्चारित्रोपसंपदं गृहीत्वैव क्रियोद्धारं करोति, नान्यथेति। किञ्च–कश्चिन्निह्नवपार्श्वे प्रव्रजितस्तान् विहाय साधुसमीपे आगमस्तस्य तदेव प्रायश्चित्तं यदसौ सम्यग् मार्गं प्रतिपद्यते, स एव च तस्य व्रतपर्यायो, न भूय उपास्थापना कर्तव्येति बृहत्कल्पतृतीय–खण्डेपीति। २ प्र० सेन३ उल्ला०।

गणओ अव्य०(गणतस्) गणश इत्यर्थे, गणशे बहुशोऽनेकश इति यावत्। सूत्र०२ श्रु०६ अ०।

गणंत त्रि०(गणयत्) पर्य्यालोचयति, सूत्र०१ श्रु०४ अ०१ उ०। ''भावओ गणंतेणं'' भावतः परमार्थतो गणयताऽऽत्मनोऽन्विच्छता सता। पञ्चा०४ विव)।

गणग पुं०(गणक)ज्योतिषिके, औ०। कल्प०। भ०। गणितज्ञे भाण्डागारिके इति वृद्धाः। ज्ञा०१ श्रु०१ अ०। 'चर्म्मकारस्य द्वौ पुत्रौ, गणको वाद्यपूरकः' तस्मिन् संकीर्णजातौ च। वाच०।

गणट्ठकर त्रि० (गणार्थकर) गणस्य साधुसमुदायस्यार्थान् प्रयोजनानि करोतीति गणार्थकरः। गच्छस्य आहारादिभिरूपष्टम्भके, स्था०४ ठा०३ उ०।

गणण न०(गणन) परिसङ्ख्याने, स्था०१ ठा०१ उ०।

गणणग्ग न०(गणनाग्र) गणनायाः परस्तात्प्रवर्त्तने, नि०चू०१ उ०। आचा०।(विस्तरस्तु 'अग्ग' शब्दे प्रथमभागे १६४ पृष्ठे द्रष्टव्यः)

गणणट्ठाण न०(गणनस्थान) गणने संख्यायां स्थाने, व्य०१ उ०।

गणणा स्त्री०(गणना)गणनाविषये एकद्व्यादिशीर्षप्रहेलिकापर्यन्ते स्थानभेदे, स्था०१ ठा०१ उ०। आचा०। संख्याने, स्था०५ ठा०३ उ०। संख्यायाम्, सूत्र०२ श्रु०२ अ०।

गणणाइया (देशी)चण्ड्याम् दे०ना०२ वर्ग।

गणणाणंतय न०(गणनानन्तक) संख्यामानव्यपेक्षे अनन्तके, स्था०१ ठा०१ उ०।('अणंतग' शब्दे प्र० भागे २६० पृष्ठे व्याख्योक्ता)

गणणातिक्कंत त्रि०(गणनातिक्रान्त)असंख्येये, ''गणणमतिक्कंत त्ति वा आसंखेज्ज त्ति या एगट्ठा'' आ०चू०१ अ०।

गणणायग पुं०(गणनायक) प्रकृतिमहत्तरे, रा०। भ०। औ०। ज्ञा०। स्था०। अनु०।

गणणाम न०(गणनामन्) मल्लविशेषाभिधायके शब्दे, अनु०।

से किं तं गणनामे? गणनामे मल्ले मल्लदिन्ने मल्लधम्मे मल्लसम्मे मल्लदेवे मल्लदासे मल्लसेणे मल्लरक्खिए। से तं गणनामे।

''से किं तं गणनामे'' इत्यादि। इह मल्लादयो गणास्तत्र यस्मिन्नाम्नि वर्तते तस्य तन्नाम गणस्थापनानामोच्यते 'मल्ले मल्लदिन्नो' इत्यादि। अनु०।

गणणासंखा स्त्री०(गणनासङ्ख्या) एकादिकायां संख्यायाम्, अनु०।

से किं तं गणणासंखा ? गणणासंखा एगो गणणं न उवेइ दुप्पभिइसंखातं संखेज्जए असंखेज्जए अणंतए।

''से किं तं गणणासंखा'' इत्यादि। एतावन्त एते इति संख्यातं गणनासंख्या। तत्र (एगो गणणं न उवेइ) एकस्तावद्गणनां संख्यां नोपैति, यत एकस्मिन् घटादौ दृष्टे घटादिवस्त्विदं तिष्ठतीत्येव प्रायः प्रतितिरुत्पद्यते, नैकसंख्याविषयत्वेन। अथवा आदानसमर्पणादिव्यव्यवहारकाले एकं वस्तु प्रायो न कश्चिद्गणयत्यतोऽसंव्यवहार्यत्वादल्पत्वाद्वा नैको गणनासंख्यामवतरितिः; तस्माद् द्विप्रभृतिरेव गणनासंख्या। सा च संख्येयकादिभेदभिन्ना। तद्यथा संख्येयकमसंख्येयकमनन्तकम्। अनु०।

गणणिक्खेव पुं०(गणनिक्षेप) यो यत्रोपाध्यायादिस्थाने स्थितस्तेन इत्वरं तत्पदमात्मसमस्याऽन्यस्य साधोर्निक्षेपे, ध०४ अधि०। ('उद्देसणा' शब्दे द्वितीयभागे ८१६ पृष्ठे गणावच्छेदकस्य निक्षेप उक्तः। स च जिनकल्पिकस्य 'जिणकप्पि'य शब्दे द्रष्टव्यः)

गणतत्ति स्त्री०(गणतप्ति) गणचिन्तायाम् प्रति०।

गणथेर पुं०(गणस्थविर) लौकिकस्य लौकोत्तरिकस्य च व्यवस्थाकारिणि, तद्भङ्क्तुश्च निग्राहके स्थविरभेदे, स्था०१० ठा०। ''सो होति गणथेरो गणथेरगुणेहिं उववेतो'' पं०भा०। ''गणथेरेण कयं गणो न वोक्कामइ'' पं०चू०।

गणधम्म पुं०(गणधर्म)मल्लादिगणव्यवस्थायाम् यथा समपादपातेन विषमग्रह इत्यादि। दश०१ अ०। जैनानां वा कुलसमुदायो गणः कोटिकादिस्तद्धर्मः, तत्सामाचारी। गणसामाचार्याम्, स्था०१० ठा०। गणः समुदायो, निजज्ञातिरिति यावत्। तस्य धर्मः। स्वस्वप्रवर्तिते विवाहादिके व्यवहारे, जं०२ वक्ष०।

गणधर पुं०(गणधर) अनुत्तरज्ञानदर्शनादिधर्मगणं धरतीति गणधरः। अनुत्तरज्ञानदर्शनादिधर्मगणधरे, ''सेज्जभवं गणहरं, जिणपडिमादंसणेण पडिबद्धं।'' आ०म०प्र०। पं०चू०। सूत्रकर्तरि, आ०म०प्र०। तीर्थकृच्छिष्ये, कल्प०६ क्षण। गणनायके, कल्प०७ क्षण। गौतमस्वाम्यादौ, विशे०। स्था०।

वन्दनमुखेन गणधरस्वरूपम्–

एक्कारस वि गणहरे, पवायए पवयणस्स वंदामि।
सव्वं गणहरवंसं, वायगवंसं पवयणं च ॥१०६२॥

अनुत्तरज्ञानदर्शनादिगुणानां गणं धारयन्तीति गणधरास्तानेकादशाऽपि गौतमादीन् वन्दे। कथंभूतान्? इत्याह–प्रकर्षेण प्रधाना आदौ वा वाचकाः प्रवाचकाः प्रवचनस्यागमस्य। एवं तावद् मूलगणधरवन्दनं कृतम्। तथा सर्वं निरवशेषम्, गणधराजम्बूप्रभवशय्यम्भवादयः शेषा आचार्याः, तेषां परम्परया प्रवाहो वंशस्तम्। तथा वाचका उपाध्यायास्तेषां वंशस्तम्। तथा प्रवचनं चागमं वन्दे, इति निर्युक्तिगाथार्थः॥१०६५॥

अथ भाष्यम्–

पुज्जा जहत्थवत्ता, सुयवत्तारो तहा गणहरा वि।
पुज्जा पवायगा पव–यणस्य ते वारसंगस्स ॥१०६३॥
जह वा रायाणत्तं, रायनिउत्तपणओ सुहं लहइ।
तह जिणावरिंदविहियं, गणहरपणओ सुहं लहइ ॥१०६४॥
जह मूलसुयप्पभवा, पुज्जा जिणगणहरा तहा जेहिं।
तदुभयमाणीयमिदं, तेसिं वंसो किह न पुज्जो?॥१०६५॥
जिणगणहरुग्गयस्स वि, सुयस्स को गहणधरणदाणाइं।
कुणमाणो जइ गणहर–वायगवंसो न होज्जाहि ?॥१०६२॥
सीसहिया वत्तारो, गणहिवा गणहरा तयत्थस्स।
सुत्तस्सोवज्झाया, वंसो तेसिं परंपरओ ॥१०६७॥
पगयं पहाणवयणं, पवयणं वारसंगमिह तस्स।
जइ वत्तारो पुज्जा, तं पि विसेसेण तो पुज्जं ॥१०६८॥

षडपि सुगमार्थाः, नवरं यथार्थस्य वक्ता तीर्थकरः पूज्यः, तथा गणधरा अपि गौतमादयः पूज्याः, यतस्तेऽपि प्रवचनस्य द्वादशाङ्गस्य सूत्रतः प्रवाचका एव इति तेषामपि नमस्कारः कृतः। अथवा यथा राज्ञा पृथ्वीपतिना आज्ञातं तदाज्ञापितमर्थादिकं राजनियुक्तानामात्यादीनां प्रणतः सुखेनैव लभते, तथा प्रणतिप्रसन्नैर्जिनवरेन्द्रैर्विहितं विस्तीर्णं मङ्गलादिकं गणधरप्रणत सुखेनैव लभत इति तेषामपि नमस्कारः। अथ सामान्येन शेषाचार्योपाध्यायनमस्कृतौ हेतुमाह–(जहेत्यादि) यथा मूलश्रुतस्य द्वादशाङ्गीसम्बन्धिनोऽर्थस्य सूत्रस्य च प्रश्नवा हेतवो यथासंख्यं जिना गणधराश्च पूज्याः, तथा यैरिदं तयोर्द्वादशाङ्गीसंबन्धिसूत्रार्थयोरुभयमियर्ती कालकलां यावदानीतं, तेषां शेषाचार्यरूपगणधरोपाध्यायानां वंशः कथं न पूज्यः?अपि तु पूज्य एवेति। किञ्च ''जिणेत्यादि'' अथ विशेषतो गणधराणाम्, उपाध्यायानां च नमस्कृतौ हेतुमाह (सीसेत्यादि) यथा गणाधिपा गौतमादयः, गणधरास्तु जम्बूस्वाम्यादयः शेषाचार्याः, तदर्थस्य द्वादशाङ्गार्थ स्य वक्तारो व्याख्यातारः सन्तः शिष्यवर्गस्य हिताः, तद्धितत्वाच्च नमस्क्रियन्ते; तथा तत्सूत्रस्य वक्तारः पाठयितारः सन्त उपाध्याया अपि शिष्यहिता एव। वंशश्च तेषामेवोपाध्यायानां परम्परकः पारम्पर्यव्यवस्थितः समूहः, अतः शिष्यहितत्वात्सोऽपि नमस्क्रियते शेषं सुबोधमिति। विशे०। अ०म०। आ०चू०।

अथ कस्य तीर्थकृतः कियन्तो गणधरा इति दर्श्यते–

''एवं नवसु वि –खेत्ते–सुपुरिमपच्छिममज्झिमजिणाणं च।
वोच्छं गणहरसंखं, जिणाण नामं च पढमस्स ॥४७॥
उसभजिणे चुलसीति, गणहर उसभसेण आदी य।
अजियजिणिंदे नउमित्तु सीहसेणो भवे आदी ॥४८॥
चारुय संभवजिणे, पंचाणउती य गणहरा तस्स।
पढमो य वज्जनाभो, अभिनंदण तियधिकसयं तु ॥४९॥
सोलसयं सूमइ सओ–वमरावियं पढमगणहरो तस्स।
सुज्जो सुप्पभजिणो, सयमेकोऽरगणहराणं ॥५०॥
होइ सुपासवियज्झो, पंचाणउतीय गणहरा भवे तस्स।
नंदो य सीयलजिणे, एकासीतिं मुणेयव्वा ॥५१॥
सिज्जंसे छसत्तरी, पढमो सिस्सो य गोच्छुभो होइ।
छावट्ठी य सुभूमो, बोधव्वा वासपुज्जस्स ॥५२॥
विमलजिणे छप्पन्ना, गणहरपढमो य मंदरो होइ।
पण्णासाऽणंतजिणे, पढमो सिस्सो जसो नाम ॥५३॥
धम्मस्स हाइऽरिट्ठो, तेयालीसं च गणहरा तस्स।
चक्की उच्छेय पढमो, छत्तालीसा य संतिजिणे ॥५४॥
कुंथुस्स भवे संघो, सत्त तीसं च गणहरा तस्स।
कुंभो य अरजिणिंदे, तेत्तीसं च गणहरा तस्स ॥५५॥
भिसंसिगो मल्लिजिणे, अट्ठावीसं च गणहरा होंति।
मुणिसुव्वयस्स मल्ला, अट्ठारस गणहरा तस्स ॥५६॥
सुंभो नमिजिणवसभे, एक्कारस गणहरा चरिमदेहा।
नेमिस्स वि अट्ठारस, गणहर पढमो वेरदत्तो ॥५७॥
पासस्स अज्जदिण्णो, पढमो अट्ठेव गणहरा भणिया।
जिणवीरे एक्कारस, पढमो से इंदभूई उ ॥५८॥
गणहरसंखा भणिया, जं नामो पढमगणहरो तस्स ''। ति०।

भगवत आदितीर्थकरस्य चतुरशीतिर्गणधराः, अजितस्वामिनः पञ्चनवतिः, संभवनाथस्य द्व्युत्तरं शतम्, अभिनन्दनस्य षोडशोत्तरं शतं, सुमतिनाथस्य परिपूर्णं शतं, पद्मप्रभस्य सप्ताधिकं शतं, सुपार्श्वस्य पञ्चनवतिः, चन्द्रप्रभस्य त्रिनवतिः, सुविधिस्वामिनोऽष्टाशीतिः, शीतलस्य एकाशीतिः, श्रेयांसस्य षट्सप्ततिः, वासुपूज्यस्य षट्षटिः, विमलस्य सप्तपञ्चाशत्, अनन्तजिनस्य पञ्चाशत्, धर्मस्य त्रिचत्वारिंशत्, शान्तिनाथस्य षट्त्रिंशत्, कुन्थुनाथस्य पञ्चत्रिंशत्, अरजिनस्य त्रयस्त्रिंशत्, मल्लिस्वामिनो अष्टाविंशतिः, मुनिसुव्रतस्य अष्टादश, नमिनाथस्य सप्तदश, अरिष्टनेमेरेकादश, पार्श्वनाथस्य दश, वर्द्धमानस्वामिश्च एकादशैवेति। एतद् ऋषभादीनां चतुर्विंश-

तस्तीर्थकृतां यथाक्रम गणधराणां मूलसूत्रकर्तृणां प्रमाणम्। प्रव०१५ द्वार। आ०म०।('मित्थयर' शब्देऽपि वक्ष्यते)

पासस्स णं अरिहा पुरिसादाणीअस्स अट्ठ गणा अट्ठ गणहरा होत्था। तं जहा–''सुभे य सुभघोसे य, वसिट्ठे बंभयारिय। सोमे सिरीधरे चेव, वीरभद्दे जसेइ य''।१।

पार्श्वस्यार्हतस्त्रयोविंशतितमतीर्थकरस्य (पुरिसादाणी अस्स त्ति) पुरुषाणां मध्ये आदानीयआदेशः पुरुषादानीयः, तस्याष्टौ गणाः समानवाचनाक्रियाः साधुसमुदायाः, अष्टौ गणधरास्तन्नायकाः सूरयः इदं चैतत्प्रमाणं स्थानाङ्गे, पर्यूषणकल्पे च श्रूयते। केवलमावश्यकेऽन्यथा। तत्र ह्युक्तम्–''दसनवगं गणाण माणं जिणिंदाणं'' ति। कोऽर्थः? पार्श्वस्य दशगणाः, गणधराश्च। तदिह द्वयोरल्पायुष्कत्वादिना कारणेनाविवक्षाऽनुमन्तव्येति। स०८ सम०।

वीरस्य

समणस्स णं भगवओ महावीरस्स एक्कारस गणा एक्कारस गणहरा होत्था। तं जहा–इंदभूई अग्गिभूई वाउभूई विअत्ते सोहम्मे मंमिए मोरपुत्ते अकंपिए अयलभाए मेअज्जे पभासे। स०११ सम०। कल्प०।

अथैषां सर्वेषां वक्तव्यता–

उप्पन्नम्मि अणंते, नट्ठम्मि य छाउमत्थिए नाणे।
राईए संपत्तो, महसेणवणम्मि उज्जाणे॥

उत्पन्ने प्रादुर्भूते अनन्तज्ञेयविषये केवलज्ञाने, नष्टे च छाद्मस्थिके मत्यादिरूपे ज्ञाने देशज्ञानव्यवच्छेदेन केवलज्ञानवद्भावात्। भावितं चैतत् प्रथमपीठिकायाम्। रात्रौ संप्राप्तो महसेनवने उद्याने, किमिति चेत्? उच्यते भगवतो ज्ञानरत्नोत्पत्तिसमनन्तरमेव देवाश्चतुर्विधा अप्यागता आसन् अत्यद्भुतां च प्रहर्षवन्तो ज्ञानोत्पादमहिमां चक्रुः तत्र भगवानबुध्यते, नात्र कश्चित् प्रव्रज्याप्रतिपत्ता विद्यते। तत एतद्विज्ञाय न विशिष्टधर्मकथनाय प्रवृत्तवान्, केवल कल्प एष यत्र ज्ञानमुत्पद्यते, तत्र जघन्यतोऽपि मुहूर्त्तमात्रमवस्थातव्यम्, देवकृता च पूजा प्रतीच्छना, धर्मदेशना च कर्त्तव्येति संक्षेपतो धर्म्मदेशनां कृत्वा दशसु योजनेषु मध्यमा नाम नगरी, तत्र सोमिलार्यो नाम ब्राह्मणः, स यज्ञं यष्टुमुद्यतः, तत्र चैकादशोपाध्यायाः खल्वागताः, ते च चरमशरीरा भवान्तरोपार्जितगणधरलब्धयश्च, तान् विज्ञायासंख्येयाभिर्देवकोटिभिः परिवृतो देवोद्द्योतेन दिवस इवाशेषं पन्थानमुद्द्योतयन् देवपरिकल्पितेषु सहस्रपत्रेषु नवनीतस्पर्शेषु पद्मेषु चरणन्यासं विदधानो मध्यमनगर्यां महसेनवनोद्यानं संप्राप्तः।

अमरनररायमहितो, पत्तो वरधम्मचक्कचट्टित्तं।
वीयम्मि समोसरणे, पावाए मज्झिमाए उ॥

अमरा देवाः, नरा मनुष्याः, तेषांराजनः तैर्महितः पूजितः, प्राप्तो धर्म्मवरचक्रवर्तित्वं धर्म्मवरप्रभुत्वम्। द्वितीयं पुनः समवसरणम् अपिशब्दःपुनरर्थो, पापायां मध्यमायां प्राप्त इत्यनुवर्त्तते, ज्ञानोत्पत्तिस्थानकृतपूजापेक्षया चास्याभ्यधिकता।

तत्थ किर सोमिलज्जो, त्ति माहणो तस्स दिक्खकालम्मि।
पउरा जणजाणवया, समागया जन्नवाडम्मी॥

तत्र पापायां मध्यमायां, किलशब्दः पूर्ववत् सोमिलार्थ इति ब्राह्मणः, तस्य दीक्षाकाले योगकाले पौरा विशिष्टनगरनिवासिलोकाः, जनाः सामान्यलोकाः, जानपदा नानाजनपदभवा लेकाः समागता यज्ञपाटे। अत्रान्तरे–

एगंते य विवित्ते, उत्तरपासम्मि जन्नवाडस्स।
तो देवदाणविंदा, करें ति महिमं जिणिंदस्स॥

एकान्ते विविक्ते यज्ञपाटस्योत्तरपार्श्वे ततो देवदानवेन्द्रा जिनेन्द्रस्य महिमां कुर्वन्ति। पाठान्तरं वा ''कासी महिमं जिणिंदस्स'' कृतवन्त इत्यर्थः।

अमुमेवार्थं सविशेषं भाष्यकार आह–

भवणवई वाणमंतर, जोइसवासी विमाणवासी य।
सव्विड्ढीएँ सपरिसा, कासी नाणुप्पयामहिमं॥

भवनपतिव्यन्तरज्योतिर्वासिनो विमानवासिनश्च सपर्षदः सर्वर्द्ध्या ज्ञानोत्पत्तिमहिमामकार्षुः कृतवन्तः॥आ०म०द्वि०। तत्र भगवतः समवसरणे निष्पन्ने सति अत्रान्तरे देवकृतजयशब्दसंमिश्रदिव्यदुन्दुभिशब्दा कर्णनोत्फुल्लनयनगगनावलोकनोपलब्धस्वर्गवधूसमेतसुरवृन्दानां यज्ञपाटकसमभ्यागतजनानां परिघोषोऽभवत्–अहो! स्विष्टं यद्विग्रहवन्तः खल्वागता देवा इति तथा चाह–

तं दिव्वदेवघोसं, सोऊणं माणुसा तहिं तुट्ठा।
अहों जण्णिएण इट्ठं, देवा किर आगया इह इ॥

तं दिव्यदेवघोषं श्रुत्वा मनुष्यास्तत्र यज्ञपाटके तुष्टाः, अहो विस्मये, यज्ञेन जयति लोकानिति याजिकः, तेन इष्टं यतो देवाः किल आगता अत्रेति। किलशब्दोऽसंशये एव, तेषामप्यत्रागमनात् तत्र यज्ञपाटके वेदाऽर्थविद एकादशापि गणधराऋत्विजः समन्वागताः। तथा चाह–

एक्कारस वि गणहरा, सव्वे उन्नयविसालकुलवंसा।
पावाएँ मज्झिमाए, समोसढा जन्नवाडम्मी॥

एकादशापि गणधराः समवसृता यज्ञपाटे इति योगः। किंभूताः? इत्याह–सर्वे निरवशेषा उन्नताः प्रधानजातित्वात् विशालाः पितामहपितृमितृव्याद्यनेकजनसमाकुलाः। कुलान्येव वंशा अन्वया येषां ते तथाविधाः, पापायां मध्यमायां समवसृता एकीभूता यज्ञपाटे।

आह–किमाख्याःकिंनामानो वा ते गणधरा इति? उच्यते–

पढमे उत्थ इंदभूई, वीए पुण होइ अग्गिभूइ त्ति।
तइए य वाउभूई, ततो वियत्ते सुहम्मे य॥
मंडियमोरियपुत्ते, अकंपिए चेव अयलभाया य।
भेयज्जे य पभासे, गणधरा हों ति वीरस्स॥

प्रथमोऽत्र गणधरमध्ये इन्द्रभूतिर्द्वितीयः पुनर्भवति अग्निभूतिस्तृतीयो वायुभूतिः, चतुर्थो व्यक्तः, पञ्चमः सुधर्म्मा स्वामी, षष्ठो मण्डिकपुत्रः सप्तमो मौर्यपुत्रः, पुत्रशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते, अष्टमोऽकम्पिकः नवमोऽचलभ्राता, दशमो मेतार्य्यः, एकादशः प्रभासः। एते गणधरा भवन्ति वीरस्य॥

जं कारणनिक्खमणं, वोच्छं एएसि आणुपुव्वीए।
तित्थं व सुहम्मातो, निरपच्चा गणहरा सेसा॥

यत्कारणं योन्निमित्तं निश्रमणं यत्तदोर्नित्याभिसंबन्धात् तद्, एतेषां गणधराणामानुपूर्व्या परिपाट्या वक्ष्ये, तथा तीर्थं सुधर्म्मात् पञ्चमाद् गणधराद् जातं यतो निरपत्याः शिष्यरहिताः शेषा इन्द्र भूत्यादयो गणधराः।

तत्र जीवादिसंशयापनोदनिमित्तं गणधरनिष्क्रमणमितिकृत्वा, यो यस्य संशयस्तदुपदर्शनार्थमाह–

जीवे कम्मे तज्जी–व भूय तारिसय बंध मुक्खे य।
देवा नेरइया वा, पुन्ने परलोय निव्वाणे ॥

आद्यस्य गणभृतो जीवे संशयः–किमस्ति? नास्तीति। द्वितीयस्य कर्मणि। यथा–ज्ञानावरणीयादिलक्षणं कर्मास्ति? किं वा नास्तीति। तृतीयस्य (तज्जीवेति) किं तदेव शरीरं, स एव जीवः? किं वाऽन्य इति, न पुनर्जीवसत्तायां तस्य संशयः। चतुर्थस्य भूतेषु संशयः– किं पृथिव्यादीनि भूतानि सन्ति? किं वा नेति। पञ्चमस्य(तारिसय त्ति) किं यो यादृश इह भवे सोऽन्यस्मिन्नपि तावत्तादृश एव? उतान्यथाऽपीति संशयः। षष्ठस्य बन्धो मोक्षश्च तस्मिन् संशयः। यथा–बन्धमोक्षौ स्तः, किं वा नेति? आह–कर्मसंशयादस्य को विशेषः? उच्यते–स कर्मसत्तागोचरः, अयं तु तदस्तित्वे सत्यपि जीवकर्मसंयोगविभागगोचर इति सप्तमस्य किं देवाः सन्ति? किं वा न सन्तीति संशयः। अष्टमस्य नारकाः संशयगोचराः–किं ते सन्ति? न सन्तीति? नवमस्य पुण्यसंशयः–कर्मणि सत्यपि किं पुण्यमेव प्रकर्षप्राप्तं प्रकृष्टसुखहेतुस्तदेव चाऽपचीयमानमत्यन्तस्वल्पावस्थं दुःखस्य, उत तदतिरिक्तं पापमस्ति? आहोस्विदेकमेवोभयरूपम्, उत स्वतन्त्रमुभयमिति। दशमस्य परलोके संशयः, सत्यप्याऽऽत्मनि परलोको भवान्तरलक्षणः किमस्ति? किं वा नास्तीति? एकादशस्य निर्वाणे संशयः–निर्वाणं किमस्ति, किं वा नेति? आह–बन्धमोक्षसंशयादस्य को विशेषः? उच्यते–स हि उभयगोचरः, अयं तु केवलविभागविषय एव। तथा किं संसाराभावमात्र एव मोक्षः?किं वा अन्यः? इत्यादि।

साम्प्रतं गणधरपरिवारप्रदर्शनार्थमाह–

पंचण्हं पंचसया, अद्धट्ठसया य हौंति दोण्ह गणा।
दोण्हं तु जुयलगाणं, तिसयो तिसयो हवइ गच्छो ॥

पञ्चानामाद्यानां गणधराणां प्रत्येकं प्रत्येकं परिवारः पञ्चशतानि, तथा अर्द्धं चतुर्थस्य येषु तानि अर्द्धचतुर्थानि अर्द्धचतुर्थानि शतानि मान ययोस्तौ अर्द्धचतुर्थशतौ भवति द्वयोः प्रत्येकं गणौ। इह गणः समुदाय एवोच्यते, न पुनरागमिकः। तथा द्वयोर्गणधरयुगलकयोः प्रत्येकं त्रिशतस्त्रिशतो गच्छः। किमुक्तं भवति? उपरितनानां चतुर्णां यणभृतां प्रत्येकं त्रिशतमान परिवार :। आ०म०द्वि०। आव०। कल्प०। (गणधरसंशयाऽपनयनवक्तव्यता तत्तत्संशयविषयवाचक शब्देषु द्रष्टव्या)

क्षेत्रदिद्वाराणि–

साम्प्रतमेतेषामेव वक्तव्यताऽशेषप्रतिपादनार्थं द्वारगाथामाह–

खेत्ते काले जम्मे, गोत्तमगारछउमत्थपरियाए।
केवलि य आउ आगम,परिनिव्वाणे तवे चेव ॥२०२५॥

अत्र एकारान्ताः शब्दाःप्राकृतत्वात् प्रथमाद्वितीयान्ता द्रष्टव्याः। ततोऽमर्थःगणधरानधिकृत्य क्षेत्रं जनपदग्रामनगरादि वक्तव्यं, जन्मभूमिर्वाच्येत्यर्थः। तथा कालो नक्षत्रचन्द्रयोगोपलक्षितो वाच्यः। तथा जन्म वक्तव्यं, जन्म च मातापित्रायत्तमित्यतो मातापितरौ वाच्यौ तथा गोत्रं यद् यस्य तद्वाच्यम्। ''अगारछउमत्थपरियाए'' इति। पर्यायशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते, अगारपर्यायो गृहस्थ पर्यायो वाच्यः, तथा छद्मस्थपर्यायश्चेति। तथा केवलिपर्यायो वाच्यः, आयुःसर्वायुष्कं वाच्यं, तथा आगमो वाच्यः कस्य क आगम आसीदिति। तथा परिनिर्वाणं वाच्यम्, कस्य भगवति जीवति परिनिर्वाणमासीत् कस्य वा भगवति परिनिर्वृते इति। तथा तपो वक्तव्यम्–यथा किंकेनापवर्गं गच्छता तप आचरितमिति। च शब्दात्संहननादि च वक्तव्य मिति गाथासमुदायार्थः।

इदानीमवयवार्थः प्रतिपाद्यते, तत्राद्यद्वारावयवार्थाभिधित्सया प्राह–

मगहा गोव्वरगामे, जाया तिन्नेव गोयमसगोत्ता।
काल्लागसन्निवेसे, जाओ वियतो सुहम्मो य ॥६६॥

मगधेषु जनपदेषु गोर्वरग्रामे जातास्त्रय एवाद्या गणधराः। कथमेते त्रयोऽपीत्यत आह– गौतमसगोत्राः, समानं गोत्रं येषां 'सगोत्राः, गौतमेन गोत्रेण सगोत्राः गौतमसगोत्राः, गौतमाभिधगोत्रयुक्ता इत्यर्थः। तथा कोल्लाकसन्निवेसे जातो व्यक्तः सुधर्म्मस्तु।

मोरियसन्निवेसे, दोंभायरो मंडिमोरिया जाया।
अयलो य कोसलाए, मिहिलाएँ अकंपितो जातो ॥६७॥

मौर्यसन्निवेशे द्वौभ्रातरौ मण्डिकमौर्यौ जातौ, अचलश्च कोशलायां, मिथिलायामकम्पितो जात इति।

तुगियसन्निवेसे, मेयज्जो वच्छभूमिए जातो।
भयवं पि च प्पभासे, रायगिहे गणहरो जाओ ॥६८॥

तुङ्गिकसन्निवेशे वत्सभूमौ, कौशाम्बीविषये इत्यर्थः; मेतार्यो जातः। भगवानपि च प्रभासे राजगृहे गणधरो जातः।

सम्प्रति कालद्वाराऽवयवार्थप्रतिपाद्यः। कालश्च नक्षत्रचन्द्रयो– गोपलक्षित इति यद् यस्य गणभृतो नक्षत्रं तदभिधित्सुराह

जेट्ठा कत्तिय साई, सवणो हत्थुत्तरा मघाओ य।
रोहिणि उत्तरसाढा,मिगसिर तह अस्सिणी पुस्सो ॥६९॥

इन्द्रभूतेर्जन्मनक्षत्रं ज्येष्ठा, अग्निभूतेः कृत्तिका, वायुभूतेः स्वातिः, व्यक्तस्य श्रवणः, सुधर्मस्य हस्त उत्तरो यासां ता हस्तोत्तराः, उत्तरफल्गुन्य इत्यर्थः। मण्डिकस्य मघा, मौर्यस्य रोहिणी, अकम्पितस्य उत्तराषाढाः, अचलभ्रातुर्मृगशिराः, मेतार्यस्य अश्विनी, प्रभासस्य पुष्यः।

अधुना जन्मद्वारं प्रतिपाद्यं, जन्म च मातापित्रायत्तमिति गणभृतां मातापितरावेव प्रतिपादयति–

वसुभूई धणमित्ते, धम्मिल धणदेव मोरिए चेव।
देवे य वसू दत्ते, वलेय पियरो गणहराणं ॥७०॥

आद्यानां त्रयाणां गणभृतां पिता वसुभूतिः, व्यक्तस्य धनमित्रः, सुधर्मस्य धम्मिलः, मण्डिकस्य धनदेवः, मौर्यस्य मौर्यैः, अङ्कपितस्य देवः, अचलभ्रातुर्वसुः, मेतार्यस्तु दत्तः, प्रभासस्य बलः, एवं पितरो गणधराणां भवन्ति।

पुढवि वारुणि भद्दिला, य विजयदेवा तहा जयंती य।

नंदा य वरुणदेवा, अइभद्दा मायरो चेव ॥७१॥

आद्यानां त्रयाणां गणभृतां माता पृथिवी, व्यक्तस्य वारुणी, सुधर्मस्य भहिला, मण्डिकमौर्यपुत्राणां विजयादेवा पितृभेदेन, धनदेवे हि पञ्चत्वमुपगते मण्डिकपुत्रसहिता मौर्येण धृता, ततो मौर्या जातः। अविरोधश्च तस्मिन् देशे इत्यदूषणम्। जयन्तीनामा अकम्पितस्य, नन्दा अचलभ्रातुः, वरुणदेवा मेतार्यस्य, अतिभद्रा प्रभासस्य।

संप्रति गोत्रद्वाराभिधानार्थमाह–

तिन्नि य गोयमगोत्ता, भारद्दाअऽग्गिवेसवासिट्ठा।
कासवगोयमहारिय, कोडिन्न दुगं च गोत्ताइ ॥७२॥

अत्र आद्या गणभृतो गौतमगोत्राः भारद्वाजो व्यक्तः, अग्निवैश्यायनः सुधर्मः, वासिष्ठो मण्डिकः, काश्यपो मौर्यिकः, गौतमोऽकम्पितः, हारीतो अचलभ्राता, कौण्डिन्यो मेतार्यः प्रभासश्च।

अधूना अगारपर्यायद्वारप्रतिपादनार्थमाह–

पन्ना छायलीसा, वायाला होंति पन्नपन्ना य।
पणसट्ठी वावन्ना, अडयालीसा य छायाला ॥७३॥
छत्तीसा सोलसगं, आगारवासो भवे गणहराणं।
छउमत्थपरीयागं, अहक्कमं कित्तइस्सामि ॥७४॥

इन्द्रभूतेरगारपर्यायः पञ्चाशद्वर्षाणि, अग्निभूतेः षट्चत्वारिंशत्, वायुभूतेर्द्वाचत्वारिंशत् व्यक्तस्य पञ्चाशत्, सुधर्मणः पञ्चाशत्, मण्डिकस्य पञ्चषष्टिः, मौर्यस्य द्विपञ्चाशत्, अकम्पितस्याऽष्टाचत्वारिंशत्, अचलभ्रातुः ष्टचत्वारिंशत्, मेतार्यस्य षअ् त्रिंशत्, प्रभासस्य षोडश॥ अत ऊर्द्धवं छद्मस्थपर्यायं यथाक्रमं कीर्तयिष्यामि।

प्रतिज्ञातमेवाह –

तीसा वारस दसगं, वारस वायल चोद्दसदुगं च।
नवगं वारस दस अत्थद्वगं च छउमत्थपरियाओ ॥७५॥

इन्द्रभूतेश्छद्मस्थपर्यायस्त्रिंशद्वर्षाणि, अग्निभूतेर्द्वादश, वायुभूतेर्वर्षदशकं, व्यक्तस्य द्वादश, सुधर्मणो द्वाचत्वारिंशत् मण्डिकस्य चतुर्दश, अकम्पितस्य वर्षनवकं, अचलभ्रातुर्द्वादश वर्षाणि मेतार्यस्य दश, प्रभासस्य वर्षाष्टकम् एषामेव यथाक्रमं छद्मस्थपर्यायः।

केवलिपर्यायपरिज्ञानोपायमाह–

छउमत्थपरीयागं, अगारवासं च वुक्कसित्ताणं।
सव्वाउयस्स सेसं, जिणपरियागं वियाणाहि ॥७६॥

छद्मस्थपर्यायमगारवासं च व्यवकलय्य यत् सर्वायुष्कस्य शेषं तच्च जिनपर्यायं विजानीहि।

स चायं जिनपर्यायः–

बारस सोलस अट्ठा-रसेव अट्ठारसेव अट्ठेव।
सोलस सोलस तह ए-गवीस चोद्दस सोलस य ॥७७॥

इन्द्रभूतेः केवलिपर्यायो द्वादशवर्षाणि, अग्निभूतेः षोडश, वायुभूतेरष्टादश, व्यक्तस्याष्टादश, सुधर्मणोऽष्टौ, मण्डिकस्य षोडश, मौर्यपुत्रस्य षोडश, अकम्पितस्य एकविंशतिः, अचलभ्रातुश्चतुर्दश, मेतार्यस्य षोडश, प्रभासस्य षोडश।

सम्प्रति सर्वायुष्कमाह–

बाणउई चउहत्तरि, सत्तरि तत्तो भवे असीई अ।
एगं च सयं तत्तो, पणनउई चेव तेसीई ॥७८॥
अट्ठत्तरिं च वासा, तत्तो वावत्तरिं च वासाइं।
बावट्ठी चत्ता खलु, सव्वगणहराउयं एयं ॥७९॥

इन्द्रभूतेः सर्वायुर्द्विनवतिवर्षाणि, अग्निभूतेश्चतुःसप्ततिः, वायुभूतेः सप्ततिः, व्यक्तस्य अशीतिः, सुधर्म्मस्य एकं वर्षशतं, मण्डिकस्य पञ्चनवतिवर्षाणि, मौर्यपुत्रस्याशीतिः। अकम्पितस्याष्टासप्ततिः, अचलभातुर्द्वासप्ततिः, मेतार्यस्य द्वाषष्टिः, प्रभासस्य चत्वारिंशत्। एवं क्रमेण गणधराणां सर्वायुष्कमिति। आ०म०द्वि०। आव०।

थेरे णं इंदभूती बाणउइवासाइं सव्वाउयं पालइत्ता सिद्धे बुद्धे॥

स्थविर इन्द्रभूतिर्महावीरस्य प्रथमगणनायकः। स च गृहस्थपर्यायं पञ्चाशतं वर्षाणि, त्रिंशत् छद्मस्थपर्यायं, द्वादशं च केवलित्वं पालयित्वा सिद्ध इति सर्वाणि द्विनवतिरिति। स०९२ सम०।

थेरे णं अग्गिभूई गणहरे चोवत्तरिं वासाइं सव्वाउयं पालइत्ता सिद्धे० जाव प्पहीणे॥

तत्राऽग्गिभूतिरिति महावीरस्य द्वितीयो गणधरः गणनायकः, तस्येह चतुःसप्ततिवर्षाण्यायुः। अत्र चायं विभागः–षट्चत्वारिंशद्वर्षाणि गृहस्थपर्यायः, द्वादश छद्मस्थपर्यायः, षेडश केवलिपर्याय इति। स०७४ सम।

थेरे णं अकंपिए अट्ठहत्तरिं वासाइं सव्वाउयं पालइत्ता सिद्धे० जाव प्पहीणे॥

अकम्पितः स्थविरो महावीरस्याऽष्टमो गणधरः, तस्य चाष्टसप्ततिवर्षाणि सर्वायुः। कथम्? गृहस्थपर्याये अष्टचत्वारिंशत्, छद्मस्थापपर्याये नव, केवलिपर्याये चैकविंशतिरिति। स०७८ सम०।

आगमद्वारप्रतिपादनार्थमाह–

सव्वे माहणा जच्चा, सव्वे अज्झावया विऊ।
सव्वे दुवालसंगी य, सव्वे चोद्दसपुव्विणो ॥७७॥

सर्वे ब्राह्मणा जात्याः प्रशस्तजातिकुलोत्पन्ना। तथा सर्वे अध्यापका उपाध्यायाः, विदन्तीति विदो विद्वांसः, चतुर्दशविद्यास्थानपारगमनात्। तानि चतुर्दशविद्यास्थानान्यमूनि–''अङ्गानि वेदाश्चत्वारो, मीमांसा न्यायविस्तरः। धर्मशास्त्रं पुराणं च, विद्या ह्येताश्चतुर्दश''॥१॥ तत्राऽङ्गानि षट्। तद्यथा–शिक्षा, कल्पो, व्याकरणं, निरुक्तं, छन्दो, ज्येतिषं चेति। एतेन गृहस्थागम उक्तः। लोकोत्तरागमप्रतिपादनार्थमाह–सर्वे द्वादशाङ्गिनः, तत्र स्वल्पेऽपि द्वादशाङ्गाध्ययने द्वादशाङ्गिनोऽभिधीयन्ते। ततः संपूर्णद्वादशाङ्गज्ञापनार्थमाह–सर्वे चतुर्दशपूर्विणः।

परिनिर्वाणद्वारमाह –

परिनिव्वुया गणहरा, जीवंते नायए न व जणाओ।
इंदभूइ सुहम्मो य, रायगिहे निव्वुए वीरे ॥७८॥

जीवति ज्ञातके ज्ञातकुलोत्पन्ने, वीरे भगवति, नव जनाः, इन्द्रभू-

तिः, सुधर्मश्च स्वामिनि वीरे निर्वृते परिनिवृतः। तत्रापि प्रथममिन्द्रभूतिः, पश्चात् सुधर्मस्वामी। यश्च यश्च कालं करोति स सुधर्मस्वामिनो गणं ददाति, तेषां तथाविधसन्तानप्रवृत्तिहेतु -भूजाचार्यसंभवात्। सुधर्मस्वामी तु कालं कुर्वन्निजशिष्याय जम्बूस्वामिने गणं समर्पितवान्।

अधुना तपोद्वारमाह–

मासं पाओवगया, सव्वे वि य सव्वलद्धिसंपन्ना।
वज्जरिसहसंघयणा, समचउरंसा य संठाणे॥

सर्व एव गणधरा मासं यावत् पादपोपगमनगताः। द्वारगाथोपन्यस्तशब्दार्थमाह–सर्वेऽपि सर्वलब्धिसंपन्नाः, आमर्षौषध्याद्यशेषलब्धिसंपन्नाः। तथा वज्रर्षभसंहननाः समचतुरस्राश्च संहननाः। समचतुरस्राश्च संस्थाने संस्थानविषये। आ०म०द्वि० विशे०। एवं चतुश्चत्वारिंशच्छतानि द्विजाः प्रव्रजिताः। तत्र मुख्यानां त्रिपदीग्रहणपूर्वकमेकादशाङ्गचतुर्दश-पूर्वरचना गणधरपदप्रतिष्ठा च। तत्र द्वादशाङ्गीरचनाऽनन्तरं भगवाँस्तेषां तदनुज्ञां करोति, शक्रश्च दिव्यं वज्रमयस्थालं दिव्यचूर्णानां भृत्वा त्रिभुवनस्वामिनः सन्निहितो भवति। ततः स्वामी रत्नमयसिंहासनादुत्थाय संपूर्णा चूर्णमुष्टिं गृह्णति, ततो गौतमप्रमुखा एकादशापि गणधरा ईषदवनता अनुक्रमेण तिष्ठन्ति। देवास्तूर्यध्वनिगीतादिनिरोधं विधाय तूष्णीकाः शृण्वन्ति। ततो भगवान् पूर्वं भणति–''गौतमस्य द्रव्यगुणपर्यायैस्तीर्थमनुजानामीति,'' चूर्णाश्च तन्मस्तके क्षिपति। ततो देवा अपि चूर्णपुष्पगन्धवृष्टिं तदुपरि कुर्वन्ति, गणं च भगवान् सधर्मस्वामिनं धुरि व्यवस्थाप्यानुजानाति। इति॥१२१॥ कल्प०६ क्षण। ती०। ''अत्थं भासइ अरहा, सुत्तं गंथंति गणहरा णिउणं''(१११६) इति।(गणधारिणं सूत्रकरणं 'सुय' शब्दे चतुर्थभागे व्याख्यास्यते) विशे०। सूत्र०। अत्यन्ताप्तगोचरश्रद्धा–स्थैर्यवतोऽनुष्ठानात्तीर्थकृत्यं, मध्यमश्रद्धासमन्विताद्गणधरत्वम्। यो०बिं०। गणस्य गच्छस्य धारकत्वाद्गणधरः। उत्त०२६ अ०। गणनायके आचार्ये, स्था०८ ठा०। संथा०। गणधरश्च यैर्गुणैर्युक्तस्य नरस्य गणधरणार्हत्वं भवति तद्युक्त एवेति। स्था०८ ठा०। यस्त्वाचार्यदेशीयो गुर्वादेशात्साधुगणं गृहीत्वा पृथग् विहरति स गणधरः। आचा०२ श्रु०१ अ०१० उ०।''चिन्तयत्येवमेवैतत्, स्वजनादिगतं तु यः। तथाऽनुष्ठानतः सोऽपि, धीमान् गणधरो भवेत्''॥१॥ द्वा०१५ द्वा०। पं०सं०। (अथा कीदृशः कथं वा आचार्यपदे स्थाप्यते इति 'आयरिय' शब्दे द्वि० भागे ३०३ पृष्ठे उक्तम्)

नवरमिह भिक्षोर्गणधारणासूत्रम्–

भिक्खू य इच्छेज्जा गणं धारित्तए नो कप्पइ से थेरे अणापुच्छित्ता गणं धारित्तए। कप्पइ थेरे आपुच्छित्ता गणं धारित्तए थविरा य से वियरेज्जा। एवं से कप्पइ गणं धारित्तए थेरा य से एगे वियरेज्जा। एवं से णो कप्पइ गणं धारित्तए, जण्णं थेरेहिं अविदिन्नं गणं धारेति से संतराए छेए वा परिहारे वा जे ते साहम्मिया उट्ठाए विहरंति। णत्थि णं तेसिं छेदे केइ वा परिहारे वा॥२॥

अत्थास्य सूत्रस्य कः संबन्धः? तत आह–

दुहतो वि पलिच्छन्ने, अप्पडिसेहो त्तऽतिप्पसंगाओ।
धारेज्ज अणापुच्छा, गणमेसो सुत्तसंबंधो॥

द्विधातोऽपि द्रव्यतो भावतश्च, परिच्छन्ने परिच्छदोपेत आचार्यस्त्रयमपि च द्विधातः परिच्छन्ने गणधारणस्य न प्रतिषेध इति कृत्वा किमनुज्ञया स्थविराणां कार्यमिति बुद्धया माऽतिप्रसंगतः स्थविराणामनासपृच्छया गणं धारयेदतस्तत्प्रतिषेधार्थमिदं सूत्रमारभ्यते। एषोऽधिकृतसूत्रस्य संबन्धः। अनेन संबन्धेनायातस्याऽस्य व्याख्याभिक्षुरिच्छेद् गणं धारयितुम्। तत्र (से) तस्य न कल्पते स्थविरान् गच्छगतान् पुरुषान् अनापृच्छ्य गणं धारयितुम्। कल्पते (से) तस्य स्थविरान् आपृच्छ्य गणं धारयितुम, स्थविराश्च (से) तस्य वितरेयुरनुजानीयुर्गणधारणम्, पूर्वोक्तैः कारणैरर्हत्वात्, तत एवं सजि (से) तस्य कल्पते गणं धारयितुम्। स्थविराश्च (से) तस्य न वितरेयुः, गणधारणानर्हत्वात्, एवं सति न कल्पते गणं धारयितुम्। यः पुनः स्थाविरैरवितीर्णमननुज्ञातः गणं धारयेत् ततः (से) तस्य कृतादनन्तरादपन्यायात्प्रायश्चित्तं छेदो वा परिहारो वा, वाशब्दादन्यद्वा तपः। एष सूत्राक्षरार्थः।

भावार्थं भाष्यकृदाह–

काउं देसदरिसणं, आगतऽप्पट्ठाविएँ उवरया थेरा।
असिवादिकारणेहिं, न ठावितो साहगस्सऽसती॥
सो कालगतम्मी उव-गतो विदेसं व तत्थ व अपुच्छा।
थेरे धारेय गणं, भावनिसिट्ठं अणुग्घाया॥

देशदर्शननिमित्तं गतेन ये प्रव्राजितास्तान् यदि आत्मनो यावत्कथिकान् शिष्यतया बध्नाति, ततस्तस्य प्रायश्चित्तं चतुर्गुरुकम्। तथा देशदर्शनं कृत्वा तस्मिन्नागते अप्रस्थापिते च तस्मिन्नाचार्यपदे स्थविरा यस्याचार्या उपरताः कालगताः, यदि वा स प्रत्यागतोऽप्यशिवादिभिः कारणैः, यद्वा साधकस्य (असति त्ति) अभावेनाचार्यपदेऽस्थापितोत्रान्तरे चाचार्यः ततस्तस्मिन् कालगते, यदि वा गतो विदेशं तत्रैव विदेशे गणं धार यितुतिच्छेत्, एतेषु सर्वेष्वपि कारणेषु समुत्पन्नेषु यदि स्थविरान् गच्छमहतोऽपृष्ट्वा, यद्यपि तस्याचार्येण भावेतो गणो निसृष्टोऽनुज्ञातस्तथापि स्थविरा आपृच्छनीयाः। तत आह–भावनिसृष्टमपि गणं धारयति तर्हि तस्य स्थविरानापृच्छाप्रत्ययं प्रायश्चित्तम्। अनुद्घाता गुरुकाश्चत्वारो मासाः। उपलक्षणमेतद् अज्ञानावस्थामिथ्यात्वविराधनारूपाश्च तस्य दोषाः।

सयमेव दिसाबंधं, अणणुण्णाते करे अणापुनच्छा।
थेरेहिं पडिसिद्धो, सुद्धा लग्गा उवेहंता॥

यो नाम स्वयमेव आत्मच्छन्दसा को मम निजमाचार्यं मुक्त्वाऽन्य आपृच्छनीयः समस्ति? इत्यध्यवसायतः पूर्वाचार्येणाननुज्ञात आचार्यपदे तस्यास्थापनात्। स्थविरान् गच्छमहत्तररूपान् अनापृच्छ्य दिग्बन्धं करोति, स्थविरैः प्रतिषेधनीयः यथा निवर्त्तते–'आर्य! तव तीर्थकराणामाज्ञं लोपयितुं न युक्तम्'। एवं प्रतिचोदितोऽपि यदि न प्रतिनिवर्त्तते तर्हि स्थविराः शुद्धाः, स तु चतुर्गुरुके प्रायश्चित्ते लग्नः। अथ स्थविरा उपेक्षन्ते तर्हि ते उपेक्षाप्रत्ययं चतुर्गुरुके लग्नाः, यत एवमुपेक्षायामनापच्छाचर्यां च

तीर्थकराभिहितं प्रायश्चित्तमाज्ञादयश्च दोषास्तस्मात् स्थविरैरुपेक्षा न कर्त्तव्या, तेन च स्थविरा आपृच्छनीयाः ।

सगणे थेराणऽसती, तिगथेरे वा तिगं तुवट्टाति ।
से वा सति इत्तरियं, धारेइ न मेलितो जाव ॥

अथ स्वगच्छे स्थविरा न सन्ति तर्हि गणे स्वकीये गच्छे स्थविराणामसति अभावे, ये त्रिककुलगणसंघरूपे स्थविरास्तान् त्रिकस्थविरान्, त्रिकं वा समस्तं कुलं वा गणं वा सङ्घं वा इत्यर्थः, उपतिष्ठेत। यथा—यूयमनुजानीतं मह्यं दिशामिति। अथ अशिवादिभिः कारणैर्न पश्येत्कुलस्थविरादीनामसत्यभावे इत्वरिकां दिशं गणस्य धारयति, यावत्कुलादिभिः सह गणो न मिलितो भवति।

जे उ अहाकप्पेणं, च अु ण्णायम्मि तत्थ साहम्मी ।
विहरंति यवद्धाए, न तेसि छेओ न परिहारो ॥

ये तु साधर्मिकाः स्वगच्छवर्त्तिनः परगच्छवर्तिनो वा यथाकल्पेन श्रुतोपदेशेन तेषां सूत्राद्यर्थं तत्रोपस्थापनाविषये तदर्थाय सूत्राणामर्थाय, आसेवनाशिक्षायै वेत्यर्थः, अनुज्ञाते गणधरेण तत्र गच्छे विहरन्ति, ऋतुबद्धे काले मासकल्पे न वर्षासु वर्षाकल्पे न तेषां तत्प्रत्ययो यदेषोऽनुज्ञातो गणं धारयतीति तन्निमित्तमित्यर्थः। प्रायश्चित्तच्छेदो न परिहार उपलक्षणमेतन्नान्यद्वा तपः श्रुतोपदेशेन तेषां सूत्राद्यर्थं तपोपस्थानात्। विषयलोलता हि तस्याः समीपमुपष्ठिमानानां दोषः, न सूत्राद्यर्थमिति। (अस्य विशेषविस्तरस्तु 'आयरिय' शब्दे द्वि०भागे ३३५ पृष्ठे द्रष्टव्यः) व्य०३ उ०। इदानीन्तनानामपि योग्यानां ग्यानां गणधरपदं युज्यते । अपवादपदमपुष्टमवलम्ब्य नैवैदंयुगीनसाधूनामपि युज्यते कालोचितानुपूर्वीमापहाय गणधरपदाद्यारोपणम् । मा प्रापन्महापुरुष-गौतमादीनामाशातनाप्रसङ्गः। तेषामाशातना स्वल्पीयस्यपि प्रकृष्ट-दुरन्तसंसारोपनिपातकारिणी । यत उक्तम्--''वूढो गणहरसद्दो, गोयममाईहि धीरपुरिसेहिं । जो तं ठवइ अपत्ते, जाणंतो सो महापावो''॥१॥ तत एतत्परिभाव्य संसारभीरूणा कथञ्चिद्विनयादिना समर्जितेनापि स्वशिष्ये गुणवति कालोचितवयःपर्यायानुपूर्वीसंपन्ने गणधर पदाध्यारोपः कर्त्तव्यो न यत्र कुत्रचिदिति स्थितम्। नं०। अन्यथा प्रायश्चित्तम् ॥

ततःशिष्यः प्रश्नयति—कीदृशस्य गच्छो दीयते? अयोग्यस्य वा गच्छं प्रयच्छन्नयोग्यो वा गच्छं धारयन् कीदृशं प्रायश्चित्तं प्राप्नोति? उच्यते—

अवहुस्सुएँ ऽगीयत्थे, निस्सिरए वा वि धारए व गणं ।
तद्देव सियं तस्सा, मासा चत्तारि भारीया ॥

अबहुश्रुतो नाम येनाचारप्रकल्पाध्ययनं नाधीतम्, अधीतं वा परं विस्मारितम्, अगीतार्थो येन छेदश्रुतार्थो न गृहीतो, गृहीतो वा परं विस्मारिताः, तस्मिन् बहुश्रुते ऽगीतार्थे यो गणं गच्छं निसृजति निक्षिपति, तस्य चत्वारो भारिका मासाः। यो वा अबहुश्रुतोऽगीतार्थो वा गणं निसृष्टं धारयति तस्यापि चत्वारो मासा गुरुकाः । एतच्च दिवसनिष्पन्नं प्रायाश्चित्तम् । द्वितीयादिषु तु दिवसेषु यत्प्रायाश्चित्तमापद्यते तदुपरिष्टाद्वक्ष्यते।

अथैनामेव निर्युक्तिगाथां भाष्यति—

अबहुस्सुअस्स देइ व, जो वा अबहुस्सुओ गणं धरए ।
भंगतिगम्मि वि गुरुगा, चरिमे भंगे अणुन्नाओ ॥

अबहुश्रुतस्य गीतार्थस्य गणं ददति चत्वारो गुरवः। अस्य च प्रमादादिना निशीथाद्यं विस्मृतमर्थं पुनः स्मरतीत्यबहुश्रुतस्य गीतार्थत्वम् । यद्वा—आज्ञाधारणादिमात्रव्यवहारेण बहुश्रुतस्यापि गीतार्थत्वमिति । बहुश्रुतस्यागीतार्थस्य ददति चत्वारो गुरवः। अनेन चाचारप्रकल्पाध्ययनं सूत्रतोऽधीतं, न पुनरर्थतः श्रुत्वा सम्यगधिगतमिति बहुश्रुतस्या-गीतार्थत्वम्। बहुश्रुतस्य गीतार्थस्य ददतीत्यत्र चतुर्थे भङ्गे शुद्धः। यो वा अबहुश्रुतो गणं धारयतीत्यत्रापि चतुर्भङ्गी, तत्रापि बहुश्रुतोऽगीतार्थश्च सन् निसृष्टं गणं धारयति, अबहुश्रुतो गीतार्थो धारयति, बहुश्रुतोऽगीतार्थो धारयति । त्रिष्वपि चतुर्गुरुकाः, बहुश्रुतो गीतार्थो धारयतीत्यत्र शुद्धः। अत एवाहभङ्गीत्रिकेऽपि त्रिष्वप्याद्यभङ्गेषु गणदायकधारकयोरुभ-योरपि गुरुकाश्चतुर्गुरवः। चरमे चतुर्थे भङ्गे शुद्धत्वाद्दायको धारको वाऽनुज्ञातो न तत्र कश्चिद्दोषः॥ बृ०१ उ०। आर्थिकाप्रतिजागरके साधुविशेषे, स्था०४ ठा०३ उ०। ''पियधम्मे दढधम्मे संविग्गे वज्जओ य तेयस्सी। संगवहुग्गहकुसले, सुत्तत्थविऊ गणाहिवई''॥१॥ बृ०१ उ००। नि०चू०। पं०व०। तीर्थकरगणभृतां मिथो भिन्नवाचनत्वेऽपि सांभोगिकत्वं भवति, न वा? तथा सामाचार्यादिकुतो भेदो भवति न वेति प्रश्ने, उत्तरम्—गणभृतां परस्परं वाचनाभेदेन सामाचार्या अपि कियान् भेदः। संभाव्यते। तद्भेदे च कथञ्चिदसांभोगिकत्वमपि संभाव्यत इति । ८१ प्र०। सेन०२ उल्ला०। गणधरो ज्येष्ठोऽन्यो वा तीर्थस्थापनादिने एव तीर्थकरस्य व्याख्यानानन्तरं व्याख्यानं करोति, उत सर्वदा भगवद्व्याख्यानाऽनन्तरं मुहूर्त्तमेकं व्याख्यानं करोतीति प्रश्ने, उत्तरम्—ज्येष्ठोऽन्यो वा गणधरः सर्वदा द्वितीयपौरुष्यां व्याख्यानं करोतीत्यक्षराण्यावश्यकवृत्त्यादौ सन्ति, न तु तीर्थस्थापनादिने एव मुहूर्त्तमेकं करोतीति । १७५ प्र०। सेन०३ उल्ला०। तथा ''संखाईए उ भवे, साहइ जं वा परो उ पुच्छिज्जा। नयणं अणाइसेवी, वियाणजइए स छउमत्थो''॥१॥ इयं गाथा गणधरानाश्रित्योक्ता, सामान्यतश्चतुर्दश पूर्विणो वेति ? तथा तत्रावधिज्ञानी संख्येयानसंख्येयांश्च भवान् पश्यति?१, एवं मनःपर्यायज्ञान्यपि २, केवलज्ञानी तु नियमतोऽनन्तान् ३, जातिस्मरणं तु नियमतः संख्येयानित्याचाराङ्गवृत्तौ प्रोक्तमस्ति। अथ चतुर्दशपूर्वी कति भवान् जानातीति, चतुर्दशपूर्वविदोऽसंख्यातान् भवान् जानन्तीति प्रघोषः सत्योऽसत्यो वेति प्रश्नः। उत्तरम्—'संखाइए उ भवे' इयं गाथा गणधरानाश्रित्यैवाश्यके प्रोक्ताऽस्तीति तथैतदनुसारेणान्येऽपि संपूर्णचतुर्दशपूर्वविदः सेख्यातीतान् भवान् जानन्तीति प्रघोषोऽपि सत्यस्संभातव्य इति। ६ प्र०। सेन०२ उल्ला०।

गणधरगंडिया स्त्री०(गणधरगण्डिका) यत्र गणधराणां पूर्वजन्माभिधीयते तादृश्यां वाक्यपद्धतौ, स०।

गणधरपाउग्ग पुं०(गणधरप्रायोग्य) गणधरपदस्य प्रायोग्ये, व्य०२ उ०।

गणधरलद्धि स्त्री०(गणधरलब्धि) त्रयोदश्यां लब्धौ, यद्युक्तो गणधरो भवति। पा०।प्रव०।

गणधरवंस पुं०(गणधरवंश) गणधरस्य तत्प्रवाहस्य प्रतिपादकत्वाद्गण-धरवंशः समवायाङ्गे, स०।

गणधारि (ण्) पुं०(गणधारिन्) गणधरे, आ०म०द्वि० (समवसरणे गणधरी व्याख्यानयति इति 'समोसरण' शब्दे चतुर्थभागे व्यख्यास्यते) ''जगदेकतिलकभूताः, जयन्ति गणधारिणः सर्वे।'' चु०प्र०१ पाहु०।

गणभत्त न०(गणभक्त) समवायभोजने, नि०चू०८ उ०।

गणराय पुं०(गणराज) समुत्पन्ने प्रयोजने ये गणं कुर्वन्ति ते गणप्रधाना राजानो गणराजाः। सामन्ते, भ०७ श०६ उ०। आचा०। ''ततो भगवं वेसालिं नगरिं संपत्ते, तत्थ संखो नाम गणराया'' आ०म०द्वि०। सेनापतौ च। आव०३अ०। ''जं रयणिं च णं समणे भगवं महावीरे कालगए० जाव सव्वदुक्खप्पहीणे तं रयणिं च णं नव मल्लई नव लेच्छई कासी कोसलगा अट्ठारस वि गणरायाणो'' कल्प०६ क्षण।

गणवइ पुं०(गणपति) उज्जयन्तशैलशिखरे विक्खल्लनगरे वज्ररसकुण्डस्योपरि वर्त्तमानगणपतिमूर्तौ ,ती०४ कल्प।

गणवइदेव पुं०(गणपतिदेव) काकन्दीयराजभेदे, ती०५० कल्प।

गणविउस्सग्ग पुं०(गणव्युत्सर्ग) गणत्यागरूपे द्रव्यव्युत्सर्गभेदे, औ०।

गणवेयावच्च पुं०(गणवैयावृत्य) कुलसमुदायस्य सेवालक्षणे नवमे वैयावृत्यभेदे, औ०।

गणसंकम पुं०(गणसंक्रम)वसुराजगणादवसुराजगणं संक्रमति, नि०चू०।

सूत्रम्--

जे भिक्खू वुसराइयाओ गणाओ अवुसराइयं गणं संकमइ, गणं संकमंतं वा साइज्जइ ॥१५॥

वुसिरातिगणातो, जे भिक्खू संकमे अवुसिरातिं।
पढमवितियचउत्थे, सो पावति आणमादीणि ॥३५८॥

(वुसि त्ति) तो वुसिरातिए चउभंगो कायव्वो, चउत्थभंगो अवत्थुं, ततियभंगे किं पडिसेहो ? आचार्य आह--तत्थ ण पडिसेहो, कारणे पुण पढमभंगे उवसंपदं करेति, सा य उवसंपया कालं पडुच्च तिविहा इमा गाहा --

छम्मासे उवसंपद, जहण्ण वारससमा उ मज्झिमिया।
आवकहा उक्कोसो, पडिच्छ सीसे तु जा जीव ॥३५९॥

उवसंपदा तिविहा--जहण्णा, मज्झिमा, उक्कोसा। जहन्ना छम्मासे, मज्झिमा वारसवरिसे, उक्कोसा जावजीवं, एवं पडिच्छगस्स सिस्से एगविहा चेव, जावज्जीवं आयरिओ ण मोत्तव्वो।

छम्मासेऽपूरेत्ता, गुरुगा वारससमासु चउलहुगा।
तेण परमासियत्तं, भणितं पुण आरते कज्जे ॥३६०॥

जेणं पडिच्छगेणं छम्मासिता उवसंपया कता, सो जति छम्मासे अपूरेत्ता जाति तस्स चउगुरुगा, जेण वारसवरिसा कता ते अपूरेत्ता चउ गुरुगा, जेण जावज्जीवं उवसंपदा कता तस्स मासलहुं, छम्मासाणं परेणं णिक्कारणे गच्छंतस्स मासलहु, जेण वारससमा उवसंपदा कता तस्स वि छम्मासे अपूरतेंस्स चउगुरुओ चेव, वारसमासातो परेण मासलहुं चेव, जेण जावज्जीवं संपया कया तस्स छम्मासे अपूरेंतस्स चउगुरुगा चेव, तस्सेव वारससमाओ अपूरेंतस्स चउलहुगा। एस सोही गच्छतो णिंतस्स भणिता। नि०चू०६ उ०। ('अवुसराइय' शब्दे प्र०भागे ८१३ पृष्ठे उवसंपया' शब्दे द्वि०भागे च विस्तारो द्रष्टव्यः)

गणसंगहकर पुं०(गणसंग्रहकर) गणस्याहारदिना ज्ञानादिना च संग्रहकारके, स्था०३ ठा०४ उ०।

गणसंग्रहकृदाचार्य उपाध्यायो वा कतिभिर्भवैः सिध्यति ?--

आयरियउवज्झाए णं भंते ! सविसयंसि गणं अगिलाए संगिण्हमाणे अगिलाए उवगिण्हमाणे कइहिं भवग्गहणेहिं सिज्झइ० जाव अंतं करेइ ? गोयमा ! अत्थेगइए तेणेव भवग्गहणेणं सिज्झइ, अत्थेगइए दोच्चेणं भवग्गहणेणं सिज्झइ, तच्चं पुण भवग्गहणं नाइक्कमइ।

(आयरियउवज्झाए णं ति) आचार्येण सहोपाध्याय आचार्योपाध्यायः। (सविसयंसि त्ति) स्वविषये अर्थदानसूत्र-दानलक्षणे (गणं ति) शिष्यवर्गम् (अगिलाए त्ति) अखेदेन संगृह्णन् स्वीकुर्वन्, उपगृह्णन् उपष्टम्भयन्, द्वीतीयस्तृतीयश्च भवो मनुष्यभवो देवभवान्तरितो दृश्यः चारित्रवतोऽनन्तरो देवभवो भवति। न च तत्र सिद्धिरस्तीति परानुग्रहस्यानन्तरं फलमुक्तम्। भ०५ श०६ उ०।

गणसंठिति स्त्री०(गणसंस्थिति) गणस्य मर्यादायाम्, यथा अशिष्येऽयोग्यशिष्ये महाकल्पश्रुतं न दातव्यम्। व्य०१ उ०।

गणसंम(म्म)य पुं०(गणसंमत) महत्तरादौ प्रवचनप्रभावके, व्य०१ उ०।

गणसम --(देशी) गोष्ठीरते, दे०ना०२ वर्ग।

गणसामायारी स्त्री(गणसामाचारी) गणसामाचारी गणं विषीदन्तं चोदयति। कथम् ? इत्याह--

पडिलेहणपप्फोडण, बालगिलाणाइवेयवच्चेया।
सीदंतं गाहेई, सयं च उज्जत्त एएसु ॥

प्रत्युपेक्षणं चक्षुषा निरीक्षणं, प्रस्फोटनमाखोटादिकम्, एतयोर्बालग्लानादिवैयावृत्त्ये च सीदन्तं प्रत्युपेक्षणादि ग्राहयति--कारयति, स्वयं च एतेषु स्थानेषु सततमुद्युक्तः। उक्ता गणसामाचारी। व्य०१० उ०। प्रत्युपेक्षणा बालवृद्धादिवैयावृत्यादिकार्येषु स्वयमुद्यतोऽग्लान्या गणं प्रेरयति गणसमाचारीं। आचारविनयभेदे, प्रव०६४ द्वार।

गणसोभाकर पुं०(गणशोभाकार) गणस्यानवद्यसाधुसामाचारी प्रवर्तनेन वादीधर्मकर्मनैमित्तिकविद्यासिद्धत्वादिना वा शोभाकरणशीले पुरुषे, स्था०४ ठा०३ उ०।

गणसामायर पुं०(गणशोभाकर) 'गणसोभाकर' शब्दार्थे, स्था०४ ठा०४ उ०।

गणसोभि (ण्) पुं०(गणशोभिन्) गणं वादप्रदानतः शोभयतीत्येवंशीलो गणशोभी। गणशोभाकरे पुरुषजाते, व्य०१० उ०।

गणहर पुं०(गणधर) 'गणधर' शब्दार्थे, आ०म०प्र०।

गणहरगडिया स्त्री०(गणधरगण्डिका) 'गणधरगंडिया' शब्दार्थे, स०।

गणहरपाउग्ग त्रि०(गणधरप्रायोग्य) 'गणधरपाउग्ग' शब्दार्थे,व्य०२ उ०।
गणहरलद्धि स्त्री०(गणधरलब्धि)'गणाधरलद्धाद्' शब्दार्थे, पा००। प्रव०।
गणहरवंस पुं० (गणधरवंश) 'गणधरवंस' शब्दार्थे, स०।
गणहारिण् पुं०(गणधारिन्) 'गणधारि' शब्दार्थे, आ० म० द्वि०।
गणजीव पुं०(गणाजीव) मल्लादिगणीयमात्मानं सूत्रादिनोपदर्श्य भक्तादिग्राहके आजीवभेदे, स्था०५ ठ०१ उ०।
गणाधिव पुं०(गणाधिप) गौतमादिषु प्रधानगण धरेषु, विशे०।
गणाभिओग पुं०(गणाभियोग) गणः स्वजनादिसदायस्त–तस्याभियोगो गणाभियोगः। ध०२ अधि०। गणवश्यतायाम्, उपा०१ अ०।
गणावक्कमण न०(गणापक्रमण) गणाद्गच्छादपक्रमणं निर्गमो गणापक्रमणम्। गच्छान्निर्गमे, स्था०।

सत्तविहे गणावक्कमणे पण्णत्ते। तं जहा–सव्वधम्मा रोएमि, एगइया रोएमि, एगइया नो रोएमि, सव्वधम्मा वितिगिच्छामि एगइया वितिगिच्छामि, एगइया नो वितिगिच्छामि, सव्वधम्मा जुहुणामि, एगइया जुहुणामि, एगइया नो जुहुणामि, इच्छामि णं भंते! एगल्लविहारपडिमं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए।

सप्तविधं सप्तकारं प्रयोजनभेदेन भेदाद्गणाद्गच्छादपक्रमणं निर्गमो गणोपक्रमणं प्रज्ञप्तं त। तीर्थङ्करादिभिः। तद्यथा–सर्वान् धर्मान् निर्जराहेतून् श्रुतभेदान् सूत्रार्थोभयविषयान् अपूर्वग्रहणविस्मृत सुधीनपूर्वाधीतरावर्त्तनरूपान् चारित्रभेदाँश्च क्षपणवैयावृन्यरूपान् रोचयामि रुचिविषयीकरोमि चिकीर्षामि। ते चामुत्र परगणे संपद्यन्ते, नेह स्वगुणे, बहुश्रुतादिसामग्र्यभावात्। अतस्तदर्थं स्वगणादपक्रमामि भदन्त! इत्येवं गुरुपृच्छाद्वारेणैकं गणापक्रमणमुक्तम्। अथ सर्वधर्मान् रोचयामीत्युक्ते कथं पृच्छार्थोऽवगम्यत इत्युच्यते–''इच्छामि णं भंते! एगल्लाविहारपडिमं'' इत्यादि पुच्छावचनसाधर्म्यादिति। रुचेस्तु करणेच्छार्थता ''पत्तियामि रोएम्मि'' इत्यत्र व्याख्यातैवेति। क्वचित्तु ''सव्वधम्मं जाणामि एवमेगे अवक्कमे'' इत्येवं पाठः, तत्र ज्ञानी अहमिति किं गणेनेति मदादपक्रमति। तथा (एगइय त्ति) एककान् काँश्चन श्रुतधर्मान् चारित्रधर्मान् वा रोचयामि चिकीर्षामि, एककाँश्च श्रुतधर्मान् चारित्रधर्मान् वा नो रोचयामि न चिकीर्षामि इत्यतश्चिकीर्षितधर्माणां स्वगणे करणसामग्र्यभावादपक्रमामि भदन्त! इति द्वितीयम् २। तथा सर्वधर्मानुक्तलक्षणान् विचिकित्सामि संशयविषयीकरोमि, इत्यतः संशयापनोदार्थं स्वगणादपक्रमामीति तृतीयम् ३। एवमेककान्विचिकित्सामि, एककान् नो चिकित्सामीति चतुर्थम् ४। तथा (जुहुणामि त्ति) जुहोमि अन्यभ्यो ददामि, न च स्वगणे पात्रंमस्त्व्यतोऽपक्रमामीति पञ्चमम् ५। एवं षष्ठमपि ६। 'तथा इच्छामि णं भदंत!' धर्माचार्य एकाकिनो गच्छनिर्गतत्वाज्जिनकल्पिकादितया यो विहारो पिचरणं तस्य या प्रतिमा प्रतिपत्तिः प्रतिज्ञा, सा एकाकिविहारप्रतिमा, तामुपसंपद्याङ्गीकृत्य विहर्तुमिति संप्रममिति ७। अथवा सर्वधर्मान् रोचयामि श्रद्दधेऽहमिति तेषां स्थिरीकरणार्थमुपक्रमामि, तथा एककान् रोचयामि श्रद्दधे, एकाकांश्च नो रोचयामीत्यश्च द्वितानां श्रद्धानार्थमपक्रमामित्यनेन पदद्वयेन सर्वविषयाय, देशविषयाय च सम्यग्दर्शनाय गणापक्तमयामुक्तम्। एवं सर्वदेशविषय संशयविनोदसुचकेन ''सव्वधम्मा गिच्छामि'' इत्यादि पदद्वयेनज्ञानार्थमपक्रमणामुक्ततम्। तथा सर्वधर्मान् जुहोमीति जुहोतेरदनार्थत्वाद्भक्षणार्थस्य च सेवावृत्तिदर्शनादाचारम्यनुतिष्ठामीति यावत् तथा एककान् नो सेवामीति सर्वेषामासेव्यमानानां विशेषार्थमनासेवितानां च क्षपणवैयावृत्त्यादीनो चारित्रधर्माणामासेवार्थमपक्रमामीत्येनेन पदद्वयेन तथैव चारित्रार्थमपक्रमणमुक्तमिति। उक्तञ्च–''नाणट्ठ दंसणट्ठा, चरणट्ठा एवमाइसंकमणं। संभोगट्ठा व पुणो, आयरियट्ठा च णायव्वं''॥१॥ इति। तत्र ज्ञानार्थं ''सुत्तस्स व, अत्थस्स व उभयस्स व कारणा उ संकमणं। वीसञ्जियस्स गमणं, भीओ य नियत एकोए''॥१॥ त्ति। दर्शनप्रभावकशास्त्रार्थं दर्शनार्थं चारित्रार्थं तथा ''चरित्तट्ठदेसे दुविहा'' देशे द्विविधा दोषा इत्यर्थः। ''एसणदोसा य इत्थिदोसा य'' ततो गणपक्रमणं भवति ''गच्छंम्मि य सीयंते, आयसमुत्थेहिं दोसेहिं''॥१॥ ति संभोगार्थं नाम यत्रोपसंपन्नस्ततोऽपि विसंभोगकारणे सदनलक्षणे सत्यपक्रामतीति आचार्यार्थं नामाचार्यस्य महाकल्पश्रुतादि श्रुतं नास्त्यऽतस्तदध्यापनाय शिष्यस्य गणान्तरसंक्रमो भवतीति। इह च स्वगुरुं पृष्ठैव विसर्जितेनाऽपक्रमितव्यमिति सर्वत्र पृच्छार्थो व्याख्येयः। उक्तकारणवशात्तु पक्षादिकालात्परतोऽविसर्जितोऽपि गच्छेदिति निष्कारणगणापक्रमणं त्वविधेयं, यतः ''आयरियाईण भया, पच्छित्तभया न सेवइ अकिच्चं। वेयावच्चऽज्झयणे, सुसज्जए तदुवओगेणं''॥१॥ सूत्रार्थोपयोगेनेत्यर्थः। तथा ''एगो इत्थीगम्मो, तेणादिभया य अल्लियययगारे''(गृहस्थान्) ''कोहादी च उदिण्णे, परिनिव्वावंति से अण्णे त्ति''॥१॥ स्था०७ ठा०।

पंचहिं ठाणेहिं आयरियउवज्झायस्स गणावक्कमणे पण्णत्ते। तं जहा–आयरियउवज्झाए गणंसि आणं वा धारणं वा नो सम्मं पउंजित्ता भवइ। आयरियउवज्झए गणंसि अहारायणियाए किइकम्मं वेणइयं नो सम्मं पउंजित्ता भवइ। आयरियउवज्झाए गणंसि जे सुय पज्जवजाए धारिंति ते काले णो सम्ममणुपवादेत्ता भवइ। आयरियउवज्झाए गणंसि सगणियाए वा परगणियाए वा निग्गंथीए वहिल्लेसे भवइ; मित्ते णाइगणे वा से गणाओ अवक्कमेज्जा तेसिं संगहोवग्गहट्ठयाए गणावक्कमणे पण्णत्ते॥

आचार्योपाध्यायस्य आचार्योपाध्याययोर्वा गणाद् गच्छाद् अपक्रमणं विनिर्गमो गणापक्रमणम्। आचार्योपाध्याययोर्गणे गच्छविषये आज्ञां वा योगेषु प्रवर्त्तनलक्षणां धारणां वा विधेयेषु निवर्त्तनलक्षणां नो नैव सम्यग्यथौचित्यं प्रयोक्ता तयोः प्रवर्त्तनशीलो भवति। इदमुक्तं भवति–दुर्विनीत्वाद्गणस्य तं प्रयोक्तुमशक्नुवन् गणादपक्रामति कलिकाचार्यवदित्येकम्। तथा गणविषये यथारत्नाधिकतया यथाज्येष्ठं कृतिकर्म, तथा वैनयिकं विनयं नो नैव सम्यक् प्रयोक्ता भवत्याऽचार्यसंपदा, साभिमानत्वात्। यत आचार्येणापि प्रतिक्रमणक्षामणादिषूचितानामुचितविनयः कर्त्तव्य एवेति द्वितीयः। तथा असौ यानि श्रुतपर्यवजातानि यान् श्रुतपर्यायप्रकारान् उद्देशकाध्ययनादीन् धारयति, हृद्यविस्मरणतस्तानिकाले काले यथावसरं नो सम्यगनुप्रवाचयिता तेषां पाठयिता भवति। 'गणे त्ति' इह संबध्यते, तेन गणे गणविषये, गणमित्यर्थः। तस्या-

विनीतत्वात्स्वस्य वा सुखलम्पटत्वाद् मन्दप्रज्ञत्वाद्वेति गणादपक्रामतीति तृतीयम्। तथाऽसौ गणे वर्तमानः (सगणियाए त्ति) स्वगणसंबन्धिन्यां (परगणियाए त्ति) परगणसत्कायां निर्ग्रन्थ्यां तथाविधाशुभकर्मवशवर्त्तितया सकलकल्याणाश्रयसंयमसौधमध्याद् बहिर्लेश्यान्तःकरणं यस्यासौ बहिर्लेश्य आसक्तो भवतीत्यर्थः। एवं गणादपक्रामतीति न चेदमधिकगुणत्वेना–स्याऽसंभाव्यम्। यतः पठ्यते ''कम्माइ तूणिघणचि–क्क–णाइ गरुयाइ वज्जसाराइं। नाणड्ढियं पि पुरिस, पंथाओ उप्पहं नें ति''॥१॥ इति चतुर्थम्। तथा मित्रज्ञातिगणो वा सुहृत् स्वजनवर्गो वा (से) तस्याचार्यादिः कुतोऽपि कारणाद्गणादपक्रामेदतस्तेषां सुहृत्स्वजनानां संग्रहा–द्यर्थं गणादपक्रमणं प्रज्ञप्तम्। तत्र संग्रहस्तेषां स्वीकारे उपग्रहो वस्त्रादिभिरुपष्टम्भ इति पञ्चमम्। स्था०५ ठा०२ उ०। (गणादपक्रम्य किञ्चिदकृत्यं कृत्वा पुनः स्वगणमुपसम्पद्येत तत्र विधिः 'उवसंपया' शब्दे द्वि० भागे १००८ पृष्ठे द्रष्टव्यः)

गणावच्छे इय त्रि०(गणावच्छेदक) गणस्यावच्छेदो विभागो–ऽशोऽस्यास्तीति। स्था०३ ठा०४ उ०। गणकार्य्यचिन्तके, आचा०२ श्रु०१ अ०१० उ०। यो हि तं गृहीत्वा गच्छोपष्टम्भायैवोपधिमार्गणादिमित्तं विहरति। स्था० ४ ठा० ३ उ०।

अधुना गीतार्थस्य स्वरूपमाह

उद्धावणा पहावण–खेत्तोवहिमग्गणासु अविसादी।
सुत्तत्थतदुभयविऊ, गीयत्थाए वि साहुं ति॥

उत्प्राबल्येन धावनमुद्धावनं, प्राकृतत्वाच्च स्त्रीत्वनिर्देशः, किमुक्तं भवति ? तथा विधे गच्छप्रयोजने समुत्पन्ने आचार्येण संदिष्टोऽसंदिष्टो वा आचार्यं विज्ञप्य यथै तत्कार्यमहं करिष्यामीति। तस्य कार्यस्यात्मानुग्रहवुद्बुभा करणं उद्धावनम्, शीघ्रं तस्य कार्यस्य निष्पादनं प्रधावनम्, क्षेत्रमार्गणा क्षेत्रप्रत्युपेक्षणा, उपधिरुत्पादनम्, एतासु येऽविशषादिनो विषादं न गच्छन्ति, तथा सूत्रार्थतदुभयविदः, अन्यथा हेयोपादेयपरिज्ञानायोगात्, ते एतादृशा एवं विधा गीतार्थाः, गणाच्छेदिन इत्यर्थः। व्य०१ उ०। आव०। ध०।

अथ गणावच्छेदकयोग्यगुणानाह–

प्रभावनोद्भावनयोः, क्षेत्रोपध्येषणासु च।
अविषादि गणावच्छेदकः सूत्रार्थविन्मतः॥७४॥

प्रभावना जिनशासनस्योत्सर्पणाकरणम्, उद्भावना उत्प्राबल्येन धावना, गच्छोपग्रहार्थं दूरक्षेत्रादौ गमनमित्यर्थः। तपोश्च पुनः क्षेत्रं ग्रामादियोग्यस्थानम्, उपधिः कल्पादिः, तयोरेषणा मार्गणा, गवेषणेति यावत्। आसु अविषादि खेदरहितः। तथा सूत्रार्थवित् उचितसूत्रार्थज्ञाता, ईदृशो गणावच्छेदकस्तत्संज्ञो मतः प्रज्ञप्तो जिनैरिति शेषः, न पुनर्गुणरहित इति भावः। ध०३ अधि० (कियत्पर्य्यायस्य गणावच्छेदकत्वं कल्पत इति 'आयरिय' शब्दे द्वि०भागे ३३१ पृष्ठ उक्तम्)

गणावच्छे दय पुं०(गणावच्छेदक)गणावच्छेइय' शब्दार्थे, स्था०३ ठा०४ उ०।

गणि त्रि०(गणिन्) गणः साधुसमुदायो यस्यास्ति स्वस्वामिसम्बन्धेनासौ गणी। स्था०३ ठा०३ उ०। चं० पं०। गणः साधुसमुदायो भूयानतिशयवान् वा गणानां साधूनां वा यस्यास्ति स गणो। स्था०८ ठा०। गुणगणो वाऽस्यास्तीति। नं०। प्रव०। आचा०। गणाचार्य्यै, उत्त०३ अ०। अनु०। स०। गच्छाधिपतौ, व्य१ उ०। आचा०। सूत्र०। अस्य पार्श्वे आचार्य्याः सूत्राद्यमभ्यस्यन्ति। कल्प०६ क्षण।

एक्कं पि जो दुहत्तं, सत्तं पडिवोहिउं ठवे मग्गे।
ससुरासुरम्मि वि जगे, तेण हैं घोसिएँ ऑणाघोसं॥
भूए अत्थि भविस्सं, ति केइ जगवंदणीयकमजुयले।
जेसिं परिहियकरणे क्कवद्धलक्खाणवोलिहीकालं॥
भूएँ अणागएँ काले, ण केइ इह होंति गोयमा ! सूरी।
णामग्गहणेण वि जे–सि होज्ज नियमेण पच्छित्तं॥
एयं गच्छववत्थं, दुप्पसहाणंतरं तु जो खंडे।
तं गोयम ! जाण गणिं, निच्छयओऽणंतसंसारी॥
जसयलजीवजगमंगलेक्ककल्लाणपरमकल्लाणं।
सिद्धिपए वोच्छिन्ने, पच्छित्तं होइ तं गणिणो॥
तम्हा गणिणं समसत्तुमित्तपक्खेण परहियरएणं।
कल्लाणकंखुणा अप्पणो वि आणा ण लंघेया॥
एवं मेरा ण लंघेयव्वा त्ति॥
एयं गच्छववत्थं लंघित्तु नगारवेहि पडिवद्धे।
संखाईए गणिणो, अज्ज वि बोहिं न पावंति॥
ण लभंति हि य अन्ने, अणंतहुत्तो वि परिभमंतित्थं।
चउगइभवसंसारे, चेट्ठिज्ज चिरं सुदुक्खत्ते॥ महा०५ अ०।

''सुत्तत्थे निम्माऊ, पियदढधम्मोऽणुवत्तणाकुसलो।
जाईकुलसंपन्नो, गंभीरो लद्धिमंतो य॥१॥
संगहुवग्गहनिरओ, कयकरणो पवयणाणुरागी य।
एवंविहो य भणिओ गणसामी जिणवरिंदेहिं''॥२॥

स्था०६ ठा०।

गणी आवश्यके प्रमाद्येत तदा प्रायश्चित्तम्–

से भयवं जे णं गणी किंचि आवस्सगं पमाएज्जा? गोयमा ! जे णं गणा अकारणिगे किंचि खणमेगमवि पमाए, से णं आवस्सगं उवइसेज्जा जओ णं तु सुमहाकारणिगे वि संते गणी खणमेगमवी ण किंचि णिययावस्सगं पमाए से णं वंदे पूए दट्ठव्वे जाव णं सिद्धे बुद्धे पारगए खीणट्ठकम्ममले नीरए उवइसेज्जा; सेसं तु महयाए बंधेणं सत्थाणे चेव भाणिहिइ। एवं पच्छित्ते विहिं सो उ णाणुट्ठइती अदीणमणो जं जइ य जहाथामं जे से आराहगे भणिए॥

महा०७ अ०। गणावच्छेदके, व्य०४ उ०।

गणिगुणसलद्धिय पुं०(गणिगुणस्वलब्धिक) गणिनो गुणा यस्य स्वा च स्वकीया च लब्धिर्यस्य स गणिगुणस्वलब्धिकः। प्रव्राजितुमुपग्रहीतुं च शक्ते, पञ्चा००१८ विव०।

गणिड्डि स्त्री०(ज्ञानदर्शनचारित्ररूपसम्पदि, स्था०।

गणिड्डी तिविहा पण्णत्ता। तं जहा–णाणिड्डी दंसणिड्डी चरित्तिड्डी। अहवा गणिड्डी तिविहा पण्णत्ता। तं जहा–स–चित्ता अचित्ता मीसिया॥

ज्ञानर्द्धिर्विशिष्टश्रुतसम्पद्, दर्शनार्द्धिः प्रवचने निश्शङ्कितादित्वं, प्रवचप्रभावकशास्त्रसंपद्वा। चारित्रर्द्धिर्निरतिचारतासचित्ता शिष्यादिका, अचित्ता वस्त्रादिका, मिश्रा तथैवेति। इह च विकुर्षणादिऋद्धयोऽन्वेषामपि भवन्ति, केवलं देवादीनां विशेषवत्यस्ता इति तेषामेवोक्ता इति। स्था०३ ठा०५ उ०।

गणिणी स्त्री०(गणिनी) प्रवर्तिन्याम्, व्य०७ उ०।

गणिपिमग न०(गणिपिटक) गणो गच्छो गुणगणो वाऽस्यास्तीति गणी आचार्यः, तस्य पिटकमिव पिटकम्, सर्वस्वमित्यर्थः; गणिपिटकम्। अथवा गणिशब्दः परिच्छेदवचनोऽस्ति। तथा चोक्तम्–''आयारम्मि अहीए, जं नाओ होइ समणधम्मो उ। तम्हा आयारधरो भन्नइ पढमं गणट्ठाणं'' ॥१॥ ततश्च गणिनां पिटकं गणिपिटकं, परिच्छेदः, समूह इत्यर्थः। नं०। स०। स्था०।

गणिपिटकभेदाः–

कइविहे णं भंते ! गणिपिडए णं पण्णत्ते ? गोयमा ! दुवालसंगे गणिपिडए पण्णत्ते। तं जहा–आयारो० जाव दिट्ठि-वाओ। से किं तं आयारो ? आयारे णं समणाणं णिग्गंथाणं आयार-गोयरा। एवं अंगपरूवणा भाणियव्वा जहा णंदीए जाव ''सुत्तत्थो खलु पढमो, बीओ निज्जुत्तिमीसओ भणिओ। तइओ य णिरवसेसो, एसविहो होइ अणुओगो ''॥१॥

(एवं अंगप्ररूपणा भाणियव्वा जहा नंदीए त्ति) एवमिति पूर्वप्रदर्शितप्रकारवता सूत्रेणाऽऽचाराङ्गाद्यप्ररूपणा भणितव्या, यथा नन्द्याम्, सा च तत एवावधार्या। अथ कियद्दूरमियमङ्गप्ररूपणा नन्द्युक्ता वक्तव्येत्याह–(जाव सुत्तत्थो गाहा) सूत्रार्थमात्रप्रतिपादानपरः सूत्रार्थोऽनुयोग इति गम्यते, खलु शब्दस्त्वेवकारार्थः, स चावधारण इति। एतदुक्तं भवति–गुरुणा सूत्रार्थमात्राभिधानलक्षणः प्रथमोऽनुयोगः कार्यः। मा भूत् प्राथमिकविनेयानामतिमोह इति द्वितीयोऽनुयोगः सूत्रस्पर्शकनिर्युक्तिमिश्रः कार्य इत्येवंभूतो भणितो जिनादिभिः। तृतीयश्च तृतीयः पुनरनुयोगो निरवशेषो, निरवशेषस्य प्रसक्तानुप्रसक्तस्यार्थस्य कथनात्। एषोऽनन्तरोक्तः प्रकारत्रयलक्षणो भवति, स्याद्विधिर्विधानमनुयोगे सूत्रस्यार्थेनानुरूपतया योजनलक्षणे विषयभूते इति गाथार्थः। भ०२५ श०३ उ०। उत्त०। सूत्र०। गणिनामर्थपरिच्छेदानां पिटकमेव पिटकं स्थानं गणिपिटकम्, अथवा पिटकमिव वा लञ्जुकवाणिजक–सर्वस्वाधारभाजनहविशेष इव यत्तत्पिटकं गणिपिटकम् औ०। कल्प०। अनु०। गणिनः सर्वार्थसारभूते प्रवचने, पा०। पिटकमिव पिटकं गणिपिटकं रत्नसर्वस्वाधारकल्पं भवति। स०१ सम०।

गणिपिडगधारग त्रि०(गणिपिटकधारक) समस्तद्वादशाङ्गीधारके, कल्प०८ क्षण।

गणिभद्द पुं०(गणिभद्र) आर्य्यसंभूतेः षष्ठे शिष्ये, कल्प०८ क्षण।

गणिम न०(गणिम) नालिकेरपूगीफलादिके, यद्गणितं सद्व्यवहारे प्रविशति। ज्ञा०१ श्रु०८ अ०। स्था०। आ०चू०। ''गणिमं जं दुगाइयाए गणणाए गणिज्जति'' तच्च हरीतक्यादि। नि०चू०१ उ०।

से किं गणिडे ? गणिडे जण्णं गणिज्जइ। तं जहा–एगो दस सयं सहस्सं दससहस्साइं सयहस्सं दससयसहस्साइं कोडि एएणं गणिडप्पमाणेणं कि पओअणं, एएणं गणिमप्पमाणेणं मितगमितिमत्तवेअणआयव्वयसंसिआणं दव्वाणं गणियप्पमाणं निव्वित्तिलक्खणं भवइ। सेत्त गणिमे ॥

''से किं तं गणिमे'' इत्यादि। गण्यते संख्यायते वस्त्वनेनेति गणिमम्, एकादि। अथवा गण्यते संख्यायते यत्तद्गणिमं, रूपकादि। तत्र कर्म्मसाधनपक्षमङ्गीकृत्याह(जण्णमित्यादि) गण्यते यद्गणियम्। कथं गण्यत? इत्याह(एगो इत्यादि) एतेन गणिमप्रमाणेन किं प्रयोजनमित्यादि गतार्थमेव। नवरं भृतकः कर्मकरो, भृतिः पदात्यादीनां वृत्तिः, भक्तं भोजनं, वेतनकं कुविन्दादिना व्यूतवस्त्रव्यतिकरेऽर्थप्रदानम्। एतेषु विषये आयव्ययसंश्रितानां प्रतिबद्धानां रूपपकादिद्रव्याणां गणिमप्रमाणेन निवृत्तिलक्षणमियत्ताऽवगमरूपं भवति तदेतद्गणिममिति। अनु०। व्य०। गणिमं यदेकादिसंख्यया परिच्छिद्यते, तच्च ऋषभे राज्यमनुशासति प्रवृत्तम्। आ०म०प्र०।

गणिय त्रि० (गणिक) गणितज्ञे, रा०। ''गणिअं जाणइ गणिओ'' अनु०।

गणित न०। गण्यते इति गणितम्। ओघ०। कोटिकासंकलनादिके, स्था०१० ठा०। श्रूयते च वज्रान्तं गणितमिति। नं०। सङ्ख्याने, स्था०९। नं०। कल्प०। विशे०। ज्ञा०। संकलिताद्यनेकभेदे पाटीप्रसिद्धे सङ्ख्याने, जं०२ वक्ष०। कलाभेदे, स०७२ सम०। एकद्वित्र्यादिसुख्याने, तच्च भगवता सुन्दर्य्या वामकरेणोपदिष्टमत एव तत्पर्य्यन्तादारभ्य गण्यते। आ०म०प्र०। आ०चू०। बीजगणितादौ, आचा०३ चू०।

दशप्रकारं तु गणितमिदम्–

परिकम्मुरज्जुरासी, ववहारे तह कलासवण्णे य।
पुग्गलजावंतावे, घणे य घणवग्गवग्गे य ॥

एषां संस्थानानां मध्ये समचतुरस्रं संस्थानं प्रवरत्वात् पौण्डरीकमित्येवमेते द्वे अपि पौण्डरीके, शेषाणि तु परिकर्मादीनि गणितानि, न्यग्रोधपरिरमण्डलादीनि च संस्थानानि, इतराणि कण्डरीकान्यप्रवराणि भवन्तीति यावत्। सूत्र०२ श्रु०१ अ०। यथा पञ्च महार्णवा इति संख्यायते, स्था०५ ठा०२ उ०। नि०चू०। वेसवाडियगणस्य प्रथमे कुले, कल्प०८ क्षण।

गणियपकिरिया स्त्री०(गणितप्रक्रिया) गणितपरिज्ञानोपाये, सूत्र०। तद्यथा–''एकाद्या गच्छपर्यन्ताः, परस्परसमाहताः। राशयस्तद्विद्विज्ञेयं, विकल्पगणिते फलम्''॥१॥ प्रस्ताननयनोपायस्त्वयम्–तत्र ''गणितेऽन्त्यविभक्ते तु, लब्धं शेषैर्विभाजयेत। आदावन्ते च तत् स्थाप्यं, विकल्पगणिते क्रमात्''॥१॥ अयं श्लोकः शिष्यहितार्थं विव्रियते–तत्र सुखावगमार्थं षट् पदानि समाश्रित्य तावत् श्लोकार्थो योज्यते। तत्रैवं षट् पदानि स्थाप्यानि–१२३४५६

१२३४५	२१३४५	१३२४५	३१२४५	२३१४५	३२१४५	१२४३५

एतेषु परस्परताडनेन सप्तशतानि विंशत्युत्तराणि गणितमुच्यते, तस्मिन् गणितेऽन्त्योऽत्र षट्कः, तेन भागे हृते विंशत्युत्तरं शतं लभ्यते, तच्च षण्णां पङ्क्तीनामन्त्यपङ्क्तौ षट्कानां न्यस्यते, तदधः पञ्चकानां विंशत्युत्तरमेव शतम्। एवमधोऽधश्चतुष्कत्रिकद्विकैकानां प्रत्येकं विंशत्युत्तरशतं न्यस्यमेवमन्त्यपङक्तौ सप्तशतानि विंशत्युत्तराणि भवन्ति, एषा च गणितप्रक्रियाया आदिरुच्यते, तथा यत्तद्विंशत्युत्तरं शतं लब्धं तस्य च पुनः शेषेण पञ्चकेन भागेनापहृते लब्धा चतुर्विंशतिस्तावन्तस्तानन्तश्च पञ्चकचतुष्कत्रिकद्विकैकाः प्रत्येकं पञ्चमपङ्क्तौ न्यस्या यावद्विंशत्युत्तरं शतमिति। तदधोऽग्रतो न्यस्तमङ्कांमुक्त्वा येऽन्ये तेषां यो यो महत्संख्यः स सोऽधस्ताच्चतुर्विंशतिसंख्य एव तावद् न्यस्यो यावत्सप्तशतानि विंशत्युत्तराणि पञ्चमपङक्तावपिपूर्णानि भवन्ति, एषा च गणितप्रक्रियेत्यभिधियते। एवमनया प्रक्रिय या चतुर्विं शतेः शेषचतुष्ककेण भागे हृते षट् लभ्यन्ते, तावन्तश्चतुःपङक्तौ चतुष्काकः स्थाप्याः, तदधः षट् त्रिकाः पुनर्द्विकाः, भूय एक काः, पुनः पूर्वन्यायेन पङिक्तः पूरणीया, पुनः षट् कस्य शेषात्रिकेणे भागे हृते द्वौ लभ्येते, तावन्मात्रौ त्रिकौ तृतीयपङक्तौ शेषं पूर्ववत्। शेषपंक्तिद्वयं क्रमोत्रमाभ्यां व्यवस्थाप्यमिति॥ सूत्र०१ श्रु०१ अ०१ उ०।

गणियलिवि स्त्री०(गणितलिपि)ब्राह्म्या लिपेर्विधाने, प्रज्ञा०१ पद।

गणियसुहुम न०(गणितसूक्ष्म) गणितं कीटिकासंकलनादि, तदेव सूक्ष्मं सूक्ष्मबुद्धिगम्यत्वात्। सूक्ष्मभेदे, स्था०१० ठा०।

गणिया स्त्री०(गणिका) विलासिन्याम्, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०। आ०म०।

अहीण० जाव सुरूवा बावत्तरिकलापंडिया चउसट्ठिगणिया गुणोववेया एकूणतीसे वि सेसे रममाणी एक्कतीसरइगुणप्पहाणा बत्तीसपुरिसोवयारकुसला णवंगसुत्तपडिबोहिया अट्ठारसदेसीभासाविसारया सिंगारागारचारुवेसा गीयरइगंधव्वनट्टकुसला संगयगयभणियविहियविलासललियसंलावनिउणजुत्तोवयारकुसला सुंदरथणा जहणवयणकरचरणलावण्णविलासकलिया ऊसियधया सहस्सलंभा विदिण्णछत्तचामरवालवेयणिकया कण्णीरहप्प-याया होत्था बहूणं गणियासहस्साणं आहेवच्चं पोरेवच्चं सामित्तं भट्टित्तं महत्तरगत्तं आणाईसरसेणावच्चं करेमाणी पालेमाणी विहरइ॥

(अहीण त्ति) अहीना पूर्णपञ्चेन्द्रियशरीरेत्यर्थः। यावत्करणात्–"लक्खणवंजणगुणोवेया माणुम्माणपमाणपडिपुन्नसुजायसव्वंगसुंदरंगी" इत्यादि द्रष्टव्यम्। तत्र लक्षणानि स्वस्तिकलक्षणादीनि, व्यञ्जनानि मषीतिलकादीनि, गुणाः सौभाग्यादयः, मानं जलद्रोणमानता, उन्मानमर्धभारप्रमाणता, प्रमाणताऽष्टोत्तरशताङ्गुलोच्छ्रय-तेति (बावत्तरिकलापंडिय त्ति) लेखाद्याःशकुनरुतपर्यन्ता गणितप्रधानाः कलाः प्रायः पुरुषाणामेवाभ्यासयोग्याः, स्त्रीणां तु विज्ञेया एव प्राय इति। (चउसट्ठिगणिया गुणोववेया) गीतनृत्यादीनि विशेषतः पण्यस्त्रीजनोचितानि चतुःषष्टिविज्ञानानि ते गणिकागुणाः अथवा वात्स्यायनोक्तानि आलिङ्गनादीन्यंष्टौ वस्तूनि, तानि च प्रत्येकमष्टभेदत्वाच्चतुःषष्टिर्भवन्तीति। चतुःषष्ट्या गणिकागुणैरुपेता या सा, तथा एकोनत्रिंशद्विशेषा एकविंशती रतिगुणाः, द्वात्रिंशच्च पुरुषोपचाराः कामशास्त्रप्रसिद्धाः। (नवंगसुत्तपडिबोहिय त्ति) द्वे श्रोत्रे, द्वे चक्षुषी, द्वे घ्राणे, एका जिव्हा, एका त्वक्, एकं च मन इत्येतानि नवाङ्गानि सुप्तानि इव सुप्तानि यौवनेन प्रतिबोधितानि स्वार्थग्रहणपटुतां प्रापितानि यस्याः सा तथा "अट्ठारसदेसी भासाविसारय त्ति" रूढिगम्यम्। (सिंगारागारचारुवेस त्ति) श्रृङ्गारस्य रसविशेषस्यागारमिव चारुवेषो यस्याः सा तथा (गीयरइगंधव्वनट्टकुसल त्ति) गीतरतिश्चासौ गन्धर्वनाट्यकुशला चेति समासः। गन्धर्वं नृत्तयुक्तगीतं, नाट्यं तु नृत्तमेवेति (संगयगयभणियविहियविलासललियसंलावनिउणजुत्तोवयारकुसल त्ति) दृश्यम्, सङ्गतानि गतादीनि यस्याः सा तथा, सललिताः सुप्रसन्नतोपेता ये संलापास्तेषु निपुणा या सा तथा, युक्ताः सङ्गता ये उपचारा व्यवहारास्तेषु कुशला या सा तथा, ततः पदत्रयस्य कर्मधारयः। (सुंदरथण त्ति) एतेनेदं दृश्यम्–"सुंदरथणजघणवयणकरचरणणयणलावण्णविलासकलिय त्ति" व्यक्तम्, नवरं जघनं पूर्वः कटीभागस्य, लावण्यमाकारस्य स्पृहणीयता, विलासः स्त्रीणां चेष्टाविशेषः (ऊसियज्झय त्ति) ऊर्ध्वीं कृतजयपताका "सहस्सलाभे ति" व्यक्तम् (विदिन्नछत्तचामरवालवीयणिय त्ति) वितीर्णं राज्ञा प्रसादतो दत्तं छत्रचामररूपा बालव्यजनिका यस्यै सा तथा (कण्णीरहप्पपाया वि होत्थ त्ति) कर्णीरथः प्रवहणं तेन प्रयातं गमनं यस्याः सातथा, वा वाऽपीति समुच्चये (होत्थ त्ति) अभवदिति। (आहेवच्चं ति) आधिपत्यं आधपतिकर्म्म। इह यावत्करणादिदं दृश्यम्–(पोरेवच्चं) पुरोवर्त्तित्वम्, अग्रेसरत्वमित्यर्थः। (भट्टित्तं) भर्तृत्वं, पोषकत्वं, (सामित्तं) स्वस्वामिसंबन्धमात्रम्, (महत्तरगत्तं) शेषवेश्याजनापेक्षया महत्तरत्वम्, (आणाईसरसेणावच्चं) आज्ञेश्वर आज्ञाप्रधानो यः सेनापतिः सैन्यनायकस्तस्य भावः कर्म्म वा आज्ञेश्वरसेनापत्यमिव आज्ञेस्वरसेनापत्यम्, करेमाणी)कारयन्ती परैः, (पालेमाणी) पालयन्ती स्वयमिति। विपा०२ अ०। "गणियायारकरणुकोत्थहत्थीणं" (गणियायार त्ति) गणिकाकाराः सकामायाः करेणवस्तासां (कोत्थ त्ति) उदरदेशस्तत्र हस्तो यस्य कामक्रीडा परायणत्वात्स तथा, इह चेत्समासान्तो द्रष्टव्यः। ज्ञा०१ श्रु०१ अ०।

गणियागुण पुं०(गणिकागुण) आलिङ्गनादिके विलासिनीगुणे, ज्ञा०१ श्रु०३ अ०।

गणियाणुओग पुं०(गणितानुयोग) सूर्य्यप्रज्ञप्त्यादौ अनुयोगभेदे, आचा० १ श्रु०१ अ०१ उ०।

गणियावर न०(गणिकावर) विलासिनीप्रधाने, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०। जं०। विपा०। "गणियावरनाडइज्जकलियं" गणिकावरैर्वेश्याप्रधानैर्नाटकीयैर्नाटकसम्बन्धिनीभिर्मात्रैः कलिता या सा तथा ताम्। भ०११ श०११ उ०।

गणिविज्जा स्त्री०(गणिविद्या) उत्कालिक श्रुतविशेषे, नं०। सवालवृद्धो गच्छो गणः, सोऽस्यास्तीति गणी आचार्यः, तस्य

विद्याज्ञानं गणिविद्या, सा चेह ज्योतिष्कनिमित्तादिपरिज्ञानरूपा वेदितव्या, ज्योतिष्कनिमित्तादिकं हि सम्यक् परिज्ञाय प्रव्राजनसामयिकारोपणोपस्थापनश्रुतोद्देशाअनुज्ञागणारोपणदिशा-नुज्ञाविहारक्रमादिषु प्रयोजनेषूपस्थितेषु प्रशस्ते तिथिकरण-मुहूर्त्तनक्षत्रयोगे यद्यत्र कर्त्तव्यं भवति तत्र सूरिणां कर्त्तव्यं, तथा चेन्न करोति तर्हि महान् दोषः। उक्तं च-''जोइसनिमित्तनाणं, गणिण्णो पच्चावणाइकज्जेसु। उवजुञ्जइ तिहिकरणाइ जाणणट्ठऽन्नाह दोसो''॥१॥ ततो यानि सामयिकादीनि प्रयोजनानि यत्र तिथिकरणादौ कर्त्तव्यानि भवन्ति तानि तत्र यस्यां ग्रन्थपद्धतौ व्यावर्ण्यन्ते सा गणिविज्ञा। नं० पा०।

गणिव्वय पुं०(गणिव्वक) स्वनामख्याते कस्याचद् धर्मभ्रातरि, ''सीसो सज्झिल्लओ वा, गणिव्वओ बा न सायइ'' (७०१ गाथा) पं०व०३ द्वार।

गणिसंपया स्त्री०(गणिसम्पद्) गणानां साधूनां वा गणः समुदायो भूयानतिशयवान् वा यस्यास्तीति गणी आचार्य्यस्तस्य सम्पत् समृद्धिर्भावरूपा गणिसंपत्। प्रव०६४ द्वार। आचारश्रुतशरीरवचनादिकायामाचार्य्यगुणर्द्धौ, स्था०।

अट्ठविहा गणिसंपया पण्णत्ता। तं जहा-आयारसंपया सुयसंपया सरीरसंपया वयणसंपया वायणसंपया मइसंपया पयोगसंपया संगहपरिण्णा णाम अट्ठमा॥

गणः समुदायो भूयानतिशयवान् वा गणानां साधूनां वा यस्यास्ति स गणी आचार्यस्तस्य सम्पत् समृद्धिर्भारूपीं गणिसम्पत्, तत्राचरणमाचारोऽनुष्ठानं स एव संपद्विभूतिस्तस्य वा सम्पत सम्पत्तिः प्राप्तिराचारसम्पत्। सा च चतुर्द्धा, संयम ध्रुवयोगयुक्तता चरणे नित्यं समाध्युपयुक्ततेत्यर्थः। असम्प्रग्रह आत्मनो जात्याद्युत्सेकरूपाग्राहवर्जनमिति भावः २। अनियतवृत्तिरनियतविहार इत्यर्थः ३। वृद्धशीलता वपुर्मनसोर्निर्विकारतेतियावत् ४। एवं श्रुतसम्पत्, साऽपि चतुर्द्धा। तद्यथा-बहुश्रुतता युगप्रधानागतेत्यर्थः १० परिचितसूत्रता २, विचित्रसूत्रता स्वसमयादिभेदात् ३, घोषविशुद्धिकरता च उदात्तादिविज्ञा-नादिति। शरीरसम्पच्चतुर्द्धा, आरोहपरिणाहयुक्तता एचितदैर्घ्यविस्तारता इत्यर्थः, अनवत्राप्यता, अलज्जनीयाऽङ्गतेत्यर्थः २, परिपूर्णेन्द्रियता ३, स्थिरसंहननता चेति ४, वचनसम्पच्चतुर्द्धा। तद्यथा-आदेयवचनता १, मधुरवचनता २, अनिश्चितवचनता, मध्यस्थवचनतेत्यर्थः ३, असंदिग्धवचनता चेति ४। वचनासंपच्चतुर्ध्या। तद्यथा-विदित्वोद्देशनं विदित्वा समुद्देशनं परिणामिकादिकं शिष्यं ज्ञात्वेत्यर्थः २, परिनिर्वाप्य याचना पूर्वदत्तालापकानधिगमय्य शिष्यं पुनः सूत्रदानमित्यर्थः ३, अर्थनिर्यापणा-अर्थस्य पूर्वापरसाङ्गत्येन गमनिकेत्यर्थः ४। मतिसंपच्चतुर्द्धा-अवग्रहेहापायधारणाभेदादिति ४। प्रयोगसम्पच्चतुर्द्धा, इह च प्रयोगो वादविषयसूत्रात्मपरिज्ञानं वादा सामर्थ्यविषये पुरुषपरिज्ञानं, किं, नवोऽयं वाद्यादिः २, क्षेत्रपरिज्ञानं ३, वस्तुपरिज्ञानम्, वस्त्विह वादकाले राजामात्यादि ४। संग्रहः स्वीकरणं, तत्र परिज्ञा ज्ञानं नामाभिधानमष्टमी सम्पत्। सा च चतुर्विधा। तद्यथा-बालादियोग्यक्षेत्रविषया १, पीठफलकादिविषया २, यथासमयं स्वाध्यायशिक्षादिविषया ३, यथोचितविनयविषया चेति ४। स्था०८ठा०। प्रश्न०। दर्श०। ध०२०।

सुयं मे आउसंतेणं भगवया एवमक्खायं-इह खलु थेरेहिं भगवंतेहिं अट्ठविधा गणिसंपदा पण्णत्ता, कयरा खलु थेरेहिं भगवंतेहिं अट्ठ गणिसंपदा पण्णत्ता? इमा खलु थेरेहिं भगवंतेहिं अट्ठविहा गणिसंपदा पण्णत्ता तं जहा-आयारसंपदा १ सुतसंपदा २ सरीरसंपदा ३ वयणसंपदा४ वायणासंपदा ५ मतिसंपदा ६ संयोगसंपदा ७ संगहपरिण्णा णामं अट्ठमा। से किं तं आयारसंपदा? आयारसंपदा चउव्विहा पण्णत्ता। तं जहा-संजमधुवजोगजुत्ते यावि भवति १ असंगहियप्पा २ अणियतविति ३ वुड्ढसीले यावि भवति ४। सेतङ्क आयारसंपदा। से किं तं सुतसंपदा? सुतसंपदा चउव्विधा पण्णत्ता। तं जहा-बहुसुते भवति १, परिचित सूते यावि भवति २ विचित्तसुत्ते या वि भवति ३, घोसविसुद्धिकारए यावि भवति ४। सेत्तं सुतसंपदा। से किं तं सरीरसंपदा? सरीरसंपदा चउव्विहा पण्णत्ता। तं जहा-आरोहपरिणाहसंपन्ने या वि भवइ १, अणोतप्पसरीरे २, थिरसंघयणे ३, बहुपडिपुण्णिंदिए या वि भवति ४। सेत्तं सरीरसंपदा। से किं तं वयणसंपदा? वयणसंपदा चउव्विहा पण्णत्ता। तं जहा-आदिज्जवयणे या वि भवति १, महुरवयणे यावि भवति २, अणिस्सियवयणे यावि भवति ३, फुडवयणे यावि भवइ ४। सेत्तं वयणसंपदा। से किं तं वायणासंपदा? वायणासंपदा चउव्विहा पण्णत्ता। तं जहा-विइयं उद्दिसयति विइयं वाएति परिणिव्वावियं वाएइ अत्थणिज्जवए यावि भवति। सेत्तं वायणासंपदा। से किं तं मतिसंपदा? मतिसंपदा चउव्विधा पण्णत्ता। तं जहा-उग्गहमतिसंपदा १, ईहामती० २, अवायमती ३, धारणामती। से किं तं उग्गहमती? उग्गहमती छव्विधा पण्णत्ता। तं जहा खिप्पं उगिण्हति, बहुं उगिण्हति, बहुविहं उगिह्नति, धुवं उगिण्हति, अणिस्सियं उगिण्हति, असंदिद्धं उगिण्हति। सेतं उग्गहमती। एवं ईहामती वि। एवं अवायमती। से किं तं धारणामती? धारणामती छव्विधा पण्णत्ता। तं जहा-बहुं धरेति, बहुविधं धरेति, पोराणं धरेति, दुद्धरं धरेति, आणिस्सियं धरेति, असंदिद्धं धरेति। सेत्तं धारणामती। सेत्तं मतिसंपदा। से किं तं पओगसंपदा? पओगसंपदा चउव्विधा पण्णत्ता। तं जहा आतं विदाय वायं पउञ्जित्ता भवति, परिरसंविदाय वादं पउंजित्ता भवति। सेत्तं विदाय वादं पउंजित्ता भवति, वत्थुं विदाय वायं पउंजित्ता भवति। सेत्तं पओगमतिसंपदा से किं तं संगहपरिण्णा नाम संपदा? संगहपरिण्णा नाम संपदा चउव्विहा पणेत्ता। तं जहा-बहुजणपानउग्गताए वासावासेसु खेत्तं पडिलेहित्ता भवति, बहुजणपाउग्गताए पाडिहारियं पीढफलसेज्जासंथारयं उगिण्हित्ता भवति, काले णं

भवति कालं समाणइत्ता भवति, अहागुरुसंपूइत्ता । सेत्तं संगहपरिण्णा ।

''सुयं मे आउसतेणं'' इत्यादिव्याख्या प्राग्वत् । अष्टौ विधाः प्रकारा यासां ता अष्टविधाः । (गणिसंपद त्ति) गणोऽस्यास्तीति गणिराचार्यस्य संपद इव संपदो गणिसंपदः प्रज्ञप्ताः प्ररूपिताः । तद्यथा–आचारसम्पत् १, श्रुतसंपत् २, शरीरसम्पत् ३, वचनसम्पत् ४, वाचनासम्पत् ५, मतिसम्पत् ६, संयोगसम्पत् ७,संग्रहपरिज्ञान नाम सम्पत् ८ । अत्र च प्रत्येकमष्टौ प्रकारा गणिसंपदो वर्णयिष्यति, तदेवमुपन्यस्ताः प्रकाराः । साम्प्रतं तद्गते सूत्रं वक्तव्यं, तत्र प्रथमं संपद्गतमिदमादिसूत्रम्–(से किं तं गणिसंपया इति) अथास्य सूत्रस्य कः प्रस्तावः? उच्यते–प्रश्नसूत्रमिदम्, एतच्चादावुपन्यस्तमिदं ज्ञापयतिपृच्छतो मध्यस्थस्य बुद्धिमतोऽर्थिनो भगवदर्हदुपदिष्टत्वप्ररूपणा कार्या, न शेषस्य । तथा चोक्तम्–''मध्यस्थो बुद्धिमान्न्यायी, श्रोता पात्रमिति स्मृतः'' इति । पात्रं योग्योऽधिकारी चोच्यते । सर्वजगज्जन्तुनिवहहितायाऽभ्युत्थिता आचार्यास्तद्गुण-विशेषणविशिष्टस्यैवाल्याऽक्षरमसंदिग्धं पारावारस्येवाऽतितरां गूढाशयं भवाम्नोभ्युत्तारणप्रवरपोतसमानमहार्थरूपं श्रीजिनागमं संप्रदर्शयन्ति । स एव सम्यग् रक्षति, तद्विपरीतस्तु नाशयति । यत उक्तं च–'आमे घडे इत्यादि' ततोऽयोग्यस्यागमार्थो न देयोऽनुपधानादनुष्ठानस्य च । यत उक्तं स्थानाङ्गे–''चत्तारि अवायणिज्जा पन्नत्ता । तंजहा –अविणीए, विगइपडिबद्धे, अविउसियपाहुडो, मायी'' तत्र ''विगइपडिबद्धे'' इत्यस्यार्थ उपधानकारी इति , न तु उपधानमिति । कोऽर्थः ? उच्यते–उपष्टभ्यते श्रुतमनेनाऽऽचाम्लादितपोविशेषरूपेण च, योगविधिनेति यावत् । उपधीयते तदुपधानं, ततश्च य एवंविधानुष्ठानयुक्तो भवति । तस्यैवार्थसूत्रभेदाच्छ्रुतं देयमिति ज्ञापितं भवति, इति कृतं प्रसङ्गेन । प्रकृतमनुसरामः–तत्र 'से' शब्दो मगधदेशीप्रसिद्धो निपातस्तत्रशब्दार्थे, अथशब्दार्थे वा द्रष्टव्यः । स च वाक्योपन्यासार्थः । किमिति परिप्रश्ने (तं ति) तावदिति द्रष्टव्यं । तच्च क्रमोद्द्योतने । तत एष समुदायार्थःतिष्ठन्तु श्रुतसंपदादीनि प्रष्टव्यानि तावद्, आचारसम्पदानन्तरं च तेषामुपन्य-स्तत्वात् । तत्रैतावदेव तावत् पृच्छामि–किमाचारसंपदिति ? अथवा प्राकृतशैल्या अभिधेयवद् लिङ्गवचनानि योजनीयानीति न्यायादेवं द्रष्टव्यम्, तत्र का तावदाचारसंपदिति ? एवं सामान्येन केनचित्प्रश्ने कृते सति भगवान् गुरुः शिष्यवचनानुरोधेनानुच्चार्य किञ्चिच्छिष्योक्तं प्रत्युच्चार्य आह–'चउव्विहा पन्नत्ता' इति । अनेन चागृहीतशिष्याभिधानेन निर्वचनसूत्रेणैतदाचष्टे, न सर्वमेव सूत्रं गणधरप्रश्नतीर्थकर निर्वचनरूपं किन्तू किञ्चित्तथा, किञ्चिदन्यथापि, बाहुल्येन तु तथारूपम् । यत उक्तम्–''अत्थं भासइ अरहा, सुत्तं गंथंति गणहरा णिउणं । सासणस्स हियट्ठाए, तत्तो सुत्तं पवत्तइ''॥१॥ इत्यादि । तत्राचारसंपच्चतुर्धा प्रज्ञप्ता प्ररूपिता, यदा तीर्थकरा एव निर्वक्तारस्तदा अयमर्थो अवसेयोऽन्यैरपि तीर्थकरैर्यदा पुनरन्यः कश्चिचदाचार्य-स्तन्मतानुसारी तदा तीर्थकरगणधरैरिति । चातुर्विध्यामिवोपदर्शयति–(तं जहा) तद्यथेति वक्ष्यमाण-भेदकथनप्रकाशनार्थम् । ननु पूर्वमेव 'कयरा खलु अट्ठविहा गणिसंपदा' इत्यनेन स्पष्टमेवेति किमर्थं पुनः ''से किं तं'' इत्यादिना पच्छ ति, पुनरुक्तत्वात् । उच्यते–सामान्यतः संपद्विषयः पूर्वप्रश्नः, द्वितीयस्तु तद्विषयभेदान्तज्ञापनविषय इति समुच्चयविशेषविवक्षायां न विरोध इत्यलं प्रसङ्गेन । प्रस्तुतमुपस्तूयते–यः संयमध्रुवयोगयुक्तश्चापि भवति १ असंप्रतिगृहीतात्मा २ अनियतवृत्तिः ३ वृद्धशीलश्चापि भवति । तत्राचारो नाम प्रथममङ्गं, तस्मिन् अधीते दशविधश्रमणधर्मो ज्ञातो भवति, तस्मादाचाराङ्गं यो भणति सूत्रतोऽर्थतः संपद्युक्तो भवति यः स आचारसंपत् । (संजमेत्यादि) संयमो नाम चरणं, तस्य ये ध्रुवा अवश्यं कर्तव्यत्वाद् योगाः प्रतिलेखनास्वाध्यायादयः तैर्युक्तो भवति । अथवा संयमः सप्तदशप्रकारः पञ्चाश्रवाद्विरमणमित्यादिकः, तस्मिन् ध्रुवो नित्यो योगो व्यापारो यस्य स संयमध्रुवयोगयुक्तः अथवा संयमे ध्रुवो नित्यो योगो यस्य स संयमध्रुवयोगयुक्तः । चशब्दाद् ज्ञानादिकमप्यपि नित्योपयोगः । अपिशब्दग्रहणात् असंयमेऽपि योजयति इत्येका १ । असंप्रतिगृहीताव्याः अनुत्सेकवानात्मा यस्य सोऽसंप्रगृहीतात्मा, निराभिमान इत्यर्थः । यथा अहमाचार्यो बहुश्रुततस्तपस्वी सामाचारीकुशलो जात्यशदमान् वा इत्यादि मदरहितः २ । अनियता अनिश्चता वृत्तिर्व्यवहरणं विहारो वा यस्य सोऽनियतवृत्तिर्यथा 'गाते एगराइं नगरे पंचराइं' इत्यादिका । अथवा निकेतं नाम गृहं, तत्र वृत्तिर्वर्तनं यस्य स निकेतवृत्तिः, न निकेतवृत्तिरनिकेतवृत्तिः । अथवा चतुर्थादित-पोविशेषैरेषणासमितियोगेन च निकेतवृत्तिः परिचितगृहेष्वगन्ता इति ३ । वृद्धशीलो निभृतशीलः, अवञ्चनशील इति यावत् । अर्थग्रहणात् वृद्धेषु ग्लानादिषु सम्यग्वैयावृत्त्यादिकरणकारापणयोरुद्युक्तो भवति, एवं विधः । अथवा वृद्धशीलता तावद् दुःखितमनसि च निभृतस्वभावता, निर्विकारतेति यावत् ४। (सेत्तमित्यादि) सैषाआचारसंपत् चतुर्विधा । एवंविधाचारविशिष्टस्य श्रुतं भवति, दीयमानं च यथोक्तं गृह्णाति, सा श्रुतसंपत् । तां पिपृच्छिषुरिदमाह–(से किं तमित्यादि) अथ का सा श्रुतसंपत् ? सूरिराह–श्रुतसंपत् चतुर्विधा प्रज्ञप्ता । तद्यथा–बहुश्रुतश्चापि भवति १, परिचितसूत्रः २, विचित्रसूत्रः३, घोषविशुद्धिकारकः ४। तत्र बहुश्रुतो युगे युगे प्रधानः श्रुतेन, एतावता यस्मिन् काले यावनागमो भवति तस्मिन् काले तावन्तं संपूर्णं हेत्वर्थयुक्त्यादिभिर्जानाति, युगप्रधानाग इति भावः । चशब्दाद् बहुचारितः । अपिशब्दाद् बहुपर्यायः, स चैवं जघन्यतः पञ्चवार्षिकः, उत्कर्षत एकोनविंशतिवर्षपर्यायः १ । परिचितसूत्रः–उत्क्रमक्रमवाचनादिभिः स्थिरसूत्रोऽस्खलितागमः २। विचित्रःस्वपरसमयादिपर्यायैर्जानाति, अथवाऽर्थेन विचित्रं बह्वर्थविचार-णायुक्तं जानाति । अथवा उत्सार्गापवादौ सामान्यविशेषैर्वा विचित्रं जानाति स विचित्रसूत्रः ३ । घोषविशुद्धिकारकः–घोषा उदात्तादयः, तेषां शुद्धिर्घोषशुद्धिः, विशेषेण शुद्धिर्विशुद्धिस्तां करोतीति घोषविशुद्धि-कारकः । यतः स्वयं घोषविशुद्धिमान् अन्यानपि तथैव स्वरशुद्धिकारकः । घोषा उदात्तादयः, तेषां शुद्धिघोषशुद्धिः ४। (सेत्तं) पूर्ववत् । सांप्रतं शरीरबलवद् एव श्रुतं चतुर्विधं भवति, अतः शारीरं संपदमेव पिपृच्छिषुरिदमाह–(से किं तमित्यादि) प्रश्नसूत्रंव्यक्तम् । सूरिराह–शरीरसंपच्चतुर्विधा प्रज्ञप्ता । तद्यथा–आरोहपरिणाहसंपूर्णश्चापि भवति १, एवमनवत्राप्यशरीरः २, स्थिरसंहननः ३, बहुप्रतिपूर्णेन्द्रिय– ४। इह च आरोहो दैर्ध्यं , परिणाहो विस्तारः, ताभ्यां संपूर्णः । चापिशब्दाव-न्याङ्गसुन्दरत्वख्यापकाविति । येन उच्यते लौकिकैरपि–'यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति' अनवत्राप्यम्–नावत्राप्यम् लज्जनं यस्य सोऽयमनवत्राप्यः ।

अथवा अपात्रापयितुं लज्जयितुमर्हः शक्यो वाऽवत्राप्यो लज्जनीयः, न तथाऽनवत्राप्यः यतो हीनशरीरस्तु लज्जोत्पादको भवति २। स्थिरसंहननो बलवत्तरशरीरः, एवंविधश्च तपःप्रभृतिषु शक्तिमान् भवति ३। बहुपरिपूर्णानीन्द्रियाणि यस्य स बहुपरिपूर्णेन्द्रियोऽनुपहतचक्षुरादिकरणः, एवंविधश्च सर्वार्थसाधनपरो भवति ४। सेत्तमित्यादिपूर्ववत्। शरीरश्रुतसम्पद्युक्तस्यैव प्रायो वचनसंपद् भवति अतस्तां पिपृच्छिषुरिदमाह–(से किं तं) इत्यादि व्यक्तम्। सूरिराह–वचनसंपच्चतुर्विधा प्रज्ञप्ता। तद्यथा–आदेयवचनश्चापि भवति ? एवं मधुरवचनः २, अनिश्रितवचनः३, असन्दिग्धवचनः ४। तत्रादेयवचनः सकलजनग्राह्यवाक्यः, श्रोतारः श्रुत्वा यद्वाक्यं प्रमाणं कुर्वन्ति। चाऽपिशब्दावादेशान्तरदानेऽपि न कोऽपि तद्वाक्यमन्यथा करोतीति द्योतकः १, मधुरं रसवद्यदर्थतो विशिष्टार्थवत्तया अर्थाक्षिप्तेन शब्देन श्राव्यपरुषत्वमौखर्यगाम्भीर्यादिगुणोपेतत्वेन श्रोतुराह्लादमुपजनयति तदेवंविधं वचनं यस्य स तथा २। अनिश्रितवचनो रागादिना वाक्यकालुष्यवर्जितः ३। असन्दिग्धवचनः परिस्फुटवाक्यः, यद् ब्रूते तत्सर्वैरपि सेदेहरहितं बुध्यते। एवं विधस्य वाक्यश्रवणान्न संशयेदिति ४। सेत्तमित्यादि प्राग्वत्। अधुना एवंविध एव शिष्याणां वाचनां दातुं समर्थो भवतीति वाचनासंपदं प्रश्नयितुमाह–(से किं तं) इत्यादि कण्ठ्यम्। गुरुराह–(वायणेत्यादि) वाचनासंपच्चतुर्धा प्रज्ञप्ता। विदित्वोद्दिशति १, विदित्वा समुद्दिशति २, परिनिर्वाप्य वाचयति ३,अर्थनिर्यापकश्चापि भवति ४। तत्र विदित्वोद्दिशति यथा योगविधिक्रमेण सम्यग्योगेनाधीष्वैवमुद्दिशति, समुद्दिशति वा यथायोगसामाचार्यैव स्थिरपरिचितं कुर्विदमिति वदतीति, अन्यथा अपरिणामिकादावपक्वघटनिहितजलोदाहरणेन दोषसंभवात्। अथवा आमभाजने वा निक्षिप्तं क्षीरं विनश्यति, एवमयोग्ये दत्तं सूत्रं विनश्यतीति २। (परीति) सर्वप्रकारं निःवापयतो निरो निःसंदिन्धादिभृशार्थदर्शनाद् भृशं गमयते पूर्वदत्तालापकादिसर्वात्मना स्वात्मनि परिणमयतः शिष्यस्य सूत्रगताऽशेषविशेषग्रहणकालं प्रतीक्ष्य शक्तयनुरूपप्रदानेन प्रयोजकत्वमनुभूय परिनिर्वाप्य वाचयति सूत्रं प्रददाति ३। अर्थः सूत्राऽभिधेयं वस्तु, तस्य निरिति भृशं यापना निर्वाहणा, पूर्वापरसाङ्गत्येन स्वयं ज्ञानतोऽन्येषां च कथनतो निर्गमयति निर्यापयति इति निर्यापकः। चाऽपिशब्दौ विचारादिद्योतकौ ४। सेत्तमित्यादि सुगमम्। सांप्रतं जात्यमेवो पदिष्ट उत्पन्नप्रतिभो भवति। जातितग्रहणाद् विशिष्टजातिमत एव विशिष्टबुद्धिसंभव इति दर्शितं भवति, अन्यथा हि परतीर्थिकैराक्षिप्तस्तत्प्रत्युत्तराऽसमर्थश्चेत्तदा तादृशं तं दृष्ट्वा विप्रतिपत्तिं गच्छेयुरभिनवश्रद्धालवोऽपि चेतिमतिसंपदं प्रश्नयितुमिदमाह–(से किं तं) इत्यादि प्रश्नसूत्रं व्यक्तम्। भगवानाहमतिसंपच्चतुर्विधा प्रज्ञप्ता, तद्यथा–अवग्रहमतिसंपदेव १। ईहा २ अपायः ३ धारणा ४। तत्र सामान्यार्थस्य अशेषविशेषनिरपेक्षाऽनिर्देश्यरूपादेरव-ग्रहणमवग्रहः, सा चासौ मतिसंपच्चावग्रहमतिसंपत्, अवमन्या अपि १। नवरं ईहा तदर्थविशेषानोचनम् २। प्रकृतीर्थविशेषनिश्चयोऽपायः ३, अवगतार्थस्याऽविच्युतिस्मृतिवासना धारणा ४। सांप्रतमवग्रहमतिसंपद्भेदान् जिज्ञासुरिदं प्रश्नयति–(से किं तं) इत्यादि व्यक्तम्। सूरिराहषड्विधा षट् प्रकारा प्रज्ञप्ता। तद्यथा–क्षिप्रमव गृह्णति १, बहुकमवगृह्णाति २, बहुविधमवगृह्णाति ३, ध्रुवमव गृह्णति ४, अनिश्रितमवगह्णति ५, असन्दिग्धमवगृह्णति ६। तत्र क्षिप्रमतिशीघ्रमुच्चारितमात्रमवपृच्छद्भिः शिष्यैरवगृह्णति। अथवा परवादिभिः पृच्छद्भिरेवोच्चारितमात्रमवगृह्णति, यथा प्रतिभानामनिग्रहस्थानादिदोषा न संभवन्ति उक्ताऽननुवादेन च वादे पराजितत्वं भवति १, बहुमिति एकवारमुक्तानि पञ्चषड् ग्रन्थशतानि धारयति २, बहुविधमितिलिखति, धारयति, मनसि संख्यां गणयति, स्वमुखेनाऽन्यदाऽऽख्यानमप्यन्तराले कथयति, अनैकैश्चोच्चारितमवगृह्णाति, एवं च यथा लोकोक्त्या अष्टावधानिनो दशावधानिनश्चोच्यन्ते तथा करोतीति ३।ध्रुवमिति न कदापि विस्मारयति सकृत्पठितमपि यथाश्रुतमवगृह्णाति, एवे च प्रज्ञावान् लोके प्रशस्यते, प्रत्युत्तरादिविधाने च समर्थो भवतीति ४। अनिश्चितं नाम पवुस्तकादिनिरपेक्षमेव पठति, अवगृह्णाति च। अथवा एकवारं श्रुतं पुनर्नयदा कश्चिद्यदनूद्य वदति तदैव वक्तुं समर्थो भवति नान्यथैवंविधाने भवति किं तु स्मरणनिरपेक्ष यवं भवतीति ५। असन्दिग्धं नाम सन्देहवर्जितमवगृह्णाति, न तु यत्र तत्र साशङ्क एवंविधश्च स्वयं निःसंदेहत्वात् अन्यानपि निःसन्देहतया प्रज्ञापयिता भवति इति एवमित्थमीहामतिसंपत् क्षिप्रमवगृह्णतीत्यादिषट्कारा ज्ञेया २। एवमित्यऽमुनैव क्रमेण षट्प्रकारा अपायमतिसंपद् अपि वर्णनीया ३। अधुना धारणा मतिसंपदं जिज्ञासुः परिपृच्छति–(से किं तं) इत्यादि सुकरं प्रश्नसूत्रम्। गुरुराह–(छव्विहेत्यादि) व्यक्तम्। तद्यथा बहु धारयति १, बहुविधं धारयति २, पुराणं धारयति ३ दुर्द्धरं धारयति ४, अनिश्रितं धारयति ५, असंदिग्धं धारयति ६, इति षडपि पदानि व्यक्तानि। नवरं (पोराणं ति) पुराणं जीर्णं, प्रभूतकालपठितं तदपि यथाश्रुतं धारयति यदा पृच्छति तदा धारणासमर्थत्वात् सर्वे वदति (दुद्धरं ति) दुर्द्धरं दुःखेन धर्तुं शक्यं नयगमभङ्गनिपुणं धारयति। सेत्तमित्यादि निगमनवाक्यं व्यक्तमिति। इदानीं मतिसंपत्समन्वित एव प्रयोगसंपद्योग्यो भवति इति प्रयोगमतिसंपदं जिज्ञासुरिदं पृच्छति–(से किं तं) इत्यादि प्रश्नसूत्रं कण्ठ्यम्। गुरुराह–प्रयोगमतिपञ्चतुर्विधा प्रज्ञप्ता। तद्यथा–आत्मानं विदाय वादप्रयोक्ता भवति २, क्षेत्रं विदाय वादप्रयोक्ता भवति ३, वस्तु विदाय वादप्रयोक्ता भवति ४। तत्र आत्मानं वादादिव्यापारकाले किममुं प्रतिवादिनं जेतुं मनःशक्तिरस्ति न वेति (विदाय त्ति) विद् ज्ञानी जानीते, ततो (वादं इति) धर्मं कथयितुं वादं वा कर्तुं प्रयोक्ता इतिआत्मानं वादं प्रयोजयति भवति १। एवं पर्षदं यथा किमियं पर्षत् सौगता, सांख्या, अन्या वा, तथा प्रतिभादिवती, तदितरा वेति। अथवा ''जाणिया अजाणिया दुच्चियत्ता वा'' क्वचित् (पुरिसं वेत्ति) तत्र पुरुष एवैतादृशो वाच्यः २। (क्षेत्र विदायेति) किमिदं क्षेत्राय बहुलम् ऋजु परिणतं वा तथा साधुभिरभावितं भावितं नगरादीति ज्ञात्वा वादप्रयोक्ता भवति, अन्यथा हि तत्स्वरूपाऽपरिज्ञाने सहसा वादकरणे पराजयप्रसङ्गात् ३। 'वस्तु विदायेति' किमिदं राजामात्यादिसभासदि विवादवस्तु दारुणं वा भद्रकममभद्रकं वे ति परवादिप्रभृति बह्वागममल्पागमं वा। अथवा वस्तुशब्दादुपलक्षिता द्रव्य १ क्षेत्र २ काल ३ वस्त्वादयः ४, तान् विदाय वाद इति उपलक्षणणत्वात् सामाचारीप्रभृतिप्रयोक्ता भवति। तत्र द्रव्यम् इदमनुष्ठानादि कर्तुं स किं बालग्लानादिकं निर्वाहयितुं वा समर्थो भविष्यति, नवेति क्षेत्रमिदं किं मासकल्पचतुर्मासकल्पादिकरणयो-

ग्यं भवति, न वेति कालं विदाय किमयं कालस्तथा विधोग्रतपकरणाय युक्तो भावति, न वेति । अथवा इदमिदानीं कर्त्तव्यमित्वेयं वस्तु बालग्लानदुर्बलक्षपकाचार्योपाध्यायराजर्षिवृषभगीतार्थादि विदाय तथाविधाऽऽदेशदानाहारोपधिशय्यादि यथोचितप्रयोक्ता भवति, एवंविधज्ञानयुक्तो यथोचितकार्येषु प्रवर्तमानो न गणस्य द्वेष्यो भवतीति ४। 'सेत्तं' इत्यादि पूर्ववत् । अधुना प्रयोगमतिसंपत्समन्वितस्यैव संग्रहपरिज्ञाकौशल्यं भवति, अतस्तान्येव प्रश्नयितुमाह–(से किं तं) इत्यादि व्याख्यातार्थम् । सूरिराह संग्रह परिज्ञा चतुर्विधा प्रज्ञप्ता । तद्यथाबहुजनप्रायोग्यतया वर्षावासेषु क्षेत्रं प्रतिलेखयिता भवति १। बहुजनप्रायोग्यतया प्रतिहारदार्वादेरवगृहीता भवति २। काले कालं संमानयिता भवति ३ । यथागुरु संपूजायिता भवति ४ । तत्र बहवो जना बहुजनाः प्रस्तावात् साधवः, अथवा बहुसंख्याको जनो जातावेकवचनम्, तत्रापि स एवार्थः, तस्य प्रायोग्यं योग्यमिति, तस्य भावो बहुजनप्रायोग्यता, तया करणभूतयेति। (वासावासासु त्ति) वर्षासु वर्षासु वर्षाकाले वर्षा वृष्टिर्वर्षा वर्षासु वा आवासोऽवस्थानं वर्षावासस्तस्मिन्, स्त्रीत्वं प्राकृतत्वात् । क्षेत्रं बालवृद्धदुर्बलग्लानक्षपकाचार्यादीनां तथायोगवाहिनामितरेषां वाऽऽहारादिगुणोपेतं बुहत्कल्पानुसारतो ज्ञेयम्, तत्प्रतिलेखययिता शेषकाले गवेषयिता भवति, तदप्रतिलेखने स्थितानां पीठाहारादिसंकीर्णतादिदोषप्रसङ्गात् । ननु वर्षाग्रहणमिति किमर्थम् ? शेषकालेऽपि तत्प्रतिलिख्यते एवेति चेत् । उच्यते–अन्यस्मिन् काले अन्यत्रापि गम्यते, परं वर्षासु न तथेति तद्ग्रहणम् १। तथा बहुजनप्रायोग्यतया (पडिहारिए त्ति) प्रतिहारः प्रत्यर्पणं प्रयाजनमस्येति प्रातिहारिकं पीठमासनं पट्टकादिफलकमवष्टम्भनफलकं कोष्ठविशेषः, शयनं वा,यत्र प्रसारितपादैः सुप्यते संस्तारको लघुतरशयनमेव, एतेषामवगृहीता भवति। इदमपि वर्षावासे एव, यतश्चतुर्मासिक मध्ये एवं वृद्धसामाचारी दृश्यते, न्यूनोदरतादितःकरणं पर्युषणाकल्पकर्षणं विकृतेः परित्यागो विशेषकारणमन्तरा पीठफलकादिसंस्तारकादानम् उच्चारादिमात्रक संग्रहणं लोचकरणं शैक्षप्रव्राजनं प्रागृहीतभस्मडगलादिपरित्यजनमेतेषां तु ग्रहणं द्विगुणवर्षोपग्रहोपकरणं धरणमित्यादि अत्र ''कल्पाध्ययने'' स्वयमेव वक्ष्यते सूत्रकारः, इति कृतं प्रसङ्गेनेति २। काले यथोचितप्रस्तावे एव स्वाध्यायोपधिसंमुत्पादनप्रत्युपेक्षणाध्यापनभिक्षादिकरणात्मकम्, अनुष्ठानं, सं मानयिता स्वस्थाने आदरकरणेन प्रतिपत्तिकर्त्ताभवति ३ । तथा गुरुमिति येन गुरूणा प्रव्राजितो यस्य पार्श्वे वा पठितः तं गुरुं संपूजयिता इति स्वयमाचार्यत्वे प्राप्तेऽपि मा एतेषां विनयहानिर्भवत्विति कृत्वा अभ्युत्थानवन्दनकाहारोपधिपथिविश्रामणचरणसंवाहनाशुश्रूषादिभिर्विनयहेतुभिः सम्यग् यथा भवति तथा पूजयिता भवति, न पुनः प्राप्तप्रतिष्ठस्तथा भवतीति ४। सेत्तमित्यादि निगमनवाक्यं व्यक्तार्थम्। दशा००४ अ०। गणिसंपद् यत्राभिधीयते तदध्ययनमपि तथैवोच्यत इति । आचारदशानां चतुर्थेऽध्ययने,स्था०१० ठा०।

गणेत्तिया स्त्री०(गणेत्रिका) रुद्राक्षकृते कलापिकाभरणविशेषे,ज्ञा०१ श्रु०१६ अ०। औ०। भ०।

गणेस पुं०(गणेश) द्विपास्ये लम्बोदरदेवे, वाच०। गणधरे च । जीत०। ''निष्प्रत्यूहं प्रणिदधे भवनीतनयानहम् । सर्वानपि गणाध्यक्षानक्षामोदरसङ्गतान्''॥१॥ इत्यत्र भवानीतनयानुमासुतान् संसारे आनीतशास्त्रान् वा गणाध्यक्षान् गणपतिदेवान् गणधरांश्च अक्षामोदरसङ्गतान् लम्बोदरान् आत्मानदरसं प्राप्तान् वेति श्लिष्टार्थप्रतीतेः । जीत०।

गतकिलेस त्रि०(गतक्लेश) गतसमस्तरागादिक्लेशे, चं०प्र०१ पाहु०।

गति स्त्री०(गति) चूलिकापैशाचिके गस्य कः प्राप्तः ''नादियुज्योरन्येषाम्''।८।४।३२७। इति न भवति । प्रा०४ पाद । गमने, प्रश्न०४ संव० द्वार नामकर्मोदयसंपाद्ये जीवपर्याये, प्रश्न०५ आश्र० द्वार।

गत्त पुं०(गर्त) श्वभ्रे, भ०१५ श०१ उ०। ईशायाम्, पङ्के च। दे०ना००२ वर्ग।

गात्र न०। अङ्गे, प्रश्न०३ आश्र०द्वार। शरीरे, उत्त०१६ अ० । जीवा० । -औ०। 'गत्तंतालुक्खए' इव । प्रज्ञा०१७ पद।

गत्तिगकारपविभत्ति न०(गतिगकारप्रविभक्ति) गकाराकृत्यभिनयात्मके नाट्यभेदे, रा०।

गद्दतोय पुं०(गर्दतोय) अभ्यन्तरपश्चिमायाः कृष्णराजेग्रे चन्द्राभे लोकान्तिकविमाने परिवसति लोकान्तिकदेवभेदे, स्था०८ ठा०। प्रव०। आ००म०। ज्ञा०। ''गद्दतोयतुसियाणं देवाणं सत्त देव देवसहस्सा पण्णत्ता''। स्थ०७ ठा०। ''गद्दतोयतुसियाणं देवाणं सत्तहत्तरिं देवसहस्सपरिवारए पण्णत्ते''तत्र गर्दतोयानां तुषितानां च देवनामुभयपरिवारसंख्यामीलनेन समसप्ततिदेवसहस्राणि परिवारः प्रज्ञप्तनीति । स०७७ सम०।

गद्दभ पुं०स्त्री०(गर्दभ)रासभे,'गधा'इतिख्याते, स्त्रियां जातित्वात् ङीप् । आ०क०। युवराजसचिवदीर्घपृष्ठपुत्रे, बृ०१ उ०। ('जुवराज'शब्दे वक्ष्यते)

गद्दभय पुं०(गर्दभक) 'गदइया' इतिख्याते प्राणिनि, आचा०२ श्रु०३ अ०१ उ०। आ०म०। उत्पलनामकेगन्धद्रव्ये,श्वेतकुमुदे, विडङ्गे च। न०। वाच०।

गद्दभाल पुं०(गर्दभाल) वक्ष्यमाण ''गद्दभालि'' शब्दार्थे, भ०२ श०२ उ०।

गद्दभालि पुं०(गर्दभालि) स्वनामख्याते परिव्राजके, यच्छिष्यः स्कन्दक आसीत् भ०२ श०२ उ०। स्वनामख्यातेऽनगराप्रवरे, यदन्तिके काम्पिल्येश्वरः सेजयो नामाऽनगारः प्रवव्राज । ती०२५ कल्प। उत्त०।

गद्दभिल्ल पुं०(गर्दभिल्ल)स्वनामख्याते उज्जयिनीनृपे, यो हिसाध्वीव्रतभञ्जकत्वेन कालकाचार्येणोन्मूलितः । नि०चू०१० उ०। पञ्चा०। ती०।(गर्दभिल्लकथा तु ''अधिगरण'' शब्दे प्र०भागे ५८२ पृष्ठे कालकाचार्यप्रस्तावे निरूपिता)

गद्दभी स्त्री०(गर्दभी) गर्द–अभच्। गौरा–ङीष्। अग्निप्रकृतिके कीटभेदे, स्वार्थे कः । गर्दभिका । रोगो, संज्ञायां कन् । अपराजितायाम्, श्वेतकण्टकार्याम्, कटभ्यां च। गर्दभजातिस्त्रियाम् वाच०। गर्दभीरूपधारिण्यां गर्दभिल्लराजरक्षिकायां विद्यायाम्, नि०चू०१० उ०।

गद्दह पुं०(गर्दभ)'गद्दभ' शब्दार्थे, आ०क०।

गद्दही स्त्री०(गर्दभी) 'गद्दभी'शब्दार्थे, नि०चू०१० उ०।

गद्ध न०(गार्ध्य) तात्पर्ये, आचा०१ श्रु०३ अ०३ उ०।

गद्धपिट्ठ न०(गृध्रस्पृष्ट) मरणभेदे, गृद्धादिभक्षणं गृद्धम्। उत्त०१ अ०। गृद्धाः प्रतीताः ते आदिर्येषां शकुनिका–शिवदीनां, तैर्भक्षणं गम्यमानत्वादात्मनस्तदनिवारणादिना तद्भक्ष्यकरिकरभादिशरीरानुवेशेन च गृद्धादिलक्षणम्। तत्किमुच्यते इत्याह–(गद्धपिट्ठ त्ति) गृद्धैः स्पृष्टं स्पर्शनं यस्मिंस्तद् गृद्धस्पृष्टं, यदि वा गृद्धानां भक्ष्यं स्पृष्टमुपलक्षणत्वादुदरादि च मर्तुर्यस्मिंस्तद् गृद्धस्पृष्टम्, स ह्यलक्तकपूणिक पुटप्रदानेनाप्यात्मानं ग्रद्धादिभिः स्पृष्टादि भक्षयतीति। उत्त०५ अ०। गृद्धस्पृष्टाभिधानमनाथपतितगो–कलेवरादिवदध्वनि निपतनरूपम्। तं०।

गन पुं०(गण)**"णो नः"।८।४।३०६।** इति पैशाच्यां णस्य नः। समुदाये, प्रा०४ पाद।

गब्भ पुं०(गर्भ)जननीकुक्षौ, तं०। "गब्भं वक्कंते" गर्भे कुक्षौ व्युत्क्रान्त उत्पन्नः। स्था०५ ठा०१ उ०। गर्भाशये, स्था०२ ठा०३ उ०। सजीवपुद्गलपिण्डके, भ०५ श०४ उ०। उदरसत्त्वे, स्था०१० ठा०। प्राणिनां जन्मविशेषे, स्था०४ ठा०४ उ०।

अथ गर्भाधिकारः–

सुणह गणिए दस दसा, वाससयाउस्स जह विभजंति।
संकलिए वोगसिए, जं चाउं सेसयं होइ ॥२॥
जत्तियमेत्ते दिवसे, जत्तियराईसु होइ उस्सासे।
गब्भम्मि वसइ जीवो, आहारविहिं च वुच्छामि ॥३॥

(सुणह०। जत्तिय०) अत्र पदानां संबन्धोऽयम्–वर्षशतायुषो जन्तोर्यथा दश दशा अवस्था विभजन्तीति पृथग् भवन्ति तथा यूयं शृणुत, क्व सति ? गणिते–एकद्व्यादिक्रियमाणे सति, तथा दश दशाः संकलिते एकत्र मीलिते, तथा व्युत्कर्षिते निष्काशिते सति 'वाससयं परमाउं इतो पन्नासं हरइ' इत्यादिना यच्चायुःशेषकं भवति तदपि यूयं शृणुत।२। यावन्मात्रान् दिवसान् यावद्रात्रीः यावन्मुहूर्तान् यावदुच्छ्वासान् जीवो गर्भे वसति तान् वक्ष्ये, गर्भादिके आहारविधिं चशब्दाच्छरीररोमादिस्वरूपं च वक्ष्ये भणिष्यामिति ॥३॥

तत्र गर्भे अहोरात्राणां प्रमाणमाह–

दुन्नि अहोरत्तसए, संपुण्णे सत्तसत्तरिं चेव।
गब्भम्मि वसइ जीवो, अद्धमहोरत्तमण्णं च ॥४॥
एए उ अहोरत्ता, नियमा जीवस्स गब्भवासम्मि।
हीणाहियाउ इत्तो, उवघायवसेण जायंति ॥५॥

'दुन्नि' द्वे अहोरात्रशते २०० संपूर्णे सप्तसप्तत्यधिके ७७ अन्यदर्धमहोरात्रं च जीवो गर्भे वसति तिष्ठति, एतावता नवमासान् सार्द्धसप्तदिनान् जीवो गर्भे तिष्ठतीत्यर्थः ॥४॥ (एए उ) एते वक्तरूपा अहोरात्रा निश्चयेन जीवस्य गर्भवासे भवन्ति। (इत्तो त्ति) अस्मादुक्तादहोरात्रप्रमाणात् उपघातवशेन वातपित्तादिदोषेन हीनाधिका अपि (जायंति त्ति) धातूनामनेकार्थत्वाद् भवन्तीत्यर्थः। तुशब्दोऽप्यर्थः स च योजित इति ॥५॥

अथ गर्भे मुहूर्तानां प्रमाणमाह–

अट्ठस हस्सा तिन्नि एउ सया मुहुत्ताण पन्नवीसा य।
गब्भगओ वसइ जिओ, नियमा हीणाहिया इत्तो ॥६॥

(अट्ठस०) अष्टौ सहस्राणि त्रीणि शतानि पञ्चविंशत्याधिकानि मुहूर्तानि ८३२५ निश्चयेन जीवो गर्भे वसति। तानि च कथं भवन्ति? उक्तलक्षणासप्तसप्तत्यधिकद्विशताहोरात्राः २७७ त्रिंशता गुणिता ८३१० एतावन्तो भवन्ति, अर्द्धहोरात्रस्य च पञ्चदश मुहूर्ताने क्षिप्यन्ते, जातानि ८३२५ इति। इत उक्तरूपात् ८३२५ वातदोषादिविकारेण हीनाधिकान्यपि मुहूर्तानि वसति गर्भे जीव इति ॥६॥

अथ गाथाद्वयेन गर्भे निःश्वासोच्छ्वासावप्रमाणमाह–

तिन्नेव य कोडीओ, चउदससय हवंति सयसहस्साइं।
दस चेव सहस्साइं, दुन्नि सया पण्णवीसा य ॥७॥
उस्सासा निस्सासा, इतियमित्ता हवंति संकलिया।
जीवस्स गब्भवासे नियमा, हीणाहिया इत्तो ॥८॥

(तिन्नेव य उस्सासा) तिस्रः कोट्यः चतुर्दश शतसहस्राणि, चतुर्दश लक्षणीत्यर्थः, दश सहस्राणि, द्वे शते, पञ्चविंशत्यधिक इति ३१४१०२२५। (इत्तियमित्त त्ति) एतावन्मात्राः सङ्कलिता एकीकृता जीवस्य गर्भवासे निश्चयेन निःश्वासोच्छ्वासा भवन्ति। कथमेकस्मिन्नन्तर्मुहूर्ते सप्तत्रिंशच्छतानि त्रिसप्तत्यधिकानि ३७७३ निःश्वासोच्छ्वासा भवन्ति, एतैश्च यदैतानि ८३२५ उक्तरूपाणि मुहूर्तानि गुण्यन्ते तदा यथोक्तम् ३१४१०२२५ एतद्भवतीति। इत उक्तरूपाद् दोषादिकारणेन हीनाधिका निःश्वासोच्छ्वासा भवन्तीति ॥८॥

अथाहाराधिकारे किञ्चिद् गर्भादिस्वरूपमाह–

(आउसो!)इत्थीऐं नाभहिट्ठा,सिरादुगं पुप्फनालियागारं।
तस्स य हिट्ठा जोणी, अहोमुहा संठिया कोसा ॥९॥

(आउसो इत्थी०) हे आयुष्मन्! हे गौतम! स्त्रिया नार्या नाभेरधोभागे पुष्पनालिकाकारं सुमनोवृन्तसदृशं शिराद्विकं धमनियुग्मं वर्तते, च पुनस्तस्य शिराद्विकस्याधो योनिः स्मरकूपिका संस्थिताऽस्ति। किंभूता ? अधोमुखा। पुनः किंभूता? (कोस त्ति) कोशा, खड्गपिधानकाऽऽकोरत्यर्थः ॥९॥

तस्स य हिट्ठा चूयस्स मंजरी तारिस उ मसस्स।
ते रिउकाले फुडिया, सोणियलवया विमोयंति ॥१०॥

(तस्स य) तस्याश्च यानेरधोऽधोभागे चूतस्याऽऽम्रस्य यादृश्यो मञ्जर्यो वल्लर्यो भवन्ति तादृश्यो मांसस्य पललस्य मञ्जर्यो भवन्ति ता मञ्जर्यो मासान्ते स्त्रीणां यदजस्रमस्रं दिनत्रयं स्रवति तदृतुकालः स्त्रीधर्मप्रस्तावः, तस्मिन् स्फुटिताःप्रफुल्लाः सत्यः शोणितलवकान् रुधिरबिन्दून् विमुञ्चन्ति श्रवन्ति ॥१०॥ तं।"सप्ताहं कललं विन्द्यात्, ततः सप्ताहमर्बुदम्। अर्बुदाज्जायते पेसी, पेसीतोऽपि घनं भवेत्"॥१॥ वाच०।

कोसायारिं जोणिं, संपत्ता सुक्कमीसिया जइया।
तइया जीवुववाए, जुग्गा भणिया जिणिंदेहिं ॥११॥

(कोसा) ते रुधिरबिन्दवः कोशाकारां योनिं संप्राप्ताः सन्तः शुक्रमिश्रिताः ऋतुदिनत्रयान्ते पुरुषसंयोगेनाऽसंयोगेन

वा पुरुषवचीर्येण यदा मिलिताः (तइय त्ति) तदा जीवोत्पादे गर्भसंभूतिलक्षणे योग्या भणिताःकथिता जिनेन्द्रैः सर्वज्ञैरिति।११। ननु कथा पुरुषासंयोगे पुरुषसंभवा इति ? यदुक्तं स्थानाङ्ग ''पंचहिं ठाणेहिं इत्थी पुरिसेण सद्धिं असंवसमाणी वि गब्भं धरेज्जा। तं जह इत्थी दुवियडा दुन्निसन्ना सुक्कपोग्गले अधिट्ठिज्जा १, सुक्कपोग्गल संसट्ठे वा से वत्थें अंतो जोणिए अणुपवेसेज्जा २, सयं वा से ३, परो वा से सुक्कपोग्गले अणुपवेसेज्जा ४, सीओदगवियडेण वा से आयममाणीए सुक्कपोग्गले अणुपवेसेज्जा ५, इच्चेतेहिं पंचहिं ठाणेहिं जाव धरेज्जा''(स्था०५ ठा०२ उ०)

परिधानवर्जितेत्यर्थः। दुर्निषण्णान् पुरुषशुक्रपुद्गलान् कथञ्चित्पुरुषनिसृष्टानासनस्थानधितिष्ठेद् योन्याकर्षणेन संगह्णीयात् १, तथा शुक्रपुद्गलसंसृष्टं 'से' तस्याः स्त्रिया वस्त्रमन्तर्मध्ये योनावनुप्रविशेद्, इह च वस्त्रमित्युपलक्षणं तथाविधमन्यदपि अनुप्रविशेदिति २, स्वयमिति पुत्रार्थिनीत्वाच्छीलरक्षकत्वाच्च (से ति) सा शुक्रपुद्गलान् योनावनुप्रवेशयेत् ३, (परो वे त्ति) श्वश्रूप्रभृतिकः पुत्रार्थमेव (से) तस्या योनाविति ४, शीतोदकलक्षणं यद्विकटं पल्वलादिगतमित्यर्थः, तेन वा (से) तस्या आचामत्याः पूर्वपतिता उदकमध्यवर्तिनः शुक्रपुद्गला अनुप्रविशेयुरिति।

अथाध्यस्तयोनिकालमानं जीवसंख्यापरिमाणं चाह–

वारस चेव मुहुत्ता, उवरिं विद्धंस गछई सा उ।
जीवाणं परिसंखां, लक्खपहुत्तं च उक्कोसं ॥१२॥

(वारस०) सा पुरुषवीर्यसंयुक्ता योनिर्द्वादशैव मुहूर्तान् यावद्वध्वस्ता भवति। तथा (उवरिं ति) द्वादशमुहूर्तानन्तरं सा योनिर्विध्वंसं गच्छति, प्राप्नोतीत्यर्थः। अयमाशयःऋत्वन्ते स्त्रीणां नरोपभोगेन द्वादशमुहूर्तमध्य एव गर्भभावः, तदनन्तरं वीर्यविनाशत्वाद् गर्भाभाव इति। तथा मनुष्यगर्भे जीवानां गर्भजन्तूमनां परिसंख्या, संख्या-मानं, लक्षपृथक्त्वमुत्कृष्टतो भवति। सिद्धान्तभाषया द्विप्रभृतिरानवभ्यः संख्या कथ्यत इति ॥१२॥

अथ कियद्भ्यो वर्षेभ्यः पुनरूर्ध्वं गर्भं स्त्रियो न धारयन्ति, पुमाँश्चावीर्यो भवति इति प्रसङ्गतो निरूपयितुमाह–

पणपन्ना य परेणं, जोणि पडिलायए महिलियाणं।
पणसत्तरीइ परओ, पाएण पुडं भवे वीओ ॥१३॥

(पणप०) महिलानां स्त्रीणां प्रायः प्रवाहेण (पणपन्ना य त्ति) पञ्चपञ्चाशद्वर्षेभ्यः (परेण ति) ऊर्ध्वं योनिः प्रम्लायति, गर्भधारणाऽसमर्था भवतीत्यर्थः। भावार्थोऽयं निशीथोक्तो यथा–''इत्थीए जाव पणपन्नवासा न पूरेंति ताव अभिलाया जोणि'' आर्तवं स्याद्, गर्भं च गृह्णातीत्यर्थः। ''पणपन्नवासाए पुण कस्स वि अत्तवं भवति, न पुण गब्भं गेण्हइ, पणपन्नाए परओ न अत्तवं नो गब्भं गेण्हइ त्ति''। तथा चोक्तं स्थानाङ्गटीकायाम्–

'मासि मासि रजः स्त्रीणा–मजस्रं स्रवंति त्र्यहम्।
वत्सराद् द्वादशादूर्ध्वं, याति पञ्चाशतः क्षयम् ॥१॥
पूर्णषोडशवर्षा स्त्री, पूर्णविंशेन सङ्गता।
शुद्धे गर्भाशये १ मार्गे२, रक्ते ३ शुक्रे ४ ऽनिले ५ हृदि ६॥२॥
वीर्यवन्तं सुतं सूते, ततो न्यूनाद् द्वयोःपुनः।
रोगयल्पायुरधन्यो वा, गर्भो भवति नैव वा''॥३॥ इति।

शुद्धे निर्दोषे गर्भाशयादिषट्के इत्यर्थः। तथा च–

''ऋतुस्तु द्वादश निशाः, पूर्वास्तिस्रोऽत्र निन्दिताः।
एकादशी च, युग्मासु, स्यात्पुत्रोऽन्यासु कन्यका ॥४॥
पद्मं संकोचमायाति, दिनेऽतीते यथा तथा।
ऋतावतीते योनिः सा, शुक्रं नैव प्रतीच्छति ॥५॥
मासेनोपचितं रक्तं, धमनीभ्यामृतौ पुनः।
ईषत्कृष्णं विगन्धं च, वायुर्योनिमुखादुदेत्''॥६॥ (स्था०५ ठा०२ उ०)

तथा चाविध्वस्ता योनिरविध्वस्तं बीजम् १, अविध्वस्ता योनिः विध्वस्तं बीजम् २, विध्वस्ता योनिरविध्वस्तं बीजम् ३, विध्वस्ता योनिर्विध्वस्तं बीजम् ४, चतुर्षु भङ्गेषु आद्यभङ्गे एव उत्पत्तेरवकाशो न शेषेषु त्रिष्विति। तत्र पञ्चपञ्चाशिका नारी विध्वस्तयोनिः। सप्तसप्ततिकः पुडानिति द्वादशमुहूर्तान् यावद् बीजमविध्वस्तं स्यात्, तत ऊर्ध्वं विध्यस्तमिति द्वितीयाङ्गे वृत्ताविति। तथा पुमान् पुरुषः प्रायः पञ्चसप्ततिवर्षेभ्यः परत ऊर्ध्वमबीजो भवेत्, गर्भाधानयोग्यबीजविवर्जित इत्यर्थः।

कियत्प्रमाणायुषामेतन्मानं द्रष्टव्यम् ? इत्याह–

वाससयाउयमेयं, परेण जा होइ पुव्वकोडीओ।
तस्सऽद्धे अभिलाया, सव्वाउयवीसभागे य ॥१४॥

वर्षशतायुषामैदंयुगीनानामेतद् गर्भधारणादिकालमानमुक्तम्। परेण तर्हि का वार्ता ? इत्याह–(परेण त्ति) वर्षशतात्परतो वर्षद्वयं त्रयं चतुष्टयं चेत्यादि यावन्महाविदेहमनुष्याणां या पूर्वकोटिःसर्वायुषि स्यात् तस्य सर्वायुषोरर्द्धे तदर्द्धं यावदम्लाना गर्भधारणयोग्या स्त्रीणां योनिर्द्रष्टव्या। ततोऽपि परतः सकृत्प्रसवधर्माणोऽम्लानयोनयोऽवस्थितयौवनत्वात् पुंसां मनः सर्वस्यापि पूर्वकोटिपर्यन्तस्यायुषोऽन्त्यो विंशतितमो भागो बीज इति ॥१४॥ तं०। प्रव०।

अथ कियन्तः पुनर्जीवा एकस्याः स्त्रियो गर्भे एकहेलयैवो-त्पद्यन्ते, कियतां च पितृणामेकः पुत्रो भवति ? इत्याह–

रत्तुकडाओ इत्थी, लक्खपुहत्तं च बारस मुहुत्ता।
पिअसंखसयपुहत्तं, बारसवासा उ गब्भस्स ॥१५॥

अत्रान्यत्राप्यार्षत्वाद्विभक्तीनां वैचित्र्यं ज्ञातव्यमिति। मासान्ते त्रीणि दिनानि यावत्स्त्रीणां यन्निरन्तरमस्रं स्रवति तदत्र रक्तमुच्यते, तेन रक्तेन रुधिरेण उत्कटायाः पुरुषवीर्ययुक्तयोन्या एकस्याः स्त्रिया गर्भे जघन्यत एको द्वौ वा त्रयो वोत्कृष्टतस्तु (लक्खपुहुत्तं ति) लक्षपृथक्त्वं नवलक्षणगर्भजजीवा उत्पद्यन्ते इत्यर्थः। निष्पत्तिं च प्राय एको द्वौ वा गच्छतः, शेषास्त्वल्पजीवित्वात्तत्रैव भ्रिन्नते। एको द्वौ द्वौ। वा इत्युक्तं व्यवहारापेक्षया, निश्चयापेक्षया तु ततोऽधिकं न्यूनं वा भवतीति द्रष्टव्यमिति। चशब्दात् स्त्रियाः संसक्तायां यौनौ द्वीन्द्रिया जीवा जघन्यत एको द्वौ वा त्रयो वोत्कृष्टतो नवलक्षप्रमाणा उत्पद्यन्ते। तप्तायःशलाकान्यायेन पुरुषसंयोगे तेषां जीवानां विनाशो भवति। स्त्रीपुरुषमैथुने मिथ्यादृष्टयः अन्तर्मुहूर्तायुषः अपर्याप्तावस्थाकालकारिणः अष्टौ प्राणधारकाः नारकदेवयुगलाग्निवायुवर्जितशेषजीवस्थानागमनस्वभावा मुहूर्तपृथक्त्वकायस्थितिकाः असंख्येयाः संमूर्च्छिममनुष्या उत्पद्यन्ते चेति तथा (बारसमुहुत्त त्ति) पुरुषवीर्यस्य कालमानं द्वादश मुहूर्तानि, एतावत्कालमेव शुक्रशोणितविध्वस्तेऽयोनिके भवत इति। (पिअ त्ति)पि-

तृणां संख्या पितृसंख्या, तस्याः शतपृथक्त्वं भवति । अयमाशयः–उत्कृष्टतो नवानां पितृशतानामेकः पुत्रो जायते, एतदुक्तं भवति–कस्याश्चिद् दृढसंहनन्नायाः कामातुरायाश्च योषितो यदा द्वादशमुहूर्तमध्ये उत्कर्षतो नवभिः पुरुषशतैः सह संगमो भवति तदा तद्बीजे यः पुत्रो भवति स नवानां पितृशतानां पुत्रो भवति । उपलक्षणत्वात्तिरश्चां च बीजं द्वादशमुहूर्तान् यावद्योनिभूतं भवति, ततश्च गवादीनां शतपृथक्त्वस्यापि बीजं गवादियोनिप्रविष्टं बीजमेव । तत्र च बीजसमुदाये एको जीव उत्पद्यमानस्तेषां बीजस्वामिनामुत्कर्षतः पुत्रो भवति । मत्स्यादीनामेकसंयोगेऽपि शतसहस्रपृथक्त्वं गर्भे उत्पद्यते, निष्पद्यते चैकस्मिन्नपि गर्भे लक्षपृथक्त्वं पुत्राणां स्यादिति । ननु देवानां शुक्रपुद्गलाः किंसन्ति, उत न ? उच्यते–सन्त्येव परं ते वैक्रियशरीरान्तार्गता इति न गर्भाधानहेतवः तं० । (इति 'पुत्त' शब्दे स्पष्टयिष्यामि)

अथ कियन्तं कालं भवस्थित्या जीवो गर्भे वसति ? इत्याह–(बारस०) गर्भस्य स्थितिर्द्वादशवर्षमुहूर्तप्रमाणा भवति । एतदुक्तं भवति–कोऽपि पापकारी वातपित्तादिदूषिते दवादिस्तम्भिते वा गर्भे द्वादश संवत्सराणि निरन्तरं तिष्ठति उत्कृष्टतः, जघन्यस्त्वन्तर्मुहूर्तमेव तिष्ठति, भवस्थित्या गर्भाऽधिकारात् । ''उदगगब्भेणं भंते ! कालओ केव चिरं होइ ? गोयमा ! जहण्णेणं इक्कं समयं, उक्कोसेणं छम्मासा'' 'उदकगर्भे कालान्तरे वृष्टिहेतुः पुद्गलपरिणामः, तस्य समयानन्तरं षण्मासानन्तरं वर्षणात् । अयं च मार्गशीर्षादिषु वैशाखान्तेषु सन्ध्यारागादिलिङ्गो भवतीति । तुशब्दान्मनुष्यतिरश्चां कायस्थितिश्चतुर्विंशतिवर्षाण्युत्कृष्टवर्षप्रमाणाऽवगतन्व्या, यथाकोऽपि स्त्रीकाये द्वादश वर्षाणि जीवत्वा तदन्ते च मृत्वा तथा विधकर्मवशात् तत्रैव गर्भस्थिते कलेवरे समुत्पद्य पुनर्द्वादश वर्षाणि जीवतीत्येवं चतुर्विंशतिवर्षाण्युत्कर्षतो गर्भे जन्तुरवतिष्ठते । केचिदाहुः–द्वादशवर्षाणि स्थित्वा पुनस्तत्रैवान्यजीवस्तच्छरीरं उत्पद्यते तावत्स्थितिरिति ॥१५॥

अथ कुक्षौ पुरुषादयः कुत्र परिवसन्तीत्याह–

दाहिणकुच्छी परि-सस्स होइ वामाएँ इत्थियाओ य ।
उभयंतरं नपुंसे, तिरिए अट्ठेव वरिसाइं ॥१६॥

(दाहिण०) पुरुषस्य दक्षिणकुक्षिः स्यात्, दक्षिणकुक्षौ वसन् जीवः पुरुषः स्यादितिभावः १ । स्त्रिया वामकुक्षिःस्यात्, वामकुक्षौ वसन् जीवः स्त्री भवतीति भावः २ । नपुंसके उभयाघन्तरं स्यात्, कुक्षिमध्यभागे वसन् जीवो नपुंसको जायते इति भावः ३॥

स्त्रीपुरुषनपुंसकलक्षणानि यथा–

''योनेर्मृदुत्वमस्थैर्यं , मुग्धचञ्चलता स्तने ।
पुंस्कामितेति लिङ्गानि, सप्त स्त्रीत्वे प्रचक्षते ॥१॥
महने खरता दीर्घं, शौण्डीरं श्मश्रुधृष्टता ।
स्त्रीकामितेति लिङ्गानि, सप्त पुंस्त्व प्रचक्षते ॥२॥
स्तनादिश्मश्रुकेशादि–भावाभावसमन्वितम् ।
नपुंसकं बुधाः प्राहु–र्मोहाऽनलसुदीपितम्''॥३॥

अथ तिरश्चां गर्भे भवस्थितिमाह–(तिरिए०)तिरश्चां गर्भे भवस्थितिरुत्कृष्टतोऽष्टौ वर्षाणि, ततः परं विपत्तिः, प्रसवो वेति । जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तमाना भवस्थितिरिति ॥१६॥ तं०।

जीवः किं सेन्द्रियः सशरीरो व्युत्कामति ?

जीवेणं भंते ! गब्भं वक्कममाणे किं सइंदिए वक्कमइ, अणिंदिए वक्कमइ ? गोयमा ! सिय सइंदिए वक्कमइ, सिय अणिंदिए वक्कमइ । से केणट्ठेणं ? गोयमा ! दव्विंदियाइं पडुच्च अणिंदिए वक्कमइ, भाविंदियाइं पडुच्च सइंदिए वक्कमइ, से तेणट्ठेणं । जीवे णं भंते ! गब्भं वक्कममाणे किं सरीरी वक्कमइ, असरीरी वक्कमइ ? गोयमा ! सिय ससरीरी वक्कमइ, सिय असरीरी वक्कमइ । से केणट्ठेणं ? गोयमा ! ओरालियवेउव्वियआहारयाइं पडुच्च असरीरी वक्कमइ, तेयाकम्माइं पडुच्च ससरीरी वक्कमइ, से तेणट्ठेणं गोयमा ! जीवे णं भंते ! गब्भं वक्कममाणे तप्पढमयाए कमाहारमाहारेइ ? गोयमा ! माउओयं पिउसुक्कं मे तदुभयसंसिट्ठं कलुसं किव्विसं तप्पढमयाए आहारमाहारेइ । भ०१ श०७ उ०।

अथा जीवो गर्भे व्युत्पद्यमानः किमाहारमाहारयति, ततश्च किं स्वरूपो भवति ? इत्याह–

इमो खलु जीवो अम्मापिउसंजोगे माउओयं पिउसुक्कं तं तदुभयसंसट्ठं कलुसं किव्विसं तप्पढमयाए आहारं आहारित्ता गब्भत्ताए वक्कमइ ।

सत्ताहं कवलं होइ, सत्ताहं होइ अव्वुयं ।
अव्वुया जायए पेसी, पेसीओ य घणं भवे ॥१७॥

''इमो खलु त्ति''यावत् ''वक्कमइ त्ति'' मुत्कलम् । अयं जीवः खलु निश्चितं (दाहिणकुच्छीए) पित्रोः संजोगे (माउओयं ति) मातुरोजो जनन्या आर्तवं, शोणितमित्यर्थः (पिउसुक्कं ति) पितुः शुक्रम्, इह यदिति शेषः (तंति) तदाहारं तस्य गर्भव्युत्क्रमणस्यं (पढमयाएं) तत्प्रथमतया (आहारित त्ति) तैजसकार्मणशरीराभ्यां मुक्त्वा गर्भतया गर्भत्वेन (वक्कमइ त्ति) व्यत्क्रामति, उत्पद्यते इत्यर्थः । किंभूतमाहारम् ? तदुभयसंस्पृष्टं कलुषं मलिनम् (किव्विसं ति) कर्बुरमिति । ततः केन क्रमेण शरीरं निष्पद्यते ?इत्याह–सत्ताहमित्यादि यावद्भवे त्ति पद्यम् । सप्ताऽहोरात्रमि यावत् शुक्रशोणितसमुदायमात्रं कललं भवति? ! ततः सप्ताहोरात्राणि अर्बुदो भवति, तत एव शुक्रशोणिते किञ्चित् स्त्यानीभूतत्वं प्रतिपाद्यते इति,२। ततोऽपि चार्बुदात्पेसी मांसखण्डरूपा भवति ३। ततश्चानन्तरं सा घनं समचतुरं मोसखण्डं भवति ।४॥१७॥

तो पढमे मासे करिसूणं पलं जायइ १। बीए मासे पेसी संजयए घणा २। तइए मासे माउए डोहलं जणइ ३। चउत्थे मासे माऊण अंगाइं पीणेइ ४। पंचमे मासे पंच पिंडियाओ पाणिं २ पायं २ सिरं ५ चेव निव्वत्तइ ५। छट्ठे मासे पित्तसोणियं उवचिणेइ ६। सत्तमे मासे सत्तसिरासयाइं ७०० पंचपेसीसयाइ ५०० नवधमणीओ ९ नवनउइं च रोमकू वसयसहस्साइं निवत्तेइ ९९००००० विणा केसमंसुणा, सह केसमंसुणा अद्धट्ठाओ रोमकुवकोडीओ निव्वत्तेइ ३५००००० ।७। अट्ठमे मासे वित्तीकप्पो हवइ ।८।

(तो पढमे०) तत इह च त च्छुकशोणितमुत्तरोत्तरपरिणाम-मासादयत् प्रथमे मासे कर्षेनं पलं जायते। ''पञ्चगुञ्जाभिर्माषः, षाडशभिर्माषैः कर्षः, चतुर्भिः कर्षैः पलम्'' इति वचनात्। त्रयः कर्षाः स्युरितिभावः १, द्वितीये तु मासे पेसी घनस्वरूपा भवति, समचतुरस्र मांसखण्डं जायते इत्यर्थः २, तृतीये मासे तु मातुदोहदं जनयतीत्यर्थः ३, चतुर्थे मासे मातुरङ्गानि प्रीणयति, पुष्टानि करोतीत्यर्थः ४, जीवः पञ्चमे मासे पाणिद्वय–पादद्वय–मस्तकरूपाः पञ्च पिण्डिकाः पञ्चाङ्कुरान् निर्वर्तयति, निष्पादयतीत्यर्थः ५, षष्ठे मासे पीयते जलमनेनेति पित्तं, पित्तं च शोणितं तद् उपचिनोति, पुष्टं करोतीत्यर्थः ६, सप्तमे मासे सप्त शिराशतानि ७०० पञ्च पेसीशतानि ५०० नत्र धमन्यो नवनाड्यो नवनवतिरोमकूप–शतसहस्राणि निर्वर्तयति। रोम्णां तनूरुहाणां कूपा इव कूपा रोमकूपाः, रोमरन्ध्राणीत्यर्थः, तेषां नवनवतिर्लक्षा इति केशश्मश्रुणी विना, तत्र केशाः शिरोजाः, श्मश्रूणि कूर्चकेशाः ९९००००० केशश्मश्रुभिः सह (अद्धुट्ठाउत्ति) सार्द्धास्तिस्रो रोमकूपकाटीः निर्वर्तयतीति ३५००००० ॥७॥ अष्टमे मासे तु शरीरमाश्रित्य (वित्तीकप्पो त्ति) निष्पन्नप्रायो जीवो भवतीति ॥८॥

अत्राधिकारे इन्द्रभूतिः जनोपकाराय त्रैशलेयं सर्वज्ञं सर्वभूतदयैकरसं प्रयनयति–

जीवस्स णं भंते ! गब्भगयस्स समाणस्स अत्थि उच्चा रे इ वा पासवणे इ वा खेले इ वा सिंघाणे इ वा पित्ते इ वा सुक्के इ वा सोणिए इ वा इ वा वंते ? नो इणट्ठे समट्ठे। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ–जीवस्स णं गब्भगयस्स समाणस्स नत्थि उच्चारे इ वा० जाव सोणिए इ वा ? गोयमा ! जीवेणं गब्भगए समाणे जं आहारमाहारेइ तं चिणाइ सोइंदियत्ताए १ चक्खिंदियत्ताए २ घाणिंदियत्ताए ३ जिब्भिंदियत्ताए ४ फासिंदियत्ताए ५ अट्ठिअट्ठिमिंजकेसमंसुरोमनहत्ताए से एएणं अट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ–जीवस्स णं गब्भगयस्स समाणस्स नत्थि उच्चारे इ वा० जाव सोणिए इ वा ॥

(जीवस्स णं भंते ! इत्यादि) हे भदन्त ! जीवस्य जन्तोः 'णं' वाक्यालङ्कारे, गर्भगतस्य गर्भत्वं प्राप्तस्य (समाणस्स त्ति) सतः, अस्ति विद्यते, वर्तते इत्यर्थः। उच्चारो विष्ठा, 'इ' इति रूपप्रदर्शने, अलङ्कारे, पूरणे वा, वेति विकल्पार्थे। प्रस्रवणं सूत्रम्, खेलो निष्ठीवनं (सिंघाणे त्ति) नासिकाइश्लेष्मा (वंते) वमनं, पित्तं मायुः, शुक्रं वीर्यं ,शोणितं रुधिरं ''सुक्के इ वा सोणिए इ वा'' इति पदद्वयं भगवत्यादिसूत्रे न दृश्यते, आगमज्ञैर्विचार्यमिति। (नो इणट्ठे०) नो नैव (इणट्ठे त्ति) अयमनन्तरोक्तत्वेन प्रत्यक्षोऽर्थो भावः समर्थो बलवान्, वक्ष्यमाणदूषणमुद्ररप्रहारजर्जरितत्वात्। गौतमस्वामी प्राह–(से केणट्ठेणं ति) अथ केन कारणेनेत्यर्थः। हे भदन्त ! एवं प्रोच्यते–जीवस्य गर्भगतस्य सतो नास्ति उच्चारो यावच्छोणितमिति ? भगवान् प्राह– हे गौतम ! जीवः 'णं' वाक्यालङ्कारे, गर्भगतः सन् यदाहारमाहारयति तदाहारं श्रोत्रेन्द्रियतया १ चक्षुरिन्द्रियतया २ घ्राणेन्द्रियतया ३ जिह्वेन्द्रियतया ४ स्पर्शनेन्द्रियतया ५ चिनोति, पुष्टीभावं नयतात्यर्थः। इन्द्रियाणि द्वैधानिपुद्गलरूपाणि द्रव्येन्द्रियाणि १, लब्ध्युपयोगरूपाणि तु भावेन्द्रियाणि २। पुनर्निवृत्त्युपकरणलक्षणभेदाद् द्वैधानि द्रव्येन्द्रियाणि। तत्र निवृत्तिर्द्विधा– अन्तो बहिश्च २, तत्रान्तः श्रोत्रेन्द्रियस्यान्तर्मध्ये नेत्रगोचरातीता केवलिदृष्टा अतिमुक्तककुसुमाकारा देहावयवरूपा काचिन्निवृत्तिरस्ति, या शब्दग्रहणोपकारे वर्तते १। चक्षुरिन्द्रियास्यन्तर्मध्ये केवलिगम्या धान्यमसूराकारा काचिन्निवृत्तिरस्ति, या रूपग्रहणोपकारे वर्तते २। घ्राणेन्द्रियस्यातर्मध्ये केवलिदृष्टा अतिमुक्तककुसुमाकारा देहावयवरूपा काचिन्निवृत्तिरस्ति, या गन्धग्रहणोपकारे वर्तते ३। रसनेन्द्रियस्यान्तर्मध्ये जिनगम्या क्षुरप्रहरणाकारा देहावयरूपा काचिक्षिविरस्ति, या रसग्रहणोपकारे वर्तते ४। स्पर्शनेन्द्रियस्यान्तः केवलिदृष्टा देहाकारा काचिन्निवृत्तिरस्ति, या स्पर्शग्रहणोपकारे वर्तते ५। यहिर्निवृत्तिस्या या सर्वेषामपि श्रोत्रादीनां कर्णतुष्कुलिकादिका दृश्यते, सैव मन्तव्या। उपकरणेन्द्रियं तु तेषामेव कदम्बगोलकाकारादीनां खड्गस्य छेदनशक्तिरिय ज्वलनस्य दहनशक्तिरिव वा या स्वकीयस्वकीयविषयग्रहणशक्तिस्तत्स्वरूपं द्रष्टव्यम् २। तथा ज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमाद् जीवस्य शब्दादिग्रहणशक्तिरूपं लब्धिभाउवेन्द्रियम् १। यत्तु शब्दादीनामेव ग्रहणपरिणाममलक्षणं तदुपयोगभावेन्द्रियमिति २। तत्र यानि द्रव्येन्द्रियाणि तानि जीवानां पर्याप्तौ सत्यां भवन्ति, यानि च भावेन्द्रियाणि तानि संसारिणां सर्वावस्थाभावीनीति। तथा नयनस्य विषयोऽप्रकाशकवस्तुपर्वताद्याश्रित्यात्माङ्गुलेन सातिरेकं योजनलक्षं स्यात्। प्रकाशके त्वादित्यचन्द्राद्यवधिकमपि विषयपरिमाणं स्यात्। नात्र विषये नियमः कोऽपि निर्दिष्टोऽस्ति सिद्धान्ते, यतः पुष्करवरद्वीपादिमानुषोत्तरपर्वतसमीपे कर्कसंक्रान्तौ मनुष्याः प्रमाणाङ्गुलभवैः सातिरेकैरेकविंशतियोजनलक्षैर्व्यवस्थितं रविं पश्यन्तः प्रोच्यन्ते शास्त्रान्तरे इति। जघन्यतस्त्वत्यासन्नरजोमलादेरग्रहणादङ्गुलसंख्येयभागात्परतः स्थितं वस्तु चक्षुषो विषयः १। श्रोत्रस्य द्वादश योजनान्युत्कृष्टविषयो मेघगर्जितादौ २। घ्राणरसनस्पर्शनानां तूत्कृष्टं नव योजनानि, जघन्यतस्तु चतुर्णामप्यङ्गुलमसंख्येयभागादागतं गन्धादिकं विषयः मनसस्तु केवलज्ञानस्येव समस्तमूर्ताऽमूर्तवस्तुविषयत्वेन क्षेत्रतो नास्ति विषयपरिमाणं, मनसोऽप्राप्यकारित्वादिति। विषयपरिमाणं चात्रेन्द्रियविचारे आत्माङ्गुलेनैव ज्ञेयमिति। तथा (अट्ठिमअट्ठिमिंज) अस्थ्यस्थिमिञ्जकेशश्मश्रुरोमनखतया चिनोतीति। तत्रास्थि हड्डम्, अस्थिमिञ्जा अस्थिमध्यावयवः, केशाः शिरोजाः, श्मश्रूणि कूर्चकेशाः, रोमाणि कक्षादिकेशा इति। 'से' अथानेनार्थेन अनेन कारणेन हे गौतम ! हे इन्द्रभूते ! एवं पूर्वोक्तं प्रोच्यते प्रकर्षेण प्रतिपाद्यते, जीवस्य गर्भगतस्य सतो नास्ति उच्चारो यावच्छागणितमिति।

पुनर्गौतमो ज्ञातनन्दनं प्रश्नयति–

जीवे णं भंते ! गब्भगए समाणे पहू मुहेणं कावलियं आहारं आहारित्तए ? गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ ? गोयमा ! जीवेणं गब्भगए समाणे सव्वओ आहारेइ, सव्वओ परिणामेइ, सव्वओ ऊससेइ, सव्वओ नीससेइ, अभिक्खणं २ आहारेइ, अभिक्खणं २ परिणामेइ, अभिक्खणं २ ऊससेइ, अभिक्खणं २ नीससेइ, आहच्च आहारेइ, आहच्च परिणामेइ, आहच्च ऊससेइ, आहच्च नीससेइ, माउजीवरसहरणी पुत्तजीवरसहरणी, माउजीवपडिबद्धा

पुत्तजीवफुडा तम्हा आहारेइ तम्हा परिणामेइ अवरा वि य णं पुत्तजीवपडिवद्धा माउजीवफुडा तम्हा चिणाइ, तम्हा उवचिणाइ, से एएणं अट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ जीवे णं गब्भगए समाणे नो पहू मुहेणं कावलियं आहारं आहारित्तए। जीवे णं गब्भगए समाणे किमाहारं आहारेइ ? गोयमा ! जं से माया नाणाविहाओ रसविगईओ तित्तकडुयकसायं विलमहुराइं दव्वाइं आहारेइ। तओ एगदेसेणं ओयमाहारेइ। ''तस्स फलाविंटसरिसा, उप्पलनालोवमा हवइ नाभी ॥ रसहरणी जणणीए, सयाऽऽइ नाभीऍ पडिवद्धा'' ॥१॥ नाभीए तीए गब्भो ओयं आईयइ अण्हयंतीए ओयाए तीए गब्भो विवड्ढेइ० जाव जाउ त्ति।

(जीवे णं) हे भवत् हे भवान्त ! हे दयैकरस ! कृतवावृष्ट्याऽऽर्द्रायित-भव्यहृदयवसुन्धर ! जीवो गर्भगतः सन् प्रभुः समर्थः मुखेन वक्त्रेण कवलैर्भवं कावलिकम् आहारमशनादिकम् (आहारित्तए त्ति) आहर्तुमदनं कर्तुमिति ? आह जगदीश्वरः—हे गौतम ! नोऽयमर्थः समर्थः। श्री गौतमः प्राह—(से) अथ केनार्थेन एवं प्रोच्यते ? विश्वैकवत्सलो वीरः प्राह—हे गौतम ! जीवो गर्भगतः सन् (सव्व त्ति) सर्वात्मना सर्वप्रकारेण आहारयति, आहारतथा गृह्णातीत्यर्थः। सर्वतः सर्वात्मना परिणामयति, शरीरादितया गृह्णातीत्यर्थः। सर्वतः सर्वात्मना उच्छ्वसिति, सर्वप्रकारेण ऊर्ध्वश्वासं गृह्णतीत्यर्थः। सर्वतः सर्वात्मना निःश्वसिति, श्वासमोक्षणं करोतीत्यर्थः। अभीक्ष्णं पुनःपुनराहारयति, अभीक्ष्णं परिणामयति, अभिक्ष्णमुच्छ्वसिति, अभीक्ष्णं निःश्वसिति। (आहच्च त्ति) कदाचिदाहारयति कदाचिन्नाहारयति, तथास्वभाववत्वात्। कदाचित् परिणामयति, कदाचिन्न परिणामयति, कदाचिदुच्छ्वसिति, कदाचिन्नोच्छ्वसिति, कदाचिन्निःश्वसिति, कदाचिन्न निःश्वसिति। अथ कथं सर्वत आहारयतीत्याह—(माउजीव०) रसो ह्रियते आदीयते यया सा रसहरणी, नाभिनालमित्यर्थः। मातृजीवस्य रसहरणी मातृजीवरसहरणी। किमित्याह—पुत्रजीवरसहरणी पुत्रस्य रसोपादाने कारणत्वात्। कथमेवमित्याह—मातृजीवप्रतिबद्धा सती सा यतः (पुत्तजीवफुडा ति) पुत्रजीवं स्पृष्टवती। इह च प्रतिबद्धता गाढ संबन्धः, तदंशत्वात्। स्पृष्टता च संबन्धमात्रं, तदंशत्वात्। अथा मातृजीवरसहरणी १ पुत्रजीवरसहरणी २ चेति द्वे नाड्यो स्तः, ततोश्चाद्या मातृजीवप्रतिबद्धा पुत्रजीवस्पृष्टेति। (तम्ह त्ति) यस्मादेवं तस्मान्मातृजीवप्रतिबद्धया रसहरण्या पुत्रजीवस्पर्शनात् आहारयति, तस्मात्परिणामयति। (अवरा वि य त्ति) पुत्रजीवरसहरण्यपि च पुत्रजीवप्रतिबद्धा सती मातृजीवं स्पृष्टवती यस्मादेवं तस्माच्चिनोति शरीरम्। उक्तं च तन्त्रान्तरे ''पुत्रस्य नाभौ मातुश्च, हृदि नाडी निबध्यते। ययाऽसौ पुष्टिमाप्नोति, केदार इव कुल्यया''॥१॥ इति। (से) अथानेनार्थेन हे गौतम ! एवं प्रोच्यते जीवो गर्भगतः सन् न प्रभुः समर्थः मुखेन कावलिकमाहारमाहर्तुमिति। पुनर्गौतमो वीरं प्रयनयतिजीवो गर्भगतः सन् किमाहारमाहारयति ? गौतम ! (जं से त्ति माया) से तस्य गर्भसत्त्वस्य माता गर्भधारिणी (नाणा) नानाविधा विधिप्रकारा रसरूपा रसप्रधाना विकृतीर्दुग्धद्या रसविकारास्ता आहारयति। तथा यानि तिक्तकटुककषायाम्लमधुराणि द्रव्याणि चाहारयति। तत्र तिक्तानि निम्बचर्भटादीनि १, कटुकानि आर्द्रकतीमनादीनि २, कषायाणि वल्लादीनि ३, अम्लानि आरनालकादीनि ४, मधुराणि क्षीरदध्यादीनि ५, (तओ एगदेसेणं ति) तासां रसविकृत्यादीनामेकदेशस्तेन सह (ओयं ति) ओजसं शुक्रशोणितसमुदायरूपमाहारयति। यद्वात्वगेकदेशेन मातुराहारमोजसा मिश्रेण लोमभिर्वेति शेषमाहारयति। कथमित्याह—''तस्स फले इत्यादि यावज्जीउ त्ति'' तस्य गर्भस्थजीवस्य (जणणीए त्ति) जनन्या मातुः नाभिरसहरणी नाभिनालमस्त किंभूजा ? फलवृन्तसदृशी, उत्पलनालोपमा च। पुनः किंभूता ?(पडिवद्धा) गाढलग्ना, क्व—नाभौ, कथं ? सदा 'आइ' वाक्यालङ्कारे।(तीए त्ति) तथा (नाभीए त्ति) जननीनाभिप्रतिबद्धया रसहरण्या (गब्भोओयं ति) गर्भ उदरस्थजन्तुः, ओजसं मातुराहारमिश्रंशुक्रशोणितरूपम् (आईयइ त्ति) आददाति गृह्णाताति। (अण्हयंतीए ओयाए तीए त्ति) तस्यां तया वा भोजनं कुर्वत्यां सत्यां भेजनं कुर्वत्या वा ओजसा मातुराहारमिश्रेण शुक्रशोणितरूपेण गर्भोविवर्धते वृद्धिं याति यावज्जाति इति। ''भुजो भुंज—जिम—जेम—कम्माऽण्ह—समाण—चमढ चड्डाः''।८।४।११०। इति प्राकृतसूत्रेण भुजधातोः 'अण्ह' इत्यादेशः।

पुनर्गौतमो वीरदेवं प्रश्नयति—

कइ णं भंते ! माउअंगा पण्णत्ता ? गोयमा ! तओ माअंगा पण्णत्ता। तं जहा—मंसे सोणिए मत्थुलिंगे। कइ णं भंते ! पिउअंगा पण्णत्ता ? गोयमा ! तओ पिउअंगा पण्णत्ता। तं जहा—अट्ठिअट्ठिमिंजाकेसमंसुरोमनहा।

(कइ णं भंते !) हे भदन्त ! णमिति वाक्यालङ्कारे, कति मातुरङ्गानि आर्तवबहुलानीत्यर्थः, प्रज्ञाप्तानि ? जगदीश्वरो जगत्त्राता जगद्भाव-विज्ञाता वीर आह—हे गणधरगौतम ! त्रीणि मातुरङ्गानि प्रज्ञाप्तानि मयाऽन्यैश्च जगदीश्वरैः। तद्यथा—मांसं पललम् १ शोणितं रुधिरम् २(मत्थुलिंगे ति)मस्तकं भेजकम्। अन्ये त्वाहुर्मदःपिप्फिसादि मस्तुलिङ्गमिति। तं०। भ०।

गर्भादपि किं केचिज्जीवा नरकं देवलोकं वा गच्छन्ति ?

इति गौतमो वीरं प्रश्नयति—

जीवे णं भंते ! गब्भगए समाणे नरएसु उववज्जिज्जा ? गोयमा ! अत्थेगइए उववज्जिज्जा, अत्थेगइए णो एववज्जिज्जा। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ जीवे णं गब्भगए समाणे नरएसु अत्थेगइए उववज्जिज्जा, अत्थेगइए नो उववज्जिज्जा ?गोयमा ! जे णं जीवे णं गब्भगए समाणे सन्नी पंचिंदिए सव्वाहिं पज्जत्तीहिं पज्जत्तए वीरियलद्धीए विभंगनाणलद्धीए विउव्वियलद्धिपत्ते पराणीयं आगयं सुच्चा निसम्म पएसे निच्छुहइ, वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहणइ, समोहणित्ता चउरंगिणिसिन्नं सन्नाहेइ, सन्नाहइत्ता पराणीएण सद्धिं संगामं संगामेइ, से णं जीवे अत्थकामए १ रज्जकामए २ भोगकामए ३ कामकामए ४, अत्थकंखिए १ रज्जकंखिए २ भोगकंखिए ३ कामकंखिए ४, अत्थपिवासिए १ भोगपिवासिए २ रज्जपिवासिए ३ कामपिवासिए ४, तच्चित्ते १ तम्मणे २ तल्लेस्से

३ तदज्झवसिए ४ तत्तिव्वज्झवसाणे ५ तदट्ठोवउत्ते ६ तदप्पियकरणे ७ तब्भावणाभाविए ८। एयंसि च णं अंतरंसि कालं करिज्जा नेरइएसु उववज्जिज्जा । से ए ए णं अट्ठेणं एवं वुच्चइ गोयमा ! जीवे णं गब्भगए समाणे णेरइए अत्थेगइए उववज्जिज्जा, अत्थेगइए नो उववज्जिज्जा ॥

(जीवे णं गब्भ०) हे भदन्त ! जीवो गर्भगतः सन्, मृत्वेतिशेषः । नरकेषूत्पद्यते ? हे गौतम ! अस्ति विद्यते (एगइ त्ति) एककः कश्चित् स गर्भः राजदिगर्भरूप उत्पद्यते, अस्ति अयं पक्षःयदुत एककः कश्चिन्नोत्पद्यते, हे गौतम ! अस्ति विद्यते (एगइए त्ति) एककः कश्चित्। (से) अथ केनार्थेन हे भदन्त ! एवं प्रोच्यते—जीवो गर्भगतः सन् नरकेषु अस्त्येकक उत्पद्यते, अस्त्येकको नोत्पद्यते ? हे गौतम! (जे ण त्ति) यो जीवः णमितिवाक्याऽलङ्कारे, गर्भगतः सन्, आहारादिका संज्ञा विद्यते यस्य स संज्ञी, पञ्च इन्द्रियाणि श्रवण १ घ्राण २ रसन ४चक्षुः ४ स्पर्शन ५ लक्षणानि विद्यन्ते यस्य स पञ्चेन्द्रियः, सर्वाभिराहारशरीरेन्द्रियोच्छ्वासभाषामनोलक्षणाभिः षड्भिः पर्याप्तिभिः पर्याप्तो, मासद्वयोपरिवर्तीत्यनुक्तमपि ज्ञेयम्। यतो मासद्वयमध्यवर्ती मनुष्यो गर्भस्थो नरकेदेवलोकेऽपि न यातीत्युक्तं भगवत्याम् इति । पूर्वभविकवीर्यलब्ध्या पूर्वभविकविभङ्गज्ञानलब्ध्या पूर्वभविकवैक्रियलब्ध्या वैक्रियलब्धिं प्राप्तः सन् यद्वावीर्यलब्धिकः विभङ्गज्ञानलब्धिकः वैक्रियलब्धिक वैक्रियलब्धिं प्राप्तः सन् परानीकं शत्रुसैन्यम् आगतं प्राप्तं (सुच्चे त्ति) श्रुत्वा (निसम्म त्ति) निशम्यमनसा अवधार्य (पएसे निच्छुभइ त्ति) स्वप्रदेशान् अनन्तानन्तकर्मस्कन्धानुविद्धाद् गर्भवासाद्बहिः क्षिपति निष्काशयति, निष्काश्य विष्कम्भबाहल्याभ्यां शरीरप्रमाणम्, आयामतः संख्येययोजनप्रमाणजीवप्रदेशदण्डं निसृजति, वैक्रियसमुद्घातेन (समोहणइ त्ति) समवहन्ति समवहतो भवति । तथाविधपुद्गलग्रहणार्थं समवहत्य चत्वारि गजाश्वरथपदातिलक्षणानि अङ्गानि विद्यन्ते यस्याः यस्यां वा सा चतुरङ्गिणी (सिन्नं ति) सेनां, कटकमित्यर्थः। (सन्नाहेइ त्ति) सज्जां करोतीत्यर्थः। सज्जां कृत्वा परानीकेन सार्द्धं संग्रामं संग्रामयति, युद्धं करोत्यर्थः। (से णं जीवे त्ति) णमितिवाक्यालंकारे, स युद्धकर्ता जीवः (अत्थकामए त्ति) अर्थे द्रव्ये कामो वाञ्छामात्रं यस्यासावर्थकामः १, एवमन्यान्यपि विशेषणानि । नवरं राज्यं नृपत्वं २, भोगा गन्धरसस्पर्शाः ३, कामौ शब्देरूपे ४।(अत्थकंखिए त्ति) काङ्क्षा गृद्धिरासक्तिरित्यर्थः, अर्थे द्रव्ये काङ्क्षा संजाता अस्येति अर्थकाङ्क्षितः, एवमन्यानि १ राज्यकाङ्क्षिः २ भोगकाङ्क्षिः ३ कामकाङ्क्षिः ४। (अत्थपिवासिए त्ति) पिपासेव पिपासा प्राप्तेऽप्यर्थे अतृप्तिः, अर्थेऽर्थस्य वा पिपासा संजाताऽस्येति अर्थपिपासितः, एवमन्यानि १ । राज्यपिपासितः २ भोगपिपासितः ३ कामपिपासिसतः ४।(तच्चित्ते त्ति) तथाऽर्थराज्यभोगकामे चित्तं सामान्योपयोगरूपं यस्यासौ तच्चित्तः १। (तम्मणे त्ति) तत्रैवार्थादौ मनो वेशेषोपयोगरूपं यस्य स तन्मनाः २ (तल्लेस्से त्ति) तत्रैवार्थादौ लेश्या आत्मपरिणामविशेषो यस्यासौ तल्लेश्यः ३, (तदज्झवसिए त्ति) इहाध्यवसायोऽध्यवसितः ४ (तत्तिव्वज्झवसाणे त्ति) तस्मिन्नेवार्थादौ तीव्रमारम्भकालादारभ्य प्रकर्षयापि अध्यवसानं प्रयत्नविशेषणलक्षणं यस्य स तत्तीव्राध्यवसानः ५।(तदट्ठोवउत्ते त्ति) तदर्थमर्थादिनिमित्तम् उपयुक्तोऽवहितस्तदर्थोपयुक्तः ५।(तदप्पियकरणे त्ति) तस्मिन्नेवार्थादौ अर्पितानि आहितानि इन्द्रियाणि कृतकारितानुमतिरूपाणि वा येन स तदर्पितकरणः ७ (तब्भावणाभाविए त्ति) असकृदनादौ संसारे तद्भावनया त्यक्त्वा अर्थादिसंस्कारेण भावितो यः स तद्भावनाभावितः ८।(एयंसि त्ति) एतास्मिन्, णमितिवाक्यालङ्कारे । चेद्यदि (अंतरंसि त्ति) संग्रामकरणावसरे कालं मरणं कुर्यात्तदा नरकेषु गाढदुःखाकुलेषु उत्पद्यते, नरभवं त्यक्त्वा महारम्भी मिथ्यादृष्टिर्नरके यातीत्यर्थः । 'से' अथैतेनार्थेनैव प्रोच्यते हे गौतम ! जीवो गर्भगतः सन् नरकेषु एककः कश्चिदुत्पद्यते, अस्ति एककः कश्चिन्नोत्पद्यते इति।

पुनर्गौतमो वीरं प्रश्नयतीत्याह—

जीवे णं भंते ! गब्भगए समाणे देवलोगेसु उववज्जिज्जा ? गोयमा ! अत्थेगइए उववज्जिज्जा , अत्थेगइए नो उववज्जिज्जा। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ अत्थेगइए उववज्जिज्जा , अत्थेगइए नो उववज्जिज्जा? गोयमा ! जे णं जीवे गब्भगए समाणे सन्नी पंचिंदिए सव्वाहिं पज्जत्तीहिं पज्जत्तए वेउव्विए य लद्धीए ओहिनाणलद्धीए तहारूवस्स समणस्स वा माहणस्स वा अंतिए एगमवि आयरियं धम्मियं सुवणयं सुच्चा निसम्म तओ से भवइ तिव्वसंवेगसंजायसड्ढे तिव्वधम्माणुरायरत्ते से णं जीवे धम्मकामए १ पुण्णकामए २ सग्गकामए ३ मुक्खकामए ४, धम्मकंखिए १ पुण्णकंखिए २ सग्गकंखिए ३ मुक्खकंखिए ४, धम्मपिवासिए १ पुण्णपिवासिए २ सग्गपिवासिए ३ मुक्खपिवासिए ४, तच्चित्ते १ तम्मणे २ तल्लेस्से ३ तदज्झवसिए ४, तत्तिव्वज्झवसाणे ५ तदप्पियकरणे ६ तयट्ठोउत्ते ७ तब्भावणाभाविए ८। एयंसि णं अंतरं कालं करिज्जा देवलोएसु उववज्जिज्जा । से एएण अट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ अत्थेगइए उववज्जिज्जा , अत्थेगइए नो उववज्जिज्जा ॥

(जीवे णं) जीवो हे भदन्त ! गर्भगतः सन् देवलोकेषु उत्पद्यते ? हे गौतम ! अस्ति एककः कश्चिदुत्पद्यते, अस्ति एककः कश्चिन्नोत्पद्यते। 'से' अथ केनार्थेन हे भदन्त ! एवं प्रोच्यते—कश्चिदुत्पद्यते ? हे गौतम ! यो जीवो गर्भगतः सन् संज्ञी पञ्चेन्द्रियः सर्वाभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्तः मासद्वयोपरिवर्तीत्यवधार्यं, मासद्वयमध्यवर्ती तु स्वर्गे न यातीति पूर्वभविकवैक्रियलब्धिकः पूर्वभविकावधिज्ञानलब्धिकः, तथारूपस्य तथाविधस्य उचितस्येत्यर्थः। श्रमणस्य साधोः, वाशब्दो देवलोकोत्पादहेतुत्वं प्रतिश्रमणमाह, न वचनयोस्तुल्यत्वप्रकाशनार्थः। (माहणस्स त्ति) मा हन मा हन इत्येवमादिशति स्वय स्थूलप्राणातिपातादिनिवृत्तत्वादयः सिमाहनः, यद्वाब्राह्मणो ब्रह्मचर्यस्य देशतः सद्भवाद् ब्राह्मणो देशविरतः, तस्य वा, यद्वाश्रमणः साधुस्तस्य माहनः परमगीतार्थः, तस्य वा (अंतिए ति) समीपे एकमप्यास्तामनेकम् आर्यम् आराद् यातं पापकर्मेभ्य इत्यार्यः, अत एव धार्मिकमिति । सुवचनं शोभनवाक्यं श्रुत्वा आ-

कर्ण्य निशम्य मनसा अवधार्य (तउ त्ति) तदनन्तरमेव स गर्भस्थजन्तुः भवति जायते (तिव्वसं०) तीव्रसंवेगेन भृशं दुःखलक्षाकुलभवभवेन संजाता सम्यगुत्पन्नना श्रद्धा श्रद्धानं धर्मादिषु यस्य स्व तीव्रसंवेगसंजातश्रद्धः (तिव्वध०) तीव्रो यो धर्मानुरागो धर्मबहूमानस्तेन रक्त इव य: स तीव्रधर्तानुरागरक्तः स गर्भस्थवैराग्यान् जीवः, णं वाक्यालंकारे । (धम्मकामए त्ति) धर्मे श्रुतचारित्रलक्षणे कामो वाच्छामात्रं यस्य स्व धर्मकामकः १। पुण्ये तत्फलभूते शुभकर्मणि कामो यस्य स्व पुण्यकामकः । स्थानाङ्गे तु–अन्नपानवस्त्रालयशयनासगमने। वचनकायलक्षणं नवविधं पुण्यं प्रतिपादितं जगदीश्वरेण भगवतेति २। स्वर्गे देवलोके कामो यस्य स स्वर्गकामकः ३ । मोक्षे शिवे अनन्नतानन्त-सुखमये कामो यस्य स मोक्षकामकः ४। एवमयेऽपि, नवरं काङ्क्षा गृद्धिरासक्तिरित्यर्थः। धर्मे काङ्क्षा संजातऽस्येति धर्मकाङ्क्षितः १, पुण्य काङ्क्षितः २, स्वर्गकाङ्क्षितः ३, मोक्षकाङ्क्षितः ४, पिपासेव पिपासा प्राप्तेऽपि धर्मेऽतृप्तिः, धर्मपिपासा संजाताऽस्येति धर्मपिपासितः १, पुण्यपिपासितः २, स्वर्गपिपासितः ३, मोक्षपिपासितः ४। तच्चित्ते इत्यादि सप्त विशेषणानि धर्मपुण्यस्वर्गमोक्षेशुभानि वाच्यानि। तच्चित्तः १ तन्मना: २ तल्लेश्यः ३, तदध्यवलितः ४, तत्ती व्राध्यवसाय: ५, तदर्थोपयुक्तः ६, तदर्पितकरणः ७ तद्भावनाभाश्रितः ८। (एयसि णं ति) एतस्मिन् अन्तरे धर्मध्यानावसरे कालं मरणं (करिज्ज त्ति) कुर्य्यात् तदा देवलोकेषु उत्पद्यते। (से) अथ तेनार्थेन हे गौतम ! एवमस्माभिः प्रोच्यते अस्ति एकक: कश्चित् स्वर्गे उत्पद्यते, अस्ति एकक: कश्चिन्नोत्पद्यते इति। तं० भ०।

गर्भाधिकारे पुनर्गौतमस्वामी वीरं प्रश्नयति–

जीवे णं भंते ! गब्भगए समाणे उत्ताणए वा पासिल्लिए वा अंवरं कुज्जए वा, अत्थिज्ज वा, चिट्ठिज्ज वा, निसिइज्ज वा, तुपट्टिज्ज वा, आसइज्ज वा, सइज्ज वा, माउए सुयमाणीए सुयइ जागरमाणीए जागरइ, सुहीयाए सुहीओ भवइ, दुहियाए दुक्खिओ भवइ ? हंता गोयमा! जीवे णं गब्भगए समाणे उत्ताणए वा० जाव दुक्खिओ भवइ।

''चिरजायं पि हु रक्खइ, सम्मं सा रक्खइ तओ जणणी।
संवाहई तुयट्टइ, रक्खइ अप्पं च गब्भं च ॥१॥
अणुसुपइ सुयंतीए, जागरमाणीऐं जागरइ गब्भो।
सुहियाइ होइ सुहिओ, दुहियाए दुक्खिओ होइ ॥२॥
उच्चारे पासवणे, खेलं संघाणओ व से नऽत्थि।
अट्ठीयमिंजनहके -- समंसुरोमेसु परिणामो ॥३॥
एवं वुंदिमइगओ, गब्भे संवसइ दुक्खिओ जीवो।
परमतमसंऽधकारे, अमिज्झभरिए पएसं ति''॥४॥

आउसो ! तओ नवमे मासे तीए वा पडुप्पन्ने वा अणागए वा चतुण्ह माया अण्णयरं पयायइ। तं जहा–इत्थिं वा इत्थीवेणं १, पुरिसं वा पुरिसरूवेणं २, नपुंसगं वा नपुंसगरूवेणं ३, विंवं वा विंवरूवेणं ४। अप्पं सुक्कं बहुअं ओयं इत्थी तत्थ जायइ १, अप्पं ओयं बहु सुक्कं पुरिसो तत्थ जाएइ २, दुण्हं पि रत्तसुक्काणं तुल्लभावे नपुंसओ ३, इत्थीओ य समाओगे विंबं तत्थ जायइ ॥

(जीवे णं भंते !) जीवो हे भदन्त ! गर्भगतः सन् (उत्ताणए वेति) उत्तानको वा सुप्तोऽनुमुखो वेत्यर्थः। (पासिल्लिए वेति) पार्श्वशायी वा (अम्बरकुज्जए वेति) आत्मफलवत् कुब्ज इति (अत्थिज्ज त्ति) आसीनः सामान्यतः। एतदेव विशेषत उच्यते (चिट्ठिज्ज वेति) उर्ध्वस्थानेन (निसीइज्ज वेति) निषदनस्थानेन (तुयट्टिज्ज वेति) शयीत निद्रयेति (आसइज्ज वेति) आश्रयति गर्भमध्यप्रदेशं (सइज्ज वेति) शेते निद्रा विना मात्रा मातरि वा (सुयमाणीए त्ति) शयनं कुर्वत्यां कुर्वत्यां वा (सुयइ त्ति) स्वपिति निद्रां करोतीत्यर्थः, (जागरमाणीए त्ति) जागरणं कुर्वत्या कुर्वत्यां वा, जागर्ति निद्रानाशं कुरुत इत्यर्थः । सुखितया सुखितो भवति दुःखितया दुःखितो भवति (हंता ! गोयमा त्ति) हन्त इति कोमलामन्त्रणार्थः। दीर्घत्वं च मागधदेशीप्रभव्यमुभयत्रापि (जीवे णं गब्भगए समाणे इत्यादि) प्रत्युच्चारणं तु स्वानुमतत्व प्रदर्शनार्थम् । वृद्धाः पुनराहुः– 'हंता गोयमा !' इत्यत्र हन्त इति एवमेतदिति अभ्युपगमवचनं यदनुमतं तत्प्रदर्शनार्थम् । ग्जीवे णं गब्भगए' इत्यादि प्रत्युच्चारितमिति । हे गौतम ! जीवो गर्भगतः सन् उत्तानको वा यावद् दुःखितो भवति इति। अथ पूर्वोक्तं पद्येन गाथाचतुष्टयेन दर्शयति इत्याह–(थिरजायं०) स्थिरेण निर्विघ्नेन जात उत्पन्नो गर्भस्थिरजातस्तं (रक्खइ त्ति) रक्षति सामान्येन पालयति। ततः सा जननी तं सम्यग्यत्नादिकरणेन रक्षति। (संवाहइ त्ति) संवहति गमनाऽऽगमनादिप्रकारेण (तुयट्टइ त्ति) त्वष्वर्तयति, रक्षति आहारादिना पालयति आत्मानं, गर्भं च इति। (अणु०) अनुस्वापिति शेते। (सुयंतीए त्ति) स्वपत्यां सत्यां स्वपत्या सत्या वा जागत्यां जागरत्या वा जागर्ति, गर्भः उदरस्थजन्तुः। जनन्या: सुखितया सुखितो भवति, दुःखितया दुःखितो भवति २ । उच्चारो विष्टा, प्रस्रवणं मूत्रं, खेलो निष्ठीवनं सिंघाणं नासिकाश्लेष्मापि (से) तस्य गर्भसत्त्वस्य गर्भस्थस्य नास्तीति जननीजठरस्थो जीव आहारत्वेन तु यद् गृह्णाति तदस्थ्यस्थिमिञ्ज-नखकेशश्मश्रुरोमेषु पूर्वव्याख्यातेषु (परिणामो त्ति) परिणमतीत्यर्थः ३ (एवं) एवमुक्तप्रकारेण (बुंदिम त्ति) शरीरमतिगतः प्राप्तः सन् गर्भे जननीकुक्षौ संवसति संतिष्ठते चारकगृहे चौरवत् । (दुक्खिओ जीवो त्ति) अग्निवर्णाभिः सूचीभिः भिद्यमानस्य जन्तोः यादृशं दुःखं जायते ततोऽप्यष्टगुणं यद् दुखं भवति तेन सदृशेन दुःखेन दुःखितो भवति जीवो गर्भे, किंभूते गर्भे ? तमसा अन्धकारो यत्र तत् तमसन्धकारं, परमं च तत्तमसन्धकारं महान्धकारमित्यर्थः। तस्मिन् अमेध्यभृते विष्ठापूर्णे प्रदेशे जीववसनस्थानके ४ इति, (आउसो ! तओ इत्यादि) हे आयुष्मन् ! हे इन्द्रभूते ! ततोऽष्टमासानन्तरं नवमे मासे अतीते वा अतिक्रान्ते वा, प्रत्युत्पन्ने वा वर्तमाने वा अनागते० वा अप्राप्ते चतुर्णां स्त्र्यादिरुपाणां वक्ष्यमाणानां माता जननी अन्यतरं चतुर्णां मध्ये एकतरं (पयायइ त्ति) प्रसूते, प्रसवं करोतीत्यर्थः। (तं जी त्ति) तत्पूर्वोक्तं यथा स्त्रियं वा स्त्रीरूपेण स्त्र्याकारेण प्रसूते १, पुरुषं वा पुरुषरूपेण पुरुषाकारेण०२, नपुंसकंवा नपुंसकरूपेण नपुंसकाकारेण०३, बिम्बं वा बिम्बरूपेण बिम्बाकारेण०४ बिम्बमिति गर्भप्रतिबि-

म्बं गर्भाकृतिरार्तवपरिणामो, न तु गर्भ एव। एते कथं जायन्त इति आह– (अप्पं०) अल्पशुक्रम् (बहुय त्ति) बहुकं प्रभूतं (ओयं त्ति) ऋतुरार्तवं, स्त्री तत्र गर्भाशये जायते उत्पद्यते १, अल्पमार्तवं बहुशुक्रं, पुरुषस्तत्र जायते २, द्वयोरपि रक्तशुक्रयोरुधिरवीर्ययोः तुल्यभावे समत्वे सति नपुंसको जायते ३, (इत्थि त्ति) स्त्रिया नार्याः (ओय त्ति) ओजसा (समाओगे त्ति) समायोगो वातवशेन तत्स्थिरीभवनलक्षणं स्त्र्योजः समायोगस्तस्मिन् सति बिम्बं तत्र गर्भाशये प्रजायते ४। तं०।

कथं स्वपिति–

अह णं पसवणकालसमयं सि सीसेण वा पाएहिं वा आगच्छइ, सममागच्छइ, तिरियमागच्छइ, विणघायमावज्जइ।

''कोइ पुण पावकारी, वारस संवच्छराइ उक्कोसं।

अत्थइ उ गब्भवासे, असुइप्पभवे असुइयम्मि ''॥१॥

(अह णं इत्यादि) अथानन्तरं 'णं' वाक्यालंकारे, प्रसवकालसमये जन्मकालावसरे शीर्षेण वा मस्तकेन वा पादाभ्यां चरणाभ्यां वा आगच्छति, समागच्छति इति सममविषममागच्छति। ''सम्मं आगच्छइ त्ति'' पाठे सम्यग् अनुपघातहेतुत्वादागच्छति, मातुरुदराद् योन्या निष्क्रामति (तिरियमागच्छइ त्ति) तिरश्चीनो भूत्वा जठराग्निर्गन्तुं प्रवर्तते यदि तदा विपिघातं मरणमापद्यते, निर्गमाभावादिति। (कोइ पुण०) कोऽपि पुनः पापकारी ग्रामघातरामाजठरविदारणजिनमुनिमहाशातनाविधायी, वातपित्तादिदूषितः, देवादिस्तम्भितो वेति शेषः। द्वादश संवत्सराणि उत्कृष्टतः (अत्थइ त्ति)तिष्ठति। तुशब्दाद् गर्भोक्तं प्रबलं दुःखं सहमानोऽवतिष्ठते गर्भवासे गर्भगृहे, किंभूते ? अशुचिप्रभवे अशुचिके अशुच्यात्मके इति। तं०। स्था०।

गर्भान्निर्गतस्य च यत्स्यात्तदाह–

वण्णवज्जाणि य से कम्माइं बद्धाइं पुट्ठाइं णिहित्ताइं कडाइं पट्ठवियाइं अभिनिविट्ठाइं अभिसमण्णागयाइं उदिण्णाइं णो उवसंताइं भवंति, तओ भवइ दुरूवे दुव्वण्णे दुग्गंधे दुरसे दुप्फासे अणिट्ठे अकंते अप्पिअप्पिए असुभे अमणुण्णे अमणामे हीणस्सरे दीणस्सरे अणिट्ठस्सरे अकंतस्सरे अप्पियस्सरे असुभस्सरे अमणुण्णस्सरे अमणामस्सरे अणाएज्जवयणं पच्चायाए वि भवइ, वण्णवज्जाणि य से कम्माइं नो बद्धाइं पसत्थं नेयव्वं० जाव आदेज्जपवयणं पच्चायाए वि भवइ सेवं भंते भंते।

(वण्णवज्जाणि य त्ति) वर्णः श्लाघा, वध्यो हन्तव्यो येषां तानि वर्णवध्यानि, अथवा वर्णाद्बाह्यानि वर्णबाह्यानि, अशुभानीत्यर्थः। चशब्दो वाक्यान्तरत्वद्योतनार्थः। (से त्ति) तस्य गर्भनिर्गतस्य (बद्धाइं ति) सामान्यतो बद्धानि (पुट्ठाइं ति) पोषितानि गाढतरबन्धतो निधत्तानि उद्वर्तनाऽपवर्तनकरणवर्जशेषकरणयोग्यत्वेन व्यवस्थापितानीत्यर्थः। अथवा बद्धानि, कथं, यतः पूर्वं स्पृष्टानीति (कडाइं ति) निकाचितानि, सर्वकरणायोग्यत्वेन व्यवस्थापितानीत्यर्थः। (पट्ठवियाइं ति) मनुष्यगतिपञ्चेन्द्रियजातित्रसादिनामकर्मादिना सहोदयत्वेन व्यवस्थापितानीत्यर्थः। (अभिनिविट्ठाइं ति) तीव्रानुभावतया निविष्टानि (अभिसमन्नागयाइं ति) उदयाभिमुखीभूतानि, ततश्च (उदिण्णाइं ति) उदीर्णानि स्वत उदीरणाकरणेन वोदितानि। व्यतिरेकमाह–(णो उवसंताइं ति) अनिष्टादीनि व्याख्यातान्येवैकार्थानि वा (हीणस्सरे त्ति) अल्पस्वरः (दीणस्सरे त्ति) दीनस्येव दुःस्थितस्येव स्वरो यस्य स दीनस्वरः (अणादेयवयणपच्चायाए वि त्ति) इहैवमक्षरघटना प्रत्याजातश्चापि समुत्पन्नोऽपि चाऽनादेयवचनो भवति। भ०१ श०७ उ०।

ननु–नवमासमात्रान्तरितमपि प्राक्तनं भवं सामान्यजीवः किं न स्मरतीत्याह–

जायमाणस्स जं दुक्खं, मरमाणस्स वा पुणो।
तेण दुक्खेण संमूढो, जाइसरइं न अप्पाणो ॥२॥
वीसरसरं रसंतो, सो जोणिमुहाउ निप्फिडइ जीवो
माऊऍ अप्पणो वि य, वेयणमउलं जणेमाणो ॥३॥

जायमानस्य गर्भान्निःसरमाणस्थ उत्पद्यमानस्य वा दुःखं भवति, वा अथवा पुनर्म्रियमाणस्य पञ्चत्वं कुर्वाणस्य च दुःखं भवति, तेन दारुणदुःखेन संमूढो महामोहभावं प्राप्तः जातिप्राक्तनभवमात्मीयं स्वकीयं मूढात्मा प्राणी न स्मरति–कोऽहं पूर्वभवे देवादिकोऽभवमिति न जानातीति ॥२॥ (वीसरत्ति) परमकरुणामयं (सरं ति) स्वरं ध्वनिं (रसंतो त्ति) भृशं कुर्वन् स गर्भस्थो जीवो योनिनमुखात् (निप्फिडइ त्ति) निष्क्रामति मातुरात्मनोऽपि च वेदनामतुलां जनयन् उत्पादयन् ॥३॥ तं०। महा०।

गब्भघरयम्मि जीवो, कुंभीपागम्मि नरयसंकासे।
वुत्थो अमिज्झमज्झे, असुइप्पभवे असुइयम्मि ॥४॥
पित्तस्स य सिंभस्स य, सुक्कस्स य सोणियस्स वि य मज्झे।
मुत्तस्स पुरीसस्स य, जायइ जह वच्चकिमिउ व्व ॥५॥

(गब्भघ०) गर्भगृहे जीवः कुम्भीपाके कोष्ठिकाकृतितप्तलोहभाजनसदृशे नरकसदृशे नारकोत्पत्तिस्थानतुल्ये (वुत्थो त्ति) उपस्थितः स्थितः, अमेध्यं गूथं, मध्ये यस्य गर्भस्य स अमेध्यमध्यः, तस्मिन् अशुचिप्रभवे जम्बालाद्युद्भवे अशुचिके अपवित्रस्वरूपे ॥४॥ (पित्त०) पित्तस्य 'सिम्भस्य' श्लेष्मणः शुक्रस्य शोणितस्य मूत्रस्य पुरीषस्य विष्ठाया मध्ये मध्यभागे जायते उत्पद्यते। क इव ?(वच्चकिमिउ व्व त्ति) वर्चस्ककृमिकवत् विष्ठानिलङ्गवतः। यथा कृमिर्द्वीन्द्रियजन्तुविशेष् उदरमध्यस्थविष्ठायामुत्पद्यते तथा जीवोऽपीति ॥५॥ तं०। संथा०।

शौचादि गर्भगतस्य–

तं दाणि सोयकरणं, केरिसयं होइ तस्स जीवस्स ?
सुक्करुहिरागराओ, जस्सुप्पत्ती सरीरस्स ॥६॥
एयारिसे सरीरे, कलमलभरिए अमिज्झसंभूए।
नियय वि गणिज्जंतं, सोयमयं केरिसं तस्स ?॥७॥

(तं दा०) तत् (दाणि त्ति) इदानीं सांप्रतं शौचकरणं शरीरसंस्कारकरणं कीदृशं भवति तस्य गर्भनिर्गतस्य जीवस्य? यस्य भङ्गुरशरीरस्योत्पत्तिः प्रादुर्भावः शुक्रशोणिताकरात् वीर्यखनेः वर्तत इति ॥६॥ (एया०) एतादृशे शरीरे कलमलभृते उदरादिजलावटकर्मादिपूर्णे अमेध्यसंभूते विष्ठासंभवे 'नियय विगणिज्जंतं' इति पदद्वये 'सप्तम्या द्वितीया'

।८।३।१३७। इति सप्तम्यर्थे द्वितीया। निजके आत्मीये (विगणिज्जंत इति) आत्मपरेषां जुगुप्सायोग्ये शौचमदं पवित्रत्वाङ्गीकारलक्षणं यथा मयाऽस्य स्नानचन्दनादिना पवित्रत्वं विधेयमिति। यद्वाशौचेन वस्त्रचन्दनाभरणादिना मदो गर्वो यत्र सनत्कुमारचक्रीवत् तच्छौचमदं, यथा कीदृशं मम शरीरं शोभतेऽलङ्कारादिभेति। यदि वा–एवंविधे शरीरे कुत्रापि रोगादिना विनष्टे शोकमदं शोकङ्गीकारकरणं, यथाहा मम सुन्दरं शरीरं स्फोटकादिना विनष्टमिति कीदृशं तस्य जीवस्येति ॥७॥ तं०। (पञ्चप्रकारैः स्त्री गर्भं धरति न धरति च तत्र पुरुषाऽसंयोगेऽपि गर्भसंभव इति तु स्थानाङ्गे प्रोक्तमस्ति, तच्चास्मिन्नेव शब्दे ८३१ पृष्ठे तंदुलवयालीय ११ गाथा–टीकायां सप्रपञ्चमुद्धृतमिति न पुनरुच्यते)

अथ पुरुषसंगताऽपि स्त्री कथं गर्भं न धारति?

पंचहिं ठाणेहिं इत्थी पुरिसेण सद्धिं संवसमाणी वि गब्भं नो धरेज्जा। तं जहा–अप्पत्तजोव्वणा, अइक्कंतजोव्वणा, जाइवंझा, गेलन्नपुट्ठा, दोमणंसिया, इच्चेएहिं पंचहिं ठाणेहिं इत्थी पुरिसेण सद्धिं संवसमाणी वि गब्भं नो धरेज्जा। पंचहिं ठाणेहिं इत्थी पुरिसेण सद्धिं संवसमाणी वि गब्भं नो धरेज्जा। तं जहा–निच्चोउआ अणोउया वावन्नसोया वाविद्धसोया अणंगपडिसेविणी, इच्चेएहिं पुचहिं ठाणेहिं इत्थी पुरिसेण सद्धिं संवसमाणा वि गब्भं नो धरेज्जा। पंचहिं ठाणेहिं इत्थी पुरिसेण सद्धिं संवसमाणि वि गब्भं नो धरेज्जा। तं जहा–उदूसि णो णिगामपडिसेविणी वा वि भवइ, समागया वा से सुक्कपोग्गले पडिविद्धंसंति, उदिन्ने वा से पित्तसोणिउ पुरा वा देवकम्मुणा पुत्तफले वा नो निविट्ठे भवइ, इच्चेएहिं० जाव नो धरेज्जा॥

अप्राप्तयौवना प्राय आवर्षद्वादशकादार्तभावात्, तथाऽतिक्रान्तयौवना वर्षाणां पञ्चपञ्चाशतः पञ्चाशतो वा परत आर्तवाऽभावादेव (यतोऽवाचि–'मासि मासीत्यादिगाथात्रयम्'। तत्र तन्दुलवयालीय १३ गाथाटीकायां ८३१ पृष्ठेऽत्र भागे न्यरूपि, तत एवावधार्यम्) तथा जातेर्जन्तम आरभ्य वन्ध्या निर्बीजा जातिवन्ध्या। तथा ग्लान्येन ग्लानत्वेन स्पृष्टा ग्लान्यस्पृष्टा रोगार्दिता। तथा दौर्मनस्यं शोकाद्यस्ति यस्याः सा दौर्मनस्यिका, तद्वा जातमस्या इति दौर्मनस्यितेति। ''इच्चेएहिं इत्यादि'' निगमनम्। नित्यं सदा, न त्र्यहमेव, ऋतू रक्तप्रवृत्तिलक्षणो यस्याः सा नित्यर्तुका। तथा न विद्यते ऋतु रक्तरूपः शास्त्रप्रसिद्धो वा यस्याः सा अनृतुका, (कियत्यः खलु ऋतुनिशाः, कस्यां कन्या, कस्यां च पुत्रः समुत्पद्यते, इत्यादि विषये ''ऋतुस्तु द्वादश निशाः'' इत्येतद् गाथात्रयं ८३१ पृष्ठेऽत्रैव शब्दे प्रोक्तम्) तथा व्यापन्नं विनष्टं रोगतः स्रोतो गर्भाशयच्छिद्रलक्षणं यस्याः सा व्यापन्नस्रोताः। तथा व्यादिग्धं व्याविद्धं वा वातादिव्याप्तं विद्यमानमप्युपहतशक्तिकं स्रोत उक्तरूपं यस्याः सा व्यादिग्धस्रोता, व्याविद्धस्रोता वा। तथा मैथुने प्रधानमङ्गं मेहनं भगश्च तत्प्रतिषेधोऽनङ्गम्, तेनानङ्गे नाहार्यलिङ्गादिना अनङ्गे वा मुखादौ प्रतिषेवा अस्ति यस्याः, अनङ्गं वा काममपरापरपुरुषसंपर्कतोऽतिशयेन प्रतिषेवत इत्येवंशीला अनङ्गप्रतिषेविणी, तथाविधवेश्यावदिति। ऋतौ ऋतुकाले नो नैव निकाममत्यर्थं बीजपातं यावत् पुरुषं प्रतिषेवते इत्येवंशीला निकामप्रतिषेविणी, वापीति उत्तरविकल्पापेक्षया समुच्चये। समागता वा (से) तस्यास्ते प्रतिविध्वंसन्ते योनिदोषादुपहतशक्तयो भवन्ति, मेहनविस्रोतसा वा योनेर्बहिः पतन्तो विध्वंसन्ते इति। उदीर्णं चोत्कटं तस्याः पित्तप्रधानं शोणितं स्यात्तच्चाबीजमिति, पुरा वा पूर्वं वा गर्भावसराद् देवकर्मणा देवक्रियया देवताऽनुभावेन, शक्त्युपघातः स्यादितिशेषः। अथवा देवच्च कार्मण च तथाविधद्रव्यसंयोगो देवकार्मणं, तस्मादिति, पुत्रलक्षणं फलं पुत्रफलं, पुत्रो वा फलं यस्य कर्मणस्तत्पुत्रफलं, तद्वा नो विर्विष्टं भवति, अलब्धमनुपात्तं स्वादित्यर्थः। ''थोवं वहुं निवेसं'' इत्यादौ निर्वेशशब्दस्य लाभार्थस्य दर्शनात्। अथवा पुत्र फलं यस्य तत्पुत्रफलं दानं तज्जन्मान्तरे अनिर्विष्टमदत्तं भवति, निर्विष्टस्य दत्तार्थत्वाद्। यथा 'नाऽनिविट्ठं लब्भइ' त्ति। स्था०५ ठा०२ उ०।

गर्भपतनकारणानि–

''पसुपक्खिमाणुसाणं, बालो जो विव हु विओजए पावो।
सो अणवच्चो जायइ, अह जायइ तो विवज्जिज्जा ॥१३॥
तत्पङ्डुका मया किं त्यक्ता वा त्याजिता अधमबुद्ध्या ?।
लघुवत्सानां मात्रा, समं वियोगः कृतः किं वा ?॥१४॥
तेषां दुग्धापायोऽकारि मया कारितोऽथवा लोकैः।
किं वा सबालकोन्दुरुबिलानि परिपुरितानि जलैः ॥१५॥
किं वा राण्डशिशून्यपि, खगनीडानि प्रपातितानि भुवि।
पिकशुककुर्कुटकादे–र्बालवियोगोऽथवा विहितः ॥१६॥
किं बा बालकहत्याऽकारि सपत्नीसुताद्युपरि दुष्टम्।
चिन्तितमचिन्त्यमपि वा, कृतानि किं कार्मणादीनि ?॥१७॥
किं वा गर्भस्तम्भन–शातनप्रातनमुखं मया चक्रे।
तन्मन्त्रभेषजान्यपि, किं वा मयका प्रयुक्तानि ?॥१८॥
अथवा भवान्तरे किं, मया कृतं शीलखण्डनं बहुशः ?।
यदिदं दुःखं तस्मा–द्विना न संभवति जीवानाम् ॥१९॥

यतः–

कुरंडरंडत्तणदुब्भगाई, वंझत्तनिंदूविसकन्नगाई।
लहंति जम्मंतरभग्गसीला, नाऊण कुज्जा दढसीलभावं''॥२०॥

कल्प०४ क्षण।

गर्भपोषणविधिः–

तए णं सा तिसला खत्तियाणी ण्हाया कयवलिकम्मा कयकोउयमंगलपायच्छित्ता सव्वालंकारविभूसिया तं गब्भं नाइसीएहिं नाइउण्हेहिं नाइतित्तेहिं नाइकडुएहिं नाइकसाइएहिं नाइअंबिलेहिं नाइमहुरेहिं नाइनिद्धेहिं नाइलुक्खेहिं नाइउल्लेहिं नाइसुक्केहिं सव्वत्तुभअमाणसुहेहिं भोयणाच्छायणगंधमल्लेहिं ववगयरोगसोगमोहभयपरिस्समा, जं तस्स गब्भस्स हियं मियं पत्थं गब्भपोसणं तंदेसे अ काले अ आहारमाहारेमाणी विवित्तमउएहिं सयणासणेहिं पइरिक्कसुहाए मणाणुकूलाए विहारभूमीए पसत्थदोहला संपुन्नदोहला सम्माणियदोहला अविमाणियदोहला वुच्छिन्नदोहला ववणीयदोहला सुहं सुहेणं आसइ, सयइ, चिट्ठइ, निसीअइ, तुयट्टइ, विहरइ सुहं सुहेणं तं गब्भं परिवहइ॥

'तए णं सा' इत्यादितः 'परिवहे' इति यावत्। तत्र ततः सा त्रिशला क्षत्रियाणी (ण्हाया कयबलिकम्मा)स्नाना, कृतं बलिकर्म पूजा यया (कयकोउयमंगलपायच्छित्ता) कृतानि कौतुक मङ्गलान्येव प्रायश्चित्तानि यया सा, तथा सर्वलङ्कारैर्भूषिता सती, तं गर्भं नातिशीतैर्नात्युष्णैः नातितिक्तैर्नातिकटुकैः नामिकषायैर्नात्यम्लैर्नातिमधुरैः नातिस्निग्धैर्नातिरूक्षैः (नाइउल्लेहिं ति) नात्यार्द्रैः नातिशुष्कैः, सर्वर्तुषु ऋतौ ऋतौभज्यमाना सेव्यमाना य सुखहेतवो गुणकारिणः, तैः। तदुक्तम्– ''वर्षासु लवणममृतं, शरदि जलं गोपयश्च हेमन्ते। शिशिरे चामलकरसौ, घृतं वसन्ते गुडश्चान्ते'' ॥१॥ एवविधैर्भोजनाच्छादनगन्धमाल्यैः, तत्र भोजनं प्रतीतम्, आच्छादनं वस्त्रं, गन्धः पटवासादयः, माल्यानि पुष्पमालाः, तैर्गर्भं पोषयतीति शेषः। तत्र नातिशीतलादय एव आहारादयो गर्भस्य हिताः, न तु अतिशीतलादयः, ते हि केचिद्वातिकाः, केचित् पैत्तिकाः, केचित् श्लेष्मकराश्च, ते च अहिताः। यदुक्तं वाग्भट्टे–

''वातलैश्च भवेद् गर्भः, कुब्जान्धजडवामनः।
पित्तलैः स्खलतिः पिङ्गः, श्वित्री पाण्डुः कफात्मभिः ''॥१॥

तथा

''अतिलवणं नेत्रहरं–मतिशीतं मारुतं प्रकोपयति।
अत्युष्णं हरति बलं अतिकामं जीवितं हरति''॥१॥

अन्यच्च–मैथुन–यान–वाहन–मार्गगमन–प्रस्खलन–प्रपातन–प्रपीडन–प्रधावना–ऽभिघात–विषमशयन–विषमासनो–पवास–वेगविधाताऽतिरूक्षाऽतितिक्ता–ऽतिकटुका –ऽतिभोजना–ऽतिरोगा–ऽतिशोका–ऽतिक्षार–सेवा–ऽतीसार–वमन–विरेचन–प्रेङ्खोलना–ऽजीर्णप्रभृतिभिर्गर्भो बन्धनान्मुच्यते, ततो नातिशीतलाद्यैराहाराद्यैस्तं गर्भं सा पोषयतीति युक्तम्। अथ सा त्रिशला कथं भूता ? (ववगयरोगसोगमोहभयपरिस्समा त्ति) रोगा ज्वराद्याः, शोक इष्टवियोगादिजनितः, मोहो मूर्च्छा, भयं भीतिः, परिश्रमो व्यायामः, एते व्यपगता यस्याः सा तथा रोगादिरहिता इतिभावः। यत एते गर्भस्य अहितकारिणस्तदुक्तं सुश्रुते–''दिवा स्वपत्याः स्त्रियाः स्वापशीलो गर्भः, अञ्जनादन्धः, रोदनाद्विकृतदृष्टिः, स्नानानुलेपनाद् दुःशीलः, तैलाभ्यङ्गात् कुष्ठी, नखापकर्तनात् कुनखी, प्रधावनाच्चञ्चलः, हसनात् श्याममदन्तौष्ठतालुजिह्वः, अतिकथनाच्च प्रलापी, अतिशब्दश्रवणाद् बधिरः, अवलेखनात् स्खलतिः, व्यञ्जनक्षेपणादिभारुतायाससेवनाद् उन्मत्तः स्यात्''।

तथा च कुलवृद्धाः स्त्रियस्त्रिशलां शिक्षयन्ति–

''मन्दं संचर मन्दमेव निगद व्यामुञ्च कोपक्रमं,
पथ्यं भुङ्क्ष्व बधान नीविमनघां मा माऽट्टहासं कृथाः।
आकाशे भव मा सुशेष्व शयने नपचैर्बहिर्गच्छ मा,
देवी गर्भभरालसा निजसखीवर्गेण सा शिक्ष्यते ''॥१॥

अथ सा त्रिशला पुनः किंकुर्वती ?(जं तस्स गब्भस्सेत्यादि) यत्तस्य गर्भस्य हितं तदपि मितं न तु न्यूनम्, अधिकं वा, पथ्यं आरोग्यकारणम्, अत एव गर्भपोषकं, तदपि देशे उचितस्थाने न तु आकाशादौ,तदपि काले भोजनसमये न तु अकाले आहारम् आहारयन्ती (विवित्तमउएहिं सयणासणेहिं ति) विविक्तानि दोषरहितानि मृदुकानि कोमलानि यानि शयनासनानि, तैः, तथा(पअरिक्कसुहाए मणाणूलूए विवहारभूमिए त्ति) प्रतिरिक्ता अन्यजनापेक्षया निर्जना अत एव सुखा सुखकारिणी तया, मनोऽनुकूलया मनःप्रमोददायिन्या एवंविधया विहारभूम्या चङ्क्रमणासनादिभूम्या कृत्वा। अथ सा त्रिशला किंविशिष्टा सती तं गर्भं परिवहति ? प्रशस्ता दोहदा गर्भप्रभावोद्भूता मनोरथा यस्याः सा तथा।

ते चैवम्–

''जानात्यमारिपटहं पटु घोषयामि,
दानं ददामि सुगुरून् परिपूजयामि।
तिर्थेश्वरार्चनमहं रचयामि सङ्घे,
वात्सल्यमुत्सवभृतं बहुधा करोमि ॥१॥
सिंहासने समुपविश्य वरातपत्रा,
संवीज्यमानसविधा सितचामराभ्याम्।
आज्ञेश्वरत्वमुदिताऽनुभवामि सम्यग्,
भूपालमौलिमणिलालितपादपीठा ॥२॥
आरुह्य कुञ्जरशिरः प्रचलत्पताका,
वादित्रनादपरिपूरितदिग्विभागा।
लोकैः स्तुता जयजयेति रवैः प्रमोदा-
दुद्यानकेलिमनघां कलयामि जाने''॥३॥ इत्यादि।

पुनः सा किंविशिष्टा ? संपूर्णदोहदा सिद्धार्थराजेन सर्वमनोरथपूरणात्, अत एव संमानितदोहदा पूर्णीकृत्य तेषां निर्वर्तितत्वात् तत एव अविमानितदोहदा, कस्यापि दोहदस्य अवगणनाऽभावात्। पुनः किंविशिष्टा ? व्युच्छिन्न दोहदा पूर्णवाञ्छितत्वात्, अत एव व्यपनीतदोहदा, सर्वथा असद्दोहदा (सुहं सुहेण त्ति) सुखं सुखेन गर्भानाबाधया (आसइ त्ति) आश्रयति आश्रयणीयं स्तम्भादिकमवलम्बते (सयइ त्ति) शेते निद्रां करोति (चिट्ठइ त्ति) ऊर्ध्वं तिष्ठति (निसीयइ त्ति) निषीदति आसने उपविशति (तुयट्टइ त्ति) न्यग् वर्तयति निद्रां विना शय्यायां शेते इत्यर्थः। विहरइ त्ति) विहरति कुट्टिमतले विचरति, अनेन प्रकारेण च सुखं सुखेन तं गर्भं परिवहतीति ॥६५॥ कल्प०४ क्षण भ०। ''गर्भे वातप्रकोपेण, दौर्हृदे चावमानिते। भवेत्कुब्जः कुणिः पङ्गुः, मूको मिन्मिन एव वा''॥१॥ आचा०१ श्रु०६ अ०१ उ०।('कायट्ठिइ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ४६१ पृष्ठे उदकभादीनां कायस्थितिर्निरूपिता) कुक्षौ, नाटकसन्धिभेदे, पनसकण्टके, अपवरके, ''भाद्रकृष्णचतुर्दश्यां, यावदाप्लवते जलम्। तावद् गर्भं विजानीयात्'' उक्ते भाद्रकृष्णचतुर्दश्यां गङ्गाजलप्लावनस्थाने, अन्ने, अग्गौ, पुत्रे च वाच०।

गब्भकरा स्त्री०(गर्भकरी) गर्भाधानविधायिन्यां विद्यायाम् सूत्र०२ श्रु०२ अ०।

गब्भगरा (गर्भकरी) 'गब्भकरा' शब्दार्थार्थे, सूत्र०२ श्रु०२ अ०।

गब्भघरका न०(गर्भगृहक) गर्भगृहाकारे, रा०। जं० जी०। मोहनगृहस्य रतिगृहस्य मोहजनकगृहस्य वाऽन्तर्भवने, ज्ञा०१ श्रु०८ अ०।

गब्भघरग (गर्भागृहक) 'गब्भघरक' शब्दार्थार्थे, ज्ञा०१ श्रु०८ अ०।

गब्भट्ठिइ स्त्री०(गर्भस्थिति) गर्भस्थितिविचारे 'दुचउछत्ति' गाथाधिकारे सप्तमजिनस्याष्ट मासा एकोनविंशतिदिनानि च, तत्कथं घटते ?'दुचउछ' गाथायां षण्णां जिनानामष्टमासादि कथितमस्त्येवं तु सप्त ज्ञायत इति प्रश्ने, उत्तरम्–'दुचउछ' गा-

थाया सप्तमस्थाने शेषजिनग्रहणं कृतमस्ति, तेन 'मासा अड नव' इत्यत्र षण्णामष्टौ मासाः,शेषजिनानां च नव मासा उक्ताः सन्ति, तैन सप्तमजिनस्य नव मासा एकोनविंशतिदिनानि गर्भस्थितिरितिबोध्यम् ११४ प्र० सेनप्र०२ उल्ला०। (तित्थयरशब्दे विस्तरोऽस्य द्रष्टव्यः) मत्स्यकच्छपवृषभहिषशुसारसादिजलचरस्थलचरखचरतिरश्चामायुषो गर्भे स्थितिश्च कियती परमितिहरिति प्रश्ने, उत्तरम्--जलचरस्थलरक्चरतरश्चामायुर्मानं 'गब्भभुअजलयरोभय' इत्यासंग्रहणीगाथातो ''मणुआऊ समगयाई हयाइ चउरंसजाउअट्ठस्स। गोमहिसुट्टखराई, पणस साणाइ दस मंस''॥१॥ इति ''वीरं जय सेहरपय, इति क्षेत्रविचारगाथातश्चावसेयम्। तेषां गर्भस्थितिमानं तु जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तत्कर्षतश्चाष्टौ वर्षाणीति भगवत्यादौ प्रतिपादितमस्तीति।'' ४१० प्र० सेनप्र०३ उल्ला०।

गब्भत्थ पुं०(गर्भस्थ) मनुष्ये, तिर्यग्योनिके च गर्भव्युत्क्रान्तिके, स्था०२ ठा०२ उ०।

दोण्हं गब्भत्थाणं आहारे पन्नत्ते। तं जहा--मणुस्साणं चेव, पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं चेव। दोण्हं गब्भत्थाणं वुड्ढी पण्णत्ता। तं जहा--मनुस्साणं चेव, पंचें दियतिरिक्खजोणियाणं चेव। एवं निवुड्ढी विगुव्वणा गइपरियाए समुग्घाइ कालसंयोगे आयाइ मरणे।

द्वयोरेव गर्भस्थयोराहारोऽन्येषां गर्भस्यैवाभावादिति, वृद्धिः शरीरोपचयः निर्वृद्धिस्तद्धानिर्वातपित्तादिभिः, निःशब्दस्याभावार्थत्वात्, निरुदरा कन्येत्यादिवत्। वैक्रियलब्धिमतां विकुर्वणा। गतिपर्यायश्चलनं, मृत्वा वा गत्यन्तरं गमनलक्षणो यश्च वैक्रियलब्धिमान् गर्भान्निर्गत्य प्रदेशतो वहिः संग्रामयति स वा गतिपर्यायः। उक्तञ्च भगवत्याम्--''जहवे णं भंते! गब्भगए समाणे नेरइएसु उववज्जेज्जा? गोयमा! अत्थेगइए उववज्जेज्जा अत्थेगइए नो उवज्जेज्जा। से केणट्ठेणं। केणट्ठेणं। गोयमा! से णं सन्निपंचिंदिए सव्वाहिं पज्जत्तीहिं पज्जत्तए वीरियलद्धिए वेउव्वियलद्धिए पराणीयमागयं सोच्चा निसम्म पएसे निच्छुभइ, निच्छुभइत्ता वेलव्वियसमुग्घाएणं समोहणइ, चाउरंगिणिं सिन्नं विउव्वइ, विउव्वइत्ता चाउरंगिणीए सेणाए पराणीएणं सद्धिं संगामं संगामेइ'' इत्यादि समुद्घातो मारणान्तिकादिः। कालसंयोगः कालकृतावस्था, आयातिर्गर्भान्निश्रमं। मरणं प्राणत्यागः। स्था०२ ठा०३ उ०।

गर्भार्थ पुं० हृदयगतार्थे भावार्थे, षो०१६ विव०।

गब्भदंसि (ण्) त्रि०(गर्भदर्शिन्) गर्भद्रष्टरि गर्भवासिनि, आचा०।

जे मोहदंसी से गब्भदंसी, (जे गब्भदंसी से जम्मदंसी)।

यो हि मोहं रूपतो वेत्त्यर्थपरित्यागंरूपत्वात् ज्ञानस्य परिहरति वेति, यदि वा यो मोहं पश्यत्याचरति स गर्भमपि पश्यति, गर्भे वसतीत्यर्थः। आचा०१ श्रु०३ अ००४ उ०।

गब्भपोसण न०(गर्भपोषण) गर्भपोषके, भ०११ श०११ उ०।

गब्भमास पुं०(गर्भमास) कार्तिकादौ यावद् माघमासे, यत्र उदकगर्भा भवन्ति। व्य०७ उ०। गर्भस्य तदारम्भस्य मासस्तत्सहितो मासः। गर्भारम्भमासे, गर्भसहिते मासे च। वाच०।

गब्भर त्रि०(गह्वर) गहने, आव०४ अ०। दम्भे, बने, निकुञ्जे, पुं०। रोदने, विषमस्थाने, अनेकार्थासङ्कले च। न०। गुहायाम्, न० स्त्री०। वाच०।

गब्भय त्रि०(गर्भज) स्त्रीगर्भोत्पन्ने गर्भव्युत्क्रान्तिके, अनु०।

गब्भवक्कंति स्त्री०(गर्भव्युत्क्रान्ति) गर्भाशये उत्पत्तौ, स्था०।

दोण्हं गब्भवक्कंती पण्णत्ता। तं जहा--मणुस्साणं चेव, पंचेदियतिरिक्खजोणियाणं चेव।

तेषां गर्भे गर्भाशये व्युत्क्रान्तिरुत्पत्तिर्गर्भव्युत्क्रान्तिः, मनोरपत्यानि मनुष्यास्तेषां, तिरोऽञ्चन्ति गच्छन्तीति तिर्यञ्चस्तेषां संबन्धिनी यौनिरुत्पत्तिस्थानं येषां ते विर्यग्योनिकाः ते चैकेन्द्रियादयोऽपि भवन्ति इति विशिष्यन्ते, पञ्चेन्द्रियाश्च तिर्यग्योनिकाश्चेति पञ्चेन्द्रियतिर्यग्यौनिकास्तेषाम्। स्था०२ ठा०३ उ०।

गब्भवक्कंतिय पुं०(गर्भव्युत्क्रान्तिक) गर्भे व्युत्क्रान्तिरुत्पत्तिर्येषां व्युत्क्रान्तिशब्दोऽत्रोत्पत्तिवाची, तथा पूर्वाचार्यप्रसिद्धेः। यदि वा गर्भाद् गर्भावासाद् व्युत्क्रान्तिर्निष्क्रमणं येषां ते गर्भव्युत्क्रान्तिकाः। शेषाद्वा ७।३।१७५। इति कच् समासान्तः। प्रज्ञा०१पद। नं०। जी०। गर्भजे मनुष्ये, तिरश्चि च। अनु०। स्था०। गर्भव्युत्क्रान्तिकमानुष्यास्त्रिधाकर्मभूमिजा अकर्मभूमिजा अन्तर्द्वीपजाश्चेति। स०। प्रज्ञा०।

गब्भवासवसहि स्त्री०(गर्भवासवसति) गर्भाश्रयनिवासे, औ०।

गब्भसाहरण न०(गर्भसंहरण) गर्भस्य उदरसत्त्वस्य संहरणमुदरान्तरसंक्रामणं गर्भसंहरणम्। भगवतो महावीरस्य पुरन्दरादिष्टेन हरिनैगमेषिदेवेन देवानन्दाभिधाननब्राह्मण्युदरात् त्रिशलाभिधानाया राजपत्न्या उदरान्तरे संक्रामणे, स्था०१० ठा० (वीर शब्दे चैत्स्पष्टीभविष्यति) गर्भान्तरसंक्रमणमात्रे च। भ०।

अत्र प्रश्नोत्तरे--

हरी णं भंते! हरिणेगमेसी सक्कदूए इत्थीगब्भं साहरमाणे किं गब्भाओ गब्भं साहरइ, १ गब्भाओ जोणिं साहरइ २, जोणीओ गब्भं साहरइ ३, जोणीओ जोणिं साहरइ ४? गोयमा! नो गब्भाओ गब्भं साहरइ १, नो गब्भाओ जोणिं साहरइ २, नो जाणिओ जोणिं परामुसिय परामुसिय अव्वावाहेणं अव्वावाहं जोणीओ गब्भं साहरइ। पभू! णं भंते! हरिणेगमेसी सक्कस्स णं दूए इत्थीए गब्भं नहसिरंसि वा रोमकुवंसि वा साहरित्तए वा नीहरित्तए वा? हंता। पभू! नो चेव णं तस्स गब्भस्स किंचि आवाहं वा विवाहं वा उप्पाएज्जा छविच्छेदं पुण करेज्जा ए सुहुमं च णं साहरिज्ज वा नीहरिज्ज वा॥

इह च यद्यपि महावीरसंविधानाभिधायकंपदंन दृश्यते, तथापि हरिनैगमेषीति वचनात् तदेवानुमीयते, हरिनैगमेषिणा भगवतो गर्भान्तरे नयनात्। यदि पुनः सामान्यतोगर्भहरणविवक्षाऽभविष्यत्तदा देवेणं भंते! इत्यवक्ष्यदिति। तत्र हरि-

रिन्द्रः तत्संबन्धित्वाद् हरिनैगमेवेषीति नाम ।(सक्कदूए त्ति) शक्रदूतः, शक्रादेशकारी पदात्यनीकाधिपतिः, येन शक्रादेशाभ पदात्यनीकाधिपतिः, येन शक्रादेशाद्भगवान्महावीरो देवानन्दागर्भात् त्रिशलागर्भे संहृत इति । (इत्थीगब्भं ति) स्त्रिया: संबन्धी गर्भः सजीबपुद्गलपिण्डकः स्त्रीगर्भस्तं (साहरमाणे त्ति) अन्यत्र नयन्। इह चतुर्भङ्गिका–तत्र गर्भाद् गर्भाशयादवधेगर्भे गर्भाशयान्तरं संहरति प्रवेशयति, गर्भे सजीवपुद्गलपिण्डलक्षणमिति प्रकृतमित्येका १। तथा गर्भादवधेर्योनिं गर्भनिर्गमद्वारं संहरति, योन्योदरान्तरं प्रवेशयतीत्यर्थः २। तथा योनितो योनिद्वारेण गर्भं संहरति, गर्भाशयं प्रवेशयतीत्यर्थः ३। तथा योनितो योनेः सकाशाद् योनि संहरति नयति, योन्योदरान्निष्काश्य योनिद्वारेणैवोदरान्तरं प्रवेशयतीत्यर्थः ४। एतेषु शेषनिषेधेन तृतीयमनुजानन्नाह (परामुसियेत्यादि) परामृश्य परामृश्य तथाविधकरणव्यापारेण संस्पृश्य संस्पृश्य स्त्रीगर्भमव्याबाधमव्याबाधेन सुखं सुखेनेत्यर्थः, योनितो योनिद्वारेण निष्काश्य गर्भे गर्भाशयं संहरति। गर्भमिति प्रकृतं यच्चेह योनितो निर्गमनं स्त्रीगर्भस्योक्तं तल्लोकव्यवहारानुवर्तनात्। तथाहि–निष्पन्नोऽनिष्पन्नो वा गर्भः स्वभावाद् योन्यैव निर्गच्छतीति। अयं च तस्य गर्भस्य संहरणे आचार उक्तः । अथ तत्सामर्थ्ये दर्शयन्नाह–पभू णं इत्यादि । (बीदस्तिए)नखाग्रे (साहरित्तप त्ति) संहर्तं प्रवेशयितुं (नीहरित्तए त्ति) विभक्तिपरिणामेन नखशिरसो रोमकूपा द्वा निर्हर्तुं निष्काशयितुं (आवाहं ति) ईषदबाधां (विवाहं ति) विशिष्टबाधां (छविच्छेदं ति) शरीरच्छेदं पुनः कुर्यात्, गर्भस्य हि छविच्छेदमकृत्वा नखाग्रादौ प्रवेशयितुमशक्यत्वात् । (ए सुहुडं च णं ति) इति सूक्ष्ममित्येवं लध्विति। भ०५ श०४ उ०।

गब्भाइदिण न०(गर्भादिदिन) गर्भनिष्क्रमणज्ञाननिर्वाणदिवसेषु, पु० पञ्चा०६ विव०।

गब्भिअ त्रि०(गार्भेय) गर्भे भवा गार्भेयाः । नौमध्ये उच्चावचकर्मकारिषु, क्रा०१ श्रु०८ अ०।

गब्भिण त्रि०(गर्भित) **गर्भितातिमुक्ते णः ।८।१।२०८।** इति तस्य णः। जातगर्भे, प्रा०१ पाद।

गब्भिय त्रि०(गर्भित) अनिर्गतशीर्षके, दश०७ अ०। जातगर्भे, डोडकिते, वृक्षादौ, ज्ञा०१ श्रु०७ अ०। आचा०।

गब्भेज्ज त्रि०(गार्भेय) गब्भिज्ज शब्दार्थे, ज्ञा०१ श्रु००८ अ०।

गम पुं०(गम) वस्तुव्यवच्छेदे, अनु०। सूत्र०। बोधे, विशे०। अभिधानाभिधेयवशतोऽर्थपरिच्छेदे, नं०। स्था०। स०। व्याख्याने, विशे०। गणितादिविशेषे, विशे०। आ० म०। सदृशपाठे, विशे०। आ०म०। चतुर्विंशतिदण्डकादौ, आव०५ अ०। वाचनाविशेषे ज्ञा०१ श्रु०१ अ०। पथिनि, स्था०७ ठा०। जिगीषोर्यात्रायाम्, द्यूतभेदे, वाच०। गमने च। आचा०।

गमग त्रि०(गमक) गमयति गम् णिच् ण्वुल् । गमयितरि बोधके, वाच०। प्रापके, विशे०।

गमण न०(गमन) गम् ल्युट् । गतौ, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०। आचा०। अनियतदिग्देशैः संयेगबिभागकारणे नैयायिसम्मततर्कभेदे, सम्म०२ काण्ड। हंसगत्या चङ्क्रमणे, ज्ञा०१ श्रु०६ अ०। अन्यतोऽन्यत्र (दश०४ अ०) परिभ्रमणे, स०। (विहार शब्दे गमनविधिं साधूनां वक्ष्यामि) गमननक्षाणि–'' पुस्सऽस्सिणि मिगसिर बे–इंदि य हत्थो तहेव चित्ता य । अणुराह जिट्ठ मूला, नव नक्खत्ता गमणसिद्धा''॥११॥ द०प०८प०। ''गतं न गम्यते तावदगतं नैव गम्यते । गतागतविनिर्मुक्तं, गम्यमानं तु गम्यते''॥१॥ विशे०। सूत्र०। स्वाध्यायादिनिमित्तं वसतेनिष्क्रमणे, ''गमणागमणे पाणक्कमणे वीयक्कमणे'' आव०४ अ०। जिगीषोः प्रयाणे, वाच०। ध०। व्याख्याने, विशे०। वेदने, नं०। आ०म०। प्राप्तौ च। ज्ञा०१ श्रु०१ अ०।

गमणगुण पुं०(गमनगुण) गमनं गतिः, तद्गुणो गतिपरिणामपरिणतानां जीवपुद्गलानां सहकारिकारणभावतः कार्यमत्स्यानां जलस्येव यस्यासौ गमनगुणः। गमने वा गुण उपकारो जीबादीनां यस्मादसौ गमनगुण इति। स्था०८ ठा०। मत्स्यानां जल इव जीवपुद्गलानां गत्युपष्टम्भहेतौ गुणतः पुद्गलास्तिकाये, भ०२ श०१० उ०।

गमणमंडल न०(गमनमण्डल) सूर्यस्य गमनयोग्ये मण्डले, ज्यो०४ पाहु०।

गमणया स्त्री०(गमनमा)स्वार्थिकस्तुमर्थे ताप्रत्ययः। ''गमणे लोगंतगमणयाए'' गमनतायै, गमनाय, गन्तुमित्यर्थः। गमनतायै गन्मुमिति छन्दसत्वेन तुमर्थे युट् प्रत्ययः। स्था०४ ठा०३ उ०।

गमणसज्ज त्रि०(गमनसज्ज) गमनप्रवणे, रा०।

गमणागमण न०(गमनागमन) प्रज्ञापकं प्रतीत्याऽन्यस्थाना–द्गमनमागमनं गन्तुं प्रत्यागतस्य, गमनं चागमनं च गमनागमनम्। नि०चू०११ उ०। हस्तशताद् बहिर्गमनादौ, जीत०। ''गमणागमणाए पडिक्कमइ त्ति'' ईर्यापथिकीं प्रतिक्रामतीत्यर्थः। भ०१२ श०१ उ०।

गमणागमणविहार न०(गमनागमनविहार) गमनं च भक्ताद्यर्थमालयान्निर्गमः, आगमनं च प्रत्यावृत्तिर्विहारश्च ग्रामान्तर्गमनं स्वाध्यायादिनिमित्तं वसत्यन्तर्गमः। समाहारद्वन्द्वः । गमनादित्रिके ईर्यापथिकीप्रतिक्रमणविषये, पञ्चा०१७ विव०।

गमणिया स्त्री०(गमनिका) संज्ञिप्तव्याख्याने, स्था०१० ठा०।

गमणी स्त्री०(गमनी) गमनप्रकर्षसाधिकायां विद्याधरविद्यायाम्, ज्ञा०१ श्रु०१६ अ०।

गमय पुं०(गमक) गमक शब्दार्थार्थे, विशे०।

गमिय न०(गमिक) गम–अस्त्यर्थे इकप्रत्ययः । भङ्गयुक्ते, श्रुतविशेषे, आ०चू०१ अ०।

भंग–गणियाइगमियं, जं सरिसगमं च कारणवसेण ।
गाहाइ अगमियं खलु, कालियसुय दिट्ठिवाए वा ॥५४६॥

गमाः भङ्गकाः गणितादिविशेषाश्च तद्बहुलं तत्संकुलं गमिकम्। अथवा–गमाः सदृशपाठास्ते च कारणवशेन यत्र बहवो भवन्ति तद्गमिकं तच्चैवंविधं प्रायो दृष्टिवादे इत्येवंपर्यन्ते । दृष्टिबादपदमत्र संबध्यते । यत्र प्रायो गाथाश्लोकवेष्टकाद्यसदृशपाठात्मकं तदगमिकम् । तच्चैवंविधं प्रायः कालिकश्रुतमिति गाथार्थः ॥४५६॥ विशे०। आ०म०। वृ०।

गमित त्रि०। प्रदर्शिते, उपनीते, अर्पिते, आ०चू०१ अ०।

गमेप्पिण अव्य०(गत्वा) अपभ्रंशेयात्वेत्यर्थे, **''गमरेप्पिण्वेप्प्यो - रे -**

लुग्वा''॥८।४।४४२॥ अपभ्रंशे गमेर्धातोः परयोरेप्पिणु–एप्पि इत्यादिशयोरेकारस्य लुग् वा भवति। इति लोपाभावपक्षे ''गंगगमेप्पिणु जो मुअइ, जो सित्रतित्थ गमेप्पि।'' प्रा०४ पाद।

गमेस धा०(गवेष) अन्वेषणे, अच् चुरा० आत्म० सेट्। **''गवेषेर्दुल्ल–ढंढोल गमेस घत्ताः**।८।४।१८६। इति गवेषेर्गमेसाऽऽदेशः। गमेसइ–गवेषयते'' प्रा०४ पाद।

गम्मधम्म पुं०(गम्यधर्म) लौकिकधर्मभेदे, स च यथा दक्षिणापथे मातुलकन्या गम्या, उत्तरापथे पुनरगम्या। दश०१ अ०। ग्राम्यधर्म पुं०। ग्राम्यस्य प्राकृतस्य हालिकदिर्धमः। व्यवारो, मैथुने, वाच०।

गम्ममाण त्रि०(गम्यमान) गम्–कर्मणि यक्, शानच्। ''गमादीनां द्वित्वम्'' ।८।४।२४६। इति कर्मणि अन्त्यस्य द्विरवम्।प्राप्यमाणे, प्रा०४ पाद।

गम्मागम्मविभाग पुं०(गम्यागम्यविभाग) गम्यागम्ये लोकप्रतीते। तयोर्विभागः आसेवनपरिहाररुपः। विषयनियमने, ''गम्यागम्यविभागं, त्यक्त्वा सर्वत्र वर्तते जन्तुः'' षो०४ विव०।

गय स्त्री०(गज) गजभेदे, अच्। हस्तिनि, तं०। दश०। पिं०। प्रव०। औ० ''णेसायं सत्तमं गओ'' अनु०। गजसुकुमाले, अन्त०३ वर्ग०।

गत त्रि० व्यवस्थिते, स्था०१०। ०। औ०। स्थिते, मनोगतं मनसि स्थितमिति। उत्त०१ अ०। ज्ञा०। आ०म०। प्राप्ते, उत्त०१६ अ०। सूत्र०। आतु०। प्रवृत्ते, सूत्र०१ श्रु०१ अ०१ उ०। प्रविष्टे, स्था०४ ठा०१ उ०। अतीते, समासे, पतिते, वाच०। भावे क्तः। गमने, आचा०१ श्रु०३ अ०। चं०प्र००। रा०। सविलाससंक्रमणे, चं० प्र०२०। पाहु०। जी०। **गद** पुं०। अच्। रोगे, मेघध्वनौ, कुष्टे, विषभेदे, न०। वाच०।

गयंक पुं०(गजाङ्क) दिक्कुमारेषु, औ०।

गयकण्ण पुं०(गजकर्ण) आभाषिकद्वीपस्य परतोऽन्तर्द्वीपे, तद्वास्तव्ये मनुष्ये च। जी०३ प्रति। प्रव०। उत्त०। स्था०। नं०। कर्म०। प्रज्ञा०। (अन्तरदीव शब्दे प्र०भा०८६ पृष्ठे प्रदर्शितं चैतत्) अनार्यक्षेत्रभेदे, तज्ञे मनुष्ये च। सूत्र०२ श्रु०१ अ०। प्रव०।

गयकरेणु (गजकरेणु) गजकलभिकायाम्, त०।

गयकलभ पुं०(गजकलभ) हस्तिशावके, रा०।

गजमय त्रि०(गजगत) हस्त्यारुढे, औ०।

गयग्गपय न०(गजाग्रपद) स्वाभिधेयतां प्राप्ते दशार्णकूटे, आचा०२ श्रु०३ चू०।

''गजाग्रपदतोत्पत्तिः, शैलस्यैवमभून्मुने।
गर्वं दशार्णभद्रस्य, हर्तुं शक्रः समागतः ॥१८॥
गजेन्द्रारुढ एवाथ, त्रिः प्रादक्षिणयत्प्रभुम्।
ततो दशार्णकूटाख्ये, तत्पदान्युत्थितान्यगे ॥१६॥
देवानुभावात् ख्यातोऽथ, गजेन्द्रपद इत्यसौ।
तस्मिन्नहामुनिर्भक्तं, प्रत्याख्याय दिवं ययौ''॥२०॥ आ०क०। आ०चू०। आच०। आ०म०।

गयचरणमलण न०(गजचरणमलन) हस्तिपादैः पीडयित्वा प्राणनाशने, स०। ''अण्णे य गयचलणमलणणिम्महिया कीरंति''प्रश्न०३ आश्र०द्वार।

गयजहियङ्काण न०(गजजूथिकस्थान) गजजूथं यत्र तिष्ठति तादृशे स्थाने, आचा०२ श्रु००११ उ०।

गयजोव्वण त्रि०(गतयौवन) अतिक्रान्तद्वितीयवयसि, वृद्धप्राय इत्यर्थः। पं०व०१ द्वार।

गयणगइ पुं०(गगनगति) बहूत्सवनगरपतिगमनमण्डलनृपपुत्रे, दर्श०।

गयणमण्डल पुं०(गगनमण्डल) स्वनामख्याते बहूत्सवनगरराजे, दर्श०।

गयदंत पुं०(गजदन्त) करिदन्ते, रा०। ज्येष्ठाया गजदन्तसंस्थानम्। जं०१ वक्ष०।

गयदंतसमाण त्रि०(गजदन्तसमान) गजदन्ताकारे, रा०।

गयपंति स्त्री० (गजपङ्क्ति) क्रमव्यवस्थितहस्तिसमूहे, भ०१६ श०६ उ०।

गयपतिया स्त्री०(गतपतिका) विधवायाम् औ०।

गयपुर न०(गजपुर)कुरुदेशप्रधाननगरे हस्तिनापुरे, प्रज्ञा०१ पद। प्रव०। आ०। कुरुजनपदप्रधाने नगरे, यत्र बाहुबलिपुत्रसोमप्रभसुतः श्रेयानासीत। आ०म०प्र०। प्रज्ञा०।गयपुरं च कुरु'' सूत्र०१ श्रु०५ अ० उ०।

''आकरः सर्ववस्तूनां, देशोऽस्ति कुरुनामकः।
समुद्र इव रत्नानां, गुणानामिव सञ्जन ॥१॥
पुरं गजपुरं तत्र, क्षरद्गजमदोर्मिभिः।
तदैव नर्मदाजज्ञे, नूनं या दृश्यतेऽधूना ॥२॥
तत्र बाहुबलेःपुत्रः, सौम्यः सोमप्रभो मृपः।
चित्रंपद्माहितानन्दः, शूरस्तीव्रः प्रतापवान् ॥३॥
श्रेयांसस्तनयतस्य, यौवराज्यपदाऽऽस्पदम्।
क्रीडत्यद्यापि विश्वश्री–क्रोडन्तर्यद्यशः शिशुः''॥४॥
आ०क०। ('हत्थिणाउर' शब्दे तत्कल्पो वक्ष्यते)

गयमाइ त्रि०(गजादि) हस्तिप्रभृतौ, उत्त०३६ अ०।

गयमारिणी स्त्री०(गजमारिणी) गुच्छभेदे, प्रज्ञा०१ पद।

गयमुह पुं०(गजमुख) शष्कुलीकर्णस्य परतोऽन्तर्द्वीपे, उत्त०३६ अ०। ('अंतरदीव' शब्दे प्र० भागे ८६ पृष्ठे निरूपितः) अनार्यदेशभेदे, तद्वासिनि मनुष्ये च। प्रव०१४८ द्वार।

गयलक्खण न०(गजलक्षण) हस्तिलक्षणपरिज्ञानात्मिकायां पञ्चत्रिंशत्कलायाम्, जं०२ वक्ष०। सूत्र०। ज्ञा०। कल्प०। स०।

गयवर पुं०(गजवर) गजेन्द्रे, ''गयवरकरसरिसपीवरोरु'' कल्प०२ क्षण।

गयवरपत्थंत त्रि०(गजवरप्रार्थयमान) मतङ्गजान् प्रार्थयमाने, हन्तुमारोढुं वाऽभिलाषिमाणे, तत्र शक्ते, तच्छीले वा। प्रश्न०३ आश्र० द्वार।

गयविक्कम पुं०(गजविक्रम) मत्तगजक्रीडायाए, पूर्वाषाढायाः गजविक्रमः स्थानम्। जं०१ वक्ष०।

गयवीही स्त्री०(गजवीथी) गजसंज्ञके त्रिभिर्नक्षत्रैरुपलक्षिते शुक्रादिग्रहचारकक्षेत्रभागे, स्था०८ ठा०।

गयसंघाडपुं०(गतसङ्घाट) हस्तियुग्मे, जं०१ वक्ष०।

गयससण पुं०(गजश्वसन) हस्तिशुण्डादण्डे, ''गयससणसुजाय-सन्निभोरू'' गजश्वसनस्य हस्तिनासिकायाः सुजातस्य सुनिष्पन्नस्य सन्निभे सदृशौ ऊरू जङ्घे यस्य स तथा। ''समुग्गणिमग्गगूढजाणू'' समुद्गः समुद काख्यभाजनविशेष्य, तत्पिधानस्य च सन्धिः, तद्वन्निमग्नगूढे अत्यन्तनिगूढे मांसलत्वादनुन्नते जानुनी अष्ठीवती यस्य स तथा। औ०।

गयसाल न०(गजशाल) हस्तिशालायाम् नि०चू०८ उ०।

गयसिरिय त्रि०(गतश्रीक) निःशोभे, भ०६श०३३ उ०।

गयसीहवाइ(ण्) पुं०(गजसिंहवादिन्) अन्द्रभूतिना सह वीरप्रभोरन्तिकं गते वादिनि, कल्प०६ क्षण।

गयसुकुमाल पुं०(गजसुकुमार) विष्णोर्लघुभ्रातरि, स हि भगवतोऽरिष्टनेमिजिननाथस्यान्तिके प्रव्रज्यां प्रतिपद्य श्मशाने कृतकायोत्सर्गलक्षणमहातपाः शिरोनिहितजाज्वल्यमानाङ्गारजनितात्यन्तवेदनोऽल्पेनैव पर्यायेण सिद्धिमाप्तवानिति। स्था०४ ठा०१ उ०।

तद्वक्तव्यता चैवम्-

जति उक्खेवो अट्ठमस्स २ एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं वारवतीए णयरीए जहा पढमे० जाव अरहा अरिट्ठनेमी समोसढे । तेणं कालेणं तेणं समएणं अरहा अरिट्ठनेमिस्स अंतेवासी छ अणगारे भायरो सहोदरा होत्था, सरिसया सरितया सरिवया नीलुप्पलगवलगुलियअयसीकुसुमप्पगासा सिरिवच्छंकियवच्छा कुसुकुंडलभद्दलया नलकूवरसमाणा, तते णं से छ अणगारा जं चेव दिवसं मुंडा भवित्ता अगारातो अणागारिया पव्वइया तं चेव दिवसं अरहं अरिट्ठनेमिं वंदंति, नमंसंति, नमंसित्ता एवं वयासी-इच्छामो णं भंते ! तुज्झेहिं अब्भणुण्णाया समाना जवजीवाए छट्ठं छट्ठेणं अणिक्खितेणं तवोकम्मेणं संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरित्तए । अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडि०। तते णं ते छ अणा गारा अरहा अरिट्ठनेमिणा अब्भणुण्णाता समाणा जावजीवाए छट्ठं छट्ठेणं अणिक्खितेणं तवोकम्मेणं० जाव विहरंति तते णं तेछ अणगारा अण्णाया कयाती छट्ठखमणस्स पारणयंसि पढमाए पोरसीए सज्झाये करैं ति । जहा गोयमो० जाव दच्छामो णं छट्ठक्खमणस्स पारणए तुज्झेहिं अब्भणुण्णाया समाणा तहिं संघाडएहिं वारवजीए णयरीए० जाव अडत्तए अहासुहं, तते णं ते छ अणगारा अरहतो अरिट्ठनेमिणा अब्भणुण्णाया समाणा अरहं अरिट्ठनेमिं वंदंति, नमंसंति, अरहतो अरिट्ठनेमिस्स अंतियाओ सहस्संववणाओ पडिनिक्खमंति, परिनिक्खमित्ता तिहिं संघडएहिं अतुरिता० जाव अडंति, तत्थ णं एगे संघाडए वारवतीए णयरीए उच्चनीचमज्झिमाइं कुलाइं घरसमुद्दाणस्स भिक्खायरियाए अडमाणे वसुदेवस्स रण्णो देवतीए देवीए गिहिं अणुपविट्ठे, तते णं सा देवी एते अणगारे एज्जमाणे पासति, पासित्ता हट्ठ० जाव हियया आसणाओ अब्भुट्ठेति, अब्भुट्ठेत्ता सत्तऽट्ठपयातिं तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेति, करेतित्ता वंदति, णमंसति, वंदित्ता नमंसित्ता जेणेव भत्तघरे तेणेव उवागच्छति, उवागच्छतित्ता सीहकेसराणं मोयगाण थालं भरेति, थालंभरेतित्ता ते अणगारे पडिलाभेति, पडिलाभेतित्ता वंदति, णमंसति, वंदित्ता णमंसित्ता पडिविसज्जेति, तदा णंतरं च णं दोच्चे संघाडए वारवतीए णयरीए उच्च० जाव विसज्जेति, विसज्जेतित्ता तदा णंतरं च णं दोच्चे संघाडए वारवतीए णयरीए उच्चनीच० एवं वयासी-किं णं देवाणुप्पिया ! कण्हस्स वासुदेवस्स इमीसे वारवजीए णयरीए णव जोयणओ० जाव पच्चक्खदेवलोयभूया य समणा निग्गंथा उच्चनीच० जाव अडमाणा भत्तपाणं णो लभंति, तेण ताइं चेव कुलाइं भत्तपाणाए भूओ २ अणुप्पविसंति, तते णं ते अणगारे देवतिं देविं एवं वयासी-णो खलु देवा० ! कण्हस्स वासुदेवस्स इमीसे वारवतीए णयरीए० जाव देवलोयभूयाणं समणा णिग्गंथा उच्चनीच० जाव अडमाणा भत्तपाणं णो लभंति, णो चेव णं ताइं चेव कुलाइ दोच्चं पि तच्चं पि भत्तपाणाए अणुप्पविसंति । एवं खलु देवाणुप्पिया ! अम्ह भद्दलपुरे णगरे णागस्स गाहावतिस्स पुत्ता सुलसाए भारियाए अत्तयाए उभायरो सहोदरा सरिसया० जाव नलकूवरसमाणा अरहो अरिट्ठनेमिस्स अंतिए धम्मं सोच्चा संसारभउव्विग्गा भीया जम्मणमरणाणं मुंडा० जाव पव्वइया, तते णं अम्हे जं चेव दिवसं पव्वतिता तं चेव दिवसं अरहं अरिट्ठनेमि वंदामो, णमंसामो, इमं एतारूवं अभिग्गहओ गेण्हामो, इच्छामो, तुज्झे अब्भणुण्णाया समाणा० जाव अहासुहं, तते णं अम्हे अरहो अरिट्ठनेमिस्स अब्भणुण्णाया समाणा जावजीवए छट्ठं छट्ठेणं० जाव विहरामो, तं अम्हे अज्ज छट्ठक्खमण पारणयंसि पढमाए पोरिसीए स० जाव अडमाणे तव गेहं अणुप्पविट्ठा, ते णो खलु देवाणुप्पिया ! तच्चेव णं अम्हे अम्हेणं अन्ने एवं निंदेति, एवं वदंति, वदंतित्ता जामेव दिसं पाउब्भूया तामेव दिसं पडिगया, तते णं से देवतीए देवीए अयमेयारूवे अब्भत्थीए समुप्पण्णे, एवं खलु अहं पालासपुरे णगरे अतिमुत्तेणं कुमारसमणेणं बालत्तणे वागरिया अम्हं देवाणुप्पिया ! अट्ठपुत्ते पयाइस्स सिरिसए० जाव णलकवरसमाणे णो चेव णं मारहे वासे अणाउअं मयाओ तारिसए पुत्तेयाइ पोस्संति, तं णं मिच्छा इमेणं पच्चक्खमेव दिस्सती मारहे वासे अणाउविअं मयाओ खलु सरिसए०

जाव पुत्ते पयायाओ, तं गच्छामि णं अरहं अरिट्ठनेमिं वंदामि, णमंसामि इमं च णं एयारूवं वागरेणं पुच्छिस्सामि त्ति कट्टु एवं संपेहेति, संपेहेतित्ता कोडुं वियपुरिसे सद्दावेति, सद्दा वेमित्ता एवं वयासी हुकरणजाणपवरं० जाव उवट्ठवेति, जहा देवाणंदाए० जाव पज्जुवासति, तं अरहा अरिट्ठनेमी देवइं देविं एवं वयासी—से णूणं तव देवई इमे छ अणगारे पासंति, अयं अब्भत्थिअं ४। एवं खलु अहं पालसपुरे णयरे अतिमुत्तेणं तं चेव० जाव णिग्गच्छित्ता जेणेव ममे अंतिए तेणेव हव्वमागया, से णूणं देवई अत्थे समत्थे। हंता अत्थि। एवं खलु देवाणुप्पिए! तेणं कालेणं तेणं समएणं भद्दलपुरे णगरे णागे णामं माहावती परिवसइ, अड्ढे तस्स णं णागस्स गाहावती सुलसा णामं भारिया होत्था। तं सा सुलसा गाहावती वालत्तेण चेव निमित्तिएणं वागरिया, एस णं दारियाणि दुमविस्सति, तते णं सा सुलसा वालप्पमिति चेव हरिणेगमेसिं देवमत्ती यावि होत्था, हरिणेगमेसिस्स देवस्स पणामं करेति, करेतित्ता कल्लाकल्लिं ण्हाया० जाव पायच्छित्ता उल्लनपडसाडया महरिहं पुप्फच्चणं करेति, जाणुपायपडिया पणामं करेति, करेतित्ता ततो पच्छा आहारं ति वा णीहारं ति वा करेइ, करेतित्ता तेणं तीसे सुलसाए गाहावइणीए भत्तिबहुमाणसुस्सूसाए हरिणेगमेसि देवे आराहिए यावि होत्था। तते णं से हरिणेगमेसी देवे सुलसाए गाहावतिणीए अणुकंपणट्ठाए सुलसं गाहावइणी तुमं च णं दोण्णि वि सममेव सगब्भयाओ करेति, तते णं तुज्झे दो वि सममेव गब्भे गिण्हेह, गिह्लेहइत्ता सममेव गब्भे परिवहह, सममेव दारए पयाया, तते णं सा सुलसा गाहावइणी विणिहायमावण्णे दारए पयावित्ति, तते णं से हरिणेगमेसी देवे सुलसाए गाहावइणीए अणुकंपणट्ठाए विणिहायमाणे दारए करयलसुपुठं गेण्हइ, गेह्लइत्ता तव अंतियं साहरए, साहरएत्ता तं समयं च णं तुमं पि णवण्हं मासाणं सुकुमालदारए पसवसि, जे वि अ णं देवाणुप्पियाए! तव पुत्ता ते वि य तव अंतियातो करयलपुडेणं गेण्हंति, गेण्हइत्ता सुलसाए गाहावइणीए अंतिए साहरइ, तव चेव णं देवतीए ते पुत्ता नो सुलसाए गाहावइणीए पुत्ता, तते णं सा देवई देवी अरहओ अरिट्ठनेमिस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठ० जाव हियया अरहं अरिट्ठनेमिं वंदति, नमंसति, नमंसइत्ता जेणेव ते छ अणागारा तेणेव उवागच्छति, उवागच्छइत्ता ते छप्पि य अणगाराणं वंदति, नमंसति, नमंसइत्ता आगयपह्लेया पप्फुल्ललोयणा कंचुयपडिक्खित्तिया दरितवलियवाहा धाराहतकलंवपुप्फगं पिव समुसियरोमकूवा ते छप्पि य अण्णगारा अणिमिसाए दिट्ठिए पेहमाणा, पेहमाणित्ता सुचिरं निरिक्खति, निरिक्खइत्ता वंदति, नमंसति, नमंसइत्ता जेणेव अरहा अरिट्ठनेमिस्स तेणेव उवागच्छति, उवागच्छतित्ता अरहं अरिट्ठनेमिं तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेति, करेतित्ता वंदति, णमंसति, तमेव धम्मियजाणपवरं ओरुहति, ओरुहतित्ता जेणेव वारवती णगरी तेणेव उवागच्छति, उवागच्छइत्ता वारवतिं णयरिं अणुप्पविसंति, अणुप्पविसतित्ता जेणेव सए गिहे जेणेव वा हरिया उवट्ठाण साला तेणेव उवागता, धम्मियाओ जाणपवराओ पच्चोरुहति, पच्चोरुहतित्ता जेणेव सए वासघरए जेणेव सयणिज्जे तेणेव उवागच्छति, उवागच्छतित्ता सयंसि सयणिज्जंसि नीसियंति, तीसे णं तते देवतीय देवीए अयं अब्भत्थिते ४ समुप्पण्णे एवं खलु अहं सरिसए० जाव णलकूवरसमाणे सत्तपुत्ते पयाया, नो चेव णं मए एगस्स वि वालत्तणए समुब्भूए, एस वि य णं कण्हे वासुदेवे छण्हं २ मासाणं मम अतीयं पायं वंदति, हव्वमागच्छति, ते धण्णाओ णं ताओ अम्मा० ४ जी से मण्णे णियगुच्छिसंभूयाइ थणदुद्धलुद्धयाइं महुरसमुल्लावयाइ मम्मयणजंपियाइ थणमूलकक्खदेसभागं अभिसरमाणाइ मुद्धं याति, पुणो य कोमलकमलोवमेहिं हत्थेहिं गिण्हतीओ णं उच्छंगनिवेसियाइं दंति, समुल्लावते सुमहुरे पुणो पुणो मंजुलप्पभाणिते, अह णं अधण्णा अपुण्णा अकयपुण्णा एत्ता एकतरमवि न य ता उवहय० जाव झियायति, इम च णं कण्हे वासुदेवे ण्हाते० जाव विभूसिते देवतीए देवीए पायं वंदति, हव्वामागच्छति, तते णं से कण्हे वासुदेवे देवतिं देविं पासति, उवहत० जाव पासित्ता देवतीए देवीए पायग्गहणं करेति, करेतित्ता देवतिं देविं एवं वयासी—अण्णाया णं अम्मो! तुम्हे ममं पासित्ता हट्ठ० जाव भवह, किं णं अम्मो! अज्ज तुम्हे ओहय० जाव झियायह? तते णं सा देवती देवी कण्हं वासुदेवं एवं वयासी—एवं खलु अहं पुत्ता! सरिसए० जाव नलकूवरसमाणा सत्तपुत्ते पयाया, नो चेव णं मए एगमवि वालत्तणे अणुभूते, तुमं पि य णं पुत्ता ममं छण्हं २ मासाणं अंतियं पायं वंदए, हव्वमागच्छसि, तं धण्णाओ णं ताओ अम्मयाओ० जाव झियामि, तं से कण्हे वासुदेवे देवतिं देविं एवं वयासी ता णं तुब्भे अम्मो! ओहय० जाव झियायह, अह णं तहा वत्तिस्सामि जहा णं ममं सहोदरं कणीयसे भाउए भविस्सति त्ति कट्टु देवतिं देविं ताहिं इट्ठाहिं वग्गेहिं समासासेति, समासासित्ता तओ पडिनिक्खमति, पडिनिक्खमतित्ता जेणेव पोसहसाला तेणेव उवागच्छति, उवागच्छतित्ता जहा अभओ। णवरं हरिणेगमेसिस्स अट्ठमभत्तं पगिण्हति० जाव अंजलिं कट्टु एवं वयासी—अच्छामि णं देवाणुप्पिया! सहोदरं कणीयसं भाउयं विदिण्णं, तते णं हरिणेगमेसी वासुदेवं कण्हं एवं वयासीहोहिति णं देवाणु० तव देवलोयचुए सहोदरए कणीयसे भाउए से णं उम्मुक्क०जाव अणुपत्तो

अरहो अरिट्ठनेमिस्स अंतियं मुंडे० जाव पव्वइस्सति, कण्हं वासुदेवं दोच्चं पि तच्चं पि एवं वयासी–जामेव दिसं पाउब्भूए तामेव दिसं पडिगए, तते णं से कण्हे वासुदेवे पोसहसालातो पडिनिग्गता जेणेव देवती देवी तेणेव उवागच्छति, उवागच्छतित्ता देवतीए देवीए पायग्गहणं करेति, करेतित्ता एवं वयासी–होहिति णं अम्मो ! मम सहोदरे कणीयसे भाउ त्ति कट्टु देवतिं देविं ताहिं इट्ठाहिं० जाव आसासेति, आसासेतित्ता जामेव दिसं पाउब्भूते तामेव दिसं पडिगते ॥

(जइ उक्खेवो त्ति) ''जइ ण भंते ! अंतगडदसाणं तच्चस्स वग्गस सत्तमस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते'' (अट्ठमस्स त्ति) ''अट्ठमस्स णं भंते ! के अट्ठे पण्णत्ते। अट्ठमस्स णं अयमट्ठे पन्नत्ते'' इत्युपक्षेपः। तत 'एवं खलु' इत्यादिनिर्वचनम् (सरिसय त्ति) सदृशाः समानाः (सरितय त्ति) सदृग्वचः। (सरिवय त्ति) सदृग्वयसः, नीलोत्पलगवलगुलिकाऽतसीकुसुमप्रकाशाः, गवलं माहिषं शृङ्गम्, अतसी धान्यविशेषः, श्रीवत्साङ्कितवक्षसः (कुसुमकुंडुलय त्ति) कुसुमकुन्दुलं हृत्पूरकपुष्पसमानाकृतिकर्णाभरणं, तेन भद्रकाः शोभना ये ते तथा, बालावस्थाश्रयं विशेषणं न पुनरगारावस्थाश्रयमिदमित्येके । अन्ये पुनराहुःदर्भकुसुमवद्भद्राः सुकुमाकारा इत्यर्थः। तत्त्वं तु बहुश्रुतगम्यम् । नलकूवरसमाना वैश्रवणपुत्रतुल्याः, इदं च लोकरूढ्या व्यख्यातं, यतो देवानां पुत्रा न सन्ति। (जं चेव दिवसं) यत्रैव दिवसे मुण्डो भूत्वा अगारात् अनागारितां प्रव्रजिताः (तं चेव दिवसं ति) तत्रैव दिवसे (कुलाइं ति) गृहाणि (भुज्जो २ ति) भूयो भूयः, पुनःपुनरित्यर्थः (लघुकरणेत्ति) लघुकरणेत्यादिवर्णकयुक्तं यानप्रवरमुपस्थापयन्ति । (जहा देवाणंदाए त्ति) भगवत्यभिहिता यथा देवानन्दा भगवन्महावीरपथाममाता गता तथेयमपि भणनीया (निंदु त्ति) मृतप्रसविनी, ते यत्र षडप्यनगाराः तत्रोपागच्छति, तांश्च सा वन्दत (आगायपण्हय त्ति) आगतप्रस्रवा पुत्रस्नेहेन स्तनागतस्तन्या (पप्फुल्ललोयण त्ति) प्रफुल्ले आनन्दजलेन लोचने यस्याः सा तथा (कंचुकपरिक्खितय त्ति) परिक्षिप्तो विक्षिप्तो, विस्तारित इत्यर्थः। कञ्चुको वारवाणः हर्षातिरेकस्थूलीभूतशरीरतया यया सा तथा। (दरियवलयवाहि त्ति) दीर्घवलयौ हर्षरोमाञ्चस्थूलत्वात् स्फुटितकटकौ बाहुभुजौ यस्याः सा प्राकृतत्वेन ''दरियवलयवाहा'' (धाराहयकलंवपुप्फगं पि व समुसरियरोमकूवा) धराभिर्मेघजलधाराभिराहतम् यत् कदंम्बपुष्पं तदिव समुच्छ्रितानि रोमाणि कूपकेषु यस्याः सा तथा (अयमब्भत्थिए त्ति) इहैवं दृश्यम् (अयमेयारूवे अब्भत्थिए चिंतिते पत्थिते मणोगए संकप्पे समुप्पज्जिया) तत्रायमेतत्रूप अभ्यर्थितः चिन्तितः स्मरणरूपः प्रार्थितोऽभिलाषरूपी मनोगतो मनोविकाररूपः संकल्पो विकल्पः समुत्पन्नः। ''धन्नाओ णं ताओ'' इत्यादि । धन्या धनमर्हन्ति लप्स्यन्ते वा यास्ता धन्याः ता इति यासामित्यपेक्षया अम्बाः स्त्रियः पुण्या पवित्राः कृतपुण्याः कृतसुकृताः कृतार्थाः कृतप्रयोजनाः कृमलक्षणाः सफलीकृतलक्षणाः (जासिं ति) यासां मन्ये इतितबितकार्थो निपातः, निजकुक्षिसंभूतानि डिम्भारूपाणीत्यर्थः। स्तनदुग्धे लुब्धानि यानि तानि तथा, मधुराः समुल्लापाः येषां तानि तथा, मन्मनमव्यक्तमीषत् संवलितं प्रजल्पितं येषां तानि तथा, स्तनमूला तकक्षादेशभागमभिसरन्ति, मुग्धकान्यव्यक्तविज्ञातानि भवन्तीति गम्यजे । पुनश्च कोमलकमलोपमाभ्यां हस्ताभ्यां गृहीत्वा उत्सङ्गनिवेशितानि सन्ति ददति समुल्लापकान् सुमधुरान् पुनः पुनः मञ्जुलप्रभाणितान् मञ्जुलं मधुरं प्रभाणिते भणितिः येषु ते तथा तान्, इह सुमधुरानित्यभिधाय यन्मञ्जुलप्रभणितानीत्युक्तं तत् पुनरुक्तमपि न दुष्टं, सम्भ्रमभणितत्वादस्येति । (एत्तो त्ति) विभक्तिपरिणामादेषामुक्तविशेषणवतां डिम्भानां मध्यात् एकतरमपि अन्यतराविशेषणमपि डिम्भं न प्राप्ता इत्युपहतमनःसङ्कल्पा भूमिगतदृष्टिका करतलपर्यस्तितमुखी ध्यायति (तहा वत्तिस्सामि त्ति) वर्तिष्ये (कणियसे त्ति) कनीयान् कनिष्ठो, लघुरित्यर्थः। (जहा अभओ त्ति) यथा प्रथमे ज्ञाते अभयकुमारोऽष्टमं कृतवानेवमयमपीति, नवरं केवलमयं विशेषः–अयं हरिणेगमेषिण आराधनाय अष्टमं कृतवान्, स तु पूर्वसम्मतिकस्य देवस्येति। (वितिण्णं ति) विस्तीर्णं दत्तं, युष्माभिरिति गम्यते। अन्त०४ वर्ग।

तं सा देवई देवी अण्णया कयाइ तंसि तारिसगंसि० जाव सीहं, सुमिणे पासित्ता णं पडिबुद्धा० जाव हट्ठतुट्ठहियया गब्भं परिवहति । तते णं सा देवती देवी णवण्हं मासाणं० जाव सुतमणरत्तावं धुजीवियलक्खारससरसपारिजातकतरुणदिवाकरसमप्पभं सव्वणयणकंतं सुकुमालं० जाव सरूवं गयतालुयसमाणं दारयं पयाया, जमणं जहा मेहकुतमारे० जाव, जम्हाण अम्हं इमे दारए गयतालुयसयाणे तं होऊणं अम्हं एयस्स दारगस्स नामधेज्जे गयसुकुमाले, तते णं ते सदारगस्स अम्मापिअरो नामं कयं गयसुकुमालो त्ति, सेसं जहा मेहे० जाव अलं भोगसमत्थे जाते यावि होत्था। तते णं बारवतीए णयरीए सोमले नामं माहणे परिवसति, अड्ढे रिउव्वेय० जमव सुपरिनिट्ठिते यावि होत्थ, तस्स सोमिलस्स माहणस्स सोमसिरी णामं माहणी होत्था, सुकुमाल० तस्स णं सोमिलस्स धूया सोमसिरीए माहणीए अत्ताया सोमा नामं दारिया होत्था, सुकुमाल० जाव सुरूवा, रूवेण य जोवणेण य० जाव लावण्णेण य उक्किट्ठा उक्किट्ठसरीरे यावि होत्था, तते णं सा सोमा दारिया अण्णया कयाइ ण्हाया० जाव विभूसिया बहुहिं खुज्जाहिं० जाव पक्खिखत्ता सयाओ गिहातो पडिनिक्खमति, पडिनिक्खमतित्ता जेणेव रायमग्गे तेणेव उवागच्छति, उवागच्छतित्ता रायमग्गंसि कणगए उसएणं कीलमाणी २ चिट्ठति, तेणं कालेणं अरहा रिट्ठनेमि समोसढे, परिसा निग्गया, तते णं से कण्हे वासुदेव इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे ण्हाए० जा विभूसिते गयसुकुमालेणं कुमारेणं सद्धिं हत्थिकं धवरगते सकोरंटमल्लदामेणं छत्तेणं धरिज्जमाणेणं सेयवरचामराहिं

उद्घुव्वमाणीहिं वारवतीए णयरीए मज्झं मज्झेण अरहो अरिट्ठनेमिस्स पायवंदए, निग्गच्छमाणे सोमं दारियं पासति, पासतित्ता सोमाए दारियाए रूवेण य जोवणेण य लावण्णेण य० जाव विम्हिए, तए णं कण्हे वासुदेवे कामुंवियपुरिसे सद्दावेत्ति, सद्दावेतित्ता एवं वयासी—गच्छह णं तुज्झे देवाणुप्पिया ! सोमिलं माहणं जाचित्ता सोमदारिया गिण्हह, तं कण्णंऽतेउरंसि पक्खिवह, ततै णं से एसा गय सुकुमालस्स कुमारस्स भारिया भविस्सति, ते कोडुविय० जाव पक्खिवंति, तए णं से कण्हे वासुदेवे वारववतीए नयरीए मज्झं मज्झेणं निग्गच्छति, निग्गच्छतित्ता जेणेव सहसंबवणे० जाव पज्जुवासति, तते णं अरहा अरिट्ठनेमि कण्हस्स वासुदेवस्स गयसुकुमालस्स कुमारस्स तीसे य धम्मकहा कण्णे पडिगते, तते णं से गयसुकुमाले अरहा अरिट्ठनेमिस्स अंतियं धम्मं सोच्चा० जाव णवरं देवाणुप्पिया ! अम्मापियरं आपुच्छति जहा मेहो महोलियावत्थं० जीव वट्टियकुल, तते णं से कण्हे वासुदेवे इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे जेणेव गयसुकुमाले कुमारे तणेव उवागच्छति, उवागच्छतित्ता गयसुकुमालं आलिंगति, उच्छंगं निवेसति, उच्छंगं निवेसतित्ता तुमं देवाणुप्पिया ! इयाणं अरहओ मुंडे० जाव पव्वयाहि, अहे णं तुमे वारवतीए णयरीए महया २ रायाभिसेएणं अभिसिंचिस्सामि, तते णं से गयसुकुमालेणं कण्हेणं वासुदेवेणं एवं वुत्ते समाणे तुसिणीए संचिट्ठति, तं से गयसुकुमाले कण्हे वासुदेवे अम्मापियरो य दोच्चं तच्चं पि एवं त्रयासी एवं खलु देवाणुप्पिए ! माणुसयाकामा खेलासवा पीतासवा० जाव विप्पजहियव्वा भविस्संति, तं इच्छामि णं देवाणुप्पिया ! तुज्झेहिं अब्भणुण्णाए समाणे अरहओ अरिट्ठनेमिस्स अंतिए० जाव पव्वइत्तए, तते णं ते गयसुकुमाले कण्हे वासुदेवस्स अम्मापिअरो य जाहे नो संचाएति, बहुयाहिं अणुलोमाहिं० जाव आघवित्तए वा पण्णवित्तए वा सन्नवित्तए वा ताहे अकामाइं चेव एवं वयासी—तं इच्छामो ए जाया ! एगदिवसमवि रज्जसिरिं पासित्ता ते निक्खमणं जहा महावलस्स० जाव तमाणाते तहा० जाव संजमति। तते णं से गयसुकुमाले कुमारे अणगारे जाते इरियासमिइए० जाव गुत्तवंभचारी, तते णं से गयसुकुमाले जं चेव दिवसं पव्वतिए तस्सेव दिवसस्स पच्चावरण्हं कालसमयंसिजेणेव अरहा अरिट्ठनेमि तेणेव उवागच्छति, उवागच्छतित्ता अरहं अरिट्ठनेतिं तिक्खुत्तो आयहिणपयाहिणं वंदति, णमंसति, इच्छामि णं भंते ! तुज्झेहिं अब्भणुण्णाते समाणे महाकालंसि सुसाणंसि एगराइयं महापडिमं उवसं पज्जित्ता णं विहरति, ते अहासुहं देवाणुप्पिए! तते णं गय० अणगारे अरहा अरिट्ठनेमिस्स अब्भणुण्णाया समाणे अरहं अरिट्ठअनेमिं वंदति, नमंसति, नमंसतित्ता अरहतो अरिट्ठनेमिस्स अंतियाओ सहसंवणाओ उज्जाणातो पडिनिक्खमति, पकडनिक्खमतित्ता जेणेव महोकाले सुसाणे तेणेव उवागच्छति, उवागच्छतित्ता थंडिल्लं पडिलेहेति, उच्चारपासवणभूमिं पडिलेहेति, इसिं पब्भरगतेणं० जाव दो वि पाए साहट्टु एगराइयं महापणिमं उवसंपज्जित्तस णं विहारति, इमं च णं सेमिले माहणे सामिधेयस्स अट्ठाए वारवतीओ नगरीओ वहिया पुव्वं निग्गते समिहाओ य दब्भे य कुसे य पत्तामोमं च गेण्हति, गेण्हमित्ता तओ पडिनियत्तइ, पडिनियत्तइत्ता महाकालस्स सुसाणस्स अदूरसामंते णं वीयीवयमाणे २ संझाकालसमयंसि पविरलमणुस्संसि गयसुकुमालं अणगारं पासति, पासतित्ता तं वयरंसरति, सरतित्ता आसुराते एवं वयासी एस णं भो गयसुकुमाले कुमारे ! अपत्थिए० जाव परिवज्जिते जेण ममं धूअं सोमसिरीए भारियाए अत्तए सोमं दारियं अदिट्ठदोसपतितं कलावत्तिणिं विप्पजहित्ता मुण्डे० जाव पव्वाए तं सयं खलु ममं गयसुकुमालस्स कुमारस्स वरणिज्जा तण्णं करेतते एवं संपेहति, संपेहतित्ता दिसापडिलेहणं करेति, करेतित्ता सरसं मट्टियं गिण्हति, जेणेव गयसुकुमाले अणगारे तेणेव उवागच्छति, गयसुकुमालस्स अणगारस्स मत्थए मट्टियापालि वहति, वहतित्ता जिलंती नो चिय गाऊ फुल्लियकिंसुयसमाणे खयरंगारे कमल्लेणं गेण्हति, गेण्हतित्ता गयसुकुमालस्स अणगारस्स मत्थए पक्खिवति, पक्खिवतित्ता भीहते ४ ततो खिप्पमेव अवक्कमति, अवक्कमतित्ता जामेव दिसं पाउब्भूते तामेव दिसं पडिगए, तते णं से गयसुकुमालस्स अणगारस्स सरीरगंसि वेयणा पाउब्भूया उज्जला० जावदुरहियासा तं से गये अणगारे सोमिलस्स माहणस्स मणसा वि अप्पदुस्समाणे तं उज्जलं० जाव दुरुअहियासेति, तते णं से गयसुकुमाले अणगारे तं उज्जलं० जाव अहियासेति, सुभेणं परिणामेणं पसत्थअज्झवंसाणेणं तयावरणिज्जाण कम्माणं कम्मरविकिरणकरं अपुव्वकरणं अणुप्पविट्ठस्स अणंते अणुत्तरे० जाव केवलवरणाणदसणे समुप्पन्ने, तओ पच्छा सिद्धे० जाव सव्वदुक्खपहीणे तत्थ णं अहासन्निहं तेहिं देवेहिं समं आराहित त्ति कट्टु दिव्वे सुरभिगंधोदए वट्ठे दसद्धवणे कुसुमे निवामिते चेलुक्खे वेकते दिव्वे गीयं गंधव्वानिनाए यावि होत्था। तते णं से कण्हे वासुदेवे कल्लं पाउप्पभाए० जाव जलंते ण्हाए० जाव विभूसिते हत्थिखंधवरगते सकोरंटमल्लदामेणं छत्तेणं धरिज्जमाणे

सेयवरचमाराहिं उद्धुवमाणीहिं २ महया भडचडगपहकरचंद-परिक्खत्ते वारवतिं नगरिं मज्झं मज्झेणं जेणेव अरहा अरिट्ठनेमि तेणेव पहा रथगमणाए, तते णं से कण्हे वासुदेवे वारवतीए नगरीए मज्झं मज्झेणं निजेणं निग्गच्छमाणे एगं पुरिसं पासति जुण्णं जराजज्जरियदेहं० जाव किलेतं महइमहालयाओ अट्ठगरासीओ एगमेगं इट्ठगं गहाय वहिया रत्थापहातो अंतोगिहं अणुप्पविसेमाणं पासति, पासतित्ता तं से कण्हे वासुदेवे तस्स पुरिसस्स अणुकंपणट्ठाए हत्थिखंधवरगते चेव एगं इट्ठगं गेण्हति, गेण्हतित्ता वहिया रत्थपहाओ अंतोगिहं अणुपविसति, तते णं कण्हेण वासुदेवेण एगाए इट्ठगाए गहियाए समाणीए अणेगेहिं पुरिसएहिं से महालते इट्ठरासिं वहिया रत्थपहातो अंतोघरसिं अणुप्पविसिए, ततेणं से कण्हे वासुदेवे वारवतीए नयरीए मज्झं मज्झेणं निग्गच्छति, निगच्छहतित्ता जेणेव अरहा अरिट्ठनेमि तेणेव उवागच्छति, उवागच्छतित्ता० जाव वंदति, नमंसति, नमंसतित्ता गयसुकुमालं अणगारं अण्णेसमाणे अरहं अरिट्ठनेमिं वंदति, नमंसति, एवं वयासी–कहि णं भंते ! से ममं महोदरे कणीयसे भाया गजसुकुमाले अणगारे, जं णं अहं वंदामि, नमंसमि, तते णं अरहा अरिट्ठनेमी कण्हं वासु देवं एवं वयासी–साहिते णं कण्हा ! गयसुकुमालेणं अणगारेणं अप्पणो अट्ठो, तते णं से कण्हे वासुदेवे अरहं अरिट्ठनेमिं एवं वयासी–कह णं भंते ! गयसुकुमाले अणगारेणं साहितो अप्पणो अट्ठो ? तते णं अरहा अरिट्ठनेमि केण्हं वासुदेवं० एवं खलु कण्हा ! गयसुकुमालेणं अणगारेणं मम कल्लं पच्चावरण्हकालसमयंसि वंदति, नमंसति, नमंसतित्ता एवं वयासी–इच्छा० जाव उवसंपज्जित्ता णं विहरति, तते णं तं गयसुकुमालं अणगारं एगे पुरिसे पासति, पासतित्ता आसुरुत्ते०जाव सिद्धे; तं एवं खलु कण्हा ! गयसुकुमालेणं अणगारेणं साहितो अप्पणो अट्ठो; तते णं से कण्हे वासुदेवे अरहं अरिट्ठनेमिं एवं वयासी–से केणं भंते ! से पुरिसे अप्पत्थिय० जाव परिवज्जेते, जेणं ममं सहोदरं कणीयसं भायं गयसुकुमालं अणगारं अकाले चेव जीवियाओ ववरोविति, तते णं अरहा अरिट्ठनेमि कण्हं वासुदेवं एवं वयासी–मा णं कण्हा ! तुमं तस्स पुरिसस्स पदोसमापज्जाहि, एवं खलु कण्हा ! तेणं पुरिसेणं गयसुकुमालस्स अणगारस्स साहिज्जे दिण्णे। कहं णं भंते ! तेणं पुरिसेणं गयसुकुमालस्स साहिज्जे दिण्णे ? तं अरहा अरिट्ठनेमी कण्हं वासुदेवं एवं वयासी –से णूणं कण्हा ! तुमं ममं पायं वंदिउं हव्वमागच्छमाणे वारवईए णयरीए एगं पुरिसं पासति० जाव अणुप्पविसति, जहा णं कण्हा ! तुमे तस्स पुरिस्स साहज्जे दिण्णे एवामेव कण्हा ! तेणं पुरिसेणं गयसुकुमालस्स अणगारस्स अणेगम्वसयसहस्स संचियं कम्मं उदीरमाणे बहुकम्मणिज्जरत्थं साहज्जे दिण्णे। तते णं से कण्हे वासुदेवे अरहं अरिट्ठनेमिं एवं वयासीसे णं भंते ! पुरिसे मए हिं जाणियव्वे ? तए णं अरहा अरिट्ठनेमि सकण्हं वासुदेवं एवं वयासी–जया णं कण्हा ! तुमं वारवतीए ण्यरीए अणुपविसमाणे पासित्ता ठितए चेव ठितिभेएणं कालं करिस्सइ, तंभे तुमं जाणेज्जासि, एस णं पुरिसे तते णं से कण्हे वासुदेवे अरहं अरिट्ठनेमिं वंदति, नमंसति, जेणेव आभिसेयं हत्थिरयणं तेणेव उवागते, हत्थिं ओरुहति, ओरुहतित्ता जेणेव वारवती णयरी जेणेव सए गिहे तेणेव पहारत्थगमणाते तं तस्स सोमलस्स माहणस्स कल्लं जाव जलंते अयमेयारूवे अज्झत्थिते ४ समुप्पण्णे। एवं खलु कण्हे वासुदेवे अरहं अरिट्ठनेमिं पायं वंदते निग्गए, तं णायमेयं अरहा, विण्णायमेयं अरहा, सुतमेयं अरहा, सिद्धमेयं अरहा भविस्सति, कण्हस्स वासुदेवस्स तं न नज्जति णं कण्हे वासुदेवे ममं केण वि कुमारेणं मारिस्सति ति कट्टु भीतो ४ सयातो गिहातो पडिनिक्खमति, पडिनिक्खमतित्ता कण्हस्स वासुदेवस्स वारवर्ति णयरिं अणुपविस्समाणस्स पुरतो सियपक्खि सपडिदिसिं हव्वमागते, तते णं से सोमले माहणे कण्ह वासुदेव सहसा पासित्ता भीता ४ ठितिए चेव ठितिभेदेण कालं करेति, धरणितलंसि सव्वंगेहिं धसति सन्निवडिते। तते णं से कण्हे वासुदेवे सोमलं माहणं पासति, पासतित्ता एवं वयासी–एस णं भो देवाणुप्पिया ! सोमले माहणे अपत्थियपत्थिते० जाव परिवज्जिते, जेणं ममं सहोदरे कणीयसे भायागयसुकुमाले अणगारे अकाले चेव जीविताओ ववरोविउ त्ति कट्टु सोमिलं माहणं पाणेहिं कड्ढावेति, तं भूमिपाणएणं अब्भुक्खावेति, जेणेव सए गेहे तेणेव उवागच्छति, उवागच्छतित्ता सयं गेहं अणुप्पविट्ठे।एवं खलु जंबू ! तेणं कालेण तेणं समएणं वारवतीए नगरीए जहा पढमए० जाव विहरति।

''तंसि तारिसयंसि''इत्यादौ यावत्करणात् शयनसिंहस्य वर्णकौ साद्यन्तौ (सुमिणे पासित्ता णं पडिबुद्ध० जाव इति) इतो यावत्करणात् दृष्टतुष्टा स्वप्नावग्रहं करोति, शयनीयात् पादपीठावरोहति, राज्ञं निवेदयति। स तु पुत्रजन्म तत्फलमादिशति 'पाठग त्ति' स्वप्नपाठकश-कुनिकानाकारयति, तेऽपि तदेवाऽऽदिशन्ति, ततो राज्ञी तदादिष्टमुपश्रुत्य (परिवहइ त्ति) सुखं सुखेन गर्भं परिवहतीति द्रष्टव्यमिति। (जवसुमिणेत्यादि) जपा वनस्पतिविशेषः, तस्य सुमनसः पुष्पाणि, रक्तबन्धुजीवकं लोहितबन्धुकं, तद्धि पञ्चवर्णमपि भवतीति रक्तग्रहणम्, लाक्षारसो यावकरसः, सरसपारिजातकम्, अम्लानसुरद्रुमविशेषकुसुमं, तरुणदिवाकर उदयद्दिनकरः, एतैः समा एतत्प्रभातुल्येत्यर्थः; प्रभा वर्णो यस्य स तथा, रक्त इत्यर्थः। तं सर्वस्य जनस्य नयनानां कान्तः कमनायोऽभिलशणीय इत्यर्थः। सर्वनयनकान्तस्तं (सुकुमाल त्ति) 'सुकुमालपाणिपायमित्यादि' वर्णको दृश्यः यावत् सुरूपमिति। (गयतालुयमानं) कोमलत्वरक्तवाभ्यां (रिउव्वेय इत्यादि) ऋग्वेद–

यजुर्वेद–सामवेदा–थर्वणवेदानां साङ्गोपाङ्गानां सारको धारकः, पारग इत्यादिवर्णको यावत्करणाद् दृश्यः । ''वहुहिं'' इत्यत्र बहीभिः कुब्जिकाभिः, यावत्करणावद् वामनकाभिः चेटिकाभिः परिक्षिप्ता इत्यादिवर्णको दृश्यः ।(जहा मेहो महोलियावच्छं ति) यथा प्रथमे ज्ञाते मेघकुमारो मालां पिधयत्युरस्येवमयमपि, केवलं तत्र मात्रा तं प्रतीदमुक्तम्, एतास्तव भार्याः सदृग्वयस्यः सदृशराजकुलेभ्यः तावदेताभिः सार्द्धं विषययसुखमित्यादि तदिह न वक्तव्यम् अपरिणीतत्वात् । तस्य कियद् वक्तव्यं हि (जाव वड्ढियकुल त्ति) त्वं जातोऽस्माकमिष्टः पुत्रो नेच्छामस्त्वया वियोगं सोढुं, ततोऽतुलान् भुङ्क्ष्व भोगान् यावद्वयं जीवाम इत्यत आरभ्य यावदस्मासु दिवं गतेसु परिणतवयाः वर्द्धिते कुलवंशे तं कुकार्ये निरपेक्षः सन् प्रव्रजिष्यतीति (खेलासवा) इह यावत्करणात् 'सुक्कासवा सोणिंयासवा' यावत् अवश्यं विग्रहातव्यः । (आघवित्तए त्ति) आख्यातुं, भणितुमित्यर्थः। (निक्खमणं जहा महाबलस्य त्ति) यथा भगवत्यां महाबलस्य निष्क्रमणं राज्याभिषेकशिविकारोहणादिपूर्वकमुक्तमेवमस्यापि वाच्यम् । किमित्याह (जाव मताणाए तहा जाव संजमइ त्ति) तस्य प्रव्रजित्स किल भगवान् एपदिशति स्म ''एवं देवाणुप्पिया ! चिट्ठियव्वं निसीयव्वं कुयट्टियव्वं भुंजियव्वं भसियव्वं एवं उट्ठाए उहाए पाणेहिं भूएहिं जीवेहिं सत्तेहिं संजमेणं संजमियव्वं अस्सिं च णं अट्ठे नो पमायेव्वं, तए णं से गयसुयमाले अणगारेभगवत अरहंतअरिट्ठनेमिस्स अंतिए इमं एयारूवं धम्मियं उवएयं सम्मं पडिच्छए, पडिच्छमाणाए तह गच्छइ, तह चिट्ठइ, तहनिसीयइ, तह कयट्टइ, तह भुंजइ, तह भासइ, तह उहाए पाणेहिं ४ संजमेणं संजमइ त्ति जं चेव दिवसं पव्वइए'' इत्यादि गजसुकुमारमुनेः प्रतिमा-प्रतिपत्तिरभिधीयते, तत्यर्वज्ञेनाऽरिष्टनेमिना उपदिष्टत्वाद-विरुद्धम्, इतरथा प्रतिमाप्रतितपत्तावयं न्यायो यथा–''पडिवज्झइ ण्याओ संघयणधिइजुओ महासुत्तो पडिमाओ भावियऽप्पासम गुरुणा अणुण्णओ गच्छे चिय निम्माओ ५ जा पुव्वा दसभवे असंपुण्णे नवमस्स तइ बत्थुं होइ जहण्णे सुयाभिगमो त्ति'' (ईसिं पब्भारगतेणं ति) ईषद् वनसेन, यावत्तिकरणात् एतत् द्रष्टव्यम्–''वग्घारियपाणी'' प्रलम्बभुज इत्यर्थः। ''अणिमिसणयणे सुक्खपोग्गलनिवद्धदिट्ठी'' (सामिधेयस्स ति) समिति (समिहाओ त्ति) इन्धनभूयः काष्ठिकाः (दब्भे त्ति) समूलान् दर्भान् (कुसेति) दर्भाग्राणीति (पत्तामोडयं च त्ति) शाखशाखशिखा-मोटितपत्राणि, देवताऽर्चनार्थानीत्यर्थः। (अदिट्ठदोसपइयं ति)दृष्टो दोषः चौर्यादिः यस्याः सा तथा सा चासौ पतिता च जात्यादेर्बहिष्कृता इति दृष्टदोषपतिता, न तथेत्यदृष्टदोषपतिता । अथा वा न दृष्टदोषे एतत्यदृष्टदोषपतिती (कासलवत्तिणि त्ति) काले भोगकाले यौवने वर्तत इति कालवर्तिनी (विप्पजहित्ता) विप्रहाय (फुल्लियकिंसुयसमाणेति) विकसितपलासकुसुमसमान्, रक्तानित्यर्थः। खादिराङ्गारान् खदिरदारुविकारभूतानङ्गारान् (कभल्लेणं ति) 'कप्पउज्झला' इत्यत्र यावत्करणात् बहव एकार्थाः, विपुलास्तीव्राः, चण्डा प्रगाढाः । 'बढी कर्कशा इत्येवं लक्षणा द्रष्टव्याः । (अप्पाद्दुस्समाणे त्ति) अप्रद्विषन्, प्रद्वेषमगच्छन्नित्यर्थः । (कम्मरयविकिरणकरं) कर्मरजोवियोजकम् (अपुव्वकरणं ति)उष्टमगुणस्थानकम् (अणंते) इह यावत्करणादिदं दृश्यम्–''अणुत्तरे निव्वाघाए निरावरणे कसिणे पडिपुण्णे त्ति'' सिद्धे इह यावत् करणात् ''बुद्धे मुत्ते परिनिव्वुए त्ति'' दृश्यम्। (गीतं गंधवनिनाए त्ति) गीतं सामान्यं, गन्धर्वं तु मुदङ्गादिनाद संमिश्रा मिति । (भडचडगपहगरवंदपरिक्खित्ते) भटानां ये चटकरप्रकरा विस्तारव-त्समूहास्तेषां यद्वृन्दं तेन परिक्षिप्तः (पहा रथगमणाए त्ति) गमनाय संप्रधारितवानित्यर्थः । (जुण्णं) इह यावत् करणात् (जराजज्जरियदेहं आउरं झुसियं) बुभुक्षितमित्यर्थः। 'पिवासियं दुव्वलं ति' द्रष्टव्यमिति। (महइमहालयाउ त्ति) महन् महत इष्टिकाराशेः सकाशात् (बहुकम्मनिज्जरत्थं साहिज्जे दिन्ने ति) प्रतितम् (ठितिभेएणं ति) अरायुःक्षयेण भयादध्यवसानोपक्रमेणेत्यर्थः। (तन्नायमेयं अरहय ति) तदेवं ज्ञातं सामान्येन् एतद् गजसुकुमारमरणमर्हता जिनेन (सुयमेयं ति) स्मृतं पूर्वकाले ज्ञातं सत् कथनावसरे समृतं भविष्यति, विज्ञातं विशेषतः सोमिलेनैवभिप्रायेण कृतमेतदित्येवमिति शिटं कृष्णवासुदेवाय प्रतिपादितं भविष्यतीति (सियपक्खिं सपडिदिसं ति) सितपक्षं समानपार्श्वं सममेवेतरपार्श्वतया सप्रतिदिक् समानप्रतिदिक्तया अन्यर्थमभिमुख इत्यर्थः। अभिमुखागमने हि परस्परं समावेव दक्षिणवामपार्श्वौः भवतः। एवं विदिशावतीति ''एवं खलु जंबू! समणेणं० जाव भगवया संपत्तेणं अट्ठमस्स अंगस्स अंतगडदसाणं तच्चस्स वयस्स अट्ठमस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते ति बेमीति'' निगममनम्। अन्त०२ वर्ग। संथा०। आ०म०। आ०चू०। आ०क०।

गया स्त्री०(गदा) धातुपाषाणमयगोलकाग्रके लकुटविशेषे, स०। प्रश्न०। प्रहरणविशेषे, रा०। ज्ञा०। वासुदेवादीनां कौमोदकी नाम गदा। प्रव०२१५ द्वार। पाटलवृक्षे, वाच०।

गया स्त्री०। गयोगयाऽसुरो गयनृपो वा कारणत्वेनास्त्यस्या अच्। पिण्डदानमुख्यतीर्थे, वाच०।

गयाणीय न०। कुञ्जरकटके, उत्त०१८ अ०।

गयाणुगामि (ण्) त्रि०(गतानुगामिन्) गतमनुगच्छति, दर्श०।

गयादिओसरण न०(गजाद्यपसरण) प्रयत्नविशेषलक्षणे गजाश्वशिविका-प्रभृतिभ्यो देवावग्रहगमनप्रवणेभ्योऽवरतरणे, पञ्चा०१२ विव०।

गयारोहणसिक्खा स्त्री०(गजारोहणशिक्षा)हस्त्यारोहणाभ्यासलक्षणे कलाभेदे, स०।

गयावाय त्रि०(गतापाय) अपायरहिते, निरपाये, षो०११ विव०।

गयाहर पुं०(गदाधर) कौमोदक्या गदाया धारके वासुदेवे, उत्त० ११ अ०।

गर पुं०(गर) गरयत्याहारं स्तम्भयति कार्मणं वा गरः । ओघ०। कुद्रव्यसंयोगजे विषविशेषे, यो० बिं०। ''अणेगाणं उवविसदव्वाणं णिगरो अकालघायगो गरो भणति'' नि०चू०१ उ०। अनुष्ठानभेदे, द्वा०।

दिव्याभोगाऽभिलाषेण, गरः कालान्तरे क्षयात् ॥१२॥

दिव्यभोगस्याभिलाषः ऐहिकभोगनिरपेक्षस्य सतः स्वर्गसु-खवाञ्छालक्षणः, तेनानुष्ठानं गर उच्यते, कालान्तरे भवान्त-रलक्षणे क्षयाद्रोगात् पुण्यनाशेनाऽनर्थसंपादनात् । गरो हि

कुद्रव्यसंयोगजो विषविशेषः, तस्य च कालान्तरे विषतधिकारः प्रादुर्भवतीति उभयापेक्षाजनितमतिरिच्यते नोभयापेक्षायामप्यधिकस्य बलवत्त्वादिति संभावयामः । द्वा०१३ द्वा० यो० वि० बवादिकरणानामन्यतमे, जं०७ वक्ष० उत्त० विशे० । आ० म० आ०चू० सूत्र० रोगे, दूष्ये, निगरणे च । वाच०

गरलिगावद्ध त्रि०(गरलिकाबद्ध)निक्षिप्ते, नि०चू०१ उ०।

गरहंत त्रि०(गर्हमाण) निन्दति, सूत्र०१ श्रु०१ अ०२ उ०।

गरहणया स्त्री०(गर्हणा) परसमक्षमात्मदोषोद्भावने, भ०१७ श०३ उ०। अपरलोकानां पुरतः स्वदोषप्रकाशने, उत्त०।

गरहणयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ? गरहणयाए अपुरेकारं जणयइ, अपुरेकारगए णं जीवे अप्पसत्थेहिंतो जोगेहिंतो नियत्तेइ, पसत्थे य पडिवइज्जइ, पसत्थजोगपडिवन्ने य णं अणगारे अणंतघाइपज्जवे खवेइ ॥७॥ सामायिएणं भंते ! जीवे किं जणयइ? सामायिएणं सावज्जजोगविरइं जणयइ ॥८॥ चउव्वीसत्थएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?चउवीसत्थएणं दंसणविसोहिं जणयइ ॥९॥ वंदएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? वंदणएणं नीयगोयं कम्मं खवेइ, उच्चागोयं कम्मं निबंधइ, सोहग्गं च णं अपमिहयं आणाफलं निव्वत्तेइ, दाहिणभावं च णं जणयइ ॥१०॥ पडिक्कमणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? पडिक्कमणेणं चयच्छिद्दाणि पिहेइ, पिहियच्छिद्दे पुण जीवे निरुद्धासवे असबलचरित्ते अट्ठसु पवयणमायासु उवउत्ते अपुहत्ते सुप्पणिहिए विहरइ ॥११॥ काउस्सग्गेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? काउस्सग्गेणं तीयपडुप्पण्णपायच्छित्तं विसोहेइ, विसुद्धपायच्छित्ते य जीवे निव्वुयहियए ओहरियभरो व्वभारवहे पसत्थज्झाणोवगए सुहं सुहेणं विहरइ ॥१२॥ पच्चक्खाणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? पच्चक्खाणेणं आसवदाराइं निरुंभइ, पच्चक्खाणेणं इच्छानिरोहं जणयइ, इच्छानिरोह गए य णं जीवे सव्वदव्वेसु विणीयतण्हे सीयलभूए विहरइ ॥१३॥

कश्चिदात्मनोऽत्यन्तदुष्टतां परिभावयन् न निन्दामात्रेण तिष्ठेत् किन्तु गर्हामपि कुर्यादिति तामाह–(गरिहणयाए त्ति) गर्हणेन परसमक्षमात्मनो दोषोद्भावनेन (अपुरेक्कारं ति) पुरस्करणं पुरस्कारः, गुणवानयमिति गौरवाध्यारोपः, न तथाऽपुरस्कारोऽवज्ञाऽऽस्पत्वं, तं जनयति, आत्मन इति गम्यते । तथा चापुरस्कारं गतः प्राप्तोऽपुरस्कारगतः सर्वत्रावज्ञाऽऽस्पदीभूतो जीवः कदाचित् कदध्यवसायोत्पत्तावपि तद्गतित एवाप्रशस्तेभ्यः कर्मबन्धहेतुभ्यो योगेभ्यो निवर्त्तते, न तान् प्रतिपद्यते, प्रशस्तयोगांस्तु प्रतिपद्यते इति गम्यते । (पसत्थजोगे पडिवन्ने य त्ति) प्रतिपन्नप्रशस्तयोगोऽनगारोऽनन्तविषयतयाऽनन्ते ज्ञानदर्शने हेतुं शीलं येषां तेऽनन्तघातिनस्तान् पर्यवान् प्रस्तावाद् ज्ञानावरणादिकर्मणः, तद्गतित्वलक्षणान् परिणतिविशेषान् क्षपयति क्षयं नयति, पर्यवाभिधानं च तद्रूपतयै वद्रव्यस्य विनाश इति ख्यापनार्थम् । उपलक्षणं चैतत् मुक्तिप्राप्तेः, तदर्थत्वात् सर्वप्रयासस्य, एवमनुक्ताऽपि सर्वत्र मुक्तिप्राप्तिरेव फलत्वेन द्रष्टव्या ॥७॥ आलोचनादीनि सामयिकवत एव तत्त्वतो भवन्तीति भवन्ति उच्यतेसामायिकेनोक्तरूपेण सहावद्येन वर्तते इति सावद्याः कर्मबन्धहेतवो योगा व्यापाराः, तेभ्यो विरतिरुपरमः सावद्ययोगविरतिः, ता जनयति, तद्विरत्या सहितस्यैव सामायिकसंभवात् । न चैवं तुल्यकालत्वेनापनयोः कार्यकारणभावासंभव इति वाच्यम्, केषुचित् तुल्यकालेष्वपि वृक्षच्छायाऽऽदिवत् कार्यकारणभावदर्शनात्, एवं सर्वत्र भावनीयम् ॥८॥ सामायिकं च प्रतिपत्तुकामेन तत्प्रणेतारः स्तोतव्याः । ते च तत्त्वस्तीर्थकृत एवेति तत्स्तवमाह–चतुर्विंशतिस्तवेनैतदवसर्पिणी प्रभवतीर्थकृदुत्कीर्तनात्मकेन दर्शनं सम्यक्त्वं, तस्य विशुद्धिस्तदुपघातिकर्मापगमतो निर्मलीभवनं दर्शनविशुद्धस्तां जनयति ॥९॥ स्तुत्वाऽपि तीर्थकरान् गुरुवन्दनक पूर्विकैव तत्प्रतिपत्तिरिति तदाहवन्दकेनाचार्याद्युचितप्रतिपत्ति रूपेण नीचैर्गोत्रमधमकुलोत्पत्तिनिइन्धनं कर्म क्षपयति । उच्चैर्गोत्र तद्विपरीतरूपं निबध्नाति । सौभाग्यं च सर्वजनस्पृहणीयतारूपमप्रतिहतं सर्वत्राऽप्रतिस्खलितमत एवाज्ञा यथोदितवचन प्रतिरूपा फलं प्रयोजनमस्येत्याज्ञाफलं निर्वर्तयति । तद्वतो हि प्राय आदेयकर्मणोऽप्युदयसंभवादादेयवाक्यताऽपि संभवति । दक्षिणभावं चानुकूलभावं च जनयति, लोकस्येति गम्यते । तन्माहात्म्यतोऽपि सर्वः सर्वावस्थास्वनुकूल एव भवति ॥१०॥एतद् गुणस्थितेनापि मध्यमतीर्थकृतां तीर्थेऽस्खलितसंभवे पूर्वपश्चिमयोस्तु तदभावेऽपि प्रतिक्रमितव्यमिति । प्रतिक्रमणमाह–प्रतिक्रमणेनाऽपराधभ्यः प्रतीपनिवर्तनात्मकेन व्रतानां प्राणातिपातनिवृत्त्यादीनां छिद्राण्यतीचाररूपाणि विवराणि व्रतच्छिद्राणि पिदधाति स्थगयति, अपनयतीति यावत् । तथाविधश्च कं गुणमवाप्नोतीति ? आह–पिहितछिद्रः पुनर्जीवो निरुद्धाश्रवः, सर्वथा हिंसाद्याश्रवाणां निरुद्धत्वात् । अत एवासबलं सबलस्थानैरकर्बुरीकृतं चरित्रं यस्य स तथाऽष्टसु प्रवचनमातृषूक्तरुपासु उपयुक्तोऽवधानवान्, तत एवाविद्यमानं पृथक्त्वं प्रस्तावात् संयमयोगेभ्यो वियुक्तत्वस्वरूपं यस्यासावपृथक्त्वः, सदा संयमयोगवान् अप्रमत्तो वा, पाठान्तराच्चथा सुप्रणिहितः सुष्ठु संयमे प्रणिधानवान्, पाठान्तरतो वा सुष्ठु प्रणिहितान्यसन्मार्गात् प्रच्याव्य सन्मार्गे व्यवस्थापितानीन्द्रियाण्यनेनेति सुप्रणिहितेन्द्रियो विहरति संयमाध्वनि याति ॥११॥ अत्र चातीचारशुद्धिनिमित्तं कायोत्सर्गः कर्तव्य इति । तमाह–कायः शरीरं, तस्योत्सर्ग आगमोक्तनीत्या परित्यागः कायोत्सर्गः, तेनातीतं चेह चिरकालभावित्वेन प्रत्युत्पन्नमिव प्रत्युत्पन्नं चासन्नकालभावितयाऽतीतप्रत्युत्पन्नं प्रायश्चित्तमुपचारात् प्रायश्चित्ता-र्हमतीचारं विशोधयति । तदुपार्जितपापाऽपनयतोपनयति, विशुद्धप्राय-श्चित्तश्च जीवो निर्वृतं स्वस्थीकृतं हृदयमन्तःकरणमस्येति निर्वृतहृदयः; क इव (ओहरिय त्ति) अपहृत्योपसारितो भर इति भारो यस्मात्स तथा इवेति भिन्नक्रमः । ततो भारं वहतीति मूलविभुजादेराकृतिगणत्वात् कप्रत्यये भरवहो वाहीकादिः, स इव । भारप्राया हि अतीचाराः, ततः तदपनयने अपहृतभरभारवह इव निवृतहृदयो भवतीति भावार्थः। स च ध्यानं धर्माद्युपगतः प्राप्तो

धर्मध्यानोपगतः, पाठान्तरतः प्रशस्तध्यानध्यायी सुखं सुखेन सुखपरम्परावप्त्याप्तया विहरति इहपरलोकयोरवतिष्ठते, इहैव जीवन्मुक्तावाप्तेरिति भावः ॥१२॥ एवमप्यशुद्ध्यमाने प्रत्याख्यानं विधेयमिति तदाह–(पच्चक्खाणेणं ति) ॥१३॥ उत्त०२ अ०।

गरहणिज्ज त्रि०(गर्हणीय) निन्दनीये, प्रश्न०२ आश्र० द्वार।

गरहितए अव्य०(गर्हितुम्) गुरुसमक्षमतीचारान् जुगुप्सितुमित्यर्थे, स्था०२ ठा०३ उ०।

गरहित्ता अव्य०(गर्हित्वा) समक्षं निन्दित्वेत्यर्थे, आचा०३ चू०।

गरहिय त्रि०(गर्हित) निन्दिते, दश०६ अ० सूत्र०। कुत्साऽऽस्पदे, पं०सू०१ सूत्र। निन्द्ये गालीप्रदाने, पञ्चा०६ विव०। जुगुप्सिते मिथ्यात्वाविरति-प्रमादकषाययोगे कर्मबन्धहेतौ, सूत्र०१ श्रु०१३ अ०। लोकलोकोत्तर-योरनादरणीयतया निन्दनीये मद्यमांससेवनपररामाऽभिगमनादि-पापस्थाने, ध०१ अधि०। अवद्ये, आ०चू०१ अ०।

गरहियकुल न०(गर्ह्यकुल) दास्यादिकुले, आचा०२ श्रु०१ अ०२ उ०।

गरहियमिच्छायार त्रि०(गर्हितमिथ्याचार) गर्हिता निन्दिता मिथ्याचारा अमोक्षमार्गसमाचारा मिथ्यात्वाविरतिकषायदुष्ट योगलक्षणाः अतीत-कालासेविता ये ते तथा। आसेवितमिथ्यात्वादिदुष्टयोगे, पञ्चा०२ विव०

गरहिव्व त्रि०(गर्हितव्य) परसमक्षं निन्दितव्ये, प्रश्न०१ सम्ब० द्वार।

गरिमा पुं०स्त्री०(गरिमन्) गुरुत्वप्राप्तौ, द्वा० २६ द्वा०। गुरोर्भाव इमनिच्, गरादेशः। **''वैमाञ्जल्याद्याः स्त्रियाम्''** ।८।१।३५॥ 'एसा गरिमा' 'एस गरिमा' प्रा०१ पाद। वज्रवद्गुरुत्वाप्तौ योगे सिद्धिभेदे, द्वा०२६ द्वा०। सूत्र०। गुरुत्वागुणे च। वाच०।

गिरिहा स्त्री०(गर्हा) 'गर्ह' 'गल्ह' कुत्सायाम। 'गुरोश्च हलः' ३।१०३।(पाणि०) इत्याकारः। टाप्। आव०४ अ०। **''ह्रींश्रीहीकृत्स्न-क्रियादित्यास्त्रित्''। ८२।१०४।** इत्यन्त्यव्यञ्जनात्पूर्व इकारः। प्रा०२ पाद। प्राकाश्ये, आ०चू०४ अ०। परसमक्षं दोषोद्घाटने, आतृ०। आ०चू०। दश०। गुरुसमक्षमात्मनो निन्दायाम्, स्था०४ ठा०२ उ०। पा०। आ०म०। प्रति०। ''सचरित्तपच्छयावो णिंदा गरिहा गुरुसमक्खं'' पा०। स्था०। ज्ञा०। सा च नामादिभे दात् षाढा भवति। तथ चाह–''नामं ठवणा दविए, खित्ते काले य भावे य। एसो खलु गरिहाए, णिक्खेवो छव्विहो होइ'' ॥ तत्र नामस्थापने क्षुण्णे, द्रव्यगर्हा तापसादीनां स्वगुर्वालोचनाद्यनुपयुक्तस्य सम्यग्दृष्टेरुपयुक्तस्य वा निह्नवस्येत्यादि भावार्थो वक्तव्यो यावत् प्रशस्तयेहाधिकारः। आव०४ अ०। पा०। सूत्र०

द्रव्यगर्हायां पतिमारिकादृष्टान्तः–

''एकत्राऽध्यापको विप्र–स्तस्यासीत् तरुणी प्रिया।
ऊचे भर्त्रा बलिं देहि, काकेभ्यः सा ऽप्यवोचत् ॥१॥
बिभेम्यहमिति च्छात्राः, उपाध्यायनिदेशतः।
रक्षन्ति वारकैर्णैतां, तत्रैकोऽचिन्तयत्प्रधीः ॥२॥
न मुग्धा किंत्वसत्येषा, स तच्चरितमीक्षते।
नर्मदाऽपरकूल च, गोपेन सममस्ति सा ॥३॥
नर्मदां निशि कुम्भेनो–त्तरन्ती चास्ति साऽन्यदा।
सन्त्युत्तरन्तश्चोराश्च, तेष्वेको जलजन्तुना ॥४॥
आत्तो स्टँस्तया प्रोचे, पिधेह्यस्याक्षि मुच्यसे।
मुक्तस्तथाकृतेऽथोचे, कुतीर्थेऽततार किम् ?॥५॥
स तच्छ्रुत्वा निवृत्तोऽथ, द्वितीयोऽहनि खण्डिकः।
बलिं ददानां रक्षँस्तां, मन्दस्वरमवोचत् ॥६॥
दिवा बिभेषि काकेभ्यो, रात्रौ तरसि नर्मदाम्।
कुतीर्थानि च जानासि, जलतन्त्वक्षिरोधनम् ॥७॥
साऽवदत् किं करोम्यत्र, यन्नेच्छन्ति भवादशाः।
उपाचचार तं साऽथ, स ऊचेऽध्यापकात् त्रपे ॥८॥
सा दध्यौ मारयाम्येनं, भर्ताऽसौ स्याद् यथा मम।
विनाश्य पिटके क्षिप्त्वा, गताऽटव्ययां तमुज्झितुम् ॥९॥
व्यन्तर्याऽस्तम्भि पिटकं, मूर्ध्ना साऽथ वनेऽभ्रमत्।
गलत्युपरि मांसं ताध्यमानाऽथा सा क्षुधा ॥१०॥
उद्विग्ना स्वचरित्रेण, गर्हते स्वं गृहे गृहे।
व्रतं साऽयाऽग्रहीदेवं, कार्या दुष्कृतगर्हणा''॥११॥ आ०क०।

द्रव्यनिन्दायां निदानां चित्रकसुता उदाहरणम् –''सा जहा रण्णा परिणीया अप्पाणं निदियादया तहा कहेयव्वा, हेट्ठा कहाणगं कहियं ति पुणो न भन्नइ ॥''

भावनिन्दाणं सुबहून्युदाहरणानि योगसंग्रहे वक्ष्यन्ते। लक्षणं पुनरिदम् –

''हा दुट्ठु कयं हा दुं–डुं कारियं अणुमयं ह त्ति।
अंतो अंतो दज्झइ, वच्छतावेण वेवंतो ॥
गरिहा वि तहा जाई–यमेव नवरं परप्पगोसणया।
दव्वम्मि य मरुयाणं, भावेलु बहू उदाहरणा''॥

गर्हाऽपि तथाजातीयैव निन्दाजातीयैव, नवरमेतावान् विशेषः, प्रकाशनया गर्हा भवति। किमुक्तं भवति ? या गुरोः प्रत्यक्षं जुगुप्सा सा गर्हेतिवचनात्। साऽपि नामादिभेदाच्चतुर्विधा। तत्र नामस्थापने अनादृत्याह–द्रव्ये द्रव्यगर्हायां मरुकोदाहरणम्। तच्चेदम्–''आणंदपुरे मरुओ ण्हुसाए समं संवासं काऊण उवज्झायस्स कहेइ। जहा–सुमिणए ण्हुसाए समं वासं गतो मि त्ति।'' भावगर्हायां साधुरुदहरणम्। ''गंतूण गुरुसमीवं, काऊण य अंजलिं विणयमूलं। अहमप्पणा तह परे, जाणावि ण एस गरिहाओ''॥१॥ आ०म०द्वि० पा० विशे०।

द्वे गर्हे–

दुविहा गरिहा पण्णत्ता। तं जहा–मणसा वेगे गरिहइ, वयसा वेगे गरिहइ। अहवा गरिहा दुविहा पण्णत्ता। तं जहा–दीहं एगे अद्धं, हस्सं एगे अद्धं ॥

विधानं विधा, द्वे विधे भेदौ यस्याः सा द्विविधा, गर्हणं गर्हा, दुश्चरितं प्रति कुत्सा। सा च स्वपरविषयत्वेन द्विविधा। साऽपि मिथ्यादृष्टेरनुपयुक्ता, सम्यग्दृष्टेश्च द्रव्यगर्हा, अप्रधानगर्हेत्यर्थः। द्रव्यशब्दस्याप्रधानार्थत्वात्। उक्तं च–''अप्पाहन्ने वि इहं, कत्थइ दिट्ठो हु दव्वसद्दो त्ति। अंगारभद्दओ जह–दव्वायरिओ सया

भव्वो त्ति''॥ सम्यग्दृष्टेस्तूपयुक्तस्य भावगर्हेति चतुर्द्धा, गर्हणीयभेदात्। बहुप्रकारा वा, सा चेह करणापेक्षया द्विविधोक्ता। तथा चाह–(मणसा वेगे गरिहइ त्ति) मनसा चेतसा, वाशब्दो विकल्पार्थोऽवधारणार्थो वा। ततो मनसैव, न वाचेत्यर्थः। कायोत्सर्गस्थो दुर्मुखसुमुखाभिधानपुरुषद्वय-निन्दितोऽनभिष्टुतस्तद्वचनोपलब्धसामन्त परिभूतस्वतनय-राजवार्तो मनसा समारब्धपुत्रपरिभवकारिसामन्तसंग्रामो वैकल्पिक-प्रहरणक्षये स्वतीर्थकग्रहणार्थव्यापारितहस्तसंस्पृष्टलुण्ठितमस्तक-स्ततः समुपजातपश्चात्तापानलज्वालाकलापदन्दह्यमानसकलक-र्मेन्धनो राजर्षिः प्रसन्नचन्द्र इव एकः कोऽपि साध्वादिर्गर्हते जुगुप्सते, गर्हामिति गम्यते। तथा वचसा वा वाचा, अथवा वचसैव न मनसा, भावतो दुश्चरितादिरक्तत्वाज्जनरञ्जनार्थं गर्हाप्रव्रत्ताङ्गारम-र्दकादिप्राय साधुवत् एकोऽन्यो गर्हते इति। (अथवा मणासावेगे गरिहइ त्ति) इह अपि च संभावने, तेन संभाव्यते अयमर्थोऽपिमनस्यैको गर्हर्ते, अन्यो वचसेति। अथवा मनसाऽपि न केवलं वचसा एको गर्हते, तथा वचसाऽपि न केवलं मनसा एक इति, स एव गर्हते, उभयथाऽप्येक एव गर्हत इति भावः। अन्यथा गर्हाद्वैविध्यमाह–(अहवेत्यादि अथवेति पूर्वोक्तद्वैविध्य प्रकारापेक्षया द्विविधा गर्हा प्रज्ञप्तेति। प्रागिव अपिः संभावने। तेन अपि दीर्घां वृहतीं अद्धां कालं यावदेकः कोऽपि गर्हते गर्हणीयम्, आजन्मापीत्यर्थः। अन्यथा वा दीर्घत्वं विवक्षया भावनीयम्, आपेक्षित्वात् दीर्घह्रस्वयोरिति एवमति ह्रस्वामल्पां यावदेकोऽन्य इति। अथा वा दीर्घामेव यावद्, व्यहस्तामेव यावदिति व्याख्येयम्, अपरेवधारणत्वादिति। एक एव वा द्विधा कालभेदेन गर्हते, भावभेदादिति। स्था०२ठा०१ उ०।

तिस्रो गर्हाः–

तिविहा गरिहा पन्नत्ता। तं जहा–मणसा वेगे गरहइ, वयसा वेगे गरहइ, कायसा वेगे गरहइ, पावाणं कम्माणं अकरणयाए। अहवा गरहा तिविहा पन्नत्ता। तं जहा–दीहं वेगे अद्धं गरहइ, सहस्सं वेगे अद्धं गरहइ, कायं वेगे पडिसाहरइ पावाणं कम्माणं अकरणयाए॥

(दीहं वेगे अद्धं ति) दीर्घं कालं यावदित्यर्थः। तथा कायमप्येकः प्रतिसंहरति निरुणद्धि, कया ? पापानां कर्मणामकरणतया हेतुभूतया, तदकरणेन तदकरणतायै वा तेभ्यो गर्हते, कायं वा प्रतिसंहरति तेभ्योऽकरणतायै। स्था०३ ठा०१ उ०।

ज्ञानदर्शनचारित्रगर्हा। अथ त्रिविधां गर्हां व्याचिख्यासुस्तत्स्वरूपं तावदाह–

सीसो कंपण गरिहा, इत्थ विलंविय अहो य हक्कारो।
वेला कण्णा य दिसा, अवत्तु णामं ण घेत्तव्वं॥

गर्हा नाम शैक्षेण पृष्टः सन् शीर्षाऽऽकम्पनं कारोति, हस्तौ वा धुनीते, विलम्बितानि वा करोति, हस्तावोष्ठौ वा विलम्बयतीत्यर्थः। यद्वा–ब्रवीति–अहो प्रव्रज्या, हाकारं वा करोति – हा हा कष्टं यदेवं नष्टो लाकेः (वेल त्ति) नामापि तस्य न वर्तते अस्यां वेलायां ग्रहीतुमिति, कर्णौ वा तदीयनामग्रहणं स्थ गयति, यस्यां वा दिशि स तिष्ठति तस्यां न स्थातव्यमिति ब्रवीति। उपलक्षणात्वादक्षिणी वानिमीलयति। यद्वा–नामापि तस्य निरत्रपैर्न ग्रहीतव्यम्। अतः आस्तामेतद्विषयं पृच्छादिकमिति।

नाणे दंसणचरणे, सुत्ते अत्थे य तदुभये चेव।
अह होति तिहा गरिहा, कायो वाया मणो वा वि॥

ज्ञाने दर्शने चारित्रे चेति त्रिविधा गर्हा भवति। तत्र ज्ञानगर्हा नाम–ननु पठितेनैव किं तदीयेन ज्ञानेन। दर्शनगर्हा तु मिथ्यादृष्टिर्नास्तिकप्रायोऽसौ। चारित्रगर्हासातिचारं चारित्रोऽचारित्रोवाऽसौ। अथवा–सूत्रे अर्थे तदुभये चेति विधात्ति गर्हा। तत्र सूत्रं तस्य शङ्कितस्खलितमर्थं पुनरवबुध्यते १। यद्वा–अर्थं नावबुध्यते सूत्रं पुनरागच्छति २। उभयमपि वा तस्याविशुद्धं न जानाति वा किमपीति ३। अथ वा कायवाग्मनोभेदात् त्रिधा गर्हा। तत्र कायगर्हा–तेषामाचार्याणां शरीरं हुण्डादिसंस्थानं, विरूपं वा। वाग्गर्हा–मन्मनं काहलं वा ते जल्पन्ति। मनोगार्हान तेषां तथाविधमूहापोहपाटवं तथा ग्रहणसामर्थ्यमिति। अथैषा त्रिविधा गर्हा भवति।

प्रकारान्तरेण गर्हामेवाह–

पव्वयसि आम कस्स, त्ति सकासे चामुगस्स निद्दिट्ठो।
आयपराधिगसंसी, उवहणति परं इमेहिं तु॥

कोऽपि शैक्षकेणा पि साधुना पृष्टः–प्रव्रजसि त्वम्। स प्राहआमम्। कस्य सकासे इति पृष्टः सन्भूयोऽप्याह–अमुकस्य समीपे। एवं निर्दिष्टे उक्ते स साधुरात्मानं परस्मादधिकं शंसितुमाख्यातुं शीलमस्य इत्यात्मपराधिकशंसी परमेभिः वचनैरुपहन्ति।

तत्यथा–

अवहुस्सुताऽविसुद्धं, अहछंदा तेसुवाधिसंसग्गिं।
ओसण्णा संसग्गी, व तेसु एक्केक्कए दुन्नि॥

अहं बहुश्रुतः, सोऽबहुश्रुतः। अहं विशुद्धपाठकः, स पुनरविशुद्धपाठी। यद्वा–यथाच्छन्दास्ते आचार्या तैर्वा यथाच्छन्दैः सह ते गाढतरं संसर्गिणः, गाथायां तृतीयार्थे सप्तमी। अवसन्ना वा तैः सार्धं संसर्गिणो वा, एवं पार्श्वस्थादावप्येकैकस्मिन् भेदौ द्वौ द्वौ दोषवेवमेव वक्तव्यौ।

अथ कायवङ्मनोगर्हामेव प्रकारान्तरेणाह –

सीसोकंपण हत्थे, कण्ण दिसा अच्छि काइगी गरिहा।
वेला अहो य ह त्ति य,णामं ति य वायगी गरिहा॥

शीर्षकम्पनं, हस्तविलम्बनं, कर्णमोटनम्, अन्यस्यां दिशि स्थानम्, अक्षिनिमीलनम् अनिमिषलोचनस्य वीक्षणमवस्थानम्, एषा सर्वाऽपि कायिकी गर्हा। यत्तु यस्यां वेलायां नाम न ग्रहीतव्यम् अहो कष्टं हाहाकारकरणं नाम च तस्य कदापि न ग्रहीतव्यमित्यादिभाषणम्, सा वाचिकी गर्हा।

अह मान सिगी गरिहा, सूइज्जति णेत्तवत्तरागेहिं।
धीरत्तणेण य पुणो, अभिणंदइ णावि तं वयणं॥

अथानन्तरं मानसिकी गर्हा–मनसि तमाचार्यं जुगुप्सते। कथमेतत् ज्ञायते ? इत्याह–नेत्रवक्त्रयोः संबन्धिनो ये रागा मुकुलनविच्छायीभवनादयो विकारास्तैः सूच्यते मानसिकी गर्हा इति भणिते साध्विदं कृत्यमेतद्भव्यानामित्यादिवचोभिर्न तदीयं वचनमभिनन्दते, धीरतया वा तूष्णीकमास्ते, एवमन्यतरस्मिन् गर्हाप्रकारे कृते तस्य शङ्का भवति–अवश्यमकार्यकारी स आचार्यादिः संभाव्यते, न चामी साधवोऽलीकं भाषन्ते, अहमपि तत्र गत आत्मानं नाशयिष्यामीति।

एताणि य अण्णाणि य, विप्परिणामणपदाणि सेहस्स।
उवहिणियइप्पहाणा, कुव्वंति अणिच्छुया केई॥

एतानि चाऽनन्तरोक्तानि अन्यानि च द्रव्यक्षेत्रकालभावाः शैक्षस्य विपरिणामनपदानि भवन्ति। तत्र द्रव्यतोऽक्षमनोज्ञाहारादि ददाति। क्षेत्रतः–प्रकातनिवाते मनोऽनुकूले प्रदेशे तं स्थापयति। कालतो–वेलायामेव भोजयति। भावतःतस्याकर्षणार्थं हितमधुरमुपदेशं ददाति। एवं केचिदनृजुकाः शठा उपधिः परवञ्चनाऽभिप्रायो, निकृतिः कैतवार्थं प्रयुक्तवचनाकाराच्छादनं, ते प्रधाने येषां ते तथा विद्या विपरिणामनपदानि कुर्वन्ति।

उपसंग्रहमाह–

एएसामण्णयरं, कप्पं जो अतिचरे अ लोभेण।
थेरे कुलगणसंघे, चाउम्मासा भवे गुरुगा॥

एतेषामव्याहतादिद्वारकलापप्रतिपादितानां कल्पनानामन्यतर-कल्पं विधाय आचार्यादिलोभदोषतोऽतिचरेत् अतितक्रामेत्, तं सम्यग् ज्ञात्वा कुलगणस्थिविरं कुलादिसमवायेन वा तस्य पार्श्वात् तं शैक्षमाकृष्य चत्वारो मासा गुरुकास्तस्य प्रायश्चित्तं दातव्यम्। अथ स्थविरैः समवायेन वा भणितोऽपि तं शैक्षं न समर्पयति ततः कुलगणसंघबाह्यः क्रियते। वृ०३ उ० नि०चू०। (गर्हासंयमोऽगर्हासंयम इति 'कालासवेसिय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ४६७ पृष्ठे उक्तः)। शल्योद्धरणे, ''णिंदा गरह विउट्टा, सल्लुद्धरणं च एगट्ठा''। ओघ०। मृषावादभेदे, गर्हा तु त्रिधा। एका सावद्यव्यापारप्रवर्तिनी। यथा–क्षेत्रं कृषेत्यादि। द्वितीया अप्रियाकाणं काणं वदतः। तृतीया आक्रोशरूपा। यथा–अरे वान्ध किनेय! इत्यादि। धर्म०२ अधि० दश०।

गरुअ पुं०(गुरुक)''गुरौ के वा''।८।१।१०६। गुरौ स्वार्थे के सति आदेरुतोऽद् वा भवति। 'गरुआ। गुरुओ' प्रा०१ पाद। अधःपतनहेतावयोगोलकादिगते स्पर्शे, अनु०। वज्रादिवद् गुरुकस्पर्शपरिणते, प्रज्ञा०१ पद। गरीयसि, पञ्चा०६ विव०। महाशिलादिके, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०। ''गुरुयं भण्णति'' गुरुकं वादरं स्वस्य जिह्वाछेदनाद्यर्थकम्। प्रश्न०३ आश्र०द्वार। ('अगरुलहुय' शब्दे प्रथमभागे १५८ पृष्ठेऽस्य दण्डकः।

गरुअणिवइय न०(गुरुकनिपतित) विद्युदादिगुरुकद्व्यनिपातजनित ध्वनौ, प्रश्न०३ आश्र० द्वार।

गरुअत्त न०(गुरुकत्व) अधस्ताद्गमनहेतुभूते अशुभकर्मोपचये, भ० ''कह णं भंते! जीवा गरुयत्तं हव्वमाच्छंति? गोयमा! पाणाइवाएणं मुसवाएणं अदिण्ण–मेहुण–परीसह–कोहमाण–माया–लोह–पेज्ज–दोस–कलह–अब्भक्खाण–पेसुन्न–रति–अरति–परपरिवाय–माया मोस–मिच्छादंसणसल्लेणं एवं खलु गोयमा! जीवा गरुयत्तं हव्वमागच्छंति'' भ०१ श०६ उ० आ०म०। (कथं गुरुकत्वं कथं वा लघुकत्वं जीवा गच्छन्तीति 'कम्म' शब्दे अस्मिन्नेव भागे २४४ पृष्ठे उक्तम्)

गरुआअ धा०(गुरुकाय)अगुरुर्गुरुर्भवति, गुरु–क्यङ्। अगुरोर्गुरोरिवाचरणे, ''क्यङो यलुक्''।८।३।१३०। क्यङन्तस्य यलोपः। 'गरुआइ। गरुआअइ' प०३ पाद।

गरुई स्त्री०(गुर्वी) **'उतो मुकुलादिष्वत्'**।८।१।१०७। इत्यादेरुतोऽत्वम्। प्रा०१ पाद। ज्येष्ठायाम्, पञ्चा०६ विव०। 'जाजस्स' वा गरुणीयते, जा इत्थी जस्स साहुस्स। माउलदुहियादिया भव्वा सा गरुणी भण्णति। नि० चू०१ उ०।

गरुय पुं०(गुरुक) 'गरुअ' शब्दार्थे, प्रा०१ पाद।

गरुयणिवइय न०(गुरुकनिपतित) 'गरुअणिवइय' शब्दार्थे, प्रश्न०३ आश्र० द्वार।

गरुयत्त न०(गुरुकत्व)'गरुअत्त'शब्दार्थे,भ०१ श०६ उ०।

गरुवी स्त्री०(गुर्वी)**''तन्वीतुल्येषु''**।८।२।११३। इति अन्त्यत्यञ्जनस्योकारः। प्रा०२ पाद। गुरुत्वविशिष्टायां, गर्भवत्याम्, वाच०।

गरुल पुं०(गरुम) **''मो लः''**।८।१।२०५। इति मस्य लः। प्रा०१ पाद। वेणुदेवापरनामके गरुत्मनि पक्षिराजे, ''पक्खीसु वा गरुले वेणुदेवे'' सूत्र०१ श्रु०६ अ०। पञ्चकूटशाल्मलीषु, पञ्च गरुडाः वेणुदेवाः। स्था०१० ठा०। मानुषोत्तरपर्वतस्य ''दक्खिणपुव्वेणं रयणकूडा गरुलस्स वेणुदेवस्स'' द्वी०। गरुडलाञ्छनत्वात् सुपर्णकुमारे भवनपतिविशेषे, स०५२ सम०। औ०। तं०। भ०। कल्प०। जं०। प्रश्न०। रा०। ज्ञा०। ''गरुलायतजुतुंगनासा''। गरुमस्येवायता दीर्घा ऋज्वी अकुटिला तुङ्गा उन्नता नासा नासिका येषां ते गरुडायतदीर्घतुङ्गनासाः। प्रज्ञा०२ पद। जी०। स्था०। 'महापउमरुक्खस्स' अरिष्टोत्तरदेवे, स्था०२ ठा०३ उ०।

गरुलकेउ पुं०(गरूडकेतु) गरुडध्वजे वासूदेवे, स०।

गरुलगोविंदवाइ (ण्) पुं०(गरुडगोविन्दवादिन्) इन्द्रभूतिना समं वीरान्तिकं गते वादिभेदे, कल्प०६ क्षण।

गरुलज्झय पुं०(गरुडध्वजः) गरुडालेख्यरूपविहङ्गोपेते ध्वजे, ''अट्ठसयं गरुलज्झयाणं'' रा०। वासुदेवे, आ०म०प्र०। सुपर्णकुमारे देवे, स०।

गरुलव्यूह न०(गरुडव्यूह) गरुडाकृतिसैन्यपचनायाम्, जं०२ वक्ष० प्रश्न०।

गरुलावास पुं०(गरुडावास)देवकुरुषु गरुडजातीयस्य वेणुदेवाऽभिधानस्याऽऽवासे, स०८ सम०।

गरुलासण न०(गरुडासन) आसनभेदे, जी०३ प्रति०। जं०। येषामासनानामधो गरुडा व्यवस्थिताः। रा०।

गरुलोववाय पुं०(गरुडोपपात) अङ्गबाह्यश्रुतविशेषे,पा०। यत्परावर्तकस्य साधोर्गरुडो देव उपतिष्ठते। स्था०१० ठा०। व्य०।

गल पुं०(गल) कण्ठे, प्रश्न०१ आश्र०द्वार। ज्ञा०। सर्जरसे, वाद्यभेदे, वाच०। वमिशे, न०। ज्ञा०१ श्रु०१० अ०। विपा०। प्र०। दश०। ''गलकालकलोहदंडउरउदरवत्थिपट्ठीपरिपीलिया'' तथा गल इव वडिशमिव घातकत्वेन यः स गलः, स चासौ कालकलोहदण्डश्च कालायसयष्टिः, तेन उरसि वक्षसि उदरे च जठरे वस्तौ च गुह्यदेशे पृष्ठौ च पृष्ठे परिपीडिता ये ते तथा। प्रश्न०३ आश्र०द्वार। ''गलगवलावलणमारणाणि'' गलस्य कण्ठस्य गवलस्य शृङ्गास्यावलनं च मोटनम्। अथवा–गलस्य बलादावलनं मारणं चेति तानि च। प्रश्न०१ आश्र०द्वार। नाशे, विघ्ने च। आचा०१ श्रु०१ अ०१ उ०। विशे०। आ०म०।

गलई स्त्री०(गलकी) अनन्तजीववनस्पतिभेदे, प्रज्ञा०१ पद।

गलंतणयण न०(गलन्नयन) गलन्ती नयने यत्र तद् गलन्नयनम्। क्षरन्नयने, तं०।

गलग पुं०(गलक) कण्ठे, प्रश्न०१ आश्र० द्वार। मत्स्ये, वाच।

गलगवलुल्लंवण न०(गलकवलोल्लम्बन) ७ त०। कण्ठे हठात् वृक्षशाखादावुद्बन्धने, प्रश्न०१ आश्र०द्वार।

गलग्गह पुं०(गलग्रह) गलहस्तदायके, कल्प०३ क्षण।

गलत्थ–क्षिप्–धा०। प्रेरणे, तुदा० सक्–अनिट्। ''क्षिपेर्गलत्थाडुक्ख–सोल्ल–पेल्ल–णोल्ल–छुह– हुल–परी–घत्ता:''।८।४।१४३। इति क्षिपेर्गलत्थादेश:।'गलत्थइ, छिवइ' क्षिपति। प्रा०४ पाद।

गलत्थलिअ (देशी) क्षिप्ते, दे० ना०२ वर्ग।

गलरव पुं०(गलरव) गलेनाव्यक्तशब्दरटने, आव०४ अ०।

गललग्गुक्खित्त त्रि०(गललग्नोत्क्षिप्त) गलं वडिशं तत्र लग्नः कण्ठे विद्धत्वात्, उत्क्षिप्तो जलादुद्धृतः। ततः कर्मधारय:। बडिशेन विद्धे जलादुन्नीते, ज्ञा०१ श्रु०१० अ०।

गललाय त्रि०(गललात)कण्ठेनात्ते, औ०। ''गलं ललाडं गललायवर-भूसणाणं'' औ०।

गलि त्रि०(गलि) गलत्येव केवलं न तु वहति गच्छति वेति गलि:। उत्त०१अ०। दुर्विनीते, उत्त०१ अ०। खलुङ्के, स्था०१ ठा०१ उ०। आचा०।

गलिअं (देशी) स्मृतौ, दे०ना०२ वर्ग।

गलिगद्दह पुं०(गलिगर्दभ) अविनीते रासभे, ''जारिसामम सीसाओ, तारिसा गलिगद्दहा। गल्लिगद्दहे चइत्ता णं, दढं पगिण्हए तवं''॥ उत्त०२७ अ०।

गलिय त्रि०(गलित) द्रवीभूय क्षरिते, कल्प०४ क्षण। वाच०।

गलियस्स पुं०(गलिताश्व) दुर्विनीततुरगे, उत्त०१ अ०।

गलोई स्त्री०(गुडूची)''उतो मुकुलादिष्वत्''।८।१।१०७। इत्यादेरुतोऽत्। प्रा०१ पाद।''ओत्कूष्माण्डी–तूणीर–कर्पूर–स्थूल–ताम्बूल–गुडूची–मूल्ये''।८।१।१२४। इति कूकारस्य ओकारः। प्रा०१ पाद। वल्लीविशेषे, प्रव०४ द्वार। ध०।

गल्लछल्ला (देशी) हस्तेन गलग्रहणे, ज्ञा०१ श्रु०६ अ०।

गल्लप्फोड (देशी) डमरुके, दे० ना०२ वर्ग।

गल्लमसूरिया स्त्री०(गल्लमसूरिका) लघुरूपे गल्लोपधाने, जीत०।

गल्लोल्लपाणिय न०। गमुकजले,''पुलिंदो पुण उवयारवज्जिएणं गल्लोल्लपाणिएणं राहवेति''। नि०चू०१ उ०।

गव स्त्री०पुं०(गो) मृगादौ पशौ, सूत्र०१ श्रु०२ अ०३ उ०। वोले, को०।

गवक्ख पुं०(गवाक्ष) वातायने, जी०३ प्रति०। प्रश्न०। गोडुम्बायाम्, इन्द्रवारुण्याम् शाखोटे, अपराजितायाम् 'गवाक्षी शक्रवारुण्यां, गवाक्षो जालके कपौ। है०। वाच०।

गवक्खकरणाइ न०(गवाक्षकरणादि)' तायनरचनाप्रभृतिके, पञ्चा०१३ विव०।

गवक्खजाल न०(गवाक्षजाल) गवाक्षाकृतिरत्नविशेषदामसमूहे, जी०३ प्रति। जं०। रा०। जालकोपेते गवाक्षे च। औ०।

गवच्छ पुं०(गवच्छ) आच्छादने, रा०।

गवच्छिय त्रि०(गवच्छित) गवच्छ आच्छादनम्। गवच्छा: संजाता एषिति गवच्छिता:। आच्छादितेषु, रा०। जं०। ''किण्ह सुत्तसिक्कगवच्छिया''। जी०३ प्रति०।

गवय पुं०(गवय) गवाकृतौ, प्रश्न०१ आश्र० द्वार। बृ०। नि०चू०। वृत्तकण्ठे, अनु०। वनगवे, नं०। प्रश्न०। ''गां दृष्ट्वा यमरण्येऽन्यं, गवयं वीक्षते यदा। भूयोऽवयवसामान्यभाजं वर्तुलकण्ठकम्।'' स्था०४ ठा०३ उ०। प्रज्ञा०।

गवल न०(गवल) माहिषे शृङ्गे, औ०। उपा०। जी०। आ०म०प्रज्ञा०। जं०। रा०। प्रश्न०। अन्त०। ज्ञा०। उत्त०।

गवलगुलिया स्त्री०(गवलगुटिका) माहिषशृङ्गस्य निविडतरसारनिर्वर्तितायां गुटिकायाम् जं०१ वक्ष०। जी०। रा०।

गवालिय न०(गवालीक) गोविषयेऽनृते, अल्पक्षीरां बहुक्षीरां बहुक्षीरां वा अल्पक्षीरामित्यादि वदति, ध०२ अधि०। प्रश्न०। आचा०। नि०चू० उत्त०।

गवास न०(गवाश्व) गौश्च अश्वश्च ''गवाश्वप्रभृतीनि च'' ।२।४।११। इत्येकवद्भावस्तथारूपता च। गोघोटकयो, सम्म०३ काण्ड।

गविट्ठ त्रि०(गवेषित)गवेषणयाऽऽप्ते, व्य४ उ०।

गवेधुआ स्त्री०(गवेधुका) चारणागणस्य चतुर्थशाखायाम्, कल्प०८ क्षण।

गवेलग पुं०स्त्री०(गवेलक) गावश्चैलकाश्चोरणिका गवेलका:। गवोरभ्रेषु ऊरणिकेषु,। स्था०७ ठा०। ज्ञा०। अनु०।

गवेस धा०(गवेष) अन्वेषणे, चुरा०। **गवेषेर्ढुंढुल्ल–ढंढोल–गमेस–घत्ता:''।८।४।१८६।** गवेषेरेते चत्वार आदेशा वा भवन्ति। ढुंढुल्लइ, ढंढोलइ, गमेसइ, घत्तइ, गवेसइ। प्रा०४ पाद।

गवेसइत्ता त्रि० (गवेसयितृ) अन्वेष्टरि,''सम्मं गवेसइत्ता भवइ'' स्था०४ ठा०२ उ०।

गवेसग त्रि०(गवेषक) अन्वेषके, उत्त०१४ अ०। ''अवि तुट्ठो न विरुद्धो उत्तमट्ठगवेसओ'' उत्तमार्थं गवेषक: मोक्षाऽभिलाषी उत्त०२५ अ०।

गवसेण न०(गवेषण) गवेष्यते अनेनेति गवेषणम्। मार्गणादूर्ध्वं सद्भूतार्थविशेषाभिमुखे व्यतिरेकधर्मपरित्यागतोऽन्वयधर्माध्यासालोचने, न०। ज्ञा०। पिं०। ओघ०। यथा० स्थाणावेव निश्चेतव्ये इह शिर:कण्डूयनादय: पुरुषधर्मा न घटन्ते। औ०।

गवेसणया स्त्री०(गवेषणता) गवेषणस्य भावो गवेषणता। ईहायाम्, नं०।

गवेसणा स्त्री०(गवेषणा) गवेषणं गवेषणा। पिं०। अनुपलभ्यमानस्य पदार्थस्य सर्वतः परिभावने, पिं०।

संप्रति गवेषणाया नामादीन् भेदानाह–

नामं ठवणा दविए, भावम्मि गवेसणा मुणेयव्वा।
दव्वम्मि कुरंग गया, उग्गम उप्पायणा भावे ॥७६॥

(नामं ति) नामगवेषणा, स्थापनागवेषणा, एते च एषणे सप्रपञ्चं स्वयमेव भावनीये। द्रव्ये द्रव्यविषया, भावे भावविषया च। तत्र द्रव्यविषया आगम–नोआगमभेदात् द्विधा। तत्रागमतो गवेषणा शब्दार्थज्ञाना, ''तत्र चानुपयुक्तः अनुपयोगो द्रव्यम्'' इति वचनात्। नोआगमतस्त्रिधा–ज्ञशरीर–भव्यशरीर–तद्व्यतिरिक्तभेदात्। तत्र ज्ञशरीरभव्यशरीररूपे द्रव्यगवेषणे एषणे इव भावनीये। ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तगवेषणा सचित्तादिद्रव्यविषया। तत्र कुरङ्गगजा उदाहरणम्। तथा चाह–(दव्वम्मि कुरंगगया) द्रव्ये–द्रव्यविषयायां गवेषणायां कुरङ्गा मृगाः, गजा हस्तिनो दृष्टान्ताः। भावे भावविषया गवेषणा। (उग्गमउप्पायण त्ति) सूचनात्सूत्रमिति न्यायादुद्गमोत्पादनादोषविमुक्ताऽऽहारविषया।

यदुक्तं('दव्वम्मि कुरेगगया' इति तत्र कुरङ्गदृष्टान्तं गाथाद्विकेन ऽभिधित्सुराह-

जियसत्तु–देवि–चित्तस–भपविसणं कणगपिट्ठ–पासणया।
दोहल दुव्वल पुच्छा, कहणं आणा य पुरिसाणं ॥८०॥
सीवन्निसरिसमोयग–करणं सीवन्निरुक्खहेट्ठेसु।
आगमण कुरंगाणं, पसत्थअपसत्थउवमाओ ॥८१॥

सुगमं, नवरं भावार्थः कथानकादवसेयः। तच्चेदम्–क्षितिप्रतिष्ठितं नाम नगरं, तत्र राजा जितशत्रुः, तस्य भार्या पद्ममहाराज्ञी नाम्ना सुदर्शना, तस्याः कदाचिदापन्नसत्त्वायाः राज्ञा सह चित्रसभायां प्रविष्टायाश्चित्त लिखितान् कनकपृष्ठान् मृगानवलोक्य तन्मांसभक्षणे दोहदमजायत। दोहदे चासंपद्यमाने तस्याः खेदवशतः शरीरस्य दौर्बल्यम् भवत्। तच्च दृष्ट्वा नृपतिः सखेदं तां पृष्ठवान्। यथा– हा प्रिये ! किमतीव शरीरे तव दौर्बल्यमजायत ? ततः सा दोहदम च कथत्। ततौ राजा सत्वरं कनकपृष्ठकुरङ्गानयनाय पुरुषान् प्रषितवान्। तेऽपि च पुरुषाः स्वचेतसि चिन्तयामासुः–इह यस्य यत् वल्लभां तत्रासक्तस्सन् प्रमादभावं भजमानः सुखेनैव बध्यते, कनकपृष्ठानां च कुरङ्गाणामिष्टानि श्रीपर्णीफलानि, तानि च संप्रति न विद्यन्ते, ततस्तच्छदृशान् मोदकान् कृत्वा श्रीपर्णीवृक्षतलेषु च सर्वतः पुञ्जकपुञ्जकाकारेण क्षिप्त्वा तेषां समीपे पाशान् स्थापयामः, इति तथैव कृतम्। ते च कनकपृष्ठा रुरवो निजेन यूथाधिपतिना सहस्वेच्छया परिभ्रमन्तस्तत्रागताः यूथाधिपतिश्च श्रीपर्णीफलाकारान् पुञ्जकपुञ्जकाकारेण स्थितान् मोदकानवलोक्य मृगानुक्तवान्। यथा–भो रुरवः ! युष्माकं बन्धनार्थमिदं केनापि धूर्तेन कृतं कूटं वर्तते, यतो न संप्रति श्रीपर्णीफलानि भवन्ति, न च संभवन्त्यपि पुञ्जकाकारेण घटन्ते। अथ मन्येथास्तथाविधपरिभ्रमद्वातसंपर्कतः पुञ्जकपुञ्जकाकारेण घटन्ते, तदयुक्तम्, ननु पुराऽपि वाता वान्ति स्म न तु तथा कदाचनाप्येवं पुञ्जकपुञ्जकाकारेण भवन्ति स्म।

तथाचैतदेव निर्युक्तिकारः पठति–

विइयमेयं कुरंगाणं, जया सीवन्नि सीयइ।
पुरा वि वाया वायंता, न उणं पुजकपुंजका ॥

विदितं प्रतीतमेतत् कुरङ्गाणां यदा यस्मात् श्रीपर्णी सीदति, धातूनामनेकार्थत्वात् न फलति, तस्मान्नेदानीं फलानि संभवन्ति, संभवन्तु वा तथापि कथं पुञ्जकपुञ्जकाकारेण स्थितानि? वातवशाद्, ननु पुराऽपि वान्वान्ति स्म, न पुनरेवं पुञ्जकपुञ्जकाः फलानामभवन्। तस्मात् कूटमिदमस्माकं बन्धनाद्य कृतं वर्तते, इति मा यूयमेतेषामुपकण्ठमगमत। एवमुक्ते यैस्तद्वचः प्रतिपन्नं ते दीर्घजीविनो वनेषु स्वेच्छाविहारसुखभागिनश्चाऽजयन्त, यैस्त्याहारलम्पटतया तद्वचनं न प्रतिपन्नं, ते पाशबन्धादिदुःखभागिनोऽभवन्। इह यद् यूथाधिपतेः श्रीपर्णीफलसदृशमोदकद्रव्यसदोषत्वनिर्दोषत्वपर्यालोचनं सा द्रव्यगवेषणा। इहनिर्युक्तिकारेण ''पसत्थअपसत्थउवमाओ'' इति प्रतिपादयता दार्ष्टान्तिकोऽप्यर्थः सूचितो द्रष्टव्यः। स चायम्–यूथाधिपतिस्थानीया आचार्याः, मृगयूथस्थानीयाश्च साधवः, तत्र ये गुरुनियोगत आधाकर्मादिदोषदुष्टाहारपरिहारिणस्ते प्रशस्तकुरङ्गोपमा दृष्टव्याः, ये त्वाहारलम्पट्यतो गुर्वाज्ञामपा–कृत्याऽऽधाकर्मादिपरिभोगिनो बभूवः, ते अप्रशस्तकुरङ्गसदृशा वेदितव्याः। अत्रार्थे च कथानकमिदम्–हरन्तो नाम संनिवेशः, तत्र यथागमं विहरन्तः समिता नाम सूरयः समाययुः। तत्र च जिनदत्तो नाम श्रावक आसीत्। स च जिनवचनात्साधुभक्तिपरीतचेता दानशौण्डः कदाचित्साधुनिमित्तं भक्तमाधाकर्म कारितवान्। सूरयश्च सर्वमपि तं वृत्तान्तं कथञ्चित्परिज्ञातवन्तः। ततस्तैः साधवस्तत्र प्रविशन्तो निवारिताः। यथा–भोः साधवः ! तत्र साधुनिमित्त आहारः कृतो यर्तते इति मा तत्र यूयं गच्छत। एवमुक्ते यैस्तद्वचः प्रतिपत्यम्, ते आधाकर्मपरिभोगजनितपापकर्मणा न बद्धा गुर्वाज्ञा च परिपालिता, ततः शुद्धशुद्धतर संयमप्रवृत्तिभावतो मुक्तिसुखभागिनोऽभवन्। ये त्वाऽऽहारलाम्पट्यता भावितं दाषमनवगण्याऽऽधाकर्मणि झषाइव वडिशनिवेशिते मांसे प्रवृत्तास्ते कुगति हेत्वाधाकर्मपरिभोगतो गुर्वाज्ञाभङ्गतश्च दीर्घतरसंसारभागिनोः जाताः।

सांप्रतं गजदृष्टान्तमाह–

हत्थिग्गहणं गिम्हे, अरहट्टेहि भरणं व सरसीणं।
अच्छुदएण नलवणा, आरूढा गयकुलाऽऽगमणं ॥

हस्तिग्रहणं मया कार्यमित्येवं राज्ञश्चिन्ता, ततस्तद्ग्रहणाय ग्रीष्मकालेऽपि पुरुषप्रेषणा, तैश्च सरसीनामरघट्टकैर्भरणं कृतं, ततोऽन्युदकेन नलवनान्यतिशयेन प्ररूढानि, गजकुलस्यागमनमभिति गाथाऽक्षरार्थः। भावार्थस्तु कथानकादवसेयः। तच्चेदम्–आनन्दं नाम पुरं, तत्र रिपुमर्दनो नाम राजा, तस्य भार्या धारिणी, तस्य च पुरस्य प्रत्यासन्नं गजकुलशतसहस्रसंकुलं विन्ध्यमरण्यम्, ततो राजा कदाचित् गजबलं महाबलमित्यवश्यं मया गजा ग्रहीतव्या इति परिभाव्य गजग्रहणाय सत्वरं पुरुषान् प्रेषयामास। ते च पुरुषाश्चिन्तितवन्तो यथा–गजानां नलचारिरभीष्टा, सा च संप्रति ग्रीष्मकाले न संभवति, किं तु वर्षासु। तत इदानीमरघट्टैः सरसीर्विभृमो, येन नलवनान्यतिप्ररूढानि भवन्ति। तथैव कृतम्। नलवनप्रत्यासन्नाश्च सर्वतः पाशा मण्डिताः इतश्च परिभ्रमन्तो यूथाधिपतिसहिता हस्तिनः समाजग्मुः, यूथाधिपतिश्च तानि वनानि परिभाव्य गजान् प्रति उवाच–भोः स्तवेरमाः ! नाऽमूनि न-

लवनानी स्वाभाविकानि, किं त्वस्माकं बन्धनाय केनापि धूर्तेन कृतानि कुटानि, यत एवं नलवनान्यतिप्ररूढान सरस्योवाऽतोवजलसंभृता वर्षासु संभवन्ति, नेदानीं ग्रीष्मकाले । अथ ब्रुवीरन्–प्रत्यासन्न-विन्ध्यपर्वतनिर्झरण प्रवाहत एवं सरस्यो भृता नलवनानि चाति प्रतिरूढानि, ततो नामूनि कूटानि । तदयुक्तम् । अन्यदाऽपि हि खलु निर्झरणान्यायीरन्, नचैवं कदाचनाप्यतिजलभृताः सरस्योभूवन् । तथा च तदर्थसंग्राहिकामेव निर्युक्तिकारो गाथां पठति–

विइयमेयं गयकुलाणं, जयारोहंति नलवणा ।
अन्नया वि ज्झरंति दहा , न पण एवं वहूदगा ॥

विदितमेतत् गजकुलानां यदारोहन्ति अतिशयेन प्ररूढानि भवन्ति नलवनानि तस्मान्नामूनि स्वाभाविकानि । अथ निर्झरणवशादेवं प्ररूढानि । तत आह–अन्यदाऽपि ह्रदा झरन्ति, न त्वेवं कदाचनापि बहूदकाः सरस्योऽभवन्, तस्माद् धूर्तेन केनाप्यमूनि कूतानि कूटानीति माऽत्र यूयं यासिष्ट । एवमुक्ते यैस्तद्वचः प्रतिपन्नं ते दीर्घकालं वने स्वेच्छाविहारसुखभोगिनोजाता, यैस्तु न कृतं ते बन्धबुभुक्षादिदुः-खभागिनः । इहापि गजयूथाधिपतेर्नलवनसदोष निर्दोषरूपतया परिभाविता द्रव्यगवेषणा, दार्ष्टान्तिकयोजना तु पूर्ववत् स्वयमेव भावनीया । तदेवमुक्ता द्रव्यगवेषणा सांप्रतं भावगवेषणा कर्तव्या, सा चोद्गमोत्पादनाशुद्धाऽऽहारविषया । पिं । एवणागवेषणाशब्दावेकार्थौ । पञ्चा १३ विव० ओघ० पं००चू० व्यतिरेकधर्मालोचने, औ०।

गव्व पुं०(गर्व) अनुशये, अनु० माने, प्रव०२१६ द्वार । शौण्डीर्ये, भ०१५ श०१ उ० आचा० तदात्मके गौणमोहनीयकर्मणि, स०५२ सम०।

गव्विय त्रि०(गर्वित्) अभिमानिनि, कल्प०३ क्षण ।

अथगर्वितमाह–

पुरिसम्मि दुव्विणीए, विणयविहाणं न किंचि आइक्खे ।
न वि दिज्जइ आभरणं, पलियत्तियकण्णहत्थस्स ॥

इह यः श्रुतमधीयानः तदवलेपादेव च दुर्विनीतो भवन्नुपलभ्यते, तादृशे पुरुषे विनयविधानं कर्म विनयनोपाय आचारादिश्रुतजातं, किञ्चिदपि स्तोकमपि नाऽऽचक्षीत, यतो नापि नैव दीयते आभरणं कुण्डमल-कङ्कणादिकं परिकर्तितकर्णहस्तस्य पुरुषस्य । एवं श्रुतभरणमपि विनयविकलाङ्गस्य जिनवचनवेदिना न दातव्यम् ।

अथाऽस्यैव सविशेषमपात्रताख्यापनार्थमाह–

मद्दवकरणं नाणं, तेणेव उ जे मदं समुवहंति ।
ऊणगमायणसरिसा, अगदो वि विसायते तेसिं ।

मार्दवं माननिग्रहस्तत्करणं तत्कारकं ज्ञानं तेनैव ज्ञानेन ये दुर्विदग्धा मदमहङ्कारं समुद्वहन्ति । कथंभूता ऊँनकभाजनसदृशा असंपूर्णमृद्घटादि-भाजनतुल्याः, यथा किल तत् भडभडायते तथैतेऽपि दुरधीतविद्याल-वतया निजपाण्डित्यगर्वाध्माता यदपि तदपि लपन्तस्तिष्ठन्ति तेषामगदोऽपिविषापहारमप्यौषधं विषायते विषरूपतया परिणमते । गतं गर्वितद्वारम् । बृ०१ उ०।

गव्वित त्रि०(गर्ववत्) **''आल्विल्लोल्लाल–वन्त–मन्तो–तेर–मणा मतोः''।८।२।१५६।** इति मतोः स्थाने इरादेशः। नर्वयुक्ते, प्रा०२ पाद।

गस धा०(ग्रस) अदने, **''ग्रसेर्घिसः''।८।४।२०४।** ग्रसेर्घिस इत्यादेशो वा भवति। 'घिसइ, गसइ' ग्रसति। प्रा०१ पाद।

गह पुं०(ग्रह) ग्रह अच्। अनुग्रहे, निर्बन्धे, आदाने, ग्रहणे, स्वीकारे, अने० रणोद्यमे, मलबन्धे, वाच० गीतस्य उत्क्षेपारम्भरसविशेषे, दश०२ अ० गार्ध्ये, तात्पर्ये, आचा०१ श्रु०३ अ०३ द०''गहाणुमेओ सरीरमिति'' स्था०१ ठा०१ उ० कर्मणो बन्धे, दश०४ अ० ज्योतिष्कभेदे राह्वादौ, प्रश्न०२ आश्र० द्वार । स्था०।(ग्रहाणां सर्वोऽप्यधिकारो 'जोइसिय' शब्दे(अङ्गारकादयो भावाः केत्वन्ता अष्टाशीत्यन्ता महाग्रहाः स्वस्थाने)

गहकल्लोल राहौ, दे०ना०२ वर्ग।

गहगज्जिय न०(ग्रहगर्जित) ग्रहसंचालनादौ गर्जितानि स्तनितानि ग्रहगर्जितानि। भ०३ श०६ उ० ग्रहचारहेतुकेषु गर्जितेषु, जी०३ प्रति०।

गहगण त्रि०(ग्रहगण) ग्रहसमूहे, ''गहगयदिप्पंतरिक्खतारागणाण मज्झे''कल्प०३ क्षण।

गहगणोरुणायग पुं०(ग्रहगणोरुनायक) ग्रहगणस्य ग्रहसमूहस्योरु महान् नायको यः स तथा। सूर्ये, कल्प०३ क्षण।

गहचरिय न०(ग्रहचरित) ज्योतिष्कं ज्योतिःशास्त्रे, व्य०४ उ० तत्परिज्ञानि, स०७३ सम०।

गहजुद्ध न०(ग्रहयुद्ध) अन्यस्य ग्रहस्य मध्येनैकस्य गमने,जी०३ प्रति० ग्रहयोरेकनक्षत्रे दक्षिणोत्तरेण समश्रेणितयाऽवस्थाने, भ००३ श०६ उ०

गहण न०(गहन) गह–ल्युट् ''कृच्छ्रगहनयोः कषः''।७।२।२२। इति (पाणि०) सूत्रनिर्देशात्, पृषो० वा ह्रस्वः। 'गह' गहने, ल्युट् वा । निर्जलप्रदेशे, अरण्यक्षेत्रे, आचा०२ श्रु०३ अ,३ उ० धवादिवृक्षैः कटिसंस्थानीये, सूत्र०१ श्रु०३ अ०३ उ० अतिशयेन गुपिले, नं० आव० स्था० व्य०।वृक्षगह्वरे, विपा । प्रश्न० ओघ० वननिकुञ्जे, दश०८ अ० वृक्षवल्लीलतावितानवीरुत्समुदाये, भ०१ श०६ उ० सूत्र० गंहनमिव गहनम् । परव्यामोहनाय वचनजाले, भ०१२ श०५ उ० तदात्मके गौणमोहनीयकर्मणि, स०५२ सम०। गहनमिव गहनं दुर्लक्ष्यान्तस्तन्त्रत्वात् विंशतितमे गौणालोके, प्रश्न०२ आश्र० द्वार।

गहण न०पुं० गृह्यतेऽवगम्यते शब्दादिरर्थोऽनेनेति ग्रहणम्। दर्शने, स्था०२ ठा०१ उ० गृह्यते इति ग्रहणम् । कृत् ''बहुलम् ५।१।२।इति (हैम० वचनात् कर्मण्यनट्। शब्दद्रव्यसमूहे, आ०म०प्र०। वाग्द्रव्यनिकुरम्बे, विशे० गृह्यते अनेनेति ग्रहणम् । आक्षेपके, गृह्याति इति ग्रहणम् । बहुलवचनात्कर्तरि ल्युट् । ग्राहके, गृह्यते इति ग्रहणम् । कर्मणि ल्युट् । गृह्ये, उत्त०३२ अ० ''रूवस्स चक्खू गहणं वयंति'' विशिष्टेन हि रूपेण चक्षुराक्षिप्यते तद्वदन्त्यभिदधति तीर्थकृतः, अनेन रूपचक्षुषोर्ग्राह्यग्राहक-भाव उक्तः । तथा च न ग्राहकत्वं विना ग्रह्यत्वम्, नापि ग्राह्यत्वं विना ग्राहाकत्वम्। उत्त०३ अ० 'ग्रह' भावे ल्युट्। आलोचने, वि शे आत्मनो-

ऽवधारणे, उत्त०१ अ०। स्वीकरणे, पञ्चा०१० विव०। उपादाने, सूत्र०१ श्रु०१४ अ०।म०। नि०चू०। पञ्चा०।

आदाणे गहणम्मि य, णिक्खेवो हों ति दोन्नि वि चउक्को।

ग्रहणेऽपि नामादिकश्चतुर्धा निक्षेपो द्रष्टव्यः। भावार्थोऽप्याहानपदस्येव द्रष्टव्यः, तत्पर्यायत्वादस्येति एतच्च। ग्रहणं नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रार्थनयाभिप्रायेणाऽऽदानपदेन सहालोच्यमानं शक्रेन्द्रादिदेवकार्थमभिन्नार्थं भवेत्। शब्दसमभिरूढैत्थंभूतशब्दनयाभिप्रायेण नानार्थं भवेत्। सूत्र०१ श्रु०१५ अ०। शास्त्रार्थोपादाने, ध० अधि०। गुरुसमीपे इत्वरं यावत्कालं वा व्रतप्रतिपत्तिः। ध०२ अधि०। गुरुमूले श्रुतधर्मेत्यादिविधिना सम्यक्त्वव्रतोपादाने, ध०२ अधि०।

गिण्हइ गुरूण मूले, इत्तरमियरं व कालमह ताइं॥

गृह्णाति प्रतिपद्यते, गुरूणामाचार्यादीनां मूले समीपे, आनन्दवत्। आह–स श्रावको देशविरतिपरिणामे सति व्रतानि प्रतिपद्यते, असति वा ? किञ्चातः ? यद्याद्यः पक्षः–किं गुरुसमीपगमनेन ? साध्यस्य सिद्धत्वात्। प्रतिपद्यापि प्रतानि देशविरतिपरिणाम एव साध्यः, स चास्य स्वत एव सिद्ध इति, गुरोरप्येवं परिश्रमयोगान्तरायदोषपरिहारः कृतः स्यादिति। द्वितीयश्चेत्तर्हि द्वयोरपि मृषावादप्रसङ्गात्परिणामाभावे पालनस्याप्यसंभवात्। तदेतत्सकलं परोपन्यस्तमचारु। उभयथाऽपि गुणोपलब्धेः। तथाहि–सत्यपि देशविरतिपरिणामे गुरुसमीपप्रतिपत्तौ तन्माहात्म्यान्मया सद्गुणस्य गुरोराज्ञाऽऽराधनीयेति। प्रतिज्ञानिश्चयाद् व्रतेषु दृढता जायते, जिनाज्ञा चाराधिता भवतीति। उक्तं च–

''गुरुसक्खिओहु धम्मो, संपुन्नविहि कयाहि य विसेसा।

तित्थयराणं आणा, साहुसमीपम्मि वोसिरओ''॥

गुरुदेशनाश्रवणोद्भूतकुशलतराध्यसायात्कर्मणामधिकतरैः क्षयोपशमः स्यात्तस्माच्चाल्पं व्रतं प्रतिपित्सोरपि बहुतमव्रतप्रतिरूपजायते इत्यादयोऽनेके गुणा गुरोरन्तिके व्रतानि गृण्हतः संभवन्ति, तथाऽसन्नपि विरतिभावो गुरुपदेशश्रवणान्निश्चयसारपालनातो वाऽवश्यं भावी सरलहृदयत्व स्येति, द्वयोरपि गुरुशिष्ययोर्मृषावाणभाव एव गुणलाभात्। शठाय पुनर्नदेयान्येव गुरुणा व्रतानि, छद्मस्थतया पुनरलक्षितशाठ्यस्य शठस्यापि दाने गुरोः शुद्धपरिणामतवददोष एव। न चैतत् स्वमनीषिकयोच्यते। यदुक्तं श्रावकप्रज्ञप्तौ –

''संतम्मि विपरिणामे गुरुमूलपवज्जणम्मि एस गुणो।

दढया आणाकरणं, कम्म , खवोवसमवुड्ढी य॥१॥

इह अहिए फलभावे, न होइ उभयपलिमंथदोसो वि।

तय भावम्मि वि दुण्ह वि, न मुसावाओ वि गुणभावा॥२॥

तग्गहणओ सिय तओ, जायइ कालेण असढभावस्स।

इयरस्स न देयं चिय, सुद्धो छलिओ वि जइ असढो''॥३॥

कृतं विस्तरेण। कथं गृह्णातीत्याह–इत्वरं चतुर्मासादिप्रमितमितरद् वा यावत्कथिकं वा कालं यावदर्थपरिज्ञानानन्तरं, तानीति प्रस्तुतव्रतानीति। ध०२०। ऐकेन्द्रियादीनामुपादानम्। आव०४ अ०। (गृहीतानां च परिष्ठापनं 'परिट्ठावणा' शब्दे, गृहीतस्य पुनः परिष्ठापनं तु 'परिट्ठावणिया' शब्दे)

अन्यानि ग्रहणानि–

तिविहं च होइ गहणं, सचित्ताचित्त मीसगं चेव।

एएसिं नाणत्तं, वोच्छामि अहाणुपुव्वीए॥

त्रिविधं च भवति ग्रहणम्। तद्यथा–सचित्तग्रहणम्, अचित्तग्रहणं, मिश्रग्रहणं च एतेषां त्रयाणामपि नानात्वं यथानुपूर्व्या वक्ष्यामि।

तत्र सचित्तग्रहणं तावदाह–

सचित्तं पुण दुविहं, पुरिसाणं चेव तह य इत्थीणं।

एक्केक्कं पि य इत्तो, पंचविहं होइ नायव्वं।

सचित्तग्रहणं पुनर्द्विविधम्, तद्यथा–पुरुषाणां वाऽऽचार्यादीनां, स्त्रीणां प्रवर्तिनीप्रभृतीनाम्, एकैकमपि इतो मूलभेदापेक्षया पञ्चविधं वक्ष्यमाणनीत्या पञ्चप्रकारं भवति ज्ञातव्यम्।

कुतः पुनः तेषां पुरुषाणां स्त्रीणां वा ग्रहणं क्रियते इत्याह–

उदगागणितेणोमे, अद्धाण गिलाण सावय पदुट्ठे।

तित्थाणुसज्जणाए, अइसेसगमुद्धरे विहिणा॥

उदकवाहकेनाचार्योदयो नेतुमारब्धाः (अगण त्ति) महानगरप्रदीपनकें वा दाहस्तेषां समुपस्थितः (तेण त्ति) शरीरस्तेना आचार्यादीन् व्यापादयितुमिच्छन्ति, अवडं दुर्भिक्षं, तत्र भक्तपानलाभाभावास्त्राणसंशयस्तेषामुपतस्थे, अध्वानमच्छिन्नपातं महदरण्यं, तं प्रपन्नानामपान्तराले बुभुक्षापरिश्रमादिभिरग्रतो गन्तुमशक्नुवतां जीवितं संशयतुलामधिरूढम्, (गिलाण त्ति) शूलविषविशूचिकादि कमागाढग्लानदमुपपादितम्। श्वापदाः सिंहव्याघ्रादयः, तैरुपद्रोतुमारब्धः, प्रद्विष्टः प्रद्वेषमापन्नो राजा साधूनां प्राणापहारं कर्तुमभिलषति। एतेषु आगाढकारणेषु तीर्थानुषज्जनाय तीर्थस्याव्यवच्छेदेनानुवर्तनाय योऽतिशायी विशिष्टपात्रभूतः प्रवचनाधरः पुरुषस्तं विधिना वक्ष्यमाणनीत्या समुद्धरेत्।

अथ यदुक्तमेकैकं पञ्चविधं ग्रहणं भवति , तत्र पुरुषविषयं तावदाह–

आयरिए अभिसेगे, भिक्खू खड्डे तहेव थेरे य।

गहणं तेसिं इणमो, संजोगगमं तु वोक्छामि॥

आचार्यो गच्छाधिपतिः, अभिषेकः सूत्रार्थतदुभयोपेत आचार्यपदस्थापनार्हः, भिक्षुः प्रतीतः, क्षुल्लको बालः, स्थविरो वृद्धः, एतेषां पञ्चानामपि ग्रहणमनन्तरमेव वक्ष्यमाणं संयोगमसंयोगतो गमाः प्रकारः यस्य तत्तथा वक्ष्यामि।

प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति–

सव्वे वि तारणिज्जा, संदेहाओ परक्कमे संते।

एक्किक्कं अवणिज्जा, जाव गुरू तत्थिमो भेदो॥

पराक्रमे शक्तौ यत्यां सर्वेऽप्याचार्यादयस्तादृशात्तु संदेहान्नद्याद्युदकनिमज्जनलक्षणात्तारणीयाः, एकैकोऽपि यावद् गुरुरपनेतव्यः, किन्तु तत्रायं भेदो भवति।

तरुणो निप्फन्न परिवारे, सलद्धिए जो वि होति अब्भासे।

अभिसेगम्मि य चउरो, सेसाणं पंच चेव गमा॥

इह द्वावाचार्यौ, एकस्तरुणोऽपरः स्थविरो, यद्यस्ति शक्तिस्ततो द्वावपि तारणीयौ, अथ नास्ति, ततस्तरुणो निस्तारणीयः। अथ द्वावपि तरुणौ, ततो यस्तयोर्निष्पन्नः सम्यक् सूत्रार्थकुशलः स तारयितव्यः। अथद्वावपि निष्पन्नावनिष्पन्नौ वा, ततो यः सपरिवारः स तारणीयः अथ द्वावपि सपरिवारावपरिवारौ वा, ततो यस्तत्र सलब्धिको लब्धिसंपन्नस्तं तारयेत्। अप

द्वावपि सलब्धिकावलब्धिकौ वा, ततो योऽभ्यासे अस्ति स्थितः स निस्तारणियः। अत्रार्थे विशेषसंप्रदायःद्वयोरभ्यासे स्थितयोर्यस्तरीतुमशक्तः स तारणीयः। एवमेते आचार्यस्य पञ्च गमा अभिहिताः, अभिषेकस्तु नियमान्निष्पन्नो भवति, अन्यथा तत्त्वत आचार्यपदस्थापनयोग्यत्वानुपपत्तेः। ततस्तस्मिन्नभिषेके निष्पन्ननिष्पन्नगमाभावात् शेषाश्चत्वारो गमा एवमेव वक्तव्याः। शेषाणां भिक्षुल्लकस्थविराणां पञ्चापि गमा भवन्ति, ते चाचार्यवद्वक्तव्याः। न च बालस्य निष्पन्नता श्रीवज्रस्वामिन इव भावनीया, तरुणता तु प्रथमकुमात्वेवर्तमानस्य, शेषस्य तु बृद्धता मन्तव्या। त्रयाणामपि। च भिक्षुप्रभृतीनां परिवारो गुरुप्रदत्तो मातापितृभ्रातृभगिनी प्रभृतिपव्रजितस्वजनवर्गो वा द्रष्टव्यः।

अथ स्त्रीविषयं पञ्चविधग्रहणमुपदर्शयति–

पवितिणिऽभिसेगपत्ता, थेरी तह भिक्खुणी य खुड्डी य।
गहणं तासिं इणमो, संजोगगमं तु वोच्छामि॥

प्रवर्तिनी सकलसाध्वीनां नायिका, अभिषेकं प्राप्ता प्रवर्तिनी पदयोग्या, स्थविरा वृद्धा, भिक्षुणी प्रतीता, क्षुल्लिका वास्ता एतासां पञ्चानामि ग्रहणमिदमनन्तरमेव संयोगगमस्वं संयोगतोऽनेकप्रकारं वक्ष्यामि।

यथा पतिज्ञातमेवाह–

सव्वा वि तारणिज्जा, संदेहाओ परक्कमे संते।
एक्केक्कं अवणिज्जा, जा गणिणी तत्थिमो भेदो॥
तरुणी निप्फन्नपरिवारा, सलद्धिया जा य होइ अब्भासे।
अभिसेगाए चउरो, सेसाणं पंच चेव गमा॥

इदं गाथाद्वयं साधुगतगाथाद्वयमिव व्याख्येयम्।

परः प्रेरयन्नाह–

बाला य वुड्ढा य अजंगमा य, लोगे वि एते अणुकंपणिज्जा।
सव्वाणुकंपाएँ समुज्जएहिं, विपञ्जओऽयं कहमीहितो मे॥

बालाश्च वृद्धाश्च अजङ्गमाश्चेति लोकेऽपि तावदेते अनुकम्पनीया इष्यन्ते, अतः सर्वेषामपि निर्विशेषमनुकम्पायां समुद्यतैः कथमयं 'मे' भवद्भिर्विपर्ययो वैपरीत्यमीहितमङ्गीकृतं यदेवं बालस्थविरौ परित्यज्य आचार्यादीन्निस्तायन्ति, वृद्धं वाऽजङ्गममाचार्यं विमुच्य तरुणस्तार्यते।

पर एवं प्रत्युत्तरमाशङ्कां परिहरन्नाह–

जइ वुड्ढी चिरजीवी, तरुणो थेरो य अप्पसेसाऊ।
सोवक्कम्मि देहे, एयं पि न जुज्जए वोत्तुं॥

यदीत्यथशब्दार्थे, अथैवं भवतां बुद्धिः स्यात्–चिरजीवी प्रभूतवर्षजीवितस्तरुणः, स्थविरः पुनरल्पशेषायुः स्तोकशेषायुष्कः, अतः स्थविरं विमुच्यते तरुणं तारयामः। एतदप्यसमीचीनम्। कुत इत्याह–सोपक्रमे अध्यवसाननिमित्तादिभिर्गतायुष्कापक्रमकारणैः सप्रत्यपाये देहे सति एतदपि चिरजीवितादिकं वक्तुं न युज्यते।

अवि य हु असहु थेरो, पयरत्तियरो कदाइ संदेहं।
ओरालमिदं बलवं, जं घेप्पइ मुचई अवलो॥

अपिचेत्यभ्युच्चयं, हुर्निश्चयेस्थविरो वृद्धत्वादेवासहिष्णुर्न तरीतुं शक्नोति, इतरस्तु तरुणः समर्थतया कदाचित् स्वयमेव संदेहमुदकवाहकहरणरूपं प्राणसंदेहकारणं प्रतरेत्। अतोऽत्र उदारं स्थूरमिदं भवदीयं वचनं यद्बलवांस्तरुणो गृह्यते, अबलस्तु, स्थविरो मुच्यते।

इत्थं परेणोक्तं सूरिराह–

आय परे उवगिण्हइ, तरुणो थेरो य तत्थ भयणिज्जो।
अणुवक्कमे वि थोवो, चिट्ठइ कालो उ थेरस्स॥

तरुण आचार्यादिरपूर्वसूत्रार्थग्रहणतपःकर्मकरणादिना, वस्त्रपात्रादिसंपादसूत्रार्थप्रदानादिना चाऽऽत्मानं परांश्चोपगृह्णति, स्थविरस्तु तत्राऽऽत्मपरोपग्रहकरणे भजनीयः कदाचित्तं कर्तुं समर्थः, कदाचित्तं नेति भावः। तथा अनुक्रमेऽपि आयुष उपक्रममन्तरेणापि स्थविरस्य स्तोक एव कालोऽवशेषस्तिष्ठति, तरुणस्य तु सोपक्रमायुषोऽपि स्तोको वा भवेद्, द्राघीयान् वा, ततो ''सोवक्कमम्मि देहे'' इत्यादि यदुक्तं तत्किं वदेत्?

अथ यदुक्तं बालवृद्धादयो लोकेऽप्यनुकम्पनीया इति तत्परिहाराय लौकिकमेव दृष्टान्तमाह–

दुग्घासे खीरवती, गावी पुस्सइ कुडुंबभरणट्ठा।
मोत्तु फलदं च रुक्खं, को मंदफला सलिल पोसे॥

दुर्ग्रासं दुर्भिक्षं तत्र यथा क्षीरवती, भूम्नि मतुप्रत्ययविधानात् बहुक्षीरा, गौः कुटुम्बभरणार्थं पोष्यते–चारिप्रदानादिना पुष्टिं नीयते एवमस्माकमपि य आचार्यादिस्तरुणादिगुणोपेततया आत्मनः परेषां चोपग्रहं कर्तुं समर्थः स निस्तीर्यते, तस्य निस्तारणे हि बहूना बालवृद्धादीनामपि तदाश्रिता अनुकम्पा कृता, अथ तं परित्यज्य क्षुल्लकस्त्वचिरादिस्तस्य आपदं स्तार्यते, ततो बहवो बालादयस्तदाश्रिताः परित्यक्ता भवन्ति। अपि च–फलनादिना पुष्टिदायिनं वृक्षं मुक्त्वा को नाम मन्दफलान् वा वृक्षान् पुष्णीयात्–सरणिसालेलसेचनादिना पुष्टिं प्रापयेत्? न कोपीत्यर्थः। उपनयनयोजना प्राग्वत् द्रष्टव्या। उक्तं सचित्तग्रहणम्।

अथ मिश्रग्रहणमाह–

एमेव मीसए वी, नेयव्वं होइ आणुपुव्वी ए।
वोच्छेदे चउगुरुगा, तत्थ वि आणाइणो दोसा॥

एवमेव मिश्रविषयमपि ग्रहणमानुपूर्व्या आचार्यप्रवर्तिन्यादिपरिपाट्या ज्ञातव्यं भवति। अथ यथोक्तक्रममुल्लङ्घ्य विपर्यासेन पुरुषाणां स्त्रीणां चाग्रहणं करोति ततश्चतुर्गुरुकाः। तत्रापि चाज्ञादयो दोषा भवन्ति।

अथ मिश्रग्रहणं कीदृशं प्रतिपत्तव्यमित्युच्यते–

मीसगगहेणं तती उ, विनिवाओ जो सभंमत्ताणं।
अहवा वि मीसयं खलु, उभयो पच्चक्खओ घोरो॥

इह यः सभाण्डमात्राणां पात्रमात्रकाद्युपकरणसहितानां साध्वीनां वा विनिपात उदकवाहके निमज्जनं तत्र तद्विषयं यद् ग्रहणं तन्मिश्रग्रहणमुच्यते। अथ वा यदुभयोरपि साधुसाध्वीलक्षणयोः पक्षयोः घोरो रौद्रो युगपदुदकवाहकेनापहरणलक्षणोऽत्ययः प्रत्यपायस्ततो यद् ग्रहणं तन्मिश्रग्रहणमिति मन्तव्यम्।

अथामुमेव द्वितीयव्याख्यानपक्षमङ्गीकृत्य तिरस्करणविधिमाह–

सव्वत्थ वि आयरियो, नित्थीरइ तओ पवित्तिणी होइ।
तो अभिसेगं पत्तो, सेसेसु तु इत्थिआ पढमं ॥

द्वयोरपि पक्षयोरुदकेन ह्रियमाणयोर्यद्यस्ति शक्तिस्ततो युगपन्निस्तारणं कार्यम्। अथ नास्ति युगपन्निस्तारणसामर्थ्यं ततः सर्वत्रापि प्रथममाचार्यो निस्तारणीयः। आचार्यानन्तरं प्रवर्तिनी तारयितव्या भवति, ततः प्रवर्तिन्या अनन्तरमभिषेकपदं प्राप्तः, ततः शेषेषु तु भिक्षुप्रभृतिषु पदेषु प्रथमं स्त्री निस्तारयितव्या, ततः पुरुषः। तदा हि भिक्षुण्योर्मध्ये प्रथमं भिक्षुणी, ततो भिक्षुस्तारणीयः, क्षुल्लकक्षुल्लिकयोर्मध्ये प्रथमं क्षुल्लिका, ततः क्षुल्लकः। स्थविरयोः प्रथमं स्थविरा, ततः स्थविर इति।

अथ किमर्थं तेषु प्रथमं स्त्री निस्तार्यते–

अन्नस्स वि संदेहं, दट्ठुं कंपंति जा लयाओ व्व।
अवलाओ पगइभया–लुगा तु रक्खा अतो इत्थी ॥

अन्यस्यापि पुरुषादेः संदेहमापदं दृष्ट्वा स्त्रियः पवनसंपर्कतो लता इव कम्पन्ते, याश्च अबलाः प्रकृत्या स्वभावेनैव च भयालुका भयबहुला अतस्ताः स्त्रियः प्रथमं रक्षणीयाः।

आह–साधुसाध्वीनां निस्तारणे किमेष एवाचार्यप्रवर्तिन्यादिके क्रम उतान्यथाऽप्यस्ति?

उच्यतेअस्तीति ब्रूमः। तथा चाह–

जं पुण संभावेमो, भाविणमहियममुकवत्थूओ।
तत्थूक्कमं पि कुणिमो, छेओदइए वणियभूया य ॥

पुनः क्षुल्लकादिकमपि अमुकादाचार्यदेः वस्तुनः सकाशात् प्रवचनप्रभावनादिभिर्गुणैरधिकं सातिशयं भाविनं भविष्यन्तं संभावयामः। तत्र वयमुक्तमपि यथोक्रमोल्लङ्घनमपि कुर्महे, क्षुल्लकादिकमपि प्रथमं तारयाम इत्यर्थः। कथंभूता इत्याह–छेदश्च व्ययः, औदयिकश्च लाभः, छेदौदयिकम्; तत्र वणिग्भूताः सन्तः। किमुक्तं भवति? यथा वणिग्देयं प्रभूतलाभमल्पव्ययं वस्तु, तस्य ग्रहणं करोति। एवं वयमपि यत्र विशिष्टपात्रभूते वस्तुनि गृहीते प्रवचनप्रभावनातीर्थाव्यवच्छेदादिको भूयान् लाभः समुज्रम्भते, स्वल्पश्चेतरपरित्यागलक्षणो व्ययः, तं क्षुल्लकादिकमपि गृह्णीम इति। एवं तावदुदकविषयं ग्रहणमभिहितं, तथैव एतेष्वपि सचित्तमिश्रभेदात् तद् द्विविधमपि वक्तव्यम्।

अथाचित्तग्रहणमभिधित्सुराह–

अचित्तस्स उ गहणं, अभिनवगहणं पुराणगहणं च।
ओघउवणाएँ गहणं, तह य उवट्ठावि गहणं ॥

अचित्तं वस्त्रपात्रादिकमुपकरणं, तस्य ग्रहणं द्विधा–अभिनवग्रहणं, पुराणग्रहणं च। तत्राभिनवं प्रथममेव यद् वस्त्रादेर्ग्रहणं तदभिनवग्रहणं, पुराणस्य प्राग्गृहीतस्य चोलपट्टकादेः कूर्परादिना ग्रहणं द्विधा–ओघोपधिविषयम्, उपस्थापनायां ग्रहोपस्थितौ तदग्रहणम्। तत्रोपस्थापनायां हस्तिदन्तोन्नताकारहस्त-ादिभिर्यद्रजोहरणादि गृह्यते तदुपस्थापनाग्रहणम्। उपस्थापितस्य छेदोपस्थापनीयचारित्रं प्रापितस्य यदुपधेर्धारणं परिभोगो वा तदुपस्थापितग्रहणम्।

एतामेव गाथां व्याख्यानयति–

ओहे एवग्गहम्मि य, अभिनवगहणं तु होइ अचित्तो।
इयरस्स वि होइ दुहा, गहणं तु पुराणउवहिस्स ॥

अचित्तस्य वस्त्रपात्रादेरभिनवग्रहणं द्विधाओघोपधिविषयम्, औपग्रहिकोपधिविषयं च। इतरस्यापि पुराणोपधिग्रहणं द्विधाउपस्थापनाग्रहणमुपस्थापितग्रहणं चेत्यर्थः।

अथ वा अभिनवग्रहणमिदमनेकविधम्–

जायणनिमंतणुवस्सय–परियावन्नं परिट्ठविय नट्ठं।
पम्हुट्ठ पडिय गहियं, अभिनवगहणं अणेगविहं ॥

याञ्चा अभिलषणं, निमन्त्रणा गृहस्थानामभ्यर्थना, तत्पुरस्सरं यद्वस्त्रादेर्ग्रहणं यच्चोपाश्रये पर्यापन्नस्य पथिकादिभिर्विस्मृत परित्यक्तस्य वस्त्रादेर्ग्रहणं, यच्च परिष्ठापितस्य भूयः कारण ग्रहणम्, अथ नष्टं हारितं, 'पम्हुट्ठं' विस्मृतं, पतितं हस्तात् परिभ्रष्टं गृहीतं प्रत्यनीकेन बलादाश्चिछद्य स्वीकृतम्, एतेषां पुनर्लब्धानां यद् ग्रहणमेवमादिकमनेकविधमभिनवग्रहणं मन्तव्यम्।

अथ याञ्चानिमन्त्रणाग्रहणयोर्विधमतिदिशन्नाह–

जो चेव गमो हेट्ठा, उस्सग्गाईउ वत्थगहणे तु।
दुविहोवहिम्मि सो चिय, कास त्ति य किं ति कीस त्ति ॥

य एव गमः प्रकारोऽधस्तात् पीठिकायां कायोत्सर्गादिके वस्त्रग्रहणविषयो वर्णितः, स एवाऽत्र द्विविधोपधेरौधिकौपग्रहिकक्षणस्य सत्कमेतद्वस्त्रपात्रादिकं पूर्वमासीद्, भविष्यति वा, कस्माद्वा प्रयच्छसीति पृच्छात्रयशुद्धो द्रष्टव्यः। उपाश्रयपर्यापन्नवस्त्रादिग्रहणविषयस्तु विधिरिहैवोद्देश्यके पुरस्तादभिधास्यते। परिष्ठापितादेस्तु यथा कारणतो भूयो ग्रहणं क्रियते तथा व्यवहाराध्ययने भणिष्यते। गतमभिनवग्रहणम्। अथ पुराणग्रहणम्। तच्च द्विधाउपस्थापनाग्रहणम्, उपस्थापितग्रहणं च।

तत्राऽऽद्यं तावदाह–

कोप्परपट्टगगहणं, वामकरानामियाएँ मूहपोत्तिं।
रयहरण हत्थिदंतु न्नएहि हत्थेहुवट्ठवणं ॥

कूर्पराभ्यां चोलपट्टस्य ग्रहणं कृत्वा वामकरस्थया अनामिकया मुखपोतिकां गृहीत्वा राजोहरणं हस्तिदन्तोन्नम्याभ्यां हस्ताभ्यामादाय उपस्थापनं कर्तव्यं शैक्षस्य व्रतस्थापनाविषये इत्यर्थः।

अथोपस्थापितग्रहणमाह–

उवठावियस्स गहणं, अहभावे चकेव तह य परिभोगे।
एक्केक्कं पायादी, नेयव्वं आणुपुव्वीए ॥

उपस्थापितस्य यदुपकरणं तद् द्विधा–यथाभावः, परिभोगश्च। अनेन च द्विविधेनापि ग्रहणेन एकैकं पात्रादिकं आनुपूर्व्या परिपाट्या नेतव्यं ग्रहीतव्यम्।

इदमेव भावयति–

पडिठा वियं तु अत्थइ, पायाई एस होतऽहाभावो।
सद्दव्व पाण भिक्खा–निल्लेवण पायपरिभोगो ॥

यत्पात्रादिकं प्रतिष्ठापितं विवक्षितसाधुलक्षणेन स्वामिना

प्रगृहीतं सत् आस्ते तदिदानीं परिभुज्यते, एष यथाभावो भवति। तच्च परिग्रहो, धारणमित्यर्थः। परिभोगो नाम यत्पाऽदि यस्यां वेलायां परिभुज्यते० तच्च सत् शोभनमाचार्यादिप्रायोग्यं यद् द्रव्यं यच्च पानकं भैक्षं वाऽऽत्मनो योग्यं तत्पात्रे गृह्यते, निर्लपनं च आचमनं, तेन विधीयते। एष पात्रस्य परिभोगः। इह च पात्रशब्देन प्रतिगृहीतमात्रकं वा गृहीतं तथा–

पाणिदयत्थं संथर, पमज्ज चिलिमिलि निसिज्ज कालगते।
गेलन्न लज्ज असहू, छेयण सागारिए भोगो॥

वर्षाकल्पादिके प्राणिदयार्थमप्कायादिजीवरक्षाया निमित्तं परिभोक्तव्यं कल्पत्रयं, शीतरक्षार्थं संस्तारकोत्तरपट्टकैः स्तरणमास्तृतं तदर्थम्, रजोहरणं च प्रमार्जनार्थं गृह्यते, चिलिमिलिका दवरिकादावुपयुज्यते रजोहरणस्य, निषद्याद्वयं निषदनार्थमादयिते। (कालगए त्ति) कालगतस्याऽऽच्छादनार्थमनन्तकादिकं गृह्यते, ग्लानत्वं वा कस्यापि संजातम्–अप्रावृतः सुखेवाऽऽस्तामिति कृत्वा तस्याग्रे चिलिमिलिका दीयते। (लज्ज त्ति) लज्जाव्यपगमनार्थं चोलपट्टकोपरि युज्यते (असहु त्ति) राजादिप्रव्रजिता असहिष्णवस्ते कल्पादिकं प्रावृणीयुः। (छेदण त्ति) नखहारीर्णकापिप्पलकादिना नखप्रलम्बादीनां छेदनं क्रियते (सागारिए त्ति) शैक्षस्य संज्ञातकानां सागारिकं, ततः कल्पादिकं प्रावार्य प्रच्छन्ने स्थाप्यते। एवमादिकः सर्वोऽपि यथायोगमौधिकस्योपग्रहिकस्य चोपधेः परिभोगो मन्तव्यः। उक्तं पुराणग्रहणम्। तदुक्तौ च समर्थितमचित्तग्रहणम्।

एवं क्षपकेण त्रिविधे ग्रहणे प्ररूपिते सति इतरः प्राह–

उवरिं काहसि हिट्ठा, ण याणसि वयणं न होइ एवं तु।
चउरो गुरुगा पुच्छा, नासेहिसि तुं जहा देज्जो॥

यदुपरि कथयितुं योग्यं तत्त्वमधस्तात् पूर्वं कथयसि। इयमत्र भावना–यद्भवता प्रथमयेवाऽऽचार्यादिविषयं पुराणसचित्तग्रहणमभिहितं तदशैक्षलक्षणाभिनवसचित्त ग्रहणप्ररूपणादूर्द्धवं.प्ररूपयितुं योग्यमासीत्, अभिनवपुराणपर्याययोः पूर्वपश्चत् कालभावित्वेन भावात्, तस्य चाभिनवसचित्तग्रहणस्य भवता प्ररूपणैव न कृता, अत एव न जानासि ग्रहणस्वरूपं यथावद् वन्दित्वा विनयेन पृच्छ इत्येवमहंकारदूषितं वचनतयोक्तमेवमभिधीयमानं न भवति सतां पूजनयिमिति वाक्यशेषः। एवं कुर्वाणस्य भवतः चत्वारो गुरुकाः। क्षपकः पृच्छतिकिमत्र मम क्षूणमापतितं येनैवं प्रायश्चित्तं प्राप्नोमि ? इतर आहत्वं पल्लवग्राहितया सम्यक् सिद्धान्ताऽभिप्रायमविज्ञाय जल्पसि। एवं च प्रज्ञापयन् त्वमात्मना नष्टोऽन्यानपि नाशयिष्यसि, यथा स प्रथमोद्देशकभणितो वैद्यः–

''पूर्वाह्णे वमनं दद्या–दपराह्णे विरेचनम्।
वातिकेष्वपि रोगेषु, पथ्यमाहुर्विशेषणम्''॥

इतिश्लोकमात्रं गृहीत्वा चिकित्सां कुर्वन् विनष्टः, एवं भवानपीति चिरन्तनगाथासमासार्थः।

अथैनामेव किञ्चिद् विवृणोति–

वयणं खलु नत्थि कत्थई, गवभरियं कुसलेहि पूजियं।
अहवा न वि पक्खलस्सिमो, पगई एस अजाणुए जणे॥

इतरः क्षेपकं कृते ईदृशं मां वन्दित्वा विनयेन पृच्छ इत्येवंरूपं गर्वभरितमहङ्कारभारगुरुकं वचनं कुशलैर्विद्वद्विर्न कुत्रापि पूजितं श्लाघितम्, अतो नैव भवता वक्तुं युज्यते। अथवा नात्र वयं रुष्यामो गर्वं कर्तुमर्हामः। कुत इत्याह–अज्ञे मूर्खे जने प्रकृतिरेषा, यत्तथाविधज्ञानविकलोऽप्येष औद्धत्यमुद्वहति॥

क्षपकः प्राह–

मूलेण विणा हु केलिसे, तलु पवले य घणे य सोभइ।
न य मूलविभिन्नए घडे, जलमादीणिं धरेइ कत्थइ॥

मूलेन विना तरुवृक्षः, चशब्दावपिशब्दार्थौ, प्रवरोऽपि प्रधानोऽपि, सहकारादिरपीत्यर्थः। घनोऽपि पत्रबहुलोऽपि, कीदृशः शोभते ? न कीदृगपीति भावः। एवं विनयमूलविकलो धर्मोऽपि न शोभां बिभर्ति, तथा न च नैव मूले बुध्ने विभिन्नो घटो जलादीनि वस्तूनि क्वचिदपि धारयति एवं धर्मघटोऽपि विनयमूलः संजातछिद्रो न किमपि ज्ञानादिजलं धारयितुमीष्टे, अतोऽहं विनयं कारयामीति प्रक्रमः।

किं वा मए न नायं, दुविहे गहणम्मि जं जहिं कमती।
मन्नइ अभिनवगहणं, सचित्तं ते न नायव्वं॥

सचित्ताऽचित्तभेदात् द्विविधेऽपि ग्रहणे यद् यत्राऽभिनवं पुराणं वा क्रामति, तत् तव मया किं वा न ज्ञातं, येनैवं न जानासि ग्रहणस्वरूपमित्याद्यभिधीयते, इतरः प्रतिब्रूते भण्यते अत्रोत्तरम्–अभिनवं सचित्तग्रहणं त्वया न विज्ञातम्। तत्त्विदम्–

अट्ठारस पुरिसेसुं, वीसं इत्थीसु दस नपुंसेसु।
पव्वावणा अणरिहा, अनलाए एत्तिया वुत्ता॥
अडयालसिं एते, वज्जित्ता सेसगाण तिण्हं ति।
अभिनवगहणं एयं, सचित्तं ते न विन्नायं॥

पुरुषेषु पुरुषविषया ''बालबुड्ढे नपुंसे य'' इत्यादिगाथाद्वयोक्ता अष्टादश भेदाः, स्त्रीषु त एव गुर्विणीबालवत्सासहिता विंशतिभेदाः, नपुंसकेषु तु 'पंडए वाइए कीवे' इत्यादयो दश भेदाः प्रव्राजनाया अनर्हा अयोग्याः, अत एव एतावन्तो भेदा अनला इति निशीथाऽध्ययने उक्ताः। अलीभूषणपर्यालिवारणेषु इति धातुपाठादपर्याप्ताः, प्रव्रज्यापरिपालने असमर्था इत्यर्थः। एतान् सर्वसंख्यया अष्टाचत्वारिंशद्भेदान् वर्जयित्वा, शेषाणां त्रयाणामपि पुरुषस्त्रीनपुंसकानां प्रव्राजनं कर्तुं कल्पते। एतदभिनवग्रहणं सचित्तं ते त्वया न विज्ञातम्। एवं तेनोक्ते सति क्षपकः सती नोदनेत्यभिधाय प्रवृत्तस्तथैव यथा रत्नाधिको वस्त्रप्रदानं कर्तुमर्हति। बृ०३ उ०। निस्तारणे ,व्य०१ उ०। (राजद्विष्टे सीदतां निस्तारणं 'रायदुट्ठ' शब्दे)

निर्ग्रन्थीसमुद्धरणम्–

पंचहिं ठाणेहिं समणे निग्गंथे निग्गंथिं गिण्हमाणे वा अवलंबमाणे वा णाइक्कमइ। तं जहा–निग्गंथिं च णं अन्नयरे पसुजाइए वा पक्खिजाइए वा ओहाएज्जा, तत्थ निग्गंथे निग्गंथिं गिण्हमाणे वा अवलंबमाणे वा णाइक्कमइ॥

(गिण्हमाणे त्ति) बाह्वादवङ्गे गृण्हन् अवलम्बदामानः पतन्तीं बाह्वादौ गृहीत्वा धारयन्, अथ वा ''सव्वंगियं तु गहणं, करेण अवलंबणं तु देसम्मि त्ति'' नातिक्रामती स्वाचारमाज्ञां वा गीतार्थः, स्थविरो वा, निर्ग्रन्थिकां यथा कथञ्चित् पशुजातीयो दूसगवादिः, पक्षिजातीयो गृध्रादिः (ओहाएज्ज त्ति) उ-

पहन्यात्, तत्रेति उपहनने गृह्णन्नातिक्रामति, कारणिकत्वात्। निष्कारणत्वे तु दोषाः। यदाह–''मिच्छत्तं उड्डाहो, विराहणा फासभावसंबंधो। पडिगमणाई दोसा, भुत्ताभुत्ते य नायव्वा''॥१॥ स्थ०५ ठा०२ उ०।

निग्गंथे निग्गंथिं दुग्गंसि वा विसमंसि वा पव्वयंसि वा पक्खलमाणिं वा पवडमाणिं वा गिण्हमाणे वा अवलंबमाणे वा नाइक्कमइ। निग्गंथे निग्गंथिं सेयंसि वा पंकंसि वा पणगंसि वा उकसमाणिं वा उदुज्झमाणिं वा गिण्हमाणे वा अलंबमाणे वा नाइक्कमइ॥निग्गंथे निग्गंथिं नावं आरुभमाणिं वा० नाइक्कमइ।

अस्य सूत्रत्रयस्य संबन्धमाह–

सो पुण दुग्गे लग्गे–ज्ज कंटओ लोयणम्मि वा अणुगं। इति दुर्गसुत्तजोगो, थला जलं चेयरे दुविहे॥

यः पूर्वसूत्रे पादे प्रविष्टः कण्टको, लोचने बाऽणुकं प्रविष्टमुक्तं, स कण्टकस्तच्चाणुकं दुर्गे गच्छत प्रायो लगेत, अतो दुर्गसूत्रमारभ्यते, इत्येषु दुर्गसूत्रस्य योगः संबन्धः। दुर्गं च स्थलं, ततः स्थलाञ्चलं भवतीति कृत्वा दुर्गसूत्रानन्तरमितरस्मिन् द्विविधे पङ्कविषये नौविषये च सूत्रे आरम्भः क्रियते। अनेन संबन्धेनायातस्यास्य व्याख्या–निग्रन्थो निर्ग्रन्थीं दुर्गे वा, विषमे वा, पर्वते वा (पक्खलमाणिं व त्ति) प्रकर्षेण स्खलनगत्या गच्छन्तीं भूमावसंप्राप्तां वा पतन्तीं पतितुकामामित्यर्थः। (पवडमाणं व त्ति) प्रकर्षेण भूमौ सर्वैरपि गात्रैः पतन्तीं (गिण्हमाणे व त्ति) बाह्वादावङ्गे गिह्णन् वा)अवलंवमाणे व त्ति) अवलम्बमानो वाह्वादौ गृहीत्वा धारयन्, अथ वा गृह्णन् सर्वाङ्गीणं धारयन्नवलम्बमानो देशतः करेण गृह्णन्, साहयन्नित्यर्थः। नातिक्रामति स्वाचारमाज्ञां वा इति प्रथमं सूत्रम्। द्वितीयसूत्रमप्येवमेव, नवरं पङ्को नाम पङ्के पनके वा सजले यत्र निमज्जते, यत्र वा पङ्कः कर्हमः, यत्र वा पनको नाम आगन्तुकप्रपतनहेतुभूतद्रवरूपकर्हम एव, तत्र वा, उदकं प्रतीतं, तत्र वा (उकसमाणिं व त्ति) अपकसन्तीं पङ्कपनकयोः परिडूसन्तीं (उदुज्झमाणिं व त्ति) अपोह्यमानां वा उदकेन व। नीयमानां गृह्णन् अवलम्बमानो वा नातिक्रामति। तृतीयसूत्रे निर्ग्रन्थीनामेव नाम ह्रसंतीं वा अवरोहन्तीं वा गृह्णन् वा अवलम्बमानो वा नातिक्रामतीति सूत्रत्रयार्थः।

सम्प्रति भाष्यकारो विषमपदानि व्याचष्टे–

तिविहं च होति दुग्गं, रुक्खे सावय मणुस्सदुग्गं वा।
णिक्कारणम्मि गुरुगा, तत्थ वि आणादिणो दोसा॥

त्रिविधं च भवति दुर्गम्। तद्यथा–वृक्षदुर्गं, स्वापददुर्गं, मनुष्यदुर्गं च। यद्वृक्षैरतीव गहनतया दुर्गमम्, यत्र वा पथि वृक्षः पतितस्तद्वृक्षदुर्गम्। यत्र व्याघ्रसिंहादीनां भयं तत् श्वापददुर्गम्। यत्र म्लेच्छबोधिकादीनां मनुष्याणां भयं तन्मनुष्यदुर्गम्। एतेषु त्रिष्वपि दुर्गेषु यदि निष्कारणं निर्ग्रन्थीं गृह्णाति, अवलम्बते वा, चतुर्गु आज्ञादयश्च दोषाः।

मिच्छत्तो सतिकरणं, विराहणा फासभावसंबंधो।
पडिगमणादी दीसा, भुत्ताभुत्ते य णेयव्वा॥

निर्ग्रन्थीं गृह्णन्तीं दृष्ट्वा कोऽपि मिथ्यात्वं गच्छेत् अहो! मायाविनोऽमी अन्यद्वदन्ति अन्यच्च कुर्वन्ति, स्मृतिकरणं वा भुक्तभोगिनो भवति। अभुक्तभोगिनस्तु कुतूहलं ततश्च संयमविराधना, स्पर्शतश्च भावसंबन्धो भवति। प्रतिगमनादयो दोषा भुक्तानामभुक्तानां वा साधुसाध्वीनां ज्ञातव्याः।

अथ विषमपदं व्याख्याति–

तिविहं च होति विसमं, भूमिं सावय मणुस्सविसमं वा।
तंसि वि सो चेव गमो, णावोदग ते य जतणाए॥

त्रिविधं च भवति विषमम्–भूमिविषमं, श्वापदविषमं, मनुष्यविषमं च। भूमिविषमं नाम गर्त्तपाषाणाद्याकुलो भूभागः। श्वापदममनुष्यविषमे तु श्वापदमनुष्यदुर्गवन्मन्तव्ये। अत्र भूमिवविषमेणाधिकारः, पर्वतपदं तु प्रतीतत्वात् न व्याख्यात् तस्मिन्नपि विषये पर्वते वा निर्ग्रन्थीं गृह्णतश्चतुर्गुरुक–प्रायश्चित्तादिरूपः स एव मगो भवति, यो दुर्गे भणितः। तथा नावुदके नौकादौ च वक्ष्यमाणस्वरूपे निर्ग्रन्थीं गृह्णतो निष्कारणे त एव दोषाः। (जयणाए त्ति) कारणे यतनया दुर्गादिषु गृह्णीयादवलम्बेत वा। यतना चाग्रतो वक्ष्यते।

प्रस्खलनप्रपतनपदे व्याचष्टे–

भूमीऐं असंपत्तं, पत्तं वा हत्थजाणुगादीहिं।
परिखलणं णायव्वं, पवडण भूमीए गत्तेहिं॥

भूमावसंप्राप्तं हस्तजानुकादिभिः प्राप्तं वा प्रस्खलनं ज्ञातव्यम्, भूमौ प्राप्तं सर्वगात्रैश्च यत्तत्पतनम्।

अथवा वि दुग्ग विसमे, थद्धं भीतं व थेरो तु।
सिचयंतरेतरं वा, गिण्हंतो होति निद्दोसो॥

अथवेति प्रकारान्तरद्योतकः, उक्तास्तावन्निर्ग्रन्थीं गृह्णतो दोषाः, परं द्वितीय एव दुर्गे विषमे वा तां स्तब्धां भीतां वा गीतार्थः स्थविरः, सिचयेन वस्त्रेणान्तरितामितरां वा गृह्णन् निर्दोषो भवति। व्याख्यातं प्रथमसूत्रम्।

संप्रति द्वितीयसूत्रं व्याख्याति–

पंको खलु चिक्खिल्लो, आगंतुपयणुओ दुओ पणओ।
सो पुण सजलो सेओ, सीतिज्जति जत्थ दुविहे वी॥

पङ्कः खलु 'चिक्खिल्ल' उच्यते, आगन्तुकप्रतनको द्रुतश्च पनको यत्र पुनर्द्विविधेऽपि पङ्के पनके वा 'सीइज्जति' निमज्जते, स पुनः सजलः सेक उच्यते।

पंकपणएसु नियमा, उगसण उदुज्झणं सिया सेए।
थिमियम्मि णिमज्जण भा, सजले सेए सिया दो वि॥

पङ्कपनकयोर्नियमादपकसनं द्रसनं भवति, सेके तु 'उदुज्झणं' अपोहनं पानीयेन हरणं स्यात्, स्तिमिते तु तत्र निमज्जनं भवेत्। सजले तु सेके द्वे अपोहननिमज्जने स्याताम्।

अथ तृतीयं सूत्रं व्याख्याति–

ओयारण उत्तारण, अत्थरण च दुग्गहे य सतिकारो।
छेदो व दुवेगयरे, अतिपेल्लण भव मिच्छत्तं॥

कारणे निर्ग्रन्थीनामवतारयन्नारोपयेत्, उत्तारयेद् च, यच्चास्तरणं दुर्ग्रहे या करोति, तदा स्मृतिकारो भुक्तभोगिनो भूयो भवति, छेदो वा नखादिभिर्द्वयोरेकतस्य भवेत्। अतिप्रेरणा

च भावो मैथुनाभिलाष उत्पद्येत, मिथ्यात्वं वा तत् दृष्ट्वा कश्चिच्छेत्। एते नावुदके निर्ग्रन्थीं गृह्णतो दोषाः उक्ताः।

अथ नावुदके लेपोपरि वा तारयतो दोषानाह–

अंतो जले वि एवं, गुज्झंगफास इच्छऽणिच्छंते।
मुच्चेज्ज व आपन्ना, जा होउ करेज्ज वा हावे॥

अन्तर्जले अपि जलाभ्यन्तरेऽपि गच्छन्तीं गृह्णत एवमेव दोषाः मन्तव्याः, तथा गुह्याङ्गस्पर्शे मोहः उदियात्। उदिते च मोहे यदीच्छति, नेच्छति वा तत उभयथा दोषाः। यद्वा स उदीर्णमोहः तां जलमध्ये मुञ्चेत्। आपन्ना यस्माद्भवेद् करोतु वा हावान्मुखविकारानिति। कारणे तु नौवुदके लेपोपरि वा अवतारणम्, उत्तारणं वा कुर्वन् यतनया गृह्णीयादवलम्बेत।

अथ ग्रहणालम्बनपदे व्याख्याति–

सव्वंगियं तु गहणं, करें ति अवलंवणेगदेसम्मि।
जह सुत्तं तासु कयं, तहेव वतिणो वि वतिणीए॥

ग्रहणं नाम सर्वाङ्गीणं कराभ्यां यद् गृह्यते, अवलम्बनं तु तदुच्यते– यदेकस्मिन् देशे बाह्वादौ ग्रहणं क्रियते। तदेवं यथा तासु निर्ग्रन्थीषु सूत्रं सूत्रत्रयं कृतम्। किमुक्तं भवति ? यथा निर्ग्रन्थो निर्ग्रन्थ्याः कारणे ग्रहणमवलम्बनं वा कुर्वन्नाज्ञामतिक्रामतीति सूत्रत्रयेऽपि भणितं तथैवार्थतः इदं द्रष्टव्यम्, व्रतिनोऽपि साधोरपि दुर्गादौ पङ्कादौ नावुदकादौ वा प्रपतन्त्या व्रतिन्याः कारणे बगगहणमवलम्बनं वा कर्त्तव्यम्।

कथा पुनर्यतनयेत्यत आह–

जुगलं गिलाणगं वा, असहुं अण्णेण वा वि अतरंतं।
गोवालकंवुमादी, संरक्खण णालवद्धादी॥

युगलं नाम–बालो वृद्धश्च, तद्धा, अपरं ग्लानम्, अत एवासहिष्णुं दुर्गादिषु गन्तुमशक्नुवन्तम; अन्येन ग्लानत्ववर्जनकारणेन अतरन्तमशक्तं, गोपालं कम्बुकादिपरिधानपुरस्सरं, नालदद्धा, संयति, आदिग्रहणादनालवद्धाऽपि संरक्षति गृह्णाति, अवलम्बते वा इत्यर्थः। बृ०६ उ० नं०।

निग्गंथे निग्गंथिं णावं आरुहमाणे वा ओरुहमाणे वा णाइक्कमइ। खेत्तइत्तं दित्तइत्तं जक्खाइट्ठं उम्मायपत्तं उवसग्गपत्तं साहिगरणं सपायच्छित्तं भत्तपाणपडियाइक्खित्तं अट्ठजायं निग्गंथे निग्गंथिं गिण्हमाणे वा अवलंबमाणे वा णाइक्कमइ।

(नावमारुहमाणे त्ति) आरोहयन् (ओरुहमाणे त्ति) अवरोहयन्नुत्तारयन्नित्यर्थो नातिक्रमतीति। तथा क्षिप्तं नष्टं रागभयापमानैश्चित्तं यस्याः सा। स्था०५ ठा०२ उ०।

(क्षिप्तचित्तादीनां व्याख्या स्वस्वस्थाने) चन्द्रसूर्य्योपरागे, दश०४ उ० आ०चू०।

ता कहं ते राहुकम्मे आहिता ति वदेज्जा। तत्थ खलु इमातो दोपडिवत्तीतो पण्णत्तातो। तत्थेगे एवमाहंसु–ता अत्थि णं ये राहुदेवे, जे णं चंदिडं सूरं च गेण्हति १। एगे पुण एवमाहंसु ता णत्थि णं से राहुदेवे, जे णं चंदं सूरं च गेण्हति। तत्थ जे ते एवमाहंसु–ता अत्थि णं से राहुदेवे जे णं चंदं सूरं च गिण्हति, ते एवमाहंसु–ता राहू णं देवे चंदं सूरं च गेण्हमाणे वुद्धंतेणं गिण्हित्ता बुद्धंतेणं मुयति, वुद्धंतेणं गिण्हित्ता मुद्धंतेणं मुण्ह, मुद्धंतेणं गिण्हित्ता बुद्धंतेणं मुयइ, मुद्धंतेणं गिण्हत्ता मुद्धंतेणं मुयति, वामभुयंतेणं गेण्हित्ता वामुभुयंतेणं मुयति, वामभुयंतेणं गिण्हित्ता दाहिणभुयंतेणं मुयति, दाहिणभुयंतेणं गेण्हित्ता वामभुयंतेणं मुयति, दाहिणभुयंतेणं गेण्हित्ता दाहिणभुयंतेणं मुयति। तत्थ जे ते एवमाहंसु–ता णत्थि णं से राहुदेवे जे णं चंदं सूरं च गेण्हति ते णं एवमाहंसुतत्थ णं खलु इमे पणरस कसिणा पोग्गला पण्णत्ता। तं जहा–सिंघाडए १ जडिलए २ खतए ३ खरए ४ अंजणे ५ खंजणे ६ सीलए ७ हिमसीअले ८ केलासे ९ अरुणप्पभे १० पणेज्जए ११ तरपवरए १२ कविलए १३ पिंगलए १४ राहुए १५। ता जता णं एए पण्णरस कसिणा पोग्गला सया चंदस्स वा सूरस्स वा लेसाणुबंधचारिणो भवंति, तया णं मणुस्सलोगे मधुस्सा वयंति–एवं खलु राहू चंदं वा सूरं वा गेण्हति।

कथं केन प्रकारेण भगवन्! त्वया राहुकर्त राहुक्रिया आख्याता इति वदेत्? एवमुक्ते भगवान् तद्विषये द्वे परतीर्थिकप्रतिपत्ती, ते उपदर्शयति– (तत्थेत्यादि) तत्र राहुकर्मविषये खल्विमे द्वे प्रतिपत्ती प्रज्ञप्ते– ''तत्थेगेत्यादि'' तत्र तेषां द्वयानांपरतीर्थिकानां मध्ये एके परतीर्थिका एवमाहुः–'ता' इति पूर्ववत्। अस्ति, णमिति वाक्यालंकारे। स राहुनामा देवो, यः चन्द्रं सूर्यं वा गृह्णाति॥१॥ अत्रोपसंहारः (एगे पुण एवमाहंसु) एके पुनरेवामाहुस्ता इति पूर्ववत्। नास्ति स राहुनामा देवो यश्चन्द्रं सूर्यं वा गृह्णाति। तदेवं प्रतिपत्तिद्वयमुपदर्श्य संप्रत्येतद्भावनार्थमाह– (तत्थेत्यादि) तत्र ये ते वादिन एवा माहुः–अस्ति स राहुनामा देवो यश्चद्रं सूर्यं वा गृह्णाति त एवमाहुः त एवं स्वमतभावनिकां कुर्वन्ति–(ता राहू णमित्यादि) ता इति पूर्ववत् राहुर्देवश्चन्द्रं सूर्यं वा गृह्णन् कदाचित् वुध्नान्तेन गृहीत्वा बुध्नान्तेनैव मुञ्चति; अधोभागेन गृहीत्वा अधोभागेनैव मृञ्चतीति भावः। कदाचित् बुध्नान्तेन गृहीत्वा मूर्द्धान्तेन मुञ्चति, अधोभागेन गृहीत्वा उपरिभागेन मृञ्चतीत्यर्थः। अथ वाकदाचित् मूर्द्धान्तेन गृहीत्वा वुध्नान्तेन मुञ्चति। यदि वा–मूर्द्धान्तेन गृहीत्वा मुर्द्धान्तेनैव मुञ्चति। भावार्थः प्राग्वत् भावनीयः। अथवा–कदाचित् वामभुजान्तेन गृहीत्वा वामभुजान्तेन मुञ्चति। किमुक्तं भवति?–वामपार्श्वेन गृहीत्वा वामपार्श्वेनैव मुञ्चति। यदि वा–वामभुजान्तेन गृहीत्वा दक्षिणभुजान्तेन मुञ्चति। अथ वा–कदाचित् दक्षिणभुजान्तेन गृहीत्वा वामभुजान्तेन मुञ्चति, यद्वा–दक्षिणभुजान्तेन गृहीत्वा दक्षिणभुजान्तेन मुञ्चति इति। भावार्थः सुगमः। तत्थ जे ते इत्यादि) तत्र तेषां द्वयानां परतीर्थिकानां मध्ये ये ते वादिन एवमाहुः–यथा नास्ति स राहुदेवो यः चन्द्रं सुर्यं वा गृह्णाति, ते एव माहुः–''तत्थ णं'' इत्यादि। तत्र जगति णमिति वाक्यालङ्कारे, इमे वक्ष्यमाणस्वरूपाः पञ्चदश भेदाः कृत्स्नाः पुद्गलाः प्रज्ञप्ताः। तद्यथेत्यादिना तानेव दर्शयति – एते यथा संप्रदायवैवित्क्येन प्रतिपत्तव्याः–''ता जता णं'' इत्यादि। ततस्तदा णमिति

वाक्यालङ्कारे, एते अनन्तरोदितः पञ्चदश भेदाः कृत्स्नाः समस्ताः पुद्गलाः (सया इति) सदा सातत्सेन इत्यर्थः। चन्द्रस्य वा सूर्यस्य वा लेश्यानुबन्धचारिणः चन्द्रसूर्यविम्बगतप्रभानुचारिणो भवन्ति। तदा मनुष्यलाके मनुष्या वदन्ति यथा एवं खलु राहुश्चन्द्रं वा सूर्यं वा गृह्णातीति। च०प्रा०२० पाहु०।

रायगिहे जाव एवं वयासी– बहुजणे णं भंते ! अण्णमण्णस्स एवमाइक्खइ० जाव एवं परूवेइ–एवं खलु राहू चंदं गेण्हइ एवं ख०२, से कहमेयं भंते ! एवं ? गोयमा ! जण्णं से बहुजणे अण्णमण्णस्स० जाव मिच्छं ते एवमाहंसु। अहं पुण गोयमा ! एवमाइक्खामि० जाव परूवेमि–एवं खलु राहुदेवे महिड्ढीए० जाव महेसक्खे वरवत्थधरे वरमल्लधरे वरगंधरे वराभरणधारी,राहुस्स णं देवस्स णव णामधेज्जा पण्णत्ता। तं जहा– सिंघाडए जडिलए खत्तए खरए दद्दुरे मगरे मच्छे कच्छभे कण्हसप्पे। राहुस्स णं देवस्स पंच विमाणा पण्णत्ता। तं जहा– कण्हा नीला लोहिया हालिद्दा सुक्किल्ला। अत्थि कालए राहुविमाणे खंजणवण्णाभे पण्णत्ते, अत्थि नीलए राहुविमाणे लाउयवण्णाभे पण्णत्ते, अत्थि णं लोहिए राहुविमाणे मंजिट्ठवण्णाभे पण्णत्ते, अत्थि पीतए राहुविमाणे हालिद्दवण्णाभे पण्णत्ते, अत्थि सुक्किल्लए राहुविमाणे भासरासिवण्णाभे पण्णत्ते। जदा णं राहू आगच्छमाणे वा गच्छमाणे वा विउव्वमाणे वा परियारेमाणे वा चंदलेस्सं पुरच्छिमेणं आवरेत्ता णं पच्चच्छिमेणं वीईवयति, तदा णं पुरच्छिमेणं चंदे अवदंसेति, पच्चच्छिमे णं राहू, जदा णं राहू आगच्छमाणे वा गच्छमाणे वा विउव्वमाणे वा परियारेमाणे वा चंदलेस्सं पच्चच्छिमेणं आवरेत्ता णं पुरच्छिमेणं वीईवयइ, तदा णं पच्चच्छिमेणं चंदे उवदंसेति, पुरच्छिमेणं राहू। एवं जहा पुरच्छिमेणं पच्चच्छिमेण य दो आलावगा भणिया तहा दाहिणेण य उत्तरेण य दो आलावगा भाणियव्वा। एवं उत्तरपुरच्छिमेणं दाहिणपच्चच्छिमेण य दो आलावगा भाणियव्वा। एवं दाहिणपुरच्छिमेणं उत्तरपच्चच्छिमेण य दो आलावगा भाणियव्वा। एवं चेव० जाव तदा णं उत्तरपच्चच्छिमेणं चंदे उवदंसेति, दाहिणपुरच्छिमेणं राहु, जदा णं राहू आगच्छमाणे वा गच्छमाणे वा विउव्वमाणे वा परियारेमाणे वा चंदलेस्सं आवरमाणे २ चिट्ठइ, तदा णं मणुस्सलोए मणुस्सा वदंति एवं खलु राहू चंदं गिण्हइ। एवं जदा णं राहू आगच्छमाणे वा० ४ चंदलेस्सं आवरेत्ता णं पासेणं वीईवयइ, तया णं मणुस्सलोए मणुस्स वदंतिएवं खलु चंदेणं राहुस्स कुच्छी भिण्णाए। एवं जदा णं राहू आगच्छमाणे वा० ४ चंदलेस्सं आवरेत्ता णं पच्चोसक्कइ, तदा ण मणुस्सलोए मणुस्सा वदात– एवं खलु राहुस्स धं चंदे वंते , एवं जया णं राहू आगच्छमाण वा०४ जाव पारयारमाण वा चंदलेस्स अहे सपक्खिं सपडिदिसिं आवरेत्ता णं चिट्ठइ, तया ण मणुस्सलोए मणुस्सा वदंति–एव खलु राहुणा चंदे घत्थे, एवं खलु राहुणा चंदे घत्थे।

(मिच्छं ते एवमाहंसु त्ति) इह तद्वचनमिथ्यात्वम्, अप्रामाणिकत्वात्कुप्रवचनसंस्कारोपनीतत्वाच्च। ग्रहणं हि राहुचन्द्रयोर्विमानापेक्षं, न च विमानयोर्ग्रासकग्रसनीयसंभवोऽस्ति, आश्रयमात्रत्वान्नरभावनानामिव। अथेदं गृहमनेन ग्रस्तमिति दृष्टस्तद्व्यवहारः, सत्यं, स खल्वाच्छाद्याच्छादकभवे सति, नान्यथा, आच्छादनभावेन च ग्रासविवक्षायामिहापि न विरोध इति। अथ यदत्र सम्यक् तद्दर्शयितुमाह (अहं पुणेत्यादि) (खंजणवण्णाभे त्ति) खञ्जनं दीपमल्लिकामलस्तस्य यो वर्णस्तद्वदाभा यस्य तत्तथा (लाउयवण्णाभ त्ति) (लाउवं ति) तुम्बकं, तच्चेहापक्वावस्थं ग्राह्यमिति। (भासरासिवण्णाभं त्ति) भस्मराशिवर्णाभं, ततश्च किमित्याह–(जदाणमिज्यादि) (आगच्छमाणेव त्ति) गत्वाऽतिचारेण ततः प्रतिनिवर्त्तमानः कृष्णवर्णादिनो विमानेनेति शेषः। (गच्छमाणे व त्ति) स्वभावचारेण चरन्, एतेन च पदद्वयेन स्वाभाविकी गतिरुक्ता। (विउव्वमाणे व त्ति) विकुर्व्वणां कुर्वन् (परियारेमाणे व त्ति) परिचारयन् कामक्रीडां कुर्व्वन्, एतस्मिन् द्वयेऽतित्वरया प्रवर्त्तमानां विसंस्थुलचेष्टया स्वविमानमसमञ्जसं चलयति, एतच्च द्वयमस्वाभाविक विमानगतिग्रहणायोक्तमिति। (चंदलेस्सं पुरच्छिमेणं आवरेत्ता णं ति) स्वविमानेन चन्द्रविमानावरणे चन्द्रदीप्तेर्गवृत्तत्वाच्चन्द्रलेश्यां पुरस्तादावृत्य (पच्चच्छिमेणं वीईवयइ त्ति) चन्द्रापेक्षया परेण याति इत्यर्थः।(पुरच्छिमेणं उवदंसेइ, पच्चच्छिमेणं राहु त्ति) राह्वपेक्षया पूर्वस्यां दिशि चन्द्र आत्मानमुपदर्शयति, चन्द्रपेक्षया च पश्चिमायां राहुरात्मानमुदर्शयतीत्यर्थः। एवं विधास्वभावतायां च राहोश्चन्द्रस्य यद्भवति तदाह–(जया णमित्यादि) ''आवरेमाणे'' इत्यत्र द्विवचनं तिष्ठतीति क्रियाविशेषणत्वात्। (चंदे णं राहुस्स कुच्छी भिण्ण त्ति) राहोरंशस्य मध्येन चन्द्रो गत इति वाच्ये चन्द्रण राहोः कुक्षिर्भिन्ना इति व्यपदिशन्तीति। पच्चोसक्कइ त्ति) प्रत्यवसर्प्पति व्यावर्त्तते (वंते त्ति) वान्तः परित्यक्तः (सपक्खिं सपडिदिसं ति) सपक्षं समानदिक् यथा भवति, सप्रतिदिक् यथाभवतीत्येवं चन्द्रलेश्यामावृत्या- वष्टभ्य तिष्ठतीत्येवं योगः। अत आवरणमात्रमेवेदं वैस्रसिकं चन्द्रस्य राहुणा ग्रसनम्, न तु कार्मणमिति।

अथ राहोर्भेदमाह–

कतिविहे णं भंते ! राहू पण्णत्ते ? गोयमा ! दुविहे राहू पण्णत्ते। तं जहा–धुवराहू य, पव्वराहू य। तत्थ णं जे से धुवराहू, से णं बहुलस्स पक्खस्स पाडिवए पण्णरसतिभागे णं पण्णरसभागं चंदलेस्सं आवरेमाणे २ चिट्ठइ। तं जहा-पढमाए पढमं भागं, बितियाए बितियं भागं० जाव पण्णरसेसु पण्णरसमं भागं, चरमसमए चंदे रत्ते भवइ, अवसेसे समए चंदे रत्ते वा विरत्ते वा भवइ। तामेव सुक्कपक्खस्स उवदंसेमाणे २

चिट्ठइ । तं जहा--पढमाए पढमं भागं० जाव पण्णरसेसु पण्णरसमं भागं चरमसमए चंदे रत्ते भवइ, अवसेसे समए चदे रत्ते वा विरत्ते वा भवइ । तत्थ णं जे से पव्वराहू से जहण्णेणं छण्हं मासाणं उक्कोसेणं बायालीसाए मासाणं चंदस्स, अडयालीसाए संवच्छराण सूरस्स॥

(कइविहे णमित्यादि) यश्चन्द्रस्य सदैव सन्निहितः सञ्चरति स ध्रुवराहुः। आह च--''किण्हं राहुविमाणं, निच्चं चंदेण होइ अविरहियं । चउरंगुलमप्पत्तं, हेट्ठा चंदस्स तं चरइ त्ति''॥१॥ यस्तु पर्वणि पौर्णमास्यमावस्ययोश्चन्द्रादित्ययोरुपरागं करोति स पर्व्वराहुरिति ॥ (तत्थ णं जेसे धुवराहम इत्यादि)(पाडिवए त्ति) प्रतिपद आरभ्येति शेषः। पञ्चदशभागेन स्वकीयेन करणभूतेन पञ्चदशभागम् (चंदस्स लेस्सं ति) विभक्तिव्यत्ययाश्चन्द्रस्य लेश्यायाश्चन्द्रबिम्ब सम्बन्धिनमित्यर्थः । आवृण्वन् २ प्रत्यहं तिति ॥ (पढमाए त्ति) प्रथमतिथौ (पण्णरसेसु त्ति) पञ्चदशसु दिनेषु अमावस्यायामित्यर्थः। ''पण्णरसमं भागं आवरित्ता ण चिट्ठइत्ति'' वाक्यशेषः। एवं च यद्भवति तदाह--(चरिमेत्यादि) चरमसमये पञ्चदशभागोपेतस्य कृष्णपक्षस्यान्तिमे काले कालविशेषे वा चन्द्रो रक्तो भवति, राहुणोपरक्तो भवति, सर्वथाऽऽप्याच्छादित इत्यर्थः। अवशेषे समये प्रतिपदादिकाले चन्द्रो रक्तो वा, विरक्तो वा भवति; अंशेन राहुणापरक्तों ऽशान्तरेण चानुपरक्तः,विरक्तो वा भवति; अंशेन राहुणापरक्तोऽशान्तारेण चानुपरक्तः, आच्छादितानाच्छादित इत्यर्थः (तामेव त्ति) तमेव चन्द्रलेश्यापञ्चदशभागं शुक्लपक्षस्य, प्रतिपदादिष्विति गम्यते, उपदर्शयन् २ पञ्चदशभागेन स्वयमपसरणतः प्रकटयंस्तिष्ठति। (चरिमसमये त्ति) पौर्णमास्यां चन्द्रो विरक्तो भवति, सर्वथैव शुक्लीभवतीत्यर्थः, सर्वथाऽनाच्छादितत्वादिति । इह चायं भावार्थः--षोडशभागीकृतस्य चन्द्रस्य षोडशां भागोऽवस्थित एवास्ते। ये चान्ये भागास्तत्र राहुः प्रतितिथ्येकैकं भागं कृष्णपक्षे आवृणोति, शुक्ले तु विमुञ्चतीति। उक्तञ्च ज्योतिष्करण्डके--''सोलसभागे काऊण, उडुवई हाययेत्थ पण्णरस। तत्तियमेत्ते भागे, पुणो वि परिवड्ढई जाण्हं'' ति ॥१॥ इह तु षाडशभागकल्पना न कृता, व्यवहारिणां षांडशभागस्यावस्थितस्यानुपलक्षणादिति संभावयाम इति । ननु चन्द्रविमानस्य पञ्चैकषष्टिभागन्यूनयोजनप्रमाणत्वात् राहुविमानस्य च ग्रहविमानत्वेनार्द्धयोजनप्रमाणत्वात्कथं पञ्चदशे दिने चन्द्रविमानस्य महत्त्वेनेतरस्य च लघुत्वेन सर्वावरणं स्यात् ? इति अत्रोच्यतेयदिदं ग्रहविमानानामर्द्धयोजनमिति प्रमाणं तत्प्रायिकम्, ततश्च राहोर्ग्रहस्योक्ताधिकप्रमाणमपि विमानं सम्भाव्यते। अन्ये पुनराहुः-- लघीयसासेऽपि राहुविमानस्य महता तमिस्रश्मिजालेन तदाव्रियत इति । ननु कतिपयान् दिवसान् यावद् ध्रुवराहुविमानं वृत्तमुपलभ्यते ग्रहण इव कतिपयांश्च न तथेति किमत्र कारणम् ? अत्रोच्यते--येषु दिवसेषु अत्यर्थं तमसाऽभिभूयते शशी, तेषु तद्विमानं वृत्तमाभाति, येषु पुनर्नाभिभूयतेऽसौ विशुद्ध्यमानत्त्वात्तेषु न वृत्तमाभाति । तथाचोक्तं विशेषणत्याम्--''वट्टच्छेओ कइवय--दिवसे धुवराहुणो विमाणस्स। दीसइ परं न दीसइ, जह गहणे पव्वराहुस्स''॥१॥ आचार्या आह--''अश्वत्थं न हि तमसा--ऽभिभूयते जं ससी विसुज्झंतो। तेण न वट्टच्छेओ, गहणे उ तमो तमोबहुलो त्ति''॥१॥ (तत्थ णं जे से पव्वेत्यादि। बायालीसाए मासाणं) सार्द्धस्य वर्षत्रयोस्योपरि चन्द्रस्य लेश्यामावृत्य तिष्ठतीति गम्यं, सूर्यस्याप्येवंमुत्कृष्टयाऽष्ट- चत्वारिंशता संवत्सराणामिति। भ०१२ श०६ उ० स० म०। ''ससिणो वा रविणो वा, जइआ गहणं तु होइ एगस्स । तइआ तं सव्वेसिं, ताणं नेयं मणुअलोए''॥७८॥ भं०। निर्जलस्थाने, दे० ना० २ वर्ग।

गहणकप्प पुं०(ग्रहणकल्प) सूत्रार्थोभयग्रहणप्रकारे, नि०चू०।

इदार्णी गहणकप्पो--

सुतऽत्थतदुभयाणं, भत्ती बहुमाण विणयमच्छेरं ।
उकुमुणिसेज्जअंजलि, गहितागहिताणि य पणामो ॥३८८॥

''सुत्तं अत्थं उभयं वा गेण्हंते भत्ती बहुमाणा अब्भुट्ठाणाति, विणओ पउंजियव्वो (अच्छेरं ति) आश्चर्यं मन्यते--अहो ! इमेसु सुतत्थपदेसु एरिसा अविकला भावा णज्जंति । अह वा--आश्चर्यं भूत विनयं करोति तिव्वभावसंपन्नो भण्णेसिं पि संवेगं जणंतो अत्थे णियमा संणिसिज्जं करेति, सुत्ते वि करेति । वायणायरियइच्छाए वा सुणेति । उकुडुज्जित्ता रयहरणणिसेज्जाए वा कयंजली एवं पुच्छमाणे वि सुत्तं पुणं कयकच्छभो पढंति । जया पुण आलावयं मग्गंति तदा कयंजलि कयप्पणामो य । किं च--अंगं सुयखंधं अज्झयणं उद्देसगा अच्छिहिकारा सुत्तवक्के य गुरुणो दिण्णे समत्ते वा (गहिए त्ति) अवधारिएण अवधारिते वा सिस्सेण पणामो कायव्वो''। नि०चू०१८ उ०।

गहणगुण पुं०(ग्रहणगुण) ग्रहणमौदारिकशरीरादितया ग्रह्यता वा वर्णादिमत्वात् परस्परसम्बन्धलक्षणं वा तद्गुणो धर्मो यस्य स तथा। गुणतः पुद्गलास्तिकाये, ''गुणओ गहणगुणे'' स्था०५ ठा०३ उ० भ०।

गहणजाय०(ग्रहणजात) श्रोत्रेन्द्रियेण गृह्यमाणे भषाद्रव्ये, आचा०२ श्रु०३ अ०३ उ०। ('जाय' शब्देऽस्य व्याख्या)

गहणदव्व न०(ग्रहणद्रव्य) ग्रहणप्रायोग्यकर्मदलिके, क०प्र०।

गहणता स्त्री०(ग्रहणता) शिक्षणे,स्था०८ ठा०।

गहणप्पगार पुं०(ग्रहणप्रकार) परिच्छेदे, ''परिच्छेद त्ति वा गहणप्पगारे त्ति वा एगट्ठा'' आ०चू०१ अ०।

गहणवग्गणा स्त्री०(ग्रहणवर्गणा)ग्रहणप्रायोग्यायां वर्गणाम्, पं०सं०५ द्वार। ('वग्गणा'शब्देऽस्य व्याख्या)

गहणविदुग्ग पुं०(गहनविदुर्ग) पर्वतैकदेशावस्थितवृक्षवल्ली समुदाये, सूत्र०२ श्रु०२ अ० भ०। ''एगो पव्वतो बहुएहिं पव्वतेहिं विदुग्गं'' नि०चू०१ उ०। आचा०।

गहणसिक्खा स्त्री०(ग्रहणशिक्षा) ''विशुद्धमुपधानेन, प्राप्तं कालक्रमेण च । योग्याय गुरुणा सूत्र, सम्यग्गदेयं महात्मना''॥१॥ इत्युक्तलक्षणे ('सिक्खा'शब्देऽस्य व्याख्या) ध०३ अधि०।

गहणी स्त्री०(ग्रहणी) गुदाशये, तं०। औ०। जी०। हठहृतस्त्रियाम्, दे०ना०२ वर्ग।

गहणेसणा स्त्री०(ग्रहणैषणा) आहारग्रहणरूपे एषणाभेदे, नि०चू०१ उ०। पिं०। ओघ०। पञ्चा०। (द्वारैर्ग्रहणैषणा 'एसणा'शब्दे अस्मिन्नेव भागे ५३ पृष्ठे दृष्टव्या)

गहणोग्गह पुं०(ग्रहणावग्रह) अपरिग्रहस्य साधोः पिण्डवसतिवस्त्र पात्रग्रहणपरिणामे, आचा०२ श्रु०७ अ०१ उ०।

गहदंड पुं०(ग्रहदण्ड) दण्डा इव दण्डास्तिर्यगायताः श्रेणयः, ग्रहाणां मङ्गलादीनां त्रिचतुराउदीनां दण्डा ग्रहदण्डाः। भ०३ श०६ उ०। दण्डाकारव्यवस्थितेषु ग्रहेषु, जी०३ प्रति।

गहन न०(ग्रहण) धारणे, पैशाच्यां णस्य नः। ''कथं तापसे वेसगहनं कतं''। प्रा०४ पाद।

गहभिन्न न०(ग्रहभिन्न) ग्रहविदारिते नक्षत्रे, विशे०। आ०म०। यन्मध्यं ग्रहो विभिद्य निर्गच्छति। जीत०। ''गहभिन्नं च चज्जये सत्त नक्खत्ते'' द०प०। ग्रहभिन्ने शोणितोद्वारः। व्य०१ उ०। पं०व०।

गहमुसल न०(ग्रहमुशल) मुशलाकारव्यवस्थितेषु ग्रहेषु, जी०३ प्रति०। ग्रहाणामूर्ध्वायितासु श्रेणिषु च०। भ०३ श०७ उ०।

गहर (देशी–गृध्रे, दे०ना०२ वर्ग।

गहवइ पुं०(गृहपति) गृहस्वामिनि, वृ०१ उ०।

गहवई (देशी) ग्रामीणे, शौशिनि च। दे०ना०२ वर्ग।

गहसिंघाडग न०(ग्रहशृङ्गाटक) ग्रहाणां शृङ्गाटकफलाकारेणा–ऽवस्थाने, भ०३ श०७ उ०। ग्रहयुग्मे च। जी०३ प्रति०।

गहसम न०(ग्रहसम) प्रथमतो वंशतन्त्र्यादिभिर्यः स्वरो गुही तस्तत्समं गीयमानं ग्रहसमम्। स्था०७ ठा०। स्वरसाम्येन गाने, स्था०७ ठा०।

गहाय अव्य०(गृहीत्वा) आदायेत्यर्थे, दशा०७ अ०। रा०। सूत्र०।

गहावसव्व न०(ग्रहाऽपसव्य) ग्रहाणामपसव्यगमने, प्रतीपगमने भ०११ श०१ उ०।

गहिअ (देशी) वक्रिते, दे०ना०२ वर्ग।

गहिआ (देशी) काम्यमानायां स्त्रियाम्, दे०ना०२ वर्ग।

गहिय त्रि०(गृद्ध) अध्युपपन्ने, ''आयाणसोयं गहिए वाले'' आचा०१ श्रु०४ अ०४ उ०।

गृहीत त्रि० ग्रह क्त ईट्। ''पानीयादिष्वित्''।८।१।१०१। इतीकारस्य ह्रस्वः। प्रा०१ पाद। उपात्ते, आ०चू०१ अ०। आ०म०। अस्पर्शनत उपत्ति, भ०१३ श०७ उ०। राजपुरुषैर्बद्धे, प्रश्न०३ आश्र० द्वार। स्वीकृते, औ०। सूत्र०। भ०। ज्ञाते, वाच०। ''उवयारियं ति वा अहीतं ति वा आगमियं ति वा गहितं वा एगट्ठा'' उत्त०२ अ०।

गहियट्ठ त्रि०(गृहीतार्थ) गृहीतः स्वीकृतोऽर्थो मोक्षमार्गरूपो येन स गृहीतार्थः। सूत्र०२ श्रु०७ अ०। पराभिप्रायग्रहणतः (ज्ञा०१ श्रु०१ अ०) अर्थवधारणात् (भ०३ श०५ उ०। दशा०) अवधारिततत्त्वे, दर्श०।

गहियवक्क त्रि०(गृहीतवाक्य) सर्वत्रास्खलिताऽऽज्ञे, ग०१ अधि०। आचा०। उपादेयवचने, प्रवचनकथनयोग्ये, तस्य हि स्वल्पमपि वचन महार्थमिव प्रतिभाति। प्रव०१ द्वार।

गहिया अव्य०(गृहीत्वा) उपादायेत्यर्थे, ''गहिया हु अभयपञ्होकूवालादिणो बहवे'' सूत्र०१ श्रु०४ अ०१ उ०।

गहियाउहप्पहरण त्रि०(गृहीतायुधप्रहरण) गृहीतानि आयुधानि शस्त्राणि प्रहरणाय परेषां प्रहारकरणाय येन स तथा। अथ वाऽऽयुधान्युत्क्षैप्यशस्त्राणि खड्गादीनि, प्रहरणानि तु क्षेप्यशस्त्राणि नाराचादीनि, ततो गृहीतानि आयुणानि प्रहरणानि येन स तथा। सायुधप्रहरणे, भ०७ श०८ उ०।

गहिर अव्य०(गृहीत्वा) उपादायेत्यर्थे, ''गहिया हु अभयपञ्होकूवालादिणो बहवे'' सूत्र०१ श्रु०४ अ०१ उ०।

गहियाउहप्पहरण त्रि०(गृहीतायुधप्रहरण) गृहीतानि आयुधानि शस्त्राणि प्रहरणाय परेषां प्रहारकरणाय येन स तथा। अथ वाऽऽयुधान्युत्क्षैप्यशस्त्राणि खड्गादीनि, प्रहरणानि तु क्षेप्यशस्त्राणि नाराचादीनि, ततो गृहीतानि आयुधानि प्रहरणानि येन स तथा। सायुधप्रहरणे, भ०७ श०६ उ०।

गहिर त्रि०(गभीर) **'पानीयादिष्वित्'।८।१।१०१।** इति ह्रस्वः। प्रा०१ पाद। अलब्धमध्ये, प्रज्ञा०२ पद। ''गहिरहसियगीयणच्चणरई'' गंभीरेषु हसितनर्तनेषु रतिर्येषां ते। जी,३ प्रति०।

गहीरिय न०(गाम्भीर्य) **''स्याद् भव्यचैत्यचौर्य्यसमेषु यात्''** ८।२।१०७। इति संयुक्तस्य यात्पूर्व इद्। अलब्धस्ताघत्वे, प्रा० २ पाद।

गहेतुं अव्य०(गृहीत्वा) उपादायेत्यर्थे, ''भंजंति णं पुव्वमरीसरोसं, समुग्गरे तेसुप्पले गहेतुं'' सूत्र०१ श्रु०५ अ०२ उ०।

गा –गै–धा०। गते, **''ध्यागोर्ङागौ''।८।४।६।** इति गाऽऽदेशः। 'गाइ–गाअइ। गायति'। प्रा०४ पाद०।

गाइय न०(गीत) कृते गाने, ''सुट्ठु गाइयं सुट्ठु वाइयं सुट्ठु नच्चियं'' आव०४ अ०।

गाउच्छोलण न०(गात्रोत्क्षोलन) अङ्गधावने, स्था०४ ठा०३ उ०।

गाउय न०(गव्यूत) द्विधनुःसहस्रप्रमाणे क्षेत्रे, प्रज्ञा०१ पद। ''चउहत्थं पुण धनुहं, दुन्नि सहस्साइ गाउयं तेसिं'' प्रव०२ ५४ द्वार। जी०। भ०। अनु०। स्थ०। क्रोशद्वये च, ओघ०।

गागर पुं०स्त्री०(गागर) परिधानविशेषे, जं०३ वक्ष०। प्रश्न०। मत्स्यभेदे च। प्रज्ञा०१ पद।

गागिल पुं(गागिल) पितरस्य यशोमतीकुक्षिसम्भूते पुत्रे, योहि पृष्ठचम्पायां प्रव्रजद्भ्यां शालमहाशालाभ्यां राज्ये स्थापितो गौतमान्तिके प्रव्रजितः केवली भूत्वा सिद्धः। उत्त०१० अ०। आ०क०। आ०म०। आ०चू०। ती०। (इति 'अज्जवइर' शब्दे प्र० भागे २१६ पृष्ठे उक्तम्)

गागेज्ज (देशी) मथिते, दे०ना०२ वर्ग।

गागेज्जा (देशी) नवपरिणीते, दे०ना०२ वर्ग।

गाढ न०(गाढ) गाह–क्तः। अतिशये, दृढे च। वाच०। अहिविषसूचिकादिषु, ग०२ अधि०। अत्यर्थं, प्रश्न०१ आश्र० द्वार। ओघ०। सूत्र०। अत्यर्थमुपनीते, सूत्र०१ श्रु०५ अ०१ उ०। निविडे, न०। वाढे, भ०१ श०२ उ,। अप्रीतिकरणे, व्य०२ उ०। बहुलस्थितिके, उत्त०१६ अ०। अत्यन्ते, कल्प०२ क्षण।

गाढगिलाण त्रि०(गाढग्लान) सन्निपाताद्यभिभूततया तीव्रातुरे, पञ्चा०८ विव०।

गाढातिक्खग्गणह त्रि०(गाढतीक्ष्णाग्रनख) गाढमत्यन्तं तीक्ष्णानि अग्राणि येषामेवंविधा नखा यस्य स तथा। अतितीक्ष्णनखे, कल्प०२ क्षण।

गाढदुक्खा स्त्री०(गाढदुःखा) गाढ दुःखरूपायां वेदनायाम्, प्रश्न०१ आश्र० द्वार।

गाढपेल्लण न०(गाढप्रेरण) अत्यर्थप्रेरणे, प्रश्न०३ आश्र० द्वार।

गाढरुट्ठ त्रि०(गाढरुष्ट) अत्यर्थक्रुद्धे, प्रश्न०३ आश्र० द्वार।

गाढालंवणलग्ग त्रि०(गाढालम्बनलग्न) एकालम्बने स्थिरतया व्यवस्थिते, आव०५ अ०।

गाढीकय त्रि०(गाढीकृत) शणसूत्रगाढबद्धसूचाकलापवत् आत्म प्रदेशैः सह गाढबद्धे कर्मणि, भ०६ श०१ उ०।

गाढोवणीय त्रि०(गाढौपमीत) गाढमत्यर्थमुपनीतं ढौकितं दुष्कृतकर्मकारिणां यत्स्थानं तत्। सूत्र०१ श्रु०५ अ०१ उ०। "गाढोवणीयं अतिदुक्खधम्मं" सूत्र०१ श्रु०५ अ०१ उ०। दृढैर्निधत्तानिकाचिकावस्थैः कर्मभिर्ढौकिते, सूत्र०१ श्रु०५ अ० २ उ०।

गाण न०(गान) गीते, जी०३ प्रति०। "गीयं विततं घणं भुसिरं अप्पे चउव्विहं गायंति" आ०चू०१ अ०।

गाणंगणिय पुं०(गाणङ्गणिक) गणाद्गणं षण्मासाभ्यान्तर एव सङ्क्रामतीति गाणङ्गणिक इत्यागमिकी परिभाषा। उत्त०१७ अ०। षण्मासाभ्यन्तरं एव गणाद्भान्तरं सङ् क्रामति, उत्त०१७ अ०।

गाणङ्गणिकमत ऊर्द्धं वक्ष्ये, तमेवाह

छम्मास अपूरित्ता, गुरुणा वारससमासु चउलहुगा।
तेण परं मासलहू, गाणंगणि कारणे भइतं॥

उपसंपन्नः साधुः कारणाभावे षण्मासानपूरयित्वा यद्येकस्माद्गणादपरं गणं संक्रामति तदा तस्य चत्वारो गुरुकाः, षण्मास्याः परतो यावत् द्वादश समा वर्षा णि, ता अपूरयित्वा गच्छतश्चतुर्लघुकाः ततः परं द्वादशभ्यो वर्षेभ्य ऊर्द्धं निष्कारणं गणाद्गणं संक्रमतो मासलघु, "गाणंगणि त्ति" भावप्रधानो निर्देशः, ततो गणं गणिकत्वं, कारणे ज्ञानदर्शनचारित्राणामन्यतरस्मिन् पुष्टालम्बने समुत्पन्ने भाज्यं सेवनीयम्। किमुक्तं भवति ? कारणे मध्ये द्वादशमन्तः षण्मासं वा गणाद्गणं संक्रामन्नापि न प्रायश्चित्तभाग् भवतीति। गतं गाणङ्गणिकद्वारम्। बृ०१ उ०। नि०चू०।

गाम पुं०(ग्राम) गम्यो गमनीयोऽष्टादशानां शास्त्रे प्रसिद्धानां कराणामिति व्युत्पत्त्या, ग्रसते वा बुद्ध्यादीन् गुणानिति व्युत्पत्त्य वा पृषोदरादित्वान्निरुक्तविधिना ग्रामः। बृ०१ उ०। रा०। व्य०। जी०। प्रश्न०। दशा०। नि०चू०। आचा०। अनु०। उत्त०। पा०। प्राचुर्येण ग्रामधर्मोपेतत्वात् करादिगम्यो वा ग्रामः। आचा०२ श्रु०१ अ०२ ए०। करवति, कल्प०४ क्षण। जगपदाध्यासिते, औ०। जननिवासलक्षणे, अष्ट०१८ अष्ट०। सन्निवेशविशेषे, प्रश्न ३ आश्र० द्वार। भ०। ज्ञा०। कण्टकवाटकावृते जनानां निवासे, उत्त०२ अ०। सूत्र०।

ग्रामपदनिक्षेपमाह--

नामं ठवणा गामो, दव्वग्गाओ अ भूतगामो य।
आउइंदियगामो, पिउगामो भावगामो य॥

नामग्रामः, स्थापनाग्रामो द्रव्यग्रामश्च, भूतग्रामश्च, आतीद्यग्रामः, इन्द्रियग्रामः, पितृग्रामो, भावग्रामश्चेति गाथासमुदयार्थः।

अथावयवार्थमभिधित्सुर्नामस्थापने क्षुण्णत्वादनादृत्य द्रव्यग्रामं व्याचष्टे--

जीवाजीवसमुदओ, गामो को वा नओ कहं इच्छे।
आदिनयोऽणगविहो, तिविकप्पो अंतिम नओ उ॥

जीवानां गोमहिषीमनुष्यादीनामऽजीवानां च गृहादीनां यः समुदयः स द्रव्यग्राम उच्यते। इह च सर्वज्ञोपज्ञप्रवचने प्रायः सर्वमपि सूत्रतर्थश्च नयैर्विचार्यते। यत उक्तम्- "नत्थि नएहि विहूणं सुत्तं अत्थो य जिणमए किंचि। आसज्ज उ सोयारं, नएन य विसारओ वूया"॥१॥ अत एषोऽपि द्रव्यग्रामो नयैर्विचार्यते--को नाम नयः कं द्रव्यग्रामं कथतिच्छतीति ? तत्र नयाः सामान्यतः सप्त, नैगमसंग्रहव्यवहारऋजुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूतभेदात्। इह तु समभिरूढैवंभूतयोः शब्दप्राधान्याभ्युपगमपरतया शब्दनये एवान्तर्भावो विवक्ष्यते, ततश्चादिनयो नैगमः, सोऽविशुद्धशुद्धविशुद्धतरादिभेदादनेकविधः, अन्तिमनयस्तु शब्दः, स त्रिविधः शब्दसमभिरूढैवंभूतभेदात्।

तत्रानेकविधनैगमानामन्यन्यप्यपि पक्षाणि यानि
वक्तव्यानि तानि नामग्राहं संगृह्णन्नाह--

गावो तणाइ सीमा, आरामुदपाणचेडरूवाणि।
वाही य वाणमंतर, उग्गह तत्तो य आहिपवती॥

गावः १ तृणानि २ उपलक्षत्वात्तृणाहारकादयः। सीमा ३ आरामम् ४ उदपानं कूपः ५ चेडरूपाणि ६ वाहिर्वृतिः ७ वाणमन्तरं देवकुलम् ८ अवग्रहः ९ ततश्चाधिपतिः १० इतिनिर्युक्तिगाथाऽक्षरार्थः। अथ भावार्थउच्यते --प्रथमं नैगमः प्राह--या--वन्तं भूभागं गावश्चरितुं व्रजति तावान् सर्वोऽपि ग्राम इति व्यपदेशं लभते। ततो विशुद्धनैगमः प्रतिभणति--

गाओ वयंति दूरं, पि जं तु तणकट्ठहारगादीया।
सूरुट्ठिते गता एं--ति अत्थ संते ततो गामो॥

परिस्थूरमपि परग्राममपि चरितुं व्रजन्ति, ततः किमेवं सोऽप्येक एव ग्रामो भवतु ? अपि च एवं ब्रुवतो भवतोभूयसामपि परस्परमतिदवीयसां ग्रामाणामेकग्रामतैव प्रसज्जति, न चैतदुपपन्नं, तस्मान्नैतावान् ग्रामः, किं तु यत् यावन्मात्रं क्षेत्रं तृणाहारककाष्ठहारकादयः सूर्ये उत्थिते तृणाद्यर्थं गताः सन्तः सूर्ये अस्तमयति तृणादिभारकं बद्धवाः पुनरायान्ति, एतावत् क्षेत्रं ग्रामः।

परसीमं पि वयंति हु, सुद्धतरो भणति जा ससीमा नु।
उज्जाण अवत्ता वा, उक्कीलंता उ सुद्धयरो॥

शुद्धतरो नैगमो भणति--यद्यपि गवां गोचरक्षेत्रादासन्नतरं भूभागं तृणकाष्ठाहारका व्रजन्ति, तथापि ते कदाचित्परसीमानमपि व्रजन्ति, तस्मान्नैतावान् ग्राम उपपद्यते। अहं ब्रवीमियावत् स्वा आत्मीया सीमा एतावान् ग्रामः। ततोऽपि विशुद्धतरः प्राह--मैवम्। अतिप्रचारं क्षेत्रं ग्राम इति वोचः, किं तु यावत्तस्यैव ग्रामस्य संबन्धी कूपः तावद् ग्राम इति। ततोऽपि विशुद्धतरो ब्रूते--उद्यानमारास्तावद् ग्राम इति भण्यते। विशुद्धतमः

प्रतिभणति–एतदपि भूयस्तरं क्षेत्रं न ग्रामसंज्ञां लब्धुमर्हति, अहं भणामि– यावदुदपानं तस्यैव ग्रामस्य संबन्धी कूपः तावद्ग्राम इति । ततोऽपि विशुद्धतरो व्रत–इदमप्यतिप्रभूतं क्षेत्रम्, अतो यावत् क्षेत्रं अव्यक्तानि चेटरूपाणि रममाणानि गच्छन्ति तावद् ग्रामः । ततोऽपि विशुद्धतरः प्रतिवक्ति–एतदप्यतिरिक्ततया न समीचानमाभाति, ततो यावन्तं भूभागमतिलघीयांसो बालका उत्क्रीडन्तो रिङ्गन्तः प्रयान्ति तावान् ग्राम इति ।

एव विसुद्धनिगमस्स वइपरिक्खेवपरिवुडा गामो ।
ववहारस्स वि एवं, संग्रह जहिँ गामसमवाओ ॥

एवं विचित्राभिप्रायाणां पूर्वनैगमानां सर्वा अपि प्रतिपत्तीर्व्यपोह्य सर्वविशुद्धनैगमनयस्य यावान् वृतिपरिक्षेपपरिवृतो भूभागस्तावान् ग्राम उच्यते । अथ संग्रहं व्यतिक्रम्य लाघवार्थमत्रैव व्यवहारमतमतिदिशति– (ववहारस्स वि एवंति) यथा नगमस्थानेके प्रतिपत्तिप्रकाराः प्ररूपितास्त्रथा व्यहारस्याप्येवमेव प्ररूपणीयाः, तस्य व्यवहाराभ्युपगमपरायणत्वात् । बालगोपालादिना च लोकेन सर्वेषाप्यनन्तरोक्तभेदानां यथावसरं ग्राम तया व्यवहरणीयत्वात् । संग्रहस्तु सामान्यग्रात्विाद्यत्र त्राम्स्य ग्रामवास्तव्यलोकस्य समवाय एकत्र मालनं भवति तद् वाणमन्तरदेवकुलादिर्कं ग्राम इति ब्रूते ।

इदमेव प्रकारान्तरेणाऽऽह–

जं वा पढमं काउं, सेसगगामां निवसई स गामो ।
तं देउलं सभा वा, मज्झिमगोट्ठा पवा वा ॥

यद्वा प्रथमं कृत्वा निवेश्यं, शेषः सर्वोऽपि ग्रामो निविशते, स संग्रहनयाभिप्रायेण ग्रामः । तच्च देवकुलं वा भवेत्, सभा वा ग्राममध्यमवर्ती वा गोष्ठः, प्रपा वा ।

अथावग्रहपदं विवृण्वन् ऋजुसूत्रनयमतमाह–

उजुसुयस्स नि ओओ, पतयघर तु हाइ एक्केकं ।
उट्ठेति वसति व वसेण जस्स भद्दस्स सो गामो ॥

ऋजुसूत्रस्त् स्वकीयार्थग्राहकत्वात् परकीयवसतोऽप्यनभ्युपगमात् यस्य यत्प्रत्येकमात्मीयावग्रहरूपमेकैकं गृहु तत् नियोग इति प्रतिपत्तव्यम् । नियोग इति ग्राम इति चैकोऽर्थः। आह च विशेषचूर्णिकृत्– ''गामो त्ति वा निओओ त्ति वा एगट्ठं ततो अ आहिवई'' इति व्याख्यानयन् शब्दनयमतमाह–'उट्ठेइ त्ति' इत्यादिशब्दस्य शब्दाख्यनयस्य कस्यापि वशेन ग्रम उत्तिष्ठते–उद्गशी भवति वा, वसति भूयोऽप्यवस्थानं करोति, स ग्रामस्याधिपतिर्ग्रामि इति शब्दमुद्गोढुमर्हति, ये तु तत्र तदनुवर्तिनः शेषास्ते अशेषा अप्युपमसर्जनीभूतत्वान्न ग्रामसंज्ञां लभन्त इति भावः । चिन्तितं नयमार्गणया ग्रामरूपम् ।

अथ ग्रामस्यैव नयैः संस्थानचिन्तां चिकीर्षुराह–

तस्सेव उ गामस्सा, को किं संठाणमिच्छति न ओ उ ।
तत्थ इमे संठाण, हवंति खलु मल्लगादीया ॥

तस्यैव ग्रामस्य संस्थानं को नयः किमिच्छतीति चिन्त्यते, तत्र तावदिमानि मल्लकादीनि ग्रामस्य संस्थानानि भवन्ति ।

तान्येवाह–

उत्ताणग ओसंखिय, संपुडए खंडमल्लए तिविहे ।
भित्ती पडाल वलभी, अक्खाडग रुयग कासवए ॥

अस्ति ग्राम उत्तानकमल्लकारः, आस्त ग्रामोऽवाङ्मुखमल्लकाकारः एवं संपुटकमल्लकाकारः, खण्डमल्लकमपि त्रिविधं वाच्यम् । तद्यथा– उत्तानकखण्डमल्लकसंस्थितः, अवाङ्मुखखण्डमल्ल–कसंस्थितः, संपुटकखण्डमल्लकसंस्थितश्च । तथा भित्तीसंस्थितः, पडालिकासंस्थितः, वलभीसंस्थितः, अक्षपाटकसंस्थितः, रुचकसंस्थितः, काश्यपसंस्थितश्चेति

अथैषामेव संस्थानानां यथाक्रमं व्यख्यानमाह–

मज्झे गामस्सऽगढो, वुद्धिच्छेदा ततो उ रज्जूओ ।
निक्खम्म मलपादे, गिण्हंतीओ वइं पत्ता ॥

इह यस्य ग्रामस्य मध्यभागे अगमः कूपस्तस्य बुद्ध्या पूर्वदिषु दिक्षु च्छेदः परिकल्पते, ततश्च कूपस्याधस्तनतलाद् बुद्धिच्छेदेन रज्जवो दिक्ष विदिक्षु च निश्राम्य गृहाणां मूलपादानुपरिकृत्वा गृह्णत्यस्तिर्यक् तावद्विस्तार्यन्ते यावत्तद्ग्रामपर्यन्तवर्तिनीं वृतिं प्राप्ता भवान्त, तत उभर्यभिमुखीभूय तावद्गतयो बहूच्छ्रयेण हर्म्यतलानां सीमीभूतास्तत्र च षटहच्छेदनोंपरताः, एष ईदृशउत्तानमल्लकसंस्थितो ग्राम उच्यते । ऊर्ध्वाभिमुखस्य शरावस्यैतमेव वाच्यं, नवरं यस्य ग्रामस्य मध्ये देवकुलं वृक्षो वा उच्चैस्तरस्तस्य देवकुलादेः शिखरात् रज्जवोऽवतार्थ तिर्यग् तावन्नयन्ते यावद्वृत्रि प्राप्ताः, ततो अधोमुखीभूय गृहाणां मूलपादान् गृहीत्वा पटहच्छेदेनोपरतः, एषोऽवाङ्मुखमल्लकसंस्थितो ग्रामः । तथा यस्य मध्यभागे कूपस्तस्य चोपर्युच्चतरो वृक्षस्ततः कूपस्याधस्तलात् रज्जवो विनिर्गत्य मूलपादानधोऽधस्तावद् गता यावद् वृतिं प्राप्ता ग्रामस्य, तत ऊर्ध्वाभिमुखीभूय गत्वा हर्म्यतलानां समश्रेणीभूताः वृक्ष शिखरादप्यवतीर्य रज्जवस्तथैव तिर्यक्वृतिं प्राप्नुवन्ति, ततोऽधोमुखीभूय कूपसंबन्धिनीनां रज्जूनामग्रभागः समं संघटन्ते ।

अथैकसंपुटकमल्लकाकारो नाम ग्रामः–

जइ कूपाई पासम्मि होति तो खंडमल्लओ होई ।
पुव्वावररुक्खहिं, गामो जेहिं भवे मित्ती ॥

यदि कूपादीनि कपवृक्षतदुभयानि पार्श्वे एकस्या दिशि भवन्ति, ततः खण्डमल्लकाकारस्त्रियविधोऽप ग्रामो यथाक्रमं मन्तव्यः । तत्र यस्य ग्रामस्रू वहिरेकस्यां दिशि कूपस्तामेवैकां दिशं मुक्त्वा शेषासु सप्तसु दिक्षु रज्जवो निर्गत्य तिर्यक् वृति, प्राप्योपरि हर्म्यतलान्यासाद्य पटहच्छेदेनापरमन्ते, एष उत्तानकखण्डमल्लकाकारः । अवङ्मु खखण्डमल्लकाकारोऽप्येवमेव, नवरं यस्यैकस्यां दिशि देवकुलमुच्चैस्तरो वा वृक्षः । संपुटकखण्डमल्लकाकारस्तु यस्यैकस्यां दिशि कूपस्तदुपरिष्टाच्च वृक्षः, शेषं प्राग्वत् । 'पुव्वावर' इत्यादि । पूर्वस्यामपरस्यां च दिशि समश्रेणिव्यवस्थितैर्वृक्षैर्भित्ति संस्थितो ग्रामो वा भवेत् ।

पासट्ठिए पडाली, वलभी चउकोणगेसु दीहा उ ।
चउकोणेसु जइ दुमा हवंति अक्खाडतो तम्हा ॥

पडालिकासंस्थितोऽप्येवमेव, नवरम् एकस्मिन् पार्श्वे वृक्षयुगलं समश्रेण्या व्यवस्थितम् । तथा यस्य ग्रामस्य चतुर्ष्वपि कोणेषु ईषद्दीर्घा वृक्षा व्यवस्थिताः स वलभीसंस्थितः । अथ वाम यद् मल्लानां युद्धाभ्यासस्थानम् । तद्यथा–समं चतुरस्रं भवति, एवं यदि ग्रामस्यापि चतुर्षु कोणेषु द्रुमा भवन्ति ततोऽसौ चतुर्दिग्वर्तिभिर्वृक्षैः समचतुरस्रतया परिछिद्यमानत्वादक्षवाटक संस्थितः ।

वट्टागारठिएहिं, रुयगो पुण वेढितो तरुवरेहिं।
तेकोणो कासवओ, छुरघरगं कासवं विंती।

यद्यपि ग्रामः स्वयं न समस्तथापि यदि रुचकतया शैलवत् वृत्ताकारव्यास्थतैः वृक्षर्वेष्टितस्तदा रुचिकसंस्थितः। यस्तु ग्राम एव त्रिकोणतया निविष्टः, वृक्षा वा त्रयो यस्य बहिः त्र्यस्रः स्थिताः एकतो द्वौ, अन्यतस्त्वेक इत्यर्थः। एष उभयथाऽपि काश्यपसंस्थिताः। काश्यपं पुनर्नापितस्य संबन्धि क्षुरगृहं ब्रुवते। तद्यथा त्र्यस्रं भवत्येवमयमपि ग्रामः। इति भावितानि सर्वाण्यपि संस्थानानि।

अथको नयः किं संस्थानमिच्छति ? इति भाव्यते–

पढमे सपडहछेदं, आकासव सडग कोट्टितं तइओ।
नाणिं अहिपतिं वा, सद्दनया तिन्नि इच्छिंति॥

प्रथमोऽत्र नैगमनयः सपटहच्छेदलक्षणं संस्थानं प्रतिपद्यते। संग्रहोऽप्येवमेव मन्यत इत्यत्रवान्तर्भाव्यते। व्यवहारस्तु भित्तिसंस्थानादारभ्य आकाश्यपसंस्थानं मन्यते। तृतीय ऋजुस्तत्र शकटानां तृण दिडयानां कुट्टिमानां वा पाषाणादिबद्धभूमिकानां यत् सस्थानं तन्मन्यते। त्रयस्तु शब्दनया ज्ञानिनमधिपतिं वा ग्रामसंस्थानं स्वामित्वेनेच्छेन्ति।

एतामेव निर्युक्तिगाथां व्यक्तीकुर्वन्नाह–

संगहियमसंगहिओ, तिविहं खलु मल्लयं नियमा।
मित्तादि जा कासवे, असंगहो वेति संठाणं॥

नागमो द्विधा सांग्रहिको, असांग्रहिकश्च। संग्रहणं संग्रहः, सामान्यमित्यर्थः। स प्रयोजनमस्येति सांग्रहिकः, सामान्याभ्युपगमपर इत्यर्थः। तद्विपरीताऽसांग्रहिकः। तत्र यः सांग्रहिकः स नियमात्त्रिविधमुत्तानेकाऽवाङ्मुखसंपुटकभेदभिन्नं सपूर्णं वा खण्डं वा मल्लकम। तस्य यत्पटहच्छेदलक्षणं संस्थानं तन्मन्यते। असांग्रहिकस्तु भित्तिसंस्थानमादौ कृत्वा यावत्काश्यपसंस्थानमेतानि सर्वाण्यपि ब्रूते, प्रतिपद्यत इत्यर्थः। संग्रहव्यवहारौ तु सांग्रहिकयोरेव नैगमयोर्यथासंख्यमन्तर्भावनीयाविति न पृथक् प्रपद्येते।

निम्मा–घरवइ–थुमिए, तइओ दुहणा वि जाव पावंति।
नाणिस्सा हपइस्स व, जं संठाणं तु सद्दस्स।

तृतीयसूत्रक्रमप्रामाण्येन. ऋजुसूत्रः। स (निम्मि त्ति) मूलपादानां (घरवइ त्ति) गृहाणां, वृतेर्वा, स्तूपिकानां च, उपलक्षणत्वात् कटकानां, कुट्टमानां वा यत्संस्थानं मालेवा, भूमिकादार्ढ्यसंपादनार्थमवकुट्यमाने द्रुघणा मुद्गरा ऊर्द्धव-मुत्क्षिप्यमाना यावदाकाशतलं प्राप्नुवन्ति, तावन्मर्यादाकृत्य यत्संस्थानमेतत्सर्वमपि प्रत्येकं ऋजुसूत्रो मन्यते। तथा ज्ञानिनो ग्रामपदार्थज्ञस्य, ग्रामाधिपतेवा यत्संस्थानं तदेव शब्दनयस्य ग्रामसंस्थानतयाऽभिप्रेतमिति गजं द्रव्यग्रामद्वारम्।

अथ भूतादिग्रामभैदान् भावयति–

चउदसविहो पुण भवे, भूतग्गामो तिहा उ आतोज्जा।
सोतादिंदियगामो, तिविहा पुरिसा पिउग्गामो॥

भूताः प्राणिनस्तेषां ग्रामः समूहोभूतग्रामः स चतुर्दशविधः।

तथाचाह–

एगिंदिय सुहुमियरा, सन्नियर पणिंदिया सवि ति चऊ।
पज्जत्ताऽपज्जत्ता–भेएणं चउदस ग्गामा॥

एकेन्द्रिया द्विविधाः सूक्ष्माः, बादराश्च। सूक्ष्मनामकर्मोदयवर्त्तिनः सूक्ष्माः, बादरनामकर्मोदयवर्त्तिनो बादराः। द्वीन्द्रियाः कृम्यादयः, त्रिन्द्रियाःकुन्थुपिपीलिकादयः, चतुरिन्द्रियाःभ्रमरादयः। पञ्चेन्द्रिया द्विविधाः–संज्ञिनः, असंज्ञिनश्च। संज्ञिनःगर्भजतिर्यङ्मनुष्याः, देवनारकाश्च। असंज्ञिनः–समुछिमा-स्तिर्यङ्मनुष्याः देवनारकाश्च। असंज्ञिनःसंमूछिमास्तिर्यङ्मनुष्याः। एते च स्वयोग्यपर्याप्तिभिः पर्याप्ता वा स्युरऽपर्याप्ता वा। पर्याप्तिर्नाम शक्तिः। साचाहारशरीरेन्द्रियप्राणातिपातभाषा मनःपर्याप्तिभेदात् षोढा। तत्र यथाशक्त्या करणभूतया भक्तमाहारं खलु रूपरसतया करोति सा आहारपर्याप्तिः। यथा तु रसीभूतमाहारे धातुरूपतया परिणमयति सा शरीरपर्याप्तिः। यथा धतुरूपया परिणमितादाहारादीन्द्रियप्रायोग्यद्रव्याण्युपादायैकद्वित्र्यादीन्द्रियरूपतया परिणमय्य स्पर्शादिविषयपरिज्ञानसमर्थो भवति सा इन्द्रियपर्याप्तिः। यथा पुनरुछ्वासभाषामनःप्रायोग्यानि दलिकान्यादाय यथाक्रममुच्छ्वासरूपतया भाषात्वेन मनस्त्वेन वा परिणामय्याऽऽलम्ब्य च मुञ्चति सा क्रमेण प्राणातिपातपर्याप्तिः, भाषापर्याप्तिः, मनःपर्याप्तिः। एताश्च यथाक्रमेकेन्द्रियाणां चतस्रो, द्वीन्द्रियादीनां संमूर्च्छिमतिर्यग्मनुष्यान्तानां पञ्च संज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां च षट् भवन्ति। एवं पूर्वोक्ताः सप्तापि भेदाः पर्याप्तापर्याप्तभेदाद् द्विधा भिद्यमानाश्चतुर्दशविधो भूतग्रामः॥ आतोद्यग्रामस्तु त्रिधा–षडज्ग्रामो मध्यमग्रामो, ग्रान्धारग्रामश्च एतेषां च स्वरूपमनुयोगद्वारशास्त्रादवसेयम्। इन्द्रियग्रामः श्रोत्रादीनामिन्द्रियाणां समुदायः, स च पञ्चेन्द्रियाणां सम्पूर्णः, चतुस्त्राद्व्येकेन्द्रियाणां यथाक्रममेकद्वित्रिचतुःसंख्यैरिन्द्रियैर्न्यून इति॥ पितृग्रामस्तु त्रिविधाः पुरुषाः। तद्यथा–तिर्यग्योनिकपुरुषा मनुष्यपुरुषा देवपुरुषाश्चेति॥

तिग्यिमिरनरइत्थी, माउग्गामं पि तिविहमिच्छंति।
नाणाइतिगं भावे, जओ व तेसिं समुप्पत्ती॥

तिर्यक्योनिकस्त्रियः, अमरा देवास्तेषां स्त्रियो, नरा मनुष्यास्तेषां स्त्रिय इति मातृग्राममपि त्रिविधमिच्छन्ति पूर्वसूरयः। आह–किमवं स्त्रीपुरुषाणांमातुपितृग्रामसंज्ञा विधीयते ? उच्यतेसंज्ञा-सूत्रोपयोगार्थम्। तथा च आचारकल्पाध्ययने षष्ठोद्देशके सूत्रम्–''जे भिक्खू माउग्गामं मेहुणपडियाए विन्नवेइ'' इत्यादि। तथा ''जा भिक्खुणी पिउग्गामं विन्नवेइ'' इत्यादि। भावग्रामतया ज्ञातव्याः। के पुनस्ते ? उच्यते–

तित्थगरा जिण चउदस, भिन्ने संविग्ग तह असंविग्गे।
सारूविय वय दंसण पडिमाओ भावगामो उ॥

तीर्थकर्रा अर्हन्तः सामान्यकेवलिनः अवधिमनःपर्यायजिना वा चतुर्दशपूर्विणो दशपूर्विणश्चप्रतीताः। (भिन्नेति) असंपूर्ण-दशपूर्वधारिणः, संविग्ना उद्यतविहारिणः, असंविग्नास्तद्विपरीताः, सारूपिका नाम श्वेतवासःक्षुरमुण्डितशिरसो भिक्षाटनोपजीविनः पश्चात्कृतविशेषाः, (वय त्ति) प्रतिपन्नाणुव्रताः श्रावकाः, (दंसण त्ति) दर्शनश्रावकाः, अविरतसम्यग्दृष्टय इत्यर्थः। प्रतिमा अर्हद्बिम्बानि, एष सर्वोऽपि भावग्रामः, एतेषां दर्शनादिना ज्ञानादिप्रसूति-सद्भावात्। अत्र परः प्राह–ननु युक्तं तीर्थकरादीनां ज्ञानादिरत्नत्रयसंपत्समन्वितानां भावग्रामत्वं, ये पुनरसविग्नादयस्तेषां कथमिव भावग्रामत्वमुपपद्यते ? नैष दोषः। तेषामपि यथावस्थितप्ररूपणाकारिणां पार्श्वतो यथोक्तं धर्ममाकर्ण्य-सम्यग्दर्शनादिलाभ उदयते, अतस्तेषामपि भावग्रामत्वमुपपद्यते एवेति कृतं प्रसङ्गेन।

तीर्थकरा इति पदं विशेषती भावयति–

चरणकरणसंपन्ना, परीसहपरायगा महाभागा।
तित्थगरा भगवंतो, भावेण उ एस गामविही ॥

चरणकरणसंपन्नाः परीषहपराजेतारो महाभागास्तीर्थकरा भगवन्तो दर्शनमात्रदेव भव्यानां सम्यग्दर्शनादिगोधि-बीजप्रसूतिहेतवो भावग्रामतया प्रतिपत्तव्याः। एवं जिनादिष्वपि भावनीयम्। एष सर्वोऽपि भावग्रामविधिर्मन्तव्यः।

प्रतिमा अधिकृत्य भावनामाह–

जा सम्मभावियाओ, पडिमा इयरा ण भावगमो।
भावो जइ नत्थि तिहिं, नणु कारणकज्जओवयरो ॥

याः सम्यग्भाविताः सम्यग्दृष्टिपरिग्रहीताः प्रतिमास्ताः भावग्राम उच्यते, नेतरा मिथ्यादृष्टिपरिगृहीताः। आह–सम्यग्भाविता अपि प्रतिमास्तावद् ज्ञानादिभावशून्यास्ततो यदि ज्ञानादिरूपो भावस्तत्र नास्ति ततस्ताः कथं भावग्रामो भवितुमर्हन्ति ? उच्यतेता अपि दृष्ट्वा भव्यजीवस्याऽऽर्द्रककुमारादेरिव सम्यग्दर्शनाद्युदीयमानमुपलभ्यते, ततः कारणे कार्योपचार इति कृत्वा ता अपि भावग्रामो भण्यते।

अत्र परः प्राह–

एवं खु भावगामो, णिण्हवमाई वि जह मयं तुब्भं।
एउअमवत्थं को णु हु, अविव्वरीतो वदिज्जाहि ॥

यथा सम्यग्भावितप्रतिमानां कारणे कार्योपचाराद्भावग्रामत्वं युष्माकं मतमभिप्रेतम्, एवमेव निह्नवादयोऽपि भावग्राम एव भवतां प्राप्नुवन्ति, तेषामपि दर्शनेन कस्यचित्सम्यग्दर्शनोत्पादात्। सूरिराह–एतत्त्वदुक्तमवाच्यवचनं, भवन्तमसमञ्जसप्रलापितं विना को नु अविपरीतः सम्यग्वस्तुतत्त्ववेदी वदेत् ? अपि तु नैवेत्यभिप्रायः।

कुत इति ?आह–

जइ वि हु सम्मुप्पाओ, पासइ दट्ठूण निण्हए होज्जा।
मिच्छत्तहयसईया, तहा वि ते वज्जणिज्जाओ ॥

यद्यपि हि निह्नवानपि दृष्ट्वा कस्यचित् सम्यग्दर्शनोत्पादो भवेत् तथाऽपि मिथ्यात्वमतत्त्वे तत्त्वाभिनिवेशः, तेन हता स्मृतिः सर्वज्ञवचनसंस्कारालक्षणा दुर्वातेन शस्यवद्येषां ते मिथ्यात्वहतस्मृतिकाः, एवंविधाश्च बह्वीभिरसद्भावोद्भावनाभिरास्तां लोकचेतांसि विपरिणामयन्तः पूर्वलब्धमपि बीजमात्मनोऽपरेषां चोपघ्नन्तो दूरं दूरेण वर्जनीया इति यतश्चैवमतो नैते भावग्रामतया भवितुमर्हन्तीति प्रकृतम्।

अथात्र कतरेण ग्रामेणाधिकार ? उच्यते –

आहारउवहिसयणा–सणोवभोगेसु जो उ पाउग्गो।
एवं वयंति गामं, जेणऽहिगारो इहं सुत्ते ॥

आहारोपधी प्रतीतौ, शयनं संस्तारकः, आसनं पीठादि, एतेषामुपभोगेषु यः प्रायोग्यः। किमुक्तं भवति ? एतानि यत्र कल्पानि प्राप्यन्ते तमेतं ग्रामं वदन्ति प्ररूपयन्ति सूरयो नात्र सूत्रेऽधिकारः प्रकृतमिति व्याख्यातं ग्रामपदम्। बृ०१ उ० एवं नगरादीनामपि निक्षेपपदानि व्याख्यातव्यानि। समूहे, आव०४ अ० औ० जनसमूहे, अट०३ अष्ट० दशकुलसाहस्रिके, ज्ञा०१ श्रु०१ अ० इन्द्रियगणे च। उत्त०३ अ० ''यथा कुटुम्बिनः सर्वेऽप्यकीभूता भवन्ति हि ॥ तथा स्वराणां सन्देहो, ग्राम इत्याभधीयते ॥१॥'' इत्युक्ते स्वरसङ्घभेदे, वाच०। ''एएसि णं सत्तण्हं सराणं तयो गामा पण्णत्ता। तं जहा–सज्जगामे, मज्झिमगामे, गंधारगामे। सत्त स्सरा तओ गामा, मुच्छणा एगविंसती''। स्था०७ ठा०। जनपदे च। वाच।

गामउम (देशी) ग्रामप्रधाने, दे०ना०२ वर्ग।

गामऊम पुं०(ग्रामकूट)ग्राममहत्तरे, बृ०३ उ०।

गामंडे (देशी) छलेन ग्रामभांक्तरि, दे०ना०२ वर्ग।

गामंतिय पुं०(ग्रामन्तिक) ग्रामादिकमुपजीवन्तो ग्रामस्यान्ते समीपे वसन्तीति ग्रामान्तिकाः। दशा०१ अ०। ग्रामोपजीविनि तीर्थकविशेषे, सूत्र०२ श्रु०२ अ०। आचा०।

गामकंटक पुं०(ग्रामकण्टक) ग्राम इन्द्रियग्रामस्तस्य कण्टका इव ग्रामकण्टकाः। इन्द्रियवर्गप्रतिकूलशब्दादिषु, कण्टकत्वं चैषां दुःखोत्पादकत्वेन मुक्तिमार्गं प्रति विघ्नहेतुतया च। उत्त०३ अ० दश०। औ०। ज्ञा०। नीचजनरूक्षालापेषु च। आचा०१ श्रु०८ अ०३ अ०।

साधुः क्रूरसत्त्वैररभिद्रुतः संयमाद्भ्रश्यते, दुःसहत्वाद् ग्रामकण्टकानाम्। तानधिकृत्याह–

अप्पेगे पडिभासन्ति, पडिपंथियमागता।
पडियारगता एते, जे एते एव जीविणो ॥९॥
अप्पेग वइ जुंजंति, नगिणा पिंडोलगाऽहमा।
मुंडा कंडविणट्ठंगा, उज्जल्ला असमाहिता ॥१०॥
एवं विप्पमिवन्नेगे, अप्पणा उ अजायणा।
तमओ ते तमं जंति, मंदा मोहेण पाउमा ॥११॥

(अप्पेगे इत्यादि) अपिः संभावने। एके केचनाऽपुष्टधर्माणः अपुण्यकर्माणः प्रतिभाषन्ति ब्रुवते–प्रतिपन्थाः प्रतिकूलत्वं तेन चरन्ति प्रातिपन्थिकाः साधुविद्वेषिणः, तद्भावमागताः, कथञ्चित् प्रतिपथे वा दृष्टा अनार्या एतद् ब्रुवतेसंभाव्यते एतदेवंविधानां तद्यथा प्रतीकारः पूर्वचरितस्य कर्मणोऽनुभवस्तमेके गताः प्राप्ताः स्वकृतकर्मफलभोगिनो य एते यतय एवं जीवन्ति परग्रहाण्यटन्तोऽन्तप्रान्तभोजिनो दत्तादाना लुञ्चितशिरसः सर्वभोगवञ्चिता दुःखितं जीवन्तीति। ॥९॥ किञ्च–(अप्पे इत्यादि) अप्यके केचन कुसृतिप्रसूता अनार्या वाचं युञ्जन्ति भाषन्ते तद्यथैते जिनकल्पिकादयो नग्नाः, तथा (पिंडोलग त्ति) परपिण्ड-प्रार्थकाः, अधमाः मलाविलत्वात् जुगुप्सिताः, मुण्डा लुञ्चितशिरसः, तथा क्वचित्कण्डूकृतक्षतैः रेखाभिर्वा विनष्टाङ्गा विकृतशरीरा अप्रतिकर्मशरीरतया वा क्वचिद्रोगसंभवे सनत्कुमारवत् विनष्टाङ्गाः, तथोद्गतो जल्लः शुष्कोप्रस्वेदो येषां ते उज्जल्लाः, तथा असमाहिता अशोभना बीभत्या दुष्टा वा प्राणिनामसमाधिमुत्पादयन्तीति ॥१०॥ सांप्रतमेतद्भाषकाणां विपाकदर्शनायाऽऽह–(एवमित्यादि) एवमनन्तरोक्तरीत्या एके अपुण्यकर्माणो विप्रतिपन्नाः साधुसंमार्गद्वेषिणः आत्मना स्वयमज्ञाः। तुशब्दादन्येषां च विवेकिनां वचनमकुर्वाणाः सन्तस्ते तमसोऽज्ञानरूपादुत्कृष्टं तमो यान्ति गच्छन्ति। यदि वा अधस्तादप्यधस्तनीं गतिं गच्छन्ति। यतो

मन्दा ज्ञानावरणीयेनाऽवष्टब्धाः, तथा मोहेन मिथ्यादर्शनरूपेण प्रावृता आच्छादिताः सन्तः षिङ्प्राया: साधुविद्वेषतया कुमार्गगा भवन्ति। तथा चोक्तम्–''एकं हि चक्षुरमलं सहजो विवेकस्तद्वरिद्भरेव सह संवसति द्वितीयम्। एतद् द्वयं भुवि न यस्य स तत्त्वतोऽन्धस्तस्याऽपमार्गचलने खलु कोऽपराधः ?'' ॥१॥११॥ सूत्र०३ अ०१ श्रु०१ उ०।

गामकंटकोपसग्ग पुं० (ग्रामकण्टकोपसर्ग) इन्द्रियग्राम-प्रतिकूलोपसर्गे, भ०६ श०३३ उ०।

गामकुमारि स्त्री०(ग्रामकुमारि) ग्रामे कुमारका ग्रामकुमारकास्तेषामियं ग्रामकुमारिका। ग्रामबालक्रीडायाम्, सूत्र०१ श्रु०१ अ०।

गामगोह (देशी) ग्रामप्रधाने, दे० ना०२ वर्ग।

गामघायग पुं०(ग्रामघातक) ग्राममारके दुःपुरुषे, प्रयन०३ आश्र० द्वार।

गामट्ठाण न०(ग्रामस्थान) उद्धसग्रामस्थाने, कल्प०५ क्षण।

गामणिद्धमण न०(ग्रामनिर्द्धमन) ग्रामसम्बन्धिनि जलनिर्गमे 'खाल' इति लोके प्रसिद्धे, कल्प०४ क्षण।

गामणिमंतिय पुं०(ग्रामनिमन्त्रिक) परतीर्थिकविशेषे, सूत्र२ श्रु०७ अ०।

गामण न०(गामन) भूमौ सर्पणे, भ०११ श०११ उ०।

गामणि पुं०(ग्रामणी) ग्रामसमूहं नयति प्रेरयति स्वस्वकार्य्येषु नी–क्विप्–णत्वम्। वाच०। **''क्विपः''॥८।३।४३॥** इति ईदन्तस्य ह्रस्वो वा। प्रा०३ पाद। प्रधाने, ग्रामाध्यक्षे, नापिते, पुं०। ग्रामं ग्रामधर्मं नयति भोगिके, ग्रामेण मैथुनव्यापारेण नयति कालम्। बहुजनभोग्यायां स्त्रियाम्, वेश्यायां नीलिकायां च। स्त्री०। विष्णौ, वाच०। ग्रामप्रधाने, दे०ना०२ वर्ग।

गामणी पुं०स्त्री०(ग्रामणी) गमणि शब्दार्थे, प्रा०३ पाद।

गामणीसुअ (देशी) ग्रामप्रधाने, दे००ना०२ वर्ग।

गामधम्म पुं०(ग्रामधम्म) ग्रामा इन्द्रियग्रामाः, तेषां धर्म्मः स्वभावः। इन्द्रियाणां यथास्वं विषयेषु प्रवर्तने, आचा०१ श्रु०५ अ०४ उ०। विषयोपभोगगते व्यापारे, आचा०२ श्रु०१ आ०३ उ०। ग्राम इन्द्रियग्रामो रूढेस्तद्धर्म्मः। विषयाभिलाषे, स्था०१० ठा०। शब्दादिषु कामगुणेषु, प्रश्न०४ आश्र० द्वार। मैथुने, ''उत्तरमणुयाण आहिया गामधम्मा इह मे अणुस्सुयं'' सूत्र०१ श्रु०२ अ०२ उ०। आचा०। ग्रामा जनपदाश्रयस्तेषां तेषु वा धर्मः समाचारो व्यवस्थेति ग्रामधर्मः। लौकिकधर्मभेदे, स च प्रतिग्रामं भिन्न इति। स्था०१० ठा०। दश०।

गामद्ध पुं०(ग्रामार्द्ध) ग्रामे उत्तरापथानां ग्रामस्य ग्रामार्द्ध इति संज्ञा। आह चूर्णिकृत–''गामद्धेसु त्ति देसणतीछन्नउईगामेसु त्ति भणियं होइ उत्तरावहाणं, एसा भणिइ त्ति'' वृ०१ उ०।

गामपह पुं०(ग्रामपथ) ग्राममार्गे, नि० चू०१२ उ०।

गामपिंडोलग पुं०(ग्रामपिण्डोलक) भिक्षयोदरभरणार्थं ग्राममाश्रिते तुन्दयरिमूजे, आचा०१ श्रु०८ अ०४ उ०।

गामवह पुं०(ग्रामवध)६ त०। ग्रामावघाते, नि०चू०१६ उ०।

गाममारी स्त्री०(ग्राममारि) ग्रामे युगपद् रोगविशेषादिना बहुनां कालधर्मप्राप्तौ, जी०३ प्रति०।

गामरक्खय पुं०(ग्रामरक्षक) त्रिकचत्वरादिव्यवस्थितेषु ग्रामरक्षाकारिषु, आचा०१ श्रु०६ अ०२ उ०।

गामरोग पुं (ग्रामरोग)ग्रामव्यापिनि रोगे, जं०२ वक्ष०।

गामसठिय न०(ग्रामसंस्थित)ग्रामालम्बनत्वाद् ग्रामाकारे विभङ्गज्ञाने, भ०८ श०२ उ०।

गामससरियग न०(ग्रामसंसार्यक) ग्रामे संसारणीये कथनीये, आचा०१ श्रु०२ अ०५ उ०।

गामहण (देशी)ग्रामस्नाने, दे० ना० २ वर्ग।

गामाग पुं०(ग्रामाक) स्वनामख्याते सन्निवेशे, यत्र प्रतिमास्थितस्य वीरस्य बिभेलको नाम यक्षः पूजां कृतवान्। आ०म०द्वि० आ०चू०।

गामागर पुं०(ग्रामाकर) ग्रामाः करवन्तस्तेषु आकरा लोहाद्युत्पत्तिभूमयः। ग्रामस्थितलोहाद्युत्पत्तिभूमिषु, कल्प०।

गामागर–नगर–खेड–कव्वड–मडंब–दोणमुह–पट्टणा–सम–संबाह–सन्निवेसे॥

(गामेत्यादि) ग्रामाः करवन्तः, अकाराः लोहाद्युत्पत्तिभूमयः, नगराणि कररहितानि, खेटानि धूलिप्राकारोपेतानि, कर्बटानि कुनगराणि, मडंबानि सर्वतोऽर्धयोजनात्परतो अवस्थितग्रामाणि, द्रोणमुखानि यत्र जलस्थलपथावुभावपि भवतः, पत्तनानि जलस्थलमार्गयोरन्यतरेण मार्गेण युक्तानि, अश्रमस्तीर्थस्थानानि, तापसस्थानानि वा, संवाहाः समभूमौ कृषिं कृत्वा कृषीबला यत्र धान्यरक्षार्थं स्थापयन्ति, संनिवेशाः सार्थकटकादीनां उत्तरणस्थानानि; एतेषां द्वन्द्वः, तेषु तथा। कल्प०४ क्षण।

गामाणुग्गाम न०(ग्रामानुग्राम) एकस्माद् ग्रामादवधिभूतादुत्तरग्रामाणामनतिक्रमो ग्रामानुग्रामम्। ग्रामपरम्परायाम्, एकग्रामाल्लघुश्चाद्वावाभ्यां ग्रामोऽनुगामः। ग्रामश्च अनुग्रामश्च ग्रामानुग्रामम्। स्था०४ ठा०४ उ०। ग्रामादनन्तरे ग्रामे, ध०३ अधि०। गच्छतोग्रेऽनुकूले ग्रामे च। नि०चू०३ उ०। ''गामानुगामं दूइज्जमाणे'' ग्रामानुग्रामं द्रवन् एकस्माद् ग्रामादनन्तरग्राममनुल्लङ्घयन्नित्यर्थः। रा०। आचा०। औ०। ज्ञा०। उत्त०। नि०। भ०। नि०चू०। ''गामाणुगामं रीयंतं अणगारं अकिंचणं''॥ उत्त०३ अ०।

गामायार पुं०(ग्रामाचार)विषये, अ०म०प्र०। ''गामायारा विसया'' आ०म०प्र०।

गामारण्णप्पयारणिरथ त्रि०(ग्रामारण्यप्रचारनिरत) ग्रामारण्ययोः प्रचारविषयनिरते, भ०७ श०६ उ०।

गामाहिवई पुं०(ग्रामाधिपति) भोगिके, बृ०४ उ०।

गामिय त्रि०(ग्रामिक)ग्रामधर्माश्रिते, आचा०१ श्रु०८ अ०२ उ०। ग्रामहत्तरे, नि०चू०२ उ०।

गामिल्लय त्रि०(ग्रामीण) ग्रामे भवः। **''मिल्लडुल्लौ भवे''।।८।२।१६३।** इति नाम्नः पर इल्लप्रत्ययः। प्रा०२ पाद। ग्रामभवे मनुष्ये, ''ते य गामिल्लए भण्णइ'' आ०म०प्र०।

गामेयग त्रि०(ग्रमेयक) ग्रमजाते, ग्रामेयकास्तिर्यञ्चो द्विधाकुत्सिता जुगुप्सिताश्च। बृ०१ उ०। (ग्रामेयकोदाहरणम् 'अणणुओग'शब्दे प्र० भागे २८६ पृष्ठे निरूपितम्)

गाय न०(गात्र) शरीरे, उत्त०२ अ०। शरीरावयवे, सूत्र०२ श्रु०२ अ०। ज्ञा०। औ०। ''गायस्सुव्वट्टणाणि य'' गात्रस्य कायस्योद्वर्त्तनमेवानाचरितानि उर्द्वत्तनानि पङ्क्षापनयनलक्षणानि। दश०३ अ०।

गायगंठिभेय पुं०(गात्रग्रन्थिभेद) गात्रान्मनुष्यशरीरावयवविशेषात् कट्यादेः सकाशत् ग्रन्थिं कार्षापणादिपोट्टलिं भिन्दन्त्याच्छिन्दन्तीति गात्रग्रन्थिभेदकाः। ग्रन्थिच्छेदकतस्करेषु, औ०। ज्ञ०। शरीरविनाशकारिषु च। रा०।

गायदाह पुं०(गात्रदाह) नीरोगीकरणार्थं पशूनां गात्रदग्धताकरणे, तत्स्थाने च। ''जराइरोगमरंताणं गोरुआणं रोगपसवणत्थं जत्थ गाआ डज्झंति तं गायदाहं भण्णति''। नि०चू०३ उ०।

गायपच्छणण न०(गात्रप्रक्षणन) शरीरस्य चीरणे प्रश्न०५ संव० द्वार।

गायब्भंग पुं०(गात्राभ्यङ्ग) तैलादिना गात्रस्याभ्यञ्जने, दश०३ अ०।

गायब्भंगण न०(गात्राभ्यञ्जन) सहस्रपाकतैलादिभिः गात्रस्याभ्यङ्गे, आचा०१ श्रु०६ अ०४ उ०।

गायरी (देशी) गर्गर्याम् दे०ना०२ वर्ग।

गायलट्ठि स्त्री०(गाययष्टि) तनुलतायाम्, सम्म०२ काण्ड।

गार पुं०(गार) पाषाणशृङ्गिकायाम्, वृ०४ उ०। कर्कंरके, व्य०४ उ०।

अगार न०। प्राकृतेऽकारलोपः। गृहे, सूत्र०१ श्रु०२ अ०३ उ०। ''गारभावसंतेहिं'' अगारं गृहं तदाद्यक्षरलोपाद् गारमित्युच्यते। अगारभावसद्भिः सेवमानैः। आचा०१ श्रु०५ अ०३ उ०।

गारइल्ल त्रि०(गौरववत्) गौरवाणि ऋद्धिरससातलक्षणानि विद्यन्ते यस्य स गौरववान्। गौरवान्विते, कर्म०१ कर्म०।

गारत्थ पुं०(अगारस्थ) गृहस्थे, नि०चू०१ उ०।

गारत्थिय पुं०(अगारस्थित) अगारं गेहं तद्वत्तयोऽगारस्थिताः। गृहिषु, स्था०६ ठा०। वृ०। मरुकादिभिक्षाचरे, नि०चू०२ उ०।

गारत्थियवयण न०(अगारस्थितवचन) अगारस्थिता गृहिणस्तेषां वचनम्। बृ०१ उ०। मामकभागिनेयेत्यादिभणने, स्था०६ ठा०।

अथागारस्थितवचनमाह–

अरे ! हरे ! वुमण ! पुत्ता !, अव्वो ! वप्पो ! त्ति भाय ! माम ! त्ति।
भट्टी ! य सामि ! भोगिय !, लहुओ लहुआ य गुरुआ य॥

अरे ! इति वा हरे ! इति ब्राह्मण ! इति वा पुत्र ! इति वा यद्यामश्चणवचनं वूते तदा मासलघु। 'अव्वो ! वप्पो !' भ्रातः ! मामक ! उपलक्षणत्वादम्ब ! भागिनेय ! इत्यादीन्यपि यदि वक्ति तदा चतुर्लघु। अथ भट्टिन् ! स्वामिन् ! भोगिन् ! इत्यादीनि गौरवगर्भाणि वचांसिब्रूते तदा चतुर्गुरुका आज्ञादयश्च दोषाः।

संथयमादी दोसा, हवंति धी मुम ! को व तुह वंधू ?
मिच्छत्तं दियवयणे, ओभावणता य सामि त्ति॥

भ्रातृमामकादीनि वचनानि ब्रुवाणेन संस्तवः पूर्वसंस्तवादिरूपः कृतो भवति। ततश्च प्रतिगन्धाद्यो बहवो दोषा भवन्ति। अम्ब ! तात ! इत्यादि ब्रुवतः श्रुत्वा लोकाश्चिन्तयेत्–अहो ! एतेषामपि मातापित्रादयः पूजनीयाः, अविरतिकाश्च मन्त्रयन्तो भूयस्तरा दोषाः। यद्वा–सद्गृहस्थस्तेनासद्भूतसंबन्धोद्घटनेन रुष्टो ब्रूयात्–धिग् मुण्ड ! कस्तवात्र बन्धुः स्वजनोऽस्ति ? येनैवं प्रलपसि ? उपलक्षणमदम् अरे ! हरे ! इत्यादि ब्रुवतः परो ब्रूयात्–त्वं तावन्मां न जानीषे कोऽहमस्मि, ततः किमेवमरे इत्यादि भणसि ? एवमसंखडादयो दोषाः। द्विजवचने च ब्राह्मण ! इत्येवमभिधाने मिथ्यात्वं भवति। स्वामिन् ! इत्याद्यभिधाने च प्रवचनस्यापभ्राजना भवति। गतमगारस्थित वचनम्। गृहस्थवचनं देशीभाषामाश्रित्य भणेत्। वृ०६ उ०। ('अवयण' शब्दे प्रथमभागे ७६६ पृष्ठे चतुर्गुरुकाः प्रायश्चित्तमुक्तम्)

अथार्यागृहस्थभाषाभाषणे दोषमाह–

जत्थ य गिहत्थभसा–हि भासए अज्जिआ सुरुट्ठा वि।
तं गच्छं गुणसायर !, समणगुणविवज्जिअं जाण॥१११॥

यत्र च सुरुष्टाऽपि कथमपि कारणवशेन भृशं रोषं गताऽपि, किं पुनररुष्टा, आर्या गृहस्थभाषाभिः 'तव गृहं ज्वलतु' 'तव शवं कर्षयामि' 'तवाक्षिणी स्फुटिते' 'तव पादौ कृत्तौ स्तः' इत्यादि कठोरसावद्यरूपाभिर्भाषते, हे गुणसागर ! तं गच्छं श्रमणगुणविवर्जितं जानाहीति गाथाच्छन्दः। ग०२ अधि०।

गारत्थी स्त्री०(अगारस्त्री) अविरतिकायाम्, वृ०३ उ०।

गारव न०(गौरव) गुरार्भावः कर्म्म वेति गौरवम्। **'आच्च गौरवे'।८।१।१६३।** इत्यौत आत्वम्। प्रा०१ पाद। प्रतिबन्धे, अभिलाषे च। आ० चू० ४ अ०। तत्र द्रव्यभावभेदभिन्नं गौरवं वज्रादेः भावगौरवमभिमानलोभाभ्यामात्मनोऽशुभभावगौरवं संसारचक्रवालपरिभ्रमणहेतुकर्मनिदानमिति भावार्थः। आव०४ अ०।

तओ गारवा पन्नत्ता। तु जहा–इड्ढिगारवे, रसगारवे, सातागारवे।

तत्र. ऋद्ध्या नरेन्द्रादिपूजालक्षणया, आचार्यत्वादिलक्षणया वाऽभिमानाद्विद्वारेण गौरवं ऋद्धिगौरवम्, ऋद्धिप्राप्त्यऽतिमानप्राप्तिप्रार्थनाद्वारेणाऽऽत्मनोऽशुभोच्चयो भावगौरवमित्यर्थः। एवमन्यत्रापि, नवरं रसो रसनेन्द्रियार्थो मधुरादिः, सातं सुखमिति। अथ वा–ऋद्ध्यादिषु गौरवमादर इति। स्था०३ ठा०४ उ०।

ऋद्ध्यादिगौरवे च दृष्टान्तः–

''मथूरामागमन्मङ्गुराचार्यः श्रुतपारगः।
धर्मोपदेशवान् लब्ध्या, भविकप्रतिबोधकः॥१॥
समृद्धाः श्रावका भक्त्या, भोज्यानि सरसानि च।
सुखेनावस्थितिस्तत्र, तस्याभूत्सर्वकालिकी॥२॥

ऋद्धिरससातरूपं, ततोऽभूद्गौरवत्रयम्।
नित्यवासी स तत्रासीदतो लौल्याद्विशेषतः ॥३॥
आयुःक्षये स मृत्वाऽभूद्, यक्षो निर्धमने पुरः।
ज्ञात्वा चाधः स्वं शिष्यान् स्वान्, संज्ञाभूमिमुपगतान् ॥४॥
दृष्ट्वा प्रासारयद्दीर्घां, जिह्वां बोधयितुं सुधीः।
तेष्वेकः सात्विकः साधु–रूचे त्वं कोऽसि गुह्यक!?॥५॥
स ऊचे वो गुरुर्मृत्वा, लौल्यादीदृक् सुरोऽभवम्।
नित्यवासं ततो यूयं, परित्यज्य कृतोद्यमाः ॥६॥
विहरध्वं क्रियानिष्ठाः, लभ्ध्वं मा स्म दुर्गतिम्।
श्रुत्वा गुरुवचो दृष्ट–प्रत्यया गौरवेषु ते ॥७॥,
तदेवाऽऽवेद्य भव्यानां, व्यहार्षुस्त्यक्तगौरवाः ''॥

आ०क०। आव०। संथा०। ध०। प्रश्न०। आतु०। स०। सूत्र०। परिवारगौरवे० व्य०।

परिवारइड्ढिधम्मक–हवादिखमगा तहेव नेमित्ती।
विज्जा रायणिए गा–रवो इत्ति अट्ठहा होइ ॥

परिवारगौरवम् १ ऋद्धिगौरवम् २ धर्म्मकथकोऽहमिति गौरवम् ३ वाद्यऽहमिति गौरवम् ४ क्षपकाऽहमिति गौरवम् ५ नैमित्तिकोऽहमिति गौरवम् ६ विद्यागौरवम् ७ रत्नाधिकतागौरवम् ८ इत्येवममुना प्रकारेणाष्टधाऽष्टप्रकारं गौरवं भवति। व्य०३ उ०। आदरे, प्रश्न०२ आश्र० द्वार। गर्वे, स्था०१० ठा०।

गारवकारण न०(गौरवकारण)गर्वनिबन्धने, वृ०१ उ०।

गारवट्ठ त्रि०(गौरवार्थ) गौरवनिमित्ते, ''एयाणि गारवट्ठा, कुणमाणे आभिओगियं बंधे'' पं०व०४ द्वार।

गारवदाण न०(गौरवदान) गौरवेण गर्वेण यद्दीयते तद्गौरवदानम्। दानभेदे, ''नटनर्त्तमुष्टिकेभ्यो, दानं संबन्धिबन्धुमित्रेभ्यः। यद्दीयते यशोऽर्थं, गर्वेण तु तद्भवेद् दानम्''॥१॥ स्था०१० ठा०।

गारववंदण न०(गौरववन्दन) चतुर्दशे वन्दनकदोषे, प्रव०।

चतुर्दशदोषमाह–

''गारव सिक्खाविणीओऽहं''(१६०)(गारव त्ति) गौरवनिमित्तं वन्दनकमिति। कथं तदिति। आह–''सिक्खाविणी ओहं ति'' शिक्षा वन्दनकप्रदानादिसामाचारीविषया, तस्यां विनीतः कुशलोऽहमित्यवगच्छन्त्वमी सर्वेऽपि साधव इत्यभिप्रायवान् यथावदावर्त्ताद्याराधयन् यत्र वन्दते तद्गौरववन्दनकमित्यर्थः। प्रव०२ द्वार। आव०। आ०चू०। वृ०। ध०।

गारवविसेसजोग पुं०(गौरवविशेषयोग) गुरुत्वस्य पूजनीयत्वस्याऽधिकसम्बन्धे, षो०१० विव०।

गारविय त्रि०(गौरवित) ऋध्यादिगौरवं संजातमस्येति। ऋद्धिरससातानामन्यतमेन गौरवेण गुरुतरे, सूत्र०१ श्रु०१ अ०१ उ०। चं०प्र०। ग०। ध०॥

गारिहत्थिया स्त्री०(गार्हस्थी) गृहस्थानामियं भाषा गार्हस्थी, पुत्र–मामक–भागिनेयेत्यादिः। तस्यां भाषायाम्, प्रव०२३५ द्वार।

गारुल न०(गारुड) मन्त्रशास्त्रभेदे, स्था०९ ठा०।

गाल न श् धा०। अदर्शने, णिचा। तस्य **''नशेर्विउड–नासव–हारव–विप्पगाल–पलावाः''।८।४।३१।** इति गालादेशः। 'गालइ' नाशयति। प्रा०४ पाद।

गालण न०(गालन) घनमसृणवस्त्रार्द्धान्तेन शुद्धिकरणे, विध्वंसने च। नि०१ वर्ग। आचा०। गालने, प्रश्न०१ आश्र० द्वार।

तच्च न कार्यम्–

जे भिक्खू वियडं गालेइ गालावेइ गालियमाहट्टु दिज्जमाणं पडिगाहेइ पडिग्गहंतं वा साइज्जइ ॥७॥

परिपूणगादीहिं गालेति, तस्स चउलहुं, आणादिया य दोसा।

जे भिक्खू वियडंतं, गालिज्जा तिविहकरणजोगेणं।
सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराहणं पावे ॥२२॥

अप्पणो गालेइ, अण्णेण वा गालावेइ, गालें तमणुमोदेति। एतं वितहकरणे इमे दोसा, सेसं कंठं।

इहरह वि ताव गंधो, किमु गालिंतम्मि जं च उज्झिमिया।
खोलेसु पक्कसम्मि य, पाणादिविराहणा एव ॥२३॥

(इहरह त्ति) अगालिज्जंतस्स विगंधो, गालिज्जंते पुण सुट्ठुतरं गंधो, खोलपक्कसेसुं उज्झिमाणेसु उज्झिमिता भवति। मज्झस्स हेट्ठाऽधो य गीमादिकिट्टिसं खोलेसु राए किण्णमादि किट्टिसं पक्कसं अण्णं च खोलपक्कसेसु छमिज्जमाणेसु मक्खिगपिपीलिगाविहारणा, मधुबिंदोवक्खाण उभयप्राणिविहारणा।

वितियपदं गेलण्णे, वेज्जुएसे तहेव सिक्खाए।
एतेहि कारणेहिं, जयणा इमा तत्थ कातव्वा ॥२४॥

कारणे इमाए जयणाए गेण्हेज्ज–

पुव्वपरिगालियंत स्स गवेसण पढमताए कायव्वा।
पुव्वापरगालेय स्सा तीतो अप्पणा गाले ॥२५॥

रिजूरिति कण्ठ्या–

सव्वेवियडसुत्ता जहा णिद्दोसा सदोसा भवंति तहा आह–

कारणगहणे जयणा, दत्ती दूतिज्ज गालणं चेव।
कीयादी पुण दप्पे, कज्जो वा जोगमकरें तो ॥२६॥

दत्तीसुत्तं, दूइज्जणासुत्तं, गालणासुत्तं च। एते सुत्ता कारणिया। एतेषु कारणेसु वियडं घेप्पइ, गहणे णिद्दोसा जयणं करेंतो, जयणं अकरेंतस्स दोसा भवंति। कीयगडपामिच्चपरियट्टिअज्झादिया पुण सुत्ता दप्पतो पडिसिद्धा, दप्पतो गेण्हंति सदोसा कज्जे अववादतो गेण्हंतो जति तिण्णि वारा सुद्धं सगणं पउंजंति, पणगपरिहाणी पउंजंति, ता सदोसो। नि०चू०१९ उ०।

गालणा स्त्री०(गालना) गर्भपातनप्रकारे, येन गर्भो द्रवीभूय क्षरति। विपा०१ श्रु०१ अ०।

गाली स्त्री०(गाली) चकारमकारादिकायामसद्वाचि, प्रव०३८ द्वार। स्था०। ''ददतु ददतु गालीं गालिमन्तो भवन्तो, वयमिह तदभावान्नैव दाने समर्थाः''॥ उत्त०२ अ०।

गालेमाण त्रि०(गालयत्) अतिवहयति, भ०९ श०३३ उ०।

गावाण पुं०(ग्रावन्) **''पुंस्यन आणो रातवच्च''।८।३।५६।** इत्यत्रन्तस्य आणादेशः। पाषाणे, प्रा०३ पाद। गिरौ च। है०। वाच०।

गावी स्त्री० (गो) गव्याम्, रा०। आ० म०। (गोदृष्टान्तः

'अणणुओग' शब्दे प्रथमभागे २८५ पृष्ठे उक्तः) ''गावीयो हरियाओ'' आ०म०द्व०। ''खारीणियाओ गावीओ'' आचा०२ श्रु०१ अ०४ उ०।

गास पुं०(ग्रास) ग्रसु अदने। ग्रसनं ग्रासः। कवलप्रक्षेपे, ग्रस्यत इति च ग्रासः। कवले, विशे०।

गासेसणा स्त्री०(ग्रासेषणा) ''गासेसणाए संथडे निवतिए पेहाए'' गासार्थं क्वचिद्रसादौ निपतति, आचा०२ श्रु०१ अ०६ उ०।

गाह पुं०(गाध) उद्वेधे, स्था०१० ठा०। स्ताघे, स्था०४ ठा० उ०।

ग्राह पुं०। ग्राहो ग्रहणम्। गृहीतौ, नि०चू०१ उ०। आदाने, हस्तव्यापारे, वाच०। सर्पग्राहके गारुडिकादौ, बृ०१ उ०। तन्तुकजीवे जलजन्तुभेदे, उत्त०३६ अ०। प्रश्न०। तथा सूत्रम् ''से किं तं गाहा? गाह पञ्चविहा पण्णत्ता। तं जहा –*देली बढगा मट्ठिया पुलगा सामागारा। सेत्तं गाहा।*'' प्रज्ञा०१ पद। ज०।

गाहक पुं०(ग्राहक) ग्रह ण्वुल्श्येनपक्षिणि, विषर्वद्ये च। ग्रहीतरि, त्रि०। क्षापके, लिङ्गेन्द्रियादौ, वाच०। आचार्ये, ग्रहयतीति व्युत्पत्तेः। शिष्ये च, गृह्णातीति व्युत्पत्तेः। व्य०३ उ०। शिक्षयितरि गुरौ, उत्त०१ अ०। अर्थपरिच्छेदकारिणि, बृ०१ उ०। कथयितरि, आ० म० द्वि०।

गाहगसुद्ध न०(ग्राहकशुद्ध) ग्राहकशुध्या शुद्धेऽशनादिदाने, यत्र ग्रहीता चारित्रगुण युक्तः। विपा०२ श्रु०१ उ०।

गाहगगिरा स्त्री०(ग्राहकगिर्) ग्राहयतीति ग्राहिका, सा चासौगीश्च ग्राहकगीः। आ०म०द्वि०। अर्थपरिच्छेददकारिण्या भगवद्वाचि, बृ०१ उ०। आ०क०।

गाहण न०(ग्राहण) ग्राहयतीति ग्राहणम्। ग्राह्यते शिष्य एतदिति बाहुलकात्कर्मण्यनट्, ग्राहणम्। आचारादिसूत्रे, व्य०३ उ०। प्रतिपाद्यस्य विवक्षितार्थप्रतीतिजनके वचास, प्रश्न०२ संव० द्वार। आदापने, पं०भा०।

गाहण तवचरिमस्सा, गहणं चिय गाहणा होति।
किह पुण चरित्तगहणं, होज्जहि भन्नति इमेहिं तु॥
वेरग्गेणं अहवा, मिच्छत्तो होइ संमत्तं।
संमत्ताउ चरित्तं, अहवा होज्जा इमेहिं गहणं तु॥
सवणो णाणविणाणे, एमादी गाहण चरित्ते य।
अहवा वी उवएसो, एगट्ठं होति गाहणा य त्ति।
तह उवदिसति जहत्तं, चारित्तं गेण्हती सो तु॥
अविराहणम्मि य गुणो, दोसा य विराहणा चरित्तस्स।
तह गाहिज्जति जहत्तं, ओगाढो होति चारित्ते॥
णाणे य चेव तह दंसणे य जाति गहणेण संभूया।
एयातिं गाहंते, गाहणता वन्निता एसा॥ पं०भा०।

चरित्रपतिपत्तिः ग्राहणा इति। चरित्रं प्रतिपत्तिविशुद्धं, कथं वा चरित्रं भविष्यति? (वेरग्गेण) वैराग्यतया शुद्धिर्भवति। एवमित्यवधारणे। एताः प्रतिपत्तयः। प्रतिपत्ति रितिव्याकरणं, प्रकारो वा०। पं०चू०। सूत्र०।

गाहणाकुसल पुं०(ग्राहणाकुशल) प्रतिपादनशक्तियुक्ते, ग०१ अधि०। स० हि वह्वीभिर्युक्तिभिः शिष्यान् बोधयति। आचा०१ अ०१ उ०।

गाहा स्त्री०(गाथा) गाथ अ–टाप् संस्कृतेतरभाषानिबद्धा–यामार्यायाम्, जं०२ वक्ष०। तल्लक्षणञ्च –

''विषमाक्षरपादं वा, पादैरसमं दशधर्म्मवत्।
तन्त्रेऽस्मिन्पदसिद्धं, गाथेति तत्यण्डितैर्ज्ञेयम्''।

दशधर्मवदिति–

''दश धर्मं न जानन्ति, धृतराष्ट्र! निबोधत॥
मत्तः प्रमत्त उन्मत्तः, श्रान्तः क्रुद्धो बुभुक्षितः।
त्वरमाणश्च भीरुश्च, लुब्धः कामी च ते दश''।

इति गृह्यते, उत्त००३६ अ०। स्था०।

''*यच्छन्दो नोक्तमत्र, गाथेति तत्सूरिभिः प्रोक्तम्*'' इति च। ग०१ अधि०। भ०।

''लक्ष्मैतत्सप्त गणा, गोपेता भवति नेह विषमे जः।
षष्ठोऽयं न लघुर्वा, प्रथमेऽर्द्धे नियतमार्यायाः॥
षष्ठे द्वितीयलात्परके न्ले, मुखलाच्च स यतिपदनियमः।
चरमेऽर्द्धे पञ्चमके, तस्मादिह भवति षष्ठो लः''॥२॥
आर्यैव संस्कृतेतरभाषासु गाथासंज्ञेति॥

निक्षेपः

णाम ठवणा गाहा, दव्वगाहा य भावगाहा य।
पोत्थग–पत्तग–लिहिया, सो होई दव्वगाहाओ॥१३६॥

(णामं ठवणेत्यादि) तत्र गाथाया नामादिकश्चतुर्द्धा निक्षेपः। तत्रापि नामस्थापने क्षुण्णणत्वादनादृत्य द्रव्यगाथामाह–(सू०१ श्रु०१६ अ०) आगमतो, नोआगमतश्च। तत्र आगमतो ज्ञाता, तत्र चानुपयुक्तोऽनुपयोगो द्रव्यमिति कृत्वा। नोआगमतस्तु त्रिधा–ज्ञशरीरद्रव्यगाथा, भव्यशरीरद्रव्यगाथा, ताभ्यां विनिर्मुक्ता च। ''सत्तट्ठ गुरु विसमा, से हया ताण छाट्ठ णहजलया। गाहाए पच्छद्धे, भेओ छट्ठो त्ति इक्कलो''॥१॥ इत्यादिलक्षणलक्षिता पत्रपुस्तकादिन्यस्तेति। सूत्र०१ श्रु०१ अ०१ उ०। तत्र ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्ता द्रव्यगाथा पत्रकपुस्तकादिन्यस्ता। तद्यथा–''जयति णवणलिणकुवलय–वियसियसरवत्तपत्त–लदलच्छो। वीरो गयंदमयगल–सुललियगयविक्कमो भगवं''॥१॥ अथ चेवमव गाथा षोडशाध्ययनरूपा पत्रकपुस्तकन्यस्ता द्रव्यगाथति।

भावगाथामधिकृत्याऽऽह–

हों ति पुण भावगाहा, सागरुवओगभावणिप्पन्ना।
महुरामिधाणजत्ता, तेण गाहा ति णं बिंति॥४०॥

(होंति पुणेत्यादि) भावगाथा पुनरियं भवति। तद्यथा–योऽयौ साकारोपयोगः क्षायोपशमिकभावनिष्पन्नो गाथां प्रतिव्यवस्थितः सा भावगाथेत्युच्यते, समस्तस्याऽपि च श्रुतस्य क्षयोपशमिकभावे व्यवस्थितत्वात्। तत्र चानाकारोपयोगस्यासंभवादवमभिधियते इति। पुनरपि तामेव विशिनष्टिमधुरं श्रुतिपेशलमभिधानमुच्चारणं यस्याः सा मधुराभिधानयुक्ता, गाथाछन्दसोपनिबद्धस्य प्राकृतस्य मधुरत्वादित्य–भिप्रायः। गीयते पठ्यते मधुराक्षरप्रवृत्त्या, गायति वा तामिति गाथा, यत एवमतस्तेन कारणेन गाथामिति तां ब्रुवते;

णमितिवाक्यालङ्कारे; एनां वा गाथामिति।

अन्यथा वा निरुक्तमधिकृत्याऽऽह–

गाहीकया व अत्था, अहवा सामुद्दएण छंदेणं।
एएण हों ति गाहा, एसो अन्नो वि पज्जाओ ॥४१॥

गाहीकया व इत्यादि) गाथीकृताः पिण्डीकृता विक्षिप्ताः सन्त एकत्र मीलिता अर्था यस्याः सा गाथेति। अथ वा सामुद्रेण च्छन्दसा या निबद्धा सा गाथेत्युच्यते। तच्चेदम्–''छन्दोनिबद्धं च यल्लोके, गाथेति तत्पण्डितैः प्रोक्तम्''। एषोऽनन्तरोक्तो गाथाशब्दस्य पर्यायो निरुक्तस्तात्पर्यार्थो द्रष्टव्यः। तद्यथा–गीयतेऽसौ, गायति वा तामिति, गाथीकृताः वाऽर्थाः सामुद्रेण वा च्छन्दसेति गाथेत्युच्यते अन्यो वा स्वयमभ्यूह्य निरुक्तविधिना विधेय इति।

पिण्डितार्थग्राहित्वमधिकृत्याऽऽह–

पण्णस्ससु अज्झयणे, पिंडितअत्थेसु जो अवि तह त्ति।
पिंडियवणेणऽत्थं, गेहे तम्हा ततो गाहा ॥४२॥

(पण्णरससु इत्यादि) पञ्चदशस्वप्यध्ययनेषु अनन्तरोक्तेषु पिण्डितार्थानि तेषु सर्वेष्वपि य एवं व्यवस्थितोऽर्थस्तमवितथं यथावस्थितपिण्डितार्थवचने यस्माद् ग्रथ्नात्येतदध्ययनं षोडशं ततः पिण्डितार्थग्रथनाद्गाथेत्युच्यत इति। सूत्र०१ श्रु०१६ अ०। विचित्रा गाथा यथा–''समगं नक्खत्ता योगं, जोयंति समगं उऊ परिणमंति। णचुण्ह णाइसीओ, वहूदओ होइ नक्खत्तो'' ॥१॥ अस्यां च गाथायां पञ्चमाष्टमावंशकौ पञ्चकलावितीयं विचित्रेति छन्दोविद्भिरदिश्यते, बहुला विचित्रेति गाथालक्षणात् ''एत्ति पंचकलो गण'' इति। स्था०५ ठा०३ उ०। ''कइं च एक्काए गाहा एकया च गाथया लालित्यादिकाव्यधर्मोपेतया श्रुतया कविं जानीयात्। तद्रचनासरूपे कलाभेदे, स०। औ०। ज्ञा०। प्राक्तनपञ्चदशाध्ययनस्य गानाद्गाथो गाथा वा तत्प्रतिभूतत्वादिति। सूत्रकृत्प्रथमश्रुतस्कन्धस्य षोडशेऽध्ययने, स०१६ सम०। प्रतिष्ठायाम्, ''सेसपयाण य गाहा'' इह गाथा प्रतिष्ठोच्यते, निश्चितिरित्यर्थः। 'गाधृ' प्रतिष्ठालिप्सयोश्च इति धातुवचनात्। आव०४ अ०। गृहे, ''गाहा घर गिहमिति एगट्ठा'' व्य०८ उ०।

गाहाल पुं०(ग्राहाल) त्रीन्द्रियजीवभेदे, जी०१ प्रति०।

गाहावइ पुं०(गृहपति) गृहस्य पतिः स्वामी गृहपतिः। सूत्र०२ श्रु०४ अ०। बृ०। गृहस्थे, आचा०२ श्रु०१ अ०१ उ०। कोष्ठागारनियुक्ते, स्था०७ ठा०। स०। ऋद्धिमद्विशेषे, उत्त०१ अ०।

गाहापति पुं०। गृहस्थे, कल्प०६ क्षण। भ०। स्वधर्मं चरतो निश्रास्थानम्। जं०२ वक्ष०। ''नागे नामं गाहावई''। अन्त० ४ वर्ग। ''मकाई नामं गाहावई''। अन्त०७ वर्ग। आ०म०। शय्यादातरि च। स्था०५ ठा०३ उ०। कालोदाय्यादीनामन्यतमे–ऽन्ययूथिके, भ०७ श०१० उ०। मन्दरस्य पूर्वेण सीतामहानद्या उत्तरेण अन्तर्नद्याम्, स्था०१० ठा०।

गाहावइओग्गह पुं०(गृहपत्यवग्रह) गृहपतिर्माण्डलिको राजा तस्याऽवग्रहः। प्रति०। गृहपतेर्ग्रामहत्तरादेर्ग्रामपाटकमवग्रहः। आचा०२ श्रु०७ अ०१ उ०। नवग्रह भेदे, आचा०२ श्रु०७ अ०।

गाहावइकरंडग न०(गृहपतिकरण्डक) श्रीमत्कौटुम्बिक–करण्डके, स्था०४ ठा०४ उ०।

गाहावइकुल न०(गृहपतिकुल) गृहपतिर्गृहस्थस्तस्य कुलं गृहम्। आचा०२ श्रु०१ अ०१ उ०। नि० चू०। गृहिगृहे, भ०८ श०६ उ०।

गाथापतिकुल न०। गृहस्थगृहे, कल्प०६ क्षण।

गाहावइरयण न०(गृहपतिरत्न) चक्रवर्तिनः कोष्ठागार नियुक्ता–नामुत्कृष्टे पुरुषे, स्था०७ ठा०। गृहपतिश्चक्र–वर्तिगृहसमुचितेतिकर्तव्यतापरः शाल्यादिसर्वधान्यानां समस्तस्वादुसहकारदिफलानां सकलशाक–विशेषाणां निष्पादकश्च। प्रव० २१२ द्वार।

गाहालई स्त्री०(ग्राहावती) मन्दरस्य पूर्वतः शीतोदाया महानद्या उत्तरे (स्था०३ ठा०४ उ०। सुकच्छविजयेऽन्तर्नद्याम्, जं०।

कहि णं भंते ! जुबुद्दीवे दीवे महाविदेहे वासे गाहावईकुंडे णामं कुंडे पण्णत्ते ? गोयमा ! सुकच्छस्स विजयस्स पुरच्छिमेणं महाकच्छस्स विजयस्स पच्चच्छिमेणं णीलवंतस्स वासहरप–व्वयस्स दाहिणिल्लेणं ति, एत्थ णं जंबुद्दीवे दीवे महाविदेहे वासे गाहावइकुंडे णामं कुंडे पण्णत्ते। जहेव रोहिअंसाकुंडे तहेव जाव गाहावईदीवे भवणे, तस्स णं गाहावईकुंडस्स दाहिणिल्लेणं तोरणेण गाहावई महाणई पव्वूढा समाणी सुकच्छमहाकच्छविजए दुहा वि भयमाणी दुहा वि भयमाणी अट्ठावीसाए सलिलासहस्सेहिं समग्गा दाहिणेणं सीआ महाणइं समुप्पेई। गाहावई णं महाणई पवहे अ मुहे अ सव्वत्थ समा, पणवीसं जोअणसयं विक्खंभेण अड्ढाइं जोअणसयाइं उव्वेहेणं उभओ पासिं दोहिं पउमवरवेइआहिं दोहिं अ वणसंडेहिं० जाव दुण्ह वि वण्णओ ॥

(कहि णं भंते ! इत्यादि) क्व भदन्त ! जम्बूद्वीपे द्वीपे महाविदेहे वर्षे ग्राहावत्या अभ्यन्तर्नद्याः कुण्डं प्रभवस्थानं ग्राहावतीकुण्डं नाम कुण्डं प्रज्ञप्तम्? गौतम! सुकच्छस्य विजयस्य पूर्वस्यां महाकच्छस्य विजयस्य पश्चिमायां नीलवतो वर्षधरपर्वतस्य दाक्षिणात्ये नितम्बे; अत्र सामीप्यिकेऽधिकरणे सप्तमी; तेन नितम्बसमीपे इत्यर्थः। अत्र जम्बूद्वीपेद्वीपे महाविदेहे वर्षे ग्राहावतीकुण्डं नाम कुण्डं प्रज्ञप्तम्। यथैव रोहितांशाकुण्डं तथेदमपि विंशतियोजनायाम–विष्कम्भमित्यादिरीत्या ज्ञेयम्। कियत्पर्यन्तमित्याह–यावद् ग्राहावतीद्वीपं भवनं चेति। उपलक्षणं चैतत्, तेनार्थसूत्रमपि भावनीयम्। तथाहि–''से केणट्ठेण भंते ! एवं वुच्चइ गाहावईदीवे ? गोअमा ! गाहावईदीवे णं बहुइं उप्पलाइं० जाव सहस्सपत्ताइं गाहावइदीवसमप्पभाइं समवण्णइं'' इत्यादि। अथास्माद् या नदी प्रवहति तामाह–(तस्स णमित्यादि) तस्य ग्राहावतीकुण्डस्य दाक्षिणात्येन तोरणेन ग्राहवती महानदी प्रव्यूढा सती सुकच्छमहा–कच्छवि–जयौ द्विधा विभजमाना विभजमाना अष्टाविंशत्या नदीसहस्रैः समग्रा सहिता दक्षिणेन भागेन मेरोर्दक्षिणदिशि शीतां महानदीं समुपसर्पति। अथास्या विष्कम्भादिकमाह–(गाहावई णमित्यादि) ग्राहावतीमहान–दीप्रवहे ग्राहावतीकुण्डनिर्गमे मुखे शीताप्रवेशे च सर्वत्र सुखप्रवहयो–रन्यत्रापि स्थाने समासविस्तारौ द्वेधा। एतदेव दर्शयतिपञ्चविंशत्य–

धिकं योजनशतं चिष्कम्भेण, अर्द्धतुतीयानि योजनशतान्युद्वेधेन सपादशतयोजनानां पञ्चाशद्भाग एतावत एव लाभात्, पृथुत्व रुप्राग्वत्। तथाहि–महाविदेहेषु कुरुमेरुभद्रशालविजयवक्षस्कारमुखवन-व्यतिरेकेणान्यत्र सर्वत्रान्तर्नद्यः । ताश्च तत्र मेरुविष्कम्भपूर्वापरभद्रशालवनायामप्रमाणं चतुःपञ्चाशत्सहस्राणि, विजय, विजय १६ पृथुत्वं पञ्चविंशतिसहस्राणि चतुःशतानि षमुत्तराणि, वक्षस्कारपृथुत्वं चत्वारि सहस्राण, मुखवनद्वय२पृथुत्वं ५८४४, सर्वमीलने नवतिसहस्राणि द्वे शते पञ्चाशदधिके, एतज्जम्बूद्वीपविष्कम्भलक्षणाद्बोध्यते । शोधिते च जातं सप्त शतानि पञ्चाशदग्राणि। एतच्च दक्षिणे उत्तरे वा भागे अन्तर्नद्यः षट् सन्तीति षड्भिर्विभज्यते, लब्धः प्रत्येकमन्तर्नदीनामुक्तो विष्कम्भ इति। आयामस्तु विजयाऽऽयामप्रमाणः, विजयवक्षस्कारान्तर्नदीमुखवनानां समाऽऽयामकत्वात् । ननु ''जावइया सलिलाओ, माणुसलोगम्मि सव्वम्मि २६। पणयालीस सहस्सा, आयामो होइ सव्वसरिआणं ॥१॥ इति वचनात् कथमिति संगच्छते? उच्यते–इदं वचनं भरतगङ्गादिसाधारणं तेन यथा तत्र नदीक्षेत्रस्याल्पत्वेनानुपपत्तावत्यर्थकोष्ठाककरणमाश्रयणीयं, तथाऽत्रापि। अत्र श्रीमलयगिरिपादाः क्षेत्रसमासवृत्तौ जम्बूद्वीपाधिकारे ''एताश्च ग्राहावतीप्रमुखा नद्यः सर्वा अपि सर्वत्र कुण्डरद्विनिर्गमे शीता शीतोदयाः प्रवेशे च तुल्यप्रमाणविष्कम्भोद्वेधाः'' इत्युक्त्वा यत्पुनर्धातकीखण्डपुष्करार्धाधिकारयेर्नदीनांद्वीपे२ द्विगुणविस्तारं व्याख्यानयन्तः प्रोचुः–''यथा जम्बूद्वीपे रोहितांशा रोहित सुवर्णकूलजा रूप्यकूलानां ग्राहावत्यादीनां च द्वादशानामन्तर्नदीनां सर्वाग्रेण षोडशानां नदीनां प्रवहे विष्कम्भो द्वादश योजनानि सरर्द्धनि, उद्वाधः क्रोशमेकं, समुद्रप्रवेशे ग्राहवत्यादीनां च महानदीप्रवेशे विष्कभो योजन १२५, उद्वेधो योजन २ क्रोश २ इति। तन्न पूर्वापरविरोधी। यतस्तथैव तैरत्र लघुवृत्त्यभिप्रायेण प्रवहप्रवेशयोर्विशेषोऽभिहित इति कथनेन समाहितम्; एवमत्रापि लघुवृत्तिगतस्तत्राभि–प्रायोदर्शितो वर्त्तते । उभयत्रापि तत्त्वं तु सर्वविदो विदन्ति । किं च आसां सर्वत्र समविष्कम्भकत्वे आगमवद्युक्तिरप्यनुकूला । तथाहि आसां विष्कम्भवैषम्ये उभयपार्श्ववर्त्तिनोर्विजययोरपि विष्कम्भवैषम्यं स्यात्। इष्यते च समविष्कभकत्वमिति शेषं व्यक्तमिति । जं०४ वक्ष०। ''दो गाहावई'' स्था०२ ठा०। ३ उ०।

गाहावईकुंड न०(ग्राहावतीकुण्ड) ग्राहावतीनिर्गमकुण्डे, जं ४ वक्ष।

गाहासुत्तधर पुं०(गाथासूत्रधर) निशीथकल्पव्यवहारयोर्ये पीठे ते एवं गाथासूत्रे, तद्धरन्तीति । निशीथादिपीठिकायाः सूत्रतो धरके, नि० चू०२ उ,।

गाहासोलसग पुं०(गाथाषोडशक) गाथाख्यं षोडशमध्ययनं यस्मिन् श्रुतस्कन्धे स तथा। सूत्रकृताङ्गस्य प्रथमे श्रुतस्कन्धे, सूत्र०१ श्रु०१ अ०१ उ०।

सोलसयगाहा सोलसगा पण्णत्ता। तं जहा–समए, वेयालिए, एवर्स परिन्ना, इत्थीपरिन्ना, निरयविभत्ती, महावीरथुई, कुसीलपरिभासिए, वारए धम्मे, समाही, मग्गे, समोसरणे, आहातहिए, गंथे, जमइए, गाहा। स० १६ सम०।

सूत्रकृताङ्गस्य षोडशेऽध्ययने, तत्त्वभेदपर्यायैर्व्याख्येति कृत्वा सूत्रार्थमधिकृत्याऽऽह–

सोलसमे अज्झयणे, अणगारगुणाण वण्णणा भणिया।
गाहासेलस णामं, अज्झयणमिणं उवदिसंति ॥४३॥

(सोलसमे इत्यादि) षोडशाध्ययनेऽनगाराः साधवस्तेषां गुणाः क्षान्त्यादयस्तेषामनगारगुणानां पञ्चदशस्वप्यध्ययने–रूवभिहितानामिहाध्ययने पिण्डितार्थवचनेन वतो वर्णनाऽभिहिताऽतो गाथाषोडशाभिधानमध्ययनमिदं व्यपदिशन्ति प्रतिपादयन्ति ॥सूत्र०१ श्रु०१ अ०१ उ०। आ०चू०।

गहिय (ग्राहित) असंयमं प्रति वर्त्तिते, सूत्र०१ श्रु०२ अ०१ उ०।

गाहिया स्त्री०(ग्राहिका) अक्लेशेनार्थबोधिकायां वाचिकायाम्, औ०।

गाहीकड त्रि०(गाथीकृत) पिण्डीकृते, ''गाहीकया व अत्था, अहवा सामुद्दएण छंदेणं '' सुत्र०१ श्रु०१६ अ०।

गंठि स्त्री०(गृष्टि)**''इम्कृपादौ''।८१।१२८।** इति.त अत्त्वम्। प्रा०१ पाद। **''वक्रादावन्तः''।८।१।२६।** इतित अनुस्वारागमः। सकृत्प्रसूतायां गवि, प्रा०१ पाद।

गिज्झ धा०(गृध्) लिप्सायाम्, दिवा० पर० सक०सेट्०। वाच०। **''युधवुधगृधक्रुधाधिमुहां ज्झः''।८।४।२१।** इत्यन्त्यस्य ज्झः। 'गिज्झेइ'गृध्यति। प्रा०४ पाद । सं०। प्राप्तस्यासन्तोषेणाप्राप्तस्याकाङ्क्षावन्तो भवन्तीति। स्था०५ ठा०१ उ०। ''कंसि वा एगे गिज्झे'' एकः कथं गृद्धे तात्पर्यमासेवां वा विदितकर्म्मपरिणामो विदध्यात् युज्येत गार्ध्यं यदि तत् स्थानं प्राप्तपूर्वं नाभाविष्यत्तच्चानेकशः प्राप्तिस्तल्लाभालाभयोर्नोत्कर्षाऽवकर्षौ विदध्यात्। आचा०१ श्रु०२ अ०३ उ०।

गृह्य त्रि०। हस्तादिना आदेये, स्था०३ ठा०२ उ०। उत्त०

गिज्झमाण त्रि०(गृध्यत्) गार्ध्यं विदधति, आचा०३ चू०। नि०चू०।

गिड्डिया स्त्री०(गिड्डिका) कन्दुकक्षेपिण्यां चक्रयष्टिकायाम्, प्रव०३८ द्वार।

गिण्हमाण त्रि०(गृह्णत्) बाह्वादावङ्गे आददाने, वृ०६ उ०।

गिण्हियव्व त्रि०(ग्रहीतव्य) उपादेये, अनु०। आ०म०।

गिद्ध त्रि०(गृद्ध) 'गृधु' अभिकाङ्क्षायाम्। क्तः, प्राप्ताहारादौ आसक्ते, अतृप्तत्वेन तदाकाङ्क्षवति। भ०१४ श०७ उ०। आव०। स्था०। ज्ञा०। सूत्र०। ग्रथित, अध्युपपन्ने, दशा०६ अ०। आचा०। सूत्र०। प्रक् शब्दादिविषयलवसमास्वादाद् (आचा०१ श्रु०१ अ०५ उ०) लम्पटत्वं गते, तं०। विशे०। ग०। ''विसएसु गिद्धा'' विषयलोलुपाः। आ०क्यू०३ अ०। मूर्च्छिते, सूत्र०२ श्रु०६ अ०। उत्त०। दत्तावधाने रमणीरागमोहिते, सूत्र०१ श्रु०५ अ०१ उ०। गृ.मिति, प्रश्न०२ आश्र० द्वार। ''कम्मि गिद्धो तुमं'' गृद्धस्त्वं मूढो मूर्खः। तं०।

गृध्र पुं०(गीध) पक्षिविशेषे, भ०२ श०१ उ०। प्रश्न०।

गिद्धपिट्ठ न०(गध्रस्पृष्ट गृद्धस्पृष्ट गृध्रपृष्ठ) गृध्रैः पक्षिविशेषैर्द्वावा मांसलुब्धैः शृगालादिभिः स्पृष्टस्य विदारितस्य करिकरभरासभादिशरीररान्तर्गतत्वेन यन्मरणं तद् गृध्रस्पृष्टं वा गृद्धस्पृष्ट

वा। गृध्रैर्वा भक्षितपृष्ठस्य यत्तद् गृध्रपृष्ठम्। भ०२ श०१ उ०। गृद्धस्पृष्टं गिद्धैः स्पर्शनं कलेवराणां मध्ये निपत्य गृद्धैरात्मनो भक्षणमित्यर्थः। ज्ञा०१ श्रु०१६ अ०। गृध्रैः स्पृष्टं स्पर्शनं यस्मिन् तद् गृध्रस्पृष्टम्। यदि वा–गृध्राणं भक्ष्यं पृष्ठमुपलक्षणत्वादुदरादि च, तद्भक्ष्यं करिकरभादिशरीरानुप्रवेशेन महासत्वस्य मुमूर्षोर्यस्मिंस्तद् गृध्रपृष्ठमिति। मरणभेदे, स्था०२ ठा०४ उ०।

गिद्धाइमक्खणं 'गिद्धपिट्ठ' उव्वंधणाइ वेहासं।
एए दोन्नि वि मरणा, कारणजाए अणुण्णया ॥१०३०॥

गृध्रैः स्पृष्टं स्पर्शनं यस्मिन् तद् गृध्रस्पृष्टं, यदि वा गृध्राणां भक्ष्यं पृष्ठमुपलक्षणत्वादुदरादि च मर्तुर्यतः तत् गृध्रपृष्ठम्। स ह्यलक्तपूणिकापुटप्रदानं यस्मिन् तद् गृद्धपृष्ठम्। यदि वा गृध्राणां भक्ष्यं पृष्ठमुपलक्षणत्वात् प्रथमतः प्रतिपादनमनन्तमहासत्वनिचयतया कर्म्मनिर्जरां प्रति प्राधान्यख्यापनार्थम्। प्रव०१५७ द्वार। ''गिद्धेहिं पुट्ठं, गृद्धैर्भक्षितव्यमित्यर्थः। तं गोमाइकलेवरो अत्ताणं पक्खिवित्ता गिद्धेहिं अप्पाणं भक्खवेइ। अहवा–पेट्टोदरादिसु अलत्तपुडगे दाउं अप्पाणं गिद्धहिं भक्खवेइ''। नि०चू०१२ उ०।

गिद्धपिट्ठट्ठाण न०(गृद्धपृष्ठस्थान) गृद्धपृष्ठमरणस्थाने, यत्र मुमूर्षवो गृद्धादिभक्षणार्थं रुधिरादिलिप्तदेहा निपत्य तिष्ठन्ति। आचा०१ श्रु०२ चू०।

गिद्ध इव रिंखि पुं०(गृद्ध इव रिङ्खिन्) भार्यावशगत्वेन गृद्धश्व रिङ्खण कर्तृत्वेन स्वनाम्ना ख्याते पुरुषविशेषे, पिं०। तथा क्वचित् ग्रामे कोऽपि पुरुषो भार्याऽऽदेशविधायी, अन्यदा च सा रसवत्यामासनमुपविष्टा वर्त्तते, सा च तेन भोजनमयाचि, तयोक्तम्–मम समीपे स्थालमादाय समागच्छ। सोऽपि यत्प्रियतमा समादिशति तन्मे प्रमाणमिति वदन् तस्याः समीपे गतः। तथा परिवेषितं भोजनं, तत उक्तम्– भोजनस्थाने गत्वा भुङ्क्ष्व। ततः स भोजनस्थानं गत्वा भोक्तुं प्रवृत्तः, ततः पुनरपि तेन तीमनं याचितम्। सा च प्रत्युवाच–स्थालमादाय समागच्छ। ततः स गृद्ध इव उत्कोटिं रिङ्खन् स्थालेन गृह्णति, ततो भुङ्क्ते, एवं तक्रादिकमपि गृह्णाति। तत एतल्लोकेन ज्ञात्वा हासेन गृध्र इव रिङ्खतीति नाम कृतमेष गृध्ररिङ्खी। पिं०।

गिद्धि स्त्री०(गृद्धि) गृध्क्तिः। **''इत्कृपादौ''८।१।१२८।** गार्ध्ये, तात्पर्य्ये, आसेवायाम्, सूत्र०१ श्रु०६ अ०। विषयाभिकाङ्क्षायाम्, उत्त०६ अ०। स्था०। गार्ध्ये, ममत्वे, सूत्र०१ श्रु०६ अ०। स्था०। अविद्यमानपरिगृहप्रतिबन्धे, ध०३ अधि०। मूर्च्छा, गृद्धिः, परीषह इत्येकार्थाः। विशे०।

गिम्ह पुं०(ग्रीष्म) प्रकृते ष्मभागस्य म्हः। ततः **''म्हो म्भो वा''८।४।४१२।** इति अपभ्रंसे म्हभागस्य मकाराक्रान्तो भकारः। उष्णे, प्रा०४ पाद।

गिम्ह पुं०(ग्रीष्म) **''पक्ष्म श्म ष्म स्म ह्मां म्हः''।८।२।७४।** इति ष्मस्य म्हः। प्रा०२ पाद। वैशाखज्येष्ठात्मके, ज्ञा०१ श्रु०६ अ०। ज्येष्ठाषाढात्मके वा। सूत्र०१ श्रु०३ अ०१ उ०। षष्ठर्तुरूपे, चं०१२ पाहु०। सू०प्र०। उष्णकाले, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०। धर्म्मर्तौ, संथा०। भ०।

गिम्हकाल पुं०(ग्रीष्मकाल) उष्णकाले, प्रश्न०५ सम्ब० द्वार। सू०प्र०।

गिम्हकालप्पारंभ पुं०(ग्रीष्मकालप्रारम्भ) उष्णकालप्रारम्भे चैत्रशुक्लपक्षे, व्य०७ उ०।

गिम्हवासल पुं०(ग्रीष्मवासर) **''सषोः संयोगे सोऽग्रीष्मे''।८।४।२८।** इति ग्रीष्मपर्य्युदासात् न सः। ग्रीष्मर्तुवासरेषु, प्रा०४ पाद।

गिरा स्त्री०(गिर्) **''रो रा''।८।१।१६।** इत्यन्त्यस्य रा। प्रा०१ पाद। वाचि, सूत्र०१ श्रु०१२ अ०। कल्प०। ज्ञा०। ''वक्कं वयणं च गिरा'' दश०७ अ०। ''शक्रपूज्यं गिरामीशं, तीर्थेशं स्मृतिमानये'' गीरामीशं वाचस्पतिमिति नास्तिकमतप्रवर्त्तयितुर्बृहस्पतेः सूचा। तथा–गिरां वाचामीं लक्ष्मीं शोभां श्यति यस्तं, परमार्थतः पदार्थप्रतिपादनं हि वाचां शोभा, तां च तासामपोहमात्र–गोचरतामाचक्षाणस्तथागतस्तनूकरोत्येवेति विशेषणाऽऽवृत्त्या सुगतोपक्षेपः। रत्ना०१ परि०। आचार्योपाध्यायदत्तां गिरं गृह्णाति। नि०चू०२० उ०।

गिरि पुं०(गिरि) गुणन्ति शब्दायन्ते जननिवासभूतत्वेन (ज्ञा०१ श्रु०१३ अ०) गोपाल–गिरि–चित्रकूट–प्रभृतिषु (भ०७ श०६ उ०) पर्वतेषु, विशे०। बालमूषिकायाम्, स्त्री०। वा ङीप्। नेत्ररोगे, गिरिणा काणः। गेन्दुके, पूज्ये, त्रि०। निगरणे, स्त्री०। ''अथान्धकारं गिरिगह्वरस्थम्''। ''गिरेस्तडित्वानिव तावदुच्चकैः''। मेघे, वाच०।

गिरिकंदर पुं०(गिरिकन्दर) गिरिगुहायाम्, प्रश्न०२ आश्र० द्वार। व्य०। पर्वतगुहायाम्, कल्प०४ क्षण।

गिरिकमय पुं०(गिरिकटक) पर्वतनितम्बे, ज्ञा०१ श्रु०१८ अ०।

गिरिकण्णिया स्त्री०(गिरिकर्णिका) वल्लीविशेषे, ध०२ अधि०। प्रव०। प्रज्ञा०।

गिरिकुहर न०(गिरिकुहर) पर्वतकुञ्जे, औ०।

गिरिगिह न०(गिरिगृह) पर्वतोपरिगृहे, स्था०४ ठा०१ उ०। भ०। आचा०।

गिरिगुहा स्त्री०(गिरिगुहा)कन्दरे, प्रश्न०३ सम्ब० द्वार। नि० चू०।

गिरिजण्ण पुं०(गिरियज्ञ) कोङ्कणदेशेषु सायाह्नकालभाविनि प्रकरणविशेषे, आह चूर्णिकृत्–गिरियज्ञः क्रोङ्कणादिषु भवति। विशेषचूर्णिकारः पुनराह–''गिरिजन्नो मत्ततवालसंखडी भन्नइ, साडालविसए वरिसारेत्त भवइ त्ति'' वृ०१ उ०।

गिरिजत्ता स्त्री०(गिरियात्रा) गिरिगमने,ज्ञा०१ श्रु०१ अ०

गिरिणई (गिरिनदी) पर्वततटिन्याम्, तं०।

गिरिणगर न०(गिरिनगर) स्वनामख्याते नगरे, यत्राविधिनाऽग्निपूजको वणिगासीत्। विशे०। आ०चू०।

गिरिणाल पुं०(गिरिनाल) उज्जयन्तशैले, ती०३ कल्प। ('उज्जयंत' शब्दे द्वितीय भागे ७३६ पृष्ठे कल्प उक्तः)

गिरितमाग पुं०(गिरितटाक) स्वनामख्याते संनिवेशविशेषे, काम्पिल्यपुराच्चलन्ब्रह्मदत्तचक्री गतः। उत्त०१३ अ०।

गिरिपक्खंदण न०(गिरिप्रस्कन्दन) दूरतो धावित्वा गिरेः प्रपतनेन मरणे, नि०चू०११ उ०।

गिरिपक्खंदोलिय न०(गिरिपक्षान्दोलिते) गिरिपक्षे पर्वतपार्श्वे छिन्नकण्टकगिरावाऽऽत्मानमान्दोलयन्ति ते ते तथा। मरणविशेषेण मुमूर्षुषु, औ०।

गिरिपडण न०(गिरिपतन) यत्रारूढैरधः प्रपतनस्थानं दृश्यते तस्मात्पर्वतादुत्याऽधःपतनेन मरणे, स्था०२ ठा०४ उ०। नि०चू०। भ०।

गिरिपडियक पुं०(गिरिपतितक) गिरैः पर्वतात्पतिताः, गिरिर्वा महापाषाणः पतितो येषामुपरि ते तथा। गिरिपतनेन मरणधर्मकेषु, औ०।

गिरिपडियग पुं०(गिरिपतितक) 'गिरिपडियक' शब्दार्थे, औ०।

गिरिपब्भार न०(गिरिप्राग्भार) पर्वतनितम्बे, संस्था०।

गिरिमण्हा स्त्री०(गिरिमृत्स्ना) भूधरमृत्तिकायाम् अष्ट०४ अष्ट०।

गिरिमह पुं०(गिरिमह)गिर्य्युत्सवे, आचा०२ श्रु०१ अ०२ उ०।

गिरिराय पुं०(गिरिराज) सर्वेषामपि गिरीणामुच्चत्वेन तीर्थकरजन्माभिषेकाश्रयतया च राजा गिरिराजः। मेरौ, सू०प्र०५ पाहु०। चं०प्र०।

अथ मेरोः समयप्रसिद्धानि षोडश नामानि प्रश्नयितुमाह–

मंदरस्स णं भंते ! पव्वयस्स कति णामधेज्जा पण्णत्ता ? गोयमा ! सोलस नामधेज्जा पण्णत्ता। उं जहा– ''मंदर १ मेरु २ मणोरम ३, सुदंसण ४ सयंपभे य ५ गिरिराया ६॥ रयणोच्चए ७ सिलोच्चय ८, मज्झे लोगस्स ९ णामी अ १०।११। अत्थे ११ य सूरियावत्ते १२, सूरियावरणे १३ ति य। उत्तमे १४ अ दिसादी अ १५, व डेंसेति १६ अ सोलस'' ॥२॥

(मंदरस्स यमित्यादि) मन्दरस्य पर्वतस्य भगवान् कति नामधेयानि नामानि प्रज्ञप्तानि ? गौतम ! षोडश नामधेयानि प्रज्ञप्तानि। तद्यथा– ''मन्दरे'' इत्यादि गाथाद्वयम्। मन्दरदेवयोगात् मन्दरः, एवं मेरुदेवयोगान्मेरुरिति। नन्वेवं मेरोः स्वामिद्वयमाद्योतेति चेदुच्यते– एकस्यापि देवस्य नामद्वयं संभवतीति न काऽऽप्याशङ्का, निर्णीतिस्तु बहुश्रुतगम्येति। तथा मनांसि देवानामप्यतिसुरूपतया रमयतीति मनोरमः। तथा सुष्ठु शोभनं जाम्बूनदमयतया रत्नबहुलतया च मनोनिवृत्तिकरं दर्शनं यस्यासौ सुदर्शनः, तथा रत्नबहुलतया स्वयमादित्यादेरिव प्रभा प्रकाशो यस्यासौ स्वंप्रभः चः समुच्चये, तथा सर्वेषामपि गिरीणामुच्चत्वेन तीर्थकरजन्माभिषेकाश्रयतया च राजा गिरिराज इत्यादि षेडश। जं०४ वक्ष०। (विस्तरस्तस्य 'मंदर' शब्दे)

गिरिवर पुं०(गिरिवर) पर्वभिर्मेखलाभिर्दंष्ट्राभिर्वा दुर्गो विषमः सामान्यजन्तूनां दुरारोहे गिरिवरः। पर्वतप्रधाने, सू०१ श्रु०६। प्रधानपर्वते, भ०६ श०३३ उ०। औ०। पर्वततराजे, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०।

गिरिविदारण पुं०(गिरिविदारण) स्वनामख्याते कृष्णवासुदेवसदृशे यादवे, ती०२ कल्प। (स च मृत्वा रैवतगिरैः क्षेत्रपाल उपपन्न इति 'रवेय' शब्दे वक्ष्यते)

गिरिविवरकुहर न०(गिरिविवरकुहर) गिरीणां विवरकुहराणि। गुहासु, पर्वतान्तरेषु च। भ०६ श०३३ उ०। औ०।

गिरिसरिउवल पुं०(गिरिसरिदुपल) पर्वतनदीपाषाणे, विशे०।

गिरिसेण पुं०(गिरिसेन) चन्द्रोदरराजपुत्रे, ध०र०।

गिला स्त्र०(ग्लानि) ग्लानौ, ''अगिलाए वेयावडियं'' व्य०२ उ०। खेदे, स्था०८ ठा०।

गिलाण त्रि०(ग्लान) ग्लायतीति ग्लानः। नि०चू०१ उ०। ग्लैक्ते–न ''लात्''।८।२।१०६। इति लात्पूर्व इत्। प्रा००२ पाद। मन्दे, आव०४ अ०। क्षीणहर्षे, ज्ञा०१ श्रु०१३ अ०। व्याध्यादिभिरशक्ते, स्था०३ ठा०४ उ०। भ०। भिक्षाटनादि कर्त्तुमसमर्थे, सूत्र०१ श्रु०३ अ०३ उ०। रोगिणि साधौ, सूत्र०१ श्रु०३ अ०३ उ०। ज्वरादिरोगाक्रान्ते, प्रव०६६ द्वार। व्य०१ ज्वरविप्रमुक्ते, नि०चू०।

(१) ग्लानं प्रति गवेषणम्–

जे भिक्खू गिलाणं सोच्चा णच्चा ण गवेसइ, ण गवेसंतं वा साइज्जइ ॥४२॥

ज त्ति णिहेसे, भिक्खू पुव्ववण्णिओ, 'ग्लै' हर्षक्षये। इमस्स रोगातंकेण वा सरीरखीणं, सरीरक्खए य हरिसक्खओ भवति, तं गिलाणं अण्णसमीवाओ सोच्चा सयं वा णातूण जो ण गवेसति तस्स चउगुरुं। जं सो गिलाणो अगविट्ठो पाविहिति, परितावादि तण्णिप्फण्णं पच्छित्तं पावति, तम्हा गवेसियव्वा।

सग्गामे सएवस्सए, सग्गामे परउवस्सए चेव।
खेत्तंतो अण्णगामे खेत्तवहि सगच्छपरगच्छे ॥
सोच्चा ण परसडीवे, सयं व णाऊण जो गिलाणं तु।
ण गवेसयति भिक्खू, सो पावति आणमादीणि ॥
असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे भए व गेलाण्णे।
अद्धाणरोहए वा, ण गवेसेज्जा वितियपदं ॥

नि० चू० १० उ०।

(२) अथ ग्लानद्वारं विभावयिषुराह–

सग्गामे सउवस्सए, सग्गामे परउवस्सए चेव।
खेत्तंतो अन्नगामे, खेत्तवहि सगच्छपरगच्छे ॥
सोऊण ऊ गिलाणं, उम्मग्गं गच्छपडिपहं वा वि।
मग्गाओ॑अण्णमग्गं, संकमई आणमाईणि ॥

स्वग्रामे स्वोपाश्रये तिष्ठता श्रुतं, यथा–अमुकत्र ग्लान इति। स्वग्रामे वा परेषां साधुनामुपाश्रये कुतोऽपि प्रयोजनादायतेन, यद्वा–क्षेत्रान्तः क्षेत्राभ्यन्तरे अन्यग्रामे भिक्षाचर्यां गतेन, यदि वा–क्षेत्रबहिरन्यग्रामेष्वपि वा वर्त्तमानेन, एतेषु स्थानेषु स्वगच्छे वा परगच्छे वा ग्लानः श्रुतो भवेत्, श्रुत्वा च ग्लानं य उन्मार्गमटवीगामिनं पन्थानं प्रतिपथं वा येन पथा आयातस्त मेव पन्थानं गच्छति मार्गाद्वा विवक्षितपथादन्यं मार्गं संक्रामति स प्राप्नोति आज्ञादीनि दोषपदानि। आदिशब्दादनवथामिथ्यात्वविराधनापरिग्रहः। एवंकुर्वाणस्य वा यस्यन्ते ग्लानोऽप्रति-जागरितापनादिकं प्राप्नोति तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम्।

अत एवाह–

सोऊण ऊ गिलाणं पंथे गामे य भिक्खवेलाए।
जह तुरियं नागच्छइ, लग्गइ गुरुए स चउमासे ॥

श्रुत्वा ग्लानं पथि वा गच्छन ग्रामं वा प्रविष्टो भिक्षां वा पर्यटन् यदित्वरितं तत्क्षणादेव नागच्छति ततो लगति प्राप्नोति स चतुरो मासान् गुरुकान्।

यत एतमतः–

जह भमरमहुयरिगणा, निवर्तती कुसुमियम्मि चूयवणे।
इय होइ नियइअव्वं, गेलन्ने कइवयजढेणं ॥

यथा भ्रमरमधुकरीगणाः कुसुमिते मुकुरिते चूतवने सहकारवनखण्डे मकरन्दपानलोलुपतया निपतन्ति, इत्यमुनैव प्रकारेण भगवदाज्ञामनुवर्तमानेन कर्मनिर्जरालाभनिलप्सया ग्लाने समुत्पन्ने कैतवजडेन मायाविप्रमुक्तेन त्वरितं निपतितव्यमागन्तव्यं भवति। एवं कुर्वता साधर्मिकत्वं वात्सल्यं कृतं भवति, आत्मा च निर्जराद्वारे नियोजितो भवति।

(३) तस्य ग्लानत्वस्य प्रतिबद्धामिमां द्वारगाथामाह–

सुद्धे सद्धी इच्छका रे असत्त सुहिअ उमाण लद्धे य।
अणुवत्तणा गिलाणे, चालान संकामणा तत्तो ॥

प्रथमतः शुद्ध इति द्वारं वक्तव्यम्। तत श्रद्धी श्रद्धावानिति द्वारम्। तत इच्छाकारद्वारम्। तदनन्तरमशक्तद्वारम् ततः सुखितद्वारम्। तदा तु अपमानद्वारम्। ततोऽपि लब्धद्वारम्। ततोऽनुवर्तना ग्लानस्य, उपलक्षणत्वाद् वैद्यस्य च वक्तव्या, ततश्चालना, संक्रमणा च ग्लानस्याभिधातव्येति द्वारगाथासमुदायार्थः।

(४) अथावयवार्थं प्रप्तिद्वारं प्रचिकटयिषुः प्रथमतः शुद्धद्वारं भावयति–

सोऊण ऊ गिलाणं, जो उवयारेण आगतो सुद्धो।
जो उ उवेहिं कुज्जा, लग्गइ गुरुए सवित्थारे ॥

श्रुत्वा ग्लानं यः साधुर्गुरूपचारेण वक्ष्यमाणेन ग्लानसमीपमागतः, स शुद्धो, न प्रायश्चित्तभाक्। यस्तु उपेक्षां कुर्यात्, स लगति प्राप्नोति चतुरो गुरुकान् सविस्तरान् ग्लानारोपणासंयुक्तान्।

उपचारपदं व्याचष्टे–

उवचरइ को णुऽतिन्नो, अहवा उवचारमित्तगं एइ।
उवचरइ व कज्जत्थी, पच्छित्तं वा विसोहेइ ॥

यत्र ग्लानो वर्तते तत्र गत्वा पृच्छति–(को णुऽतिन्नो त्ति) द्वितीयार्थे प्रथमा। नुरिति प्रश्ने। युष्माकं मध्ये 'अतिन्नं' ग्लानं क उपचरति? कः प्रतिजागर्ति ? यद्वा–धातूनामनेकार्थत्वादुपचरति को नु युष्माकं मध्ये 'अतिन्नो' ग्लानो येनाहं तं प्रतिजागर्मि। अथ वा–उपचारमात्रं लोकोपचारमेव केवलमनुवर्तयितुं ग्लानसमीपमेति आगच्छति। यदि वा–कार्यार्थी सन्नुपचरति। किमुक्तं भवति ? कार्यं किमपि ज्ञानदर्शनादिकं तत्समीपादादीयमानः प्रतिजागर्ति,प्रायश्चित्तं वा मे भविष्यति यदि न गमिष्यातीति विचिन्त्याऽऽगत्य च प्रायश्चित्तं विशोधयति। एष सर्वोप्युपचारो द्रष्टव्यः। बृ०१ उ०। औ०।

(५) तदकरणे प्रायश्चित्तम्–

जे भिक्खू गिलाणवेयावच्चे अब्भुट्ठियस्स गिलाणपाउग्गेण दव्वजाएणं अलनभमाणे जो तं ण पडियाइक्खेइ, णण्णं पडियाइक्खंतं वा साइज्जइ ॥४४॥ जे भिक्खू गिलाणवेयावच्च अब्भुट्ठियस्स सएण लाभेणं असंथरमाणस्स जा तं ण पडितप्पइ, णण्ण पडितप्पंतं वा साइज्जइ ॥४५॥

भिक्खू, गिलाणोय पुव्ववण्णिओ, जो साहू गिलाणस्स वेयावच्चकरण अब्भुट्ठिते जाव गिलाणस्स ओसहं पाउग्गं वा भत्तपाणं वा उप्पाएति, सरीरगकितिकम्मं वा करेति, ताव वेलतिक्कमो, वेलातिक्कमे अमंतो णो पडियप्पति, एवं तस्स असंथरे अण्णो जो ण पडियप्पति भत्तपाणदिणा, तस्स चउ गुरुगा, परितावणादिणिप्पणं च, गिलाणो य सो परिचत्तो भवति तम्हा तस्स पडितप्पियव्वं।

(६) सीसो पुच्छति–गिलाणवेयावच्चे केरिसे साहू णिउज्जति?

आचार्य आह–

खंतिखमं मद्दवियं, असढमलोलं च लद्धिसंपण्णं।
दक्खं सुभरमसुविरं, हिययग्गाहं अपरितंतं ॥१४८॥

कोहणिग्गहो खंती, अक्कममाणस्स वि जस्स खमाकरणे सामत्थमत्थि सो खंतीए खमो भण्णतिए अहवा–खंतीक्षमः, आधार इत्यर्थः। माणणिग्गहकारी मद्दविओ। मायाणिग्गहकारी असढो। इंदियविसयणिग्गहकारी अलोलो, उक्कस्सं वा दट्ठुं वा जो एसणं ण पेल्लेति सो वा अलोलो, अलुद्ध इत्यर्थः। लद्धिसंपण्णो जहा चयवत्थं पुस्समित्ता गिलाणाऽऽणत्तियं सिग्घं करेति। दक्खे अप्पेण अंतपतेहिं वा जाचेति त्ति। सुभरो कुव्वसेह इत्यर्थः। असुविरो अणिद्दालू। गिलाणस्स जो वत्तिमणुयत्तति, अपत्थं व ण करेति, सो हिययग्गाही, गिलाणस्स वा अणुप्पिओ जो, सुचिरं पि गिलाणस्स करेंतो जो ण भज्जति सो अपरितंतो।

सुत्तत्थपडीवद्धं, णिज्जरपेही जियंदियं दंतं।
कोउहलविप्पमुक्कं, अणाणुकित्तिं सउच्छाहं ॥४८९॥

जो य सुत्तत्थेसु अपडिवद्धो, गृहीतसूत्रार्थ इत्यर्थः। णिज्जरापेही णो कयपडिकित्तिए करेति, जिइंदितो जो इट्ठाणिट्ठेहिं विसएहिं रागदोसे ण जाति, सुकरदुक्करेसु कहप्पकारणेसु य जो अविकारेण भरं उव्वहति सो, जो इंदियणोइंदिसु वा दंतो ण डाति, कोउए सयं विप्पमुक्को, काउं जो थिरत्तणेण णो विकत्थति–को अण्णो एवं काउं समत्थो त्ति ? तुज्झ वा एरिसं तारिसं मए कयं ति, जो एवं ण कथयति सो अणाणुकित्ती। अणालस्सो सउच्छाहो। अहवा–अलब्भमाणो वि जो अविसण्णो मग्गति सो सउच्छाहो।

आगाढमणागाढे, सद्दहगणिसेवगं च सद्धाणे।
आउरवेयावच्चे, एरिसयं तू निउंजिज्जा ॥४९०॥

आगाढे रोगायंके, अणागाढे वा, आगाढे खिप्पं करणं, अणागाढे कडकरणं जो करेति। अहवा–आगाढजोगिणो अणागाढजोगिणो वा जहा किरिया कायव्वा जा वा जयणा, एवं सव्वं जो जाणति सो य उस्सग्गाववाए सद्दहति, ते य जो सद्धाणे णिसेवति, उस्सग्गे उस्सग्गं, अववाएं, अववायं अहवा–अद्धाणं आयरियाति, तेसिं जं जत्थ जोग्गं तं तस्स उप्पाएत्ति, देति य, एरिसो गिलाणवेयावच्चे णिउज्जति।

(७) विपरीतकरणे दोषमाह–

एयगुणविप्पहूणं, वेयावच्चम्मि जो ए ठावेज्जा।
आयरिओ गिलाणस्सा,सो पावति आणमादीणि ॥४९१॥

वण्णितगुणविवरीतं जो गिलाणवेयावच्चे ठवते सो आयरिओ आणादी दोसे पावति।

एतेसि परूवणता, तप्पमिपक्खे य पेसवेंतस्स।
पच्छित्तविभासणता, विराहणा चेव जा जस्स ॥४९२॥

एतेंसि खंतिमातियाणं पयाणं यथार्थं प्ररूपणा कायव्वा। तप्पडिपक्खे खंतियखमस्स कोहिणो, मद्दविअस्स माणणा, असढस्स माई एवमादियाण पच्छित्तविभासा कायव्वा, व्याख्या इत्यर्थः। अजोग्गे हि य वेयावच्चे णिउञ्जंतेहिं जा गिलाणस्स विराहणा सा य वत्तव्वा पडिपक्खदोसला।

इमं पच्छित्तं–

गव्विएँ कोहे विसए, दोसू लहुगा तु माइणो गुरुगो।
लोभिंदियाण रागे, गुरुगा सेसेसु लहु भयणा ॥४९३॥

माणिस्स कोहिणो अजिइंदियस्स विसएसु दोसुकारिणो चउ लहुगा पच्छित्तं, मायाविणो मासगुरुं, लोभिस्स अजिइंदियस्स य रागकारिणो चउगुरुगा, (सेसेसु त्ति) अलद्धिसंपण्णो अदक्खो दुब्भरो सुविरो हिपयपढिकूलो परितंतो सुत्तत्थापडिबुद्धो अणिज्जरपेही अदंतो कोतूहली अप्पप्पसंसी अणुच्छाही आगाढअणाढेसु विवरीयकारी असद्दहणगो परट्ठाणणिसेवी, एतेसु लहुमासो भयण त्ति। एते सव्वे पदा मासलहू पच्छित्तेण भइयव्वा, योजयित्व्या इत्यर्थः। अहवा–भणय त्ति आदेसंतरेण वा चउलहुगा। अहवा–भयण त्ति अंतराइकम्मोदएण अलद्धी भवति, सो य सुलद्धो, जइ पुण सलद्धी अप्पाणं अलद्धिडं ति दंसेति तो असमायारिणिप्फणं मासलहुं, एवं सेसेयु विउञ्ज वत्तव्वं।

एवं ता पच्छित्तं, तेसिं जो पुण ठवेज्ज ते उ गणे।
आयरिय गिलाणट्ठा, गुरुगा सेसाण तिविहं तु ॥४९४॥

एवं पच्छित्तं पडिपक्खे जे कसाइया दोसा ता तेसिं भणिया, जो पुणो आयरियो एते गणि गिलाणादिवेयावच्चकरणे ठवेति, तस्स चउगुरुगा, सेसा जइ ठावेंति, तेसिं इमं तिविधं पच्छित्तं उवज्झातो जइ ठवेति, तो चउलहुं, वसभस्स मासगुरुं, भिक्खुस्स मासलहुं। अहवा–उवज्झायस्स चउलहुं, गीयत्थस्स भिक्खुस्स मासगुरुं, अगीयत्थस्स मासलहुं, एवं वा तिविधं अखंतिखमातिएसु कलमातिकरेंतेसु गिलाणस्स गाढादिपरितावणादिया दोसा।

इमे य भवंति–

इहलोइयाण परलो–इयाण लद्धीण फेडितो होति।
जह आउगपरिहीणा, देवा वलवत्तमा चेव ॥४९५॥

इहलोइया आमोसहिखेलोहिमादी, परलोइया सग्गमोक्खा फेडितो भवति। जहा आउगे पहुच्चंते वलवत्तमा देवा जाता, एवं गिलाणो विसमाही असद्दज्झाणी अणारोहगो भवति, तिरिआइकुगतीस अ गच्छति, ण वा इहलोए आमोसहिमादीओ लद्धीओ उप्पाएति। जम्हा एते दोसा वेवावच्चकरो ण ठवेयव्वो?

एयगुणसमग्गस्स तु, असतीए ठवेज्ज अप्पदोसतरं।
वेयालणा उ इत्थं, गुणदोसाणं बहुविगप्पा ॥४९६॥

वण्णियगुणसमग्गाभावे अप्पदोसतरं ठवेति, अदोसं पच्छित्ताऽणुलोमओ जाणेज्जा, दोसवियालणेण य बहू विकप्पा उप्पज्जंति। जहा–कोहे माणो अत्थि, णत्थि वा। माणे पुण कोहो नियमा अत्थि, तम्हा कोहीओ माणी बहुदोसतरो, तम्हा कोहिं ठवेज्जा, णो माणि। एवं सव्वपदेसु वियालणा कायव्वा।

इयाणिं सुत्तत्थो–

ते भिक्खु गिलाणस्सा, वेयावच्चेण वावडं भिक्खू।
लोभेण कुप्पएणं, असंथरंते ण पडितप्पे ॥४९७॥

वावडो व्यापृतः आक्षणिकः तस्य भिक्खुणो अण्णो भिक्खू जो ण पडितप्पति, तस्स चउगुरुं, परितावणादिणिप्फणं च।

इमं च पावति–

सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराधणं तहा दुविधं।
पावति जम्हा तेणं, तं पडितप्पे पयत्तेणं ॥४९८॥

तम्हा तस्स पडितप्पियव्वं सपयत्तेण।

कारणे ण पडितप्पेज्जा वि–

वितिपयपदं अणवट्ठो, परिहारतवं तहेव य व हँति।
अत्तट्ठिय लोभी वा, सव्वहा वा अलब्भंते ॥४९९॥

अणवट्ठतवं जो वहति साहू, सो ण पडितप्पेज्जा, अणवत्थो या कारणे गिलाणवेयावच्चेणं अब्भुट्ठितो, (गिलाणं पाओगेत्यादि) भिक्खू गिलाणो य पूर्ववत्। अब्भुट्ठितो वैयावृत्यकरणोद्यतः, पाउग्गं ओसहं भत्तं पाणं वा, तम्मि अलब्भंते जति सो वेयावच्चकरो अण्णेसिं साहूणं ण कहेति, आयरियस्स वा, तो चउगुरुगं, परितावणतिणिप्फणं च।

आउरपाउग्गम्मी, दव्वे अलभंतें वावमो तत्थ।
जो भिक्खू णातिक्खति, सो पावति आणमादीणि ॥५००॥

वावडो व्यापृतः नियुक्तः जति अण्णेसिं ण कहेति तो आणादिणो दोसा।

(दव्वजाए त्ति) अस्य सूत्रस्य व्याख्या–

जायग्गे हणे फासुं, रोगे वा जं तु पाउग्गं।
तं पत्थं भोयणं वा, ओसहसंथारवत्थादी ॥५०१॥

कण्ठा–

अलब्भमाणे अण्णेसिं साधूणं कहिज्जंते इमे दोसा–

परितावमहादुक्खे, पुच्छापुच्छे य किच्छपाणे य।
किच्छुस्सासे य तहा, समोहते चेव कालगते ॥५०२॥

परितावण दुविधा अणागाढगाहापासे छप्पया गाहा। एते चेव गहिता एसु अट्ठसु पदेसु जहासंखं इमं पच्छित्तं –

चतुरो लहुगा गुरुगा छम्मासा हों ति लहुगा गुरुगा य
छेदो मूलं च तहा, अणवट्ठप्पो य पारंची ॥५०३॥

जम्हा एते दोसा–

जम्हा आलोएज्जा, संभोइएँ असति अण्णसंभोए।
जइऊण व ओसण्णे, सव्वेव उलद्धिहाणिहरा ॥५०४॥

आलोअणं णाम अण्णेसिं आख्यानं, तं च आख्यानं समत्थे, ते ससति अण्णगच्छे संभोतियाणं, तेससति अण्णसंभोतियाणं, तेससति पणगपरिहाणीए जतितुं जाहे मासलहुं पत्तो ताहे सण्णी ण कहेति, ज एवं ण करेति तो सव्वेव इहलोयरपलोइयलद्धिहाणी दोसो भवति। इहरेति, अनाख्यायतस्येत्यर्थः। भवे कारणं, जेण अण्णेसिं ण कहेज्जा वि वितिपयदम्।

दो चेव अण्णगामे, उदगादीहिं व संभमेगतरे।
तस्स व पत्थदव्वे, जायंते वा अकालम्मि ॥५०५॥

ते दो वि चेव जणा एगो गिलाणो, एगो पडियरगो, सो पडियरगो अण्णाभावे कस्स कहउ, अण्णगामे वा अण्णे साहुणो, कस्स कहेओ परिचरगो। उदगागणिहत्थिसीहवोहिगादी, एतेसिं संभममाणे एगतरे वट्टमाणे, अप्पं परिभूतेसु, दिसो दिसिं फुडितेसु कस्स साहओ जं वा दव्वं लब्भति तं गिलाणस्स अपत्थत्तेण अण्णेसिं ण कहेंति, गिलाणो वा अप्पत्थं दव्वं मग्गति, तेण वा णो कहेति अण्णेसिं, अकाले वा जायते तेण ण साधयति, अहवा गरिहियविगिच्छितो मग्गिति, ते य अण्णे अपरिणया ताहे ण साधयति मा विपरि-णामस्संति, एवंमादिहिं कारणेहिं असाहेंतो सुद्धो ॥नि०चू०१० उ०।

इहान्यदपि–

असणं वा पाणं वा भेसज्जं वा गिलाणस्स अइन्नाणचरियं परिभुंजे पारंचियं, गिलाणेणं अपडिजागरिएणं भुंजे उवट्ठावणं, सव्वमविणयकतव्वं पारिविचा णं गिलाणकतव्व न करेज्जा अवदे गिलाणकतव्वं मा विलविऊण नियायकतव्वं पडाएज्जा, अवंदे गिलाणकप्पं ण उत्तारेज्जा, अट्ठमं गिलाणेणं सद्धिरे एगसद्धेण गंतुं जमाइसे तं न कुज्जा पारंचिए नवरं जइणंसे गिलाणे सद्धविते अहाणं सन्निवायादीहिं तुब्भा मियमाणं सेद्धविज्जा, तओ जमेव गिलाणेण माइट्ठं तं न कायव्वं, ण करेज्जा संघवज्झो। महा०७ अ०।

(८) अथ श्रद्धावानिति द्वारम्माह–

सोऊण ऊ गिलाणं, तरमाणो आगओ दवदवस्स।
संदिसह किं करेमी, कम्मि व अट्ठे निवज्जामि ?॥
पहियरिहामि गिलाणं, गेलण्णे वावडाण वा काहं।
तित्थाणुसज्जणा खलु, भत्ती य कया हवइ एवं ॥

ग्लानं प्रति जाग्रदहं महतीं निर्जरामासादयिष्यामीत्येवंविधया धर्मश्रद्धया युक्तः श्रद्धावानुच्यते। स च श्रुत्वा ग्लानं त्वरमाणः श्रवणानन्तरं शेषकार्याणि विहाय पन्थानं प्रतिपन्नः सन् 'दवदवस्स त्ति' कृतमागच्छन्झगिति ग्लानसमीपमागतः, ततो ग्लानप्रति-चारकाना-चार्यान् वा गत्वा भणतिसंदिशत भगवन्तः ! किं करोम्यहम्? कस्मिन् वा अर्थेग्लानप्रयोजने युष्माभिरहं नियोज्यः, अहं तावदनेनाभिप्रायेणा-ऽऽयतो, यथा–प्रतिजागरिष्यामि ग्लानं, ग्लानवैयावृत्त्ये वा व्यापृताये साधवस्तेषां भक्तपानप्रदानविश्रामणादिना वैयावृत्यं करिष्यामि। एवं कुर्वता तीर्थस्यानुसज्जनाऽनुवर्त्तना कृता भवति, भक्तिश्च तीर्थकृतां कृता भवति; ''जे गिलाणं पडियरइ, से ममं नाणेणं दंसणेणं चरित्तेणं पडिवज्जइ'' इत्यादि भगवदाज्ञाराधनात्। इत्थं तेनोक्ते यदि स्वयमेव ग्लानवैयावृत्यं कुर्वन्ति कर्तुं प्रभवन्ति, ततो ब्रुवते आचार्याः–व्रजतु यथास्थानं भवान्, वयं ग्लानस्य सकलमपि वैयावृत्यं कुर्वणाः स्म इति।

अथ ते न प्रभवन्ति यदि वा स चैवंविधगुणोपेतो वर्त्तते–

संजोगदिट्ठपाठी, तेणुवलद्धा व दव्वसंजोगा।
सत्थं व तेणऽधीयं, वेज्जो वा सी पुरा आसी ॥

संयोगा औषधद्रव्यमीलनप्रयोगास्तद्विषयो दृष्टः पाठश्चिकित्साशास्त्रा-वयवविशेषो येन स संयोगदृष्टपाठः। आर्षत्वाद्गाथायामिन्प्रत्ययः। यदि वा-तेन द्रव्यसंयोगाः कुतोऽपि सातिशयज्ञानविशेषादुपलब्धाः, शास्त्रं *वा चरकसुश्रुतादिकं सर्वमपि तेनाधीतं, वैद्यो वा स पुरा पूर्वं गृहाश्रमे* भासीत्, ततो न विसर्जनीयः।

अत्थि य सेॅजोगवाही, गेलन्नतिगिच्छणाऍ सो कुसलो।
सीसे वावारेत्ता, तेगिच्छ तेण कायव्वं ॥

यदि तस्याऽऽगन्तुकस्य गच्छे योगवाहिनः सन्ति, स च स्वयं ग्लानचिकित्सायां कुशलः, ततः शिष्यान् सूत्रार्थपौरुषीप्रदानादौ व्यापार्य *स्वयं तेन ग्लानस्य चैकित्स्यं चिकित्साकर्म कर्त्तव्यम्*। उपलक्षणमिदम्–तेन कुलगणसङ्घप्रयाजलनेषु गुरुकायप्रेषणे वस्त्रा पात्राद्युत्पादने वा यो यत्र योग्यस्तं तत्र व्यापार्य सर्वप्रयत्नेन स्वयं ग्लानस्य चिकित्साकर्म कर्तव्यम्।

(९) सूत्रार्थपौरुषीव्यापारणे विधिमाह–

दाऊणं वा गच्छइ, सीसेण च वाऍ अन्नाहिं वाए।
तत्थऽन्नत्थ व काले, सोहिए समुद्दिसइ हिट्ठे ॥

सूत्रार्थपौरुष्यौ दत्त्वा ग्लानस्य समीपं गच्छति, गत्वा च चिकित्सां करोति। अथ दूरे ग्लानस्य प्रतिश्रयः, ततः सूत्रपौरुषीं दत्त्वा अर्थपौरुषीं शिष्येण दापयति, अथ दवीयान् स प्रतिश्रयस्ततो द्वे अपि पौरुष्यौ शिष्येण दापयति, अथात्मीयः शिष्यो वाचनां दातुमशक्तस्ततो येषां वाचकानामाचार्याणां स ग्लानस्तैः सूत्रमर्थं वा स्वशिष्यान् वाचयति, अथ तेषामपि नास्ति वाचनाप्रदाने शक्तिस्ततो यदि ते अनागाढयोगवाहिनस्तदा तेषां योगो निक्षिप्यते। अथ गाढयोगवाहिनस्ततोऽयं विधिः–(तत्थऽन्नत्थ च इत्यादि) यत्र क्षेत्रे सग्लानस्तत्र अन्यत्र वा क्षेत्रे स्थितास्ते अनागाढयोगवाहिन आचार्येण वक्तव्याः। यथा–आर्याः ! कालं शोधयत। ततस्तैर्यथावत् कालग्रहणं कृत्वा। यावतो दिवसान् कालः शोधितस्तावतां दिवसानामुद्देशेन कालान् सर्वानप्याचार्यो ग्लाने दृष्टे वागुणीभूते सत्येकदिवसेनैवोहिशति, यावन्ति पुनर्दिनानि कालग्रहणे प्रमादः कृतो गृह्यमाणो वा कालेन शुद्धः तेषामुद्देशेन काला न उद्दिश्यन्ते।

(१०) तत्र क्षेत्रे संस्तरणाभावे अन्यत्र गच्छतां विधिमाह–

निग्गमणे चउभंगो, अद्धा सव्वे वि निंति दोन्हं वि।
भिक्खवसहीऍ असती, तस्साऽणुमए ठविज्जा उ ॥

ततः क्षेत्रान्निर्गमने चतुर्भङ्गी भवति। गाथायां पुंस्त्वनिर्देशः प्राकृतत्वात्। वास्तव्याः संस्तरन्ति नागन्तुकाः, आगन्तुकाः संस्तरन्ति न वास्तव्याः, न वास्तव्या नचागन्तुकाः संस्तरन्ति, वास्तव्या अप्यागन्तुका अपि संस्तरन्ति। यत्र द्वयेऽपि संस्तरन्ति तत्र विधिः प्रागेवोक्तः। यत्र तु न संस्तरन्ति तत्रायं विधिः–प्रथमभङ्गे आगन्तुकानां, द्वितीयभङ्गे वास्तव्यानामर्द्धे वा यावन्तो वा न संस्तन्ति तावन्तो निर्गच्छन्ति, तृतीयभङ्ग द्वयोरपि वर्गयोरर्द्धाः सर्वे वा ग्लानं सप्रतिचरकं मुक्त्वा निर्गच्छन्ति। एवं भिक्षाया वसतेश्चाऽसत्यभावे निर्गमनं द्रष्टव्यम्। ये च तस्य ग्लानस्य अनुमता अभिप्रेतास्तान् प्रतिचरकान ग्लानस्य समीपे स्थापयेन्न गन्तव्यम्। श्रद्धावान् इति द्वारम्॥

(११) अथेच्छाकारद्वारमाह–

अभणित कोइ न इच्छइ, पत्ते थेरेहिँ हो उवालंभो।

दिट्ठंतो महिड्ढिए, सवित्थरारोवणं कुज्जा ॥

कोऽपि साधुर्वैयावृत्यकुशलः परम् अन्येनाभणितः–''आर्य ! एहि इच्छाकारेण ग्लानस्य वैयावृत्तिं कुरु'' इत्यनुक्तः सन्नेच्छात वैयावृत्यं कर्तुं, स श्रुत्वाऽपि ग्लानं तस्य समीपं गच्छति। कुलगणसङ्घस्थविराश्च ये कारणभूताः पुरुषाः, कुत्र सामाचार्यः सीदन्ति, कुत्र चोत्सर्पन्तीति प्रतिचरणाय गच्छान्तरेषु परिपृच्छन्ति, ते तत्र प्राप्ताः, तैश्च स पृष्ट आचार्यैः, उत्सर्पन्ति ते ज्ञानदर्शनचारित्राणि, सन्ति वा केचित्प्रत्यासन्नपरिसहे साधवः, ग्लानो वा कुत्रापि भवता श्रुत इति? स प्राह इतः प्रत्यासन्ने एव ग्रामे सन्ति साधवः, तेषां चास्त्येको ग्लान इति। ततस्तैस्तस्योपालम्भः प्रदत्तः–यदि तेषां ग्लानो वर्त्तते ततस्त्वं तस्य प्रतिचरणायं कि न गतः ?।

स प्राह–

बहुसो पुच्छिज्जंता, इच्छाकारं न ते मम करिंति।
पडिमुंडणया दुक्खं, दुक्खं च सलाहिउं अप्पा ॥

बहुशो भूयो भूयः पृच्छमानाः अपि ते साधवः कदाऽपि ममेच्छाकारं न कुर्वन्ति। अन्यच्च–अहमभ्यर्थितस्तत्र गतस्तैश्च प्रतिमुण्डितोऽपि निषिद्धः, यथा पूर्णं भवता वैयावृत्या करणेनेति। एवं प्रतिमुण्डनया बहन्मानसं दुःखमुत्पद्यते, यादृशं चाऽऽहं ग्लानस्य वैयावृत्यं करोमि ईदृशमन्यः कोऽपि न वेति ? एवमात्मानं श्लाघयितुं दुःखं दुष्करं भवति, अतः कथमनभ्यर्थितस्तत्र गच्छामीति ?। ततः स्थविरैस्तस्य पुरतो महर्द्धिको राजा तस्य दृष्टान्तः कृतः। यथा–''एगो राया कत्तियपुन्निमाए मरुयाणं दाणं देइ, एगो मरुगो वारसविज्जाठाणपारगो भोइयाए भणिओ तुमं सव्वमरुगाहिवो, वच्च रायासमीबं, उत्तमं ते दाणं दाहिइ त्ति। सो मरुओ भणाइ–एगं ताव रायकिव्विसं गिण्हामि, विइयं अणिमतिओ गच्छामि। जइ से पितिपितामहस्स अणुग्गहेण पओअणं, तो मं आगंतुं तत्थ नहिइ इह द्वियस्स वा मे दाहिइ। भोयाए भणिओ–तस्स अत्थि बहू मरुगा तुज्झ सरिच्छा अणुग्गहकारिणा, जइ अप्पणो तहविणेण कज्जं तो गच्छ। जहा सो मरुओ अब्भत्थणं मग्गंतो इहलोइयाणं कामभोगाणं अणाभागी जाओ, एवं तुमं पि अब्भत्थणं मग्गंतो निज्जरालाहस्स अणाभगी भविस्ससि॥'' इत्थमुपालभ्य चतुर्गुरुकारोपणां सविस्तारां परितापनादिप्रायश्चित्तविस्तारयुक्तां तस्य प्रयच्छन्ति। गतमिच्छाकारद्वारम्॥

(१२) अथाऽशक्तद्वारमाह–

किं काहामि वराओ, अहं खु ओमाणकारओ होइं।
एवं तत्थ भणंते, चाउम्मासा भवे गुरुगा॥

कोऽपि साधुः कुलगणस्थविरैस्तथैव पृष्टः प्राह–क्षमाश्रमण ! लोके यः सर्वथा अशक्तः पङ्गुप्रायः स वराक उच्यते। सोऽहं बराकस्तद्देशं गतः किं करिष्यामि ? नवरमहं तत्र प्राप्तोऽवमानकारको भविष्यामि एवं तत्र स्थविराणां पुरतो भणतस्तस्य चतुर्मासा गुरुवो भवन्ति।

स च स्थविरैरित्थमभिधातव्यः–

उव्वत्त खेल संथर जग्गणो पेस भावधारणया।
तस्स पडिजग्गयाण य, पडिलेहेउं पि अस्सत्तो॥

आर्य ! ग्लानस्योद्वर्त्तनमपि कर्तुं न शक्नोषि, एवं खेलमल्लकस्य भस्मना भरणं भस्मपरिष्ठापनं वा, संस्तारकस्य रचनं, जागरणं रात्रौ प्रहरकप्रदानं, पेषणमौषधीनां चूर्णनं भाण्ड धारणं सपानभोजनानां धारणं, तस्थ ग्लानस्य प्रतिजागरकाणां , साधूनामुपधिमपि प्रत्युपेक्षितुमशक्तः? येनेदं ब्रवीषि–किं करिष्यामि वराकोऽहमिति ?

(१३) अथ सुखितद्वारमाह–

सुहिय मो ति य भणती, अत्थह वीसत्थया सुहं सव्वे।
एवं तत्थ भणंते, प्रायच्छित्तं भवे तिविहं॥

एकत्र क्षेत्रे मासकल्पस्थितैः साधुभिः श्रुतम्–अमुकत्र ग्लान इति। तत्र केऽपि साधवो भणन्ति–ग्लानं प्रति जागरका व्रजामो वयम्। इतरः कोऽपि भणति–सुखितानस्मान् मा दुःखितान् कुरुत, यूयमपि सर्वे विश्वस्ता निरुद्विग्नाः सुखं सुखेन तिष्ठत। तत्र गत्वा मुधैव दुःखस्यात्मानं प्रयच्छामः। किं युष्माकमयं श्लोको न कर्णकोटरमुपागमत् ? यथा ''सर्वस्य कार्यकारी, स्वार्थविघाती परस्य हितकारी। सर्वस्य च विश्वासी, मूर्खोऽयं नाम विज्ञेयः॥१॥'' एवं तत्राप्रशस्यं भणतस्त्रिविधं प्रायश्चित्तं भवति। तद्यथा–यद्याचार्य एवं ब्रवीति ततश्चतुर्गुरु, उपाध्यायो ब्रवीति चतुर्लघु, भिक्षुर्ब्रवीति मासगुरु।

(१४) अथापमानद्वारमाह–

भत्तादिसंकिलेसो, अवस्स अम्हे वि तत्थ न तरामो।
काहिंति केत्तियाणं, ते तेणेव तेसु अदत्ता॥
अम्हेहिँ तहिँ गएहिं, ओमाणं उग्गमाइणो दोसा।
एवं तत्थ भणंते, चाउम्मासा भवे गुरुगा॥

तथैव ग्लानं श्रुत्वा केचिद् भणन्ति–व्रजामो ग्लानप्रतिजागरणा-र्थम्। अपरे ब्रुवते–तत्रान्येऽपि ग्लानं श्रुत्वा बहवः प्रतिचरकाः समायाता भविष्यन्ति, ततो महान् भक्तपानादिसंक्लेशो भविता, अवश्यमसंदिग्धं वयमपि तत्र गता न तरामो न निर्वहामो ग्लानप्रतिचरणार्थमागतानां कियतां ते वास्तव्यविश्रामणादिप्राघूक कर्म करिष्यन्ति ? यतस्ते तेनैव ग्लानेन तेषु कार्येषु अदत्ता आकुलीभूताः। तथा अस्माभिरपि तत्र गतैर्नियमादवमानम् अवश्यमृद्गमदोषाश्चाधाकर्ममिश्रजात–प्रभृतयः। आदिशब्दा-देषणादोषाश्च भविष्यन्ति। एवं तत्र तेषां भणतां चत्वारो मासा गुरुका भवेयुः।

(१५) अथ लुब्धद्वारमाह–

अम्हे निज्जट्ठी, अत्थह तुब्भे वयं से काहामो।
अत्थि य अमाविया णं ते, वि य णाहिंति काऊण॥

मासकल्पस्थितैः साधुभिः श्रुतम्–यथाऽमुकत्र ग्रामे ग्लानः संजातोऽस्ति। तच्च क्षेत्रं वसतिपानकगोरसादिभिः सर्वैरपि गुणैरुपेतं, ततस्ते लोभाभिभूत चेतसश्चिन्तयन्तिग्लानमन्तरेण न शक्यते क्षेत्रमिदं प्रेरयितुम्। अथो गच्छामो वयमिति चिन्तयित्वा तत्र गत्वा भणन्तिवयं निर्जरार्थिनो ग्लानवैयावृत्यकरणेन कर्मक्षयमभिलषमाणा इहायाताः स्म, अतो यूयं तिष्ठत, वये 'से' तस्य ग्लानस्य वैयावृत्यं करिष्यामः। सन्ति च अस्माकमभाविताः शैक्षाः, तेऽप चास्मान् वैयावृत्त्यं कुर्वतो दृष्ट्वा ज्ञास्यन्ति।

एवं गिलाणलक्खे–ण संठिया पाहुण त्ति उक्कोसं।
मग्गंता चमढंती, तेसिं चारोवणा चउहा॥

एवं ग्लान संबन्धि यल्लक्ष्यं मिषं तेन तत्र संस्थिताः सन्तः प्राघूर्णका इतिकृत्वा लोकादुत्कृष्टं स्निग्धमधुरद्रव्यं लभन्ते। अथन स्वयं लोकः प्रयच्छति, ततो मार्गयन्तः प्राघूर्णका वयमिति मिषेण च संभाषणास्तान् क्षेत्रं चमढयन्ति। चमढिते च क्षेत्रे ग्लानप्रायोग्यं न लभ्यते, ततस्तेषामियं चतुर्विधा आरोपणा कर्त्तव्या। तद्यथा–द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्च।

(१६) प्रायश्चित्तम्। तत्र द्रव्यतस्तावदाह –

फासुगमफासुगे वा, अचित्तचित्ते परित्तऽणंते य।
असिणेह सिणेहकए, अणहाराहार लहु गुरुगा॥

क्षेत्रोद्वेजनादोषेण ग्लानप्रायोग्यमलभमाना यदि प्राशुकमवभायन्ते, परिवासयन्ति वा, ततश्चत्वारो लघुकाः, अप्राशुकडवभायन्ते, परिवासयन्ति वा, ततश्चत्वारो गुरुकाः। इह च प्राशुकडेयणीयम-प्राशुकडनेषणीयम्। आह च निशीथचूर्णिकृत्–"इह फासुगं एसणिज्जं"। अचित्तं अवभाष्यमाणे, परिवास्यमाने वा चतुर्लघु, सचित्ते चतुर्गुरु, एवं परीते चतुर्लघु, अनन्तके चतुर्गुरु, अस्नेहे चतुर्लघु, सस्नेहे चतुर्गुरु, अनाहारे चतुर्लघु, आहारे चतुर्गुरु। उक्तं द्रव्यनिष्पन्नं प्रायश्चित्तम्।

अ क्षेत्रेनिष्पन्नमाह

लुद्धरूयऽब्भंतरतो, चाउम्मासा हवति उग्घाता।
वहिया य अणुग्गया, दव्वालंभे पसज्जया॥

उत्कृष्टद्रव्यलोभेन क्षेत्रमुद्वेजयतो लुब्धस्य क्षेत्रभ्यन्तरतो ग्लानप्रायोग्ये अलभ्यमाने चत्वारो मासा उद्घाताः। क्षेत्रस्य बहिरलभ्यमाने एवं चत्वारो मासा अनुद्घाता गुरवः। अत्र च ग्लानप्रायोग्यस्य द्रव्यस्यालाभे प्रसज्जना प्रायश्चित्तस्य वृद्धिः प्राप्नोति।

कथमित्याह–

खेत्तवहि अद्धजोअण, वुड्ढी दुगुणेण जाव बत्तीसा।
चउगुरुगादी चरिडं, खित्त.....॥

क्षेत्राद्बहिरर्द्धयोजनं गत्वा ततो यदि ग्लानप्रायोग्यं द्रव्यमान यति तदा चतुगुरुवः। एवं योजनादानयति षट् लघवः। योजनद्वयादानयति षड् गुरवः। योजनचतुष्टयादानयति छेदः। योजनाष्टकादानयति तदा मूलम्। योजनषोडशकादानयति अनवस्थाप्यम्। द्वात्रिंत् योजनानि गत्वा ग्लानप्रायोग्यमानयति पाराञ्चिकम्। अत एवाह–क्षेत्रबहिरर्द्ध-योजनादारभ्य द्विगुणेन परिमाणेन क्षेत्रस्य वृद्धिस्तावत् कर्त्तव्या यावद् द्वात्रिंशद्योजनानि। एषु च चतुर्गुरुकादिकं चरमं पाराञ्चिकं यावत्प्रायश्चित्तम्। इत्थं क्षेत्रविषयं प्रायश्चित्तमुक्तम्॥ बृ०१ उ०।

(१७) सचित्ताऽचित्तचिकित्सा–

तिविहे तेगिच्छम्मी, उज्जुय वाउलणसाहणा चेव।
पण्णवणमणिच्छंते, दिट्ठंतो भंडिपोएहिं॥

त्रिविधे त्रिप्रकारे आचार्योपाध्यायभिक्षुलक्षणे विचिकित्स्ये चिकित्स्यमाने, गीतार्थे इति गम्यते। ऋजुकं स्फुटमेव, व्यापृतनसाधना व्यापृतक्रियाकथनम्। इयमत्र भावना–आचार्याणामुपाध्यायानां गीतार्थानां च भिक्षूणां चिकित्स्यामानानां यदि शुद्धं प्राशुकमेषणीयं न लभ्यते, तदा न तत्र विचारः। अथ प्राशुकमेषणीयं न लभ्यते, अथवा अवश्यं चिकित्सा कर्त्तव्या, तदा अशुद्धमप्यानीयते, तथाभूतं चानीय दीयमानं स्फुटमेव कथनीयम्–इदमेवंभूतमिति गीतार्थत्वेनापरिणाम-दोषस्य चासभवात्। अगीतार्थस्य पुनर्भिक्षोः शुद्धालाभे चिकित्सामशुद्धेन कुर्वन्तो मुनिवृषभा यतनया कुर्वन्ति, न चाऽऽशुद्धं कथयन्ति। यदि पुनः कथयन्ति, अयतनया वा, तदा सोऽपरिणामित्वात् अनिच्छन् अनागाढादिपरितापनमनुभवति, तन्निमित्तं प्रायश्चित्तमापतति मुनिवृषभाणाम्। यद्वा अतिपरिणामतया सोऽतिप्रसङ्गं कुर्यात् तस्मान्न कथनीयं, नाप्ययतना कर्त्तव्या। अथ कथमपि तेनागीतार्थेन भिक्षुणा ज्ञातं भवति। यथा–अकल्पिकमानीय मह्यं दीयते, तदा तस्मिन्नेच्छति अगीतार्थे भिक्षौ प्रज्ञापना क्रियते। यथा–ग्लानार्थं यदकल्पिकमपि यतनया सेव्यते, तत्र शुद्धो ग्लानो यतनया प्रवृत्तेरल्पीयान् दोषोऽशुद्ध ग्रहणात् सोऽपि पश्चात्प्राश्चित्तेन शोधयिष्यते। एवंरूपा च प्रज्ञापना क्रियते तरुणे दीर्घायुषि। यस्तु वृद्धस्तरुणो याऽतिरोगग्रस्तो चिकित्सनीयः स भक्तप्रत्याख्यानं प्रति प्रोत्साह्यते। यदि पुनः प्रोत्साह्यमानोऽपि न प्रतिपद्यते, तदा भण्डीपोताभ्यां दृष्टान्तः कर्त्तव्यः।

संप्रति भण्डीपोतावेव दृष्टान्तावाह–

जा एगदेसे अदढा उ भंडी, सालिप्पए सा उ करेइ कज्जं।
जा दुव्वला संठविया विसंती, न तं तु सीलंति विसन्नदारुं॥
जो एगदेसे अदढो उ पोतो, सो लिप्पते सो उ करेइ कज्जं।
जो दुव्वालो सो ठवितो वि संतो, न तं तु सीलंति विसन्नदारुं॥

वृत्तद्वयमपि कण्ठ्यम्।

एसेव गमो नियमा, समाणीणं दुगविवज्जितो होइ।
आयरियादीण जहा, पवितिणिमादीणि वि तहेव॥

यो गमोऽनन्तरमूलसूत्रादारभ्य श्रमणानामभिहितः, एष एव गमो नियमात् संयतीनामापि वक्तव्यः। किमविशेषेण? नेत्याहद्विकवर्जितः–पाराञ्चितानवस्थाप्यलक्षणद्विकवर्जितो भवति वक्तव्यः, तदाप्तावपि तासां तयोर्दानाभावात्। उपलक्षणमेतत्–परिहारतपः तासां न भवति। यथा च आचार्यादीनां त्रिविधो भेद उक्तस्तथा प्रवर्तिन्यादीनामपि त्रिविधो भेदोऽवसातव्यः। तद्यथा–प्रवर्तिनी, गणावच्छेदिनी भिक्षुकी च। तत्राचार्यस्थानीया प्रवर्त्तिनी, उपाध्यायस्थानीया गणावच्छेदिनी, भिक्षुस्थानी या भिक्षुकी च। तदेवं मूलसूत्रादारभ्य यत् प्रकृतं तत् परिसमाप्तम्। व्य०१ उ०। नि०चू०॥

.....काले इमं होइ।

काले कालविषयमिदं वक्ष्यमाणं भवति।

तत्र तावत्प्रकारान्तरेण क्षेत्रनिष्पन्नमेवाह–

अंतो बहिं न लब्भइ, ठवणफासुग महयमुच्छकिच्छ कालगए।
चत्तारि छच्च लहु गुरु छेदो मूलं तह दुगं च॥

क्षेत्रस्यान्तर्वा बहिवा ग्लानप्रायोग्यं न लभ्यते इतिकृत्वा प्रासुकस्य स्थापनां परिवासनां करोति चतुर्लघु, तेन परिवासितेन भक्तेन ग्लानो यद्यनागाढं परिताप्यत ततश्चतुर्गुरुकं, महतीं दुष्कासिकामाप्नोति षट्लघु, मूर्छ्यां षड्गुरु, कृच्छ्रप्राणे छेदः, कृच्छ्रोच्छ्वासे मूलं, समवहते मारणान्तिकसमुद्घातं कुर्वाणे ग्लाने अनवस्थाप्यं, कालगते पाराञ्चिकम्।

अथ कालनिष्पन्नं प्रायश्चितमाह–

पढमं राइ ठविंते, गुरुगा विइयादिसत्तहिं चरिमं।

परितावणाइभावे, अप्पत्तियकूयणाईया।

प्रथमां रात्रिं परिवासयतश्चतुर्गुरुकाः, द्वितीयां रात्रिमादौ कृत्वा सप्तमी रात्रिमिश्चरमम्। तद्यथा–द्वितीयां रजनीं परिवासयति षट् लघवः, तृतीयास्यां षट् गुरवः, चतुर्थ्यां छेदः, पञ्चम्यां मूलं, षष्ठ्यामनवस्थाप्यम्, सप्तम्यां पाराञ्चिकम्। अथ भावनिष्पन्नमाह–''परितावणाइ'' इत्यादि पश्चार्द्धम्। परितापनादिभावनिष्पन्नं मन्तव्यम्। तथा स परितापपितः सन्नप्रीतिकं करोति चतुर्लघु, कूजनं सशब्दाक्रन्दनम्, आदिग्रहणादनाथोऽहं, न किमप्यमी मह्यं प्रयच्छन्तीत्येवमुड्डाहं कुर्यात् ततश्चतुर्गुरुकम्।

अथ परितापनादिपदं व्याख्यानयति–

अंतो वहिं न लब्भइ, परितावणमहयमुच्छकिच्छकालगए।
चत्तारि छच्च लहु गुरु, छेदो मूलं तह दुगं च॥

क्षेत्रस्यान्तर्बहिर्वा न लभ्यते इतिकृत्वा ग्लानस्यानागाढा परितापना भवति चतुर्लघु, आगाढपरितापनायां चतुर्गुरु, दुःखदुःखे षट्लघु, मूर्च्छामूर्च्छे षट्गुरु, कृच्छ्रप्राणे छेदः, कृच्छ्रोच्छ्वासे मूलं, समवहते अनवस्थाप्यं, कालगते पाराञ्चिकम्। एवं तावदाहारविषयमुक्तम्।

अथोपधिविषयमभिधीयते–

अंतो वहिं न लब्भइ, संथारगमहयमुच्छकिच्छकालगए।
चत्तारि छच्च लहु गरु छेदो मूलं तह दुगं च॥

अतिचमढिते क्षेत्रे अन्तर्वा बहिर्वा संस्तारको न लभ्यते, ततो ग्लानस्थानागाढपरितापनादिषु चतुर्लघुकादिकं तथैव प्रायश्चित्तं द्रष्टव्यम्।

अत्र परिष्ठापत्तापदं समुद्घातपदं च गाथायां साक्षान्नोक्तं ततो मा भून्मुग्धविनेयवर्गस्य व्यामोह इतिकृत्वा साक्षादभिधानार्थमिमां गाथामाह–

परितावमहादुक्खे, मुच्छामुच्छे य किच्छपाणगते।
किच्चुस्सासे य तह, समुघ ए चेव कालगते॥

गतार्था। उक्तं लुब्धकद्वारम्। वृ०१ उ०। नि०चू०।

(१८) अथानुवर्त्तनाद्वारमाह–

अणुयत्तणा गिलाणे, दव्वट्ठा खलु तहेव वेज्जट्ठा।
असती इ अन्नओ वा, आणेउं दोहि वी कुज्जा॥

ग्लानप्रायोग्यं यत् भक्तपानादि द्रव्यं, स एवार्थः प्रयोजनं द्रव्यार्थस्तमुत्पादयद्भिर्ग्लानस्यानुवर्त्तना कर्त्तव्या (तहेव वेज्जट्ठ त्ति) तथैव वैद्यस्यार्थमुत्पादयद्भिर्ग्लानस्यानुवर्त्तना विधेया। यदि स्वग्रामे द्रव्यवैद्ययोरभास्ततोऽन्यग्रामादपि द्रव्यवैद्यवानीय द्वाभ्यामप्यनुवर्त्तनां कुर्यात्।

अथैनामेव गाथां व्यचिख्यासुराह–

जाचंते उ अपत्थं, भणंति जायाम तं न लब्भइ णे।
विणियट्टणा अकाले, जा वेल न विंति उ न देमो॥

ग्लानो यद्यपथ्यं द्रव्यं याचते ततः साधवो भणन्तिवये याचामः, परं किं कुर्महे भवतामभिप्रेतं भूयो भूयः पर्यटद्भिरपि न लभ्यते 'णे' अस्माभिः, इत्थं भणद्भिर्ग्लानोऽनुवर्तितो भवति। यद्वाग्लानस्याग्रतः पात्रकाण्युद्ग्राह्य प्रतिश्रयान्निर्गत्यापान्तरालपथाद्विनिवर्त्तनां प्रत्यागमनं कुर्वन्ति, तस्य पुरमश्चेत्थं ब्रुवते–वयं गता अभूम परं न लब्धम्, अकाले वा गत्वा याचन्ते तेन न लभ्यते, अकाले च याचमानं ग्लानं ब्रुवते–यावद्वेला भवति तावत्प्रतीक्षस्व, ततो वयमानीय दास्याम इति। न पुनर्ब्रुवते–न दद्मावयमिति।

अथ क्षेत्रे ग्लानस्यानुवर्त्तनामाह–

तत्थेव अन्नगामे, वुच्छंतरऽसंथरंत जयणाए।
संथरणेसणमादि च्छन्नं कडजोगि गीयत्थे॥

प्रथमतस्तत्रैव ग्रामे प्रायोग्यमन्वेषणीयम्, तत्र यदि न लभ्यते तदा अन्यग्रामेऽपि अथासावन्यग्रामो दुरतरस्ततो (वुच्छंतर त्ति) अन्तराले अपान्तरालग्रामे उषित्वा द्वितीये दिने आनयन्ति, अथैवमप्यसंस्तरणं भवति, ततः (संथरंतजयणाद त्ति) अकारप्रश्लेषादसंस्तरतो ग्लानस्यार्थाय यतनया पञ्चकपरिहाण्या गृह्णन्ति। अथ ग्लानार्थं व्यापृतानां परिचरकाणां संस्तरणं तत (एसण्माह त्ति) एषणादोषेषु, आदिशब्दादुद्गमादिदोषेषु च, पञ्चकपरिहाण्या यतितव्यम्। अथ प्रतिदिवसं ग्लानप्रायोग्यं न लभ्यते ततश्छन्नप्रकट कृतयोगी, गीतार्थो वा तत् प्रायोग्यं द्रव्यं परिवासयन्ति। यथाकर्णितक्षच्छेदश्रुतार्थः प्रत्युच्चारणासमर्थः कृतयोदी, यस्तु च्छेद श्रुतार्थं श्रुत्वा प्रत्युच्चारयितुमीशः स गीतार्थ उच्यते। एष द्वारगाथासमार्थः।

अथैनामेव विववरीषुराह–

पडिलेह पोरसीओ, वि अ काउं मग्गणा उ सग्गामे।
खित्तंतो तद्दिवस, असइ विणासे व तत्थ वसे॥

अपिशब्दः संभावनायाम्, यदि सुलभं द्रव्यं ततः प्रत्युपेक्षणां, सूत्रार्थपौरुष्यौ च कृत्वा स्वग्रामे अनवभाषितस्य मार्गणा कर्त्तव्या, अथैवं न लभ्यतेऽतोऽर्थपौरुषीं हापयित्वा, यद्येवमपि न लभ्यते, ततः सूत्रपौरुषीं परिहाप्योत्पादनीयम्। अथ तथापि न लभ्यते, दुर्लभं वा तत् द्रव्यं, ततः प्रत्युपेक्षणां, द्वे अपि च पौरुष्यौ अकृत्वा स्वग्रामे अनवभाषितं मार्गयन्ति, स्वग्रामे अनवभाषितं न लभ्यते, ततः क्षेत्रान्तः सक्रोशयोजन क्षेत्राभ्यन्तरे परग्रामे पौरुषीद्वयमपि कृत्वा अनवभाषितमुत्पादयन्ति; अत्राप्यर्थपौरुष्यादिहापना तथैव द्रष्टव्या। अथ तत्राप्यनवभाषितं न लभ्यते, ततः स्वक्षेत्रस्वग्रामयोरवभाषितमुत्पाद्यतदिव समानयन्ति, अथ स्वक्षेत्रे तद्दिवसं न प्राप्यते, ततः परक्षेत्रादपि तद्दिवसमानेतव्यम्। अथ क्षेत्रबहिर्वर्त्तिनो यतो ग्रामादेरानीयते तत्र प्रत्यासन्नं, किं तु दूरतरं, न तद्दिवसं न प्राप्यते, ततः परक्षेत्रादपि तद्दिवसप्रानेतव्यम्। अथ क्षेत्रबहिर्वर्त्ति प्रत्यायातुं शक्यते, विनाशि वा तद् द्रव्यं दुग्धादिकं, ततः प्रत्यासन्न-ग्रामस्यासति, विनाशिनि वा द्रव्ये गृहीतव्ये अपराह्णे गत्वा तत्र रात्रौ वशेत् उषित्वा च सूर्योदयवेलायां गृहीत्वा द्वितीये तत्रानयन्ति। अथ दवयितरं तत् क्षेत्रम्, अविनाशि द्रव्यं च, ततोऽप्यान्तरालग्रामे रजन्यामुषिताः सूर्योदये तत्र गत्वा तद् गृहीत्वा भूयः समागच्छन्ति।

एतदेवाह–

खित्तवहिया व आणे, विसोहिकोडिं, तिन्निती काढे।
पइदिवसमब्भंते, कम्मं समइच्छिओ ठवए॥

क्षेत्रबहिर्वा गत्वा प्रथममनवभाषित ततोऽवभाषितं पूर्वं तद्दिवसे अनन्तरोक्तया नीत्या यथायोगमानयेत्। एष विधिरेषणी-

यविषयो भणितः । अथेषणीयेन नासौ ग्लानः संस्तरति ततः सक्रोशयोजनक्षेत्रस्यान्तः स्वग्रामपरग्रामयोः पञ्चकपरिहाण्या तदप्राप्तौ क्षेत्रबहिरपि पञ्चकपरिहाण्या तद्दिवसं ग्लानप्रायोग्यमुतदयन्ति। एवं यदा प्रायश्चित्तानुलोम्येन क्रीतकृताभ्यां हृतादिकं विशेधिकोटिमतिक्रान्तो भवति, तदा (काढे त्ति)ग्लानप्रायोग्यमौषधादिकमन्येन स्वयं वा यतनया क्रायेत् । एवं प्रतिदिवसमलभ्यमाने यदा आधाकर्मापि समतिक्रान्तः, तदपि तद्दिवसं न प्राप्यत इत्यर्थः । ततो विशुद्धमविशुद्धं वा ग्लानप्रायोग्यं द्रव्यमुत्पाद्य स्थापयेत् परिवासयेत्, ये तु ग्लानस्य प्रतिचरकास्ते यदि ग्लानकार्यव्यापृताः परक्षेत्रं वा व्रजन्तः स्वार्थमहिण्यमाना न संस्तरन्ति, तत एषणादिदोषेषु पञ्चकपरिहाणियतनया गृह्णन्ति।

यतु ग्लानार्थं परिस्यते तत् कीदृशे स्थाने स्थाप्यते इति?

आह–

उव्वरगस्स उ असती, चिलिमिलि उभयं च जह व नो पासे।
तस्सऽसइ पुराणादिसु, ठविंति तद्दिवस पडिलेहा।

कृतयोगिना, गीतार्थेन वा तदन्यस्मिन् गृहापवरके स्थापनीयम्। अथ नास्ति पृथगपवरकः, ततो वसतावेव योऽपरिभोव्यकोणकस्तत्र चिलिमिलिकयाआवृत्य उभयं ग्लानागीतार्थलक्षणं यथा न पश्यति तथा स्थाप्यम्, यदि ग्लानस्तत्पश्यति तदा स यदा तदा तस्याभ्यावहारं कुर्यात्। अगीतार्थस्य तु तत् दृष्ट्वा विपरिणामत्ययादयो दोषा भवेयुः। (तस्सऽसइ त्ति) तस्या परिभोग्यस्थानस्याभावे पुराणः पश्चात्कृतः तस्य गृहे,आदिशब्दात् मातापित्रसमानेषु स्थापयन्ति, तस्य च तद्दिवसं प्रत्युपेक्षणा कर्त्तव्या।

तद्दिवसं नाम प्रतिदिनम्। यदुक्तं देश्याम्–''तद्दिवसं अणुदिअहे इत्तिअए अण्णे उ दोहि वी कुज्जा।'' इत्यस्य व्याख्यानमाह –

फासुगमफसुगेण च, अचित्तेतर परित्तऽणंतेणं।
आहार तद्दिणेतर, सिणेह इयरेण वा करणं ॥

प्राशुकेन, अप्राशुकेन वा, अचित्तेन, इतरेण वा सचित्तेन, अनन्तेन व, आहारेण अनाहारेण वा तद्दैवसिकेन, इतरेण वा परिवासितेन, सस्नेहेन, इतरेण वा अस्नेहेन, ग्लानस्य चिकित्सायाः करणमनुज्ञातम्। गता ग्लानानुवर्त्तना। बृ०१ उ० कल्प० ओघ० पु०चू०।

(१६)अथ वैद्यानुवर्त्तनामभिधित्सुः प्रस्तावनां रचयन्नाह–

विज्जं न चेव पुच्छइ, जाणंता विंति तस्स उवदिट्ठं।
पिलगाइएसु च तहा अजाणगा पुच्छए विज्जं ॥

ग्लानो ब्रूयात यूयं वैद्यं नैव पृच्छथ, आत्मच्छन्देनैव प्रतिचरणं कुरुथ। ततो यदि ते साधवो जानन्तः चिकित्सायां कुशलास्ततो ब्रुवन्ति– अस्माभिर्वैद्यः प्रागेव पृष्टस्तस्यैवायमुपदेश इति। यद्वा–प्रतिश्रयन्निर्गत्य कियन्तमपि भूभोगं गत्वा मुहूर्त्तमात्रं तत्र स्थित्वा समागत्य ब्रुवते अयं वैद्यनोपदेशो दत्त इति। पिलगं गण्डकः, आदिग्रहणेन शीतलिका, दुष्टवातो वेत्यादिपरिग्रहः । एतेष्वपि यदि ज्ञास्ततः स्वयमेव कुर्वन्ति, अथाऽज्ञास्ततो 'विज्जं' वैद्यं पृच्छन्ति।

अत्र शिष्यः पृच्छति–

किह उप्पन्नो गिलाणो, अट्ठम उण्होदगाइया वुड्ढी।
किंचि बहु भागमद्धे, आमे जुत्तं परिहरंते ॥

कथं केन हेतुना ग्लान उत्पन्न इति ? सूरिराह–भूयांसः खलु रोगातङ्का यद्वशाद् ग्लानत्वमुपजायते, ''तच्छुष्यत् त्रीणि शुष्यन्ति, चक्षूरोगो ज्वरो व्रणः'' इति वचनात्। यदि ज्वरादिको विशेषेण साध्योऽन्यरोगतः ततो जघन्येनाप्यष्टमं कारयितव्यः। यच्च यस्य रोगस्य पथ्यं तत्तस्य कार्यम्। यथा–वातरोगिणो घृतादिपानं, पित्तरोगिणः शर्कराद्युपयोजनं, श्लेष्मरोगिणो नागरादिग्रहणमिति। (उण्होदगाइया वुड्ढि त्ति) उपवासं कर्त्तुमसहिष्णुर्यदि रोगेणामुक्तः पारयति, तत एष क्रमः–उष्णोदकं प्रक्षिप्य कूरसिक्थानि अभिलितानि, ईषन्मिलितानि वा सप्त दिनानि, एकं वा दिनं दीयते, ततः किञ्चित् उष्णोदकेन मधुरोल्लणं स्तोकं प्रक्षिप्य तेन सहौदनं द्वितीये द्वितीयसप्तके दिने वा दीयते, एवं तृतीये (बहुत्ति) बहुतरं मधुरोल्लणं उष्णोदके प्रक्षिप्य दीयते । (भागि त्ति) चतुर्थे त्रिभागो मधुरोल्ल्वल्लवणस्य, द्वौ भागावुष्णोदकस्य (अद्धे त्ति) पञ्चमे अर्द्धं मधुरोल्ल्वणस्य, अर्द्धमुष्णोदकस्य। षष्ठे(ओमे)त्रिभाग उष्णोदकस्य, द्वौ भागो मधुरोल्ल्वणस्य, सप्तमे सप्तके दिने वा युक्तं किञ्चिन्मात्रं उष्णोदकं, शेषं तु सर्वमपि मधुरोल्ल्वणमित्येवं दीयते। तदनन्तरं द्वितीयाङ्गै रपि सहापथ्यान्यवगाहिमादीनि परिहरन् समुद्दिशति यावत्पुरातनमाहारं परिणमयितुं समर्थः सपन्नः, एषा उष्णोदकादिवृद्धिर्द्रष्टव्या। इह च सर्वोऽप्येकंदिनं बृहद्भाष्याभि-प्रायेण, दिनसप्तकं तु चूर्ण्यभिप्रायेणेति मन्तव्यम्।

अथ 'अट्ठम त्ति' पदं व्याख्यानयन्नाह–

जाव न मुक्के ता अण–सणं तु मुक्के वि ऊ अभत्तट्ठो।
असहुस्स अट्ठ छट्ठं, नाऊण रुयं च जं जोग्गं ॥

यावदसौ ज्वरचक्षूरोगादिना रोगेण न मुक्तस्तावदनशनम–भक्तार्थलक्षणं कर्त्तव्यं, मुक्तेनाऽपि चैकं दिवसमभक्तार्थो विधेयः। अथासावसहिष्णुस्ततोऽष्टमं वा षष्ठं करोति, ज्ञात्वा रुजं रोग विशेषं यदेव योग्यं शोषणमशोषणं वा तत्र कार्यम्, यद्येवं कुर्वाणेनासौ रोग दपशाम्यति ततः सुन्दरम्।

(२०) अथ नोपशाम्यति ततः को विधिरिति? आह–

एवं पि कीरमाणे, विज्जं पुच्छे अठायमाणम्मि।
विज्जाण अट्ठगं दो, अणिड्ढि इड्ढिअणिड्ढियरे ॥

एवमपि क्रियमाणे यदि रोगो न तिष्ठति नोपशाम्यति ततस्तस्मिन्नतिष्ठति वैद्यं पच्छन्ति। अथ कियन्तो वैद्या भवन्तीति? आह–वैद्यानां एतच्चाष्टकं मन्तव्यं, तत्र द्वौ वैद्यौ नियमादनृद्धिकौ ऋद्धिरहितौ, इतरे षट् वैद्या ऋद्धिमन्तोऽनृद्धिमन्तो वा।

तदेव वैद्याष्टकं दर्शयति –

संविग्गमसंविग्गे, दिट्ठत्थे लिंगि सावए सण्णी।
अस्सण्णि इड्ढि गइरा–गई य कुसलेण तेदिच्छं ॥

संविग्न उद्यतविहारी १ असंविग्नस्तद्विपरीतः २, लिङ्गविशेष-मात्रः ३, श्रावकः प्रतिपन्नाणुव्रतः ४, संज्ञी अविरतसम्यग्दृष्टिः ५, असंज्ञी मिथ्यादृष्टिः ६। स च त्रिधा–अन्येन गृहीतमि-

थ्यादृष्टिः ७, अभिग्रहीतमिथ्यादृष्टिः ८, परतीर्थिकश्चिंति ९, (दिट्ठत्थे य त्ति) दृष्ट उपलब्धो अर्थः छेदश्रुताभिधेयरूपो येन स दृष्टार्थो, गीतार्थ इत्यर्थः। एतत्पदं सप्रतिपक्षमत्र सर्वत्र योजनीयम्। तद्यथा–यः सेविग्नः स गीतार्थो वा स्यादगीतार्थो वा। एवमसंविग्नालिङ्गस्थश्रावकसङ्गिष्वपि गीतार्थमगीतार्थत्वं च दृष्टव्यम् तथा चूर्णिकृता व्याख्यातत्वात्। अननभिगृहीतादयस्तु त्रयोऽपि नियमादगीतार्थाः।(इड्ढि त्ति) संविग्नसंविग्नौ नियमादवृद्धिकौ, शेषास्तु ऋद्धिमन्तो वा अनुद्धिमन्तो वा भवेयुः। सर्वेऽपि चैते प्रत्येकं द्विधा–कुशला अकुशलाश्च, गत्यागतिर्विचारणिका, सा चामीणां कर्त्तव्या। तद्यथा–प्रथमां संविग्नगीतार्थेन चिकित्साकर्म कारयितव्यम् , अथासौ न लभ्यते ततोऽसंविग्नगीतार्थेन, तदप्राप्तावसंविग्नागीतार्थेनाऽपि। एवं लिङ्गस्थादिष्वपि संज्ञिपर्यन्तेषु भावनीयम्, तेषां संप्राप्तौ पूर्वमनभिगृहीतमिथ्यादृष्टिना, ततोऽभिगृहीतमिथ्यात्वेन, तदनन्तरं परतीर्थिकेनापि कारयितव्यम्। एते च पूर्वमनृद्धि,मन्तो गवेषणोयाः, न ऋद्धि,मन्तः, तदीयगृहेषु प्रवेशतया बहुदोषसद्भावात् एवं ते च यदि चिकित्साकुशला भवन्ति तत इत्थं क्रमः प्रतिपत्तव्यः– सविग्नगीतार्थः सोऽकुशली, यस्त्व संविग्नगीतार्थः स कुशलः, ततः संविग्नगीतार्थं परित्यज्यासंविग्नगीतार्थेन कारणीयः। एवं बहून्यप्यपान्तराले परित्यज्य यः कुशलस्तेन चैकित्स्यं कारयितव्यम्। एषा गत्यागतिः प्रतिपत्तव्या। यद्वा–(इड्ढिगइरागइ त्ति) ऋद्धिमति गत्यागती कुर्वाणे महदधिकरणं भवति, अतोऽनृद्धिना कारयितव्यम्। नचैतत् स्वमनीषिकाविजृम्भितम्। यत आह विशेषचूर्णिकृत्–''आह वा गइरागइ त्ति, इड्ढिमंताण इंतजंताणं अहिगरणदोसा, तम्हा अणिड्ढिणा कारेयव्वं ति''॥

अमुमेवार्थमपराचार्यपरिपाट्या दर्शयति–

संविग्गेतर लिंगी, वइअवइअणागाढआगाढे।
परउत्थिय अट्ठमए, अड्ढीगइरागई कुसले॥

संविग्नः १, इतरश्चासंविग्नः२, लिङ्गी चेति त्रयोऽपि प्राग्वत् ३, व्रती प्रतिपन्नाणुव्रतः ४, अव्रती अधिरतसम्यग्दृष्टिः ५, अनागाढाऽनभिगृहीतदर्शनविशेषः६, अगाढोऽभिगृहीतमिथ्या–दर्शनः ७, परयूथिकः शाक्यपरिव्राजकादिरष्टमः ८।

''इड्ढीगइरागइ कुसले त्ति'' व्याख्यानार्थमनन्तरोक्तक्रम–विपर्यासे प्रायश्चित्तमाह–

वोच्चत्थे चउ लहुगा, अगियत्थे चउरो मासऽणुग्घाया।
चउरो य अणुग्घाया, एवमकुसलेण करणं तू॥

संविग्नं गीतार्थं मुक्त्वा असंविग्नगीतार्थेन कारयति, एवमादिविपर्यस्तकरणे चत्वारो लघवः, गीतार्थं मुक्त्वा अगीतार्थेन कारयति चत्वारो मासा अनुद्घाताः, कुशलं विहायाऽकुशलेन कारयति चत्वारोऽनुद्घता मासा : यत एवमतः कुशलेन चिकित्साकारणमनुज्ञातम्।

(२१) अथ वैद्यसमीपं गच्छतां विधिममिधित्सुराह–

चोयगपुच्छागमणे, पमाणउवगरणसउणवावारे।
संगारो य गिहीणं उवएसो चेव तुलणा य॥

प्रथमतो नोदकपृच्छा वक्तव्या, ततो गमनं वैद्यसकाशे साधूनां, ततस्तेषामेव प्रमाणं, तत उपकरणं; ततः शकुनाः, तदनन्तरं वैद्यस्य व्यापारः प्रशस्ताप्रशस्तरूपः, ततः संगारः संकेतो गृहिणां पश्चातकृतादीनां यथा कर्त्तव्यः, ततो वैद्यनोपधादिविषय उपदेशः, यथा दीयते, ततस्तमुपदेशं श्रुत्वा यथा स्वयं तुलना कर्त्तव्या। तदेतत्सर्वमपि वक्तव्यमिति द्वारगाथासमासार्थः। अथ विस्तारार्थः प्रतिपाद्यते, तत्र प्रथमं नोदकपृच्छाद्वारं शिष्यः पृच्छति–किं ग्लानो वैद्यसमीपं नीयताम् ? अथ वैद्य एव ग्लानसकाशमानीयताम् ? अत्र कश्चिदाचार्यदेशीयः प्रतिवचनमाह–

पाहुडिय त्ति य एगो, नेयव्वो गिलाण एव विज्जघरं।
एवं तत्थ भणंते, चाउम्मासा भवे गुरुगा॥

एकः कश्चित्प्राह–वैद्येब्लानान्तिकमानीयमाने प्राभृतिका वक्ष्यमाणलक्षणा भवति, अतो ग्लान एव वैद्यगृह नेतव्यः। इत्थमाचार्यदेशीयेनोक्ते सूरिराह–एवं तत्र ग्लाननयनविषये भणतो भवतश्चत्वारो मासा गुरुका भवन्ति।

केयं पुनः प्राभृतिकेति ? अत आह–

रहहत्थिजाणतुरए, अतुरंगाईहि इत्ति कायवहो।
आसण मट्टिय उदए, कुरुकुय सघरे उ परजोग्गो॥

रथहस्तिनौ प्रतीतौ, यानं शिबिकादि, तुरगः प्रसिद्धः, अतुरङ्गा गन्त्री, एतैरादिशब्दादपरेण वा विच्छर्देनायाति आगच्छति वैद्ये कायानां पृथिव्यादीनां वधो भवति। तथा समायातस्या सनं दातव्यं, ग्लानस्य च शरीरे परामृष्टे व्रणादिपाटने वा कृते कुरुकुचाकारापणे मृत्तिकाया उदकस्य च बधो भवति, स्वगृहे तु परयोगेण सर्वमपि भवति, न साधूनां किमप्यधिकरणं भवतीत्यर्थः।

एषा प्राभृतिका वैद्ये ग्लानसमीपमानीयमाने यतो भवति अतः किमिति ?,आह–

लिंगत्थमाइयाणं, छण्हं वेज्जाण गम्म उम्मूलं।
संविग्गगमसंविग्गे, उवस्सगं चेव आणज्जा॥

लिङ्गस्थादीनां षण्णामपि वैद्याना गृहं ग्लान गृहीत्वा गम्यताम्, नैते उपाश्रयमानेतव्यः, अधिकरणदोषभयात्। संविग्नो ऽसंविग्नश्च एतौ द्वावप्युपाश्रयमेवानयेत्, दोषाभावात्।

एवं परणोक्ते सूरिराह–

वातातवपरितावण, मयपुच्छा सुण्ण किमु तरणकुमी।
स चेव य पाहुडिया, उवस्सए फासुया सा उ॥

ग्लानो वैद्यगृहं नीयमानो वातनाऽऽतपेन च महतीं परितापना मनुभवति (मयपुच्छ त्ति) लोकः तं तथा नीयमानं दृष्ट्वा पृच्छतिकिमेष मृतो यदेवं नीयते ?(सुण्णे त्ति) स ग्लानो नीयमानोऽपान्तराले अपद्राणः, ततो वैद्येन यावत् मुखमुद्घाटितं तावत् शून्यं जीवरहितं शवं तिष्ठतीति विज्ञाय ब्रूयात किंमदियं गृहं श्मशानकुटी यदेवं मृतमानयत ? ततः स वैद्यः शवस्य स्पृष्टोऽहमिति कृत्वा सचेलः स्नायात्, फलहकाभ्यन्तरे वा छगणपानीयं दापयेत्, ततो न तु सैव प्राभृतिका समधिकतरा भवेत्, उपाश्रये पुनः प्रशुकपानाकादिना सा क्रियते तेनानका विराधना भवतीति। गतं नोदकपृच्छाद्वारम्।

(२२) अथ गमनद्वारमाह–

उग्गहधारणकुसले, दक्खे परिणामए य पियधम्मे।

कालन्नू देसन्नू, तस्साणुमए अ पेसिज्जा ॥

वैद्येन दीयमानमुपदेशं ये झगित्येवावबुध्यन्ते, न चिरादपि विस्मारयन्ति, ते अवग्रहधारणाकुशलाः तान् तथा दक्षान् शीघ्रकारिणः परिणामकान्यथास्थानमपवादपदपरिणमनशीलान् प्रियधर्म्मणो धर्मश्रद्धालून, कालज्ञान् वैद्यान्तिके प्रविशतो यः कालः प्रस्तावस्तद्वेदिनो, देशज्ञान् यत्र प्रदेशे वैद्य उपविष्टस्तं प्रशस्तमप्रशस्तं वा ये जानते, तान्, तथा तस्य ग्लानस्य वैद्यस्य वा ये अनुमता अभिप्रेतास्तान् वैद्यसकाशं प्रेषयेत्।

अत्रैव व्यतिरेकप्रायश्चित्तमाह–

एअगुणविप्पमुक्के, पेसिंतस्स चउरो अणुग्घाया।
गीयत्थे हि य गमणं, गुरुगा य अमेहिँ ठाणहिं ॥

एते अवग्रहधारणाकुशलत्वादयो ये गुणास्तैर्विमुक्तान् प्रेषयत आचार्यस्य चत्वारो अनुद्घाताः प्रायश्चित्तम्। गीतार्थैश्च तत्रागमनं कर्त्तव्यं, चतुर्गुरुकाश्च प्रायश्चित्तमेभिर्वक्ष्यमाणैर्मन्तव्यम्।

(२३) तान्येवाभिधित्सु प्रमाणोपकरणद्वारद्वयमाह–

एक्कग दुगं चउक्कं, दंडो दूया तहेव नीहारी।
किण्हे नीले मइले, चोल रय निसज्ज मुहपत्ती ॥

यद्येकः साधुर्वैद्यसमीपे प्रेष्यते ततः स वैद्ये यमदण्डोऽयभागत इति दुर्निमित्तं गृह्णीयात् अथ द्वौ प्रेष्यते ततो यमदूताविवतौ मन्येत, अथ चत्वारः प्रेष्यन्ते, ततो नीहारिणः शवस्य स्कन्धदायिनो अमी इति मनुष्यात्, एतावतां च प्रषणे चतुर्गुरुकम्। उपकरणद्वारे यदि कृष्णं नीलं मलिनं वा, उपकरणं चेह चोलपट्टको रजोहरणं निषधाद्वयोपेतं मुखवस्त्रिका, उपकरणत्वादौर्णिकसौत्रिकौ च कल्पविति मन्तव्यम्, ततः शुद्धं श्वेतं चोपकरणं गृहीतव्यम्।

(२४) अथ शकुनद्वारमाह–

मइल कुचेले अब्भं–गीयल्ल एसण खुज्ज वडभे य।
कासायवत्थ उद्धू–लिया य कज्जं न साहँति ॥
नंदी तूरं पुण्णस्स दंसणं संखपडहसद्दो य।
मिगासछत्तचामर, एमादीइं पसत्थाइं ॥

अनयोर्व्याख्या प्राग्वत्–

आवणामाइएसुं, चाउम्मासा हवंतऽणुग्घाया।
एवं ता वच्चंते, पत्ते य इडे भवे दोसा ॥

आपतनं द्वारादौ शिरसो घट्टनम्, आदिशब्दात्प्रपतनं, प्रस्खलनं वा संजातम्। अपरेण वा वस्त्रादौ गृहीत्वा पश्चान्मुख आकृष्टः, कुत्र वा व्रजसीत्यादि भणितः, गच्छ तमेव वा केनापि कृतम्। एवमादिषु अपशकुनेषु संजातेषु यदि गच्छति तदा चत्वारो मासा अनुद्घाता भवन्ति, एवं तावद् व्रजतो मन्तव्यम्। अथ वैद्यगृहं प्राप्तस्तत इमे दोषाः परिहर्तव्या भवन्ति।

(२५) तानेव प्रतिपादयन् व्यापारद्वारमाह–

साडब्भंग उवट्टण, लोय छारुकुरुडे छिंदमिंदंतो।
सुहआसणरोगविहिं, उवएसो वा वि आगमणं ॥

एकशाटकपरिधानो यदा वैद्यो भवति तदा प्रष्टव्यः, एवं तेलादिना अभ्यङ्गनं, कल्कलोध्रादिनोद्धर्तनं, लोचकर्म वा कूर्चमुण्डनादि कारयेत् क्षारस्य भस्मनः, उत्कुरुटकस्य कचवरपुञ्जकस्य, उपलक्षणत्वाद् वुसादीनां वा समीपे स्थितः, स्फोटकादिना वा दूषितं कस्याप्यङ्गं छिन्दानो घटमलाबुकं वा भिन्दानः शिराया वा भेदं कुर्वाणो न प्रच्छनीयः। अथ ग्लानस्यापि किञ्चित् छेत्तव्यं, भेत्तव्यम्, ततः छेदनभेदनयोरपि प्रष्टव्यः। अथासौ शुभासने उपविष्टो रोगविधिं वैद्यशास्त्रपुस्तकं प्रसन्नमुखः प्रलोकयति, अथ वा रोगविधिः चिकित्सा, तां कस्यापि प्रयुञ्जान आस्ते, ततः प्रष्टव्यः। स च वैद्यः पृष्टः सन्नुपदेशं वा दद्यात्, ग्लानसमीपे वा आगमनं कुर्यात्।

(२६) अथ सङ्गारश्च गृहिणामिति द्वारं व्याख्यानयति–

पच्छाकडे य सन्नी, दंसणगहा भद्द दाणसड्ढे य।
मिच्छद्दिट्ठी संबंधिए अ परतित्थिए चेव ॥

पश्चात्कृतश्चारित्रं परित्यज्य गृहवासं प्रतिपन्नः, संज्ञी गृहीताणुव्रतः, दर्शनसंपन्नो अविरतसम्यग्दृष्टिः, तथा भद्रकः सम्यक्त्वरहितः परं सर्वज्ञशासने, साधुषु च बहुमानवान्, दानश्रद्धो दानरुचिः, मिथ्यादृष्टिः शाक्यादिशासनस्य, संबन्धी स्वजनः परतीर्थिकः सरजस्कपरिव्राजकादिः, एतेषां संकेतः क्रियते। यथा–वैद्यस्य पार्श्वं वयं गच्छामो भवद्भिस्तत्र संनिहितैर्भवितव्यम्। यदसौ ब्रूयात् तत् युष्माभिः सर्वमपि प्रतिपत्तव्यम्।

ये वैद्यदसमीपे प्रस्थापितास्ते वैद्यस्येदं कथयन्ति–

वाहि नियाण विकारं, देसं कालं वयं च धातुं च।
आहार अग्गि घिइबल, समुइं च कहिंति जा जस्स ॥

व्याधिं ज्वरादिरोगं, निदानं रोगोत्थानकारणं, विकारं प्रवर्धमानरोगविशेषं, देशं ग्लानत्वोत्पत्तिनिबन्धप्रवातादिप्रवेशं, कालं रोगोत्थानसमयं पूर्वाह्णादिकं, वयश्च तारुण्यादिकं, धातुं च वातादीनां धातूनामन्यतो य उत्कटस्तम्, आहारमल्पभोजित्वादिलक्षणम्, अग्निबलं जाठरो वह्निरस्य मन्दः प्रबलो वा, इत्येवं धृतिबलं सात्विकः, कातरो वा इत्येवं, तथा (समुइ त्ति) प्रकृतिः, सा च या यस्य जन्मतः प्रभृति, तां च कथयन्ति।

(२७) वैद्यस्य उपदेशद्वारम्–

कलमोदणे उ खीरं, ससक्करं तूलिइया दव्वे।
भूतिघरेट्ठग खेत्ते, काले अडुगीइ वेलाए ॥
इच्छाणुलोम भावे, न य तस्स हिया जहिं भवे विसया।
अहव ण दित्तादीसुं, पडिलोमा जा जहिं किरिया ॥

अनन्तरोक्तव्याधिनिदानादि श्रुत्वा वैद्यः स्वगृहस्थित एव द्रव्यादिभेदाच्चतुर्विधमुपदेशं दद्यात्। तद्यथा–द्रव्यतः कलमशालेरोदनं, तथा क्षीरं च सशर्करमस्य दातव्यं, तथा तूलिकायां शाययितव्यः, आदिशब्दात् गोशीर्षचन्दनादिना विलेपनीय इत्यादि। क्षेत्रतो भूमिगृहे, पक्वेष्टकागृहे चाऽयं स्थापनीयः, कालतोऽमुकस्यां वेलायां प्रथमप्रहारादौ भोजनमयं कारणीयः; भावतो यदस्य स्वकीयाया इच्छाया अनुलक्षेपम-नुकूलं तदेव कर्त्तव्यं, नास्याऽऽज्ञा कोपनीया। तथा यत्र तस्य ग्लानस्य विषया अहिताः अनिष्टाः क्रन्दितविलपितादिरूपा गीतवादित्रगोचरावा शब्दादयो न भवन्ति, तत्र स्थापनीय इति शेषः। (अह च ण त्ति) अथ वा–दृप्तादिषु दृप्तचित्तप्रभृतिषु प्रतिलोमा क्रिया कर्त्तव्य, तत्र दृप्तचित्तस्यापमानना, यथा–अपमानादिनाऽ-

पहृतचित्तस्य तस्य दर्पाव्यतिरेकज उन्मादः शाम्यति, संमानना यक्षाविष्टस्य तु यथायेगमपमानना वा विधेया, ज्वरादौ वा रोगविशेषणादिका क्रिया या यत्र विद्यते सा च तत्र विधयेति।

(२८) अथ तुलनाद्वारमाह–

अपडिहणंता सोउं, कयजोगाऽलभितस्स किं देमो।
जहविभवा तेगिच्छा, जा लंभो ताव जूहंति॥

वैद्येन दीयमानमुपदेशमप्रतिध्नन्तस्तद्वचनमविकुट्टयन्तः श्रुत्वा आत्मानं तोलयन्ति–किमेतत् कलमशाल्यादि लप्स्यामहे, नवेति? यदि विज्ञायत–ध्रुवं लप्स्यामहे ततो न किमपि भणन्ति। अथ न तस्य ध्रुवो लाभः, ततो भणन्ति–यथा युस्माभिरुपदेशा दत्तास्तथा वयं योगं करिष्यामः, परं यदि कृतेऽपि योगे न लभामहे, ततस्तस्य किं दद्मः? अपि च–वैद्यकशास्त्रे यथाविभवा यथाऽभुरूपा, चिकित्सा भणिता, यस्य यादृशी विभूतिस्तस्य तदनुरूपैरोषधैः पथ्यैश्च चिकित्सा क्रियते इत्यर्थः। अतो यूयमपि जानीथ–यथाऽस्माकं सर्वमपि याचितं लभ्यते, नाऽयाचितम् अतो यदा कलमशाल्यादि याच्यमानमपि न प्राप्यते, तदा किं दातव्यमिति? इत्येवं वैद्योपदेशमुपसर्पयन्तस्तावज्जू इन्ति अनयन्ति या वधस्य द्रव्यस्य को द्रव कूरादेः क्षीरशर्करा देवी लाभो भवति।

तुलनामेव प्रकारान्तरेणाह–

नियएहि ओसहेहिं, का इ मणेज्जा करेमहं किरियं।
तस्सऽप्पणो य थामं, नाउं भावं च अणुतन्ना॥

ग्लानस्य कोऽपि संज्ञातको वैद्यो भणेत्–निजकैरौषधैरहं ग्लानस्य करोमि क्रियां, प्रेषयत मदीये गृहे ग्लानमिति। ततो गुरुभिः पृष्टेन ग्लानेन तस्यात्मनश्च स्थाम वीर्यं तोलनीयम्। किमेष वैद्य औषधानि पूरयितुं समर्थो, न वा? अहमपि किं धृत्वा बलवान्? आहोस्विदबलवान्। भावो नाम किमेष धर्म्महेतोश्चिकित्सां चिकीर्षुः स्वगृहे मामाकारयति, उताहो निष्कामणाभिप्रायेणेति। यद्यसौ गृहस्थ ओषणपूरिणे समर्थो, यदि च स्वयं धृत्या बलवान्, यदि च धर्म्महेतोः संज्ञातकस्तस्मात्कारयति तत एवं तस्यात्मनश्च वीर्यं भावं च ज्ञात्वा गुरूणामभुक्षां ग्रहीत्या तत्र गन्तव्यम्।

अथ वैद्यो ब्रूयात्–

जारिसयं गेलन्नं, जा य अवत्था उ वट्टए तस्स।
अद्दट्ठूण न सक्का, वोत्तुं तं वच्चिमो तत्थ॥

यादृशं युष्माभिर्ग्लानत्वमाख्यातं, या तादृशी तस्यावस्था वर्त्तते, तदेवददृष्ट्वा न शक्यते किमप्यौषधादि वक्तुं, उपदेष्टुं च, ततस्तत्रैव ग्लानसमीपे व्रजाम इति।

(२९) एवं भणित्वा प्रतिश्रयामागतस्य यो विधिः कर्त्तव्यस्त–

मभिधित्सुर्द्वारगाथामाह–

अब्भुट्ठाणे आण, दंसण भद्दे मिती य आहारो।
गिलाणस्स आहारे, ननेयव्वो आणुपुव्वीए॥

प्रथमसभ्युत्थानविषयो विधिर्वक्तव्य, तत आसनविषयः, ततो ग्लानस्य दर्शना यथा क्रियते, ततो (भद्दे त्ति) ऋ भद्रको वैद्यो यथा चिकित्सामेवमेव करोति, इतरस्य तु भृतिर्मज्ञनादिकं, चिकित्सावितनम् ,आहारश्च तथा दातव्यः, ग्लानस्य च तथा आहारे यतना कर्त्तव्या। एवं सर्वोऽपि विधिरानुपूर्व्या प्ररूप्य माणे ज्ञातव्यः। इति समुदायार्थः।

अवयवार्थं तु प्रतिद्वारमभिधित्सुराह–

अब्भुट्ठाणे गुरुगा, तत्थ वि आणादिणो दोसा।
मिच्छत्त राइयाणं, तस्स कुलस्स व विराहणया॥

अभ्युत्थाने गुरुकाः, तत्राप्याज्ञादयो दोषा भवेयुः, तथा मिथ्यात्व राजादयो व्रजेयुः, आदिग्रहणेन राजामात्यादिपरिग्रहः। ते हि चारपुरुषादिमुखादाखर्यं वैद्यस्याभ्युत्थितं श्रुत्वा स्वयं वा दृष्ट्वा चिन्तयेयुः–"अमी श्रमणा अस्माकमभ्युत्थानं न कुर्वन्ति अस्मद्भृत्यस्य तु नीचतरस्येत्थमभ्युत्तिष्ठन्ते, अहो! दुर्दृष्टधर्माणोऽडी" इति प्रतिविद्विष्टा वा यत्त स्यैवाचार्यस्य, यदि वा कुलस्य, सङ्घस्य वा विराधनां कुर्युः, तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम्।

अब्भुट्ठाणे गुरुगा, तत्थ वि आणाइणो भवे दोसा।
मिच्छत्त सो व अन्नो, गिलाणमादी विराहणया॥

अथैतद्दोषभयादाचार्यो नोत्तष्टति, तत्रापि च गुरुकाः, तत्राप्याज्ञादयो दोषा भवेयुः, स च वैद्यऽन्यो वा दृष्ट्वा मिथ्यात्वं गच्छेत्–यथा अहो! तपस्विनोऽपि गर्वमुद्वहन्ति, प्रद्विष्टो वा वैद्यो ग्लानस्य क्रियां न कुर्यात्, अपप्रयोगे वा कुर्यात्, एवं ग्लानविराधनाम्, आदिशब्दाचार्यादिर्वा राजवल्लभतया विराधनां कुर्यात्। यद्वा–युष्माकं देहे अमुको व्याधिर्वर्त्तते तच्चिकित्सार्थममुकमौषधं दास्यत इति भणित्वा विरुद्धौषधप्रदानेनाचार्यं विराधयेत्।

यत एते दोषा अतोऽयं विधिः कर्त्तव्यः–

गीयत्थे आणयणं, पुव्विं उड्ढित्तु होए अभिलावो।
गिलाणस्स दंसणं धो-वणं च चुन्नादि गंधे य॥

गीतार्थवैद्यस्य प्रतिश्रये आनयनं कर्त्तव्यं, यदि ते पञ्च जनास्ततः संघटकप्रथमत एवागच्छमि। अथ त्रयस्तत एकस्तत एकस्तन्मध्यात्प्रथममागच्छिति, आगत्य च गुरूणां कथयति–वैद्य आगच्छतीति। ततो गुरवो द्वे आसने तत्र साधुभिः स्थापयन्ति। स्वयं चहक्रमणलक्ष्येण पूर्वं वैद्यागमाभावात् प्रागेवोत्थार्ध्यं स्थिता आसते, गीतार्थैश्चाभिवेदायितव्यम्–एष वैद्य इति आचार्यैश्च व पूर्वमनालपतोऽपि वैद्यस्याभिलापः कर्त्तव्यः। पूर्वन्यस्तेन चासनेनोपनिमन्त्रणीयः। तत्र आचार्यो वैद्यश्च द्वावप्यासने उपविशतः, ततो ग्लानस्य दर्शना कार्या। कथमिति? आह–ग्लानस्य यदुपकरणे शरीरे वा अशुचिनोपलिप्तं तस्य धावनं प्रक्षालनं कर्त्तव्यं, चशब्दात् खेला कायिकीसंज्ञामात्रकाण्यैकान्ते स्थापनीयानि, भूमिकाय उपलेपनं सन्मार्जनं च विधेयम्। तथापि यदि दुर्गन्धो भवति ततः। पटकवासादिचूर्णादि तत्र विकीर्यते, आदिशब्दात् कर्पूरादिभिः सुगन्धिद्रव्यैः अशुभो गन्धोऽपनीयते, ततः प्रावृतशुष्कवासाः शुचीभूतो ग्लानो वैद्यस्य दर्श्यते। यदि तस्य किञ्चिद्धोणादकं पाटयितव्यं तदा तस्मिन्पाटिते सति उष्णोदकादिप्राशुकं हस्ते दातव्यम्। अथोष्णोदकमसौ नेच्छति ततः पश्चात्कृतादयो मृत्तिकामुदकं वा प्रयच्छन्ति। गतमभ्युत्थानासनदर्शनाद्वारत्रयम्।

(३०) अथ भद्रकद्वारमाह–

चउपादा य तिदिच्छा, को भेसज्जाइ दाहिई तुब्भं।
तहियं च पुव्वपत्ता, भणंति पच्छाकडा अम्हे॥

वैद्यो ब्रूयात्–चिकित्सा चतुष्पादा भवति। चत्वारः पादाश्चतुर्था शरूपा यस्यां सा चतुष्पादा। तद्यथा–आतुरः, प्रतिचरको, वैद्यो भेषजानि। अतः को नामास्य योग्यानि भेषजानि युष्माकं प्रदास्यति? ततस्तत्र दत्तसङ्केततया पूर्वप्राप्ताः पश्चात्कृताइयो

भणन्ति–वयं दास्याम इति । एवं तावद्भद्रको वैद्यः क्रियां करोति न चान्यत्किमपि स्पृहयति।

(३१) यस्तु प्रान्तस्तमुद्दिश्य भूतिद्वारमाहारद्वारं चाह–

कोई मज्जणगविहिं, सयणं आहार उवहि केवमिए।
गीयत्थेहि य जयणा, अजयण गुरुगइ आणाई ॥

कश्चिद्वैद्यो ब्रूयात्–मज्जनं स्नानं तस्य विधिः प्रकारो मज्जनविधिः, तैलाभ्यङ्गनादिप्रक्रियापुरस्सरं स्नानमित्यर्थः। शयनं पल्यङ्कादि, आहारो भोजनम् उपधिर्वस्त्रादिरूपः (केवमिय त्ति) रूपकाः। एतत्सर्वं मम को नाम दास्यतीति ? ततः पश्चात्कृतादिभिरभ्युगन्तव्यम् । यद्ययतनया अभ्युपगच्छन्ति, प्रेषयन्ति वा, ततश्चत्वारो गुरुकाः, आज्ञादयश्च दोषाः। एषा पुरातनी गाथा।

अथैनामेव विभावयिषुराह–

एयस्स नाम दाहिह, को मज्जणगाइ दाहिई मज्झं।
ते चेव णं मणंती, जं इच्छसि अम्हेँतं सव्वं ॥

एतस्य ग्लानस्य , नामेति संभावनायां , यद्यत्प्रायोग्यं भेषजादि, तत्सर्वं दास्यथ, मे स पुनर्मज्जनकादि को दास्यति ? इत्युक्ते त एव पश्चातकृतादयो (णमिति) तं वैद्यं भणन्ति यद्यदिच्छसि तत्सर्वं वयं दास्याम इति।

जं एत्थ अम्हेँ सव्वं, पडिसेहे गुरुग आणादी।
एएसिं असईए, पडिसेहे गुरुग आणादी ॥

ये चैते पूर्वं पश्चात्कृतादयः प्रज्ञापितास्तैर्यदत्र ग्लानस्य युस्माकं खोपयुज्यते तत्सर्वं वयं दास्याम इत्युक्ते सतिः यः साधुस्तानधिकरणभयात्प्रतिषेधयति, तस्य चत्वारो गुरुकाः, आज्ञादयश्च दोषाः। अथ न सन्ति पश्चात्कृतादयस्तत एतेषां असत्यभावे यो वैद्यं प्रतिषेधयति , न वयं भवतो मज्जनादि दास्याम इति तस्याऽपि चतुर्गुरुकाः, आज्ञादयश्च दोषः ।

पश्चात्प्रतिषेधमानेषु यद्वैद्यश्चिन्तयति तदाह –

जुत्तं सयं न दाउं, अन्निं देँति विऊ निवारिंति।
न करिज्ज तस्स किरियं, अवप्पओगं व से दिज्जा ॥

युक्तममीषां स्वयमदातुम्, अपरिग्रहत्वात् यच्च पुनरन्यान् ददतो निवारयन्ति, तन्न युज्यते, उवं प्रद्विष्टः सन् तस्य ग्लानस्य क्रियां न कुर्यात् अपप्रयोगं वा विरुद्धौषाधयोगं 'से' तस्य दद्यात् प्रयुञ्जीत; तस्मादन्यान्न निवारयेदेति।

दाहामो त्तिस्य गुरुगा, तत्थ वि आणाइणो भवे दोसा।
संका व सूयएहिं, हिएँ नट्ठे तेणए वा वि ॥

पश्चात्कृतादीनामभावे यदि साधवो भणन्ति–वयमूवश्यं ते सर्वमपि दास्याम इति, तदा चत्वारो गुरुकाः, तत्राप्याज्ञादयो दोषा भवेयुः। तथा कस्यापि हिरण्यादौ केनचित् हृतेऽन्यथा वानिष्टे सति शङ्का भवति–अहिरण्यसुवर्णा अप्यमी यद्दास्याम इति भणन्ति, तन्नूनमेतैरेव गृहीतमिति । यद्वा–सूचकैरारक्षकादिभिस्तत् श्रुत्वा राजकुले गत्वा सूच्यते । यथा–स्तेनका एते श्रमणा ये वैद्यस्य हिरण्यादिकं दातव्यतया प्रतिपद्यन्ते, ततो ग्रहणाकर्षणादयो दोषाः।

पडिसेह अजयणाए, दोसा जयणा इमेहि ठाणेहिं।
भिक्खण इड्ढि विइयपद, रहिए जं भाणिहिसि जुत्तं ॥

पश्चात्कृतादीनामभावे यद्ययतनया प्रतिषेधयन्ति–न तव भृतिं वा भक्तं वा दास्याम इति, ततश्चतुर्गुरुकाः, आज्ञादयश्च दोषाः । तस्माद्यतना एभिः स्थानैः कर्तव्या (भिक्खण त्ति) भिक्षां कृत्वा वयं दास्यामः, (इड्ढि त्ति) ऋद्धिमता वा निष्क्रामता यत् क्वापि निक्षिप्तं तद् गृहीत्वा दास्यामः, द्विजीयपदे वा क्वचित्कारणे जाते सति तदर्थजातं गृहीतं तत इरितं दास्यामहे (रहिए त्ति) पश्चात्कृतादिरहिते एवं भणन्ति–(जं भाणिहिसि जुत्तं ति) यत् त्वं भणिष्यसि तद्यथाशक्ति करिष्यामो, यद्वा अस्माकं युक्तमुचितं तद्विधास्याम इति।

अथासौ वैद्यो ब्रूयात्–

अरिहण्णग त्थ भगवं ! सक्खी छावेह जे ममं देति।
धंतं पि दुद्धकंखी, ण लभइ दुद्धं अधेणूतो ॥

भगवन् ! अहिरण्यकाः स्थ यूयमतः साक्षिणः स्थापयत, ये मम पश्चात्प्रयच्छन्ति । अमुमेवार्थं प्रतिवस्तूपमया द्रढयति (धंतं पि त्ति) देशीवचनत्वादतिशयेनापि दुग्धकाङ्क्षी न लभते दुग्धमधेनोः सकाशात्।

एवं वैद्येनोक्तेन किं कर्तव्यमिति ?आह–

पच्छाकमाइजयणा, दावणकज्जेण जा भाणिय पुव्विं।
सद्धाविभवविहूणे, ते च्चिय इच्छंतगा सक्खी ॥

पश्चात्कृतादिविषया मज्जनकादिदापनकार्येषु या पूर्वं यतना भणिता सैव इह मन्तव्या, नवरं ये पश्चात्कृतादयः श्रद्धया, विभवेन च विहीनास्त एव इच्छन्तः सन्त इह साक्षिणः स्थाप्यन्ते । यथा–वयं भिक्षाटनं कृत्वा यथालब्धमतेस्य दास्याम इति। अथ ते साक्षीभवितुं, नेच्छन्ति ततो यः. ऋद्धिमत्प्रव्राजितः स इदं ब्रूयात्–

पंचसयदाणगहणे, पलालखेलाण छड्डणं च जहा।
सहसं व सयसहस्सं, कोडी रज्जं व अमुगं वा ॥
एवं ता गिहिवासे, आसी व इयाणि किं भणिहामो।
जं तुब्भ मह य जुत्तं, तं उग्गाढम्मि काहामो ॥

यथा पलालखेलयोश्छर्दनं विधीयते तथा दीनानाथादिभ्यो वयं रूपकाणां पञ्चशतानि हेलयैव दानं दत्तवन्तः आर्जनामपि कुर्वाणाः पञ्चशतानां ग्रहणमेवमेव कृतवन्तः, एवं सस्रं, शतसस्रं, कोटी राज्यम्, अमुकम् अनिर्दिष्टसंख्यास्थानं, लीलयैव वयं दत्तवन्तः, स्वीकृतवन्तो वा, तदस्माकंगृवासे विभूतिरासीत्, इदानीं पुनरकिञ्चनाः श्रमणाः सन्तः किं भणिष्यामः, किं करिष्याम इति भावः, परं तथाऽपि ग्लाने उद्राढे प्रगुणीभूते सति यत्तवास्माकं च युक्तमनुरूपं तत्करिष्याम इति । एवं तावत् स्वग्रामे वैद्यविषया यतना भणिता। अथ स्वग्रामे वैद्यो न प्राप्यते ततः परग्रामादप्यानेतव्यः ।

तत्र विधिमाह–

पाहिज्जे नाणत्तं, वहिं तु भईएँ एस चेव गमो।
पच्छाकडाइएसुं, अरहिएँ रहिए उ जो भणिओ ॥

पाथेयं नाम कण्टकमर्दनवेतनं यत्तस्य भक्तादि दीयते तत्र नानात्वं विशेषः, वास्तव्यवैद्यस्य स न संभवति, अस्य तु भवतीति भावः । तत्र च बहिर्ग्रामादागतस्य भृतौ मज्जनादौ वेतने एष एव

गमो द्रष्टव्यः, पश्चात्कृतादिभिररहिते रहिते वा योऽनन्तरमेव भणितः।

अथात्रैवं यतनाविशेषमाह–

मज्जणगतिच्छंते, वाहिं अब्भितरं च अणुसट्ठी।
धम्मकहविज्जमंते, निमित्त तस्सट्ठ अन्नो वा॥

मज्जनं स्नानम्, आदिशब्दादभ्यङ्गोद्वर्त्तनादिकं, वहिर्ग्रामे आगाच्छन् अभ्यन्तरे प्राग् ग्लानसकाशे प्राप्ते यदाच्छति, ततः सर्वं तस्या पश्चात्कृतादयः कुर्वते। तेषामभविऽनुशिष्टिः क्रियते। यथा यतीनां न कल्पते गृहिणः स्नपनादि कर्तुं, भवतश्च मुधा कुर्व तो बहु फलं भवति। अथ तथाऽपि नोपरमति, ततो धर्मकथाः कर्त्तव्याः, तथाऽप्यप्रतिपद्यमाने विद्यामन्त्रनिमित्तानि तस्य वैद्यस्य आवर्जनार्थं प्रयुज्यन्ते, अन्यो वा तानि प्रयुज्य वशीक्रियते, ततस्तस्य वैद्यस्यासौ मज्जनादि कार्य्यते।

अथ धर्म्मकथापदं भावयति–

तह धम्म कहिंति जहा, होइ संजउ सन्नि दाणसड्ढो व।
वहिया उ अण्हायंते, करिंति खुड्डा इमं अंतो॥

आक्षेपणीयप्रभृतिभिः तस्य तथा धर्मं कथयन्ति यथाऽसौ संयतो भवति, संज्ञी गृहीताणुव्रतो, अविरतसम्यग्दृष्टिर्वा, दानश्रद्धो मुधैव साधूनामारोग्यदानशीलो भवति। अथ धर्मकथालब्धिर्नास्ति ततो विद्यामन्त्रादयः प्रयुज्यन्ते, तेषामभावे तस्यामत्रका दीयन्ते, भण्यते चासौ–बहिर्गत्वा स्नानं कुरुत। अथ बहिः स्नातुं नेच्छति ततो बहिरस्नानि तस्मिन् क्षुल्लका इदं वक्ष्यमाणमन्तः पतिश्रयस्याभ्यन्तरे कुर्वन्ति।

उसिणे संसट्ठे, भूमी फलगाइ मिक्ख वडुआइ।
अणुसट्ठी धम्मकहा, विज्जनिमित्ते य वहि अंतो॥

उष्णोकेन प्रतीतेन, संसृष्टेन गोरसरसभावितेन अपरेण वा प्राशुकेन, क्षुल्लकास्तं स्नपयन्ति, शयनमश्रित्य भूमौ फलके, आदिशब्दात्यल्यङ्कादिषु वा स शाय्यते, भोजनं प्रतीत्य भैक्षं भिक्षा पर्यटनेन लब्धमानीय तय दातव्यम्, (वडुआइ त्ति) बटुक भक्तकमयं भाजनम्, अदिग्रहणात्कांम्यपात्रादिपरिग्रहः, एतेषु भोजनमसौ कारयितव्यः, हिरण्यादिकं द्रविणजातं याचमानस्य अन्तरिति वास्तव्यवैद्यस्य, बहिरित्यागन्तुक वैद्यस्योभयस्याप्यनुशिष्टिः, धर्मकथाविद्यानिमित्तानि, प्रयोक्तव्यानीति संग्रहगाथासमासार्थः।

अथैनातेव भावयन्नाह–

तेलुव्वट्टणण्हावण, खुड्डासति वसभ अन्नलिंगेणं।
पट्टदुगादी भूमी, अणिच्छि जा तूलिपल्लंके॥

क्षुल्लकास्तं वैद्यं तैलेनाभ्यङ्ग्य कक्कलेनोद्वर्त्योष्णोदकादिना प्राशुकेन एकान्ते स्नापयन्ति, अथ क्षुल्लका न सन्ति, स्नपयितुं वा न याचन्ते, ततो ये वृषभा गच्छस्य शुभाशुभकारणे भारोद्वहनसमर्थास्तेऽन्यलिङ्गेन गृहस्थादिसंबन्धिना स्नानादिकं वैद्यस्य कुर्वन्ति, ''पट्टदुगा'' इत्यादि। स वैद्यःशयितुकामः प्रथमतो भूमौ संस्तारपट्टमुत्तरपट्टकं च प्रस्तार्य शाय्यते। अथनाऽसौ पट्टद्वये स्वसुमिच्छति, तत और्णिकसौत्रिकौ कल्पौ प्रस्तार्येते, तथापि यदि नेच्छति, ततः काष्ठफलके संस्तारोत्तर पट्टकावास्तीर्य शयनं कार्यते, तथाऽप्यनिच्छति उत्तरोत्तरं तावन्नेतव्यं यावत् तूलीपल्यङ्कावप्यानीय शाययितव्य इति।

अथ भैक्षपदं भावयति–

समुदाणिओदणो मत्तओ व णिच्छंति वीसु तवणा वा।
एवं पि णिच्छमाणो, होइ अलंभे इमा जयणा॥

समुदानं नामोच्चावचकुलेषु भिक्षाग्रहणं, तत्र लब्धः सामुदानिकः, ''अध्यात्मादिभ्य इकण्'' ।६।३।७६। इति (हैम०)इकण् प्रत्ययः। स चासावोदनश्च सामुदानिकौदनः, स प्रथमतो वैद्यस्य दातव्यः, अथासौ तं भोक्तु नेच्छति, ततो मात्रकं वर्त्तापनीयं, तत्र प्रायोग्यं तदर्थं गृहीतमिति भावः। अथ तथाऽपि नेच्छति ततो (वीसु त्ति) पृथगोदनं, व्यञ्जनमपि पृथग् ग्राह्यम्, अथ शीतलमिति कृत्वा तन्नेच्छति, तदा (तवण त्ति) तदेव यतनया तापपयितव्यम् एवमप्यनिच्छति अलभ्यमाने वा इयं यतना भवति।

तामेवाह–

तिगसंवच्छर तिगदुग–एगमणेगे य जेणिघए य।
संसट्ठमसंसट्ठे, फासुयमफासुए जयणा॥

येषां शालिव्रीहिभृतीनां संवत्सरत्रयादूर्द्धमागमे विध्वस्तयोनिकत्व मुक्तं तेषां ये त्रिवार्षिकास्तन्दुलास्ते (तिगदुगएग त्ति) प्रथमतस्त्रिछटिता गृहीतव्याः, तदभावे द्विछटिताः, तेषामलाभे एकछटिता अपि। अथ त्रिवार्षिका न प्राप्यन्ते ततो द्विवार्षिकाः, तेषामलाभे एकवार्षिका अपि व्युत्क्रान्तयोनिकाः सन्तस्त्रिद्व्येकछटिताः क्रमेण ग्राह्याः। तदलाभे (अणेगय त्ति) एषां धान्यानामनेकानि वर्षत्रयाद्बहुतराणि वर्षाणि स्थितिः प्रतिपादिताः। यथा–तिलमुद्गमाषादीनां पञ्च वर्षाणि, अतसीकङ्गकोद्रवप्रभृतीनां सप्त वर्षाणीत्यादि तेषामपि तन्दुलाः पञ्चवार्षिकाः त्रिद्व्येछटिताः क्रमेण ग्राह्याः। अत्रापि वर्षपरिहाणित्युत्क्रान्तयोनिकत्वं च तथैव द्रष्टव्यम्। इह च येषां यावती स्थितिरुक्ता ते तावतीं स्थितिं प्राप्ताः सन्तो नियमाद् व्युत्क्रान्तयोनिकाः, ये त्वद्यापि न परिणतास्ते तु व्युत्क्रान्तयोनिका अव्युत्क्रान्तयोनिका वा भवेयुः, इति (जोणिघाए त्ति) व्युत्क्रान्तयोनिकानामभावे अव्युत्क्रान्तयोनिका अपि, ये योनिघातेन गृहिभिः साध्वर्थेमचित्तीकृतास्तेऽप्यवमेव गृह्यन्ते। तथा दध्यादिभाजनधावनं संसृष्टपानकम्, उष्णोदकं, तन्दुलधावनादि वा असंसृष्टपानकम्, उभयमपि प्रथमतः प्राशुकं, तदभावे अप्राशुकमपि यतनया यत् त्रसविरहितं तत्तदर्थं गृहीतव्यम्।

अथैनामेव निर्युक्तिगाथां भावयति–

वक्कंतजोणिछड्डा, दुएक्कछमणे वि होइ एस गमो।
एमेव जोणिघाए, तिगाइ इतरेण रहिए वा॥

त्रिवार्षिकादयो ये व्युक्रान्तयोनिकास्ते त्रिछटिता ग्राह्याः, तेषामभावे द्व्येकछटितानामप्येष एव गमो, यत्तेऽपि व्युत्क्रान्तयोनिका गृह्यन्ते। एवमेवव योनिघाते साध्वर्थं कृते (तिगाइ त्ति) त्रिद्व्येकछटिता गृहीतव्याः, तेषामभावे त्रिवार्षिकादयो यथाक्रमं कण्डापनीयाः। अथ नास्ति कोऽपि कण्डयिता, तत इतरेणाव्यक्तलिङ्गेन रहिते वा सागहरिकवर्जिते प्रदेशे स्वयं कण्डयति। यद्वा–(रहिए त्ति) पश्चात्कृतादिभिर्गृहस्थैः रहिते एषा यतना कर्त्तव्या।

ते च तन्दुलाः कथमुपस्कर्त्तव्या इति ? आह–

पुव्वाउत्ते अवचुल्ल चुल्लि सुक्खघणमसंसिर अविद्धे।
पुव्वकय असइ दाणे, टवणा लिंगे य कल्लाणे ॥

पूर्वं प्रथमं गृहिभिः काष्ठप्रक्षेपणादायुक्तः पूर्वायुक्तः, तस्मिन् पूर्वायुक्ते, पूर्वतप्ते अवचुल्लके प्रथमं तन्दुलानुपस्करोति, तदभावे पूर्वतप्तायां चुल्ल्याम्, अथ चुल्ल्यपि पूर्वतप्ता न प्राप्यते, तत ईदृशानि दारूणि प्रक्षिप्योपस्करोति, तद्यथा–शुष्काणि नाद्राणि, घनानि वंशवन्ध्रयुक्तानि, अशुषिराणि अस्फुटितानि, त्वचा रहितानि वा, अविद्धानि घुणैरकृतच्छिद्राणि, ईदृशानि दारूणि वक्ष्यमाणप्रमाणोपेतानि पूर्वकृतानि च ग्रहीतव्यानि। अथ पूर्वकृतानि न सन्ति ततः स्वयमपि तेषां प्रमाणोपेतत्वं कर्त्तव्यं, तथा याचमानस्य वैद्यस्य(दाणे त्ति) अथाजातदानं कर्त्तव्यम्। कथमिति ? अत आह–(ठवण त्ति) शैक्षेण प्रव्रजता यन्निकुञ्जादिषु द्रविणजातं स्थापितं तस्य दानं कर्त्तव्यम्। (लिंगि त्ति) स्वलिङ्गेन परलिङ्गेन गृहलिङ्गेन वा अर्थजातमुत्पादनीयम्। (कल्लाणे त्ति) प्रगुणभूतस्य ग्लानस्य तत्प्रतिचरकाणां च पञ्चकल्याणकं दातव्यम्।

अथ प्ररूप्यमाणदारूणां प्रमाणादिकमाह–

हत्थद्धमत्त दारुग, निच्छल्लिय अघुणिया अहाकडया।
असई इ सयंकरणं, अघट्टणोवक्खडमहाऊ ॥

हस्तार्द्धं द्वादशाङ्गुलानि, तन्मात्राणि तावत्प्रमाणदैर्ध्योपेतानि, निच्छल्लिकानि छल्लीरहितानि, अघुणितानि घुणैरविद्धानि, दारूणि भवन्ति। ईदृशानि च यथाकृतानि गृहीतव्यानि, यथाकृतानामसत्यभावे स्वयंकरणं आत्मनैव हस्तार्धप्रमाणानि क्रियन्ते, छल्लिश्चापनीयते इत्यर्थः। उपस्कृते च भक्ते उल्मुकानां धट्टना न कर्त्तव्या, किन्तु यथायुषमानुपाल्य स्वयमेव विध्यायते।

अथ पानकयतनामाह–

कंजिएँ चाउलउदए, उसिणे संसट्ठमेतरे चेव।
ण्हाणपियणाइ पाणग, पादासद वोरें दद्दरए ॥

पानीयं याचतो वैद्यस्य काञ्जिकं दातव्यं, यदि तन्नेच्छति ततः (चाउलउदकं) तन्दुलधावनं, तदप्यनिच्छति उष्णोदकं संसृष्टं प्राशुकं वा (इतरं ति) प्राशुकमनिच्छति अप्राशुकमपि, यावत्कर्पूरवासितम्। एवं स्नानपानादिषु कार्येषु पानस्य दातव्यं, तच्च प्रथमतः पात्रके स्थाप्यते। अथ नास्त्यतिरिक्तं पात्रकं, न चासौ तत्र स्थापयितुं तं ददाति ततो बारके स्थापयित्वा दर्दरयति, मुखे घनेन चीवरेण बध्नाति, येन कीटिकादयः सत्वा नाभिपतन्ति, भावितं भैक्षपदम्।

अथ 'वसुकादि त्ति' पदं भावयति–

वट्टुके सरावकंसिय–वंवकरयए सुवण्णमणिसेले।
भोत्तुं सए व धोवइ, अणिच्छि किमि खुड्डवसभा वा ॥

बटुकं कडठकं, तत्रासौ भोजनं कारयति। अथ तत्र नेच्छति ततः शरावे, तत्रानिच्छति कांस्यभाजने, तत्राप्यनिच्छति ताम्रभाजने, तत्राप्यनिच्छति रजतस्थाले सुवर्णस्थाले मणिशैलमये भाजने भोजयितव्यः। भुक्त्वा चाऽसौ स्वयमेव तद्भाजनं धावति। अथ नेच्छति धावितुं ततः 'किटी' स्थविरश्राविका सा प्रक्षालयति, तस्या अभावे क्षुल्लकाः, क्षुल्लकाणामभावे वृषभाः।

शिष्यःपृच्छति– कथमसंयतस्य संसृष्टभाजनं संयतः प्रक्षालयति?, किं निमित्तं वा वैद्यस्य मज्जनादिकमियत्परिकर्म क्रियते ?। उच्यते–

पूयाईईणि वि मग्गइ, जह विज्जो आउरस्स भोगट्ठी।
तह विज्जे पडिकम्मं, करिंति वसभा वि मुक्खट्ठा ॥

यथा वैद्यो भोगार्थी आतुरस्य रोदिणः पूयं पक्करक्तं, तदादीनि आदिशब्दात् शोणितप्रभृतीन्यप्यशुचिस्थानानि मार्जयति शोधयति, तथा वृषभा अपि मोक्षार्थं वैद्यस्य सर्वमपि प्रतिकर्म मज्जनादिकं कुर्वन्ति।

यस्तु न कुर्यात्तस्य प्रायश्चित्तमाह–

तेइच्छियस्स इच्छा–णुलोमगं जो न कुज्ज सइ लाभे।
अस्संजमस्स भीतो, अनस पमादी च गुरुगा से ॥

चिकित्सया चरति जीवति वा चिकित्सिको वैद्यः, तस्य या मज्जनादाविच्छा, तस्या अनुलोममनुकूलं प्रतिकर्म, सति लाभे लाभसंभवे (अस्संजमस्स भीओ त्ति) पञ्चम्यर्थे षष्ठी। असंयमादसंयतवैयावृत्यकरणलक्षणाद्भीतोऽलसः प्रमादी च यो न कुर्यात्, तस्य चत्वारो गुरुकाः।

अथ ग्लानवैद्ययोर्वैयावृत्यकरणान्युपवदर्शयति–

लोगविरुद्धं दुपरि च्चओ उ कयपडिकिई जिणाऽऽणा य।
अतरंतकारणा जे, तदट्ठ ते चेव विज्जम्मि ॥

ग्लानस्य यदि वैयावृत्त्यं न क्रियते, ततो लोकविरुद्धं भवति। लोको ब्रूयात्–धिगमीषां धर्मं, यत्रैवं मान्द्यसंभवेऽपि ईदृशमनाथत्वमिति। तथा परस्परमेकवचनप्रतिपत्त्यादिना यः कोऽपि लोकोत्तरकः संबन्धः,स दुःपरित्यजो दुःपरिहर इति ग्लानस्य वैयावृत्यं कार्यम्। कृतप्रतिकृतिश्चैवं भवति, ग्लानेन पूर्वं दृष्टेन सता यदात्मनि उपकृतं तस्य प्रत्युपकारः कृतो भवतीति भावः। जिनानां या आज्ञा–अग्लान्या ग्लानस्य वैयावृत्यं कुर्यादित्यादिलक्षणा सा कृता भवति। एतानि अतरो ग्लानस्तस्य वैयावृत्यकरणानि, तदर्थं ग्लानार्थं यद्वैद्यस्य वैयावृत्यकरणं, तत्राऽपि तान्येव लोकविरुद्धपरिहारादीनी कारणानि द्रष्टव्यानि।

अथ ग्लानस्य मज्जनादिविधिमतिदिशन्नाह–

एमेव गिलाणम्मी, विगमो उ खलु होइ मज्जणाईओ।
सविसेसो कायव्वो, लिंगविवेगेण परिहीणो ॥

एष एव ग्लानेऽपि मज्जनादिको गमः प्रकारो भवति, यथा वैद्यविषय उक्तः, नवरं सविशेषो भक्तिबहुमानादिविशेषसहितो, लिङ्गविवेकेन परिहीणः सर्वोऽपि कर्त्तव्यः।

अथ ग्लानवैद्ययोरनुवर्त्तनायां महार्थत्वं दर्शयन्नाह–

को वोच्छइ गेलण्णे, दुविहं अणुअत्तणं निरवसेसं।
जह जायइ सो निरुओ, तह कुज्जा एस संखेवो ॥

ग्लाने सति द्विविधा अनुवर्त्तना ग्लानविषया, वैद्यविषया च। तां निरवशेषां सम्पूर्णां को नाम शेषं वक्ष्यति ?, बहुवक्तव्यत्वात्र कोऽपीत्यभिप्रायः। अतो यथाऽसौ ग्लानो निरुग् जायते तथा कुर्यादेष संक्षेपः संग्रहः, उपदेशसर्वस्वमिति यावत्।

अथ वैद्यस्य दानं दातव्यं, तत्र विधिमाह–

आगंतु पउणें जायण, धम्मावणें तत्थ कइयदिट्ठंतो।
पासादे कूवादी, वत्थूकुरुमे तहा ओही॥

ग्लाने प्रगुणे जाते सति आगन्तुकवैद्यो यदा दक्षिणां याचते तदा भण्यते– धर्म्मापणो धर्म्मव्यवहरणहट्टोऽयमस्माकमतो यदत्र संभवति तदेव ग्रहीतव्यम्। क्रयिकदृष्टान्तश्च तत्रोच्यते–यथा केन चित् क्रयिकेण गाब्धिकापणे रूपकान् निक्षिप्य भणितम्–ममैतैः किञ्चिद्भाण्डलजातं दद्याः, ततः सोऽन्यदा तत्रापणे मद्यं मार्गयितुं लग्नः। वणिजा प्रोक्तः– ममापणे गन्धपण्यमेव व्यवहियते, नास्ति मद्यम्, अतस्त्वं गन्धपण्यं गृहाणेति। एवमस्माकमपि धर्म्मापणाद् धर्मं गृह्णातु भवान्, नास्ति द्रविणजातमित्युक्ते यदि नोपरमति, ततः शैक्षेण प्रव्रजता यन्निकुञ्जादिषु परिष्ठापितं तदानीय दीयते, तस्याभावे यदुत्सन्नस्वामिकं क्वापि प्रायसदे, कूपे वा, आदिशब्दान्निर्द्धमनादिषु वा निधानं, तथा शटितपतितं यद्वास्तुगृहं तदुत्कटसमिवेतिकृत्वा वास्तुकुरुटमुच्यते, तत्र वा यन्निधानं तदवधिज्ञानिनः, उपलक्षणत्वाद्दशपूर्विप्रभृतीनां वा पार्श्वे पृष्ट्वा, ततः प्रासादादिस्थानादानीय वैद्यस्य दातव्यम्।

वास्तव्यवैद्यस्य दानविधिमाह–

वत्थव्व पउणें जीयण, धम्मादाणं पुणो अणिच्छंते।
सव्वा वि होइ जयणा, रहिए पासायमाईया॥

प्रगुणीभूतै ग्लाने वास्तव्यवैद्यो यदि याचनं कुरुते ततस्तस्याऽपि धर्म एवादानं द्रव्यं तदा दातव्यं (पुणो अणिच्छन्ते त्ति) पुनः भूयो भूयः प्रज्ञाप्यमानोऽपि यदि धर्मादानं नेच्छति तदा पश्चात्कृतादिभिर्गृहस्थै रहिते सैव प्रासादादिका यतना कर्त्तव्या याऽनन्तरगाथायामभिहिता।

द्वयोरण्यागन्तुकवास्तव्यवैद्ययोरुपधिं याचतोर्विधिमाह–

उवहिम्मि पडग साडग, संवरणं वा वि अत्थरणगं वा॥
दुगभेदादाहिंडण, ऽणुसट्ठि परलिंग हिंसाई॥

उपधौ दपकरणे पटशाटकः परिधानं, संवरणं प्रच्छदपटः, आस्तरणं संस्तरणं, तूलि वा, यद्येतानि मार्गयतः ततस्तथैव धर्म्मापणदृष्टान्तः क्रियते। अथ नोपरमति, ततो द्विकं साधुयुगं तल्लक्षणो यो भेदः प्रकारः, तेनादिशब्दाद्वन्देन विहिण्डित्वा पटशाटकादिकमुत्पाद्य वैद्यस्य प्रयच्छन्ति, अथ नावाप्यते ततोऽनुशिष्टिर्दातव्या, तथाऽप्यनु

परतस्य परलिङ्गं कृत्वा हिंसादिप्रयोगेणोपाद्य प्रयच्छन्ति।

द्वितीयपदे न दद्यादपि, यत आह–

बिइयपदे कालगए, दंसुड्डाणे व बोहिगाईसुं।
असिवाई असई वा, ववहारऽपमाणअदसाई॥

द्वितीयपदे वैद्ये ग्लाने वा कालगते सति, यद्वा–बोधिका म्लेच्छास्तेषाम्, आदिशब्दात्परचक्रेभ्यो वा भयेन देशस्योत्थाने उद्वशीभवने, अशिवे वा, आदिग्रहणाद् दुर्भिक्षे राजद्विष्टे वा संजाते सति, असति वा सर्वथैव वस्त्राणामलाभे, व्यवहारः क्रियते, व्यवहारेण च निर्जितस्य तस्य न प्रयच्छन्ति, व्यवहारेण वा कारणिकैर्दाप्यमाने प्रमाणहीनानि अदशाकान वस्त्राणि दर्शयन्ति, अस्माकमीदृशान्येव स्वाधीननानि, अन्यानि न सन्ति।

अथ द्रविणजातं मार्गयति वैद्ये विधिमाह –

कवडगमादी तंबे, रुप्पे ते तह व केत केवडिए।
हिंडणअणुसिट्ठादी, पूईयलिंगे विविहभेदो॥

कपर्दादयो मार्गयित्वा तस्य दीयन्ते, ताम्रमयं वा नाणकं यद् व्यवह्रियते, तथा दक्षिणापथे काकिणीरूपं रूप्यमयं, तन्मयं वा नाणकं भवति। यथा भिल्लमाले 'द्रम्म' पीतं जाम सुवर्णं, तन्मयं वा नाणकं भवति। यथा पूर्वदेशे दीनारः कवडिको नाम। यथा तत्रैव पूर्वदेशे केतराभिधो नाणकविशेषः। एतेषामप्युत्पादनकं कुर्वता सङ्घाटकेन वृन्देन वा हिण्डनं तथैव कर्त्तव्यम्, अलब्धे अनुशिष्टयादीनि प्रयोक्तव्यानि। लिङ्गमितिपदं व्याख्यायते–पूजितमर्चितं यल्लिङ्गं तत्र विविधो भेदः कर्त्तव्यः। किमुक्तं भवति?–तस्मिन् देशे यत् त्रयाणां स्वलिङ्गगृहलिङ्गकुलिङ्गानां मध्यात् पूजितं, तेन लिङ्गेन द्रविणजातमुत्पादयन्ति वैद्यं वा प्राज्ञापयन्ति।

द्वितीयपदे द्रविणजातमपि न दद्यात् कथमिति ? आह–

विइयपदे कालगए, देसुड्डाणे च वोहियादीसु।
असिवादी असई, वा ववहारऽहिरण्णगा समणा॥

द्वितीयपदे वैद्ये ग्लाने वा कालगते, देशस्य वा वोधिकादिभयेनोत्थाने उद्वासने, अशिवादौ वा संजाते, असत्तायां वा सर्वथैवाऽलाभे अर्थजातं वैद्यस्य न दद्यात्, व्यवहारे च समुपस्थिते ब्रुवते–अहिरण्यकाः श्रमणा भवन्तीति तावत् सर्वत्रापि सुभ्रतीतं, परं तथाप्सेतेनारब्धैरस्माभिर्द्रविणजातं गवेषयितुमारब्धं, ततो लोको ब्रवीति – वर्तते शासनं यतिभ्यो हिरण्यादि दातुम्। यत उक्तम्–''गृहस्थस्याऽन्नदानेन, वानप्रस्थस्य गोरसात्॥ यतीनां च हिरण्येन, दाता स्वर्गं न न गच्छति''॥१॥ एवं व्यवहारो लभ्यते।

अथ कल्याणकपदं व्याख्यानयति–

पउणम्मि य पच्छित्तं, दिज्जइ कल्लाणगं दुवण्हं पि।
वूढे पायच्छित्ते, पविसंती मंडलिं दो वि॥

ग्लाने प्रगुणीभूते सति द्वयोरपि ग्लानप्रतिचरकवर्गयोः कल्याणकं प्रायश्चित्तं दीयते, इहैवमविशेषेणोक्ते, ग्लानस्य पञ्चकल्याणकं, प्रतिचरकाणां त्वेककल्याणकं दातव्यम्। आदेशान्तरेण वा द्वयोरपि पञ्चकल्यणकं मन्तव्यं ततो व्यूढे प्रायश्चित्ते द्वावपि ग्लानप्रतिचरकवर्गौ भोजनादिमण्डलीं प्रविशतः।

अथोपसंहरन्नाह–

अणुत्तणा उ एसा, दव्वे विज्जे य वण्णिया दुविहा।
इत्तो चालणदारं, वुच्छं संकामणं चुभओ॥

ग्लानप्रायोग्यद्रव्यविषया वैद्यविषया चैषा द्विविधाऽनुवर्तना वर्णिता॥

(३२) इत ऊर्द्धं चालनाद्वारं, संक्रामणद्वारं च उभयतो ग्लानवैद्यद्वयविषयं वक्ष्ये–

विज्जस्स व दव्वस्स व, अट्ठा इच्छितें होइ उक्खेवो।
पंथो य पुव्वदिट्ठो, आरक्खिउ पुव्वभणिओ उ॥

वैद्यस्य वा द्रव्यस्य वा औषधादिलक्षणस्य असति यदि ग्लान इच्छति ग्रामान्तरं गन्तुं तदा तस्योत्क्षेपश्चालना कर्त्तव्या, यदि रात्रौ भव्यं भवति तदा पन्थाः पूर्वमेव दृष्टः कर्त्तव्यः, आरक्षिकास्य पूर्वमेव वयं रात्रौ ग्लानं गृहीत्वा गडिष्याडो भवता चौरादिशङ्कया न गृहीतव्या इति भणितिः कर्त्तव्या इति।

अथास्या एव निर्युक्तिगाथायाः पूर्वार्द्धं भावयति –

चउपाया हि तिगिच्छा, इह विज्ञा नत्थि न वि य दव्वाइं।
अमुगत्थ अत्थि दोन्नि वि, जइ इच्छिसि तत्थ वच्चामो॥

क्वापि क्षेत्रे वैद्य औषधानि वा न सन्ति, ततो ग्लानां प्रतिचरका ब्रवीरन्– चिकित्सा चतुष्पादा भवति, परमिह वैद्या न सन्ति, नापि च द्रव्याणि औषधादीनि अत्र सन्ति, अमुकस्र ग्रामे नगरे या द्वे अपि विद्यते, अतो यदि त्वमिच्छसि ततस्तत्र व्रजाम इति ग्लानः प्रतिभणितः।

किं काहिइ मे विज्जो, भत्ताइअकारयं इहं मज्झं।
तुब्भे वि किलेसेमि य, अमुगत्थमहं हरह खिप्पं॥

आर्य! यदि नाम अत्र वैद्यो भवति ततः किं ममासौ करिष्यति, यतो भक्तादीनां न कारको ममेह विद्यते, तस्मिश्चाकारके युष्मानपि मुधैव परिक्लेशयामि, ततो माममुकत्र ग्राते नगरे वा क्षिप्रमपहरत नयत, येन मे तत्र भक्तादिकारकः स्यात् एवं ब्रुवाणोऽसौ ग्रामान्तरं प्रति चालयितव्यः।

चालनायामेव कारणन्तरमाह –

साणुप्पगमिक्खट्ठा, खीणे दुद्धाइयाण वा अट्ठा।
अब्भिंतरेतरा पुण, गोरससिंभुदयपित्तट्ठा॥

नागरं ग्लानं, सानुप्रगे प्रत्यूषवेलायां लभ्यते या भिक्षा सा सानुप्रगभिक्षा, तदर्थं ग्रामं नयन्ति नगरे हि प्राय उत्सूरे भिक्षा लभ्यते, तावतीं च वेला प्रतीक्षमानस्य ग्लानस्य कालातिक्रान्तभोजित्वेन जठराग्निमाद्यमुपजायते। अतः सानुप्रगे सवारमेव भिक्षा यद् ग्रामे लभ्यते तदर्थं ग्लानो ग्रामं नीयते। नगरे दुग्धादीनि दुर्लभ गव्याणि क्षीणानि, अतस्तेषां समर्थाय आभ्यन्तरा नगरवास्तव्यसाधवो ग्लानमन्यं नयन्ति, इतरे पुनर्ग्रामीणग्लानप्रतिचरकाः ग्लानस्य गोरसेन, सिभः श्लेष्मा, तस्योदयो जातः, पित्तं चाऽऽक्षुभितमिति परिभाव्या तदुपशामकद्रव्याणामुत्पादनार्थं ग्लानं नगरं नयन्ति।

अथ वा नागरग्लानचालनायामिदं कारणम्–

परिहीणं तं दव्वं, चमढज्जंतं तु अन्नमन्नेहिं।
कालाइक्कंते उय, वाहीपरिवड्ढिओ तस्स॥

अन्यान्यग्लानसङ्घाटकैः स्थापनाकुलेषु चमढमानं सत्परिक्षीणं तद्द्रव्यं ग्लानप्रायोग्यम्, अथवा वैद्येन ग्लानस्योपदिष्टम् – सवारमेव भवता भोक्तव्यं, तदानीं च नगरे न लभ्यते, इतस्तेन कालातिक्रान्ते– ऽतरन्तरस्य व्याधिः सुष्ठुतरं परिवर्धितः।

एवमादीनि कारणानि विज्ञाय ते परस्परं भणन्ति–

उक्खिप्पिऊ गिलाणे ,अन्नं गामं च तं तु नेहामो।
नेऊण अन्नगामं, सव्व पयत्तेण कायव्वं॥

उत्क्षिप्यतां ग्लानो, यतस्तमन्यग्रामं नेष्याम इत्येकवाक्यतया निश्चित्य सवारमेव निर्गन्तव्यं, यतः प्रत्यूषसि शीतलायां वेलायां नीयमानो ग्लानो न परिताप्यते। किञ्च–''प्रत्युषसिहिता मार्गाः, परिहासहिताः स्त्रियः। दद्वीजं हि हितं क्षेत्रं, हितं सैन्यं सनायकम्'' ॥१॥ ततो नात्वा ग्लानमन्यं ग्रामं सर्वं प्रयत्नेन प्रतिचरणं कर्तव्यमिति। गतं चालनाद्वारम्।

(३३) अथ संक्रमणाद्वारमाह–

सो निज्जई गिलाणो, अंतरसंमेलणाएँ संछोभो।
नेऊण अन्नगामं, सव्व पयत्तेण कायव्वं॥

एवमुत्क्षिप्य यं ग्रामं स नागरग्लानो नीयते, ततो ग्रामादन्यो ग्लानो नगरमानीयमानोऽस्ति, तेषामुभयेषामपि साधूनामन्तरा अपान्तराले संमिलना, ततः परस्परं वन्दनं कृत्वा निराबाधं दृष्ट्वा ग्लानयोः 'संछेभं' संक्रामणं कुर्वन्ति–नागरा ग्रामीणग्लानं, ग्रामीणास्तु नागरग्लानमित्युक्तं भवति। नीत्वा चान्य ग्रामं नगरं वा सर्वं प्रयत्नेन प्रतिचरणसुभयैरपि कर्तव्यम्।

किं पुनरभिधाय ते ग्लानसंक्रामणां कुर्वन्तीत्युच्यते–

जारिस दव्वे इच्छह, अम्हे मुत्तूण ता ण लब्भिहिह।
इयरे वि भणंतेवं, निवत्तिमो नेह अतरंतो॥

नागरा ग्रामेयकान् ब्रुवते–यादृशानि तिक्तकटुकादीनि द्रव्याणि ग्लानार्थमिच्छथ, तानि तादृशाानि अस्मान् मुक्त्वा विना न लप्स्यध्वे। इतरेऽपि ग्रामेयका नागरान् एवं भणन्ति–यूयमस्माभिर्विना दुग्धादीनि न लप्स्ध्वे। ततस्ते द्वये अपि परस्परमभिदधति–यद्येवं ततो निवर्तामहे, यूयमडुमतरन्तं ग्लानं नयत, वयं युष्मादीयं नयाम इति।

एवं संक्रमणं कृत्वा तत्र च ग्रामे नगरे वा नीत्वा सर्वप्रयत्नेन प्रतिचारणा विधेया, न पुनर्निर्द्धर्मतयेत्थं चिन्तनीयं, भणनीयं वा–

देवा हु णें संपन्ना, जं मुक्का तस्स णं कयंतस्स।
सो हु अइतिक्खरोसो, अहिगं वावारणासीलो॥
तेणेव सीइया मो, वि जीवियम्मि संदेहं।
पउणो वि न एसऽम्हं, तं वि करिज्जा न व करेज्जा॥

हुरवधारणे नूनं (णे) अस्माकं देवाः प्रसन्नाः, यद् मुक्ता वयं तस्मात्कृतान्तात्। गाथायां पञ्चम्यर्थे षष्ठी। इह कृतान्तशब्देन कृतंनिष्पादितं बह्वयि कार्यमन्तं नयतीति व्युत्पत्त्या कृतघ्न उच्यते। यद्वा– कृतान्तो यमः, तत्तुल्यत्वादसावपि कृतान्तः अत एवाहस हि अतितीक्ष्णरोषः पुनः पुना रोषणशीलो, दीर्घरोषी चेत्यर्थः। अधिकमत्यर्थं व्यापारणशीलः, कृताकृतेषु कार्येषु भूयो नियुङ्क्ते। यद्वा–तेनेव ग्लानेन सीदिताः खेदं प्रापिता वयमतो अस्य कर्त्तुं न शक्नुमः। अथ वा एतस्यापि जीवने संदेहः, ततः किं निरर्थकमात्मानं परिक्लेशयामः। प्रगुणीभूतोऽपि चैष नास्माकं भविष्यति, तदप्यन्यदीस्य कुर्याद् वा, न वा, अतो वयमपि न कुर्महे। एवामादीनि ब्रुवाणानां तेषां निर्धर्माणामाचार्येण शिक्षा दातव्या, न तूपेक्षा विधेया।

यत आह–

जो उ उवेहिं कुज्जा, आयरिओ केणई पमादेणं।
आरोवणा उ तस्सा, कायव्वा पुव्वनिद्दिट्ठा॥

यस्तु यः पुनराखर्यः केनापि प्रमादेन प्रमत्तः सन्नुपेक्षां कुर्यात् तस्यारोपणा निर्दिष्टा, कर्त्तव्याश्चत्वारो गुरव इत्यर्थः।

(३४) अथ चेयमारोपण–

उवेहऽपीतियपरिता–वणमहयमुच्छकिच्छकालगए।

चत्तारि छच्च लहु गुरु, छेओ मुलं तह दुगं च।

यो ग्लानस्योपेक्षां करोति तस्य चत्वारो गुरुकाः, उपेक्षायां कृतायां यद्यप्रीतिमं ग्लानस्य जायते ततोऽपि चत्वारो गुरवः, अनागाढपरितापैः चतुर्लघु, आगाढपरितापे चतुर्गुरु, महादुःखे षड्लघु, मूर्च्छायां षड्गुरु, कृच्छ्रोच्छ्वासे मूलं, समवहते अनयस्थाप्यं कालगते पतरारात्रिकम्।

उवेहोभासणपरिता–वणमहयमुच्छकिच्छकालगए।

चत्तारि छच्च लहु गुरु छेओ मूलं तह दुगं च।

उपेक्षायां स ग्लानः स्वयमेव गत्वा गृहस्थानवभाषते चत्वारो लघवः, तस्यतत्र गच्छतः शीतवातातपैः परिश्रमेण वाऽनागाढपरितापना–दीनि जायन्ते ततः प्रायश्चित्तमनन्तरगाथोक्तनीत्या द्रष्टव्यम्।

उवेहोभासणठवणा–परितावणमहयमुच्छकिच्छकालगए।

चत्तारि छच्च लहु गुरु छेदो मूलं तह दुगं च।

उपेक्षायां ग्लानो भक्पानमौषधं वा अवभाषणेनोत्पाद्य स्थापयति, न शक्नोम्यहं दिने दिने पर्यटितुं, ततश्चत्वारो गुरुवः, तेन परिवासितेन शीतलत्वादनागाढपरितापनादीन्युपजायन्ते। प्रायश्चित्तयोजना प्राग्वत्।

उवेहोभासणकरणे,परितावणमहयमुच्छकिच्छकालगए।

चत्तारि छच्च लहु गुरु छेदो मूलं तह दुगं च।

उपेक्षायां ग्लानोपान मौभाष्य स्वयमेवोषधादिकं करोति, गृहस्थैर्वा कारयति, तदा चत्वारो गुरवः, स्वयं कुर्वतः चिकित्साद्यनभिज्ञैर्गृहस्थैर्वा कारयतोऽनागाढपरितापादीनि भवन्ति। शेषं प्राग्वत्।

वेहासण ओहाणे, सलिंग पडिसेवणं निवारिंते।

गुरुगा अनिवारिते, चरिमं मूलं व जं जत्थ॥

अप्रतिजागरतो ग्लानो यदि निर्वेदेन वैहायसं मरणमभ्युपगच्छति, ततस्तेषां सप्रतिजागरकाणां चरमं पाराञ्चिकम्। अथावधानं करोति ततो मूलं, स्वलिङ्गं स्थितो यः प्रथाक् कृत्य प्रतिसेवनां करोति, ततश्चतुर्गुरुकाः। यदि तं तथा प्रातसेवमानं निवारयति तदाचतुर्गुरुकाः, अथ न निवारयति ततो यद्यत्राप्राशुके अमेषणीय वा गृह्यमाणे प्रायश्चित्तं तत्तत्र प्राप्नोति।

अथ निर्धर्मा येषु स्थानेषु ग्लानं त्यजेत्तान्याह–

संविग्गा गीयत्था, संविग्गा खलु तहेवऽगीयत्था।

संविग्गमसंविग्गा, नवरं पुण ते अगीयत्था॥

संविग्ग संजईओ, गीयत्था खलु तहेवऽगीयत्था।

संविग्गमसंविग्गा, नवरं पुण ते असंविग्गा॥

संयताश्चतुर्द्धा–संविग्ता गीतार्थाः १ संविग्ता अगीतार्थाः २ असंविग्ता गीतार्थाः ३ असंविग्ता अगीतार्थाः ४। संयत्योऽपि चतुर्विधाः– संविग्ता गीतार्थाः १ संविग्ता अगीतार्थाः २ असंविग्ता गीतार्थाः ३असंविग्ता अगीतार्थाः ४।

एतेष्वष्टसुस्त्रथानेषु ग्लानं परित्यजतः प्रायश्चित्तमाह–

चउरो लहुगा गुरुगा, छम्मासा होंति लहुगा गुरुगा य।

छेदो मूलं च तहा, अणवट्ठप्पो य पारंची॥

प्रथमे स्थाने ग्लानं परित्यजति चत्वारो लघुकाः, द्वितीये चत्वारो गुरुकाः, तृतीये षण्मासा लघवः, चतुर्थे षण्मासा गुरवः, पञ्चमं छेदः, षष्ठे मूलम् सप्तमे अनावस्थाप्यम्। अष्टमे पाराञ्चिकं भवति।

यदि वा–

संविग्ग नीयवासी, कुसील ओसन्न तह य पासत्था।

संसत्ता विंटाया, अहछंदा चेव अट्ठमगा॥

संविग्नाः१ नित्यवासिनः २ कुशीलाः ३ अवसन्नाः४ पार्श्वस्थाः ५ संसक्ताः ६ विटकाः ७ यथाच्छन्दाश्चैव अष्टमाः ८।

एतेषु परित्यजतो यथासंख्यमिदं प्राश्चित्तम्–

चउरो लहुगा गुरुगा, छम्मासा होंति लहुगा गुरुगा य।

छेदो मूलं च तहा, अणवट्ठप्पो य पारंची॥

चत्वारो लघुकाः १ चत्वरो गुरुकाः २ षण्मासा लघुकाः ३ षण्मासा गुरुकाः ४ छेदो ५ मूलं च ६ तथा अनवस्थाप्यश्च ७ पाराञ्चिकम् ८।

अथवा–

संविग्गा सिज्जातर, सावग तह दंसणे अहाभद्दे।

दाणे सड्ढी तह प–तित्थिग परतित्थगा चेव॥

संविग्नाः–प्रतीताः १। शय्यातरः–प्रतिश्रयदाता २। श्रावको–ग्रहीताणुव्रतः ३। दर्शनसंपन्नः–अविरतसम्यग्दृष्टिः ४। यथाभद्रकः–शासने बहुमानवान् ५। दानश्राद्धिको–दानरुचिः ६। परतीर्थिकः–शाक्यादिपुरुषः ७। परतीर्थिकादिः–पाषण्डिनः ८। एतेषु परित्यजतो यथाक्रममिदं प्रायश्चित्तम्–

चउरो लहुगा गुरुगा, छम्मासा होंति लहुगा गुरुगा य।

छेदो मूलं च तहा, अणवट्ठप्पो य पारंची॥

उक्तागाथा।

अथ क्षेत्रतः प्राययश्चित्तमाह–

उवस्सय निवेसण सा–ही गाममज्झे य गामदारे य।

उज्जाणे सीमाए, सीममइक्कामइत्ता णं॥

चउरो लहुगा गुरुगा, छम्मासा होंति लहुगा गुरुगा य।

छेदो मूलं च तहा, अणवट्ठप्पो य पारंची॥

क्षेत्रान्तरं संक्रमितुमुपाश्रये ग्लानं परित्यज्य यदि गच्डति तदा चत्वारो लघुकाः, उपाश्रयान्निष्काश्य निवेशितं यावदानीय परिहरति चत्वारो गुरुकाः, साहिकायां पण्मासा लघवः। ग्रामेमध्ये षण्मासा गुरुवः। ग्रामद्वारे छेदः, उद्याने मूलम्, ग्रामसीमनि परिष्ठापयति अनवस्थाप्यम् स्वग्रामसीमानमतिक्राम्य परित्यजन् पाराञ्चिक इति। यत एवमतो न परित्तयजनीयः।

कियन्तं पुनः कालमवश्यं प्रतिचरणीयः?;उच्यते–

छम्मासे आयरिओ, गिलाण परियट्टई पयत्तेणं।

जाहे न संथरेज्जा, कुलस्स उ निवेदणं कुज्जा॥

येन स ग्लानः प्रव्राजितो यस्य चोपसम्पदं प्रतिपन्नः स आचार्यः पौरुषीप्रमाददमपि परिहृत्य प्रयत्नेन षण्मासान् ग्लानं परिवर्त्तयति प्रतिचरति। यदा षट्स्वपि मासेषु पूर्णेषु स ग्ला-

नो न संस्तरेत् प्रगुणीभवेत्। यद्वा—आचार्य एव स्वयमन्याभिर्पणचिन्ताभिर्न संस्तरेत्, ततः कुलस्य निवेदनं कुर्यात्, कुलसमवायं कृत्वा तस्य समर्पयेदित्यर्थः।

ततः—

संवच्छराणि तिन्नि य, कुलं पि परियट्टई पययत्तेणं।
जाहे न संथरिज्जा, गणस्स उ निवेदणं कुज्जा॥

त्रीन् संवत्सरान् कुललमपि प्रायाग्यभक्तपानौषधादिभिः प्रयत्नेन परिवर्त्तयति, ततस्त्रिषु न यदा स संस्तरेत् तदा गणस्य निवेदनं कुर्यात्।

ततः—

संवच्छरं गणो वा, गिलाण परियट्टई पयत्तेणं।
जाहे न संथरिज्जा, संघस्स निवेयणं कुज्जा॥

एकं संवत्सरं यावत् गणोऽपि ग्लानं महता प्रत्यनेन परिवर्त्तयति, ततो यदा न संस्तरेत् ततः सङ्घस्य निवेदनं कुर्यात्, ततः सङ्घो यावज्जीवं तं सर्वप्रयत्नेन परिवर्त्तयति।

गाथात्रयोमर्थमेकगाथायां सुग्रह्य प्रतिपादयति—

छम्मासे आयरिओ, कुलं तु संवच्छराइँ तिन्नि भवे।
संवच्छरं गणा वी, जावज्जीवाय संघो उ॥

व्याख्यातार्था। एतम यो भक्तविवेकं कर्तुं न शक्नोति तमुद्दिश्य द्रष्टव्यम्। यस्तु भक्त विवेकं कर्तुं शक्नोति तेनाष्टादश मासान् यावत् प्रथमतश्चिकित्सा कारयितव्या, विरतिसहितस्य जीवितस्य पुनः संसारेरे दुरापत्वात् ततः परं यदि न प्रगुणी भवति ततो भक्तविवेकः कर्त्तव्य इति। आगाढे कारणजाते सति वैयावृत्त्यं कुर्यादपि परित्यजेद्वा ग्लानम्।

(३५) किं पुनस्तत्कारणजातमिति? उच्यते—

असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे भए व गेलन्ने।
एएहि कारणेहिं, अहवा वि कुले गणे संघे॥

अशिवे, अवमोदर्ये, राजद्विष्टे, भये वा शरीरस्तेवसमुत्थे, (गेलन्ने त्ति) सर्वो वा गच्छो ग्लानीभूतः कस्य कः प्रतिचरणं करोतु? एतैः कारणैरथवा कुलस्य गणस्य सङ्घस्य वा समर्पिते ग्लाने स्वयं कुर्वन्नपि शुद्धः। पात्यिजनेत्वियं यतना—अशिवे समुत्पन्ने देशान्तरं क्रामन् ग्लानमन्येषां प्रतिबन्धस्थितानां साधूनां समर्पयति। तेषामभावे शय्यातरादीनां समीपे, साधर्मिकस्थलीषु वा, देवकुलेषु वा निक्षिपति। एवमेवावमौदर्यभये च द्रष्टव्यम्। राजद्विष्टे यद्येकस्य गच्छस्य प्रद्वेषमापन्नो राजा ततोऽन्यपां साधूनां समर्प्ययति। अथ सर्वेषामपि प्रद्विष्टस्ततः श्रावकादिषु निक्षिप्य व्रजति।

उत्सर्गतः पुनरेतैरपि कारणैर्निक्षिपति। किं तु स्कन्धे त्यस्य वहन्तीति? आह च—

एएहि कारणेहिं तह वि वहंती न चेव छड्डिंति।
असहिल्ला ए चयंती, उवगरणं नेव उ गिलाणं॥

एतैः कसरणैर्यद्यपि ग्लानो निक्षिप्तुं कल्पते, तथाहि वहन्ति, नैव परित्यजन्ति। अथासहिष्णवो वा वोढुमसमर्थाः, तत उपकरणं परित्यजन्ति, नैव ग्लानम्।

अह वा वि सो भणेज्जा, छड्डेउ ममं तु गच्छहा तुब्भे।
होइ त्ति भणिएँ गुरुगा, इणमन्ना आवई विइया॥

अथ वा स ग्लानो भणेत्—मां छर्दयित्वा यूयं गच्छत। एवमुक्ते यदि कोऽपि साधुर्भवत्वेवमिति भणति तदा तस्य चत्वारो गुरुकाः। इयं प्रकारान्तरेणान्या द्वितीया आपदुच्यते।

तामेवाह—

पच्चंतमिलिक्खेसुं, वेहियतेणेसु वा वि पडिएसु।
जणवयदेसविणासे, नगरविणासे य घोरम्मि॥
वंधुजणविप्पओगे, अमाएँऽपुत्ते वि वट्टमाणम्मि।
तह वि गिलाण सुविहिया, वच्चंति वहंतगा साहू॥

प्रत्यन्ताः प्रत्यन्तदेशवासिनो ये म्लेच्छास्तेषु, तथा बोधिकस्तेना नाम ये मानुषाणि हरन्ति, तेषु सत्सु, यो जनपदस्य, देशस्य वा तदेकदेशभूतस्य विनाशो विध्वंसस्तस्मिन्, तथा नगरविनाशे च, घोरे रौद्रे उपस्थिते, बन्धुजनानां स्वज्ञातिलोकानां मरणभयात्पलायमानानां यः परस्परं विप्रयोगस्तस्मिन्, कथं भूते—अमातापुत्रे स्वस्वजीवितरक्षणाक्षणिकतया यत्र माता पुत्रं न स्मरति, पुत्रांऽपि मातरं न स्मरति, तस्मिन्नपि वर्तमाने, ये सुविहिताः शोभनविहितानुष्ठानास्ते, तथाऽपि ग्लान वहन्तो व्रजन्ति, न पुनः परित्यजन्ति।

ततोऽसौ ग्लानः प्राह—

तारेह ताव भंते !, अप्पाणं किं मएल्लयं किं मएल्लयं वहह।
एगालंवणदोतेझ्झण मा हु सव्वे विणस्सिहिह॥

तारयत तावद्भन्त ! यूथमात्मानमस्माउपराउात्परावारात्, किं मां मृतमिव मृतम् अद्यश्वीनमृत्युसंभवतया शवप्रायं वहत, अपि वा मदीयमेव यदेकमालम्बनं तदेव बहूनां विनाशकारणतया दोषस्तेन मा यूयं सर्वे विनङक्ष्यथ।

एवं च भणियमेत्ते, आयरिया नाणचरणसंपन्ना।
अचवल मणलिय हितयं, संताणकरिं वहमुदाही॥

एवं च ग्लाने भणितमात्रे सति आचार्या ज्ञानचरणसम्पन्नाः, संविग्नगीतार्था इति भावः। अचलपलामत्वरितां, त्वराकारणस्य मरणभायस्याऽभावात्, अनलीकां सत्यां, ज्ञातसारत्वात्, हितामनुकूलां, परिणामसुन्दरत्वात्, संत्राणकरीम् आर्तजनपरित्राणकारिणीं, वाचं समुदादृतन्तः।

कथमिति? आह—

सव्वजगज्जीवहियं, साहुं न जहामो एस धम्मो णे।
जति य जहामो साहु जीवियमित्तेण किं अम्हं ?॥

सर्वस्मिन् जगति ये जीवस्त्रसस्थावरभेदभिन्नास्तेषाम भयदायकतया हितं सर्वजगज्जीयहितं साधुं न जहामो न परित्यजामः, एषोऽस्माकं धर्मः सामाचारी, यदिच साधुं प्रजहामस्ततः किमस्माकं जीवितमात्रेण सदाचारजीवितविकलेने बहिः प्राणधारणमात्रेण, प्रयोजनं न किञ्चिदित्यर्थः।

तं वयणं हियमधुरं, आसासंकुरसमुब्भवं सयणो।
समणवरगंधहत्थी, वेइ गिलाणं परिवहंतो॥

तदेवंविधं वचनं हितं परिणामपथ्यं, मधुरं श्रोत्रमनसां प्रह्लादकं, तथा आश्वास एवाङ्कुरः प्ररोहस्तस्य समुद्भव उत्पत्तिर्यस्मात् तदाश्वासाङ्कुरसमुद्भवं, ग्लानस्याश्वासप्ररोहवजिमिति भावः।

स्वजन इव स्वजनः, स आचार्यः श्रमणवरगन्धहस्ती, तथा गजकलभानां यूथाधिपत्यपदमुद्वहमानो गिरिकन्दरादिविषमदुर्गेष्वपि पतितो न परित्यागं करोति, एवमयमपि गणधरपदमनुपालयन् विषमशायामपि श्रमणवरान्न पात्यिजतीति श्रमणवरगन्धहस्तीयुच्यते, स ग्लानं परिवहन् परवर्तयन्नेव मनन्तरोक्तं ब्रवीति।

तत इत्थं तदीयवचनं श्रुत्वा समीपपवर्तिनामगारिणामित्थं स्थिरीकरणमुपजायते–

जइ संजमो जइ तवो, दढमित्तित्तं जहूत्तकारित्तं।
जइ वंभं जइ सोयं, एएसु परं न अन्नेसुं॥

यदि संयमः पञ्चाश्रविररमणादिरूपं, यदि तपोऽनशनादिरूपं, दृढमैत्रीकत्वं निश्चलासैहृदं, यथोक्तकारित्वं भगवदाज्ञाराधकत्वं, यदि ब्रह्म अष्टादशभेदभिन्नं ब्रह्मचर्यं, यदि शौचं निरुपलेपता सद्भव-सारता, एतानि यदि परमेतेष्वेव साधुषु प्राप्यन्त, नान्येषु शाक्या-दिपरतीर्थिकेषु, तेषामेवंविधस्य ग्लानप्रतिचरणविधेरभावात्। इत्थं तावद्विषमायामपि दशायां ग्लनो न परित्यक्तव्य इत्युक्तम्।

अथात्यन्तिके भये तमपरित्यजतां यदि सर्वेषामपि विनाश उपढौकते, ततः को विधिरिति? आह–

आवागाढे व सिया, निक्खित्तो जइ वि होज्ज जयणाए।
तह वि उ दोकण्ह वि धम्मो, रिजुभावविचारिणा जेणं।

अत्यागाढे अत्यन्तम्लेच्छादिभिये, वाशब्दः पातनायाम, सा च प्रागेव कृता, स्यात् कदाचित् यतनया निष्प्रत्यूहप्रायप्रदेशे यद्यप्यसौ ग्लानो निक्षिप्तो भवेत् तथाहि द्वयोरपि ग्लानप्रतिचसकवर्गयोधर्मो मन्तव्यः। कुत इत्याह–येन कारणेन द्वावपि तौ ऋजुरकुटिलो मोक्षं प्रति प्रगुणे यो भावः परिणामस्तत्र विचरितुं शीलमनयोरिति ऋजुभावविचारिणौ।

तदश्च–

पत्तो जसो य विउलो, मिच्छत्तविराहणा य परिहरिया।
साम्मियवच्छल्ल, दवसंते ते वि मग्गंति॥

तैराचार्यैः साधुभिश्च तादृशेऽपि भये सहसैव ग्लानमपरित्यजद्भिर्विपुलं दिग्विदिक्प्रचारि यशः प्राप्तं, तथा मिथ्यात्वं परित्यागसमुत्थमन्येषां तस्य वा मिथ्यादर्शनगमनं, तत्परिहृतं, विराधना च ग्लानस्य सहायविरहितस्य संयमात्मविषया, सा च परिहृता, साधर्मिकयात्सल्यं चाऽनुपालितं भवति। यदा तदत्यागाढं भवमुपशान्तं भवति तदा तं ग्लानं मार्गयन्ति, शोधयन्तीत्यर्थः गतं ग्लानद्वारम् वृ०१ उ०।(निर्ग्रन्थ्या निर्ग्रन्थेन वा ग्लान्येऽपि कश्चिन्न परिष्वजनीय इति 'पलिस्सयण' शब्दे वक्ष्यते। ग्लान्ये निर्ग्रन्थ्युपाश्रये निर्ग्रन्थस्य गमने चिकित्सा 'वसई' शब्दे वक्ष्यते। अवधावितस्याचार्यस्य चिकित्सा 'आयरिय' शब्दे द्वितीयभागे ३१८ पृष्ठ उक्ता। ग्लानार्थेषु प्रलम्बग्रहणं 'पलंब' शब्दे वक्ष्यते)

कुज्जा भिक्खू गिलाणस्स, अगिलाए समाहिए।(२०)

भिक्षणशील भिक्षुर्ग्लानस्यापटोरपरस्य भिक्षोर्वैयावृत्यादिकं कुर्यात्। कथं कुर्यादेतदेव विशिष्टिस्वतोऽप्यग्लानतया यथाशक्ति समाहितः समाधिं प्राप्त इति। इदमुक्तं भवति–यथा यथाऽऽत्मनः समाधिरुत्पद्यते तथा पिण्डपातादिकं विधेयमिति। सूत्र। सूत्र०१ श्रु०३ अ०३ उ०।

(३६) ग्लानार्थमषणा–

भिक्खागा णामेगे एवमाहंसु–समणा वा वसमाणे वा गामाणुगामं दूइज्जमाणे वा मणुण्णं भायणजायं लभित्ता से भिक्खू गिलाइ से हंदह णं तरसाहरह से य भिक्खू णे भुंजेज्जा, तुमं चेव णं भुंजेज्जासि, से एगतितो भाक्खामि त्तिकट्टु लिउंचिय पलिएंचिय आल एज्जा। त जहा इमे पिंडे इमे लोए इमे तित्तए इमे कडुए इमे कसाए इमे अंविले इमे महुरे णो खलु एत्तो किंचि गिलाणस्सदति त्ति माइट्ठाणं संफासे, णो एवं करेज्जा, तहेव तं अलोएज्जा जहा वि तं गिलाणस्स सदति तं तित्तियं तित्तिए त्ति वा छुयं कडयं कमयं कसायं अंविलं अंविलं महुरं महुरं। भिक्खागा णामेगे एवमाहंसु–समाणे वा वसमाणे वा गामाणुगाडं दूइज्जमाणे व मणुण्णं भोयणजातं लभित्ता से य भिक्खू गिलाइ से हंइह णं तस्साहरह से य भिक्खूणो भुंजेज्जा आहारेज्जासि णं, णो खलु इमे अंतराए आहरिस्सामि इच्चेयाइं आयतणाइं उवातिकम्म माइट्ठाणं परिहरिय गिलाणस्सदिज्जा, आहेरज्जा वा।

''भिक्खागा णमेगे'' इत्यादि। भिक्षामटन्ति भिक्षाटाः, भिक्षणशीलाःसाधव इत्यर्थः। नामशब्दः संभावनायां, वक्ष्यमाणमेषां संभाव्यते। एके केचन एवमाहुः साधुसमीपमागत्य वक्ष्यमाण-मुक्तवन्तः-तव साधवःसमाना वा सांभोगिका भवेयुः, वाशब्दाद-सांभोगिका वा। तेऽपि वसन्तो वास्तव्याः अज्ञाता वा ग्रामादेः समागमा भवेषुः। तेषु च कश्चित्साधुर्ग्लायति ग्लानमनुभ्वान्, तत्कृते तान् सांभोगिकादींस्ते भिक्षाटाः मनोज्ञभोजनलाभे सत्येवमाहुरिति संबन्धः। (स इति) एतन्मनोहाराजातं ''हंदह'' गृह्णीत यूयम्। 'णं' इति वाक्यालंकारे। तस्य ग्लानस्याऽऽहरत, नयत तस्मै प्रयच्छत इत्यर्थः। ग्लानश्चेन्न भुङ्क्ते ग्राहक एवामिधीयते-त्वमेव भुङ्दवेति। स चभिक्षुर्भिक्षीर्हस्तात् ग्लानर्थं गृहीत्वाऽऽहारं तत्राध्युपपन्नः सन्नेक एवाइं भोक्ष्य इति कृत्वा तस्य ग्लानस्य (पलिउंचिय पलिउंचिय त्ति) मनोज्ञं २ गोपित्वा वातादिरोगमुद्दिश्य तस्यालोकयेत् दर्शयेद् यथा अपथ्योऽयं पिण्डमिति बुद्धिरूद्यते, तद्यथाऽग्रतो ढोकित्वा वदत्ययं पिण्डो भवदर्थं साधुना दत्तः, किं त्वयं (लोए त्ति) रुक्षः, तथा तिक्तः, कटुः, कषायोऽम्लो मधुरो वेत्यादिदोषदुष्टत्वान्नातः किञ्चित् ग्लानस्य सदतीति, उपकारेण वर्त्तते इत्यर्थः। एवं च मातृस्थानं संस्स्पृरोन्न चैतत् कुयांदिति। यथा च कुर्यात्तद्दर्शयति-तथाऽस्थतमेव ग्लानस्यालाकयेद्यथाऽवस्थितमिति। एतदुक्तं भवति-मातृस्थानपरित्यागेन यथावस्थित मेव ब्रूयादिति। शेषं सुगमम्। तथा ''भिक्खागेत्यादि'' भिक्षाटाः साधवो मनोज्ञमाहारं लब्ध्वा समनोज्ञाँश्च वास्तव्यान्, प्राधूणकान् वा ग्लानमुद्दिश्यैवमूचुः-एतन्मनोज्ञमाहारजातं गृह्णीज यूयं, ग्लानाय नयत, स चेत् न भुङ्क्ते, ततोस्मदन्तिकमेव ग्लानाद्यर्थमाहरेदानयेत्, स चैवमुक्तः सन्नेवं वदेद्यथा अन्तरायमन्तरेणाऽऽहरिष्यामीति प्रतिज्ञायाऽऽहारमादाय ग्लानान्तिकं गत्वा प्राक्तनान् भक्तादिदोषानुदघाट्य ग्लानायाऽदत्त्वा स्वत एव लौल्याद् भुक्त्वा ततस्तस्य साधेर्निवेदयति। यथा-

मम शूलं वैयावृत्यकालपर्याप्तयादि कमन्तरायिकमभूदतोऽहं तत् ग्लानभक्तं गृहीत्वा नायात इत्याहि मातृस्थानं संस्पृशेदेतद्दर्शयात, इत्येतानि पूर्वोक्तान्यायतनानि कर्तोपादानस्थानानि उपातिक्रम्य सम्यक् परिहृत्य मातृस्थानपरिहारेण ग्लानाय वा दद्यात्, दातृसाधूसमीपं वाऽऽहहरेदिति। आचा०२ श्रु०१ अ०११ उ०।

(निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां च ग्लान्य मिथावैयावृत्यं वेयावच्च शब्दं वक्ष्यते)

विषयसूची–

(१) ग्लानं प्रति गवेषणम्।
(२) ग्लानद्वारे कुते कुत्र ग्लानान्वेषणां कर्तव्यमितिनिरूपणम्।
(३) ग्लानम्वप्रतिबद्धद्वार संग्रहः।
(४) शुद्धद्वारे ग्लानसमीपगमनोपचारादयः।
(५) ग्लास्योपचाराकरणे प्रायश्चित्तम्।
(६) ग्लानवैयावृत्ये कीदृशस्य साधोर्नियोजनम्।
(७) विपरीतकरणे दोषाः।
(८) श्रद्धाद्वारे ग्लानं प्रति निर्जरार्थिन:साधोर्ज्ञटिति गत्वा वैयावृत्य-करणयतना।
(९) सूत्रार्थपौरुषीव्यापारणे विधिः।
(१०) क्षेत्रे संस्तरणाभावेऽन्यत्र गच्छतां विधिः।
(११) इच्छाकारद्वारे महार्द्धिकदृष्टान्तः।
(१२) अशक्तद्वारेऽशक्तब्रुयाणं प्रति स्थविरोक्तिः।
(१३) सुखितद्वारे प्रमादेन ग्लानवैयावृत्याकरणे प्रायश्चित्तप्ररूपणम्।
(१४) अपमानद्वारेऽपमानभिषेण ग्लानं प्रत्यगच्छतां प्राययश्चित्तम्
(१५) लब्धद्वारे वैयावृत्याभिषेण मनोज्ञभोजनाभिलाषुकगमने क्षेत्रेद्विजनरूपदोषप्रदर्शनम्।
(१६) तत्र द्रव्यक्षेत्रादिकमधिकृत्य प्रायश्चित्तम्।
(१७) ग्लानस्य सचिताचित्तचिकित्सायां भण्डीपोतदृष्टान्तः।
(१८) अनुवर्तनाद्वारे ग्लानवैद्योरनुवर्तनाविस्तारः।
(१९) वैद्यानुवर्तनायां प्रस्तावना,कथं ग्लानो भवतीति प्रश्नश्च
(२०) नोपशाम्यति रोगे विधिर्वैद्याष्टकप्रदर्शनं च।
(२१) वैद्यसमीपं गच्छतं विधिः, प्राभृतिकारूपणं च।
(२२) गमनद्वारे कीदृशस्य पुरुषस्य वैद्यसमीप प्रेषणं कर्तव्यमिति प्ररूपणम्।
(२३) येन प्रेषणीयास्तेषां निरूपणम्।
(२४) शकुनद्वारे वैद्यसमीपे गच्छतः शकुनाशकुनविचारः।
(२५) वैद्यसमीपं प्राप्तस्य शकुनाशकुनविचारः।
(२६) संगारद्वारे वैद्यसमीपं प्रस्थितस्य साधोर्येषां सन्निधिरावश्यकी तेषां निरूपणम्, वैद्यसमीपे यत्कथनीयं तन्निरूपणं च।
(२७) वैद्यस्य उपदेशद्वारे द्रव्यक्षेत्रकाल भावरूपेण ग्लानानुर्तना।
(२८) वैद्योपदिष्टैः साधुभिस्तुलना कर्तव्याः।
(२९) प्रतिश्रयमागतस्य वैद्यस्य यो विधिः कर्तव्यस्तत्र द्वारसंग्रहः।
(३०) भद्रकद्वारे वैद्यग्लानयोरनुवर्तनायां विस्तरः।
(३१) भूतिद्वाराऽऽहारद्वारयोः स्वीयान्यदीयग्रामस्थर्वद्य धर्मकथाऽऽदियतना।
(३२) चालानाद्वारे ग्लानचालानायां कारिणानि।
(३३) संक्रामणाद्वारे नागरग्रामीणग्लानयोः संक्षोभः।
(३४) ग्लानस्योपेक्षायां त्यागे च प्रायश्चित्तं, कियन्तं कालं पुनः प्रतिचरणीयो ग्लान इत्यादिनिरूपणम्।
(३५) यैः कारणैर्ग्लानस्य त्यागस्तेषां निरूपणम्।
(३६) ग्लानार्थमेषणावक्तव्यता।

–※※–

गिलाणभत्त न०(ग्लानभक्त) ग्लानस्य नीरोगातार्थं भिक्षुकदानाय यत् कुतं भक्तं तद् ग्लानभक्तम् भ०५ श००६ उ०। ग्लानः सन्नारोग्याय यद्ददाति तत्। औ०। ग्लानो रोगोपशान्तये यद्ददाति, ग्लानेभ्यो वा यद्दीयते। स्था०९ ठा०। ग्लानस्य रोगोपशमनार्थं मारोग्शालायां ग्लानस्य वा दीयमाने भक्ते, नि०चू०९ उ०।

गिलाणवेयावच्च न०(ग्लानवैयावृत्य) ग्लानस्य भक्तपानादिभिरुपष्टम्भे, औ०। ''कुज्जा भिक्खू गिलाणस्स, अगलाए समाहिए'' सूत्र०१ श्र१०११ अ०। ध०।

गिलाणि स्त्री०(ग्लानि) क्लमे, विशे०। अबहुमाने, स्था०५ ठा०१ उ०। सूत्र०।

गिलायमाण त्रि०(ग्लायत्)ग्लै हर्षक्षये, इति शतृः। शरीरक्षयेण हर्षक्षयमभुभवति, बृ०४उ०। अशक्नुवति, अभिभूयमाने, स्था०३ ठा० उ०। ग्लानिमुपपन्ने, व्य०२ उ०। (परिहारकल्पस्थितस्य ग्लानस्य परिहार शब्दे प्रतिपत्तिः)

गिलासि (ण्)पुं०(ग्लासिन्) भस्मके व्याधौ, स च वातपित्तो–त्कटया श्लेष्मन्यूनतया जायते। आचा०१ श्रु०६ अ०१ उ०।

गिलिय त्रि०(गिलित) प्रक्षिप्ते, भक्षिते च। वाच० आव०।

गिल्लि स्त्री०(गिल्लि) मानुषं गिलतीव गिल्लिः। हस्तिन उपरिकोल्लररूपेऽर्थे, अनु०। ज्ञा०। भ०। जी०। रा०। पुरुषद्वयोत्क्षिप्तायां झोल्लिकायाम्, सूत्र०२ श्रु०२ अ०। पुरुषद्वयोत्क्षिप्तदाल्लिकायां वा। दशा०६ अ०। जं०।

गिव्वाण पुं,(गीर्वाण) इन्द्रयमकुवेरादिषु देवेषु, आ०म०प्र०।

गिह न०(गृह) प्रासादे, ध०२ अधि०। गृहाणि प्रासादास्ते त्रिविधाः खाता उद्धता उभयरूपाश्च। दश०६ अ०। सकुट्टिमं गृहम्, अकुट्टिमा शाला। नि०चू०११ उ०। आवसथे, सूत्र००१ श्रु०१० अ०। अगारे, सूत्र०१ श्रु०२ अ०। ''गिहगहणेण वा सव्वं चेव घरं घेप्पति''। नि०चू००३ उ०। ''गेह त्ति वा गिह त्ति वा एगट्ठा''। नि०चू०३। (कीदृग् गृहं स्थापयेछ्रावक इति वत्थु शब्दे वक्ष्यते) गृहस्थत्वे च, ''गिहे दीवमपासंता'' गृहस्थे दीपं भावदीपं श्रुतज्ञानमपश्यन्त इति वृत्तिः। सूत्र०१ श्रु० ९ अ०। भवनभेदे, जी०३ प्रति०।

गिहंतरं न०(गृहान्तर) गृहस्य गृहयोर्वाऽन्तराले, दश०३ अ०।

गिहतरणिसिज्जा स्त्री०(गृहान्तर्निषद्या) गृहस्यान्तर्मध्ये गृहयोर्वा मध्ये निषद्या चाऽऽसनम्। सूत्र०१ श्रु०९ अ०। गृहस्य गृहयोर्वा अपान्तराले उपवेशने, दश०३ अ०। ''गोयरग्गपविट्ठस्स, णिसिज्जा जस्स कप्पइ''। दश००६ अ०।

गिहगमण न०(गृहगमन) विजवेश्मगमने, पञ्चा०२ विव०।

गिहत्थ पुं०(गृहस्थ) गृहमगारं तत्र तिष्ठतीति गृहस्थः। सूत्र०२ श्रु०१ अ०। अगारिणि, पञ्चा०७ विव०। ''ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्तथा''। द्वितीयाश्रमिणि, नि०चू०१ उ०। उत्त०। गृहीताणुव्रते, निन०चू०१ उ०। अप्रत्याख्यातसर्वसावद्यव्यापारे, गृहस्थभाव एव श्रेयान्। पं०व०१ द्वार। ध०। अवधारयित्वा गृहस्थो भवेत्। व्य०१ उ०। (तत्र कर्त्तव्यम् ओहावण शब्दे तृतीयभागे १३० पृष्ठे उक्तम्) गृहे गृहलिङ्गे तिष्ठतीति गृहस्थः। पश्चात्कृतभेदे, व्य०४ उ०। ''असिहो ससिहो य गिहत्थो, रयहरवायाउ होइ सारुवी''। व्य०४ ए०। गृहस्थः पश्चात्कृतो द्विविधोऽशिखः सशिखश्च, तत्र यः केशान् धारयति ससशिखः। यस्तु मुण्डनेन तिष्ठति सोऽशिखो भवति, रजोहरणवर्जः, रजोहरणग्रहणं दण्डकपात्रादीनामुपलक्षणम्, ततोऽयमर्थः—यः शिरसो मुण्डनमात्रं कारयति, न च रजोहरणदण्डकपात्रादिकं धरते सोऽशिख इति। व्य०४ उ०।

गिहत्तणिक्खेवग पुं०(गृहस्थनिक्षेप) गृहस्थान्निक्षिपति, यथा अमुकोऽत्र नियुज्यताम्। नि०चू०१५ उ०।

गिहत्थभाव पुं०(गृहस्थभाव) गृहस्थत्वे, पञ्चा०१० विव०।

गिहत्थभासा स्त्री०(गृहस्थभाषा) मर्मोद्घाटनशापप्रदानजकारमकारादिवचने, ग०३ अधि०। गृहस्थानां भाषाः ''मम्मा आई वाप भाई'' इत्यादिकायां भाषायाम्, गृहस्थैः सह सावद्यभाषायां वा, ''तं गच्छ गच्छवए, गिहत्थभासा उ नो जत्थ'' ग०३ अधि०।

गिहत्थमुंड पुं०(गृहस्थमुण्ड) क्षुरेण मुण्डे, व्य०४ उ०।

गिहससंसट्ठ न०(गृहसंसृष्ट) गृहस्थस्य भक्तदायकस्य संबन्धि संसृष्टं विकृत्यादिद्रव्येणोपलिप्तं यत्करोटिकादिभाजनं तद् गृहस्थसंसृष्टम्। गृहिणोपलिप्ते भाजने, पञ्चा०५ विव०। विकृत्यादिद्रव्येणोपलिप्ते भक्तदायकस्य संबन्धिकरोटिकादि भाजने, ध०२ अधि०। ततोऽन्यत्र विकृतिः प्रत्याख्यायते विकृत्यादिसंसृष्टभजनेन दीयमानं भक्तमकल्प्यद्रव्याव्यव मिश्रं भवति न तद्भुञ्जानस्याऽपि भङ्ग इति भावः। पञ्चा०५ विव०। गृहस्थैरोदनादिभिदध्यादिना स्वप्रयोजनाय संश्लेषिते, प्रव०४ द्वार। आचा० ध०।

गिहत्थसार पुं०(गृहस्थसार) गृहिणां सार इव सारः, सर्वस्वमीप्सितार्थसाधकत्वात्। भावयज्ञे, पञ्चा०८ विव०।

गिहदुवार न०(गृहद्वार) गृहद्वारे, नि०चू०३ उ०।

गिहधूम पुं०(गृहधूम) गृहस्थे धूमे, नि०चू०।

जे भिक्खू गिहधूमं अन्नउत्थिएण वा गारत्थिएण वा परिसामावेइ, परिसरडंतं वा साइज्जइ ॥५६॥

(जे भिक्खू घरधूममित्यादि) आणादि, मासगुरुं च से पच्छित्तं। कम्हा घरधूमं स घेप्पति—

घरधूमोसहकज्जे, दद्रु किडिभे य कच्छु अगतादी।
घरधूमम्मि णिबंधो, तज्जाति असूयणट्ठाए ॥२९४॥

दद्रू प्रसिद्धं, किनिभं जुघासु कालाभं रसियं वहति, कच्छुः पामा, अगतादिएसु वा छुब्भति, घरधूमे सुत्तणिबंधो तज्जाइय—सूयण्ट्ठा कमो, तज्जातिगह णातो अण्णे वि रोगा सूतिता, तेसु जेसु सहाताणि अण्णउत्थिएण गेण्धवेंतस्स एतदेव पच्छित्ते, अचित्तं तज्जाइयसूयणं वा अण्णेसु वि रोगेसु किरिया कायव्वा।

तं अण्णतित्थिएणं, अह वा गारत्थिएण सामावे।
सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराधणं पावे ॥२९५॥
हत्थेण अपावेंतो, पीढादिफले जिए सकायं वा।
भंडविराधण कणुए अहि उंदुर पच्छकम्मे वा ॥२९६॥

पर्ववत् गारत्थिअण्णउत्थिएसु इमे दोसा (हत्थेण गाहा) भूमिट्ठितो हत्थेहिं अपावेंति पीठादिफलं ठवेतु तत्थाराढुं गेण्हति, तम्मि फले पिवमंतो पिवीलियादिजिए विराहेज्जा, सकाए व हत्थादि विराहेज्जा, भंडगाणि वा विराहेज्जा, अच्छीसु कणयं पडेज्जा, अहि उंदुरेण वा खज्जेज्जा, गारत्थण्णउत्थियाए पच्छाकम्मं करेज्जा तम्हा ण तेहिं गेण्हावे, अप्पाणा चेव।

पुव्वपडिसामितस्सा, गवेसणा पढमताऐं कातव्वा।
पुव्व्परिसाडितासति, तो पच्छा अप्पणा सामे ॥२९७॥

जति पुव्वपरिसाडियं ण लब्भति तेण पच्छा अप्पणा साडेति, जयणाए, जहा पुव्वभणिया दोसा ण भवंति।

कारणे पुण तेहिंसामावेति—

वितियपदे होज्जऽसहू, अहवा वि सहु परो व ण लभेज्जा।
अधवा वि लब्भमाण, होज्जा दोसुब्भवो कोई ॥२९८॥

अप्पाण असहूघरे वा परे वा ण लब्भिति, अगारी वा तत्थ पविट्ठं उवसग्गेति, अण्णे वा कोति हियट्ठादिएहिं दोसुब्भवो होज्ज, एवमादिकारणं उवेक्खिउं।

कप्पति ताहे गारत्थि एण अध वा वि अण्णतित्थीणं।
परिसामण काउं जे, धूमे जतणा य साहुस्स ॥२९९॥

(कप्पति ताहे गाहा) गारत्थिअण्णउत्थिएण घरधूमं सामावेउं कप्पति॥ नि०चू०१ उ०।

गिहमेहि पुं०(गृहमेधिन्) गृहस्थे, ''या गतिः क्लेशदग्धानां, गृहेषु गृहमेधिनाम्। विभ्रतां पुत्रदारांस्तु, तां गतिं व्रज पुत्रक!''॥१॥ सूत्र०१ श्रु०२ अ०१ उ०।

गिहलिंगसिद्ध पुं०(गृहलिङ्गसिद्ध) मरुदेवीप्रभृतिषु गृहलिङ्गे विद्यमान एव सिद्धेषु, ल०। प्रज्ञा०। नं०।

गिहलिंगी पुं०(गृहलिङ्गिन्) गृहमेव लिङ्गं येषां ते गृहलिङ्गिनः। राजामात्यप्रकृतिप्रभृतिषु, दर्श०।

गिहवइ पुं०(गृहपति) मीण्डलिके राजनि, भ०१६ श०२ उ०।

गिहवच्च न०(गृहवर्चस्) गृहस्य समन्ततः स्थाने, ''गिहवणं परंता, परोहडं वावि जत्थ वा वच्चं''। नि०चू०३ उ०। ल०।

गिहवच्छल त्रि०(गृहवत्सल) तैस्तैश्चाटुवचनैरात्मानं गृहस्थस्य रोचयति, वृ०१ उ०।

गिहवत्थ न० गृहवस्त्रऋ गृहस्थपरिहिते वस्त्रे, नि०चू०१२ उ०। ल०।

जे भिक्खू गिहवत्थं परिहेइ, परिहंतं वा साइज्जइ ॥१५॥

गिहिवच्छं पाडिहारियं भुञ्जंतस्स चउलहुं, आणादिया व दोसा।

गिहिमित्ते जो उ गमो, नियमा सो चेव होति गिहवत्थे।
नायव्वो तु मतिमया, पुव्वे अवरम्मि य पदम्मि ॥७१॥

कंठा–

इमे विसेसदोसा–

कोट्टित छिण्ण अछिण्णे घयतिलिए अंकिते व अवियत्तं।
दुग्गंध जूय तावण, उप्फासण धेव धूवणता ॥७२॥

कज्जहाणी, घयतेल्लादिणा वा अंकियं, एमाहिं कारणेहिं अवियत्तं भवति, साधूणं अण्हाण परिमलेण वा दुग्गंधं जुगुंछंति, जूयति–छप्पया भवंति, छड्डेति वा, ताओ अगणिउण्हे वा तावेति, संजतेहिं परिभुत्तं उप्फोसति, धावति वा, दुग्गंधं वा धूवेति। नि०चू०१२ उ०।

गिहवास पुं०(गृहवास) गृहस्थभावे, सूत्र०१ श्रु०६ अ०। ध०२०।

गिहवासं पासं पि व, मन्नंतो वसइ दुक्खिओ तम्मि।
चारित्तमोहगिज्जं, निज्जिणिउ उज्जमं कुणइ ॥६५॥

गृहवासं गृहस्सतां पाशबन्धनविशेषमिव मन्यमानो भावयन् वसत्यवतिष्ठते दुःखितो दुःखवान् तस्मिन् गृहवासे, यथाहि किल पाशपतितो विहङ्गमो नोत्पतितुं शक्नोति, कष्टं च तत्रावस्थानं कलयति, एवं संसारभीरुरपि मातापित्रादिप्रतिबन्धेन दीक्षां गृहीतुमपारयन् शिवकुमार इव भावश्रावको गृहवासे दुःखेनावतिष्ठते। अत एव चारित्रमोहनीयं चरणावारकं कर्म निर्जेतुमपयतुं प्रयत्नं करोति, तपःसंयमादाविति शेषः।

शिवकुमारकथा त्वेवम्–

''अत्थि विदेहे मेहे, इव सुवणे पुक्खलावईविजए।
बहुवीयसोयलोया, वरनयरी वीयसोय त्ति ॥१॥
सन्नयमहुयरपउमो, पउमरहो नाम नरवई तत्थ।
वरसीलहत्थिसाला, वणमाला तस्स पाणपिया ॥२॥
ताणं अईव इट्ठो, विसिट्ठचिट्ठो सया वि धम्मिट्ठो।
पुत्तो य सिवकुमारो, सिरिससुकुमारकरचरणो ॥३॥
तत्थ य कामसमिद्धो, सत्थाहो मासखमणपारणए।
सागरचंदमुणिंदं, पडिलाहइ नाणतियकलियं ॥४॥
तस्स गिहे अइ फारा, वसुहारा सुरगणेहि परिमुक्का।
तं निसमिय वुत्तंतं, सिवकुमरो हरिसिओ हियए ॥५॥
गंतुं तं मुणिवसइं, वंदिय उवविसइ उचियछणम्मि।
तो सागरचंदगुरू, एवं से कयइ धम्मकहं ॥६॥
इह सयलाउ पवित्ती, सुहेसिणो पाणिण्णे कुणंति सया।
तं च सिवम्मि तयं पुण लब्भइ सुविसुद्धचरणेण ॥७॥
पाएण तयं सुद्धं, गिहवासठियस्स नेव संभवइ।
तो तव चइत्तु जुत्तं, घित्तुं अइनिम्मलं चरणं ॥८॥
इह सोउ सिवो पुच्छइ, भयवं! किं पुव्वभवभवो नेहो?।
जं पिच्छंतस्स तुमं, वड्ढइ अहिवाहिओ डरिसो ॥९॥
तो ओहिणा मुणेउं, भणइ मुणिंदो पुरा सुगामम्मि।
भरहम्मि रट्ठकूमस्स नंदणा रेवईपभवा ॥१०॥
भवदत्ताभिवदे–वनामया भाउणो दुवे असि।
काऊण वयं सुइरं, पत्ता सोहम्मकप्पम्मि ॥११॥
भवदत्तजिओ अहवं, भवदेवजिओ तुमेस संजाओ।
तो पुव्वभवसिणेहा, मह विसए एस तुह हरिसो ॥१२॥
तो गिहवासविरत्तो, सिवो पयंपइ मुणिंद! तुह पासे।
पुच्छिय अम्मापिउणो, पव्वज्जं सुपवाजिस्सं ॥१३॥
इय भणिय नमिय गुरुणो, सो गंतु गिहम्मि पुच्छए पिउणो।
निविडपडिबंधबंधुर–हियया ते बिंति हे वच्छ! ॥१४॥
जइभत्तो अम्हाणं, जइ अम्हे पुच्छिछं गहेसि वयं।
दिक्खांनि सेहपवणा, तो णे रसणा सया होही ॥१५॥
इय अविसज्जंतेहिं, जणएहिं सिवो निसेहिउं सव्वं।
सावज्जं पडिवज्जइ, भावजइत्तं तहिं चेव ॥१६॥
पिउउव्वेयनिमित्तं, कयमोणो भुंजए वि नेव इमो।
हक्कारिय दढधम्मो, इब्भसुओ तो निवेणुत्तो ॥१७॥

पुत्त! सिवकुमारेणं पव्वज्जाभिलासिएण अम्हे हिं अविसज्जिएणं मोणं पडिवन्नं, संपयं भुत्तं पि न इच्छइ, तं जहा जाणसि तहा णं भोयावेहि, एवं कररंतेण अम्हं जीवियं दिन्नं ति माणे ठवेऊण पत्तसुविदिन्नभूमिभागो सिवं असंकियं उवसंपज्जसु त्ति। तओ सो छ पणओ–सामि! करिस्सं जं जुत्तं ति, उवगओ सिवकुमारसमीवं, निस्सीहियं च काऊण इरियाइ पडिक्कंतो; वा रसावत्तं किइकम्मं काऊण पमज्जिऊणं अणुजाणमित्ति आसीणो। सिवकुमारेण चिंतियं–एस इब्भपुत्तो अगारी साहुविणयं पउंजिऊण ठिओ, पुच्छामि ताव णं, तेण भणिओ, इब्भपुत्त! जो मया गुरुणो सागरइत्तस्स समीवे साहूहिं विणओ पजुज्जमाणो दिट्ठो सो तुमए पउत्तो, तो कहेहिं कह न विरुज्झइ? दढधम्मेण भणियकुमार! आरहए पवयणे विणओ सूणाणं सावगाणं च सामन्नो, जिणवयणं सच्चं ति जा दिअी सा वि साहारणा, समणा पुण महव्वयधरा, अणुवइणो आवगा, जीवाजावाहिगमवंधमुक्खविहाणं आगमु त्ति, साहवो समत्तसुयसागर-पारगा तवे दुवालसविहं केइ विसेसंति त्ति।

ता कुमार! तुमं समभावभावओ वंदणारिहोसि धुवं।
पुच्छामि किं तु एयं, किं चत्तं भोयणं पि तए ॥१८॥
देहो य पुग्गलमओ, जं आहारेण विरहिओ न भवे।
तदभावे न य चरणं, चरणाभावे कओ सिद्धी ॥१९॥

किं च–

निरवज्जं आहारं, देहाहारं मुणी वि गिण्हंति।
ता कम्मनिज्जरट्ठी, तुमं पि तं कुमर! गिण्हेसु ॥२०॥
आहारो निरवज्जो, संपज्जइ किह णु मज्झ गिहवासे?।
तो वरमभोयणं इब्भपुत्त! एवं सिवो आह ॥२१॥
इब्भो भणेइ तं अज्जपभिइ सुगुरु अहं च तुह सीसो।
संपाइस्सं सव्वं, जं इच्छसि तमिह निरवज्जं ॥२२॥
पभणइ सिवो सिवत्थी, जइ एवं तो करित्तु छड्डुतवं।
आयंविलेण काइं, पारणयं असुहवारणयं ॥२३॥
तो सम्मं दढधम्मो, अइदढधम्मस्स सिवकुमारस्स।
वेयावच्चं निरव–ज्जअसणमाईहि पकरेइ ॥२४॥
पासं पि व गिहवासं, बुधुजणं बंधणं व मन्नंतो।
काउं बारस बरिसे, हरिसेण सिवो उदग्गतवं ॥२५॥
जाओ य विज्जुमालि, त्ति तेयभरभासुरो सुरो बंभे।
दससागरोवमाऊ, तो चविउं रायगिहनयरे ॥२६॥
इब्भस्स रिसहदत्तस्स धारणीपणइणीइ संजाओ।
पुत्तो जंबू जुबुद्दीवाहिवजणियहरिसभरो ॥२७॥
नवनवइ वणयकोडी, चदय सुरुवाउ अट्ठ कन्नाओ।
अम्मापिउणो पभवप्पमुहजणं बोहिउं बहुयं ॥२८॥
सिरिवीरजिधिंदपया–रविंदमसलस्स सयलसुयनिहिणो।
पासे सुहम्मगुरुणो, स महप्पा गिण्हए दिक्खं ॥२९॥

होऊण जुगपहाणो, चिरकालं सासोणं पभावेउं।
उप्पडियवरनाणो, जंबू सामी सिवंपत्तो ॥३०॥
इति शिव इव गेहवासपाशे, य इह दधीत विरागसङ्गमङ्ग !
स हि यदि चरणं लभेत नात्र ध्रुवमसमं तदवाप्नुयादमुत्र''॥३१॥ध०२०॥

गिहावट्ट पुं०(गिहावर्त्त) गृहमेव आवर्त्तो गृहावर्तः। गृहाश्रमे, सूत्र०१ श्रु००४ अ०। उ०।

गिहि पुं०(गृहिन्) गृहस्थे, पञ्चा०४ विव०। प्रव०। ''गिहिणो वैयावमियं'' दश०३ अ०। सूत्र०। (गृहियतिनोभेदोऽन्यत्र) यथाभद्रके, नि०चू०२ उ०॥

गिहिकज्जचिंतग त्रि०(गृहिकार्यचिन्तक) अगारिकृत्यकरण तत्परे, ग०३ अधि०।

गिहिजोग न०(गृहियोग) मूर्च्छया गृहस्थसम्बन्धे, द्वा०२७ द्वा०। दश०।

गिहिणिसेज्जा स्त्री०(गृहिनिषद्या) पर्थङ्कादौ गृह्यासने, नि०चू०।

जे भिक्खू गिहिणिसेज्जं वाहेइ, वाहंतं वा साइज्जइ ।१६।

गिहिणिसेज्जा पलियंकादी, तत्थ णिसीदतस्स चतुलहुं, आणादिया य दोसा।

गोयरमागारयं वा, जे भिक्खू निसेवए गिहिणिसेज्जं।
आयारकहादोसा, अववास्सावयतो य ॥७३॥

भिक्खायरिया गतो, आगतो वा धम्मं वत्तुकामा आयारकहा, तत्थ जे दोसा भणिया ते गिहिणिसेज्जं वाहें तस्स इह वत्तव्वा, अस्थाने अपवादापवादश्च कृतो भवति।

किञ्चान्यत्–

बंभस्स होतऽगुत्ती, अण्णो पियवहो भवे अह वा।
चरगादीपडिवातो, गिहीण अक्वियत्तसंकादी ॥७४॥
खरए खरियासु ण्हा–णुव्वट्टण खुरे भवे संका।
रचणे अगिणिकाए, दार वती संकणा हरिते ॥७५॥

गिहिणिसेज्जं वाहिंतस्स बंभचेरअगुत्ती भवति, किमेसंजातापि वट्टो चिट्ठति त्ति अवियत्तं मेहुणासंका भवति, चरगादिसु य णट्ठेसु स संजातो संकिज्जति, खेत्ते वा खए अगणिणा वा दड्ढे दारेण वा हरिते वती वा छेत्तुं हरिते साधू संकिज्जति, जम्हा एते दोसा तम्हा णो गिहिणिसेज्जं वाहेइ।

इमेसिं पुण अणुण्णा–

उच्छुद्धसरीरे वा, दुव्वल तवसोसिओ व जो होज्जा।
थेरे जुण्ण महल्ले, वीसंभणे वि स हतसंको ॥७६॥

वाउसत्तं अकरेंतो मलपंकियसरीरो भण्णति। रोगपीडिओ दुव्वलसरीरो, तवसोसियसरीरो वा जो थेर त्ति सद्विवरिसे विसेसेणं जुन्नसरीरे, महल्ले ति सव्वेसिं वुड्ढतरो संविग्गावसधारी विसंभणे वि सो चेव हतसंको अहवा तत्थ णिसन्नो संकिज्जति जो केणइ दोसेण सो इतसंको।

अहवा ओसहहेतुं, संखे संघाडए व वासासु।
वाघायम्मि ए तत्था, जयणाए कप्पती गातुं ॥७७॥

(अहव त्ति) अथवा कारणप्रदर्शने, ओसध्हेतुं दातारं घरे असहीणं पच्छिति, संखडीए वा वेलं पमिक्खति, भरियं भायणं जाव मुंचति ताव संघाडओ पमिच्छति वासे वा पमंते अत्थति, धुरादिउव्वहणेण वरेच्छाए वाघातो, जहा पुव्वुत्ता दोसा ण भवंति, तहा जयणाए अत्थिओ कप्पति।

एएहि कारणेहिं, अणुण्णवेऊण विरहिते देसे।
अत्थंतऽववातेणं, अववायावायता चेव ॥७८॥

वीयसुपमंगादिविरहिते देसे गिहिवज्जि सामिं अणुण्णवेउं अत्थंतऽववाएण उब्भट्ठिया। अववाए पुण अववाओ अववाओ भन्नति, तेण अववादेण णिसीदन्तीत्यर्थः। नि०चू०१२ उ०।

गिहितिगिच्छ स्त्री०(गृहिचिकित्सा)गृहस्थान्ययूविके चकित्सयाम्, नि०चू०।

जे भिक्खू गिहितिगिच्छं करेइ, करंतं वा साइज्जइ ॥

इमे सुत्तफासे–

जे भिक्खू तेगिच्छं, कुज्जा गिहि अहव अण्णतित्थीणं।
संहमतिगिच्छा मासो, सेसतिगिच्छाऐं लहु आणा ॥७९॥
विरए वा अविरए वा, विरताविरते व तिविह तेगिच्छं।
जें जं भुंजति जोग्गं, तद्वाणयसंधणं कुणती ॥८०॥

तिगिच्छा णाम रोगप्रतीकारः वमनविरेचनअभ्यङ्गपानादिभिः। तं जो गिहीण अथवा अन्नतित्थियाणं करेति, तस्स सुहुमतिगिच्छाए मासलहुं, वायरए चउलहुं आणादिया व दोसा। सुहुमतिगिच्छा णाम णाहं वेज्जो अट्ठापदं देति, अप्पणो वा किरितं कहेति, चतुष्पादं वा तिगिच्छं करेति, गिलाणो आपुच्छंतो णिज्झंतो जं विराधेति तंणिप्पण्णं पावति, किरियकरणे काले वा जं कंदमूलादि वहेति, पच्छा भोयणकरणे वा, अध वा सो रोगविमुक्को किसिकरणादिकज्जं जं जोगं करेति, स तेण तिगिच्छिणा तम्मि जोगट्ठाणे संधितो भवति, अथवा स रोगी जं जोगकरी पुव्वं आसि से रागकाले अव्वावारो तम्मि अत्थति, रोगविमुक्को पुण तट्ठाणसंधाणं करेति, व्याघ्राय साण्डवत् सामर्थ्याद्बहुसत्वोपरोधी भवति, इत्यतो चिकित्सा न करणीया।

वितियपदे करेज्जा वा–

असिवे ओमोयरिए, रायद्दुट्ठे भए व गेलाणे।
अद्धाणरोहए वा, जयंणाए कप्पते कातुं ॥८१॥

गच्छे असिवादिकारणसमुत्पन्ने पओयणा जयणाए करिता सुद्धा।

इमा जयणा–

पासत्थमादियाणं, पुव्वं देसे ततो अविरइयं।
सुहुमातिविज्जमंते, पुरिसेत्थि अचित्तसचित्ते ॥८२॥

जाहे पणगपरिहाणीए चतुलहु पत्तो ताहे पासत्थेसु पुव्वं पुरिसेसं पच्छा इच्छियासु तओ णपुंसेसु देस त्ति पच्छा दसविरतेसु एवं चेव, ततो अविरते, अप्पबहुचिंताए वा अत्थो उवउज्ज वत्तव्वो। नि०चू०१२ उ०। ध०।

गिहिधम्म पुं०(गृहिधर्म) गुहमस्यास्तीति गृही, तद्धर्मः। नित्य-नैमित्तिकानुष्ठानुरूपे अगारिधर्मे, ''सामान्यतो विशेषाच्च, गृहिध-

र्मोऽप्ययं द्विधा ॥''तत्र सामान्यातो नाम सर्वविशिष्टजनसाधारणानुष्ठानरूपः, विशेषात् सम्यग्दर्शनाणुव्रतादिप्रतिपत्तिरूपः (ध०)

तत्राद्यं भेदं दशभिः श्लोकैर्दर्शयति–

तत्र सामान्यतो गृहि–धर्मो न्यायार्जितं धनम् ।
वैवाह्यमन्यगोत्रीयैः, कुलशीलसमैः समम् ॥५॥
शिष्टाचारप्रशंसारि–षड्वर्गत्यजनं तथा ।
इन्द्रियाणां जय उप–प्लुतस्थानविवर्जितः ॥६॥
सुप्रतिवेश्मिके स्थाने, नातिप्रकटगुप्तके ।
अनेकनिर्गमद्वारं, गृहस्य विनिवेशनम् ॥७॥
पापभीरुकता ख्यात–देशाचारप्रपालनम् ।
सर्वेष्वनपवादित्वं, नृपादिषु विशेषतः ॥८॥
आयोचितव्ययो वेषो, विभवाद्यनुसारतः ।
मातापित्रर्चनं सङ्गः, सदाचारैः कृतज्ञता ॥९॥
अजीर्णेऽभोजनं काले, भुक्तिः साम्यादलौल्यतः ।
वृत्तस्यज्ञानवृद्धार्हा, गर्हितेष्वप्रवर्त्तनम् ॥१०॥
भर्त्तव्यभरणं दीर्घ–दृष्टिर्धर्मश्रुतिर्दया ।
अष्टबुद्धिगुणैर्योगः, पक्षपातो गुणेषु च ॥११॥
सदाऽनभिनिवेशश्च, विशेषज्ञानमन्वहम् ।
यथार्हमतिथौ साधौ, दीने च प्रतिपन्नता ॥१२॥
अन्योन्यानुपघातेन, त्रिवर्गस्याऽपि साधनम् ।
अदेशाकालाऽचरणं, बलाऽबलविचारणम् ॥१३॥
यथार्हलोकयात्रा च, परोपकृतिपाटवम् ।
ह्रीः सौम्यता चेति जिनैः, प्रज्ञप्तो हितकारिभिः ॥१४॥

दशभिः कुलकम्। तत्र तयोःसामान्यविशेषरूपयोः गृहस्थधर्मयोर्वक्तुमुपक्रान्तयोर्मध्ये सामान्यतो गृहिधर्म्म इति अमुना प्रकारेण हितकारिभिः परोपकरणशीलैर्जिनैरर्हद्भि प्रज्ञप्तः प्ररूपितः , इत्यनेन संबन्धः। (एषां व्याख्याऽन्यत्र) ध०१ अधि०।

ननु तथापि धर्मसंग्रहिण्यां निश्चयनयमतेन शैलेशीचरमसमय एव धर्म उक्तः, तत्पूर्वसमयेषु तु तत्साधनस्यैव संभवः–''सो भवक्खयहेऊ, सेलेसीचरमसमयभावी जो। सेसो पुण निच्छयओ, तस्सेव पसाहगी भणिओ ॥१॥''त्ति वचनात्। अत्र तु निश्चयतो धर्मानुष्ठानसंभवश्चाप्रमत्तसंयतानामेवेति कथं न विरोध इतिचेत् ? न धर्मसंग्रहिण्यां धर्मस्यैवाभिधित्सितत्वेन तत्र धर्मपदव्युत्पत्तिनिमित्तग्राहकैवंभूतरूपनिश्चयनस्य शैलेशीचरमसमय एव प्रवृत्तिसंभवात्, अत्र तु धर्मानुष्ठानपदव्युत्पत्तिनिमित्तग्राहकैवंभतरूपनिश्चयनस्याऽप्रमत्त संयत एव प्रवृत्तिसंभवेन विरोधलेशस्याप्यनवकाशात्। हन्तैवं निरुपचरितो भावाभ्यासोऽप्रमत्तसंयतस्यैव प्रमत्तसंयतदेश विरताविरतसम्यग्दृशां त्वापेक्षिकत्वेनौपचारिक एव प्राप्त इत्युपुनर्बन्धस्यैवौपचारिक इति कथं युज्यत इति चेत् ? यथा पर्यवनयव्युत्क्रान्तार्थग्राही द्रव्योपयोगः परमाणावेवाऽपश्चिम विकल्पनिर्वचनः, तथा निश्चयनयव्युत्क्रान्तार्थग्राही व्यवहारनयोऽप्यपुनर्बन्धक एव तथेत्यभिप्रायादिति गृहाण।

अत एव–

अपुनर्बन्धकस्यार्य, व्यवहारेण तात्विकः ।
अध्यात्मभावनारूपो, निश्चयेनोत्तरस्य तु ॥३६८॥

इत्युक्तमं योगबिन्दौ । यत्त्वत्रापुनर्बन्धकस्याप्युपलक्षणत्वात्सम्यग्दृष्ट्यादीनामपि वृत्तौ ग्रहणं कृतं तदपेक्षयैवेति तत्त्वम्। तदयं परमार्थः–निश्चयेनानुपचरितं धर्मानुष्ठानमप्रमत्त संयतानामेव, प्रमत्त संयतानादीनामपि त्वपेक्षया निश्चयव्यवहाराभ्याम्, अपुनर्बन्धकस्य तु व्यवहारेणैव, तैन सातान्यतो गृहिधर्मो व्यवहारेणाऽपुनर्बन्धकापेक्षयैवति स्थितिमिति ॥१४॥

सप्रभेदं सामान्यतो गृहिधर्ममभिधाय सांप्रतं तत्फलं दर्शयन्नाह–

एतद्युतं सुगार्हस्थ्यं, यः करोति नरः सुधीः ।
लोकद्वयेऽप्यसौ भूरि–सुखमाप्नोत्यनिन्दितम् ॥१५॥

एतेनान्तरोदितेन सामान्यगृहिधर्मेण संयुतं सहितं सुगार्हरूथ्यं शोभनगृहस्थभावं यः कश्चित्पुण्यसंपन्नः सुधीः प्रशस्तबुद्धिर्नरः पुमान् करोति विदधाति, असौ सुगार्हस्थ्यकर्त्ता लोकद्वयेऽपि इहलोकपरलोकरूपे, किं पुनरिहलोक एवेत्यपिशब्दार्थः, अनिन्दितं शुभानुबन्धियतयाऽगर्हणीयं भूरि प्रचुरं सुखं शर्म आप्नेति लभते। इति प्रतिपादितं सामान्यतो गृहिधर्मफलम्।

अथ एतद्गुणयुक्तस्य पुसः सदृष्टान्तमुत्तरोत्तरगुणवृद्धियोग्यतां दर्शयति–

तस्मिन् प्रायः प्ररोहन्ति, धर्मबीजानि गेहिनि ।
विधिनोप्तानि बीजानि, विशुद्धाया यथा भुवि ॥१६॥

प्रायो बाहुल्येन धर्मबीजानि लोकोत्तरधर्मकारणानि।
तानि चामूनि 'योगदृष्टिसमुच्चये' प्रतिपादितानि–
''जिनेषु कुशलं चित्तं, तन्नमस्कार एव च।
प्रणामादि च संशुद्धं, योगबीजमनुत्तमम् ॥१॥
उपादेयधियाऽत्यन्तं, संज्ञाविष्कम्भणान्वितम्।
फलामिसन्धिरहितं, सशुद्धं ह्येतदीदृशम् ॥२॥
आचार्यादिष्वपि ह्येत–द्विशुद्धं भावयोगिषु।
वैयावृत्यं च विधिव–च्छुद्धाशयविशेषतः ॥३॥
भवोद्वेगश्च सहजो, द्रव्याभिग्रहपालनम्।
तथा सिद्धान्तमाश्रित्य, विधिना लेखनादि च ॥४॥
लेखनापूजाभ्यां च, श्रवणं वाचनोद्ग्रहः।
प्रकाशनाऽथा स्वाध्याय–श्चेतना भावनेति च ॥५॥
दुःखितेषु दयाऽत्यन्त–मद्वेषो गुणवत्सु च।
औचित्या सेवचनं चैव, सर्वत्रैवाऽविशेषतः''॥६॥

इति तस्मिन् पूर्वोक्तगुणभाजने गेहिनि गृहस्थे प्ररोहन्ति प्रकर्षेण स्वफलाबन्ध्यकारणत्वेन प्ररोहन्ति धर्मचिन्तादिलक्षणा–ङ्कुरादिमन्ति जायन्ते। उक्तञ्च–

''वपनं धर्मबीजस्य, सत्प्रशंसादि तद्वतम्।
तच्चिन्ताद्यङ्कुरादि स्यात्, फलसिद्धिस्तु निर्वृतिः ॥१॥
चिन्तासच्छुध्यनुष्ठान–देवमानुषसंपदः।
क्रमेणाङ्कुरसत्काण्ड– नालपुष्पफसमा मताः''॥२॥

कीदृशानि सन्ति प्ररोहन्तीत्याह–विधिना देशनाऽर्हबालादिपुरुषौचित्यलक्षणेन उप्तानि निक्षिप्तानि, अतिक्षिप्तेषु हितेषु कथामपि धर्मस्यानुदयात्। सत उपदेशपदे–''अकए बीजक्खेवे, जहा सुवासे वि न भवई सस्सीतह धम्मवीजविरहे न सुस्समाए

वि तस्सस्सं ॥१॥'' यथेति दृष्टान्तार्थः, बीजानि शाल्यादीनि विशुद्धायां अनुपहतायां भुवि पृथिव्यां विधिनोप्तानि सन्ति प्रायोग्रहणादकस्मादेव पक्वं तथा भव्यत्वे क्वचिन्मरुदेव्यादावनभावेऽपि न विरोध इति ॥१६॥ धर्म०१ अधि०। सप्तक्षेत्रादिगृहिधर्मः। ध०१ अधि०। पर्वकृत्ये, साम्प्रतं तेषामेव पर्वादिकृत्यानि व्यक्त्या निदर्शयन्नाह–''एवं पर्वसु सर्वेषु, चतुर्मास्यां च हायने। जन्मन्यपि यथाशक्ति, स्वस्वसत्कर्मणां कृतिः ॥५६॥'' ध० अधि०। अथ जन्मादिकृत्यानि। यथा–''चेइअ १ पडिम २ पइट्ठा ३, सुआइपव्वावणा य ४ पयठवणा ५। पुच्छपलेहणवायण ६, पोसहसलाइ कारवणं ॥१॥'' धर्म०२ अधि०। श्राद्धविधै तु गृहनिर्मापणादीन्यपि कर्माणि जन्मकृत्येषु न्यस्तानि, परं तानि सामान्यगृहिधर्माधिकारीयाणीति तत्रैव लिखितानि, व्रतादीन्यति पूर्वं व्याख्यातत्वान्नाह लिखितानि, प्रतिमानुष्ठानं च विशेषत उपयोगित्वात्स्वतन्त्रमेव मूले वक्ष्यते, इति नात्रोक्तमिति। धर्म०२ अधि०। गृहकृत्यकरणरूपे स्त्रीकलाभेदे, कल्प०७ क्षण। गृहस्थधर्म एव श्रेयानित्यभिसन्धेर्देवा–तिथिदानादिरूपगृहस्थ धर्मानुगते, तदनुसारिणां च वचः–''गृहाश्रमसमो धर्मो, न भूतो न भविष्यति। तं पालयन्ति ये धीराः, क्लीबाः पाषण्डमाश्रिताः''॥१॥ अनु०।

गिहिमायण न०(गृहिभाजन) गृहस्थसम्बन्धिस्थालतिलकादिकांस्याजनादिके दश०६ अ०। जीत०। व्य०।

तत्र भोजनं निषिद्धम्–

कंसेसु कंसपाएसु, कुंडमोएसु वा पुणो।
भुंजंतोऽसणापाणाइं आयारा परिभस्सई ॥५१॥

केसेषु करोटकादिषु केसपात्रेषु तिलकादिषु कुण्डमेदिषु हस्तिपादाकारेषु मृन्मयादिषु भुञ्जानोऽशनपानादि तदन्यदोषरहितमपि आचारात् श्रमणसंबन्धिनः परिभ्रश्यति अपेतीति सूत्रार्थः ॥५१॥

कथमिति ?, आह–

सीओदगसमारंभे, मत्तधो अणछड्डणे।
जाइं छन्नंतिभूयाइं, दिट्ठो तच्छ अंसजमो ॥५२॥

अनन्तरोद्दिष्टभाजनेषु श्रमणा भोक्ष्यन्ते भूक्तं चैभिरिति शीतोदकेनधावनं कुर्वन्ति, तदा शीतोदकसमारम्भे सचेतनोदकेन भाजनधावनारम्भे, तथा मात्रकधावनोज्झने कुण्डमोदादिषु क्षालनजलत्यागे, यानि क्षिप्यन्ते हिंस्यन्ते भूतान्वप्कायादीनि सोऽत्र गृहिभाजनभोजने दृष्ट उपलब्धः केवलज्ञानभास्वता असंयमस्तस्य भोक्तुरिति सूत्रार्थः ॥५२॥

किञ्च–

पच्छाकम्मं पुरे कम्मं, सिया तत्थ न कप्पइ।
एयमट्ठं न भुंजंति, निग्गंथा गिहिभायणे ॥५३॥

पश्चात्कर्म पुरःकर्म स्यात्तत्र कदाचित् भवेत् गृहिभाजनभोजने पश्चात्पुरःकर्मभावस्तूक्तवदित्येके। अन्ये तु भुञ्जन्तु तावत्सा–धवो वय पश्चाद्भोक्ष्याम इति पश्चात् कर्मव्यत्ययेन तु पुरःकर्म व्याचक्षते। एतच्च न कल्पते धर्मचारिणां, यत एवमत एतदर्थं पश्चात्कर्मादिपरिहारार्थं न भुञ्जन्ते निर्ग्रन्थाः। केति ? आह–गृहिभाजने अनन्तरोदिते इति सूत्रार्थः। उक्तो गृहिभाजनदोषः। तदभिधानारूचतुर्द्वस्थानविधिः। दश०६ अ०।

गिहिमत्त न०(गृह्यमत्र) घटीकरकादिके, नि०चू०१२ उ०। गृस्थभाजने दश०३ अ०। कांस्यपात्रादौ सूत्र०१ श्रु०२ अ०२ उ०।

अत्र प्रायश्चित्तम्–

जे भिक्खू गिहिमत्ते भुंजइ, भुंजंतं वा माइज्जइ ॥१४॥

गिहिमत्तो घंटिकरगादि, तत्थ जो असणादि भुंजति, तस्स चउलहुं।

जे भिक्खू गिहिमत्ते, तसथावरजीवदेहाणि।
भूञ्जेज्जा असणादी, सो पावति आणमादीणि ॥६७॥

सो गिहमत्तो दुविधो–थावरजीवदेहनिप्पात्रो चा, तसजीवदेह निप्पन्नो वा। सेसं कंठं।

ते य इमे–

सव्वे वि लोहपादं, तेसिं केवलिय पक्कभोगे य।
एते तसणिप्पन्ना, दारुगमनुवाइया इतरे ॥६८॥

सुवन्न–रयत–तंव–कंसादीया सव्वे लोहपादा हत्थिदंतमाया, महिसादिसिंगे वा कयं केवलियादि वा पक्कभोगं, एतं सव्वं तसणिप्फणं (इतरं ति) थावरणिप्पणं तं दारुयतंबघडियं भन्नइ, मणिमयं वा, एतेहिं जो भुंजति, तेसु चउलहुं, आणादिया इमे दोसा।

पुढविं पच्छाकम्मे, उस्सुक्कणिमज्जणे य छक्काया।
आणणणयणपवाहण, दरभुत्ते हरिएँ वोच्छेदो ॥६९॥

जेभद्दया गिही, ते पुव्वं चेव संजयट्ठा धेवेतुं छएजा, पंतो पच्छाकम्मं करेति, जाय संजयाण भोजणवेला वा भुंजामो त्ति। उस्सुक्कणसुत्तेसु संजएसु भुंजीहामो त्ति, पुणो णिमज्जणा निमज्जणोवदूणायमणेसु छक्कायविराहणा आणिज्जंतं णिज्जंतं वा भिक्खेज्जा, अवहतं अन्नं पवहावेज्जा, सावूण वा दरभुत्ते मग्गति, तत्थ अदेंतस्स अंतरायदोसा, देंतस्स सकज्जहाणी, साधूहिं वा आणीतं हीरेज्जा पच्छजातणफलएसु अवहडेसु विराधणा वुत्ता सा इह गेहमत्ते भाणियव्वा, सकज्जहाणी, एसु रुट्ठो भणेज्ज मा पुणो संजयाणं देह त्ति वोच्छेदो, जम्हा एए दोसा तम्हा गिहिमत्ते ण भुंजियव्वं॥ नि०चू०१२ उ०।

गिहिय पुं०(गृहिक) गृहस्थीभूते, व्य०२ उ०।

गिहिलिंग न०(गृहिलिङ्ग) गृहस्थानां वेषे, वृ०१ उ०।

गिहिवास पुं०(गृहिवास) अगारवासे, ''गिहिवासे पोक्खे परिआए''। दश०१ चू०।

गिहिवासमज्झ न०(गृहिपाशमध्य) गृहिणां पाशकल्पानां पुत्रकलत्रादीनां मध्ये, ''दुल्लहे खलु भोगी हीणधम्मे'' दश, २चू०।

गिहिसंकिलिट्ठ त्रि०(गृहिसंक्लिष्ट) गृहिसंबन्धिनां द्विपदचतुष्पदधान्यादीनां तृप्तिकरणप्रवृत्ते, प्रव०२ द्वार।

गिहुत्तम न०(गृहोत्तम) गृहाणामुत्तमं गृहोत्तमम्। वरप्रासादे, स०।

गिहेलुय पुं०(गृहैलुक)उम्बरे, नि०चू०१३ उ०। आचा०। देहल्याम्, वाच०।

गीइ स्त्री०(गीति) गै–क्तिन्। गाने, आर्य्याछन्दोभेदे च, वाच०। ''ततो गीतिमिमां जगौ''। आव०१ अ०।

गीतिजुत्तिण्ण त्रि०(गीतियुक्तिज्ञ) गीतिमर्मज्ञे, ''गंधारे गीतिजुत्तिणवज्जवित्तिकलाहियं''। स्था०७ ठा०।

गीतिका स्त्री०(गीतिका) पूर्वार्द्धसदृशापरार्द्धलक्षणायामार्य्यायाम्, जं०२ वक्ष०। "ताहे इमो गीतियां पगिया सुद्ध गाइयां सुद्ध वाइयं"। आव०४ अ०। औ०कलाभेदे, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०।

गीय न०(गीत) गै भावे क्तः। गाने, जं०२ वक्ष०। प्रश्न०। जी०। उत्त०। ज्ञा०। कर्म्मणि क्तः। ध्रुवकादिछन्दोनिबद्धे, बृ०१ उ०। नाट्यवर्जिते, औ०। तातच्छलिते, जीत०। गेये, प्रश्न०५ सम्ब०द्वार। गीतं पदस्वरतालावधानात्मकं गान्धर्वमिति भरतादिशास्त्रवचनात्। जं०। तं०। त्रिविधं गीतम्–तथा गीतकला, सा च निबन्धानमार्गश्छलिकमार्गभिन्नमार्गभेदात् त्रिधा। तत्र "सप्त स्वरास्त्रयो ग्रामाः, मूर्च्छना एकविंशतिः। तानाएकोनपञ्चाशत्, समाप्तं स्वरमण्डलम्"॥१॥ इयञ्च विशाखिलशास्त्रादवसेयेति। स०७२ सम०।

स्वरप्रपूरणानन्तरम्–

सत्त स्सरा क ओ वा, हवंति गीयस्स का हवइ जोणी।
कउ समया ओसासा, कउ वा गीयस्स आगारा ? ॥१९॥
सत्त सरा नाभीओ, हवेति गीयं च रुइयाजोणि उ।
पायसभा ऊसासा, तिण्णि य गीतस्स आगारा॥२०॥
आईमउयारभंती, समुव्वहंता य मज्झयारम्मि।
अवसाणे उज्जुत्ता, तिन्नि वि गीयस्स आगारा॥२१॥

इदानीं तु तद्विनिर्गतेभ्यो भरतविशाखिलादिशास्त्रेभ्यो विज्ञेया इति "सत्त स्सरा कओ गाहा" इह चत्पवारः प्रश्नसूत्राः। कुतः इति कस्मात् स्थानात् सप्त स्वरा उत्पद्यन्ते, का योनिरिति का जातिः, तथा कति समया येषु ते कतिसमया उच्छ्वासाः किंपरिमाणकाला इत्यर्थः। तथा आकाराः आकृतयः, स्वरूपाणीत्यर्थः। उत्तरमाह–"सत्त सरा नाभीओ" इत्यादि गाथा स्पष्टा, नवरं रुदितं योनिः समानरूपतया जातितर्यस्य तदा रुदितयोनिकम्,(पायसमा उच्छासा) यावद्भिः समयैर्वृत्तस्य पादः समाप्यते तावत्समया उच्छ्वासा गीतेभवन्तीत्यर्थः। आकारानाह–(आईगाहा) त्रयो गीतस्याकाराः स्वरूपविशेषलक्षणा भवन्ति इति पर्यन्ते संबन्धः। किं कुर्वाणा इति ?आह(आरभं त्ति) आरम्भमाणाः गीतमिति गम्यते, कथंभूतमित्यादि (आइमउ त्ति) आदौ प्रथमतो मृदु कीमलम् आदिमृदु, तथा समुद्वहन्तश्च कुर्वन्तश्च महता, गीतध्वनेरिति गम्यते। मध्याकारे मध्यभागे तथा अवसाने च क्षपयन्तो गीतध्वनिं मन्द्रीकुर्वन्ते इत्यर्थः। आदौ मृदु मध्ये तारं पर्यन्ते मन्दं गीतं कर्त्तव्यम्, अत एते मृदुतादयस्त्रयो गीतस्याकारा भवन्तीति तात्पर्यम्।

किन्तु

छद्दोसे अट्ठगुणे, तिण्णि अवित्ताइ दोइ भणिईओ।
जो नाही सो गाइहि, सुसिक्खिओ रंगमज्झम्मि॥२२॥
भीअं दुअमुप्पिथं, उत्तालं च कमसो मुणेअव्वं।
कागस्सरमणुणासं, छद्दोसा होंति गेअस्स॥२३॥

षड् दोषा वर्जनीयाः, तानाह–भीतमुत्त्रस्तमानसं यद् गीयते इत्यको दोषः १ द्रुतं त्वरितम् २ 'उप्पित्थं श्वासयुक्तं, त्वरितं च। पाठान्तरेण "रहस्स ति" ह्रस्वस्वरं, लघुशब्दमित्यर्थः। उत्तालमुत्प्राबल्यार्थे अतितालवस्थानतालं चेत्यर्थः। तालघु कंसिकादिशब्दविशेषः ४ काकस्वरमश्लक्ष्णश्राव्यस्वरम् ५, अनुनासं नासाकृतस्वरम् ६, एते षड् दोषा गीतस्य भवन्ति।

अष्टौ गुणानाह–

पुण्णं रत्तं च अलं–किअं च वत्त च तहेवमविघुट्ठं।
महुरं समं सुललिअं, अट्ठ गुणा होंति गेअस्स॥२४॥
उरकंठसिरविसुद्धं, च गीयते मउअरिभिअपदवद्धं।
समतालपडुखेवं, सत्तस्सरसीभरं गेअं॥२५॥
अक्खरसमं पदसमं, तालसमलयसमगहसमं वावि।
नीससि ओससिअसमं, संचारसमं सरा सत्त॥२६॥

स्वरकलाभिः सर्वाभिरपि युक्तं कुर्वतः पूर्णम् १, गेयरागेण रक्तस्य भावितस्य रक्तम् २, अन्यान्यस्फुटशुभस्वरविशेषाणां करणादलङ्कृतम् ३, अक्षरस्वरस्फुटकरणाद्यक्तम् ४, विक्रोशनमिव यद्विस्वरं न भवति तदविघुष्टम् ५, मधुमत्तकोकिलारूतरुवन् मधुरस्वरम् ६, तालवंशस्वरादिसमत्वगतं समम् ७, स्वरघोलनाप्रकारेण शुद्धातिशयेन ललतीय यत् सुकुमालं तत् सुललितम् ८। एते अष्टौ गुणा गीतस्य भवन्ति, एतद्विरहितं तु विमम्बनमात्रमेव तदिति। किञ्चोपलक्षणत्वादन्येऽपि गीतगुणा भवन्ति, तानाह–चकारो गेयगुणान्तरसमुच्चयार्थः। उरःकण्ठशिरोविशुद्धं च। अयमर्थः–यद्युरसि स्वरो विशालस्तह्युरोविशुद्धं,कण्ठे यदि स्वरो वर्तितोऽतिस्फुटश्च तदा कण्ठविशुद्धम्, शिरसि प्राप्तोयदि नाऽनुनासिकस्ततः शिरोविशुद्धम्। अथ वा उरःकण्ठशिरस्सु श्लेष्मणाऽव्याकुलेषु विशुद्धेषु प्रशस्तेषु यन्नीयते तदुरःकण्ठशिरोविशुद्धं, गीयते, गेयमिति सबध्यते। किंविशिष्टमित्याह–मृदुकं मृदुनाऽनिष्ठुरेण स्वरेण यद्गीयते तन्मृदुकं, यत्राक्षरेषु घोलनया संचरन् स्वरो भवतीति घोलनाबहुलं रिभितं, गेयपदैर्बद्धं विशिष्टविरचनया रचितं पदं च द्वन्द्वः ततश्च पदत्रयस्य कर्मधारयः।(समतालपडुखेवं ति) तालशब्देन हस्ततालसमुत्थः, उपचाराच्छब्दो विवक्षितः, मुरजकांसिकादिगीतोपकाराऽऽतोद्यानां ध्वनिः प्रत्युत्क्षेपः, नर्त्तकीपदप्रक्षेपलक्षणो वा प्रत्युत्क्षेपः, समौ गीतस्वरेण तालप्रत्युत्क्षेपौ यत्र तत्समतालप्रत्युत्क्षेपम्। (सत्तसरसीभरं ति) अक्षरादिभिः समं यत्र तत्सप्तस्वरसीभरं गीतमिति। ते चामि सप्त स्वराः–(अक्खरसमं गाहा) यत्र दीर्घेऽक्षरे दीर्घो गीतस्वरः क्रियते, ह्रस्वे ह्रस्वः, प्लुते प्लुतः, सानुनासिके तु सानुनासिकः तदक्षरसमं, यद्गीतपदं यत्र स्वरे अनुपाति भवति तत्रैव गीते गीयते तत्पदसमं, यत्परस्परामिहतहस्ततालस्वरानुसारेण गीयते तत्तालसमं, शृङ्गदार्वाद्यन्यतरवस्तुमेयनाङ्गुलीकोशकेन समाहततन्त्रीस्वरप्रकारो लयः, तमनुसरता स्वरेण यद्गीयते तल्लयसमं, प्रथमतो वंशतन्त्र्यादिभिर्यः स्वरो गृहीतस्तत्समानस्वरेण गीयमानं ग्रहसमं, निःश्वसितोच्छ्वासितमानमनतिक्रमती यद्गेयं तन्निःश्वसितोच्छ्वसितसमं, वंशतन्त्र्यादिष्वेवाङ्गुलिसंचारसमं यद्गीयते तत्संचारसमम्। एवमेते स्वराः सप्त भवन्ति। इदमुक्तं भवति–एकोऽपि गीतस्वरोऽक्षरपदादिभिः सप्तभिः स्थानैः सहसामस्त्यं प्रतिपद्यमानः सप्तधात्वमनुभवतीत्येते सप्त स्वरा अक्षरादिभिः समा दर्शिता भवन्तीति गीतचयः सूत्रबन्धः।

सोऽष्टगुण एव कर्त्तव्य इत्याह–

निद्दोसं सारमंतं च, हेऊजुत्तमलंकियं।

उवणीअं सोवयारं च, मियं महुरमेव य ॥२५॥
समं अद्धसमं चेव, सव्वत्थ विसमं य जं।
तिन्नि वित्तपया होंति, चउत्थं नोवलब्भइ ॥२६॥
सक्कया पायया चेव, भणिई होंति दोण्णि वा।
सरमंडलम्मि गीयंते, पसत्था इसिभासिया ॥२७॥
केसी गायइ महुरं, केसी गायइ खरं च रुक्खं च।
केसी गायति चउरं, केसी अविलंबितं दुतं केसी ?॥२८॥
गोरी गायति महुरं, सामा गायति खरं च रुक्खं च।
काली गायति चउरं, काणा अविलंबिअं दुतं अंधा ॥२९॥

(निद्दोसमित्यादि) तत्र 'अलियमुवघायजणयमित्यादि' द्वात्रिंशत् सूत्रदोषरहितं निर्दोषम् १, विशिष्टार्थयुक्तं सारमन्तं २, गीतनिबद्धार्थगमकहहेतुयुक्ततया दृष्टं। हेतुयुक्तम् उपमाद्यलङ्कारयुक्तमलङ्कृतम् ४, उपसंहारोपनययुक्तमुपनीतम् ५, अनिष्ठुराविशुद्धालज्जनीयार्थवाचकं सानुप्रासं वा सोपचारम् ६, अतिवचनविस्तररहितं संक्षिप्ताक्षरं मितं ७, मधुरं श्रव्यशब्दार्थं ८, गेयं भवतीति शेषः। ''तिण्णि य वित्ताइं ति (?) यदुक्तं तत्राह–(सममित्यादि) यत्र वृत्ते चतुर्ष्वपि पादेषु संख्यया समान्यक्षराणि भवन्ति तत् समं, यत्र प्रथमतृतीययोर्द्वितीयचतुर्थयोश्च पादयोरक्षरसंख्यासमत्वं तदर्धसमं, यत्तु सर्वत्र सर्वपादेष्वक्षरसंख्या वैषम्योपेतं तद्विषमम् (जं ति) यस्माद्वृत्तं भवतीति शेषः। तस्मात् त्रय एव वृत्तप्रकारा भवन्ति, चतुर्थस्तु प्रकारो नोपलभ्यते, असत्त्वादित्यर्थः। एवमन्यथाऽप्यविरोधेन व्याख्येयमिदमिति। ''दुण्णि य मणिओ त्ति'' (?) यदुक्तं तत्राह–(सक्कएत्यादि) भणितिर्भाषा, स्वरमण्डले षड्जादिस्वरसमूहे, शेषं कण्ठम्। गीतविचारप्रस्तावादिदमपि पृच्छति– ''केसी गायइ'' इत्यादि प्रश्नगाथा सुगमं, नवरं (केस त्ति) कीदृशी, स्त्री इत्यर्थः। (खरंति) खारिस्थनिं, रूक्षं प्रतीतं, चतुरं दक्षमविलम्बितं परिमन्थरं, द्रुत शीघ्रमिति। ''विस्सरं पुण केरिसि त्ति'' गाथाद्विकमिदम् (?) अत्र क्रमेणोत्तरमाह–(गोरी गायइ महुरमित्यादि) अत्रापि ''विस्सरं पुण पिंगल त्ति'' गाथाद्विकमेव, (?) व्याख्या सुकरैव, नवरं पिङ्गला कपिला इत्यर्थः। समस्तस्वरमण्डलसंक्षेपाभिधानै, अनु० जं० जी० आ०म०। ''अप्पेगइया चउव्विहं गीयं गायंति–क्खित्तं पयतं मंदरोइयावसाणं'' आ०चू० १ अ० रा०। गीयं विलबियं (इति वदति स्वयंबुद्धः) गीतं विलसितं (इति वदति महाबलः) आ०म०प्र०। तत्परिज्ञात्मके कलाभेदे, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०। कल्प०। ध्वनिते, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०। शब्दिते, षो०१० विव०। कथिते, षो०१ विव०। प्रसिद्धे, संथा०। विज्ञातकृत्याऽकृत्यलक्षणार्थे, प्रव१०२ द्वार। सूत्रार्थावहिते, वृ०१ उ०। गीतार्थे, व्य०१ उ०।

गीयजस पुं०(गीतयशस्) गन्धर्वाणां द्वितीये इन्द्रे, स्था०२ठा०३ उ०। भ०। औ०। प्रज्ञा०। ('अग्गमहिसी' शब्दे प्रथमभागे १७१ पृष्ठे अस्य अग्रसहिष्य उक्ताः)। वले, गन्धर्वानीकाधिपतौ च। स्था०७ ठा०।

गीयत्थ पुं०(गीतार्थ) गीतो विज्ञातकृत्याकृत्यलक्षणोऽर्थो येन स गीतार्थः। बहुश्रुते, प्रव०१०२ द्वार। अधिगतनिशीथादिश्रुतसूत्रार्थे, ध०३ अधि००। सूत्रार्थविदि, पञ्चा०१० विव०। द्वा०। पं०व०। दर्श०। नि०चू०। आव०। विशे०।

अधुना गीतार्थस्य स्वरूपमाह–

उद्धावणापहावण खेत्तोवहिमग्गणासु अविसादि।
सुत्तत्थ तदुभयविऊ, गीयत्था एरिसा हुंति ॥

उत्प्राबल्येन धावनमुद्धावनं, प्राकृतत्वाच्च स्त्रीत्वानिर्देशः। किमुक्तं भवति ?–तथाविधे गच्छप्रयोजने समुत्पन्ने आचार्येण संदिष्टो असंदिष्टो वा आचार्यान् विज्ञप्य यथैतत्कार्यमीहं करिष्यामिति तस्य कार्यस्यात्मानुग्रहबुद्ध्या करणं उद्धावनम्, शीघ्रं तस्य कार्यस्य निष्पादनं प्रधावनं, क्षेत्रमार्गणं क्षेत्रप्रत्युपेक्षणा, उपधिरुत्पादना, एतासु येऽविषादिनो विषादं न गच्छन्ति, तथा सूत्रार्थतदुभयविदः, अन्था हेयोपादेयपरिज्ञानायोगात्। ते एतादृशा एवंविधाः, गीतार्थाः गणावच्छेदिन इत्यर्थः। व्य०१ उ०। ''गीयत्थो य विहारो'' ग०१ अधि०।

गीयं मुणितेगट्ठं, विदियत्थं खलु वयंति गीयत्थं।
गीएण य अत्थेण य, गीयत्थो वा सुयं गीतं ॥

गीतं मुणितमिति चैकार्थम् ततश्च विदितो मुणितः परिज्ञातोऽर्थः छेदसूत्रस्य येन तं विदितार्थं खलु वदन्ति गीतार्थम्, यद्वा गीतेन च अर्थेन च यो युक्तः स गीतार्थो भण्यते, गीतार्थावस्य विद्येते इति अभ्रादित्वादप्रत्ययः। अथ गीतं किमुच्यते ? अत आह–श्रुतं सूत्रं गीतामित्यभिधीयते।

एतदेव भावयति–

गीएण होइ गीई, अत्थी अत्थेण होइ नायव्वो।
गीएण य अत्येण य, गीयत्थं तं विजाणाहि ॥

('विहीर' शब्दे एतद् व्याख्यास्यते) ग०१ अधि०। पञ्चा०। वृ०। व्य०। ध०।प्रति०। पं०व०। प्रव०। पूर्वं चतुर्दशपूर्वी गीतार्थोऽभवत्, इदानीं प्रकल्पधारी भवति। व्य०३ उ०।

अथ गीतार्थोपदेशः सर्वोऽपि सूखावहो भवतीत्याह–

गीअत्थस्स वयणेणं, विसं हालाहलं पिवे।
अविकप्पो अ भक्खिज्जा, तक्खणे जं समुद्दवे ॥४४॥
परमत्थओ विसं नो तं, अमयरसायणं खु तं।
निव्विकप्पणसंसारे, मओ वि अमयस्समो ॥४५॥

गीतार्थस्य वचनेनोपदेशे तद्विषं गरलं, किंभूतं ?–हीलाहलं स्थावरविषभेदरूपं, निर्विकल्पो गतशङ्कः सन् सुधीः पिवेत्, भक्षयेच्च, तत्र द्रवरूपं पिवेत्, अद्धवं तु भक्षेत्। तत्किम् ?–यद्विषं तत्क्षणे भक्षणक्षणे एव समुद्रावयेत्, मारयेत् इत्यर्थः। विषभक्षणहेतुमाह–परमार्थतस्तद् गीतार्थोपदिष्टं विषं न स्यात् 'खु' निश्चितं तद्विषम् अमृतरसायनममृतमेव रसायनं जराव्याधिजिदौषधम्, अमृतरसायनं, हितकारीत्यर्थः। यद्विषं निर्विघ्नं करोति तद्विषं न मारयति। यतः स मृतोऽपि मरणं प्राप्तोऽपि अमृतः, स जीवन्नेव भवतीत्यर्थः। गीतार्थोपदेशेन विषभक्षणस्याप्यायतौ शाश्वतसुखहेतुत्वादिति प्रसङ्गा रद्वीतार्थ-संविग्नयोरत्र चतुर्भङ्गी– ''संविग्गए नाम एगे नो गीअत्था १, नो संविग्गा नाम एगे गीयत्था २, संविग्गा नाम एगे गीयत्था वि०३ नो० संविग्गा नाम एगे नो गीयत्था वि ४। तत्थ नन ताव पढमभंगिल्ला धम्मायरिया, जओ नाम किं तेण संविग्गेणं जो गीयत्थत्तविरहिओ।

''जओ सुयं पढमं तओ दया, एवं चिट्ठइ सव्वसंजए।
अन्नाणी किं काही, किं वा णाही छेयपावगं ?॥१॥

तहा–''जा हेउवायवक्खम्मि, हेउओ आगमे य आगमिओ।

सो ससमयपन्नवओ, सिद्धंतविराहगो अन्नो ॥१॥

उस्सग्गसुयं किंची, किंची अववाइयं भवे सुत्तं।

तदुभयसुत्तं किंची, सुत्तस्स गमा मुणेयव्वा ॥२॥

सावज्जणवज्जाणं, वयणाणं जो न जाणइ विसेसं।

वुत्तुं पि तस्स न खमं किमंग ! पुण देसणं काउं ? ॥३॥

''जे आगमरहस्सविगला वि होऊण गच्छं परियट्टंति बाहिं बहुस्सुयाणुगीइं कुव्वंता वि न ते भवंधकूवाओ जावाणं उत्तारणाय अलं। किं बहुणा–छम्मासियाइदुक्करकारियारओ विअगीयत्थो गुरू विसं व विसहरु व्व खलसंगु व्व कुलडासंबंधु व्व भीमसाणं व दुस्सहियपिसाउ व्व उज्झमाणमहारन्नं व परिहरिय व्व त्ति। एष प्रथमभङ्गः॥१॥ तहा अन्ने गीयत्था नो संविग्गा, तत्थ वि किं नाम तेण सुएण अत्थेण वा णाएण न जम्हा संवेगो आयारो वा पयट्टइ, केवलं गलतालुसोसणफलं। जओ– ''जहा खरो चंदणभारवाही, भारस्स भागी न हु चंदणस्स। एवं खु नाणी चरणेण हीनो, नाणस्स भागी न हु सग्गईए''॥१॥

तहा–

''आउज्जनट्टकुसला, वि नट्टिया तं जणं न तोसेइ।

जोगं अजुंजमाणी, निंदं खिंसं च सा लहइ ॥१॥

इय लिंगनाणसहिओ, काइयजोगं न जुंजई जो उ।

न लहइ स मुक्खसुक्खं लहइ य निंद सपक्खाओ ॥२॥

जाणंतो वुड्डइ सोए, एवं नाणी चरणहीओ '' ॥३॥

''जह साली महया परिस्समेण निष्फादइत्ता कुट्ठागारे छुभित्ता जइ तेहि सालीहिं खज्जपिज्जाइओ उवभोगो न कीरइ, तो सालिसंगहो अफलो हवइ, अह तेहिं उवभोगो कीरइ, तो सफलो भवइ, तो एवं नाणेण नाऊण हेयमुवादेयं च वत्थुं हेयं हिच्चा उवादेए पयट्टिज्जति, अहवा इत्थ संविग्गपक्खवाई सुद्धपरूवगो वंदइ, न य वंदावेइ, इच्चाइगुणगणसंगओ भवइ, तओ आगामियत्ताए सुलभबोहियत्तेण आराहगो भवइ। एष द्वितीयो भङ्गः २। जे ते संविग्गा गीयत्था, ते नाणसंपयासंप उत्तयाए चरणगुणप्पहाणयाए आराहगत्तेण धम्मायरियत्तं गुरू भणइ–सोम ! सुणसु वट्टमाणे काले जं नाणं वट्टइ, तस्स सुतत्थेहिं सुत्थेहिं सुत्तत्थाओ गहियट्ठा पत्तट्ठा विनिच्छिट्ठा गीयत्था दूसमत्थे वट्टाईण मणुभावओ वीरियमगोवित्ता संविग्गा''॥

जओ सुयं–

''को वा तहा समत्थो, जह तेहिं कयं तु धीरपुरिसेहिं।

जहसत्ती पुण कीरइ, दढप्पइन्ना हवइ एवं ॥१॥

कालोचियजयणाए, मच्छररहियाण उज्जमंताण।

जणजत्तारहियाणं, होइ जइत्तं जइण सया''॥२॥

जं पुण जयंताणं वि पमायबहुलत्तयाए कह वि खलियं, न तेण चारित्तविराहणा। जओ–''कटयपहि व्व क्खलणा, तुल्ला हुज्जा पमायछलणाओ। जयणावओ वि मुणिणो, चारित्तं ऊ ण सा हणइ'' ॥१॥ तहा– अववायपयालंबणे विसुद्धचरणे चेव जहा काउस्सग्गो उस्सग्गओ उद्धट्ठाणेण कायव्वो, अववाएण अतरंतो उ निसन्नो करिज्जा, तह वि हु असहू निसन्नो उसंवाहुवस्सए वा कारणे सहू वि य निसन्नो'' इत्यादि श्राद्धप्रतिक्रमणचूर्णिगतमिति। एष तृतीयो भङ्गः ३। ये तु न संविग्ना न गीतार्था ज्ञानक्रियो भयविकलाः केवलं लिङ्गमात्रोपजीविनो धर्मस्यानाराधकृत्वे न न ते धर्माचार्य्या इत्येष चतुर्थो भङ्ग ४। अत्र तु तृतीयेनाधिकारः॥ इति अनुष्टुप्विषमाक्षरेति गाथाछन्दसी ॥४४॥४५॥ ग०२ अधि०। महा०।

गीतीर्थसमाचरणं प्रमाणम्–

अवलंविऊण कज्जं, जं किंचि समायरंति गीयत्था।

थोवावराह बहुगुण, सव्वेसिं तं पमाणं तु ॥७९॥

अवलम्ब्याऽऽश्रित्य कार्यं यत्किञ्चिदाचरन्ति सेवन्ति गीतार्था आगमविदः, स्तोकापराधं बहुगुणं मासकल्पविहारवत् सर्वेषां जिनमतानुसारिणां तत्प्रमाणमेव, उत्सर्गापवादरूपत्वादागमस्येति गाथार्थः।

ण य किंचि अणुन्नाणयं, पडिसिद्धं वावि जिणवरिंदेहिं।

तित्थगराणं आणा, कज्जे सच्चेण होअव्वं ॥८०॥

नैव किञ्चिदनुज्ञातमेकान्तके प्रतिषिद्धं वापि जिनवरेन्द्रैर्भगवद्भिः, किन्तु तीर्थकराणामाज्ञा इयु यदुत कार्ये सत्येन भवितव्यं , न मातृस्थानतो यस्किञ्चिदवलम्बनीयमिति गाथार्थः ॥८०॥

किमित्येतदेवमित्याह–

दोसा जेण निरंभं-ति जेण खिज्जंति पुव्वकम्माइं

सेसा मोक्खोवाओ, रोगावत्थासु समणं व ॥८१॥

दोषा रागादयो येन निरुध्यन्ते अनुष्ठानविशेषेण येन क्षीयन्ते पूर्वकर्म्माणि, शेषाणि ज्ञानावरणादीनि, एषोऽनुष्ठानविशेषो मोक्षोपायः। दृष्टान्तमाह–रोगावस्थासु शमनमिव औषधानुष्ठानमिति। उक्तं च भिषग्वरशास्त्रे–''उत्पद्येत हि साऽवस्था, देशकालामयान् प्रति। यस्माकार्यं कार्यं स्यात्, कर्म्म कार्यं च वर्जयेत्'' ॥१॥ इति गाथार्थः ॥८१॥ पं०व०२ द्वार। ध०र०। (गीतार्थः केवलितुल्य इति ''गच्छसारणा'' शब्देऽत्रैव भगे ८०६ पृष्ठे प्ररूपितम् (गीतार्थस्या-गीतार्थस्येव प्रायश्चित्तं 'पच्छित्तदाण' व्याख्यावसारे) सदनुष्ठायिनि, दर्श०। पूर्वसूरौ, जी०१ प्रति०। संथा०। नगरस्थितवृद्धलघुगीतार्थैः शाखापुरे शय्यातरगृहं कृतं, तत्रस्थगीतार्थैस्तद्गृहे आहारादिकं ग्राह्यं, न वा ?। तथा–शाखापुरस्थगीतार्थैर्नगरमध्ये शय्यातरगृहं कृतं भवति तदा–तत्रस्यगीतार्थैस्तद्गृहे आहारादिकं ग्राह्यं, न वा? तथा क्रोशत्रयावधि वृद्धगीतार्थैः शय्यातरगृहं कृतं तत्पालनीय न वेति प्रश्ने, उत्तरम्–नगरस्थितगीतार्थैः शाखापुरे शय्यातरगृहं कृतं भवति तदा तद्गृहे नगरस्थगीतार्थादिभिस्तत्रस्थगीतार्थादिभिस्तत्रस्थसाधुभिश्चा-हारादिकं न ग्राह्यं, तथा शाखापुरस्थगीतार्थैर्नगरमध्ये शय्यातरगृहं कृतं भवति तदा तद्गृहे तत्रस्थसाधुभिः शाखापुरस्थसाधुभिश्चाहारादिकं न ग्राह्यं, परं परस्परं तद् गृहं ज्ञापनीयं, तथा–क्रोशत्रयावधि वृद्धकृतशय्यातरगृहं मुख्यवृत्त्या सर्वैरपि साधुभिः पालितं युज्यते, परमधुना स विधिः सत्यापयितुं न शक्यते, तथापि यदा ज्ञायते तदा सत्याप्यते इति परम्पराऽस्तीति। किं चयत्रोषितास्ततः स्थानात् यस्यां वेलायां निर्गता द्वितीयदने तावत्या वेलायाः परतोऽशय्यातरो भवतीत्यावश्यकटिप्पनके इति ज्ञेयम्। ५३० प्र० सेन०३ उल्ला०।

गीयत्थणिस्सिय त्रि०(गीतार्थनिश्रित) गीतार्थसुयुक्मे बहुश्रुतसमन्विते गीतार्थे, पञ्चा०११ विव०। व्य०। प्रव०। षो०

गीयत्थपरिग्गह पुं०(गीतार्थपरिग्रह) गीतार्थपरिगृहीते, व्य०४ उ०।

गीयमाण न०(गीतमान) सङ्गीतशास्त्रपरिज्ञानात्मके कलाभेदे, कल्प०७ क्षण।

गीयरइ स्त्री०(गीतरति) गीतेन क्रीडायाम्, औ०। गन्धर्वाणामिन्द्रे, भ०३ श०८ उ०। स्था०।(गीतरतेरग्रहमहिष्यः'अग्गमहिसी' शब्दे प्रथमभागे १७१ पृष्ठे उक्ताः)। गन्धर्वानीकाधिपतौ, स्था०७ ठा०। गीते रतिर्यस्य सः। गीतप्रिये, जी०३ प्रति। गीतेन या रती रमणं क्रीडा सा प्रिया येषां, गीतरतयो वा लोका येषां ते तथा। औ०। ''गीयरई गंधव्वनट्टकुसला'' गीतरतिश्चायौ गन्धर्वनाट्यकुशला चेति समासः। गन्धर्वं नृत्तयुक्तं गीतं, नाट्यं तु नृत्तमेवेति। विपा०१ श्रु०२ अ०। गीते रतिर्येषां ते गीतरतयः, गन्धर्वं नाट्यादि, तत्र हर्षितमनसो गन्धर्वहर्षितमनसः, ततः पूर्वपदेन विशेषणसमासः, तेषाम्। जी०४ प्रति०।

गीयवाइय न०(गीतवादित) गेयवाद्ये''एचियमिह गीयवाइय–मुचियाण वयाइ पडिहि जं रम्मं''। पञ्चा०६ विव०।

गीयविहि पुं०(गीतविधि) गीतं गानं तद्विधयः। कोकिलारुतानुकारित्वादिषु, काकस्वरानुविधायित्वादिषु च। उत्त०१ अ०।

गीयसद्द पुं०(गीमशब्द) पञ्चमरागादिहुङ्काररूपे गेये, उत्त०१६ अ०।

गीयणाकरण न०(गीताज्ञाकरण) आगमज्ञवचनाऽऽसेवने, पञ्च०४ द्वार।

गीवा स्त्री०(ग्रीवा) कण्ठे, औ०। कन्धरायाम्, को०।

गुंछ पुं०(गुच्छ) **'वक्रादावन्तः'** ।८।१।२६। इत्यनुस्वारागमः। स्तवके, प्रा०१ पाद।

गुंछा (देशी) विन्दौ, अधमे, श्मश्रुणि च। दे० ना०२ वर्ग।

गुंज धा०(हस) धा०भ्वा०। हासे, **''हसेर्गुञ्जः''।८।४।१९६।** इति हसेर्गुञ्जादेशः। 'गुञ्जइ' 'हसइ' हसति। प्रा०४ पाद।

गुंजइ (देशी) हास्यकर्तरि, दे०ना०२ वर्ग।

गुंजंत त्रि०(गुञ्जत्) शब्दविशयं विदधाने, जं०१ वक्ष०। औ०। ज्ञा०। ''गुंजंतवंसं कुरुरोवगूढं'' रा०।

गुंजद्ध न०(गुञ्जार्द्ध) गुञ्जाया अर्द्धं कृष्णभागादन्यभागलक्षणम्। गुञ्जाया रक्तभागे, कल्प०३ क्षण।

गुंजद्धराग पुं०(गुञ्जार्द्धराग) गुञ्जाया हि अर्द्धमतिरक्तं भवति, अर्द्धमतिकृष्णं ततो गुञ्जार्द्धग्रहणम्। ''गुंजद्धराग इति वा'' जी०३ प्रति०। रा०।

गुंजा स्त्री०(गुञ्जा) गुञ्जने, रा०। ''गुंजाचंककुहरोवगूढं''। गुञ्जनं गुञ्जा प्रधानानि यानि अचक्राणि शब्दमार्गाप्रतिकूलानि कुहराणा तेषूपगूढं गुञ्जाऽचक्रकुहरोपगूढम्। किमुक्तं भवति ?तेषां देवकुमाराणां देवकुमारिकाणां च तस्मिन् प्रेक्षागृहमण्डपे गायतां गीतं तेषु प्रेक्षागृहमण्डपसत्केषु च कुहरेषु स्वानिरूपाणि प्रतिशब्दसहस्राण्युत्थापयद्वर्तते इति। रा०। भम्मायाम्, आचा०१ श्रु०१ अ०७ उ०। चणोट्ठियाख्याये, अनु०। रक्तकृष्णफलविशेषे, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०। प्रज्ञा०। अनु०। धान्यमाषफलद्वयपरिच्छिन्ने, स्था०८ ठा०। प्रतिमाने, स्था०४ ठा०१ उ०। ज्यो०। ''गुञ्जैका तु यवैस्त्रिभिः'' तं०। कलध्वनौ, चर्चायाम्, वाच०।

गुंजालिया स्त्री०(गुञ्जालिका) वैक्रसारण्याम्, प्रश्न०५ सुब०द्वार। जं०। जी०। प्रज्ञा०। भ०। औ० अनु०। ''पुक्खरिणिओ वा मंडलिसंठियाओ अन्नोन्नकवाडसंजताओ गुंजालिआ भन्नंति'' नि०चू०१२ उ०। गुञ्जालिका दीर्घा गम्भीराः कुटिलाः। आचा०२ श्रु०३ अ०३ उ०। वक्रनद्याम् प्रज्ञा०११ पद। रा०।

गुंजावाय पुं०(गुञ्जावात) गुञ्जा भम्मा तद्वदुञ्जन् यो वाति स गुञ्जावातः। आचा०१ श्रु०१ अ०७ उ०। शब्दं कुर्वन् वाति। वायुकायभेदे, जी०१ प्रति। भ०। प्रज्ञा०।

गुंजिय न०(गुञ्जित) गुञ्जावदुञ्जमाने महाध्वनौ, आव०४ अ०। नि०चू०। आ०चू०।

गुंजेल्लिअ (देशी) पिण्डीकृते, दे०ना०२ वर्ग।

गुंजोल्ल धा०(उद् लस) उत्कर्षेण लसने उल्लसने, **''उल्लसेरूस-लोसुभं–णिल्लस–पुलआअ–गुंजोल्लारोआः''।८।४।२०२।** इति उल्लसेर्गुञ्जोल्लादेशः। 'गुञ्जोल्लइ'। ह्रस्वत्वे तु 'गुंजुल्लइ',उल्लसति। प्रा०४ पाद। दे०ना०।

गुंठ त्रि०(गुण्ठ) मायाविनि, व्य०३ उ०। नि०चू०।

गुंठसमाण पुं०(गुण्ठसमान) दुर्व्यवहारिभेदे,व्य०।

गुंठामाण पुं०(गुण्ठसमासन) दुर्व्यवहारिभेदे, व्य०।

मरहट्टलाडपुच्छा, केरिसया लाडगुंठ साहिंसु।
पावारगंटिछुभणं, दसिया गणणे पुणो दाणं॥
गुंठाहि एवमादी–हि हरति मोहित्तु तं तु ववहारं।

एको लाटो गन्त्र्या किमपि नगरं व्रजति, अपान्तराले च पथि महाराष्ट्रको मिलितः, तेन लाटस्य पृच्छा कृता। कीदृशाः खलु लाटाः गुण्ठा मायाविनो भवन्ति?। स प्राह–पश्चात्साधयिष्यामि। मार्गे च गच्छतां शीतवेलाऽपगता, ततो नष्टे शीते महाराष्ट्रिकेण प्रावारो गन्त्र्यां क्षिप्तः, तस्य च प्रावारस्य दशका लाटेन गणिताः, ततो नगरप्राप्तौ महाराष्ट्रिकेण प्रावारो ग्रहीतुमारब्धः लाटो ब्रूते–किं मदीयं प्रावारं गृह्णसि ? एवं तयोः परस्परं विवादो जातः। महाराष्ट्रकेण लाटो राजकुले कर्षितः। विवादे लाटोऽवादीत्–पृच्छत महाराष्ट्रकं, यदि तव प्रावारस्तर्हि कथय–कति दशा अस्य सन्ति? महाराष्ट्रिकेण न कथिताः, तेन च कथिता लाटेन, इति महाराष्ट्रिको जितः। ततो राजकुलादपसृत्य लाटेन महाराष्ट्रकमामार्य प्रावारं च तस्मै दत्वा ब्रूते–वरमित्र ! यत्त्वया पृष्टम् कीदृशा लाटा गुण्ठा भवन्तीति तत्रेदृशा लाटा गुण्ठा भवन्तीति। एवमादिभिर्गुण्ठाभिर्मायाभिर्यो मेहयित्वा तं प्रस्तुतं व्यवहारं हरति अपनयति स गुण्ठसमानः। व्य०३ उ०।

गुंडिय त्रि०(गुण्डित) प्रावृते, आचा०१ श्रु०२ अ०१ उ०। व्याप्ते ''सउणी जह पसुगुंभिया'' सूत्र०१ श्रु०२ अ०१ उ०। प्रेरिते, ''वम्मटिवम्मगुंडिता''। प्रश्न०३ आश्र० द्वार। ''सचित्तरयसा गुंडियं गेण्हंति।'' नि०चू०१ उ०।

गुग्गुलु पुं०(गुगुलु) 'गुग्गुलुभरं गहाय मरुयच्छं आगओ'। आव०४ अ०।''गुग्गुलुवयाकरीरयलिंबपंचगमसगणे'' ल०प्र०।

गुच्छ पुं०(गुच्छ(त्स) गु–धा० संप० क्विप् गुतं छ्यति स्याति वा छो सो वा कः। वाच०। पल्लवसमूहे, ज्ञा०१श्रु०१ भ०। जं०। स्तवके, उत्त०। २ अ०। ''निच्चं थवइया निच्चं गुच्छिया'' यद्यपि स्तवकगुच्छयोरविशेषो नामकोशेऽधीतस्तथापीह विशेषो भावनीयः। ज्ञा०१ श्रु०१ अ०। वृन्ताकीकार्पासीजपाआढकी तुलसीकस्तुम्भरी पिप्पलीनील्यादिषु, आचा०१ श्रु०१ अ०४ उ०। जी०। प्रज्ञा०। भ०। औ०। रा०। ज्ञा०। गुलुच्छ पर्याये, है०। सिंघाड्यास्य गुच्छे, प्रज्ञा०।

से किं तं किं गुच्छा ? गुच्छा अणेगविहा पण्णत्ता। तं जहा–
''वइंगिणि सल्लइ पुणु–ई य तह कच्छुरी य जा सुमणा।
रूवी आढइ णीली तुलसी तह माउलिंगी य ॥१॥
कुत्थुंभरि पिप्पलिया, अतसी वल्ली य कायमाईया।
चुण्णपडोला कंदलिया, वाओया वत्थुले वदरे ॥२॥
पत्त उरसी य उरए, हवइ तह तवासए य बोधव्वे।
णिग्गुंमि अक्क तूवरि, आढई चेव तलओडा ॥३॥
सण पाण कासमसद्दद, अग्घाडग साम सिंदुवारे य।
करमद्द अट्ठ रूसग, करीर एरावण महत्थे ॥४॥
जाउल तमाल परिली, गयमारि णिकुव्वकारिया भेंडी।
जावइ केयइ तह गं–ज पाडला दासि अंकोले''॥५॥
ते यावण्णे तहप्पगारा। सेत्तं गुच्छा। प्रज्ञा १ पद।

गुच्छिय त्रि०(गुच्छित) संजातगुच्छे, गुच्छश्च पत्रसमूहः। जं १ वक्ष०। ''निच्चं गुच्छिया''। रा०।

गुज्जर पुं०(गुर्जर) देशभेदे, कल्प०७ क्षण अनु०।

गुज्झ त्रि०(गुह्य) **''साध्वस–ध्य ह्यांज्झः''।८।२।२६।** इति ह्यस्य ज्झः। प्रा० २ पाद। रहस्ये, अन०। प्रश्न०। गृह्यमिव गुह्यम्। लज्जनीयव्यवहारगोपनीये, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०। भ०। लिङ्गे, ध०२ अधि०। मृगीपदे, नि०चू०४ उ०। गोपनीयत्वान्मैथुने, प्रश्न०४ आश्र० द्वार।

गुज्झग पुं०–(गुह्यक) यक्षे, को०। ''अपस्समाणो पस्सामि, देवे अक्खे य गुज्झगे''। स०३० सम। ''केलासभवणा एए गुज्झगा समुवट्ठिया'' स्थ०५ ठा०३ उ०।

गुज्झणुचरिय न०(गुह्यानुचरित) सुरसेविते, दश०७ अ०।

गुज्झदेस पुं०(गुह्यदेश) लिङ्गे, ''सुजायवरतुरगगुज्झदेसा''। प्रश्न० द्वार।

गुज्झभासण न०(गुह्यभाषण) रहस्याभ्याख्याने, मृषावादातिचारे, ध०। गुह्यं गूहनीयं न सर्वस्मै यत्कथनीयं राजादिकार्यसंबद्धं, तस्यानधिकृतेनैवाकारेङ्गितादिभिर्ज्ञात्वाऽन्यस्मै प्रकाशनं गुह्यभाषणं, यथा– एतेहीदमिदं च राजविरुद्धादिकं मन्त्रयन्ते, अथ वा– गुह्यभाषणं पैशुन्यं, यथा द्वयोः प्रीतौ सत्यामेकस्याकारादिनोपलभ्याभिप्रायमितरस्य तथा कथयिति यथा प्रीतिः प्रणश्यति। अस्या प्यतिचारत्वे रहस्याभ्याख्यानवद्धास्यादिनैवेति तृतीषोऽविचारः ध०२ अधि०।

गुज्झसाल न०(गुह्यशाल) रहस्य शालायाम्, नि०चू०८ उ०।

गुज्झहर (देशी) रहस्य भेदिनि, दे०ना०२ वर्ग।

गुज्झाणुचरिय न०(गुह्यानुचरित) यक्षविचरणे, आचा०२ श्रु०४ अ०१ उ०।

गुज्झोकासिय त्रि०(गुह्यवकाशिक) गुह्यभूता लज्जनीयत्वात् स्थगनीया अवकाशा देशाः, अवयवा इत्यर्थः। रहस्येषु, प्रश्न०४ सम्व० द्वार।

गुट्ठमज्झ न०(गोष्ठमध्य) गाकुलान्तरशब्दार्थे, आव०४ अ०।

गुंठ (देशी) अधमहये, उच्छलयति च। दे०ना०२ वर्ग।

गुंठि (देशी) नीरङ्ग्याम्, दे०ना०२ वर्ग।

गुड पुं०(गुड) इक्षुरसक्काथे, ध० अधि०। द्रव्यगुडपिण्डगुडादौ, स्था०४ ठा०१ उ०। गुडो द्विभेदो द्रव्यगुडपिण्डगुडभेदेन। प्रव०४ द्वार। तनुत्राणविशेषे, प्रश्न०३ आश्र० द्वार।

गुडदालिय(देशी) पिण्डीकृते, दे० ना०२ वर्ग।

गुडसत्थ न०(गुडशास्त्र) पुरभेदे यत्र आर्य्यखपुटैर्वट्टकरो यक्षः प्रतिबोधितः। आ०क०('विज्ञसिद्ध' शब्दे वट्टकरयक्ष वक्तव्यता)

गुडिय त्रि०(गुडित) गुडा महत्तनुत्राणविशेषः, सा सञ्जाता येषा ते गुडिताः। गुडेन सञ्जितेषु, विपा०१ रु०३ अ०।

गुंड (देशी) मुस्तोद्भवलचकाख्यतृणे, दे०ना०२ वर्ग।

गुण पुं०न०(गुण) गु–भावे कर्त्तरि वा अच्। **''गुणाद्याः क्लीवे वा'' ॥८।१।३४॥** इति वा क्लीबत्वम्। ''विहवेहिं गुणाइ मग्गंति'' प्रा० १ पाद। धनुषो मौर्व्याम्, वाच०। सूत्रे, विपा०१ श्रु०२ अ०। शुभ्रे, अप्रधाने, हैम०। धर्म्मे, स्था०५ ठा०३ उ०। विशे०। प्रशस्ततायाम् ज्ञा०१ श्रु०१ अ०। यथाऽऽत्मनः जीवस्य स्मृतिजिज्ञासाचिकीर्षाजिगमिषा–शंसीत्यादिज्ञानविशेषः। विशे०। ज्ञानदर्शनचारित्ररूपा वा। उत्त०१६ अ०। आव०। आ०म०। क्षान्त्यादयः। अनु० स०। आचा०। नं०। चारित्रविशेषाः ''सत्तावीसं अणगारगुणा'' स०१ सम०। प्रश्न०। इक्कतीरसं सिद्धाइगुणा'' स०३१ सम०। अष्ट०। गुणव्रतानि। स०। चरित्रवृद्धयादयः। पं० व०३ द्वार। मूलोत्तरगंणाः। सूत्र०२ श्रु६ अ०। भ०। गुणपच्चक्खत्तणओ ''गुणी वि जाओ घमो व्व पच्चखो'' स्था०१ ठा०१ उ०। प्रश्न०। नं०। अष्टादश शीलाङ्गसहस्राणि। सूत्र०१ श्रु०११ अ०। गुणहानिश्च कुशीलसंसर्गात्सरूद्धुणामप्यपासनात् प्रतिदिनं प्रमादपदसेवनात् तथा विधचवारित्रावरणकर्म्मोदयाच्च भवतीति। गुणवृद्धिस्त्वेतद्विपर्ययात् ज्ञा०१ श्रु०१० अ०। महर्द्धिप्राप्त्यादयः। स०। सौभाग्यदयः। भ०२ श०१ उ०। बिपा०। मृदुत्वौदार्य्यादयः। नि०३ वर्ग। विशिष्टर्द्धिप्राप्तिक्षान्त्यादयः। विशे०। ''परोपकारैकरतिर्निरीहता, विनीतता सत्यमनुत्थचित्तता। विद्याविनोदाऽनुदिनं न दीनता, गुणा इमे सत्त्ववतां भवन्ति ॥१॥'' ध०२०। ''नोदन्वानर्थितामेति, न चाम्भोभिर्न पूर्य्यते। आत्मा तु पात्रतां नेयः, पात्रमायान्ति सम्पदः ॥१॥'' नं०। विभवसुखदयो वा। औ०। पुरुषस्य गुणाः सौन्दर्य्यादयः। ज्ञा०१श्रु०

१ अ०। कान्तिलक्षणाः। पुरुषगुणाः ज्ञा०१ श्रु०१ अ०। शौर्यादिलक्षणा वा। श्रा०१ श्रु०१ अ०। व्यायामविक्रमधैर्य्यसत्वादिकाः। सूत्र०१ श्रु०४ अ०१उ०।

विषयसूची

(१) सतां गुणानां नाशदीपनौ।
(२) गुणस्य पञ्चदशधा निक्षेपः।
(३) आवर्तरूपा गुणाः।
(४) मूलस्थानरूपा गुणाः।
(५) द्रव्यपर्यायार्थिकनयभेदेन गुणविचारः।
(६) गुणलक्षणम्।
(७) गुणपर्याययोर्भेदे विचारः।
(८) द्रव्येण सह गुणपर्याययोर्भेदे विचारः।
(९) व्यक्तिरूपयोर्गुणपर्याययोर्वर्णनम्।
(१०) अर्हातसंमतगुणाः।
(११) विशेषगुणानामाख्यानम्।
(१२) स्वमाना एव गुणाः।,

(१) सतां गुणानां नाशनदीपनौ–

चउहिं ठाणेहिं संते गुणे णासेज्जा। तं जहा –कोहेणं, पडिनिवेसेणं अकयणुयाए, मिच्छत्ताहिणितेसणं। चउहिं ठाणेहिं संते गुणे दीवेज्जा। तं जहा– अब्भासवत्तियं, परच्छंदाणुवत्तियं, कज्जहेउं कयपडिकइए इति वा।

अनन्तरं क्रिया उक्तास्तद्वांश्च सदसद्भूतान् परगुणान्नाशयति, प्रकाशयति चंत्येवमर्थं सूत्रद्वयं, तच्च सुगमम्, नवरं सतो विद्यमानान् गुणन्नाशयेदवनाशयेदपलपति। न मन्यते क्रोधेन रोषेण, तथा प्रतिनिवेशेनैष पूज्यते, अहं तु नेत्येवं परपूजाया असहनलक्षणेन, कृतमुपकारं परसंबन्धिनं न जानातीत्यकृतज्ञः, तद्भावस्तत्ता, तया, मिथ्यात्वाभिनिवेशेनेति बोधतिपर्यासेनेति। उक्तं च–''रोसेण पडिनिवेसे ण तह य अकयणुमिच्छभावेणं। संतगुणे नासित्ता, भासइ अगुणे अखंते वा''।१। इति असतोऽविद्यमानान् (क्वचित्संतेति पाठः) तत्र च सतो विद्यमानान् गुणान् दीपयेत्, वदेदित्यर्थः। अभ्यासो हेवाको वर्णनीयाऽऽसन्नता वा प्रत्ययो निमित्तं यत्र दीपेन तदभ्यासप्रत्ययं, दृश्यते अभ्यासान्निर्विषयाऽपि निष्फलाऽपि च प्रवृत्तिः, संनिहितस्य च प्रायेण गुणानामेव ग्रहणमिति, तथा परच्छन्दस्य पराभिप्रायस्यानुवृत्तिरनुवर्त्तना यत्र तत्परच्छन्दानुवृत्तिकं दीपनमेव, तथा कार्यहेतोः, प्रयोजननिमित्तं चिकीर्षितकार्यं प्रत्यानुकूल्यकरणायेत्यर्थः। तथा कृते उपकृते प्रतिकृतं प्रत्युपकारः, तद्यस्यास्ति स कृतप्रतिकृतक इति वा, कृतप्रत्युपकर्त्तेति हेतोरित्यर्थः॥ अथवा कृतप्रतिकृतये इति एके नैकस्योपकृतं गुणा वोत्कीर्तिताः, स तस्यासतोऽपि गुणान् प्रत्युपकारार्थमुत्कीर्तयतीत्यर्थः। इती रूपदर्शने, वा विकल्पे, इदं च गुणनाशनादि शरीरेण क्रियत इति। स्था०४ ठा०४ उ०। (आत्मनो गुणविकत्थनं दोषायेति 'जिणकप्पिय' शब्दे प्रवक्ष्यते)॥ उपकारे, स्था०५ ठा०३ उ०। गुणाः साधनमुपकारकमित्यनर्थान्तरम्। उत्त०१ अ०। ''जो तु गुणो दोसकरो, ण सो गुणो दोस एव सो होति गुणो, जो सुंदरिविच्छओ होति। अगुणो वी होति॥७६६॥'' नि०चू००१६ उ०। गुण्यतेऽभिधत्तेऽन्विष्यते द्रव्यमिति गुणः। शब्उदरूपरयगन्धस्पर्शादिके, आचा०।

(२) तत्र गुणस्य पञ्चदशधा निक्षेपः–

दव्वे खेत्ते काले, फल पज्जव गणण करण अब्भासे।
गुण उअगुणे याऽगुणगुणे, भवसीलगुणो॥७७॥
दव्वगुणो दव्वं चिय, गुप्पाण जं तम्मि संभवो होइ।
सच्चित्ते अच्चित्ते, मीसम्मि य होइ दव्वम्मि॥७८॥
संकुचिय वियसियत्तं, एसे जीवस्सहोइ जीवगुणो।
पूरेइ हंदि लोगं वहूपएसत्तणगुणेणं॥७९॥
देवकुरु ससमसुसमा, सिद्धी निभया दुगाइया चेव।
कला भोयणुज्जुवंके, जीवजीवे य भावम्मि॥८०॥

दव्वे खेत्ते गाहा'' नामगुणः, स्थापनागुणः, द्रव्यगुणः, क्षेत्रगुणः, कालगुणः, फलगुणः, पर्यवगुणः, गणनागुणः, करणगुणः, अभ्यासगुणः, गुणवगुणः, अगुणगुणः, भवगुणः, शीलगुणः, भावगुणश्चेति गाथासमासार्थः। तदेवं सूत्रानुगमेन सूत्रे समुचरिते निक्षेपनिर्युक्त्यनुगमेन तदवयवे निक्षिप्ते सत्युपोद्घातनिर्युक्तेरवसरः। साच 'उद्देसे' इत्यादिना द्वारगाथाद्वयेनानुगन्तव्या॥७७॥ साम्प्रतं सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्तेरवसरः, तत्रापि सुगमनामसथापनाव्युदासेन द्रव्यादिकमाह–(दव्वगुणो गाहा) तत्र द्रव्यगुणो नाम द्रव्यमेव, किमिति, गुणानां यतो गुणिनि तादाभ्येन संभवात्, ननु च द्रव्यगुणयोर्लक्षणविधानभेदाद्भेदः। तथाहि–द्रव्यलक्षणम्''गुणपर्यायद्द्रव्यं''विधानमपि'धर्माधर्माकाशजीवपुद्गलादिकमिति'। गुणनक्षणम्–'द्रव्याश्रयिणः सहवकिर्तनो निर्गुणा गुणा इति'। विधानमपि–'ज्ञानेच्छाद्वेषरूपपरसगन्धस्पर्शादयः स्वगतभेदभिन्ना इति'। नैष दोषो, यत् द्रव्ये सचि चित्ताऽचित्तमिश्र भेदभिन्ने स गुणस्तादात्म्येन स्थितः। तत्राचित्तद्रव्यं द्विधा–अरूपि,रूपि च। तत्रारूपि द्रव्यं त्रिधा धर्म्माऽधर्म्माऽऽकाशभेदभिन्नम्। तच्च गतिस्थित्य व गाहदानलक्षणं, गुणोऽप्यस्यामूर्त्तत्व-गुरुलघुपर्यायलक्षणः, तत्रामूर्त्तत्वं त्रयस्यापिस्वरूपं न भेदेन व्यवस्थितमगुरुलघुपर्यायोऽपि तत्पर्यायत्वादेव,मृदो मृत्पिण्डस्थासकोशकुशूलपर्य्यायवत्, रूपिदव्य मपि स्कन्धतद्देशप्रदेशपरमाणुभेदं, तस्य च रूपादयो गुणाः, अभेदेन व्यवस्थिभेदेनानुपलब्धेः संयोगविभागभावात् स्वात्मवत्, तथा सचित्तमप्युपयोगलक्ष्णलक्षितं जीवद्रव्यं, न च तस्माद्भिन्ना ज्ञानादयो गुणाः तद्भेदे जीवस्याऽचेतनत्वप्रसंगात्। तत् संबन्धाद्गविष्यतीति चेत्, अनुपासितगुरोरिदं वचः। यतो न हि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन पार्यते, नह्यन्धः प्रदीपशतसंबन्धेऽपि रूपावलोकनायाऽलमित्यनयैव दिशा मिश्रद्रव्योपासकत्वसंयोजना स्वबुद्ध्या कार्येति गाथार्थः। तदेवं द्रव्यगुणयोरेकान्तेनैकत्वे प्रतिपादिते सत्याह शिष्यः–तत्किमिदानीमभेदोऽस्तु, न तदप्यस्ति, यतः सर्वथाऽभेदेऽभ्युपगम्यमाने वनस्पत्येकेनैवेन्द्रियेण गुणान्तरस्याप्युपलब्धेरपरेन्द्रियवैफल्यं स्यात्। तथाहि–भूतफलरूपादौ चक्षुराद्युपलभ्यमाने रूपाद्यात्मभूतावयविद्रव्याव्यतिरिक्तरथादेरप्युलब्धिः स्याद्रूपादि स्वरूपवदेव ह्यभेदः स्यात्, यदि रूपादौ समुपलभ्यमानेऽन्येऽपि समुपलभ्येरन्। अन्यथा विरुद्धधर्म्माध्यासाद्विद्येरन् घटपटवदिति, तदेवं भेदाभेदोषपतिभिर्व्याकु-लितमतिः शिष्यः पच्छति–उभयथापि दोषापत्तिदर्शनात्कथं गृह्णीमः ? आचार्या आह–अत एव भेदोऽस्तु तत्राभेदपक्षे द्रव्यगुणभेदपक्षे तु भावो गुण। इति। तथाहि–गुणगुणिनोः पर्यायपर्यायिणोः सामान्यविशेषयोरवयवावयविनोर्भेदाऽभेदव्यवस्था नो नैवात्मभावसद्भावात्।

आह हि–

''दव्वं पज्जवविउयं, दव्वविउत्ता य पज्जवा णऽत्थि।
उप्पायट्ठिइभंगा, हंदि दवियलक्खणं एयं ''॥

''नयास्तव स्यात्पदलाञ्छना इमे, रसोपविष्टा इव लोहधातवः।
भवन्त्यभिप्रेतफला यतस्ततो, भवन्तमार्याः प्रणता हितैषिणः''॥

इत्यादि स्वयूथ्यैरबहु विजृम्भितमित्यलं विस्तरेण। एतदेव निर्युक्तिकारः समस्तद्रव्यप्रधाने जीवद्रव्ये गुणभेदेन व्यवस्थितमाह–(संकुचियगाहा) जीवो हि सयोगिवीर्यसद्द्रव्यतया प्रदेश संहारविसर्गाभ्यां आधारवशात्प्रदीपवत् संकुचति, विकसति च, एष जीवस्यात्मभूतो गुणो, भेदं विनाऽपि तस्योलब्धेः। तद्यथा–राहोः शिरः। शिला पुत्रस्य शरीरमिति। तद्भव एव वा समस्तसमुद्घतवशात् संकुचति, विकसति च। सम्यग् समन्तत उत्प्राबल्येन हननमितश्चेतश्चात्मप्रदेशानां प्रक्षेपणं समुद्घातः। स च कषाय–वेदना–मारणान्तिक– वैक्रिय– तैजसाऽऽहारक–केवलिसमुद्घात–भेदात्सप्तधा। तत्र कषाययसमुद्घातोऽनन्तानुबन्धी क्रोधाद्युपहतचेतस आत्मप्रदेशानामिश्चतेश्च प्रक्षेपः, इत्येवं तीव्रतरवेदनोपहतस्याऽपि वेदना समुद्घातः। मारणान्तिकसमुद्घातो हि मुमूर्षोरसुमत आदित्सितोत्पत्तिप्रदेश आलोकान्तादाऽऽत्मप्रदेशानां भूयो भूयः प्रक्षेपसंहाराविति। वैक्रियसमुद्घातो वैक्रियसमुद्घातो वैक्रियलब्धिमतो वैक्रियोत्पादनाय बहिरात्मप्रदेशप्रक्षेपः, तैज स समुद्घततस्तैजसशरीरनिमित्तं तेजोलेश्यालब्धिमतां तेजोलेश्याप्रक्षेपावसरे इति। आहारकसमु–द्घातश्चतुर्दशपूर्वविदः आहारकलब्धिमतः क्वचित्सन्देहाऽपगमनाय तीर्थकरान्तिकगमनार्थमाहारकशरीरसमुपादातुं बहिरात्मप्रदेश प्रक्षेपः। केवलि समुद्घातं तु समस्तलोकव्यापितयाऽन्तनीतान्य–समुद्घातं निर्युक्तिकारः स्वत एवाचष्टे–पूरयति व्याप्नोति, 'हन्दी' त्युपप्रदर्शने, किं, लोकं चतुर्दशरज्वात्मकमाकाशखण्डं, कुतो बहुप्रदेशगुणत्वात्। तथा हि–उत्पन्नदिव्यज्ञान आयुषोऽल्पत्वमवधार्य वेदनीयस्य च प्राचुर्याद्दण्डादिक्रमेण लोकप्रमाणत्वादात्मप्रदेशानां लोकमापूरयति। तदुक्तम्–'दण्डकवाडे मंथतरे य' इति गाथाथः। गतो द्रव्यगुणः। क्षेत्रादिकमाह–(देवकुरुगाहा) क्षेत्रगुणः देवकुर्वादि, कालगुणे सुषमसुषमदि, फलगुणे सिद्धिः, पर्यवगुणे निर्भजना, गणनागुणे द्विकादि, करणगुणे कलाकौशल्यम्, अभ्यासगुणे भोजनादि, गुणा गुणे ऋजुता, अगुणगुणे वक्रता, भवगुणशील गुणयोर्भावगुणार्थमुपात्तेन जीवग्रहणेन गतार्थत्वाद्गाथायां पृथगनुपादानम्। भवगुणो जीवस्य नारकादिभवः, शीलगुणो जीव एव क्षान्त्यद्युपेतो, भवगुणे जीवाजीवयोरिति। एवं संयोज्यैकैको व्याख्यायते–तत्र देवकुरुउत्तरकुरुहरिवर्षरम्यकहैमवतैरवतषट्–पञ्चाशदन्तरद्वीपकाऽकर्म्मभूमिनामयं गुणो–यदुत तत्रत्यमनूजा देवकुमारोपमाः सदाऽवस्थितयौवनानिरुपक्रमायुषो मनोज्ञशब्दादिविषयेपभोगिनः स्वभावमार्दवाऽऽर्जवप्रकृतिभद्र–कगुणासन्नदेवलोकगतश्च भवन्ति। कालगुणासन्नउवलोकगत–सन्नदेवलोकगतश्च भ्वन्ति। कालगुणोऽपि भरतैरावतयोस्तिसृष्वप्येकान्तसुषमादिषु समासु स एव सद्भाऽवस्थितयौवनादिरिति, फलमेव गुणः फलगुणः, फलश्च क्रियाया भवति, तस्याश्च क्रियायाः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररहिताया ऐहिकामुष्मिकार्थं प्रवृत्तयोरनात्यन्तिकोऽनैकान्तिको भवन् फलगुणोऽप्यगुण एव श्रवति, सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रक्रिया त्वैकान्तिकात्यन्तिकानाबाधसुखाऽस्याः सिद्धिः–फलगुणेऽवाप्यते। एतदुक्तं भवति–सम्यग्दर्शनादि कैव क्रिया सिद्धिफलगुणेन फलवती, अपरा तु सांसरिक सुखफलाभास एव फलाध्यारोपान्निष्फलेत्यर्थः। पर्यायगुणो नाम द्रव्यस्यावस्थाविशेषः। पर्यायः स एव गुणः पर्यायगुणः, गुणपर्याययोर्नयवादान्तरेणाभेदाभ्युपगमात्, स च निर्भजनारूपो, निश्चिता भजना निर्भजना, निश्चितो भाग इत्यर्थः। तथाहि–स्कन्धद्रव्यं देशप्रदेशेन भिद्यमानं परडाण्वन्तं भेदं ददाति, परमाणुरप्येकगुणकृष्णद्विगुणकृष्णादिना अनन्तशोऽपि भेद्यमानो भेददायीति। गणनागुणो नाम द्विकादिकः, तेन च सुमहतोऽपि राशेर्गणना गुणेनेयत्ताऽवधार्यते। करणगुणो नाम कलाकौशलं, तथाह्युदकादौ करणपाटवार्थं गात्रोत्क्षेपादिकां क्रियां कुर्वन्ति। अभ्यासगुणो नाम भोजनादिविषयः। तद्यथा–तदहर्जातबालकोऽपि भवान्तराभ्यासात् स्तनादिकं मुख एव प्रक्षिपति, उपरतरुदितश्च भवति। यदि वा अभ्यासवशात्संतमसेऽपि, कंवलादेर्मुखविवरे प्रक्षेपाद्याकुलितचेतसोऽपि च तुद्गात्रकण्डू–यनमिति गुणागुणो नाम–तत्र गुण एव कस्यचिदगुणत्वेन विपरिणमते। यथा–जीवोपेतस्य ऋजुत्वाख्यो गुणो मायाविनः प्रत्यगुणो भवति।

उक्तं च–

''शाठ्यं ह्रीमति गण्यते व्रतरुचौ दम्भः श्रुतौ कैतवं,
शूरे निर्घृणता ऋजौ विमतिता दैन्यं प्रियाभाषिणि।
तेजस्विन्यवलिप्तता मुखरता वक्तर्यशक्तिः स्थिरे,
तत्को नाम गुणो भवेत् स विदुषां यो दुर्जनैर्नाङ्कितः''॥१॥

अगुणगुणो नामाऽगुण एव कस्य चित् गुणत्वेन विपरिणमते, स वक्रविषयो, यथा–गौर्गलिरसंजातकिणस्कन्धो गोगणस्य मध्ये सुखेनैवाऽऽस्ते। तथा च–

''गुणानामेव दौर्जन्या–द्धुरि धुर्यो नियुज्यते।
असंजातकिणस्कन्धः, सुखं जीवति गौर्गलिः''॥१॥

भवगुणो नाम भवत्युपपद्यते तेषु तेषु स्थानेष्विति नारकादिर्भवः, तत्र तस्य वा गुणो भवगुणः, स च जीवविषयः। तद्यथानारकास्ती–व्रतरवेदनासहिष्णवस्तिलशश्छिन्नसन्धानिनो अवधिमन्तश्च भवगुणादेव भवन्ति, तिर्यञ्चश्च सदसद्विवेकविकला अपि सन्तो गगनगमलब्धिमन्तो गवादीनां च तृणादिकमप्यशनं शुभानुभावेदनापद्यते, मनुजानां वा शेषकर्म्मक्षयो, देवानां च सर्वशुभानुभावो भवगुणादेवेति। शीलगुणो नामऽपरैराकृश्यमानोऽपि शीलगुणादेव न क्रोधवशो भवति। अथवाशब्दादिके शोभने अशोभने वा स्वभावापदेव विदितवेद्यवन्माध्यस्थमवलम्बते। भावगुणो नाम भावा औदयिकादयः, तेषां गुणो नाम भावगुणः, स च जीवाजीवविषयः, स च जीवविषयः आदयिकादिःषोढा। तत्रौदयिकः प्रशस्तश्च, तीर्थकराऽऽहारकशरीरादिप्रशस्तः, अप्रशस्तस्तु षब्दादिविषयोपभोगहास्यरतीत्यादि, औपशमिक उपशमश्रेण्यन्तर्गतायुष्क–क्षयानुत्तरविमानप्राप्तिलक्षणः, तथा सत्कर्म्मानुदयलक्षणश्चेति। क्षयिकभावगुणश्चतुर्द्धा। तद्यथा–क्षीणसप्तकस्य पुनर्मिथ्यात्वागमनं क्षीणमोहनीयस्यावश्यंभाविशेषघातिकर्मक्षयः क्षीणघातिकर्म्मणोऽनावरणज्ञानदर्शनाविर्भावोपगताशेषकर्मणोऽपुनर्भवस्थाऽत्यन्तिकैकान्तिकानाबाधपरमानन्दलक्षणः सूखावाप्तिश्चेति क्षायोपशमिकदर्शनावाप्तिरिति पारिणामिको भव्यत्वादिरिति सान्निपातिकस्त्वौदयकादिपञ्चभावसमकालनिष्पादितः। तद्यथा–मनुष्यगत्युदयादौदयिकः संपूर्णपञ्चेन्द्रियत्वावाप्तेः क्षायोपशमिकः, दर्शनसप्तकक्षयात् क्षायिकः, चारित्रमोहनीयोपशमादौपशमिकः, भवत्वात्पारिणामिक इति। उक्तो जीवभावगुणः। सांप्रतमजीव-

भावगुणः, स चौदयिकपारिणमिक–योरेव संभवति, नान्येषां तत्रौदयिकस्तावत् उदये भव औदयिकः, स चाजीवाश्रयोऽनया विवक्षया यदुत काश्चित् प्रकृतयः पुद्गलविपाकिन्य एव भवन्ति। काः पुनस्ताः?। उच्यन्ते–औदारिकादीनि शरीराणि पञ्चषट् संस्थानानि त्रीण्यङ्गोपाङ्गानि षट्संहननानि वर्णपञ्चक गन्धद्वयं पञ्च रसा अष्टौ स्पर्श अगुरुलघु नाम उपघातो नाम पराघातो नाम उद्योतो नाम आतपो नाम निर्म्माणं नाम प्रत्येकं नाम साधारणं नाम, स्थिरं नाम अस्थिरं नाम शुभं नाम अशुभं नाम। एताः सर्वा अपि पुद्गलविपाकिन्यः, सत्यपि जीवसंबन्धित्वे पुद्गलविपाकित्वा-दासामिति पारिणामिकः, जीवगुणस्तु द्वेधाऽनादि पारिणामिकः, सादिपारिणामिकश्चेति। तत्रा नादिपाररिणामिको धर्माधर्माकाशानां गतिस्थित्यवगाहलक्षणः, सादिपारिणामिकस्त्वभ्रेन्द्रधनुरादीनां परमाणूनां च वर्णादिगुणान्तरोत्पत्तिरिति गाथातात्पर्यार्थः। उक्ता गुणाः। आचा०१ श्रु०२ अ०१ उ०।

(३) आवर्तरूपा गुणाः–

जे गुणे से आवट्टे जे आवट्टे से गुणे उड्ढं अहं तिरियं पाईणं पासमाणे रूवाइं पासति सुणमाणे सद्दाइं सुणेति उड्ढं अहं पाईणं मुच्छमाणे रूवेसु मच्छति सद्देसु आवि।

यो गुणः स आवर्तः, आवर्तन्ते परिभ्रमन्ति प्राणिनो यत्र स आवर्तः संसारः। एकवचनोपन्यासात् पुरुषोऽत्र संबध्यते, यः शब्दादिगुणे वर्तते स आवर्ते, वर्तते यश्चावर्ते वर्तते स गुणे वर्तते इति। अथ य एते गुणाः संसारावर्तकारणभूताः शब्दादयः ते किं नियतदेशभाजः उत सर्वदिक्षु इत्यत आह–(उड्ढं अधमित्यादि) प्रज्ञापकदिगङ्गीकरणादूर्द्धगैव्यवस्थितं रूपगुणं पश्यति, प्रज्ञादतलहर्म्यादिषु अधमित्यधस्तात् गिरिशिखरप्रासादादिरू-ढोऽधोव्यवस्थितं रूपगुणं पश्यति अधःशब्दार्थे (अवामित्ययं?) वर्तते। गृहामित्यादिव्यवस्थितं रूपगुणं तिर्यक् पश्यति, तिर्यक्शब्देन चात्र दिशोऽनुदिशश्च परिगृह्यन्ते। ताश्चेमाः–प्राचीनमिति पूर्वादिक्, एतच्चोपलक्षणम्–अन्या अप्येतदाद्यास्तिर्यग्दिशो द्रष्टव्या इति। एतासु दिक्षु पश्यन् चक्षुर्ज्ञानपरिणतो रूपादिद्रव्याणि चक्षुर्ग्राह्यतया परिणतानि पश्यत्युपलभत इत्यर्थः। तथा–तासु च शृण्वन् शृणोति शब्दानुपयुक्तः श्रोत्रेण, नान्याथेति। अत्रोपलब्धिमात्रं प्रतिपादितं, न चोपलब्धि मात्रात्संसारप्रपातः, किंतु यदि मूर्च्छां रूपादिषु करोति ततोऽस्य बन्धः। इति दर्शयितुमाह –(उड्ढमित्यादि) पुनरूर्द्धादिर्मुर्च्छा–सम्बन्धनार्थमुपादानम्, मुर्च्छारूपेषु मूर्च्छति; रागपरिणामं यान् रज्यते रूपादिष्वित्यर्थः। एवं शब्देष्वपि मूर्च्छति, अपिशब्दः सम्भावनायां, समुच्चये वा, रूपशब्दविषयग्रहणाच्च शेषा अपि गन्धस्पर्शा गृहीता भवन्ति। एकग्रहणात्तज्जातीयानां ग्रहणात्, आद्यन्त ग्रहणाद्वा तन्मध्यग्रहणमवसेयमिति। आख०१ श्रु०१ अ०५उ०।

(४) मूलस्थानरूपा गुणाः–

जे गुणे से मूलट्ठाणे जे मूलट्ठाणे से गुणे इति से गुणट्ठी महया परितावेणं वसे पमत्ते।

'जे गुणे से मूलट्ठाणे'। आदिसूत्रसम्बन्धस्तु–''सुयं ते आउसंतेणं भगवया एवमक्खायं'' किं तत् श्रुतं भवता, यद्भगवता आयुष्मताऽख्यातमित्युच्यते ?(जे गुणे से मूलट्ठाणे) य इति सर्वनाम प्रथमान्तं मागधदेशीवचनत्वादेकारान्तं सामान्योद्देशार्थाभिधायीति। गुण्यते भिद्यते विशिष्यतेऽनेन द्रव्यमिति गुणः। स चेह शब्दरूपरसगन्धस्पर्शादिकः, स इति सर्वनामप्रथमान्तमुद्दिष्ट निर्देशार्थाभिधायीति। मूलह मिति निष्पन्नं कारणं प्रत्यय इति पर्यायाः, तिष्ठन्त्यस्मिन्निति स्थानं, मूलस्य स्थानं मूलस्थानम्, ''व्यवच्छेदफलत्वाद्वाक्यानामिति'' न्यायात्। य एव शब्दादिकः कामगुणः स एव संसारस्य नारकतिर्यग्नराऽमरसंस्थितिलक्षणस्य यन्मूलं कारणं कषायास्तेषां स्थानमाश्रयो वर्तते, यस्मान्मनोज्ञेतर शब्दाद्युपलब्धौ कषायोदयस्ततोऽपि संसार इति। अथवा मूलमिति कारणं, तच्चाष्टप्रकारं कर्म्म, तस्य स्थानमाश्रयः कामगुण इति। अथवा–मूलं मोहनीयं तद्भेदो वा कामस्तस्य स्थानं शब्दादिको विषयगुणः। अथ वा–मूलं शब्दादिको विषयगुणस्तस्य स्थान–मिष्टानिष्टविषयगुण इति। अथ वा–मूलं मोहनीयं तद्भेदो वा कामस्तस्य स्थानं शब्दादिव्यवस्थितो गुणरूपः संसार एव आत्मा वा शब्दाद्युपयोगानन्यत्वाद् गुणः। अथ वा मूलं संसारस्तस्य शब्दादयः स्थानं, कषाया वा, गुणोऽपि शब्दादिकः,कषाय परिणतो वाऽऽत्प्रेति। यदि वा-मूलं संसारस्य शब्दादिकषायपरिणतः सन्नात्मा,तस्य स्थानं शब्दादिकं,गुणोऽप्यसावेवेति। ततश्च सर्वथा य एव गुणः स एव मूलस्थानं वर्तते। ननु च वर्तनक्रियायाः, सूत्रेऽप्यनुपादानात् कथं प्रक्षेप इति? उच्यते यत्र हिकाचिद्विशेषक्रिया नैवोपादायि,तत्र सामान्यक्रिया अस्ति, भवति, विद्यते, वर्तत इत्यादिकामुपादाय वाक्यं परिसमाप्ते। एवमन्यत्रापि द्रष्टव्यमिति। अथ वा-मूलमित्याद्यं प्रधानं वा स्थानमिति कारणं, मूलं च तत्कारणं चेति विगृह्य कर्मधारयः। ततश्च य एव शब्दादिके गुणः स एव मूलस्थानं संपाद्यं प्रधानं वा कारणमिति; शेषं पूर्ववदिति। साम्प्रतमनयोरेव गुणमूलस्थानयोर्नियम्यनियामकभावं दर्शयंस्तदुपात्तानांविषयकषायादीनां बीजाङ्कुरन्यायेन परस्परतः कार्यकरणभावं सूत्रेणैव, ततश्च दर्शयति (जे मूलट्ठाणे से गुणे त्ति) यदेव संसारमूलानां वा कषायाणां स्थानमाश्रयः शब्दादिको गुणोऽप्यसावेव। अथवा–कषायमूलानां शब्दादीनां यत् स्थानं कर्म संसारो वा तत् तत् स्वभावापत्तेर्गुणोऽप्यसावेवेति। अथवा शब्दादिकषायपरिणाममूलस्य संसारस्य कर्मणो वा यत् स्थानं मोहनीयं कर्म शब्दादिकषायपरिणतो वाऽऽत्मेति तद्गुणवाप्तेर्गुणोऽप्यसावेव। यदि वा संसारकषायमूलस्याऽऽत्मनो यत्स्थानं विषयाभिष्वङ्गोऽसावपि शब्दादिविषयत्वाद् गुणरूपं वेति। अत्र च विषयोपादानेन विषयिणोऽप्याक्षेपात् सूचनार्थत्वाच्च सूत्रस्येत्येवमपि द्रष्टव्यम्। यो गुणेषु वा वर्त्तते स मूलस्थाने, मूलस्थानेषु वा वर्त्तते; यो मूलस्थानादौ वर्त्तते स एव गुणादौ वर्त्तत इति। य एव जन्तुः शब्दादिके प्राग्व्यावर्णितस्वरूपे वर्त्तते स एव संसारमूलकषायादिस्थानादौवर्त्तते। एतदेव द्वितीयसूत्रापेक्षया व्यत्ययेन प्राग्वदायोज्यम्, अनन्तगमपर्यायत्वात् सूत्रस्येवमपि द्रष्टव्यम्। यो गुणस्स एव मूलं, स एव च स्थानं, यन्मूलं तदेव गुणः, स्थानमपि तदेव, यत् स्थानं तदेव गुणो, मूलमपि तदेवेति, यो गुणः शब्दादिकोऽसावेव संसारस्य कषायकारणत्वान्मूलं, स्थानमप्यसावेत्येवम्, एवमन्येष्वपि विकल्पेषु योज्यम्। विषयनिर्देशे च विषय्यप्याक्षिप्तः, यो गुणे वर्त्तते स मूले स्थाने चेत्येवं सर्वत्र द्रष्टव्यम्। इह च सर्वज्ञप्रणीतत्वादनन्तार्थता सूत्रस्यावगन्तव्या। तथाहि मूलमत्र कषायादिकमुप-

न्यस्तं, कषायाश्च क्रोधादयश्चत्वारः, क्रोधोऽप्यनन्तानुबन्धादिभेदन चतुर्द्धा अनन्तानुबन्धिनोऽप्यसंख्येयलोकाकाशप्रदेशमाणानि बन्धाध्यवसायस्थानि, अनन्ताश्च तत्पर्यायाः, तेषां च प्रत्येकं स्थानगुणनिरूपणमनन्तार्थता सूत्रस्य संपद्यते । सा च छद्मस्थेन सर्वायुषाऽप्यविषयत्वाच्चाऽशक्या दर्शयितुम् दिग्दर्शनं तु कृतमेवा-सऽतोऽनया दिशा कुशाग्रीयशेमुष्या गुणमूलस्थानानां परस्परतः कार्यकारणभावः, संयोजना च कार्येति। तदेवं य एव गुणः स एव मूलस्थानं, यदेव मूलस्थानं स एव गुण इत्युक्तम्। ततः किमिति? अत आह(इति से गुणट्ठी महया इत्यादि) इतिहेतोर्थस्माच्छब्दादिगुणपरीतआत्मा कषायमूलस्थाने संवर्त्तते, सर्वोऽपि च प्राणी गुणार्थी गुणप्रयोजनी गुणानुरागीत्यस्तेषां गुणानामप्राप्तौ प्राप्तिनाशे वाऽऽकाङ्क्षाशोकाभ्यां स प्राणी महताऽपरिमितेन परि समन्ततो यः परितापस्तेन शारीरमानस स्वभावेन दुःखेनाभिभूतः सन् पौनःपुन्येन तेषु तेषु स्थानेषु वसेत्तिष्ठेदुत्पद्येत्। किंभूतः सन्–प्रमत्तः, प्रमादश्च रागद्वेषात्मको, द्वेषश्च प्रायां न रागमृते, रागोऽप्युत्पत्तेरारभ्यानादिभवाभ्यासात् । आचा०१ श्रु०२ अ०१ उ०। सूत्र०। वैशेषिकसम्मतगुणाः गुणाश्चतुर्विंशतिः। तद्यथा ''रूपरसगन्धस्पर्श संख्यापरिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौ परत्वाऽपरत्वे बुद्धिः सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नश्च'' इति सूत्रोक्ताः सप्तदश। चशब्दसमुच्चिताश्च सप्त द्रवत्वं गुरुत्वं संस्कारः स्नेहो धर्माधर्मौ शब्दश्चेत्येवं चतुर्विंशतिर्गुणाः। संस्कारस्य वेगभावनास्थितिस्थापक-भेदात्त्रैविध्येऽपि संस्कारत्वजात्यपेक्षया एकत्वाच्चौर्यौदार्यादीनां चात्रैवान्तर्भावान्ना धिक्यम् । स्या०। आ०म०। आव०। आ०चू०। द्रव्यगणानां परस्परमभेदः। सम्म ३ काण्ड । नित्यस्य चाकारणत्वान्न चतुःसङ्ख्यं परमाण्वात्मकं नित्यद्रव्यं सम्भवति(इत्यन्यत्र प्रत्यपादि) सम्म०३ काण्ड । (५) न सन्ति गुणा इति द्रव्यार्थिकः-गुणः खल्वौपचारिकत्वादसन्त एव द्रव्यव्यतिरेकेण तेषामनुपलम्भात्। ततश्च न्यग्भूतगुणग्रामो जीव एव मुख्यवृत्त्या सामयिकं न तु पर्याया इति द्रव्यार्थिकनयो मन्यते। आह–ननु रूपादयो गुणा यदि न सन्ति, तर्हि कथं लोकस्य द्रव्ये तत्प्रतिपत्तिः? उच्यते-भ्रान्तैवेयम् चित्रे निम्नोन्नतप्रतिपत्तिवदित्यस्य नयस्याऽभिप्रायः । स एव सामायि-कादिगुणः पर्यायार्थिकनयस्य परमार्थतोऽस्ति, न तु जीवद्रव्यं, यस्माज्जीवस्यैष गुणो जीवगुण इति, तत्पुरुषोऽयं, स चोत्तरपदप्रधानः। यथा तैलस्य धारा तैलधारेति, न चात्र धाराऽहतिरिक्तं किमपि तैलमस्ति। एवं ज्ञानादिगुणातिरिक्तं जीवद्रव्यमपि नास्तीति पर्यायार्थिकनयाऽभिप्रायः। इति निर्युक्तिकाराशयः।

अत्र भाष्यम्–

इच्छइ जं दव्वनओ, दव्वं तच्च मुवयारओ य गुणे।
सामइयगुणविसिट्ठो, तो जीवो तस्स सामइयं ॥२६४४॥
पज्जाओ च्चिय वत्थुं, तत्थं दव्वं च तदुवराओ।
पज्जवनयस्स जम्हा, सामइयं तेण पज्जओ ॥२६४५॥

यद्यस्माद्द्रव्यार्थिकनयस्तथ्यं सत्यं द्रव्यमेवेच्छति, गुणांस्तूपचारत एव मन्यते, न तु सत्यान्, ततस्तस्मात्सामायिकगुणविशिष्ट उपस-जनीभूतसामायिकादिगुणो मुख्यतया जीव एव, तस्य द्रव्यार्थिकनस्य सामायिकमिति । यस्मात्पर्यायार्थिकनयस्य मतेन पर्याय एव तथ्यं निरुपचरितं वस्तु,द्रव्यं पुनस्तेष्वेव पूर्वापरीभूतपर्यायेषूप-चारतो व्यवह्रियते, न तु परमार्थतस्तदस्ति, तेषु पर्यायेषु उपचारस्तदुपचार-स्तस्मादिति समासः। तेन तस्मात्कारणात्पर्याय एवाऽस्य मुख्यतया सामायिकम्, न तु जीवद्रव्यमिति।

इदमेव पर्यायार्थिकनयमतं युक्तितः समर्थयन्नाह–

पज्जायनयमयमिणं, पज्जायत्थंतरं कओ दव्वं।
उवलंभव्ववहारा भावाओ खरविसाणं व ॥२६४६॥
जह रूवाइविसिट्ठो, न घडो सव्वप्पमाणविरहाओ।
तह नाणाइविसिट्ठो, को जीवो नामऽणक्खेओ ?॥२६४७॥

पर्यायनयस्येदं मतम्–पर्यायेष्वेव पूर्वापरीभावतः सदैव सातत्येन प्रवृत्तेषु भ्रान्त्या द्रव्योपचारः क्रियते, न पुनः पर्यायेभ्योर्थान्तरं भिन्नं द्रव्यमस्ति। प्रयोगः नास्ति परकल्पितं द्रव्यं, पर्यायेभ्योऽर्थान्तत्वात्, खरविषाणवदिति । अथ वा नास्ति परपरिकल्पितं द्रव्यं, पर्यायेभ्यो भेदेनानुपलभ्यमानत्वात्, व्यवहारेऽनुपयुज्यमानत्वात् वा खरविषाण-वदिति । यथा वा रूपरसगन्धस्पर्शेभ्यो विशिष्टो भिन्नो घटो नास्ति, सर्वप्रमाणाविरहात्, सर्वप्रमाणैः ग्रहणाभावादित्यर्थः, खरविषाणवदिति। तथा तेनैव प्रकारेणाऽनाख्येयः पर्यायविरहेण सर्वपाख्यारहितो ज्ञानादिभ्यो विशिष्टो व्यतिरिक्तः को नाम जीवः?, पूर्वोक्तेभ्यः एव हेतुभ्यस्तद्यदतिरिक्तो नास्ति कश्चनाप्यसाविति भावः ॥ २६४६ ॥२६४७॥ अथेदमेव पर्यायार्थिकमतं निर्युक्तिकारोऽपि किञ्चित्स-मर्थयन्नाह–

उप्पज्जंति वियंति य, परीणामंति य गुणा न दव्वाइं।
दव्वप्पभवा य गुणा, न गुणप्पभवाइँ दव्वाइं ॥२६४८॥

उत्पद्यन्ते व्ययन्ते च, तथा अनेनोत्पादव्ययरूपेण परिणमन्ति गुणाः। चशब्द एवकारार्थः। तस्य चैवं प्रयोगः गुणा एवोत्पादव्ययरूपेण परिणमन्ति, न तु द्रव्याणि, अतस्त एव सन्ति, उत्पादव्ययपरिणाम वत्त्वात्, पत्रनीलरक्तादिवत्, तद्यतिरिक्तस्तु गुणीनास्त्येव, उत्पादव्यय-परिणामरहितत्वाद्वन्ध्यासुतादिवदिति । किञ्च (दव्वप्पभवाय गुणा न त्ति) द्रव्यात्प्रभवो येषां ते द्रव्यप्रभवा गुणा न भवन्ति, चशब्दोऽप्यर्थे। तस्य चैवं संबन्धः नापि गुणेभ्यः प्रभवो येषां तानि गुणप्रभवानि द्रव्याणि भवन्ति, नकारस्योभयत्राऽपि संबन्धात् । ततश्च न कारणत्वं नापि कार्यत्वं द्रव्याणामतस्तेषाम-भावः सतः कार्यकारणरूपत्वादिति। अथ वा अन्यथा व्यख्यायतेद्रव्यप्रभवाश्च गुणा न भवन्ति, गुणप्रभवानि तु द्रव्याणि भवन्ति, पूर्वापरीभावेन प्रतीत्य समुत्पादसमुत्पन्नगुणसमुदाये द्रव्योपचारप्रवृत्तेः। तस्माद् गुण एव सामायिकमिति निर्युक्तिगाथार्थः ॥ २६४८॥विशे०।

(६) गुणलक्षणम्–

गुणः सहभावी धर्मो, यथाऽऽत्मनि विज्ञानव्यक्तिशक्त्या-दिरिति ॥७॥

सहभावित्वमत्र लक्षणं, यथेत्यादिकमुदाहरणं, विज्ञानव्यक्तिर्य–त्किञ्चिद् ज्ञानं तदानीं विद्यमानं, विज्ञानशक्तिरुत्तरज्ञानपरिणाम योग्याता । आदिशब्दात् सुखपरिस्पन्दयौवनादयो गृह्यन्ते ॥७॥ रत्ना ०५ परि०।

(७) गुणपर्याययोर्भेदविचारः-ये सहभाविनः सुखज्ञानवीर्यपरिस्पन्दयौव-नादयस्ते गुणाः, ये तु क्रमवृत्तयः सुखदुःखहर्षविषादादयस्ते पर्यायाः। नन्वेवं त एव गुणास्त एव पर्याया इति कथं तेषां भेद इति चेत्?, नैवम्, कालाभेदवि-

भेदविवक्षया तद्भेदस्यानुभूयमानत्वात्। नचैवमेषां सर्वथा भेद इत्यपि मन्तव्यम्, कथञ्चिदभेदस्याप्यविरोधात् न खल्वेषां स्तम्भकुम्भादिवद्भेदो, नापि स्वरूपवदभेदः, किन्तु धर्म्यपेक्षयाऽभेदः, स्वरूपापेक्षया तु भेद इति। रत्ना०५ परि०। अनु०।

सहभावी गुणो धर्मः, पर्यायः क्रमभाव्यथ।
भिन्ना अभिन्नास्त्रिविधाः, त्रिलक्षणयुता इमे ॥२॥

(सहभावीति) द्रव्यस्य सहभावी यावद्द्रव्यभावी यो धर्मः स गुण उच्यते। यथा जीवद्रव्यस्योपयोगाख्यो गुणः, पुद्गलस्य ग्रहणं गुणः, धर्मास्तिकायस्य गतिहेतुत्वं गुणः, अधर्मास्तिकायस्य स्थितिहेतुत्वं गुणः, कालस्य वर्तनाहेतुत्वं गुणः, यदैव द्रव्यमुत्पद्यते तदैव समवेतास्तेन द्रव्येण गुणा उत्पद्यन्ते, पौर्वापर्यभाव एव नास्ति, गुणगुणिनोः समानसामग्रीकत्वात्, सध्येतरविषाणवत् इति। अनादिनिधनानां द्रव्यगुणानाम्, उत्पत्तिदर्शनं व्यवहारतः कृष्णादिघटवत्। अथ क्रमभावी अयावद्द्रव्यभावी पर्यायः। यथा–जीवस्य नरकादिपर्यायाः, पुद्गलस्य रूपरसस्पर्शादिपर्यायाः, धर्मस्य व्यञ्जनार्थपर्यायौ, अधर्मय व्यञ्जनार्थपर्यायौ, कालस्य व्यञ्जनार्थपर्यायौ, आकाशस्य व्यञ्जनार्थपर्यायौ। एवं द्रव्याणां संख्याकृतो भेदः, लक्षणादिकृतोऽभेदः। प्रदेशा विभागतः त्रिविधाः, उपचारेण नवविधाः, एकैकस्य त्रिकस्य त्रैविध्यात्। तथा त्रिलक्षणाः–उत्पाद–व्यय-ध्रौव्य-युक्ताः। इत्थं षडपि जैनप्रमाणप्राप्तानि द्रव्याणि, इति द्रव्यगुणपर्यायाः प्रत्येकं परस्परं भिन्ना अभिन्नास्त्रिविधास्त्रिलक्षणयुताः सन्तीति व्याख्यायेयम् ॥२॥

(८) अथ द्रव्येण सह गुणपर्याययोभेदं दर्शयन्नाह-

मुक्ताभ्यः श्वेतादिभ्यो, मुक्तादाम यथा पुथक्।
गुणपर्याययोर्व्यक्ते–र्द्रव्यशक्तिस्तथाऽऽश्रिता ॥३॥
ऊर्ध्वतादिकसामान्यं, पूर्वापरगुणोदयम्।
पिण्डास्थ्यादिकसंस्थाना–ऽनुगैका मृद्यथा स्थिता ॥४॥

(मुक्तेति) यथा मुक्ताभ्यः मौक्तिकानां श्वेततादिभ्यश्च मौक्तिमाला भिन्ना वर्तते, तथैव द्रव्यशक्तिर्गुणपर्यायव्यक्तिभ्यां भिन्नाऽस्ति। तथाऽत्र समाधिः गुणपर्याययोर्व्यक्तेः सकाशात् पृथगपि द्रव्यशक्तिरेकप्रदेशसम्बन्धेनाश्रिता अभिन्ना, अपृथक् इत्यर्थः। श्वेततादयो मौक्तिकानां गुणस्थानिनः, मौक्तिकाः पर्यायस्थानिनः। एतद् द्वयं भिन्नमपि द्रव्यस्थाने मुक्तादाम्नि संगतमभिन्नं सत् मुक्तादामेति व्यवहारो जायते। इति दृष्टान्तयोजना। अथ च-घटादिद्रव्यं प्रत्यक्षप्रमाणेन सामान्यविशेषरूपमनुभवन् सामान्योपयोगेन मृत्तिक्रादिसामान्यं भासते, विशेषोपयोगेन घटादिविशेषं च भासते, तत्र यत्सामान्यभानं तत् द्रव्यरूपं, यश्च विशेषः स गुणपर्यायरूपो ज्ञेयः ॥३॥ अथ सामान्यं द्विप्रकारं दर्शयन्नाह-पूर्वः प्रथमोऽपरोऽग्रे-मनो यो गुणो विशेषस्तयोरुदयं कारणं पूर्वापरगुणोदयं पूर्वापरपर्याययोररनुगतमेकं द्रव्यं, त्रिकालानुयायी यो वस्त्वंशः तदूध्वंतासामान्यमित्यभिधीयते। निदर्शनमुक्तानमेव। यथा पिण्डो मृत्पिण्डः अस्थिः कुसूल इत्यादयोऽनेके संस्थाना आकृतयः, तासु अनुगता पूर्वापरसाधारण परिणामद्रव्यरूपा मृतिका तथाऽकारा स्थिता, एतदूर्ध्वतासामान्यं कथ्यते। यदि च पिण्डकुसूलादि-पर्यायेषु अनुगतमेकं मृद् द्रव्यं न कथ्यते तर्हि घटादिपर्यायेषु अनुगतं घटादिद्रव्यमपि न कथ्यते। तथा च-सर्वं विशेषरूपं भवति, क्षणिकवादिबौद्धमतमायाति। अथवा-सर्वद्रव्येषु एकमेव द्रव्यमागच्छति इति। ततः घटादिद्रव्ये। अथ च तदन्तर्वर्ति सामान्यमृदादिद्रव्ये चाऽनुभवानुसारेण परापरोर्ध्वता सामान्यमवश्यमङ्गीकर्तव्यम्। घटादिद्रव्याणि स्तोकपर्याव्यापीनि, पुनर्मृदादिद्रव्याणि बहुपर्यायव्यापीनि सन्ति, इत्थं नारकादिद्रव्यणां विशेषो ज्ञातव्यः। एतत्सर्वमपि नैगप्रनयमतम्। तथा शुद्धसेग्रहनयमते तु सदद्वैतवादेन एकमेव द्रव्यमापद्येतेति विज्ञेयम् ॥४॥ द्रव्या०२ अध्या०। स०।

(९) अथ च व्यक्ति रूपौ गुणपर्यायौ वर्णयन्नाह-

स्वस्वतात्या हि भूयस्यो, गुणपर्यायव्यक्तयः।
शक्तिरूपो गुणः केषां-चिन्मते तन्मृषाऽऽगमे ॥१०॥

(स्वेति) स्वस्वजात्या सहभाविक्रमभाविविकल्पना–कृन्निजस्वभावेन वर्त्तमाना गुणपर्यायव्यक्तयो भूयस्यो बहुप्रकाराः सन्ति इति। अत्र कश्चिद्दिगम्बरानुसारी शक्तिरूपो गुण इति कथयन्नाह-यतो द्रव्यपर्यायकारणं द्रव्यम्। गुणपर्यायकारणं गुणः, द्रव्यपर्याययोर्द्रव्यस्याऽन्यथाभावः। यथा-नारनारकादयो, यथावा द्यणुकत्र्यणुकादयः। पुनर्गुणपर्याययोर्गुणस्यान्यथाभावो, यथामतिश्रुतादिविशेषः। अथ वा भवस्थसिद्धादिविशेषः। एतौ द्रव्यगुणौ स्वस्वजात्या शाश्वतौ, पर्य्यायेण चाशाश्वतौ, इत्थं संगिरन्ते। परमार्थतस्तु आगमयुक्त्या एतत्सर्वं मृषा असत्कल्पनमित्यवधार्यं, प्रमाणाभावात् ॥१०॥

अथ गुणपर्य्याययोरैक्यं प्रदर्शयन्नाह–

पर्यायान्न गुणो भिन्नः, संमतिग्रन्थसंमतः।
यस्य भेदो विवक्षातः, स कथं कथ्यते पुथक्?॥११॥

पर्यायात् गुणो भिन्नः पृथक् न, किंतु पर्याय एव गुण इत्यर्थः। कीदृशो गुणः? संमतिग्रन्थसंमतः संमतिग्रन्थे श्रीमत्सिद्धसेनैराचार्यैरुक्तवाचा समुच्चारितः। तथा च तद्ग्रन्थः-

''परिगमणं पज्जओ, अणेगकरणं गुण त्ति तुल्लट्ठा ॥
तह वि न गुण त्ति भण्णइ, पज्जवणयदेसणं जम्मा ''॥१०९॥

इति। तथा क्रमभावित्वं पर्यायलक्षणं, तथैवानेककाणमपि पर्यायस्य लक्षणान्तरमेवास्ति। द्रव्यं तु एकमेवास्ते, ज्ञानदर्शनादिभेदकार्यापि पर्याय एव, परं गुणो न कथ्यते। यस्मात् द्रव्यपर्याययोर्भगवतो देशना वर्त्तते, परं गुणपर्याययोर्देशना न विद्यते। अयं गाथार्थः॥१०९॥ एवं सति गुणः पर्याययाद्भिन्नो न, तर्हिद्रव्यं १ गुणः२ पर्याय ३ श्चेति नामत्रयं पृथक् कथं संकलितम्? इत्थं केचन व्याचक्षते। तानाह यस्य गुणस्य विवक्षाकुतो भेदः तस्य नामान्तरमपि स्यात्। विवक्षा हि नयस्य कल्पना, यथा-तैलस्य धारा, अत्र तैलात् धारा भिन्ना प्रदर्शिता, तथाऽपि भिन्ना नास्ति, तथैव सहभावी गुणः, कुमभावी पर्यायः, इति भिन्नत्वं विवक्षितृ, परं परमार्थदृशा भिन्नत्वं नास्ति। तस्माद्यस्य भेद उपचरितो भवेत् स कथां भिन्नत्वेन व्यपदिश्यते? यथा उपचरितगुणे दृष्टान्तवचनं गौर्दोग्धि इत्यत्र गौर्न दोग्धि तद्वत्, उपचरितगुणोऽपि शक्तित्वं न धत्ते इति ॥११॥ द्रव्या०२ अध्या०। आ०म०।

अथ ये च गुणः पर्यायाद्भिन्न इति प्रमाणयन्ति तान् दूषयन्नाह–

गुणो द्रव्यं तृतीयं चेत् तृतीयोऽपि नयस्तदा।

सिद्धान्ते द्रव्यपर्याया–र्थिभेदान्नयद्वयम् ॥१२॥

यदि गुणस्तृतीयःपदार्थो द्रव्यपर्यायात् भिन्नोऽन्यः पदार्थो भावो भवेत्, तर्हि तृतीयो नयोऽति लभ्यते । सूत्रे तु द्रव्यार्थिकपर्य्यायार्थिक इति नयद्वयमेव कथितम् । नयान्तरं यदि अभविष्यत्तदाग्रक्ष्यत्, अतो नयद्वयादपरो नय गत्र एव न।

उक्तं च संमतौ–

''दो ऊ णया भगवया, दव्वट्ठियपज्जवट्ठिया नियया।

जइ पुण गुणो वि हुंतो, गुणट्ठयणयो वि जुज्जंतो ॥१०७॥

जं च पवुण भगवया ते–सु तेसु सुत्तेसु गोयमाईणं।

पज्जवसण्णाणिया, वागरिया तेण पज्जाया ''॥१०८॥

रूपादीनां गंणसंज्ञा सूत्रे न भाषिता परं तु ''वण्णपज्जवा गंधपज्जवा'' इत्यादिपाठः पर्यायशब्देन पठितः, तथाऽपि गुणो न कथ्यते। अन्यच्च–''एगगुणकालए '' इत्यादि स्थानेष्वपि गुणशब्दो यश्च दृश्यते सोऽपि गणितशास्त्रसिद्धपर्यायविशेः सेख्यावाचको ज्ञेयः, परं तु गुणाऽस्तिकनयविषयवाचको न। उक्तं च संमतिग्रन्थमध्ये–

''जं पंति अत्थिसमए, एगगुणो दसगुणो अणंतगुणो।

रूवाईपरिणामो, भन्नइ तम्हा गुणविसेसो ॥११०॥

गुणसद्दमंतरेण वि, तं तु पज्जवविसेससंखाणं।

सिज्झइ णवरं संखा, ण सत्थधम्मो ण य गुणो त्ति ॥१११॥

जह दससु दसगुणम्मि य, एगम्मि दसत्तणं समं चेव।

अहियम्मि गुणसद्दे, तहेव एयम्मि दट्ठव्वं''॥११२॥

एवं गुणः पर्यायात् परमार्थदृशा भिन्नो नास्ति । तस्माद्द्रव्यकमेव शक्तिरूपता कथं स्यादित्यभिप्रायः ॥१२॥

अथ केचन पर्यायस्य दलं गुण इति वदन्तो गुणं शक्तिरूपमेवमन्वानाश्च विवदन्ते, तान् दूषयन्नाह-

पर्यायस्य दलं यर्हि, गुणो द्रव्येण किं तदा ।

गुणपर्याय एवेयं, गुणपरिणामकल्पना ॥१३॥

यर्हि गुणः पर्यायस्य दलम् उपादानकारणं भवति, तदा द्रव्येण किमिति किं प्रयोजनं ? द्रव्यप्रयोजनं गुणेनैव सिद्धमित्यर्थाद्गुण पर्यायामेव पदार्थो उपदिश्यतां तृतीयस्याऽसंभवात् इति नियमः । पुनस्त्र कश्चित्कथयिष्यतिद्रव्यपर्यायगुणपर्यायरूपे कार्ये भिन्ने स्तः। ततश्च द्रव्यगुणरूपकारणे अपि भिन्ने स्तः । इति कल्पनया वादी असत्यः । कथम्-कार्ये कारणोपचारात् कार्यमध्ये कारणशब्दप्रवेशो जायते । तथा कारणभेदे कार्यभेदः सिद्ध्यति, अथ च कार्यभेदसिद्धौ करणभेदसिद्धिरित्यन्योन्याश्रयनाम दूषणमुत्पद्यते । तस्मात् गुणपर्यायस्तु गुणपरिणामस्यैव पटान्तरभेदकल्पनारूपः; तत एव केवलं संभावना, परंतु परमार्थतो न हि। अथ च द्रव्यादिनामत्रयमपि भेदोपचारेणैव ज्ञेयम् ॥१३॥ द्रव्या०२ अध्या०।

(१०) आर्हमसंमतगुणाः–

श्रीनाभेयजिनं नत्वा, गुणदेष्टृगुरुं तथा ।

गुणभेदानहं वक्ष्ये, क्रमप्राप्तान् यथामति ॥१॥

(श्रीनाभेयजिनमिति) नाभरपत्यं नाभेयः, श्रीयुतो नाभेयः श्रीनाभेयः, स चासौ जिनस्श्च श्रीनाभेयजिनः, तं श्रीनाभेयजिनं श्रीऋषभनाथं, नत्वा नमस्कृत्य, तथा तेनैव प्रकारेण, गुणदेष्टृगुरुं गुणा वाणीगुणास्तानादिशतीति गुणदेष्टा, स चासौ गुरुश्च गुणदेष्टृगुरुः, तं नत्वा नमस्कृत्येति निर्विघ्नसमाप्तिकामाय मङ्गलमिति । अहं गुणभेदान्क्रमप्राप्तान् द्रव्यव्यावर्णनानन्तरं प्रस्तुतान् यथामिति यथस्यात्तथा पूर्वप्रणेतृणां विस्तारदुर्बोधत्वेन स्वमतिविषयी यथा स्यात्तथा वक्ष्ये कीर्त्तयिष्यामि इति ॥१॥

अथात्र गुणभेदान् समानतन्त्रप्रक्रियया प्रतिपादयन्नाह-

तत्रास्तित्वं परिज्ञेयं, सद्भूतत्वगुणं पुनः ।

वस्तुत्वं च तथा जाति–व्यक्तिरूपत्वमुच्यते ॥२॥

(तत्रेति) अस्तित्वं तत्र इदं परिज्ञेयं-सत्तातो यो गुणो भवति, तस्मात्सद्भूतताया व्यावहारो जायते, स चास्तित्वगुणः१, वस्तुत्वं च जातिव्यक्तिरूपत्वम् । जातिःसामान्यम् । यथा घटे घटत्वम् । व्यक्तिर्विशेषः । यथा घटः सौवर्णः, पाटलीपुत्रिको, वासन्तिकः, कम्बुग्रीव इत्यादि। अत एव अवग्रहेण सर्वत्र सामान्यरूपं भसते, अपायेन विशेषरूपस्याऽऽभासो जायते । पूर्णोपयोगेण संपूर्णवस्तुग्रहो जायते । इत्थं वस्तुत्वं द्वितीयो गुणः ॥२॥

द्रव्यत्वं द्रव्यभावत्वं, पर्यायाधारतोऽन्वयः ।

प्रमाणेन परिच्छेद्यं, प्रमेयं प्रणिगद्यते ॥३॥

अगुरुलघुता सूक्ष्मा, वाग्गोचरविवर्जिता ।

प्रदेशत्वमविभागी, पुद्गलः स्वाश्रयावधि ॥४॥

अथ द्रव्यत्वं जातिरूपम् । द्रवति तांस्तान्पर्यायान् गच्छतीति द्रव्यं, तस्य भावस्तत्वम्। द्रव्यभावो हि पर्यायाधारताभिव्यङ्ग्यो जातिविशेषः । द्रव्यत्वं जातिरुपत्वात् गुणो न भवति। ईदृक्नैयायिकादिवासनया आशङ्का न कर्त्तव्याः, यतः सह भाविनो गुणाः, क्रमभुवः पर्यायाः, ईदृश्येव जैनशासने व्यवस्थाऽस्तीति । द्रव्यत्यं चेद्गुणः स्याद्रूपादिवदुत्कर्षापकर्षभागि स्यादिति तु कुचोद्यम्, एकत्वादिसंख्यायाः परमतेऽपि व्यभिचारेण तथा व्याप्त्यभावादेव निरसनीयम् ३। प्रमाणेन प्रत्यक्षदिना परिच्छेद्यं यद्रूपं प्रमाणविषत्वं प्रमेयत्वं तदित्युच्यते । तदपि कथञ्चित् अनुगतसर्वसाधारणं गुणोऽस्ति, परम्परासंबन्धेन प्रमात्वज्ञानेनापि प्रमेयव्यवहारो जायते । ततः प्रमेयत्वं गुणस्वरूपादनुगतमस्तीति ४।३। अगुरुलघुता अगुरुलघुर्नाम गुणः, सा कीदृशी? सूक्ष्मा, आज्ञाग्राह्यत्वात् । यतः ''सूक्ष्मं दिनोदितं तत्त्वं, हेतुभिर्नैव हन्यते। आज्ञासिद्धं तु तद् ग्राह्यं नान्यथावादिनो जिनाः''॥१॥ पुनः कीदृशी? वाग्गोचरविवर्जिता वचनद्वारा वक्तुमशक्या । यतः 'अगुरुलघुपर्यायाः सूक्ष्मा अवाग्गोचरा इति । अगुरुलघुर्नाम्ना पञ्चमो गुणः, अगुरुलघुत्वमिति ध्येयम् । अथ (प्रदेशत्वमविभागी, पुद्गलः स्वाश्रयावधि इति) अविभागी पुद्गल इति यावत् क्षेत्रे तिष्ठतीति तावत् क्षेत्रव्यापिष्णुत्वं प्रदेशत्वगुणः। यस्य विभागो न जायते विभक्तव्यवहारता नस्यात्, पुनर्यावत्क्षेत्रमास्थाय तिष्ठति स्थितौ, तावत्क्षेत्रावगाहित्वं प्रदेशत्वम्। पुनः कीदृशम्? स्वाश्रयाबधि स्वशब्देन आत्मा पुद्गलात्मकः, तस्य य आधारः आश्रयः, स एवावधिर्मर्यादा यस्य तत् स्वाश्रयाऽवधि । एतावता तदेवार्थत्वं स्वेन यावत्क्षेत्रे स्थितं तावति क्षेत्रे आश्रयावधित्वमप्यस्ति इति ज्ञेयमिति षष्ठो गुणः॥४॥

चेतनत्वनुभूति–रचेतनमजीवता ।

रूपादियुक्तमूर्तत्व-ममूर्तत्वं विपर्ययात् ॥५॥

सामान्येन समाख्याता, गुण दश समुचिताः ।

परस्परीहारात्, प्रत्येकमष्ट चाऽष्ट च ॥६॥

अथ चेतनत्वमात्मनोऽनुभूतिरिति अनुभवरूपगुणः कथ्यते, योऽहं

सुखदुःखादि चेतये–अहं सुखी अहं दुःखी, इति चेनाव्यवहारः, ततो जातिवृद्धिभग्नक्षतसंरोहणादिजीवनधर्मा भवन्जीति चैतन्यं सप्तमो गुणः ७। एतस्माद्विपरीतमचैतन्यम् अजीवमात्रम् अजीवता, जडत्वाचेतनावैकल्यमिति अचेतनत्वं गुणः ८ रूपादियुक् मूर्त्तत्वं मूर्ततः गुणः, रूपादिसन्निवेशाभिव्यङ्ग्यपुद्गलद्रव्यमात्रवृत्तित्वम् ९। अमूर्तत्वं गुणो मूर्तत्वाभावसमन्वितत्वमिति १० इति दशैव। अत्राचेतचेनत्वामूर्त्तत्व-योश्चेतनत्वमुर्त्तत्वाभावरूपत्वान्न गुणत्वमिति नाशङ्कनीयम्; अचेतना-मूर्तद्रव्यवृत्तिकार्यजनकतावच्छेदकत्वेन व्यवहारविशेषनियामकत्वेन च तयोरपि पृथकगुणत्वात्, नञः पर्युदासार्थकत्वात्तत्र गर्भपदवाच्यताया-श्चानुष्णाशीतस्पर्श इत्यादौ व्यभिचारेण परेषामप्यभावत्वानियामक-त्वाद्भावान्तरम्। अभावो हि कयाचित्तु व्यपेक्षया इति नयाश्रयणेन दोषाभावाचेति ॥५॥ एते दश गुणाः सामान्यगुणाः समुच्चिताः सर्वेषां द्रव्याणां समुच्चयेन कथिताः। तत्र मूर्तत्वममूर्तत्वं, चेतनत्वमचेतनत्वं चेति चत्वारो गुणाः परस्परपरिहारेण तिष्ठन्ति। तत एकैकस्मिन् द्रव्ये प्रत्येकं प्रत्येकमष्टौ प्राप्यन्ते। तत्कथम्? यत्र चेतनत्वं तत्राचेतनत्वं नास्ति, यत्र च मूर्तत्वं तत्र च अमूर्तत्वं नास्ति, एवं द्वयोरपसरणात् शेषकष्टकमेव तिष्ठति, तेन प्रतिद्रव्यमष्टैव गूणाः सामान्याः सन्तीति ध्येयम् ॥६॥

(११) अथ विशेषगुणान् व्याख्यासुराह-

ज्ञानं दृष्टिः वीर्यं, स्पर्शगन्धौ रसेक्षणे।
गतिस्थित्यवगाहत्व–वर्तनाहेतुतापराः ॥७॥
चैतन्यादिचतुर्भिस्तु, युक्ताः षोडशसंख्यया।
विशेषेण गुणास्तत्रा-ऽऽप्यात्मनः पुद्गलस्य षट् ॥८॥
अन्येषां चैव द्रव्याणां, त्रीणि त्रीणि पृथक् पृथक्।
स्वजात्या चेतनत्वाद्या-श्चत्वारोऽनुगता गुणाः ॥९॥
एत एव विशेषेण, गुणा अपि जिनेश्वौः।
परजातेरपेक्षाया, ग्रहणेन परस्परम् ॥१०॥
विशेषेण गुणाः सन्ति, बहुस्वभावकाश्रयाः।
अर्थेनत्ते कथं गुण्याः, स्थूलव्यवहृतिस्त्विय्म् ॥११॥
स्वभावगुणतो भिन्ना, धर्ममात्रविवक्षया।
स्वस्वरूपस्य मुख्यत्वं, गुहीत्वा समुदाहृताः ॥१२॥

(ज्ञानमिति) ज्ञानगुणः दृष्टिर्दर्शनगुणः, सुखमिति सुखगुणः, वीर्यमिति वीर्यगुणः, एते चत्वार आत्मनो विशेषगुणाः। पुनः स्पर्शगन्धौ स्पर्शगुणः, गन्धगुणः, रसेक्षणे रसगुणः, ईक्षणं वर्णगुणः, एते चत्वारः पुद्गलस्य विशेषगुणाः। शुद्धद्रव्ये अविकृतरूपा एते अविशिष्टास्तिष्ठन्ति, ततः एते गुणाः कथिताः, विकृतस्वरूपास्ते पर्यायेषु मिलन्ति, इत्येवं विशेषोऽत्र विज्ञेयः। तथा पुनः गत्याइयो गुणा हेतुतापराः, एतावता गतिहेतुता, स्थितिहेतुता, अवगाहहेतुता, वर्तनाहेतुता, एते चत्वारो गुणाः प्रयेकं धर्मास्तिकायाऽधर्मास्ति-कायाऽऽकाशास्तिकायकालद्रव्याणां क्रमेण सन्ति, विशेषगुणाश्चत्वारः॥७॥ अथ एतेषां द्वादशगुणानां चैतन्यादिचतुर्भिर्युक्ताश्चेतनत्वाऽचेतनत्वमूर्तत्वामूर्तत्वादिभिश्चतुर्भिः सहिताः सन्तः षोडश गुणा भवन्ति। तेषु गुणेषु पुद्गलद्रव्यस्य वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श-मूर्तत्वा-ऽचेतनत्वानि सन्ति, आत्मद्रव्यस्य ज्ञानदर्शनसुख-वीर्यामूर्तत्वचेतनत्वानि इति षट् गुणा भवन्ति। अथान्येषां द्रव्याणां समुदायेन त्रय एव गुणा भवन्ति, एकोनजागुणाः, अचेतनत्वम्, अमूर्वमित्यादि विमृश्य धार्यम् ॥८॥ (अन्येषामिति) अन्येषां द्रव्याणां पृथक् पृथक् त्रयः त्रयः गुणाः। यथा धर्मास्किायस्य गतिहेतुता गुणः, अचेतनत्वं गुणः, अमूर्तत्वं गुणः। एवं त्रयोऽधर्मास्तिकायस्य स्थितिहेतुत्वाऽचेतनत्वाऽमूर्तत्वादयः, आकाशास्तितकायस्य अवगाह-हेतुत्वाऽचेतनत्वाऽमूर्तत्वादयः, कालस्य वर्तनाहेतुत्वाऽचेतनत्वा-ऽमूर्तत्वादयः, इत्यादि ज्ञेयम्। अथ चेतनत्वाद्यश्चत्वारः सामन्यगुणाः, चेतनत्वाचेतनत्वमूर्तत्वाऽमूर्त्तत्वानि सामान्यगुणेषु अपि सन्ति, विशेषगुणेषु च सन्ति, तत्र किं कारणं चेतनत्वाद्याश्चत्वारः सामान्यगुणाः? स्वजात्यपेक्षया अनुगतव्यवहारकत्तरिः सन्ति, तस्मात्सामान्यगुणाः कथ्यन्ते ॥९॥ परजात्यपेक्षया चेतनत्वादयः अचेतनवादिकेभ्यः स्वाश्रयव्यावृत्तिकराः सन्ति, ततो विशेषगुणाः परापरसामान्यव-त्सामान्यविशेषगुणत्वमेषामिति भावः। एत एव विशेषणेति स्पष्टम् ॥१०॥ (विशेषेणेति) ज्ञानदर्शनसुखवीर्या एते आत्मनो विशेषगुणा :, स्पर्शरसगन्धवर्णाः एते पुद्गलस्य विशेषगुणाः, इत्येतद्यत् कथितं तदियं स्थूलव्यवहृतिः स्थूलव्यवहारः, यतश्च अष्टौ सिद्धगुणाः, एकत्रिंशत्सिद्ध-गुणाः, एकगुणाः कालकादयः, पुद्गला अनन्ता इत्यादि विचारणया विशेषगुणानामानन्त्योत्पत्तिः, सा च छद्मस्थज्ञानगोचरा नास्ति। अतोऽर्थेन ते कथं गुण्याः, तस्माद्धर्मास्तिकायादीनां गतिस्थित्यवगा-हनावर्त्तनाहेतुत्वोपयोग ग्रहणाख्याः षडेवास्तित्वादयः। सामान्यगुणास्तु विवक्षयाऽपरि-मिताः, इत्येवं न्याय्यम्। षण्णां लक्षणवतां लक्षणानि पडेवेति हि को न श्रद्दधाति ?॥

''नाणं न दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।
वीरियं उवओगो यए एवं जीवस्स लक्खणं ॥१॥
सव्वंधकारउज्जोया, पभाया वा तहेव य।
वन्नरसगंधफासा, पुग्गलाणां तु लक्खणं''॥२॥

इत्यादि तु स्वभावविभावलक्षण्योरन्योऽन्येनान्तरीयकत्वप्रतिपाद नायेत्यादि पण्डितैर्विचारणीयम् ॥११॥ (स्वभावेति) स्वभावगुणतासे निजत्वव्यवहारेण धर्ममात्रविवक्षया अनुवृत्तिव्या-वृत्तिसंबन्धेन च एते भिन्नाः पृथक् पृथक् सन्ति, न कोऽपि कश्चिद्मिश्री भवति; परं तु स्वस्वरूपस्य निजनिजरूपस्य मुख्यत्वं प्राधान्यं गृहीत्वा अनुवृत्तिसंबन्धमात्रमनुसृत्य समुदाहृताः यत्स्वभावाः सन्ति त एव गुणीकृत्यदर्शिताः। तत इदमत्र दोध्यम्-धमापेक्षया अत्र एते गुणत्मकाः पदार्थाः पृथक्स्वभावगुणसतो भिन्ना उक्तास्तत्तु निजकीयनिजकीयरूप-मुख्यतां गृहीत्वैव स्वभावगुणीकृत्य उपदिष्टा इत्यर्थः; तस्मादत्र गुणविभागं कथयित्वा अग्रे प्रतिपाद्यमानपद्ये स्वभावविभागयोः कथनमुदाहरिष्यतीति ध्येयम् ॥१२॥

अस्तिस्वभाव एषोऽत्र, स्वरूपेणार्थरूपता॥
स्वभावपरभावाभ्या-मस्तिनास्तित्वकीर्त्तनात् ॥१३॥
न चेदित्थं तदा शून्यं, सर्वमेव भवेदिदम्।
परभावेन सत्त्वे तु सर्वमेकमयं भवेत् ॥१४॥

(अस्तिस्वभाव इति) अत्रेति गुणप्रस्तावनायां प्रथममस्तिस्वभावस्तु एष स्वरूपेण निजकीयरूपेण अर्थरूपता द्रव्ययाथात्म्यं स्वद्रव्यस्वक्षेत्र-स्वकालस्वभावैश्च भावरूपता एव ज्ञेया, कस्मात्? (स्वभावपरभावाभ्यामस्तिनास्तित्वकीर्त्तनात्) यथा स्वभावेन अस्तित्वं स्वभावोऽस्ति, तथैव परभावेन नास्तित्वं स्वभावोऽप्यऽस्ति, ततोऽत्र ततो अस्तिस्वभावः कारणी वर्त्तते, कथंचित्? अस्तिस्वभावो हि तत्र निजरूपेण भावरूपताऽस्ति, यथा परस्वभावेन नास्ति स्वभावानुभवनं, तथा निजभावेन स्वभावानुभवनमपि जायते, अतउभयत्र कार्यरूपोऽस्तिस्वभाव इति ॥१३॥ (न चेदिति) चेद्यदि अस्तिस्वभावो नाङ्गीक्रियते, परभावापेक्षया यथा नास्तित्वं तथा स्वभावापेक्षयाऽपि नास्तित्वावलत्बने सति सर्वं जगदिदं प्रपश्यमानव्यतिकरमपि शून्यं भवेत्। तस्मात् स्वद्रव्याऽपेक्षया अस्तिस्वभावः सर्वथैवाङ्गी-करणीयः, परभावेन परद्रव्याद्यपेक्षयाऽपि नसस्तित्वस्वभावा-ऽप्यवश्यमङ्गीकर्त्तव्य इत्यर्थः। तथा च परभावेनापि सतामस्तित्वस्वभावमङ्गीकुर्वतां सर्वस्परूपेण अस्तित्वे जायमाने च जगदेकरूपं भवेत्; तत्तु सकलशास्त्रव्यवहारविरुद्धमस्ति, तस्मात्परापेक्षया नास्तित्वस्वभाव एव समस्ति (द्रव्या०)।

(१२) स्वमाना एव गुणाः—

अनुपचरिताः स्वीय-भावास्ते तु गुणाः खलु।
एकद्रव्याश्रिता गुणाः, पर्याया उभयाश्रिताः ॥१७॥
एवं स्वभावोपगता गुणास्तु,
भेदेन सम्यक् कथिताश्च योग्याः।
अर्हत्क्रमाम्भोजसमाश्रितानां,
भव्यात्मनां ज्ञानगुणार्थमत्र ॥१८॥

(अनुपचरितेति) अत्र दिगम्बरप्रस्तावना वर्त्तते, कुत्रापि स्वसमयेऽपि उपस्कृता वर्त्तते, परं तु अत्र किमपि चिन्त्यं वर्त्तते, तेन तद् दूषणं निराचिकीर्षुराह-अनुपचरिता उपचारवर्जिता ये निजकीयस्वभावाः ते गुणाः, गुणानां हि सहभावित्वादुपचारो न विद्यते। निष्कर्षस्त्वयम्-स्वभावो हि गुणपर्यायाभ्यां भिन्नो न स्यात्, तस्मात् योऽनुपचरितो भावः स एव गुण इति, अथ यश्च उपचरितः सपर्यायः कथ्यते। अत एव द्रव्याश्रिता गुणाः, उभयाश्रिताः पर्यायाः। तथोक्तमुत्तराध्ययने गाथाद्वारा "गुणाणमासओ दव्वं, एगदव्वस्सिया गुणा। लक्खणं पज्जवाणं तु, उभओ अस्सिया भवे ।६।"(उत्त०२८ अ०) इति ॥१७॥ यदि चस्वद्रव्यादिग्राहकेणास्ति स्वभावः, परद्रव्यादिग्राहकेण नास्ति स्वभावः, इत्यादिस्वभावोपगता गुणाः स्वभावसहिता इत्युपगम्यते। तदोभयोरति द्रव्यार्श्चकविषयत्वात् सप्तभङ्ग्यामाद्यद्वितीययोर्भङ्गयोः द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकाश्रयेण प्रक्रिया भज्येतेत्याद्यत्र बहु विचारणीयम्। एवमनया रीत्या स्वभावाः स्वभावयुक्ता गुणाश्च भेदेन प्रकारकथनेन सम्यक् शास्त्रोक्तरीत्या कथिताः प्रकाशिताः, श्रीमद्वाचकमुख्य यशोविजयपाठकमतल्लिकारचितप्राकृतपाठदृष्टा लिखिता इत्यर्थः। किमर्थमत्र कस्मै कार्याय कथिताः? इति प्रयोजन पदं, ज्ञानगुणार्थं, केषाम्? अर्हतां वीतरागाणां क्रमाश्चरणास्त एवाम्भोजानि कमलानि तत्र समाश्रितानां शरणीभूतानां भव्यात्मनां भव्यलोकानां ज्ञानगुणार्थं मया कथिता इत्यर्थः॥१८॥ द्रव्या०१३ अध्या०। विविधार्थसम्वादरूपे प्रामाण्यहेतौ, स०। गुण्यन्ते संख्यायन्ते इति गुणाः। पिण्डशुध्यादिषु, विशे०। अंशे, अनु०। गुण्यते संख्यायते इति गुणः। अनु०। "गुणकारके त्ति गुणं एक्कारसं" पा०। (मूलगुणा उत्तरगुणाश्च लेशतः कविलेन चौरणामुपदेशे दीयमाने 'कपिल' शब्दे तृतीयभागे ३९० पृष्ठे दर्शिताः)

गुणओ अव्य०(गुणतस्) कार्य्यत इत्यर्थे, भ०२ श०१० उ०।

गुणकर त्रि०(गुणकर) कर्म्मनिर्जरालक्षणो पकारकरणे, पञ्चा०५ विव०।

गुणकरण न०(गुणकरण) योजनाकरणे, आ०चू०१ अ०। गुणानां प्राप्तौ, आ०म०द्वि०।

गुणकार त्रि०(गुणकार) अभ्यासराशौ, स००८४ सम०।

गुणकारय त्रि०(गुणकारक) येन गुणकेन गुण्यते तस्मिन्, विशे०। नि०चू०।

गुणगणोघ पुं०(गुणगणौघ) गुणनिकरप्रवाहे, षे०१५ विव०।

गुणग्गाहिय त्रि०(गुणग्राहिक) गुणं गृह्णाति, गुण-ग्रह-णिनि-कप्रत्ययः। गुणग्रहणशीले, पा०। गुणानुरक्ते च। ध०३ अधि०।

गुणचंद पुं०(गुणचन्द्र)साकेतेश्वरचन्दावतंसकराजस्य प्रियदर्शनायां जाते पुत्रे, आ०म०द्वि०। "मुणिचंदो राया गुणचंदो युवराया" आ०चू०१ अ०। स्वनामख्याते मुनौ, पिं०। अन्योऽपि गुणचन्द्रनामा गणी वैक्रमीये ११३९ वर्षे वज्रशाखायां चान्द्रकुले सुमतिवाचकस्य शिष्य आसीत्, तेन च मागध्यां महावीरचरित्रं रचितम्। जै०इ०। शतमुखपुरे चन्द्रिकाभर्त्तरि श्रेष्ठिनि, सागरदत्तस्य श्रेष्ठिनः पुत्रे प्रिङ्गुलतिकापतौ, पिं०।

गुणजत्तिल्ल त्रि०(गुणयत्नवत्) गुणेषु यतमाने, बृ०१ उ०।

गुणजोग पुं०(गुणजोग) क्षमादिगुणसंबन्धे, प्रश्न १ सम्ब०द्वार।

गुणट्ठाण न०(गुणस्थान) गुणा ज्ञानदर्शनचारित्ररूपाः जीवस्वभाव विशेषाः, तिष्ठन्ति गुणाअस्मिन्निति स्थानम्। गुणानामेव शुध्यशुद्धिप्रकर्षापकर्षकृतः स्वरूपभेदे, प्रव०९९ द्वार। कर्म्म०। परमपदप्रासादशिखरारोहणसोपानकल्पे, कर्म०४ कर्म०। मिथ्यादृष्ट्यादिकेऽयोगिकेवलिपर्य्यवसाने जीवानां स्वरूपभेदे, आ०चू००४ अ०। दर्श०। पं०सं०। कर्म्म०।

विषयसूची—

(१) गुणस्थाननिर्वचतम्।
(२) गुणस्थानानि चतुर्दश।
(३) गुणस्थानान्तरम्।
(४) कायस्थितिः, कालमानम्।
(५) गुणस्थानानां जीवस्थानानि।
(६) तेष्वेव जीस्थानेषु गुणस्थानप्रकटनम्।
(७) गुणस्थानकेषु बन्धः।
(८) गुणस्थानकेषु बन्धहेतवः।
(९) उदीरणास्थानानि गुणस्थानेषु।
(१०) गुणस्थानकेषु भावाः।
(११) मार्गणास्थानेषु गुणस्थाननानि।
(१२) गुणस्थानकेषु मार्गणास्थानानि।
(१३) उपयोगाः।

(१४) हीरविजय सूरिं प्रति विमलहर्षगणिकृतप्रश्नः।

(१) इहोत्तरोत्तरगुणारूढानां जन्तूनामसंख्येयगुण-निर्जराभाक्त्वम्, उत्तरोत्तरगुणाश्च यथाक्रममविशुद्धय-पकर्षविद्धद्धिप्रकर्षरूपाः सन्तो गुणस्थानकान्युच्यन्ते। कर्म०५ कर्म०।

(२) तानि चतुर्दश–

कम्म विसोहिमग्गणं पडुच्च चउद्दस गुणट्ठाणा पण्णत्ता। तं जहा-मिच्छदिट्ठी। यणसम्मदिट्ठी। सम्मामिच्छदिट्ठी अविवरयसम्म-द्दिट्ठी देवविरए, पमत्तसुजए, अप्पमत्तसंजए, नियट्टिअनियट्टि-वायरे, सुहुमसंपराए, उवसंतमोहे वा, खीणमोहे, सजोगी-केवली, अजोगी केवली। स०१४ सम०।

मिच्छे सासण भीसे, अविरय देसे पमत्त अपमत्ते।

नियट्टिअनियट्टि सुहुमु-वसम खीण सजोगि अजोगिगु गा॥

(गुण त्ति) गुणस्थानानि, ततः ''सूचनात्सूत्रमिति'' न्यायात् पदैक-देशेऽपि पद समुदायोपचाराद्वा इहैवं गुणस्थानकनिर्देशो द्रष्टव्यः। तद्यथा-मिथ्यादृष्टि गुणस्थानम् १ सास्वादन सम्यग्दृष्टिगुणस्थानं २ सम्यगमिथ्यादृष्टिगुणस्थानम् ३ अविरत सम्यग्दृष्टिगुणस्थानम्, ४ देशविरतिगुणस्थानम् ५ प्रमत्तसंयत-गुणस्थानम् ६ अप्रमत्तसंयत-गुणस्थानम् ७ निवृत्तिबादरसंपराय गुणस्थानम् ८ अनिवृत्तिगादरसंप-रायगुणस्थानम्, ९ सूक्ष्मासम्परायगुणस्थानम् १० उपशान्तकषायवीत-रागछद्मस्थ गुणस्थानम् ११ क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थगुणस्थानम् १२ सयोगिकेवलिगुणस्थानम् १३ अयोगिकेवलिगुणस्थानमिति १४। तत्र गुणा ज्ञानदर्शनचारित्ररूपा जीवस्वभावविशेषाः, स्थानं पुनरत्र तेषां शुद्धि विशुद्धिप्रकर्षापकर्षकृतः स्वरूपभेदः, तिष्ठन्त्यस्मिन् गुणा इति कृत्वा। गुणानां स्थानं गुणस्थानम् ॥२॥ कर्म०२ कर्म०। चतुर्दशगुणस्थानकेषु समारोहन् जन्तुः किं क्रमेण, एकादिव्यवधानेन वा चतुर्दशं गुणस्थानम् स्पर्शतीति? प्रश्ने, उत्तरम्-चतुर्दशगुणस्थानकेषु समारोहन् जन्तुः किं क्रमेण, एकादिव्यवधानेन वा चतुर्दशगुणस्थानं स्पृशतीति यत्युष्टं, तत्र अनादिमिथ्यादृष्टिस्तावच्चतुर्थं गुणस्थानकं याति, न तु द्वितीयतृतीये, तदनु यदि उपशमश्रेणिमारभते तदैकादशं यावत्क्रमेण याति। यदि च-क्षपकस्तदैकादशं विहाय चतुर्दशं यावत्रमेणेति विज्ञायते ।विशेषस्तु विशेषावबोधकशास्त्रगम्य इति। इति गुणविजय गणिकुतप्रश्नस्योत्तरम्। ही०३ प्रका०।

(३) अन्तरम् इहोत्तरोत्तरगुणारूढानां जन्तूनामसंख्येयगुणनिर्जरा-भाक्त्वमुक्तमुत्तरोत्तरगुणाश्च यथाक्रममविशुद्धयप-कर्षविशुद्धप्रकर्ष स्वरूपाः सन्तो गुणस्थान्यान्युच्यन्ते, अतस्तेषां गुणस्थानकानां जघन्यमुत्कृष्टं चान्तरालं प्रतिपादयन्नाह-

पलियासंखंसमुहू, सासण अयरगुण अंतरं हस्सं।

गुरु मिच्छि वे छसट्ठी, इयरगुणे पुग्गलद्धंतो ॥८४॥

इह 'भामा सत्यभामेति' न्यायात्, पल्यः पल्योपमा संख्यांशोऽर्न्मुहूर्त च जघन्यमन्तरमिति योगः। केषमिति? आह-सास्वादनाश्चेतरगुणाश्च अवशिष्टगुणस्थानकानि सास्वादनेतर गुणास्तेषाम्। प्राकृतत्वादत्र विभक्तिलोपः। अन्तरं विवक्षितगुणस्थानावस्थितेः प्रच्युतानां पुनस्तत्प्राप्तेर्व्यवधानमन्तरालमिति यावत्। ह्रस्वं जघन्यम्। तत्र सास्वादनगुणस्थानकस्य जघन्यमन्तरं पल्योपमासंख्येयभागः, इतरगुणस्थानकानां तु जघन्यमन्तर्मुहूर्तमित्यक्षरार्थः। भावार्थ पूनरयम्योऽनादि-मिथ्यादृष्टिरूद्वलितसम्यक्त्वमिश्रपुञ्जो वा मिथ्यादृष्टिः षडविंशति सम्कर्मा सन्नन्मरकरणादिना प्रकारेणोपलब्धौपशमिकस-म्यक्त्वोऽनन्तानुबन्ध्युदयात्सास्वादनभावनासाद्य मिथ्यात्वं गतः सन् यदि तदेव सास्वादनत्वं पुनर्लभ्यतेऽन्तरकरणप्रकारेणैव, तदा जघन्यतोऽपि पल्योपमासंख्येयभागोर्ध्वं लभते, नार्वाक्। किं कारण-मिति चेत्? उच्यते-यतः सास्वादनान्मिथ्यात्वं गतस्य प्रथमसमये सम्यक्त्वमिश्रपुञ्जौ सत्तायामवश्यं तिष्ठत एव। न च तयोः सत्तायां वर्तमानयोः पुनरौपशमिकसम्यक्त्वं लभते, तद्भावात्सास्वादनं दूरापा-स्तमेव। यदि पुञ्जद्वयसङ्गावे औपशमिक सम्यक्त्वस्य न लाभस्तर्हि पल्योपमासंख्येयभागेऽप्यतिक्रान्ते कथं सास्वादनलाभः? इति चेत्, उच्यते–इह सम्यक्त्वमिश्रपुञ्जो मिथ्यात्वं गतः प्रतिसमयमुद्वर्तयते, तहलिकं प्रतिसमयं मिथ्यात्वे प्रक्षिपतीत्यर्थः। अनेन च क्रमेणैतावुद्व-र्त्यमानौ पल्योपमासंख्येयभागेन सर्वथोद्वर्तितौ निःसत्ताकं नीतौ भवतः, इत्थमेव कर्मप्रकृत्यादिष्वभिहितत्वात्। ततः पल्योपमासंख्येयभागेन मिश्रसम्यक्त्वपुञ्जयोरुद्वर्तितयोस्तदन्ते कश्चिदाचार्यः पुनरप्यौपशमिक-सम्यक्त्व मासाद्य सास्वादनत्वं गच्छतीत्येवं सास्वादनस्य पल्योपमा-संख्येयभागोऽन्तरं भवतीति। नन्वेकदोपशमश्रेणेः प्रतिपतितः सास्वादनभावमनुभूय यदा पुनरप्यन्तर्मुहूर्त्तेनैतामेवोपशमश्रेणिं प्रतिपद्य ततः प्रतिपतितः सास्वादनभावं लभते, तदा जघन्यतोऽल्पमेवान्तरं लभ्यते, तत्किमिति पल्योपमासंख्येय भागो जघन्यमन्तरमित्युक्तम्? सत्यम्–उपशमश्रेणेः प्रतिपतितो यः सास्वादनत्वं गच्छति, स केवलं मनुजगतिभावित्वेनाल्पत्वान्नेह विवक्षित इतीतरस्यैव प्रभूतस्य चतुर्गतिर्त्तित्वादन्तरालचिन्तेति। इतरगुणस्थानकेभ्यश्च मिथ्यादृष्टि सम्यगमिथ्यादृष्टिअविरतसम्यग्दृष्टिदेशविरतप्रमत्ता प्रमत्तोपशमश्रेणि-गतापूर्वकरणानिवृत्तिबादरसूक्ष्मसम्परायोपशान्तमोहलक्षणेभ्यः परिभ्रष्टः पुनर्जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तेऽतिक्रान्ते तान्येव गुणस्थानकानि लभन्ते, इति तेषां जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमेवान्तरालं भवति तथाहि-कश्चिज्जीव उपशमश्रेण्यारूढः सन्नुपशान्तत्वमपि संप्राप्य प्रतिपतितो मिथ्यादृष्टित्वं यावदवाप्नोति, ततो भूयोऽप्यन्तर्मुहूर्त्तेन तान्येवोपशान्तगुणस्थाना-न्तानि यदाऽऽरोहति, तदा शेषाणां सास्वादनमिश्र गुणस्थानकवर्जितानां गुणस्थानकानां प्रत्येकं जघन्यत आन्तर्मौहूर्त्तिकमन्तरं भवति, एकस्मिंश्च भवे वारद्वयमुपशमश्रेणिकरणं समनुज्ञातमेव। उक्तं च ''एगभवे दुक्खुत्तो, चरित्तमोहं उवसमिज्जा'' तत्र सास्वादनं प्रति जघन्यान्तर-स्योक्तत्वात्, श्रेणिप्रतिपतितस्य च मिश्रगमनाभावत्तयोर्वर्जनमुक्तं, श्रेणिगमनाभावे तु मिश्रस्य सास्वादनवर्जशेषगुणस्थानकानां च मिथ्यादृष्ट्यादीनामप्रमत्तान्तानां परावृत्य परावृत्यगमनत आन्त-र्मौहूर्त्तिकमन्तरं प्राप्यते। क्षपकक्षीणमोहसयोगिकेवल्ययोगि केवलिनां त्वन्तरचिन्ता नास्ति, तेषां प्रतिपातस्यैवाभावादिति। उक्तं जघन्यमन्तरं सर्वगुणस्थानकानाम्। इदानीमुत्कृष्टमनन्तरमाह ''गुरुमिच्छि वे छसट्ठी'' इत्यादि। गुरु उत्कृष्टमन्तरम्। (मिच्छि त्ति) मिथ्यात्वे मिथ्यादृष्टि-गुणस्थानकस्य द्वे षट्षष्टी षट्षष्टिद्वयम्। अयमत्र भावार्थः–यः कश्चिज्जन्तुर्विशुद्धि-वशान्मिथ्यादृष्टित्वं परित्यज्य सम्यक्त्वं प्रतिपन्नस्ततः सागरोपमषट्षष्टिपगमाणमुत्कृष्टं सम्यक्त्व-कालं प्रतिपाल्यान्तर्मुहमर्त्तमेकं सम्यग्मिथ्यात्वं गच्छति; ततो भूयोऽपि सम्यक्त्वमासाद्य सागरोपमषट्षष्टि यावत्तदनुपाल्य तत ऊर्द्ध

यो न सिद्ध्यति, सोऽवश्यं मिथ्यात्वं गच्छति। तत इत्थं सागरोपमषट्-षष्ट्रियरूपं सामर्थ्यतो मिश्रान्तर्मुहूर्त्तनरभवाधिक-मुत्कृष्टं मिथ्यात्व-स्यान्तरालं भवतीति। (इयरगण ति) इतरगुणस्थान कविषये। कोऽर्थः? मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकापेक्षयाऽन्यगुणस्थानकेषु सास्वादना दिषूपशा-न्तमोहान्तेषु गुरु अन्तरमुत्कृष्टोऽन्तरालकालो भवति। कियदित्या (पुग्गलद्धन्त त्ति) सूचकत्वात्सूत्रस्य पुद्गलस्य पुद्गलपरावर्त्तस्यार्द्धं पुद्गलपरावर्त्तार्द्धं, तस्यान्तर्मध्यं पुद्गलपरावर्त्तार्द्धान्तः किञ्चिदूनं पुद्गलपरावर्त्तार्द्धमित्यर्थः। इदमत्र तात्पर्यम् सास्वादनादय उपशमश्रेणि-गतापूर्वकरणाद्युपशान्तमोहान्ताश्च जीवा निजनिजगुणस्थानकाव-स्थितेर्यदा परिभ्रष्टास्तदोत्कृष्टतः किञ्चिदूनं पुद्गलपरावर्त्तार्द्धं यावदपारसंसारपारावारमध्यमवगाह्य पुनः तानि गुणस्थानकानि लभन्ते, नाऽर्वाक्, तत ऊर्द्धवं च सम्यक्त्वादिगुणान् संप्राप्याऽवश्यं जीवाः सिध्यन्तीति। ततो देशोनार्द्धपुद्गलपरावर्त्तमानमेषामुत्कृष्टमन्तरं भवति क्षपकक्षीण—मोहादीनां चान्तरमेव नास्ति, प्रतिपाताभावादिति। कर्म०५ कर्म०। पं०सं०। (गुणस्थानकेष्वेव वर्तमानानां जन्तूनामल्पबहुत्वम्— 'अप्पाबहुय' शब्दे प्रथमभागे ६३६ पृष्ठे उक्तम्) (गुणस्थानकेषु उदीरणा 'उदीरणा' शब्दे द्वितीयभागे ६६५ पृष्ठे उक्ता)

(४) कायस्थितिः। सम्प्रत्येकस्मिन् जीवे गुणस्थानेषु विभागेन कालमानमा—

होइ आणाइ अणंतो, अणाइ संतो य साइसंतो य।
देसूणपोग्गलद्धं, अंतमुहुत्तं, चरिमिच्छो ॥३४॥

इह मिथ्यादृष्टिः कालतश्चिन्त्यमानस्त्रिधा प्राप्यते। तद्यथा-अनाद्यनन्तः, अनादिसान्तः, सादिसान्तश्च। तत्राभव्यो भव्यो वा कश्चित्तथाविधोऽप्राप्तव्यपरमपदोऽनाद्यनन्तः, तस्याऽनादिका-लादारभ्याऽऽगामिनं सकलमपि कालं यावन्मिथ्यात्वापगमसंभवा भावात्, यस्तु भव्योऽनादिमिथ्यादृष्टिरवश्यमायत्यां सम्यक्त्वम वाप्स्यति स मिथ्यादृष्टिः कालमाश्रित्यानादिसान्तः, यस्तु तथा भव्यत्वशाददवाप्य सम्यक्त्वं, ततः केनापि कारणेन पुनः सम्यक्त्वा-त्परिभ्रष्टो मिथ्यात्वमनुभवति,स भूयः कालान्तरे नियमतः सम्यक्त्वमवाप्स्यति, ततः स मिथ्यादृष्टिः सादिसान्तः। तथाहि— सम्यक्त्वलाभानान्तरं मिथ्यात्वमासादितमिति सादिः, पुनरपि कालान्तरे नियमतो मिथ्यात्वमपगमिष्यतीति सान्तः। एष एव सादिसान्तो मिथ्यादृष्टिर्जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तं कालं यावद्भवति, सम्यक्त्वप्रतिपाताऽनन्तरमन्तर्मुहूर्त्तेन कालेन भूयोऽपि सम्यक्त्व प्राप्तेः, उत्कर्षतो देशोनं किञ्चिन् न्यूनं पुद्गलपरावर्त्तार्द्धं प्रतिपतित सम्यग्दृष्टेः, देशोननपुद्गलपरावर्त्तार्द्धपर्यन्ते नियमतः सम्यक्त्वलाभ संभवात् अत एव साद्यनन्तरूपो मिथ्यादृष्टिर्न भवति, सादितायां सत्यामुत्कर्षतः किञ्चिदूनपुद्गलपरावर्त्तार्द्धपर्यन्ते नियमतो मिथ्यात्वापगमसंभवात्॥ पं०सं०२ द्वार।

तदेवमुक्तमेव जीवस्य मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकालमानम्। सम्प्रति सास्वादनमिश्रगुणस्थानकयोरौपशमिकसम्यक्त्वस्य, क्षयिकसम्य-क्त्वस्य च कालमानमाह—

आवलियाणं छक्कं, समयादब्भ सासणो होइ।
मीसुवसम अंतमुहू, खाइयदिट्ठी अणंतद्धा ॥४०॥

एकस्मात्समयादारभ्य यावदाबलिकानां षट्कं, तावत्सास्वादनो भवति। इयमत्र भावना-एकः सास्वादनो जीवः पूर्वं गुणस्थानक विचाररनिर्दिष्टन्यायेन प्राप्तसास्वादनभावः कश्चित्समयेक-मवतिष्ठते अन्यस्तु द्वौ समयौ, अपरस्तु त्रीन् समयान्। एवं यावत्कोऽपि षडावलिकाः,तत ऊर्द्धवमवश्यं मिथ्यात्वमुपगच्छति,तत एवमेक-स्य जीवस्य सास्वादनगुणस्थानककालो जघन्यतः समयः प्राप्यते, उत्कर्षतः षडावलिकाः, तथा मिश्रोपशमो मिश्रगुणस्थान-कौपशमिक-सम्यक्त्वे जघन्यत उत्कर्षतश्चान्तर्मुहूर्त्तप्रमाणम्। तथाहि-सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकं जघन्यत उत्कर्षतश्चान्त र्मुहूर्त्तप्रताणं सुप्रसिद्धम्,''सम्मामिच्छदिट्ठि, अंतो मुहूत्तं इत्यादि'' वचनप्रमाण्यात्, केवलं जघन्यपदे तदन्तर्मुहूर्त्तं लघु द्रष्टव्यम्, उत्कृष्टपदे तु तदेव बृहत्तरमिति, औपशमिकसम्यक्त्वमपि प्राथमिक मुपशमश्रेणिसंभवं वा जघन्यत उत्कर्षतश्चान्तमुहूर्त्तप्रमाणं, तत्र प्राथमिकमन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणं प्रतीतम्। तथाहि—यदि तदानीं देशविरत्यादिकमपि स्पृशति, तथापि तस्या ऽन्तर्मुहूर्त्तमेव कालं यावदवस्थानं, ततः परं क्षायोपश-मिकसम्यक्त्वभावात्, देशविरत्यादिप्रतिपत्त्यभावे तु कोऽपि सास्वादनभावं गच्छति, कोऽपि क्षायोपशामिकं सम्यक्त्वम् उपसमश्रेणि-संभवमप्यौपशमिकं सम्यक्त्वमान्तर्मोहूर्त्तिकमुपशमश्रेणेरन्तर्मुहमर्त्त-प्रमाणत्वात्। तथा क्षायिकदृष्टिः क्षायिकसम्यग्दृष्टिरनन्ताद्धा अनन्तकालं यावद्भवति, क्षायिकं हि सम्यक्त्वं प्रादुर्भूतं न कदाचिदप्यपैति, जीवस्य तथा—स्वभावत्वात्। ततस्तत्सम्यक्त्ववान्स-कलमपि पर्यवसितं कालं यावद्भवति॥४०॥

वेयग अविरयसम्मो, तेत्तीसयराइ साइरेगाइं।
अंतमुहुत्ताओ पुव्वकोडिदेसो उ देसूणी ॥४१॥

वेदकाऽविरतसम्यग्दृष्टिः क्षायोपशमिकाऽविरतसम्यग्दृष्टिः जघन्यतो ऽन्तर्मुहूर्त्तं यावद्भवति, ततोऽन्तर्मुहूर्त्तादारभ्य तावल्लभ्यन्ते यावदु-त्कर्षतस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि सातिरेकाणि भवन्ति, कथं सातिरेकाणि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि यावद्वेदकाऽविरतसम्यग्दृष्टि र्लभ्यते? इति चेत्। उच्यते-इह कश्चिदितः स्थानादुत्कृष्टस्थिति-ष्वनुत्तरविमानेषूत्पन्नः, तत्र चाऽविरतसम्यग्दृष्टित्वेन त्रयस्त्रिंशत्सा-गरोपमाणि स्थितिः, ततस्तस्मात्स्थानात् च्युत्वा अत्राप्यायातो यावद्यापि सर्वविरत्यादिकं न प्रतिपद्यते, तावदविरत एवेत्येकस्य वेदकाविरतसम्यग्दृष्टेर्मनुष्यभव-संबद्ध इति कतिपयवर्षाणिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि प्राप्यन्ते। तथा(पुव्वकोडीदेसो उ देसूणा) देशसंयतः पुनः, तुर्वाक्यभेदे। उक्तं च ''तुः स्वाद्भेदेऽवधारणे।'' जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतो देशोना पूर्वकोटि, तत्रान्तर्मुहूर्त्तभावना इयम् कोऽप्यविरतादिरन्तर्मुहूर्त्तमेकं देशविरतिं प्रतिपद्य पुनरप्य विरतादित्यमेव प्रतिपद्यते। देशोनपूर्वकोटिभावना त्वेषा—इह किलकोऽपि पूर्वकोट्यायुष्को गर्भस्थो नवमासान्सातिरेकान् गमयति, जातोऽप्यष्टौ वर्षाणि यावद्देशविरतिं सर्वविरतिं वा न प्रतिपद्यते, वर्षाष्टकादधो वर्त्तमानस्य सर्वस्यापि तथास्वाभाव्यात् देशतः सर्वतो वा विरतिप्रतिपत्तेरभावात्। भगवद्वज्रस्वामिना व्यभिचार इति चेत्। तथाहि—भगवान्वज्रस्वामी षाण्डासिकोऽपि भावतः प्रतिपन्नसर्वसावद्यविरतिः श्रूयते। तथा च सूत्रम् ''छम्मासियं छसु जयं, माऊण समन्नियं वंदे'' इति सत्यमेतत्। किं त्वियं शैशवेऽपि भगवद्वज्रस्वामिनो भावतश्चरण-प्रतिपत्तिराश्च-र्यभूता कादाचित्कीति न तथा व्यभिचारः। अथ कथमवसीयते ? येयं

वज्रस्वामिनः शैशवेऽपि चरणप्रतिपत्तिः सा कादाचित्कीति । उच्यते, पूर्वसूरिकृतव्याख्यानात् । तथा च पञ्चवस्तुके प्रव्रज्याप्रतिपत्तिकाल-नियमविचारऽधिकारे गाथा–

''तयहो परिहवखेत्तं, न चरणभावे वि पायमेएसिं ।
आहच्च भावकहगं, सुत्तं पुण होइ नायव्वं ''॥

अस्या व्याख्या-तेषामष्टानां वर्षाणामधोवर्त्तमाना मनुष्याः परिभवक्षेत्रं भवन्ति, येन तेन वाऽपि शिशुत्वात्परिभूयन्ते, तथा चरणभावोऽपि चरणपरिणामोऽपि प्राय एतेषां वर्षाष्टकादधोवर्त्तमानानां न भवति। यत्पुनः सूत्रम् '' छम्मासियं छसु जयं, माऊण समन्नियं वंदे'' इत्येवंरूपं तत् (आहच्चभावकहगं) कादाचित्कभावकथकं, ततो वर्षाष्टकादधः परिभवक्षेत्रत्वाच्चरणपरिणामा भावाच्चा न दीक्षन्ते इति ॥४१॥

सम्प्रति प्रमत्ताप्रमत्तसंयतगुणस्थानकयोरेकं जीवमधिकृत्य कालमानमाह–

समयाऊ अंतमुहू, पमत्तअपमत्तयं भयंति मुणी ।
देसूणपुव्वकोडिं, अन्नोन्नं चिट्ठहि भवंता ॥४२॥

समयादेकस्यादारभ्य मुनयः प्रमत्ततामभप्रमत्ततां वा तावद्भजन्ति यावदुत्कर्षतोऽन्तर्मुहूर्त्तं ततः परमवश्यं प्रमत्तत्याप्रमत्ततादिभावात् अप्रमत्तस्व व प्रमत्तताऽऽदिभानात् । इयमत्र भावनाप्रमत्तमुनयो ऽप्रमत्तमुनयो वा जघन्यत एकं समयं भवन्ति, तदनन्तरं मरणभावेमा-विरतत्वभावात्, उत्कर्षतस्त्वन्तर्मुहूर्त्तं, ततः परमवश्यं प्रमत्तभावो देशविरतत्वं वा, मरणं चा । अप्रमतस्याऽपि प्रमत्तताश्रेण्यादौ देशविरतत्वादिकं चेति । अथैतदेव कथमवसित मन्तर्मुहूर्त्तादूर्द्धवं प्रमत्तस्याप्रमत्तादिभावोऽप्रमत्तस्य वा प्रमत्तादिभावो यावता देशविरता-दिवत् प्रभूतमपि कालं कस्मादेतौ न भवतः? उच्यते-इह चेतु संक्लेशस्थानेषु वर्त्तमानो मुनिः प्रमत्तो भवति, येषु च विशोधिस्थानेषु वर्त्तमानोऽप्रमत्तरूथनी संक्लेशस्थानानि, विशोधिस्थानानि च प्रत्येक मसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि भवन्ति । सुनिश्च यथावस्थित-मुनिभावे वर्त्तमानो यावदुपशमश्रेणिं, क्षपकश्रेणिं वा नारोहति, तावदवश्यं तथास्वाभाव्वात्संक्लेश्चस्वानेष्वन्तर्मुहूर्त्तं स्थित्वा भूयः संक्लेशस्थानेषु गच्छति, विशोधिस्थनेष्वष्यन्तर्मुहूर्त्त स्थित्वा भूयः संक्लेशस्थानेषु गच्छति, एवं निरन्तरं प्रमत्ताप्रमत्तयोः परावृक्षीः करोति, ततः प्रमत्ताप्रमत्तभावावुत्कर्षतोऽप्यन्तर्मुहूर्त्तं कालं यावल्लभ्येते, न परतः । तथा चोक्तं श तकबृहच्चूर्णौ ''इत्थे संकिलिस्सइ विसुज्झइ वा विरओ अंतमुहुत्तं० जाव कालं न परओ, तेणं संकिलिस्संतो संकिलेसट्ठाणेसु अंतोमुहुत्तं कालं जावपमत्तसंजओ होइ, विसुज्झंतो विसोहिट्ठाणेसु अंतोमुहुत्तं कालं० जाव अप्पमत्तसंजओ होइ इति''। अथ प्रमत्ताप्रमत्त-भावपरावृत्तीः कियन्तं कालं यावन्निरन्तरं करोतीत्यत आह-(देसूणेत्यादि) देशोनां पूर्वकोटिं यावत् इमौ प्रमत्ताऽप्रमत्तभावावन्योऽन्ये परस्परं भजन्तौ तिष्ठतः, प्रमत्तभावचोऽन्तर्मुहूर्तानन्तरमप्रमत्तभावं भजन् अप्रमत्तभावो-ऽन्तर्मुहूर्त्तामन्तरं प्रमत्तभावं भजन् भजन् निरन्तरं तावद्भवति यावद्देशोनां पूर्वकोटीमित्यर्थः। देशोनता च पूर्वकोट्या बालत्वभाविवर्षाष्ट-कापेक्षया द्रष्टव्या ॥४२॥

सम्प्रति शेषगुणस्थानकानामेकं जीवमणिकृत्य कालमानमाह–

समयाओ अंतमुहू, अपुव्वकरणाउ भाव उवसंतो ।
खीणाजेगीणंतो, देसस्सेव जोगिणो कालो ॥४३॥

अपूर्वकरणादारभ्य यावदुपशान्तः, किमुक्तं, भवति ? अपूर्वकरणा निवृत्तिबादरसूक्ष्मसंपरायोपशान्तमोहाः प्रत्येकं समयादारभ्योत्क-र्षतोऽन्तर्मुहूर्त्तं यावद्भवन्ति । तत्र समयमात्रभावना कश्चिदुपशम श्रेण्यामपूर्वकरणत्वं समयमात्रमनुभूयाऽपरः कोऽपि अनिवृत्तिबादर संपरायत्वं प्राप्य तत्समयमात्रमनुभूय, तदन्यः कोऽपि सूक्ष्मसंपरायत्वं संप्राप्य, तदपि समयमात्रमनुभूय, परः कोऽपि पुनरुपशान्तमोहत्व-मवाप्य, तदपि समयमात्रमनुभूय, द्वितीये समये ऽनुत्तरसुरेषूत्पद्यते। तत्र चोत्पन्नानां प्रथमसमय एवाविरतत्वमित्य-पूर्वकरणादीनां समयमात्रत्वम्, अन्तर्मुहूर्तभावना तु सुगमा; अपूर्व करणादीनामन्तर्मुहूर्त्तानन्तरमवश्यं गुणस्थानकान्तरसंक्रमान्मरणाद्वा, क्षपकश्रेण्यां त्वपूर्वकरणादीनां प्रत्येकमजघन्योत्कृष्टमन्तर्मुहूर्तमवसेयम् । क्षपकश्रेण्यामारूढस्याऽ-कृतस कलकर्मक्षयस्य मरणासंभवात् । तथा (खीणाजोगीणंतो इति। क्षीणानां क्षीणकसायाणमयोगिनां भवस्थाऽयोगिकेवलिनामजन्योत्कृष्ट-मन्त-र्मुहूर्त्तमवस्थानम् । तथाहि-क्षीणकषायाणां म मरणमन्तर्मुहूर्ती-नन्तर च ज्ञानावरणादिघातिकम्मत्र-यक्षयात्सयोगिकेवलिगुण स्थानके संक्रमः । भवस्थायोगिकेवलिनां तु ह्रस्वपञ्चाक्षरोद्गिरणमात्रकाला-वस्थायितया, परतः सिद्धत्वप्राप्तिः, अतो द्वयमनाप्यजघन्योत्कृष्टमन्त-र्मुहूर्त्तमवस्थानम्। तथा (देसस्सेव जोगिणो कालो) देशस्येव देशविरत-स्येव योगिनः सयोगिकेवलिनः कालो वेदितव्यो, जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तम्, उत्कर्षतो देशोना पूर्वकोटी इत्यर्थः, अत्राऽन्तर्मुहूर्तमन्तकृत्केवलिनो विज्ञेयम्। देशोना च पूर्वकोटिः सर्वोत्कृष्टा सप्तमासजातस्य वर्षाष्टकादूर्द्धवं चरणप्रतिपत्त्या शीघ्रमेवोत्पादितकेवलज्ञानस्य पूर्वकोट्यायुषो वेदितव्या। तदेवमुक्तं गुणस्थानकेषु विभागे कालमानस्। पं०सं०२ द्वार। प्रव०॥

(५) सम्प्रति गुणस्थानकान्याह–

सुरनारएसु चत्तारि पंच तिरिएसु चोद्दस मणूसे ।
इगिविगलेसू जुगलं, सव्वाणि पणिंदिसु हवंति ॥२८॥

सुरेषु नारकेषु च प्रत्येकं मिथ्यादृष्टिसास्वादनमिश्राविरत-सम्यग्दृष्टिलक्षणानि चत्वारि गुणस्थानकानि भवन्ति । तान्येव देशविरतिसहितानि पञ्च गुणस्थानकानि तिर्यक्षु भवन्ति, चतुर्दशा ऽपिमनुष्ये, तत्र मिथ्यात्वाद्ययोगित्वपर्यन्तसर्वभावसंभवात्। तथा एकेन्द्रिषु विकलेषु विकलेन्द्रियेषु द्वित्रि चतु, तुरिन्द्रियरूपेषु मिथ्यादृष्टिसास्वादनलक्षणं गुणस्थानकयुगलं भवति। सास्वादनत्वं लब्धिपर्याप्तानां करणापर्याप्तानां करणापर्याप्तावस्थायामवसेयं, तथा पञ्चेन्द्रियेषु पंञ्चेन्द्रियद्वारे सर्वाणि चतुर्दशापि गुणस्थानकानि भवन्ति, मनुष्येषु सर्वभावसंभवात् ॥२८॥

सव्वेसु वि मिच्छो वा उतेउसुहुमतिगं पमोत्तूणं ।
सासायणो उ सम्मो, सन्निदुमे सेससन्निम्मि ॥२९॥

सर्वेष्वपि वसेषु स्थावरेषु च मिथ्यादृष्टि लक्षणं गुणस्थानकमविशे-षणावसेयम्, तथाऽग्निवायुसूक्ष्मत्रिकं च सूक्ष्मलब्धपर्याप्तक साधारणरूपं विमुच्य शेषेषु लब्धिपर्याप्तेषु करणैश्चाऽपर्याप्तेषु संज्ञिनि पर्याप्ते च सास्वादनः, सास्वादनसम्यग्दृष्टि गुणस्थानं भवति, तुशब्दो लब्धिपर्याप्तेष्वित्यादिविशेषणसूचकः। तथा (सम्मा त्ति) अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानं संहाज्ञिद्विके पर्याप्तापर्याप्तलक्षणे,

शेषाणि पुनः सम्यग्मिथ्यादृष्टिदेशविरतादीन्येकादश गुणस्थानकासनि संज्ञिनि पर्याप्ते द्रष्टव्यानि ॥२९॥

ना वायर ता वेएसु तिसु वि तह सव्वसंपराएसु ।
लोभम्मि जाव सुहुमे, छल्लेसा जाव सम्मो त्ति ॥३०॥

यावत् बादरोऽनिवृत्तिबादरसंपरायत्वं तावज्जीवाः सर्वेऽपि त्रिषु वेदेषु स्त्रीपुंनपुंनसकलक्षणकेषु, तथा त्रिष्वपि च संपरायेषु क्रोधमानमायारूपेषु द्रष्टव्याः। किमुक्तं भवति ? त्रिषु वेदेषु त्रिषु च क्रोधमानमायारूपेषु संपरायेषु मिथ्यादृष्ट्यादीन्यनिवृत्तिबादरसम्परायपर्यन्तानि नव गुणस्थानकानि भवन्ति । एवमन्यत्रापि भावना द्रष्टव्यया । तथा लोभे यावत् सूक्ष्म सूक्ष्मसंपरायस्तावत्सर्वेऽपि जीवा मिथ्यादृष्टिप्रभृतयो वेदितव्याः, तथा यावत् (सम्मो त्ति) अविरतसम्यग्दृष्टिस्तावत् षडपि लेश्या भवन्ति ॥३०॥

अप्पुव्वाइसु सुक्का, नत्थि अजोगिम्मि तिन्नि सेसाणं ।
मीसो एगो चउरो, असंजया संजया सेसा ॥३१॥

अपूर्वादिषु अपूर्वकरणादिषु गुणस्थानकेषु (सुक्का त्ति) एका शुक्ललेश्या भवति, न शेषा लेश्याः । तथा-अयोगिनि अयोगिकेवलिगुणस्थानके सोऽपि शुक्ललेश्या नास्ति, अलेश्यत्वादयोगिकेवलिनः, तथा शेषाणां देशविरतप्रमत्त संयताप्रमत्तसंयतानां तिस्रस्तेजःपद्मशुक्लरूपा लेश्या भवन्ति । सूत्रे तु 'तिन्नि ति' नपुंसकनिर्देशः प्राकृतलक्षणात् । यदाह पाणिनिः स्वप्राकृतलक्षणे ''लिङ्गं व्यभिचार्यपि''। इदं च लेश्यात्रयं देशविरतादीनां देशविरत्यादिप्रतिपत्तिकाले द्रष्टव्यम् । अन्यथा षडपि लेश्याः । उक्तं च-सम्यक्त्वदेशविरतिसर्वविरतीनां प्रतिपत्तिकालेषु शुभलेश्यात्रयमेव, तदुत्तरकालं तं सर्वा अपि लेश्याः परावर्तन्तेऽपीति। तथा योगे मनोवाक्कायरूपेऽयोगिकेवलिवर्जानि शेषाणि त्रयोदश गुणस्थानकानि मतिश्रुतावधिज्ञानेष्वविरतसम्यग्दृष्ट्यादानि क्षीणमोह-पर्यन्तानि नव गुणस्थानकानि, मनःपर्ययज्ञाने प्रमत्त संयतादीनि क्षीयामोहान्तानि सप्तगुणस्थानकानि, केवलज्ञान केवलदर्शनयोः सयोग्ययोगिकेवलिलक्षणं गुणस्थानकद्विकं, मत्यज्ञानश्रुताज्ञान-विभङ्गज्ञानेषु मिथ्यादृष्टिसास्वादनमिश्रलक्ष-णानि त्रीणि गुणस्थान-कानि, चक्षुरचक्षुरवधिदर्शनेषु मिथ्यादृष्ट्यादीनि क्षीणमोहान्तानि द्वादश गुणस्थानकानीति सुधिया भावनीयम् । तथा मिश्रो व्यामिश्रः संयमं प्रत्येको देशविरत इत्यर्थः, चत्वारो मिथ्यादृष्ट्यादयोऽसंयताः, शेषाश्च संयताः, तत्र प्रमत्ताऽप्रमत्तसामयिकच्छेदोपस्थापनपरिहारविशुद्धि-कसंयमसंभविनः अपूर्वकरणाऽनिवृत्तिबादरौ सामायिकच्छेदोपस्थापन-संयमसंभाविनौ, सूक्ष्मसंपराये सूक्ष्मसंपरायसंयमः, उपशान्तमोहक्षीण-मोहसयोग्ययोगिकेवलिनो यथाख्यातचारित्रिणः ॥३१॥

अब्भव्विएसु पढमं, सव्वाणियरेसु दो असन्नीसु ।
सण्णीसु वार केवलि, नो सण्णी नो असण्णी वि ॥३२॥

अब्भ्येषु प्रथमं मिथ्यादृष्टिलक्षणं गुणस्थानकम्, इतरेषु च भव्येषु सर्वाणि मिथ्यादृष्ट्यादीन्ययोगिकेवलिपर्यन्तानि चतुर्दशाऽपि गुणस्थानकानि भवन्ति । तथाऽसंज्ञिषु संज्ञिवर्जितेषु द्वे मिथ्यादृष्टि सास्वादनलक्षणे गुणस्थानके, तत्र सास्वादनसम्यग्दृष्टिगुह्यस्थानकं लब्धिपर्याप्तस्य करणापर्याप्ताऽवस्थायां वेदितव्यम् । तथा संज्ञिनि सयोग्ययोगिकेव-लिवर्जानि शेषाणि द्वादश गुणस्थानकानि, ये तु सयोग्ययोगिकेवलिगुण-स्थानके ते तत्र न संभवतः, सयोग्ययोगिकेवलिनोः संज्ञित्वाऽयोगात् तदयोगश्च मनोविज्ञानाभावात्। न चाप्येकान्तेन तयोरसंज्ञित्वं द्रष्टव्यम्, द्रव्यमनोऽपेक्षया संज्ञित्वस्याऽपि व्यवहारात्। तथा जाह-केवलिनौ न संज्ञिनौ, मनोविज्ञानाभावात्, नाप्यसंज्ञिनौ, द्रव्यमनःसंबन्धापेक्षया संज्ञित्वव्यवहारात् । उक्तं च सप्ततिकाचूर्णौ ''मणकरणं केवलिणो वि अत्थि, तेण सन्निणो वुच्चंति, मणोविन्नाणं पडुच्च, ते सन्निणो न हवंति त्ति''॥३२॥

अपमत्तुवसम अजोगि, जाव सव्वे वि अवीरयाईया ।
वेयगउवसमखाइय दिट्ठी कमसो मुणेयव्वा ॥३३॥

इह यथासंख्येन पदयोजना कर्त्तव्या । सा चैवम्, अविरतादयोऽप्र-मत्तान्ताः वेदकसम्यग्दृष्टयः, अविरतादय उपशान्तमोहान्ता औपशमिकदृष्टयः, अविरतादयोऽयोगिपर्यन्ताः क्षायिकमिथ्या-दृष्टयः, क्रमशः क्रमेण यथासंख्यरूपेणोक्तलक्षणेन मन्तव्याः। किमुक्तं भवति ? वेदकसम्यक्त्वेऽविरतसम्यग्दृष्ट्यादीन्यप्रमत्तपर्यन्तानि चत्वारि गुणस्थानकानि, औपशमिकसम्यक्त्वे त्वविरतादीन्युपशान्तमोह-पर्यन्तानि अष्टौ गुणस्थानकानि, क्षायिक सम्यक्त्वे अविरतादीनि अपोगिपर्यन्तानि एकादश गुणस्थानकानि, मिथ्यादृष्टिसास्वादनमिश्रेषु पुनः स्वं स्वमेव गुणस्थानम् । एतच्चानुक्तमपि सामर्थ्यादवसीयते इति नोक्तम् ॥३३॥

आहारगेसु तेरस, पुच अणाहारगेसु वि भवंति ।
भणिया जोगुवयोगाण मग्गणा वंधगे भणिमो ॥३४॥

आहारकेष्वऽयोगिकेवलिवर्जानि शेषाणि त्रयोदश गुणस्थानकानि, अनाहारकेषु मिथ्यादृष्टिसास्वादना-विरतासम्यग्दृष्टिसयोग्ययोगि-केवलिलक्षणानि पञ्च गुणस्थानकानि, तत्र सयोगिकेवलिगुण-स्थानकमनाहारके समुद्घतावस्थायां, शेषाणि सुप्रतीतानि ॥ पं०सं०१ द्वार । प्रव० कर्म्म०।

(६) अथजीवस्थानेषु गुणस्थानानि प्रचिकटयिषुराह–

बायरअसन्निविगले, अपज्ज पढमविय सन्निअपतजत्ते ।
अजयजुय सन्निपज्जे, सव्वगुणा मिच्छ सेसेसु ॥

ततो बादरश्च बादरैकेन्द्रियाः पृथिव्यम्बुवनस्पतिलक्षणाः, असंज्ञी च विशिष्टस्मरणादिरूपमनोविज्ञानविकलः, विकलाश्च विकलेन्द्रिया द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियाः 'द्वन्द्वे' बादरासंज्ञिविकलं, तस्मिन् बादरा-संज्ञिविकले। किंविशिष्टे?, (अपज्ज त्ति) अपर्याप्ते, कोऽर्थः ? अपर्याप्तबाद-रैकेन्द्रियेषु पृथिव्यम्बुवनस्पतिषु, तथा ऽपर्याप्ते संज्ञिनि, तथा बिकलेषु द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियेष्वपर्याप्तेषु, किमिति? आह-(पढमविय त्ति) इह 'सव्वगुणा' इतिपदाद् गुणशब्दस्याकर्षणं, ततः प्रथमं मिथ्यादृष्टि-गुणास्थानं, द्वितीयं सास्वादनगुणस्थानं भवति । अथ तेजोवायुवर्जनं किमर्थमिति चेत् ?, उच्यते-तेजोवायूनां मध्ये सम्यक्त्वलेशवताम-प्युत्पादाभावात्, सम्यक्त्वं चासादयतां सास्वादन-भावाभ्युपगमात् । नन्वेकेन्द्रियाणामागमे सास्वादनभावो, नूष्यते उभयाभावः, ''पुढवाइएसु संमत्तलद्धीए'' इति परममुनिप्रणीतवचन-प्रामाण्यात् । अत एवागमे एकेन्द्रिया अज्ञानिन एवोक्ताः, द्वीन्द्रियादयश्च केचिदपर्याप्तावस्थायां सास्वादनभावाभ्युपगमात् ज्ञानिनः उक्ताः, केचिच्च तदभावादज्ञानिनः, यदि पुनरेकेन्द्रियाणामपि सास्वादनभावः स्यात्, तर्हि तेऽपि द्वीन्द्रि-

यादिवत् उभयथाऽप्युच्चेरन् न चोच्यन्ते यदुक्तम्-''एगिंदिया णं भंते ! किं नाणी, अन्नाणी ? गोयमा ! नो नाणी, नियमा अन्नाणी। तथा वेंदिया णं भंते ! किं नाणी, अन्नाणी? गोयमा ! नीणी वि, अन्नाणी वि'' इत्यादि। तत्कथमिहापर्याप्त बादरैकेन्द्रियेषु पृथिव्यम्बुवनस्पतिलक्षणेषु सास्वादनगुणस्था-नकभाव उक्त? सत्यमेतत् ,किं तु मा त्वरिष्ठाः, सर्वमेतदग्रे प्रति विधास्याम इति ।(सन्निअपज्जत्ते अजयजु त्ति) संज्ञिन्यपर्याप्ते तदेव पूर्वोक्तं मिथ्यादृष्टि सास्वादनलक्षणगुणस्थान-कद्वयमयतयुतं भवति। यमनं यतं, विरतिरित्यर्थः। न विद्यते यतं यस्य सोऽयतः, अविरतसम्यग्दृष्टिरित्यर्थः। तेन युतं संयुक्तमयमतयुतम्। इदमुक्तं भवति-संज्ञिन्यपर्याप्ते त्रीणि मिथ्यादृष्टिसासादनाविरतिसम्यग्दृष्टि लक्षणानि गुणस्थानानि भवन्ति, न शेषाणि सम्यग्मिथ्यादृष्ट्यादीनि, तेषां पर्याप्तवस्थायामेव भावात्।(सन्निपज्जे सव्वगुण त्ति) संज्ञिनि पर्याप्ते सर्वाण्यपि मिथ्यादृष्ट्यादीन्ययोगिपर्यन्तानि गुणस्थानकानि भवन्ति; संज्ञिनः सर्वपरिणामसंभवात् । अथ कथं संज्ञिनः सयोग्य योगिरूपगुणस्थानकद्वयसंभवः? तदद्भावे तस्यामनस्कतया संज्ञित्वायोगात् ? न। तदानीमपि हि तस्य द्रव्यमनःसंबन्धोऽस्ति, समनस्काश्चाविशेषेण संज्ञिनो व्यवह्रियन्ते, ततो न तस्य भगवतः संज्ञिताव्याघातः । यदुक्तं सप्ततिकाचूर्णौ-''मणकरणं केवलिणो वि अत्थि, तेण संन्निणो भण्णंति, मणोविन्नाणं पडुच्च ते सन्निणो न भवंति त्ति''(मिच्छ सेसेसु त्ति) मिथ्यात्वं शेषेषु भणितावशिष्टेषु पर्याप्ताऽपर्याप्तसूक्ष्मपर्याप्तबादरैकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियासंज्ञि-पंचन्द्रियलक्षणेषु सप्तसु जावस्थानेषु मिथ्यादृष्टिगुणस्थानमेव भवति, न सासादनमपि। यतः परभवादागच्छतामेव घण्टालालान्यायेन सम्यक्त्व-लेशमास्वादयतामुत्पत्तिकाल एवापर्याप्तवस्थायां जन्तूनां लभ्यते, न पर्याप्तवस्थायाम्, अतः पर्याप्तसूक्ष्म-बादरद्वित्रिचतुरसंज्ञिपपञ्चेन्द्रियाणां तदभावः । अपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियेऽपि न सासादनसंभवः, सासादनस्य मनाक् शुभपरिणामरूपत्वात् महासुंक्लिष्टपरिणामस्य च सूक्ष्मैकेन्द्रि-यमध्ये उत्पादाभिधानात् इति ॥३॥ तदेवं निरूपितानि जीवस्थानकेषु गुणस्थानकानि । कर्म्म०४ कर्म०।('परीसह' शब्दे गुणस्थानकेषु परीषहाः)।

(७) गुणस्थानकेषु बन्धप्रकृतयः। अथ यथैतेष्वेव गुणस्थानेषु भगवता बन्धमुदयमुदीरणां सत्तां चाश्रित्य कर्माणि क्षपितानि तथा विभणिषुः प्रथमं तावद्बन्धमाश्रित्य क्व गुणस्थाने कियत्यः कर्मप्रकृतयो व्यवच्छिन्ना इत्येतद्बन्धलक्षणकथनपूर्वकं प्रचिकटयिषुराह-

अभिनवकम्मग्गहणं, बंधो ओहेण तत्थ वीससयं।
तित्थयराहारगदुगवज्जं मिच्छम्मि सतरसयं ॥३॥

मिथ्यात्वादिभिर्हेतुभिरभिनवस्य नूतनस्य कर्मणो ज्ञानावरणादेर्ग्रहण मुपादानं बन्ध इत्युच्यते। ओघेन सामान्येन, नैकं किञ्चिद्गुणस्थान-कमाश्रित्येत्यर्थः। (तत्थत्ति) तत्र बन्धे विंशं शतं विंशत्युत्तरशतं, कर्मप्रकृतीनां भवतीति शेषः। तथाहि मतिज्ञानावरणं श्रुतज्ञानावरणम्, अवधिज्ञानावरणम् मनःपर्यायज्ञानावरणं, केवलज्ञानावरणमिति पञ्चधा ज्ञानावरणम्। निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला, स्त्यानर्द्धिः, चक्षुर्दर्शनावरणम्, अचक्षुर्दर्शनावरणम्, अवधिदर्शनावरणं, केवलदर्शना-वरणमिति नवविधं दर्शनावरणम्। वेदनीयं द्विधा-सात वेदनीयमसात-वेदनीयं च। मोहनीयमष्टाविंशतिभेदम्। तद्यथामिथ्यात्वं, ससम्यग्मि-थ्यात्वं, दर्शनत्रिकत्, अनन्तानुबन्धी क्रोधो मानो माया लोभः, अप्रत्याख्यानावरणः क्रोधो मानो माया लोभः, प्रत्याख्यानावरणः क्रोधो मानो माया लोभः, संज्वलनः क्रोधो मानो माया लोभः, इति षोडश कषायाः। स्त्रीपुन्नपुंसकमिति वेदत्रयम्। हास्यं रतिः अरतिः शोको भयं जुगुप्सेति हास्यषटकं मिलितं, नव नोकषायाः । आयुश्चतुर्द्धा-नरकायुस्तिर्यगायुः मनुष्यायुः देवायुरिति। अथ नामकर्म द्विचत्वारि-शद्विधम् । तद्यथा-चतुर्दश पिण्डप्रकृतयः, अष्टौ प्रत्येकप्रकृतयः त्रसदशकम्, स्थावरदशकं चेति । तत्र पिण्डप्रकृमय इमाः-गतिनाम जातिनाम शरीरनाम अङ्गोपाङ्गनाम बन्धननाम संघातनाम संहनननाम संस्थाननाम वर्णनाम गन्धनाम रसनाम स्पर्शनाम आनुपूर्वीनाम विहायोगतिनामेति । आसां भेदाः प्रदर्श्यन्ते-नरकतिर्यग्मनुष्यदेव-गतिनामभेदाच्चतुर्द्धा गतिनाम । एकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रिय-पञ्चेन्द्रियजातिनामेति पञ्चधा जातिनाम । औदारिकवैक्रियाहारकतै-जसकार्मणा-शरीरनामेति पञ्चधा शरीरनामेति । औदारिकाङ्गोपाङ्गं वैक्रियाङ्गोपाङ्गोपाङ्ग-माहारकाङ्गोपाङ्गं नामेति त्रिधाङ्गोपाङ्गनाम। बन्धननाम पञ्चधा-औदारिकबन्धनादिशरीरवत् । एवं संघातनमपि। संहनननाम षट्भेदम्-वज्रऋषभनाराचम्, ऋषभनाराचं, नाराचम्, अर्द्धनाराचं, कीलिका, सेवार्त्तं चेति। संस्थाननाम षडविधम्समचतुरस्रं, न्यग्रोध परिमण्डलं, सादिवामनं, कुब्जं, हुण्डं चेति। वर्णनाम पञ्चधा-कृष्णं नीलं लोहितं हारिद्रं शुक्लं चेति। गन्धनाम द्विधा-सुरभिगन्धनाम, दुरभिगन्धनामेति। रसनाम पञ्चधा-तिक्तं कटुकं कषायम् अम्लं मधुरं चेति। स्पर्शनामाष्टधाकर्कशं मृदु लघु गुरु शीतम् उष्णं स्निग्धं रूक्षं च। आनुपूर्वी चतुर्धानरकानुपूर्वी तिर्यगानुपूर्वी मनुष्यानुपूर्वी देवानुपूर्वी चेति। विहायोगतिर्द्विधा-प्रशस्तविहायोगतिर प्रशस्तविहायोगतिरिति। आसां चतुर्दशपिण्डप्रकृतीनामुत्तरभेदा अमी पूर्वोक्ताः पञ्चषष्टिः। प्रत्येकप्रकृत-स्त्विमाः-पराघातनाम, उपघातनाम, उच्छ्वासनाम, आतपनाम, उद्योतनाम, अगुरुलघुनाम, तीर्थकरनाम, निर्माणनामेहति। त्रसदशकमिदम्-त्रसनाम बादरनाम, पर्याप्तनाम प्रत्येकनाम, स्थिरनाम शुभनाम, शुभगनाम, सुस्वरनाम, आदेयनाम, यशःकीर्तिनामेति। स्थावरदशकं पुनरिदम्स्थावरनाम, सूक्ष्मनाम, अपर्याप्तनाम, साधारण-नाम, अस्थिरनाम, अशुभनाम, दुर्भगनाम, दुःस्वरनाम, अनादेयनाम, अयशःकीर्तिनामेति । पिण्डप्रकृम्युत्तरभेदाः पञ्चषष्टिःप्रत्येकप्रकृत-योऽष्टौ, त्रयदशकं, स्थावरदशकं च। सर्वमीलने त्रिनवतिः। गोत्रं द्विधा-उच्चैर्गोत्रं, नीचैर्गोत्रं च । अन्तरायं पञ्चधादानान्तरायं, लाभान्तरायं, भोगान्तरायम, उपभोगान्तरायम्, वीर्यान्तरायं चेति । एवं च कृत्वा ज्ञानावरणे कर्मप्रकृतयः पञ्च, दर्शनावरणे नव, वेदनीये द्वे, मोहनीयेऽष्टाविंशतिः, आयुषि चतस्रः, नाम्नि त्रिनवतिः, गोत्रे द्वे, अन्तराये पञ्च, सर्वपिण्डमेऽष्टाचत्वारिंशं शतं भवति । तेन च सत्तायामधिकारः। उदयोदीरणयोः पुनरौदारिकादिबन्धनानां पञ्चानामौदारिकादिसंघातनानां च पञ्चानां यथास्वमौदारिकादिषु पञ्चसु शरीरेष्वन्तर्भावः। वर्णरसगन्धस्पर्शानां यथासंख्यं पञ्चद्विपञ्चाष्ट भेदानां तद्भेदकृतां विंशतिमपनीय तेषामेव चतुर्णामभिन्नानां ग्रहणे षोडशकमिदम्, बन्धनसंघातनसहित-मष्टचत्वारिंशशतादपनीयते। शेषेण द्वाविंशेन शतेनाऽधिकारः। बन्धे तु सम्यमिथ्यात्वसम्यक्त्वयोः

संक्रमेणैव निष्पाद्यमानत्वचाद्बन्धो न संभवतीति तयोर्द्वाविंशतिशतादपनीतयोः शेषेण विंशत्युत्तरशतेनाधिकार इति प्रकृतिसमुत्कीर्तना कृता। प्रकृत्यर्थः स्वोपज्ञकर्मविपाकट । कायां विस्तरेण गिरूपितस्तत एवावधार्य इत्यलंप्रसङ्गेन । प्रकृतं प्रस्तुमः--तत्र बन्धे सामान्येन विंशं शतं भावतीते प्रकृतम्, तदेव च विंशं शतं तीर्थकराहारकद्विकवर्जं तीर्थकराहारकद्विकरहितं सप्तदशोत्तरं शतं (मिच्छम्मि त्ति) भीमसेनो भीम इत्यादिवत्पदवाच्यस्यार्थस्य पदैकदेशेनाप्यभिधानदर्शनात् मिथ्यात्वे मिथ्यादृष्टिगुणस्थाने इत्यर्थः। एवमुत्तरेष्वपि पदवाच्येषु पदैकदेशप्रयोगो द्रष्टव्यः ।(सतरसयं ति) सप्तदशाधिकं शतं सप्रतदशशतं बन्धे भवतीति । अयमत्राभिप्रायः—तीर्थकरनाम तावत्सम्यक्त्वगुणनिमित्तमेव बध्यते । आहारकशरीराहाकाङ्गोपाङ्गलक्षणमाहारकद्विकं त्वप्रमत्ततयति-संबन्धिना संयमनैव। यदुक्तं श्रीशिवशर्मसूरिपादैः शतके ''संमत्तगुण निमित्तं, तित्थयरं संजमण आहारमिति''। मिथ्यादृष्टिगुणस्थाने एतत्प्रकृतित्रयवर्जनं कृतं, शेषं पुनः सप्तदशशतं मिथ्यात्वादिभिर्हेतुभिर्बध्यत इति मिथ्यादृष्टिगुणसस्थाने तद्बन्धइति ।३॥

नन्वेता मिथ्यादृष्टिप्रायोग्याः सप्तदशशतसंख्याः सर्वा अपि प्रकृतय उत्तरगुणस्थानेषु गच्छन्त्युत काश्चिदेवेत्याशङ्क्याह -

नरपतिग जाइथावर-चउ हुंडायवछिवट्ठनपुमिच्छं।

सोलंतो इगहियसय, सासणि तिरियीणदुहगतिगं ॥४॥

नरकत्रिकम्-नरकगतिनरकानुपूर्व्वी नरकायुर्लक्षणम्, (जाइथावरचउ त्ति) चतुःशब्दस्य प्रत्येकमभिसंबन्धात् जातिचतुष्कं एकेन्द्रियजाति-द्वान्द्रियजातित्रीन्द्रियजाति-चतुरिन्द्रियजातिस्वरूपं, स्थावरचतुष्कं स्थावरसूक्ष्मापर्याप्तसा-धारणलक्षणं, हुण्डम् आवतं छेदपृष्ठं (नपु त्ति) नपुंसकवेदः (मिच्छ त्ति) मिथ्यात्वमित्येतासाम् (सोलंतो त्ति) षोडशानां प्रकृतीनां मिथ्यादृष्टिगुणस्थाने 'तत्र भाव उत्तरत्राभावः' इत्येवंक्षणोऽन्तो विनाशः क्षयो भेदो व्यवच्छेद उच्छेद इति पर्यायाः। इयमत्र भावना-एता हि षोडशा प्रकृतयो मिथ्यादृष्टिगुणस्थान एव बन्धमायान्ति, मिथ्यात्वप्रत्ययत्वादेतासाम्। नोत्तरत्र सास्वादनादिषु, मिथ्यात्वाभावादेव। यत एताः प्रायो नारकैकेन्द्रिय-विकलेन्द्रिययोग्त्वादत्यन्ताऽशुभत्वाच्च मिथ्यादृष्टिरेव बध्नातीति सप्तदशशतत्पूर्वोक्तादेतदपगमे शेषमेकोत्तरं प्रकृतिशतमेवाऽविरत्यादिहेतुभिः सास्वादने बन्धमायात्यत एवाह-(इगहियसयसासणि त्ति) एकाधिकशतं सास्वादने बध्यते। ''इगहियसय'' इत्यत्र विभक्तिलोपः प्राकृतत्वात्। एवमन्यत्रापि विभक्तिलोपः प्राकृतलक्षणवशादवसेयः। (तिरिथीणदुहगतिगंति) त्रिकशब्दः प्रत्येकं संगध्यते । तियक् त्रिकं तिर्य्यग्गतिः, तिर्यगानुपूर्वी, तिर्यगायुर्लक्षणं, स्त्यानर्द्धित्रिकंनिद्रानिद्रा प्रचला प्रचलास्त्यानर्द्धिस्वरूपं, दुर्भगत्रिकं दुर्भगदुःस्वरानादेयस्वरूपमिति ॥४॥

अणमज्झाऽऽगिइसंघय णचउनिउज्जोयकुखगइत्थि त्ति।

पणवीसंतो मीसे, चउसयरि दुआउय अवुधा ॥५॥

चतुःशब्दस्य प्रत्येकं योजनात् (अण त्ति) अनन्तानुबन्धिचतुष्कतनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभाख्याम्। मध्या मध्यमा आद्यन्तबर्जा आकृतयः संस्थानानि मध्यकृतयः, तासां चतुष्कं न्यग्रोधपरिमण्डसंस्थानं सादिसंस्थानं वामनसंस्थानं कुब्जसंस्थानमिति । तथा काकाक्षिगोलकन्यायान्म-ध्यशब्दस्यात्रापि योगः, ततो मध्यानि प्रथमान्तिमवर्जानि संहननानि अस्थिनिचयात्मकानि, तेषां चतुष्कं संहननचतुष्कम्। ऋषभनाराचसंहननं नाराचसंहननम् अर्द्धनाराचसंहननं कीलिकासंहननमिति। (निउ त्ति) नीचैर्गोत्रम्, उद्योतम्। कृखगतिः कुः कुत्सिताऽप्रशस्ता खगतिर्विहायोगतिः, अप्रशस्तविहायोग-तिरित्यर्थः। (त्थि त्ति) स्त्रीवेदः, इत्येतासां पञ्चविंशतिप्रकृतीनां सास्वादने ऽन्ताऽत्र बध्यन्ते, नोत्तरत्रेत्यर्थः। यतोऽनन्तानुबन्धिप्रत्ययो ह्यासां बन्धः, स चोत्तरत्र नास्तीति । ततश्चैकाधिकशतात्पञ्चावशत्यपगमे (मीसि त्ति) मिश्रे सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थाने षट् प्राप्नतिर्बन्धे भवति । ततोऽपि (दुआउयअबंध त्ति) द्वयोर्मनुष्याऽयुर्देवायुषोरबन्धो द्वयायुरबन्धस्तस्मात् द्वयायुरबन्धादितिहेतोश्चतुःसप्नतिर्भवति । इदमुक्तं भवति-इह नारकतिर्यगायुषी यथासंख्ये मिथ्यादृष्टिसास्वादनगुणस्थानयोर्व्यवच्छिन्ने, शेषं तु मनुष्यायुर्देवायुर्द्वयमवतिष्ठते, तदपि मिश्रो न बध्नाति, मिश्रस्य सर्वथा आयुर्बन्धप्रतिषेधात् । उक्तं च-''सम्मामिच्छदिट्ठी, आउयबंधं पि न करेइ त्ति'' ततः षट्सप्त तेरायुर्द्वयाऽपगमे चतुःसप्नतिर्भवतीति ॥५॥

सम्मे सगसयरि जिणा-उवंधि वइरनरतिगवियकसाया।

उपलदुगंते देसे, सत्तट्ठी तिअकसायंतो ॥६॥

(संमि त्ति) अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थाने (सगसयरि त्ति) सप्तसप्नति प्रकृतीनां बन्धो भवति। कथमिति चेत्? उच्यते-पूर्वोक्तैव चतुःसप्नतिः (जिणाउवंधि त्ति) तीर्थकरनाममनुष्या-युर्देवायु,र्द्वयबन्धे सति सप्तसप्नतिर्भवति । एमदुक्तं भवति-तीर्थकरनाम तावत्सम्यक्त्वप्रत्ययादेवात्र बन्धमायाति, ये च तिर्यङ्नुष्या अविरतसम्यग्दृशस्ते देवायुर्बध्नन्ति, ये तु नारकदेवास्ते मनुष्यायुर्बध्नन्ति, ततोऽत्रेयं प्रकृतित्रयी समधिका लभ्यते, सा च पूर्वोक्तायां चतुःसप्ततौ क्षिप्यते, जाता सप्तसप्ततिरिति । (वइर त्ति) वज्रर्षभनाराचसंहनभम् (नरतिग त्ति) नरत्रिकम् नरगतिनरानुपूर्वी नरायुर्लक्षणं, (वियकसाय त्ति) द्वितीयकषाया अप्रत्याख्यानावरणाः क्रोधमानमायालोभाः)उरलदुग त्ति) औदारिकद्विकमौदारिकशरीरौदारिकाङ्गोपाङ्गलक्षणमित्येतासां दशप्रकृतीनामविरतसम्यग्दृष्टावन्तो भवति, एता अत्र बध्यन्ते, नोत्तरत्रेत्यर्थः। अयमत्राभिप्रायःद्वितीयकषायांस्तावदुदयाभावान्न बध्नाति देशविरतादिः । कषाया ह्यनन्तानुबन्धिवर्जा वेद्यमाना एव बध्यन्ते ''जे वेतइ ते बंधइ इति वचनात् । अनन्तानुबन्धिनस्तु चतुर्विंशतिसत्कर्मानन्तवियोजको मिथ्यात्वं गतो बन्धावलिकामात्रं कालमनुदितान् बध्नाति । यदाहुः सप्ततिकाटीकायां मोहनीयचतुर्विंशतिकावसरे श्रीमलयगिरिपादाः- '' इह सम्यग्दृष्टिना सता केनचित् प्रथमतोऽनन्तानुबन्धिनो विसंयोजिताः'' एतावतैव स विश्रान्तो न मिथ्यात्वादिक्षयाय स उद्युक्तवान्, तथाविधसा मग्र्यभावात्। ततः कालान्तरे मिथ्यात्वं गतः सन् मिथ्यात्वप्रत्ययतो भूयोऽप्यनन्तानुबन्धिनो बध्नाति। ततो बन्धावलिकायावन्नाद्याप्यतिक्रामिति तावत्तेषामुदयं विना बन्ध इति। नरत्रिकं पुनरेकान्तेन मनुष्यवेद्यम्। औदारिकद्विकं वज्रऋषभनाराचसंहननं च मनुष्यतिर्यगेकान्तवेद्यम्। देशविरतादिषु देवगतिवेद्यमेव बध्नाति, नान्यत्तेनाऽऽसां दशप्रकृतीनामविरत सम्यग्दृष्टिगुणस्थानेऽन्तः। तत एतत्प्रकृतिदशकं पूर्वोक्तसप्तसप्ततेरपनीयते।

ततो (देसे सत्तट्ठि त्ति) देशे देशविरतगुणस्थाने सप्तषष्टिध्यते, (तियकसायं तु त्ति) तृतीय कषायाणां प्रत्याख्यानाचरणक्रोधनानमायालोभानां देशविरतेऽन्तस्त दुत्तरेषु तेषामुदयाभावात् अनुदितानां चाबन्धात् ''जे वेयइ ते बंधइ'' इतिवचनादिति भाव: एतच्च प्रकृतिचतुष्कं पूर्वोक्तसप्तष्टेरपनीयते ।६।

तेवट्ठि पमत्ते सो ग अरइ अथिरगुद अजस अस्सायं ।
वुच्छिज्ज छज्ज सत्त व, नेइ सुराउं जया निट्ठं ॥७॥

(तेवट्ठि पमत्ति त्ति) त्रिषष्टिः प्रमत्ते बध्यते । शोकः अरतिः (अथिरदुग त्ति) अस्थिरद्विकमस्थिराशुभरूपम् (अजस त्ति) अयश: कीर्त्तिनाम, असातमित्येता:षट् प्रकृतय: प्रमत्ते (वुच्छिज्ज त्ति) प्रकृतत्वादादेशस्य, व्यवच्छिद्यन्ते क्षीयन्ते, बन्धमाश्रित्येति भव: । यद्वा-सप्त वा व्यवच्छिद्यन्ते । कथमिति ? आह (नेइ सुराउं जया निट्ठं ति) यदा कश्चित्प्रमत्तः सन् सुरायुर्बद्धुमारभते, निष्ठां च नयति, सुरायुर्बधं समापयतीत्यर्थः। तदा पूर्वोक्ता: षट्सुरायुःसहिता: सप्त व्यवच्छिद्यन्ते इति ॥७॥

गुणसट्ठि अप्पमत्ते, सुराउ वंधंतु जइ इहागच्छे ।
अन्नह अट्ठावन्ना, जं आहारगदुगं बंधे ॥८॥

(गुणसट्ठि त्ति) एकोनषष्टिरप्रमत्ते, बध्यते इति शेष: । कथमिति? आह सुरायुर्बध्नन् देवायुर्बन्धं कुर्वन्, यदि चेदिहाऽप्रमत्त गुणस्थाने आगच्छेत् । इयमत्र भावना-सुरायुर्बन्धं हि प्रमत्त एवारभते, नाऽप्रमत्तादि:, तस्यातिविशुद्धत्वात्, आयुष्कस्य तु घोलनापरिणामे नैव बन्धनात्, परं सुरायुर्बध्नन् प्रमत्ते किञ्चित्सावशेषे सुरायुर्बन्धेऽप्रमत्ते ऽप्यागच्छेत्। अत्र च सावशेषं सुरायुर्निष्ठां नयति । तत एकोन-षष्टिरप्रमते भवति, ''देवाउयं च इक्कं नायव्वं अप्पमत्तम्मि त्ति'' वचनात् । (अन्नह अट्ठावन्न त्ति) अन्यथा यदि सुरायुर्बन्धः प्रमत्तेनारब्धः प्रमत्तेनैव निष्ठां नीतस्ततोऽष्टपञ्चाशदप्रमत्ते भवतीति । ननु यदि पूर्वोक्तत्रिषष्टे: शोकारऽरत्यस्थिरद्विकाऽयशोऽसातलक्षणं प्रकृतिषटकमपनीयते, तर्हि सा सप्तपञ्चाशद्भवति, अथ: सुराय: सहितं पूर्वोक्तप्रकृतिषटकमपनीयते तर्हि षट् पञ्चाशत्, ततः कथमुक्तमेको-नमषष्टिरष्टपञ्चाशद्बाऽप्रमत्ते इत्याशङ्क्याह (जं आहारगदुगं वंधे त्ति) यद्यस्मात् कारणादाहारकद्विकं बन्धे भवतीति शेषः । अयमत्राशय:—अप्रमत्तयतिसंबन्धिना संयम-विशेषेणाहासरकद्विकं बध्यते, तच्चेह लभ्यते इति पूर्वापनीतमप्यत्र धिप्यते । ततः षट् पञ्चाशदाहारकद्विक क्षेपे अष्टापञ्चाशद्भवति, सप्तपञ्चाशत्पुनराहारकद्विकक्षेपे एकोनषष्टिरिति ॥८॥

अहवन्न अपुव्वइम्मि निद्ददुगंतो छपन्न पणभागे ।
सुरदुगपणिंदिसुखगइ, तसनवउरलविणुतणुवंगा ॥९॥
समचउरनितिधजिणव-अअगुरु लहुचउ छलंसि तीसंतो ।
चरमे छवीसबंधो, हासरईकुच्छभयमेओ ॥१०॥

(अडवन्न अपुव्वाइम्मि त्ति) इह किलापूर्वकरणाद्धाया: सप्त भागा: क्रियन्ते । तत्रापूर्वस्याऽपूर्वकरणस्याऽऽदिमे प्रथमे सप्तभागेऽष्टापञ्चशत् पूर्वोक्ता भवन्ति । तत्र चाद्ये सप्तभागे निद्राद्विकस्य निद्राप्रचलालक्षण-स्याऽन्तो भवति , अत्र बध्यते, नोत्तरत्रापि, उत्तरत्र तद्बन्धाध्यवसाय-स्थानाभावात्, उत्तरेष्यमेव हेतुरनुसरणीय:, ततः परं षट्पञ्चाशद्भवति। कथमिति? आह-(पणभागि त्ति) पञ्चानां भागानां समाहार: पञ्चभागं, तस्मिन् पञ्चभागे, पञ्चसु भागेष्वित्यर्थः। इदमुक्तं भवति-अपूर्णकरणा-द्धाय: सप्तसु भागेषु विवक्षितेषु प्रथमे सप्तभागेऽष्टपञ्चाशत्, तत्र च व्यवच्छिन्ननिद्राप्रचलापनयने षट्पञ्चाशत्, सा च द्वितीये सप्तभागे तृतीये सप्तभागे चतुर्थे सप्तभागे पञ्चमे सप्तभागे षष्ठे सप्तभागे भवतीत्यर्थः। अत्र च षठे सप्तभागे आसां त्रिंशत्प्रकृतीनामन्तो भवतीत्याह-(सुरदुगेत्यादि) सुरद्विकं सुरगतिसुरानुपूर्वी रूपम् । (पणिंदि त्ति) पञ्चेन्द्रियजाति:, सुखगतिः प्रशस्तविहायोगतिः,(तसनव त्ति) त्रसनवकं त्रसवादरपर्याप्त-प्रत्येकस्थिरशुभसुभगसुस्वरादेयलक्षणम् (उरलविणु त्ति) औदारिक-शरीरं विना, औदारिकाङ्गोपाङ्गं च विनेत्यर्थः, (तणु त्ति) तनव: शरीराणि (उवगत्ति)उपाङ्गानि । इदमुक्तं भवति-वैक्रियशरीर-माहारकशरीरं तैजसशरीरं कार्मणशरीरं वैक्रियपाङ्गोपाङ्गमाहारकङ्गो-पाङ्गं चेति । (समचउर त्ति) समचतुरस्रसंस्थानं (निमिण त्ति)निर्माणं (जिण त्ति) जिननाम, तीर्थकरनामेत्यर्थः (वन्नअगुरुलहुचउ त्ति) चतुःशब्दस्य प्रत्येकमभिसंबन्धाद्वर्णचतुष्कं वर्णगन्धरसस्पर्शरूपम्, अगुरुलघु-चतुष्कम्—अगुरुलघूपघातपराघातोच्छ्वासलक्षणमित्येतासां त्रिंशत्प्र-कृतीनां (छलंसि त्ति) षष्ठेऽशो भाग: षडंश:, ''मयूरव्यंसकादित्वात्मास:। यथा-तृतीयो भागस्त्रिभाग इति । अत्र मकारस्य लकार: ''डो ल:''।८।१।२०२। इति प्रकृतसूत्रेण । तस्मिन् षडंशे; ततः पूर्वोक्तषट्-पञ्चाशत् इमास्त्रिंशत्प्रकृतयोऽपनीयन्ते, शेषा: षडविंशति:प्रकृतयोऽ-पूर्वकरणस्य, (चरमि त्ति) चरमेऽन्तिमे सप्तमे सप्तभागे बन्धे, लभीयन्ते इत्यर्थः । चरमे च सप्तभागे हास्यं च रतिश्च (कुच्छ त्ति) कुत्सा च जुगुप्सा भयं च हास्यरतिकुत्साभयानि, तेषां भेदो व्यवच्छेदो हास्यरतिकुत्सा-भयभेदो भवतीति । एताश्चतस्र: प्रकृतय: पूर्वोक्तषडविंशतेरपनीयन्ते, शेषा द्वाविंशति:, सा चानिवृत्तिबादरप्रथमभागे भवतीति ॥९॥१०॥

एतदेवाह—

अनियट्टिभागपणगे, इगेगहीणो दुवीसविहबंधो ।
पुमसंजलण चउउण्हं कमेण छेओ समरसुहुमे ॥११॥

अनिवृत्तिभागपञ्चके, अनिवृत्तिबादराद्धाया: पञ्चसु भागेष्वित्यर्थः। स पूर्वोक्तो द्वाविंशतिबन्ध एकैकहीनोवाच्य:, एकैकस्मिन् भागे एकैकस्या: प्रकृतेर्बन्धव्यवच्छेद इत्यर्थः । कथमिति? आह-(पुमसंजलण चउण्हं कमेण छेउ त्ति) क्रमेणानुपूर्व्या प्रथमे भागे पुंवेदस्य छेद:, तत एकविंशतेर्बन्ध:, द्वितीये भागे संज्वलनक्रोधस्य छेद:, ततो विंशतेर्बन्ध:, तृतीये भागे तु संज्वलनमानस्य छेद:, तत एकोनविंशतेर्बन्ध:, चतुर्थे भागे संज्वलन छेद:, ततोऽष्टरदशानां बन्ध:, पञ्चमभागे संज्वलनलोभस्य छेद: उत्तरत्र तद्बन्धाध्यवसाय-स्थानाऽभाव: छेदहेतु:, संज्वलनलाभस्य तु बादरसंपरायप्रत्ययो बन्धः स चोत्तरत्र नास्तीत्यतश्छंद:, ततः सूक्ष्मसंपराये सप्तदशप्रकृ-तीनां बन्धो भवतीत्यत आह-(सत्तरसुहुमि त्ति) स्पष्टम् ॥११॥

चउदंसणुच्च जसना-णविग्घदसगं ति सोलसुओ ।
तिनु सायबन्ध छेओ, संजोगिबंधं तु णं तो अ ॥१२॥

(चउदंसण त्ति) चतुर्णां दर्शनानां समाहारश्चतुर्दर्शनं, चक्षुर्द-र्शनाऽचक्षुदर्शनाऽवधिदर्शनकेवलदर्शनरूपस, (उच्च त्ति) उच्चै-

गौत्रम (जस त्ति) यश: कीर्त्तिनाम (नाणविग्घदसगं त्ति) ज्ञानावरण-पञ्चकं विघ्नपञ्चकमन्तरायपञ्चकम्, उभयमीलने ज्ञानविघ्नदशकमिति, एतासां षोडशप्रकृतीनां सूक्ष्मसंपराये बन्धस्योच्छेदो भवति, एतद्बन्धस्य साम्परायिकत्वादुत्तरेषु च साम्परायिकस्य कषायोदलक्षणस्याभावादिति। (तिसु सायबंध त्ति) त्रिषु उपशान्तमोहक्षीणमोहसजोगिकेवलिगुण-स्थानेषु सातबन्धः, सातस्य केवलयोगप्रत्ययस्य द्विसामयिकस्य तृतीयसमयेऽवस्थानाभावदिति भावः, न साम्परायिकस्य, तस्य कषायप्रत्ययत्वात्। आह च भाष्यसुधाम्भोनिधिः—''उवसंतखीणमोहा, केवलिणो एगविहबंधा ॥ ते पुण दुसमयठिइयस्स बंधगा न उण संपरायस्स''।१। इति।(छेओ सजोगि त्ति) ज्झरुकमणिन्यायात्सात-बन्धशब्दस्येह संबन्धः, ततः सयोगिकेवलिगुणस्थाने सातबन्धस्य छेदो व्यवच्छेदः। इह सातबन्धोऽस्ति, योगसद्भावात्। नोत्तरत्रायोगिके-वलिगुणस्थाने योगाभावात्। ततोऽबन्धका अयोगिकेवलिनः। उक्तं च-''सेलेसिं पडिवन्ना अबंधगा हुंति नायव्वा'' (बंधंतणतो य त्ति) बन्धस्यान्तोऽनन्तश्च बन्धशब्दस्याग्रे षष्ठीलोपः, प्राकृत्वात्। तत इदमुक्तं भवति-यत्र हि गुणस्थाने यासां प्रकृतीनां बन्धहेतुव्यवच्छेदस्तत्र तासां बन्धस्यान्तः। यथा मिथ्यादृष्टिगुणस्थाने व्यवच्छिन्नबन्धानां षोडशानां प्रकृतीनां मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगा बन्धहेतवः, तेषु मिथ्यात्वं तत्रैव व्यवच्छिन्नं, ततश्च मिथ्यादृष्टि गुणस्थाने तासां बन्धस्यान्तः, तत उत्तरेषु कारणवैकल्पेन बन्धभावादितरासां बन्धस्यानन्तः। तत उत्तरेष्वपि तद्बन्धकारणसाकल्येन बन्धभावात्। इत्येवमन्येष्वपि गुणस्थानेषु प्रकृतीनां स्वस्वबन्धहेतुव्यवच्छेदाऽ-व्यवच्छेदाभ्यां साकल्यवैकल्यवशा-द्बन्धस्यान्तोऽनन्तश्च भावनीय इति ।१२। कर्म०२ कर्म०।

(८) गुणस्थानकेषु बन्धहेतवः। अधुना बन्धस्य मूलहेतून् गुणस्थानकेषु चिन्तयन्नाह-

इग चउ पण तिगुणेसुं, चउतिदुइगपञ्चओ बंधो (५२)॥

(इग चउ पण तिगुणेसु इत्यादि) इहैवं पदघटना-एकस्मिन् मिथ्या दृष्टिलक्षणे गुणस्थानके चत्वारो मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगलक्षणाः प्रत्यया हेतवो यस्य स चतुःप्रत्ययो बन्धो भवति। अयमर्थः—मिथ्या त्वादिभिश्चतुर्भिः प्रत्ययैर्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकवर्त्ती जन्तुर्ज्ञानावरणादि कर्म बध्नाति। तथा चतुर्षु गुणस्थानकेषु सास्वादनमिश्राविरतदेशवि-रतिलक्षणेषु त्रयो मिथ्यात्ववर्जिता अविरतिकषाययोगलक्षणाः प्रत्यया यस्य स त्रिप्रत्ययो बन्धो भवतीति। अयमर्थः—सास्वसदनादयश्चत्वारो मिथ्यात्वोदयाभावात्तद्बर्जैस्त्रिभिः प्रत्ययैः कर्म बध्नति, देशविरतगुण-स्थानके यद्यपि देशतः स्थूलप्राणातिपातविषया विरतिरस्ति, तथापि साऽल्पत्वान्नेह विवक्षिता, विरतिशब्देनेह सर्वविरतेरेव विवक्षितत्वादिति। तथा पञ्चसु गुणस्थानकेषु प्रमत्ताप्रमत्तापूर्वकरणानिवृत्तिबादरसूक्ष्म-संपराय लक्षणेषु द्वौ प्रत्ययौ कषाययोगाभिख्यौ यस्य स द्विप्रत्ययो बन्धो भवति। इदमुक्तं भवति—मिथ्यात्वाविरतिप्रत्ययद्वयस्यैतेष्वभावाच्छेषेण कषाययोगप्रत्ययद्वयेनऽमी प्रमत्तादयः कर्म बध्नन्तीति। तथा त्रिषु उपशान्तमोहक्षीणमोहसयोगिकेवलिलक्षणेषु गुणस्थानकेषु एक एव मिथ्यात्वाविरतिकषायाभावात् योगलक्षणः प्रत्ययो यस्य स एकप्रत्ययो भवति। अयोगिकेवली भगवान् सर्वथाऽप्यबन्धक इति भाविता मूलबन्धहेतवे गुणस्थानकेषु ॥५२॥

संपेत्येतानेव मूलबन्धहेतून्
विनेयवर्गानुग्रहार्थमुत्तरप्रकृतीराश्रित्य चिन्तयन्नाह-

चउ मिच्छमिच्छअविरइ-पच्चइया सायसोलपणतीसा।
जोगे विणु तिपच्चइया-हारगजिणवज्ज सेसाओ ॥५३॥

प्रत्ययशब्दस्य प्रत्येकं संबन्धाच्चतुःप्रत्ययिका सातलक्षणा प्रवृत्तिः। मिथ्यात्वप्रत्ययिकाः षोडश प्रकृतयः। मिथ्यात्वाविरतिप्रत्यायिकाः पञ्चत्रिंशत्प्रकृतयः। योगं विना त्रिप्रत्ययिका मिथ्यात्वाविरतिकषाय-प्रत्ययिकाऽऽहारकद्विकजिनवर्जाः शेषाः प्रकृतय इति गाथाऽक्षरार्थः। भावार्थः पूनरपम्सातलक्षणा प्रकृतिश्चत्वारः प्रत्यया मिथ्यात्वाविरति-कषाययोग यस्याः सा चतुःप्रत्ययिका ''अतोऽनेकत्वरात्''।७।२।६। इति (हैम०)इकप्रत्ययः मिथ्यात्वादिभिश्चतुर्भिरपि प्रत्ययैः सातं बध्यत इत्यर्थः। तथाहि-सातं मिथ्यादृष्टौ बध्यत इति मिथ्यात्वाप्रत्ययं शेषा अप्यविरत्यादयस्त्रयः प्रत्ययाः सन्ति, केवलं मिथ्यात्वस्यैवेह प्राधान्येन विवक्षितत्वात्, तेन तदन्तर्गतत्वेनैव विवक्षिताः, एवमुत्तत्रापि। तदेव मिथ्यात्वाभावेऽप्यविरमित्सु सास्वादनादिषु बध्यत इति अविरति-प्रत्ययम्। तदेव कषाययोगवत्सु प्रमत्तादिषु सूक्ष्म संपरायावसानेषु बध्यत इति कषायप्रत्ययम्। योगप्रत्ययस्तु पूर्ववत्तदन्तर्गतो विवक्ष्यते। तदेवोपशान्तादिषु केवलयोगवत्सु मिथ्यात्वाविरतिकषायाभावेऽपि बध्यत इति योगप्रत्ययम्। इत्येवं सातलक्षणा प्रकृतिश्चतुःप्रत्ययिका। तथा मिथ्यात्वप्रत्ययिकाः षोडश प्रकृतयः। इह यासां कर्मस्तवे—''नरयतिग जाइथावर चउ हुंडा य वछेवट्ठ, नपु मिच्छं सोलंतो'' इतिगाथावयवेन नारकत्रिकादि-षोडशप्रकृतीनां मिथ्यादृष्टान्तः उक्तः, ता मिथ्यात्वप्रत्यया भवन्तीत्यर्थः। तद्भावे बध्यन्ते, तदभावे तूत्तरत्र सास्वानादिषु न बध्यन्त इत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां मिथ्यात्वमेवाऽऽसां प्रधानं कारणं, शेषप्रत्ययत्रयं तु गौणमिति। तथा-मिथ्यात्वाविरति-प्रत्ययिकाः पञ्च त्रिंशत्प्रकृतयः, तथा हि-''सासणि तिरि थीण दुहग तिगं। अण मज्झागिह संघयण चउ निउज्जोय कुखगइच्छि'' इति सूत्रावयवेन तिर्यक् त्रिकप्रभृतिपञ्चविंशतिप्रकृतीनां सास्वादने बन्धव्यवच्छेद उक्तः। तथा ''वइरनरतियविय्कसाया उरलदुगंतो'' इति सूत्रावयेन वज्र ऋषभनाराचादीनां दशानां प्रकृतीनां देशविरते बन्धव्यवच्छेद उक्तः। एवं च पञ्चविंशतेर्दशानां च मीलने पञ्चत्रिंशत्प्रकृतो मिथ्यात्वाविरतिप्रत्ययिका एताः, शेषप्रत्ययद्वयं तु गौणं, तद्भावेऽप्युत्तरत्र तद्बन्धाभावादिति भावः। भणितशेषा आहारकद्विमतीर्थकरनामवर्जाः सर्वा अपि प्रकृतयो योगवर्जत्रिकप्रत्ययिका भवन्ति, मिथ्यादृष्ट्यविरतेषु सकषायेषु च सर्वेषु सूक्ष्मसम्परायावसाने यथासंभवं बध्यन्त इति; मिथ्यात्वाविरतिकषायलक्षणप्रत्ययत्रयनिबन्धाना भवन्तीत्यर्थः। उपशान्तमोहादिषु केवलयोगवत्सु योगसद्भावेऽप्येतासां बन्धो नास्तीति योगप्रत्ययवर्जनमन्वयव्यतिरेकसमधिगम्यत्वात्कार्यकारण भावस्येति हृदयम्। आहारकशरीराहारकाङ्गोपाङ्गलक्षणाहारकोद्वकतीर्थकरना-म्नोस्तु प्रत्ययः,''संमत्तगुणनिमित्तं, तित्थयरं संजमेण आहारं'' इति वचनात् संयमः सम्यक्त्वं चाहिभिहित इतीह तद्वर्जनमिति। उक्तं प्रासङ्गिकम्। कर्म०४ कर्म०। पं०सं०।

इदानीमुत्तरबन्धभेदान् गुणस्थानकेषु चिन्तयन्नाह-

पणपन्नतिछहि-यचत्त गुणचत्त छचउदुगवीसा।
सोलस दस नव नव सत्त हेउणो न उ अजोगिम्मि ॥५४॥

मिथ्यादृष्टौ पञ्चपञ्चाशद्बन्धहेतवः। सासादने पञ्चाशद्बन्धहेतवः। चतुःशब्दस्य प्रत्येकं संबन्धात् त्र्यधिकचत्वारिंशदित्यर्थः। बन्धहेतवे मिश्रगुणस्थानके, षडधिकचत्वारिंशद्बन्धहेतवोऽविर-तगुणस्थानके, एकोनचत्वारिंशद्बन्धहेतवे देशविरतगुणस्थानके, विंशतिशब्दस्य प्रत्येकं संबन्धात् षड्विंशतिबन्धहेतवः प्रमत्तगुणस्थाने, चतुर्विंशतिबन्धहेतवोऽप्रमत्तगुणस्थानके, द्वाविंशतिबन्धहेतवोऽपूर्वकरणे, षोडश बन्धहेतवोऽनिवृत्तिबादरे, दशबन्धहेतवः सूक्ष्मसंपराये, नव बन्धहेतवः उपशान्तमोहे, नव बन्धहेतवः क्षीणमोहे, सप्त बन्धहेतवः सयोगिकेवलिगुणस्थाने, न तु नैवायोगिन्येकोऽपि बन्धहेतुरस्ति, बन्धाभावादेवेति ॥५४॥

अथाऽमूनेव बन्धहेतून् भावयन्नाह-

पणपन्न मिच्छि हारग-दुगूण सासाणि पन्न मिच्छ विणा।
मिस्सदुगकम्मअण विणु, तिचत्त मीसे अहिछचत्ता ॥५५॥

मिथ्यादृष्टावाहारकाहारकमिश्रलक्षणद्विकोनाः पञ्चपञ्चाशद्बन्धहेतवो भवन्ति, आहारकद्विकवर्जनं तु ''संयमवतां तदुदयो नान्यस्येति'' वचनात्। सास्वादने मिथ्यात्वपञ्चकेन विना पञ्चाशद्बन्धहेतवो भवन्ति, पूर्वोक्तायाः पञ्चपञ्चाशतो मिथ्यात्वपञ्चकेऽपनीते पञ्चाशद्बन्धहतेवः सास्वादने द्रष्टव्याः। मिश्रे त्रिचत्वारिंशद्बन्धहेतवो भवन्ति। कथमिति? आह-मिश्राद्विकमौदारिकमिश्रवैक्रियमिश्रलक्षणं(कम्म त्ति)कार्मणशरीरम् (अण त्ति) अनन्तानुबन्धिनस्तैर्विना। इयमत्र भावना''न सम्ममिच्छो कुणइ कालमिति'' वचनात्सम्यग्मिथ्यादृष्टेः परलोकगमनाभावात् औदारिकमिश्रवैक्रियमिश्रद्विकं कार्मणं च न संभवति, अनन्तानुबन्ध्युदयस्य चास्य निषिद्धत्वादनन्तानुबन्धिचतुष्टयं च नास्ति, अत एतेषु सप्तसु पूर्वोक्तायाः पञ्चाशतोऽपनीजेषु शेषास्त्रिचत्वारिंशद्बन्धहेतवो मिश्रे भवन्ति। अथानन्तरं षट्चत्वारिंशद्बन्धहेतवो भवन्ति ॥५५॥

सदुमिस्सकम्म अजए, अविरइकम्मुरलमीसविकसाए।
मुत्तु गुणचत्त देसे, छवीस साहारदु पमत्ते ॥५६॥

क्व इति? आह-अयते अविरते, कथमिति? आह-(सदुमिस्सकम्म त्ति) द्वयोर्मिश्रयोः समाहारो द्विमिश्रं द्विमिश्रं च कार्मणं च द्विमिश्रकार्मणं, सह द्विमिश्रकार्मणेन वर्त्तते या त्रिचत्वारिंशत्। इयमत्र भावना-अविरतसम्यग्दृष्टेः परलोकगमनसंभवात्पूर्वापनीतमौदारिकमिश्रवैक्रियमिश्रलक्षणं द्विकं कार्मणं च पूर्वोक्तायां त्रिचत्वारिंशति पुनः प्रक्षिप्यते, ततोऽविरते षट्चत्वारिंशद्बन्धहेतवो भवन्ति। तथा-देशे देशविरते एकोनचत्वारिंशद्बन्धहेतवो भवन्ति। कथमिति? आह-अस्थिरतिस्त्रसाऽसंयमरूपाकार्मणम्, औदारिकमिश्रं, द्वितीयकषायानप्रत्याख्यानावरणान् सुक्त्वा शेषा एकोनचत्वारिंशदिति। अत्रायमाशयः-विग्रहगतावपर्याप्तकावस्थायां च देशविरतेरभावात्कार्मणौदारिकमिश्रद्वयं न संभवति, त्रसाऽसंयमा-द्विरतावत्रसाविरतिर्न जाघटीति। ननु त्रसासंयमात् संकल्पजादेवासौ विरतो, न त्वारम्भजाऽपि, तत्कथमसौ त्रसाविरतिः सर्वऽप्यनीयते? सत्यम्। किं तु गृहिणामशक्यपरिहारत्वेन सत्यप्यारम्भजा असाविरतिर्न विवक्षितेत्यदोषः एतच्च बृहच्छतकबृहच्चूर्णिमनुश्रित्य लिखितमिति न स्वमनीषिकया परिभावनीया। तथाऽप्रत्याख्यानावरणोदयस्यास्य निषिद्धत्वादित्यप्रत्याख्यानावरणचतुष्टयं न घटां प्राञ्चति, तत एते सप्त पूर्वोक्तायाः षट्चत्वारिंशतोऽपनीयन्ते, तत एकोनचत्वारिंशद्बन्धहेतवः शेषा देशविरते भवन्ति। तथा षट्विंशतिर्बन्धहेतवः प्रमत्ते भवन्ति। (साहारदु त्ति) सहाहारकद्विकेनाऽऽहारकाहारकमिश्रलक्षणेन वर्त्ततम इति साहारकद्विका।

अविरइ इगार तिकसा-यवज्ज अपमत्ति मीसदुगरहिया।
चउवीस अपुव्वे पुण, दुवास अविउव्वियाहारे ॥५७॥

त्रसाविरतेर्देशविरतेऽपनयनाक्ष्चैषा एकादशाऽविरतया इहगृहन्ते। तृतीयाः कषायास्त्रिकषायाः प्रत्याख्यानावरणाः, तद्वर्जास्त्द्वरहिताः साहारकद्विका च सैवैकोन,चत्वारिंशत्षट्विंशतिर्भवति। इदमत्र हृदयम्-प्रमत्तगुणस्थाने एकादशधाऽविरतिः प्रत्याख्यानावरणचतुष्टयं च न संभवति, आहारकद्विकं च संभवति, ततः पूर्वोक्तायाः एकोनचत्वारिंशतः पञ्चदशकेऽपनीते, द्विके च तत्र प्रक्षिप्ते षड्विंशतिबन्धहेतवः प्रमत्ते भवन्तीति। तथा अप्रमतस्य लब्ध्यऽनुपजीवनेनाहारकमिश्रवैक्रियमिश्रलक्षणमिश्रद्विकरहिता सैव षड्विंशतिश्चतुर्विंशतिर्बन्धहेतवोऽप्रमत्ते भवन्ति। अपूर्वे अपूर्वकरणे पुनः सैव चतुर्विंशतिर्वैक्रियाहारकरहिता द्वाविंशतिर्बन्धहेतवे भवन्तीति ॥५७॥

अछहास सोल वायरि, सुहुमे दस वेयसंजलणति विणा।
खीणुवसंति अलोभा, सजोगिपुव्वुत्तसगजोगा ॥५८॥

एते च पूर्वोक्ता द्वाविंशतिर्बन्धहेतवोऽच्छहासास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सालक्षणहास्यषटकरहिताः षोडश बन्धहेतवः (वायरि त्ति) अनिवृत्तिबादरसम्परायगुणास्थानके भवन्ति, हास्यादिषटकस्यापूर्वकरणगुणस्थानक एव व्यवच्छिन्नवादिति भवः। तथा त एव षोडश त्रिकशब्दस्य प्रत्येकं संबन्धाद्वेदत्रिकं स्त्रीपुंनपुंसकलक्षणं, संज्वलनत्रिकं संज्वलनक्रोधमानमायारूपं, तैन विना दश बन्धहेतवः सूक्ष्मसम्पराये भवन्ति। वेदत्रयस्य संज्वलनक्रोधमानमायात्रिकस्य चाऽनिवृत्तिबादरसंपरायगुण-स्थानकएव व्यवच्छिन्नत्वात्। त एव दश अलोभा लोभरहिताः सन्तो नव बन्धहेतवः क्षीणमोहे उवशान्तमोहे च भवन्ति, मनोयोगचतुष्कवाग्योगचतुष्कौदारिककाययोगलक्षणा नव वन्धहेतवः उपशान्तमोहे क्षीणमाहे च प्राप्यन्ते, न तु लोभः, तस्य सूक्ष्तसम्पराय एव व्यवच्छिन्नत्वात्। सयोगिकेवलनि पूर्वोक्ताः सप्त योगाः। तथाहि-औदारिकमौदारिकमिश्रं कार्मणं प्रथमान्तिमौ मनोयोगौ, प्रथमान्तिमौ वाग्योगौ चेति। तत्रौदारिकं सयोग्यवस्था-यामौदारिक-मिश्रकार्मणकाययोगौ समुद्घाताद्धवस्थायामेव वेदितव्यौ। ''मिश्रौदारिकयोक्ता, सप्तमषष्ठद्वितीयोषु॥ कार्मणशरीरयोगी, चतुर्थकंपञ्चमे तृतीये च॥१॥'' इति; प्रथमान्तिममनोयोगौ भगवतोऽनुत्तरसुरादिभिर्मनसा पृष्ठस्य मनसैव देशनात्; प्रथमान्तिवाग्योगौ तु देशनादिकाले। अयोगिकेवलिनि न कश्चिद्बन्धा हेतुर्योगस्यापि व्यवच्छिन्नत्वात्। उक्ता गुणस्थानकेषु बन्धहेतवः ॥५८॥

सम्प्रति गुणस्थानकेष्वेव बन्धं निरूपयन्नाह-

अपमत्तंता सत्तट्ठ मीससअप्पुव्ववायरा सत्त।

बंधइ छस्सुहुमो ए-गमुवरिमावंधगाऽजोगी ॥५९॥

मिथ्यादृष्टिप्रभृतयोऽप्रमत्तान्ताः सप्तष्टौ वा कर्माणि बध्नन्ति, आयुर्बन्धकालेऽष्टौ, शेषकाले तु सप्त (मीसअपुव्वबायरा इति) मिश्रा पूर्वकरणानवृत्तिबादराः सप्तैव बध्नन्ति, तेषामायुर्बन्धाभावात्, तत्र मिश्रस्य तथास्वाभाव्यात्, इतरयोः पुनरतिविशुद्धत्वात्, तत्र आयुबन्धस्थ च घोलनापरिणामनिबन्धनत्वात् । (सुहुमु त्ति) सूक्ष्मसंपरायो मोहनीयायुर्वर्जानि षट् कर्माणि बध्नाति, मोहनीयबन्धस्य बादरकषायोदयनिमित्तत्वात् तस्य च तदभावात् आयुर्बन्धाभाव-स्त्वतिविशुत्वादवसेयः । (एगमुवरिमि त्ति) एकं सातवेदनीयं कर्मोपरितनाः सूक्ष्मसंपरायादुपरिष्टाद्वर्त्तिन उपशान्तमोहक्षीणमोह-सयोगिकेवलिनो बध्नन्ति, न शेषकर्माणि तद्बन्धहेतुत्वाभावात् । अबन्धकः सर्वकर्मप्रबन्धरहितोऽयोगी चरमगुणस्थानकववर्त्ती , सर्वबन्धहेत्वभावादिति, उक्ता गुणस्थानकेषु बन्धस्थानयोजना ॥५९॥

साम्प्रतं गुणस्थानकेष्वेवोदयसत्तास्थानयोजनां निरूपयन्नाह-

आसुहुमं संतुदए, अट्ठ वि मोह विणु सत्त खीणम्मि ।
चउ चरिमदुगे अट्ठ उ, संते उवसंति सत्तुदए ॥६०॥

सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानक मभिव्याप्य सत्तायामुदये चष्टावपि कर्मप्रकृतयो भवन्ति । अयमर्थः-मिथ्यादृष्टिगुणस्थानक मारभ्य सूक्ष्मसम्परायं यावत्सत्तायामुदये चाष्टावपि कर्माणि प्राप्यन्ते, मोहं विना मोहनीयं वर्जयित्वा सप्त कर्मप्रकृतयो भवन्ति, क्षीणे क्षीणमोह-गुणस्थानके सत्तायामुदये च, मोहनीयस्य क्षीणत्वात् । (चउचरिमदुगे त्ति) चरमद्विके सयोग्ययोगिकेवलिगुणस्थानद्वये सत्तायामुदये च चतस्रो घातिकर्मप्रकृतयो भवन्ति, घातिकर्मचतुष्टयस्य क्षीणत्वात्। (अट्ठ ए संते उवसयंति सत्तुदए त्ति) तुशब्दस्य व्यवहितसंबन्धादुपशान्त-मोहगुणस्थानके पुनरष्टावपि कर्मप्रकृतयः सत्तायां प्राप्यन्ते, सत्तोदये मोहनीयो दयाभावादिति भावः । उक्ता सत्तोदयस्थानयोजना ॥६०॥

(९)साम्प्रतमुदीरणास्थानानि गुणस्थानकेषु निरूपयितुमाह-

उइरंति पमत्तंता, सगऽट्ठ मीसऽट्ठ वेय आउ विणा ।
छग अपमत्ताइ तओ ,छ पंच सुहुमो पणुवसंतो ॥६१॥

मिथ्यादृष्टिप्रभृतयः प्रमत्तान्ता यावदद्याप्यनुभूयमाननभवायुरावलिका शेषं न भवति, तावत् सर्वेऽप्यमी निरन्तरमष्टावपि कर्माण्युदीरयन्ति। आवलिकाऽवशेषे पुनरनुभूयमाने भवायुषि सप्तव, आवलिकाऽवशेषस्य कर्मण उदीरणाया अभावात्, तथास्वाभाव्यात् । (मीसऽट्ठ त्ति) सम्यग्मिथ्यादृष्टिः पुनरष्टावेव कर्माण्युदीरयति, न तु कदाचनाऽपि सप्त, सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकं वर्तमानस्य सत आयुष आवलिकावशे-षत्वाभावात्। स ह्यन्तर्मुहूर्तावशेषायुष्क एव तद्भावं परित्यज्य सम्यक्त्वं मिथ्यात्वं वा नियमात्प्रतिपद्यत इति । अप्रमत्तादयस्त्रयाऽप्रमत्ता-पूर्वकरणानिवृत्तिबादरलक्षणा वेद्यायुर्विना वेदनीयायुषी अन्तरेण षट् कर्माणि उदीरयन्ति, तेषामतिविशुद्धतया वेदनीयायुषोरुदीरणा-योग्याध्यवसायस्थानाभावात्। (छ पंच सुहुमो त्ति) तत्र षट् अन्तरोक्तानि तानि च तावदुदीरयन्ति, यावन्मोहनीयमावलिकाऽवशेषं न भवति । आवलिकाऽवशेषे च मोहनीये तस्याप्युदीरणाया अभावात् । शषाणि पञ्च कर्माण्युदीरयति सूक्ष्मः । (पणुवसंतु त्ति) उपशान्तमोहः पञ्च कर्माण्युदीरयति, न वेदनीयायुर्मोहनीयकर्माणि, तत्र वेदनीयायुषोः कारणं प्रागेवोक्तं, मोहनीयं तूदयाभावान्नोदीयते, ''वेद्यानमेवोदीर्यते'' इतिवचनादिति ॥६१॥

पण दो खीण दु जोगी,
अणुदीरगऽजोगि थोव उवसंता ।(६२)

क्षीणमोहोऽनन्तरोक्तानि पञ्च कर्माण्युदीरयति। तानि च तावदुदीरयति यावज्ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायाण्यावलिका-प्रविष्टानि न भवन्ति, आवलिकाप्रविष्टेषु तेषु तेषामप्युदीरणाया अभावात्। द्वे एव नामगोत्रलक्षणे कर्मणी उदीरयति। (दु जोगि त्ति) द्वे कर्मणी नामगोत्राख्ये, योगा नाम मनोवाक्कायरूपा विद्यन्ते यस्य स योगी, सयोगिकेवल्युदीरयति, न शेषाणि । घातिकर्मचतुष्टय तु मूलत एव क्षीणमिति । न तस्यो दीरणासंभवः, वेदनीयायुषोस्तूदीरणा पूर्वोक्तकारणादेव न भवति । (अणुदीरगऽजोगि त्ति) अयोगिकेवली न कस्याऽपि कर्मण उदीरकः, योगसव्यपेक्षत्वादुदीरणायाः, तस्य च योगा भावादिति उक्ता गुणस्थानके षूदीरणास्थानयोजना ।

(१०) गुणस्थानेषु भावाः । संप्रति जीवगुणभूतेषु गुणस्थानकेषु भभवान् निरूपयिषुराह –

सम्माइचउसु तिग चउ, भावा चउ पणुवसामगुवसंते ।
चउ खीणपुव्वि तिन्नि, सेसगुणट्ठाणगेगजिए ॥७०॥

(सम्माइ त्ति) सम्यग्दृष्ट्यादिष्वऽविरतसम्यग्दृष्टिप्रभृतिषु चतुर्षु चतुःसंख्येष्वविरतसम्यग्दृष्टिदेशविरतप्रमत्ताऽप्रमत्तलक्षणेषु गुणस्थानके ष्विति वक्ष्यमाणापदस्यात्रापि संबन्धःकार्यः (तिग चउ भाव त्ति) त्रयश्चत्वारो वा भावाः, प्राप्यन्ते इति भावः। तत्र क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टे-श्चतुर्ष्वपि गुणस्थानके ष्विमे त्रयोऽपि भावा लभ्यन्ते । तद्यथा-यथासंभववमौदयिकी गतिः, क्षायोपशमिकन्द्रियादिसम्यक्त्वादि पारिणामिकं जीवत्वमिति । क्षायिकसम्यग्दृष्टैरौपशमिकसम्यग्दृष्टेश्च चत्वारो भावा लभ्यन्ते, त्रयस्तावत्पूर्वोक्ता एव, चतुर्थस्तु क्षायिक-सम्यग्दृष्टेः, क्षायिकसम्यक्त्वलक्षणः, औपशमिकसम्यग्दृष्टेः पुनरौपश-मिकसम्यक्त्वभाव इति। (चउ पणुवसामगुवसंते त्ति) चत्वारः पञ्च वा भावा द्वयोरप्युशमकोपशान्तयोर्भवन्ति। किमुक्तं भवति? अनिवृत्तिबादर-सूक्ष्मासम्परायगुणस्थानकद्वयवर्त्ती जन्तुरुपशमक उच्यते, तस्य चत्वारः पञ्च वा भावा भवन्ति। कथमिति चेत्? उच्यते त्रयस्तावत्पूर्ववदेव, चतुर्थस्तु क्षीणदर्शनत्रिकस्य श्रेणिमारोहतः क्षायिकसम्यक्त्वलक्षणोऽ-न्यस्य पुनरौपशमिकस्वभाव इति । अमीषामेव चतुर्णां मध्येऽनिवृत्ति-बादरसूक्ष्मसंपरायगुणस्थानकद्वय वर्तिनोऽप्यौपशमिकचारित्रस्य शास्त्रान्तरेषु प्रतिपादनादौपशमिक चारित्रप्रक्षेपे पञ्चम इति, उपशान्त उपशान्तमोहगुणस्थानकवर्ती, तस्यापि चत्वारः पञ्च वा भावाः प्राप्यन्ते, ते चानन्तरोपशमकपदप्रदर्शिता एव (चउ खीणा पुव्वि त्ति) चत्वारो भावाः क्षाणापूर्वयोः क्षीणमोहगुणस्थानकेऽपू र्वकरणगुण-स्थानके चूत्यर्थः । तत्र क्षीणमोहे त्रयः पूर्ववत् चतुर्थः क्षायिकसम्यक्त्व-चारित्रलक्षणः, अपूर्वकरणे तु त्रयः पूर्ववत्, चतुर्थः पुनः क्षायिकसम्यक्त्व-स्वभाव औपशमिकसम्यक्त्वस्वभावो वेति (तिन्नि सेसगुणट्ठाणग त्ति) त्रयः त्रिसंख्या भावा भवन्ति, केष्वित्याह- विभक्तिलोपाच्छेषगुण-स्थानकेषु मिथ्यादृष्टिसास्वादनसम्यग्मिथ्यादृष्टिसयोगिकेवल्य-

योगिकेवलिलक्षणेषु । तत्र मिथ्यादृष्ट्यादीनां त्रयाणामौदयिकी गतिः, क्षायोपशमिकानीन्द्रियाणि, पारिणामिकं जीवत्वमित्येते त्रयो भावाः प्रतीता एव । सयोगिकेवल्ययोगिकेवलिनोः पुनरौदयिकी मनुजगतिः, क्षायिकं केवलज्ञानादि, परिणामिकं जीवत्वमित्येवंरूपास्त्रय इति । आह-किममीत्रिप्रभृतयो भावा गुणस्थानकेषु चिन्त्यमानाः सर्वजीवाधारतवा चिन्त्यन्ते? आहोस्विदेकजीवाधारतया ? इति आह-(एगजिए त्ति) एकजीवाधारतयेत्थंभावविभागो मन्तव्यो, नानाजीवापेक्षया तु संभविनः सर्वेऽपि भावा भवन्तीति ॥ अधुनैतेषु गुणस्थानकेषु प्रत्येकं यस्य भावस्य संबन्धिनो यावन्तउत्तरभेदा यस्मिन् गुणस्थानके प्राप्यन्ते इत्येतत्संपयौगित्वादस्माभिरभिधीयते । तद्यथा-क्षायोपशमिकभावभेदा मिथ्यादृष्टि सास्वादनयोरन्तरायकर्मक्षयोपशमजादानादिलब्धिपञ्चकाज्ञानत्रयचक्षुर्दर्शनाऽचक्षुर्दर्शनलक्षणा दश भवन्ति, सम्यग्मिथ्यादृष्टौ दानादिलब्धिपञ्चकज्ञानत्रयदर्शनत्रयमिश्ररूपसम्यक्त्वलक्षणा द्वादशा भेदा भवन्ति, अविरतसम्यग्दृष्टौ मिश्रत्यागेन सम्यक्त्वप्रक्षेपे एव द्वादश, विरतौ, च द्वादशसु मध्ये देशविरतिप्रक्षेपे त्रयोदश, प्रमत्ताऽप्रमत्तयोश्च देशवरतिविरहितेषु पूर्वप्रदर्शितेषु द्वादशस्वेव सर्वविरतिमनःपर्यायज्ञानप्रक्षेपे चतुर्दश, अपूर्वकरणानिवृत्तिबादरसूक्ष्मसम्परायेषु चतुर्दशभ्यः सम्यक्त्वापसारणे प्रत्येकं त्रयोदश, उपशान्तमोहक्षीणमोहयोस्त्रयोदशभ्यश्चारित्रापसारणे द्वादश क्षायोदशमिकभावभेदाः प्राप्यन्ते ॥ अधुनौदयिकभावभेदा भाव्यन्तेमिथ्यादृष्टा वज्ञानासिद्धत्वादय एकविंशतिरपि भेदा भवन्ति, सास्वादने एकविंशतेर्मिथ्यात्वापसारणे विंशतिः, मिश्राविरतयोर्विंशतेरज्ञानापगमे एकोनविंशतिः, देशविरते च देवनारकगत्यभावे सप्तदश, प्रमत्ते च तिर्य्यग्गत्यसंयमाऽभावे पञ्चदश, अप्रमत्ते च पञ्चदशभ्य आद्यलेश्यात्रिकाभावे द्वादश, अपूर्वकरणेऽनिवृत्तिबादरे च द्वादशभ्यस्तेजःपद्मलेश्ययोसभावे दश, सूक्ष्मसम्परोयसंज्वलन लोभमनुजगतिशुक्ललेश्याऽसिद्धत्वलक्षणाश्चत्वार औदयिका भावः, उपशान्तक्षीण-मोहसयोगिकेवलिषु चतुर्भ्यः संज्वलनलोभाभावे त्रयः, अयोगिकेवलिनस्तु मनुजगत्यसिद्धत्वरूपमौदयिकभावभेदद्वयं प्राप्यते । औपशमिकभावभेदा उच्यन्ते-अविरतादारभ्योपशान्तं यावदौपशमिकसम्यक्त्वरूप औपशमिकभावभेदः प्राप्यते, औपशमिकचारित्रलक्षणस्त्वनिवृत्तेरारभ्योपशान्तं यावत् प्राप्यते । क्षायिकभावभेदश्च क्षायिकसम्यक्त्वरूपोऽविरतादार-भ्यौपशान्तं यावत्प्राप्यते, क्षीणमोहे क्षायिकं सम्यक्त्वं चारित्रं च प्राप्यते, सयोगिकेवल्ययोगिकेवलिनोस्तु नवाऽपि क्षायिकभावाः प्राप्यन्ते । पारिणामिकभावभेदा मिथ्यादृष्टौ त्रयोऽपि, सास्वादनादारभ्य च क्षीणमोहं यावदभव्यत्ववर्जौ द्वौ भवतः, सयोगिके वल्ययोगिके वलिनोस्तु जीवत्वमेवेति, भव्यत्वस्य च प्रत्यासन्नसिद्धावस्थायामभावादधुनाऽपि तदपगतप्रायत्वादिना केनचित्कारणेन शास्त्रान्तरेषु नोक्तमिति नास्माभिरप्यत्रोच्यते । यस्य भावस्य भेदा यस्मिन् गुणस्थानके यावन्त उक्तास्तेषां संभविभावभेदानामेकत्र मीलने सति तावद्भेदनिष्पन्नः पृष्ठः सान्निपातिकभावभेदस्तस्मिन् गुणस्थानके भवति । यथा मिथ्यादृष्टावौदयिकभावभेदा एकविंशतिः, क्षायोपशमिकभावभेदा शत दश, परिणामिकभावभेदास्त्रयः, सर्वे भेदाश्चतुस्त्रिंयां एवं सास्वादनादिष्वपि संभविभावभेदमीलने तावद्भेदनिष्पन्नः षष्ठः सान्निपातिकभावभेदो वाच्यः ।

एतदर्थसंग्राहिण्यश्चैता गाथा यथा-

''पण अंतराय अन्ना-ण तिन्नि अचक्खुचक्खु दस एए।
मिच्छे सासाणे य, हवंति मीसए अंतराय पण ॥१॥
नाणतिगदंसणहतिगं, मीसग सम्मं च बारस हवंति।
एवं च अविरयम्मि वि, नवरि तहिं दंसणं सुद्धं ॥२॥
देसे य देसविरई, तेरसमा तह पमत्त अपमत्ते।
मणपज्जवपक्खेवा, चउदस अप्पुव्वकरणं उ ॥३॥
वेयगसम्मेण विणा, तेरस जा सुहुमसंपराओ त्ति।
ते चिय उवसममखीणे, चरित्तविरहेण वारस उ ॥४॥
खाओवसमिगभावा-ण कित्तणं गुणपए पमुच्च कथा।
उदइयभावे इण्हिं, ते चेव पडुच्च दंसेमि ॥५॥
चउगइयाई इगवी-स मिच्छि साणेय हुंति वीसं च।
मिच्छेण विणा मीसे, इगुणीसमानाणविरहेण ॥६॥
एमेव अविरयम्मी, सुरनारयगइ विओगओ देसे।
सत्तरस हुंति ते चिय, तिरिगइ अस्संजमाभावा ॥७॥
पन्नरस पमत्तम्मी, अपमत्ते आइलेसतिगविरहे।
ते चिय बारस सुक्के-गलेसओ दस अपुव्वम्मि ॥८॥
एवं अनियट्टिम्मि वि, सुहुमे संजलणलोभमणुयगई।
अंतिमलेस असिद्ध-त्तभावओ जाण चउभावा ॥९॥
संजलणलोभविरहा, उवसंतखीणकेवलीण तिगं।
लेसाभावा जाणसु, अजोगिणो भावदुगमेव ॥१०॥
अविरयसम्मा उवसं-तु जाव उवसमगखाइगा सम्मं।
अनियट्टीओ उवसं-तु जाव उवसामियं चरणं ॥११॥
खीणम्मि खइयसम्मं, चरणं च दुगं पि जाण समकालं।
नव नव खाइगभावा, जाण सजोगे अजोगे य ॥१२॥
जीवत्तमभव्वत्तं, भव्वत्तं पि हु मुणेसु मिच्छम्मि।
साणाई खीणंते, दोन्नि अभव्वत्तवज्जाऊ ॥१३॥
सजोगिम्मि अजोगिम्मि य, जीवत्तं चेव मिच्छामाईणं।
समभावमीसणाओ, भावं मुण सन्निवायं तु ॥१४॥

व्याख्यातप्राया एवैताः नवरमेकादश्यां गाथायां (उवसमगखाइगा सम्मत्ति) अनेनौपशमिकक्षायिकसम्यक्त्वरूपमौपशमिकक्षायिकभावभेदद्वयं युगपल्लाघवार्थं निरूपितम् । ततश्चाविरमादाभ्योपशान्तमोहं यावत्कस्यचिदौपशमिकसम्यक्त्वरूपौपशमिकभावभेदः प्राप्यते, कस्यचित्पुनः क्षायिकसम्यक्त्वरूपः क्षायिकभावभेदश्चेति ॥७०॥ कर्म०४ कर्म०।

-*-

(११) मार्गणास्थानकेषु गुणस्थानकानि । अथ यथा प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयन्नाह-

पण मिरि चउ सुरनरए, नरसन्निपणिंदिभव्वतसि सव्वे ।
इग विगलभूदगवणे, दु दु एगं गइतअभव्वे ॥१६॥

पञ्च गुणस्थानकानि मिथ्यादृष्टिसास्वादनमिश्राविरतसम्यग्दृष्टिदेशविरतिलक्षणानि (तिरि त्ति) तिर्यग्गतौ भवन्ति । चतुःशब्दस्य प्रत्येकंयोगात्सुरे सुरगतौ चत्वारि प्रथमगुणस्थानकानि, नरकेनरकगतौ चत्वारि प्रथमगुणस्थानानि भवन्ति, न देशविरतादीनि, तेषु भवस्यभावतो देशतोऽपि विरतेरभावादिति

नरे नरगतौ, संज्ञिनि विशिष्टमनोविज्ञानभाजि, पञ्चेन्द्रिये, भव्ये, त्रसे त्रसकाये च, सर्वाण्यपि चतुर्दशापि गुणस्थानकानि भवन्ति, एतेषु मिथ्यादृष्ट्यादी नामयोगिकेवल्यवसानानां सर्वभावानामपि संभवात्। (इग त्ति) एकेन्द्रियेषु सामान्यतः, (विगल त्ति) विकलेन्द्रियेषु द्वीन्द्रियत्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रयेषु, भुवि पृथ्वीकाये, उदके अप्काये, वने वनस्पतिकाये (दु दु त्ति) द्वे द्वे आद्ये मिथ्यात्वसास्वादनलक्षणे भवतः। तत्र मिथ्यात्वमविशेषेण सर्वेषु द्रष्टव्यं, सास्वादपनं तु तेजोवायुवर्जबादरैकेन्द्रिय-द्वित्रिचतुरिन्द्रियपृथिव्यम्बुवनस्पतिषु लब्ध्या पर्याप्तकेषु, करणेन त्वपर्याप्तकेषु, न सर्वेष्विति। तथा एकं मिथ्यात्वलक्षणं गुणस्थानकं भवति-केषु इति? आह-गत्या गमने, त्रसाः, न तु नामकर्मोदयात् गतित्रसास्तेषु सास्वादनभावोपगतस्य तेषु मध्ये उत्पादाभावत् अभव्येषु चेति ॥१६॥

वेय तिकसाय नव दस, लोभे चउ अजय दु ति अन्नाणतिगे।
वारस अचक्खुचक्खुसु, पढमा अह खाइ चरम चऊ ॥२०॥

वेदे वेदत्रयो, त्रयाणां कषायाणां समाहारस्त्रिकषायं क्रेधमानमायालक्षणं, तस्मिँस्त्रिकषाये (पढमि त्ति) प्रथमानीति पदं डमरुकमणिन्यायेन सर्वत्र योज्यम्, ततो वेदे स्त्रीपुंनपुंसकलक्षणे कषायत्रये , प्रथमानि मिथ्यादृष्ट्यादीनि अनिवृत्तिबादरपर्य्यन्तानि नव गुणस्थानकानि भवन्ति, न शेषाणि, अनिवृत्ति बादरगुणस्थान एव वेदत्रिकस्य कषायत्रिकस्य चोपशान्तत्वेन क्षीणत्वेन वा शेषेषु गुणस्थानेषु तदसंभवात्। लोभे लोभकषाये दश गुणस्थानानि, तत्र नव पूर्वोक्तानि, दशमं तु सूक्ष्मसंपरायलक्षणं, तत्र किट्टी कृतसूक्ष्मलोभकषायदलिकस्य वेद्यमानत्वात्। चत्वारि प्रथमानि अयते, विरतिहीन इत्यर्थः, कोऽर्थः? विरतिहीने मिथ्यात्वसास्वादनमिश्राविरतिसम्यग्दृष्टिलक्षणानि चवारि गुणस्थाननानि भवन्तीति। (दु ति अन्नाणतिगे त्ति) अज्ञानत्रिके मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गज्ञानलक्षणे, फथमे द्वे गुणस्थानके मिथ्यादृष्टिसास्वादनरूपे भवतः, मिश्रमपि। यतो ण्द्यपि मिश्रगुणस्थानके यथास्थितवस्तुतत्त्वनिर्णयो नास्ति, तथापि न तान्यज्ञानान्येव सम्यग्ज्ञानलेशव्यामिश्रत्वात्, अत एव न मिश्रगुणस्थानकमभिधीयते। उक्तं च-''मिथ्यात्वाधिकस्य मिश्रादृष्टेरज्ञानबाहुल्यं, सम्यक्त्वाऽधिकस्य पुनः सम्यग् ज्ञानबाहुल्यमिति''। ज्ञानलेशसद्भावतो न मिश्रगुणस्थानकमज्ञान-त्रिके लभ्यते इत्येके प्रतिपादयन्ति, तन्मतमधिकृत्यास्माभिरपि 'द्वे' इत्युक्तम्। अन्ये पुनराहुः-अज्ञानत्रिके त्रीणि गुणस्थानानि, तद्यथा-मिथ्यात्वं, सास्वदनं, सम्यग्दृष्टिश्च। यद्यपि ''मिस्सम्मी वामिस्सा'' इति वचनात् ज्ञानव्यामिश्राण्यज्ञानानि प्राप्यन्ते, न शुद्धाज्ञानानि, तथापि तान्यज्ञानान्येव, शुद्धसम्यक्त्वमूलत्वेनात्र ज्ञानस्य प्रसिद्धत्वात्। अन्यथा हि- यद्यशुद्धसम्यक्त्वस्यापि ज्ञानमभ्युपगम्यते तदा सास्वादनस्याऽपि ज्ञानाभ्युपगमः स्यात्, न चैतदस्ति, तस्याऽज्ञानित्वेनान्तरमेवेह प्रतिपादितत्वात्, तस्मादज्ञानत्रिके प्रथमं गुणस्थानकत्रयमवाप्यते इति''। तन्मतमाश्रित्याऽस्माभिरपि 'त्रिकम्' इत्युक्तं, तत्त्वं तु केवलिनो, विशिष्टश्रुतविदो वा विदन्तीति। द्वादश प्रथमानि गुणस्थानकानि। अचक्षुर्दर्शने चक्षुर्दर्शने चभवन्ति, यतो मिथ्यादृष्टिप्रभृतिक्षीणमोहपर्यन्तेषु गुणस्थानेष्वचक्षुर्दर्शनचक्षुर्दर्शनसंभवात्। यथाक्ष्याते चारित्रे चरमाण्यन्तिमानि चत्वारि उपशान्तमोहक्षीणमोहसयोगिकेवल्ययोगिकेवलिलक्षणानि चत्वारि गुणस्थानानि भवन्ति, एषु कषाया भावादिति ॥२०॥

मणनाणि सगजयाई, सामइयछेय चउ दुन्नि परिहारे।
केवलिदुगे दो चरमा-जयाइ नव मइसु ओहिदुगे ॥२१॥

मनोज्ञाने मनःपर्यवज्ञाने (सग त्ति)सप्तगुणस्थानकानि भवन्ति, कानीति? आह-यताऽऽदीनि, तत्र 'यमूं' उपरमे, यमनं यतं, सम्यक्सावद्यादुपरमणमित्यर्थः, यतं विद्यते यस्य स यतः प्रमत्तयतिः, यत आदौ येषां तानि यताऽऽदीनि प्रमत्ताऽप्रमत्ताऽपूर्व-करणाऽनिवृत्तिबादरसूक्ष्मसंपरायोपशान्तमोहक्षीणमोहलक्षणानीति। सामायिके छेदोपस्थापने च चत्वारि यताऽऽदीनि गुणस्थानानि, प्रमत्ताऽप्रमत्तनिवृत्तिबादराणीत्यर्थः। द्वे गुणस्थानके प्रमत्ताऽप्रमत्तरूपे, परिहारविशुद्धिकचारित्रे इत्यर्थः। नोत्तराणि, तस्मिन् चारित्रे वर्त्तमानस्य श्रेण्यारोहणप्रतिषेधात्। केवलद्विके केवलज्ञानकेवल-दर्शपरूपे द्वे गुणस्थाने भवतः, के इति? आह-चरमेऽन्तिमे सयोगिकेवलिगुणस्थानकाऽयोगिकेवलिगुणस्थानके इति (अजयाइ नव मइसु ओहिदुगे त्ति) अयतो विरतः स आदौ येषां तान्ययतादीन्यविरतसम्यग्दृष्ट्यादीनि क्षीणमोहपर्यवसानानि नव गुणस्थानकानि भवन्ति। मतौ मतिज्ञाने, श्रुते श्रुतज्ञाने, अवधिद्विके अवधिज्ञानाऽवधिदर्शनलक्षणे, न शेषाणि। तथाहि-न मतिज्ञानश्रुतज्ञानावधताधिनानि मिथ्यादृष्टिसास्वादनमिश्रेषु भवन्ति, तद्भावे ज्ञानत्वस्यैवाऽयोगात्। यतु अवधिदर्शनं तत्कुतश्चिदभिप्रायद्विशिष्टश्रुतविदो मिथ्यादृष्ट्यादीनां नेच्छन्ति, तन्मतमाश्रित्यास्माभिरपि तत्तेषां न भणितम्। अथ च सूत्रे मिथ्यादृष्ट्यादीनामप्यवधिदर्शनं प्रतिपाद्यते, यदाह रभसवश-विनम्रसुरासुरनरकिन्नरविद्याधरपरिदृढमाणिक्यमुकुटकोटीविघट्टनिघृष्टचरणारविन्दयुगलः श्रीसुधर्मस्वामी पञ्चमाङ्गे-''ओहिदंसणअणागारोवउत्ताणं भंते ! किं नाणी, अन्नाणी ? गोयमा! नाणी वि। अन्नाणी वि, जइ नाणी ते अत्थेगइया तिनाणि, अत्थेगइया चउनाणि,जे तिनाणि ते आभिणिबोहियनाणि सुयनाणी ओहिनाणी, जे चउनाणि ते आभिणिबोहियनाणी सुयनाणी ओहनाणी मणपज्जवनाणी, जे अन्नाणी ते नियता मइअन्नाणी सुयअन्नाणी विभंगनाणी इति।'' अत्र हि ये अज्ञानिनस्ते मिथ्यादृष्टय एवेति मिथ्यादृष्ट्यादीनामप्यवधिदर्शनं साक्षादत्र सूत्रे प्रतिपादितं, स एव विभङ्गज्ञानी यदा सास्वादनभावे मिश्रभावे वा वर्तते तत्राऽपि तदानीमवधिदर्शनं प्राप्यत इति। यत्पुनः सयोग्योगिकेवलिगुणस्थानकद्विकं, तत्र मतिज्ञानादि न संभवत्येव, तद्व्यवच्छेदेनैव केवलज्ञानस्य प्रादुर्भावात् ,''नट्ठम्मि उ छाउमत्थिए नाणे'' इति वचनप्रामाण्यादिति ॥२१॥

अम उवसमि चउ वेयगि, खइगे इक्कार मिच्छ तिगि देसे।
सुहुमे य सगट्ठाणं, तेरस जोगे अहार सुक्काए ॥२२॥

काकाक्षिकगोलकन्यायादिहाययतादिनि इति पदं सर्वत्र योज्यते, ततोऽयतादीन्युपशान्तमोहान्तानि अष्टौ गुणस्थानान्यौपशमिक सम्यक्त्वे भवन्ति। अयतादीन्यप्रमतान्तानि चत्वारि वेदके क्षायोपशमिकापरपर्याये गुणस्थानकानि भवन्ति। क्षायिकसम्यक्त्वे अयतादीन्ययोगिकेवलिपर्यवसानान्येकादश गुणस्थानकानि भवन्ति। तथा मिथ्यात्वत्रिके मिथ्यादृष्टिसास्वादनमिश्रलक्षणे, देशे देशविरते, सूक्ष्मे सूक्ष्मसम्पराये, चः समुच्चये, स्वस्थानं निजस्थानम्। इदमुक्तं भवति-मिथ्यात्वमार्गणास्थाने मिथ्यादृष्टिगुणस्थानं, सास्वादनमार्गणास्थाने सास्वादनं गुणस्थानं, मिश्रमार्गणास्थाने मिश्रं गुणस्थानं, देशसंयममा-

र्गणास्थाने देशविरतगुणस्थानं, सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणास्थाने सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानम् । तथा-योगे मनोवाक्कायलक्षणे अयोगिकेवलिवर्जितानि शेषाणि त्रयोदश गुणस्थानानि भवन्ति, सर्वेष्वप्येतेषु यथायोगं योग्यत्रयस्यापि संम्भवात् । तथा आहारकेषु आद्यानि त्रयोदश गुणस्थानानि भवन्ति, सर्वेष्वप्येतेषु ओजोलोभप्रक्षेपाहाराणामन्यतमस्याहारस्य यथायोगं सम्भवात् । तथा (सुक्काए त्ति) शुक्ललेश्यायां प्रथमानि त्रयोदश गुणस्थानानि भवन्ति, न त्वयोगिकेवलिगुणस्थानं, तस्य लेश्याऽतीतत्वादिति ॥२२॥

अस्सन्निसु पढमदुगं, पढमतिलेसासु छच्च दुसु सत्त ।
पढमंतिम दुग अजया, अणहारे मग्गणासु गुणा ॥२३॥

असंज्ञिषु संज्ञिव्यतिरिक्तेषु प्रथमं मिथ्यादृष्टिसास्वादनलक्षणं गुणस्थानकद्वयं भवति, तत्र मिथ्यात्वमविशेषेण सर्वत्र द्रष्टव्यम्, सास्वादनं तु लब्धिपर्याप्तकानां करणापर्याप्तावस्थायामिति । प्रथमासु तिसृषु लेश्यासु मिथ्यात्वादीनि प्रमत्तान्तानि षट् गुणस्थानानि भवन्ति । 'च:' समुच्चये, कृष्णनीलकापोतलेश्यानां हि प्रत्येकमसंख्येयलोकाऽऽकाशप्रदेशप्रमाणान्यध्यवसायस्थानानि, ततो मन्दसंक्लेशेषु तदध्यवसायस्थानेषु तथाविधसम्यक्त्वदेशविरतिसर्वविरतीनामपि सद्भवो न विरुध्यते । उक्तं च ''सम्यक्त्वदेशविरतिसर्वविरतानां प्रतिपत्ति काले शुभलेश्यात्रमेव भवति, उत्तरकालं तु सर्वा अपि लेश्या: परावर्तन्तेऽपीति। श्रीमदाराध्यपादा अप्याहुः-''संमत्तसुयं सव्वा-सु लहइ सुद्धासु तीसु य चरित्तं । पुव्वपडिवन्नओ पुण, अन्नयरीए ए लेसाए''॥१॥ श्रीभगवत्यामप्युक्तम्-''सामाइयसंजए णं भंते ! कइ लेसासु हुज्जा? गोयमा ! छसु लेसासु होज्जा, एवं छेओवट्ठावणियसंजए वीत्यादी''॥ तथा द्वयोस्तेजोलेश्य-पद्मलेश्ययो: सप्तगुणस्थानानि भवन्ति, तत्र षट् पूर्वोक्तान्येव, सप्तमं त्वप्रमत्तगुणस्थानकम्, अप्रमत्तसंयताध्यवसायस्थानापेक्षया मिथ्यादृष्ट्यादीनां प्रमत्तान्तानां तेजोलेश्यापद्मलेश्यातारतम्येन जघन्याऽत्यन्ताविशुद्धिके द्रष्टव्ये । तथा-अनाहारके पञ्चगुणस्थानानि भवन्ति । कानीति? आह--प्रथमान्तिमद्विकायतानीति । द्विकशब्दस्य प्रत्येकं योगात् प्रथमद्विकं मिथ्यादृष्टिसास्वादनलक्षणम्, अन्तिमद्विकं सयोगिकेवल्ययोगिकेवलि लक्षणम् । अयत इति, अविरतसम्यग्दृष्टिश्चेति। तत्र मिथ्यात्वासास्वादनाविरतसम्यग्दृष्टिलक्षणं गुणस्थानकत्रयमनाहारके विग्रहगतौ प्राप्यते, सयोगिकेवलिगुणस्थानकं त्वनाहारके समुद्घातावस्थायां तृतीयचतुर्थपञ्चमसमयेषु द्रष्टव्यम् । यदवादि-''चतुर्थमृतीयपञ्चमेष्वनाहारक इति''। अयोगिकेवल्यावस्थायां तु योगरहितत्वेनौदारिकादिशरीरपोषकपुद्गलग्रहणाभावादनाहारकत्वम्, ''औदारिकवैक्रिया-हारकशरीरपोषकपुद्गलोपादानमाहार:'' इति प्रवचनोपनिषद्वेदिन: । एवं मार्गणास्थानेषु गत्यादिषु (गुणत्ति) गुणस्थानकानि अभिहितानि ॥२३॥

(१२) गुणस्थानकेषु मार्गणास्थानानि । सम्प्रति गुणस्थानकेष्वेव योगान् व्याख्यानयन्नाह-

मिच्छदुग अजइ जोगा-हारदुगूणा अपुव्वपणगे उ ।
मणवइउरलं-व्व मीसि सविउव्व दुग देसे ॥४६॥

मिथ्यादृष्टिद्विकं मिथ्यादृष्टिसास्वादनलक्षणम्, तत्र अयते, अविरतसम्यग्दृष्टौ चेत्येवं गुणस्थानकत्रये संज्ञिपञ्चेन्द्रियोऽपि लभ्यते, तस्य च यथोक्ताऽऽहारकद्विकेनाहारककाययोगाऽऽहारकमिश्रकाययोगलक्षणेनोना रहितास्त्रयोदश योगाः संभवन्ति । यत्पुनहारकद्विकं तच्चतुर्दशपूर्विण एव । यदभ्यधायि-''आहारदुगं जायइ चउदसपुव्विस्सेत्ति'' न च मिथ्यादृष्टिसास्वादनायतानां चतुर्दशपूर्वाधिगमसंभव इति। तथाऽपूर्वपञ्चकेऽपूर्वकरणानिवृत्तिबादरसूक्ष्मसम्परायोपशान्तमोहक्षीणमोहलक्षणे नव योगा भवन्ति । तद्यथा-चतुर्विधो मनोयोगः, चतुर्विधो वाग्योगः, औदारिककाययोग इति, न शेषाः, अत्यन्तविशुद्धतया तेषां वैक्रियाहारकद्विकारम्भासंभवात्, तत्र स्थितानां च स्वभावत एव श्रेण्यारोहाभावात् । औदारिकमिश्रमपर्याप्तावस्थायां कार्मण त्वपान्तरालगतौ । यद्वोभे अपि केवलिसमुद्घातावस्थायां ततस्ते अप्यत्र गुणस्थानकपञ्चके न संभवत इति । तथा त एव पूर्वोक्ता नव योगा:सवैक्रिया: सन्तो दश योगा मिश्रे सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानके भवन्ति । तथाहि-चतुर्विधमनोयोगचतुर्विधवाग्योगौदा-रिकवैक्रियलक्षणा दश योगा मिश्रे भवन्ति, न शेषाः । तद्यथा-आहारकद्विकस्यासंभवः पूर्वाधिगमासंभवादेव, कार्मणशरीरं त्वपान्तरालगतौ संभवति, अस्य च मरणासंभवेनापान्तरालगत्य संभवस्ततस्तस्याप्यऽसंभवः । अत एवौदारिकवैक्रियमिश्रे अपि न संभवतः, तयोरपर्याप्तावस्थाभावित्वात् । ननु मा भूद्देवनारकसंबन्धिवैक्रियमिश्रं, यत्पुनर्मनुष्यतिरश्चां सम्यग्मिथ्यादृशां वैक्रियलब्धिमतां वैक्रियकरणसंभवेन तदारम्भकाले वैक्रियमिश्रं भवति, तत्कस्मान्नाभ्युपगम्यते? उच्यते:तेषां वैक्रियकरणासंभवादन्यतो वा यतः कुतश्चित्कारणात्पूर्वाचार्यैर्नाभ्युपगम्यते, तन्न सम्यगवगच्छामः, तथाविधसंप्रदायाभावात्, एतच्च प्रागेवोक्तमिति । तथा त एव पूर्वोक्ता नव योगा: सवैक्रियद्विका वैक्रियवैक्रियमिश्रसहिता: सन्त एकादश देशे देशविरते भवन्ति, अम्बडस्येव वैक्रियलब्धिमतो देशविरतस्य वैक्रियारम्भसंभ्वादिति॥४६॥

साहारदुग पमत्ते, ते वि उ वाहार मीस विणु इयरे ।
कम्मुरलदुगंताइम-मणवयणसजोगि न अजोगी ॥४७॥

पूर्वोक्ता एवैकादश योगाश्चतुर्विधमनोयोग-चतुर्विधवाग्योगौदारिकवैक्रियद्विकलक्षणा: साहारकद्विका असहारकाहारकमिश्रसहिता: सन्तस्त्रयोदश योगा: प्रमत्ते भवन्ति, औदारिकमिश्रकार्मणकाययोगाभावस्तु पूर्वोक्तयुक्तेरेवावसेय इति । त एव पूर्वोक्तास्त्रयोदश योगा वैक्रियमिश्राहारकमिश्रं विना एकादश योगा अप्रमत्ते । यत्तु वैक्रियमिश्रमाहारकमिश्रं च, तन्न संभवमि, तद्वैक्रियस्याहारकस्य च प्रारम्भकाले भवति, तदानीं च लब्ध्युपजीवनादिनौत्सु-क्यभावतः प्रमादभावः संभवतीति । तथौदारिकमिश्रपर्याप्ता-वस्थायां, कार्मधं त्वपान्तरालगतौ, यद्वा-उभे अपि केवलिसमुद्घातावस्थायां, ततस्ते अप्यत्र गुणस्थानके न संभवत इति। तथा-कार्मणमौदारिकद्विकमौदारिकौदारिकमिश्रलक्षणमन्त्यादिमनसी सत्याऽसत्यामृषरूपौ मनोयोगौ, अन्त्यादिमवचने सत्याऽसत्यामृषरूपौ वाग्योगो चेति सप्त योगाः सयोगिकेवलिनो भवन्ति, कार्मणौदारिकमिश्रे तु समुद्घातावस्थायामिति । न नैव पञ्चदशयोगमध्यादेकेनापि योगेन युक्तोऽयोगी अयोगिकेवली भवति, योगाभावनिबन्धनत्वादयोगित्वावस्थाया इति। उक्ता गुणस्थानकेषु योगाः ॥४७॥

(१३) अधुनैतेष्वेवोपयोगानभिधातुकाम आह-

तिअनाण दुदंसाइम, दुगे अजइ देसि नाणदंसतिगं ।

ते मीसि मीसा समणा, जयाइ केवलिदुगंतदुगे ॥४८॥

आदिमद्विके मिथ्यादृष्टिसास्वादनलक्षणे प्रथमद्वितीयगुणस्थानकद्वये इत्यर्थः। (तियनाणदु दंस त्ति) त्रयाणामज्ञानानां समाहारस्त्र्यज्ञानं मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गज्ञानरूपं, दर्शनं दर्शो, द्वयोर्दर्शयोः समाहारो द्विदर्शं चक्षुर्दर्शनाऽचक्षुदर्शनरूपमित्येते पञ्चोपयोगा मिथ्यादृष्टि-सास्वादनयार्भवन्ति। त्रिकशब्दस्य प्रत्येकमभिसंबन्धात् ज्ञानत्रिकं मतिज्ञानश्रुतज्ञानावधिज्ञानरूपम्, दर्शत्रिकं चक्षुर्दर्शनाऽचक्षुर्दर्शना-वधिदर्शनलक्षणमिति, न शेषाः, सर्वविरत्याभावात्। ते पूर्वोक्ता ज्ञानत्रिकदर्शनत्रिकरूपाः षडुपयोगा मिश्रे सम्यमिथ्यादृष्टिगुणस्थानके मिश्रा अज्ञानसहिता द्रष्टव्याः, तस्योभयदृष्टिपातित्वात्, के वलं कदाचित्ससम्यक्त्वबाहुल्यतो ज्ञानबाहुल्यं, कदाचिच्च मिथ्यात्व-बाहुल्यतोऽज्ञानबाहुल्यं, समकक्षतायां तूभयांशसमतेति। अस्मिंश्च गुणस्थानके यदवधिदर्शनमुक्तं तत्सैद्धान्तिकमतापेक्षया द्रष्टव्यमित्युक्तं प्राक्। (समणा जयाइ त्ति) 'यमूं' उपरमे, यमनं यतं सर्वसावद्य विरतं, तद् विद्यते यस्य स यतः,''अभ्रादिभ्यः''७।२।४६। इति (हैम०) अप्रत्ययः। प्रमत्तगुणस्थानकवर्ती साधुः, यत आदिर्येषां गुणस्थानकानां तानि यतादीनि, प्रमत्ताऽप्रमत्ताऽपूर्वकरणाऽनिवृत्तिबादरसूक्ष्मसम्प-रायोपशान्तमोहक्षीणमोहलक्षणानि सप्त गुणस्थानकानि तेषु पूर्वोक्ता ज्ञानत्रिकदर्शनत्रिकाख्याः षडुपयोगाः(समण त्ति)मनःपर्यायज्ञान-सहिताः सप्त भवन्तीति, न शेषाः, मिथ्यात्वघातिकर्मक्षयाभावात्। केवलद्विकं केवलज्ञानकेवलदर्शनलक्षणो पयोगद्वयरूपमन्तद्विके सयोगिकेवल्ययोगिकेवलिलक्षणचरमगुणस्थानकद्वये भवति, न शेषा दश ज्ञानदर्शनलक्षणाः,तदुच्छेदेनैव केवल-ज्ञानकेवलदर्शनोत्पतेः''नहुत्ति छाउमत्थिए नाणे''इतिवचनतात्। तदेवमभिहिता गुणस्थानकेषू-पयोगाः ॥४८॥

साम्प्रत यदिह प्रकरणे सूत्राऽभिमतमपि कार्मग्रन्थिकाभिप्राया-नुसरणतो नाधिकृतं तद्दर्शयन्नाह-

सासणभावे नाणं, विउव्वगाहारए उरलमिस्सं।
नेगिंदिसु सासाणो, नेहाहिगयं सुयमयं पि ॥४९॥

सास्वादनभावे सास्वादनसम्यग्दृष्टित्वे सति ज्ञानं भवति, नाऽज्ञान-मिति, श्रुतमतमपि सिद्धान्तसंमतमपि। तथाहि-''बेइंदिया णं भंते! किं नाणी, अन्नाणी ? गोयमा! नाणी वि, अन्नाणी वि, जे नाणी ते नियमा दुनाणी आभिणिबोहियनाणी, सुयनाणी। जे अन्ननणी ते विनियमा दुअण्णी। तं जहा मइअन्नाणी, सुयअन्नणी'' इत्यादिसुत्रे द्वीन्द्रियादीनां ज्ञानित्वमभिहितम्; तच्च सास्वादनापेक्षयैव, न शेषसम्यक्त्वापेक्षया, असंभवात्। उक्तं च प्रज्ञापनाटीकायाम्-''वेइंदियस्स दो नाणा कहं लब्भंति? भण्णइ सासायणं पडुच्च तस्सापज्जत्तयस्स दो नाणा लब्भंति''। ततः सासादनभावेऽपि ज्ञानं सूत्रसंमतमेव। तच्चेत्थं सूत्रसंमतमपि नेह प्रकरणेऽधिकृतं, किं त्वज्ञानमेव, कर्मग्रन्थाभिप्रायस्यानुसरणात्। तदभिप्रायश्चायम्-सास्वादनस्य मिथ्यात्वाभिमुखमया तत्सम्यक्त्व-स्य मलीमसत्वेन तन्निबन्धनस्य ज्ञानस्यापि मलीमसत्वाद-ज्ञानरूपतेति। तथा-सूत्रे वैक्रिये आहारके चारभ्यमाणे तेन प्रारभ्यमाणेन सहौदारिकस्यापि मिश्रीभवनादौदारिकमिश्रमुक्तमिति। तथा चाह प्रज्ञापनाटीकाकारः ''यदा पुनरौदारिकशरीरी वैक्रियलब्धिसुपन्नो मनुष्यः, पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिको वा पर्याप्तबादरवायुकायिको वा वैक्रियं करोति तदौदारिकशरीरयोग एव वर्त्तमानः प्रदेशान् विक्षिप्य वैक्रियशरीर-योग्यान् पुद्गलानादाय यावद्वैक्रियशरीरपर्याप्त्या पर्याप्तिं न गच्छति तावद्वैक्रियेण मिश्रता, व्यपदेशश्च औदारिकस्य, प्रधानत्वात्। एवमाहारकेणापि सह मिश्रता द्रष्टव्या आहारयति चैतेनैवेति तस्यैव व्यपदेशः'' इति। परित्यागकाले वैक्रियस्याहारकस्य च यथाक्रमं वैक्रियमिश्रमाहारकमिश्रं च। उक्तं च श्रीप्रज्ञापनाटीकायाम्-'आहारकशरीरी भत्वा कृतकार्यः पुनरप्यौदारिकं गृह्णति, तदाहारकस्य प्रधानत्वादौदारिकप्रदेशं प्रति व्यापाराभावान्न परित्यजति, यावत्सर्वथैवाहारकं तावदौदारिकेण मिश्रतेति आहारकमिश्रशरीर-काययोग''इति। तच्चैवम्-वैक्रियाहारका-रम्भकाले औदारिकमिश्रं सूत्रेऽभिहितमपि नेह प्रकरणेऽधिकृतं, कार्मग्रन्थिकैर्गुणविशेषप्रत्यय समुत्थलब्धिविशेषकारणतया प्रारम्भकाले परित्यागकाले च वैक्रिय-स्याहारकस्य च प्राधान्यविवक्षणेन वैक्रियमिश्रस्याहारकमिश्रस्य चैवाभिधानात्, तदभिप्रायस्य चेहानुसरणात्। तथा नैकेन्द्रियेषु (सासणो त्ति) भावप्रधानोऽयं निर्देशः, सास्वादनभावः सूत्रे मतः, अन्यथा द्वीन्द्रियादीनामिवैकेन्द्रियाणामपि ज्ञानित्वमुच्येत, नचोच्यते, किन्तु विशेषतः प्रतिषिध्यते। तथाहि ''एगिंदिया णं भंते! किं नाणी, अन्नाणी? गोयमा! नो नाणी, नियमा अन्नाणी''इति। स चेत्थं सासादनभाव-प्रतिषेधः सूत्रे मतोऽपि केनचित्कारणेन कार्मग्रन्थिकैर्नाभ्युपगम्यते, इतीहापि प्रकरणे नाधिक्रियते, तदभिप्रायस्यैवेह प्रायोऽनुसरणादिति (नेहाहिगयं सुयमयं पि) इत्येतद्विभक्तिपरिणामेन प्रतिपदं संबन्धनीयं, तथैव संबन्धितमिति ॥४९॥

अधुना गुणस्थानकेष्वेव लेश्या अभिधित्सुराह-

छसु सव्वा तेउतिगं, इगिछसु सुक्का अजोगि अल्लेसा।
बंधस्स मिच्छ अविरइ, कसाय जोग त्ति चउ हेऊ ॥५०॥

षट्सु मिथ्यादृष्टिसास्वादनमिश्राऽविरतदेशविरतप्रमत्तलक्षणेषु गुणस्थानकेषु सर्वाः षडपि कृष्णानीलकापोततेजः पद्मशुक्लेश्या भवन्ति।(तेउतिगं इगि त्ति)एकस्मिन्नप्रमत्तगुणस्थानके तेजस्त्रिकं तेजःपद्मशुक्लेश्यात्रयं भवति,न पुनराद्यं लेश्यात्रयमित्यर्थालब्धम्। षट्स्वपूर्वकरणानिवृत्तिबादरसूक्ष्मसम्परायोपशान्तमोहक्षीणमोह-सयोगिकेवलिलक्षणेषु गुणस्थानकेषु शुक्लेश्या भवति, न शेषाः पञ्च। अयोगिनोऽयोगिकेवलिनो लेश्याः अपगतलेश्याः। इह लेश्यानां प्रत्येक मसंख्येयानि लोकाकाशप्रदेशप्रमाणान्यध्वसायस्थानानि, ततो मन्दाध्यवसायस्थानापेक्षया शुक्लेश्यादीनामपि मिथ्यादृष्ट्यादौ कृष्णलेश्यादीनामपि प्रमत्तगुणस्थानकेऽपि संभवो न विरुध्यत इति। तदेव मुक्ताः गुणस्थानकेषु लेश्यायाः। कर्म०४ कर्म०। (गुणस्थानकेषु बन्धोदयसत्तास्थाननां स्वमित्वं 'कम्म' शब्दऽस्मिन्नैव भागे ३१२ पृष्ठे उक्तम्। बन्धोदयसत्तास्थानानां संबेधोऽपि अस्मिन्नेव भागे 'कम्म' शब्दे ३०६ पृष्ठे दर्शितः)

(१४)श्रीहीरविजयसूरिं प्रति विमलहर्षगणिकृतप्रश्नः। यथापञ्च-विंशतिभङ्गाश्रितानाम्''एआरिसे त्ति'' गाथोक्तलक्षणोपेतानां च साधूनां षष्ठसप्तमगुणस्थानवर्तित्वम्? उत मतान्तरेण मुहूर्ताद्बहुकालस्थायिषष्ठ-गुणस्थो वर्तित्वमिति प्रश्ने, उत्तरम्-''उभयमपि भवतु, अध्यवसायानां वैचित्र्यात्तथाविधव्यक्ताक्षरानुपपत्तिभावाच्च ॥३॥ ही०१ प्रका०। गुणास्पदे, पञ्चा०८ विव०।

गुणट्ठाणविभागकाल पुं०(गुणस्थानविभागकाल)गुणस्थानेषु पार्थक्येन तद्भावापरित्यागार्थविषये काले, पं०सं०२ द्वार।

गुणट्ठाणसिद्धजणग त्रि० (गुणस्थानसिद्धजनक) प्रमत्तताऽऽदिगुणविशेषनिर्मलताधायके, पञ्चा०१५ विव०।

गुणण न०(गुणन)परावर्तने, अभ्यासे, विशे०। स्था०। आ०म०। व्य०। दश०। गुणनिकाऽप्यत्र। स्था०४ ठा०३ उ०।

गुणणाम न०(गुणनामन)गुणरूपे अर्थ, ''से किं तं गुणनामे?गुणनामे पुचविहे पण्णत्ते। तं जहा-वण्णनामे, गंधणाते, रसणामे, फरसणामे, संठाणणामे, सेत्तं गुणणामे'' अनु०।

गुणणिप्फन्न न०(गुणनिष्पन्न) गुणप्रधाने, विपा०१ श्रु०२ अ०।

गुणणिप्फण्णसणामा स्त्री०(गुणनिष्पन्नस्वनामा) गुणैः कृत्वा निष्पन्नं स्वं स्वकीयं नाम यासां ता: गुणनिष्पन्नस्वनाम्न्यः। गौणनामिकासु, तथाहि-एकैकपरमाणवः परमाणुवर्गणाद्वयोः परमाण्वोर्वर्गणा द्विपरमाणुवर्गणा इत्येवं नाम्ना वर्गणा ''गाणं गुणणिप्पण्णं नामधिज्जं करेति'' क०प्र०।

गुणणिहि पुं०(गुणनिधि) संयमानुगता ये गुणास्तेषां निधिरिव तैः परिपूर्णो गुणनिधिः। ज्ञानादिगुणरत्ननिधाने, व्य०३ उ०।पञ्चा०।

गुणत्तयी स्त्री०(गुणत्रयी)ज्ञानदर्शनचारित्रगुणत्रये, अष्ट०८ अष्ट०।

गुणत्थुइ स्त्री०(गुणस्तुति) क्षान्त्यादिगुणश्लाघायाम्, जी०।

अष्टत्रिंशमाह-

रे जीव ! किं व जेसिं, तए सुयं इय मयं बहु पयारं।
तेसिं पि गुणे सलहसु, जइ मज्झत्थं मणे धरसु ॥१॥

रे जीव ! भो आत्मन् ! किं वा परं, येषामनिर्दिष्टनाम्नां त्वया भवता श्रुतभाकर्णितकूतीत्थं मतमभिप्रायो, बहुप्रकारं नानाभेदं, तेषामपि, न केवलमन्येषामित्यपिशब्दार्थः। गुणान् क्षान्त्यादीन्, श्लाघय प्रशंसय, यदि माध्यस्थ्यं रागाद्यभावो, मनसि चित्ते, धारयसि धत्से: अन्यथा तन्मतदूषणेन मत्सर एव स्फुटः स्यादिति गाथार्थः ॥१॥

तद्गुणश्लाघामेवाह

धन्ना मुणीण किरियं, कुणंति धारिंति मलिणवत्थे उ।
परिवज्जि अदव्वज्जण-ववहारा वारियारंभा ॥२॥

धन्या पुण्यभाजः एते प्रत्यक्षाः साधवो, वर्तन्त इति क्रियाध्याहारः। यकिमित्याह-मुनीनां साधूनां क्रियामारम्भं प्रत्युपेक्षणादिकां कुर्वन्ति चेष्टन्ते, धारयन्ति पुनर्निदधति मलिनवस्त्रान्, तुः पुनरर्थे योजिते एव। परीति सामस्त्येन वर्जितस्त्यक्तो द्रव्यार्जनाय द्रविणार्थं व्यवहारो वाणिज्यादिको यैस्ते तथा वारितारम्भा निषिद्ध गृहकरणादिपापक्रिया इति गाथार्थः ॥२॥

सूत्रकृत्संबद्धां गाथामाह-

अन्नेसिं पि पसंससु, विमलगुणा जेण जीव !
तुह होइ फलियं वुज्झलतरयं, पमोयकरणाउ सम्मत्तं ॥३॥

अन्येषामपि पूर्वव्यतिरिक्तानां प्रशंसय श्लाघय विमलगुणान् अतिशयान् यन जीव ! प्राणिन् ! तव भवतो भवति जायते स्फटिक इव रत्नविशेष इव, डकारः पूर्ववत्, उज्ज्वलतरकमतिशयनिर्मलं प्रमोदकरणाद्गुणवत्प्रीतेः सम्यक्त्वं दर्शनमिति गाथार्थः ॥३॥

विमलगुणप्रशंसामेव गाथानवकेनाह-

जीवतु चिरं परो पा-वयणी परहिएक्ककयचित्ता।
जें हि एगहिं व आगम-सरस्स गाहत्तणं पत्तं ॥४॥
एसो से धम्मकही, अणेयणिगमललियं महुरवयणरसं।
जस्स वयणारविंदे, भमर व्व पियंति भव्वजणा ॥५॥
एसो परवाइगइं-दकुंभ निद्दलणकेसरिकिसोरो।
सलहिज्जइ सूरी दं-सणस्स तिलआसे महाभागो ॥६॥
विप्फुरइ जस्स वयण-म्मि भारई नट्टिय व्व कव्वम्मि।
ललियपयसा सिंगर-सुंदरा झत्ति सो धन्नो ॥७॥
एगंतरोववासा-इगुरुयवतवतवियतणुयदेहस्स।
एयस्स चेव जम्मो, कम्ममहाधंतसूरस्स ॥८॥
परसमया विहाडणत-क्कगंथपामत्थकहयसौंडीरो।
स कयत्थो जस्स मई वन्निज्जइ विएसलोएहिं ॥९॥
एसो समत्थदंसण-पभावणागुणमईहिँ संजुत्तो।
रयणायरो व्व रेहइ, सययं अक्खलियमाहप्पो ॥१०॥
कप्पद्दुम व्व वियरति, जे उ संघस्स कप्पियच्छेअं।
अणवरयं ते धन्ना, सुसावया दंसणुद्धरणा ॥११॥
किं बहुणा सव्वेसिं, जियाण सलहेसु गुणागणं जीव !।
तुज्झवएसो एसो, जइ मज्झत्थं पियं तुज्झ ॥१२॥

प्रकटार्थाः। नवरं प्रथमगाथया आगमधरगुणो वर्णितो, द्वितीयया धर्म्मकथकस्य, तृतीयया वादिनः, चतुर्थ्या कवेः, पञ्चम्या तपस्विनः, षष्ठ्या तर्कग्रन्थव्याख्यातुः, सप्तम्या समस्तगुणवताम् अष्टम्या श्रावकाणां, नवम्या समस्तजीवानां, नैमित्तिकविद्यासिद्धाः साम्प्रतं प्रायो न सन्तीति त्द्गुणगाथा न कृता। जावा०३८ अधि०।

गुणदोसविभावण न०(गुणदोषविभावन) अर्थानर्थालोचने, पञ्चा०९ विव०।

गुणद्धि स्त्री०(गुणर्द्धि) गुणश्रियाम् पञ्चा०७ विव०

गुणद्धिजोग पुं०(गुणर्द्धियोग) गुणश्रीयुक्तत्वे, पञ्चा०७ विव०।

गुणधारि त्रि०(गुणधारिन्)अष्टादशशीलाङ्गसहस्रधारिणि, सूत्र०१ श्रु०११ अ०। (अष्टदशशीलाङ्गसहस्रस्वरूपम् 'गुरुकुलवास' शब्दे द्रष्टव्यम्)

गुणपक्खवाय पुं०(गुणपक्षपात) सौजन्यादिषु बहुमाने, गुणपक्षपातःगुणेषु सौजन्यौदार्यधैर्यदाक्षिण्यस्थैर्यप्रियप्रथमाभिभाषणादिषु-स्वपरयोरुपकाररकारणेष्वात्मधर्मेषु पक्षपातो बहुमानं तत्प्रशंसासाहाय्यदानादिनाऽनुकूला प्रवृत्तिः। गुणपक्षपातिनो हि जीवो अबन्ध्यपुण्यबीजनिषेकेणेहामुत्र च गुणग्रामसंपदमारोहन्ति। ध०१ अधि०।

गुणपगरिय पुं०(गुणप्रकर्ष) गुणतिशये, पञ्चा०८ विव०।

गुणपडिवत्ति स्त्री०(गुणप्रतिपत्ति) गुणाभ्युपपत्तौ, पञ्चा०९ विव०।

गुणपडिवण्ण त्रि० (गुणप्रतिपन्न) गुणाः मूलोत्तररूपास्ता-न्प्रतिपन्नः, गुणैः प्रतिपन्नः पात्रमिति कृत्वा गुणैराश्रितो गुणप्रतिपन्नः । मूलोत्तरगुण-सम्पन्ने, न०।

गुणपुरिस पुं०(गुणपुरुष) व्यायामविक्रमधैर्यसत्त्वादिप्रधाने पुरुषे, सूत्र०१ श्रु०४ अ०।

गुणपेह(ण्) पुं०(गुणप्रेक्षिन्) गुणान् अप्रमादादीन्प्रेक्षते तच्छीलश्च यः। अप्रमत्तादौ, दश०५ अ०२ उ०। यो यस्य यावन्तं गुणं पश्यति तस्यत मेव प्रेक्षते पुरस्करोति, दोषेषु सत्स्वप्युदास्ते। तस्मिन्, कर्म०२ कर्म०।

गुणवल्लभ पुं०(गुणवल्लभ)प्राकृतभाषानिबद्धनेमिनाथचरित्र-काव्यकृत्याचार्ये, जै० इ०।

गुणमंत त्रि०(गुणवत्) पिण्डविशुद्ध्याद्युत्तरगुणोपेते, आचा,२ श्रु०१ अ०६ उ०।

गुणमहंत त्रि०(गुणमहत्) गुणैमेहेति, आव०२ अ०।

गुणरयण त्रि०(गुणरत्न) गुण्ण एव रत्नानि यस्याऽसौ गुणरत्नः। रत्नस्वरूपगुणभृते, आ०म०प्र०। सोमतिलकसूरेस्तृतीये शिष्ये, पुं०। ग०४ अधि०। तपागच्छीयदेवसुन्दरसूरिशिष्ये, स च विक्रमसंवत् १४५६ मिते विद्यमान आसीत्, षड्दर्शनसमुच्च टीकां क्रियारत्नसमुच्चयनामानं च ग्रन्थं व्यरीरचत्। जै०इ०।

गुणरयणणिहि पुं०(गुणरत्ननिधि) ज्ञानादिमाणिक्यनिधाने, पञ्चा०७ विव०।

गुणरयणवियरण न०(गुणरत्नवितरण)सम्यक्त्वबीजसम्यग्द-र्शनादिलक्षणगुणमाणिक्यविश्राणने, पञ्चा०७ विव०।

गुणरयणसंवच्छर न०(गुणरत्नसंवत्सर) तपोभेदे, भ०।

इच्छामि णं भंते ? तुज्झेहिं अब्भणुण्णाए समाणे गुणरयणं संवच्छरं तवोकम्मं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए । अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं करेह । तए णं से खंदए अणगारे समणेणं भगवया महावीरेणं अब्भणुण्णाए समाणे० जाव नमंसित्ता गुणरयणं संवच्छरं तवोकम्मं उवसंपज्जित्ता णं विहरइ । तं जहा-पढमं मासं चउत्थं चउत्थेणं अनिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं दिया ठाणुक्कुडुए सूराभिमुहे आयाणभूमीए आयावेमाणे रत्तिं वीरासणेणं अवाउडेण य, दोच्चं मासं छट्ठं छट्ठेणं अनिनक्खित्तेणं दिया ठाणुक्कुडुए सूराभिमुहे आयावणभूमीए आयावेमाणे रत्तिं वीरासणेणं अवाउडेण य, एवं तच्चं मासं अट्ठमं अट्ठमेणं, चउत्थं मासं दसमं दसमेण, पंचमं मासं वारसमं वारसमेणं, छट्ठं मासं चोद्दसमं चोद्दसमेणं, सत्तमं मासं सोलसमं सोलसमेणं, अट्ठमं मासं अट्ठारसमं अट्ठारसमेणं, नवमं मासं वीसइमं वीसइमेणं, दसमं मासं वावीसइमं बावीसइमेणं, एक्कारसमं मासं चउवीसइमं चउवीसइमेणं, वारसमं मासं छव्वीसइमं छव्वीसइमेणं, तेरसमं मासं अट्ठावीसइमं अट्ठावीसइमेणं, चोद्दसमं मासं तीसइमं तीसइमेणं, पन्नरसमं मासं बत्तीसइमं बत्तीसइमेणं, सोलसमं मासं चउत्तीसइमं चउत्तीसइमेणं अनिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं दिया ठाणुक्कुडुए सूराभिमुहे आयावणभूमीए आयावेमाणे रत्तिं वीरासणेणं अवाउउडेणं ।

गुणानां निर्जराविशेषाणां रचनं करणं संवत्सरेण सत्रिभागवर्षेण यस्मिँस्तपसि तद्गुणरचनसंवत्सरम्। गुणा एव वा रत्नानि यत्र स तथा गुणरत्नः संवत्सरो यत्र तत् गुणरत्नसंवत्सरं तपः, इह च त्रयोदश मासाः सप्तदशदिनाधिकास्तपःकालः, त्रिसप्ततिश्च दिनानि पारणकाल इति। एवं चायम्-

''पण्णरस वीस चउवीस चेव चउवीस पण्णवीसा य।

चउवीस एक्कवीसा, चउवीसा सत्तवीसा य ॥१॥

तीसा तेत्तीसा वि य, चउवीस छवीस अट्ठवीसा य।

तीसा वेत्तीसा वि य, सोलसमासेसु तवदिवसा ॥२॥

पण्णरस दसऽट्ठ पंच चउर पंचसु य तिण्णि तिण्णि त्ति।

पंचसु दो दो य तहा, सोलस मासेसु पारणगा'' ॥३॥

इह च यत्र मासे अष्टमादितपसो यावन्ति दिनानि न पूर्यन्ते, तावन्त्यग्रे तनमासादाकृष्य पूरणीयानि अधिकानि चाग्रे तनमासे क्षेप्तव्यानि।(चउत्थं चउत्थेणं ति) चतुर्थं भक्तं यावद्गृणं त्यज्यते यत्र तच्चतुर्थम्, इयञ्चोपवासस्य संज्ञा, एवं षष्ठादिकमुपवासद्वयादेरिति। (अणिक्खित्तेणं ति)अविश्रान्तेन (दिय त्ति) दिवा, दिवस इत्यर्थः। (ठाणुक्कुडुए त्ति) स्थानमास-नमुत्कुटुकमाधारे पुतालगनरूपं यस्यऽसो स्थाननोत्कुटुकः। (वीरासणेणं ति) सिंहासनोपविष्टस्य भून्यस्त-पादस्याप-नीतसिंहासनस्येव यदवस्थानं तद्वीरासनं, तेन। (अवाउडेण य त्ति) प्रावरणाभावेन च। भ०२ श०१ उ०। ज्ञा०।

गुणरयणसायर पुं०(गुणरत्नसागर) गुणा महाव्रतादयस्य एव रत्नानि विशिष्टफलहेतुत्वात् सर्ववस्तुसारत्वाच्च गुणरत्नानि, तान्येव बहुत्वात् सागर इव सागरः समुद्रो गुणरत्नसागरः। पा०। रत्नकल्पप्रभूतगुणे,''जे अ० इमं गुणरयणसायरमविराहिऊण तिण्णि संसारा'' मूलगुणात्मानि, नि०चू०१ उ०। मूलगुणादिसंपन्ने च। प्रश्न०५ संव० द्वार।

गुणरहिय त्रि०(गुणरहित) गुणविकले सदोषे, दर्श०।

गुणराग पुं०(गुणराग) वन्दनीयार्हदादिगतार्हत्वभगवत्वादिगुण- बहुमाने, पञ्चा०६ विव०।

गुणरागि पुं०(गुणरागिन्) गुणेषु गाम्भीर्य्यस्थैर्य्यप्रमुखेषु रज्यतीत्येवं शीलो गुणरागी। प्रव०२३७ द्वार। गुणिपक्षपातकृति दशगुणविशिष्टे श्रावके, स हि गुणपक्षपातित्वादेव सगुणान् बहु मन्यते निर्गुणांश्चोपेक्षते। ध०१ अधि०। पञ्चा०।

इदानीं गुणारागिगुणमाह-

गुणरागी गुणवंते, बहु मन्नइ निग्गुणे उवेहेइ।
गुणसंगहे पवत्तइ, संपत्तगुणं न मइलेइ ॥१६॥

गुणेषु धार्मिकलोकभाविषु रज्यतीत्येवं शीलो गुणरागी, गुणभाजे यतिश्रावकादीन् बहु मन्यते मनःप्रीतिभाजनं करोति; यथा अहो ! धन्या एते, सुलब्धमेतेषां मनुष्यजन्मेत्यादि। तर्हि निर्गुणान्निन्दतीत्यापन्नम्, यथा-देवदत्तो दक्षिणेन चक्षुषा पश्यती

त्युक्ते वामेन न पश्यतीत्यसीयते। तथा चाहुरेके-''शत्रोरपि गुणा ग्राह्याः, दोषा वाच्या गुरोरपीति।''न चैतदेवं धार्मिकोचितमित्याह-निर्गुणानुपेक्षते असंक्लिष्टचित्ततया तेषामपि निन्दां न करोति। यतः स एवमालोचयति-

''सन्तोऽप्यसन्तोऽपि परस्य दोषाः,

नोक्ताः श्रुता वा गुणमावहन्ति।

वैराणि वक्तुः परिवर्द्धयन्ति,

श्रोतुश्च तन्वन्ति परां कुबुद्धिम्''॥१॥

तथा-

''कालम्मि अणाईए, अणाइदोसेहि वासिए जीवे।

जं पावियइ गुणो वि हु, तं मन्नह भो महच्छरियं॥२॥

भूरिगुणो विरल च्चिय, एक्कगुणो वि हु जणो न सव्वत्थ।

निद्दोसाण वि भद्दं, पसंसिमो थोवदोसे वि''॥३॥

इत्यादिसंसारस्वरूपमालोचयन्नसौ निर्गुणानपि न निन्दिति, किं तूपेक्षते, मध्यस्थभावेमास्त इत्यर्थः। तथा गुणानां संग्रहे समुपादाने प्रवर्तते यतते, संप्राप्तमङ्गीकृतं सम्यग्दर्शनविरत्यादिकं न मलिनयति सातिचारं करोति, पुरन्दरराजवत्।ध०२०।

गुणवई स्त्री०(गुणवती) जम्बूद्वीपे पूर्वविदेहे पुष्कलावतीविजये पुण्डरीकिणीनगरे वज्रसेनचक्रिणो राज्ञ्याम् आ०म०प्र०। आ०चू०।

गुणवंत पुं०(गुणवत्) पञ्चभिर्गुणैर्विशिष्टे श्रावके, ध०२०।

अधुना तृतीयभावलक्षणं गुणवत्स्वरूपं निरूपयिषुः संबन्धगाथामाह-

जइ वि गुणा बहुरूवा, तहा वि पंचहि गुणेहिँ गुणवंतो।
इह मुणिवरेहिँ भणिओ, सरूवमेसिं निसामेहि॥४२॥

यद्यपीत्यभ्युपगमे, अभ्युगतभिदभस्माभिर्यदुत गुणा बहुरूपा बहुप्रकाराऔदार्यधैर्यगाम्भीर्यप्रियंवदत्वादयः, तथापि पञ्चभिर्गुणैर्गुणवानिह भावश्रावकविचारे मुनिवरैर्गीतार्थसूरिभिर्भणित उक्तः, स्वरूपं स्वतत्वमेषां गुणानां निशामयाऽऽकर्णयेति शिष्यप्रोत्साहनाय क्रियापदम्, प्रमादी शिष्यः प्रोत्साह्य श्रावणीय इति ज्ञापनार्थमिति॥४२॥

स्वरूपमेवाऽऽह-

सज्झाए करणम्मि य, विणयम्मि य निच्चमेव उज्जुत्तो।
सव्वत्थ णऽभिनिवेसो, वहइ रुइं सुट्ठु जिणवयणे॥४३॥

शोभनमध्ययनं स्वेनाऽऽत्मना वाऽध्यायःस्वाध्यायः, स्वाध्यायो वा, तस्मिन्नित्यमुद्युक्तः इति योगः(१)तथा करणेऽनुष्ठाने (२) विनये गुर्वाद्यभ्युत्थानादिरूपे नित्यं सदैवोद्युक्तः प्रयत्नवान् भवतीति प्रत्येकमभिसंबन्धादिति गुणत्रयम्(३) तथा सर्वत्र सर्वप्रयोजनेष्वैहिकामुष्मिकेषु न विद्यतेऽभिनिवेशः कदाग्रहो यस्य सोऽनभिनिवेशः प्रज्ञापनायो भवतीति चतुर्थो गुणः, तथा वहति धारयति रुचिमिच्छां, श्रद्धानमित्यर्थः। सुष्ठु वाढं जिनवचने पाररगततदित आगमे इति ध०२०।

गुणवंतपारतंत न०(गुणवत्पारतन्त्र्य) विद्यमानसम्यग्ज्ञानक्रियागुणनामधीनत्वे, हा,२२ अष्ट०।

गुणवय्यिद त्रि०(गुणवर्जित) ''जधयां यः''।८।४।२६२। इति मागध्यां जस्य यः। गुणरहिते, प्रा,४ पद।

गुणविजय पुं०(गुणविजय) स्वनामख्याते जयसोमसूरिशिष्ये, येन खण्डप्रशस्तिदमयन्तीकथारघुवंशटीका वैराग्यशतकटीका सिंहासनद्वात्रिंशिकादयो ग्रन्थाः कृता :, अयमाचार्यः विक्रम संवत् १५६० मित आसीत्। जै० इ०।

गुणविसेसाय पुं०(गुणविशेषाश्रय) द्रव्यगुणकर्मसमुदाये, ''व्यक्तिर्गुणविशेषाश्रयो मूर्तिरिति'' अस्यार्थो वार्त्तिककारमतेनविशिष्यत इति विशेषः, गुणेभ्यो विशेषो गुणविशेषः, कर्म्माभिधीयते। द्वितीयश्चात्र गुणविशेषशब्द एकशेषं कृत्वा निर्द्दिष्टः, तेनगुणपदार्थो गृह्यते। गुणाश्च ते विशेषाश्च गुणविशेषाः, विशेषग्रहणमाकृतिनिरासार्थं, तथा ह्याकृतिः संयोगविशेषस्वभावा, संयोगश्च गुणपदार्थान्तर्गतः। ततश्चासति विशेषग्रहणे आकृतेरपि ग्रहणं स्यात्। न च तस्या व्यक्तावन्तर्भाव इष्यते; पृथक्स्वशब्देन तस्या उपादानात्। आश्रयशब्देन द्रव्यमभिधीयते। तेषां गुणविशेषाणामाश्रयस्तदाश्रयो, द्रव्यमित्यर्थः। सूत्रे तच्छब्दलोपं कृत्वा निर्देशः कृतः। एवं च विग्रहः कर्त्तव्यः-गुणविशेषाश्च गुणविशेषाश्चेति गुणविशेषाः, तदाश्रयश्चेति गुणविशेषाश्रयः, समाहारद्वन्द्वश्चायम्। ''लोकाश्रयत्वात् लिङ्गस्येति'' नपुंसकलिङ्गनिर्द्देशः। तेनायमर्थो भवति-योऽयं गुणविशेषाश्रयः सा व्यक्तिश्चोच्यते, मूर्त्तिश्चेति। तत्र यदा द्रव्ये मूर्त्तिशब्दस्तदाऽधिकरणसाधनो द्रष्टव्यः-मुर्च्छन्त्यस्मिन्नवयवा इति मूर्त्तिः। यदा तु रूपादिषु तदा कर्तृसाधनः-मूर्च्छन्ति द्रव्ये समवयन्तीति रूपोदयो मूर्त्तिः। व्यक्तिशब्दस्तु द्रव्ये कर्म्मसाधनो, रूपादिषु करणसाधनः। भाष्यकारमतेन तु यथाश्रुति सूत्रार्थः। गुणविशेषाणामाश्रयो द्रव्यमेव व्यक्तिर्मूर्त्तिश्चेति तस्येष्टम्। यथोक्तम्-''गुणविशेषाणां रूपरसगन्धस्पर्शानां गुरुत्व-द्रव्यत्व-घनत्व-संस्काराणामव्या-पिनश्च परिमाणविशेषस्याऽऽश्रयो यथासंभवं तद्द्रव्यं मूर्तिर्मूच्छिता-वयत्वादिति''। आकृतिशब्देन प्राण्यऽवयवानां वाण्यादीनां, तदवयानां चाङ्गुल्यादीनां संयोगोऽभिधीयते। सम,१ काण्ड।

गुणवुड्ढि स्त्री०(गुणवृद्धि) कर्म्मनिर्ज्जरायाम् व्य०१० उ०। अनुपमानन्दरसदानदक्षेक्षुयष्टिपुष्टिप्राये स्वगतज्ञानादिगुणवर्द्धने, पञ्चा० १८ विव०।

गुणवेतण्ह न०(गुणवैतृष्ण्य) विषयवैराग्ये, यदाहुर्योगाचार्याः-तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्। ध०४ अधि०।

गुणव्वय न०(गुणव्रत) अणुव्रतमानां गुणायोपकाराय व्रतानि। ध० २०। श्रावकधर्म्मतरोरुपचयलक्षणगुण निबन्धनत्वेनात्मसत्ताविप्रतिपित्सुश्रावकव्रतेषु, पञ्चा०१ विव०। अणुव्रतानां परिपालनाय भावनाभूतानि गुणव्रतान्यभिधीयन्ते-तानि पुनस्त्रीणि भवन्ति। तद्यथा-दिक्परिमाणं, भोगोपभोगव्रतम्, अनर्थदण्डविरमणमिति।२७६। श्रा० पञ्चा० भ० आव० आ०चू०ध०। (एषां त्रयाणां व्याख्या स्वस्वस्थाने) (अणुव्रतस्वरूपम् 'अणुव्वय' शब्दे ४१६ पृष्ठे गतम्)

गुणसंकम पुं०(गुणसङ्क्रम) सङ्क्रमभेदे, पं०सं०५ द्वार।

इदानीं गुणसंक्रमस्य लक्षणमाह-

गुणसंकमो इ बज्झं-तऽसुभप्पगईणऽपुव्वकरणाइ॥१७२॥

अपूर्वकरणादयोऽपूर्वकरणप्रभृतयो अबध्यमानानामशुभप्रकृतीनां संबन्धि कर्मदलिकंप्रतिसमयमसंख्येय गुणतया बध्यमाननासु प्रकृतिषु यत्प्रीक्षिपन्ति स गुणसंक्रमः। गुणेन प्रतिसमयसंख्येयलक्षणेन गुणकारेण संक्रमो गुणसंक्रमः।

तथाहि मिथ्यात्वातपनारकायुर्वर्जानां मिथ्यादृष्टियोग्यानां त्रयोदशनामनन्तानुबन्धितिर्यगायुरुद्योतवर्जानां च सास्वादनयोग्यानामेकोनविंशतिप्रकृतीनां यतो मिथ्यात्वमनन्तानुबन्धिनश्चापूर्वकरणादावत एवाविरतसम्यग्दृष्ट्यादयश्च क्षपयन्ति, आतपोद्योते च शुभे अशुभ प्रकृतीनां च गुणसंक्रमः, आयुषां च परप्रकृतौ न संक्रमः, ततो मिथ्यात्वादिप्रकृतीनामिह वर्जनं, तथा अप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणकषायाष्टकास्थिराशुभाशुभयशः कीर्त्तिशोकारत्यसातवेदनीयानां सर्वसंख्यया षट्चत्वारिंशत् प्रकृतीनाम्, अशुभानां बध्यमानानामपूर्वकरणादारभ्य गुणसंक्रमो भवति, निद्राद्विकोपघाताशुभवर्णादिनवकहास्यरतिजुगुप्सानां त्वपूर्वकरणे स्वस्वबन्धव्यच्छेदादारभ्य गुणसंक्रमो वेदितव्यः । अपरोऽर्थःअपूर्वकरणादयोऽपूर्वकरणसंज्ञांकरणवर्त्तिप्रभृतयोऽशुभप्रकृतीनं मध्यमानां दलिकमसंख्येयगुणनया श्रेण्या बध्यमानासु प्रकृतिषु यत् प्रक्षिप्यन्ते स गुणसंक्रमः । तेन क्षपणकालेऽनन्तानुबन्धिमिथ्यात्वं सम्यग्मिथ्यात्वानामप्यपूर्वकरणादारभ्य गुणसंक्रमः प्रवर्त्तते । तदेवमुक्तं गुणसंक्रमस्य लक्षणम् । क० प्र०।

गुणसंपन्न त्रि०(गुणसम्पन्न) गुणसहिते, उत्त०२८ अ०।

गुणसंपिद्ध त्रि०(गुणसंपिनद्ध) गुणपरिवृते, प्रश्न०४ संब० द्वार।

गुणसमिद्ध त्रि०(गुणसमृद्ध) ज्ञानादिगुणर्द्धिमत्याचार्य्यादौ, पञ्चा०२ विव०।

गुणसमिय त्रि०(गुणसमित) गुणयुक्ते अप्रमत्तयतौ, आचा०१ श्रु०५ अ०४ उ०।

गुणसमुदाय पुं०(गुणसमुदाय) अनेकप्राणिस्थज्ञानादिगुणसमूहे, पञ्चा०८ विव०।

गुणसयकलिय त्रि०(गुणशतकलित) औदार्य्यस्थैर्य्याद्यनेकगुणोपेते, ग०१ अधि० आचा०।

गुणसयसहस्सकलिय त्रि०(गुणशतसहस्रकलित) अष्टादशशीलाङ्गसहस्रे अष्टादशशीलाङ्गसहस्रयुक्ते, ''गुणयसहस्सकलियं, गुणुत्तरं च सा अहिलसंताणं ।'' गुणाणं सयं गुणसयं,गुणसयाणं सहस्सा, छंदोभंगभया सकारस्स हस्सता । ते य अट्ठारससीलंगसहस्सा, तेहिं कलियं जुत्तं, संखियं वा, किं तं? चारित्तं,'' नि०चू०६ उ०।

गुणसयागर पुं०(गुणशताकर) गुणशतानामनेकेषां गुणनामाकरो निधानं गुणशताकरः । प्रभूतगुणालये संघोव्य०२ उ० बृ०।

गुणसागर पुं०(गुणसागर) गुणसमुद्रे,''गुरुणा गुणसागराणां मेहावी'' दश०९ अ०३ उ०। गजपुरनगरवासिरत्नसञ्चितश्रेष्ठिपुत्रे, स च नवपरिणता एव वधूर्विहाय धर्मध्यानं ध्यायन् केवलमवाप, पश्चत्ता अपि असेधिषुः । ध०२०। सागरचन्द्रशिष्ये सिद्धसेनदिवाकरकृतकल्याणमन्दिरस्तोत्रोपरि टीकाकारके मुनौ, जै, जै० इ०।

गुणसागरमुणी पुं०(गुणसागरमुनि) स्वनामख्याते मुनौ, यो हि पुरोहितपुत्रेण दत्तेन पृष्टः—तवैतस्य चैत्यागमने दोषा न वेति । ती०५४ कल्प०।

गुणसायर पुं०(गुणसागर) 'गुणसागर' शब्दार्थे, दश०९ अ०३ उ०।

गुणसिद्धि स्त्री०(गुणसिद्धि) शब्दस्य यौगिकार्थप्रदर्शने, दश०१ अ०।

गुणसिलय न०(गुणशिलक) राजगृहनगरचैत्ये, अन्त०७ वर्ग । ''ते णं काले णं ते णं समए णं रायगिहे णामं णयरे होत्था । वण्णओ-तस्स णं रायगिहस्स णयरस्स बहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसी भाए गुणसिलए णामं चुइए होत्था।''भ०१ श०१ उ०। नि०चू०। विशे०। आ०चू०।अनु०। उत्त०।

गुणसुंदार पुं०(गुणसुन्दर) सुहस्तिश्यामार्य्यान्तराले जाते दशपूर्विणि स्थविरे, कल्प०१ क्षण।

गुणसुट्ठियप्प त्रि०(गुणसुस्थितात्मन्) संग्रहोपग्रहादिषु सुष्ठु भावसारं स्थित आत्मा येषां ते तथा । सङ्ग्रहोपग्रहकुशलेषु, दश०९ अ०१ उ०।

गुणसेढि स्त्री०(गुणश्रेणि) उपरितनस्थितेर्विशुद्धिवशादपवर्तनाकरणेऽवतारितस्य दलिकस्यान्तर्मुहूर्तप्रमाणमुदयलक्षणादुपरि क्षिप्तस्तरक्षपणाय प्रतिक्षणमसंख्येयगुणवृद्ध्या विरचने, कर्म०२ कर्म०। दर्श०। पं०सं०। स्थापना-

अधुना श्रेणिगुणस्वरूपमाह-

गुणसेढीनिक्खेवो, समये समये असंखगुणणाए।
अद्धादुगाइरित्तो, सेसे सेसे य निक्खेवो ॥३३०॥

यत् स्थितिखण्डकं घातयन्ति तन्मध्यात् दलिकं गृहीत्वा उदयसमयादारभ्य प्रतिसमयसंख्येयगुणतया परिक्षिपति। तद्यथा उदयसमये स्तोकं, द्वितीयसमये असंख्येसगुणं, ततोऽपि तृतीयसमये ''असंखगुणणाए अद्धादुगाइरित्तो'' एवं तावद्वाच्यं-यावदन्तर्मुहूर्त्त चररमसमयं तच्चान्तर्मुहूर्त्त पूर्वकरणानिवृत्तिकरण-कालात् मनागपि रिक्तं वेदितव्यम्। अक्षरयोजना त्वियमगुणश्रेण्यां निक्षेपःसमये समये असंख्येयगुणतया पूर्वमपूर्वसमयापेक्षया उत्तरोत्तरसमये असंख्योयगुणतया पूर्वमपूर्वसमयापेक्षया उत्तरोत्तरसमये वृद्ध्यात्मकः । सोऽपि च निक्षेपोऽद्धाद्विकातिरिक्तःअपूर्वकरणानिवृत्तिकरण कालाभ्यामभ्यधिकः । एष प्रथमसमये गृहीतदलिकनिक्षेपविधिः। एवं द्वितीयादिसमयगृहीतानामपि दलिकानां निक्षेपविधिर्द्रष्टव्यः। अन्यच्च-गुणश्रेणिरचनाप्रथमसमयदलिकं य त्र गृह्यते तत् स्तोकं, द्वितीयसमये असंख्येयगुणं, ततोऽपि तृतीययमये असंख्येयगुणम्। एवं तावद्वाच्यं यावद् गुणश्रेणिदलिकनिक्षेपः, शेषे शेषे भवति; उपरि च न वर्द्धते ॥३३०॥

गुणसेण पुं०(गुणसेन) येनाग्निशर्माणमुपहसता नवमभवानुषङ्गि वैरं वर्द्धितमिति समरादित्यचचरित्रादवसेयम् । प्राक्तनीये नवमभवे समरादित्यजीवे, आचा०१ श्रु०३ अ०२ उ०। गुणालयनगरस्यस्थसागरदत्तश्रेष्ठिनो द्वितीयपुत्रे, पिं०।

गुणसेलक न०(गुणशैलक) राजगृहसत्कचैत्ये, आ०क०।

गुणसेहर पुं०(गुणशेखर) सागरदत्तश्रेष्ठिपुत्रे, पिं० । चन्द्रसूरिशिष्ये सोमतिलकदेवेन्द्रसूरिणोर्गुरौ, अयमाचार्यः विक्रमसुवत् १४२० वर्षे विद्यमान आसीत्। जै०इ०।

गुणसौभग्गगणि पुं०(गुणासौभाग्यगणिन्) स्वनामख्याते गणिनि, यतः प्राप्ततन्दुलवैचारिकज्ञानशिधनमालाख्येन तन्दुलवैचारिकप्रकीर्णकावचूरिः सम्पमर्णा। तं०।

गुणागर पुं०(गुणाकर) गुणसमुद्रे, स्वनामख्याते आचार्ये, अयमाचार्यः विक्रमसंवत्११९० मित आसीत् येन नेमिचन्द्रसूरिकृ-

ता-ऽऽख्याननमणिकोशोपरि टीकाकरणे आम्रदेवसूरिणे साहाय्यं दत्तम् । द्वितीयोऽप्येतन्नामा विक्रमसंवत् १२९६ मित विद्यमान आसीत् । जै०इ०।

गुणाणुराइत्तण न०(गुणानुरागित्व) गुणवत्प्रीतौ, ''गुणाणुरागित्तणं धरसु'' जी०६ अधि०।

गुणानुराग पुं०(गुणानुराग) गुणविषयकरागे भावश्रावकलिङ्गे, ध०२०।

षष्ठं गुणानुरागमाह-

जयइ गुणेसु रागो, सुद्धचरित्तस्स नियमओ पवरो ।
परिहरइ तओ दोसे, गुणगणमालिन्नसंजणए ॥१२०॥

जायते संपद्यते गुणेषु-

''वय समण णम्म संजम, वेयावच्चं च बंभ गुत्तीओ ।
नाणाइतियं तव को-हनिग्गहाई य चरणमेयं ॥१॥
पिंडविसोही समिई, भाण पडिमा उ इंदियनिरोहो ।
पडिलेहण गुत्तीओ, अभिग्गहा चेव करणं तु''॥२॥

इत्यागमप्ररूपितेषु मूलगुणोत्तरगुणसंज्ञितेषु रागः प्रतिबन्धः शुद्धचारितगस्य निष्कलङ्कसंयमस्य नियमतोऽवश्यंभावेन प्रवरः प्रधानो, न मिथ्या इति भावः । परिहरति वर्जयति, ततस्ततस्माद्गुणानुरागाद्दोषान् दुष्टव्यापारान्, किंविवशिष्टान् ? गुणगणमालिन्य संजनकान् ज्ञानादीनामशुद्धिहेतून् भावसाधुरिति ॥१२०॥

गुणानुरागस्यैव लिङ्गमाह-

गुणलेसं पि पसंसइ, गुरुगुणबुद्धीइ परगयं एसो ।
दोसलवेण वि नियय, गुणनिवहं निग्गुणं गणइ ॥१२१॥

गुणलेशमपि, आस्तां महीयांस गुणमित्यपरेर्थः प्रशंसति श्लाघते परगतमन्यसत्कमेष भावसाधुः उत्तमप्रकृतित्वान्महतोऽपि दोषानुत्सृज्य स्वल्पमपि परगतं गुणं पश्यति । कुथितकृष्णसारमेयशरीरे सितदन्तपंक्ति पुरुषोत्तमवत् ।(गुणाऽनुरागविषये पुरुषोत्तम चरित्रम् 'पुरिसोत्तम' शब्दे उदाहरिष्यते) तथा-दोषलवेनाप्यल्पप्रमादस्खलितेनापि निजकमात्मीयं गुणनिवहं गुणकलापं निर्गुणमसारं गणयति कल्पयति-धिग्मां प्रमादशीलमिति भावनया प्रकृतो भावयति, कर्णस्थापितविस्मृतशुण्ठीखण्ड पश्चिमदशपूर्वधरश्रीवज्रस्वामिवदिति । (श्रीवज्रस्वामिचरित्रं सुप्रतितत्वात् नेह प्रतन्यते) ध०२०।

गुणानुरागस्यैव लिङ्गान्तरमाह-

पालइ संपत्तगुणं, गुणङ्गसंगे पमोयमुव्वहइ ।
उज्जमइ भावसारं, गुरुतरगुणरयणलाभत्थी ॥१५२॥

पालयति रक्षति वर्द्धयति च जननीय प्रियपुत्रं संप्राप्तं सम्यक्कर्मक्षयोपशमोपलब्धं गुणं ज्ञानदर्शनचारित्रादिरूपं, तथा गुणैराढ्यानां सङ्गे मीलके, चिरप्रोषितस्निग्धबन्धुसंप्रयोग इव प्रमोदमानन्दमुत्प्रावल्येन वहति प्राप्नोति । तद्यथा-

''असतां सङ्गपङ्केन, यन्मनो मलिनीकृतम् ।
तन्मेऽद्य निर्मलीभूतं, साधुसंबन्धवारिणा ॥१॥
पूर्वपुण्यतरोरद्य,फलं प्राप्तं मयाऽनाघम ।
सङ्गेनासङ्गचित्तानां, साधूनां गुणधरिणाम् ''॥२॥

तथा गुणानुरागादेवोद्यच्छति प्रयतते भावसारं सद्भावसुन्दरं यथा भवति ध्यानाध्ययनतपः प्रभृतिकृत्येष्विति गम्यते । किमिति ? अत आह-गुरुतराणि क्षायिकभावभावित्वाद् यानि गुणरत्नानि क्षायिकज्ञानदर्शनचारित्राणि, तेषां यो लाभस्तदर्थी तदभिलाषवान् । तथाहि-भवत्येवोद्यमवतामपूर्वकरण-क्षपकश्रेणिकमेण केवलज्ञानादिसंप्राप्तिः-सुप्रतीतमेतदिति ॥१२२॥

गुणानुरागस्यैव प्रकारान्तरेण लक्षणमाह -

सयणु त्ति व सीस त्ति व, उवगारि त्ति व गणिव्वउ व्व त्ति ।
पडिवंधस्स न हेऊ, नियमा एयस्स गुणहीणो ॥१२३॥

स्वकीयो जनः स्वजनः, इति शब्दस्तद्भेदसूचकेा, वाशब्दः समुच्चये, ह्रस्वत्वं तु प्राकृतशैल्या । शिष्यो विनेयः, 'इति-वा' शब्दौ पूर्ववत् । उपकारी भक्तपानदानादिना पूर्वमुपकृतवान्,'इतिवा'शब्दौ प्राग्वत् । (गणिव्वउ व्व त्ति) एकगच्छवासी, 'इतिवा' शब्दौ पूर्व्ववदेव, एतेषामेकैकेऽपि प्रायः प्रतिबन्धकारणं भवत्येतस्य पुनर्गुणानुरागिणो नियमान्निश्चयेन, न नैव, हेतुर्निमित्तमेकोऽपि भवत्येतेषाम् । किंविशिष्टः सन्निति ? आह-गुणहीनो निर्गुणः । ''सीसो सन्निलओ वा, गणिव्वओ वा न सोग्गइं नेइ । जे तत्थ नाणदंसण-चरणा ते सोग्गइं जाओ''॥१॥ (इति कृत्वा)

अथ चारित्रिणां तेषां स्वजनादीनां किंविधेयमिति आह-

करुणावसेण नवरं, अणुसासइ तं पि सुद्धमग्गम्मि ।
अच्चंतातोग्गं पुण, अरत्तदुट्ठो उवेहेइ ॥१२४॥

करुणा परदुःखनिवारणबुद्धिः । उक्तं च ''परहितचिन्ता मैत्री, परदुःखनिनवारिणी तथा करुणा ॥ परसुखतुष्टिर्मुदिता, परदोषोपेक्षणमुपेक्षा''॥१॥ तद्वशेन तद्रसिकतया, नवरं केवलं, रागदोषपरिहारेणानुशास्ति शिक्षयति, तमपि स्वजनादिकम्, अपिशब्दत्यत्तदितरमपि, क्रेति ? आह-शुद्धमार्गे यथावस्थितमोक्षाध्यविषये । तद्यथा-

किं नारकतिर्यङ्नर-विबुधगतिविचित्रयोनिभेदेषु ॥
वत संसरन्न सततं, निर्विण्णो दुःखानरयेषु ॥१॥
येन प्रमादमुद्धत माश्रित्य महाधिहेतुमस्खलितम् ।
संत्यज्य धर्मचित्तं, रतस्त्वमार्येतराचरणे ?॥२॥
यत्न प्रयान्ति जीवाः, स्वर्गं यच्च प्रयान्ति विनिपातम् ।
तत्र निमित्तमनार्यः, प्रमाद इति निश्चितमिदं मे ॥३॥

किञ्च-

केवलं रिपुरनादिमानयं, सर्वदैव सहचारितमितिः ।
यः पमाद इति विश्रुतः परामस्य वित्तशठतामकुण्ठिताम् ॥४॥
यत्करोति विकथाः प्रथावती-र्यत् खलेषु विषयेषु दृष्यति ।
सुप्तमत्त इव यद्विचेष्टते, यन्न वेत्ति गुणदोषयोर्भिदाम् ॥५॥
कुध्यति स्वहितदेशनेऽपि यत्, यच्च सीदति हितं विदन्नपि ।
लोक एष निखिलं दुरात्मन-स्तत्प्रमादकुरिपोर्विजृम्भितम् ॥६॥
इत्यवेत्य परिपोष्य पौरुषं, दुर्जयोऽपि रिपुरेष जीयताम् ।
यत्सुखाय न भवन्त्युपेक्षिताः,व्याधयश्च रिपवश्च जातुचित्''॥७॥

इत्यादिविविधिवाचोयुक्तिभिरुत्पादितसंवेगं तं शुद्धधर्मे प्रवर्तयति । प्राज्ञापनीयश्चेदसौ स्यात्, अत्यन्तायोग्यं बाढमप्रज्ञापनीयम्, पुनस्तमरक्तद्विष्टो रागद्वेषरहित उपेक्षते अवधीरयति ''उपेक्षा निर्गुणेष्विति'' वाक्यमनुसृत्येति गाथार्थः॥ ।१२४।

गुणनुरागस्यैव फलमाह-

उत्तमगुणाणुराया, कालाईदोसओ अपत्ता वि ।
गुणसंपया परत्थ वि, न दुल्लहा होइ भव्वाणं ॥१२५॥

उत्तमाउत्कृष्टा गुणा ज्ञानादयः, तेष्वनुरागः प्रीतिप्रकर्षः, तस्मा-

द्धेतोः कालो दुःषमारूपः, आदिशब्दात् संहननादिपरिग्रहः, त एव दोषा दूषणानि, विघ्नकारित्वात्, ततोऽप्राप्यास्तां तावत्प्राप्तेत्यपेरर्थः । गुणसंपत्परिपूर्णधर्मसामग्री, वर्तमानजन्मनीति गत्यते। परत्र भाविभवो, अपिः संभावने, संभवति एतन्नैव दुर्लभा दुरापा भवति, भव्यानां मुक्तिगमनमनयोग्यानामिति। उक्तं गुणानुरागरूपं षष्ठं भावसाधोर्लिङ्गम्। ध०२०।

गुणसाय पुं०(गुणास्वाद) गुणेष्वास्वादो येषां ते गुणास्वादाः। विषयास्वादलोलुपेषु, आचा,१ श्रु०५ अ०३ उ०।

गुणाहिय त्रि०(गुणाऽधिका) गुणैः स्वस्मिन् स्थितैर्विनया-ज्ञानादिभिरधिके, ''गुणहिए वंदणए, छउमत्थगुणा गुणे अयाणत्तो'' उत्त०३२ अ०।

गुणि (ण) त्रि०(गुणिन्) गुणवति, द्वा०१२ द्वा०। ''शूरे त्यागिनि विदुषि च, वसति जनः स च जनाद्गुणी भवति॥ गुणवति धनं धनाच्छ्रीः, श्रीमत्या जायते राज्यम्''॥१॥ आ०म०द्वि० आ०चू०।

गुणिय न०(गुणित) बहुशः परावर्तिते, व्य०३ उ०।

गुणुत्तर न०(गुणोत्तर) गुणश्चासावुत्तरं च गुणोत्तरम् अथवाऽन्येपि गुणाः शान्तिक्षमाद्यः, तेषामुत्तरं गुणोत्तरम्। सरागचारित्र, नि०चू००१६ उ०।

गुणुप्पायण न०(गुणोत्पादन) रसविशेषोत्पादने, भ०७ शत्र१ उ०।

गुणोववेय त्रि०(गुणोपपेत) गुणा रम्यतादयः, तैरुपपेतं युक्तं यत्। औ०। रम्यतादिगुणोपपेत, रा०। विपा०। प्रशस्तत्वेनोपपते, दक्षत्वप्रियंवदत्वादिभिरुपपेते च। रा०।

गुण्ठ-उद्-धूल धा०। रक्षादिना वेष्टनप्रकारे, **''उद्धूलेर्गुण्ठः''।८।४।२६।** उद्धूलेर्ण्यन्तस्य गुण्ठ इत्यादेशः। 'गुण्ठइ' पक्षे-'उद्धूलइ' उद्धूलयति। प्रा०४ पाद।

गुत्त त्रि०(गुप्त) **''कगटमतदपयशयसा।८।२।७७।** इति पलुक्। प्रा०२ पाद। मनोवाक्कायकर्म्मभिः-(आचा०१ श्रु०३ अ३ उ०) असंयमस्थानेभ्यो रक्षिते, उत्त०१५ अ०। सूत्र०। गुप्तित्रयेण स्थिते, उत्त०१५ अ०। ध०। गुप्तयोऽनवद्यप्रतीचाररूपाः। प्रश्न०५ सम्ब०द्वार। वृत्तिकरणादिभिः (कल्प०६ क्षण) गुप्ता बहिः प्राकारावृताः। ज्ञा०१ श्रु०१३ अ०। प्रज्ञा०। पराऽप्रवश्ये, जी०३ प्रति०। स्वमिभेदकारिणि, रा०।

गुत्तकुमार पुं०(गुप्तकुमार) गौतम गोत्रकालकानन्तरजाते गौतमगोत्रीये स्थविरे, कल्प ८ क्षण।

गुत्तदुवार त्रि०(गुप्तद्वार) कपाटद्वयोपेतद्वारेषु, बृ,१ उ०। भ०।केषाञ्चिद् द्वाराणां स्थगितत्वात् (रा०) अन्तर्गुप्ते, ज्ञा०१ श्रु०१३ अ० स्था०।

गुत्तपाण (देशी) पितृभ्यो जलालञ्जलिदाने, दे०ना०२ वर्ग।

गुत्तपालिय पुं०(गुप्तपालिक) गुप्ता प्रावेश्या पालिः सेतुर्येषां ते गुप्तपालिकाः। जी०३ प्रति। पुराप्रवेश्यबन्धावृते, रा०।

गुत्तबंभयारि (ण्) पुं०स्त्री० (गुप्तब्रह्मचारिन्) गुप्तं नवभिर्ब्रह्मचर्य्यगुप्तिभी रक्षितं, ब्रह्म मैथुनविरमणं चरतीति विग्रहः। स्था० ठा०। गुप्तं सत्याऽऽदिनवगुप्तिविराजितम् एवं विधं ब्रह्मचर्य्यं चरतीति। कल्प०६ क्षण। ज्ञा०। ब्रह्मगुप्तियुक्ते ब्रह्मचरणशीले, भ०२ श०१ उ०।

गुत्तसूरि पुं०(गुप्तसूरि)त्रैराशिकनिह्नवमतप्रवर्त्तकरोहगुप्तगुरौ आचार्य्ये, आ०क०।

गुत्तायरिय पुं०(गुप्ताचार्य्य) श्रीगुप्तसूरौ, यच्छिष्येण रोहगुप्तेन त्रैराशिकदृष्टिः समुत्पादिता। कल्प०८ क्षण।

गुत्ति स्त्री०(गुप्ति) गोपनं गुप्तिः, स्त्रियां क्तिप्रत्ययः। आगन्तुककचवरनिरोधे, आ०म०प्र०। संवरे, विशे०। आत्मसंरक्षणे मुमुक्षोरशुभयोगनिग्रहे, ध०३ अधि०। ज्ञा०। कल्प०। उत्त०। संथा०। रा०।

त्रिस्तो गुप्तयः—

तओ गुत्तीओ पण्णत्ताओ। तं जहा मणगुत्ती वयगुत्ती कायगुत्ती। संजयमणुस्साणं तओ गुत्तीओ पण्णत्ताओ। तं जहा-मण-वय-काए।

गोपनं गुप्तिर्मनःप्रभृतीनां कुशलानां प्रवर्त्तनमकुशलानां च निवर्त्तनमिति। आह च-''मणगुत्तिकाइयाओ, गुत्तीओ तिन्नि समयकेओहिं, पवियारेयररूवा, निहिट्ठाओ जओ भणियं'' ॥१॥ स्था०३ ठा०१ उ०। तिस्रो गुप्तयः प्रतीचाराप्रतीचाररूपाः। व्य०१ उ०। नि०चू०। ''समिओ नियमा गुत्तो, गुत्तो समइत्तणम्मि भइयव्वो। कुसलवयमुईरंतो, संवयगुत्तो विसमिओ वित्ति''॥२॥ एताश्चतुर्विंशतिदण्डके चिन्त्यमाना मनुष्याणामेव, तत्रापि संयतानां, न तु नारकादीनामित्यत आह-''संजयमणुस्साणं'' इत्यादि कर्त्तव्यम्। उक्ता गुप्तयः। स्था०३ ठा०१ उ०। स०। आ०म०। प्रव०।ओघ०। सूत्र०।आव०। (मनोगुप्तयादिषूदाहरणानि स्वस्वस्थाने) संलीनतायाम्, पा०। ''गुत्तिहिओ पडायं रुंभइ'' यदा किल गुप्तिषु मनोगुप्त्यादिषु स्थितो भवति तदा यो गुप्तिप्रत्ययः प्रमादस्तं निरुणद्धि, तन्निरोधाच्च तत्प्रत्ययं कर्म्मापि न बध्नाति। बृ०३ उ०। गुप्तिप्रमादे मिथ्याचारप्रतिक्रमणम्। जीत०। ध०। त्रयश्चत्वारिंशगौणाहिंसायाम्, प्रश्न०१ संव० द्वार। आत्यन्तिक्यां रक्षायाम्, बृ०१ उ०। ज्ञा०। रक्षाप्राकारे, स्था०६ ठा०।

गुत्तिंदिय त्रि०(गुप्तेन्द्रिय) नवब्रह्मचर्य्यगुप्तयुपूतब्रह्मचारिणि, सूत्र०२ श्रु०२ अ०। स्वविषयेषु रामादिनेन्द्रियाणामप्रवृत्ते, स्था०६ ठा०। उत्त०।

गुत्तिकर (गुप्तिकर) गुप्तिकरणशीलो गुप्तिकरः। ''हेतुतच्छीलानुकूलेऽशब्दश्लोककलहगाथावैरचाटुसूत्रमन्त्रपदात्'' ॥५। १।१०३॥ इति (हैम०) टप्रत्ययः। गुप्तिकारके, आ०म०प्र०। संयमोऽप्यपूर्वकर्म्मकचवरागमननिरोधेनोपकुरुते, तत्स्वभावत्वात् गृहशोधने पवनप्रेरितकवचवरागमननिरोधाय वातायनादिस्थगनवत्। आ०म०प्र०॥ रक्षाकारके, नि,चू,२ उ०।

गुत्तिगुत्त त्रि०(गुप्तिगुप्त) ब्रह्मचर्य्यगुप्तियुक्ते, गुप्तिभिर्मनोगुप्त्यादिभिर्वसवत्यादिभिर्वा नवभिर्ब्रह्मचर्य्यगुप्तिभिर्युक्तं वा यत्तथा। प्रश्न०४ संव०द्वार।

गुत्तिभेय त्रि०(गुप्तिभेद) गुप्तेर्वचनगुप्तेर्भेदो भङ्गो यस्मात्तद् गुप्तिभेदम्। आर्यानात्रकोद्घाटके वचने, ग०३ अधि०।

गुत्तिसंरक्खणहेउ पुं०(गुप्तिसंरक्षणहेतु) गोपनीयद्रव्यसंरक्षणहेतौ, भ०१४ श०२ उ०।

गुत्तिसेण पुं०(गुप्तिसेन) अस्यामवसर्पिण्यां भरतक्षेत्रे जाते षोडशे जिने, स०४ सम०।

गुत्ती (देशी) बन्धने, इच्छयाम्, वचने, लतायाम्, शिरोमाल्येच। दे०ना०२वर्ग।

गुत्थंड (देशी) भासपक्षिणि, दे० ना०२ वर्ग।

गुंदा (देशी)श्मश्रुणि, दे० ना०२ वर्ग।

गुन पुं०(गुण) **णो नः।८।४।३०६।** पैशाच्यां णकारस्य नो भवति। उपकारे, ''गुनगनयुक्तो''। 'गुनेन'। प्रा०४ पाद।

गुप्प त्रि०(गोप्य) रहसि, एकान्ते, स्था०४ ठा० १ उ०।

गुप्पंत त्रि०(गुप्यत्) ''गुप्येर्विर-णर्मो''।८।४।१५०। इति विरणमादेशाऽभावे तथारूपम्। व्याकुलीभवति, प्रश्न०३ आश्र०द्वार।

गुप्पमाण त्रि०(गुप्यत्) व्याकुलीभवति, कल्प०३ क्षण।

गुप्पंतं (देशी)शयनीये, संमूढे, गोपिते च। दे०ना०२ वर्ग।

गुंपा (देशी) विन्दौ, अधामे, च। दे०ना०२ वर्ग।

गुप्फ पुं०(गुल्फ) **''द्वितीयतुर्य्ययोरुपरि पूर्वः''।८।२।९०।** इति फस्योपरि प्रथमः। प्रा०२ पाद। गुल्फके जी०३ प्रति०। औ०। जं०। पादग्रन्थौ, वाच०। गुल्फः गुटुः प्रपदः आप्रपदः खुरकः निस्तोदः पादशीर्षश्चेति पर्यायाः। है०।

गुंफ (देशी)गुम्फौ,। दे०ना०२ वर्ग।

गुंफी (देशी)शतपद्याम्,। दे०ना०२ वर्ग।

गुम धा०(भ्रम) धा०चलने, **''भ्रमेष्टिरिटिल्ल-ढुण्ढुल्ल-ढण्ढल्ल-चक्क-म्म-भम्मड-भगड-भमाड-तल अगट-झण्ट-झम्प-भुम-गुम-फुम-फुस-ढुम-ढुस-परी-पराः''।८।४।१६१।** इति भ्रमेर्गुमाऽऽदेशः। 'गुमइ'। प्रा०४ पाद।

गुमइ(देशी)भ्रमति, दे०ना०२ वर्ग।

गुमगुमंत त्रि०(गुमगुमायमान) शब्दविशेषं कुर्वाणे, औ०। जं०।

गुमगुमाइय त्रि०(गुमगुमायित) गुमगुमायन्ति स्म, अकर्म्मकत्वात्कर्त्तरि क्तप्रत्ययः। गुमगुमेतिशब्दं कृतवति, ''महुकरिभ्रमरगणगुणगुमगुमाइयं''। रा०। औ०। मधुरं शब्दं कुर्वति, कल्प०३ क्षण।

गुम्म पुं०न०(गुल्भ) ह्रस्वस्कन्धबहुकाण्डपत्रपुष्पफलोपेते, जी०३ प्रति। लतासमूहे, विशे०। वनस्पतिभेदे, जी००३ प्रति। गुल्मानि तु नवमालिकावासन्तिकासेरयककोरियकक्कोरिटङ्कबन्धुजीवकवारणकरवीरसिन्दुवारविचकिलजातियूथिकादयः। आचा०१ श्रु०१ अ०५ उ०। ज्ञा०। औ०। प्रज्ञा०। भ०। जं०। रा०। जी०।

एतदेव सूत्रकृदाह-

से किं तं गुम्मा? गुम्मा अणेगविहा पण्णत्ता। तं जहा-

''सेरियए णोमालिय, कोरंटय वंधुजीवग मणोज्जे।

वीयय वाण कणवीर, कुज्जय तह सिंधुवारे य॥१॥

जाई मोग्गर तह जू-हिया य तह मल्लिया य वासंती।

वत्थुल कत्थुल सेवा-लऽगत्थ मगदंतिया चेव॥२॥

चपंग जाई णवणी-इया य कुंदे तहा महाकुंदे।

एवमणेगागारा, हवन्ति गुम्मा मुणेयव्वा''॥३॥

सेत्तं गुम्मा प्रज्ञा १ पद॥

सेरिकागुल्माः नवमालिकागुल्माः कोरण्टगुल्माः बन्धुजीवकगुल्माः मनोवद्यगुल्माः बीजकगुल्माः बाणगुल्माः कणवीरगुल्माः कुब्जकगुल्माः सिन्दुवारगुल्माः जातिगुल्माः मुद्गरगुल्माः यूथिकागुल्माः मल्लिकागुल्माः वासन्तिकगुल्माः वस्तुलगुल्माः कस्तुलगुल्माः सेवालगुल्माः, आगस्त्यगुल्माः मृगदन्तिकागुल्माः चम्पकगुल्माः जातिगुल्मा नवनीतिकागुल्माः कुन्दुगुल्माः महाकुन्दगुल्माः। सैरिकादयो लोकतः प्रत्येतव्याः। गुल्मा नाम ह्रस्वस्कन्धबहुकाण्डपत्रपुष्पफलोपेताः, ततः सर्वत्र विशेषणसमासः। जी०३ प्रति०। वृन्दे, सूत्र०२ श्रु०२ अ०।

गुम्मड धा०(मुह) **''मुहेर्गुम्म-गुम्मडौ''।८।४।२०७।** मुहेरेतावादेशौ वा भवतः। 'गुम्मऽइ'। 'गुम्मडइ'। मुज्झइ' मुह्यति। प्रा०४ पाद। दे०ना०२ वर्ग।

गुम्मागुम्मि अव्य०(गुल्मागुल्मि) गुल्मं बृन्दमात्रम्, गुल्मेन च गुल्मेन च भूत्वेत्यर्थे, औ०। ''गुम्मागुम्मिं कुड्डाकुड्डिं अप्पेगईया वाएंति''। गुल्मं गच्छैकदेशः। औ०।

गुम्मिअ (देशी) मूलोत्सन्ने, दे, ना०२वर्ग।

गुम्मिय पुं०(गौल्मिक)गुल्मेन समुदायेन संचरन्तीति गौल्मिकाः। आरक्षिकाणामप्युपरि स्थायिनि, व्य०१ ए०। गौल्मिका नाम ये राज्ञः पुरुषस्थानकं वद्धवा पन्थानं रक्षयन्ति। बृ,१ उ०।

गुल्मित त्रि०। घूर्णिते, बृ०१ उ०।

गुम्मी स्त्री०(गुल्मी) त्रीन्द्रियजीवभेदे, उत्त०३६ अ०। इच्छायाम्, दे०ना०२ वर्ग।

गुय्ह न०(गुह्य) **''हो ह्योः''।८।२।१२४।** हकारयकारयोर्विपर्ययः। गोप्ये, प्रा०२ पाद।

गुरु पुं०(गुरु) गृणाति यथावस्थितं शास्त्रार्थमिति गुरुः। धर्मोपदेशादिदातरि, आ०म०प्र०। सम्यग्ज्ञानक्रियायुक्ते सम्यग्धर्मशास्त्रार्थदेशके, यदाह-''धर्मज्ञो धर्मकर्ता च, सदा धर्मपरायणः। सत्त्वेभ्यो धर्मशास्त्रार्थदेशको गुरुरुच्यते''॥१॥ ध०२ अधि०। अष्ट०। पञ्चा०। गौरवार्हे, उत्त०१ अ०। धर्माचार्ये, पञ्चा०१ विव०। उत्त०१ प्रव०। नि०चू०। सम्यग्गुरुचरणपर्युपासनाऽविकलतया यथावस्थिततत्त्ववेदितरि, पिं०। ''गुर्वायत्ता यस्मात्, शास्त्रारम्भा भवन्ति सर्वेऽपि। तस्माद्गुर्वाराधनपरेण हितकाङ्क्षिणा भाव्यम्''॥१॥ आ०म०प्र०। अनु०। ध०२०। ''माणुस्सं उत्तमो धम्मो, गुरुनाणाइसंजुओ''। ध०२०।

गुरुगुणयुक्त एव गुरुः-

गुरुगुणरहिओ वि इहं, दट्ठव्वो मूलगुणविउत्तो जो।

ण उ गुणमेत्तविहीणो, त्ति चंडरुद्दो उदाहरणं॥३५॥

गुरुगुणरहितोऽपि, अपिशब्दोऽत्र पुनःशब्दार्थः। ततश्च गुरुगुणरहितो गुरुर्न भवति। गुरुगुणरहितः पुनः, इह गुरुकु-

लवासप्रक्रमे स एव द्रष्टव्यो ज्ञातव्यः, मूलगुणवियुक्तो महाव्रतरहितः, सम्यग्ज्ञाक्रियाविरहितो वा। यो न तु न पुनर्गुणमात्रविहीनो मूलगुणव्यतिरिक्तप्रतिरूपतादिविशिष्टोपशमादि गुणविकलः। इति हेतोः गरुगणरहितो द्रष्टव्य इति प्रक्रमः। उपप्रदर्शार्थो वा इतिशब्दः। उक्तं चेहार्थे-''कालपरिहाणिदोसा, एत्तो इक्काइगुणविहीणेण। अण्णेण वि पव्वज्जा, दायव्वासीलवंतेण'' ॥१॥ अत्रार्थे किं ज्ञापकमिति ?, आह-चण्डरुद्रश्चण्डरुद्राभिधानाचार्य उदाहरणं ज्ञापकम्। तत्प्रयोगश्चैवमगुणमात्रविहीनोऽपि गुरुरेव, मूलगुणयुक्तत्वात् चण्डरुद्राचार्यवत्। तथाह्यसौ प्रकृतिरोषणोऽपि बहूनां संविग्नगीतार्थशिष्याणाममोचनीयः विशिष्टबहुमानविषयश्चाभूत्। तत् कथानकं चैवम् -

चण्डरुद्राभिधानोऽभू-दाचार्योऽतिबहुश्रुतः।
ज्ञानादिपञ्चधाचार-रत्नरत्नाकरोपमः ॥१॥
असमाचारसंलोक-संज्वलत्कोपवाडवः।
संक्लेशपरिहाराय, गच्छपार्श्वे स्म तिष्ठति ॥२॥
विहरंश्च समायातः, उज्जयिन्यां कदाऽप्सौ।
विविक्तोद्यानदेशे च, तस्थौ गच्छस्य सन्निधौ ॥३॥
अथा श्रीमत्सुतः कोऽपि, सुरूपो नवयौवनः।
प्रधानवस्त्रमाल्यादि-भूषितो मित्रवेष्टितः ॥४॥
विवाहानन्तरं क्रीडन्नागतः साधुसन्निधौ।
तन्मित्रैः केलिना प्रोक्ता-स्तं पुरस्कृत्य साधवः ॥५॥
अस्मत्सखडमुं यूयं, हे भदन्ताः ! विरागिणम्।
निर्विण्णं भवकान्तारात्, प्रव्राजयत सत्वरम् ॥६॥
साधवस्तु तकान् ज्ञात्वा, चसूरीकरणोद्यतान्।
औषधं सूरिरेवैषा मित्यालोच्य बभाषिरे ॥७॥
भा भद्राः ! गुरवोऽस्माकं, कुर्वते कार्यमीदृशम्।
वयं तु नो ततो यात, गुरूणामन्तिकं लघु ॥८॥
केलिनैव ततो गत्वा, गुरुमूचुस्तथैव ते।
सूरिणा भणितं तर्हि, भस्माऽऽनयत सत्वरम् ॥९॥
येनास्य लुञ्चनं कुर्मो, वयस्यैस्तु ततो लघु।
तदानीतं ततः सूरिः, पञ्चमङ्गलपूर्वकम् ॥१०॥
लुञ्चनं कर्तुमारेभे, तद्वयस्यास्तु लज्जिताः।
चिन्तितं चेभ्यपुत्रेण , कथं यास्याम्यहं गृहे ?॥११॥
स्वयमाश्रितसाधुत्वः, स लुञ्चितशिरोमुखः।
ततो विसृज्य मित्राणि, गुरुमेवमुवाच सः ॥१२॥
भदन्त ! परिहासोऽपि, सद्भावोऽजनि मेऽधुना।
रङ्केत्वेनापि तुष्टस्य, सौराज्यं मे समागतम् ॥१३॥
ततः स्वजनराजाद्याः, यावन्नायन्ति मत्कृते।
तावदन्यत्र गच्छामो, नोचेद्बाधा भविष्यति ॥१४॥
गुरुर्बभाषे यद्येवं, ततो मार्गं निरूपय।
तथैव कृतवानेष, वृत्तौ गन्तुं तस्तकौ ॥१५॥
आचार्यः पृष्ठतो याति, पुरतो याति शिष्यकः।
रात्रौ वृद्धत्वतोऽपश्यन्, मार्गे प्रस्खलितो गुरुः ॥१६॥
रे दुष्ट ! शैक्ष ! कीदृशो, मार्गः संवीक्षितस्त्वया।
इति ब्रुवाणो दण्डून, शीर्षे तं हतवान् क्रुधा ॥१७॥
एवं स चण्डरोषत्वा-च्चलितः स्स्वलितः पथि।
शिरस्यास्फाटयन् याति, तं शिष्यं द्रमिणां वरम् ॥१८॥
शिष्यस्तु भावयामास, मन्दाभाग्योऽस्म्यहं यतः।
महाभागो महात्माऽयं, महाकष्टेनियोजितः ॥१९॥
भगवानेष सौख्येन, स्वगच्छे निवसन्मया।
अहो दशां महाकष्टां, प्रापितः पापिना मुधा ॥२०॥
एवं भावयतस्तस्य, प्रशस्तध्यानवह्निना।
दग्धकर्मेन्धत्वेन, केवलज्ञानमुद्गतम् ॥२१॥
ततस्तं तद्वलेनाऽसौ, सम्यङ् नेतुं प्रवृत्तवान्।
प्रभाते च स तं दृष्ट्वा, क्षरल्लोहितमस्तकम् ॥२२॥
आत्मानं निन्दति स्मैव-मधन्योऽहमपुण्यवान्।
यस्य मे सति रोषाग्नि-शममेघे बहुश्रूते ॥२३॥
परोपदेशक्षत्वे, बहुकाले च संयमे।
न जातो गुरत्नानां, प्रधानः क्षान्तिसद्गुणः ॥२४॥
अयं तु शिष्यो धन्योऽत्र, गुणवानेष सत्तमः।
यस्याद्य दीक्षितस्याऽपि, कोऽप्यपूर्वः क्षमागुणः ॥२५॥
एवं सद्भावनायोगात्, वीर्योल्लासादपूर्वतः।
आचार्यश्चण्डरुद्रोऽपि, संप्राप्तः केवलश्रियम् ॥२६॥
इति गाथार्थः॥३५॥

गुरुगुणरहिओ उ गुरु, न गुरु विहिचायमो उ तस्सिट्ठो।
अण्णत्थ संकमेणं, ण उ एगागित्तणेणं ति ॥२४॥

गुरुगुणाः सज्ज्ञानसदनुष्ठानविशेषाः, तै रहितो हीनो गुरुगुणरहितः। तुशब्दः पुनरर्थः। गुरुर्धर्माचार्यो, न गुरुर्न धर्माचार्यो भवति सुवर्णगुणविकलं सुवर्णमिव। ततश्च (विहिचायमो उ त्ति) इह मकारोऽलाक्षणिकः। ततश्च विधित्याग एवाऽऽगमिकन्यायेन परिहार एव। तस्य गुरोरिष्टोऽभिमतो जिनानाम्। स च न यथा कथञ्चिदत एवाह-अन्यत्र गुरुकुलान्तरे, संक्रमेण प्रवेशेन, न पुनरेकाकित्वेन एकाकिविहारितयेति। गुरुकुलान्तरसङ्क्रमण-विधिश्च-''संदिट्ठो संदिट्ठस्स चेव संपज्जइ उ एमाई -चउभंगो एत्थं पुण, पढमो भंगो हवइ सुद्धो'' ॥१॥ इत्यादिरागमप्रसिद्ध इति। सर्वथा गुरुहितेन न भाव्यमिति भावः। यदाह-''एसणमणेसणं वा, कह ते नाहिंति जिणवरमयं वा। कुरिणम्मि व पायालाा, जे मुक्का पव्वइयमेत्ता'' ॥१॥ इति शब्दः प्राग्वदिति गाथार्थः॥२४॥

ननु यदि गुरुकुल एव वस्तव्यं, तदा कथमुक्तं दशवैकालिके? यथा-''ण या लभेज्जा निउणं सहायं, गुणाहियं वा गुणओ समं वा। एक्को पि पावाइँ विवज्जयंतो, विहरिज्ज कामेसु असज्जमाणो ॥१०॥'' (दश०२ चू०) इत्येतदाशङ्क्याह-

जं पि य ण वा लभेज्जा, एक्को वीचादिभासियं सुत्ते।
एयं विसेसविसयं, णायव्वं बुद्धिमंतेहिं ॥२५॥

यदपि च यच्च न वा लभेतैकोऽपीत्यादि इत्येतत्पदद्वयं प्रागुक्तमेवोपलक्षणम्। भाषितमुक्तं, सूत्रे दशवैकालिकाख्ये, एतदिदं सूत्रम्, विशेषविषयं विशिष्टगुरुषगोचरं, न पुरुषमात्रविषयम्, ज्ञातव्यमव-सेयम्, बुद्धिमद्भिः प्रवचनगर्भार्थवेदिभिः, यतो ''व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिरिति'' गाथार्थः॥२५॥ पञ्चा०११ विव० पं०व०। ('अणुओग' शब्दे प्रथमभागे ३५५ पृष्ठे तदर्हो गुरुरुक्तः)

षड्विधे उपक्रमे गुरुचित्तोपक्रमः। अत्र परः प्राह-

को वक्खाणाऽवसरी, गुरुचित्तोवक्कमाहिगारोऽयं ?।
भण्णइ वक्खाणंगं, गुरुचित्तोवक्कमो पढमं ॥६३०॥

नन्वावश्यकस्यानुयोगो व्याख्यानमिह प्रक्रान्तं, ततस्तदवसरे

प्रस्तुते, कोऽयमप्रस्तुतेन गुरुचित्तोपक्रमेणाऽधिकार? अत्रोत्तरमाह– (भण्णईत्यादि) भण्यते ऽत्र प्रतिविधानम् -यद्याख्यानमिह प्रस्तुतं भवता गीयते, तदुरुचित्तायत्तमेव । ततश्च गुरुचित्तोपक्रमः प्रथममेव व्याख्यानस्याङ्गं करणम्, कारणमन्तरेण च कार्यस्याभावात्, तस्मिन् प्रकृते ततकारणस्याधिकाराभिधानं न किञ्चिदप्रस्तुतमिति ॥९३०॥

न केवलं गुरुचित्तोपक्रमः प्रथमं व्याख्यानाङ्गं, किन्तु यानि कानिचित्सामान्येन शास्त्राद्युपक्रमपुस्तकोपाश्रयाहारवस्त्रपात्रसहायादीनि क्ष्याख्यानाङ्गानि तानि सर्वाण्यपि गुरुचित्तायत्तानि नियमतो वर्त्तन्ते, तस्माद्यथा गुरुचित्तं सुप्रसन्नं भवति तथा कार्यमिति दर्शयन्नाह-

गुरुचित्तायत्ताइं, वक्खाणंगाइँ जेण सव्वाइं ।
तो जेण सुप्पसन्नं, होइ तयं तं तहा कज्जं ॥९३१॥

गतार्थैव, नवरं गुरुचित्तं च तदा सुप्रसुन्नं भवति यदा इङ्गिताकाराद्यभिज्ञः शिष्यस्तदुपक्रमानुकूल्येन प्रवर्त्तते। अतो न गुरुचित्तोपक्रमोऽत्राऽप्रस्तुत इति भावः ॥९३१॥

गुरुचित्तप्रसादनोपायनेवाह–

जो जेण पगारेणं, तुस्सइ करणविणयाणुवत्तीहिं ।
आराहणाएँ मग्गो, सो च्चिय अव्वाहओ तस्स ॥९३२॥
आगारिंगियकुसलं, जइ सेयं वायसं वए पुज्जा ।
तह वि सिं न विकूडे, विरहम्मि य कारणं पुच्छे ॥९३३॥
निवपुच्छियेण गुरुणा, भणिओ ग्गा कओमुही वहइ ।
संसाइयवं सीसो, जह तह सव्वत्थ कायव्वं ॥९३४॥

तिस्रोऽपिसुगमाः, नवरं प्रथमगाथायां 'करणेत्यादि' करणं गुर्वादिष्टस्य सम्पादनं, विनयोऽभिमुखगमनाऽऽसनप्रदानपर्युस्त्यञ्जलिबद्धाऽनुव्रजनादिलक्षणः, अनुवृत्तिस्त्विङ्गितादिना गुरुचित्तं विज्ञाय तदाऽऽनुकूल्ये प्रवृत्तिः, ताभिः । द्वितीयगाथायामा-कारेङ्गितकुशलं शिष्यं प्रति यदि श्वेतं वायसं पूज्या गुरवो वदेयुस्तथापि (सिंति) तेषां संबन्धि वचो न विकुट्टयेन्न प्रतिहन्यात् । विरहे च तद्विषयं कारणं पृच्छेदिति । नृपपृष्टेन गुरुणा भणितो 'गङ्गा केन मुखेन बहति?' ततो तथा सर्वमपि गुरुभणितं शिष्यः संपादितवांस्तथा सर्वत्र सर्वप्रयोजनेषु कार्यम् । इति तृतीय गाथाक्षरार्थः। भावार्थस्तु कथानकादवसेयः। विशे०।(तच्च 'अइसेस' शब्दे प्रथमभागे १६ पृष्ठे गुरुवैयावृत्यप्रस्तावे उक्तम्)

तदेवं गुरुभावोपक्रमे युक्ततया अत्र व्यवस्थापिते सति परः प्राह–

जुत्तं गुरुमयगहणं, को सेसोवक्कमोव आयोगत्थ ?
गुरुचित्तपसायत्थं, ते वि जहाजोगमाओज्जा ॥९३५॥

ननूक्तन्यायेन युक्तं तर्हि गुरुमत्तग्रहणं गुरुभावोपक्रमणं शेषाणां तु नामस्थापनाद्रव्याद्युपक्रमाणां क इहोपयोगः? येन तेऽप्युपन्यस्ताः? अत्रोत्तरमाह-ननु गुरुचित्तंप्रसादनार्थं तेऽपि शेषोपक्रमा यथायोगं यथाप्रस्तावमायोज्याः सप्रयोजनत्वेनाभ्यूह्या इति ॥९३५॥

तदेवं द्रव्याद्युपक्रमाणां गुरुचित्तप्रसादनोपयोगित्वमाह-

परिकम्मनासणाओ, देसे काले य जा जहा जोग्गा ।
ताओ दव्वाईणं, कज्जाऽऽहाराइकज्जेसु ॥९३६॥
उवहियजोग्गद्दव्वो, देसे काले परेण विणयेणं ।
चित्ततण्णू अणुकूलो, सीसो सम्मं सुयं लहइ ॥९३७॥

याः काश्चिद् देशे मरुमण्डलादौ, कलि ग्रीष्मादौ, येन केनचित् प्रकारेण, योग्या उचिताः पारकर्मनाशनाः परिकर्म्मविनाशा भवन्ति, ता द्रव्यक्षेत्रकालानां गुरोराहारादिकार्येषु शिष्येण तच्चित्तप्रसादनार्थं कर्त्तव्याः। तत्र द्रव्यस्य दधिक्षीरनीरादेर्गुडशुण्ठ्युशीरमुस्तादिक्षेपेण परिकर्म भावनीयम्, क्षेत्रस्योपाश्रयादेरुपलेपनादिना, कालस्य मुहूर्त्तादेः शिक्षकदीक्षादौ घटिकादिनेति । वनिाशेऽपि द्रव्यादीनां द्रव्यान्तरसंयोगादिना भावनीय इति । तत इत्थं गुरुचित्तं प्रसादयन् शिष्यः किमाप्नोति? इत्याह (उवहिएत्यादि) उपहितानि गुरोराहारादार्थं ढौकितानि कृतप रिकर्माणि योग्यासनपानवस्त्रपा-त्रौषधादीनि द्रव्याणि येन, असौ उपहितयोग्यद्रव्यः शिष्यः। शेषं सुगमम् ॥९३६॥९३७॥

समाधानान्तरमाह-

अहवोवक्कमसाम-ण्णओ मया पगयनिरुवओगा वि ।
अण्णत्थ सोवओगा, एवं चिय सव्वानिक्खेवो ॥९३८॥

यदि वा प्रकृते प्रस्तुते निरुपयोगाः प्रकृतिनिरुपयोगाः, एवं भूता अपि सन्तो नामस्थापनाद्रव्याद्युपक्रमाः उपक्रमसामान्यतोऽत्र मता उपन्यस्ताः । कुतः? इत्याह-अन्यत्र स्थानान्तरे सोपयोगा इतिकृत्वा, न केवलमत्रैवासौ न्यायः, किन्त्वन्यत्र शास्त्रे, अन्येषु वा शास्त्रेषु ये केचन बहुप्रकारा नामादिनिक्षेपास्तेषां सर्वेषामप्यपरसमाधानाऽभावे इदमेव समाधानं वाच्यमिति। तदेवं नामादिभेदैर्दर्शितमुपक्रम्यस्य षड्विधत्वम् ॥९३८॥

यदि वा अन्यथैवायमुपक्रमः षड्विध इति दिदर्शयिषुः प्रस्तावनामाह-

गुरुभावोवक्कमणं कयमज्झयणस्स छव्विहमियाणिं (९३९)

तदेवं नामादिभेदैः षड्विधे उपक्रमे विचार्यमाणे कृतं गुरुभावोपक्रमणम् तत्करणे च दर्शितमेकेन प्रकारेणोपक्रमस्य षड्विधत्वम्। विशे०। गुणाति प्रवचनार्थतत्त्वमिति गुरुः, प्रवचनार्थप्रतिपादकतया पूज्ये, न०। स्था०। तीर्थकरगणधरादौ, विशे०। सूत्र०। वाचनाऽऽचार्य्ये, श्रा०। विद्यादायिनि, व्य०१ उ०। षो०। आ०म०। पितामहे, आव०३ अ०। मातापितृप्रभृतौ पूज्ये, ''माता पिता कलाचार्य्यः, एतेषां ज्ञातयस्तथा । वृद्धा धर्म्मोपदेष्टारो, गुरुवर्गः सतां मतः''॥१॥ ध०२ अधि०। स्था०। अनु०। कल्याणमित्रे, पं० सू०४ सू०। ''गुरवो यत्र पूज्यन्ते, यत्र धान्यं सुसंस्कृतम्॥अदन्तकलहो यत्र, तत्र शक्र ! वसाम्यहम्'' ॥१॥ सूत्र०१ श्रु०३ अ०२ उ०। बृहति, व्य०१ उ०। महति, पञ्चा०१० विव०। यदूर्ध्वं तिर्यग्वा प्रक्षिप्तमपि पुनर्निसर्गादधो निपतति तस्मिन् गुरुद्रव्ये, यथालेष्ट्वादि। विशे०। आ०म०। अधोगमनहेतौ अयोगोलकादिगते स्पर्शभेदे, स्था०१ ठा०१ उ०। कर्म्म०।(किं द्रव्यं गुरु, किं वा लघु? इति 'अगुरुलहुय' शब्दे प्र० भागे १५७ पृष्ठे उक्तम्) बृहस्पतौ देवाचार्य्ये, प्रभाकराख्ये मीमांसकभेदे, कपिकच्छूवृक्षे, ''सानुस्वारो विसर्गान्तो, दीर्घो यूक्तपरश्च यः। वा पदान्तै त्वसौ,'' उक्ते दीर्घवर्णादौ, वाच०।

गुरुआएस पुं०(गुवादेश) गुरोः सविज्ञापने, ध०३ अधि०।

गुरुअणुण्णा स्त्री०(गुर्वनुज्ञा) पित्रादिकुलपुरुषानुज्ञायाम्, षो०५ विव०।

गुरुअब्भुट्ठाण न०(गुर्वभ्युत्थान) गुरोरभ्युत्थानार्हस्याऽऽचार्य्यस्य, प्राघूर्णकस्य वा आगमनं प्रतीत्याऽऽसनत्यजने, ध०१ अधि०।

गुरुआणा स्त्री०(गुर्वाज्ञा)रत्नाधिकाऽऽदेशे, पञ्चा०१२ विव०। रत्नाधिकाऽऽज्ञायाम्, पञ्चा०५ विव०।

गुरुआणापरिसुद्ध त्रि०(गुर्वाज्ञापरिशुद्ध)गुर्वाज्ञया परिशुद्धो निर्दोषस्तत्सम्पादनाय गुर्वाज्ञापरिशुद्धः। गुर्वाज्ञया निर्दोषे, पञ्चा०१८ विव०।

गुरुआणाभंग पुं०(गुर्वाज्ञाभङ्ग)धर्माचार्य्याऽऽदेशविराधनायाम्, पञ्चा०५ विव०।

गुरुआणाराहण न०(गुर्वाज्ञाराधन) भावसाधोःसप्तमे लिङ्गे, ध०२०।

सम्प्रति गुर्वाज्ञाराधनरूपं सप्तमलिङ्गमाह-

गुरुपयसेवानिरओ, गुरुआणाराहणम्मि तल्लित्थो।
चरणभरधरणसत्तो, होइ जई नन्नहा नियमा ॥१२६॥

अत्र कश्चिदाह-पूर्वचार्यैश्चारित्रिणो लिङ्गषट्कमेवोक्तम्। यदवाचि-''मग्गाणुसारि १ सड्ढो २, पन्नवणिज्जो ३ कियावरो चेव ४॥ गणरागी ५ सक्कारंभसंगओ ६ तह य चारित्ती ॥१॥'' तत्कुत्रेदं सप्तमं गुर्वाज्ञाराधनरूपं भावसाधोर्लिङ्गं भणितम्? उच्यते-चतुर्दशशतप्रकरणप्रासादसूत्रधार-कल्पप्रभुश्रीहरिभद्रसूरिभिरुपदेशपदशास्त्रे भणितमेवेदमपि लिङ्गम्। तथा चेतत् सूत्रम्-''एयं च अत्थि लक्खण-मिमस्स नीसेसमेव धन्नस्स। तह गुरुआणासंपा-डणं च गमनं इहं लिंगं''॥१॥ ध०२०।

गुर्वाज्ञाकारिणो विशेषतः प्रशंसामाह-

ता धन्नो गुरु३आणं, न मुयइ नाणाइगुणमणिनिहाणं।
सुपसन्नमणो सययं, कयन्नुयं मणसि भावंतो ॥१२६॥

यस्माद् गुर्वाज्ञा गरीयसे गुणाय तस्माद्धेतोर्धन्यो गुर्वाज्ञां नन मुञ्चति, सुष्ठुतिशयेन प्रसन्नमना निर्मलमानसो निष्ठुरमपि शिक्षितो न कुप्यति कलुषयति न चान्तष्करणं, न वहति प्रद्वेषं स्मरन् कुन्तलदेवीज्ञातम्। केवलम्-''जं मे बुद्धाऽणुसासंति, सीएण फरुसेण वा। मम लाभु त्ति पेहाए, पयओ तं पडिस्सुणे''॥१॥ कथम्? सततमनवरतं कृतज्ञतामुपकाराविस्मृतिरूपां मनसि हृदये भावयन् व्यवस्थापयन्। तद्यथा-''टोलु व्व ढुलढुलंतो, अहयं विन्नाणनाण-विलएण। देउ व्व वंदणिज्जो, कउ म्हि गुरुसुत्तहारेण ॥१॥''इत्थंभूत एव धन्यो भवति, धर्मधनार्हत्वादिति। ध०२०।

गुरुआणाहिओग पुं०(गुर्वाज्ञाभियोग)परिहारप्रधाने आप्तोपदेशे, पञ्चा०१२ विव०।

गुरुआयर पुं०(गुर्वादर) गुरुबुद्धौ,''भावेह कुणह गुरुआयरं च गुणपत्तेसु''कुरुत विदधीत गुर्वादरं गुरुबुद्धिं गुणवत्पात्रेषु कलिकालोचितयतनावत्सु च ॥दर्श०।

गुरुई स्त्री०(गुर्वी)लघुशरीरायाम् ज्ञा०१ श्रु०१ अ०।

गुरुउग्गहो अट्ठाण न०(गुर्ववग्रहावस्थान)प्रत्युपेक्षितोपधेर्निक्षेपे, पं०व०२ द्वार।

गुरुकम्म त्रि०(गुरुकर्म्मन्) पापोपहतचित्तवृत्तौ, दर्श०।

गुरुकुल न०(गुरुकुल) गुरोः सान्निध्ये,''न हि भवति निर्विगोपकमनुपासितगुरुकुलस्य विज्ञानम्। दर्शितपश्चाद्भावं, पश्यत नृत्यं मयूराणाम्''॥१॥ ध०२ अधि०।

गुरुकुलवास पुं०(गुरुकुलवास) धर्म्माचार्य्यान्ते निवसने, पञ्चा०११ विव० गुरुगृहनिवासे, पञ्चा०११ विव०। आचा०।

गुरुकुलवासे गुणाः, विपरीते च दोषाः-

अण्णो पडिबंधेणं, गुरुकुलवासं ण चेव आवसती।
तेणं ण हिज्जती ऊ, के पुण पडिबंधिमे सुणसु ॥
सो गामो सावइओ, तं भद्दं भद्दओ जणो जत्थ।
एताइं संभरंता, गुरुकुलवासं न रोएति ॥
सक्कारो सम्माणो, पूयइ मोहो इहो तहिं गामे।
आयरिओ महतरओ, एरिसआ जे तहिं सड्ढा ॥
सच्छंदुट्ठाणणिव-ज्झणस्स सच्छंदगहितमिक्खस्स।
सच्छंदजंपियस्स य, मा मा सत्तू वि एगागी ॥
एतेहि ऊ अभागी, सीताइ ण न देति तुउरं तु।
तो ता हिज्जति सो ऊ, गुरुकुलवासं असेवंतो ॥
एतेहिँ न पडिवज्जे, अणुसट्ठिं तारिसं परिसमत्तं।
का पुण सामायारी, जिणकप्पे होति मा सा तु ॥
खेते कालेँ चरित्ते, तित्थे परियागेँ आगमे वेदे।
कप्पे लिंगे लेस्सा, गणणा झाणे यऽभिग्गाहे ॥
पव्वावण मुंढावण, मणसा वण्णे वि से अधंघाता।
कारणनिप्पडिकम्मे, भत्तं पप्पो जतति ताए ॥
एसो जिणकप्पो खलु, समासतो वण्णिओ सविभवेणं ॥

पं०भा०।

अथ गुरुकुलवासमोचने दोषोपदर्शनेन तदाज्ञाया एवं प्रकृष्टत्वसमर्थनायाऽऽह-

एयम्मि परिच्चत्ते, आणा खलु भगवतो परिच्चत्ता।
तीए य परिच्चागे, दोण्ह वि लोगाण चाउ त्ति ॥१४॥

एतस्मिन् गुरुकुले, परित्यक्ते विमुक्ते, आज्ञोपदेशः, खलुरवधारणार्थः। प्रयोगश्चास्य दर्शयिष्यते। भगवतो जिनस्य, परित्यक्तैव विमुक्तैव, तदत्यागरूपत्वात्तस्याः। ततः किमित्याह-तस्याश्च भगवदाज्ञायाः पुनः परित्यागे विमोचने सति, द्वयोरप्युभयोरप्यास्तामेकस्य, लोकयोर्भवयोरित्यर्थः। त्यागो भ्रंशो भवति, विशिष्टनियामकाभावेनोभयलोकविरुद्धप्रवृत्तेः। इतिशब्दो वाक्यार्थसमाप्ताविति गाथार्थः ॥१४॥

यस्मादेवं-

ता न चरणपरिणामे, एयं असमंजसं इहं होति।
आसण्णसिद्धियाणं, जीवाण तहा य भणियमिणं ॥१५॥

तत्तस्माद्धेतोर्न नैव, चरणपरिणामे चारित्राध्यावसाये सति, एतद् गुरुकुलमोचनादिकम्, असमञ्जसमसाधुकर्म, इह साधु-धर्माधिकारे, भवति जायते। किंसर्वेषां न भवतीत्याशङ्क्याह-आसन्नसिद्धिमानामदूरवर्तिनिर्वृतीनां, जीवानां जन्तूनाम्, उक्तार्थ- संवाद्या-

ऽऽगमवचनप्रस्तावनाऽर्थमाह-तथा चेत्युपप्रदर्शनार्थो, भणितमुक्तमागमे, इदं वक्ष्यमाणगाथासूत्रमिति गार्थः॥१५॥

यदुक्तं तदेवाह-

णाणस्स होइ भागी, थिरयरओ दंसण चरित्ते य।
धन्ना ओवकहाए, गुरुकुलवासं ण मुंचुंति ॥१६॥

ज्ञानस्य श्रुतज्ञानादेः, भवति स्याद् भागी भाजनं, गुरुकुले वसन्निति प्रकृतं, प्रत्यहं वाचनादिभावात्। तथा स्थिरतरकः पूर्वप्रतिपन्नदर्शनोऽपि सन्नतिशयस्थिरो भवति, दर्शने सम्यक्त्वे, अन्वहं स्वसमयपरसमयतत्त्वश्रवणात्। तथा-चरित्रे चरणे स्थिरतरो भवति, अनुवेलं वारणादिभावात्, चशब्दः समुच्चये। यत एवं ततो धन्या धर्मधनं लब्धारः, यावत्कथं यावज्जीवं, गुरुकुलवासं गुरुगृहनिवासनं, न मुञ्चन्ति न त्यजन्तीति गाथाऽर्थः। तदेवं चरणपरिणामे सति गुरुकुलमोचनरूपमसमयज्ञसं न भवतीति स्थापितम् ॥१६॥

अथ गुरुकुले तिष्ठतो यद्भवति तदाह-

तत्थ पुण संठिताणं, आणाआराहणा ससत्तीए।
अविगलमेयं जायति, बज्झभावे वि भावेणं ॥१७॥

तत्र गुरुकुले पुनःशब्दो विशेषणार्थः। तद्भावना चैवम्-चरणे सति गुरुकुलत्यागो न भवति, गुरुकुले पुनः संस्थितानां तिष्ठताम्। पाठान्तरेण वसताम्, आज्ञाराधनादाप्तोपदेशपालनात्, स्वशक्त्य निज सामर्थ्येन, यथाशक्तीत्यर्थः। अविकलं परिपूर्णम्, एतच्चरणं, जायते संपद्यते, प्रागुक्तन्यायेन ज्ञानादिवृद्धिसद्भावात्। ननु गुरुकुले वसतोऽपि कदाचित् तदविकलं न दृश्यत इत्याशङ्क्याहबाह्या-भवेऽपि प्रत्युपेक्षणादिबाह्यासदनुष्ठानाऽसद्भावेऽपि ग्लानाद्यवस्थासु, अपिशब्दः परमतभ्यनुज्ञानार्थः। कथमित्याह-भावेन परिणामेन, सद्गुरूपदेशश्रवणसंजनितसंवेगेनेत्यर्थः। इति गाथार्थः ॥१७॥

गुरुकुलवासमेव पुरस्कुर्वन्नाह-

कुलवहुणायादीया, एत्तो च्चिय एत्थि दंसिया वहुगा।
एत्थेव सेठियाणं खंतादीणं पिसिद्धिति॥१८॥

कुलवधूज्ञातादयः कुलीनाङ्गनोदाहरणप्रभृतयः, शिष्यं प्रत्युपदेशा इति गम्यते। (एत्तो च्चिय त्ति) यतो गुरुकुले वसतां निर्वाणनगरमगनयानोपमानमविकलं चरणमुपजायते, इत एस्मादेव कारणात्, अत्र गुरुकुलामोचने विषये, दर्शिता उक्ता आगमे, बहुका बहवः। तत्र कुलवधूज्ञातमेवम्-''ता कुलवधूनाएणं, कज्जे निब्भत्थिएहिं वि कहि चि ॥ एयस्स पायमूलं, आमरणंतं न मोत्तव्वं''॥१॥ आदिशब्दात्कन्याज्ञातादिग्रहः। तथाहि-''जे माणिया समयं माणयंति, जत्तेण कन्नं व निवेसयंति ॥ ते माणए माणरिहे तवस्सी, जिइंदिए सव्वरए स पुज्जो''॥५७॥ ननु साधुधर्मे प्रक्रान्ते क्षमादीनामेवोत्कर्षणं युक्तं, तद्रूपत्वात्तस्य, किं गुरुकुलवासोत्कर्षणेनाऽऽश्रयमात्रत्वात्तस्येत्याशङ्क्याह-अत्रैव गुरुकुले, नान्यत्र संस्थितानां सम्यग्विनीततया स्थितानां, सतां यतीनां, ज्ञान्त्यादीनामपि क्षमाप्रभृतीनामपि, साधुधर्म्मतया सम्मतानां गुणानां, न केवलमैहलौकिकानामर्थानामित्यपिशब्दार्थः। सिद्धिर्निष्पत्तिः, प्रकर्षवृत्तिर्वा भवति, इतिशब्दः प्राग्वदिति गाथार्थः॥१८॥

क्षान्त्यादीनामेवोपदर्शनायाऽऽह-

खंती य मद्दवज्जव, मुत्ती तव संजमे य बोधव्वे।
सच्चं सोयं आकिं-चणं च बंभं च जतिधम्मो ॥१९॥

क्षान्तिः क्रोधानिग्रहो, यतिधर्मो भवतीतियोगः। च शब्दा उत्तरपदापेक्षया समुच्चयार्थः। मार्दवं मृदुता, मानविवेक इत्यर्थः। आर्जवमृजुता, मायाविवेक इत्यर्थः। मुक्तिर्लोभविवेकः, तपोऽनशनादिकं, संयमः पृथिव्यादिसंरक्षणलक्षणः, एतानि च मार्दवादिपदानि लुप्तप्रथमैकवचनानि, समाहारद्वन्द्वसमासथन्ति वा द्रष्टव्यानि। बोधव्ये ज्ञेयः। तथासत्यं प्रतीतं, शौचं भावतो निरुपलेपता, अचौर्यमित्यन्ये। आकिञ्चन्यं च कनकादिरहितता, ब्रह्म च ब्रह्मचर्यं, चशब्दाः समुच्चयार्थाः। यति धर्मः साधुधर्म्मो बोद्धव्य इति गाथाऽर्थः॥१९॥

गुरुकुले वसतां क्षान्त्यादिसिद्धिर्भवति, तद्विपर्यये पुनर्यद्भवति तद्दर्शयन्नाह-

गुरुकुलवासच्चाए, णेणाणं हंदि सुपरिसुद्धि त्ति।
सम्मं णिरूयिव्वं, एयं सति णिउणबुद्धि ॥२०॥

गुरुकुलवासत्यागे गुरुगुह निवासत्यजने सति, न नैव, एतेषां क्षान्त्यादीनां श्रमणधर्म्मतया मतानां, इन्दीत्युपप्रदर्शने, सुपरिशुद्धिः सुष्ठुविशुद्धिर्भवति, इतिः, प्राग्वत्। सम्यगविपर्यस्ततया बुद्ध्या, न पुनर्गुरुकुले वसतामितरेतरस्नेहरोषविषादादीनां भावादेषणायाश्च प्रायो बाधासंभवादपरिशुद्धिरेव क्षमादीनामित्येवं विपर्यस्ततयाः विपर्यस्तत्वं चाऽस्या एकाकित्वे बहुतरदोषोक्तः। यदाह-'एगस्स कओ धम्मो' इत्यादि। निरूपयितव्यमालोचनीयम्। एतत् क्षमादीनामपरिशुद्धत्वं, सकृत्सदा, निपुणबुद्ध्या सूक्ष्मधिया इति गाथा थः॥२०॥

न केवलं गुरुकुलवासत्यागिनः क्षमादीनामपरिशुद्धिः, तदभावोऽपि स्यादिति दर्शयन्नाह-

खंतादभाउ च्चिय, णियमेणं तस्स होति चाउ त्ति।
बंभं ण गुत्तिविगमा, सेसाणि वि एव जोइज्जा ॥२१॥

क्षान्त्याद्यभावत एव क्षमाप्रभृतिसाधुधर्म्मविशेषाभावादेव, कषायोदयादेवेति भावः। नियमेन सवथैव, यस्तु क्षमादिगुणयुक्तस्यापि पुष्टालम्बनेन गुरुकुलत्यागो भवत्यसौ कथञ्चिदत्याग एवेत्येतदर्थख्यापनार्थं नियमग्रहणम्। तस्य गुरुकुलस्य, भवति जायते त्यागस्त्यजनं, स्मारणाद्यसहनात्। आह च-

''जतह सागरम्मि मीणा, संखोभं सागरम्स असहंता।
निंति तओ सुहकामी, निग्गयमेत्ता विणस्संति ॥१॥
एवं गच्छसमुद्दे, सारणवीईहि, चोइया संता।
निंति तओ सुहकामी, मीणा व जहा विणस्संति ॥२॥''

इतिशब्दो वाक्यार्थसमाप्तौ। अनेन च गुरुकुलत्यागात्प्राक्केचित् क्षमादीनामभाव उक्तः। अथान्येषां तदनन्तरं तमाह-ब्रह्म ब्रह्मचर्यं न भवति, तत्त्यागे गुप्तिविगमात् ब्रह्मगुप्त्यभावात्, यतिजनसहायता हि ब्रह्मचर्यगुप्तिर्वर्तते। यदाह-''काउ मणो वि अकज्जं, न तरइ काऊण बहु मज्झे।'' शेषषु का वार्तेत्याह-शेषाण्यपि ब्रह्मव्यतिरिक्तान्याप, तपःसंसमादीनि, एवमनेनैव न्यायेन गुप्तिविगललक्षणेन न संभवन्तीत्वेयम्, योजयेत् सुबन्धयेत् असहायतायाः सामान्येन समस्तव्रतसंभङ्गहेतुत्वादिति गाथार्थः॥२१॥

गुरुकुले वसतां गुणान्तरोपदर्शनायाऽऽह-

गुरुवेयावच्चेणं, सदणुट्ठाणसहकारिभावाओ।
विउलं फलमिब्भस्स व, विंसोवगेणावि ववहारे ॥२२॥

गुरुवैयावृत्येन आचार्यविषयेण भक्तादिदानग्लानतापति च

रणदिलक्षणेन हेतुना, सदनुष्ठाने गुरुगते जिनप्रवचनार्थप्रकाशन-गच्छपालनादौ, सहकारिभावो यः सहायकरणं, स तथा, तस्मात्सदनुष्ठानसहकारिभावातः । किम्? इत्याह-विपुलं महत्, फलं कर्म्मक्षयलक्षणं, गुरुकुलवासिनो भवति । कस्मिन्निवेत्याह-इभ्यस्येव सुवर्णलक्षादिमानमहाधनपतेरिव, सत्केन, विंशोपकेनाऽपि तदीवद्रव्यविंशतितमभागेनाऽपि, आस्तां सर्वेण । व्यवहारे वासणिज्ये क्रियमाणे सति । तथाहि-लक्षपतिसंबन्धिना लक्षविंशतिभागेनाऽपि, आस्तां सर्वेण सहस्रपञ्चकलक्षणेन व्यवहारतो वणिक्पुत्रस्य महान् लाभो भवति, एवं गुरोर्वैयावृत्यमात्रमपि कुर्वन् महत्फलमासादयति, गुरुविषयवैयावृत्यमात्रस्यापि महत्वादिति । अन्ये त्वाहुःइभ्यस्य गृहागतस्य विंशोपकेनापि व्यवहारे सत्कारे वणिक्पुत्रो महत्फलमासादयति । इति गाथाऽर्थः॥२२॥

गुरुकुलवासाऽभावे च यत्स्यात्तदाह–

इहरा सदंतराया, दोसोऽविहिणा य विविहजोगेसुं ।
हंदि पयट्टंतस्सा, तदण्णदिक्खावसाणेसुं ॥

इतरथा गुरुकुलवासत्यागे, सदा सर्वदा, अन्तरायात् वैयावृत्यपोज्ञानचरणविशुद्ध्यादीनां गुरुसंसर्गसाध्यगुणानां व्याघातादिद्याप्तेः, सतां वा शोभनानां वा गुणानामन्तरायः सदन्तरायस्तस्मात्, दोषो दूषणं भवति । तस्य गुरुकुलवासिनः तथा अविधिना यो यत्र प्रव्रज्यादाने विधिस्तदभवित, गुरोरनुपासनतः सर्वसंविग्नसामाचारीप्रावीण्याभावादन्याय्येनेत्यर्थः। चशब्दः समुच्चयार्थः, विविधियोगेषु बहुविधव्यापारेषु, 'हंदि' इत्युपप्रदर्शने, प्रवर्त्तमानस्य व्याप्रियमाणस्य, गुरुकुलत्यागिनः । किंभूतेषु योगष्यिति ?,आह-मस्मात् गुरुकुलत्यागिनोऽन्येऽपरे तदन्ये, तेषां या दीक्षा प्रव्राजनं, साऽवसाने येषां सूत्रार्थग्रहणप्रत्युपेक्षणादिसामाचार्यनुपालनादीनां ते तथा, तेषु तदन्यदीक्षाऽवसानेषु ज्ञानक्रियागुणेषु हि पूर्वं स्वयं निष्पद्यते ततः पश्चाद्दीक्षादाने प्रवर्त्तते इति कृत्वोक्तम् -तदन्यदीक्षाऽवसानेष्विति। दोषाश्चात्रैहिकपारलौकिकानर्थावाप्तिः इत्यतः स्थितमेतत्-''एसा य परा आणा, पयडा जं गुरुकुलं न मोत्तव्वं'' इति गाथार्थः॥२३॥पञ्चा०११ विव०।

अथ यदुक्तं गुरुकुलं न मोक्तव्यमित्यत्र विषयविभागं दर्शयन्नाह-

गुरुकुलामोचकानेव पुरस्कुर्वन्नाह–

जे इह होंति सुपुरिसा, कयण्णुया ण खलु ते ऽवमन्नंति ।
कल्लाणभायणत्ते-ण गुरुजणं उभयलोगहियं ॥३६॥

ये केचन, इह मनुजलोके, भवन्ति स्युः, सुपुरुषा उत्तमनराः, पुरुषग्रहणं च नारीणामुपलक्षणम्। कृतज्ञकाः गुरुविहितोपकारज्ञाः, न खलु नैव, ते उक्तस्वरूपाः, अवमन्यन्ते अवज्ञयन्ति । केन हेतुनेत्याह-कल्याणभाजनत्वेन ऐहिकाद्यभ्युदयपात्रत्वेन । किंविधमित्याह-गुरुनजनं धर्म्माचार्यम् उभयलोकहितं लोकद्वयेऽप्युपकारकमिति । उक्तं च - ''निर्भाग्योऽपि जडोऽस्यनाकृतिरपि प्राज्ञोपहास्योऽपि हि, मूकोऽप्यप्रतिभोऽप्यसन्नपि जनानादेयवाक्योऽपि हि ॥ पादास्पृश्यतमोऽपि सज्जनजनैर्नम्यः शिरोभिर्भवेत् यत्पादद्वितयप्रसादनविधेस्तेभ्यो गुरुभ्यो नमः'' ॥१॥ इति गाथार्थः॥३६॥

अथ गुरुकुलमोचकानिन्दयन्नाह

जे उ तह विवज्जत्था, सम्मं गुरुलाघवं अयाणंती ।
सग्गाहा हिरियरया, पवणखिंसावहा खुद्दा ॥३७॥

पायं अहण्णगंठी-तमाउ तह दुक्करं पि कुव्वंता ।
बज्झा व ण ते साहू, धंखाहरणेण विण्णेया ॥३८॥

ये तु ये पुनः, तथा तस्मादुक्तप्रकारात्, विपर्यस्ता विपरीताः कुपुरुषाः अकृतज्ञाः अकल्याणभाजनत्वेन गुरुजनमवमन्यन्त इत्यर्थः, तेन साधव इति योगः। कथं विपर्यस्ता इत्याह–सम्यक् यथावत्, गुरुलाघवं सारासारताविभागं, गुरुकुलवासैकाकि-विहारयोरिति गम्यम् । अजानन्तोऽनवबुद्ध्यमानाः । अयमभिप्रायः-यद्यपि ते गुरुकुलमनेकसाधुसंकीर्णतया संभवदनेषणापरस्पर-स्नेहरोषादिदोषतया बहुदोषम्, एकाकित्वं चैतद्दोषाभावादल्पदोषं कल्पयन्ति, तथाऽप्येतन्न तेषां सम्यग्ज्ञानम्, आगमबाधितत्वादस्य, आगमबाधा च प्रागुपदर्शितेति। तथा स्वग्राहात् स्वकीयाभिनिवेशात्, आगमापारतन्त्र्यादित्यर्थः । क्रियारता भिक्षाशुद्ध्यप्रतिकर्मताप्रान्तोपधितातापनामा-सक्षपणाद्यनुष्ठाननिरताः, तथा-प्रवचनखिंसावहाः शासनाऽपभ्राजनाहेतवः, अनागमिकत्वेनैकाकित्वेन च प्रवचनगुप्तिरक्षायामसमर्थत्वात् । तथाक्षुद्रास्तुच्छाः, आत्मनि बहुमानात्, गुरुषु चावज्ञापरत्वात् । कृपणां वा, तथाविधजनावर्जनपरत्वात् । क्रूरा वा, शेषसांधुषु पूजाविच्छेदाभिप्रायत्वादिति ॥३७॥ तथा-प्रायो बाहुल्येन, अभिन्नग्रन्थयः सकृदप्यनवाप्तसम्यग्दर्शनाः । अयमभिप्रायः मिथ्यादृष्टयोऽपि भिन्नग्रन्थयः, तेनैवंविधाऽसमीक्षितकारिणो भवन्तीति । कथं तर्हि ते दुष्करतराणि तपांसि सेवन्त इत्याशङ्क्याह-तमसोऽज्ञानात्, तथा तत्प्रकारं मासक्षपणादि, दुष्करमपि प्रकृष्टमपि, आस्तामदुष्करम्, कुर्वन्तो विदधानाः, बाह्या इव कुतीर्थिका इव न नैव, ते गुर्वाज्ञाकारिणः, साधवः संयताः, विज्ञेया ज्ञातव्याः, जिनाज्ञोत्तीर्णत्वात् । इहैवार्थे दृष्टान्तमाह-ध्वाङ्क्षादाहरणेन काकज्ञानतेन। प्रयोगश्चास्यैवमम्ये निर्गुणं वस्तु समाश्रिताः, न ते स्वार्थभाजो दृष्टाः, यथा मृगतृष्णासरःश्रयिणः काकाः, आश्रिताश्च निर्गुणं गच्छबहिर्भागं गच्छत्यागिन इति।

काकज्ञातं चैवम्–

''सुस्वादु शीतलं स्वच्छं, पद्मरेणुसुगन्धि च।
धारयन्ती जलं वापी, काचिदासीद् मनोहरा ॥१॥
तस्यास्तटेऽभवन् काका-स्तेषु चाल्पे पिपासिताः।
अन्विच्छन्तोऽपि पानीयं, नाश्रयन्ति स्म ते च ताम् ॥२॥
ततो दृष्ट्वा पुरोवर्ति-गृगमृष्णासंरासि ते।
तानि प्रतिप्रयान्ति स्म, वापीं हित्वा जलाऽर्थिनः ॥३॥
कश्चित्तु तानुवाचैव-मेषा भो मृगतृष्णिका।
यदि वोऽस्ति जलार्थित्वं, तदाऽऽश्रयत वापिकाम ॥४॥
ततः केचित्तदाकर्ण्य, वापीमेव समाश्रिताः।
भूयांसस्त्ववधीर्यैत-न्मृगतृष्णां ययुः प्रति ॥५॥
ततो जलमनासाद्य, ते विनाशमुपागताः।
वापीं समाश्रिता ये तु, बभूवुस्ते कृतार्थकाः ॥६॥
वापीतुल्योऽत्र विज्ञेयो, गुरुगच्छो गुणालयः।
धर्मार्थिनस्तु काकाभा-श्चारित्रं जलसन्निभम् ॥७॥
मृगतृष्णासरस्तुल्या, गुरुगच्छाद् बहिः स्थितिः।
तच्छिक्षादायको ज्ञेयो, गीतार्थस्तत्कृपापारः ॥८॥
चारित्रापात्रतां प्राप्ताः, काकवत् केऽपि कुग्रहात्।
गुरुगच्छबहिर्वासं, संश्रिता ये तपस्विनः ॥९॥
अल्पास्तु केऽपि सद्बोधा-चारित्रे पात्रतां गताः।

काका इवैव ये धन्याः गुरुगच्छमुपाश्रिताः''॥१०॥

इति गाथार्थः॥३८॥

अथ गुरुकुलत्यागिन एव कष्टविहारकारित्वेन ये बहु मन्यन्ते तान् शिक्षयितुमाह–

तेसिं बहुमाणेणं, उम्मग्गऽणुमोयणा अणिट्ठफला।
तम्हा तित्थगराणा-ठिएसु जुत्तोऽत्थ बहुमाणो ॥३९॥

तेषां गुरुकुलत्यागिनाम्, बहुमानेन पक्षपातेन करणभूतेन, उन्मार्गानुमोदना अनागमिकाचारानुमतिः; किंफला? इति आह- अनिष्टफला अनभिमतफला, दुर्गतिप्रयोजनेत्यर्थः। आह च-''आणाऍ अवट्टंतं, जो उववूहेइ मोहदोसेण। सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराहणं पावे''॥१॥ (तम्ह त्ति) यस्मादेवं तस्मात्तीर्थकराज्ञास्थितेषु गुरुकुलवासादिजिनादेशाश्रितेषु साधुषु, युक्तः युक्तः सङ्गतः अत्र विचारे, बहुमानः पक्षपातो, नेतरेषु इति गाथार्थः ॥३९॥ पञ्चा०११ विव०।

फुलवधूदृष्टान्तेन गुरुकुलासेवनम्-

तुब्भेहिं पि न एसो, संसारामविमहाकडिल्लम्मि।
सिद्धिपुरसत्थवाहो, जत्तेण खणं पि मोतव्वो ॥५४॥

युष्माभिरपि नैषः गुरुः संसाराटवीमहाकडिल्ले गहने सिद्धिपुर-सार्थवाहः, तत्रानपायेन नयनात् यत्नेन क्षणमपि मोक्तव्यो नेति गाथाऽर्थः ॥५४॥

ण य पडिकूले अव्वं, वयणं एअस्स नाणरासिस्स।
एवं गिहवासचाओ, जं सफलो होइ तुम्हाणं ॥५५॥

न च प्रतिकूलयितव्यमशक्त्या वचनमेतस्य ज्ञानराशेः गुरोरेवं गृहवासत्यागः प्रव्रज्यया यत् सफलो भवति युष्माकमाज्ञाराधनेनेति गाथार्थः॥५५॥

इहरा परमगुरूणं, आणाभंगो निसेविओ होइ।
विहला य होंति तम्मी, निअमा इहलोअपरलोआ ॥५६॥

इतरथा तद्वचनप्रतिकूलनेन परमगुरूणां तीर्थकृतामाज्ञाभङ्गो निषेधितो भवति। निष्फलौ च भवतस्तस्मिन्नाज्ञाभङ्गे सति नियमादिहलोकपर-लोकाविति गाथार्थः ॥५६॥

ता कुलबहुणाएणं, कज्जे निब्भत्थिएहिँ वि कहिंचि।
एअस्स पायमूलं, आमारणंतं न मोत्तव्वं ॥५७॥

तत् कुलवधूज्ञा तेनोदाहरणेन, कार्ये निर्भिर्त्सितैरपि सद्भिः कथञ्चिदेतस्य गुरोः पादमूलं समीपमामरणान्तं न मोक्तव्यं सर्वकालमिति गाथार्थः॥५७॥

गुणमाह–

णाणस्स होइ भागी, थिरयरओ दंसणे चरित्ते अ।
धण्णा आवकहाए, गुरुकुलवासं ण मुंचंति ॥५८॥

ज्ञानस्य भवति भागी गुरुकुले वसन्, स्थिरतरो दर्शने, चरित्रे चाऽज्ञाराधनदर्शनादीनाम् अतो धन्या यावत् यावत्कथं सर्वकालं गुरुकुलवासं न मुञ्चन्तीति गाथार्थः॥५८॥ पं० व० ४ द्वार। ''लज्जा दया संजम बंभचेर-कल्लाणभागिस्स विसोहिठाणं। जे मे गुरू समयं अणुसासयंति, ते हं गुरू सययं पूययामि''॥१॥ इत्यादि। तथा गुर्वाज्ञाराधने गुर्वादेशसंपादने तल्लिप्सुस्तभेवादेशं लब्धुमिच्छुर्गुरोरादेशं प्रतीक्षमाणः समीपवर्त्येव स्यात्। इत्थंभूतश्चरणभरधरणे चारित्रभरोद्वहने शक्तः समर्थो भवति सुविहितो, नान्यथा भणितविपरीतो, नियमान्निश्चयेनेति। कथं पुनरेष निश्चयोऽवसीयत इति ? आह-

सव्वगुणमूलभूओ, मणिओ आयारपढमसुत्ते जं।
गुरुकुलवासोऽवस्सं, वसिज्ज तो तत्थ चरणत्थी ॥१२७॥

सर्वे गुणा अष्टादशशीलाङ्गसहस्रस्वरूपाः, तदानयनोपायश्चैवम्-''जोए १ करणे २ सन्ना, ३ इंदिय ४ भोमाइ समणधम्मे य ६। सीलंगसहस्साणं, अट्ठारसगस्स निप्फत्ती ''॥१॥

स्थापना शीलाङ्गरथस्येयम्-

येन कुर्वन्ति ६०००	येन कारयन्ति ६०००	ये नाऽनुमन्यन्ते ६०००							
मनसा २०००	वचसा २०००	वचसा २०००							
निर्जिताहार संज्ञी ५००	निर्जितभय संज्ञी ५००	निर्जित मैथुनसंज्ञी ५००	निर्जितपरिग्रह संज्ञी ५००						
श्रोत्रेन्द्रिय १००	चक्षुरिन्द्रिय १००	घ्राणेन्द्रिय १००	रसनेन्द्रिय १००	स्पर्शेन्द्रिय १००					
पृथिवी कायारम्भ १०	अप्पा कायारम्भ १०	तेजम् कायारम्भ १०	वायु कायारम्भ १०	वनस्पति कायारम्भ १०	द्विन्द्रीयारम्भ १०	त्रीन्द्रियारम्भ १०	चतुरिन्द्रियारम्भ १०	पञ्चेन्द्रिय कायारम्भ १०	अजीव कायारम्भ १०
क्षान्तियुतान् मुनीन् वन्दे १	समार्दवान् मुनीन् वन्दे २	साजेवान् मुनीन् वन्दे ३	मुक्तियुतान् मुनीन् वन्दे ४	तपोयुतान् मुनीन् वन्दे ५	संयमयुतान् मुनीन् वन्दे ६	सत्ययुतान् मुनीन् वन्दे ७	शौचयुतान मुनीन् वन्दे ८	अकिञ्चनान् मुनीन् वन्दे ९	ब्रह्मयुतान मुनीन् वन्दे १०

तेषां मूलभूतः प्रथमकारणं, भणित उक्तः, आचारः प्रथमङ्ग, तस्य प्रथमसूत्रे ''सुयं ते आउसंतेणं भगवया एव मक्खायं'' इति वचनरचनाप्रकारे, यद्यस्माद्गुरुकुलवासेा गुरुपादपच्छायासेवनम्। अयमत्र भावार्थः- श्रीसुधर्मस्वामी जम्बूस्वामिनं कथयति स्म- 'श्रुतं मया वसता भगवतः समीपे तिष्ठता वक्ष्यमाणमर्थपदमिति'। कः पुनरस्य भावार्थः? सर्वेण धर्मार्थिना गुरुसेवा विधेयेति। यस्मादेवं तस्माद्वसेत्तिष्ठेत्तत्र गुरुकुले चरणार्थी चारित्रकामी।

तथा च गच्छे वसतो गुणः --

''गुरुपरिवारो गच्छो, तत्थ वसंताण निज्जरा विउला।
विणयाउ तहा सारण-माईहि न दोसपडिवत्ती ॥१॥
जइ वि हु निग्गयभावो, तहा वि रक्खिज्जई स अन्नेहिं।
वंसकडिल्ले छिन्नो, विच वेणुओ पावए न महिं ''॥२॥

नन्वागमे यतेराहारशुद्धिरेव मुख्यश्चारित्रशुद्धिहेतुरुद्घुष्यते;

यदुक्तम्-

''पिंडं असोहयंतो, अचिरित्तीइत्थ संसओ नऽत्थि।
चारित्तम्मि असंते, सव्वा दिक्खा निरत्थीया''॥१॥

तथा-

''जिणसासणस्स मूलं, भिक्खायरिया जिणेहिँ पन्नत्ता।
इत्थ परितप्पमाणं, तं जाणसु मंदसद्धीयं'' ॥२॥

पिण्डविशुद्धद्धिश्च बहूनां मध्ये वसतां दुष्करैव प्रतिभासते; इत्येकाकिनाऽपि भूत्वा सैव विधेया, किं ज्ञानाद्विलाभेन कार्यम्? मूलभूतं चारित्रमेव पालनीयं, मूले सत्येव लाभचिन्ता ज्यायसीति, मैवं वोचः। यतो हन्त! गुरुपारतन्त्र्यावर्जितत्वात् द्वितीयसाध्वपेक्षाऽभावाल्लोभस्यातिदुर्जयतरत्वात् क्षणे क्षणे परिवर्त्तमानपरिणामे-नैकाकिना पिण्डविशुद्धिरेव न पालयितुं शक्यते। तथा चोक्तम्-''एगागियस्स दोसा, इत्थी साणे तहेव पडिणीए। भिक्खाविसोहिमहव्वय, तम्हा सविइज्जए गमणं''॥१॥ तथा ''पिल्लिज्जेसणमिक्को'' इत्यादि। ततस्तद्भावे कथं मूलभूतं चारित्रमेव पालनीयमित्याद्युक्तम्? अथ कश्चिद् गाढदाढर्याशयः शुद्धोञ्छादिनाऽपि निर्वाहयेदात्मानं सोऽपि ''सव्वजिणपडिक्कुट्ठं, अणवत्थाथेरकप्पभेओ य॥ एगो य सुयाउत्तो, विहणइ तवसंजमं अइरा''॥१॥ इति वचनात् त्रिभुवनभर्तुराज्ञाविराधकत्वान्न सुन्दरतामास्कन्दति ॥१२७॥

तथा चाह सूत्रकारः-

एयस्स परिच्चाया, सुद्धंछाइ वि न सुंदरं भणियं।
कम्माइ वि परिसुद्धं, गुरुआणावत्तिणो विंति ॥१२८॥

एतस्य गुरुकुलवासस्य, परित्यागात्सर्वतो मोचनेन, शुद्धोञ्छादि शुद्धभैक्षप्रमुखम्, आदिशब्दात् शुद्धोपाश्रयवस्त्रपात्रादिपरिग्रहः। न सुन्दरं शाभनं, भणितं निगदितमागमज्ञैरित्युपस्कारः।

तथाच-जीवाऽनुशासने तदुक्तिः-

''सुद्धंछाइस जत्तो, गुरुकुलचागाइणेह विन्नेओ।
सवरस्स सरक्खपिच्छ त्थ घायपायाछिवणतुल्लो''॥१००॥

ध० २०।

एवं गुरुबहुमाणो, कयभुयां सयलगच्छगुणवुड्ढी॥
अणवत्थापरिहारो, हुंति गुणा एवमाईया ॥१३३॥

एवं मूलगुणसमन्वितं गुरुममुञ्चता, सन्मार्गोद्यमं च कारयता, गुरुबहुमानः कृतो भवति, कृतज्ञता चाराधिता भवति, सकलगच्छगुणवृद्धिः, अनवस्था (मर्यादा) परिहारः कृतो भवति। एवमादयो गुणा भवन्ति। ध०२०।

अत्रानुशासनम्-

गच्छं गुरुवयणं चिय, चइउं केई चरंति धम्मत्थी।
तं पि न संगयमेयं, जम्हा सुत्ते इमं भणियं ॥९९॥

गच्छमाचार्यादिसमुदायं, गुरुवचश्च सूरिभणितं, 'चिय'शब्दः समुच्चयार्थः। त्वक्त्या परिहृत्य, केऽपि केचन, चरन्ति पर्यटन्ति, धर्मार्थिनश्चारित्रप्रयोजनाः, तदपि गच्छत्यागादिकं, न केवलं पूर्वोक्तमित्यपिशब्दार्थः। न नैव, संगतं युक्तमेतद् गच्छत्यागादि यस्मात्सूत्रे उपदेशपदाख्ये, इदं पुरोवर्त्ति, भणितं उक्तमिति गाथार्थः॥९९॥

सुद्धं छाइसु जत्तो, गुरुकुलचागाइणेह विन्नेओ।
सवरस्स सरक्खपिच्छ त्थ घायपायाछिवणतुल्लो ॥१००॥

शुद्धोञ्छादिषु यत्न उद्यमः, तत्र शुद्धमाधाकर्माद्यदूषितम्, उञ्छं तु भिक्षाऽऽदि, आदिग्रहणाच्छेषानुष्ठानग्रहः, गुरुकुलत्यागादिना गुरुकुलं गच्छः, तद्शिक्षापरिहारेण, इह प्रवचने, विज्ञेयो बोद्धव्यः। किंविशिष्टः?शवरनृपेण सरजस्कास्तापसविशेषाः, तेषां पिच्छानि मयूराङ्गरुहानि, तदर्थं घातो विनाशः, तत्र पादानां चरणानां'छिवणं ति' देशीभाषाया स्पर्शनं, तद्भावः, तेन तुल्यः सदृश इति गाथार्थः ॥१००॥ भावार्थस्तु कथानकादवसेयः। तच्चेदमूकिलैकस्य नरपतेरश्वाः प्रदीपनकेमनाक् दग्धाः, क्षतानि च तेषां जातानि, ततो नरपतिना वैद्यः पृष्टः--कथमेते भव्या भविष्यन्ति? तेनोक्तम्--यदि मायूरपिच्छनिर्म्मार्पितैलेन म्रक्ष्यन्ते, इत्युक्ते नराधिपेन समादिष्टा-स्तदाननयनार्थं निजपुरुषाः, यावत्ते परिभ्रम्य समगताः, राज्ञः समीपे कथितं च तैः--देव! न कुत्रापि मयूराङ्गरुहानि सन्ति मुक्त्वा युष्कामं गुरून्, ते हि तानि सर्वाङ्गेषु धारयन्ति, न च जीवन्तो मुञ्चन्ति इदमेव तेषां व्रतम्। राज्ञोक्तम् यद्येवं ततो घातयित्वा तान् समानयत पिच्छान्, परघ्नाद्भिस्तेषां निजचरणा न लगनीयाः, यतोऽस्माकं ते गुरवः। तत्र ये जीवितव्यतुल्यान् मूलगुणान् नाशयन्ति, पादास्पर्शन- सदृशोत्तरगुणरक्षार्थं गच्छान्निर्गत्य ते वर्चयटन्ति, तस्मादुत्तरगुण-सङ्गेऽपि शुद्धभक्ताभ्यवहारलक्षणे गच्छ एवाऽऽसितव्यमिति।

इदानीं गुरुवचनाद्धकरणे सिद्धान्तगाथामाह-

छट्ठट्ठमदसमदुवा-लसेहिँ मासद्धमासखमणाहिं।
अकरिंतो गुरुवयणं, अणंतसंसारिओ भणिओ ॥१०१॥

उत्तानार्था ॥१०१॥

यदि पुनर्गच्छो गुरुश्च सर्वथा निजगुणविकलो भवति, तत आगमोक्तविधिना त्यजनीयः, परं कालपेक्षया योऽन्यो विशिष्टतरः, तस्योपसंपद्ग्राह्यया, न पुन् स्वतन्त्रैः स्थातव्यमिति हृदयम्। यत एवमतो जीवानुशिष्टिमाह-

हेलाएँ विहाडियदो-सपंजरे गच्छवासगुरुवयणे।
जीव! तुमं थिरचित्तं, करेसु ता सिहरिसिहरं व ॥१०२॥

हेलया लीलया ''विहाडियंति''देशीभाषया विनाशितं, दोषा रागादयः, त एव जीवशकुनिनिरोधकत्वात्पञ्जरं, तेन तस्मिन् गच्छवासगुरुवचने उक्तलक्षणे, जीव! आत्मन्! त्वं भवान्, स्थिरं निश्चलम्, अनुस्वारोऽत्र प्राकृतत्वात् लुप्तः, चित्तं मानसं, कुरु विधेहि, तस्मात्, किमिव? शिखरिशिखरमिव पर्वतशृङ्ग-

मिवेति गाथार्थः॥१८२॥ जीवा०१७-१८ अधि०।

अत्र दृष्टान्तमाह-

जहा दियापोतमपत्तजातं,
सावासगा पविउं मन्नमाणं।
तमचाइयं तरुणमपत्तजातं,
ढंकाइ अव्वत्तगमं हरेज्जा॥२॥

यथेति दृष्टान्तोपप्रदर्शनार्थः, यथा येन प्रकारेण, द्विजपोतः पक्षिशिशुरव्यक्तः। तमेव विशिनष्टि-पतन्ति गच्छन्ति येनेति पत्रं पक्षपुटं, न विद्यते पत्रतातं पक्षोद्भवो यस्यासावपत्रजातः। तत्र स्वकीयादावासकात् स्वनीमात् प्लवितुमुत्पतितुं, मन्यामानं तत्र तत्र पतन्तमुपलभ्य, तं द्विजपोतं (अचाइयं ति) पक्षाभावाद्गन्तुमसमर्थम्, अपत्रजातमिति कृत्वा मांसपेशीकल्पं, ढङ्कादयः क्षुद्रसत्त्वाः पिशिताशिनोऽव्यक्तगमं गमनाभावे नष्टुमसमर्थं, हरेयुश्चञ्चवादिनोत्क्षिप्य नयेयुर्व्यापादयेयुरिति॥२॥

एवं दृष्टान्तं प्रदर्श्य दार्ष्टान्तिकं प्रदर्शयितुमाह-

एवं तु सेहं पि अपुट्ठधम्मं,
निस्सारियं बुसिमं मन्नमाणा॥
दियस्स छावं व अपत्तजायं,
हरिंसु णं पावधम्मा अणेगे॥३॥

''एवं तु सेहं'' इत्यादि। एववमित्युक्तप्रकारेण, तुशब्दः पूर्वस्माद्विशेषं दर्शयति-पूर्वं ह्यसंजातपक्षत्वादव्यक्तता प्रतिपादिता, इह त्वपुष्टधर्मतयेति। अयं विशेषः-यथा द्विजपोतमसंजातपक्षं स्वनीडान्निर्गतं क्षुद्रासत्त्वा विनाशयन्ति, एवं शिष्यकमभिनवप्रव्रजितं सूत्रार्थानिष्पन्नमगीतार्थमपुष्टधर्माणं सम्यगपरिणतधर्मपामार्थं सन्तमनेकपापधर्माणः पाषण्डिकाः प्रतारयन्ति, प्रतार्य च गच्छसमुद्भ्रान्तिः सारयन्ति, निःसारितं च सन्तं विषयोन्मुखतामापा-दितमपगतपरलोकभयमस्माकं वश्यमित्येवं मन्यमानाः। यदि वा (बुसि त्ति) चारित्रं सदसदनुष्ठानतो निसारं मन्यमानाः, अजात-पक्षं द्विजशावकमिव पक्षिपोतमिव ढङ्कादयः पापपधर्माणो मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषायकलुषितान्तरात्मानः कुतीर्थिकाः स्वजनाराजादयो वाऽनेके बहवे हृतवन्तो, हरन्ति, हरिष्यति चेति कालत्रयोपलक्षणार्थं भूतनिर्देश इति। तथाहि-पाषण्डिका एवमगीतार्थं प्रतारयन्ति। तद्यथा-युष्मद्दर्शने नाग्निप्रज्वालन-विषापहारशिखाच्छेदादिकाः प्रत्यया दृश्यन्ते, तथाऽणिमाद्यष्ट-गुणमैश्वर्यं च नास्ति, तथा न राजादिभिर्बहुमिराश्रितम्, याऽप्यहिंसोच्यते भवदागमे, साऽप जीवकुलवाल्लोकस्य दुःसाध्या, नापि भवतां स्नानादिकं शौचमस्तीत्यादिकाभिः शठोक्तिभिरिन्द्रजाल-कल्पाभिर्मुग्धजनं प्रतारयन्ति। स्वजनादयश्चैवं विप्रलम्भयन्ति। तद्यथा न भवन्तमन्तरेणास्माकं कश्चिदस्ति पोषकः, पोष्यो वा, त्वमेवास्माकं सर्वस्वं, त्वया विना शून्यमाभाति, तथा शब्दादिविषयोपभोगामन्त्रणेन सद्धर्माच्च्यावयन्ति। एवं राजादयोऽपि द्रष्टव्याः। तदेवमपुष्टधर्माणमेकाकिनं बहुभिः प्रकारैः प्रतार्यापहरेयुरिति॥३॥

तदेवमेकाकितः साधोर्यतो बहवो दोषाःप्रादुर्भवन्त्यतः सदा गरुपादमूले स्थातव्यमित्येतद्दर्शयितुमाह-

ओसाणमिच्छे मणुए समाहिं,
अणोसिए णंतकरिं ति णच्चा।
ओभासमाणे दवियस्स वित्तं,
णिक्कसे बहिया आसुपन्नो॥४॥

''ओसाणमिच्छे'' इत्यादि। अवसानं गुरोरन्तिके स्थानं, तद्यावज्जीवं समाधिं सन्मार्गानुष्ठानरूपमिच्छेदभिलषेन्मनुजो मनष्यः, साधुरित्यर्थः। स एव परमार्थतो मनुष्यो यो यथाप्रतिज्ञातं निर्वाहयति। तच्च सदा गुरोरन्तिके व्यवस्थितेन सदनुष्ठानरूपं समाधिमनुपालयता निर्बाह्यते, नान्यथेत्येतद्दर्शयतिगुरोरन्तिकेऽनुषितोऽव्यवस्थितः स्वच्छन्दविधायी समधिः सदनुष्ठानरूपस्य कर्मणो यथाप्रतिज्ञातस्य वा नान्तरो भवतीति ज्ञात्वा सदा गुरुकुलवासोऽनुसर्तव्यः,तद्रहितस्य विज्ञानमुपहास्यप्रायं भवतीति। उक्तञ्च''न हि भवति निर्विगोपकमनुपासितगुरुकुलस्य विज्ञानम्। प्रकटितपश्चाद्भागं, पश्यत मृत्यं मयूरस्य''॥१॥ तथा जाङ्गलविलग्नवालुकां पार्ष्णिप्रहारेणु प्रगुणां दृष्ट्वाऽपरोऽनुपासितगुरुरज्ञो राज्ञीं संजातगलगण्डां पार्ष्णिप्रहारेण व्यापादितवानित्यादयोऽनुपासितगुरोर्बहवो दोषाः संसारवर्धनाद्या भवन्तीत्यवगम्यानया मर्यादया गुरोरन्तिके स्थातव्यमिति दर्शयति-अवभासयन्नुद्भासयन् सम्यगनुतिष्ठन् द्रव्यस्य मुक्तिगमनयोग्यस्य सत्साधोः रागद्वेष-रहितस्य सर्वज्ञस्य व्यावृत्तमनुष्ठानं तत्सदनुष्ठानतोऽवभासयेद्धर्मकथिकः कथनतो वोद्भासयेदिति। तदेवम्यतो गुरुकुलवासो बहूनां गुणानामाधारो भवत्यतो न निष्कसेन्न निर्गच्छेत् गच्छाद्दुर्वन्तिकाद्वा बहिः स्वेच्छाचारी न भवेत्, आशुप्रज्ञ इति क्षिप्रप्रज्ञः, तदन्तिके निवसन् विषकषायाभ्यामात्मानं ह्रियमाणं ज्ञात्वा क्षिप्रमेवाचार्यो-पदेशात्स्वत एव वा निवर्तयति सत्समाधौ व्यवस्थापयति॥४॥ सूत्र०१श्रु०१४ अ०।

गरुकुलवासि(ण्) पुं०(गुरुकुलवासिन्) गुरुकुलान्निर्गमनेन गुरुप्रतिबद्धे,पं० सू०४ सू०।

गुरुलवासच्चाय पुं०(गुरुकुलवासत्याग) गुरुगृहनिवाससत्यजने, पञ्चा०११ विव०।

गुरुग पुं०(गुरुक) अष्टमादौ मासपरिमाणान्ते प्रायश्चित्ते, बृ०१ उ०। गुरुकं व्यवहारं मासपरिमाणेनाष्टमेन वहति, बृ०५ उ०। भक्तकरणतापूरणीये,('सुत्त'शब्दे प्रसंगोपात्तमस्य स्परूपम्) ''गुरुगो य होइ मासो'' गुरुको नाम व्यवहारो मासो मासपरिमाणः गुरुके व्यवहारे समापतिते मास एकः प्रायश्चित्तं दातव्यः। व्य०२ उ०।

गुरुगइ स्त्री०(गुरुगति) भावप्रधानत्वान्निर्देशस्य गौरवेण ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्गमनस्वभावतो गतिः सा गुरुगतिः। गतिभेदे,स्था०८ठा०।

गुरुगच्छवुड्ढिसील त्रि०(गुरुगच्छवृद्धिशील) आचार्यतच्छिष्यसमुदायोपचयकारणस्वभावे, जी०१ प्रति०।

गुरुगतर पुं०(गुरुकतर)चतुर्मासात्मके प्रायश्चित्ते,''गुरुगतरगो चउम्मासो'' गुरुकतरको भवति चतुर्मासपरिकर्मासपरिमाणः। व्य०२ उ०।

गुरुगति स्त्री०('गुरुगइ' शब्दार्थ, स्था०८ ठा०।

गुरुगदरिसण न०(गुरुकदर्शन) गुरुकाणि च प्रौढानि पयोधरनितम्बादीनि स्थूलोच्चत्वात् सुन्दराणि च यानि दर्शनानि च आकृतयस्तेषु, तं०।

गुरुगय त्रि०(गुरुगत) भागवततापसशाक्याद्याश्रिते मिथ्यात्वे, दर्श०।

गुरुगुणरहिय त्रि०(गुरुगुणरहित) मूलगुणवियुक्ते ''गुणगुणरहिओ अहिअं, दट्ठव्वो मूलगुणविउत्तो जो''। ध०३ अधि०। पञ्चा०।

गुरुगुरु पुं०(गुरुगुरु) पितामहस्थानीये गुरोः सम्बिन्धिनि,बृ०४उ०।

गुररुजण पुं०(गुरुजन) गुणस्थसाधुवर्गे, आव०३ अ०।

गुरुजणपूया स्त्री०(गुरुजनपूजा) गुरुजनस्य उचितप्रतिपत्तौ, ध०२ अधि०। गुरवश्च यद्यपि धर्म्माचार्या एवोच्यन्ते, तथाऽपीह मातापित्रादयोऽपि गृह्यन्ते। यदुक्तम्-''माता पिता कलाचार्याः, एतेषां ज्ञातयस्तथा॥ वृद्धा धर्मोपदेष्टारो, गुरुवर्गः सतां मतः''॥१॥ ध०२ अधि०। (विशेषस्त्वत्र 'गुरुपूया' शब्दे वक्ष्यते)

गुरुणिओग त्रि०(गुरुनियोग) गुरवो धर्म्माचार्य्यास्तेषां नियोगो व्यापारणं गुरुनियोगः। उत्त०४ अ०। पञ्चा०।

गुरुणिओगविणरहिय त्रि०(गुरुनियोगविनयरहित) मातापित्रादिषु नियोगे अवश्यतया कर्त्तव्येन विनयेन रहिते, भ०७ श०६ उ०।

गुरुणिग्गह पुं०(गुरुनिग्रह)मातापितृपारवश्ये गुरूणां चैत्यसाधूनां प्रत्यनीककृतोपद्रवे, उत्त०२ अ०।

अथ गुरुनिग्रहे कथा-

''भिक्षूपासकसूरेकः, श्राद्धपुत्रीमयाचत।
न दत्ते श्रावकः सोऽथ, साधून् शाठ्येन सेवते॥१॥
भावश्राद्धः क्रमाज्ज्ञात-स्ततः सद्भावमूचिवान्।
अतः श्राद्धेन पुत्री स्वा, दत्ता तां परिणीतवान्॥२॥
स्थितः पृथग्गृहं कृत्वा, कुरुते धर्ममार्हतम्।
पितरौ तस्य भिक्षूणां, चक्रतुर्भक्तमन्यदा॥३॥
ऊचे ताभ्यामेकशोऽद्य, वत्सेहि सौगतान्तिके।
स ययौ भिक्षुणा तस्या-भिमन्त्रितफलं ददे॥४॥
व्यन्तर्यधिष्ठितः सोऽथा, गृहायातोऽवदत्प्रियाम्।
भक्तं विधेहि भिक्षूणां, सा नैच्छत्प्रातिवेश्मिकैः॥५॥
साऽथा कारितवान् सर्वं, सा गुरुणामचीकथत्।
आर्पयद् गुरवस्तास्या-स्तद्विद्याछेदनौषधम्॥६॥
अथ सा पयसा सार्द्धं, तदपीप्यत्तदैव च।
नष्टा तद्यन्तरी दुष्टा, जातः स्वाभाविकोऽथ सः॥७॥
किमेतदिति तत्पृष्टे, कथिते प्रियया ऽखिले।
तत्प्रासुकान्नपानादि, साधुभ्यो दत्तवान् सुधीः''॥८॥

आह-तद्दाने को दोषः? उच्यते-तेषां तद्भक्तानां च मिथ्यात्वस्थिरीकरणं, धर्मबुद्ध्या तद्दानेसम्यक्त्वलाञ्छनम्, आरम्भदोषश्च। अनुकम्पया दद्यादपि। उक्तं च-''सव्वेहिं पि जिणेहिं, दुज्जयजिअरागदोसमोहेहिं। सत्ताणुकंपणट्ठा, दाणं न कहिंचि पडिसिद्धं''॥१॥ स्वयमपि च भगवन्तः सांवत्सरिकदानमनुकम्पया ददुः। ''संमत्तस्स समणोवासाएणं इमे पंच अइयारा जाणिअव्वा, न समायरिअव्वा। तं जहा-संका, कंखा, विजिगिच्छा, परपासंडपसंसा। परपाडसंडसंथवो। आ०क०''। (शङ्कादिषूदाहरणानि स्वस्वस्थाने)

गुरुणिवेण न०(गुरुनिवेदन) सर्वात्मना गुरा: प्रव्राजकस्या-ऽऽत्मसमर्पणे, ध०३ अधि०।

गुरुत्त न०(गुरुत्व) सर्वत्र गौरवलाभे, यो०बिं०।

गुरुदव्व न०(गुरुद्रव्य) गुरुयतिसत्केषु मुखवस्त्रिकासनादिषु, ध०२ अधि०।

गुरुदार पुं०(गुरुदार) ब०व०। पितृव्यकलाग्राहकोपाध्यायादीनां पूज्यानां स्त्रियाम्, अनु०।

गुरुदेववेयावच्च न०(गुरुदेववैयावृत्य) धर्मोपदेशकानामर्हतां च प्रतिपत्तिविश्रामणाभ्यर्थनादौ नियमे, ध०१ अधि०।

गुरुदेवाइपूयण न०(गुरुदेवादिपूजन) गुरुदेवादिपूजाविषये बहुमाने, यो०बिं०।

गुरुदेवोग्गहभूमि स्त्री०(गुरुदेवावग्रहभूमि) आचार्यदेवाश्रयभुवि, ''गुरुदेवोग्गहभूमी-ए जत्तओ चेव होति परिभोगो।'' पञ्चा०१२ विव०।

गुरुदोस पुं०(गुरुदोष)गुरुर्महान् दोषोऽशुभकर्मबन्धादिरूपो यस्मिन्नसौ गुरुदोषः। पापकृति, ''वयभंगो गुरुदोसो, थोवस्स वि पालणा गुणकरी उ।'' पञ्चा०५ विवरणे।

गुरुदोसारंभिता स्त्री०(गुरुदोषारम्भिता) गुरून् दोषान् प्रवचनोपघातकारिण आरब्धुं शीलमस्येति गुरुदोषारम्भी, तद्भावस्तत्ता। गुरुदोषकरणे, षो०१ विव०।

गुरुपडिणीय त्रि० (गुरुप्रत्यनीक) गुरुं प्रति ज्ञानाद्यवर्णवाद भाषणादिना प्रमिकूले, आतु०।

गुरुपडिवत्ति स्त्री०(गुरुप्रतिपत्ति) मातापितृधर्मोचार्यदेवतालक्षाणानां गुरूणामुचितपूजायाम्, ध०।

सा चेत्थं योगशास्त्रे-

''अभ्युत्थानं तदालोके-ऽभियानं च तदाऽऽगमे।
शिरस्यञ्जलिसंश्लेषः, स्वयमासनढौकनम्॥१॥
आसनाभिग्रहो भक्त्या, वन्दना पर्युपासनम्।
तद्यानेऽनुगमश्चेति, प्रतिपत्तिरियं गुरोः''॥२॥

दिनकृत्येऽपि-

''आसणेण निमंतेत्ता, तओ परिअणसंजुओ।
वंदए मुणिणो ताहे, खंताइगुणसंजुए''॥ध०२ अधि०। पञ्चा०।

गुरुपयसेवा स्त्री०(गुरुपदसेवा) षट्त्रिंशद्गुणसमन्विता गुरवस्तेषां पदानि चरणास्तेषां सेवा। गुरुचरणानां सम्यगाराधने, ध०२०।

गुरुपरंपरागम पुं०(गुरुपरम्परागम) तीर्थकृद्गणधराचार्यादिक्रमेण प्रवचनार्थागमे, अङ्ग०।

गुरुपरम्परागमवक्तव्यतेत्थम्-

तेणं अज्जसुहम्मसामिणा एवं वुत्ते समाणे हट्ठतुट्ठचित्तमाणंदिए जंबू एवं वयासी-कहं णं भंते! गुरुपरंपरागमो भणइ? जंबू! समणेणं भगवया महावीरेणं तओ आगमा पण्णत्ता। तं जहा-अंतागमे, अणंतरागमे, परंपरागमे। अत्थओ अरहंताणं भगवंताणं अंतागमे। सुत्तओ गणहराणं अंतागमे। गणहरसीसाणं अणंतरागमे। तओ परं सव्वेसिं परंपरागमे। अङ्ग०।

गुरुपरिवार पुं०(गुरुपरिवार) साधुवर्गे, ''गुरुपरिवारो गच्छो, तत्थ वसंताण णिज्जरा बहुला।'' पं० व०३ द्वार।

गुरुपरतंत त्रि०(गुरुपरतन्त्र) ज्ञानिनिश्रावर्ति, द्वा,,२७ द्वा०।

गुरुपरिवार पुं०(गुरुपरिवार) साधुवर्गे, ''गुरुपरिवारो गच्छो, तत्थ वसंताण णिज्जरा बहुला।'' पं०व०३ द्वार।

गुरुपारतंत न०(गुरुपारतन्त्र्य) ज्ञानाधिकाचार्याऽऽयत्तत्वे, पञ्चा०११ विव०। षो०। ''तत्थ गुरुपारतंतं, विणओ सज्झायसारणा चेव'' पञ्चा०१८ विव०।

गुरुपुच्छा स्त्री०(गुरुपृच्छा) रत्नाधिकप्रश्ने, ''गुरुपुच्छाए णिओगकरणं'' पञ्चा०१२ विव०।

गुरुपूयण न०(गुरुपूजन) भक्तपानवस्त्रप्रणामादिभिरभ्यर्चने, हा०२४ अष्ट०।

गुरुपूया स्त्री०(गुरुपूजा) वाचनाऽऽचार्यपूजायाम्, श्रा०।

आह गुरू पूयाए, कायवहो होइ जइ वि हु जिणाणं।
तह वि तई कायव्वा, परिणामविसुद्धिहेऊओ ॥३४६॥

आह गुरुरित्युक्तवानाचार्यःपूचायां क्रियमाणायां कायवधः पृथव्याद्युपमर्दो यद्यपि भवत्येव जिनानां रागादिजेतृणामित्यनेन तस्याः सम्यग्विषयमाह-तथाऽप्यसौ पूजा कर्त्तव्यैव। कुतः? परिणामविशुद्धिहेतुत्वादिति॥३४६॥ श्रा०। गुरुपूजासत्कं सुवर्णादि द्रव्यं गुरुद्रव्यमुच्यते, नवा ?॥१०॥ प्रागेवं पूजाविधानमस्ति, न वा?॥११॥कुत्र चैतदुपयोगीति प्रसाद्यम्?॥१२॥ इति प्रश्नत्रये उत्तरम्गुरुपूजासत्कं सुवर्णादि गुरुद्रव्यं न भवति, स्वनिश्रायामकृतत्वात्। स्वनिश्राकृतं च रजोहरणाढयं गुरुद्रव्यमुच्यते इति ज्ञायते ॥१०॥ हेमाचार्याणां कुमारपालराजेन सुवर्णकमलैः पूजा कृताऽस्ति, एतदक्षराणि कुमारपालप्रबन्धेसन्ति॥११॥ ''धर्मलाभ इति प्रोक्ते, दूरादुच्छ्रितपाणये। सूरये सिद्धसेनाय,ददौ कोटिं नराधिपः''॥१॥ ही०३ प्रका०।

गुरुपूयाकरणरइ त्रि०(गुरुपूजाकरणरति)गुरवः पूज्या लौकिका लोकोत्तराश्च। तत्र लौकिकाः पित्रादयो वृद्धाश्च, लाकोत्तरा धर्माचार्यादयः, तेषां पूजाकरणे रतिर्यस्य। गुरूणां यथोचितविनयादिविधौ शक्तिमति, दर्श०।

गुरुप्पवेस पुं०(गुरुप्रवेश) गुरुणामुपदेशदानाय ग्रामादिप्रवेशे, ध०। तत्र गुरुप्रवेशोत्सवः सर्वाङ्गीणप्रौढाऽऽडम्बरचतुर्विधश्रीसङ्घ संमुखगमनश्रीगुर्वादिसङ्घसत्कारादिना यथाशक्ति कार्यः। यतः-''अभिगमणवंदणनमंसणेण'' इत्यादि। ध०२ अधि०।

गुरुफासणाम न० (गुरुस्पर्शनामन्) स्पर्शनामभेदे, यदुदयाज्जन्तुशरीरं वज्रादिवद् गुरु भवति। कर्म०१ कर्म०।

गुरुभत्त त्रि०(गुरुभक्त) गूरवः पूज्याः, तेषु भक्तो गुरुभक्तः। गुरुबहुमानानि, षो०१२ विव०।

गुरुभत्ति स्त्री०(गुरुभक्ति) गृणातिशास्त्रार्थमिति गरुः। आह च- ''धर्मज्ञो धर्मकर्त्ता च, सदा धर्मपरायणः। सत्त्वेभ्यो धर्मशास्त्रार्थदेशको गुरुच्यते''॥१॥ तस्य भक्तिः। गुरुबहुमाने, हा०३ अष्ट०। गुरवो मातापितृधार्माचार्यादयः, तेषां भक्तिः। मातापित्रादीनामासनादिप्रतिपत्तौ, कर्म०१। धर्माचार्यबहुमाने, पञ्चा०२ विव०।

गुरुभाव पुं०(गुरुभाव) गुरुरयं गुणात्मकत्वादित्येवंरूपेऽध्यवसाये, गुरुत्वे गौरवार्हत्ये च। स०।

गुरुमहत्तर पुं०(गुरुमहत्तर) गुर्वोमातापित्रोर्गहत्तराः पूज्याः, अथवागौरवार्हत्वेन गुरवो महत्तराश्च वयसा वृद्धत्वाद ये ते गुरुमहत्तराः। गुर्वोगौरवार्हत्वेन वा महत्तरेषु, गुरुषु महत्तरेषु च। स्था०१० ठा०।

गुरुमुह न०(गुरुमुख) सूरिवन्दने, ''जत्ताविहाणमेयं, णाऊणं गुरुमुहाउ धीरेहिं।'' पञ्चा०११ विव०।

गुरुमूल न०(गुरुमूल) गुरोराचार्यस्य मूलमन्तिकम्। ध०२ अधि० पञ्चा०। कलाचायाद्रदेः समीपे, आ०म०प्र०। ''गुरुमूले निवसंता, अणुकूला जे न हुंति उ गुरूणं॥ एएसिं तु पयाणं, दूरं दूरेण ते हुंति'' ॥५३॥ आव०४ अ०।

गुरुय न०(गुरुक) अधो गमनस्वभावे, वज्रादेरिव स्पर्शभेदे, विशे०। स्था०। ''इड्ढिरससायगुरुए णं भोगासंसगिद्धेणं।'' स्था०२ ठा०२ उ०। गुरुकर्मणि, सूत्र०१ श्रु०११ अ०।

गुरुयण पुं०(गुरुजन) धर्माचार्ये, पञ्चा०११ विव०।

गुरुयणपूया स्त्री०(गुरुजनपूजा)मातापितृधर्माचार्यादिपूजने, पञ्चा०५ विव०

गुरुयलहुय न०(गुरुलघुक) तिर्यग्गामिवायुज्योतिष्कविमानादिके, गुरुलघूभयस्वभावे द्रव्ये, विशे०। आ०म०। भ०। स्था०।('अगुरुलहुय' शब्दे प्रथमभागे १५७ पृष्ठे वक्तव्यता)

गुरुयसिरिमोहरायआणापरवस त्रि०(गुरुकश्रीमोहराजाज्ञापरवश) महाज्ञाननृपतिशासनाऽऽयत्ते, जी०१ प्रति ०।

गुरुलाघव न०(गुरुलाघव) गुरु च सारं, लघु चासारं, तयोर्भावो गुरुलाघवम्। प्रव०४ द्वार। सारेतरताविभागे, पञ्चा०११ विव०।

गुरुलाघवचिंता स्त्री०(गुरुलाघवचिन्ता) सारेतरालोचने, पञ्चा०१८ विव०।

गुरुल्लाव पुं०(गुरूल्लाप)**''ह्रस्वः संयोगे दीर्घस्य''॥८।१।८४॥** इति मध्योकारस्य ह्रस्वः। गुरुसंबन्धिन्युल्लापे, प्रा०१ पाद।

गुरुवग्ग पुं०(गुरुवर्ग) गौरववल्लोकसमुदाये, ''माता पिता कलाचार्यः एतेषां ज्ञातयस्तथा। वृद्धा धर्मापदेष्टारो, गुरुवर्गः सतां मतः''॥१॥ द्वा०। षो०। ध०।

गुरुवय न०(गुरुवचस्) सूरिभणिते, जी०१ प्रति०।

गुरुवचन न०(गुरुवचन) रत्नाधिकाज्ञायाम्, पञ्चा०।

गुरुआएसेणं वा, जोगंतरगं पि तदहिगं तमिह।
गुरुआणाभगम्मि, सव्वेऽणत्था जओ भणितं॥४५॥

गुर्वादिशेन रत्नाधिकाऽऽज्ञया 'वा' शब्दो विकल्पार्थः। योगान्तरमपि स्वभूमिकासदृशयोगादर्थकथनादरेन्यो योगो व्यापारोग्लानप्रतिजारणादि योगान्तरम् तदेव योगान्तरकम्, तदपि, आस्तां स्वभूमिकासदृशयोगम्। यः करोति तस्यानुबन्धभावविधिरिति प्रक्रमः। कस्मादेवमिति? अत आह-तस्मात्स्वभूमिकासदृशयोगादर्थकथनादेरधिकं प्रधानतरं तद-धिकम्, पुष्टालम्बनवेदिभिर्गुरुभिरुपदिष्टत्वात्। तदिति योगान्तरंग्लानप्रतिचरणादिः। इह प्रक्रमे। अथ स्वभूमिकांचित एव योगीवि-

धेयः, किं गुर्वादेशात्तेन कृतेनेति? अत्राह-गुर्वाज्ञाभङ्गे धर्माचार्यादेश-विराधने, सर्वे समस्ताः, अनर्था अपाया भवन्ति। एतदेव कुत इति ?, आह-यतो यस्मात्कारणात् भणितमुक्तमागमे, गुर्वाज्ञाभङ्गेऽनर्थप्रतिपा-दनपरं वचनम्। इति गाथार्थः॥४५॥

तदेव वचनं दर्शयन्नाह-

छट्ठट्ठमदसमदुवा-लसेहिँ मासद्धमासखमणेहिं।
अकरिंतो गुरुवयणं, अणंतसंसारिओ होति ॥४६॥

षष्ठाष्टमदशमद्वादशैः क्रमेणोपवासद्वयादिस्वरूपैः। तथा-मासाद्ध-मासक्षपणैः प्रसिद्धैः। इह व्यक्त्यपेक्षं बहुवचनम्।इह च युक्तोऽपीति शेषो दृश्यः। अकुर्वन्ननाचरन्, गुरुवचनं रत्नाधिकाज्ञाम्, अनन्तसंसारिकोऽ-नन्तभवभ्रमणयुक्तो, भवति जायते। यतः-संविग्नगीतार्था गुरवो भवन्ति, ते चाऽऽप्तोपदिष्टमेवादिशन्ति, आभिनिवेशिकं च तदकरणं मिथ्यात्वो-दयादेव, तदुदयाच्चानन्तसंसारिकत्वं, यदुत्कृष्टतपश्चरणवतोऽपि भवति तन्नाद्भुतम्। इति गाथार्थः॥४६॥ पञ्चा०५ विव०। जी०।

गुरुवरणाणुसार (गुरुवचनानुसार) गुरवो जिनादयः, तेषामुपदेश आज्ञा, तस्यानुसार आनुरूप्यं गुरूपदेशानुसारः। आज्ञाकल्पे, पञ्चा०१३ विव०।

गुरुवयणोवगय त्रि०(गुरुवचनोपगत) गुरोः सकाशाद् वचनमुपयाते, विशे०। अनु०। गुरुप्रदत्तया वाचनया प्राप्ते, ग०२ अधि०।

गुरुविणय त्रि०(गुरुविनत) संसारोत्तरणोपायोपदेशकेषु प्रणते, पञ्चा०१७ विव०।

गुरुविनय पुं० गुरोर्बहुमानादौ, षो०।

गुरुविनयस्वरूपमाह-

औचित्याद् गुरुवृत्ति-र्बहुमानस्तत्कृतज्ञताचिताचित्तम्॥
आज्ञायोगस्तत्स-त्यकरणता चेति गुरुविनयः॥२॥

औचित्यादौचित्येन पुरुषभूमिकापेक्षया गुरुवृत्तिर्गुरुषु वर्त्तनं वैयावृत्यद्वारेण बहुमान आन्तरः प्रीतिविशेषो भावप्रतिबन्धः सदन्तःकरणलक्षणो न मोहो, मोहो हि ससङ्गप्रतिपत्तिरूपः शास्त्रे निवार्यते, गुरुषु गौतमस्नेहप्रतिबन्धन्यायेन तस्य मोक्षं प्रत्यनुपकार-कत्वात्। मोक्षानुकूलस्य तु भावप्रतिबन्धस्या-निषेधात्ततः सकल कल्याणसिद्धेः यो हि गुरुकृतमुपकारमात्म विषयं विशिष्टविवेकसंपन्नतया जानाति। यथाऽस्मास्वनुग्रहप्रवृत्तैः स्वकीयक्लेशनिरपेक्षतया रात्रिन्दिवं महान् प्रयासः शास्त्रध्ययनपरिज्ञानविषयः प्रभूतं कालं यवत् कृत इति स कृतज्ञ उच्यते। अथवा-अल्पमप्युपकारं भूयांस मन्यते। अथवा-कृताकृतयोर्लोकप्रसिद्धयोर्विभागेन कृतस्य मतिपाटवाद्विशेषविषयं स्वरूपं परिच्छिनत्ति, न पुनर्जडतया कृतमपि साक्षात्प्रणालिकया वा न वेत्ति, ततस्तद्भावः कृतज्ञता, तेषु गुरुषु कृतज्ञतासहितं चित्तं तत्कृतज्ञताचित्तम्। आज्ञायोगः आज्ञानियोगः शासनम्। यथा राजाऽऽज्ञा राजशासनं, तस्या योग उत्साहस्तया वा आज्ञया योगः संबन्धः आज्ञां दत्तां न विफलीकर्तुमिच्छति। तत्सत्यकरणता चेति तेषां गुरूणां तेषां गुरूणां सत्यकरणता यत् तैरुक्तं तत्त थैव तषु विद्यमानेषु स्वभूयमापन्नेषु वा संपादयात्येवं तद्वचः। सत्यं कृतं भवति। इति गुरुविनयः। एवमेते सर्वेऽपि प्रकारा औचित्यात् गुरुवृत्त्यादयो गुरुविनयो भवति प्रागुक्तः। षो०१३ विव०।

गुरुविनयस्य किं मूलम् इति? आह-

सिद्धान्तकथा सत्स-ङ्गमश्च मृत्युपरिभावनं चैव।
दृष्कृतसुकृतविपाका-लोचनमथ मूलमस्याऽपि ॥१५॥

''सिद्धान्तेत्यादि'' सिद्धान्तकथा स्वसमयकथा सत्सङ्गमश्च सत्पुरुषसंपर्कश्च, मृत्युपरिभावनं चैवावश्यंभावी मृत्युरिति। यथोक्तम्-''नरेन्द्रचन्द्रेन्द्रदिवाकरेषु, तिर्यङ्नुष्यामरनारकेषु। मुनीन्द्रविद्या-धरकिन्नरेषु, स्वच्छन्दलीलाचरितो हि मृत्युः''॥१॥ इति दुष्कृतानां पापानां, सुकृतानां च पुण्यानां, विपाकोऽनुभावः, तदालोचनं तद्विचारणं हेतुफलभावद्वारेण, अथाऽनन्तरं मूलं कारणमस्यापि गुरुविनयस्य सर्वमेतत्समुदितम्॥१५॥

अधुना गुरुविनयसहितस्य प्रतिपादितमूलस्याऽऽदेयतामु-पदर्शयन्निदमाह-

एतस्मिन् खलु यत्नो, विदुषा सम्यक् सदैव कर्तव्यः।
आमूलमिदं परमं, सर्वस्य हि योगमार्गस्य ॥१६॥

''एतस्मिन्नित्यादि'' एतस्मिन् खलु एतस्मिन्नेव प्रागुक्ते सिद्धान्त-कथादौ, यत्न आदरो, विदुषा विचक्षणेन, सम्यक् संगतः सदैव सर्वकालमेव कर्त्तव्यो विधेयः। आमूलमभिव्याप्त्या कारणमिदं सिद्धान्तकथादि, परमं प्रधानं, सर्वस्य हि योगमार्गस्य सकलस्य योगवर्त्मनो यतो वर्तते॥१६॥ षो०१३ विव०।

गुरुविनयफलं प्रतिपादयन् गुरुविनयमाह-

जो गिण्हइ गुरुवयणं, भन्नंतं भावओ पसन्नमणो।
ओसमिव पिज्जंतं, तं तस्स सुहावहं होइ॥
पुव्वेहिँ चोइया पुर-कएहि सिरिमायणं भवियसत्ता।
गुरुमागमेसि भद्दा, देवयमिव पज्जुवासंति॥
बहुसोक्खसयसहस्सा-ण दायगा मोयगा दुहसयाणं।
महा०५ अ०।

गुरुवी स्त्री०(गुर्वी) ''**तन्वीतुल्येषु**'' ॥८।२।११३॥ इत्यन्त्यव्यञ्जन-स्योकारः। गुरुत्वविशिष्टे स्त्रीत्वविशिष्टेऽर्थे, गर्भवत्याम्, प्रा०२ पाद।

गुरुवेगकड त्रि०(गुरुवेगकृत) मातापितृचित्तसन्तापकारिणि, हा,२५ अष्ट०।

गुरसइ स्त्री०(गुरुस्मृति) धन्यास्ते ग्रामनगरजनपदादयो येषु मदीय धर्माचार्या विहान्तीति। गुरुस्मरणे, ध०२ अधि०।

गुरुसक्खिय न०(गुरुसाक्षिक) गुरुं साक्षिणं कृत्वा कृते, ध०। त्रिविधं हि प्रत्याख्यानकरणम्-आत्मसाक्षिकम् १, गुरुसाक्षिकम् २, देवसाक्षिकम् ३ चेति। गुरोः पार्श्वे प्रत्याख्यानं कार्यमेव। उक्तं च-''प्रत्याख्यानं यदासीत्तत्करोति गुरुसाक्षिकम्। विशेषेणार्थं गृह्णाति, धर्मोऽसौ गुरुसाक्षिकम्''॥१॥ गुरुसाक्षिकत्वे हि दृढता भवति प्रत्याख्यान-परिणामस्य। ''गुरुसक्खिओ हु धम्मो धर्म०२ अधि०।

गुरुसज्झिल्लग पुं०(गुरुसहाध्यायिक) गुरूणां सहाध्यायिनि पितृव्यस्थानीये, बृ०४ उ०।

गुरुसाहम्मियसुस्सूसणया स्त्री०(गुरुसाधर्मिकशुश्रूषणता) तत्त्वोदेष्टुः समानधर्मकर्तुश्च सेवायाम्, उत्त०२९ अ०। दीक्षाद्याचार्याणां साधर्मिकाणां च सामान्यसूधूनां शुश्रुषणतायाम्, भ०१ श०९ उ०।

गुरुशुश्रूषणताफलं प्रष्टुकामः शिष्य आह-

गुरुसाहम्मियसुस्सूसणयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ? गुरुसाहम्मियसुस्सूसणयाए णं विणयपडिवत्तिं जणयइ । विणयपडिवन्ने य णं जीवे अणच्चासायणसीले नेरइयतिरिक्खजोणियमणुस्सदेवकुग्गईओ निरुम्भइ, वन्नसंजलण-भत्तिबहुमाणयाए मणुस्सदेवस सुग्गईओ निवन्धइ, सिद्धिसुगइं च विसोहेइ, पसत्थइ च णं विणयमूलाइं सव्वकज्जाइं साहेइ, अन्ने य बहवे जीवे विणयइता भइ ॥४॥

हे भगवन् ! गुरूणामाचार्याणां साधर्मिकाणां एकधर्मवतां शुश्रूषया सेवनया जीवः किं जनयति ? तदा गुरुराहगुरुसाधर्मिकशुश्रूषया विनयप्रतिपत्तिं विनयधर्मस्याराधतां विनयाङ्गीकारत्वं जनयति। विनयं प्रतिपन्नः प्रतिप्रन्नविनयोऽङ्गीकृतविनयो जीवः अनत्याशातनाशीलः सन् आचार्यादीनाम् अभक्तिनिन्दाहीलाऽवर्णवादाद्याशातनानिवारकः सन् नरकतिर्यक्योनिं, तथा मनुष्यदेवयोः कुगतिं च रुणद्धि निषेधयति, आचार्याणामत्याशातनानिवारको नरो नरकयोनौ नात्पद्यते, तिर्यग्योनौ च नोत्पद्यते, मनुष्येषु कुयोनौ म्लेच्छादौ, देवेषु कृयौनौ किल्बिषिकादौ नोत्पद्यते। तथा पुनर्वर्णसंज्वलनभक्तिबहुमानतया मानवेषु उच्चैः कुलेषु सर्वसुखभाक् मनुष्यः स्यात्, वर्ण्णः श्लाघा, तेन वर्णेन संज्वलनं गुणप्रकटीकरणं वर्णसंज्वलनं, भक्तिरभ्युत्थानादिका, बहुमानोऽभ्यन्तरप्रीतिविशेषः । वर्णसंज्वलनं च भक्तिश्च बहुमानश्च वर्णसंज्वलनबहुमानाः, तेषां भावो वर्णसंज्वलनबहुमानता, तया वर्णसंज्वलनबहुमानतया पुमान् भवेत्, यस्य गुणश्लाघाभक्ति-प्रीतयः सर्वैः क्रियन्ते, तादृगुत्तमकुलप्रसूतो नरः स्यादित्यर्थः । देवोऽपि च महार्द्धिकः स्यात् च पुनः, स सिद्धिं सद्गतिं च मोक्षरूपां समीचीनगतिं च विशेषेण शोधयति, प्रशस्तानि च विनयमूलानि श्रुतज्ञानादीनि सर्वाणि धर्मकार्याणि शोधयति । स च स्वयं विनयमूलं सर्वकार्यशोधकः सन् अन्यान् अपि बहून् जीवान् विनेता विनयग्राहयित भवति । उत्त०२९ अ०। गुरूणां शुश्रूषणं पर्युपासनं, तेन विनयप्रतिपत्तिमुचितकर्तव्यकरणाङ्गीकाररूपां जनयति, 'विनयपडिवण्णे' इति प्राग्वत्। प्रतिपन्नोऽङ्गीकृतो विनयो येन स तथा। च: पुनरर्थे, जीवः (अणच्चासायणासीले त्ति) अतीवायं सम्यक्त्वादिलाभं शातयति विनाशयतीत्याशातना, तस्याः शीलं तत्करणस्वभावान्तकस्येत्याशतिनाशालो, न तथाऽनत्याशातनाशीलः । कोऽर्थः? गुरुपरिवादादिपरिहारकृदेवंविधश्च नैरयिकतिर्यग्योनिकमनुष्यदेवदुर्गतिरिति, नैरयिकाश्च तिर्यञ्चश्च नैरयिकतिर्यञ्चः, तेषां योनिः, स्वार्थिके कनि नैरयिकः । तिर्यग्योनिनैरयिके प्रतीते, मनुष्यदेवदुर्गती च म्लेच्छकिल्विषिकत्वादिलक्षणे, निरुणद्धि निषेधति, तद्धेतोरत्याशातनाया अभावेन तत्रागमनात्। तथा वर्ण श्लाघा, तेन संज्वलनं गुणोद्भासनं वर्णसंज्वलनं, भक्तिरञ्जलिप्रग्रहादिका, बहुमानः आन्तरः प्रीतिविशेषः, एषां द्वन्द्वे भविप्रत्ययं च वर्णसंज्वलनभक्तिबहुमानता, तया, प्रक्रमाद् गुरूणां विनयप्रतिपत्तिरूपया (माणुस्सदेवसुगइउ त्ति) मानुष्यदेवसुगती विशिष्टकुलेश्वर्येन्द्रत्वाद्युपलिक्षते निबध्नाति, तत्प्रायोग्यकर्मनिबन्धनेनेति भावः। (सिद्धिसुगइं च त्ति) सिद्धिसुगतिं च विशोधयति। तन्मार्गभूतसम्यग्दर्शनादिविशोधनेन प्रशस्तानि च प्रशंसाऽऽस्पदानि विनयमूलानि विनयहेतुकानि सर्वकार्याणीह श्रुतज्ञानादीनि परत्र च मुक्तिं साधयति निष्पादयति। तत् किमेवं स्वार्थसाधकः एवासावित्याह अन्यांश्च बहून् जीवान् विनेता विनयं ग्राहयिता, स्वयं सुस्थितस्योपादेयवचनत्वात्। तदुक्तम्-''दिट्ठिओ ट्ठावए परं ति'' तथा च विनयमूलत्वादशेषश्रेयसां तत्प्रापणेन परार्थसाधकोऽप्यसौ भवत्येवेति भावः ॥ उत्त०२९०अ० (पाईटीका)

गुरुसुस्सूसग पुं०(गुरुशुश्रूषक) आराध्यवर्गस्य शूश्रूषां कुर्वति, साम्प्रतं गुरुशुश्रूषक इति पञ्चमं भावश्रावकमाह-

सेवाइ कारणेण य, संपायण भावओ गुरुजणस्स ।
सुस्सूसणं कुणंतो, गुरुसुस्सूसो हवइ चउहा ॥४६॥

सेवया पर्युपासनेन १, कारणेन अन्यजनप्रवर्त्तनेन २, संपादनं गुरोरौषधादीनां प्रदानम् ३ भावश्चेतावबहुमानः ४ तावाश्रित्य संपादनभावतः गुरुजनस्याराध्यवर्गस्य, शुश्रूषां कुर्वन् गुरुश्रूषको भवतीति। (ध०२०) इह यद्यपि गुरवो मातापित्रादयोऽपि भण्यन्ते, तथाऽप्यत्र धर्मप्रस्तावादिह धर्माचार्यादय एव प्रस्तुता इति। ध०२०।

सेवइ कालम्मि गुरुं, अकुणंतो झाणजोगवाघायं ॥५०॥

सेवते पर्युपास्ते, कालेऽवसरे, गुरुं पूर्वोक्तस्वरूपं, कथमकुर्वन् ध्यानं धर्म्मध्यानादि, योगाः प्रत्युपेक्षणावश्यकादयः, तेषां व्याघामन्तरायं, जीर्णश्रेष्ठिवत्। ध०२०। (तत्कथा-''जिण्णसेट्ठि' शब्दे वक्ष्यते)

गुरुसुस्सूसण न०(गुरुशुश्रूषण) मातापितृपरिचरणे, ''प्रारम्भमङ्गलं ह्यस्या गुरुशुश्रूषणं परम्।'' हा०२५ अष्ट०।

गुरुसुस्सूसा स्त्री०(गुरुशुश्रूषा) गुरुपरिचर्यायाम्, दर्श०।

गुरुशुश्रूषा पुनस्त्रिविधा-

''गरुसुस्सूसा तिविहा, सेवासंपाडणेण नायव्वा।
इहलोयगुरु पियंरो, ताणं सुस्सूषणं कुणइ ॥
आहारवत्थपत्ता-इएसु उज्जमइ इच्छियारेसु।
भवे उ ताणमवकू-लमवसरे जयइ किच्चेसु ॥
अहवा वि गुरु सम्म-त्तराहगा तेण होइ तिविहा वि।
नवरं कालोनया, तिविहा वि सुहाणुबंधफला ॥
काले सुणेइ पुच्छइ, पढइ य विस्सामणाइ पकरेइ।
वाहाविवज्जणट्ठा, साहूणं सव्वकालम्मि ॥
आहारवत्थपत्ता-इयाइ सइ एसणीए निच्चं पि।
ढोएइ मण हु चित्तो, विसेसओ पत्तकालम्मि ॥
इंताणं संमुहो जाइ, गच्छंताणमणुव्वए।
गुरूणं पायमूलम्मि, चिट्ठई कयपंजली ॥''दर्श०।

गुल पुं०(गुड) इक्षुरसक्काथे, आव०६ अ०। प्रज्ञा०। गुडो द्विधा, द्रवपिण्डभेदात्। स्था०९ ठा०। औ०। ''खंडगुलमच्छंडमाईणं'' अनु०। ''वर्षासु लवणममृतं, शरदि जलं

गोपयश्च हेमन्ते ॥ शिशिरे चामलकरसो, ध्तं वसन्ते गुडश्चान्ते''॥१॥ सूत्र०१ श्रु०८ अ०१ उ०। स्नुहीवृक्षे, स्त्र०। टाप्।वाच०।

गुलकय त्रि०(गुमकृत्) गुडसंस्कृते, प्रश्न०५ सम्ब० द्वार।

गुलगुंछ धा०(उद् -नमि) धा०। ऊर्ध्वं नयने, **''उन्नमेरुत्थङ्गोल्लालगुलगुञ्छोप्पेलाः''॥८।४।३६॥** इति प्यन्तस्योन्नमेर्गुलगुच्छाऽऽदशः। 'गुलगुञ्छइ' उन्नमयति। प्रा०४ पाद।

गुलगुत्राइय न०(गुलगुलायित) गुलगुलेतिशब्दानुकरणम्। ततः प्रत्ययः। हस्तिशब्दे, जं०५ वक्ष०। अनु०।

गुलपाणिय न०(गुडपानीय) गुडाधारस्थे जले, स०१ सम०। ''गुलो जीए कवल्लीए कड्ढिज्जति, तत्थ जं पाणियं कयं तत्तम तत्तं वा, तं गुलपाणियं भण्णति'' नि०चू०२ उ०। तच्च गुडनिर्विकृतिकम्। ध०२ अधि०।

गुलल धा०(कृ) चाटुकरणे, **''चाटौ गुललः''॥८।४।७३॥** चाटुविषयस्य कृगो गुलल इत्यादेशः। गुललइ। चाटुकरोतीत्यर्थः। प्रा०४ पाद।

गुललावनिया स्त्री०(गुडलापनिका) लोकप्रसिद्धायां (गुललापसयी) गुलपर्पटिकायां, गुडधानेषु वा। सू०पं००२० पाहु०। स्था०। भ०।

गुललै (देशी) चाटुकरोति, दे०ना०२ वर्ग।

गुलं (देशी) चुम्बने, दे०ना०२ वर्ग।

गुलिय स्त्री०(गुटिका) वटिकायाम्, उत्त०३ अ०। स्था०। आ०म०। अनु०। वर्णद्रव्यविशेषे, औ०। ज्ञा०। द्रव्यसंयोगनिष्पादितगोलिकायाम्, ज्ञा०१ श्रु०१३ अ०। रा०। मुखप्रक्षेपकस्य रूपपरावर्तादिकारिकायां गुटिकायाम् पिं। उत्त०।

गुलिका स्त्री०(गुटि का) तुम्बरवृक्षचूर्णगुटिकायाम्, वृ०१ उ०। नालिकायाम्, औ०। पीडिकायाम्, जी०३ प्रति०।

गुलुइय त्रि०(गुल्मित)सञ्जातगुल्मके, गुल्मकं च लतासमूहः। जं०१ वक्ष०। गुल्मवति, औ०। ज्ञा०। गुलगुलेत्यनुकरणशब्दः, ततः प्रत्ययः। हस्तिशब्दे, रा०। जं०।

गुलगुंछिअ (देशी)-वृत्यन्तरिते, दे०ना०२ वर्ग।

गुलुच्छ (देशी)-भ्रमिते, दे०ना०२ वर्ग।

गुवंत त्रि०(गुप्यत्) व्याकुलीभवति, 'गुप्' व्याकुले इति वचनात्। भ०१५ श०१ उ०।

गुवल न०(कुवलय) नीलोत्पले, ''मुद्दियगुवलयनिहाणुं'' न०।

गुविय त्रि०(गुप्त) व्याकुलीभूते क्षुब्धे, स्था०३ ठा०४ उ०।

गुविल त्रि०(गुपिल) गहने, नि०चू०२ उ०। गम्भीरे, बृ०३ उ०। आ०म०।

गुव्विणी स्त्री०(गुर्विणी) सगर्भायाम् ध०३ अधि०। आपन्नसत्त्वायाम्, पिं। गर्भवत्याम् दश०५ अ०। ''तस्स भद्दा भारिया गुव्विणी'' आ०म०द्वि०।

गुहंधयारालोय पुं०(गुहान्धकारालोक) तमोग्रन्थिभेदानन्दे, ल०।

गुहा स्त्री०(गुहा) पर्वतकन्दरायाम्, प्रश्न०१ आश्र० द्वार। जं०। स्था०। गुहास्तमिस्रगुहादयः। नं०। सुरङ्गायाम्, दशा०७ अ०। सिंहपुच्छीलतायाम्, शालपर्ण्याम्, अकृत्रिमे देवखाते, हृदये, बुद्धौ, गुहभावे भिदा अङ्। संवरणे, स्त्री०। वाच०।

गूढ त्रि०(गूढ) प्रच्छन्ने स०३० सम०। गुप्ते, अनुपलक्ष्ये, नि०चू०१० उ०। औ०। विशे०। प्रकटवृत्त्याऽज्ञायमाने, प्रव०४ द्वार। कथमप्युद्वेष्टयितुमशक्येऽति प्रचयमापन्ने, विशे०। ''प्रकाशयच्च लोके मे० गुढगर्भाऽभवत प्रिया'' आ०क०। ''सुसिलिट्ठगूढगोप्फा'' गूढौ मांसलत्वाद् अनुपलक्ष्यावङ्घ्रल्यौ गुल्फौ घुण्टके येषां ते तथा। प्रश्न०४ आश्र० द्वार।

गूढचोर पुं०(गूढचोर) प्रच्छन्नचौरे, प्रश्न०३ आश्र० द्वार।

गूढत्थ त्रि०(गूढार्थ) गूढो गुप्तोऽनवगम्यमानोऽर्थो यस्य तद् गुढार्थम्। अप्रकाशपाठे, विशे०।

गूढदंत पुं०(गूढदन्त) विद्युन्मुखस्य परतोऽन्तर्द्वीपे, प्रज्ञा०१ पद। न०। प्रव०। उत्त०। स्था०। भरतवर्षे भविष्यति द्वितीयचक्रिणि, ती०२१ कल्प। श्रेणिकस्य धारिण्यां जाते पुत्रे, स च वीरजिनान्तिके प्रव्रजितः मृत्वा वैजयन्ते उत्पन्नः, इत्यनुत्तरोपपातिकदशानां द्वितीयवर्गे चतुर्थाध्ययने सूचितम्। अनु०। ('अुतरदीव' शब्दे प्रथमभागे ८६ पृष्ठेऽस्य वक्तव्यतोक्ता)

गूढमुत्तोलि स्त्री०(गूढमूत्रावलि) अपवित्रे रामाभगे, पुंश्चिह्ने च। तं०।

गूढसिराग त्रि०(गूढशिराक) अलक्ष्यमाणशिराविशेषे, प्रव०४ द्वार। प्रज्ञा०।

गूढहियय त्रि०(गूढहृदय) अलक्ष्याभिप्राये, कर्म०। यो हि उदायिनृपमारकादिवत्तथाऽऽत्माभिप्रायं सर्वथैव निगूहति यथा नाऽपरः कश्चिद्वेत्ति। कर्म०१ कर्म०।

गूढायार त्रि०(गूढाचार) गूढो मायाग्रन्थिगुपिल आचारः प्रवृत्तिर्यस्य स गूढाचारः, गूढ आचारो योषां ते गूढाचाराः। गलकर्त्तकग्रन्थिच्छेदादिषु, सूत्र० २ श्रु०२ अ०।

गुढायारि(ण्) त्रि०(गूढाचारिन्) प्रच्छन्नाऽऽचारयति, स०३० सम०। ''गूढायारी निगूहिज्जा'' सूत्र०२ श्रु०२ अ०।

गुढावत्त पुं०(गूढावर्त्त) गूढाश्चासावावर्त्तश्च गूढावर्त्तः। गेन्दुकदवरकस्य दारुग्रन्थादेर्वा आवचर्त्तने, स्था०४ ठा०४ उ०।

गुह न०(गूथ) गूथ-कः। अर्द्धर्चा०। विष्ठायाम्, तं०।

गुहण न०(गूहन) स्वरूपस्य गोपायने मायाविशेषे भ,१२ श०५ उ०। तदात्मके तोहनीयकर्मणि, स ५२ सम०।

गूहमाण त्रि०(गूहमान) गोपायति० ज्ञा०१ श्रु० अ०।

गृण्ह धा०(ग्रह) उपादाने, **''ग्रहेर्गृण्हः''॥८।४।३६४॥** इत्यपभ्रंशे ग्रहेर्धातोर्गृण्ड इत्यादेशः। ''पढ गृण्हाप्पणु ब्रतु'' प्रा० ४ पाद।

गे पुं०(गै) शब्दे गीते च। गैः पुमान् शब्दगीतयोः। एका०।

गेंदुअ न०(कन्दुक) **''एच्छय्यादौ''॥८।१।५७॥** इति ''आदेरस्यैत्वम् (प्रा०) **''मरकतमदकले गः कन्दुके त्वादेः''।८।१।१८२।** इति कस्य गः। वस्त्रादिनिर्मिते गोलके ''गेन्द'' इति ख्याते, प्रा० १ पाद।

गेज्झ त्रि०(ग्राह्य) **''एद् ग्राह्ये'' ॥८।१।७८॥** ग्राह्यशब्दे आदेरात एद् भवति। 'गेज्झं' आदेये, प्रा०१ पाद।

गेण्ह धा०(ग्रह) **''ग्रहो वल-गेण्ह-हर-पङ्ग-निरुवाराहिपच्चुआः'' ॥८।४।२०६॥** इति ग्रहेर्गेण्हादेशः। 'गेण्हइ' गृह्णाति। प्रा०४ पाद।

गेण्हिअ अव्य०(गृहीत्वा) **''क्त्वा - तुम् - तव्येषु घेत्''॥६।४।२१०॥** इति घेदादेशाभावे तथारूपम्। आदायेत्यर्थे, प्रा०१ पाद।

गेय न०(गेय) गानयोग्ये, स्था,४ ठा०४ उ०। स्वरसंचारेण गीतिप्रायं निबद्धम्। तद्यथा - कापिलीयमध्ययनम् ''अघुवे असासयम्मी, संसारम्मि दुक्खपउराए'' इत्यादि। सूत्र०१ श्रु०१ ०उ०। 'सरकरणं, सरे संचारो वा गेयं'। नि०चू०१७ उ०।

अधुना गेयमाह-

तंतिसमं तालसमं वन्नसमं गहसमं लयसमं च।
कव्वं तु होइ गेयं, पंचविहं गीयसन्नाए ॥१७६॥

तन्त्रीसमं तालसमं वर्णसमं ग्रहसमं लयसमं च काव्यं तु भवति। तुशब्दोऽवधारणार्थ एव। गीयत इति गेयं पञ्चविधमुक्तैर्विधिभिर्गीतसंज्ञायां गेयाख्यायाम्। तत्र तन्त्रीसमं वीणादितन्त्रीशब्देन तुल्यं, मिलितं च। एवं तालादिष्वपि योजनीयम्। नवरं ताला हस्तगमाः, वर्णा निषादपञ्चमाऽऽदयः, ग्रहा उत्क्षेपाः, प्रारम्भरभसविशेषा इत्यन्ये, लयास्तन्त्रीस्वनविशेषाः, ''तत्थ किल कोणएणं तंती छिप्पति, तओ णहेहि अणुमज्जिज्जति, तत्थ अन्नारिसो सरो उट्ठेति, सो लयो त्ति'' गाथार्थः॥१७६॥ दश०नि०२ अ०। ''अप्पेगइया देवा चउव्विहं गेयं गायंति। तं जहा-उक्खित्ताय पायत्ताय मंदा रोइयावसाणं।'' रा०। ''चउव्विहे गेये पण्णत्ते। तं जहा-उक्खित्तए पत्तए मंदए रोविंदए'' स्था०४ ठा०४ उ०।(अष्टौ गुणा 'गीय' शब्दे अस्मिन्नेव भागे ६०१ पृष्ठे उक्ताः)

गेरिय न०(गैरिक) गिरै भवम्-ठञ्। वाच०। धातौ, दश०५ अ०१ उ०। पृथ्वीकायभेदे, आचा०१ श्रु०१ अ०४ उ०। मणिभेदे, सूत्र०२ श्रु०३ अ०। प्रज्ञा०। धातुरक्तवस्त्रे त्रिदण्डि नि परिव्राजके, प्रव०६४ द्वार। गैरिकरञ्जितवाससि श्रमणभेदे, पिं। श्रमणभेदे, स्था०५ ठा०३ उ०। आचा०। नं०। कापिले, पिं०। अचलस्य प्रजापतिपुत्रस्य प्रतिपक्षे, ति०।

गेरुय न०(गैरिक)'गेरिय' शब्दार्थे, आचा०१ श्रु० अ०४ उ०।

गेलण्ण न०(ग्लान्य) ग्लानत्वे ग्लानभावे, आव०४ अ० ''गेलन्नं रोगो वा भवे, आतंको वा''। नि०चू०१५ उ०।(आगाढाऽनागाढौ द्वौ भेदौ इति 'गिलाण' शब्दे अस्मिन्नेव भागे ८७७ पृष्ठे उक्तौ)

गेविज्जग न०(ग्रैवेयक) ग्रीवायां बद्धमलङ्करणम् ''कुलकुक्षिग्रीवाभ्यः श्वास्यलङ्कारेषु''॥४।२।६६॥ इति (पाणि०) ढकञ्। वाच०। ग्रीवाऽऽभरणे, औ०। रा०। जं०। प्रश्न०। ग्रीवाबन्धने, ज्ञा०१ श्रु०२ अ०। ग्रैविव ग्रीवा लोकपुरुषस्य त्रयोदशज्जुपरिवर्त्तिप्रदेशः, तन्निविष्टतयाऽतिभ्राजिष्णुतया च तदाभरणभूतादौ ग्रैवेयका देशवासाः, तन्निवासिनो देवा अपि ग्रैवेयकाः। उत्त०३६ अ०। विशे०। अनु०। आ०म०। कल्पातीतविमानेषु तदावासिषु कल्पातीतवैमानिकदेवभेदेषु, स ३५ सम०। ('ठान' शब्दग चैषां स्थानानि वक्ष्यन्ते) उच्चत्वम्-''गेविज्जगाणं देवाणं दोरयणीओ उड्ढं उच्चत्तेणं पन्नत्ता'' स्था०२ ठा०३ उ०।

गेविज्जअंगुलिज्ज न०(ग्रैवेयकाङ्गुलीयक) कण्ठकाख्योर्मिकाख्योषु, तं।

गेविज्जविमाणपत्थड पुं०(ग्रैवेयकविमानप्रस्तट) लोकपुरुषस्य ग्रीवाभवानि ग्रैवेयकानि, तानि च तानि विमानानि च, तेषां प्रस्तटाः। ग्रैवेयकविमानानां रचनाविशेषवत्सु समूहेषु, स्था०।

तओ गेविज्जविमाणपत्थडा पण्णत्ता। तं जहा-हिट्ठिमगेविज्जविमाणपत्थडे मज्झिमगेविज्जविमाणपत्थडे उवरिमगेविज्जविमाणपत्थडे। हेट्ठिमगेवज्जविमाणपत्थडे तिविहे पण्णत्ते। तं जहाहिट्ठिमहिट्ठिमगे विज्जविमाणपत्थडे हिट्ठिममज्झिमगेविज्जविमाणपत्थडे हिट्ठिमउवरिमगेविज्जविमाणपत्थडे। मज्झिमगेविज्ज-विमाणपत्थडे तिहिवे पण्णत्ते। तं जहा-उवरिमहिट्ठिमगे विज्जविमाणपत्थडे उवरिममज्झिमगे-विज्जविमाण-पत्थडे उवरिमउवरिमगेविज्ज-विमाणपत्थडे। (स्था०३ ठा०४ उ०) नव गेविज्जविमाणपत्थडा पण्णत्ता। तं जहा-हिट्ठिमगेविज्जविमाणपत्थडे हिट्ठिममज्झिमगेवज्ज-विमाणपत्थडे हिट्ठिमउवरिमगेविज्ज-विमाणपत्थडे मज्झिम-हिट्ठिमगेविज्जविमाणपत्थडे मज्झिममज्झिम-गेविज्जविमाण-पत्थडे मज्झिमउवरिमगेविज्जविमाणपत्थडे उवरिमहिट्ठिमगेविज्जविमाणपत्थडे उवरिममज्झिमगेविज्जविमाणपत्थडे उवरिमउवरिमगेविज्जविमाणपत्थडे। एएसि णं नवण्हं गेविज्जगाणं विमाणपत्थाणं नव नामधेज्जा पण्णत्ता। तं जहा- भद्दे सुभद्दे सुजाए सोमणसे पियदंसणे सुदंसणे अमोहे य सुप्पबुद्धे जसोहरे। स्था०६ ठा०।

गेवेय न०(ग्रैवेय) ग्रीवाऽऽभरणे, ''अद्धहारं चाउरत्थं वा गेवेयं वा मकुडं वा''॥ आचा०२ श्रु०? चू०।

गेह न०(गेह)वास्तुविद्याप्रसिद्धगृहे, सू०प्र०४ पाहु०। चं०प्र०। गृहे, स्था०३ ठा०४ उ०। ''गेहं ति वा गिहं ति वा एगट्ठं'' नि०चू०२ उ०।

गेहाकाररुक्खकण्णिलय पुं०(गेहाकारवृक्षकृतनिलय) गेहाकारेषु गृहसदृशेषु वृक्षेषु कल्पद्रुमेषु कृतो निष्पादितो निलय आवासो यैस्ते गेहकारवृक्षकृतनिलयाः॥ युगलिकमनुष्येषु, जं०२ वक्ष०। (''तीसे णं समाए तत्थ तत्थ बहवे गेहागारा णामं दुमगणा पण्णत्ता'' इत्यादि नवमकल्पवृक्षस्वरूपप्रतिपादकं सर्वं सूत्रकदम्बकम् 'ओसप्पिणी'

शब्देऽस्मिन्नेव भागे १०७ पृष्ठे द्रष्टव्यम्)

गेहागार पुं०(गेहाकार) गेहं गृहं तद्वदाकारो येषां ते गेहाकाराः। भवनत्वेनोपकारिषु, सुषमसुषमायां नवमेषु कल्पवृक्षेषु, स्था०१० ठा०। स०। गेहस्यैवाऽऽकारो यस्य स गेहाकारः। गृहसंस्थानसंस्थिते, त्रि०। चं०प्र०। जं०। जी०। तं०(वर्णकस्त्वस्य 'ओसप्पिणी' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १०७) पृष्ठे उक्तः)

गेहायार पुं०(गेहाचार)गृहकृत्याचरणरूपे कलाभेदे, कल्प०७ क्षण।

गेहावण पुं०(गेहापण) गृहयुक्ते आपणे, चं०प्र०४ पाहु०।

गेहि स्त्री०(गृद्धि) गाद्धर्ये, अभिलाषे, सूत्र०१ श्रु०६ अ०। प्राप्तार्थेष्वासक्तौ, भ०१२ श०००५ उ०। ग्रामे, ग्राम्यसुखे, नि०चू०१ उ०। अभिष्वङ्गे, आव०४ अ०। अभिकाङ्क्षायाम्, उत्त०७ अ०। ''सव्वं गेहिं परिण्णय, एस पणते महामुणी'' सर्वां गृद्धिं भोगकाङ्क्षां दुःखरूपतया परिज्ञाय प्रत्याख्यानपरिज्ञया परित्यजेत्। परित्यागे गुणमाह-'एस' इत्यादि। एष इति कामपिपासापरित्यागी,प्रकर्षेण नतः प्रह्वी, संयमे, कर्मधूननायां वा महामुनिर्भवति नापर इति। आचा०१ श्रु०६ अ०२ उ०। ''पुढोवमे धुणेइ विगयगेहिं'' सूत्र०१ श्रु०६ अ०। गौणमोहनीयकर्मणि, स०५२ सम०।

गेहिअ पुं०(गेहिक) भर्तरि,''गेहिओ हरिओ सरणागअं'' उत्त०२अ०।

गेहिज्झाण न०(गृद्धिध्यान) गेहिर्गृद्धिराहाराद्यत्यन्तमाकाङ्क्षा, तस्या ध्यानं गृद्धिध्यानं, मथुरामङ्गोरिव कण्डराजस्य मुक्तव्रतस्येव वा दुर्ध्यान, आतु०।

गेहिधम्म पुं०(गेहिधर्म)गृहस्थधर्म एव श्रेयनिति अभिसंधाय तथोक्तकारिणि, ज्ञा०१ श्रु०१४ अ०।

गेण्हियव्व त्रि०(गृहीतव्य) गृह्यते उपादीयते कार्यार्थिभिरिति गृहीतव्यः। कार्यसाधके, उत्त०१ अ०। उपादेये, आव०६ अ०।

गो पुं०(गो) गच्छतीति गौः विशे०। आ०म०। गोशब्दाद् गोधूमस्तत्शक्तवश्च। जै०गा०। खुरककुदविषाणसा स्नालाङ्गूलाद्यवयवसंपन्ने पशौ, जै०गा०। बलीवर्दे, स्था०२ ठा०१ उ०। रा०। ''गोशब्दः पशुभूम्यप्सु, वाग्दिगर्थप्रयोगवान्। मन्दप्रयोगे दृष्ट्यम्बु-वज्रस्वर्गाभिधायकः'' ॥१॥ इति। अनु०। स्था०। वाचि, सूत्र०१ श्रु०१३ अ०। दश०। आ००म०। रश्मौ, वज्रे, स्वर्गे, चन्द्रे, सूर्ये, ऋषभनामौषधे, करणे-डो-नेत्रे, कर्तरि-डे-बाणे, वाचि, स्त्री०। दिशि, भुवि, जले, मातरि, पुलस्त्यभार्यायाम् स्त्री०। इन्द्रिये, पशुमात्रे, वृषराशौ, नवमसंख्यायाम्, वाच०। आदितीर्थकृल्लाञ्छने, हैम०।

गोअमज्जिया स्त्री०(गौतमार्यिका) ऋषिगुप्तान्निर्गतस्य माणवगणस्य द्वितीयशाखायाम् कल्प०८ क्षण।

गोआरफली स्त्री०(गोआरफली) गोआरफली चणकादिद्विदलस्य भञ्जिका च द्विदलं स्यान्न वेति प्रश्ने, उत्तरम्-द्विदलं भवतीति। १९१ प्र० सेन०२ उल्ला०।

गोआवरी स्त्री०(गोदावरी) नदीभेदे, गोदावरि ! सरस्वति ! इति जले तीर्थावाहनमन्त्रः। वाच०। प्रा०।

गोउर न०(गोपुर) गोभिः पूर्यते इति गोपुरम्। पुरद्वारे, जी०३ प्रति०। नगरप्रतोल्याम्, भ०५ श०००७ उ०। प्रतोलीद्वारणां परस्परतोऽन्तरे, अनु०। प्राकारद्वारे, जी०३ प्रति०। ''दो वलाणगा पागारपडिणिवद्धा ताण अंतरं गोपुरं'' नि०चू० ८ उ०। श्रेष्ठद्वारे, कैवर्तीमुस्तके, वाच०।

गोउल न०(गोकुल) व्रजे, गवां समूहे, गोष्ठे, आर्व०३ अ०। ''सामी गोउलगतो'' आ०म०प्र०। ''आउट्टो गोउलाणि विउव्वित्ता'' आव०३ अ०।

गोकण्ण पुं०(गोकर्ण) गौर्नेत्रं कर्णो यस्य। सर्पे, गौरिव कर्णावस्य। अश्वतरे, मृगभेदे, वाच०। द्विखुरचतुष्पदविशेषे, प्रश्न०१ आश्र०। द्वार। गोकर्णद्वीपवासिमनुष्ये च। स्था०४ ठा०२ उ०। प्रव०। प्रज्ञा०। उत्त०। गोकर्णमनुष्याणां गोकर्णद्वीपो नामा द्वीपः। जी० प्रति०।

गोकण्णदीव पुं०(गोकर्णद्वीप) वैषाणिकस्य परतोऽन्तर्द्वीपे, न०।

गोकलिंज न०(गोकलिञ्ज) गोचरणार्थं महावंशमयभाजनविशेषे, मल्लायाम्; भ०७ श०८ उ०। गोकलिंजं नाम यत्र गोभक्तं प्रक्षिप्यते। रा०।

गोकुलिणी स्त्री०(गोकुलिनी) गोपालिकायाम्,''तदानीं जिनदास्याश्च, गोकुलिन्याश्च चेतसा ॥ उपप्रयागं मेलोऽभूद् गङ्गाजमुनयोरिव ॥१॥'' आ०क०।

गोखीर न०(गोक्षीर)धेनुदुग्धे, कल्प०३ क्षण। ज्ञा०। औ०। गोक्षीरपाण्डुरं मांसशोणितमिति तृतीयोऽतिशयस्तीर्थकृताम्। स०३४ सम०।

गोखीराभ त्रि०(गोक्षीराभ) गोक्षीरपाण्डुरे ''रुहिरं गोखीराभं निव्विसं पांडुरं मंसं'' औ०।

गोघयमंडण पुं०(गोघृमतण्डन) गोघृतसारे,''गोघयमण्डणं'' उपा०१ अ०।

गोघायय पुं०(गोघातक) गोघ्ने, गोघातके, पापजीविनि, 'कसाई' इतिप्रसिद्धे, सूत्र०१ श्रु०१ अ०४ उ०।

गोचोर त्रि०(गोचोर) चोरविशेषे, यो हि धेनुं चोरयति। प्रश्न०३ आश्र० द्वार।

गोच्छय पुं०(गोच्छक) पात्रवस्त्रप्रमार्जनहेतुकम्बलशकलरूपे, प्रश्न०५ सम्ब० द्वार। पत्रोपकरणे, तस्य प्रमाणम्-एकं वितस्तिश्चत्वार्यङ्गुलानि चतुरस्रम्। ''होइ य मज्जणहेऊ, गोच्छको भाणवत्थाणं।'' एतदुक्तं भवति-गोच्छकेन पटलानि प्रमृज्यन्ते।

औ०। कम्बलमयपात्रकोपरि दीयते। बृ०३ उ०। पं०व०।

गोच्छिय त्रि०(गुच्छित) गुच्छवति, रा०। संजातगुच्छं, गुच्छश्च पत्रसमूहः। भ०१ श०१ उ०। ज्ञा०। औ०।

गोजलोया स्त्री०(गोजलौका) जलौकजन्तुविशेषे द्वीन्द्रियभेदे, प्रज्ञा०१५ पद। जी०।

गोजूह पुं०(गोयूथ) गोसमूहे, पुर्वं नन्दगोपादीनां गवां युथाः कोटीबद्धाः आसीरन्, इदानीं ते तथाभूता न सन्ति, किन्तु

पञ्चादशादिसंख्याकाः। व्य०१० उ०।

गोज्ज पुं०(गोज्ज) गायके, ''जाव गोज्जो आढवेइ'' नि० चू००१ उ०। ''एगम्मि पएसे गोज्जो रम्मिओ'' दश०१ अ०।

गोज्झग पुं०(गुह्यक) देवविशेषे, ''केलासभवणाए एगो गुज्झगो समुट्ठिओ'' पिं।

गोट्ठगण पुं०(गोष्ठाङ्गण) गोष्ठमध्ये, आव०४ अ०।

गोट्ठामाहिल पुं०(गोष्ठामाहिल) आर्यरक्षितसूरीणां मातुले, तद्वक्तव्यता किञ्चिदत्र-

एवं विहियपुहत्ते-हिँ रक्खियज्जेहिँ पूसमित्तम्मि।
ठविए गणम्मि किर गो-ट्ठमाहिलो पडिनिवेसेणं ॥२२९६॥
सो मिच्छत्तोदयओ, सत्तमओ निन्हवो समुप्पण्णो(२२९७)

एवमुक्तप्रकारेण विहितानुयोगपृथक्त्वैरार्यरक्षितसूरिभिर्दिवं गतैः सुभिर्घृततैलवल्लघटादिप्ररूपणां सकलगच्छसमक्षं विधाय दुर्बलिकापुष्पमित्रे गणिन्याचार्ये स्थापिते यो मथुरानगर्यामन्यतीर्थिकेन सह वचस्वीतिकृत्वा वाददानार्थं सूरिभिर्निजमातुलको गोष्ठामाहिलः प्रेषित आसीत्, स यशःशेषेषु सूरिषु प्रतिवादिनं जित्वा समागतः सन् 'मामेवंभूतं वचस्विनं परित्यज्य अन्योऽयमृषिर्मूककल्पः सूरिभिराचार्य उपवेशितः, तत्पश्य कीदृशं तैः कृतम्,''इत्यभिप्रायतः'', तथा तां च घृतपटादिप्ररूपणां श्रुत्वा प्रतिनिवेशेन गाढानुशयेन यो मिथ्यात्वोदयो जातः, ततः तस्मात्स गोष्ठामाहिलः सप्तमो निह्नवः समुत्पन्नः।२२९६।२२९७। विशे०। आ०म०।

''पंच सया चुलसीया, तइया सिद्धिं गयस्स वीरस्स।
आवद्धियआण दिट्ठी, दसउरनयरे समुप्पन्ना ॥१॥
दसउरसगरुच्छुघरे, अज्जरक्खियपूसमित्ततिगयं च।
गोट्ठामाहिलनवम-ट्ठमेसु पुच्छा य विंझस्स'' ॥२॥

नवरं विन्ध्योऽष्टमे कर्मप्रवादपूर्वे कर्म प्ररूपयति। यथा जीवः प्रदेशैर्बद्धमात्रं कर्म तदेव विघटते, शुष्ककुड्यापतितचूर्णमुष्टिवत्। किञ्चित्स्पृष्टं कालान्तरेण विघटते, आर्द्रलेखकुड्ये सस्नेहचूर्णवत्। किञ्चिद्बद्धस्पृष्टं निकाचितं वह्नयः पिण्डन्यायेन जीवेन सहैकीभूतं चिरेणाऽपि वेद्यते। तत् श्रुत्वा गोष्ठामाहिल आह-

नैवं शास्त्रकृत्संमतम्। आह-

पुट्ठो जहा अबद्धो, कंचुइणो कंचुअं समन्नेइ।
एवं पुट्ठमवद्धं, जीवं कम्मं समन्नेइ ॥१॥

यथा अबद्धः कञ्चुकिनं समन्वेति एवं स्पृष्टमबद्धं कर्म जीवं समन्वेति, जीवेन सहाविभागबद्धं कर्म न वियुज्यते। विन्ध्येनोक्तम्ममैवं गुरुभिराख्यातम्। स ऊचे-त्वद्गुरुः किं विजानाति? तेन शङ्कितेन गुरुः पृष्टः-किमिदं मया न सम्यक् श्रुतम्?। गुरुराह-सम्यक् श्रुतम्। इदमित्थमेव नान्यथा। तेन गोष्ठामाहिलोक्तं कथितम्। गुरुराह-एतन्मिथ्या, यथा-अयःपिण्डं वह्निः सर्वात्मना संबध्यते, वियुज्यते च; एवं कर्मापि। इत्येतद् गुरोर्ज्ञात्वा विन्ध्येन स भणितः-इत्थमाचार्या भणन्ति। ततः स तूष्णीं स्थितः। अन्यदा नवमे पूर्वे साधूनां प्रत्याख्यानं वर्ण्यते। यथा-''पाणाइवायं पच्चक्खामि जावज्जीवाए'' इत्यादि। गोष्ठामाहिलो वक्ति-नैवं, तर्हि कथमित्याह-

पच्चक्खाणं सेअं, अप्परिमाणाइ होइ कायव्वं।
जेसिं तु परीमाणं, तं दुट्ठं आससा होइ ॥१॥

प्रत्याख्यानम् अपरिमाणकृतं श्रेयः, कृतपरिमाणं दुष्टं, पूर्णे अवधौ प्रत्याख्यातवस्तुन आशंसासंभवात्। आशंसाशब्दे सूत्रे प्राकृतत्वादनुस्वारलोपः।

एवं वदन् गोष्ठामाहिलो विन्ध्येन निषिद्धः। तदा च नवमपूर्वस्य यदवशेषमभूत्तत्समाप्तम्। तथाऽभिनिवेशाद् दुर्बलिकापुष्पाचार्येण सह गोष्ठामाहिलो वादार्थं ढुढौके। तत्र स्वपक्षं स्थापयन् आचार्येणोचे-अहो आर्य! न हि साधूनां कालावधिप्रत्याख्यानं मृताः सेविष्याम इत्याशंसार्थं, किं तु देवभवे मा भूद्व्रतभङ्ग इत्यर्थः। एतच्चाश्रद्दधाने तस्मिन् सर्वसङ्घेन मिलित्वा कायोत्सर्गेण देवता आकृष्टा, सा आगता उवाच-आदिशतु सङ्घः। उक्ता सङ्घेन-गत्वा तीर्थङ्करं पृच्छ-यद् दुर्बलिकापुष्पमित्राचार्यप्रमुखः सङ्घो वक्ति तत् सत्यम्?,उत गोष्ठामाहिलोक्तम्? तत्साहाय्याय च सङ्घः कार्योत्सर्गेण स्थितः। सा तीर्थङ्करं पृष्ट्वा आगता उवाच-सङ्घः सम्यग्वादी इतरो मिथ्यावादी निह्नवः। स तदपि न श्रद्दधे, मिथ्यावादिन्येषु, न तत्र गता। ततः सङ्घेन बाह्यः कृतः, अनालोचिताप्रतिक्रान्तश्च कालं गतः। आ०क०। आ०चू०।(गोष्ठामाहिलाबद्धिकानामुत्पत्तिः, तन्मतं च, 'कम्म' शब्दे अस्मिन्नेव भागे २५६ पृष्ठे उक्तम्) गोष्ठामाहिलाः स्थविरा स्पृष्टमबद्धमेव प्ररूपयन्ति स्म। उत्त०३ अ०। आ०म०।

गोट्ठि दासी स्त्री०(गोष्ठिदासी) जनसमुदायदासिकायाम्, ''सिंहो विज्जुमतीए गोट्ठिदासीए''। आ०म०प्र०।

गोट्ठिधम्म पुं०(गोष्ठिधर्म) गोष्ठिव्यवस्थायाम्, इह च समवयसां समुदायो गोष्ठी, तद्व्यवस्था पुनर्वसन्तादाविदं कर्तव्यमित्यादिलक्षणा। दश०१ अ०।

गोट्ठिल्ल त्रि०(गोष्ठिवत्) गोष्ठीपतौ, अन्त०७ वर्ग। विपा०। द्वात्रिंशतिगोष्ठीवत्पुरुषेषु, वंग०।

''भत्तिभरनमिरसुरनर-सिरिसेहरकिरणरइयसस्सिरियं।
नमिउं सिरिवीरपयं, वुच्छं सुयहीलगुप्पत्तिं ॥१॥
वीराउ वीसमे वरि-से सिरिसुहम्मस्सामिनिव्वाणं।
तत्तो चूयालेसे, सिद्धो जंबू चरमनाणी ॥२॥
तउ इक्कारसवरिसे, पभवस्सूरी गओ तियसभवणं।
तेवीसाए सिज्जं-भवो य तत्तो गओ सग्गं ॥३॥
जसभद्दगुरू तत्तो, सीसो सिज्जंभवस्स समयन्नू।
विहरंतोऽयं पत्तो, सावत्थीकुट्ठगुज्जाणं ॥४॥
सिरिमद्दबाहुसंभू-इविजयसीसा दुवालसंगधरा।
पासट्ठिया य निच्चं, कुणंति सुस्सूसणं गुरुणो ॥५॥
अह भद्दबाहुसीसो, महिलाए अग्गिदत्तनामेणं।
लच्छिग्गे उज्जाणे, सो पडिमाइट्ठिओ तवं चरइ ॥६॥
इत्तो दुवीसपुरिसा, गोट्ठिल्ला मज्जमंसपरवसगा।
कामलयाए रत्ता, वियरंति सया तदुज्जाणे ॥७॥
पासंति तं साहुं, मद्दंधा निग्घिणा अईपावा।
अइतिक्खसत्थहत्था, धावंति वहाय समकालं ॥८॥

पडिया य अंधकूवे सव्वे णट्ठूण मच्चुणा गहिया।
अन्नुन्नसत्थपहिया, चिंतेइ मुणी सकरुणाए ॥९॥
हा हा अकालसमए, वरायया जीवियाउ वुच्छिन्ना।
जिणधम्मकरहिया ते, कत्थ वि पत्ता मुणइ नाणी ।१०॥
इय चिंतित्ता साहू, पारित्ता काउसग्ग तउ चलिओ।
जत्थेव य गुरुगुरुणो, इरियाए समागओ तत्थ ॥११॥
काऊण य किइकम्मं, तस्स य गुरुणस्स भद्दबाहुस्स।
संभूईविजयस्स वि, तह पुरो कयंजली पुच्छे''॥१२॥

इत्थं पुच्छा–भयवं ! ते दुवीसगा गोट्ठिल्ला पुरिसा अहम्मिआ *अकालं कालधम्मेण पत्ता कहिं उववन्ना? कत्थइ वा* जोणिमंडले कम्मणा परिब्भमिस्संति? ते दुवीसगा किं सुलहवोहिवत्तिणो, उयाहु दुल्लहवोहिवत्तिणो? त्ति पासिय मम संसयं विहाडेउ ? तए णं से जसभद्दगुरू तुंगियायणसगुत्ते तिण्णवग्गोवगए दिट्ठिवायंतभावियंतकरणे सुउवओगं पउंजमाणे तेसिं दुवीसगोट्ठिल्लाणं पुरिसाणं गईओ उववायं कम्मणा जोणिमंडलपरिब्भमणं वोहिदुल्लहं नाऊण तं अग्गिदत्तसीसं एवं वयासी-अग्गिदत्ता ! ते गोट्ठिल्ला पुरिसा तुम वहयट्ठयाए पहावेमाणे मज्जपरवसगा अंधकूवम्मि पडिया समाणा परुप्परतिक्खसत्थेहिं छिन्नंगुवंगा अट्टदुहट्टवसा णो पुणो कामलयं गणियं कंखमाणा अंतमुहुत्ताए तदज्झवसाणं०, तीसे णं कामलयाए गणियाए तेहिं गोट्ठिल्लपुरुसेहिं किमिजोणियत्ताए संकमाहिं अउला दुरहियासा घणवेयणा पाउब्भूया। तीसे णं वेयणाए कामलया गणिया पीडिया समाणी अणेगाणं विज्ञाणं चिगिच्छगाणं थणं उवदंसेमाणी बहुमंततंतआसेधभेसज्जेण पडियारं करेमाणी संचिट्ठति। तया णं अग्गिदत्ता ! एगए णं विज्जे सत्थकम्मेणं लद्धोववाए उरो य वियारणए ते दुवीसकिमिकीडगा वेइंदिया अट्ठियमंससोणियवद्धा साहरिय जलभरियभायणे पमुत्ता णं कामलयाए उवदंसेइ, पुणो वि थणमंसचम्मं संधिसुत्तेण मालेइ, संरोहणोसहेण समाहिज्जइ। तए णं अग्गिदत्ता ! सा कामलया तेहिं दुवीसकीडगेहिं थणमज्झकट्ठिएहि उप्पन्नसमाहिया जयणी तं विज्जं विउलेण असणपाण-खाइमसाइमवत्थमल्लालंकारेण य जीवियारिहपीइदाणेण य तोसइत्ता विसज्जेइ। तए णं सा कामलया गणिया तेसु किमिकीडगेसु पुव्ववंधाणुसया सकरुणं चिंतेइ-मा इमेसिं ववरोवणं मम हत्थाओ भविस्सइ त्ति गहाय महिलाए पुरीए खाइयमज्झवडियदुग्गंधसुक्कसोणियकोट्ठगंसि उम्मवइ। तत्थ वि ते दुवीसकिमिकीमगा आयवछुहातएहिं अभिभूया समाणा अंतमुहुत्तपहुत्तेहिं कालं गया। तओ णं अग्गिदत्ता! साहारणवणेसु मुत्थाकंदएसु एगिंदियत्ताए उववज्जिस्संति। तीओ कालेहिं खणिज्जमाणे कट्ठिज्जमागं ते दुवीसकिमिसत्ता पुढवीदगागणिपवणवणस्सइएसु पंचसु एगिंदियेसु जहन्नमज्झिमगट्ठिइं पूरिस्संति। ततो वि य अग्गिदत्ता ! ताणं दुवीसकिमिजीवाणं तीसे णं कामलयाए उयरंसि गंडोलयत्ताए उप्पत्ती भविस्सति। तओ चिगिच्छएणं दिण्णं विरेयणं, तेसिं दुवीसगंमोलगाणं अहिट्ठाणदारेणं पुरीसलित्तंगाणं पाडियाणं अंतमुहुत्ता विवन्नाणं तत्थेव पुरीसे तेइंदियत्ताए उप्पत्ती भविस्सति। ततो वि अंतमुहुत्ताउएणं ते दुवीसा तेइंदिया विवन्ना समाणा तमेव पुरीसे चोरिंदिया होहिंति। एवं च णं तीसे कामलयाए उच्चारपासवणखेलजल्लसिंघाणवंतपित्तेसु सत्तवारं *विगलिंदियत्तणं जहाकमं* पाविहिंति। इत्थमेगूणतीसभववत्तव्वया। तओ पुणो अग्गिदत्ता ! ते दुवीसगोट्ठिल्लपुरिसा तीसइमे भवे तीसे गणियाए गेहे सोयगहणनिद्धमणे मंडुक्का समुप्पिस्संति। ततो दिणपुहुत्तेणं आउमइक्कम्म इगतीसिमे भवे मूसया गब्भुब्भवा तीसे कामलयाए गणियाए गेहे होहिंति। तओ य मासपहुत्ता आउक्खएणं दुतीसइमे भवे तीसे णं कामलयाए गणियाए गिहे सवद्दारदेसम्मि गता सूअरत्तं अणुहवइस्संति। तत्थ ते दुवीसगा सूयरा रुद्धा पयंडा पीणखंधा कामगिद्धा दाढाविलंवियवयणा कद्दमचिट्ठाविलित्तगत्ता तेणं चेवाहारेणं वित्तिं कप्पेमाणा परुप्परं रोद्दस्सरेणं गुंजमाणा वहूणं पाणीणं विमद्दणट्ठाए अप्पाणं सहरिसं मन्नमाणा वासपहुत्तट्ठिइखएणं कालं किच्चा सेलसरीरगावया तेत्तीसइमे भवे अवंतीजणवएसु सोवागकुलेसु उव्वज्जिस्संति। तत्थ णं ते दुवीसगा सोवागा वुड्ढिं पत्ता हुंडसंठाणे दीहदेता लंबोयरा नीलीयरा विसिन्ननासिका अदंसणिज्जा जणाणं दुगंछामुप्पायमाणा सकम्मकुसला अवि होहिंति। तए णं ते दुवीसकम्मकुसलत्तणेणं विण्णाणगुणेण य उवाएण कम्मुपायणेण वहुअतरदविणजायं एगओ मेलइस्संति। तद्दव्वजीवियट्ठाए उवमुंजेमाणा विहरंति। इत्थंतरम्मि अग्गिदत्ता ! सा कामलयां गणिया वुड्ढिं पत्ता समाणी वहूणं अत्थणाण य मग्गणाण य भिक्खायरियाण य अत्थयमाणी परियरमाणी नियसयणजणं आपुच्छित्ता परिव्वायगधम्मे परिवंधाणुरागा महिलानयरीओ निग्गच्छति। निग्गच्छित्ता कासीजणवयमज्झट्ठियसुरसरिउवकंठियाणं परिव्वायगाणं अंतिए आगआ सासणमूलं परिव्वायगधम्मं उवसंपज्जित्ता णं चिट्ठइ; तए णं सा कामलया गणिया सुद्धपरिव्वाइया भविस्सइ। अण्णयाइ सा कामलया परिव्वाइया कासीजणवयाओ वहिया सव्वतित्थाइनमंसणट्ठयाए नियगुरुं आपुच्छित्ता वहिया जणवयविहारं विहरमाणी तित्थाइनमंसमाणी अवंतिदेसदिय-सिप्पासरी डिसु अणेगाहिं परिव्वाइगाहिं सद्धिं संपरिवु-

डा धाउरत्तवत्थपरिहिया तं दंडिकुट्टियं अंकुसवरमालपवित्तियहत्था समाणा आगमिस्सइ। तए णं सा कामलया परिव्वाइया सिप्पासरीतमेसु समागयं जाणित्ता अणेगे अवंतिजणवयमज्झिल्ला सेट्ठिसेणावइमंतिणो वहवे उत्तमा य मज्झिमा य पुरिसा इत्थिआ य जत्ताए हव्वमागमिस्संति। तत्थ णं ते दुवीससोवागा तीसे णं जत्ताए आगमिस्संति। तीसे णं कामलया परिव्वाइया तेसिं सिट्ठी० जाव इत्थीणं पुरओ सोयमूलं परिव्वायगधम्मं परूवेइ। एवं खलु अम्हे सोयमूले धम्मे पन्नत्ते। से वि य सोए दुविहे पन्नत्ते। तं जहा-दव्वसोए? भावसोए अ२। दव्वओ उदयमट्टियाए य, भावओ दसेहि य मंतेहि य। जं णं अम्हं किमिहि असुई भवइ, स य मट्टियाहिं लिंपिज्जइ, तओ सुद्धोदएणं पक्खालिज्जइ, तते णं सा असुई सुई हवइ, एवं खलु सत्ता जलाभिसेए सते परं पयं गच्छंति। तया णं ते दुवीससोवागा कामलयापरिव्वाइयावूतं सोयं धम्मं सोच्चा हट्ठतुट्ठा धम्मं अभिसद्दहमाणा रोहमाणा कामलयापरिव्वाइयाए अंतिए तियपयाहिणापुव्वं सोयमूलं धम्मं पडिवज्जिहिंति, पुणो वि कयपणामा सएसु गिहेसु पडिगमिस्संति, परिव्वायगधम्मपरमभत्ता होहिंति। अह ते दुवीससोवागा मिच्छादंसणधारिणो अण्णधम्मपडिणीया हुंता सेसाणं पंचदरिसणाणं, विसेसओ जिणमग्गपवन्नाणं संजयसड्ढाणं जिणवयणाणं अवण्णवाइणो पडिणीया निंदणीया होहिंति। तओ ते दुवीससोवागा परिव्वायगधम्माणुरत्ता जिणधम्मस्स अवण्णवायं उच्चारेमाणा अण्णया कयाइं आमंतणे अणेगाहिं गिहियं दाणं आहारेमाणे मरणमणवकंखमाणे पंचवासं परिव्वायगधम्मं परमभावपरियागं पाउणित्ता आउक्खयम्मि तत्थेव अवंतिदेसे चउतीसइगे भवे भंडसकुलेसु उववज्जिहिंति। तओ णं ते दुवीसभंडिया कमेण वुड्ढिं पत्ता दुट्ठा रुद्दा साहस्सिया वियालचारिणो अणेगसेट्ठिसेणावइअमच्चनरवइणो भंडचिट्ठे विहरमाणा विहरिस्संति। अण्णया कुसत्थलनयरम्मि बंभदीवरायापुरओ अण्णुण्णवेसविडंवियं अण्णुण्णदासपरिकीलियं दुट्ठचिट्ठं उवदंसमाणा एगं साहुजुगलं अट्ठमपारणंसि गोयरचरियाए विहरमाणं पासिस्संति। एयम्मि समए एगेणं तत्थ दुट्ठपुरोहिएणं कयसन्ना ते दुवीसभंडगा कलकलारवं करेमाणा पहाविस्संति, तं साहुजुगलं संघट्टइस्संति, परियावइस्संति, किलामइस्संति, हीलइस्संति, खिंसिस्संति, निंदिस्संति, पुरोहियपमुखाणं हासं जणइस्संति, तह वि हु त साहुजुयलं मोणावलंवियं दट्ठूण संता तत्ता समाणा सयमेव संसट्ठचिट्ठाइंसि मद्दवभावं पडिवन्ना तं साहूणं जुयलं छुहियं ति कट्टु विसज्जिहिंति। तए णं अग्गिदत्ता ! ते दुवीसभंडगा अकम्मा अकालविज्जुपाएण पज्जलियंगा भविस्संति। तीए णं पणतीसइमे भवे मज्झे विसएसु पुहो पुहो कुलेसु चउदसविज्जापारया दिया समुप्पज्जइस्संति। तते णं ते दुवीसदिया धाराउरे जन्नदत्तदियामंतणेणं जण्णवाडम्मि ठिया पिहियदुवारा दव्वेहिं घएहिं हवणं करेमाणा वज्झग्गिणा उट्ठिएणा दड्ढा हुंता अड्ढज्झाणोवगया पिवासासोसियकंठा सिप्पाणईए दहम्मि मच्छा होहिंति। एवं सत्तभववत्तव्वयाओ जलयराणं मज्झे, तओ णं नवभववत्तव्वया खयरजोणीसु, तओ य एक्कारसभववत्तव्वया थलयराणं मज्झे। एवं च णं अग्गिदत्ता ! दुसट्ठिभवग्गहणं णेयव्वं। तेसिं इत्थंतरम्मि दुसट्ठिमे भवे ते गोट्ठिल्लपुरिसजीवा मिया उप्पज्जिस्संति। तए णं ते दुवीसमिया दुड्ढिं पत्ता अपरिकम्मवणदवग्गिदड्ढा सेलपरिगावया तेसट्ठिडे भवे मज्झे विसएसु सावयवाणियकुलेसु पुहो पुहो समुप्पज्जिस्संति। तए णं ते दुवीसवाणियगा उम्मुक्कबालवत्था विण्णायपरिणयमित्ता दुट्ठा धिट्ठा कुसीला परवंचणा खलुंका पुव्वभवमिच्छत्तभावाओ जिणमग्गपडिणीया देवगुरुणिंदणया तहारूवाणं समणाणं माहणाणं पडिकुट्ठकारिणो जिणपण्णत्तं तत्तं अमन्नमाणा अत्तपसंसिणं वद्दूणं नरनारीणं सहस्साणं पुरओ नियकप्पियं कुमग्गं आवेएमाणा पन्नवेमाणा परूवेमाणा जिणपडिमाणं भंजणया णं हीलंता खिंसंता निंदंता गरिहंता परिहवंता चेइयतित्थाणि साहुसाहुणी य उड्ढावइस्संति। तया णं अग्गिदत्ता ! सा कामलया परिव्वाइया अट्ठहुत्तरिवासाइं गिहवासं किच्चा दुतेरसवासाइं परिव्वायगधम्ममणुरत्ता चउरुत्तरं वाससयं सव्वाउयं पाउणित्ता सत्तअहोरत्तनिरसणट्ठिया कालं किच्चा वाणविंतरस्स सुवत्थस्स दाहिणे दिसि देसूण-पल्लिद्धाउया सुवत्था नामं देवी उप्पज्जिस्सति। सा सुवत्था वाणविंतरी ओहिणा पुव्वबहुभवसंबंधिणो ते दुवीसवाणियगे पासित्ता हट्ठ तुट्ठा ताणं दुवीसवाणियगाणं दुट्ठाणं० जीव परिहवंताणं पुव्वभवपत्तओ सहियाणं परमपिईए साहाएज्जं करिस्सति। तया णं अग्गिदत्ता ! ते दुवीसववाणियगा दुट्ठा०जाव परिहवंता तीसे णं सुवत्थावाणवंतरीए साहज्जेणं धणेणं धन्नेणं पुत्तकलित्तिआएणं पीईसक्कारसमुदाएणं वट्टिस्संति। तया णं ते दुवीसवाणियगा दुट्ठा० जाव परिहवंता धनेणं धन्नेणं० जाव समुदाएणं वट्टिया समाणा वाहाहिं अप्पाणं अफोडिस्संति वि

वग्गिस्संति, वहूणं नरनारीसहस्साणं पुरओ एवं परूवइस्संति-जओ णं अम्हाणं एस धम्मे सव्वे अट्ठे परमट्ठे, सेसे अणट्ठो, हंभो माणुस्सा ! पासह-अम्हाणं किंचफलं इहलोए वि पयडं, किमंग ! पुण फलकहणं ति तुम्हे वि अम्ह धम्मानुट्ठाणपरा होह त्ति कट्टु आहियं नियगमइविगप्पियं सच्छंदवुद्धिमग्गं आइक्खइस्संति । एवं च णं अग्गिदत्ता ! ते दुवीसवाणियगा पब्भट्ठसावयधम्मगा छण्हं दरिसणेणं मज्झे एगमवि दरिसणमसद्दहंता सकप्पियं पहं पहावेमाणा असंखकालं० जाव दुल्लहवोहियत्ताए कम्मं पकरिस्संति, सामिपरूवियस्स सुयस्स हीलणेणं भविस्सइ। तया णं सुयहीलणयाए समणाणं निग्गंथाणं नो उदए पूआ सक्कारे संमाणे भविस्सइ, अइदुक्करं धम्मपालणं भविस्सइ । तए णं अग्गिदत्ता ! दुवीसवाणियगा दुट्ठा० जाव परिहवंता पन्नरसवासाइं अहिकं च अणाणुपुव्वीए चउरंत नवनवइवासपरियागं पाउणित्ता सोलसरोगायकाहिं परिभूया समाणा अट्टज्झाणोवगया कालं किच्चा धम्माइपुढवीए पढमपयरम्मि दसवाससहस्सट्ठिईए नेरइयत्ताए उववज्जिहिंति। तओ यलगिस्सइ धूमकेउग्गहो, तस्स ठिई तिन्नि सया तेत्तीसा एगरासिवरिसाणं, तम्मि य मीणपइट्ठो उ मिच्छभावं पडिवज्जणाउणाणाविहजोणीसु कम्मणा तेसिं परियट्टणं हविस्सइ । एवं णं अग्गिदत्ता ! जीवा सावयत्तणमवि लद्धूण सुयहीलणाए दुल्लहवोहिणो हविस्संति ।

''अह अग्गिदत्तसाहू, पुणो वि पुव्वं गुरुकयपणामा ।
अज्ज ! कया होही सुय-हीला अवि कया उदओ ॥१॥
भणइ जसभद्दसूरी, सुउवओगेण अग्गिदत्तमुणिं ।
सुणसु महाभाग ! जहा, सुयहीलणमह जहा उदओ ॥२॥
मोक्खाउ वीरपहुणो, दुसएहिँ य एगनवइअहिएहिं ।
वरिसाइ संपइनिवो, जिणपडिमीठावगो होही ॥३॥
तत्तो सोलसएहिं, नवनवइ पुणो जुएहि वरिसेहिं ।
ते दुट्ठा वाणियगा, अवन्नइस्संति सुयमेयं ॥४॥
तम्मि समऐं अग्गिदत्ता ! संघसुयजम्मरासिनक्खत्ते ।
अमतीसइमे दुट्ठो, लगइस्सइ धूमकेउगहो ॥५॥
तस्स ठिई तिन्नि सया, तेत्तीसा एगरासिवरिसाणं ।
तम्मि य मीणपइट्ठो, संघस्स सुयस्स उदयत्थी ॥६॥
इय जसभद्दगुरूणं, वयणं सोच्चा मुणी सुवरेगो ।
पायाहिणं कुणंतो, पुणो पुणो वंदणं कुणइ ॥७॥
आपुच्छिऊण सूरिं, सुगुरुं तह भद्दवाहुसंभूइं ।
संलेहणं पवन्नो, गओऽग्गिदत्तो पढमकप्पे ॥८॥
इय सुयहीलणुपायण-फलाफलं जाणिऊण अन्ने वि ।
जसभद्दे जिणवयणे, दढचित्तो होह पइदिवहं ''॥९॥
॥ इय वंगचूलियाए सुयहीलुप्पत्ती अज्झयण संमत्तं ॥

गोट्ठी स्त्री०(गोष्ठी) गावाऽनेका वाचस्तिष्ठन्ति अत्र । स्था-घञर्थे कः।**''अम्बाम्बगोभूमिसव्यापद्वित्रिकुशेकुशङ्कङ्कङ्कुमञ्जिपुञ्जिपरमे बर्हिर्दिव्यग्निभ्यः स्थः''** ॥८।३।९७॥ इति (पाणि०)षत्वम् । गौरा०ङीष् । वाच० **''कगटमतदपशषस≍ क≍ पामूर्ध्वं लुक्''** ॥८।२।७७॥ इति षलुक् । प्रा०२ पाद । महत्तरादिपुरुषपञ्चक परिगृहीते, बृ० २ उ० जनसममुदायविशेषे, ज्ञा०१ श्रु०१६ अ० परपराऽऽलापे, पोष्यवर्गे च । वाच०

गोड पुं०(गौड) देशभेदे, कल्प०७ क्षण । स च देशो वङ्गदेशाद्दक्षिणस्यां समुद्रान्तिके।(प्रश्न०१ आश्र०द्वार) अनार्यक्षेत्रेष्वनन्तर्भवति। तद्वासिनि म्लेच्छजातीये मनुष्ये च। प्रव०२७४ द्वार। सू०प्र०।

गोडवागरण न०(गौडव्याकरण) विंशतिव्याकरणानां षोडशे, कल्प०१ क्षण।

गोडी स्त्री०(गौडी) गुडनिष्पन्नायां मदिरायाम्, बृ०२ उ० ''ओजः-प्रकाशकैवर्णैर्बन्ध आडम्बरः पुनः ॥ समासबहुला गौडी'' इत्युक्तलक्षणे काव्यरीतिभेदे, वाच०।

गोड्ड न०(गौल्य) गौल्यरसोपेते मधुररसोपेते, भ०१८ श०६ उ०।

गोण पुं०(गो)**''गोणादयः''।८।२।१७४॥** इति गोशब्दस्य स्थाने निपातः । प्रा०२ पाद। बलीवर्दे, दश०५ अ०१ उ०। आचा०। उत्त०। ओ०। स्था०। प्रश्न०। जं०। प्रज्ञा०। ''गोणं वियातं'' । आचा०२ श्रु०३ अ०३ उ०।

***गौण** न०। गुणैर्निर्वृत्तं गौणम् । उत्त०२९ अ०। गौणानि गौणनिष्पन्नानि । प्रश्न०१ आश्र० द्वार । गुणेभ्य आगतं गौणम् । कल्प०४ क्षण । स्था०। ''अव्यभिचारी मुख्यो-ऽविकलोऽसाधारणोऽनन्तरङ्गश्च, विपरीतोऽर्थो गौणः''। स्या०६ श्लोक । नि०चू०। ''गौणं गुणनिष्पन्नं नामधेयं करिति ।'' किमुक्तं भवति ? इत्याह-गौणशब्दोऽप्रधानेऽपि वर्त्तते इत्यत उक्तं गुणनिष्पन्नम् । औ०। सूत्र०। आचा०। ज्ञा०। विशे०। गुणप्रधाने, विपा०१ श्रु०२ अ०। नामानि, पिं०। ('नाम' शब्दे व्याख्या)।

से किं तं गोणे ? गोणे खमइ त्ति खमणो, तपइ त्ति तपणो जलइ त्ति जलणो, पवइ त्ति पवणो । सेत्तं गोणे ।

''से किं तं गोणे'' इत्यादि, गुणैर्निष्पन्नं गौणं, यथार्थमित्यर्थः । तच्चानेकप्रकारं, तत्र क्षमत इति क्षमण इत्येतत् क्षमालक्षणेन गुणेन निष्पन्नं, तथा तपतीति तपन इत्येतत्तपनलक्षणेन गुणेन निर्वृत्तम्, एवं ज्वलतीति ज्वलन इतीदं ज्वलनगुणेन संभूतम् । इत्येवमन्यदपि भावनीयम् । अनु०।

गोणंगुल पुं०(गोलाङ्गूल) लङ्गूरे वानरे, भ०१२ श०८ उ०।

गोणंगुलवसभ पुं०(गोलाङ्गूलवृषभ) (गोलालङ्गूलानां वानराणां मध्ये महान् स एव वा विदग्धः,विदग्धपर्यायत्वात् वृषभशब्दस्य। विशिष्टवृषभो, भ०१२ श०८ उ०।

गोणणाम न०(गौणनामन्)गुणैर्निष्पन्नं गौणं, तच्च नाम च गौणनाम । यौगिकनाम्नि, आचा०१ श्रु०५ अ०१ उ०।

गोणपोत्तय पुं०(गोपुत्रक) गोवत्से, उत्त०५ अ०।

गोणगोभूत त्रि०(गौणगोभूत)बलीवर्दकल्पे, बृ०२ उ०।

गोणलक्खण न०(गोलक्षण) सास्नाविलरूक्ष्यो मूषिकनयनाश्च न शुभदा गाव इत्यादिके गोजातीयलक्षणे, जं०२ वक्ष०। द्वात्रिंशत्क-लाभेदे, स०। ज्ञा०।

गोणस पुं० गोनश(स) निःफणाहिविशेषे, प्रश्न०१ आश्र०द्वार। जी०। प्रज्ञा०। सरीसृपभेदे, ज्ञा०१ श्रु०८ अ०।

गोणसखाइयाइ पुं०स्त्री०(गोनसखादितादि)''गोणसखइयाइ रप्पुए वा वि''। (७) आव०५ अ०। गोनससरीसृपभक्षितप्रभृतौ, आदिशब्दात् गोधेरकादिपरिग्रहः। पञ्चा०१६ विव०।

गोणागिति पुं०(गवाकृति) गवये, नि०चू०१ उ०।

गोणिय त्रि०(गाविक) गोक्रयविक्रयकारिषु, व्य०६ उ०।

गोणिपाण न०(गोपान) गवां यत्र पानं तस्मिन् बृ०३ उ०।

गोणिवच्छ पुं०(गोवत्स) धेनुवत्से, पि०।

गोणिसज्झा स्त्री०(गोनिषद्या) गोरिवोपवेशने, स्था०५ ठा०१ उ०।

गोणी स्त्री०(गो)गवि,''गोणीणं संगेल्लं'' गवां स्त्रीगवानां 'संगेल्लं' समुदायः। व्य०४ उ०। आ०चू०। विशे०आ०म०। (आचार्यशिष्ययोग्या-योग्यत्वे गोदृष्टान्तोऽन्यत्र)

गोतित्थ न०(गोतीर्थ)६ त०। गवां तडागादाववतारमार्गे, गोतीर्थमिव गोतीर्थम्। लवणसमुद्रादेरवतारवत्यां भूमौ, स्था०१० ठा०। क्रमेण नीचतरे प्रवेशमार्गे, जी०३ प्रति। लवणसमुद्रशब्देऽस्य व्याख्या)

गोतित्थविरहिय पुं०(गोतीर्थविरहित)समभूमौ, द्वी०।''गोतित्थेहिँ विरहियं, खेत्तं नलिणोदगसमुद्दे''॥१६॥ द्वी०। विषमेऽवतारभूमिर्भवति। स्था०१० ठा०।

गोतिहाणी स्त्री०(गोत्रिहायनी) त्रिवर्षजातायां गोवत्सिकायाम्, तं०।

गोत्त न०(गोत्र)'गूङ्' शब्दे, गूयते संशब्द्यते उच्चवचैः शब्दैर्यत् तद् गोत्रम्। उच्चनीचकुलोत्पत्तिलक्षणे पर्यायविशेषे, पं०सं०३ द्वार। तथाविधैकपुरुष-प्रभवे वंशे, ध०१ अधि०। यथार्थकुले, विपा०१ श्रु०१ अ०।

सत्त मूलगोत्ता पण्णत्ता। तं जहा-कासवा, गोयमा, वत्था, कोत्था, कोसिया, मंडवा, वसिट्ठा।

'सत्त मूलगोत्ता' इत्यादिना ग्रन्थेन गोत्रविभागमाह। सुगमश्चायम्, नवरं गोत्राणि तथाविधैकैकपुरुषप्रभवा मनुष्यसन्ताना उत्तरगोत्रापेक्षया मूलभूतानि आदिभूतानि गोत्राणि मूलगोत्राणि, काशे भवः काश्यो रसस्तं पीतवानिति काश्यपः, तदपत्यानि काश्यपाः, यथा-मुनिसुव्रतनेमिवर्जा जिनाश्चक्रवर्त्यादयश्च क्षत्रियाः सप्तमगणधरादयो द्विजा जम्बूस्वा-म्यादयो ग्रहपतयश्चेति। इह च गोत्रस्य गोत्रवद्भयो भेदादेवं निर्देशः, अन्यथा काश्यपमिति वाच्यं स्यात्। एवं सर्वत्र। तथा गौतमस्याऽपत्यानि गौतमाः क्षत्रियादयः। यथा-सुव्रतनेमिजिनौ नारायणपद्मवर्जवासुदेव-बलदेवा इन्द्रभूत्यादिगणनाथत्रयं वैरस्वामी च। तथा वत्सस्यापत्यानि वत्साः शय्यम्भवादयः। एवं कुत्साःशिवभूत्यादयः,''कोच्छं सिवभूइमपि य'' इति वचनात्। एवं कौशिकाः षडुलूकादयः। मण्डोरपत्यानि मण्डवाः। वसिष्ठस्यापत्यानि वासिष्ठाःषष्ठगणधरार्यसुहस्त्यादयः। तथा ये काश्यपास्ते सप्तविधाः। एके काश्यपशब्दव्यपदेश्यत्वेन काश्यपा एव। अन्ये तु काश्यपगोत्रविशेषभूतशण्डिल्यादिपुरुषापत्यरूपाः शाण्डिल्या-दयोऽवगन्तव्याः। स्था०७ ठा०। एते च प्रत्येकं सप्तसप्तेति सर्वसंकलनया एकोनपञ्चशत्। स०। ज्ञा०। भ०। स्था०। न०। नि०। तद्विपाकवेद्ये कर्मणि च। कारणे कार्योपचारात् कर्मण उपादान-विवक्षया गूयते शब्द्यते उच्चावचैः शब्दैरात्मा यस्मात् कर्मण उदय-प्राप्तात्तद्गोत्रम्। पं०सं०३ द्वार। कर्म०। दशा०। प्रव०। पूज्योऽपूज्योऽयमित्यादिव्यपदेश्यरूपां गां वाचं त्रायते इति गोत्रम्। स्था०२ ठा०४ उ०। सप्तमे कर्मणि, उत्त०३३ अ०। तच्च द्विधा''गोत्ते कम्मे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा-उच्चागोए चेव, णीयागोए चेव''। स्वरूपं चास्येदम्-''जह कुंभारो भण्डाइँ कुणइ पुज्जेयराइ लोयस्स ॥इय गोयं कुणइ जियं, लोए पुज्जेयरा वत्थुं''॥१॥ उच्चैर्गोत्रं पूज्यत्वनिबन्धनम्, इतरद्विपरीतम्। स्था०२ ठा०४ उ०। प्रज्ञा०।

सम्प्रति द्विभेदगोत्रकर्माभिधित्सुराह-

गोयं दुहुच्चनीयं, कुलाल इव सुघडभुंमलाईयं ।(५१)

गोत्रं प्राग्वर्णितशब्दार्थं द्विधा द्विभेदम्। कथमित्याह-'उच्चनीचं' उच्चं च नीचं च उच्चनीचम्, उच्चैर्गोत्रं, नीचैर्गोत्रमित्यर्थः। एतच्च कुलाल इव कुम्भकारतुल्यं शोभनो घटः सुघटः पूर्णकलशः,'भुम्भलं' मध्यस्थानं सुघटभुम्भले आदौ यस्य तत्कृतोपरकरणस्य तत्सुघटभुम्भलादि, करोतीति शेषः। अयमत्र भावः-यथा हि कुलालः पृथिव्यास्तादृशं पूर्णकलशादिरूपं करोति यादृशं लोकात् कुसुमचन्दनाक्षतादिभिः पूजां लभते, स एव भुम्भलादि तादृशं विदधाति यादृशमप्रक्षिप्तमद्यमपि लोकान्निन्दां लभते। कर्म०१ कर्म०॥ पं०सं०। कल्प०। आचा०। श्रा०।(अनुभागादयोऽस्य प्रथमभागे अनुभागादिशब्देषु तृतीयभागे २८८ पृष्ठे 'कम्म' शब्दे च संबन्ध उक्तः) गां वाचं त्रायतेऽर्थाविसंबादनतः पालयतीति गोत्रम्। समस्तागमाधारभूते, सूत्र०१ श्रु०१० अ०। पर्वते, संभावनीबोधे, कानने, क्षेत्रे, मार्गे, छत्रे, सङ्घे, वृद्धौ, वित्ते, धने वाच०। 'गोत्राणां भेदाः स्वस्वशब्दे)

गोत्तजोगि (ण्) पुं०(गोत्रयोगिन्) गोत्रवन्तो योगिनो गोत्रयोगिनः। षो०१३ विव०। गोत्रमात्रेण योगिषु, द्वा०१६ द्वा०।

गोत्तफुस्सिया स्त्री०(गोत्रस्पर्शिका) वल्लीभेदे, प्रज्ञा०१ पद।

गोत्तमय पुं०(गोत्रमद) उच्चैर्गोत्रे इक्ष्वाकुवंशहरिवंशादिके संजाताऽह-मित्येवमात्मके मदे, सूत्र०१ श्रु०१३ अ०।

गोत्तागार पुं०(गोत्राकार) द्वं०स०। नामाकृतिषु, चं०प्र०१० पाहु०।

***गोत्तागार** न०कुलगृहे, चं,प्र०१० पाहु०। स्था०।

गोत्तावगय त्रि०(गोत्रापगत) गोत्रादेरपगते, सूत्र०१ श्रु०१३ अ०।

गोत्तास पुं०(गोत्रास) भीमस्य कूटग्राहस्य पुत्रे, स्था०। गात्रासितवानिति गोत्रासः। अयं हि हस्तिनागपुरे भीमा-भिधान-कूटग्राहस्योत्पलाभिधानाया भार्यायाः पुत्रोऽभूत्, प्रस-

वकाले चानेन महापापसत्त्वेनाराज्या गावस्त्रासिताः, यौवने चायं गोमांसान्येकधा भक्षितवान्, ततो नारको जातः, ततो वाणिजग्रामनगरे विजयसार्थवाहभद्राभार्ययोरुज्झितकाभिधानः पुत्रो जातः, स च कामध्वजगणिकार्थे राज्ञा तिलशो मांसच्छेदनेन तत्स्वादनेन च चतुष्पथे विडम्ब्य व्यापादितो नरकं जगामेति। स्था०१० ठा०। विपा०। (गोत्रासवक्तव्यताप्रतिबद्धं द्वितीयमध्ययनं सर्वं द्रष्टव्यम्। कर्मविपाकदशानां द्वितीयाऽध्ययनसूत्रम् ''उज्झियय'' शब्दे द्वितीयभागे ७४६ पृष्ठे उक्तम्)।

गोथुभ पुं०(कौस्तुभ) मणिविशेषे, स०।

***गोस्तूप** पुं०। प्राच्यां लवणसमुद्रमध्यवर्त्तिनि प्रथमवेलन्धरनागराजनिवासभूतपर्वते, स०५२ सम०। स्था०। प्रथमवेलन्धरनागराजे, जी०३ प्रति०। स०। एकादशजिनस्य प्रथमशिष्ये, अस्य द्वितीयं नाम कृतार्थ इति। स०। ति०। मानुष्योत्तरपर्वतस्य स्वनामख्याते कूटे उत्तरदिक्स्थे, द्वी०।

गोथूभ पुं०(कौस्तुभ) गोथुभ' शब्दार्थे, स०।

गोथूभा स्त्री०(गोस्तूपा) पाश्चात्यस्याञ्जनपर्वतस्य पाश्चात्यायां वाप्याम्, स्था०३ ठा०३ उ०। पूर्वदिग्भाव्यञ्जनपर्वतस्यापरस्यां नन्दापुष्करिण्याम्, जी०३ प्रति०। ती०। दक्षिणपाश्चात्यरतिकरपर्वतस्य पश्चिमायां दिशि नवमिकानाम्न्या शक्राग्रमहिष्या राजधान्याम्, स्था०४ ठा०२ उ०नि०।

गोदास पुं०(गोदास) भद्रबाहोः प्रथमशिष्ये, कल्प०८ क्षण। तस्मान्निर्गते गणे च। कल्प०८ क्षण। वीरजिनेन्द्रस्य नवानां गणानां प्रथमे, स्था०९ ठा०।

गोदेव त्रि०(गोदेव) गोशब्देन खुरककुदविषाणसास्नालाङ्गूलाद्यवयवसंपन्नः पशुरुच्यते, तत्र विधेयता लक्ष्यते। ततो गौरिव विधेयानि देवानीन्द्रियाणि यस्य स तथा। जितेन्द्रिये, गोभिर्भूतार्थगर्भाभिर्वाग्भिर्दीव्यति स्तौतीति। गोदेवप्रशंसके, जै० गा०।

गोदोहिया स्त्री०(गोदोहिका) गोर्दोहनं गोदोहिका, तद्वद् याऽसौ गोदोहिका। दशा०७ अ०। स्था०। गोदोहनप्रवृत्तस्येवाग्रपादतलाभ्यामवस्थानक्रियायाम्, पञ्चा०१८ विव०।

गोदोहिकासनमाऽऽर्यिकाणां न कल्पते-

वीरासणगोदोहं, मुत्तुं सव्वे वि ताण कप्पंति।
ते पुण पडुच्च चेट्ठं, मुत्ताउ अभिग्गहं पप्प॥

अनन्तरोक्तासनानं मध्याद् वीरासनं, गोदोहिकासनं च मुक्त्वा शेषाण्यूर्द्ध्वस्थानादीनि सर्वाण्यपि तासां कल्पन्ते। आह-सूत्रे तान्यपि प्रतिषिद्धानि तत्कथमनुज्ञायन्ते इत्याह-तानि पुनः शेषाणि स्थानानि चेष्टां प्रतीत्य कल्पन्ते, न पुनरभिग्रहविशेषम्। सूत्राणि पुनरभिग्रहं प्राप्य प्रतीत्य प्रवृत्तानि, तत इदमुक्तं भवति-अभिग्रहविशेषादूर्ध्वस्थानानि संयतीनां न कल्पन्ते, सामान्यतः पुनरवक्ष्यकादिवेलायां यानि क्रियन्ते तानि कल्पन्त एव। बृ०५ उ०।

गोध पुं०(गोध) म्लेच्छदेशभेदे, तद्वासिनि जने च। प्रज्ञा०१ पद।

गोपुच्छसंठाणसंठिय त्रि०(गोपुच्छसंस्थानसंस्थित) ऊर्ध्वीकृतगोपुच्छसंस्थानसंस्थिते, जी०३ प्रति। गोपुच्छो ह्यादौ स्थूलोऽन्ते सूक्ष्मस्तद्वत्। स्था०५ ठा०२ उ०। रा०।

गोपुट्ठय न०(गोपृष्ठक) गोपृष्ठात्पतिते पानके, भ०१५ श०१ उ०।

गोपुर न०(गोपुर) गोभिः पूर्यते इति गोपुरम्। प्रतोलीद्वारे, उत्त०९ अ०। प्रतोलीकपाटमित्यन्ये। प्रश्न०१ आश्र०द्वार। प्राकारद्वारे, रा०। ज्ञा०। पुरद्वारे, चं०प्र०४ पाहु। ''पागारं कारइत्ता णं, गोपुरट्टालगणिय''। (१८) उत्त०९ अ०।

गोप्पय न०(गोष्पद) गोपदमिते क्षेत्रे, ''जहा समुद्दो तहा गोप्पयं'' अनु०।

गोप्पलेहिया स्त्री०(गोप्रलेह्या) अल्पशाद्वलां सक्षारां वा यां भूमिं गावः प्रलिहन्ति तस्याम्, आचा०२ चू०।

गोप्फणा स्त्री०(गोफणा) चर्मदवरिकामयेऽर्थे 'गोफण' इति प्रसिद्धे, स०।

गोबहुल पुं०(गोबहुल) शरवणसन्निवेशवासिनि स्वनामख्याते ब्राह्मणे, यस्य शालायां मङ्खलिपुत्रो गोशालो जातः। भ०१५ श०१ उ०। स्था०। आ०म०।

गोभत्तालंदय पुं०(गोभक्तकालन्दक) गोभक्तयुक्तोऽलन्दको गोभक्तकालन्दकः। ''गोभत्तालंदो विअ, बहुरूपनमो व्व एलगो चेव'' यथा-अलिन्दगोभक्तं कुक्कुसा ओदननिस्सयमवश्रावणमित्यादि सर्वमेकत्र मिलितं भवति। व्य०१ उ०।

गोभद्द पुं०(गोभद्र) शालिभद्रस्य पितरि राजगृहवासिश्रेष्ठिनि, स्था०१० ठा०।

गोभूमि स्त्री०(गोभूमि) गोचरणभूमौ, आ०चू०१ अ०। ''ततो विहरंता सामी गोभूमिं वचेति, तच्छ अडवीवणे सयगावीआ चरंति'' आ०म०द्वि०। ततः स्वामी गोभूमिं गतः ततो राजगृहे अष्टमं वर्षावासम्। कल्प०६ क्षण।

गोमंस पुं०(गोमांस) गवां मांसे, गोमांसाऽभक्षणात्केचिद् मोक्षं वदन्ति। सूत्र०१ श्रु०७ अ०।

गोमड पुं०(गोमृत) गौश्चासौ मृतश्च। गोशवे, जी०३ प्रति०। विपा०।

गोमढदेव पुं०(गोमठदेव)ऋषभदेवस्य बाहुबलेश्च प्रतिमाभेदे उत्तरापथे कलिङ्गदेशे गोमठः श्रीऋषभः, दक्षिणापथे गोमठदेवः श्रीबाहुबलिः। ती०४५ कल्प।

गोमय पुं०न०(गोमय) गोः पुरीषम् मयट्, अर्धर्चादिः। गोपुरीषे, वाच०। छगणे, भ०५ श०२ उ०। गोकरीषे, नि०चू०।

गोमयप्रतिग्रहणे दोषाः-

जे भिक्खू दिया गोमयं पडिगाहेत्ता दिया गोमयं कायंसि वणं आलिंपेज्ज वा विलिंपेज्ज वा आलिंपंतं वा विलिंपंतं वा साइज्जइ॥३९॥ जे भिक्खू दिया गोमयं पडिगाहेत्ता रत्तिं कायंसि वणं आलिंपेज्ज वा विलिंपेज्ज वा आलिंपंतं वा विलिंपंतं वा साइज्जइ॥४०॥ जे भिक्खू रत्तिं गोमयं पडिगाहेत्ता दिया कायंसि वणं आलिंपेज्ज वा विलिंपेज्ज वा आलिंपंतं वा विलिंपंतं वा साइज्जइ॥४१॥ जे भिक्खू रत्तिं गोमयं पडिगाहेत्ता रत्तिं कायंसि वणं आलिंपेज्ज वा विलिंपेज्ज वा आलिंपंतं वा विलिंपंतं वा साइज्जइ॥४२॥

चउक्कभंगसुत्तं उच्चारेयव्वं, कायः शरीरं व्रणः क्षतं, तेण गोमयेन आलिंपइ सकृत्, विलिंपइ अनेकशः, अपरिवासिते मासलहुं, परिवासिते चउभंगे चउलहुं तवकालविसिट्ठो, आणदिया दोसा।

दिय रातो गोमएणं, चउक्कभयणा तु जा वणे वुत्ता।
एत्तो एगतरेणं, मक्खेताऽऽणादिणो दोसा ॥२१६॥

चउक्कभयणा चउभंगो, ततियउद्देसए जा वणे वुत्ता इहं पि सच्चेव।

तच्चुप्पतितं दुक्खं, अभिभूतो वेयाणाएँ तिव्वाए।
अट्टाणो अच्चहितो, तं दुक्खहियासते सम्मं ॥२१७॥
अव्वोच्छित्तिनिमित्तं, जीयट्ठाए समाहिहेउं वा।
एतेहिं कारणेहिं, जयणा आलिंपणं कुज्जा ॥२१८॥

पूर्ववत्। गोमयगहणे इमा विहि-

अभिणववोसट्ठाऽऽसति, इतरे उवयोगकाउ गहणं तु।
माहिस असती गव्वं, अणातवत्थं व विसघाती ॥२१९॥

वोसिरियमेत्तं घेत्तव्वं, तं बहुगुणं, तस्सासति इयरं चिरकालवोसिरियं तं पि उवओगं करेंतु गहणं, दिणसंसत्तं पि माहिसं घत्तव्वं, माहिसाऽऽसति गव्वं, तं पि अणातवत्थं, छायायामित्यर्थः। तं असुसिरं विसघाती भवति, आतवत्थं पुण सुसिरं, स ण गुणकारी। नि०चू०१२ उ०।

गोमयकीडय पुं०(गोमयकीटक) चतुरिन्द्रियजीवविशेषे, जी०१ प्रति०।

गोमयणिस्सिय पुं०(गोमयनिश्रित) कुन्थुपनकादिषु जीवेषु, आचा०१ श्रु०१ अ०४ उ०।

गोमाणसिया स्त्री०(गोमानसिका) शय्यारूपे स्थानविशेषे, जी०३ प्रति०। ''गोमाणसिया च तत्तिया'' तावन्मात्रा एकोनपञ्चाशत्। जी०३ प्रति०। रा०।

गोमाणसी स्त्री०[गोमा(पा)नसी] शय्यारूपे स्थानविशेषे, जी०३ प्रति० जं०।

गोमिअ पुं०(गौल्मिक) गुल्मेन चरन्तीति गौल्मिकाः। स्थानरक्षपालेषु, बृ०३ उ०। बद्धस्थानेषु, बृ०१ उ०। गुप्तिपालेषु, प्रश्न०३ आश्र०द्वार। ये राज्ञः पुरुषाः स्थानकं बध्वा रक्षयन्ति। बृ०१ उ०।

गोमिअभंडोवगरण न०(गौल्मिकभाण्डोपकरण) गौल्मिकपरिच्छदविशेषे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार।

गोमिय त्रि०(गोमत्) गावोऽस्य सन्तीति गोमान्। गोस्वामिनि, ''गोहिं गोमिए'' अनु०। ''गोमिया सुकिलिया कसिणवत्थमित्तं तेहिं घेप्पंति'' नि०चू०२ उ०।

गोमुत्तिया स्त्री०(गोमूत्रिका) गोवलीवर्दस्य मूत्रणं गोमूत्रिका। गोप्रश्रवणोत्सर्गे, तदाकारा गोचरभूमिरपि गोमूत्रिका। ग०२ अधि०। उत्त०। वक्रायां कुटिलायां गृहपङ्क्तौ, दशा०७ अ०। पञ्चा०। बृ०। स्था०। अष्टानां गोचरभूमीनामन्यतमस्यां भूमौ, ''आइओ सन्नियट्टइ गोमुत्तिया वंको।'' पं०व०२ द्वार। गोमूत्रिका च परस्पराभिमुखगृह-पङ्क्त्योर्वाम-पङ्क्त्येकगृहं गत्वा दक्षिणपङ्क्त्येकगृहे यातीत्येवं क्रमेण श्रेणिद्वय-समाप्तिकरणे भवति। ध०२ अधि०।

गोमुह पुं०(गोमुख) आदिनाथस्य यक्षे, स च सुवर्णो गजवाहनश्चतुर्भुजो वरदाक्षमालिकायुक्तदक्षिणपाणिद्वयो मातुलिङ्गपाशकान्वितवामपाणि-द्वयश्च। प्रव०२३ द्वार। आ०क०। गोमुखद्वीपवासिनि मनुष्ये च। स्था,४ ठा०२ उ०। प्रज्ञा०। श्रीऋषभस्य अयोध्यास्थसङ्गरक्षके यक्षे, ती०१३ कल्प०।

गोमुहदीव पुं०(गोमुखद्वीप) शष्कुलिकरणस्य परतोऽन्तर्द्वीपे, स्था० ४ ठा०२ उ०। ('अंतरदीव' शब्दे प्रथमभागे ६६ पृष्ठेऽस्य वक्तव्यतोक्ता)

गोमुही स्त्री०(गोमुखी) वाद्यभेदे, ''सज्झं रवइ मुअंगो गोमुही'' अनु०। सा० गोमुखी लोकतोऽवसेया। रा०। आ०चू०।

गोमेज्ज पुं०(गोमेद) मणिभेदे, सूत्र०२ श्रु०३ अ०। ''गोमेज्जरायरूपए'' उत्त०२ अ०रा०। प्रज्ञा०। ''गोमेज्जमया इंदकीला'' गोमेदकरत्नमयी इन्द्रकीला। रा०।

गोमेह पुं०(गोमेध) श्रीनेमिजिनस्य यक्षे, स च त्रिमुखः श्यामकान्तिः पुरुषवाहनः षड्भुजो मातुलिङ्गपरशुचक्रान्वितदक्षिणकरत्रयो नकुल-शूलशक्तियुक्तो वामपाणित्रयश्च। प्रश्न०१ आश्र०द्वार।

गोम्मिय पुं०(गौल्मिक)'गोमिअ'शब्दार्थे, बृ०३ उ०।

गोम्ही स्त्री०(गोह्री)कर्णशृगालाख्ये व्य००७ उ०। प्रज्ञा०। त्रीन्द्रिय-जीवभेदे, जी०१ प्रति। अनु०। नि०चू०। बृ०।

गोय पुं०(गोद)उदुम्बरादिफले, आव०६ अ०। प्रज्ञा०।

***गोत्र** न०। उच्चनीचकुलोत्पत्तिलक्षणे पर्यायविशेषे, पं०सं०३ द्वार।

गोयम पुं०(गोतम) गोभिस्तमो ध्वस्तं यस्य। पृषो०। मुनिभेदे, वाच०। ह्रस्वे बलीवर्दे च। औ०। गौतमस्य ऋषेरपत्यं गौतमः। ''ऋष्यन्धक-वृष्णिकुरुभ्यश्च''।४।१।११४।(पाणि)इत्यण् प्रत्ययः। नं०। गौतमर्षेः सन्ताने, ते च क्षत्रियादयो यथासुव्रतनेमीजिनौ नारायणपद्मवर्जावासुदेव-बलदेवा इन्द्रभूत्यादिगणनाथत्रयम्। स्था० ''जे गोयमा ते सत्तविहा पण्णत्ता। तं जहा-ते गोयमा ते गग्गा भारद्दाया ते अंगिरसा ते सक्कराभा ते भक्खराभा ते उदत्ताभा।'' स्था०७ ठा०। आ०चू०। आ०म०। ''गोयमो य गोत्तेणं'' गौतमो गोत्रेण, गोतमाह्वयर्वशजात इत्यर्थः। जं०१ वक्ष०।

गौतमस्वामिवर्णकः-

ते णं काले णं ते णं समए णं समणस्स भगवओमहावीरस्स जेट्ठे अंतोवासी इंदभूती णामं अणगारे गोयमगोत्ते णं सत्तुस्सेहे समचउरंससंठाणसंठिए वज्जरिसहणारायसंघयणे कणग-पुलगणिघसपम्हगोरे उग्गतवे दित्ततवे तत्ततवे महातवे उराले घोरे घोरगुणे घोरतवस्सी घोरबंभचेरवासी उच्छूढसरीरे संखित्तविउलतेउलेस्से चउद्दसपुव्वी चउणाणोवगए सव्वक्खर-सण्णिवाती समणस्स भगवओ महावीरस्स अदूरसामंते उड्ढजाणू अहोसिरे झाणकोट्ठोवगए संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ॥

(तेणमित्यादि) तेन कालेन तेन समयेन श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य (जेट्ठे त्ति) प्रथमः (अंतेवासि त्ति) शिष्यः। अनेन पदद्वयेन तस्य सकलसङ्घनायकत्वमाह। (इंदभूइ त्ति) इन्द्रभूतिरिति मातृपितृकृतं नामधेयम् (नामं ति) विभक्तिविपरिणामात् नाम्नेत्यर्थः। अन्तेवासी किल विवक्षया श्रावकोऽपि स्यादित्यत आह-(अणगारे त्ति) नास्यागारं विद्यत इत्यन-

नगारः । अयंचावगीतगोत्रोऽपि स्यादित्यत आह-(गोयमगोत्ते णं ति) गौतमसगोत्र इत्यर्थः । अयश्च तत्कालोचितदेहमानापेक्षया न्यूनाधिकदेहोऽपि स्यादित्यत आह-(सत्तुस्सेहे त्ति) सप्तहस्तोच्छ्रयः । अयं च लक्षणहीनोऽपि स्यादित्य आह-(समचउरंससंठणसंठिए त्ति) समं नाभेरुपरि अधश्च सकलपुरुष-लक्षणोपेतावयवतया तुल्यं, तच्च तच्चतुरस्रं च प्रधानं समचतुरस्रम् । अथवा समाः शरीररलक्षणोक्तप्रमाणाविसंवादिन्यश्चतस्रोऽस्रयो यस्य तत्समचतुरस्रम् । अस्रयस्त्विह चतुर्दिग्भागोपलक्षिताः शरीरावयवा इति । अन्ये त्वाहुः-समा अन्यूनाधिकाश्च-तस्रोऽप्यश्रयो यत्र तत्समचतुरस्रम् । अश्रयश्च पर्यङ्कासनोपविष्टस्य जानुनोरन्तरम्, आसनस्य ललाटोपरिभागस्य चान्तरं, दक्षिणस्कन्धस्य वामजानुन अन्तरं, वामस्कन्धस्य दक्षिणजानुनश्चान्तरमिति । अन्ये त्वाहुः-विस्तारोत्सेधयोः समत्वात् समचतुरस्रं, तच्च तत् संस्थानञ्चाकारः समचतुरस्रसंस्थानं, तेन संस्थितो व्यवस्थितो यः स तथा । अयश्च हीनसंहननोऽपि स्यादित्यत आह-(वज्जरिसहणारायसंघयणे त्ति)इह संहननम् अस्थिसंचयविशेषः । वज्रादीनां लक्षणमिदम् ''रिसभो य होइ पट्टो, वज्जं पुण कीलयं वियाणाहि । उभओ मक्कडबंधो, णारयं तं वियाणाहि'' ॥१॥ तत्र वज्रं च तत्कीलिकाकीलितकाष्ठसम्पुटोपमसामर्थ्ययुक्तत्वात्, ऋषभश्च लोहादिमयपट्टबद्धकाष्ठसम्पुटोपमसामर्थ्यान्वितत्वाद्वज्रर्षभः । स चासौ नाराचश्च उभयतो मर्कटबन्धनिबद्धकाष्ठसम्पुटोपमसार्थ्योपेतत्वात् वज्रर्षभनाराचः, स चासौ संहननमस्थिसंचयविशेषोऽनुत्तमसामर्थ्ययोगाद्यस्यासौ वज्रर्षभनाराचसंहननः । अन्ये तु कीलिकादिमत्त्वमस्थ्नामेव वर्णयन्ति । अयश्च निन्द्यवर्णोऽपिस्यादित्यत आह-(कणगपुलगनिघसपम्हगोरे) कनकस्य सुवर्णस्य (पुलग त्ति) यः पुलको लवस्तस्य यो निकषः कषपट्टके रेखालक्षणः, तथा । (पम्ह त्ति) पद्मपक्ष्माणि केसराणि तद्वद्गौरो यः स तथा । वृद्धाव्याख्या तु कनकस्य न लोहादेर्यः पुलकः सारो वर्णातिशयस्तत्प्रधानो यो निकषो रेखा तस्य यत्पक्ष्म बहलत्वं तद्वद्गौरो यः स तथा । अथवा कनकस्य यः पुलकोऽद्भुतत्वे सति बिन्दुस्तस्य निकषो वर्णतः सदृशो यः स तथा । (पम्ह त्ति) पद्मं, तस्य चेह प्रस्तावात्केसराणि गृह्यन्ते, ततः पद्मवद्गौरो यः स तथा । ततः पदद्वयस्य कर्मधारयः । अयश्च विशिष्टचरणरहितोऽपि स्यादित्यत आह-(उग्गतवे त्ति) उग्रमप्रधृष्यं तपोऽनशनादि यस्य स उग्रतपाः, यदन्येन प्राकृतपुंसा न शक्यते चिन्तयितुमपि तद्विधेन तपसा युक्ता इत्यर्थः । (दित्ततवे त्ति) दीप्तं जाज्वल्यमानदहन इव कर्म्मवनगहनदहनसमर्थतया ज्वलितं तपो धर्म्मध्यानादि यस्य स तथा । (तत्ततवे त्ति)। तप्तं तपो येनासौ तप्ततपाः। एवं हि तेन तत्तपस्तप्तं येन कर्माणि सन्ताप्यन्ते न तपसा स्वात्माऽपि पतोरूपः सन्तापितो यतोऽन्यस्यास्पृश्यमिव जातमिति (महातवे त्ति) आशंसादोषरहितत्वात् प्रशस्ततपाः।(उराले त्ति) भीम उग्रादि विशेषणविशिष्ट- तपःकरणात्पार्श्वस्थानामल्पसत्त्वानां भयानक इत्यर्थः । अन्ये त्वाहुः-(उराले त्ति) उदारः प्रधानः (घोरे त्ति) घोरो निर्घृणः, परीषहेन्द्रियादिरिपुगणविनाशमाश्रित्य निर्दय इत्यर्थः। अन्ये त्वात्मनिरपेक्षं घोरमाहुः-(घोरगुणे त्ति) घोरा अन्यैर्दुरनुचरा गुणा मूलगुणादयो यस्य स तथा (घोरतवस्सि त्ति) घोरैस्तपोभिस्तपस्वीत्यर्थः। घोरबंभचेरवासि त्ति) घोरं दारुणमल्पसत्त्वैर्दुरनुचरत्वाद्यब्रह्मचर्यं तत्र वस्तुं शीलं यस्य स तथा। (उच्छूढसरीरे त्ति) उच्छूढम उज्झितमिवोज्झितं शरीरं येन तत्संस्कारत्यागात्स तथा । (संखित्तविलउतेउलेस्से त्ति) संक्षिप्ता शरीरान्तर्लीनत्वेन ह्रस्वतां गता विपुला विस्तीर्णा। अनेकयोजनप्रमाणक्षेत्राश्रितवस्तुदहनसमर्थत्वात्तेजोलेश्या विशिष्टतपोजन्यलब्धिविशेषप्रभवा तेजोज्वाला यस्य स तथा । मूलटीकाकृता तु-''उच्छूढसरीरसंखित्तविपुलतेयलेसे त्ति'' कर्मधारयं कृत्वा व्याख्यातमिति। (चउद्दसपुव्वि त्ति) चतुर्दशपूर्वाणि विद्यन्ते यस्य तेनैव तेषां रचितत्वादसौ चतुर्दशपूर्वी । अनेन तस्य श्रुतकेवलिता-माह । स चावधिज्ञानादिविकलोऽपि स्यादत आह-(चउनाणोवगए त्ति) केवलज्ञानवर्जज्ञानचतुष्कसमन्वित इत्यर्थः। उक्तविशेषणद्वय-युक्तोऽपि कश्चिन्न समग्रश्रुतविषयव्यापिज्ञानो भवति । चतुर्दशपूर्वविदां षट्स्थानकपतितत्वेन श्रवणादित्यत आह-(सव्वक्खरसंनिवाइ त्ति) सर्वे च ते अक्षरसन्निपाताश्च तत्संयोगाः सर्वेषां चाक्षराणां निसन्निपाताः सर्वाक्षरसन्निपातास्ते यस्य ज्ञेयतया सन्ति ससर्वाक्षरसन्निपाती, श्रव्याणि वा श्रवणसुखकारीणि अक्षराणि साङ्कत्येन नितरां वदितुं शीलमस्येति श्रव्याक्षरसन्निवादी, स च एवंगुणविशिष्टो भगवान् विनयराशिरिव साक्षादितिकृत्वा शिष्याचारत्वाच्च (समणस्स भगवओ महावीरस्स अदूरसरमंते) विहरति इति योगः । तत्र दूरं च विप्रकृष्टं सामन्तं च सन्निकृष्टं, तन्निषेधाददूरसामन्तं, तत्र नातिदूरे, नातिनिकट इत्यर्थः। किंविधः संस्तत्र विहरतीत्यत आह-(उड्ढं जाणु त्ति) ऊर्द्धं जानुनी यस्या सावूर्द्धजानुः, शुद्धपृथिव्यासनवर्जनादौपग्रहिकनिषद्याया अभवाद्योत्कुटकासन इत्यर्थः।(अहोसिरे त्ति) अधोमुखो नोर्द्धं तिर्यग्वा विक्षिप्तदृष्टिः, किन्तु नियतभूभागनियमितदृष्टिरिति भावः । (झाणकोट्ठोवगए त्ति) ध्यानं धर्म्यं शुक्लं वा तदेव कोष्ठः कुसूलो ध्यानकोष्ठः, तमुपगतस्तत्र प्रविष्टो ध्यानकोष्ठोपगतः । यथाहि कोष्ठके धान्यं प्रक्षिप्तमविप्रसृतं भवेत्येवं स भगवान् ध्यानतोऽविप्रकीर्णेन्द्रियान्तःकरणवृत्तिरिति (संजमेण ति) संवरेण (तवस त्ति) अनशनादिना, चशब्दः समुच्चयार्थो लुप्तोऽत्र द्रष्टव्यः । संयमतपोग्रहणं चानयोः प्रधानमोक्षाङ्गत्वख्यापनार्थम् । प्रधानत्वञ्च संयमस्य नवकर्मानुपादानहेतुत्वेन, तपसश्च पुराणकर्मनि-र्जरणहेतुत्वेन भवति चाभिनवकर्मानुपादानात् पुराणकर्मक्षपणाच्च समलकर्मक्षयलक्षणो मोक्ष इति (अप्पाणं भावमाणे विहरइ त्ति) आत्मानं वासयंस्तिष्ठतीत्यर्थः ॥

तए णं से भगवं गोयमे जायसड्ढे जायसंसये संजायकोउहल्ले उप्पण्णसड्ढे उप्पण्णसंसए उप्पण्णकोउहल्ले संजायसड्ढे सुजायसंसए संजायकोउहल्ले उट्ठाए उट्ठेति । उट्ठाए उट्ठेत्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ । उवागच्छित्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेइ । करेइत्ता वंदइ, णमंसइ, वंदित्ता णमंसित्ता णच्चासण्णे णातिदूरे सुस्सूसमाणे णमंसमाणे अभिमुहे विणएणं पंजलिउडे पज्जुवासमाणे एवं वयासी-॥

(तए णं से त्ति) ततो ध्यानकोष्ठोपगतविहरणानन्तरं, णमितिवाक्यालङ्कारार्थः 'से' इति प्रस्तुतपरामर्शार्थः। तस्य तु सामान्योक्तस्य विशेषावधारणार्थमाह-(भगवं गोयमे त्ति) कि-

मित्याह-(जायसड्ढे इत्यादि) जातश्चद्धादिविशेषणः सन्नुत्तिष्ठती-ति योगः। तत्र जाता प्रवृत्ता श्रद्धा इच्छा वक्ष्यमाणार्थतत्त्वज्ञानं प्रति यस्यासौ जातश्रद्धः। तथा जातः संशयो यस्य स जातसंशयः। संशयस्त्वनवधारितार्थज्ञानम्। स चैवम तस्य भगवतो जातो भगवता हि महावीरेण ''चलमाणे चलिए'' इत्यादौ सूत्रे चलन्नर्थश्चलितो निर्दिष्टः, तत्र च य एव चलन् स एव चलित इत्युक्तः, ततश्चैकार्थविषयावेतौ निर्देशौ; चलन्निति वर्त्तमानकालविषयः, चलित इति चातीतकालविषयः; अतोऽत्र संशयः-कथं नाम यएबार्था वर्त्तमानः स एवातीतो भवतीति ?,विरुद्धत्वादनयोः कालयोरिति। तथा (जायकोऊहल्ले त्ति) जातं कुतूहलं यस्य स जातकुतूहलो, जातौत्सुक्य इत्यर्थः। कथमेतान् पदार्थान् भगवान् प्रज्ञापयिष्यतीति? तथा-(उप्पन्नसड्ढे त्ति) उत्पन्ना प्रागभूता सती भूता श्रद्धा यस्य स उत्पन्नश्रद्धः। अथ जातश्रद्ध इत्येतावदेवास्तु कितर्थमुत्पन्नश्रद्ध इत्यभिधीयते, प्रवृत्तश्रद्धत्वेनैवोत्पन्नश्रद्धत्वस्य लब्धत्वात् न ह्यनुत्पन्ना श्रद्धा प्रवर्त्तत इति? अत्रोच्यते-हेतुत्वप्रदर्शनार्थम्। तथाहि-कथं प्रवृत्तश्रद्धः, उच्यते-यत उत्पन्नश्रद्ध इति हेतुत्वप्रदर्शनश्चोचितमेव, वाक्यालङ्कत्वात् तस्य यदाहुः-''प्रवृत्तदीपामप्रवृत्तभास्करां, प्रकाशचन्द्रां बुबुधे विभावरीम्।'' इह यद्यपि प्रवृत्तदीपत्वादेवाप्रवृत्तभास्करत्वमवगतं तथापि अप्रवृत्तभास्करत्वं प्रवृत्तदीपत्वादेर्हेतुतयोपन्यस्तमिति। ''उप्पण्णसंसए उप्पण्णकोऊहल्ले त्ति'' प्राग्वत्। तथा ''संजायसड्ढे'' इत्यादि पदषट्कं प्राग्वत्, नवरमिह सम्शब्दः प्रकर्षादिवचनः। यथा-''सञ्जातकामो बलजिद्विभूत्यां, मानात् प्रजाभिः प्रतिमाननाच्च।'' ऐन्द्रैश्चर्ये प्रकर्षेण जातेच्छः कार्तवीर्य इति। अन्ये तु-''जायसड्ढे'' इत्यादि विशेषणद्वादशकमेवं व्याख्यान्ति-जाता श्रद्धा यस्य प्रष्टुं स जातश्रद्धः। किमिति जातश्रद्ध इत्यत आह-यस्माज्जातसंशयः इदं वस्त्वेवं यादेवं वेति?। अथ जातसंशयोऽपि कथमित्यत आह-यस्माज्जातकुतूहलः कथां नामास्यार्थमवभोत्स्ये इत्यभिप्रायवानिति। एतच्च विशेषणत्रयमव-ग्रहापेक्षया द्रष्टव्यम्। एवमुत्पन्नसंजातसमुत्पन्नश्रद्धत्वादय ईहापायधारणाभेदेन वाच्याः। अन्ये त्वाहुः-जातश्रद्धत्वाद्यपेक्ष-योत्पन्नश्रद्धत्वादयः समानार्था विवक्षितार्थस्य प्रकर्षप्रवृत्तिप्रतिपादनाय स्तुतिमुखेन ग्रन्थकृतोक्ताः, न चैवं पुनरुक्तदोषाय। यदाह-''वक्ता हर्षभयादिभि-राक्षिप्तमनाः स्तुवंस्तथा निन्दन्। यत्पदमसकृद् ब्रूते, तत्पुनरुक्तं न दोषाय'' ॥१॥ इति (उट्ठाए उट्ठेति) उत्थानमुत्था, ऊर्द्धं वर्तनं, तया उत्थया उत्तिष्ठति ऊर्द्धो भवति। 'उट्ठेइ' इत्युक्ते क्रियाऽऽरम्भमात्रमपि प्रतीयते, यथा वक्तुमुत्तिष्ठत इति। ततस्तद्व्यवच्छेदायोक्तमुत्थायेति। (उट्ठाए उट्ठेए त्ति) उपागच्छतीत्युत्तरक्रियापेक्षया उत्थनक्रियायाः पूर्वकालतामिधानाय उत्थायोत्थायेति क्त्वाप्रत्ययेत निर्दिशतीति। (जेणेवेत्यादि) इह प्राकृतप्रयोगादव्ययत्वाद्वा येनेति यस्मिन्नेव दिग्भागे श्रमणो भगवान् महावीरो वर्तते (तेणेव त्ति) तस्मिन्नेव दिग्भागे उपागच्छ ति, तत्कालापेक्षया वर्तमानत्वादागमनक्रियाया वर्तमानविभक्त्या निर्देशः कृतः, उपगतवानित्यर्थः। उपागम्य च श्रमणं भगवन्तं महावीरं कर्मतापन्नं (तिक्खुत्तो त्ति) त्रीन वारान् त्रिःकृत्वः(आयहिणपयाहिणं करेइ त्ति) आदक्षिणाद्दक्षिणहस्ता-दारभ्य प्रदक्षिणः परितो भ्रान्यतो दक्षिण एव आदक्षिणप्रदक्षिणोऽतस्तं करोतीति। (वंदइ त्ति) वन्दते वाचा स्तौति। (नमंसइ त्ति) नमस्यति, कायेन प्रणमति (नच्चासन्ने त्ति) न नैव अत्यासन्नोऽति निकटः, अवग्रहपरिहारान्नात्यासन्ने वा स्थाने, वर्तमान इति गम्यम्। (नाइदूरे त्ति) न नैवातिदूरोऽतिविप्रकृष्टोऽनौचित्यपरिहारात् नातिदूरे वा स्थाने (सुस्सूसमाणे त्ति) भगववद्वचनानि श्रोतुमिच्छन् (अभिमुहे त्ति) अभि भगवन्तं लक्षीकृत्य मुखमस्येत्यभिमुखः। तथा (विणएणं ति) विनयेन हेतुना (पंजलिउडे त्ति) प्रकृष्टः प्रधानो ललाटतटघटित्वेन अञ्जलिर्हस्त-न्यासविशेषः कृतो विहितो येन सोऽन्याहितादिदर्शना-त्प्राञ्जलिकृतः (पज्जुवासमाणे त्ति) पर्युपासीनः सेवमानोऽनेन च विशेषणकदम्बकेन श्रवणविधिरुपदर्शितः। आह च-'' णिद्दाविगहापरिवज्जिएहि गुत्तेहिँ पंजलिउडेहिं। भत्तिबहुमाणपुव्वं, उवउत्तेहिं मुणेयव्वं''॥१॥ इति (एवं वयासि त्ति) एवं वक्ष्यमाणप्रकारं वस्तु अवादीदुक्तवान्। भ०१ श०१ उ०। विपा०। (यदवादीत् तत् 'कज्जकारणभाव' शब्देऽत्रैव भागे १९७ पृष्ठे निरूपितम) श्रीवीरजिनेन्द्रस्येन्द्रभूतिर्वायुभूतिरग्निभूतिश्चेति त्रय आद्याः शिष्याः तेषु इन्द्रभूतिरेवातिप्रसिद्धः, तत्प्रश्नप्रतिवचनरूपत्वादागमस्य। यदाह भगवान् वीरः-''चिरसंथुओसि गोयमा!'' पं०सं०२ द्वार। जं०। उपा०। विशे०।

गौतमेत्यत्र भगवताऽऽत्मनस्तुल्यताऽदर्शि यथा-

रायगिहे० जाव परिसा पडिगया गोयमादि०। समणे भगवं महावीरे गोयमं आमंतेत्ता एवं वयासी-चिरसंसिट्ठो सि मे गोयमा!, चिरसंथुतो सि मे गोयमा!, चिरपरिचितोसि मे गोयमा!, चिरजुसिओसि मे गोयमा!, चिराणुगओसि मे गोयमा!, चिराणुवत्तीसि मे गोयमा!, अणंतरं देवलोए अणंतरं माणुस्सए भवे किं परं मरणकायस्स भेदा, इतो चुता दो वि तुल्ला एगट्ठा अविसेसमणाणत्ता भविस्साम। भ०१४ श०७ उ०।

(''तुल्ल'' शब्दे व्याख्यास्यते)(गौतमस्वामिनः तुङ्गिकापुर्यांगोचरचर्यायै गमनं 'उववाय' शब्दे द्वितीयभागे ९७९ पृष्ठे द्रष्टव्यम्) पञ्चदशशततापसानां गौतमस्वामिना परमान्नेन पारणाकारिता, तत्र लब्धिपरमान्नमदत्तमिति साधूनां कथं कल्पते इति प्रश्ने, उत्तरम्-अत्रैकोऽपि परमान्नपतद्ग्रहोऽक्षीणमहानसलब्धिप्रभावेणैव सर्वेषां प्राप्त इत्यात्रादत्तं किमपि ज्ञातं नास्तीति बोध्यमिति ॥२०॥ ही०३ प्रका०। निर्वाणगमनं चेत्थम् स्वकीयनिर्वाणसमये देवशर्मणः प्रतिबोधनाय क्वापि ग्रामे स्वामिना प्रेषितः, श्रीगौतमः तं प्रतिबोध्य पश्चादागच्छन् श्रीवीरनिर्वाणं श्रुत्वा वज्राहत इव शून्यः क्षणं तस्थौ। बभाण च-

''प्रसरति मिथ्यात्वतमो, गर्जन्ति कुतीर्थिकौशिका अद्य
दुर्भिक्षममरवैरा-दिराक्षसाः प्रसरमेष्यन्ति ॥१॥
राहुग्रस्तनिशाकर-मिव गगनं दीपहीनमिव भवनम्।
भरतमिदं गतशोभं, त्वया विनाऽद्य प्रभो! जज्ञे ॥२॥
कस्यांहिपीठे प्रणतः पदार्थान्,
पुनः पुनः प्रश्नपदीकरोमि
कं वा भदन्तेति वदामि को वा,
मां गौमेत्याप्तगिरा ऽथ वक्ता''?॥३॥

हा हा हा वीर!किं कृ तं यदीदृशेऽवसरेऽहं दूरीकृ तः, किं

माण्डकं मण्डयित्वा बालवत्तवाञ्चलेऽलगिष्यम् किं केवलभागम-मार्गयिष्यम्, किं मुक्तौ संकीर्णमभविष्यत्, किं वा तव भारोऽभविष्यत् यदेवं मां विमुच्य गतः?एवं च वीर! वीर! इति कुर्वतो वी वी इति मुखे लग्नं गौतमस्य। तथा हुं ज्ञातं वीतरागा निःस्नेहा भवन्ति, ममैवायमपराधो यन्मया तदा श्रुतोपयोगो न दत्तः, धिग् इमम् एकापाक्षिकं स्नेहम्, अलं स्नेहेन, एकोऽस्मि, नास्ति कश्चन मम, एवं सम्यक् साम्यं भावयतस्तस्य केवलमुत्पेदे-''मुक्खमग्गपवन्नाणं, सिणेहो वज्जसिंखला। वीरे जीवन्तए जाओ, गोयमं जं न केवली''॥१॥ प्रातःकाले इन्द्राद्यैर्महिमा कृतः। अत्र कविः-''अहंकारोऽपि बोधाय, रागोऽपि गुरुभक्तये। विषादः केवला-याभूत् चित्रं श्रीगौतमप्रभोः,''॥१॥ स च द्वादशवर्षाणि केवलिपर्यायं परिपाल्य दीर्घायुरितिकृत्वा सुधर्मस्वामिने गणं समर्प्य मोक्षं ययौ। सुधर्मस्वामिनोऽपि पश्चात्कवलोत्पत्तिः। सोऽप्यष्टौ वर्षाणि विहृत्य जम्बूस्वामिने गणं समर्प्य सिद्धिं गतः।१२७। कल्प०६ क्षण। ''कुन्दोज्ज्वलकीर्तिभरः, सुरभीकृतसकलविष्टपाभोगः। शतमखशत-विनतपदः, श्रीगौतमगणधरः पातु''॥१॥ कर्म०१ कर्म०।(सर्वेव गौतमगणधरवक्तव्यता 'इंदभूइ' शब्दे प्रथमभागे ५४० पृष्ठे अन्यत्र च निरूपिता। मगधेषु नन्दिग्रामे कणवृत्तिकगौतमस्य 'एसणासमिई' शब्देऽत्रैव भागे ७३ पृष्ठे कथा) अन्धकवृष्णेः पुत्रे, अन्त०।

तस्स णं अंधगवणिहस्स रण्णो धारणी नामं देवी होत्था। वण्णओ-तए णं सा धारणी देवी अण्णया कयाई तंसि तारिसगंसि सयणिज्जंसि एवं जहा महवल्लो सुमिणं दंसणं कहुणा जंमं बालत्तणं कलाउ य जोव्वणं पाणिग्गहणं कण्णापासादभोगा य णवरं गोयमकुमारे णामं अट्ठण्हं रायवरकण्णाणं एगदिवसेणं पाणिं गेण्हावेंति अट्ठट्ठ उ दाउ, ते णं काले णं ते णं समए णं अरहा अरिट्ठनेमी आदिकरे० जाव विहरति। चउव्विहा देवा आगया, कण्हे विनिग्गते, तते णं काले णं तस्स गोतमस्स कुमारस्स जहा मेहे तथा णिग्गते धम्मं सोच्चा ४ जं णवरं देवाणुप्पिया! अम्मापियरो आपुच्छामि देवाणुप्पियाणं एवं जहा मेहे कुमारे० जाव अणगारे जाए ईरियासमिते० जाव इणमेव णिग्गंथं पावयणं पुरतो काउं विहरति। तते णं से गोतमे अण्णया कयाती अरहओ अरिट्ठनेमिस्स तहारूवाणं थेराणं अंतिए सामातितयमादीयाई एकारस अंगाई अहिज्जति, अहिज्जित्ता बहुहिं चउत्थ० जाव भावेमाणे विहरति। तं अरहा अरिट्ठनेमि अण्णया कयाती बारवतीतो णगरीतो णंदणवणातो पडिणिक्खमइ, पडिनिक्खमइत्ता बहता जणवयविहारं विहरति, तते णं से गोतम अणगारे अण्णया कताई जेणेव अरहा अरिट्ठनेमी तेणेव उवागच्छति, उवागछित्ता अरिहं अरिट्ठनेमिं तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं वंदति, नमंसति, एवं वयासी-इच्छामि णं भंते! तुज्झेहिं अब्भणुण्णाते समाणे मासियभिक्खुपडिमं उवसंपज्जित्ता णं विहरत्तए, एवं जहा खंदओ तहा बारस भिक्खुपडिमाओ फासेति, गुणरयणं पि तवोकम्मं तहेव फासेति णिरवसेसं ,एवं जहा खंदओ तहा चिंतेति, तहा आपुच्छति, तहा थेरेहिं सद्धिं सेत्तुंजए पव्वए दुरुहति, मासियाए संलेहणाए बारस वरिसाइं परियाओ० जाव सिद्धे। अन्त०१ वर्ग। स्था०।

गोतमो ह्रस्वो बलीवर्दः, तेन गृहीतपादपतनादिविचित्रशिक्षेण जनचित्ताक्षेपदक्षेण भिक्षामटति यः स गौतमः। औ०। ग०। लघुतराक्षमालाचर्चितविचित्रपादपतनादिशिक्षाकषायवत्प्रतिवृषभ-कोपात्तकणभिक्षाग्राहिणि, ज्ञा०१ श्रु०१४ अ०। गोव्रतिके, सूत्र०१ श्रु०७ अ०। अनु०। आचा०।पञ्चदशतापसानां गौतमेन लब्धिपरमान्नेन पारणा कारिता, तत्पमान्नं वैक्रियमन्यद्वेति प्रश्ने, उत्तरम्- न तद्वैक्रियं किं त्वक्षीणमहानसीलब्ध्यैव तत्परमान्नं तावज्ज्ञातमिति। २० प्र० सेन०३ उल्ला०। गौतमपतद्ग्रहतपसि पतद्ग्रहे प्रथमं यन्नाणकं मुच्यते तन्नाणकं ज्ञानस्यार्थे समायाति, अन्यथा वा, तत्तपःकरणं कुत्र ग्रन्थमध्ये प्रोक्तमस्तीति प्रश्ने, उत्तरम गौतमपतद्ग्रहतप आचारदिनकरग्रन्थे प्रोक्तमस्ति, परं तत्र नाणकमोचनमुक्तं नास्ति, यदि क्वापि प्रसिद्धं नाणकमोचनं तदा तद् ज्ञानद्रव्यं न भवति, तेन यथायोगं ज्ञानार्थं यतीनां वैद्यार्थं वा व्यापारणीयमिति।११० प्र० सेन०४ उल्ला०।

गोयमकेसिज्ज न०(गोतमकेशीय) त्रयोविंशे उत्तराध्ययने, स०३५ सम०।

जिणे पासि त्ति नामेणं, अरहा लोगपूइए।
संबुद्धप्पा य सव्वन्नू, धम्मतित्थयरे जिणे॥१॥

पार्श्व इति नाम अर्हन् अभूत् तीर्थकरोऽभूत कीदृशः स जिनः परीषहोपसर्गजेता, रागद्वेषजेता वा, पुनः कीदृशः स पार्श्वजिनः?, लोकपूजितः लोकेन त्रिजगता अर्चितः, पुनः कथम्भूतः सः? [संमुद्धप्पा]संबुद्धात्मा तत्त्वावबोधयुक्तात्मा, पुनः कीदृशः स पार्श्वः?सर्वज्ञः, पुनः कीदृशः?धर्मतीर्थकरः धर्म एव भवाम्बुधितर-णहेतुत्वात्तीर्थं धर्मतीर्थं करोतीति धर्मतीर्थकरः, पुनः कीदृशः पार्श्व? जयति स्म सर्वकर्माणीति जिनः, द्वितीयजिनविशेषणे श्रीपार्श्वस्य मुक्तिगमनं सूचितं, तदा हि श्रीमहावीरः प्रत्यक्षं तीर्थकरो विहरति, श्रीपार्श्वनाथस्तु मुक्तिं जगामेति भावः॥१॥

तस्स लोगप्पईवस्स, आसी सीसे महायसे।
केसीकुमारसमणे, विज्जाचरणपारगे॥२॥

तस्य लोकप्रदीपस्य श्रीपार्श्वनाथतीर्थकरस्य केशीकुमारः शिष्य आसीत् कुमारो हि अपरिणीततया कुमारत्वेन एव श्रमणः संगृहीतचारित्रः कुमारश्रमणः केशीकुमारश्रमणः। कथम्भूतः सः? महायशाः महाकीर्तिः,पुनः कीदृशो? विद्याचरणपारगः ज्ञानचारित्रयोः पारगामी॥२॥

ओहिनाणसुए बुद्धे, सीससंघसमाउले।
गामाणुगामं रीयंते, सावत्थिं नगरिमागए॥३॥

स केशीकुमारश्रमणः श्रावस्त्यां नगर्याम् आगतः, किं कुर्वन् ? ग्रामानुग्रामं रीयन्ते इति ग्रामानुग्रामं विचरन्, कीदृशः? (ओहिनाणसुए बुद्धे इति) अवधिज्ञानश्रुताभ्यां बुद्धोऽवगततत्त्वः

मतिश्रुतावधिज्ञाननसहितः, पुनः कीदृशः? शिष्यसङ्घसमाकुलः शिष्यवर्गसहितः ॥३॥

तिंदुयं नाम उज्जाणं, तम्मी नयरमंडले ।
फासुए सिज्जसंथारे, तत्थ वासमुवागए ॥४॥

स केशिकुमारश्रमणस्तत्र श्रावस्त्यां नगर्यां तस्याः श्रावस्त्याः नगरमण्डले पुरपरिसरे तिन्दुकं नाम उद्यानं वर्तते, तत्रोद्याने प्राशुके प्रदेशे जीवरहिते शय्यासंस्तारे वासम् उपागतः, शय्या वसतिः, तस्यां संस्तारः शय्यासंस्तारः, तस्मिन् समवसृत इत्यर्थः॥४॥

अह तेणेव कालेणं, धम्मतित्थयरे जिणे ।
भगवं वद्धमाणे त्ति, सव्वलोगम्मि विस्सुए ॥५॥

अथशब्दो वक्तव्यान्तरोपन्यासे, तस्मिन् एव काले धर्मतीर्थकरो जिनो भगवान् श्रीवर्द्धमान इति सर्वलोके विश्रुतोऽभूत् ॥५॥

तस्स लोगपईवस्स, आसि सीसो महायसे ।
भयवं गोयमे नामं, विज्जाचरणपारगे ॥६॥

तस्य श्रीवर्द्धमानस्वामिनो लोकप्रदीपस्य तीर्थकरस्य गौतमनामा शिष्योऽभूत्, कथम्भूतो गौतमः? महायशाः महाकीर्तिः, पुनः कीदृशो गौतमः? विद्याचरणपारगः ज्ञानचरित्रधारी, पुनः कीदृशो गौतमः? भगवान् चतुर्ज्ञानी मतिश्रुत्यवधिमनः-पर्यायज्ञानयुक्॥६॥

बारसंगविऊ बुद्धे, सीससंघसमाउले ।
गामाणुगामं रीअंते, सो वि सावत्थिमागए ॥७॥

स गौतमोऽपि ग्रामनुग्रामं विहरन् श्रावस्त्यां नगर्यामागतः, कीदृशो गौतमः? द्वादशाङ्गवित् एकादशाङ्गानि दृष्टिवादसहितानि येन गौतमेन सम्पूर्णानि, ज्ञातानीत्यर्थः। पुनः कीदृशो गौतमः?,बुद्धो ज्ञाततत्त्वः, पुनः कीदृशः? शिष्यसङ्घसमाकुल : ॥७॥

कोट्ठगं नाम उज्जाणं, तम्मी नगरमंडले ।
फासुए सिज्जसंथारे, तत्थ वासमुवागए ॥८॥

तस्याः श्रावस्त्या नगर्व्या मण्डले परिसरे क्रोष्टुकं नाम उद्यानं वर्त्तते तत्र प्रासुके 'सिज्जासंथारे' वासम् अवस्थानम् उपागतः प्राप्तः ॥८॥

केसीकुमारसमणो, गोयमो य महायसे ।
उभओ वि तत्थ विहरिंसु, अल्लीणा सुसमाहिया ॥९॥

केशिकुमारश्रमणश्च पुनर्गौतमः, एतौ उभौ अपि व्यवहार्ष्टाम् आगाताम्, कीदृशौ तौ उभौ? महायशसौ, पुनःकीदृशौ? अलीनौ मनोवाक्काय-गुप्तिष्वाश्रितौ, पुनः, कीदृशौ? सुसमाहितौ सम्यक् समाधियुक्तौ ॥९॥

उभयो सीससंघाणं, संजयाणं तवस्सिणं ।
तत्थ चिंता समुप्पन्ना, गुणवंताण ताइणं ॥१०॥

तत्र तस्यां श्रावस्त्यामुभयोः केशिगौतमयोः शिष्यसङ्घानां संयतानां तपस्विनो साधूनां गुणवतां ज्ञानदर्शनचारित्रवतां तायिणां षड्जीवरक्षाकारिणां परस्परावलोकनात् चिन्ता समुत्पन्ना विचारः समुत्पन्नः ॥१०॥

केरिसो वा इमो धम्मो, इमो धम्मो व केरिसो ?
आयारधम्मपणिही, इमा वा सा व केरिसी ?॥११॥

अयम् अस्मत्संबन्धी धर्मः, कीदृशः, वा इति विकल्पे, वाशब्दोऽथवार्थे वा, अथवा-अयं धर्मो दृश्यमानगणभृत् शिष्य सम्बन्धी कीदृशः पुनरयम् ? आचारधर्म्मप्रणधिरस्माकं कीदृशः, पुनरेतेषां वा आचारधर्मप्रणिधिः कीदृशः, प्राकृतत्वात् लिङ्गव्यत्ययः, आचारो वेषधारणादिको बाह्यः क्रियाकलापः, स एव धर्मः, तस्य प्रणधिर्व्यवस्थापनम् आचारधर्मप्रणधिः, पृथक् २ कथं सर्वज्ञोक्तस्य धर्मः, तत्साधनानां च भेदमनुज्ञातुमिच्छाम इति भावः ॥११॥

चाउज्जामो य जो धम्मो, जो इमो पंचसिक्खिओ ।
देसिओ वद्धमाणेणं, पासेण य महामुणी ॥१२॥
अचेलगे य जो धम्मो, जो इमो संतरुत्तरो ।
एककज्जपवन्नाणं, विसेसे किं नु कारणं ॥१३॥ (युग्मम्)

यश्चायं चातुर्यामो धर्मः पार्श्वेन महामुनिना तीर्थकरेण दर्शितः, चत्वारश्च यमाश्च चतुर्यमाः, तत्र यश्चातुर्यामः चातुर्व्रातिको-अहिंसा-सत्य-चौर्यत्याग-परिग्रहत्याग-लक्षणो धर्मः प्रकाशितः। यश्च पुनरयं धर्मो वर्द्धमानेन पञ्चशिक्षिकः, पञ्चशिक्षितो वा, पञ्चभिर्महाव्रतैः शिक्षितः पञ्चशिक्षितः प्रकाशितः, पञ्चसु शिक्षासु भवः पञ्चशिक्षिकः, पञ्चमहाव्रतात्मः अहिंसासत्यचौर्यत्यागमैथुन-परिहारपरिग्रहत्याग-लक्षणो धर्मः प्रकाशितः ॥१२॥ पुनर्वर्द्धमानेन अचेलको धर्मः प्रकाशितः, अचेलं मानोपेतं धवलं जीर्णप्रायम् अल्पमूल्यं वस्त्रं धारणीयमिति वर्द्धमानस्वामिना प्रोक्तम्, असत इव चेलं यत्र सचेलः, अचेल एव अचेलकः, यत् वस्त्रं सदपि असत् इव तत् धार्यमित्यर्थः। पुनर्यो धर्मः पार्श्वेन स्वामिना सान्तरोत्तरः सह अन्तरेण उत्तरेण प्रधानबहुमूल्येन नानावर्णेन प्रलम्बेन वस्त्रेण च वर्त्तते यः स सान्तरोत्तरः-सचेलको धर्मः प्रकाशितः, एककार्ये मुक्तिरूपे कार्ये प्रवृत्तयोः श्रीवीरपार्श्वयोर्विशेषे किं नु कारणं को हेतुः, कारणभेदे हि कार्यभेदसम्भवः, कार्यं तु उभयोरेकमेव, कारणं च पृथक् २ कथमिति भावः? किमिति प्रश्ने, नुरिति वितर्के ॥१३॥

अह ते तत्थ सीसणं, विन्नाय पवियक्खियं ।
समागमे कयमई, उभयो केसिगोयमा ॥१४॥

अथानन्तरं तयोरुभयोस्तत्र श्रावस्त्याम् आगमनानन्तरं केशिगौतमौ तौ उभौ समागमे कृतमती अभूताम् । किं कृत्वा ?, शिष्याणां च क्षुल्लकानां प्रवितर्कितं विज्ञाय विकल्पं ज्ञात्वा ।१४।

गोयमो पडिरूवन्नू, सिस्ससंघसमाउले ।
जेट्ठं कुलमविक्खंतो, तिदुअं वणमागओ ॥१५॥

गौतमस्तिन्दुकं वनम् आगतः केशिकुमाराऽधिष्ठिते वने आगतः, कीदृशो गौतमः ? प्रतिरूपज्ञः प्रतिरूपो यथोचितविनयः तं जानातीति प्रतिरूपज्ञः, पुनः कीदृशः? शिष्यसङ्घसमाकुलः शिष्यवृन्दसहितः, गौतमः किंकुर्वाणः?,ज्येष्ठं कुलम् अपेक्ष्यमाणः ज्येष्ठं वृद्धं प्रथमभवनात्पार्श्वनाथस्य, कुलं सन्तानं विचारयत इत्यर्थः॥१५॥

केसीकुमारसमणे, गोयमं दिस्समागयं ।
पडिरूवं पडीवत्तिं, सम्मं च पडिवज्जइ ॥१६॥

केशिकुमारश्रमणो गौतमम् आगतं दृष्ट्वा सम्यक् प्रतिरूपाम् आगतानां योग्यां, प्रतिपत्तिं सवां, प्रतिपद्यते सम्यक् करोतीत्यर्थः ॥१६॥

पलालं फासुयं तत्थ, पंचमं कुसतणाणि य ।
गोयमस्स निसिज्जाए, खिप्पयं संपणामए ॥१७॥

तत्र तिन्दुकोद्याने एव केशिकुमारश्रमणो गौतमस्थ निषद्यायै गौतमस्य उपवेशनार्थं प्रासुकं निर्वीजं चतुर्विधं पलालं, पञ्चमानि कुशतृणानि, चकारात् अन्यान्यपि साधुयोग्यानि तृणानि (संपणामए) समर्पयति । पञ्चमत्वं हि कुशतृणानां पलालभेदेन। चतुर्विधं पलालं यथा-''तणपणगं पन्नत्तं, जिणेहि कम्मट्ठगट्ठमहणेहिं। साली १ वीही २ कोद्दव ३, रालग ४ रत्ने तणा ५ पञ्च ॥१॥'' इति वचनात् चत्वारि पलालानि साधुप्रस्तरणयोग्यानि, पञ्चमं हि दर्भादिप्रासुकं तृणं वर्त्तते, तत् केशिकुमारश्रमणेन गौतमस्य प्रस्तारणार्थं प्रदत्तमिति भावः ॥१७॥

केसीकुमारसमणो, गोयमे य महायसे ।
उभओ निसन्ना सोहंति, चंदसूरसमप्पभा ॥१८॥

तदा केशिकुमारश्रमणश्च पुनर्गौतमो महायशाः, एतौ उभौ तत्र तिन्दुकोद्याने निषण्णौ उपविष्टौ, शोभते विराजेते, कथम्भूतौ तौ ? चन्द्रादित्यसमप्रभौ ॥१८॥

समागया वहू तत्थ, पासण्डा कोउगा मिया ।
गिहेत्थाणं अणेगाओ, साहस्सीओ समागया ॥१९॥

तत्र तस्मिन् तिन्दुकोद्याने, बहवः पाखण्डा अन्यदर्शिनः परिव्राजकादयः समागताः, कीदृशास्ते पाखण्डाः? कौतुकात् मृगाः आश्चर्याद् मृगा इव अज्ञानिनः, तु पुनः अनेकलोकानां सहस्रं समागतम् अनेका प्रचुरा लोकानां सहस्रयपि आर्षत्वात्, समागता तत्र संप्राप्ता ॥१९॥

देवदाणवगंधव्वा, जक्खरक्खसकिन्नरा ।
अदिस्साणं च भूयाणं, आसी तत्थ समागमो ॥२०॥

तत्र तस्मिन् फदेशे देवदानवगन्धर्वा यक्षराक्षसकिन्नराः, समागता इति शेषः । च पुनस्तत्र अदृश्यानां भूतानां केलीकिलव्यन्तराणां समागमः सङ्गम आसीत् ॥२०॥

पुच्छामि ते महाभाग !, केसी गोयममब्बवी ।
तओ केसिं बुवंतं तु, गोयमो इणमब्बवी ॥२१॥

तयोर्जल्पमाह-तदा केशी गौतममब्रवीत् । किमब्रवीदित्याह-हे महाभाग ! ते त्वाम् अहं पृच्छामि । यदा केशिकुमारेण इत्युक्तं तदा केशिकुमारश्रमणं ब्रुवन्तं गोतम इदम् अब्रवीत् ॥२१॥

पुच्छ भंते ! जहिच्छं ते, केसिं गोयममब्बवी ।
तओ केसी अणुन्नाए, गोयतं इणमब्बवी ॥२२॥

गौतमो वदति-हे भदन्त ! हे पूज्य ! ते तव यथेच्छ यत् तव चेतसि अवभासते तत् त्वं पृच्छ-मम प्रश्नं कुरु इति केशिकुमारं प्रति गौतमोऽब्रवीत् 'गौतमम्' इति प्राकृतत्वात् प्रथमास्थाने द्वितीया । ततो गौतमवाक्यादनन्तरं केशिकुमारो गौतमेन अनुज्ञातः सन् गौतमेन दत्ताज्ञः सन् गौतमं प्रति इदं वक्ष्यमयणं वचनमब्रवीत् ॥२२॥

चाउज्जामो य जो धम्मो, जा इमो पंचसिक्खिओ ।
देसिओ वद्धमाणेणं, पासेण य महामुणी ॥२३॥

एककज्जपवन्नाणं, विसेसे किं नु कारणं ।
धम्मो दुविहो मेहावी !, कहं विप्पच्चओ न ते ? ॥२४॥

हे गौतम ! पार्श्वेन मुनिना तीर्थकरेण यश्चा-तुर्यामश्चातुर्वतिकोऽयम् अस्माकं धर्मो उद्दिष्टः, पुनर्योऽयं धर्मो वर्द्धमानेन पञ्चशिक्षिकः पञ्चव्रतात्मको दिष्टः कथितः ॥२३॥ एककार्ये मोक्षसाधनरूपे कार्ये प्रपन्नयोः श्रीपार्श्वमहावीरयोर्विशेषे भेदे किं कारणम् ?, मेधाविन् ! द्विविधे धर्मे तव कथं विप्रत्ययो न भवति? यतो द्वौ अपि तीर्थकरौ द्वावपि मोक्षकार्यसाधने प्रवृत्तौ कथमनयोर्भेद इति हेतोस्तव मनसि कथं विप्रत्ययो न भवति सन्देहो न भवति ? ॥२४॥

तओ केसिं बुवंतं तु, गोयमो इणमब्बवी ।
पण्णा समिक्खिए धम्म-तत्तं तत्तविणिच्छयं ॥२५॥

ततोऽनन्तरं केशिकुमारश्रमणं ब्रुवन्तं कथयन्तं गौतम इदम् अब्रवीत् हे केषिकुमारश्रमण ! प्रज्ञा बुद्धिर्धर्मतत्त्वं धर्मस्य परमार्थं पश्यति धर्मतत्त्वं बुद्ध्या एव विलोक्यते,'' सूक्ष्मं धर्मं सुधीर्वेत्ति'' इति वचनात्। कीदृशं धर्मतत्त्वम्? तत्त्वविनिश्चयं तत्त्वानां जीवादीनां विशेषेण निश्चयो यस्मिन् तत् तत्त्वविनिश्चयम्, केवलं धर्मतत्त्वस्य श्रवणमात्रेण निश्चयो न भवति किन्तु प्रज्ञावशादेव धर्मतत्त्वस्य विनिश्चयः स्यादिति भावः ॥२५॥

पुरिमा उज्जुजडाओ, वक्कजडा य पच्छिमा ।
मज्झिमा उज्जुपन्नाओ, तेण धम्मो दुहा कओ ॥२६॥

केशिकुमारश्रमण ! पुरिमाः पूर्वे प्रथमतीर्थकृत्साधवः आदीश्चरस्य मुनय ऋजुजडाः ऋजवश्च ते जडाश्च ऋजुजडाः, बभूवुरिति शेषः । शिक्षाग्रहणतत्पराः ऋजवः, दुष्प्रतिपाद्यतया जडा मूर्खाः । तुशब्दो यस्मादर्थे पश्चिमाः पश्चिमतीर्थकृत्साधवो महावीरस्य मुनयो वक्रजडाः-वक्राश्च ते जडाश्च वक्रजडाः, वक्राः प्रतिबोधसमये वक्रज्ञानाः, जडाः कदाग्रहपराः, तादृशा बभूवुः, तु पुनर्मध्यमाः मध्यमतीर्थङ्कराणां मुनयो द्वाविंशतितीर्थकृत्साधवः ऋजुप्राज्ञाः बभूवुः, ऋजवश्च प्राज्ञाश्च ऋजुप्राज्ञाः, ऋजवः शिक्षाग्रहणतत्पराः, पुनः प्राज्ञाः प्रकृष्टबुद्धयः, तेन कारणेन हे मुने धर्मो द्विधा कृतः ॥२६॥

पुरिमाणं दुव्विसोज्झो, चरिमाणं दुरणुपालओ चेव ।
कप्पो मज्झिमगाणं तु, सुविसोज्झो सुपालओ ॥२७॥

(पुरिमाणं इति) प्रथमतीर्थकृत्साधूनां कल्पः साध्वाचारो दुर्विशोध्यः दुःखेन निर्मलीकरणीयः, ऋजुजडाः कल्पनीयाः कल्पनीयज्ञान-विकलाः, पुनश्चरमाणां चरमतीर्थकृत्साधूनां दुरनुपालकः-दुःखेन अनुपाल्यते इति दुरनुपालकः, महावीरस्य साधवो वक्रजडाः वक्रत्वाद्विकल्पबहुलत्वात् साध्वाचारं जानन्तोऽपि कर्तुमशक्ताः, तु पुनर्मध्यमगानां द्वाविंशतितीर्थ-कृत्साधूनाम् -अजितनाथादारभ्य पार्श्वनाथपर्यन्ततीर्थकरमुनीनां कल्पः साध्वाचारः-सुविशोध्यः, सुपालकश्च, साध्वाचारसुखेन निर्मलीकर्त्तव्यः, पुनः सुखेन पाल्यः, द्वाविंशतितीर्थकृत्साधवो हि ऋजुप्राज्ञाः-स्तोकेनोक्तेन बहुज्ञाः तस्माच्चातुर्व्रतिको धर्म उद्दिष्टः । मैथुनं हि परिग्रहे एव गण्यते, आदीश्वरस्य साधूनां यदि पञ्च महाव्रतानि प्राणातिपातविरति-मृषावादविरतिमैथुनविरति परिग्रहविरतिरूपाणि पृथक् २ कथ्यन्ते

१ टीकाकारोक्तरीत्या''लोगाणं तु अणेगाओ''इति पाठोऽनुमीयते ।

तदा ते ऋजुजडाः पञ्चमहाव्रतानि पालयन्ति, नो चेत्ते व्रतभङ्गं कुर्वन्ति, ते तु यावन्मात्रमाचारं शृण्वन्ति तावन्मात्रमेव कुर्व्वन्ति, अधिकंस्वबुद्ध्या किमपि न विदन्ति। महावीरस्य साधवोऽपि चेत्पञ्च महाव्रतानि शृण्वन्ति तदैव पालयन्ति, तेऽपि वक्रा जडाश्च, चेत् चत्वारि महाव्रतानि शृण्वन्ति तदा चत्वार्येव पालयन्ति, न तु पञ्चमं पालयन्ति। वक्रजडादिकदाग्रहग्रस्ताः अतीव हठधारिणः, द्वाविंशतितीर्थकृत्साधवः ऋजवः प्राज्ञाश्चत्वारि श्रुत्वा सुबुद्धित्वात् पञ्चापि व्रतीनि पालयन्ति। तस्माच्चत्वारि व्रतानि प्रोक्तानि, तस्मात् धर्मो द्विविधा कृतः-चातुर्व्रतिकः, पञ्चव्रतात्मकश्च। स्वस्वारकपुरुषाणाम् अभिप्रायं विज्ञाय तीर्थकरैर्धर्म उपदिष्ट इति भावः ॥२७॥

साहु गोयम ! पन्ना ते, छिन्नो मे सेसओ इमो।
अन्नो वि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमो !॥२८॥

इति श्रुत्वा केशिकुमारः श्रमणो वदति-हे गौतम ! ते तव साधु प्रज्ञाऽस्ति सम्यक् बुद्धिरस्ति, मे मम अयं संशयस्त्वया छिन्नो दूरीकृतः अन्योऽपि मम संशयोऽस्ति, तमिति तस्योत्तरं हे गौतम ! त्वं कथयस्व। इदं वचनं हि शिष्यापेक्षं, न तु तस्य केशिमुनेर्ज्ञानित्रयवत एवं विधः संशयसम्भवः ॥२८॥

अचेलगो य जो धम्मो, जो इमो संतरुत्तरो।
देसिओ वद्धमाणेण, पासेण य महायसा ॥२९॥
एककज्जपवन्नाणं, विसेसे किं नु कारणं।
लिंगे दुविहे मेहावी !, कहं विप्पच्चओ न ते ?॥३०॥

वर्द्धमानेन चतुर्विंशतितमतीर्थकरेण यो धर्मोऽचेलकःप्रमाणोपेतजीर्णप्रायो धवलवस्त्रधारणात्मकः साध्वाचारो दिष्टः, च पुनः पार्श्वेन महायशसा त्रयोविंशतितमतीर्थकरेण योऽयं धर्मः सान्तरुत्तरः पञ्चवर्णबहुमूल्यप्रमाणरहितवस्त्रधारणात्मकः साध्वाचारः प्रदर्शितः, हे मेधाविन्! एककार्यप्रतिपन्नयोः श्रीवीरपार्श्वयोर्विशेषे भेदे किं कारणं को हेतुः?, हे गौतम! द्विविधे लिङ्गे द्विप्रकारके साधुवेषभेदे तव कथं विप्रत्ययो *न उत्पद्यते कथं सन्देहो न जायते ? उभौ अपि तीर्थकरौ* मोक्षकार्यसाधकौ कथं ताभ्यां वेषभेदः प्रकाशितः ? इति कथं तव अयं संशयो न भवति? ॥३०॥

केसिं एवं वुवंताणं, गोयमो इणमव्ववी।
विन्नाणेण समागम्म, धम्मसाहणमिच्छियं ॥३१॥

गौतम एवं ब्रुवाणं केशिकुमारं मुनिम् इदम् अब्रवीत् हे केशिमुने ! तीर्थकरैर्विज्ञानेन विशिष्टज्ञानेन केवलज्ञानेन समागम्य यत् यत् यस्य उचितं तत्तथैव ज्ञात्वा धर्मसाधनं धर्मोपकरणं वर्षाकल्पादि इदम् ऋजुप्राज्ञायोग्यम्, इदं वक्रजडयोग्यम् इति ईप्सितम् अनुमतम् इष्टं कथितमिति यावत्, यतो हि शिष्याणां रक्तवर्णादिवस्त्रानुज्ञाने वक्रजडत्वेन रञ्जनादिषु प्रवृत्तितर्दुर्निवारा एव स्यात्, पार्श्वनाथशिष्यास्तु ऋजुप्राज्ञत्वेन शरीराच्छादनमात्रेण प्रयोजनं जानन्ति, न च ते किञ्चित्कदाग्रहं कुर्वन्ति ॥३१॥

पच्चयत्थं च लोगस्स, नाणाविहविगप्पणं।
जत्तत्थं गहणत्थं च, लोगे लिंगप्पओयणं ॥३२॥

हे केशिमुने ! नानाविधं विकल्पनं नानाप्रकारोपकरणपरिकल्पनम् अनेकप्रकारोपकरणचतुर्दशोपकरणधारणं वर्षाकल्पादिकं च यत् पुनर्नानाविधैर्लिङ्गस्य प्रयोजनं साधुवेषस्य प्रवर्त्तनं यत्तीर्थकरुक्तं तत् लोकस्य प्रत्ययार्थं लोकस्य गृहस्थस्य प्रत्ययाय, यतो हि साधुवेषं लुञ्चनाद्याचारं च दृष्ट्वा अमी व्रतिन इति प्रतीतिरुत्पद्यते। अन्यथा विडम्बकाः पाखण्डिमनोऽपि पूजाद्यर्थं वयं व्रतिन इति ब्रवीरन्, ततश्च व्रतिषु अप्रतीतिः स्यात्, अतो नानाविधविकल्पनं, लिङ्गप्रयोजनं च पुनर्यात्रार्थं संयमनिर्वाहार्थं, यतो हि वर्षाकल्पादिकं विना वृष्ट्यादिना संयमनिर्वाहो न स्यात्, तेन वर्षाकल्पादिकं वर्षर्तुयोग्यः आचार उपकरणधारणं च दर्शितम्, पुनर्ग्रहणं ज्ञानं तदर्थम् इति ग्रहणार्थं, ज्ञानाय इत्यर्थः। यदि कदाचित् चित्तविप्लवोत्पत्तिः स्यात् परीषहोत्पत्तौ संयमे अरतिरुत्पद्यते, तदा साधुवेषधारी मनसि एतादृशं ज्ञानं कुर्यात्-यतोऽहं साधोर्वेषधारी अस्मि, यतो ''धम्मं रक्खइ वेसो'' इत्युक्तत्वात् इत्यादिहेतोर्लिङ्गधारणं ज्ञेयम् ॥३२॥

अह भवे पइन्नाओ, मोक्खसब्भूयसाहणे।
नाणं च दंणणं चेव, चरित्तं चेव निच्छए ॥३३॥

पुनर्गौतमो वदति-हे केशिकुमारश्रमण ! निश्चयेन येन ये मोक्षसद्भूतसाधनानि ज्ञानदर्शनचारित्राणि सत्यानि साधनानि निश्चयनये वर्तन्ते, अथ प्रतिज्ञा भवेत् श्रीपार्श्वनाथमहावीरयोः इयम् एका एव प्रतिज्ञा भवेत्, श्रीपार्श्वनाथस्याऽपि मोक्षस्य साधनानि ज्ञानदर्शनचारित्राण्येव, श्रीवीरस्यापि मोक्षस्य साधनानि ज्ञानदर्शनचारित्राण्येव; श्रीपनार्श्ववीरयोरेषा प्रतिज्ञा भिन्ना नास्ति इत्यर्थः। वेषस्य अन्तरम् ऋजुजडवक्रजडाद्यर्थः, मोक्षस्य साधने वेषो व्यवहारनये ज्ञेयः, न तु निश्चयनये वेषः। निश्चये तु ज्ञानदर्शनचारित्राण्येव तत्र, ज्ञानं मतिज्ञानादिकम्, दर्शनं तत्त्वरुचिः, चारित्रं सर्वसावद्यविरतिरूपं, तस्मात् निश्चयव्यवहारनयौ ज्ञातव्यौ इत्यर्थः॥३३॥

साहु गोयम ! पन्ना ते, छिन्नो मे संसओ इमो।
अन्नो वि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा !॥३४॥

अस्या अर्थस्तु पूर्ववत्, नवरं प्रसङ्गतः शिष्याणां व्युत्पत्यर्थं जानन्नपि अपरमपि वस्तुतत्त्वं गौतमस्य स्तुतिद्वारेण पृच्छन्नन्योऽपि संशयोत्पादीं आह ॥३४॥

अणेगाणं सहस्साणं, मज्झे चिट्ठसि गोयमा !।
ते य ते अभिगच्छंति, कहं ते निज्जिया तुमे ?॥३५॥

केशी वदति-हे गौतम ! अनेकेषां शत्रुसम्बन्धिनां सहस्राणां मध्ये त्वं तिष्ठसि, ते च अनेकसहस्रसंख्याः शत्रवस्ते इति त्वाम् अभिलक्षीकृत्य गच्छन्ति संमुखं धावन्ति, ते शत्रवस्त्वया कथं निर्जिताः?॥३५॥

अथ गौतम उत्तरं वदति-

एगे जिए जिया पंच, पंचे जिये जिया दस।
दसहा उ जिणित्ता णं, सव्वसत्तू जिणामि हं ॥३६॥

हे केशिमुने ! एकस्मिन् शत्रौ जिते पञ्च शत्रवो जिताः, पञ्चसु जितेषु दश शत्रवो जिताः, दशैव वैरिणो वशीकृताः, दशप्रकारान् शत्रून् जित्वा सर्वशत्रून् जयाम्यहम्। यद्यपि चतुर्णां कषायाणाम् अवान्तरभेदेन षोडश संख्या भवति, नोकषायाणां नवानां मीलनात् पञ्चविंशतिभेदा भवन्ति, तथापि सहस्रसंख्या न भवति , परं तु तेषां दुर्जयत्वात् सहस्रसंख्या प्रोक्ता ॥३६॥

अथ केशी पृच्छति-

सत्तू य इइ के वुत्ते, केसी गोयममव्ववी ।
तओ केसिं वुवंतं तु, गोयमो इणमव्ववी ॥३७॥

हे गौतम ! शत्रवः के उक्ता? केशिकुमारो मुनिर्गौतमम् इदम् अब्रवीत्, ततोऽनन्तरं केशिमुनिम् एवं ब्रुवन्तं गौतम इदम् अब्रवीत ॥३७॥

एगप्पा अजिए सत्तू, कसाया इंदियाणि य ।
ते जिणित्तु जहानायं विहरामि अहं मुणी ! ॥३८॥

हे मुने ! एक आत्मा चित्तं, तस्य अभेदोपचारात् आत्ममनसोरेकीभवे मनसः प्रवृत्तिः स्यात् ,तस्मात् एक आत्मा अजितः शत्रुर्दुर्जयो रिपुः, अनेकदुःखहेतुत्वात् । एवं सर्वेऽप्येते उत्तरोत्तरभेदात् एकस्मिन् आत्मनि जिते चत्वारः कषायास्तेषां मीलनात् पञ्चपञ्चसु आत्मकषायेषु जितेषु इन्द्रियाणि पञ्च जितानि, तदा दश शत्रवो जिताः । आत्मा, कषायाश्चत्वारः, एवं पञ्च, पुनः पञ्चेन्द्रियाणि एवं दशैव आत्मकषायाः, नोकषाया इन्द्रियाणि। एते सर्वे शत्रवोऽजिताः सन्ति, तान् सर्वान् शत्रून् यथान्यायं वीतरागोक्तवचसा जित्वा अहं विहरामि, तेषां मध्ये तिष्ठन्नपि अप्रतिबद्धविहारेण विचरामि । अत्र पूर्वं हि प्रश्नकाले अनेकेषां सहस्राणां अरीणां मध्ये तिष्ठसि इत्युक्तम्, उत्तरसमये तु कषायाणाम् अवान्तरभेदेन षोडशसंख्या भवति, नोकषायाणां नवानां मीलनाच्च पञ्चविंशतिभेदा भवन्ति, तथा आत्मेन्द्रियाणामपि सहस्रं संख्या न भवति, परं तु एतेषां दुर्जयत्वात् सहस्रसंख्या उक्तेति भावः ॥३८॥

साहु गोयम ! पन्ना ते , छिन्नो मे संसओ इमो ।
अन्नो वि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा ! ॥३९॥

अस्यार्थस्तु पूर्ववत् ॥३९॥

दीसंति बहवे लोए, पासवद्धा सरीरिणो ।
मुक्कपासो लहुब्भूओ, कहं तं विहरसी मुणी !॥४०॥

पुनः केशी वदति-हे गौतम मुने ! लोके संसारे बहवः शरीरिणः पाशबद्धाः दृश्यन्ते, त्वं मुक्तपाशः सन् लघुभूतः सन् कथं विचरसि हे मुने ! ॥४०॥

ते पासे सव्वसो छित्ता, निहंतूण उवायओ ।
मुक्कपासो लहुब्भूओ, विहरामि अहं मुणी ! ॥४१॥

तान् पाशान् सर्वान् छित्वा पुनः उपायेन बुद्ध्या निहत्य मुक्तपाशो लघुभूतोऽहं विहरामि ॥४१॥

पासा य इइ के वुत्ते, केसी गोयममव्ववी ।
तओ केसिं वुवंतं तु, गोयमो इणमव्ववी ॥४२॥

इति गौतमवाक्यादनन्तरं केशिश्रमणो गौतममब्रवीत्– हे गौतम ! पाशाः के उक्ता बन्धनानि कानि उक्तानि ?। तत इति पृच्छन्तं केशिकुमारमुनिं गौतम इदमुत्तरम् अब्रवीत् ॥४२॥

रागदोसादओ तिव्वा, नेहपासा भयंकरा ।
ते छिंदित्तु जहानायं, विहरामि जहक्कमं ॥४३॥

हे केशिमुने ! जीवानां रागद्वेषादयस्तीव्राः कठोराः छेत्तुमशक्याः स्नेहपाशा मोहपाशा उक्ताः । कीदृशास्ते स्नेहपाशाः ? भयंकराः भयं कुर्वन्तीति भयङ्कराः, रागद्वेषौ आदौ येषां ते रागद्वेषादयः, रागद्वेषमोहा एव जीवानां भयदाः, तान् स्नेहपाशान् यथान्यायं वीतरागोक्तोपदेशेन छित्त्वा, यथाक्रमं साध्वाचारानुक्रमेण, अहं विहरामि साधुमार्गे विचरामि ॥४३॥

साहु गोयम ! पन्ना ते, छिन्नो मे संसओ इमो ।
अन्नो वि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा ! ॥४४॥

अस्यार्थस्तु पूर्ववत् ॥४४॥

अंतोहिययसंभूया, लया चिट्ठइ गोयमा ! ।
फलेइ विसमक्खीणं, सा उ उद्धरिया कहं?॥४५॥

हे गौतम ! सा लता सा वल्ली त्वया कथं केन प्रकारेण उद्धृता उत्पाटिता ? सा का? या लता अन्तर्हृदयसम्भूता सती तिष्ठति, अन्तर्हृदयं मन उच्यते, एतावता मनसि उद्गता पुनर्या वल्ली विषभक्ष्याणि फलानि फलति-विषवद्भक्ष्याणि विषभक्ष्याणि विषफलानि उत्पादयति, पर्यन्तदारुणतया विषोपमानि फलानि यस्या लताया भवन्ति ॥४५॥

तं लयं सव्वसो छित्ता, उद्धरित्ता समूलियं ।
विहरामि जहानायं, मुक्को मि विसभक्खणा ॥४६॥

गौतमो वदति-हे मुने ! तां लतां सर्वतः सर्वप्रकारेण छित्त्वा खण्डीकृत्य, पुनः समूलिकां मूलसहिताम् उद्धृत्य उत्पाट्य, यथान्यायं साधुमार्गे विहरामि, ततोऽहं विषभक्षणात् विषोपमफलाहारात् मुक्तोऽस्मि ॥४६॥

लया य इइ का वुत्ता, केसी गोयममव्ववी ! ।
तओ केसिं वुवंतं तु, गोयमा इणमव्ववी ॥४७॥

हे गौतम ! लता इति का उक्ता? इति पृष्टे सति इति ब्रुवन्तं केशिमुनिं, गौतम इदम् अब्रवीत् ॥४७॥

भवतण्हा लया वुत्ता, भीमा भीमफलोदया ।
तमुद्धित्तु जहानायां, विहरामि महामुणी ! ॥४८॥

हे केशिमुने ! भवे संसारे तृष्णा लोभप्रकृतिर्लता वल्ली उक्ता, कीदृशी सा? भीमा भयदायिनी, पुनः कीदृशी ?भीमफलोदया भीमो दुःखकारणानां फलानां दुष्टकर्मणाम् उदयो विपाको यस्याः सा भीमफलोदया दुःखदायककर्मफलहेतुभूता, ''लोभमूलानि पापानि'' इत्युक्तत्वात् । तां तृष्णावल्लीं यथान्यायम् उद्धृत्य अहं विहारं करोमि ॥४८॥

साहु गोयम ! पन्ना ते, छिन्नो मे संसओ इमो ।
अन्नो वि संसओ मज्झं, ते मे कहसु गोयमा ! ॥४९॥

अर्थस्तु पूर्ववत् ॥४९॥

संपज्जलिया घोरा, अग्गी चिट्ठइ गोयमा !।
जे महंति सरीरत्था, कहं विज्झाविया तुमे ?॥५०॥

हे गौतम ! संप्रज्वलिता जाज्वल्यमाना घोरा भीषणा अग्नयः संसारे तिष्ठन्ति, ये अग्नयः शरीरस्थान् अर्थात् प्राणिनो जीवान् दहन्ति ज्वालयन्ति, तेऽग्नयस्त्वया कथं विध्यापिताः? कथं शमिता इत्यर्थः॥५०॥

महामेहप्पसूयाओ, गिज्झ वारि जलुत्तमं ।
सिचामि सययं ते उ, सित्ता नेव महंति मे ॥५१॥

हे केशिमुने ! महामेघप्रसूतात् महामेघसमुत्पन्नात् अर्थाद् महानदीप्रवाहात् वारि पानीयं गृहीत्वा तान् अग्नीन् सततं निरन्तरं सिञ्चामि, ते अग्नेयो जलेन सिक्ता: सन्तो मां नैव दहन्ति, कथम्भूतं तत् वारि? ''जलुत्तमं''जलेषु उत्तमं सर्वेषु जलेषु मेघोदकस्यैव उत्तमत्वात् ॥५१॥

अग्गी य इइ के वुत्ते, केसि गोयममब्बवी ।
तओ केसिं बुवंतं तु, गोयमो इणमब्बवी ॥५२॥

तदा केशिश्रमणो गौतमम् इदम् अब्रवीत् हे गौतम ! ते अग्नय इति के उक्ता: ? इति उक्तवन्तं केशिकुमारं मुनिं गौतम इदम् अब्रवीत् ॥५२॥

कसाया अग्गिणो वुत्ता, सुयसीलतवो जलं ।
सुयधाराभिहया संता, भिन्ना हु न महंति मे ॥५३॥

हे केशमुने ! कषाया अग्नय उक्ता:, श्रुतं शीलं तपश्च जलं वर्तते, तत्र श्रुतं च श्रुतमध्योपदेश: महामेघस्तीर्थंकर:, महाश्रोतश्चागमः, ते कषायाग्नय: श्रुतधाराभिहता: श्रुतस्य आगमवाक्यस्य, उपलक्षणत्वात् शीलतपसोऽपि, धारा इव धारास्ताभिरभिहता विध्यापिता: श्रुतधाराभिहता: सन्तो, भिन्ना: विध्यापिता: । 'हु' निश्चयेन, 'मे' इति मां न दहन्ति मां न ज्वलयन्ति ॥५३॥

साहु गोयम ! पन्ना ते, छिन्नो मे संसओ इमो ।
अन्नो वि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा !॥५४॥

अर्थस्तु पूर्ववत् ॥५४॥

अइसाहसिओ भीमो, दुट्ठस्सो परिधावई ।
जंसि गोयम !मारूढो, कहं तेण न हीरसी ?॥५५॥

हे गौतम ! अतिसाहसिको दुष्टाश्व: परिधावति, यस्मिन् दुष्टश्वे हे गौतम ! त्वम् आरूढोऽसि, तेन दुष्टाश्वेन कथं न ह्रियसे कथम् उन्मार्गं न नीयसे ?, सहसा अविचार्य प्रवर्तते इति साहसिकः अविचारिताध्वगामी, पुनः कीदृशो दुष्टाश्व: ? भीमो भयानकः ॥५५॥

पहावंतं निगिण्हामि, सुयरस्सीसमाहियं ।
न मे गच्छइ उम्मग्गं, मग्गं च पडिवज्जइ ॥५६॥

अथ गौतमो वदति-हे केशिमुने ! तं दुष्टाश्वं प्रधावन्तम् उन्मार्गं व्रजन्तम् अहं निगृण्हामि वशीकरोमि, कीदृशं तं दृष्टाश्वं ?, श्रुतरश्मिसमाहितं सिद्धान्तवल्गाया बद्धं, ततः स मे मम दुष्टाश्व: उन्मार्गं न गच्छति, स दुष्टाश्वो मार्गं च प्रतिपद्यते अङ्गीकरोति ॥५६॥

अस्से य इइ के वुत्ते, केसी गोयममब्बवी ? ।
तओ केसिं बुवंतं, तु गोयमो इणमब्बवी ॥५७॥

केशी पृच्छति-हे गौतम ! अश्व इति क उक्त: ? तत इति ब्रुवन्तं केशिमुनिं गौतम इदमब्रवीत् ॥५७॥

मणो साहसिओ भीमो, दुट्ठस्सो परिधावई ।
तं च सम्मं निगिण्हामि, धम्मसिक्खएँ कंथगं ॥५८॥

हे केशिमुने ! मनो दुष्टाश्व: साहसिकः परिधावति इतस्ततः परिभ्रमति, तं मनोदुष्टाश्वं धर्म्मशिक्षायै धर्माभ्यासनिमित्तं कथकमिव जात्याश्वमिव, निगृह्णामि वशीकरोमि, यथा जात्याश्वो वशीक्रियते, तथा तं मनोदुष्टाश्वं वशीकरोमि ॥५८॥

साहु गोयम ! पन्ना ते, छिन्नो मे संसओ इमो ।
अन्नो वि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा ! ॥५९॥

अर्थस्तु पूर्ववत् ॥५९॥

कुप्पहा बहवा लोए, जेहिं नासंति जंतवो ।
अद्धाणे कह वट्टंतो, तं न नासिसि गोयमा !?॥६०॥

हे गौतम ! लोके बहवः कुपथा: कुमार्गाः सन्ति, यैः कुमार्गैर्जन्तवो नश्यन्ति दुर्गतिवने व्रजन्तो विलीयन्ते, ते मार्गात् च्यवन्ते इत्यर्थः। हे गौतम ! त्वम् अध्वनि वर्त्तमान: सन् कथं न नश्यसि नाशं न प्राप्नोषि सत्पथात् त्वं न च्यवसे ? ॥६०॥

जे य मग्गेण गच्छंति, जे य उम्मग्गपट्ठिया ।
ते सव्वे वेइया मज्झ, तो ण णस्सामि हं मुणी !॥६१॥

हे केशिमुने ! ये भव्यजना मार्गेण वीतरागोपदेशेन गच्छन्ति, च पुनर्येऽभव्या: उन्मार्गप्रस्थिता: भगवदुपदेशाद्विपरीतं प्रचलितास्ते सर्वे मया विदिता :, भव्याभव्ययो: सन्मार्गासन्मार्गयोर्ज्ञानं मम जातम् इति भावः । 'तो' इति, तस्मात्कारणात् अहं न नश्यामि अपथपरिज्ञानात् नाशं न प्राप्नोमि ॥६१॥

मग्गे य इइ के वुत्ते, केसी गोयममब्बवी ।
तओ केसिं बुवंतं तु, गोयमो इणमब्बवी ?॥६२॥

अस्यार्थः पूर्ववत् ॥६२॥

कुप्पवयणपासंमी, सव्वे उम्मग्गपट्ठिया ।
सम्मग्गं तु जिणक्खायं, एस मग्गेहि उत्तमे ॥६३॥

हे केशिमुने ! कुत्सितानि प्रवचनानि कुप्रवचनानि कुदर्शनानि, तेषु पाखण्डिन: कुप्रवचनपाखण्डिन: एकान्तवादिन:, से सर्वे उन्मार्गप्रस्थिता उन्मार्गगामिनः सन्ति, सन्मार्गं तु पुनर्जिनाख्यातं विद्यते, एष जिनोक्तः सर्वमार्गेषु उत्तमः सर्वमार्गेभ्य: प्रधानो, दयाविनयमूलत्वात् इत्यर्थः ॥६३॥

साहु गोयम ! पन्ना ते, छिन्नो मे संसओ इमो ।
अन्नो वि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा !॥६४॥

अर्थस्तु पूर्ववत् ॥६४॥

महाउदगवेगेणं, वुज्झमाणाण पाणिणं ।
सरणं गई पइट्ठा य, दीवं कं मन्नसी मुणी !?॥६५॥

केशी गौतमं प्रति पृच्छति-हे गौतम मुने ! महोदकवेगेन महाजलप्रवाहेण ब्रह्यमानानां प्लवतां प्राणिनां त्वं द्वीपं कं मन्यसे ? इति प्रश्न:,कीदृशं द्वीपम्?, शरणं रक्षणक्षमम्, पुनः कीदृशम् ? गतिम् आधारभूमिम्, पुनः कीदृशं प्रतिष्ठां स्थिरावस्थानहेतुम् । द्वीपं निवासस्थानं जलमध्यवर्त्तिं ॥६५॥

अत्थि एगो महादीवो, वारिमज्झे महालओ ।
महाउदगवेगस्स, गई तत्थ न विज्जइ ॥६६॥

हे केशिमुने ! वारिमध्ये पानीयान्तरे महालयो विस्तीर्णः एको द्वीपोऽस्ति, द्विर्गता आपो यस्मिन् स द्वीप:, तत्र तस्मिन् द्वीपे महोदकवेगस्य गतिर्न विद्यते पातालकलशवातैः क्षुभितस्य जलवेगस्य गमनं नास्ति। अपरत्र द्वीपे प्रलयकाले समुद्रजलस्य गतिरस्ति, परं द्वीपे सति तत्र नास्ति ॥६६॥

दीवे इइ के वुत्ते, केसी गोयममब्बवी ।
तओ केसिं बुवंतं तु, गोयमो इणमब्बवी ?॥६७॥

केशी गौतमं पृच्छति-हे गौतम ! द्वीपम् इति किमुक्तम् ?, इत्युक्तवन्तं केशिश्रमणं प्रति गौतम इदम् अब्रवीत् ॥६७॥

जरामरणवेगेणं, वुज्झमाणाण पाणिणं ।
धम्मो दीवो पइट्ठा य, गई सरणमुत्तमं ॥६८॥

हे केशिमुने ! जरामरणजलप्रवाहेण वुडतां च वहतां प्राणिनां संसारसमुद्रे श्रुतधर्मचारित्रधर्मरूपं द्वीपं वर्त्तते, मुक्तिसुखहेतुधर्मो-ऽस्तीति भावः । कीदृशः स धर्मः? प्रतिष्ठा निश्चलं स्थानम्, पुनः कीदृशो धर्मः? गतिर्विवेकिनाम् आश्रयणीयः स धर्म्म उत्तमं प्रधानं स्थानं शरणमस्ति इति भावः ॥६८॥

साहु गोयम ! पण्णा ते, छिन्नो मे संसओ इमो ।
अन्नो वि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा !॥६९॥

अर्थस्तु पूर्ववत् ॥६९॥

अन्नवंसि महोहंसि, नावा वि परिधावई ।
जंसि गोयम ! मारूढा, कहं पारं गमिस्ससि ?॥७०॥

हे गौतम ! महौघे अर्णवे महाप्रवाहे समुद्रे (नावा इति) नौ परिधावति इतस्ततः परिभ्रमति, यस्यं नौकायां त्वम् आरूढः सन् कथं पारं गमिष्यसि कथं पारं प्राप्स्यसि ?॥७०॥

जा उ अस्साविणी नावा, न सा पारस्स गामिणी ।
जा य निस्साविणी नावा, सा उ पारस्स गामिणी ॥७१॥

हे केशिमुने ! या नौः आश्राविणी छिद्रसहिताऽस्ति, आश्रवति आगच्छति पानीयं यस्यां सा आश्राविणी, सा नौः पारस्य गामिनी नास्ति, या निश्राविणी निश्छिद्रा नौः, सा तु पारस्य गामिनी ॥७१॥

अथ केशी पृच्छति-

नावा य इइ का वुत्ता, केसी गोयममब्बवी ?
तओ केसिं वुवंतं तु, गोयमो इणमब्बवी ॥७२॥
सरीरमाहु नावि त्ति, जीवो वुच्चइ नाविओ ।
संसारो अन्नवो वुत्तो, जं तरंति महेसिणो ॥७३॥

नौ इति का उक्ता? केशी गौतमम् अब्रवीत् । ततः केशिं ब्रुवन्तं गौतम इदम् अब्रवीत् ॥७२॥ हे केशिमुने ! शरीरं नौर्वर्त्तते, जीवो नाविकः नौखेटक उच्यते । संसारोऽर्णवः समुद्र उक्तः । यं संसारं समुद्रं महर्षयस्तरन्ति, एतावता महर्षयः स्वजीवं तपोऽनुष्ठानक्रियावन्तं नौवाहाकं नाविकं कृत्वा चतुर्गतिभ्रमणरूपे भवार्णवे स्वशरीरं धर्माधारकत्वेन नावं कृत्वा पारं प्राप्नुवन्ति, मोक्षं व्रजन्तीति भावः॥७३॥

साहु गोयम ! पन्ना ते, छिन्नो मे संसओ इमो ।
अन्नो वि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा ! ॥७४॥

अर्थस्तु प्राग्वत् ॥७४॥

अंधकारे तमे घोरे, चिट्ठंति पाणिणो बहु ।
को करिस्सइ उज्जोयं, सव्वलोगम्मि पाणिणं ?॥७५॥

अथ पुनः केशिश्रमणो गौतमं पृच्छतिन्हे गौतम ! अन्धकारे तमसि प्रकाशाभावे बहवः प्राणिनस्तिष्ठन्ति, अन्धकारतमः शब्दयोर्यद्यप्येक एव अर्थस्तथाऽप्यत्र अन्धकारशब्दस्तमसो विशेषणत्वेन प्रतिपादितम्। कीदृशे तमसि ? अन्धकारे अन्धं करोति लोकमित्यन्धकारं तस्मिन् अन्धकारे, पुनः कीदृशे तमसि? घोरे रौद्रे भयोत्पादके, हे गौतम ! एतादृशे सर्वस्मिन् लोके सर्वेषां प्राणिनां सर्वजीवानां कः पदार्थ उद्द्योतं करिष्यते प्रकाशं करिष्यति ?॥७५॥

उग्गओ विमलो भाणू, सव्वलोगप्पभंकरो ।
सो करिस्सइ उज्जोयं, सव्वलोगम्मि पाणिणं ॥७६॥

गौतमः प्राह-हे केशिमुने ! सर्वलोकप्रभाकरो विमलो भानुरुद्गतः, स भानुः सर्वस्मिन् लोके सर्वेषां प्राणिनामुद्द्योतं करिष्यति, सर्वस्मिन् लोके प्रभां करोतीति सर्वलोकप्रभाकरः, सर्वलोकालोकप्रकाशको निर्मलो वार्दलादिना अनाच्छादितभानुरेव सर्वेषां प्राणिनां सर्वत्रोद्द्योतं करोति, नान्यः कोऽपि तेजस्वी पदार्थ इति भावः ॥७६॥

भाणू य इइ के वुत्ते, केसी गोयममब्बवी ?।
तओ केसिं वुवंतं तु, गोयमो इणमब्बवी ॥७७॥

तदा केशिमुनिर्गौतमं पृच्छति-हे गौतम ! भानुरिति क उक्तः? केशिमुनिर्गौतमम् इत्यब्रवीत्, ततः केशिमुनिमितिब्रुवन्तं गौतम इदम् अब्रवीत् ॥७७॥

उग्गओ खीणसंसारो, सव्वन्नू जिणभक्खरो ।
सो करिस्सइ उज्जोयं, सव्वलोगम्मि पाणिणं ॥७८॥

हे केशिमुने ! क्षीणः संसारो भवभ्रमणं यस्य स क्षीणसंसारः क्षयीकृतसंसारः, सर्वज्ञः सर्वपदार्थवेत्ता, जिनो रागद्वेषयोर्विजेता, स भास्करः सूर्यः, सर्वस्मिन् लोके चतुर्दशरज्ज्वात्मकलोके सर्वेषां प्राणिनामुद्द्योतं करिष्यति प्रकाशं करिष्यति ॥७८॥

साहु गोयम ! पन्ना ते, छिन्नो मे संसओ इमो ।
अन्नो वि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा ! ॥७९॥

अर्थस्तु प्राग्वत् ॥७९॥

सारीरमाणसे दुक्खे, वज्झमाणाण पाणिणं ।
खेमं सिवं अणावाहं, ठाणं किं मन्नसी मुणी !?॥८०॥

अथ पुनः केशिश्रमणो गौतमं पृच्छति-हे गौतम मुने ! शारिरिकैः शरीरात् उत्पन्नैः, तथा मानसैः मनस उत्पन्नैर्दुःखैर्बाध्यमानानां पीड्यमानानां प्राणिनां त्वं क्षेमं व्याध्यादिरहितं, शिवं जरोपद्रवरहितम्, अनाबाधं शत्रुजनाभावात् स्वभावेन पीडारहितम् , एतादृशं स्थानं किम् मन्यसे ?, मां वदेति शेषः॥८०॥

अत्थि एगं धुवट्ठाणं, लोगग्गम्मि दुरारुहं ।
जत्थ नत्थि जरामच्चू, वाहिणो वेयणा तहा ॥८१॥

हे केशिमुने ! लोकाग्रे लोकस्य चतुर्दशरज्ज्वात्मकस्य अग्रं लोकाग्रं तस्मिन् लोकाग्रे, एकं ध्रुवं निश्चलं स्थानम् अस्ति, कथम्भूतं तत्स्थानम्?''दुरारुहं'' दुःखेन आरुह्यते यस्मिन् तत् दुरारोहं दुष्प्राप्यमित्यर्थ' । पुनर्यत्र यस्मिन् स्थाने जरामृत्यू न स्तः जरामरणे न विद्येते, पुनर्यस्मिन् व्याधयः, तथा वेदना वा, वातपित्तकफलेष्मादयो न विद्यन्ते ॥८१॥

ठाणे य इइ के वुत्ते, केसी गोयममब्बवी ?
तओ केसिं वुवंतं तु, गोयमो इणमब्बवी ॥८२॥

ततः केशिश्रमणो गौतमम् इदम् अब्रवीत्? हे गौतम ! स्थानम् इति किमुक्तम् ? ततः केशिकुमारमिति ब्रुवन्तं गौतम इदम् अब्रवीत् ॥८२॥

निव्वाणं ति अवाहं ति, सिद्धि लोगग्गमेव य ।
खेमं सिवमणावाहं , जं चरंति महेसिणो ॥८३॥

तं ठाणं सासयं वासं, लोगग्गम्मि दुरारुहं ।
जं संपत्ता ण सोयंति, भवोहंतकरा मुणी !॥८४॥(युग्मम्)

हे केशिमुने ! तं शाश्वतं सदातनं वासं स्थानं लोकाग्रे वर्तते, यत्स्थानं सम्प्राप्ताः सन्तो भवौघान्तकराः संसारप्रवाहविनाशका मुनयो न शोचन्ते शोकं न कुर्वन्ति। कीदृशं तत्स्थानम्? दुरारोहं दुःखेन तपःसंयमयोगेन आरुह्यते आसाद्यते इति दुरारोहं दुष्प्राप्यम्। इति द्वितीयगाथया संबन्धः। अथ प्रथमगाथार्थः- पुनः कीदृशं तत्स्थानम्? यत् स्थानम् एभिर्नामभिरुच्यतेकानि तानि नामानि? निर्वाणम् इति, अबाधम् इति, सिद्धिरिति, लोकाग्रम् एव च, पुनः, क्षेमं शिवम् इति नामानि। एतादृशैः सार्थकैरभिधानैर्यत् स्थानम् उच्यते। तेषां नाम्नामर्थो यथानिर्वान्ति संतापस्य अभावात् शीतीभवन्ति जीवा यस्मिन् इति निर्वाणम्। न विद्यते बाधा यस्मिन् तत् अबाधं निर्भयम्। सिध्यन्ति समस्तकार्याणि भ्रमणाभावात् यस्याम् इति सिद्धिः। लोकस्य अग्रम् अग्रभूमिर्लोकाग्रम्। एवं क्षेमं क्षेमस्य शाश्वतसुखस्य कारकत्वात् क्षेमम्, शिवमुपद्रवाभावात्। पुनर्यत् स्थानं प्रति महर्षयोऽनावाधं यथा स्यात्तथा चरन्ति व्रजन्ति सुखेन मुनयः प्राप्नुवन्ति, मुनयो हि चक्रवर्त्यधिकसुखभाजः सन्तो मोक्षं लभन्ते इति भावः ॥८४।

साहु गोयम ! पन्ना ते छिन्नो मे संसओ इमो ।
नमो ते संसयातीत ! सव्वसुत्तमहोदही ॥८५॥

अथ केशिकुमारो मुनिर्गोतमं स्तौति-हे गौतम ! ते तव प्रज्ञा साध्वी वर्त्तते, ते मम अयं संशयश्छिन्नः सन्देहो दूरीकृतः, हे संशयातीत ! हे सर्वसूत्रमहोदधे ! सकलसिद्धान्तसमुद्र ! तुभ्यं नमो नमस्कारोऽस्तु॥८५॥

एवं तु संसए छिन्ने, केसी घोरपरक्कमे ।
अभिवंदित्ता सिरसा, गोयमं तु महायसं ॥८६॥
पंचमहव्वयं धम्मं, पडिवज्जइ भावओ ।
पुरिमस्स पच्छिमम्मि, मग्गे तत्थ सुहावहे ॥८७॥ (युग्मम्)

केशिकुमारश्रमणो भावतः श्रद्धातः (पुरिमस्स इति) प्रथमतीर्थकृतो मार्गे पश्चिमतीर्थकरस्य मार्गे अर्थात् आदीश्वरमहावीरयोर्मार्गे तत्र तिन्दुके उद्याने पञ्चमहाव्रतरूपं धर्मं प्रतिपद्यते अङ्गीकरोति। किं कृत्वा ? गौतमं शिरसा मस्तकेन अभिवन्द्य नमस्कृत्य, क्रसति, एवम् अमुना प्रकारेण गौतमेन संशये छिन्ने सति, कीदृशं गौतमम् ? महायशसम्, कीदृशः केशी मुनिः? घोरपराक्रमः रौद्रपुरुषाकारयुक्तः, पूर्वं केशिकुमारश्रमणेन चत्वारि व्रतानि गृहीतान्यासन् तदा गौतमवाक्यात्पञ्च महाव्रतान्यङ्गीकृतानीति भावः ॥८७॥

केसीगोयमओ निच्चं, तम्मि आसि समागमो ।
सुयसीलसमुक्करिसो, महत्थत्थविणिच्छओ ॥८८॥

तत्र तस्यां नगर्यां केशिगौतमयोर्नित्यं समागम आसीत्। तयोः पुनः श्रुतशीलसमुत्कर्षः श्रुतज्ञानचारित्रयोः समुत्कर्षोऽतिश-योऽभूत्, पुनस्तयोरुभयोर्महान् अर्थविनिश्चयोऽभूत् शिक्षाव्रततत्त्वादीनां निर्णयोऽभूत् ॥८८॥

तोसिया परिसा सव्वा, सम्मग्गं समुवट्ठिया ।
संथुया ते पसीयंतु, भगवं ! केसि ! गोयमा !॥८९॥(इति वेमि)

तदा सर्वा परिषत् तोषिता प्रीणिता, सम्यक् मार्गे सर्वा परिषत् समुपस्थिता सावधाना जाता, तौ भगवन्तौ ज्ञानवन्तौ केशिगोतमौ परिषदा संस्तुतौ प्रसीदता प्रसन्नौ भवतां, सतामिति शेषः, इत्यहं ब्रवीमि। इति सुधर्म्मास्वामी जम्बूस्वामिनं प्राह ॥८९॥ इति केशिगौतमाऽध्ययनं संपूर्णम्। उत्त०२३ अ०।

गोयमगोत्त त्रि०(गौतमगोत्र) गौतमाह्वयगोत्रसमन्विते, चं०प्र०१ पाहु० सू०प्र०।

गोयमदीव पुं०(गौतमद्वीप)लवणसमुद्रपश्चिमायां दिशि द्वादशयोजनसह-स्राण्यवगाह्य द्वादशसहस्रमाने सुस्थिताभिधानस्य लवणसमुद्राधिपते-र्भवनेनालङ्कृतौ स्वनामख्याते द्वीपभेदे, स०६९ सम०। प्रज्ञा०। जी०।

गोयमसगुत्त त्रि०(गोतमसगोत्र)समानं गोत्रं येषां ते सगोत्राः, गौतमेन गोत्रेण सगोत्रा गौतमसगोत्राः। गौतमाभिधानगोत्रयुक्तेषु, आ०म०द्वि०।

गोयर पुं०(गोचर)गोरिव चरणं गोचरः। यथाऽसौ परिचितविशेष-मपहायैव प्रवर्त्तते, तथा साधुरपि भिक्षार्थम्। उत्त०३ अ०। पञ्चा० आव०। गोरिव चरति यस्मिन्स गोचरः। उत्त०२ अ०। उत्तमाधम-मध्यमकुलेषु अरक्तद्विष्टस्य भिक्षाटने, दश०५ अ०१ उ०। भिक्षाग्रह-णविधौ, स०। भ०। उत्त०। नं०। गोचरः सामयिकत्वाद् गोरिव चरणं गोचरः, अन्यथा गोचारः। तदर्थसूचकत्वाच्च द्रुमपुष्पिकाऽध्य-यनविशेषो गोचरः। दशवैकालिकस्य प्रथमेऽध्ययने, यथा गौश्चर-त्येषमविशेषतः साधुनाऽप्यटितव्यं, न विभवमङ्गीकृत्योत्तमाऽधम-मध्यमेषु कुलेष्विति वणिग्वत्सकदृष्टान्तेनेति। दश०१ अ०। अधिकरणे अच्। गवां चारिस्थाने, बृ०३ उ०। चरणक्षेत्रे, ज्ञा०१ श्रु०१७ अ०। विषये, आ०म० द्वि०। स्था०। यो०विं०। आ०चू०। आचा०। आव०। विषयःप्राप्तिर्गोचर एकार्थाः। आ०चू०१ अ०।

गोयरकाल पुं०(गोचरकाल) गोचरर्यावेलायाम्, कल्प०९ क्षण।

गोयरग्ग न०पुं०(अग्रगोचर) प्राकृतत्वाद् अग्रगोचरस्य परनिपातसाध्यं 'गोयरग्ग त्ति' प्रधाने गोचरे, ''अट्ठविहं गोयरगां तु'' उत्त०३० अ०।

***गोचराग्र** न०। गोचरस्याग्रं प्रधानं यतोऽसावेषणायुक्तो गृह्णाति, न पुनर्गोरिव यथाकथञ्चित्। उत्त०१ अ०। अभ्याहृताधाकर्मादिपरि-त्यागेन (दश०५ अ०१ उ०) प्रधानपिण्डग्रहणे, उत्त०२४ अ०।

गोयरग्गय त्रि०(गोचराग्रगत) ग्रामान्तरं भिक्षार्थं प्रविष्टे, दश०५ अ०१ उ०।

गोयरग्गपविट्ठ त्रि०(गोचराग्रप्रविष्ट) गोचरात्रं प्रधानपिण्डग्रहणं तन्निमितं प्रविष्टो गृहे प्रस्थितः। उत्त०२४ अ०। ग्रामान्तरं भिक्षाप्रविष्टे दश०५ अ०१ उ०। ''गोयरग्गपविट्ठस्स, णिसिज्जा जस्स कप्पइ''। दश०६ अ०।

गोयरचरिया स्त्री०(गोचरचर्य्या)गोश्चरणं गोचरः, चरणं चर्य्या, गोचर इव चर्य्या गोचरचर्य्या। भिक्षाचर्य्यायाम्, आ०चू०४अ०। व्य०।

विषयसूची-

(१) कथं गोचरचर्या कर्तव्या।
(२) गोचरचर्यानिरूपणम्।
(३) भिक्षाद्वारम्।
(४) भिक्षाऽटनविधिः।
(५) वर्षासु दिशमापृच्छ्य गन्तव्यम्।
(६) गच्छतो धार्याधार्याणि कार्यकार्याणि तत्रावश्यकद्वारम्।
(७) उपकरणद्वारम्।
(८) कायोत्सर्गद्वारम्।
(९) कस्मिन् काले प्रविशेदिति कालद्वारम्।
(१०) नित्यभक्तिकादेः प्ररूपणम्।
(११) कालातिक्रान्तक्षेत्रातिक्रान्तपानभोजने वक्तव्यता।
(१२) रात्रौ भिक्षा न ग्रहीतव्या।
(१३) कतिवारान् गच्छेदिति प्रमाणद्वारम्।
(१४) मात्रकं गृहीत्वा गन्तव्यमिति मात्रकद्वारम्।
(१५) यस्य च योगद्वारम्।
(१६) संघाटकं कृत्वा गन्तव्यम्।
(१७) उच्चावचकुलेषु चरेत् सामुदानिकः।
(१८) मार्गे यथा गच्छति तथा निरूपणम्।
(१९) स्थाणुकण्टकादिवक्तव्यता, गृहपतिद्वारे स्थाणुकण्टकादिवक्तव्यता च।
(२०) षट्कायायतना।
(२१) वृष्टिकाये निपतति यत्कर्तव्यं तन्निरूपणम्।
(२२) प्रवेशवक्तव्यता।
(२३) काकादीन् संनिपतितान् प्रेक्ष्य न गच्छेत्।
(२४) गां दुह्यमानां प्रेक्ष्य न गच्छेत्।
(२५) गृहावयवानालम्ब्य न तिष्ठेत्, न वाऽङ्गुल्यादि दर्शयेत्।
(२६) अगार्या सह न तिष्ठेत्।
(२७) ब्राह्मणादिकं प्रविष्टं दृष्ट्वा प्रवेशविचारः।
(२८) ग्रामपिण्डोलकादि प्रविष्टं दृष्ट्वा प्रवेशविचारः।
(२९) परग्रामे हिण्डनविधिः।
(३०) आहारे क्षुण्णे गोचराटनम्।
(३१) ग्रहणविधिः।
(३२) याच्यं वस्तु दृष्ट्वा याचेत, नान्यथा याचेत।
(३३) वन्दमानं न याचेत।
(३४) भुञ्जानाद् याचनम्।
(३५) ग्राह्यवस्तूनामत्युष्णग्रहणे विधिः।
(३६) आधाकर्मिकादिविचारः।
(३७) आकरखन्यादौ विचारः।
(३८) आरण्यकादीनाम् विचारः।
(३९) उत्सवेषु अर्द्धमासिकादिषु विचारः।
(४०) इक्षवादिखण्डादिवक्तव्यता।
(४१) औषधविषयो विधिः।
(४२) क्रीतप्रायमित्यादिविचारः।
(४३) नौकागतम्।
(४४) तण्डुलप्रलम्बादिवक्तव्यता।
(४५) पर्युषिताहारो न ग्राह्यः।
(४६) बहिर्निर्हृतम्।
(४७) भिलिङ्गसूपो न ग्राह्यः।
(४८) लवणग्रहणम्।
(४९) वनस्पतिप्रतिष्ठितम्।
(५०) बह्वन्नग्रहणे तत्परिष्ठापनम्।
(५१) सुरभिं गृह्णाति असुरभिं परिष्ठापयति।
(५२) अन्नगन्धः।
(५३) आचार्याद्यर्थं विधिः।
(५४) ग्लानार्थं गृहीत्वा स्वयं नाश्नीयात्।
(५५) गोचरे भोजनम्।
(५६) गोचरादागमनम्।
(५७) गोचरातिचारालोचनम्।
(५८) गोचरातिचारे प्रायश्चित्तम्।
(५९) निर्ग्रन्थीनां भिक्षाविधिः।
(६०) सर्वसंपत्कर्यादिभिक्षानिरूपणम्।
(६१) भ्रमरदृष्टान्तेन भिक्षायां निर्दोषत्वसिद्धिः।

(१) कथं गोचरचर्या कर्तव्या-

''जहा कवोतो य कपिंजलो य, गावो चरंती इव पागडाओ।
एवं मुणी गोयरियं चरेज्जा, नो हीलए नो वि य संथवेज्जा''॥

''लाभालाभे सुहदुक्खे सोभणासोभणे भत्ते वा पाणे वा समणो तुण्हिक्को चरति''। आ०चू००४ अ०।

(२) गोचरचर्यानिरूपणम्-

''जधा वा सो वच्छओ दिवसनिसाए छुहाए य परितावितो बितीए अविरतियाए पंचविहविसयसंपउत्ते एतेणं पाणिए दिज्जमाणे तम्मि इच्छियम्मि न तुच्छं गच्छति, नवाऽन्नेसु चित्तं देति० किं तु चारियाणि एव एगग्गमणो सो आलोएति; एवं साधू वि पंचविहेसु विसएसु असज्जंतो भिक्खायरियाए उवउत्तो चरति, तेण गोचरातीते य गोचरचरियातीए गोचरचरियाए य भिक्खादिया भिक्खेसणा''॥ आ०चू०४ अ०। स्था०। ('भिक्खाग' शब्दे घुणदृष्टान्तेन भिक्षाप्ररूपणा)

(३) अथ भिक्षाद्वारमभिधित्सुराह-

तत्र गोचरस्यायाः सर्वोऽधिकारोऽत्रैव प्रदर्श्यते, नवरमेषणोत्पादनोद्गमदोषाणां स्वस्वस्थाने व्याख्या, इह तु जिनकल्पिकानां स्थविरकल्पिकानां निर्ग्रन्थीनां च भिक्षणविधिरुपदर्श्यते -

जिणकप्पिअऽभिग्गहिए-सणाऍ पंचण्हमन्नतरियाए।
गच्छे पुण सव्वाहिं, सावेक्खो जेण गच्छो उ॥

जिनकल्पिकाः अभिगृहीतया पञ्चानामुद्भृतादीनामन्यतरया एषणया भक्तम् एकधा पानकं गृह्णन्ति, गच्छे गच्छवासिनः पुनः सर्वाभिरप्यसंसृष्टादिभिरेषणाभिर्भक्तपानं गृह्णन्ति, कुत इत्याह-सापेक्षो बालवृद्धाद्यपेक्षायुक्तो येन कारणेन गच्छ इति।

आह - किमिति गच्छवासिनः सर्वाभिरप्येषणाभिर्गृह्णन्ति, किं तेषां निर्जरया न कार्यम् ? उच्यते-

बाले वुड्ढे सेहे, अगियत्थे नाणदंसणप्पेही।
दुव्वलसंघयणम्मि उ, गच्छि पइण्णेसणा भणिया॥

षष्ठी सप्तम्योरर्थं प्रत्यभेदाद् बालस्य वृद्धस्य शैक्षस्य अगीतार्थस्य ज्ञानदर्शनप्रेक्षिणो ज्ञानार्थिनो, दर्शनप्रभावकशास्त्रार्थिनश्चेत्यर्थः। दुर्बलसंहननस्य वा समर्थशरीरस्यानुग्रहार्थं गच्छे प्रकीर्णा अप्रतिनियता एषणा भणिता भगवद्भिरिति।

अथैतान्येव पदानि गाथाद्वयेन भावयति -

तिक्खछुहाओ पीडा, उड्डाहें निवारणम्मि निक्खिवया।
इय जुयलसिक्खरोसुं, पओस भेओ य एकतरो ॥
सुचिरेण वि गीयत्थो, न होहिई न वि सुयस्स आभागी।
पग्गहिएसणचारी, किमहीउ धरेउ वा अबलो ? ॥

अभिगृहीतयैवैषणया भक्तपानग्रहणे प्रतिज्ञाते तया वा लब्धे स्तोके वा लब्धे सति बालवृद्धशैक्षकाणां तीक्ष्णया दुरधिसहया क्षुधा, उपलक्षणत्वात् तृषा च महती पीडा भवति, उड्डाहो वा भवेत्। स हि बालादिरित्थं लोकपुरतो ब्रूयात- एते साधवो मां क्षुधा तृषा वा मारयन्तीति। तथा निवारणे विवक्षितामेकामेषणां विमुच्यान्यासां प्रतिषेधे विधीयमाने सति बालादयश्चिन्तयेयुः-अहो! निक्षिपत्यमीषां, ततः प्रद्वेषं गच्छेयुः, भेदो वा एकतरः जीवस्य चारित्रस्य वा विनाशोऽमीषां भवेत् इति बालवृद्धयुगले शैक्षके वा नियन्त्र्यमाणे दोषा मन्तव्याः। तथा अगीतार्थः सुचिरेणापि कालेन गीतार्थो न भविष्यति, नापि श्रुतस्याचारादेः, उपलक्षणत्वाद्दर्शनप्रभावकशास्त्राणां वा, अभागी, कीदृश इत्याह-प्रगृहीतैषणाचारी प्रग्रहीता अभिग्रहवती या एषणा तच्चारी तत्पर्यटनशीलधरो वा, अबलो दुर्बलसंहननः संप्रणीताहाराद्युपष्टम्भाभावे किं सूत्रमर्थं वा अधीता, धारयिता वा, अत एतेषामनुग्रहार्थं गच्छे प्रकीर्णा एषणा दृष्टा॥ बृ०१ उ०।

गोचरचर्य्यायां विधिः-

संपत्ते भिक्खकालम्मी, असंभंतो अमुच्छिओ।
इमेण कमजोगेण, भत्तपाणं गवेसए ॥१॥

(संपत्ते इति) संप्राप्ते शोभनेन प्रकारेण स्वाध्यायकरणादिना प्राप्ते, भिक्षाकाले भिक्षासमये, अनेनासंप्राप्ते भक्तपानैषणाप्रतिषेधमाह, अलाभाज्ञाखण्डनाभ्यां दृष्टादृष्टविरोधादिति। असंभ्रान्तोऽनाकुलो यथावदुपयोगादि कृत्वा, नान्यथेत्यर्थः। अमूर्छितः पिण्डे शब्दादिषु वा अगृद्धो विहितानुष्ठानमिति कृत्वा, न तु पिण्डादावेवासक्त इति। अनेन वक्ष्यमाणलक्षणेन क्रमयोगेन परिपाटीव्यापारेण, भक्तपानं यतियोग्यमोदनाऽऽरनालादि, गवेषयेत् अन्वेषयेदिति सूत्रार्थः॥१॥ दश०५ अ०१ उ०।

अथास्या एव विधिमभिधित्सुर्द्वारगाथामाह-

पमाण काले आवस्सए य संघाडगे अ उवगरणे।
मत्तग काउस्सग्गो, जस्स य जोगो सपडिवक्खो ॥

प्रमाणं नाम कतिवारान् पिण्डपातार्थं गृहपतिकुलेषु प्रवेष्टव्यमिति। (काले त्ति) कस्यां वेलायां भिक्षार्थं निर्गन्तव्यम्। (आवस्सग त्ति) आवश्यकं संज्ञाकायिकीलक्षणं, तस्य शोधनं कृत्वा निर्गन्तव्यम् (संघाडगे त्ति) संघाटकेन साधुयुग्मेन निर्गन्तव्यं नैकाकिना (उवगरिणि त्ति) सर्वोपकरणमादाय भिक्षायामवतरणीयम्, (मत्तग त्ति) मात्रकं गृहीतव्यम् (काउस्सग्गि त्ति) उपयोगनिमित्तं कायोत्सर्गः कर्त्तव्यः (जस्स य जोगो त्ति) यस्य च सचित्तस्य वा योगः संबन्धो भविष्यति, लाभ इत्यर्थः; तदप्यहं गृहीष्यामिति भणित्वा निर्गन्तव्यम्। (सपडिवक्खो त्ति) एष प्रमाणादिको द्वारकलापः सम्प्रति- पक्षस्यापवादो वक्तव्य इति द्वारगाथासमासार्थः। बृ०१ उ०।

(४) सम्प्रति भिक्षाटनविधिप्रदर्शनार्थमाह-

तत्र यथा गवेषयेत्तदाह-

से गामे वा णगरे वा, गोयरग्गगओ मुणी।
चरे मंदमणुव्विग्गो, अव्वक्खित्तेण चेयसा ॥२॥

(से इति) असंभ्रान्तोऽमूर्छितो ग्रामे वा नगरे वा, उपलक्षणत्वादस्य, कर्वटादौ वा, गोचराग्रगत इति। गोरिव चरणं गोचर उत्तमाधममध्यमकुलेष्वरक्तद्विष्टस्य भिक्षाटनम्, अग्रः प्रधानोऽभ्याहृताधाकर्मादिपरित्यागेन तद्गतस्तद्वर्त्ती, मुनिर्भावसाधुश्चरेत् गच्छेत्, मन्दं शनैः शनैः, न द्रुतमित्यर्थः। अनुद्विग्नः प्रशान्तः परीषहादिभ्योऽबिभ्यत् अव्याक्षिप्तेन चेतसा वत्सवणिग्जायादृष्टान्तात् शब्दादिष्वगतेन चेतसा अन्तःकरणेन एषणोपयुक्तनेति सूत्रार्थः॥२॥

यथा चरेत् तथैवाह-

पुरओ जुगमायाए, पेहमाणो महिं चरे।
वज्जंतो बीयहरियाइं, पाणे य दगमट्टियं ॥३॥

पुरतोऽग्रतो युगमात्रया शरीरप्रमाणया शकटोर्द्ध्वसंस्थितया, दृष्ट्येति वाक्यशेषः। प्रेक्षमाणः प्रकर्षेण पश्यन्, महीं भुवं चरेत् यायात्, केचिन्नेति योजयन्ति, न शेषदिगुपयोगेनेति गम्यते, न प्रेक्षमाण एव, अपि तु वर्जयन् परिहरन् बीजहरितानि, अनेनानके-भेदस्य वनस्पतेः परिहारमाह। तथा प्राणिनो द्वीन्द्रियादीन्, तथोदकम् अप्कायं, मृत्तिकां च पृथ्वीकायं, चशब्दात् तेजोवायुपरिग्रहः। दृष्टिमानं त्वत्र लघुतरयोपलब्धावपि प्रवृत्तितो रक्षणायोगात्, महत्तरया तु देशविप्रकर्षेणानुपलब्धेरितिसूत्रार्थः। उक्तः समयविराधनापरिहारः॥३॥

अधुनाऽऽत्मसंयमविराधनापरिहारमाह-

ओवायं विसमं खाणुं, विजलं परिवज्जए।
संकमेण न गच्छेज्जा, विज्जमाणे परक्कमे ॥४॥

अवपातं गर्तादिरूपं, विषमं निम्नोन्नतं, स्थाणुमूर्द्ध्वकाष्ठं, विजलं विगतजलं कर्द्दमं परिवर्जयेत्, एतत्सर्वं परिहरेत्। तथा संक्रमेण जलगर्तपरिहाराय पाषाणकाष्ठरचितेन न गच्छेत्, आत्मसंयमविराधनासंभवात्। अपवादमाह-विद्यमाने पराक्रमे, अन्यमार्ग इत्यर्थः। असति तु तस्मिन् प्रयोजनमाश्रित्य यतनया गच्छेदिति सूत्रार्थः॥४॥

अवपातादौ दोषमाह-

पवडं ते व से तत्थ, पक्खलंते व संजए।
हिंसेज्ज पाणभूयाइं, तसे अदुव थावरे ॥५॥

प्रपतन् वा असौ तत्रावपातादौ गर्तादौ प्रस्खलन् वा संयतः साधुर्हिंस्यात् व्यापादयेत् प्राणिभूतानि, प्राणिनो द्वीन्द्रियादयः, भूतान्येकेन्द्रियाः। एतदेवाह-त्रसानथवा स्थावरान् प्रपातेनात्मानं चेत्येवमुभयविराधनेति सूत्रार्थः॥५॥

तम्हा तेण न गच्छेज्जा, संजए सुसमाहिए।
सइ अन्नेण मग्गेण, जयमेव परक्कमे ॥६॥

तस्मात्तेनावपातादिमार्गेण न गच्छेत् संयतः सुसमाहितो भगवदाज्ञावर्ती त्यर्थः। न गच्छेत् न यायात् सत्यन्येनेन्यस्मिन् समादौ मार्गेणेति मार्गे, छान्दसत्वात् सप्तम्यर्थे तृतीया, असति त्वन्यस्मिन् मार्गे तेनैवावपातादिना यतमेव पराक्रमेत, यतमिति क्रियाविशेषणं, यतमात्मसंयमविराधना परिहारेण यायादिति सूत्रार्थः॥६॥ दश०५ अ०१ उ०।

क्षेत्रयतनामाह-

तहे वुच्चावया पाणा, भत्तट्ठाए समागया।

तं उज्जुयं न गच्छिज्जा, जयमेव परक्कमे ॥७॥

तथैवोच्चावचाः शोभनाऽशोभनभेदेन नानाप्रकाराः, प्राणिनो भक्तार्थं समागताः बलिप्राभृतिकादिष्वागता भवन्ति, तदृजुकं तेषामभिमुखं न गच्छेत्, तत्संत्रासेनान्तरायाधिकरणादिदोषात्। किन्तु यतमेव पराक्रमेत् तदुद्वेगमनुत्पादयन्निति सूत्रार्थः॥७॥

किञ्च-

गोयरग्गपविट्ठो य, न निसीइज्ज कत्थइ।

कहं च न पवंधिज्जा, चिट्ठित्ता ण व संजए ॥८॥

गोचराग्रप्रविष्टस्तु भिक्षार्थं प्रविष्ट इत्यर्थः। न निषीदेत् नोपविशेत्; क्वचिद् गृहदेवकुलादौ, संयमोपघातादिप्रसङ्गात्। कथां च धर्मकथादिरूपां न प्रबध्नीयात् प्रबन्धेन न कुर्यात्, अनेनैकव्याकरणैक-ज्ञातानुज्ञामाह। अत एवाह-स्थित्वा कालपरिग्रहेण संयत इत्यनेषणाद्वेषादिदोषप्रसङ्गादिति सूत्रार्थ'। उक्ता क्षेत्रयतना। दश०५ अ०२ उ०।

भिक्खू मुयच्चे कयदिट्ठधम्मे,

गामं च णगरं च अणुप्पविस्सा।

से एसणं जाणमणेसणं च,

अन्नस्स पाणस्स अणाणुगिद्धे ॥१७॥

स एवं मदस्थानरहितो भिक्षणशीलो भिक्षुः। तं विशिनष्टि-मृते च स्नानविलेपनादि संस्काराभावादर्चा तनुः शरीरं यस्य स मृतार्चः। यदि वा मोदनं मुत्, तद्भूता शोभनाऽर्चा पद्मादिका लेश्या यस्य स भवति मुदर्चः, प्रशस्तदर्शलेश्यः तथा दृष्टोऽवगतो यथावस्थितो धर्मः श्रुतधर्मचारित्राख्यो ये न स तथा चैवंभूतः क्वचिदवसरे ग्रामं नगरमन्यद्वा मठादिकमनुप्रविश्य भिक्षार्थमसावुत्तमधृतिसंहन-नोपपन्नः सन्नेषणां गवेषणग्रहणैषणादिकां जानन् सम्यगवगच्छन्नन्नस्य पानस्य वा, अनागृद्धोऽ-नध्युपपन्नः सम्यग् विहरेत्। तथाहि-स्थविरकल्पिका द्विचत्वारिंश-द्दोषरहितां भिक्षां गृह्णीयुर्जिनकल्पिकानां तु पञ्चस्वभिग्रहः। ताश्चेमाः- ''संसट्ठमसंसट्ठा, उद्धड तह होंति अप्पलेवा य। उग्गहिया पग्गहिया, उज्झियधम्मा य सत्तमिया''॥१॥ अथवा-यो यस्याभिग्रहः स तस्यैषणा, अपरा त्वनेषणेत्येवमेषणाऽनेषणाभिज्ञः क्वचित्प्रविष्टः सन्नाहारादावमूर्च्छितः सम्यक् शुद्धां भिक्षां गृण्हीयादिति॥१७॥ सूत्र०१ श्रु०१३ अ०। (आचार्य्याज्ञा 'पज्जु (ज्जो) सवणाकप्प' शब्दे वक्ष्यते)

(५) वर्षासु दिशमापृच्छ्य गन्तव्यम्-

वासावासं पज्जोवसियाणं निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा कप्पइ, अन्नयरिं दिसिं वा अणुदिसिं वा अवगिज्झिय भत्तं वा पाणं वा गवेसित्तए, से किमाहु भंते! ? उस्सन्नं समणा भगवंतो वासासु तवसंपउत्ता भवंति, तवस्सी दुव्वले किलंते मुच्छिज्ज वा पवमिज्ज वा, तमेव दिसिं वा अणुदिसिं वा समणा भगवंतो पडिजागरंति॥६१॥

''वासेत्यादितः पडिजागरंति त्ति'' यावत्। तत्र 'अन्नयरे' इत्यादि। अन्यतरां दिशं पूर्वादिकाम्, अनुदिशम् आग्नेय्यादिकां विदिशतम् (अवगिज्झिय त्ति) अवगृह्य उद्दिश्य, अहमेनां दिशम् आग्नेय्यां वा यास्यामीत्यन्यसाधुभ्यः कथयित्वा भक्तपानं गवेषयितुं कल्पते। ''से किमित्यादि'' तत्कुत इति शिष्यप्रश्ने, गुरुराह (ओसन्नं ति) प्रायः श्रमणा भगवन्तो वर्षासु तपःसंप्रयुक्ताः प्रायश्चित्तवहनार्थं संयमार्थं स्निग्धकाले मोहजयार्थं वा षष्ठादितपश्चारिणो भवन्ति। ते च तपस्विनो दुर्बलास्तपसैव कृशाङ्गाश्च, अत एव क्लान्ताः सन्तः कदाचिन्मूर्च्छेयुः, पतेयुर्वा, ततः श्रमणास्तान् तत्रैव दिगादौ प्रतिजाग्रति गवेषयन्ति, अथाकथयित्वा गताँस्तु कुत्र गवेषयन्ति? ॥६१॥

(६) गच्छतो धार्याधार्याणि कार्यकारिणि च। अथावश्यकद्वारम् यदाऽऽवश्यकमशोध्य निर्गच्छति तदा मासलघु, आज्ञादयो दोषश्च, विराधना च प्रवचनादीनाम्। तद्यथा-भिक्षामटतः संज्ञा समागच्छेत्, ततो यद्युद्ग्राहितपात्रकः पानकं वा विनाव्युत्सृजति तदा प्रवचनविराधना-''अहो! अशुचयोऽमी''। अथैतद्दोषभयात् न व्युत्सृजति तत आत्मविराधना। अथ प्रतिश्रयमागत्य पानकं गृहीत्वा संज्ञाभूमौ व्रजति ततो देशकाले स्फिटिते सति भिक्षमलभमान एषणां प्रेरयेत्, ततः संयमविराधना, यत एवमत आवश्यकं शोधयित्वा निर्गन्तव्यम्। गतमावश्यकद्वारम्। बृ०१ उ०। अनाभोगतो ग्लानादिषु कार्येषु व्यापृतः सन्नावश्यकमप्यशोध्य निर्गच्छतश्च संज्ञया बाध्यमानो यदि प्रतिश्रयः प्रत्यासन्नस्ततो निवर्तते, अथ दूरे, ततो यदि कालो न पूर्यते, तदा तयोरेकः पात्रकाणि धारयति, इतरः संज्ञां व्युत्सृजति। अथ सागारिकास्तत्र पश्यन्ति, ततः समनोज्ञानां प्रतिश्रयं गत्वा व्युत्सृजति, तदभावे अमनोज्ञानां संविग्नानां, तेषामलाभे पार्श्वस्थादीनां, तेषामप्यभावे सारूपिकाणां, तदभावे सिद्धपुत्रकाणां, तेषामप्राप्तौ श्रावकाणां वैद्यस्य वा गृहे, एतेषामभावे राजमार्गे, गृहद्वयमध्यभागे वा, गृहस्थसत्के वा अवग्रहे कायिकीवर्जं व्युत्सृजति। ततो यद्यसौ गृहपतिस्तां संज्ञां त्याजयति तदा राजकुले व्यवहारो लभ्यते। तथा- ''त्रयः शल्या महाराज! अस्मिन् देहे प्रतिष्ठिताः। वायुमूत्रपुरीषाणां, प्राप्तं वेगं न धारयेत्''॥१॥ बृ०१ उ०।

(७) अथोपकरणद्वारम् सर्वमप्युपकरणमादाय भिक्षायामटितव्यम्, यदि सर्वोपकरणं न गृह्णाति तदा मासलघु, उपधिनिष्पन्नं वा, तथा तेषां भिक्षमटितुं गतानां स प्रतिश्रयस्थापित उपधिरग्निकायेन दह्येत, दण्डकक्षोभो वा भवेत्, स्तेनक्षोभो वा तेषां भिक्षामटतां सहसा समापतित इतिकृत्वा तत एव ते पलायिताः, ततो यदुपधिं विना तृणग्रहणादि कुर्युः, तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तमिति। गतमुपकरणद्वारम्। बृ०१ उ०।

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा गाहावतिकुलं पविसिउकामे सव्वं भंडयमायाए गाहावतिकुलं पिंडवायपडियाए पविसेज्ज वा णिक्खमेज्ज वा। से भिक्खू वा भिक्खुणी वा वहिया विहारभूमिं वा वियारभूमिं वा णिक्खममाणे वा पविसमाणे वा सव्वं भंडगमायाए वहिया विहारभूमिं वा वियारभूमि वा णिक्खमेज्ज वा पविसेज्ज वा। से भिक्खू वा

भिक्खुणी वा गामाणुगामं दूइज्जमाणे सव्वं भंडगमायाए गामाणुगामं दूइज्जेज्जा ।

स भिक्षुर्गच्छन्निर्गतो जिनकल्पिकादिः गृहपतिकुलं प्रवेष्टुकामः सर्वं निरवशेषं भण्डकं धर्मोपकरणमादाय गृहीत्वा गृहपतिकुलं पिण्डपात-प्रतिज्ञाया प्रविशेद्वा ततो निष्क्रामेद्वा, तस्य चोपकरणमनेकं भवति । तद्यथा - तत्र जिनकल्पिको द्विविधः । छिद्रपाणिरच्छिद्रपाणिश्च । तत्राच्छिद्रपाणेः शक्त्यनुरूपाभिग्रह विशेषाद् द्विविधमुपकरणम्। तद्यथा-रजोहरणं, मुखवस्त्रिका च । कस्यचित् त्वक्त्राणार्थं क्षौमपटपरिग्रहात् विविधम्, अपरस्योदकविंन्दुपरितापादिरक्षणार्थमौर्णिकपटपरिग्रहा-चतुर्द्धा । तथा सहिष्णुतरस्य द्वितीयक्षौमपटपरिग्रहात् पञ्चासति छिद्रपाणेस्तु जिनकल्पिकस्य सप्तविधपात्रनिर्योगसमन्वितस्य रजोहरणमुखवस्त्रिकादिग्रहणक्रमेण यथायोगं नवविधो दशविध एकादश द्वादशविधश्चोपधिर्भवति । पात्रनिर्योगश्च-''पत्तं पत्तावंधो, पायट्ठवणं च पायकेसरिया । पडलाइं रयत्ताणं, च गच्छओ पायणिज्जोगो''॥१॥ अन्यत्रापि गच्छता सर्वमुपकरणं गृहीत्वागन्तव्यमित्याह-''से भिक्खू'' इत्यादि । स भिक्षुर्ग्रामादेर्बहिर्विहारभूमिं वा स्वाध्यायभूमिं, तथा विचारभूमिं वा विष्ठोत्सर्गभूतिं सर्वमुपकरणमादाय प्रविशेन्निष्क्रामेद्वेति द्वितीयम्। एवं ग्रामान्तरेऽपि तृतीयं सूत्रम्।

साम्प्रतं गमनाभावे निमित्तमाह-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा अह पुण एवं जाणेज्जा तिव्वदेसियं वा वासं वासमाणे पेहाए तिव्वदेसियं वा महियं सण्णिवयमाणे पेहाए महावाएण वा रयं समुद्धुयं पेहाए तिरिच्छसंपातिमा वा तसा पाणा संथडा सण्णिवयमाणा पेहाए से एवं णच्चा णो सव्वभंडगमायाए गाहावइकुलं पिंडवासपडियाए पविसेज्ज वा, णिक्खमेज्ज वा, वहिया विहारभूमिं वा वियारभूमिं वा पविसेज्ज वा णिक्खमेज्ज वा गामाणुग्गामं दूइज्जेज्जा ।।

(से भिक्खू इत्यादि) स भिक्षुरथ पुनरेवं विजानीयात्। तद्यथा-तीव्रं बृहद्वारोपेतं देशिकं बृहत्क्षेत्रव्यापि, तीव्रं च तद्देशिकं चेति समासः । बृहद्द्वारं महति क्षेत्रे वर्षन्तं प्रेक्ष्य, तथा तीव्रदेशिकां महति देशे अन्धकारोपेतां महिकां वा धूमिकां संनिपतन्तीं प्रेक्ष्योपलक्ष्य, तथा महावातेन वा समुद्धतं रजः प्रेक्ष्य, तिरश्चीनं च संनिपततो गच्छतः प्राणिनः पतङ्गादीन् संस्कृतान् घनान् प्रेक्ष्य, स भिक्षुरेवं ज्ञात्वा गृहपतिकुलादौ उद्दिष्टं सर्वमादाय न गच्छेन्नापि निष्क्रामेद्वेति । इदमुक्तं भवति-सामाचारी एषा-यथा गच्छता साधुना गच्छनिर्गतेन तदन्तर्गतेन वा उपयोगो दातव्यः । तत्र यदिवर्षं महिकादिकं जीनीयात्ततो जिनकल्पिको न गच्छत्येव, यतस्तस्य शक्तिरेषा-यथा षण्मासं यावित् पुरीषोत्सर्गनिषेधं विदध्यात् । इतरस्तु सति कारणे यदि गच्छेत्तदा सर्वमुपकरणं गृहीत्वा गच्छेदिति तात्पर्यार्थः । आचा०२ श्रु०१ अ०३ उ०। द्वितीयपदम्-यत्र श्वानगवादयो दुष्टा भवन्ति, तद् गृहं यद्यनाभोगतः प्रविष्टः, ततः कुत्यकनिश्रं याति, दण्डकेन वा तान् वारयति, यदि काचिदविरतिका तमुपसर्गयेत् ततो धर्मकथा कर्त्तव्या, तया यद्युपशाम्यति, ततः सुन्दरं, नो चेदभिधातव्यम्-एतानि व्रतानि गुरुसमीपे स्थापयित्वा समागच्छामीति, यदि प्रत्यनीकगृहमनाभोगतः प्रविष्टस्ततो महता शब्देन तथा बोलं करोति, यथा भूयान् लोको मिलति, त्रयाणां गृहाणां वा मध्यस्थितः सन्नुपयोगं कृत्वा भिक्षा गृह्णीयात् । पञ्चानामपि महाव्रतानामतिक्रमं महता प्रयत्नेन परिहरेत्, सर्वोपरकरणमपि स्तेनप्रत्यनीकाद्युपद्रवभयाद् वृद्धत्वादधुनोत्थितग्लानत्वाद्वा न गृह्णीयात् । इयत्पुनरवश्यमेव ग्रहीतव्यम पात्रभागडकं, चोलपट्टको, रजोहरणं, मुखवस्त्रिका चेति। बृ०१ उ०। (स्थविरः किमुपकरणमादाय गोचरचर्यायै गच्छतीति 'अइमुंतय' शब्देऽपि प्रथम भागे ७ पृष्ठे द्रष्टव्यम्) ''कक्खपडिग्गह-रयहरणमायाए'' कक्षायां प्रतिग्राहकं रजोहरणं चादायेत्यर्थः। भ०५ श०४ उ०।

(८) कायोत्सर्गद्वारम्-

कायोत्सर्गमकृत्वा व्रजति मासलघु। दोषश्चात्र-कश्चित् योगप्रतिपन्नः, तस्य तद्दिवसमाचाम्लं, स चोपयोगकायोत्सर्गमकृत्वा गतो, दध्नः करम्बं गृहीत्वा समायातः, पश्चादपरैः साधुभिस्तस्याचाम्ल्लं स्मारितं, ततः स यदि तं समुद्दिशति तदा योगविराधना । ततः कायोत्सर्गं कृत्वा निर्गच्छेत् । तत्र च कायोत्सर्गे चिन्तयेत्। यथा-अद्य क्रि मे आचाम्लम्, उत निर्विकृतिकम्, उताहो अभक्तार्थम् आहोश्विदेकासनक इति इत्थमुपयोगं गत्वा प्रत्याख्यानानुगुणमेवाऽऽहारं गृह्णाति । ब्र०१ उ०। द्वितीयपदम्। कायोत्सर्गादीन्यपि ग्लानादिकार्येषु त्वरमाणो न कुर्य्यात्। बृ०१ उ०।

(९)अथ कालद्वारम् -

कस्मिन् काले भिक्षार्थं निर्गन्तव्यम्। उच्यते-यः क्षपको बालो वृद्धो वा पर्युषितेन प्रथमालिकां कर्त्तुकामः स सूत्रपौरुषीं कृत्वा निर्गच्छति, अथ तावतीं वेलां न प्रतिपालयितुं क्षमः, ततोऽर्द्धपौरुष्यां निर्गच्छति; यद्यतिप्रभाते पर्यटति तदा; मासलघु, भद्रकप्रान्तकृताश्च दोषा भवन्ति। तत्र साधुरतिप्रभात एव कस्यापि गृहं गत्वा भिक्षां याचितवान्, स च गृहपतिर्भद्रकः सुप्तामविरतिकामुत्थापयेत् ततस्तस्यामुत्थितायाम-धिकरणं भवेत्; यस्तु प्रान्तो भवति, स ब्रूयात् -''किमुन्मत्तो वर्तसे, यदेवमतिप्रभाते पर्यटसि, सुखरात्रिकं वा प्रष्टुं समायासीरिति''? यद्वा-कोऽपि ग्रामान्तरं प्रस्थितः प्रथममेव तं साधुं दृष्ट्वाऽपशकुनं मन्यमानः प्रद्वेषं यायात्,प्रद्विष्टश्चाहननादि कुर्यात्। अथैतद्दोषभयादतिक्रान्तायां वेलायामटति तदाऽपि मासलघु। ''अकाले चरसी भिक्खू'' (दश०५ अ०) इत्यादि गाथोक्ताश्च दोषाः। एवमुष्णस्यापि भक्तस्थाप्राप्तेऽतिक्रान्ते वा एत एव दोषा मन्तव्याः। बृ०१ उ०।

कालेण निक्खमे भिक्खू, कालेण य पडिक्कमे ।
अकालं च विवज्जित्ता, काले कालं समायरे ।।४।।

(कालेनेति) यो यस्मिन् ग्रामादौ उचितो भिक्षाकालः, तेन करणभूतेन निष्क्रामेद्भिक्षुः वसतेर्भिक्षायै कालेन चोचितेनैव यावता स्वध्यायादि निष्पद्यते तावता प्रतिक्रामेत् निवर्तेत । भणितं च-''खेत्तं, कालो, भायणं, तिन्नि वि प्पहुप्पंति हिंडउ त्ति अहु भंगा।'' अकालं च वर्जयित्वा, येन स्वाध्यायादि न संभाव्यते सखल्वकालः, तमपास्य, काले कालं समाचरेदिति सर्वयोगोपसंग्रहार्थं निगमनम्। भिक्षावेलायां भिक्षां समाचरेत्, स्वाध्याध्यादि-

वेलायां स्वाध्यायादीनीति। उक्तं च-''जोगो जोगो जिणसाणम्मि'' इत्यादि। इति सूत्रार्थः ॥४॥

अकालचरणे दोषमाह-

अकाले चरसी भिक्खू, कालं न पडिलेहिसि।
अप्पाणं च किलामेसि, संनिवेसं च गरिहसि ॥५॥

अकालचारी कश्चित् साधुरलब्धभैक्षः, केनचित् साधुना प्राप्ता भिक्षा न वेत्यभिहितः सन्नेवं ब्रूयात् -कुतोऽत्र स्थण्डिलसंनिवेसे भिक्षा? स तेनोच्यते-अकाले चरसि भिक्षो ! प्रमादात्स्वाध्यायलोभाद्वा कालं न प्रत्युपेक्षसे-किमयं भिक्षाकालो, न वेति ? अकाल-चरणेनाऽऽत्मानं च ग्लपयसि, दीर्घाटनन्यूनोदरभावेन संनिवेशं च निन्दसि गर्हसि, भगवदाज्ञालोपतो दैन्यं प्रतिपद्यते सूत्रार्थः॥५॥

यस्मादयं दोषः संभाव्यते तस्मादकालाटनं न कुर्यादित्याह-

सइ काले चरे भिक्खू, कुज्जा पुरिसकारिअं।
अलाभु त्ति न सोएज्जा, तवु त्ति अहिवासए ॥६॥

सति विद्यमाने काले भिक्षासमये चरेद्भिक्षुः। अन्ये तु व्याचक्षते-स्मृतिकाल एव भिक्षाकालोऽभिधीयते। स्मर्यन्ते यत्र भिक्षुकाः स स्मृतिकालस्तस्मिन् चरेद्भिक्षुः भिक्षार्थं यायात्, कुर्यात् पुरुषकारं सति जङ्घाबले वीर्याचारं न लङ्घयेत्। तत्र चालाभेऽपि भिक्षाया अलाभ इति न शोचयेत्, वीर्याचाराराधनस्य निष्पन्नत्वात्। तदर्थं च भिक्षाटनं, नाहारार्थमेवातो न शोचेत, अपि तु तप इत्यधिसहेत्, अनशनं न्यूनोदरतालक्षणं तपो भविष्यतीति सम्यग्विचिन्तयेदिति सूत्रार्थः॥६॥ उक्ता कालयतना। दश०५ अ०२ उ०।

(१०) नित्यभक्तिकादेः-

वासावासं पज्जोसवियाणं निच्चभत्तियस्स भिक्खुस्स कप्पति एगं गोअरकालं गाहावइकुलं भत्ताए वा पाणाए वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा, णण्णत्थायरियवेयावच्चेणं वा, एवं उवज्झायवेयावच्चेणं तवस्सिवेयावच्चेणं गिलाणवेयावच्चेणं खडुएण वा कुडियाए वा अवंजणजाएण वा ॥२०॥ वासावासं पज्जोसवियाणं चउत्थभत्तिअस्स भिक्खुस्स अयं एवइए विसेसे-जं से पाओ निक्खम्म पुव्वामेव वियडगं भुच्चा पिच्चा पडिग्गहग संलिहिय संपमज्जिय से य संथरिज्जा, कप्पइ से तद्दिवसं तेणेव भत्तट्ठणं पज्जोसवित्तए-से य नो संथरिज्जा, एवं से कप्पए दच्चं पि गाहावइकुलं भत्ता ए वा पाणाए वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा ॥२१॥ वासावासं पज्जोसवियाणं छट्ठभत्तियस्स भिक्खुस्स कप्पंति दो गोयरकाला गाहावइकुलं भत्ताए वा पाणाए वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा ॥२२॥ वासावासं पज्जोसवियाणं अट्ठभत्तियस्स भिक्खुस्स कप्पंति तओ गोयरकाला गाहावइकुलं भत्ताए वा पाणाए वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा ॥२३॥ वासावासं पज्जोसवियाणं विगिट्ठभत्तियस्स भिक्खुस्स कप्पंति सव्वे वि गोयरकाला गाहावइकुलं भत्ताए वा पाणाए वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा ॥

वासावासमित्यादितः 'अव्वंजणजाएण वेति' यावत्। तत्र (निच्चभत्तियस्से ति) नित्यमेकाशिनः साधोः (एगं गोअरकाल ति) एकस्मिन् गोचरचर्याकाले (गाहावइकुलमिति) गाथापति-गृहस्थस्तस्य कुलं गृहम् (भत्ताए त्ति) भक्तार्थम् (पाणाए त्ति) परनार्थं निष्क्रमितुं प्रवेष्टुं कल्पते, न तु द्वितीयं वारम्, परं (''णऽण्णत्थेत्यादि'') णकारो वाक्यादौ अलङ्कारार्थः। अन्यत्र आचार्यादिवैयावृत्यकरेभ्यः, तान् वर्जयित्वेत्यर्थः। ते तु यदि एकं वारं भुक्ते च वैयावृत्यं कर्तुं न शक्नुवन्ति, तदा द्विरपि भुञ्जते, ''तपसो हि वैयावृत्यं गरीयः'' इति। (अव्वंजणजाएण वत्ति) यावत् व्यञ्जनानि वस्तिकूर्चकक्षादिरोमाणि न जातानि तावत् क्षुल्लकक्षुल्लिकयोरपि द्विर्भुञ्जानयोर्न दोषः। यदा वैयावृत्यमस्यास्तीति वैयावृत्यी, वैयावृत्यकर इत्यर्थः। आचार्यश्च वैयावृत्यश्च आचार्य-वैयावृत्यौ, एवं च उपाध्यायादिष्वपि, ततश्च आचार्योपाध्यायतपस्वि-ग्लानक्षुल्लकानां तद्वैयावृत्यकराणां च द्विर्भोजनऽपि न दोष इत्यर्थो जातः ॥२०॥ ''वासावासं'' इत्यादितः ''पविसित्तए त्ति''यावत्। (चउत्थभत्तियस्स त्ति) एकान्तरोपवासिनः साधोः, अयमेतावान् विशेषः-(जं से पाओ निक्खमे त्ति) यत् स प्रातर्निष्क्रम्य गोचरचर्यार्थम् (पुव्वामेव त्ति) प्रथममेव (वियडगं) विकटं प्रासुकाहारं भुक्त्वा (पिच्चा इति) तक्रादिकं पीत्वा (पडिग्गहं त्ति) पात्रम् (संलिहिय त्ति) संलिख्य निर्लेपीकृत्य, (संपमज्जिय त्ति) संप्रमृज्य प्रक्षाल्य (से अ संथरिज्ज त्ति) स यदि सस्तरेत् निर्वहेत् तर्हि तेनैव भोजनेन तस्मिन् दिने परिवसेत्। अथ यदि न संस्तरेत् स्तोकत्वात्, तदा द्वितीयवारमपि भिक्षेतेत्यर्थः ॥२१॥ ''वासावासमित्यादि'' सूत्रत्रयी सुगमा। नवरं, चतुर्मासिकं स्थितस्य षष्ठभक्तिकस्य षष्ठभक्तितकारिणः भिक्षोः द्वौ गोचरकालौ, गृहस्थगृहे भक्तार्थं वा पानार्थं वा निष्क्रमितुं वा प्रवेष्टुं वा (२२) अष्टमभक्तिस्य चतुःपञ्चाद्युपवासकारिणः सर्वोऽपि गोचरकालः, यदा इच्छा भवति तदा भिक्षते न तु प्रातर्गृहीतमेव धारयेत्, संचयजीव-संसक्तिसर्पाघ्राणादिदोषसंभवात्। कल्प० ६ क्षण।

(११) कालातिक्रान्तक्षेत्रातिक्रान्तपानभोजने-

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा असणं वा पाण वा खाइमं वा साइमं वा पढमाए पोरिसीए पडिग्गाहित्ता पच्छिमं पोरिसिं उवाइणावित्तइ नेव आहच्च उवाइणेविए सिया, तं णो अप्पणा भुंजिज्जा, नो अन्नेसिं अणुपएज्जा, एगंते बहुफासुए थंडिले पडिलेहित्ता पमज्जित्ता परिट्ठवेयव्वे सिया, तं अप्पणा भुंजमाणे अन्नेसिं वा दलमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं उग्घाइयं ॥ नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा असणं वा पाणं वा खाइमं साइमं वा परं अद्धजोयणमेराए उवायणावित्तए नेव आहच्च उवाइणाविए सिया, तं णो अप्पणा भुंजेज्जा० जाव आवज्जइ, चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं उग्घाइयं।।

अस्य सूत्रद्वयस्य संबन्धमाह-

भावस्स उ अतियारो, मा होज्ज इती तु पत्थुते सुत्ते।
कालस्स य खेत्तस्स य, दुवे उ सुत्ता अतीयारो॥

भावस्य ब्रह्मव्रतस्य परिणामस्यातिचारः अतिक्रमो मा भूदित्यनन्तर-प्रस्तुते सूत्रे प्रतिपादिते। अथ कालस्य च क्षेत्रस्य चातिचारोऽतिक्रमो मा भूदिति द्वे सूत्रे प्रारभ्येते। अनेन संबन्धेऽऽयातस्यास्य सूत्रद्वयस्य व्याख्या-नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा अशनं वा पानं वा खादिमं स्वादिमं वा प्रथमायां पौरुष्यां प्रतिगृह्य पश्चिमां पौरुषीं (उवाइणावित्तए त्ति) उपानाययितुं संप्रापयितुमिति (नेव आहच्च) कदाचिदुपानाययितुं स्यात्, ततस्तदशनादिकं स्वयं नो भुञ्जीत, न वा अन्येषां साधूनामनुप्रदद्यात्; किं पुतस्तर्हि विधेयमित्याह-एकान्ते बहुप्राशुके स्थण्डिले प्रत्यवेक्ष्य चक्षुषा प्रमृज्य रजोहरणेन परिष्ठापयितव्यं स्यात्, तदाऽऽत्मना भुञ्जानोऽन्येषां वा ददान आपद्यते चातुर्मासिकं परिहारस्थानमुद्घातिकम्। एवं क्षेत्रातिक्रान्तसूत्रमपि वक्तव्यं, नवरमर्द्धयेजनलक्षणाया मर्यादाया अतिक्रामयितुमशनादिकं न कल्पते स्यात्तदुपानायितं भवेत्ततो यः स्वयं पद्भङ्क्ते अन्येषां वा ददाति, तस्य चतुर्लघुकमिति सूत्रद्वयार्थः॥

अथ निर्युक्तिविस्तरः-

वितियाउ पढम पुव्विं, उवातिणे चउगुरुं च आणादी।
दोसा संचऍ संस-त्त दीह साणो य गोणी य॥१॥
अगणिगिलाणुत्तारे, अब्भुट्ठाणे य पाहुणणिरोधे।
सज्झायविणयकाइ य, पयलंतपलोट्टणे पाणा॥२॥

आस्तां तावत् पश्चिमा चतुर्थी पौरुषी, किन्तु द्वितीयया: पौरुष्याः प्रथमाऽपि पूर्वा भण्यते। प्रथमायाश्च द्वितीया पाश्चात्या, एवं तृतीयाया द्वितीया पूर्वा, द्वितीयायाः पाश्चात्या चतुर्थ्यास्तृतीया पूर्वा, तृतीयस्याः चतुर्थी पश्चिमा॥ ततः प्रथमायाः पौरुष्या द्वितीयायामशनादिकमति-क्रामयतश्चतुर्गुरुकाः, आज्ञादयश्च दोषाः, तथा संचयो भवति, चिरं वाऽवतिष्ठमानं तदशनादिकं प्राणिभिः संशक्तं भवति, दीर्घजातीयो वाश्वा वा समागच्छेत्, ततः स द्रवभाजनव्यग्रहस्त उत्थातुमशक्नुवन् ताभ्यां खाद्येत, गौर्वलीवर्दस्तेन वा आहन्येत, अत्राऽऽत्मविराधनानिष्पनं चतुर्गुरु, तद्भयेन वा इतस्ततः स्पन्दमानो भाजनं भिन्द्यात् तत्र चतुर्लघु, तेन विनयपरिहाणिस्तन्निष्पन्नम्, अथैतेषां भयान्निक्षिपति ततश्चतुर्लघु (अगिणि त्ति) अग्नावुत्थिते भारव्यापृतत्वेनाऽनिर्गच्छन् दह्येत, तत्प्रतिबन्धेन वा उपधेर्दाहो भवेत्, तत उपधिनिष्पन्नं प्रायश्चित्तं, ग्लानस्य वैयावृत्यमुद्वर्तनादिकं भारव्यापृतो न करोति, अक्रियमाणे परितापनादिकं स प्राप्नुयात्, तन्निष्पन्नं चतुर्लघुकादि पाराञ्चिकान्तम्, ग्रन्थिं निक्षिप्य करोति ततो मासलघु, तेन गृहीतेन तावुत्सृजति प्रचलायमानस्य वा भोजनं भुञ्जीत तस्य च प्रलोटने पानकादिना प्लाव्यमानाः प्राणिनो विपद्यन्ते।

अथामूनेव संचयादिदोषान् व्याचष्टे-

निस्संचया उ समणा, संचयितु गिही व होति धारेंता।
संसत्तेऽणुवभोगो, दुक्खं च विगिंचिउं होति॥

निःसञ्चयाः श्रमणा उच्यन्ते, ततो यदि तेऽपि गृहीत्वा धारन्ति तदा गृहिण इव संचयिनो भवन्ति, चिरं वाऽवतिष्ठमानं तद्भक्तपानं संसज्येत, संसक्तं च साधूनामुपभोक्तुं न कल्पते, विवेक्तुं च परिष्ठापयितुं तद् दुःखं भवति, यतस्तत्र परिष्ठाप्यमाने यैः प्राणिभिः संसक्तान्नं विनाशमाप्यते।

एमेव सेसएसु वि, एगतरविराहणा उभयतो वि।
असमाहि विणयहाणी, तप्पच्चयणिज्जराए य॥

एवमेव शेषेष्वपि दीर्घादिषु द्वारेषु भावना कर्त्तव्या, सा च प्रागेव कृता, न वा एकतरस्य साधोर्भाजनस्य वा विराधना दीर्घजातीयादिषु भवति, उभयमात्मा संयमश्चेति द्वयम्। तस्य विराधना उभयविराधना। (असमाहि त्ति) अग्निना दह्यमानस्यासमाधिमरणं, भारेणाक्रान्तस्य वा असमाधिदुःखेनावस्थानं भवेत्, गुरुप्रभृतीनां च विनयहानिं कुर्वतस्तत्प्रत्ययनिर्जराया अपि हानिर्भवति॥

पच्छित्तपरूवणता, एतेसि ठवेंतिए य जे दोसा।
गहितकरणे य दोसा, दोसा य परिट्ठवेंतस्स॥

एतेषां संचयादीनां सर्वेषामपि प्रायश्चित्तप्ररूपणा कर्त्तव्या। सा च प्रागेव लेशतः कृता, स्थापयतो निक्षिपतश्च ये दोषाः, ये च गृहीतेन कार्याणि कुर्वतो भाजनभेदप्रभृतयो दोषाः, ये च परिष्ठापयतो दोषास्तेऽपि च वक्तव्या इति।

यत एतावन्तो दोषाः-

तम्हाउ जहिं गहितं, तहिं भुंजाण वज्जिया भवे दोसा।
एवं सोधिण वज्जति, गहणे वि य पावती वितियं॥

तस्माद्यस्यामेव पौरुष्यां ग्रहीतं तस्यामेव भोक्तव्यम्, एवं कुर्वतो दोषाः पूर्वोक्ता वर्जिता भवन्ति। परः प्राह-नत्वेवं शोधिनं विद्यते यतो (गहणे वि य त्ति) यावद्भिक्षां गृह्णाति तावदेव द्वितीयां पौरुषीं प्राप्नोति।

सूरिराह-

एवं ता जिणकप्पे, गच्छम्मि व उज्झियाइ जे दोसा।
इतरासि किं ण होती, दव्वे सेसे पि जतणाए॥

एवं तावज्जिनकल्पिकानामुक्तं तच्चयस्यामेव गृहीतं तस्यामेव भोक्तव्यम् गच्छवासिनस्तु प्रथमायां गृहीत्वा यदि तदुद्वरितमतिक्राम-यन्ति, तदा य संचयादयो दोषा उक्तास्तान्प्राप्नुवन्ति, द्वयोरपि परः प्रेरयति-इतरयोर्द्वितीयतृतीययोः पौरुष्योरशनादि द्रव्यं धारयतां किमेते दोषा न भवन्ति? गुरुराह-भवन्ति, परं द्रव्ये भुक्तशेषे कसरणे यतनया धार्यमाणा दोषा न भवन्ति।

कथं पुनस्तदुद्वरितं भवति? इत्याह-

पडिलाभणा बहुविहा, पढमाए विणसिमविणासि।
तत्थ विणासिं भुंजेऽजिण्णपरिन्ने य इतरं पि॥

अभिगतश्राद्धेन दानश्राद्धेन वा क्वचित् कारणैः प्रथमपौरुष्यां बहुविधाः प्रतिलाभनाः, ततो बहुभिर्भक्ष्यभोज्यद्रव्यैरित्यर्थः। तच्च द्रव्यंद्रव्यंविनाशि, अविनाशि च। क्षीरादिकं विनाशि, अवगाह-नादिकमविनाशि। तत्र यद्विनाशि द्रव्यं तन्नमस्कारपौरुषी-प्रत्याख्यानं कुर्वतो भुञ्जते, शेषसाधूनां यद्यजीर्णं, यदि वा तैः परिज्ञानं, तस्या विकृतेः प्रत्याख्यानं कृतम्। अभक्तार्थो वा प्र-

त्याख्यातः, आत्मार्थिका वा ते, तत इतरदविनाशि द्रव्यं भुञ्जते।

अमुमेवार्थं व्याचष्टे-

जइ पोरसिं पवन्ना, गमेंति तो सेसागाण ण विसज्जे ।
अगमेंताऽजिण्णे वा, धरेंति ते मत्तगादीसुं ॥

यदि पौरुषीप्रत्याख्यानवन्तस्तद् द्रव्यं सर्वमपि गमयन्ति निर्वाहयितुं शक्नुवन्ति, ततः शेषाणां पूर्वार्द्धप्रत्याख्यानिनां न विसर्जयेयुर्न दद्युः। अथ ते सर्वमपि न गमयन्ति, ततः पूर्वार्द्धप्रत्याख्यानिनामपि दीयते अथ तेषामप्यजीर्णं, ततो मात्रकादिके धारयन्ति।

अथवा अमुना कारणेन धारयेत्-

तं काउ कोइ न तरइ, गिलाणमाईण दाउमच्चुण्हे ।
नाउं व बहुं वियरइ, जहासमाहिं चरिमवज्जं ॥

तदशनादिकं कृत्वा भुक्त्वा कश्चित् ग्लानादीनां प्रायोग्यमादाय दातुमत्युष्णे अतीवाऽऽतपे चटिते न शक्नोति, एतेन कारणेन धारयेत्। यद्वा-बहु प्रभूतं भैक्षं लब्धं ततो न परिष्ठापयितव्यं भवेदिति ज्ञात्वा गुरवोऽशनादेर्धारणं वितरन्ति, अनुजानन्तीत्यर्थः। (जहासमाहिं ति) प्रथमपौरुष्यां लब्धं परमथाप्यजीर्णं, ततो यावज्जीर्यते तावत् धारयेदपि, एवं यथा यथा समाधिर्भवति तथा तथा ?भुञ्जीत, परं चरमवर्जं चतुर्थीं पौरुषीं नातिक्रमयेदिति भावः।

तत्रावधार्यमाणा इयं यतना-

संसज्जिमेसु छुब्भइ, गुलाइ लेवामेइयरे लोणइं ।
जं च गमिस्संति पुणो, एमेव य भुत्तसेसे वि ॥

(संसज्जिमेसु) संसक्तियोग्येषु लेपकृतेषु गोरसादिद्रव्येषु गुडादिकं प्रक्षिप्यते येन न संसज्यते, इतरत्रामत्रे लेपकृतं, तद्यपि स संक्तियोग्यं, तदा लवणादिकं प्रक्षिपेत्, न गुडं, यच्च प्रथमपौरुष्यां द्वितीयपौरुष्यां वा भुक्त्वा पुनर्गमिष्यन्ति, कियतीमपि वेलां प्रतीक्ष्य भूयो भोक्ष्यन्त इत्यर्थः। तत्रापि भुक्तशेषे धार्यमाणे एष एव गुडादिप्रक्षेपणरूपो विधिर्भवति।

चोएइ धरिज्जंते, जइ दोसा गिण्हमाणि किं न भवे ?
उस्सग्ग दीसमंते, उब्भामादी तु उदिक्खंते ॥

नोदयति प्रेरयति-प्रागेव यद्येवं भक्तपाने धार्यमाणे दोषाः, ततो भक्तादौ गृह्यमाणे किमिति श्वानगवादयो दोषा न भवन्ति ? भवन्त्येव। तथा कायोत्सर्गं कुर्वतोऽपि त एव बहुपरितापनादयश्च दोषाः। एवं विश्राम्यतोऽपि त एव दोषाः। उद्भ्रामकभिक्षाचर्यां ये गतास्तदादीनपि (उदिक्खंते त्ति) प्रतीक्षमाणस्य त एव दोषाः?

पर एवं प्राह-

एवं अवातदंसी, थूले वि कहं ण पासह अवाए ?
हंदी णिरंतरोऽयं, भरितो लोगो अवायाणं ॥

यद्येवं यूयमपायदर्शिनः सूक्ष्मानपायानपि प्रेक्षध्वे, ततः स्थूलानपि भिक्षाचर्य्यादिविषयानपायान् कथं न पश्यथ? 'हदि' इत्युपदर्शने, पश्यन्तु भवन्तः-यदेवं निरन्तरोऽप्ययं लोकोऽपायानां भृतः। कथमिति चेत्? उच्यते-

भिक्खादिवियारगते, दोसा पडिणीयसाणमादीया।
उप्पज्जंते जम्हा, ण हु लब्भा हिंडितुं तम्हा ॥

भिक्षाविचारादौ गतानां प्रत्यनीकश्वानगवादयो बहवो दोषा यस्मादुत्पद्यन्ते तस्मान्न हि नैव साधुना हिण्डितुं लभ्यम्।

अहवा आहारादी, णेव णियमं हवंति घेत्तव्वा।
णेवाऽऽहारेयव्वा, तो दोसा वज्जिया होंति ॥

अथवा-आहारादयो नियतं सर्वदा न गृहीतव्या भवन्ति, किन्तु चतुर्थषष्ठादिकं कृत्वा सर्वथैवाऽशक्तेनाऽऽहारो ग्राह्यः। यद्वा-नैव कदाचिदप्याहारयितव्यम्, एवं दोषा अपायाः सर्वेऽपि वर्जिता भवन्ति।

एवं परेणोक्ते सूरिराह-

भण्णति सज्झमसज्झं, कज्जं सज्झं तु साहए मतिमं ।
अविसज्झं साधेतो, केलिस्सति ण तं च साधेति ॥

भण्यते अत्र प्रतिवचनम्-कार्यं द्विविधम्-साध्यमसाध्यं च, तत्र मतिमान् साध्यमेव कार्यं साधयति, नासाध्यं, तुशब्द एवकारार्थः। यस्तु युष्मादृशोऽविसाध्यं साधयति, स केवलं क्लिश्यति; न च तत्कार्यं साधयति। यथा मृत्पिण्डेन पटादिसाधनाय प्रवर्तमानः पुरुष इति असाध्यं चात्र भिक्षाचर्यादावपर्यटनम्।

कुत इति चेत्?उच्यते-

जति एयविप्पहूणा, न च णियमगुणा भवे निरवसेसा।
आहारमादियाणं, को नाम कहं पि कुव्वेज्जा ?

यद्येतैराहारादिर्भिर्विविधं प्रकर्षेण हीना रहितास्तपोनियमगुणा निरवशेषा भवेयुः, तत आहारादीनां को नाम कथामपि कुर्यात्? अत आहारग्रहणार्थं भिक्षामटनीयमिति प्रक्रमः, एतेन ''अहवा आहारादि'' इत्याद्यपि प्रत्युक्तं द्रष्टव्यम्।

इदमेव सविशेषमाह-

मोक्खपसाहणहेऊ, णाणाती तप्पसाहणो देहो।
देहट्ठा आहारो, तेण तु कालो अणुण्णातो ॥

इह मोक्षप्रसाधनहेतवो ज्ञानादीनि ज्ञानदर्शनचारित्राणि, तेषां च प्रसाधनो देहो भवति, अतो देहार्थमाहार इष्यते, स च काले गृह्यमाणो धार्य्यमाणश्चारित्रस्यानुपघातको भवति, तेन कारणेन कालोऽनुज्ञातः।

कथमित्याह-

काले अ अणुण्णाए, जति वि हु लग्गेज्ज तेहि दोसेहिं ।
सुद्धो उवादिणंतो, लगते उ विवज्जएँ परेणं ॥

आद्यप्रहरत्रयलक्षणो द्वितीयादिपौरुषीत्रयात्मको वा कालो भक्तपानादेर्धारिण अनुज्ञातः, एवंविधे अनुज्ञाते काले यद्यपि तैः पूर्वकैर्दोषैर्लग्येत स्पृशेत्, तथापि शुद्धः। अनुज्ञातकालात्परेणातिक्रामयन् विपर्ययः, अविद्यमानेष्वपि दोषेषु स प्रायश्चित्तो मन्तव्यः।

पढमाए घेत्तूणं, पच्छिमपोरिसिं उवादिणति जो तु।
ते चेव तत्थ दोसा, वितियाए जे भणिएँ पुव्विं ॥

प्रथमायां पौरुष्यां गृहीत्वा पश्चिमां पौरुषीं योऽतिक्रामयति, तत्र ते दोषाः, ये पूर्वं प्रथमायां गृहीत्वा द्वितीयामतिक्रामयतो जिनकल्पिकस्य भणिताः।

अमूनि तानि वक्ष्यमाणकारणानि-

सज्झायलेवसीव्वण-भायणपरिकम्मसट्टरादीहिं।
सहस अणाभोगेण व, उवादियं होज्ज जा चरिमा॥

स्वाध्याये अतीवोपयोगाद्विस्मृतम्, एवं लेपपरिकर्मणं कुर्वतो, वस्त्रं वा सीवतो, भाजनं वा परिकर्मयतो, देशकथादिकं वा सट्टरमालजालं कुर्वतः, आदिशब्दः सट्टरस्यानेकभेदसूचकः। एतेषु यदन्त्यं पञ्चयग्रत्वं सहसाकारः, अनाभोगोऽत्यन्तविस्मृतिः। एवं सहसाकारेणाना-भोगेन वा चरमां चतुर्थीं यावदतिक्रमितं भवति।

आहच्चुवाइणावि य, विगिंचण परिण्णऽसंथरंतम्मि।
अन्नस्स गेण्हणं भुं-जणं च असतीएँ तस्सेव॥

एतैः कारणैराहत्य कदाचिदतिक्रामितं भवेत्ततो विगिञ्च्य परित्यज्य परिज्ञा दिवसचरमं प्रत्याख्यानं कर्तव्यम्। अथ न संस्तरति, ततः काले पूर्यमाणे अन्नस्याशनादेर्ग्रहणं भोजनं च कर्तव्यम्। अथ कालो न पूर्यते, न वा तदानीं पर्याप्तं लभ्यते, ततो यतनया, यथा-अगीतार्थाः तदेववेदमशनादिकमिति न जानन्ति, तथा तस्यैव परिभोगः कर्तव्यः।

विइयपएण गिलाणस्स कारणा अधव वातिणे ओमे।
अद्धाण पविसमाणो, मज्झे अहवा वि उत्तिण्णे॥

द्वितीयपदे ग्लानस्य कारणात्प्रायोग्यं भक्तादिकमतिरिक्तमपि कालं धारयेत्, ग्लानकृत्ये वा तावद् व्यापृतः यावच्चरमपौरुषी, अथवा अवमे पर्यटने एव चतुर्थी संजाता, अध्वनि वा प्रविशन् सार्थवशगोऽतिक्रमयेत्। एवमध्वनो मध्ये वर्तमानः, ततो वा उत्तीर्णोऽसंस्तरन्नातिक्रमयेत् भुञ्जीत वा, न कश्चिद्दोषः। व्याख्यातं कालातिक्रान्तसूत्रम्।

अथ क्षेत्रातिक्रान्तसूत्रं व्याख्यानयति-

परमद्धजोयणाओ, उज्झाणपरेण चउ गुरू होंति।
आणादिणो य दोसा, विराहणा संजमाताए॥

अर्धयोजनं द्विगव्यूतं, ततः परमशनादिकमतिक्रमयतश्चतुर्गुरुकाः स्युः। अग्रोद्यानादपि परेणातिक्रमयतश्चतुर्गुरुकाः, आज्ञादयश्च दोषाः, संयमात्मनश्च विराधना।

तामेवाह-

भारेण वेदणाए, ण पेहती खाणुमादि अभिघाओ।
इरिया पगलिय तेणग, भायणभेदो य छक्काया॥

भारेणाऽऽक्रान्तो वेदनाऽभिभूतः स्थाणुकण्टकादीनि न प्रेक्षते तैः कीलकादिभिर्वा अभिहन्यते। अथवा- (अभिघाओ त्ति) वटशाखादिना शिरसि घट्यते, ईर्या वा न शोधयति, दूरनयनेन च भक्तपाने पतिते पृथिव्यादिविराधना, स्तेनैर्वा स समुद्देशो ह्रियेत, क्षुधापिपासाऽऽर्तस्य वा क्षीणपलस्य भाजनभेदो भवेत्। तत्र षट्कायविराधना, आत्मनः परस्य च, तेन विना परिहाणिः।

परः प्राह-

उज्झाणआरएणं, तहिँ किं ते ण जायते दोसा ?
परिहरिया ते होज्जा, जंति वि तहिं खेत्तमावज्जे॥

उद्यानादारतो ग्रामादेरानीयमाने भक्तपाने किं ते दोषा न जायन्ते, यदेवमुद्यानात्परत इत्याभिधीयते? सूरिराह-ते दोषास्तीर्थकर-वचनप्रामाण्येन परिहृता भवन्ति, तथाऽप्यननुज्ञातक्षेत्रे तान् दोषानापद्यन्ते।

पुनरपि परः प्रेरयति-

एवं सुत्तं अफलं, सुत्तनिवातो इमो तु जिणकप्पो।
गच्छम्मि अद्धजोयण, केसिं चीं कारणे तं पि॥

ननु यद्युद्यानात् परतो नातिक्रामयितव्यं, ततो यत् ''परमद्धजोयणे मेराउ त्ति'' सूत्रं भणितं, तदफलं प्राप्नोति। आचार्यः प्राह-यदग्रोद्यानात्परतो नातिक्रमयितव्यमित्युच्यते स एष सूत्रार्थनिपातो जिनकल्पिकविषयो मन्तव्यः। यत्पुनरर्द्धयोजनात् परत इत्यादि सूत्रं, तद्गच्छवासिविषयम्। केषाञ्चिदाचार्याणा-मयमभिप्रायः- यथा गच्छवासिभिरव्युत्सर्गत उद्यानात्परतो नातिक्रामणीयम्, कारणात्तु तदप्यर्द्धयोजनं नेतव्यम्। एवमापन्नादिकं सूत्रम्-यथा ''केसिंचि कारणे तं पि त्ति''। अन्यथा व्याख्यायते-केषाञ्चिदाचार्यबालवृद्धादीनां कारणे तदप्यर्धयोजनं गम्यते।

इदमेव भावयति-

सखेत्ते जह ण लब्भति, भत्तो दूरे वि कारणे जतति।
गिहिणो वि चिंतमाणा-ऽऽगतम्मि गच्छे किमंग ! पुण ?॥

स्वक्षेत्रे स्वग्रामे यदा न लभते तदा दूरेऽप्याचार्यादीनां कारणे भक्तपानग्रहणार्थं यतते, अर्द्धयोजनमपि गच्छतीति भावः। अपि च-यद्यपि स्वग्रामे प्राचुर्येण लभ्यते, तथाऽप्युत्सर्गत स्तत्र न हिण्डनीयम्। कुतः? इत्याह-यदि तावद् गृहिणोऽपि क्रयविक्रय-सम्प्रयुक्ता अनागतं प्राघूर्णकाद्यर्थं घृतगुडलवणातन्दुलादीनां चिन्तां कुर्वन्ति, किमङ्ग ! पुनर्गच्छे सबालवृद्धे, येषां क्रयविक्रयः, संचयश्च नास्ति, तैः प्राघुर्णकाद्यर्थमनागतं न चिन्तनीयम्?

ततः-

संघाडेगे ठवणा-कुलेसु सेसेसु वालवुड्ढादी।
तरुणा वाहिरगामे, पुच्छा दिट्ठंतऽगारीए॥

स्वग्रामे यानि दानश्रद्धादीनि स्थापनाकुलानि, तेषु गुरूणां संघाटक एकः प्रविशति, यानि स्वग्रामे शेषाणि कुलानि, तेषु बालवृद्धासहिष्णु-प्रभृतयो हिण्डन्ते, ये तु तरुणास्ते बहिर्ग्रामे पर्यटन्ति। शिष्यः पृच्छति-किमादरेण क्षेत्रं प्रत्यपेक्षा रक्षते? गुरुराह-अगार्या दृष्टान्तोऽत्र क्रियते-

परिमियभत्तपदाणे, णेहादवहरति थोव थोवं तु।
पाहुण वियाल आगत, विसण्ण आसासणा दाणं॥

''एगो किविणवणिओ, अगारीए अविस्ससंतो तंदुलघतलवणकट्ठ-भंडादियं दिवसपरिच्चायपरिमितं देति, आवणतो घरे ण किंचि तंदुला धारेति। अगारीए चिंता-जदि एयस्स अब्भरहितो, मित्तो वा, अन्नो वा पदोसादिअवेलाए आगितिस्सति, तो किं दाहं? तओ अप्पाणो वुद्धिपुव्वगेण वणियस्स अजाणंतो णेहतंदुलादियाणं थोवथोवं फेडिति। कालेण बहु संपण्णं। अन्नया तस्स मित्तो पदोसकाले आगतो, आवणं आरक्खियभया गंतुं न सक्कति, वणियस्स चिंता जाया, विसन्नो, कहमेतस्स भत्तं दाहामीति? अगारी वणियस्स मणोगतं भावं जाणित्ता भणतिमा विसादं करेहि, सव्वं से करेमि। तीए अब्भंगादिणा ण्हावउएं विसिट्ठमाहारं भुज्जाविओ, तुट्ठो मित्तो पभाए पुणो जेमेउ गतो। वणिओ वि तुट्ठो भारियं भणइ-अहं ते परिमियं देमि, कत्तं ति? तीए सव्वं कहियं। तुट्ठेण वाणिएण सा

घरचिंतिय त्ति सव्वो घरसारो समप्पिओ'' अथाक्षरार्थः- परिमितभक्तप्रदाने सति स्नेहादेर्मध्यादगारी स्तोकस्तोकमपहरति, प्राघूर्णकस्य च विकाले आगमनं, ततो गृहपतिर्विषण्णः, तया तस्याऽऽश्वासना कृता, ततः प्राघूर्णकस्य भक्तपानदानमकारि॥

एवं पीईवुड्ढी, विवरीयऽण्णेण होइ दिट्ठंतो।
लोगुत्तरे विसेसो, असंचया जेण समणाओ॥

एवं क्रियमाणे तयोः सुहृदोः परस्परं प्रीतिवृद्धिरुपजायते, विपरीतश्चान्येन प्रकारेण दृष्टान्तो भवति। तत्र यदि परमितभक्तमध्यादगारी स्तोकस्तोकं नापहरति ततः सुहृदादेः प्राघूर्णकस्य स्नेहच्छेदो भवति, एवं यदि गृहस्था आगमनं चिन्तयन्ति, ततः कुक्षिशम्बलैः साधुभिः सुतरामनागतं चिन्तनीयम्। अपि च-लाकोत्तरे येन असंचयाः श्रमणास्तेन कारणेन विशेषतः क्षेत्रं रक्षणीयम्॥

जणलावो परगामे, हिंडमाणेंति वसहि इह गामे।
देज्जह वालादीणं, कारणजाते य सुलभं तु॥

जनस्याऽऽत्मीयगृहेषु ग्राममध्ये वा मिलितस्याऽऽलापः प्रवादो भवति- अमी साधवः परग्रामे हिण्डित्वा भिक्षामिहानयन्ति, ततः केवलं वसतिरेवेह ग्रामे अमीषाम्। एवं श्रुत्वा गृहपतयः स्वस्वमहेला आदिशन्ति- ये बालादयोऽत्र हिण्डन्ते, तेषामादरेण सविशेषं। प्रयच्छत एवंविधायां चिन्तायां, प्राघूर्णकादिकारणजाते च सुलभं तु, यदि देशकाले अदेशकाले वा हिण्डन्ते तदासुलभं भवति॥

पाहुणविसेसदाणे, णिज्जर कित्ती य इहर विवरीयं।
पुव्विं चमढणसिग्गा, न देंति संतं पि कज्जेसु॥

प्राघूर्णकस्य विशेषेणाऽऽदरेण भक्तपाने दीयमाने परलोके निर्जरा, इहलोके च कीर्त्तिर्भवति। चशब्दात्प्रीतिवृद्धिः, परस्परोपकारिता च भवति। इतरथा प्राघूर्णकस्याक्रियमाणे एतदेव विपरीतं भवति, निर्जरादिकं न भवतीत्यर्थः। कथं पुनस्तद्दानं न भवतीत्याह-पूर्वं चमढतया दिने २ प्रविशद्भिः साधुभिः 'सिग्गानि' परिश्रान्तानि स्थापनाकुलानि सदपि गृहे विद्यमानमपि घृतादिकं द्रव्यं प्राघूर्णकादिकार्येषु उत्पन्नेषु न प्रयिच्छन्ति। एवं गुणदोषान् विज्ञाय क्षेत्रं प्रयत्नेन रक्षणीयमिति प्रक्रमः।

अयं चापरस्तद्गुणो भवति-

वोरी इह दिट्ठंतो, गच्छे वायामो वहिं च पतिरिक्कं।
केइ पुण तत्थ भुंजण, आणेमाणे भणिय दोसा॥

बहिर्ग्रामे भिक्षाटने क्रियमाणे प्राभृतं दुग्धदध्यादिकं प्रायोग्यं प्राप्यते। तथा चात्र वदरीदृष्टान्तो भवति। अपि च-गच्छे एषैव सामाचारी गणधरभणिता-यद्बहिर्ग्रामे तरुणैर्भिक्षायामटनीयं, व्यायामश्च मोहचिकित्सानिमित्तं तैः कृतो भवति। तत्र बहिर्ग्रामे, चशब्दादिह वा परग्रामे 'पइरिक्कं' एकान्तं भवति मुत्कलमित्यर्थः। यद्वा (पतिरिक्कं ति) प्रचुरं भक्तपानं तत्रावाप्यते। केचित्पुनराचार्यदेशीया ब्रुवते-तत्रैव बहिर्ग्रामे भोजनं कर्त्तव्यं, यतो ये पूर्वमानयतो भारवेदनाऽऽदयो दोषा भणितास्ते एव परिहृता भवन्ति। (एतत्परमतमुत्तरत्र निराकरिष्ये)

अथ वदरीदृष्टान्तमाह-

गामब्भासे वदरी, नीसंद कडुप्फला य कुज्जा य।
पक्कामालसचेडा, खायंतियरे गता दूरं॥
सिग्घयरं ते आगा, तेसिऽण्हेसिं च दिंति सयमेव।
खायंति एव इह इ, आयपरसुहावहा तरुणा॥

कस्याऽपि ग्रामस्याभ्यासे प्रत्यासत्तौ वदरी, सा ग्रामनिस्यन्दपानीयेन संवर्द्धिता, ततः कटुकफला सुवृत्ता। अन्यच्च-सा स्वभावत एव कुब्जा, तेन सुखारोही, तस्यां च कानिचित् फलानि पक्वानि, कानिचित्कटुकानि। अथवा (पक्कमेति) मन्दपक्वानि, तत्र ये अलसाश्चेटका बालकाः, ते तां वदरीं सुखारोहमारुह्य कटुकान्यपि वदराणि भक्षयन्ति, तान्यपि स्वल्पतया न पर्याप्तानि भवन्ति, इतरे नाम अनलसा उत्साहवन्तश्चेटका बालकाः, ते दूरमटवीं गताः तत्र महावदरीवनेषु परिपक्वानि वदराणि यथेच्छं खादन्ति। ततो यावत्ते अलसास्तस्यां कटुकवदर्यां क्लिश्यमाना आसते, तावत्ते दूरगामिनो बालका आत्मनः पर्याप्तं कृत्वा वदरीपोट्टलकभाराऽऽक्रान्ताः शीघ्रतरमागताः, तेषामलसानामन्येषां च गृहे स्थितानां स्वजनानां वदराणि पर्याप्त्या ददति, स्वयमेव च भक्षयन्ति। एवमिहापि गच्छवासे तरुणा भिक्षवो वीर्यसंपन्ना उत्साहवन्तो बहिर्ग्रामे हिण्डमाना आत्मनः परेषां च बालवृद्धादीनां सुखावहा भवन्ति।

कथम्? इति चेत्, उच्यते-

खीरदहिमादियाण य, लम्भो सिग्घतर पढम पइरिक्के।
उग्गमदोसा विजढा, भवंति अणुकंपिया वितरे॥

यथा ते अलसाश्चेटकास्तथा बालवृद्धादयोऽपि कटुवदरीकल्पे तस्मिन् मूलग्रामे प्रत्यहमुद्वेज्यमानतया चिरमपि हिण्डमानाः कोद्रवकूरादिकमेव लभन्ते, तदपि न पर्याप्तं, ये तु तरुणा बहिर्ग्रामे गच्छन्ति, ते अनलसचेटककल्पाः, ततः क्षीरदध्यादीनां प्रायोग्यद्रव्याणां लाभस्तेषां बहिर्ग्रामे भवति, शीघ्रतरं च ते स्वग्रामे आगच्छन्ति, (पढम त्ति) प्रथमालिकां च स्वयं कुर्वन्ति, बालादिभ्यः प्रथमतरं वा समागछन्ति (पइरिक्कं ति) प्रचुरभक्तपानमुत्पादयन्ति, उद्गमदोषाश्च 'विजढा' परित्यक्ता भवन्ति, इतरे च बालाऽऽदयो अनुकम्पिता भवन्ति।

अमुमेवार्थं सविशेषमाह-

एवं उग्गमदोसा, विजढ पइरिक्कया अणोमाणं।
मोहतिगिच्छा य कता, विरियायारो य अणुचिण्णो॥

एवं बहिर्ग्रामं गच्छद्भिस्तैरुद्गमदोषा आधाकर्मादयः परित्यक्ता भवन्ति, (पइरिक्कय त्ति) प्रचुरस्य भक्तपानस्य लाभो भवति, अनपमानत्वं पक्षापमानेन भवति। मोहचिकित्सा च परिश्रमाऽऽतपोवैयावृत्यादिभिर्मोहस्य निग्रहात्कृतो भवति। वीर्याचारश्चानुचीर्णोऽनुष्ठितो भवति।

अथ परः प्राह-

उग्घायतो परेणं, उवातिणं तम्मि पुव्व जे भणिता।
भारादीया दोसा, तच्चेव इहं तु सविसेसा॥

ननु शोभनमिदं यदर्धयोजनं गम्यते, किन्तु तेषां भरितभाराणामाचार्यसकाशमागच्छतां ये पूर्वमुद्घातात्परेणाभिक्रामयति भारादयो दोषा भणितास्त एवेह सविशेषा भवन्ति।

ततः किं कर्तव्यमित्याह-

तम्हा च ण गंतव्वे, तहिं भोत्तव्वं ण वा वि भोत्तव्वं ।
इतरा मे ते दोसा, इति उदिते चोदगं भणति ॥

तस्मादाचार्यसमीपे भक्तापानेन गृहीतेन न गन्तव्यं, किन्तु तत्रैव बहिर्ग्रामे भोक्तव्यम्, एवं भाराऽऽदयोदोषाः परिहृता भवन्ति । (न वा वि भोत्तव्वं त्ति) वाशब्दः पक्षान्तरद्योतकः । अथ भवतो भणिष्यन्ति-नैव बहिर्ग्रामे भोक्तव्यं तत एवम् । इतरथा (मे) भवतां एव भारादयो दोषाः परिहृताः । एवमुदिते भणिते सति सुरिर्नोदकं भणति-यदि तत्र समुद्दिशन्ति ततो मासलघु, भवतोऽप्येवं भणितो मासलघु, तैश्च तत्र प्रायोग्यं समुद्दिशद्भिचार्यादयः परित्यक्ताः, तेषां प्रायोग्यमन्तरेण परितापनादि-संभवात् ।

आह-किमित्याचार्यमन्तरेण न सिद्ध्यति यदेवं तदर्थं प्रायोग्यमानीयते? इत्याह-

जइ एयविप्पहूणा, तवनियमगुणा भवे निरवसेसा ।
आहारमाइयाणं, को नाम कहं पि कुव्वेज्जा ?॥

यद्येतेनाऽऽचार्येण विप्रहीणाः, एनमन्तरेणेत्यर्थः । तपोनियमगुणा निरवशेषा भवेयुः, तत आचार्यप्रायोग्यानामाहारादीनामन्वेषणे को नाम कथामपि कुर्वीत? न कश्चित् । इदमत्र हृदयम सर्वोऽपि तपोनियमादिकः प्रयासोऽस्माकं संसारनिस्तरणार्थं, ते च तपःप्रभृतयो गुणा गुरूपदेशमन्तरेण न सम्यग् गम्यन्ते, न वा निरवशेषा अपि यथावदनुगन्तुं शक्यन्ते, अतः संसारनिस्तरणार्थमाचार्याणां प्रायोग्यनयनादि कर्त्तव्यमेव वैयावृत्यमिति ।

अपि च-

जति ताव लोइयगुरू, से लहुय सागारिय पुढविमादी ।
आणयणे परिहरिया, पढमा आपुच्छ जतणाए ॥

यदि तावल्लौकिकोऽपि यो गुरुः पिता ज्येष्ठबन्धुर्वा कुटुम्बं धारयति तस्मिन्नभुक्ते न भुञ्जते, यद्योत्कृष्टं शाल्योदनादिकं तत्तस्य प्रयच्छन्ति, ततः किं पुनर्यस्य प्रभावेन संसारो निस्तीर्यते तस्य प्रायोग्यमदत्त्वा एवमेव भुज्यते । यस्तु भुङ्क्ते, तस्य मासलघु । वसतेरभावात् तत्र भुञ्जानान् सागारिको यदि पश्यति तदा चतुर्लघु, आज्ञादयश्च दोषाः । अस्थण्डिले च समुद्दिशतां पृथिव्यादिविराधना, आनयने तु सर्वेऽप्येते दोषाः परिहृता भवन्ति, अतो गुरुसमीपमानेतव्याः । द्वितीयपदे प्रथमालिकां कुर्वन्तो गुरुमापृच्छ्य गच्छन्ति । यतनया च यथा संसृष्टं न भवति तथा प्रथमालिका कर्त्तव्या ॥

चोदगवयणं अप्पा-ऽणुकंपिओ ते य भे य परिचत्ता ।
आयरिए अणुकंपा, परलोए इह पंससणया ।

नोदकवचनं नाम-परः प्रेरयति-यावत्ते ततो ग्रामात्प्रत्यागच्छन्ति तावत् तृषाक्षुधाक्लान्ता अतीव परिताप्यन्ते, एवं प्रस्थापयद्भिर्भवद्भिरात्मा अनुकम्पितः, ते च साधवः परित्यक्ता भवन्ति । गुरुराह-ननु मुग्ध ! त एवानुकम्पिताः । कथमित्याह-(आयरिए इत्यादि) ते यदाचार्यवैया-वृत्यनियुक्ताः, एषा पारलौकिकी तेषामनुकम्पा, इहलोकेऽपि ते अनुकम्पिताः, यतो बहुभ्यः साधुसाध्वीजनेभ्यः प्रशंसामासादयन्ति ।

परः प्राह-

एवं पि परिचत्ता, काले खमए असहुपुरिसे य ।
काले गिम्हे उ भवे, खमओ वा पढमवितिएहिं ॥

यतस्ते बुभुक्षितृषिता भाराक्रान्ताः शीतलवातातपैरभिहताः पन्थानं बहन्ति यूयं तु शीतलच्छायायां तिष्ठत, एवमपि ते परित्यक्ताः। सूरिराह-तेषामपि कालं क्षपकमसहिष्णुपुरुषं च प्रतीत्य प्रथमालिकाकरणम-नुज्ञातम्, तत्र कालो ग्रीष्मिलक्षणस्तस्मिन् प्रथमालिकां कृत्वा पानकं पिबन्ति, क्षपको वा प्रथमद्वितीयपरीषहाभ्यामतीव बाधितः प्रथमालिकां कुर्यात् ।

अत्र परः प्राह-

जइ एवं संसट्ठं, अप्पत्ते दोसियाइणं गहणं ।
लंवण भिक्खा दुविहा, जहण्णमुक्कोस तिय पणए ॥

यद्येवमासौ बहिरेव प्रथमालिकां करोति ततो भक्तः संसृष्टो भवति, संसृष्टे च गुर्वादीनां दीयमानेऽभक्तिः कृता भवति? गुरुराह-अप्राप्ते देशकाले दोषात्तादेर्ग्रहणं कृत्वा येषु वा कुलेषु प्रभाते चालाभे पर्यटन्तः प्रथमालिकां कुर्वन्ति, भोजनस्य च कल्पं कुर्वन्ति । प्रथमालिकाप्रमाणं च द्विधा-लम्बनतो, भिक्षातश्च । तत्र जघन्येन त्रयो लम्बाना कवलाः, तिस्रश्च भिक्षाः, उत्कर्षतः पञ्च लम्बनाः पञ्च वा भिक्षाः । शेषं सर्वमपि मध्यमप्रमाणम् ।

अथ तैः कुत्र किं ग्रहीतव्यमिति निरूपयति-

एगत्थ होइ भत्तं, वितियम्मि पडिग्गहे दवं होति ।
गुरुमादी पाउग्गं, भत्तं विइए उ संसत्तं ॥

साधुद्वयस्य द्वौ प्रतिग्रहौ,द्वौ च मात्रकौ भवतः, तत्रैकस्मिन् प्रतिग्रहे भक्तं प्रतिग्रहीतव्यं,द्वितीये द्रवं पानकं भवति । तथैकस्मिन् मात्रके आचार्यादीनां प्रायोग्यं गृह्यते, द्वितीये तु ससक्तं भक्तं वा पानकं वा प्रत्यपेक्षतो यदि शुद्धः ततः प्रतिगृहे प्रक्षिप्यते ।

जति रिक्को तो दवम-त्तगम्मि पढमालियाएँ गहणं तु ।
संसत्तगहण ददु ल्लभे य तत्थेव जं पंता ॥

यदि रिक्तोऽसौ द्रवमात्रकः, ततः तत्र प्रथमालिकाया ग्रहणं वक्तव्यम्, एवं संसृष्टं न भवति । अथवा-तस्मिन् द्रवमात्रके संसक्तं द्रवं गृहीतं, द्रवं वा तत्र क्षेत्रे दुर्लभं, ततस्तत्रैव भक्तप्रतिग्रहे यत्प्राप्तं, तदेकेन हस्तेनाकृष्यान्यस्मिन् हस्ते कृत्वा समुद्दिशति ,एवं संसृष्टं न भवति ।

विइयपयं तत्थेव, सेसं अहवा वि होज्ज सव्वं पि ।
तम्हा तं गंतव्वं,संसट्ठं जति वि तहवि सुद्धो ॥

द्वितीयपदमत्रोच्यते-अतीव बुभुक्षितास्तत्रैवात्मनः सविभागं भुञ्जते, शेषं सर्वमप्यानयन्ति । अथवा-तत्रैव सर्वमात्मपरमं भागं भुञ्जते, यत एष एवंविधो विधिस्तस्माद्विधिना गन्तव्यम्, विधिना आनेतव्यं, विधिना वा तत्रैव भोक्तव्यम् । एवं सर्वत्र विधिं कुर्वन् यद्यपि दोषैः स्पृष्टो भवति तथाऽपि शुद्धः ।

कथं पुनः सर्वं वा भिक्षाचर्यागतेन भोक्तव्यमित्याह-

अंतरपल्लीगहितं, पढमागहियं य भुंजए सव्वं ।
संखडिघुवलंभे वा, जं गहियं दोसिणं वा वि ।

यदन्तरपल्लिकायां गृहीतं, प्रथमपौरुषीगृहीतं वा, तत्सर्वमपि

भुङ्क्ते, यत्र वा जानन्ति संखड्या ध्रुवो लाभो भविता तत्र यत्पूर्वं गृहीतं तत्सर्वमपि भोक्तव्यम्, यद्वा दोषात्तं गृहीतं तदशेषमपि भोक्तव्यम्।

दरहिंडिए व भाणं, भरियं भुत्तुं पुणो वि हिंडिज्जा।
कालो वाऽतिक्कमई, भुंजेज्जा अंतरा सव्वं ॥

अथवा-दरहिण्डिते अर्द्धपर्यटिते एव भाजनं भृतं, ततोऽल्पसागारिके तत्पर्यासं भुक्त्वा पुनरपि हिण्डेत। अथवा-यावदाचार्यान्तिके आगच्छति तावत्कालोऽतिक्रमतिचतुर्थपौरुषी लगति, सूर्यो वाऽस्तमेतीत्यर्थः। ततः सर्वमप्यन्तरा तत्रैव भुञ्जीत।

परमद्धजोयणातो, उज्झाणपरेण जे भणियदोसा।
आहच्चुवातिणाविऍं, ते चेवोस्सग्गअववातो ॥

अथार्द्धयोजनात्परेणातिक्रामयति तदा ये उद्यानात्परतोऽतिक्रामणे दोषाः पूर्वं भणितास्त एव द्रष्टव्याः। अथवा-आहत्य कदाचिदनाभोगादिना अतिक्रामन्ति ततस्तावेवोत्सर्गापवादौ। उत्सर्गतस्तन्न भोक्तव्यम्, अपवादतः पुनरसंस्तरणे भेक्तव्यमिति भावः। बृ०४ उ०।

जे भिक्खू पढमाए पोरिसीए असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिग्गाहेत्ता पच्छिमं पोरिसिं उवाइणावेइ, उवाइणावंतं वा साइज्जइ ॥३७॥ नि०चू०१२ उ०। वितियाउ पढमपुव्विं, उवातिणे चउगुरू य आणादी। बृ०४उ०।

''दिवसस्स पढमपोरिसीए भत्तं पाणं घेत्तुं चरिमतिचउत्थपोरिसी, तं जो संपावेति, तस्स चतुलहुं, आणादिया य दोसा''। नि०चू०१२ उ०।

जे भिक्खू परं अद्धजोयणमेराओ परेण असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा उवाइणावेइ, उवाइणावंतं वा साइज्जइ ॥३८॥

परमद्धजोयणाओ, असणादी जे उवातिणे भिक्खू।
सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराहणं पावे ॥१८७॥

दुगाउयं अद्धजोयणं, जो तओ खेत्तप्पमाणओ परेण असणाइ संकामेइ, तस्स चंतुलहुं, आणादिया य गोसा। नि०चू०१२ उ०।

अह भंते ! खेत्ताइक्कंतस्स कालाइक्कंतस्स मग्गाइक्कंतस्स पमाणाइक्कंतस्स पाणभोयणस्स के अट्ठे पण्णत्ते ? गोयमा ! जे णं निग्गंथे वा फासुएसणिज्जं असणं पाणं खा मं साइमं अणुग्गए सूरिए पडिग्गहित्ता उग्गए सूरिए आहारमाहारेइ, एस णं गोयमा ! खेत्ताइक्कंते पाणभोयणे। जे णं निग्गंथे वा० जाव साइमं पढमाए पोरिसीए पडिग्गहेत्ता पच्छिमं पोरिसिं उवायणावित्ता आहारमाहारेइ एस णं गोयमा ! कालाइक्कंते पाणभोयणे। जे णं निग्गंथे० जाव साइमं परिग्गहित्ता परं अद्धजोयणमेराए वीइक्कमावइत्ता आहारमाहारेइ, एस णं गोयमा ! मग्गाइक्कंते पाणभोयणे। जे णं निग्गंथे वा फासुएसणिज्जेणं० जाव साइमं पडिग्गहित्ता परं वत्तीसाए कुक्कुडिअंडगप्पमाणमेत्ताणं कवलाणं आहारमाहारेइ एस णं गोयमा ! पमाणाइक्कंते पाणभोयणे। अट्ठकुक्कुडिअंडगप्पमाणमेत्ते कवले आहारमाहारेमाणे अप्पाहारे। दुवालस कुक्कुडिअंगप्पमाणमेत्ते कवले आहारमाहारेमाणे। अवड्ढोमोयरिया। सोलसकुक्कुडिअंडगप्पमाणमेत्ते कवले आहारमाहारेमाणे दुभागपत्ते। चउव्वीसं कुक्कुडिअंडगप्पमाणमाणे० जाव आहारमाहारेमाणे ओमोदरिया। वत्तीसं कुक्कुडिअंडगप्पमाणमेत्ते कवले आहारमाहारेमाणे पमाणपत्ते। एक्को एक्केण विघासेण ऊणगं आहारमाहारेमाणे समणे निग्गंथे नो पकामरसभोइ त्ति वत्तव्वं सिया, एस णं गोयमा ! खेत्ताइक्कतस्स कालाइक्कंतस्स मग्गाइक्कंतस्स पमाणइक्कंतस्स पाणभोयणस्स अट्ठे पण्णत्ते। भ०७ श०१ उ०। (मूलपाठस्य सुगमत्वात् टीका नात्र गृहीता)

अत्रैव दृष्टान्तमधित्सुराह-

दिट्ठंतोऽमच्चेणं, पासादे णं तु रायसंदिट्ठे।
दव्वे खेत्ते काले, भावेण य संकिलेसेइ ॥

गाथाक्षरयोजना सुगमा। भावार्थस्त्वयम्- केनापि राज्ञा अमात्य आज्ञप्तः- शीघ्रं प्रासादाः कारयितव्याः। स चामात्यो द्रव्ये लुब्धस्तान् कर्म्मकरान् द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्च संक्लेशयति।

कथमित्याह-

अलोयणसक्कयं सुक्खं, नो पगामं च दव्वतो।
खित्ते अणुचियं उण्हे, काले उस्सूरभोयणं ॥
भावे न देति विस्सामं, निट्ठुरेहिं च खिंसइ।
जियं भित्तिं च नो देइ, नट्ठा अकऍं दंडणा ॥

द्रव्यतोऽलवणसंस्कृतं विशिष्टसंस्काररहितं, शुष्कं वातादिना शोषं नीतं, वल्लचणकादि, तदपि न प्रकामं न परिपूर्णं ददाति। क्षेत्रतोयत्तस्मिन् क्षेत्रे अनुचितं भक्तं पानं वा तद् ददाति, तथा उष्णे कर्म्म कारयति, काले उत्सूरे भोजनं दापयति। भावतो-न ददाति विश्रामं, निष्ठुरैश्च वचनैः खिंसयति। जितमपि च कर्मकरणतो लभ्यमपि भृतिं मूल्यं न ददाति। एवं च सति ते कर्मकराः प्रासादमकृत्वाऽपि नष्टाः पलायिताः, स्थितः प्रासादोऽकृतः, राज्ञा चैतत् ज्ञातं ततोऽमात्यस्य दण्डना कृता। अमात्यपदाच्च्यावयित्वा तस्य सर्वस्वापहरणं कृतमिति। एष दृष्टान्तः।

साम्प्रतमुपनयमाह-

अकरणॅ पासायस्स उ, जह सोऽमच्चो उ दंडितो रन्ना।
एमेव य आयरिए, उवणयणं होति कायव्वं ॥

यथा प्रासादस्याकरणेऽमात्यो राज्ञा दण्डितः, एवमेवाचार्ये उपनयनं भवति कर्त्तव्यम्। तथैव राजस्थानीयेन तीर्थकरेण अमात्यस्थानीयस्याऽऽचार्यस्य सिद्धिप्रासादसाधनार्थमादेशो दत्तः, स च कर्म्मकरस्थानीयानां साधूनां द्रव्यादिषु तत् करोति यथा ते सर्वे पालयन्ति।

तथा चाह-

कज्जम्मि वि नो विगितिं, भत्तं पंतं न तं च पज्जतं ।
खेत्तं खलुखेत्तादी, कुवसहि उब्भामगे चेव ॥
तइयाएँ देति काले, ओमे वुस्सग्गवादितो निच्चं ।
संगह-उवग्गहे वि य, न कुणइ भावे पयडो य ॥

द्रव्यतः-कार्येऽपि समापतिते विकृतिं घृतादिकं न ददाति, भक्तमपि प्रान्तं दापयति, तदपि च न पर्याप्तम्। क्षेत्रतः-खलुक्षेत्रादीन् प्रेषयति, खलुक्षेत्रं नाम-यत्र तु किमपि न प्रायोग्यं लभ्यते, आदिशब्दात् यत्र स्वपक्षतः परपक्षतो वाऽपभ्राजना, तदादिपरिग्रहः। कुवसतौ वा स्थापयति, उद्भ्रामके वा ग्रामे यदा तदा वा प्रेषयति। कालतः-सदैव तृतीयायां भोजनं ददाति। अवमेऽपि दुर्भिक्षेऽप्युत्सर्गवादिको नित्यम्, भवतः-संग्रहं ज्ञानादिभिः, उपग्रहं वस्त्रपात्रादिभिर्न करोति। प्रचण्डश्च प्रकोपनशीलः।

लोए लोउत्तरे चेव, दो वि एए असाहगा ।
विवरीयवित्तिणो सिद्धी, अन्ने दो वि य साहगा ॥

लोके लोकोत्तरेऽपि च एतावनन्तरोक्तौ द्वावप्यसाधकौ द्रव्यतो भावतश्च प्रासादस्य विपरीतवर्तिनः पुनरुभयथापि सिद्धिरिति कृत्वा अन्यौ द्वावपि द्रव्यतो भावतश्च प्रासादस्य साधकौ।

सिद्धिपासायवडिं-सगस्स करणं चउव्विहं होइ ।
दव्वे खेत्ते काले, भावे य न संकिलेसेइ ॥

सिद्धिप्रासादावतंसकरणं चतुर्विधं भवति। तद्यथा-द्रव्यतः, क्षेत्रतः, कालतो, भावतश्च। ततो गीतार्थो द्रव्यादिषु साधून् न सङ्क्लेशयति।

एवं तु निम्मवंती, ते विय अचिरेण सिद्धिपासायं ।
तेसिं पि इमो उ विहि, आहारेयव्वए होति ॥

एवं द्रव्यादिषु संक्लेशाकरणतस्ते साधवोऽचिरेण स्तोकेन कालेन सिद्धिप्रासादं निर्मापयन्ति, तेषामपि सिद्धिप्रासादनिर्मापकाणामाहा-रयितव्येऽयं वक्ष्यमाणो विधिः।

तमेवाह-

अद्धमसणस्स सव्वुं, जणस्स कुज्जा दवस्स दो भागं ।
वायपवियारणट्ठा, छब्भागं ऊणय कुज्जा ।

अर्द्धमुदरस्य दधितक्रतीमनादिसहितस्याशनस्य योग्यं कुर्यात्, द्वौ भागौ द्रव्यस्य पानीयस्य योग्यौ,षष्ठं तु भागं वातप्रविचरणार्थमूनकं कुर्यात्। इयमत्र भावना-उदरस्य षड् भागाः कल्पन्ते, तत्र त्रयो भागा अशनस्य सव्यञ्जनस्य ,द्वौ भागौ पानीयस्य, षष्ठो वातप्रविचरणाय। एतच्च साधारणे, प्रावृट्काले चत्वारो भागाः सव्यञ्जनस्याशनस्य, पञ्चमः पानीयस्य, षष्ठो वातप्रविचाराय, उष्णकाले द्वौ भागावशनस्य सव्यञ्जनस्य, त्रयः पानीयस्य षष्ठा वातप्रविचारणायेति।

एसो आहारविही, जह भणिता सव्वभावदंसीहिं ।
धम्मावस्सगजोगा, जेण न हायंति तं कुज्जा ॥

एष आहारविधिर्यथा सर्वभावदर्शिभिः सर्वज्ञैर्भणिता, येन च प्रकारेण धर्मनिमित्ता अश्यकर्त्तव्या योगा न हीयन्ते, तं कुर्यान्नान्यदिति॥ व्य०८ उ०। सूत्र०। औ०। दश०। ''जे णं पढमाए पोरिसीए अणइक्कंताए तइयाए पोरिसीए अइक्कंताए भत्तं वा पाणं वा पडिगाहेज्ज वा, परिभुंजेज्ज वा, तस्स ण पुरिमड्ढं'' महा०७ अ०।

(१२) रात्रौ भिक्षा न ग्रहीतव्या

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा राए वा वियाले वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिग्गाहित्तए ।

अस्य संबन्धं घटयन्नाह-

वयअहिगारे पगए, राईवयभत्तपालणे इणमो ।
सुत्तं उदाहु थेरा मा पीलो होज्ज सव्वेसिं ॥

पूर्वसूत्रे द्वितीयावग्रहोऽनुज्ञामन्तरेण वस्त्रं न परिभोक्तव्यमिति तृतीयव्रतस्याधिकारः प्रकृतः, तस्मिँश्च प्रकृते रात्रीभक्तव्रतपाल-नार्थमिदं सूत्रं स्थविराः श्रीभद्रबहुस्वामिन उदाहृतवन्तः। कुत इत्याह-मा तस्मिन् षष्ठव्रते भग्ने सर्वेषामपि महाव्रतानां पीडा विराधना भवेत् इति कृत्वा।

प्रकारान्तरेण संबन्धमाह-

अहवा पिंडो भणिओ, न य भणिओ गहणकालं तु ।
तस्स गहणं खवाए, वारेइ अणंतरे सुत्ते ।

अथवा ''निग्गंथं च णं गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए'' इत्यादिषु सूत्रेषु पिण्डो भणितः, न च तस्य पिण्डस्य ग्रहणकालो भणितः, कदा गृह्यते, कदा नेति। अतः पूर्वसूत्रेभ्यो यदपान्तरालमिदमेव सूत्रं , तत्र तस्य पिण्डस्य ग्रहणं क्षपायां रात्रौ निवारयतीत्यनेन संबन्धेनायातस्यास्य व्याख्या-नो कल्पते निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां वा रात्रौ वा विकाले वा अशनं वा ओदनादि, पानं वा अबादि, खादिमं वा फलादि, स्वादिमं वा शुण्ठ्यादि प्रतिग्रहीतुम् इति सूत्राक्षरार्थः।

अथ भाष्यविस्तरः-

राते व वियाले वा संझा राई ओक्किसिइ विकालो ।
चउरो य अणुग्घाया, चोदगपडिघाएँ आणादी ।

रात्रौ वा विकाले वेति यदुक्तं सूत्रे, तत्र 'सन्ध्या रात्रिरुच्यते' इतिनिरुक्तिवशात् शेषा सर्वाऽपि रजनी, विगतः सन्ध्याकालोऽत्रेति विकालउच्यते। केषाञ्चिदाचार्याणां दिवसलक्षणकालविगमात् सन्ध्या विकालः, शेषा तु रात्रिः, रज्यन्ति स्तेनपारदारिकादयो अत्रेति कृत्वा। एतयो रात्रिपिकालयोः सूत्रोक्तं चतुर्विधमाहारं गृह्णतो भुञ्जानस्य च चत्वारो अनुद्घाता मासाः प्रायश्चित्तम्। बृ०१ उ०।

(१३) कतिवारान् गच्छेत् -

अथ विस्तरार्थमभिधित्सुः प्रमाणद्वारं भावयति-

दोन्नि अणुन्नाया ऊ, तइया आवज्ज मासियं लहुयं ।
गुरुगो ए चउत्थीए, चाउम्मासो पुरेकम्मे ॥

चतुर्थभक्तिकस्य द्वौ वारौ गोचरचर्यामटितुमनुज्ञातौ, अथ तृतीयं वारमटति, तत आपद्यते मासिकं लघुकम्, अथ चतुर्थं वारं पर्यटति, तदा गुरुको मासः। स्त्रीत्वं सर्वत्र प्राकृतत्वात्। अथ तृतीयादीन् वारान् भिक्षार्थं प्रविशति, ततो गृहिणः पुरः कर्म कुर्वन्ति, तत्र चत्वारो मासा लघव इति। एषा निर्युक्तिगाथा।

अथैनामेव भाष्यकृद्विवृणोति-

सइमेव उ निग्गमणं, चतुत्थभत्तिस्स दोन्नि वि अलद्धे ।
सव्वे गोयरकाला, विगिट्ठ छट्ठट्ठमे वि तिहिं ॥

सकृदेव एकवारमेव नित्यभक्तिकस्य भक्ताय वा पानाय वा निर्गमनं कल्पते, चतुर्थभक्तिकस्याप्युत्सर्गतः सकृदेव भिक्षामटितुं कल्पते अथ तदानीं पर्यटताऽपि तेन परपूर्णो भक्तार्थो न लब्धः, ततोऽलब्धे सति तस्य द्वावपि गोचरकालानुज्ञातौ, यस्य विकृष्टभक्तिको दशमद्वादशमादिक्षपकः, तस्य सर्वेऽपि गोचरकालाः कल्पन्ते। (छउट्ठमे वितिहिं ति) षष्ठभक्तिकस्य द्वयोर्गोचरकालयोः, अष्टभक्तिकस्य तु त्रिषु गोचरकालेषु भिक्षामटितुं कल्पते।

स्यान्मतिः किमर्थं षष्ठादिभक्तिकानां द्व्यादिगोचरकालानामनुज्ञा? उच्यते-

संखुन्ना जेणऽन्तां, दुगाइ छट्ठादिणं ततो कालो।
भुत्तऽणुभुत्ते अ बलं, जायइ न य सीतलं होइ॥

संक्षुण्णानि सुकुचितानि येन कारणेन षष्ठादितपसा अन्त्राणि प्रतीतानि। ततः षष्ठादिभक्तिकानां द्विकादिको गोचरद्वयादिकः कालोऽनुज्ञातः। अपि च प्रथममेकवारं भुक्तस्ततो द्वितीयादिकं वारमनुभुक्तस्त भुक्तानुभुक्तस्य, द्व्यादीन् वारान् भुक्तवत इत्यर्थः। बलं भूयोऽपि षष्ठादिकरणे सामर्थ्यमुपजायते, न चेत्थं तद्भक्तं शीतलं भवति, सद्यो गृहीतत्वात्। यदि ह्येकमेकवारं पर्यटता यद् गृहीतं तन्मध्यात् किञ्चित् समुद्दिश्य द्वितीयादिवारं समुद्देशनार्थं शेषं स्थापयेत्, तदा तद् भवत्येव शीतलं, तच्च तस्य तमःक्षामदेहस्य कारकमिति कृत्वा द्व्यादयो गोचरकाला अनुज्ञाता इति।

अत्र परः प्राह-यद्यसौ षष्ठादिभक्तिको यावन्ति भक्तानि छिनत्ति तावन्त्येकेनैव दिवसेन पूरयति, ततः को नाम गुणस्तस्य भक्तच्छेदनेन? उच्यते-

बहुदेवसिया भत्ता, एकदिणेणं तु जइ वि भुंजेज्जा।
तह वि य चागतितिक्खा-एगग्गपभावणाईया॥

बहुदैवसिकानि भक्तानि यद्यप्यसावेकदिनेनैव षष्ठादिभक्तिको भुञ्जीत, तथापि भक्तच्छेदने त्यागतितिक्षैकाग्र्यप्रभावनादयो गुणा भवन्ति। त्यागो नाम -द्व्यादीन् दिवसान् सर्वथैव भक्तार्थपरिहारः, तितिक्षा क्षुधापरीषहस्याधिसहनम्, ऐकाग्र्यं तु सूत्रार्थपरावर्त्तनादौ चित्तस्यानन्योपयुक्तता, प्रभावना नाम-अहो ! अमीषां शासनं विजयते यत्तादृशास्तपस्विन इति। आदिशब्दादन्येषामपि तपःकर्मणि श्रद्धाजननं, गृहिणां वा तद्दर्शनात्प्रव्रज्याप्रतिपत्तिरित्यतः षष्ठादिभक्तिकस्य द्व्यादिगोचरकालानुज्ञानम्, नित्यभक्तिकस्तु यदि द्वितीयं वार भिक्षार्थमवतरति मासलघु, तृतीयवारं मासगुरु चतुर्थं वारं चतुर्लघु, पञ्चमं चतुर्गुरु, षष्ठं षट्लघु, सप्तमं षट्गुरु, अष्टमं छेदः, नवमं मूलं, दशममनवस्थाप्यम्, एकादशं वारं पाराञ्चिकम्।

चतुर्थभक्तिकादीनामतिदेशमाह-

जह एस एत्थ वुड्ढी, ओअरमाणस्स दसहि सपदं च।
सेसेसु वि जं जुज्जइ, तत्थ विवुड्ढी उ सोहीए॥

यथा द्वितीयादिवारं भिक्षामवतरत एषा लघुमासादारभ्य प्रायश्चित्तस्य वृद्धिर्भणिता, दशभिश्च दशसंख्याकैः स्थानैः स्वपदं पाराञ्चिकं नित्यभक्तिकस्योक्तम्। तथा शेषेष्वपि चतुर्थभक्तिकादिषु यत् तृतीयवारादिकं प्रायश्चित्तस्थानं युज्यते, तत्र तदारभ्य शोधेः प्रायश्चित्तस्य विवृद्धिः कर्तव्या। तद्यथा-चतुर्थभक्तिकस्तृतीयं वारं भिक्षामवतरति मासलघु, चतुर्थं मासगुरु, पञ्चमं चतुर्लघु, षष्ठं चतुर्गुरु, सप्तमं षड्लघु अष्टमं षड्गुरु, नवमं छेदः, दशमं मूलम्, एकादशमनवस्थाप्यम्, द्वादशं वारं पर्यटतः पाराञ्चिकम्। एवं षष्ठभक्तिकस्यापि द्वादशं वारमवतरतः पाराञ्चिकम्। यदाह चूर्णिकृत्-''छट्ठभत्तियस्स वि वारसहिं पायइ पारंचियं ति''। अष्टमभक्तिकस्य तु चतुर्थवारादारभ्य त्रयोदशं वारं यावत्पर्यटतो लघुमासादिकं पाराञ्चिकान्तमिति। गतं प्रमाणद्वारम्। बृ०१ उ०।

द्वितीयवारं प्रविशति-

जे भिक्खू गाहावतिकुलं पिंडवायपडियाए पविट्ठे पडियाइक्खित्ते समाणे दोच्चं पि तमेव कुलं अणुप्पविसइ, अणुप्पविसंतं वा साइज्जइ॥१२॥

''जे भिक्खू गाहावतिकुलं पिंडवातपडियाए'' इत्यादि। (पडियाइक्खिए त्ति) प्रत्याख्यातः, अतित्थाविते त्ति भणियं भवति, दोच्चं पुनरपि तमेव प्रविशति, तस्स मासलहुं, आणाइणा य दोसा।

णिज्जुत्तिगाहा-

जे भिक्खू गाहावति-कुलमतिगएँ पिंडवातपडियाए।
पच्चक्खेतें समाणे, तं चेव कुलं पुणो पविसे॥२७॥

जे त्ति णिद्देसे, भिक्खू पूर्ववत्, गिहस्स पती गिहपती, तस्स कुलं, गृहमित्यर्थः। अतिगतः प्रविष्टः, पिंडपातपडियाए पच्चक्खातो प्रतिषिद्धः प्रत्याख्यानेन, (समाणे त्ति) समः प्रत्याख्यानेत्यर्थः। अहवा-'समाणे त्ति' पच्चक्खाउ त्ति होउं तमेव पुनः प्रविशेत्।

गाहा-

सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराधणं तथा दुविधं।
पावति जम्हा तेणं, पच्चक्खाते तु ण प्पविसे॥२८॥

दुविहा विराहणा-आयाए, संजमे य जम्हा एते दोसा पावति, तम्हा ण तं पुणो कुलं पविसे।

अथं पविसति तो इमे दोसा-

दुपदचतुप्पयणासे, हरणोद्दविणे य महण खणणे य।
वारियकामी दोच्चा-दिएसु संका भवे तत्थ॥२९॥

तम्मि कुले दुपदं दुअक्खरियादि, चउप्पदं अस्सादि, णट्ठे, हरिते वा सो संकिज्जति, एवं उद्दविते, घरादिदाहे, क्खत्ते य क्खतिते भंडिउकामी उब्भामगो एह सादिआण ताण वा दूइत्तणं करेइ, एवं संकिते णिस्संकिते वा जं तमावज्जे, साहूहिं घरं भरियं ति, रायकुले कहेज्ज, एवं गेण्हणादयो दोसा।

कारणे तु पुण दोच्चं पि पविसति-

वितियपदमणाभोगे, अचितं गेलण्ण पगत पाहुणए।
रायदुट्ठे रोधगे, अद्धाणे वा वितिविकप्पं॥३०॥

अणाभोगेण दोच्चं पि पविसे, तमणीओ खंवियाओ जत्थ तं अचियं दाउं संचियादी, दुर्भिक्षं वा, गिलाणकारणेण वा भुज्जो पविसति, एवं पाहुणगातिएसु वि, अद्धाणे वा वितिविकप्पेति आदी मज्झे अवसाणे य, अहवा गेलण्णादिएसु कज्जेसु एसणिज्जे अलब्भमाणे ति परियल्लविकप्पे पुणो तेसु चेव गहेसु दोच्चं वारं पविसति।

गाहा-

एतं तं चेव घरं, अप्पुव्वघरसंकमेण वा मूढो।

पुच्छा पुण सेसेसुं, कहेति कज्जं अपुच्छो वा ॥३१॥

अणाभोगपविट्ठो गिहीण सुणेंताणं भणति- एयं तं चेव घरं ति। अहवा- अपुव्वघरसंकमेण वा पविट्ठो भणति-एयं तं चेव घरं ति। (सेसेसु त्ति) गिलाणादिसु कारणेसु गिहिसु पुच्छितो अपुच्छितो वा 'गिलाणट्ठा दोच्चं पि आगत' त्ति कज्जं कहेति।

गाहा-

भावितकुलाणि पविसति, अदेसकाले वि जेसु से आसि।
सुण्णे पुणरागतेसुं, भद्दमसुण्णं च जं आसि ॥३२॥

अहवा-जे साहुसाहुणीहिं पविसंतेहिं भाविता कुला, तेसिं ण संकातिदोसा भवंति, तेसु दोच्चं पि कारणे पविसति। अदेसकाले वि जेसु कुलेसु आसी, तेसु पुणो देसकालेसु पविसति, जं भिक्खाकाले सुण्णं असिवेसु पुणो पविसति, भद्दकुलं वा असुण्णं जं आसि, तत्थ केणइ कारणेण भिक्खा ण दत्ता, तं पुणो पविसति। नि०चू०३ उ०।

(१४) मात्रकं गृहीत्वा गन्तव्यम्। मात्रकद्वारम् -

अथ मात्रकद्वारं व्याख्यायते-मात्रकमगृहीत्वा निर्गच्छति मासलघु, आचार्यादीनां प्रायोग्यं मात्रकं विना कुत्र गृह्णातु ? यदि न गृह्णति तदा, यदा ते अनागाढमागाढं वा परितापयन्ते, तन्निष्पन्नम्। अथ ते आन्तप्रान्तं समुद्दिशेयुः; ततो ग्लान्यादयो दोषाः। दुर्लभद्रव्यस्य वा घृतादेस्तद्दिवसं लाभो जातः, यदि मात्रकं नास्तीतिकृत्वा तत्तुन गृह्णाति तदा मासलघु, संसक्तभक्तपानं वा मात्रकं विना क्व शोधयतु? यदि मात्रकमभविष्यत् ततस्तत्र शोधयित्वा परिष्ठापयेत्, प्रतिग्रहे परिक्षिपेद्वा, यत एवमतः कर्त्तव्यं मात्रकग्रहणम्। गतं मात्रकद्वारम्। बृ०१ उ०। द्वितीयपदे मात्रकमप्य-नाभोगादिना न गृह्णीयात्। बृ०१ उ०। ध०। औ०।

(१५) यस्य च योगद्वारम् -

यस्य वस्त्रपात्रशैक्षादेर्योगः संबन्धो भविष्यति तदति गृहीष्यामीति यदि न भणति, तदाऽपि मासलघु, वस्त्रपात्रादिकं च ग्रहीतुं न कल्पते। बृ०२ उ०।

(१६) संघाटकं कृत्वा गन्तव्यम्। अथ संघाटकद्वारं भाष्यकृदेव व्याख्यानयति-

एगागियस्स दोसा, साणे इत्थी तहेव पडिणीए।
भिक्खऽविसोहि महव्वय, तम्हा सविइज्जए गमणं ॥

यद्येकाकी पर्यटति तदा मासलघु, एते च दोषाः-स एकाकी यदि भिक्षां शोधयति, तदा पृष्ठतः श्वानः समागत्य तं दशेत्। अथ श्वानमवलोकते, तत एषणां न रक्षति, तमेकाकिनं दृष्ट्वा काचित्प्रोषितभर्तृका, विधवा वा स्त्री, बहिःप्रचालमलभमाना द्वारं पिधाय तं गृह्णीयात्, प्रत्यनीको वा तमेकाकिनं दृष्ट्वा प्रतापनादि कुर्यात्, भिक्षाविशोधिरिति एकाकी यदि त्रिषु गृहेषु भिक्षां दीयमानां गृह्णाति, तत एषणाया अशुद्धिर्भवति। अथैकत्रैव गृहे गृह्णाति, तत इतरयोर्दायकयोः प्रद्वेषो भवेत्। द्वयोस्तु निर्गतयोरेक एकत्र भिक्षामाददान एवोपयोगं ददाति। द्वितीयस्तु शेषगृहद्वयादानीयमानं भिक्षाद्वयमपि सम्यगुपयुङ्क्ते, महाव्रतानि वा एकाकी विराधयेत्। तथाहि-एकाकी निःशङ्कत्वादप्कायमप्यापिवेत् १, कुण्टलवेण्टलादि वा प्रयुञ्जीत २, हिरण्यादिकं वा विक्षिप्तं गुरुकर्मतया स्तेनयेत् ३, अविरतिकां वा रूपवतीं दृष्ट्वा समुदीर्णमोहतया प्रतिसेवेत् ४, भैक्षेण वा समं पतितं सुवर्णादि गृह्णीयादिति। यत एते दोषस्तस्मात् सद्वितीयेन गतनं कर्तव्यम्, संघाटकेनेत्यर्थः।

स पुनरेकाकी कैः कारणैः संघाटिकं न गृह्णातीत्युच्यते-

गारविए काहीए, माइल्ले अलस लुद्ध निद्धम्मे।
दुल्लह अत्ताहिड्डिय, अमणुन्ने वा असंघाडो ॥

गौरविको नाम लब्धिसंपन्नोऽहमित्येवंविधगर्वोपेतः। अत्र चेयं भावना-संघाटके यो रत्नाधिकः सोऽलब्धिमान्, अवमरत्नाधिकस्तु लब्धिसंपन्नः, ततोऽसावग्रणीभूय भिक्षामुत्पादयति, प्रतिश्रयमागतयोश्च तयोः रत्नाधिको मण्डलीस्थविरेण भण्यते ज्येष्ठाय-मुञ्च प्रतिगृहं; ततोऽवमरत्नाधिकः स्वलब्धिगर्वितश्चिन्तयेत-मया स्वलब्धिसाम-र्थ्येनेदं भक्तपानमुत्पादितम्, इदानीमस्य रत्नाधिकः प्रभुरभूत् येनास्य पार्श्वे प्रतिग्रहो याच्यते, इति कषायितः सन्नेकाकित्वं प्रतिपद्यते। (काहीए त्ति) कथाभिश्चरतीति काथिकः कथाकथनैकनिष्ठः, स गोचरं प्रविष्टः कथाः कथयन् द्वितीयेन साधुना गुर्वादिभिर्वा वार्यमाणोऽपि नोपरम्यते, तत एकाकी भवति। मायावान् भद्रकं २ मुक्त्वा शेषमानयन्नेकाकी जायते। अलसश्चिरगोचरचर्याभ्रमणभग्नः सन्नेकाकी पर्यटति। लुब्धस्तु दधिदुग्धादिका विकृतीः खलु भाव्यमानः पृथगेव पर्यटति। निर्द्धर्मा पुनरनेषणीयं जिघृक्षुरेकत्वं प्रतिपद्यते (दुल्लहं ति) दुर्लभभैक्षकाले एकत्वमुपसंपद्यते (अत्ताहिड्डिय त्ति) आत्मार्थिक आत्मलब्धिकः, स स्वलब्धिसामर्थ्येनैवोत्पादितमहं गृह्णामीत्येकाकी भवति। अमनोज्ञो नाम-सर्वेषामप्यनिष्टः, कलहकारकत्वात्, असावप्येकाकी पर्यटतीत्येतैः कारणैरसंघाटः, संघाटको न भवति।

अथैतेषामेकाकित्वप्रत्ययं प्रायश्चित्तमाह-

लघुया य दोसु गुरुओ, अह तइए चउ गुरू य पंचमए।
सेसाण मासलहुओ, जं वा आवज्जई आई जत्थ ॥

द्वयोर्गौरविककाथिकयोश्चत्वारो लघवः, तृतीयकस्या मायावतो गुरुको मासः, पञ्चमस्य लुब्धस्य चत्वारो गुरवः, शेषाणामलसनिर्द्धर्मादीनां मासलघु। यद्वा-संयमविराधनादि यत्राऽऽपद्यते तन्निष्पन्नं तत्र प्रायश्चित्तम्। गतं संघाटकद्वारम्। बृ०१ उ०। तथा संघाटकं विनाऽपि निर्गच्छेत्। कथमिति चेत्? उच्यते यदि दुर्भिक्षे चिरमप्यटित्वा पर्याप्तं लभ्यते ततो द्वावेव पर्यटतो, न पुनरेकाकी। अथ द्वयोरप्येकैव भिक्षा लभ्यते, न च कालः पूर्यते, तत एकोऽपि पर्यटेत्। यदि सर्वेऽपि स्वगूढत्वादात्मलब्धिका भवन्ति, तदा प्रतिषेधितव्यः, अथ कोऽपि प्रियधर्मा मातृस्थानविरहित आत्मलब्धिकत्वं प्रतिपद्यते, ततः सोऽनुज्ञातव्यः। यः पुनरमनोज्ञः स अन्यान्यैः साधुभिः समं संयोज्य प्रेष्यते। यदि सर्वेऽपि नेच्छन्ति, ततः परित्यज्यनीयोऽसौ, अथ स एवैकः कलहकरणस्तस्य दोषः, अपरे निर्लोभत्वादयो बहवो गुणाः, एषणाद्वद्धो वाऽतीव दृष्टः, ततो न परित्यक्तव्य इति। बृ०१ उ०।

(१७) उच्चावचकुलेषु चरेत् सामुदानिकः-

समुआणं चरे भिक्खू, कुलं उच्चावयं सया।
नीयं कुलमइक्कम्म, ऊसढं नाभिधारए ॥२५॥

समुदानं भावभैक्षमाश्रित्य चरेद्भिक्षुः । क्वेत्याह-कुलमुच्चावचं सदा, अगर्हितत्वे सति विभवापेक्षया प्रधानमप्रधानं च । यथा परिपाट्येव चरेत्सदा सर्वकालम् नीचं कुलमतिक्रम्य विभवापेक्षया प्रभूततरलाभार्थमुच्छ्रितम् ऋद्धिमत्कुलं, नाभिधारयेन्न यायात्, अभिष्वङ्गलोकलाघवादिप्रसङ्गादिति सूत्रार्थः।२५॥

किं च-

अदीणो वित्तिमेसिज्जा, न विसीएज्ज पंडिए।

अमुच्छिओ भोयणम्मि, माइन्ने एसणारए ॥२६॥

अदीनो द्रव्यदैन्यमङ्गीकृत्य न म्लानवदनः, वृत्तिर्वर्तनम्, एषयेत् गवेषयेत्, न विषीदेत् अलाभे सति विषादं न कुर्यात्, पण्डितः साधुः, अमूर्च्छितः-अगृद्धो भोजने, लाभे सति मात्राज्ञः आहारमात्रं प्रति, एषणारतः उद्गमोत्पादनैषणापक्षपातीति सूत्रार्थः ॥२६॥

एवं च भावयेत् -

बहुं परघरे अत्थि, विविहं खाइमसाइमं।

न तत्थ पंडिओ कुप्पे, इच्छा दिज्ज परो न वा ॥२७॥

बहु प्रभूतं प्रमाणतः प्रभूतं, परगृहे असंयतादिगृहे अस्ति, विविधमनेकप्रकारं, खाद्यं स्वाद्यम्, एंतद्याशनाद्युपलक्षणम्। न तत्र पण्डितः कुप्येत् सदपि न ददातीति न रोषं कुर्यात्, किं तु इच्छा चेद्दद्यात् परो न वेति, इच्छा परस्य, न तत्रान्यत्किञ्चिदपि चिन्तयेदिति, सामायिकवाधनादिति सूत्रार्थः॥२७॥

एतदेव विशेषेणाह-

सयणासणवत्थं वा, भत्तं पाणं व संजए।

अदिंतस्स न कुप्पेज्जा, पच्चक्खे वि य दिस्सओ ॥२८॥

शयनाशनवस्त्रं चेत्येकवद्भावः, भक्तं पानं वा संयतः, अददतो न कुप्येत् तत्स्वामिनः, प्रत्यक्षेऽपि च दृश्यमाने, शयनासनादाविति सूत्रार्थः॥२८॥ दश०५ अ००२ उ०।

(१८) मार्गे यथा गच्छति-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा० जाव समाणे अंतरा से वप्पाणि वा फलिहाणि वा पागाराणि वा तोरणाणि वा अग्गलाणि वा अग्गलपासगणि वा सति परक्कमे संजयामेव परक्कमेज्जा, णो उज्जुयं गच्छेज्जा, केवली बूया-आयाणमेयं से तत्थ परक्कमेमाणे पयलेज्ज वा, पवडेज्ज वा, से तत्थ पयलमाणे वा पवडमाणे वा तत्थ से काए उच्चारेण वा पासवणेण वा खेलेण वा सिंघाणेण वा वंतेण वा पित्तेण वा पूएण वा सुक्केण वा सोणिएण वा उवलित्ते सिया तहप्पगारं कायं णो अणंतरहियाए पुढवीए णो ससणिद्धाए पुढवीए णो ससरक्खाए पुढवीए णो चित्तमंताए सिलाए णो चित्तमंताए लेलूए कोलावासंसि वा दारुए जीव पतिट्ठिएमंडे सपाणे० जाव ससंताणए णो आमज्जेज्ज वा, णो पमज्जेज्ज वा, संलिहेज्ज वा, णिल्लिहेज्ज वा, उव्वलेज्ज वा, आउट्टेज्ज वा, आयावेज्ज वा, पयावेज्ज वा। से पुव्वामेव अप्पं ससरक्खं तणं वा पत्तं वा कट्ठं वा सक्करं वा जाएज्जा, जाइत्ता से तमायाए एगंतमवक्कमेज्जा २ अहेज्झामठं मिलंसि वा० जाव अण्णयरंसि वा तहप्पगारंसि वापडिलेहिय २ पमज्जिय २ तओ संजयामेव आमज्जेज्ज वा० जाव पयावेज्ज वा। से भिक्खू वा भिक्खुणी वा० जाव पविट्ठे समाणे सेज्जं पुण जाणेज्जा, गोणं वियालं पडिपहे पेहाए, महिसं वियालं पडिपहे पेहाए, एवं मणुस्सं आसं हत्थिं सीहं वग्घं वगं दीवियं अच्छं तरच्छं परासरं सीयालं विरालं सुणयं कोलसुणयं कोकंतियं चेत्ताविल्लंडयं वियालं पडिपहे पेहाए सति परक्कमे संजयामेव परक्कमेज्जा, णो उज्जुयं गच्छेज्जा ॥

(से भिक्खू वेत्यादि) स भिक्षुर्भिक्षार्थं गृहपतिकुलं पाटकं रथ्यां ग्रामादिकं वा प्रविष्टः सन्मार्गं प्रत्युपेक्षेत। तत्र यद्यन्तराऽन्तराले 'से' तस्य भिक्षोर्गच्छत एतानि स्युः । तद्यथा-वप्राः समुन्नता भूभागाः, ग्रामान्तरे वा केदाराः, तथा परिखा वा प्राकारा वा गृहस्य पत्तनस्य वा, तथा तोरणानि वा, तथाऽर्गला वा पाशका यत्रार्गलाग्राणि निक्षिप्यन्ते, एतानि चान्तराले ज्ञात्वा, प्रक्रम्यते अनेनेति प्रक्रमो मार्गस्तस्मिन्नन्यस्मिन् सति संयत एव तेन प्रक्रमेन गच्छेन् नैवर्जुना गच्छेत्। किमिति? यतः-केवली सर्वज्ञो ब्रूयात्-आदानं कर्मादानम्, एतत् संयमात्मविराधना, अतस्तामेव दर्शयति-स भिक्षुस्तत्र तस्मिन् वप्रादियुक्ते मार्गे पराक्रममाणो गच्छन् विषमत्वान्मार्गस्य कदाचित्प्रचलेत्कम्पेत, प्रस्खलेद्वा, तथा प्रपतेद्वा, स तत्र प्रस्खलन् प्रपतन् वा षण्णां कायानामन्यतमं विराधयेत्। तथा तत्र 'से' तस्य काय उच्चारेण वा प्रश्रवणेन वा श्लेष्मणा वा सिङ्घाणकेन वा वान्तेन वा पित्तेन वा पूयेन वा शुक्रेण वा शोणितेन वा उपलिप्तः स्यादित्यत एवं-भूतेन पथा न गन्तव्यम्। अथ मार्गान्तराभावात् तेनैव गतः प्रस्खलितः सन् कर्दमाद्युलिप्तकायो नैवं कुर्यादिति दर्शयति-स यदि तथाप्रकारमशुचिकर्दमाद्युपलिप्तकायमनन्तर्हितयाऽ व्यवहितया पृथिव्या, तथा सस्निग्धयाऽऽर्द्रया, एवं सरजस्कया वा, तथा चित्तवता, लेलुना पृथिवीशकलेन, एवं कोलाघुणास्तदावासभूते दारुणि, जीवप्रतिष्ठिते भाण्डे सप्राणिनि, यावत्ससन्तानके, नो नैव सकृदामृज्याद् नाऽपि पुनः पुनः प्रमृज्यात्, कर्दमादि शोधयेदित्यर्थः। तथा तत्रस्थ एव 'न संलिहेज्जा' न संलिखेत्, नोद्वर्तनादिनोद्वलेत्, नापि तदेवेषच्छुष्कमुद्वर्तयेत्, नाऽपि तत्रस्थ एव सकृदातापयेत्, पुनः पुनर्वा प्रतापयेत्। यत् कुर्यात् तदाह-स भिक्षुः पूर्वमेव तदनन्तरमेव अल्पं सरजस्कं तृणादि याचेत, तेन चैकान्तस्थण्डिले स्थितः सन् गात्रं प्रमृज्याच्छोषयेत्, शेषं सुगममिति । किं च-''से भिक्खू'' इत्यादि। स भिक्षुः भिक्षार्थं प्रविष्टः सन् पथ्युपयोगं कुर्यात्, तत्र च यदि पुनरेवं जानीयात्, यथाऽत्र किञ्चिद्रवादिकमास्ते इति तन्मार्गं रुन्धानं गां वलीवर्दं व्यालं दृप्तं दुष्टमित्यर्थः, पन्थाः प्रतिपथः तस्मिन् स्थितं प्रत्युपेक्ष्य, शेषं सुगमं, यावत् सति पराक्रमे मार्गान्तरे ऋजुना पथा आत्मविराधनासंभवात् न गच्छेत्, नवरं (वग त्ति) वृक्रं, द्वीपिनं चित्रकम् (अच्छंति) ऋक्षं (परासरं त्ति) सरभं (कोलसुणयं) महाशूकरं (कोकतिय त्ति) सृगालाकृति। सोमटको रात्रौ कोको इत्येवं रारटीति, (चेत्ताविल्लंडयं ति) आरण्यो जीवविशेषः, तमिति। आचा०२ श्रु०१ अ०५ उ०।

(१९) मार्गे स्थाणुकण्टकादि-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा० जाव समाणे अंतरा से ओवाओ

वा खाणुं वा कंटए वा घसी वा भिलुगा वा विसमे वा विज्जले वा परियावज्जेज्जा सति परक्कमे संजयामेव परक्कमेज्जा, णो उज्जुयं गच्छेज्जा ॥

''से भिक्खू वेत्यादि''। स भिक्षुर्भिक्षार्थं प्रविष्टः सन्मार्गोपयोगं दद्यात्तत्रान्तराले यद्येतत्पर्यापद्येत् स्यात् तद्यथा-अवपातो गर्तः, स्थाणुर्वा, कण्टको वा, 'घसी नामस्थलादधस्तादवतरणम्, (भिलुगं त्ति) स्फुटितकृष्णभूराजिः, विषम उन्नतं 'विज्जलं'' कर्दमः, तत्राऽऽत्मसंयमविराधनासंभवात्। पराक्रमे मार्गान्तरे सति ऋजुना पथा न गच्छेदिति। अचा०२ श्रु०१ अ०५ उ०। पं०भा०। पं००चू०।

गृहपतिद्वारे कण्टकादि-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा गाहावतिकुलस्स दुवारवाहं कंटगबोंदियाए पडिपिहितं पेहाए तेसिं पुव्वामेव उवग्गहं अणणुण्णवितं अपडिलिहियए अपमज्जिय णो अवगुणेज्ज वा, पविसेज्ज वा, णिक्खमेज्ज वा, तेसिं पुव्वमेव उवग्गहं अणुण्णविय २ पडिलेहिय २ पमज्जिय २ तओ संजयामेव अवगुणेज्ज वा, पविसेज्ज वा, णिक्खमेज्ज वा ॥

''से भिक्खू वेत्यादि'' स भिक्षुर्भिक्षार्थं प्रविष्टः सन् गृहपतिकुलस्य (दुवारवाहं ति) द्वारभागः, तं कण्टकशाखया पिहितं प्रेक्ष्य येषां तद् गृहं तेषामवग्रहं पूर्वमेवाननुज्ञाप्यायाचित्वा, तथा प्रत्युपेक्ष्य चक्षुषा अपमृज्य च रजोहरणादिना (णोअवगुणेज्ज त्ति) नैवोद्घाटयेद्, उद्घाट्य च न प्रविशेत्, नापि निष्क्रामेत्, दोषदर्शनात्। तथाहि - गृहपतिः प्रद्वेषं गच्छेत्, नष्टे च वस्तुनि साधुविषयाशङ्कोत्पद्येत् उद्घाटद्वारे चान्यत् श्वादि प्रविशेदित्येवं च संयमात्मविराधने । सति कारणे अपवादमाह-स भिक्षुर्येषां तद् गृहं तेषां संबन्धिनमवग्रहमनुज्ञाप्य याचित्वा प्रत्युपेक्ष्य प्रमृज्य च गृहोद्घाटनादि कुर्यादिति। एतदुक्तं भवति-स्वतो द्वारमुद्घाट्य न प्रवेष्टव्यमेव, यदि पुनर्ग्लानाचार्यादिप्रायोग्यं तत्र लभ्यते, वैद्यो वा तत्रास्ते, दुर्लभं वा द्रव्यं तत्र भविष्यति, अवमौदर्ये सति एभिः कारणैरुपस्थितैः स्थगितद्वारि व्यवस्थितः सन् शब्दं कुर्यात्, स्वयं वा यथाविध्युद्घाट्य प्रवेष्टव्यमिति। आचा०२ श्रु०१ अ०५ उ०।

तत्र प्रविष्टस्य विधिं दर्शयितुमाह-

(२०) षट्कायायतना। अत्रैव विशेषतः

पृथिवीकाययतनामाह-

इंगालछारिए रासिं, तुसरासिं च गोमयं ।

ससरक्खेहिँ पाएहिं संजओ तं नऽइक्कमे ॥७॥

अङ्गाराणामयमाङ्गारः, तमाङ्गारं राशिम् । एवं क्षारराशिं, तुषराशिं, गोयमराशिं च । राशिशब्द प्रत्येकमभिसंबध्यते । सरजष्काभ्यां पद्भ्यां सचित्तपृथिवीरजोगुण्डिताभ्यां पादाभ्यां, संयतः साधुः, तमनन्तरोदितं राशिं, नातिक्रमेत् मा भूत्पृथिवीरजोविराधनेति सूत्रार्थः॥७॥

अत्रैवाप्कायादियतनामाह-

न चरेज्ज वासे वासंते, महियाए पडंतिए ।

महावाए व वायंते, तिरिच्छसंपाइमेसु ॥८॥

न चरेद्वर्षे वर्षति भिक्षार्थं प्रविष्टो, वर्षणे तु प्रच्छन्ने तिष्ठेत्। तथा मिहिकायां वा पतन्त्यां, सा च प्रायो गर्भमासेषु पवति । महावाते वा वाति सति, तदुत्खातरजोविराधनादोषात् । तिर्यक्संपतन्तीति तिर्यक्संपाताः पतङ्गादयः, तेषु वा सत्सु क्वचिदशनिरूपेण न चरेदितिसूत्रार्थः॥८॥ उक्ता प्रथमव्रतयतना।

साम्प्रतं चतुर्थव्रतयतनोच्यते-

न चरेज्ज वेससोमंते, वंभचेरवसाणुए ।

वंभयारिस्स दंतस्स, हुज्जा तत्थ विसुत्तिया ॥९॥

न चरेद्वेश्यासामन्ते न गच्छेद्गणिकागृहसमीपे, किंविशिष्ट इति ? आह-ब्रह्मचर्यवशानयने । ब्रह्मचर्यं मैथुनविरतिरूपं, वशमानयत्यात्मायत्तं करोति दर्शनाक्षेपादिनेति ब्रह्मचर्यवशानयनं तस्मिन् । दोषमाह-ब्रह्मचारिणः साधोर्दान्तस्य इन्द्रियनोइन्द्रिय-दमाभ्यां भवेत्तत्र वेश्यासामन्ते विश्रोतसिका-तद्रूपसंदर्शनस्मरणापध्यानकच्चबरनिरोधतः ज्ञानश्रद्धाजलोज्झनेन संयमस्य शोषफला चित्तविक्रियेति सूत्रार्थः। एष सकृच्चरणदोषो वेश्यासामन्तसङ्गत उक्तः ॥९॥

सांप्रतमिहान्यत्र वाऽसकृच्चरणदोषमाह-

अणायणे चरंतस्स, संसग्गीए अभिक्खणं ।

हुज्जा वयाणं पीला ऊ, सामन्नम्मि य संसओ ॥१०॥

अनायतने अस्थाने वेश्यासामन्तादौ चरतो गच्छतः संसर्गेण संबन्धेन अभीक्ष्णं पुनः २, किमिति ? आह-भवेद्व्रतानां प्राणातिपातविरत्यादीनां पीडा तदाक्षिप्तचेतसो भावविराधना, श्रामण्ये श्रमणभावे च द्रव्यतो रजोहरणादिसंधारणरूपे भूयो भावव्रतप्रधानहेतौ संशयः, कदाचिदनिष्क्रामत्येवेत्यर्थः । तथा च वृद्धव्याख्या-''वेसादिगयभावस्य मेहुणं पीमिज्जई, अणुवओगेणं एसणाकरणे हिंसा, पडुप्पायणे अन्नपुच्छणअवलंवणा-ऽसच्चवयणं, अणणुण्णा य वेसाइदंसणे अदत्तादाणं, ममत्तकरणे परिग्गहो, एवं सव्ववयपीडा दव्वसामन्ने पुण संसयो उण्णिक्खमणेण त्ति'' सूत्रार्थः॥१०॥

निगमयन्नाह-

तम्हा एयं वियाणित्ता, दोसं दुग्गइवड्ढणं ।

वज्जए वेससामंतं, मुणी एगंतमस्सिए ॥११॥

यस्मादेवं तस्मादेतत् विज्ञाय दोषमनन्तरोदितं दुर्गतिवर्द्धनं वर्जयेद्वेश्यासामन्तं मुनिरेकान्तं मोक्षमार्गमाश्रित इति सूत्रार्थः॥११॥ आह-प्रथमव्रतविराधनाऽनन्तरं चतुर्थव्रतविराधनोपन्यासः किमर्थम्? उच्यते-प्राधान्यख्यापनार्थम्, अन्यव्रतविराधना हेतुत्वेन प्राधान्यं, तच्च लेशतो दर्शितमेवेति। अत्रैव विशेषमाह-

साणं च सूइयं गाविं, दित्तं गोणं हयं गयं ।

संडिब्भं कलहं जुद्धं, दूरओ परिवज्जए ॥१२॥

श्वानं लोकप्रतीतं, सूतां गाम् अभिनवप्रसूतामित्यर्थः दृप्तं च दर्पितम्, किमिति ? आह-''गोणं हयं गजं'' गोणो वलीवर्दः, हयोऽश्वो, गजो हस्ती। तथा किमिति? आह-(संडिब्भं) बालक्रीडास्थानं, कलहं वाक्प्रतिबद्धं, युद्धं खड्गादिभिः, एमादूरतो दूरेण परिवर्जयेत्, आत्मसंयमविराधनासंभवात्। श्वसूतगोप्रभृतिभ्य आत्मविराधना, डिम्भस्थाने वन्दनाद्यागमनपतन

भण्डनप्रलुठनादिना संयमविराधना, सर्वत्र चाऽऽत्मपात्रभेदादिनोभय-विराधनेति सूत्रार्थः॥१२॥

अत्रैव विधिमाह-

अणुन्नए नावणए, अप्पहिट्ठे अणाउले।
इंदियाइं जहाभागं, दमइत्ता मुणी चरे॥१३॥

अनुन्नमो-द्रव्यतो भावतश्च। द्रव्यतो-नाकाशदर्शी, भावतो-न जात्याद्यभिमानवान्। नावनतो द्रव्यभावाभ्यामेव, द्रव्यानवनतोऽ-नीचकायः, भावानवनतः-अलब्ध्यादिना अदीनः। अप्रहृष्टः अहसन्, अनाकुलः क्रोधादिरहितः, इन्द्रियाणि स्पर्शनादीनि, यथाभागं यथाविषयं, दमयित्वा इष्टानिष्टेषु स्पर्शादिषु रागद्वेषरहितो मुनिः साधुश्चरेद्व्रच्छेत्, विपर्यये प्रभूतदोषप्रसङ्गात्। तथाहि-द्रव्योन्नतो लोकहास्यः, भावोन्नत ईर्यां न रक्षति। द्रव्यावनतः वक इति संभाव्यते, भावावनतः क्षुद्रसत्त्व इति, प्रहृष्टो योषिद्दर्शनाद्रक्त इति लक्ष्यते,, अदान्तः प्रव्रज्याऽनर्ह इति सूत्रार्थः॥१३॥

किं च-

दवदवस्स न गच्छेज्जा, भासमाणो य गोयरे।
हसंतो नाभिगच्छेज्जा, कुलं उच्चावयं सया॥१४॥

द्रुतं द्रुतं, त्वारितमित्यर्थः। भाषमाणो वा गोचरे न गच्छेत्। तथा हसन्नाभिगच्छेत्, कुलमुच्चावचं सदा। उच्चं द्रव्यभावभेदाद् द्विधा-द्रव्योच्चं धवलगृहवासि, भावोच्चं जात्यादियुक्तम्। एवमवचमपि द्रव्यतः कुटीरकवासि ,भावतो जात्यादिहीनमिति। दोषा उभयविराधना-लोकोपघातादय इति सूत्रार्थः॥१४॥

अत्रैव विधिमाह-

आलोअं थिग्गलं दारं, संधिं दगभवणाणि य।
चरंतो न विनिज्झाए, संकट्ठाणं विवज्जए॥१५॥

अवलोकं निर्यूहकादिरूपं, 'थिग्गलं' चितं द्वारादि, सन्धिश्चितं क्षेत्रम्, दकभवनानि पानीयगृहाणि, चरन् भिक्षार्थम्, न विनिध्यायेत् न विशेषेण पश्येत्, शङ्कास्थानमेतदवालोकादि, अतो विवर्जयेत्, तथा च नष्टादौ तत्राशङ्कोपजायत इति सूत्रार्थः॥१५॥

रन्नो गिहवईणं च, रहस्साऽऽरक्खियाण य।
संकिलेसकरं ठाणं, दूरओ परिवज्जए॥१६॥

राज्ञश्चक्रवर्त्यादेः, गृहपतीनां श्रेष्ठिप्रभृतीनां, ''रहस्सा ठाणं'' इति योगः। आरक्षकाणां च दण्डनायकादीनां, रहःस्थानं गुह्यापवरकमन्त्रगृहादि संक्लेशकरमसदिच्छाप्रवृत्त्या मन्त्रभेदे वाऽऽकर्षणादिनेति दूरतः परिवर्जयेदिति सूत्रार्थः॥१६॥ दश०५ अ०१ उ०।

(२१) वृष्टिकाये निपतति-

वासावासं पज्जोसवियस्स नो कप्पइ पाणिपडिग्गहियस्स भिक्खुस्स कणगफुसियमित्तमवि वुट्ठिकायंसि निवयमाणंसि० जाव गाहावइकुलं पविसित्तए वा, निक्खमित्तए वा॥२८॥

''वासावासं'' इत्यादितः ''पविसित्तए त्ति'' पर्यन्तम्। तत्र (पाणिपडिग्गहिअस्स त्ति) पाणिपात्रस्य जिनकल्पिकादेः भिक्षोः, (कणगफुसिअमित्तमवि) फुसारमात्रम्, एतावत्यपि वृष्टिकाये निपतति सति गोचरचर्यायां गन्तुं न कल्पते॥२८॥

वासावासं पज्जोसवियस्स पाणिपडिग्गहियस्स भिक्खुस्स नो कप्पइ अगिहिंसि पिंडवायं पडिगाहित्ता पज्जोसवित्तए, पज्जोसवेमाणस्स सहसा वुट्ठिकाए निवइज्जा देसं भुच्चा देसमादाय से पाणिणा पाणिं परिपिहित्ता उरंसि वा णं निलिज्जिज्जा, कक्खंसि वा ण समाहमिज्जा, अहाछन्नाणि लेणाणि वा उवागच्छिज्जा, रुक्खमलाणि वा उवागच्छिज्जा जहा से तत्थ पाणिंसि दए वा दगरए वा दगफुसिया वा णो परियावज्जइ॥२९॥

''वासावासं'' इत्यादितः ''परियावज्जइ त्ति'' यावत्। तत्र जिनक-ल्पिकादेः पाणिपात्रस्य साधोः, (पिंडवायं ति) पिण्डपातं भिक्षां प्रतिगृह्य (अगिहिंसि त्ति) अनाच्छादिते आकाशे (पज्जोसवित्तए त्ति) पर्युषितुं आहारयितुं न कल्पते (पज्जोसवेमाणस्स त्ति) कदाचित् आकाशे भुञ्जानस्य देशं यदि सहसा अर्द्धभुक्तेऽपि वृष्टिपातः स्यात्तदा पिण्डपातस्य भुक्त्वा देशं चादाय पाणिमाहारैकदेशसहितं हस्तं पाणिना द्वितीयहस्तेन परिपिधाय आच्छाद्य उरसि निलीयेत निक्षिपेद् वा। तं साहारं पाणिं कक्षायां वा समाहरेत् अन्तर्हितं कुर्यात्, एवं च कृत्वा यथाछन्नानि गृहिभिः स्वनिमित्तमाच्छादितानि लयनानि गृहाणि उपागच्छेत्। वृक्षमूलानि वा यथा (से) तस्य पाणौ दकादीनि न पर्यापद्यन्ते, न विराध्यन्ते, न पतन्ति वा। तत्रदकं बहवो विन्दयो, दकरजो विन्दुमात्रम् (दगफुसिआ) फुसारम्, अवश्याय इत्यर्थः। यद्यपि जिनकल्पिकादेर्दशोनदशपूर्वधरत्वेन प्रागेव वर्षोपयोगो भवति, तथा चार्द्धभुक्ते गमनं न संभवति, तथाऽपि छद्मस्थत्वात् कदाचिदनुपयोगोऽपि भवति॥२९॥

उक्तमेवार्थं निगमयन्नाह-

वासावासं पज्जोसवियस्स पाणिपडिग्गहस्स भिक्खुस्स जं किंचि कणफुसियमित्तं पि निवडेति, नो से कप्पइ गाहावइकुलं भत्ताए वा पाणाए निक्खमित्तए वा, पविसित्तए वा॥३०॥

''वासावासं पज्जोसवियाणं'' इत्यादितः ''पविसित्तए त्ति'' यावत्। तत्र (कणगफुसियमित्तं पि त्ति) कणो लेशः, तन्मात्रकं पानीयं कणकं, तस्य ''फुसिआ'' फुसारमात्रम्, तस्मिन्नपि निपतति जिनकल्पिका-देर्भिक्षायै गन्तुं न कल्पते॥३०॥ उक्तः पाणिपात्रविधिः।

अथ पात्रधारिणो विधिमाह-

वासावासं पज्जोसवियस्स पडिग्गहधारिस्स भिक्खुस्स नो कप्पइ वग्घारिअवुट्ठिकायंसि गाहावइकुलं भत्ताए वा पाणाए वा निक्खमित्तए वा, पविसित्तए वा, कप्पइ से अप्पवुट्ठिकायंसि संतरुत्तरंसि गाहावइकुलं भत्ताए वा पाणाए वा निक्खमित्तए वा, पाविसित्तए वा॥३१॥

''वासावासं'' इत्यादितः ''पविसित्तए त्ति'' यावत्। तत्र

(पडिग्गहधारिस्स त्ति) पात्रधारिणः स्थविरकल्पिकादेः (वग्घारियवुट्ठि-कायंसि त्ति) अविच्छिन्नधारा वृष्टिः, यस्यां वर्षाकल्पो तीव्रं वा श्रवति, कल्पं वा भित्त्वाऽन्तःकायं आर्द्रयति या वृष्टिस्तत्र विहर्त्तुं न कल्पते। अपवादे तु तत्रापि तर्पास्वनः क्षुदसहाश्च भिक्षार्थं पूर्वपूर्वाभावे और्णिकेन और्ष्ट्रिकेण तार्णेन सौत्रेण वा कल्पेत, तथा तालपत्रेण पालाशच्छत्रेण वा प्रावृता विहरन्त्यपि। (संतरुत्तरंसि त्ति) अन्तरः सौत्रकल्पः, उत्तर और्णिकः, ताभ्यां प्रावृतस्याल्पवृष्टौ गन्तुं कल्पते॥३१॥

वासावासं पज्जोसवियस्स निग्गंथस्स निग्गंथीए वा गाहावइकुलं पिंडवायपडिआए अणुपविट्ठस्स निगिज्झिय निगिज्झिय वुट्ठिकाए निवइज्जा, कप्पइ से अहे आरामंसि वा अहे उवस्सयंसि वा अहे वियडगिहंसि वा अहे रुक्खमूलंसि वा उवागच्छित्तए॥३२॥

''वासावासं'' इत्यादितः ''उवागच्छित्तए त्ति'' यावत्। तत्र ''पिंडवा-यपडिआए त्ति'' यावत्। तत्र (पिंडवायपडिआए त्ति) पिण्डपातो भिक्षालाभः, तत्प्रतिज्ञया अत्राहं लप्स्ये इति धि, या अनुप्रविष्टस्य गोचरचर्यायां गतस्य साधोः [निगिज्झिय २ त्ति] स्थित्वा २, वर्षति घनः तदा (अहे आरामंसि त्ति) आरामस्य अधः (अहे उवस्सयंसि व त्ति) साम्भोगिकानाम् इतरेषां वा उपाश्रयस्याधः, तदभावे [अहे वियडगिहंसि त्ति] विकटगृहं मण्डपिका, यत्र ग्राम्यपर्षदुपविशति, तस्याधः [अहे रुक्खमूलंसि व त्ति] वृक्षमूलं वा निर्गलकरीरादिमूलं तस्य वा अधः (उवागच्छित्तए त्ति) तत्रोपागन्तुं कल्पते॥३२॥ कल्प०९ क्षण।

वासावासं पज्जोसवियस्स निग्गंथस्स निग्गंथीए वा गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए अणुपविट्ठस्स निगिज्झिय २ वुट्ठि काए निवइज्जा, कप्पइ से अहे आरामंसि वा० जाव रुक्खमूलंसि वा उवागच्छित्तए, नो से कप्पइ पुव्वगहिएणं भत्तपाणेणं वेलं उवायणावित्तए, कप्पइ से पुव्वामेव वियडगं भुच्चा पडिग्गहगं संलिहिय २ संपमज्जिय २ एगओ भंडगं कट्टु सावसेसे सूरिए जेणेव उवस्सए तेणेव उवागच्छित्तए नो से कप्पइ तं रयणिं उवायणावित्तए॥ ३६॥

''वासावासं'' इत्यादितः ''उवायणावित्तए त्ति'' पर्यन्तम्। तत्र (वेलं उवायणावित्तए त्ति) वेलामतिक्रमयितुं न कल्पते। तर्हि किंकुर्यादिति? आह-आरामादिस्थितस्य साधोः यदि वर्षं नोपरमति तदा विकटम्। उद्गमादिशुद्धमशनादि भुक्त्वा पीत्वा च (एगओ भंडगं कट्टु त्ति) एकत्रायतं सुबद्धं भाण्डकं पात्राद्युपकरणं कृत्वा वपुषा सह प्रावृत्य वर्षत्यपि मेघे (सावसेसे सूरिए त्ति) सावशेषे अनस्तामिते सूर्ये (जेणेव उवस्सए त्ति) यत्रोपाश्रयस्तत्रागन्तुं कल्पते, परं न कल्पते तां रात्रिं वसतेर्बहिः (उवायणावित्तए) एकाकिनो हि बहिर्वसतः साधोः स्वपरसमुत्था बहवो दोषाः संभवेयुः, साधवो वा वसतिस्था अधृतिं कुर्युरिति॥३६॥

वासावासं पज्जोसवियस्स निग्गंथस्स निग्गंथीए वा गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए अणुपविट्ठस्स निगिज्झिय २ वुट्ठि काए निवइज्जा, कप्पइ से अहे आरामंसि वा०जाव उवागच्छित्तए॥३७॥

(वासावासं पज्जोसवियस्स) चतुर्मासिकं स्थितस्य (निग्गंथस्स) साधोः (निग्गंथीए) साध्व्याश्च (गाहावइकुलं) गृहस्थगृहे (पिंडवायपडियाए) भिक्षाग्रहणार्थम् (अधुप्पावट्ठस्स) अनुप्रविष्टस्य (निगिज्झिय-निगिज्झिय)स्थित्वा स्थित्वा (वुट्ठिकाए) वृष्टिकायः (निवइज्जा) निपतेत, तदा (कप्पइ) कल्पते (से) तस्य (आरामंसि वा) आरामस्याधो वा (जाव उवागच्छित्तए) यावत् उपागन्तुम्॥३७॥

तत्थ नो से कप्पइ एगस्स निग्गंथस्स एगाए णिग्गंथीए एगओ चिट्ठित्तए १, तत्थ नो से कप्पइ एगस्स निग्गंथस्स दुण्हं निग्गंथीणं एगओ चिट्ठित्तए २, तत्थ नो कप्पइ दुण्हं निग्गंथाणं एगाए निग्गंथीए एगओ चिट्ठित्तए ३, तत्थ नो कप्पइ दुण्हं णिग्गंथाणं दुण्हं निग्गंथीणं एगओ चिट्ठित्तए ४, अत्थि य इत्थ केई पंचमे खुड्डए वा खुड्डिआ वा अन्नेसिं वा संलोए सपडिदुवारे एवं ण्हं कप्पइ एगओ चिट्ठित्तए॥३८॥

अथ स्थित्वा २ वर्षे पतति यदि आरामादौ साधुस्तिष्ठति तदा केन विधिनेति? आह-''तत्थ नो से कप्पइ'' इत्यादितः ''एगओ चिट्ठित्तए त्ति'' यावत्। शब्दार्थः सुगमः। भावार्थस्तु-न कल्पते एवम् एकस्य साधोर्द्वाभ्यां साध्वीभ्यां सह, द्वयोः साध्वोरेकया साध्व्या सह, द्वयोः साध्वोर्द्वाभ्यां साध्वीभ्यां सह स्थातुं न कल्पते। यदि चात्र पञ्चमः कोऽपि क्षुल्लकः क्षुल्लिका वा साक्षी स्यात्तदा कल्पते। अथवा-अन्येषां ध्रुवकर्मिकलोहकारादीनां वर्षत्यप्यमुक्तस्वकर्मणां संलोके तत्रापि (सपडिदुवारे त्ति) सप्रतिद्वारे सर्वतो द्वारे सर्वगृहाणां वा द्वारे [एवं ण्हंति] अत्र 'ण्हमिति' वाक्यालंकारे, तत एवं पञ्चमं विनाऽपि स्थातुं कल्पते॥३८॥

वासावासं पज्जोसवियस्स निग्गंथस्स गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए० जाव उवागच्छित्तए, तत्थ नो कप्पइ एगस्स निग्गंथस्स एगाए अगारीए एगओ चिट्ठित्तए, एवं चउभंगी, अत्थि णं इत्थ केई पंचमे थेरे वा थेरिया वा अन्नेसिं वा संलोए सपडिदुवारे एवं कप्पइ एगयओ चिट्ठित्तए-एवं चेव निग्गंथीए अगारस्स य भाणियव्वं॥३९॥

चतुर्मासकं स्थितस्य साधोः गृहस्थगृहे भिक्षाग्रहणार्थं यावत् उपागन्तुम्, तत्र नो कल्पते एकस्य साधोः एकस्याः श्राविकाया एकत्र स्थातुम् एवं चत्वारो भङ्गाः। यदि स्यात् अत्र कोऽपि पञ्चमः स्थविरः स्थविरा वा साक्षी भवति, तदा स्थातुं कल्पते, अन्येषां वा दृष्टिविषयः बहुद्वारसंहितं वा स्थानम्, एवं कल्पते एकत्र स्थातुम्, एवमेव साध्व्याः गृहस्थस्य च चतुर्भङ्गी वाच्या। तथा एकाकित्वं च साधोः साङ्घाटिके उपोषितेऽसुखिते वा कारणाद्भवति, अन्यथा हि उत्सर्गतस्तु साधुरात्मना द्वितीयः, साध्व्यस्तु त्र्यादयो विहरन्ति॥३९॥ कल्प०९ क्षण।

सुत्ते जहा निबंधो, वग्घारिएँ भत्तपाणमग्गहणं।
नाणट्ठि तवस्सी अण-हियासि वग्घारिए गहणं ॥५८४॥

''णो कप्पति णिग्गंथाणं वा णिग्गंथीणं वा वग्घारियवुट्ठिकायंसि गाहावतिकुलं वा भत्ताए वा पाणाए वा णिक्खमित्तए वा, पविसित्तए वा ॥'' वग्घारियं णाम तिण्णि-वासं पडति, जत्थ वा णिच्चं वासकप्पो वा गलति, जत्थ वा वासकप्पं भेत्तूणं अंतो काउयं उल्लेति, एयं वग्घारियवासं वरिसेण कप्पति भत्तपाणं घेत्तुं, सुत्ते जहा णिवंधो, तहा न कल्पतीत्यर्थः। अवग्घारिए पुण कप्पति भत्तपाणग्गहणं काउं ''कप्पति से अप्पवुट्ठिकायंसि संतरुत्तरंसि'' संतरमिति अंतरकप्पो, उत्तरमिति वासाकप्पकंवली, इमेहिं कारणेहिं वितियपदे वग्घारियवृट्ठिकाए वि भत्तपाणग्गहणं कज्जति-(णाणट्ठी पच्छद्धं) 'णाणिट्ठि त्ति' जदा कोपि साहू अज्झयणं, सुत्तं, खंधं अंगं वा अहिज्जति, वग्घारियवास पडति, ताहे सो वग्घारिए वि हिंडति। अहवा-छुहालू अणहियासो वग्घारिं हिडइ , एते तिण्णि वग्घारिते संतरुत्तरा हिंडंति, संतरुत्तरस्य व्याख्या पूर्ववत्। अहवा-इह संतरं जहासत्तीए चउत्थमादी करेंति, उत्तरमिति बालसुत्तादिएण अडंति च।

संजमखेत्तचुयाणं, णाणट्ठि तवस्सि अणहियासी य।
आसज्ज भिक्खकालं, उसूरकरणेण जतियव्वं ॥ नि०चू०१० उ०।

(२२) प्रवेशः-

अइभूमिं न गच्छेज्जा, गोयरग्गगओ मुणी।
कुलस्स भूमिं जाणित्ता, मियं भूमिं परक्कमे ॥२४॥

अतिभूमिं न गच्छेत् अननुज्ञातां गृहस्थैः, यत्र अन्ये भिक्षाचरा न यान्तीत्यर्थः। गोचराग्रगतो मुनिः। अनेनान्यदा तद्गमनासंभवमाह-किं तर्हि? कुलस्य भूमिमुत्तमादिरूपामवस्थां ज्ञात्वा मितां भूमिं तैरनुज्ञातां पराक्रमेत्, यत्रैषामप्रीतिर्नोपजायत इति सूत्रार्थः॥२४॥

विधिशेषमाह-

तत्थेव पडिलेहिज्जा, भूमिभागं वियक्खणो।
सिणाणस्स य वच्चस्स संलोगं परिवज्जए ॥२५॥

तत्रैव तस्यामेव मितायां भूमौ प्रत्युपेक्षेत सूत्रोक्तेन विधिना भूमिभागमुचितं भूमिदेशं विचक्षणो विद्वान्; अनेन केवलागीतार्थस्य भिक्षाटनप्रतिषेधमाह-तत्र च तिष्ठन् स्नानस्य, तथा वर्चसः विष्ठायाः संलोकं परिवर्जयेत्। एतदुक्तं भवति-स्नानभूमिकायिकादि-भूमिसंदर्शनं परिहरेत्; प्रवचनलाघवप्रसङ्गात्, अप्रावृतस्त्रीदर्शनाच्च रागादिभावादिति सूत्रार्थः॥२५॥

किञ्च-

दगमट्टियआयाणे, बीयाणि हरियाणि य।
परिवज्जंतो चिट्ठेज्जा, सव्विंदिअसमाहिए ॥२६॥

उदकमृत्तिकादानम्, आदीयतेऽनेनेत्यादानो मार्गः। उदकमृत्तिका-नयनमार्गमित्यर्थः। बीजानि शाल्यादीनि च हरितानि दूर्वादीनि, चशब्दादन्यानि च सचेतनानि, परिवर्जयँस्तिष्ठेदनन्तरोदिते देशे सर्वेन्द्रियसमाहितः शब्दादिभिरनाक्षिप्तचित्त इति सूत्रार्थः। दश०५ अ० उ०।

(२३) काकादीन् संनिपतितान् प्रेक्ष्य न गच्छेत्-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा० जाव समाणे सेज्जं पुण जाणेज्जा, रसेसिणो बहवे पाणा गासेसिणाए संथडे संणिवतिए पेहाए। तं जहा-कुक्कुडजातियं वा सूयरजातियं वा अग्गपिंडंसि वा वायसा संथडा संण्णिवडिया पेहाए सइ परक्कमे संजयामेव परिक्कमेज्जा, णो उज्जुयं गच्छेज्जा ॥

स भिक्षुर्भिक्षार्थं प्रविष्टः सन् यदि पुनरेवं विजानीयात् तद्यथा-बहवः प्राणाः प्राणिनो रस्यत आस्वाद्यत इति रसः, तमेष्टुं शीलमेषां ते रसैषिणः, रसान्वेषिण इत्यर्थः। ते तदर्थिनः सन्तः पश्चात् ग्रासार्थं क्वचिद्रसादौ संनिपतिताः, तांश्चाहारार्थं संस्कृतान् घनान् प्रेक्ष्य ततस्तदभिमुखं न गच्छेदिति संबन्धः, तांश्च प्राणिनः स्वनामग्राहमाह-कुक्कुटजातिकं वेत्यनेन च पक्षिजातिरुद्दिष्टा, शूकरजातिकमित्यनेन चतुष्पदजातिरिति। अग्रपिण्डे वा काकपिण्ड्यां वा बहिःक्षिप्तायां वायसाः संनिपतिता भवेयुः, ताँश्च दृष्ट्वाऽग्रतस्ततः सति पराक्रमेऽन्यस्मिन्मार्गान्तरे संयतः सम्यगुपयुक्तः, संयतामन्त्रणं वा, ऋजु तदभिमुखं न गच्छेत्। यतः तत्र गच्छतोऽन्तरायं भवति, तेषां चान्यत्र संनिपतितानां वधोऽपि स्यादिति। आचा०२ श्रु०१ अ०६ उ०।

(२४) साम्प्रतं गृहपतिकुलं प्रविष्टस्य साधोर्विधिमाह-

गां दुह्यमानां दृष्ट्वा न गच्छेत् -

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा गाहावइ० जाव पविसितुकामे सेज्जं पुण जाणेज्जा-खीरिणिआओ गावीओ खीरिज्जमाणीओ पेहाए असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा उवक्खडिज्जमाणं पेहाए पुरा अप्पजूहिए सेवं णच्चा णो गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए णिक्खमेज्ज वा, पविसेज्ज वा।

स भिक्षुर्गृहपतिकुलं प्रवेष्टुकामः सन्नथ पुनरेवं विजानीयात्। यथा-क्षीरिण्यो गावोऽत्र दुह्यन्ते, ताश्च दुह्यमानाः प्रेक्ष्य, तथाऽशनादिकं चतुर्विधमप्याहारमुपसंस्क्रियमाणं प्रेक्ष्य, तथा (अप्पजूहिए त्ति) सिद्धेऽप्योदनादिके पुरा पूर्वमन्येषामदत्ते सति प्रवर्त्तनाधिकरणापेक्षी पूर्वत्र च प्रकृतिभद्रकादिः कश्चिद्यतिं दृष्ट्वा श्रद्धावान् बहुतरं दुग्धं ददामीति वत्सकपीडां कुर्यात्, त्रसेयुर्वा दुह्यमाना गावः, तत्र संयमात्मविराधना, अर्द्धपक्वौदने पाकार्थं त्वरयाऽधिकं यत्नं कुर्यात्, ततः संयमविराधना इति, तदेवं ज्ञात्वा स भिक्षुर्गृहपतिकुलं पिण्डपातप्रतिज्ञया न प्रविशेन्नापि निष्क्रामेदिति।

यच्च कुर्यात्तद्दर्शयितुमाह-

से तमायाए एगंतमवक्कमित्ता २ अणावायमसंलोए चिट्ठेज्जा। अह पुण एवं जाणेज्जा-खीरिणीओ गावीओ, खीरियाओ पेहाए असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा उवक्खडियं पेहाए पराए जूहिते, स एवं णच्चा तओ संजतामेव गाहावतिकुलं पिंडवायपडियाए पविसेज्ज वा, निक्खमेज्ज वा, भिक्खागाणाभेगे एवमाहंसु समाणे वा वसमाणे वा गामाणुगामं दूइज्जमाणेखुड्डाए खलु अयं गामे संण्णिरुद्धाए णो महालए, से हंता ! भयंतारो वाहिरगाणि गामाणि भिक्खायरियाए वयह, सति तत्थेगतिय-स्स भिक्खुस्स पुरे संथुया वा पच्छा संथुया वा परिवसंति, तं

जहा-गाहावती वा गाहावइणीओ वा गाहावतिपुत्ता वा गाहावइधूयाओ वा गाहावइसुण्हाओ वा धाईतो वा दासा वा दासीओ वा कम्मकरा वा कम्मकरीओ वा तहप्पगाराइं कुलाइं पुरे संथुयाणि वा पच्छा संथुयाणि वा पुव्वमेव भिक्खायरियाए अणुप्पविसिस्सामि, अवि य इत्थ लभिस्सामि पिडं वा लोयं वा खीरं वा दधिं वा नवणीयं वा घयं वा गुलं वा तेल्लं वा महु वा मज्जं वा मंसं वा संकुलि वा फाणियं वा पूयं वा सिहरिणिं वा, तं पुव्वामेव भुच्चा पेच्चा पडिग्गहं संलिहिय संपमज्जिय तओ पच्छा भिक्खूहिं सद्धिं गाहावइकुलं पिंडपायपडियाए पविसिस्सामि वा, निक्खमिस्सामि वा, माइट्ठाणं संफास, ना एव करेज्जा, से तत्थ भिक्खूहिं सद्धिं कालेण अणुपविसित्ता तत्थितरेयरेहिं कुलेहिं समुदाणियं एसियं वेसियं पिंडवायं पडिगाहेत्ता आहारं आहारेज्जा, एयं खलु तस्स भिक्खुस्स वा भिक्खुणीय वा सामग्गियं ॥

(से तमादायेत्यादि) स भिक्षुस्तमर्थं गोदोहनादिकमादाय गृहीत्वाऽवगम्येत्यर्थः। तत एकान्तमपक्रम्य च गृहस्थानामनापाते असंलोके च तिष्ठेत्, तत्र तिष्ठन्नथ पुनरेवं जानीयाद्। यथा- क्षीरिण्यो गावो दुग्ध इत्यादि पूर्ववद् व्यत्ययेनालापका नेया यावन्निष्क्रामेत्प्रविशेद्वेति। पिण्डाधिकार एवेदमाह-''भिक्खागेत्यादि''। भिक्षणशीला भिक्षुका नामैके साधवः केचन उवमुक्तवन्तः। किंभूतास्ते इति ? आह-समाना इति जङ्घाबलक्षीणतयैकस्मिन्नेव क्षेत्रे तिष्ठन्तः, तथा वसमाना मासकल्पविहीरिणः, त एवं भूताः प्राघूर्णकान् समायातान् ग्रामनुग्रामं दूयमानान् गच्छत एवमूचुः। यथा-क्षुल्लकोऽयं ग्रामोऽल्पगृहभिक्षादौ वा, तथा संनिरुद्धः सूतकादिना, नो महानिति पुनर्वचनमादरख्यापनार्थम्, अतिशयेन क्षुल्लक इत्यर्थः। ततो ''हन्ता!'' इत्यामन्त्रणं यूयं भवन्तः पूज्याः बहिर्ग्रामेषु भिक्षाचर्यार्थं व्रजतेत्येवं कुर्यात्। यदि वा तत्रैतस्य वास्तव्यस्य भिक्षोः पुरः संस्तुताः भ्रातृव्यादयः पश्चात् संस्मुताः श्वशुरकुलसंबद्धाः परिवसन्ति, तान् स्वनामग्राहमाह। तद्यथा-गृहपतिर्वेत्यादि सुगमम्, यावत्तथाप्रकाराणि कुलानि पुरः पश्चात्संस्तुतानि पूर्वमेव भिक्षाकालादहं तेषुभिक्षार्थं प्रवेक्ष्यामि, अपि चैतेषु स्वजनादिकुलेष्वभिप्रेतं लाभं लप्स्ये, तदेव दर्शयति-पिण्डं शाल्योदनादिकं, (लोयमिति) इन्द्रियानुकूलं रसाद्युपेतमुच्यते, तथा क्षीरं वेत्यादि सुगमं, यावत् ''सिहरिणी वेति'' नवरं मद्यमांसे छेदसूत्राभिप्रायेण व्याख्येये। अथवा-कश्चिदपि प्रमादावष्टब्धोत्पन्न-गृध्नुतया मधुमांसाद्यप्यश्नीयादतस्तद्वपादानम्। (फणिय त्ति)उदकेन द्रवीकृतो गुडः, क्वथितो वा, शिखरिणी मर्जिता, तल्लब्धं पूर्वमेव भुक्त्वा, पेयं च पीत्वा पतद्ग्रहं संलिह्य निरवयवं कृत्वा, संमृज्य च वस्त्रादिनाऽऽर्द्रतामपनीय, ततः पश्चादुपागते भिक्षाकालेक विकृतवदनः प्राघूर्णकभिक्षुभिः सार्द्धं गृहपतिकुलं पिण्डपातप्रतिज्ञया प्रवेक्ष्यामि, निष्क्रमिष्यामि वेत्यभिसन्धिना मातृस्थानं संस्पृशेदसावित्यतः प्रतिषिध्यते, नैवं कुर्यादिति। कथां च कुर्यादित्याह-(से तत्थत्यादि) स भिक्षुस्तत्र ग्रामादौ प्राघूर्णकभिक्षुभिः सार्द्धं कालेन भिक्षाऽवसरेण प्राप्तेन गृहपतिकुलमनुप्रविश्य तत्रेतरेभ्य उच्चावचेभ्यः सामुदानिकं भिक्षापिण्डमेषणीयमुद्गमादिदोषरहितं वैषिकं केवलवेषावाप्तं धात्रीदूतनिमित्तादिपिण्डदोषरहितं पिण्डपातं भैक्षं प्रगतिगृह्य प्राघूर्णकादिभिः सहग्रासैषणादिदोषरहितमाहारमाहारयेत्, तत्तस्य भिक्षोः साम्ग्र्यं संपूर्णो भिक्षुभाव इति आचा०२ श्रु०१ अ०४ उ०।

(२५) गृहावयवानालम्ब्य न तिष्ठेत्, नवाऽङ्गुल्यादि दर्शयेत्-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा० जाव पविट्ठे समाणे णो गाहावतिकुलस्स दुवारसाहं अवलंविय अवलंविय चिट्ठेज्जा, णो गाहावतिकुलस्स दगछड्डणमत्तए चिट्ठेज्जा, णो गाहावतिकुलस्स वंदणिउदयं पविट्ठेज्जा, णो गाहावतिकुलस्स सिणाणस्स वा वच्चस्स वा संलोए सपडिदुवारे चिट्ठेज्जा, णो गाहावतिकुलस्स आलोयं वा थिग्गलं वा संधिं वा दगभवणं वाहाउ पगज्झिय पगज्झिय अंगुलियाए वा उद्दीसिय उद्दिसिय उण्णमिय उण्णमिय णिज्झाएज्जा, णो गाहावंतिं अंगुलियाए उद्दिसिय उद्दिसिय जाएज्जा, णो गाहावतिं अंगुलियाए चालिय चालिय जाएज्जा, णो गाहावतिं अंगुलियाए तज्जिए तज्जिए जाएज्जा, णो गाहावतिं अंगुलियाए उखुलुंपिय उखुलुंपिय जाएज्जा, णो गाहावइं वंदिय वंदिय जाएज्जा, णो वयणं फरुसं वदेज्जा ॥

''से भिक्खू वेत्यादि'' स भिक्षुभिक्षार्थं गृहपतिकुलं प्रविष्टः सन्नैतत् कुर्यात्। तद्यथा-नो गृहपतिकुलस्य द्वारशाखामवलम्ब्याऽवलम्ब्य पौनःपुन्येन भृशं वा अवलम्ब्य च तिष्ठेत्। यतः सा जीर्णत्वात्पतेत्, दुष्प्रतिष्ठितत्वाद्वा चलेत्, ततश्च संयमात्मविराधनेति। तथोदकप्रतिष्ठा-पनमात्रके उपकरणधावनोदकप्रक्षेपस्थाने प्रवचनजुगुप्साभयान्न तिष्ठेत्। तथा (वंदणिउदयं ति) आचमनोदकप्रवाहभूमौ न तिष्ठेत्। दोषः पूर्वोक्त एव। तथा स्नानवर्चः संलोके, तत्प्रतिद्वारं वा, न तिष्ठेत्। एतदुक्तं भवति-यत्र स्थितैः स्नानवर्चः क्रिये कुर्वन् गृहस्थः सभवलोक्यते, तत्र न तिष्ठेदिति। दोषश्चात्र दर्शनाऽऽशङ्कया निःशङ्कतत्क्रियाया अभावेन निरोधप्रद्वेषसंभव इति। तथा नैव गृहपतिकुलस्याऽऽलोकस्थानं गवाक्षादिकम् (थिग्गलं ति) प्रदेशपतितसंस्कृतम्, तथा (संधि त्ति) चौरखातं भित्तिसन्धिं वा, तथोदकभवनमुदकगृहं, सर्वाण्यप्येतानि भुजं परिगृह्य पौनःपुन्येन प्रसार्य, तथा अङ्गुल्योद्दिश्य, तथा कायमवन-म्योन्नम्य च, न निध्यापयेन्न प्रलोकयेत्, नाप्यन्यस्मै प्रदर्शयेत्। सर्वत्र द्विर्वचनमादरख्यापनार्थम्। तथाहि-तत्र हि हृतनष्टादौ शङ्कोत्पद्येतेति। अपि च-''नो गाहावईत्यादि''। स भिक्षुर्गृहपतिकुलं प्रविष्टः सन्नैव गृहपतिमङ्गुल्याऽन्यार्थमुद्दिश्य तथा चालयित्वा, तथा तर्जयित्वा भयमुपदर्श्य, तथा कण्डूयनं कृत्वा, तथा गृहपतिं वन्दित्वा वाग्भिः स्तुत्वा प्रशंस्य, नो याचेत। अदत्ते च नैव तद्गृहपतिं परुषं वदेत्। यथा-यक्षस्त्वं परगृहं रक्षसि, कुतस्ते दानवार्तेव? भद्रका भवतो न पुनरनुष्ठानम्, अपि च अक्षरद्वयमेतद्धि-नास्ति नास्ति यदुच्यते, तदिदं देहि देहीति विपरीतं भविष्यति। आचा०२ श्रु०१ अ०६ उ०।

अन्यच्च-

अग्गलं फलिहं दारं, कवाडं वा वि संजए।

अवलंविया न चिट्ठिज्जा, गोयरग्गगओ मुणी ॥९॥

अर्गलं गोपाटादिसंबन्धिनं, परिघं नगरद्वारादिसंबन्धिनं, द्वारं शाखामयम्, कपाटं द्वारयन्त्रं वाऽपि संयतः, अवलम्ब्य न तिष्ठेत्, लाघवविराधनादोषात् । गोचराग्रगतो भिक्षाप्रविष्टः मुनिः संयत इति पर्यायौ, तदुपदेशाधिकाराददुष्टावेवेति सूत्रार्थः । उक्ता द्रव्ययतना ॥९॥

भावयतनामाह-

समणं माहणं वावि, किविणं वा वणीमगं ।

उवसंकमंतं भत्तट्ठा, पाणट्ठा एव संजए ॥१०॥

श्रमणं निर्ग्रन्थादिरूपं, ब्राह्मणं धिग्वर्णं वाऽपि, कृपणं वा पिण्डोलकं, वनीपकं, पञ्चानामप्यन्यतमम् उपसंक्रामन्तं सामीप्ये न गच्छन्तं गतं वा भक्तार्थं पानार्थं वा संयतः साधुरिति सूत्रार्थः॥१०॥

तमइक्कमित्तु न पविसे, न वि चिट्ठे च क्खुगोअरे ।

एगंतमवक्कमित्ता, तत्थ चिट्ठिज्ज संजए ॥११॥

तं श्रमणादिमतिक्रम्योल्लङ्घ्य न प्रविशेत्, दीयमाने च समुदाने तेभ्यो न तिष्ठेच्चक्षुर्गोचरे । कस्तत्र विधिरिति ? आह-एकान्तमवक्रम्य तत्र तिष्ठेत् संयत इति सूत्रार्थः॥११॥

अन्यथैते दोषा इत्याह-

वणीमगस्स वा तस्स, दायगस्सुभयस्स वा ।

अप्पत्तियं सिया होज्जा, लहुत्तं पवयणस्स वा ॥१२॥

वनीपकस्येत्येतच्छ्रमणाद्युपलक्षणं, दातुर्वा, उभयोर्वा, अप्रीतिः कदाचित्स्यात् अहो ! अलोकज्ञतैतेषामिति । लघुत्वं प्रवचनस्य वाऽन्तरायदोषश्चेति सूत्रार्थः॥१२॥

तस्मान्नैवं कुर्यात्, किं तु-

पडिसेहिए दिन्ने वा, तओ तम्मि नियत्तिए ।

उवसंकमिज्ज भत्तट्ठा, पाणट्ठाए व संजए ॥१३॥

प्रतिषिद्धे वा दत्ते वा ततः स्थानात्तस्मिन्वनीपकादौ निवर्त्तिते सति उपसंक्रामेद्भक्तार्थं पानार्थं वाऽपि संयत इति सूत्रार्थः॥१३॥ दश०५ अ०२ उ०।

(२६) अगार्या सह न तिष्ठेत् -

वासावासं पज्जोसवियाणं निग्गंथस्स गाहावइकुलं पिंडवायपडिआए० जीव उवागच्छित्तए, तत्थ नो कप्पइ एगस्स निग्गंथस्स एगाए अगारीए एगओ चिट्ठित्तए, एवं चउभंगी, अत्थि णं इत्थ केइ पंचमे थेरे वा थेरिया वा अन्नेसिं वा संलोए सपडिदुवारे, एवं से कप्पइ एगयओ चिट्ठित्तए, एवं चेव निग्गंथीए अगारस्स य भाणियव्वं ॥३९॥

चतुर्मासकं स्थितस्य साधोः गृहस्थगृहे भिक्षाग्रहणार्थं यावत् उपागन्तुं, तत्र नो कल्पते एकस्य साधोः एकस्याः श्राविकाया एकत्र स्थातुम्, एवं चत्वारो भङ्गाः, यदि स्यात् अत्र कोऽपि पञ्चमः स्थविरः स्थविरा वा साक्षीभवति, तदा स्थातुं कल्पते, अन्येषां वा दृष्टिविषयः, बहुद्वारसहितं वा स्थानम्, एवं कल्पते एकत्र स्थातुम्, एवमेव साध्व्याः गृहस्थस्य च चतुर्भङ्गी वाच्या, तथा एकाकित्वं च साधोः साङ्गटिके उपोषिते असुखिते वा कारणाद्भवति, अन्यथा हि उत्सर्गतस्तु साधुरात्मना द्वितीयः, साध्व्यस्तु त्र्यादयो विहरन्ति ॥३९॥ कल्प०९ क्षण । (एलुको देहली, तस्मात्परतो न प्रवेष्टव्यमिति 'एलुग' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ४ पृष्ठे उक्तम्)

(२७) माहनादिकं प्रविष्टं दृष्ट्वा तत्र न प्रविशेत् -

से भिक्खू वा भिक्खुणी० वा जाव समाणे सेज्जं पुण जाणेज्जा-समणं वा माहणं वा गामपिंडोलगं वा अतिथिं वा पुव्वपविट्ठं पेहाए णो तेसिं संलोए सपडिदुवारे चिट्ठेज्जा, केवली बूया-आयाणमेतं पुरा पेहाए तस्स ट्ठाए परो असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा आहट्टु दलएज्जा, अह भिक्खू णं पुव्वोवदिट्ठाए सपतिण्णाए सहेउए सकारणं एसो जं णो तेसिं संलोए सपडिदुवारे चिट्ठेज्जा, से तमाताए एगंतमवक्कमेज्जा, अवक्कम्म अणावायमसंलोए चिट्ठेज्जा २, से परे अणावायमसंलोए चिट्ठेमाणस्स असणं वा०४ आहट्टु दलएज्जा, सेवं वदेज्जा-आउसंतो ! समणा ! इमे भे असणं वा०४ सव्वजणाए णिसट्ठे, तं भुंजह च णं, परिभाएह च णं, तवेमातिउ पडिगाहेत्ता तुण्हिणाओ उवेज्जा, अवियाइं एयं ममेव सिया, एवं माइट्ठाणं संफासे, णो एवं करेज्जा, से तमाताए तत्थ गच्छेज्जा, से पुव्वामेव आलोएज्जा, आउसंतो समणा ! इमे भे असणे वा०४ सव्वजणाए णिसट्ठा, तं भुंजह च णं, परिभाएह च णं, सेवं वदंतं परो वदेज्जा-आउसंतो ! समणा ! तुमं चेव णं परिभाएहि, से तत्थ परिभाएमाणे णो अप्पणो खद्धं २ डाअं २ ओसढं २ रसियं २ मणुण्णं २ णिद्धं २ लुक्खं २, से तत्थ अमुच्छिए अगिद्धे अगढिए अणज्झोववण्णे बहु सममेव परिभाएज्जा, से णं परिभाएमाणं परो वदेज्जा-आउसंतो ! समणा ! मा णं तुमं परिभाएहि, सव्वे वेगतिया भोक्खामो वा पेहामो वा, से तत्थ भुंजमाणो णो अप्पणो खद्धं खद्धं० जाव लुब्धखं, से तत्थ अमुच्छिए०४ बहु सममेव भुंजेज्ज वा, पीएज्ज वा ॥

(से भिक्खू वेत्यादि) स भिक्षुर्ग्रामादौ भिक्षार्थं प्रविष्टो यदि पुनरेवं विजानीयात् -यथाऽत्र गृहे श्रमणादिः कश्चित्प्रविष्टः, तं च पूर्वप्रविष्टं प्रेक्ष्यादातृप्रतिग्राहिकासमाधानान्तरायभयान्न तदा लोके तिष्ठेत्, नापि तन्निर्गमद्वारं प्रतिदातृप्रतिग्राहकासमाधानान्तरायभयात्, किन्तु स भिक्षुस्तं श्रमणादिकं भिक्षार्थमुपसंस्थितमादायावगम्यैकान्तमपक्रामेत्, अपक्रम्य चान्येषां चानापाते विजने असंलोके च संतिष्ठेत । तत्र च तिष्ठतः स गृहस्थः (से) तस्य भिक्षोश्चतुर्विधमप्याहारमाहृत्य दद्यात्, प्रयच्छँश्चैतत् ब्रूयात् । यथा-यूयं बहवो भिक्षार्थमुपस्थिताः, अहं च व्याकुलत्वान्नाहारं विभजथितुंमलम्, अतो हे आयुष्मन् ! श्रमणाय आहारश्चतु-र्विधेऽपि ते युष्मभ्यं सर्वजनार्थं मया निसृष्टो दत्तः, तत्साम्प्रतं स्वरुच्या तमाहारमेकत्र वा भुञ्जध्वं, परिभजध्वं वा, वि-

भज्य वा गृह्णीतेत्यर्थः। तदेवंविध आहार उन्मार्गतो न ग्राह्यो, दुर्भिक्षे वा अध्वाननिर्गतादौ वा द्वितीयपदे कारणे सति गृह्णीयात्, गृहीत्वा च नैवं कुर्यात्। तद्यथा-तमहारं गृहीत्वा तूष्णीका गच्छन्नैवमुत्प्रेक्षेत। यथा-ममैवायमेकस्य दत्तः, अपिचाऽयमल्पत्वाममैवैकस्य स्यात्। एवं च मातृस्थानं संस्पृशेदतो नैवं कुर्यादिति। यथा च कुर्यात्तथा दर्शयति-स भिक्षुस्तमाहारं गृहीत्वा तत्र श्रमणाद्यन्तिके गच्छेत्। गत्वा च स पूर्वमेवादावेव तेषामाहारमालोकयेद्दर्शयेत्। इदं च ब्रूयात्। यथा-भो आयुष्मन्तः श्रमणादयः! अयमशनादिक आहारो युष्मभ्यं सर्वजनार्थमतविभक्त एव गृहस्थेन निसृष्टो दत्तः। तत् यूयमेकत्र भुञ्जध्वं वा, विभजध्वं वा, 'से' अथैनं साधुमेवं ब्रुवाणं कश्चिच्छ्रमणादिरेवं ब्रूयात्-यथा भो आयुष्मन्! श्रमण! त्वमेवास्माकं परिभाजय, नैवं तावत् कुर्यात्। अथ सति कारणे कुर्यात्, तत्रानेन विधिनेति दर्शयति-स भिक्षुर्विभाजयन् आत्मनः खद्धं खद्धं प्रचुरं प्रचुरं (डायं ति) शाकम् (ऊसढं ति) उत्सृतं वर्णादिगुणोपेतम्। शेषं सुगमम्। यावदूक्षमिति न गृह्णीयादिति। अपि च-भिक्षुस्तत्राहारे अमूर्च्छितोऽगृद्धोऽनादृतोऽनध्युपपन्न इत्येतान्यादरख्यापनार्थमेकार्थिकान्युपात्तानि कथञ्चिद्भेदाद् व्याख्यातव्यानीति। (बहुसममिति) सर्वमत्र समं किञ्चित्सिक्थादिना यद्यधिकं भवदिति, तदेवं प्रभूतसमं परिभाजयेत्। तं च साधुं परिभाजयन्तं कश्चिदेवं ब्रूयात्। यथा-आयुष्मन्! श्रमण! मा त्वं परिभाजय, किं तु सर्व एव चैकत्र वयं भोक्ष्यामहे, पास्यामो वा, तत्र परतीर्थकैः सार्द्धं न भोक्तव्यम्, स्वयूथ्यैश्च पार्श्वस्थादिभिः सह सांभोगिकैः सहोपालोचनां दत्त्वा भुञ्जानानामयं विधिः। तद्यथा-नो आत्मन इत्यादि सुगममिति।

(२८) इहानन्तरसूत्रे बहिरालोकस्थानं निषिद्धं, सांप्रतं तत् प्रवेशप्रतिषेधार्थमाह-ग्रामपिण्डोलकादि प्रविष्टं दृष्ट्वा-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा० जाव समाणे सेज्जं पुण जाणेज्जा-समणं वा माहणं वा गामपिंडोलगं वा अतिहिं वा पुव्वपविट्ठे पेहाए णो तेओ वातिक्कम पविसेज्ज वा, भासेज्ज वा, से तमायाए एगंतमवक्कमेज्जा, अणावायमसंलोए चिट्ठेज्जा, अह पुण एवं जाणेज्जा-पडिसेहिए वा दिन्ने वा ततो तम्मि णियट्टिते संजतामेव पविसेज्ज वा, अवभासेज्ज वा, एवं खलु तस्स भिक्खुस्स वा भिक्खुणीए वा सामग्गियं॥

(से भिक्खू वेत्यादि) स भिक्षुर्भिक्षार्थं ग्रामादौ प्रविष्टः सन् यदा पुनरेवं विजानीयात्। तद्यथा-अत्र गृहपतिकुले श्रमणादिकः प्रविष्टः, तं च पूर्वं प्रविष्टं श्रमणादिकं प्रेक्ष्य, ततो न तान् श्रमणादीन् पूर्वप्रविष्टानतिक्रम्य प्रविशेत् नापि तत्स्थ एवावभाषेत दातारं याचेत। अपि च-स तमादायावगम्यैकान्तमपक्रामेत्, अनापातासंलोके च तिष्ठेत्तावद्यावत् श्रमणादिके प्रतिषिद्धे पिण्डे वा तस्मै दत्ते, ततस्तस्मिन्निवृत्ते गृहान्निर्गते सति ततः संयत एव प्रविशेत्, अवभाषेत वेति, एवं च तस्य भिक्षोः सामग्र्यं संपूर्णो भिक्षुभाव इति। आचा०२ श्रु००१ अ०५ उ०। (संखमिगमननिषेधः 'संखडि' शब्दे वक्ष्यते)

(२९) इदानीं परग्रामे हिण्डनविधिः-

पुरओ जुगमायाए, गंतूणं अन्नगामें बाहिठिओ।
तरुणे मज्झिमें थेरे, णव पुच्छाओ जहा हिट्ठा॥ ६२॥

पुरतो युगमात्रं निरीक्ष्यमाणो गत्वा अन्यग्रामं संप्राप्य बहिर्व्यवस्थितः पृच्छति-विद्यते किं भिक्षावेलाऽत्र ग्रामे, उत न? कान् पृच्छति? अत आह-तरुणं मध्यमं स्थविरम्। एकैकस्य त्रैविद्ध्यान्नव पृच्छाः कर्त्तव्याः, यथा अधस्तात् प्रतिपादिताः तथैवात्रापि न्यायः। अत्र तरुणं स्त्रीपुंनपुंसकम्, मध्यमं स्त्रीपुंनपुंसकं, स्थविरं स्त्रीपुंनपुंसकमिति॥६२॥

एवं पृष्ट्वा यदि तत्र भिक्षावेला तत्क्षणमेव, ततः को विधिरिति? अत आह-

पायपमज्जण पडिले-हणा य भाणदुग देसकालम्मि।
अप्पत्ते चिय पाए, पमज्ज पत्ते य पायजुगं॥६३॥

तत्र हि ग्रामान्ते उपविश्य पादप्रमार्जनं करोति, किं कारणम् तत्पादरजः कदाचित्सचित्तं कदाचिन्मिश्रं लग्नंभवेत्, ग्रामे च नियमादचित्तं रजः, अतः प्रमार्जयति, पुनश्च प्रत्युपेक्षणं करोति, पात्रद्वितयस्य-पतद्ग्रहस्य, मात्रकस्य च; एवं देशकाले भिक्षावेलायां प्राप्तायां करोति। अथाद्यापि न भवति भिक्षाकालः, ततः तस्मिन्नप्राप्ते भिक्षाकाले पादौ प्रमार्जयन् तावदास्ते, यावत् भिक्षाकालः प्राप्तः, ततस्तस्मिन् प्राप्ते सति तस्यां वेलायां पात्रद्वितयं प्रत्युपेक्षते। एवमसौ पात्रद्वितयं प्रत्युपेक्ष्य ग्रामें प्रविशन् कदाचित् श्रमणादीन् पश्यति, ततस्तान् पृच्छति।

एतदेवाह-

समणं समणिं सावय, गिहिअन्नतित्थि वहि पुच्छे।
अत्थिह समण सुविहिया, सिट्ठे ते सालयं गच्छे॥६४॥

श्रमणं श्रमणीं श्रावकं श्राविकां गृहस्थम् अन्यतीर्थिकं वा बहिर्दृष्ट्वा पृच्छति, एताननन्तरोक्तान् सर्वान् दृष्ट्वाऽऽपृच्छ्य यत्र सन्ति श्रमणाः, किं विशिष्टाः? शोभनं विहितमेषामिति शोभनानुष्ठानाः ततश्च एतेषामन्यतमेन कथिते सति ततस्तेषामेव श्रमणादीनामालयमावासं गच्छेत्।

ततस्तेषामालयं प्राप्य किं करोति? इत्यत आह-

समणुण्णेसु पवेसो, बाहि ठवेऊण अन्नें किइकम्मं।
खग्गूढो संतेसुं, ठवणा उच्छोभ वंदणयं॥६५॥

यदि हि तत्र समनोज्ञा एकसामाचारीप्रतिबद्धाः, ततस्तेषां मध्ये प्रविशति। अथान्ये अमनोज्ञा भवन्ति, ततो बाह्यत उपकरणं स्थापयित्वा प्रविश्य कृतिकर्म द्वादशावर्तं वन्दनां ददाति। अथ तेऽसंविग्नपाक्षिका अवमग्ना भवन्ति, ततो बहिर्व्यवस्थित एव वन्दनां कृत्वा अबाधां पृच्छति। अथ ते संविग्नपाक्षिका अवमग्ना भवन्ति, अथते अवमग्राः खग्गूढप्रायाः*, ततो बहिरेवोपकरणं संस्थाप्य पुनश्च प्रविश्य तेषाम् उच्छोभं वन्दनं करोति॥६५॥

गेलण्णाइअवाहं, पुच्छिय सयकारणं च दीवंतो।
जयणाए ठवणकुले, पुच्छइ दोसा अजयणाए॥६६॥

एवं सर्वेष्वेतेषु अनन्तरोदितेषु समनोज्ञादिषु प्रविश्य ग्लानाद्यबाधां पृष्ट्वा स्वकीयमागमने कारणं दीपयित्वा निवेद्य यतनया मधुरवाक्यलक्षणया स्थापनाकुलानि पृच्छति, अयतनया पृच्छति दोषो वक्ष्यमाणो यतोऽतो यतनया पृच्छति।

एतानि तानि स्थापनाकुलानि-

दाणे अभिगमसड्ढे, सम्मत्ते खलु तहेव मिच्छत्ते।
मामाए अवियत्ते, कुलाइं जयणाएँ दाएंति॥६७॥

* खग्गूढप्रायाः स्निग्धमधुराद्याहारलम्पटाः, स्वभावाद् वक्राचाराः निद्रालवो वा।

दानश्राद्धकः, अभिगमनश्राद्धकः, यस्मिन् कारणे आपन्ने प्रविशन्ति तत्कुलम्, सम्यक्त्वधरकुलं, मिथ्यात्वकुलं, मामकः–''मा मम समणा घरं आयंतु'' ततकुल (अवियत्तं) अदानकुलमशीलकुलम्। एतानि कुलानि, ते वास्तव्याः, साधोस्तस्य यतनया दर्शयन्ति ॥६७॥

तथा चैतानि कुलानि दर्शयन्ति-

सागारि वणिम सुणए, गोणे पुण्णे दुगंछियकुलाइं।
हिंसागं मामागं, सव्वपयत्तेण वज्जेज्जा ॥६८॥

सागारिकः शय्यातरः, तद्गृहं दर्शयन्ति, तथा ''वणिमओ'' दरिद्रः, तस्य गृहं च दर्शयन्ति, ततृ हि एतदर्थं न गृह्यते-स हि दरिद्रः असति भक्ते लज्जां करोति, यद्वा-यत्किञ्चिदस्ति तद्दत्त्वा पुनरात्मार्थं रन्धनं करोति, तथा-श्वा यत्र दुष्टो गृहे तच्च, गौर्वा यत्र दुष्टः तच्च, (पुण्णे त्ति)पुण्यार्थं यत्र बहुरन्धयित्वा श्रमणादीनां दीयते। अथवा-पूर्णयन् गृहस्थैर्बहुभिस्तच्च प्रदर्शयन्ति, जुगुप्सितं च लिम्पकादि, तच्च, हिंसाकं सौकरिकादिगृहं तच्च, 'मामगं' चोक्तम्। एतानि प्रदर्शितानि सर्वप्रयत्नेन परिहर्तव्यानि ॥६८॥ ओघ०। आचा०। सार्द्धचतुर्मासकमध्ये सार्द्धगव्यूतद्वयप्रमाणां नदीमुत्तीर्य भिक्षा गृह्यते। ही,०४ प्रका०। (परचक्रेणोपरोधे भिक्षा 'उपरोध' शब्दे द्वितीयभागे ९०७ पृष्ठे द्रष्टव्या। समवसरणे भिक्षाद्वारं च तत्रैव ९१० पृष्ठे निरूपितम्। क्षेत्रमतिलेखकानां मार्गे भिक्षाटनं 'मासकप्पविहार' वक्तव्यतायाम्। आचार्यो हिण्डितुं न याति इति 'अइसेस' शब्दे प्रथमभागे १८ पृष्ठे उक्तम्) तीर्थकृत उत्पन्नकेवलज्ञानदर्शना भिक्षार्थं न पर्यटन्ति, यतस्तस्यामवस्थायां भिक्षाटनेन प्रवचनलाघवसंभवात्। उक्तं च-''देविंद चक्कवट्टी, मंडलिया ईसरा तलवरा य। अहिगच्छंति जिणिंदे, गोयचरियं न सो अडइ''॥१॥ आ०म०द्वि०।

(३०) आहारे क्षुण्णे गोचराटनम्–

सेज्जा निसीहियाए, समावन्नो अ गोयरे।
अजावगट्ठा भोच्चा णं, जइ तेणं न संथरे ॥२॥

शय्यायां वसतौ, नैषेधिक्यां स्वाध्यभूमौ, शय्यैव वाऽसमञ्जसनिषेधान्नैषेधिकी, तस्यां समापन्नो वा गोचरे क्षपकादिच्छात्रमठादौ, अयावदर्थं भुक्त्वा, न यावदर्थम्, अपरिसमाप्त मित्यर्थः। 'णं' इति वाक्यालङ्कारे, यदि तेन भुक्तेन न संस्तरेत् न यापयितुं समर्थः, क्षपको विषमवेलापत्तनस्थो ग्लानो वेति सूत्रार्थः ॥२॥

तओ कारणमुप्पन्ने, भत्तपाणं गवेसए।
विहिणा पुव्वउत्तेणं, इमेणं उत्तरेण य ॥३॥

ततः कारणे वेदनावुत्पन्ने पुष्टालम्बनः सन् भक्तपानं गवेषयेत् अन्विष्येत्। अन्यथा सकृद्भुक्तमेव यतीनामिति, विधिना पूर्वोक्तेन संप्राप्ते भिक्षाकाले इत्यादिना अनेन च वक्ष्यमाणलक्षणेनोत्तरेण चेति गाथार्थः॥३॥ दश०५ अ०२ उ०।

(३१) अथ ग्रहणविधिमाह–

तत्थ से चिट्ठमाणस्स, आहरे पाणभोयणं।
अकप्पियं न गेण्हेज्जा, पडिगाहेज्ज कप्पियं ॥२७॥

तत्र कुलोचितभूमौ, (से) तस्य साधोस्तिष्ठतः सत आहरे दानयेत्पानभोजनं, गृहीति गम्यते। तत्रायं विधिः-अकल्पिक मनेषणीयं न गृह्णीयात्, प्रतिगृह्णीयात् कल्पिकमेषणीयम्, एतच्चार्था-पन्नमपि कल्पिकग्रहणं द्रव्यतः शोभनमशोभनमप्येतदविशेषेण ग्राह्यमिति दर्शनार्थं साक्षादुक्तमिति सूत्रार्थः॥२७॥

आहरंति सिया तत्थ, परिसामिज्ज भोयणं।
दिंतियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥२८॥

आहरन्ती आनयन्ती भिक्षाम्, अगारीति गम्यते, स्यात् कदाचित्तत्र देशे परिशाटयेत् इतश्चेतश्च विक्षिपेत् भोजनं वा पानं वा। ततः। किमित्याह-ददतीं प्रत्याचक्षीत प्रतिषेधयेत्तामगारीम्। स्त्र्येव प्रायो भिक्षां ददातीति स्त्रीग्रहणम्। कथं प्रत्याचक्षीत? इत्यत आह-न मम कल्पते तादृशं परिशाटनावत्, समयोक्तदोषप्रसङ्गात्। दोषांश्च भवं च ज्ञात्वा कथयेत् मधुबिन्दूदाहरणादिनेति सूत्रार्थः ॥२८॥

किञ्च–

संमद्दमाणी पाणाणि, बीयाणि हरियाणि य।
असंजडकरिं नच्चा, तारिसिं परिवज्जए ॥२९॥

संमर्दयन्ती पद्भ्या समाक्रामन्ती, कानित्याह-प्राणिनो द्वीन्द्रियादीन्, बीजानि शाल्यादीनि, हरितानि दूर्वादीनि, असंयमकरीं साधुनिमित्तमसंयमकरणशीलां, ज्ञात्वा तादृशीं परिवर्जयेत् ददतीं प्रत्याचक्षीतेति सूत्रार्थः॥२९॥

तथा-

साहट्टु निक्खिवित्ता णं, सचित्तं घट्टियाणि य।
तहेव समणट्ठाए, उदगं संपणुल्लिया ॥३०॥

संहृत्यान्यस्मिन् भाजने ददाति, ''तं फासुगमवि वज्जए,तत्थ फासुए फासुयं साहरइ, फासुए अफासुअं साहरइ, अफासुए फासुअं साहरइ, अफासुए अफासुअं साहरइ, तत्थ जं फासुअं फासुए साहरइ, तत्थ वि थेवे थेवं साहरइ, थेवे बहुयं साहरइ, बहुए थेवं साहरइ, बहुए बहुअं साहरइ,'' एवमादि यथा पिण्डनिर्युक्तौ तथा निक्षिप्य भाजनगतमदेयं षट्सु जीवनिकायेषु ददाति, सचित्तमलातपुष्पादि घट्टयित्वा संचाल्य च ददाति, तथैव श्रमणार्थं प्रव्रजितनिमित्तम्, उदकं संप्रणुद्य भाजनस्थं प्रेर्य ददाति। इति सूत्रार्थः॥३०॥

आगहइत्ता चलइत्ता, आहारे पाणभोयणं।
दिंतियं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥३१॥

तथा चावगाह्य उदकमेवात्माभिमुखमाकृष्य ददाति, वर्षासु गृहाङ्गणादिनिहितं जलं स्वाभिमुखं कृत्वा दत्ते। तथा चालयित्वा उदकमेव ददाति। उदके नियमादनन्तवनस्पतिरिति प्राधान्यख्यापनार्थं 'सचित्तं घट्टयित्वेत्युक्तेऽपि' भेदेनोपदानम्। अस्ति चायं न्यायो यदुत ''सामान्यग्रहणेऽपि प्राधान्यख्यापनार्थं भेदेनोपदानम्'' यथा-ब्राह्मण आयातः, वसिष्ठोऽप्यायात इति। ततश्चोदकं चालयित्वा आहरेदानीय दद्यादित्यर्थः। किं तदित्याह-पानभोजनमोदनारनालादि। तदित्थंभूतां ददतीं प्रत्याचक्षीत निराकुर्यात्, न मम कल्पते तादृशमिति पूर्ववदेवेति सूत्रार्थः॥३१॥ दश०५ अ०१ उ०। पं०व०।

(३२) याच्यं वस्तु दृष्ट्वा याचेत, नाऽन्यथा-

वासावासं पज्जोसवियाणं अत्थेगइयाणं एवं वुत्तपुव्वं

भवइ-अट्ठो भंते ! गिलाणस्स ? से अ वएज्जा-अट्ठो । से अ पुच्छिव्वे-केवइए णं अट्ठो ? से व एज्जा-एवइए णं अट्ठो गिलाणस्स, जं से पमाणं वयइ, से य पमाणओ घित्तव्वे, से अ विन्नवेज्जा । से अ विन्नवेमाणे लभेज्जा, से अ पमाणपत्ते होउ अलाहि इय वत्तव्वं सिया । से किमाहु भंते !? एवइएणं अट्ठो गिलाणस्स ।सिया णं एवं वयंतं परो वइज्जा-पडिगाहेहि अज्जो ! पच्छा तुमं भक्खसि वा, पाहिसिवा, एवं से कप्पइ पडिगाहित्तए, नो से कप्पइ गिलाणनीसाए पडिगाहित्तए ॥१८॥ वासावासं पज्जोसवियाणं अत्थि णं थेराणं तहप्पगाराइं कुलाइं कडाइं, पत्तियाइं, थिज्जाइं, वेसासियाइं, संमयाइं बहुमणाइं, अणुमयाइं भवंति, तत्थ से नो कप्पइ अदक्खु वइत्तए-''अत्थि ते आउसो ! इमं वा''। से किमाहु भंते !? सड्ढी गिही गिण्हइ वा, तेणियं पि कुज्जा ॥१९॥

''वासावासं'' इत्यादितः ''कुज्जे त्ति'' यावत् । तत्र (अत्थि त्ति) अस्त्येतत् 'णमिति' प्राग्वत् (थेराणं ति) स्थविराणाम् (तहप्पगाराइं ति) तथाप्रकाराणि अजुगुप्सितानि, कुलानि गृहाणि । किंविशिष्टानि ? (कमाइं ति) तैरन्यैर्वा श्रावकीकृतानि (पत्तियाइं ति) प्रीतिकराणि (थिज्जाइं ति) प्रीतौ दाने वा स्थैर्यवन्ति (वेसासियाइं ति) निश्चितमत्र लप्स्येऽहमिति विश्वासो येषु तानि वैश्वासिकानि (सम्मयाइं ति) येषां यतिप्रवेशः संमतो भवति तानि सम्मतानि (बहूमयाइं ति) बहवोऽपि साधवः सुमता येषाम्, अथवा बहूनां गृहमनुष्याणां साधवः संमता येषां तानि बहुमतानि । (अणुमताइं ति) अनुमतानि दातुमज्ञातानि, अथवा अणुरपि क्षुल्लकोऽपि मतो येषु सर्वसाधुसाधारणत्वात्, न तु मुखं दृष्ट्वा तिलकं कुर्वन्तीति अनुमतानि अणुमतानि वा भवन्ति । ''तत्थ से इत्यादि'' तत्र तेषु गृहेषु (से) तस्य साधोः (अदक्खु त्ति) याच्यं वस्तु अदृष्ट्वा इति वक्तुं न कल्पते । यथा- हे आयुष्मन् ! इदं २ वा वस्तु अस्ति, इत्यदृष्टं वस्तु प्रष्टुं न कल्पते इत्यर्थः। (से किमाहु भंते त्ति) तत् कुतो भगवन् ! इति शिष्यप्रश्ने, गुरुराह-यतयस्तथाविधाः (सड्ढि त्ति) श्रद्धावान् गृही मूल्येन गृह्णीत, यदि च मूल्येनापि न प्राप्नोति तदा स श्रद्धातिशयेन (तेणियं पि त्ति) चौर्यमपि कुर्यात् । कृपणगृहे तु अदृष्ट्वा पि याचने न दोषः ॥१९॥ कल्प०९ क्षण ।

(३३) वन्दमानं न याचेत-

इत्थियं पुरिसं वा वि, डहरं वा महल्लगं ।
वंदमाणं न जाइज्जा, नो अ णं फरुसं वए ॥२९॥

स्त्रियं वा पुरुषं वाऽपि, अपिशब्दात्तथाविधं नपुंसकं वा, 'महरं' तरुणं, महल्लकं वा वृद्धं वा, वाशब्दान्मध्यमं वा, वन्दमानं सन्तं भद्रकोऽयमिति न याचेत, विपरिणामदोषात् । अन्नाद्यभावेन याचितादाने न चैनं परुषं ब्रूयात्-वृथा ते वन्दनमित्यादि । पाठान्तरं वा-वन्दमानो न याचेत, लल्लिव्याकरणेन,शेषं पूर्ववदिति सूत्रार्थः ॥२९॥

तथा-

जे न वंदे न से कुप्पे, वंदिओ न समुक्कसे ।
एवमन्नेसमाणस्स, सामन्नमणुचिट्ठइ ॥३०॥

यो न वन्दते कश्चिद् गृहस्थादिः न तस्मै कृप्येत्, तथा वन्दितः केनचित् नृपादिना न समुत्कर्षेत्। एवमुक्तेन प्रकारेणान्वेषमाणस्य भगवदाज्ञाम-नुपालयतः श्रामण्यमनुतिष्ठत्यखण्डमिति सूत्रार्थः ॥३०॥

स्वपक्षस्तेयप्रतिषेधमाह-

सिया एगइओ लद्धुं, लोभेण विणिगूहइ ।
मा मेयं दाइयं संतं, दट्ठूणं सयमायए ॥३१॥

स्यात्कदाचिदेकः कश्चिदत्यन्तजघन्यो लब्धोत्कृष्टमाहारं लोभेना-भिष्वङ्गेण विनिगूहते,'अहमेव भोक्ष्ये' इत्यन्तप्रान्तादि-नाछादयति। किमित्यत आह-मा ममेदं भोजनजातं दर्शितं सत् दृष्ट्वा आचार्यादिः स्वयमादद्यादात्मनैव गृह्णीयादिति सूत्रार्थः ॥३१॥

अस्य दोषमाह-

अत्तट्ठगुरुओ लुद्धो, बहुं पावं पकुव्वइ ।
दुत्तासेओ अ से होइ, निव्वाणं च न गच्छइ ॥३२॥

आत्मार्थ एव जघन्यो गुरुः पापप्रधानो यस्य स आत्मार्थगुः लुब्धः सन् क्षुद्रभोजने बहु प्रभूतं पापं करोति, मायया दारिद्रं कर्मेत्यर्थः । अयं परलोकदोषः । इहलोकदोषमाह-दुस्तोषश्च भवति, येन केनचिदा-हारेणास्य क्षुद्रसत्त्वस्य तुष्टिः कर्तुं न शक्यते, अत एव निर्वाणं च न गच्छति, इहलोके एव धृतिं न लभते । अनन्तसंसारिकत्वाद्वा मोक्षं न गच्छतीति सूत्रार्थः॥३२॥ दश०५ अ०२ उ०।

(३४) भुञ्जानाद् याचनम् -

अह तत्थ कंचि भुंजमाणं पेहाए । तं जहा-गाहावइयं वा० जाव कम्मकरिं वा, से पुव्वामेव आलोएज्जा । आउसो ! त्ति वा भइणि ! त्ति वा दाहिसि मे एतो अण्णयरं भोयणजा- यं से सेवं वंदतस्स परो हत्थं वा मत्तं वा दव्विं वा भायणं वा सीतोदकवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलेज्ज वा, पधोएज्ज वा, से पुव्वामेव आलोएज्जा । आउसो ! त्ति वा भगिणि! त्ति वा मा एतं तुमं हत्थं वा दव्विं वा भायणं वा सीतोदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलेहि वा, पधोएहि वा, अभिकंखसि मे दातुं, एमेव दलयाहि, से सेवं वदंतस्स परो हत्थं वा० ४ सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेणा वा उच्छोलेत्ता पधोइत्ता आहट्टु दलएज्जा, तहप्पगारेणं पुरे कम्मकरेणं हत्थेण वा० ४ असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा अफासुयं अणेसणिज्जं० जाव णो पडिगाहेज्जा ॥

(अह तत्थेत्यादि) अथ भिक्षुस्तत्र गृहपतिकुले प्रविष्टः सन् कञ्चन गृहपत्यादिकं भुञ्जानं प्रक्ष्य भिक्षुः पूर्वमेवालोचयेत् - यथाऽयं गृहपतिः तद्भार्या वा, यावत्कर्म्मकरी वा भुङ्क्ते । पर्यालोच्य च सनामग्राहमाह। तद्यथा- (आउसो त्ति) अमुक इति गृहेपतेर्भगिनीत्यामन्त्र्य 'दास्यसि मे अस्मादाहारजाता-दन्यतरद्भोजनजातम्' इत्येवं याचेत तच्च न वर्त्तते, एवं कर्तुं कारणे वा सत्येवं वदेत्-अथ (से) तस्य भिक्षारेर्घं वदतो

याचमानस्य परो गृहस्थः कदाचिद्धस्तं मात्रं दर्वीभाजनं वा शीतोदकविकटेन अप्कायेन उष्णोदकविकटेनोष्णोदकेनाप्रासुकेन त्रिदण्डोद्धृतेन पश्चाद्वा सचित्तीभूतेन (उच्छोलेज्ज त्ति) सकृदुदकेन प्रक्षालनं कुर्यात् (पहोएज्ज त्ति) प्रकर्षेण वा हस्तादेर्धावनं कुर्यात्, स भिक्षुर्हस्तादिकं पूर्वमेव प्रक्षाल्यमानमालोचयेत्, दत्तावधानो भवेदित्यर्थः । तच्च प्रक्षाल्यमानमालोच्य 'अमुक' इत्येवं स्वनामग्राहं निवारयेत् ,यथामैवं कृथास्त्वमिति। यदि पुनरसौ गृहस्थः हस्तादिकं सचित्तोदकेन प्रक्षाल्य दद्यात्, तदप्रासुकमिति ज्ञात्वा न प्रतिगृह्णीयादिति । आचा०२ श्रु०१ अ०६ उ०।

किञ्च-

दोण्हं तु भुंजमाणाणं, एगो तत्थ निमंतए।
दिज्जमाणं न इच्छेज्जा, छंदं से पडिलेहए ॥३७॥

द्वयोर्भुञ्जतोः पालनां कुर्वतोरेकस्य वस्तुनः स्वामिनोरित्यर्थः। एकस्तत्र निमन्त्रयेत् तद्दानं प्रत्यामन्त्रयेत्, तद्दीयमानं नेच्छेदुत्सर्गतः, अपि तु छन्दमभिप्रायम् (से) तस्य द्वितीयस्य, प्रत्युपेक्षेत नेत्रवक्त्रादिविकारैः, किमस्येदमिष्टं दीयमानं, नवेति? इष्टं चेद्, गृह्णीयात्, न चेन्नैवेति। एवं भुञ्जानयोरभ्यवहारोद्यतयोरपि योजनीयम्, यतो 'भुजिः' पालनेऽभ्यवहारे च वर्तत इति सूत्रार्थः॥३७॥

ततः-

दोण्हं तु भुंजमाणाणं, दो वि तत्थ निमंतए।
दिज्जमाणं पडिच्छेज्जा, जं तत्थेसणियं भवे ॥३८॥

द्वयोस्तु पूर्ववत् भुञ्जतोः भुञ्जानयोर्वा, द्वावपि तत्रातिप्रसादेन निमन्त्रयेयाताम् तत्रायं विधिः-दीयमानं प्रतीच्छेत् गृह्णीयात्, यत्तत्रैषणीयं भवेत्तदन्यदोषरहितमिति सूत्रार्थः॥३८॥ दश०५ अ०१ उ०।

(३५) ग्राह्यवस्तूनामत्युष्णग्रहणे विधिः -

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा० जाव पविट्ठे समाणे से जं पुण जाणेज्जा-असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा अच्चुसिणं वा अस्संजए भिक्खुपडियाए सूवेण वा विहुवणेण वा तालियंटेण वा पत्तेण वा साहाए वा साहाभंगेण वा पेहुणेण वा पेहुण हत्थेण वा चेलेण वा चेलकण्णेण वा हत्थेण वा मुहेण वा फूमेज्ज वा, वीएज्ज वा, से पुव्वामेव आलोएज्जाआउसो ! त्ति वा भगिणि ! त्ति वा मा एतं तुमं असणं वा पाणं वा खाइमं व साइमं वा अच्चुसिणं सुप्पेण वा० जाव फूमाहि वा, वीयाहि वा, अभिकंखसि मे दातुं, एमेव दलयाहि, से सेवं वदंतस्स परो सुप्पेण वा० जाव० वीयित्ता आहट्टु दलएज्जा, तहप्पगारं असणं वा०४ अफासुयं० जाव णो पडिगाहेज्जा ॥

स भिक्षुर्गृहपतिकुलं प्रविष्टः सन् यदि पुनरेवं विजानीयात् । यथा-अत्युष्णमोदनादिकम् असंयतो भिक्षुप्रतिज्ञया शीतीकरणार्थं सूर्पेण वा, बीजनेन वा, तालवृन्तेन वा, मयूरपिच्छकृतव्यजनेनेत्यर्थः । तथा- पत्रेण वा, शाखया शाखाभङ्गेन, पल्लवेनेत्यर्थः । तथा वर्हेण, वहकलापेन वा, तथा वस्त्रेण वा वस्त्रकर्णेन वा मुखेन वा तथा प्रकारेणान्येन वा केनचित् (फूडेज्जा वेकेति) मुखवायुना शीतीकुर्यात्, हस्तादिभिर्वा वीजयेत्, स भिक्षुः पूर्वमेवालोचयेत् दत्तोपयोगो भवेत, तथाकुर्वाणं च दृष्ट्वैतद्वदेत। तद्यथा-अमुक इति वा भगितीति वेत्यामन्त्र्य मैवं कृथा यद्यभिकाङ्क्षसि मे दातुम् तत एवं स्थितमेव ददस्व, अथ पुनः स परो गृहस्थः (से) तस्य भिक्षोरेवं वदतोऽपि सूर्पेण च यावन्मुखेन वा वीजित्वा आहृत्य तथाप्रकारमशनादिकं दद्यात्, स च साधुरनेषणीयमिति मत्वा न परिगृह्णीयादिति। आचा०२ श्रु०१ अ०७ उ०। नि०चू०।

(३६) आधाकर्मिकादिविचारः-

इह खलु पाईणं वा पडीणं वा दाहिणं वा उदीणं वा संतेगतिया सड्ढा भवंति गाहावती वा० जाव कम्मकरी वा, तेसिं च णं एवं वुत्तपुव्वं भवति-जे इमे भवंति समणा भगवंतो सीलमंता वयमंता गुणमंता संजया संबुडा बंभचारिणो उवरया मेहुणाओ धम्माओ, णो खलु एतेसिं कप्पति आधाकम्मिए असणे वा०४ भोत्तए वा, पायत्तए वा, सेज्जं पुण इमं अम्हं अप्पणो सअट्ठाए णिट्ठितं। तं जहा-असणं वा० ४ सव्वमेयं समणाणं णिसिरामो, अवियाइं वयं पच्छा वि अप्पाणो सअट्ठाए असणं वा०४ वेतेस्सामो, एयप्पगारं णिग्घोसं सोच्चा णिसम्म तहप्पगारं असणं वा०४ अफासुयं अणेसणिज्जं० जाव लाभे संते णो पडिगाहेज्जा ॥

(इहेत्यादि) इहेति वाक्योपन्यासे, प्रज्ञापकक्षेत्रे वा । खलुशब्दो वाक्यालङ्कारे, प्रज्ञापकाद्यपेक्षया प्राच्यादौ दिशि सन्ति विद्यन्ते पुरुषाः, तेषु च केचन श्रद्धालवो भवेयुः; ते च श्रावकाः प्रकृतिभद्रका वा, ते चामी गृहपतिर्यावत्कर्म्मकरी वेति, तेषां चेदमुक्तपूर्वं भवेत् णमिति वाक्यालङ्कारे, य इमे श्रमणाः साधवो भगवन्तः शीलवन्तोऽष्टादशशीलाङ्गसहस्त्रधारिणो व्रतवन्तो रात्रिभोजनविरमणषष्ठपञ्चमहाव्रतधारिणो गुणवन्तः पिण्डविशुद्ध्याद्युत्तरगुणोपेताः संयमा इन्द्रियनोइन्द्रियसंयमवन्तः सुव्रता पिहिताश्रवद्वारा ब्रह्मचारिणो नवविधब्रह्मगुप्तिगुप्ताः उपरता मैथुनधर्म्मात् अष्टादशविकल्पब्रह्मोपेताः, एतेषां च न कल्पते आधाकर्म्मिकमशनादि भोक्तं, पातुं वा, अतो यदात्मार्थमस्माकं निष्ठितं सिद्धमशनादि०४, तत्सर्वमेतेभ्यः श्रमणेभ्यो (णिसिरामो त्ति) प्रयच्छाम। अपि च-वयं पश्चादात्मार्थमशनाद्यन्यत् वेतयिष्यामः संकल्पयिष्यामो निवर्त्तयिष्याम इति यावत्, तदेवं साधुरेवं निर्घोषं ध्वनिं स्वत एवश्रुत्वाऽन्यतो वा कुतश्चिन्निशम्य ज्ञात्वा तथाप्रकारमशनादि पश्चात्कर्मभयादप्रासुकमनेषणीयं मत्वा लाभे सति न प्रतिगृह्णीयादिति। आचा०२ श्रु०१ अ०९ उ०।

(३७) आकरखन्यादौ-

जे भिक्खू णवगनिवेसे अयआगरंसि वा तंवागरंसि वा तउआगरंसि वा सीसागरंसि वा रयणागरंसि वा वइरागरंसि वा अणुप्पविसित्ता असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिगाहेइ, पडिगाहंतं वा साइज्जइ ॥३७॥

अयं लोहं, तं जत्थ उप्पज्जति, सो अयागारो, तंवं, सीसगं, हिरण्णं रुप्पयं सुवण्णं, वइरं रत्नविशेषः पाषाणकं, तत्थ जो गेण्हति, तस्य मासलहु, आणादिया य दोसा।

अयमाइआगरा खलु, जत्तियमित्ता य आहिया सुत्ते ।
तेसु असणादीणं, गिण्हंताऽणाइणो दोसा ॥११०॥
मंगलें अमंगले वा, पवत्तणणिवत्तणे य थिरमथिरे ।
दोसा णिव्विसमाणे, इमे य दोसा णिविट्ठम्मि ॥१११॥
पुढवी ससरक्ख हरिते, सचित्ते मीसए हिए संका ।
सयमेव कोइ गिण्हति , तण्णीसाए अहव अण्णो ॥११२॥

णवगणिवेसे असत्थोवहता सचित्ता पुढवी, अहवा धाउमट्टिताखतिताए हत्था खरंटित्ता ससरक्खेण वा हत्थेण देज्ज, णवगणिवेसे वा हारियसंभवो सचित्तमीसस्स, तत्थऽण्णेण सुवण्णतिते हरिते साहू संकिज्जति। अहवा कोइ संजतो लुद्धो तण्णिक्खमिउकामो सयमेव गेण्हति । अहवा-साहुणिस्साते अण्णो कोइ गेण्हति, तत्थ आसंकाए गेण्हणकड्ढणातिया दोसा, जम्हा एते दोसा तम्हा णवगणिवेसेसु णो गेण्हेज्ज।

कारणे गेण्हेज्जा वि-

असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे भए व गलण्णे ।
अद्धाणरोहए वा, जतणा गहणं तु गीयत्थे ॥११३॥

पूर्ववत् ॥ नि०चू०५ उ०।

(३८) आरण्यकादीनाम्-

जे भिक्खू आरण्णयाणं वणट्ठयाणं अडवीजत्ताए पट्ठियाणं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिगाहेइ, पडिगाहंतं वा साइज्जइ ॥१२॥

''जे आरण्णाणं वणट्ठाणं अडविजत्ताए पयट्ठिणं इत्यादि'' अरण्णं गच्छंतीति आरण्णगा, वणं ठावंतीति वणट्ठा, आरण्या वनार्थाय धावन्तीत्यर्थः । तेसिं जत्तापट्ठियाणं जो असणाती गेण्हति, जत्तापडिणियत्ताणं असणादिसेसं, खउरादि वा, जो गेण्हति, तस्स आणादी दोसा, चउलहुं च पच्छित्तं।

तणकट्ठाऽऽहारगादी, आरण्णं वणं च काउ विण्णेया ।
अडविं पविसंताणं, णियत्तमाणाण तत्तो य ॥३२१॥

आदिसद्दातो पुप्फफलमूलकंदादीणि, तेसिं वणट्ठाणं अडविं विसंताणं जं संबलं कतं, तओ णियत्ताणं जं किंचि चुण्णादी, सेसं कंठं ।

तणकट्ठपुप्फफलमूलकंदपत्तादिहारका चेव ।
पत्थयणं वच्चंता, करेंति पविसंत सेसं च । ३२५॥

तणादिहारगा अडविं पविसंता अप्पणो पत्थयणं करेंति, सेसं उव्वरियं ।

अडविं पविसंताणं, अहवा पत्ते य पडिणियत्ताणं ।
जे भिक्खू असणादी, पडिच्छते आणमादीणि ॥३२३॥

इमो सो-

पच्छाकम्ममतीते, णियट्टमाणे य बंध वा तेसिं ।
अत्थिज्जा णु तदा सा, तद्दव्वे अण्णदव्वे य ॥३२४॥

अडविं पविसंतेणं जं संबलं कयं, तं साधूणं दातुं पच्छा अप्पणो अण्णं करेति, स णियट्टणे वि ण घेत्तव्वं, तेसिं बंध वा, तद्दव्वे अण्णदव्वे वा कया, सा अत्थेज्जा, तद्दव्वं जं चेव घरातो णीतं, अण्णदव्वं-जं अडवीए कंदचुण्णादि उप्पज्जति।

पत्थयणं दाउं इमं करेति-

कम्मं कीतं पामिच्चियं च अच्छेअऽगहणे विगिच्छं ।
कंदादीण व घातं, करेंति पंचिंदियाणं च ॥३२५॥

अप्पणो कम्मं ति अण्णं करेंति, अप्पणो वा क्रीणाति, पामिच्चं ति उच्छिण्णं गेण्हंति, अण्णेसिं वा अच्छिंदंति, अह ण गेण्हंति पत्थयणं, तो विगिच्छंति छुहाए, जं अणागाढादि परितावेज्जति । अहवा-भुक्खितो कंदादि गेण्हति, तत्थ परित्ताणंतणिप्फण्णं, अहवा-भुक्खितो जं लावगतित्तिरादि घातिस्सति, परितावणादिणिप्फण्णं, तिसु चरिमं । आरण्णातो णिगच्छेमाणाए जो गेण्हति तस्स इमे दोसा-

गाहा-

चुण्ण खउरादि दाउं, कप्पट्ठग देह कोव जह गोणे ।
वट्टण अण्णाणयणे, खउरादि वऽसंखडे भोई ॥३२६॥

चुण्णो वदरादियाण, गोरखदिरमादियाण खउरो, भत्तसेसं वा साधूणं दाउं कप्पट्ठिएहिं पुत्तणत्तुभत्तिजगादिएहिं अण्णेहि य तदासाए अत्थमाणेहिं जातिज्जमाणो जे वणे कंदे मूले चुण्डखउरभत्तसेसं वा। ते भणंति-दिण्णा मेहिं साधूणं, एवं भणंते ते परुण्णा रुण्णं करेंताणि, ताणि दट्ठूणं पदोसं गच्छेज्ज, जहा गावो पिंडणिज्जुत्तीए, तेसु वा वट्टमेसु अडवीओ अण्णं वा आणेति, खउरादिभो इत्ति भारियातिए सह असंखडं भवति, अंतरायदोसा य, जम्हा एवमादि दोसा, तम्हा वणं पविसंताणं णेंताणं वा ण घेत्तव्वं भवे।

कारणे तु-

असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे भए व गेलण्णे ।
अद्धाणरोहए वा, जयणा गहणं तु गीयत्थे ॥३२७॥

(जयण त्ति) पणगपरिहाणीए जाए चउलहुं पत्तो ताहे सावसेसं गेण्हंति। नि०चू०१६ उ०।

(३९) उत्सवेषु अर्द्धमासिकादिषु-

जे भिक्खू वा भिक्खुणी वा गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए अणुपविट्ठे समाणे से जं पुण जाणेज्जा-असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा अट्ठमिपोसहिएसु वा अद्धमासिएसु वा मासिएसु वा दोमासिएसु वा तेमासिएसु वा चाउम्मासिएसु वा पंचमासिएसु वा छम्मासिएसु वा उऊसु वा उऊसंधीसु वा उऊपरियट्टेसु वा बहवे समणमाहणअतिहकिवणवणीमगे एगातो उक्खातो परिएसिज्जमाणे पेहाए दोहिं उक्खाहिं परिएसिज्जमाणे पेहाए तिहिं उक्खाहिं परिएसिज्जमाणे पेहाए चउहिं उक्खाहिं परिएसिज्जमाणे पेहाए कुंडीमुहातो वा कलोवातितो वा सण्णिहिसण्णिचयाओ वा परिएसिज्जमाणे पेहाए तहप्पगारं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा अपुरिसंतरकडं० जाव अणासेवितं अफासुयं अणेसणिज्जं० जाव णो पडिगाहेज्जा, अह पुण एवं जाणेज्जा-पुरिसंतरकडं० जाव आसेवितं फासुयं० जाव पडिगाहेज्जा ॥

स भावभिक्षुर्यत्पुनरशनादिकेमाहारमेवंभूतं जानीयात्। तद्यथा-अष्टम्यां पौषध उपवासादिकः अष्टमीपौषधः, स विद्यते येषां ते अष्टमीपौषधिका उत्सवाः। तथा अर्द्धमासिकादयश्च, ऋतुसंधिः ऋतोः पर्यवसानम्, ऋतुपरिवर्त्तः ऋत्वन्तरमित्यादिषु बहून् श्रमणब्राह्मणतिथिकृपणवनीपकानेकस्मात्पिठरगाद् गृहीत्वा कूरादिकं (परिएसिज्जमाणे त्ति) तद्दीयमानाहारेण भोज्यमानान् प्रेक्ष्य दृष्ट्वा, एवं द्विकादिकादपि पिठरकाद् गृहीत्वेत्यायोजनीयमिति। पिठरक एव संकटमुखः कुम्भी (कलोवातितो) पृच्छीपिटकं वा तस्माद्धि, कस्मादिति (संति) संनिधिर्गोरसादेः सन्निचयः, तस्माद्वेति (परिएसिज्जमाणं पेहाएति) एवंभूतं पिण्डं दीयमानं दृष्ट्वा अपुरुषान्तरकृताद्विविशषणमप्रासुकमनेषणीयमिति मन्यमानो लाभो सति न प्रतिगृह्णीयादिति। एतदेव सविशेषणं ग्राह्यमाह-''अहेत्यादि''अथ पुनः स भिक्षुरेवं भूतं जानीयात्ततो गृह्णीयादिति संबन्धः। तद्यथा पुरुषान्तरकृतमित्यादि।

साम्प्रतं येषु कुलेषु भिक्षार्थं प्रवेष्टव्यं, तान्यधिकृत्याह-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए अणुपविट्ठे समाणे से जं पुण जाणेज्जा-असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा समवाएसु वा पिंडणियरेसु वा इंदमहेसु वा खंदमहेयु वा रुद्दमहेसु वा मुगुंदमहेसु वा भूतमहेसु वा जक्खमहेसु वा णागमहेसु वा थूभमहेसु वा चेइयमहेसु वा रुक्खमहेसु वा गिरिमहेसु वा दरिमहेसु वा अगडमहेसु वा तडागमहेसु वा दहमहेसु वा णदीमहेसु वा सरमहेसु वा सागरमहेसु वा आगरमहेसु वा अण्णतरेसु वा तहप्पगारेसु विरूवरूवेसु महामहेसु वट्टमाणेसु बहवे समणमाहण-अतिथिकिवणवणीमएसु एगातो उक्खातो परिएसिज्जमाणे पेहाए दोहि० जाव सण्णिहिसण्णिचयातो वा परिएसिज्जमाणे पेहाए तहप्पगारं असणं वा० ४ अपुरिसंतरकडं वा० जाव णो पडिगाहेज्जा, अह पुण एवं जाणेज्जा-दिण्णं जं तेसिं दायव्वं, अह तत्थ भुंजमाणं पेहाए गाहावतिभारियं वा गाहावतिभगिणिं वा गाहावतिपुत्तं वा गाहावतिधूयं वा सुण्हं वा धातिं वा दासं वा दासिं वा कम्मकरं वा कम्मकरिं वा से पुव्वामेव आलोएज्जा-आउसे त्ति वा भगिणि त्ति वा दाहिसि मे एत्तो अण्णयरं भोयणजायं, सेवं वदंतस्स परो असणं वा० ४ आहट्टु दलएज्जा, तहप्पगारं असणं वा० ४ सयं वा णं जाएज्जा, परो वा से देज्जा, फासुयं० जाव पडिगाहेज्जा॥

तथा ''से भिक्खू'' इत्यादि। स भिक्षुर्यत्पुनरेवंभूतमाहारादिकं जानीयात् तदपुरुषान्तरकृतादिविशेषेणम्। अप्रासुकमनेषणीय-मिति मन्येमानो न गृह्णीयादिति सम्बन्धः। तत्र समवायो मेलकः संखच्छेद-श्रेण्यादेः पिण्डमनिकरः पितृपिण्डं मृतकभक्तमित्यर्थः। इन्द्रोत्सवः प्रतीतः, स्कन्दः स्वामिकार्तिकेयस्तस्य महिमा पूजा विशिष्टे काले क्रियते। रुद्रादयः प्रतीताः, नवरं मुकुन्दो बलदेवः, तदेवं भूतेषू नानाप्रकारेषु प्रकरणेषु सत्सु तेषु च यदि यः कश्चित् श्रमणब्राह्मण-तिथिकृपणवनीपकादिरापतति, तस्मै सर्वस्मै दीयत इति मन्यमानो पुरुषान्तर इति कृतादिविशेषणविशिष्टमाहारादिकं न गृहीयात्। अथापि सर्वस्मै न दीयते, तथापिजनाकीर्ण्णमिति मन्यमान एवंभूते संखडिविशेषे न प्रविशेदिति। एतदेव सविशेषणं ग्राह्यमाह-''अहेत्यादि'' अथ पुनरेवंभूतमाहारादिकं जानीयात्। तद्यथा-दत्तं यत्तेभ्यः श्रमणादिभ्यो दातव्यमथानन्तरं तत्र स्वत एव तान् गृहस्थान् भुञ्जानान् प्रेक्ष्य दृष्ट्वा आहारार्थी तत्र यायात् तान् गृहस्थान्, स्वनामग्राहमाह। तद्यथा-गृहपतिभार्यादिकं भुञ्जानं पूर्वमेवाऽऽलोकयेत् पश्येत् प्रभुं प्रभुसंदिष्टं वा ब्रूयात्। तद्यथा-आयुष्मति! भगिनीत्यादि दास्यसि मह्यमन्यतरद्भोजन-जातमित्येवं वदते साधवे परोगृहस्थ आहृत्याऽशनादिकं दद्यात्। अत्र च जनसंकुलत्वात् सति वाऽन्यस्मिन् कारणे स्वत एव साधुर्याचेति, अयाचितो वा गृहस्थो दद्यात्, तत्प्रासुकमेषणीयमिति मन्यमानो गृह्णीयादिति। आचा० २ श्रु०१अ०२ उ०।

जे भिक्खू वा भिक्खुणी वा० जाव पविट्ठे समाणे से जाइं पुण कुलाइं जाणेज्जा। तं जहा-उग्गकुलाणि वा भोगकुलाणि वा राइण्णकुलाणि वा खत्तियकुलाणि वा इक्खाकुलाणि वा हरिधंसकुलाणि वा पसियकुलाणि वा वेसियकुलाणि वा गंडागकुलाणि वा कोट्टागकुलाणि वा गामरक्खकुलाणि वा वोक्कसालियकुलाणि वा अण्णयरेसु वा तहप्पगारेसु कुलेषु अदुगुंछिएसु वा अगरहितेसु वा असणं वा पणं वा खाइमं वा साइमं वा फासुयं एसणिज्जं० जाव पडिगाहेज्जा।

''से भिक्खू'' इत्यादि। स भिक्षुर्भिक्षार्थं प्रवेष्टुकामो यानि पुनरेवंभूतानि जानीयात्, तेषु प्रविशेदिति संबन्धः। तद्यथा-उग्रा आरक्षिका भोगा राज्ञः पूज्यस्थानीया राजन्याः सखिसंस्थानीयाः क्षत्रिया राष्ट्रकूटादय इक्ष्वाकव ऋषभस्वामिवंशिकाः हरिवंश्या हरिवंशजा अरिष्टनेमिवंश-स्थानीया (पसिय त्ति) गोष्ठाः वैश्या वणिजः गण्डकाः नापिताः, ये हि ग्रामे उद्घोषयन्ति, कोट्टागाः काष्ठतक्षकाः, वर्द्धकिन इत्यर्थः वोक्कशालिया : तन्तुवायाः, कियन्तो वा वक्ष्यन्ते ? इत्युपसंहरति - अन्यतरेषु वा तथाप्रकारेष्वजुगुप्सितेषु कुलेषु नानादेश विनेयसुख-प्रतिपत्त्यर्थं पर्यायान्तरेण दर्शयत्यगर्ह्येषु, यदि वा जुगुप्सितानि चर्मकारकुलादिनि, गर्ह्याणि दास्यादिकुलानि , विपर्यभूतेषु कुलेषु लभ्यमानमाहारादिकं प्रासुकमेषणीयमिति मन्यमानो गृह्णीयादिति। आचा०१ श्रु०१ अ०२ उ०।

(४०) इक्ष्वादिखण्डादि-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा से जं पुण जाणेज्जा-अंतरुच्छुयं वा उच्छुगंडियं वा उच्छुचोयगं वा उच्छुमेरुगं वा उच्छुसालगं वा उच्छुमालगं वा संवलिं वा संवलिथालगं वा अस्सिं खलु पडिग्गहियंसि अप्पे सिया भोयणजाए बहु उज्झियधम्मिए तहप्पगारं अंतरुच्छुयं वा० जाव संवलिथालगं वा अफासुयं० जाव णो पडिगाहेज्जा।

''से'' इत्यादि। स भिक्षुर्यत्पुनरेवंभूतमाहारजातं जा-

नीयात्। तद्यथा-(अंतरुच्छुयं व त्ति) इक्षुपर्वमध्यम्। (उच्छुगंडियं त्ति) सपर्वेक्षुसकलम् (चोयगं) पीलितेक्षुच्छोदिकं (मेरुगं ति) अग्रम् (सालगं ति) दीर्घशाखा (मालगं ति) शाखैकदेशः (संवलि त्ति) मुद्गादीनां विध्यस्तफलि (संवलिथालगं ति) वल्लदिफलीनां पाकः। अत्रैवंभूते परिगृहीतेऽप्यन्तरिक्षादिकल्पमशनीयं बहु परित्यजनधर्मकमिति मत्वा न गृह्णीयादिति। आचा०२ श्रु०१ अ०१० उ०।

परपीडादिप्रतिषेधाधिकारादिदमाह-

उप्पलं पउमं वा वि, कुमुथं वा मगदंतियं।
अन्नं वा पुप्फ सच्चित्तं, तं च संलुंचिया दए॥१४॥

उप्पलं नीलोत्पलादि, पद्मसरविन्दं वाऽपि, कुमुदं वा गर्दभकं वा, मगदन्तिकां मेत्तिकां, मल्लिकामित्यन्ये, तथा-अन्यद्वा पुष्पं सचित्तं शाल्मलीपुष्पादि, तच्च संलुञ्च्यापनीय छित्त्वा, दद्यादिति सूत्रार्थः॥१४॥

तं भवे भत्त पाणं तु, संजयाणं अकप्पियं।
दिंतियं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं॥१५॥
उप्पलं पउमं वावि, कुमुयं वा मगदंतियं।
अन्नं वा पुप्फ सच्चित्तं, तं च संमद्दिया दए॥१६॥
तं भवे भत्त पाणं तु, संजयाणं अकप्पियं।
दितियं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं॥१७॥

तादृशं भक्तपानं तु संयतानामकल्पिकं, यतश्चैवमतो ददतीं प्रत्याचक्षीत-न मम कल्पते तादृशमिति सूत्रार्थः॥१५॥ एवं तच्च संमृद्य दद्यात्। संमर्दनं नाम- पूर्वच्छिन्नानामेवापरिणतानां मर्दनम्। शेषं सूत्रद्वयेऽपि तुल्यम्। आह-एतत्पूर्वमप्युक्तमेव-''संमद्दमाणी पाणाणि, बीयाणि हरियाणि य।'' इत्यत्र। उच्यते-सामान्येन विशेषाभिधानाददोषः॥१७॥

तथा-

सालुयं वा विरालियं, कुमुयं उप्पलनालियं।
मुणालियं सासवनालियं, उच्छुखंडं अनिव्वुडं॥१८॥

सालूकं वा उत्पलकन्दं, विरालिकां पलासकन्दरूपां, पर्ववल्लिप्रतिपर्ववल्लिप्रतिपर्वकन्दमित्यन्ये, कुमुदोत्पल-नालौ प्रतीतौ, तथा मृणालिकां पद्मिनीकन्दोत्थां, सर्षपनालिकां सिद्धार्थमञ्जरीं, तथा इक्षुखण्डम् अनिर्वृतं सचित्तम्। एतच्चानिर्वृतग्रहणं सर्वत्राभिसंबध्यत इति सूत्रार्थः॥१८॥

किं च-

तरुणगं वा पवालं, रुक्खस्स तणगस्स वा।
अन्नस्स वा वि हरियस्स, आमगं परिवज्जए॥१९॥

तरुणं वा प्रवालं पल्लवं वृक्षस्य चिञ्चिणिकादेः, तृणस्य वा मधुरतृणादेः, अन्यस्य वाऽपि हरितस्याऽऽर्द्रकादेः आमम् अपरिणतं परिवर्जयेदिति सूत्रार्थः॥१९॥

तथा-

तरुणियं वा छिवाडिं, आमियं भज्जियं सइं।
दिंतियं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं॥२०॥

तरुणां वा संजातां (छिवाडिमिति) मुद्गादिफलिम्, आमामसिद्धां सचेतनां, तथा भर्जितां सकृदेकवारं ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मम कल्पते तादृशं भोजनमिति सूत्रार्थः॥२०॥

तहा कोलमणुस्सिन्नं, वेणुयं कासवनालियं।
तिलपप्पमगं नीमं आमगं परिवज्जए॥२१॥

तथा कोलं बदरम् अस्विन्नं वह्न्युदकयोगेनाऽनापादितविकारान्तरं, वेणुकं वंसकरिल्लं, कासवनालिकं श्रीपर्णीफलम्, अस्विन्नमिति सर्वत्र योज्यम्। तिलपर्पटं पिष्टतिलमयम्, नीमं नीलफलम्, आमं परिवर्जयेदिति सूत्रार्थः॥२१॥

तहेव चाउलं पिट्ठं, वियडं वा तत्तनिव्वुडं।
तिलपिट्ठं पूइपिन्नागं, आमगं परिवज्जए॥२२॥

तथैव तान्दुलं पिष्टं, लोट्टमित्यर्थः। विकटं वा शुद्धोदकं तप्तनिर्वृतं क्वथितं सत् शीतीभूतं, तप्तानिर्वृतम् वा अप्रवृत्तत्रिदण्डं, तिलपिष्टं तिललोट्टं, पूतिपिण्याकं सर्षपखलम्, आमं परिवर्जयेदिति सूत्रार्थः॥२२॥

कविट्ठं माउलिंगं च, मूलगं मूलवत्तियं।
आमं असत्थपरिणयं, मणसा वि न पत्थए॥२३॥

कपित्थं कपित्थफलं, मातुलिङ्गं च बीजपूरकं, मूलकं सपत्रजालकं, मूलवत्तिकां मूलकन्दचक्रलिम्, आभासपक्काम् अशस्त्रपरिणतां स्वकायशस्त्रादिनाऽविध्वस्ताम्, अनन्तकायत्वात् गुरुत्वख्यापनार्थमुभयम्। मनसाऽपि न प्रार्थयेदिति सूत्रार्थः॥२३॥

तहेव फलमंथूणि, बीयमंथूणि जाणिय।
विहेलगं पियालं च आमगं परिवज्जए॥२४॥

तथैव फलमन्थून् बदरचूर्णान्, बीजमन्थून् यवादिचूर्णान्, ज्ञात्वा प्रवचनतो विभीतकं विभीतकफलं, प्रियालं वा प्रियालफलं च, आममपरिणतं परिवर्जयेदिति सूत्रार्थः॥२४॥ दश०५ अ०२ उ०।

उन्मिश्रम्-

असणं पाणगं वा वि, खाइमं साइमं तहा।
पुप्फेसु होज्ज उम्मीसं, बीएसु हरिएसु वा॥५७॥

अशनं पानकं वाऽपि खाद्यं स्वाद्यं तथा पुष्पैर्जातिपाटलादिभिर्भवेदुन्मिश्रं बीजैर्हरितैर्वेति सूत्रार्थः॥५७॥

तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाणं अकप्पियं।
दिंतियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं॥५८॥

तादृशं भक्तपानं तु संयतनामकल्पिकं, यतश्चैवमतो ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मम कल्पते तादृशमिति सूत्रार्थः॥५८॥ दश०५ अ०१ उ०। (उद्गमोत्पादनादोषाः स्वस्वस्थाने निरूपिताः)

(४१) साम्प्रतमौषधिविषयं विधिमाह-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए अणुपविट्ठे समाणे से जाओ पुण ओसहिओ जाणेज्जाकसिणाओ सासियाओ अविदलकडाओ अतिरिच्छच्छिण्णातो अव्वोच्छिण्णाओ तरुणियं वा छिवाडिं अणभिक्कं तामज्जितं पेहाए अफासुयं अणेसणिज्जं ति मण्णमाणे लाभे संते णो पडिगाहेज्जा॥

''से भिक्खू वेत्यादि ।'' स भावभिक्षुर्गृहपतिकुलं प्रविष्टः सन्या: पुनरौषधी: शालिबीजादिका एवंभूता जानीयात्। तद्यथा-(कसिणाओ त्ति) कृत्स्ना: संपूर्णाः अनुपहताः। अत्र च द्रव्यभावाभ्यां चतुर्भङ्गिका-तत्र द्रव्यकृत्स्ना अशस्त्रोपहता:, भावकृत्स्ना: सचित्ताः, तत्र कृत्स्ना इत्यनेन चतुर्भङ्गकेषु आद्यं भङ्गत्रयमुपात्तम्। (सासियाओ त्ति) जीवस्य स्व आत्मीय उत्पत्ति प्रत्ययो यासु ता स्वाश्रयाः, अविनष्टयोनय इत्यर्थः। आगमे च कासांचिदौषधीनामविनष्टयोनिकालः पठ्यते । तदुक्तम्-''एतेसि णं भंते ! सालीणं केवइयं कालं जोणी संचिट्ठइ? इत्याद्यालापकाः। (अविदलकडाओ त्ति) न द्विदलकृता अद्विदलकृता अनूर्द्धपाटिता इत्यर्थः। (अतिरिच्छच्छिण्णाओ त्ति) तिरश्चीनं छिन्नाः कन्दलीकृताः, तत्प्रतिषेधादतिरश्चीनच्छिन्नाः । एताश्च द्रव्यतः कृत्स्नाः, भावतो भाज्याः (अव्वोच्छिन्नाओ त्ति) व्यवच्छिन्नजीव-रहिताः, न व्यवच्छिन्ना अव्यवच्छिन्नाः, भावतः कृत्स्ना इत्यर्थः। तथा (तरुणियं वा छिवाडिं ति) तरुणीमपरिपक्वाम् (छिवाडि त्ति) मुद्गादेः फलिम् ! तामेव विशिनष्टि (अणभिक्कंतभज्जियं ति) न अभिक्रान्ता जीवितादनभिक्रान्ता, सचेतनेत्यर्थः। इति अभिज्जितामभग्नाममर्दिता-मविराधिता मित्यर्थः। इति प्रेक्ष्य दृष्ट्वा तदेवंभूतमाहारजातमप्रासुकम-नेषणीयं वा मन्यमानः लाभं सति न प्रतिगृह्णीयात्।

साम्प्रतमेतदेव सूत्रं विपर्ययेणाऽऽह-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा० जाव पविट्ठे समाणे से जाओ पुण ओसहीओ जाणेज्जा-अकसिणाओ असासियाओ विदलकडाओ तिरिच्छछिण्णाओ अव्वोच्छिण्णाओ तरुणियं वा छिवाडिं अभिक्कंतभज्जियं पेहाए फासुयं एसणिज्जं ति मण्णमाणे लाभे संते णो पडिगाहेज्जा ।।

''से भिक्खू वा'' इत्यादि । स एव भावभिक्षुर्याः पुनरौषधीरेवं जानीयात्। तद्यथा-अकृत्स्ना असंपूर्णा द्रव्यतो भावतश्च पूर्ववत्, अस्वाश्रयो विनष्टयोनयः, द्विदलकृता ऊर्द्धपाटिताः, तिरश्चीनच्छिन्नाः कन्दलीकृताः, तथा तरुणिकां वा फलीं , जीवितादपक्रान्तां भग्नां चेति, तदेवंभूतमाहारजातं प्रासुकमेषणीयं च मन्यमानो लाभे सति कारणे गृह्णीयादिति।

ग्राह्याग्राह्य धिकार एवाऽऽहारविशेषमधिकृत्याऽऽह-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा० जाव पविसमाणे से जाओ पुण जाणेज्जा-पिहुयं वा बहुरयं वा भज्जियं वा मंथुं वा चाउलं वा चाउलपलंवं वा सइं संभज्जियं अफासुयं अणेसणिज्जं मण्णमाणे लाभे संते णो पडिगाहेज्जा ।।

''से भिक्खू वा'' इत्यादि। स भावभिक्षुर्गृहपतिकुलं प्रविष्टः सन् इत्यादि पूर्ववद्यावत् (पिहुयं व त्ति) पृथकं, जातावेकवचनम् । नवस्य शालिव्रीह्यादेरग्निना ये लाजाः क्रियन्ते त इति, बहुरजस्तुषादिकं यस्मिंस्तद् बहुरजः। (भज्जियं ति) अग्रयर्द्धपक्वं गोधूमादेः शीर्षकम् अन्यद्वा तिलगोधूमादि, तथा गोधूमादेर्मन्थुं चूर्णं , तथा चाउला-स्तण्डुलाः शालिव्रीह्यादेः, त एव चूर्णीकृतास्तत्कणिका वा (चउलपलंवं ति) तदेवंभूतं पृषुकाद्याहारजातं सकृदेकवारम् (संभज्जियं ति) आमर्दितं किञ्चिदग्निना किञ्चिदपरशस्त्रेणाप्रासुकमनेषणीयं मन्यमानो लाभे सति न प्रतिगृह्णीयात्।

एतद्विपरीतं ग्राह्यमित्याह-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा० जाव समाणे से जं पुण जाणेज्जा-पिहुयं वा जाव चाउलपलंवं वा असइं भज्जियं दुक्खुत्तो वा भज्जियं तिक्खुत्तो वा भज्जियं फासुयं एसणिज्जं० जाव लाभे संते पडिगाहेज्जा ।।

''से भिक्खू वा'' इत्यादि पूर्ववत्, नवरं यदसकृदनेकशोऽग्न्यादिना पक्वमामर्दितदुरभिपक्वादिदाषरहितं प्रासुकं मन्यमानो लाभे सति गृह्णीयादिति। आचा०२ श्रु०१ अ० उ०।

(४२) क्रीतप्रायादि-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा० जाव पविट्ठे समाणे से जं पुण जाणेज्जा-असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा अस्सपडियाए एगं साहम्मियं समुद्दिस्स पाणाइं भूताइं जीवाइं सत्ताइं समारंभ समुद्दिस्स कीयं पामिच्चं अच्छेज्जं अणिसट्ठं अभिहडं आहट्टु वेइए ति तं तहप्पगारं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पुरिसंतरकडं वा अपुरिसंतरकडं वा वहिया नीहडं वा अणीहडं वा अत्तट्ठियं वा अणत्तट्ठियं वा परिभुत्तं वा अपरिभुत्तं वा आसेवियं वा अणासेवियं वा अफासुयं वा० जाव णो पडिगाहेज्जा, एवं वहवे साहम्मिया एगं साहम्मिणिं वहवे साहम्मिणीओ समुद्दिस्स चत्तारि आलावगा भाणियव्वा ।।

''से भिक्खू'' इत्यादि । स भिक्षुर्यावत् गृहपतिकुलं प्रविष्टः सन्नेवंभूतमाहारजातं नो प्रतिगृह्णीयादिति सम्बन्धः (अस्सपडियाए त्ति) न विद्यते स्वं द्रव्यमस्य सोऽयमस्वः, भिर्ग्रन्थ इत्यर्थः। तत्प्रतिज्ञया कश्चिद् गृहस्थः प्रकृतिभद्रक एकं साधर्मिकं साधुं समुद्दिश्य निस्वोऽयमित्यभिसंधाय प्राणिनो भूतानि जीवाः सत्त्वाश्चैतेषां किञ्चिद्भेदात् भेदः, तान् समारभ्येत्यनेन मध्यग्रहणात्संरम्भसमारम्भा गृहीताः, एतेषां च स्वरूपमिदम्-''संकप्पो संरंभो, परियावकरो भवे समारंभो । आरंभो, उद्दवओ, सुद्धणयाणं तु सव्वेसिं ।।'' इत्येवं समारम्भादि समुद्दिश्याधिकृत्य कर्म कुर्यादित्यनेन सर्वा विशुद्धिकोटिर्गृहीता। तथा क्रीतं मूल्यगृहीतं, (पामिच्चं) उच्छिन्नकम्, आच्छेद्यं परस्माद्बलादाच्छिन्नम्, (अणिसट्ठं ति) अनिसृष्टं तत् स्वामिना अनुत्संकलितं, चोलकादि अभ्याहृतं गृहस्थेनाऽऽनीतं, तदेवंभूतं क्रीताद्याहृत्य (वेइए त्ति) ददात्यनेनापि समस्ता विशुद्धिकोटिर्गृहीता, तदाहारजातं चतुर्विधमपि तथाप्रकारमाधाकर्मादिदोषदुष्टं यो ददाति तस्मात् पुरुषादपरः पुरुषः पुरुषान्तरं, तत्कृतं वा, अपुरुषान्तरकृतं वा, तेनैव दात्रा कृतं, तथा-गृहान्निर्गतमनिर्गतं वा, तथा-तेनैव दात्रा स्वीकृतमस्वीकृतं वा, तेनैव दात्रा तस्माद्वहु परिभुक्तम परिभुक्तं वा, तथा स्तोकस्वादितमनास्वादितं वा, तदेवमप्रासुकमनेषनीयं च मन्यमानो लाभे सति न प्रति गृह्णीयादित्येतत् प्रथमचरमतीर्थकृतोरकल्पनीयम्, मध्यतीर्थकराणां चान्यस्य कल्पत इति, एवं बहून् साधर्मिकान् समुद्दिश्य प्राग्वद् वाच्यम्। तथा साध्वीसूत्रमष्येकत्वबहुत्वाभ्यां योजनीयमिति। आचा०२ श्रु०१ अ०१ उ०।

(४३) नौकागतम् -

जे भिक्खू णावाउ णावागयस्स असणं वा पाणं वा

खाइमं वा साइमं वा पडिगाहेइ, पडिगाहंतं वा साइज्जइ ॥१९॥ जे भिक्खू णावाउ जलगयस्स असणं वा वा०४ पडिगाहेइ, पडिगाहंतं वा साइज्जइ ॥२०॥ जे भिक्खू णावाउ पंकगयस्स असणं वा०४ पडिगाहेइ,पडिगाहंतं वा साइज्जइ ॥२१॥ जे भिक्खू णावाउ थलगयस्स असणं वा०४ पडिगाहेइ,पडिगाहंतं वा साइज्जइ ॥२२॥ जे भिक्खू जलगओ णावागयस्स असणं वा०४ पडिगाहेइ,पडिगाहंतं वा साइज्जइ ॥२३॥ जे भिक्खू जलगओ जलगयस्स असणं वा०४ पडिगाहेइ,पडिगाहंतं वा साइज्जइ ॥२४॥ जे भिक्खू जलगओ पंकगयस्स असणं वा०४ पडिगाहेइ,पडिगाहंतं वा साइज्जइ ॥२५॥ जे भिक्खू जलगओ थलगयस्स असणं वा०४ पडिगाहेइ,पडिगाहंतं वा साइज्जइ ॥२६॥ जे भिक्खू पंकगओ णावागयस्स असणं वा०४ पडिगाहेइ,पडिगाहंतं वा साइज्जइ ॥२७॥ जे भिक्खू (पंकगओ) पंकगयस्स असणं वा०४ पडिगाहेइ,पडिगाहंतं वा साइज्जइ ॥२८॥ जे भिक्खू पंकगओ जलगयस्स असणं वा०४ पडिगाहेइ,पडिगाहंतं वा साइज्जइ ॥२९॥ जे भिक्खू पंकगओ थलगयस्स असणं वा०४ पडिगाहेइ,पडिगाहंतं वा साइज्जइ ॥३०॥ जे भिक्खू थलगओ णावागयस्स असणं वा०४ पडिगाहेइ,पडिगाहंतं वा साइज्जइ ॥३१॥ जे भिक्खू थलगओ जलगयस्स असणं वा०४ पडिगाहेइ,पडिगाहंतं वा साइज्जइ ॥३२॥ जे भिक्खू थलगओ पंकगयस्स असणं वा०४ पडिगाहेइ,पडिगाहंतं वा साइज्जइ ॥३३॥ जे भिक्खू थलगओ थलगयस्स असणं वा०४ पडिगाहेइ,पडिगाहंतं वा साइज्जइ ॥३४॥

गाहा-

णावे॑ जले पंके॑ थले, संजोगा तत्थ होंति णायव्वा ।

तत्थ गएणं एको, गमणाऽऽगमणेण वितिओ उ ॥२८॥

णावागतो भिक्खू णावागयस्सेव दायगस्स हत्थातो असणादीहिं पडिगाहेति, तस्स चउलहुं। अण्णेसु तिसु भंगेसु भिक्खू णावागतो चेव, दायगा जलपंकथलगता, एतेसु चउरो भंगा। अन्नेसु चउभंगेसु भिक्खू जलगतो, दायगा णावाजलपंकथलगता। अण्णेसु चउसु भिक्खू पंकगओ, दायगा णावाजलपंकथलगता। अण्णेसु चउसु भिक्खू थलगतो, दायगा णावाजलपंकथलगता। एते सव्वे सोलससु वि पत्तेयं चउलहुं, णावगते दायगे पडिसेहो। एतेसु णावजलपंकथलपदेसु ठितो भिक्खू दायगस्स सट्ठाणपरट्ठाणसंजोगेण ठियस्स हत्थाओ गेण्हंतस्स दुगसंजोगाऽभिलावं अमुंचतेण सोलस भंगा कायव्वा, पूर्ववत्। तत्थ कमं *दरिसेइ-(तत्थ गएणं एक्को ति) णावारूढो णावागयस्स हत्थातो गेण्हति,* एस पढमभंगो, णावागतो जलगयस्स इच्छदायगस्स आगच्छमाणस्स जलट्ठियस्स हत्थातो गेण्हति, एवं पंकथलेसु वि गमणागमणेण ततियचउत्थभंगा। एवं सेसभंगा विवारस उवउज्ज भाणियव्वा।

गाहा-

एत्तो एगतरेणं, संजोगेणं तु जो उ पडिगाहे ।

सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराहणं पावे ॥२९॥

कण्ठ्या। सोलसमभंगो-थलगओ थलगतस्स समुद्दस्स अंतरदीवे संभवति। सा पुढवी सचित्ता, मीसा वा, ससणिद्धा वा, तेण पडिसिज्झति।

इमं वितियपदं-

असिवे ओमोयरिए, रायद्दुट्ठे भए व गेलण्णे ।

अद्धाणरोहए वा, जयणा गहणं तु गीयत्था ॥३०॥

जयणा पणगपरिहाणी, मीसपरंपरट्ठितादि वा जयणा, भाणियव्वा। नि०चू०१८ उ०।

(४४) तण्डुलप्रलम्बादि-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा से जं पुण जाणेज्जा-पिहुयं वा बहुरयं वा० जाव चाउलपलंबं वा असंजए भिक्खुपडियाए चित्तमंताए सिलाए० जाव मक्कडसंताणाए कोट्टेंसु वा, कोट्टेंति वा, कोट्टेस्संति वा, उप्पिणिंसु वा, उप्पिणिंति वा, उप्पिणिस्संति वा, तहप्पगारं पिहुं वा० जाव चाउलपलंबं वा अफासुयं० जाव णो पडिगाहेज्जा ॥

''से भिक्खू वा'' इत्यादि। स भिक्षुर्भिक्षार्थं गृहपतिकुलं प्रविष्टः सन् यदि पुनरेवं विजानीयात्। तद्यथा-पृथुकं शाल्यादिलाजान् (बहुरयं ति) बहुकम् (चाउलपलंबं ति) अर्द्धपक्वशाल्यादिकणादिकमित्यवमादिकमसंयतो गृहस्थोभिक्षु प्रतिज्ञया भिक्षुमुद्दिश्य चित्तमत्यां शिलायां तथा सबीजायां सहरितायां साण्डायां यावन्मर्कटसन्तानोपेतायामकुट्टिषुः कुट्टितवन्तः, तथा कुट्टन्ति, कुट्टिष्यन्ति वा। एकवचनाधिकारेऽपि च्छान्दसत्वात् तद्व्यत्ययेन बहुवचनं द्रष्टव्यम्। पूर्वत्र वा जातावेकवचनम्, तत्र पृथुकादिकं सचित्तं वाऽचित्तमत्यां शिलायां कुट्टयित्वा (उप्पिणिंसु त्ति) साध्वर्थं वा तावद्दत्तवन्तो, ददति, दास्यन्ति वा, तदेवं तथाप्रकारं पृथुकादि ज्ञात्वा लाभे सति नो प्रतिगृह्णीयादिति। आचा०२ श्रु०१ अ०६ उ०।

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा० जाव समाणे से जं पुण जाणेज्जा-असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा अगणिणिक्खित्तं तहप्पगारं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा अफासुयं० जाव लाभे संते णो पडिगाहेज्जा, केवली बूया-आयाणमेतं असंजए भिक्खुपडियाए उस्सिंचमाणे वा निस्सिंचमाणे वा आमज्जमाणे वा पमज्जमाणे वा उत्तारेमाणे वा उप्पण्णेमाणे वा अगणिजीवे हिंसेज्जा वा, अह भिक्खूणं पुव्वोवदिट्ठा एस पइण्णा एस हेतू एस कारणं एसुवएसो जं तहप्पगारं असणं वा पाणं खाइमं वा साइमं वा अगणिणिक्खित्तं अफासुयं अणेसणिज्जं लाभे संते णो पडिगाहेज्जा।

''से भिक्खू वेत्यादि।''स भिक्षुर्गृहपतिकुलं प्रविष्टश्चतुर्विधमप्याहारमग्नावुपरि निक्षिप्तं तथाप्रकारं ज्वालासंबद्धं लाभे

सति न प्रतिगृह्णीयात् । अत्रैव दोषमाह-केवली ब्रूयात- आदानं कर्मादानमेतदिति। तथाहि-असंयतो गृहस्थः भिक्षुप्रतिज्ञया तत्राप्युपरि व्यवस्थितमाहारमुत्सिञ्चन् आक्षिपन्, निस्सिञ्चन् दत्त्वोद्धरितं प्रक्षिपन्, तथा मार्जयन् सकृत् हस्तादिना शोधयन्, तथा प्रकर्षेण मार्जयन् शोधयन्, तथाऽवतायरन्, तथा प्रवर्तयन् तिरश्चीनं कुर्वन् अग्निजीवान् हिंस्यादिति । अथानन्तरं भिक्षूणां साधूनां पूर्वोद्दिष्टा एषा प्रतिज्ञा, एष हेतुः, एतत्कारणं, अयमुपदेशो, यत्तथाप्रकारमशनादिकं लाभे सति न प्रतिगृह्णीयात्- निक्षिप्तमप्रासुकमनेषणीय-मिति ज्ञात्वा लाभे सति न प्रतिगृह्णीयात् । आचा०२ श्रु०१ अ०६ उ०।

(४५) पर्युषिताहारो न ग्राह्यः-

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा पारिवासियस्स आहारस्स० जाव तयप्पमाणमित्तमवि भूमिप्पमाणमित्तमवि तोयविंदुप्पमाणमित्तमवि आहारमाहारित्तए नऽनत्थ आगाढं सरोगायंकेसु ॥

अस्य संबन्धमाह-

उदिओऽयमणाहारो, इमं तु सुत्तं पडुच्च आहारं ।
अत्थे वा निसि मोयं, पिज्जति सेसं पि माए व ॥

अयं मोकलक्षणो अनाहारः पूर्वसूत्रे उदितो भणितः। इदं तु सूत्रमाहारं प्रतीत्याऽऽरभ्यते । अर्थतो वा निशि मोकं पीयत इत्युक्तम् । अतः शेषमप्याहारादिकमेवं रात्रौ आहारयेदिति प्रस्तुतं सूत्रमारभ्यते। अनेन संबन्धेनाऽऽयातस्यास्य व्याख्या-नो कल्पते निर्ग्रन्थाणां निर्ग्रन्थीनां वा परिवासितस्याऽऽहारस्य मध्यात् त्वक्प्रमाणमात्रमपि भूतिप्रमाणमात्र-मपि तोयबिन्दुप्रमाणमात्रमपि यावदाहारमाहर्तुम्। त्वक्प्रमाणमात्रं नाम-तिलतुषत्रिभागमात्रं, तच्चाशनस्य घटते। भूमिप्रमाणमात्रम्-(एतदग्रेत-नस्तु 'पारियासिय' शब्दे वक्ष्यते)(बृ०) (सेसं ति) शेषमाहारं तस्य परिवासितस्य यदि तिलतुषत्वक्मात्रमप्याऽऽहरति, सक्तुकादीनां शुष्कचूर्णमेकस्यामङ्गुलौ यावती भूमिमात्रा लगति तावन्मात्रमपि पिबति, ततोऽस्य पानस्य बिन्दुमात्रमपि यद्यापिबति, तदा चतुर्गुरु, आज्ञा च तीर्थकृतां कोपिता भवति।

एते चापरे दोषाः-

मिच्छत्तमसंचइए, विराहणा सत्तुपाणजाईओ ।
संमुच्छणा य तक्कण, दवे य दोसो इमो होति ॥

अशनादि परिवास्यमानं दृष्ट्वा शैक्षोऽन्यो वा मिथ्यात्वं गच्छेत्, उड्डाहं वा कुर्यात्-कथमहो ! अम । असंचयिकाः? परिवासिते तु संयमात्मविराधना भवति, सक्तुकादिषु धार्यमाणेषु ऊरिणिकादयः प्राणिजातयः संमूर्च्छन्ति, पुपूलिकादिषु लालादिसंमूर्छना च भवति। उन्दुरो वा तत्तर्कणमभिलाषं कुर्वन् पार्श्वतः परिभ्रमन् मार्जारादिना भक्ष्यते, एवमादिका संयमाऽऽत्मविराधना, आत्मविराधना च तत्राशनादौ लालविषः सर्पो लालां मुञ्चेत्, त्वग्विषो वा जिघ्रन् निःश्वासेन विषीकुर्यात्, उन्दुरो वा लालां मुञ्चेत्; द्रवे चाहारे एते वक्ष्यमाणा दोषा भवन्ति।

तत्र ''मिच्छत्तमसंचइए ति'' पदं व्याख्याति-

सेह गिहिणा व दिट्ठे, मिच्छत्तं कहमसंचया समणा ?
संचयमिणिं करिंती, अन्नत्थ वि नूण एमेव ॥

शैक्षेण गृहिणा वा केनापि तत्राशनादौ परिवासिते दृष्टे मिथ्यात्वं भवेत् एवंविधं संचयं ये कुर्वन्ति कथं ते श्रमणा असंचया भवन्ति? यथा सर्वस्माद्रात्रिभोजनाद्विरमणमित्यभिग्रहं गृहीत्वा लुम्पन्ति, तथा नूनमिति वितर्कयाम्यहम् -अन्यत्रापि प्राणिवधादावेवमेव समाचरन्ति।

अथ द्रवे दोषो अभा नक्तमिति पदं व्याख्याति

निद्धे दवे पणीए, आवज्जण पाणि तक्कणा पडणा ।
आहारें दिट्ठदोसा, कप्पइ तम्हा अणाहारे ॥

इह वक्ष्यमाणेऽन्त्यगतसूत्रे भणितं यत् गृहादिकं तैलवर्जितम् अद्रवं भवति तदेव स्निग्धमुच्यते । यत्तु सौवीरद्रवादिकम् अलेपकृतं, यच्च दुग्धतैलवशाद्रवघृतादिकं लेपकृतं, तदुभयमपि द्रवमित्युच्यते । तथा चाह-''तत्थ पणियं तु निद्धं, तं चिय अहसिया अनिल्लवसं । सोवीरगदुद्धादी, दवं अलेवाऽलेवाडं ॥'' व्याख्यातार्था। प्रणीतं नाम-गूढस्नेहं घृतपूरादिकम् आर्द्रखाद्यकं, यद्वा-बहिः स्नेहेन म्रक्षितं मण्डकादि, अपरं वा स्नेहावगाढं कुरुणादि प्रणीतमुच्यते। तथा चाह-''गूढसिणेहं उल्लं, तुरुखज्जगं मक्खियं च जं वाहिं। नेहागाढं कुरुणं, तु एवमाई पणीयं तु ॥'' गतार्था । एवंविधे द्रवे प्रणीते च रात्रौ स्थापिते कीटिकादयः प्राणिजातीया आपद्यन्ते, पतन्तीत्यर्थः । अत्र गृहकोलिकादितर्कणपरम्परा वक्तव्या । (पडण त्ति) स्पन्दमाने भाजने अधस्तात्प्राणिजातीयाः संपतन्ति। परः प्राह-तत्त्वतो दोषा आहारे दृष्टाः तस्मादनाहारे परिवासयितुं कल्पते।

सूरिराह-

अण्णयरो वि न कप्पइ, दोसा ते चेव जे भणियप्पुव्वा ।
तद्दिवसं जयणाए, विइए आगाढ संविग्गे ॥

अनाहारोऽपि न कल्पते स्थापयितुं, यदि स्थापयति ततश्चतुर्लघु, त एव च विराधनादयो दोषाः, ये पूर्वमाहारे भणिताः। तस्मादनाहारमपि न स्थापयेत्; यदा प्रयोजनं तदा तद्दिवसं विभीतकहरीतकादिकं मार्ग्यते, अथ न लभ्यते दिने दिने मार्गयतो वा गर्हितः, ततो यतनया यथा अगीतार्था न पश्यन्ति , तथा द्वितीयपदमाश्रित्य आगाढे कारणे संविग्नो गीतार्थः स्थापयति। घनवारेण वर्मणा वा छर्दयति,पार्श्वतः क्षारेणावगुण्डयति, उभयकालं प्रमार्जयति ॥

जह कारणें ऽणाहारो, कप्पइ तद्द भेवेऊ इयरो वि ।
वोच्छिण्णम्मि मडंवे, विइयं अद्धाणमाईसु ॥

यथा कारणे अनाहारः स्थापयितुं कल्पत, तथेतरोऽप्याहारोऽपि कारणे कल्पते स्थापयितुम्। कथमित्याह-व्यवच्छिन्ने 'मडंवे' कारणे स्थिताः सन्तो द्वितीयपदं संबद्धयन्ते । तथाहि-तत्र पिप्पल्यादिकं दूर्लभं, प्रत्यासन्नं ग्रामादिकं तत्र नास्ति, ततः परिवासयेदपि, यथा कारणे पिप्पल्यादिकं स्थापयन्ति, तथा द्वितीयपदे अशनाद्यति स्थापयेत् । (अद्धाणमादी सुत्ति) अध्वप्रपन्ना अध्वकल्पं स्थापयेयुः, आदिशब्दात्प्रति-पन्नरूपार्थस्य ग्लानस्य वा योग्यं पानकादिकं स्थापयेत्।

''वोच्छिन्नमडंवं'' पदं व्याख्याति-

वुच्छिन्नम्मि मडंवे, सहसरुगुप्पायउवसमनिमित्तं।
दिट्ठत्याई तं चिय, गिण्हंती तिविह भेसज्जं ॥

व्यवच्छिन्ने मडम्बे वर्त्तमानानां सहसा शूलविशूचिकादिका रुगुत्पद्येत तस्योपशमनिमित्तं दृष्टार्थो गीतार्थः, आदिशब्दात् संविग्नादिगुणयुक्तास्ते अनागतमेव तदेव द्रव्यं गृह्णन्ति, येनोपशमो भवति, तच्च भेषजं द्रव्यं त्रिविधं-वातपित्तश्लेष्मभेषजभेदात् त्रिप्रकारं ज्ञेयम्। बृ०५ उ०।

जे भिक्खू पारियासिया पिप्पलिं वा पिप्पलिचुण्णं वा सिंगवेरचुण्णं वा० जाव पारियासियं विलं वा लोणं, उब्भियं वा लोणं आहारेइ, आहारंतं वा साइज्जइ ॥१९८॥

पारियासियं णाम-रातो पज्जुसियं, अभिण्णा पिप्पली, सा एव सुहुमा भेदकता चुन्ना, एवं मिरीयसिंगवेराणं पि, सिंगवेरं सुंठी, जत्थ विसए लोणं णत्थि, तत्थ उ सो उपच्चति, तं विललोणं भन्नति, उब्भियं पुण सयंरुहं, जहा-सामुद्दं सिंधवं वा, एवमादि परिवासितं आहारेंतस्स आणादी दोसा, चउगुरुं च। नि०चू०११ उ०।

(४६) बहिर्निर्हृतम् -

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा से जं पुण जाणेज्जा-असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा परं समुद्दिस्स वहिया णीहडंतं परेहिं असमणुण्णायं अणिसिट्ठं अफासुयं० जाव णो पडिगाहेज्जा, तं परेहिं समणुण्णायं समणिसिट्ठं फासुयं लाभे संते० जाव पडिगाहेज्जा, एवं खलु तस्स भिक्खुस्स वा भिक्खुणीए वा सामग्गियं ॥

स पुनर्यदेवंभूतमाहारजातं जानीयात्। तद्यथा-परं चारभटादिकमुद्दिश्य गृहान्निष्क्रान्तं यच्च परैर्यदि भवान् कस्मैचिद्दद्याति तदा ददात्वित्येवमननुज्ञातं, न तु दातुर्वा स्वामित्वेनानिसृष्टं वा, तद्ग्रहुदोषदुष्टत्वादप्रासुकमनेषणीयमिति मत्वा न प्रतिगृह्णीयात्, विपरीतं तु प्रतिगृह्णीयादित्येतत्तस्य भिक्षोः सामग्र्यमिति। आचा०२ श्रु०१ अ०६ अ०।

(४७) भिलिङ्ग सूपो न ग्राह्यः -

तत्थ से पुव्वागमणेणं पुव्वाउत्ते चाउलोदणे पच्छाउत्ते भिलिंगसूवे कप्पइ, से चाउलोदणे पडिगाहित्तए, नो से कप्पइ भिलिंगसूवे पडिगाहित्तए ॥३३॥ तत्थ से पुव्वागमणेणं पुव्वाउत्ते भिलिंगसूवे पच्छाउत्ते चाउलोदणे , कप्पइ से भिलिंगसूवे पडिगाहित्तए नो कप्पइ चाउलोदणे पडिगाहित्तए ॥३४॥ तत्थ से पुव्वागमणेणं दो वि पच्छाउत्ताइं,एवं नो से कप्पति दो वि पडिगाहित्तए, जे से तत्थ पुव्वागमणेणं पुव्वाउत्ते से कप्पइ पडिगाहित्तए, जे से तत्थ पुव्वागमणेणं पच्छाउत्ते से नो कप्पइ पडिगाहित्तए ॥३५॥

''तत्थ'' इत्यादितः ''पडिगाहित्तए त्ति'' यावत् सूत्रत्रयं सुगमम्। नवरम् (तत्थे त्ति) तत्र विकटगृहे वृक्षमूलादौ स्थितस्य साधोः (पुव्वागमणेणं ति) आगमनात्पूर्वकालं पूर्वायुक्तस्तन्दुलौदनः कल्पते, पश्चादायुक्तः (भिलिंगसूवे त्ति) भिलिङ्गसूपो मसूरदालिर्माषदालिः, सस्नेहसूपो वा न कल्पते। अयमर्थः-तत्र यः पूर्वायुक्तः साध्वागमात्पूर्वमेव स्वार्थं गृहस्थैः पक्तुमारब्धः, सकल्पते, दोषाभावात्। साध्वागमनान्तरं च यः पक्तुमारब्धः स पश्चादायुक्तः सन्ननकल्पते, उद्गमादिदोषसंभवात्। एवं शेषालापकद्वयमपि भाव्यम्। ३३।(३४)।(३५) कल्प०६ क्षण। (पानकवक्तव्यता 'पानक' शब्दे। मांसशब्दे मांसविचारः)

(४८) लवणग्रहणम् -

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा० जाव समाणे से जं पुण जाणेज्जा-विलं वा लोणं उंभियं वा लोणं अस्संजए भिक्खुपडियाए चित्तमंताए सिलाए० जाव संताणाए भिंदिंसु वा, भिंदंति वा, भिंदिस्संति वा, रुचिंसु वा, रुचिंति वा, रुचिस्संति वा, वलिंसु वा लोणं उब्भियं वा लोणं अफासुयं० जाव णो पडिगाहेज्जा।

''से भिक्खू वेत्यादि।'' स भिक्षुर्यदि पुनरेवं विजानीयात्। तत् यथा-(विलं इति) खनिविशेषोत्पन्नं लवणम् अस्य चोपलक्षणार्थत्वात् सैन्धवसौवर्चलादिकमपि द्रष्टव्यम्। तथोद्भिजमितिसमुद्रोपकण्ठक्षारोदकसंपर्कात् यदुद्भिद्यते लवणम्, अस्याप्युपलक्षणार्थत्वात् क्षारोदकसेकात् यद् भवति रुमकादिकं तदपि ग्राह्यम्, तदेवंभूतं लवणं पूर्वोक्तविशेषणविशिष्टायां शिलायामभेत्युः कणिकाकारं कुर्युः, तथा साध्वर्थमेव भिन्दन्ति, भेत्स्यन्ति वा, तथा श्लक्ष्णतरार्थं (रुचिंसु व त्ति) पिष्टवन्तः, पिंषन्ति, पेक्ष्यन्ति वा, तदपि लवणमेवं प्रकारं ज्ञात्वा नो गृह्णीयात्। आचा०२ श्रु०१ अ०६ उ०।

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा० जाव समाणे सिया से परो अभिहट्टु अंतो पडिग्गहंते विलं वा लोणं उंभियं वा लोणं परिभाएत्ताए णीहट्टु दलएज्जा, तहप्पगारं पडिग्गहगं परहत्थंसि वा परपायंसि वा अफासुयं णो पडिग्गाहेज्जा, से आहच्च पडिगाहिते सिया, तं च णातिदूरगए जाणेज्जा, से तमायाए तत्थ गच्छेज्जा २, पुव्वामेव आलोएज्जा-आउसो ! त्ति वा भइणीति वा इमं ते किं जाणता दिण्णं, उदाहु अजाणया? से य भणेज्जा-णो खलु मे जाणया दिण्णं, अजाणया कामं खलु। आउसो ! इदाणिं णिसिरामि, तं जहा-भुंजह च णं, परिभाएह च णं। तं परेहिं समणुण्णायं समणुसट्ठं ततो संजयामेव भुंजेज्ज वा,पीएज्ज वा, जं च णो संचाएति, भोत्तए वा पायए साहम्मिया, तत्थ वसंति संभोइया समणुण्णा अपरिहारिया अदूरगया, तेसिं अणुप्पदायव्वं सिया, णो जत्थ साहम्मिया जहेव बहुपरियावण्णे कीरति, तहेव कायव्वं सिया, एवं खलु तस्स भिक्खुस्स वा भिक्खुणीए वा सामग्गियं ॥

''से'' इत्यादि। स भिक्षुर्गृहादौ प्रविष्टः, तस्य च स्यात्कदा-

चित्परो गृहस्थः (अभिहट्टु अंतो इति) अन्तः प्रविश्य, पतद्ग्रहे काष्ठपट्टकादौ ग्लानाद्यर्थं खण्डादि याचमाने सति विडं वा लवणं खनिविशेषोत्पन्नमुद्भिजं वा लवणमाकराद्युत्पन्नं (परिभाएत्त ति) दातव्यं विभाव्य, दातव्यद्रव्यात् कञ्चिदंशं गृहीत्वेत्यर्थः । ततो निःसृत्य दद्यात्तथाप्रकारं परहस्तादिगतमेव प्रतिषेधयेत्, तच्च (आहच्चेति) सहसा प्रतिगृहीतं भवेत्, तं च दातारमदूरगतं ज्ञात्वा स भिक्षुस्तल्लवणादिकमादाय तत्समीपं गच्छेद्, गत्वा च पूर्वमेव तल्लवणादिकमालोकयेद्दर्शयेत्, एतच्च ब्रूयात्अमुक ! इति वा, भगिनि ! इति वा, एतच्च लवणादिकं त्वया जानता दत्तमुताऽजानता ? एवमुक्तः सन् पर एवं वदेत् । यथा-पूर्वं मया अजानता दत्तं, साम्प्रतं तु यदि भवता तेन प्रयोजनं, ततो दत्तमेतत्, परिभोगं कुरुध्वं, तदेव परैः समनुज्ञातं समनुसृष्टं सत्प्रासुकं, कारणवशात् अप्रासुकं वा भुञ्जीत० पिवेद्वा । यच्च न शक्नोति भोक्तुं, पातुं वा तत् साधर्मिकादिभ्यो दद्यात्, तदभावे बहुपर्यापन्नविधिं प्राक्तनवत् विदध्यात्, एतस्य भिक्षोः सामग्र्यमिति । आचा०२ श्रु०१ अ० उ० । दश०।

(४९) वनस्पतिप्रतिष्ठितम् -

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा० जाव समाणे से जं पुण जाणेज्जाअसणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा वणस्सइक-यापतिट्ठियं तहप्पगारं असणं वा० ४ वणस्सइकायपतिट्ठियं अफासुयं अणेसणिज्जं लाभे संते णो पडिगाहेज्जा, एवं तसकाए वि ॥

'से भिक्खू वा' इत्यादि । स भिक्षुर्गृहपतिकुलं प्रविष्टः सन् यत्पुनरेवं जानीयाद्वनस्पतिकायप्रतिष्ठितं तं चतुर्विधमप्याहारं गृह्णीयादिति । एवं त्रसकायसूत्रमपि नेयमिति । अत्र च वनस्पतिकायप्रतिष्ठितमित्यादिना निक्षिप्ताख्य एषणादोषोऽभिहितः, एवमन्येऽप्येषणादोषा यथासंभवं सूत्रेष्वेवायोज्याः । आचा०२ श्रु०१ अ० ७ उ०। (वनीपकपिण्डोऽपि स्वस्थाने)

(५०) बह्वन्नग्रहणे तत्परिष्ठापनम् -

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा बहुपरियावण्णं भोयणजायं पडिगाहेत्तया बहवे साहम्मिया तत्थ वसंति संभोइया समणुण्णा अपरिहारिया अदूरगया, तेसिं अणालोइया अणामंतिया परिट्ठवेति, माइट्ठाणं संफासे, णो एवं करेज्जा, से तमादाय तत्थ गच्छेज्जा, से पुव्वामेव आलोएज्जा-आउसंतो ! समणा ! इमे मे असणे वा पाणे खाइमे वा साइमे वा बहुपरियावण्णे, तं भुंजह च णं, से सेवं वदंतं परो वदेज्जाआउसंतो ! समणा ! आहारमेयं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं जावतियं २ परिसडइ, तावतियं २ भोक्खामो वा, पेहामो वा, सव्वमेयं परिसडइ, सव्वमेयं भोक्खामो वा, पेहामो वा ॥

''से इत्यादि । स भिक्षुर्बह्वदशनादिपर्यापन्नं लब्धं परिगृह्य बहुभिर्वा प्रकारैराचार्यग्लानप्राघूर्णकाद्यर्थं दुर्लभद्रव्यादिभिः पर्यापन्नमाहारजातं परिगृह्य तद्बहुत्वाद्भोक्तुमसमर्थः । तत्र च साधर्मिकाः सांभोगिकाः समनोज्ञा अपरिहारिका एकार्थाश्चालापकाः । इत्येतेषु सत्सु अदूरगतेषू वा लानानापृच्छ्य प्रमादितया परिष्ठापयेत् परित्यजेत्, एवं च मातृस्थानं संस्पृशेत् नैवं कुर्यात्, यच्च कुर्यात्तद्दर्शयति-स भिक्षुस्तदधिकमाहारजातं परिगृह्य तत्समीपं गच्छेद्, गत्वा च पूर्वमेवालोकयेद्दर्शयेदेवं ब्रूयात्-आयुष्मन् ! श्रमण ! ममैतदशनादि बहु पर्यापन्नं, नाहं भोक्तुमलमतो यूयं किं भुङ्ध्वम् ? तस्य चैवं वदतः स परो ब्रूयात्-यावन्मात्रं भोक्तुं शक्नुमस्तावन्मात्रं भोक्ष्यामहे, पास्यामो वा, सर्वं वा परिशटत्युज्यते तत्सर्वं भोक्ष्यामहे पास्याम इति । आचा०२ श्रु०१ अ०९ उ०। ('संथव' शब्दे संस्तववक्तव्यता । संसक्तव्याख्या 'संसत्त' शब्दे)

(५१) सुरभिं गृह्णाति, असुरभिं परिष्ठापयति -

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा० जाव समाणे अण्णयरं भोयणजायं पडिगाहेत्ता सुब्भिं सुब्भिं भोच्चा दुब्भिं दुब्भिं परिट्ठवेति, माइट्ठाणं संफासे, णो एवं करेज्जा, सुब्भिं वा दुब्भिं वा सव्वं भुंजे ण छड्डएज्जा । से भिक्खू वा भिक्खुणी वा० जाव समाणे अण्णयरं वा पाणगजायं पडिगाहेत्ता पुप्फं आविइत्ता कसायं परिट्ठवेति, माइट्ठाणं संफासे, णो एवं करेज्जा, पुप्फं पुप्फेति वा कसायं कसायेति वा सव्वमेयं भुंजेज्जा, णो किंचि वि परिट्ठवेज्जा ॥

''से'' इत्यादि । स भिक्षुरन्यतरभोजनजातं परिगृह्य सुरभिं २ भक्षयेत्, दुर्गन्धिं दुर्गन्धिं वा परित्यजेद् । वीप्सायां द्विर्वचनम् । मातृस्थानं चैवं संस्पृशेत्, तच्च न कुर्यात् । यथा च कुर्यात्तद्दर्शयति-सुरभिं वा दुर्गन्धिं वा सर्वं भुञ्जीत, न परित्यजेदिति । एवं पानकसूत्रमपि, नवरं वर्णगन्धोपेतं पुष्पं, तद्विपरीतं कषायं, वीप्सायां द्विर्वचनम् । दोषश्चानन्तरसूत्रयोराहारगार्द्ध्यात् सूत्रार्थहानिः, कर्मबन्धश्चेति । आचा०२ श्रु०१ अ०९ उ०।

जे भिक्खू अण्णयरं पाणगजायं, पडिगाहिता पुप्फं २ आइयंति, कसाइयं २ परिट्ठावइ, परिट्ठावंतं वा साइज्जइ ॥४२॥

अन्यतरग्रहणात् अनेके पानकाः प्रदर्शिता भवन्ति । खण्डकपानगुलसक्करादालिम मुद्दिताचिंचादिपाने, जातग्रहअणात् प्रासुकं, पडीत्युपसर्गे, ग्रह आदाने, विधिपूर्वकं गृहात्वा, पुप्फं णामअच्छं वण्णगंधरसफासेहिं पधाणं, कसायं स्पर्शादि प्रतिलोमप्रधानं, कषायं बहुलं कलुषमित्यर्थः । स्वसमयसंज्ञाप्रतिबद्धमिदं सूत्रम् । एवं करेंतस्स मासलहुं । एस सुत्तत्थो ।

अहुणा णिज्जुत्तिगाहा-

जं गंधरसोवेतं, अच्छं व दवं तु तं भवे पुप्फं ।
जं दुब्भिगंधमरसं, कलुसं वा तं भवे कलुसं ॥३१४॥ कंठा ।

गाहा-

घित्तूण दोण्णि वि दवे पत्तेयं अहव एक्कतो चेव ।
जे पुप्फमादिइत्ता, कुज्ज कसाए विगिंचणयं ॥३१५॥

दोण्णि वि-पुप्फ, कसायं च, एगम्मि वा भायणे, पत्तेगेसु वा भायणेसु पुप्फमा इत्ता, कसाए परिट्ठवणं करेज्ज, तस्स मासलहुं, इमे य दोसे पावेज्ज ।

गाहा-

सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराधणं तहा दुविधं ।
पावति जम्हा तेणं, पुव्व कसाए-तरं पच्छा ॥३१६॥

आयसंजमविराहणा पुव्वं कसायं पिवे, इतरं पुप्फं पच्छा।
जो पुप्फं पुव्वं पिवे, कसायं परिट्ठवेति,
तस्सिमे दोसा। गाहा-

तम्मि य गिद्धो अण्णं णेच्छे अलभंतोॅ एसणं पेल्ले।
परिठाविते य कूडे, तसाण संगामदिट्ठंतो ॥३१७॥

अच्छदवे गिद्धो अण्णं कसायं णेच्छति पातुं, तं कसायं परिट्ठवेउं पुणो वि हिंडंतस्स सुत्तादिपलिमंथो, अच्छं अलभंतो वा एसणं पेलेज्ज, आयविराहणादिया यबहुदोसा। कलुसे य परिट्ठविए कुडदोसा। जहा-कूडे पाणिणो वज्झंति, तहा तत्थ वि मच्छियादी पडिवज्झंति। अण्णे य तत्थ बेहवे पयंगा णिपतंति, पिवीलिगादि य संसज्जति, एवं बहुतसघातो दीसति। एत्थ संगामदिट्ठंतो-तत्थ कलुसे परिट्ठविए मच्छियाओ लग्गंति, तेसिं घरकोश्ला धावंति, ताए वि मज्जारी, मज्जरीए सुणगो, सुणगस्स वि अण्णो सुणगो, सुणहणिमित्तं सुणहसामिणो कलहेंति, एवं पक्खापक्खीए संगामो भवति। जम्हा एते दोसा। तम्हा णो पुप्फं आदिए कसायं परिट्ठवेति। इमा सामायारी-वसहिपालो अत्थंतो भिक्खागयसाहुआगमणं णाउं गच्छमासज्ज एक्कं दो तिण्णि वा भायणे उग्गाहेति, तो जो जहा साधुसंघाडगो आगच्छति, तस्स तहा पाणभोयणाओ अच्छंतेसु भायणेसु परिग्गालेति, एवं अच्छं पुढो कज्जति, कलुसं पि पुढो कज्जति, तं कसायं पुच्छा वा अपुच्छा वा पुव्वं पिवंति, तम्मि णिट्ठिते पुच्छा पुप्फं पिवंति।

पुच्छस्स इमे कारणा। गाहा-

आयरिऍ अभाविऍ पाणगट्ठता पादपोसधुवणट्ठा।
होति य सुहं विवेगो, सुह आयमणं व सागरी पच्छा ॥३१८॥

आयरियस्स पाणाए आयमणाए, एवं अभाविए सेहस्स वि उत्तरकालं पाणछ्ता, पायपोसं अपाणदारं, एतेसिं धुवणट्ठा, उच्चारियस्स य सुहं विवेगो कज्जति, ण कूडातिदोसा भवंति। सागारिए य आयमणादि सुहं कज्जति।

गाहा-

भाणस्स कप्पकरणं, दट्ठूणं वहिआयमंतो वा।
ओभावणमग्गहणं, कुज्जा दुविधं च वोच्छेदं ॥३१९॥

अच्छं भायणकप्पकरणं भवति, वहले पुण इमे अहम्मतरा, असुचितरत्वात् अग्गहणं वा करेज्ज, सर्वलोकपाषण्डधर्मातीता ह्येते अबाह्याः, अणादरो वा अग्गहणं, दुविहं वोच्छेदं करेज्ज, तद्द्रव्यान्यद्रव्यो:, तद्द्रव्यं पानकम्, अन्यद्रव्यं भक्तवस्त्रादि, अह वा तस्स साधो अन्नस्स वा साधो अववाएणं पुण परिट्ठवेंति वि सुद्धो।

जतो। गाहा -

वितियपदेॅ दोण्हि वि वहू, मीसे व विगिं वणारिहं होइ।
अविगिंचणारिहे वा, जवणिज्जे गिलाणमायरिए ॥३२०॥

दो वि वहू-पुप्फं कसायं च णज्जति, जहा अवस्सं कायं परिट्ठविज्जति, जइ वि तं पिज्जं ति ताहे तं न पिवंति, पुप्फं पिवंति, एस पत्तेयगहियाणं विही, अह मीसं गहियं, तत्थ गालिए पुप्फं बहुयं कसायं थोवं, तीहे तं परिट्ठविज्जति, पुप्फं पिवंति, अहवा-कसायं विगिंचिणारिहं होज्जा, अणेसाणिज्जं ति, ताहे परिट्ठविज्जति, अहवा-अविगिंचणारिहं पि जं आयरियातीणं जावणिज्जं ण भवति, एवं परिट्ठावेंतो सुद्धो।

विगिंचणारिहस्स वक्खाणं इमं। गाहा-

जं होति अप्पयं जं च-ऽणेसियं तं विगिंचणरिहं तु।
विसकत मंतकतं वा, दव्वविरुद्धं कतं वा वि ॥३२१॥

अपेयं मज्जमांसरसादि, अणेसणीयं तु उग्गमादिदोसजुत्तं, अहवा अपेयं इमं पच्छद्धेण-विससंजुत्तं, वसीकरणादिमंतेण वा अभिमंतियं, दव्वविरुद्धं जहा-खीरंविलाणं।

जे भिक्खू अण्णयरं भोयणजायं पडिगाहित्ता सुब्भिं सुब्भिं मुंजइ दुब्भिं परिट्ठवेइ, परिट्ठवंतं वा साइज्जइ ॥४३॥

सुभं सुब्भी, असुभं दुब्भी, शेषं पूर्ववत्।

गाहा-

वण्णेण य गंधेण य, रसेण फासेण जं तु उववेता।
तं भोयणं तु सुब्भिं, तव्विवरीतं भवे दुब्भिं ॥३२॥

जं भोयणं वण्णगंधरसफासेहिं सुभेहिं उववेतं, तं सुब्भिं भण्णति, इतरं दुब्भिं।

अहवा गाहा-

रसालमवि दुग्गंधि, भोयणं तु न पूतियं।
सुगंधिमरसालं पि, पूइयं तेण सुब्भि तु ॥३२३॥

रसेण उववेयं पि भोयणं दुब्भिगंधं ण पूजितं, दुब्भिमित्यर्थः॥ अरसालं पि भोयणं सुभगंधजुत्तं, पूजितमित्यर्थः।

गाहा-

घेत्तूण भोयणदुगं, पत्तेयं अहव एक्कतो चेव।
जे सुभिं भुंजित्ता, दुब्भिं तु विगिंचणं कुज्जा ॥३२४॥

सुब्भिं दुब्भिं च भोयणं एक्कतो पत्तेयं घेत्तुं जो साहू सुब्भिं भोच्चा दुब्भिं परिट्ठवेति, तस्स मासलहु, इमे य दोसा-

सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराधणं तथा दुविधं।
पावति जम्हा तेणं, दुब्भिं पुव्वेतरं पच्छा ॥३२५॥ कंठा॥

इमे य दोसा-

रसगेहि अधिक्खाए, अविधिमयंगालपक्कमे मायी।
लोभे एसण वाघा-तो दिट्ठंतोॅ अज्जमंगूहिं ॥३२६॥

रसेसु गही भवति, अण्णसाहूहिंतो अहिगं खायति, भोयणपमाणातो, अहिगं खायति, एगओ गहियस्स उद्धरित्तु सुभं खायति, इतरं छड्डेति, कागसियालगखइयकारगगेही, एवं अविही भवति, इंगालदोसो य भवति, रसगिद्धो गच्छे अ धितिं अलभंतो गच्छाओ पक्कमति, अपक्रमतीत्यर्थः। मायी-मंडलीए रसालं अलभंतो भिक्खागओ रसालं भोत्तुमागच्छति, भद्दकं भद्दकं भोच्चा विवण्णं विरसमाहारतीत्यादिरसभोयणे लुद्धो एसणं पिपेल्लेति, एत्थ दिट्ठंतो अज्जमंगू। जहा-"अज्जमंगू आयरिया बहुस्सुया बहुपरियारा मधुरं आगता, तत्थ सड्ढेहिं धरिज्जंति, ता कालंतरेण ओसण्णा जाता, कालं काऊणंभवणवासी उववण्णो, साहुपडिवोहणट्ठा आगओ सरीरमहिमाए अद्धकत्ताए जीहं णिल्लालेति। पुच्छिओ को भवं ? भणाति-अज्जमंगू हं। साधू सड्ढाय अणुसासिउं गतो, एते दोसा। पडिपक्खे अज्जसमुद्दा, ते रसगेही भित्ता एक्कतो सव्वं मेलेएं

भुंजति, तं च अरसं विरसं वा वि सव्वं भुंजे ण छड्डए, सूत्राभिहितं च कृतं भवति।

''रसगेहि त्ति'' अस्स व्याख्या-

सुब्भीदङ्गगजीहो, णेच्छति छातो वि भुंजितुं इतरं।
आवस्सएॅ परिहाणी, गोयरें दीहो इ उज्झिणिया ॥३७२॥

इतरं दुब्भि ति लभंतो वि सुब्भिमत्तणिमित्तं दीहं भिक्खायरियं अडति, सूत्तत्थमादिए सूत्तआवस्सएसु, परिहाणी भवति, दुब्भियस्स उज्झिणिया परिट्ठावणिया।

''अधिक्खाए त्ति'' अस्य व्याख्या-

मणुण्णं भोयणज्जायं, भुंजताण तु एकतो।
भुंजओ साहुभी सद्धिं, अधिक्खाए य वुच्चती ॥३२८॥

मनसो रुचितं मनोज्ञां भोअणं, जातमिति प्रकारवाचकः, साधुभिः सार्द्धं भुञ्जितः जो अधिकतरं खाए सो अधिक्खाओ भण्णए। जम्हा एते दोसा -

तम्हा विधीऍ भुंजे, दिण्णम्मि गुरूण सेस रातिणिते।
भुयति करंबे ऊण,एवं समता तु सव्वेसिं ॥३२९॥

का पुण विही, जाए आयरियगिलाणवालवुड्ढआदेसमादियाणं उक्कड्ढियं, पत्तेयगहियं वा दिण्णं, ससं मंणलिं रतिणिओ सुब्भिदव्वाविरोहेण, करंबे तु मंडलीए भुंजति , एवं सव्वेसिं समता भवति, एवं पुव्वुत्ता दोसा परिहारिया भवंति।

कारणओ परिट्ठवेज्जा-

वितियपदें दोण्णि वि वहू, मीसे व विगिचणारिहं होज्जा।
अविगिंचणारिहे वा, जवणिज्ज गिलाणमायरिए ॥३३०॥

पूर्ववत् कंठं।

जं होज्ज अभोज्जं जं, चऽणेसियं तं विगिंचणरिहं तु।
विसकय मंतकयं वा, दव्वविरुद्धं कतं वा वि ॥३३१॥

पूर्ववत् ॥३३१॥ नि०चू०२ उ०।

(५२) अन्नगन्धः-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा० जाव पविसमाणे से आगंतारेसु वा आरामागारेसु वा गाहावतिकुलेसु वा परियावसहेसु वा अण्णरांधाणि वा पाणगंधाणि वा सुरभिगधाणि वा अग्घाय से तत्थ आसायवडियाए मुच्छिए गिद्धे गढिए अज्झोववण्णे अहो गंधो अहो गंधो णो गंधमाघाएज्जा ॥

''से भिक्खू वा'' इत्यादि। (आगंतारेसु वेति) पत्तनाद् बहिर्गृहेषु तेषु ह्यागत्यागत्य पथिकादयस्तिष्ठन्तीति, तथाऽऽरामगृहेषु वा, पर्यावसथेष्विति भिक्षुकादिमठेषु चैत्येवमादिष्वन्नपानगन्धान् सरभीनाघ्राय स भिक्षुस्तेष्वास्वादनप्रतिज्ञया मूर्च्छितोऽध्युपपन्नः सन्नहो गन्धः, अहो गन्ध इत्येवमादरवान्न गन्धं जिघृक्षेदिति। आचा०२ श्रु०१ अन्न०८ उ०।

(५३) आचार्याद्यर्थं तु-

आयरिए य गिलाणे, पाहुणए दुल्लहे सहसदाणे।
एवं होइ अजाया, इमा उ गहणे विही होइ ॥११३॥

कदाचित् कस्मिँश्चित् क्षेत्रे आचार्यप्रायोग्यं दूर्लभ भवति, ततश्च सर्व एव सङ्घाटकाश्चार्याप्रायोग्यस्य ग्रहणं कुर्वन्ति। ततश्च तत् घृतादि कदाचित् सर्व एव लभन्ते, ततश्च तदुद्वरति, अन्येषां च साधूनां पर्याप्तम्, एवमाचार्यार्थं गृहीतस्य शुद्धस्यापि परिज्ञापना भवतीति। तथा ग्लानार्थमप्येवं गृहीतं यदुद्वरति, प्राघूर्णकानामप्येवमेव, तथा दुर्लभलाभे सति सर्वैरेव सङ्घाटकैर्गृहीतमुद्वरतीति। तथा च-(सहसदाणे) अप्रतकित प्रचुरमुद्वरति, ततश्चैवं भवति, अजाताऽपरिष्वापनिका, तत्र वाऽऽचार्यादीनां ग्रहणेष्वयं विधिर्वक्ष्यमाणो भवतीति ॥११३॥

कश्चासाविति? अत आह-

जइ तरुणो निरुवहओ, भुंजइ सो मंडलीऍ आयरिओ।
असहुस्स वीसगहण, एमेव य होइ पाहुणए ॥११४॥

केचन एवं भणन्ति-यद्यसावाचार्यः तरुणो, निरुपहतपञ्चेन्द्रियश्च, ततः स्वल्पशो मण्डल्यामेव भुङ्क्ते सामान्यम्। अथ 'असहू' असमर्थः, ततस्तस्य विष्वक् ग्रहणं प्रायोग्यस्य कर्त्तव्यम्। एवमेव प्राघूर्णकोऽपि विधिर्द्रष्टव्यः। यदि प्राघूर्णकः समर्थः, ततो नैव तत् प्रायोग्यस्य ग्रहणं कर्त्तव्यम्, अथासमर्थः ततः क्रियते इति। केचित्पुनरेवं भणन्ति। यदुत-समर्थस्याप्याचार्यस्य प्रायोग्यग्रहणं कर्त्तव्यम् ॥११४॥

यदुत एते गुणा भवन्ति-

सुत्तत्थथिरीकरणं, विणओ गुरुपूयणं बहूमाणे।
भवइ य सद्धावड्ढी, वुड्ढी बलवद्धणं चेव ॥११५॥

आचार्यस्य प्रायोग्यग्रहणेन सूत्रार्थयोः स्थिरीकरणं भवति, यतो मनोज्ञाहारेण सूत्रार्थयोः सूखेनैव चिन्तयति, वाचाऽसक्तस्य अत आचार्यस्य प्रायोग्यग्रहणं कर्त्तव्यम्। तथा विनयश्चानेन प्रकारेण प्रदर्शितो भवति , गुरुपूजा कृता भवति सेहस्य च आचार्यकृते बहुमानः प्रदर्शितो भवतीति; अन्यथाऽसौ इदं चिन्तयति-यदुत न कश्चिदत्र गुरुर्नाऽपि लघुरिति, अतो विपरिणामो भवति। तथा प्रायोग्यदानतश्च श्रद्धावृद्धिर्भवति, तथा वृद्धेर्बलस्य च वर्द्धनं कृतं भवति, तत्र महती निर्जरा भवतीति ॥११५॥

एएहिँ कारणेहिँ उ, केइ सहुस्स वि वयंति अणुकंपा।
गुरुअणुकंपाए पुण, गच्छे तित्थे य अणुकंपा ॥११६॥

एभिः पूर्वोक्तकारणैः कश्चित्समर्थस्यापि आचार्यस्यानुकम्पा कर्त्तव्या इत्येवं वदन्ति। यतः गुरोरनुकम्पया गच्छे तीर्थे चानुकम्पा कृता भवति; यतश्चैवमतः प्रायोग्यग्रहणं गुराः कर्त्तव्यमिति ॥११६॥

कीदृशं पुनराचार्यप्रायोग्यं ग्राह्यमिति ? अत आह-

सइ लाभे पुण दव्वे, खेत्ते काले य भावओ चेव।
गहणं तिसु उक्कोसं, भावे जं जस्स अणुकूलं ॥११७॥

सति विद्यमाने लाभे द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावश्च उत्कृष्टं ग्राह्यम्। इदानीं नियुक्तिकारो व्याख्यानयन्नाह-(गहणं तिसु उक्कोसं) ग्रहणं त्रिषु द्रव्यक्षेत्रकालेषु उत्कृष्टं कर्त्तव्यम्, भावे यद्वस्तु यस्यानुकूलं तत् गृह्यते।

इदानीं भाष्यकृद्व्याख्यानयति-तत्र द्रव्योत्कृष्टतां प्रदर्शयन्नाह-

कलमोयणे तु पयसा, उक्कोसो हाणि कोद्दवुसो तु।
तत्थ वि मिउ तुप्पयरं, जत्थ व जं अस्सियं दोसु ॥११८॥

कलमशाल्योदनं पयसा सह द्रव्यत उत्कृष्टं ग्राह्यं, तदलाभे हान्या तावत् गृह्यते यावत् कोद्रवबुसम्। 'कोद्दवं चाउलयं'। तत्राप्ययं विशेषः क्रियते- यदुत-तदेव चाउलयं मृदु गृह्यते, तथा (तुप्पयरं ति) स्निग्धतरं तदेव चाउलयं गृह्यते, उक्तं द्रव्योत्कृष्टम्।

इदानीं क्षेत्रकालोत्कृष्टप्रतिपादनायाऽऽ-

(जत्थ व जं अचियं दोसु) द्वयाः क्षेत्रकालयोः यद्वस्तु यत्र पूजितं तत् तत्र गृह्यते। एतदुक्तं भवति-यद्यत्र क्षेत्रे बहुमतं द्रव्यं तत् तत्र तस्मिन् क्षेत्रोत्कृष्टमुच्यते, तच्च ग्राह्यं, तथा यद्वस्तु यस्मिन् काले कालोत्कृष्टमुच्यते। भावोत्कृष्टं पुनः निर्युक्तिकारणैव व्याख्यातम्। उक्तं प्रसंगागतम्॥११८॥

इदानीं यदुक्तमाचार्यादीनां गृहीतं सद् यथोद्वरति, तथा प्रतिपादयन्नाह-

लाभे सइ संघाडो, गिण्हइ एगो ए इयरहा सव्वे।
तस्सऽप्पणो य पज्जत्तगेण्हणे होइ अइरेगं॥११९॥

यदि तस्मिन्क्षेत्रे घृतादीनां स्वभावेनैव लाभोऽस्ति, ततस्तस्मिन्काले सति आचार्यार्थमेक एव संघाटकः आयोग्यं गृह्णाति (इयरह त्ति) यदा तस्मिन् क्षेत्रे प्रायोवृत्त्या प्रायोग्यस्य लाभः, तदा सर्व एव संघटकाः तस्याचार्यस्य आत्मनश्चार्थे, पर्याप्तग्रहणे सति अतिरिक्तं भवति, ततश्च तत् परिष्ठाप्यते इति॥११९॥

इदानीं ''गिलाण त्ति'' व्याख्यानयन्नाह-

गेलन्नगहणनियमं, नाणत्तोहासियं पि तत्थ भवे।
ओहासियमुव्वरियं, विगिंचए सेसगं भुंजं॥१२०॥

ग्लानस्य यन्नियमेन प्रायोग्यग्रहणं, यदि परं नानात्वम् ''ओभासितं पि'' प्रार्थितमपि तत् ग्लाने भवति, ग्लानार्थं प्रायोग्यस्य प्रार्थनमपि क्रियते, ततश्च ''ओभासितं'' प्रार्थितं यत् ग्लानार्थं, पुनश्च यदुद्वरति, ततस्तद् विगिञ्च्यते परित्यत्यते, (सेसगं भुंजे त्ति) शेषं यदनवभासितम् अप्रार्थितम् उद्वरितं, तं भुञ्जीत कश्चित्साधुरिति, प्राघूर्णकोऽपि आचार्यवद्व्याख्यातो द्रष्टव्यः॥१२०॥

इदानीं ''दुल्लभे त्ति'' व्याख्यानयन्नाह-

दुल्लहदव्वं व सिया, घयाइ घूत्तूण सेसमुस्संति।
थोवं देमि व गेण्हामि वेति सहसा भते अयरिं॥२१॥

दुर्लभद्रव्यं वा स्याद्भवेत् घृतादि, तद् गृहीत्वोपभुज्य च यच्छेषं तदुत्सति, एवं वा परिष्ठापनिका भवति। ('सहसदाणत्ति' व्याख्या 'परिट्ठवणा' शब्दे वक्ष्यते) ओघ०।

(५४) ग्लानार्थं गृहीत्वा स्वयं नाश्नीयात्-

से एगतिओ साहारणं वा पिंडवायं पडिगाहेज्जा, ते साहम्मिए अणापुच्छित्ता जस्स जस्स इच्छइ, तस्स तस्स खद्धं खद्धं दलयति, माइट्ठाणं संफासे, णो एवं करेज्जा, से तमायाए तत्थ गच्छेज्जा, पुव्वामेव आलोइज्जा-आउसंतो ! समणा ! संति मम पुरे संयुया वा, तं जहा-आयरिए वा उवज्झाए वा पवत्ती वा थेरे वा गणी वा गणहरे वा गणावच्छेइया वा, अवियाइं एतेसिं खद्धं खद्धं दाहामि, सेणेवं वयंतं परो वइज्जा-कामं खलु आउसो ! अहापज्जत्तं णिसराहि, जावइयं परो वयइ, तावइयं तावइयं णिसिरेज्जा, सव्वमेयं परो वयति, सव्वमेयं णिसिरेज्जा। से एगतिओ मणुण्णं भोयणजायं पडिगाहेत्ता पत्तेणं भोयणेणं पलिच्छादेति, मा मेतं दातियं तं दट्ठूणं सयमातिए एवं आयरिए वा० जाव गणावच्छेइए वा णो खलु मे कस्स पि किंचि वि दायव्वं सिया, माइट्ठाणं संफासे, णो एवं करेज्जा। से तमायाए तत्थ गच्छेज्जा २ पुव्वामेव उत्ताणए हत्थे पडिग्गहं कट्टु इमं खलुत्ति २ आलोएज्जा, णो किंचि वि णिगूहेज्जा, से एगतिओ अण्णयरं भोयणजायं पडिगाहेज्जा, भद्दयं २ भोच्चा विवण्णं विरसमाहरति, माइट्ठाणं संफासे, णो एवं करेज्जा।

''से'' इत्यादि। स भिक्षुरेकतरः कश्चित्साधारणं बहूनां सामान्येन दत्तं वाशब्दः पूर्वोत्तरापेक्षया पक्षान्तरद्योतकः। पिण्डपातं परिगृह्य तत्साधर्मिकननापृच्छ्य यस्मै रोचते तस्मै तस्मै स्वमनीषिकया (खद्धं खद्धं ति) प्रभूतं प्रभूतं प्रयप्रच्छति, एवंच मातृस्थानं संस्पृशेत्, तस्मान्नैवं कुर्यादिति। असाधारणपिण्डावाप्तावपि यद्विधेयं तद्दर्शयति-''से इत्यादि।'' स भिक्षुस्तमेषणीयं केवलवेषावाप्तं पिण्डमादाय तत्राचार्याद्यन्तिके गच्छेत्। गत्वा चैवं वदेत्-यथा आयुष्मन्! श्रमण! सन्ति विद्यन्ते संस्तुता वा यदन्तिके अधीतं श्रुतं वा, तत्संबन्धिनो वा अन्यत्रावासितास्तांश्च स्वनामग्राहम्। तद्यथा-आचार्योऽनुयोगधरः, उपाध्यायोऽध्यापकः, प्रवृत्तिर्यथायोगं वैयावृत्यादौ साधूनां प्रवर्तकः, संयमादौ सीदतां साधूनां स्थिरीकरणात् स्थविरः, गच्छाधियो गणी, यस्त्वाचार्यदेशीयो गुर्वादेयात् साधुगणं गृहीत्वा पृथग्विहरति स गणधरः। गणाच्छेदकस्तु गच्छकार्यचिन्तकः (अवियाइंति) एवमादीनुद्दिश्यैतद्वदेत्। यथा-अहनेतेभ्यो युष्मदनुज्ञया (खद्धं खद्धं ति) प्रभूतं प्रभूतं दास्यामि। तदेवं विज्ञप्तः सन् आचार्यादिर्यावन्मात्र मनुजानीते तावन्तात्रमेव निसृजेद्दद्यात् सर्वानुज्ञया सर्वं वा दद्यादिति। किञ्च ''से'' इत्यादि सुगमम्, यावन्नैवं कुर्यात्। यच्च कुर्यात्तद्दर्शयति-स भिक्षुस्तं पिण्डमादाय तत्राचार्याद्यन्तिकं गच्छेद्, गत्वा च सर्वं यथावस्थितमेव दर्शयेत्, न किञ्चिदवगूहेत् प्रच्छादयेदिति। साम्प्रतमटतो मातृस्थान-प्रतिषेधमाह-''से इत्यादि।'' स भिक्षुरेकतरः कश्चिदन्तरद्वर्णाद्युपेतं भोजनजातं परिगृह्याटन्नेव रसगृध्नुतया भद्रकं भद्रकं भुक्त्वा यद्विवर्णमन्तप्रान्तादिकं तत्प्रतिश्रये समाहरत्यानयति, एव च मातृस्थानं संस्पृशेत्, न चैवं कुर्यादिति॥आचा०२ श्रु०१ अ०१० उ०।

णिग्गंथं च णं गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए अणुप्पविट्ठं केइ दोहिं पिंडेहिं उवनिमंतेज्जा-एगं आउसो ! अप्पणा भुंजाहि, एगं थेराणं दलयाहि, से य तं पडिगाहेज्जा, थेरा य से अणुगवेसियव्वा सियस, जत्थेव अणुवगेसमाणे थेरे पासेज्जा, तत्थेव अणुप्पदायव्वे सिया, नो चेव णं अणुगवेसमाणे थेरे पासेज्जा, तं नो अप्पणा भुंजेज्जा, नो अण्णेसिं दवए, अणावाए अचित्ते वहुफासुए थंडिल्ले पडिलेहित्ता परिमज्जित्ता परिट्ठवियव्वे सिया। निग्गंथं च णं गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए अणुप्पविट्ठं केइ तिहिं पिंडेहिं उवनिमंजतेज्जा-एगं आउसो ! अप्पाणा भुंजाहि, दो थेराणं दलयाहि, से य ते पडिगाहेज्जा, थेरा य अणुवा-

वेसमाणे सेसं तं चेव० जाव परिट्ठवियव्वे सिया। एवं० जाव दसहिं पिंडेहिं उवनिमंतेज्जा, णवरं एगं आएसो ! अप्पणा भुंजाहि, नव थेराणं दलयाहि, सेसं तं चेव० जाव परिट्ठवियव्वे सिया। निग्गंथं च णं गाहावइकुलं० जाव केइ दोहिं पडिग्गहेहिं उवनिमंतेज्जा-एगं आउसो ! अप्पणा पडिभुंजाहि, एगं थेराणं दलयाहि, से य पंपडिगाहेज्जा तहेव० जाव तं नो अप्पाणा परिभुंजेज्जा, नो अण्णेसिं दावए , सेसं तं चेव० जाव परिट्ठावियव्वे सिया, एवं जाव दसहिं पडिग्गहेहं, एवं जहा पडिग्गहवत्तव्वया भणिया, एवं गोच्छगरयहरणचोल पट्टगकंबललट्ठीसंथारगवत्तव्वया भाणियव्वा० जाव दसहिं संथारएहिं उवनिमंतेज्जा० जाव परिट्ठवियव्वे सिया।

निर्ग्रन्थः पुनर्गृहपतिकुलं गृहिगृहम् (पिंडवायपडियाए त्ति) पिण्डस्य पातो भोजनस्य पात्रे गृहस्थान्निपतनं, तत्र प्रतिज्ञा ज्ञानं बुद्धिः, पिण्डपातप्रतिज्ञा, तथा पिण्डस्य पातो मम पात्रे भवत्विति बुद्ध्येत्यर्थः। (उवनिमंतेज्ज त्ति) भिक्षो ! गृहाणेदं पिण्डद्वयमित्यभिध्यादित्यर्थः। तत्र च ''एगमित्यादि'' (से य त्ति) स पुनर्निर्ग्रन्थः। (तं ति) स्थविरपिण्डम् (थेराय से त्ति)। स्थविराः पुनस्तस्य निर्ग्रन्थस्य (सिय त्ति) स्युर्भवन्तीत्यर्थः। (दावए त्ति) दद्याद्वापयेद्वा, अदत्तादानप्रसङ्गाद् गृहपतिना हि पिण्डोऽसौ विवक्षितस्थ विरेभ्य एव दत्तो नान्यस्मै इति (एगंते त्ति) जनालोकवर्जिते (अणावाए त्ति) जनसम्पातवर्जिते (अचित्ते त्ति) अचेतनाऽचेतनमात्र एवेत्यत आह-(बहुफासुए त्ति) बहुधा प्रासुकं बहुप्रासुकं, तत्रानेन चाऽचिरकालकृते विस्तीर्णे दूरावगाढे त्रसप्राणबीजरहिते चेति गृहीतं द्रष्टव्यमिति। (से य ते त्ति) स च निर्ग्रन्थस्तौ स्थविरपिण्डौ (पडिग्गाहेज्ज त्ति) प्रतिगृह्णीयादिति। निर्ग्रन्थप्रस्तावादिदमाह-''निग्गंथं च णं'' इत्यादि। भ०८ श०६ उ०। (ग्लानं प्रति विशेषः 'गिलाण' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ८६४ पृष्ठे गतः)(गोचरचर्य्यायामकृत्यं प्रतिसेव्याऽऽलोचना 'आलोयण' शब्दे द्वितीयभागे ४२२ पृष्ठे, स आराधको विराधको वेति 'आराहग' ;ब्दे द्वितीयभागे ३७७ पृष्ठे, आराधना च 'आराहणा' शब्दे द्वितीयभागे ३८६ पृष्ठे द्रष्टव्या)

(५५) गोचर भोजनविधिमाह-

सिया य गोरग्गओ, इच्छेज्जा परिभोत्तुअं।
कोट्ठगं भित्तिमूलं वा, पडिलेहित्तणं फासुयं ॥८२॥

स्यात्कदाचिद्गोचराग्रगतो ग्रामान्तरं भिक्षां प्रविष्ट इच्छोत्परिभोक्तुं पानादिपिपासाद्यभिभूतः सन्, तत्र साधुवसत्यभावे कोष्ठकं शून्यवेश्मठादि, भित्तिमूलं वा कुड्यैकदेशादि, प्रत्युपेक्ष्य चक्षुषा प्रमृज्य च रजोहरणेन, प्रासुकं बीजादिरहितं चेति सूत्रार्थः ॥८२॥

तत्र-

अणुन्नवित्तु मेहावी, पडिच्छन्नम्मि संवुडं।
हत्थगं संपडञ्जित्ता, तत्थ भुंजिज्ज संजए ॥८३॥

अनुज्ञाप्य सागरिकपरिहारतो विश्रमणव्याजेन तत्स्वामिनमवग्रहं, मेधावी साधुः, प्रतिच्छेन्न तत्र कोष्ठकादौ, सुवृत उपयुक्तः सन्साधुः ईर्याप्रतिक्रमणं कृत्वा, तदनु हस्तकं मुखवस्त्रिकारूपम्, आदायेति वाक्यशेषः। संप्रमृज्य विधिना तेन कायं, तत्र भुञ्जीत संयतः, रागद्वेषावपाकृत्येति सूत्रार्थः॥८३॥

तत्थ से भुंजमाणस्स, अट्ठियं कंटओ सिया।
तणकट्ठसक्करं चावि, अन्ने वा वि तहाविहं ॥८४॥

तत्र कोष्ठकादौ 'से' तस्य साधोर्भुञ्जानस्य अस्थि, कण्टको वा स्यात्, कथाञ्चित् गृहिणां प्रमाददोषात्, कारणगृहीते पृद्गल एवेत्यन्ये-, तृणकाष्ठशर्करादि चापि स्यात्, उचित भोजने अन्यद्वाऽपि तथाविधं बदरकर्कटकादिति सूत्रार्थः॥८४॥

तं उक्खिवित्तु न निखिवे, आसएण न छड्डए।
हत्थेण य गहेऊणं, तं एगंतमवक्कमे ॥८५॥

तदस्थ्यादि उत्क्षिप्य हस्तेन यत्र क्वचिन्न निक्षिपेत्, तथाऽऽस्येन मुखेन नोज्झेत्, अपि तु हस्तेन गृहीत्वा तदस्थ्यादि एकान्तमवक्रामेदिति सूत्रार्थः॥८५॥

एगंतमवक्कमित्ता, अचित्तं पडिलेहिया।
जयं परिट्ठवेज्जा, परिट्ठप्प पडिक्कते ॥८६॥

एकान्तमवक्रम्य, अचित्तं प्रत्युपेक्ष्य यतं प्रतिष्ठापयेत्, प्रतिष्ठाप्य प्रतिक्रामेदिति, भावार्थः पूर्ववदेवेति सूत्रार्थः॥८६॥

(५६) गोचरादागमनम्। वसतिमधिकृत्य भोजनविधिमाह-

सिया य भिक्खू इच्छेज्जा, सिज्जमागम्म भुत्तुयं।
सपिंडपायमागम्म, उंडुयं से पडिलेहिया ॥८७॥

स्यात्कदाचित्तदन्यकारणाभवे सति भिक्षुरिच्छेत् शय्यां वसतिमागम्य परिभोक्तुम्। तत्राऽयं विधिः-सह पिण्डपातेन विशुद्धसमुदानेनाऽऽगम्य, वसतिमिति गम्यते, तत्र बहिरेवोन्दुकं स्थानं प्रत्युपेक्ष्य, विधिना तत्रस्थः पिण्डपातं शोधयेदिति सूत्रार्थः ॥८७॥

तत उर्द्धवम् -

विणएणं पविसित्ता, सगासे गुरुणो मुणी।
इरियावहियमायाय, आगओ य पडिक्कमे ॥८८॥

विशोध्य पिण्ड बहिर्विनयेन नैषेधिकी 'नमः क्षमाश्रमणोभ्यः' अञ्जलिकरणलक्षणेन, प्रविश्य, वसतिमिति गम्यते। सकाशे गुरोर्मुनिः, गुरुसमीपे इत्यर्थः। ईर्यापथिकीमादाय ''इच्छामि पडिक्कमिउं इरियावहियाए'' इत्यादि पठित्वा सूत्रम्। आगतश्च गुरुसमीपं प्रतिक्रमेत्, कायोत्सर्गं कुर्यादिति सूत्रार्थः।

(५७) गोचरातिचारालोचनम् -

आभोइत्ताण निस्सेसं, अइथारं जहक्कडं।
गमणागमणे चेव, भत्ते पाणे च संजए ॥८९॥

तत्र कायोत्सर्गे आभोगयित्वा ज्ञात्वा निःशेषमतिचारं यथाक्रमं परिपाट्या, कृत्याह-गमनागमनयोश्चैव, गमने गच्छतः, आगमने आगच्छतो योऽतिचारः, तथा भक्तपानयोश्च, भक्ते पाने च योऽतिचारः, तं संयतः साधुः कायोत्सर्गस्थो हृदये स्थापयेदिति सूत्रार्थः॥८९॥ दश०५ अ०१ उ०। (अत्र कीदृक् स्थापयेद् भुञ्जीत वेति बहुविचारः 'परिट्ठवणा' शब्दे वक्ष्यते)

वासावासं पज्जोसवियाणं नो कप्पइ निग्गंथाण वा नि-

थीण वा अपरिन्नएणं अपरिन्नयस्स अट्ठायस्स अट्ठाए असणं वा पाणं खाइडं वा साइमं वा० जा० पडिगाहित्तए ॥४०॥ से किमाहु भंते ! इच्छा परो अपरिन्नए भुंजिज्जा, इच्छा परो न भुंजिज्जा ॥४१॥

''वासावासं'' इत्यादितिः ''न भुंजिज्जे त्ति'' यावत्सूत्रद्वयम् । तत्र ''अपरिण्णएणं'' इत्यादि । 'त्वं मम योग्यमशनम् आनयेः' इति अपरिज्ञप्तेन अज्ञापितेन साधुना 'अहं तव योग्यम् अशनादि आनेष्ये' इत्यपरिज्ञप्तस्य अज्ञापितस्त साधोः (अट्ठाए त्ति) अर्थाय कृते अशनादि परिग्रहीतुं न कल्पते ॥४०॥ अत्र शिष्यः पृच्छति-(से किमाहु भंते त्ति) तत्कुतो भदन्त ! गुरुराह-''इच्छेत्यादि ।'' इच्छा चेदस्ति तदा परोयदर्थमानीतं स भुञ्जीत, प्रत्युतैवं वदन्ति-केनोक्तमासीत् यत्त्वया आनीतम् ? किं च-अनिच्छया दाक्षिण्यतश्चेद् भुङ्क्ते तदा अजीर्णादिना बाधा स्यात्, परिष्ठापने च वर्षासु स्थण्डिलदौर्लभ्याद्दोषः स्यात्, तस्मात्पृष्ट्वा आनेयम् ॥४१॥ कल्प०६ क्षण ।

उग्गम उप्पायणए-सणाएँ वायाल होंति अवराहा ।
सोहेउं समुदाणं, पडिवण्णे वच्चसू वसहिं ॥७६५॥

एवं साधोरुद्गमोत्पादनैषणाभिर्द्विचत्वारिंशदपराधा भवन्ति । तैः समुदानं भिक्षां शोधयित्वा विविच्य ते ततः 'पडिवण्णे' लब्धे सति भक्तादौ वसतिं प्रयान्ति ॥७६५॥

इदानीं तद्भक्तं गृहीतं सत् शोधयित्वा वसति प्रविशति, केषु स्थानेष्वत आह-

अन्नघर देउले वा, असइ य ओवस्सगस्स वा दारे ।
संसक्तकंटगाइं, सोहेउमुवस्सगं पविसे ॥७६६॥

गृहीत्वा भक्तमुपाश्रयाभिमुखो व्रजंस्तदन्यगृहे तत् भक्तं प्रत्युपेक्ष्य ततो वसतिं प्रविशति, तदभावे देवकुले वा, तदसति-यदि गृहादीनामभाव-स्तदोपाश्रयद्वारे संसक्तं त्रसैः, कण्टकैर्वा यद् व्याप्तं, तत् शोधयित्वा प्रोक्ष्य संसक्तादिभक्तं, तत उपाश्रयं प्रवियाति ॥७६६॥

एवं तस्य प्रत्युपेक्षतः कदाचित् संसक्तं भवति, तत्र किं करोतीत्यत आह-

संसत्तं तत्तोच्चिय, परिट्ठवित्ता पुणो दगं गेण्हे ।
कारणेँ मत्तगहियं, उग्गहिएँ छड्ड पविसणया ॥७६७॥

यदि तत्र संसक्तं पानकं भवेत् ततोऽस्मादेव स्थानात् प्रतिष्ठाप्य पुनरप्यन्यद् द्रवं गृण्हाति, तथा ग्लानादिकारणेन च मात्रके यद् गृहीतमासीत्तत् पतद्ग्रहे प्रक्षिप्य प्रविशति । ततस्तस्य साधुभिराख्यातम् यदुत ग्लानस्यान्यद् लब्धिमतो निष्कारणं मात्रकोपयोगं परिहर, निष्कारणमात्रकोपयोगे च प्रमादा भवन्ति, एवमसौ परिशुद्धे सति भक्ते प्रविशति उपाश्रयम् ॥७६७॥

अथाशुद्धं भवति, ततः परिष्ठाप्य किं करोति? इत्याह आह-

गामे य कालेँ माणे, पहुप्पमाणे हवंति भंगट्ठा ।
काले अ पहुप्पति तत्थ वट्टिए सेसए भयणा ॥७६८॥

यदा ग्रामं पर्याप्यते, कालश्च पर्याप्यते, भाजनं च पर्याप्यते, एवमस्मिमँस्त्रये पर्याप्यमाणे सतिपदत्रयनिष्पन्ना अष्टौ भङ्गका भवन्ति । तेषां च भङ्गकानां मध्ये यस्मिन् भङ्गके कालो न पर्याप्ते, यस्मिन् वर्तित एव शेषेसु चतुर्भङ्गकेषु भजनां विकल्पानां करोति ॥७६८॥

इदानीं भजनां दर्शयन्नाह-

अन्नं व वए गामं, अण्णं भाणं च गंण्ह सइ काले ।
पढमे विइए छप्पंचए य भएँ सेसएँ नियत्ते ॥७६९॥

अन्यं ग्रामं वा व्रजति काले पर्याप्यमाणे, अन्यश्च भाजनं गृह्णाति पर्याप्यमाणे काले, सति एवं प्रथमभङ्गके, द्वितीये च, षष्ठे पञ्चमे भङ्गके च भजनां सेवनां करोति काले सति ,येषु भङ्गकेषु कालो पर्य्याप्यते तेषु निवर्त्तेत, तेषु न गन्तव्यं भिक्षाया इत्यार्थः । स च पर्याप्यमाणकालो द्विविधः-जघन्यः, उत्कृष्टश्च ॥७६९॥

तत्र जघन्यप्रतिपादनायाऽऽह-

वोसिच्च मागयाणं, वसु धाविएँ मत्तए च भूमितिए ।
पडिलेह अणत्थडिए, सेसऽत्थमिए जहन्नो उ ॥७७०॥

संज्ञां व्युत्सृज्य आगतानां, मात्रकं च, यस्मिँस्तोयं गृहीत्वा गत आसीन्नर्लेपनार्थं, तस्मिन् उद्धापितशोषिते सति, भूमित्रिके च-कायिकभूमौ द्वादश स्थण्डिलानि, संज्ञाभूमौ द्वादश स्थण्डिलानि, कालभूमौ त्राणि स्थण्डिलानि, एवमस्मिन् भूमित्रितये प्रत्युक्षिते सति, यदाऽनस्तमनं भवति अस्मिन् प्रदेशे, सेअत्थंमिते त्ति) शेषोपधिम् अस्तमिते आदित्ये प्रत्युपेक्षिते, यदा अयमित्थंभूतः काल इति स जघन्य इति ॥७७०॥

इदानीमुत्कृष्टकालप्रतिपादनायाऽऽ-

भुत्ते वियारभूमिं, गयाऽऽगयाणं तु जह य उग्गाहे ।
चरिमाएँ पेरिसीए, उक्कोसो सेसेँ मज्झिमओ ॥७७१॥

भुक्ते सति विचारभूमिं संज्ञाभूमिं गत्वा आगतानां यथा उद्गहे आगच्छति चरमपौरुषी चतुर्थप्रहरः, अथ वा-चरमपौरुषी पादोनचतुर्थप्रहरो यथा आगच्छति, यस्यां वेलायाम्, अयमुत्कृष्टः कालः, शेषस्त्वन्यो मध्यमकाल इति ॥७७१॥

तेन च भिक्षामटित्वा विनिवृत्त्य प्रविशता किं कर्तव्यमत आह-

पायपमज्जण निस्सीहीया तिन्नि उ करे पवेसम्मि ।
अंजलि ठाणविसोही, दंडग उवहिस्स निक्खेवो ॥७७२॥

बहिरेव वसतेः पादौ प्रमार्जयति, निषेधिकात्रितयं करोति प्रविशन्, पुनश्च गुरोः पुरस्तादञ्जलिना नमस्कारं करोति ''नमोखमासमणमिति'' तथा प्रविष्टश्च स्थानं विशोधयति, तत्र दण्डकस्योपधेश्च निक्षेपं करोति ॥७७२॥

इदानीमनामेव गाथां भाष्यकारो व्याख्यानयन्नाह-

एवं पच्चुप्पण्णे, पविसउ तिन्नि य निसीहिया होंति ।
अग्गद्दारे मज्झे, पवेसेँ पाए असागरिए ॥७७३॥

एवं प्रत्युत्पन्ने लब्धे सति भक्ते प्रविशतस्तिस्रो निषेधिका भवन्ति । क्व ? अग्रद्वारे प्रथमा, तथा द्विजीया मध्यमदगशे वसतः, प्रवेशे च मूलद्वारस्य तृतीयं निषेधिकां करोति, पादौ च प्रमार्जयति, यदि *कश्चित्सागरिको न भवति। अथ तत्र सागारिको भवन्ति, ततः वरण्डकाभ्यन्तरे* प्रमार्जनं करोति । अथ मध्यमेऽपि भवतिद्वितीयनिषीधिकास्थानेऽपि भवति सागारिकः, ततः मध्ये प्रविश्य प्रमार्जयति पादौ, अनेन कारणेन प-

श्चाद्रध्यकारेण पादप्रमार्जनं व्याख्यातम्, येन तदनियतं वर्त्तते, निषीधिकास्वकृतास्वपि कारणवशात् संभवतीति ॥७७३॥

इदानीमञ्जल्यवयवं व्याख्यानयन्नाह-

हत्थुस्सेहो सीसप्पमाणं वाइओ नमोक्कारो ।
गुरुभायणे य माए, वायाएँ णमो न उस्सेहो ॥७७४॥

हस्तोच्छ्रयं नमस्कारार्थं करोति, शीर्षप्रणमनं करोति, वाचा च ''नमो खमासमणाणं'' इत्येवं नमस्कारं करोति । अथ तद्गुरु भिक्षाभाजनं भवति, मात्रकं च गुरु गृहीतमङ्गुलीभिः, ततश्चैवं गुरुणि भाजने सति शिरसा प्रणामं करीति, वाचा नमो इत्येवं ब्रूते, हस्तोच्छ्रयं न करोति, यतोऽसौ गुरोर्मात्रकस्याधो हस्तो दत्तः संधारणार्थं ततश्च नोच्छ्रयं करोति ॥७७४॥ ओघ०(गुरवे निवेदयेत् भुञ्जीत चेति 'भोयण' शब्दे वक्ष्यते)

(५८) गोचरातिचारो प्रायश्चित्तम् -

गोयमा ! जेणं भिक्खू पिंडेसणाभिहिएणं विहिणा अदीणमणसा वञ्जंतो वीयहरियाइं, पाणे य दगमट्टियं ओवायं विसमं खाणुं रन्नो गिहवईणं व संकट्ठाणं वि वञ्जंतो पंचसमियमिगुत्तो गोयरचरियाण पाहुडियं न पडियरिया, तस्स णं चउत्थं पायच्छित्तं उवइसेज्जा। जइ णं नो अभत्तट्ठी ठवणकुलेसु पविसे, खवणं सहसा पडिवुत्थं पडिगाहियंतं तक्खणा ण परिट्ठवे, निरुवट्ठवे थंडिले खवणं अकप्पं पडिगाहेज्जा, चउत्थाइ जहाजोगं कप्पं वा पडिसेहेइ उवट्ठावणं, गोयरपविट्ठो कहं वा विकहं वा उभयकहं वा पत्थावेज्जा वा, उदीरेज्ज वा, कहेज्ज वा, निसामेज्ज वा, कहं गोयरमागओ य, भत्तं वा पाणं वा भेसज्जं वा, से जेणं चिंतियं , जं जहा य चित्ते, जं जहा य पडिगहियं, तं तहा सव्वं आलोएज्जा पुरिमड्ढं, इरियाए अपडिक्कंताए भत्तपाणाइयं आलोएज्जा पुरिमड्ढं । महा०७ अ०॥

(गोचरातिचारप्रतिक्रमणं 'पडिक्कमण' शब्दे एष स्थविरकल्पिकस्य भिक्षणविधिरुक्तः । जिनकल्पिकस्य तु 'लिणकप्पिय' शब्दे)

(५९) निर्ग्रन्थीनां तु भिक्षाविधिरेवम् -

अथ भिक्षानिर्गमद्वारमभिधित्सुराह-

दो थेरि तरुणि थेरी, दोन्नि उ तरुणीउ एक्किया तरुणी ।
चउरो अ अणुग्घाया, तत्थ वि आणाइसो दोसा ॥

अत्र गुरुनियोगतः चूर्णिरेव लिख्यते-''जति दोन्नि थेरीओ निग्गच्छंति भिक्खस्स वा, तरुणी थेरी य जति वा, दो तरुणी उ निग्गच्छति वा, एगा थेरी जति निग्गच्छति वा, एक्किया तरुणी जति निग्गच्छति वा ।'' तत्राऽप्याज्ञादयो दोषाः ।

कुत इत्याह-

चउकण्णं नोज्जरहं, संका दोसा य थेरियाणं पि ।
कुट्टिणिसहिता वीए, ति घुत्त तक्कण चउत्थीसु ॥

दोण्हं थेरीणं दोसो-दुवे अभिन्नरहस्सी होज्जा, संका,य, किं, मन्ने-केणइ पुत्तिकिच्चेण निउत्तिया उ असंकणिज्जाउ त्ति काएं, तरुणी थेरी य, लोगो भणेज्जा-कुट्टिणिसहिया हिंडति वितिए, तिपगारे निग्गमस्स-दो तरुणीओ धुत्तीओ संभाविज्जंति, एगा वि थेरी धुत्ती संभाविज्जति, एगा तरुणी तक्कणिज्जा''॥

यस्मादेते दोषाः तस्मादयं विधिः-

पुरतो मग्गतो वा, थेरीऊ मज्झे होंति तरुणीउ ।
अइगमणे निग्गमणे एस विहि होइ कायव्वा ॥

पुरतो मार्गतश्च स्थविरा भवन्ति, मध्यभागे तरुण्यः, एवं बह्वीनां संभूय पर्यटन्तीनामुक्तम्, जघन्येन तु तिस्रः सहैव पर्यटन्ति, तत्रैका स्थविरा पुरतो,द्वितीया स्थविरैव पृष्ठतः, तृतीया तरुणी तयोर्द्वयोरपि मध्ये, एवमतिगमने गृहपतिगृहप्रवेशे,निर्गमने च तत एव निर्गम एष विधिः कर्त्तव्यो भवति ।

कुत इति चेदुच्यते-

तिगमादऽसंकणिज्जा, अतक्कणिज्जा य साण तरुणाणं ।
अन्नोन्नरक्खणेसण, वीसत्थ पवेसकिरियाए ॥

त्रिकादयः पर्यटन्त्योऽशङ्कनीया भवेयुः, श्वानतरुणानां च अतर्कणीया अनभिलषणीया भवन्ति । उपद्रवत्स्वपि च श्वानगवादिषु अन्योऽन्यं सुखेनैव रक्षणं कुर्वन्ति, एषणां च सम्यक् शोधयन्ति, विश्वस्ताश्च सत्यो गृहस्थकुलेषु प्रवेशनिर्गमादिक्रियाः कुर्वन्ति ।

यत्र कोष्ठको भवेत्तत्रायं विधिः -

थेरी कोट्ठगदारे, तरुणी पुण होइ तीऍ णो दूरे ।
विइय किढी वारवहिं, पच्चत्थियारक्खणट्ठाए ॥

एका स्थविरा कोष्ठकस्यापवरकस्य द्वारे, तरुणी पुनस्तस्याः स्थविराया नातिदूरे प्रवेशे, या तु द्वितीया 'किढी' स्थविरा, साद्वारस्य बहिस्तिष्ठति । किमर्थमित्याह-प्रत्यनीकः, तस्य रक्षणार्थं, यदि कोऽप्युपसर्गं कुर्यात्, तदा सुखनैव वोलं कृत्वा स निवार्यते ।

जाणंति तव्विहकुलं, संवुद्धीए चरिज्ज अन्नोन्नं ।
ओराल निच्च लोयं, खुज्ज तवो आऊलें सहाया ॥

तद्विधानि तादृशानि संभावनीयोपद्रवाणि कुलानि सम्यग् जानन्ति, ज्ञात्वाऽथ प्रथमत एव परिहरन्ति । अन्योऽन्यं परस्परं संवुद्ध्या संमत्या चरेयुर्भिक्षाचर्यां पर्यटेयुः, मा भूवन्नसंमत्यां पर्यटन परस्परमसंखडादयो दोषाः । या च उदारा रूपातिशययुक्ता संयती, सा नित्यमेव लोचमात्मना करोति (खुज्ज त्ति) तस्याः पृष्ठप्रदश कृब्जीकरणी स्थापयितव्या, तपश्चतुर्थादि सा कारापणीय, आकुले जनाकीर्णे बह्वीभिश्च सहायाभिः सहिता सा भिक्षादौ हिण्डपनीया ।

अथ तासां वृन्देन भिक्षाटने कारणान्तरमाह-

तिप्पभि इ अडंताओ, गिण्हंतऽन्नन्नहिं चिमे तिण्णि ।
संजमदव्वविरुद्धं, देहविरुद्धं ,जं दव्वं ॥

त्रिप्रभृतिवृन्दे भिक्षामटन्त्योऽन्यान्यस्मिन् पृथक् पृथग् भाजने,चशब्दः प्रागुक्तकारणापेक्षया कारणान्तरद्योतनार्थः । अमूनि त्रीणि द्रव्याणि सुखनैव गृह्णन्ति। तद्यथा-संयमद्रव्यविरुद्धौ, देहविरुद्धं च यत् द्रव्यम्।

एतान्येव प्रतिपादयति-

पालंकलड्डसागा, मुग्गकयं चामगारसुम्मीसं ।
संसज्जती उ अचिरा, तं पि य नियमा दुदोसाय ॥

पालङ्कशाकं महाराष्ट्रादौ प्रसिद्धं, लब्धशाकं कौसुम्भशालनकम्।

एते अन्योऽन्यं मिलिते सूक्ष्मजन्तुभिः संसृज्येते, यच्च मुद्गकृतम्, उपलक्षणत्वादन्यदपि द्विदलं, तदप्यामगोरसोन्मिश्रं सदचिरादेव सूक्ष्मजन्तुभिः संसज्यते, संसक्तं च नियमात्, ''एके द्वौ दोषौ समाहृतौ द्विदोषम्'' तस्मै, द्विदोषाय भवति, संयमोपघाताऽत्मोपघातरूपं दोषद्वयं करोतीत्यर्थः।

दहि तिल्लाई उभयं, पय सोवीरा य हुंति य विरुद्धा।
देहस्स विरुद्धं पुण, सीउण्हाणं समाओगे।

दधितैले, आदिशब्दादन्यदप्युभयं मिलितं सद्यत्परस्परविरुद्धं, ये च पयःसौवीरे दुग्धकाञ्जिके परस्परं विरुद्धे, एतत् द्रव्यविरुद्धं मन्तव्यम्, देहस्य पुनर्विरुद्धं यः शीतोष्णयोर्द्रव्ययोः परस्परं समायोगः। एतानि पृथक् पृथक् भाजनेषु गृह्यमाणानि न सुयमाद्युपघाताय जायन्ते।

अपि च-

नत्थि य मामागाइं, माउग्गमो य तासिमब्भासे।
सीउण्हगिण्हणाए, सारक्खणमेक्कमेक्कस्स॥

न सन्ति तासां मामकानि कुलानि-न हि कोऽपि स्त्रीजनं गृहे प्रविशन्तमीर्ष्यया निषेधयतीति भावः। मातृग्रामश्च नामसमयपरिभाषया स्त्रीवर्गः, चशब्द एवकारार्थः। तत् किमुक्तं भवति ? स्त्रीवर्ग एव प्रायेण भिक्षादायकः, स च तासां संयतीनामभ्यासे स्त्रीत्वसंबन्धमधिकृत्य यश्चात्यासन्नो वर्तते, अतस्त्रिप्रभृतीनामपि पर्यटन्तीनां सुखेनैव भक्तपानं पर्याप्तं भवति। शीतोष्णग्रहणेन च संरक्षणमेकैकस्याः परस्परं कृतं भवति।

कथं पुनरिति ? अत आह-

एगत्थ सीयमुसिणं, च एगहिं पाणगं च एगत्थ।
दोसऽन्नस्स अगहणे, चिराऽणे होऊमे दोसा॥

एकत्र प्रतिगृहे शीतं पर्युषितं गृह्णन्ति, एकस्मिन्नुष्णम्, एकत्र च पानकम्। एकच्च तिसृणामटन्तीनां भवति। अथ द्वे पर्यटतस्तत एकत्र प्रतिग्रहे उष्णं, द्वितीयं तु पानकं, परं दोषान्नं कुत्र गृह्णन्तु ? स्वार्थं परिभोक्तुं न कल्पते। अथोष्णमध्ये दोषाऽन्नं गृह्णन्ति, तदा देहविरुद्धं भवति। अथ दोषान्नं न गृह्णन्ति, ततो दोषान्नस्याग्रहणे चिराटनम्, चिरं पर्यटन्तीनां तरुणादिकृतो मार्गे स्त्रीवेद उद्दीपते।

तथा चामुमेवार्थं दर्शयितुं वेदस्वरूपमाह-

थी पुरिसो अ नपुंसो, वेदो तस्स उग्गमे पगारा उ।
फुंफुम दवग्गिसरिसो, पुरदाहसमो भवे तइओ॥

वेद स्त्रिधा-स्त्रीवेदः, पुरुषवेदो, नपुंसकवेदश्च। तस्य तु त्रिधाऽपि यथाक्रमं-त्रिविधस्यापि यथाक्रममयं प्रकारः-स्त्रीवेदः फुंफुमाग्निसदृशः करीषाग्नि तुल्यः। यथा-करीषाग्निरन्तर्धगधगन्नास्ते, न परिस्फुटं प्रज्वलति, न वा विध्यायति, चालितस्तु तत्क्षणादेवोद्दीप्यते, एवं स्त्रीवेदोऽपि। पुरुषवेदस्तु दवाग्निसदृशः। यथा-दवाग्निरिन्धनयोगतः सहसैव प्रज्वल्य विध्यापयति, एवं पुरुषवेदोऽपि तृतीयो नपुंसकवेदः, स पुरदाहसमः। यथाहि महानगरदाहे वह्निः प्रज्वलितः सन्नार्द्रं वा शुष्के वा सर्वत्र दीप्यते, एवमेव नपुंसकवेदोऽपि स्त्रियां पुरुषे वा सर्वत्र दीप्यते, न चोपशाम्यति, इत्थं वेदत्रयस्वरूपं दृश्यम्।

प्रस्तुतयोजनामाह-

जह फूमा हसई सइ, घटिया एवमेव थीवेदो।
दिप्पइ अतिकिढियाण वि, आलिंगन-छेदणादीहिं॥

यथा फुंफुकाग्निर्घटितः सन् (हसइ त्ति) देदीप्यते, एवमेव स्त्रीवेदोऽप्यालिङ्गनच्छेनादिभिरुदीरितः स्थविराणामपि दीप्यते, किं पुनस्तरुणीमिरूपिशब्दार्थः।

आह-स्थविराणां कथं वेदोद्दीपनं भवतीत्युच्यते-

न वओ इत्थं पमाणं, न तवस्सित्तं सुयं न परियाओ।
अविक्खीणम्मि वेदे, थीलिंगं सव्वहा रक्खं॥

न वयो वार्द्धकादिकमत्र विचारे प्रमाणं, न वा तपस्वित्वमनशनादितपःकर्मकारिता, न वा श्रुतमाचारादिकं सुबह्वप्यवगाहितं, न वा पर्यायो द्वाधीयःप्रव्रज्याकाललक्षणः। एतेषु सत्स्वपि वेदादयो भवेदित्यर्थः। अपि च-क्षीणऽपि वेदे स्त्रीभिः स्त्रीलिङ्गं सर्वथा रक्ष्यम्। अत एव स्त्री केवलीपथोक्तामार्थिकोपकरणप्रावरणा-दियतनां करोतीति भावः।

आह-यदि ताः स्नानादिपरिकर्मरहिताः, ततः किं-कोऽपि तासु रागं व्रजति, येनेत्थं यतना क्रियते ?

उच्यते-

कामं तवस्सिणीओ, ण्हाणुवट्टणविकारविरयाओ।
तह वि य सुपाउआणं, अपेसणाणं चिमं होइ॥

काममनुमतं यथा तपस्विन्यः स्नानोद्वर्तनविकारविरताः, तथापि सुप्रावृतानां नित्यमेव बहुभिरुपकरणैराच्छादितानाम्, अप्यैषणानां वा व्यापाराणाम्, इदमनन्तरमेव वक्ष्यमाणं शरीरसौन्दर्यं भवति।

तदेवाह-

रूवं वन्नो सुकुमारया य निद्धच्छवी य अंगाणं।
होंति किर सन्निरोहे, अज्झाण तवं चरंतीणं॥

रूपमाकृतिः, वर्णो गौरवत्वादिः, सुकुमारता कोमलस्पर्शता, स्निग्धता च कान्तिमती छविस्त्वक्, अङ्गानां शरीरावयवानामिति। नीरूपादीनि आर्यिकाणां संनिरोधे बहुप्रकारेण प्रावरणादिधियमाणानां भवन्ति। ततो नियुक्तियुक्ता पूर्वोक्तानां सा यतनेति। बृ०१ उ०।

(६०) सर्वसंपत्कर्यादिभिक्षानिरूपणम्-

त्रिधा भिक्षाऽपि तत्राऽऽद्या, सर्वसंपत्करी मता।
द्वितीया पौरुषघ्नी स्यात्, वृत्तिभिक्षा तथाऽन्तिमा॥६॥

त्रिधेत्यादि व्यक्तः॥६॥

सदाऽनारम्भहेतुर्या, सा भिक्षा प्रथमा स्मृता।
एकबाले द्रव्यमुनौ, सदाऽनारम्भिता पुनः॥१०॥

(सदेति) सदा अनारम्भस्य हेतुर्या भिक्षा, सा प्रथमा, सर्वसंपत्करी स्मृता। तद्धेतुत्वं च सदाऽऽरम्भपरिहारेण, सदाऽऽनारम्भगुणानुकीर्तनाभिव्यङ्ग्य परिणामविशेषहितयतनया वा। सदाऽनारम्भिता तु-एकबाले द्रव्यमुनौ संविग्नपाक्षिकश्रपे न संभवति। इदमुपलक्षणम्एकादशीं प्रतिमां प्रतिपन्नस्य श्रमणोपासकस्यापि प्रतिमाकालावधिकत्वादनारम्भकत्वस्य न तत्संभवः, न च तद्भिक्षायाः सर्वसंपत्करीमल्पत्वाक्त्यैव निस्तारः। इत्थं हियथा कथञ्चित्सर्वसंपत्करीयमिति व्यवहारोपपत्तेऽपि न

पौरुषध्वनीत्यादि, व्यवहारानुपपादनात्। तथा च ''यतिर्ध्यानादियुक्तौ यो, गुर्वाज्ञायां व्यवस्थितः। सदाऽनारम्भिणरूतस्य, सर्वसंपत्करी मता''॥१॥ इत्याचार्याणामभिधानं संभवाभिप्रायेणैव, जिनकल्पिकादौ गुर्वाज्ञाव्यवस्थितत्वादेरिव सदाऽनारम्भित्वस्य फलत एव ग्रहणात्। अन्यथा-लक्षणाननुगमापत्तेर्द्रव्यसर्वसंपत्करीमुपेक्ष्य भावसर्वसम्पत्करीलक्षणमेव वा कृतामिदमिति यथातन्त्रं भावनीयम्॥१०॥

दीक्षाविरोधिनी भिक्षा, पौरुषघ्नी प्रकीर्तिता।
धर्मलाघवमेव स्यात्, तया पीनस्य जीवतः॥११॥

(दीक्षेति) दीक्षाया विरोधिनी दीक्षावरणकर्मबन्धकारिणी भिक्षा पौरुषघ्नी प्रकीर्तिता, तया, जीवतः पीनस्य पुष्टाङ्गस्य धर्मलाघवमेव स्यात्। तथाहि-गृहीतव्रतः पृथिव्याद्युपमर्दनेन सुद्धोञ्छजीविगुणनिन्दया च भिक्षां गृह्णन् स्वस्य परेषां च धर्मस्य लघुतामेवापादयति। तथा गृहस्थोऽपि यः सदाऽनारम्भविहितायां भिक्षायां तदुचितमात्मानमाकलयन् मोहमाश्रयति, सोऽप्यनुचितकारिणोऽमी खल्वार्हता इति शासनावर्णवादेन धर्मलघुतामेवाऽऽपादयतीति। तदिदमुक्तम् -

''प्रव्रज्यां प्रतिपन्नो यस्तद्विरोधेन वर्तते।
असदारम्भिणस्तज्ञय, पौरुषध्नीति कीर्तिता॥१॥
धर्मलाघवकृन्मूढो, भिक्षायोदरपूरणम्।
करोति दैन्यात्पीनाङ्गः, पौरुषं हन्ति केवलम्॥२॥''

अत्र प्रतिमाप्रतिपन्नभिक्षायां दीक्षाविरोधित्वाभावादेव नातिव्याप्तिरिति ध्येयम्॥११॥

क्रियान्तरासमर्थत्व-प्रयुक्ता वृत्तिसंज्ञिका।
दीनान्धादिष्वियं सिद्ध-पुत्रादिष्वपि केषुचित्॥१२॥

(क्रियान्तरेति) क्रियान्तरासमर्थत्वेन प्रयुक्ता, न तु मोहेन, चारित्रशुद्धीच्छया वा, वृत्तिसंज्ञिका भिक्षा भवति; इयं च दीनान्धादिषु संभवति। यदाह-

''निःस्वान्धपङ्गवो ये यु, न शक्ता वै क्रिशन्तरे।
भिक्षामटन्ति वृत्त्यर्थं, वृत्तिभिक्षेयमुच्यते॥१॥
नातिदुष्टाऽपि चामीषा-मेषा स्रयान्न ह्यमी तथा।
अनुकम्पानिमितत्वाद्, धर्मलाघवकारिणः॥२॥''

तथा सिद्धपुत्रादिष्वपि केषुचिद्वृत्तिभिक्षा संभवति। आदिना सारूपिकग्रहः, दीनादिपदाव्यपदेशत्वाश्चैषां पृथगुक्तिः। श्रूयन्ते चोत्प्रव्रजिता अडीजिनागमे भिक्षुकाः। यतो व्यवहारचूर्ण्यामुक्तम् ''जो अणुसासिओ ण पडिनियत्तो सो सारूविअत्तणेण वा सिद्धपुत्तत्तणेण वा अच्छउ कचि कालं। सारूविओ णाम-सिरमुंडो अरजोहरणो अलाउयाहिं भिक्खं हिंडइ, अभङ्गो अ। सिद्धपुत्तो णाम-सवालओ भिक्खं हिंडइ वा, ण वा, वरामएहिं वेंटलिअं करेइ, लट्ठिं वा धरेति त्ति '' केषुचिदित्यनेन ये उत्प्रव्रजितत्वेन क्रियान्तरासमर्थास्ते गृह्यन्ते। येषां पुनरत्यन्तावद्यभीरूणां संवेगातिशयेन प्रव्रज्यां प्रति प्रतिबद्धमेव मानसं, तेषामाद्यैव भिक्षा। एतद्व्यतिरिक्तानामसदारम्भाणां च पौरुषघ्न्येव ''तत्त्वं पुनरिह केवलिनो विदन्ति'' इत्यष्टकवृत्तिकृद्वचनं च तेषां नियतभावापरिज्ञानसूचकमित्यवधेयम्॥१२॥

अन्याबाधेन सामग्र्यं, मुख्यया भिक्षयाऽलिवत्।
गृह्णतः पिण्डमकृत-मकारितमकल्पितम्॥१३॥

(अन्येति) अन्येषां स्वव्यतिरिक्तानां दायकानामबाधेनाऽपीडनेन मुख्यया सर्वसम्पत्कर्या भिक्षया, अलिवद्भ्रमरवत्, अकृतमकारितमकल्पितं च पिण्डं गृह्णतः। सामग्र्यं चारित्रसमृद्ध्या पूर्णत्वं भवति। अलिवदित्यनेनाऽऽनयनप्रतिषेधः, तथासत्यभ्याहृतदोषप्रसङ्गात्। साधुवन्दनार्थमागच्छद्भिर्गृहस्थैः पिण्डानयनेनायां भविष्यति, तदागमनस्य वन्दनार्थत्वेन साध्वर्थपिण्डानयनस्य प्रासङ्गिकत्वादिति चेत्, नैवमपि मालापडूतादीनि वारणादिति वदन्ति॥१३॥

नन्वेवं सद्गृहस्थानां, गृहे भिक्षा न युज्यते।
अनात्मम्भरयो यत्र, स्वपरार्थं हि कुर्वते॥१४॥

(नन्वेवमिति) ननु एवं संकल्पितपिण्डमस्याऽप्यग्राह्यते सद्गृहस्थानां शोभनब्राह्मणाद्यगारिणां गृहे भिक्षा न युज्यते यतेः, हि यतोऽनात्मम्भरयोऽनुदरम्भरयो यत्र पाकादिविषयं स्वपरार्थं कुर्विते। भिक्षाचरदानासंकल्पेन स्वार्थमेव पाकप्रयत्ने सद्गृहत्वस्थभङ्गप्रसङ्गात्, देवतापित्रतिथिभर्त्तव्यपोषण शेषभोजनस्य गृहस्थधर्मत्वश्रवणात्। न च दानकालात्पूर्वं देयत्वबुध्या असंकल्पितं दातुं शक्यत इत्यपि द्रष्टव्यम्॥१४॥

संकल्पभेदविरहो, विशेषो यावदर्थिकम्।
पुण्यार्थिकं च वदता, दुष्टमत्र हि दुर्वचः॥१५॥

(संकल्पेति) अत्र हि ''असंकल्पितः पिण्डो यतेर्ग्राह्यः'' इति वचने हि संकल्पभेदस्य यतिसंप्रदानकत्वप्रकारदानेच्छात्मकस्य विरहो दुर्वचः केनेति ? आह-यावदर्थिकं यावदर्थिनिमित्तनिरूपादितम्, पुण्यार्थिकं पुण्यनिमित्तनिष्पादितं च, पिण्डं दुष्टं वदता अन्यथोक्तासंकल्पितत्वस्य यावदर्थिकपुण्यार्थिकयोः सत्त्वेन तयोर्ग्राह्यत्वाऽऽपत्तेः।

तदाह-

''संकल्पनं विशेषेण, यत्रासौ दुष्ट इत्यपि।
परिहारो न सम्यक् स्याद्, यावदर्थिकवादिनः॥१॥
विषयो वाऽस्य वतव्यः, पुण्यार्थं प्रकृतस्य च।
असंभवाभिधानात् स्या-दाप्तस्यानाप्तऽन्यथा'' ॥२॥
इति॥१५॥

उच्यते विषयोऽत्रायं, भिन्ने देये स्वभोग्यतः।
संकल्पनं क्रियाकाले, दुष्टं पुष्टमियत्तया॥१६॥

उच्यत इति) अत्रायं विषय उच्यते, यदुत क्रियाकाले पाकनिर्वतनसमये स्वभोग्यादात्मीयभेगार्हात् ओदनादेर्भिन्नेऽतिरिक्ते देये ओदनादौ, इयत्तया ''एतावदिह कुटुम्बाय एतावच्चार्थिभ्यः पुण्यार्थं चेति'' विषयतया, पुष्टं संवलितम्, संकल्पनं दुष्टम्, तदाह-''विभिन्नं देयमाश्रित्य, स्वभोग्याद्यत्र वस्तुनि। संकल्पनं क्रियाकाले, तद्दुष्टं विषयोऽनयोः''।१।१६॥ द्वा०६द्वा०।

अकृतोऽकारितश्चान्यैः-रसंकल्पित एव च।
यतेः पिण्डः समाख्यातो, विशुद्धः शुद्धिकारकः॥१॥

अकृतः क्रयणहननपवनै र्भोज्यतया स्वयमनिर्वर्तितः, एवमेवाकारितश्चाविधापितः। चकारः समुच्चये, अन्यैः कर्मकरादिभिरसंकल्पित एव च क्रयणादिप्रकारैः साधवे इदं दास्यात्मीत्यनभिसंधितः, अन्यैरेव एवकारेणान्यथाविधपिण्डस्य साधोरग्राह्यतामाह। आह च-''पिंडं असोहयंतो, अचरित्ती एत्थ संसओ नत्थि। चारित्तम्मि असंते, सव्वा दिक्खा निरत्थीया॥'' चकारउ

क्तसमुच्चये, अकृतादिपदैश्च क्रयणक्रापणतदनुज्ञानहननघातनतदनुज्ञानपचनपाचनतदनुज्ञानलक्षणकोटीनवकशुद्धता पिण्डस्योक्तेति, यतेः पृथिव्यासंरक्षणप्रयत्नवतः पिण्ड ओदनादिः, उपलक्षणत्वदस्य शय्योपकरणे च समाख्यातो विगतरागादिदोषसकलपदार्थसार्थस्वभावावभासनसहसंवेदनेन निर्वाणनगरगमनासमानमार्गायमाणचरणकरणविशुद्धिहेतुतयोपलभ्यसम्यगभिहितस्तीर्थकरैरिति नान्तरायदोषतेषाम्, पुनः किंविधः पिण्ड इत्याह-विशुद्धः सकलदोषवियुक्तः, तथा विशुद्धत्वादेव शुद्धिकारकः कर्ममलकलङ्कविकलताकारीति। अथवाकस्मादकृतादिगुणः पिण्डो यतेः समाख्यात इत्याह-विशुद्धो विशुद्ध एव कृतादिदोषरहित एव शुद्धिकारको भवति नान्यो, विशुद्ध्यर्थी च यतिर्भवप्रपञ्चोपचितकल्मषमलपअलस्येति ॥१॥

असंकल्पित एव चेत्युक्तम्, तस्य च परमतेनासंभवमुपदर्शयन्नाह-

यो न संकल्पितः पूर्वं, देयबुद्ध्या कथां नु तम् ?
ददाति कश्चिदेवं च, सविशुद्धो वृथोदितम् ॥२॥

यःपिण्डो न नैव संकल्पितोऽभिसन्धितः पूर्वं दानकालात् देयबुद्ध्या दातव्योऽयं मया भिक्षुभ्य इत्येवंरूपया धिया, कथमिति क्षेपे, 'नु' इति वितर्के, केन प्रकारेणन, कथञ्चिदिति यावत्, तं पिण्डं ददाति भिक्षुभ्यः प्रयच्छति कश्चित्कोऽपि दायकः प्राणी, न कोपीत्यर्थः। दानार्थमसंकल्पितस्य असत्त्वेन दातुमशक्यत्वादिति भावः। एवं च अमुना प्रकारेणासंकल्पितस्य देयस्यासंभवे सति सोऽसंकल्पित पिण्डो विशुद्धो निरवद्य इति यदुक्तं प्राक्, तद्वृथा व्यर्थम्, असंभवादुदितं भणितमिति ॥२॥

असंकल्पित एव पिण्डो ग्राह्यो यतेरित्यमस्तत्रैवाभ्युपगमे दूषणान्तरमाह-

न चैवं सद्गृहस्थानां, भिक्षा ग्राह्या गृहेषु यत्।
स्वपरार्थं तु ते यत्नं, कुर्वन्ति नान्यथा क्वचित् ॥३॥

न केवलमसंकल्पितपिण्डासंभवेन व्यर्थं तत् प्रतिपादनं, भिक्षा च न गाह्या सद्गृहेषु भवतीति वाक्यार्थः। पदार्थस्त्वेवमेति प्रतिषेधे, चशब्दो दूषणान्तरसमुच्चये एवमिति, असंकल्पितपिण्डाभ्युपगमे सति, सद्गृहस्थानां ब्राह्मणादिशोभनाऽगारिणां, गृहेषु वेश्मसु, भिक्षासमुदानं, ग्राह्या आदातव्या। कुत एवमेतदित्यत आह-यत् यस्मात्कारणात्, स्वपरार्थं तु आत्मभिक्षाचरनिमित्तमेव, ते सद्गृहस्थः यत्नं पाकनिवर्तनप्रयासं, कुर्वते विदधति, नान्यथा भिक्षाचरदानासंकल्पेन, स्वार्थमेव क्वचित् कदाचनापि स्वनिमित्तमेव पाकप्रयत्नं सद्गृहस्थत्वायोगादिति। यस्मात् स्वकर्माजीवनकुल्यैः समानऋषिभिर्वैवाह्यम्, ऋतुगामित्वं, देवतापित्रतिथि भर्तव्यपोषणं, शेषभोजनं चेति गृहस्थधर्मः। अतिथिश्च यतिरति भवति, भोजन-कालोपस्थायित्वात्तस्यापीत्यर्थः ॥३॥

पर एवाचार्यमतमाशङ्क्यमानमाह-

संकल्पं च विशेषेण, यत्राऽसौ दुष्ट इत्यपि।
परिहारो न सम्यक् स्याद्, यावदर्थिकवादिनः ॥४॥

संकल्पनमभिसंधानं, विशेषेणामुष्मै साधवे मयेदं दातव्यमित्येवमसामान्यतः, यत्र पिण्डे, असौ स एव पिण्डो, दुष्टो दोषवान्नान्यः, इत्यपि *अयमन्तरोदितिऽपि, न केवलमसंकल्पित पिण्डाभ्युपगमो न* सम्यगित्यपि शब्दार्थः, परिहारः पूर्वपक्षवद्युक्तदूषणपरिहरणम्, 'न' नैव, सम्यक् संगतः, स्याद्भवेत्। कस्येत्याह-यावदर्थिकवादिनस्तव, तत्र यावन्तो यत् परिमाणास्ते च तेऽर्थिनश्च भिक्षुकादयो यावदर्थिः, ते प्रयोजनं यस्य निष्पादने यावदर्थिकः पिण्डः, तमपि परिहार्यतया यो वदतीत्येवंशीलः स तथा, तस्य यावदर्थिकवादिनः, यावदर्थिनिमित्तनिष्पादित पिण्डपरिहारवादित्वाद्भवत इति भावः।

यतोऽभिहितम्-

''यावंति य मुद्देसं, पासंडीणं भवे समुद्देसं।
समणाणं आएसं, निग्गंथाणं समाएसं ॥१॥'' इति।

तथा-

''असणं पाणगं वा वि, खाइमं साइमं तहा।
जं जाणिज्ज सुणेज्जा वा, दाणट्ठा पगडं इमं ॥२॥
तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पियं।
दिंतियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥३॥'' ॥४॥

पूर्वपक्षे वाद्येवाह-

विषयो वाऽस्य वक्तव्यः, पुण्यार्थं प्रकृतस्य च।
असंभवाभिधानात्स्या-दाप्तस्याऽनाप्तताऽन्यथा ॥५॥

यावदर्थिकपिण्डपरिहारवादिना भवता पूर्वोक्तपरिहारासम्यक्त्वमभ्युपगन्तव्यं, नो चेद्विषयो वा गोचरो वा, वाशब्दो विकल्पार्थः। अस्य यावदर्थिकपिण्डस्य वक्तव्यो वाच्यः, अमुमर्थिविशेषमाश्रित्य निवर्तितोऽयं परिहार्य इत्येवं गोचरान्तपरिकल्पनयैवायं शक्यः परिहर्तुं, नान्यथा इति भावः। तथा न केवलं यावदर्थिकपिण्डस्य विषयो वक्तव्यः। पुण्यार्थं पुण्यनिमित्तं, प्रकृतस्य च निष्पादितस्यापि स वक्तव्यः, यतः पुण्यार्थं प्रकृतस्यापि पिण्डस्य परिहारोऽभ्युपगम्यते भवद्भिः। यदाह-''असणं पाणगं वो वि, खाइमं साइमं तहा ॥ जं जाणिज्ज सुणिज्जा वा, पुन्नट्ठा पगडं इमं'' १ इत्यादि। अशक्यपरिहारश्चायमपीति, तस्यापि विषयविशेषो वाच्य इति भावः। अथ किं विषयान्तराभिधानेनेत्याचार्यमतमाशङ्क्याह-अन्यथा यावदर्थिकपुण्यार्थप्रकृतपिण्डयोर्विषयविशेषाप्रतिपादने, आप्तस्य क्षीणरागद्वेषमोहदोषतयाऽव्यभिचारिवचनत्वेनैकान्तहितस्य शास्त्रप्रणेतुरनाप्तता अक्षीणदोषत्वेनाहितत्वं स्याद्भवेत्, कुत इत्याह-असंभवाभिधानात्, अविद्यमानः संभवो यस्य यावदर्थिकादिपिण्डपरिहारस्य सोऽसंभवः, तस्याभिधानं, तस्मात्, असंभवश्च तस्य स्वपरार्थं तु ते यत्नं कुर्वते, नान्यथेत्यनेन दर्शित एवेति पूर्वपक्षः ॥५॥

अत्रोत्तरमाह-

विभिन्नं देयमाश्रित्य, स्वभोग्याद्यत्र वस्तुनि।
संकल्पनं क्रियाकाले, तद्दुष्टं विषयोऽनयोः ॥६॥

विभिन्न मतिरिक्तं, देयं दातव्यमोदनादि, आश्रित्याङ्गीकृत्य, कुतो विभिन्नमित्याह-स्वभोग्यात् विवक्षितात्मीयोदनादिभोगार्हात् ,यत्र यस्मिन्, वस्तुनि ओदनादिपदार्थे, संकल्पनमेतावदिह कुटुम्बायैतावद्यार्थिभ्यः पुण्यार्थं चेत्यभिसंधानं, क्रियाकाले पाकानवर्त्तनसमये, तदिति यदेतत्सङ्कल्पनं तद्दुष्टं दोषवद्विषयो गोचरोऽनयोः यावदथिकपुण्यार्थं प्रकृतयोरपि, एवंविधसंकल्पनवन्तावेतौ पिण्डविशेषौ *परिहार्याविति भाव इति ॥६॥*

सङ्कल्पनानन्तरं तु न दुष्टमित्येतदाह–

स्वोचिते तु यदारम्भे, तथा संकल्पनं क्वचित्।
न दुष्टं शुभभावत्वात्, तच्छुद्धापरयोगवत् ॥ ७ ॥

स्वस्थ शरीरकुटुम्बादेः उचितो योग्यः स्वोचितः, तस्मिन्, तुशब्दः पुनःशब्दार्थः, यदिति संकल्पनम् आरम्भे पाकादिरूपे सति, तथा तेन प्रकारेण स्वयोग्यातिरिक्तपाकशून्यतया, संकल्पनमिदं स्वार्थमुपकल्पितमन्नमतो मुनीनामुचितदानेनाऽऽत्मानमथ पूतपापमाधास्यामीति चिन्तनं, क्वचित् कस्मिंश्चिद्देवारम्भे, न तु साध्वनुचितद्रव्यपाकरूपे, तदित्यस्येह दर्शनात् तत्संकल्पनं, न दुष्टम् न दोषवत्, न तत् पिण्डदूषणकारणम्, कुत इत्याह–शुभभावत्वात् चित्तविशुद्धिमात्रत्वात्, न हि तत् संकल्पनं साध्वाद्यर्थपृथिव्यादिजीवोपमर्दनिमित्तम्, अपि तु दायकस्य शुभभावमात्रं तदिति भावः। किंवदित्याहशुद्धापरयोगवत्, यः शुद्धः प्रशस्तोऽपरयोगः संकल्पनव्यतिरिक्तव्यापारो मुनिवन्दनादिः, तद्वत्। यथाहि मुनिविषयो नमनस्तवनादिरनवद्यो व्यापारो न पिण्डदूषणकारणमेवमेवंविधसंकल्पनमपीति भावनेति ॥ ७ ॥ यदुक्तमसंभविनोऽसंकल्पितस्याभिधानादाऽऽप्तस्यानाप्ततेति,

तत् परिहरन्नाह–

दृष्टोऽसंकल्पितस्यापि, लाभ एवमसंभवः।
नोक्त इत्याप्ततासिद्धिः, यतिधर्मोऽतिदुष्करः ॥ ८ ॥

दृष्ट उपलब्धोऽसंकल्पितस्यापि यत्याद्यर्थमसंभावितस्यापि, न केवलं संकल्पितस्यैव लाभो भवतीत्यदृष्ट इत्यपिशब्दार्थः। लाभः प्राप्तिः, पिण्डस्येति गम्यते। यतो गृहस्था अदित्सवोऽपि स्वगृहकान्तारादिषु, तथा भिक्षूणामभावेऽपि, तथा रात्र्यादौ भिक्षाऽनवसरेऽपि पाकं कुर्वन्ति, तथा कथञ्चिद्दत्यपीति दृश्यते। आह च "संभवइ य एसो विहु, केसिंचि य सूयगाइभावे वि। अवि सेसुवलंभाओ, तत्थ वि तल्लाभसिद्धीओ ॥ १ ॥" एवं च यदुक्तम् "यो न संकल्पित" इत्यादि, तथा "न चैवं सद्गृहस्थानाम्" इत्यादि च। तत् परिहृतम्। गाथा चेह "सद्भावियकेइ इहं, विसेसओ धम्मसत्थकुसलमई। इय न कुणंति वियडणमेवं भिक्खाइए च इमे ॥ १ ॥" यद्यसंकल्पितस्यापि पिण्डस्य लाभो दृष्टस्ततः किमिति ? आह–एवमिति–अनेनासंकल्पितप्रकारेण पिण्डलाभदर्शने सति, असंभवः–असंभावना, अप्राप्तिसंकल्पितपिण्डस्य, नोक्तो नाभिहितः, आप्तेन। ततः किमिति ? आह–इतिशब्दो हेत्वर्थः। तेन असंभविपिण्डस्यानभिधानाद्धेतोः, संभविन एवाभिधानादित्यर्थः। आप्तताया असंभविपिण्डाभिधानसंभावितानाप्तावव्यतिरेकभूतायाः, सिद्धिः प्रतिष्ठा, आप्ततासिद्धिः, शास्तुरिति गम्यते। अथवा–भवत्सकल्पितपिण्डस्य संभवः, तथापि तद्धृतेर्दुष्करत्वात् तत्प्रणेतुरनाप्ततैवेत्याहयतिधर्मो मूलगुणोत्तरगुणसमुदायरूपः, अतिदुष्करोऽतीव दुष्परिपाल्य इति प्रसिद्धमेव, नानेनाऽऽप्तस्यानाप्तता भवति। अनन्योपायत्वान्मोक्षस्येति। आह च "दुक्करयं अह एवं, जइधम्मो दुक्कारो चिय पसिद्धोकिं पुण एस पयत्तो, मोक्ख फलत्तेण एयस्स" ॥ १ ॥ इति। ततो हे कुतीर्थिकाः ! यदि यूयमात्मनो यतित्वेन सर्वसंपत्करीं भिक्षां मन्यध्वे, तदा अकृतादिगुणोपेतपिण्डपरिग्रहः कार्य इति प्रकरणगर्भार्भ इति ॥ ८ ॥ हा० ६ अष्ट०। पञ्चा०।

पिण्डाद्यशोधने दोषः–

"पिडं असोहयंतो, अचरित्ती इत्थ संसओ नत्थि।
चारित्तम्मि असंते, सव्वा दिक्खा निरत्थीया ॥ १ ॥
सिज्जं असोहयंतो, अचरित्ती इत्थ संसओ नत्थि।
चारित्तम्मि असंते, सव्वा दिक्खा निरत्थीया ॥ २ ॥
वत्थं असोहयंतो, अचरित्ती इत्थ संसओ नत्थि।
चारित्तम्मि असंते, सव्वा दिक्खा निरत्थीया ॥ ३ ॥
पत्तं असोहयंतो अचरित्ती इत्थ संसओ नत्थि।
चारित्तम्मि असंते, सव्वा दिक्खा निरत्थीया" ॥ ४ ॥

इदं चोत्सर्गतः सति संस्तरणे ज्ञेयम्, असंस्तरणे तु अशुद्धग्रहणेऽप्यदोषः। यदुक्तम् "संथरणम्मि असुद्धं" इत्यादि। ध० ३ अधि०।

[६१] भ्रमरदृष्टान्तेन भिक्षायां निर्दोषत्वसिद्धिः–

जहा दुमस्स पुप्फेसु, भमरो आवियइ रसं।
न य पुप्फं किलामेइ, सो य पीणेइ अप्पयं ॥ २ ॥

अत्राह–अथ कस्माद्दशावयवनिरूपणायां प्रतिज्ञादीन्विहाय सूत्र–कृता दृष्टान्त एवोक्त इति ? उच्यते "दृष्टान्तादेव हेतुप्रतिज्ञे अभ्यूह्ये" इति न्यायप्रदर्शनार्थम्। कृतं प्रसङ्गेन, प्रकृतं प्रस्तुमः तत्र–यथा येन प्रकारेण, द्रुमस्य प्राग्निरूपितशब्दार्थस्य, पुष्पेषु प्राग्निरूपितशब्दार्थेष्वेव, असमस्तपदाभिधानमनुमेये गृहिद्रुमाणामाहारादिषु पुष्पाण्यधिकृत्य विशिष्टसंबन्धप्रतिपादनार्थमिति। तथा चान्यायोपार्जितवित्तदानेऽपि ग्रहणं प्रतिषिद्धमेव। भ्रमरश्चतुरिन्द्रियविशेषः। किम् ? आपिबति मर्यादया पिबत्यापिबति। कम् ? रस्यत इति रसस्तं, निर्यासं, मकरन्दमित्यर्थः। एष दृष्टान्तः। अयं च तद्देशोदाहरणमधिकृत्य वेदितव्य इति। एतच्च सूत्रस्पर्शिकनियुक्तौ दर्शयिष्यतो उक्तं च सूत्रस्पर्शे त्वियमन्येति। अधुना दृष्टान्तविशुद्धिमाह–न च नैव पुष्पं प्राग्निरूपितस्वरूपं, क्लामयति पीडयति, स च भ्रमरः, प्रीणाति तर्पयत्यात्मानमिति सूत्रसमुदायार्थः। अवयवार्थ तु निर्युक्तिकारो महता प्रपञ्चेन व्याख्यास्यति।

तथा चाह–

जह भमरो तिय एत्थं, दिट्ठंतो होइ आहरणदेसे।
चंदमुहिदारिगेयं, सोमत्तऽवहारणं ण सेसं ॥ १०० ॥ नि०।

यथा भ्रमर इति चात्र प्रमाणे दृष्टान्तो भवत्युदाहरणदेशमधिकृत्य, यथा–चन्द्रमुखी दारिकेयमित्यत्र सौम्यत्वावधारणं गृह्यते, न शेषं कलङ्काङ्कितत्वाऽनवस्थितत्वादीति गाथार्थः ॥ १०० ॥

एवं भमराहरणे, अणियतवित्तित्तणं न सेसाणं।
गहणं दिट्ठंतविसुद्धि सुत्ते भणिया इमा चऽन्ना ॥१०१॥नि०।

एवं भ्रमरोदाहरणे अनियतवृत्तित्वं, गृह्यत इति शेषः। न शेषाणामविरत्यादीनां भ्रमरधर्म्माणां, ग्रहणं दृष्टान्त इति। एषा दृष्टान्तविशुद्धिः सूत्रे भणिता, इयं चान्या सूत्रस्पर्शिनिर्युक्ताविति गाथार्थः ॥ १०१ ॥ दश० १ अ०। पं० व०। (विशेषस्त्वत्र "धम्म" शब्दे। विहङ्गमदृष्टान्तः "विहंगम" शब्दे) (स्थापनाकुलव्याख्या "ठावणाकुल" शब्दे) यतिः श्राद्धगृहे गत्वोपविश्य भक्तादिकं न गृह्णाति, न वेति प्रश्ने, यतिः श्राद्धगृहे कारणं विनोपविश्य भक्तादिकं न गृह्णाति कारणे तु गृह्णाति "तिह्मभण्णयरागस्स निसिज्जा जस्स कप्पइ। जराएँ अभिभूयस्स, गिलाणस्स तवस्सिणो" ॥ ६० ॥ इति दशवैकालिकषष्ठाध्ययने प्रतिपादितात्वादिति। १२४ प्र०। सेन० उल्ला०।

गोयरणिसिज्जा–स्त्री० (गोचरनिषद्या) गोचरगतस्य निषदने, व्य० १० उ०।

गोयरप्पवेस–पुं० (गोचरप्रवेश) गोचरार्थं प्रवेशे, दश० ५ अ०।

गोयरभूमि–स्त्री० (गोचरभूमि) भिक्षाचर्यावीथ्याम्, भिक्षाचर्याविषये मार्गविशेषे, ध० २ अधि०। ताश्च षडष्टौ वा–"छव्विहा गोयरचरिया पण्णत्ता। तं जहा–१ पेडा २ अद्धपेडा ३ गोमुत्तिया ४ पतंगवीहिगा ५ संबुक्कावट्टा ६ गंतुं पच्चागया०'। स्था० ६ ठा०। पं० व०।

अष्ट चेमाः–

"उज्जुग गंतुं पच्छागई य गोमुत्तिआ पयंगविही।
पेडा य अद्धपेडा, अब्भितर बाहि संबुक्का ॥ १ ॥"

ऋज्वी १ गत्वा प्रत्यागतिः २ गोमूत्रिका ३ पतङ्गवीथिः ४ पेटा ५ अर्द्धपेटा ६ आभ्यन्तरशम्बूका ७ बहिःशम्बूका ८ चेति। तत्र ऋज्वी–स्ववसते : ऋजुमार्गेण समश्रेणिव्यवस्थितगृहपङ्क्तौ भिक्षाग्रहणेन पङ्क्तिसमापने, ततो द्वितीयपङ्क्तौ पर्यासेऽपि भिक्षाग्रहणेन ऋजुगत्यैव निवर्तने च भवति १; गत्वा प्रत्यागतिस्तु–एकङ्क्तौ गच्छतो द्वितीयपङ्क्तौ च प्रत्यावर्तमानस्य भिक्षणे २; गोमूत्रिका च–परस्परामिमुखगृहपपङ्क्त्योर्वाङ्क्त्येकगृहे गत्वा दक्षिणपङक्त्येकगृहे यातीत्येवंक्रमेण श्रेणिद्वयसमाप्तिकरणे भवति ३; पतङ्गवद्वीथिश्चअनियतक्रमा ४; पेटा च–पेटाकारं चतुरस्रं क्षेत्रं विभज्य मध्यवर्तीनि गृहाणि मुक्त्वा चतसृष्वपि दिक्षु समश्रेण्या भिक्षणे भवति ५; अर्द्धपेटा च–प्राग्वत् क्षेत्रं विभज्य दिग्द्वयसंब–द्धगृहश्रेण्योर्भिक्षणे ६; अन्तःशम्बूका च–मध्यभागात् शङ्खावर्तगत्या भिक्षमाणस्य बहिर्निस्सरणे भवति ७, बहिः शम्बूका तु–बहिर्भागात्तथैव भिक्षामटतो मध्यभागागमने भवतीति। ८। ध० ३ अधि०। बृ०। पं० व०। नि० चू०।

गोयरि–स्त्री० (गोचरि) चतुर्मासकमध्ये "सक्कोसं जोअणं भिक्खायरियाए गंतुं पडिनिअत्तए' इत्युक्तं श्रीकल्पसूत्रे, एतदनुसारेण चैत्यगुर्वादिवन्दनाद्यर्थं गन्तुं कल्पते, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्–"भिक्खायरियाए' इत्येतत्पदं चैत्यगुरुवन्दनाद्यर्थगमनस्योपलक्षणपरमवसीयते, आवश्यकहारिभद्र्यां द्विक्रियनिह्नवस्य शरत्काले नद्युत्तरणपुरस्सरं गुरुवन्दनादिप्रवृत्तिर्नास्तीति। ५६ प्र०। सेन० २ उल्ला०।

गोयवग्ग–पुं० (गोत्रवर्ग) गोत्रप्रकृतिसमुदाये, कर्म० २ कर्म०।

गोयसुह–न० (गोत्रशुभ) उच्चैर्गोत्रे, दश० १ अ०।

गोयावरी–स्त्री० (गोदावरी) नासिकपुरसविधान्निर्गते पूर्वसमुद्रसंगते नदीभेदे, "सच्चं भण गोयावरि!, पुव्वसमुद्देण साहया संती।" व्य० २ उ०।

गोयावइ–पुं० (गोत्रवादिन्) ममोच्चैर्गोत्रं सर्वलोकमाननीयं नापरस्येत्येवं वादिनि, "एगे गोयावादी माणावादी' आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ०।

गोयावाय–पुं० (गोत्रवाद) गोत्रोद्घाटनेन वादे, यथा–काश्यपसगोत्रो वसिष्ठसगोत्रो वेति। सूत्र० १ श्रु० ६ अ०।

गोर–त्रि० (गौर) अवदाते, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ०। गौरवर्णयुक्ते वर्णभेदे, पुं०। वाच०। "खारं लवणं १ दहणं, हिमं च २ अइगोरविग्गहो रोगी ३। परवसगुणो अ चुण्णो, केवलगोरत्तणेऽवगुणा" ॥ १ ॥ कल्प० ७ क्षण। गोधूमे, बृ० १ उ०। नि० चू०।

गोरखर–पुं० (गौरखर) गौरवर्णगर्दभे, स च जात्यन्तरमेव, कच्छारण्यादावुत्पद्यमानो 'गोरखलेति भाषाप्रसिद्धः। प्रज्ञा० १ पद।

गोरगिरि–पुं० (गौरगिरि) श्वेतपर्वते, "गोरगिरि नाम पव्वतो, तस्स णिज्झरे सिवो, तं च एगो बंभणो, पुलिंदो य अच्चति"। नि० चू० १ उ०।

गोरमिग–न० (गौरमृग) गौरमृगचर्मनिष्पन्ने वस्त्रे, आचा० २ श्रु० ५ अ० १ उ०।

गोरव–न० (गौरव) महासामन्तादिकृताभ्युत्थानादिप्रतिपत्तौ, जं० ३ वक्ष०। गमने च। गौरवशब्दो गमनपर्यायः। स्था० ६ ठा०।

गोरस–पुं० (गोरस) गवां रसो गोरसः, व्युत्पत्तिरेवम्, प्रवृत्तिस्त्वेवम्–गोमहीष्यादीनां दुग्धादिरूपे रसे, स्था० ४ ठा० १ उ०। तक्रे, बृ० १ उ०। स च शालनकेऽन्तर्भवति। प्रश्न० ५ संव० द्वार। सू० प्र०। व्य०। स्था०। 'आमगोरससंपृक्तद्विदलम्' इत्यत्र गोरसशब्देन किं व्याख्यातमस्तीति प्रश्ने, उत्तरम्–गोरसशब्देन दग्धं, दधि, तकं च त्रयमपि परम्परयाऽभिधीयमानमस्ति, योगशास्त्रवृत्तौ गोरसशब्दार्थो व्याख्यातो नास्ति। ३३० प्र०। सेन० ३ उल्ला०।

गोरसविगइ–स्त्री० (गोरसविकृति) गोरसे विकृतयः, शरीरमनसोः प्रायो विकारहेतुत्वात्। गोरसरूपासु विकृतिषु, "चत्तारि गोरसविगईओ पण्णत्ताओ। तं जहा–खीरं दहिं सप्पिं णवणीअं।" स्था० ४ ठा० १ उ०।

गोरहग–पुं० (गोरथक) कल्होडके, बृ० १ उ०। आचा०। त्रिवर्षबलीवर्दे, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ०। दश०।

गोरा–(देशी) लाङ्गलपद्धतौ, चक्षुषि, ग्रीवायां च। दे० ना० २ वर्ग।

गोरि–स्त्री० (गौरी) **"स्वराणां स्वराः"। ८। ४। २३८।** प्रायोऽपभ्रंश इत्यन्त्यह्रस्वत्वम्। गौरवर्णायां स्त्रियाम्, प्रा० ४ पाद।

गोरिहर–न० (गौरीहर) स० द्वन्द्वः। **"दीर्घह्रस्वौ मिथो वृत्तौ"। ८। १। ४।** इति दीर्घस्य ह्रस्वः। उमामहेश्वरे, प्रा० १ पाद।

गोरी–स्त्री० (गौरी) गौर–ङीष्। प्रा०। गौरवर्णस्त्रियाम्, "गोरी गायइ महुरं"। प्रा० ३ पाद। स्था०। अनु०। ज्ञा०। पार्वत्याम्, शिवपत्न्याम्, प्रा०। को०। बलमातरि, बलकोष्टृभार्य्यायाम्, उत्त० १२ अ०। कृष्णवासुदेवस्याष्टानामग्रमहिषीणां द्वितीयायाम्, सा चारिष्टनेमेरन्तिके प्रव्रज्य सिद्धेति। अन्त० ५ वर्ग। स्था०। कल्प०। महाविद्याभेदे "गोरी मणुन्ना मणुन्नपुव्वगा।" आ० चू० १ अ०। कल्प०। बहुवचने **"ईतः सेश्चाऽऽवा"। ८। ३। २८।** इति जश्शसोराकारः। 'गोरीआ' प्रा० ३ पाद।

गोरेय–पुं० (गौरेय) वैताढ्यपर्वतदक्षिणाविद्याधरश्रेणिव्यवस्थिते निकायभेदे, कल्प० ७ क्षण।

गोरोयणा–स्त्री० (गोरोचना) गोभ्यो जाता रोचना हरिद्रा। स्वनाम–ख्याते गन्धद्रव्ये, वाच०। गोपित्तजातायाम्, पञ्चा० ४ विव०।

गोरंफीडी–(देशी) गोधायाम्, दे० ना० २ वर्ग।

गोल–पुं० (गोल) वृत्तपिण्डे, (पुरूषदृष्टान्तेन गोलप्ररूपणा 'पुरि–

सजाय' शब्दे वक्ष्यते) "जह अयगोलो धंतो ' प्रज्ञा० १ पद। गोलो जतुगोलः। सूचकत्वात्तस्य जतुगोलाध्मातोपमया भिक्षाग्रहणप्रतिपादके द्रुमपुष्पिकाऽध्ययने, दश०।

"जह जउगोलो अगणिस्स णातिदूरे ण यावि आसन्ने।
सक्कइ काऊण तहा, संजमगोलो गिहत्थाणं॥
दूरे अणेसणाइं, इयरम्मी तेण संकाइं।
तम्हा मियभूमीए, चिट्ठिज्जा गोयरग्गओ॥" दश० १ अ०।

कन्दुके, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ०। क्षेत्रभेदे, मण्डले, मदनकवृक्षे, वाच०। "होल गोल वसुलि त्ति, पुरिसं नवमालवे।" दश० ७ अ०। आचा०। 'गोलेति देशविशेषापेक्षया कुत्सागर्भं पुरुषामन्त्रणम्। ज्ञा० १ श्रु० ६ अ०। दश०। देशीप्रसिद्धा नैष्ठुर्यवाचकः। दश० ७ अ०। काश्यपगोत्रविशेषभूते पुरुषापत्यरूपे शाण्डिल्यादौ, स्था० ७ ठा०। साक्षिणि, दे० ना० २ वर्ग।

गोलक्खण–न० (गोलक्षण) ६ त०। गोः शुभाशुभसूचके चिह्नभेदे, वाच०। तत्प्रतिपादकशास्त्रे च। सूत्र० २ श्रु० २ अ०।

गोलग–पुं० (गोलक) वर्तुले पाषाणादिमये, अनु०। पिण्डे, सूत्र० २ श्रु० २ अ०। औत्पत्तिक्यामुदाहरणम्। आ० म० द्वि०। मणिके, आलिञ्जरिके, गुडे च, गन्धरसे, कलाये, विधवायाः जारजे पुत्रे, वाच०।

गोलगोलच्छाया–स्त्री० (गोलगोलच्छाया) गोलैर्बहुभिर्मिलित्वा निष्पादित एको गोलः, स गोलगोलः, तस्य च्छाया गोलगोलच्छाया, गोलैर्बहुभिर्मिलित्वा निष्पादितस्यैकस्य गोलस्य छायायाम्, चं० प्र० ६ पाहु०।

गोलच्छाया–(गोलच्छाया) गोलमात्रस्य छायायाम्, चं० प्र० ६ पाहु०। सू० प्र०।

गोलपुंज–पुं० (गोलपुञ्ज) ६ त०। गोलोत्करे, सू० प्र० ६ पाहु०। चं० प्र०।

गोलपुंजच्छाया–स्त्री० (गोलपुञ्जच्छाया) लोगोत्करच्छायायाम्, सू० प्र० ६ पाहु०। चं० प्र०।

गोलवट्ट–त्रि० (गोलवृत्त) गोलवद्वृते, रा०।

गोलवट्टसमुग्गय–पुं० (गोलवृत्तसमुदगक) गोलकाऽऽकारे वृत्तसमुदगके, भ० १० श० ८ उ०।

गोला–स्त्री० (गोदावरी) **"गोणादयः"। ८। २। १७४।** इति निपातनाद्गोलादेशः। नदीविशेषे, प्रा० २ पाद। गवि, गोदावर्याम्, सामान्येन नद्याम्, संख्यायां च। दे० ना० २ वर्ग।

गोलावलिच्छाया–स्त्री० (गोलावलिच्छाया) गोलानामवलिर्गोलावलिः, तस्य छाया गोलावलिच्छाया। गोलपङ्क्तिच्छायायाम्, सू० प्र० ६ पाहु०। चं० प्र०।

गोलिय–पुं० (गोलिक) गुडकरके, व्य० ६ उ०।

***गाडिक**–त्रि० मथितविक्रयके, वृ० १ उ०।

गोलिया–स्त्री० (गुटिका) वटिकायाम्, रा०। अनु०।

***गोलिका**–स्त्री०। वृत्ताऽऽकृतौ बालक्रीडनोपकरणे, प्रव० ३८ द्वार। "तीए दासीए घडो गोलियाए भिन्नो, तं च अधितिं करितिं दट्ठूण पुणरावत्ती जाया ' दश० २ अ०।

***गोलियायण**–पुं० (गोलिकायन) कौशिकगोत्रविशेषभूते पुरुषे, तदपत्येषु च। स्था० ५ ठा० १ उ०।

गोलियालिंग–न० (गोलिकालिङ्ग) अग्नेराश्रयविशेषे, जी० ३ प्रति०।

गाली–स्त्री० (गौरी) **"रस्य लो वा"। ८। ४। ३२६।** इति चूलिकपैशाचिके रस्य स्थाने वा लः। पार्वत्याम्, "पनमथ पनय–पकुप्पित–गोलीचलनग्ग–लग्ग–पति–बिंबं।" प्रा० ४ पाद। मन्थिन्याम्, दे० ना० २ वर्ग।

गोलेहणिया–पुं० (गोलेहनिका) गोभिर्लेह्यमानायामुषभूमौ, नि० चू० ३ उ०।

गोलोम–पुं० (गोलोम) द्वीन्द्रियभेदे, जी० १ प्रति०।

गोलोमप्पमाण–त्रि० (गोलोमप्रमाण) प्रमाणविशेषे, गोलोमप्रमाणा अपि केशा न स्थापनीयाः। कल्प० ६ क्षण।

गोल्ल–पुं० (गोल्ल) देशभेदे, यत्र चणकग्रामे चाणक्यो ब्राह्मणो जातः। आ० म० द्वि०। आ० चू०। विम्बाफले, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ०।

गोल्लास–पुं० (गोल्लास) देशभेदे, यत्र चाणक्यो जातः। आ० क०।

गोल्हा–स्त्री० (गोल्हा) विम्बाफले, आ० म० प्र०। विम्ब्याम्, दे० ना० २ वर्ग।

गोव–पुं० स्त्री० (गोप) गां भूमिं वा पाति रक्षति। पा–कः। जातिभेदे, स्त्रियां ङीप्। ग्रामाधिकृते, भूरक्षके च। पुं०। गोष्ठाध्यक्षे च। वाच०। गोरक्षके, उपा० ७ अ०। आ० म०। आ० चू०। गोपायति, गुप्–अच्। रक्षके, स्त्रियां गौरा० ङीष्। "शालिगोप्यो जगुर्यशः" उपकारके, त्रि०। वाच०।

गोवइ–त्रि० (गोपति) ६ त०। **"पो वः"। ८। १। २३१।** इति पस्यः वः। प्रा० १ पाद। गवेन्द्रे, ज्ञा० १ श्रु० ६ अ०। गवां पशूनां पत्यौ शिवे, वृषे, भूमिपतौ, नृपे, श्रीकृष्णे, किरणपतौ सूर्य्ये, स्वर्गपतौ शके, ऋषभनामौषधे, वाच०।

गोवग्ग–त्रि० (गोवर्ग) गवां समूहे, "एगं च णं महं सेयं गोवग्गं पासित्ता णं पडिबुद्धे॥ ५॥" स्था० १० ठा०। आ० क०।

गोवत्तिअ–(गोव्रतिक) गोव्रतं येषामस्ति ते गोव्रतिकाः। औ०। गोचर्य्यानुकारिणि तपस्विनि, अनु०। ते हि वयमपि किल तिर्यक्षु वसाम इति भावनां भावयन्तो गोभिर्निर्गच्छन्तीभिः सह निर्गच्छन्ति, स्थिताभिस्तिष्ठन्त्यासीनाभिरुपविशन्ति, भुञ्जानाभिस्तद्वदेव तृणपत्रपुष्पफलादि भुञ्जन्ति। ततः "तह ते गावीहि समं, निग्गमपवेसणाह पकरंति। भुंजंति जहा गावी, तिरक्खवासं विभावता॥ १॥" अनु०। औ०। ग०।

गोवय–न० (गोष्पद) गोः पदम्, गावः पद्यन्ते यस्मिन् देशे वा। गोः पदजाते गर्ते, गोपदप्रमाणे च। गोभिः सेवितदेशे, तदसेविते वनादौ च। प्रभासक्षेत्रस्थे तीर्थभेदे, वाच०। स्था०।

***गोपद**–न०। गोपदप्रमाणे गर्ते, स्था० ४ ठा० ४ उ०।

***गोवर**–(देशी) करीबे, दे० ना० २ वर्ग।

गोवरग्गाम–पुं० (गोवरग्राम) मागधीये स्वनामख्याते ग्रामे, यत्रेन्द्रभूत्यादयो गणधरा उत्पन्नाः। गुव्वरग्राम इत्यपि। आ० क०। आ० चू०।

गोलावण–पुं० (गोवलायन) गोवलस्य गोत्रापत्ये,सू० प्र० १० पाहु० । चं० प्र० । जं० ।

गोवल्ल–पुं० (गोवल्ल) गोवल्लस्य गोत्रापत्ये,पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् । "गोवल्लायते" जं० ७ वक्ष० ।

गोवल्लायण–पुं० (गोवल्लायन) 'गोवलायर्ण' शब्दार्थ,सू० प्र० १० पाहु० ।

गोवाड–न० (गोवाट) गोशालायाम्,गोष्ठे,वाच० । स्था० । ति० ।

गोवाल–पुं० (गोपाल) गां भूमिं पशुभेदं वा पालयति । पालि–अण्, उप० स० । नृपे,गोरक्षके,उत्त० २२ अ० । स्थविरसुस्थितप्रतिबुद्धे शिष्ये,कल्प० ८ क्षण । आ० म० । नृपप्रद्योतनपुत्रपालके,आ० चू० ४ अ० । "क्षत्रियाच्छूद्रकन्यायां,समुत्पन्नस्तु यः सुतः । स गोपाल इति ज्ञेयो,भोज्यो विप्रैर्न संशयः ॥ १ ॥" इति पराशरोक्ते सङ्कीर्णजातिभेदे, वाच० ।

गोवालगिरि–पुं० (गोपालगिरि) गोवर्द्धनगिरौ,ती० ६ कल्प० ।

गोवालय–पुं० (गोपालक) गोपालयति–पालि–ण्वुल् । ६ त० । गोरक्षके, भूमिरक्षके च । वाच० । सूत्र० ।

गोवाली–स्त्री० (गोपाली) लताभेदे,प्रज्ञा० १ पद ।

गोविंद–पुं० (गोपेन्द्र) योगशास्त्रकृति,यो० विं० । स्वनामख्याते वाचकेन्द्रे,यो० विं० । ल० । पं० व० । "गोविंदाणं पि नमो,अणुओगविउलधारणिंदाणं । णिच्चं खंतिदयाणं,परूवणे दुल्लभिंदाणं ॥ १ ॥" नं० ।

गोविन्द–पुं० । छन्दया प्रव्रज्यया प्रव्रजिते स्वनामख्याते शाक्यभक्ते प्राप्तबोधे,स्था० १० ठा० । व्य० । तत् कथा चैवम्–कश्चिद् गोविन्दनामा शाक्यमतभक्तो जिनागमरहस्यग्रहणार्थं कपटेन यतीभूय आचार्याणां पार्श्वे सिद्धान्ताध्ययनं कुर्वाणस्तेनैवाधीयमानसूत्रेण परिणामविशुद्धिप्रादुर्भावात्सम्यक्त्वं प्राप्य सार्धूभूत्वा सूरिपदं प्राप्त इति तं० । व्य० । पं० भा० । कर्मस्तवटीकाकारके देवनागसूरिशिष्ये च । जै० इ० । सूर्य्यशिवपूत्र्याः सूर्य्यश्रिया भर्त्तरि स्वनामख्याते ब्राह्मणे,महा० १ चू० । विष्णौ च । को० । स्या० । ("सुसढ" शब्देऽस्य कथा)

गोविंदणिज्जुत्ति–स्त्री० (गोविन्दनिर्युक्ति) दर्शनप्रभावके स्वनामख्याते प्रमाणग्रन्थे,नि० चू० ११ उ० । बृ० । आ० चू० । तत्कृतिश्चैवम्–गोविन्दो नाम बौद्धभिक्षुः स एकेन जैनाचार्य्येण अष्टादश वारान् वादे पराजितः चिन्तितवान्–यावदेषां सिद्धान्तस्वरूपं न जानामि तावन्न शक्नोमि जेतुमिति तस्येवाचार्यस्यान्तिके सामायिकादिपठनच्छलेन सर्वं श्रुतं जग्राह,ततस्तत्प्रभावाज्ज्ञानावरणापगमे सम्यक्त्वपरिणतात्मा व्रतमाददे,पश्चाद् गोविन्दनिर्युक्तिनामकं दार्शनिकग्रन्थं चक्रे । नि० चू० ११ उ० ।

गोविंददत्त–पुं० (गोपेन्द्रदत्त) स्कन्दनाचार्य्यस्य सतीर्थ्ये,व्य० ३ उ० ।

गोविय–त्रि० (गोपित) रक्षिते,नि० ३ वर्ग । सूत्र० । ऐरवतवर्षे जाते कुलकरे,ति० ।

गोवी–(देशी) बालायाम्,दे० ना० २ वर्ग ।

गोवीय–(देशी) अजल्पाके,दे० ना० २ वर्ग ।

गोवीही–स्त्री० (गोवीथी) गोसंज्ञके चतुर्भिर्नक्षत्रैरुपलक्षिते शुक्रादिमहाग्रहचारक्षेत्रभागे,स्था० ६ ठा० ।

गोस–पुं० (गोस) प्रत्यूषसि,पं० व० २ द्वार । आव० । नि० चू० । प्रातःशब्दार्थे,व्य० ६ उ० । श्रा० । वोले,उष्णकाले,वाच० । प्रभाते, दे० ना० २ वर्ग ।

गोसराण–देशी–मुखे,दे० ना० २ वर्ग ।

गोसंखी–पुं० (गोसङ्खी) मागधीयगोवरग्रागवास्तव्ये आभीराधिपतौ, आ० म० प्र० । आ० क० । आ० चू० । प्रव० ।

गोसंधिय–पुं० (गोसन्धित) गोपाले,आव० ६ अ० ।

गोसालग–पुं० (गोशालक) मङ्ख सुभद्राभ्यां गोबहुलब्राह्मणगोशालायां जातत्वाद् गोशालकः । कल्प० २ क्षण । स्वनामख्याते मङ्खलिपुत्रे श्रीवीररशिष्ये,(स च प्राग्भवे ईश्वरमुनिरासीदिति "इस्सर" शब्दे द्वितीयभागे ६४५ पृष्ठेआवेदितम्)

तेणं कालेणं तेणं समएणं सावत्थी णामं णयरी होत्था । वण्णओ–तीसे णं सवत्थीए णयरीए उत्तरपुरच्छिमे दिसिभाए, तत्थ णं कोट्ठए णामं चेइए होत्था । वण्णओ–तत्थ णं सावत्थीए णयरीए हालाहला णामं कुंभकारी आजीवियउवासिया परिवसइ अड्ढा० जाव अपरिभूया,आजीवियसमयंसि लद्धट्ठा गहियट्ठा पुच्छियट्ठा विणिच्छियट्ठा अट्ठमिंजपेमाणुरागरत्ता अयमाउसो ! आजीवियसमए अट्ठे, अयमट्ठे परमट्ठे,सेसे अणट्ठे त्ति आजीवियसमएणं अप्पाणं भावेमाणी विहरइ । तेणं कालेणं तेणं समएणं गोसाले मंखलिपुत्ते चउवीसवासपरियाए हालाहलाए कुंभकारीए कुंभकारावणंसि आजीवियसंघसंपरिवुडे आजीवियसमएणं अप्पाणं भावेमाणे विहरइ ।

"तेणं" इत्यादि । (मंखलिपुत्ते त्ति) मङ्खल्यभिधानमङ्खपुत्रः । (चउवीसवासपरियाए ति) । चतुर्विंशतिवर्षप्रमाणप्रव्रज्यापर्यायः ।

तए णं तस्स गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स अण्णया कयाइं इमे छ दिसाचरा अंतियं पाउब्भवित्था । तं जहा–साणे,कणंदे, कणियारे अच्छिंदे,अग्गिवेसायणे,अज्जुणे,गोमायुपुत्ते । तए णं ते छदिसाचरा अट्ठविहं पुव्वगयं मग्गदसमं सएहिं सएहिं मइदंसणेहिं णिज्जूहिंति । सएहिं मइदंसणेहिं णिज्जूहिंतित्ता गोसालं मंखलिपुत्तं उवट्ठाइंसु । तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते तेणं अट्ठंगस्स महानिमित्तस्स केणइ उल्लोयमेत्तेणं सव्वेसिं पाणाणं सव्वेसिं भूयाणं सव्वेसिं जीवाणं सव्वेसिं सत्ताणं इमाइं छ अणइक्कमणिज्जाइं वागरणाइं वागरइ । तं जहा–लाभं,अलाभं,सुहं,दुक्खं, जीवियं, मरणं । तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते तेणं अट्ठंगस्स महाणिमित्तस्स केणइ उल्लोयमेत्तेणं सावत्थीए णयरीए अजिणे जिणप्पलावी अणरहा अरहप्पलावी अकेवली केवलिप्पलावी असव्वण्णू सव्वण्णुप्पलावी अजिणे जिणसद्दं पगासमाणे विहरइ । तए णं सावत्थीए णयरीए सिंघाडग० जाव पहेसु बहुजणो अण्णमण्णस्स एवमाइ-इक्खइ० जाव एवं परूवेइ एवं खलु देवाणुप्पिया ! गोसाले

मंखलिपुत्ते जिणे जिणप्पलावी० जाव पगासमाणे विहरइ। से कहमेयं मण्णे एवं ? तेणं कालेणं तेणं समएणं सामी समोसढे० जाव परिसा पडिगया। तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे अंतेवासी इंदभूई णामं अणगारे गोयमगोत्तेणं० जाव छट्ठं छट्ठेणं एवं जहा विइयसए णियंवुद्देसए० जाव अडमाणे वहुजणसद्दं णिसामेइ। बहुजणो अण्णमण्णस्स एवमाइक्खइ० ४–"एवं खलु देवाणुप्पिया ! गोसाले मंखलिपुत्ते जिणे जिणप्पलावी० जाव पगासमाणे विहरइ, से कहमेयं मण्णे एवं" १। तए णं भगवं गोयमे बहुजणस्स अंतियं एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म० जाव जायसड्ढे० जाव भत्तपाणं पडिदंसेइ०, जाव पज्जुवासमाणे एवं वयासी एवं खलु अहं भंते ! छट्ठं तं चेव० जाव जिणसद्दं पगासमाणे विहरइ, से कहमेयं भंते ! एवं ? इच्छामि णं भंते ! गोसलस्स मंखलिपुत्तस्स उट्ठाणपरिया–णिणं परिकहियं ? गोयमादि समणे भगवं महावीरे भगवं गोयम ! एवं वयासी जं णं गोयमा ! से बहुजणे अण्णमण्णस्स एवमा–इक्खइ० ४–"एवं खलु गोसाले मंखलिपुत्ते जिणे जिणप्प–लावी० जाव पगासमाणे विहरइ," तं णं मिच्छा। अहं पुण गोयमा ! एवमाइक्खामि० जाव परूवेमि–एवं खलु एयस्स गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स मंखलि णामं मंखे पिता होत्था। तस्स णं मंखलिमंखस्स भद्दा णामं भारिया होत्था, सुकुमाल० जाव पडिरूवा। तए णं सा भद्दा भारिया अण्णया कयाइं गुव्विणी यावि होत्था। तेणं कालेणं तेणं समएणं सरवणे णामं सण्णिवेसे होत्था, रिद्धत्थमिव० जाव सण्णिभप्पगासे पासादीए। तत्थ णं सरवणे सण्णिवेसे गोबहुले णामं माहणे परिवसइ, अड्ढे० जाव अपरिभूए रिउव्वेय० जाव सुपरिणिट्ठिए यावि होत्था। तस्स णं गोबहुलस्स माहणस्स गोसाला यावि होत्था। तए णं से मंखलिमंखणामं अण्णया कयाइं भद्दाए भारियाए गुव्विणीए सद्धिं चितफलगहत्थगए मंखत्तणेणं अप्पाणं भावेमाणे पुव्वाणु–पुव्विं चरमाणे गामाणुगामं दूइज्जमाणे जेणेव सरवणे सण्णिवेसे जेणेव गोबहुलस्स माहणस्स गोसाले, तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छइत्ता गोबहुलस्स माहणस्स गोसालाए एगदेसंसि भंडणिक्खेवं करेइ। करेइत्ता सरवणे सण्णिवेसे उच्चणीयम–ज्झिमाइं कुलाइं घरसमुदाणस्स भिक्खायरियाए अडमाणे वसही सव्वओ समंता मग्गणगवेसणं करेइ। वसहीए सव्वओ समंता मग्गणगवेसणं करेमाणे अण्णत्थ वसहिं अलभमाणे तस्सेव गोबहुलस्स माहणस्स गोसालाए एगदेसंसि वासावासं उवागए। तए णं सा भद्दा भारिया णवण्हं मासाणं बहुपडिपुण्णाणं अद्धट्ठमाणराइंदि–याणं वीइक्कंताणं सुकुमाल० जाव पडिरूवं दारगं पयाता। तए णं तस्स दारगस्स अम्मापियरो एक्कारसमे दिवसे वीइक्कंते० जाव वारसाहे दिवसे अयमेयारूवं गोणं गुणविप्पण्णं णामधेज्जं करेंति–जम्हा णं अम्हं इमे दारए गोबहुलस्स माहणस्स गोसा–लाए जाते, तं होऊणं अम्हं इमस्स दारगस्स णामधेज्जं गोसाले त्ति। तए णं तस्स दारगस्स अम्मापियरो णामधेज्जं करेंति–गोसाले त्ति। तए णं से गोसाले दारए उम्मुक्कवालभावे विण्णाय–परिणयमेत्ते जुव्वणगमणुप्पत्ते सयमेव पाडिएक्कं चित्तफलगं करेइ। करेइत्ता चित्तफलगहत्थगए मंखत्तणेणं अप्पाणं भावेमाणे विहरइ। तेणं कालेणं तेणं समएणं अहं गोयमा ! तीसं वासाइं अगारवासमज्झे वसित्ता अम्मापिउहिं देवत्तं गएहिं एवं जहा भावणाए० जाव एगं देवदूसमादाय मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइत्तए।

(दिसाचर त्ति) दिशां चरन्ति यान्ति मन्यन्ते भगवतो वयं शिष्या इति दिक्चराः, देशाटा वा दिक्चराः, भगवच्छिष्याः पार्श्वस्थीभूता इति टीकाकारः। "पासावच्चिज्ज त्ति 'चूर्णिकारः। (अंतियं पाउब्भवित्थ त्ति) समीपमागताः। (अट्ठविहं पुव्वगयं मग्गदसमं ति) अष्टविधमष्ट–प्रकारं, निमित्तमिति शेषः। तच्चेदम्–दिव्यम्, उत्पातम्, आन्तरिक्षं, भौम, आङ्गं, स्वरं, लक्षणं, व्यञ्जनं चेति। पूर्वगतं पूर्वाभिधानश्रुत–विशेषमध्यगतं, तथा मार्गो गीतमार्गनृत्यमार्गलक्षणौ संभाव्यते। (दस–मति) अत्र नवमशब्दस्य लुप्तस्य दर्शनान्नवमदशमाविति दृश्यम्। ततश्चैमार्गौ नवमदशमौ यत्र तत्तथा। (सएहिं ति) स्वकैः स्वकीयैः (मइदंस–णेहिं ति) मतेर्बुद्धेर्मत्या वा, दर्शनानि प्रमेयस्य परिच्छेदनानि मतिदर्श–नानि, तैः। (निज्जूहिंति त्ति) निर्यूथयन्तिपूर्वलक्षणश्रुत–पर्यायेयूथान्नि–र्द्धरियन्ति, उद्धरन्तीत्यर्थः। (उवट्ठाइंसु त्ति) उपस्थितवन्तः, आश्रितवन्त इत्यर्थः। (अट्ठंगस्स त्ति) अष्टभेदस्य (केणइ त्ति) केनचित् तथाविधजनाविदितस्वरूपेण (उल्लोयमेत्तेणं ति) उद्देशमात्रेण (इमाइं छअणइक्कमणिज्जाइं ति) इमानि षट् अनति–क्रमणीयानि व्यभिचारयितुमशक्यानि (वागरणाइं ति) पृष्टेन सता यानि व्याक्रि यन्ते अभिधीयन्ते तानि व्याकरणानि, पुरुषार्थोपयो–गित्वाच्चैतानि षड् उक्तानि, अन्यथा नष्टमुष्टिचिन्तालूकाप्रभृतीन्यन्या–न्यपि बहूनि निमित्तगोचरीभवन्तीति। (अजिणे जिणप्पलावि त्ति) अजिनोऽवीतरागः सन् जिनमात्मानं प्रकर्षेण लपतीत्येवं शीलो जिनप्रलापी। एवमन्यान्यपि पदानि वाच्यानि। नवरमर्हन् पूजार्हः केवली परिपूर्णज्ञानादिः। किमुक्तं भवति ?– "अजिणे" इत्यादि। (एवं जहा विइयसए नियंठुद्देसए त्ति) द्वितीयशतस्य पञ्चमोद्देशके (उट्ठाणपारि–याणियं ति) पारियानं विविधव्यतिकरपरिगमनं, तदेव पारियानिकं चरितम्। उत्थानाज्जन्मन आरभ्य पारियानिकम् उत्थानपारिया–निकम्, तत्परिकथितं, भगवद्भिरिति गम्यते। (मंखे त्ति) मङ्खः चित्रफल–कव्यप्रकारो भिक्षुकविशेषः। "सुकुमाल०" इह यावत्करणादेवं दृश्यम्–"सुकुमालपाणिपाया लक्खणवंजणगुणो–ववेया०" इत्यादि। "रि–

द्धत्थमिय०'' इह यावत् करणादेवं दृश्यम्-''रिद्धत्थमियसमिद्धे पमुइयजणजाणवए०'' इत्यादि। व्याख्या तु पूर्ववत्। (चित्तफलगहत्थगए त्ति) चित्रफलकंहस्ते गतं यस्य स तथा। (पाडिएक्कं ति) एकमात्मानं प्रति प्रत्येकं,पितुः फलकाद्भिन्नमित्यर्थः। (अगारवासमज्झं वसित्त त्ति) अगारवासं गृहवा समध्युष्याऽऽसेव्य। (एवं जहा भावणाए त्ति) आचारद्वितीयश्रुतस्कन्धस्या पञ्चदशे अध्ययने। अनेन चेदं सूचितम् -''समत्तपइण्णेनाहं समणो होहं अम्मापियरम्मि जीवंते त्ति समाप्ताभिग्रह इत्यर्थः। ''चिच्चा हिरण्णं चिच्चा सुवण्णं चिच्चा बलमित्यादीति।''(भ०)

**तए णं अहं गोयमा ! पढमं वासं अद्धमासं अद्धमासेणं खममाणे अट्ठियगामं णिस्साए पढमं अंतरावासं वासावासं उवागए। दोच्चं वासं मासं मासेणं खममाणे पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गामाणुगामं दूइज्जमाणे जेणेव रायगिहे णयरे जेणेव नालिंदा वाहिरिया जेणेव तंतुवायसाला,तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छइत्ता अहापडिरूवं उग्गहं उग्गिण्हामि। अहापडिरूवं उग्गहं उग्गिण्हित्ता तंतुवायसालाए एगदेसंसि वासावासं उवागए। तए णं अहं गोयमा ! पढमं मासक्खमणं उवसंपज्जित्ता णं विहरामि। तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते चित्तफलगहत्थगए मंखत्तणेणं अप्पाणं भावेमाणे पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे० जाव दूइज्जमाणे जेणेव रायगिहे णयरे जेणेव णालिंदा बाहिरिया जेणेव तंतुवायसाला,तेणेव ,उवागच्छइ। उवागच्छइत्ता तंतुवायसालाए एगदेसंसि भंडणिक्खेवं करेति। करेति ता रायगिहे णयरे उच्चणीय० जाव अण्णत्थ कत्थ वि वसहिं अलभमाणे तीसे य तंतुवायसालाए एगदेसंसि वासावासमुवागए,जत्थेव णं अहं गोयमा !। तए णं अहं गोयमा ! पढममासक्खमणपारणगंसि तंतुवायसालाए पडिणिक्खामि। तंतुवायसालाए पडिणिक्खमित्ता नालिंदा बाहिरियं मज्झं मज्झेणं जेणेव रायगिहे णयरे उच्चणीय० जाव अडमाणे विजयस्स गाहावइस्स गिहं अणुप्पविट्ठे। तए णं से विजए गाहावई ममं एज्जमाणं पासइ। पासइत्ता हट्ठतुट्ठ० खिप्पामेव आसणाओ अब्भुट्ठेइ। अब्भुट्ठेइत्ता पादपीठाओ पच्चोरुभति। पच्चोरुभतित्ता पायपीठाओ उम्मुयइ। उम्मुयइत्ता एगसाडियं उत्त-रासंगं करेइ। करेइत्ता अंजलिमउलियहत्थे ममं सत्तट्ठपयाइं अणुगच्छइ। अणुगच्छइत्ता ममं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ। करेइत्ता ममं वंदइ,णमंसइ,णमंसइत्ता ममं विउलेणं असणपाणखाइमसाइमेणं पडिलाभिस्सामित्ति तुट्ठे,पडिलाभे-माणे वि तुट्ठे, पडिलाभिते वि तुट्ठे। तए णं तस्स विजयस्स गाहावइस्स तेणं दव्वसुद्धेणं दायगसुद्धेणं पडिग्गहसुद्धेणं तिविहेणं तिकरणसुद्धेणं दाणेणं मए पडिलाभिए समाणे देवाउयं णिवद्धं,संसारए रित्तीकए,गिहंसि य से इमाइं पंच दिव्वाइं पाउब्भूयाइं। तं जहा-वसुहारा वुट्ठा १ दसद्धवण्णे कुसुमे णिवातिते २ चेलुक्खेवे कए ३ आहयाओ देवदुंदुभीओ ४ अंतरा वि य णं आगासे अहो दाणे २ त्ति घुट्ठे ५। तए णं रायगिहे णयरे सिंघाडग० जाव पहेसु बहुजणो अण्णमण्णस एवमाइक्खइ० जाव एवं परूवेइ-धण्णे णं देवाणुप्पिए ! विजए गाहावई,कयत्थे णं देवाणुप्पिए ! विजए गाहावई, कयपुण्णे णं देवाणुप्पिया ! विजय गाहावई, कयलक्खणे देवाणुप्पिया ! विजय गाहावई, कया णं लोया देवाणुप्पिया ! विजयस्स गाहावइस्स,सुलद्धे णं देवाणुप्पिए ! माणुस्सए जम्मजीवियफले विजयस्स गाहावइस्स,जस्स णं गिहंसि तहारूवे साधुसाधुरूवे पडिलाभिए समाणे इमाइं पंच दिव्वाइं पाउब्भूयाइं। तं जहा-वसुधारा वुट्ठा० जाव अहो दाणे दाणे घुट्ठे,धण्णे णं कयत्थे कयपुण्णे कयलक्खणे कया णं लोया सुलद्धे माणुस्सए जम्मजीवियफले विजयस्स गाहावइस्स जस्स०। तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते बहुजणस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म समुप्पण्णसंसए समुप्पण्णकोउहल्ले जेणेव विजयस्स गाहावइस्स गिहे,तेणेव उवागच्छइ। उवाग-च्छइत्ता विजयस्स गाहावइस्स गिहंसि वसुहारंसि वुट्ठिं दसद्ध-वण्णं कुसुमं णिवडियं,ममं च णं विजयस्स गाहावइस्स गिहाओ पडिणिक्खममाणं पासइ। पासइत्ता हट्ठतुट्ठे जेणेव ममं अंतिए, तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छइत्ता ममं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ। करेइत्ता ममं वंदइ,णमंसइ,णमंसइत्ता ममं एवं वयासी-तुब्भे णं भंते। ममं धम्मायरिया,अहं णं तुब्भं धम्मंतेवासी। तए णं अहं गोयमा ! गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स एयमट्ठं णो आढामि,णो परिजाणामि,तुसिणीए संचिट्ठामि। तए णं अहं गोयमा ! रायगिहा ओ णयराओ पडिणिक्खमामि,पडिणिक्खमामित्ता णालिंदं वाहिरियं मज्झं मज्झेणं जेणेव तंतुवायसाला, तेणेव उवागच्छामि। उवागच्छामित्ता दोच्चं मासक्खमणं उवसंपज्जित्ता णं विहरामि। तए णं अहं मासक्खमणपारण-गंसि तंतुवायसालाओ पडिणिक्खमामि। पडिणिक्खमामित्ता णालिंदं वाहिरियं मज्झं मज्झेणं जेणेव रायगिहे णयरे० जाव अडमाणे आणंदस्स गाहावइस्स गिहं अणुप्पविट्ठे। तए णं से आणंदे गाहावई ममं एज्जमाणं पासइ। पासइत्ता एवं जहेव विजयस्स,णवरं ममं विउलाए खज्जगविहीए पडिलाभिस्सामीति तुट्ठे,सेसं तं चेव०, जाव तच्चं मासक्खमणं उवसंपज्जित्ता णं विहरामि। तए णं अहं गोयमा। तच्चं मासक्खमणं पारणगंसि तंतुवायसालाओ पडिणिक्खमामि। पडिणिक्खमामित्ता तहेव० जाव अडमाणे सुदंसणस्स गाहावइस्स गिहं पविट्ठे। तए णं से सुदंसणे गाहावई णवरं ममं सव्वकामगुणिएणं भोयणेणं पडिलाभेति। सेसं तं चेव०,जाव चउत्थं मासक्ख-

मणं उवसंपज्जित्ता णं विहरामि। तीसे णं णालिंदा बाहिरियाए अदूरसामंते एत्थ णं कोल्लाए णामं सण्णिवेसे होत्था। सण्णिवेसवण्णओ–तत्थ णं कोल्लाए सण्णिवेसे बहुले णामं माहणे परिवसइ अड्ढे० जाव अपरिभूए रिउव्वेय० जाव सुपरिणिट्ठिए यावि होत्था। तए णं से बहुले माहणे कत्तियचाउम्मासियपाडिवयंसि विउलेणं महुघयसंजुत्तेणं परमण्णेणं माहणे आयामेत्था। तए णं अहं गोयमा ! चउत्थमासक्खमणपारणगंसि तंतुवायसालाओ पडिणिक्खमामि। पडिणिक्खमामित्ता णालिंदा बाहिरियं मज्झं मज्झेणं णिग्गच्छामि। णिग्गच्छामित्ता जेणेव कोल्लाए सण्णिवेसे उच्चणीय० जाव अडमाणे बहुलस्स माहणस्स गिहं अणुप्पविट्ठे। तए णं से बहुले माहणे ममं एज्जमाणं तहेव० जाव ममं विउलेणं महुघयसंजुत्तेणं परमण्णेणं पडिलाभिस्सामीति तुट्ठे, सेसं जहा विजयस्स० जाव बहुले माहणे बहु०। तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते ममं तंतुवायसालाए अपासमाणे रायगिहे णयरे सब्भिंतरबाहिरिए ममं सव्वओ समंता मग्गणगवेसणं करेइ। ममं कत्थ वि सुइं वा खुइं वा पउत्तिं वा अलभमाणे जेणेव तंतुवायसाला, तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छइत्ता साडियाओ य पाडियाओ य कुंडियाओ य वाणहाओ य चित्तफलगं च माहणे आयामेइ। आयामेइत्ता सउत्तरोट्ठं मुंडं करेइ। करेइत्ता तंतुवाय–सालाओ पडिणिक्खमइ। पडिणिक्खमइत्ता णालिंदं बाहिरियं मज्झं मज्झेणं णिग्गच्छइ। णिग्गच्छइत्ता जेणेव कोल्लागसण्णि–वेसे तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छइत्ता तए णं तस्स कोल्लागस्स सण्णिवेसस्स बहिया बहुजणो अण्णमण्णस्स एवमाइक्खइ० जाव परूवेइ–"धण्णे णं देवाणुप्पिया ! बहुले माहणे, तं चेव० जाव जीवियफले बहुलस्स माणस्स बहु०" तए णं तस्स गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स बहुजणस्स अंतियं एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म अयमेयारूवे अब्भत्थिए० जाव समुप्पज्जित्था। जारिसियाणं मम धम्मायरियस्स धम्मोवएसगस्स समणस्स भगवओ महावीरस्स इड्ढी जुत्ती जसे बले वीरिए पुरिसक्कारपर–क्कमे लद्धे पत्ते अभिसमण्णागए णो खलु अत्थि तारिसियाणं अण्णस्स कस्स वि तहारूवस्स समणस्स वा माहणस्स वा इड्ढी जुत्ती० जाव परक्कमे लद्धे पत्ते अभिसमण्णागए। तं णिस्संदिद्धं णं एत्थं धम्मायरिए धम्मोवएसए समणे भगवं महावीरे भविस्सतीति कट्टु कोल्लागसण्णिवेसस्स सब्भिंतरबाहिरिए ममं सव्वओ समंता मग्गणगवेसणं करेइ। ममं सव्वओ० जाव करे–माणे कोल्लागसण्णिवेसस्स बहिया पणियभूमीए मए सद्धिं अभिसमण्णागए। तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते हट्ठतुट्ठे ममं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं० जाव णमंसित्ता एवं वयासी–तुब्भे णं भंते ! ममं धम्मायरिया, अहं णं तुब्भं अंतेवासी। तए णं अहं गोयमा ! गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स एयमट्ठं पडिसुणेमि। तए णं अहं गोयमा ! गोसालेणं मंखलिपुत्तेणं सद्धिं पणि–यभूमीए छव्वासाइं लाभं अलाभं सुहं दुक्खं सक्कारमसक्कारं पच्चणुभवमाणे अणिच्चजागरियं विहरित्था। तए णं अहं गोयमा ! अण्णया कयाइं पढमसरयकालसमयंसि अप्पवुट्ठिकायंसि गोसालेणं मंखलिपुत्तेणं सद्धिं सिद्धत्थगामाओ णयराओ कुम्म–गामं णयरं संपट्ठिए विहाराए। तस्स णं सिद्धत्थगामस्स णयर–स्स कुम्मगामस्स य णयरस्स य अंतरा एत्थ णं महं एगे तिल–थंभए पत्तिए पुप्फिए हरियगरेज्झिमाणे सिरीए अईव अईव उवसोभेमाणे उवसोभेमाणे चिट्ठइ। तए णं से गोसाले मंखलि–पुत्ते तं तिलथंभं पासइ। पासइत्ता ममं वंदइ, णमंसइ, वंदित्ता णमंसित्ता एवं वयासी–एस णं भंते ! तिलथंभए किं णिप्पज्जि–स्सइ, णो णिप्पज्जिस्सइ ? ए ए य सत्त तिलपुप्फजीवा उद्दाइत्ता उद्दाइत्ता कहिं गच्छिहिंति, कहिं उववज्जिहिंति। तए णं अहं गोयमा ! गोसालं मंखलिपुत्तं एवं वयासी–गोसाला ! एस णं तिलथंभए णिप्पज्जिस्सइ, णो णो णिप्पज्जिस्सइ, एए य सत्त तिलपुप्फजीवा उद्दाइत्ता उद्दाइत्ता एयस्स चेव तिलथंभगस्स्स एगाए तिलसंगलियाए सत्त तिला पच्चायातिस्संति। तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते ममं एवं आइक्खमाणस्स एयमट्ठं णो सद्द–हति, णो पत्तियति, णो रोएइ, एयमट्ठं असद्दहमाणे अपत्तियमाणे अरोएमाणे ममं पणिहाय अयं णं मिच्छावादी भवउ त्ति कट्टु ममं अंतियाओ सणियं सणियं पच्चोसक्कइ। पच्चोसक्कइत्ता जेणेव से तिलथंभगं सलेट्ठुं यायं चेव उप्पाडेइ। उप्पाडेइत्ता एगंते एडेइ। एडेइत्ता तक्खणमेत्तं च गोयमा ! दिव्वे अब्भवद्दलए पाउब्भूए। तए णं से दिव्वे अब्भवद्दलए खिप्पामेव पतणतणाए, खिप्पामेव विज्जुयाइ, खिप्पामेव णच्चोसगं णातिमट्टियं पविरलपप्फु सियं रयरेणुविणासणं दिव्वसलिलोदगं वासं वासइ। जेणं से तिल–थंभए आसत्थवीसत्थए पच्चायाए बद्धमूले तत्थेव पतिट्ठिए। ते य सत्त तिलपुप्फजीवा उद्दाइत्ता उद्दाइत्ता तस्सेव तिलथंभग–स्स एगाए तिलसंगलियाए सत्त तिला पच्चायाया।

(पढमं वासं ति) विभक्तिपरिणामात्प्रव्रज्याप्रतिपत्तेः प्रथमे वर्षे (निस्साए त्ति) निश्राय निश्रां कृत्वा (पढमं अंतरावासं ति) विभक्ति–परिणामादेव प्रथमे अन्तरमवसरो वर्षस्य वृष्टेर्यत्रासावन्तरवर्षः। अथवा–ऽन्तरेऽपि जिगमिषितक्षेत्रमप्राप्यापि यत्र सति साधुभिरवश्यमावासो विधीयते सोऽन्तरावासो वर्षाकालः, तत्र (वासं ति) वर्षासु वासश्चातु–र्मासिकमवस्थानं वर्षावासः, तमुपागत उपाश्रितः (दोच्चं वासं ति) द्वितीये

वप (ततुवायसाल त्ति) कुविन्दशाला (अंजलिमउलियहत्थ त्ति) अञ्जलिना मुकुलितौ मुकुलाकारौ कृतौ हस्तौ येन स तथा। (दव्वसुद्धेणं ति) द्रव्यमोदनादिकं, शुद्धमुद्गमादिदोषरहितं यत्र दाने तत्तथा, तेन, (दायगसुद्धेणं ति) दायकः शुद्धो यत्राऽऽशंसादिदोषरहितत्वात् तत्तथा, तेन, एवमितरदपि (तिविहेणं ति) उक्तलक्षणेन त्रिविधेन, अथवा त्रिविधेन कृतकारितानुमतिभेदेन, त्रिकरणशुद्धेन मनोवाक्कायशुद्धेन। (वसुहारा बुट्ठ त्ति) वसुधारा द्रव्यरूपा धारा वृष्टाः (अहो दाणं ति) 'अहो' शब्दो विस्मये, (कयत्थे णंति) कृतार्थः कृतस्वप्रयोजनः। (कयलक्खणे त्ति) कृतफलवल्लक्षण इत्यर्थः। (कया णं लोय त्ति) कृतौ कृतशुभफलौ, अवयवे समुदायोपचारात्लोकौ इहलोकपरलोकौ (जम्मजीवियफले त्ति) जन्मनो जीवितव्यस्य च यत्फलं तत्तथा (तहारूवे साहुसाहुरूवे त्ति) तथारूपे तथाविधे, अविज्ञातव्रतविशेष इत्यर्थः। साधौ श्रमणे साधुरूपे साध्वाकारे (धम्मंतेवासि त्ति) शिल्पादिग्रहणार्थमपि शिष्या भवन्ती-त्यत उच्यते-धर्मान्तेवासी। (खज्जगविहीए त्ति) खण्डखाद्यादिलक्षण-भोजनप्रकारेण (सव्वकामगुणिएणं ति) सर्वे कामगुणा अभिलाषाविष-यभूता रसादयः संजाता यत्र तत्सर्वकामगुणितं, तेन (परमण्णेणं ति) परमान्नेन क्षीरेण्या (आयामेत्थ त्ति) आचामितवान्, तद्भोजनदानद्वारे-णोच्छिष्टतासम्पादनेन तच्छुध्यर्थमाचमनं कारितवान्, भोजितवानिति तात्पर्यम् (सब्भिंतरबाहिरिए त्ति) सहाभ्यन्तरेण विभागेन बाह्येन च यत्तत्तथा, तत्र (मग्गणगवेसणं ति) अन्वयतो मार्गणं, व्यतिरेकतो गवेषणं, ततश्च समाहारद्वन्द्वः। (सुइं व त्ति) श्रुयत इति श्रुतिःशब्दः, तां चक्षुषो किलादृश्यमानोऽर्थः शब्देन निश्चीयत इति श्रुतिग्रहणम्। (खुइं व त्ति) क्षवणं क्षुतिः, छीत्कृतं, ताम्। एषाऽप्यदृश्यमनुष्यादिगमिका भवतीति गृहीता (पउत्तिं व त्ति) प्रवृत्तिं वार्ताम् (साडियाओ त्ति) परिधानवस्त्राणि (पडियाओ त्ति) उत्तरीयवस्त्राणि। क्वचिद् "भंडियाओ त्ति" दृश्यते। तत्र भण्डिका रन्धनादिभाजनानि (माहणे आयामेइ त्ति) शाटकादी-नर्थान् ब्राह्मणान् लम्भयति, शाटकादीनर्थान् ब्राह्मणेभ्यो ददातीत्यर्थः। (सउत्तरोट्ठं ति) सह उत्तरोष्ठेन सोत्तरोष्ठं सस्मश्रुकं यथाभवतीत्येवं (मुंडं ति) मुण्डनं कारयति नापितेन (पणियभूमीए त्ति) पणितभूमौ भाण्डविश्रामस्थाने, प्रणीतभूमौ वा मनोज्ञभूमौ (अभिसमण्णागए त्ति) मिलितः। (एयमट्ठं पडिसुणेमि त्ति) अभ्युपगच्छामि, यद्यैतस्याऽयोग्य-स्थाप्यभ्युपगमनं भगवतस्तदक्षीणरागतया परिचयेनेषत्स्नेहगर्भानुक-म्पासद्भावात् छद्मस्थतया वाऽनागतदोषानवगमादवश्यंभाविन्यद्यैत-स्यार्थस्येति भावनीयमिति। (पणियभूमिए त्ति) पणितभूमेरारभ्य, प्रणीतभूमौ वा मनोज्ञभूमौ, विहृतवानिति योगः। (अणिच्चजागरियं ति) अनित्यचिन्तां, कुर्वन्निति वाक्यशेषः। (पढमसरयकालसमयंसि ति) समयभाषया मार्गशीर्षपौषौ शरदभिधीयते। तत्र प्रथमशरत्कालसमये मार्गशीर्षे (अप्पवुट्ठिकायंसि ति) अल्पशब्दस्याभाववचनत्वादविद्यमा-नवर्षे इत्यर्थः। अन्ये तु "अश्वयुक्कार्तिकौ शरत्" इत्याहुः। अल्पवृष्टि-कायत्वाच्च तत्राऽपि विहरतां न दूषणमितिः, एतच्चासङ्गतमिव, भगवतो-ऽप्यवश्यं पर्युषणाकर्त्तव्यत्वेन पर्युषणकल्पेऽभिहितत्वादिति। (हरियग-रेरिज्जमाणे त्ति) हरितक इति कृत्वा (रेरिज्जमाणं त्ति) अतिशयेन राजमान इत्यर्थः। (तए णं अहं गोयमा ! गोसालं मंखलिपुत्तं एवं वयासि त्ति) इह यद्भगवतः पूर्वकाल-प्रतिपन्नमौनाभिग्रहस्यापि प्रत्युत्तरकालं तदेकादिकं वचनमुत्कल-मित्येवमभिग्रहग्रहणस्य सम्भाव्यमानत्वेन न विरुद्धमिति (तिलसंग-लियाए त्ति) तिलफलिकायाम्। (ममं पणिहाय त्ति) मां प्रणिधाय मामाश्रित्यायं मिथ्यावादी भवत्विति विकल्पं कृत्वा। (अब्भवद्दलए त्ति) अभ्ररूपं वारो जलस्य दलकं कारणमभ्रवार्द्दलकम् (पतणतणाए त्ति) प्रकर्षेण तणतणायते गर्जतीत्यर्थः। (नच्चोदगं ति) नात्युदकं यथा भवति (नातिमट्टियं ति) नातिकर्दमं यथा भवतीत्यर्थः। (पविरलप-प्फुसियं ति) प्रविरलाः प्रस्पृशिका विप्रुषो यत्र तत्तथा (रयरेणुविणासणं ति) रजो वातोत्पाटितं व्योमवर्त्तिरेणवश्च भूमिस्थितपांशवस्तदुपशमि-कम्। (सलिलोदगवासं ति) सलिलाः शीतादिमहानद्यस्तासामिव यदुदकं रसादिगुणसाधर्म्यात् तस्य यः सलिलोदकवर्षोऽतस्तम्। [बद्धमूले त्ति] बद्धमूलः सन्। [तत्थेव पतिट्ठिए त्ति] यत्र पतितस्त्रैव प्रतिष्ठितः। [भ०]

तए णं अहं गोयमा ! गोसालेणं मंखलिपुत्तेणं सद्धिं जेणेव कुम्मगामे णयरे तेणेव उवागच्छामि। तए णं तस्स कुम्मगामस्स णयरस्स बहिया वेसियायणे णामं बालतवस्सी छट्ठं छट्ठेणं अणि-क्खित्तेणं तवोकम्मेणं उड्ढं बाहाओ पगिज्झिय पगिज्झिय सूरा-भिमुहं आयावणभूमीए आयावेमाणे विहरइ। आइच्चतेयत-वियाओ से छप्पदीओ सव्वओ समंता अभिणिस्सवंति पाणभू-यजीवसत्तदयट्ठयाए, एयं णं पडियाओ पडियाओ तत्थेव भुज्जो भुज्जो पच्चोरुभइ। तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते वेसियायणं बाल-तवस्सिं पासइ। पासइत्ता ममं अंतियाओ सणियं सणियं पच्चो-सक्कइ। पच्चोसक्कइत्ता जेणेव वेसियायणे बालतवस्सी तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छइत्ता वेसियायणं बालतवस्सिं एवं वयासी-किं भवं मुणी मुणिए, उदाहु जूयासेज्जायरए ? तए णं से वेसियायणे बालतवस्सी गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स एयमट्ठं णो आढाइ, णो परिजाणइ, तुसिणीए संचिट्ठइ। तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते वेसियायणं बालतवस्सिं दोच्चं पि एवं वयासी-किं भवं मुणी मुणिए० जाव सेज्जायरए ? तए णं से वेसियायणे बालतवस्सी गोसालेणं मंखलिपुत्तेणं दोच्चं पि तच्चं पि एवं वुत्ते समाणे आसुरुत्ते० जाव मिसिमिसेमाणे आयावणभूमीओ पच्चो-सक्कइ। पच्चोसक्कइत्ता तेयासमुग्घाएणं समोहणइ। समोहणइत्ता सत्तट्ठपयाइं पच्चोसक्कइ। पच्चोसक्कइत्ता गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स बहाए सरीरगं तेयं णिसिरइ। तए णं अहं गोयमा ! गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स अणुकंपणट्ठयाए वेसियायणस्स बालतवस्सिस्स य मा उसिणतेय-लेस्सा तेय पडिसाहरणट्ठयाए, एत्थ णं अंतरा अहं सीयलियं तेयलेस्सं णिसिरामि, जाए सा ममं सीयलियाए तेयलेस्साए वेसियायणस्स बालतवस्सिस्स सा उसिणतेयलेस्सा पडिहया।

तए णं से वेसियायणे बालतवस्सी ममं सीयलियाए तेयलेस्साए सा उसिणं तेयलेस्सं पडिहयं जाणित्ता गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स सरीरस्स किंचि आवाहं वा वावाहं वा छविच्छेदं वा अकीरमाणं पासित्ता सा उसिणं तेयलेस्सं पडिसाहरइ। पडिसाहरइत्ता ममं एवं वयासी से गयमेयं भगवं !,गयगयमेयं भगवं !,तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते ममं एवं वयासी–किं णं भंते ! एस जूयासिज्ञातरए तुब्भे एवं वयासी–"से गयमेयं भगवं ! गयगयमेवं भगवं !"। तए णं अहं गोयमा ! गोसालं मंखलिपुत्तं एवं वयासी–तुमं णं गोसाला ! वेसियायणं बालतवस्सिं पासइ। पासइत्ता ममं अंतियाओ सणियं सणियं पच्चोसक्कइ। पच्चोसक्कइत्ता जेणेव वेसियायणे बालतवस्सी,तेणेव उवागच्छइ । उवागच्छइत्ता वेसियायणं बालतवस्सिं एवं वयासी–"किं भवं मुणी मुणिए, उदाहु जूयासेज्जायरए ?"। तए णं से वेसियायणे बालतवस्सी तव एयमट्ठं णो आढाइ,णो परिजाणइ,तुसिणीए संचिट्ठइ। तए णं तुमं गोसाला ! वेसियायणं बालतवस्सिं दोच्चं पि तच्चं पि एवं वयासी–"किं भवं मुणी० जाव जूयासेज्जायरए ?"। तए णं से वेसियायणे बालतवस्सी तुमं दोच्चं पि तच्चं पि एवं वुत्ते समाणे आसुरुत्ते० जाव पच्चोसक्कइ। पच्चोसक्कइत्ता तव वहाए सरीरगं तेयलेस्सं णिसिरइ। तए णं अहं गोसाला ! तव अणुकंपणट्ठयाए वेसियायणस्स बालतवस्सिस्स सा य तेयपडिसाहरणट्ठयाए एत्थ णं अंतरा सीयलियं तेयलेस्सं णिसिरामि० जाव पडिहयं जाणित्ता तव सरीरगस्स किंचि आवाहं वा वावाहं वा छविच्छेदं वा अकीरमाणं पासित्ता सा उसिणं तेयलेस्सं पडिसाहरति। पडिसाहरतित्ता ममं एवं वयासी–"से गयमेयं भगवं !,गयगयमेयं भगवं !"। तए णं गोसाले मंखलिपुत्ते ममं अंतियाओ एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म भीए० जाव संजायभए ममं एवं वयासी–कहि णं भंते ! संखित्तविउलतेयलेस्से भवइ ?। तए णं अहं गोयमा ! गोसालं मंखलिपुत्तं एवं वयासी–जे णं गोसाला ! एगाए सणहाए कुम्मासपिंडियाए एगेण य वियडासएणं छट्ठं छट्ठेणं अणिक्खेत्तेणं तवोकम्मेणं उड्ढं वाहाओ पगिज्झिय पगिज्झिय० जाव विहरइ; से णं अंतो छण्हं मासाणं संखित्तविउलतेउलेस्से भवइ। तए णं से गोसाले मंलिपुत्ते ममं एयमट्ठं सम्मं विणएणं पडिसुणेइ। तए णं अहं गोयमा ! अण्णया कयाइ गोसालेणं मंखलिपुत्तेणं सद्धिं कुम्मगामाओ णयराओ सिद्धत्थगामं णयरं संपट्ठिए विहाराए,जाहे य मो तं देसं हव्वमागया,जत्थ णं से तिलथंभए। तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते ममं एवं वयासी–तुब्भे णं भंते ! तदा ममं एवं आइक्खह०,जाव एवं परूवेह–"गोसाला ! एस णं तिलथं–भए णिप्पज्जिस्सइ,णो णिप्पज्जिस्सइ," तं चेव पच्चायाइस्संति, तं णं मिच्छा, इमं च णं पच्चक्खमेव दीसइ । एस णं तिलथंभए णो णिप्पण्णे अणिप्पण्णमेव,ते य सत्त तिलपुप्फजीवा उद्दाइत्ता उद्दाइत्ता णो एयस्स चेव तिलथंभगस्स एगाए तिलसंगलियाए सत्त तिला पच्चायाता । तए णं अहं गोयमा ! गोसालं मंखलिपुत्तं एवं वयासी–तुमं णं गोसाला ! तदा ममं एवं आइक्खमाणस्स० जाव एवं परूवेमाणस्स एयमट्ठं णो सद्दहसि, णो पत्तियसि,णो रोयसि,एयमट्ठं असद्दहमाणे अपत्तियमाणे अरोएमाणे ममं पणिहाय अयं णं मिच्छावादी भवउ त्ति कट्टु ममं अंतियाओ सणियं सणियं पच्चोसक्कइ। पच्चोसक्कइत्ता जेणेव से तिलथंभए तेणेव उवागच्छइ । उवागच्छइत्ता० जाव एगंतमंते एडेसि, तक्खणमेत्तं गोसाला ! दिव्वे अब्भवद्दलए पाउब्भूए। तए णं से दिव्वे अब्भवद्दलए खिप्पामेव तं चेव० जाव तिलथंभगस्स एगाए तिलसंगलियाए सत्त तिला पच्चायाता। तं एस णं गोसाला ! से तिलथंभए णिप्पण्णे,णो अणिप्पण्णमेव । ते य सत्त तिलपुप्फजीवा उद्दाइत्ता उद्दाइत्ता एयस्स चेव तिलथंभगस्स एगाए तिलसंगलियाए सत्त तिला पच्चायाता। एवं खलु गोसाला ! वणस्सइकाइयाओ पउट्टपरि–हारं परिहरंति। तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते ममं एवमाइक्ख–माणस्स० जाव परूवेमाणस्स एयमट्ठं णो सद्दहति । णो सद्दह–तित्ता एयमट्ठं असद्दहमाणे० जाव अरोएमाणे जेणेव से तिलथं–भए तेणेव उवागच्छइ । उवागच्छइत्ता ताओ तिलथंभयाओ तं तिलसंगलियं खुड्डति। खुड्डित्ता करयलंसि सत्त तिले पप्फोडेइ । तए णं तस्स गोसालस्स ते सत्त तिले गणेमाणस्स अयमेयारूवे अब्भत्थिए० जाव समुप्पज्जित्था–एवं खलु सव्वजीवा वि पउट्टपरिहारं परिहरंति। एस णं गोयमा ! गोसालस्स मंखलिपु–त्तस्स पउट्टे। एस णं गोयमा ! गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स ममं अंतियाओ आयाए अवक्कमणे पण्णत्ते। तए णं से गोसाले मंख–लिपुत्ते एगाए सणहाए कुम्मासपिंडियाए एगेण य वियडासएणं छट्ठं छट्ठेणं उड्ढं वाहाओ पगिज्झिय पगिज्झिय० जाव विहरइ। तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते अंतो छण्हं मासाणं संखित्तविउल–तेयलेस्से जाए।

(पाणभूयजीवसत्तदयट्ठयाए त्ति) प्राणादिषु सामान्येन या दया सैवार्थः प्राणादिदयार्थः,तद्भावस्तत्ता,तथा,अथवाषट्पदिका एव प्राणानामुच्छ्वासादीनां भावात्प्राणाः,भवनधर्म्मकत्वाद्भूताः, उपयोगलक्षणत्वाज्जीवाः,सत्त्वोपपेतत्वात्सत्त्वाः,ततः कर्म्मधारयः, तदर्थतायै, चशब्दः पुनरर्थः। (तत्थेव त्ति) शिरःप्रभृतिकं (किंभवं मुणी मुणिए त्ति) किंभवान् मुनिस्तपस्वी

मातः। (मुणिए त्ति) ज्ञाते तत्त्वे सति, ज्ञात्वा वा तत्त्वम्। अथवा–भवान् मुनी तपस्विनी (?) (मुणिए त्ति) मुनिकस्तपस्वीति, अथवा–भवान् मुनिर्यतिः, उत मुणिको ग्रहगृहीतः (उदाहु त्ति) 'उताहो' इति विकल्पार्थो निपातः। (जूयासेज्जायरए त्ति) यूकानां स्थानदातेति। (सत्तट्ठपयाइं पच्चोसक्कइ त्ति) प्रयत्नविशेषार्थः, मुरभ्र इव प्रहारदानार्थमिति। (सा उसिणं तेयलेस्सं ति) स्वां स्वीयामुष्णां तेजोलेश्याम्। (से गयमेयं भगवं गयगयमेयं भगवं ति) अथ गतगतमेतन्मया हे भगवन्। यथा भगवतः प्रसादादयं न दग्धः सम्भ्रमार्थत्वाच्च गतशब्दस्य पुनः पुनरुच्चारणम्। इह च यद्गोशालकस्य संरक्षणं भगवता कृतं तत्सरागत्वेन, दयैकरसत्वाद्भगवतः। यच्च सुनक्षत्रसर्वानुभूतिमुनिपुङ्गवयोर्न करिष्यति, तद्वीतरागत्वेन, लब्ध्यनुपजीवकत्वादवश्यभाविभावत्वाद्वेत्यवसयमिति। (संखित्तविउलतेयलेस्से त्ति) सङ्क्षिप्ता अप्रयोगकाले अविपुला, प्रयोगकाले तेजोलेश्या लब्धि विशेषो यस्य स तथा (सणहाए त्ति) सनखया यस्यां पिण्डिकायां बध्यमानायामङ्गुलीनखा अङ्गुष्ठस्याधो गलन्ति सा सनखेत्युच्यते। (कुम्मासपिंडियाए त्ति) कुल्माषा अर्द्धस्विन्ना मुद्गादयः, माषा इत्यन्ये (वियडासएणं ति) विकटं जलं, तस्याशयः आश्रयो वा स्थानं विकटाशयो विकटाश्रयः। तेन अमुं च प्रस्तावाच्चुलुकमाहुर्वृद्धाः (जाहे य मो त्ति) यदा च स्मो भवामो वयम्। (अनिप्फण्णमेव त्ति) मकारस्याऽऽगमिकत्वादनिष्पन्न एव (वणस्सइकाइयाओ पउट्टपरिहारं परिहरंति त्ति) परिवृत्य परिवृत्य मृत्वा यस्तस्यैव वनस्पतिशरीरस्य परिहारः परिवर्तः, परिवर्तवाद इत्यर्थः। (आयाए अवक्कमणे त्ति) आत्मना पादावेवोपदेशमपक्रमणमपसरणम्। (भ०)

**तए णं तस्स गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स अण्णया कयाइं इमे छ दिसाचरा अंतियं पाउब्भवित्था। तं जहा–साणे तं चेव सव्वं० जाव अजिणे जिणसद्दं पगासमाणे विहरइ। सं णो खलु गोयमा ! गोसाले मंखलिपुत्ते जिणे जिणप्पलावी० जाव जिण–सद्दं पगासमाणे विहरइ ; गोसाले णं मंखलिपुत्ते अजिणे जिण–प्पलावी० जाव पगासमाणे विहरइ। तए णं सा महई महालिया महव्वपरिसा जहा सिवे० जाव पडिगया। तए णं सावत्थीए णयरीए सिंघाडग० जाव बहुजणो अण्णमण्णस्स० जाव परूवेइजे णं देवाणुप्पिया ! गोसाले मंखलिपुत्ते जिणे जिणप्पलावी विहरइ, तं मिच्छा। समणे भगवं महावीरे एवमाइक्खइ०, जाव परूवेइ। एवं खलु तस्स गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स मंखली णामं मंखे पिता होत्था। तए णं तस्स मंखस्स एवं तं चेव सव्वं माणियव्वं० जाव अजिणे जिणप्पलावी जिण्णसद्दं पगासमाणे विहरइ। तं णो खलु गोसाले मंखलिपुत्ते जिणे जिणप्पलावी० जाव विहरइ; गोसाले णं मंखलिपुत्ते अजिणे जिणप्पलावी विहरइ। समणे भगवं महावीरे जिणे जिणप्पलावी० जाव जिणसद्दं पगासमाणे विहरइ। तए णं गोसाले मंखलिपुत्ते बहुजणस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म आसुरुत्ते० जाव मिसिमिसेमाणे आयावणभूमीओ पच्चोरुभइ। पच्चोरुभइत्ता सावत्थिं णयरिं मज्झं मज्झेणं जेणेव हालाहलाए कुंभकारीए कुंभकारावणे, तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छइत्ता हालाहलाए कुंभकारीए कुंभकारावणंसि आजीवियसंघसंपरिवुडे महया अमरिसं वहमाणे एवं चावि विहरइ। तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतेवासी आणंदे णामं थेरे पगइभद्दए० जाव विणीए छट्ठं छट्ठेणं अणिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ। तए णं से आणंदे थेरे छट्ठक्खमणपारणगंसि पढमाए पोरिसीए एवं जहा गोयमसामी तहेव आपुच्छइ। तहेव० जाव उच्चणीयमज्झिम० जाव अडमाणे हालाहलाए कुंभकारीए कुंभकारावणस्स अदूरसामंते वीईवयइ। तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते आणंदं थेरं हालाहलाए कुंभकारीए कुंभकारावणस्स अदूरसामंते वीईवयमाणं पासइ। पासइत्ता एवं वयासी–एहि ताव आणंदा ! इओ एगं महं उवमियं णिसामेइ। तए णं से आणंदे थेरे गोसालेणं मंखलिपुत्तेणं एवं वुत्ते समाणे जेणेव हालाहलाए कुंभकारीए कुंभकारावणे जेणेव गोसाले मंखलिपुत्ते, तेणेव उवागच्छइ। तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते आणंदं थेरं एवं वयासी–एवं खलु आणंदा ! इतो चिरातीताए अद्धाए केईउच्चावया वणिया अत्थ–त्थी अत्थलुद्धा अत्थगवेसी अत्थकंखिया अत्थपिवासिया अत्थगवेसणयाए णाणाविहविउलपणियभंडमायाय गहाय एगं महं अगामियं अणोहियं छिण्णावायं दीहमद्धं अडविं अणुप्पविट्ठा। तए णं तेसिं वणियाणं तीसे अगामियाए अणोहियाए छिण्णावा–याए दीहमद्धाए अडवीए किंचिदेसं अणुप्पत्ता णं समाणं से पुव्वगहिए उदए अणुपुव्वेणं परिभुज्जमाणे परिभुज्जमाणे खीणे। तए णं से वणिया खीणोदगा समाणा तण्हाए परिब्भवमाणा अण्ण–मण्णे सद्दावेंति। सद्दावेंतित्ता एवं वयासी–एवं खलु देवाणुप्पिया ! अहं इमीसे अगामियाए० जाव अडवीए किंचि देसं अणुप्पत्ताणं समाणाणं से पुव्वगहिए उदए अणुपुव्वेणं परिभुंजमाणे परिभुंजमाणे खीणे, तं सेयं खलु देवाणुप्पिया ! अम्हं इमी से अगामियाए० जाव अमवीए उदगस्स सव्वओ समंता मग्गणगवेसणं करेत्तए त्ति कट्टु अण्णमण्णस्स अंतिए एयमट्ठं पडिसुणेंति। पडिसुणेंतित्ता तीसे अगामियाए० जाव अडवीए उदगस्स सव्वओ समंता मग्गणगवेसणं करेंति। उदगस्स सव्वओ समंता मग्गणगवेसणं करेमाणे एगं महं वणखंडं आसादेंति। किण्हं किण्होभासं० जाव णिकुरुंबभूयं पासादीयं० जाव पडिरूवं ; तस्स णं वणखंडस्स णं बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं महेगं वम्मीयं आसादेंति। तस्स णं वम्मियस्स चत्ता–

रि वपुओ अब्भुग्गयाओ अभिणिसडाओ तिरियं सुसंपग्गहियाओ अट्ठे पणगद्धरूवाओ पणगद्धसंठाणसंठियाओ पासादीयाओ० जाव पडिरूवाओ। तए णं से वणिया हट्ठतुट्ठा अण्णमण्णं० जाव सद्दावेंति। सद्दावेंतित्ता एवं वयासी–खलु देवाणुप्पिया ! अम्हं इमीसे अगामियाए० जाव सव्वओ समंता मग्गणगवेसणं करेमाणेहिं इमे वणखंडे आसादिए, किण्हे किण्होभासे। इमस्स णं वणखंडस्स बहुमज्झदेसभाए इमे वम्मीए आसादीए। इमस्स णं वम्मीयस्स चत्तारि वपुओ अब्भुग्गयाओ० जाव पडिरूवाओ तं सेयं खलु देवाणुप्पिया ! अम्हं इमस्स वम्मीय–स्स पढमं वप्पिं भिंदित्तए, अवियाइ उरालं उदगरयणं अस्सा–दिस्सामो। तए णं ते वणिया अण्णमण्णस्स अंतियं एयमट्ठं पडिसुणेंति पडिसुणेंतित्ता तस्स वम्मीयस्स पढमं वप्पिं भिंदेंति। तेणं तत्थ अच्छं पत्थं जच्चं तणुयं फालियवण्णाभं उरालं उदगरयणं आसादेंति। तए णं ते वणिया हट्ठतुट्ठा पाणियं पिवंति। पिवंतित्ता वाहणाइं पज्जेंति। पज्जेंतित्ता भावणाइं भरेंति। भरेंतित्ता दोच्चं पि अण्णमण्णं एवं वयासी–एवं खलु देवाणुप्पिया ! अम्हेंहि इमस्स वम्मीयस्स पढमाए वप्पाए भिण्णाए उराले उदगरयणे अस्सादिए, तं सेयं खलु देवाणुप्पिया ! अम्हं इमस्स वम्मीयस्स दोच्चं पि वप्पं भिंदित्तए, एत्थ उरालं सुवण्णरयणं अस्सा–देस्सामो। तए णं ते वणिया अण्णमण्णस्स अंतियं एयमट्ठं पडिसुणेंति। पडिसुणें–तित्ता तस्स वम्मीयस्स दोच्चं पि वप्पं भिंदंति। तत्थ अच्छं जच्चं तावणिज्जं महत्थं महग्घं महरिहं उरालं सुवण्णरयणं अस्सादेंति। तए णं ते वणिया हट्ठतुट्ठा भायणाइं भरेंति। भरेंतित्ता पवहणाइं भरेंति। भरेंतित्ता तच्चं पि अण्णमण्णं एवं वयासी– एवं खलु देवाणुप्पिया ? अम्हे इमस्स वम्मीयस्स पढमाए वप्पाए भिण्णाए उराले उदगरयणे अस्सादिए, दोच्चाए वप्पाए भिण्णाए उराले सुवण्णरयणे अस्सादिए। तं सेयं खलु देवाणु–प्पिया ! तच्चं पि वप्पं भिंदित्तए, अवियाइं इत्थ उरालं मणिरयणं अस्सादेस्सामो। तए णं ते वणिया अण्णमण्णस्स अंतियं एयमट्ठं पडिसुणेंति। पडिसुणेंतित्ता तस्स वम्मीयस्स तच्चं पि वप्पं भिंदंति। तेणं तत्थ विमलं णिम्मलं णित्तलं णिक्कलं महग्घं महत्थं महरिहं उरालं मणिरयणं अस्सादिंति। तए णं ते वणिया हट्ठतुट्ठा भायणाइं भरेंति। भरेंतित्ता पवहणाइं भरेंति। भरेंतित्ता चउत्थं पि अण्णमण्णं एवं वयासी–एवं खलु देवाणुप्पिया ! अम्हे इमस्स वम्मीयस्स पढमाए वप्पाए भिण्णाए उराले उदगरयणे अस्सादिए। दोच्चाए वप्पाए भिण्णाए उराले सुवण्णरयणे अस्सादिए। तच्चाए वप्पाए भिण्णाए उराले मणिरयणे अस्सादिए। तं सेयं खलु देवाणुप्पिया ! अम्हं इमस्स वम्मीयस्स चउत्थं पि वप्पं भिंदित्तए, अवियाइं इत्थ उत्तमं महग्घं महत्थं महरिहं उरालं वइररयणं अस्सादेस्सामो। तए णं तेसिं वणियाणं एगे वणिए हियकामए सुहकामए पत्थकामए आणुकंपिए णिस्सेयसिए हियसुहणिस्सेसकामए ते वणिए एवं वयासी–एवं खलु देवाणुप्पिया ! अम्हे इमस्स वम्मीयस्स पढमाए वप्पाए भिण्णाए उराले उदगरयणे० जाव तच्चाए वप्पाए भिण्णाए उराले मणिरयणे अस्सादिए। तं होउ अलाहि पज्जत्तं णे, एसा चउत्थी वप्पा मा भिज्जउ, चउत्थी णं वप्पा सउवसग्गा यावि होज्जा। तए णं ते वणिया तस्स वणियस्स हियकामगस्स सुहकामगस्स० जाव हियसुहणिस्सेसका–मगस्स एवमाइक्ख–माणस्स० जाव परूवेमाणस्स एयमट्ठं णो सद्दहंति० जाव णो रोयंति। एयमट्ठं असद्दहमाणा० जाव अरो–एमाणा तस्स वम्मीयस्स चउत्थं पि वप्पं भिंदंति। तेणं तत्थ उग्गविसं चंडविसं घोरविसं महाविसं अतिकायमहाकायं मसिमूसाकालगं नयणविसरोसपुण्णं अंजणपुंजणिगरप्पगासं रत्तच्छं जमल–जुयलचंचलचलंतजीहं धरणितलवेणिभूयं उक्कडफुडकुडिल–जडुलकक्खडविकडफडाडोवकरणदच्छं लोहागरधम्ममाण–धमधमेंतघोसं अणागलियचंडतिव्वरोसं समुहं तुरियं चवलं धमंतं दिट्ठिविसं सप्पं संघट्टेंति। तए णं से दिट्ठिविससप्पे तेहिं वणिएहिं संघट्टिए समाणे आसुरुत्ते० जाव मिसिमिसेमाणे सणियं सणियं उट्ठेइ। उट्ठेइत्ता सरसरसरस्स वम्मीयस्स सिहरतलं दुरूहइ। दुरूहइत्ता आदिच्चं निब्भाइ। निब्भाइत्ता ते वणिए अणिमिसाए दिट्ठीए सव्वओ समंता समभिलोएंति। तए णं ते वणिया दिट्ठिविसेणं सप्पेणं अणमिसाए दिट्ठीए सव्वओ समंता समभिलोया समाणा खिप्पामेव सभंडमत्तोवगरणमायाए एगाहच्चं कूडाहच्चं भासिरासीकया यावि होत्था॥

[जहा सिवे त्ति] शिवराजर्षिचरिते [महया अमरिसं ति] महान्त–ममर्षम्[एवं चावि त्ति] एवश्चेति प्रज्ञापकोपदर्श्यमानकोपचिह्नम्, अपीति समुच्चये [महं उवमियं ति] मम संबन्धि, महद्वा विशिष्टमौपम्यमुपमा–दृष्टान्तमित्यर्थः। [चिरातीताए अद्धाए त्ति] चिरमतीते काले [उच्चावय त्ति] उच्चावचा उत्तमानुत्तमाः। [अत्थत्थि त्ति] द्रव्यप्रयोजनाः। कुत एवमित्याह [अत्थ्युद्ध त्ति] द्रव्यलालसाः, अत एव [अत्थ गवेसि त्ति] अर्थगवेषिणोऽपि। कुत इत्याह [अत्थकंखिय त्ति]। प्राप्तेऽप्यर्थेऽ–विच्छिन्नेच्छाः। अप्राप्तार्थवि–षयसञ्जाततृष्णाः। यत एवमत एवाह "अत्थगवेसणयाए "इत्यादि। (पणियभंडे त्ति) पणितं व्यवहारः, तदर्थं भाण्डं, पणितं वा क्रयाणकं, तद्रूपं भाण्डं, न तु भाजनमिति पणितभाण्डम्। (सगडीसागडेणंति) शकट्यो गन्त्रिकाः, शकटानां गन्त्रीविशेषाणां

समूहः शाकटं,ततः समाहारद्वन्द्वोऽतस्तेन । [भत्तपाणपत्थयणं ति] भक्तपानरूपं यत्पथ्योदनं शम्बलं तत्तथा (अगामियं ति) अग्रामिकाम्, अकामिकां वा अनभिलाषविषयभूताम् (अणोहियं ति) अविद्यमान-जलौघिकामतिगहनत्वेनाविद्यमानोहां वा। [छिण्णावायं ति] व्यवच्छिन्नसार्थघोषाद्यापातां (दीहमद्धं ति) दीर्घमार्गां दीर्घकालां वा। "किण्हं किण्होभासं०"इह यावत्करणादिदं दृश्यम् "नीलं नीलोभासं हारयं हारओभासं "। व्याख्या चास्य प्राग्वत् [महेगं वम्मीयं ति] महान्तमेकं वल्मीकं [वपुओ त्ति] वपूंषि शरीराणि,शिखराणीत्यर्थः।[अब्भुग्गयाओ त्ति] अभ्युद्गतानि,अभ्रोद्गतानि वोच्चानीत्यर्थः ।[अभिनिसडाओ] अभिविधिना निर्गताः सटास्तदवयवरूपाः केसरिस्कन्धसटावद्योषां तानि अभिनिःसटानि,इदं च तेषामूर्द्ध्वगतं स्वरूपम्। अथ तिर्यगाह [तिरियं सुसंपग्गहियाओ त्ति] सुसंप्रगृहीतानि सुसंवृतानि तानि,विस्तीर्णानीत्यर्थः। अधः किंभूतानीत्याह [अहे पणगद्धरूवाओ त्ति] सर्पार्द्धरूपाणि यादृशं पन्नगस्योदरच्छिन्नम्य पुच्छत ऊद्ध्वींकृतमर्द्धमधोविस्तीर्णमुपर्युपरि चातिश्लक्ष्णं भवतीत्येवरूपं येषां तानि तथा। पन्नगार्द्धरूपाणि च वर्णादिनाऽपि भवन्तीत्याह (पणगद्धसंठाणसंठियाओ त्ति) भावितमेव (उरालं उदगरयणं आसाइस्सामो त्ति) अस्यायमभिप्रायः एवं विधभूमिगर्त्ते किलोदकं भवति,वल्मीके वाऽश्यंभाविनो गर्त्ताः,अतः शिरभेदे गर्त्तः प्रकटो न भविष्यति,तत्र च जलं भविष्यतीति। (अच्छंति) निर्मलं (पत्थं ति) पथ्यं रोगोपशमहेतुः [जच्चं ति] जात्यं संस्कारहितम् [तणुयं ति । तनुकं,सुजरमित्यर्थः । [फालियवण्णाभं ति] स्फटिकवर्णवदाभा यस्य तत्तया। अत एव (उरालंति) प्रधानम् [उदगरयणं ति] उदकमेव रत्नं उदकरत्नम्,उदकजातौ तस्योत्कृष्टत्वात् [वाहणाइं पज्जेंति ति] वलीवर्दादिवाहनानि पाययन्ति [अच्छं ति] निर्मलं [जच्चं ति] अकृत्रिमम् [तावणिज्जं ति] तापनीयं तापसहस्र। [महत्थं ति] महाप्रयोजनं। [महग्घं ति] महामूल्यं महतां योग्यं [वि-मलं ति] विगतागन्तुकमलं [निम्मलं ति] स्वाभाविकमलरहितम् [निप्पलं ति] निस्तलम् अनिवृत्तमित्यर्थः। [निक्कलं ति] निष्कलं त्रासादिरत्नदोषरहितं [वइररयणं ति] वज्राभिधानरत्नं [हितकामए त्ति] इह हितमपायाभावः [सुहकामए त्ति] सुखमानन्दरूपः [पत्थ-कामए त्ति] पथ्यमिव पथ्यम् आनन्दकारणं वस्तु [अणुकंपिए त्ति] अनुकम्पया चरतीत्यानुकम्पिकः [निस्सेयसिए त्ति] निःश्रेयसं विपद्मोक्षमिच्छतीति नैश्रेयसिकः । अधिकृतवाणिजस्योक्तैरेव गुणैः कश्चिद्युगपद्योगमाह [हियेत्यादि] (तं होउ अलाहि पज्जत्तं णे त्ति) तत्तस्माद्भवत्वलं पर्याप्तमित्येते शब्दाः प्रतिषेधवाचकत्वेनैकार्थाः आपत्तिकप्रतिषेधप्रतिपादनार्थमुक्ताः। (णे) अस्माकम (सउवसग्गा यावि त्ति) इह वापीति सम्भावनार्थः। (उग्गविसं ति) दुर्जरविषम् (चंडविसं त्ति) दष्टकनरकायस्य झगिति व्यापकविषं (घोरविसं ति) परम्परया पुरुषसहस्रस्यापि,हननसमर्थविषम (महाविसे ति) जम्बूद्वीपप्रमाणस्याविशेषस्य व्यापनसमर्थविषम् [अइकायमहाकायं ति] कायान् शेषाहीनामतिक्रान्तोऽतिकायोऽत एव महाकायः। ततः कर्मधारयोऽथवाऽतिकायानां मध्येमहाकायोऽतस्तम् (मसिमूसाकालगं ति) मषी कज्जलं,मूषा च सुवर्णादितापनभाजनविशेषः,ते इव कालको यः स तथा तं (नयणविसरोसपुण्णं ति) नयनविषेण दृष्टिविषेण रोषेण च पूर्णो यः स तथा तम् । (अंजनपुंजनिगरप्पगास ति) अञ्जनपुञ्जानांनिकरस्येव प्रकाशो दीप्तिर्यस्य स तथा तं,पूर्वं कालवर्णत्वमुक्तमिह तु दीप्तिरिति न पुनरुक्ततेति (रत्तच्छं ति) रक्ताक्षम् (जमलजुयलचंचलचलंतजीहं ति) जमलं सहवर्ति युगलं द्वयं चञ्चलं यथा भवत्येवं चलन्त्योरतिचपल-योर्जिह्वयोर्यस्य स तथा तं,प्राकृतत्वाद्यैवं समासः (धरणितलवेणिभूयं ति) धरणीतलस्य वेणीभूतो वनिताशिरसः केशबन्धविशेष इव यः कृष्णत्वदीर्घत्वश्लक्ष्णपश्चाद्भागत्वादिसाधर्म्यात् स तथा तम्। [उक्कडफुडकुडिलजडुलकक्खडवियडफडाटोवकरणदच्छं ति] उत्कटो बलवतान्येवाध्वंसनीयत्वात्,स्फुटो व्यक्तप्रयत्नविहितत्वात्, कुटिलो वक्रः तत्स्वरूपत्वात्,कर्कशो निष्ठुरो बलवत्वात्, विकटो विस्तीर्णो यः स्फटाटोपः फणासंरम्भः तत्करणे दक्षो यः स तथा,तम् । [लोहागरधम्ममाणधमधमें तघोसं ति] लोहस्येवाकरे ध्मायमानस्याग्निना ताप्यमानस्य धमधमायमानां धमधमेति वर्णव्यक्तिभिवोत्पादयन् घोषः शब्दो यस्य स तथा तं [अणागलियचंडतिव्वरोसं ति] अनिर्गलितोऽनिवारितोऽनाकलितो वा अप्रमेयश्चण्डः तीव्र इत्यर्थः तीव्रो रोषो यस्य स तथा तम् [समुहं तुरियं चवलं धमंतं ति] शुनो मुखः श्वमुखं,तस्य वा चरणं श्वमुखिकाकौलेयकस्येव भषणतः त्वरितचपलमतिचटुलतया धमन्तं शब्दायन्तं कुर्वन्तमित्यर्थः । [सरसरसरस्स त्ति] सर्पगतेरनुकरणम् [आइच्चं निब्भाइ त्ति] आदित्यं पश्यति दृष्टिलक्षणविषस्य तीक्ष्णतार्थं [सभंडमत्तोवगरणमायाए त्ति] सह भाण्डमात्रया पणितपरिच्छेदेन उपकरणमात्रया च ये ते तथा [एगाहच्चं ति] एकैव आहत्या आहननं प्रहारो यत्र भस्मीकरणे तदेकाहत्यं,तत् यथा भवत्येवम्। कथमिवेत्याह [कूडाहच्चं ति] कूटस्येव पाषाणमयमारणमहायन्त्रस्येवाहत्या आहननं यत्र तत् कूटाहत्यम्, तद्यथा, भवतीत्येवम्। भ०।

तत्थ णं जे से वणिए तेसिं वणियाणं हियकामए० जाव हियसुहणिस्सेसकामए,से णं अणुकंपियाए देवताए सभंडमत्तोवगरणमायाए णियगं णयरं साहिए । एवामेव आणंदा ! तव वि धम्मायरिएणं धम्मोवएसएणं समणेणं णायपुत्तेणं उराले परियाए अस्सादिए । उराला कित्तिवण्णसद्दसिलोगा सदेवमणुयासुरलोए पुवंति,गुवंति,थुवंति,इति खलु समणे भगवं महावीरे इति इति। तं जदि मे से अज्ज किंचि वदति,तं णं तवेणं तेएणं एगाहच्चं कूडाहच्चं भासरासिं करेमि। जहा वा वालेणं ते वणिया। तुमं च णं आणंदा ! सारक्खामि,संगोवामि,जहा वा से वणिए तेसिं वणियाणं हियकामए० जाव णिस्सेसकामए अणुकंपियाए देवयाए सभंड० जाव साहिए । तं गच्छइ णं तुमं आणंदा ! धम्मायरियस्स धम्मोवए-सगस्स समणस्स णायपुत्तस्स एयमट्ठं परिकहेहि। तए णं से आणंदे थेरे गोसालेणं मंखलिपुत्तेणं एवं वुत्ते समाणे भीए० जाव संजायभए गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स मंतिं आओ हालाहलाए कुं भकारीए कुं भकारावणाओ पडिणिक्खमइ । पडिणिक्खमइत्ता सिग्घं तुरियं सावत्थिं णयरिं मज्झं मज्झेणं णिग्गच्छइ। णिग्गच्छइत्ता जेणेव कोट्ठए

चेइए जेणेव समणे भगवं महावीरे,तेणेव उवागच्छइ । उवागच्छइत्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ। करेइत्ता वंदइ, णमंसइ,णमंसइत्ता एवं वयासी–एवं खलु अहं भंते ! छट्ठरकमणपारणगंसि तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए समाणे सावत्थीए णयरीए उच्चणीय० जाव अडमाणे हालाहलाए कुंभकारीए० जाव वीईवयामि । तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते ममं हालाहलाए० जाव पासित्ता एवं वयासी–एहि ताव आणंदा ! इओ एगं महं उवमियं णिसामेहि । तए णं अहं से गोसालेणं मंखलिपुत्तेणं एवं वुत्ते समाणे जेणेव हालाहलाए कुंभकारीए कुंभकारावणे जेणेव गोसाले मंखलिपुत्ते,तेणेव उवागच्छामि । तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते ममं एवं वयासी–एवं खलु आणंदा ! इओ चिराइयाए अद्धाए केइ उच्चावया वणिया,'एवं तं चेव सव्वं णिरवसेसं भाणियव्वं० जाव णियगं णयरं साहिए । तं गच्छह णं तुमं आणंदा ! धम्मायरियस्स धम्मोवएसगस्स० जाव परिकहेहि । तं पभू णं भंते ! गोसाले मंखलिपुत्ते तवेणं तेएणं एगाहच्चं कूडाहच्चं भासिरासिं करेत्तए। विसए णं भंते ! गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स० जाव करेत्तए । समत्थे णं भंते ! गोसाले मंखलिपुत्ते तवेणं० जाव करेत्तए ? पभूणं आणंदा ! गोसाले मंखलिपुत्ते तवेणं० जाव करेत्तए,विस–ए णं आणंदा ! गोसाले० जाव करेत्तए,समत्थे णं आणंदा ! गोसाले ० जाव करेत्तए। णो चेव णं अरहंते भडवंते परियावणियं पुण करेज्जा,जावइएणं आणंदा ! गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स तवतेए एत्तो अणंतगुण-विसिट्ठयाए चेव तवतेए अणगाराणं भगवंतो खंतिखमा पुण अणगारा भगवंतो । जाव इए णं आणंदा ! अणगाराणं भगवंताणं तवतेए एत्तो अणंतगुणविसिट्ठ–तराए चेव तवतेए थेराणं भगवंताणं खंतिखमा पुण थेरा भगवंतो । जावइए णं आणंदा ! थेराणं भगवंताणं तवतेए एत्तो अणंतगुण–विसिट्ठतराए चेव तवतेए अरहंताणं भगवंताणं खंतिखमा पुण अरहंता भगवंतो । तं पभू णं आणंदा ! गोसाले मंखलिपुत्ते तवेणं तेएणं० जाव करेत्तए,विसए णं आणंदा ! ० जाव करेत्तए, समत्थेणं आणंदा !० जाव करेत्तए,णो चेव णं अरहंते भगवंते परियावणियं पुण करेज्जा । तं गच्छइ णं तुमं आणंदा ! गोयमादीणं समणाणं णिग्गंथाणं एयमट्ठं परिकहेहि,मा णं अज्जो ! तुब्भं के वि गोसालं मंखलिपुत्तं धम्मियाए पडिचोयणाए पडिचोइओ,धम्मि–याए पडिसारणाए पडिसारेओ,धम्मिएणं पडोयारेणं पडोयारेओ, गोसालेणं मंखलिपुत्तेणं समणेहिं णिग्गंथेहिं मिच्छं विप्पडि-वण्णे । तए णं से आणंदे थेरे समणेणं भगवया महावीरेणं एवं वुत्ते समाणे समणं भगवं महावीरं वंदइ,णमंसइ,जेणेव गोयमादि ! समणा णिग्गंथा तेणेच उवागच्छइ । उवागच्छइत्ता गोयमादि ! समणे णिग्गंथे आमंतेइ । आमंतेइत्ता एवं वयासी–एवं खलु अज्जो ! छट्ठक्खमणपारणगंसि समणेणं भगवया महावीरेणं अब्भणुण्णाए समाणे सावत्थीए णयरीए उच्चणीय० तं चेव सव्वं० जाव णाय–पुत्तस्स एयमट्ठं परिकहेहि । तं मा णं अज्जो ! तुब्भं केइ गोसालं मंखलिपुत्तं धम्मियाए पडिचोयणाए पडिचोइओ० जाव मिच्छं विप्पडिवण्णे,जावं च णं आणंदे थेरे गोयमाईणं समणाणं णिग्गं–थाणं एयमट्ठं परिकहेहि,तावं च णं से गोसाले मंखलिपुत्ते हाला–हलाए कुंभकारीए कुंभकारा-वणाओ पडिणिक्खमइ ! पडिणिक्खमइत्ता आजीवियसंघ-संपरिवुडे महया अमरिसं वहमाणे सिग्घं तुरियं० जाव सावत्थिं णयरिं मज्झं मज्झेणं णिग्गच्छइ । णिग्गच्छइत्ता जेणेव कोट्ठए चेइए जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ । उवागच्छइत्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स अदूरसामंते ठिच्चा समणं भगवं महावीरं एवं वयासी–सुट्ठु णं आउसो ! कासवा !, ममं एवं वयासी ; साहु णं आउसो ! कासवा ! ममं एवं वयासी–गोसाले मंखलिपुत्ते ममं धम्मंतेवासी, गोसाले,२० । जे णं गोसाले मंखलिपुत्ते तव धम्मंतेवासी,से णं सुक्के सुक्कामिइए भवित्ता कालमासे कालं किच्चा अण्णयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववण्णे । अहं णं उदाई णामं कुंडियायणीए अज्जुणस्स गोयमपुत्तस्स सरीरगं विप्पजहामि । विप्पजहामित्ता गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स सरीरगं अणुप्पविसामि । अणुप्पवि–सामित्ता इमं सत्तमं पउट्टपरिहारं परिहरामि । जे वि याइं आउसो ! कासवा ! अम्हं समयंसि केइ सिज्झिंसु वा,सिज्झिंसति वा, सिज्झिस्संति वा, सव्वे ते चउरासीइमहाकप्पसयसहस्साइं सत्त दिव्वे सत्त तंजूहे सत्त सण्णिगब्भे सत्त पउट्टपरिहारे पंच कम्मणि सयसहस्साइं सट्ठिं च सहस्साइं उच्च सए तिण्णि य कम्मंसे अणुपुव्वेणं खवइत्ता तओ पच्छा सिज्झंति, बुज्झंति, मुच्चंति, परिणिव्वाइंति, सव्वदुक्खाणमंतं करिंसु वा, करिंति वा, करिस्संति वा ॥

[परियाए त्ति] पर्यायोऽवस्था [कित्तिवण्णसद्दसिलोग त्ति] इह वृद्धव्याख्या–सर्वदिग्व्यापी साधुवादः कीर्त्तिः,एकदिग्व्यापी वर्णः,अर्द्ध–दिग्व्यापी शब्दः,तत्स्थान एव श्लोकः,श्लाघेति यावत्[सदेवमणुयासु–रलोए त्ति] सह देवैः मनुजैरसुरैश्च यो लोको जीवलोकः स तथा तत्र [पुवंति त्ति] प्लवन्ते गच्छन्ति, "प्लुं" गताविति वचनात्[गुवंति त्ति] गुप्यन्ति व्याकुलीभवन्ति, " गुप" व्याकुलत्वे इति वचनात् [थुवंति त्ति] क्वचित्तत्र स्तूयन्ते अभिनन्द्यन्ते,क्वचित् परिभ्रमन्तीति दृश्यते,व्यक्तं चैतदिति । एतदेव दर्शयति "इति खल्विवत्यादि " इतिशब्दः प्रख्यातगुणानुवादार्थः । [तं ति] तस्मादिति निगमनम् । [तवेणं तेएणं ति] तपोजन्यं तेजस्तप एव,तेन तेजसा तेजोलेश्यया । [जहा

वा वालेणं ति] यथैव व्यालेन भुजगेन [सारक्खामि त्ति] संरक्षामि दाहभयात्। [संगोवामि त्ति] संगोपयामि क्षेम स्थानप्रापणेन [पभू त्ति] प्रभविष्णुर्गोशालको भस्मराशिं कर्तुमित्येकः प्रश्नः। प्रभुत्वं च द्विधा–विषयमात्रापेक्षया, तत्करणतश्चेति। पुनः पृच्छति–"विसएणं" इत्यादि। अनेन च प्रथमो विकल्पः पृष्टः। "समत्थेणं " इत्यादिना तु द्वितीय इति [पारियावणियं ति] पारितापनिकीं क्रियां पुनः कुर्यादिति। [अणगाराणं ति] सामान्यसाधूनाम् [खंतिखम त्ति] क्षान्त्या क्रोध–निग्रहेण क्षमन्त इति क्षान्तिक्षमाः [थेराणं ति] आचार्यादीनां वयःश्रुत–पर्यायस्थविराणाम्। [पडिचोयणाए त्ति] तन्मतप्रतिकूला चोदना कर्त्तव्यप्रोत्साहना प्रतिचोदना, तथा। (पडिसरणाए त्ति) तन्मतप्रतिकूल–तया विस्मृतार्थस्मारणा प्रतिस्मारणा, तथा। किमुक्तं भवति–"धम्मि–एण" इत्यादि। (पडोयारेणं ति) प्रत्युपचारेण प्रत्युपकारेण वा। [पडोयारेउ त्ति] प्रत्युपचारयितुम्प्रत्युपचारङ्करोतु एवं प्रत्युपकारयतु वा [मिच्छं विप्पडिवण्णे त्ति] मिथ्यात्वं म्लेच्छं वाऽनार्यत्वं विशेषतः प्रतिपन्न इत्यर्थः। [सुट्ठु णं ति] उपालम्भवचनम् [आउसो त्ति] हे आयुष्मान्! चिरप्रशस्तजीवित ! (कासव त्ति) काश्यपगोत्र ! [सत्तमं पउट्टपरिहारं परिहरामित्ति] सप्तमं शरीरान्तःप्रवेशं करोमीत्यर्थः। [जे वि याइं ति] येऽपि च। 'आइं ति निपातः। "चउरासीइमहाकप्पसय–सहस्साइं " इत्यादि। गोशालकसिद्धान्तार्थः स्थाप्यो, वृद्धैर्व्याख्यात–त्वात्। आह च चूर्णिकारः–"संदिद्धत्ताओ तस्सिसद्धंतस्स न लिखिज्जइ त्ति। " तथापि शब्दानुसारेण किञ्चिदुष्यतेचतुरशीतिं महाकल्पशतस–हस्राणि क्षपयित्वेति योगः। तत्र कल्पाः कालविशेषाः, ते च लोकप्रसिद्धा अपि भवन्तीति तद्व्यवच्छेदार्थमुक्तम्। महाकल्पा वक्ष्यमाणस्वरूपाः, तेषां यानि शतसहस्राणि लक्षाणि तानि तथा [सत्त दिव्वे त्ति] सप्त दिव्यान् देवभवान् [सत्त संजूहे त्ति] सप्त संयूथानि निकायविशेषान् [सत्त सन्निगब्भि त्ति] सञ्ज्ञिगर्भान् मनुष्यगर्भवसतीः। एते च तन्मतेन मोक्षगामिनां सप्त सान्तरा भवन्ति। वक्ष्यति चैवमेवैतान् स्वयमेवेति।[सत्त पउट्टपरिहारे त्ति] सप्त शरीरान्तरप्रवेशान्। एते च सप्तमसञ्ज्ञिगर्भा–नन्तरं क्रमेणावसेयाः तथा पञ्चेत्यादाविदं सम्भाव्यते–[पंच कम्मणि सयमसहस्साइं त्ति] कर्म्मणि कर्म्मविषये, कर्म्मणामित्यर्थः। पञ्च शत–सहस्राणि लक्षाणि [तिण्णि य कम्मंसे त्ति] त्रींश्च कर्म्मभेदान् [खवइत्त त्ति] क्षपयित्वा अतिवाह्य। [भ०]।

**से जहा वा गंगा महाणदी जओ पवूढा, जहिं वा पज्जुवत्थिया, एस णं अद्धा पंच जोअणसयाइं आयामेणं, अद्धजोअणं विक्खंभेणं, पंचधणुहसयाइं उव्वेहेणं, एएणं गंगापमाणेणं सत्त गंगाओ एगा महागंगा, सत्त महागंगाओ सा एगा सादीणगंगा, सत्त सादीणगंगाओ सा एगा मच्चुगंगा, सत्त मच्चुगंगाओ सा एगा लोहियगंगा, सत्त लोहियागंगाओ सा एगा अवंतीगंगा, सत्त अवंतीगंगाओ सा एगा परमावती। एवामेव सपुव्वावरेणं एगं गंगासयसहस्सं सत्तरसयसहस्सा छच्च गुणपण्णं गंगासया भवंतीति मक्खाया। तासिं दुविहे उद्धारे पण्णत्ते। तं जहा–सुहुमबोंदिकलेवरे चेव, बादर–बोंदिकलेवरे चेव। तत्थ णं जे से सुहुमबोंदिकलेवरे से ठप्प, तत्थ णं जे से बादर–बोंदिकलेवरे तओ णं वाससए गते एगमेगं गंगावालुयं अवहाय जावइएणं कालेणं से कोट्ठे खीणे णीरए णिल्लेवे णिट्ठिए भवइ, से तं सरे, एएणं सरप्पमाणेणं तिण्णि सरसयसाहस्सीओ से महा–कप्पे, चउरासीतिमहाकप्पसयसहस्साइं से एगे महामाणसे, अणंताओ संजूहाओ जीवे चयं चइत्ता उवरिल्ले माणसे संजूहे देवे उववज्जिहिति। से णं तत्थ दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरित्ता ताओ देवलोगाओ आउक्खएणं भवक्खएणं ठिइ–क्खएणं अणंतरं चयं चइत्ता पढमे सण्णिगब्भे जीवे पच्चायाति। से णं तओहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता मज्झिल्ले माणसे संजूहे देवे उववज्जइ। से णं तत्थ दिव्वाइं भोगभोगाइं जाव विहरित्ता ताओ देवलोगाओ आउ० २ जाव चइत्ता दोच्चे सण्णिगब्भे जीवे पच्चायाति, से णं तओहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता हेट्ठिल्ले माणसे संजूहे देवे उववज्जइ। से णं तत्थ दिव्वाइं० जाव चइत्ता तच्चे सण्णिगब्भे जीवे पच्चायाति। से णं तओहिंतो० जाव उव्वट्टित्ता उवरिल्ले माणसुत्तरे संजूहे देवे उववज्जइ। से णं तत्थ दिव्वाइं भोगं चइत्ता चउत्थे सण्णिगब्भे जीवे पच्चायाति। से णं तओहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता मज्झिल्ले माणसुत्तरे संजूहे देवे उववज्जइ। से णं तत्थ दिव्वाइं भोग० जाव चइत्ता, पंचमे सण्णिगब्भे जीवे पच्चायाति। से णं तओहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता हिट्ठिल्ले माणसुत्तरे संजूहे देवे उववज्जति। से णं तत्थ दिव्वाइं भोग० जाव चइत्ता, छट्ठे णं सण्णिगब्भे जीवे पच्चायाति, से णं तओहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता बंभलोगे णामं से कप्पे पण्णत्ते। पाईणपडिणायए उदीणदाहिणविच्छिण्णे, जहा ठाणपदे० जाव पंच वडेंसगा पण्णत्ता। तं जहा–असोगवडेंसए० जाव पडिरूवा, से णं तत्थ देवे उववज्जइ, से णं तत्थ दससागरोवमाइं दिव्वाइं भोग० जाव चइत्ता, सत्तमे सण्णिगब्भे जीवे पच्चायाति, से णं तत्थ णवण्हं मासाणं बहुपडिपुण्णाणं अद्धट्ठमाणं० जाव वीइक्कंताणं सुकुमालगभद्दलए मिउकुंडलकुंचियकेसए मट्ठगंडतलकण्ण–पीठए देवकुमारसमप्पभए दारए पयाते। से णं अहं कासवा ! तए णं अहं आउसो ! कासवा ! कोमारियाए पव्वज्जाए कोमारिएणं बंभचेरवासेणं अविद्धकण्णए चेव संखाणं पडिलभामि, सं० २ इमे सत्तमं पउट्टपरिहारं परिहरामि। तं जहा एण्णेज्जस्स मल्लरामस्स मंडियस्स रोहस्स भारद्वाइस्स अज्जुणगस्स गोयमपुत्तस्स गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स; तत्थ णं जे से पढमे पउट्टपरिहारे, से णं रायगिहस्स णयरस्स बहिया मंडिकुच्छिंसि चेइयंसि उदायणस्स कंडियायणस्स सरीरं विप्पजहामि। विप्पजहामित्ता एण्णेज्जगस्स सरीरगं अणुप्पवि–

सामि। अणुप्पविसामित्ता वावीसं वासाइं पढमं पउट्टपरिहारं परिहरामि। तत्थ णं जे से दोच्चे पउट्टपरिहारे, से णं उद्दंडपुरस्स णयरस्स बहिया चंदोयरणंसि चेइयंसि एणेज्जगस्स सरीरगं विप्पजहामि । विप्पजहामित्ता मल्लरामस्स सरीरगं अणुप्पविसामि। अणुप्पविसामित्ता एगवीसं वासाइं दोच्चं पउट्टपरिहारं परिहरामि। तत्थ णं जे से तच्चे पउट्टपरिहारे, से णं चंपाए णयरीए बहिया अंगमंदिरम्मि चेइयंसि मल्लरामस्स सरीरं विप्पजहामि । विप्पजहामित्ता मंडियस्स सरीरगं अणुप्पविसामि। अणुप्पविसामित्ता वीसं वासाइं तच्चं पउट्टपरिहारं परिहरामि। तत्थ णं जे से चउत्थे पउट्टपरिहारे, से णं वाणारसीए णयरीए बहिया काममहावणंसि चेइयंसि मंडियस्स सरीरं विप्पजहामि। विप्पजहामित्ता रोहस्स सरीरं अणुप्पविस्सामि। रोहगस्स सरीरं अणुपविसामित्ता एगूणवीसं वासाइं चउत्थं पउट्टपरिहारं परिहरामि। तत्थ णं जे से पंचमे पउट्टपरिहारे, से णं आलंभियाए णयरीए बहिया पत्तकालगंसि चेइयंसि रोहस्स सरीरगं विप्पजहामि । विप्पजहामित्ता भारद्वाइस्स सरीरगं अणुप्पविसामि । अणुप्पविसामित्ता अट्ठारस वासाइं पंचमं पउट्टपरिहारं परिहरामि । तत्थ णं जे से छट्ठे पउट्टपरिहारे, से णं वेसालीए णयरीए बहिया कंडियायणंसि चेइयंसि भारद्वाइस्स सरीरगं विप्पजहामि। विप्पजहामित्ता अज्जुणस्स गोयमपुत्तस्स सरीरगं अणुप्पविसामि। अणुप्पविसामित्ता सत्तरस वासाइं छट्ठं पउट्टपरिहारं परिहरामि। तत्थ णं जे से सत्तमे पउट्टपरिहारे, से णं इहेव सावत्थीए णयरीए हालाहलाए कुंभकारीए कुंभकारावणंसि अज्जुणस्स गोयमपुत्तस्स सरीरगं विप्पजहामि । विप्पजहामित्ता गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स सरीरगं अलं थिरं धुवं धारणिज्जं सीयसहं उण्हसहं खुहासहं विविहदंसमसगपरीसहोवसग्गसहं थिरसंघयणं ति कट्टु तं अणुप्पविसामि । अणुप्पविसामित्ता तं सोलस वासाइं इमं सत्तमं पउट्टपरिहारं परिहरामि । एवामेव आउसो ! कासवा ! एगेणं तेत्तीसेणं वाससएणं सत्त पउट्टपरिहारा परिहरिया भवंतीति मक्खाया। तं सुट्ठु णं आउसो ! कासवा ! ममं एवं वयासी।

"से जहा " इत्यादिना महाकल्पप्रमाणमाह–तत्र–(से जहा व त्ति) महाकल्पप्रमाणवाक्योपन्यासार्थः। (जहिं वा पज्जुवत्थिय त्ति) यत्र गत्वा परि सामस्त्येनोपस्थिता उपरता, समाप्तेत्यर्थः। [एस णं अद्ध त्ति] एष गङ्गाया मार्गः। [एएणं गंगापमाणेणं ति] गङ्गायास्तन्मार्गस्य चाभेदात् गङ्गाप्रमाणेनेत्युक्तम् [एवामेव त्ति] उक्तेनैव क्रमेण [सपुव्वा–वरेणं ति] सह पूर्वेण गङ्गादिना यदपरं महागङ्गादि तत्सपूर्वापरं, तेन, भावप्रत्ययलोपदर्शनात्सपूर्वापरतयेत्यर्थः। "तासिं दुविहे " इत्यादि। तासा गङ्गादिगतवालुकाकणादीनामित्यर्थः । द्विविधः उद्धारः, उद्धरणीयद्वैविध्यात्। (सुहुमबोंदिकलेवरे चेव त्ति) सूक्ष्मबोन्दीनि सूक्ष्माकाराणि कलेवराण्यसङ्ख्यातखण्डीकृतवालुकाकणरूपाणि यत्रोद्धारे स तथा [बायरबोंदिकलेवरे चेव त्ति] बादरबोन्दीनि बादराकाराणि कलेवराणि वालुकाकणरूपाणि यत्र स तथा (ठप्प त्ति) न व्याख्येयः, इतरस्तु व्याख्येय इत्यर्थः। (अवहाय त्ति) अपहाय त्यक्त्वा [से कोट्ठे त्ति] स कोष्ठो गङ्गासमुदायात्मकः (खीणे त्ति) क्षीणः, स चाविशेषसद्भावेऽप्युच्यते, यथा क्षीणधान्यं कोष्ठागारमत उच्यते। (णीरए त्ति) नीरजाः, स च तद्भूमिगतरजसामप्यभावे उच्यत इत्यादि (निल्लेवे त्ति) निर्लेपः भूमिमित्यादिसंश्लिष्टसिकतालेपाभावात्। किमुक्तं भवति ? निष्ठितो निरवयवीकृत इति। (से तं सरे त्ति) अथ तत्तावत्कालखण्डं सरःसंज्ञं भवति, मानससंज्ञं सर इत्यर्थः (सरप्पमाणे त्ति) सर एवोत्कलक्षणं प्रमाणं वक्ष्यमाणमहाकल्पादेर्मानं सरःप्रमाणम् (महामाणसं त्ति) मानसोत्तरं यदुक्तं चतुरशीतिर्महाकल्पशतसहस्राणीति तत्प्ररूपितम्। अथ सप्तानां दिव्यादीनां प्ररूपणायाह–[अणंताओ संजूहाओ त्ति] अनन्तजीवसमुदायरूपान्निकायान् (चयं चइत्त त्ति) च्यवं च्युत्वा च्यवनं कृत्वा चयं वा देहम् 'चइत्त त्ति' त्यक्त्वा [उवरिल्ले त्ति] उपरितनमध्यमाधस्तनानां मानसानां सद्भावात्तदन्यव्यवच्छेदाय उपरितने इत्युक्तम् (माणसे त्ति) गङ्गादिप्ररूपणतः प्रागुक्तस्वरूपे सरसि, सरःप्रमाणायुष्क–युक्ते इत्यर्थः। (संजूहे त्ति) निकायविशेषे (देवे उववज्जइ त्ति) प्रथमो दिव्यभवः सञ्ज्ञिगर्भसङ्ख्यासूत्रोक्तेव। एवं त्रिषु मानसेषु संयूथेषु आद्यसं–यूथसहितेषु चत्वारि संयूथानि, त्रयश्च देवभवाः तथा। (मानसोत्तरे त्ति) महामानसे पूर्वोक्तमहाकल्पप्रतिमायुष्कवति ; यच्च प्रागुक्तं चतुरशीति–महाकल्पशतसहस्राणि क्षपयित्वेति तत् प्रथममहामानसापेक्षयेति द्रष्टव्यम्। अन्यथा त्रिषु महामानसेषु बहुतराणि तानि स्युरिति। एतेषु चोपरिमादिभेदात्त्रिषु मानसोत्तरेषु त्रीण्येव संयूथानि, त्रयश्च देवभवाः। आदितस्तु सप्त संयूथानि, षट् च देवभवाः। सप्तमदेवभवस्तु ब्रह्मलोके, स च संयूथं न भवति, सूत्रे संयूथत्वेनानभिहितत्वादिति। (पाईणपडिणायए उदीणदाहिणविच्छन्ने त्ति] इहायामविष्कम्भयोः स्थापनामात्रत्वं मन्तव्यम्। तस्य प्रतिपूर्णचन्द्रसंस्थानसंस्थितत्वेन तयोस्तुल्यत्वांदिति। [जहा ठाणपदे त्ति] ब्रह्मलोकस्वरूपं तथा वाच्यं यथा स्थानपदे प्रज्ञापनाद्वितीयप्रकरणे। तच्चैवम्–"पडिपुण्णचंदसंठाणसंठिए अच्चिमालीभासरासिप्पभे" इत्यादि। "असोगवडेंसए" इत्यत्र यावत्करणात्–"सत्तिवण्णवडेंसए चूयवडेंसए मज्झे य बंभलोयवडेंसए" इत्यादि दृश्यम्। [सुकुमालगभद्दलए त्ति] सुकुमारकश्चासौ भद्रश्च भद्रमूर्तिरिति समासे ककारलकारौ स्वार्थिकाविति। [मिउकुंडलकुंचियकेसए त्ति] मृदुवः कुण्डलमिव दर्भादिकुण्डलकमिव कुञ्चिताश्च केशा यस्य स तथा [मट्ठ–गंडतलकण्णपीठए त्ति] मृष्टगण्डले कर्णपीठके कर्णाभरणविशेषौ यस्य स तथा। देवकुमारवत्सप्रभः देवकुमारसमानप्रभावो यः स तथा, कशब्दः स्वार्थिक इति। [कोमारियाए पव्वज्जाए त्ति] कुमारस्येयं कौमारी, सैव कौमारिकी, तस्यां प्रव्रज्यायां विषयभूतायां सञ्ज्ञानं बुद्धिं प्रतिलेभ इति योगः। [अविद्धकण्णए चेव त्ति] कुश्रुतिशलाकया अविद्धकर्णो व्युत्पन्नमतिरित्यर्थः। [एणेजस्सेत्यादि] इहैणका–

क्ष्यः पञ्च नामतोऽभिहिताः, द्वौ पुनरन्त्यौ पितृनामसहिताविति।[अलं थिरं ति] अत्यर्थं स्थिरं, विवक्षितकालं यादवक्ष्यं स्थायित्वात्। [धुवं ति] ध्रुवं तद्गुणानां ध्रुवत्वादत एव [धारणिज्जं ति] धारयितुं योग्यम्। एतदेव भावयितुमाह–[सीमित्यादि] एवंभूतं च,तत्कुत इत्याह–[थिर–संघयणं ति] अविघटमानसंहननमित्यर्थः। [ति कट्टु त्ति,] इतिकृत्वा इति एतोस्तदनुप्रविशामीति। (भ०)

साधु णं आउसो ! कासवा ! ममं एवं वयासी–गोसाले मंख–लिपुत्ते ममं धम्मंतेवासी,गोसाले मंखलिपुत्ते ममं धम्मंतेवासी। तए णं समणे भगवं महावीरे गोसालं मंखलिपुत्तं एवं वयासी–गोसाला ! से जहाणामए तेणए सिया गामेल्लएहिं परिब्भवमाणे परिब्भवमाणे कत्थइ गत्तं वा दरिं वा दुग्गं वा णिण्णं वा पव्वयं वा विसमं वा अणस्सादेमाणे एगेणं महं उण्णालोमेण वा सण–लोमेण वा कप्पासपम्हेण वा तणसूएण वा अत्ताणं आवरेत्ता णं चिट्ठेज्जा। से णं अणावरिए आवरियमिति अप्पाणं मण्णइ,अप–च्छण्णे य पच्छण्णमिति अप्पाणं मण्णइ,अणलुक्के लुक्कमिति अप्पाणं मण्णइ,अपलायए पलायमिति अप्पाणं मण्णइ,अप–लायए पलायमिति अप्पाणं मण्णइ,एवामेव तुम्हं पि गोसाला ! अणण्णे संते अण्णमिति उपलंभसि,तं मा एवं गोसाला !,णारि–हसि गोसाला !,सच्चेव ते सा च्छाया,णो अण्णा। तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते समणेणं भगवया महावीरेणं एवं वुत्ते समाणे आसुरुत्ते समणं भगवं महावीरं उच्चावयाहिं आउसणाहिं आउ–सइ। आउसइत्ता उच्चावयाहिं उद्धंसणाहिं उद्धंसेइ। उद्धंसेइत्ता उच्चावयाहिं णिब्भत्थणाहिं णिब्भत्थेइ। णिब्भत्थेइत्ता उच्चाव–याहिं णिच्छोडणाहिं णिच्छोडेइ। णिच्छोडेइत्ता एवं वयासी–णट्ठेसि कदाइ,विणट्ठेसि कदाइ,भट्ठेसि कदाइ,णट्ठविणट्ठभट्ठेसि कदाइ,अज्ज ण भवसि,णाहि ते ममाहिंतो सुहमत्थि। तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतेवासी पाईणभाणयए सव्वाणुभूई णामं अणगारे पगइभद्दए० जाव विणीए,धम्मायरियाणुरागेणं एयमट्ठं असद्दहमाणे उट्ठाए उट्ठेइ। उट्ठेइत्ता जेणेव गोसाले मंखलिपुत्ते तेणेव उवागच्छइ। उवाग–च्छइत्ता गोसालं मंखलिपुत्तं एवं वयासी–जे वि ताव गोसाला ! तहारूवस्स समणस्स वा माहणस्स वा अंतियं एगमवि आरियं धम्मियं सुवयणं णिसामेइ,से वि ताव तं वंदइ,णमंसइ०,जाव कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासइ। किंमग ! पुण तुमं गोसाला ! भगवया चेव पव्वाविए,भगवया चेव मुंडाविए,भगवया चेव सेहाविए,भगवया चेव सिक्खाविए,भगवया चेव बहुस्सुईकए, भगवओ चेव मिच्छं विप्पडिवण्णे,तं मा एवं गोसाला ! णारिहसि गोसाला !,सच्चेव ते सा च्छाया,णो अण्णा। तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते सव्वाणुभूई णामं अणगारे एवं वुत्ते समाणे आसुरुत्ते सव्वाणुभूतिं अणगारं तवेणं तेएणं एगाहच्चं कूडाहच्चं भामिरासिं करेइ। तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते सव्वाणुभूतिं तवेणं तेएणं एगाहच्चं कूडाहच्चं भासरासिं करेत्ता दोच्चं पि समणं भगवं महावीरं उच्चावयाहिं आउसणाहिं आउसइ०,जाव सुहं णत्थि। तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतेवासी कोसलजाणवए सुणक्खत्ते णामं अणगारे पगइभद्दए० जाव विणीए धम्मायरियाणुरागेणं जहा सव्वाणुभूई तहेव० जाव सच्चेव ते सा च्छाया,णो अण्णा। तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते सुण–क्खत्तेणं अणगारेणं एवं वुत्ते समाणे आसुरुत्ते सुणक्खत्तं अणगारं तवेणं तेएणं परितावेइ। तए णं से सुणक्खत्ते अणगारे गोसालेणं मंखलिपुत्तेणं तवेणं तेएणं परिताविए समाणे जेणेव समणे भगवं महावीरे,तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छइत्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो वंदइ,णमंसइ। णमंसइत्ता सयमेव पंच महव्वयाइं आरुहेइ। आरुहेइत्ता समणा य समणीओ य खामेइ। खामेइत्ता आलोइयपडिक्कंते समाहिपत्ते आणुपुव्वीए कालगए। तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते सुणक्खत्तं अणगारं तवेणं तेएणं परितावेत्ता तच्चं पि समणं भगवं महावीरं उच्चावयाहिं आउसणाहिं आउसइ,सव्वं तं चेव० जाव सुहं णत्थि। तए णं समणे भगवं महावीरे गोसालं मंखलिपुत्तं एवं वयासी–जे वि ताव गोसाला ! तहारूवस्स समणस्स वा माहणस्स वा तं चेव० जाव पज्जुवासति,किमंग ! पुण गोसाला !,तुम्हं मए चेव पव्वाविए० जाव मए चेव बहुस्सुईकए,ममं चेव मिच्छं विप्पडि–वण्णे,तं मा एवं गोसाला !,०जाव णो अण्णा। तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते समणेणं भगवया महावीरेणं एवं वुत्ते समाणे आसुरुत्ते तेयासमुग्घाएणं समोहणइ। समोहणइत्ता सत्तट्ठपयाइं पच्चोसक्कइ। पच्चोसक्कइत्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स वहाए सरीरगंसि तेयं णिस्सरइ। से जहाणामए वाउक्कलियाइ वा वायमंडलियाइ वा सेलंसि वा कुड्डुयंसि वा थंभंसि वा थूभंसि वा आवरिज्जमाणा वा णिवारिज्जमाणा वा,सा णं तत्थ णोक्कमइ, णोपक्कमइ,एवामेव गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स तवतेए समणस्स भगवओ महावीरस्स वहाए सरीरगं णिसिट्ठे समाणे,से णं तत्थ णोक्कमइ, णोपक्कमइ,अंचियंचियं करेइ। करेइत्ता आयाहिणं पयाहिणं करेइ। करेइत्ता उड्ढं वेहासं उप्पइ। ते से णं तओपडिहए पडिणियत्तणमाणे तस्सेव गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स सरीरगं अणुडहमाणे अणुडहमाणे अंतो अंतो अणुप्पविट्ठे। तए णं से

गोसाले मंखलिपुत्ते सएणं तेएणं अण्णाइट्ठे समाणे समणं भगवं महावीरं एवं वयासी–तुमं णं आउसो ! कासवा ! ममं तवेणं तेएणं अण्णाइट्ठे समाणे अंतो छण्हं मासाणं पित्तज्जरपरिगयसरीरे दाहवक्कंतिए छउमत्थे चेव कालं करिस्ससइ। तए णं समणे भगवं महावीरे गोसालं मंखलिपुत्तं एवं वयासी–णो खलु अहं गोसाला ! तव तवेणं तेएणं अण्णाइट्ठे समाणे अंतो छण्हं मासाणं० जाव कालं करिस्सामि । अहं णं अण्णाइं सोलस वासाइं जिणे सुहत्थी विहरिस्सामि। तुम्हं णं गोसाला ! अप्पणा चेव सएणं तवेणं तेएणं अण्णाइट्ठे समाणे अंतो सत्तरत्तस्स पित्तज्जरपरिगयसरीरे० जाव छउमत्थे चेव कालं करिस्ससि । तए णं सावत्थीए णयरीए सिंघाडग० जाव पहेसु बहुजणो अण्णमण्णस्स एवमाइक्खइ० जाव एवं परूवेइ–एवं खलु देवाणुप्पिया ! सावत्थीए णयरीए बहिया कोट्ठए चेइए दुवे जिणा संलवंति। एगे एवं वयासीतुमं पुव्विं कालं करिस्ससि। एगे एवं वदंति–तुमं पुव्विं कालं करिस्ससि। तत्थ णं के सम्मावादी, के मिच्छावादी ? । तत्थ णं जे से अहप्पहाणे जणे,से वदंति–समणे भगवं महावीरे सम्मावादी; गोसाले मंखलिपुत्ते मिच्छावादी,अज्जो त्ति ! समणे भगवं महावीरे समणे णिग्गंथे आमंतेत्ता एवं वयासी–अज्जो ! से जहाणामए तणरासीति वा कट्ठरासीति वा पत्तरासीति वा तयारासीति वा तुसरासीति वा भुसरासीति वा गोमयरासीति वा अवकररासीति वा अगणिज्झामिए अगणिज्झूसिए अगणिपरिणामिए हयतेए गयतेए णट्ठतेए भट्ठतेए लुत्ततेए विणट्ठतेए० जाव एवामेव गोसाले मंखलिपुत्ते ममं वहाए सरीरगंसि तेयं णिसिरित्ता हयतेए गयतेए० जाव विणट्ठतेए,तं छंदेणं अज्जो ! तुब्भं गोसालं मंखलिपुत्तं धम्मियाए पडिचोयणाए पडिचोएह,धम्मि० धम्मि० धम्मिए पडिसारणाए पडिसारेह, ध० ध० धम्मिएणं पडोयारेणं पडोयारेह,ध० ध० अट्ठेहि य हेऊहि य पसिणेहि य वागरणेहिय य कारणेहि य णिप्पट्ठपसि–णवागरणं करेह । तए णं से समणा णिग्गंथा समणेणं भगवया महावीरेणं एवं वुत्ता समाणा समणं भगवं महावीरं वंदइ,णमंसइ । वंदित्ता णमंसित्ता जेणेव गोसाले मंखलिपुत्ते,तेणेव उवागच्छइ । उवागच्छइत्ता गोसालं मंखलिपुत्तं धम्मियाए पडिचोयणाए पडिचोएंति,ध० ध० धम्मियाए पडिसारणाए पडिसारेंति,ध० ध० धम्मिएणं पडोयारेणं पडोयारंति, ध० ध० अट्ठेहि य हेऊहि य कारणेहि य० जाव वागरणं करेंति । तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते समणेहिं णिग्गंथेहिं धम्मियाए पडिचोयणाए पडिचोइज्जमाणे० जाव णिप्पट्ठपसिणवागरणे कीरमाणे आसुरुत्ते० जाव मिसिमिसेमाणे णो संचाएइ । समणाणं णिग्गंथाणं सरीरगस्स किंचि आवाहं वा वावाहं वा उप्पएत्तए छविच्छेदं वा करेत्तए। तए णं ते आजीविया थेरा गोसालं मंखलिपुत्तं समणेहिं णिग्गंथेहिं धम्मियाए पडिचोयणाए पडिचोएज्जमाणं धम्मियाए पडिसारणाए पडिसारिज्जमाणं धम्मिएणं पडोयारेणं पडोयारिज्जमाणं अट्ठेहि य हेऊहि य० जाव कीरमाणं आसुरुत्तं० जाव मिसिमिसेमाणे समणाणं णिग्गंथाणं सरीरगस्स किंचि आवाहं वा वावाहं वा छविच्छेदं वा अकरेमाणे पासइ। पासइत्ता गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स अंतियाओ आताए अवक्कमंति। अवक्कमंतित्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे,तेणेव उवागच्छंति। उवागच्छंतित्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेंति वंदंति,णमंसंति । वंदित्ता णमंसित्ता समणं भगवं महावीरं उवसंपज्जित्ता णं विहरंति । अत्थेगइया आजीवियथेरा गोसालं चेव मंखलिपुत्तं उवसंपज्जित्ता णं विहरंति। तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते जस्सट्ठाए हव्वमागए,तमट्ठमसाहेमाणे रुंदाइं पलोएमाणे दीहुण्हाइं नीससमाणे दाढियाइं लोमाइं लुंचमाणे अवदुं कंडूयमाणे पुयलिं पप्फोडेमाणे हत्थे विणिद्धुणमाणे दोहिं वि पाएहिं भूमिं कोट्टेमाणे हा हा अहो हतोऽहमस्सीति कट्टु समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियाओ कोट्ठयाओ चेइयाओ पडिणिक्खमइ। पडिणिक्खमइत्ता जेणेव सावत्थी णयरी जेणेव हालाहलाए कुंभकारीए कुंभकारावणे, तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छइत्ता हालाहलाहिं कुंभकारीहिं कुंभकारावणंसि अंबकूणगहत्थगए मज्जपाणगं पियमाणे अभिक्खणं गायमाणे अभिक्खणं णच्चमाणे अभिक्खणं हालाहलाए कुंभकारीए अंजलिकम्मं करेमाणे सीतलएणं मट्टियापाणएणं आयंचणि–उदएणं गाताइं परिसिंचमाणे विहरइ। अज्जो त्ति ! समणे भगवं महावीरे समणे णिग्गंथे आमंतेत्ता एवं वयासीजावइएणं अज्जो ! गोसालेणं मंखलिपुत्तेणं ममं वहाए सरीरगंसि तेयं णिसट्ठं,से णं अलाहि पज्जत्ते सोलसण्हं जणवयाणं। तं जहा–अंगाणं वंगाणं मगहाणं मलयाणं मालवगाणं अच्छाणं वच्छाणं कोच्छाणं पाढाणं लाढाणं वज्जीणं मालीणं कासीणं कोसलगाणं अवाहाण संभुत्त–राणं घाताए वहाए उच्छादणट्ठयाए भासीकरणयाए जं पि य अज्ज ! गोसाले मंखलिपुत्ते हालाहलाए कुंभकारीए कुंभकारावणंसि अंबकूणगहत्थगए मज्जपाणं पियमाणे अभि० जाव अंजलिकम्मं करेमाणे विहरइ।

(गत्तं व ति) गर्तं स्वभ्रम्, (दरिं ति) शृगालादिकृतभूविवरविशेषम्, (दुग्गं ति) दुःखगम्यं, वनगहनादिति । (निन्नं

ति) निम्नं शुष्कसरःप्रभृति (पव्वयं व त्ति) प्रतीतम्,(विसमं ति) गर्तपाषाणादिव्याकुलम्,(एगेणं महं ति) एकेन महता (तणसूएण य त्ति) तृणसूकेन तृणाग्रेण (अणावरिए त्ति) अनावृतोऽसावावरस्याल्पत्वात् (उपलंभसि त्ति) उपलम्भयसि,दर्शयसीत्यर्थः। (तं मा एवं गोसाल त्ति) इह कुर्विति शेषः। (सचेव ते सा च्छाय त्ति) सैव ते छायाऽन्यथा दर्शयितुमिष्टा,छाया प्रकृतिः [उच्चावयाहिं ति] असमञ्जसाभिः [आउसणाहिं ति] मृतोऽसि त्वमित्यादिभिर्वचनैराक्रोशति शपति [उद्धंसणाहिं ति] दुष्कुलीनेत्यादिभिः कुलाद्यभिमानपातनार्थैर्वचनैः [उद्धंसेइ त्ति] कुलाद्यभिमानादधःपातयतीव [निब्भत्थणाहिं ति] न त्वया मम प्रयोजनमित्यादिभिः परुषवचनैः [निब्भत्थेइ ति] नितरां दुष्टमभिधत्ते [निच्छोडणाहिं ति] त्यजास्मदीयांस्तीर्थकरालङ्कारानित्यादिभिः [निच्छोडेइ त्ति] प्राप्तमर्थं त्याजयतीति [नट्ठेसि कयाइ त्ति] नष्टः स्वाचारनाशादसि भवसि त्वम्। [कयाइ त्ति] कदाचिदिति वितर्कार्थः। अहम् एवं मन्ये यदुत नष्टस्त्वमसीति [विणट्ठेसि त्ति] मृतोऽसि [भट्ठोसि त्ति] भ्रष्टोऽसि सम्पदा व्यपेतोऽसि त्वं,धर्मत्रयस्य योगपद्येन योगान्नष्टविनष्टभ्रष्टोऽसीति [नाहित्ते ति] नैव ते [पाईणजाणवए त्ति] प्राचीनजानपदः,प्राच्य इत्यर्थः। [पव्वाविए त्ति] शिष्यत्वेनाभ्युपगतः "अब्भुवगमो पव्वज्ज त्ति " वचनात्। [मुंडाविए त्ति] मुण्डितस्य तस्य शिष्यत्वेनानुमननात्। [सेहाविए त्ति] व्रतित्वेन सेवितः,व्रतिसमाचारसेवायां तस्य भगवतो हेतुभूतत्वात्। [सिक्खाविए त्ति] शिक्षितः तेजोलेश्याद्युपदेशदानतः [बहुस्सुईकए त्ति] नियतिवादादिप्रतिपत्तिहेतुभूतत्वात्। [कोसलजाणवए त्ति] अयोध्यादेशोत्पन्नः। [वाउक्कलियाइ व त्ति] वातोत्कलिका,स्थित्वा स्थित्वा यो वातो वाति सा वातोत्कलिका [वायमंडलियाइ व त्ति] मण्डलिकामिर्यो वाति। "सेलंसि व " इत्यादौ तृतीयार्थे सप्तमी। [आवरिज्जमाणे त्ति] खल्यमाना [निवारिज्जमाणि त्ति] निवर्त्यमाना [नोक्कमइ त्ति] न क्रमते न प्रभवति। [नो पक्कमइ त्ति] प्रकर्षेण न क्रमते [अंचिअंचित्ति] अञ्चिते सकृद्गते, अञ्चितेन सकृद्गतेन वा देशेनाञ्चिः पुनर्गमनमञ्चिताञ्चि। अथवा–अञ्च्या गमने न सह आञ्चिरागमनमञ्च्याञ्चिः,गमागम इत्यर्थः। तां करोति। [अन्नाइट्ठे त्ति] अन्वाविष्टोऽभिव्याप्तः [सुहत्थि त्ति] सुहस्तीव सुहस्ती [अहप्पहाणे जणे त्ति] यथाप्रधानो जनो,यो यः प्रधान इत्यर्थः। [अगणिज्झामिए त्ति] अग्निना ध्मातो दग्धो,ध्यामितो वा ईषद्दग्धः (अगणिज्झूसिए त्ति) अग्निना सेवितः,क्षपितो वा [अगणिपरिणामिए त्ति] अग्निना परिणमितः पूर्वस्वभावत्याजनेनाऽऽत्मभावं नीतः। ततश्च हततेजोधूल्यादिना गततेजाः। क्वचित् स्वत एव नष्टतेजाः,क्वचिदव्यक्तीभूततेजाः,भ्रष्टतेजाः ध्यामतेजा इत्यर्थः। लुप्ततेजाः,क्वचिदर्धीभूततेजाः, 'लुप् छेदने,"छिदिर् द्वैधीभावे " इति वचनात्। किमुक्तं भवति ? विनष्टतेजाः निःसत्ताकीभूततेजा एकार्थाश्चैते शब्दाः। (छंदेणं ति) स्वाभिप्रायेण यथेष्टमित्यर्थः। (निप्पट्ठपसिणवागरणं ति) निर्गतानि स्पृष्टानि प्रश्नव्याकरणानि यस्य स तथा तम्। [रुंदाइं पलोएमाणे त्ति] दीर्घा दृष्टिं दिक्षु प्रक्षिपन्नित्यर्थः। मानधनानां हतमानानां लक्षणमिदम्। [दीहुण्हाइं नीससमाणि त्ति] निःस्वासानीति गम्यते। [दाढियाइं लोमाइं ति] उत्तरौष्ठस्येव रोमाणि। [अवउडं ति] कृकाटिकायाम् [पुयलिं पप्फोडेमाणे त्ति] पुततटीं पुतप्रदेशं प्रस्फोटयन्। [विणिद्धुणमाणे त्ति] विनिर्धुन्वन्। [हा हा अहो हओऽहमस्सी ति कट्टु त्ति] हा हा अहो हतोऽहतस्मीति कृत्वा,इति भणित्वेत्यर्थः। [अंबकूवगहत्थगए त्ति] आम्रफलह स्तगतः स्वकीयतपस्तेजोजनितदाहोपशमनार्थमाम्रास्थिकं चूषन्निति भावः। गानादयस्तु मद्यपानकृता विकाराः समवसेयाः [मट्टियापाणएणं ति] मृत्तिकामिश्रजलेन, मृत्तिकाजलं सामान्यमप्यस्त्यत आह–[आयंचणिउदएणं ति । इह टीका व्याख्या–आतन्यनिकोदकं कुम्भकारस्य यद्भाजने स्थितं तेमनाय मृन्मिश्रं जलं तेन [अलाहि पज्जत्ते त्ति] अलमत्यर्थं पर्याप्तः शक्तो, घातायेति योगः (घाताए त्ति) हननाय तदाश्रितवसापेक्षया [वहाए त्ति] बधायै,तच्च तदाश्रितस्थावरापेक्षया [उच्छादणट्ठयाए त्ति] उच्छाद–नतायै सचेतनाचेतनतद्गतवस्तूच्छादनायेति,एतच्च प्रकारान्तरेणाऽपि भवतीत्यग्निपरिणामोपदर्शनायाह–[भासीकरणयाए त्ति] (भ०)

तस्स वि णं वज्जस्स पच्छादणट्ठयाए इमाइं अट्ठ चरमाइं पण्णवेइ। तं जहाचरिमे पाणे,चरिमे गेए,चरिमे णट्टे,चरिमे अंजलिकम्मे,चरिमे महासिलाकंटए संगामे। अहं च णं इमीसे ओसप्पिणीए चउवीसाए तित्थंकराणं चरिमे तित्थंकर सिज्झिस्सइ,०जाव अंतं करेस्सं। जं पि य अज्जो ! गोसाले मंखलिपुत्ते सीयलएणं मट्टियापाणएणं आयंचणिउदएणं गायाइं परिसिंचमाणे विहरइ,तस्स वि णं वज्जस्स पच्छादणट्ठाए इमाइं चत्तारि पाणगाइं चत्तारि अपाणगाइं पण्णवेइ। से कितं पाणए ? पाणए चउव्विहे पण्णत्ते। तं जहा–गोपुट्ठए हत्थमद्दियए आतवत्तए सिलापब्भट्ठए,से तं पाणए। से कितं अपाणए ? अपाणए चउव्विह पण्णत्ते। तं जहा–थालपाणए तयापाणए सिंविलिपाणए सुद्धापाणए। से किं तं थालपालए ? थालपाणए जे णं दाथालगं वा दावारगं वा दाकुं भगं वा दाकलसं वा सीयलगं वा उल्लागहत्थेहिं परामुसइ,न य पाणियं पिवइ,से तं थालपाणए। से किं तं तयापाणए ? जे णं अंवं वा अंवाडगं वा जहा पओगपदे० जाव वोरुं वा तिंदुयं वा तरुणगं वा आमगं वा असिगंसि आविसलेइ वा,पवालेति वा,ण य पाणियं पिवइ,से तं तयापाणए ? से किं तं संवलिपाणए ? संवलिपाणए जे णं कलसंगलियं वा मुग्गसंगलियं वा माससंगलियं वा सिंवलिसंगलियं वा तरुणियं आमियं आसिगंसि आविसलेइ वा पवालेइ वा,ण य पाणियं पिवइ,से तं संवलिपाणए। से किं तं सुद्धापाणए ? सुद्धापाणए जे णं छम्मासे सुद्धखाइमं खाइ,दोमासे पुढविसंथारोवगए दोमासे कट्ठसंथारोवगए दोमासे दब्भसंथारोवगए, तस्स णं बहुपडिपुण्णाणं छण्हं मासाणं अंतिमराइए इमे दो देवा महिड्ढिया० जाव महेसक्खा अंतियं पाउब्भवंति। तं जहा–पुणब्भद्दे य, माणि–

भद्दे य। तए णं से देवा सीयलिएहिं उल्लएहिं हत्थेहिं गायाइं परामुसंति। जे णं ते देवा साइज्जइ,से णं आसीविसत्ताए कम्मं पकरेइ। जे णं ते देवे णो साइज्जइ,तस्स णं संसि सरीरगंसि अगणिकायं संभवति,से णं सएणं तेएणं सरीरगं झामेइ। झामे-इत्ता तओ पच्छा सिज्झंति,०जाव अंतं करेंति,से तं सुद्धापाणए। तत्थ णं सावत्थीए णयरीए अयंपुले णामं आजीवियउवासए परिवसइ,अड्ढे जहा हालाहला,आजीवियसमएणं अप्पाणं भावेमाणे विहरइ। तए णं तस्स अयंपुलस्स आजीवियउवास-गस्स अण्णया कयाइ पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि कुटुंबजागरियं जागरमाणे अयमेयारूवे अज्झत्थिए०जाव समुप्पज्जित्था-किं संठिया हल्ला पण्णत्ता ? तए णं तस्स य अयंपुलस्स आजीविय-उवासगस्स दोच्चं पि अयमेयारूवे अज्झत्थिए० जाव समुप्पज्जित्था। एवं खलु मम धम्मारिए धम्मोवएसए गोसाले मंखलिपुत्ते उप्पण्णणाणदंसणधरे०जाव सव्वण्णू सव्वदरिसी इहेव सावत्थीए णयरीए हालाहलाए कुंभकारीए कुंभकारावणंसि आजीवियसंघसंपरिवुडे आजी-वियसमएणं अप्पाणं भावेमाणे विहरइ। तं सेयं खलु मे कल्लं० जाव जलंते गोसालं मंखलिपुत्तं वंदित्ता० जाव पज्जु वासित्ता इमं एयारूवं वागरणं वागरित्तए ति कट्टु एवं संपेहेइ। संपेहित्ता कल्लं०जाव जलंतं ण्हाय कय० जाव अप्पमहग्घाभरणालकियसरीरेसाओ गिहाओ पडिणि-क्खमइ। पडिणिक्खमइत्ता पादविहारचारेणं सावत्थिं नयरिं मज्झं मज्झेणं जेणेव हालाहलाए कुंभकारीए कुंभकारावणे, तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छइत्ता पासइ। पासइत्ता गोसालं मंखलिपुत्तं हालाहलाए कुंभकारीए कुंभकारावणंसि अंवकूणगहत्थगयं० जाव अंजलिकम्मं करेमाणे सीयलियाए मट्टिया०जाव गायाइं परिसिंचमाणं पासइ। पासइत्ता लज्जिए विलित्तए विड्डसणियं विड्डसणियं पच्चोसक्कइ। तए णं ते आजीवियथेरा अयंपुलं आजीवियउवासगं लज्जियं० जाव पच्चोसक्कमाणं पासइ। पासइत्ता एवं वयासी-एहि ताव अयपुंला ! इतो। तए णं से अयंपुले आजीवियउवासए आजी-वियथेरेहिं एवं वुत्ते समाणे जेणेव आजीवियथेरा,तेणेव उवाग-च्छइ। उवागच्छइत्ता आजीवियथेरे वंदइ,णमंसइ। वंदित्ता णमंसित्ता णच्चासणे०जाव पज्जुवासति। अयंपुलाइ ! आजीवि-यथेरा अयंपुलं आजीवियउवासगं एवं वयासी-से णूणं भे अयंपुला ! पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि० जाव किं संठिया हल्ला पण्णत्ता। तए णं तव अयंपुला ! दोच्चं पि अयमेया तं चेव सव्वं भाणियव्वं० जाव सावत्थिं णयरिं मज्झं मज्झेणं जेणेव हाला-हलाए कुंभकारीए कुंभकारावणे जेणेव इहं,तेणेव हव्वमागए। से णूणं भे अयंपुला ! अट्ठे समट्ठे,हंता अत्थि। जं पि य अयंपुला ! तव धम्मायरिए धम्मोवएसए गोसाले मंखलिपुत्ते हालाहलाए कुंभकारीए कुंभकारावणंसि अंवकूणगहत्थगए० जाव अंजलिं करेमाणे विहरइ। तत्थ वि णं भगवं इमाइं अट्ठ चरिमाइं पण्णवेइ। तं जहा-चरिमे पाणे० जाव अंतं करेस्सइ। जे वि य अयंपुला ! तव धम्मायरिए धम्मोवएसए गोसाले मंखलिपुत्ते सीयलयाएणं मट्टिया० जाव विहरंति,तत्थ वि णं भगवं इमाइं चत्तारि पाणगाइं,चत्तारि अपाणगाइं पण्णवेइ ; से किंतं पाणए ?। पाणए० जाव तओ पच्छा सिज्झंति० जाव अंतं करेंति। तं गच्छह णं तुमं अयंपुला ! एवं चेव तव धम्मायरिए धम्मोवएसए गोसाले मंखलिपुत्ते इमं एयारूवं वागरणं वागरेहि। तए णं से अयंपले आजीवियउवासए आजीवियसएहिं थेरेहिं एवं वुत्ते समाणे हट्ठतुट्ठ० उट्ठाए उट्ठेइ। उट्ठेइत्ता जेणेव गोसाले मंखलिपुत्ते तेणेव पहारेत्थगमणाए। तए णं ते आजीवियथेरा गोसालस्स मंख-पुत्तस्स अंबकूणगए डाववणट्ठयाए एगंतमंते संगारं कुव्वंति। तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते आजीवियाणं थेराणं संगारं पडिच्छइ। पडिच्छइत्ता अंबकूणगं एगंतमंते एमेइ। तए णं से अयंपुले आजीवियउवासए जेणेव गोसाले मंखलिपुत्ते,तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छइत्ता गोसालं मंखलि-पुत्तं तिक्खुत्तो० जाव पज्जुवासइ। अयंपुलाइ ! गोसाले मंखलिपुत्ते आजीवियउवासगं एवं वयासीसे णूणं अयंपुला ! पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि० जाव जेणेव ममं अंतियं,तेणेव हव्वमागए। से णूणं अयंपुला ! अट्ठे समट्ठे,हंता अत्थि। तं णो खलु एस अंबकूणए अंवचोयएणं एस। किं संठिया हल्ला पण्णत्ता ?। तं जहा-वंसीमूलसंठिया हल्ला पण्णत्ता, वीणं वापहिरिवीरगा,वी० वी०। तए णं से अयंपुले आजीविय-उवासए गोसालेणं मंखलिपुत्तेणं इमं एयारूवं वागरणं वागरिए समाणे हट्ठतुट्ठ०जाव हियए गोसालं मंखलिपुत्तं वंदइ,णमंसइ। वंदइत्ता णमंसइत्ता पसिणाइं पुच्छइ। पुच्छइत्ता अट्ठाइं परिया-दियइ। परियादियइत्ता उट्ठाए उट्ठेइ। उट्ठइत्ता गोसालं मंखलि-पुत्तं वंदइ,णमंसइ। वंदइत्ता नमंसइत्ता०जाव पडिगए। तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते अप्पणो मरणं आभोएइ। आभोएइत्ता आजीवियथेरे सद्दावेइ। सद्दावेइत्ता एवं वयासीतुब्भे णं देवाणुप्पिया ! ममं कालगयं जाणित्ता सुरभिणा गंधोदएणं एहाहेह। सुरभिणा गंधोदएणं एहाहेहइत्ता पम्हलसुकुमालए गंधकासाइए गायाइं लूहेह। गायाइं लूहेहइत्ता सरसेणं गोसीसेणं गायाइं अणुलिंपह। अणुलिंपइत्ता महरिहं हंसलक्खणं पडसाडगं नियंसेह। नियंसेहइत्ता सव्वालंकारविभूसियं करेह। करेत्ता पुरिस-

सहस्सवाहिणी सीयं दुरूहेह। दुरूहइत्ता सावत्थीए णयरी ए सिंघाडग० जाव पहेसु महया सद्देणं उग्घोसेमाणा उग्घोसेमाणा एवं वदह–एवं खलु देवाणुप्पिया ! गोसाले मंखलिपुत्ते जिणे जिणप्पलावी० जाव जिणसद्दं पगासमाणे विहरित्ता। इमी से ओसप्पिणीए चउवीसाए तित्थगराणं चरिमे तित्थगरे सिद्धे० जाव सव्वदुक्खप्पहीणे, इड्ढीसक्कारसमुदएणं ममं सरीरगस्स णीहरणं करेह। तए णं ते आजीविया थेरा गोसालस्स मंखलि–पुत्तस्स एयमट्ठं विणएणं पडिसुणेंति। तए णं तस्स गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स सत्तरत्तंसि परिणममाणंसि पडिलद्धसम्मत्तस्स अयमेयारूवे अब्भत्थिए० जाव समुप्पज्जित्था–णो खलु अहं जिणे जिणप्पलावी० जाव जिणसद्दं पगासमाणे विहरइ। अहं गोसाले मंखलिपुत्ते समणघायए समणमारए समणपडिणीए आयरियउवज्झायाणं अयसकारए अवण्णकारए अकित्ति–कारए बहूहिं असब्भावणाहिं मिच्छत्ताभिनिवेसेहि य अप्पाणं वा परं वा तदुभयं वा वुग्गाहेमाणे वुप्पाएसमाणे विहरित्ता, सएणं तेएणं अणाइट्ठे समाणे अंतो सत्तरत्तस्स पित्तज्जरपरिगयसरीरे दाहवक्कंतीए छउमत्थे चेव कालं करेस्सं। समणे भगवं महावीरे जिणे जिणप्पलावी० जाव जिणसद्दं पगासमाणे विहरइ, एवं संपेहेइ। संपेहेइत्ता आजीवियथेरे सद्दावेइ। सद्दावेइत्ता उच्चावयं सवहस्सावि पकरेइ। पकरेइत्ता एवं वयासी–णो खलु अहं जिणे जिणप्पलावी० जाव पगासमाणे विहरइ, अहं णं गोसाले मंखलिपुत्ते समणवायए० जाव छउमत्थे चेव कालं करेस्सं। समणे भगवं महावीरे जिणे जिणप्पलावी० जाव जिणसद्दं पगासमाणे विहरइ। तं तुब्भेणं देवाणुप्पिया। ममं कालगयं जाणित्ता वामपाए सुंवेणं बंधह। बंधित्ता तिक्खुत्तो मुहे उड्डुभहति। उड्डुभहइत्ता सावत्थीए णयरीए सिंघाडग० जाव पहेसु आकड्ढविकड्ढिं करेमाणे महया महया सद्देणं उग्घोसेमाणा उग्घोसेमाणा एवं वदहणो खलु देवाणुप्पिया ! गोसाले मंखलिपुत्ते जिणे जिप्पलावी० जाव विहरइ। एस णं गोसाले चेव मंखलि–पुत्ते समणघायए० जाव छउमत्थे चेव कालगए। समणे भगवं महावीरे जिणे जिणप्पलावी० जाव विहरइ। अणिड्ढी असक्का–रसमुदएणं ममं सरीरगस्स नीहरणं करेज्जह। एवं वदित्ता कालगए।

(वज्जस्स त्ति) अवद्यस्य, वज्रस्य वा, मद्यपानादिपापस्येत्यर्थः। (चरमे त्ति) न पुनरिदं भविष्यतीतिकृत्वा चरमम्। तत्र पानकादीनि चत्वारि स्वगतानि, चरमता चैषां स्वस्य निर्वाणगमनेन पुनरकरणात्। एतानि च किल निर्वाणकाले जिनस्यावश्यं भावीनीति नास्त्येतेषु दोष इत्यस्य, तथा नाहमेतानि दाहोपशमायोपसेवामीत्यस्य चार्थस्य, प्रकाशनार्थत्वादवद्यप्रच्छादनार्थानि भवन्ति। पुष्कलसंवर्त्तकादीनि तु त्रीणि बाह्यानि प्रकृतानुपयोगेऽपि चरमसामान्याज्ञनचित्तरञ्जनाय चरमाण्युक्तानि, जनेन हि तेषां सातिशयत्वाच्चरमता श्रद्धीयते, ततस्तैः सहीक्तानामाम्रकूणकपानकादीनामपि सा सुश्रद्धेया भवत्विति बुद्ध्येति। (पाणगाइं ति) जलविशेषा व्रतियोग्याः (अपाणयाइं ति) पानकसदृशानि शीतलत्वेन दाहोपशम–हेतवः। (गोपुट्ठए त्ति) गोपृष्ठाद्युत्पतितम्। (हत्थमद्दियए त्ति) हस्तेन मर्दितं, मीलतमित्यर्थः। यथैतदेव आतन्यनिकोदकम्। (थालपाणए त्ति) स्थालं वट्टं तत्पानकमिव दाहोपशमहेतुत्वात्स्थालपानकम्। उपलक्षणत्वादस्य भाजनान्तर–ग्रहोऽपि दृश्यः। एवमन्यान्यपि, नवरं त्वक्छल्लीशम्बलीकलापादिफलिका। (सुद्धापाणए त्ति) देवहस्तस्पर्श इति (दाथालयं ति) उदकार्द्रं स्थालकम्। (दावारगं ति) उदकवारकम् (दाकुंभग त्ति) इह कुम्भो महान्। (दाकलसं ति) कलशस्तु लघुतरः (जहापओगपए त्ति) षोडशपदे, तत्र चेदमेवमधीयते–"भव्वं वा फणसं वा दालिमं वा " इत्यादि। (तरुणगं ति) अभिनवम्। [आमगं ति] अपक्वम् [आसगंसि त्ति] मुखे आपीडयेदीषत्प्रपीमयेत् प्रकर्षत इह यदिति शेषः। [कल त्ति] कलायो धान्यविशेषः। (सिंवलि त्ति) वृक्ष–विशेषः। "पुढविसंथारोवगए " इत्यत्र, वर्तते इति शेषो दृश्यः। (जे णं ते देवे साइज्जइ त्ति) यस्तौ देवौ स्वदतेऽनुमन्यते (संसि त्ति) स्वके, स्वकीये इत्यर्थः। [हल्ल त्ति] गोवालिकातृणसमानाकारः कीटकविशेषः "जाव सव्वणू "इह यावत्करणादिदं दृश्यम्–"जिणे अरहा केवलीति " "वागरणं ति प्रश्नः [वागरित्तए त्ति] मष्टुम् [विलिए त्ति] व्यलीकितः सञ्जातव्यलीकः। [वेडे त्ति] व्रीडा अस्यास्तीति व्रीडः, लज्जाप्रकर्षवा–नित्यर्थः। भूमार्थे अस्त्यर्थ प्रत्ययोपादानात् विजने भूविभागे यावदयं–पुलो गोशालकान्तिकेनागच्छतीत्यर्थः। [संगारं ति] सङ्केतम् अयंपुलो भवत्समीपे आगमिष्यति, ततो भवानाम्रकूणकं परित्यजतु, संवृतश्च भवत्येवं रूपमिति। [तं नो खलु एस अंबकूणए त्ति] तदिदं किलाम्र–स्थिकं न भवति यद् व्रतिनामकल्पं यद्भवताऽऽम्रास्थिकतया विक–ल्पितं, किं त्विदं यद्भवता दृष्टं तदाम्रत्वक्। एतदेवाह–[अंबचोयएणं एस त्ति] इयं च निर्वाणगमनकाले आश्रयणीयैव, त्वक् पानकृत्वादस्येति। तथा हल्ला संस्थानं यत्पृष्टमासोत्तद्दर्शयन्नाह–[वंसीमूलसंठिय त्ति] इदं च वंशीमूलसंस्थितत्वं तृणगोवालिकाया लोकप्रतीतमेवेति। एतावत्युक्ते मदिरामदविह्वलितमनोवृत्तिरसावकस्मादाह–[वीणं वा पहिरिवीरगा] एतदेव द्विरावर्त्तयति; एतद्योन्मादवचनं तस्योपासकस्य शृण्वतोऽपि न व्यलीककारणं जातं, यो हि सिद्धिं गच्छति, स चरमं गेयादि करोतीत्या–दिवचनैर्विमोहितमतित्वादिति। (हंसलक्खणं ति) हंसस्वरूपम्, शुक्लमित्यर्थः; हंसचिह्नं वेति। [इड्ढीसक्कारसमुदएणं ति] ऋद्ध्या ये सत्काराः पूजाविशेषास्तेषां यः समुदायः संतथा, तेन। अथवा–ऋद्धि–सत्कारसमुदायैरित्यर्थः। समुदायश्च जनानां सङ्गः। (समणघायए त्ति) श्रमणयोस्तेजोलेश्याक्षेपलक्षणघातदानात् घातदो घातको वा, अत एव श्रमणमारक इति। (दाहवक्कंतीए त्ति) दाहोत्पत्त्या [सुंवेणं ति] वल्क–रज्ज्वा [उड्डुभह त्ति] अवष्टीव्यते निष्ठीव्यते, क्वचित् "उच्छुभति " दृश्यते, तत्र चापसदं किञ्चित् क्षिपतेत्यर्थः। [आकड्ढविकड्ढिं ति] आक–र्षविकर्षिकाम्। (भ०)

तए णं ते आजीविया थेरा गोसालं मंखलिपुत्तं कालगयं

जाणित्ता हालाहलाए कुंभकारीए कुंभकारावणस्स दुवाराइं पिहेंति। पिहेंतित्ता हालाहलाए कुंभकारीए कुंभकारावणस्स बहुमज्झदेसभाए सावत्थिं णयरिं आलिहंति। आलिहंतित्ता गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स सरीरगं वामे पादे सुंवेणं बंधंति। बंधंतित्ता तिक्खुत्तो मुहे उट्ठभहंति। उट्ठभहंतित्ता सावत्थीए णयरीए सिंघाडग जाव० पहेसु आकड्ढविकड्ढिं करेमाणे णीयं सद्देणं उग्घोसेमाणा उग्घोसेमाणा एवं वयासी–णो खलु देवाणुप्पिया! गोसाले मंखलिपुत्ते अजिणे जिणप्पलावी० जाव विहरिए। एस णं गोसाले चेव मंखलिपुत्ते समणघायए० जाव छउमत्थे चेव कालगए, समणे भगवं महावीरे जिणे जिणप्प–लावी० जाव विहरइ। सवहपडिमोक्खमणगं करेंति। करेंतित्ता दोच्चं पि पूयासक्कारथिरीकरणट्ठयाए गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स वामाओ पादाओ सुंवेयंति। सुंवेयंतित्ता हालाहलाए कुंभकारीए कुंभकारावणस्स दुवारवयणाइं अवगुणंति। अवगुणंतित्ता गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स सरीरगं सुरभिणा गंधोदएणं ण्हणिंति। तं चेव० जाव महया महया इड्ढीसक्कारसमुदएणं गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स सरीरगस्स णीहरणं करेंति। तए णं समणे भगवं महावीरे अण्णया कयाइं सावत्थीओ णयरीओ कोट्ठयाओ चेइयाओ पडिणिक्खमइ। पडिणिक्खमइत्ता बहिया जणवय–विहारं विहरइ। तेणं कालेणं तेणं समएणं मिंढियगामे णामं णयरे होत्था। वण्णओतस्स णं मिंढियागामस्स णयरस्स बहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसिभाए एत्थ णं सालकोट्ठए नामं चेइए होत्था। वण्णओपुढवीसिलापट्टओ, तस्स णं सालकोट्ठगस्स चेइय–स्स अदूरसामंते एत्थ णं महेगे मालुयाकच्छे यावि होत्था। किण्हे किण्होभासे० जाव निकुरुंबभूए पत्तिए फलिए हरियगरेरिज्जमाणे सिरीए अईव अईव उवसोभेमाणे उवसोभेमाणे चिट्ठइ। तत्थ णं मेढियगामे णयरे रेवती णामं गाहावइणी परिवसइ, अड्ढा० जाव अपरिभूया। तए णं समणे भगवं महावीरे अण्णया कयाइं पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे० जाव जेणेव मिंढियगामे णयरे जेणेव सालकोट्ठए चेइए चेव० जाव परिसा पमिगया। तए णं समणस्स भगवओ महावीरस्स सरीरगंसि विउले रोगायंके पाउब्भूए उज्जले० जाव दुरहियासे पित्तज्जरपरिगयसरीरे दाहवक्कंतीए यावि विहरइ। अवियाइं लोहियवच्चाइं पि करेइ, चाउवण्णं वागरेइ। एवं खलु समणे भगवं महावीरे गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स तवेणं तेएणं अणाइट्ठे समाणे अंतो छण्हं मासाणं पित्तज्जरपरिगयसरीरे दाहवक्कंतीए छउमत्थे चेव कालं करेस्संति। तेणं कालेणं तेणं समए णं समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतेवासी सीहे णामं अणगारे पगइभद्दए० जाव विणीए मालुयाकच्छगस्स अदूरसामंते छट्ठं छट्ठेणं अणिक्खित्तेणं अणिक्खित्तेणं उड्ढं वाहाओ० जाव विहरइ। तए णं तस्स सीहस्स अणगारस्स झाणंतरियाए वट्टमाणस्स अयमेयारूवे० जाव समुप्पज्जित्था–एवं खलु मम धम्मायरियस्स धम्मोवए-सगस्स समणस्स भगवओ महावीरस्स सरीरगंसि विउले रोगायंके पाउब्भूए उज्जले० जाव छउमत्थे चेव कालं करेस्सइ, वदिस्संति य णं अण्णउत्थियाछउत्थे चेव कालगए। इमेणं एयारूवेणं महया मणोमाणसिएणं दुक्खेणं अभिभूए समाणे आयावणभूमीओ पच्चोरुभइ। पच्चोरुभइत्ता जेणेव मालुया-कच्छए, तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छइत्ता मालुयाकच्छयं अंतो अंतो अणुप्पविसइ। अणुप्पविसइत्ता महया महया सद्देणं कुहुकुहुस्स परुण्णे अज्जो त्ति! समणे भगवं महावीरे समणे णिग्गंथे आमंतेत्ता एवं वयासी–एवं खलु अज्जो! समंतेवासी सीहे णामं अणगारे पगइभद्दए तं चेव सव्वं भाणियव्वं० जाव परुण्णे, तं गच्छह णं अज्जो! तुब्भे सीहं अणगारं सद्दह। तए णं ते समणा णिग्गंथा समणेणं भगवया महावीरेणं एवं वुत्ता समणा समणं भगवं महावीरं वंदंति, णमंसंति। वंदित्ता णमंसित्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियाओ सालकोट्ठयाओ चेइयाओ पडिणिक्खमंति। पडिणिक्खमंतित्ता जेणेव मालुयाकच्छए जेणेव सीहे अणगारे, तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छइत्ता सीहं अणगारं एवं वयासी–सीहा! तव धम्मा–यरिया सद्दावेइ। तए णं सीहे अणगारे समणेहिं णिग्गंथेहिं सद्धिं मालुयाकच्छयाओ पडिणिक्खमइ। पडिणिक्खमइत्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छइत्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं० जाव पज्जुवासइ। सीहादि! समणे भगवं महावीरं सीहं अणगारं एवं वयासी–से णूणं सीहा झाणंतरियाए वट्टमाणस्स अयमेयारूवे० जाव परुण्णे, से णूणं ते सीहा! अट्ठे समट्ठे हंता अत्थि। तं णो खलु सीहा! गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स तवेणं तेएणं अणाइट्ठे समाणे अंतो छण्हं मासाणं० जाव कालं करेस्सं। अहं णं अण्णाइं सोलस वासाइं जिणे सुहत्थी विहरिस्सामि। तं गच्छह णं तुमं सीहा! मिंढियगामं णयरं रेवतीए गाहावइणीए गिहे। तत्थ णं रेवतीए गाहावईए मम अट्ठाए दुवे कवोयसरीरा उवक्खडिया, तेहिं णो अट्ठो अत्थि। से अण्णे पारियासिए मज्जारकडए कुक्कुडमंसए तमाहराहि, तेणं अट्ठो। तए णं सीहे अणगारे समणेणं भगवया महावीरेणं एवं वुत्ते समाणे हट्ठतुट्ठ० जाव हियए समणं भगवं महावीरं वंदइ, णमंसइ। वंदइत्ता णमंसइत्ता अतुरियम-चवलमसंभंतं मुहपोत्तियं पडिलेहेइ। पडिलेहेइत्ता जहा गोयम सामी ०जाव जेणेव समणे भगवं महावीरे, तेणेव उवागच्छइ।

उवागच्छइत्ता समणं भगवं महावीरं वंदइ,णमंसइ । वंदित्ता णमंसित्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियाओ सालकोट्ठयाओ चेइयाओ पडिणिक्खमइ। पडिणिक्खमइत्ता अतुरिय० जाव जेणेव मिंढियगामे णयरे,तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छइत्ता मिंढियगामं णयरं मज्झं मज्झेणं जेणेव रेवईए गाहावइणीए गिहे अणुप्पविट्ठे । तए णं सा रेवई गाहावइणी सीहं अणगारं एज्जमाणं पासइ । पासइत्ता हट्ठतुट्ठ० खिप्पामेव आसणाओ अब्भुट्ठेइ। अब्भुट्ठेइत्ता सीहं अणगारं सत्तट्ठपयाइं अणुगच्छइ। अणुगच्छ–इत्ता तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं वंदइ, णमंसइ। वंदइत्ता णमंसइत्ता एवं वयासी–संदिसंतु णं देवाणुप्पिया ! किमागमण–प्पओयणं ? तए णं से सीहे अणगारे रेवतिं गाहावइणिं एवं वयासी–एवं खलु तुम्हे देवाणुप्पिए ! समणस्स भगवओ महावीरस्स अट्ठाए दुवे कवोयसरीरा उवक्खडिया,तेहिं णो अट्ठो, अत्थि ते अण्णे पारियासिए मज्जारकडए कुक्कुडमंसए तमाहर–राहि,तेणं अट्ठो । तए णं सा रेवती गाहावइणी सीहं अणगारं एवं वयासी–केस णं सीहा ! सेणाणी वा तवस्सी वा,जेणं तव एस अट्ठे,मम ताव रहस्सकए हव्वमक्खाए ?जओ णं तुमं जाणसि ? एवं जहा खंदए० जाव जओ णं अहं जाणामि। तए णं सा रेवती गाहावइणी सीहस्स अणगारस्स अंतियं एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठा जेणेव भत्तघरे,तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छ–इत्ता पत्तगं मोएइ । जेणेव सीहे अणगारे तेणेव उवागच्छइ । उवागच्छइत्ता सीहस्स अणगारस्स पडिग्गहगंसि तं सव्वं सम्मं णिसिरइ । तए णं रेवतीए गाहावइणीए तेणं दव्वसुद्धेणं० जाव दाणेणं सीहे अणगारे पडिलाभिए समाणे देवाउए निबद्धे,जहा वेजयस्स० जाव जम्मजीवियफले रेवईए गाहावइणीए रेव० रेव०। तए णं सीहे अणगारे रेवतीए गाहावइणीए गिहाओ पडि–णिक्खमइ। पडिणिक्खमइत्ता मिंढियगामं णयरं मज्झं मज्झेणं णिग्गच्छइ । णिग्गच्छइत्ता जहा गोयमसामी० जाव भत्तपाणं पडिदंसेइ। पडिदंसेइत्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स पाणिंसि तं सव्वं णिसिरइ। तए णं समणे भगवं महावीरे अमु–च्छिए० जाव अणज्झोववण्णे विलमिव पण्णगभूएणं अप्पाणेणं तमाहारं सरीरकोट्ठंसि पक्खिवइ। तए णं समणस्स भगवओ महावीरस्स तमाहारं आहारियस्स समाणस्स विपुले रोगायंके खिप्पामेव उवसंते,हट्ठे जाए अरोगो वलियसरीरे तुट्ठा समणा, तुट्ठीओ समणीओ,तुट्ठा सावया,तुट्ठीओ सावियाओ,तुट्ठा देवा, तुट्ठीओ देवीओ,सदेवमणुयासुरे लोए हट्ठे जाए,समणे भगवं महावीरे हट्ठे हट्ठे भंते त्ति ? भगवं गोयमे समणं भगवं महावीरं वंदइ, णमंसइ । वंदइत्ता णमंसइत्ता एवं वयासी–एवं खलु देवाणुप्पियाणं अंतेवासी पाईणजाणवए सव्वाणुभूई णाये अणगारे पगइ–भद्दए० जाव विणीए,से णं भंते ! तदा गोसालेणं मंखलिपुत्तेणं तवेणं तेएणं भासरासीकए समाणे कहिं गए,कहिं उववण्णे ? एवं खलु गोयमा ! ममं अंतेवासी पाईणजाणवए सव्वाणुभूई णामं अणगारे पगइभद्दए० जाव विणीए,से णं तदा गोसालेणं मंखलिपुत्तेणं भासरासीकरेमाणं उड्ढं चंदिमसूरिए० जाव वंभलंतगमहासुक्के कप्पे वीईवइत्ता सहस्सारे कप्पे देवत्ताए उववण्णे । तत्थ णं अत्थेगइयाणं देवाणं अट्ठारससागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता । तत्थ णं सव्वाणुभूइस्स वि देवस्स अट्ठारस सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता । से णं सव्वाणुभूईदेवं ताओ देवलोगाओ आउ–क्खएणं ठिइक्खएणं० जाव महाविदेहे वासे सिज्झिहिति,० जाव अंतं करेहिति । एवं खलु देवाणुप्पियाणं अंतेवासी कोस–लजाणवए सुणक्खत्ते णामं अणगारे पगइभद्दए० जाव विणीए, से णं भंते ! तदा गोसालेणं मंखलिपुत्तेण तवेणं तेएणं परितावि्ए समाणे कालमासे कालं किच्चा कहिं गए,कहिं उववण्णे ?। एवं खलु गोयमा ! ममं अंतेवासी सुणक्खत्ते णामं अणगारे पगइभ–द्दए० जाव विणीए,से णं तदा गोसालेणं मंखलिपुत्तेणं तवेणं तेएणं परितावि्ए समाणे जेणेव ममं अंतिए,तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छइत्ता वंदइ,णमंसइ। वंदइत्ता णमंसइत्ता सयमेव पंच महव्वयाइं आरुहइ। आरुहइत्ता समणाओ समणीओ य खामेइ। आलोइय पडिक्कंते समाहिपत्ते कालमासे कालं किच्चा उड्ढं चंदिमसूरिए० जाव आणयपाणयारणकप्पे वीईवइत्ता अच्चुए कप्पे देवत्ताए उववण्णे। तत्थ णं अत्थेगइयाणं देवाणं वावीसं सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता। तत्थ णं सुणक्खत्तस्स वि देवस्स वावीसं सागरोवमाइं,सेसं जहा सव्वाणुभूइस्स० जाव अंतं काहिति । एवं खलु देवाणुप्पियाणं अंतेवासी कुसिस्से गोसाले णामं मंखलिपुत्ते,से णं भंते ! गोसाले मंखलिपुत्ते कालमासे कालं किच्चा कहिं गए,कहिं उववण्णे ? एवं खलु गोयमा ! ममं अंतेवासी कुसिस्से गोसाले णामं मंखलिपुत्ते समणघायए० जाव छउमत्थे चेव कालं किच्चा उड्ढं चंदिमसूरिए० जाव अच्चुए कप्पे देवत्ताए उववण्णे। तत्थ णं अत्थेगइयाणं देवाणं वावीसं साग–रोवमाइं ठिई पण्णत्ता । तत्थ णं गोसालस्स वि देवस्स वावीसं सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता ॥

[पूयासक्कारथिरीकरणट्ठयाए त्ति] पूजासत्कारयोः पूर्वप्राप्तयोः स्थिरताहेतोः । यदि तु ते गोशालकरशरीरस्य विशिष्टपूजां न

कुर्वन्ति, तदा लोको जानाति नायं जिनो बभूव, न चैत जिनशिष्या इत्येवमस्थिरौ पूजासत्कारौ स्यातामिति तयोः स्थिरीकरणार्थं (अवगुणंति त्ति) अपावृण्वन्ति [सालकोट्ठए नामं चेइए होत्था वण्णओ त्ति] तद्वर्णको वाच्यः । स च "विराईए" इत्यादि० "जाव पुढविसिलापट्टउ त्ति" पृथिवीशिलापट्टकवर्णकं यावत् । स च "तस्स णं असोगवरपायवस्स हेट्ठा ईसिं खंधो समल्लीणे" इत्यादि [मालुयाकच्छए त्ति] मालुका नाम एकास्थिका वृक्षविशेषाः, तेषां यत्कक्षं गहनं तत्तथा । [विउले त्ति] शरीरव्यापकत्वात् । [रोगायंके त्ति] रोगः पीडाकारी, स चासावातङ्कश्च व्याधिरिति रोगातङ्कः । [उज्जले त्ति] उज्ज्वलः पीडाऽपोहलक्षणविपक्षलेशेनाप्यकलङ्कितः । यावत्करणादिदं दृश्यम्–"तिउले" त्रीन् मनोवाक्कायलक्षणानर्थांस्तुलयति जयतीति त्रितुलः "पगाढे" प्रकर्षवान् "कक्कसे" कर्कशद्रव्यमिवानिष्ट इत्यर्थः । "कडुए" तथैव "चंडे" रौद्रः "तिव्वे" सामान्यस्य झगिति मरणहेतुः "दुक्खे त्ति" दुःखो दुःखहेतुत्वात् "दुग्गे त्ति" दुर्गमिव अनभिभवनीयत्वात् । किमुक्तं भवति ?–(दुरहियासे त्ति) दुरविसहः सोदुमशक्य इति । (दाहवक्कंतीए त्ति) दाहो व्युत्क्रान्त उत्पन्नो यस्य स स्वार्थिकप्रत्यये दाहव्युत्क्रान्तिकः । (अवियाइं ति) अपि चेति अभ्युच्चये, 'आ इति वाक्यालङ्कारे । (लोहियवच्चाइए त्ति) लोहितवर्चांस्यपि रुधिरात्मकपुरीषाण्यपि करोति, किमन्येन पीडावर्णनेनेति भावः । तानि हि किलात्यन्तवेदनोत्पादके रोगे सति भवन्ति । (चाउवण्णं ति) चातुर्वर्ण्यं ब्राह्मणादिलोकः । (झाणंतरियाए त्ति) एकस्य ध्यानस्य समाप्तिरन्यस्यानारम्भ इत्येषा ध्यानान्तरिका, तस्याम् । (ममोमाणसिएणं ति) मनस्येव न बहिर्वचनादिभिरप्रकाशितत्वात् यन्मानसिकं दुःखं तन्मनोमानसिकं, तेन "दुवे कच्चोया " इत्यादिः श्रूयमाणमेवार्थम् केचिन्मन्यन्ते, अन्ये त्वाहुः कपो–तकः पक्षिविशेषस्तद्वद् द्वे फले वर्णसाधर्म्यात्, ते कपोते कूष्माण्डे, ह्रस्वे कपोते कपोतके, ते च ते शरीरे च वनस्पतिजीवदेहत्वात्कपोतकशरीरे । अथवा–कपोतकशरीरे इव धूसरवर्णसाधर्म्यादेव कपोतकशरीरे कूष्मा–ण्डफले एव ते उपस्कृते संस्कृते (तेहिं नो अट्ठो त्ति) बहुपापत्वात् । (परियासिए त्ति) परिवासितं ह्यस्तनमित्यर्थः । "मज्जारकडए" इत्यादेरपि केचिच्छ्रूयमाणमेवार्थं मन्यन्ते । अन्ये त्वाहुः मार्जारो वायुविशेषस्तदुपशमनाय कृतं संस्कृतं मार्जारकृतम् । अपरे त्वाहुः मार्जारो विरालिकाऽभिधानो वनस्पतिविशेषः, तेन कृतं भावितं यत्त तथा । किं तदित्याह–कुक्कुटमांसकं बीजपूरककटाहम् । (आहराहि त्ति) निरवद्यत्वादिति । (पत्तगं मोएइ त्ति) पात्रकं पिठरिकाविशेषं मुञ्चति, सिक्थके उपरिकृतं सत्तस्मादवतारयतीत्यर्थः । (जहा विजयस्स त्ति) यथैव शते विजयस्य वसुधारादयुकमेवमेतस्या अपि वाच्यमित्यर्थः । "विलमिवेत्यादि ।" विले इव रन्ध्रे इव पन्नगभूतेन सर्पकल्पेनाऽऽत्मना करणभूतेन तं तं सिंहानगारोपनीतमाहारं शरीरकोष्ठके प्रक्षिपतीति । (हट्ठे त्ति) हृष्टो निर्व्याधिः (आरोगो त्ति) निष्पीडः । (तुट्ठे हट्ठे जाए त्ति) तुष्टस्तोषवान्, हृष्टो विस्मितः, किमस्मादेवमित्याह–"समणे" इत्यादि (हट्ठे त्ति) नीरोगो जात इति । (भ०)

से णं भंते ! गोसाले देवे ताओ देवलोगाओ आउक्खएणं० जाव कहिं उववज्जिहिति ? गोयमा ! इहेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे विंझगिरिपायमूले पुंडेसु जणवएसु सतदुवारे णयरे सुमहस्स रण्णो भद्दाए भारियाए कुच्छिंसि पुत्तत्ताए पच्चायाहिति । से णं तत्थ णवण्हं मासाणं बहुपडिपुण्णाणं० जाव विइक्कंताणं० जाव सुरूवे दारए पच्चायाहिति । जं रयणिं च णं से दारए पयाहिति, तं रयणिं च णं सयदुवारे णयरे सब्भिंतरबाहिरए भारग्गसो य कुंभग्गसो य पउमवासे य रयणवासे य वासे वासिहिति । तए णं तस्स दारगस्स अम्मापियरो एक्कारसमे दिवसे वीइक्कंते० जाव संपत्ते बारसाहदिवसे अयमेयारूवं गोणं गुणनिप्पण्णं णामधेज्जं काहिति । जम्हा णं अम्हं इमंसि दारगंसि जायंसि समाणंसि सतदुवारे णयरे सब्भिंतरबाहिरए० जाव रयणवासे य वासे वुट्ठे, तं होऊणं अम्हं इमस्स दारगस्स णामधेज्जं महापउमे महा० महा० । तए णं तस्स दारगस्स अम्मापियरो णामधेज्जं करेहिंति–महापउमे, महा० महा० । तए णं महापउमं दारगं अम्मापियरो सातिरेगट्ठवासजायगं जाणित्ता सोभणंसि तिहिकरणदिवसणक्खत्तमुहुत्तंसि महया महया रायाभिसेगेणं अभिसिंचेहिंति । से णं तत्थ राया भविस्सइ, महया हिमवंतवण्णओ० जाव विहरिस्सइ । तए णं तस्स महापउमस्स रण्णो अण्णया कयाइं दो देवा महिड्ढिया० जाव महेसक्खा सेणाकम्मं काहिंति । तं जहा–पुण्णभद्दे य, माणिभद्दे य । तए णं सतदुवारे णयरे बहवे राईसरतलवर० जाव सत्थवाहप्पभितीओ अण्णमण्णं सद्दावेहिंति । सद्दावेहिंतित्ता एवं वदेहिंति–जम्हा णं देवाणुप्पिया ! अम्हं महापउमस्स रण्णो दो देवा महिड्ढिया० जाव सेणाकम्मं करेंति । तं जहा–पुण्णभद्दे य, माणिभद्दे य, तं होऊणं देवाणुप्पिया ! अम्हं महापउमस्स रण्णो दोच्चे पि णामधेज्जे देवसेणेति देवसेणेति । तए णं तस्स महापउमस्स रण्णो दोच्चे वि णामधेज्जे णामधेज्जे भविस्सइ देवसेणेति । तए णं तस्स देवसेणस्स रण्णो अण्णया कयाइं से ते संखतलविमलसण्णिगासे चउद्दंते हत्थिरयणे समुप्पज्जिस्सइ । तए णं से देवसेणे राया सेयं संखतलविमलसण्णिगासं चउद्दंतहत्थिरयणं दुरूढे समाणे सतदुवारं णयरं मज्झं मज्झेणं अभिक्खणं अभिक्खणं अभिजाहिंति, य णिज्जाहिंति य । तए णं सतदुवारे णयरे बहवे राईसर० जाव पभिती । ओ अण्णमण्णे सद्दावेहिंतिजम्हा णं देवाणुप्पिया ! अम्हं देवसेणस्स रण्णो से ते संखतलसण्णिगासे चउद्दंते हत्थिरयणे समुप्पण्णे, तं होऊणं देवाणुप्पिया ! अम्हं देवसेणस्स रण्णो तच्चे वि णामधेज्जे विमलवाहणेति, विमलवाहणे ति । तए णं से विमलवाहणे राया अण्णया कयाइ समणेहिं णिग्गंथेहिं मिच्छं विप्पडिवज्जेहिंति, अप्पेगइए आउसिहिति, अप्पेगइए उवहसिहिति,

अप्पेगइए णिच्छोडेहेति,अप्पेगइए णिब्भच्छेहिति,अप्पेगइए बंधेहिति,अप्पेगइए णिरुंभेहिति,अप्पेगइयाणं छविच्छेदं करेहिंति,अप्पेगइए पम्मारेहिंति,अप्पेगइयाणं उद्दवेहिति,अप्पेगइयाणं वत्थपडिग्गहकंबलपायपुच्छणं आच्छिंदिहिति,विच्छिंदिहिति,भिंदिहिति,अप्पेगइयाणं भत्तपाणं वोच्छिंदिहिति, अप्पेगइए णिण्णारे करेहिति,अप्पेगइए णिव्विसए करेहिति। तए णं सत्तदुवारे णयरे बहवे राईसर० जाव वदिहिंति–एवं खलु देवाणुप्पिया ! विमलवाहणे राया समणेहिं णिग्गंथेहिं मिच्छं विप्पडिवण्णे अप्पेगइए आउसति० जाव णिव्विसए कारेति, तं णो खलु देवाणुप्पिया ! एय अम्हं सेयं,णो खलु एयं विमलवाहणस्स रण्णो सेयं,णो खलु एयं रज्जस्स वा रट्ठस्स वा बलस्स वा वाहणस्स वा पुरस्स वा अंतेउरस्स वा जणवयस्स वा सेयं,जेणं विमलवाहणे राया समणेहिं णिग्गंथेहिं मिच्छं विप्पडिपण्ण,तं सेयं खलु देवाणुप्पिया ! अम्हं विमलवाहणं रायं एयमट्ठं विण्णवेत्तिए त्ति कट्टु अण्णमण्णस्स अंतियं एयमट्ठं पडिसुर्णेति। पडिसुर्णेतित्ता जेणेव विमलवाहणे राया,तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छइत्ता करयलपरिग्गहियं विमलवाहणं रायं जएणं विजएणं वद्धावेंति। वद्धावेंतित्ता एवं वदिस्सहिंति–एवं खलु देवाणुप्पिया ! समणेहिं णिग्गंथेहिं मिच्छं विप्पडिवण्णा अप्पेगइए आउसइ० जाव अप्पेगइए निव्विसए कारेति,तं णो खलु एयं जं णं देवाणुप्पियाणं सेय,णो खलु एयं अम्हं सेयं,णो खलु एवं रज्जस्स वा० जाव जणवयस्स वा सेयं,जं णं देवाणुप्पिया ! समणेहिं णिग्गंथेहिं मिच्छं विप्पडिवण्णा,तं विरमंतु णं देवाणुप्पिया ! एयमट्ठस्स अकरणयाए। तए णं से विमलवाहणे राया तेहिं बहूहिं राईसर० जाव सत्थवाहप्पभिईहिं एयमट्ठं विण्णत्ते समाणे णो धम्मोत्ति णो तवो त्ति मिच्छाविणएणं एयमट्ठं पडिसुणेहिं,तस्स णं सयदुवारस्स णयरस्स बहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसिभाए,एत्थ णं सूभूमिभागे उज्जाणे भविस्सइ; सव्वोतुयवण्णओ।

(भारग्गसो य त्ति) भारपरिमाणतः,भारश्च भारकः पुरुषोद्वहनीयो, विंशतिपलशतप्रमाणो वेति। (कुंभग्गसो य त्ति) कुम्भो जघन्य आढकानां षष्ट्या,मध्यमस्त्वशीत्या,उत्कृष्टः पुनः शतेनेति (पउमवासे य रयणवासे य वासे वासिहिति त्ति) वर्षा वृष्टिर्वर्षिष्यति भविष्यति। किंविध इत्याह–पद्मवर्षः पद्मवर्षरूप एवं रत्नवर्ष इति [सेए त्ति] श्वेतः। कर्थभूतः [संखतलविमलसन्निगासे त्ति] संखस्य यद्दलं खण्डं तलं वा रूपं विमलं तत्सन्निकासः सदृशो यः स तथा,प्राकृतत्वाच्चैवं समासः। (आउसिहिइ त्ति) आक्रोशान् दास्यति (निच्छोडेहिइ त्ति) पुरुषान्तरसम्बन्धितहस्ताद्यवयवाकारणतो ये श्रमणास्तांस्ततो वियोजयिष्यति [निब्भत्थेहिइ त्ति] आक्रोशव्यतिरिक्तदुर्वचनानि दास्यति [पम्मारेहिइ त्ति] प्रमारं मरणक्रियाप्रारम्भं करिष्यति प्रमारयिष्यति [उद्दवेहि त्ति] अपद्रावयिष्यति,मारयिष्यति। (उवद्दवेहिइ त्ति) उपद्रवान् करिष्यति [आच्छिंदिहि त्ति] ईषच्छेत्स्यति [विच्छिं–दिहिइ त्ति] विशेषेण विविधतया वा छेत्स्यति। [भिंदिहिइ त्ति] स्फो–टयिष्यति पात्रापेक्ष्यमेतत् अपहरिष्यत्यत्युद्दालयिष्यति। [निन्नारे करेहिति त्ति] निर्नगरान् नगरनिष्कान्तान् करिष्यति (रज्जस्स व त्ति) राज्यस्य वा,राज्यं च राजादिपदार्थसमुदायः। आह च–"स्वाम्यमात्याश्चराष्ट्रं,कोशो दुर्गबलं सुहृत्। सप्ताङ्गमुच्यते राज्यं; बुद्धिसर्वसमाश्रयम् "॥ १॥ राष्ट्रादयस्तु तद्विशेषाः,किन्तु राष्ट्रं जनपदैकदेशः। [विरमंतु णं देवाणुप्पिया ! एयस्स अट्ठस्स अकरणयाए त्ति] विरमणं किल वचनाद्यपेक्षयाऽपि स्यादत उच्यते,अकरणतया करणनिषेधरूपतया। भ०।

तेणं कालेणं तेणं समएणं विमलस्स अरहओ पउप्पए सुमंगले णामं अणगारे जाइसंपण्णे जहा धम्माघोसस्स वण्णओ० जाव संखित्तविउलतेयलेस्से तिण्णाणोवगए सूभूमिभागस्स उज्जाणस्स अदूरसामंते छट्ठं छट्ठेणं अणिक्खित्तेणं० जाव आयावेमाणे विहरिस्सइ। तए णं से विमलवाहणे राया अण्णया कयायि रहचरिउं काउं णिज्जाहिति। तए णं से विमलवाहणे राया सुभूमिभागस्स उज्जाणस्स अदूरसामंते रहचरियं करेमाणे सुमंगलं अणगारं छट्ठं छट्ठेणं० जाव आयावेमाणे पासिहिति। पासहितित्ता आसुरुत्ते० जाव मिसिमिसेमाणे सुमंगलं अणगारं रहसिरेणं णोल्लावेहिति। तए णं से सुमंगले अणगारे विमलवाहणेणं रण्णा दोच्चं रहसिरेणं णोल्लाविए समाणे सणियं सणियं उट्ठेहिति। उट्ठेहितित्ता दोच्चं पि उड्ढं वाहाओ पगिज्झिय पगिज्झिय० जाव आयावेमाणे विहरिस्सइ। तए णं से विमलवाहणे राया सुमंगलं अणगारं दोच्चं पि रहसिरेणं णोल्लावेहिति। तए णं से सुमंगले अणगारे विमलवाहणेणं रण्णा दोच्चं पि रहसिरेणं णोल्लाविए समाणे सणियं सणियं उट्ठेहिति। उट्ठेहितित्ता ओहिं पउंजेहिति। ओहिं पउंजेहितित्ता विमलवाहणस्स रण्णो तीयद्धा आभोएहिति ! ती० ती० विमलवाहणं रायं एवं वदिहिति–णो खलु तुमं विमलवाहणे राया,णो खलु तुमं देवसेणे राया,णो खलु तुमं महापउमे राया,णो खलु तुमं देवसेणे राया,णो खलु तुमं विमलवाहणे राया,णो खलु तुमं देवसेणे राया,णो खलु तुमं महापउमे राया,तुमं णं इओ तच्चे भवग्गहणे गोसाले णामं मंखलिपुत्ते होत्था समणघायए० जाव छउमत्थे चेव कालगए, तं जति ते तदा सव्वाणुभूइणा अणगारेणं पभूणा वि होऊणं सम्मं सहियं खमियं तितिक्खियं अहियासियं, जइ ते तदा सुणक्खत्तेणं अणगारेणं पभूणा वि होउणं सम्मं सहियं खमियं० जाव अहियासियं, जइ ते तदा समणेणं भगवया महावीरेणं पभूणा वि० जाव अहियासियं,तं णो खलु अहं तहा सम्मं सहिस्सं० जाव अहियासिस्सं; अहं ते णवरं स–

हयं सरहं ससारहियं तवेणं तेएणं एगाहच्चं कूमाहच्चं भासरासिं करेज्जामि। तए णं से विमलवाहणे राया सुमंगलेणं अणगारेणं एवं वुत्ते समाणे आसुरुत्ते० जाव मिसिमिसेमाणे सुमंगलं अणगारं तच्चं पि रहसिरेणं णोल्लविहिति। तए णं से सुमंगले अणगारे विमलवाहणेणं रण्णा तच्चं पि रहसिरेणं णोल्लाविए समाणे आसुरुत्ते० जाव मिसिमिसेमाणे आयावणभूमीओ पच्चोरुभइ। पच्चोरुभइत्ता तेयासमुग्घाएणं समोहणहिति। समोहणहितित्ता सत्तट्ठपयाइं पच्चोसक्किहिति। पच्चोसक्किहितित्ता० विमलवाहणं रायं सहयं सरहं ससारहियं तवेणं तेएणं० जाव भासरासिं करेहिति। सुमंगले णं भंते ! अणगारे विमलवाहणं रायं सहयं० जाव भासरासिं करेत्ता कहिं गच्छिहिति, कहिं उववज्जिहिति ? गोयमा ! सुमंगले णं अणगारे णं विमलवाहणं रायं सहयं० जाव भासरासिं करेत्ता बहूहिं छट्ठट्ठमदसमदुवालस० जाव विचित्तेहिं तवोकम्मेहिं अप्पाणं भावेमाणे बहूहिं वासाइं सामण्णपरियागं पाउणिहिति। बहूहिं वासाइं सामण्णपरियागं पाउणिहितित्ता मासियाए संलेहणाए सट्ठिं भत्ताइं अणसणाइं० जाव छेदेत्ता आलोइयपडिक्कंते समाहिपत्ते उड्डं चंदिमसूरिए० जाव गेवेज्जग-विमाणे ससयं वीईवइत्ता सव्वट्ठसिद्धे महाविमाणे देवत्ताए उव-वज्जिहिंति। तत्थ णं देवाणं अजहण्णमणुक्कोसेणं तेत्तीसं सागरो-वमाइं ठिई पण्णत्ता। तत्थ णं सुमंगलस्स वि देवस्स अजहण्ण-मणुक्कोसेणं तेत्तीसं सागरावमाइं ठिई पण्णत्ता। से णं भंते ! सुमंगले देवे ताओ देवलोगाओ० जाव महाविदेहे वासे सिज्झिहिति०, जाव अंतं काहिति। विमलवाहणे णं भंते ! राया सुमंगलेणं अणगारेणं सहयं० जाव भासरासीकए समाणे कहिं गच्छिहिति, कहिं उववज्जिहिति ? गोयमा ! विमलवाहणे राया सुमंगलेणं अणगारेणं सहयं० जाव भासरासीकए समाणे अहे सत्तमाए पुढवीए उक्कोसं कालट्ठितियंसि णरयंसि णेरइयत्ताए उववज्ज-हिति; से णं तओ अणंतरं उव्वट्टित्ता मच्छेसु उववज्जिहिति। तत्थ वि णं सत्थवज्झे दाहवक्कंतीए कालमासे कालं किच्चा दोच्चं पि अहे सत्तमाए उक्कोसकालट्ठितियंसि णरगंसि णेरइयत्ताए उववज्जिहिति। से णं तओ अणंतरं उव्वट्टित्ता दोच्चं पि मच्छेसु उव्वज्जिहिति, तत्थ वि णं सत्थवज्झे० जाव किच्चा १, छट्ठीए तमाए पुढवीए उक्कोसकालट्ठिइयंसि णरयंसि णेरइयत्ताए उवव-ज्जिहिति। से णं तओहिंतो० जाव उव्वट्टित्ता इत्थियासु उवव-ज्जिहिति। तत्थ वि णं सत्थवज्झे दाह० जाव दोच्चं पि छट्ठीए तमाए पुढवीए उक्कोसकाल० जाव उव्वट्टित्ता दोच्चं पि इत्थियासु उववज्जिहिति उववज्जिहिति। तत्थ वि णं सत्थवज्झे० जाव किच्चा पंचमाए धूमप्पभाए पुढवीए उक्कोसकाल० जाव उव्वट्टित्ता उरएसु उववज्जिहिति। तत्थ वि णं सत्थवज्झे दोच्चं पि पंचमाए० जाव उव्वट्टित्ता दोच्चं पि उरएसु उववज्जिहिति, ०जाव किच्चा चउत्थीए पंकप्पभाए पुढवीए उक्कोसकालट्ठिइयंसि० जाव उव्वट्टित्ता सीहेसु उववज्जिहिति। तत्थ वि णं सत्थवज्झे तहेव कालं किच्चा दोच्चं पि चउत्थीए पंकप्पभाए०जाव उव्वट्टित्ता दोच्चं पि सीहेसु उववज्जिहिति०जाव किच्चा तच्चाए वालुयप्पभाए पुढवीए उक्कोसकाल०जाव उव्वट्टित्ता पक्खीसु उववज्जिहिति। तत्थ वि णं सत्थवज्झे० जाव किच्चा दोच्चं पि वालुयप्पभाए० जाव उव्वट्टित्ता दोच्चं पि पक्खीसु उववज्जिहिति० जाव किच्चा दोच्चाए सक्करप्पभाए० जाव उव्वट्टित्ता सरीसवेसु उववज्जिहिति। तत्थ वि णं सत्थवज्झे० जाव किच्चा दोच्चं पि दोच्चाए सक्कर० (६) जाव उव्वट्टित्ता दोच्चं पि सरीसवेसु उववज्जिहिति० जाव किच्चा इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए उक्कोसकालठिइयंसि णरयंसि णेरइयत्ताए उववज्जिहिति०, जाव उव्वट्टित्ता सण्णीसु उववज्जिहिति। तत्थ वि णं सत्थवज्झे० जाव किच्चा अस-ण्णीसु उववज्जिहिति। तत्थ वि णं सत्थवज्झे० जाव किच्चा दोच्चं पि इमीसे रयणप्पभाए पुढवीर पलिओवमस्स असंखेज्जइभागट्ठि-इयंसि णरयंसि णेरइयत्ताए उववज्जिहिति। से णं तओ० जाव उव्वट्टित्ता जाइं इमाइं खहचरविहणाइं भवंति। तं जहा-चम्म-पक्खीणं लोमपक्खीणं समुग्गपक्खीणं वियतपक्खीणं, तेसु अणेगसयसहस्सक्खुत्तो उद्दाइत्ता उद्दाइत्ता तत्थेव भुज्जो भुज्जो पच्चायाति। सव्वत्थ वि णं सत्थवज्झे दाहवक्कंतीए कालमासे कालं किच्चा जाइं इमाइं भुयपरिसप्पविहाणाइं भवंति। तं जहा-गोहाणं णउलाणं जहा पण्णवणापदे० जाव जाहगाणं चउप्पइ-याणं तेसु अणेगसयस-हस्सक्खुत्तो सेसं जहाखहचराणं० जाव किच्चा जाइं इमाइं उपपरिसप्पविहाणाइं भवंति। तं जहा-एग-खुराणं दुखुराणं गंडीपदाणं सणहपदाणं तेसु अणेगसयसहस्स० जाव किच्चा, जाइं इमाइं जलचरविहाणाइं भवंति। तं जहा-मच्छाणं कच्छभाणं० जाव सुंसुमाराणं तेसु अणेगसहसहस्स० जाव किच्चा जाइं इमाइं चउरिंदियविहाणाइं भवति। तं जहा-अंधियाणं पोत्तियाणं जहा पण्णवणापदे० जाव गोमयकीडाणं, तेसु अणेगसय० जाव किच्चा जाइं इमाइं तेइंदियविहाणाइं भवंति। तंहा ओवचियाणं० जाव हत्थिसोंडाणं तेसु अणेग० जाव किच्चा जाइं इमाइं वेइंदियविहाणाइं भवंति। तं जहा-पुला-किमियाणं० जाव समुद्दलिक्खाणं तेसु अणेगसय० जाव किच्चा जाइं इमाइं वणस्सइविहाणाइं भवंति। तं जहा-

रुक्खाणं गुच्छाणं० जाव कुहुणाणं तेसु अणेग० जाव पच्चाया-इस्सइ। उस्सण्णं च णं कडुयरुक्खेसु कडुयवल्लीसु सव्वत्थ वि णं सत्थवज्झे० जाव किच्चा जाइं इमाइं वाउक्काइयविहाणाइं भवंति। तं जहा-पाईणवाताणं० जाव सुद्धवाताणं तेसु अणेग-सयसहस्स० जाव किच्चा,जाइं इमाइं तेउक्काइयविहाणाइं भवंति। तं जहा-इंगालाणं० जाव सूरियकंतमणिणिस्सियाणं तेसु अणेगसयसहस्स० जाव किच्चा,जाइं इमाइं आउक्काइय-विहाणाइं भवंति। तं जहा-ओसाणं० जाव खातोदगाणं तेसु अणेग० जाव पच्चायातिस्सइ। उस्सण्णं च णं खारोदएसु खातोदएसु सव्वत्थ वि णं सत्थवज्झे० जाव किच्चा इमाइं पुढविकाइयविहाणाइं भवंति। तं जहा-पुढवीणं सक्कराणं० जाव सूरिकंताणं,तेसु अणेगसय० जाव पच्चायाहिति। उस्सण्णं च णं खरवादरपुढविकाइएसु सव्वत्थ वि णं सत्थवज्झे० जाव किच्चा,रायगिहे णयरे बाहिं खरियत्ताए उववज्जिहिति। तत्थ वि णं सत्थवज्झे० जाव किच्चा दोच्चं पि रायगिहे णयरे अंतोखरिय-त्ताए उववज्जिहिति। तत्थ वि णं सत्थवज्झे० जाव किच्चा इहेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे विंझगिरिपायमूले विभेले सण्णिवेसे माहणकुलंसि दारियत्ताए पच्चायाहिति। तए णं तं दारियं अम्मापियरो उम्मुक्कबालभावं जोव्वणगमणुप्पत्तं पडिरूविएणं सुक्केणं पडिरूवएणं विणएणं पडिरूवियस्स भत्तारस्स भारियत्ताए दलइस्सइ। सा णं तस्स भारिया भविस्सइ,इट्ठा कंता० जाव अणुमया भंडकरंडगसमाणा तेल्लकेला इव सुसंगोविया चेलपेला इव सुसंपरिग्गहिया रयणकरंडगउं विव सुसारक्खिया सुसंगो-विया माणं सीयं माणं उण्हं० जाव परिस्सहोवसग्गं फुसंतु। तए णं सा दारिया अण्णया कयाइ गुव्विणी सुसुरकुलाओ कुल-घरं णिज्जमाणी अंतरा दवग्गिजालाभिहया कालमासे कालं किच्चा दाहिणिल्लेसु अग्गिकुमारेसु देवेसु देवत्ताए उववज्जिहिति। से णं तओहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता माणुस्सं विग्गहं लभिहिति। लभि-हितित्ता केवलं बोहिं बुज्झिहिति। बोहिं बुज्झिहितित्ता केवलं मुंडे भावत्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइहिति। तत्थ वि य णं विराहियसामण्णे कालमासे कालं किच्चा दाहिणिल्लेसु असुरकु-मारेसु देवेसु देवत्ताए उववज्जिहिति। से णं त ओहिंतो० जाव उव्वट्टित्ता माणुस्सं विग्गहं तं चेव० जाव विराहियसामण्णे काल० जाव किच्चा दाहिणिल्लेसु णागकुमारेसु देवत्ताए उवव-ज्जिहिति। *से णं तओहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता एवं एएणं* अभिलावेणं दाहिणिल्लेसु विज्जुकुमारेसु एवं अग्गिकुमारेसु वज्झं० जाव दाहिणिल्लेसु थणियकुमारेसु से णं तओ० जाव उव्वट्टित्ता माणुस्सं विग्गहं लभिहिति० जाव विराहियसामण्णे जोइसिएसु देवेसु उवव-ज्जिहिति। से णं तओ अणंतरं चयं चइत्ता माणुस्सं विग्गहं लभिहिति०, जाव अविराहियसामण्णे कालमासे कालं किच्चा सोहम्मे कप्पे देवत्ताए उववज्जिहिति। से णं तओहिंतो अणंतरं चयं चइत्ता माणुस्सं विग्गहं लभिहिति,केवलं बोहिं बुज्झिहिति। तत्थ वि णं अविराहियसामण्णे कालमासे कालं किच्चा सणंकुमारेणं कप्पे देवत्ताए उववज्जिहिति। से णं तओहिंतो एवं जहा सणंकुमारे तहा बंभलोए महासुक्के आणए आरणे,से णं तओ० जाव अविराहियसामण्णे कालमासे कालं किच्चा सव्वट्ठसिद्धे महाविमाणे देवत्ताए उववज्जिहिति। से णं तओहिंतो अणंतरं चइत्ता महाविदेहे वासे जाइं इमाइं कुलाइं भवंति अड्ढाइं० जाव अपरिभूयाइं तहप्पगारेसु कुलेसु पुत्तत्ताए पच्चायाहिति। एवं जहा उववाइए दढ्पइण्णवत्तव्वया,सा चेव वत्तव्वया णिरवसेसा भाणियव्वा० जाव केवलवरणाणदंसणे समुप्पज्जिहिति। तए णं दढ्पइण्णे केवली अप्पणो तीतद्धं आभोएइ। आभोएइत्ता समणे णिग्गंथे सद्दावेहिति। सद्दावेहितित्ता एवं वदिहितिएवं खलु अहं अज्जो ! इओ चिरा-तीयाए अद्धाए गोसाले मंखलिपुत्ते होत्था,समणघायए० जाव छउमत्थे चेव कालगए,तं मूलगं च णं अहं अज्जो ! अणादीयं अणवदग्गं दीहमद्धं चाउरंतसंसारकंतारं अणुपरियट्टइ। तं मा णं अज्जो ! तुज्झं पि केइ भवतु आयरियपडिणीए उवज्झाय-पडिणीए आयरियउवज्झायाणं अयसकारए अवण्णकारए अकित्तिकारए,माणंसे विएवं चेव अणादीयं अणवदग्गं० जाव संसारकंतारं अणुपरियट्टिहिति, जहा णं अहं। तए णं ते समणा णिग्गंथा दढ्पइण्णस्स केवलिस्स अंतियं एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म भीया तत्था तसिया संसारभयुव्विग्गा दढ्पइण्णं केवलिं वंदिहिंति, णमंसिहिंति; तस्स ठाणस्स आलोइएहिंति, निंदिहिंति०,जाव पडिवज्जेहिंति। तए णं दढ्पइण्णे केवली बहूइं वासाइं केवलपरियागं पाउणिहिति। पाउणिहितित्ता अप्पाणं आउसेसं जाणित्ता भत्तं पच्चक्खाहिति, एवं जहा उववाइए० जाव सव्वदुक्खाणमंतं काहिति। सेवं भंते ! भंते ! त्ति० जाव विहरइ। तेयणिसग्गो सम्मत्तो अद्धेणं।

[विमलस्स त्ति]। विमलजिनः किलोत्सर्पिण्यामेकविंशतितमः समवाये दृश्यते,स चावसर्पिणीचतुर्थजिनस्थाने प्राप्नोति। तस्माच्चार्वा-चीनजिनान्तरेषु बह्व्यः सागरोपमकोट्याऽतिक्रान्ता लभ्यन्ते,अयश्च महापद्मो द्वाविंशतेः सागरोपमाणामन्ते भविष्यतीति दुरवगममिदम्। अथवा यो द्वाविंशतेः सागरोपमाणामन्ते तीर्थकृदुत्सर्पिण्यां भविष्यति, तस्यापि विमल इति नामसंभाव्यते, अनेकाभिधानाभिधेयत्वान्महापुरुषा-

णामिति। (पउप्पए त्ति) शिष्यसन्ताने, (जहा धम्मघोसस्स वण्णओ त्ति)। यथा धर्मघोषस्यैकादशशतैकादशोद्देशकाभिहितस्य वर्णकस्तथाऽस्य वाच्यः। स च "कुलसंपण्णे बलसंपण्णे" इत्यादिरिति। (रह–चरियं ति)। रथचर्याम् (नोल्लावेहिइ त्ति) नोदयिष्यति प्रेरयिष्यति, सहितमित्यादय एकार्थाः [सत्थवज्झे ति) शस्त्रवध्यः सन् (दाहवक्कंतीए त्ति) दाहोत्पत्त्या कालं कृत्वेति योगः, दाहव्युत्क्रान्तिको वा भूत्वेति शेषः। इह च यथोक्तक्रमेणैवासंज्ञिप्रभृतयो रत्नप्रभादिषु यत उत्पद्यन्ते इत्यसौ तथैवोत्पादितः। आह च–"अस्सन्नी खलु पढमं, दोच्चं च सरीसिवा तइयं पक्खी। सीहा जंति चउत्थीं, उरगा पुण पंचमीं पुढविं॥ १॥ छट्ठिं च इत्थियाओ, मच्छा मउया य सत्तमीं पुढविं। इति [खहचर–विहाणाइं ति] इह विधानानि भेदाः। (चम्मपक्खीणं ति) वल्गुलीप्रभृतीनां [लोमपक्खीणं ति] हंसादीनाम् (स–मुग्गपक्खीणं ति) समुद्रकाकारपक्षवतां मनुष्यक्षेत्रबहिर्वर्त्तिनाम् (वियपक्खीणं ति) विस्तारितपक्षवतां समयक्षेत्रबहिर्वर्त्तिनामेवेति "अणेगसयसहस्सखुत्तो" इत्यादि तु यदुक्तम्, तन्सान्तरमवसेयम्, निरन्तरस्यापञ्चेन्द्रियत्वलाभस्योत्कर्षतोऽप्यष्टभवप्रमाणस्यैव भावात्। यदाह–"पचेंदियतिरिय–नरा, सत्तट्ठभवा भवग्गहणे" इति [जहा पण्णवणापए त्ति] प्रज्ञापनायाः प्रथमपदे। तत्र चैवमिदम्–"सरडाणं सल्लाणं" इत्यादि (एगखुराणं ति) अश्वादीनाम् (दुखुराणं ति) ग–वादीनाम् (गंडीपयाणं ति) हस्त्यादीनां [सणहपयाणं ति] सनखपदानां सिंहादिनखराणां कच्छभानाम्। इह यावत्करणादिदं दृश्यम्– "गाहाणं मगराणंति"। "पोत्तियाणं" इत्यत्र [जहा पण्णवणाए त्ति] अनेन यत्सूचितं तदिदम्–"मच्छियाणं गमसियाणमित्यादि" "उवविआणं" इह यावत्करणादिदं दृश्यम्– "रोहिणियाणं कुंथूणं पिपीलियाणमित्यादि"। "पुलाकिमियाणं" इत्यत्र यावत्करणादिदं दृश्यम्–"कुच्छिकिमियाणं गंडूपलगाणं गोलोमाणमित्यादि" [रुक्खाणं ति] वृक्षाणामेकास्थिकबहुजीवकभेदेन द्विविधानां, तत्रैकास्थिका निम्बाम्रादयः, बहुबीजाः अस्थिकतिन्दुकादयः। (गुच्छाणं ति) वृन्ता–कीप्रभृतीनां, यावत्करणादिदं दृश्यम्–"गुम्माणं लयाणं वल्लीणं पव्वगाणं तणाणं वलयाणं हरियाणं ओसहीणं जलरुहाणं ति"। तत्र गुल्मानां नवमालिकाप्रभृतीनां लतानां पद्मलतादीनां वल्लीनां पुष्पफल प्रभृतीनां पर्वकाणाम् इक्षुप्रभृतीनां तृणानां दर्भकुशादीनां वलयानां तालतमालादीनां हरितानाम् अध्यारोहकतन्दुलीयकादीनाम् औषधीनां शालिगोधूमप्रभृतीनां जलरुहाणां कुमुदादीनां [कुहुणाणं ति] कुहुणानाम् आय–कायप्रभृतिभूमिस्फोटानाम् [उस्सन्न व त्ति] बाहुल्येन पुनः। (पाईण–वायाणं ति) पूर्ववातानाम्। यावत्करणादिदं दृश्यम्–"पडीणवायाणं दाहिणवायाणमित्यादि" (सुद्धवायाणं ति) मन्दस्तिमितवायूनाम्। इङ्गालाणामिह यावत्करणादिदं दृश्यम्–"जालाणं मुम्मुराणं अच्चीणमित्यादि" तत्र च ज्वालानामनलसंबद्धस्वरूपाणां मुर्मुराणां फुम्फुकादौ मसृणाग्निरूपाणाम्। अर्विषामनलाप्रतिबद्धज्वालानामिति। (ओसाणं ति) रात्रिजलानाम्। इह यावत्करणात्–"हिमाणं महियाण ति" (खाओदयाणं ति) खातायां भूमौ यान्युदकानि तानि खातोदकानि, तेषाम्। (पुढवीणं ति) मृत्तिकानाम्। (सक्कराणं ति) घग्घरट्टानाम्। यावत्करणादिदं दृश्यम्–["बालुयाणं उवसाणं त्ति)" (सूरिकंताणं ति) मणिविशेषाणाम् (बाहिं खरियत्ताए त्ति) नगरबहिर्वर्त्तिवेश्यात्वेन, प्रान्तजवेश्यात्वेनेत्यन्ये। (अंतोखरियत्ताए त्ति) नगराभ्यन्तरवेश्यात्वेन, विशिष्टवेश्यात्वेनेत्यन्ये (पडिरूविएणं सुक्केणं ति) प्रतिरूपकेनोचितेन शुल्केन दानेन। (भंडक–रंडगसमाणे त्ति) आभरणभाजनतुल्या आदेया इत्यर्थः। (तेल्लकेला इव सुसंगोविय त्ति) तैलकेला तैलाश्रयो भाजनविशेषः सौराष्ट्रप्रसिद्धः, सा च सुष्ठु सङ्गोप्या सङ्गोपनीया भवत्यन्यथा लुठति, ततश्च तैलहानिः स्यादिति। (चेलपेला इव सुसंपरिग्गहिय त्ति) चेलपेटावत् वस्त्रमञ्जूषेव सुष्ठुसंपरिवृता निरुपद्रवे स्थाने निवेशिता (दाहिणिल्लेसु असुरकुमारेसु देवेसु देवत्ताए उववज्जिहिति) विराधितश्रामण्यत्वादन्यथाऽनगाराणां वैमानिकेष्वेवोत्पत्तिः स्यादिति। यच्चेह–"दाहिणिल्लेसु त्ति" प्रोच्यते, तत्तस्य क्रूरकर्मत्वेन दक्षिणक्षेत्रेष्वेवोत्पाद इति कृत्वा। (अविराहियसा–मण्णे त्ति) आराधितचरण इत्यर्थः। आराधना चेह चरणप्रतिपत्तिसमयादारभ्य मरणान्तं यावन्निरतिचारतया तस्य पालना। आह च–"आराहणा य एत्थं, चरणपडिवत्तिसमयओ पभिई। आमरणंतमजस्स, संजमपरिपालणं विहिणा"॥ १॥ एवं चेह यद्यपि चारित्रप्रतिपत्तिभवा विराधना युक्ता अग्निकुमारवर्ज्यभवनपतिज्योतिष्कत्वहेतुभवसहिता दश, अविराधनाभवास्तु यथोक्तसौधर्मादिदेवलोकसर्वार्थसिद्ध्युत्पत्तिहेतवः सप्त, अष्टमश्च सिद्धिगमनभव इत्येवमष्टादश चारित्रभवा उक्ताः। श्रूयते चाष्टैव भवाश्चारित्रं भवति, तथाऽपि न विरोधः, अविराधनाभवानामेव ग्रहणादिति। अन्ये त्वाहुः–"अट्ठभवा उ चरित्ते" इत्यत्र सूत्रे आदानभवानां वृत्तिकृता व्याख्यातत्वाच्चारित्रप्रतिपत्तिविशेषिता एव भवा ग्राह्या नाविराधनाविशेषणं कार्यम्, अन्यथा यद्भगवता श्रीमन्महावीरेणहालिकाय प्रव्रज्यावीजमिति दर्शिता तन्निरर्थकं स्यात्, सम्यक्त्वमावेणैव बीजमात्रस्य सिद्धत्वात्। यत्तु चारित्रदानं तस्य तदष्टमचारित्रे सिद्धिरेतस्य स्यादिति विकल्पादुपपन्नं स्यादिति। यच्च दशसु विराधनाभवेषु तस्य चारित्रमुपवर्णितं तद् द्रव्यतोऽपि स्यादिति न दोष इति। अन्ये त्वाहुः–न हि वृत्तिकारवचनमात्राष्टम्भादेव अधिकृतसूत्रमन्यथा व्याख्येयं भवति, आवश्यकचूर्णिकारेणाऽऽप्याराधनापक्षस्य समर्थितत्वादिति। "एवं जहा उववातिए०" इत्यादि भावितमेवाम्मडपरिव्राजककथानक इति। भ० १५ श० १ उ०। उपा०। कल्प०। आ० चू०। स्था०। ('वीर' शब्दे भगवतो गोशालकेन सह विचारो वक्ष्यते)

गोसाला–स्त्री० (गोशाला) गवां शालायाम्, यत्र गवादयस्तिष्ठन्ति। नि० चू० ८ उ०। आ० म०। "विभाषा सेनाच्छायाशालानिशानाम्"॥ २। ४। २५। (पाणि०) इति वा नपुंसकत्वम्। वाच०।

गोसीस–न० (गोशीर्ष) स्वनामख्याते चन्दनविशेषे, ज्ञा०। "गोसीससरसरत्तचंदनदद्दरदिन्नपंचंगुलितलं" गोशीर्षस्य चन्दनविशेषस्य सरसस्य च रक्तचन्दनविशेषस्येव दर्दरेण चपेटारूपेण दत्ता न्यस्ताः पञ्चाङ्गुलयस्तला हस्तका यस्मिन् कुड्यादिषु तत् तथा। ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। प्रश्न०। रा०। जी०। आ० म०। स०। कल्प०। प्रज्ञा०। सू० प्र०। "गोसीसचंदणं च गंधाणं" संथा०। आ० म०। गोशीर्षचन्दनमयीदेवतापरिगृहीता कृष्णस्य भेर्यासीत्। विशे०। हरिचन्दने, तं०।

गोसीसावलि–स्त्री० (गोशीर्षावलि) गोशीर्षपुद्गलानां दीर्घरूपायां श्रेणौ, जं० ७ वक्ष०।

गोह–पुं० (गोह) ग्रामेयके, विशे०। "ततो गोहः प्रयात्ययम् "। आ० क०। ग्रामप्रधानार्थे, दे० ना० २ वर्ग।

गोहण–न० (गोधन) गवां धनं समूहः। गोसमूहे, गौरेव धनमस्य। गो–रूपधनवति, त्रि०। वाच०। "गोहणं किमेत्थ लद्धं ति।" पं० व०१ द्वार।

गोहा–स्त्री० (गोधा) सरीसृपभेदे, भ० ८ श० ३ उ०। सूत्र०।

गोहिया–स्त्री० (गोधिका) भुजपरिसर्पिणीभेदे, जी० २ प्रति०। गोधाचर्माऽवनद्धे वाद्यविशेषे, अनु०। भाण्डानां कक्षाहस्तगताऽऽतोद्य–विशेषे, आचा० २ श्रु० २ चू०।

गोहूम–पुं० (गोधूम) धान्यभेदे, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ०। नारङ्गे, है०। आचा०। प्रज्ञा०। आ० म०। जं०। स्था०।

गोंजी–(देशी) मञ्जर्याम्, दे० ना० वर्ग।

गोंठी–(देशी) मञ्जर्याम्, दे० ना० वर्ग।

गोंड–(देशी) कानने, दे० ना० वर्ग।

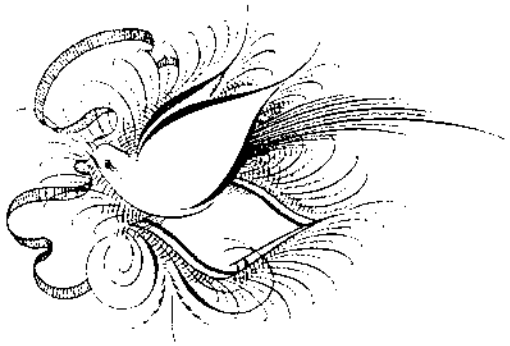
गोंडी–(देशी) मञ्जर्याम्, दे० ना० वर्ग।

गोंदीण–(देशी) मयूरपित्ते, दे० ना० वर्ग।

गोहो–(देशी) भटे, पुरुषे, दे० ना० वर्ग।

ग्निं–संस्कृतशब्दः। वाक्यालङ्कारे, 'पुरुष एवेदं ग्निं वेदः। आ० म० द्वि०। विशे०।

इति श्रीमत्सौधर्मबृहत्तपागच्छीय–कलिकासर्वज्ञकल्प–श्रीमद्भट्टारक जैन श्वेताम्बराचार्य श्री श्री १००८ श्रीविजयराजेनद्रसूरिविरचिते अभिधानराजेन्द्रे गकारादिशब्दसङ्कलनं समाप्तम्॥



घकार

घ–घ–घकारस्योच्चारणस्थानं जिह्वामूलम्, "जिह्वामूले तु कुः प्रोक्त" इति शिक्षोक्तेः। 'अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः इत्युक्तिस्तु जिह्वामूलरूपकण्ठपरा। अस्योच्चारणे आभ्यन्तरः प्रयत्नः स्पर्शः, जिह्वामूलस्पर्शनेन तदुच्चारणात्। अत एवास्य स्पर्शषर्णत्वम्। बाह्यप्रयत्नास्तु घोषनादसम्बारमहाप्राणाः। वाच०। घटायाम, घर्घरशब्दे च। वाच०। मारणे, स्मरणे, घाते, घण्टायाम, किङ्किकीरवे, शक्तौ, भैरवे देवे, पुण्ये, प्रवाहे, पाखण्डे च। पुं० घोरे धुरो रवे च। न०। ए० को०।

घइम्–अव्य०। **"घइमादयोऽनर्थकाः"**। ८। ४। ४२४। इति अपभ्रंशे 'घइं इत्यनर्थको निपातः प्रयुज्यते। "घइं विवरीरी बुद्धडी, होइ विणासहाँ कालि।" प्रा० ४ पाद।

घओद–पुं० (घृतोद) सद्यो विस्यन्दितगोघृतस्वादुतत्कालविकसितकर्णिकारपुष्पवर्णाभतोये घृतवरद्वीपस्य समन्ततो वर्त्तमाने समुद्रे, सू० प्र० २० पाहु०। जी०।

घओवरं णं दीवं घओदे णामं समुद्दे वट्टे वलयागारसंठाणसंठिते० जाव चिट्ठति समचक्क० तहेव दारा पदेसा जीवा य अट्ठो ? गोयमा ! घओदस्स णं समुद्दस्स उदए जहा से जव–गफुल्लसल्लडविमुकुलकणियारसरसवसुविसुद्धकोरंटदामपिडितरसणिद्धगुणतेयदीवियनिरुवहतविसिट्ठसुंदरतरस्स सुजायदधिमथिततद्दिवसगहितणवण्णीयदुद्धाणाचितसुकढितउद्दावसज्जवीसंदितस्स अहियं पीवरसुरभिगंधमणहरमधुरपरिणामदरिसणिज्जपच्छणिम्बलसुहोवभोगगस्स सरयकालम्मि होज्ज गोघयवरस्स मंडे भवे एतारूवे सिया ? नो इणट्ठे समट्ठे, गोयमा ! घतोदस्स णं समुद्दे एत्तो इट्ठतरे० जाव अस्साएण पण्णत्ते, कंते सुकंता य इत्थ दो देवा महिड्ढीया० जाव परिव–संति; सेसं तहेव० जाव तारागणकोडिकोडीओ।

घृतवरं द्वीप, घृतोदो नाम समुद्रो वृत्तो वलयाकारसंस्थानसंस्थितः सर्वतः समन्तात् संपरिक्षिप्य तिष्ठति। शेषं यथा घृतवरस्य द्वीपस्य यावज्जीवोपपातसूत्रम्। इदानीं नामनिमित्तमभिधित्सुराह–"से केण–ट्ठेणं' इत्यादि। अथ केनार्थेन भदन्त ! एवमुच्यते–घृतोदः समुद्रः घृतोदः समुद्र इति ? भगवानाह–गौतम ! घृतोदसमुद्रस्य उदकं स यथानाम सकललोकप्रसिद्धः शारदिकः शरत्कालभावी गोघृतवरस्य मण्डः घृतसंघातस्य एतदुपरिभागे स्थितं घृतं स मण्ड इत्यभिधीयते, सार इत्यर्थः। तथा चाह मूलटीकाकारः घृतमण्डो घृतसार इति सुकथितो यथोक्ताग्निपरितापतापितः टदूरे स्थानान्तरे वाऽऽज्याद्यसंक्रमितः सद्यो विस्यन्दितः तत्कालनिष्पादितो विश्रान्त उपशान्तकचवरः सल्लकीकर्णिकारपुष्पवर्णाभो वर्णेनोपपेतो गन्धेन रसेन स्पर्शेनोपपेत आस्वादनीयो विस्वादनीयो दीपनीयो मदनीयो बृंहणीयः सर्वेन्द्रियगात्रप्रल्हादनीयः। एवमुक्ते गौतम आह (भवे एयारूवे सिया) भवेत् घृतोदकस्य समुद्रस्योदकमेतद्रूपम्। भगवानाह–नायमर्थः समर्थः, घृतोदकस्य समुद्रस्य उदकमितो यथोक्तस्वरूपात् इष्टतरं यावन्मन आप्ततर मेव आस्वादेन प्रज्ञप्तम्। कान्तसुकान्तौ यथाक्रमं पूर्वार्द्धापरार्द्धाधिपती, अत्र घृतोदे समुद्रे महर्द्धिकौ यावत् पल्योपमस्थिकौ परिवसतस्ततो घृतमिवोदकं यस्यासौ घृतोदः। तथा चाह–"सेएअट्ठेणं' इत्यादि सुगमम्। चन्द्रादिसंख्यासूत्रमपि सुगमम्। जी० ३ प्रति०। स्था०। अनु०। दुःषमदुःषमान्तर्भाविनि घृतमेघापरनामके महामेघे, "पुक्खलसंवद्धा वि य, खारोदघतोदअमयमेहो य।' ति०। घृतमिव उदकं यासां ताः। घृतसमानोदकासु वापीषु, जी० ३ प्रति०। रा०।

घंघल–पुं० (झकट) **"शीघ्रादीनां वहिल्लादयः'** ॥ ८। ४। ४२२॥ इत्यपभ्रंशे झकटस्य घंघलादेशः। कलहे, प्रा० ४ पाद।

घंघसाला–स्त्री० (घङ्घशाला) बहुकार्पटिकसेवितायां शालायाम, व्य० ७ उ०। "जा अतिरित्ता वसही बहुकप्पडिगसेविया सा घंघसाला' आव० ४ अ०। नि० चू०। स०। आचा०। वाततापनादिरहितायां वसतौ, आचा० १ श्रु० ८ अ० २ उ०।

घंघो–(देशी) गृहे, दे० ना० २ वर्ग।

घंघोरो–(देशी) भ्रमणशीले, दे० ना० २ वर्ग।

घंट–न० (घण्ट) दृष्टिवादस्य सूत्रभेदे, स०।

घंटा–स्त्री० (घण्टा) **"टो डः॥ ८। १। १९५॥** इत्यत्र स्वरादित्यधिकारादत्र न मादेशः। प्रा० १ पाद। 'घटि शब्दकरणे चु० अच्। काकिण्यपेक्षया किञ्चिन्महति, रा०। कांस्यनिर्म्मिते वाद्यभेदे, वाच०।

घण्टावर्णकः–

तेसि णं घंटाणं इमेयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते। तं जहा जंबूणयामयाओ घंटाओ वतिरामईओ लालातो णाणामणिमया घंटापासा तवणिज्जामईतो संकलातो रययामयातो रज्जूतो ताओ णं घंटाओ हंसस्सराओ मेहस्सराओ सीहस्सराओ दुंदुहिस्सराओ कोंचस्सराओ णंदिस्सराओ णंदिघोसातो सीहस्सराओ सीहघोसातो मंजुस्सरातो मंजुघोसातो सुस्सरातो सुस्सरनिग्घोसातो उरालेणं मणुण्णेणं मणहरेणं कण्णमणणिव्वुइकरेणं सद्देणं ते पदेसे समंता आपूरेमाणीतो० जाव चिट्ठंति।

तासां च घण्टानामयमेतद्रूपो वर्णावासो वर्णकनिवेशः प्रज्ञप्तः। तद् यथाजाम्बूनदमय्यो घण्टा वज्रमय्यो लाला नानामणिमया घण्टापार्श्वाः, तपनीयमय्यः शृङ्खला यासुता अवलम्बितास्तिष्ठन्ति, रजतमय्योरज्जवः। "ताओ णंघंटाओ' इत्यादि। ताश्च घण्टाः (हंसस्सरा) हंसस्येव मधुरः स्वरोयासांताहं–

सस्वराः, मेघस्येवाति दीर्घः स्वरो यासां ता मेघस्वराः। सिंह स्येव प्रभूतो देशव्यापी स्वरो यासां ताः सिंहस्वराः। एवं दुन्दुभिस्वरा नन्दिस्वराः, द्वादशविधतूर्यसंघातो नन्दिः। नन्दिवत् घोषो ह्रादो यासां ता नन्दिघोषाः, मञ्जु प्रियः स्वरो यासां ता मञ्जुस्वराः, एवं मञ्जघोषाः, किं बहुना ? सुस्वराः सुस्वरघोषाः। "उरालेणं" इत्यादि प्राग्वत्। रा०। औ०। जी०।

घंटाकर्ण–पुं० (घण्टाकर्ण) श्रीपर्वतस्थायां स्वनामख्यातायां श्रीमहावीरप्रतिमायाम्, ती० ४५ कल्प।

घंटाजाल–न० (घण्टाजाल) किंकिण्यपेक्षया किञ्चिन्महतीनां घण्टानां दामसमूहे, रा०। जी०।

घंटाजुयल–न० (घण्टायुगल) घण्टाद्वन्द्वे, रा०।

घंटावलि–न० (घण्टावलि) घण्टापङ्क्तौ, रा०। औ०।

घंटावलिचलिय–न० (घण्टावलिचलित) घण्टापङ्क्तेश्चलने, भ० ११ श० ११ उ०।

घंटिय–पुं० (घण्टिक) घण्टया चरन्ति तां वादयन्तीति घण्टिकाः। 'राउलिया' इतिप्रसिद्धे घण्टावादनजीविके, कल्प० ५ क्षण। भ०।

घंटियगण–पुं० (घण्टिकगण) घण्टावादकसमुदाये, जं० वक्ष०।

घंटिया–स्त्री० (घण्टिका) आभरणविशेषे, ज्ञा० १ श्रु० ६ अ० औ०। प्रश्न०। घुर्घुरिकायाम्, जं० २ वक्ष०।

घंटियाजाल–नं० (घण्टिकाजाल) क्षुद्रघण्टिकासमूहे, आ० म० प्र०। रा०।

घंसण–नं० (घर्षण) 'घृस भावे ल्युट्। वाच०। हस्ताभ्यां चन्दनस्येव पेषणे, आ० म० प्र०। आ० क०। विशे०। "घंसणमिति घंसणदारं गहियं। तत्थ परंपरे मणियारा माणिए घंसंति लगुडेण वेधं काउं, आदि–सहातो मोत्तिया, कट्ठादित्ति चंदणकट्ठाओ घरिसादिसु घृष्यंति"। नि० चू० १ उ०। बृ०।

घंसियग–त्रि० (घर्षितक) चन्दनवदृषदि पेषिते, औ०।

घग्घरं–(देशी) जघनस्यवस्त्रभेदे, दे० ना० २ वर्ग।

घट्टण–न० (घट्टन) मिथः सजातीयादिना, हस्तस्पर्शनेन वा चालने, दश० ४ अ०। ज्ञा०। घट्टनेति वा विचारणेति वा पृच्छेति वा विस्फाल–नेति वा एकार्थिकानि पदानि। बृ० ४ उ०।

घट्टणग–पु० (घट्टनक) पात्राणां घर्षलिप्तमात्रमसृणताकारके पाषाणे, बृ० ३ उ०।

घट्टणया–स्त्री० (घट्टनता) घट्टनशब्दस्य भावे प्रवृत्तिनिमित्ते, प्रज्ञा० १६ पद। संघट्टने, आ०। स्था०।

घट्टणा–स्त्री० (घट्टना) आहनने, ओघ०। कदर्थनायाम्, आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ०। घट्टनातो जायमाने उपसर्गभेदे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ०। आ० म०।

घट्टिय–त्रि० (घट्टित) प्रेरिते, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार। परस्परसङ्घर्षयुक्ते, जं० १ वक्ष०। रा०। उत्क्षिप्य विक्षिप्य वा वर्तिते, आव० ४ अ०। "घट्टियाए फंदियाए खोभियाए" वीणायाम् ऊर्ध्वाधोगच्छता चन्दन–सारकोणेन गाढतरं वीणादण्डेन सह तन्त्र्याः स्पृष्टाया इत्यर्थः। जं० १ वक्ष०। रा०।

घट्ठ–त्रि० (घृष्ट) प्राकृते तु घृष्टशब्दस्य प्रयोगो न भवति, आर्षे तु भवत्येव। प्रा० २ पाद। **"ऋतोऽत्"** ॥ ८। १। १२६॥ इत्यादेर्ऋकारस्याऽत्त्वम्। प्रा० १ पाद। घर्षं प्रापिते, घृष्टमिव घृष्टं खरशाणया, पाषाणप्रतिमावत्। जी० ३ प्रति०। आ० म०। भ०। औ०। स०। स्था०। रा०। जं०। सुधादिखरपिण्डेन, (आचा० २ श्रु० २ अ० १ उ०) मसृणपाषाणादिना वा (बृ० ३ उ०। चं० प्र०। कल्प०। सू० प्र०) घट्टकेन घर्षिते, बृ० १ उ०। येषां जङ्घे श्लक्ष्णीकरणार्थं फेनादिना घृष्टे भवतस्ते अवयवावयविनो–रभेदोपचारात् घृष्टाः। अनु०। य०। जङ्घासु दत्तफेनकेषु, औ०। अश्वेषु, विषमभूमिभञ्जनात्। कल्प० ४ क्षण।

घड्–धा० (घट्) चेष्टायाम्, भ्वा० आत्म० सक० सेट् घटादि० ततो णिच्। वाच०। **"घटेः परिवाडः"** ॥ ८। ४। ५०॥ इति घटेर्ण्यन्तस्य परिवाडादेशाभावपक्षे 'घडेइ घटयति। प्रा० ४ पाद। 'घडए घटते। नि० चू० १ उ०।

घड–पुं० (घट) घट्–अच्। **"टो डः"** ॥ ८। १। १९५॥ इति स्वरा–त्परस्यासंयुक्तस्थानादेः टस्य डः। प्रा० १ पाद। घटतेऽसौ घटनाद् वा घटः। विशे०। सूत्र०। जलाद्याहरणार्थं क्रियामाचेष्टमाने, विशे०। स्था०। आ० म०। आ० चू०। बुध्नोदरकपालात्मके पदार्थे, अनु०। "घडा चउव्विहा पण्णत्ता। तं जहा–छिद्दकुड्डे, बोडकुड्डे, खंडकुड्डे, सगले त्ति। छिद्दो जो मूलछिद्दो, बोडो जस्स उट्ठा णत्थि, खंडो एगंसे उडपुंडं णच्छिं, सगलो अव्वंगो चेव। छिद्दे जं बूढं तं गलति, वोडे तावतियं ण ठाति, खंडे तएण पासेण छडिज्जइ जदि इच्छा थोवेण वि रुभइ, खंडे एस विसेसो–खंडा वोडाणं संपुन्नो सव्वं धरेति। एवं चेव सीसा चत्तारि समोतारेयव्वा, सव्वत्थ विराहणाचर्चा भाणियव्वा"। आ० चू० १ अ०।

घडकाडितडच्छाय–पुं० (घटकटितटच्छाय) इह शरीरस्य मध्यभागे कटिः, ततोऽन्यस्यापि मध्यभागः कटिरिव कटिरित्युच्यते, कटिस्तट–मिव कटितटम्, घटेन अन्योऽन्यशाखाप्रशाखानुप्रवेशतो निविडा कडितटे मध्यभागे छाया येषां ते तथा। मध्यभागे निबिडोत्तरच्छाये, रा०।

घडकार–पुं० (घटकार) घटकारणक्रियाकर्त्तरि, विशे०। आ० म०।

घडग–पुं० (घटक) लघुघटे, जं० २ वक्ष०। अनु०। घटरूपोडुपे, आ० चू० ४ अ०।

घडण–न० (घटन) अप्राप्तसंयमयोगप्राप्तये यत्ने, प्रश्न० १ संब० द्वार। अनु०।

घडणा–स्त्री० (घटना) मीलने, आ० म० द्वि०। संबन्धप्राप्तौ, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०। परस्परादिसंघर्षणायाम्, विशे०।

घडणावा–स्त्री० (घटनौ) उडुपे, नि० चू० १२ उ०।

घडदास–पुं० (घटदास) जलवाहके दासे, आचा० १ श्रु० २ अ० उ०। जलवाहिन्याम्, स्त्री०। सूत्र० १ श्रु० १५ अ०।

घडमाण–पुं० (घटमान) पूज्यमाने, नि० चू० १ उ०।

घडमुह–पुं० (घटमुख) कलसवदने, स०।

घडय–पुं० (घटक) 'घडग शब्दार्थे, जं० २ वक्ष०।

घडा–स्त्री० (घटा) महत्तरादिगोष्ठीपुरुषसमवाये, बृ० बृ० उ०। व्य०।

घडाभोज्ज–न० (घटाभोज्य) महत्तरानुमहत्तरादिबहिरावासे भोज्ये, व्य० १० उ०।

घडावित्ता–अव्य० (घटयित्वा) निर्माप्येत्यर्थे, आ० म० द्वि०।

घडिअघडा–(देशी) गोष्ठ्याम्, दे० ना० २ वर्ग।

घडिमंतय–न० (घटीमात्रक) घटीसंस्थानमृण्मयभाजनविशेषे, बृ०।

कप्पइ णिग्गंथीणं अंतोलित्तं घमिमंतयं ति धरित्तए वा परिहरित्तए वा।

अस्य सूत्रस्य संबन्धमाह–

ओहाडिऐं चिलिमिलिए, दुक्खं बहुसो अइंति निंति वि य।
आरंभो घडिमंते, निसिं च वुत्तं इमं तु दिवा॥

चिलिमिलिकया, उपलक्षणत्वात्कटद्वयेन च, अवघाटिते पिनद्धे सति द्वारे रजन्यां मात्रकमन्तरेण बहिः कायिक्यादिव्युत्सर्जनार्थं बहुशो निर्ग-मप्रवेशेषु दुःखमार्यिका निर्गच्छान्ति, प्रविशन्ति च; अत्रायं घटीमात्रक-सूत्रस्यारम्भः। यद्वानिशायां रात्रौ मात्रके यथा कायिकी व्युत्सृज्यते, तथाऽनन्तरसूत्रेऽर्थतः प्रोक्तम्, इदं तु सूत्रं दिवा मात्रकमधिकृत्योच्यते इति। अनने संबन्धेनाऽऽयातस्यास्य व्याख्या–कल्पते निर्ग्रन्थीनाम-न्तर्लिप्तं घटीमात्रकं घटीसंस्थानं मृन्मयभाजनविशेषं धारयितुं वा परिहर्तुं वा। धारयितुं नाम–स्वसत्तायां स्थापयितुं, परिहर्तुं परिभोक्तुम्, एष सूत्रार्थः।

अथ निर्युक्तिः–

घडिमंतंऽतो लित्तं, निग्गंथीणं अगिण्हमाणीणं।
चउगुरुगाऽऽयरियादी, तत्थ वि आणाइणो दोसा॥

अन्तर्मध्ये लिप्तं लेपेनोपदिग्धं घटीमात्रकं निर्ग्रन्थीनामगृह्णातीनां चतु-र्गुरुकाः (आयरियाइ ति) आचार्य एतत्सूत्रं प्रवर्त्तिन्या न कथयति चतुर्गुरु, प्रवर्त्तिनी आर्यिकाणां न कथयति चतुर्गुरु, आर्यिका न प्रतिशृ-ण्वन्ति मासलघु, तत्रापि घटीमात्रकस्याग्रहणेऽकथनेऽप्रतिश्रवणे वाऽऽ-ज्ञादयो दोषाः।

आह–स घटीमात्रकः कीदृशो भवति ? इत्याह–

अपरिस्साई मसिणो, पगासवइणो स मिम्मओ लहुओ।
सुयसियदद्दरपिहुणो, चिट्ठइ अरहंसि वसहीए॥

स इति घटीमात्रकः पानकेनात्यन्तभावितत्वादवश्यं न परिस्रवती-त्यपरिस्रावी, मसृणः सुकुमारः, प्रकाशः प्रकटं वदनं मुखमस्येति प्रकाशवदनः, मृन्मयो मृत्तिकानिष्पन्नो, लघुकः स्वल्पभारः, शुचि पवित्रं, चाक्षमित्यर्थः। शितं श्वेतं शुक्लवर्णाद्युपेतं, दर्दरपिधानं वस्त्रमयं बन्धनं यस्य स शुचिसितदर्दरपिधानः, एवंविधः, अरहसि प्रकाशप्रदेशे वसत्यां तिष्ठति।

नो कप्पइ निग्गंथाणं अंतोलित्तं घडिमंतं धारित्तए वा परिहरित्तए वा।

अस्य व्याख्या प्राग्वत्।

अत्र निर्युक्तिः–

साहू गिण्हइ लहुगा, आणाइ विराहणा अणुवहि त्ति।
विइयं गिलाणकारणें, साहूण वि सो अवादीसु॥

यदि साधुर्घटीमात्रकं गृह्णाति तदा चत्वारो लघुकाः, आज्ञादयश्च दोषाः, विराधना च संयमात्मविषया। तत्र (अणुवहि त्ति) साधूनामय-सुवपधिर्न भवति। किमुक्तं भवति ? यत्किल साधूनामुषकारे न व्याप्रियते, तन्नोपकरणं, किं तु अधिकरणम्। "जं जुज्जइ उवयारे, उवगरणं तंसि होइ उवगरणं। अइरेयं अहिगरणं," इति वचनात्। यः स्वाधिकरणं, तत्र परिस्फटितेऽपि संयमविराधनाऽऽत्मविराधनाव्यतिरिक्तोपधि-भारवहनादनागाढपरितापनादिका (विइयं ति) द्वितीयपदमत्र भवति। किं पुनस्तदित्याह–ग्लानकरणे समुत्पन्ने साधूनामपि घटीमात्रकग्रहणं ब्रुवते, तदपि शौचवादिषु शिष्येषु देशविशेषेषु वा, तदुत्तरत्र भावयिष्यते।

अथ किमर्थमत्र चतुर्लघु प्रायश्चित्तमुक्तम् ? अत्रोच्यते–

दुविहपमाणऽतिरेगे, सुत्तादेसेण तेण लहुगाओ।
मज्झिमगं पुण उवडिं, पडुच्च मासो भवे लहुओ॥

द्विविधं द्विप्रकारं गणनाप्रमाणभेदाद्यतप्रमाणं, ततोऽतिरिक्ते उपधौ सूत्रादेशेन चतुर्लघुका भवन्ति। यत उक्तं निशीथसूत्रे–"जे भिक्खु गणणाइरित्तं वा पमाणाइरित्तं वा उवहिं धरेइ, से अवस्सं चाउम्मासियं, परिहरणे ट्ठाणं उग्घाइयं" इत्यतः सूत्रादेशेन चतुर्लघुकं यदातपविनिष्पन्नं चिन्त्यते तदा अयं घटीमात्रको मध्यमोपधिष्ववतरतीति कृत्वा मध्यमं पुनरुपधिं प्रतीत्य लघुको मासो भवति॥

अवधारयितुं परिहर्तुं चेति पदद्वयव्याख्यानमाह–

धारणयाउ अभोगो, परिहरणा तस्स होइ परिभोगो।
दुविहेण वि सो कप्पइ, परिहारेणं तु परिभोत्तुं॥

इह द्विधा परिहारः। तद्यथा–धारणा परिहरणा, अभोगोऽव्यापारणं, संयमोपबृंहणार्थं स्वसत्तायां स्थापनमित्यर्थः। परिहरणा नाम तस्य घटीमात्रकादेरुपकरणस्य परिभोगो व्यापारणम्, एतेन द्विविधेनापि परिहारेण स घटीमात्रको निर्ग्रन्थीनां परिभोक्तुं कल्पते, स च दिवसं चेत्पा-नकपूर्णस्तिष्ठति।

अथ किमर्थमथं गृह्यत इत्याह–

उड्डाहो वोसिरणे, गिलाणआरोवणा य धरणम्मि।
विइयपए असई वा, मिन्नो वा अद्धलित्तो वा॥

संयतीभिरुत्सर्गतो द्रव्यप्रतिबद्धायां वसतौ स्थातव्यं, तत्र घटीमात्र-काग्रहणेऽगारिकाणां पश्यतां बहिः कायिकीव्युत्सर्जने उड्डाहः प्रवचन-लाघवमुपलायते। अथ कायिक्या वेगं धारयन्ति, ततो धारणे ग्लानारो-पणा, यत एवमतो गृहीतव्यो घटीमात्रकः संयतीभिः। द्वितीयपदम्–असत्यविद्यमाने घटीमात्रके, यदि वा विद्यते घटीमात्रकः परं भिन्नो भग्नः, अर्द्ध-लिप्तो वा, अत एवोक्तं अव्याप्रियमाणा, ततो बहिर्गत्वा कायिकीयतना व्युत्सर्जनीया, निर्ग्रन्थाः पुनरप्रतिबद्धोपाश्रये तिष्ठन्ति, अतस्ते घटीमा-त्रकं न गृह्णन्ति।

कारणे तु गृह्णन्त्यपि–

लाउऐं असइ सिणेहो, ठाइ तहिं पुव्वभाविऐं कडाहे।
सेहो व सोयवाई, धरंति देसं च ते पप्प॥

अलाबुपात्रकस्याभावे ग्लानार्थं च स्नेहं ग्रहीतव्यं, पूर्वभाषितं कटाहकं, घटीमात्रकं वा गृहीतव्यं, यतस्तत्र गृहीतः स्नेहः तिष्ठति, न परिश्रवति, शैक्षो वा कश्चित् साधूनां मध्ये अत्यन्तं शौचवादी, न शौचार्थं घटीमात्रकं गृह्णीयात्, देशं वा देशविशेषं शौचवादबहुलं प्राप्य घटीमात्रकं धारयन्ति यथा गौडविषये।

अथ तस्यैव ग्रहणे विधिमाह–

गहणं तु अहागडए, तस्सासइ होइ अप्पपरिकम्मं।

तस्सासइ कुडिगादी, घेत्तुं नाला विउज्जंति ॥

प्रथमतो यथाकृतस्य घटीमात्रकस्य ग्रहणं कर्त्तव्यं, तस्यासति अल्पपरिकर्मयोग्यं गृहीतव्यं, तस्यासति कुण्डिकादि गृहीत्वा मालानि वियोज्यन्ते। बृ० १ उ०।

घडिय–अव्य० (घटयित्वा) संचाल्येत्यर्थे, दश० ५ अ० १ उ०।

***घडित**–त्रि० । युक्ते, औ०।

घडियव्व–त्रि० (घटितव्य) अप्राप्तानां संयमयोगानां प्राप्तये कार्यायां घटनायाम्, भ० ६ श० ३३ उ०।

घडिया–स्त्री० (घटिका) मृण्मयकुल्लुडिकायाम्, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ०। षष्ट्युदकपलमानायाम् (सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०) नलिकायाम्, तत्परिमिते काले च। आव० ४ अ०।

घडुक्कअ–पुं० (घटोत्कच) भीमसेनस्य हिडिम्बायां जनिते पुत्रे, "भीमशेणस्स पश्चादो हिंडीअदि हिडिंबाए घडुक्कअशोके ण उवशमदि।" प्रा० ४ पाद।

घण–पुं० (घन) 'हन मूर्त्तौ अप्–घनादेशश्च। वाच०। मेघे, औ०। प्रश्न०। रा०। आ० म०। स्था०। आव०। घ०। प्रावृट्कालभाविनि मेघे, जी० ३ प्रति०। प्रज्ञा०। लोहमुद्गरे, तं०। प्रश्न०। व्याप्ते, त्रि०। प्रज्ञा० १ पद। आचा०। दृढे, त्रि०। आव० ५ अ०। निचिते, त्रि०। जी० ३ प्रति०। पिण्डे, न०। सूत्र० १ श्रु० १ अ० उ०। अविरले, त्रि०। कल्प० २ क्षण। बहलतरे, न०। रा०। निश्छिद्रे, न०। रा०। बृ०। ज्ञा०। निविडे, पुं०। रा०। जं०। औ०। त०। कल्प०। वृ०। विशे०। ज्ञा०। निविडप्रदेशोपत्तये, चं० प्र० २० पाहु०। सू० प्र०। अतिशये, रा०। प्रश्न०। तालप्रभृतिके, जं० ५ वक्ष०। कांस्यतालादिके, जं० २ वक्ष०। जी०। भ०। स्था०। कांसिकादौ, रा०। आ० म०। जी०। तन्तुभिः समे, नि० चू० २ उ०। सान्द्रे, बृ० ३ उ०। संमर्द्दरूपे च वाद्ये, न०। सू० प्र० १२ पाहु०। आचा०। आ० चू०। हिमशिलावत् स्त्यानेपुं०। स्था० ३ ठा० ४ उ०। संख्याने, पुं०। विशे०। आव०। कर्म०। घनः सङ्ख्यानम्, यथा–"द्वयोर्घनोऽष्टौ समत्रिराशिहतिः इति वचनात्। स्था० १० ठा०। मुस्ते, समूहे, दाढर्य, विस्तारे, शरीरे, कफे, अभ्रके, पूर्णे, सम्पुटे, त्रि०। मध्यमनृत्ये, न०। लौहे, न०। त्वचे, न०। "समत्रिभागश्च घनः प्रदिष्टः" इत्युक्ते समाङ्कत्रयवधे, वाच०। "घणकडियडछाए ति" इह शरीरस्य मध्यभागः कटिः, ततोऽन्यस्यापि मध्यभागः कटिरिव कटिरित्युच्यते, कटिस्तटमिव कटितटं, घनाऽन्योन्यशाखाप्रशाखानुप्रवेशिता निविडा कटितटे मध्यभागे छाया यस्य स घनकटितटच्छायः, मध्यभागनिविडतरच्छाय इत्यर्थः। कचित्पाठः–"घनकडियकडच्छए" इति। तत्रायमर्थः–कटः संजातोऽस्येति कटितः, कटान्तरेणाऽऽवृत्त इत्यर्थः। कटितश्चासौ कटश्च कटितकटः, घना निविडा कटितकटस्येव अधोभूमौ छाया यस्य स घनकटितकटच्छायः। जी० ३ प्रति०।

घणकवाड–न० (घनकपाट) निश्छिद्रकपाटे, प्रश्न० २ आश्र० द्वार।

घणकोट्टिम–न० (घनकुट्टिम) घनकुट्टेन अयोघनताडनेन निर्वृत्ते, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार।

घणघणाइय–न० (घनघनायित) रथवत् चीत्कुर्वति, जं० ५ वक्ष०। अनु०।

घणनिचय–त्रि० (घननिचय) अत्यर्थनिविडे, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार। "घणनिचयवट्टपालिखंधे" घननिचितोऽत्यर्थं निविडो दृढश्च वृत्तश्च वर्तुलः पालिवत् डागादिपालीवत् स्कन्धोंशदेशो यस्य स तथा। उपा० ७ अ०।

घणनिचिय–त्रि० (घणनिचित) घनो लोहमुद्गरस्तद्वन्निचितं निविडम्। अतीव निविडे, औ०। अतिशयनिविडे, "घणनिचियवलियवट्टखंधे" घनमतिशयेन निचितौ निविडतस्तयमापन्नौ वलितावि वलितौ वृत्तौ स्कन्धौ यस्य स तथा। जी० ३ प्रति०। रा०। "घणनिचियसुबद्धलक्खणुन्नयकूडागारनिहपिंडियसिरा" घनडतिशयेन निचितं घननिचितं, सुष्ठु अतिशयेन बद्धानि अवस्थितानि लक्षणानि यत्र तत् सुबद्धलक्षणम्, उन्नतं मध्यभागे उच्चं यत् कूटं तस्याकारो मूर्तिस्तन्निम्नमुन्नतकूटाकारसदृशमिति भावः। पिण्डितं स्वकर्मणा संयोजितं शिरो येषां ते घननिचितसुबद्धलक्षणोन्नतकूटाकारनिभपिण्डितशिराः। जी० ३ प्रति० गाढनियोजने, "घणनिचियनिरंतरनिच्छिद्दाइं" घननिचितानि कपाटादिद्वारपिधानानां द्वारण खादिषु गाढनियोजनेन तानि च तानि निरन्तरं कपाटादीनामन्तराभावेन निश्छिद्राणि च नीरन्ध्राणि घननिचितनिरन्तरनिश्छिद्राणि। भ० ७ श० ८ उ०।

घणतव–न० (घनतप) चतुःषष्टिपदात्मके तपसि, उत्त० ३ अ०।

घणदंत–पुं० (घनदन्त) स्वनामख्यातेऽन्तर्द्वीपे, तद्वासिनि मनुष्ये च। प्रज्ञा० १ पद। स्था०। उत्त०। (तद्वर्णको 'अंतरदीव' शब्दे प्रथमभागे १७ पृष्ठे उक्तः)

घणपयर–पुं० (घनप्रतर) घनः प्रतर एव, घनं च प्रतरं च घनप्रतरम्। प्राकृतत्वाद्विन्दुलोपः। सर्वत्र च प्रतरपूर्वक एव घना प्ररूप्यते, इहापि तथैवोपदर्शयिष्यते, ततः प्रतरघन इति निर्द्देशः प्राप्तः, अल्पाक्षरत्वाद घनशब्दस्य पूर्वनिपातः। ततश्चैकं परिमण्डलादि प्रतरं घनं च भवतीति गम्यते। उत्त० १ अ०।

घणमिच्छत्त–न० (घनमिथ्यात्व) निविडमिथ्यात्वे, "घणमिच्छत्तो कालो, एत्थ अकालो य होइ नायव्वो। कालो उ अपुणबंधग–पभिई धीरेहि णिद्दिट्ठो॥" ध० १ अधि०।

घणमुइंग–पुं० (घनमुदङ्ग) घनो घनाकारो ध्वनिसाधर्म्यात् यो मृदङ्गः। सू० प्र० १८ पाहु०। घनो मेघः तदाकारो यो मृदङ्गः ध्वनिगाम्भीर्यसाधर्म्यात्। स्था० ८ ठा०। मेघसमानगम्भीरध्वनिमर्द्दले, स्था० ८ ठा०। जी०। कल्प०। भ०। श्रौ०।

घणमुयंग–पुं० (घनमृदङ्ग) 'घणमुइंग' शब्दार्थे, स्था० ८ ठा०।

घणरज्जु–स्त्री० (घनरज्जु) घनीकृतासु रज्जुषु, प्रव० २ द्वार।

तिन्नि सया तेयाला, रज्जूणं होंति सव्वलोगम्मि।
चउरंसं होइ जयं, सत्तण्हघणेणिमा संखा॥ ६२५॥

सर्वस्मिन्नपि चतुर्दशरज्ज्वात्मके लोके घनीकृते त्रिचत्वारिंशदुत्तराणि त्रीणि शतानि रज्जूनां भवन्ति। अथ घनीकरणे कीदृक्संस्थानो लोकः संपद्यते। तत्राह–(चउरंसं होइ जयं ति) चतुरस्रं सर्वतः समचतुरस्रं जगत लोको भवति, संवर्तितं सदिति शेषः। इयं च त्रिचत्वारिंशदुत्तशतहयलक्षणा रज्जुसंख्या, समानां घनेन 'समत्रिराशिहतिर्घनः' इति वचनात् अन्योन्यं त्रिस्ताडनेन जायते। एतदुक्तं भवति–संवर्तितलोकस्याऽऽ–

यामविष्कम्भबाहल्यानां प्रत्येकं सप्तरज्जुमानत्वात् सप्तकेन गुण्यन्ते, जाता एकोनपञ्चाशत्, साऽपि पुनः सप्तकेन गुण्यते, जातानि त्रीणि शतानि त्रिचत्वारिंशानीति । एतच्च व्यवहारमाश्रित्योक्तं, निश्चयतस्तु-एकोनचत्वारिंशदधिकत्रिशतसंख्यानामेव घनरज्जूनां संभवात्। तथाहि-षट्पञ्चाशत्संख्यास्वपि पङ्क्तिषु "तिरियं चउरो दोसुं" इत्यादिगाथाकथितानि चतुरादीनि प्रतरखण्डकानि एकैकपङ्क्तिगतानि पृथक् पृथक् वर्ज्यन्ते, सदृशद्विराशिघातो वर्ग इति वचनाच्च चतुष्कादयोदङ्कैश्चतुष्कादिभिरेव गुण्यन्ते इत्यर्थः । जाताः षोडशादयोदङ्काः, तेषां च सर्वमीलने च दश सहस्राः, षण्णवत्यधिके च द्वे शते खण्डकानां भवन्ति। अस्य च राशेर्घनरज्जुसमानयनाय चतुःषष्ट्या भागो ह्रियते, ततो जायते एकोनचत्वारिंशदधिका द्विशतसंख्या एव घन-रज्जय इति उक्तं च-

"उवरित्थहत्थछप्प-न्नपयरपच्चक्खदिट्ठखंडाणं ।
वग्गं कुणह पिहुप्पिहु, संजोगे तिजय गणियपयं ॥
सहसेगारस दुसया, वत्तीसऽहिया अहम्मि खंडाणं ।
समदीहपिहुव्वेहा-णरज्जु व उरं समाणेणं ॥
चत्तारि सहस्साई, चउसट्ठिजुआइ उड्ढलोगम्मि ।
पनरह सहस्स तिरियं, चउरूणं जायमुभएसिं ॥
चउसट्ठीऐं विवंत्तं, इगुयाला दोसया हविज्जेवं ।
लोए घणरज्जुणं, । ' प्रव० १४३ द्वार ।

घणवट्ट-न० (घनवृत्त) सर्वतः समे मोदकवद्घनवृत्ते, भ० २५ श० ३ उ० । उत्त० । (तत्त्वं च 'संजोग शब्दे परमाणूनां संयोगप्ररूपणावसरे प्ररूपयिष्यते)

घणवलय-न० (घनवलय) नरकपृथिवीनां पार्श्ववर्तिनि वृत्ताकारतोयविशेषे, पिं० ।

घणवाउ-पुं० (घनवायु) रत्नप्रभाद्यधोवर्तिनि घनरूपे वायुवि-शेषे, उत्त० ३६ अ० ।

घणवाय-पुं० (घनवात) रत्नप्रभानां नरकपृथिवीनामाधारतया व्यवस्थितेऽधो वर्तिनि अत्यन्तघने पिण्डीभूते वातविशेषे, पिं० । जी० । आचा० । स्था० ।

घणवाही-(देशी) इन्द्रे, दे० ना० २ वर्ग ।

घणविज्जुया-स्त्री० (घनविद्युता) दिक्कुमारीभेदे, स्था० ६ ठा० ।

घणवुट्ठि-स्त्री० (घनवृष्टि) पञ्चम्यां स्त्रीकलायाम्, कल्प० ७ क्षण ।

घणसंखान-न० (घनसंख्यान) अष्टमे सङ्ख्यानभेदे, घनः सङ्ख्यानं यथा-द्वयोर्घनोऽष्टौ समत्रिराशिहतिरिति वचनात् । स्था० १० ठा० ।

घणसंताण-पुं० (घनसंतान) कोलिके, पं० व० २ द्वार । नि० चू० । ध० ।

घणसार-पुं० (घनसार) घनस्य मुस्तकस्य सारः । कर्पूरभेदे, 'शरदिन्दुकुन्दघनसारनीहारहारेत्यादि घनो निविडः सारोऽस्य । दक्षिणावर्तपारदे, वृक्षभेदे, जले, श्रेष्ठवारिदे, वाच० । संथा० ।

घणिय-न० (घनित) गर्जिते, सू० प्र० २० पाहु० ।

घणोदहि-पुं० (घनोदधि) घनः स्त्यानो हिमशिलावत् उदधिर्जलनिचयः, स चासौ स चेति घनोदधिः । स्था० ३ ठा० ४ उ० । प्रत्यक्षत उपलभ्यमानाया रत्नप्रभायाः पृथिव्या अधो घनः स्त्यानीभूतोदक उदधिर्घनोदधिः । जी० ३ प्रति० । औ० । नरकपृथिवीनामाधारभूतेषु कठिनतोयेषु समुद्रेषु, पिं० । प्रज्ञा० । स० "सव्वे वि य णं घणोदहिविसंजोयणसहस्साइं" घनोदधयः सप्तमपृथिवीप्रतिष्ठानभूताः सामानिकाः इन्द्रसमानर्धयः साहस्रयः विंशतिसहस्राणि । स० २० सम० । स्था० । "सत्तसु घणवाएसु सत्त घणोदहीण इड्ढिया" स्था० ७ ठा० । प्रज्ञा० ।

घणोदहिवलय-न० (घनोदधिवलय) घनोदधिरेव वलयमिव वलयं कटकं घनोदधिवलयम् । वलयाकारे घनोदधौ, स्था० ३ ठा० ४ उ० । वलयाकारे पृथिवीपर्यन्तवेष्टके समुद्रे, प्रज्ञा० २ पद ।

घण्णो-(देशी) उरसि, रक्ते च । दे० ना० २ वर्ग ।

घतमंड-पुं० (घृतमण्ड) घृतसारे, यो घृतसङ्घातस्योपरिभागे स्थितं घृतं स मण्ड इत्यभिधीयते, सार इत्यर्थः । तथा चाह जीवाभिगममूलटीकाकारः-'घृतमण्डो घृतसारः' इति । जी० ३ प्रति० ।

घतवर-न० (घृतवर) क्षीरोदस्य समुद्रस्य परितो द्वीपभेदे, जी० ।

खीरोदं णं समुद्दं घतवरे णामं दीवे वट्टे वलयागारसंठाणसंठिते० जाव परिक्खित्ता णं चिट्ठति समचक्कवाले नो विसमचक्कवाले संखेज्जविक्खंभपरिक्खिपदेसा० जाव अट्ठो ? गोयमा ! घतवरे णामं दीवे तत्थ तत्थ वहवे खुड्डा खुड्डिया वावीउ० जाव घतोदगपडिहत्थाउ उप्पीयपव्वयगा० जाव खडखडगा सव्वकंचणमया अच्छा० जाव पडिरूवा कणगकणगप्पभा इत्थ दो देवा महिड्ढिया चंदा संखेज्जा ।

क्षीरोदं णमिति पूर्ववत्, समुद्रं, घृतवरो नाम द्वीपो, वृत्तो वलयाकारसंस्थानसंस्थितः सर्वतः समन्तात् संपरिक्षिप्य तिष्ठति । अत्रापि चक्रवालविष्कम्भपरिक्षेपपद्मवरवेदिकावनखण्डद्वारान्तरप्रदेशजीवोपपातवक्तता पूर्ववत् । संप्रति नामनिमित्तमभिधित्सुराह-"से केणट्ठेणमित्यादि" । अथ केनार्थेन भगवन् ! एवमुच्यते-घृतवरो द्वीपो घृतवरद्वीप इति ? भगवानाह-गौतम ! घृतवरद्वीपे "तत्थ तत्थ देसे तहिं तहिं" इत्यादि। अरुणवरद्वीपवत् सर्वं तावद्वक्तव्यं यावत् "वाणमंतरा देवा देवीओ य आसयंति सयंति, यावद्विहरंति" इति, नवरं वाप्यादयो घृतोदकपरिपूर्णा इति वक्तव्यं, तथा पर्वताः पर्वतेष्वासनानि, गृहकाणि गृहकेष्वासनानि, मण्डपका मण्डपकेषु पृथिवीशिलापट्टकाः सर्वात्मना कनकमया इति वक्तव्यं, कनककनकप्रभौ चात्र द्वौ देवौ यथाक्रमं पूर्वार्द्धापरार्द्धाधिपती महर्द्धिकौ, यावत् पल्योपस्थितिकौ परिवसतः, ततो घृतोदवाप्यादियोगात्, घृतवर्णदेवस्वामित्वाच्च घृतवरो द्वीप इति । तथा चाह-"से एयट्ठेणमित्यादि ।" चन्द्रादिसंख्यासूत्रं प्राग्वत् । जी० ३ प्रति० । सू० प्र० । चं० प्र० । अनु० । स्था० ।

घत्त-धा० (क्षिप) प्रेरणे, उभ० सक० सेट् । वाच० । **"क्षिपेर्गलत्थाड्डक्खसोल्लपेल्लणोल्लछु हडुलपरीघत्ताः ' ॥ ८ । ४ । १४३ ॥** इति क्षिपेर्घत्तादेशः । 'घत्तइ' क्षिपति । प्रा० ४ पाद । गवेष-धा० । अन्वेषणे, चुरा० आत्म० सेट् । वं च० । **"गवेषडुंढुल्लढंढोल्लगमेसघत्ताः ' ॥ ८ । ४ । १८६ ॥** इति गवेषेर्घत्तादेशः । 'घतइ, गवेसइ गवेषयते । प्रा० ४ पाद । 'तह घ तइति तथा खेटयते । तं० ।

घ त्ति घकारप्पविभत्ति-स्त्री० (घ इति घकारप्रविभक्ति) घकाराकृत्यभिनयात्मके नाट्यविशेषे, रा० ।

घतोद-पुं० (घृतोद) 'घओद शब्दार्थे, सू० प्र० २० पाहु० ।

घतोय–पुं० (घृतोद) 'घतोद शब्दार्थ, सू० प्र० २० पाहु०।

घत्थ–न० (ग्रस्त) अभिभूते, आव० ४ अ०।

घम्म–पुं० (घर्म) घरति अङ्गात् घृ–सेके, क्षरणे, कर्तरि मक्। नि० गुणः। वाच०। केषांचिदाचार्याणां मते चतुर्थस्य द्वितीयो न। प्रा० ४ पाद। अङ्गनिष्पन्दे स्वेदे, श्रमजवारिणि, घरत्यङ्गमनेनेति करणे मक्। आतये, ग्रीष्मकाले, तयोरङ्गस्वेदसाधनत्वात्तथात्वम्। आतपयुक्ते दिवसे, वाच०। उष्णे, स्था० ४ ठा० ४ उ०। सूत्र०।

घम्मट्ठाण–न० (घर्म्मस्थान) उष्णप्रधाने स्थाने, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ०। आतपस्थाने, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ०।

घम्मा–स्त्री० (घर्मा) सप्तसु नरकपृथिवीषु प्रथमायां नरकपृथिव्याम्, "घम्मा णामेणं रमणप्पभागो तेणं ' जी० ३ प्रति०। स्था०।

घम्मोइ–(देशी) गण्डुसंज्ञे तुणे, दे० ना० २ वर्ग।

घम्मोडी–(देशी) मध्याह्ने, मशके, ग्रामीसंक्षे तृणे च। दे० ना० २ वर्ग।

घय–पुं० न० (घृत) घृ–सेके क्तः। अर्द्धर्चादि०। वाच०। **"ऋतोऽत्"**। ८।१।१२६। आदे ऋकारस्यात्वं भवति। घृतं, 'घयं '। प्रा० १ पाद। दुग्धभवे, वाच०। "सर्पिर्विलीनमाज्यं तु, घनीभूतं घृतं भवेत् '। इत्युक्ते घनीभूते आज्ये, घृतगुणभेदादि उक्तम्। यथा–

"घृतमाज्यं हविः सर्पि, कथ्यन्ते तद्गुणा अथ।
घृतं रसायन स्वादु, चक्षुष्यं वह्निदीपनम्।
शीतं वीर्ये विषालक्ष्मी–पापपित्तानिलापहम्।
अल्पाभिष्यन्दि कान्त्योज–स्तेजोलावण्यवुद्धिकृत्॥
स्वरस्मृतिकरं मेध्य–मायुष्यं बलकृद्गुरू।
उदावर्तज्वरोन्मादशूलानाहव्रणान् हरेत्॥
स्निग्धं कफकरं रक्षःक्षयवीसर्परक्तनुत् '। वाच०। दर्श०। स्था०।

घृतमपि चतुर्भेदं गवादिसंबन्धित्वेनैव। प्रव० ४ द्वार। "उद्दीणं दधि नत्थि, नवणीयं घयं पि ते णत्थि। ' आव० ६ अ०। आ० चू०। "घृतेन वर्धते मेधा '। बृ० ५ उ०। सूत्र०।

घयआसव–न० (घृताश्रव) घृतमिव वचनामाश्रवन्तीति घृताश्रवाः। लब्धिमद्भेदे, आ० म० प्र०।

घयकिट्ट–न० (घृतकिट्ट) घृतमले, तच्च घृतेन विकृतिः। ध० २ अधि०।

घयकिट्टिया–स्त्री० (घृतकिट्टिका) घृतमले, प्रव० ४ द्वार।

घयगुलपुण्ण–स्त्री० (घृतगुडपूर्ण) घृतगुडसमन्विते, पञ्चा० ८ विव०।

घयघट्ट–त्रि० (घृतघट्ट) घृतसंबन्धिनि किट्टे, यो हि महियाद्रवमित्युच्यते। बृ० १ उ०। पं० व०।

घयण–पुं० (घतन) भाण्डे, "घयणवच्छले णियच्छन्नो। ' पं० व० ४ द्वार। प्रव०। आ० क०। आ० म०।

घयपक्कोसहि–स्त्री० (घृतपक्वोषधि) पक्वोषधोपरि तरिकारूपे सर्पिषि, प्रव० ४ द्वार। ध०।

घयपुण्ण–पुं० (घृतपूर्ण) अपूपे, (घेवर) "सद्यः प्राणकराह्यद्याः, घृत–पूर्णाः कर्कापहाः '। सूत्र० १ श्रु० ८ अ०।

घयपूसमित्त–पुं० (घृतपुष्पमित्र) आर्यरक्षितसूरेः शिष्ये, आ० चू० "घयपूसमित्तस्स इमा लद्धी–दव्वतो–घतं उप्पाएतव्वं, खेत्तओ–जहा उज्जेणीए, काले तु–जेट्ठासाढमासेसु, भावओ–धिज्जातिणी पुव्विणी, तीसे भत्तुणा दिवसे दिवसे छहिं मासेहिं पंसविहिति पिंडिओ वारं घट्टओ, घृतस्स वि ताए उववज्जिहिति त्ति, सा य कल्ले वा परे वा विहिति त्ति कातूणं तेण स जातितं, अणं णत्थि तह वि पेंडितं, सा हट्ठतुट्ठमणसा देज्जा, परिमाणओ–जंतियं गच्छरस उवउज्जति सो य निंतो चेव पृच्छति–कस्स केतिएण घएण कज्जं ? आ० चू० १ अ०। आ० म०। विशे०।

घयमेह–पुं० (घृतमेघ) दुःषमदुःषमान्तभाविनि महामेघे, जं० ३ वक्ष०।

घयविहिपरिणाम–पुं० (घृतविधिपरिणाम) "घयविहिपरिणामं करेइ" उपा० १ अ०।

घयसागर–पुं० (घृतसागर) घृतोदे समुद्रे, द्वी०।

घयसित्त–पुं० (घृतसिक्त) घृततर्पिते, "निव्वाणं परमं जाइ, घयसित्त व्व पावए"। निर्वाणं निर्वृतिः, स्वास्थ्यमित्यर्थः। परमं प्रकृष्टं याति प्राप्नोतीत्यभिसंबन्धः। क इव (घयसित्ते व त्ति) इवस्य भिन्नक्रमत्वात्, घृतेन सिक्तो घृतसिक्तः, पुनातीति पावकोऽग्निर्लोकप्रसिद्ध्या, समयप्रसिद्ध्या तु पापहेतुत्वात्पापकः, तद्वत् सिञ्चनतया तृणादिभिर्दीप्यते, यथा घृतेनेत्यस्य घृतसिक्तस्य निर्वृतिरनुगोयते, ततः सविशेषणस्यास्य दृष्टान्तत्वेनाभिधानमिति भावनीयम्। यद्वा–निर्वाणमिति जीवन्मुक्तिं याति, "निर्जितमदमदनानां, वाक्कायमनोविकाररहितानाम्। विनिवृत्तपराशाना–मिहैव मोक्षः सुविहितानाम्"॥ १॥ इति वचनात्, कथंभूतः सन् घृतसिक्तपावक इव तपस्तेजसा ज्वलिततत्वेन घृततर्पिताग्निसमान इति। उत्त० ३ अ०।

घर–पुं० (गृह) गृह्यति धर्माचरणाय 'ग्रह –ग्रेहार्थे कः। वाच०। **"गृ–हस्य घरोऽपतौ '॥ ८।२।१४४॥** इति घरादेशः। प्रा० २ पाद। सामान्यजनानां सामान्ये (भ० ५ श० ७ उ०। अनु०) अपवरकादिमात्रे, स्था० ५ ठा० १ उ०। कटकुड्यदेहलीपट्टादिसमुदायात्मके (अनु०) वेश्मनि, दर्श०। प्रश्न०।

घरंतर–न० (गृहान्तर) गृहमेवान्तरं गृहान्तरम्, गृहद्वयात् त्र्याद्वा परतो गृहे, नि० चू० ३ उ०।

घरकुडी–स्त्री० (गृहकुटी) स्त्रीदेहे, तं०।

घरकोइला–स्त्री० (गृहकोकिला) गृहगोधायाम्, पिं०। सूत्र०।

घरग–न० (गृहक) वासभवने, अत्र ककारः स्वार्थिकः। जं० १ वक्ष०।

तस्स णं वणसंडस्स तत्थ तत्थ देसे देसे तहिं तहिं बहवे आलिघरा मालियाघरा कयलिघरगा लयाघरगा अत्थणघरगा पेच्छणघरगा मज्जणघरगा पसाहणघरगा गब्भघरगा मोहणघरगा सालयघरगा जालयघरगा कुसुमघरगा चित्तघरगा गंधव्वघरगा आयंसघरगा सव्वरयणामया अच्छा सण्हा लण्णा घट्ठा मट्ठा णीरया निम्मला णिप्पंका निक्कंकडच्छाया सप्पभासस्सिरीया सउज्जोया पासादीया दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा॥

"तस्स" णं इत्यादि। तस्य वनखण्डस्य मध्ये तत्र तत्र प्रदेशे तस्यैव देशस्य तत्र तत्र एकदेशे, बहूनि आलिगृहकाणिआलिर्वनस्पतिविशेषः, तन्मयानि गृहकाणि आलिगृहकाणि, मालि–

रपि वनस्पतिविशेषः, तन्मयानि गृहकाणि मालिगृहकाणि, कदली-गृहकाणि, लतागृहकाणि च प्रतीतानि। (अत्थणघरगा इति) अवस्था-नगृहकाणियेषु यदा तदा वाऽऽगत्य बहवः सुखासिकया अवतिष्ठन्ते, पेक्षणकगृहकाणियत्रागत्य प्रेक्षणकानि विदधति, निरीक्षन्ते च, मज्जन-कगृहकाणि-यत्रागत्य स्वेच्छया मज्जनकं कुर्वन्ति, प्रसाधनगृहकाणि-यत्रागत्य स्वं परं च मण्डयन्ति, गर्भगृहकाणि-गर्भगृहाकाराणि (मोहण-घरगा इति) मोहनं मैथुनसेवा, "रमियमोहरयाइं" इति नाममालाव-चनात्। तत्-प्रधानानि गृहकाणि मोहनगृहकाणि, वासभवनानीति भावः। शालागृहकाणिपट्टशालाप्रधानानि गृहकाणि, जालकयुक्तानि गृहकाणि, कुसुमगृहकाणिकुसुमप्रकरोपचितानि गृहकाणि, चित्रगृह-काणि-चित्रप्रधानानि गृहकाणि, गन्धर्वगृहकाणिगीतनृत्याभ्यासयो-ग्यानि गृहकाणि, आदर्शगृहकाणि-आदर्शमयानीव गृहकाणि। एतानि च कथं भूतानीत्यत आह-"सव्वरयणामया" इत्यादिविशेषणकदम्बकं प्राग्वत्। जी० ३ प्रति०।

घरघरंत-पुं० (घरघरत्) कम्पमाने, पिं०। नि० चू०।

घरघरग-पुं० (घरघरक) कण्ठाभरणविशेषे, जं० १ वक्ष०।

घरघंटो-(देशी) घटके, दे० ना० २ वर्ग।

घरट्ट-पुं० (अरघट्ट) कूपप्रोते घटमालिकया जलाकर्षकयन्त्रविशेषे, नि० चू० १ उ०।

घरणी-स्त्री० (गृहणी) कलत्रे, दर्श०।

घरपंति-स्त्री० (गृहपङ्क्ति) 'साही इति ख्यातेऽर्थे, नि० चू० ३ उ०। पिं०।

घरयंदो-(देशी) आदर्शे, दे० ना० २ वर्ग।

घरस-पुं० (गृहवास) प्राकृतत्वाद् वाशब्दलोपः। गृहाश्रमे, बृ० ३ उ०।

घरसउणि-पुं० (गृहशकुनि) गृहावस्थिते शकुनौ, व्य० २ उ०।

घरसमुदाण-न० (गृहसमुदान) गृहेषु समुदानं भिक्षाटनं गृहसमुदानम्। भैक्ष्ये, नि० ३ वर्ग। भ०।

घरसमुदाणिय-पुं० (गृहसमुदानिक) गृहसमुदायं प्रति गृहं भिक्षा येषां ग्राह्याऽस्ति ते गृहसमुदानिकाः। अभिग्रहविशेषवत्सु आजीवकश्रमणेषु, औ०।

घरसामिणी-स्त्री० (गृहस्वामिनी) जायायाम्, आ० म० द्वि०।

घरिल्ली-(देशी) पल्ल्याम्, दे० ना० २ वर्ग।

घरिस-पुं० (घर्ष) चन्दनस्येव घर्षणे, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ०।

घरोइला-स्त्री० (गृहकोकिला) गृहगोधायाम्, प्रश्न० १ आश्र० द्वार। प्रज्ञा०। जी०।

घरोल-(देशी) गृहभोजनभेदे, दे० ना० २ वर्ग।

घरोलिया-स्त्री० (गृहकोकिला) 'घरोइला शब्दार्थे, प्रश्न० १ द्वार।

घरोली-(देशी) गृहगोधिकायाम्, दे० ना० २ वर्ग।

घल्लो-(देशी) अनुरक्ते, दे० ना० २ वर्ग।

घसा-स्त्री० (घसा) सुषिरभूमिषु, दश० ६ अ०। बृहतीषु भूमिराजिषु, आचा० २ श्रु० १० अ०।

घसिय-न० (घर्षित) करीषादिना घर्षिते, दशा ५ अ०। सूत्र०।

घसिर-त्रि० (घसितृ) बहुभक्षिणि, बृ० १ उ०।

घसी-स्त्री० (घसी) भूमिराजौ, जी० ३ प्रति०। स्थलादधस्तादवरणे च। आचा० २ श्रु० १ अ० ५ उ०।

घाअण-स्त्री० (गायन) 'गै' शिल्पिनि ल्युट् **गोणादयः॥ ८। २। १७४॥** इति निपातनात् घाअणाऽऽदेशः। प्रा० २ पाद। गानोपजीविनि, त्रि०। वाच०।

घाइआ-स्त्री० (घातिका) अन्येन घातयित्र्याम्, जं० २ वक्ष०।

घातिता-स्त्री०। विनाशितायाम्, ज्ञा० ८ अ०। विपा०।

घाइकम्म-न० (घातिकर्मन्) ज्ञानावरणदर्शनावरणमोहनीयान्तरा-यारव्यकर्मचतुष्टये, हा० ३० अष्ट०।

घाएंत-पुं० (घातयत्) विनाशकारके, पं० व० ४ द्वार।

घाय-पुं० (घात) वधे, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ०।

घाड-पुं० (घाट) संघाटे, सौहृदे, बृ० १ उ०। मस्तकावयवविशेषे, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ०।

घाडिय-पुं० (घाटिक) घाटः सौहृदं विद्यतेऽस्येति घाटी, स एव घाटिकः। सहजातकादौ वयस्ये, बृ० १ उ०। मित्रे, बृ० १ उ०। ज्ञा०।

घाण-न० (घान) तिलपीडनयन्त्रे, पिं०। तिलपीडनयन्त्रादौ सकृत्प्र-क्षेप्ये वस्तुनि, प्रव० ४ द्वार।

***घ्राण**-न० 'घ्रा' करणे ल्युट्। वाच०। नासिकायाम्, जं० १ वक्ष०। आचा०। रा०। प्रश्न०। विशे० "दो घाणा" प्रज्ञा० १५ पद। स्था०।

घाणमणणिव्वुइकर-त्रि० (घ्राणमनोनिर्वृतिकर) नासासचिवचेतः सुखोत्पादके, जं० १ वक्ष०। रा०।

घाणसहगय-त्रि० (घ्राणसहगत) घ्रायत इति घ्राणो गन्धगुणः, तेन सहगतास्तत्सहचरितास्तद्वन्तो घ्राणसहगताः। घ्राणेन्द्रियसहचरितेषु पुद्गलेषु, भ० १८ श० ७ उ०।

घाणामय-त्रि० (घ्राणमय) घ्राणग्रहणरूपेऽर्थे, "घाणामओ सोक्खा-ओ अव्वावरोवित्ता भवइ "घ्राणमयात्सौख्यात् गन्धोपादानरूपात् अ-व्यपरोपयिता अभ्रंशकता घ्राणमयेन गन्धोपापालम्भाभावरूपेण दुःखे-नासंयोजयिता भवति। स्था० ५ ठा०।

घाणारिस-न० (घ्राणार्श) नासिकायां जायमानेऽर्शोरोगे, ओघ०।

घाणि-स्त्री० (घ्राणि) तृष्णौ, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। स्था०। तृष्णिजनक-शक्तौ, विशे०।

घाणिंदिय-न० (घ्राणेन्द्रिय) नासिकेन्द्रिये, ज्ञा० १ श्रु० १७ अ०। उत्त०। आ० म०। आ० चू०। प्रज्ञा०। ग०। प्रश्न०। (अस्य सोदाहर-णव्याख्या 'इंदिय' शब्दे द्वितीयभागे ५४८ पृष्ठेद्रष्टव्या)

घाणिंदियणिग्गह-न० (घ्राणेन्द्रियनिग्रह) स्वविषयाभिमुखमनुधावतो घ्राणेन्द्रियस्य नियमने, उत्त०।

घाणिंदियनिग्गहे णं भंते ! जीवे किं जणयइ ? घाणिंदिय-निग्गहेणं मणुण्णामणुण्णेसु गंधेसु रागदोसनिग्गहं जणयइ, तप्प-च्चइयं कम्मं न बंधइ, पुव्वबद्धं च णिज्जरेइ।

हे भदन्त ! हे स्वामिन् ! घ्राणेन्द्रियनिग्रहेण जीवः किं जनयति ?। गुरुर्वदति-हे शिष्य ! घ्राणेन्द्रियनिग्रहेण मनोज्ञाऽमनोज्ञेषु गन्धेषु रागद्वे-षनिग्रहं जनयति। ततो रागद्वेषजयात् रागद्वेषोत्पन्नं कर्म न बध्नाति, पर्वो-पार्जितं कर्म च निर्जरयति। उत्त० २९ अ०।

घाणिंदियमुंड–पुं० (घ्राणेन्दियमुण्ड) घ्राणेन्द्रियविषयासंसक्तमुण्डभेदे, स्था० १० ठा०।

घाय–पुं० (घात) घात्यन्ते व्यापाद्यन्त नानाविधैः प्रकारैर्यस्मिन् प्रा–णिनः स घातः। संसारे, सूत्र० १ श्रु० ७ अ०। सर्वदा परिणामपरिणतो–ऽनुपशान्तो हन्यते प्राणी स्वकृतकर्मविपाकेन यस्मिन् स घातः। नरके, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ०। विनाशे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ०। प्रहारे, ज्ञा० १ श्रु० १८ अ०। मारणे, सूत्र० १ श्रु० ११ अ०। प्रलये, विशे० दिण्डादिभिस्ताडने, आ० म० प्र०। हनने च। प्रश्न० २ आश्र० द्वार। स्था०। चं० प्र०। निर्लुण्ठने, बृ० १ उ०।

घायग–पुं० (घातक) मारके, ज्ञा० १ श्रु० २ अ०। हिंसके, प्रश्न० १ आश्र० द्वार। अन्येन घातयितरि, जी० ३ प्रति०। प्राणिवधोपजीविनि, पञ्चा० ६ विव०। "अनुमन्ता विशसिता, संहर्ता क्रयविक्रयी। संस्कर्ता चोपभोक्ता च, घातकश्चाष्ट घातकाः" ॥ इति मनुः। सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ०।

घायगता–स्त्री० (घातकता) मारकतायाम्, भ० १२ श० ७ उ०।

घायण–न० (घातन) मारणे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार।

घायणा–स्त्री० (घातना) षष्ठ्यां गौणहिंसायाम्, प्रश्न० १ आश्र० द्वार।

घायणो–(देशी) गायने, दे० ना० २ वर्ग।

घायमाण–त्रि० (घातयत्) परैर्व्यापादयति, सूत्र० २ श्रु० १ अ०। आचा०।

घारी–(देशी) शकुनिकाख्ये पक्षिणि, दे० ना० २ वर्ग।

घारो–(देशी) प्राकारे, दे० ना० २ वर्ग।

घारंतो–(देशी) घृतपूरे, दे० ना० २ वर्ग।

घास–पुं० (ग्रास) कवले, उत्त० २ अ०। आहारे च। सूत्र० २ श्रु० १ अ० ४ उ०। आचा०।

घासेसणा–स्त्री० (ग्रासैषणा) ग्रासो भोजनं, तद्विषया एषणा शुद्धाशुद्ध–पर्यालोचनम्, भोजनविषयायां शुद्धाशुद्धपर्यालोचनायाम्, प्रव० ६३ द्वार। ध०। ओघ०। पिं०। (अस्य निक्षेपादिकम् 'एसणा' शब्दे अस्मिन्नेव भागे ५२ पृष्ठे द्रष्टव्यम्। दोषा अपि ६७ पृष्ठे द्रष्टव्याः)

घिअं–(देशी) भर्त्सिते, दे० ना० २ वर्ग।

घिंसु–पुं० (ग्रीष्म) ग्रसते रसान् 'ग्रस' मनिन्। वाच०। **"ग्रसेर्घिसः" ८।२।२०४**। इति घिसादेशः। प्रा० ४ पाद। ज्येष्ठाषाढमासद्वयात्मके ऋतुभेदे, वाच०। धर्म्मकाले, व्य० ४ उ०। उष्णकाले, उत्त० २ अ०। उष्णाभितापे च। सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ०।

घिट्टो–(देशी)–कुब्जे, दे० ना० २ वर्ग।

घिणा–स्त्री० (घृणा) **"इत्कृपादौ" ८।१।१२८**। इति आदेः ऋत इत्त्वम्। प्रा० १ पाद। दयायाम्, आव० ४ अ०। संथा०।

घित्तुं–अव्य० (गृहीतुं) ग्रहणं कर्तुमित्यर्थे, ज्यो० ४ पाहु०।

घित्तूण–अव्य० (गृहीत्वा) ग्रहणं कृत्वेत्यर्थे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार।

घिसर–(देशी) न०। मत्स्यबन्धनभेदे, विपा० १ श्रु० १ अ०।

घुंघुरो–(देशी) उत्करे, दे० ना० २ वर्ग।

घुंटियं–त्रि० (घुण्टयत्) पिबति, तं०।

घुग्घ–पुं० (घूत्क) **"हुहुरुघुग्घादयः शब्दचेष्टाऽनुकरणयोः" ८।४।४२३** ॥ इति चेष्टाऽनुकरणे घुग्घादेशः। 'घुग्घ' इत्याकारके चेष्टाऽनुकृते शब्दे, "ताउंजि विरह गवक्खेहिं मक्कडु घुग्घउ देइ" प्रा० ४ पाद।

घुग्घुच्छणयं–(देशी) खेदे, दे० ना० २ वर्ग।

घुग्घुरी–(देशी) मण्डूके, दे० ना० २ वर्ग।

घुग्घुवंत–त्रि० (घुग्घुवत्) घूत्कारशब्दं कुर्वाणे, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ०।

घुग्घुस्सुसयं–(देशी) साशङ्कभणिते, दे० ना० २ वर्ग।

घुग्घेर–स्त्री०। तलितकादौ, ल० प्र०। ध०।

घुट्टघुणिअं–(देशी) गिरेर्गडे, पृथुशिलायां च। दे० ना० २ वर्ग।

घुट्ठ–स्त्री० (घुष्ट) घुष् क्त–इमभावः। उच्चशब्देन प्रकटिताभिप्राये शब्दिते, वाक्यादौ न। वाच०। कथिते, तं०। घोषिते, व्य० ३ उ०। आ० म०।

घुडुक्क–धा० (गर्ज) रवे, वाच०। **"तक्ष्यादीनां छोल्लादयः" ८।४।३६४** ॥ इत्यपभ्रंशे गर्जेर्घुडुक्कादेशः। "गगणि घुडुक्कइ मेह" गगने मेघो गर्जति। प्रा० दु० ४ पाद।

घुण–पुं० (घुण) कोलख्ये जन्तुविशेषे, तत्कृते छिद्रे च। आव० ४ अ०। आचा०। (घुणदृष्टान्तेन भिक्षाकशब्दप्ररूपणा 'भिक्खाग' शब्दे वक्ष्यते)

घुणंत–पुं० (घूर्णमान) भयविह्वलत्वाद्भाम्यति, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार।

घुत्तिअं–(देशी) गवेषिते, दे० ना० २ वर्ग।

घुम्म–धा० (घूर्ण) भ्रमणे, अक० उभ० सेट्। वाच०। **"घूर्णेर्घुलघोल–घुम्मपहल्लाः" ८।४।११७** ॥ इति घूर्णेर्घुम्मादेशः। 'घुम्मइ घूर्णति, घूर्णते। प्रा० ४ पाद।

घुम्मंत–त्रि० (घूर्णत्) भ्राम्यति, औ०।

घुणवुणिआ–(देशी) कर्णोपकर्णिकायाम्, दे० ना० २ वर्ग

घुयग–पुं० (घुट्टक) लेपितपात्रमसृणताकारके पाषाणे, पिं०।

घुरुघुरी–(देशी) मण्डूके, दे० ना० २ वर्ग।

घुल–धा० (घूर्ण) भ्रमणे, अक० उभ० सेट्। वाच०। **"घूर्णेर्घुलघोल–घुम्मपहल्लाः" ८।४।११७** ॥ इति घुलादेशः। 'घुलइ घुम्मइ–घोलइ' घूर्णति, घूर्णते। प्रा० ४ पाद।

घुल्ला–स्त्री० (घुल्ला) द्वीन्द्रियभेदे, प्रज्ञा० १ पद। जी०।

घुसल–धा० (मन्थ) विलोडने, क्र्यादि० पर० द्विक० सेट्। वाच०। **"मन्थेर्घुसलविरोलौ" ८।४।१२१** ॥ इति घुसलादेशः। 'घुसलइ' मथ्नाति। प्रा० ४ पाद।

घुसिण–न० (घुसृण) घुषि (सि) वा ऋणक्–पृषो० नलोपः। घुषेः पस्य सश्च। वाच०। **"इत्कृपादौ" ८।१।१२८** ॥ इति ऋत इत्वम्। प्रा० १ पाद। कुङ्कुमे, त्रि०। "घूसृणैर्यत्र जलाशयोदरे" इति। वाच०।

घुसिणिअ–(देशी) गवेषिते, दे० ना० २ वर्ग।

घुसिरसार–(देशी) अवस्नाने, मसूरादीनां पिष्टे, दे० ना० २ वर्ग।

घूघरी–स्त्री० 'घुग्घरी' शब्दार्थे, ल० प्र०।

घूणाग–न० (घूणाक) स्वनामख्याते सन्निवेशे, यत्रागतस्य श्रीवीरजिनस्य शुभलक्षणानि पुष्पेण सामुद्रिकेण दृष्टानि। आ० चू० १ अ०।

घूय–पुं० (घूक) कौशिके, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ०। उलूके, प्रति०।

घूयारि–पुं० (घूकारि) काके, तं०।

घूरा–स्त्री० (घूरा) जङ्घायाम, खलकायां च। सूत्र० २ श्रु० २ अ०।

घेतव्व–त्रि० (ग्रहीतव्य) **"क्त्वा–तुम्–तव्येषु घेत्"** ॥ ८। १। ४। २१०॥ इति ग्रहेर्घेदादेशः। ग्राह्ये, प्रा० ४ पाद।

घेत्तुं अव्य० (ग्रहीतुम्) **"क्त्वा–तुम्–तव्येषु घेत्"** ॥८।४।२१०॥ इति ग्रहेर्घेदादेशः। ग्राह्ये, प्रा०४ पाद।

घेत्तुआण–अव्य० (गृहीत्वा) **"क्त्वा–तुम्–तव्येषु घेत्"** ॥ ८। ४। २१०॥ इति ग्रहेर्घेदादेशः। ग्रहणं कृत्वेत्यर्थे, प्रा० ४ पाद। आर्षेऽन्यत्रापि 'घेच्छं' ग्रहीष्यामि। नि० चू० १ उ०।

घेत्तूण–अव्य० (गृहीत्वा) **"क्त्वा–तुम्–तव्येषु घेतु"** ॥ ८। ४। २१०॥ इति घेदादेशः। ग्रहणं कृत्वेत्यर्थे, प्रा० ४ पाद।

घेप्प–धा० (ग्रह) हस्तव्यापारभेदे, स्वीकारे, ज्ञाने च। क्र्यादि० । उभ० सक० सेट्। वाच०। **"ग्रहेर्घेप्पः"** ॥ ८। ४। २५६॥ ग्रहेः कर्म्म–भावे 'घेप्प' इत्यादेशो भवति, क्यलुक् च। 'घेप्पइ, गेण्हिज्जइ'। प्रा० ४ पाद। नि० चू०।

घोट्ट–धा० (पा) पाने, भ्वादि० पर० सक० अनिट्। वाच०। **"पिबेः पिज्जडुल्लपट्टघोट्टाः"** ॥ ८। ४। १०॥ इति पिबतेर्घोट्टादेशः 'घोट्टइ, पिअइ'। प्रा० ४ पाद।

घोड–(देशी) अश्वे, दे० ना० २ वर्ग।

घोडग–पुं० (घोटक) अजात्ये, ध० २ अधि०। चतुष्पदस्थलचरपञ्चेन्द्रियतैर्य्यग्योनिकैकखुरभेदे, प्रज्ञा० १ पद। तुरङ्गमे च। ग० ३ अधि०। प्रथमे उत्सर्गदोषे, "आसोव्व विसमपायं, आउंटावित्तु, ठाइ उस्सग्गे।" प्रव० ५ द्वार। आकुञ्चितस्यैकपादस्य घोटकस्येव स्थानं घोटकदोषः। प्रव० ४ द्वार। आव०। प्रज्ञा०।

घोडगकंडूइय–न० (घोटककण्डूयित) द्वयोः संयतयोर्घोटककण्डूयितमिव घोटककण्डूयितम्, यद वारं वारं परस्परं प्रच्छन्नं तत्तयोः परस्परकण्डूयितमिव घोकटकण्डूयितम्। परस्परं प्रच्छन्ने, व्य० ४ उ०।

घोडयग्गीव–पुं० (घोटकग्रीव) अश्वग्रीवापरनामके त्रिपृष्टपाख्यप्रथमवासुदेवप्रतिशत्रौ० आ० म० प्र०। आ० चू०।

घोडयपुंच्छ–न० (घोटकपुच्छ) अश्वबालधौ, "घोडयपुच्छं व तस्स मंसुइ।" उपा० २ अ०।

घोडयमुह–पुं० (घोटकमुख) घोटकस्येव मुखमस्य। किन्नरभेदे, वाच०। मिथ्याश्रुतविशेषे, अनु०।

घोडयमुही–स्त्री० (घोटकमुखी) घोटकाकारमुखमनुष्यस्त्रियाम्, बृ० ६ उ०। जीत०। नि० चू०।

घोडिय–पुं० (घोटिक) मित्रे, बृ० ५ उ०।

घोर–त्रि० (घोर) घुर–अच्। रौद्रे, बृ० ३ उ०। आ० म०। आव०। व्य०। तं०। पञ्चा०। उत्त०। दारुणे, रा०। ग०। आचा०। निर्घृणे, नि० १ वर्ग। औ०। रा०। जं०। सू० प्र०। विशे०। चं० प्र०। ज्ञा०। आत्मनिरपेक्षे, भ० १ श० १ उ०। हिंस्रे, भ० ३ श० २ उ०। भयदे, उत्त० १६ अ०। भयानके, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ०। दारुणक्रियाकारिणि, प्रश्न० १ आश्र० द्वार। उत्त०। विशे०। नं०। वाच०। "घोरनिउरंबकंदरचलंतवीभत्थभावाणं" घोरो रौद्रः प्राणनाशहेतुत्वात् निकुरम्बं घनम्, अगाधमित्यर्थः। यत्कमिति जलं, तस्य दरो भयं यस्मात् भावात्, साके–तपुराधिपदेवपतिराजस्येव, स निकुरम्बकन्दरः, कमिति अव्ययशब्द उदकवाचकः, चलन् पुरुषं पुरुषं प्रति भ्रमत् वीभत्सो भयङ्करः इह, परत्र महाभयोत्पादकत्वात् एवंविधो भाव आन्तरमायावक्रस्वभावो यासां ता घोरनिकुरम्बकन्दरचलद्वीभत्सभावाः, तासां स्त्रीणाम्। तं०। "घोर–रूवदित्तधरं ति" घोरं यद्रूपं दीप्तं च दृप्तं वा तद्धारयति यः स तथा तम्। भ० १६ श० ६ उ०।

घोरकट्ठ–त्रि० (घोरकष्ट) अतिकष्टे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार।

घोरगुण–पुं० (घोरगुण) घोरो निर्घृणः परीषहेन्द्रियकषायाख्याणां रिपूणां विनाशे कर्त्तव्ये, अन्ये त्वात्मनिरपेक्षं घोरमाहुः, 'घोरगुणो' घोरा अन्यैर्दुरनुचरा गुणाः मूलगुणादयो यस्य स तथा। अन्यैर्दुरनुचरगुणे, औ०। जं०। सू० प्र०। रा०। विपा०। भ०। चं० प्र०।

घोरतव–न० (घोरतपस्) आजीविकतपसि, घोरमात्मनिरपेक्षं तपः। स्था० ४ ठा०।

घोरतवस्सि (ण्)–पुं० (घोरतपस्विन्) घोरैस्तपोभिस्तपस्वी घोरतपस्वी। दारुणतपःकर्तरि, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। औ०। भ०। ति०। सू० प्र०। रा०। जं०।

घोरधम्म–पुं० (घोरधर्म) घोरो भयानको धर्मः। सर्वाश्रवनिरोधाद्दुर–नुचरे धर्म्मे, आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ०।

घोरपरक्कम–पुं० (घोरपराक्रम) घोरः पराक्रमः धर्म्मानुष्ठानविधिर्यस्य सः। उत्त० १४ अ०। रौद्रमनोबले, क्रोधादिचतुष्कषायाणां जये रौद्रसामर्थ्ये, उत्त० १२ अ०।

घोरबंभचेरवासि (ण्)–पुं० स्त्री० (घोरब्रह्मचर्यवासिन्) घोरं च तद् ब्रह्मचर्यं चाल्पसत्त्वैर्दुःखेन यदनुचर्य्यते तस्मिन् घोरब्रह्मचर्ये वस्तुं शील–मस्येति घोरब्रह्मचर्य्यवासी। उत्कृष्टब्रह्मचारिणि, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। जं०। चं० प्र०। सू० प्र०। रा०। औ०। नि०।

घोरविस–पुं० (घोरविष) परम्परया पुरुषसहस्रस्यापि हननसमर्थविषे, भ० १५ श० ११ उ०। उत्त०। ज्ञा०।

घोरव्वय–न० पुं० (घोरव्रत) घोराण्यन्यैर्दुरनुचराणि व्रतानि महाव्रतेषु तानि सन्त्यस्य तथा। ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। नि०। दुर्धरमहाव्रतधारिणि, उत्त० १ अ०।

घोरागार–पुं० (घोराकार) हिंस्राकृतौ, भ० ३ श० २ उ०। "घोरागारं तवचरणं करइ" आ० म० द्वि०।

घोरी–(देशी) शलभविशेषे, दे० ना० २ वर्ग।

घोरो–(देशी) नाशिते, गृध्रे पक्षिणि च। दे० ना० २ वर्ग।

घोल–पुं० न० (घोल) घुड–कर्म्मणि घञ्, डस्य लः। वाच०। वस्त्रगालिते दध्नि, ध० २ अधि०। प्रव०। वाच०। तक्रे, मथितदध्नि,

"तत्तु सस्नेहमजलं,मथितं घोलमुच्यते ।
सशरं निर्जलं घोलं,वातपित्तहरं स्मृतम् ॥ १ ॥
मस्तुना रहितं गाल्यं,दधि शुभ्रतरे पटे ।
जीरसैन्धवसंमिश्रं,घोलं घनतरं स्मृतम् ॥ २ ॥
जीरसैन्धवसंयुक्तं,घोलं वातप्रणाशनम् ।
अतीसारे च मन्देऽग्नौ,हितं रुच्यं बलप्रदम् ॥ ३ ॥
"हिङ्गुजीरयुतं घोलं,सैन्धवेन च संयुतम् ।
भवेदतीव वातघ्न–मर्शोऽतीसारहृत् परम् ॥ १ ॥
रुचिदं पुष्टिदं बल्यं,वस्तिशूलविनाशनम् ।
मूत्रकृच्छ्रे तु सगुडं,पाण्डुरोगे सचित्रकम् ' ॥ २ ॥ वाच० ।

घोलंत–त्रि० (घोलत्) दोलायमाने,औ० । आ० म० प्र० । रा० ।

घोलण–न० (घोलन) अङ्गुष्ठकाङ्गुलिगृहीतचाल्यमानयूकाया इव मर्दने,आ० क० । आ० म० । विशे० । महा० ।

घोलवडक–न० (घोलवटक) घोलयुक्तेवटके,प्रव० ४ द्वार । ध० ।

घोलिय–पुं० (घोलित) दधिघट इव पट इव वा घोलनां प्रापितेषु राजदण्डितपुरुषेषु,औ० । सूत्र० ।

घोलियं–(देशी) शिलातले,हठकृते च । दे० ना० २ वर्ग ।

घोस–पुं० (घोष) 'घुष् आधारे घञ् । वाच० । **"शषोसः ' ॥ ८ । १ । २६० ॥** इति षस्य सः । प्रा० १ पाद । आभीरपल्ल्याम्,तस्यां गोभिर्नादात्तथात्वम् । वाच० । गोकुले बृ० १ उ० । "घोसो गोउलं वि य एगट्ठं" घोष इति गोकुल मिति चैकार्थम् । बृ० ४ उ० । गोष्ठे,स्था० २ ठा० ४ उ० । कर्तरि अच्–गोपाले,वाच० । शब्दे, ज्ञा० १ श्रु० ६ अ० । सर्वदिव्यत्रुटि–तशब्दसन्निनादविशेषे,जी० ३ प्रति० । घण्टाऽनुप्रवृत्तरणितमिव यः शब्दः तस्मिन्,तं० । अनुनादे,भ० ६ श० १ उ० । उदात्तादिस्वरविशेषे, नं० । औ० । अनु० । भ० । "खयां यमाः खयः ≍क≍ पौ, विसर्गः शर एव च । एते श्वासानुप्रदानाः,अघोषाश्च विवृण्वते ॥ १ ॥ कण्ठमन्ये तु घोषाः स्युः,"इति शिक्षोक्ते वर्णोच्चारणबाह्यप्रयत्नभेदे,ध्वनौ,मेघशब्दे,कांस्ये, न० । मशके,घोषलतायाम्,स्त्री० । वाच० । कुमाराणामिन्द्रे,भ० ३ श० ८ उ० । स० । स्था० । चतुर्थदेवलोकस्थविमानभेदे,स० । (अस्य लोकपालादयो लोकपालादिशब्देषु वक्ष्यन्ते) "हैयङ्गवीनमादाय, घोषवृद्धानुपस्थितान् । ' वाच० ।

घोसजुय–न० (घोषयुत) यथावस्थितैरुदात्तादिभिर्घोषैर्युक्ते,बृ० १उ० ।

घोसण–न० (घोषण) घुष–भावे ल्युट् । ध्वनौ,नि० चू० १ उ० । भावे ल्युट् । उच्चशब्देन ज्ञापने व्यापारभेदे,वाच० । आ० म० । रा० । "घोसणे कोऊहलदिन्नकन्नए एगग्गचित्तउवउग्गमाणसाणमिति ' कीदृग्ग्रामघोषणं भविष्यतीत्येवं घोषणे कुतूहलेन दत्तौ कर्णौ यैस्ते घोषणकुतूहलदत्तकर्णाः,तथा एकाग्रं घोषणश्रवणैकविषयं चित्तं येषां ते एकाग्रचित्ताः,एकाग्रचित्तत्वेऽपि कदाचिदनुपयोगः स्यादत आह–उपयुक्तमानसाः । ततः पूर्वपदेन विशेषणसमासः । तेषां पटहेन घोषणां कारितवान् । रा० । आ० म० ।

घोसवती–स्त्री० (घोषवती) प्रद्योतनृपपुत्र्याः वासवदत्ताया दास्याम्, आ० क० । आ० चू० ।

घोसविसुद्धिकर–पुं० (घोषविशुद्धिकर) श्रुतसम्पद्भेदे,व्य० ।

घोषविशुद्धिमाह–

घोसा उदत्तमादी,तेहिं विसुद्धं तु घोसपरिसुद्धं ।
एस सुत्तोवसंवय,सरीरउवसंपयं अतो वुच्छं ॥

घोषा उदात्तादयस्तैर्विशुद्धं घोषविशुद्धं,तत्करणशीलो घोषविशुद्धिकरः । एषा चतुर्था श्रुतोपसंपत् । व्य० १० उ० ।

घोसविसुद्धिकारय–पुं० (घोषविशुद्धिकारक) श्रुतसम्पत्संपन्नभेदे, दशा० । घोषविशुद्धिकारकः,घोषा उदात्तादयः तेषां शुद्धिर्घोषशुद्धिः, विशेषेण शुद्धिर्विशुद्धिः,तां करोतीति घोषविशुद्धिकारकः । यतः स्वयं घोषशुद्धिमान् अन्यानपि तथैव स्वरशुद्धिकारकः । दशा० ४ अ० ।

घोसविसुद्धिकरया–स्त्री० (घोषविशुद्धिकरता) श्रुतसम्पद्भेदे,उदात्तानुदात्तादिस्वरविशुद्धिविधायितायाम्,उत्त० १ अ० । स्था० ।

घोससम–न० (घोषसम) उदात्तानुदात्तस्वरितकम्पितद्रुतविलम्बितविश्लिष्टापेक्षस्वरनियते,आ० चू० १ अ० । वाचनाचार्याभिहितोदात्तानुदात्तस्वरितलक्षणैर्घोषैः सदृशत्वेनैव गृहीते,विशे० । यथा गुरुणाऽभिहिता घोषाः तत्र तथा यत्र शिष्येणापि समुच्चार्यन्ते तद्घोषसमम् । आ० म० प्र० । ग० । अनु० ।

घोसहीण–(घोषहीन) उदात्तादिघोषरहिते,आव० ४ अ० । ध० ।

घोसाडिया–स्त्री० (घोषातकी) घोषातकी पृषो० । कोषातकीलतायां, श्वेतघोषालतायाम्,वाच० । रा० । प्रव० । जं० । जी० । आ० म० । प्रज्ञा० । फले,न० । प्रज्ञा० १ पद ।

घोसाली–(देशी) शरदुद्भवे वल्लिभेदे,दे० ना० २ वर्ग ।

इति श्रीमत्सौधर्मबृहत्तपागच्छीय–कलिकासर्वज्ञकल्प–
श्रीमद्भट्टारक जैन श्वेताम्बराचार्य श्री श्री १००८
श्रीविजयराजेनद्रसूरिविरचिते अभिधानराजेन्द्रे
घकारादिशब्दसङ्कलनं समाप्तम् ॥

———**———

चकार

च (य)–अव्य० (च) 'चि' डः। समुच्चये, ध० २ अधि०। विपा०। कर्म०। पं० सं०। नि० चू०। पञ्चा०। संघा०। स०। रा०। सामान्यसमुच्चये, प्रश्न० १ आश्र० द्वार। एकार्थिकसमुच्चये, प्रश्न० १ आश्र० द्वार। अनुक्तसमुच्चये, जीत०। अप्यर्थे, षो० ६ विव०। पुनरर्थे, दर्श०। व्य०। प्रश्न०। पञ्चा०। हिशब्दार्थे, विशे०। अवधारणे, पं० सं० १३ द्वार। नि० चू०। दश०। स्तुतावुत्कर्षणे, दर्श०। लक्षणे, विशेषे, नि० चू० १ उ०। पञ्च०। संघा०। पूरणे, नि० चू० १ उ०। आ० म०। पादपूरणे, नि० चू० १ उ०। अनुमतौ, नि० चू० १ उ०। भेदप्रदर्शने, नि० चू० १ उ०। अर्थानुकर्षणे, नि० चू० १ उ०। उपप्रदर्शने, औ०। अतिशयवचनप्रदर्शने, नि० चू० ४ उ०। आधिक्ये, आचा० १ श्रु० १ अ० ४ उ०। संक्षेपेण आख्याने, चशब्दात्क्वचित्केचित् संक्षेपेण आख्यायन्ते। सं०। "चः पुंसि चेतने चन्द्रे, चौरेऽहौ चारुदर्शने।" "चान्वाचयसमाहारे–तरेतरसमुच्चये। समासार्थेऽव्ययम्" एका०। पुं०। तुरुक्के, भरे, रुधिरे, त्रि०। विमलार्थे, अव्य० मिथोयोग, एका०।

"चः पुँल्लिङ्गे निशानार्थे, तुरुक्के तस्करे मरे।
चा शोभायां स्त्रियामुक्ता, रुधिरे चं नपुंसके॥
चशब्दस्त्रिषु लिङ्गेषु, विमलार्थेऽव्ययः स्मृतः।
समुच्चयान्वाचययोः, पक्षान्तरनिरूपणे॥
समासिके समाहारे, मिथो योगेऽप्युदाहृतः"। एका०। चण्डेशे, कच्छपे, त्रि०। दुर्जने, निर्वीजे, अव्य०। तुल्यत्वे हेतौ, विनियोगे, वाच०।

चइउं–अव्य० (त्यक्त्वा) त्यागं कृत्वेत्यर्थे, जीवा० १ अधि०।

चइऊण–अव्य० (च्युत्वा त्यक्त्वा।) च्यवनं कृत्वेत्यर्थे, उत्त० ६ अ०। त्यक्त्वा विहायेत्यर्थे, पञ्चा० १६ विव०। "चइऊण गारवासं, चरित्तिणो तस्स पालणाहेउं।" पं० व० १ द्वार। आचा०।

चइत्त–न० (चैत्य) चित्यायां इदम् अण्। **"अइदैत्यादौ च"** ॥ ८। १। १५१ ॥ इति ऐतः 'अइ' इत्यादेशः। एत्वापवादः। प्रा० १ पाद। **"त्योऽचैत्ये"** ॥ ८। २। १३ ॥ इह अचैत्य इति पर्युदासान्न चः। प्रा० २ पाद। ग्रामादिप्रसिद्धे महावृक्षे, देवावासे वृक्षे, जनानां सभास्थतरौ, आपतने, चिताचिह्ने, जनसभायां, यज्ञस्थाने, जनानां विश्रामस्थाने, देवस्थाने च। वाच०।

***चैत्र**–पुं० चित्रानक्षत्रेण युक्ता पौर्णमासी चैत्री, साऽस्मिन्मासे अण्। **"वैरादौ वा"** ॥ ८। १। १५२ ॥ इति एतो वा इरादेशः। प्रा० १ पाद। स्वनामख्याते शुक्लप्रतिपदादिदर्शान्तरूपे मासे, वाच०।

चइत्ता–अव्य० (च्युत्वा) त्यक्त्वा। च्यवनं कृत्वेत्यर्थे, स्था० ८ ठा०। कल्प०। भ०। त्यागं कृत्वेत्यर्थे, आचा० १ श्रु० ६ अ० २ उ०। भ०। औ०।

चइत्ताण–अव्य० (त्यक्त्वा) त्यागं कृत्वेत्यर्थे, "कणकुण्डगं चइत्ताणं विट्ठं भुजइ सूयरे (५)" उत्त० १ अ०।

चइत्तु–न० अव्य० (त्यक्त्वा) त्यागं कृत्वेत्यर्थे, "स देवगंधव्वमणुस्सपूइये, चइत्तु देहं मलपंकपुव्वयं (४८)" उत्त० १ अ०।

चउकट्ठी–स्त्री० (चतुष्काष्ठी) चतुरस्राकारे काष्ठचतुष्टये, "चउकट्ठिं काउं कोणे घडओ वज्झति" नि० चू० १ उ०।

चउकप्पसेगसित्त–त्रि० (चतुष्कल्पसेकसिक्त) चतुर्भिः सेकविषयैः कल्पैः सिक्ते ओदने, चत्वारश्च कल्पाः सेकविषया रसवतीशास्त्राभिज्ञे–यभ्यो भावनीयाः। जी० ३ प्रति०।

चउकारणपरिसुद्ध–त्रि० (चतुष्कारणपरिशुद्ध) निर्णयहेतुचतुष्कनिर्णीतदोषाभावे, "चउकारणपरिसुद्धं, कसछेदतावतालणाए य। जं तं विसघातिरसा यणादिगुणसंजुयं होइ" ॥ ३६ ॥ पञ्चा० १४ विव०।

चउकारणसंजुत्त–त्रि० (चतुष्कारणसंयुक्त) चतुर्भिः कारणैः संयुक्ते कारणचतुष्कसहिते, उत्त०।

"मोक्खमग्गगइं तच्चं, सुणेह जिणभासियं।
चउकारणसंजुत्तं, नाणदंसणलक्खणं" ॥ उत्त०।
"नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।
एस मग्गो त्ति पन्नत्तो, जिणेहिं वरदंसिहि" ॥
एष चतुष्कारणरूपो मोक्षमार्गो जिनैः केवलिभिस्तीर्थकरैश्च प्रज्ञप्तः। उत्त० २८ अ०।

चउक्क–त्रि० (चतुष्क) चत्वारि परिमाणमस्येति चतुष्कः। **"संख्याऽतेश्चाऽशत्तिष्टेः कः"** ॥ ६। ४। १३० ॥ इति (हेम०) कः प्रत्ययः। पिं०। **"संख्याया अतिशदन्तायाः कन्"** ॥ ५। १। २२ ॥ इति (पणि०) कन्। उत्त० १ अ०। चतसृणां रथ्यानां समागमे, बृ० १ उ०। चतुष्पथयुक्ते स्थाने, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। यत्र रथ्या चतुष्टयं मिलति। कल्प० ४ क्षण। भ०। औ०। रा०। "खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया! विजयाए रायहाणीए संघाडगेसु तत्तिएसु य चउक्केसु य।" जी० १ प्रति०। स्थापना–+ "सीले चउक्कं दव्वे, पाउरणाभयणभोयणादीसु। भावेउ ओहिसीलं, अभिक्ख–मासेवाणा चेव॥" सूत्र० १ श्रु० ७ अ०। "चउक्को कम्ममा–सओ" इत्यादि। चतसृभिः काकिणीभर्निष्पन्नत्वात्। चतुष्के, अनु०। चतुर्भिः स्तम्भैः कायति, कै–कः। चतुःस्तम्भयुक्ते मण्डपे, वाच०।

चउक्कनइय–न० (चतुष्कनयिक) वयचतुष्काभिप्रायतश्चिन्त्यमाने सूत्रे, स०।

चउक्कर–त्रि० (चतुष्कर) चत्वारः करा यस्येति चतुष्करः। चतुर्भुजे देवे, उत्त० ८ अ०।

चउक्कसाओवगय–त्रि० (चतुष्कषायोपगत) क्रोधाद्युदयवशगते, पा०।

चउक्कसायावगय–त्रि० (चतुष्कषायापगत) अपगतक्रोधादिक–

षायो यः सः। दश० ८ अ० १ उ०। क्रोधादिनिरोधकर्तरि, दश० ८ अ० १ उ०।

चउक्काल–पुं० (चतुष्काल) दिवसरजनिप्रथमचरमयामेषु, आव० ४ अ०। "चउक्कालं सज्झाय करित्तए।" स्था० ४ ठा० १ उ०।

चउक्कोण–त्रि० (चतुष्कोण) चतुरस्रे, "सउत्तराओ मणिसुवद्धाओ चउक्कोणाओ" चत्वारः कोणा यासां ताश्चतुष्कोणाः। एतच्च विशेषणं वापीकूपान् प्रति द्रष्टव्यम्। रा०। जं०। जी०।

चउगइय–त्रि० (चतुर्गतिक) चतसृणां गतीनामन्यतमस्यां गतौ विद्यमाने, पं० सं० ५ द्वार। कच्छपे, पुं०। स्त्री०। हेम०। वाच०।

चउगाउय–न० (चतुर्गव्यूत) गव्यूतचतुष्टये, "चउगाउए जोयणे पण्णत्ते।" स० ४ सम०।

चउगुरुग–पुं० (चतुर्गुरुक) चत्वारश्च ते गुरुकाश्चतुर्गुरुकाः। "आयरियगिलाणवच्छल्लं ण करेति चउ गुरुगा, पत्तेयं खमगस्स पाहुणस्स वच्छल्लं ण करेति चउलहुगा।" नि० चू० १ उ०।

चउचलणपइट्ठाण–त्रि० (चतुश्चरणप्रतिष्ठान) चतुर्भिश्चरणैः प्रतिष्ठिते, "चउचलणपइट्ठाणा, गोहिया पंचमं सरं। आडंवरो य धेवयं, महाभेरी य सत्तमं॥ २॥" चतुर्भिश्चरणैः प्रतिष्ठानं भुवि यस्याः सा। स्था० ७ ठा०। अनु०।

चउचामरवालवीइयंग–त्रि० (चतुश्चामरबालवीजिताङ्ग) चतुर्णा चामराणां बालैर्वीजितमङ्गं यस्य स तथा। चामरचतुष्ककेशैर्वीजितविग्रहे, भ० ७ श० ६ उ०।

चउज्झाइया–स्त्री० (चतुर्ध्यायिका) घटकस्य रसमानविशेषस्य चतुर्थभागमात्रे मानविशेषे, भ० ७ श० ८ उ०।

चउट्ठ–त्रि० (चतुर्थ) **"स्त्यानचतुर्थार्थे वा" ॥ ८। २। ३३॥** एषु संयुक्तस्य ठो वा भवति। प्रा० ५ पाद। चतुर्णा पूरणः। येन चतुःसंख्या पूर्यते तादृशे तुरीये, वाच०।

चउट्ठाणपरिणामपज्जत्त–न० (चतुःस्थानपरिणामपर्याप्त) चातुरक्ये, जी० ३ प्रति० ('चातुरक्कगोखीर' शब्दे व्याख्याऽस्य वक्ष्यते)

चउणउइ–स्त्री० (चतुर्नवति) चतुरधिकायां नवतिसंख्यायाम्, "चउणउइसहस्साइ, छप्पणहियं सयं कला।" स० ८३ सम०।

चउणयय–न० (चतुर्नयक) संग्रहव्यवहारऋजुसूत्रशब्दरूपनयचतुष्टयोपेते, संग्रहादिनयचतुष्टयेन चिन्त्यमाने, नं०।

चउणाणोवगय–त्रि० (चतुर्ज्ञानोपगत) मतिश्रुतावधिमनःपर्यायज्ञानरूपज्ञानचतुष्टयसमन्विते, चं० प्र० १ पाहु०। रा०। केवलज्ञानवर्जज्ञानचतुष्कसमन्विते, भ० १ श० १ उ०।

चउणारीओमिणण–न० (चतुर्नार्य्यवमान) चतुःसंख्या नार्यः स्त्रियः चतुर्नार्यः, ताभिर्मङ्गल्याभिः "ओमिणणं ति" अवमानं प्रोञ्छणकं लोकशास्त्रसिद्धं चतुर्नार्य्यवमानं भवति। चतसृभिर्नारीभिः क्रियमाणे प्रोञ्छणके, पञ्चा० ८ विव०।

चउणाम–न० (चतुर्नामन्) आगमादिचतुष्प्रकारैर्निष्पन्ने नाम्नि, अनु०।

से किं तं चउणामे ? चउणामे चउव्विहे पण्णत्ते। तं जहा–आगमेणं लोवेणं पयईएणं विगारेणं। से किं तं आगमेणं ?। आगमेणं पद्मानि पयांसि कुण्डानि, से तं आगमेणं। से किं तं लोवेणं ? लोवेणं ते अत्र, तेऽत्र, पटो अत्र पटोऽत्र, घटोअत्र, घटोऽत्र, से तं लोवेणं। से कि तं पगईए ? पगईए अग्नी एतो, पट इमौ, शाले एते, माले इमे, से तं पगईए। से किं तं विगारेणं ? विगारेणं दण्डस्य अग्रंदण्डाग्रं, सा आगता–साऽऽगता, दधि इदम्, दधीदम्, नदीइह, नदीह, मधु उदकम्–मधूदकम्, बधू उह–बधुह। से तं विगारेणं। से तं चउणामे॥

"से किं तं चउनामे" इत्यादि आगच्छतीत्यागमोऽन्वागमादिस्तेन निष्पन्नं नाम, यथा–"पद्मानीत्यादि" "धुट्स्वरादीसुः"। इत्यनेनात्र त्वागमस्य विधानात्। उपलक्षणमात्रं चैदम्–संस्कार उपस्कार इत्यादेरपि सुडाद्यागमनिष्पन्नत्वादिति। लोपो वर्णापगमरूपस्तेन निष्पन्नं नाम यथा तेऽवेत्यादि। "एदोत्परः पदान्ते" इत्यादिना अकारस्येह लुप्तत्वात्। नामत्वं चात्रं तेन तेन रूपेण नमन्नास्ते इति व्युत्पत्तेरस्त्येवेतीत्यन्यत्रापि वाच्यम्। उपलक्षणं चेदम्मनस् ईषामनीषा बुद्धिः। भ्रमतीति भूरित्यादेरपि सकारमकारादिवर्णलोपेन निष्पन्नत्वादिति। प्रकृतिः स्वभावो वर्णलोपाद्यभावः, तथा निष्पन्नं नाम, यथा–अग्नी एतावित्यादि "द्विवचनमनौ" इत्यनेनात्र प्रकृतिभावस्य विधानात्। निदर्शनमात्रं चेदम्–सरसिजं, कण्ठे कालः इत्यादीनामपि प्रकृतिनिष्पन्नत्वादिति। वर्णस्यान्यथाभावापादनं विकारः, तेन निष्पन्नम्–दण्डस्याग्रं, दण्डाग्रमित्यादि। "समानः सवर्णे दीर्घो भवति" इत्यादिना दीर्घत्वलक्षणस्य वर्णविकारस्येह कृतत्वात्, उदाहरणमात्रं चैतत्, तस्करः वो षोडशेत्यादिरपि वर्णविकारसिद्धत्वादिति। तदिह यदस्ति तेन सर्वेणापि नाम्ना आगमनिष्पन्नेन वा लोपनिष्पन्नेन वा प्रकृतिनिर्वृत्तेन वा विकारनिष्पन्नेन वा भवितव्यम्, मित्यादिनाम्नामपि सनि रूक्तत्वान्नमचतुर्धा "तुजमाहेत्यादि" वचनात्। ततश्चतुर्भिरप्येते सर्वस्य संग्रहाच्चतुर्नामेदमुच्यते, "से त्तं चउनामेति" निगमनम्। अनु०।

चउतंतुय–न० (चतुस्तन्तुक) तन्तुचतुष्टये, पञ्चा० ८ विव०।

चउतीस–स्त्री० (चतुस्त्रिंशत्) चतुरधिकायां त्रिंशत्संख्यायाम्, "चउतीसबुद्धवयणातिसेसपत्ते" चतुस्त्रिंशद्बुद्धानां जिनानां (वयण त्ति) वचनप्रमुखः सर्वस्वभावाऽनुगतं वचनं धर्मावबोधकरमित्यादिनोक्तस्वरूपा येऽतिशेषास्तान् प्राप्तो यः स तथा। औ०।

चउत्थ–त्रि० (चतुर्थ) चतुःसंख्यापूर्वके चत्वरे, विपा० १ श्रु० ३ अ०।

चउत्थभत्त–न० (चतुर्थभक्त) केवलमेकं पूर्वदिने, द्वे उपवासदिने, चतुर्थे पारणकदिने भक्तं भोजनं परिहरतो यत्र तपसि तच्चतुर्थभक्तम्। प्रवृत्तिस्तु चतुर्थभक्तशब्दस्यैकोपवासे, स्था० ३ ठा० ३ उ०। पञ्चा०।

तेषु चतुर्थभक्तं प्रायश्चित्तम्–

सहसाऽणाभोगेण व, जेसु पडिक्कमणमभिहियं तेसु।
आभोगेण वि बहुसो, अइप्पमाणे य निव्विगई॥ ४४॥
धावणडेवणसंघरि–सगमणकिड्डाकुहावणाइसु।
उक्किट्ठगीयछेलिय–जीवरुआईसु व चउत्था॥ ४५॥

सहसाऽनाभोगः प्रागुक्तस्वरूपः, सहसाऽनाभोगेन वा येषु वासितचित्तेषु स्थानकेषु प्रतिक्रमणार्हं प्रायश्चित्तमभिहितं, तेषु स्था–

न केषु मध्ये आभोगेनापि,कोऽर्थः ? जानन्नपि,बहुशः पुनर्यदा सेवते अतृप्यन्,अतिमात्रं वा तदेवासेवते,तत्र सर्वत्र निर्विकृतिकं प्रायश्चित्तम् अनन्तरगाथायां जानतः पौनःपुन्यासेवायां प्रायश्चित्तमुक्तम्,सा च शैक्षस्य दुर्दान्तस्य संभवति, दुर्दान्तश्च धावनादिकमपि कुर्यात्॥ ४४॥ अतस्तदर्थमाह–(धावणे त्ति) धावनमतिवेगेन गमनं, डेपनं वरण्डाद्युल्लङ्घनं, सङ्घर्षगमनम्–आवयोः कः शीघ्रगतिरिति स्पर्द्धया गमनं समश्रेणिस्थितस्य वाऽयनं, क्रीडा सारिचतुरङ्गद्युताद्याः (कुहावण त्ति) कुहविस्मापनं,अदन्तस्य धुरादित्वादिनि "ईषिपन्थ्यासिविदिभिदिकारितान्तेभ्यो युः।" इति युप्रत्ययः। कुहनादिविस्मयकारिणी, दन्तक्रिया इन्द्रजालगोलकखेलनाद्याः,आदिशब्दात् समस्याप्रहेलिकादयो गृह्यन्ते, उत्कृष्टिर्वकारपूवकः कलकलः, गीतं गानं, छेलितं सिण्टितं तस्करसंज्ञा,जीवरुतं मयूरमार्जारशुकसारादिलपितम्,आदिशब्दादजीव–रूतम् अरघट्टशकटपाटुकादिशब्दरूपं,चः समुच्चये,एतेषु सर्वेषु शुद्धिकृच्चतुर्थम्॥ ४५॥ जीत०।

चउत्थभत्तिय–त्रि० (चतुर्थभक्तिक) केवलमेकं पूर्वदिने द्वे उपवासदिने चतुर्थं पारणकदिने भक्तं भोजनं परिहरतो यत्र तपसि तच्चतुर्थभक्तं, तद्यस्यास्ति स चतुर्थभक्तिकः। प्रवृत्तिस्तुचतुर्थभक्तशब्दस्य एकाद्युपवासे इति। स्था० ३ ठा० ३ उ०। एकान्तरोपवासिनि साधौ,कल्प० ८ क्षण।

चउत्थी–स्त्री० (चतुर्थी) चन्द्रस्य चतुर्थकलायाः प्रवेशनिर्गमनरूपक्रियाऽऽत्मकतिथौ,व्याकरणोक्तेषु 'ङे भ्याम् भ्यस्' इति प्रत्ययेषु च। वाच०। "चाउद्दसिं पन्नरसिं च,जिज्ञा अट्ठमिं च नवमिं च। छट्ठिं च चउत्थिं च,वारसिं च दुण्हं पि पक्खाणं॥ ७॥ द० प० ८ प०। ज्यो०। विशे०। "चउत्थी संपयावणे" संप्रदाने चतुर्थी। अनु०। यथा–भिक्षवे भिक्षां दापयति ददाति वेति। संप्रदानस्योपलक्षणत्वादेवं–**"नमःस्वस्तिस्वाहास्वधाऽलंवषड्योगाच्च"॥ २। ३। १६॥** इति चतुर्थी भवति। स्था० ८ ठा०। नमो देवेभ्यः स्वाहा,अग्नये,इत्यादिषु संप्रदाने चतुर्थी भवतीत्येके। अन्ये तु उपाध्यायाय गां ददाति इत्यादिष्वेव संप्रदाने चतुर्थीमिच्छन्ति। अनु०।

चउदंत–पुं० (चतुर्दन्त) चत्वारो दन्ता अस्य। ऐरावते इन्द्रगजे,वाच०। स्था०। कल्प०।

चउदंसण–न० (चतुर्दर्शन) चतुर्णां दर्शनानां चक्षुरादीनां समाहारे, दर्श०। चक्षुर्दर्शनाऽचक्षुर्दर्शनावधिदर्शनकेवलदर्शनरूपे,कर्म० २ कर्म०।

चउदेवसेण–न० (चतुर्देवसेन) "जम्हा देवा सेणं,पडियगीउ पुव्वसंग–इया। ताहे चउदेवसेणो,देवासुरपूजितो नामं" ॥ ४६॥ विमलवाहननाम्नि तीर्थकरे,ति०।

चउद्दसपुव्वि–पुं० (चतुर्दशपूर्विण्) चतुर्दश पूर्वाणि विद्यन्ते यस्य,तेनैव तेषां रचितत्वात्,असौ चतुर्दशपूर्वीः। श्रुतकेवलिनि,चं० प्र० १ पाहु०। जं०। चतुर्दशपूर्विणः षट्स्थानपतित्वम्। नि० चू० १५ उ०। विशे०।

जं चोद्दस्सपुव्वधरा,छट्ठाणगया परोप्परं होंति।
तेण उ अणंतभागो,पन्नवणिज्जाण जं सुत्तं॥ १४२॥

यद्यस्मात्कारणाच्चतुर्दशपूर्वधराः षट्स्थानपतिताः परस्परं भवन्ति, हीनाधिक्येनेति शेषः। तथाहि–सकलाभिलाप्यवस्तुवेदितया य उत्कृष्टचतुर्दशपूर्वधरः,ततोऽन्यो हीन–हीनतरादिरागमे इत्थं प्रतिपादितः। तद्यथा–"अणंतभागहीणे वा, असंखेज्जभागहीणे वा, संखेज्जभागहीणे वा,संखेज्जगुणहीणे वा,असंखेज्जगुणहीणे वा, अणंतगुणहीणे वा।" यस्तु सर्वस्तोकोऽभिलाप्यवस्तुज्ञायकतया सर्वजघन्यः, ततोऽन्य उत्कृष्ट उत्कृष्टतरादिरप्येवं प्रोक्तः। तद्यथा–"अणंतभागब्भहिए वा, असंखेज्जभागब्भहिए वा संखेज्जभागब्भहिए वा संखेज्जगुणब्भहिए वा असंखेज्जगुणब्भहिए वा, अणंतगुणब्भहिए वा।" तदेवं यतः परस्परं षट्स्थानपतिताश्चतुर्दशपूर्वविदः, तस्मात्कारणात् यत् सूत्रं चतुर्दशपूर्वलक्षणं, तत् प्रज्ञापनीयानां भावानामनन्तभाग एवेति। यदि पुनर्यावन्तः प्रज्ञापनीया भावास्तावन्तः सर्वेऽपि सूत्रे निबद्धा भवेयुः, तदा तद्वेदिनां तुल्यतैव स्यात्,न षट्स्थानपतितत्वमिति भावः, इति गाथार्थः॥ १४२॥ विशे०।

चतुर्दशपूर्विणो विकुर्वणा–

पभू णं भंते ! चोद्दसपुव्वी घडाओ घडसहस्सं पडाओ पडसहस्सं कडाओ कडसहस्सं रहाओ रहसहस्सं छत्ताओ छत्तसहस्सं दंडाओ दंडसहस्सं अभिनिव्वट्टेत्ता उवदंसेत्तए ? हंता पभू। से केणट्ठेणं पभू चोद्दसपुव्वी० जाव उवदंसेत्तए ? गोयमा ! चोद्दसपुव्विस्स णं अणंताइं दव्वाइं उक्कारियाभेएणं भिज्जमाणाइं लद्धाइं पत्ताइं अभिसमण्णागयाइं भवंति,से तेणट्ठेणं० जाव उवदंसित्तए,सेवं भंते भंते त्ति॥

(घडाओ घडसहस्सं ति) घटादवधेर्घटनिस्रां कृत्वा घटसहस्रम् (अभिनिव्वट्टित्ता) अभिनिर्वर्त्य विधाय श्रुतसमुत्थलब्धिविशेषेण उपदर्शयितुं प्रभुरिति प्रश्नः। (उक्कारियाभेएणं ति) इह पुद्गलानां भेदः पञ्चधा भवति, खण्डादिभेदात्। तत्र खण्डभेदः खण्डशो यो भवति लोष्टादेरिव, प्रतरभेदोऽभ्रपटलानामिव, चूर्णिकाभेदस्तिलादिचूर्णवत्, अनुतटिकाभेदोऽवटतटभेदवत्, उत्कारिकाभेद एरण्डवीजानामिवेति,तत्रोत्कारिकाभेदेन भिद्यमानानि (लद्धाइं ति) लब्धिविशेषात् ग्रहणविषयतां गतानि। (पत्ताइं ति) तत एव गृहीतानि (अभिसमण्णागयाइं ति) घटादिरूपेण परिणमयितुमारब्धानि,ततस्तैर्घटसहस्रादि निर्वर्त्तयति, आहारकशरीरवन्निर्वर्त्य च दर्शयति जनानाम्,इह चोत्कारिकाभेदग्रहणं तद्भिन्नानामेव द्रव्याणां विवक्षित घटादि निष्पादनसामर्थ्यमस्ति,नान्येषामिति कृत्वेति॥ भ० ५ श० ४ उ०।

चउद्दह–त्रि० (चतुर्दश) **"संख्यागद्वदेरः"॥ ८। १। २१६॥** संख्यावाचिनि गद्वदशब्दे च दस्य रो भवति। इह असंयुक्तस्येवेत्युक्तेर्महे। प्रा० १ पाद। चतुरधिकदशसंख्याभेदे,तत्संख्याते पदार्थे च। वाच०।

चउद्दिस–न० (चतुर्दिक्) दिक्चतुष्टये,"माणसुत्तरस्स णं पव्वयस्स चउद्दिसिं चत्तारि कूडा पण्णत्ता" चतसृणां दिशां समाहाश्चतुर्दिक्,तस्मिन्श्चतुर्दिशि,अनुस्वारःप्राकृतत्वात्। स्था० १ ठा० १ उ०।

चउद्धा–अव्य० (चतुर्द्धा) प्रकारे धा च। चतुष्प्रकारे,वाच०। पञ्चा०।

चउधाउय–त्रि० (चतुर्धातुक) चतुर्भिर्धातुभिर्निष्पन्ने, सूत्र०।

बौद्धाश्चतुर्धातुकमिदं जगदाहुरित्येतद्दर्शयितुमाह–

पुढवी आउ तेऊ य, तहा वाऊ य एगओ।
चत्तारि धाउणो रूवं, एवमाहंसु अच्चटे॥ १८॥

पृथिवीधातुरापश्च धातुस्तथा तेजो वायुश्चेति, धारकत्वात्पोषकत्वाच्च धातुत्वमेषाम्। (एगउ त्ति) यदैते चत्वारोऽप्येकाकारपरिणतिं बिभ्रति कायाकारतया, तदा जीवव्यपदेशमश्नुवन्तः। तथा चोचुः–चतुर्धातुकमिदं शरीरं, न तद्व्यतिरिक्तआत्माऽस्तीति। (एवमाहंसु अच्चेटत्ति) अर्चटा बौद्धविशेषा एवमाहुरभिहितवन्त इति। क्वचित् "जाणगा" इति पाठः। तत्राप्ययमर्थः–जानका ज्ञानिनो वयं किलेत्यभिमानाग्नि–दग्धाः सन्त एवमाहुरिति संबन्धनीयम्। अफलवादित्वं चैतेषां क्रियाक्षण एव कर्तुः सर्वात्मना नष्टत्वात् क्रियाफलेन सम्बन्धाभावादवसेयम्। सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०। (अस्मिन्नेव भागे ७०५ पृष्ठ 'खणिय' शब्दे क्षणिकत्वं निराकृतम्) तदेवं क्षणिकस्य विचाराक्षमत्वात्परिणामानित्यपक्ष एव ज्यायानिति। एवं च सत्यात्मा परिणामी ज्ञानाधारो भवान्तरयायी भूतेभ्यः कथञ्चिदन्य एव शरीरेण सहायोऽन्धोऽन्यानुवेधादनन्योऽपि। तथा सहेतुकोऽपि नारकतिर्यङ्मनुष्यामरभवोपादानकर्मणा तथा तथा विक्रियमाणत्वात् पर्यायरूपतयेति, तथाऽऽत्मस्वरूपाप्रच्युतेर्नित्यत्वादहेतुकोऽपीति। आत्मनश्च शरीरव्यतिरिक्तस्य साधितत्वाच्चतुर्धातुकमात्रं शरीरमेवेदमित्येतदुन्मत्तप्रलपितमपकर्णयि–तव्यमित्यलं प्रसङ्गेनेति। सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०।

चउपत्थ–न० (चतुष्प्रस्थ) चत्वारः प्रस्थाः समाहृताश्चतुष्प्रस्थम्। आढके, तोल्यत्वचिन्तायां पञ्चाशत्पलेषु, ज्यो० २ पाहु०।

चउपाल–न० (चतुष्पाल) 'चउपालका'ऽभिधानप्रहरणकोशे, "सूरियाभस्स देवस्स चउपाले णामं पहरणकोसे।" रा०।

चउपुरिसपविभत्तगइ–स्त्री० (चतुष्पुरुषप्रविभक्तगति) चतुर्धा पुरुषाणां प्रविभक्तगतौ, प्रज्ञा०।

से किं तं चउपुरिसपविभत्तगती ? चउपुरिसपविभत्तगती से जहानामए चत्तारि पुरिसा समगं पव्वइया समगं पट्ठिता, विसमं पट्ठिता विसमं पव्वइया, सेत्तं चउपुरिसपविभत्तगती।

चतुर्धा पुरुषाणां प्रविभक्तगतिः चतुष्पुरुषप्रविभक्तगतिः, तच्चतुर्धा–त्वम् "समगं पव्वइया" इत्यादिना ज्ञेयम्। प्रज्ञा० १६ पद।

चउप्पइया–स्त्री० (चतुष्पादिका) भुजपरिसर्पिणीभेदे, जी० २ प्रति०।

चउपज्जाय–त्रि० (चतुष्पर्याय) चत्वारः पर्यायाः नामाकारद्रव्यभावल–क्षणा यत्र तच्चतुष्पर्यायम्। नामादिचतुर्विधनिक्षेपनिक्षिप्ते, विशे०। ('निक्खेव' शब्देऽस्य व्याख्या द्रष्टव्या)

चउप्पडोयार–त्रि० (चतुष्प्रत्यवतार) चतुर्षु भेदलक्षणालम्बनानुप्रेक्षा–लक्षणेषु पदार्थेषु प्रत्यवतारः समवतारो विचारणीयत्वेन यस्य तच्चतुर्विधप्रत्यवतारम्। भ० २५ श० ६ उ०। ग०। स्था०। "चउपडोयारं नाम एक्केक्कं तत्थ चउव्विहं" नि० चू० ४ उ०।

चउप्पद–पुं० (चतुष्पद) चत्वारि पदानि पादा येषां ते। स्था० १० ठा०। अश्वादौ, नि० चू० ३ उ०। चतुष्पदा दशधा–"गावी महिसी उट्टी, अय एलग आस आसतरगा य। घोडग गद्दभ हत्थी, चउप्पदा होंति दसधा उ॥" नि० चू० २ उ०। एते प्रतीता नवरमस्यां वाहीकादिदेशोत्पन्ना जात्या अश्वाः, अश्वतरा वेगसरा अजात्या घोटकाः। ध० २ अधि०। आचा०। स०। आ० चू०। सूत्र०। विशे०। दश०। आव०। अनु०।

चतुष्पदमाह–

गावी महिसी उट्टी, अय एलग आस आसतरगा य।
घोडग गद्दह हत्थी, चउप्पयं होइ दसहा उ॥ २३॥

गौर्महिषी उष्ट्री अजा एडका अश्वा अश्वतराश्च घोटका गर्दभा हस्तिनश्चतुष्पदं भवति दशधा तु। एते गवादयः प्रतीता एव, नवरमश्वा वाह्लिका–दिदेशोत्पन्ना जात्याः, अश्वतरा वेगसरा अजात्या घोटका इति गाथार्थः। दश० ६ अ०।

चउव्विहा चउप्पया पण्णत्ता। तं जहा–एगखुरा दुखुरा गंडीपदा सणहपदा।

चतुष्पदाः स्थलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चः, एकः खुरः पादे पादे येषां ते एकखुरा अश्वादयः, एवं द्वौ खुरौ येषां ते तथा ते च गवादयः, गण्डी सुवर्णकारादीनामधिकरणी गण्डिका, तद्वत्पदानि येषां ते तथा ते हस्त्यादयः (सणहप्पय त्ति) सनखपदा नाखरा सिंहादयः। स्था० ४ ठा० ४ उ०। स०। ववादिषु करणेषु नवमे करणे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०। "अमावासाए दिवा चउप्पयं" अमावास्यायां दिवा चतुष्पदं करणम्। आ० म० प्र०। आ० चू०। विशे०।

चउप्पयथलयरपचिंदियतिरिक्खजोणिय–पुं० (चतुष्पदस्थलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिक) चत्वारि पदानि पादा येषां ते चतुष्पदास्ते च ते, स्थले चरन्तीति स्थलचराश्चेति चतुष्पदस्थलचरास्ते च ते पञ्चेन्द्रियाश्चेति विग्रहः, पुनस्तिर्यग्योनिकाश्चेति कर्मधारयः। स्थलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकभेदेषु, स्था० १० ठा०। सूत्र०। (एषामाहार 'आहार' शब्दे द्वितीयभागे ४९६ पृष्ठे उक्तः)

चउप्पयविहिपरिमाण–त्रि० (चतुष्पदविधिपरिमाण) चतुष्पदानामुपभोगपरिमाणे, उपा० १ अ०। ('आणंद' शब्दे द्वितीयभागे १०६ पृष्ठे सूत्रं द्रष्टव्यम्)

चउप्पया–स्त्री० (चतुष्पदा) पौषीपूर्णिमायाम्, चतुष्पदा पौरुषी स्यात्। चतुर्भिः पदैर्गम्यमाने दिनप्रहरे, उत्त० २६ अ०।

चउप्पदी–स्त्री० (चतुष्पदी) स्थलचरतिर्यग्स्त्रीभेदे, "से किं तं चउप्पदीओ ? चउप्पदीओ चउव्विहाओ पण्णत्ताओ। तं जहा–एगखुरीओ० जाव सणप्पईओ।" जी० २ प्रति०। चतुश्चरणात्मके पद्ये, वाच०।

चउप्पुडय–न० (चतुष्पुटक) चतुर्भिः पुटकैरुपेते, "सयमेव चउप्पुडयं दारूमयं।" भ० ३ श० २ उ०।

चउव्वग्ग–पुं० (चतुर्वर्ग) चतुर्णां वर्गे, आचा० २ श्रु० २ चू०। चतुर्णां धर्मार्थकाममोक्षाणां वर्गः समुदायः। धर्मार्थकाममोक्षेषु चतुर्षु पुरुषार्थेषु, वाच०।

चउब्भाग–पुं० (चतुर्भाग) पादे, चतुर्थांशे, स्था० ३ ठा० ४ उ०।

चतुब्भुय–पुं० (चतुर्भुज) चत्वारो भुजा हस्ता अस्य। नारायणे, वाच०। "दट्ठूण तओ जणणी, चउब्भुयपुत्तमब्भुमणग्घं"। सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ०।

चउभंग–पुं० स्त्री० न० (चतुर्भङ्ग) चत्वारो भङ्गाः समाहृताश्चतुर्भङ्गी, चतुर्भङ्गं वा, पुँल्लिङ्गता चात्र प्राकृतत्वात्। चतुर्षु भङ्गेषु "सुद्धे णामं एगे सुद्धे, सुद्धे णामं एगे असुद्धे, असुद्धे णामं एगे सुद्धे, असुद्धे णामं एगे असुद्धे चउभंगो" स्था० ४ ठा० १ उ०।

चउमाइया–स्त्री० (चतुर्भागिका) माणिकायाश्चतुर्भागवर्तित्वात् चतुर्ष्वष्टिपलमाना चतुर्भागिका। माणिकायाश्चतुर्भागवर्तिनि रसमानविशेष, अनु०।

चउमट्टिया–स्त्री० (चतुर्मृत्तिका) चैलेन कुट्टितायां मृत्तिकायाम्, "चेलेण सह मट्टिया कुट्टिया चउमट्टिया"। नि० चू० १८ उ०।

चउमुट्ठिलोय–पुं० (चतुर्मुष्टिलोच) चतर्मुष्टिकलोचे, कल्प०।

असोगवरपायवस्स अहे० जाव सयमेव चउमुट्ठियं लोयं करेइ। करेइत्ता छट्ठेणं भत्तेणं अपाणएणं आसाढाहिं नक्खत्तेणं जोगमुवागएणं उग्गाणं भोगाणं राइन्नाणं खत्तियाणं चउहिं सहस्सेहिं सद्धिं एगं देवदूसमादाय मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए॥ २११॥

अशोकवरवृक्षस्य अधः०यावत् आत्मनैव चतुर्मौष्टिकं लोचं करोति, चतसृभिर्मुष्टिभिर्लोचे कृते सति अवशिष्टाम् एकां मुष्टिं सुवर्णवर्णयोः स्कन्धयोरुपरि लुठन्तीं कनककलशोपरिविराजमानां नीलकमलमालामिव विलोक्य हृष्टचित्तस्य शक्रस्य आग्रहेण रक्षितवान् "छट्ठेणं" इत्यादि सुगमम्॥ २११॥ कल्प० ७ क्षण०।

चउमुह–पुं० (चतुर्मुख) चत्वारि मुखान्यस्य। चतुरानने वेधसि, चतुर्द्वारि गृहे, न०। चतुर्षु मुखेषु, त्रि०। औषधभेदे, पुं०। वाच०। चतुर्मुखे पथि, यस्माच्चतृष्वपि दिक्षु पन्थानो निस्सरन्ति। आ० म० प्र०। जी०। चतुर्द्वारि देवकुलादौ, औ०। भ०। कल्प०। स्था०। आचा०। अनु०। ज्ञा०। स्वनामख्याते पाटलिपुत्रस्य राज्ञि, "यं एयं च नयरं, पाडलिपुत्तं तु विस्सुयं लोए। एत्थं होई राया, चउम्मुहो नाम नामेणं॥" ज्ञा० १ श्रु० १ अ०।

चउपाह–न० (चतुरह) दिनचतुष्टये, आचा० २ श्रु० ३ अ० १ उ०।

चउर–त्रि० ब० व० (चतुर) चत् उरन्। चतुःसंख्यायाम्, चतुःसंख्यासमन्विते च।

चतुरशब्दस्य निक्षेपः–

नामं ठवणा दविए, खेत्ते काले य गणण भावे य।
निक्खेवो य चउण्हं, गणनासंखाएँ अहिगारो॥

उत्त० ३ अ०।

तत्र नामस्थापने क्षुण्णे, द्रव्ये विचार्ये सचित्ताचित्तमिश्राणि द्रव्याणि चतुःसंख्यतया विवक्षितानि, क्षेत्रे चतुःसंख्यापरिच्छिन्ना आकाशदेशा यत्र वा चत्वारो विचार्यन्ते, काले च चत्वारः समयावलिकादयः कालभेदाः यदा चामी व्याख्यायन्ते गणनायां चत्वार एको द्वौ त्रयश्चत्वार इत्यादि, गणनाऽन्तःपातिनः, भावे चत्वारो मानुषत्वादयोऽभिधास्यमाना भावाः। एषां मध्ये केनाधिकारः? उच्यते–गणनासंख्याऽधिकारः। किमुक्तं भवति?–गणना चतुर्भिरधिकारस्तैरेव वक्ष्यमाणानामङ्गानां गण्यमानतया तेषा–मेवोपयोगित्वादिति गाथार्थः॥ उत्त० ३ अ०। "चउरंगुलसुप्पमाणकंबुवरसरिसग्गीवा" चतुरङ्गुललक्षणं सुष्ठु प्रमाणं यस्याः सा तथाविधकम्बुवरसदृशी चोन्नततया वलित्रययोगाच्च प्रधानशङ्खसदृशी ग्रीवा कण्ठो यस्य तथा। जी० ३ प्रति०। पुं०। वक्रगतौ, हस्तिशालायां च। कार्यदक्षे, आलस्यहीने, निपुणे च। त्रि०। नायकभेदे, पुं०। चतुर–अर्श० अच्। चतुःसंख्यायिशिष्टे, त्रि० वाच०। "केसी गायइ मंहुर, केसी गायइ खरं च रुक्खं च। केसी गायइ चउरं, केसि विलंबं दुतं केसी॥" स्था० ७ ठा०।

चउरंग–न० (चतुरङ्ग) चत्वारि चतुर्गुणितानि (उत्त० ३ अ०) अङ्गानि मनुष्यादिभावाङ्गानि, (उत्त० ४ अ०) तेषां समाहारः मानुष्यधर्मश्रुति–श्रद्धातपःसंयमवीर्यचतुष्टयरूपे, व्य० ३ उ०। मोक्षोपायसाधने, उत्त० ३२ अ०।

नासेती अग्गीतो, चउरंगं सव्वलोयसारंगं।
नट्ठम्मि य चउरंगे, न हु सुलहं होइ चउरंगं॥

अगीतार्थो निर्यापकः, तस्य कृतभक्तप्रत्याख्यानस्य चतुरङ्गं चतुर्णामङ्गानां समाहारः चतुरङ्गम, कथंभूतमित्याह–सर्वलोकसाराङ्गम्। अङ्गवरं प्रधानमित्यनर्थान्तरम्, सर्वेषामपि त्रयाणामपि लोकानां यानि अङ्गानि तेषां सारमिति। विशिष्टमङ्गं प्रधानं सर्वलोकसारङ्गीणचतुरङ्गेन पुनः सुलभप्रायं भवति चतुरङ्गम्, किं तु चुल्लकादिदृष्टान्तैरतिशयेन दुष्प्राप्यं, ततोऽगीतस्य समीपे भक्तं न प्रत्याख्येथम्॥

किं पुण तं चउरंगं, जं नट्ठं दुल्लभं पुणो होइ।
माणुस्सं धम्मसुती, सद्धा तवसंजमे विरियं॥

किं पुनस्तत् चतुरङ्गं यद् नष्टं सत् पुनर्दुर्लभं भवति। सूरिराह–मानुष्यं मानुषत्वं, धर्म्मश्रुतिः धर्म्मश्रवणं, श्रद्धा, तपसि संयमे च वीर्यमिति। व्य० १ उ०। अङ्ग०। आ० म०। उत्त०।

चत्तारि परमंगाणि, दुल्लहाणीह जंतुणो।
माणुसत्तं सुई सद्धा, संजमम्मि य वीरियं॥ १॥

"चत्तारि" इत्यादि। चत्वारि चतुःसंख्यानि, परमाणि च तानि अत्यासन्नोपकारित्वेन अङ्गानि च मुक्तिकारणत्वेन परमाङ्गानि परमङ्गानि, दुर्लभानि दुःखेन लभ्यन्त इति कृत्वा दुष्प्राप्याणि, इहास्मिन् संसारे, कस्य? जायत इति जन्तुस्तस्य, देहिन इत्यर्थः। पठ्यते च–देहिन इति। कानि पुनस्तानि? मनसि शेते मानुषोऽथवा मनोरपत्यमिति वाक्ये **"मनोर्जातावञ्यतौ षुक् च।" ४। १। १६१।** इति अञ्–प्रत्यये ष्वागमे च मानुषत्वं मनुजभावः, श्रवणं श्रुतिः, सा चार्थप्रकरणादिभ्यः सामान्यशब्दा अपि विशेषेऽवतिष्ठन्ते इति न्यायाद्धर्म्मविषया, श्रद्धाऽपि तत एव धर्म्मविषया, संयमेआश्रवविरमणाद्यात्मनि, चः समुच्चये, भिन्नक्रमः, ततो विशेषणेरयति प्रवर्तयति आत्मानं तासु तासु क्रियास्विति वीर्यं च सामर्थ्यं विशेषम् इति सूत्रार्थ॥ १॥

तत्र मानुषत्वं दुर्लभं तद्दर्शयितुमाह–

समावन्ना ण संसारे, नाणागोत्तासु जाइसु।

कम्मा नाणाविहा कट्ठु, पुढो विस्संभिया पया ॥ २ ॥

समन्तादापन्नाः प्राप्ताः समापन्नाः । 'णं' इतिवाक्यालङ्कारे । क्रेत्या–ह–संसारे, तत्रापि क्र, नानेत्यनकार्थो, गोत्रशब्दश्च नामपर्यायः, ततो नानागोत्रास्वनेकाभिधानासु जायन्ते जन्तव आस्विति जातयः क्षत्रि–याद्याः, तासु । अथवा–जननानि जातयः, ततो जातिषु क्षत्रियादिजन्मसु नानाहीनमध्यमोत्तमभेदेनानेकं गोत्रं यासु तास्तथा तासु । अत्र हेतुमाह– क्रियन्त इति कर्माणि, ज्ञानावरणादीनि, नानाविधानि अनेकप्रकाराणि, कृत्वा निर्वर्त्य, (पुढो त्ति) पृथक् पृथक् भेदेन । किमुक्तं भवति ?, एकै–कशः (विस्संभिय त्ति) विशेरलाक्षणिकत्वात् विश्वं जगद् बिभ्रति पूर–यन्ति क्वचित् कदाचिदुत्पत्त्या सर्वजगद्व्यापनेन विश्वभृतः । उक्तं च– ''णत्थि किर सो पएसो, लोए वालग्गकोडिमत्तो वि । जम्मणमरणावाहा, जत्थ जिएहिं न संपत्ता'' ॥ १ ॥ इदमुक्तं भवति–अवाप्यापि मानुषत्वं स्वकृतविचित्रकर्म्मानुभावतः पृथग्गतिभागिन्य एव भवन्ति, काः ?प्रजा जनसमूहरूपाः, तदनेन प्राप्तमनुष्यत्वानामपि कर्मवशाद्विविधगतिगमनं मनुष्यत्वं दुर्ल्लभहेतुरुक्तः । यद्वा–संसारे कर्माणि नानाविधानि कृत्वा पृथगिति भिन्नासु नानागोत्रास्वनेककुलकोट्युपलक्षितासु जातिषु देवा–द्युत्पत्तिरूपासु समापन्नाः संप्राप्ताः, वर्त्तन्त इति गम्यते । ''णं'' इति प्राग्वदविश्रम्भिताः सञ्जातविश्रम्भाः सत्यः, प्रक्रमात्कर्मस्वेव तद्वि–पाकदारुणत्वापरिज्ञानात् । काः ? प्रजायन्ते इति प्रजाः प्राणिन इति सम्बन्धः । तदनेन प्राणिनां विविधदेवादिभवभवनं मूलत एव मनुजत्व–दुर्लभत्वे कारणमुक्तमिति सूत्रार्थः ॥ २ ॥

अमुमेवार्थं भावयितुमाह–

एगया देवलोएसु, नरएसु वि एगया ।
एगया आसुरं कायं, आहाकम्मेहिं गच्छइ ॥ ३ ॥

(एकदेति) एकस्मिन् शुभकर्म्मानुभवकाले दीव्यन्ति देवाः, तेषां लोका उत्पत्तिस्थानानि देवगत्यादिपुण्यप्रकृत्युदयविषयतया लोक्यन्ते इति कृत्वा तेषु देवलोकेषु, नरान् कायन्ति योग्यतयाऽऽह्वयन्तीति नरकाः, तेषु रत्नप्रभादिषु नारकोत्पत्तिस्थानेषु, अपिशब्दस्य चार्थत्वात् तेषु चैकदा शुभानुभवकाले, तथैकदा तथाविधभावनाभावितान्तःकरणा–वसरे, असुराणामयमासुरस्तमसुरसम्बन्धिनं, चीयत इति कायः, निकायमित्यर्थः । बालतपःप्रभृतिरपि तत्प्राप्तिरिति दर्शनार्थं देवलोको–पादानेऽपि पुनरासुरकायग्रहणम् । अथवा–देवलोकशब्दस्य सौधर्म्मा–दिषु रूढत्वात्तदुपादानमुपरितनदेवोपलक्षणमिदं चाधस्त्यदेवोपलक्षण–मिति न पौनरुक्त्यम् (आहाकम्मेहिं ति) आधानमाधा करणमित्यर्थः । तदुपलक्षितानि कर्माण्याधाकर्म्माणि, तैः । किमुक्तं भवति ?–स्वयं विहितैरेव सरागसंयममहारम्भासुरभावनादिभिर्देवनारकासुरगति–हेतुभिः क्रियाविशेषैर्यथाकर्म्मभिर्वा तत्तद्गत्यनुरूपचेष्टितैर्गच्छन्ति यान्ति । इति सूत्रार्थः ॥ ३ ॥

एगया खत्तिओ होइ, तओ चंभालवोक्कसो ।
तओ कीडपयंगो य, तओ कुंथुपिपीलिया ॥ ४ ॥

(एकदेति) मनुष्यजन्मानुरूपकर्म्मप्रकृत्युदयकाले, (खत्तिय त्ति) 'क्षण' हिंसायाम् । क्षणनानि क्षतानि, तेभ्यस्त्रायत इति क्षत्रियो राजा भवतिः, तत इति तदन्तरं तको वा प्राणी चण्डालः प्रतीतः । यदि वा–शूद्रेण ब्राह्मण्यां जातश्चण्डालः, ''वोक्कसो'' वर्णान्तरभेदः । तथा च वृद्धा–''बंभणसुद्दीओ जाओ निसातो त्ति वुच्चति, बंभणेण वेसीए जाओ अंबट्ठो त्ति वुच्चति, तत्थ निसाएणं जो अंबट्ठीए जाओ सो वोक्कसो भण्णति ।'' इह च क्षत्रियग्रहणादुत्तमजा–तयः, चण्डालग्रहणान्नीच–जातयः, ''वोक्कस'' ग्रहणाच्च सङ्कीर्णजातय उपलक्षिताः, ततः मानुषत्वादुद्वृत्येति शेषः, कीटःप्रतीतः, पतङ्गः शलभः । चःसमुच्चये, ततस्तको वा (कुंथुपिपीलिक त्ति) चशब्दस्य सूत्रनिर्दिष्टत्वात्कुन्थुः पिपीलिका च, भवतीति सर्वत्र संबध्यते । शेषतिर्यग्भेदोपलक्षणं चैतदिति सूत्रार्थः ॥ ४ ॥

किमित्थं पर्यटन्तस्ते निर्विद्यन्ते, न वेत्याह–

एवमावट्टजोणीसु, पाणिणो कम्मकिव्विसा ।
न निव्विज्जंति संसारे, सव्वट्ठेसु य खत्तिया ॥ ५ ॥
कम्मसंगेहिं संमूढा, दुक्खिया बहुवेयणा ।
अमाणुसासु जोणीसु, विणिहम्मंति पाणिणो ॥ ६ ॥

एवममुनोक्तन्यायेन, आवर्तनमावर्तः परिवर्त इति योऽर्थो युवन्ति मिश्रीभवन्ति कार्मणशरीरिण औदारिकादिशरीरैराशु जन्तवो युपन्ते सेवन्ते ता इति वा योनय आवर्तोपलक्षिता योनयस्तासु, प्राणिनो जन्तवः, कर्मणोक्तरूपेण, किल्विषा अधमाः कर्मकिल्विषाः, प्राकृत–त्वाद्वा पूर्वापरनिपातः । किल्विषाणि क्लिष्टतया निकृष्टान्यशुभानुबन्धीनि कर्माणि येषां ते किल्विषकर्माणो न निर्विद्यन्ते कदैतद्विमुक्तिरिति नोद्वि–जन्ते, क्व आवर्तयोनय इत्याहसंसारे भवे, केष्विव के न निर्विद्यन्ते इत्याह–सर्वे च तेऽर्थाश्च मनोज्ञशब्दादयो, धनकनकादयो वा सर्वार्था–स्तेष्विव, क्षत्रिया र जानः । किमुक्तं श्रवति ?। यथा मनोज्ञान् शब्दादीन् भुञ्जानानां तेषां तदर्थोऽभिवर्धते, एवं तासु योनिषु पुनरुत्पत्त्या कलङ्क–लीभावमनुभवतामपि भवाभिनन्दिनां प्राणिनामिति; कथमन्यथा न तत्प्रतिघातार्थसुद्यच्छेयुरिति भावः । पाठान्तरं वा–''सव्वट्ठ इय खत्तिय त्ति'' इवो भिन्नक्रमः, ततः सर्वैः शयनादिभिरर्थः प्रयोजनमस्येति सर्वार्थः, क्षत्रियः, स चार्थाद्भ्रष्टराज्यः, तथैतेऽपि प्राणिनः सुखान्य–भिलपन्तः, अनिर्विद्यमानाश्च कर्मभिर्ज्ञानावरणीयादिभिःसङ्गाः सम्ब–न्धाः कर्मसंयोगास्तैः, यद्वा–कर्माण्युक्तरूपाणि, तत्क्रियाविशेषात्मकानि वा, तथा सज्यन्तेऽमीषु जन्तव इति सङ्गा, शब्दादयोऽभिष्वङ्गविषयाः, त एव च कर्माणि च सङ्गाश्च कर्मसङ्गास्तैः, समिति भृशं, मूढाः वैचित्र्यमु–पगताः संमूढा दुःखमसातात्मकं जातमेषामिति दुःखिताः । कदाचित्त–न्मानसमेव स्यादत आह–बहुवेदना वेदनाः शरीरव्यथा येषां ते तथा, मनुष्याणामिमा मानुष्याः, न तथाऽमानुष्यास्तासु नरकतिर्यगभियो–ग्यादिदेवदुर्गतिसंबन्धिनीषु, योनिष्वभिहितरूपासु, विहन्यन्ते विशेषेण निपात्यन्तेऽर्थात् कर्मभिः कोऽर्थो न तत उत्तारं लभन्ते, प्राणिनो जन्तवः, तदनेन सत्यप्यावर्ते निर्वेदाभावात्कर्मसङ्गसंस्तवात् दुःखहेतुर्नर–कादिगत्यनुत्तरणेन प्राणिनो मनुजत्वं न लभन्त इत्युक्तमिति सूत्रद्वयार्थः ॥ ५ ॥ ६ ॥

कथं तर्हि तदवाप्तिरित्याह–

कम्माणं तु पहाणाए, आणुपुव्वी कयाइ उ ।
जीवा सोहिमणुप्पत्ता, आययंति मणुस्सयं ॥ ७ ॥

कर्मणां मनुजगतिनिबन्धकानां, तुः पूर्वस्माद्विशेषद्योतकः,

ए त्ति प्रकृष्टं हानमपगमः प्रहाणं, तस्यायो लाभः प्रहाणायः, तस्मिन्। यद्वा–सूत्रत्वात्प्रहाणौ प्रहान्या वा तद्विबन्धकानन्तानुबन्ध्यादिकर्म्मसु प्रहीणेषु कुतश्चिदीश्वरानुग्रहादेस्तदप्राप्तेः, अन्यथा हि तद्वैफल्यापत्तिः। अनेन–"अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः। ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्, स्वर्भ्रं वा स्वर्गमेव वा।" ॥ १ ॥ इत्यपास्तं भवति। अथ कथं पुनस्तेषां प्रहाणिरित्याह–आनुपूर्व्या क्रमेण, न तु झगित्येव, तयाऽपि (कयाइ उ त्ति) तुशब्दस्यैवकारार्थत्वात्कदाचिदेव, न सर्वदा, जीवाः प्राणिनःशुद्धिं क्लिष्टकर्म्मविगमात्मिकाम् 'अनु' तद्विघातिकर्म्मापगमस्य, पश्चात्प्राप्ताः, आददते स्वीकुर्वन्ति मनुष्यताम्। पाठान्तरतः (आजायंते मणुस्सयं ति) सुप्प्रत्ययात् मनुष्यतायां तदैव तन्निवर्त्तक–मनुजगत्यादिकर्म्मोदयादिति भावः। अनेन मनुजत्वनिबन्धककर्मापगमस्य तथाविधकालादिसव्यपेक्षत्वेन दुरापतया मनुष्यत्वदुर्ल्लभत्व–मुक्तमिति सूत्रार्थः ॥ ७ ॥

कदाचिदेतदवाप्तौ श्रुतिः सुलभैव स्यादत आह–

माणुस्सं विग्गहं लद्धुं, सुई धम्मस्स दुल्लहा।
जं सोच्चा पडिवज्जंति, तवं खंतिमहिंसयं ॥ ८ ॥

(माणुस्सं ति) सूत्रत्वान्मानुष्यकं मनुष्यसम्बन्धिनं विशेषणं गृह्यते, आत्मना कर्म्मपरतन्त्रेणेति विग्रहः। तं मनुजगत्याद्युपलक्षितमौदारिक–शरीरम् (लद्धुं ति) अपेर्गम्यमानत्वाल्लब्ध्वाऽपि श्रुतिराकर्णनं कस्य धारयति, दुर्गतौ निपततो जीवानिति धर्मः।

तथा च वाचकः–

"प्राग्लोकविन्दुसारे, सवक्षिरसन्निपातपरिपठिता।
धृञ् धारणार्थो धातु–स्तदर्थयोगाद्भवति धर्म्मः ॥ १ ॥
दुर्गतिभयप्रपाते, पतन्तमभयकरदुर्लभप्राणे।
सम्यक्त्वरितो यस्माद्, धारयति ततः स्मृतो धर्मः ॥२॥"

तस्यैवमन्वर्थनाम्नो धर्मस्य दुर्ल्लभा दुरापा प्रागुक्ताऽऽलस्यादिहेतुतः। स च–"मृद्वी शय्या प्रातरुत्थाय पेया, भक्तं मध्ये पानकं चापराह्णे। द्राक्षाखण्डं शर्करा चार्द्धरात्रे, मोक्षश्चान्ते शाक्यपुत्रेण दृष्टः" ॥ इत्यादि सुगतादिकल्पितोऽपि स्यादतस्तदपोहायाऽऽहयं धर्म्मं श्रुत्वा प्रतिपद्यन्ते अङ्गीकुर्वन्ति तपोऽनशनादि द्वादशविधं, क्षान्तिं क्रोधजयलक्षणं मानादिजयोपलक्षणं चैषा अहिंसयति अहिंस्रतामहिंसनशीलतामेनन च प्रथमव्रतमुक्तमेतच्च शेषव्रतोपलक्षणम्, एतत्प्रधानत्वात्तेषाम्, एतत्–तुल्यानि हि शेषव्रतान्येवं च तपसः क्षान्त्यादिचतुष्कस्य महाव्रतपञ्चकस्य चाभिधानाहशविधस्यापि यतिधर्म्मस्याभिधानमिह च यद्यपि श्रुतेः शाब्दं प्राधान्यं तथापि तत्त्वतो धर्म्म एव प्रधानं, तस्या अपि तदर्थत्वा–दिति, स एव यच्छब्देन परामृश्यते। अथ च काक्का नीयते यस्मात् छुत्वा प्रतिपद्यन्ते तपःप्रभृतिना श्रुत्वा "सोच्चा जाणति कल्लाणं, सोच्चा जाणति पावगं" इत्यागमात् तत एवमतिमहार्थतया दुरापेयमिति सूत्रार्थः ॥ ८॥

श्रुत्यवाप्तावपि श्रद्धादुर्लभतामाह–

आहच्च सवणं लद्धुं, सद्धा परमदुल्लहा।
सोच्चा नेयाउयं मग्गं, वहवे परिभस्सई ॥ ९ ॥

(आहच्चेति) कदाचित् श्रवणं प्रक्रमाद्धर्म्माकर्णनम्, उपलक्षणत्वा–न्मनुष्यत्वं च, लब्ध्वेति, अपिशब्दस्य गम्यमानत्वात् लब्ध्वा–ऽप्यवाप्याऽपि, श्रद्धा रुचिरूपा, प्रक्रमाद्धर्म्मविषयैव, परमदुर्ल्लभाऽति–शयदुरापा। कुतः परमदुर्ल्लभत्वमस्या इत्याह–श्रुत्वाऽऽकर्ण्य, न्यायेन चरति प्रवर्तते नैयायिको, न्यायोपपन्न इत्यर्थः। स्वं मार्गं सम्य–ग्दर्शनाद्यात्मकं मुक्तिपथं प्राप्तमपि, बहवो नैक एव, परीति सर्वप्रकारम् (भस्सइ त्ति) भ्रस्यन्ति च्यवन्ते, प्रक्रमान्नैयायिकमार्गादेव, यथा यमा–लिप्रभृतयो, यच्च प्राप्तमप्यपैति तच्चिन्तामणिवत्परमदुर्लभमेवेति भावः। इहैव केचिन्निह्नववक्तव्यतां व्याख्यातवन्तः, उचितं चैतदप्यास्ते इति सूत्रार्थः ॥ ९ ॥

एतत् त्रयावाप्तावपि संयमवीर्यदुर्लभत्वमाह–

सुइं च लद्धुं सद्धं च, वीरियं पुण दुल्लहं।
वहवे रोयमाणा वि, नो य णं पडिवज्जए ॥ १० ॥

श्रुतिं, चशब्दान्मनुष्यतवम्, (लद्धुं ति) प्राग्लब्ध्वाऽपि, श्रद्धां च वीर्यं प्रक्रमात्संयमविषयं, पुनःशब्दस्य विशेषत्वात् विशेषेण दुर्ल्लभम्, यतो बहवो नैक एव रोचमाना अपि न केवलं प्राप्तमनुष्यत्वाः शृण्वन्तो वेत्यपि–शब्दार्थः। श्रद्दधाना अपि, (नो चेति) चशब्दस्यैवकारार्थत्वान्नैव, 'णं' इति वाक्यालङ्कारे। अथवा–(णो य णं इति) सूत्रत्वात् (नोयणं पडिवज्जइ इति) तत एव प्रतिपद्यन्ते। चारित्रमोहनीयकर्मोदयतः सत्यकिश्रेणिकादिवन्न कर्तुमभ्युपगच्छन्ति इति सूत्रार्थः ॥ १० ॥

संप्रति दुर्ल्लभस्यास्य चतुरङ्गस्य फलमाह–

माणुसत्तम्मि आयाओ, जो धम्मं सोच्च सद्दहे।
तवस्सी वीरियं लद्धुं, संवुडे निद्धुणे रयं ॥ ११ ॥

मानुषत्वे मनुजत्वे आयात आगतः, किमुक्तं भवति ? –मानुषत्वं प्राप्तो य इत्यनिर्दिष्टस्वरूपो, य एव कश्चिद्धर्म्मं श्रुत्वा (सद्दहे त्ति) श्रद्धते रोचते, (तपस्सि त्ति) दानादिविरहिततया प्रशस्यतपोऽन्वितः, कथं, वीर्यं संयमोद्योगं लब्ध्वा संवृतः स्थगितसमस्ताश्रवः। स किमित्याह– (निद्धुणे त्ति) निर्द्धुनोति नितरामपनयति, रज्यते स्वच्छस्फटिकवच्छु–द्धस्वभावोऽप्यात्माऽन्यथात्वमापद्यत इति रजःकर्म्म वध्यमानकंवद्धं च तदपनयाच्च मुक्तिमाप्नोति इति भावः। उभयत्र **"लिप्स्यमानसिद्धौ च" । ५ । ३ । १० ।** इति (हैम०) वा लट्। इह च श्रद्धानेन सम्यक्त्व–मुक्तं, तेन च ज्ञानमाक्षिप्तं, दीपप्रकाशयोरिव युगपदुत्पादात्तयोः, तथा च "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" इति न विरुध्यत इति सूत्रार्थः ॥ ११ ॥

इत्यमामुष्मिकं फलमुक्तमिदानीमिहैव फलमाह–

सोही उज्जुयभूयस्स, धम्मो सुद्धस्स चिट्ठइ।
निव्वाणं परमं जाइ, घयसित्त व्व पावए ॥ १२ ॥

शुद्धिः कषायकालुष्यापगमो, भवतीति गम्यते। ऋजुकभूतस्य चतुर–ङ्गप्राप्त्या मुक्तिं प्रति प्रगुणीभूतस्य, तथा च धर्म्मः क्षान्त्यादिः, शुद्धस्य शुद्धिं प्राप्तस्य तिष्ठत्यविचलिततयाऽऽस्ते इति। अशुद्धस्य तु कदाचित् कषायोदयात्तद्विचलनमपि स्यादित्याशयः, तदवस्थितौ च निर्वाणं निर्वृतिः, स्वास्थ्यमित्यर्थः। परमं प्रकृष्टम्, "एगमासपरियाए समणे वंत–रियाणं तेयलेसं वीईवयति" इत्याद्यागमेनोक्तं नैवास्ते, राजराजस्य तत्सुखमित्यादिना च वाचकवचनेनानूदितं, याति प्राप्नोति, क इव (घयसित्ते व त्ति) इवस्य भिन्नक्रमत्वात्, घृतेन सिक्तो घृतसिक्तः, पुना–तीति पावकोऽग्निर्लोकप्रसिद्ध्या, समयप्रसिद्ध्या तु पापहेतुत्वा–

त्पापकः तद्वत् स च न तथा तृणादिभिर्दीप्यते यथा घृतेनेति, अस्य घृतसिक्तस्य निर्वृतिरनुगीयते। ततः सविशेषणस्यास्य दृष्टान्तत्वेनाभिधानमिति भावनीयम्। यद्वा–निर्वाणमिति जीवनमुक्तिं याति ''निर्जितमदमदनानां वाक्कायमनोविकाररहितानां विनिवृत्तपराशानामिहैव मोक्षः सुविहितानामिति'' वचनात्। कथंभूतः सन् घृतसिक्तपावक इव तपस्तेजसोज्ज्वलितत्वेन घृततर्पितान्निसमान इति सूत्रार्थः। पठन्ति च नागार्जुनीयाः–''चउद्धा संपयं लद्धु, इहेव ताव भायते। तेयते तेजसंपन्ने, घयसित्ते व्व पावए त्ति'' ॥ १॥ तत्र च–चतुर्द्धा चतुःप्रकारां संपदं संपत्तिं प्रक्रमान्मनुष्यत्वादिविषयां लब्ध्वा, इहैव लोके तावत्, आस्तां परत्र, भ्राजते ज्ञानश्रिया शोभते, तेजते दीप्यते तेजसा अर्थात्तपोजनितेन संपन्नो युक्तस्तेजः संपन्नशेषं प्राग्वदिति सूत्रार्थः॥ १२॥

इत्थमामुष्मिकमैहिकं च फलमुपदर्श्य शिष्योपदेशमाह–

विंगि च कम्मुणो हेउं, जसं संचिणु खंतिए।
पाढवं सरीरं हिच्चा, उड्ढं पक्कमई दिसं ॥ १३ ॥

(विंगि च त्ति) पृथक् कुरु, कर्मणः प्रस्तावान् मानुषत्वादिनिबन्धकस्य हेतुम् उपादानकारणं मिथ्यात्वाविरत्यादिकम्। तथा–यशोहेतुत्वाद्यशः सञ्जयो विनयो वा यदुक्तम्–''एवं धम्मस्स विणओ, मूलं परमो से मोक्खो। जेण कित्तिसुयं सिग्घं, णीसेसं चाभिगच्छइ'' इति। तत्संचिनु भृशमुपचितं कुरु, कया ? क्षान्त्या उपलक्षणत्वान्मार्दवादिभिश्च, ततः किं स्यादित्याह–(पाढवंति) पार्थिवमिव पार्थिवं शीतोष्णादिपरीषहसहिष्णुतणा समदुःखसुखतया च पृथिव्यामिव भवम् पृथिवी हि सर्वंसहा कारणानुरूपं च कार्यमिति श्रावः। यदि वा–पृथिव्या विकारः पार्थिवः स चेह शैलः ततश्च शैलेशीप्राप्त्यापेक्षयाऽतिनिश्चलतया शैलोपमत्वात्परप्रसिद्ध्या वा पार्थिवं शरीरं तनुं हित्वा त्यक्त्वा ऊर्द्धदिशमिति सम्बन्धः प्रक्रामति प्रकर्षेण गच्छति। येन भवानित्युपस्कारः। यद्वा–सोपस्कारत्वात् सूत्राणामेव नीयते एवं कुर्वन् भव्यजन्तुरूर्ध्वं दिशं प्रक्रामति। ततस्त्वमतिदृढचेता इत्थ मित्थं च कुरु इत्युपदिश्यते। 'प्रक्रामतीति च' वर्तमानसामीप्येन निर्देश आसन्नफलप्राप्तिसूचक इति सूत्रार्थः॥ १३॥

इत्थं येषां तद्भव एव मुक्त्यवाप्तिस्तान् प्रत्युक्तम्। येषां तु न तथा तान् प्रत्याह–

विसालसेहिं सीलेहिं, जक्खा उत्तरउत्तरा।
महासुक्का व दिप्पंता, मन्नंता अपुणच्चवं ॥ १४ ॥
अप्पिया देवकामाणं, कामरूवविउव्विणो।
उड्ढं कप्पेसु चिट्ठंति, पुव्वावाससया बहू ॥ १५ ॥

मागधदेशीयभाषया विसदृशैश्च स्वचारित्रमोहनीयकर्म्मक्षयोपशमापेक्षया विभिन्नैः शीलैर्व्रतपालनात्मकैरनुष्ठानविशेषैः किं इज्यन्ते पूज्यन्त इति यक्षाः, यान्ति वा तथाविधर्द्धिसमुदयेऽपि क्षयमिति यक्षाः ऊर्ध्वं कल्पेषु तिष्ठन्ति इत्युत्तरेण सम्बन्धः। उत्तरोत्तरा उत्तरोत्तरविमानवासिनः। उत्तरो वा उपरितनस्थानवर्त्युत्तरः प्रधानो येषु ते अमी उत्तरोत्तरा महाशुक्ला अतिशयोज्ज्वलतया चन्द्रादित्यादयः ते इव दीप्यमानाः प्रकाशमानाः अनेन च शरीरसंपदुक्ता। सुखसंपदमाह–मन्यमाना मनस्यवधारयन्तः शब्दादिविषयावाप्तिसमुत्पन्नरतिसागरावगाढतया अतिदीर्घस्थितितया वा किं न पुनश्च्यवनम् अपुनश्च्यवः तमर्थतिर्यगादिषूत्पत्त्यभावम्। यदुक्तम्–''मन्यमाना अपुनश्च्यवनमिति ॥ १४ ॥ सूत्रोक्तमेव हेतुं सूत्रकृदाह–'अप्पिये' त्यादिना। अर्पिताः प्राकृत–सुकृतेन ढौकिता इव केषां काम्यन्तेऽभिलष्यन्त इति कामाः देवानां कामाः देवकामा दिव्याङ्गनास्पर्शादयः। कामरूपम् (विउव्विणो त्ति) सूत्रत्वात् कामरूपविकरणा यथेष्टरूपाभिनिवर्तनशक्तिसमन्विताः। कुर्वन्ति हि ते उत्तरवैक्रियाणि समवसरणागमनादिषु तथा तथेति येऽपि प्रयोजनाभावान्न कुर्वन्ति तेषामपि शक्तिरस्त्येवेत्येवमुच्यते। ऊर्द्धं कल्पोपरिवर्तिषु ग्रैवेयकेषु अनुत्तरविमानेषु च कल्पेषु सौधर्म्मादिषु, यदि वा–ऊर्द्धं उपरि कल्पन्ते विशिष्टपुण्यभाजामवस्थिति विषयतयेति, सौधर्मादयो ग्रैवेयकादयश्च सर्वेऽपि कल्पा एव तेषु तिष्ठन्ति आयुःस्थितिमनुपालयन्ति पूर्वाणि वर्षसप्ततिकोटिलक्षषट्पञ्चाशत्कोटिसहस्रपरिमितानि बहूनि, जघन्यतोऽपि पल्योपमस्थितित्वात् तत्राऽपि च तेषामसंख्येयानामेव संभवात्। एवं वर्षशतान्यपि बहूनि पूर्ववर्षशतायुषामेव चरणयोग्यत्वेन विशेषतो देशनौचित्यमितिख्यापनार्थमित्थमुपन्यास इति सूत्रार्थः॥ १५॥

तत्किमेषामेतावदेव फलमित्याशङ्क्य आह–

तत्थ ठिच्चा जहाठाणं, जक्खा आउक्खए चुया।
उवेंति माणुसं जोणिं, से दसंगेऽभिजायए ॥ १६ ॥

तत्र तेषु उक्तरूपोत्पत्तिस्थानेषु स्थित्वेत्यासित्वा यथास्थानमिति यद् यस्य स्वानुरूपमिन्द्रादिपदं तस्मिन् यक्षा आयुःक्षये स्वस्वजीवितावसाने च्युताः भ्रष्टाः (उवेंति त्ति) उपयन्ति मानुषाणामियं मानुषी तां योनिमुत्पत्तिस्थानम्। तत्र च ''से'' इति स सावशेषकुशलकर्म्मा कश्चिज्जन्तुर्दशाङ्गानि भोगोपकरणानि वक्ष्यमाणान्यस्येति, दशाङ्गोऽभिजायते एकवचननिर्देशस्तु विविसदृशशीलतया कश्चिद्दशाङ्गः कश्चिन्नवाङ्गादिरपि जायत इति वैचित्र्यसूचनार्थः॥ यद्वा–'से' इति सूत्रत्वात् तेषां दशानामङ्गानां समाहारो दशाङ्गी प्राकृतत्वाच्च पुंसा निर्देशो जायते। उपभोग्यतयाऽभिमुख्येनोत्पद्यत इति सूत्रार्थः॥ १६॥

कानि पुनर्दशाङ्गानि इति ?, आह–

खेत्तं वत्थुं हिरण्णं च, पसवो दास पोरूसं।
चत्तारि कामखंधाणि, तत्थ से उववज्जइ ॥ १७ ॥
मित्तवं नायवं होई, उच्चागोए य वण्णवं।
अप्पायंके महापन्ने, अभिजाए जसो बले ॥ १८ ॥

'क्षि' निवासगत्योः, क्षियन्ति निवसन्त्यस्मिन्निति क्षेत्रम् ग्रामारामादि सेतुकेतूभयात्मकं वा। तथा–वसन्त्यस्मिन्निति वास्तु खातोच्छ्रितोभयात्मकं वा। हिरण्यं सुवर्णम्। उपलक्षणत्वात् रूप्यादि च। पशवोऽश्वादयः। दास्यते दीयते एभ्यः इति दासाः पौष्यवर्गरूपास्ते च। (पौरुसं इति) सूत्रत्वात् पौरुषेयं च पदातिसमूहः दासपौरुषेयं चत्वारः चतुःसंख्या। अत्र हि क्षेत्रं वास्त्विति चैकः। हिरण्यमिति द्वितीयः। पशवः इति तृतीयः। दासपौषेयमिति चतुर्थः। एते किमित्याह–काम्यत्वात्कामा मनोज्ञ शब्दादयः तद्धेतवः स्कन्धास्तत्तत्पुद्गलसमूहाः काम–स्कन्धा यत्र भवन्ति इति गम्यते। प्राकृतत्वाच्च न निर्देशस्तत्र तेषु कुलेषु (से इति) स उत्पद्यते जायते अनेन वैक्रमङ्गमुक्तम्। शेषाणि तु नवाङ्गान्याह–मित्राणि सहपांशुक्रीडितादीनि सन्त्यस्येति मित्रवान्। ज्ञातयः स्वजनाः सन्त्यस्येति ज्ञातिमान् भवति। उच्चैर्लक्ष्यादिक्षयेऽपि पूज्यतया गोत्रं कुलमस्येत्युच्चैर्गोत्रः चः समुच्चये। वर्णः

श्यामादिस्निग्धत्वादिगुणैः प्रशस्येति वर्णवान्। अल्पान्तकः आतङ्क–विरहितो नीरोग इत्यर्थो महती प्रज्ञास्येति महाप्रज्ञः। पण्डितोऽभिजातो विनीतः। स हि सर्वजनाभिगमनीयो भवति। दुर्विनीतस्तु शेषगुणान्वितोऽपि न तथेति अत एव च–(जसो त्ति) यशस्वी तथा च सति–(वले त्ति) वली कार्यकरणं प्रति सामर्थ्यवान् उभयत्र सूत्रत्वान्मत्वर्थीयलोपः। एकैकोऽपि हि मित्रवत्त्वादिगुणस्तत्कार्याभिनिर्वर्तनक्षमः किं पुनरमी समुदिताः शारीरसामर्थ्यवान्वेह बलीति ॥ १८ ॥

तात्त्विकमेवंविधगुणसंपत्समन्वितं मानुषत्वमेव तत्फलमित्याह–

भोच्चा माणुस्सए भोए, अप्पडिरूवे अहाउयं।
पुव्वं विसुद्धसद्धम्मे, केवलं बोहिबुज्झिया ॥ १९ ॥

भुक्त्वा सेव्य मानुष्यकान्मनुष्यसम्बन्धिनो भुज्यन्त इति भोगा मनोज्ञशब्दादयस्तान् विद्यमानं प्रति प्ररूपयति प्रकर्षत्वेनान्यत् तुल्य–मेषामित्यप्रतिरूपास्तान् यथायुः आयुषोऽतिक्रमेण पूर्वपूर्वजन्मसु विशुद्धो निदानादिरहितत्वेन सद्धर्म्मः शोभनधर्मोऽस्येति विशुद्धसद्धर्मः अकेवलत्वाच्च **"धर्म्मादनिच्केवलात्" ५। ४। १२४।** इति (पाणि०) अनिच् न भवति। केवलामकलङ्कां बोधिं जिनप्रणीतधर्म्मप्राप्तिलक्षणां बुध्वा अनुभूय प्राप्येति यावत्।

ततोऽपि किमिति ? आह–

चउरंगं दुल्लहं मत्ता, संजमं परिवज्जिया।
तवसा धुयकम्मंसे, सिद्धे हवइ सासए, तिबेमि ॥ २० ॥

चतुर्णामङ्गानां समाहारश्चतुरङ्गी तामभिहितस्वरूपां दुर्लभां दुष्प्रापां मत्वा ज्ञात्वा संयमं सर्वसावद्ययोगविरतिरूपं प्रतिपद्यासेव्य तपसा बाह्येनान्तरेण च [धुय] अपनीतम् [कम्मंसे त्ति] कार्मग्रन्थिक–परिभाषया सत्कर्म्माननेति धुतकर्माशः तदपनयनाच्च बन्धादीनाम–प्यर्थतोऽपनयनमुक्तमेव। यद्वा–धुताः कर्म्मणोंऽशा भागा येन स तथाविधाः, किमित्याह–सिद्धो भवति स च किमाजीविकमुत परिक–ल्पितसिद्धवत्पुनरिहैति उतनेति ? अत आह–शास्वतः शश्वद्भवनात् शश्वद्भवनं च पुनर्भवनिबन्धनकर्म्मबीजात्यन्तिकोच्छेदात् तथा चाह "दग्धबीजे यथात्यन्तं, प्रादुर्भवति नाङ्कुरः। कर्मबीजे तथा दग्धे, न रोहति भवाङ्कुरः ॥ १ ॥" पुनस्तस्येहागमनकल्पनमतिमोहविलसितम्। तथा च स्तुतिकृत्–"दग्धेन्धनः पुनरुपैति भवं प्रमथ्य, निर्वाणमप्यनवधा–रितभीरुनिष्ठम्। मुक्तः स्वयं कृतभवश्च परार्थशूरः सच्छा शनप्रतिहतेष्विह मोहराज्यम्" ॥ १ ॥ इति सूत्रार्थः ॥ २ ॥ इति परिसमाप्तौ ब्रवीमीति प्राग्वदित्युक्तोऽनुगमः। उत्त० ३ अ०।

चउरंगत–त्रि० (चतुरङ्गान्त) चतुरङ्गेषु नरकतिर्यङ्नरामरगति–रूपेष्वन्तः गर्यन्तो यस्य स तथा। चतुरन्ते संसारे, व्य० ३ उ०।

चउरंगवग्गुरापरिवुड–त्रि० (चतुरङ्गवागुरापरिवृत) "चउरंगिणी सेणाहत्थी। अस्सा, रहा, पाइक्का, सा एव वग्गुरा" तथा परिवृतः अहेडगा रूढेहिं" संमताद्वेष्टिते, नि० चू० १५ उ०।

चउरंगिणी–स्त्री० (चतुरङ्गिणी) चत्वारि गजाश्वरथपदातिलक्षणानि अङ्गानि विद्यन्ते यस्या यस्यां वा सा चतुरङ्गिणी। हस्त्यश्वादिसमुदि–तायां सेनायाम्, तं०। नि० चू०। "चउरंगिणीए सेणाए, रइयाए जहक्कमं। तुरियाणं संनिनाएणं, दिव्वेणं गगणं फुसे" ॥ १२ ॥ उत्त० २२ अ०।

चउरंगीय–न० (चतुरङ्गीय) चतुरङ्गेभ्यः मानुष्यधर्मश्रुतिश्रद्धा तप संयमवीर्यचतुष्टयरूपेभ्यो हितं तत्स्वरूपवर्णनेन चतुरङ्गीयम्। उत्तराध्य–यनानां तृतीये अध्ययने, उत्त० ३ उ०।

चउरंगुली–स्त्री० (चतुरङ्गुली) चत्वार्यङ्गुलानि सुष्ठु प्रमाणं यस्याः। चतुरङ्गुलमितेऽर्थे, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार। आरग्वधे चतुरङ्गुलमिते, स चतुरङ्गुलमेवोभयतोऽन्तत उपगूहति। वाच०।

चउरंत–न० (चतुरन्त) **"अतः समृद्ध्यादौ वा" ८। १। ४४।** समृद्धि इत्येवमादिषु शब्देष्वादेरकारस्य दीर्घो भवति। समृद्ध्यादेराकृतिगण–त्वात्। चतुरन्तम्–'चाउरन्तं'। प्रा० १ पाद। चतुर्गतिके संसारे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ०।

चउरंतमहंत–त्रि० (चतुरन्तमहान्त) चतुरन्तं चतुर्विभागं दिग्भेदगति–भेदाभ्यां महान्तं महायामं, यत्। तस्मिन्, "चउरंतमहंतमणवदग्गरुद्ध–संसारसागरं" औ०।

चउरंस–त्रि० (चतुरश्र) चतस्रोऽश्रयोकोणा यत्र तत्समासान्ताच् प्रत्यये चतुरश्रम, अनु०। तालव्यमध्यस्यैव अच् प्रत्ययो निपात्यते। न तु दन्त्यमध्यस्य, दन्त्यमध्ये तु चतुस्रिरित्येव सुप्रातःसुश्वेति, तालव्य–स्यैव ग्रहणात्। वाच०। "अक्खउगसमचउरंससंठाणसंठियाओ" स्था० ८ ठा०। अनु०। "एगे चउरंसे" स्था० ७ ठा०। उत्त०। स०। रा०। "तेणं नरगा अन्तो वट्टा बाहिं चउरंसा अहे खुरप्पसंठाणसंठिया" (प्रज्ञा०।) "चउरंस संठाणपरिणया" चतुरश्रसंस्थानपरिणताः कुम्भिकादिवत् पुद्गलाः। प्रज्ञा० १ पद। चतुष्कोणे, ब्रह्मसन्ताने के तुभेदे, पुं०। अन्यूनातिरिक्ते। वाच०।

चउरंसपसत्थसमणिडाल–त्रि० (चतुरस्रप्रशस्तसमललाट) चतुरस्रं चतुष्कोणं प्रशस्तं प्रशस्तलक्षणोपेतं समम् ऊर्ध्वाधस्तया दक्षिणोत्तर–तया च तुल्यप्रमाणं ललाटं यासां ताश्चतुरस्रसमललाटाः। सुलक्षण–ललाटे, जी० ३ प्रति०।

चउरासी–स्त्री० (चतुरशीति) चतुरधिका अशीतिः। चतुरधिका–शीतिसंख्यायाम्, तत्संख्यान्विते च। वाच०। नन्द्यध्ययने, "सूपग–मेणं असीइसयं किरियावईणं चउरासी अकिरियावाईणं" रा०।

चउरिंदिय–पुं० (चतुरिन्द्रिय) चत्वारि स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुर्लक्षणानि इन्द्रियाणि येषां ते चतुरिन्द्रियाः। भ्रमरमक्षिकामशकवृश्चिककीटपत–ङ्गादिषु संसारसमापन्नजीवभेदेषु, कर्म० ४ कर्म०। पं० सं०। जी०। पिं०। प्रज्ञा०। आ० म०। आव०। स्था०।

सम्प्रति चतुरिन्द्रियसंसारसमापन्नजीवप्रज्ञापनामाह–

से किं तं ? चउरिंदियसंसारसमावण्णजीवपण्णवणा चउरिंदिय–संसारसमावण्ण जीवपण्णवणा अणेगविहा पण्णत्ता। तं जहा– "अंधिय पोत्तिय मेच्छिय, मगसिरकीडे तहा पयंगे य। ढंकण कुक्कुड कुक्कह, नंदावत्ते य सिंगिरिडे"। किण्हपत्ता नीलपत्ता लोहियपत्ता हलिद्दपत्ता सुक्किलपत्ता चित्तपक्खा विचित्तपक्खा ओहंजलिया जलचारिया गम्भीरा णीणिया तंतवा अत्थिरोडा अत्थिवेहा सारंगा नेउरा दोला भमरा भरिली जरुल तोड्डा विच्चुया पत्तविच्चुया छाणविच्चुया जलविच्चुया पिग्गला कणगा गोमयकीडा जे यावन्ने तहप्पगारा सव्वे ते संमुच्छिमा नपुंसगा ते समासओ

दुविहा पण्णत्ता। तं जहा–पज्जत्तगा य अपज्जतगा य। एएसिं णं एवमाइयाणं चउरिंदियाणं पज्जत्ताऽपज्जत्ताणं नवजाइकुलकोडि-जोणिप्पमुहसयसहस्साइं भवंतीति मक्खायं। सेत्तं चउरिंदिय-संसारसमावण्णजीवपण्णवणा॥

"से किं तमित्यादि"। एतेऽपि चतुरिन्द्रिया लोकतः प्रत्येतव्याः। एतेषां च पर्याप्ताऽपर्याप्तानां सर्वसंख्यया जातिकुलकोटानां नव लक्षा भवन्ति। शेषाक्षरगमनिका प्राग्वत्। उपसंहारमाह–"सेत्तं" इत्यादि। उक्ता चतुरिन्द्रियसंसारसमापन्न जीवप्रज्ञापना। प्रज्ञा० २ पद। स्था०। आचा०। प्रश्न०। जी०। भ०। उत्त०।

चतुरिन्द्रियवक्तव्यतामाह–

चउरिंदिया उ जे जीवा, दुविहा ते पकित्तिया।
पज्जत्तमपज्जत्ता, तेसिं भेए सुणेह मे॥ १४६॥
अंधिया पोत्तिया चेव, मच्छिया मसगा तहा।
भमरे कीडपयंगे य, ढिंकुणे कुंकडे तहा॥ १४७॥
कुक्कुडे सिंगरीडीय, णंदावते य विंछिए।
डोले य भिगरीडी य, चिरली अच्छिवेहए॥ १४८॥
अच्छिले मागहे अच्छि, रोडए चित्तपत्तए।
उहिंजालीय जलकारी, णीयया तंवगाइया॥ १४९॥
इह चउरिंदिया एए, णेगहा एवमाइया।
लोगस्स एगदेसम्मि, ते सव्वे परिकित्तिया॥ १५०॥
संतइ पप्पणाईया, अपज्जवसिया वि य।
ट्ठिइं पडुच्च साईया, सपज्जवसिया वि य॥ १५१॥
छच्चेव य मासातो, उक्कोसेण वियाहिया।
चउरिंदियआउट्ठिई, अंतोमुहुत्तं जहण्णिया॥ १५२॥
संखेज्जकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहण्णिया।
चउरिंदियकायठिई, तं कायं तु अमुंचओ॥ १५३॥
अणंतकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहण्णियं।
विजढम्मि सए काए, अंतरेयं वियाहियं॥ १५४॥
एएसिं वण्णओ चेव, गंधतो रसफासओ।
सांठणादेसओ वा वि, विहाणाइं सहस्ससो॥ १५५॥

सूत्रदशकम् इदमपि तथैव चतुरिन्द्रियाभिलाप एव विशेषः। एतद्वेदाश्च केचिदतिप्रतीता एव। अन्ये तु तत्तद्देशप्रसिद्धितो विशिष्टसंप्रदायाच्चाभिधेयाः। तथा–षडेव मासानुत्कृष्टेषां स्थितिरिति दशकार्थः। उत्त० ३६ अ०। स्था०। उत्त०। भ०। चतुरिन्द्रियाणां परिभोगं 'परिभोग' शब्दे वक्ष्यामि)

चउवग्ग–पुं० (चतुर्वर्ग) धर्मार्थकाममोक्षसमुदाये, वाच०। "चउवग्गे वि हु उ असं, थराऽऽगंतुग्गा उ वच्चंति। वेत्थवाओ असंथरे, मोत्तूण गिलाण संघाडे"। चउवग्गो णाम–वत्थव्वा संजयासजतीतो वि। आगंतुगा संजया संजतीओ य। एते चउवग्गा। नि० चू० १५।

चउविगप्प–त्रि० (चतुर्विकल्प) चतुष्प्रकारे, व्य० १ उ०।

चउव्विह–त्रि० (चतुर्विध) चतस्रो विधा भेदा यस्य तत्तथा। चतुष्प्रकारे, स्था० ४ ठा० १ उ०। रा०।

चउव्विहाहार–पुं० (चतुर्विधाहार) चतुर्विधाहारे, श्राद्धविधावशनादि-चतुष्काधिकारे स्त्रियाः संभोगे चतुर्विधाहारो न भज्यते बालादीनामोष्ठा-दिचुम्बने तु भज्यते। द्विधाहारे तदपि कल्पते। अत्र प्रथमं स्थाने मुखस-ङ्गमेऽपीति पदं नास्ति तर्हि पृच्छतां श्राद्धानामग्रे मुखसङ्गमे त्रिचतुर्विधा-हारप्रत्याख्यानयोर्भङ्गोऽभङ्गो वेति प्रश्ने–उत्तरम् बालादीनामित्यत्रा-दिशब्दात् स्त्रिया अपि मुखसंगमे भज्यत इति ज्ञायते। २२५ प्र० सेन० ३ उल्ला०।

चउवीस–त्रि० (चतुर्विंशति) चतुर्भिरधिका विंशतिश्चतुर्विंशतिः। चतुर्भिरधिकायां विंशतिसंख्यायाम्, तत्संख्येये च। त्रि०। वाच०। आ० म०।

तन्निक्षेपदर्शनार्थमाह–

नामं ठवणा दविए, खेत्ते काले तहेव भावे य।
चउवीसयस्स एसो, निक्खेओ छव्विहो होई॥

(नामं) नामचतुर्विंशतिः, स्थापनाचतुर्विंशतिः, द्रव्यचतुर्विंशतिः, क्षेत्रचतुर्विंशतिर्जीवस्याजीवस्य वा यश्चतुर्विंशतिरिति नाम क्रियते। चतुर्विंशत्यक्षरावली वा स्थापनाचतुर्विंशतिः। चतुर्विंशतिशब्दस्य एषो-ऽनन्तरोदितो निक्षेपः षड्विधो भवति। तत्र नामचतुर्विंशतिः जीवस्य अजीवस्य वा। यच्च केषांचित् स्थापनाचतुर्विंशतिश्चतुर्विंशतिद्रव्याणि सचित्ताचित्तमिश्रभेदभिन्नानि तत्र सचित्तानि द्विपदचतुष्पदापदभिन्नानि। अचित्तानि कार्यापणादीनि। मिश्राणि द्विपदादीनि एवं कटकाद्यलक्ष-कृतानि क्षेत्रचतुर्विंशतिर्विवक्षया चतुर्विंशतिक्षेत्राणि भरतादीनि क्षेत्रप्रदे-शा वा चतुर्विंशतिः क्षेत्रचतुर्विंशतिः। कालचतुर्विंशतिश्चतुर्विंशतिः समयः ? एतत्कालस्थितिर्वा द्रव्यं काल चतुर्विंशतिः। भावचतुर्विंशति चतुर्विंशतिभावसंयोगाः चतुर्विंशतिगुणं कृष्णादिद्रव्यं वा सा च चतुर्विंशतिः। इह सचित्तद्विपदमनुष्यचतुर्विंशत्यधिकार इति गाथार्थः। आ० म० द्वि०।

चउवीसत्थय–पुं० (चतुर्विंशतिस्तव) चतुर्विंशतितीर्थकराणां नामो-त्कीर्तनपूर्वकगुणकीर्तने, अ० म०।

नामनिष्पन्ने निक्षेपे चतुर्विंशतिस्तवाध्ययनशब्दाः प्ररूपणीयाः।

तथा चाह–

चउवीसगत्थयस्स उ, निक्खेवो होई नामनिप्फन्नो।
चउवीसगस्स छक्को, थयस्स चउक्कओ होई॥

चतुर्विंशतिस्तवस्य निक्षेपो नामनिष्पन्नो भवति। स चान्यश्रुतत्वाद-यमेव, यदुत जतुर्विंशतिस्तव इति तुशब्दो वाक्यभेदोपदर्शनार्थः। वाक्यभेदश्च अध्ययनान्तरवक्तव्यताया उपक्षेपादिति। तत्र चतुर्विंशति-शब्दस्य निक्षेपः षड्विधः स्तवशब्दस्य चतुर्विधः तुशब्दस्यानुक्तसमुच्च-यार्थत्वादध्ययनस्य च। एष गाथासमासार्थः। आ० म० द्वि०।

तत्सूत्राणि–

लोगस्सुज्जोयगरे, धम्मतित्थयरे जिणे।
अरिहंते कित्तइस्सं, चउव्वीसं पि केवली॥ १॥

अस्य व्याख्या–तल्लक्षणं चेदम्–"संहिता च पदं चैव, पदार्थः पदविग्रहः। चालना प्रत्यवस्थानं, व्याख्या सूत्रस्य षड्विधा" ॥ १॥ तत्रास्खलितपदोच्चारणं संहिता। सा च प्रतीता। अधुना पदानि लोकस्य उद्योतकरान् धर्म्मतीर्थकरान् जिनान्-अर्हतः

कीर्त्तयिष्यामि चतुर्विंशतिमपि केवलिन इति । अधुना पदार्थःलोक्यते प्रमाणेन दृश्यते इति लोकः । अयं चेह तावत्पञ्चा-स्तिकायात्मको गृह्यते तस्य लोकस्य उद्योतकरणशीला उद्यातकरास्तान् केवलालोकेन तत्पूर्वकवचनदीपेन वा सर्वलोकप्रकाश–करणशीलानित्यर्थः। तस्मात् दुर्गतौ प्रपतन्तमात्मानं धारयती–ति धर्म्मः । उक्तञ्च– "दुर्गतिप्रसृतान् जन्तून्, तस्माद्धारयते यतः । धत्ते चैतान् शुभस्थाने, तस्माद्धर्म इति स्मृतः" ॥१॥ तीर्यते संसारसागरो अनेनेति तीर्थं धर्म्म एव, धर्म्मप्रधानं वा तीर्थं धर्मतीर्थं तत्करणशीलाः धर्मतीर्थकरास्तान् तथा रागद्वेषकषायेन्द्रियपरीषहोपसर्गाऽष्टप्रकारकर्मजेतृत्वाज्जिनास्तान् तथा अशोकाद्यष्टमहाप्रातिहार्यरू पां पूजार्हन्तीत्यर्हन्तः तान् अर्हतः कीर्तयिष्यामि नामभिः स्तोष्ये । चतुर्विंशतिरिति संख्या अपिशब्दो भावतस्तदन्यसमुच्चयार्थः । केवलं ज्ञानमेषां विद्यते इति केवलिनः तान् केवलिनः, इतिपदार्थः । पदविग्रहोऽपि यानि समासभाञ्जि पदानि तेषु दर्शित एव । संप्रति चालनावसरः तत्र तिष्ठतु तावत् । सूत्रस्पर्शिकान-युक्तिरेवोच्यते । स्वस्थानत्वात् । उक्तञ्च "अक्खलियसंहियाइ, अक्खाणचउक्कए दरिसियम्मि । सुत्तप्फ- ासियनिज्जुत्ति, वित्थइत्थो इमो होई ॥" *चालनामपि वाऽत्रैव वक्ष्यामः तत्र लोकलयोद्योतकरानिति* यदुक्तम् ॥१॥ आ० म० द्वि० ।

अधुना जिनादिप्रतिपादनार्थमाह–

जियकोहमाणमाया, जिअलोहा तेण जिणा होंति ।
अरिणो हन्ता रयं हंता, अरिहंता तेण वुच्चंति ॥

जितक्रोधमानमायाः जितलोभा येन कारणेन भगवन्तस्तेन कारणेन ते जिना भवन्ति । ''अरिणो हंता'' इत्यादि गाथादलं यथा नमस्कारनिर्युक्तौ व्याख्यातं तथैव द्रष्टव्यम् सांप्रतं कीर्तयिष्या-मीत्यादिव्याचिख्यासुरिदमाह–(कित्त त्ति) प्राकृतत्वात् कीर्त-यिष्यामि, नामभिर्गुणैश्च । किं भूतान् ? कीर्तनीयान् स्ववार्हानि-त्यर्थः । कस्येत्यत्राह–सदेयमनुजासुरस्य लोकस्य त्रैलोक्यस्ये-तिभावः । गुणानुपदर्शयति–दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षकारणानि तत्रैकवचनं समाहारत्वात्तथा तपोवनयोऽत्र दर्शितो यैस्तत्र त एव कर्मविनयात्तपोनियमः ।

चउवीसं तिय संखा, उसभादीया य भण्णमाणा उ ।
अविसद्दगहणाओ, एरवयमहाविदेहेसु ॥

चतुर्विंशतिरिति संख्यातेः च ऋषभादिका भण्यमाण एव चतुःशब्द एवकारार्थः । अपिशब्दग्रहणात् पुनरैरावतप्रहाविदेहेषु ये भग-वन्तस्तद्ग्रहोऽपि वेदितव्य इहसूत्रे '' तात्स्थ्यात् तटव्यपदेश'' इति-न्यायादैरावतमहाविदेहाश्चेत्युक्तम् । (आ० म०) सांप्रतमत्रैव चालनाप्रत्ययवस्थाने विशेषतो निदर्श्यते तत्र लोकस्योद्योतक-नित्युक्तम् अत्राह–अशोभनमिदं यदुक्तं लोकस्येति लोको हि चतुर्दशरज्वात्मकत्वेन परिमितः केवलोद्योतस्यापरिमितो लोकालोक-व्यापकत्वात् यद्वक्ष्यति–''केवलियनामणलंभो लोगो यं पगासेई''। ततः सामान्यत उद्योतकरान् । यदि वा–लो–क्य–लोकयोरुद्योतकरानिति वाच्यं न तु लोकस्येति तदयुक्तमभि प्रायापरिज्ञानात् । इहलोकशब्देन पञ्चास्तिकाया एव गृह्यन्ते तत आकाशास्तिकायभेद एव । लोक इति नाथ युक्तः नचैतदनार्ष यत उक्तम्–पंचत्थियकायमइओ लोगो इत्यादि । अपरस्त्वाह–लोकस्योद्योतकारानित्येतावदेव साधुधर्म-तीर्थकरानिति न वक्तव्यं गतार्थत्वात् । तथाहि–ये लोकस्योद्योतकरास्ते धर्म–तीर्थकरा एवेति । उच्यते–इह लोकैकदेशोऽपि ग्रामैकदेशे ग्राम–शब्दवत् लोकशब्दप्रवृत्तिदर्शनात् मामूत्त दुद्योतकरेष्ववधिविभ–ङ्गज्ञानिष्वर्कचन्दादिषु वाक्यसंप्रत्यय इति, तद्व्यपदेशार्थं धर्म्मतीर्थ-करानित्युक्तम् । आह–यद्येवं धर्मतीर्थकरानित्येतावदेवास्तु लोकस्यो-द्योत करानिति न वाच्यम् ? उच्यते–इहलोकेऽपि नद्यादिविषमस्थानेषु सुधिकया धर्मार्थमवतरणीर्थकरणाशीलास्तेऽपि धर्म्मकरा भण्यन्ते । ततो मामूदिति मन्धबुद्धीनां संप्रत्यय इति तदपनोदाय लोकस्योद्योत-करानित्याह–अपर–इत्याह–जिनानित्यतिरिच्यते । तथाहि–यथोक्तप्रकारा जिना एव भवनित इति । उच्यते–इह केषांचिदिदं दर्शनम् ''ज्ञानिनो धर्मतीर्थस्य, कर्त्तारः परमं पदम् । गत्वा गच्छन्ति भूयोऽपि, भवं तीर्थनिकारत'' : इत्यादि । ततस्तन्मतपरिकल्पितेषु यद्योक्तप्रका-रेषु मामूत्संप्रत्यय इति तद्व्यवच्छेदार्थमित्याह–जिनामता राणा दिजेतारस्ते तनयपरिकल्पिता जिना न भवन्तीति तीर्थनिकारतः पुनरिह भवाङ् कुरोत्पादादन्यथा स न स्यात् । बीजाभावात् तथोक्त-मन्यैरपि–

अज्ञानपांशुपिहितं, पुरातनं कर्मबीजमविनाशि ।
तृष्णाजलाभषिक्त, मुश्चति जन्माङ् कुरं जन्तोः ॥१॥
दग्धे बीजे यथात्यन्तं, प्रादुर्भवति नाङ् कुः ।
कर्म्मबीजे तथा दग्धे, न रोहति भवाङ् कुरः ॥२॥

आह–यद्येवं जिनानित्येतावदेवास्तु लोकस्योद्योतकरानित्यादिव्य-तिरिच्यते । उच्यते–इहप्रवधने सामान्यतो विशिष्टश्रुतध–रादयोऽपि जिना उच्यन्ते । तद्यथा–श्रुतजिनाः अवधिजिनाः, मनःपर्यायज्ञानि-जिनाः, छद्मस्थवीतरागाश्च । ततो मामूत्तेषु संप्रत्यय इति तदपतोदाय लोकस्योद्योतकरानित्याद्यप्यदुष्टम् । अपरस्त्वाह–अर्हत इति न वाच्यम् । खल्वनन्तरोदितस्वरू पा अर्हद्व्यतिरेकेणापरे संभवन्ति । उच्यतेअर्हतामेव विशेष्यत्वान्न दोषः । आह–यद्येवं तर्हि अर्हत इत्येतावदेवास्तु लोकस्योद्योतकरानित्यादि पुनरप्यर्थकम् । न तस्य विशेषणत्वात् विशेषण–साफ ल्यस्य च प्रतिपादितत्वादिति । अपरस्त्वाह–केवलिन इति न वाच्यम् यथोक्तस्वरुपाणामर्हतां केवलित्वव्यभिचाराभावात् । ''सति च व्यभिचार संभवे विशेषणोपादानं फलवत्'' तथा चोक्तम् ''संभवे व्यभि । चारविशेषणमर्थवद्भवति । यथा नीलोत्पलमिति । व्यभिचाराभवे तु तदुपादीयमानमपि न कञ्चनार्थं पुष्णातीति । यथा–कृष्णो भ्रमरः शुक्ला बलाहका इति तस्मात् केवलिन इतितिरिच्यते नाभिप्रायापरिज्ञानात् इहकेवलिन एव यथोक्तस्वरूपा अर्हन्तो नान्ये इति नियमादर्थत्वेन स्वरूपज्ञानार्थमिदं विशेषणमित्यनवद्यम् न खल्वेकान्ततो व्यभिचारसंभवे एव विशेषणोपा-दानं फलवत् उभयपदव्यभिचारे एकपदव्यभिचारे यथानीलोत्पलमिति । एकपदव्यभिचारे–अब्द्रव्यं पृथिवीद्रव्यमिति । स्वरू पज्ञाने यथा परमाणुरप्रदेश इत्यादि । तस्मात् केवलिन इत्यदुष्टम् आह–यद्येवं केवलिन इत्येवं सुन्दरम् । शेषं तु लोस्योद्योतकरनित्यादि किमर्थमिति । उच्यते–इह श्रुतकेवलिप्रभृतयोऽपि केवलिनो विद्यन्ते तन्मा भूत्तेषु संप्रत्यय इति तत्प्रतिक्षेपार्थं लोकस्योद्योकरानित्याद्युक्तम् । एवं ध्यादिसंयोगापेक्षया विचित्रनयमताभिज्ञेन स्वधिया विशेषणसाफ ल्यं वाच्यमिति । (आ०म०द्वि) संप्रति विमलः । विगतमलो विमलः ज्ञानादियोद्वा विमलः तत्र सर्वेऽपि भगवन्त इत्थंभूता इतो विशेषमाह– विमलतणू ना

हद्धं गब्भगतो मातुए सरीरं उ। बुद्धी य अतिविमला, जाओ तेण त्रिमलो त्ति" । इदाणिं अणंतो–तत्रानन्तकर्म्माशयादनन्तः अनन्तानि वा ज्ञानादीन्यस्येति सर्वे हि "विद्धं अणंता कम्मं सालीया सव्वेसिं च अणंताणि णाणादीणि "विरयणचित्तमणं– तं दामं सुमिणे ततो णंतो" रत्न विविन्तं रत्नखचितं अनन्तप्रतिमहाप्रमाणं दाम स्वप्ने जनन्या दृष्टमतोऽनन्त इति। संप्रति धर्म्मः–दुर्गतौ प्रपतन्तं सर्वसंघातं धारयीति धर्म्मः । तत्र सर्वेऽपि भगवन्त ईदृशास्ततो विशेषमाह–"गिब्भगए जं जणणी, जायसुधम्मत्ति तेण धम्मजिणो"। भगवति गर्भगते येन कारणेन विशेषतो जननी धर्मे दानदयादिरूपशोभनधर्म्मपरायणा तेन नमातो धर्मजिनः । आ० म० द्वि । (उसभमित्यादिति स्रोऽपि गाथाः व्याख्याताः ऋषभादि शब्देषु)–

उसभमजियं च वंदे, संभवममिनंदणं च सुमइं च ।
पउमप्पहं सुपासं, जिणं च चंदप्पहं वंदे ॥२॥
सुविहिं च पुप्फदंतं, सीयलसिज्जं च वासुपुज्जं च ।
विमलमणंतं च जिणं, धम्मं संति च वंदामि ॥३॥
कुंथुं अरं च मल्लि, वंदे मुणिसुव्वयं नमिजिणं च ।
वंदामिऽरिट्ठनेमिं, पासं तह वद्धमाणं च ॥४॥
एवं मए अभिथुआ, विहुयरयमला पहीणजरमरणा ।
चउवीसं पि जिणवरा, विहुयरयमला पहीणजरमरणा ।
चउवीसं पि जिणबरा, तित्थयरा मे पसीयं तु ॥५॥
कित्तिय वंदिय महिया, जे जे लोगस्स उत्तमा सिद्धा ।
आरुग्गवोहिलाभं समाहिवरमुत्तमं दितु ॥६॥
चंदेसु निम्मलयरा, आइच्चेसु अहियं पयासगरा ।
सागरवरगंभीरा सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु ॥७॥

आव० २ अ० । आ० चू० । आ० म० । ल० । ध० (श्रावकस्यापि चतुर्विंशतिस्तवोऽस्ति इति आवेदितम्, 'आवस्सय'शब्दे द्वितीयभागे ४५६ पृष्ठे) जिनगुणोत्कीर्तनाधिकारवति अध्ययनविशेषे, पा० ।

चउवीसदंडय–पुं०(चतुर्विंशतिदण्डक) स्था० । चतुर्विंशतिप्रतिवद्धो दण्डको वाक्यपद्धतिश्चतुर्विंशतिदण्डकः । स इह वाच्य इति शेषः । स चायम्– "नेरइया १ असुराई १०, पुढवाई ५ वेइन्दियादओ चेव ४ । नर १ वंतर १ जोतिसिया १, वेमाणिय १ दंडओ एवं" ॥१॥भवनपतयो दशधा "असुरा नागसुवन्ना, विज्जू अग्गीय दीव उदही य । दिसि पवणथणियनामा, दसहा एए भवणवासि ॥१॥ ति" एतदनुसारेण सूत्राणि वाच्यानि यावच्चतुर्विंशतितमम् । स्था० १ ठा० १ उ०।

चउवीसवासपरिजाय–त्रि०(चतुर्विंशतिवर्षपर्याय) चतुर्विंशतिवर्षपरिमाणप्रव्रज्यापर्याये, भ० १५ श० १ उ० ।

चउव्विह–त्रि०(चतुर्विध) चतस्रो विधा भेदा यस्य तत् चतुर्विधम्। स्था० ४ ठा० १ उ० । चतुःस्वभावे, भ० १८ श० ४ उ० "चउव्विहं गेयं गायंति" रा० ।

चउसट्ठि–स्त्री०(चतुष्षष्टि) चतुरधिकषष्टिसंख्यायाम्, "चउसठी सट्ठी खलु, छच्च सहस्साओ असुरवज्जाणं" प्रज्ञा० २ पद।

चउसट्ठिआ–स्त्री०(चतुःषष्टिका) मणिकाचतुःषष्टितमभागनिष्पन्ने चतुःपबप्रमाणे रसमानविक्षेषे, अनु०। भ०।

चउसट्ठिलट्ठिय–त्रि०(चतुःषष्टिलष्टिक)। चतु षष्टिर्लष्टीनां शराणां यस्मिन्नसौ । शराणां चतुष्षष्ट्या युते, स० ६४ सम० ।

चउसद्दहण–न०(चतुःश्रद्धान) चत्वारि श्रद्धानानि यत्र तच्चतुःश्रद्धानम् । श्रद्धानतुष्टयान्विते सम्यक्त्वे, प्रव० १४६ द्वार । चतुर्विधे श्रद्धाने च। ध० २ अधि० ।

चउसमयसिद्ध–पुं०(चतुःसमयसिद्ध) सिद्धत्वसमयाच्चतुर्थसमये सिद्धे परम्परासिद्धभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

चउसरण–न०(चतुःशरण) प्रकीर्णकविशेषे, सेन०। चतुःशरणाध्यानमुपासकानां कथं कार्यते यतीनां योगं विना तदनध्यायः श्राद्धानां तु मनारणैव पाठस्तत्र किं शास्त्रं बलीयः का वा गच्छसामाचारीति। प्रश्ने– उत्तरम्–चतुःशरणादीनि चत्वारि प्रकीर्णकानि आवश्यकवत्प्रतिक्रमणादिषु बहूपयोगित्वादुपयोगोद्वहनमन्तरेणापि परंपरयाऽभिधीयमानानि सन्ति सैव तत्र प्रमाणमिति । ४०८ प्र० । सेन० ३ उल्ला० । चतुःशरणप्रकीर्ण–कस्य गुणनं व्रतीनां श्राद्धानां च कालवेलायाम् । अस्वाध्यायदिने च शुद्ध्यति न वेतिप्रश्नः । उत्तरम्–चतुःशरणप्रकीर्णकगुणनं कालवेलायामपि कल्पते अस्वाध्यायदिनेषु कल्पत इति । ३८६ प्र० । सेन० ३ उल्ला० ।

चउसरणगमन–न०(चतुःशरणगमन) चतुर्णामर्हत्सिद्धसाधुकेवलिप्रज्ञप्तधर्माणां शरणगमनम् । "चत्तारि सरणं पवज्जामि इत्यादिरूपे प्रधानशरणोपगमे, पं० सू० ३ सू० । पञ्चा० ।

चतुःशरणगमनं चैवम्–

''क्षीणरागादिदोषौघाः, सर्वाः विश्वपूजिताः ।
यथार्थवादिनोऽर्हन्तः, शरण्याः शरणं मम ॥१॥
ध्यानाग्निदग्धकर्माणः, सर्वज्ञाः सर्वदर्शिनः ।
अनन्तसुखवीर्याढ्याः, सिद्धाश्च शरणं मम ॥२॥
ज्ञानदर्शनचारित्र–युताः स्वपरतारकाः ।
जगत्पूज्याः साधवश्च भवन्तु शरणं मम ॥३॥
संसारदुःखसंहर्ता, कर्ता मोक्षसुखस्य च ।
जिनप्रणीतधर्मश्च, सदैव शरणं मम ॥४॥

एवं श्रावकस्य चतुःशरणकरणं महते गुणाय यदाह– "चउरंगो जिणधम्मो, न कओ चउरंगसरणमवि न कयं । चउरंगभवच्छेओ, न कओ हा हारिओ जम्मो ॥१॥ त्ति"

दुष्कृतगर्हणं च–

"जं मणवयकायेहिं, कयकारिअअणुमईहि आयरिअं ।
धम्मविरुद्धमसुद्धं, सव्वं गरिहामिं तं पावं" ॥१॥ इत्यादि ।
ध० २ अधि० ।

जावज्जीवं मे भगवंतो परमतिलोअनाहा अणुत्तरपुण्णसंभारा खीणरागदोसमोहा अचिंतचिंतामणी भवजलधिपोआ एगंतसरणा अहंस्ता सरणं, तहा–पहीणजरामरणा अवेयकम्मकलंका पणट्ठवावाहा, केवलनाणदंसणा सिद्धपुरनिवासी निरुवमसुहसंगया सव्वहा कयकिच्चा सिद्धा सरणं, तहा–पंसत-गंभीरासया सावज्जजोगविरया पंचविहायारजाणगा परोवयारनिरया पउमाइनिदंसणा झाणज्झय-णसंगया विसुज्झमाणभावा साहू सरणं, तहा–सुरासुरमणुमणु-अपजिओ मोहतिमिरंसुमाली रागदोसविसपरममंतो हेऊ

सयलकल्लाणाणं कम्मवणविहावसू साहगो सिद्धभावस्स केवलिपण्णत्तो धम्मो जावज्जीवं मे भगवं सरणं ॥

"जावज्जीवं मे भगवंतो अरहंता सरणं इति योगः" । (जावज्जीवं मे) यावज्जीवितं मे मम भगवन्तः समग्रैश्वर्यादियुक्ताः अर्हन्तः शरणमिति योगः । अत्र यावज्जीवमिति कालपरिमाणं, परतो भङ्गभयात् पुनरवधित्वेन परतोऽप्यधिकृतशरणस्येष्टत्वात् । अत एव विशेष्यन्ते (परमतिलोअणाहा ।) परमाश्च ते दुर्गतिभवसंरक्षणेन त्रिलोकनाथाश्च । अत्र त्रिलोकवासिनो देवादयः परिगृह्यन्ते । यत एव विशेष्यन्ते । अणत्तरपुण्णसंभारा, अनुत्तरः सर्वोत्तमहेतूत्कर्षात्पुण्यसंभारः तीर्थङ्करनाकर्मलक्षणो येषां ते तथा । त एव विशेष्यन्ते (खीणरागदोसमोहा) क्षीणरागद्वेषमोहाः अभिष्वङ्गाप्रीत्यज्ञानलक्षणा येषां ते तथा । त एव विशंष्यन्ते । (अचिंतचिंतामणी) अचिन्त्य चिन्तामणयः चिन्तातिक्रान्तापवर्गविधायकत्वेन । त एव विशेष्यन्ते (भवजल-हिपोआ) भवजलधिपोताः, तद्भदुत्तारत्वेन त एव विशेष्यन्ते (एगंतसरणा) एकान्तशरण्याः सर्वाश्रितहितत्वेन, क एवं भूताः किं वा एत इत्याह– (अरहंता सरणं) अर्हन्तः शरणं तत्राशोकाद्यष्टमहाप्राति-हार्यलक्षणपूजामर्हन्तीत्यर्हन्तः ते मम शरणमाश्रय इति । (तहा पहीजरामरणा) सिद्धाः शरणम् इति योगः । तथा न केवलमर्हन्तः किं तु सिद्धाः शरणमिति क्रिया । किंविशिष्टास्ते इत्याह–प्रक्षीणजरामरणाः प्रक्षीणे सदाऽपुनर्भावित्वे न जरामरणे येषां ते तथा, जन्मादिबीजाभावात् । एत एव विशेष्यन्ते । (अवेयकम्मकलं–का) अपेतकर्मकलङ्काः अपेतः कर्मकलङ्को येषां ते तथाविधाः, सर्वथा कर्मरहिता इत्यर्थः । एत एव विशेष्यन्ते–(पणट्ठवाबाहा) । प्रणष्टव्याबाधाः प्रकर्षेण नष्टा क्षीणा व्याबाधा येषां ते तथा, सर्वव्याबाधावर्जिता इति भावः । एत एव शिष्यन्ते–(केवलणा–दंसणा) केवलज्ञानदर्शनाः केवले सम्पूर्णे ज्ञानदर्शने येषां ते तथा विधाः, सर्वज्ञाः सर्वदर्शिन इत्यर्थः । एत एव विशेष्यन्ते–(सिद्धिपुरनिवासिन) सिद्धिपुरनिवासिनः सिद्धिपुरे लोकान्ते निवस्तुं शीलं येषां ते तथ, मुक्तिवासिन इति गर्भः । एत एव विशेष्यन्ते–(णिरुवमसुहसंगया) । निरुपमसुखसंगताः । निरुपमसुखेन विद्यमानापेक्षेण संगता इति समासः । असांयोगिकानन्दयुक्त इत्यर्थः । एत एव विशेष्यन्ते–(सव्वहा कयकिच्चा) सर्वथ कृतकृत्याः । सर्वथा सर्वैः प्रकारैः कृतं कृत्यं यैस्ते तथा, निष्ठितार्था इति भावः । क एवंभूताः, किं वा एत इत्याह–(सिद्धा सरणं) सिद्धाः शरणं सिद्ध्यन्ति स्म सिद्धाः परमतत्वरूपास्ते मम शरणमाश्रय इति "तहा पसंतगंभीरासया साधू शरणमिति योगः" । तथा न केवलं सिद्धाः शरणं, किन्तु साधवः शरणमिति क्रिया । किं विशिष्टास्त इत्याह–प्रशान्ताः क्षान्तियोगात् गम्भीरोऽगाधतया आश्रयश्चित्तपरिणामो येषां ते प्रशान्तगम्भीराशयाः । एत एवं विशेष्यन्ते । (सावज्जजोगविरया) । सहावद्येन सावद्यः सपापो योगो व्यापारः कृतादिरूपः तस्माद्विरताः सावद्ययोगविरताः । त एव विशेष्यन्ते ॥ (पंचविहायारजाणगा) पञ्चविधमाचारं ज्ञानाचारादिभेदभिन्नं जानन्ते इति पञ्चविधाचारजानकाः । एत एव विशेष्यनते । (पउमादिणिदंसणा) पद्मादीनि पङ्कोत्पत्तिजलस्थितिभावेऽपि तदस्पर्शनेन कामभोगापेक्षयैवमेव भाव इति निदर्शनानि येषां ते पद्मादिनिदर्शनाः । आदिशब्दाच्छरत्सलिलादिग्रहः । एत एव विशेष्यन्ते (झाणज्झयणसंगया) ध्यानाध्ययनाभ्याम् एकाग्रचिन्तानिरोधस्वाध्यायलक्षणाभ्यां संगता ध्यानाध्ययनसंगताः एत एव विशेष्यन्ते । (विसुज्झमाणभावा) विशुद्ध्यमानो विहितानुष्ठानेनभावो येषां ते विशुद्ध्यमानभावाः, क एवं भूताः । किं वा एत इत्याह–(साहू सरणं) तत्र सम्यग्दर्शनादिनिः सिद्धिं साधयन्तीति साधवः, मुनयः इत्यर्थः । ते मम शरणमाश्रयः इति । "तहा सुरासुरमणुअपूजिओ, केवलिपण्णत्तो धम्मो–यावज्जीवं ते भगवं सरणं" इति योगः । तथा न केवलं साधवः शरणं किं तु केवलिप्रज्ञप्तो धर्म्म इति संबन्धः । किंविशिष्ट इत्याह– (सुरासुरमनुअपूइओ) सुरासुरमनुजैः पूजितः सुरासुरमनुजपूजितः सुरा ज्योतिष्कवैमानिकाः, असुरा व्यन्तरभवनपतयः, मनुजाः पुरुषविद्याधराः । अयमेव विशेश्यते । (मोहतिमिरंसुमाली) मोहस्तिमिरमिव मोहतिमिरं सद्दर्शनवारकत्वेन तस्यांशुमाली–वांशुमाली तदपनयनादादित्यकल्पः । अयमेव विशेष्यते । (रागद्दोसविसंपरममंतो) रागद्वेषौ विषमिव रागद्वेषविषं तस्य परममन्त्रः तद्घातित्वेनेति भावः । अयमेव विशेष्यते । (हेऊ सयलकल्लाणाणं) हेतुः कारणं, प्रवर्तकत्वादिना सकल-कल्याणानां सु देवत्वादीनाम् । अयमेव विशेष्यते । (कम्मवणविभावसू) कर्मवनस्य ज्ञानावरणीयादिसमुदयरूपस्य विभावसुरिवाग्निरिव तद्दाहकत्वेन । अयमेव विशेष्यते । (साधगो सिद्धभावस्स) साधको निवर्तकः सिद्धभावस्य सिद्धत्वस्य तथा तथा तत्संपादकत्वेन कोऽयमेवं किं वेत्याह–(केवलिपण्णत्तो धम्मो) केवलिप्रज्ञप्तः केवलिप्ररूपितो धर्मः श्रुतादिरूपः । (जावज्जीवं मे भगवं सरणं) यावज्जीवमिति पूर्ववत् । मे मम भगवान् समग्रैश्वर्यादिगुणयुक्तः शरणमाश्रयः । एतश्चतुःशरणगमनम् । एकार्थसाधकत्वेन प्रभूतानामप्यविरुद्धमेव । एष एव परमार्थः । "चत्तारि सरणं पवज्जामि । अरहंते सरणं पवज्जामि । सिद्धे सरणं पवज्जामि । साहू सरणं पवज्जामि केवलिपण्णत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि त्ति" पं० सू० सू०।

सावज्जजोगविरई–उक्कित्तणगुणचउअपडिवत्ती ।
खलियस्स निंदणावण–तिगत्थगुणधारणा चेव ॥१॥
चारित्तस्स विसोही, कीरइ सामाइएण किल इह यं ।
सावज्जेयरजोगाऽऽणं–वज्जणा सेवणत्तणओ ॥२॥
दंसणयारविसोही, चउवीसा पत्थएण किज्जइ य ।
अवज्झुअगुणकित्तण–रूवेणं जिणवरिंदाणं ॥३॥
नाणाइया उ गुणा, तस्स पन्नवत्तिकरणाओ ।
वंदणएणं विहिणा, कीरइ सोही उ तेसिं तु ॥४॥
खलियस्स य तेसि पुणो, विहिणा तं निंदणाइपडिकमणं ।
तेणं पडिकमणेणं, तेसिं पि य कीरए सोही ॥५॥
चरणाइयाईयाणं, जहक्कमं वणतिगिच्छरूवेणं ।
पडिकमणो सुद्धाणं, सोही तह काउसग्गेणं ॥६॥
गुणधारणरूवेणं, पच्चक्खाणेण तवऽइयारस्स ।
विरियायारस्स पुणो, सव्वेहिं वि कीरए सोही ॥७॥
गयवसहसीहअभिसे–य दामससिदिणयरं झयं कुभं ।
पउमसरमागरविमा–णभवणरयणुच्चयसिहिं च ॥८॥
अमरिदनरिंदमुणिं–दवंदियं वंदिउ महावीरं ।

कुसलाणवंधुवंधुर–मज्झयणं कित्तइस्सामि ॥९॥
चउसरणगमणदुक्कड–गरिहासुकडाऽणुमोअणा चेव ।
एस गणो अणवरयं, कायव्वो कुसलहेउ त्ति ॥१०॥
अरिहंतसिद्धसाहू–केवलिकहिओ सुहावहो धम्मो ।
एए चउरो चउगई–हरणा सरणं लहइ धन्नो ॥११॥
अह सो जिणभत्तिभरु–ब्भरंतरोमकंचुअकरालो ।
पहरिसएण उम्मीसं, सीसम्मि कयंजली भणइ ॥१२॥
रागद्दोसअरीणं, हंता कम्मट्ठगाईंअरिहंता ।
वियसकसायारीणं, अरिहंता हुंतु मे सरणं ॥१३॥
रायसिरिमवकसित्त, तवचरणं दुक्करं अणुचरित्ता ।
केवलिसिरिमरिहंता, अरिहंता हुंतु मे सरणं ॥१४॥
थुइवंदणमरिहंता, अमरिंदनरिंदपूअमरिहंता ।
सासयसुहमरिहंता, अरिहंता हुंतु मे सरणं ॥१५॥
परमणगइं मुणंता, जोईदमहिदङ्काणमरिहंता ।
धम्मकहं च कहंता, अरिहंता हुंतु मे सरणं ॥१६ ॥
सव्वञ्जिआणमहिसं, अरिहंता सच्चवयणमरिहंता ।
बंभव्वयमरिहंता, अरिहंता हुंतु मे सरणं ॥१७॥
ओसरणमवसरित्ता, चउतीसं अइसए निसेवित्ता ।
धम्मकहं च कहंता, अरिहंता हुंतु मे सरणं ॥१८॥
एगाइगिराऽणेगे, संदेहे देहिणं समत्थंता ।
तिहुयगमणुतासंता, अरिहंता हुंतु मे सरणं ॥१९॥
वयणामएण भुवणं, निव्वावंता गुणेसु ठावंता ।
जिअलोअमुद्धरंता, अरिहंता हुंतु मे सरणं ॥२०॥
अच्चब्भुयगुणवंते, नियजस सहरपयाहि पंदंते ।
नियमणाइअणंते, पडिवज्जे सरणमरिहंते ॥२१॥
उज्झियजरमरणाणं, सम्मत्तदुखुत्ततस्स सरणाणं ।
तिहुयणजणसुहयाणं, अरिहंताणं नमो ताणं ॥२२॥
अरिहंतसरणमलसुद्धि, लद्धसुविसुद्ध सिद्धबहुमाणा ।
पणयसिररइयकरकमल–सेहेरो सहरिसं भणइं ॥२३॥
कम्मट्ठक्खयसिद्धा, साहावियनाणदंसणसमिद्धा ।
सव्वट्ठलद्धसिद्धा, ते सिद्धा हुंतु मे सरणं ॥२४॥
तियलोयमच्छरत्था, परमपयत्थ अचिंतसामत्था ।
मंगलसिद्धपयत्था, सिद्धा सरणं सुहपसत्था ॥ २५ ॥
मुक्खे य पडिवक्खा, अमूढलक्खा सजोगिपच्चक्खा ।
साहावियत्तमुक्खा, सिद्धा सरणं परमसुक्खा ॥२६॥
पडिपिल्लियपडिणीया, समग्गझाणग्गिदड्ढभवीया ।
जोईसरसारणीया, सिद्धा सरणं सुरणीया ॥२७॥
पावियपरमाणंदा, गुणनीसंदा विदिन्नीभवकंदा ।
लहुईकयरवचंदा, सिद्धा सरणं खवियदंदा ॥२८॥
उवलद्धपरमवंभा, दुल्लहलंभा विमुक्कसंरंभा ।
भुवणघरधरणखंभा, सिद्धा सरणं निरारंभा ॥२९॥
सिद्धसरणेण नववं–भहेउ साहुगुणजणिअअणुराआ ।
मेइणिमिलंतसुपस–त्थमत्थ उ तत्थिमं भणइं ॥३०॥
जिअलोअबंधुलोकुसाई, सिंधुणो परगा महाभागा ।
नाणाइएहिं सिवसु–क्खसाहगा साहुणो सरणं ॥३१॥
केवलिलोयरसोही, विउलमई सुयहरा जिणमयम्मि ।
आयरियउवज्झाया, ते सव्वे साहुणो सरणं ॥३२॥
भूउदसदसनपुव्वी, दुबालमिक्कारसंगिणो जयइं ।
जिणकप्पाऽहालंदिय–परिहारविसुद्धसाहू य ॥३३॥
खीरासवमहुआसव–संभिन्नस्सो अकुट्ठबुद्धी य ।
चारणवेउव्वियपया–णुसारिणा साहुणो सरणं ॥३४॥
उज्झियवइरविगेहा, निच्चमदोहापसंतमुहसोहा ।
अभिमयगुणसंदोहा, हयमोहा साहुणो सरणं ॥३५॥
खंडियसिणेहदामा, अकामधामा निकामसुहकामा ।
सुपुरिसमणाभिरामा, आयारामा मुनी सरणं ॥३६॥
मिल्हियविसयकसाया, उज्झियघरणिसंगसुहसोया ।
अकलियदरिसविसाया, साहू सरणं गयपमाया ॥३७॥
हिंसाइदोससुन्ना, कयकारुन्ना सयंभुकप्पन्ना ।
अजयामरहरवुन्ना, साहू सरणं सुकयपन्ना ॥३८॥
कामविडंतणवुक्का, कलिमलमुक्का विविहचोरिक्का ।
पावरयसुगयरिक्का, साहू गुणरयणचच्चिका ॥३९॥
साहू तासु ठिया जं, आयरियाई तअ अ साहू ।
साहुगहणेण गहिआ, ते तम्हा साहुणो सरणं ॥४०॥
पडिवन्नसाहुसरणो, सरणं काउं पुणो वि जिणधम्मे ।
पहारे सारामंच, पवंचकंचुअं चियतणू भणइ ॥४१॥
पवरसुकराहिपत्तं, पत्तेहिं वि नवरि कंहि वि न पत्तं ।
तं केवलिपन्नत्तं, धम्मं सरणं पवन्नो हं ॥४२॥
पत्तेणं अपत्तेण य, पत्ताणि य जेण नरसुरसुहाई ।
मुक्खसुहं पुण तत्तेण, नवरि धम्मो स मे सरणं ॥४३॥
निद्दालियकलुसकमो–कहलुसुहजम्मो खलीकयअहम्मो ।
पमुहपरिणामरम्मो, सरणं मे होउ जिणधम्मो ॥४४॥
कालंतरा वि न मयं, जम्मणजरमरणवाहिसयसमयं ।
अमयं च बहुमयं जिण–मयं च सरणं पवन्नो हं ॥४५॥
पसमियकामपमोहं–दिट्ठादिट्ठेसु न कालियविरोहं ।
सिवसुहफलयमोहं, धम्मं सरणं पवन्नो हं ॥४६॥
नरयगइगमणरोह, गुणसंदोहं पवाइनिक्खोहं ।
निहणियवम्महलोहं, धम्मं सरणं पवन्नो हं ॥४७॥
भासुरसुवन्नसुंदर–रयणालंकारगारवं महयं ।
निहिमिव दोगच्चहरं, धम्मं जिणदेसियं चंदे ॥४८॥
चउसरणगमणसंचिय–सुचरियरोमं च अंचियसरीरो ।

कयदुक्कहगरिहा अम–हकम्मक्खयकंखिरा भणइ ॥४६ ॥
इह भवियमन्नभवियं, मिच्छत्तपव्वत्तणं जमहिगरणं ।
जिणपवयणपडिकुट्ठं, दुट्ठं गरिहामि तं पावं ॥५० ॥
मिच्छत्ततमधेणं, अरिहंताईसु अभवयणं जं ।
अन्न णेण विरइयं, इणिंह गरिहामि तं पावं ॥५१॥
सुअधम्मसंपसाहु, सुपावपडिणीयआई जं रइअं ।
अन्नेसु अपावेसुं, इणिंह गरिहामि तं पावं ॥५२॥
अन्नेसु अ जीवेसुं, मित्ती करूणाइगो अरेसु कयं ।
परियावणाइं दुक्खं, इणिंह गरिहामि तं पावं ॥५३॥
जं मणवयकाएहिं, कयकारियअणुमइहिं आयरियं ।
धम्मविरुद्धमसुद्धं इणिंह गरिहामि तं पावं ॥५४॥
अह तो दुक्कडगरिहा, दलिउक्कडदुक्कडो फुडं भणइ ।
सुकडाणुरायसमुइ–न्नपुन्नपुलयं करकरालो ॥५५॥
अरिहंतं अरिहंते–सु जं च सिद्धत्तणं च सिद्धेसु ।
आयारं आयरिए, उवज्झायं तं उवजझाए ॥५६॥
साहूण साहुकिरियं, देसविरइं च सावयजणाणं ।
अणुमन्ने सव्वेसुं, सम्मत्तं सम्मदिट्ठीणं ॥५७॥
अहवा सव्वंचिय वी–यरायवयणाणुसारि जं सुकडं ।
कालत्तए वि तिविहं, अणुमोएमो तयं सव्वं ॥५८॥
सुहपरिणामो निच्चं, चउसरणगमाइआयारं ।
जीवो कुसलपयडीअ, बंधइ बंधाउ सुहाणुबंधीओ ॥६०॥
ता एवं कायव्वं, वुहिहिं निच्चं पि संकिलेसम्मि ।
होइ तिकालं सम्मं, असंकिलेसम्मि सुकयफलं ॥६१॥
चउरंगो जिणधम्मो, न कओ चउरंगसरणं वि ।
न कयं चउरंगो भव–च्छेओ न कओ हा हारिओ जम्मो ॥६२॥
इह जीवपमायमाहारि, वीरभद्दं नमेवमज्झयणं ।
जासु एति संजमवं–झकारणं निव्वुइसुहाणं ॥६३॥ द० प।

चउसिर–नं०(चतुरिशरम्) चत्वारि शिरांसि यस्मिन् तच्चतु:शिर:। प्रथमप्रवेशे क्षमणाकाले शिष्याचार्य्ययोरवनतं यच्छिरोद्वयं निष्क्रम्य पुन: प्रदेशे तथैव शिरोद्वयम्। शिरश्चतुष्टयोगिनि वन्दनके, ध० ३ अधि०। आव०। स०।

चउहा–अव्य०(चतुर्द्धा) चतु:प्रकारे, चउहविवाग त्ति चतुर्द्धा क्षेत्रजीवभवनपुद्गविपाका: प्रकृतीर्वक्ष्ये। कर्म० ५ कर्म०।

चउहार–पुं०(चतुराहार) चतुर्णामशनपानखादिमस्वादिमानांत्यागे, ल० प्र०।

चओरग–पुं०(चकोरक) चक तृप्तौ। ओरन्। स्वार्थे कन्। स्वनामख्याते पक्षिभेदे, वाच०। प्रश्न०।

चओवचइ–त्रि०(चयोपचयिक) वृद्धिहान्यात्मके, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ०।

चंकमंत–त्रि०(चङ्क्रममाण) चलनस्वभावे, औ०। कल्प०।

चङ्क्रम्यमाण–त्रि०। चलनस्वभावे, औ०। कल्प०।

चंकमण–न०(चङ्क्रमण) उपाश्रयान्तरे शरीरश्रमव्यपोहार्थमितस्तत: संचरणे, स०।

चङ्क्रमणगुणनुपदर्शयति–

वायाई सट्ठाणं, वयंति कुविया उ सन्निरोहेणं ।
लाघवमग्गिपडुत्तं, परिस्समजयो उ चङ्कमतो ॥

नुयोगदानादिनिमित्त याश्चिरमेकस्थानोपवेशनलक्षण: सन्निरोधस्तेन कुपिता: स्वस्थानाच्चालिता ये वातादयो धातवस्ते चङ्क्रमतो भूय: स्वस्थानं व्रजन्ति लाघवं शरीरे लघुभाव उपजायते। अग्निपटुत्वं जाठरानलपाटवं च भवति। यश्च व्याख्यानादिजनित: परिश्रमस्तस्य जय: कृतो भवति। एते चङ्क्रमतो गुणा भवन्ति। बृ० ३ उ०। नि० चू०। आव०। भ्रमणे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०।

चंकमिय–न०(चङ्क्रमित) गतिविभ्रमे, "चंकमियं ठियं जंपियं व, विप्पेखित्तं च सविलासं। आगारियवहुविधे, वट्टु भुत्तेयरे दोसा" ॥ ३७ ॥ नि० चू० १ उ०।

चंकारअणुओग–पुं०(चकारानुयोगा) समाहारेतरेतरयोगसमुच्चयान्वाचयाऽवधारणपादपूरणाधिकवचनादिषु, (स्था०) (चंकारे त्ति) अत्रानुस्वारोऽलाक्षणिक:, यथा–"सुक्के सणिंचरे इत्यादि"। ततश्चकार इत्यर्थ:। तस्य चानुयोगो यथा–चशब्द: समाहारेतरेतररयोगसमुच्चयान्वाचयावधारणपादपूरणाधिकवचनादिषु इति। तत्र–(इत्थीओ सयणाणि य त्ति) इहसूत्रे चकार: समुच्चयार्थ: स्त्रीणां शयानानां चापरिभोग्यतातुल्यत्वप्रतिपादनार्थ:। स्था० १० ठा०।

चंगदेर–पुं०(चंगवेर) काष्ठपात्र्याम्, "पीढए चंगवेरे य, नंगले मइयं सिया। जंतलट्ठी व नाभी वा, गंडिया व अलं सिया" ॥२८॥ दश० ७ अ०।

चंगेरी–स्त्री०(चङ्गेरी) महत्यां काष्ठपात्र्यां, बृहत्पाटलिकायां च। प्रश्न० १ आश्र० द्वार। रा०। आ० म०। जी०। प्रज्ञा०।

चंचत–त्रि०(चञ्चत्) मनोहारिणि, अष्ट० ३२ अष्ट०।

चंचपुड–पुं०(चञ्चुपुट) आघातविशेषे, ''खुरचलणचंचपुडेहिं धरणिअलं अभिहणमाणं'' जं० ३ वक्ष०।

चंचल–त्रि०(चञ्चल) लोले, स्था०।

चञ्चलभेदा:–

गइठाणभासभावे, लहुओ मासो उ होइ एक्केक्को ।
अणाईणो य दोसा, विराहणा संजमावए ॥

चञ्चलश्चतुर्द्धा तद्यथा–गतिचञ्चल:, स्थानचञ्चल:, भाषाचञ्चल:, भावचञ्चलश्च। एतेषामेकैकस्मिन् लघुको मास: प्रायश्चित्तम्। आज्ञादश्च दोषा विराधनासंयमे आत्मनि च। तत्र संयमविराधनागतिचञ्चलस्य त्वरितं गच्छत: पृथिव्यादीनां कायानामुपमर्दनम्। आत्मविराधना–प्रपतनप्रस्खलनदेवतातुलनादिका। एवं स्थानचञ्चलादिष्वप्युपयुज्यात्मसंयमविराधना वक्तव्या।

अथ गतिस्थानचञ्चलौ तावदाह–

दावद्दविओ गइचं–चलो उ ठाणचंचलो इमो तिविहो ।

कुड्डाइ सइं फुसइ व, लसइ व पाए वा विच्छभइ ॥

इह द्रवशब्दो द्रुतार्थवाचकस्ततो द्रावद्रविको नाम द्रुत–द्रुत–गामी स गतिचञ्चलो भण्यते । स्थानचञ्चलः पुनरयं त्रिविधस्तद्यथा–असौ निषण्णः सन् पृष्ठबाहुकरचरणादिभिः कुड्यम् आदिशब्दात् स्तम्भादिकमसकृदनेकशः स्पृशति । वाशब्द उत्तरापेक्षया विकल्पार्थः । यो वा निषण्ण एव इतस्ततो भ्राम्यति ।२। पादौ वा विक्षिपति पुनः पुनः संकोचयति प्रसारयति चेत्यर्थः ॥३॥

भाषाचपलमाह–

भासाचपलो चउहा, असंति अलियं असोहणं वा वि ।
असभाजोग्गमसब्भं, अणूहिउं तं उ असमिक्खं ॥

भाषाचपलश्चतुर्द्धा–असत्प्रलापी, असभ्यप्रलापी, असमीक्षितप्रलापी, अदेशकालप्रलापी च । तत्रासत्प्रलपितुं शीलमस्येत्यसत्प्रलापी, अथ असदिति कोऽर्थः इत्याह–असदितिशब्देनालीकमशोभनं वा अभिधीयते । तत्रालीकम्–साधुम् ब्रवीमीति असाधु साधुमित्यादि, अशोभनं गर्वादिदूषित वचनम्–तथा–असभायोग्यमसभ्यमभिधीयते, इह सभा एकत्रोपविष्टपुरुषसमुदायः, तथा चोक्तम्– "धम्मत्थसत्थकुसला, सभासया जत्थ सा सभा नाम । जा पुण अविहिपलुट्ठा, बुहेहिं सा भण्णए मेहा" तस्याः सभाया योग्यं यद्वचनं तत् सभ्यम् । तद्विपरीतमसभ्यं तच्च दास चण्डाल इत्यादिकम् । जकारमकारादिवाक्यरूपं वा, तत्प्रलपितुं शीलमस्येत्यसभ्यप्रलापी अनुहित्वा अविचार्य्य किमिदं पूर्वापरविरुद्धं किं वा इहपरलोकबाधकमित्याद्यविमृश्य यद्वदति तत् वचनमसमीक्षितमुच्यते । तत्प्रलपनशीलोऽसमीक्षितप्रलापी ।

अथादेशकालप्रलापिनमाह–

कज्जविवत्तिं दट्ठुं, भणाइ पुव्वं मए उ विण्णायं ।
एवमिदं तु भविस्सति, अदेसकालप्पलावी उ ।

कार्यविपत्तिं कार्यसय विनाशं दृष्टवा कश्चित् भणति यथामया पूर्वमेव विज्ञातमिदं कार्यमेवं भविष्यति । यथा केनचित् साधुना पात्रं लेपितं ततो रूढं सत् कुतोऽपि प्रमादतो लग्नं ततः कश्चिदात्मनो लग्नं ततः कश्चिदात्मनो दक्षत्वं ख्यापयन् ब्रवीतियदैवेदं परिकर्मयितुमारब्धं तदैव मया ज्ञातं यथेदं निष्पन्नमपि भक्ष्यन्ते । एष एवं विधोऽदेशकाले अनवसरे प्रलपनशीलोऽदेशकालप्रलापी । व्याख्यातश्चतुर्विधोऽपि भाषाचपलः ।

अथ भावचपलमाह–

जं जं सुयमत्थो वा, उद्दिट्ठं तस्स पारमप्पत्तो ।
अन्नभसुयदुमाणं, पल्लवगाही उ भावचवले ॥

यद् यदावश्यकदशवैकालिकादेर्ग्रन्थस्य श्रुतं सूत्रमर्थो वा उद्दिष्टं प्रारब्धं तस्येत्यत्रापि वीप्सा गम्यते । तस्य तस्य पारमप्राप्तः सन्नन्यान्यश्रुतद्रुमाणामाचारादिरूपपरापरशास्त्रतरूणां पल्लवान् तन्मध्यगतालापकश्लोकगाथारूपान् सूत्रार्थलवान् स्वरुख्या ग्रहीतुं शीलमस्येति पल्लवग्राही तुः पुनरर्थः य एवंविधः स पुनर्भावचपलो मन्तव्यः भवेत्कारणं येन वञ्चकत्वमपि कुर्यात् ।

किं पुनस्तदित्याह–

तेणे सावय ओसह, खित्ताई वाइ सेहवोसिरणो ।
आयरियवालमाई, तदुभयछेए य विइयपयं ॥

स्तेनभयेन श्वापदभयेन वा द्रुतमपि गच्छेन्न दोषः । ग्लानो वा कश्चिदागाढस्तस्यौषधानयननिमित्तं शीघ्रमपि गच्छेत् । न च प्रायश्चित्तमाप्नुयात् (खित्ताई इति) क्षिप्तचित्त आदिशब्दात् दृप्तचित्तो यक्षाविष्ट उन्मादप्राप्तश्च एते स्थानचञ्चलत्वमपि कुर्युः । न च प्रायश्चित्तमाप्नुयः चशब्दात् (वाइ त्ति) वादिनो बुद्धिं परिभवितुमली-कमपि ब्रूयात् । यथारोहगुप्तेन पोदृशालपरिव्राज–कमतिव्यामोहनार्थं ''जीवा अजीवा नोचीवाश्चंति'' त्रयो राशयः स्थापिताः । तथा शैक्षस्य पण्डकादिव्युत्सर्जनविधेये सं निर्मर्त्सयन्नसभ्यमपि भणेत येनोद्वेजितः स्वयमेव गणान्निष्क्रम्य गच्छेत् । आचार्या वा कुतश्चित्प्रमादत्वान्नोपरमन्ते ततोऽदेशकालप्रलापित्वमपि कुर्यात् । यथा–क्षमाश्रमणा अमुकः संयतोऽमुकश्च श्रावको मम पुरत इदं भणति–यथा त्वदीया गुरवः पार्श्वस्था भदन्तः संभाव्यन्ते एतच्च मया पूर्वमति विज्ञातमासीत् यथा क्षमाश्रमणानामेवमाचरतामपवादो भविष्यति । एवमुक्ते ते अश्लोकभयेनैवोपरमन्ते । बालो वा केलिकन्दर्पादिकुर्वाणोऽपि न निवर्तते ततोऽत्र हितमपि यदपि भाषित्वा निवारणीयः । आदिग्रहणात्प्रत्यनीकादयो वा खरपरुषादिभाषणैः उपशमयितव्यः । तथा–तदुभयच्छेदे इति कस्याचार्यस्य पूर्वं सूत्रमर्थो वा विद्यते तस्योभयस्यापि तत्पार्श्वादनधीयमानस्य व्यवच्छेदो-भवति । अतः पूर्वारब्धं शास्त्रमर्द्धं पतितमपि मुक्त्वा ततस्त दुभयमध्येतव्यमिति । यथाक्रमं गतिस्थानभावचपलेषु द्वितीयपद मवसातव्यम् । एतद्गाथोक्तप्रकारेण कलापमन्तरेण ये गतिचपलादयस्तद्विपरीता ये गतिस्थानभाषाभावैश्चतुर्भिरप्यचपलास्तेऽस्य कल्पाध्यनस्यान कल्पाध्यनम्यानुयोगमर्हन्तीति । गतं चञ्चलद्वारम् । बृ० १उ० । अनवस्थितचित्ते, विशे० । प्रज्ञा० । जी० । अतीवचटुले, औ० । विमुक्तस्थैर्ये, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । चपले, औ० । भ० । तं० । प्रश्न० । ''चंचलजीहे धरणीयलं चेति भूअं'' उपा० २ अ० ।

चंचा–स्त्री०(चञ्चा) चञ्च अच्। नलनिर्मिते कटभेदे, (चाँच) ''चञ्चेव'' इवार्थे कन् **''लुप् मनुष्ये'' ५ । ३। ६८ ।** इति तस्य (पाणि०) लुप्। तृणमयपुरुषे, वाच० । चमरचञ्चानाम्नि चमरस्य राजधान्याम्, द्वी० । स्था० ।

चंचुच्चिय–न०(चञ्चुरित्) प्राकृतत्वाच्चञ्चुरितमित्यस्य चंचुच्चियमिति । कुटिलगमने, औ० ।

***चञ्चूचित** न० चञ्चुश्शुकचञ्चुः तद्वद्वक्रतयेत्यर्थः उचितं उच्चताकारणं पादस्य उचितं वा उत्पादनं पादस्यैवं चञ्चूचि तम् । पादोत्थापने, ''चंचुच्चियललियपुलियचलचवलचंचल गईणं'' आ० ।

चंचुमालइए त्रि० । (देशी) रोमाञ्चिते, कल्प० १ क्षण । ज्ञा० ।

चंड–पुं०(चण्ड) क्रोधने, उत्त० १ अ० । ज्ञा० । आव० । आ० क० । प्रबलकोपसहिते, स० । क्रोधनिर्भातचिते, उत्त० १० अ० । क्रोधने, चारभटवृत्त्याश्रयणकर्त्तरि, उत्त० १ पु अ० । चण्डकोपने, परुषभाषिणि, । उत्त० १० अ० । रोषणे, दश० ८ अ० १ उ० । उत्कटरोषे, ज्ञा० १ श्रु० १८ अ० । रौद्रे, उत्त० २६ अ० । जी० । भ० । स० । औ० । ज्ञा० । तीव्रे, कल्प० २ क्षण । जं० ।

प्रश्न०। कर्कशे, स्था० ८ ठा०। तिन्तिडीवृक्षे, यमकिंहकरे, दैत्यभेदे च। पुं०। अत्यन्तकोपने, त्रि०। वाच०।

चंडकम्मा–त्रि०(चण्डकर्मन्) चण्डं कोपोत्कटतया रौद्रामिधानरसविशेष-प्रवर्तितत्वादतिरौद्रं कर्म समाचरणं येषां ते। रौद्रकर्मकर्तृषु, प्रव० २६३ द्वार।

चंडकोसिय–पुं०(चण्डकौशिक) वीरस्य उपसर्गकारिणि कर्सि–श्चित्सर्पे, आ० क०। कल्प०। आ० म०। आ० चू०। स्था०। (तत्कथा 'वीर' शब्दे)

चंडज्झय पुं० (चण्डध्वज) 'अरुखुरीति' नामप्रत्यन्तनगरस्य माण्डलिकराज्ञि, आ०क० आ० चू०।

चंडदंड–त्रि०(चण्डदण्ड) रौद्रदण्डकर्तरि, ''पावा पचंडदंडा, अणारिया णिग्घिणा णिरणुकंपा। धम्मोत्ति अक्खराइं, जेसु ण णज्जंति सुविणो वि सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ०।

चंडपज्जोय–पुं०(चण्डप्रद्योत) मालवदेशभूपसेव्ये उज्जयिन्या नगर्याः स्वनामख्याते राज्ञि, विशे०। (उदयनेन पराजयः उदयन शब्दे द्वितीयभागे ६८३ पृष्ठे उक्तः) उत्त०। तं०। स्था०। आ० म०। प्रति०। (काम्पिल्यराजेन द्विमुखेनास्य पराजयः। अस्मै मदनमञ्जर्याः दानं च 'दुमुह' शब्दे)

चंडपिंगल–पुं०(चण्डपिङ्गल) स्वनामख्याते चौरे, स च राजगणिकारक्त इति राज्ञा मारितः। आ० म०। आ० चू०। (तस्यैव राज्ञः पुत्रो भूत्वा जातिस्मरणेन स्वयं संबुद्ध इति णमोक्कारशब्दे उदाहरिष्यते)।

चंडमेह–पुं०(चण्डमेघ) अश्वग्रीवस्य प्रतिवासुदेवस्य स्वनाम-ख्याते दूते, यः प्रजापतिसुतस्य त्रिपृष्ठवासुदेवस्य सभायामाधर्षितः। आ० म० प्र०। आ० चू०।

चंडरुद्द–पुं०(चण्डरुद्र) प्रकृतिरोषणे स्वनामख्याते आचार्ये,

तत्कथा चैवम्–

"उज्जयिन्यां चण्डरुद्रसूरिः समायातः स रोषणप्रकृतिः साधुभ्यः पृथक् एकान्तस्थाने आसनं चक्रे माभूत्कोपोत्पत्तिरिति चित्ते विचारयति। इतश्च इभ्यसुतः कोऽपि नवपरिणीतः सुहृत्परिवृतस्तत्रागत्य साधून वन्दते। कैश्चित्तन्मित्रैर्हास्येन प्रोक्तम्। अमुं प्रव्राजयत। साधुभिर्वरमित्यभिधाय गुरुर्दर्शितः। तेऽपि गुरुसमीपे गताः। तथैव तैरुक्तम्। गुरुभिर्भूतिमानयेति प्रोक्ते तेन नवपरिणी तेन हास्यादेव स्वयंभूतिरानीता गुरुभिर्बलोदव गृहीत्वा तल्लोचः कृतः। सुहृदः खिन्नास्तदा नष्टाः तस्य तु कृतलोचस्य लघुकर्मतया अतः परं मम प्रव्रज्यैवास्तु इति परिणामः सम्पन्नः। ततस्तनोक्तं केलिः सत्थंभूत। अथ अन्यत्र गम्यते। गुरुराह–अहो शिष्य ! साम्प्रतं रात्रिर्जाता अहं रात्रौ न पश्यामि। तेन स्वस्कन्धे गुरुरारोपितः उच्चनीचप्रदेशे मार्ग वहता तेन गुरोः खेद उत्पादितः खिन्नेन तेन गुरुणा अस्य शिरसि दण्डप्रहाराः दत्ताः। असौ मनसि एवं विचारयति–"अहो महात्मायं मयेदृशीमवस्थां प्रापितः" इति सम्यग्भावयतः तस्य केवलज्ञानमुत्पन्नं केवलज्ञानबलेन समप्रदेश एव वहन् गुरुभिरेष उक्तः–प्रारिः सार इति। कीदृशः समो वहन्नसि तेनोक्तं युष्मत्प्रसादात् मे समं वहनम्। गुरुभिरुक्तं किम् अरे ज्ञानं समुत्पन्नं तव। तेनोक्तम्–ज्ञानमेव गुरुभिरुक्तं प्रतिपाति अप्रतिपाति, वा तेनोक्तिम्–अप्रतिपाति। गुरवस्तु हा मया केवलीआशातितः इत्यक्त्वा तच्छिरसि दण्डप्रहारोद्भूतरुधिरप्रवाहं पश्यतः पुनस्तत् क्षामणं कुर्वतः केवलज्ञानमापुरिति विनीतशिष्यैरीदृशैर्भाव्यम्। इति चण्डरुद्राचार्यस्य कथा। उत्त० १ अ०। आव०। अ० क०। आ० चू०। पञ्चा०। दश०। चण्डरुद्राचार्याः शिष्यस्य स्कन्धे उउपविश्य चलिता इति सत्यं नवेति प्रश्नः। उत्तरम्–श्रीउत्तराध्ययनवृत्ति प्रमुखबहु-ग्रन्थानुसारेण चण्डरुद्राचार्येण शिष्यस्य कथितं त्वग्रतो गमनं कुरु पश्चात्सोग्रतश्चलितश्चण्डरुद्राचार्यास्तु पृष्ठतश्चलिताः कस्मिंश्चिद्ग्रन्थे कथितमस्ति, यच्छिष्यस्य स्कन्धे भुजां दत्त्वा चलिता इति १३ प्र० सेन० ३ उल्ला०।

चंण्डविस–पुं०(चण्डविष) चण्डं झगिति अल्पकालेनैव दष्टशरीरव्यापकं विषं यस्य सः झगिति दष्टशरीरव्यापकविषयुक्ते सर्पे ज्ञा० श्रु० ८ अ०। उत्त०। भ०।

चंडा–स्त्री०(चण्डा) तथाविधमहत्वाभावेनेषत्कोपादिभावाच्चण्डा चमरादीनां देवेन्द्राणां मध्यमायां पर्षदि, भ० ४ श० १ उ०। जी०। स्था०। गत्युत्कर्षयोगाद् रोद्रायां देवगतौ, भ० ६ श० १० उ०। दुर्गानायिकाभेदे, "उग्रचण्डा प्रचण्डा च, चण्डोग्रा चण्डनायिका। चण्डा चण्डवती चण्ड–नायिकाप्यतिचण्डिका" चोरनाम्नि गन्धद्रव्ये, शङ्खपुष्पीद्रुमे, लिङ्गिनीलतायाम्, कपिलछाम्, आखुपराण्यम्, श्वेतदूर्वायां च। नदीभेदे, एतासां चण्डवीर्यत्वात्, तथात्वम्। कोपनायां स्त्रियाम्, च। वाच० रुद्रायां तीव्रायामतिशायिन्याम् उत्कटायां वक्तुमशक्तायाम्, उत्त० १८ अ०। "विपुला कक्कसा पगाढा चंडा दुहा तिव्वा दुरहिय त्ति" एकार्थाः। विपा० १ श्रु० १ अ०। विपुला तीव्रा चण्डा प्रगाढा कडी कर्कशा इत्येवं लक्षणा दृष्टव्या। अंत० ४ वर्ग। प्रवरापरनामिकायां श्रीवासुपूज्यस्य जिनेन्द्रस्य शासनदेव्याम्, सा च श्यामवर्णा तुरगवाहना चतुर्भुजा वरदशक्तियुक्तदक्षिणकरयुगा पुष्पगदायुतवामकरद्वया च। प्रव० २६ द्वार।

चंडानिल–पुं०(चण्डानिल) चण्डमारुते, जं० २ वक्ष०। "चंडा–मिलपहपतिक्खधाराणिवायपच्छर" –भ० ७ श ६ उ०।

चंडाधर–त्रि०(चण्डाधर) चण्डाधरोष्ठे, विपा० १ श्रु० २ अ०।

चंडाल–पुं०स्त्री०(चण्डाल) चण्डेल अलमस्य चण्डेन वा कलितः स चातिक्रूरत्वाच्चण्डालः। उत्त ०१ अ०। शुद्रेण ब्राह्मण्यामुत्पन्ने, आचा० १ श्रु, १ अ० १ उ०। उत्त०। "माहणा खत्तिया वेस्सा, चंडाला अदुवोक्कसा। एसि पावेसिया सुद्दा, जे य आरम्भणिस्सिया" सूत्र० श्रु० ८ अ०। रेवयसरमंताओ, हवंति दुहजीविणो। कुचेला य कुवित्तिय, चोरा चंडालमुट्ठीया ॥१३। अनु०। क्रूरकर्मणि–वाच०।

चंडालिय–न०(चण्डालीक) चण्डः क्रोधस्तद्वशादलीकम्। यद्वा–चण्डाले, चण्डालजातौ भवं चण्डालीकम्। अनृतभाषणेचण्डाल-कर्मणि, उत्त० १ अ०।

चंडिक्क–न०(चाण्डिक्य) रौद्राकारकरणे, क्रोधकषायविशेषकार्ये, गौणमोहनीयकर्मणि, स० ५१ सम०। भ०।

चंडिक्किअ–त्रि०(चाण्डिक्यित) चाण्डिक्यं रौद्ररूपत्वं संजात-मस्येति चाण्डिक्यितः संजातचाण्डिक्ये प्रकटितरौद्ररूपे भ ७ श० ८ उ०। ज्ञा०। नि० चू०। विपा०। ज०। दारुणीभूते, विपा० १ श्रु० १ अ०। रोषणाभूते, नि० १ वर्ग। आसु–

रुत्ते रुट्ठे कुविए चंडिक्किये मिसिमिसियमाणेत्ति एकार्थाः । उत्त० २१ अ० ।

चंडिक (देशी) रोषे, दे० ना० ३ वर्ग ।

चंडिप (देशी) कृत्ते, दे० ना० ३ वर्ग ।

चंडिल (देशी) पीने, दे० ना० ३ वर्ग ।

चंडीदेवग-पुं०(चण्डीदेवक) चक्रधरप्राये चण्डीभक्ते, सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

चंद (द्र)-पुं० चन्द्र। 'चदि' आह्लादे। णिच्। रक्। **"सर्वत्र लवरामचन्द्रे" ॥८॥२।९६॥** इत्यचन्द्रपर्य्यदासान्न रेफ स्य लुक् । 'चन्द्र' संस्कृतसमोऽयं प्राकृतशब्दः । अत्र **"द्रे रो न वा" ॥८ । २। ८०॥** इति विकल्पो न भवति । निषेधसामर्य्यात् । संस्कृतसमे तु वा रलुक् 'चंदो चन्द्रो' । प्रा० २ पाद। **"वर्गेऽन्त्यो वा"॥८।१।३०।** इति परसवर्णो वा । प्रा० १ पाद । ज्योतिष्काणामिन्द्र, स्था० २ ठा० ३ उ० । भ० । स० । शशधरे, औ० । चन्द्रः शशी निशाकर उडुपतिः रजनीकर इत्येवमादिचन्द्रपर्य्यायाः । आ० चू० १ अ० । आ० म० । प्रज्ञा० । स्था० । सूत्र० । प्रश्न० । भ० । प्रव० ।

तस्य पूर्वापरवर्त्तमानभववक्तव्यता

तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे नामं नगरे गुणसिलए चेइए सेणिए राया, तेणं कालेणं तेणं समएणं सामी समो सढे । परिसा निग्गया, तेणं कालेणं तेणं समएणं चन्दो जोइसिंदे जोइसराया चंदवडेसए विमाणे सभाए सुहम्मए चंदंसि सीहासणंसि चउहिं सामाणियसाहस्सीहि० जाव विहरति । इमं च णं केवलकप्पं जंबुद्दीवे दीवे विउलेणं ओहिणा आभोएमाणे पासति पासित्त समणं भगवं महावीरं जहा सूरियाभे आभिओगिं सद्दावित्ता० जाव सुरिंदाभिगमणजोगं करेत्ता तमाणत्तियं पच्चप्पिणंति सुस्सरा घंटा० जाव विउव्वणा । नवरं जोयणसहस्सं वित्थिन्नं अद्धतेवट्ठि जोयणसमूहियं महिंदज्झत्तो पणवीसं जोयणसमूसिते सेसं जहा सूरियाभस्स० जाव आगतो णट्टविही तहेव० जाव पडिगतो । नि० ३ वर्ग । स्था०।

(चन्द्रस्य अग्रमहिष्यः 'अग्गमहिसी' शब्दे प्रथमभागे १७१ पृष्ठे उक्ताः) (अनुभावश्चन्द्रसूर्य्यादीनाम् 'जोइसिय' शब्दे) (अमावा स्यायोगः चन्द्रेणामावास्यापौर्णमासीयोगश्चान्द्रमासवक्तव्यता जोग शब्दे) (अयनं चन्द्रस्य अयन शब्दे प्रथमभागे ७५१ पृष्ठे द्रष्टव्यम्) (अवभासनम् कति सूर्य्याः कति चन्द्राः सर्वलोकमवभासयन्ति इति जोइसिय शब्दे) "दो चंदा इह (जंबूद्वीपे) चतारि य सागरे लवणतोए धायइखंडे दीवे, बारस चंदा य सूरा य" स्था० २ ठा० ३ उ० । (चन्द्रसूर्य्यादीनां संख्यान जम्बूद्वीपादिशब्देषु,) (चन्द्रसूर्य्याणामावृत्तय 'आउट्टि' शब्दे द्वितीयभागे ३० पृष्ठे उक्ताः) (उच्चत्वम् 'जोइसिय' शब्दे) (चन्द्रस्योद्धातादिचन्किादि च सूर्यस्येव 'सूर' शब्दे ज्ञेयम्) (चन्द्रोपपाताः 'उववाय' शब्दे) (चन्द्रर्क्षुः द्वितीयभागे 'उउ' शब्दे ६८२ पृष्ठे उक्तः) (कामभागौ 'जोइसिय' शब्दे चन्द्रस्य) (चन्द्रस्य गति परिमाणम् मंडल शब्दे) (ज्योत्सनावक्तव्यता दोसिणा शब्दे)

चन्द्रस्य परिवारः–

एगमेगस्स णं भंते ! चंदस्स केवइआ महग्गहा परिवारा ? केवइआ णक्खत्ता परिवारा ? केवइआ तारागणकोडाकोडीओ पणत्ताओ ? गोयमा ! अट्ठासीइमहग्गहा परिवारो । अट्ठावीसं णक्खत्ता परिवारो । छावट्ठिसहस्साइं णवसया तारागणकोडाकोडीणं पण्णत्ता ॥

एकैकस्य भदन्त ! चन्द्रस्य कियन्ते महाग्रहाः परिवारः ? तथा कियन्ति नक्षत्राणि परिवारः ? तथा कियन्त्यस्तारागणकोटा–कोटीत्यः परि वारभूताः प्रज्ञाप्ताः ? भगवानाह–गौतम ! अष्टाशीतिर्महाग्रहाः परिवारः । अष्टाविंशतिर्नक्षत्राणि परिवारः । षट्षष्टिसहस्राणि नवशतानि । पञ्चसप्तशतानि पञ्चसप्तत्यधिकानि तारागणकोटाकोटीनां परिवारभूतानि प्रज्ञप्तानि । यद्यप्यत्र एते चन्द्रस्येव परिवारतयोक्तास्तथापि सूर्यस्यापीन्द्रत्वादेते एव परिवारतयाऽवगन्तव्याः समवाङ्गजीवाभिगमसूत्रवृत्यादौ तथादर्शनात् । जं० ७ वक्ष० । स० । (पर्वचन्द्रमसः पर्वविचारः 'पव्व' शब्दे) (युगमध्ये चन्द्रसूर्य्याः 'जुग' शब्दे)

वर्णकः–

ससिं च गोखीरफेणदगरययकलसपंमुरं । सुभं हि अयनयणकंतं । पडिपुण्णं । तिमिरनिकरघणगुहिरवितिमिरकरं । पमाणपक्खंतरायलेहं । कुमुअवणविवोहगं । निसासोहगं । सुपरिमट्ठदप्पणतलोवमं । हंसपडुवन्नं । जोइसमुहमंडगं । तमरिपुं । मयणसरापूरगं । समुद्दगपूरगं । दुम्मणं जणंदइयवज्जिअं पाएहिं सोसयंतं । पुणो सोमचारुरूवं पिच्छइ । सागगणमंडलविसालसोमचंकम्ममाणतिलयं रोहिणिमणहिअयवल्लहं । देवी पुन्नचंदं समुल्लसंतं ॥३८॥

"ससिं चेत्यादि" ततः पुनः सा त्रिशला देवी षष्ठे स्वप्ने शशिनं पश्यति । अथ कीदृशम्–(गोखीरं त्ति) गोक्षीरं धेनुदुग्धं फेन प्रसिद्धं दकरजांसि जलकणाः (रययकलस त्ति) रजतकलशो रूप्यघटः तद्वत्पाण्डुरम् उज्ज्वलम् । पुनः किंविशिष्टम्–(सुभं ति) शुभम् । सौम्यम् । पुनः किंविशिष्टम्–(हिअयनयणकंतं) अत्र लोकानाम् इति शेषः । ततश्च–लोकानां हृदयनयनयोः कान्तं वल्लभम्। पुनः किंविशिष्टम्–(पडिपुण्णं त्ति) प्रतिपूर्णं पूर्णमासीसत्कम्। पुनः किंविशिष्टम् "तिमिरनिकरेत्यादि" तिमिराणाम् अन्धकाराणां निकरेण समूहेन (घण त्ति) घना निविडा गम्भीरा ये वनगह्वरादयः तेषाम् अन्धकाराभावकरं वनगह्वरस्थितान्धकारनाशकम् इत्यर्थः। यदुक्तम्–"विरम तिमिरसाहसादमुष्माद्यदि रविरस्तमितः स्वतस्तः किम् । कलयसि न पुरो महोमहोर्मिस्फुटतरकैरवितान्तरिक्षमिन्दुम्" ॥१॥ पुनः किंविशिष्टम्–(पमाणपक्खंतरायलेहं ति) प्रमाणपक्षौ वर्षमासादिमानकारिणौ यौ पक्षौ शुक्लकृष्णपक्षौ तयोः (अंत त्ति) अन्तर्मध्ये पूर्णिमायाम् इत्यर्थः । तत्र (राय त्ति) राजन्त्यः शोभमानाः लेखाः कला यस्य स तथा तम् । पुनः किंविशिष्टं शशिनम्–(कुमुअवणविवोहगं) कुमुदवनानां चन्द्रविकाचिकमलवनानां विबोधकं विकाशकं यतः

"दिनकरतापव्याप–प्रपन्नमूर्छानि कुमुदगहनानि । उत्तस्थुस्मृत–र्दाधिति–कान्तिसुधासेकतस्त्वरितम्" ॥१॥ पुनः किंविशिष्टम् शशिनम्–(निसासोहग त्ति) निशाशोभकं रात्रिशोभाकारकम्। पुनः किंविशिष्टम् शशिनम्–"सुपरिमट्ठे" त्यादि । सुपरिमृष्टं सम्यक् प्रकारेण रक्षादिना उज्ज्वलितं यत् दर्प्पणतलं तेन उपमा यस्य स तथा तम् । पुनः किं विशिष्टम्–(हंसपडुवण्णं हंसवत् पटुवर्णम् उज्ज्वलवर्णमित्यर्थः । पुनः किंविशिष्टं शशिनम् (जोइसमुहमंडगं) ज्योतिषां मुखमण्डकम् । पुनः किं विशिष्टम्– (तमरिपुं) अन्धकारवैरिणम् । पुनः किं विशिष्टम्–(मयणसरापूरगं) मदनस्य कामस्य शरापूरमिव तूणीरमिव, अयमर्थः–यथा धनुर्धरः तूणीरं प्राप्य मुदितो निःशङ्को जनान् बाणैर्व्याकुलीकरोति। पुनः किं विशिष्टम् "समुद्द" इत्यादि। समुद्रोदकपूरकंजलधिवेलावर्द्धकमित्यर्थः। पुनः किंविशिष्टम्–(दुम्मणं इति) उर्मनस्कं व्यग्रम् । ईदृशम (दइयव-ज्जियन्ति) दयितेन प्राणवल्लभेन रहितं जनं विरहिणीलोकम् इत्यर्थः । (पाएहिँ सोसयंतं) पादैः किरणैः शोषयन्तं वियोगिदुःखदम् इत्यर्थः । यतः–"रजनिनाथ ! निशाचर दुर्मते !, विरहिणां रुधिरं पिवसि ध्रुवम् । उदयतोऽरुणता कथमन्यथा, तव कथं च तके तनुताभृत ॥१॥" (पुणो त्ति) पुनःशब्दो धुरि योजितः । पुनः किंविशिष्टम्–(सोमचारुरूवं ति) यः सौम्यः सन् चारुरूपो मनोहररूपः तम्। प्रेक्षत इति क्रियापदम् (सा) त्रिशला। पुनः किंविशिष्टम्–(गगणमंडल त्ति) गगनमण्डलस्य आकाशतलस्य (विसाले त्ति) विशालं विस्तीर्णम्। (सोम त्ति) सौम्य सुन्दगकारं (चंकम्माण त्ति) चङ् क्रम्यमाणं चलनस्वभावं एवंविधं तिलकं तिलकमिव शोभाकरत्वात् । पनः किंविशिष्टम्, –"रोहिणीमणे" त्यादि। रोहिण्याश्चन्द्रवल्लभायाः (मण त्ति) मनश्चित्तं तस्य (हिअय त्ति) हितदो हितकारी एकपाक्षिक-प्रमनिरासार्थे हितद इति विशेषणम्। ईदृशः। (वल्लुहं ति) वल्लभो यस्तम् इदं कविसमयापेक्षया। अनयथा–रोहिणी किल नक्षत्रं नक्षत्रचन्द्रयोश्च स्वामिसेवकभाव एव सिद्धान्ते प्रसिद्धः । न तु स्त्रीभर्तृभावः । (देवी) त्रिशाला पूर्णचन्द्रम, इदं विशेष्यम् । (समुल्लसंतं) ज्योत्स्नया शोभमानम् ॥ ३८ ॥ कल्प० ३ क्षण।

चन्द्रमसो वृद्धिः–

ता कहं ते चंदमसा वद्धोवद्धी आहिताति वदेज्जा । ता अट्ठे पंचासीते मुहुत्तसते तीसं च वावट्ठिभागे मुहुत्तस्य आहितातिवदेज्जा । ता दोसिणापक्खातो णं अंधकारपक्खं अयमाणे चंदे चत्तारि वायाले मुहुत्तसते छायालीसं च वावट्ठिभागे मुहुत्तस्स जाइं चंदे रज्जति, तं जहा–पढमाते पढमं भागं जाव पण्णरसीते पण्णरसमभागं चरिमे समए चंदे रत्ते भवति। अवसेसे समए चंदे रत्ते य विरत्ते य भवति । इयं णं अमावासं एत्थ णं पढमे पव्वे अमावासा । ता अंधारपक्खतो णं दोसिणापक्खं अयमाणे चंदे चत्तारि वायाले मुहुत्तसते छायालीसं च वावट्ठिभगे मुहुत्तस्स जाइं चंदे विरज्जइ । तं जहा–पढमाए पढमं भागं० जाव पण्णरसीए पण्णरसमं भागं। चरिमे समए चंदे विरत्ते भवति। अवसेसे समए चंदे रत्ते य वित्तेय भवति। अयं णं पुण्णिमासिणी। तत्य खलु इमातो वावट्ठिपुण्णिमातो वावठि अमावासातो पण्णत्तातो। वावट्ठि एए कसिणा विरागा। एए चउव्वीसे पव्वसिते एए चउव्वीसे कसिणरागसए ता जावतियाणं पंचण्हं संवच्छराणं समया एएणं चउव्वीसेणं सतेणं ऊणगाए वति ताणं परित्ता असंखेज्जा देसरागविरागसता भवंतीति मक्खाता । ता अमावासातो णं पुण्णिमासिणी चत्तारि वायाले मुहुत्तसते छातालीसं वावट्ठिभागे मुहुत्तस्य आहितातिवदेज्जा । ता अमावासातो णं अवामासा अट्ठापंचासीते मुहुत्तसते तीसं च वावट्ठिभागे मुहुत्तस्स आहियाति वदेज्जा। ता पुण्णिमासिणीतो णं अमावासा चत्तारि वायाले मुहुत्तसते तं चेव ता पुण्णिमासिणीतो णं पुण्णिमासिणी अठापंचासीते मुहुत्तसते तीसं च वावट्ठिभागे मुहुत्तस्स आहिताति वदेज्जा। एस णं एवइए चंदे मासे मासे । एसणं एवतिए सगले जुगे ॥

"ता कहं ते इत्यादि ता इति पूर्ववत् । कथं केन प्रकारेण त्वया भगवन् ! चन्द्रमसो वद्ध्यपवृद्धी आख्याते इति वदेत् ? किमुक्तं भवति–कियन्तं कालं यावत् चन्द्रमसो वृद्धिः कियन्तं कालं यावदपवृद्धिस्त्वया भगवन् ! आख्याता इति वदेत् । एवमुक्ते भगवानाह–"ता अदठे'' इत्यादि 'ता' इति पूर्ववत् । अष्टौ मुहूर्त शतानि पञ्चाशीत्यधिकानि। एकस्य च मुहूर्तस्य त्रिंशतं द्वाषष्टिभागान् यावदवृद्ध्यपवृद्धी समुदायेन आख्याते इति वदेत् तथा ह्येकस्य चन्द्रमासस्य मध्ये एकस्मिन् पक्षे चन्द्रमसो वृद्धिरेकस्मिन् चापवृद्धिः, चन्द्रमासस्य च परिमाणमेकोनत्रिंशत्रात्रिन्दिवानि । एकस्य च रात्रिन्दिवस्य ठात्रिंशतद्वाषष्टिभागाः रात्रिन्दिवं च त्रिंशद्मुहूर्त्तकरणा-र्थमेकोनत्रिंशता गुण्यते जातान्यष्टौ शतानि सप्तत्यधिकानि ८७० मुहूर्त्तानाम्। येऽपि च द्वाषष्टिभागा रात्रिन्दिवस्य तेऽपि मुहूर्त सत्का भागकरणार्थं त्रिंशता गुण्यन्ते जातानि नवशतानि षष्ट्यधिकानि ९६० तेषां द्वाषष्टया भागो ह्रियते लब्धाः पञ्चदश मुहूर्ताः १५ ते मुहूर्त्तराशौ प्रक्षिप्यन्ते जातानि मुहूर्त्तानामष्टौ शतानि पञ्चाशीत्यधिकानि (८८५) शेषाश्चोद्वरन्ति । त्रिंशद् द्वाषष्टिभागा मुहूर्त्तस्य, एतदेव प्रतिविशे-षावबोधार्थं वैचित्र्येण स्पष्टयति–"ता दोसिणापक्खतो णं" इत्यादि। 'ता' पूर्ववत् । ज्योत्स्नाप्रधानः पक्षः ज्योत्स्नापक्षः शुक्लपक्ष इत्यर्थः । तस्मात् अन्धकारपक्षमयमानो गच्छन् चन्द्रः चत्वारि मुहूर्तशतानि द्वाचत्वारिंशदधिकानि, षट्चत्वारिंशतं च द्वाषष्टिभागान् मुहूर्त्तस्य यावदपवृद्धिं गच्छतीति वाक्यशेषः। यानि यथोक्तसंख्यानि मुहूर्त्तशतानि यावत् चन्द्रो राहुविमानप्रभया रज्यते कथं राज्यत इति । तमेव रागप्रकारं तद्यथेत्यादिना प्रकटयति प्रथमायां प्रतिपल्लक्षणायां तिथौ परिसमाप्नुवत्यां परिपूर्णं प्रथमं पञ्चदशं भागं यावत् रज्यते । द्वितीयायां परिसमाप्नुवत्यां तिथौ परिपूर्णं द्वितीयं पञ्चदशभागं यावत् । एवं यावत् पञ्चादश्यां तिथौ परिसमाप्नुवत्यां परिपूर्णं पञ्चदशभागं यावत् तस्याश्च पञ्चदश्याः तिथेश्चरमसमये चन्द्रः सर्वात्मना राहुविमानप्रभय रक्तो भवति

रोहितो भवतीति तात्पर्यार्थः। यस्तु षोडशो भागो द्वाषष्टिभागद्वयात्माकोऽनावृत्य तिष्ठति स स्तोकत्वाददृश्यत्वाच्च न गण्यते। ''अवसेसे'' इत्यादि पञ्चदश्यास्तिथेश्चरमसमयंमुक्त्वा शेषेषु सर्वेष्वपि समयेषु चन्द्रो रक्तो भवति। विरक्तश्च। कियान् स तस्य राहुणा आवृतो भवति कियांश्चानावृत इति भावः। अन्धकार–पक्षवक्तव्यतोपसंहारमाह–''इयं णं'' इत्यादि। इयमन्धकारपक्षे पञ्चदशीतिथिः णं इति वाक्यालंकारे अमावस्यानाम्नी तत्र च युगे प्रथमे पर्वे अमावास्या, इह मुख्यवृत्या पर्व्वशब्दस्याभिधेममावस्या पौर्णमासी च। उपचारात् पक्षे पर्वशब्दस्य प्रवृत्तिः। तत् उक्तम् –''इत्थ णं पढमे पव्वे अमावासा'' इति। अथ कथं चत्वारि मुहूर्त्तशतानि चत्वारिंशदधिकानि षट्चत्वारिंशच्च द्वाषष्टिभागा मुहूर्त्तस्य ? उच्यते–इह शुक्ल पक्षः कृष्णपक्षो वा चन्द्रमासस्यार्द्धं ततः पक्षस्य प्रमाणं चतुर्दशरात्रिन्दिवानि रात्रिन्दिवस्य सप्तचत्वारिंशद्द्वाषष्टिभागाः, रात्रिंदिवस्य परिमाणं त्रिंशत् मुहूर्त्ताः इति। चतुर्द्दश त्रिंशता गुण्यन्ते जातानि मुहूर्तानां चत्वारि शतानि विंशत्यधिकानि ४२० येऽपि च सप्तचत्वारिंशत् द्वाषष्टिभागाः रात्रिन्दिवस्य तेऽपि मुहूर्त्तभागकरणार्थं त्रिंशता गुण्यन्ते जातानि चतुर्द्दशशतानि दशोत्तराणि १४१० तेषां द्वाषष्ट्या भागो ह्रियते लब्धाः द्वाविंशतिमुहूर्त्तास्ते मुहूर्त्तराशौ प्रक्षिप्यन्ते जातानि मुहूर्तानां चत्वारि शतानि द्विचत्वारिंशदधिकानि ४४२ शेषास्तिष्ठन्तिषट्चत्वारिंशद्द्वाषष्टिभागाः मुहूर्त्तस्य ४६ तदेवं यावतं कालं चन्द्रसोऽपवृद्धिः तावत्कालप्रतिपादनं कृतम्। अथ यावन्तं कालं वृद्धिस्तावन्त मभिधित्सुराह–''ता अंधकारपक्खातो णं'' इत्यादि। ता इति पूर्ववत्। अन्धकारपक्षात् 'णं' इति वाक्यालङ्कारे ज्योत्स्नापक्षं शक्लपक्षमयमानश्चन्द्रः चत्वारि द्विचत्वारिंशदधिकानि मुहूर्त्तश–तानि षट्चत्वारिंशतं च द्वाषष्टिभागान् मुहूर्त्तस्य यावत् वृद्धिमुपगच्छाति इति वाक्यशेषः। यानि यथोक्तसंख्यानि मुहूर्त्तशतानि यावच्चन्द्रः तैर्विरज्यते राहुविमानेनानावृतो भवतीति। विरागप्रकारमेवाह–''तं जहे'' इत्यादि। तद्यथेत्यादि। विरागप्रकारः प्रदर्श्यते–प्रथमायां प्रतिपल्लक्षणायां तिथौ–प्रथमं पञ्चदशभागं यावच्चन्द्रो विरज्यते। द्वितीयायां द्वितीयं पञ्चदशभागं यावत्। एवं यावत् पञ्चदश्यां पञ्चदशभागम्। तस्यां च पञ्चदश्यां तिथौ पार्णमासीरूपायां चरमसमये चन्द्रो विरक्तो भवतिः सर्वात्मना राहुविमानेनानावृतो भवतीति भावः। तं पञ्चदश्याश्चरमसमयं मुक्त्वा शुक्लपक्षप्रथमसमयादारभ्य शेषेषु समयेषु चन्द्रोरक्तश्च भवति विरक्तश्च भवति देशतोरक्तो भवति देशतो विरक्तश्चेति भावः। मुहूर्तसंख्या भावना च प्राग्वत् कर्तव्या। शुक्लपक्षवक्तव्यतो–पसंहारमाह–''इयं णं'' इत्यादि। इयमन्तरोदिता पञ्चदशीतिथिः पौर्णमासीनाम्नी अत्र च '' जुगे णं'' पूर्ववत्। द्वितीयं पर्व पूर्णनासी अथैवंरूपा युगे कियन्तोऽमावास्याः कियन्त्यश्च पौर्ण मास्य इति। युगे तद्गतसर्वसंख्यामाह ''तस्थ खलु'' इत्यादि। तत्र युगे खल्विमा एवं स्वरूपा द्वाषष्टिः पौर्णिमास्यो द्वाषष्टिश्चामावास्याः प्रज्ञप्ताः। तथा युगे चन्द्रमस एते अनन्तरोदितस्वरूपाः कृत्स्नाः परिपूर्णा रागा द्वाषष्टिरमावास्यानां युगे द्वाषष्टिसंख्या प्रमाणत्वात् तास्वेव चन्द्रमसः परिपूर्णरागसंभवात् एते अनन्तरोदितस्वरूपा युगे चन्द्रमसः कृत्स्ना विरागाः सर्वात्मना रागाभावाद् द्वाषष्टिः युगे पौर्णमासीनां द्वाषष्टिसंख्यात्मकत्वात् तास्वेव चन्द्रमसः परिपूर्णविरागसंभवात्। तथा युगे सर्वसंख्यया एक चतुर्विंशत्यधिकं पर्वशतम्। अमावास्यापौर्णमासीनामेव पर्वशब्दस्य वाच्यत्वात् तासां च पृथक् पृथक् द्वाषष्टिसंख्यानामे कत्र मीलने चतुर्विंशत्यधिकशतत्वात् एवमेव युगमध्ये सर्वसंकलनया चतुर्विंशत्यधिकं कृत्स्नरागविरागशतम् "ता जावइयाणं" इत्यादि। यावन्तं पञ्चानां चन्द्रचन्द्राभिवर्द्धितरूपाणां समयाः एकेन चतुर्विंशत्यधिकेन समयशतेन एतावन्तः परिमिताः असंख्याता देशरागविरागसमयाः एतेषु सर्वेष्वपि चन्द्रमसो देशतो रागविरागभावात् यत्तु चतुर्विंशत्यधिकं समयः शतं तत्र द्वाषष्टिसमयेषु, कृत्स्नो रागो द्वाषष्टिसमयेषु कृत्स्नो विरागस्तेन तद्वर्जनमित्याख्यातं मया इति गम्यते। भगवद्वचनमेतत् सम्यक्श्रद्धेयम्। संप्रति कियत्सु मुहूर्तेषु गतेषु अमावास्यातोऽनन्तरा पौर्णमासी ? कियत्सु वा मुहूर्तेषु गतेषु पौर्णमास्या अनन्तरमभावास्या इत्यादि निरूपयति– "ता अमावासातो णं" इत्यादि सुगमम्। नवरम् अमावास्याया अनन्तरं चन्द्रमासस्यार्द्धेन पौर्णमासी, पौर्णमास्या अनन्तरमर्द्धमासेन चन्द्रमासस्यामावास्या, अमावास्यायाश्च अमावास्यापरिपूर्णेन चन्द्रमासेन, पौर्णमास्या अपि पौर्णमासी परिपूर्णेन चन्द्रमासेन भवति। यथोक्ता मुहूर्त्तसंख्या। उपसंहारमाह–"एस णं" इत्यादि। एष अष्टौ मुहूर्त्तशतानि पञ्चाशीत्यधिकानि द्वात्रिंशच्च द्वाषष्टिभागा मुहूर्तस्येति एतावान् एतावत्प्रमाणश्चन्द्रमासः। तत एतावत्प्रमाणं शकलं खण्डरूपं युगं चन्द्रमासप्रमितं युगं सकलमेतदित्यर्थः। चं० प्र० १३ पाहु०। स०। (राहुभेदाः राहु शब्दे) ('राहु' सकाशत् चन्द्रसूर्यग्रहणवक्तव्यता 'गहण' शब्दे अस्मिन्नेव भागे ८६१ पृष्ठे गता)।

चन्द्रवृद्ध्या जीवानां वद्धिहान्यौ–

जति णं भंते ! समणेणं भगवया महावीरेणं० जावसंपत्तेणं नवमस्स नायज्झस्स अयमट्ठे पण्णत्ते दसमस्स णं भंते ! णायज्झययस्स समणे णं भगवया महावीरेणं०जाव संपत्तेणं के अट्ठे पण्णत्ते एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे णामं णगरे होत्था तत्थ णं रायगिहे णयरे सेणिए णामं राया होत्था। तस्स णं रायगिहस्स णयस्स वहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए एत्थ णं गुणसेलए णामं चेइए होत्था तेणं कालेणं तेणं समएण समणे भगवं महावीरे पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गामाणुगामं दुइज्जमाणे सुहं सुहेणं विहरमाणे जेणेव गुणसेलए चेइए तेणेव समोसढे परिसा णिग्गया सेणियो वि राया णिग्गओ धम्मं सोच्चा परिसा पडिगया तए णं गोयमे समणं भगवं महावीरं एवं वयासी–कह णं भंते ! जीवा वंड्ढंति वा हायंति वा गोयमा ! से जहानामए वहुलपक्खस्स पडिवयाचंदे पुण्णिमाचंदं पण्णिहाय हीणे वण्णेणं ह णे सोगयाए हीणे णिद्धयाए हीणे कंतीएहीणे एवं दित्तीए जुत्तीए छायाए पभाए ओयाए लेस्साए मंडलेणं तयाणंतरं च णं वीयाचंदो पाडिवयं चंदं पणिहाय हीणतराए वण्णेणं जाव मंडलेणं तयाणंतरं च णं तइयाचंदे वीइयाचंदं पणिहाय हीणतराए वण्णेणं० जाव मंडलेणं एवं खलु एएणं कमेणं परिहायमाणे परिहायमाणे० जाव अमावसाचं–

दे चाउद्दसिचंदं पणिहाय णट्ठो वण्णेणं० जाव णट्ठो मंडलेणं एवामेव समणाउसो ! जो अम्हं निग्गंथो व निग्गंथी वा० जाव पव्वतिए समाणे हीणे खंतीए एवं मुत्तीए गुत्तीए अज्जवेणं मद्दवेणं लाघवेणं सच्चेणं सच्चेणं तवेणं धियाए अकिंचणयाए बंभचेरवासेणं तयाणंतरं च णं हीणतराए खंतीए जाव हीणतरा बंभचेरवासेणं एवं खलु एएणं कमेणं परिहीयमाणे परिहीयमाणे णट्ठे खंतीए० जाव नट्ठेबंभचेरवासे णं से जहा वा सुक्कपक्खस्स पाडिवयाचंदे अमावासाचंदं पणिहाय अहिए वण्णेणं० जाव अहिए मंडलेणं तयाणंतरं च णं वीयाए चंदे पाडिवयाचंदं पणिहाय अहियतराए वण्णेणं० जाव अहिययराए मंडलेणं एवं खलु एएणं कमेणं परिवड्ढमाणे० २ जाव पुण्णिमाचंदे चाउद्दसिचंदं पणिहाय पडिपुण्णे वण्णेणं० जाव पडिपुण्णे मंडलेणं एवामेव समणाउसो० ! जाव पव्वतिए समाणे अहिए खंतीए० जाव बंभचेरवासेणं तयाणंतरं च णं अहिययराए खंतीए० जाव पडिपुण्णे बंभचेरवासे णं एवं खलु जीवा वड्ढइ वा हायंति वा एवं खलु जंबू ! समणेणं भगवया वहावीरेणं० जाव संपत्तेणं दसमस्स णायज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते त्तिवेमि॥

अथदशमं विव्रियते–अस्य चायं पूर्वेण सह संबन्धः। अनन्तराध्ययने विरतिवशवर्त्यवशवर्त्तिनोरर्थतरावुक्ताविह त गुणहानिबृद्धिलक्षणावनर्थाः प्रमाद्यप्रमादिनोरभिधीयेत। इत्येवं संबन्धमिदं सर्व्वं सुगमं नवरं जीवानां द्रव्यतोऽनन्तत्वेन प्रदेशतश्च प्रत्येकमसंख्यातप्रदेशत्वेनावस्थितपरिमाणत्वात् वर्द्धन्ते गुणैर्हीयन्ते च, तैरेव अनन्तरनिर्देशत्वेन हानिमेव तावदाह "से जहेत्यादि" (पणिहाए त्ति) प्रणिधायाप्रेक्ष्य वर्णेन शुक्लताल क्षणेन सौम्यतया सुखदर्शनीयतया स्निग्धतया रूक्षतया कान्त्या कमनीयतया दीप्त्या दीपनेन वस्तुप्रकाशनेनेत्यर्थः (जुत्ती एत्ति) युक्त्या आकाशसंयोगेन खण्डेन हि मण्डलेनाल्पतरमाकारसंयुतेन पुनर्यावत्संम्पूर्णेनेति छायाया जलादौ प्रतिबिम्बलक्षणया शोभया वा प्रभया व उद्गमनसमये द्युतिस्फुरणतया (ओयाए त्ति) ओजसा दाहापनयनादिस्वकार्यकरणशक्तया लेश्यया किरणरूपया मण्डलेन वृत्ततया क्षान्त्यादिगुणहानिश्च कुशीलसंसर्गात् गुरूणामपर्युपासनात्प्रतिदिनं प्रमादपदसिवनात्तथाविधचारित्रावरणकर्म्मोदयाच्च भवतीति। गुणवृद्धिस्त्वेतद्विपर्ययादिति। एवं च हीयमानानां जीवानां न वाञ्छितस्य निर्वाणसुखस्यावाप्तिरित्यनर्थः। आह च– "चंदो व्व कालपक्खे, परिहाए पए पए पमायपरो। तओ उग्घरविग्घर निरंगणो वि न इच्छियं लहइ त्ति"। गुणैर्वर्द्धमानानां तु वाञ्छितार्थावाप्तेरर्थ इति। विशेषयोजना पुनरेवम्–

जह चंदो तह साहू, राहुवरोहो जहा तह पमाओ।
वण्णाइगुणगणो जह, तहा खमाईसमणधम्मो ॥१॥
पुणो वि पइदिणं जह, हायंतो सव्वहा समीनस्स।
तह पुण चरित्तो विहु, कुसीलसंसग्गिमाईहिं ॥२॥
जणियपमाओ साहू, हायंतो पइदिणं खमाईहिं।
जायइ नट्ठचरित्तो, तत्तो दुक्खाइं पावाइं ॥३॥

तथा–"हीणगुणो वि हु होउं, सुह गुरुजोगोइ जणियसंवेगो। पुन्नसुरूवो जायइ, विवद्धमाणो ससहरो व्व ॥४॥ इति"

ज्ञा–१ श्रु० १० अ०। (संस्थाने 'जोइसिय' शब्दे) जिनदत्तस्य श्रावकस्य स्वनामख्याते पुत्रे, कल्प० १ क्षण। रुचकस्य पर्वतस्य दक्षिणतः सप्तमे कूटे, द्वी०। आल्हादजनकद्रव्यमात्रे, कर्पूरे, स्वर्णे, जले, काम्पिल्ये, पुं०। विसर्गवर्णे, 'चदि' दीप्तौ रक् कमनीये त्रि०। मयूरपिच्छे, मेउके, हे०। शोणमुक्ताफले, मृगशिरोनक्षत्रे, एकाङ्के च। वाच०। दाक्षिणात्यानां ज्यातिष्काणामिन्द्रे, स्था० १ ठा० १ उ०।

चंदअ–पुं०(चन्द्र) **स्वार्थे कश्च वा ॥८। २। १६४॥** इति स्वार्थे कः। शशिनि, प्रा० २ पाद।

चंदइल्लो–(देशी) मयूरे दे० ना० ३ वर्ग।

चंदउउ–पुं०(चन्द्रर्तु) चन्द्रसम्बन्धिनि ऋतौ, ज्यो० १४ पाहु०। ('उउ' शब्दे द्वितीयभागे ६८२ पृष्ठे वक्तव्यतोक्ता)

चंदकंत–त्रि०(चन्द्रकान्त) चन्द्रप्रभे, आ० म० प्र०। चतुर्थे, देवलोकस्थे, स्वनामख्याते विमाने, स० ३ सम०। वाच०।

चंदकंता–स्त्री०(चन्द्रकान्ता) गान्धाराधिपतेः शतबलनाम–राजस्य कान्तायाम्, महाबलस्य मातरि, आ० क०। चक्षुष्मतो द्वितीयकुलकरस्य पत्न्याम्, आ० क०। आ० म०। स०। आ० चू०। ति०। स्वनामख्यातायां नगर्य्यां च। यत्र विजयसेनो नामराजा आसीत्। कल्प० १ क्षण।

चंदकित्ति–पुं०(चन्द्रकीर्ति) सारस्वतटीकाकारके नागपुरीयतपागच्छाचार्य्ये राजरत्नसूरिशिष्ये, जै० इ०। विमलसूरिशिष्ये, धर्मघोषाचार्यस्योपशिष्ये, जै० इ०।

चंदकुल–पुं०(चन्द्रकुमार) अयोध्यापतेर्हरिसिंहस्य पृथ्वीचन्द्रनामके कुमारे, ध० २०।

चंदकुल–न०(चान्द्रकुल) श्रीवज्रर्षिशिष्यवज्रसेनसूरिशिष्यचन्द्रसूरिनिर्गतकुले, मूलचान्द्रकुलस्याजनि च ततश्चन्द्रसूणिः। ग० ४ अधि०। हा०। ती०।

चंदकूड–न०(चन्द्रकूट) चतुर्थदेवलोकस्यं विमाने, स० ३ सम०। जम्बूद्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य पश्चिमेन रुचकवरे सप्तमे स्वनामख्यात कूटे, स्था० ८६ ठा०।

चंदकेउ–पुं०(चन्द्रकेतु) आयोध्याधिपतौ स्वनामख्याते राशि, दर्श०।

चंदग–पुं०(चन्द्रक) चन्द्र इव कायति कै–क। मयूरपुच्छस्थे चन्द्राकारे पदार्थे, अमरः। नखे, मत्स्यभेदे, सितमरिचे, न०। शिग्रुबीजे, न०। वामदक्षिणावर्तभ्रमदष्टचक्रः खमध्यनिर्गच्छदूर्ध्वमुखशरप्रायः। ततो भूस्थकुण्डिकागततैलान्तः प्रतिविम्बितगगनस्थाधोमुखपुत्तलिकावामलोचने, तं०। बृ०।

चंदगणि–पुं०(चन्द्रगणिन्) स्वनामके सुमतिवाचकशिष्ये, येन विक्रमसम्वत् ११३६ श्रीवीरचरित्रनामा ग्रन्थः अभयदेवसूरिशिष्यैः प्रश्नचन्द्राचार्य्यैः विरचितः। जै० इ०।

चंदगवेज्झ–न०(चन्द्रकवेध्य) चन्द्रकरूपं वेध्यं चन्द्रकवेध्यम्। आतु०। व्य०। राधावेधे, तद्वद्दुराराध्ये अनशने, च। नि० चू० ११ उ०। बृ०। स०। द० प०।

चंदगुत्त–पुं०(चन्द्रगुप्त) मौर्य्यग्रामसंजाते चाणक्येन नन्दराज–

सिंहासनमारोहिते स्वनामख्याते पाटलिपुत्रराजनि, आ० चू० ।
तत्कथा चैवम्–नन्दराजकदर्थितश्चाणिक्यो नन्दावद्यं प्रत्य भिक्षाया–
"मौर्यग्रामे स नान्दोगा–त्परिव्रजकवेषभाक् ।
तत्र ग्रामपतेः पुत्र्या–श्चन्द्रयानेऽस्ति दोहदः ॥१३॥
पृष्टः परिव्राट् तत्पूर्त्यै, सोऽवक् चेद्वत्तमेऽर्भकम् ।
दोहदं पूरयाम्यस्या, स्तदप्यार्त्तरमन्यत ॥१४॥
तत्र राकादिने जाते, कारितः पटमण्डपः ।
भृत्वा स्थालं च दुग्धेन, रसवद् द्रव्ययोगिना ॥१५॥
नभोमध्यगते चन्द्र, तत्रानाय्यत सा सुता ।
छिद्रेण बिम्बितं चंद्रं, क्षीरान्तर्वीक्ष्य सा पपौ ॥१६॥
उपर्यारापितश्च प्राक्, छिद्रमाच्छादयत्पुमान् ।
पूर्णेऽस्या दोहदे पुत्र–श्चन्द्रगुप्ताभिधोऽभवत् ॥१७॥
ववृधे स क्रमात्स्वर्ण–सिद्धिं चाप चणिप्रसूः ।
चन्द्रगुप्तोऽन्यदा रंमे, राजनीत्याऽर्भकैः समम् ॥१८॥
चाणिक्योऽप्यागताः प्रेक्ष्या–याचन् मे देहि किंचन ।
ऊचे गृहाण गा एता, हंता कोऽपि न–गृह्णतः ॥१९॥
ऊचे किं तं न जानासि, वीरभोज्या वसुंधरा ।
तच्छ्रुत्वा चणिसूर्जज्ञौ, तेजोस्त्यस्य नृपोचितम् ॥२०॥
पृष्टं कस्यायमूवेऽर्भः, परिव्राट्सुनूरेषकः ।
एहि सोऽहं परिव्राड् भोः, कुर्वे त्वां सत्यभूभुजम् ॥२१॥
चाणिक्यस्तं गृहीत्वाऽसौ, सैन्यं स्वर्णैरमेलयत् ।
रुरोध पाटलीपुत्रं, भग्नो नन्देन सोऽनशत् ॥२२॥
दृष्ट्वाश्ववारमायान्तं, मौर्यं पद्मवनेऽक्षिपत् ।
स्वयं च रजको जातः, पृष्टस्तेनेदमूचिवान् ॥२३॥
मौर्यः पद्मसरस्यैष, तं दृष्ट्वोत्तीर्णवात् हयात् ।
चाणिक्यस्य समर्प्याश्वं, मुक्ताऽसिं मोचकेमुवत् ॥२४॥
थातुं यावज्जले ताव–च्चाणिक्येन हतोऽसिना ।
चन्द्रगुप्तमथाकार्या–धिरोऽप्याश्वं पलायितौ ॥२५॥
पृष्टोऽसित्वं यदानेन, मयाष्टि तदा त्वया ।
किं दध्ये सोऽवदन्नून–मेवमार्यस्य शोभनम् ॥२६॥
ज्ञातं तेनाथ योग्योऽयं, न मे व्यभिचरत्यसौ ।
मौर्य क्षुधार्तं मुक्ताऽथ, चाणिक्योन्नाययातवान् ॥२७॥
मा ज्ञासीत्कोऽपि नो भुक्तं, विप्रस्य बहिरीयुषः ।
विपाद्योदरमादाय, दध्योदनमुपागतः ॥२८॥
भोजयित्वा चन्द्रगुप्तं, ग्रामेऽन्यत्र गतो निशि ।
चाणिक्यो भिक्षितुमगाद्, वृद्धयाग्रऽर्भभोजन ॥२९॥
विलोप्य क्षेप्यथैकेन, दग्धः क्षिप्तोन्तरे कगः ।
क्षमूवे स्थविरा वत्स !, चाणिक्यशदृशोऽस्ति किम् ॥३०॥
पृष्टाऽनेनावदत्पूर्वं, गृह्यते पार्श्वतस्ततः ।
कटेहिमवतः सोऽगात्, कतश्च पर्वतः सुहृत् ॥३१॥
ग्राह्यमात्रार्द्धमित्युक्त्वा, द्वौ नन्दौ क्ष्मां वभञ्जतुः ।
पपातैकं न दुर्गं तत्, प्रविष्टोऽन्तस्त्रिदण्डिकः ॥३२॥
विज्ञायेन्द्रकुमारीणां, प्रभावान्न पतत्यदः ।
माययोत्थापितस्तेन, जगृहे तत्पुरं जवात् ॥३३॥
रुद्धं द्वाभ्यां ततो विष्वक्, पाटलीपुत्रपत्तनम् ।
नन्दो यावद्धर्मद्वारं, चाणिक्योऽदाङ्गाद च ॥३४॥
यन्मात्येकरथे तत् त्वं, सर्वमादाय निःसर ।
नन्दः प्रियां सुतां त्वेकां, द्रव्यं चादाय निर्ययौ ॥३५॥
चन्द्रगुप्तं प्रविशन्तं, कन्याऽपश्यद्वृषा सताम् ।
ऊचे याहीति सोत्तीर्णः, चन्द्रगुप्तरथं यथौ ॥३६॥
भग्ना न वारकास्तस्या–मारोहन्त्यां त्रिदण्ड्यवक् ।
शकुनान्मौर्यतेऽमुष्मा–द्भावि राज्यं न वान्वयान् ॥३७॥
गत्वाऽन्तः सौधमीक्षित्वा, तं च मुक्त्वा चणिप्रसूः ।
कन्यकां विषकन्येति, ज्ञात्वाऽदात्पर्वतस्य ताम् ॥३८॥
स तस्यां करलग्नाया–मप्यभून्मरणातुरः ।
ऊचे वयस्य ! म्रियते, मौर्योऽवादीन्मणिर्मणिः ॥३९॥
चाणिक्यो भ्रकुटीं चक्रे, निवृत्तः सोऽय तन्मृतौ ।
अभूद्राज्यद्वयस्वामी, चाणीक्यो राजवाहकः ॥४०॥
कुर्वन्ति चोरिकां नान्दा–स्तदा रक्षन् विमार्गयत् ।
घ्नन्तं मत्कोटकानुष्ण–जलक्षेपेण तद्विले ॥४१॥
प्रेक्ष्याप्राचीक्रुविन्दं स, नलदानं करोषि किम् ।
स ऊचे मेऽदशत्सूनु–मेको घ्नन्नस्म्यमूँस्ततः ॥४२॥
रौद्रं ज्ञात्वथ तं प्रात, राकार्याऽऽरक्षकं व्यधात् ।
विश्वास्यामन्त्र्य चौरान्, स सर्वानज्वालयद् गृहे ॥४३॥
भिक्षा नैकत्र लब्धाऽभू–द्ग्रामे तं प्रत्यथाऽऽदिशत् ।
कार्यावंशवृत्तिशूलै, स्तमप्राक्षी कृतेऽन्यथा ॥४४॥
विमृश्य पारिणामिक्या, धिया कोशविवृद्धये ।
दीनारैर्भाजनं भृत्वां, द्यूतं रेमे चणिप्रसूः ॥४५॥
कूटैः पाशैः समं पौरैः, स्थालं गृह्णात्वमुं जयी ।
दीनारं मे जयेदद्या–देवं कोशश्चिराद्भवेत् ॥४६॥
ध्यात्वोपायमथान्यं स, पौरान् स्वोकस्यभोजयत् ।
मद्यं चापाययत्तेषु, मत्तेष्वथ ननर्त सः ॥४७॥
ऊचं द्वेधाऽनुरक्ते मे, वाससी स्वर्णकुण्डिकाम् ।
त्रिदण्डं च वशो राजा, होलां वादयतात्र भोः ॥४८॥
ऊचेऽन्यो व्रजतो मत्त–हस्तिनो लक्षयोजनम् ।
पदे पदे स्वर्णवृद्धिः, होलां वादयतात्र भोः ॥४९॥
ऊचे परस्तिला उक्ता, यावन्तः स्युस्तिलाटके ।
तावन्तः सन्ति लक्षा मे, होलां वान्दयताऽत्र भोः ॥५०॥
ऊचेऽन्यो दीर्घवेगायाः, पूरं नद्यास्तपात्यये ।
एकाहम्रक्षकै रुग्धे, होलां वादयताऽत्र भोः ॥५१॥
तदहर्जातजात्याश्च, किशोराणां परोऽवदत् ।
छादयाम्यंशकंशोद्यां, होलां वादयतात्र भोः ॥५२॥
ऊचेऽन्यः शालिरत्ने, द्वे छिन्ने छिन्ने प्ररोहितः ।
शालिप्रसूतिगर्दभ्यो, होलां वादयताऽत्र भोः ॥५३॥
शुक्लवासाः सुगन्धाङ्गो, निरुणोऽनुचयः प्रिथः ।
अप्रवासी सहस्रेशो, होलां वादताऽत्र भोः ॥५४॥
एकयोजनमत्तेभ–गतिमित्यर्थलक्षकाः ।
तथैतिकजतिल–मितान् शतसहस्रकान् ॥५५॥
एकाहमक्षणाज्यं चै–काहास्वान्मासि मासि च ।
कोष्ठागारभृतः शाली–श्चाणिक्याय ददुश्च ते ॥५६॥
आ० क० । तं० । नं० । आ० चू० । आव० । आ० म० । स्था० आव० । आ० म० । चन्द्रगुप्तस्य बिन्दुसारस्तस्याशोकश्रीस्तस्य सम्प्रतिराज इत्येवमुत्तरोत्तरं समृद्धिमन्त आसन् ततो ह्रासश्च बृ० । विशे० । कल्प० । सिंहलद्वीपे रत्नज्योत्स्ना श्रीपुरनगर-स्याधितौ राजनि, ती० १० कल्प ।

चंदचरिय–नं०(चन्द्रचरित) चन्द्रस्य ग्रहपतेश्चरितं चन्द्रचरितम् । चन्द्रस्य वर्णसंस्थानप्रमाणनक्षत्रयोगराहुग्रहादिके, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

चंदचार–पुं०(चन्द्रचार) चन्द्रस्य मण्डलोपसंक्रमणे, (चं० प्र०)

तत्र प्रथमचन्द्रचारपरिज्ञानार्थं तद्विषयं प्रश्नसूत्रमाह–

ता कहं ते चंदवारा आहिया आहिया ति वएज्जा ? ता पंचसवच्छरिए णं जुगे अभिइइणक्खत्ते सत्तसट्ठिचारे चंदेणं सद्धिं जोयं जोएइ, सवणे णक्खत्ते सत्तट्ठिचारे चंदेण सद्धिं जोगं जाएति, एवं० जाव च उत्तरासाढाणक्खत्ते सत्तट्ठिचारे चंदेण सद्धिं जोएइ॥

"ता कहं ते" इत्यादि। ता इति प्राग्वत्। कथं केन प्रकारेण, कया संख्यया इत्यर्थः। तेत्वया भगवन् ! चारा आख्याता इति वदेत्। भगवनाह–"ता पंच" इत्यादि। ता इति पूर्ववत् पञ्चसांवत्सरिके चन्द्रादिपञ्चसंवत्सरप्रमाणे युगे युगमध्ये अभिजिन्नक्षत्रं सप्तषष्टिचारान् यावत् चन्द्रेण सार्द्धं योगं युनक्ति। किमुक्तं भवति ? चन्द्रोऽभिजिन्नक्षत्रेण सह संयुक्तो युगमध्ये सप्तषष्टिसंख्यान् चारान् चरतीति। कथमेतत्प्रत्येयमिति चेत् ? उच्यते–इह योगमधिकृत्य सकलनक्षत्रमण्डलीपरिसमाप्तिरेकेन नक्षत्रेण मासेन भवति। नक्षत्रमासाश्च युगमध्ये सप्तषष्टिः, एतच्चागे भावयिष्यते। ततः प्रतिनक्षत्रपर्यायमेकैकं चारमभिजिता नक्षत्रेण सह चन्द्रस्य योगसंभवादुपपद्यते चन्दोऽभिजिता नक्षत्रेण सहसंयुक्तो युगमध्ये सप्तषष्टिसंख्यातं चरतीति। एवं च प्रति नक्षत्रं भावनीयम्। चं० प्र० १० पाहु०।

चंदचूल–पुं०(चन्द्रचूड) खेचराधिपतौ, दर्श०। हरिश्चन्द्रमहीपतिसमये वनवराहरूपं विकृत्यायोध्यापरिसरस्थितशक्राकारचैत्याश्रमभङ्क्तरि स्वन्प्रमख्याते राजनि, ती० ३५ कल्प।

चंदच्छाय–पुं०(चन्द्रच्छाय) मल्लिनाथेन सह प्रव्रजितऽङ्गराजे, "चंदच्छाए अंगराया," ज्ञा० १ श्रु० ८ अ०। स्था०। चम्पायां चन्द्रच्छायराजः कदाचिदर्हन्नकाभिधानेन श्रावकेण पोतवणिजा चम्पावास्तव्येन यात्राप्रतिनिवृत्तेन दिव्ये कुण्डलयुग्मे कौशलिकतयोपनीते सति पप्रच्छ, यदुत–यूयं बहुशः समुद्रं लङ्घ यथ, तत्र च किञ्चिदाश्चर्य्यमपश्यत ?। असाववोचत्स्वामिन् ! अस्यां यात्रायां समुद्रमध्येऽस्माकं धर्मचालनार्थं देवः कश्चिदुपसर्गं चकार, अविचलने चास्माकं तुष्टेन तेन कण्डलयुगलद्वितयमदायि, तदेकं कुम्भकस्यास्माभिरुपनिन्ये, तेनाऽपि मल्लिकन्यायाः कर्णयोः स्वकरेण विन्यासि, सा च कन्या त्रिभुवनाश्चर्यभूता दृष्टेति। स्था० ठा०। तं०।

चंदजसा–स्त्री०(चन्दयशस्) मित्रप्रभोः राज्ञो रागृहस्थायां भार्यायाम्, आ० क०। पद्मिनीखण्डनगरराजस्य भार्यायाम्, आव० ४ आ० क०। आ० चू०। संघा०। प्रथमकुलकरस्य विमलवाहनस्य स्वनामख्यातायां चतुर्दशपत्न्याम्, ति०। स्था०। स०। आ० म०।

चंदज्झय–पुं०(चन्द्रध्वज) चतुर्थदेवलोकस्थे स्वनामख्याते विमाने, स० ३ सम०। 'अरुखीरीति' प्रत्यन्तनगरस्य माण्डलिके रशि, आ० चू० ४ अ०।

चंदण–न०(चन्दन) स्वनामख्याते गन्धप्रधाने वृक्षविशेषे, आ० म० प्र०। प्रज्ञा०। आचा०। औ०। रा०। सूत्र०। ज्ञा०। रुचकपर्वतस्य पूर्वस्यां दिशि स्वनामख्याते कूटे, द्वा० १ द्वा०। जं०।

चदणकयच्चाग–त्रि०(चन्दनकृतचर्चाक) चन्दनकृतोपरागे ज० १ वक्ष०। रा०।

चंदणकलस–पुं०(चन्दनकलश) माङ्गल्यघटे, कल्प० ५ क्षण। जी०। औ०।

चंदणक्खत्तजोग–पुं०(चन्द्रनक्षत्रयोग) चन्देण सह नक्षत्रस्य योगे, (ज्यो०)

पर्वसु चन्द्रनक्षत्रयोगः, तत्परिक्षानार्थं करणमाह–

चउवीससयं काऊ–ण ग पमाणं सत्तट्ठिमेव फलं।
इच्छापव्वेहि गुणं, काऊणं पज्जया लद्धा ॥१॥
अट्ठारसहिं सएहिं, तीसेहिं सेमगम्मि गुणियम्मि।
तेरस दुउत्तरेहिं, सएहिं अभिजिम्मि सुद्धम्मि ॥२॥
सत्तट्ठिउसट्ठीणं, सव्वग्गेणं ततो उ जं सेसं।
तं रिक्खं नायव्वं, जत्थ समत्तं हवइ पव्वं ॥३॥

त्रैराशिकाविधौ चतुर्विंशत्यधिकं प्रमाणं प्रमाणराशिं कृत्वा सप्तषष्टिरूपं फलं फलराशिं कुर्यात्, कृत्वा वा ईप्सितैः पर्वभिर्गुणं गुणकारं विदध्यात्, अनुविधाय चाऽऽद्येन राशिना चतुर्विंशत्यधिकेन शतेन भागे हृते यल्लब्धं ते पर्याया ज्ञातव्याः। १। यत्पुनः शेषमतिष्ठते तत् अष्टादशभिः शतैस्त्रिंशदधिकैः संगुण्यते, संगुणिते च तस्मिन् ततस्त्रयोदशभिः शतैर्द्व्युत्तरैरभिजित् शोधनीयः।२। त–तः तस्मिन् शोधिते सप्तषष्टिसंख्यायाः द्वाषष्टयः, तासां सर्वाग्रेण यद्भवति। किमुक्तं भवति–सप्तषष्ट्या द्वाषष्टौ गुणितायां यद्भ वति, तेन भागे हृते लब्धं तावन्ति नक्षत्राणि शुद्धानि दृष्टव्यानि, यत्पुनस्ततोऽपि भागहरणादपि शेषमवतिष्ठते तत् ऋक्षं नक्षत्रं ज्ञातव्यम्, यत्र विवक्षितं पर्व समाप्तमिति। एष करणगाथात्रयाक्षरार्थः। ३। भावना त्विय्म्–यदि चतुर्विंशत्यधिकेन पर्वशतेन सप्तषष्टिपर्याया लभ्यनते, तत एकेन पर्वणा किं लभामहे ? राशित्रयस्थापना–। १२४।६७। १। अतः चतुर्विंशत्यधिकपर्वतशतरूपो राशिः प्रमाणभूतः सप्तषष्टिरूपः फलम्, तत्रान्त्येन राशिना मध्यराशिर्गुण्यते, जातस्तावानेव। तस्याऽऽद्येन राशिना चतुर्विंशत्यधिकेन शतेन भागहरणम्, स च स्तोकत्वात् भागं न प्रयच्छति। ततो नक्षत्रानयनार्थमष्टादशभिः शतैस्त्रिंशदधिकैः सप्तषष्टिभागैर्गुणयिष्याम इति गुणकारच्छेदराशिः, परार्द्धेनापवर्तना जातो गुणकारराशिः नवशतानि पञ्चदशोत्तराणि ६१५, छेदराशिर्द्वाषष्टिः, तत्र सप्तषष्टिर्नवभिः त्रिः पञ्चदशोत्तरैर्गुण्यते, जातानि एकषष्टिसहस्राणि त्रीणि शतानि पञ्चोत्तराणि ६१३०५, एतस्मादभिजित् त्रयोदशशतानि द्व्युत्तराणि शुद्धानि स्थितानि। शेषाणि षष्टिसहस्राणि त्र्युत्तराणि ६०००३। तत्र छेदराशिर्द्वाषष्टिरूपः सप्तषष्ट्यागुण्यते, जातानि एकचत्वारिंशत्शतानि चतुःपञ्चाशदधिकानि ४१५४। तैर्भागो ह्रियते, लब्धाश्चतुर्दश। तेन श्रवणादीनि पुष्यपर्यन्तानि चतुर्दश नक्षत्राणि तिष्ठन्ति अष्टादशशतानि सप्तचत्वारिंशदधिकानि १८४९, एतानि मुहूर्त्तानियनार्थं त्रिंशता गुण्यन्ते, जातानि पञ्चपञ्चाशतसहस्राणि चत्वारि शतानि दशोत्तराणि ५५४१०, तेषां भागे हृते लब्धास्त्रयोदश मुहूर्त्ताः। शेषाणि तिष्ठन्ति चतुर्दशशतानि अष्टोत्तराणि १४०८। एतानि द्वाषष्टिभागानयनार्थं द्वाषष्ट्या गुणयितव्यानीति। गुणकारच्छेदराश्योः द्वाषष्ट्याऽपवर्तना क्रियते, तत्र गुणकारराशि र्जात एककच्छेदराशिः सप्तषष्टिः, एकेन च गुणित उपरितनो राशिर्जातस्तावानेव, ततस्सप्तषष्ट्या भागे हृते लब्धा एकविंशतिः पञ्चादवतिष्ठते एकः सप्तषष्टिभागः, एकस्य च सप्तषष्टि–

भागस्य आगतं प्रथमं पर्व अश्लेषायास्त्रयोदश मुहूर्त्तान्, एकस्य च मुहूर्त्तस्य एकविंशतिद्वाषष्टिभागानेकस्य च द्वाषष्टिभागस्यैकं सप्तषष्टिभागं भुक्त्वा समाप्तमिति । तथा यदि चतुर्विंशत्यधिकेन पर्वशतेन सप्तषष्टिपर्याया लभ्यन्ते, ततो द्वाभ्यां पर्वाभ्यां किं लभ्यन्ते ? राशित्रयस्थापना–१२४–६७–२ । अत्रान्त्येन राशिना मध्यराशिर्गुण्यते, जातं चतुस्त्रिंशदधिकं भागो ह्रियते, लब्ध एको नक्षत्रपर्यायः। स्थिताः शेषा दश। तत एतान् नक्षत्रानयनार्थमष्टादशभिः शतैस्त्रिंशदधिकैः सप्तषष्टिभागैर्गुणयिष्याम इति गुणकारच्छेदराश्योरर्द्धेनाऽपवर्तना, अपवर्तनाजातानि गुणकारराशिर्नवशतानि पञ्चदशोत्तराणि गुण्यन्ते, जातानि एकनवतिशतानि पञ्चाशदधिकानि ९१५०, तेभ्यस्त्रयोदशशतानि द्व्युत्तराणि अभिजितः शुद्धानि, स्थितानि पश्चादष्टसप्ततिशतीनि अष्टचत्वारिंशदधिकानि ७८४८, तत्र द्वाषष्टिरूपच्छेदराशिःसप्तषष्ट्या गुण्यते, जातान्येकचत्वारिंशंशतानि चतुःपञ्चाशदधिकानि ४१५४, तैर्भागो ह्रियते, लब्धमेकं श्रवणरूपं नक्षत्रं, शेषाणि षट्त्रिंशच्छतानि चतुर्नवत्यधिकानि ३६९४ एतानि मुहूर्त्तानि यदर्थं त्रिंशता गुण्यन्ते जातमेकं लक्षं दश सहस्राणि अष्टौ शतानि विंशत्युत्तराणि ११०८२०, तेषां छेदराशिना भागे हृते लब्धाः षट्विंशतिर्मुहूर्त्ताः २६, शेषाणि तिष्ठन्ति अष्टाविंशतानि षोडशोत्तराणि २८१६य एतानि द्वाषष्टिभागानयनार्थं द्वाषष्ट्या गुणयितव्यानि, तत्र गुणकारच्छेदराश्योर्द्वाषष्टचाऽपवर्तना । तत्र गुणकारराशिरेककरूपो जातश्छेदराशिः सप्तषष्टिः, तत्र एकेन उपरितनो राशिर्गुणितो जातस्तावानेव। तस्य सप्तषष्ट्या भागे हृते लब्धाः द्वाचत्वारिंशत् द्वाषष्टिभागस्य द्वौ सप्तषष्टिभागौ, तत आगतं द्वितीयं पर्व धनिष्ठानक्षत्रस्य षट्विंशतिर्मुहूर्त्तान्, एकस्य च मुहूर्त्तस्य द्वाचत्वारिं शत्षष्टिभागाः, एकस्य च द्वाषष्टिभागा भुक्ताः समाप्तिं गच्छन्तीति । एवं शेषेष्वपि पर्वसु समाप्तिनक्षत्राणि भावनीयानि ।

संप्रति युगपूर्वार्द्धे तत्संग्रहिकाः पञ्च गाथाः पठति–

सप्प धणिट्ठा अज्जम, अभिवुड्ढि चित्त आस तहिंदग्गी ।
रोहिणि जेट्ठा मगसिर, वीस अदिइ सवण पिउदेवा ॥
अज अज्जम अभिवुड्ढी, चित्ता आसो तह विसाहा उ ।
रोहिणि मूलो अद्दा, वीसग पुस्सो तह धणिट्ठा य ॥
भग अज अज्जम पूसा, साई अग्गी य मित्तदेवा य ।
रोहिणि पुव्वासाढा, पुणव्वसू वीसदेवा य ॥
अहि वसु भगाऽभिवुड्ढी, हत्थऽस्स विसाह कत्तिया जेट्ठा ।
सोमाउ रवी सवणा, पिउ वरुण भगाभिवुड्ढिया चित्ता ॥
अस्स विसाहा अग्गी, मूलो अद्दा य विस्स पुस्सो य ।
एए जुगपुव्वद्धे, दुसट्ठिपव्वेसु णक्खत्ता ॥

प्रथमस्स पर्वणः समाप्तौ सर्पः सर्पदेवतोपलक्षितम् अश्लेषा नक्षत्रम् १। द्वितीयस्य धनिष्ठा २। तृतीयस्य अर्यमा, अर्यमादेवतोपक्षिता उत्तरफाल्गुन्यः ३। चतुर्थस्य अभिवृद्धिरभिवृद्धिदेवतोपलक्षिता उत्तरभद्रपदा ४। पञ्चमस्य चित्रा ५। षष्ठस्य अश्वः अश्वदेवतोपलक्षिता अश्विनी ६। सप्तमस्य इन्द्राग्निदेवोपलक्षिता विशाखा ७। अष्टमस्य रोहिणी ८। नवमस्य ज्येष्ठा ९। दशमस्य विष्वग्देवतोपलक्षिता उत्तराषाढा ११। द्वादशस्यादितिरदितिदेवतोपलक्षिता पुनर्वसुः १२। त्रयोदशस्य श्रवणः १३। चतुर्दशस्य पितृदेवा मघाः १४। पञ्चदशस्य अजः, अजादेवतोपलक्षिता पूर्वभद्रपदा १५। षोडशस्यार्यमा, अर्यमादेवतोपक्षिता उत्तरफल्गुन्यः १६। सप्तदशस्य अभिवृद्धिदेवतोपक्षिता उत्तरभद्रपदा १७। अष्टादशस्य चित्रा १८। एकोनविंशतितमस्याश्वोऽश्वदेवतोपलक्षिता अश्विनी १९। विंशतितमस्य विशाखा २०। एकविंशतितमस्य रोहिणी २१। द्वाविंशतिमस्य मूलम् २२। त्रयोविंशतिमस्य आर्द्रा २३। चतुर्विंशतिमस्य विष्वग्देवतोपलक्षिता उत्तराषाढा २४। पञ्चविंशतितमस्य पुष्यः २५। षड्विंशतितस्य धनिष्ठा २६। सप्तविंशतितमस्य भगो, भगदेवतोपलक्षिता पूर्वफाल्गुनी २७। अष्टाविंशतितमस्याजोऽजदेवतोपलक्षिता पूर्वभद्रपदा २८। एकोनत्रिंशत्तमस्य अर्यमा, अर्यमादेवतोपलक्षिता उत्तरफाल्गुन्यः २९। त्रिंशत्तमस्यपूषा, पूषदैवतको रेवती। ३०। एकत्रिंशत्तमस्य स्वातिः ३१। द्वात्रिंशत्तमस्याग्निरग्निदेवतोपलक्षिताः कृत्तिकाः ३२। त्रयस्त्रिंशत्तमस्य मित्रदेवा, मित्रनामा देवा यस्याः सा तथा, अनुराधा इत्यर्थः ३३। चतुस्त्रिंशत्तमस्य रोहिणी ३४। पञ्चत्रिंशत्तमस्य पूर्वाषाढा ३५। षट्त्रिंशत्तमस्य पुनर्वसुः ३६। सप्तत्रिंशत्तमस्य विष्वग्देवा, उत्तराषाढा इत्यर्थः ३७। अष्टात्रिंशत्तमस्य अहिरहिदेवतोपलक्षिता अश्लेषाः ३८। एकोनचत्वारिंशत्तमस्य वसुः, वसुनामदेवोपलक्षिता धनिष्ठा ३९। चत्वारिंशत्तमस्य भगो भगदेवोपलक्षिताः पूर्वफाल्गुन्यः ४०। एकचत्वारिंशत्तमस्य अभिवृद्धिरभिवृद्धिनामकदेवोपलक्षिता उत्तरभद्रपदा ४१। द्वाचत्वारिंशत्तमस्य हस्तः ४२। त्रिचत्वारिंशत्तमस्य अश्वः, अश्वदेवता अश्विनी ४३। चतुश्चत्वारिंशत्तमस्य विशाखा ४४। पञ्चचत्वारिंशत्तमस्य कृत्तिका ४५। षट्चत्वारिंशत्तमस्यज्येष्ठा ४६। सप्तचत्वारिंशत्तमस्य सोमः, सोमदवोपलक्षितं मृगशिरानक्षत्रम् ४७। अष्टाचत्वारिंशत्तमस्यायुरायुर्देवा पूर्वाषाढाः ४८। एकोनपञ्चाशत्तमस्य रविः, रविनामवादेवोपलक्षितं पुनर्वसुनक्षत्रम् ४९। पञ्चाशत्तमस्य श्रवणः ५०। एकपञ्चाशत्तमस्य पिता, पितृदेवाः मघाः ५१। द्विपञ्चाशत्तमस्य वरुणो, वरुण देवोपलक्षितं शतभिक्नक्षत्रम् ५२। त्रिपञ्चाशत्तमस्यभगो, भगदेवाः उत्तरफाल्गुन्यः ५३। चतुःपञ्चाशत्तमस्याभिवद्धिरभिवृद्धिदेवा उत्तरभद्रपदा ५४। पञ्चपञ्चाशत्तमस्य चित्रा ५५। षट्पञ्चाशत्तमस्याश्वोऽश्वदेवाऽश्विनी ५६। सप्तपञ्चाशत्तमस्य विशाखाः ५७। अष्टपञ्चाशत्तमस्य अग्निरग्निदेवापलक्षिताः कृत्तिकाः ५८। एकोनषष्टितमस्य मूलम् ५९। षष्टितद्वाषष्टितमस्य पुष्यः ३२। एतदुपसंहारमाह– "एए" इत्यादि। एतानि नक्षत्राणि युगस्य पूर्वार्द्धे यानि द्वाषष्टिसंख्यानि पर्वाणि तेषु क्रमेण वेदितव्यानि। एवं प्रोक्तकरणवशात् युगस्योत्तरार्द्धमपि क्रमेण द्वाषष्टिसंख्येषु पर्वस्ववगन्तव्यानि। ज्यो० १९ पाहु०। द० प०।

चंदणखोडि–स्त्री०(चन्दनखोटि) गोशीर्षचन्दनस्य खोटौ, व्य० ३ उ०। (चन्दनखोटकदृष्टोन्तेन भ्रष्टस्याचार्यस्य खरण्टना 'आयरिय' शब्दे द्वितीयभागे ३२२ पृष्ठे उक्ता)

चंदणघड–पुं०(चंदनघट) चन्दनकलशे, "चंदणघडसुकपतोरण–

पइदारदेसभागा'' चन्दनघटैश्चन्दनकलशैः सुकृतानि सुष्ठ कृतानि, शोभनानि इति तात्पर्य्यार्थः। यानि तोरणानि तानि चन्दन घटसुकृतानि प्रसिद्धानि, प्रतिद्वारे देशभागे यस्यां सा तथा। ज० ३ प्रति०।

चंदणज्जा–स्त्री०(चन्दनाया) वीरजिनस्य प्रथमशिष्यायाम्, ति०। स०।

चंदणपुड–न०(चन्दनपुट) चन्दनमुख्यगन्धद्रव्यपुटे घुटपरिमिते चन्दनाख्यगन्धद्रव्ये, रा०।

चंदणपेसिया–स्त्री०(चन्दनपेषिका) चन्दनपेषणकारिकायां, हरितालादिपेषिकायां च। भ० ११ श० ११ उ०।

चंदणबाला–स्त्री०(चन्दनबाला) आर्य्यचन्दनायां श्रीमहावीरस्य प्रथमशिष्यायाम्, ती० १२ कल्प। "चन्दना सा कथं नाम, बालेति प्रोच्यते बुधैः? मौक्षमादत्त कुल्माषैर्महावीरं प्रतार्य या ॥१॥" कल्प० ६ क्षण।

चंदणविलेण–न०(चन्दनविलेपन)। मलयजाद्युपलेपने, पञ्चा० ५ विव०।

चंदणसार–न०(चन्दनसार) चन्दनस्येव सारोऽस्य। वज्रभेदे, ६ त०। घृष्टचन्दनसारे, वाच०। "चंदणसारणिम्माविय" (जी० ३ प्रति०) "कोणपरिघट्ठियाए" चन्दनसारो गर्भस्तेन निर्मापितो यः कोणो वादनण्डस्तेन परिघट्टिता। जं० १ वक्ष०। जी०।

चंदणा–स्त्री० (चंदना) महावीरजिनस्य प्रथमशिष्यायाम् आ० क०। अन्त०। कल्प०। आ० म०। द्वीन्द्रियजीवभेदे, प्रज्ञा० १ पद।

चंदणागरी–स्त्री०(चन्दनागरी) उत्तरबलिसहात्स्थविराभ्निर्गतस्योत्तरबलिसहगणस्य चतुर्थ्या शाखायाम्, कल्प० ८ क्षण।

चंदणुक्खित्तगायसरीर–त्रि०(चन्दनोत्क्षिप्तगात्रशरीर) चन्दनोपलिप्ताङ्गदेहे, भ० ६ श० ३३ उ०। रा०।

चंदणोक्किण्णगायसरीर–त्रि०(चन्दनोत्कीर्णगात्रशरीर) चन्दनेन प्रतीतेन उत्कीर्णमिवोत्कीर्णं गात्राणि शरीरं यस्य स तथा। दशा० १० अ०। चन्दनेन श्रीचन्दनेनोत्कीर्णं चर्चितं गात्रं शरीरं येन स तथा। चन्दनचर्चितदेहे, तं०।

चंददरिसणिया–स्त्री०(चन्द्रदर्शनिका) जातपुत्रस्य चन्द्रदर्शनेनोत्सवविशेषे, (कल्प०) तद्विधिश्चायम्जन्मदिनाद्दिन-द्वयातिक्रमे गृहस्थः गुर्वर्हत्प्रतिमाग्रे रूप्यमयीं चन्द्रमूर्तिं प्रतिष्ठास्य अर्चित्वा विधिना स्थापयेत्। ततः स्नातां सुवस्त्राभरणां सपुत्रां मातरं चन्द्रादयो प्रत्यक्षचन्द्रसंमुखं नीत्वा "ॐ अर्हं चन्द्रोऽसि निशाकरोऽसि नक्षत्रपतिरसि सुधाकरोऽसि ओषधीगर्भोऽसि अस्य कुलस्य वृद्धिं कुरु २ स्वाहा" इत्यादि चन्द्रमन्त्रमुच्चार्य्यमाणश्चन्द्रं दर्शयेत्। सपुत्रा माता च गुरुं प्रणमति, गुरुश्चाशीर्वादं ददाति। स चायम् ''सर्वौषधीमिश्रमरीचिराजिः, सर्वापदां संहरणप्रवीणः। करोतु वृद्धिं सकलेऽपि वंशे, युष्माकमिन्दुः सततं प्रसन्नः ॥१॥ कल्प० २ क्षण।

चंददह–पुं०(चन्द्रह्रद) जम्बूद्वीपे उत्तरकुरुषु दशभिः काञ्चनकाभिधानैश्चन्द्रसमाननामदेवाधिवासैर्दशयोजनान्तरैः पूर्वापरव्यवस्थितैर्गिरिभिरुपेते महाह्रदे, स्था० ५ ठा० उ०। जी०।

चंददिण–न०(चन्द्रदिन) प्रतिपदादिकायां तिथौ, "चेददिणेणं एगूणतीसं मुहुत्ते सातिरेगे मुहुत्तग्गेणं" पं० सं० ५ द्वार।

चंददीव–पुं०(चद्रद्वीप) चन्द्राणां द्वीपे, (जी०)

संप्रति जम्बूद्वीपगतयोर्जम्बूद्वीपसत्कयोश्चन्द्रयोश्चन्द्र–सत्कचन्द्रद्वीपप्रतिपादनार्थमाह–

कहि णं भंते ! जंबुद्दीवगाणं चंदाणं चंददीवा णामं दीवा पण्णत्ता ? गोयमा ! जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स पुरच्छिमेण लवणसमुद्दं बारसजोयणसहस्साइं ओगाहित्ता एत्थ णं जंबुद्दीवगाणं चंदाणं चंददीवा नामं दीवा पण्णत्ता। जंबुद्दीवं तेणं अद्धेकूणणउतिं जोयणातिं चत्तालीसं च पंचाणउतिभागे जोयणस्स उसिया जलंतातोलवणसमुद्दं तेणं दो कोसे ऊसिता जलंतातो बारसजोयणसहस्सातिं आयामविक्खंभेणं सेसं तं चेव जहा गोतमदीवस्स परिक्खेवो। पउमवरवेतिया पत्तेयं पत्तेयं वणसंडपरि० दोण्ण वि वण्ण ओ–वहु–समरमणिज्जा भूमिभागा० जाव जोइसिया देवा आसयंति। तेसि णं बहुसमरमणि जस्स भूमिभागस्स पासादबडेंसका बावट्ठिं जोयणाइं बहुमज्झ० मणिपेढिया ओ दो जोयणाओ० जाव सीहासणा सपरिवारा भाणियव्वा, तहेव अट्ठो। गोयमा ! बहु ओ खुड्डिखुड्डियाओ बहुहिं चंदवण्णाभाइं चंदा य इत्थ देवा महिड्ढिया० जाव पलिओवमट्ठितीया परिवसंति। तेणं तत्थ पत्तेयं पत्तेयं चउण्हं सामाणियसहस्सीणं० जाव चंददीवाणं चंदाण य रायहाणीणं अन्नेसिं च वहूणं जोतिसियाणं देवाण यदेवीण य आहेवच्चं० जाव विहरंति। से तेणट्ठेणं गोयमा ! चंददीवा० जाव णिच्चा।

कहि णं भंते ! इत्यादि। क्व भदन्त ! जम्बूद्वीपगतयोर्जम्बूद्वीपसत्कयोश्चन्द्रयोश्चन्द्रद्वीपौ नाम द्वीपौ प्रज्ञप्तौ ? भगवानाह–गौतम ! इत्यादि। सर्वं गौतमद्वीपवत् परिभावनीयं, नवरमत्र जम्बूद्वीपस्य पूर्वस्यां दिशीति वक्तव्यम्। तथा प्रासादावतं सको वक्तव्यः। तस्य चायामादिप्रमाणं तथैव नामनिमित्त चिन्तायामपि यस्मात् क्षुल्लाक्षुल्लिकावाप्यादिषु बहूनि उत्पलानि यावत् सहस्रपत्राणि चन्द्रप्रभाणि चन्द्रवर्णानि चन्द्रौच ज्यातिश्चन्द्रौ ज्यातिषराजौ महर्द्धि कौ यावत्पल्योपमस्थितिकौ परिवसतः, तौ च चन्द्रौ प्रत्येकं चतुर्णां सामानिकसहस्राणां चतसृणामग्रमहिषीणां सपरिवाराणां तिसृणां पर्षदां सप्तानामनीकानां सप्तानामनीकाधिपतीनां षोडशानामात्मरक्षकदेवसहस्राणां स्वस्य स्वस्य चन्द्रद्वीपस्य स्वस्याः स्वस्याः चन्द्राभिधायाः राजधान्याः, अन्येषां च बहूनां जोतिष्काणां देवानां देवीनां चाधिपत्यं यावद्विहरतः, ततस्तद्गतोत्पलादीनां चन्द्राकारत्वात् चन्द्रवर्णत्वात् चन्द्रदेवस्वामिकत्वाच्च तौ चन्द्रद्विपाविति।

कहि णं भंते ! जंबुद्दीवगाणं चंदमाणं चंदाणउ णाम रायहाणीओ पण्णत्ताओ ? गोयमा ! चंददीवाणं पुरच्छिमेणं तिरियं० जाव अण्णम्मि जंबुद्दीवे दीवे बारसजोयणसहस्सातिं

ओगाहित्ता तं चेव पमाणं० भाव महिड्ढिया चंदा देवा चंदा देवा ।

चन्द्राभिधे च राजधान्यौ, तयोश्चन्द्रद्वीपयोः पूर्वस्यां दिशि तिर्यग्-संख्येयान् द्वीपसमुद्रान् व्यतिव्रज्यान्यास्मिन् जम्बूद्वीपे द्वीपे द्वादशयोजनसहस्राण्यवगाल विजयराजधानीसदृशे वक्तव्ये ।

सूर्याणामपीहैव–

कहि णं भंते ! जुंबुद्दीवगाणं सूराणं सूरदीवा णाम दीवा पण्णत्ता ? । गोयमा ! जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स पच्चच्छिमेणं लवणसमुद्दं वारसजायणसहस्सातिं ओगाहित्ता तं चेव उच्चत्तं आयामविक्खंभेण परिक्खेवो वेदियावणसंडा भूमिभागा० जाव आसयंति । पासायवडेंसगाणं त चेव पमाणं मणिपेढिया सीहासणा सपरिवारा अट्ठो उप्पलाइं सूरप्पभातिं सूरा य इत्थ देवा० जाव रायहाणीओ सकाणं दीवाणं पच्चच्छिमेणं अण्णम्मि जुंबुद्दीवे दीवे सेसं तं चेव० जाव सूरा देवा ॥

एवं जम्बूद्वीपगतसूर्यसत्कसूर्यद्वीपावपि वक्तव्यौ, नवरं जम्बूद्वीपस्य पश्चिमायां दिशि एतमेव लवणसमुद्रमवगाह्य वक्तव्यं राजधान्यावपि स्वकद्वीपयोः पश्चिमायां दिशि अन्यस्मिन् जम्बूद्वीपे वक्तव्ये, शेषं सर्व चन्द्रद्वीपवद्भावनीयं, नवरं चन्द्रस्थाने सूर्यग्रहणमिति ।

संप्रति लवणसमुद्रगतचन्द्रादित्यद्वीपवक्तव्यतामाह –

कहि णं भंते ! अब्भितरलावणगाणं चंदाणं चंददीवा णाम दीवा पण्णत्ता ? गोयमा ! जंबूमंदरपव्वयस्स पुरच्छिमे णं लवणसमुद्दं वारसजोयणसहस्सातिं ओगाहित्ता एत्थ णं अब्भितरलावणगाणं चंदाणं चंददीवा णाम दीवा पण्णत्ता । जहा जंबूदीवगा चंदा तहा भाणियव्वा, णवरं रायहाणीओ अण्णम्मि लवणे सेसं तं चेव । एवं अब्भितरलावणगाणं सूराणं वि लवणसमुद्दं वारसजोयण-सहस्सातिं तं चेव सव्वं राजहाणीओ वि ।

"कहि णं भंते ! इत्यादि । लवणभवौ लावणिकौ अभ्यन्तरौ च तौ लावणिकौ च अभ्यन्तरलावणिकौ, शिखाया अर्वाक्चारिणावित्यर्थः । तयोः सूत्रे द्वित्वेऽपि बहुवचनं प्राकृतत्वात् । शेषं सुगमम् । भगवानाह– गौतम ! जम्बूद्वीपस्य पूर्वस्यां दिशि एतमेव लवणसमुद्रं द्वादश योजनसहस्राण्यवगाह्याऽत्र एतस्मिन् अवकाशे अभ्यन्तरलावणिकयोश्चन्द्रद्वीपौ नाम द्वीपौ वक्तव्यावित्यादि जम्बूद्वीपगतचन्द्रसत्कचन्द्रद्वीपवन्निरवशेषं वक्तव्यम् । नवरमत्र राजधान्यौ स्वकयोर्द्वीपयोः पूर्वस्यां दिशि अन्यस्मिन् लवणसमुद्रे द्वादशयोजनसहस्राण्यवगाह्य वेदितव्ये, एवमभ्यन्तरलावणिकसूर्यसत्कसूर्यद्वीपावपि वक्तव्यौ, नवरं जम्बूद्वीपस्य पश्चिमायां दिशि एतमेव लवणसमुद्रं द्वादशयोजन-सहस्राण्यवगाह्य वक्तव्यौ राजधान्यावपि स्वकथोर्द्वीपयोः पश्चिमायां दिशि अन्यस्मिन् लवणसमुद्रे द्वादशयोजनसहस्राण्यवगाह्येति ।

कहि णं भंते ! बाहिरिलावणगाणं चंददीवा नाम देवा पण्णत्ता ? । गोयमा ! लवणसमुद्दस्य पुरच्छिमिल्लातो वेदियतातो लवणसमुद्दपच्चच्छिमे णं बारसजोयणसहस्साइं ओगाहित्ता एत्थं णं बाहिरिलावणगाणं चंददीवा पण्णत्ता धायतिसंडं तेणं अद्धेकूणणउइजोयणातिं चत्तालीसं पंचाणउतिभागे जोयणस्स उसित्ता जलंतातो लवणं समुद्दं तेणं दो कोसे उसित्ता बारसजोयणसहस्साइं आयामविक्खंभेणं पउमवरेइयावणसंडे बहुसमरमणिज्जा भूमिभागा मणिपेढिया सीहासणा सपरिवारा सो चेव अट्ठो रायहाणीओ साणं दीवाणं पुरच्छिमे णं तिरियमसं० अण्णम्मि लवणे समुद्दे तहेव सव्वं ॥

"कहि णं भंते !" इत्यादि । क्व भदन्त ! बाह्यलावणिकयोश्चन्द्रयोश्चन्द्र-द्वीपौ नाम द्वीपौ प्रज्ञप्तौ ? बाह्यलावणिकौ नाम लवणसमुद्रे शिखाया बहिश्चारिणौ चन्द्रौ । भगवानाह–गौतम ! लवणसमुद्रस्य पूर्वस्माद्वेदिकान्तात् अर्वाक् लवणसमुद्रं पश्चिमदिशि द्वादशयोजनसहस्राण्यवगाह्य अत्र बाह्यलावणिकयोश्चन्द्रयोश्चन्द्रद्वीपौ नाम द्वीपौ प्रज्ञप्तौ । तौ च धातकीखण्डद्वीपान्तेन धातकीखण्डद्वीपदिशि अद्धैकोननवतियोजनानि चत्वारिंशतं च पञ्चनवतिभागान् योजनस्योदकादूर्द्धमुच्छ्रितौ लवणसमुद्रदिशि द्वौ क्रोशौ, शेषा वक्तव्यता अभ्यन्तरलावणिके चन्द्रद्वीपवद्वक्तव्या । अत्रापि राजधान्यौ स्वकयोः द्वीपयोः पूर्वस्यां तिर्यगसंख्येयान् द्वीपसमुद्रान् व्यतिव्रज्यान्यस्मिन् लवणसमुद्रे वक्तव्ये ।

कहि णं भंते ! बाहिरलावणगाणं सूराणं सूरदेवा नामं दीवा पण्णत्ता ? लवणसमुद्दं पच्चच्छिमिल्लातो वेतियंताओ लवणसमुद्दं पुरच्छिमेणं बारसजोयणसहस्साइं धायतिखंडदीवं तेणं अद्धेकूणउतिं जोयणातिं चत्तालीसं च पंचाणउतिभागो जो लवणसमुद्दं तेणं दो कोसे ऊसिया सेसं त्तहेव० जाव रायहाणओ सगाणं दीवाण पच्चच्छिमेणं तिरियमसंखेज्जलवणे चेव बार सजोयणं तहेव भाणियव्वं ।

एवं बाह्यलावणिकसूर्यसत्कसूर्यद्वीपावपि वक्तव्यौ, नवरमत्र लवण-समुद्रस्य पश्चिमात् वेदिकान्तात् लवणसमुद्रं पूर्वस्यां दिशि द्वादश-योजनसहस्राण्यवगाह्येति वक्तव्यौ राजधान्यावपि स्वकयोर्द्वीपयोः पश्चिमायां दिशि अन्यस्मिन् लवणसमुद्रे इति ।

संप्रति धातकीखण्डगतचन्द्रादित्यद्वीपवक्तव्य–

तामभिधित्सुराह–

कहि णं भंते ! धायतिसंडे दीगाणं चंदाणं चंददीवा पण्णत्ता ?। गोयमा ! धायतिसंडस्स दीवस्स पुरच्छिमिल्लाओ वेदियंतातो कालोयणं समुद्दं बारसजोयणसहस्साइं ओगाहित्ता एत्थ णं धायतिसंडदीवगाणं चंदाणं चंददीवा णामं दीवा पण्णत्ता, सव्वतो समंता दो कोसा ऊसित्ता जलंतातो वासजोयणसहस्साइं तहेव विक्खंभपरिक्खेवो भूमिभागो पासादवडेंसया मणिपेढिसीहासणा सपरिवारा अट्ठा तहेव रायहाणीओ सकाणं दीवाणं पुरच्छिमेणं

अण्णम्मि धायतिसंडे दीवे सेसं तहेव। एवं धायतिसंभगा वि सूरा। णवरं धायतिसंमस्स दीवस्स पच्चच्छिमिल्लातो वेतियंसाओ कालोयणसमुद्दं वारसजोयणं तहेव सव्वं० जाव रायहाणीओ सूराणं दीवाणं पच्चच्छिमेणं अण्णम्मि धायति खंडे दीवे सव्वं तहेव।

"कहिणं भंते"। इत्यादि। क्व भदन्त ! धातकीखण्डद्वीपगतानां चन्द्राणां तत्र द्वादश चन्द्रा इति बहुवचनं चन्द्रद्वीपानामदीपाः प्रज्ञप्ताः। भगवानाह–गौतम ! धातकीखडस्य पूर्वस्यां दिशि कालोदं समुद्रं द्वादशयोजनसहस्राण्यावग्राह्य अत्र धातकीखण्डगतरनां चन्द्राणां चन्द्रद्वीपानामद्वीपाः प्रज्ञप्ताः। ते च जम्बूद्वीपगतचन्द्रसत्कचन्द्रद्वीपवद्वक्तव्यः। नवरं ते सर्वासु दिक्षु जलादूर्द्ध द्वौ क्रोशौ उच्छ्रिता इति वक्तव्यं तत्र पानीयस्य सर्वत्रापि समत्वात् राजधान्योऽपि तेषां स्वकीयानां द्वीपानां पूर्वतस्तिर्यगसंख्ययान् द्वीपसमुद्रान् व्यतिव्रज्यास्मिन् धातकीखण्डे द्वीपे द्वादशयोजनसहस्राण्यावगाह्य विजयाराजधानीवद्वक्तव्या एवं धातकीखण्डगतसूर्यसत्कसूर्यद्वीपाः अपि वक्तव्याः। नवरं धातकीखण्डस्य पश्चिमान्तात् वेदिकान्तान् कालोदसमुद्रं द्वादशयोजनसहस्राययवगाह्य वक्तव्या राजधान्योऽपि स्वक्रीयानां सूर्यद्वीपानां पश्चिमदिशि अन्यस्मिन् धातकीखण्डे द्वीपे शेष तथैव।

संप्रति कालोदसमुद्रगतचन्द्रादित्यसत्कद्वीपवक्तव्यतां प्रतिपादयिषुराह–

कहि णं भंते ! कालोयणगाणं चंदाणं चंददीवा पण्णत्ता ? गोयमा! कालोयणस्स समुद्दस्स पुरच्छिमिल्लाओ वेतियंताओ कालोयणं समुद्दं पच्चच्छिमेणं वारसजोयणसहस्साइं ओगाहित्ता एत्थ णं कालोयणं चंदाणं चददीवा सव्वतो समंता दो कोसा ऊसित्ता जलंतातो सेसं तहेव० जाव रायहाणीओ छसगाणं दीवाणं पुरच्छिमेणं अण्णम्मि कालोयणं समुद्दे वारस जोयणं तहेव सव्वं० जाव चंदा देवा। एवं सूराण वि। णवरं चंदाणं कालोयणं पच्चच्छिमिल्लातो वेतिपंतातो कालोयणं समुद्दं पुरत्थिमेणं वारसजोयणसहस्साइं ओगाहित्ता तहेव रायहाणीओ सगाए दीवाणं पच्चच्छिमे णं अण्णम्मि कालोयणं समुद्दे तहेव सव्वं। एवं पुक्खरवागाणं चंदाणं पुक्खवरदीवस्स पच्चच्छिमिल्लातो वेतियंताओ पुक्खरवरसमुद्दं वारसजोयण–सहस्साइं ओगाहित्ता चंददीवा अण्णम्मि पुक्खरवरे दीवे रायहाणीओ तहेवा। एवं सूराण वि दीवा पुक्खवरदीवस्स पच्चत्थिमिल्लाओ वेइयंताओ पुक्खरोदं समुद्दं वारसजोयणसहस्साइं ओगाहित्ता तहेव सव्वं जाव रायहाणीओ दीविल्लगाणं समुद्दे समुद्दगाणं समुद्दे चेव एगाणं अब्भंतरपासे एगाणं वाहिरए पासे गयहाणीओ दीविल्लगाणं दीवेसु समुद्दगाणं समुद्देसु सरिसणमत्तेसु इमे णामा अणुगंतव्वाज ंबुद्दीवेलवण धायइकालोद-पुक्खरे वरुणे खीरघयखोयणंदी अरुणवरे कुंडले रुयए आभरणवत्थगंधे उप्पलतिलयए पुढविणिठरघणे वासध रदहणदीओ विजया वक्खारकप्पिंदा कुरुमंदिरमावासा कुंभा णक्खत्त चंदसूरा य। एवं भाणियव्वं॥

कहि णं भंते ! इत्यादि। "कालोयगाणं" इत्यादि। क्व भदन्त ! कालोदकानां कालोदसत्कानां चन्द्राणां चन्द्रद्वीपानामद्वीपाः प्रज्ञप्ताः ? भगवानाह–गौतम ! कालोदसमुद्रस्य पूर्वस्मात् वेदिकान्तात् कालोदसमुद्रं पश्चिमदिशि द्वादशयोजनसहस्राण्यवगाह्यात्र कालोदगतचन्द्र णां चन्द्रद्वीपाः प्रज्ञप्ताः। ते च सर्वासु दिक्षु जलादूर्ध्वं द्वौ क्रोशावुच्छ्रिताः। शेषं तथैव राजधान्योऽपि स्वीकायानां द्वीपानां पूर्वस्यां दिशि तिर्यगसंख्येयान् द्वीपसमुद्रान् व्यतिव्रज्यास्मिन् कालोदसमुद्रे द्वादशयोजनसहस्राण्यवगाह्य विजया राजधानीवत् वक्तव्याः। एवं कालोदकसूर्यसत्कसूर्यद्वीपा अपि वक्तव्याः। नवरं कालोदसमुद्रस्य पश्चिमान्तात् वेदिकान्तात् कालोदसमुद्रं पूर्वदिशि द्वादशयोजनसहस्राण्यवगाह्येति वक्तव्यम्। राजधान्योऽपि स्वकीयानां द्वीपानां पश्चिमदिशि अन्यस्मिन् कालोदसमुद्रे शेषं तथैव। एवं पुष्करवरद्वीपगतानां चन्द्राणां पुष्करवरद्वीपस्य पूर्वस्मात् वेदिकान्तात् पुष्करोदसमुद्रं द्वादशयोजनसहस्र ण्यवगाह्य द्वीपा वक्तव्याः राजधान्यः। स्वकीन्यानां द्वीपानां पूर्वस्यां दिशि तिर्यगसंख्येयान् द्वीपसमुद्रान् व्यतिव्रज्यान्यस्मिन् पुष्करवरद्वीपे द्वादशयोजनसहस्राण्यवगाह्य पुष्करवरद्वीपगतसूर्याणां द्वीपाः पुष्करवरद्वीपपश्चिमान्तवेदिकान्तात् पुष्करवरसमुद्रं द्वादशयोजनसहस्राण्यवगाह्य प्रतिपत्तव्याः। राजधान्यः पुनः स्वकीयानां द्वीपानां पश्चिमदिशि तिर्यगसंख्येयान् द्वीपसमुद्रान् व्यतिव्रज्यान्यस्मिन् पुष्करवरद्वीपे द्वादश योजनसहस्राण्यवगाह्य पुष्करवरसमुद्रगतचन्द्रसत्कद्वीपाः। पुष्करवरसमुद्रस्य पूर्वस्मात् वेदिकान्तात् पश्चिमदिशि द्वादशयोजनसहस्राण्यवगाह्य वक्तव्या राजधान्यः। स्वकीयानां द्वीपानां पूर्वदिशि तिर्यगसंख्येयान् द्वीपसमुद्रान् व्यतिव्रज्यान्यस्मिन् पुष्करवरसमुद्रे द्वादशयोजनसहस्रेभ्यः परतः पुष्करवरसमुद्रगतसूर्यसत्कसूर्यद्वीपाः पुष्करवरसमुद्रस्य पश्चिमात् वेदिकान्तात् पूर्वतो द्वादशयोजनसहस्राण्यवगाह्य राजधान्यः। पुनः स्वकीयानां द्वीपानां पश्चिमदिशि तिर्यगसंख्येयान् द्वीपसमुद्रान् व्यतिव्रज्यान्यस्मिन् पुष्करोदसमुद्रे द्वादशयोजनसहस्रा ण्यवगाह्य प्रतिपत्तव्याः। एवं शेषद्वीपगतानामपि चन्द्राणां चन्द्रद्वीपाः स्वस्वद्वीपगतात् पूर्वस्मात् वेदिकान्तादनन्तरे समुद्रे द्वादशयोजनसहस्राण्यवगाह्य वक्तव्याः। सूर्याणां सूर्यद्वीपाः स्वस्वद्वीपगतात् पश्चिमात् वेदिकान्तात् अनन्तरे समुद्रे राजधान्यश्चन्द्राणामात्मीयचन्द्रद्वीपेभ्यः पूर्वदिशि अन्यस्मिन् सदृशनामके २ द्वीपे। सूर्याणामपि आत्मीयसूर्यद्वीपेभ्यः पश्चिमदिशि तस्मिन्नेव सदृशनामके अन्यस्मिन् द्वीपे द्वादशयोजनसहस्रेभ्यः परतः शेषसमुद्रगतानां तु चन्द्राणां चन्द्रद्वीपाः स्वस्वसमुद्रस्य पूर्वस्मात् वेदिकान्तात् पश्चिमदिशि द्वादशयोजनसहस्राण्यवगाह्य सूर्याणां तु स्वस्वसमुद्रस्य पश्चिमात् वेदिकान्तात् पूर्वदिशि द्वादशयोजनसहस्राण्यवगाह्य चन्द्राणां राजधान्यः स्वस्वद्वीपानं पूर्वदिशि अन्यस्मिन् सदृशानामके ससुद्रे सूर्याणां राजधान्यः स्वस्वद्वीपानां पश्चिमदिशि केवलमग्रे तनशेषसमुद्रगतानां चन्द्रसूर्याणां राजधान्योऽन्यस्मिन् सदृशनामके द्वीपे समुद्रे वा अग्रेतने पश्चात्तने वा प्रतिपत्तव्याः

नाग्रेतन एवान्यथाऽनवस्थाप्रसक्तेः। एतच्च देवद्वीपादर्वाक् सूर्यवरावभासं समुद्रं यावत्।

देवद्वीपादिषु तु राजधानीः प्रति विशेषस्तमभिधित्सुराह-

कहि णं भंते ! देवदीवगाणं चंदाणं चंददीवाणामं दीवा पण्णत्ता। गोयमा ! देवदीवस्स देवोदं समुद्दं वारसजोयणाइं ओगाहित्ता तेणेव कमेणं पुरत्थिमिल्लओ वेतियंतातो० जाव रायहाणीओ सगाणं दीवाणं पुरत्थिमे णं देवोदं समुद्दं असंखेज्जातिं जोयणसहस्सातिं उग्गाहित्ता एत्थ णं देवदीवगाणं चंदाणं चंदाओ नाम रायहाणीतो पण्णत्ताओ। सेसं तहेव देवदीवचंदा देवा २। एवं सूराण। विणवरिं पच्चत्थिमिल्लातो वेदियंतातो पच्चत्थिमे णं च भाणियव्वो तम्मि चेव समुद्दे।

"कहि णं भंते" ! इत्यादि। क्व भदन्त ! देवद्वीपगानां चन्द्राणं चन्द्रद्वीपानामद्वीपाः प्रज्ञप्ताः। भगवानाह-गौतम ! देवद्वीपस्य पूर्वस्माद्वेदिकान्तात् देवोदं समुद्रं द्वादशयोजनसहस्राण्यवगाह्य अत्रान्तरे देवद्वीपगानां चन्द्राणां चन्द्रद्वीपाः प्रज्ञप्ताः इत्यादि प्राग्वत् राजधान्यः स्वकीयानां चन्द्रद्वीपानां पश्चिमदिशि तमेव देवद्वीपमसंख्येयानि योजनसहस्राण्यवगाह्यात्रान्तरे देवद्वीपगानां चन्द्राणां चन्द्रापनामराजधान्यः प्रज्ञप्तास्ता अपि विजयाराजधानीवत् वक्तव्याः। "कहि णं भंते" ! इत्यादि। क्व भदन्त ! देवद्वीपगानां सूर्यद्वीपानामदीपा प्रज्ञप्ताः। भगवानाह-गौतम ! देवद्वीपस्य पश्चिमान्तात् वेदिकान्तात् देवोदं समुद्रं द्वादशयोजनसहस्राण्यवगाह्येत्यादि राजधान्यः स्वकीनां सूर्यद्वीपानां पूर्वस्यां दिशि तमेव देवद्वीपमसंख्येयानि योजनसहस्राण्यवगाह्येत्यादि।

"कहि णं भंते ! देवससुद्दगाणं चंदाणं चंददीवा पण्णत्ता। गोयमा ! देवोदगस्स समुद्दस्स पुरत्थिमिल्लतो वेतियंतातो देवोदगं समुद्दं पच्चच्छिमे णं वारसजोयणसहस्साइं तेणेव कमेणं० जाव रायहाणीओ, सगाणं दीवाणं पच्चच्छिमेणं देवोदगं समुद्दं असंखेज्जाइं जोयणसहस्सातिं उग्गाहित्ता एत्थ णं देवोदगस्स पच्चत्थिमिल्लातो वेतियंतातो देवोदगं समुद्दं पुरत्थिमेणं वारसजोयणसहस्सतिं ओगाहित्ता रायहाणीओ सयाणं पुरत्थिमे णं समुद्दं असंखेज्जाइं जायणसहस्साइं।

"कहि णं भंते" ! इत्यादि। क्व ? भदन्त ! देवसमुद्रगाणां चन्द्राणां चन्द्रद्वीपानामद्वीपाः प्रज्ञप्ताः। गौतम ! देवोदकस्य समुद्रस्य समुद्रस्य पूर्वस्मात् वेदिकान्तात् देवोदकं समुद्रं पश्चिमदिशि द्वादशयोजनसहस्राण्यवगाह्यात्रान्तरे देवोदकसमुद्रगाणां चन्द्राणां चन्द्रद्वीपाः प्रज्ञप्तास्ते च प्राग्वत् राजधान्यः स्वकीयानां चन्द्रद्वीपानां पश्चिमदिशि देवोदकं समुद्रमसंख्येयानि योजनसहस्राण्यवगाह्यात्रान्तरे वक्तव्याः। देवोदकसमुद्रगाणां सूर्याणां सूर्यद्वीपाः देवोदकस्य समुद्रस्य पश्चिमान्तात् वेदिकान्तात् देवादकं समुद्रं पूर्वदिशि द्वादशयोजनसहस्राण्यवगाह्यात्रान्तरे वक्तव्या राजधान्योऽपि स्वकीयानां स्वकीयानां सूर्यद्वीपानां पूर्वदिशि देवोदकं समुद्रमसंख्येयानि योजनसहस्राण्यवगाह्य।

एवं णागे जक्ख भूते वि चउण्हं दीवसमुद्दाणं कहि णं भंते ! सयंभुरमणदीवगाणं चंदाणं चंददीवाणामदीवा पण्णत्ता। गोयमा ! सयंभुरमणस्स दीवस्स पुरत्थिमिल्लातो वेतियंतातो सयंभुरमणोदगं समुद्दं वारसजोयणसहस्साइं तहेव रायहाणीतो सगाणं सगाणं दीवाणं पुरत्थिमेणं सयंभुरमणोदगं समुद्दे पुरत्थिमेणं असंखेज्जाइं जोयाणाइं तहेव। एवं सूराण वि। सयंभुरमणस्स पच्चत्थिमिल्लातो वेतियंतातो रायहाणीओ सकाणं सकाणं दीवाणं पच्चत्थिमे णं सयंभुरमणोदगं समुद्दं असंखेज्जा। सेसं तहेव। कहि णं भंते ! सयंभुरमणसमुद्दकाणं चंदाणं गोयमा ! सयंभुरमणस्स समुद्दस्स पुरत्थिमिल्लाओ वेतियंतातो सयंभुरमणं समुद्दं पच्चत्थिमेणं वारसजोयणसहस्साइं ओगाहित्ता सेसं तं चेव एवं सूराण वि सयंभुरमणस्स पच्चत्थिमिल्लाओ सयंभुरमणोदसमुद्दं पुरत्थिमेणं वा रसजोयणसहस्साइं उग्गाहित्ता-रायहाणीओ सगाणां सगाणं दीवाणं पुरत्थिमेणं॥

एवं नागयक्षभूतस्वयम्भूरमणद्वीपसमुद्रचन्द्रादित्यानामपि वक्तव्या द्वीपगतानां चन्द्रादित्यानां चन्द्रादित्यद्वीपा अन्तरे समुद्रे। समुद्रगतानां तु चन्द्रादित्यानां स्वस्वसमुद्रे एव। आह च मूलटीकाकारोऽपि-एवं शेषद्वीपचन्द्रादित्यानामपि द्वीपा अनन्तरसमुद्रेष्ववगन्तव्याः राजधान्यश्च तेषां पूर्वपरतोऽसंख्येयान् द्वीपसमुद्रान् गत्वा ततोऽन्यस्मिन् सदृशनाम्नि द्वीपे भवन्ति अन्यानिमान् पञ्चद्वीपान् मुक्तवा देवनागयक्षभूतस्वयम्भूरमणाख्यान् तेषु चन्द्रादित्यानां राजधान्योऽन्यस्मिन् द्वीपे तु तस्मिन्नेव पूर्वापरतो वेदिकान्तात् असंख्येयानि योजनसहस्राण्यवगाह्य भवन्ति इति इह बहुधा सूत्रेषु पाठभेदाः परमेतावानेव सर्वत्राप्यर्थो नार्थभेदान्तरामित्येतद्व्याख्यानुसारेण सर्वेष्वनुगन्तव्या न मोग्धव्यमिति। जी० ३ प्रति०।

चंदद्ध-न० (चन्द्रार्द्ध) अष्टमीचन्द्रे, (जी०) "चंदद्धसमणि डालाओ" चन्द्रार्द्धेन अष्टमीचन्द्रेण समं समानं लालटं यासां ताः चन्द्रार्द्धसमललाटाः। जी० ३ प्रति०।

चंदद्धसम-त्रि०(चन्द्रर्द्धसम) शशधरसमप्रविभागसदृशे, "णिव्वणसमलट्ठमट्ठचंदद्धसमणिडाला" जी० ३ प्रति०।

चंदपडिमा-स्त्री०(चन्द्रप्रतिमा) चन्द्र इव कला वृद्धिहानिभ्यां या प्रतिसा चन्द्रप्रतिमा। प्रतिमाभेदे, शुक्लप्रतिपदि एकं कवलमभ्यवहृत्य ततः प्रतिदिन कवलवृद्धया पञ्चदश पूर्णमास्यां कृष्णप्रतिपदि च पञ्चदश भुक्तवा प्रतिदिनमेकहान्याऽमावस्यायामेकमेव यस्यां भुङ्क्ते। (स्था०) यस्यां तु कृष्णप्रतिपदि पञ्चदश भुक्तवा एकैकहान्या अमावस्यायामेकं शुक्लप्रतिपदि चैकमेव ततः पुनरेकैकवृद्धया पूर्णिमायां पञ्चदश भुङ्क्ते सा वज्रस्येव मध्यं यस्यास्तन्विर्थः। सा वज्रमध्या चन्द्रप्रतिमेति (स्था०) एतदेवसूत्रकृदाह- "दो पडिमाओ पन्नत्ताओ तं जहा-जवमझे चेव चंपदडिमा वइरमझे चेव चंदपमडिमा"। स्था० २ ठा० ३ उ०।

चंदपण्णत्ति-स्त्री०(चन्द्रप्रज्ञप्ति) चन्द्रचारप्रतिपादके ग्रन्थे, पा०। सा चाङ्गबाह्यप्रकीर्णकरूपा, । आ० ४ ठा० १ उ०।

चंदपरिवेस–पुं०(चन्द्रपरिवेस) चन्द्रस्य परिता बलयाकारपरिणातौ, जी० ३ प्रति० । अनु० ।

चंदपव्वय–पुं०(चन्द्रपर्वत) जम्बूद्वीपे मन्दरस्य पश्चिमे शीतोदाया महानद्या उत्तरे कूल्ले, वक्षस्कारपर्वते, स्था० ४ ठा० २ उ० । जं० । ''दो चंदपव्वया'' । स्था० २ ठा० ३ उ० ।

चंदपाणिलेह–त्रि०(चन्द्रपाणिरेख) चन्द्राकारा: पाणौ रेखा यस्य स तथा । औ० । जी० । पश्र० । चन्द्राकृतिहस्तरेखे, तं० ।

चंदप्पभ–पुं०(चन्द्रप्रभ) चन्द्रस्येव प्रभा ज्योत्स्ना सौम्यलेश्यादिशेषोऽस्येति चन्द्रप्रभ: । तथा देव्याश्चन्द्रपानदोहदोऽभूत् चन्द्रसमवर्णश्च भगवान् इति चन्द्रप्रभ: । ध० २ अधि० । अस्यामवसर्पिण्यां भरतवर्षे जातेऽष्टमे तीर्थकरे, स० । तत्र सर्वेपि तीर्थकृतश्चन्द्रवत् सोमलेश्याकास्तको विशेष माह–"जणणीए चंदपियणम्मि, दोहलो तेण चंदाभो" येन कारणेन भगवति गर्भगते जनन्याश्चन्द्रपाने दौहृदमजायत चन्द्रसदृश-वर्णश्च भगवान् तेन चन्द्राभश्चन्द्रप्रभ इति विश्रुत: । आ० म० द्वि० । अनु० । प्रव० । (अन्तरम् । आयु: । उच्चत्वम् वर्ण: । एवमादय: सर्वेऽधिकाराश्चन्द्रप्रभस्वामिन: 'तित्थयर' शब्दे वक्ष्यन्ते) (यस्मिन् समये भरते चन्द्रप्रभो जातस्तस्मिन्समये ऐरवते दीर्घसेनजिन: संजज्ञे) ।चन्द्रकान्तमणै, रा० । आ० म० । आ० चू० । ज्ञा० । प्रज्ञा० । जी० । कल्प० । "तेसि णं" इत्यादि । तेषां तोरणानां पुरतो द्वे द्वे चामरे प्रक्षप्ते सानि च चामराणि "चंदप्पभवइरवेरु-लियनाणामणिरयणखचियदंडाउ इति" चंद्रप्रभ: चन्द्रकान्तो वज्रं वैडूर्यं च प्रतीतं चन्द्रप्रभवज्रवैडूर्याणि शेषाणि च नानामणिरत्नानि खचितानि येषु दण्डेषु तथा एवं रूपाश्चित्रा नानाकारा दण्डा येषां चामराणां तानि तथा सूत्रे स्त्रीत्वं प्राकृतत्वात् । जी० ३ प्रति० । चतुर्थदेवलो कस्य विमानभेदे, न० । स० ३ सम० । चन्द्रस्य ज्यातिष्केन्द्रस्रु सिंहासने, न० । ज्ञा० २ श्रु० १ अ० । श्रीचन्द्रप्रभचरित्रमध्ये अजापुत्रेणाग्निखातिकामध्ये झम्पाचक्रे इत्युक्तमस्ति । तत्किमिति । तथा दुर्जयराजा तत्र गतस्तद्भवनं कथ्यते किं वा पातालगृहं तस्माद्धस्तीअपहृत्य गतस्तत्र नरका दर्शिता: पश्चाद्वेषतया बहिर्मुक्त: सर्वाङ्गसुन्दर्या: पार्श्वे गतस्तत्र किं भवनपतिनिकायं किं व्यन्तरनिकाये वा तथा दुर्जयराज: कुत्र भवनमध्येऽस्ति सर्वाङ्गसुन्दरी च ततोऽध: कुत्रास्ति तथाऽष्टापदे गतस्तत्रेन्द्रण वस्त्राणि समर्पितानि तानि किं वैक्रियाण्यौदारिकानि चेति प्रश्ने–उत्तरम्–अजापुत्रेणाग्निखातिकामध्ये झम्पादत्ता फलं च दिव्यानुभावेन प्राप्तं तथा दुर्जयराजो वासस्थानं भूमिकाविवरमध्ये मनुष्यसंबन्धिन्यां राजधान्यामस्ति तथा सर्वाङ्गसुन्दरीव्यन्तरी तद्वासस्थानं व्यन्तरनिकायेऽ स्ति तथास्ति अपहृत्यागत इत्यादि सर्वं तद्विलसितं ज्ञेयं तथाऽष्टापदे वस्त्राण्यर्पितानि तान्यौहारिकानि ज्ञेयानीति ॥ ४६० प्र० । सेन० ३ उल्ला० ।

चंदप्पभविहार–पुं० (चन्द्रप्रभविहार) नासिक्यपुरे पत्तनमहोत्सवे प्रजापतिना कारिते चन्द्रप्रभस्वामिचैत्ये, ती० २८ कल्प ।

चंदप्पभसूरि–पुं०(चन्द्रप्रभसूरि) चन्द्रगच्छीये दर्शनशुद्धिम्–लकर्तरि स्वनामख्याते आचार्ये, (दर्श०)

नामनिरुक्तिश्चैचम् संप्रति स्वयमेव वस्तुगृहीतनामधेयो भगवान् ग्रन्थकार: स्वनाव्युत्पत्त्या प्रकटयन् ग्रन्थस्वरूपं प्रयोजनं च दर्शयन्निदं गाथाद्वयमाह–

चंदादिपहसूहि–पपनिवहपढमवन्नेहिं ।
जेसिं नामं तेहिं, परोवयारम्मि निरएहिं ॥५६॥
इयपायं पुव्वायरिय–रइयगाहाण संगहो एसो ।
विहिओ अणुग्गहत्थं, कुमग्गलग्गाण जीवाणं ॥५८॥

चन्द्रादीनां रिद्धिपर्यवसानपदानां प्रथमाक्षरै: प्रथमवर्णै: येषां नामानिधानं तैश्चन्द्रप्रभसूरिभिरित्यर्थ: । कथंभूतै: परोपकारनिरतैरिति निगदितप्रकारेण प्राय: पूर्वाचार्यरचितगाथाभिरेष सङ्ग्रहो विहितो निष्पादितोऽनुग्रहार्थं कुमार्गलग्नानां कुप्रवचन कुदेशनावासितान्त: करणानां भव्यप्राणिनामिति गाथाद्वयार्थ: (दर्श०) दर्शनशुद्धिटीका तु तच्छिष्यधर्मघोषप्रभूणां शिष्येण विमलगणिना वैक्रमवत्सरे–११८५ कृतेति समयोऽस्त मतिमद्भिस्स्वयमेवाभ्यूह्य: । दर्श० ।

चंदप्पभा–स्त्री०(चन्द्रप्रभा) चंद्रस्येव प्रभा आकारे यस्यास्सा। सुराविशेषे, जी० ३ प्रति० । चन्द्रस्य प्रथमायामग्रमहिष्याम्, ज्ञा० श्रु० १ अ० । जं० भ० । सू० प्र० । स्था० । दशमतीर्थकरस्य शीतलस्य चतुर्विंशत्य च वीरस्य निष्क्रमणशिविकायाम्, स० । आ० म० द्वि० । ति० । कल्प० ।

संप्रति शिविकाप्रमाणप्रदर्शनार्थमाह–

पंचासयआयामा, धप्पूणि विछिन्नपन्नवीसं तु ।
छत्तीसं उव्वेहा, सीया चंदप्पभा भणिया ॥

पञ्चाशतमायामो दैर्ध्यं यस्या: सा पञ्चाशदायामा धनूंषि पञ्चविंशतिं विंस्तीर्णा तथा षड्विंशतं धनूंषि उद्वेधा उच्चा शिविका चन्द्रप्रभाऽभिधाना गणधरैर्भणिता ॥

अनेन शास्त्राय पारतन्त्र्यमाह–

सीयाए मज्झयारे, दिव्यं मणिकणगरयणविंवइयं ।
सिंहासणं महरिहं, सपायवीठं जिणवरस्स ।

शिविका वा मध्य एव मध्यकारस्तस्मिन् दिव्यसुरनिर्मितं मणयश्चन्द्रकान्तादय: कनकं देवकाञ्चनं रत्नानि मरकतेन्द्रनीलादीनि तै: 'विंवइयं' देशीपदमेतत् भूषितमित्यर्थ: । सिंहप्रधानमासनं महान्तं भुवनगुरुमर्हतीति महार्हम् । सहपादपीठं यस्य येन वा तत्सपादपीठं जिनवरस्य कृतमिति वाक्यशेष: । आ० म० द्वि ।

चन्दभागा–स्त्री०(चन्द्रभागा) सिन्धुमहानद्यां संगतायां जलसमर्पिकायाम् स्वनाभख्यातायां नद्याम्, स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

चंदमंडल–न०(चंन्द्रमण्डल) चन्द्रविमाने, स० ६२ सम० ।

अथ चन्द्रमण्डलवक्तव्यताह-

तत्र सप्त अनुयोगद्वाराणिमण्डलसंख्याप्ररूपणा, मण्डलक्षेत्रप्रपणा, प्रतिमण्डलमन्तरप्ररूणा, मण्डलायामादिमानम्, मन्दरमधिकृत्य प्रथमादिमण्डबाधा, सर्वाभ्यन्तरादिमण्डलायामादि, मुहूर्तगति:, ।

तत्रादौ मण्डलसंख्याप्ररूपणां पृच्छति–

कति णं भंते ! चंदमंडला पण्णत्ता । गोयमा ! पण्णरस चंदमंडला पण्णत्ता । जंबुद्दीवे णं भंते ! दीवे केवइअं ओगाहित्ता केवइआ चंदमंडला पण्णत्ता ? गोयमा ! जंबुद्दीवे दीवे

असीयं जोअणसयं ओगाहित्ता एत्थ णं पच चंदमंडला-पण्णात्ता ।

"कति णं भंते" ! इत्यादि । कति भदन्त ! चन्द्रमण्डलानि प्रज्ञप्तानि ! भगवनाह–गौतम ! पञ्चदश चन्द्रमण्डलानि प्रज्ञप्तानि । अथैषां मध्ये कति द्वीपे कति लवणे इतिव्यक्तयर्थं पृच्छतिजम्बूद्वीपे भदन्त ! द्वीपे कियदवगाह्य कियन्ति चन्द्रमण्डलानि प्रज्ञप्तानि । गौतम ! जम्बूद्वीपे द्वीपे अशीत्यधिकं योजनशतप्रवगाह्य पञ्च चन्द्रमण्डलानि प्रज्ञप्तानि ।

लवणे णं भंते ! पुच्छा ? गोयमा ! लवणे णं समुद्दे तिण्णि तीसे जोअणसए ओगाहित्ता एत्थ णं दस चंदमंडला पण्णत्ता । एवामेव सपुव्वावरेणं जंबुद्दीषे लवणमुद्दे पण्णरस चंदमंडला भवंतीतिमक्खायं ।

अथ लवणसमुद्रे भदन्त ! प्रश्न । गौतम ! लवणसमुद्रे त्रिंशदधिकानि त्रीणि योजनशतानि अवगाह्य अत्रान्तरे दशचन्द्रमण्डलानि प्रज्ञप्तानि । एवमेव सपूर्वापरेण जम्बूद्वीपे द्वीपे लवणसमुद्रे पञ्चदश चन्द्रमण्डलानि भवन्तीति आख्यातमिति । ('चंदमग्ग' शब्दे अनुपदमेव एतानि व्याख्यास्यामि)

अथ मण्डलक्षेत्रपुरुषणां प्रश्नयन्नाह–

सव्वब्भंतराओ णं भंते ! चंदमंडलाओ णं केवइआएअवाहाए सव्ववाहिरए चंदमंडले पण्णत्ते ? गोअमा ! पंचदसुत्तरं जोअणसए अवाहाए सव्ववाहिरए चंदमंडले पण्णत्ते ।

"सब्भंतराओ णं" इत्यादि । सर्वाभ्यन्तराद् भदन्त ! चन्द्रमण्डलात् कियत्या अबाधया सर्वबाह्यचन्द्रमण्डलं प्रज्ञप्तम् । किमुक्तं भवति–चन्द्रमण्डलैः सर्वाभ्यन्तरादिनिः सर्ववाह्यान्तैर्व्याप्तमाकाशं तन्मण्डलक्षेत्रं, तत्र च चक्रवालतया विष्कम्भः पञ्चयोजनशतानि दशोत्तराणि अष्टत्वारिंशच्च एकवष्टिभागा योजनस्य ५१०४८ इदं च व्याख्यातोऽधिकं बोध्यं तयाहि–चन्द्रस्य मण्डलानि पञ्चदश चन्द्रविम्बस्य च विष्कम्भः एकषष्टिभागात्मकयोजनस्य षट्पञ्चाशद् भागास्तेन ते ५६ पञ्चदशभिर्गुण्यन्ते जातं ८४० तत एषां योजनानयनार्थम् ६१ एकषष्ट्या भागे हृते लब्धानि त्रयोदश योजनानि । शेषाः सप्तचत्वारिंशत् तथा पञ्चदशानां मण्डलानामन्तराणि चतुर्दश एकैकस्यान्तरस्य प्रमाणं पञ्चत्रिंशद्योजनानि पञ्चविंशच्च एकषष्टिभागा योजनस्य एकस्य च एकषष्टिभागस्य सप्तधा छिन्नस्य सत्काश्चत्वारोभागाः, ततः पञ्चत्रिंशच्चतुर्दशभिर्गुण्यन्ते जातानि चत्वारियोजनशतानि नवत्यधिकानि च । येऽपि च त्रिंशदेकषष्टिभागास्तेऽपि चतुर्दशभिर्गुण्यन्ते जातानि चत्वारि शतानि विंशत्यधिकानि ४२० । अयं च राशिरेकषष्टिभागात्मकस्तेन एकषष्ट्या भागो ह्रियते लब्धानि षट् योजलशतानि एषु पूर्वराशौ प्रक्षिप्तेषु जाता नि ४९६ योजनानि, शेषाश्चतुःपञ्चाशदेकषष्टि भागास्तिष्ठन्ति, ये च एकस्यैकषष्टिभागस्य सत्काश्चत्वारः सप्त भागास्तेऽपि चतुर्दशभिर्गुण्यन्ते जाताः षट्पञ्चाशत्, तेषां सप्तभिर्भागे हृते लब्धा अष्टावेकषष्टिभागास्तेऽनन्तरोक्तचतुःपञ्चाशति प्रक्षिप्यन्ते जाता द्वाषष्टिः ६६२ तत्रैकषष्टिभागैर्योजनं लब्धं तच्च योजनराशौ प्रक्षिप्यते, एकश्चैकवष्टिभागः शेषाः ४९९ योजनम् १ इदं च मण्डलान्तरक्षेत्रं योऽपि च बिम्बक्षेत्रराशिस्त्रयोदशयोजनसप्तचत्वारिंशदेकषष्टिभागात्मकः सोऽपि मण्डलान्तरराशौ प्रक्षिप्यते, जातं योजनानि ५१० यश्च पूर्वोद्धरित एकः एकषष्टिभागः सप्तचत्वारिंशत प्रक्षिप्यन्ते जातम् ४८ एकषष्टिभागाः । ननु पञ्चदशसु मण्डलेषु च चतुर्दशान्तरालसम्भवाच्चतुर्दशभिर्भाजनं युक्तिमत् । सप्तचचन्वारो भागा इति कथं संगच्छते ? उच्यते–मण्डलान्तर क्षेत्रराशेः ४९९ १/६१ मण्डलान्तरैश्चतुर्दशभिर्भजने लब्धानि ३५ योजनानि उद्धरितस्य योजनराशेरेकषष्ट्या गुणन मूलराशिसत्कैकषष्टिभागप्रक्षेपे च जातम् ४२८ एषां चतुर्दशभिर्भजने भागतः सराशिः ३० शेषा अष्टौ तेषां चतुर्दशभिर्भागोऽप्राप्तौ लाघवार्थं द्वाभ्यामपवर्तते जातं भाजकराश्योः ४/७ इति सुस्थम् । जं० ७ वक्ष० । (चन्द्रमण्डलाच्चन्द्रमण्डलं कियत्याऽबाधया स्थितमिति 'अन्तर' शब्दे प्रथमभागे ६६ पृष्ठे गतम्)

संप्रति मण्डलायामादिमानद्वारम्–

चंदमंडले णं भंते ! केवइअं आयामविक्खंभेणं केवइअं परिक्खे वेणं केवइअं वाहल्लेणं पण्णत्ते । गोअमा ! छप्पणं एगस ट्ठिभाए जो अणस्स आयामविक्खंभे णं तं तिगुणं सविसेसं परिक्खेवेणं अट्ठवी सं च एगसट्ठिभाए जोअणस्स वाहल्लेणं ।

''चंदमंडले णं भंते ! केवइअं आयाम'' इत्यादि । चन्द्रमण्डलं भगवन् कियदायामविष्कम्भाभ्यां कियत्परिक्षेपेण कियद्बाहल्येनोच्चैस्त्वेन प्रज्ञप्तम् । गौतम ! षट्पञ्चाशतमेकषष्टिभागान् योजनस्यायामप्रविष्कम्भाभ्यां एकस्य योजनस्य एकषष्टिभागीकृतस्य यावत् प्रमाणा भागास्तावत्प्रमाणं षट्पञ्चाशत्भागप्रमाणमित्यर्थः । तत् त्रिगुणं सविशेषं साधिकं परिक्षेपेण करणरीत्या द्वे योजने पञ्चपञ्चाशद्भागाः, साधिका इत्यर्थः । अष्टाविंशतिमेकषष्टिभागान् योजनस्य बाइल्येन ।

अथ मन्दरमधिकृत्य प्रथमादिमण्डलाबाधाप्रश्नमाह–

जंबुद्दीवे दीवे णं भंते ! दीवे मंदरस्स पव्वयस्स केवइआए अवाहाए सव्वं भंतरए चंदमंडले पण्णत्ते ? गोयमा ! चोआलीसं जोअणसहस्साइं अटठ य वीसे जोअणसए अवाहाए सव्वब्भंतरे चंदमंडले पणत्ते ।।

''जंबुद्दीपे दीवे'' इत्यादि । जम्बूद्वीपे द्वीपे भगवन् ! मन्दरस्य पर्वतस्य कियत्या अबाधया सर्वाभ्यन्तरचन्द्रमण्डलं प्रज्ञप्तम् ? । गौतम ! चतुश्चत्वारिंशद्योजनसहस्राणि अष्ट च विंशत्यधिकानि योजनशतान्यबाधया सर्वाभ्यन्तरं चन्दमण्डलं प्रज्ञप्तमिति ।

उपपत्तिस्तु प्राक् सूर्यवक्तव्यतायां दर्शिता ।

द्वितीयमण्डलाबाधाप्रश्नसूत्रमाह–

जंबुद्दीवे णं भंते ! दीवे मदरस्य पव्वयस्स केवइआए अवाहाए अब्भंतराणंतरे चंदमंडले पण्णत्ते ? । गोयमा ! चोआलीसं जोअणसहस्साइं अट्ठ य छ प्पण्णे जोअणसए पणवीसं च एगट्ठिभाए जोअणस्स एगट्ठिभागं च सत्तहा छेत्ता चत्तारि चुण्णिआभाए अवाहाए अभ्यंतराणंतरे चंदमंडले पण्णत्ते ।

'जंबुद्दीवे दीवे'' इत्यादि । जम्बूद्वीपे द्वीपे भगवन् ! मन्दरस्य पर्वतस्य कियत्या अबाधया अभ्यनतरानन्तरं द्वितीयं चन्द्रमण्डलं प्रज्ञप्तम् । गौतम् ! चतुश्चात्वारिंशद्योजनसहस्राणि अष्टौ च षट्

पञ्चाशदधिकानि योजनशतानि पञ्चविंशतिं चैकषष्टिभागान् योजनस्य, एकं च एकषष्टिभागं सप्तधा छित्त्वा चतुरश्चूर्णिका भागान्बाधया सर्वाभ्यन्तरानन्तरं द्वितीयं चन्द्रमण्डलं प्रज्ञप्तम् । अत्रोपपत्तिः प्रागुक्ते ऽभ्यन्तरमण्डलगतराशौ मण्डलान्तरक्षेत्रमण्डलविष्कम्भराश्योः प्रक्षेपे जायते । तथाहि ४४८२० रूपः पूर्व मण्डलथिष्कम्भराइयोः प्रक्षेपे जायते । तथाहि ४४५२० रूपः मण्मलयोजनराशिः अस्मिन् मण्डलान्तरक्षेत्रयोजनानि ३५ तथान्तरसत्कत्रिंशदेकशष्टिभागां मण्डलविष्कम्भसत्कषट्प श्राशदेकषष्टिभागानां च परस्परमीलने जातम् ८६ एकषष्ट्या भागे चागतं योजनमेकं, तच्च पुर्वोक्तायां पञ्चत्रिंशत् प्रक्षिप्यते जाताः षट्त्रिंशद्योजनानां शेषाः पञ्चविंशतिरेकषष्टिभागाः चत्वारश्चूर्णिका भागा इति ।

अथ तृतीयाभ्यन्तरमण्डलाऽबाधां पृच्छन्नाह–

जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्य केवइआए अवाहाए अब्भंतरततच्चे मंडले पण्णत्ते ? । गोयमा ! चोआलीसं जाअण–सहस्साइं अट्ठ य वा णउए जोअणसए एगावण्णं च एगसट्ठिभाए जोअणस्स एगट्ठिभागं च सत्तहा छेत्ता एगु चुणिआभागं अबाहाए अब्भंतरतच्चे चंदमंडले पण्णत्ते ।

''जंबहीवे दीवे'' इत्यादि । प्रश्नसूत्रं प्राग्वत् । उत्तरसूत्रे द्वितीयमण्डलसत्कराशौ ३६ योजनानि २५ एक इत्यस्य प्रक्षेपे जातं यथोक्तम् ।

अथाबाधाविषयं चतुर्थादिमण्डलेष्वतिदेशमाह–

"एवं खलु" एएणं उवाएणं णिक्खममाणे चंदे तयाणंतराओ मंडलाओ तयाणंतरमंडलं संकममाणे २ छत्तीसं छत्तीसंजोअणाइं पणवीसं च एगट्ठिभाए जोअणस्स एगट्ठिभागं च सतहा छेत्ता चत्तारि चुणिआभाए एगमेगे मंडले अवाहाए वुड्ढिमभिवड्ढेमाणे २ सव्ववाहिरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरइ ।

''एवं खलु'' इत्यादि । एवमुक्तरीया मण्डलत्रयदर्शितयेत्यर्थः । एतेनोपायेन प्रत्यहोरात्रमेकैकमण्डलमोचनरूपेण निष्क्रामन् लवणाभिमुखमण्डलानि कुर्वन् चन्द्रस्तदनन्तराद्विनक्षितात्पूर्वस्मान्मण्डलाद्विवक्षितमुत्तरमण्डलं संक्रामन् २ षट्त्रिंशद्योजनानि, अत्र योजनसंख्यागतवीत्साभागसंख्यापदेष्वतिग्राह्या तेन पञ्चविंशतिम् एकषष्टिभागान् योजनस्य एकमेकं चैकषष्टिभागं सप्तधा छित्त्वा चतुरश्चतुरश्चूर्णिकाभागान् एकैकस्मिन्मण्डले अबाधया वृद्धिं अभिवर्द्धयन् २ सर्ववाह्यमण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति ।

अथ पश्चानुपूर्व्यपि व्याख्यानाङ्गमित्यन्त्यमण्डलान्मण्मलाबाधां पृच्छन्नाह–

जंबूदीवे णं दीवे मंदरस्स पव्वयस्स केवइआए आवाहाए सव्ववाहिरे चंदमंडले पण्णत्ते ? गोयमा ! पणयालीसं जोअणसहस्साइं तिण्णि अ तीसे जोअणसए अवाहाए सव्ववाहिरए चंदमंडले पण्णत्ते ।

''जंबुद्दीवे त्ति'' जबूद्वीपे भगवन् ! मन्दरस्य पर्वतस्य कियत्स्या अबाधया सर्वबाह्यचन्द्रमण्डलं प्रज्ञप्तम् । गौतम ! पञ्चचत्वारिंशद्योजनसहस्राणि त्रीणि च त्रिंशदधिकानि योजनशतान्यबाधया सर्वबाह्यचन्द्रमण्डलं प्रससम् । उपपत्तिस्तु प्राग्वत् ।

अथ द्वितीयबाह्यमण्डलाबाधां पृच्छन्नाह–

जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स केवइआए अवाहाए वाहिरा–णंतरे चंदमंडले पण्णत्ते ? । गोयमा ! पणयालीसं जोअणसहस्साइं दोण्णि अ तेणुए जोअणसए पणतीसं च एगट्ठिभाए जोअणस्स एगट्ठिभागं च सत्तहा छेत्ता तिण्णि चुण्णिआभाए अवाहाए वाहिराणंतरे चंदमंडले पण्णत्ते ।

जम्बूद्वीपे द्वीपे भगवन् ! मन्दरस्य पर्वतस्य कियत्या अबाधया सर्वबाह्यानन्तरं द्वितीयं चन्द्रमण्डलं प्रज्ञप्तम् ? । गोयमा ! पञ्चचत्वारिंशद्योजनसहस्राणि द्वे च त्रिनवत्यधिके योजनशते पञ्चत्रिंशदेकषष्टिभागान् योजनस्य एकं चैकषष्टिभागं सप्तधा छित्त्वा त्रींश्चूर्णिकाभागानबाधया सर्वबाह्यानन्तरं द्वितीयं चन्द्रमण्डलं प्रज्ञप्तम् । सर्वबाह्यमण्डलराशेः षट्त्रिंशद्योजनानि पञ्चविंतिश्च योजनैकषष्टिभागा एकस्यैकषष्टिभागस्य सत्काश्चत्वारः सप्तभागाः पात्यन्ते जायते यथोक्तो राशिः । जं० ७ वक्ष० । जी० ।

चंदमंडले एगसट्ठिं विभागविभाइए समंसे पण्णत्ते । एवं सूरस्स वि ॥६१॥

चन्द्रमण्डले चन्द्रविमानं णं इत्यलंकृतौ (एगसट्ठि त्ति) योजनस्यैकषष्टिभागेन षट्पञ्चाशद्भागप्रमाणैर्विभाजितं विभागैर्व्यवस्थापिते समांशं समविभागं प्रज्ञप्तं विषमांशं योजनस्यैकषष्टिभागानां षट्पञ्चाशद्भागप्रमाणत्वात्तस्य च भागभागस्याविद्यमानत्वादिति । एवं सूर्यस्यापि मण्डलं वाच्यम् । अष्टचत्वारिंशदेकषष्टिभागमात्रं हि तन्न चापरमंशान्तरं तस्याप्यस्तीति समांशतेति। स० ६१ सम० ।

अथ तृतीयबाह्यमण्डलाबाधामाह–

जंबुद्दीवेणं भंते ! दीवे मंदरस्स पव्वयस्स केवइआए अवाहाए वाहिरतच्चे चंदमंडले पण्णत्ते ? गोयमा ! पणयालीसं जोअणसहस्साइं दोण्णि अ सत्तावण्णे जोअणसए णव य एगट्ठिभाए जोअणस्स एगट्ठिभागं च सत्तहा छेत्ता छच्चुण्णिआभाए अवाहाए वाहिरतच्चे चंदमंडले पण्णत्ते ॥

"जंबुद्दीवे" इत्यादिप्रश्नसूत्रं सुगमम्। उत्तरसूत्रे पञ्चचत्वारिंशद्योजनसहस्राणि द्वे च सप्तपञ्चाशदधिके योजनशते नव च एकषष्टिभागात् योजनस्य एकं च एकषष्टिभागं सप्तधा छित्त्वा षट् चूर्णिभागान् अबाधया बाह्यतृतीयं चन्द्रमण्डलं प्रज्ञप्तम् । उपपत्तिस्तु बाह्यद्वितीयमण्डलराशेस्तमेव षट्त्रिंशद्योजनादिकं राशिं पातियित्वा यथोक्तं मानमानेतव्यम् । (जं०) ज्यो० ।

अथाबाधाविषयमभ्यन्तरचतुर्थादि–

मण्डलेष्वतिदेशमाह–

एवं खलु एएणं उवाएणं पविसमाणे चंदे तयाणंतराओ मंडलाओ तयाणंतरं मंडलं संकममाणे २ छत्तीसं छत्तीसं जोअणाइं पणवीसं च एगट्ठिभाए जोअणस्स एगट्ठिभेागं च सत्तहा छेत्ता चत्तारि चुण्णिआभाए एगमेगे मंडले अबाहा वुड्ढिं णिवुड्ढेमाणे २ सब्भंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरइ ॥

"एवं खलु" इत्यादि व्यक्तं नवरम् । अबाधायाः वृद्धिं निर्वधयन् २ हापयन् हापयन्निित्यर्थः ।

अथ सर्वाभ्यन्तरादिमण्डलायामाद्याह–

सव्वब्भंतरे णं भंते ! चंदमंडले केवइअं आयामविक्खंभेणं केवइअ परिवखेवेणं पण्णत्ते ? गोयमा ! णवणउइं जोअणसहस्साइं छच्च चत्ताले जोअणसए आयामविक्खंभेणं तिणि अ जोअणसयसहस्साइं पण्णरस जोअणसहस्साइं अउणाणउतिं च जोअणाइं किंचि विसेसाहिए परिक्खेवेणं पण्णत्ते ।

"सव्वब्भंतरे णं" इत्यादि। सर्वाभ्यन्तरं भदन्त ! चन्द्रमण्डलं कियदायामविष्कम्भाभ्यां कियत्परिक्षेपेण प्रज्ञप्तम् । गौतम ! नवनवतिं योजनसहस्राणि षट्चत्वारिंशदधिकानि योजनशतान्यायाम विष्कम्भाभ्यां त्रीणि च योजनलक्षाणि पञ्चदशयोजनसहस्राण्यकोननवतिं च योजनानि किंचिद्विशेषाधिकानि परिक्षेपेण प्रज्ञप्तम्। उपपत्तिस्तूभयत्राऽपिसूर्यमण्डलाधिकारे दर्शिता ।

अथ द्वितीयम्–

अब्भंतराणंतरे सा चेव पुच्छा ? गोयमा ! णवणउइं जोअणसहस्साइं सत्त य वारसुत्तरे जोअणसए एगावणं च एगट्ठिभागे जोअणस्स एगट्ठिभागं च सत्तहा छेत्ता एगं चुणिआभागं आयामविक्खंभेणं तिण्णि अ जोअणसय-सहस्साइं तिण्णि अ एगूणवीसे जोअणसए किंचि विसेसाहिए परिक्खेवेणं ।।

"अब्भंतराणंतरे" इत्यादि। अभ्यन्तरानन्तरे सैव पृच्छा सा सर्वाभ्यन्तरे मण्डले उत्तरसूत्रे। गौतम ! नवनवतिं योजनसहस्राणि सप्त द्वादशोत्तराणि योजनशतानि एकपञ्चाशतम् एकषष्टिभागान् योजनस्य एकं चैकषष्टिभागं सप्तधा छित्त्वा एकं चूर्णिकाभागमायामविष्कम्भाभ्यां तथाहि–एकश्चन्द्रमा द्वितीये मण्डले संक्रामन् षट्त्रिंशद्योजनानि पञ्चविंशतिं चैकषष्टिभागान् योजनस्य एकस्य एकस्य एकषष्टिभागस्य सप्तधा छिन्नस्य सत्कान् चतुरो भागान् विमुच्य संक्रामति। अपरतोऽपि तावन्त्येव योजनानि विमुच्य संक्रामति उभयमीलने जातं द्वासप्ततियोजनानि एकपञ्चाशदेकषष्टिभागा योजनस्य एकस्य एकषष्टिभागस्य सप्तधा छिन्नस्य सत्क एकोनभागो द्वितीयमण्डले विष्कम्भाऽऽयामचिन्तायामधिकत्वेन प्राप्य ते इति। तच्च पूर्वमण्डलराशौ प्रक्षिप्यते जायते यथोक्तं द्वितीयं मण्डलाऽऽयामविकष्कम्भमानं त्रीणि योजनशतसहस्राणि त्रीणि चैकोनविंशत्यधिकानि योजनशतानि किञ्चिद्विशेषाऽधिकानि परिक्षेपेण द्वितीयं मण्डलं प्रज्ञप्तम्। उपपत्तिस्तु प्रथममण्डलपरिरये द्वासप्ततिं योजनादीनां परिरये त्रिंशदधिकद्वियोजनशतरूपे प्रक्षिप्ते सति यथोक्तं मानम् ।

अथ तृतीयम्–

अब्भंतरतच्चे णे० जाव पण्णत्ता ? गोअमा ! णवणउइं जोअणसहस्साइं सत्त य पंचासीए जोअणसए इयतालीसं च एगट्ठिभाए जोअणस्स एगट्ठिभागं च सत्तहा छेत्ता दोणिण अ चुण्णिआभाए आयामविक्खंभेणं तिण्णि अ जोअणसय सहस्साइं पण्णरसजोअणसहस्साइं पंच य इगुणापण्णे जोअणसए किंचि किसेसाहिए परिक्खेवेणं ।

"अब्भंतरच्चे णं" इत्यादि। अभ्यन्तरतृतीये चन्द्रमण्डले यावतूपदात् चंदमंडले केवइअं आयामविक्खंभेणं केवइयं परिक्खेवेणं इति ग्राह्यम्। उत्तरसूत्रे गौतम ! नवनवतियोजनसहस्राणि सप्त च पञ्चाशीत्यधिकानि योजनशतानि एकचत्वारिंशतं चैकषष्टिभागान् योजनस्य एकं च षष्टिभागं सप्तधा छित्त्वा द्वौ च चूर्णिकाभागावायामविष्करम्भाभ्याम्। अथद्वितीयमण्डलगत राशौ द्वासप्ततिं योजनान्येकपञ्चाशतं चैकषष्टिभागान् योजनस्य एकं च चूर्णिकाभागं प्रक्षिप्य यथोक्तं मानमानेतव्यं त्रीणि योजनलक्षाणि पञ्चदशयोजनसहस्राणि पञ्च चैकोनपञ्चाशदधिकानि योजनशतानि किंचिद्विशेषाधिकानि परिक्षेपेण इह पूर्वमण्डलं परिरयराशौ द्वे योजनशते त्रिंशदधिके प्रक्षिप्योपपत्तिः कार्या। (जं०) ज्यो०।

अथ चतुर्थादिमण्डलेष्वतिदेशमाह–

एवं खलुएएणं उवाएणं णिक्खममाणे चंदे० जाव संकममाणे वावत्तरिं वावत्तरिं जोअणाइं एगावणं च एगट्ठिभाग जोअणस्स एगट्ठिभागं च सत्तहा छेत्ता एगं चुण्णिआभागं एगमेगे मंडले विक्खंभवुड्ढिं अभिवुड्ढेमाणे २ दो दो तीसाइं जोअणमयाइं परिरयवुड्ढिं अभिवुड्ढेमाणे २ सव्वाहिरमंडलं उवसंकमित्ता चारं चरइ ।

"एवं खलु" इत्यादि पूर्ववत्। निष्क्रामँश्चन्द्रो यावत्पदात् "तयाणंतराओ मंडलाओ अणंतरमंडलं" इति ग्राह्यम्। संक्रामन् संक्रामन् द्वासप्ततिं २ योजनानि। योजनान संख्या पदगता वीप्सा भागसंख्यापदेष्वपि ग्राह्या तेनैकपञ्चाशतम् एकपञ्चाशतं चैकषष्टिभागान् योजनस्य एकं च एकषष्टिभागं सप्तधा छित्त्वा एकमेकं चूर्णिकाभागमेकैकस्मिन्मण्डले विष्कम्भवृद्धिमभिवर्द्धयन् २ द्वे द्वे त्रिंशदधिके योजनशते परिरयवृद्धिमभिवर्द्धयन् २ सर्वबाह्यं मण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरतीति। (जं०) ज्यो०।

संप्रति पश्चानुपूर्व्या पृच्छति–

सव्ववाहिरए णं भंते ! चंदमंडले केवइयं आयामविक्खं भेणं केवइअं परिक्खेवेणं पण्णत्ते। गोअमा ! एगं जोअणसयसहस्सं। छच्च सट्ठे जोअणसयसहस्सं। छच्च सट्ठे जोअणसए आयामविक्खंभेणं तिण्णि अ जोअणसयसहस्साइं अट्ठारस-सहस्साइं तिण्णि अ पण्णरसुत्तरे, जोअणसए परिक्खेवेणं ।।

"सव्ववाहिरए णं" इत्यादि। सर्वबाह्यं भदन्त ! चन्द्रमण्डलं कियदायामविष्कम्भाभ्यां कियत्परिक्षेपेण प्रज्ञप्तम्। गौतम ! एकं योजनलक्षं षट्षष्ठानि षट्षष्ट्यधिकानि योजनशतान्यायामविष्कम्भाभ्याम् उपपत्तिस्तु जम्बूद्वीपो लक्षम् उभयोः प्रत्येकं त्रीणि योजनशतानि त्रिंशदधिकानि उभयमीलने योजनानां षट्शतानि षष्ट्यधिकानीति। त्रीणि च पञ्चदशोत्तराणि योजनशतानि परिक्षेपेण। अत्रोपपत्तिः– जम्बूद्वीपपरिधौ षष्ट्यधिकषट्शतपरिधौ प्रक्षिप्ते भवति यथोक्तं मानम्।

अथ द्वितीयम्–

वाहिराणंतरे णं पुच्छा ? गोयमा ! एगं जोअणसयसहस्सं

पंचसत्तावीसं जोअणसए णव य एगट्ठिभाए जोअणस्स एगट्ठिभागं च सत्तहा छेत्ता छ चुण्णिआभाए आयामविक्खभेणं तिण्णि अ जोअणसयसहस्साइं अट्ठारससहस्साइं पंचासीइ च जोअणाइं परिक्खेवेणं ॥

"बाहिराणं" इत्यादि। बाह्यानन्तरं द्वितीयं मण्डलमित्यर्थः। पृच्छेति प्रश्नालापाकस्तथैव उत्तरसूत्रे गौतम ! एकयोजनलक्षं पञ्चसप्ताशीत्यधिकानि योजनशतानि नव चैकषष्टिभागान् योजनस्य एकं च एकषष्टिभागं सप्तधा छित्त्वा षट् चूर्णिकाभागान् आयामविष्कम्भाभ्याम्। अत्रोपपत्तिः– पूर्वराशेर्द्वासप्ततिं योजनान्येकं पञ्चाशत चैकषष्टिभागान् योजनस्य एकस्य च एकषष्टिभागस्य सप्तधा छिन्नस्य एकं भागमपनीय कर्तव्या त्रीणि योजनलक्षाणि अष्टादश सहस्राणि पञ्चाशीतिं योजनानि परिक्षेपेण सर्वबाह्यमण्डलपरिधेः द्वे शते त्रिंशदधिके योजनानामपनयने यथोक्तं मानम्।

अथ तृतीयम्–

बाहिरतच्चे णं भंते ! चंदमंडले पण्णत्ते। गोयमा ! एगं जोअणसहयसहस्सं पंचदसुत्तरे जोअणसए एगुणवीसं च एगसट्ठिभाए *जोअणसए एगट्ठिभागं च सत्तहा छेत्ता पंच चुण्णिआभाए* आयामविक्खंभेणं तिण्णि अ जोअणसयसहस्साइं सत्तरसहस्साइं अट्ठ य पणपण्णि जोअणसए परिक्खेवेणं ॥

"बाहिरतच्चे णं" इत्यादि। बाह्यतृतीयं भदन्त ! चन्द्रमण्डलं यावच्छब्दात् सर्वं प्रश्नसूत्रं ज्ञेयम् उत्तरसूत्रे गौतम ! एकं योजन-लक्षं पञ्चदशोत्तराणि योजनशतानि एकोनविंशतिं चैकषष्टिभागान् योजनस्य एकं चैकषष्टिभागं सप्तधा छित्त्वा पञ्च चूर्णिकाभागान् आयामविष्कम्भाभ्याम्। अत्र संगतिस्तु द्वितीयमण्डलराशेः द्वासप्ततियोजनादिकं राशिमपनीय कार्यात्रीणि योजनलक्षाणि सप्तदशसहस्राणि अष्ट च पञ्चपञ्चाशदधिकानि योजनशतानि परिक्षेपेण उपपत्तिस्तु पूर्वराशेर्द्वे शते त्रिंशदधिकेऽपनीय काया।

अथ चतुर्थादिमण्डलेष्वतिदेशमाह–

एवं खलु एएणं उवाएणं पविसमाणे चंदे० जावा संकममाणे २ वावत्तरिं २ जोअणाइं एगावणं च एगट्ठिभाए जोअणस्स एगट्ठिभाग च सत्तहा छेत्ता एगं चुण्णिआभागा एगमेगे मंडले विक्खंभवुड्ढिं णिवुड्ढेमाणे २ दो दो तीसाइं जोअणसयाइं परिरयवुड्ढिं णिवुड्ढेमाणे २ सव्वब्भंतरं मंडलं उवसकमित्ता चारं चरइ ॥

"एवं खलु" इत्यादि पूर्ववत्। प्रविशँश्चन्द्रो यावत्पदात् "तयाणंतराओ मंडलाओ तयणंतरं मंडलमिति" ग्राह्यम्। संक्रामन् २ द्वासप्ततिं २ योजनानि एकं पञ्चाशतमेकपञ्चाशतं चैकषष्टिभागान् योजनस्य एकषष्टिभागं च सप्तधा छित्त्वा एकमेकं चूर्णिकाभागमेकैकस्मिन् मण्डले विष्कम्भवृद्धिं निबर्द्धयन् २ हायपन् हापयन्नित्यर्थः। द्वे द्वे त्रिंशदधिकं योजनशते परिरयवृद्धिं निवर्द्धयन् २ हापयन् हापहन्नित्यर्थः। सर्वाभ्यन्तरमण्डलमुसंक्रम्य चारं चरति।

अथ मुहूर्तगतिप्ररूपणा–

जया णं भंते ! चंदे सव्वब्भंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चाइं चरइ, तया णं एगमेगेणं मुहूत्तेणं केवइअं खेत्तं गच्छइ। गोयमा ! पंचजोअणसहस्साइं तेवत्तरिं च जोअणाइं सत्तत्तरिं च चोआले भागसए गच्छए मंडलं तेरसहिं सहस्सेहिं सत्तहिं अ पणवीसे छेत्ता ॥

"जया णं" इत्यादि पूर्ववत्। भदन्त ! चन्द्रः सर्वाभ्यन्तरमण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति। तदा एकैकेन मुहूर्त्तेन कियत् क्षेत्रं गच्छति। भगवानाह–गौतम ! पञ्चयोजनसहस्राणि त्रिसप्ततिं च योजनानि सप्तसप्ततिं च चत्वारिंशदधिकानि भागशतानि गच्छति। कस्य सत्का भागा इत्याह–मण्डलं प्रक्रमात् सर्वाभ्यन्तरं त्रयोदशभिः सहस्रैः सप्तभिश्च शतैः पञ्चविंशत्यधिकभागैः स्थित्वा विभज्यैतत् पञ्चसहस्रयोजनादिकं गति परिमाणमानेतव्यं तथाहि–प्रथमतः सर्वाभ्यन्तरमण्डलं परिधिः योजन ३१५०८९ रूपो द्वाभ्यामेकविंशत्यधिकाभ्यां शताभ्यां गुण्यते जातम् ६९६३४६ ६९ अस्य राशेः त्रयोदशभिः सहस्रैः सप्तभिः शतैः पञ्चविंशत्यधिकैर्भागे हृते लब्धानि पञ्चयोजनसहस्राणि त्रिसप्तत्यधिकानि अंशाश्च सप्ततिशतानि चतुश्चत्वारिंशदधिकाः–५०७३ ननु यदि मण्डलपरिधिः त्रयोदशसहस्रादिकेन रा–७७४४ शिना भाज्यस्तर्हि किमित्यकविंशत्यधिकाभ्यां द्वाभ्यां १३७२५ शताभ्यां मण्डलपरिधिर्गुण्यते उच्यते चन्द्रस्य मण्डलपूरणकालाद् द्वाषष्टिमुहूर्ता एकस्य च मुहूर्तस्य सत्कास्त्रयोविंशतिरेकविंशत्यधिकशतद्वयभागाः। अस्य च भावना चन्द्रस्य मुहूर्तभागगत्यवसरे विधास्यते मुहूर्तानां सवर्णनार्थमेकविंशत्यधिकशतद्वयेन गुणने त्रयोविंशत्यशप्रक्षेपे च जातम् १३७२५ अतः समभागानयनार्थं मण्डलस्याप्येकविंशत्यधिकशतद्वयेन गुणनं संगतमेवेति। अयं भावः–यथा सूर्यः षष्ट्या मुहूर्तैर्मण्डलं समापयति शीघ्रगतित्वात् लघुविमानगामित्वाच्च। तथा चन्द्रो द्वाषष्ट्या मुहूर्तैस्त्रयोविंशत्यधिकशतद्वयभागैर्मण्डलं पूरयति। मन्दगतित्वाद् गुरुविमानगामित्वाच्च तेन मण्डलपूर्तिकालेन मण्डलपरिधिर्भक्तः सन् मुहूर्तगतिं प्रयच्छतीति सर्वसंमतमाह एकविंशत्यधिकशतद्वयभागकरणे किं बीजमिति चेदुच्यतेमण्डलकालानयने अस्यैव छेदराशेः समानयनात् मण्डलकालनिरूपणार्थभिदं त्रैराशिकं यदि सप्तदशशतैः अष्टषष्ट्यधिकैः सकलयुगवर्तिभिः अर्द्धमण्डलैरष्टादशशतानि त्रिंशदधिकानि रात्रिन्दिवानां लभ्यन्ते ततो द्वाभ्यामर्धमण्डलाभ्यामेकेन मण्डलेनेति भावः। कति रात्रिन्दिवानि लभ्यन्ते। राशित्रयस्थाना–१७६८। १८३०। २। अत्रान्त्येन राशिना द्विकलक्षणेन मध्यस्य राशेः १८३० रूपस्य गुणेन जातानि षट्त्रिंशच्छतानि षष्ट्यधिकानि ३६६० तेषामाद्येन राशिना १७६८ रूपेण भागे हृते लब्धे द्वे द्वे रात्रिन्दिवे। शेषं तिष्ठति–चतुर्विंशत्यधिकं शतम् १२४ तत एकस्मिन् त्रिंशन्मुहूर्ता इति तस्य त्रिंशता गुणने जातानि सप्तत्रिंशच्छतानि विंशत्यधिकानि ३७२० तेषां सप्तदशभिः शतैः अष्टषष्ट्यधिकैर्भागे हृते लब्धौ द्वौ मुहूर्तौ शेषाः १८४ अथ छेद्यछेदकराश्योरष्टकेनापवर्तने जाते छेद्यो राशिस्त्रयोर्विंशतिः छेदकराशिरेकविंशत्यधिकशतद्वयरूप इति। (जं०) ज्यो०।

अथाऽस्य दृष्टिपथप्राप्ततामाह–

तया णं इहगयस्स मणसस्स सीआलीसाए जोअणस्य–

स्सेहिं दोहिं अ तेवट्ठेहिं जोअणसएहिं एगवीसाए अ सुट्ठिभाएहिं जोअणस्स चंदे चक्खुप्फासं हव्वमागच्छइ॥

"तया णं इहगयस्य" इत्यादि। तदा इहगतानां मनुष्याणां सप्तचत्वारिंशता योजनसहस्रेद्वाभ्यां च त्रिषष्ट्यधिकाभ्यां योजनशताभ्यामेकविंशत्या च षष्टिभागैर्योजनस्य चन्द्रः चक्षुःस्पर्शं शीघ्रमागच्छति। अत्रोपपत्तिः सूर्याधिकारे दर्शिताऽपि किंचिद्विशेषाभिधानाय दर्श्यते– यथा सूर्यस्य सर्वाभ्यन्तरमण्डले जम्बूद्वीप चक्रवालपरिधर्दशभागीकृतस्य दशत्रिभागान् यावत्तापक्षेत्रं तथाऽस्याऽपि प्रकाशक्षेत्रं तावदेव पूर्वतोऽपरतश्च तस्यार्द्धे चक्षुः पथप्राप्ततामायाति। यत्तु षष्टिभागीकृतोजनसत् कैकविंशतिभागाधिकत्वं तत्तु संप्रदायगम्यम्। अन्यथा चन्द्राधिकारे साधिकद्वाषष्टिमुहूर्तप्रमाणमण्डलपूर्तिकालस्य छेदराशित्वेन भणनात् सूर्याधिकारे षष्टिमुहूर्तप्रमाणमण्डलपूर्तिकालरूपस्य छेदराशेरनुपपद्यमानत्वात्।

अथ द्वितीयमण्डले मुहूर्तगतिमाह–

भया णं भंते ! चदे अब्भंतराणं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरइ० जावा केवइअं एत्त गच्छइ। गोयमा ! पंचजोअण-सहस्साइं सत्तत्तरिं च जोअणाइं छत्तीसं च चोअत्तरे भागसए गच्छइ मंडलं तेरसहिं सहस्सेहिं० जाव छेत्ता।

"जया णं भंते" ! इत्यादि। यदा भवन्त ! चन्द्रः अभ्यन्तरानन्तरं द्वितीयं मण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति। यावतपदात् "तया णं एगमेगेणं मुहुत्तेणं" इति गम्यते। कियत् क्षेत्रं गच्छति। गौतम ! पञ्चयोजन-सहस्राणि सप्तसप्ततिं च योजनानि षट्त्रिंशतं च चतुःसप्तत्यधिकानि भागशतानि गच्छति मण्डलं त्रयोदशभिः सहस्रैः। यावत्पदात् ''सत्तहिं अपणवीसेहिं'' इति ग्राह्यम्। छित्त्वा विभज्य एतत् सूत्रं प्राग्भावितार्थमिति नेह पुनरुच्यते। अत्रोपपत्तिः द्वितीयचन्द्रमण्डले परिरयपरिमाणम् ३१५३१९ एतत् द्वाभ्यामेकविंशताभ्यां गुण्यते जातम् ६९६८५४९९ एषां त्रयोदशभिः सहस्रैः सप्तभिः शतैः पञ्चविंशत्यधिकैर्भागे हृते लब्धानि पञ्चयोजनसहस्राणि सप्तसप्तत्यधिकानि ५०७७ शेषं षट् त्रिंशच्छतानि चतुः सप्तत्यधिकानि भागानाम् ३६७४

१३७२५

अथ तृतीयम्–

जया णं भंते ! चंदे अब्भंतरतच्चं मंमलं उवसंकमित्ता चारं चरइ, तया णं एगमेगेणं मुहुत्तेणं केवइअं खेत्तं गच्छइ गोअमा ! पंचजोअणसहस्साइं असीइं च जोअणाइं तेरस य भागसहस्साइं तिण्णि अ एगूणतीसे भागसए गच्छइ मंडलं तेरसहिं० जाव छेत्ता।

जया णं इत्यादि। यदा भदन्त ! चन्द्रः अभ्यन्तरतृतीयमण्डलमुपसंक्रम्य चार चरति। तदा एकैकेन मुहूर्तेन कियत् क्षेत्रं गच्छति। गौतम ! पञ्चयोजनसहस्राणि अशीतिं च योजनानि त्रयोदश च भागसहस्राणि त्रीणि च एकोनत्रिंशदधिकानि भागशतानि गच्छति। मण्डलं त्रयोदशभिः सहस्रैरित्यादिपूर्ववत्। अत्रोपपत्तिर्यथा–अत्र मण्डले परिरयः ३१५५४९ एतद् द्वाभ्यामेकविंशत्यधिकाभ्यां शताभ्यां गुण्यते जातम् ६९७३६३२९ एषां त्रयोदशभिः सहस्रै सप्तभिः शतैः पञ्चविंशत्यधिकभागे हृते लब्धानि पञ्चसहस्राण्यशीत्यधिकानि ५०८० शेषं त्रयोशसहस्राणां त्रीणि शतान्येकोनत्रिंशदधिकानि भागानाम् १३३२९

१३७२५

अथ चतुर्थादिमण्डलेष्वतिदेशमाह–

एवं खलु एएणं उवाएणं निक्खममाणे चंदे तयाणंत-राओ० जाव संकममाणे २ तिण्णि २ जोअणाइं छणउइं च पंचावण्णे भागसए एगमेगे मंडले मुहुत्तराई अभिवड्ढे-माणे २ सव्ववाहिरमंडलं उवसंकमित्ता चारं चरइ॥

"एवं खलु एएणं" इत्यादि पूर्ववत्। निष्क्रामन् चन्द्रस्तदनन्तरात् यावच्छब्दात् मण्डलात्तदनन्तरं मण्डलं संक्रामन् संक्रामन् त्रीणि २ योजनानि पण्णवतिं च पञ्चपञ्चाशदधिकानि भागशता न्येकैकस्मिन्मण्डले मुहूर्तगतिमभिवर्द्धयन्। सर्वबाह्यमण्डलमुपसं–क्राम्य चारं चरति। कथमेतदवसीयते इति चेदुच्यते–प्रतिचन्द्रमण्डले परिरयवृद्धिं द्वे शते त्रिंशदधिके २३० अस्य च त्रयोदशसहस्राधिकेन राशिना भागे हृते लब्धानि त्रीणि योजनानि शेषपण्णवतिपञ्चपञ्चाशदधिकानि भागशतानि। ३

९६५५
१३७२५

अथ पश्चानुपूर्व्या पृच्छति–

जया णं भंते ! चंदे सव्ववाहिरे मंडले उवसंकमित्ता चारं चरइ, तथा णं एगमेगेणं मुहुत्तेणं केवइअं खेत्तं गच्छइ। गोअमा ! पंचजोअणहस्साइं एगं च पणवीसं जोअणस यं अउणत्तरिं च णउए भागसए गच्छए मंडले तेस्सहिं भागसहस्सेहिं सत्तहिं अ० जाव छेत्ता।

"जया णं" इत्यादि। यदा भदन्त ! चन्द्रः सर्वबाह्यमण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति। तदा एकैकेन मुहूर्तेन कियत् क्षेत्रं गच्छति। गौतम ! पञ्चयोजनसहस्राणि एकं च पञ्चविंशत्यधिकं योजनशतमेकोनसप्ततिं च नवत्यधिकानि भागशतानि गच्छति मण्डलं त्रयोदशभिर्भागसहस्रैः सप्तभिश्च यावच्छेदात् पञ्चविंशत्यधिकैः शतैर्विभज्य अत्रोपपत्तिः–अत्र मण्डले परिरयपरिमाणम्। ३१८३३१५ एतद् द्वाभ्यामेकविंशत्यधिकाभ्यां शताभ्यां गण्यते जातम् ७०३४७६१५ एषां त्रयोदशभिः सहस्रैः सप्तभिः शतैः पञ्चविंशत्यधिकैर्भागे हृते लब्धानि ५१२५ शेषं भागैः। ६९९

१३७२५

अथास्य मण्डले दृष्टिपथप्राप्ततामाह–

तया णं इहगयस्स मणूसस्स एकतीसाए जोअणसहस्सेहिं अट्ठहिं अ एगतीसेहिं जोअणसएहिं चंदे वक्खुप्फासं हव्व मागच्छइ।

''तया णं'' इति तदा सर्वबाह्यमण्डलचरणकाले इहगतानां मनुष्याणामेकत्रिंशता योजनसहस्रैः नष्टभिइचैकत्रिंशदधिकर्योजनशतैश्चन्द्रश्चक्षुःस्पर्शं शीघ्रमागच्छति। अत्र सूर्याधिकारेक्तम्–''तीसाए सट्ठिभाग'' इत्यधिक मन्तव्यम्। उपपत्तिस्तु प्राग्वत्।

अथ द्वितीयमण्डलम्–

जया णं भंते ! वाहिराणंतरं पुच्छा ?। गोअमा ! पंचजोअण-सहस्साइं एक्कं च एकवीसं जोअणसयं एक्कारस य सट्ठि भागहस्से गच्छइ मंडलं तेरसहिं० जाव छेत्ता॥

"जया णं" इत्यादि। यदा भदन्त ! सर्वबाह्यानन्तरं द्वितीयमित्यादि प्रश्नः प्राग्वत् । गौतम ! पञ्चयोजनसहस्राणि एकं चैकविंशत्यधिकं योजनशतम् एकादश च षष्ट्यधिकानि भागसहस्राणि गच्छति मण्डलं त्रयोदशभिर्यावत्पदात् सहस्रैः सप्तभिः शतैः पञ्चविंशत्यधिकैः छित्त्वा । अत्रोपपत्तिः–अत्र मण्डले परिरयः ३१८०८५ एतद् द्वाभ्यामेकविंशत्यधिकाभ्यां शताभ्यां गुण्यते जातम्–७–२९६२८५ एषां १३७२५ एभिर्भागे हृते लब्धम् ५१२१ शेषम् । ११०६० / १३७२५

अथ तृतीयम्–

"जया णं भंते"! वाहिरतच्चं पुच्छा । गोअमा ! पंचजोअण सहस्साइं एगं च अट्ठारसुत्तरं जोअणसयं चोद्दस य पंचुत्तरे भागसए गच्छइ मंडलं तेरसहिं सहस्सेहिं सत्तहिं पणवीसेहिं सएहिं छेत्ता।

''जया णं'' इत्यादि। यदा भदन्त ! सर्वबाह्यमण्डलमित्यादि प्रश्नः प्राग्वत्। गौतम्! पञ्चयोजनसहस्राण्येकं चाष्टादशाधिकं योजन–शतं चतुर्दशपञ्चाधिकानि भागशतानि गच्छति मण्मलं त्रयोदशभिः सहस्रैः सप्तभिः शतैः पञ्चविंशत्यधिकैः छित्त्वा । अत्रोपपत्तिःअत्र मण्डले परिरयपरिमाणम् ३१७८५५ एतद् द्वाभ्यामेकविंशत्यधिकाभ्यां शताभ्यां गुण्यते जातम्। ७०२४५६५५ एषां १३७२५ एभिर्भागे हृते लब्धम् ५११८ शेषं भागाः १४०५

१३७२५

अथ चतुर्थादिमण्डलेष्यति देशमाह–

एवं खलु एएणं उवाएणं० जाव संकममाणे २ तिण्णि २ जोअणाइं छणउतिं च पंचावण्णे भागसए एगमेगे मंडले मुहुत्तगइं णिबुड्ढेमाणे २ सव्वब्भंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरइ ॥

"एवं खलु" इत्यादि। एतेनोपायेन यावच्छब्दात् ""पविसमाणे चंदे तयणंतराओ मंडलाओ तयणंतरं मंडलं इति ग्राह्यं संक्रामन् २ त्रीणि २ योजनानि षण्णवतिं च पञ्च पञ्चाशदधिकानि भागशतानि एकैकस्मिन्मण्डले मुहूर्तगतिं निवर्द्धयन् सर्वाभ्यन्तरमण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति । उपपत्तिः पूर्ववत् । अत्र सर्वाभ्यनतरसर्वबाह्यचन्द्रमण्डलायोर्दृष्टिपथप्राप्ता दर्शिता शेष–मण्डलेषु तु सा अत्र ग्रन्थे चन्द्रप्रज्ञप्तिबृहत्क्षेत्रसमासवृत्त्यादिषु च पूर्वैः क्वापि न दर्शिता तेनात्र च दर्श्यत इति । जं० ७ वक्ष०।

चन्द्रार्द्धमासे चन्द्रमण्डलानि–

ता चंदे णं अद्धमासे णं चंदे कति मंडलाइं चरति ? ता चोदस चउभागमंडलाइं चरति, एग च चउवीससतभागं मंडलस्स आइच्चेणं अद्धमासेणं चंदे कति मंडलाइं चरति, ता सोलस मंडलाइं चरति, सोलसमंडलचारी तदा अवराइं खलु दुवे अट्ठकाइं । जाइं चंदे केणइं असामण्णकाइं सयमेव पविट्ठित्ता २ चारं चरति, कतराइं खलु दुवे अट्ठकाइं जाइं चंदे केणइ असामण्णकाइं सयमेव पविट्ठित्ता चारं चरति । इमाइं खलु दुवे अट्ठगाइं जाइं चंद केण य असामण्णगाइं सयमेव पविट्ठित्ता २ चारं चरति । तं जहा–निक्खममाणे चेव अमावासांतेण पविसमाणे चेव पुण्णिमासि तेणं एताइं खलु दुवे अट्ठगाइं जाइं चंदे केणइं असामण्णगाइं सयमेव पविट्ठित्ता २ चारं चरति । ता पढमाय णगते चंदे दाहिणाते भागाते पविसमाणे सत्त अद्धचंदमंडलाइं जाइं चंदे दाहिणाते भागते पविसमाणे चारं चरति । कतराइं खलु ताइं सत्त अद्धमंडलाइं से जाइं चंदे दाहिणाते भागाते पविसमाणे चारं चरति । इमाइं खलु ताइं सत्तअद्धमंडलाइं जाइं चंदे दाहिणाते भागाते पविसमाणे चारं चरति, तं वि दिए अद्धमंडले चउत्थे अद्धमंडले छट्ठे अद्धमंडले अट्ठमे अद्धमंडले दसमे अद्धमंडले वारसे अद्धमंडले चउदसमे अद्धमंडले एताइं खलु ताइं सत्तऽट्ठमंडलाइं जाइं चंदे दाहिणाते भागाते पविसमाणे चारं चरति, ता पढमायणगते चंदे उत्तराते भागाते पविसमाणे अद्धमंडलाइं तेरस य सत्तट्ठिभागाइं अद्धमंडलस्य जाइं चंदे उत्तराते भागाते पविसमाणे चारं चरति, कतराइं खलु ताइं अद्धमंडलाइं सत्तट्ठिभाइं अद्धमंडलस्य जाइं चंदे उत्तराते भागाते पविसमाणे चारं चरति । इमाइं खलु ताइं अद्धमंडलाइं तेरससत्तट्ठिभागाइं अद्धमंडलस्स जाइं चंदे उत्तराते भागाते पविसमाणे चारं चरति, तं जहा–ततिए अद्धमंडले पंचमे अद्धमंडले सत्तमे अद्धमंडले पन्नरसमे अद्धमंडलस्य तेरससत्तट्ठिभागाइं एताइं खलु ताइं अद्धमंडलाइं तेरसयसत्तट्ठिभागाइं अद्धमंडलस्स जाइं चंदे उत्तराते भागाते पविसमाणे चारं चरति । एतावता य पढमे चंदायणे सम्मत्ते भवति ॥१॥ ता नक्खत्ते अद्धमासे नो चंदे अद्धमासे चंदे अद्धमासे नो णक्खत्ते अद्धमासे ता नक्खत्ताओ अद्धमासातो चंदेणं अद्धमासेणं किमधियं चरति, ता एगं अद्धमंडलं चरति चत्तारि य सत्तट्ठिभागाइं अद्धमंडलस्स सत्तट्ठिभागं च एक्कतीसाए छेत्ता णवभागाए ता दोच्चायणगते पुरच्छिमाते भागाते णिक्खमाणे सत्तचउपण्णाइं चंदे परस्स चिण्णं परिचति । सत्ततेरसकाइं जाइं चंदे अप्पणो चिण्णं पडिचरित तादोच्चायणगते चंदे पच्चच्छिमाए भागाए निक्खममाणेछचउप्पण्णाइं जाइं चंदे परस्स चिण्णं परिचरति, छत्तेरसगाइ चंदे अप्पणो चिण्णं परिचरति । अवराइं खलु दुवे तेरसगाइ जाइं चंदे केणइ असामन्नगाइं सयमेव पविट्ठित्ता चारं चरति, कतराइं खलु ताइं दुवेतेरसागइं जाइं चंदे केणइं असामण्णगाइं सयमेव पविट्ठित्ता चारं चरति, इमाइं खलु ताइं दुवे तेरसगाइ जाइं चंदे केणइं असामाण्णगाइं सयमेव पविट्ठित्ता २

चारं चरति । संव्वब्भंतरे चेव मंडले सव्ववाहिरे चेव मंडले एयाणि खलु ताणि दुवे तेरसगाइं चंदे केणइं जाव चारं चरइ, एतावता दोच्चे चंदायणे समत्ते भवति ॥२॥ ता णक्खत्ते मासे नो चंदे मासे चंदे मासे णो णक्खते मासे ता णक्खत्तातो मासाओ चंदेणं मासेण किमधियं चरति ? ता दो अद्धमंडलाइं चरति अट्ठ य सत्तट्ठिभागाइं अद्धमंडलस्स सत्तट्ठिभागं च एकतीसधा छेत्ता अट्ठारस भागाइं ता तच्चायणगते चंदे पच्चच्छिमाते भागाए पविसमाणे वाहिराहिणंतरस्स पच्चच्छिमिल्लस्स अद्धमंडलस्स इत्तालीसं सत्तट्ठिभागाइं जाइं चंदे अप्पणो परस्स चिण्णं पडिचरति, तेरससत्तट्ठिभागाइं चंदे अप्पणो परस्स चिंण्णं पडिचरति, एतावया च वाहिराणंतरे पच्चच्छिमिल्ले अद्धमंडले समत्ते भवति तच्चायणगते चंदे पुरच्छिमाए भागाए पविसमाणे वाहितरच्चस्स पुरच्छिमिल्लस्स अद्धमंडलस्स इत्तालीसं सत्तट्ठिभागाइं जाइं चंदे अप्पणो परस्स चिण्णं पडिचरति तेरससत्तठिभागाइ जाइं चंदे परस्स चिण्णं पडिचरति तेरससत्तट्ठिभागाइं जाइं जाइं चंदे अप्पणो परस्स य चिएणं परियरति, एतावता च वाहिरतच्चे पुरमिल्ले अद्धमंडले सम्मत्ते भवति ता तच्चायणगते चंदे पच्चच्छिमाते भागाते पविसमाणे ३ । वाहिरचउत्थस्स पच्चच्छिमिल्लस्स अद्धमंडलस्स अट्ठसत्तट्ठि-भागाइं सत्तट्ठिभागं च एगतीसधा छेत्ता अट्ठारस भागाइं जाइं चंदे अप्पणो परस्स य चिण्णं पडिचरति एतावता च बाहिरचउत्थे पच्चच्छिमिल्ले अद्धमंडले संमत्ते भवइ । एवं खलु चंदेणं मासेणं चंदे तेरसचउप्पणगाइं संमत्ते भवइ । एवं खलु चंदेणं मासेणं चंदे तेरसचउप्पणगाइं दुवे तेरसगाइं जाइं चंदे परस्स चिण्णं पडिचरति तेरस तेरस गाइं जाइं चंदे अप्पणोचिण्णं पडियरति दुवे इत्तालीसगाइं अट्ठसत्तट्ठिभागाइं सत्तट्ठिभागं च एकतीसधा छेत्ता अट्ठारस भागाइं जाइं चंदे अप्पणो परस्स अ चिण्णं पडिचरति अवराइं खलु दुवेतेरसगाइं जाइं चंदे केणइं असामण्णगाइं सयमेव पविट्ठित्ता चारं चरति । इच्चेसा चंदमसो मिगमणणिक्खमणवुट्ठिणिवुट्ठितमंठाणसंठितीति उच्चणगहि-पत्तेसु वि चंदे देवे देवेआहितेति वदेज्जा ।

"ता चंदेणं अद्धमासेणं" इत्यादि। ता इति पूर्ववत्। चन्द्रेण अर्द्धमासेन प्रागुक्तस्वरूपेण चन्द्रः कति मण्डलानि चरति ? भगवानाह– "ता चोद्दस" इत्यादि। चतुर्दश सचतुर्भागमण्डलानि चरति। एकं च चतुर्विंशतिमं भागं मण्डलस्य किमुक्तं भवति परिपूर्णानि चतुर्दशमण्डलानि पञ्चदशस्य मण्डलस्य चतुर्भागं चतुर्विंशत्यधिकसत्कैकत्रिंशद्भागप्रमाणमेकं च चतुर्विंशशतभागं मण्डलस्य सर्वसंख्यया द्वात्रिंशत् पञ्चदशस्य मण्डलस्य चतुर्वि–शत्यधिकशतभागान् चरतीति। कथमेतदवसीयते इति चेत्। उच्यते–त्रैराशिकबलात् तथाहियदि चतुर्विंशत्यधिकेन पर्वशतेन सप्तदशशतान्यष्टषष्ट्यधिकानि मण्डलानां लभ्यन्ते। तत एकेन पर्वणा किं लभ्यते ? राशित्रयस्थापना –१२४।१७६८।१। अन्त्यान्त्येन राशिना मध्यराशिर्गुण्यते स च तावानेव जातस्तत्राद्येन राशिना भागहरणं लब्धाश्चतुर्दश १४। शेषास्तिष्टन्ति द्वात्रिंशत् ३२। तत्र छेद्यछेदक-राश्योर्द्विकेनापवर्तना क्रियते। तत इदमागच्छति चतुर्दशमण्डलानि पञ्चदशस्य मण्डलस्य षोडश द्वाषष्टिभागाः १४।१६। उक्तं चैतदन्यत्रापि। "चोद्दस य मंडलाइं १२४, वि सट्ठि भागा य सोलस हविज्जा। मासद्धेण उडुवई, एत्तियमित्तं चदइ खित्तं" ॥१॥ ''ता आइच्चेणं'' इत्यादि आदित्येनार्द्धमासेन चन्द्रः कति ६२ मण्डलानि चरति। भगवानाह– "ता सोलस" इत्यादि। षोडश मण्डलानि चरति षोडशमण्डलचारी च ततो अपरे खलु द्वे अष्टके चतुर्विंशत्यधिक-शतसत्का भागाष्टकमानो य कोऽप्येषःसामान्ये केनाप्यनाचीर्णपूर्वे चन्द्रः स्वयमेव प्रविश्य २ चारं चरति। "तं कयराइं खलु दुवे" इत्यादिप्रश्नसूत्रं सुगमम्। भगवानाह– "इमा खलु दुवे" इत्यादि। इगे खलु अष्टके ये केनाप्यनाचीर्णपूर्वे चन्द्रः स्वयमेव प्रविश्य चारं चरति। तद्यथा– सर्वाभ्यन्तरान्मडलाद्बहिर्निष्क्रामन् नैवामावास्यान्ते एकमष्टकं केनाप्यनाचीर्ण चन्द्रः प्रविश्य चारं चरति। सर्वबाह्यान्मण्डलादभ्यन्तरं प्रविशन्नेव पौर्णमास्यन्ते द्वितीयमष्टकं केनाप्यनाचीर्णपूर्वे चन्द्रः प्रविश्य चारं चरति। ''एयाइं खलु दुवे अट्ठगाइं इत्यादि। उपसंहारवाक्यं सुगमम्। इह परमार्थतो द्वौ चन्द्रो एकेन चन्द्रेणार्धमासेन चतुर्दशमण्ड-लानि पञ्चदशस्य च मण्डलस्य द्वात्रिंशतं चतुर्विंशत्यधिकतभागान् भ्रमणेन पूरयतः परं लोकरूढ्या व्यक्तिभेदनपेक्ष्य जातिभेदमेव केवलमाश्रित्य चन्द्रशतुर्दशमण्डलानि पञ्चदशस्य मण्डलस्य द्वात्रिंशतं चतुर्विंशत्यधिकशतभागान् चरति इत्युक्तम्। अधुना एकश्चन्द्रमा एकस्मिन्नयने कति अर्धमण्डलानि दक्षिणभागे कत्युत्तरभागे भ्रम्यापूर-तीति प्रतिपिपादयिषुर्भगवानाहता पढमायणगए चंदे इत्यादि। ता इति पूर्ववत्। प्रथमायनगते प्रथमायनं प्रविष्टश्चन्द्रो दक्षिणस्माद्भागादभ्यन्तरं प्रविशति सप्त अर्द्धमण्डलानि भवन्ति। यानि चन्द्रो दक्षिणस्माद्भागाद-भ्यन्तरं प्रविशन्नाक्रम्य चारं चरति। कतराइं खलु इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमम्। भगवानाह–इमाइं खलु इत्यादि। इमानि खलु सप्तार्द्धमण्ड-लानि यानि चन्द्रो दक्षिणाद्भागादभ्यन्तरं प्रविशन्नाक्रम्य चारं चरति। तद्यथा–द्वितीयमर्द्धमण्डलमित्यादि सुगमम् नवरमियमत्र भावना-सर्वबाह्ये पञ्चदशे मण्डले परिभ्रमणेन पूरणमधिकृत्य परिपूर्णपाश्चात्य-युगपरिसमाप्तिर्भवति ततोऽपरयुगप्रथमायनप्रवृत्तौ प्रथमेऽहोरात्रे एकश्चन्द्रमा दक्षिणभागादभ्यन्तरं प्रविशन् द्वितीयं मण्डलमाक्रम्यं चारं चरति। स पाश्चात्ययुगपरिसमाप्तिदिवसे उत्तरस्यां दिशि चारं चरितवान् स वेदितव्यः ततः स तस्मात् द्वितीयान्मण्डलात् शनैश्शनैरभ्यन्तरं प्रविशन् द्वितीये अहोरात्रे उत्तरस्यां दिशि सर्वबाह्यान्मण्डलादभ्यन्तरं तृतीयमर्द्धमण्डलमाक्रम्य चारं चरति। तृतीये अहोरात्रे दक्षिणस्यां दिशि चतुर्थमण्डलं चतुर्थे अहोरात्रे उत्तरस्यां दिशि पञ्चममर्द्धमण्डलं पञ्चमे अहोरात्रे दक्षिणस्यां दिशि षष्ठमर्द्धमण्डलं सप्तमे अहोरात्रे दक्षिणस्यां दिशि अष्टममर्द्धमण्डलमष्टमेऽहोरात्रे उत्तरास्यां दिशि

नवममर्द्धमण्डलं नवमे अहोरात्रे दक्षिणस्यां दिशि दशममर्द्धमण्डलं दशमे अहोरात्रे उत्तरस्यां दिशि एकादशमर्द्धमण्डलमेकादशे अहोरात्रे दक्षिणस्यां दिशि द्वादशममर्द्धमण्डलं द्वादशे अहोरात्रे उत्तरस्यां दिशि त्रयोदशमर्द्धमण्मलं त्रयोदशे अहोरात्रे दक्षिणस्यां दिशि चतुर्दशमर्द्धमण्डलं चतुर्दयो अहोरात्रे उत्तरस्यां दिशि पञ्चदशस्यार्द्धमण्डलस्य त्रयोदशसप्तषष्टिभागानाक्रम्य चारं चरति। एतावता च कालेन चन्द्रस्याऽयनपरिसमाप्तिः चन्द्रायनं हि नक्षत्रमासप्रमाणं तेन नक्षत्रार्द्धमासेन चन्द्रचारे सामान्यतस्त्रयोदश मण्डलानि चतुर्दशस्य च मण्मलस्य त्रयोदशसप्तषष्टिभागा लभ्यन्ते । तथा हि–यदि चतुस्त्रिंशदधिकेनायनशतेन सप्तदशशशतान्यष्टषष्टिसहितानि मण्डलानां लभ्यन्ते । तत एकेनायनेन किं लभासहे । राशित्रयस्थापना–१३ ४ । १७६८।१। अत्रान्त्येन राशिना एकलक्षणेन मध्यारशिर्गुण्यते जातः स तानानेव ततस्तस्याद्येन राशिना चतुस्त्रिंशदधिकशतरूपेण भागहरणं लब्धास्त्रयोदश शेषास्तिष्ठन्ति षट्विंशतिः । तत्र छेद्यछेदकराश्योर्द्विकेनापर्वना लब्धास्त्रयोदशसप्तषष्टिभागाः उक्तं च तेरस य सत्तट्ठि चेव भागा य। अयणेण चरइ सोमो, नक्खत्तेणऽद्धमासेण"॥१॥ एतच्च सामान्यत उक्तं विशेषचिन्तायां चैकस्य चन्द्रसो युगस्य प्रथमे अयने यथोक्तेन प्रकारेण दक्षिणभागादभ्यन्तरप्रवेशे द्वितीयादीन्येकान्तरितानि चतर्दशपर्यन्तानि सप्तार्धमण्डलानि लभ्यन्ते उत्तरभागादभ्यन्तरप्रवेशे तृतीयादीन्येकान्तरितानि त्रयोदशपर्यन्तानि षट्परिपूर्णान्यर्द्धमण्डलानि सप्तमस्य तु पञ्चदशमण्डलगतस्यार्द्धमण्डलस्य त्रयोदशसप्तषष्टिभागाः एतावता च यद्वक्ष्यति उत्तरभागादभ्यन्तरप्रवेशचिन्तायाम् "तइए अद्धमंडले" इत्यादिसूत्रं तदपि भावितमेव। संप्रति दक्षिणभागादभ्यन्तरप्रवेश यानि सप्तार्द्धमण्डलान्युक्तानि तदुपसंहार माह "एयाइं" इत्यादि । सुगमम् अधुना तस्यैव चन्द्रमसस्तस्मिन्नेव प्रथमे अयने उत्तरभागादभ्यन्तरप्रवेशे यावन्त्यर्द्धमण्डलानि भवन्ति तावन्ति विवक्षुराह–"ता पढमायणगए" इत्यादि । "ता" इति पूर्ववत प्रथमायनगते युगस्यादै प्रथममयनं प्रविष्टे चन्द्रे उत्तरभागादभ्यन्तरं प्रविशति। षट् अर्द्धमण्डलानि भवन्ति । सप्तमस्य चार्द्धमण्डलस्य त्रयोदशसप्तषष्टिभागा यानि चन्द्र उत्तरभागादभ्यन्तरं प्रविशन् आक्रम्य चारं चरति। "कय राइं खलु" इत्यादि। प्रश्नसूत्रं सुगमम्। "इमाइं खलु" इत्यादिनिर्वचनसूत्रम्। एतच्च प्रागेव भावितम्। "एयाइं खलु" इत्यादि। निगमनवाक्यं निगदसिद्धम्। "एतावता इत्यादि" । एता वताकालेन प्रथमं चन्द्रस्यायनं समाप्तं भवति। एतदपि प्राग्भावितं तदेवं पाश्चात्ययुगपरिसमाप्तिचरमदिवसे य उत्तरस्यां दिशि चारं चरितवान् तस्याऽभिनवयुगपक्षे प्रथमे अयने यावन्ति दक्षिणभागाभ्यन्तरप्रवेशेऽर्द्धमण्डालानि यावन्ति चोत्तरभागादभ्यरप्रवेशे तावन्ति साक्षादुक्तानि एतदनुसारेण द्वितीयस्याऽपि चन्द्रमसस्तस्मिन्नेव प्रथमे चन्द्रायणेऽर्द्धमण्डलानि वक्तव्यानि तानि चैवं स पाश्चात्ययुगपरिसमाप्तिचरदिवसे दक्षिणदिग्भागे सर्वबाह्ये मण्डले चारं चरित अभिनवस्य युगस्य प्रथमे अयने प्रथमेऽहोरात्रे उत्तरस्यां दिशि द्वितीयमर्द्धमण्डलं प्रविश्य चारं चरति । द्वितीये अहोरात्रे दक्षिणस्यां दिशि सर्ववाह्यतृतीयमर्द्धमण्डलं प्रविश्य चारं चरति । तृतीये अहोरात्रे उत्तरस्यां दिशि । चतुर्थमण्डलमित्यादि । प्रागुक्तानुसोरेण सकलमपि वक्तव्यः। तदेवमस्य चन्द्रमसः प्रथमे अहोरात्रे उत्तरभागादभ्यन्तरप्रवेशचिन्तायां द्वितीयादीन्येकान्तरितानि चतुर्दशपर्यन्तानि सप्तार्द्धमण्डलानि भवन्ति। दक्षिणभागादभ्यन्तर प्रवेशचिन्तायां तृतीयादीन्येकान्तरितानि त्रयोदशपर्यन्तानि षट्अर्धमण्डलानि भवन्ति । पञ्चदश चार्धमण्डलस्य त्रयोदशसप्तषष्टिभागाः । एवं च सति यावत् चन्द्रस्यार्धमासस्तावान्नक्षत्रस्यार्धमासो न भवति। किं तु ततो न्यून इति सामर्थ्यात्तत् दृष्टव्यम् । तथा चाह–"ता नक्खत्तेणं" इत्यादि । यद्येवमेकस्मिन्नयने नक्षत्रार्धमासरूपे सान्यतश्चन्द्रसस्त्रयोदश मण्डलानि चतुर्दशस्य च मण्डलस्य त्रयोदशसप्तषष्टिभागाः । 'ता' इति ततो नक्षत्रार्धमासश्चान्द्रोर्धमासो न भवति चान्द्रे अर्धे मासे चतुर्दशानां मण्डलानां पञ्चदशस्य चन्द्रमण्डलस्य द्वाविंशतश्चतर्विंशत्यधिकशतभागानां प्राप्यमाणत्वात् । "इह नक्षत्रोऽर्धमाश्चान्द्रोऽर्धमासो न भवति" इत्युक्तौ नक्षत्रार्द्धमासः । चान्द्रोर्द्धमासो न भवति । यस्तुश्चान्द्रोऽर्द्धमासः स कदाचिन्नक्षत्रोऽप्यर्द्धमासः स्यात् । यथा "परमाणुरप्रदेश" इत्युक्तौ परमाणुरप्रदेश एव यस्त्वप्रदेशः स परमाणुरपि भवति अपरमाणुश्च क्षेत्रप्रदेशादिरिति शङ्का स्यात् । ततस्तदपनोदार्थमाह–"चान्द्रोर्द्धमासो नक्षत्रोऽर्द्धमासो न भवति" एवमुक्तेन भगवान् गौतमो ! नक्षत्रार्द्धमासयोर्विशेषपरिज्ञानार्थमाह–''ता नक्खत्ताओ अद्धमासाओ '' इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत् । नक्षत्रात् अर्द्धमासात्ते तव मतेन भगवन् ! चन्द्रश्चान्द्रेणाऽर्द्धमासेन किमधिकं चरति । भगवानाह–"ता एगं" इत्यादि । एकमर्द्धमण्डलं द्वितीयस्य चार्द्धमण्डलस्य चतुःसप्तषष्टिभागानेकस्य च सप्तषष्टिभागस्य एकत्रिंशधाविभिन्नस्य सत्कान् नवभागानधिकं चरति । कथमेतदवसीयते इति चेत् ? उच्यते–त्रैराशिकबलात् तथाहि–यदि चतुर्विंशत्यधिकेन शतेन सप्तदशतानि अष्टषष्ट्यधिकानि मण्डलानां लभ्यन्ते तत एकेन पर्वणा किं लभमहे ? । राशित्रयस्थापना १२४। १७६८ । १ । अत्रान्त्येन राशिना मध्यराशिर्गुण्यते जातः स तावानेव । तत आद्येन चतुर्विंशत्यधिकशतरूपेण राशिना भागहरणं छेद्यछेदकराश्योश्चतुष्केनापवर्तना, लब्धानि चतुर्दशमण्डलानि अष्टौ च एकत्रिंशद्भागा एतस्मान्नक्षत्रार्द्धमासगम्यं क्षेत्रं त्रयोदश मण्डलानि एकस्य च मण्डलस्य त्रयोदश सप्तषष्टिभागा इत्येवंप्रमाणः शोध्यते तत्र चतुर्दशभ्यस्त्रयोदश मण्डलानि शुद्धानि एकमवशिष्टं संप्रत्यष्टभ्य एकत्रिंशद्भागेभ्यस्त्रयोदश सप्तषष्टिभागाः शोध्यास्तत्र सप्तषष्टिरष्टभिर्गुणितो जातानि पञ्चशतानि षट्त्रिंशदधिकानि ५३६ एकत्रिंशता त्रयोदश गुणिता जातानि चत्वारि शतानि त्र्युत्तराणि ४०३ एतानि पञ्चभ्य शतेभ्यः षट्त्रिंशदधिकेभ्यः शोध्यन्ते स्थितं शेष त्रयस्त्रिंशदधिकं शतम् १३३ तत एतत् सप्तषष्टिभागानयनार्थं सप्तषष्टया गुण्यते जातानि नवाशीतिशतान्येकादशाधिकानि ८९११ छेदराशिमौल एकत्रिंशत्सप्तषष्ट्या गुण्यते जाते द्वे सहस्रे सप्तषष्टिभागाः। शेषाणि तिष्ठन्ति षट्शतानि त्र्युत्तराणि ६०३ ततश्छेद्यकेदकराश्योः सप्तषष्टयापवर्तना जाता उपरि नव अधस्तादेकत्रिंशल्लब्धाः एकस्य सप्तषष्टिभागस्य नव एकत्रिंशत्छेद-कृताः भागाः । उक्तं च– "एगं च मंडलं मंडलस्य सत्तट्ठि भाग् चत्तारि । नव चेव चुण्णिया उ, इगतीसकएण छेएण"॥१॥ इह भावनां कुर्वता मण्डलं मण्डलमिति । यदुक्तं तत् सामान्यतो ग्रन्थान्तरे या प्रसिद्धा भावना तदुपरोधादवसेयं परमार्थतः पुनरर्धमण्डलवसन्तव्यम् ततो न कश्चित् सूत्रभावनि–

कयोर्विरोधः । तदेवमेकचन्द्रायणवक्तव्यतोक्ता ॥१॥ संप्रति द्वितीयचन्द्रायणवक्तव्यताऽभिधीयतेतत्र यः प्रथमे चान्द्रायणे दक्षिणभागादभ्यन्तरं प्रविशन् सप्तार्द्धमण्डलानि उत्तरभागादभ्यन्तरं प्रविशन् षड्अर्द्धमण्डलानि सप्तमस्य चार्द्धमण्मलस्य त्रयोदशसप्तषष्टिभागान् चरितवान् तमधिकृत्य द्वितीयायनभावना क्रियते–तत्रायनस्य मण्डलं क्षेत्रपरिमाणं त्रयोदशार्द्धमण्डलानि चतुर्दश चार्द्धमण्डलस्य त्रयोदश सप्तषष्टिभागाः तत्र प्राक्तनमयनमुत्तरस्यां दिशि सर्वाभ्यन्तरे मण्डले त्रयादशसप्तषष्टिभागपर्यन्ते परिसमाप्तम् । तदनन्तरं द्वितीयायनप्रवेशे चतुःपञ्चाशता सप्तषष्टिभागैः सर्वाभ्यन्तरमण्डलं परिसमाप्य ततो द्वितीये मण्डले चारं चरति । तत्र त्रयोदशभागपर्यन्त एकमर्द्धमण्डलं द्वितीयस्यायनस्य परिसमाप्तं द्वितीयमर्द्ध मण्डलमुत्तरस्यां सर्वाभ्यन्तरा तृतीये अर्द्धमण्डलत्रयोदशभागपर्यन्ते तृतीयमर्द्धमण्डलं दक्षिणस्यां दिशि पञ्चमेऽर्द्धमण्ले पञ्चमेऽर्द्धमण्डं दक्षिणस्या दिशि षष्ठेर्द्धमण्डलम् उत्तरास्यां दिशि सप्तमेऽर्द्धमण्डले सप्तममर्द्धमण्डलमुत्तरस्यां दिशि नमवमेऽद्धमण्डले नवममर्द्धमण्मलं दक्षिणस्यां दिशि दशमेऽर्द्धमण्डले मण्डले दशममर्द्धममण्डलम् उत्तरस्यां दिशि एकादशेऽर्द्धमण्डले एकादशमर्द्धमण्डलं दक्षिणस्यां दिशि द्वादशेऽद्धमण्डले द्वादशमर्द्धम–ण्डलम् उत्तरस्यां दिशि त्रयोदशेऽर्द्धमण्डले त्रयोदशमर्द्धमण्डलं दक्षिणस्यां दिशि चतुर्दशेऽर्द्धमण्डले चतुर्दशमर्द्धमण्डलं तच्च त्रयोदशभागपर्यन्ते परिसमाप्तं तदनन्तरं त्रयोदशसप्तषष्टिभागान् अन्यान् चरित । एतावता द्वितीयमयनं परिसमाप्तम् ॥ चतुर्दशे च मण्डले संक्रान्तः सन् प्रथमक्षणादूर्द्धसर्वबाह्यमण्डलाभिमुखं चारं चरति । ततः परमार्थतः कतिपयभागातिक्रमे पञ्चदश एव सर्वाबाह्ये मण्डले वेदितव्यः तदेवमस्मिन्नयने पूर्वभागे द्वितीयादीन्येकान्तरितानि चतुर्दशपर्यन्तानि सप्तार्द्धमण्डलाचीर्णानि पश्चिमभागे च तृतीयादीन्येकान्तरिता नि त्रयोदशपर्यन्तानि षट् अर्द्धमण्डलानि । तत्र पूर्वभागे पश्चिमभागे वाह्यप्रतिमण्डलं स्वयं चीर्णमन्यवीर्णं वा चरति तन्निरूयति– "ता दोचायणगए" इत्यादि । ता इति पूर्ववत् । द्वितीयाऽयनगते चन्द्रः पौरस्त्याद्भागान्निष्क्रामति किमुक्तं भवतिपौरस्त्यभागे चारं चरति । सप्तचतुः पञ्चाशत्सत्कानि भवन्ति यानि चन्द्रः परस्येति तृतीयार्थे षष्ठी । परेण सूर्यानाचीर्णानि प्रतिचरति सप्त च त्रयोदशकानि भवन्ति यानि चन्द्र आत्मनैव चीर्णानि प्रतिचरति । इयमत्र भावनामेरोः पूर्वस्यां दिशि यो भागः स पूर्वभागो यश्चापरस्यां दिशि स पश्चिमभागः तत्र पूर्वभागे सप्तस्वा । द्वितीयादिष्वेकान्तरितेषु चतुर्दशपर्यन्तेषु सप्तषष्टिभागप्रविभक्तेषु प्रत्येकं चतुःपञ्चाशतम् २ सप्तषष्टिभागान् चन्द्रः परेण सूर्यादिना चीर्णान् प्रतिचरति । त्रयोदश–२ सप्तषष्टिभागान् स्वयं चीर्णानिति । "ता दोचाणे गए" इत्यादि । तस्मिन्नेव चन्द्रमसि द्वितीयाऽयनगते पश्चिमभागान्निष्क्रामति पश्चिमे भागे चारं चरति । षट्चतुः पञ्चाशत कानि भवन्ति यानि चन्द्रः परस्येति परेण सूर्यादिना चीर्णानि प्रति चरति षट्त्रयोदशकानि यानि चन्द्रः स्वयं चीर्णानि प्रतिचरति । अत्रापीयं भावनापश्चिमे भागे षट्स्वपि तृतीयादिष्वेकान्तरितेषु त्रयोदशपर्यन्तेषु अर्द्धमण्डलेषु सप्तषष्टिभागप्रविभक्तेषु प्रत्येकं चतुःपञ्चाशतं सप्तषष्टिभागान् परचीर्णान् चरति त्रयोदश सप्तषष्टिभागान् स्वयं चीर्णानिति । "अवराइं खलु दुवे" इत्यादि । अपरे खलु द्वे त्रयोदशके तस्मिन्नयने द्वितीये चन्द्रः केनाप्यनाचीर्णं पूर्वे स्वयमेव प्रविश्य चारं चरति । "कयराइं खलु" इत्यादि । प्रश्नसूत्रं सुगमम् । "इमाइं खलु" इत्यादि । निर्वचनवाक्यमेतदेतच्च प्रायो निगदसिद्धं नवरमेकं तत् त्रयोदशकं सर्वाभ्यन्तरे मण्डले तत्पाश्चान्यायनगतत्रयोदशकादूर्द्ध वेदितव्यम् । तस्यैव संभवास्पदत्वात् द्वितीये सर्वबाह्ये मण्डले तच्च पर्यन्तवर्ती प्रतिपत्तव्यम् "एयाइं खलु ताणि" इत्यादि । निगमनवाक्यं सुगमम् । तदेवमेकं चन्द्रमसमधिकृत्य द्वितीयायनवक्तव्यतोक्ता एतदनुसारेण च द्वितीयमपि चन्द्रमसमधिकृत्य द्वितीयायनवक्तव्यता भावनीया । परं तस्य पश्चिमभागे सप्तचतुः पञ्चाशत्कानि परचीर्णानि चरणीयानि सप्तत्रयोदशकानि स्वयं चीर्णाचरणीयानि वक्तव्यानि पूर्वभागे षट् चतुः पञ्चाशत्कानि परचीर्णाचरणीयानि षट्त्रयोदशकानि स्वयं चीर्णप्रतिचरणीयानि ॥ "एतावता" इत्यादि । एतावता कालेन द्वितीयं चन्द्रायनं समाप्तं भवति । "ता नक्खत्ते" इत्यादि । यद्येवं द्वितीयमप्यनं एतावत्प्रमाणं ता इति ततो नक्षत्रो मासो न चान्द्रो मासो भवति, नापि चान्द्रो मासो नक्षत्रो मासः, संप्रति नक्षत्रमासात् कियता चन्द्रमासोऽधिकः इति जिज्ञासुः प्रश्नं करोति । "ता नक्खत्ताओ मासातो" इत्यादि । 'ता' इति तत्र नक्षत्रात् चन्द्रःचान्द्रेण मासेन किमधिकं चरति । एवं प्रश्ने कृते भगवानाह–"ता दो अद्धमंडलाइं" इत्यादि । द्वे अर्द्धमण्डले तृतीयस्यार्द्धमण्डलस्याष्टौ सप्तषष्टिभागान् । एकं च सप्तषष्टिभागमेकत्रिंशद्धा छित्त्वा तस्य सत्कानष्टादशभागानधिकं चर ति ॥ एतच्च प्रागुक्तमेकायनाधिकमर्द्धमण्डलमित्यादि गुणं कृत्वा परिभावनीयम् ॥२॥ संप्रति यावता चन्द्रमासः परिपूर्णो भवति तावन्मात्रतृतीयायनवक्तव्यतामाह ता तच्चायणगए चंदे इत्यादि । इह द्वितीयायनपर्यन्ते चतुर्दशे मण्डले षट्त्रिंशतिसंख्यसप्तषष्टिभागमात्रमाक्रान्तं तच्च परमार्थतः पञ्चदशमर्द्धमण्डलं प्रविष्टस्तत्प्रविष्टश्च प्रथमक्षणादूर्द्धं सर्वबाह्यानन्तरावक्तनद्वितीयमण्डलाभिमुखं चरति । तस्य तस्मिन्नेव सर्वबाह्यानन्तरेऽर्वाक्तने द्वितीये मण्डले चारं चरन् वियक्षितस्ततोऽधिकृतस्तत्रोपनिपातस्तृतीयायनगते चन्द्रे पश्चिमे भागे प्रविशति । बाह्यानन्तरस्यार्वाग्भावर्तिनः पाश्चात्यस्यार्द्धमण्डलस्य एकचत्वारिंशत्सप्तषष्टिभागास्ते वर्तन्ते यानि चन्द्र आत्मना परेण चीर्णान् प्रतिचरित । त्रयोदश च सप्तषष्टिभागास्ते यान् चन्द्रः परेणैव चीर्णान् प्रतिचरति । अन्ये च त्रयोदशसप्तषष्टिभागास्ते वर्तन्ते यान् चन्द्रः स्वयं परेणाचीर्णात् प्रतिचरति । एतावता च परिभ्रमणेन बाह्यानन्तरमर्वाक्तनपाश्चात्यमर्द्धमण्डलं समाप्तं भवति । तदनन्तरं च तस्मिन्नेव तृतीयाऽयनगते चन्द्रे पौरस्त्यभागे प्रविशति सर्वबाह्यादर्वाक्तनस्य तृतीयस्य पौरस्त्यस्यार्द्धमण्डलस्य एकचत्वारिंशत्सप्तषष्टिभागा यान् चन्द्र आत्मना परेण च चीर्णान् प्रतिचरति । ततः परमन्ये ते त्रयोदशे भागा यान् चन्द्रःपरेणैव चीर्णान् प्रतिचरति । अन्ये च ते त्रयोदशभागा याद् चन्द्र आत्मना परेण च चीर्णान् प्रतिचरति एतावता सर्वबाह्यान्मण्डलादर्वाक्तनं तृतीयं पौरस्त्यमर्द्धमण्डलं परिसमाप्तं भवति सप्तषष्टिरपि भागानां परिपूर्ण तथा जातत्वात् 'ता' इत्यादि । ततस्तस्मिनेवत् तीयायनगते चन्द्रे पश्चिमेभागे

प्रविशति सर्वबाह्यान्मण्डलादर्वाक्तनस्य चतुर्थस्य पाश्चात्यस्यार्द्धमण्डलस्याष्टौ सप्तषष्टिभागा एकं च सप्तषष्टिभागमेकत्रिंशद्धा छित्त्वा तस्य सत्का अष्टादश भागास्ते वर्तन्ते यान् चन्द्र आत्मना परेण च चीर्णान् प्रतिचरति, एतावता च परिभ्रमणेन चान्द्रो मासः परिपूर्णो जातः। संप्रति पूर्वोक्तमेव स्मारयन् चन्द्रमासगतमुपसंहारमाह–"एवं खलु चंदेणं मासेणं" इत्यादि। एवमुक्तेन प्रकारेण खलु निश्चितं चान्द्रेण मासेन चान्द्रे त्रयोदश चतुःपञ्चाशत्कानि जातानि द्वे च त्रयोदशके, यानि चन्द्रः परेणैव चीर्णानि प्रतिचरति। वर्तमानकालनिर्देशः सकलकालयुगस्य प्रथमे चान्द्रे मासे एवमेव द्रष्टव्यमिति ज्ञापनार्थः। तत्र त्रयोदशाऽपि चतुःपञ्चाशत्कानि द्वितीय अयने तत्राऽपि सप्तचतुःपञ्चाशत्कानि पूर्वभागे षट्पाश्चात्यभागे ये च द्वे त्रयोदशके ते द्वितीयस्याऽयनस्योपरि चन्द्रमासावधेरर्वाक् द्रष्टव्ये, तत्रैकत्रयोदशकं सर्वबाह्यादर्वाक्तने द्वितीये पाश्चात्ये अर्द्धमण्डले द्वितीये पौरस्त्ये तृतीये अर्द्धमण्डले। तथा "तेरस" इत्यादि। त्रयोदश त्रयोदशकानि यानि चन्द्र आत्मनैव चीर्णानि प्रतिचरति तानि सर्वाण्यपि द्वितीये अयने वेदितव्यानि, तत्राऽपि सप्त पूर्वभागे, षट् पश्चिमभागे इत्यादि। तथा "दुवे" इत्यादि। द्वे एकचत्वारिंशत्के द्वे च त्रयोदशकअष्टौ सप्तषष्टिभागा एकं च सप्तषष्टिभागमेकत्रिंशद्धा छित्त्वा तस्य सत्का अष्टादश भागाः, यान्येतानि चन्द्र आत्मना परेण च चीर्णानि प्रतिचरति। तत्र एकमेकचत्वारिंशत एकमेकं च त्रयोदशकद्वितीयायनोपरि सर्वबाह्यान्मण्डलादर्वाक्तने द्वितीये पाश्चात्येऽर्द्धमण्डले द्वितीयमेकचत्वारिंशत्कं, द्वितीयं च त्रयोदशकं सर्वबाह्यान्मण्डलादर्वाक्तने तृतीयं पौरस्त्ये शेषपाश्चात्ये सर्वबाह्यादर्वाक्तने चतुर्थार्द्धमण्डले। अधुनोपसंहारमाह– "इचेसा" इत्यादि। इत्येषा चन्द्रमसः संस्थितिरिति योगः। किंविशिष्टेत्याह–अभिगमनिष्क्रमणवृद्धिनिर्वृद्धय नवस्थित संस्थाना, अभिगमनं सर्वबाह्यान्मण्डलादभ्यन्तरप्रविशनं, निष्क्रमणं सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलाद्बहिर्गमनम्, वृद्धिः चन्द्रमसः प्रकटतया उपचयो, निर्वृद्धिर्यथोक्तस्वरूपवृद्ध्यभावः, एताभिरनवस्थितं संस्थानम् अभिगमननिष्क्रमणे अधिकृत्यावस्थानं वृद्धिनिर्वृद्धी अपेक्ष्य संस्थानमाकारो यस्याः सा तथारूपा संस्थितिः, तथा परे दृश्यमानचन्द्रविमानस्याधिष्ठाता विकुर्वणर्द्धिप्राप्तो स्त्री रूपवान्, अन्यातिशये मत्वर्थीयोऽतिशयरूपवान् चन्द्रो देव आख्यातो, न तु परिदृश्यमानविमानमात्रश्चन्द्रा देव इति वदेत्स्वशिष्येभ्यः। सू० प्र० १३ पाहु०। चं० प्र०।

अथ चन्द्रवक्तव्यप्रश्नमाह–

जंबुद्दीवे णं भंते ! दीवे चंदिमा उदीणपाईणमुग्गच्छ पाईणदाहिणमागच्छंति, जहा सूरवत्तव्वया, जहा पंचमसयस्स दसमे उद्देसे० जाव अवट्ठिएणं तत्थ काले पण्णत्ते। समणाउसो ! इचेसा जंबुद्दीवपण्णत्ती चंदपण्णत्ती वत्थुसमासेणं सम्मत्ता भवइ ॥

"जंबुद्दीवे णं" इत्यादि। जम्बूद्वीपे भदन्त ! द्वीपे चन्द्रावुदीचीनप्राचीनदक्षिणदिग्भागे उद्गत्य प्राचीनदक्षिणदिग्भागे आगच्छतः इत्यादि। यथा सूरवक्तव्यता तथा चन्द्रवक्तव्यता, यथा, वाशब्दोऽत्र गम्यः, पञ्चमशतस्य दशमे उद्देशके चन्द्रनाम्नि कियत्पर्यन्तं सूत्रं ग्राह्यमित्याह–या–वदवस्थितस्तत्र कालः प्रज्ञप्तः। हे श्रमण ! हे आयुष्मन् ! अत्राप्युपसंजिहीर्षुराह– "इचेसा" इत्यादि। व्याख्यानं पूर्ववत्, परं सूर्यप्रज्ञप्तिस्थाने चन्द्रप्रज्ञप्तिर्वाच्या। जं० ७ वक्ष०।

चंदमंडलणिभ–त्रि०(चन्द्रमण्डनिभ) चन्द्रमण्डलाकारे, रा०।

चंदमंडलसमप्पभ–त्रि०(चन्द्रमण्डलसमप्रभ) शशधरविम्बवत् प्रभति वृत्ततया शोभमाने, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार।

चंदमग्ग–पुं०(चन्द्रमार्ग) चन्द्रमण्डले, (सू० प्र०)

नक्षत्राद्यधिकृत्य चन्द्रमडलानि चन्द्रमार्गा अभिधीयन्ते–

ता कधं ते चंदमग्गा आहिता ति वदेज्जा ? ता एतेसि णं अट्ठावीसए णक्खत्ताणं अत्थि णक्खत्ता, जे णं सत्ता चंदस्स दाहिणेणं जोअं जोएंति, अत्थि णक्खत्ता जे णं सत्ता चंदस्स उत्तरेणं जोअंजोएंति, अत्थि णक्खत्ता जे णं चंदस्स दाहिणेणं वि उत्तरेणं वि पमद्दं पि जोअं जोएंति, अत्थि णक्खत्ता जे णं चंदस्स सदा पमद्दं जोअं जोएति। ता एतेसि णं अट्ठावीसाए नक्खत्ताणं कतरे नक्खत्ता, जे णं सदा चंदस्स दाहिणेणं जोयं जोएंति, तहेव० जाव कतरे नक्खत्ता जे णं सदा चंदस्स पमद्दं जोअं जोएंति ? ता एतेसि णं अट्ठावीसाए णक्खत्ताणं जे णं णक्खत्ता सया चंदस्स दाहिणेणं जोयं जोएंति, ते णं छ, तं जहा–संठाणा अद्दा पुस्सो अस्सेसा हत्थो मूलो, तत्थ जे ते णक्खत्ता जे णं सदा चंदस्स उत्तरेणं जोयं जोएंति, ते णं वारस। तं जहा–अभिई सवणो धणिट्ठा सतभिसया पुव्वभद्दवया उत्तरपोट्ठवया रेवती अस्सिणी भरणी पुव्वाफग्गुणी उत्तराफग्गुणी साती, तत्थ जे ते णक्खत्ता जे णं चंदस्स दाहिणेणं वि उत्तरेणं वि पमद्दं पि जोअं जोएंति, ते णं सत्त। तं जहा–कत्तिया रोहिणी पुणव्वसू महा चित्ता विसाहा अणुराहा, तत्थ जे ते णक्खत्ता जे णं चंदस्स दाहिणेणं वि पमद्दं पि जोअं जोएंति, ताओ य णं दो आसाढाओ सव्ववाहिरे मंडले जोयं जोयंसु वा, जोयंति वा, जोएस्संति वा, तत्थ जे ते णक्खत्ते जे णं सदा चंदस्स पमद्दं जोयं जोएंति, सा णं एगा जेठा।

"ता कहं ते" इत्यादि। ता इति पूर्ववत्। कथं केन प्रकारेण नक्षत्राणां दक्षिणत उत्तरतः प्रमर्दतो यदि वा सूर्यनक्षत्रैर्विरहिततया अविरहिततया च चन्द्रस्य मार्गाश्चन्द्रस्य मण्डलगत्या परिभ्रमणरूपा मण्डलरूपा वा मार्गा आख्याता इति वदेत् ? भगवानाह– "ता एएसि णं इत्यादि। 'ता' इति पूर्ववत्, एतेषामष्टाविंशतिनक्षत्राणां मद्ध्ये, आस्तीति, निपातत्वादार्षत्वाद्वा सन्ति तानि नक्षत्राणि, यानि, णं इति वाक्यालङ्कारे, सदा चन्द्रस्य दक्षिणेन दक्षिणस्यां दिशि व्यवस्थितानि योगं युञ्जन्ति कुर्वन्ति। तथा सन्ति तानि नक्षत्राणि यानि सदा चन्द्रस्य उत्तरेण उत्तरस्यां दिशि व्यवस्थितानि योगं युञ्जन्ति, तथा सन्ति तानि नक्षत्राणि यानि चन्द्रस्य दक्षिणस्यामपि दिशि स्थितानि उत्तरस्यामपि दिशि स्थितानि योगं युञ्जन्ति, प्रमर्दमपि प्रमर्दरूपमपि योगं कुर्वन्ति, तथा सन्ति तानि नक्षत्राणि यानि

चन्द्रस्य दक्षिणास्यामपि दिशि व्यवस्थितानि योगं युञ्जन्ति प्रमर्दरूपमपि योगं युञ्जन्ति, अस्ति तन्नक्षत्रं यत् सदा चन्द्रस्य प्रमर्दरूपयोगं युनक्ति। एवं सामान्येन भगवतोक्ते भगवान् गौतमो विशेषावगमनिमित्तं भूयः प्रश्नयति–"ता एएसि णं" इत्यादि सुगमम्। भगवानाह–"ता एएसि णं" इत्यादि 'त' इति पूर्ववत्। एतेषामन्तरोदितानामष्टाविंशतिनक्षत्राणां मध्ये यानि नक्षत्राणि सदा चन्द्रस्य दक्षिणस्यां दिशि व्यवस्थितानि योगं कुर्वन्ति तानि षट्। तद्यथा–मृगशिर आर्द्रा पुष्योऽश्लेषा हस्तो मूलश्च, एतानि सर्वाण्यपि पञ्चदशस्य चन्द्रमण्डलस्य बहिश्चारं चरन्ति। तथा चोक्तं करणविभावनायाम्–" पन्नरसमस्स चंदमंडलस्स वाहिरओ। मगसिर अद्दा पुस्सो, असिलेहा हत्थ मूलो य ॥१॥ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तावप्युक्तम्–""संठाण अद्द पुस्सो, सिलेस हत्थो तहेव मूलो य। वाहिरओ वाहिरमं–डलस्स छप्पेते नक्खत्ता'' ॥१॥ ततः सदैव दक्षिणदिग्व्यवस्थितान्येव तानि चन्द्रेण सह योगं युञ्जन्त्युपपद्यन्ते, नान्यथेति, तथा तत्र तेषामष्टाविंशतेर्नक्षत्राणां मध्ये यानि तानि नक्षत्राणि यानि सदा सर्वकालं चन्द्रस्योत्तरेण उत्तरज्ञयां दिशि व्यवस्थितानि योगं युञ्जन्ति कुर्वन्ति तानि द्वादश। तद्यथा–"अभिई" इत्यादि। एतानि हि द्वादशाऽपि नक्षत्राणि सर्वाभ्यन्तरे चन्द्रमण्डले चारं चरन्ति। तथा चोक्तं करणविभावनायाम्–"से पढमे सव्वब्भंतरे चंदमंडलेनक्खत्ता इमोतं जहा–अभिई सवणो धणिट्ठा सतभिसया पुव्वभद्दवया उत्तरभद्दवया रेवई अस्सिणी भरणी पुव्वफग्गुणी उत्तरफग्गुणी साई" इति। यदा चैतैः सह चन्द्रस्य योगस्तदा स्वभावाच्चन्द्रः शेषेष्वेव मण्डलेषु वर्तते, ततः सदैवैतान्युत्तरदिग्व्यवस्थितान्येव चन्द्रमसा सह योगमुपयन्ति। तथा तत्र तेषामष्टाविंशतेर्नक्षत्राणां मध्ये यानि तानि नक्षत्राणि यानि चन्द्रस्य दक्षिणस्यामपि दिशि व्यवस्थितानि योगं युञ्जन्ति, उत्तरस्यामपि दिशि व्यवस्थितानि योगं युञ्जन्ति, प्रमर्दरूपमपि योगं युञ्जन्ति, तानि सप्त। तद्यथा–कृत्तिका रोहिणी पुनर्वस् मघा चित्रा विशाखा अनुराधा, केचित्पुनर्ज्येष्ठानक्षत्रमपि दक्षिणोत्तरप्रमर्दयोगि मन्यते। तथा चोक्तं लोकश्रियाम्–"पुणवसु रोहिणि चित्ता, मह जेट्ठाणुराह कत्तिय विसाहा। चंदस्स उभयजोगीति"। अत्र उभययोगीति व्याख्यानयता टीकाकृतोक्तम्–एतानि नक्षत्राणि उभययोगीनि–चन्द्रस्योत्तरेण दक्षिणेन च युञ्जन्ते, कदाचित् भेदमप्यपयान्तीति, तच्च वक्ष्यमाणज्येष्ठासूत्रेण सह विरोधीति न प्रमाणं, तत्र तेषामष्टाविंशतेर्नक्षत्राणां मध्ये ये ते नक्षत्रे, "णं" इति वाक्यालङ्कारे, सदा चन्द्रस्यः दक्षिणेनापि दक्षिणस्यामपि दिशि व्यवस्थिते योगं युक्तः, प्रमर्द्दं च प्रमर्द्दरूपं च योगं चुक्तः, ते, "णं" इति वाक्यालङ्कारे, द्वे आषाढे पूर्वाषाढोत्तराषाढरूपे, ते हि प्रत्येकं चतुस्तारे, तथा च प्रोगेवोक्तम्, – "पुव्वासाढे च उतारे पण्णत्ते त्ति" तत्र द्वे द्वे तारे सर्वबाह्यस्य पञ्चदशस्य मण्डलस्याभ्यन्तरतो द्वे द्वे बहिः। तथा चोक्तं करणविभावनायाम्–"पुव्वत्ताराणं आसाढाणं दो दो ताराओ अब्भिंतरओ, दो दो वाहिरओ सव्ववाहिरस्स मंडलस्स इति। ततो ये द्वे द्वे तारे अभ्यन्तरतस्तयोर्मध्ये न चन्द्रो गच्छतीति तदपेक्षया प्रमर्दं योगं युक्त इत्यपुच्यत, ये तु द्वे द्वे तारे बहिस्ते चन्द्रस्य पञ्चदशेऽपि मण्डले चारं चरतः सदा दक्षिणदिग्व्यवस्थिते, ततस्तदपेक्षया दक्षिणेन योगं युक्तं इत्युक्तम्। संप्रत्येतयोरेव प्रमर्दयोगभावनार्थं किञ्चिदाह–"ताओ य सव्ववाहिरे" इत्यादि। ते च पूर्वाषाढोउत्तराषाढारूपे नक्षत्रे चन्द्रेण सह योगमयुङ्क्त, युङ्क्ते, योक्ष्यते वा सदा सर्वबाह्ये मण्डले व्यवस्थिते, ततो यदा पूर्वाषाढोत्तराषाढाभ्यां सह चन्द्रो योगमुपेति तदा नियमतोऽभ्यन्तरतारकाणां मध्ये, न गच्छतीति तदपेक्षया प्रमर्दमपि योगं युक्त इत्युक्तम्, तथा तत्र तेषामष्टाविंशतेर्नक्षत्राणां मध्ये यत्तन्नक्षत्रं यत्सदा चन्द्रस्य प्रमर्दं प्रमर्दरूपं योग युनक्ति सा एका ज्येष्ठा, तदैवं मण्डलगत्या परिभ्रमणरूपाश्चन्द्रमार्गा उक्ताः। सू० प्र०।

संप्रति मण्डलरूपान् चन्द्रमार्गान् अभिधित्सुः प्रथमं तद्विषयं प्रश्नसूत्रमाह–

ता कति णं चंदमंडला पण्णत्ता ? ता पण्णरस चंदमंडला पण्णत्ता। एतेसि णं पण्णरसण्हं चंदमंडलाणं अत्थि चंदमंडला जे ण सत्ता नक्खत्तेण अविरहिया, अत्थि चंदमंडला जे णं सत्ता णक्खत्तेहिं विरहिया, अत्थि चंदमंडला जे णं रविससिन क्खत्ताणं सामण्णा भवंति, अत्थि चंदमंडला जे णं सत्ता आदिच्चेहिं विरहिया, ता एतेसि णं पण्णरसण्हं चंदमंडलाणं कयरे चंदमंडला जे णं सत्ता नक्खत्तेहिं अविरहिया० जाव कयरे चंदमंडला जे णं सदा आदिच्चविरहिता, ता एतेसि णं पण्णरसण्हं चंदमंडलाणं तत्थ जे ते चंदमंडला जे णं सदा णक्खत्तेहिं अविरहिता, ते णं अट्ठ, तं जहा–पढमे चंदमंडलेततिए चंदमंडले छट्ठे चंदमंडले सत्तमे चंदमंडले अट्ठमे चंदमंडले दसमे चंदमंडले एकादसे चंदमंडले पण्णरसमे चंदमंडले, तत्थ जे ते चंदमंडला जे णं सदा णक्खत्तेहिं विरहिया ते णं सत्त, तं जहा–बितिए चदमंडले चउत्थे चंदमंडले पंचमे चंदमंडले नवमे चंदमंडले वारसमे चंदमंडले तेरसमे चंदमंडले चउदसमे चंदमंडले, तत्थ जे ते चंदमंडला जे णं ससिरविनक्खत्ताणं सामण्णा भवंति, ते णं चत्तारि। तं जहापढमे चंदमंडले वीए चंदमंडले इक्कारसमे चंदमंडले पण्णरसमे चंदमंडले, तत्थ जे ते चंदमंडला जे णं सदा आदिच्चविरहिता ते णं पंच, जं जहा छट्ठे चंदमंडले सत्तमे चंदमंडले अट्ठमे चंदमंडले णवमे चंदमंडले दसमे चंदमंडले।

"ता कइ णं" इत्यादि। ता इति पूर्ववत्, कति किंसंख्यानि 'णं' इति वाक्यालङ्कारे, चन्द्रमण्डलानि प्रज्ञप्तानि ? भगवानाह–"ता पण्णरस" इत्यादि। ता इति प्राग्वत्। पञ्चदश चन्द्रमण्डलानि प्रज्ञप्तानि, तत्र पञ्च चन्द्रमण्लानि जम्बूद्वीपे, शेषाणि च दश मण्डलानि लवणसमुद्रे। तथाचोक्तं जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तौ–"जंबुद्दीवे णं भंते"! दीवे केवइयं ओगाहित्ता केवइया चंदमंडला पन्नता ?। गोयमा ! जंबुद्दीवे दीवे असीमं जोयणसयं ओगाहित्ता एत्थ णं पंच चंदमंडला पण्णत्ता। लवणे णं भंते ! समुद्दे केवइयं ओगा–हित्ता केवइया चंदमंडा पण्णत्ता ? गोयमा ! लवणे णं समुद्दे तिण्णि तीसे जोयणसयाइं ओगाहित्ता एत्थ णं दस चंदमंडला पण्णत्ता, एवामेवं सपुव्वावरेणं जंबुद्दीवे लवणे य पन्नरस चंदमंडला भवंतीति अक्खायं" 'ता' इत्यादि। 'ता' इति। तत्र तेषां पञ्चदशानां चन्द्रमण्डलानां मध्ये (अत्थित्ति) सन्ति चन्द्रमण्डलानि यानि सदा नक्षत्रैरविरहितानि, ततः सन्ति चन्द्रमण्डलानि यानि सदा नक्षत्रैर्विरहितानि, तथा स–

न्ति चन्द्रमण्डलानि यानि रविशशिनक्षत्राणं सामान्यानि साधारणानि। किमुक्तं भवति ?–रविरपि तेषु मण्डलेषु गच्छति, शश्यपि, नक्षत्राण्यपीति, तथा सन्ति चन्द्रमण्डलानि यानि सदा आदित्याभ्यां, 'सूत्रे द्वित्वेऽपि बहुवचनं प्राकृत्वात्' विरहितानि, येषु न कदाचिदपि द्वयोः सूर्ययोर्मध्ये एकोऽपि सूर्यो गच्छतीति भावः। एवं भगवता सामान्येनोक्ते भगवान् गौतमो विशेषावगमनिमित्तं भूयः प्रश्नयति–"ता एएसि णं'' इत्यादि, सुगमम्। भगवानाह–"" "ता एएसि णं इत्यादि। ता इति पूर्ववत्। एतेषां पञ्चदशानां चन्द्रमण्डलानां मध्ये यानि तानि चन्द्रमण्डलानि, यानि, णं इति प्राग्वत् सदा नक्षत्रैरविरहितानि तान्यष्टौ। तद्यथा– "पढमे चंदमंडले" इत्यादि। तत्र प्रथमे चन्द्रमण्डले अभिजिदादीनि द्वादश नक्षत्राणि। तथा त तत्र संग्रहणिगाथा– "अभिइ सवण धणिट्ठा, सयभिसया दो य होंति भद्दवया। रेवइ अस्सिणि भरणी, दो फग्गुणि साइ पढमंसि" ।१। तृतीये चन्द्रमण्डले पुनर्वसुमघे, षष्ठे चन्द्रमण्डले कृत्तिका, सप्तमे रोहिणीचित्रे, अष्टमे विशाखा, दशमे अनुराधा, एकादशे ज्येष्ठा, पञ्चदशे मृगशिर आर्द्रा पुष्योऽश्लेषा हस्तो मूलम् पूर्वाषाढा उत्तराषाढा च। तत्राद्यानि षट् नक्षत्राणि यद्यपि पञ्चदशस्य मण्डलस्य बहिश्चारं चरन्ति तथाऽपि तानि चन्द्रमण्डलानि, यानि सदा नक्षत्रैर्विरहितानि तानि सप्त। तद्यथा–द्वितीयं चन्द्रमण्डलमित्यादि। तथा तत्र तेषां पञ्चदशानां चन्द्रमण्डलानां मध्ये यानि तानि चन्द्रमण्डलानि रविशशिनक्षत्राणां सामान्यानि भवन्ति तानि, 'णं' इति प्राग्वत्॥ चत्वारि। तद्यथा– "पढमे चंदमंडले इत्यादि। तथा तत्र तेषां पञ्चदशानां चन्द्रमण्डलानां मध्ये यानि तानि चन्द्रमण्डलानि, यानि सदा आदित्याभ्यां विरहितानि तानि पञ्च। तद्यथा– "छट्ठे चंदमंडले" इत्यादि सुगमम्। एतद्गणनाच्च यान्यभ्यन्तराणि पञ्च चन्द्रमण्डलानि। तद्यथा–प्रथमं द्वितीयं तृतीयं चतुर्थं पञ्चमं, यानि च सर्वबाह्यानि पञ्चचन्द्रमण्डलानि, तद्यथा–एकादशं द्वादशं त्रयोदशं चतुर्दशं पञ्चदशमित्येतानि दश तानि सूर्यस्यापि साधारणानीति गम्यते। तथा चोक्तमन्यत्र–

"दस चेव मंडलाइं, अब्भितरवाहिरा रविससीणं।
सामन्नाणि उ नियमा, पत्तेया होंति सेसाणि" ॥१॥

अस्याक्षरगमनिका–पञ्चाभ्यन्तराणि, पञ्च बाह्यानि, सर्वसंख्यया दश मण्डलानि नियमाद् रविशशिनोः सामान्यानि साधारणानि, शेषाणि तु यानि पञ्च चन्द्रमण्डलानि षष्ठादीनि दशपर्यन्तानि प्रत्येकान्यसाधारणानि चन्द्रस्य, तेषु चन्द्र एव गच्छति, न तु जातु कदाचिदपि सुर्य इति भावः। इह किं चन्द्रमण्डलं कियता भागेन सूर्यमण्डलेन स्पृश्यते, कियन्ति वा चन्द्रमण्डलस्यापान्तराले एव सूर्यमण्डलानि, कथं वा षडादीनि दशपर्यन्तानि पञ्च चन्द्रमण्डलानि सूर्येण न स्पृश्यन्ते, इति चिन्तायां विभागोपदर्शनं पूर्वाचार्यैः कृतम्, ततस्तद्विनेयजनानुग्रहायोपदइयते–तत्र प्रथमत एतद्विभावनार्थं विकम्पक्षे–त्रकाष्ठा निरूप्यते–इह सूर्यस्य विकम्पक्षेत्रकाष्ठा पञ्चयोजनशतानि दशोत्तराणि। तथाहि–यदि सूर्यस्यैकेनाहोरात्रेण विकम्पो द्वे योजने, एकस्य च योजनस्याष्टाचत्वारिंशदेकषष्टिभागा लभ्यन्ते, तत स्त्र्यशीत्यधिकेनाहोरात्रशतेन किं लमामहे ? राशित्रयस्थापना–१।२/४०।१८३। अन्त्र सवर्णेनार्थं द्वे योजने एकषष्टया गुण्यते गुणयित्वा चोपरितना अष्टाचत्वारिंशदेकषष्टिभागाः प्रक्षिप्यन्ते, ततो जातं सप्तत्यधिकं शतम् १७०, एतत् अशीत्यधिकेन शतेनान्यराशिना गुण्यते, जातान्येकत्रिंशत्सहस्राणि शतमेकं दशोत्तरम् ३११९०। तत एतस्य राशेर्योजनानयनार्थमेकषष्टया ६१ भागो ह्रियते, लब्धानि पञ्च योजनशतानि दशोत्तराणि ५१०, एतावती सूर्यस्य विकम्पक्षेत्रकाष्ठा। चन्द्रमसः पुनर्विकम्पक्षेत्रकाष्ठा पञ्च योजनशतानि नवोत्तराणि, एकस्य च योजनस्य त्रिपञ्चाशदेकषष्टिभागाः। तथाहि–यदि चन्द्रमस एकेनाहोरात्रेण विकम्पः षट् त्रिंशद्योजनानि, एकस्य च योजनस्य पञ्चविंशतिरेकषष्टि-भागाः, एकस्य च एकषष्टिभागस्य चत्वारः सप्त भागा लभ्यन्ते, ततश्चतुर्दशभिरहोरात्रैः किं लभामहे ? राशित्रयस्थापना–

१ ३६ ६१
२५ ४

६१ ७ अत्र सवर्णेनार्थं प्रथमतः षट्त्रिंशत् एकषष्ट्या गुण्यते, गुणयित्वा चोपरितनाः पञ्चविंशतिरेकषष्टिभागास्तत्र प्रक्षिप्यन्ते, जातानि द्वाविंशतिशतानि एकविंशत्यधिकानि २२२१। एतानि सप्तभिर्गुणयित्वा चोपरितनाश्चत्वारः सप्तभागास्तत्र प्रक्षिप्यन्ते, ततो जातानि पञ्चदशसहस्राणि पंचशतान्येकपञ्चाशदधिकानि १५५५१, ततो योजनानयनार्थम् ६१।७। छेदराशिरप्येकषष्टिलक्षणः सप्तभिर्गुण्यते, जातानि चत्वारि शतानि सप्तविंशत्यधिकानि ४२७, तत उपरितनो राशिश्चतुर्दशभिरन्त्यराशिरूपैर्गुण्यते, ततो जाते द्वे लक्षे सप्तदश सहस्राणि सप्तशतानि चतुर्दशाधिकानि २१७७१४, ततश्छेद्यछेदकराश्योः। सप्तभिरपवर्तना जाता, उपरितनो राशिरेकत्रिंशत्सहस्राणि शतमेकं द्व्युत्तरं ३११०२, छेदराशिरेकषष्टिः, ततस्तया भागे हृते लब्धानि पञ्चयोजनशतानि नवोत्तराणि, एकस्य च योजनस्य त्रिपञ्चाशदेकषष्टिभागाः ५०६।५३, एतावती चन्द्रमसो विकम्पक्षेत्रे काष्ठा, सूर्यमण्डलस्य च परस्परमन्तरं द्वे द्वे योजने, चन्द्रमण्डलस्य च परस्परम् अन्तरं पञ्चत्रिंशत्योजनानि, एकस्य च योजनस्य त्रिंशदेकषष्टि ३०।६१ भागाः, एकस्य च एकषष्टिभागस्य चत्वारः सप्त भागाः। उक्तं च जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तौ– "सूरमंडलस्य णं भंते ! सूरमंडलस्स एसणं केवइअं अवाहाए अंतरे पण्णत्ते ? गोअमा ! दो जोअणाइं सूरमंडलस्स सूरमंडलस्स अवाहाए अंतरे पण्णत्ते, तथा चंदमंडलस्स णं भंते ! चंदमंडलस्स एसणं केवइए अवाहाए अंतरे पण्णत्ते ? गोअमा ! पंचतीस जोयणाइं तीसं च एगसट्ठि भागा जोअणस्स एगं च एगसट्ठिभागं सत्तहा छित्ता चत्तारि च चुण्णिआ भागा, सेसा चंदमंडलस्स, चंदमंडलस्स अवाहाए अंतरे पण्णत्ते" इति। एतदेव च सूर्यमण्डलस्य च स्वस्वमण्डलविष्कम्भपरिमाणमुक्तं सूर्यस्य चन्द्रमसश्च विकम्परिमाणमवसेयम्। तथा चोक्तम्–सूरविकंपो एको, समंडला मंडलंतरिया।

"सूरविकंपा एको, संमडला होइ मंडलंतरिया।
चंदविकपो य तहा, संमडला मण्डलंतरिया ॥१॥"

अस्या गाथाया अक्षरगमनिका–एकः सूर्यविष्कम्भो भवति, (मंडलंतरिय त्ति) अन्तरमेव आन्तर्यं, भेषजादित्वात् स्वार्थे ट्यण्, ततः स्त्रीत्वविवक्षायां ङीप्प्रत्यते आन्तरी, आन्तर्येव आन्तरिका मण्डलस्य मण्डलान्तरिका (संमडल त्ति) इह मण्डलशब्देन मण्डलविष्कम्भ उच्यते, परिमाणे परिमाणवत् उपचारात्, ततः सह मण्डलेन मण्डलविष्कम्भपरिमाणेन वर्तते इति समण्डला। किमुक्तं भवति ?–एकस्य सूर्यमण्डलान्तरस्य यत्परिमाणं योजनद्वयलक्षं तदेव सूर्यमण्डलविष्कम्भपरिमाणेन अष्टा चत्वारिंशदेकषष्टिभागलक्षेण सहितमेकस्य सूर्यवि–

कम्पस्य परिमाणमिति, तथा मण्डलान्तरिका चन्द्रमण्डलपरिमाण पञ्चत्रिंशत् योजनानि, एकस्य च योजनस्य त्रिंशदेकषष्टिभागा एकस्य चैकषष्टिभागस्य चत्वारः सप्त भागा इत्येवंरूपम् । (संमडल त्ति) मण्डलविष्कम्भपरिमाणेन सहित एकश्चन्द्रविकम्पो भवति ।

यस्तु विकम्पक्षेत्रकाष्ठादर्शनतो विकम्पपरिमाणं ज्ञातुमिच्छति तं प्रतीयं पूर्वाचार्योपदर्शिता करणगाथा–

"सगमंडलेहि लद्धं, सगकट्ठाओ हवंति सविकंपा ।
जे सगविक्खंभजुया, हवंति सगमंडलंतरिया ॥१॥"

अस्याक्षरमात्रगमनिका–ये चन्द्रमसः सूर्यस्य वा विकम्पाः, कथं भूतास्ते इत्याह–स्वकविष्कम्भयुताः स्वकमण्डलान्तरिकाः, स्वस्वमण्डविष्कम्भपरिमाणसहितस्वस्वमण्डलान्तरिकारूपा इत्यर्थः । भवन्ति स्वकाष्ठातः स्वस्वविकम्पयोग्यक्षेत्रपरिमाणस्य स्वकमण्डलैः स्वस्वमण्डलसंख्यया भागे हृते यल्लब्धं तावत्परिमाणास्ते स्वविकम्पाः स्वस्वविकम्पः भवन्ति । क्षेत्रकाष्ठापञ्च योजनशतानि दशोत्तराणि ५१०, तान्येकषष्टिभागकरणार्थमेकषष्ट्या गुण्यन्ते, जातान्यै कत्रिंशत्सहस्राणि शतमेकं दशोत्तरं ३११९०, सूर्यस्य मण्डलानि विकम्पक्षेत्रे त्र्यशीत्यधिकं शतम् १८३, ततो योजनानायनार्थं त्र्यशीत्यधिकं मण्डलशतमेकषष्टया गुण्यते, जातान्येकादशसहस्राणि शतमेकं त्रिषष्ट्यधिकम् ११९६३, एतेन पूर्वराशेर्भागो ह्रियते, लब्धे द्वे योजने, शेषमुपरिष्टादुद्धरति सप्ताशीतिशतानि चतुरशीत्यधिकानि ८७८४ ततः संप्रत्येकषष्टिभागा आनेतव्या इत्यधस्तात् छेदराशिः त्र्यशीत्यधिकं शतम् १८३, तेन भागे हृते लब्धा अष्टाचत्वारिंशदेकषष्टिभागाः ४८६१, एतादेकैकस्य सूर्यविकम्पस्य परिमाणं तथा चन्द्रस्य विकम्पक्षेत्रकाष्ठा–पञ्च योजनशतानि नवोत्तराणि त्रिपञ्चाशच्चैकषष्टिभागा योजनस्य ५०९।५३ , तत्र योजनान्येकषष्टिभागकरणार्थम् एकषष्ट्या गुण्यन्ते, जातान्येकत्रिंशत्सहस्राणि एकोनपञ्चाशदधिकानि ३१०४९ तत उपरितनास्त्रिपञ्चाशदेकषष्टिभागाः प्रक्षिप्यन्ते ६१, जातान्येकत्रिंशत्सहस्राणि शतमेकं द्व्युत्तरम् ३११०२, चन्द्रस्य तु विकम्पक्षेत्रमध्ये मण्डलानि चतुर्दश १४, ततो योजनार्थं चतुर्दश एकषष्ट्या गुण्यन्ते, जातान्यष्टौ शतानि चतुःपञ्चाशदधिकानि ८५४, तैः पूर्वराशेर्भागो ह्रियते, लब्धानि षट्त्रिंशद्योजनानि ३६, शेषाणि तिष्ठन्ति त्रीणि शतान्यष्टापञ्चाशदधिकानि ३५८, अत ऊर्ध्वम् एकषष्टिभागा आनेतव्याः, ततश्चतुर्दशरूपोऽधस्तात् छेदराशिः १४ तेन भागे हृत्ते सप्तभागकरणार्थं सप्तभिर्गुण्यन्ते, पञ्चविंशतिरेकषष्टिभागाः २५।६१ शेषास्तिष्ठन्त्यष्टौ ८ । ते सप्तभागकरणार्थं सप्तभिर्गुण्यन्ते, जाताः षट्पञ्चाशत् ५६, तस्याश्चतुर्दशभिर्भागे हृते लब्धाश्चत्वारः सप्तभागाः, एतावत्परिमाण एकैकश्चन्द्रविकम्प इति, तदेवं चन्द्रस्य सूर्यस्य च विकम्पक्षेत्रकाष्ठा चन्द्रमण्डलानां सूर्यमण्डलानां च परस्परमन्तरमुक्तम् । संप्रति प्रस्तुतममिधीयते–तत्र सर्वाभ्यन्तरे चन्द्रमण्डले सर्वाभ्यन्तरं सूर्यमण्डलं सर्वात्मना प्रविष्टं, केवलमष्टावेकषष्टिभागाश्चन्द्रमण्डलस्य बहिः शेषा वर्तन्ते । चन्द्रमण्डलात् सूर्यमण्डलस्याष्टाभिरेकषष्टिभागैर्हीनतवात्ततो द्वितीयाचन्द्रमण्डलादर्वागपान्तराले द्वादश सूर्यमार्गाः । तथाहि–द्वयोश्चन्द्रमण्डलयोन्तरं पञ्चत्रिंशत् योजना नि, त्रिंशच्चैकषष्टिभागा योजनस्य, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्काश्चत्वारः सप्तभागाः, तत्र योजनान्येकषषष्टिभागकरणार्थमेकषष्ट्या गुण्यन्ते, गुणयित्वा चोपरितनास्त्रिंकषष्टिभागाः प्रक्षिप्यन्ते, जातान्येकविंशतिशतानि पञ्चषष्ट्यधिकानि २१६५, सूर्यस्य विकल्पा द्वे योजने अष्टाचत्वारिंशदेकषष्टिभागा योजनस्य, तत्र द्वे योजने एकषष्ट्या गुण्येते, जातं द्वाविंशशतम् १२२, तत उपरितना अष्टाचत्वारिंशदेकषष्टिभागा योजनस्य प्रक्षिप्यन्ते, जातं सप्तत्यधिकं शतं १७०, तेन पूर्वराशेर्भागो ह्रियते, लब्धा द्वादश, एतावन्तोऽपान्तराले सूर्यमार्गा भवन्ति, शेषं तिष्ठति पञ्चविंशशतं १२५, तत्र द्वाविंशेन शतेन द्वादशस्य सूर्यमार्गस्योपरि द्वे योजने लब्धे, शेषास्तिष्ठन्ति त्रय एकषष्टिभागाः, येऽपि च प्रथमे चन्द्रमण्डले रविमण्डलात् शेषा अष्टावेकषष्टिभागास्तेऽप्यत्र प्रक्षिप्यन्ते इति जाता एकादश एकषष्टिभागाः, तत इदमागतं द्वादशात्सूर्यमार्गात्परतो द्वितीयाचन्द्रमण्डलादर्वाग् द्वे योजने, एकादश च एकषष्टिभागा योजनस्य, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्काश्चत्वारः सप्तभागाः, तत्र योजनद्वयानन्तरं सूर्यमण्डलमतो द्वितीयाचन्द्रमण्डलादर्वागभ्यन्तरं प्रविष्टं सूर्यमण्डलम्, एकादशे एकषष्टिभागानेकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्कान् चतुरः सप्तभागान्, ततः परं षट्त्रिंशदेकषष्टिभागा एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्कास्त्रयः सप्तभागा इत्येतावत्परिमाणं सूर्यमण्डलं चन्द्रमण्डलसंमिश्रं, ततः सूर्यमण्डलात्परतो बहिर्विनिर्गतं चन्द्रमण्डमलमेकोनविंशतिमेकषष्टिभागानेकस्य च एकषष्टिभागस्य चतुरः सप्तभागान्, ततः परं भूयस्तृतीयाचन्द्रमण्डलादर्वाग् यथोक्तपरिमाणमन्तरम् । तद्यथा–पञ्चत्रिंशत्योजनानि त्रिंशदेकषष्टिभागा योजनस्य, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्काश्चत्वारः सप्तभागाः, एतावति चान्तरे द्वादश सूर्यमार्गा लभ्यन्ते, उपरि च द्वे योजने त्रयश्चैकषष्टिभागा योजनस्य, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्काश्चत्वारः सप्तभागाः, ततोऽत्र प्रागुक्ता द्वितीयस्य चन्द्रमण्डलस्य सत्काः सूयमण्डलाद् बहिर्विनिर्गता एकोनविंशतिरेकषष्टिभागाः, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य चत्वारः सप्तषष्टिभागाः प्रक्षिप्यन्ते, ततो जातास्त्रयोविंशतिरेकषष्टिभागाः, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्क एकः सप्तभागः, तत इदमायातं द्वितीयाचन्द्रमण्डलात्परतो तिक्रमेण सूर्यमण्डलं, तच्च तृतीयाचन्द्रमण्डलादर्वागभ्यन्तरं प्रविष्टं, त्रयोविंशतिमेकषष्टिभागान् एकं च एकषष्टिभागासत्कं सप्तभागं, ततः शेषाश्चतुर्विंशतिरेकषष्टिभागाः, एकषष्टिभागस्य षट् सप्तभागाः सूर्यमण्डलस्य तृतीयचन्द्रमण्डलसंमिश्रः, ततस्तृतीयं चन्द्रमण्डलं सूर्यमण्डलाद् बहिर्विनिर्गतमेकत्रिंशतमेकषष्टिभागाद्, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्कमेकं सप्तभागं, ततो भूयोऽपि यथोक्तं चन्द्रमण्डलान्तरं, तस्मिंश्च द्वादश सूर्यमार्गा लभ्यन्ते, द्वादशस्य सूर्यमार्गस्योरपि द्वे योजने त्रय एकषष्टिभागा योजनस्य, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्काश्चत्वारः सप्तभागाः, ततो येऽत्र तृतीयमण्डलसत्काः सूर्यमण्डलाद् बहिर्विनिर्गत एकत्रिंशदेकषष्टिभागा योजनस्य, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्का एके सप्तभागाः तेऽत्र प्रक्षिप्यन्ते, ततो जाताश्चतुस्त्रिंशदेकषष्टिभागाः एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्काः पञ्च सप्तभागाः तत इदं वस्तुतत्त्वं जातंतृतीयाचन्द्रमण्डलात्परतो द्वादशसूर्यमार्गात्परतो योजनद्वयमतिक्रम्य सूर्यमण्डलं, तच्चचतुर्थाश्चन्द्रमण्मलादर्वाक् अभ्यन्तरं प्रविष्टं चतुस्त्रिंशतमेकषष्टिभागानेकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्कान् पञ्च सप्तभागान्, ततः शेषाः सूर्यमंण्डलस्य त्रयोदश एकषष्टिभागाः, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्कौ द्वौ भागौ, इत्येतावच्चदतुर्थचन्द्रमण्डलसंमिश्रं, चतुर्थस्य चन्द्रमण्डलमस्य सूर्यमण्डलाद बहिर्विनिर्गतद्विचत्वारिंशदेकषष्टिभागा एकषष्टिभा–

गस्य पञ्च सप्त भागाः, ततः पुनरपि यथोदितपरिमाणं । चन्द्रमण्ड-लान्तरं, तत्र च च द्वादश सूर्यमार्गा लभ्यन्ते, द्वादशभ्य च सूर्यमार्ग-स्योपरि द्वे योजने त्रय एकषष्टिभागा योजनस्य, एकस्य च एकषष्टि-भागस्य सत्कारश्चत्वारः सप्तभागाः, तत्र च ये चतुर्थस्य चन्द्रमण्डलस्य सूर्यमण्डलाद् बहिर्विनिर्गता द्वाचत्वारिंशदेकषष्टिभागाः,एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्काः पञ्च सप्तभागाः, तेऽत्र राशौ प्रक्षिप्यन्ते, ततो जाताः षट्चत्वारिंशदेकषष्टिभागाः, द्वौ च एकषष्टिभागस्य सत्कौ सप्तभागौ, तत एवं वस्तुस्वरूपमवगन्तव्यम्चतुर्थाच्चन्द्रमण्डलात्परतो द्वादश सूर्यमार्गाः, द्वादशाच्च सूर्यमार्गात्परतो योजनद्वयातिक्रमे योजनद्वयातिक्रमे सूर्यमण्डलं, तच्च पञ्चमाच्चन्द्रमण्डलादर्वाग् अभ्यन्तरं प्रविष्टं षट्चत्वारिंशमेकषष्टिभागान्, द्वौ च एकस्यैकषष्टिभागस्य सत्कौ सप्तभागौ, शेषं सूर्यमण्डलस्य एक एकषष्टिभागः, एकस्य च एकषष्टिभास्य पञ्च सप्तभागाः, इत्येतावत्परिमाणं, पञ्चमं चन्द्रमण्डलं संमिअं, तस्य च पञ्चमस्य चन्द्रमण्डलस्य सूर्यमण्डलाद् बहिर्विनिर्गतं चतुः पञ्चाशदेक-षष्टिभागा एकस्य च एकषष्टिभागस्य द्वौ सप्तभागौ, तदेवं पञ्च सर्वाभ्यन्त-राणि चन्द्रमण्डलानि सूर्यमण्डलसंमिश्राणि, चतुर्षु चन्द्रमण्डलान्तरेषु द्वादश द्वादश सूर्यमार्गा इति जातम्। संप्रति षष्ठादीनि दशमपर्यन्तानि पञ्च चन्द्रमण्डलानि सूर्यमण्डलासंस्पृष्टानि भाव्यन्ते-तत्र पञ्चमाच्चन्द्र-मण्डलात्परतो भूयः षष्ठं चन्द्रमण्डलमधिकृत्यान्तरं, तच्च पञ्चत्रिंशत्-योजनानि त्रिंशच्चैकषष्टिभागा योजनस्य, एकस्य च एकष्टिभागस्य सत्काश्चत्वारः सप्तभागाः, तत्र च पञ्चत्रिंशद्व्योजनान्येकषष्टिभाग करणार्थमेकषष्टया गुण्यन्ते, गुणयित्वा चोपरितनास्त्रिंश-देषष्टिभागाः प्रक्षिप्यन्ते, ततो जातान्येकविंशतिशतानि पञ्चषष्ट्यधि-कानि २१६५, येऽपि च पञ्चमस्य चन्द्रमण्डलस्य सूर्यमण्डलाद् बहिर्विनिर्गताश्चतुः पञ्चाशदेकषष्टिभागा द्वौ च एकषष्टिभागस्य सत्कौ सप्तभागौ,ते अत्र प्रक्षिप्यन्ते, जातानि द्वाविंशतिशतान्येकोनविंश-त्याधिकानि २२१९, सूर्यस्य विकम्पो द्वे योजने अष्टाचत्वारिंशदेकषष्टि-भागाधिके, तत्र द्वे योजने एकषष्ट्या गुण्येते, जातं द्वाविंशं शतमेक-षष्टिभागानां, तत उपरितना अष्टाचत्वारिंशदेकषष्टिभागाः प्रक्षिप्यन्ते, जातं सप्तत्यधिकं शतम् १७०, तेन पूर्वराशेर्भागो ह्रियते, लब्धास्त्रयोदश, शेषास्तिष्ठन्ति नव, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्काः षट् सप्तभागाः, तत इदमागतं पञ्चमाच्चन्द्रमण्डलात्परस्त्रयोदश सूर्यमार्गास्त्रयोदशस्य च सूर्यमार्गस्योपरि षष्ठाच्चन्द्रमण्डलादर्वाक् अन्तरं नव एकषष्टिभागा योजनस्य, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्काः षट् सप्तभागाः, ततः परतः षष्ठं चन्द्रमण्डलं, तच्च षट्पञ्चाशदेकषष्टिभागात्मकं, ततः परतः सूर्यमण्डलादर्वागन्तरं षट्पञ्चादेकषष्टिभागाः, एकस्य चैकषष्टिभागस्य एकः सप्तभागः, तदनन्तरं सूर्यमण्डलं, तस्माच्च परत एकषष्टिभागानां चतुरुत्तरेण शतेन एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्केनैकेन सप्तभागेन हीनं यथोदितप्रमाणं चन्द्रमण्डलान्तरं प्राप्यते, तस्मात्सूर्यभार्गात्परतोऽन्ये द्वादश सूर्यमार्गा लभ्यन्ते, ततः सर्वसंकलनया तस्मिन्नप्यन्तरे त्रयोदश सूर्यमार्गाः, तस्य च त्रयोदशस्य सूर्यमार्गस्योपरि सप्तमाच्चन्द्रमण्डला-दर्वाक् अन्तरमेकविंशतिरेकषष्टिभागा एकस्य च एकषष्टिभागस्य त्रयः सप्तभागाः ततः सप्तमं चन्द्रमण्डलं, तस्माच्च सप्तमाच्चन्द्रमण्डलात् परतः चतुश्चत्वारिंशता एकषष्टिभागैरेकस्य च एकषष्टिषष्टिभागैश्चतुर्भिश्च एकस्य एकषष्टिभागस्य सत्कैः सप्तभागैर्न्यूनं यथोदितप्रमाणं चन्द्रमण्डलान्तर, ततः परमस्तीत्यनेनापि द्वादश सूर्यमार्गा लभ्यन्ते, ततस्तस्मिन्नप्यन्तरे सर्वसङ्कलनया त्रयोदश सूर्यमार्गास्त्रयोदशस्य सूर्यमार्गस्य बहिरष्टमाच्चन्द्रमण्डलादर्वाग् अन्तरं त्रयस्त्रिंशदेकषष्टिभागाः, ततोऽष्टमं चन्द्रमण्डलं, तस्माच्चाष्टमाच्चन्द्रमण्डलात्परतस्त्रयस्त्रिंशता एकषष्टिभागैः सूर्यमण्डलं, तत एकाशीतिसंख्यैरेकषष्टिभागैरूनं यथोदितप्रमाणं चन्दमण्डलान्तरं पुरतो विद्यते इति ततः पुरतोऽन्येऽपि द्वादश सूर्यमार्गाः, ततस्तस्मिन्नप्यन्तरे सर्वसंकलनया त्रयोदश सूर्यमार्गाः त्रयोदशाच्च सूर्यमार्गात्परतो नवमाच्चन्द्रमण्डलादर्वागन्तरं, चतुश्चत्वा-रिंशदेकषष्टिभागा एकस्य च एकषष्टिभागस्य चत्वारः सप्तभागाः, ततः परं नवमं चन्द्रमण्डलं, तस्माच्च नवमाच्चन्द्रमण्डलात्परत एकविंशत्या एकषष्टिभागैरेकस्य च एकषष्टिभागस्य त्रिभिः सप्तभागैः सूर्यमण्डलं, तत एकोनसप्ततिसंख्यैरेकषष्टिभागैरेकस्य च एकषष्टिभागस्य त्रिभिः सप्तभागैः परिहीणं यथोक्तप्रमाणं चन्द्रमण्डलान्तरं, तत्र चान्ये द्वादश सूर्यमार्गाः, एवं चास्मिन्नप्यन्तरे सर्वसंकलनया त्रयोदश सूर्यमार्गाः, तस्य च त्रयोदशस्य सूर्यमार्गस्योपरि दशमाच्चन्द्रमण्डलादर्वाक् अन्तरं षट्पञ्चा-शदेकषष्टिभागाः, एकस्य च एकषष्टिभागस्य एकः सप्तभागः, ततो दशमं चन्द्रमण्डलं, तस्माच्च दशमाच्चन्द्रमण्लात्परतो नवभिरेकषष्टिभागैरेकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्कैः षड्भिः सप्तभागैः सूर्यमण्डलं, ततः सप्तपञ्चा-शता एकषष्टिभागैरेकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्कैः षडभिः सप्तभागैरूनं प्रागुक्तपरिमाणं चन्द्रमण्डलान्तरं, ततो भयोऽपि द्वादश सूर्यमार्गा लभ्यन्ते, इति तस्मिन्नप्यन्तरे सर्वसकलनया त्रयोदश सूर्यमार्गाः, ततस्त्रयोदशस्य सूर्यमार्गस्योपरि एकादशाच्चन्द्रमण्डलादर्वागन्तरं सप्तषष्टिभागाः, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्काः पञ्च सप्तभागाः, तदेवं पञ्च चन्द्रमण्डलानि षष्ठादीनि दशमपर्यन्तानि सूर्यसंमिश्राणि षट्सु च चन्द्रमण्डलान्तरेषु त्रयोदश सूर्यमार्गा इति जातम्, सप्रत्येतदन्तरमुच्यते-तत्र एकादशे चन्द्रमण्डले चतुःपञ्चाशदेकषष्टिभागाः, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्कौ द्वौ सप्तभागौ, इत्येतावत् सूर्यमण्डलादभ्यन्तरं प्रविष्ट एक एकषष्टिभागः, एकस्य च एकषष्टिभागस्य पञ्च सप्तभागाः इत्येतावन्मात्रं सूर्यमण्डलसंमिश्रम् एकादशाच्चन्द्रमण्डलाद् बहिर्विनिर्गतं सूर्यमण्डलं षट्चत्वारिंशदेकषष्टिभागाः, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्कौ द्वौ सप्तभागौ, तत एतावता हीनं परतश्चन्द्रमण्डलान्तरमस्तीति द्वादश सूर्यमार्गा लभ्यन्ते, ततः पैरमेकोनाशीत्या एकषष्टिभागैरेकल्प च एकषष्टिभागस्य सत्काभ्यां द्वाभ्यां सप्तभागाभ्यां द्वादशं चन्द्रमण्डलं, तच्च द्वादशं चन्द्रमण्डलं सूर्यमण्डलादभ्यनतर प्रविष्टं द्वाचत्वारिंशतमेकषष्टि-भागान्, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्कान् पञ्च सप्तभागान्, शेषं च त्रयोदश एकषष्टिभागा योजनस्य एकषष्टिभागस्य सत्कौ द्वौ सप्तभागौ, इत्येतावन्मात्रं सूर्यमण्डलसंमिश्रं, तस्माच द्वादशाचन्द्रमाण्डलाद् बहिर्विनिर्गतं सूर्यमण्डलं चतुस्त्रिंशतमेकषष्टिभागान् योजनस्य, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्कान् पञ्च सप्तभागान्, तत एतावन्मात्रेण हीनं परतश्चन्द्रमण्डलान्तरं, तत्र च द्वादश सूर्यमार्गा लभ्यन्ते, द्वादशच्च सूर्यमार्गात्परतो नवतिसंख्यैरेकषष्टि-भागैरेकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्कैः षड्भिः सप्तभागैस्त्रयोदशं चन्द्रमण्डलं, तच्च त्रयोदशं चन्द्रमण्डलं सूर्यमण्डलादभ्यन्तरं प्रविष्टम् एक-

त्रिंशतमकेषाष्टभागान्, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्कमेक सप्तभागं, शेषं चतुर्विंशतिरेकषष्टिभागाः एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्क षट् सप्तभागा इत्येतावन्मात्रं सूर्यमण्डलसंमिश्रं, तस्माश्च त्रयोदशाच्चन्द्रमण्डलाद्बहिः सूर्यमण्डलं विनिर्गतं त्रयोविंशतिमकेषष्टिभागान्, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्कमेकं सप्तभागं, तत एतावता हीनं परतश्चन्द्रमण्डलान्तरं, तत्र च द्वादश सूर्यमार्गाः द्वादशाश्च सूर्यमार्गात्परत एकषष्टिभागानां द्व्युत्तरेण शतेन एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्कैस्त्रिभिः सप्तभागैश्चतुर्दशं चन्द्रमण्डलं, तश्चतुर्दशं चन्द्रमण्डलं सूर्यमण्डलादभ्यन्तरं प्रविष्टमेकोनविंशतिमेकषष्टिभागानेकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्कान् चतुरः सप्तभागान्, शेषं षट् त्रिंशदेकषष्टिभागा एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्कास्त्रयः सप्तभागा इत्येतावत्परिमाणं सूर्यमण्डलसंमिश्रं, तस्माच्चतुर्दशाचन्द्रमण्डलाद्बहिर्विनिर्गतं सूर्यमण्डलमेकादश, एकस्य च एकषष्टिभागस्य चतुरः सप्तभागान्, तत एतावता हीनं यथोक्तपरिमाणं चन्द्रमण्डलान्तरं, तत्र च द्वादश सूर्यमार्गाः, द्वादशाच्च सूर्यमार्गात्परत एकषष्टिभागानां चतुर्दशोत्तरेण शतेन पञ्चदशं चन्द्रमण्डलं सर्वस्मात्सूर्यमण्डलादर्वागभ्यन्तरं प्रविष्टमष्टावेकषष्टिभागान्, शेषा अष्टाचत्वारिंशदेकषष्टिभागाः सूर्यमण्डलसंमिश्राः, तदेवमेतान्येकादशादीनि पञ्चदशपर्यन्तानि पञ्चचन्द्रमण्डलानि सूर्यमणडलसंमिश्राणि भवन्ति, चतुर्षु च चरमेषु चन्द्रमण्डलान्तरेषु द्वादश सूर्यमार्गाः एवं तु यदन्यत्र चन्द्रमण्डलान्तरेषु सूर्यमार्गप्रतिपादनमकारि, यथा-"चंदंतरेसु अट्ठसु, अब्भिंतरबाहिरेसु सूरस्स। वारस वारस मग्गा, छसु तेरस तेरस भवंति" ॥१॥ तदपि संवादि द्रष्टव्यम्। सू०प्र०११ पाहु०।

चंदमहत्तर–पुं०–(चन्द्रमहत्तर)। षष्ठकर्मग्रन्थस्य टीकाकारके गणिनि, जै० इ०।

चंदमा–पुं०–(चन्द्रमस्)। चन्द्र, सान्तोऽयं शब्दः प्रथमैक–वचनान्त आदन्त उपलभ्यते। "णक्खत्ताणं च चंदमा" सूत्र०१ श्रु०११ अ०। चन्द्रदृष्टान्तप्रतिपादके दशमे ज्ञाताध्ययने, स०१६ सम०।

चंदमालिया–स्त्री०–(चन्द्रमालिका)। चन्द्राकृतिमालायाम्, औ०।

चंदमास–पुं०–(चान्द्रमास)। चन्द्रे भवश्चान्द्रः, स चासौ मासश्च। कृष्णपक्षप्रतिपद आरभ्य यावत्पूर्णमासीपरिसमाप्तिस्तावत्कालमाने मासभेदे, स च एकोनत्रिंशदहोरात्राणि द्वात्रिंशच्च द्वाषष्टिभागा अहोरात्रस्य २ कर्ममास ऋतुमास इत्येकोऽर्थः। स त्रिंशद्दिवसप्रमाणः। बृ०१ उ०। स०। नि० चू०। सू० प्र०। ज्यो०। (चान्द्रो मासो यथा चन्द्रमण्डलैर्निष्पद्यते तथा "चंदमंडल" शब्देऽत्रैव भागे ८४ पृष्ठे समुक्तम)

चंदरिसि–पुं०–(चन्द्रर्षि)। पञ्चसंग्रहकर्तरि, पं० सं०५ द्वार।

चंदलक्खण–न०–(चन्द्रलक्षण)। कलाभेदे, स०।

चंदलेसा–स्त्री०–(चन्द्रलेश्या)। चन्द्रस्य लेश्या, लेश्या दीप्तिस्तत्कारणत्वान्मण्डलम्। चन्द्रमण्डले, स०१५ सम०। चतुर्थदेवलोकस्थे विमानभेदे, न०। स०३ सम०।

चंदलेहा–स्त्री०–(चन्द्रलेखा)। चन्द्रं चन्द्रकान्तिं लिखति, लिख्अण्। उप० स०। "हाकुच ख्याते लताभेदे, चन्द्ररेखायाम्, पञ्चदशाक्षरे छन्दोभेदे, वाच०। राजपुरनगरराजस्य समरकेतोः कन्यायाम्, दर्श०। "जंबुद्दीवे सिंहलदीवे रयणदोससि रिपुरनयरे चंदगुत्तो राया, तस्य चंदलेहा भारिआ" जम्बूद्वीपस्थचन्द्रगुप्तस्य राज्ञो भार्यायाम्, ती०१० कल्प। "सिरिसालिवाहणरन्नो चंदलेहाभिहाणा महासई देवी" शालिवाहन राज्ञः स्वनामख्यातायां महासत्यां स्त्रियाम्, ती०५३ कल्प।

चंदवडिंसग–न०–(चन्द्रावतंसक)। चन्द्रस्य ज्योतिष्केन्द्रस्य विमान, च०प्र०१८ पाहु०। सू० प्र०। साकेतनगरस्याधिपतौ मुनिचन्द्राभिधानस्य मुनेः पितरि, उत्त०१३ अ०। आ० म०। आ० चू०।

चंदवण्ण–न०–(चन्द्रवर्ण)। चतुर्थदेवलोकस्थे स्वनामख्याते विभागे, स०३ सम०।

चंदवयणा–स्त्री०–(चन्द्रवदना)। विश्वपुरराजपुत्रमहेन्द्रमित्रस्य मदनश्रेष्ठिपुत्रस्य भार्यायाम्, ग०३ अधि०।

चंदवागरण–न०–(चन्द्रव्याकरण)। विंशतेर्व्याकरणानां मध्ये चतुर्थे व्याकरणे, कल्प०१ क्षण।

चंदविकंप–पुं०–(चन्द्रविकम्प)। चन्द्रस्य विकम्पक्षेत्रे, (ज्यो०)

परस्परं चन्द्रसूर्य्यविकम्पाः–

चंदंतरेसु अट्ठसु, अब्भिंतरबाहिरेसु सूरस्स।
वारस वारस मग्गा, छसु तेरस तेरस भवंति॥

इह चन्द्रमण्डलानामन्तराणि चतुर्दश तथाहि–पञ्चदश चन्द्रमसो मण्डलानि पञ्चदशानां चान्तराणि चतुर्दश भवन्ति, नाधिकानि। तत्र सर्वाभ्यन्तरेषु चतुर्षु चन्द्रमण्डलान्तरेषु चतुर्षु च सर्वबाह्येषु चन्द्रमण्डलान्तरेषु प्रत्येकं द्वादश सूर्यमार्गा भवन्ति, षट्सु च चन्द्रमण्डलान्तरेषु मध्यवर्ति त्रयोदश त्रयोदश मार्गा भवन्ति। अथ कथमंतदवसीयते-एकैकस्मिन् चन्द्रमण्डलान्तरे द्वादश त्रयोदश वा सूर्यमार्गा भवन्ति इति ?

एतदर्थमेकैकस्मिन् चन्द्रविकम्पे यावन्तः सूर्यविकम्पाभवनित तावतः प्रतिपादयिषुः करणमाह–

चंदविकंपं एक्कं, सूरविकंपेण भायए नियमा।
जावइ भागं लद्धं, पूरविकंपाउ ते होंति॥

एकं चन्द्रविकम्पं षट्शतयोजनानि पञ्चविंशतिरेकषष्टिभागा योजनस्य एकषष्टिभागस्य सप्तधा छिन्नस्य सत्काश्चत्वारो भागा इत्येवंरूपे सूर्यविकम्पेन द्वे योजने अष्टचत्वारिंशदेकषष्टिभागा योजनस्य एकषष्टिरित्येवंप्रमाणेन नियमान्निश्चयेन भाजयेत्, विभक्ते च सति यावद् भागं लब्धं भवति तावत् प्रमाणास्ते सूर्यविकम्पा भवन्ति, तत एवं सूर्यविकम्पान् ज्ञात्वाः। तद्यथा-प्रथमे सर्वाभ्यन्तरे सूर्यमण्डले सूर्योपरि भ्रमति चन्द्रोऽपि, चन्द्रश्च द्वितीयवदिने तन्मण्डलक्षेत्राश्च बहिरन्तरं, पञ्चत्रिंशद् योजनानि त्रिंशतं चैकषष्टिभागान् योजनस्य, एकस्य चैकषष्टिभागस्य सप्तधा छिन्नस्य सत्कान् चतुरो भागान् विकम्प्य चारं चरति, ततो विकम्पस्य परिमाणं षट्त्रिंशद्योजनानि पञ्चविंशतिरेक-षष्टिभागा प्रोजनस्य, एकम्य च एकषष्टिभागस्य सप्तधा छिन्नस्य सत्काश्चत्वारो भागाः। अत्र योजनराशिरेकषष्टिभागकरणार्थमेकषष्ट्या गुण्यते, जातान्येकविंशति शतानि षण्णवत्यधिकानि २१९६, ये च उपरितनाः पञ्चविंशतिरेक षष्टिभागास्तेऽप्यत्र–

प्रक्षिप्यन्ते, जातानि द्वाविंशतानि एकविंशत्याधिकानि २२२१, सूर्यविकम्पो द्वे योजने अष्टाचत्वारिंशदेकषष्टिभागा योजनस्य, तत्र द्वे योजने एकषष्टिभागकरणार्थमेकषष्ट्या गुण्येते, जातं द्वाविंशत्यधिकं शतं १२२, तत उपरितना अष्टाचत्वारिंशदेकषष्टिभागाः प्रक्षिप्यन्ते, जातं सप्तत्यधिकं शतम् १७०, एतेन पूर्वराशेर्भागो ह्रियते, लब्धास्त्रयोदश, एतावन्तः सूर्यविकम्पा एकस्मिन् चन्द्रविकम्पे भवन्ति, शेषे तिष्ठन्त्येकादश एकषष्टिभागाः, एकस्य चैकषष्टिभागस्य सप्तधा छिन्नस्य सत्काश्चत्वारो भागाः, द्वयाश्च चन्द्रमण्डयोरपान्तराले द्वादश सूर्यमार्गा भवन्ति, एकस्य सूर्यमार्गस्य सर्वाभ्यन्तरे एव मण्डले भावात्। एवं शेषेष्वपि चन्द्रमण्डलान्तरेषु पूर्व-पूर्वचन्द्रमण्डलान्तरोद्धरितभागपरिमीलनेन यथोक्तसूर्यमार्गप्रमाणं परिभावनीयम्। भावयिष्यते चाऽयमर्थोऽग्रे स्वयमेव सूत्रकृतेति न प्रतिचन्द्रमण्डलान्तरभावना क्रियते, तदेवमुक्तं चन्द्रमण्डलान्तरेषु सूर्यमार्गप्रतिपादनार्थं करणम्।

संप्रति सूर्यमण्डलान्तरपरिमाणं चन्द्रमण्डलान्तरपरिमाणं च प्रतिपादयति –

वे जोयणाणि सूर–स्स मंडलाणं तु हवइ अंतरिया।
चंदस्य वि पणतीसं, साहीया होइ नायव्वा॥

सूर्यस्य सवितुः सत्कानां मण्डलानां परस्परमन्तरिका अन्तरमेवान्तर्यम्, ब्राह्मणादित्वात् स्वार्थे ष्यञ्प्रत्ययः, ततः स्त्रीत्वविवक्षायां ङीप्प्रत्यये अन्तरी, अन्तर्यैव आन्तरिका भवति द्वे योजने, चन्द्रस्य पुनरान्तरिका भवति ज्ञातव्या पञ्चत्रिंशत् योजनानि साधिकानि, पञ्चत्रिंशत्योजनानि पञ्चविंशतिरेकषष्टिभागा योजनस्य, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सप्तधा छिन्नस्य सत्काश्चत्वारो भागा इत्यर्थः।

अधुना सूर्यविकम्पस्य चन्द्रविकम्पस्य च परिमाणमाह–

सूरविकंपो एक्को, संमडला होइ मंडलंतरिया।
चंदविकंपो य तहा, संमंडला मंडलंतरिया॥

एकः सूर्यविकम्पो भवति मण्डलान्तरिका समण्डला। किमुक्तं भवति ? एकस्य सूर्यमण्डलान्तरस्य यत्परिमाणमेकसूर्यमण्डलपरिमाणसहितं तदेकस्य सूर्यविकम्पस्य परिमाणमिति। "चंदविकंपो य" इत्यादि। तथा तेनैव प्रकारेण चन्द्रविकम्पश्च मण्डलान्तरिका समण्डला, एकस्य चन्द्रमण्डलान्तरस्य यत्परिमाणं तत् प्रागेवास्माभिरुक्तामिति।

साम्प्रतमेकेनायनेन चन्द्रः सूर्यो वा यावत्प्रमाणं क्षेत्रं तिर्यगाक्रामति तत्परिमाणमाह–

पंचेव जोयणसया, दसुत्तरा जत्थ मंडला होंति।
जं अक्कमेइ तिरियं, चंदो सुरो य अयणेणं॥

यत् क्षेत्रं चन्द्रः सूर्यो वा एकेनायनेन तिर्यगाक्रामति, यत्र चन्द्रमसः सूर्यस्य वा मण्डलानि भवन्ति, तस्य क्षेत्रस्य परिमाणं पञ्च योजनशतानि दशोत्तराणि, नवरं चन्द्रमसमधिकृत्याष्टभिरेकषष्टिभागे न्यूनानि, तथाहि-एकस्मिन्नयने सूर्यविकम्पानाम्अशीत्यधिकं शतं भवति। एकैकस्य सूर्यवि–कम्पस्य परिमाणमेकषष्टिभागरूपं सप्तत्यधिकं शतम् १७०, ततश्च त्र्यशीत्यधिकं शतमेकेन शतेन गुण्यते, जातान्येकत्रिंशत्-सहस्राणि शतमेकं दशोत्तरम् ३१११०, तत एतेषां योजनानायनार्थमेकषष्ट्या भागो ह्रियते, लब्धानि पञ्च योजनशतानि ५००, एतावत् सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलात्परत एकेनायनेन सूर्यस्तिर्यक्क्षेत्रमाक्रामति, तथा एकस्मिन्नयने चन्द्रविकम्पाश्चतुर्दश, एकस्य च चन्द्रविकम्पस्य परिमाणं षट्त्रिंशत्योजनानि पञ्चविंशतिरेकषष्टिभागा योजनस्य, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सप्तधा छिन्नस्य चत्वारो भागाः योजनराशिरेकषष्टिभागकरणार्थमेकषटष्ट्या गुण्यन्ते, जातान्येकविंशतिशतानि षण्णवत्यधिकानि २१९६, तत उपरितनाः पञ्चविंशतिरेकषष्टिभागाः प्रक्षिप्यन्ते, जातानि द्वाविंशतिशतानि एकविंशत्यधिकानि २२२१, चतुर्दश च सर्वसंख्यया चन्द्रमसो विकम्पाः, ततो द्वाविंशतिशतानि एकविंशन्यधिकानि चतुर्दशभिर्गुण्यन्ते, जातान्येकत्रिंशत्–सहस्राणि चतुर्नवत्यधिकानि ३१०९४, येऽपि च एकस्य एकषष्टिभागस्य सप्तधा छिन्नस्य सत्काश्चत्वारो भागास्तेऽपि चतुर्भिर्गुण्यन्ते, जाताः षट्पञ्चाशत्, सप्तभिर्भागे ह्रते लब्धा अष्टौ, ते पूर्वराशौ प्रक्षिप्यन्ते, जातः पूर्वराशिरेकत्रिंशत्सहस्राणि शतमेकं द्व्युत्तरम् ३११०२, तेषां योजनानयनार्थमेकषष्ट्या भागो ह्रियते, लब्धानि पञ्चयोजनशतानि नवोत्तराणि त्रिपञ्चाशतैकषष्टिभागा योजनस्य ५०९,५३/६१ पञ्चयोजनशतानि दशोत्तराणि अष्टभिरेकषष्टिभागैर्हीनानीत्यर्थः। एतावत्सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलात्परत एकेनाऽयनेन चन्द्रस्तिर्यगक्षेत्रमाक्रामति, एवंरूपा च क्षेत्रकाष्ठा मूलटीकायामपि भाविता। तथा च तदग्रन्थः– "सूरस्स पंच जोयणसया दसाहिआ कट्ठा, सच्चेव अट्ठाहिं एकसट्ठिभागेहिं ऊणिया चंदकट्ठा हवइ त्ति"॥

संप्रति काष्ठादर्शनतो विकम्पानयनार्थं करणमाह–

सगमंडलेहि लद्धं, सगकट्ठाओ हवंति सविकंपा।
जे सगविक्खंभजुया, हवंति सगमंडलंतरिया॥

चन्द्रमसः सूर्यस्य वा विकम्पाः कथम्भूता इत्याह–स्वकविष्कम्भयुताः स्वकमण्डलान्तरिकाः, स्वस्वमण्डलविष्कम्भसहितस्वस्वमण्डलान्तरिकरूपा इत्यर्थः। भवन्ति ते स्वकाष्ठातः, प्राकृतत्वात् षष्ठ्यर्थे पञ्चमी। स्वस्वविकम्पयोग्यक्षेत्रपरिमाणस्य स्वकमण्डलैः स्वस्वमण्डलसंख्यया भागेहृते यल्लब्धं तावत्प्रमाणाः स्वस्वविकम्पा भवन्ति। तथाहि-सूर्यस्य क्षेत्रकाष्ठा पञ्च योजनशतानि दशोत्तराणि ५१०, तान्येव षष्टिभागकरणार्थमेकषष्ट्या गुण्यन्ते, जातान्येकत्रिंशत्सहस्राणि शतमेकं दशोत्तम् ३१११०, सूर्यस्य मण्डलानि त्र्यशीत्यधिकं शतम् १८३, ततो योजनानयनार्थं त्र्यशीत्यधिकं मण्डलं शतमेकषष्ट्या गुण्यते, जातान्येकादशसहस्राणि शतमेकं त्रिषष्ट्यधिकम् ११११६३, एतेन पूर्वराशेर्भागो ह्रियते, लब्धं द्वे योजने, शेषमुपरिष्टादुद्धरितसप्ताशीतिशतानि चतुरशीत्यधिकानि ८७८४, ततः संप्रत्येकषष्टिभागा आनेतव्या इति अधस्ताच्छेदराशिस्त्र्यशीत्यधिकं शतं ध्रियते १८३, तेन भागे ह्रते लब्धा अष्टाचत्वारिंशदेकषष्टिभागाः, एतावत्परिमाणमेकैकस्य सूर्यविकम्पस्य, तथा चन्द्रस्य तिर्यक्क्षेत्रकाष्ठा पञ्च योजनशतानि नवोत्तराणि त्रिपञ्चाशदेकषष्टिभागा योजनस्य ५०६।५३, तत्र योजनान्येकषष्टिभागकरणार्थ मेकषष्ट्या गुण्यन्ते, जातान्येकत्रिंशतसहस्राणि एकोनपञ्चाशदधिकानि ३१०४९, तत उपरितनास्त्रिपञ्चाशदेकषष्टिभागाः प्रक्षिप्यन्ते, जातान्येकत्रिंशतसहस्राणि शतमेकं द्व्युत्तरम् ३११०२, चन्द्रस्य चन्द्रण्डलानि सर्वबाह्यान्मण्डलादर्वाक् चतुर्दश १४, ततो योजनानयनार्थं चतुर्दश एकषष्ट्या गुण्यन्ते, जाता –

अष्टौ शतानि चतुःपञ्चाशदिधिकानि ८५४, तैः पूर्वराशेर्भागोह्रियते, लब्धनि षट्त्रिंशतयोजनानि३६, शेषाणि तिष्ठन्ति शतान्यष्टपञ्चाशदधिकानि ३५८, अत ऊर्द्धमेकषष्टिभागा आनेतव्याः, ततश्चतुर्दशभिर्भागे लब्धाश्चत्वारः सप्तभागाः, एतावत्परिमाण एकैकश्चन्द्रविकम्प इति, इह सर्वाभ्यन्तरं सूर्यमण्डलं सर्वात्मना प्रविष्टं केवलमष्टापञ्चाशत्शतं १५८, तत्र द्वाविंशेन शतेन द्वादशस्य सूर्यमार्गस्योपरि द्वे योजने लब्धे, शेषास्तिष्ठन्ति तत्र एकषष्टिभागाः, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्काश्चत्वारः सप्त भागाः, येऽपि च प्रथमे चन्द्रमण्डले रविमण्डलात् शेषां अष्टावेकषष्टिभागास्तेऽप्यत्र प्रक्षिप्यन्ते इति जाता एकादश एकादश एकषष्टिभागाः, द्वादशाच्च सूर्यमण्डलात्परतो योजनद्वयातिक्रमे सूर्यमण्डलमेत आगत्य द्वितीयाच्चन्द्रमण्ड–लादभ्यन्तरं प्रविष्टं सूर्यमण्डलमेकादश एकषष्टिभागा एकस्य सप्तधा छिन्नस्य सत्काश्चत्वारो भागा इति।

साम्प्रतं शेषेषु द्वितीयादिषु चन्द्रमण्डलेषु यावत्प्रमाणं सूर्यम–ण्डलादभ्यन्तरं प्रविष्टं तावत्परिमाणप्रतिपादमार्थं करणमोह–

इच्छामंडलरूवुण, गुणियमब्भंतरं तु सूरस्स।
तस्सेणं सामण्णं, सामण्णविसेसियं सासिणो॥

यस्मिन्मण्डलस्य चन्द्रमण्डलाइभ्वनतरं प्रविष्टस्य ज्ञातुमिच्छा, तेन इच्छामण्डलेन रूपोनेन प्राक्तनमनन्तरोक्तमभ्यन्तरप्रविष्टं सूर्यमण्डलं परिमाणगुणितं क्रियते, गुणितं च सत् यावद् भवति तावत्प्रमाणे तस्मिन् मण्डले चन्द्रमण्डलादभ्यन्तरं सूर्यस्य मण्डलं प्रविष्टपवसेयम्। तद् यथातृतीये चन्द्रमण्डले किल ज्ञातुमिच्छा, ततस्त्रयो रूपोनाः क्रियन्ते, जातौ द्वौ, ताभ्यां प्रागुक्ता एकादश एकषष्टिर्भागा गुण्यन्ते, जाता द्वाविंशतिः, येऽपि च चत्वारः सप्तभागास्तेऽपि द्वाभ्यां गुण्यन्ते, जाता अष्टौ, सप्तभिरेक एकषष्टिभागो लब्धः, स पूर्वराशौ प्रक्षिप्यते, तत आगतं तृतीये चन्द्रमाण्डले चन्द्रमण्डलादभ्यन्तरं प्रविष्टं सूर्यमण्डलं त्रयोविंशतिरेकषष्टिभागस्य सप्तधा छिन्नस्य सत्क एको भागः, एवं चतुर्थचन्द्रमण्डले चन्द्रमण्डलादभ्यन्तरं सूर्यमण्डलं प्रविष्टाश्चतुस्त्रिंशदेकषष्टिभागः, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्काः पञ्च सप्तभागाः, पञ्चमे मण्डले षट्चत्वारिंशदेकषष्टिभागाः, अस्व सप्तधा छिन्नस्य द्वितीयादिषु तु चन्द्रमण्डलेषु विशेष वक्ष्यति। (तस्सेसं लामणं ति) तस्याभ्यन्तरप्रविष्टस्य सूर्यमण्डलस्य यत् शेषं सूर्यमण्डलसत्कं तत् सामान्यं साधारणं, चन्द्रमण्डलानि प्रविष्टमित्यर्थः। यत् सामान्यद् विशेषितमतिरिक्तं चन्द्रमण्डलविष्कम्भस्य तत् शशिनोऽसाधारणं द्रष्टव्यम्। तद्यथा-द्वितीये चन्द्रमण्डले सूर्यमण्डलसाधारणाः षट्त्रिंशदेकषष्टिभागाः, एकस्य चैकषष्टिभागस्य त्रयः सप्तभागाः। किमुक्तं भवति ?, एतावत्प्रमाणं द्वितीये चन्द्रमण्डले सूर्यमण्डलं प्रविष्टमिति चन्द्रमण्डलस्य च विष्कम्भः षट्पञ्चाशदेकषष्टिभागा योजनस्य, ततः षट्पञ्चाशतः षट्त्रिंशत्येकषष्टिभागेषु त्रिषु चैकषष्टिभागस्य सप्तभागेष्वपनीतेषु शेषास्तिष्ठन्त्येकोनविंशतिरेकषष्टिभागाः, एकस्य च एकषष्टिभागस्य चत्वारः सप्तभागाः, एतावत्प्रमाणं द्वितीयं चन्द्रमण्डलं क्षेत्रे सूर्यमण्डलवत् बहिर्विनिर्गतं चन्द्रमण्डलमिति। एवं सर्वेष्वपि मण्डलेषु भावनीयम्, भावयिष्यते चाग्रेऽप्येतदाचार्य इति न संमोहः कार्यः।

संप्रति षष्ठादिषु चन्द्रमण्डलेषु विशेषमाह –

छट्ठाइं रविसेसं, रविससिणो अंतरं तु नायव्वं।
तं व ससि सुद्ध सूरं-तराहियं अंतरं वाहिं॥

षष्ठादिषु चन्द्रमण्डलेषु प्रागुक्तकरणवशात् यल्लभ्यते तत्र र वेः सूर्यमण्डलात् शेषं वर्तते, तत् रविशशिनोरन्तरं ज्ञातव्यम्। "तं वेत्यादि" अत्र तं वेति प्रथमा सप्तम्यर्थे, सप्तम्यर्थे, शशिशुद्ध इत्यत्र प्रत्येकं विभक्तिलोप आर्षत्वात्। ततोऽयमर्थः-तस्मिन् रविशशिनोरन्तरे, वाशब्दो भिन्नक्रमः, स चैवं योजनीयः शशिनि च सूर्यान्तरात् सूर्यान्तरपरिमाणात् योजनकद्विकरूपात् यच्च द्वे शेषं यदधिकं सूर्यान्तरपरिमाणस्य वर्तते तत् शशिनो बहिः सर्थमण्डलादर्वागन्तरमवसेयम्। यथा षष्ठे किल चन्द्रमण्डले अन्तरं ज्ञातुमिच्छा, ततः षट्रूपोनाः क्रियन्ते, जाताः पञ्च, तैरेकादश एकषष्टिभागाः, एकस्य चैकषष्टिभगस्य सत्काश्चत्वारः सप्तभागा गुण्यन्ते, जाताः सप्तपञ्चाशदेकषष्टिभागाः, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्काः षट् सप्तभागाः, तत्राष्टाचत्वारिंशत्कैरेकषष्टिभागैः सूर्यमण्डलविशुद्धं, शेषा एकषष्टिभागाः, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्काः षट् सप्तभागाः तिष्ठन्ति। एतावन्मात्रप्रदेशे रविशशिनारेन्तरं, तत एतस्मिन् सूर्यान्तरपरिमाणात् द्वियोजनरूपात् परिशुद्धे चन्द्रमण्डलपरिमाणात् द्वियोजनरूपात् परिशुद्धे चन्द्रे मण्डलपरिमाणे च षटपञ्चाशदेकषष्टिरूपे शुद्धे शेषमवतिष्ठन्ते षटपञ्चाशदेकषष्टिभागाः, एकस्य चैकषष्टिभागस्य सत्क एकः सप्तभागः, एतावत् षष्टाचन्द्रमण्डलात्परतः सूर्यमण्डलादर्वागन्तरम्, एवं शेषेष्वपि मण्डलेषु भावनीयम्।

जत्थ न सुज्झइ सोमो, तं सणिणो तत्थ होइ पत्तेयं।
तस्सेसं सामन्नं, सावन्नविसेसियं रविणो॥

यत्र चन्द्रमण्डलक्षेत्रे अनन्तरोक्तकरणाचिन्तायां सोमश्चन्द्रो न शुद्ध्यति। यथा एकादशे चतुर्दशे पञ्चदशे वा, तत्र तावत्प्रमाणं शशिनः प्रत्येकमसाधारणं ज्ञातव्यं, तस्माच्च परतो यत् शेषं चन्द्रमण्डलान्तर्गतं सूर्यमण्डलसत्कं तत् सामान्यमुभयसंमिश्रं ज्ञातव्यम्। तस्माच्च सामान्यत् परतो यद्विशेषितमसाधारणं वर्तते तत् रवेरवसेयम्। यथा किलैकादशे चन्द्रमण्डलेऽन्तरादि परिमाणं जिज्ञास्य तदेकादशरूपोनं क्रियते, जाता दश ते एकादश एकषष्टिभागा एकस्य च एकषष्टिभागस्य च सत्काश्चत्वारः सप्त भागा गुण्यन्ते, जातं पञ्चदशोत्तरमेकशतम्, एकस्य चैकषष्टिभागस्य सत्काः पञ्च सप्तभागाः ११५।५, एतेषां मध्ये अष्टाचत्वारिंशतैकषष्टिभागं सूर्यमण्डलं शुद्धं, शेषाः सप्तषष्टिरेकषष्टिभागा एकस्य चैकषष्टिभागस्य सत्काः पञ्च सप्त भागास्तिष्ठन्ति, एतत् सूर्यान्तरपरिमाणात् योजनद्वयरूपात् शोध्यन्ते, शेषं त्रिचतुःपञ्चाशदेकषष्टिभागा द्वौ चैकस्यैकषष्टिभागस्य सत्कौ सप्तभागौ, एतावता चन्द्रो न शुध्यति, चन्द्रमण्डलस्य षटपञ्चाशदेकषष्टिभागप्रमाणत्वात्, तत एतावत् सूर्यमण्डलादेकादशं चन्द्रमण्डलमभ्यन्तरं प्रविष्टमवसेयम्, शेषं त्वेकषष्टिभागस्य सत्काः पञ्च सप्तभागा इत्येतावत् प्रमाणं सूर्यमण्डलसंमिश्रं, तस्माच्च परतः षटचत्वारिंशतमेकषष्टिभागान् द्वौ चैकषष्टिभागस्य सप्त भागान् यावत् केवलं सूर्यमण्डलम्,एवं शेषेष्वपि द्वादशादिषु मण्डलेषु भावना कार्या। तदेवमुक्तं, चन्द्रमण्डलान्तरेषु सूर्यमार्गपरिमाणं, चन्द्रसुर्यमण्डलान्तरपरिमाणं, चन्द्रमण्डलसूर्यमण्डलसाधाराणं भागपरिमाणं च।

साम्प्रतमुक्तमेवार्थं सुखग्रहणधारणनिमित्तं व्याख्याता संजिघृक्षुः प्रथमतः ससर्वाभ्यन्तराणां पञ्चानां साधारणमण्डलानां गाथाद्वयेन भावनामाह–

अट्ठे वारस चउ छ–त्तीसा तिन्नि उ गुणवीस चत्तारि।
तेवीसेगं चउवी–स छक्क इगतीस एक्कं च॥
चउतीस पंच तेरस, दुगं च वायाल पंच भागाणि।
छायाल दुगेगं पुण, चउपण्णं चेव दो भागा॥

प्रथमे सर्वाभ्यन्तरे चन्द्रमण्डले क्षेत्रे सूर्यमण्डलाद् बहिर्विनिर्गतचन्द्रमण्डलमष्टादेकषष्टिभागान्, ततो द्वितीयाच्चन्द्रमण्डलादर्वागपान्तराले द्वादश सूर्यमार्गाः। अत्रार्थे च भावना प्रागेव कृता। द्वादशाच्च सूर्यमार्गात्परतो द्वितीयाच्चन्द्रमण्डतादर्वाक् द्वे योजने एकादश च एकषष्टिभागाः, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्काश्चत्वारः सप्तभागाः, तत्र योजनद्वयानन्तरं सूर्यमण्डलमतो द्वितीयाच्चन्द्र–मण्डलादर्वागभ्यन्तरं प्रविष्टं सूर्यमण्ड प्रविष्टं सूर्यमण्डलमे–कादशैकषष्टिभागान्, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्कान् चतुरः सप्तभागान्, ततः परं षटत्रिंशदेकषष्टिभागाः, एकस्य च एकषष्टिभा–गस्य सत्कारस्त्रयः सप्तभागाः, इत्येतावत् परिमाणं सूर्यमण्डलस–मिश्रम्, एतावता किल शुद्धं सूर्यमण्डलं, ततः सूर्यमण्डलात्परतो बहिर्विनिर्गतं चन्द्रमण्डलमेकोनविंशतिमेकषष्टिभागान्, एकस्य सत्कान् चतुरः सप्तभागान्, ततः परं भूयः तृतीयाच्चन्द्रमण्डलादर्वाक् यथोक्तपरि-माणमन्तरम्। तद्यथा-पञ्चत्रिंशद् योजनानि त्रिंशदेकषष्टिभागा योजनस्य, एकस्य च एगषष्टिभागस्य सत्काश्च–वारः सत्कारश्चत्वारः सप्तभागाः, एतावति चान्तरे द्वादश सूर्यमागा लभ्यन्ते, उपरि च द्वे योजने त्रयश्चैकषष्टिभागा योजनस्य, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्काश्चत्वारः सप्तभागाः, ततोऽत्र प्रागुक्तद्विती–याभ्यां ते द्वादशस्य च सूर्यमार्गस्योपरि द्वे योजने, त्रय एकषष्टिभागाः योजनस्य, एकस्य चैकष्टिभागस्य सत्क एकः सप्तभागस्तत्र प्रक्षिप्यते। ततो जाताश्चतुरास्त्रिंशदेकषष्टिभागस्य सप्तभागाः, तत इदं तृतीयाच्चन्द्रमण्डलात्परतो द्वादश सूर्यमार्गाः, द्वादशाच्च सूर्यमार्गात्परतो योजनद्वयमतिक्रम्य सूर्यमण्डलं चतुर्थाच्चन्द्रमण्डलादर्वागभ्यन्तरं प्रविष्टं चतुस्त्रिंशतिमेकषष्टिभागानेकस्य चैकषष्टिभागस्य सत्कान् पञ्च सप्तभागान्, ततः शेषं सूर्यमण्डलस्य त्रयोदशैकसप्तषष्टिभागाः, एकस्य चैकषष्टिभागस्य सत्कौ द्वौ सप्तभागौ, इत्येतत् चतुर्थचन्द्रमण्डलसंमिश्रं चतुर्थस्य सूर्यमण्डलाद् बहिश्चन्द्र-मण्डलस्य विनिर्गतद्विचत्वारिंशदेकषष्टिभागा एकस्य चैकषष्टिभागस्य सत्काः पञ्च सप्तभागाः, ततः पुनरपि यथोदितं परिमाणं चन्द्रमण्ड–लान्तरं, तत्र च द्वादश सूर्यमार्गा लभ्यन्ते, द्वादशस्य च सूर्यमार्गस्यो–परि द्वे योजने, त्रय एकषष्टिभागा योजनस्य, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्कारश्चत्वारः सप्तभागाः तत्र ये चतुर्थस्य चन्द्रमण्डलस्य बहिर्नि–र्गता द्वाचत्वारिंशदेकषष्टिभागाः, एकस्य चैकषष्टिभागस्य सत्काः पञ्च सप्तभागाः, तेऽत्र राशौ प्रक्षिप्यन्ते, ततो जाताः षटचत्वारिंशदेक-षष्टिभागाः द्वौ च एकस्य एकषष्टिभागस्य सत्कौ सप्तभागौ, ततश्चतुर्था-च्चन्द्रमण्डलात्परतो द्वादशसूर्यमार्गात्परतो योजनद्वयमिक्रम्य सूर्यमण्डलं, तच्च पञ्च माच्चन्द्रमण्डलादर्वाक् अभ्यन्तरं प्रविष्टं षटचत्वारिंशदेकषष्टि-भागान्, द्वौ चैकस्य सत्कौ सप्तभागौ, शेषं सूर्यमण्डलस्यैक एकषष्टिभाग एकस्य चैकषष्टिभागस्य सत्काः पञ्च सप्तभागा इत्येतावत्परिमाणं पञ्चमं चन्द्रमण्डलसंमिश्रं, तस्य च पञ्चमस्य चन्द्रमण्डलस्य सूर्यमण्डलाद्बहि-र्विनिर्गतं चतुःपञ्चाशदेकषष्टिभागाः, एकस्य चैकषष्टिभागस्य द्वौ सप्तभागौ, तदेवं पञ्च सर्वाभ्यन्तराणि चन्द्रमण्डलानि साधारणानि, चतुर्षु च चन्द्रमण्ड–लान्तरेषु द्वादश सूर्यमार्गा इत्येतद् भावितम्।

सम्प्रति पञ्च साधारणानि चन्द्रमण्डलानि विभावयिषुराह–

नव छप्पणेग एक्का–वीसं वा तिण्णि वा चत्ता।
चत्तालीस तिगऽहिया, तेतीसा एगसीया य॥
चउयाला उणवीसं, ति छप्पणं एग नव छक्कं।

पञ्चमाच्चन्द्रमण्डलात्परतो भूयः षष्ठं चन्द्रमङ्लमधिकृत्यान्तरं, तच्च पञ्चत्रिंशतयोजनानि एकषष्टिभागकरणार्थमेकषष्टया गुणयन्ते, गुणयित्वा चोपरितनास्त्रिंशदेकषष्टिभागाः प्रक्षिप्यन्ते, ततो जातानि एकविंशतिशतानि पञ्चषष्टयधिकानि२१६५, येऽपि च पञ्चमस्य चन्द्रमण्डलस्य सूर्यमण्डलाद्बहिर्विनिर्गताश्चतुःपञ्चादेकषष्टिभागा द्वौ च एकस्य एकषष्टिभागस्य सत्कौ सप्तभागौ तत्र प्रक्षिप्यन्ते, जातानि द्वाविंशतिशतानि एकोनविंशत्यधिकानि, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्काः षट् सप्तभागाः२२१९।६, सूर्यस्य विकम्पो द्वे योजने अष्टाचत्वारिंशदेकषष्टिभागाधिके, तत्र द्वे योजने एकषष्ट्या गुण्येते, जातं द्वाविंशं शतमेकषष्टिभागानां, तत उपरितना अष्टाचत्वारिंशदेकषष्टिभागाः प्रक्षिप्यन्ते, जातं सप्तत्यधिकं शतं १७०, तेन पूर्वराशेर्भागो ह्रियते, लब्धास्त्रयोदश, शेषास्तिष्ठन्ति नव, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्काः षट् सप्तभागाः, तत इदमाग–तमपञ्चमाच्चन्द्रमण्डलात्परतस्त्रयोदश सूर्यमार्गाः, त्रयोदशस्य च सूर्यमार्गस्योपरि षष्ठाच्चन्द्रमण्डलादर्वागन्तरं नव, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्काः षट् सप्तभागाः ततः परतः षष्ठं चन्द्रमण्डलं, तच्च षटपञ्चाशदेकषष्टिभागात्मकं, ततः परतः सूर्यमण्डलादर्वागन्तरं, (छप्पणेग ति) षटपञ्चाशदेकषष्टिभागाः, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्क एकः सप्तभागः, तदनन्तरं सूर्यमण्डलं, तस्माच्च परत एकषष्टिभागानां चतुरुत्तरेण शतेन एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्केन सप्तभागेन हीनं यथोदितप्रमाणं चन्द्रमण्डलान्तरं प्राप्यत इति एतस्मात् सूर्यमण्डलात्परतोऽन्ये द्वादश सूर्यमार्गाः लभ्यन्ते ततः सर्वसंकलनया तस्मिन्नप्यन्तरे त्रयोदश सूर्यमार्गाः, तस्य च त्रयोदशस्य सूर्यमार्गस्योपरि सप्तमाच्चन्द्रमण्डलादर्वागन्तरमेकविंशतिरेकषष्टिभागाः, एकस्य च एकषष्टिभागस्य त्रयः सप्तभागाः, ततः सप्तमं चन्द्रमण्डलं, तस्माच्च सप्तमाच्चन्द्रमण्डलात्परतश्चतुश्चत्वारिंशता एकषष्टिभागैः एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्कैश्चतुर्भिः सप्तभागैः सूर्यमण्डलं, ततो द्विनवतिसंख्यैकषष्टिभागैः चतुर्भिश्च एकस्य एकषष्टिभागस्य सत्कैः सप्तभागैः न्यूनं यथोदितप्रमाणं चन्द्रमण्डलान्तरं, ततः परमस्तीत्यने-नाऽपि द्वादश सूर्यमार्गा भवन्तीति, तस्मिन्नप्यन्तरे त्रयोदश सूर्यमार्गाः, त्रयोदशस्य च सूर्यस्य बहिरष्टमाच्च चन्द्रमण्डलादर्वाक् अन्तरं त्रयस्त्रिंशदेकषष्टिभागाः, ततोऽष्टमं, तस्माच्चाष्टमाच्चन्द्रमण्डलात्परतस्य-स्त्रिंशता एकषष्टिभागैः सूर्यमण्डलं, तत एकाशीतिसंख्यैरेकषष्टिभागैरूनं यथोदितप्रमाणं चन्द्रमण्डलान्तरं, पुरतो विद्यते इति, ततः पुरतोऽन्ये द्वादश सूर्यमार्गाः, ततस्तस्मिन्नप्यन्तरे सर्वसंकलनया त्रयोदश सूर्यमार्गाः, त्रयोद-

शाच्च सूर्यान्नवमाच्च चन्द्रमण्डलादर्वाक् अन्तरं चतुश्चत्वारिंशदेकषष्टिभागाः, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्काः चत्वारः सप्तभागाः, ततः परं नवमं मण्डलं, तस्माच्च नवमाच्चन्द्रमण्डलात्परत एकविंशतिः एकषष्टिभागैरेकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्कैः त्रिभिः सप्तभागैः परिहीनं यथोक्तं प्रमाणं चन्द्रमण्डलान्तरं, तत्र चाऽन्ये द्वादश सूर्यमार्गाः, एवं चाऽस्मिन्नप्यन्तरे त्रयोदश सूर्यमार्गाः, तस्य च त्रयोदशस्य सूर्यस्योपरि दशमाच्चन्द्रमण्डलादर्वाक् अन्तरं षष्ठं, षष्ठात् चन्द्रमण्डलादर्वाक् अन्तरं षटपञ्चाशदेकषष्टिभागाः, एकस्य च एकषष्टिभागस्यैकः सप्तभागः, ततो दशमं मण्डलं, दशमाच्चन्द्रमण्डलादेकषष्टिभागस्य सत्कैः षड्भिः सप्तभागैः सूर्यमण्डलं ततः सप्तपञ्चाशता एकषष्टिभागैरेकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्कैः षड्भिः सप्तभागैरूनं प्रागुक्तपरिमाणं चन्द्रमण्डलान्तरं, ततः सूर्येऽपि द्वादश सूर्यभागौ लभ्यन्ते इति। तस्मिन्नप्यन्तरे त्रयोदश सूर्यमार्गाः, त्रयोदशस्य सूर्यमार्गस्योपरि एकादशाच्चन्द्रमण्डलादर्वाक् अन्तरं सप्तषष्टिभागाः एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्काः पञ्च भागाः, तदेवं भावितानि मध्यमानि पञ्च साधारणानि मण्डलानि षटमुखचन्द्रमण्डलान्तरेषु त्रयोदश सूर्यमार्गाः।

सम्प्रति सर्वबाह्यनि पञ्च साधारणानि मण्डलानि, चतुर्षु च सर्वबाह्येषु चन्द्रमण्डलान्तरेषु द्वादश सूर्यमार्गान् विभायिषु राह–

चउ छप्पण्ण दुगेगं, पण्णवयालीसं व दो चेव।
बायाल पंच तेरस, दुगं च चोतीस पंच भागा य।
इगतीसेगं चउवी–स छक्क तेवीस एक्कं च।
इगुणवीस चउ छत्ती–स तिन्नि एकारसेव चउरट्ठ।
दो दो तेत्तीसऽट्ठ य, नत्थि चउण्हं पि सत्तंसा॥

एकादशस्य चन्द्रमण्डलस्य चतुः पञ्चाशदेकषष्टिभागाः, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्कौ द्वौ सप्तभागौ, इत्येतत् सूर्यमण्डलादभ्यन्तरं प्रविष्टम् एकषष्टिभागः, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्काः पञ्च सप्तभागाः इत्येतावन्तमात्रं सूर्यमण्डलसंन्निश्रम्। अत्रार्थे च–"जत्थ न सुज्झइ सोमो" इत्यत्र प्रदेशे भावना कृतैवेति न भूयः क्रियते, तदनुसारेण चोत्तरत्राऽपि स्वयं भावना भावनीया। एकादशात् तु चन्द्रमण्डलाद् बहिर्विनिर्गतं सूर्यमण्डलं षटचत्वारिंशदेकषष्टिभागाः, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्कौ द्वौ सप्तभागौ, तत एतावता हीनं परतश्चन्द्रमण्डलान्तरमस्तीति द्वादश सूर्यमार्गा लभ्यन्ते। ततः परत एकोनाशीत्या एकषष्टिभागैरेकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्काभ्यां सप्तभागाभ्यां द्वादशं चन्द्रमण्डलं, तच्च द्वादशं चन्द्रमण्डलं सूर्यमण्डलादभ्यन्तरं प्रविष्टम् (बायाल पंच त्ति) द्विचत्वारिंशदेकषष्टिभागस्य सत्काः पञ्च सप्तभागाः, शेषं च त्रयोदश एकषष्टिभागाः, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्कौ द्वौ सप्तभागावित्येतावन्मात्रं सूर्यमण्डलसंमिश्रं, तस्माच्च द्वादशाच्चन्द्रमण्डलाद् बहिर्विनिर्गतं सूर्यमण्डलं चतुस्त्रिंशदेकषष्टिभागाः, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्काः पञ्च सप्तभागाः, तत एतावन्मात्रेण हीनं परतश्चन्द्रमण्डलान्तरं, तत्र च द्वादश सूर्यमार्गा लभ्यन्ते, द्वादशाच्च सूर्यात्परतो नवतिसंख्यैरे कषष्टिभागैरेकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्कैः षड्भिः सप्तभागैस्त्रयोदशं चन्द्रमण्डलं, तत्र त्रयोदशं चन्द्रमण्डलं सूर्यमण्डलादभ्यन्तरं प्रविष्टम्, (इगतीसेगं ति) एकत्रिंशदेकषष्टिभागाः, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्काः षट् सप्तभागाः, इत्येतावन्मात्रं सूर्यमण्डलसंमिश्रं, तस्माच्च त्रयोदशाच्चन्द्रमण्डलाद् बहिः सूर्यमण्डलाविनिर्गतं त्रयोविंशतिरेकषष्टिभागाः, एकस्य चैकषष्टिभागस्य सत्क एकः सप्तभागः, तत एतावता हीनं परतश्चन्द्रमण्डलान्तरं, तत्र च द्वादश सूर्यमार्गाः, द्वादशाच्च सूर्यमार्गात्परत एकषष्टिभागानां ह्युत्तरेण शतेन एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्कौस्त्रिभिः सप्तभागैश्चतुर्दशं चन्द्रमण्डलं सूर्यमण्डलादभ्यन्तरं प्रविष्टम्, (इगुणबीस चउत्ति) एकोनविंशतिरेकषष्टिभागस्य सत्काश्चत्वारः सप्तभागाः, शेषं षटत्रिंशदेकषष्टिभागाः एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्कास्त्रयः सप्तभागा इत्येतावत्परिमाणं सूर्यमण्डलसंमिश्रं, तस्माच्चतुर्दशात् सूर्यमण्डलाद् बहिर्विनिर्गतं सूर्यमण्डलम् एकादश एकषष्टिभागाः, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्काश्चत्वारः सप्तभागाः, तत एतावता हीनं यथोक्तं परिमाणं चन्द्रमण्डलान्तरं, तत्र च द्वादश सूर्यमार्गाः, द्वादशाच्च सूर्यमण्डलात्परत एकषष्टिभागानां चतुर्दशोत्तरेण शतेन पञ्च चन्द्रमण्डलं, तच्च पञ्चदशं चन्द्रमण्डलं सर्वानिमान् सूर्यमण्डलादर्वागभ्यन्तरं प्रविष्टमष्टावेकषष्टिभागाः, शेषा अष्टचत्वारिंशदभागाः सूर्यमण्डलसंमिश्रं, तदेवं भावितानि सर्वबा–ह्यानि पञ्च साधारणानि मगडलानि, चतुर्षु च सर्वबाह्येषु चन्द्रमण्डलान्तरेषु द्वादश सूर्यमार्गाः संप्रति येषु प्रागुक्तेषु अंशेषु सप्तांशा भावास्तस्माद् मन्दमतीनां विशिष्टस्मरणायाऽधुना कथयति–"दो दो तेतीस" इत्यादि। ये द्वे अष्टमचन्द्रमण्डलचिन्तायां त्रयस्त्रिंशतावुक्ते, यौ च प्रथमपञ्चदशचन्द्रमण्डलयोरष्टकावुक्तौ, एतेषां चतुर्णामपि सप्तांशा न विद्यन्ते, किं तु परिपूर्णा एव ते एक–षष्टिभागाः, तदेवं ततः सूर्यमण्डलानां चन्द्रमण्डलानां च परिस्परं विभागभावना, एतेषु चन्द्रमण्डलेषु सूर्यौ, द्वौ च चन्द्रमसौ चारं चरतः।

सर्वाभ्यन्तरे मण्डले वर्त्तमानयोर्द्वयोः परस्परमन्तरपरिमाणमाह–

नवनउई य सहस्सा, छ चेव सया हवंति चत्ताला।
सूराणा उ आवाहा, अब्भितरमंडलच्छाया॥

सूर्ययोः परस्परमाबाधा नवनवतिः सहस्त्राणि षट्शतानि चत्वारिंशदधिकानि योजनानां ९९६४०, तथाहि–एकोऽपि सूर्यो जम्बूद्वीपे अशीत्यधिकं योजनशतमवगाह्य सर्वाभ्यन्तरे मण्डले स्थितोऽपरोऽपि, ततोऽशीत्यधिकं शतं द्वाभ्यां गुण्यते, जातानि त्रीणि शतानि षष्ट्यधिकानि ३६०, एतेषु जम्बूद्वीपविभागयोजनलक्षप्रभाणादपनीतेषु शेषं यथोक्तपरिमाणं भवति, यदा तु सर्वाभ्यन्तराऽन्तरे द्वितीये मण्डले उपसंक्रम्य सूर्यौ चारं चरतः, तदा तयोः परस्परमन्तरं नवतियोजनसहस्त्राणि षट्शतानि पञ्चचत्वारिंशदधिकानि, पञ्चत्रिंशच्चैकषष्टिभागा योजनस्य ९९६४५-३५-६१, तथाहि-एकोऽपि सूर्यो द्वितीये मण्डले संक्रामन् द्वे योजने अष्टचत्वारिंशच्चैकषष्टिभागान् विमुच्य संक्रामति तथा द्वितीयोऽपि, सूर्यविकम्पस्य एतावत्प्रमाणत्वात्, तच्च प्रागेव भावितं, ततः पञ्च योजनानि पञ्चत्रिंशच्चैकषष्टिभागा योजनस्य, द्वितीये मण्डले सूर्ययोः परस्परमन्तरचिन्तायामधिकत्वेन प्राप्यन्ते, एवमग्रेतनेष्वपि मण्डलेषु भावनीयम्। यदा तु सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलात्तृतीये मण्डले सूर्यौ चारं चरतस्तदा तयोः परस्परमन्तरं नवनवतियोजनसहस्त्राणि षट् शतानि एकञ्चाश–

दधिकानि, नव चैकषष्टिभागा योजनस्य ६६६५१-६, एवं सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलाद् बाह्येषु मण्डलेषु संक्रामतोः सूर्ययोः परस्परमन्तरचिन्तायां मण्डले मण्डले पञ्च योजनानि पञ्चत्रिंशच्चैकषष्टिभागा योजनस्य वृद्धिस्तावत् मन्तव्या यावत् सर्वबाह्यं मण्डलम्। ज्यो १० पाहु०।

चंदविमाण–न०–(चन्द्रविमान)। चन्द्रसत्कविमाने, जं०७ वक्ष०। (चन्द्रविमानस्य संस्थानादि 'जोइसियविमाण' शब्दे) (अथैषामेव षोडश सहस्राणां व्यक्तिः विमाण शब्दे वक्ष्यते) (अत्रत्यदेवस्थि–तिः विइ शब्दे वक्ष्यते)

चंदविलासिणी–स्त्री०–(चन्द्रविलासिनी)। चन्द्रवन्मनोहरणशीलायाम्, रा०। जं०।जी०।

चंदसंवच्छर–पुं०–(चन्द्रसंवत्सर)। चान्द्रमासैर्निष्पन्ने प्रमाणसंव–त्सरे, चं० प्र० १० पाहु०। स०। प्र०।

ता एएसि णं पंचण्हं संवच्छराणं दोच्चस्स चंदसंवच्छरस्स चंदे मासे तीसती मुहुत्तेणं गणिज्जमाणे केवतिए रातिंदियग्गेणं आहिते ति वदेज्जा ? ता एगूणतीसं रातिंदियाइं, वत्तीसं च बावट्ठिभागा रातिंदियस्स, रातिंदियग्गेणं आहिते ति वदेज्जा। ता से णं केवतिए मुहुत्तग्गेणं आहितेति वदेज्जा ? ता अट्ठ पंचासीए मुहुत्तसते तीसं च बावट्ठिभागे मुहुत्तस्स मुहुत्तग्गेणं आहिते ति वदेज्जा। ता एस णं अट्ठा दुवालस खत्तकडा चंदे संवच्छरे, ता केणं केवतिए रातिंदिय–ग्गेणं आहिताति वदेज्जा ? ता तिण्णि चउप्पण्णे रातिंदियसते दुवालसग्गा बावट्ठिभागा राइंदियस्स रातिंदियग्गेणं आहिते ति वदेज्जा। ता से णं केवतिए मुहुत्तग्गेणं आहितेति वदेज्जा ? ता दस मुहुत्तसहस्साइं छच्च एगूणवीसं मुहुत्तसते पण्णासं च बावट्ठिभागे मुहुत्तस्स मुहुत्तग्गेणं आहिता ति वदेज्जा॥

"ता एएसि णं" इत्यादि सुगमम्। भगवानाह–"ता एगूणतीस" इत्यादि। एकोनत्रिंशत् रात्रिन्दिवानां, द्वात्रिंशच्च द्वाषष्टिभागा रात्रिन्दिवस्य, एतावत्परिमाणश्चान्द्रमासो रात्रिन्दिवाग्रेण आख्यात इति वदेत्। तथाहि–युगे द्वाषष्टिश्चन्द्रमासाः, एतच्च प्रागेव भावितं, ततो युगसत्कानामष्टादशानामहोरात्रशतानां त्रिंशदधिकानां द्वाषष्ट्या हृते एकोनत्रिंशदहोरात्राः, एकस्य चाहोरात्रस्य द्वात्रिंशत् द्वाषष्टिभागाः २६। ३२। "ता से णं" इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमम्। भगवानाह–"ता अट्ठ" इत्यादि। अष्टौ मुहूर्तशतानि पञ्चाशीत्यधिकान्येकस्य च मुहूर्तस्य त्रिंशत् द्वाषष्टिभागाः, एतावत्परिमाणश्चान्द्रमासो मुहूर्ताग्रेणाख्यात इति वदेत्। तथाहि–चान्द्रमासपरिणामेकोनत्रिंशदहोरात्रः एकस्य च अहोरात्रस्य द्वात्रिंशत् द्वाषष्टिभागाः, तत्र सवर्णनार्थमेकोनत्रिंशदप्यहोरात्रा द्वाषष्ट्या गुण्यन्ते, गुणयित्वा च उपरितनात् द्वात्रिंशत् द्वाषष्टिभागाः प्रक्षिप्यन्ते, जातान्यष्टादशशतानि त्रिंशदधिकानि द्वाषष्टिभागानां १८३०, तत एतानि त्रिंशता गुण्यन्ते, जातानि च तुष्पञ्चाशत्सहस्राणि नवशतानि मुहूर्तगतद्वाषष्टिभागानाम्। ५४६००, तत एतेषां द्वाषष्ट्या भागो ह्रियते, लब्धान्यष्टौ शतानि पञ्चाशीत्यधिकानि मुहूर्तानामेकस्य च मुहूर्तस्य त्रिंशत् द्वाषष्टिभागाः ८८५। ३० "ता एस णं अट्ठा" इत्यादि प्राग्वद्भावनीयम्। चं०प्र०१२ पाहु०। (आदित्यचन्द्रसंवत्सराः संवच्छर शब्दे वक्ष्यन्ते)

अत्र दिनमानम्–

चंदस्स णं संवच्छरस्स एगमेगे उऊ एगूणसट्ठिराइंदियाइं राइंदियग्गेणं पण्णत्ता।

"चंदस्स णं" इत्यादि। संवत्सरो ह्यनेकविधः स्थानाङ्गादिषूक्तस्तत्र यश्चन्द्रगतिमङ्गीकृत्य संवत्सरो विवक्ष्यते स चन्द्र एव। तत्र च द्वादश मासाः षट् च ऋतवो भवन्ति। तत्र चैकैक ऋतुरेकोनषष्टिरात्रिंदिवाग्रेण भवति। कथम् ? एकोनत्रिंशच्च द्विषष्टिभागा अहोरात्रस्येत्येवं प्रमाणः कृष्णप्रतिपदामारभ्य पौर्णमासीपरिनिष्ठितचन्द्रमासो भवति, द्वाभ्यां च ताभ्यामृतुर्भवति। तत एकोनषष्टिरहोरात्राण्यसौ भवति। यच्चेह द्विषष्टिभागद्वयमधिकं तन्न विवक्षितम्। स०५६ सम०। एकोनत्रिंशद्दिनानि द्वात्रिंशच्च द्विषष्टिभागा दिवसस्येत्येवं प्रमाणः २६।३२।६२, कृष्णप्रतिपदारब्धः पौर्णमासीपरिनिष्ठितचन्द्रमासः, तेन मासेन द्वादशमासपरिमाणश्चन्द्रसंवत्सरः तस्य च प्रमाणमिदं त्रीणि शतान्यहा चतुःपञ्चाशदुत्तराणि द्वादश च द्विषष्टिभागाः ३५४।१२।६२। स्था०५ ठा० ३ उ०।

पुण्णिमपरियट्टा पुण, बारस संवच्छ रो हवइ चंदो।

द्वादशसंख्याः पौर्णमासीपरावर्ता एकाद्यान्द्रसंवत्सरो भवति। एकश्च पौर्णमासीपरावर्त एकश्चान्द्रो मासः, तस्मिंश्च चान्द्र मासे रात्रिन्दिवपरिमाणचिन्ततायामेकानत्रिंशत् रात्रिन्दिवानि, द्वात्रिंशच्च द्वाषष्टिभागा रात्रिन्दिवस्य, एतद् द्वादशभिर्गुण्यते, जातानि त्रीणि शतानि चतुः पञ्चाशदधिकानि रात्रिन्दिवानां, द्वादश च द्वाषष्टिभागा रात्रिन्दिवस्य, एवंपरिमाणश्चान्द्रः संवत्सरः। ज्यो०२ पाहु०। (संवच्छर शब्दे चैतद् विवरिष्यते) ('आउट्टि' शब्दे द्वितीयभागे ३० पृष्ठे चन्द्रादित्यावृत्तय उक्ताः)

लक्षणमस्य–

ससि सगलपुण्णमासी, जोएइ विसमचारि णक्खत्ते।
कडुओ बहूदओ या, तमाहू संवच्छरं चंदं॥

(ससि त्ति) विभक्तिलोपात् शशिना चन्द्रेण सकलपौर्णमासी समस्तराका, यः संवत्सर इति गम्यते। अथवा–यत्र शशी सकलां पौर्णमासीं योजयति, आत्मना संबन्धयति, तथा विषमचारीणि यथा स्वतिथिष्ववर्तीनि नक्षत्राणि, यत्र सविषमचारि नक्षत्रं, तथा कटुकोऽतिशीतोष्णसद्भावात्, बहूदकश्च, दीर्घत्वं प्राकृतत्वात्, तमेवंविधमाहुर्लक्षणतो ब्रुवते तद्विदः संवत्सरं चन्द्रं, चन्द्रचारलक्षणलक्षित्वचादिति। स्था०५ ठा०३ उ०।

चंदसाला–स्त्री०–(चन्द्रशाला)। प्रासादोपरितनशालायाम्, प्रश्न० १ आश्र० द्वार। जं०। ज्ञा०। शिरोगहे, जी०३ प्रति०।

चंदसिंग–न०–(चन्द्रशृङ्ग)। चतुर्थदेवलोकस्थे स्वनामख्याते विमाने, स०३ सम०।

चंदसिट्ठ–न०–(चन्द्रशिष्ट)। चतुर्थे देवलोकस्थे स्वनामख्याते विमाने, स०३ सम०।

चंदसिरी–स्त्री०–(चन्द्रश्री)। द्वितीयकुलकरस्य चक्षुष्मतो मा–

तरि, आ०चू०१ अ०। पूर्वभवे चन्द्रस्याग्रमहिष्या मातरि, ज्ञा०२ श्रु०१ अ०।

चंदसूरदंसावणिया–स्त्री०–(चन्द्रसूर्यदर्शनिका)। सद्यो जातस्य बालस्य तृतीये दिवसे क्रियमाणे चन्द्रसूर्यदर्शनाभिधे उत्सवविशेषे, भ०११ उ०। ज्ञा०। ('चंददरिसणिया' शब्दे १०७१ पृष्ठे तद्विधिः)

चंदसूरप्पासणिया–स्त्री०–(चन्द्रसूर्यदर्शनिका)। अन्वर्थानुसारिणि सद्यो बालस्य तृतीयदिवसोत्सवे विपा०१ श्रु०२ अ०।

चंदसूरि–पुं०–(चन्द्रसूरि)। आर्यवज्रस्वामिशिष्यश्रीवज्रसेनसूरीणा शिष्ये, यतश्चन्द्रकुलं विनिर्गतम्। "श्रीवज्रसेनसञ्ज्ञास्तत्पदपूर्वा–द्रिचूलिकाऽऽदित्यः। मूलं चान्द्रकुलस्याजनि च ततश्चन्द्रसूरिगुरुः" ॥१॥ग०४ अधि०। स च वैक्रमसंवत्सराणां द्वितीयशतकेऽभूवदिति पट्टावलिकादर्शनात् प्रतीयते। निरयावलिकानां श्रुतस्कन्धस्य विवरणकर्तरि, सच "वसुलोचनरविवर्षे, श्रीमच्छ्री चन्द्रसूरिभिर्दृब्धा। आभडवसाकवसतौ, निरयावलिशास्त्रवृत्तिरियम् ॥१॥" इति (नि०५ वर्ग) १२२८ वैक्रमवर्षे आतीसत्। निशीथाध्ययनस्य विंशतितमोद्देशसत्कसूत्राणां विशेषव्याख्याकृति श्रीशीलभद्रसूरीणां शिष्ये च। (स च "श्रीशीलभद्रसूरीणां, शिष्यैः श्रीचन्द्रसूरिभिः। विंककोद्देशे व्याख्या, दृब्धा स्वपरहे तवे ॥ वेदाश्वरुद्रयुक्ते, विक्रमसंवत्सरे तु मृगशीर्षे। माघसितद्वादश्यां, समर्थितेयं रवौ वारे ॥२॥" इति स्वोल्लेखात् वैक्रमसंवत् ११७४ वर्षे जज्ञे, इति निरयावलिकानिशीथाध्ययनयोरके एव व्याख्यकृत् इति प्रतीयते, उभयत्र दृब्धेतिपदप्रयोगात्, चतुः पञ्चाशद् वर्षण्यन्तरं दीर्घायुषः कथञ्चित्सम्भवत्येव।) अयञ्च मलधार्यभवदेव–शिष्यहेमचन्द्रसूरिशिष्यविजयसिंहसूरिशिष्योऽभवदिति, तत्कृतसंग्रहणीरत्नग्रन्थोल्लेखः, अनेनावश्यके प्रदेशव्याख्या नाम टिप्पनकमापि कृतमस्ति, विक्रमसंवत् १२२२ वर्षे तृतीयोऽपि चन्द्रसूरिः पाक्षिकसूत्रटीकाकारकस्य यशोदेवसूरेः शिष्य आसीत्। जै० इ०।

चंदसूरोतरण–न०–(चन्द्रसूर्यावतरण) समवसरणभूमौ श्रीवीर–स्वामिवन्दनार्थं सविमानयोश्चन्द्रसूर्य्ययोरवतरणे, कल्प०५ क्षण। विपा०। नि०। (तद्वक्तव्यता 'सूरचंद' शब्दयोरवसेया) ('उत्तरणं चंदसूराणं' 'अच्छेर' शब्दे प्रनिभागे २०० पृष्ठे आवेदितम्)

चंदसूरोवराग–पुं०–(चन्द्रसूर्योपराग) ग्रहणे, "चंदसूरोवरागो गहणं भन्नति" नि० चू०१९ उ०।

चंदसेण–पुं०–(चन्द्रसेन) श्रीऋषभजिनेन्द्रस्य षट्चत्वारिंशे पुत्रे, कल्प०७ क्षण। स्वनामके सूरौ च, अयमाचार्यः विक्रम संवत् १२०७ मिते विद्यमान आसीत्, प्रद्युम्नसूरेरयं शिष्य उत्पादसिद्धिनाम्नो ग्रन्थस्य कर्ता। जै० इ०।

चंदसेहर–पुं०–(चन्द्रशेखर) हरिश्चन्द्रसमकालीने नृपे, यो हि क्षीणद्रव्यं हरिश्चन्द्रं याचमानेन कुलपतिना वसु लक्षं याचनीय इत्युक्तः। ती०३८ कल्प०। श्रीसोमतिलकसूरीणां शिष्ये च, श्रीसोमप्रभसूरेः पट्टे श्रीसोममिलकसूरीन्द्रास्तेषां च ये विनेयास्तत्र श्रीचन्द्रशेखरः प्रथमः। ग०४ अधि०।

चंदा–स्त्री०–(चन्द्रा) चन्द्राद्वीपे चन्द्रदेवस्य राजधान्याम्, जी०३ प्रति०। (तद्वक्तव्यता 'चंददीव' शब्दे अस्मिन्नेव भागे १०७१ पृष्ठे उक्ता)

चंदागमणपविभति–न०–(चन्द्रागमनप्रविभक्ति)। वीरवन्दनार्थं समागतस्य चन्द्रस्याभिनयात्मके नाट्यभेदे, रा०।

चंदागारोवम–त्रि०–(चन्द्राकारोपम)। चन्द्राकारश्चन्द्राकृतिः स उपमा येषां तानि तथा। चन्द्रमण्डलवद् वृत्ते, जी०३ प्रति०। रा०।

चंदाणण–पुं०–(चन्द्रानन)। जम्बूद्वीपे ऐरवतवर्षेऽस्थाभवसर्पिण्यां जाते प्रथमतीर्थकरे, स०। ति०। आव०।

चंदाणणा–स्त्री०–(चन्द्रानना)। चन्द्रवदाननं मुखं यासां ताः। जी०३ प्रति०। रा०। चन्द्रमुख्याम् नेमिकुमारस्य राजीमत्याः भार्यायाः स्वनामख्यातायां सख्याम्, कल्प०७ क्षण। स्वनामख्यातायां शाश्वत जिनप्रतिमायाम्, सा चोत्कर्षतः पञ्चधनुःशतानि जघन्यतः सप्तहस्ता। रा०।

चंदाभ–पुं०–(चन्द्राभ)। अवसर्पिण्यामेकादशे कुलकरे, जं०२ वक्ष०। भ०। "चंदाभो त्ति सामन्नं स चेव ताव सोमलेसा विसेसो चंदपियणम्मि दोहिलो चंदाभोयति," चन्द्रप्रभे तीर्थकरे, आ० चू०२ अ०। पञ्चमदेवलोकस्थे विमानभेदे, स०९ सम०। अभ्यन्तरपश्चिमायाः कृष्णराजेरग्रे लोकान्तिकविमाने, यत्र गर्दतोया लोकान्तिकदेवा निवसन्ति। स्था०८ ठा०।

चंदायण–न०–(चान्द्रायण)। चन्द्रेण वृद्धिभाजा क्षयभाजा च सहायते गम्यते यत्तच्चान्द्रायणम्। चन्द्रप्रतिमायाम्, (द्वा०)।

एकैकं वर्द्धयेद् ग्रासं, शुक्ले कृष्णे च हापयेत्।
भुञ्जीत नामावास्यायसा–मेष चान्द्रायणे विधिः ॥१८॥

(एकैकमिति) एकैकं वर्द्धयेत् कवलं शुक्ले पक्षे प्रतिपत्तिथेरारभ्य यावत् पौर्णमास्यां पञ्चदश कवलाः, कृष्णे च पक्षे हापयेत् हीनं कुर्यादेकैकं कवलं, ततो भुञ्जीत न अमावास्यायां, तस्यां सकलकवलक्षयादेष चान्द्रायणश्चन्द्रेण वृद्धिभाजा क्षयभाजा च सहायते गम्यते यत् तत् चान्द्रायणं, तस्यायं विधिः करणप्रकार इति। द्वा०१२ द्वा०।

इयं च चन्द्रायणप्रतिमा यवमध्या स्याद्वज्रमध्या च, तत्राद्यां तावद्दर्शयन्नाह–

सुक्कम्मि पडिवयाओ, तहेव वुड्ढीऍ जाव पण्णरस।
पंचदसपडिवयाहिं, तो हाणी किण्हपडिवक्खे ॥१९॥

शुक्ले शुक्लपक्षे प्रतिपदः प्रथमतिथेरारभ्य तथैव तेनैव प्रकारेण एकाद्येकोत्तरलक्षणेन वृद्ध्या प्रतिदिनं भिक्षाणां कवलानां च वर्द्धनेन यावत्पञ्चदश भिक्षाः कवलान्वा गृह्णाति (पंचदसपडिवयाहिं ति) पञ्चदश्यां पौर्णमास्यां प्रतिपदि च कृष्णपक्षप्रथमतिथौ (तो त्ति) ततोऽनन्तरम्-(हाणि त्ति) एकैकशोऽनुदिनं भिक्षादिहानिं करोति कृष्णप्रतिपक्षे, कृष्णस्वरूपे शुक्लपक्षापेक्षया द्वितीयपक्षे इत्यर्थः। तत्र चामावास्यायामेका भिक्षा कवलो वा स्यादिति गाथार्थः ॥१९॥

अथ वज्रमद्ध्या, तामाह–

किण्हे पडिवऍ पण्णर–स एगहाणीओ जाव इक्को उ।
अमवस्सपडिवयाहिं, वुड्ढी पण्णरस पुन्नाए ॥२०॥

कृष्णे पक्षे प्रतिवदि प्रथमतिथौ पञ्चदश कवलादीन् गृह्णाति–

तत (एगहाणीओ त्ति) एककवलादिहानिः प्रतिदिनं क्रियते, यावदेकस्तु एक एव कवलादिरमावास्याप्रतिपदोः प्रतीतयोस्ततो वृद्धिः कवलादीनामनुदिनं क्रियते, यावत्पञ्चदश कवलादवः पूर्णायां पूर्णमास्यां भवन्तीति गाथार्थः ॥२०॥

इह तपसि भिक्षाऽऽदि ग्राह्यतयोक्तमतस्तल्लक्षणमाह–

एत्ता भिक्खामाणं, एगा दत्ती विचित्तरूवा वि।
कुक्कडिअंडयमेत्तं, कवलस्स वि होइ विण्णेयं ॥२१॥

इत्ता विवक्षिततपःस्वरूपाभिधानानन्तरं भिक्षामानं, वाच्यमिति शेषः। तच्चेदमेका असहाया, दत्तिर्भक्तप्रक्षेपरूपा, विचित्ररूपाऽपि बह्वल्पैकानेकद्रव्यस्वभावतया नानास्वभावाऽपि, न के वलमेकस्वभावेति। अथ कवलमानमाह-कुकुट्यण्डकमात्रं कवलस्थाऽपि भवति विज्ञेयमिति प्रतीतं, नवरं मानमिति वर्तते इति गाथार्थः॥२१॥

इहैव विशेषमाह–

एतं च कीरमाणं, सफलं परिसुद्धजोगभावस्स।
णिरहिगरणस्स णेयं, इयरस्स ण तारिसं होइ ॥२२॥

एतश्च एतत्पुनरनन्तरोक्तं तपः क्रियमाणं विधीयमानं सफलं मोक्षादिफलं, ज्ञेयमिति योगः; परिशुद्धा निर्दोषा योगा व्यापारा भवश्चाध्यवसायो यस्य स तथा, तस्य, एतदेव स्पष्टतरमाह-निरधिकरणस्य गुरुतरारम्भवर्जितस्य निष्कलहस्य वा ज्ञेयं ज्ञातव्यम, इतरस्य साधिकरणस्य न नैवं तादृशं, यादृशं निरधिकरणस्य फलमिति गम्यते, भवति स्यादिति गाथार्थः ॥२२॥ पञ्चा०१६ विव०। चन्द्रस्योत्तरतो दक्षिणतश्च षड्भिः षड्भिर्मासैर्गमने, ज्यो० ११ पाहु०। (तत्प्रमाणम् अयन शब्दे प्रथमभागे ७५१ पृष्ठे उक्तम्। तथा 'चंदमंगल' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १०८१ पृष्ठेऽप्युक्तम्)

चंदालग–न०–(चन्द्रालक) देवतार्चनिकाद्यर्थं ताम्रमये मथुराप्र–सिद्धे भाजने, सूत्र०१ श्रु०४ अ०२ उ०।

चंदावली–स्त्री०–(चन्द्रावली)। तडागादिषु जलमध्यप्रतिम्बितचन्द्रपङ्क्तौ, रा०। जी०। जं०। आ० म०।

चंदावलीपविभक्ति–*न०–(चन्द्रावलीप्रविभक्ति) चन्द्रावलीप्रवि–*भागाभिनयात्मके नाट्यभेदे, जी०३ प्रति०। जं०।

चंदाविज्झय–न०–(चन्द्रावेध्यक) चन्द्रो यन्त्रपुत्तलिकाक्षिगोलको गृह्यते, तथा आ मर्य्यादया विध्यते इति आवेध्यं, तदेवावेध्यकं, चन्द्रलक्षणमावेध्यकं चन्द्रावेध्यकम्। राधावेधे, तदुपमान-मारणाराधनप्रतिपादके ग्रन्थविशेषे च। तच्च प्रकीर्णकरूपम् उत्कालिकश्रुतभेदः। पा०। नं०।

तच्चेदम्–

नामिऊण नमोक्कारं, जिणवरवस हस्स बद्धमाणस्स।
संधारम्मि निबरूं, गुणपरिवाडिं निसामेह ॥१॥
एस किराराहणया, एस किर मणोरहो सुविहियाणं।
एस किर पच्छिमंते, पडागहरणं सुविहियाणं ॥२॥
भूईगहणं जहा णं, कयाण अवमाणयं व अज्झाणं।
मल्लाणं च पडागा, तह संथारो सुविहियाणं" ॥३॥
इत्याद्युपक्रम्य संस्तारकविधिरुक्तः। द० प०३ प०।
इत्थ समप्पइ इणमो, पव्वज्झामरणकालसमयम्मि।
जो हू न सज्जइ मरणे, साहू आराहओ भणिओ ॥१७३॥
विणयं आयरियगुणे, सीसगुणे विणयनिग्गहगुणे अ।
नाणगुणे चरणगुणा, मरणगुणविहिं च सोऊणं ॥१७४॥
तह खित्तह काउज्जे, जह मुद्धह गब्भवासवसहीणं।
मरणपुणब्भवजम्मण–दुगाण विणिवायगमणाणं" ॥१७५॥
द०प०४प०।

चंदिमा–स्त्री०–(चन्द्रिका) **"चन्द्रिकायां मः"।८।१।१८१।** चन्द्रिकाशब्दे कस्य मो भवति, इति मः। प्रा०१ पाद। द०प०। चन्द्रज्योत्स्नायाम्, ज्ञा०१ श्रु०८ अ०।

चंदिमाइय–पुं०–(चान्द्रिक) चन्द्रदृष्टान्तप्रतिपादके प्रथमश्रुत–स्कन्धस्य ज्ञाताध्ययने, आव०४ अ०। आ०चू०। प्रश्न०।

चंदिलो–(देशी) तापिते, दे० ना०३ वर्ग।

चंदुत्तरवडिंसग–न०–(चन्द्रोत्तरावतंसक) चतुर्थे देवलोकस्ये स्वनामख्यात्रे विमाने, स०१ सम०।

चंदेरी–स्त्री०–(चन्देरी) स्वनामख्यातायां नगर्य्याम्, यत्राजित–स्वामी प्रतिमारूपेण पूज्यते। ती०४५ कल्प।

चंदोज्ज–(देशी) कुमुदे, दे० ना०३ वर्ग।

चंदोत्तर–न०–(चन्द्रोत्तर) कौशाम्ब्या नगर्य्या बहिः स्वनामख्याते उद्याने, विपा०१ श्रु०५ अ०।

चंदोयर–पुं०–(चन्द्रोदर) चक्रपुराधिपस्य वज्रायुधस्याङ्गजे इन्द्रपुर्याधिपपद्मोत्तरनृपतिसुतायाः सलीलेहायाः पत्यौ वैताढ्यपर्वते मलयपुरे किरणवेगस्य नरपते राजसिंहासनेऽभिविक्ते भानुसूरीणां शिष्ये, ध० र०।

चंदोवग–न०–(चन्दोपक) कुशालम्बननिमित्ते परिव्राजकोपकरणे स्था०४ ठा०२ उ०।

चंदोवराग–पुं०–(चन्द्रोपराग) चन्द्रस्य चन्द्रविमानस्य उपरागो राहुविमानतेजसोपरञ्जनं चन्द्रोपरागः। स्था० १० ठा०। चन्द्रग्रहणे, भ०३ श०६ उ०। अनु०।

चंपग–पुं०–(चम्पक) पुष्पप्रधाने स्वनामख्याते वृक्षविशेषे, स च सुवर्णचम्पकः काष्ठचम्पकश्चेति द्विविधः। जं०१ वक्ष०। दर्श०। रा०। स्था०। आ० म०। कल्प०। आचा०। आव०। भ०। प्रज्ञा०। जी०। ज्ञा०। विंशतितमजिनस्य किम्पुरुषाणां च चम्पकश्चैत्यवृक्षः। प्रश्न०२ आश्र० द्वार। स०। तत्पुष्पे, न०। तच्च स्वर्णवत्पीतं भवति। प्रश्न०२ आश्र० द्वार। जम्बूद्वीपस्य विजयद्वारसत्कविजयाभिधानराजधान्याः पश्चिमदिग्वर्तिचम्पकवनस्याधिपतौ देवे, पुं०। जी०३ प्रति०।

चंपगकुसुम–न०–(चम्पककुसुम)। सुवर्णचम्पकत्वचि, जी०३ प्रति०। प्रज्ञा०।

चंपगगुम्म–न०–(चम्पकगुल्म) ह्रस्वस्कन्धबहुकाण्डपत्रपुष्पफ–लोपेतेषु चम्पकवृक्षेषु, जं०२ वक्ष०।

चंपगछल्ली–स्त्री०–(चम्पकछल्ली) सुवर्णचम्पकत्वचि, प्रज्ञा०१७ पद। जं०।

चंपगपिय–त्रि०–(चम्पकप्रिय) यस्य चम्पकपुष्पं प्रियं तस्मिन्, भाव०३ अ०।

चंपगभेय–पुं०–(चम्पकभेद) सुवर्णचम्पकच्छेदे, जी०३ प्रति०।

चंपगमाला–स्त्री०–(चम्पकमाला) । ६त० । स्वर्णचम्पकैर्निर्मितायां मालायाम्, स्त्रीणां कण्ठाभरणे, दशाक्षरपादके पङ्क्तिच्छन्दोभेदे च । वाच० । असुइट्ठाणे पडिया, चंपगमाला न कीरई सीसे ।।" आव०३ अ० । ('किइकम्म' शब्दे अस्मिन्नेव भागे ५१७ पृष्ठेऽस्या व्याख्या)

चंपगलया–स्त्री०–(चम्पकलता) । चम्पका द्रुमविशेषाः, लता–स्तिर्य्यक्शाखाः प्रचाराभावात्, चम्पकानां लतास्तनुकास्त एव । लताकृतिषु चम्पकवृक्षेषु, जं०१ वक्ष० । औ० ।

चंपगवडिंसय–पुं०–(चम्पकावतंसक) । सौधर्मादिविमानानां मध्यदेशवर्तिनि अन्यतमेऽवतंसके, प्रज्ञा०२ पद । रा० ।

चंपरमणिज्ज–न०–(चम्पारमणीय) । कुमाराख्यसंनिवेशस्य बहिः स्वनामख्याते उद्याने, आ० चू०१ अ० । आ० म० ।

चंपा–स्त्री०–(चम्पा) । अङ्गाख्यजनपदराजधान्याम्, आव०१ अ० । आ० म० । कल्प० । सूत्र० । ज्ञा० । स्था० । प्रज्ञा० । पञ्चा० । प्रव० । ती० । आ० क० । अन्त० । चम्पानगर्य्या हि व्याख्या प्रज्ञप्तेः पञ्चमशतकस्य दशम उद्देश उक्ता । भ०५ श०१ उ० । पञ्चा० ।

तत्कल्पश्चेत्थम्–

"कृतदुर्नयभङ्गाना-मङ्गानां जनपदस्य भूषायाः ।
चम्पापुर्याः कल्पं, जल्पामस्तीर्थपुर्यायाः" ॥१॥

अस्यां द्वादशमजिनेन्द्रस्य श्रीवासुपूज्यस्य त्रिभुवनजनपूज्यानि गर्भावतारजन्मप्रव्रज्याकेवलज्ञाननिर्वाणोपगमलक्षणानि पञ्च कल्याणकानि जज्ञिरे ।१। अस्या मेव श्रीवासुपूज्याजिनेन्द्रपुत्रमज्झवनृपतिपुत्री लक्ष्मी कुक्षिजाता रोहिणी नाम कन्याऽष्टानां पुत्राणामुपरि जज्ञे, सा च स्वयंवरे अशोकराजन्यकण्ठे वरमालां निक्षिप्य तं परिणीय पट्टराज्ञी जाता, क्रमेणाष्टौ पुत्रांश्चतस्त्रश्च पुत्रीरजीजनत् ।२। अन्यदा वासुपूज्य-शिष्ययो रूप्यकुम्भस्वर्णकुम्भयोर्मुखाददृष्ट–दुःखस्योपशमहेतुं प्राग्जन्मचीर्णं रोहिणी तपः श्रुत्वा सोद्यापनविधिं प्राचीकटन्मुक्तिं सपरिच्छदाऽगच्छत् ।३। अस्यां करकण्डुनामधेयो भूमण्डलाखण्डलः पुराऽसीद्यः कादम्बर्य्यामटव्यां कलिंगिरेरुपत्यकावर्तिनि कुण्डनाम्नि सरोवरे श्रीपार्श्वनाथं पद्मस्थावस्थायां विहरन्तं हस्तिव्यन्तरानुभावात्कलिकुण्डतीर्थतया प्रतिष्ठापितवान् ।४। अस्यां सुभद्रा महासती पाषाणमयविटकपाट संपुटपिहितात्तिस्त्रः प्रतोलीः शीलमाहात्म्यादामसूत्रतन्तुवेष्टितेन तितउना कूपाज्जलमाकृष्य तेनाभिषिच्य सप्रभावमुद्घाटयत्, एका तु तुरीया प्रतोली अन्याऽस्ति, या किल सत्सदृशी सुचरित्रा भवति, तयेयमुद्घाटनीयेति भणित्वा राजादिजनसमक्षं तथैव पिहितामेवास्थापयत्, सा च तद्दिनादारभ्य चिरकालं तथैव दृष्टा जनतया, क्रमेण विक्रमादित्य वर्षेषु षष्ट्यधिकत्रयोदशशतेष्वतिक्रान्तेषु १३६० लक्षणावतीहम्मीरश्रीसुरत्राणसमदीनः शङ्करपुरदुर्गा पयोगि पापणग्रहणार्थं प्रतोली पातयित्वा कपाटसंपुटमग्रहीत् ।५। अस्यां दधिवाहननृपतिर्महिष्या पद्मावत्या सह तद्दोहदपूरणार्थमनेकपाऽऽरूढः संचरन् स्मृतारण्यानीविहारेण करिणा तां प्रति व्रजता अपवाहितः स्वयं तश्रशाखामालम्ब्य स्थितः, करिणी पुनः संचरिते व्यातृत्येमामेव स्वपुरीमागमत्, देवी चासामर्थ्यात्तदारूढैवारण्य–नीमगात् । तदवतीर्णा क्रमेण सूनुं सुषुवे, स च करकण्मुर्नाम क्षितिपतिरजनि, कलिङ्गेषु पित्रा सार्द्धं युध्य मानः प्रतिषिध्य आर्यया जनन्या क्रमेण महावृषभस्य यौवनवा र्द्धकदशादर्शनलाञ्जातः प्रत्येकबुद्धः, सिद्धिं चाससाद ।६। अस्यां चन्दनबाला दधिवाह–ननृपतिनन्दना जन्म उपलेभे, या किल भगवतः श्रीमहावीरस्य श्रीमहावीरस्य कौशाम्ब्यां सूर्पकोणस्थकुल्माषैः पारणाकारुण्यात् पञ्चदिनोनषण्मासाऽवसाने द्रव्यक्षेत्रकाल भावाभिग्रहानपूरयत ।७। अस्यां पृष्ठचम्पया सह श्रीवीरस्त्रीणि वर्षारात्रसमवसरणानि चक्रे ।८। अस्यामेव परिसरे श्रीश्रेणिकसूनुरशोकचन्द्रो नरेन्द्रः कूणिकाऽपराख्यः श्रीराजगृहं जनकशोकाद्विहाय नवीनां राजधानीं चम्पामचीकरत् ।९। अस्यामेव पाण्डुकुलमण्डनो दानशौण्डेषु दृष्टान्तः श्रीकर्णनृपतिः साम्राज्यश्रियं चकार, दृश्यन्ते चाद्यापि तानि तानि तदवदानस्थानानि शृङ्गाटचतुष्कादीनि पुर्यामस्याम् ।१०। अस्यां सम्यग्दृशां निदर्शनं सुदर्शनश्रेष्ठी दधिवाहनभूपस्थ राज्ञ्याऽभयाख्यया संभोगार्थमुपसर्ग्यमाणः क्षितिपतिवचसा वधार्थं नीतः स्वकीयनिष्कम्पशीलसंपत्प्रभावाकृष्टशासनदेवतासान्निध्यात् शूलं हैमासिंहासनतामनैषीत्, तरवारिं च निशितं सुरभिसुमनोदामानयत् ।११। अस्यां च कामदेवः श्रेष्ठी श्रीवीरस्यो पासकाग्रणीरष्टादशकनककोटिस्वामी गोदशसहस्त्रयुतषड्गोकुलाधिपतिर्भद्रापतिरभवत्, यः पोषधागारस्थितो मिथ्यादृग्देवेन पिशाचगजभुजगरूपैरुपसर्गितोऽपि न क्षोभमभजत्, श्लाघितश्च भगवताऽन्तः समवसरणम् ।।१२।। अस्यां विहरन् श्रीशय्यम्भवसूरिश्चतुर्दशपूर्वधरः स्वतनयं यमनिकाभिधानं राजगृहागतं प्रव्राज्य तस्यायुः षण्मासावशेषं श्रुतज्ञानोपयोगेनाऽऽकलस्य तदध्ययनार्थं दशवैकालिकं पूर्वगतान्निर्व्यूढवान्, तत्रात्मप्रवादात् षट्जीवनिकां कर्मप्रवादात् पिण्डैषणां सत्यप्रवादाद्वाक्यशुद्धिम् अवशिष्टाध्ययनानि प्रत्याख्यानपूर्वतृतीयवस्तुन इति ।१३। अस्यां वास्तव्यः कुमारनन्दी सुवर्णकारः स्वविभववैभवाभिभूत धनमदोऽकृशकृशानुप्रवेशात्पञ्चशैलाधिपत्यमधिगत्य प्राग्भवसुहृदच्युतविबुधवोधितचारुगोशीर्षचन्दनमयीं जीवन्तस्वामिनीं सालङ्कारां देवाधिदेवश्रीमहावीरप्रतिमां निर्ममे ।१४। अस्यां पूर्वभद्रे चैत्ये श्रीवीरो व्याकरोद्योऽष्टापदमारोहति स तद्भव एव सिद्ध्यतीति ।।१५।। अस्यां पालितनामा श्रीवीरोपासको वणिक्, तस्य पुत्रः समुद्रयात्रायां समुद्रे प्रसूत इति समुद्रपालो वध्यं नीयमानं वीक्ष्य प्रतिबुद्धः, सिद्धिं च प्रापत् ।१६। अस्यां सुनन्दः श्राद्धः साधूनां मलदुर्गन्धं निन्दित्वा मृतः कौशाम्ब्यामिभ्यसुतोऽभूद् व्रतं चाऽग्रहीदुदीर्णदुर्गन्धः कायोत्सर्गेण देवतामाकृष्य स्वाङ्गे सौगन्ध्यमकार्षीत् ।१७। अस्यां कौशिकार्य शिष्याङ्गर्षिरुद्रकाख्यानसंविधानकं सुजातप्रियङ्ग्वादिसंविधानकानि च जज्ञिरे ।१८। इत्यादिसंविधानकरत्नप्रकटनानावृतिनिधानमियं पुरी, अस्याश्च प्राकाराभित्तिप्रियसखीव प्रतिक्षणमालिङ्गति पावनघनरसपूरितान्तरा सरिद्वरा प्रसृतवीचिभुजाभिः ।१९। "उत्तमतमनरनारी-मुक्तामणिधोरणिप्रसवशुक्तिः । नगरीविविधाद्भुतवस्तुशालिनी मालिनी जयति ।।२०।। जन्मभूर्वासुपूज्यस्य, तद्भक्त्वा श्रूयते बुधैः । चम्पायाः कल्पमित्याहुः श्रीजिनप्रभसूरयः ।।२१।।" ती०३५ कल्प ।

चंपाकुसुम–न०–(चम्पककुसुम) । सुवर्णचम्पकपुष्पे, रा० । जी० ।

चंपिज्जिया–स्त्री०–(चम्पीया) । स्थविराद् भद्रयशसो निर्गतस्य उडुपातिकगणस्य प्रथमशाखायाम्, कल्प०८ क्षण ।

चकोर–पुं०–(चकोर) रक्तपादे दीर्घग्रीवे जलचरपक्षिणि, नि० चू०१७ उ० । प्रश्न० ।

चक्क–न०–(चक्र) **"सर्वत्र लवरामवन्द्र" ८।२।७९।** इति रलोपः । प्रा०२ पाद । नाभिप्रोतारबद्धे वृत्ताकृतौ पदार्थे, प्रश्न०३ आश्र० द्वार। यथा रथाङ्गमरघट्टाङ्गं वा । औ० । प्रश्न० । समस्तायुधातिशायिदुर्द-मारिपुविजयकरे, प्रव०२१२ द्वार। रत्नभूतप्रहरणविशेषे, स्था०२ ठा०४ उ० । ओघ० । आव० । रा० । अश्र० । (मनुष्यभवदौर्लभ्ये चक्रदृष्टान्तो "मणुस्स" शब्दे वक्ष्यते) वासुदेवानां सुदर्शनाभिधानं चक्रम। उत्त०११ अ० । चक्राकारे शिरोभूषणविशेषे, जं०२ वक्ष० । आभरणविशेषे, औ० । चक्रवाके, कल्प०३ क्षण । पक्षिविशेषे, पुं० । जी०१ प्रति० । प्रज्ञा० । सैन्ये, राष्ट्रे, दम्भभेदे, जलावर्ते, ग्रामजाले, तगरपुष्पे, व्यूहभेदे, वाच० ।

चक्कंत–पुं०–(चक्रकान्त) अन्तिमसमुद्रस्याधिपातौ, द्वी० ।

चक्कजोहि(ण्)–पुं०–(चक्रयोधिन्) चक्रेण युद्धकर्तरि वासुदेवे, आव०१ अ० ।

चक्कज्झय–पुं०–(चक्रध्वज) चक्रालेख्यरूपचिह्नोपेतायां ध्वजायाम् जं०१ वक्ष० । पञ्चा० । रा० । जी० । तादृशध्वजयुक्ते च । त्रि० । "चक्कज्झया य सव्वा, सव्वा वइरज्झया चेव"। द्वा०१ द्वा ।

चक्कट्ठपइट्ठाण–त्रि०–(चक्राष्टप्रतिष्ठान) चक्रेष्वष्टासु प्रतिष्ठानं प्रतिष्ठा-ऽवस्थानं यस्य तत्तथा । अष्टचक्रयुक्ते, स्था०६ ठा० ।

चक्कणाभि–पुं०–(चक्रनाभि) चक्रारप्रोतस्थाने, "भरहो रहेण समुद्दमव-गाहिया चक्कणाभिं० जाव ततो नामकं सरं विसज्जाइ" आव०१ अ० ।

चक्कतित्थ–न०–(चक्रतीर्थ) मथुरास्थे तीर्थभेदे, ती०६ कल्प ।

चक्कदेव–पुं०–(चक्रदेव) स्वनामख्याते सार्थवाहपुत्रे, ध०१ अधि० (चक्रदेवचरित्रं तु प्रथमभागे 'असढ' शब्दे ८३५ पृष्ठे समुक्तम्)

चक्कपाणिलेह–त्रि०–(चक्रपाणिरेख) चक्र इव पाणिरेखा येषां त तथा । चक्राङ्कितहस्तरेखेषु, प्रश्न०४ आश्र० द्वार ।

चक्कपुरा–स्त्री०–(चक्रपुरा) वल्गुविजयराजधान्याम्, जं०४ वक्ष० आव० । "दो चक्कपुराओ" स्था०५ ठा०३ उ० ।

चक्कवाल–न०–(चक्रवाल) सर्वतः परिमण्डलरूपे, जं०२ वक्ष० । प्रश्न० । कल्प० । भ० । औ० । मण्डले, स्था०३ ठा०४ उ० । जलपारिमाण्डल्ये, स०१०० सम० । समूहे, आतु० । वक्षे, भ०१ श०१ उ० । दशविध-चक्रवालसामाचारीत्यत्र चक्रवालशब्देन किमुच्यते ? इति प्रश्ने, उत्तर-मम्चक्रवाले नित्यकर्म्मणि सामाचारी चक्रवालसामाचारी, दशविधा दशप्रकारा चासौ चक्रवालसामाचारी च दशविधचक्रवालसामाचारीति चक्रवालशब्दोऽवश्यकार्यवाचीति पञ्चवस्तुवृत्तौ, तथा चक्रवाले चक्रवालविषया चक्रवत्प्रतिपदं भ्रमन्ती दशविधा सामाचारीत्यपि प्रवचनसारोद्धारवृत्तौ शततमद्वारे इति । ३२ प्र० सेन०३ उल्ला० ।

चक्कवालपव्वय–पुं०–(चक्रवालपर्वत) कुण्डलाभिधानैकादशद्वीपवर्तिनि पर्वते, स्था०१० ठा० ।

चक्कवालविक्खंभ–पुं०–(चक्रवालविष्कम्भ) । चक्रवालस्य विष्कम्भः । पृथुत्वे, स्था०२ ठा०३ उ० ।

चक्कवालसामायारी–स्त्री०–(चक्रवालसामाचारी) । चक्रवत्प्रतिपदं भ्रमन्तीति चक्रवालविषया सामाचारी । ध०३ अधि० । नित्यकर्मसामा-चार्याम्, पं० व०४ द्वार ।

सांप्रतं दशधा पदविभागसामाचापरीस्वरूपप्रदर्शनायाऽऽह–

"इच्छा मिथ्या तथाकारा, गताऽऽवश्यनिषेधयोः ।
आपृच्छा प्रतिपृच्छा च, छन्दना च निमन्त्रणा ॥३३॥
उपसंपच्चेति जिनैः प्रज्ञप्ता दशधाऽभिधा ।
भेदः पदविभागस्तु, स्यादुत्सर्गापवादयोः" ॥३४॥(युग्मम्)

इति अमुना प्रकारेण जिनैर्दशधाऽभिधा दशधाख्या सामाचारी प्रज्ञप्ता प्ररूपिता । (ध०) चक्रवत्प्रतिपदं भ्रमन्तीति चक्रवालविषया दशधा सामाचारी, एतत्सेवकानां च महाफलम्, यतः–"एवं सामायारिं, जुंजुत्ता चरणकरणमाउत्ता । साहुं खवेंति कम्मं, अणेगभवसंचिअमणंतं ॥१॥" प्रवचनसारोद्धारे तु प्रकारान्तरेणापि दशधा चक्रवालसामाचारी प्रोक्ता। तथाहि "पडिलेहणा पमज्जण, भिक्खायरिया अ भुंजणा चेव। पत्तंगं घुवणं विआ–रे थंडिलआवस्सयाईआ ॥१॥" एतद्व्याख्यानं तु ओघसामाचार्यां गतप्रायमेवेति । ध०३ अधि० ।

चक्कवाला–स्त्री०–(चक्रवाला) । वलयाकृतौ श्रेण्याम्, स्था०७ ठा० ।

चक्कय–पुं०–(चक्रक) । चक्रमिव कायति कैःकः । स्वापेक्षापेक्ष्यपे-क्षित्वनिबन्धनेऽनिष्टसङ्गरूपे तर्कभेदे, वाच० । यथा प्रामाण्यविचारे-न यावद्विज्ञानस्य यथावस्थितार्थपरिच्छेदलक्षणो विशेषः सिद्ध्यति संवादार्थिना यावच्च न प्रवृत्तिर्न क्रियासंवादः, यावन्न संवादो न तावद्विज्ञानस्य यथावस्थितार्थपरिच्छेदकत्वसिद्धिरिति चक्रकप्रसङ्ग । अने०१ अधि० । चक्रकारे, प्रज्ञा०१ पद ।

चक्करयण–न०–(चक्ररत्न) । चक्रजातौ वीर्यत उत्कृष्टे, चक्रवर्ति नामेकेन्द्रियरत्ने, स्था०७ ठा० । स० । प्रज्ञा० । जं० । आ० म० । आ० चू० । (चक्रवर्तिनां चक्ररत्नं यथोत्पद्यते यथा च तद्देशितमार्गाश्चक्रिणो भारतवर्षविजयाय यान्ति तथा 'भरह' शब्दे वक्ष्यते)

चक्कल–पुं०–(चक्रल) । पादानामधो वृत्ताकारेऽवयवविशेषे, आ० म० प्र० ।

चक्कलक्खण–न०–(चक्रलक्षण) । चक्रस्वरूपे, तत्प्रतिपादकशास्त्रे, तद्विज्ञाने च । सूत्र०२ श्रु०२ अ० । स० । चक्राकारचिह्नोपेते, स्था०६ ठा० । औ० ।

चक्कलियाभिण्ण–त्रि०–(चक्रलिकाभिन्न) । वृत्तखण्डे, बृ०१ उ० ।

चक्कवट्टि(ण्)–पुं०–(चक्रवर्तिन्) । चक्रेण रत्नभूतेन प्रहरणविशेषेण वर्तितुं शीलमस्य चक्रवर्ती । स्था०२ ठा०४ उ० । चक्रं प्रहरणं तेन विजयाधिपत्ये वर्तितुं शीलमस्येति । आव०४ अ० । प्रश्न० । आ०म० । रा० । अनु० । षट्खण्डभरतेश्वरे, सूत्र०२ श्रु०१ अ० । उत्त० । आव० ।

अथ चक्रिणां सर्वोऽधिकारः –

"जंबूदीवे वारस चक्कवट्टी होत्था । तं जहा–
"भरहे सगरे मघवं, सणंकुमारो य रायसद्दूलो ।
संती कुंथू य अरो, हवइ सुभूमो य कोरव्वो ॥४६॥

नवमो य महापउमो, हरिसेणो चेव रायसद्दूलो।
जयनामो य नरवई, बारसमो बंभदत्तो य" ॥४७॥स०।
(कस्मिन् जिनान्तरे कश्चक्रीति 'अंतर' शब्दे प्रथमभागे ६६ पृष्ठे उक्तम्। चक्रवर्त्यवग्रहः 'अवग्गह' शब्दे प्रथमभागे ६६६ पृष्ठे उक्तः)

सांप्रतं चक्रवर्त्यायुष्कप्रतिपादनायाऽऽह--

चउरासीई वाव-त्तरी य पुव्वाण सयसहस्साइं॥
पंचेव य तिन्नि अ ए-गं च सयसहस्स उ वासाणं॥६२॥
पंचाणउइसहस्सा, चउरासीई अ अट्ठमे सट्ठी॥
तीसा य दस य तिन्नि य, अपच्छिमो सत्त वाससया" ॥६३॥
गाथाद्वयं पठितसिद्धम्। आव०१ अ०।

चक्रवर्तिनः कल्याणभोजनम्–

अत्र कल्याणभोजनसंप्रदाय एवमम्चक्रवर्तिसंबन्धिनीनां पुण्ड्रेक्षुचारिणीनामनातङ्कानां गवां लक्षस्यार्द्धार्द्धक्रमेण पीतगोक्षीरस्य पर्यन्ते यावदेकस्याः गोः संबन्धि यत् क्षीरं तत्प्राप्तकलमशालिपरमान्नरूपमनेकसंस्कारकद्रव्यसंमिश्रं कल्याण भोजनमिति प्रसिद्धं, चक्रिणं स्त्रीरत्नं च विना अन्यस्य भोक्तुर्दुर्जरं महदुन्मादकं चेति। जं०२ वक्ष०।

काकिणी–

एगमेगस्स णं रन्नो चाउरंतचक्कवट्टिस्स अट्ठसोवन्निए काकिणिरयणे छत्तले दुवालसंसिए अट्ठकण्णिए अधिकरणिसंठिए पण्णत्ते।

एकैकस्य राज्ञश्चतुरन्तचक्रवर्तिन इत्यत्रान्यान्यकालोत्पन्नानामपि तुल्यकाकिणीरत्नप्रतिपादनार्थमेकैकग्रहणं, निरुपचरितराजशब्द विषयज्ञापनार्थं राजग्रहणं, षटस्वण्डभरतादिभोक्तृत्वप्रतिपादनार्थं चतुरन्तचक्रवर्तिग्रहणमिति, अष्टसौवर्णिकं काकिणिरन्त, सुवर्णमानं तु-चत्वारि मधुरतृणफलान्येकः श्वेतसर्षपः, षोडश श्वेतसर्षपा एकं धान्यमाषफलं, द्वे धान्यमाषफले एका गुञ्जा, पञ्च गुञ्जा एकः कर्ममाषकः, षोडश कर्ममाषका एकः सुवर्णः, एतानि मधुरतृणफलादीनि भरतकालभावीनीति गृह्यन्ते, यतः सर्वचक्रवर्तिनां तुल्यमेव काकिणीरत्नमिति। षटतलं द्वादशास्त्रि अष्टकर्णिकम् अधिकरणीसंस्थितं प्रज्ञप्तमिति। तत्र तलानि मध्यखण्डानि, अस्रयः कोटयः, कर्णिकाः कोणविभागाः, अधिकरणिः सुवर्णकारोपकरणं प्रतीतम वेति। इदं च चतुरङ्गुलप्रमाणम्, "चउरंगुलप्पमाणा, सुवण्णवरकागिणी नेया"। इति। स्था०८ ठा०।

साम्प्रतं चक्रिणां गतिप्रतिपादनायाऽऽह–

"अट्ठ व गया मुक्खं, सुहुमो बंभो अ सत्तमिं पुढविं।
मघवं सणंकुमारो, सणकुमारं गया कप्पं ॥६८॥"
सूत्रसिद्धा। आव०१ अ०।

ग्रामा एकैकस्य–

"एगमेगस्स णं रन्नो चाउरंतचक्कवट्टिस्स छण्णउइं छण्णउइं गामकोमीओ होत्था"। स०९७ सम०। "दो चक्कवट्टी अपरिचत्तकामभोगा कालमासे कालं किच्चा अहे सत्तमाए पुढवीए अपइट्ठाणे नरके नेरइयत्ताए उववन्ना, सुभूमे चेव बंभदत्ते चेव"। स्था०२ ठा०४ उ०। (चक्रिणां चक्ररत्नं यथोत्पद्यते यथा च तद्देशितमार्गा भरतं साधयन्ति तथा भरतचरिताधिकारे वक्ष्यते)

पर्यायः–

पर्यायः केषाञ्चित्प्रथमानुयोगतोऽवसेयः, केषाञ्चित्प्रव्रज्याभावान्न विद्यत एवेति। आव०१ अ०। भरतक्षेत्रचक्री प्रथमं कंडाण्डं साधयतीति क्रमः प्रसाद्य इति प्रश्ने, उत्तरम्-भरतक्षेत्रचक्री प्रथमं कं खण्डं साधयतीत्यत्र चक्री मध्यमखण्डन् साधयित्वा सेनानीरत्नेन सिन्धुखण्डं साधयति, तदनु गुहाप्रवेशेन वैताढ्यमतिक्रम्य मध्यखण्डं साधयति, तेनैव तत्रत्यं सिन्धुखण्डं गङ्गखण्डं च साधयित्वा अत्राप्यागतो गङ्गाखण्डं तेनैव साधयित्वा राजधानीं समागच्छतीति क्रमः। ही०३ प्रका०।

पितरः–

जंबुद्दीवे णं भारहे वासे इमीसे ओसप्पिणीए बारस चक्कवट्टिपियरो होत्था। तं जहा–
"उसभे सुमित्तबिजए, समुद्दबिजए य आससेणे य।
विस्ससेणे य सूरे, सुदंसणे कत्तवीरिए चेव ॥४४॥
पउमुत्तरे महाहरी-विजए राया तहेव य।
बंभे बारसमउत्ते, पिउनामा चक्कवट्टीणं" ॥४५॥स०।

इदानीं चक्रवर्तिपुरप्रतिपादनायाह –

एगमेगस्स णं रन्नो चाउरंतचक्कवट्टिस्स बावत्तरिपुरवरसाहस्सीओ पण्णत्ताओ"। स०७२ सम०।

"जम्मणविणी भउज्झा, सावत्थी पंच हत्थिणपुरम्मि।
वाणारसि कंपिल्ले, रायगिहे चेव कंपिल्ले ॥"
निगदसिद्धा। आव०१ अ०। (चक्रवर्तिबलं बल शब्दे वक्ष्यते)

सांप्रतं चक्रवर्तिनां मातृप्रतिपादनायाह–

"जंबुद्दीवे णं दीवे भारहे बासे इमीसे ओसप्पिणीए बारस च–क्कवट्टिमायरो होत्था। तं जहा-सुमंगला जसवती भद्दा सहदेवी अइरा सिरिदेवी तारा जाला मेरा बप्पा चुल्लणी अपच्छिमा ॥" स०। आव०।

चक्रवर्तिनां मुक्ताहारः–

सव्वस्स वि य णं रन्नो चाउरंतचक्कवट्टिस्स चउसट्ठिलट्ठीए महग्घे मुत्तामणिमए हारे पण्णत्ते ॥

सर्वाणि चतुःषष्टिरिति (चउसट्ठिलट्ठीए त्ति) चतुःषष्टीर्लष्टिनां शराणां यस्मिन्नसौ चतुःषष्टिलष्टिकः। (मुत्तामणिमये त्ति) मुक्ताश्च मुक्ताफलानि मणयश्चन्द्रकान्तादिरत्नविशेषाः, मुक्तारूपा वा मणयो रत्नानि मुक्तामणयः, तद्विकारो मुक्तामणिमयः। स०६४ सम०।

चक्रवर्तिनां रत्नानि–

एगमेगस्स णं रन्नो चाउरंतचक्कवट्टिस्स सत्त एगेंदियरयणा पण्णत्ता। तं जहा–चक्करयणे छत्तरयणे चम्मरयणे दंडरयणे असिरयणे मणिरयणे काकणिरयणे।

"चक्करयणे" इत्यादि। "रत्नं निगद्यते तत्, जातौ जातौ यदुत्कृष्टम्" इति वचनात्। चक्रादिजातिषु यानि वीर्यत उत्कृष्टानि तानि चक्करत्नादीनि मन्तव्यानि, तत्र चक्रादीनि सप्तैकेन्द्रियाणि पृथिवीरूपाणि। तेषां च प्रमाणम् –

"चक्कं छत्तं दंडो, तिण्णि वि एयाइँ वामतुल्लाइं।
चम्मं दुहत्थदीहं, वत्तीसं अंगुलाइँ असी।
चउरंगुलो मणी पुण, तस्सऽद्धं चेव होइ वित्थिण्णो।
चउरंगुलप्पमाणा, सुवण्णवरकागणी नेया" ॥स्था०७ ठा०।

"एगमेगस्स णं रन्नो चाउरंतचक्कवट्टिस्स सत्त पंचेंदियरयणा पण्णत्ता। तं जहा–सेणावइरयणे गाहावइरयणे वड्ढइरयणे पुरोहियरयणे इत्थिरयणे आसरयणे हत्थिरयणे" सेनापतिः सैन्यनायको, गृहपतिः कोष्ठागारनियुक्तः, वर्द्धकिः सूत्रधारः, पुरोहितः शान्तिकर्म्मकारीति चतुर्दशाप्येतानि प्रत्येकं यक्षसहस्राधिष्ठितानीति। स्था०७ ठा०। अनु०।

चक्रवर्तिनां वर्णादयः–

"सव्वे वि एगवन्ना, निम्मलकणगप्पहा मुणेयव्वा।
छक्खंडभरहसामी, तेसि य माणं अओ वुच्छं ॥८८॥
पंचसय अद्धपंचम, छायालीसा य अद्धधणुअं च।
इगुआलधणुस्सऽद्धं, च चउत्थे पंचमे चत्ता ॥८९॥
पणतीसा तीसा पुण, अट्ठावीसा य वीस य धणूणि।
पन्नरस वारसेव य, अपच्छिमो सत्त य धणूणि" ॥९०॥आब०१अ०।

चक्रवर्तिनां स्त्रियः–

एएसिं वारसण्हं, चक्कवट्टीणं वारस इत्थिरयणा होत्था। तं जहा-
"पडमा होइ सुभद्दा, भद्द सुणंदा जया य विजया य॥
किण्हसिरी सूरसिरी, पउमसिरी वसुंधरा देवी।
लच्छिमई कुरुमई, इत्थीरयणाण णामाइं" ॥स०।

चक्रवर्तिनां स्त्रीषु सन्तानः–

चक्री वैक्रियं रूपं त्यक्त्वा स्त्रियं भुनक्ति, तत्र सन्तानं स्यान्न वेति ? प्रश्ने, उत्तरम्-चक्रिणो वैक्रियशरीरेण सन्तानोत्पत्तिर्न संभाव्यते, किंत्वौदारिकेणैव, केवलं ते वैक्रियशरान्तर्गता इति न गर्भाधानहेतव इति प्रज्ञापनावृत्तिवचनात्। या च शिलादीत्यादीनां। सूर्यादेरुत्पत्तिः श्रूयते, तत्रापि समाधानान्तरमस्ति, तच्चेदम्-"वैक्रियेभ्यः सुराङ्गेभ्यो, गर्भो यद्यपि नो भवेत्। तदा नीतौदारिकाङ्गश्चातुयोगात्तु संभवी" ।१। इत्यादिमल्लवादिप्रबन्धे। ही०२ प्रका०।

चक्कवट्टी सुरनरवतिसक्कया सुरवर व्व देवलोए भरहनगणगरनिग मजणवयपुरवरदोणमुहखेडकव्वडमडंवसंवाहपट्टणसहस्समंडियं थिमियमेयणियं एगच्छत्तं ससागरं भुंजिऊण वसुहं नरसीहा नरवती नरिंदा नरवसहा मरुयवसभकप्पा ऽब्भहियं रायतेयलच्छीए दिप्पमाणा सोमा रायवंसतिलगा रविससिसंखवरचक्कसोत्थियपमागजवमच्छकुम्मरहवरभगभवणविमाणतुरंगतोरणगोपुरमणिरयणनंदियावत्तमुसललंगलसुरइयवरकप्परुक्खमिगवतिभद्दासणसुरविथूभवरमउडसरियकुंडलकुंजरवसभदीवमंदरगुरुलज्झयइंदके उदप्पणअट्ठावयचावणानक्खत्तमेहलवीणाजुगछत्तदामदामिणिकमंडलुकमलघंटावरपोतसुचीसागरकुमुदागरमगरहारगागरनेउरणगणगरवइरकिण्णरमयूरवररायहंससारसचकोरचक्कवागमिहुणचामरखेडगपवीसगविपंचिवरतालियंटसिरियामिसेयमेयणिखग्गंकुसविमलकलसमिंगारवद्धमाणगपसत्थउत्तमविभत्तवरपुरुसलक्खणधरा, वत्तीसरायवरसहस्साणुजायमग्गा, चउसट्ठिसहस्सपवरजुवतीणयणकंता, रत्तामा, पउमपम्हकोरंटगदामचंपगसुत्तवरकणकनिघसवण्णा, सुजायसव्वंगसुंदरंगा, महग्घवरपट्टणगयविचित्तरागएणीनिम्मियदुगुल्लवरचीणपट्टकोसेज्ज सोणीसुत्तकविभूसियंगा, वरसुरभिगंधवरचुण्णवासवरकुसुमभरियसिरया, कप्पियच्छेयायरियसुकयरइदमालक मगंगयतुडियवरभूसणपिणद्धदेहा, एकावलिकंठसुरइयवच्छ, पालंवपलंवमाणसुकयपडउत्तरिज्जमुद्दियापिंगलंगुलिया, उज्जलनेवत्थरइयचिल्लगविरायमाणा, तेएण दिवाकरो व्व दित्ता, सारयनवत्थणियमहुरगंभीरणिद्धघोसा उप्पण्णसमत्तरयणचक्करयणपहाणा, नवनिहिपइणा समिद्धकोसा, चाउरंता चाउराहिं सेणाहिं समणुजाइज्जमानमग्गा, तुरगपती गयपती रहपती नरपती विपुलकुलवीसुयजसा सारयससिसकलसोम्मवयणा, सूरतिल्लोक्कनिग्गयपभावलद्धसद्दा, समत्तभरहाहिवा, नरिंदा, ससेलवणकाणणं च हिमवंतसागरंतं धरा भोत्तूण भरहवासं जियसत्तू पवररायसिंहा पुव्वकडतवपभावा निविट्ठसंचियसुहा, अणेगवाससयमाउव्वंतो भज्जाहि य जणवयप्पहाणाहिं लालियंता, अतुलसद्दफरिसरसरूवगंधे य अणुभवित्ता ते वि उवणमंति मरणधम्मं आवित्तिा कामाणं।

चक्रवर्तिनः राजातिशयाः ससागरां भुक्त्वा वसुधां माण्डलिकत्वं च भुक्त्वा भरतवर्षं चक्रवर्तित्वे अतुलान् शब्दादींश्चानुभूयोपनमन्ति मरणधर्ममवितृप्ताः कामानामिति संबन्धः। किंविधास्ते इत्याह-सुरनरप-तिभिः सुरेश्वरनरेश्वरैः सत्कृताः पूजिता ये ते तथा। के इवानुभूता इत्याह–सुरवरा इव देवप्रवरा इव, क्व ?-देवलोके स्वर्गे तथा भरतस्य भारतवर्षस्य सम्बन्धिनां नगानां पर्वतानां नगराणां करविरहितस्थानानां सहस्रैर्निगमानां वणिक्जनप्रधानस्थानानां जनपदानां देशानां पुरवराणां राजधानीरूपाणां द्रोणमुख न जलस्थलपथयुक्तानां खेटानां धूलीप्राकाराणां कर्वटानां कुनगराणां ममम्पानां दूरसंस्थितसन्निवेशान्तराणां संवाहानां रक्षार्थं धान्यादिसंवहन वितदुर्गविशेषरूपाणां पत्तनानां च जलपथस्थलपथयोरेकतरयुक्तानां मण्मिता या सा, तथा, तां स्तिमितमेदिनीकां निर्मयत्वेनस्थिरविश्वनराश्रितजनाम् एकमेव छत्रं यत्र एकराजत्वात् सा एकच्छत्रा ता ससागरा तां भुक्त्वा पालयित्वा वसुधां पृथिवीं भरतार्द्धादिरूपां, माण्डलिकत्वेन एतच्च पदद्वयमुत्तरत्र "हिमवंतं सागरंतं धीरा भोत्तूण भरहवासमिति" समस्तभरक्षेत्रभोक्तृत्वापेक्षया भणनादवसीयते, नरसिंहाःसूरत्वात् नरपतयः तत्स्वामित्वात्, नरेन्द्राः तेषां मध्ये ईश्वरत्वात्, नरवृषभाः गुणैः प्रधानत्वात्, मरुवृषभकल्पा वा देवनाथभूताः मरुजवृषभकल्पा वा मरुदेशोत्पन्नगवभूता अङ्गीकृतकार्यभारनिर्वाहकत्वात्, अभ्याधिकमत्यर्थं राजतेजो लक्ष्म्या देदीप्यमानाः, सौम्याः अदारुणा नीरुजा वा, राजवंशतिलकास्तन्मण्डनभूताः, तथा रविशश्यादीनि वरपुरुषलक्षणानि येषां ते तथा, रविशशी, शङ्खो वरचक्रं, स्वस्तिकं, पताका, यवौ, मत्स्याश्च प्रतीताः, कूर्मः कच्छपः, रथवरः प्रतीतो, भगो योनिः, भवनं भवनपतिदेवावासो, विमानं–

वैमानिकनिवासः, तुरगस्तोरणं गोपुरं च प्रसिद्धानि, मणिः चन्द्रकान्तादिरत्नः, कर्कतनादि, नन्द्यावर्तो नवकोणः स्वस्तिकविशेषः, मुशलं लाङ्गलं च प्रसिद्धं, सुरचितः सुष्ठुकृतः सुरतिदो वा सुखकरो यो वरकल्पवृक्षः कल्पद्रुमः स तथा, मृगपतिः सिंहो, भद्रासनं सिंहासनं, सुरुचिः रूढिगम्या आभरणविशेष इति केचित्, स्तूपः प्रतीतः, वरमुकुटं प्रवरशेखरः, (सरिय त्ति) मुक्तावली, कुण्डलं कर्णाभरणं, कुञ्जरो वरवृषभश्च प्रतीतौ, द्वीपो जलवृतो भूदेशः, मन्दिरो मेरुः, मन्दरं वा गृहं, गरुमः सुपर्णः, ध्वजः, केतुः, इन्द्रकेतुरिन्द्रयष्टिः, दर्पणः आदर्शः, अष्टापदं द्यूतफलकं, कैलाशं पर्वतविशेषो वा, चापं धनुः, बाणो मार्गणः, नक्षत्रं मेघश्च प्रतीतौ, मेखला काञ्ची, वीणाः प्रतीता, युगं यूपः, छत्रं प्रतीतं, दाममाला दामिनी लोकरूढिगम्या, कमण्डलुः कुण्डि का कमलं घण्टा च प्रतीते, वरपोतो वोहित्थः, सूची प्रतीता सागरः समुद्रः, कुमुदाकरः कुमुदखण्डं, मकरो जलचरविशेषः, हारः प्रतीतः (गागर त्ति) स्त्रीपरिधानविशेषः, नूपुरं पादाभरणं, नगः पर्वतो, नगरं प्रतीतं, वैरं वज्रं, किन्नरोवाद्यविशेषो, देवविशेषो वा, मयूरवरराज–हंससारसचक्रोरचक्रवाकमिथुनानि प्रसिद्धानि, चामरं प्रकीर्णकं, खेमकं फलकं, पवीसकं विपञ्ची वाद्यविशेषो, वरतालवृन्त व्यजनाविशेषः, श्रीकाभिषेको लक्ष्याभिषेको लक्ष्याभिषेचनं, मेदिनी पृथिवी, खड्गोऽसिः, अङ्कुशः शृणिः, विमलकलशो शृङ्गरश्च भाजनविशेषो, वर्द्धमानकं शरावं, पुरुषारूढपुरुषो वा, एतेषां द्वन्द्वः तत एतानि प्रस्तानि मङ्गल्यानि उत्तमानि प्रधानानि विभक्तानि विविक्तानि यानि वरपुरुषाणां लक्षणानि तानि धारयन्ते ये ते तथा, तथा द्वात्रिंशता राजवराणां सहस्रैरनुजातोऽनुगतो मार्गो येषां ते तथा, चतुःषष्टिसमस्राणि यासां तास्तथा ताश्च ताः प्रवरयुवतयश्च तरुण्य इति समासः, तासां नयनकान्ताः लोचनाभिरामाः, परिणयनभर्तारो वा, रक्ता लोहिता आभा प्रभा येषां ते रक्ताभाः, (पउमपम्ह त्ति) पद्मगर्भः कोरण्टकदाम कोरण्टकाऽभिधानपुष्पस्रक्, चम्पकः, कुसुमविशेषः, सुतप्तकनकस्य यो निकषो रेखा स तथा, तत एतेषामिव वर्णो येषां ते तथा सुजतानि सुनिष्पन्नानि सर्वाण्यङ्गानि अवयवा यत्र तदेवंविधं सुन्दरमङ्गं येषां ते तथा, महार्घाणि महामूल्यानि वरपत्तनोद्गतानि प्रवरक्षेत्रविशेषोत्पन्नानि विचित्ररागाणि विविधरागरञ्जितानि, एणी हरिणी, प्रैणी च तद्विशेष एव, तच्चर्मनिर्मितानि यानि वस्त्राणि तानि एणीप्रैणीनिर्मितान्युच्यन्ते, श्रूयन्ते च निशीथे-"कालमृगाणि नीलमृगाणि च "इत्यादिभिर्वचनैः मृगचर्मवस्त्राणीति, तथा दुकूलानीति दूकूलो वृक्षविशेषस्तस्य वल्कं गृहीत्वा उदूखलजलेन सह कुट्टयित्वा वुशीकृत्य सूत्रीकृत्य वूव्यूयन्ते यानि तानि दुकूलानिवरचीनानीति दुकूलवृक्षवल्कबृक्षस्यैव यान्यभ्यन्तरं हीरेति निष्पाद्यन्ते सूक्ष्मतराणि भवन्ति तानि, चीनदेशोत्पन्नानि वा चीनान्युच्यन्ते, पट्टसूत्रमयानि पट्टानि कौशेयकानि कौशेयकरोद्भवानि वस्त्राणि, श्रोणीसूत्रकं कटिसूत्रकम्, एभिर्विभूषितान्यङ्गानि येषां ते तथा, वाचनान्तरे निर्मितस्थाने क्षौमिक इति पठ्यते-तत्र क्षौमिकाणि कार्पासिकानि वृक्षेभ्यो निर्गतानीत्यन्ये, अतसीमयानीत्यपरे, तथा वरसुरभिगन्धाः प्रधानमनोज्ञपुटपाकलक्षणा गन्धास्तथा वरचूर्णरूपा वासास्ताडिता इत्यर्थः । वरकुसुमानि च प्रतीतानि, तेषां भरितानि भृतानि शिरांसि मस्तकानि येषां ते तथा, कल्पितानि ईप्सितानि छेकाचार्येण निपुणशिल्पिना सुकृतानि सुष्ठु विहितानि रतिदानि सुखकारीणि, माला आभरणविशेषः, कटकानि कङ्कणानि, पाठान्तरेण कुण्डलानि प्रतीतानि, अङ्गदानि बाह्वाभरणविशेषाः, तुटिका बाहुरक्षिकाः, प्रवरभूषणानि च मुकुटादीनि, मालादीन्येव वा प्रवरभूषणानि, पिनद्धानि बद्धानि ये देहे येषां ते तथा, एकावलीविचित्रमणिका एकसरिकं कण्ठे गले सुरचिता वक्षसि हृदये येषां ते तथा, प्रलम्बो दीर्घप्रलम्बमानो लम्बमानः सुकृतः सुरचितः पटशाटकः उत्तरीयम् उपरि कायवस्त्रं यैस्ते तथा, मुद्रिकाभिरङ्गुलीयकैः पिङ्गलाः पिङ्गा अङ्गुल्यो येषां ते तथा, ततः कर्मधारयः, उज्ज्वलं नेपथ्यं वेषो रचितं रतिदं वा (चिल्लगं ति) लीनं दीप्यमानं वा विराजमानं शोभमानं येषां तेन वा विराजमानं वा ये ते तथा, तेजसा दिवाकर इव दीप्ता इति प्रतीतं, शारदं शरत्कालीनं यत् नवमुत्पद्यमानावस्थं स्तनितं मेघगर्जितं तद्वन्मधुरो गम्भीरः स्निग्धश्च घोषो येषां ते तथा। वाचनान्तरे-"सागरनवेत्यादि" दृश्यते। उत्पन्नसमस्तरत्नाश्च ते चक्ररत्नप्रधानाश्चेति विग्रहः । रत्नानि च तेषां चतुर्दश। तद्यथा-"सेणावइ १ माहावइ, २ पुरोहिय ३ तुरंग ४ वड्ढई ५ गय ६ इत्थी ७। चक्कं ८ छत्तं ९ चम्मं, १० मणि ११ कागिणि १२ खग्ग १३ दंडो य १४ ।" नवनिधिपतयः। निधयश्चैवम्-"निसप्पे १ पंडु २ पिंडु ३ पिंगलय, सव्वरयणे ५ तहा महापउमे ६। काले ७ य महकाले, ८ माणवगमहानिही ९ संखे ॥१॥" समृद्धकोशा इति प्रतीतं, चत्वारोऽन्ताःभूविभागाः पूर्वसमुद्रादिरूपा येषां ते तथा, त एव चातुरन्ता चतुर्भिरंशैर्हस्त्यश्वरथपादातिलक्षणैरुपेता वा तुर्य्यस्ताभिसमनुयायमानमार्गः समनुगम्यमानपन्थाः, एतदेव दर्शयति तुरगपतय इत्यादि, विपुलकुलाश्च ते विश्रुतयशसश्च प्रतीतः ख्यात इति विग्रहः, शारदशशी यः सकलपूर्णस्तद्वत् सौम्यं वदनं येषां ते तथा, शूरास्त्रैलोक्यनिर्गतप्रभावाश्च ते लब्धशब्दाश्च प्राप्तख्यातय इति विग्रहः, समस्तभरताधिपा नरेन्द्रा इति प्रतीतं, सह शैलैः पर्वतैर्वनैर्नगरविप्रकृष्टैः काननैश्च नगरासन्नैर्यत्तत्तथा, हिमवत्सागरान्तं धीरा भुक्त्वा भरतवर्षं जितशत्रवः प्रवरगजसिंहाः पूर्वकृततपः प्रभावादिति प्रतीतं, निर्विष्टं परिसिञ्चितं च पोषितं मुखं यैस्ते तथा, अनेकवर्षशतायुष्मतः भार्याभिश्च जनपदप्रधानाभिर्लाल्यमानाः विलास्यमानाः, अतुला निरुपमा ये शब्दस्पर्शरसरूपगन्धास्ते तथा स्तांश्चानुभूय तेऽपि आसताम् उपनमन्ति प्राप्नुवन्ति मरणधर्मं मृत्युलक्षणं जीवपर्यायं च अवितृप्ता अतृप्ता कामानामब्रह्माङ्गानाम्। प्रश्न०४ आश्र० द्वार।

चम्पादिषु दश चक्रिणः प्रव्रजिताः–

एयासु णं दससु रायहाणीसु दस रायणो, मुंडा भवित्ता० जाव पव्वइया । तं जहा-भरहे सगरे मघवं सणंकुमारे संती कुंथू अरे महापउमे हरिसेणे जयनामे ॥

"तरुणा वेसित्थिविवा हरायमाईसु होइ सइकरणं । आउज्जगीयसद्दे, इत्थीसद्दे य सवियारे"॥१॥ (एतास्विति) अनन्तरोदितासु दशस्वार्यनगरीषु मध्येऽन्यतरासु कासुचिद्दश राजानश्चक्रवर्तिनः प्रव्रजिता इत्येवं दशस्थानकेऽवतारस्तेषां कृतः । द्वौ च सुभूमब्रह्मदत्ताभिधानौ न प्रव्रजितौ, नरकं च गताविति । तत्र भरतसगरौ प्रथमद्वितीयौ चक्रवर्तिराजौ साकेते नगरे विनीतायोध्यापर्याये जातौ, प्रव्रजितौ च। मघवान् श्रावस्त्याम्, सनत्कुमारादयश्चत्वारो हस्तिनागपुरे, महापद्मो वाराणस्याम्, हरिषेणः काम्पिल्ये, जयनामा राजगृहे इति। न चैतासु–

नगरीषु क्रमेणैते राजानो व्याख्येयाः, ग्रन्थविरोधात्। उक्तं च- "जम्मणविणी अउज्झा, सावत्थी पंच हत्थिणपुरम्मि। वाणारसि कंपिल्ले रायगिहे चेव कंपिल्ले त्ति"।१। अप्रव्रजितचक्रवर्तिनौ तु हस्तिनागपुर-काम्पिल्ययोरुत्पन्नाविति, ये च यत्रोत्पन्नास्ते तत्रैव प्रव्रजिता इति इदमावश्यकाभिप्रायेण व्याख्यातम्, निशीथभाष्याभिप्रायेण तु दशस्वेतासु नगरीषु द्वादश चक्रिणो जातास्तत्र नवस्वेकैकः, एकस्यां तु त्रय इति।

आह च-

"चंपा महुरा वाणा-रसी य सावत्थिमेव साकेयं।
हत्थिणपुर कंपिल्लं, मिहिला कोसंवि रायगिहं ॥१॥
संती कुंथू य अरो, तिण्णि वि जिण चक्कि एक्कएक्केहिं।
जाया तेण दस होंति, केसवजाया जणाइन्नं" ॥२॥

स्था०१० ठा०। (एकस्मिन्क्षेत्रे एकदा द्वौ चक्रवर्तिनौ न भवत इति 'दुवई' शब्दे वक्ष्यते)

उत्सर्पिण्यां भविष्यन्तश्चक्रिणः-

जंबुद्दीवे णं दीवे भारहे वासे आगमिस्साए उस्सप्पिणीए बारस चक्कवट्टिणो भविस्संति। तं जहा-

"भरहे य दीहदंते, गूढदंते य सुद्धदंते य।
सिरिउत्ते सिरिभूई, सिरिसोमे य सत्तमे पउमे ॥१॥
महापउमे य विमल-वाहणे विपुलवाहणे चेव।
रिट्ठे बारसमे तह, आगामिभरहाहिवा उत्ता"॥२॥

एएसि णं बारसण्हं चक्कवट्टीणं: बारस पियरो भविस्संति, बारस मायरो भविस्संति, बारस इत्थीरयणा भविस्संति। स०।

जम्बूद्वीपे चक्रवर्तिनः पृच्छा-

जंबुद्दीवे णं भंते ! दीवे केवइआ जहण्णपए वा उक्कोस पए वा चक्कवट्टी सव्वग्गेणं पण्णत्ता ? गोअमा ! जहण्णपदे चत्तारि, उक्कोसपदे तीसं चक्कवट्टी सव्वेग्गेणं पण्णत्ता, बलदेवा तत्तिआ चेव, जत्तिआ चक्कवट्टी वासुदेवा वि तत्तिआ चेव।

जम्बूद्वीपे भदन्त। द्वीपे कियन्तो जघन्यपदे वा उत्कृष्टपदे वा चक्रवर्तिनः प्रज्ञप्ताः ? भगवानाह-गौतम ! जघन्यपदे चत्वारः। उपपत्तिस्तु तीर्थ-कराणामिव, उतकृष्टपदे त्रिंशच्चक्रवर्तिनः सर्वज्ञेन प्रज्ञप्ताः। कथमिति चेत् ?, उच्यते-द्वात्रिंशद्विजयेषु वासुदेवस्वामिकान्यतरविजयचतुष्क-वर्जितविजयसत्काष्टाविंशतिः, भरतैरावतयोरस्तु द्वाविति पूर्वापरमी-लितास्त्रिंशत्। यदा महाविदेहे उत्कृष्टपदेऽष्टाविंशतिश्चक्रिणः प्राप्यन्ते, तदा नियमाच्चतुर्णामर्द्धचक्रिणां संभवेन तन्निरुद्धक्षेत्रेषु चक्रिणामसंभवात्, चक्रिणामर्द्धचक्रिणां च सहानवस्थानलक्षणविरोधादिति। अथात्र तथैव बलदेवार्द्धचक्रिणश्चाह-"बलदेवा तत्तिया" इत्यादि। बलदेवा अपि तावन्त एवोतकृष्टपदे, जघन्यपदे च यावन्तश्चक्रवर्तिनः वासुदेवा अपि तावन्त एव, बलदेवसहचारित्वात्, कोऽर्थः ? यदा चक्रवर्तिन उत्कृष्टपदे त्रिंशत् अवश्यं बलदेववासुदेवौ जघन्यपदे चत्वारः, तेषां चतुर्णामव-श्यंभावात्। यदा च बलदेवा वासुदेवा वा उत्कृष्टपदे त्रिंशत्, तदा चक्रिणो जघन्यपदे चत्वारः, तेषामपि चतुर्णामवश्यंभावात्। तेनैतेषां परस्परं सहानवस्थानलक्षणविरोधभावेनान्यतराश्रितक्षेत्रे तदन्यतरस्याभाव इति। जं०७ वक्ष०। (कश्चक्रवर्ती कथं लभत इति अंतकिरिया आदि-शब्देषु प्रथमभागे ५६ पृष्ठे उक्तम्) देशविरतौ चक्रिपदबन्धो भवति नवेति प्रश्ने, उत्तरम् अत्राप्येकान्तो ज्ञातो नास्तीति। ही०६ प्रका०। चक्र-वर्तिनस्तिमिश्रगुहाद्वारोद्घाटने ज्वाला निःसरन्ति, न वा यदि न, तर्हि कूणिकस्य कथं निस्सरिष्यतीति प्रश्ने, उत्तरमजम्बूद्वीपप्रज्ञप्त्यादि-षूत्क्रममस्ति, यच्चक्रवर्तिनः सेनानीनरो द्वारमुद्घाटयति, ज्वाला च न निःसरति कूणिकस्य तु द्वाराणि नोद्घाटितानि, तर्हि ज्वाला कुतो निःसरेत्, स तु तमिश्रगुहाधिष्ठायकेन दण्डरत्नेन हतः सैन्यानि पश्चाद्बलितानीत्यक्षराणि आवश्यकद्वाविंशतिसहस्रीमध्ये सन्ति, द्वादशसहस्रीमध्ये तु ज्वालानिःसरणमप्युक्तमस्ति, सा तु कुमतिकृता-ऽस्ति। आवश्यकटिप्पनके तु कथितमस्ति, यज्ज्वालानिः सरणघोटक-पश्चात्पादचलनप्रघोषसिद्धान्तविरुद्धो ज्ञेय इति। ४७४ प्र० सेन०३ उल्ला०। चक्रवर्त्ती कियत्कालेन मोक्षं यातीति प्रश्ने, उत्तरम् - जघन्यतस्तद्भवे, उत्कृष्टतस्तु कश्चित्किञ्चिदूनार्द्धपुद्गलपरावर्तान्त-रेणापि मोक्षं यातीति। ६८ प्र० सेन०४ उल्ला०। सर्वचक्रवर्तिनां सर्वरत्नानि प्रमाणतस्तुल्यानि न्यूनाधिकानि वेति प्रश्ने, उरत्तमसर्व चक्रवर्तिनां काकिण्यादिरत्नानि कियन्ति केषाञ्चिन्मते प्रमाणाङ्गुल-माननिष्पन्नानि, कियन्ति तु तत्कालीनपुरुषादिमानोचितमानानि, केषाञ्चिन्मते तु सर्वाण्यपि तत्कालोचितमानानीति ४२० प्र० सेन ३ उल्ला०। चक्रवर्तिनो राज्याऽभिषेकादनु पुत्रो भवति न वेति प्रश्ने, उत्तरम्-चक्रर्तिनो राज्याभिषेकादनु पुत्रो भवतीति श्रीअजितचरित्रादौ विद्यते। ८५ प्र० सेन०१ उल्ला०। चक्रवर्तिनः स्कन्धावारो द्वादश योजनान्युत्तरति, चक्रवर्ती तु प्रत्येकं योजनमेकं चलति, ततो द्वादशयो-जनप्रान्ते य उत्तरति स योजनमेकं चलति तदा द्वादशयोजनमध्ये क्रियनित दिनानि भवन्तीति प्रश्ने, उत्तरम्-जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तौ योजना-न्तरेण श्रमेण चक्रवर्त्ती चलति, तथा चक्रवर्तिसैन्यं द्वादश योजनान्युत्तर-तीत्यनेकग्रन्थे कथितमस्ति, तस्मात्पूर्वापरविचारणया यद्योजनान्तं कथितमस्ति तस्मात्पूर्वापरविचारणया योजनान्तरं कथितमस्ति तत्सैन्याग्रभागापेक्षया संभाव्यते, तथा चक्रिसैन्यस्यादौ मध्ये नैवान्तर-तीत्यक्षराणि व्यक्तानि शास्त्रे न दृष्टानि, आधुनिकठक्करास्तु दिवाले उत्तरतो, दृश्यन्ते, ततस्तत्काले यथोचितं भविष्यति तथोत्तरिष्यन्ति, तथाऽपि चक्रवर्त्तिनां दिव्यानभावेन सैन्यप्रान्तोत्तीर्णास्तेऽपि शीघ्रं सुखेन मार्गमति क्रमिष्यन्तीत्यत्र न काऽप्याशङ्का, यतो दिव्यशक्तेरचि-न्त्याऽस्तीति। ६६ प्र० सेन०४ उल्ला०। (व्यासेन तु भरतादिशब्देषु दृश्यम्)।

चक्कवट्टिलद्धि-स्त्री०-(चक्रवर्तिलब्धि)। चक्रवर्तित्वप्राप्तिहेतौ लब्धि-भेदे, प्रव० २७० द्वार। पा०।

चक्कवट्टिविजय-पुं०-(चक्रवर्तिविजय)। चक्रवर्तिनो विजयन्ते येषु यान् वा ते चक्रवर्त्तिविजयाः। स्था०८ ठा०। चक्रवर्तिविजेतव्ये क्षेत्रखण्डे, ज्ञा०१ श्रु०८ अ०। स०।

चक्रवर्तिविजयवक्तव्यतामाह-

जंबूमंदरपुरच्छिमेणं सीयाए महाणईए उत्तरेणं अट्ठ चक्कवट्टिविजया पण्णत्ता। तं जहा-कच्छे सुकच्छे महाकच्छे कच्छगावई आवत्ते० जाव पुक्खलावई। जंबमंदरपुरच्छि-

मेणं सीयाए महाणईए दाहिणेणं अट्ठ चक्कवट्टिविजया पण्णत्ता। तं जहा-वच्छे सुवच्छे० जाव मंगलावई। जंबूमंदरपच्चच्छिमेणं सीओयाए महाणईए दाहिणेणं अट्ठ चक्कवट्टिविजया पण्णत्ता। तं जहा-पम्हे० जाव सलिलावई। जंबू-मंदरपच्चच्छिमेणं सीओयामहानईए उत्तरेणं अट्ठ चक्कवट्टिविजया पण्णत्ता। तं जहा-वप्पे सुवप्पे० जाव गंधिलावई।

"जाव० पुक्खलावइ त्ति" भणनात् "मंगलावत्ते पुक्खलेत्ति" द्रष्टव्यम्। 'जाव मंगलावइ त्ति' करणात् "महावच्छे वच्छावइ रम्मे रम्मए रमणिज्जे" इति दृश्यम्। "जाव सलिलवइत्ति" करणात् "सुपम्हे महापम्हावई संखे नलिणे कुडुएत्ति" दृश्यम्। "जाव गंधिलावइ त्ति" करणात् "पम्हे महावप्पेवप्पावइ वग्गु सुवग्गु गंधिलेत्ति" दृश्यम्। स्था०८ ठा०।

चक्कवाग पुं० (चक्रवाक)। पक्षिविशेषे, ज्ञा०१ श्रु०६ अ०। औ०। जी०। प्रश्न०। रा०।

चक्कवूह पुं० (चक्रव्यूह)। चक्रमिव व्यूहः सैन्यस्थितिरचनाविशेषः। युद्धार्थं मण्डलाकारे सैन्यस्थापने, वाच०। तत्परिज्ञानात्मके कलाभेदे, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०। जं०। औ०।

चक्कसाला स्त्री० (चक्रशाला)। तिलपीडनशालायाम्, व्य०१० उ०।

चक्कसुह पुं० (चक्रसुख)। मानुषोत्तरपर्वतस्याधिपतौ देवे, द्वी०।

चक्कसेण पुं० (चक्रसेन)। चक्रपुराधीश्वरे, दर्श०।

चक्कहर पुं० (चक्रधर)। वासुदेवे, विशे०।

चक्कहरगंडिया स्त्री० (चक्रधरगणिडका)। चक्रधरवक्तव्यतार्थाधिकारानुगतायां वाक्यपद्धतौ, स०।

चक्काअ पुं० (चक्रवाक) सर्वत्र रलोपः अनादौ द्वित्वम् **"कगचज-तदपयवां प्रायो लुक्" ८।१।१७७।** इति वकयोर्लुक्। से चक्काओ" पक्षिविशेषे, प्रा०१ पाद। ज्ञा०।

चक्काउह पुं० (चक्रायुध)। षोडशतीर्थकरस्य प्रथमशिष्ये, स०। ति०

चक्काग न० (चक्राक)। चक्राकारे, "चक्कगं भज्जमाणस्स समो भंगो य दीसइ" प्रज्ञा०१ पद। आचा०।

चक्कारवद्ध न० (चक्रारवद्ध)। गन्त्र्यादौ द्विपदे याने, दश०५ अ०१ उ०।

चक्कि (ण्) पुं० (चक्रिन्)। चक्रधरे, चक्रवर्तिनि, ही०३ प्रका०।

चक्किय पुं० (चाक्रिक)। चक्रं प्रहरणमेषामिति चाक्रिकाः चक्रप्रहरणेषु योद्धषु, चक्रं वाऽस्ति येषां ते चाक्रिकाः कुम्भकारतैलिकादिषु चक्रं चोपदर्श्य याचन्ते ये ते चाक्रिकाः। चक्रधरेषु, ज्ञा०। १ श्रु०१ अ०। औ०। भ०। जं०। कल्प०।

चक्कियसाला स्त्री० (चाक्रिकशाला)। तैलविक्रयशालायाम्, व्य०६ उ०।

चक्की पुं० (चक्रिन्)। चक्रवर्तिषु, चक्रिणां चक्रादिसप्तरत्नान्येकजीवात्मकान्यसंख्यजीवात्मकानि वा ? तथैषामागतिरुक्ता सा एकजीवमाश्रित्यानेकान् वेति प्रश्ने, उत्तरम् - चक्रिणां चक्रादिसप्तरत्नान्य संख्येयजीवरूपाणि दृश्यमान पृथ्वीपिण्डस्थासंख्येयजीवात्मकत्वात्तथा आगत्यप्यसंख्यानाश्रित्येति संभाव्यत इति।११८ प्र० सेन १ उल्ला०। देशविरतिचक्रित्वे देशविरत्या चक्रिपदं लभ्यते न वा। तथा चक्रिणां गार्ह्यस्थे देशविरतिः स्यान्न वा। यदि सा न स्यात्तत्र को हेतुरिति प्रश्ने, उत्तरम् - देशविरत्या चक्रवर्तिपदप्राप्तिर्भवति न भवति च इत्येकान्तो ज्ञातो नास्ति तथा चक्रिणां महापरिग्रहित्वाद्देशविरतेः प्राप्तिः स्यादिति ८८ प्र० सेन २ उल्ला०। प्रत्यर्द्धचक्रिणोऽर्द्धचक्रिणो वा गङ्गासिन्धुकृतव्यवधानपूर्व्वापरखण्डयोः साधने तत्र गमने क उपायश्च रत्नाभावात्तयोरुत्तरणं कथं स्यादिति। तथा संप्रति भूपत्यादीनां त्रिखण्डाधिपत्यं वास्तवमुतोपमामात्रं वेति प्रश्ने, उत्तरम्-तेषां देवादिसानिध्यात्सर्वं संभाव्यत इति १५४ प्र० सेन०२ उल्ला०। चक्रित्वं प्राप्य पुनश्चक्रित्वं क्रियता कालेन प्राप्यत इति प्रश्ने, उत्तरम्-जघन्यत् साधिकसागरोपमोत्कृष्टतोऽनन्तकालेन तत्प्राप्यते इति भगवती १५ शतके। ६७ प्र० सन०३ उल्ला०। चक्रवर्तिनो मागधादौ कत्यष्टमान् कुर्वन्तीति प्रश्ने, उत्तरम्-मागधस्तूप १ वरदामस्तूप २ प्रभासस्तूप ३ वैताढ्यदेवसाधन ४ तमिश्रादेवसाधन ५ नमिविनमिदेवसाधन ६ सिंधुदेवसाधन ७ चुल्लहिमवन्तसाधन ८ गङ्गादेवीसाधन ९ नवनिधानप्रकटीकरणा-१० ऽयोध्यानगरीप्रवेशकरणार्थं चक्रिणो ११ ऽनुक्रमेणै-कादशाष्टमान् कुर्वन्तीति जबूद्वीपप्रज्ञप्तिसूत्रे तीर्थकृच्चक्रिणोऽष्टमात्र कुर्वन्तीत्यपि शान्तिचरित्रे स्तीति ज्ञेयम्। ६६ प्र० सेन०३ उल्ला०।

चक्केसर पुं० (चक्रेश्वर)। विक्रमसंवत् १२६० वर्षे विद्यमाने, अजयमेरुराजजयसिंहमान्यधर्मघोषसूरिशिष्ये, आवश्यकलघुवृत्तिकारके सूरौ, जै० इ०।

चक्केसरी स्त्री० (चक्रेश्वरी)। ऋषभदेवस्य शासनदेवतायाम्, आ० क०। सा च मतान्तरेणाप्रतिचक्रा सुवर्णवर्णा गरुडवाहनाऽष्टकरा वरणवाणचक्रपाशयुक्तदक्षिणपाणि चतुष्टया धनुर्वज्रकाऽङ्कुशयुक्तवामपाणिचतुष्टया चेति। प्र०२७ द्वार।

चक्कोट्ठा देशी (अग्निभ्रष्टे), दे० ना०३ वर्ग।

चक्खिय त्रि० (आस्वादित)। **"क्तेनाप्फुण्णादयः" ८।४।२५८।** इति आस्वादितशब्दस्य 'चक्खिय' आदेशः। ईषत्सम्यक् वाऽऽस्वादिते, प्रा०४ पाद।

चक्खिंदिय न० (चक्षुरिन्द्रिय)। रूपग्राहके इन्द्रियभेदे, तच्च लब्ध्युपकरणभेदाद् द्विधा-तत्र लब्धीन्द्रियमेकद्वित्रिचतुरिन्द्रियाणामपि, उपकरणेन्द्रियं तु चक्षुरिन्द्रियस्यान्तर्मध्ये केवलिगम्या धान्यमसूराकारा काचिन्निर्वृत्तिरस्ति रूपग्रह णोपकारे वर्त्तते, तं०। (अत्र विषयविभागादय 'इंदिय' शब्दे द्वितीयभागे ५६५ पृष्ठे उक्ताः)

अथ चक्षुरिन्द्रिये उदाहरणम्-

नगरी मथुरा नाम, जितशत्रुर्नरेश्वरः।
प्रकृत्या धार्मिकी राज्ञी, धारिणी चित्तहारिणी ॥१॥
तत्रैकयक्षयात्रायां, राजा राज्ञी च नागराः।
ययुः सर्वेऽपि, सर्वर्द्ध्या, विच्छर्दितमहीयसा ॥२॥
तदैकेनेभ्यपुत्रेण, यान्त्या राइया सुखासने।
अरच्छदाद्वहिर्भूतो, दृष्टोऽहिर्नूपुरादिभृत् ॥३॥
दध्यावेवंविधो यस्या-श्चित्तहृच्चरणोऽपि हि।
देवीतोऽप्यधिकं मन्ये, रूपमस्या भविष्यति ॥४॥

अथाऽनुरक्तस्तस्यां स, तद्वेश्मासन्नमापणम्।
गृहीत्वाऽऽवर्जयद्राज्ञी-वर्गं समर्घ्यदानतः ॥५॥
अथैकदा च पप्रच्छ, चेटीर्गन्धपुटीरिमाः।
कश्छोटयति ताः स्माहुः, स्वयं नः स्वामिनीत्यथ ॥६॥
कस्तूरिकाक्षरैर्लेखं, लिखित्वा भूर्जपत्रके।
क्षिप्त्वैकस्या गन्धपुट्याः, मध्ये चेट्याः समार्पयत् ॥७॥
स चायम्-
काले प्रसुप्तस्य जनार्दनस्य,
मेघान्धकारासु च शर्वरीषु।
मिथ्या न जल्पामि विशालनेत्रे !,
ते प्रत्ययार्थं प्रथमाक्षरेषु ॥८॥
छोटयित्वा पुटं मध्या-त्तं लेखं देव्यवाचयत्।
अचिन्तयच्च धिग्भोगान्, मसिलेखमथालिखत् ॥९॥
स चायम्-
नेहलोके सुखं किञ्चि-च्छादितस्यांहसा भृशम्।
मितं च जीवितं लोके, तेन धर्मे मतिं कुरु ॥१०॥
पूर्ववत् प्रथमाक्षरैरेवोत्तरम्।
तदैव च तथा कृत्वाऽ-र्पयश्च्चेटीकरे पुटीम्।
न बन्धुरा इमे गन्धाः, इत्युदित्वाऽर्पयेरिमाम् ॥११॥
अर्पितायां गन्धपुट्यां चेट्याऽऽख्याते च वाचिके।
पुटीमाच्छोट्य लेखस्थं, लेखार्थमवधार्य सः ॥१२॥
भग्नाशः खेदमेदस्वी, निर्ययौ संहृताऽऽपणः।
तदाऽऽत्तिचिन्तोपायार्थी, भ्रमन् राज्यान्तरं गतः ॥१३॥
एतं श्लोकं तत्राश्रौषीत्-
न शक्यं त्वरमाणेन, प्राप्तुमर्थान् सुदुर्लभान्।
भार्यां च रूपसंपन्नां, शत्रूणां च पराजयम् ॥१४॥
अत्र च दृष्टान्तः-
वसन्तपुरमित्यास्ते, पुरं सुरपुरात्प्रति।
श्रावको जिनदत्तोऽभू-त्तत्र सार्थपतेः सुतः ॥१५॥
पुर्यासितश्च चम्पाया-मीश्वरः सार्थपो धनः।
अस्त्याश्चर्यद्वयं तस्य, यन्न भूतं न भावि च ॥१६॥
चतुरब्धिसारभूता, विमला मुक्तावलीगुणैः कलिता।
अकलितमूल्यविशेषा, सकलकलाकुशलमतिरपि च ॥१७॥
हारप्रभा च कन्यास्ति, तद्रूपादिगुणस्तुतौ।
स्याद्वागीशोऽप्यवागीशः, स्वयं वाग्प्यवागिव ॥१८॥
जिनदत्तस्तदाकर्ण्या-ऽनुरक्तस्तामयाचत।
श्रावकोऽयमिति ददौ, मिथ्यादृष्टिर्न तस्य सः ॥१९॥
चट्टवेषः स्वयं चम्पा-मेकाकी संययौ ततः।
एकस्तत्रास्त्युपाध्यायः, तं विद्यार्थी त्युपस्थितः ॥२०॥
उपाध्यायोऽवदद्भद्र ! पाठयिष्याम्यहं परम्।
मद्गृहे भोजनं नास्ति, दुर्भिक्षं चास्ति संप्रति ॥२१॥
धनश्च दत्ते भौतानां, ततः सोऽगात्तदन्तिके।
देहि विद्यार्थिनो मेऽन्नं, सोऽवदद्वास्यते पठ ॥२२॥
तेनोद्दिष्टा सुताऽमुष्मै, ददीथा नित्यं भोजनम्।
स दध्यौ चिन्तितं जातं, सक्तुमध्येऽलुठद् घृतम् ॥२३॥
फलाद्युपाचरत्तस्याः, उपचारं न साऽग्रहीत्।
अथावसरमासाद्य, सोऽत्वरस्तां वशेऽनयत् ॥२४॥
अथ सा तद्गुणै रक्ता, तमुवाच पलाय्यते।
तेनोक्तं नोचितमिदं, त्वमुन्मत्ताऽधुना भव ॥२५॥
सा तयाऽभूततः पित्रा-ऽऽहूता मान्त्रिकतान्त्रिकाः।
सर्वानवर्जयत्तीव्रं० तां तेऽसाध्येत्यथाऽत्यजन् ॥२६॥
अथाधृतिः पिता मुह्य, चट्टस्तं स्माह मा मुह।
क्रमागतास्ति मे विद्या, सर्वं सेत्स्यत्यदस्तया ॥२७॥
दुष्करस्तूपचारोऽस्याः, श्रेष्ठ्यूचे सुकरो मम।
आख्यच्चट्टोऽथ कार्येऽत्र, चत्वारो ब्रह्मचारिणः ॥२८॥
आनेयास्ते कुशुद्धाश्चे-त्तदा कार्यं न सेत्स्यति।
तेषां भवत्यनर्थश्च, तान् भौतर्निथानयत् ॥२९॥
आनायितास्तथा, योधाश्चत्वारः शब्दबेधिनः।
दिक्पालाः स्थापितास्तेऽथ, लिखित्वा तत्र मण्डलम् ॥३०॥
उक्ताश्च ते मनाग् वेध्याः, शिवाशब्दो भवेद्यतः।
भौताश्चोच्यन्त कुर्वीध्वं, हुं फट् कृते शिवारुतम् ॥३१॥
त्वं रोषेण धृतेनैव, तिष्ठेरूचे च कन्यका।
कृते तथैव भूतास्ते, विद्धा नाभूत्पटुः सुता ॥३२॥
तदा धनस्य वैराग्य-मजायत तपस्विषु।
चट्टेनोक्तं मयाऽनाणि, सिद्धिर्नाब्रह्मचारिभिः ॥३३॥
ऊचे धनोऽधुना कः स्या-दुपायश्चट्ट ऊचिवान्।
शोध्या ब्रह्मभृतः क्वापि, श्रृणु तेषां च लक्षणम् ॥३४॥
भवन्त्येवंविधाः श्रेष्ठिन्, मुनयो ब्रह्मचारिणः।
ये च सत्यादिका गुप्तीः पालयन्ति सदा नव ॥३५॥
अथ दर्शनिनः सर्वान्, श्रेष्ठी प्रश्नं स पृष्टवान्।
ब्रह्मगुप्तीर्न कोऽप्याख्य-दाख्यन् श्वेताम्बराः पुनः ॥३६॥
वसतिः कथासनाक्षे, कुड्यन्तरपुरा रते।
प्रणीतात्यसने भूषा, नवैता ब्रह्मगुप्तयः ॥३७॥
श्रेष्ठी तानाह मे कार्यं, गृहेऽस्ति ब्रह्मचारिभिः।
ऊचुस्ते गृहिणां कार्यं, विधातुं कल्पते न नः ॥३८॥
लब्धा ब्रह्मभृतश्चट्ट !, कार्यं नेच्छन्ति ते पुनः।
सोऽभ्यधादीदृशा एव, भवन्ति मुनयो धन ! ॥३९॥
विमुक्तलोकव्यापाराः, एषां नामापि सिद्धिकृत्।
मण्डलं पुनरालिख्य, दिक्पाला विनिवेशिताः ॥४०॥
न्यस्तानि साधुनामानि, चक्रे पूजां यथाविधि।
न शिवाकूजितं जातं, जाता श्रेष्ठिसुता पटुः ॥४१॥
धनोऽथ साधुमाहात्म्य-ज्ञानात् सुश्रावकोऽभवत्।
चट्टो धर्मोपकारीति, दत्ते द्वे अपि तस्य ते ॥४२॥
एवं स्थैर्यादुपायेन, प्राप रूपवतीं प्रियाम्।
इति श्रुत्वेभ्यसूर्देशे, तदुपायं च सोऽप्यगात् ॥४३॥
विद्यासिद्धा दण्डरक्षा-करास्तिष्ठन्ति तत्र च।
तस्य ते सेवया तुष्टाः, स्माहुरस्मत्किमीहसे ? ॥४४॥
ऊचे मे घट्यतां देवी, जगुस्ते घटयिष्यते।
तैस्तस्याथ समं राज्ञा, मेलोपायो व्यचिन्त्यसौ ॥४५॥
साऽपवादा नृपत्यक्ता, मिलत्येषाऽस्य नान्यथा।
विकुर्विताऽथ तैर्मारि-र्मर्तुं लग्नो घनोजनः ॥४६॥
अथारक्षा नृपेणोक्ताः, मारिर्विज्ञाय कथ्यताम्।
वासवेश्मनि तैर्देव्यो, विद्ययाऽथ विकुर्विताः ॥४७॥
मनुष्यहस्तपादांशाः, देव्यास्यं च सलोहितम्।
तैरुक्तं देव ! गहे स्वे-ऽन्वेष्या मारिः परत्र न ॥४८॥
राज्ञाऽन्विष्टा च दृष्टा चा-ऽऽदिष्टास्तेऽथ यथा रहः।
स्वगृहे मण्डलं कृत्वा, नीत्वा तत्र निगृह्यताम् ॥४९॥
नीता तैरथ सा तत्र, रात्रावध्यास्य मण्डलम्।
हन्तुं प्रचक्रमे याव-दिभ्यसूस्तावदाययौ ॥५०॥

स ऊचे मार्यतेऽसौ किं, मारिरेषेति मार्यते।
सोऽवदत् घटते नैत-ज्ञातोऽस्याः कोऽपि दुर्जनः ॥५१॥
हत मा मुञ्चतैतां तु, नेत्रकैरवकौमुदीम्।
नैषुस्ते पुनरूचे च, गृह्णीध्वं कोट्यलंकृतिम् ॥५२॥
निगृह्णीध्वं च मा मैतां, मुञ्चध्वं वः कृतोऽञ्जलिः।
तस्या अप्यभवत्प्रेम, तत्राकारणवत्सले ॥५३॥
ऊचुस्ते नेति निर्बन्धा-न्मुक्ताऽसौ त्वं च किं त्वतः।
गत्वा देशान्तरे तिष्ठे-स्तामथादाय सोऽगमत् ॥५४॥
प्राणप्रदोऽयमित्यासी-त्तत्रातिप्रेमभागसौ।
रतिसागरनिर्मग्ना, तेन सार्द्धमथास्ति सा ॥५५॥
द्रष्टुं स्वान् साऽन्यदाऽचाली-त्प्रेम्णा गन्तुं न सा ददौ।
हसितं तेन साऽप्राक्षी-न्निर्बन्धेऽकथयत्कथाम् ॥५६॥
निर्विण्णा साऽथ साध्वीनां, धर्मं श्रुत्वाऽग्रहीद् व्रतम्।
इतरोऽगात्तु नरकं, चक्षुर्लौल्यकृतोदयात् ॥५७॥ आ०क०।
आ० म०। आ० चू०। ग०। "चक्किंखदियदुद्दंत-ज्झणस्स अहएत्तिओ भवति दोसो। जं जलणम्मि जलंते, पडइ पयंगो अबुद्धो उ" ज्ञा०१ श्रु०१७ अ०।

चक्किंखदियणिग्गह पुं० (चक्षुरिन्द्रियनिग्रह)। चक्षुरिन्द्रियस्य किषयलाम्पट्यनिरोधे, (उत्त०)

तत्फलम्-

चक्किंखदियनिग्गहेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? चक्किंखदियनिग्ग-हेणं मणुन्नामणुन्नेसु रूवेसु रागद्दोसनिग्गहं जणयइ। तप्पच्चइयं कम्मं न बंधइ पुव्वबद्धं च निज्जरेइ।६३॥

हे भदन्त ! हेस्वामिन् ! चक्षुरिन्द्रियनिग्रहेण जीवः किं जनयति ? तदा गुरुराह-हेशिष्य ! चक्षुरिन्द्रियनिग्रहेण मनोज्ञाऽमनोज्ञेषु रूपेषु रागद्वेषजयं जनयति ! ततश्च तत्प्रत्ययिकं रागद्वेषोत्पन्नं कर्म न बध्नाति। पूर्वबद्धं रागद्वेषोपार्जितं कर्म निर्जरयति क्षपयति ॥६३॥ उत्त०२९ अ०।

चक्खु न० (चक्षुष्)। चक्ष्यतेऽनेनेति चक्षुः। **"वाऽक्ष्यर्थवचनाद्याः" ८।१।३३।** इति वा पुंस्त्वम्। लोचने, तत् द्रव्यतोऽक्षि, भावतो ज्ञानम्। स्था०२ ठा०४ उ०। सूत्र०। इह चक्षुरिन्द्रियम्, तच्च द्विधा-द्रव्यतो भावतश्च। द्रव्येन्द्रियं बाह्यनिर्वृतिसाधकम्, तत्करणरूपम् "निर्वृत्युपकारेण द्रव्येन्द्रियम्" इति वचनात्। भावेन्द्रियं तु उपशम उपयोगश्च "लब्धोपयोगौ भावेन्द्रियम्" इति वचनात्। अत्र चक्षुर्विशिष्टमेवात्मधर्मरूपं तत्त्वावबोधने बन्धनश्रद्धास्वभावं गृह्यते श्रद्धाविहीनस्याचक्षुष्मत इव रूपतत्त्व दर्शनायोगात्। न चेयं मार्गानुसारिणी सुखमवाप्यते। सत्यां चास्यां भवत्येव तन्नियोगतः कल्याणचक्षुषीव सद्रूपदर्शनं न ह्यत्र प्रतिबन्धो नियमेन ऋते कालादिति निपुणसमयविदः। अयं चाप्रतिबन्ध एव। तथा तद्भवनोपयोगित्वात्। तमन्तरेण तात्सिद्ध्यसिद्धेः, विशिष्टस्योपादानहेतोरेव तथापरिणतिस्वभावत्वात् तदेषाऽवन्ध्यबीजभूता धर्मकल्पद्रुमस्येति परिभावनीयम्। इदं चेह चक्षुरिदं चोक्तं भगवद्भ्यः इति। ल०। "चक्षुष्मन्त एवेह, ये श्रुतज्ञानचक्षुषा। सम्यक् तदैव पश्यन्ति, भावान् हेयेतरान्नराः" ॥१॥ भ०१ श०१ उ०। शुभाशुभार्थकारित्वात् श्रुतज्ञाने, स०। चक्षुरिव चक्षुः। केवलज्ञाने, सूत्र०१ श्रु०६ अ०। दर्शने, आचा०१ श्रु०९ अ०१ उ०। विशिष्ट आत्मधर्मे, रा०। लोकस्य विविधकार्येषु प्रवृत्तिनिवृत्तिविषयप्रदर्शके, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०। रा०।

तिविहे चक्खू पण्णत्ते। तं जहा-एगचक्खू विचक्खू तिचक्खू। छउमच्छे णं मणुस्से एगचक्खू देवे विचक्खू तहारूवे समणे वा माहणे वा उप्पण्णणाणदंसणधरे से णं तिचक्खु त्ति वत्तव्वं सिया॥

प्रायः कण्ठ्यम्। चक्षुर्लोचनं तत् द्रव्यतोऽक्षि, भावतो ज्ञानम्। तद्यस्यास्तीति स तद्योगाच्चक्षुरेव चक्षुष्मानित्यर्थः। स च त्रिवि धश्चक्षुः संख्याभेदात्, तत्रैकं चक्षुरस्येत्येकचक्षुः। एवमितरावपि। छादयतीति छद्म ज्ञानावरणादि तत्र तिष्ठतीति छद्मस्थः। स च यद्यप्यनुत्पन्नकेवलज्ञानः सर्व एवोच्यते तथाऽपीहातिशयवत् श्रुतज्ञानादिविवर्जितो विवक्षित इति। एकचक्षुरिन्द्रियापेक्षया देवो द्विचक्षुश्चक्षुरिन्द्रियावधिभ्याम् उत्पन्नमावरणक्षयोपशमेनाज्ञानं च श्रुतावधिरूपं दर्शनं चावधिदर्शनरूपं यो धारयति वहति स तथा एवंभूतः सः त्रिचक्षुश्चक्षुरिन्द्रियपरमश्रुतावधिरिति वक्तव्यं स्यात्। स हि साक्षादेवावलोकयति हेयोपादेयानि समस्तवस्तूनि केवली त्विह न व्याख्यातः केवलज्ञानदर्शनलक्षणचक्षुर्द्वयकल्पनासंभवेऽपि चक्षुरिन्द्रियलक्षणचक्षुषः उपयोगा भावेनासत्कल्पनया तस्य चक्षुस्त्रयं न विद्यत इति कृत्वेति द्रव्येन्द्रियापेक्षया तु सोऽपि न विरुध्यत इति। स्था०३ ठा०४ उ०। "ते चक्खुलोगंसि ह णायगा उ, मग्गाणुसासंति हितं पयाणं" ते तीर्थकरगणधरादयोऽतिशयज्ञानिनोऽस्मिन् लोके चक्षुरिव चक्षुर्वर्तन्ते। यथा हि-चक्षुर्योग्यदेशावस्थितान् पदार्थान् परिच्छिनत्ति। एवं तेऽपि लोकस्य यथावस्थितपदार्थाविष्करणं कारयन्ति। यथाऽस्मिन् लोके ते नायकाः प्रधानाः। सूत्र०१ श्रु०१२ अ०।

चक्खुइंदियवल न० (चक्षुरिन्द्रियबल)। चक्षुरिन्द्रियस्य स्वसामर्थ्यग्रहणे, स्था०१० ठा०।

चक्खुकंत पुं० (चक्षुष्कान्त)। कुण्डलोदसमुद्राधिपतौ देवे० जी०३ प्रति०।

चक्खुकंता स्त्री० (चक्षुष्कान्ता)। प्रसेनजितः कुलकरस्य भार्यायाम्, आ० म०। आ० क०। स०।

चक्खुदंसण न० (चक्षुर्दर्शन)। चक्षुषा वस्तुसामान्यांशात्मके ग्रहणे, कर्म०४ कर्म०। दर्शनभेदे, पं० सं०१ द्वार०। स्था०। चक्षुरिन्द्रियप्रीत्यर्थं दर्शनप्रतिज्ञायाम्, नि० चू०१२ उ०।

चक्खुदंसणवडिया स्त्री० (चक्षुर्दर्शनप्रतिज्ञा)। चक्षुषा संद्रष्टुं प्रतिज्ञायाम्, (आचा०)।

चक्षुर्दर्शनप्रतिज्ञया न गच्छेत्--

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा अह वगेयाइं रूवाइं पासइ। तं जहा-गंथिमाणि वा वेढिमाणि वा पूरिमाणि वा संघाइमाणि वा कट्ठकंमाणि वा पोत्थकम्माणि वा चित्तकम्माणि वा मणिकम्माणि वा दंतकम्माणि वा मालकम्माणि वा पत्तच्छज्जेकम्माणि वा विविधाणि वा वेडिमाइं अण्णयराइं तहप्पगाराइं विरूवरूवाइं चक्खुदंसणपडियाए णो अभिसंधारेज्ज गमणाए एवं णेयव्वं जहा सद्दपडियाए सव्वा वाइत्तवज्जा रूवपडिया वि पंचमयं सत्तिकयं।

"से" इत्यादि। स भावभिक्षुः क्वचित्पर्यटन्नर्थकानि कानि

चित्रानाविधानि रूपाणि पश्यति । तद्यथा-ग्रथितानि ग्रथितपुष्पादिनिर्वर्त्तितस्वस्तिकादीनि, वेष्टिमानि वस्त्रादिनिर्वर्तितपुत्तलिकादीनि, (पूरिमाणि त्ति) यान्यतः पूरुषाद्याकृतीनि भवन्ति, सङ्घातिमानि चोलकादीनि, काष्ठकर्माणि रथादीनि, पुस्तकर्माणि लेप्यकर्माणि, चित्रकर्माणि प्रतीतानि, मणिकर्माणि विचित्रमणिनिष्पादितस्वस्तिकादीनि, दन्तकर्माणि दन्तपुत्तलिकादीनि, तथा पत्रच्छेद्यकर्माणीत्येवमादीनि विरूपरूपाणि चक्षुर्दर्शनप्रतिज्ञया नाभिसन्धारयेद्गमनाय एतानि द्रष्टुं गमने मनो न विदध्यादित्यर्थः। एवं शब्दसप्तैककसूत्राणि चतुर्विधातोद्यरहितानि सर्वाण्यपीहायोज्यानि केवलं रूपप्रतिज्ञयेत्येवमभिलापो योज्यः, दोषाश्चात्र प्राग्वत्समायोज्या इति। आचा०२ चू०।

जे भिक्खू रण्णो खत्तियाणं मुद्धियाणं मुद्धाभिसित्ताणं अइगच्छमाणाण वा णिग्गच्छमाणाण वा पयमवि चक्खूदंसणवडियाए अभिसंधारेइ अभिसंधारेंतं वा साइज्जइ ॥८॥

अतियानं प्रवेशः बहिर्निर्गमो निर्यानं चक्खुदंसणेण दट्ठुं प्रतिज्ञा। अथवा-चक्षुषोर्दर्शयामीति प्रतिज्ञा एगपदं पिच्छति तस्स आणादिया दोसा ॥

जे भिक्खू रातिण्णा, णिग्गच्छंताण अह वितिन्नाणा ।
चक्खुपडियाए पदमवि, अभिधारे आणमादीणि ॥४४॥

अतित्ति प्रवसंति एगमवि पदं अभिधारेंतो आणादि दोसेपावति ॥

संकप्पुट्ठियपदभिं–दणे य दिट्ठेसु चेव सोहीओ ।
लहुओ गुरुमो मासो, चतु लहुगा चेव गुरुगा य ॥४५॥
मणउट्ठियपदभेदे, य दंसणे मासमादि चतु गुरुगा ।
लहुओ लहुया गुरुगा, दंसणवज्जेसु व पदेसु ॥४६॥
पडिपोग्गले अपडिपो–ग्गले य गमणं णियत्तणं वा वि ।
विजए पराजए वा, पडिसेहं वा वि वोच्छेदं ॥४७॥

रायाणं पासामित्ति मणसा चिंतेइ मासलहं उट्ठिते मासगुरुं पदभेदे चउलहुं दिट्ठे चउगुरुं । अहवा-बितियादेसेण मणसा चिंतोति मासगुरुं उट्ठिते चउलहुं। पदभेदे चउगुरुं एगपदभेदे वि चउगुरुगा किमंग ! पुण दिट्ठे आणादिविराहणा भद्दपंता दोसा य जो भद्दतो सो य, जो भद्दतो सो। पडिपोग्गलेत्ति साधुदृष्टवा ध्रुवा सिद्धिः अत्थिउकामो वि गच्छइ ताहे अविकरणं भवति । जं च सो जुद्धाति करेस्सति । जति से जयो ताहे णिश्चमेव संजए पुरतो गच्छ । अपडिपोग्गलेत्ति इमोहिं लुत्तसिरेहिं वि दिट्ठेहिं कुतो मे सिद्धी गंतुकामो विणियत्तति। अह कहं वि गतो पराजिओ ताहे पच्चगतो पदूसति पउट्ठो य जं काहिति भत्तो य करपव्वयंताण य पडिसेहं करेज्ज उवकरणवोच्छेदं वा करेज्ज अह परेत्यर्थः।

अहधा इमे दोसा हवेज्जः–

दट्ठूण य रायत्थिं, परीसहपराति तत्थ केयं तु ।
आसंसं वा कुज्जा, पडिगमणादीणि व पदाणि ॥

जं काहिति भत्तो आसंसं णिदाण कुज्जा । अह वा-तस्समीवे अलंकियविभूसियाओ इत्थीओ दट्ठुं पडिगमणं अण्णतित्थिणी सिद्धिपुत्तिं संजती वा पडिसेवति हत्थकम्मं वा करेति। अहवाकोइ ईसरपुत्तो कुमारो पव्वइतो सो तं रायाणं थीपरिवुडं दट्ठूणं चिंतेइ लद्धं जोइयं अम्हेहि एरिसीणं णाणुभूतं ताहे पडिगच्छेज्जा भवे कारणं ।

वितियपदमणप्पज्झे, जाणंतो वा वि पुणो अप्पज्झे ।
गच्छंतो वा वि पुणो, कुलगणसंघातिकज्जेसु ॥४६॥

कुलादि वा कज्जे जइ राया पधाविओ ताहे ण अल्लियंति मग्गतो गच्छति एवं पडियरिऊण जति ते पडिपुग्गलादयो दोसा ण भवंति तो जहिं ठिओ तहिं अल्लियंति ।

जे भिक्खू रन्नो खत्तियाणं मुद्धियाणं मुद्धाभिसित्ताणं इत्थीओ सव्वालंकारविभूसियाओ पयमवि चक्खूदंसणवडियाए अभिमंधारेइ गच्छइ गच्छंतं वा साइज्जइ ॥९॥

जे भिक्खू इत्थियाए, सव्वालंकारभूसियाए उ ।
चक्खुवभियाएँ पयमवि, अभिधारे आणमादीणि ॥५०॥
के इत्थ भुत्तभोगी, अभुत्तभोगी य केइ निक्खंता ।
रमणिज्जलोइयंतिय, अम्हे एयारिसं आसि ॥५१॥

पूर्ववत् "के इत्थ त्ति"। भुत्तभोगिणो सति विभवे णिक्खंता पुणो संभवंता वच्चंति ।

पडिगमणअण्णतित्थिय, सिद्धी संजति सलिंगहत्थे य ।
वेहाणस ओहाणे, एमेव अभुत्तभोगी वि ॥५२॥

पूर्ववत्। अभुत्तभोगी वि उप्पण्णकोहो उ पडिगमणादी पदे करेज्ज ।

किं चान्यत् –

रीयाति अणुवयोगी, इच्छी णाती सुहीणडवियत्तं ।
अजितिंदियउड्डाहो, आवडणे भेदवडणं च ॥५३॥

भण्णिरक्खंतो रीयाए अणुवउत्तो भवति इत्थीए जे सयणा लायणाणवो जे सुहिणो तेसिं अवियत्तं भवति । जहा से अणुरत्ता दिट्ठी लक्खिज्जति तहा से अंतगओ विभावेण णज्जति अजितिंदओ एवं उड्डाहंतं निरक्खंतो खाणगादिसु आवमेज्ज भायणं वा भिंदेज्ज संयं वा पडेज्ज हत्थं पादं वा लूसेज्ज आयविराहणा ।

वितियपदमणप्पज्झे, अभिधारविकोविते व अप्पज्झे ।
जाणंते वा वि पुणो, मोहतिगिच्छा तु कज्जेसु ॥५४॥

मोहतिगिच्छाए वसभेहिं समं अप्पसारिए ठितो णिरिक्खति साइमविधिमतिक्कंतो पासति ।

णिव्वीतिमायतीए, दिट्ठीकीवो असारिए पेहे ।
अद्धाणाणि व गच्छति, संवाहणमादि गच्छंति ॥५५॥

णिव्वितियादियं जाहे अतीतो ताहे अप्पसारिए दिट्ठितो दिट्ठीए कीवो पासति। जइ से पोग्गलपरिसामो जीओ तो लद्धं अणुवसमंतेहिं सावादिए वा दच्छंति अद्धाणं गच्छेज्ज तत्थ पदभेदे वि णत्थि पच्छित्तं। नि० चू०९ उ०।

जे भिक्खू वप्पाणि वा वराणि वा वावीणि वा पोक्खराणि वा पोक्खरीणि वा दीहाणि वा गुज्झालियाणि वा सरा–

णि वा सरपंतियाणि वा सररसरपंतियाणि वा चक्खूदंसणपडियाए अभिसंधारेइ अभिसंधारंतं वा साइज्जइ।

बप्पाई ठाणा खलु, जेत्तियमेत्ता य आहिया सुत्ते।
चक्खूपडियाइठाणी, अभिवरितम्मि आणादी ॥१४३॥

वप्पो केदारो, परिहा खातिया णगरादिसु पगारो रत्नदुवारा दिसु तोरणा, णगरदुवारादिसु अग्गला तस्सेव पासगोरहसंठितो पासातो पव्वयसंठियं। उवरुवरिभूमियाहिं उव्वद्दमाणं कूडागारं कुंडेवागारं पर्वते कुट्टितमित्यर्थः। भूमिगिहं भूमिघरं रुक्खोचियगिहागारो रुक्खगिहं रुक्खो वा घरं कडं, पर्वतः प्रसिद्धः ममंवो वियडं स्तम्भः प्रसिद्धः पडिमागिहं चेत्तियं लोहारकुट्टी। आवेसणं लोगसमवायट्ठाणं आयतणं देवकुलप्रसिद्धं सद्धयः स्थानं सभा गिम्हादिसु उदगपदाणं य वा जत्थ भंडं अच्छति तं पाणियगिहं जत्थ विक्काइ सा साला। अहवा-सकुट्टिगं गिहं अकुट्टा साला एवं जणसालाओ वि जणो सेविगादि जत्थ णिक्खित्ता छुहा प्रसिद्धा एवं मज्झो पव्वगो वि मज्झसारिच्छो इंगाला जत्थ डज्झेति कच्छा जथ फट्टंति घडिज्जंति वा सवसयाणं सुसाणं गिरिगुहा कंदरं असिवसमणट्ठाणं सती सेलो पव्वतो गोसादिट्ठाणं भवणागारं वणरायमंडियं भवणं तं चेव वणविवज्जियं गिहं चक्षुरिन्द्रियप्रीत्यर्थं दर्शनप्रतिज्ञया गच्छन्ति।

तत्थ गच्छंतस्स संजमविराहणा दिट्ठे य रागदोसादयो इमे दोसा–

कम्मपसत्थऽपसत्थे, रागं दोसं च कारए कुज्जा।
सुकयं सुअज्जियं ति य, सुट्ठु वि विणओइयं दव्वं ॥१४४॥

कारको सिप्पी तेण सुपसत्थे कते रागं करेति अप्पसत्थे दोसं। अह वा भणंति-देवकुलादिसु कयं एत्थ अणुमती। अहवाजेण कारवियं तं भणति सुट्ठु अज्जियं तेण दव्वं सुट्ठाणे वा णिउत्तं एवं अणुमती मित्थं तूववूहा।

बक्केहि य सत्थेहि य, परलोयगता वि तेसु णज्जंति।
निउणाऽनिउणत्त कई, कम्माण व कारगा सिप्पी ॥१४५॥

णिउणाण णिउणत्तं कवीण वक्केहिं णज्जति सिप्पियाणं सत्थेहिं णज्जइ विणट्ठवत्थुं दट्ठुं भणति।

दुस्सिक्खियस्स कम्मं, धणियं अपरिक्खिओ य सो आसि।
जेण सुहाविणियत्तं, सुवीयमिव ऊसरे मोल्ला ॥१४६॥

कारगे वा धम्माधम्मे सिप्पिसुए वा अपरिक्खगो आसि कहं अपरिक्खित्तो आसि।

पच्छद्धं भणाति अंतरागयस्स वा इमे दोसा –

दुविहा तिविहा य तसा, भीया वा उसरणाणि कंखेज्जा।
नोल्लतगं य अवण्णं, अंतराइयं च जं वण्णं ॥१४७॥

दुबिधा-जलचरा थलचरा य। तिविहा जलथलखहचारिणो य ते भीता दुत्तिरयडयं देज्ज जलयरस्स जलं सरणं विलं डोगरं वा थलचरस्स खहचरस्स आगासं कंखेज्जा अभिलाससरणं वा मच्छतेत्यर्थः। तं वा साधुं अन्नं वा णोलेज्जा, तेंसि वा चरंताणं अंतराइयं करेति जं वणंति ते णस्स ता जं काहिति।

इयाणिं अववादो –

वितियपदमणप्पज्झे, अहिवरे अकोविते व अप्पज्झे।
जाणंते वा वि पुणो, कज्जेसु बहुप्पगारेसु ॥१४८॥

कंठा।

"कज्जेसु वहुप्पगारेसु त्ति" अस्य व्याख्या –

तत्थ गतो होज्ज पहू-ण विणा तेण वि य सब्भा।
तं कज्जं संभम पडि-णीय भए उसण्ण गेलण्णे ॥१४९॥

पभू रायादि कुलगणसंघकज्जं अग्गिमादिसंभमे पडिणीयभया वा गच्छंति ओसन्नंति साधूणं तत्थ गमणं अविरुद्धं आइण्णंति साधवो तत्थेव आवासेति गिलाणस्स वा पच्छा भायणादिणिमित्तं गच्छति।

तत्थिमा जयणा –

तेसुं दिट्ठिमवंधं नो, गयं वा पडिसाहरे।
परस्साणुवरोहेणं, देहं तो दो वि वज्जए ॥१५०॥

पधाणप्पधाणेसु दिट्ठिं ण वंधति सहमा वा गयदिट्ठिं पडिसाहरति। रायादिं अणुयन्ति उज्जोयंतो दो वि रागदोसे वज्जेइ।

जे भिक्खू कत्थाणि वा, गहाणि वा णूमाणि वा वणाणि वा वणविदुग्गाणि वा पव्वयाणि वा पव्वयविदुग्गाणि वा चक्खूदंसण-वडियाए अभिसंधारेइ, अभिसंधारं तं वा साइज्जइ ॥२१॥

कच्छादी ठाणा खलु, जेत्ति य मेत्ता उ आहिया सुत्ते।
चक्खुपडियाए तेसुं, दोसा ते तं च वितियपदं ॥१५१॥

चक्खुदंसणपडियाए गच्छंतो चतुलहुं इक्खमादी कच्छा दवियं वीयं णूमं भिन्नं एगजातीय अणेगजाईय रुक्खाउलं गहणविदुग्गं एगो पव्वतो वहुएहिं पव्वतेहिं विदुग्गं कूवो अगमोतडागदेहा णदी प्रसिद्धा समवृत्ता वापी चातुरस्सा पुक्खरिणी एताउ चेव दीहद्दियाओ दीहिया सारणी वा वि पुक्खरणीओ वा मंडलिसंठियाओ अन्नोन्नकवाडसंजुत्ताओ गुंजालिया भन्नंति अन्ने भणंति णिक्का अणेगभेदगता गुंजालिया सप्पगती वा एगं महाप्रमाणं सरं ताणि चेव हूणियं ति ठियाणि पत्तेयं वा जुत्ताणि सरपंती ताणि चेव बहूणि अन्नोन्नकवाडसंजुत्ताणि सररसरपंती तेसु गच्छंतस्स ते चेव दोसा तं चेव होति वितियपदं।

जे भिक्खू गामाणि वा णगराणि वा खेमाणि वा कव डाणि वा मडंवाणि वा दोणमुहाणि वा पट्टणाणि वा णागराणि वा संवाहाणि वा संनिवेसाणि वा चक्खूदंसण वडियाए अभिंधारेइ अभिसंधारंतं वा साइज्जइ ॥२२॥

गामादी ठाणा खलु, जत्तियमेत्ता उ आहिया सुत्ते।
चक्खुपडियाए तेसुं, दोसा ते तं वितियपदं ॥१५२॥

गच्छंतस्स दप्पे चतुलहुं करादियाण गम्मो गामो, ण करो जत्थ तं णकरं खेडं नाम धूलिपागारपरिक्खित्तं कुणगरो कवडं जोयणब्भन्तरे जस्स गामादि णत्थि तं ममंवादी अवण्णादि आगारोपवट्टणं दुविहं जलेण जस्स भंडमागच्छति इतरं थलपट्टणं थलेण जस्स भंडमागच्छति इतरं थलपट्टणं दोणिण मुहा जस्स तं दोणिणमुहं जलेण वि थलेण वि भंडमागच्छति। आसमं णाम नावसमादीणं सत्था वासणत्था–

णं सण्णिवेसं, गामो वा पिंडितो संनिविट्ठो, जत्थागतो वा लोगो संनिविट्ठो तं सण्णिवेसं भण्णति, अण्णत्थ किसिं करेत्ता अन्नत्थ बोढुं वसंति, तं संवासं भण्णति। घोसं गोउलं, वणियवग्गो जत्थ वसति तं णेगमं, अंसिया गामततियभागादि भंदुग्गा धणा जत्थ भिज्जंति तं पुडभेयं, जत्थ राया वसति सा रायहाणी।

जे भिक्खू गाममाहाणि वा० जाव सण्णिवेसमाहाणि वा चक्खूदंसणवडियाए अभिसंधारेइ, अभिसंधारंतं वा सा इज्जइ ॥२३॥ जे भिक्खू गामवहाणि वा० जाव सण्णिवेसवहाणि वा चक्खुदंसणपडियाए अभिसंधारेइ, अभिसंधारंतं वा साइज्जइ ॥२४॥

जे भिक्खू गामपहाणि वा० जाव सण्णिवेसपहाणि वा चक्खुदंस–णवडियाए अभि० जाव साइज्जइ ॥२५॥ जे भिक्खू गामदाहाणि वा० जाव सण्णिवेसदाहाणि वा चक्खूदंसणवडियाए अभिसंधारेइ, अभिसंधारंतं वा साइज्जइ ॥२६॥

गामस्स पहो गाममार्ग इत्यर्थः।

जे भिक्खू आसकरणाणि वा हत्थिकरणाणि वा० जाव सूकरकर–णाणि वा चक्खूदंसणवडियाए अभिसंधारेइ, अभिसंधारंतं वा साइज्जइ ॥२७॥ जे भिक्खू आघायाणि वा चक्खूदंसणवडियाए अभिसंघारेइ, अभिसंघारंतं वा साइज्जइ ॥२८॥

आससिक्खावणं आसकरणं, एवं सेसाणि त्ति।

जे भिक्खू आसजुद्धाणि वा० जाव सूकरजुद्धाणि वा चक्खूदंसण–वडियाए अभिसंधारेइ, अभिसंधारंतं वा साइज्जइ ॥२९॥

हयोऽश्वः तेषां परस्परतो युद्धम्, एवमन्येषामपि, गजादयः प्रसिद्धाः, शरीरेण विमध्यमः करटः रक्तपादपः वट्टकः सिखी धूम्रवर्णः लावकः आडिमादि प्रसिद्धा अद्दियपच्छाडियादिकरणेहिं जुद्धं, सव्वसंधिविक्खोवणं णिजुद्धं, पुव्वं जुद्धेण जुद्धिओ पच्छा संधी विक्खोभिज्जति जत्थ तं जुद्धं णिजुद्धं।

जे भिक्खू गाउजुहियट्ठाणाणि वा हयजुहियट्ठाणाणि वा गयजुहियट्ठाणणि वा चक्खूदंसणवडियाए अभिसंधारेइ, अभिसंधारंतं वा साइज्जइ ॥३०॥

उज्जूहिं गावा गावीओ उज्जूहित्ताओ अडवी जुत्ती उज्जूहिज्जंति, अहवा गोसंखडी उज्जूहिगा भन्नति, गावीणं णिव्वेढणा परिभाविणिज्झहिगा वधूवरपरियारंति मिथुजूहियवम्मियगुडिएहिं हएहिं वलदरिसणा हयाणीयं, गएहिं वलदरिसणा गयाणीयं, रहेहिं वलदरिसणा रहाणीयं, पाइक्कवलदरिसणा पायत्ताणीयं, चउसमवायो य अणियदरिसणं चोरादि वा वज्झं णीणिज्जमाणं पेहाए।

जे भिक्खू अभिसेयट्ठाणाणि वा अक्खाइयट्ठाणाणि वा माणुम्माणियट्ठाणाणि वा पमाणियट्ठाणाणि वा महयाहयणट्टगीयवाइयतंतीतलतालतुडिपमुप्पवाइयट्ठाणाणि वा चक्खूदंसणवडियाए अभिसंधारेइ, अभिसंधारंतं वा साइज्जइ ॥३१॥ जे भिक्खू डिमाणि वा डमराणि वा खाराणि वा वेराणि वा महासंगामाणि वा कलहाणि वा वोलाणि वा चक्खूदंसणवडियाए अभिसंधारेइ, अभिसंधारंतं वा साइज्जइ ॥३२॥

अक्खाणगादि आघादियं एगस्स वलमाणं अन्नेण अणुमीयत इति, माणुम्माणियं जहा धन्न कंवलसवला अधवा माणपोतयो माणुम्माणियं विज्जादिएहिं रुक्खादीण भिज्जंतीति णेमं, अथवाणम्मं वट्टं सिक्खावज्जंतस्स अंगाणि णमिज्जंति गहितकट्ठा। अथवा-वत्थपुप्फचंमादि वा कप्पं रुक्खदिभंगो दव्वविभागे य कलहो वादिगो जहा सिंधवीणं रायादीणं वुग्गहो, पासतादी जूया सभादिसु अणेगविहा जणवया।

जे भिक्खू कट्ठकम्माणि वा चित्तकम्माणि वा पोत्थकम्माणि वा लेप्पकमाणि वा मणिकम्माणि वा सेलकम्माणि वा गंथिमाणि वा वेढिमाणि वा कापूरिमाणि वा संघायमाणि वा वेढमाणि वा विविहमाणि वा चक्खूदंसणवडियाए अभिसंधारेइ, अभिसंधारंतं वा साइज्जइ ॥३३॥

कट्ठकम्मं कोट्टिमादि पुस्तकेषु च वत्थे वा पोत्थं, चित्तलेपा प्रसिद्धा, पूयादिषु पुष्पमालादिषु गंठिमं, जहा आणंदपुरे पुप्फपूरगादि वेढिमं प्रतिमापूरिमं सकंचुकादिसु कट्ठसंबंधीसु वा, संघाडिमं महदाख्यानं वा महता हतं अहवा-महता शब्देन वादित्रमाहतं, वाइता तंती, अन्यद्वा किंचित्, हत्थतालणं तालो, कडं वादित्रसमुदायो, त्रुटिः जस्स मुर्तिगस्स घणं सइसारिच्छो सद्दो सो घणमुइंगो पडुणा सद्देण वाइतो सर्व एवेन्द्रियार्थः चक्षुः।

जे भिक्खू विरूवरूवेसु महुस्सवेसु इत्थीणि वा पूरिमाणि वा थिराणि वा मज्झिमाणि वा महराणि वा अणलंकियाणि वा सुअलंकियाणि वा गायंताणि वा वायंताणि वा णच्चंताणि वा हसंताणि वा रमंताणि वा मोहंताणि वा बिपुलं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा परिभुंजंताणि वा चक्खूदंसणवडियाए अभिसंधारेइ, अभिसंधारंतं वा साइज्जइ ॥३४॥

आसयंते सत्थाणि अच्छंति। अहवा-आम्नावंति भुञ्जन्तीत्यर्थः। रममाणा गेंदुगादिसु रमंते मज्जपानअंदोलगादिसु ललंतो जलमध्ये क्रीडा नट्टनृत्तादिषु कंदणी मोहनोद्भवकारिका क्रिया मोहणा, सेवणंता सेसपदा ग्र-थग्र-सिद्धाः। जे भिक्खू विरूवरूवाणि वा इत्यादि। अणेगरूवा विरूवरूवा महता महामहा जत्थ महेवहराया जहा भंसुरुलाए, अहवा-जत्थ महे वहू राया मिलंति, जहा सरक्खलो वहुरयो भन्नति तालायरबहुला वहुणमाला गत्तपुज्जेव गंडभगा य वहुराया अव्वत्तभासिणो, बहुगा जत्थ महे मिलंति सो बहू मिलक्खुमहो, ते य मिलक्खु इमिमादी।

जे भिक्खू इहलोएसु वा रूवेसु दिट्ठेसु वा रूवेसु सुएसु वा रूवेसु असुएसु वा रूवेसु विण्णएसु वा रूवेसु अविण्णाएसु वा रूवेसु सज्जइ रज्जइ गिज्झइ अज्झोववज्जइ, सज्जमाणं वा रज्जमाणं वा गिज्झमाणं वा अज्झोववज्जमाणं वा साइज्ज ॥३५॥

इहलोइया मणुस्सा, परलोइया हयगयादी पुव्वं पच्चक्खं दिट्ठा अदिट्ठा देवादी मणुण्णा जे अणिट्ठा सद्दाणादी पदा एगट्ठिया । अहवा-आसेवणाभावे सज्जणत्ता मणसा पीती गमणं रजुणता सदोसुवलद्धे वि अविरमो गेधी अगमगमणासेवणा वि अज्झुववातो । नि० चू १२ उ० ।

चक्खुदंसणावरण न० (चक्षुर्दर्शनावरण) । ६त० । दर्शनावरणकर्मभेदे, यदुदयात् जीवानां चक्षुर्दर्शनं सामान्यग्राही बोधः (स्था०६ ठा०) न भवति । स०६ सम० ।

चक्खूदिट्ठि अचक्खू, सेसिंदिय ओहिकेवलेहिं च ।
दंसणमिह सामन्नं, तस्सावरण तयं चउहा ॥१०॥

इह चक्षुर्दर्शनं नाम यश्चक्षुषा रूपसामान्यग्रहणं तस्यावरणं चक्षुर्दर्शनावरणं, चक्षुःसामान्योपयोगावरणमिति यावत् (कर्म०) अत्र च चक्षुर्दर्शनावरणोदय एकद्वित्रीन्द्रियाणां मूलन एव चक्षुर्न भवति, चतुःपञ्चेन्द्रियाणां तु भूतमपि चक्षुरस्तथाविधे तदुदये विनश्यति, तिमिरादिना वाऽस्पष्टं भवति ॥ कर्म०१ कर्म० ।

चक्खुदय पुं० (चक्षुर्दय) । चक्षुरिव चक्षुः श्रुतज्ञानं, शुभाशुभार्थविभागकारित्वात्, तत् दयते इति चक्षुर्दयः । स० । चक्षुरिव चक्षुः विशिष्टः आत्मधर्मस्तत्त्वावबोधनिबन्धनश्रद्धास्वभावः, श्रद्धाविहीनस्याऽचक्षुष्मत इव रूपतत्वदर्शनायोगात्, कल्याणचक्षुषीव भवति वस्तुतत्त्वदर्शनं तदीयं धर्मकल्पद्रुमस्याबन्ध्यबीजभूतेभ्यो भगवद्भ्य एव । ध०२ अधि० । तद्वददीति चक्षुदाः । रा० । न मार्गानुसारिणी श्रद्धा सुखेनावाप्यते । चक्षुःसमानश्रुतज्ञानदायकेषु तीर्थकृत्सु, कल्प०१ क्षण ।

चक्खुपडिलेहा स्त्री० (चक्षुःप्रतिलेखा) । चक्षुषाऽवलोकने, नि० चू०१ उ० ।

चक्खुपह पुं० (चक्षुष्पथ) । लोचनमार्गे, सूत्र०१ श्रु०६ अ० ।

चक्खुपहट्ठिय पुं० (चक्षुष्पथस्थित) । लोकानां लोचनमार्गे भवस्थकेवल्यवस्थायां स्थिते लोकानां सूक्ष्मव्यवहितपदार्थाविर्भावन चक्षुर्भूते, सूत्र०१ श्रु०६ अ० ।

चक्खुपम्हनिवाय पुं० (चक्षुःपक्ष्मनिपात) । उन्मेषनिमेषमात्र-क्रियायाम्, भ०१ श०३ उ० ।

चक्खुफास पुं० (चक्षुःस्पर्श) । चक्षुषोः दृष्टेः स्पर्श इव स्पर्शो, न तु स्पर्श एव, चक्षुषोरप्राप्यकारित्वात् इति चक्षुःस्पर्शः । भ०१ श०६ उ० । दर्शन, औ० । दृष्टिगोचरे, उत्त०१ अ० ।

चक्खुविक्खेव पुं० (चक्षुर्विक्षेप) । चक्षुर्भ्रमे, भ०३ श०२ उ० ।

चक्खुडीय त्रि० (चक्षुर्भीत) । चक्षुःशब्दोऽत्र दर्शनपर्यायः । दर्शनादेव भीते, आचा०१ श्रु०८ भ०६ उ० ।

चक्खुमंत पुं० (चक्षुष्मत्) । स्वनामख्यातेऽवसर्पिण्यां जाते द्वितीये कुलकरे, आ० म० प्र० । आ० क० । स० । जं० । स्था० । आ० चू० लोचनयुक्ते, त्रि० । विशे० । ('कुलगर' शब्दे अस्मिन्नेव भागे ५६३ पृष्ठेऽस्य वक्तव्यतोक्ता)

चक्खुम्मेल पुं० (चक्षुर्मेल) । एकस्य चक्षुष उन्मीलनेऽपरस्यनिमीलने, व्य०१ उ० ।

चक्खुय पुं० (चाक्षुष) । चक्षुःस्पर्शे दृष्टिगोचरे अभ्रेन्द्रचापादौ, आ० म० द्वि० ।

चक्खुलोल पुं० (चक्षुर्लोल) । चक्षुषा लोलश्चञ्चलः, चक्षुर्वा लोलं यस्य स तथा । स्तूपादीनालोकयित्वा व्रजति, स्था०४ ठा०४ उ० । "चक्खुलोलए इरियावहियाए पलिमंथू" बृ०६ उ० ।

अथ चक्षुर्लोलमाह-

आलोयणा य कहणा, परिय ट्टऽणुपेहणा अणाभोए ।
लहुगो य होति मासो, आणादि विराहणा दुविहा ॥

स्तूपादीनां लोकनां कुर्वाणः, कथनां धर्मकथां, परिवर्तनां प्रक्षां च कुर्वन् यद्यनाभोगेनानुपयुक्तो मार्गे व्रजति तदा लघुमासः, आज्ञादयश्च दोषाः, द्विविधा विराधना भवेत् ।

इदमेव भावयति -

आलोएंतो वच्चति, थूभादीणि व कहेति वा धम्मं ।
परियट्टणाणुपेहण, न यावि पंथं ति उवउत्तो ॥

स्तूपादीनि आलोकमानो, धर्मं कथयन्, परिवर्तनामुत्प्रेक्षां वा कुर्वाणो व्रजति । यद्वा-सामान्येन न च नैवोपयुक्तः पथि व्रजति, एष चक्षुर्लोल उच्यते ।

अस्यैते दोषाः -

छक्कायाण विराहण, संजमे आयाऍ कंटगादीया ।
आवडणे भाणभेदो, खद्धे उड्डाह परिहाणी ॥

अनुपयुक्तस्य गच्छतः संयमे षट्कायानां विराधना भवेत्, आत्मविराधनायां कण्टकादयः पादयोर्लगेयुः, विषमे वा प्रदेशे आपतनं भवेत, तत्र भाजनभेदः । 'खद्धे च' प्रचुरे भक्षपाने भूमौ छर्दिते उड्डाहो भवेत्-अहो बहुभक्षका अमी इति । भाजने च भिन्ने परिहाणिः सूत्रार्थपरिमन्थो भाजनान्तरगवेषणे, तत्परिकर्मणायां च नवेति । गतश्चक्षुर्लोलः । बृ०६ उ० ।

चक्खुल्लोयणलेस्स्स त्रि० (चक्षुर्लोकनलेश्य) । चक्षुःकर्तृकलोक-(च) ने, अवलोकने लेश्यति च दर्शनीयत्वातिशयतः श्लिष्यतो वा यत्र तत्तथा । जी०३ प्रति० । चक्षुःकर्तृकलोकने लिशतीव दर्शनीयत्वातिशयात् श्लेष्यतीव यत्र तत्तथा । तथाविधे सुरूपे, येन तत्पश्यच्चक्षुर्न विश्लिष्यति । रा० ।

चक्खुवित्तिहय त्रि० (चक्षुर्दृत्तिहत) । दृष्ट्याऽपरिचिते, व्य०८ उ० ।

चक्खुस्सव पुं० (चक्षुःश्रवस्) । भुजङ्गे, स हि चक्षुषैव श्रृणोति । (सम्म०) श्रूयत एव चक्षुषा शब्दश्रवणं प्राणिविशेषाणाम्, "चक्षुःश्रवसो भुजङ्गाः" इति लोकप्रवादात् । मिथ्वा स प्रवाद इति चेत, नैतत्, प्रवादबाधकस्याभावात्, कर्णच्छिद्रानुपलब्धेश्च । न च दन्दशूक-चक्षुषोः जात्यन्तरत्वादित्युत्तरमत्रोपयोगि, अन्य-

त्रापि प्रकृष्टपुण्यसंभारजनितसर्वविद्यक्षुषि समानत्वात्। सम्म०१ काण्ड।

चक्खुहर त्रि० (चक्षुई (ध))। दृष्ट्याक्षेपकत्वात्, अथवा प्रच्छादनीयाङ्ग-दर्शनात् चक्षुर्हरति धरति वा निर्वर्तयति यद्यूनत्वात्तत्तथा। तथाविधेऽति- *शीघ्रेऽभिनये, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०।*

चच्चर नं० (चत्वर)। **"कुत्तिचत्वरे चः" ।८।२।१२।** इति तकारस्थ चकारादेशः। प्रा०२ पाद। अनेकरथ्यासङ्गमस्थाने, कल्प०४ क्षण। औ०। रा०। भ०। जं०। विपा०। प्रश्न०। स्था०। रथ्याष्टकमध्ये, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०। त्रिपथभेदिस्थाने, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०। औ०। "छण्हं रत्थाण जहिं, पवहो तं चच्चरं विंति।" यत्र षण्णां रथ्यानां प्रवहो निर्गमस्तं चत्वरं ब्रुवते तीर्थकरगणधराः। बृ०१ उ०।

***जर्जर** त्रि०। **"चूलिकापैशाचिके तृतीय-तुर्ययोराद्य-द्वितीयौ" ।८।४।३२५।** इति तृतीयस्य स्थाने प्रथमः। जीर्ण, प्रा०४ पाद।

चच्चर स्त्री० (चर्चर)। चर्च-अरन्। गौरा- ङीष्। गीतिभेदे, कुटिलकेशे, हर्षक्रीडायाम, साटोपवाक्ये, छन्दोभेदे, वाच०। करध्वनौ, "रासे चच्चरीओ य" आव०१ अ०।

चच्चसा स्त्री० (चर्चसा)। वाद्यभेदे, "अट्ठसयं चच्चसाणं अट्ठसयं चच्चसावायगाणं"। रा०।

चच्चिक्क न० पुं० (स्थासक)। **"गोणाऽऽदयः" ।८।२।१७४।** इति स्थासक इत्यस्य 'चच्चिक' आदेशः। चाकचिक्ये, निलये, च। प्र० ढुं० २ पाद।

चच्चुप्प धा० (अर्प्पि)। अर्प्पि-णिच्। समर्पणे, **"अर्प्पेरल्लि–वचच्चुप्प-पणामाः" ।।८।४।३६।।** इत्यर्पेर्ण्यन्तस्य चच्चुप्पादशः। 'चच्चुप्पइ' अर्पयति। प्रा०४ पाद।

चच्छ धा० (तक्ष्)। तनूकरणे, (चाँछना) **"तक्षेस्तच्छचच्छरम्प–रम्फाः" ।।८।४।१६४।।** इति तक्षेः 'चच्छ' आदेशः। 'चच्छइ' तक्षति। संतनूकरोतीत्यर्थः। प्रा०४ पाद।

चज्ज धा० (दृश्)। **"दृशो निअच्छपेच्छावयच्छावयज्झवज्जसव्य–देक्खौअक्खावक्खावअक्खपुलोएपुलएनिआवआसपासाः" ।।८।४।१८१।** इति सूत्रेण दृशेश्चज्जदेशः 'जज्जइ' पश्यति। प्रा०४ पाद।

चट्टसाला स्त्री० (चट्टशाला)। ब्रह्मवल्लूनामध्ययनशालायाम्, वृ०१ उ०।

चढ धा० (आरुह)। **"आरुहेश्चडवलग्गौ" ।८।४।२०६।** इति आङ्पूर्वस्य रुहधातोश्चडादेशः 'चडइ' आरोहति। प्रा०४ पाद०।

चडग पुं० (चटक)। कलविङ्के पक्षिविशेषे, (चिरकली) प्रज्ञा० १ पद। सूत्र०। प्रश्न०। आ०। म०। कोशकारे, कोशकारभवं सूत्रं चटकसूत्रमिति लोके प्रतीतम्। अनु०। आ० म०।

चडगर पुं० (चटकर)। समुदाये, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०। विस्तरे, भ०६ श०३३ उ०। विपा०। आ० म०। विच्छर्दे, "महया पडचडगरविंदपरिक्खित्तं"। ज्ञा०१ श्रु०१ अ०।

चडगरत्तण न० (चटकरत्व)। अतिप्रपञ्चकथने, "महया चडगरभुणेणं अन्यकहा हणइ। (२०," दश०३ अ०।)

चडवेला स्त्री० (चटवेला)। चपेटायाम्, प्रश्न०२ आश्र० द्वार। **चडुयार** पुं० (चटुकार)। मुखमङ्गलकरे, प्रश्न०३ आश्र० द्वार।

चडुल त्रि० (चटुल)। चट-लच्। चञ्चले, चपले च, विद्युति, स्त्री०। *वाच०। सूत्र०।*

चडुलभाव त्रि० (चटुलभाव)। चटुलश्च विविधवस्तुषु क्षणे आकाङ्क्षादि-प्रवृत्तेर्भावाश्चित्तं यस्य स तथा। विषयासक्तचञ्चलचित्ते, प्रश्न०२ द्वार।

चडुलिया स्त्री० (चडुलिका)। पर्य्यन्तज्वलिततृणपूलिकायाम्, नं०।

चडु धा० (पिष्)। चूर्णने, **"पिषेर्णिवहणिरिणासणिरिणज्ज-रोञ्चचड्डाः" ।८।४।१८५।** इति पिषेश्चड्डादेशः। 'चड्डइ' पिनष्टि भुज-धा०। भक्षणे, खादने, **"भुजो भुञ्जजिमजेमकम्माण्हसमाण-चमढचड्डाः" ।८।४।११०।** इति भुजेः चड्डादेशः। 'चड्डइ' भुनक्ति। प्रा०४ पाद। पात्रविशेषे, बृ०१ उ०।

चण पुं० (चण)। चणकधान्ये, जं०३ वक्ष०।

चणइया स्त्री० (चणकिका)। मसूरधान्ये, स्था०५ ठा०३ उ०।

चणग पुं० (चणक)। सनासवृत्तफलके सस्यभेदे, तत्फलरूपे धान्यभेदे च। (चना) आ० चू०६ अ०।

चणगगाम पुं० (चणकग्राम)। गोल्लविषये स्वनामख्याते ग्रामे, यत्र चणिद्विजात्मजश्चाणक्यो जज्ञे। आ० म० द्वि०। आ० चू०। आ० क०।

चणगपुर न० (चणकपुर)। चणकक्षेत्रं दृष्ट्वा निवासिते नगरे, यत्क्रमेण राजगृहं नाम नगरं जातम्। आ०क०। आव०। आ० चू०। ती०।

चणि पुं० (चणि)। चाणिक्याख्यस्य चन्द्रगुप्तमहाराजस्य मन्त्रिणो ब्राह्मणस्य पितरि, आ०क०। आ० चू०।

वत्त न० (चत्र)। तर्कौ, ध०२ अधि०। पञ्चा०।

त्यक्त त्रि०। परिहृते, उत्त०९ अ०। "त्यक्ते परिग्रहे साधोः, प्रयाति सकलं रजः।" अष्ट० २५ अष्ट०।

वत्तदेह त्रि० (त्यक्तदेह)। त्यक्तो निर्ममत्वेन परिचर्य्याभावेन अवगणितो देहो यैस्ते त्यक्तदेहाः। उत्त०१२ अ०। व्युत्सृष्टशरीरे, संथा,।

वत्तदोस त्रि० (त्यक्तदोष)। परिहृतरागादौ, ध०३ अधि०।

चत्तालीस स्त्री० (चत्वारिंशत्)। चतुर्गुणितायां दशसंख्यायाम्, तीसा "चत्तालीसा प्रज्ञा०२ पद।

चत्वारिंशत्क त्रि०। चत्वारिंशद्वर्षजाते, "भोगायनीसगस्स उ, चत्तालीसस्स विन्नाणं।" तं०।

चप्फल त्रि० (मिथ्यावादिन्)। गोणादित्वात्तथादेशः। असत्प्रलापिनि, "रे रे चप्फलया!" रे रे मिथ्यावादिन्! **"गोणादयः" ।८।२।१७४।** इति "चप्फल" इत्यादेशः **"स्वार्थे कश्च वा" ।८।२।१६४।** इति कप्रत्ययः। अनेन वा दीर्घः। **कगचज ।८।१।१७७।** इति कलुक् **"अवर्णो०" ।८।१।१८०।** अया० अता० सलुक् "चप्फलया रे" प्रा० हुं०१ पाद।

चमक्किरिया स्त्री० (चमत्क्रिया)। चमत्कारे, अष्ट०१४ अष्ट०।

चमढ धा० (भुज्)। पालनाऽभ्यवहारयोः, **"भुजो भुञ्जजि–**

मजेमकम्माण्हसमाणचमढचङ्कः" ।८।४।११०। इति भुजधातोश्चमढादेशः। 'चमढइ' भुङ्क्ते। भुनक्ति। प्रा०४ पाद।

चमढणा स्त्री० (चमढना)। कदर्थनायाम्, उद्वेगे, बृ०१ उ०। औ०।

चमढिअ त्रि० (चमढित)। विनाशिते, व्य०२ उ०।

चमढिज्जंत त्रि० (चमढायमान)। कदर्थ्यमाने, ओघ०। उद्वेज्यमाने, बृ० १ उ०।

चमर पुं० (चमर)। आरण्ये गवि, प्रश्न०३ आश्र० द्वार। रा०। जं०। प्रज्ञा०। भ०। औ०। ज्ञा०। सुमतिनाथस्य प्रथमशिष्ये, स०। प्रव० दाक्षिणात्यानामसुरकुमाराणामिन्द्रे, प्रज्ञा०२। पद। स०।

अथ चमरस्योपपातवक्तव्यता—

तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे णयरे होत्था० जाव परिसा पज्जुवासइ, तेणं कालेणं तेणं समएणं चमरे असुरिंदे असुरराया चमरचंचाए रायहाणीए सभाए सुहम्माए चमरंसि सीहासणंसि चउसट्ठीए सामाणियसाहस्सीहिं० जाव नट्टविहिं उवदंसेत्ता जामेव दिसिं पाउब्भूए तामेव दिसिं भंते त्ति। भ०३ श०२ उ०। असुरकुमाराणां सर्वोऽधिकारः 'असुरकुमार' शब्दे प्रथमभागे ८५१ पृष्ठे उक्तः)

यावदूर्द्धमुपपातः—

**एस वि य णं भंते ! चमरे असुरिंदे असुरराया उड्ढं उप्पइयपुव्वे० जाव सोहम्मे कप्पे ? हंता गोयमा ! एस वि य णं चमरे असुरिंदे असुरराया उड्ढं उप्पइयपुव्वे० जाव सो हम्मे कप्पे। अहो णं भंते ! चमरे असुरिंदे असुरराया म हिड्ढीए महज्जुतीए० जाव कहिं पविट्ठा कूडागारसाला दिट्ठंतो भाणियव्वो। चमरेणं भंते ! असुरिंदेणं असुररण्णो सा दिव्वा देविड्ढी तं चेव किण्णा लद्धा०३ ? एवं खलु गोयमा ! तेणं कालेणं तेणं समएणं इहेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे विंझगिरिपायमूले वेभेले णामं संनिवेसे होत्था। वण्णओ-तत्थ णं वेभेलसण्णिवेसे पूरणे नामं गाहावई परिवसइ, अड्ढे दित्ते जहा तामलिस्स वत्तव्वया तहा नेयव्वा, णवरं चउप्पुडयं दारुमयं पडिग्गहयं करेत्ता० जाव विपुलं असणं पाणं खाइमं० जाव सयमेव चउप्पुमयं दारुमयं पडिग्गहयं गहाय मुंभे भवित्ता दाणामाए पव्वज्जाए पव्वइए, पव्वइए वि य णं समाणे तं चेव० जाव आयावणभूमीए पच्चोरुभित्ता सयमेव चउप्पुडयं दारुमयं पडिग्गहयं गहाय वेभेलसण्णिवेसे उच्चनीयमज्झिमाइं कुलाइं वरसमुदाणस्स भिक्खायरियाए अडेत्ता जं मे पढमे पुडए पडइ, कप्पइ मे तं पत्थियपहियाणं दलइत्तए, जं मे दोच्चे पुडए पडइ, कप्पइ मे कागसुणयाणं दलयित्तए, जं मे तच्चे पुडए पडइ, कप्पइ मे तं मच्छकच्छभागं दलइत्तए, जं मे चउत्थे पुडए पडइ, मे तं अप्पणा आहारं आहा रत्तेए त्ति कट्टु संपेहेइ, संपेहेइत्ता कल्लं पाउप्पभायाए रयणीए तं चेव निरवसेसं चउत्थे पुडए पडइ तं अप्पणा आहारं आहारेइ। तए णं से पूरणे वालतवस्सी तेणं उरालेणं विउलेणं पयत्तेणं पग्गहिएणं वालतवोकम्मेणं तं चेव० जाव वेभेलस्स सण्णिवेसस्सम ज्झं मज्झेणं निग्गछइ, निग्गच्छइत्ता पाउयकुंडियमादीयं उवगरणं चउप्पुडयं च दारुमयं पडिग्गहियं एगंतमंते एडेइ, एडेइत्ता वेभेलस्स सन्निवेसस्स दाडिणपुरच्छिमे दिसी भागे अद्धनियत्तणियं मंडलं आलिहित्ता संलेहण्णझू सजाझूसिए भत्तपाणपडियाइक्खिए पाओवगमणं निवन्ने, तेणं कालेणं तेणं समएणं अह गोयमा! छउमत्थकालियाए एक्कारसवासपरियाए छट्ठं छट्ठेणं अनिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं संजमेणं अप्पाणं भावेमाणे पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गामाणुग्गमं दूइज्जमाणे जेणेव सुंसुमार पुरे नगरे जेणेव असोयवणसंडे उज्जाणे जेणेव असोयवरपायवे जेणेव पुढवीसिलावट्टए तेणेव उवागच्छामि, उवागच्छामित्ता असोगवरपायवस्स हेट्ठे पुढविसिलावट्टयंसि अट्ठमभत्तं पगिण्हामि दो वि पाए साहट्टु वग्घारियपाणी एगपोग्गलनिविदिट्ठी अणमिसनयणे ईसिं पब्भारगएणं कारणं अहापणिहिएहिं गत्तेहिं सव्विंदिएहिं गुत्तेहिं एग राइयं महापडिमं उवसंपज्जित्ता विहरामि। भ०३ श०२ उ०।

उपपातः—

तेणं कालेणं तेण समएणं चमरचंचा रायहाणी अणिंदा अपुरोहिया यावि होत्था, तए णं ते पूरणे वालतवस्सी बहुपडिपुण्णाइं दुवालसवासाइं परियागं पाउणित्ता मासियाए संलेहणाए अत्ताणं झूसेत्ता सट्ठिं भत्ताइं अणसणाए छेदेत्ता कालमासे कालं किच्चा चमरचंचाए रायहाणीए उववायसभाए० जाव इंदत्ताए उववन्ने, तए णं से चमरे असुरिंदे असुरराया अहुणोववन्ने पंचविहाए पज्जत्तीए पज्जत्तिभावं गच्छइ। तं जहा-आहारपज्जत्तीए० जाव भासामणपज्जत्तीए तए णं से चमरे असुरिंदे असुरराया पंचविहाए पज्जत्तीए पज्जत्तिभावं गए समाणे उड्ढं वीस साए ओहिणा आभोइए० जाव सोहम्मे कप्पे पासइ य, तत्थ सक्कं देविंदं देवरायं मघवं पागसासणं सयक्कउं सहस्सक्खं वज्जपाणिं पुरंदरं० जाव दसदिसाओ उज्जोवेमाणं पभासेमाणं सोहम्मे कप्पे सोहम्मवडिंसए विमाणे सभाए सुहम्माए सक्कंसि सीहासणंसि० जाव दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजमाणं पासइ, पासइत्ता इमेयारूवे अब्भत्थिए चिंतिए पत्थिए मणोगयसंकप्पे समुप्पज्जित्था, केस णं एस अप्पत्थियपत्थए दुरंतपंतलक्खणे हिरिसिरिपरिवज्जिए हीणपुण्णचाउदस्से जं णं मम इमे एयारूवाए दिव्वाए दे-

विड्ढिए० जाव दिव्वे देवाणुभावे लद्धे पत्ते अभिसमण्णागए उप्पिं अप्पुस्सुए दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरइ, एवं संपेहेइ, संपेहेइत्ता सामाणियपरिसोववण्णए देवे सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी-केस णं एस देवाणुप्पिया ! अपत्थियपत्थिए० जाव भुंजमाणे विहरइ ? तए णं से सामाणियपरिसोववण्णगा देवा चमरेणं असुरिंदेणं असुररण्णो एवं वुत्ता समाणा हट्ठतुट्ठ० जाव हयहियया करयलपरिग्गहियं दसनहं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु जएणं विजएणं बद्धावेंति, वद्धावेंतित्ता एवं वयासी-एस णं देवाणुप्पिया ! सक्के देविंदे देवराया० जाव विहरइ। भ०३ श०२ उ०।

ऊर्द्धमुपपातः-

तए णं से चमरे असुरिंदे असुरराया तेसिं सामाणियपरिसोववण्णगाणं देवाणं अंतिए एयमट्ठं सोच्चा निसम्म आसुरुत्ते रुट्ठे कुविए चंडिक्किए मिसिमिसेमाणे ते सामाणियपरिसोववण्णए देवे एवं वयासि। अण्णे खलु भो ! से सक्के देविंदे देवराया, अन्ने खलु भो ! से चमरे असुरिंदे असुरराया महिड्ढिए खलु भो ! से सक्के देविंदे देवराया, अप्पिड्ढिए खलु भो ! से चमरे असुरिंदे असुरराया, तं इच्छामि णं देवाणुप्पिया ! सक्कं देविंदं देवरायं सयमेव अच्चासाहित्तए त्ति कट्टु उसिणे उसिणब्भूए जाए यावि होत्था। तए णं से चमरे असुरिंदे असुरराया ओहिं पउंजइ, पउंजइत्ता ममं ओहिणा आभोएइ, आभोएइत्ता इमेयारूवे अब्भत्थिए० जाव समुप्पज्जित्था, एवं खलु समणे भगवं महावीरे जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे सुंसुमारपुरे नगरे असोगवणसंडे उज्जाणे असोगवरपायवस्स अहे पुढविसिलावट्टयंसि अट्ठमभत्तं पगिण्हित्ता एगराइयं महापडिमं उवसंपज्जित्ता णं विहरइ, तं सेयं खलु मे समणं भगवं महावीरं नीसाए सक्कं देविंदं देवरायं सयमेव अच्चासाइत्तए त्ति कट्टु एवं संपेहेइ, संपेहेइत्ता सयणिज्जाओ अब्भुट्ठेइ, अब्भुट्ठेइत्ता देवदूसं परिहेइ, परिहेइत्ता जेणेव सभा सुहम्मा जेणेव चोप्पाले पहरणकोसे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता फलिहरयणं परामुसइ, परामुसइत्ता एगे अबीए फलिहरयणमयाए महया अमरिसं वहमाणे चमरचंचाए रायहाणीए मज्झं मज्झेणं निग्गच्छइ, निग्गच्छइत्ता जेणेव तिगिच्छकूडे उप्पायपव्वए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता वेउव्विय समुग्घाएणं समोहणइ, समोहणइत्ता० जाव उत्तरवेउव्वियरूवं विकुव्वइ, ताए उक्किट्ठाए० जाव जेणेव पुढविसिलावट्टए जेणेव ममं अंतिए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता ममं तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेइ०, जाव नमंसित्ता एवं वयासीइच्छामि णं भंते ! तुब्भं नीसाए सक्कं देविंदं देवरायं सयमेवं अच्चासइत्तए त्ति कट्टु उत्तरपुरच्छिमं दिसीभागं अवक्कमइ, अवक्कमइत्ता वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहणइ, समोहणइत्ता० जाव दोच्चं पि वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहणइ, समोहणइत्ता एगं महं घोरं घोरागारं भीमं भीमागारं भासुरं भयाणीयं गंभीरं उत्तासणयं कालडरत्तं भासरासीसंकासं जोयणसयसाहस्सीयं महाबोंदिं विउव्वइ, विउव्वइत्ता अप्फोडेइ, अप्फोडेइत्ता वग्गइ, वग्गइत्ता गज्जइ, गज्जइत्ता हयहेसियं करेइ, करेइत्ता हत्थिगुलुगुलाइयं करेइ, करेइत्ता रहघणघणाइयं करेइ, करेइत्ता पायदद्दरगं करेइ, करेइत्ता भूमिचवेडं दलयइ, दलयइत्ता सीहनादं नदइ, नदइत्ता उच्छोलेइ, उच्छोलेइत्ता पच्छोलेइ, पच्छोलेइ, पच्छोलेइत्ता तिवतिं छिंदइ, तिवतिं छिंदइत्ता वामं भुयं ऊसवेइ, ऊसवेइत्ता दाहिणहत्थपएसिणीए अंगुट्ठनहेण य वि तिरिच्छं मुहं विडंवइ, विडंवइत्ता महया महया सद्देणं कलकलरवं करेइ, करेइत्ता एगे अविइए फलिहरयणमयाए उड्ढं विहासं उप्पइए खोभंते चेव अहोलोयं कंपेमाणे व मेयणितलं सा कड्ढंते व तिरियलोयं फोडेमाणे व अंबरतलं कत्थइ गज्जइ, कत्थइ विज्जुयायंते, कत्थइ वासं वासेमाणे, कत्थइ रयुग्घायं पकरेमाणे, कत्थइ तमुक्कायं पकरेमाणे, वाणमंतरे देवे वित्तासेमाणे वित्तासेमाणे जोइसिए देवे दुहा विभयमाणे दुहा विभयमाणे आयरक्खदेवे वि पलायमाणे पलायमाणे फलिहरयणअंबरतलंसि वियट्टमाणे वियट्टमाणे विउब्भाएमाणे विउब्भाएमाणे ताए उक्किट्ठाए० जाव तिरियमसंखेज्जाणं दीवसमुद्दाणं मज्झं मज्झेणं वीईवयमाणे वीईवयमाणे जेणेव सोहम्मे कप्पे जेणेव सोहम्मवडिंसए विमाणे जेणेव सभा सुहम्मा तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता एगं पायं पउमवरवेइयाए करेइ, एगं पायं सभाए सुहम्माए करेइ, फलिहरयणेणं महया महया सद्देणं तिक्खुत्तो इंदकीलं आउमेइ, आउडेइत्ता एवं वयासीकहि णं भो ! सक्के देविंदे देवराया, कहि णं ताओ चउरासीइसामाणियसाहस्सीओ० जाव कहि णं ताओ चत्तारि चउरासीओ आयरक्खदेवसाहस्सीओ, कहि णं ताओ अणेगाओ अच्छराकोडीओ, अज्ज हणामि, अज्ज वहेमि, अज्ज महेमि, अज्ज ममं अवसाओ अच्छराओ वसमुवणमंतु त्ति कट्टु तं अणिट्ठं अंकंतं अप्पियं असुभं अमणुण्णं अमणामं फरुसं गिरं निसिरइ। तए णं से सक्के देविंदे देवराया तं अणिट्ठं० जाव अमणामं अस्सुयपुव्वं फरुसं गिरं सोच्चा निसम्म आसुरुत्ते० जाव मिसिमिसेमाणे तिवलियं भिउडिं निलामे साहट्टु चमरं असुरिंदं असुररायं एवं वयासी-हं भो ! चमरा असुरिंदा असुरराया अप्पत्थियप्पत्थिया० जाव हीणपुण्णचाउद्दसा अज्ज न भवसि नाहि ते सुहसत्थि त्ति कट्टु तत्थेव सीहासणवरगए-

वज्रं परामुसइ, परामुसइत्ता तं जलंतं फुडंतं तडतमंतं उक्कासहस्साइं विणिंमुयमाणं विणिंमुयमाणं जालासहस्साइं मुयमाणं इंगालसयसहस्साइं पविक्खिरमाणं पविक्खिरमाणं फुलिंगजालामालासहस्सेहिं चक्खुविक्खेवदिट्ठिपडिघायं पि पकरेमाणं हुयबहअतिरेगतेयदिप्पंतं जइणवेगं फुल्लकिंसुयसमाणं महब्भयं भयंकरं चमरस्स असुरिंदस्स असुररण्णो वहाए बज्झं निसिरइ। तए णं से चमरे असुरिंदे असुरराया तं जलंतं० जाव भयंकरं वज्जमभिमुहं आवयमाणं पासइ, पासइत्ता झियाइ पिहाइ पिहाइ ज्झियाइ झियाइत्ता पिहाइत्ता तहेव संभग्गमउमविडए सालंवहत्थाभरणे उड्ढं पाए अहोसिरे कक्खागयसेयं पि व विणिं मुयमाणे मुयमाणे ताए उक्किट्ठाए० जाव तिरियमसंखेज्जाणं दीवसमुद्दाणं मज्झं वीईवयमाणे वीईवयमाणे जेणेव जंबूद्दीवे दीवे० जाव जेणेव असोगवरपायवे जेणेव ममं अंतिए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता भीए भयगग्गरसरे भगवं सरणं मे त्ति वुयमाणे ममं दोण्हं वि पायाणं अंतरंसि ज्झत्ति वेगेणं समोवडिए तए णं तस्स सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो इमेयारूवे अब्भत्थिए० जाव समुप्पज्जित्था, णो खलु पभू चमरे असुरिंदे असुरराया, णो खलु समत्थे चमरे असुरिंदे असुरराया, नो खलु विसए चमरस्स असुरिंदस्स असुररण्णो अप्पणो णिस्साए उड्ढं उप्पइत्ता० जाव सोहम्मे कप्पे, णण्णत्थि अरहंते वा अरहंतचेइयाणि वा अणगारे वा भावियप्पाणो णीसाए उड्ढं उप्पयइ० जाव सोहम्मे कप्पे, तं महादुक्खं खलु तहारूवाणं अरहंताणं भगवंताणं अणगाराण य अच्चासायणयाए त्ति कट्टु ओहिं पउंजइ, पउंजइत्ता ममं ओहिणा आभोएइ, आभोएइत्ता हा हा अहो हतो अहमसि त्ति कट्टु ताए उक्किट्ठाए० जाव दिव्वाए देवगईए वज्जस्स वीहिं अणुगच्छमाणे अणुगच्छमाणे तिरियमसंखेज्जाणं दीवसमुद्दाणं मज्झं मज्झेणं० जाव जेणेव असोगवरपायवे जेणेव ममं अंतिए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता ममं च णं चउरंगुलमसंपत्तं वज्जं पडिसाहरइ, अवि याइमे गोयमा ! मुट्ठिवाएणं केसग्गे वीइत्था, तए णं से सक्के देविंदे देवराया वज्जं पडिसाहरित्ता ममं तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेइ, करेइत्ता वंदइ, नमंसइ, नसंइत्ता एवं वयासी-एवं खलु भंते। अहं तुब्भं नीसाए चमरेणं असुरिंदेणं असुररण्णो सयमेव अच्चासाइए, तए णं मए कुविएणं समाणेणं चमरस्स असुरिंदस्स असुररणो वहाए वज्जे निसिट्ठे, तए णं ममं इमेयारूवे अब्भत्थिए० जाव समुप्पज्जेत्था, णो खलु पभू चमरे असुरिंदे असुरराया तहेव० जाव ओहिं पउजामि, देवाणुप्पिए ओहिणा आभोएमि, हा हा जाव जेणेव देवाणुप्पिए तेणेव उवागच्छामि, देवाणुप्पियाणं चउरंगुलमसंपत्तं वज्जं पडिसाहरामि, वज्जपडिसाहरणट्ठयाए णं इहमागए, इह समोसढे, इह संपत्ते, इहेव अज्ज उवसंपज्जित्ता णं विहरामि, तं खामेमि णं देवाणुप्पिया ! रश्मंतु मं देवाणुप्पिया ! खंतुमरिहंतु णं देवाणुप्पिया ! नाइभुज्जो २ एवं करणायाए त्ति कट्टु ममं वंदइ, नमंसइ, नमंसइत्ता उत्तरपुरच्छिमं दिसीभागं अवक्कमइ अवक्कमइत्ता वामेणं पादेणं तिक्खुत्तो भूमिं दालेइ, चमरं असुरिंदं असुररायं एवं वयासीमुक्कोसि णं भो ! चमरा असुरिंदा असुरराया समणस्स भगवओ महावीरस्स पभावेणं नाहि ते दाणिं ममाओ भयमत्थि त्ति कट्टु जामेव दिसिं पाउब्भूए तामेव दिसिं पडिगए भंते त्ति ! भगवं गोयमे समणं भगवं महावीरं वंदइ, नमंसइ, नमंसइत्ता एवं वयासीदेवे णं भंते ! महड्ढीए महज्जुइए० जाव महाणुभागे पुव्वामेव पोग्गलं खिवित्ता पभू तमेव अणुपरियट्टित्ता णं गिणिहत्तए ? हंता पभू। से केणट्ठेणं भंते ! जाव गेण्हित्तए ? गोयमा ! पोग्गलेणं खिवित्ते समाणे पुव्वामेव सिग्घगई भवित्ता तओ पच्छा मंदगई भवइ, देवे णं महिड्ढीए पुव्विं पि पच्छा वि सीहे सीहगई चेव तुरिए तुरियगई चेव, से तेणट्ठेणं० जाव पभू गेण्हित्तए। जइ णं भंते ! देवे महिड्ढीए० जाव अणुपरियट्टित्ता णं गेण्हित्तए, कम्हा णं भंते ! सक्केणं देविंदेण देवरण्णा चमरे असुरिंदे असुरराया नो खलु संचाएइ साहत्थिं गेण्हित्तए ? गोयमा ! असुरकुमाराणं देवाणं अहेगइविसए सिग्घे चेव तुरिए चेव, उड्ढं गतिविसए अप्पे चेव मंदे मंदे चेव, वेमाणियाणं देवाणं उड्ढं गति विसए सीहे सीहे चेव तुरिए तुरिए चेव, अहेगतिविसए अप्पे अप्पे चेव मंदे मंदे चेव, जावइयं खित्तं सक्के देविंदे देवराया उड्ढं उप्पयइ एक्केणं समएणं तं वज्जे दोहिं, जं वज्जे दोहिं तं चमरे तिहिं, सव्वत्थोवे सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो उड्ढलो यंकंडए संखेज्जगुणे० जावइयं खेत्तं चमेर असुरिंदे असुरराया अहे उवइय एक्केणं समएणं तं सक्के दोहिं जं सक्के दोहिं तं वज्जे तिहिं सव्वत्थोवे चमरस्स असुरिंदस्स असुररण्णो अहोलोयकंडए उड्ढलोयकंडए संखेज्जगुणे एवं खलु गोयमा ! सक्केणं देवरण्णो चमरे असुरिंदे असुरराया नो संचाएइ साहत्थिं गिण्हित्तए, सक्कस्स णं भंते ! देविंदस्स देवरण्णो उड्ढं अहो तिरियं च गइविसयस्स कयरे कयरेहिंतो अप्पे वा वहुए वा तुल्ले वा विसेसाहिए वा ? गोयमा ! सव्वत्थोवे खेत्तं सक्के देविंदे देवराया अहे उवपइ, एक्केणं समएणं तिरियं संखेज्जे भागे गच्छइ, उड्ढं संखे–

ज्झे भागे गच्छइ। चमरस्स णं भंते ! असुरिंदस्स असुररण्णो उड्ढं तिरियं च गइविसयस्स कयरे कयरेहिंतो अप्पे वा बहुए वा तुल्ले विसेसाहिए वा ? गोयमा ! सव्वत्थोवं खेत्तं चमरे असुरिंदे असुरराया उड्ढं उप्पयइ, एक्केणं समएणं तिरियं संखेज्जे भागे गच्छइ, अहे संखज्जे भागे गच्छइ, सक्के देविंदे देवराया उड्ढं उप्पयइ, एक्केणं समएणं तं वज्जे दोहिं तं चमरे तिहिं वज्ज जहा सक्कस्स तहेव, नवरं विसेसाहियं कायव्वं, सक्कस्स णं भंते ! देविंदस्स देवरण्णो उवयणकालस्स य उप्पयणकालस्स य कयरे कयरेहिंतो अप्पे बा बहुए वा तुल्ले वा विसेसाहिए वा ? गोयमा ! सव्वत्योवे सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो उड्ढं उप्पयण-काले उवयणकाले संखेज्जगुणे, चमरस्स वि जहा सक्कस्स, णवरं सव्वत्थोवे उवयणकाले उप्पयणकाले संखेज्जगुणे। वज्जस्स पुच्छा ? गोयमा ! सव्वत्थोवे उप्पयणकाले उवयणकाले विसेसाहिए। एयस्स णं भंते ! वज्जस्स वज्जाहिवइस्स चमरस्स य असुरिंदस्स असुररण्णो उवयणकालस्स य उप्पयणकालस्स य कयरे कयरेहिंतो अप्पे वा०४ ? गोयमा ! सक्कस्स य उप्पयणकाले चमरस्स उवयणकाले, एस णं दोण्ह वि तुल्ले सव्वत्थोवे सक्कस्स य उवयणकाले वज्जस्स य उप्पयणकाले एस णं दोण्हं वि तुल्ले संखेज्जगुणे, चमरस्स य उप्पयणकाले, वज्जस्स य उवयणकाले, एस णं दोण्ह वि तुल्ले विसेसाहिए, तए णं से चमरे असुरिंदे असुरराया वज्जभयविप्पमुक्के सक्केणं देविंदेणं देवरण्णो महया अवमाणेणं अवमाणिए समाणे चमरचंचाए रायहाणीए सभाए सुहम्माए चमरंसि सीहासणंसि उवहयमणसंकप्पे चिंतासोयसागरसंपविट्ठे करयलपल्हत्थमुहे अट्टज्झाणोवगए भूमिगयदिट्ठीए ज्झियाइ, तए णं तं चमरं असुरिंदं असुररायं सामाणियपरिसोववण्णया देवा ओहयमण-संकप्पं० जाव झियाइमाणं पासइ, पासइत्ता करयल० जाव एवं वयासी। किण्हं देवाणुप्पिया ! उवहयमणसंकप्पा० जाव झियायह ? तए णं से चमरे असुरिंदे असुरराया ते सामाणिय-परिसोववण्णए देवे एवं वयासी-एवं खलु देवाणुप्पिया ! मए समणं भगवं महावीरं नीसाए सक्के देविंदे देवराया सयमेव अच्चासाइए, तए णं तेणं परिकुविएणं समाणेणं ममं वहाए वज्जे निसिट्ठे, तं भद्दं णं भवतु देवाणुप्पिया ! समणस्स भगवओ महावीरस्स, जस्सम्मि पभावेण अकिट्ठे अव्वहिए अपरितावि इहमागए, इह समोसढे, इह संपत्ते, इहेव अज्ज उवसंपज्जित्ता णं विहरामि, तं गच्छामो णं देवाणुप्पिया, समणं भगवं महावीरं वंदामो ! नमंसामो० जाव पज्जुवासामो त्ति कट्टु चउसट्ठीए सामाणियसाहस्सीहिं० जाव सव्विड्ढीए० जाव जेणेव असोगव-रपायवे जेणेव ममं तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता ममं तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं० जाव नमंसित्ता एवं वयासी-एवं खलु भंते ! मए तुब्भं नीसाए सक्के देविंदे देवराया सयमेव अच्चासाइए० जाव तं भद्दं णं भवतु देवाणुप्पियाणं जस्सम्मि पभावेण अकिट्ठे० जाव विहरामि, तं खामेमि णं देवाणुप्पिया ! जाव उत्तरपुरच्छिमं दिसीभागं अवक्कमइ, अवक्कमइत्ता० जाव वत्तीसइवद्धं नट्टविहिं उवदंसेइ, उवदंसेइत्ता जामेव दिसिं पाउब्भए तामेव दिसिं पडिगए, एवं खलु गोयमा ! चमरेणं असुरिंदेणं असुररण्णो सा दिव्वा देविड्ढी लद्धा पत्ता अभिसमण्णगया ठिई सागरोवमं महाविदेहे बासे सिज्झिहिइ० जाव अंतं काहिइ। भ०३ श०२ उ०।

(विकुर्वणावक्तव्यता 'विउव्वणा' शब्दे) (चमरस्याग्रमहिष्यः 'अग्ग-महिसी' शब्दे प्रथमभागे १६६ पृष्ठे उक्ताः) ('परिसा' शब्दे त्रिविधा पर्षत्) "चमरस्स णं असुरिंदस्स असुररण्णो तिगिच्छिकूडं उप्पायपव्वए सत्तरसएक्कवीसाइं जोयणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं पण्णत्ता।" स०१७ सम०। ('सामाणिय' शब्दे सामानिकदेवाः)

चमरस्स णं असुरिंदस्स असुरकुमाररण्णो तिगिच्छकूडे उप्पायपव्वए मूले दसबावीसे जोयणसए विक्खंभेणं पण्णत्ता। चमरस्स णं असुरिंदस्स असुरकुमाररन्नो सोमस्स महारण्णो सोमप्पभे उप्पायपव्वए दसजोयणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं दसगाउयसयाइं उव्वेहेणं मूले दसजोयणसयाइं विक्खंभेणं पण्णत्ता। स्था०१० ठा०।

चामर न०। चमर्या इदम् अण्। "वाऽव्ययोत्खातादावदातः"।८।१।६७। इत्याकारस्याकारः। चमरीपुच्छे, प्रा०१ पाद।

चमरचंच पुं० (चमरचञ्च)। चमरस्थावासपर्वते, (भ०)

चमरे णं भंते ! असुरिंदे असुरराया चमरचंचे आवासे वसहिं उवेइ ? णो इणट्ठे समट्ठे। से केणं खाइण्णं अट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-चमरचंचे आवासे २ ? गोयमा ! से जहा णामए इहेव मणुस्सलोगंसि उवगारियलेणाइ वा उज्जाणियलेणाइ वा णिज्जाणियलेणाइ वा धारवारियलेणाइ वा तत्थ णं बहवे मणुस्सा य मणुस्सीओ अ आसयंति, सयंति जहा रायप्पसेणइज्जे० जाव कल्लाणफलवित्तिविसेसं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति, अण्णत्थ पुण वसहिं उवेंति, एवामेव गोयमा ! चमरस्स असुरिंदस्स असुरकुमाररण्णो चमरचंचे आवासे केवलं किड्डारतिपत्तियं अण्णत्थ पुण वसहिं उवेति, तेणट्ठेणं० जाव आवासे॥

(उवगारियलेणाइ व त्ति) औपकारिकलयनानि प्रासादा-दिपीठकल्पानि। (उज्जाणियलेणाइ व त्ति) उद्यानगलज-नानामुपकारकगृहाणि नगरप्रवेशगृहाणि वा (णिज्जाणिय-लेणाइ व त्ति) नगरनिगमगृहाणि (धारवारियलेणाइ व त्ति) धारा-

प्रधानं वारि जलं येषु तानि धारावारिकाणि तानि च तानि लयनानि चेति वाक्यम्। (आसयंति त्ति) आश्रयन्ते ईषद्भजन्ते (सयंति त्ति) श्रयन्ते अनीषद्भजन्ते। अथवा–(आसयंति) ईषत्स्वपन्ति (सयंति) अनीषत्स्वपन्ति (जहा रायप्पसेणइज्जे त्ति) अनेन यत्सूचितं तदिदम्–"चिट्ठंति" ? ऊर्ध्वस्थाने न तेषु तिष्ठन्ति "निसीयंति" उपविशन्ति (तुयट्टंति) निषण्णा आसते 'हसंति' परिहासं कुर्वन्ति 'रमंति' अक्षादिना रतिं कुर्वन्ति। 'ललंति' ईप्सितक्रियाविशेषान् कुर्वन्ति 'कीलंति' कामक्रीडां कुर्वन्ति 'किट्टंति' अन्तर्भूतकारितार्थत्वादन्यान् क्रीडयन्ति 'मोहयंति' मोहनं निधुवनं विदधति "पुरा पोराणाणं सुचिन्नाणं सुपरक्कंताणं सुभाणं कडाणं कम्माणं" इति, व्याख्या चास्य प्राग्वदिति। (वसहिं उवेंति त्ति) वासमुपयान्ति। "एवामेव" इत्यादि। एवमेव मनुष्याणामौपकारिकादिलयनवच्चमरस्स ३, चमरचञ्चावासो न निवासस्थानं केवलं किं तु (किड्डार–तिपत्तियं ति) क्रीडाया रतिरानन्दः क्रीडारतिः। अथवाक्रीडा च रतिश्च क्रीडारती, सा ते वा; प्रत्ययो निमित्तं यत्र तत्क्रीडारतिप्रत्ययं, तत्रागच्छतीति शेषः। भ०१३ श०६ उ०। दश०।

चमरचंचा स्त्री० (चमरचञ्चा)। रत्नप्रभापृथिव्याः चमरस्यासुरराजस्य राजधान्याम्, स्था०५ ठा०३ उ०।

कहि णं भंते ! चमरस्स असुरिंदस्स असुरकुमाररण्णो सभा सुहम्मा पण्णत्ता ? गोयमा ! जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेणं तिरियमसंखेज्जदीवसमुद्दं वीईवइत्ता अरुणवरदीवस्स बाहिरिल्लाओ वेइयंताओ अरुणोदयं समुद्दं बायालीसं जोयणसहस्साइं ओगाहित्ता एत्थ णं चमरस्स असुरिंदस्स असुररण्णो तिगिच्छकूडे नामं उप्पायपव्वए पण्णत्ते, सत्तरसएक्कवीसे जोयणसए उड्ढं उच्चत्तेणं चत्तारि तीसे जोयणसए कोसं च उव्वेहेणं गोथूभस्स आवासपव्वयस्स पमाणेणं णेयव्वं, नवरं उवरिल्लं पमाणं मज्झे भाणियव्वं, मूले दसबावीसे जोयणसए विक्खंभेणं, मज्झे चत्तारि चउवीसे जोयणसए विक्खंभेणं, उवरिं सत्ततेवीसे जोयणसए विक्खंभेणं, मूले तिण्णि जोयणसहस्साइं, दोण्णि य बत्तीसुत्तरे जोयणसए किंचि विसेसूणे परिक्खेवेणं, मज्झे एगं जोयणसहस्सं तिण्णि य इगुयाले जोयणसए किंचि विसेसूणे परिक्खेवेणं, उवरिं दोण्णि य जोणयसहस्साइं दोण्णि य छलसीए जोयणसए किंचि विसेसाहिए परिक्खेवेणं०, जाव मूले वित्थरे मज्झे संखित्ते उप्पिं विसाले मज्झे वरवइरविग्गहिए महामउंदसंठाणसंठिए सव्वरयणामए अच्छे० जाव पडिरूवे, से णं एगाए पउमवरवेइयाए वणखंडेण य सव्वओ समंता संपरिक्खित्ते पउमवरवेइयाए वणखंडस्स य वण्णओतस्स णं तिगिच्छकूडस्स उप्पायपव्वयस्स उप्पिं बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते, वन्नओ-तस्स णं बहुसमरमणिज्जस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं महं एगे पासायवडिंसए पण्णत्ते, अड्ढाइज्जाइं जोयणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं, पणवीसं जोयणसयाइं विक्खंभेणं, पासायवन्नओ उल्लोयभूमिवन्नओ अट्ठजोयणाणि मणिपेढिया चमरस्स सीहासणं सपरिवारं भाणियव्वं, तस्स णं तिगिच्छकूडस्स दाहिणेणं छक्कोहिसए पणवण्णं च कोडीओ पणतीसं च सयसहस्साइं पण्णासं च सहस्साइं जोयणाइं अरुणोदए समुद्दे तिरियं वीईवइत्ता अहे रयणप्पभाए पुढवीए चत्तालीसं जोयसहस्साइं उग्गाहित्ता तत्थ णं चमरस्स असुरिंदस्स असुररण्णो चमरचंचा नामं रायहाणी पण्णत्ता, एवं जोयणमयसहस्सं आयामविक्खंभेणं जंबूदीवप्पमाणा उवरियतलेणं सोलसजोयणसहस्साइं आयामविक्खंभेणं, पन्नासं जोयणसहस्साइं पंच य सत्ताणउयजोयणसए किंचि विसेसूणे परिक्खेवेणं, सव्वप्पमाणं वेमाणियस्स पमाणस्स अद्धं नेयव्वं।

"कहि णं" इत्यादि। (असुरिंदस्स त्ति) असुरेन्द्रस्य स चेश्वरतामात्रेणाऽपि स्यादित्याह-असुरराजस्य वशवर्त्यसुरनिकायस्येत्यर्थः [उप्पायपव्वए त्ति] तिर्यग्लोकगमनाय यत्रागत्योत्पतति स उत्पातपर्वत इति। "गोथूभस्स" इत्यादि। तत्र गोस्तूभो लवणसमुद्रमध्ये पूर्वस्यां दिशि नागराजावासपर्वतः, तस्य चादिमध्यान्तेषु विष्कम्भप्रमाणमिदम्–"कमसो विक्खंभो से, दसबावीसाइ जोयणसयाइं। सत्तसए ते वीसे, चत्तारि सए य चउवीसे" ॥१॥ इहैव विशेषमाह-"नवरं" इत्यादि। ततश्चेदमापन्नम्-"मूले दसबावीसे जोयणस्स विक्खंभेणं मज्झे चत्तारि चउवीसे उवरिं सत्ततेवीसे मूल तिन्नि जोयणसहस्साइं दोन्नि य बत्तीसुत्तरे जोयणसए किंचि विसेसूणे परिक्खेवेणं मज्झे एगं जोयणस–हस्सं तिण्णि व इगुयाले जोयणसए किंचि विसेसूण परिक्खेवेणं उवरिं दोण्णि जोयणसहस्साइं दोन्नि य छलसीए जोयणसए किंचि विसेसाहिए परिक्खेवेणं" पुस्तकान्तरे त्वेतत्सकलमस्त्येव वेति। (वरवइरविग्गहिए त्ति) वरवज्रस्येव विग्रह आकृतिर्यस्य स स्वार्थिकप्रत्यये सति वरवज्रविग्रहिको मध्यक्षाम इत्यर्थः। एतदेवा-"महामउंदे" इत्यादि। मुकुन्दो वाद्यविशेषः। (अच्छे त्ति) स्वच्छः आकाशस्फटिकवत्, यावत्करणादिदं दृश्यम्-"सण्हे" श्लक्ष्णः श्लक्ष्णपुद्गलनिर्वृतत्वात् 'लण्हे' मसृणः 'घट्ठे' घृष्ट इव घृष्टः खरशाणया प्रतिमेव 'मट्ठे' मृष्ट इव मृष्टः सुकुमारशाणया प्रतिमेव प्रमार्जनिकयेव वा शोधितोऽत एव 'नीरए' नीरजा रजोरहितः 'निम्मले' कठिनमलरहितः 'निप्पंके' आर्द्रमलरहितः 'निक्कंकडच्छाए' निरावणदीप्तिः 'सप्पभे' सप्रभावः 'समिरिईए' सकिरणः 'सउज्जोए' प्रत्यासन्नवस्तूद्योतकः, (पासाईए पउमवरवेइयाए वणखंडस्स य वण्णओ त्ति)। वेदिकावर्णको यथा-"साणं पउमवरवेइया अद्धं जायेणं उड्ढं उच्चत्तेणं पंचधणुसंयाइं विक्खंभेणं सव्वरयणामईतिगिच्छगकूडउवरितलपरिक्खेवसमापरिक्खेवेणंतीसेणं पउमवरवे-इयाए इमेयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते" वर्णकव्यासो वर्णकविस्तरः "वइरामया नेमा" इत्यादि। (नेम त्ति)

स्तम्भानां मूलपादाः, नवरं वनखण्डवर्णकस्त्वेवम्-"से णं वणखंडे देसूणाइं दो जोयणाइं चक्कवालविक्खंभेणं पउमवरवेइयापरिक्खेवसमे परिक्खेवेणं किण्हे किण्होभासे" इत्यादि। (बहुसमरणिज्जे त्ति) अत्यन्तसमो रमणीयश्चेत्यर्थः। [वण्णओ त्ति] वर्णकस्तस्य वाच्यः। स चायम्-"से जहानामए आलिंगपुक्खरेइ वा" आलिङ्गपुष्करं, मुरजमुखं, तद्वत्सम इत्यर्थः। "मुइंगपुक्खरेइ वा सरतलेइ वा करतलेइ वा आयंसमंडलेइ वा चंदमंडलेइ वा" इत्यादि। [पासायवडिंसए त्ति] प्रासादोऽवतंसक इव शेखरक इव प्रधानत्वात्प्रासादावतंसकः। "पासायवण्णओ त्ति" प्रासादवर्णको वाच्यः। स चैवम्-"अब्भुग्गय-भूसियपहसिए" अभ्युद्गतमभ्रोद्गतं वा यथा भवत्येवमुच्छ्रितः, अथवा-मकारस्यागमिकत्वात् अभ्युद्गश्चासावुच्छ्रितश्चेत्यभ्युद्गतोच्छ्रितः, अत्यर्थमुच्च इत्यर्थः, प्रथमैकवचनलोपश्चात्र दृश्यः। तथा प्रहसिस इव प्रभापटलपरिगततया प्रहसितः प्रभया वा सितः शुक्लः संबद्धो वा प्रभासित इति। (मणिकणगरयणभत्ति चित्ते) मणिकनकरत्नानां भक्ति-भिर्विच्छित्तिभिश्च चित्रो विचित्रो यः स तथा इत्यादि। (उल्लोयभूमि-वण्णओ त्ति) उल्लोचवर्णकः प्रसादस्योपरिभागवर्णकः। स चैवम्-"तस्स णं पासायवडिंसगस्स इमेयारूवे उल्लोए पन्नत्ते पउमलय-भत्तिचित्ते० जाव सव्वतवणिज्जमए अच्छे० जाव पडिरूवे"। भूमिवर्ण-कस्त्वेवम्-"तस्स णं पासायवडिंसयस्स बहुमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते। तं जहा-आलिंगपुक्खरेइ वा" इत्यादि। (सपरिवारं ति) चमरसम्बन्धि-परिवारसिंहासनोपेतम्। तच्चैवम्-"तस्स णं सीहासणस्स अवरुत्तरेणं उत्तरेणं उत्तरपुरच्छिमेणं एत्थ णं चमरस्स चउसट्ठीए सामाणियसाहस्सीणं चउसट्ठी भद्दासणसाहस्सीओ पन्नत्ताओ एवं पुरच्छिमेणं पंचण्हं अग्गमहिसीणं सपरिवाराणं पंचभद्दासणाइं सपरिवाराइं, दाहिणपुर-च्छिमेणं अब्भितरियाए परिसाए चउव्वीसाए देवसाहस्सीणं चउव्वीसं भद्दासणसाहस्सीओ, एवं दाहिणेणं मज्झिमाए अट्ठावीसं भद्दासणसाह-स्सीओ, दाहिणपच्चत्थिमेणं बाहिरियाए बत्तीसं पच्चत्थिमेणं सत्तण्हं अणियाहिवईणं सत्त भद्दासणाइं, चउदिसिं आयरक्खदेवाणं चत्तारि भद्दासणसहस्सचउसट्ठीओ त्ति"। "तेत्तीसं भोम त्ति" वाचनान्तरे दृश्यते, तत्र भौमानि विशिष्टस्थानानि, नगराकाराणीत्यन्ये। (उवरियतलेण ति) गृहस्य पीठबन्धकल्पम्। (सव्वप्पमाणं वेमाणियपमाणस्स अद्धं नेयव्व त्ति) अयमर्थः-यत्तस्यां राजधान्यां प्राकारप्रासादसभादि वस्तु तस्य सर्वस्योच्छ्रयादिप्रमाणं सौधर्मवैमानिकविमानप्रकारप्रासादसभादि-वस्तुगतप्रमाणस्यार्द्धं नेतव्यम्। तथाहि-सौधर्म्मवैमानिकानां विमान-प्राकारो योजनानां त्रीणि शतान्युच्चत्वेन, एतस्यास्तु सार्द्धं शतं, तथा सौधर्मवैमानिकानां मूलप्रासादः पञ्च योजनानां शतानि, तदन्ये चत्वार—स्तत्परिवारभूताः सार्द्धं द्वे शते, प्रत्येकं च तेषां चतुर्णामप्यन्ते परिवारभूताश्चत्वारः सपादं शतम्, एवमन्ये तत्परिवारभूताः सार्द्धा द्विषष्टिः एवमन्ये सपादैकत्रिंशत्, इद तु मूलप्रासादः सार्द्धं द्वे योजनशते, एवमर्द्धार्द्धहीनास्तदपरे यावदन्तिमाः पञ्चदश योजनानि, पञ्च च योजनस्याष्टांशाः। एतदेव वाचनान्तरे उक्तम्-"चत्तारि परिवाडीओ पासायवडिंसगाणं अद्धरूहीणाओ त्ति। "एतेषां च प्रासादानां चतसृष्वपि परिपाटीषु त्रीणि शतान्येकचत्वारिंशदधिकानि भवन्ति। एतेभ्यः प्रासादेभ्यः उत्तरपूर्वस्यां दिशि सभा, सुधर्म्मा, सिद्धायतनमुपपातसभा, ह्रदोऽभिषेकसभा, अलङ्कारसभा, व्यवसायसभा चेति। एतानि न सुधर्मसभादीनि सौधर्मवैमानिकसभादिभ्यः प्रमाणतोऽर्द्धप्रमाणानि, ततश्चोच्छ्रय इहैषां षट्त्रिंशद्योजनानि, पञ्चाशदायामो, विष्कम्भश्च पञ्चविंशतिरिति। एतेषां च विजयदेवसम्बन्धिनामिव अणेगखंभ-सयसण्णिविट्ठा अब्भुग्गयसुकयवइरवेइया" इत्यादि वर्णको वाच्यः। तथा "दाराणं उप्पिं वहवे अट्ठट्ठमंगलगा ज्झया छत्ताइछत्ता" इत्यादिरलङ्कारश्च सभादीनां वाच्यः। सर्वं च जीवाभिगमोक्तं विजयदेवसम्बन्धि चमरस्स वाव्यं, यावदुपपातसभायां सङ्कल्पश्चाभिवोत्पन्नस्य किं मम पूर्वं पश्चाद्वा कर्तुं श्रेय इत्यादिरूपः, अभिषेकश्चाभिषेकसभायां महद्ध्यां सामानिकादिदेवकृतः, विभूषणा च वस्त्रालङ्काकृता अलङ्कारसभायाम्, व्यवसायश्च व्यवसायसभायाम्, पुस्तकवाचनतोऽर्चनिका च सिद्धायतने सिद्धप्रतिमादीनां सुधर्मसभागमनं च सामानि कादिपरिवारोपेतस्य चमरस्य परिवारश्च सामानिकादि ऋद्धिमत्त्वं च "एवं महिड्ढिए" इत्यादिवचनैर्वाच्यमस्येति, एतच्च वाचनान्तरेऽर्थतः प्रायोऽवलोक्यत एव। भ०२ श०८ उ०।

कहि णं भंते ! चमरस्स असुरिंदस्स असुररण्णो चमरचंचा णामं आवासे पन्नत्ते ? गोयमा ! जंबूदीवे दिवे मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेणं असंखेज्जे दीवसमुद्दे एवं जहा वितियसए सभाउद्देसए वत्तव्वया सव्वेव अपरिसेसा णेतव्वा, णवरं इमं णाणत्तं० जाव तेगिच्छिकूडस्स उप्पायपव्वयस्स चमरचंचा रायहाणी चमरचंचस्स आवासपव्वयस्स अण्णेसिं च बहूणं सेसं तं चेव० जाव तेरस य अंगुलाइं अद्धंगुलं किंचिविसेसाहिया परिक्खेवेणं तीसे णं चमर चंचाए रायहाणीए दाहिणपच्चिछमेणं छकोडिसए पणपण्णे च कोडीओ पणतीसं च सयसहस्सा पण्णासं च सहस्साइं अरुणोदगसमुद्दे तिरियं वीईवइत्ता एत्थ णं चमरस्स असुरिंदस्स असुररण्णो चमरचंचा णामं आवासे पण्णत्ते, चउरासीइं जोइणसहस्ससाइं आयामविक्खंभेणं दो जोअणसयसहस्सा पण्णट्ठिं च सहस्साइं छच्च वत्तीसे जोणणसए किंचिविसेसाहिए परिक्खेवेणं; से णं एगाए पागारेणं सव्वओ समंता संपरिक्खित्तं से णं पागारे दिवड्ढं जोअणसयं उड्ढं उच्चत्तेणं, एवं चमरचंचा रायहाणी वत्तव्वया भाणियव्वा सभाविहूणा० जाव चत्तारि पासायपंतीओ। चमरे णं भंते ! असुरिंदे असुरराया चमर चंचे आवासे वसहिं उवेइ ? णो इणट्ठे समट्ठे। से केणं खाइण्णं अट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ चमरचंचे आवासे गोयमा ! से जहाणामए इहेव मणुस्सलोगंसि उवगारियलेणाइ वा उज्जाणियलेणाइ वा णिज्जाणियलेणाइ वा धारवारियलेणाइ वा तत्थ णं वहवे मणुस्सा य मणुस्सीओ य आसयंति, सयंति, जहा रायप्पसेणइज्जे० जाव कल्लाण-फलवित्तिविसेसं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति, अण्णत्थ पुण वसहिं उवेंति, एवामेव गोयमा ! चमरस्स असुरिंदस्स असुरकुमाररण्णो चमरचंचे आवासे केवलं किड्डारतिपत्तियं,

अण्णत्थ पुण वसहिं उवेंति, ते तेणट्ठेणं० जाव आवासे ॥

सुधर्म्माद्याः पञ्चेह सभा न वाच्याः, कियद्दूरं यावदियमिह चमरचञ्चाराजधानीवक्तव्यता भणितव्येत्याह-(जाव चत्तारि पासायपंतीओ त्ति) ताश्च प्राग्दर्शिता एवेति (उवगारियलेणाइ व त्ति) औपकरिकलयनानि प्रासादादिपीठकल्पानि (उज्जाणियलेणाति व त्ति) उद्यानगतजनानामुपकारकगृहाणि नगरप्रवेशगृहाणि वा (निज्जाणियलेणाति व त्ति) नगरनिर्गमगृहाणि । (धारवारियलेणाति व त्ति) धाराप्रधानं वारि जलं येषु तानि धारावारिकाणि तानि च तानि लयनानि चेति वाक्यम्। [आसयंति त्ति] आश्रयन्ते ईषद्भजन्ते (सयंति त्ति) श्रयन्ते अनीषद्भजन्ते । अथवा-(आसयंति त्ति) ईषत्स्वपन्ति (सयंति) अनीषत्स्वपन्ति (जहा रायप्पसेणइज्जे त्ति) अनेन यत्सूचितं तदिदम्-'चिट्ठंति' ऊर्द्धस्थानेन तेषु तिष्ठन्ति 'निसीयंति' उपविशन्ति 'तुयट्टंति' निषण्णा आसते 'हसंति' परिहासं कुर्वन्ति 'रमंति' अक्षादिना रतिं कुर्वन्ति (ललंति) ईप्सितक्रियाविशेषान् कुर्वन्ति 'कीलंति' कामक्रीडां कुर्वन्ति । 'किट्टंति' अन्तर्भूतकारितार्थत्वादन्यान् क्रीडयन्ति । 'मोहयंति' मोहनं निधुवनं विदधति "पुरा पोराणाणं सुनिन्नाणं सुपरक्कंताणं सुभाणं कम्माणं ति" व्याख्या चास्य प्राग्वदिति । (वसहिं उवेंति त्ति) वासमुपयान्ति "एवामेव" इत्यादि । एवमेव मनुष्याणामौपकारिकादिलयनवच्चमरस्स चमरचञ्चावासो न निवासस्थानं केवलं, किन्तु (किड्डारतिपत्तियं ति) क्रीडायां रतिरानन्दः क्रीडारतिः । अथवा-क्रीडा च रतिश्च क्रीडारती, ते वा प्रत्ययो निमित्तं यत्र तत्क्रीडारतिप्रत्ययं, तत्रागच्छतीति शेषः। भ०१३ श०६ उ० । द्वी० ।

तत्र सभाः –

चमरचंचाए णं राजधाणीए पंच सभाओ पन्नत्ता । तं जहा-सभा सुहम्मा उववायसभा अभिसेयसभा आलंकारियसभा ववसायसभा।

चमरचञ्चारत्नप्रभापृथिव्यां चमरस्यासुरकुमारराजस्येति सुधर्मासभा यस्यां शय्या, उपपातसभा यस्यामुत्पद्यते, अभिषेकसभा यस्यां राज्याभिषेकेणाभिषिच्यते, अलङ्कारिका यस्यामलङ्क्रियते, व्यवसायसभा यत्र पुस्तकवाचनतो व्यवसायं तत्त्वनिश्चयं करोति, एताश्च यथाक्रममुत्तरपूर्वस्यां द्रष्टव्या इति। स्था०५ ठा०३ उ०।

चमरस्स णं असुरिंदस्स असुररण्णो चमरचंचाए रायहाणीए एक्कमेक्कवाराए तेत्तीसं २ भोमा पण्णत्ता ॥

(तेत्तीसं भोम त्ति) भौमानि नगराकाराणि, विशिष्टस्थानानीत्यन्ये । स०३३ सम०।

तत्रोपपातविहारः-

चमरचंचा णं रायहाणी उक्कोसेणं छम्मासा विरहिया उववाएणं ॥

"चमरचंचेत्यादि" चमरस्य दाक्षिणात्यस्थासुरनिकायनायकस्य, चञ्चा चञ्चास्या नगरी चमरचञ्चा, या हि जम्बूद्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य दक्षिणेन तिर्यगसंख्येयान् द्वीपसमुद्रान् व्यतिव्रज्यारुणवरद्वीपस्य बाह्याद्वेदिकान्तादरुणोदं समुद्रं द्विचत्वारिंशद्योजनसहस्राण्यवगाह्य चमरस्यासुरराजस्य तिगिच्छिकूटो नाम य उत्पातपर्वतोऽस्ति सप्तदशैकविंशत्युत्तराणि योजनशतान्युच्चः, तस्य दक्षिणेन षड्योजनकोटिशतानि साधिकान्यरुणोदे समुद्रे तिर्यग् व्यतिव्रज्याधो रत्नप्रभायाः पृथिव्याश्चत्वारिंशद्योजनसहस्राण्यवगाह्य व्यवस्थिता जम्बूद्वीपप्रमाणा चं, सा चमरचञ्चा राजधानी उत्कृष्टेन षण्मासान् विरहिता वियुक्ता उपपातेन, इहोत्पद्यमानदेवानां षड्मासान् यावत् विरहो भवतीति भावः । स्था०६ ठा० ।

चमरपच्छिमसरीर न० (चमरपश्चिमशरीर) । चमराणां गोविशेषाणां पश्चिमशरीरम् देहपश्चाद्भागः । चामरे, प्रश्न०४ आश्र० द्वार।

चमरुप्पाय पुं० (चमरोत्पात) । चमरस्यासुरराजस्योत्पतने ऊर्द्धगमने, स्था०१० ठा० । (स च 'अच्छेर' शब्दे प्रथमभागे २०० पृष्ठे उक्तः । चमरशब्देऽस्मिन्नेव भागे १११३ पृष्ठे चोक्तः)

चमस पुं० (चमस) । दर्विकायाम्, औ० ।

चमू स्त्री० (चमू) । सेनायाम्, आ० म० द्वि० । ज्ञा० ।

चम्म न० (चर्मन्) । कृत्तौ, धा० । सलोमकृत्स्नचर्मग्रहणम् । (बृ०)

नो कप्पइ निग्गंथीणं सलोमाइं चम्माइं अहिट्ठित्तए ।

नो कल्पते निर्ग्रन्थीनां सलोमानि चर्माणि अधिष्ठातुं, निषदनादिना परिभोक्तुमिति सूत्रार्थः ।

अथ भाष्यविस्तरः-

चम्मम्मि सलोमम्मी, णिग्गंथीणं उवेसमाणीणं ।
चउगुरुगाऽऽयरियादी, तत्थ वि आणादिणो दोसा ॥

सलोमनि चर्मणि निर्ग्रन्थीनामुपविशन्तीनां चतुर्गुरुकाः । अत एवाचार्य एतत्सूत्रं प्रवर्तिन्या न कथयति चतुर्गुरवः, प्रवर्तिनी श्रमणीनां न कथयति चतुर्गुरुकाः, श्रमण्यो न प्रतिशृण्वन्ति मासलघु, तत्राप्यकथने अश्रवणे सलोमचर्मोपवेशने वाऽऽज्ञाद्रयो दोषाः ।

अथानन्तरोक्तमेव प्रायश्चित्तं विशेषयन्नाह-

गहणे चिट्ठे णिसीयणे, तुयट्टणे च गुरुगा सलोमम्मि ।
णिल्लोमे चउगुरुगा, समणीणारोवणा चम्मे ॥

सलोमचर्मणो ग्रहणं कुर्वन्ति चतुर्गुरु, कालेन च लघवः, गृहीत्वा तत्र स्थानरूपं कुर्वन्ति चतुर्गुरुकाः, तपसा लघवः, कालेन गुरवः, निषदनं कुर्वन्ति चतुर्गुरुकाः, तपसा गुरवः, कालेन लघवः, त्वग्वर्तनं कुर्वन्ति तपसा कालेन च गुरवः, निर्लोमचर्मणि तु चतुर्लघुकाः, एवमेव चतुर्षु स्थानेषु तएः कालविशेषिता एषा श्रमणीनां चर्मणि चर्मविषयाऽऽरोपणा मन्तव्या।

अत्र दोषान् दर्शयति –

कुंथुपणगाइ संजमे, कंटगअहिविच्छुगाइ आयाए ।
भारो भय भुत्तियरे, पडिगमणाई सलोमम्मि ॥

सलोमचर्मणि कुन्थुपनकादयो वर्षासु संमूर्छयेयुः, तेषु स्थाननिषदनादिना विराध्यमानेषु संयमविराधना, कण्टकेन, अहिना, वृश्चिकादिना वा तत्रोपविष्टाः सुप्ता वा यदुपघातमा–

प्नुवन्ति सा आत्मविराधना, भारश्च मार्गे गच्छन्तीनां तस्य महान् भवति, भयं च स्तेनादिभ्यस्तद्विषयं भवति भुक्तभोगिनीनां च स्मृतिकरणम्, इतरासां तु कौतुकमुपजायते, ततश्च प्रतिगमन भूयोऽपि गृहवासाश्रयणम्, आदिशब्दादन्यतीर्थिकगमनादि वा कुर्युः।

अथैनामेव निर्युक्तिगाथां व्याख्यानयति -

तसपाणविराहणया, चम्मसलोमे तु होति अहिकरणं।
निल्लामे तसपाणग, कुंथुयमाणे य करणं वा ॥

सलोमनि चर्मणि संसक्तानां कुन्थुभृतीनां त्रसप्राणिनां विराधना भवति, तद्व्यतिरिक्तोपकरणत्वादधिकरणं भवति, निर्लोमन्यपि चर्मणि परिभुज्यमाने त्रसप्राणिनो विराध्यन्ते कुन्थुमति च तस्मिन् करणं पादकर्म संयती कुर्यात्।

अविदिण्णोवधि पाणा, पडिलेहा वि य ण सुज्झति सलोमे।
वासासु य संसज्जति, पतावमवतावणे दोसा ॥

तीर्थकरैरवितीर्णोऽदत्तोऽयं सलोमचर्मलक्षण उपधिः, शुषिरतया च तत्र सीमान्तरेषु प्राणिनः संमूर्छन्ति, प्रत्युपेक्षणाऽपि च न शुद्ध्यति, वर्षासु च कुन्थुपनकादिभिः तद्चर्म संसज्जयते, यदि संसज्जनभयात्प्रतापयति ततोऽग्निविराधना, अथ न प्रतापयति ततः त्रसप्राणिनः संसज्जन्ति, एवमुभयथाऽपि दोषा भवन्ति।

आगंतुतदुब्भूया सत्ता, सुसिरे वि गिण्हितुं दुक्खं।
अह उज्झति तो मरणं, सलोमणिल्लोमचम्मेऽयं ॥

आगन्तुकास्तदुद्भूताश्च कुन्थुपनकादयः सत्त्वाः अशुषिरेऽपि ग्रहीतुं दुःखेन शक्यन्ते, किं पुनः शुषिरे सलोमचर्मणि, ततो यत्तेषां भूयोभूयः संघट्यमानानां परितापनं तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम्, अथ तद्भयवान् जन्तूनुज्झति ततस्तेषां मरणं भवेत् ततः सलोमचर्माश्रित्योक्तम्।

अथ सलोमनिर्लोम्नोरुभयोरपि दोषा उच्यन्ते -

भारो भय परितावण, मारण अहिकरणमेव अविदिन्नं।
तित्थयरगणहरेहिं, सतिकरणं भुत्तभोगीणं ॥

सलोम्ना निर्लोम्ना वा चर्मणा मार्गे गच्छन्तीनां भारो भयं चोत्पद्यते, परितापनं मारणं वा भवति। अथैतद्दोषभयात् परित्यजति, ततोऽसंयतैर्गृहीते अधिकरणम्, तीर्थकरगणधरैश्चावितीर्णोऽदत्तोऽयमुपधिः सलोमनि च कुन्थुपनकादि जीवानां परिभुज्यमाने स्मृतिकरणं भुक्तभोगिनीनाम्, इतरासां कौतुकुपजायते।

कथमित्याह -

जइ ता अचेतणम्मि, अइणे फरिसो उ एरिसो होति।
केरिस सचेयणम्मी, पुरिसे फरिसो उ गमणादी ॥

यदि तावदचेतने अजिने चर्मणि ईदृशः स्पर्शो ततः किं पुनः सचेतनस्य *पुरुषस्य स्पर्शो भवति, एवं विचिन्त्य काचिदार्यिका गमनमवधावनं* कुर्यात्, आदिशब्दाद् विहायसमरणं वा प्रतिपद्यते।

द्वितीयपदमाह-

विइयपएँ कारणम्मी, चम्मुव्वलणे तु होति निल्लोमं।
आगाढकारणम्मी, चम्मसलोमम्मि जयणाए ॥

द्वितीयपदे कारणे चर्मापि गृण्हीयात्, कथमित्याह-उद्वलनमभ्यङ्गन कस्याश्चिदार्यिकायाः कर्तव्यं, तदर्थं निर्लोम चर्म्म गृह्यते। अथागाढं कारणं, ततः सलोमचर्म्मणोऽपि यतनया परिभोगः कर्तव्य इति।

अथैनामेव निर्युक्तिगाथां विवृणोति –

उड्ढम्मि वायम्मि धणुग्गहे वा, अरिसाणि मूले व विमोइतव्वे।
एगंगसव्वंगगए व वाते, अब्भिंगिता चिट्ठति चम्मलोमे ॥

यस्याः संयत्याः प्राचुर्येणोर्द्धो वात उच्छलति, धनुर्ग्रहोऽपि वातविशेषो, यः शरीरं कुब्जीकरोति, स वा यस्या अजनिष्ट, अर्शांसि वा संजातानि, शूलं वा अभीक्षण मुद्भावति, पाणिपादाद्यङ्गं विमोचितं स्वस्थानाच्चलितम्, एकाऽङ्गतो वा सर्वाङ्गतो वा कस्याश्चिद् वातः समुत्पन्नः, सा निर्लोमचर्मणि अभ्यङ्गिता तिष्ठति।

अथ सलोमविषयं विधिमाह–

तरच्छुचम्मं अणिलामयस्स, कडिं व वेढेंति जहिं व वातो।
एरंडऽणेरंड सुणेण डक्कं, वेढेंति ठायंति व दीविचम्मे ॥

अनिलमयीं वातरोगिणीं तरक्षुचर्म्मणा वेष्टयन्ति, यत्र वा हस्तादौ वातो भवति तं वेष्टयन्ति,एरण्डेन वा हडिक्किकेतेन वा अनेरण्डेन वा, शुनाऽऽदिदष्टानां वा चर्म्मणा वेष्टयन्ति, द्वीपिचर्म्मणि वा तान् स्थापयन्ति।

पुया व घस्संति अणत्थरम्मि, पासा व घस्संति व थेरियाए।
लोहारमादी दिवसोवभुत्ते, लोमाणि काउं अह संपिहंति ॥

स्थाविरायाः संयत्या अनास्तृते प्रासादे उपविशन्त्याः पुतौ घृष्येते, सुप्ताया वा पार्श्वौ घृष्येते, ततः सलोमचर्मापि, यदि च सा लोहकारदिभिरुपविशद्भिरुपभुक्तं तत्प्रातिहारिकं दिने दिने मार्गेऽपि लोमान्यधः कृत्वा संपिदधति, परिभुञ्जते इत्यर्थः।

दिवसे दिवसे य दुल्लभं, उचत्तं घेत्तुं तमाइणं।
लोमेहि णं संविओअए, मउअट्ठा च न ते समुद्धरे ॥

अथ प्रातिहारिकं दिवसे दिवसे गवेष्यमाणं दुर्ल्लभं, न लभ्यते इत्यर्थः। तत उच्चत्वेन 'णमिति' तदजिनं गृहीत्वा रोमभिः संवियो-जयेत्, रोमाण्युच्छुभेदिति भावः। अथ तेषु स्थानेषु न तदजिनं परुषस्पर्शं भवति ततो मृद्वर्थं न तानि रोमाणि समुद्धरेत् ॥ वृ०३उ०॥

जे भिक्खूसलोमाइं चम्माई धारेइ, धरंतं वा साइज्जइ ॥५॥

सह लोमेहिं सलोमं अहिट्ठेइ, नाम ममेमं ति जो गिण्हइ, तस्स चउलहुं।

चम्मम्मि सलोमम्मी, ठाणणिसीयणतुयट्टणादीणि।
जे भिक्खू तेगिच्छा, सो पावति आणमादीणि ॥२१॥

सलोमे चम्मे जो ठाणं चेव त्ति करे णिसीयइ तुयट्टइ वा, सो आणादिदोसे पावति, इमं व से पच्छित्तं। नि० चू०१२ उ०॥

कप्पइ निग्गंथाणं सलोमाइं चम्माइं अहिट्ठित्तए, से वि परिभुत्ते, नो चेव णं अपरिभुत्ते, से वि य परिहारिए, नो चेव णं अपडिहारिए, से वि य एगराईए, नो चेव णं अणेगराईए ॥

कल्पते निर्ग्रन्थानां सलोमानि चर्माणि अधिष्ठातुं परिभोक्तुं, तत्रापि यत् चर्म परिभोक्तुं तदेव ग्राह्यं नोऽपरिभुक्तं, तदपि च प्रातिहारिकं, नोऽप्रातिहारिकं, तदपि चैकरात्रिकं, नैवानेकरात्रिकमिति सूत्रार्थः। एतन्निर्ग्रन्थानामवपवादसूत्रम्।

अथ शिष्यः ग्राह-निर्ग्रन्थानां किं कारणं न कल्पते ? सूरिराह–

दोसा उ जे होंति तवस्सिणीणं,
लोमाइणे ते ण जजीण तम्मि।
तं कप्पती तेसि सुतोवदोसा,
जं कप्पती तासि ण तं जतीणं ॥

ये दोषाः स्मृतिकरणादयस्तपस्विनीनां लोमयुक्ते अजिने चर्मणि भवन्ति, ते यतीनां तस्मिन् सलोमचर्मणि न भवन्ति। अतस्तत्कल्पते तेषां श्रुतोपदेशात्प्रस्तुतसूत्रवचनात्, यच्च निर्लोम चर्म तासां कल्पते, न तद्यतीनां, स्मृतिकरणादिदोवप्रसङ्गादिति, सलोमापि चर्म निर्ग्रन्थाना-मुत्सर्गतो न कल्पते।

यत आह –

निग्गंथाण सलोमं, ण कप्पती सुसिर तं तु पंचविहं।
पोत्थग तण दूसं तं, दुविहं चम्मं पि पणगं च ॥

सलोमचर्म निर्ग्रन्थानां न कल्पते शुषिरं जीवाश्रयस्थानमिति कृत्वा। बृ०३ उ०।

अत्र परः प्राह -

दिट्ठा सलोमे दोसा, णिल्लोमं णाम कप्पती घेत्तुं।
गेण्हणि गुरुगा पडिले-हपणगतसपाणसतिकरणं ॥

सलोमचर्मणि यतो दोषा दृष्टा अतो निर्ग्रन्थानां निर्लोमचर्म नामेति संभावयामः कल्पते ग्रहीतुम्। सूरिराह-यदि निर्लोमचर्मणो ग्रहणं करोति ततश्चतुर्गुरुकाः, यत्सूत्रप्रत्युपेक्षणा न शुद्ध्यति, पनकत्रसप्राणिनो वा संमूर्च्छन्ति, सुकुमारतया भुक्तभोगिनां स्मृतिकरणं भवति, अभुक्तभोगिनस्तु कौतुकम्।

इदमेव स्पष्टयति-

भुत्तस्स सतीकरणं, सरिसं इत्थीण एय फासेणं।
जति ता अचेयणम्मि, फासो किमु चेयणे इतरे ॥

भुक्तभोगिनः स्मृतिकरणं भवति-अहो ! स्त्रीणां संबन्धी यःस्पर्शो-ऽस्माभिरनुभूतपूर्वः तेन सदृशमेतच्चर्माप्येतादृशसुखस्पर्शोऽनुभूयते। किं पुनः सचेतने इतरस्मिन् स्त्रीशरीरे भविता, एवं विचिन्त्य प्रतिगमनादीनि कुर्युः, यत एते दोषा अतो निर्लोम गृहीतुं न कल्पते, तर्हि मा कल्पतां, यत्तु सलोमकं तत्तावदेतत्सूत्रेणानुज्ञातं, भवद्भिस्तु तदपि प्रतिषिद्धं, तदेतत् कथमिति ?

अत्रोच्यते -

सुत्तनिवाओ वुड्ढे, गिलाण ताद्देवसभुत्त जतणाए।
आगाढे च गिलाणे, मक्खण घट्टे भिन्ने अरिसीओ ॥

सूत्रनिपातो वृद्धे ग्लाने वा भवति, वृद्धस्य ग्लानस्य वा सरुपस्पर्श-मसहिष्णोरास्तरणार्थं सलोम चर्म ग्राह्यमिति भावः। तच्च तद्दिवसभुक्तं, कुम्भकारादिभिस्तस्मिन्नेव दिवसे परिभुक्तम्, तत्र हि त्रसादयः प्राणिनो न भवति, तच्च गृहीत्वा यतनया रोमाण्युपरिकृत्वा परिभोक्तव्यम्, आगाढे च ग्लानत्वे यत्तैत्नेव भ्रक्षणं तदर्थं, यस्य वा गुदादिपार्श्वाणि घृष्टानि, यो वा साधुर्भिन्नकुष्ठी, यस्य वा अर्शांसि समुद्भूतानि तदर्थं वा निर्लोम चर्म ग्रहीतव्यमिति संग्रहगाथासमासार्थः।

अथैनामेव विवृणोति –

संथारट्ठ गिलाणे, अनिलादी चम्म घेप्पति सलोमं।
वुड्ढाऽसहवालाण व, अत्थरणट्ठा वि एमेव ॥

ग्लानस्य संस्तारकार्यम् अनिलादिसंबन्धि सलोम चर्म गृह्यते, वृद्धाऽसहिष्णुबालानामप्यास्तरणार्थमेवमेव सलोम चर्म ग्राह्यम्।

तच्च कीदृशमित्याह –

कुभारलोहकारे-हिँ दिवसमलिय भुत्तं तसविहूणं।
उवरिं लोडे काउं, सोत्तुं गोसे तमत्थं ति ॥

कुम्भकारलोहकारादिभिः स्वस्वकर्मकुर्वाणैर्यद्दिवसतो मलितं परिभुक्तं तत् त्रसविहीनं भवति। अतः संध्यासमये तेषां तत्प्रतिहारिकं गृहीत्वा लोमाण्युपरि कृत्वा रात्रौ तत्र सुप्त्वा 'गोसे' प्रभाते प्रत्यर्थयन्ति।

अवताणगादि णिल्लो-म तेल्ल चमट्ठ घेप्पती चम्मं।
घट्ठा व जस्स पासा, गलंतकोढेऽरिसासुं वा ॥

अवयाणादितैलेन वा ग्लानस्याभ्यङ्गे विधातव्ये निर्लोम चर्म ग्रहीतव्यम्, अध्वानादौ वा चर्म्मार्थम्, यस्य वा पार्श्वाणि घृष्टानि तस्यास्तरणार्थं, यो वा गलत्कुष्ठः साधुस्तस्य परिधानार्थमास्तर-णार्थं वा, अर्शांसि वा यस्य समुत्पन्नानितस्योपवेशनार्थं निर्लोम चर्म गृह्यते।

सोणिय पूयालित्ते, दुक्खं धुवणा दिणे चीरे।
कच्छुल्ले किमिमिल्ले, छप्पतिगिल्ले व णिल्लोमं ॥

शोणितेन पूयेन वा आलिप्तस्य चीवरस्य दिने धुवना दुष्करा, अतः कच्छूवतः किट्टिभवतश्च निर्लोम चर्म कल्पते। कच्छू पामा, किटिभं शरीरैकदेशभावी कुष्ठभेदः, तथा यस्य षट्पदिका प्राचुर्येण संमूर्च्छति स षट्पदिकावान् निर्लोम चर्म परिधानं ग्रह्णाति।

जह कारणे णिल्लोमं, तु कप्पती तह भवेज्ज इयरं पि।
आगाढि सलोमं आ-दि काउ जा पोत्थए गहणं ॥

यथा कारणे निर्लोम चर्म कल्पते तथा इतरदपि शुषिरमपि ग्रहीतुं कल्पते। किं बहुना ? आगाढे कारणे सलोम चर्म आदौ कृत्वा पश्चानुपूर्व्या तावन्नेतव्यं यावत्पुस्तकस्याऽपि ग्रहणं कर्तव्यम्।

एतदेव स्पष्टयति –

भत्तपरिन्नगिलाणे, कुसमाहि खराऽसती तु झुसिरा वि।
अप्पडिलेहिय दूसा-ऽसती तु पच्छा तणण होंति ॥

भक्तपरिज्ञावतः प्रतिपन्नानशनस्य, तथा ग्लानस्यास्तरणार्थं कुशादीन्यशुषिरतृणानि गृह्यन्ते, अथ तानि खराणि कर्कशानि नवानि प्राप्यन्ते, ततः शुषिराण्यपि तृणानि गृहीतव्यानि। अथाभक्तप्रत्याख्यानिनो ग्लानस्य वा सुखशयनार्थं प्रथमतोऽ-प्रत्युपेक्ष्य दूष्यम् उपधानं तूलादि ग्रहीतव्यं, तदभावे यथाक्रमम–

शुषिराणि पश्चात् तृणानि भवन्ति, तानि प्रस्तीर्यन्त इत्यर्थः।

दुप्पलेहिय दूसे, अद्धाणादी विचित्त गेण्हंती।
घेप्पति पोत्थगपणगं, कालियणिज्जुत्ति कोसट्ठा ॥

अध्वादौ विविक्तमुषिताः सन्तो यथोक्तमुपधिमलभमाना दुष्प्रत्युपेक्ष्य दूष्यणि केऽपि प्रावारप्रभृतीनि गृह्णन्ति, तथा मतिमे धादिपरिहाणिं विज्ञाय कालिकश्रुतस्य, उपलक्षणत्वादुत्कालिकश्रुतस्यवा निर्युक्तीनां वा आवश्यकादिप्रतिबद्धानां दानग्रहणादौ कोश इव भाण्डागारमिवेदं भविष्यतीत्येवमर्थं पुस्कपञ्चकमपि गृह्यते।

कृत्स्नचर्मग्रहणम् –

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा कसिणाइं चम्माइं वण्णाइं धारित्तए वसा परिहरित्तए वा।

अस्य संबन्धमाह–

चम्मं चेवाहिकयं, तस्स पमाणमिह मिस्सिए सुत्ते।
अपमाणं पडिसिज्झति, ण उ गहणं एस संबंधो ॥

इह पूर्वसूत्रे चर्मैव तावदधिकृतमतस्तस्य चर्मणः प्रमाणमिह मिश्रिते निर्ग्रन्थनिर्ग्रन्थी प्रतिबद्धे सूत्रे प्ररूप्य ततोऽप्रमाणं प्रमाणातिरिक्तं तत्प्रतिषिध्यते न तु पुनः सर्वथा चर्मणो ग्रहणम्। एष संबन्धः।

अहवा अत्थरणट्ठा, तं वुत्तमिदं तु पादरक्खट्ठा।
तस्स वि य वन्नगादी, पडिसोहंती इहं सुत्ते ॥

अथवा-तत्पूर्वसूत्रोक्तं चर्म आस्तरणार्थमुक्तम्, इदं तु प्रस्तुतसूत्रं पादरक्षार्थमुद्यते, तास्यापि च चर्मणो ये वर्णादयो गुणास्तद्युक्तमिह सूत्रे प्रतिषेधयति। अनेन संबन्धेनायातस्यास्य व्याख्यानो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा कृत्स्नानि प्रमाणादिभिः प्रतिपूर्णानि चर्माणि धारयितुं वा, परिहर्तुं वेति सूत्रार्थः।

अथ भाष्यविस्तरः –

सगलप्पमाणवण्णो, वंधणकसिणे य होइ नायव्वो।
अकसिणमद्धारसगं, दोसु वि पासेसु खंडाइं ॥

कृत्स्नं चतुर्द्धा-सकलकृत्स्नं, प्रमाणकृत्स्नं, वर्णकृत्स्नं, बन्धनकृत्स्नं चैव भवति ज्ञातव्यम्। एतच्चतुर्विधमपि न कल्पते प्रतिग्रहीतुम परः प्राह-यद्येवं ततो यदकृत्स्नं चर्म तद्दशकमष्टादशभिः खण्डैः कर्तव्यमित्यर्थः। तानि च खण्डानि द्वयोरपि पार्श्वयोः परिधातव्यानि इति संग्रहगाथासमासार्थः।

अथैनामेव विवरीषुराह –

एगपुड सकलसिणं, दुपुडादीयं पडाणतो कसिणं।
खल्ल खओसा वग्गुरि, कोसग जंघऽद्धजंघा य ॥

एकपुटमेकतरं चर्म सकलकृत्स्नमुच्यते। द्विपुटादिकं द्वित्रिप्रभृतितलं तु प्रमाणतः कृत्स्नम्, तथा खल्लका द्विधा-अर्द्धखल्लका, समस्तखल्लका च। या पदार्थं छादयति साऽर्द्धखल्लका। या पुनरुपानत् संपूर्णं पदं स्थगयति सा समस्तखल्लका, या तु घुण्टकं पिदधाति सा खपुसा, या पुनरङ्गुलीश्छादयित्वा पादावप्युपरि छादयति सा वागुरा। यत्र तु पाषाणादिषु प्रतिस्फलिताः पादा नखा वा न भज्यन्तामिति बुद्ध्या अङ्गुल्योऽङ्गुष्ठौ वा प्रक्षिप्यन्ते स कोशकः, या तु संपूर्णां जङ्घां पिदधाति सा जङ्घा, जङ्घार्द्धपिधायिनी सैवार्द्धजङ्घा, एतान्यपि प्रमाणकृत्स्नानि।

अथैतदेव स्पष्टयति –

पायस्स जं पमाणं, तेण पमाणेण जा भवे कमणी।
मज्झं तत्थ असंमा, अन्नत्थ व सकलकसिणं तु ॥

पादस्य यत्प्रमाणं तेन प्रमाणेन या युक्ता क्रमणिका मध्यप्रदेशे अन्यत्र वाऽखण्डा भवति तदेव सकलकृत्स्नमुच्यते।

दुपुमादि अद्धखल्ला, समत्तखल्ला य वग्गुरी खपुसा।
अद्धजंघा समत्था, पमाणकसिणं मुणेयव्वं ॥४॥

द्विपुटादिका द्वित्रिप्रभृतितलोपेता या उपानत्, या वाऽर्द्धवल्ला समस्तखल्ला वागुरा अपुसा अर्द्धजङ्घा चेति सर्वमप्येतत् प्रमाणकृत्स्नं ज्ञातव्यम्।

तत्रैव कानिचिद्विषमपदानि व्याचष्टे –

उवरिं तु अंगुलीओ, जाया एसा तु वग्गुरी होति।
खपुसय खल्लगमेत्तं, अद्धं सव्वं व दो इयरे ॥

या पादयोरङ्गुलीः छादयित्वा उपर्यपि छादयति सा वा गुरा भवति। खल्लकों घुण्टकस्तन्मात्रं यावदाच्छादयति सा खपुसा, इतरे तु द्वे जङ्घार्द्धजङ्घालक्षणे अर्द्धा सर्वा वा जङ्घां यथास्वं छादयति। गतं प्रमाणकृत्स्नम्।

अथ वर्णकृत्स्नबन्धकृत्स्ने प्रतिपादयति –

वण्णङ्गं वण्णकसिणं, तं पंचविहं तु होइ नायव्वं।
बहु बंधणकसिणं पुण, पुरेण जं तिण्ह वंधाणं ॥

यत् चर्म वर्णेनाढ्यम्, उज्ज्वलमित्यर्थः, तद्वर्णकृत्स्नम्, तच्च कृष्णादिवर्णभेदात्पञ्चविधं ज्ञातव्यं, यत्तु त्रयाणां बन्धानां पुरतो बहुबन्धैर्बद्धं तद् बन्धनकृत्स्नमुच्यते।

अथैतेष्वेव प्रायश्चित्तमाह –

लहुओ लहुगा दुपुडा-दिएसु गुरुगादि खल्लगादीसु।
आणादिणो य दोसा, विराहणा संजमावाए ॥

सकलकृत्स्नं गृण्हतां लघुमासः, द्विपुटादिषु चत्वारो लघवः, खल्लकादिषु समस्तार्द्धखल्लकाखपुसावागुराजङ्घार्द्धजङ्घासु, चत्वारो गुरुकाः, अज्ञादयश्च दोषाः, विराधना च संयमात्मविषया भवति। तत्र क्रमणिका दिभिः पिनद्धाभिः कीटिकादिव्यपरोपणात् संयमविराधना, आत्मविराधना तु बन्धे छिन्ने सति प्रस्खलनं भवेत् प्रमत्तं वा देवता छलयेत्। अर्द्ध खल्लकायामुपानहि चतुर्गुरु, तपसा कालेन च लघुकं, समस्तखल्लकायां कालगुरुकं, वागुरिकायामन्यतरेण तपसा कालेन वा गुरुकं, खपुसायां तपोगुरुक, अर्द्धजङ्घायां समस्तजङ्घायां च तपसा कालेन च गुरुकम्।

किञ्च –

जत्तियमित्ता वारा, तु बंधते मुंचते व जति वारा।
सट्ठाणं ततिवारे, होती वुड्ढी य पच्छित्ते ॥

यावन्मात्रान् वारानङ्गुलीकोशसकलकृत्स्नादिकं बध्नाति मुञ्चति वा, यदि तावन्तो वाराः स्वस्थानं नाम यद्यत्र पञ्च–

कादिचतुर्गुरुकान्तं प्रायश्चित्तमुक्तं, तथा आज्ञाभङ्गे चतुर्गुरु, अनवस्थायां चतुर्लघु, मिथ्यात्वे चतुर्लघु, आत्मविराधनायां चतुर्गुरु, संयमविराधनायां कायनिष्पन्नमेवमाज्ञादिभिः पदैरभीक्ष्णं सेवानिष्पन्ना वा प्रायश्चित्तस्य वृद्धिर्भवति। बृ०३ उ०।

जे भिक्खू कसिणाणि चम्माइं धरेइ, धरंतं वा साइज्जइ ॥२१॥
जे भिक्खू कसिणातिं चम्मातिं धरेति, धरंतं वा सातिज्जति ॥२२॥

कसिणमात्रं प्रधानभावे गृह्यते। नि० चू०२ उ०।

कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अकसिणाइं चम्माइं धारित्तए वा परिहरित्तए वा ॥

कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा अकृत्स्नानि चर्माणि धारयितुं वा परिहर्तुं वा इति सूत्रार्थः।

अथ भाष्यम् -

अकसिणचम्मग्गहणे, लहुओ मासो उ दोस आणादी।
वितियपदे घेप्पमाणे, अट्ठारस जाव उक्कोसा ॥

यद्यपि सूत्रे अनुज्ञातं तथाऽपि न कल्पते अकृत्स्नं चर्म प्रति गृहीतुं, यदि गृह्णाति ततो लघुमासः प्रायश्चित्तम्, आज्ञादयश्च दोषाः। द्वितीयपदे तु पूर्वोक्तैरध्वादिभिः कारणैरकृत्स्ने गृह्यमाणे विधिरभिधीयते। तत्र नोदकः प्राह-यद्यकृत्स्नं गृहीतुं कल्पते ततो द्वयोरुपानहोरुत्कर्षतोऽष्टादश, खण्डानि यावत् कर्त्तव्यानि।

इदमेव व्याचष्टे -

अकसिणमट्ठारसगं, एगपुड विवण्णा एगवंधं च।
तं कारणम्मि कप्पनि, णिक्कारणधारणे लहुओ ॥

अकृत्स्नं नाम अष्टादशभिः खण्डैः कृतं, तदप्येकपुटमेकतलं, विवर्ण विवर्णाढ्यम, एकबन्धं च तद् यदि बन्धनोपेतम्, एभिः चतुर्भिः पदैर्यथाक्रमं सकलप्रमाणवर्ण्णबन्धनैः कृत्स्नता परिहृता, तदेवविधमकृत्स्नं कारणे धारयितुं कल्पते, अथ निष्कारणे धारयति ततो लघुमासः। एषा पुरातनी गाथा।

अथैनां व्याख्याति -

जइ अकसिणस्स गहणं, भाए काउं कमेण अट्ठदस।
एगपुडविवण्णेहि य, जहिं तहिं वंधते कज्जे ॥

यद्यकृत्स्नस्य चर्मणो ग्रहणं कर्तव्यं तत उपानहावष्टादशभागान् वक्ष्यमाणक्रमेण कृत्वा तैः खण्डैरेकपुटैः विवर्णैश्चशब्दादेकबन्धैश्च यत्र यत्र पादप्रदेशे आबाधा, तत्र तत्र कार्ये समुत्पन्ने बध्नीयात्।

कथं पुनरष्टादश खण्डानि भवन्तीत्युच्यते -

पंचंगुल पत्तेयं, अंगुट्ठमहे य उट्ठखंडं तु।
सत्तममग्गतलं वा, मज्झऽट्ठं पण्हिया णवमं ॥

इहैकस्य पादस्य पञ्चानामङ्गुलीनां बन्धनाय प्रत्येकमेकैकं खण्डं कर्त्तव्यम्, अङ्गुष्ठास्याधः षष्ठं खण्डम्, अग्रतले सप्तमं, मध्यतले अष्टमम्, पार्ष्णिकायां नवमम्। एवं द्वितीयस्या अप्युपानहो नव खण्डानि, सर्वोप्यप्येवमष्टादश खण्डानि भवन्ति।

एवं परेणोक्ते सति सूरिराह -

एवइयाणं गहणे, मासो मुच्चंति होति पलिमंथो।
वितियपएँ घेप्पमाणे, दो खंडा मज्झपडिवंधा ॥

एतावतां खण्डानां ग्रहणे मासलघु प्रायश्चित्तम्, असमाचारीनिष्पन्नमित्यर्थः। मुच्यमानेषु चैतावत्सु खण्डेषु महान् सूत्रार्थयोः परिमन्थो भवति। आह-यद्येवं ततः कियन्ति खण्डानि क्रियन्ते इत्याह-द्वितीयपदे यदा चर्म गृह्यते तदा मध्यप्रतिबद्धे खण्डे कर्त्तव्ये मध्यभागौ त्रोटयित्वा खण्डद्वयं विधाय मध्ये बध्यादिना बन्धनीय इत्यर्थः। अथ पूर्वार्द्धस्य इदं पाठान्तरम्-"मुच्चंते पलिमंथो, जत्तियमिच्छं तु तत्तिए गहणं"। अष्टादशखण्डानि मुञ्चति साधौ महान्पलिमन्धः, ततो यावन्मात्रम् अपरिमन्थाय भवति तावन्मात्रं ग्रहीतव्यम्। उत्तरार्द्धं प्राग्वत्।

अथाष्टादशानां खण्डानां करणे कीदृशः परिमन्थो भवति ?, इत्याह -

पडिलेहापडिमंथो, णदिमादुदए य मुंच बंधंते।
सत्थफिडणेण तेण, अंतरविधे च डंकणता ॥

यावदष्टादश खण्डानि द्विसंध्यं प्रत्युपेक्षते तावत् सूत्रार्थयोः परिमन्थो भवति, नद्याद्युदकमेव तितीर्षुश्च यावदष्टादश खण्डानि मुञ्चति, उत्तीर्णश्च यावत्तानि भूयोऽपि, बध्नाति, तावत्सार्थान् स्फिटति, स्फिटितश्च स्तेनानां गम्यो भवति। बध्नतां खण्डानामन्तरेषु च कण्टकैर्विद्धेन बहुबन्धघर्षेण वा पादयोः डङ्को भवेत्, यत एवमतः पूर्वोक्तनीत्या खण्डद्वयं विधेयम्।

कथं पुनस्तद् बन्धनीयमित्याह -

तज्जायमतज्जायं, दुविहं तिविहं व वंधणं तस्स।
तज्जायम्मि वि लहुओ, तत्थ वि आणादिणो दोसा ॥

तस्य चर्मखण्डद्वयस्य तज्जातम् अतज्जातं वा बन्धनं भवति, तज्जातं नाम-तस्मिन् चर्मणि जातं, वध्र्यादिबन्धनमित्यर्थः। तद्विपरीतं दवरकादि अतज्जातम्। एतच्चद्विविधं त्रिविधं वा भवति, द्वौ वा त्रयो वा बन्धा दातव्या इति भावः। अत्र प्रथममतज्जातेन दवरकादिना बन्धनाय यदि तज्जातेन बध्र्यादिना बध्नाति ततो मासलघु, तत्राप्याज्ञादयो दोषा भवन्ति। बृ०३उ०। पं० भा०। अङ्गुष्ठाङ्गुल्यो-राच्छादनरूपे स्फुरके, जी०१ प्रति०। भ०। (मानुष्यदौर्लभ्ये चर्मदृष्टान्तः 'माणुसत्त' शब्दे वक्ष्यते)

चम्मकम्म (ण्) न० (चर्मकर्मन्)। चर्मनिर्माणपरिज्ञानात्मिकायां षष्टिकालायाम्, कल्प०७ क्षण। स०।

चम्मकरग न० (चर्मकरक)। गालनोपकरणे, "गालिंति तवं तु करगेणं"। प्रासुकं द्रव्यं पानकं च चर्मकरकेण गालयन्ति। नि० चू०२ उ०।

चम्मकिम न० (चर्मकिट)। चर्मव्यूते खट् वादिके, भ०१३ श०६ उ०।

चम्मकोस पुं० (चर्मकोश)। छविकोशे, तं०। पार्ष्णित्रे छल्लकादौ, आचा०२ श्रु०२ अ०३ उ०।

अंगुट्ठ अवरफाणु, नह कोसगछेयणं तु जे वद्धा।
ते छिन्नसंधणट्ठा, दुखंडसंधारणहेतुं वा ॥

चर्ममयः कोशः चर्मकशः, सोऽङ्गुष्ठस्य, यदि वा अवरफाणू पार्ष्णिका, तस्याः परिरक्षणाय ध्रियते। अथवा-नखरदनादेरौप ग्रहिकोपकरणविशेषस्य चर्ममयः कोशश्चर्मकोशः, ये तु बन्धास्ते चर्म्मपरिच्छेदनकमित्युच्यन्ते, ते च छिन्नसंधानार्थमथवा द्विखण्डसंधानहेतोर्ध्रियन्ते। व्य०८ उ०।

चम्मकोसिया स्त्री० (चर्म्मकोशिका)। शस्त्रक्षेपणकोत्थके, सूत्र०२ श्रु०२ अ०।

चम्मखंडिय पुं० (चर्मखण्डिका)। चर्मपरिधाने, चर्ममयं सर्वमेवोपकरणं यस्य स चर्मखण्डिकः। सर्वचर्मोपकरणे, अनु०। ग०। ज्ञा०।

चम्मखेड न० (चर्मखेट)। कलाभेद, स०७३ सम०।

चम्मग न० (चर्मक)। पादुकादौ, सूत्र०२ श्रु०२ अ०। पं० भा०। आचा०।

चम्मचक्खु त्रि० (चर्म्मचक्षुष्)। चर्मचक्षुर्भूते, अष्ट०२४ अष्ट०।

चम्मच्छेयणग न० (चर्म्मच्छेदनक)। वर्ध्रपदिकायाम्, पिप्पलकादौ च। ध०३ अधि०। आचा०।

चम्मट्ठिल पुं० (चर्म्माष्टिल)। चर्मचटके प्रश्न०१ आश्र०द्वार।

चम्मतिग न० (चर्मत्रिक)। वर्ध्रतलिकाकृतिरूपे चर्मत्रये, ध०३ अधि०।

चम्मपक्खि (ण) पुं० (चर्मपक्षिण्)। चर्ममयपक्षाः पक्षिणः चर्मपक्षिणः। वल्गुलीप्रभृतिषु पक्षिभेदेषु, स्था०४ ठा०४ उ०। सूत्र०। "से किं तं चम्मपक्खी ? चम्मपक्खी अणेगविधा पण्णत्ता तं जहा-वग्गुला। जलोया अडिला भारुंडपक्खी जीवंजीवा समुद्दवायसा कण्णत्तिया पक्खिबिराली, जे यावण्णे तहप्पगारा, सेत्तं चम्मपक्खी"। जी०१ प्रति०।

चम्मपट्ट पुं० (चर्मपट्ट)। वर्ध्रे, विपा०१ श्रु०६ अ०।

चम्मपणग न० (चर्मपञ्चक)। अजादिचर्मपञ्चके, (प्रव०)

अयएलगाविमहिसी-मिगाणमजिणं च पंचमं होइ।
तलिगा खल्लग वद्धे, कासग कित्ती अ वीअं तु॥

अजाश्छगलिकाः, एडका अजविशेषाः, गावो महिष्यश्च प्रतीताः, मृगा हरिणाः, एतेषां संबन्धीनि पञ्च अजिनानि चर्माणि भवन्ति। अथवा-द्वितीयादेशेन इदं चर्म्मपञ्चकम्। यथा-(तलि ग त्ति) उपानहस्ताश्च एकतलिकाः, तदभावे यावच्चतुस्तलिका अपि गृह्यन्ते, अचक्षुर्विषये रात्रौ गम्यमाने सार्थवशाद् दिवापि मार्गं मुक्त्वा उन्मार्गेण गम्यमाने स्तेनस्वापदादिभयेन त्वरितं गम्यमाने कण्टकादिसंरक्षणार्थमेताः पादयोः क्रियन्ते। यद्वा-कश्चित् सुकुमा-रपादत्वाद्गन्तुमसमर्थो भवति ततः सोऽपि गृह्णाति, तथा खल्लकानि पादत्राणानि, यस्य हि पादौ विचर्चिकात्वेन स्फटितौ भवतः, स मार्गे गच्छन् तृणादिभिर्दूयते। यद्वाकस्यचित्सुकुमारपादत्वात् शीतेन पाष्ण्यादिप्रदेशेषु विपादिकाः स्फुटन्ति, ततस्तद्रक्षणार्थं तानि पादयोः परिधीयन्ते। तथा (वद्ध त्ति) वर्ध्रास्ते च त्रुटितोपानहादिसंधानार्थं गृह्यन्ते। तथा कोशकश्चर्ममय उपकरणविशेषः, यदि हि कस्यचित्पादनखाः पाषाणदिषु प्रतिस्फलिताः भिद्यन्ते तदा तेषु कोशकेष्वङ्गुल्योऽङ्गु ष्ठौ वा क्षिप्यन्ते। अथवा-नखरदनिकाद्याधारः कोशकः, तथा कृत्तिर्मार्गादावनलभयाद्गच्छन् यच्चर्म धियते, यत्र वा प्रचुरः सचित्तः पृथिवीकायो भवति तत्र पृथिवीकाययतनार्थं कृत्तिमास्तीर्य अवस्थानादि क्रियते। यद्वाकदाचित्तस्करर्मुखिता भवेयुस्ततोऽन्यप्रावरणाभावे तामपि प्रावृण्वन्तीत्येत् द्वितीयं यतिजनयोग्यं चर्मपञ्चकं भवति। प्रव०८३ द्वार। पा०। आव०। बृ०। जीत०।

चम्मपरिच्छेयणग न० (चर्म्मपरिच्छेदनक)। वर्ध्रे, तद्विच्छिन्नसंधानार्थम्। अथवा-द्विखण्डसन्तानहेतोर्ध्रियते। व्य०८ उ०।

चम्मपाणि पुं० (चर्मपाणि)। चर्म अङ्गुष्ठाङ्गुल्योराच्छादनरूपं यस्य तस्य तथा। स्फुरकहस्ते, रा०। भ०।

चम्मपाय न० (चर्मपात्र)। चर्मनिर्मिते पात्रे, आचा०२ श्रु०६ श्र०१ उ०।

चम्मरयण न० (चर्मरत्न)। चर्मजातौ यद् वीर्यत उत्कृष्टं तच्चर्मरत्नम्। चक्रवर्तिनामेकेन्द्रियरत्नभेदे, स्था७ ठा०। स०। आ० चू०। चर्म्मरत्नं छत्रस्याधस्ताच्चक्रवर्तिहस्तस्पर्शप्रभावसंजातद्वादशयोजनायामविस्तारं प्रातरुत्थाऽपराण्हसंपन्नोपभोग्यशाल्यादिसंपत्तिकरम्। प्रव० २१२ द्वार। (भरतचक्रिणोऽधिकारे एतत्स्वरूपं वक्ष्यते)

चम्मरुक्ख पुं० (चर्मवृक्ष)। वृक्षभेदे, भ०८ श०३ उ०।

चम्मलक्खण न० (चर्मलक्षण)। कलाभेदे, औ०।

चम्मेट्ठगा स्त्री० (चर्मेष्टिका)। चर्मनद्धपाषाणे, प्रश्न ३ आश्र० द्वार। इष्टिकाशकलादिभृतचर्मकुतुपे, यदाकर्षणेन धनुर्धरा व्यायामं कुर्वन्ति। उपा०७ अ०। लोहमये लोहादिकुट्टनप्रयोजने लोहकाराद्युपकरणविशेषे, भ०१६ श०१ उ० "चम्मेट्ठगदुहणमोट्ठिय-समाहयनिचितगायकाए त्ति।" चर्मेष्टका इष्टिकाशकलादिभृत-चर्मकुतुपरूपा, यदाकर्षणेन धनुर्द्धरा व्यायामं कुर्वन्ति, द्रुघणाको मुद्गरो, मौष्टिको मुष्टिप्रमाणः प्रोतचर्मरज्जुकः पाषाणगोलकस्तैः समाहतानि व्यायामकरणे प्रवृत्तौः सत्यां तामितानि निचितानि गात्राण्यङ्गानि यत्र स तथा एवंविधः कायो यस्य स तथा। अनेनाभ्यासजनितं सामर्थ्यमुक्तम्। उपा०७ अ०। रा०। जी०।

चय धा० (त्यज्)। हानौ, त्यजेश्चयादेशः। !'चयइ' त्यजति। शक्-स० धा०। "शकेश्चयतरतीरपाराः"।८।४।८६। इति शकेश्चयादेशः। 'चयइ' श्क्नोति। प्रा०४ पाद।

जत्थ एगे विसीयंति, ण चयंति जवित्तए। (१)

इहोपसर्गपरिज्ञाध्ययने उपसर्गाः प्रतिपादिताः, ते चानुकूलाः प्रतिकूलाश्च। तत्र प्रथमोद्देशके प्रतिकूलाः प्रतिपादिताः, इह त्वनुकूलाः प्रतिपाद्यन्ते। सूत्र०१ श्रु०३ अ०१ उ०।

चय पुं०। चयनं चयः। पिण्डीभवने, अनु०। वृद्धौ, आचा०१ श्रु०१ अ०५ उ०। आ० म०। परमाणूपचयाच्चयः। संघाते, ओघ०। आचा०१ श्रु०५ अ०२ उ०। शरीरे, आव०५ अ०। विपा०। देवभवसंबन्धिनि देहे, विपा०२ श्रु०१ अ०।

च्यव पुं०। च्यवने, स्था०८ ठा०। ज्ञा०। भ०। नि०।

जयंत त्रि० (शक्नुवत्)। सामर्थ्यं भजमाने, सूत्र०१ श्रु०३ अ०३ उ०।

चयण न० (चयन)। कुशलकर्मण उपचयकरणे, प्रव०२ द्वार। भ०। कषायादिपरिणतस्य कर्मपुद्गलोपादानमात्रे, स्था०२ ठा० ४ उ०। विशे०।

च्यवन न०। च्युतिश्च्यवनम्। वैमानिकज्योतिश्चक्राणां मरणे, "एगे चयणे" च्यवनमेकजीवापेक्षया नानाजीवापेक्षया च-

पूर्ववदिति। स्था०१ ठा०१ उ०। "दोण्हं चयणे पण्णत्ते। तं जहा-जोइसियाणं चेव वेमाणियाणं," इच्युतिश्च्यवनं, मरणमित्यर्थः। तच्च ज्योतिष्कवैमानिकानामेव व्यपदिश्यते। स्था०२ ठा०३ उ०।

इच्चेयाहिं तिहिं ठाणेहिं दो देवे चइस्सामीति जाणइ विमाणाभरणाइं णिप्पभाइं पासित्ता कप्परुक्खगं मिलायमाणं पासित्ता अप्पणो तेयलेस्सं परिहायमाणं जाणित्ता॥

विमानाभरणाना निष्प्रभत्वमौत्पातिकं, तच्चक्षुर्विभ्रमरूपं वा (कप्परुक्खगं ति) चैत्यवृक्षम् (तेयलेस्सं ति) शरीरदीप्तिं, सुस्वासिकां वा, "इच्चेयाहिं" इत्यादि निगमनम्। भवन्ति च एवंविधानि लिङ्गानि देवानां च्यवनकाले। उक्तं च-"माल्यम्लानिः कल्पवृक्षप्रकम्पः, श्रीहीनाशो वाससां चोपरागः। दैन्यं तन्द्रा कामरागाङ्गभङ्गो, दृष्टेर्भ्रान्तिर्वेपथुश्चारतिश्च"॥१॥ इति। स्था०३ ठा०३ उ।

देवे णं भंते ! महड्ढिए महज्जुइए महव्वले महाजसे महेसक्खे महाणुभावे अविउक्कंतियं चयमाणे किंचि कालं हरिवत्तियं दुगंछावत्तियं परिसहवत्तियं आहारं नो आहारेइ, अहे णं आहारेइ आहारेज्जमाणे आहारिए परिणामिज्जमाणे परिणामिए पहीणे य आउए भवइ जत्थ उववज्जइ तमाउयं पडिसंवेएइ तं तिरिक्ख-जोणिउयं वा मणुस्साउयं वा ? हंता गोयमा ! देवे णं महड्ढिए० जाव मणुस्साउयं वा॥

(महड्ढिए त्ति) महर्द्धिको विमानपरिवाराद्यपेक्षया (महज्जुइए त्ति) महाद्युतिकः शरीराभरणाद्यपेक्षया (महव्वलेत्ति) महाबलः शारीरप्राणापेक्षया (महाजस त्ति) महायशाः बृहत्प्रख्यातिः (महेसक्खे त्ति) महेशो महेश्वर इत्याख्याऽभिधानं यस्यासौ महेशाख्यः। "महासोक्खे त्ति" क्वचित्। (महाणुभावे त्ति) महानुभावो विशिष्टवैक्रियादिकरणाचिन्त्यसामर्थ्यः (अविउक्कंतियं चयमाणे त्ति) च्यवमानता किलोत्पत्तिसमयेऽप्युच्यते इत्यत आह-व्युत्क्रान्तिरुत्पत्तिस्तन्निषेधादव्युत्क्रान्तिकम्, अथवा-व्यवक्रान्तिर्मरणं तन्निषेधादव्यवक्रान्तिकम्, तद्यथा भवत्येव च्यवमानो जीवन्नेव मरणकाल इत्यर्थः। "अविउक्कंतियं चयं चयमाणे त्ति" क्वचिद् दृश्यते। तत्र चयं शरीरम् "चयमाणे त्ति" त्यजन् (किंचिकालं ति) कियन्तमपि कालं, यावन्नाहारयेदिति योगः। कुत इत्याह-ह्रीप्रत्ययं लज्जानिमित्तम्, स हि च्यवनसमयेऽनुपक्रान्त एव पश्यत्युत्पत्तिस्थानमात्मनो दृष्ट्वा च तदेव भवविसदृशं पुरुषपरिभुज्यमानस्त्रीगर्भाशयरूपं जिहेति, ह्रिया च नाहारयतीति। तथा जुगुप्साप्रत्ययं कुत्सानिमित्तम्, शुक्रादेरुत्पत्तिकारणस्य कुत्साहेतुत्वात्। (परिसहवत्तियं ति) इह प्रक्रमात्परीषहशब्देनारतिपरीषहो ग्राह्यः, ततश्चारतिपरीषहनिमित्तं दृश्यते चारतिप्रत्ययाल्लोकेऽप्याहारग्रहणवैमुख्यामिति। आहारं मनसा तथाविधपुद्गलोपादानरूपम्। (अहे णं ति) अथ लज्जादिक्षणानन्तरमाहारयति, बुभुज्ञावेदनीयस्य चिरं सोढुमशक्यत्वादिति। "आहारिज्जमाणे आहारिए" इत्यादौ भावार्थः प्रथमसूत्रवत्, अनेन च क्रियाकालनिष्ठाकालयोरभेदाभिधानेन तदीयाहारकालस्याल्पतोक्ता, तदनन्तरं (पहीणे य आउए भवइ त्ति) चः समुच्चये, प्रक्षीणं वा आयुर्भवति, ततश्च यत्रोत्पद्यते मनु जत्वादौ (तमाउय त्ति) तस्य मनुजत्वादेरायुस्तदायुः, प्रतिसंवेदयत्यनुभवतीति। "तिरिक्खजोणियाउयं च" इत्यादौ देवनारकायुषोः प्रतिषेधो, देवस्य तत्रानुत्पादादिति। भ०१ श०७ उ०। हस्तपादादेर्देशक्षये, तं०। व्याख्यानान्तरेण कलने, स्था०२ ठा०१ उ०। चं० प्र०।

चयणकप्प पुं० (च्यवनकल्प)। च्यवनं चारित्रात् प्रतिपतनं, तस्य कल्पः प्रकारश्च्यवनकल्पः। पार्श्वस्थादिविहारे, ग०१ अधि०।

पार्श्वस्थादिषु गच्छतः सामाचार्याम् -

संखेवसमुदिट्ठं, एत्तो वोच्छं चयणकप्पं॥
आहारोवहिसेज्जा, तिकरणसोहीएँ जाहे परितंतो।
पग्गहितविहारातो, तो चवती विसयपडिवद्धो॥
कोति विसेसं वुज्झति, पसत्थठाणा अहं परिब्भट्ठो।
अंधत्तेणं कोती, ण वुज्झए मंदधम्मत्तं॥
दव्वे भावे अंधो, दव्वे चक्खूहिँ भावे ओसण्हो।
संविग्गत्त ण रोयति, णितियाइ पहाणमिच्छंतो॥
जत्तो चुओ विहारा, तं चेव पसंसते सुलभवाही।
ओसण्हविहारं पुण, पसंसए दीहसंसारी॥
आहारोवहिसेज्जा, णीयावासो वि तिकरणविसोही।
तह भावंधा केई-मं तु पहाणं ति घोसंती॥
णीया वि विहारम्मि वि, जदि कुणती णिग्गहं कसायाणं।
तस्स हु भवते सिद्धी, अवितह सुत्ते भणियमेयं॥
बहुमोहे वि हु पुव्विं, विहरित्ता संवुडे कुणति कालं।
सो सिज्झति अविय इमे, पुरिसज्जाता भवे चउरो॥
णाणेणं संपण्णो, णो तु चरित्तेण एत्थ चउभंगो।
तेणेसेव पहाणो, एवं भासंति णिद्धम्मा॥
तम्हा तु न एताइं, कुज्जा आलंवणाइ मतिमं तु।
कुज्जा हि पसत्थाइं, इमाइँ आलंवणाइं तु॥
तित्थगराण चरित्तं, कसिणं वा गणधराणं च।
जो जाणति सद्दहती, ओसण्हं सो ण रोएति॥
धुवसिज्झितव्वगम्मि वि, तित्थगरोजदि तवम्मि उज्जमति।
किं पुण तवे उज्जोगो, अवसेसेहिं न कायव्वो ?
चोद्दसपुव्वी कसिणं-गपारगा तेसि जो उ उज्जोगो।
तं जो जाणति सो खलु, संविग्गविहार सद्दहते॥
एमादी आलंवण, काउं संविग्गगं तु रोएति।
को पुण ओसण्हत्तं, रोएती भण्णते इमं तु॥
सुत्तत्थतदुभए कम-जोगी ओसण्णरोयओ होज्जा।
अहवा दुग्गहियत्थो, अहवा वी मंदधम्मत्ता॥
अण्णाणी कडजोगी, दुग्गहियत्थो तु जेण अववादो।

गहिओ ण वि उस्सग्गो, गहितो वा मंदधम्मो तु ॥
सो रोए ओसण्हं, इति एसो वण्णिओ चयणकप्पो ।
पं० भा० ॥

इयाणिं चयणकप्पो । गाहा-(आहारोवहि) जो आहारोवहिं नियत्तइ सेज्जाए ताणाहाराईणि जाहे उग्गमाइसु सो हेउ परितंतो भवइ ताहे तन्नो पग्गहियविहाराओ, पग्गहिओ नामगीयत्थसंविग्गविहारो, ताओ चवमाणो पासत्थाइसु गच्छइ जिब्भाइविसयपडिवद्धो । गाहा-(काइ विसेसं) कोइ पुण पासत्थाइसु गंतु पि विसेसं जाणइ, जहाऽहं मंदपुत्तो जाओ इहलोगपडिवद्धो परलोगनिप्पिवासो किंपागफलोवमेसु विसएसु अहिलासं करोमि, साहुणो परिक्कमति, एस पसंसिओ, कोइ पुण अन्नाणभावंधत्तेण ण वुज्झइ, मंदधम्मयाए वा-किं वा ते अब्भहियं करें ति गीयत्थसंविग्गा । गाहा-(जत्तो चुओ) चुओ नाम प्रभ्रष्ट इत्यर्थः । संविग्गविहाराओ तं चेव पसंसए सुलभवोहीओ, जो पुण दीहसंसारी सो ओसन्नमेव पसंसइ । गाहा-(आहारोवहिसेज्जा-णीयावासो तिकरण-विसोहि त्ति) उग्गममुप्पायणेसणाइसु जा तिकरणविसोही मणाइं करणं त हेव दुरणुचरं अचएंतो अणुपालेउं इमं चेव पहाणं ति घोसइ, नवरि कसाया न कायव्वा तं मूलिया सोही असोही वा भणंति च बहुमोहे वि य पुव्विं विहरित्ता नाणसंपन्ने नामे गे नो चरणे, जहा अट्ठमे सए, नो एवमालंवणं कायव्वं । किं पुण कायव्वं? गाहा-(तित्थगराण चरित्तं) जहा भगवया अवस्ससिज्झियव्वे वि तेव उज्जमियं, किं पुण अवसेसएहिं साहूहिं सपच्चवाए माणुस्से, तहा करिसणं गणधराणं चरियं चोद्दसपुव्वीणं, जो एएसिं विहारं सद्दहइ सो ओसण्हविहारं ण रोएइ, गाहा-(सुत्तत्थ) को पुण ओसण्णविहारं रोएति ?, जो सुत्तत्थे तदुभएसु च कडओगी, अज्ञ इत्यर्थः । सो ओसन्नं रोएज्जा, दुग्गहियत्थो नाम-जेण अववायपयाणि गहिया णि न उस्सग्गो पयइए, मंदधम्मो वा सो रोएज्जा, एस चयणकप्पो । पं० चू० ।

चयणमुह त्रि० (च्यवनमुख) । मरणमुखे, तं० ।

चयणोववाय पुं० (च्यवनोपपात) । च्यवने उपपाते, चं० प्र०१५ पाहु० । (चन्द्रसूर्य्ययोश्चयवनोपपातौ 'जोइसिय' शब्दे वक्ष्यते)

चयावचइय न० (चयापचयिक) । इष्टाहारोपभोगतया धृत्युपष्टम्भा-दौदारिकवर्गणापरमाणूपचयाच्चयः, तदभावेन तद्विघट्टनादपचयः । चयापचयौ विद्येते यस्य तच्चयापचयिकम् । तथाविधे शरीरे, "एयं असासयं चयोवचइयं विपरिणामधम्मं पासह" । आचा०१ श्रु०५ अ०२ उ० ।

चयोवचय पुं० (चयोपचय) । अधिकत्वेन वृद्धौ, हीनत्वेनापवृद्धौ च । सू० प्र०१ पाहु० ।

चर पुं० (चर) । चरणे, दर्श० । आ० चू० । स्था० । आ० म० । आचा० ।

चरंत त्रि० (चरत्) । विहरति, उत्त०२ अ० । अटति, सूत्र०१ श्रु०१ अ० । विश्वं व्याप्नुवति, प्रश्न०४ आश्र० द्वार ।

चरंती स्त्री० (चरन्ती) । यस्यां दिशि भगवानर्हन् विहरति तस्याम्, (व्य०) तथा तिस्रो दिशः प्रशस्ता ग्राह्याः । तद्यथा पूर्वा, उत्तरा, चरन्ती । चरन्ती नाम-यस्यां भगवानर्हन्विहरति सामान्यतः केवलज्ञानी मनः पर्यवज्ञानी अवधिज्ञानी चतुर्दशपूर्वी त्रयोदशपूर्वी यावन्नपूर्वी । यदि वा-यो यस्मिन् युगे प्रधान आचार्यः स प्रतिहारिकान् यथा विहरति । व्य०१ उ० ।

चरग पुं० (चरक) । धाटिभिक्षाचरे, क्षा०१ श्रु०१५ अ० । परिव्राजक-विशेषे, दश०१ अ० । व्य० । संधाटिवाहकाः सन्तो ये भिक्षां चरन्ति ये भुञ्जानाश्चरन्ति । ग०२ अधि० । ये धावितभैक्षोपजीविनः । अथ वा कच्छोटकादयः । प्रज्ञा०२० पद । दंशमशकादौ च । सूत्र०१ श्रु०२ अ०२ उ० । चरगतिभक्षणयोः । भावे-ल्युट् । आचा०१ श्रु०५ अ०१ उ० ।

चरण न० (चरण) । गमने, ग०१ अधि० । प्रव० । आ०म० । स्था० । आव० । अतिशयगमने, नं० । विहरणे, सूत्र०१ श्रु०१० अ०२ उ० । अवस्थाने, आचा०१ श्रु०५ अ०३ उ० । संयमानुष्ठाने, सूत्र०१ श्रु०१० अ० । सेवने, जी०२ प्रति० ।

चरणनिक्षेपमाह -

चरणे छक्को दव्वे, गइए चेव भक्खणे चरणं ।
खित्ते काले जम्मि व, भावे उ गुणाण आयरणं ॥

चरणविषयः षट्परिमाणम् उक्तरूपो निक्षेपः, तत्र नामस्थापने गतार्थे, द्रव्यं गतिरूपं चरणं, चरगतिभक्षणयोरिति । तथा (खेत्ते काले जम्मि त्ति) यस्मिन् क्षेत्रे काले वा चरणं चर्य्यते व्यावर्ण्यते वा तत् क्षेत्रचरणं, कालचरणं चेति प्रक्रमः । भावे तु गुणानां मूलोत्तरगुणरूपाणामा-चरणमासेवनमिति गाथार्थः । उत्त०१५ अ० । चरणं नामादिभेदात् षोढा, तत्र द्रव्यचरणं त्रिधा भवति, गतिभक्षणगुणभेदात् । तत्र गतिचरणं गमनमेव, आहारचरणं मोदकादेः । गुणचरणं द्विधालौकिकं, लोकोत्तरं च । लौकिकं यत् द्रव्यार्थे हस्तिशिक्षादिकं वैद्यकादिकं वा शिक्षन्ते, लोकोत्तरं साधूनामनुपयुक्तचरणमुदायिकृपामारकादेर्वा, क्षेत्रचरणं यस्मिन् क्षेत्रे गत्याहारादि चर्य्यते व्याख्यायते वा शब्दसामान्यान्तर्भावाद्वा शालिक्षेत्रा-दिचरणमिति । कालेऽप्येवमेव, भावे भावचरणमपि गत्याहारगुणभेदात् त्रिधा, तत्र गतिचरणंसाधोरुपयुक्तस्य युगमात्रदत्तदृष्टेर्गच्छतः, भक्षण-चरणमपि शुद्धं पिण्डमुपभुञ्जानस्यः, गुणचरणमप्रशस्तं मिथ्यादृष्टिस-म्यग्दृष्टीनामपि सनिदानं प्रशस्तं तेषामेव कर्मोद्वेष्टनार्थं मूलोत्तरगुण-कलापविषयम् । आचा०१ श्रु०१ अ०१ उ० । भक्षणे, वाच० । चर्य्यते मुमुक्षुभिरासेव्यते इति चरणम् । अथवा-चर्य्यते गम्यते प्राप्यते भवोदधेः परं कूलमनेनेति चरणम् । व्रतश्रमणधर्मादिषु मूलगुणेषुः विशे० । ज्ञा० । आव० । आ० चू० । सूत्र० । नं० । आ०म० । म० । ओघ० ।

"चरणकरणप्पहाण, ससमयपरसमयमुक्कवावारा ।
चरणकरणस्स सारं, णिच्छियसुद्धं न याणंति" ॥
चरणं श्रमणधर्मः ।
"वयसमणधम्मसंयम, वेयावच्चं च बंभगुत्तीओ ।
णाणाइतियं तवको-हनिग्गहाई चरणमेयं ॥" इति ।

सम्म०३ काण्ड । आ० म० । ज्ञा० । "सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं १, सव्वाओ मुसावायाओ वेरमणं २, सव्वाओ अदिण्णदाणाओ वेरमणं ३, सव्वाओ मेहुणाओ वेरमणं ४, स-

व्वओ परिग्गहाओ वेरमणं ५" इति व्रतानि। "दसविधे समणधम्मे पण्णते। जं जहा-खंती १ मुत्ती २ अज्जवे३ मद्दवे ४ लाघवे५ सच्चे ६ संजमे ७ तवे ८ चियाए ९ बंभचेरवासे १०।" क्रोधजयः १, निर्लोभता २ मायात्यागः ३ अहंकारत्यागः ४ परिग्रहत्यागः ५ सत्यं ६ प्राणातिपातविरमणरूपः ७ तपः८ त्यागः सुविहितेभ्यो वस्त्रादिदानरूपः ९ ब्रह्मचर्यम् १० इति श्रमणधर्मः। पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिद्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियाणां - पालनान्नव भेदाः ९, अजीवसंयमः पुस्तकचर्म्मपञ्चकादीनामनुपभोगा यतनया परिभोगो वा हिरण्यादित्यागो वा १० प्रेक्षासंयमः स्थानादि यत्र चिकीर्षेत् तत्र चक्षुषा प्रेक्षां कुर्यात् ११ उपेक्षासंयमो व्यापारविषयतया द्वेधा तत्र सदनुष्ठाने सदितः साधून्नोपेक्षेत, प्रेरयेदित्यर्थः। गृहिणस्तु आरम्भे सीदतः उपेक्षेत, न व्यापारयेत्। १२ प्रमार्जनासंयमः पथि पादयोर्व-सत्यादेश्च विधिना प्रमार्जनं १३ परिष्ठापनासंयमः अविशुद्धभ-क्तोपकरणादेर्विधिना त्यागः १४ मनोवाक्कायसंयमाः अकुशलानां मनोवाक्कायानां निरोधाः १५ श्रीउमास्वातिवाचकपादैस्तु संयमभेदाः प्रशमरतावेवमुक्ताः "पञ्चाश्रवाद्विरमणं, पञ्चेन्द्रियनिग्रहः कषायजयः। दण्डत्रयविरतिश्चेति संयमः सप्तदशभेदः ॥१॥ इति संयमः। "दसविधे वेयावच्चे पण्णत्ते। तं जहा-आयरियावच्चे १ उवज्झाय २ थेर ३ तवस्सि ४ गिलास ५ सेह ६ कुल ७ गण ८ संघ ९ वेयावच्चे साहम्मियवेयावच्चे १०॥" इति वैयावृत्यम्। "नव बंभचेरगुत्तीओ पण्णत्ताओ। तं जहा-विचित्ताइं सयणासणाइं सेवित्ता भवति, नो इत्थिसंसत्ताइं नो पसुसंसत्ताइं नो पंडगसंसत्ताइं १ नो इत्थीणं कहं कहेत्ता हवइ।" नो स्त्रीणां केवलानां कथां धर्म्मदेशनादिलक्षणवाक्यप्रतिबन्धरूपाम् २ "नो इत्थिट्ठाणाइं सेवेत्ता भवति। ठाणं निषद्या ३, णो इत्थीणं मणोहराइं मणोरमाइं इंदियाइं आलोइत्ता निब्भाइत्ता भवइ ४, णो पणीयरसभोई ५, णो पाणभोयणस्स अइमात्तमाहारए सया भवति ६, णो पुव्वरयं पुव्वकीलियं सरित्ता भवइ ७, णो सद्दाणुवाती णो रूवाणुवाई णो सिलोगाणुवाई ८, णो सायासो-क्खपडिबद्धे यावि भवइ ९ इति ब्रह्मगुप्तयः। ज्ञानदर्शनचारित्रलक्षणं ज्ञानादित्रिकं तपो द्वादशधा पूर्वोक्तम् १२, क्रोधमानमायालोभत्यागः ४ क्रोधादिनिग्रह इति चरणम्। ग० १ अधि०। सप्ततिसंख्याश्चरणस्य चारित्रस्य भेदा भवन्तीति, चरणसप्ततिसंज्ञा इत्यर्थः। अत्रायं विवेकः-चतुर्थव्रतान्तर्गतत्वेऽपि नवब्रह्मगुप्तीना पृथगुपादानं तुर्यव्रतस्य निरपवादत्वसूचनार्थम्। यत उक्तमागमे-"न य किंचि अणुण्णायं, पडिसिद्धं वा वि जिणवरिंदेहिं। मुत्तुं मेहुणभावं, न विणा तं रागदोसेहिं ॥१॥, तथा व्रतग्रहणेन चारित्रस्य गतार्थत्वेऽपि ज्ञानादित्रिके चारित्रग्रहणं शेषचतुर्विधचारित्रसंग्रहार्थं, व्रतशब्देन सामायिकादिपञ्चविधचारित्र-स्यैकांशरूपसामायिकाभिधेयत्वेन शेषचतुर्विधचारित्राग्रहणात् तथा श्रमणधर्मान्तर्भूतत्वेऽपि संयमतपसोः पृथगुपन्यासस्तयोर्मोक्षाङ्ग प्रति प्राधान्यख्यापनार्थम्। दृष्टश्चायं न्यायः यथा ब्राह्मणा आयाता वसिष्ठोऽप्यायात इत्यादि। प्राधान्यं च तयोः क्रमेणापूर्वकर्माश्रव-निरोधहेतुत्वेनानशनादिभ्योऽतिशायित्वोपदर्शनार्थं, तथा श्रमण-धर्मग्रहणेन गृहिणामपि क्रोधनिग्रहादीनां पृथगुपादानम्, उदयप्राप्तक्रोधा-दीनांनिष्फलीकरणं क्रोधादिनिग्रह इति व्याख्यानात्, क्षान्त्यादीनां तु उदीर्णक्रोधाद्यनुदयरूपत्वात्। अथवा-क्षान्त्यादयो ग्राह्याः, क्रोधादयो हेय इति भेदात् इत्युक्ता मूलगुणाः। ध०३ अधि०। दश०। चर्य्यते इति चरणम्। चारित्रे, उत्त०१ अ०। सूत्र०। न०। सर्वतो देशतश्च चारित्रे, विशे०। चारित्रक्रियायाम्, अनु०। सूत्र०। आचा०। विशे०। उत्त०। दर्श०। विरतिपरिणामे, सूत्र०२ श्रु०६ अ०। दर्श०। समग्रविरतिरूपे चारित्रे, दश०३ अ०। सकलयतिसमाचाराचरणे, दर्श०। चरणं त्रिविधं त्रिप्रकारम्। तद्यथा-क्षायिकम्, औपशमिकम्, क्षायोपशमिकं च। तत्र क्षायिकं सम्यक्त्वं क्षायिकसम्यग्दृष्टेः, औपशमिकमुपशमश्रेण्यां शेषकालं क्षायोपशमिकं चरणमपि क्षायिकं, क्षपकनिर्ग्रन्थस्य औपशमिकमौपश-मिकश्रेण्यामन्यदा क्षायोपशमिकम्। व्य०२ उ०। विशे०।

तस्स वि सारो चरणं, सारो चरणस्स निव्वाणं ॥११२६॥

तस्याऽपि श्रुतज्ञानस्य सारश्चरणं, सारशब्दोऽत्र फलवचनः प्रधानवचनश्च मन्तव्यः, तस्य फलं चरणम्। यदि वा-तस्मादपि श्रुतज्ञानाचरणं प्रधानम्, न तु चरणं नाम संवररूपा क्रिया, क्रिया च ज्ञानाभावे हता "हेया अन्नाणतो किरिया" इतिवचनात्, ततो ज्ञानक्रियाभ्यां समुदिताभ्यामेव मोक्ष इति समानत्वमेवोभयोः, कथं ज्ञानस्य सारश्चरणमिति ? उच्यते-इह यद्यपि 'सम्य ग्दर्शन-ज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' इति समानं ज्ञानचरणयोर्निर्वाणहेतुत्व-मुपन्यस्तं, तथाऽपि गुणप्रधानभावोऽस्ति। तथा ज्ञानं प्रकाशकमेव, "नाणं पयासयमिति" वचनात्, चरणं त्वभिनवकर्मादाननिरोधफलं, प्रागुपात्तकर्मनिर्जराफलं च, ततो यद्यपि ज्ञानमपि प्रकाशतयोपका-रीति ज्ञानचरणरूपद्विकाधीनो मोक्षस्तथापि प्रकाशकतयैव व्याप्रियते ज्ञानं, कर्म्मलशोधकतयाऽनुचरणमिति प्रधानगुणभावाच्चरणं ज्ञानस्य सारः। उक्तं च-"नाणं पयासयं वी, गुत्तिविसुद्धिफलं च जं चरणं। मोक्खो य दुगाहीणो, चरणं नाणस्स तो सारो॥११३०॥ अपिशब्दात्सम्यक्त्वस्यापि सारश्चरणम्। अथवा अपिशब्दस्य व्यवहितः संबन्धः, तस्य श्रुतज्ञानस्य सारश्चरणमपि, अपिशब्दान्निर्वाणमपीत्यर्थः। अन्यथा ज्ञानस्य निर्वाणहेतुता न स्यात्, किं तु चरणस्यैव, अनिष्टं चैतत्, 'सम्यग्दर्शन-ज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः'। तथा-"नाणकिरियाहिं मोक्खो" इत्यादिवचनात्केवलं सा ज्ञानस्य निर्वाणहेतुता गौणतया प्रतिपत्तव्या, मुख्यतया तु चरणस्य, यतः केवलज्ञानलाभेऽपि न तत्क्षणमेव मुक्तिरुपजायते, किं तु शैलेश्यवस्थाचरमसमयभाविचरणप्रतिपत्त्य-नन्तरमतो मुख्यं कारणं निर्वाणस्य चरणम्। तथा चोक्तम्-"जं सव्वनाणलंभानंतरमहवा न मुच्चए सव्वो। मुच्चइ य सव्वसंवर-लाभे तो सो पहाणयरो"॥ तत उक्तं तस्य सारश्चरणमिति। तथा "सारोचरणस्य निव्वाणं" इत्यत्र सारशब्दः फलवचनः, चरणस्य संयमतोपोरूपस्य सारः फलं निर्वाणम्। इहापि शैलेश्यवस्थाभाविसर्वसंवररूपचारित्रमन्तरेण निर्वाणस्य भावात्तद्भावे चावश्यं भावादिति प्रधानभावमधिकृत्य उपन्यस्तम्, अन्यथा शैलेश्यवस्थायामपि क्षायिकज्ञानदर्शने स्त इति सम्यग्दर्शनादिरत्नत्रयस्य समुदितस्यैव निर्वाणहेतुत्वमिति।

तथा चाह नियुक्तिकारः -

सुयनाणम्मि वि जीवो, वट्टंतो सो न पाउणाइ मोक्खं।
जो तवसंजममइए, जोगे न चएइ वोढुं जे ॥११४३॥

श्रुतज्ञाने, अपिशब्दान्मत्यादिष्वपि ज्ञानेषु, जीवो वर्तमानः सन्न प्राप्नोति मोक्षमित्यनेन प्रतिज्ञार्थः सूचितः । यः किंविशिष्ट इत्याह-यस्तपः संयममयान् तपःसंयमात्मकान् योगान्न शक्नोति वोढुमित्यनेन हेत्वर्थः । **"जे" इति पादपूरणे, "इजेराः पादपूरणे" ॥८।३।२१७।** इति वचनात् । दृष्टान्तस्तु स्वयमभ्यूह्यः । वक्ष्यति वा प्रयोगः-न ज्ञानमेवेप्सितार्थप्रापकं, सत्क्रियाविरहात्, स्वदेशप्राप्त्यभिलषित-गमनक्रियाशून्यमार्गज्ञज्ञानवत् । सौत्रो वा दृष्टान्तःमार्गज्ञानिर्यामका-धिष्ठितोऽप्सितदिक्संप्रापकपवनक्रियाशून्यपोतवत्।

तथा चाह -

जह छेयलद्धनिज्जा-मगो वि वाणियगइच्छियं भूमिं ।
वाएण विणा पोतो, न चएइ महण्णवं तरिउं ॥११४५॥
तह नाणलद्धनिज्जा-मगो वि सिद्धिवसहिं न पाउणइ ।
निउणो वि जीवपोओ, तवसंजममारुयविहूणो ॥११४६॥

यथा येन प्रकारेण छेको दक्षो लब्धः प्राप्तो निर्यामको येन पोतेन स तथाविधः, अपिशब्दात् सुकर्णधाराद्यधिष्ठितोऽपि, वणिज इष्टा वणिगिष्टा, तां भूमिं, महार्णवं तीर्त्वा वातेन विना पोतो न शक्नोति, प्राप्तुमिति वाक्यशेषः । उपनयमाह-तथा श्रुतज्ञानमेव लब्धो निर्यामको येन जीवपोतेन स तथाविधः, अपिशब्दात् सनिपुणमतिकर्णधाराद्य-धिष्ठितोऽपि संयमतपोनियमरूपेण मारुतेन विहीनो निपुणोऽपि जीवपोतो भवार्णवं तीर्त्वा सन्मनोरथवणिजोऽभिप्रेतां सिद्धिवसतिं न प्राप्नोति, तस्मात्तपः संयमानुष्ठाने खल्वप्रमादवता भवितव्यम्।

तथा चात्रौपदेशिकमेव गाथासूत्रमाह -

संसारसागराओ, उच्छूढो मा पुणो निवुड्डेज्जा ।
चरणगुणविप्पहीणो, वुड्डइ सुबहुं पि जाणंतो ॥११४७॥

अस्याः पदार्थो दृष्टान्ताऽभिधानद्वारेण प्रोच्यते । यथा नाम कश्चित्क-च्छपः प्रचुरतृणपत्रपटलनिविड तमशैवलाच्छादितोदका-न्धकारमहाह्र-दान्तर्गतो विविधानेकजलचरक्षोभादिव्यसनपरम्परा-व्यथितमानसः सर्वतः परिभ्रमन् कथमपि शैवालरन्ध्र मासाद्य तेनैव च तत उपरि विनिर्गत्य शरदि पार्वणचन्द्रचन्द्रिकास्पर्शसुखमनुभूय भूयोऽपि स्वबन्धु-स्नेहाकृष्टचेतोवृत्तिस्तेषामपि तपः स्विनामदृष्टकल्याणानामहमिदं सुरलोककल्पं किमपि दर्शयामीत्यवधार्य तस्मिन्नेव ह्रदमध्ये निमग्नः, ततः समासादितबन्धुवर्गः तद्दर्शननिमित्तं विवक्षितरन्ध्रोपलब्धये पर्यटन् अपश्यंश्च कष्टतरं व्यसनमनुभवति स्म, एवमयमपि जीवकच्छपोऽनादि-कर्म्मपटलसन्तानाच्छादितान्मिथ्यादर्शनादितमोनुगताद् विविधशिरो-नेत्रकर्णवेदनाज्वरकुष्ठभगन्दरादिशरीरेष्टवियोगानिष्टसंप्रयोगादि-मानसदुःखजलचरसमूहानुगतात्, संसरणं संसारो, भावे घञ्प्रत्ययः, स एव सागरस्तस्मात् परिभ्रमन् कथञ्चिदेव मनुष्यभवप्राप्तियोग्य-कर्म्मोदयलक्षणं रन्ध्रमासाद्य मनुष्यत्वप्राप्तया उन्मग्नः सन् जिनचन्द्र-वचनकिरणावबोधमासाद्य दुष्प्रापोऽयं जिनवचनबोधिलाभ इत्येवंजाना-नः स्वजनस्नेहविषयातुरचिन्तया मा पुनः कूर्मवत् तत्रैव निमज्जेत्। आह-अज्ञानी कूर्मोऽतो निमज्जति, इतरस्तु हिताहितप्राप्तिपरिहारज्ञो ज्ञानी, ततः कथं निमज्जति ? तत आह-चरणगुणैर्विविधमनेकप्रकारं प्रकर्षेण हीनश्चरणगुणविप्रहीणस्ततः सुबह्वपि जानन् निमज्जति। आ० म० प्र० । आ० चू० । विशे० । पादे, वेदैकदेशशाखारूपे ग्रन्थे, तदध्येतरि जने, गोत्रे, वाच० । केना पि यजमानेन वेदान्तर्गतग्रन्थविशेषाध्ययननिमित्तं चरणशब्दवाच्येभ्यश्चतुर्भ्यो ब्राह्मणेभ्यः। विशे० । चतुर्णां चरणानां चतुर्वेदब्राह्मणानामिति । बृ०१ उ० ।

चरणकरणपरिहीण त्रि० (चरणकरणपरिहीन) । व्रतादिना पिण्डविशु-द्ध्यादिना च परिहीनः । मूलोत्तरगुणहीने, बृ०३उ० ।

चरणकरणपारविअ त्रि० (चरणकरणपारवित्) । चर्य्यते इति चरणं मूलगुणाः, क्रियत इति करणमुत्तरगुणाः, तेषां पारं तीरं पर्यन्तगमनं, तद्वेत्तीति चरणकरणवित् । मूलोत्तरगुणपारज्ञे, सूत्र०१ श्रु०१ अ० । चरणकरणयोरनुयोगश्चरणकरणानुयोगः । द्रव्या०२ अध्या० ।

चरणकरणाणुओग पुं० (चरणकरणानुयोग) । द्विचत्वारिंशद्दूषणर-हितपिण्डग्रहणादौ, द्रव्या० ।

शुद्धान्नादिस्तनुर्योगो, महान् द्रव्यानुयोगजः ।
इत्थं षोडशकाद् ज्ञात्वा, विदधीत शुभादरम् ॥३॥

शुद्धान्नादिः शुद्धाहारग्रहणम्, अर्थाच्चरणकरणानुयोगाख्यो योगो द्विचत्वारिंशद्दूषणरहितपिण्डग्रहणो योगस्तनुर्लघुः कथितः, तथा द्रव्यानुयोगः स्वसमयपरसमयपरिज्ञानं, तदाख्यो योगो द्रव्यानुयोगजो योगो महान् महत्तरः कथितः ॥३॥

द्रव्या०१ अध्या० ।

चरणकरणप्पहाणा, ससमयपरसमयमुक्कवावारा ।
चरणकरणस्स सारं, णिच्छियसुद्धं न याणंति ॥१६४॥

चरणकरणयोश्चारित्रात्मकत्वात् द्रव्यपर्यायात्मकजीवादितत्त्वावग-मस्वभावरुच्यभावेऽभावादथ चरणकरणयोः सारं निश्चयेन शुद्धं सम्यग्दर्शनं ते न जानन्ति न हि यथावस्थितवस्तुतत्त्वावबोधमन्तरेण तद्रुचिः । न च स्वसमयपरसमयतात्पर्यार्थानवगमे तदवगमे तदवबोधो वोटिकादिरिव संभवी । अथ जीवादिद्रव्यार्थपर्यायार्थापरिज्ञानेऽपि यदर्हद्भिरुक्तं तदेवैकं सत्यमित्येतावतैव सम्यग्दर्शनसद्भावः । "मन्नइ तमेव सच्चं, णिस्संकं जं जिणेहि पन्नत्तं ।" इत्याद्यागमप्रामाण्यान्न स्वसमयपरसमयपरमार्थानभिज्ञैर्निरावरणज्ञानदर्शनात्मकजिनस्वरूपा-ज्ञानवद्भिस्तदभिहितभावानां सामान्यरूपतयाऽप्यनवच्छेदेन सत्यस्व-रूपत्वेन ज्ञातुमशक्यत्वात्, न त्वेवमागमत्रिरोधः, सामायिकमात्रपदविदो माषतुषादेर्यथोक्ताद्यारित्रिणस्तत्र मुक्तिप्रतिपादनात् सकलशास्त्रार्थ-ज्ञता, विकलव्रतस्य व्रताद्याचरणनैरर्थक्यापत्तिश्च, तत्साध्यफलानवाप्तेः । न च यथोपवर्णितचरणकरणसम्यग्विकल्पे भवतो ज्ञानादितृतीयस्यापि तत्र पाठात् येन यथोदितचरणकरणप्ररूपणासेवमद्वारेण प्राधान्यादाचार्या स्वसमयपरसमयमुक्तव्यापारा न भवन्तीति नञोऽत्र संबन्धात् चरणक-रणस्य सारं निश्चयशुद्धं जानन्त्येव, गुर्वाज्ञायाः प्रवृत्तेः चरणगुणस्थितस्य साधोः सर्वनयविशुध्यभ्युपगमात्। "तं सव्वणयविसुद्धं, जं चरणगुणट्ठिओ साहू" । इत्याद्यागमप्रामाण्यात्, अग । तार्थस्तु स्वतन्त्रचरणप्रवृत्तेः व्रताद्यनुष्ठानस्य वैफल्यमभ्युपगम्यत एव, "गीयत्थो य विहारो, बीओ गीयत्थ मीसओ भणिओ ।" इत्यागमप्रामाण्यात् । सम्म०३ काण्ड ।

चरणकरणाभिलासि (ण्) त्रि० (चरणकरणाभिलाषिन्)। योऽवसन्न आत्मन उद्यतचरणो भविष्यामीत्यभिलाषिणि, नि० चू०१५ उ०।

चरणकुसील त्रि० (चरणकुशील)। चरणमालिन्यजननं कुर्वाणे, प्रव०२ द्वार।

चरणगुण पुं० (चरणगुण)। चरणं चारित्रं पञ्चमहाव्रतरूपं, तस्यगुणाः। पिण्डविशुद्ध्यादिषु करणचरणसप्ततिरूपेषु, "नाणिस्स दंसणिस्स य, नाणेण विणा ण होंति चरणगुणा। अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमुक्खस्स निव्वाणं॥" अनु०।

चरणगुणट्ठिय त्रि० (चरणगुणस्थित)। चर्यत इति चरणं चारित्रं, गुणः साधनमुपकारकमित्यनर्थान्तरम्। तच्चासौ गुणश्च निर्वाणः त्यन्तोपकारितया चरणगुणः। तस्मिन्, उत्त०१ अ०। आचा०। चारित्रलक्षणगुणेषु व्यवस्थिते, पञ्चा०११ विव०। ज्ञाननयव्यवस्थिते, विशे०। चरणं चारित्रं क्रिया, गुणोऽत्र ज्ञानं, तयोः स्थितः। ज्ञानक्रियाभ्यां द्वाभ्यामपि युक्ते, विशे०।

चरणग्ग त्रि० (चरणाग्र)। चरणेनाग्रः प्रधानश्चरणाग्रः। निश्चयनयमतापेक्षया क्षीणकषायादिके अकषायचारित्रे, पिं०।

चरणणय पुं० (चरणनय)। नयभेदे क्रियानये, स च चरणस्य प्राधान्यमभिदधति। आचा०१ श्रु०१ अ०७ उ०। (तदभिधानं च 'किरिया' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ५५४ पृष्ठे समुक्तम्)

चरणपडिवत्ति स्त्री० (चरणप्रतिपत्ति)। चर्यते इति चरणं व्रतादि, तस्य प्रतिपत्तिः चरणप्रतिपत्तिः। ओघ०। सर्वविरत्यभ्युपगमे चारित्राभ्युपगमस्वभावे, त्रि०। पञ्चा०६ विव०।

चरणपडिवत्तिसमय पुं० (चरणप्रतिपत्तिसमय)। चारित्राभ्युपगमकाले, पञ्चा०७ विव०।

चरणपरिणाम पुं० (चरणपरिणाम)। चारित्राध्यवसाये, पञ्चा०११ विव०।

चरणपुरिस पुं० (चरणपुरुष)। मूलोत्तरगुणरूपे पुरुषोपमितेऽर्थे, "मूलुत्तरगुणरूवस्स ताइणो परमचरणपुरिसस्स। अवराह-सल्लपभवो, भाववणो होइ नायव्वो॥१॥" आव०५ अ०।

चरणमोह न० (चरणमोह)। चरणं चारित्रं, तं मोहयतीति चरणमोहमिति। कर्म०१ कर्म०। चारित्रमोहनीयकर्मणि, श्रा०।

चरणय न० (चरणक)। कन्यापरिधाने, आ०म०द्वि०।

चरणरय त्रि० (चरणरत)। चरणप्रतिबद्धे, दश०३ अ०।

चरणविगम पुं० (चरणविगम)। चरणाभावे, पञ्चा०१६ विव०।

चरणविगमसंकेस पुं० (चरणविगमसंक्लेश)। चारित्राभावहेतुदुष्टाध्यवसाये, पञ्चा०१६ विव०।

चरणविघाय पुं० (चरणविघात)। चारित्राभावे, पञ्चा०११ विव०।

चरणविप्पहूण त्रि० (चरणविप्रहीण)। क्रियारहिते, "सुबहुं पि सुयमधीतं, किं काही चरणविप्पहूणस्स ? अवस्स जह पलित्ता, दीवसतसहस्सकोडी वि॥" दृशिक्रियापूर्वकक्रियाविकलत्वात्तस्योति भावः। आचा०१ श्रु०६ अ०४ उ०।

चरणविहि पुं० (चरणविधि)। चरणं चारित्रं, तस्य विधिर्यत्र वर्ण्यते ग्रन्थे स चरणविधि। नं०। चरणं व्रतादि तत्प्रतिपादकमध्ययनं चरणविधिः। पा०। उत्कालिकश्रुतविशेषे, ६त०। चारित्रविधौ, चारित्रस्य विधाने, उत्त०३० अ०।

चरणविधिशब्दनिक्षेपायाऽऽह निर्युक्तिकृत् -

निक्खेवो चरणम्मी, चउव्विहो य होइ दव्वम्मि।
आगम नोआगमतो, नो आगमतो य सो तिविहो॥४८॥
जाणगसरीरभविए, तव्वइरित्ते य भक्खणाईसु।
आचरणा आचरणं, भावे चरण तु नायव्वं॥४९॥
निक्खेवो उ विहीए, चउव्विहो दुविह होइ दव्वम्मि।
आगम नोआगमतो, आगमतो होइ सो तिविहो॥५०॥
जाणगसरीरभविए, तव्वइरित्ते य इंदियत्थेसु।
भावविही पुण दुविहा, संजमजोगा तओ चेव॥५१॥

गाथाचतुष्टयं स्पष्टमेव, नवरं (तव्वइरित्ते य त्ति) तद्व्यतिरिक्तं च गतिभक्षादिषु, गतिर्गमनं, भक्षा भक्षणं, पठ्यते हि-'चर' गतिभक्षणयोरिति। आदिशब्दादासेवापरिग्रहः। उक्तं हि-चरतिरा-सेवायामपि वर्त्तते इति। तत एतेषु सत्सु प्रक्रमाद् द्रव्यमेव, सुप्व्यत्ययेन गत्यादयो वा, भावचरणं कार्याकरणत्वेन, त द्व्य तिरिक्तं द्रव्यचरणं, तथा चरणे प्रस्तावात् ज्ञानाद्याचारे आचरणमनुष्ठानं सिद्ध्यत्यनिहितं, भावे विचार्ये चरणं तु विशेषेण ज्ञातव्यमिति। तथा (इंदियत्थेसु त्ति) इन्द्रियाणि स्पर्शनादीनि, तेषामर्थाः स्पर्शादयः, तेषु प्रक्रमाद्यो विधिरनुष्ठानरूपं चरणासेवनंह्यत्र भावविधिः, स चैवंविध एवेति गाथाचतुष्टयार्थः।

संप्रति येनेह प्रकृतं तदुपदर्शयन्नुपदेशमाह-

पगयं तु भावचरणे, भावविहीए य होइ नायव्वं।
चइऊण अचरणविहिं, चरणविहीए उ जइयव्वं॥५२॥

गाथा निगदसिद्धा, नवरं भावचरणेन प्रस्तावाच्चारित्रानुष्ठानेन अचरणविधिमनाचारानुष्ठानं त्यक्त्वा चरणविधावुक्तरूपे यतितव्यं, यत्नो विधेय इति गाथार्थः। उक्तो नामनिष्पन्ननिक्षेपः॥५२॥

संप्रति सूत्रानुगमे सूत्रमुच्चारणीयम्। तच्चेदम् -

चरणविहिं पवक्खामि, जीवस्स उ सुहावहं।
ज चरित्ता बहू जीवा, तिण्णा संसारसागरं॥१॥

चरणस्य विधिरागमोक्तन्यायश्चरणविधिस्तं प्रवक्ष्यामि जीवस्य, तुवरधारणे भिन्नक्रमस्ततः (सुहावहं ति) सुखावहमेव वा यथा चैतदेवं तथा फलोपदर्शनद्वारेण आह-यं चरित्वाऽऽसेव्य बहवो जीवास्तीर्णा अतिक्रान्ताः, संसारसागरं भवसमुद्रं, मुक्तिमवाप्ता इत्यभिप्राय इति सूत्रार्थः।

यथाप्रतिज्ञातमेवाह-

एगओ विरइं, कुज्जा, एगतो य पवत्तणं।
असंजमे नियत्तिं च, संजमे य पवत्तणं॥२॥
रागदोसो य दो पावे, पावकम्मपवत्तणे।
जे भिक्खू रुंभए निच्चं, से ण अच्छइ मंडले॥३॥
दिव्वे य जे उवस्सग्गे, तहा तेरिच्छमाणुसे।
जे भिक्खू सहई सम्मं, से न अच्छइ मंडले॥४॥
दंडाणं गारवाणं च, सल्लाणं च तियं तियं।

जे भिक्खू रुंभए निच्चं, से ण अच्छइ मंडले ॥५॥
विगहाकसायसन्नाणं, झाणाणं वहुयं तहा।
जे भिक्खू वज्जए निच्चं, से ण अच्छइ मंडले ॥६॥
वएसु इंदिअत्थेसु, समिईसु किरियासु य।
जे भिक्खू जयई निच्चं, से न अच्छइ मंडले ॥७॥
लेसासु छसु काएसु, छक्के आहारकारणे।
जे भिक्खू जयई निच्चं, से न अच्छइ मंडले ॥८॥
पिंडुग्गहपडिमासु, भयट्ठाणेसु सत्तसु।
जे भिक्खू जयई निच्चं, से ण अच्छइ मंडले ॥९॥
मंदेसु वंभगुत्तीसु, भिक्खुधम्मम्मि दसविहे।
जे भिक्खू जयई निच्चं, से न अच्छइ मंडले ॥१०॥
उवासगाणं पडिमासु, भिक्खूणं पडिमासु य।
जे भिक्खू जयई निच्चं, से न अच्छइ मंडले ॥११॥
किरियासु भूयगामेसु, परमाहम्मिएसु य।
जे भिक्खू जयई निच्चं, से न अच्छइ मंडले ॥१२॥
गाहासोलसएहिं, तहा अस्संजमम्मि य।
जे भिक्खू जयई निच्चं, से न अच्छइ मंडले ॥१३॥
वंभम्मि नायज्झयणेसु, ठाणेसु य समाहिए।
जे भिक्खू जयई निच्चं, से ण अच्छइ मंडले ॥१४॥
एगवीसाएँ सवले, वावीसाए परीसहे।
जे भिक्खू जयई निच्चं, से ण अच्छइ मंडले ॥१५॥
तेवीसाए सूयगडे, रूवाहिएसु सुरेसु य।
जे भिक्खू जयई निच्चं,से ण अच्छइ मंडले ॥१६॥
पणवीसभावणेहिं, उद्देसेसु दसाइणं।
जे भिक्खू जयई निच्चं, से ण अच्छाइ मंडले ॥१७॥
अणगारगुणेहिं च, पकप्पम्मि तहेव य।
जे भिक्खू जयई निच्चं, से ण अच्छइ मंडले ॥१८॥
पावेसु य पसंगेसु, मोहट्ठाणेसु चेव य।
जे भिक्खू जयई निच्चं, से ण अच्छइ मंडले ॥१९॥
सिद्धाइगुणजोगेसु, तेत्तीसासायणासु य।
जे भिक्खू चयई निच्चं, से ण अच्छइ मंडले ॥२०॥

इत्यादि एकोनविंशतिः सूत्राणि। उत्त०३१ अ०। (विरत्यादीनामर्थोऽन्यत्रान्यत्र)

अध्ययनार्थं निगमयितुमाह-

इय एएसु ठाणेसु, जे भिक्खू जयई सया।
खिप्पं सो सव्वसंसारा, विप्पमुच्चइ पंडिओ ॥२१॥

इत्यनेन प्रकारेणैतेष्वनन्तरोक्तरूपेषु स्थानेषु असंयमादिषु योभिक्षुर्यतते उक्तन्यायेन यत्नवान् भवति सदा क्षिप्रं स संसाराद्विप्र-मुच्यते पण्डित इति सूत्रार्थः। उत्त०३१ अ०। एकत्रिंशेउत्तराध्ययने, स०३६ सम०।

चरणसंपण्ण त्रि० (चरणसंपन्न)। सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रतपः सपद्ये, पं० चू०।

चरणहीण त्रि० (चरणहीन)। सर्वथा चारित्रसत्ताविकले द्रव्यचरणहीने, ध०३ अधि०। प्रव०। आव०।

चरणाराहणाणिमित्त न० (चरणाराधनानिमित्त)। अस्खलितचारित्रपालनार्थे, पञ्चा०२ विव०।

चरणेरिया स्त्री० (चरणेर्य्या)। 'अभ्र-वभ्र-मभ्र-चर' गत्यर्थाः। चरतेर्भावे ल्युट् चरणं, तद्रूपेर्या चरणेर्य्या श्रमणस्य केनापि प्रकारेण भावरूपे गमने, आचा०२ श्रु०३ अ०१ उ०। ('इरिया' शब्दे द्वितीयभागे ६२६ पृष्ठे विस्तरतः प्रतिपादितम्)

चरम् त्रि० (चरम)। अवसानवृत्तौ, षो०३ विव०। पर्यन्तवर्तिनि, प्रज्ञा०५ पद। भ०।

विषयसूची -

(१) चरमाचरमनिर्वचनम्।
(२) चरमाचरमलक्षणम्।
(३) रत्नप्रभादीनां नैरयिकादीनां च चरमाचरमविभागः।
(४) रत्नप्रभादिषु प्रत्येकं चरमाचरमादिगतमल्पबहुत्वाभिधानम्।
(५) लोकालोकविषये प्रश्नाः।
(६) परमाणुपुद्गलानां चरमाचरमत्वविचारः।
(७) जीवादीनां चरमाचरमविभागेन चिन्तनम्।
(८) स्थितिचरमे विचारः।
(९) जीवदयो जीवभावेन चरमा अचरमा वेत्याहारादिविशेषेण प्रश्नाः।
(१०) अल्पस्थितौ चरमाचरमविचारः।

(१) अथ केयं चरमाचरमपरिभाषे ? तत्रोच्यते-चरमं नाम प्रान्तं पर्यन्तवर्ति, आपेक्षिकं च चरमत्वं, यदुक्तम्-अन्यद्रव्यापेक्षया इदं चरमं द्रव्यमिति, यथा पूर्वशरीरापेक्षया चरमं शरीरमिति। तथा अचरमं नाम अप्रान्तं मध्यवर्ति, आपेक्षिकं चाचरमत्वम्, यदुक्तम्-अन्यद्रव्यापेक्षया इदमचरमं द्रव्यं, यथाऽन्यशरीरापेक्षया मध्यशरीरमिति। भ०८ श०३ उ०।

(२) अथ चरमाचरमलक्षणाभिधानायाऽऽह-

जो जं पाविहिति पुणो, भावं सो तेण अचरिमो होइ।
अचंतविजोगो ज-स्स तेण्ण भावेण सो चरिमो ॥

(जो जं पाविहिति त्ति) यो जीवो नारकादिर्यं जीवत्वनारकत्वादि कमप्रतिपतितं प्रतिपतितं वा प्राप्स्यति लप्स्यते पुनः पुनरपि भावं धर्मं, स तेन भावेन, तद्भावापेक्षयेत्यर्थः; अचरमो भवति। तथा अत्यन्तवियोगः सर्वथाविरहो यस्य जीवादेर्येन भावेन स तेनेति शेषश्चरमो भवतीति। भ०१६ श०१ उ०।

(३) रत्नप्रभादीनां नैरयिकादीनां च चरमाचरमविभागमाह-

इमा णं भंते ! रयणप्पभा पुढवी किं चरमा, अचरमा, चरमाइं, अचरमाइं, चरमंतपदेसा, अचरमंतपदेसा ? गोयमा ! इमा णं रयणप्पभापुढवी नो चरमा, नो अचरमा, नो चरमाइं, नो अचरमाइं, नो चरमंतपदेसा, नो अचरमंतपदेसा, नियमा अचरमं चरमाइ य चरमंतपदेसा य, अचरमंतपदेसा य, एवं० जाव अहे सत्तमा पुढवी सोहम्मादी० जाव अनुत्तर-

विमाणाणं एवं चेव, इसीप्पब्भाराए एवं चेव, लोगे वि एवं चेव, एवं अलोगे वि।

"इमा णं भंते ! रयणप्पभा पुढवी किं चरमा" इत्यादि पृच्छा ? अथ केयं चरमाचरमपरिभाषा ? उच्यते-चरमं नाम पर्यन्तवर्ति, तच्चरमत्वमापेक्षिकमन्यापेक्षया तस्य भावात्। यथा पूर्वशरीरापेक्षया चरमं शरीरमिति, अचरममप्रान्तं मध्यवर्ति इति यावत्, तदपि चापेक्षिकं, तस्य चरमापेक्षया भावात्। यथा तथाविधान्यशरीरापे-क्षया मध्यशरीरमचरमशरीरं तदेव चरमाचरमेत्येकवचनान्तः प्रश्नः कृतः। सम्प्रति बहुवचनान्तमाह-(चरमाइं अचरमाइं ति) एतानि चत्वारि प्रश्नसूत्राणि तथाविधैकत्व-परिणामविशिष्टद्रव्यविषयाणि कृतानि। संप्रति प्रदेशानधिकृत्य प्रश्नसूत्रद्वयमाह-(चरमंतपएसा य इति) चरमाण्यवान्तर्वर्तित्वात् अन्ताश्चरमान्तप्रदेशाः। अचरममेव कस्याप्यपेक्षयाऽनन्तवर्तित्वा-दन्तोऽवरमान्तप्रदेशाः। तदेवं षट्सु प्रश्नेषु कृतेषु भगवानाह-गौतम ! सा रत्नप्रभा पृथिवी नो चरमा, चरमत्वं ह्यापेक्षिकमित्युक्तं, न चात्रान्यदपेक्षणीयमस्ति, केवलाया एव तदन्यनिरपेक्षायाः स्पृष्टत्वात्, नाप्यचरमा, तत एव हेतोः, तथा ह्यचरमत्वमपि आपेक्षिकं, न चात्रान्यदपेक्षणीयमस्तीति। किमुक्तं भवति ? इयं रत्नप्रभा पृथिवी न पश्चिमा, नापि मध्यमा, तदन्यस्यापेक्षणीयस्याविवक्षणादिति। अत एव न चरमाणि, चरमत्वव्यपदेशस्यैवाऽसम्भवः, तद्विषयबहुवचना-सम्भवात्। तथाहि-यदा तस्याश्चरमत्वव्यपदेश एवोक्तयुक्तेर्नोपपद्यते, तदा कथं तद्विषयं बहुवचनमुपपत्तुमर्हतीति, एवमचरमाण्यपि प्रतिषेधनीयानि, प्रागुक्तयुक्तेरचरमत्वव्यपदेशस्यासंभवात्, न चरमान्त-प्रदेशा नाप्यचरमान्त प्रदेशाः,उक्तयुक्त्या चरमत्वस्याचरमत्वस्य चाऽसम्भवतस्तत्प्रदेशकल्पनाया अप्यसम्भवात्। यद्येवं तर्हि किंस्वरूपा सेत्यत्र आह-नियमान्नियमेनाचरमं चरमाणि च। किमुक्तं भवति ? यदीयमखण्डरूपा विवक्षितत्वात् पृच्छ्यते तदा यथोक्तभङ्गानामेकेनापि भङ्गेन व्यपदेशो न भवति, यदा त्वसंख्येयप्रदेशावगाढेत्यनेकावयव-विभागात्मिका विवक्ष्यते तदा यथोक्तनिर्वचनविषया भवति। तथाहि-रत्नप्रभापृथिव्या यानि प्रान्तेष्ववस्थितानि खण्डानि प्रत्येकं तथाविधविशिष्ट-कत्वपरिणामपरिणतानि चरमाणि १ यत्पुनर्मध्ये महद्रत्नप्रभायाः खण्डं तत्तथाविधैकत्वपरिणामयुक्तत्वादेकत्वेन विवक्षितमित्यचरमम् २, उभयसमुदायरूपा चेयम्, अन्यथा तदभाव-प्रसङ्गात्। तदेवमवयवावयविरूपतया चिन्तायामचरमचरमाणि चेत्यखण्डैकनिर्वचनविषया प्रतिपादिता, यदा पुनः प्रदेशचिन्ता क्रियते तदैवं निर्वचनम्, चरमान्तप्रदेशाश्च, अचरमान्तप्रदेशाश्च। तथाहि-ये बाह्यखण्डेषु गताः प्रदेशास्ते चरमान्तप्रदेशाः ये पुनर्मध्यैकखण्डगताः प्रदेशास्तेऽचरमान्तप्रदेशाः। अन्ये तु व्याचक्षतेचरमाणि नाम तथाविध-प्रविष्टेतरप्रान्तैकप्रादेशिकीश्रेणिपटलरूपाणि मध्यभागोऽचरम इति। तदपि समीचीनम्, दोषाभावात्। चरमान्तप्रदेशा यथोक्तरूपप्रान्तैक-प्रादेशिकश्रेणिपटलगताः प्रदेशा अचरमान्तप्रदेशा मध्यभागगताः प्रदेशाः। अनेन निर्वचनसूत्रेण एकान्तदुर्नयप्रधानेन अवयवावयविरूपं रत्नप्रभादिकं वस्तु, तयोश्चावयवावयविनोर्भेदाभेद इत्यावेदितं, तथा चावयवावयविरू-पतायां परोक्तदूषणावकाशः। तथा धर्मसंग्रहणीटीकायां बाह्यवस्तु-प्रतिष्ठावसरं प्रति पादितमिति ततोऽवधार्यम्। एवं "जाव अहे सत्तमाए पुढवीए" इत्यादि। यथा रत्नप्रभा पृथिवी प्रश्ननिर्वचना-भ्यामुक्ता, एवं शर्कराद्या अपि पृथिव्यः, सौधर्मादीनि च विमानानि अनुत्तरविमानपर्यवसानानि, ईषत्प्राग्भारालोकश्च वक्तव्यः, सूत्रपाठो-ऽपि सुगमत्वात् स्वयं परिभावनीयः। स चैवं-"सक्करप्पभाए णं भंते ! पुढवी किं चरमा, अचरमा, चरमाणि, अचरमाणि" इत्यादि। (एवमलोके वि इति) एवमुक्तेन प्रकारेणालोकोऽपि वक्तव्यः। स चैवम्-"अलोए णं भंते ! किं चरमे अचरमे" इत्यादि प्रश्नसूत्रं तथैव। निर्वचनसूत्रं-"गोयमा ! अचरमे चरमाणि व चरमंतपएसा य अचरमंतपएसा य"। तत् चरमाणि यानि लोकनिष्कुटेषु प्रविष्टानि, शेषमन्यसर्वमचरमं, चरमखण्डगताः प्रदेशाश्चरमान्तप्रदेशाः, अचरमखण्डगताः प्रदेशा अचरमप्रदेशाः प्रज्ञा०१ पद। भ०।

(४) सम्प्रत्येतेषु रत्नप्रभादिषु प्रत्येकं चरमाचरमादिगत-मल्पबहुत्वमभिधित्सुरिदमाह -

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए अचरमस्स य चरमाण य चरमंतपदेसाण य अचरमंतपरदेसाण य दव्वट्ठयाए पदेसट्ठयाए दव्वट्ठपदेसट्ठयाए कयरे, कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ? गोयमा ! सव्वत्थोवे इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए दव्वट्ठयाए एगे अचरमे चरमाइं असंखेज्जगुणाइं अचरमं चरमाणि य दो वि विसेसाहियाए पदेसट्ठयाए सव्वत्थोवा, इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए चरमंतपदेसा अचरमंतपदेसा, अचरमंत-पदेसा असंखेज्जगुणा, चरमंतपदेसा य अचरमंतदेसा य दो वि विसेसाहिया दव्वट्ठपदेसट्ठयाए सव्वत्थोवे, इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए दव्वट्ठयाए एगे अचरमे चरमाइं अ संखेज्जगुणाइं अचरमं चरमाणि य दो वि विसेसाहियाइं चरमंतपदेसा असंखेज्जगुणा अचरमंतपदेसा असंखेज्जगुणा चरमंतपदेसा य अचरमंतपदेसा य दो वि विसेसाहिया एवं० जाव अहे सत्तमा सोहम्मस्स० जाव लोगस्स य एवं चेव।

"इमी से णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए अचरमस्स य चरमाणं" इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमम्। निर्वचनसूत्रे सर्वस्तोकं द्रव्यार्थतया अस्या रत्नप्रभायाः पृथिव्या अचरमखण्डम्। कस्मादिति चेदत आह-एके 'निमित्तकारणहेतुषु सर्वासां विभक्तीनां प्रायोदर्शनम्' इति न्यायादत्र हेतौ प्रथमा। ततोऽयमर्थः यस्मात्तथाविधैकस्कन्धपरिणामपरिणतत्वादेकं ततः स्तोकतस्मात् यानि चरमाणि खण्डानि तान्यसंख्येयगुणानि, तेषाम-संख्यातत्वात्, अथाचरमं चरमाणि समुदितानि चरमाणां तुल्यानि विशेषाधिकानि चेति शङ्कायामाह-अचरमं चरमाणि च समुदितानि विशेषधिकानि। तथाहि-यदचरमद्रव्यं तच्चरमद्रव्येषु प्रक्षिप्तं ततश्चरमेभ्य एकोनाधिकत्वाद्विशेषाधिकसमुदायो भवति, प्रदेशार्थत्वचिन्तायां सर्वस्तोकाश्चरमान्तप्रदेशाः, ततश्चमखण्डानि मध्यखण्डापेक्षयाऽति-सूक्ष्माणि, ततस्तेषामसंख्येयानामपि ये प्रदेशास्ते मध्यखण्डगतप्रदेशा-पेक्षया सर्वस्तोकाः, तेभ्यो अचरमप्रदेश असंख्येयगुणाः, अचरमखण्ड-

स्यैकस्यापि चरमखण्डसमुदायापेक्षया क्षेत्रतोऽसंख्ययगुणेत्वात्, चरमान्तप्रदेशा अचरमान्तप्रदेशाश्च द्वयेऽपि समुदिता अचरमान्तप्रदेशेभ्यो विशेषाधिकाः। कथमिति चेत् ? उच्यते-चर-मान्तप्रदेशा अचरमान्तप्रदेशापेक्षया असंख्येयभागप्रमाणाः, ततोऽचरमान्तप्रदेशेषु चरमान्तप्रदेशप्रक्षेपेऽपि ते अचरमान्तप्रदेशेभ्यो विशेषाधिका एव भवन्ति द्रव्यार्थप्रदेशार्थचिन्तायाम्, (अचरमं चरमाणि य दो वि विसेसाहियाइं चरमंतपएसा असंखेज्जगुणा इति) अचरमचरमसमुदायाच्चरमान्तप्रदेशा असंख्येयगुणाः। कथम् ? उच्यते-इह यदचरमखण्डं तदसंख्येयप्रदेशावगाहमपि द्रव्यार्थतया एकं चरमेषु पुनः खण्डेषु प्रत्येकमसंख्येयाः प्रदेशास्ततो भवन्ति चरमाचरमद्रव्यसमुदायादसंख्येगुणाश्चरमान्तप्रदेशास्तेभ्योऽप्यचरमान्तप्रदेशा असंख्येयगुणास्तेभ्योऽपि चरमाचरमप्रदेशाः समुदिता विशेषधिका इति पूर्ववत्।

अलोगस्स णं भंते ! अचरमस्स य चरमाण य चरमंतपदेसाण य अचरमंतपदेसाण य दव्वट्ठयाए पदेसट्ठयाए दव्वट्ठपदेसट्ठयाए कयरे, कयरेहिंतो अप्पा वा०४ ? गोयमा ! सव्वत्थोवे अलोगस्स दव्वट्ठयाए एगे अचरमे चरमाइं असंखेज्जगुणाइं अचरममचरमाणि य दो वि विसेसाहियाइं पदेसट्ठयाए सव्वत्थोवा; अलोगस्स चरमंतपदेसा अचरमं तपदेसा अणंतगुणा चरसंतपदेसा य अचरमंतपदेसा य दो वि विसेसाहिया दव्वट्ठपदेसट्ठयाए सव्वत्थोवे; अलोगस्स दव्वट्ठायाए एगे अचरंमे चरमाइं असंखेज्जगुणाइं अचरमं च चरमाणि य दो वि विसेसाहियाइं चरमंतपदेसा असंखेज्जगुणा अचरमंतपदेसा अणंतगुणा चरमंतपदेसा य अचरमंतपदेसा य दो वि विसेसाहिया।

प्रदेशार्थचिन्तायां सर्वस्तोका अलोकस्य चरमान्तप्रदेशाः, लोकनिष्कुटेष्वेवान्तस्तेषां भावात्, तेभ्योऽचरमान्तप्रदेशा अनन्तगुणाः, अलोकस्यानन्तत्वात्। चरमान्तप्रदेशा अचरमान्तप्रदेशाश्च समुदिता विशेषाधिकाः, चरमान्तप्रदेशा ह्यचरमान्तप्रदेशापेक्षया अनन्तभागकल्पाः, ततस्तेषामचरमान्तप्रदेशराशौ प्रेक्षेपेऽपि तेऽचरमान्तप्रदेशेभ्यो विशेषाधिका एव भवन्ति।

(५) सम्प्रति लोकालोकविषयं प्रश्नसूत्रमाह -

लोगालोगस्स णं भंते ! अचरमस्स य चरमाण य चरमंरुपदेसाण य अचरमंतपदेसाण य दव्वट्ठयाए पदेसट्ठयाए दव्वट्ठपदेसट्ठयाए कयरे, कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ? गोयमा ! सव्वत्थोवे लोगालोगस्स दव्वट्ठयाए एगमेगे अचरमे, लोगस्स चरमाइं असंखेज्जगुणाइं, अलोगस्स चरमाइं विसेसाहियाइं, लोगस्स अलोगस्स य अचरमं च चरमाणि य दो वि विसेसाहियाइं पदेसट्ठयाए सव्वत्थोवा, लोगस्स चरमंतपदेसा, अलोगस्स चरमंतपदेसा विसेसाहिया, लोगस्स अचरमंतपदेसा असंखिज्जगुणा, अलोगस्स अचरमंतपदेसा अणंतगुणा, लोगस्स य अलोगस्स य चरमंतपदेसा य अचरमंतपदेसा य दो वि विसेसाहिया दव्वट्ठपदेसट्ठयाए सव्वत्थोवे, लोगालोगस्स दव्वट्ठयाए एगमेगे अचरमे, लोगस्स चरमाइं असंखेज्जगुणाइं, अलोगस्स चरमाइं विसेसाहियाइं, लोगस्स य अलोगस्स य अचरमं च चरमाणि य दो वि विसोसाहियाइं, लोगस्स चरमंतपदेसा असंखेज्जगुणा, अलोगस्स चरमंतपदेसा विसेसाहिया, लोगस्स अचरमंतपदेसा असंखेज्जगुणा, अलोगस्स अचरमंतपदेसा अणंतगुणा, लोगस्स य अलोगस्स य चरमंतपदेसा य अचरमंतपदेसा य दो वि विसेसाहिया सव्वदव्वा विसेसाहिया सव्वपदेसा अणंतगुणा सव्वपज्जवा अणंतगुणा।

प्रश्नसूत्रं सुगमम् निर्वचनमाह-"गोयमा" इत्यादि। गौतम ! लोकस्य अलोकस्य च यत् एकैकं अचरमखण्डं तत् स्तोकमेकत्वात्, तेभ्यो लोकस्य चरमखण्डद्रव्याण्यसंख्येयगुणानि तेषामसंख्यत्वात्, तेभ्योऽप्यलोकस्य चरमखण्डानि विशेषाधिकानि। कथमिति चेत् ? उच्यते-इह यद्यपि लोकस्य चरमखण्डानि तत्त्वतोऽसंख्येयानि तथापि प्रागुपदर्शितपृथ्वीन्यासपरिकल्पनया तान्यष्टौ परिकल्पन्ते। तद्यथा-एकैकं चतसृषु दिक्षु एकैकं च विदिक्ष्विति अलोकचरमखण्डानि च तन्न्यासपरिकल्पनया परिगण्यमानानि द्वादश। तद्यथा-एकैकं चतसृषु-दिक्षु द्वे द्वे विदिक्ष्विति द्वादश चाष्टभ्यो न द्विगुणानि त्रिगुणानि च, किं तु विशेषाधिकानि, तेभ्योऽलोकस्य चरमखण्डेभ्यो लोकस्य चरमाचरमखण्डानि, अलोकस्य चरमाचरमखण्डानि समुदितानि विशेषाधिकानि। तथाहि-लोकस्य चरमखण्डानि प्रागुक्तपरिकल्पनया अष्टावेकमचरमित्युभयमीलनेन च अलोकस्याऽपि चरमाचरमखण्डानि समुदितानि त्रयोदश, उभयेषामेकत्र मीलनेन द्वाविंशतिः, सा च द्वादशभ्यो न द्विगुणा नापि त्रिगुणा, किं तु विशेषाधिकेति, अलोकस्य चरमखण्डेभ्यो लोकालोकचरमाचरमखण्डानि समुदितानि विशेषाधिकानि, प्रदेशार्थतांचिन्तायां सर्वस्तोका लोकस्य चरमान्तप्रदेशाः, अष्टखण्डसत्कानामेव प्रदेशानां भावात्। तेभ्योऽलोकस्य चरमान्तप्रदेशा विशेषाधिकाः, तेभ्योऽलोकस्याचरमान्तप्रदेशा असंख्येयगुणाः, क्षेत्रस्यातिप्रभूततया तत्प्रदेशानामप्यतिप्रभूतत्वाभावात्। तेभ्योऽप्यलोकस्याचरमान्तप्रदेशा अनन्तगुणाः, क्षेत्रस्यानन्तगुणत्वात्, तेभ्योऽपि लोकस्य चरमान्तप्रदेशा अचरमान्तप्रदेशा अलोकस्यापि चरमान्तप्रदेशा अचरमान्तप्रदेशाः समुदिता विशेषाधिकाः। कथमिति चेत् ?, उच्यते-इह अलोकस्याचरमान्तप्रदेशराशौ लोकस्य चरमाचरमान्तप्रदेशा अलोकस्य चरमान्तप्रदेशाश्च, प्रक्षिप्यन्ते ते च सर्वसंख्ययाऽप्यसंख्येयाश्चानन्तराश्यपेक्षयाऽतिस्तोका इति प्रक्षेपेऽपि ते अलोकस्याचरमान्तप्रदेशेभ्यो विशेषाधिका एव। एतदनुसारेण द्रव्यार्थप्रदेशार्थचिन्तासूत्रमपि स्वयं परिभाववनीयम्, नवरं लोकालोकचरमाचरमखण्डेभ्यो लोकस्य चरमान्तप्रदेशा असंख्येयगुणा इति लोकस्य किल चरमाणि खण्डान्यष्टौ एकैकस्मिंश्च खण्डदेशे खण्डप्रदेशा असंख्येयलोकालोकचरमाचरमखण्डानि च समुदितानि द्वाविंशतिः ततो घटन्ते लोकालोकचरमाचरमखण्डेभ्यो लोकस्य चरमान्तप्रदेशा अअसंख्येयगुणाः। शेषपदभावना प्राग्वत् (सव्वदव्वा)

विसेसाहिया इति लोकालोकचरमाचरमान्तप्रदेशेभ्यः सर्वद्रव्याणि विशेषाधिकानि, अनन्तानन्तसंख्यानां जीवानां तथा परमाण्वादीनामनन्तपरमाण्वात्मकस्कन्धपर्यन्तानां प्रत्येकानामनन्तसंख्यानां पृथक् २ द्रव्यत्वात् तेभ्योऽपि सर्वप्रदेशा अनन्तगुणाः, तेभ्योऽपि सर्वपर्याया अनन्तगुणाः, प्रतिप्रदेशं स्वपरभेदभिन्नानां पर्यायाणामानन्त्यात्।

(६) इदानीं परमाण्वादिकं चिन्तयन्नाह –

परमाणुपोग्गलाणं भंते ! किं चरमे अचरमे अवत्तव्वए चरमाइं अचरमाइं अवत्तव्वयाइं ६ उदाहु चरमे य अचरमे य ७ उदाहु चरमे य अचरमाइं ८ उदाहु चरमाइं अचरमे य ९ उदाहु चरमाइं च अचरमाइं च १० पढमा चउभगी। उदाहु चरमे य अवत्तव्वए य ११ उदाहु चरमे य अवत्तव्वयाइं च १२, उदाहु चरमाइं च अवत्तव्वए य १३ उ दाहु चरमाइं च अवत्तव्वयाइं च १४ वीया चउभंगी। उदाहु अचरमे य अवत्तव्वए य १५ उदाहु अचरमस्स य अवत्तव्वयाइं च १६ उदाहु अचरमाइं च अवत्तव्वए य १७ उदाहु अचरमाइं च अवत्तव्वयाइ च १८ तइया चउभंगी। उदाहु चरमे य अचरमे य अवत्तव्वए य १९ उदाहु चरमे य अचरमे य अवत्तव्वयाइं च २० छदाहु चरमे य अचरमाइं च अवत्तव्वए य २१ उदाहु चरमे य अचरमाइं च अवत्तव्वयाइं च २२ उदाहु चरमाइं अचरमे य अवत्तव्वए य २३ उदाहु चरमाइं अचरमे य अवत्तव्ववाइं २४ उदाहु चरमाइं च अचरमाइं च अवत्तव्वए य २५ उदाहु चरमाइं च अचरमाइ च अवत्तव्वयाइं च २६ एवं छव्वीसमंगा ? गोयमा ! परमाणुपोग्गले नो चरमे नो अचरमे नियमा अवत्तव्वए, सेसा भंगा पडिसेहेयव्वा।

तत्र प्रश्नसूत्रे षट्विंशतिभङ्गाः, यतस्त्रीणि पदानि चरमाचरमावक्तव्यलक्षणानि, तेषां चैकैकसंयोगे प्रत्येकमेकवचनास्त्रयोभङ्गाः। तद्यथा-चरमः १ अचरमः २ अवक्तव्यकः ३। त्रयोबहुवचननेन। तद्यथा-चरमाणि १ अचरमाणि २ अवक्तव्यानि ३। सर्वसंख्यया षट्; द्विकसंयोगास्त्रयः। तद्यथा-चरमाचरमपदयोरेकः, चरमाऽवक्तव्यकपदयोर्द्वितीयः, अचरमाऽवक्तव्यकपदयोस्तृतीयः। एकैकस्मिंश्चत्वारो भङ्गाः, तत्र प्रथमे द्विकसंयोगे एवं चरमश्चाऽचरमश्च १ चरमश्चाऽचरमाश्च २ चरमाश्चाऽचरमश्च ३ चरमाश्चाचरमाश्च ४। एवमेव चतुर्भङ्गी चरमावक्तव्यपदयोः, एवमेव चाचरमावक्तव्यपदयोः, सर्वसंख्याया द्विकसंयोगे द्वादश भङ्गाः त्रिकसंयोगे एकवचनबहुवचनाभ्यामष्टौ, सर्वसङ्कलनया षड्विंशतिः। अत्र निर्वचनमाह-"गोयमा ! परमाणुपोग्गले नो चरम" इत्यादि। परमाणुपुद्गलश्चरमो न भवति, चरमत्वं ह्यवापेक्षं, न चान्यदपेक्षणीयमस्ति, तस्याविवक्षणान्न च सांशः परमाणुर्येनांशापेक्षया चरमत्वं प्रकल्पते, निरवयवत्वात्तस्मान्न चरमो नाप्यचरमो निरवयवतया मध्यत्वायोगात्, किं त्यवक्तव्यः, चरमाचरमव्यपदेशकारणतः शून्यतया चरमशब्देनाऽचरमशब्देन वा व्यपदेष्टुमशक्यत्वात्, वक्तुं शक्यं हि वक्तव्यं, यत्तु चरमशब्देन अचरमशब्देन वा स्वस्वनिमित्तशून्यतयावक्तुमशक्यं तदवक्तव्यमिति, शेषास्तु भङ्गाः प्रतिषेध्याः, परमाणौ तेषामसंभवात्। वक्ष्यति च-"परमाणुम्मि य तइओ" अस्थायमर्थः-परमाणौ परमाणुचिन्तायां तृतीयो भङ्गः परिग्राह्यः, शेषा निरवयवत्वेन प्रतिषेध्याः। प्रज्ञा०९ पद।

परमाणुपोग्गले णं भंते ! किं अचरिमे ? गोयमा ! दव्वादेसेणं णो चरिमे अचरिमे, खेत्तादेसेणं सिय चरिमे सिय अचरिमे, कालादेसेणं सिय चरिमे, सिय अचरिमे, भावादेसेणं सिय चरिमे सिय अचरिमे ॥

"परमाणु" इत्यादि। (चरमे ति) यः परमाणुर्यस्माद्विवक्षित-भावाच्च्युतः सन् पुनरस्तं भावं न प्राप्स्यति स तद्भावापेक्षया चरमः, एतद्विपरीतस्त्वचरम इति, तत्र (दव्वादेसेणं ति) आदेशः प्रकारो द्रव्यरूप आदेशो द्रव्यादेशस्तेन नो चरमः, सहि द्रव्यतः परमाणुत्वाच्च्युतः संघातमवाप्यापि ततश्च्युतः, परमाणुत्वलक्षणं द्रव्यत्वमवाप्स्यति इति (खेत्तादेसेणं ति) क्षेत्रविशेषितत्वलक्षणप्रकारेण स्यात्कदाचिच्चरमः। कथम्? यत्र क्षेत्र केवली समुद्घातं गतस्तत्र क्षेत्रे यः परमाणुरवगाहोऽसौ तत्र क्षेत्रे तेन केवलिना समुद्घातगतेन विशेषितो न कदाचनाप्यवगाहं लप्स्यते, केवलिनो निर्वाणगमनादित्येवं क्षेत्रतश्चरमोऽसाविति। निर्विशेषणक्षेत्रापेक्षया त्वचरमस्त-त्क्षेत्रावगाहस्य तेन लप्स्यमानत्वादिति। (कालोदेसेणं ति) कालविशेषितत्वलक्षणप्रकारेण (सिय चरिमे ति) कथञ्चिच्चरमः, कथम् ? यत्र काले पूर्वाह्णादौ केवलिना समुद्घातः कृतस्तत्रैव यः परमाणुः परमाणुतया संवृतः स तं कालविशेषं केवलिसमुद्घातविशेषितं न कदाचनापि प्राप्स्यति, तस्य केवलिनः सिद्धिगमनेन पुनः समुद्घाताभावादिति तदपेक्षया कालतश्चरमोऽसाविति निर्विशेषणकालापेक्षया त्वचरम इति। (भावाएसेणं ति) भावो वर्णादिविशेषः, तद्विशेषणलक्षणप्रकारेण स्याच्चरमः, कथम् ? विवक्षितकेवलिसमुद्घातावसरे यः पुद्गलो वर्णादिभावविशेषं परिणतः स विवक्षितकेवलिसमुद्घातविशेषितवर्णपरिणामापेक्षया चरमो यस्मात् तत्केवलिनिर्वाणे पुनरस्तं परिणाममसौ न प्राप्स्यतीति, इदं च व्याख्यानं चूर्णिकारमतमुपजीव्य कृतमिति। भ०१४ श०५ उ०।

दुपदेसिए णं भंते ! खंधे पुच्छा ? गोयमा ! दुपदेसिए खंधे सिय चरमे नो अचररमे, सिय अवत्तव्वए, सेसा भंगा पडिसेहेयव्वा ॥

"दुपएसिए णं भंते !" इत्यादि प्रश्नसूत्रं प्राग्वत्। निर्वचनमाह- "गोयमा ! सिय चरमे नो अचरमे, सिय अवत्तव्वए" इत्यादि द्विप्रदेशकः स्कन्धः स्यात् कदाचित् चरमः। कथमिति चेत्? उच्यते-इह यदा द्विप्रदेशकः स्कन्धो द्वयोराकाशप्रदेशयोरवगाढो भवति समश्रेण्या व्यवस्थितया, तदा एकोऽपि परमाणुरपरपरमाण्वपेक्षया चरमोऽपरोऽप्यपरपरमाण्वपेक्षया चरम इति चरमः, अचरमस्तु न भवति, सर्वद्रव्याणामपि केवलाचरमत्वस्यायोगात्। यदा तु स एव द्विप्रदेशिकः स्कन्धः एकस्मिन्नाकाशप्रदेशे अवगाहते, तदा स तथाविधैकत्वपरिमाणपरिणततया परमाणुवत् चरमाचरमव्यपदेशकारणशून्यत्वान्न चरमशब्देन व्यपदेष्टुं शक्यते, नाप्यचरम–

शब्देनेति अवक्तव्यः, शेषास्तु भङ्गाः प्रतिषेध्याः। तथा च वक्ष्यति-"पढमो तइओ य होइ दुपएसे। अस्यायमर्थः द्विप्रदेशके स्कन्धे प्रथमो भङ्गश्चरम इति तृतीयोऽवक्तव्य इति भवति। शेषास्तु प्रतिषेध्याः, असम्भवात्, स चासम्भवः सुप्रतीत एव।

तिपएसिए णं भंते ! खंधे पुच्छा ? गोयमा तिपदेसिए खंधे सिय चरमे नो अचरमे, सिय अवत्तव्वए नो चरमाइं, नो अचरमाइं नो अवत्तव्वयाइं, नो चरमे य अचरमे य, नो चरमे य अचरमाइं, सिय चरमाइं च अचरमे य, नो चरमाइं च अचरमाइं च, सिय चरमे य अवत्तव्वए य, सेसा भंगा पडिसेहेयव्वा ॥

"तिपएसिए णं भंते ! खंधे" इत्यादि प्रश्नसूत्रं प्राग्वत्। निर्वचनम्- "गोयमा ! सिय चरमे" इत्यादि। इह यदा त्रिप्रदेशिकाः स्कन्धो द्वयोराकाशप्रदेशयोः समश्रेण्या व्यवस्थितयोरेवमवगाहो भवति तदाऽसौ चरमः। चरमाचरमत्वभावना द्विप्रदेशिकस्कन्धवद्भावनीया, अचरम-प्रतिषेधः प्राग्वत्, स्यादवक्तव्य इति, यदा स एव त्रिप्रदेशिकः स्कन्ध एकस्मिन्नाकाशप्रदेशेऽवगाहते तदा परमाणुवत् चरमाचरमव्यपदेश-कारणशून्यतया चरमाऽचरमशब्दाभ्यां व्यपदेष्टुमशक्यत्वादवक्त-व्यः, चतुर्थादयोऽष्टमपर्यन्ताः प्रतिषेध्याः, असंभवात्, असंभवस्तु प्रतीतत्वात् स्वयमुपयुज्य वक्तव्यः, नवमस्तु ग्राह्यः, तथा चाह-(सिय चरमाइ य अचरमे य) प्राकृते द्वित्वेऽपि बहुवचनम्, ततोऽयमर्थः स्यात्कदाचिदयं भङ्गश्चरमोऽचरमश्च, तत्र यदा स त्रिप्रदेशिकः स्कन्धः त्रिष्वाकाशप्रदेशेषु समश्रेण्या व्यवस्थितेष्वेवमवगाहते तदाऽऽदिमान्तिमौ द्वौ परमाणुपर्यन्तवर्तित्वाच्चरमौ, मध्यमस्तु मध्यवर्तित्वादचरम इति, दशमस्तु प्रतिषेध्यस्कन्धस्य त्रिप्रदेशिकतया चरमाचरमशब्दयोः बहुवचननिमित्तासंभवात्, एकादशस्तु ग्राह्यः, तथा चाह-(सिय चरमे य अवत्तव्वए य) स्यात्कदाचिदयं भङ्गश्चावक्तव्यश्च, तत्र यदा स त्रिप्रदेशिकः समश्रेण्या विश्रेण्या चैवमवगाहते तदा द्वौ परमाणू समश्रेण्या व्यवस्थिताविति द्विप्रदेशावगाढद्विप्रदेशिकस्कन्धवच्चरमव्यपदेश-कारणभावातः चरम एकश्च परमाणुर्विश्रेणिस्थश्चरमाचरमशब्दाभ्यां व्यपदेष्टुमशक्य इत्यवक्तव्यः, शेषास्तु भङ्गाः सर्वेऽपि प्रतिषेध्याः। वक्ष्यति च-"पढमो तइओ नवमो, एक्कारसमो य तिपएसे।" अस्यायमर्थः-त्रिप्रदेशे स्कन्धे प्रथमो भङ्गश्चरम इति, तृतीयोऽवक्तव्य इति, नवमश्चरमौ वाऽचरमश्च, एकादशश्चरमश्चावक्तव्यश्चेति भवति, शेषा भङ्गा न घटन्ते।

चउप्पएसिए णं भंते ! खंधे पुच्छा ? गोयमा ! चउप्पएसिए णं खंधे सिय चरमे नो अचरमे, सिय अवत्तव्वए नो चरमाइं, नो अचरमाइं नो अवत्तव्वयाइं, नो चर मे य अचरमे य, नो चरमे य अचरमाइं च, सिय चरमाइं अचरमे य, सिय चरमाइं च अचरमाइं च, सिय चरमे य अवत्तव्वए य, सिय चरमे य अवत्तव्वयाइं च, नो चरमाइं च अवत्तव्वए य, नो अचरमाइं च अवत्तव्वयाइं च, नो अचरमे य अवत्तव्वए य, नो अचरमे य अवत्तव्वयाइं च, नो अचरमाइं च अवत्तव्वए य, नो अचरमाइं च अवत्तव्वयाइं च, नो चरमे य अचरमे य अवत्तव्वए य, नो चरमे य अचरमे य अवत्तव्वयाइं च, नो चरमे य अचरमाइं च अवत्तव्वए य, सेसा भंगा पडिसेहेयव्वा ॥

"चउप्पएसिए णं भंते ! खंधे" इत्यादि प्रश्नसूत्रं प्राग्वत्। निर्वचनमाह- 'गोयमा ! सिय चरमे" इत्यादि। अत्र प्रथमतृतीयनवमदशमैकादशद्वादश-त्रयोविंशतितमरूपाः सप्त भङ्गाः ग्राह्याः, शेषाः प्रतिषेध्याः, तत्र प्रथमभङ्गो यः स्याच्चरम इति, इह यदा चतुःप्रदेशिकस्कन्धो द्वयोराकाशप्रदेशयोः समश्रेण्या व्यवस्थितयोरेवमवगाहते तदा चरमः, सा च चरमत्वभावना समश्रेण्या व्यवस्थितद्विप्रदेशावगाढद्विप्रदेशस्कन्धवद्भावनीया, तृतीयो भङ्गः स्यादवक्तव्य इति, स चैवम् -यदा स एव चतुष्प्रदेशकः स्कन्ध एकस्मिन्नाकाशप्रदेशेऽवगाहते तदा परमाणुवत् वक्तव्यः, नवमः स्याच्चरमौ चाचरमश्च, स चैवम् -यदा स चतुःप्रदेशात्मकस्कन्धस्त्रिष्वाकाशप्रदेशे-ष्वेवमवगाहते तदा आद्यन्तप्रदेशावगाढौ चरमौ, मध्यप्रदेशावगाढस्त्व-चरमः, दशमः स्याच्चरमौ चाचरमौ च, तत्र यदा स चतुःप्रदेशात्मकः स्कन्धः समश्रेण्या व्यवस्थितेषु चतुर्ष्वाकाशप्रदेशेष्वेवमवगाहते तदा आद्यन्तद्वि-प्रदेशावगाढौ द्वौ परमाणू चरमौ, द्वयोस्तु मध्यमयोराकाशप्रदेशयोरवगाढौ द्वौ परमाणू अचरमाविति, ए कादशः स्याच्चरमश्चावक्तव्यः, स चैवम- यदा स चतुः प्रदेशकः स्कन्धः त्रिष्वाकाशप्रदेशेषु समश्रेण्या चैवमवगाहते तदा समश्रेण्यिव्यवस्थितद्विप्रदेशावगाढास्त्रयः परमाणवो द्विप्रदेशावगाढ-द्विप्रदेशकस्कन्धवत् चरम एकश्च विश्रेणिस्थः परमाणुरिव चरमाचरम-शब्दाभ्यां वयपदेष्टुमशक्यत्वादवक्तव्य इति, द्वादशः स्याच्चरमश्चावक्तव्यौ च, स चैवम्- यदा स चतुः प्रदेशात्मकः स्कन्धश्चतुर्ष्वाकाशप्रदेशेष्वे-वमवगाहते द्वौ परमाणू द्वयोः समश्रेण्यावस्थितयोराकाशप्रदेश योर्द्वौ च परमाणू द्वयोः विश्रेण्या व्यवस्थितयोः तदा द्वौ परमाणू समश्रेण्या व्यवस्थितौ द्विप्रदेशावगाढद्विप्रदेशकस्कन्धवच्चरमः, द्वौ च परमाणू विश्रेणिव्यवस्थितौ केवलपरमाणुवच्चरमाचरमशब्दाभ्यां व्यपदेष्टुमश-क्यावित्यवक्तव्यौ। त्रयोविंशतितमः स्याच्चरमौ चाचरमश्चावक्तव्यश्च, कथमिति चेत् ? उच्यते-इह यदा स चतुःप्रदेशकः स्कन्धश्चतुर्ष्वाकाश-प्रदेशेष्वेवमवगाहते त्रयः परमाणवस्त्रिषु समश्रेण्या व्यवस्थितेष्वाकाश-प्रदेशेष्वेको विश्रेणिस्थप्रदेशे तदा त्रिषु परमाणुषु समश्रेणिव्यवस्थितेषु मध्ये आद्यन्तौ परमाणुपर्यन्तवर्तित्वाच्चरमौ, मध्यस्त्वचरमो, विश्रेणिस्थ-स्त्ववक्तव्य इति। वक्ष्यति च "पढमो तइओ नवमो, दसमो एक्कारसो य बारसमो। भंगा चउप्पएसये, तेवीसइमो य बोधव्वो ॥१॥" गतार्था।

पंचपदेसिए णं भंते ! खंधे पुच्छा ? गोयमा ! पंचपदेसिए खंधे सिय चरमे नो अचरमे, सिय अवत्तव्वए नो चरमाइं नो अचरमाइं नो अवत्तव्वयाइं, सिय चरमे य अ चरमे य, नो चरमे य अचरमाइं च, सिय चरमाइं च अचरमे य, सिय चरमाइं च अचरमाइं च, सिय चरमे य अवत्तव्वए-

य, सिय चरमे य अवत्तव्वयाइं च, सिय चरमाइं च अवत्तव्वए य, नो चरमाइं च अवत्तव्वयाइं च, नो अचरमे य अवत्तव्वए य, नो अचरमे य अवत्तव्व्याइं च, नो अचरमाइं च अवत्तव्वए य, नो चरमाइं च अवत्तव्वयाइं च, नो चरमे य अचरमे य अवत्तव्वए य, नो चरमे य अचरमे य अवत्तव्वयाइं च, नो चरमे य अचरमाइं च अवत्तव्वए य, नो चरमे य अचरमाइं च अवत्तव्वयाइं च, सिय चरमाइं च अचरमे य अवत्तव्वए य, सिय चरमाइं च अचरमे य अवत्तव्व्याइं च, सिय चरमाइं च अचरमाइं च अवत्तव्वए य, नो चरमाइं च अचरमाइं च अवत्तव्व्याइं च।

"पंचपएसिए णं भंते !" इत्यादि प्रश्नसूत्रं प्राग्वत्। निर्वचनमाह-"गोयमा ! सिय चरमे" इत्यादि। इह प्रथमतृतीयसप्तम नवमदशमैकादशद्वादशत्रयोदशत्रयोविंशतितमचतुर्विंशतितमपञ्चविंशतितमरूपा एकादश भङ्गाः ग्राह्याः, शेषाः प्रतिषेध्याः। वक्ष्यति च-"पढमो तइओ सत्तम, नव दस एक्कार बार तेरसमो। तेवीस चउव्वीसो, पणवीसइमो य पंचमए" ॥१॥ तत्रायं प्रथमो भङ्गः-स्यात् चरम इति, इह यदा पञ्चप्रदेशात्मकः स्कन्धो द्वयोराकाशप्रदेशयोः समश्रेण्या व्यवस्थितयोरेवमवगाहते त्रयः परमाणव एकस्मिन्नाकशप्रदेशे द्वौ द्वितीये तदा द्विप्रदेशावगाढद्विप्रदेशकस्कन्धवच्चरमः, तृतीयोऽवक्तव्यः। स चैवम् -यदा स पञ्चप्रदेशात्मकः स्कन्ध एकस्मिन्नाकाशप्रदेशेऽवगाहते तदा स परमाणुवद्वक्तव्यः, सप्तमः स्याच्चरमश्चाचरमश्च, स चैवम्- यदा पञ्चप्रदेशकः स्कन्धः पञ्चस्वाकाशप्रदेशेष्वेवमवगाहते तदा ये चरमाश्चत्वारः परमाणवस्तेषामेकसम्बन्धिपरिणामपरिणतत्वादेकवर्णत्वादेकगन्धत्वादेकरसत्वादेकस्पर्शत्वाच्चैकत्वव्यपदेशे चरम इति व्यपदेशो, मध्यस्तु परमाणुर्मध्यवर्तित्वादचरम इति, नवमश्चरमौ चाचरमश्च, तत्र यदा स पञ्चप्रदेशकस्कन्धस्त्रिष्वाकाशप्रदेशेषु समश्रेण्या व्यवस्थितेष्वेवमवगाहते द्वौ परमाणू आद्ये आकाशप्रदेशे द्वावन्ते एको मध्ये तदा आद्यप्रदेशावगाढौ द्वौ चरमौ द्वावन्त्यप्रदेशावगाढौ चरम इति चरमौ मध्यस्तु मध्यवर्तित्वादचरमः, दशमश्चमौ चाचरमौ च, तत्र यदा स पञ्चप्रदेशात्मकः स्कन्धश्चतुर्ष्वाकाशप्रदेशेषु व्यवस्थितेष्वेवमवगाहते त्रयः परमाणवः त्रिष्वाकाशप्रदेशेष्वेकस्मिन् द्वावितिं, तदा आद्यप्रदेशवर्ती परमाणुश्चरमौ द्वौ चान्त्यप्रदेशवर्तिनौ चरम इति चरमौ द्वौ च मध्यवर्तित्वादचरमौ, एकादशश्चरमश्चावक्तव्यः, कथमिति चेत् ? उच्यते-यदा स पञ्चप्रदेशस्त्रिष्वाकाशप्रदेशेषु समश्रेण्या चैवमवगाहते द्वौ २ परमाणू द्वयोराकाशप्रदेशयोः समश्रेण्या व्यवस्थितयोरेको विश्रेणिस्थः तदा चत्वारः परमाणवो द्विप्रदेशावगाहित्वात् द्विप्रदेशावगाढद्विप्रदेशकस्कन्धवच्चरम एकश्च विश्रेणिस्थः परमाणुर्वक्तव्यः, द्वादशश्चरमश्चावक्तव्यौ च, तत्र यदा स पञ्चप्रदेशात्मकः स्कन्धश्चतुर्ष्वाकाशप्रदेशेषु समश्रेण्या विश्रेण्या चैवमवगाहते द्वौ परमाणु, द्वयोराकाशप्रदेशयोः समश्रेण्या व्यवस्थितयोरेको विश्रेणिस्थो द्वौ चान्यस्मिन् विश्रेणिस्थे तदा द्वौ परमाणू समश्रेणिव्यवस्थितद्विप्रदेशावगाढौ द्विप्रदेशावगाढद्विप्रदेशस्कन्धवच्चरमः, द्वौ च विश्रेणिस्थौ पृथगेकैकाकाशप्रदेशावगाढौ चावक्तव्यौ, त्रयोदशश्चरमौ चावक्तव्यश्च, तत्र यदा स पञ्चप्रदेशावगाढ पञ्चस्वाकाशप्रदेशेष्वेवमवगाहते द्वौ परमाणू उपरि द्वयोराकाशप्रदेशयोः समश्रेण्या व्यवस्थितयोरवगाढौ द्वौ च द्वयोस्तथैवाधः एकपर्यन्तमध्यसमे तदा द्वावप्युरितनौ द्विप्रदेशावगाढद्व्यणुकस्कन्धवच्चरमौ द्वौ चाधस्तनौ चरम इति चरमौ एकश्च केवलः परमाणुरिवावक्तव्य इति, त्रयोविंशतितमः चरमौ चाचरमश्चावक्तव्यश्च। यदा पञ्चप्रदेशकः स्कन्धश्चतुर्ष्वाकाशप्रदेशेषु समश्रेण्या विश्रेण्या चैवमवगाहते त्रिष्वाकाशप्रदेशेषु समश्रेण्या व्यवस्थितेष्वाद्येऽपि विश्रेणिस्थ एकः तदा त्रिष्वाकाशप्रदेशेषु मध्ये आद्यन्तप्रदेशावगाढौ चरमौ, मध्यप्रदेशवर्ती तु द्व्यणुको मध्यवर्तित्वाद चरमो विश्रेणिस्थश्चावक्तव्य इति। चतुर्विंशतितमश्चरमौ चाचरमश्चावक्तव्यौ च। कथमिति चेदुच्यते-स एव यदा पञ्चप्रदेशकः स्कन्धः पञ्चस्वाकाशप्रदेशेषु समश्रेण्या विश्रेण्या चैवमवगाहते त्रयः परमाणस्त्रिष्वाकाशप्रदेशेषु समश्रेणिव्यवस्थितेषु द्वौ च द्वयोः परमाण्वोर्विश्रेणिस्थयोः तदा त्रिष्वाकाशप्रदेशेषु मध्ये द्वावाद्यन्तप्रदेशवर्तिनौ चरमौ मध्यश्चाचरमौ द्वौ च विश्रेणिस्थावक्तव्यौ, पञ्चविंशति तमश्चरमौ चाचरमौ चावक्तव्यश्च, स चेवम्-यदा स पञ्चप्रदशकः स्कन्धः पञ्चस्वाकाशप्रदेशेषु समश्रेण्या विश्रेण्या चैवमवगाहते चत्वारश्चतुर्ष्वाकाशप्रदेशेषु समश्रेणिव्यवस्थितेष्वेको विश्रेणिस्थः तदा चतुर्ष्वाकाशप्रदेशेषु मध्ये द्वावाद्यन्तप्रदेशवर्तिनौ चरमौ द्वौ च मध्यमवर्तिनावचरमावेको विश्रेणिस्थोऽवक्तव्यः।

छप्पएसिए णं भंते ! पुच्छा गोयमा ! छप्पएसिए णं खंधे सिय चरमे १ नो अचरमे २ सिय अवत्तव्वए ३ नो चरमाइं ४ नो अचरमाइं ५ नो अवत्तव्वयाइं ६ सिय चरमे य अचरमे य ७ सिय चरमे य अचरमाइं च ८ सिय चरमाइं च अचरमे य ९ सिय चरमाइं च अचरमाइं च १० सिय चरमे य अचत्तव्वए य ११ सिय चरमे य अवत्तव्वयाइं च १२ सिय चरमाइं च अवत्तव्वए य १३ सिय चरमाइं च अवत्तव्वयाइं च १४ नो अचरमे य अवत्तव्वए य १५ नो अचरमे य अवत्तव्वयाइं च १६ नो अचरमाइं च अवत्तव्वए य १७ नो अचरमाइं च अवत्तव्वयाइं च १८ सिय चरमे य अचरमे य अवत्तव्वए य १९ नो चरमे य अचरमे य अवत्तव्वयाइं च २० नो चरमे य अचरमाइं च अवत्तव्वए य २१ नो चरमे य अचरमाइं च अवत्तव्वयाइं च २२ सिय चरमाइं च अचरमे य अवत्तव्वए य २३ सिय चरमाइं च अचरमे य अवत्तव्वययाइं च २४ सिय चरमाइं च अचरमाइं च अवत्तव्वए य २५ सिय चरमाइं च अचरमाइं च अवत्तव्वयाइं च २६ ॥

"छप्पएसिए णं भंते !" इत्यादि प्रश्नसुत्रं प्राग्वत्। निर्वचनम्- "गोयमा ! सिय चरमे" इत्यादि। इह द्वितीयचतुर्थपञ्चमषष्ठ-पञ्चदशषोडशसप्तदशाष्टादशविंशतितमैकविंशतितमद्वार्विंशतितमरूपा एकादश भङ्गाः प्रतिषेध्याः। वक्ष्यति च-"वि चउत्थ पंच छट्ठं, पन्नर सोलं च सत्तरट्ठारं विंसेक्कवीसगं च, वज्जेज्ज छट्ठम्मि ॥" शेषास्त्वेकादयः परिग्राह्याः, घटमानत्वात्तत्र यथा द्व्यादयो न घटन्ते, एकादयस्तु घटन्ते, तथा भाव्यते इह यदा षट्प्रदेशकः स्कन्धो द्वयोराकाशप्रदेशयोः समश्रेण्या-

व्यवस्थितयोरेवमवगाहते, एकस्मिन्नप्याकाशप्रदेशे त्रयः परमाणवोऽपरस्मिन्नपि त्रय इति, तदा द्विप्रदेशावगाढो द्विप्रदेशकस्यन्धवचरमः, अचरमलक्षणस्तु द्वितीयो भङ्गो न घटते, चरमरहितस्य केवलस्याऽचरमस्याऽसम्भवात्, न खलु प्रान्ताभावे मध्यं भवतीति भावनीयमेतत्, तृतीयोऽवक्तव्यलक्षणः, स चैवम्-यदा षट्प्रदेशात्मकः स्कन्ध एतस्मिन्नाकाशप्रदेशेऽवगाहते तदा परमाणुवच्चरमाचरमशब्देन व्यवदेष्टुमशक्यत्वादवक्तव्यः, चतुर्थश्चरमाणिति, पञ्चमोऽचरमाणीति, षष्ठोऽवक्तव्यानि इति, पञ्चदशोऽचरमश्चावक्तव्यश्च, षोडशोऽचरमश्चावक्तव्यानि च, सप्तदशोऽचरमाणि चावक्तव्यश्चाष्टदशोऽचरमाणि चावक्तव्यानि चेत्येते सप्त भङ्गा ओघत एव न संभवन्ति, तथाप्रकाराणां द्रव्याणामेवासम्भवात्। न हि एवं जगति केवलानि चरमादीनि द्रव्याणि सम्भवन्ति, असम्भवश्च प्रागुक्तभावनानुसारेण सुगमत्वात् स्वयं भावनीयः, सप्तमश्चरमश्चाचरमश्चेत्येवं रूपः, एवं यदा स षट्प्रदेशात्मकः स्कन्धः पञ्चस्वाकाशप्रदेशेष्वेकपरिक्षेपेण व्यवस्थितेष्वेवमवगाहते द्वौ परमाणू मध्यमप्रदेशे एकैकः शेषेषु तदा तेषां चतुर्णा परमाणूनामेकसम्बन्धिपरिणामपरिणतत्वादेकवर्णत्वादेकगन्धत्वादेकरसत्वादेकस्पर्शत्वात् चैकत्वव्यपदेशः, एकत्वव्यपदेशवच्चरम इति व्यपदेशो, यौ तु द्वौ परमाणू मध्ये तावेकत्वपरिणामपरिणतावित्यचरमः, अष्टमश्चरमश्चाचरमौ च, तत्र यदा स एव षट्प्रदेशात्मकः स्कन्धः षट्सु प्रदेशेषु एकपरिक्षेपेणैकाधिकमेवमवगाहते तदा पर्यन्तवर्तिनः परिक्षेपेणावस्थितावश्चत्वारः परमाणवः प्रागुक्तयुक्तेरेकश्चरमो द्वौ च मध्यवर्तिनावचरमाविति, अन्ये त्वभिदधतिचतुर्णां परमाणूनां क्षेत्रप्रदेशान्तरव्यवहिताधिकत्वपरिणामो न भवति, तदभावाच्च नैष भङ्ग उपपद्यते, प्रतिषिद्धश्च सूत्रे, यतो वक्ष्यति-"वि चउत्थ पंचछट्ठे" इति प्राकृतशैल्या "छट्ठऽट्ठे" इत्येतयोः पदयोर्निदेशः। ततोऽयमर्थः-षष्ठमष्टमं च वर्जयित्वेति, अथ नामैवंरूपोऽपि भङ्गो भवति तदेवं गम्यते-य एकवेष्टकाव्यवधानेन चत्वारः परमाणवः ते तथाविधैकत्वपरिणामपरिणतत्वाच्चरमः तस्मादधिकोऽपि समश्रेण्यैव प्रतिबद्धत्वान्न तदतिरिक्त इति सोऽपि तस्मिन्नेव चरमे गण्यते इत्येकं चरमं, पुनश्च योऽधिकमध्ये व्यवस्थित इति स मध्यवर्तित्वादनेकपरिणामित्वाच्च वस्तुनोऽचरमोऽपि, ततोऽचरमावित्यपि भवति, अत्रापि न कश्चिद्विरोधः, तत्त्वं पुनः केवलिनो विदन्ति, नवमश्चरमौ चाचरमश्च, यदा स एव षट्प्रदेशकः स्कन्धः त्रिष्वाकाशप्रदेशेषु समश्रेण्या व्यवस्थितेष्वेवमवगाहते एकैकस्मिन्नाकाशप्रदेशे द्वौ २ परमाणू इति तदाऽऽद्यप्रदेशवर्तिनौ द्वौ २ परमाणू चरमौ द्वावन्त्यप्रदेशवर्तिनौ चरम इति, चरमौ द्वौ तु मध्यप्रदेशवर्तिनावेकोऽचरम इति, दशमश्चरमौ चाऽचरमौ च। स चैवम्-यदा षट्प्रदेशकः स्कन्धश्च तुर्ष्वाकाशप्रदेशेषु समश्रेण्या व्यवस्थितेष्वेवमवगाहते द्वौ चाद्ये प्रदेशे द्वौ द्वितीये एकस्तृतीये एकश्चतुर्थे तदा द्वौ परमाणू प्रथमप्रदेशवर्तिनावेकश्चरम एकोऽन्त्यप्रदेशवर्ती चरम इति चरमौ द्वौ परमाणू द्वितीयप्रदेशवर्तिनावेकोऽचरम एकस्तृतीयप्रदेशवर्ती अचरम इत्यचरमावपि द्वौ, एकादशश्चरमश्चावक्तव्यश्च। स चैवम्- यदा स एव षट्प्रदेशात्मकः स्कन्धस्त्रिष्वाकाशप्रदेशेषु समश्रेण्या विश्रेण्या चैवमवगाहते द्वावाद्ये प्रदेशे द्वौ समश्रेण्या व्यवस्थिते द्वितीयप्रदेशे द्वौ विश्रेणिस्थे तृतीयप्रदेशे तदा द्वितीयप्रदेशावगाहाश्चत्वारः परमाणवः समश्रेणिव्यवस्थितद्विप्रदेशावगाढद्व्यणुकस्कन्धवदेकश्चरमौ द्वौ च विश्रेणिस्थप्रदेशावगाढौ परमाणुवदेकोऽवक्तव्यः, द्वादशश्चरमश्चावक्तव्यौ च, तत्र यदा स षट्प्रदेशात्मकः स्कन्धश्चतुर्ष्वाकाशप्रदेशेषु समश्रेण्या विश्रेण्या चैवमवगाहते द्वौ परमाणू ग्रथमप्रदेशे द्वौ समश्रेणिव्यवस्थिते द्वितीये प्रदेशे एकस्ततः परमुपरि तृतीयप्रदेशे एकस्याद्यश्चतुर्थे इति तदा चत्वारः परमाणवो, द्विप्रदेशावगाढः पूर्ववदेकश्चरमो, द्वौ च विश्रेणिस्थप्रदेशद्वयावगाढाववक्तव्याविति, त्रयोदशश्चरमौ चावक्तव्यश्च यदा स एव षट्प्रदेशकः स्कन्धः पञ्चस्वाकशप्रदेशेषु समश्रेण्या विश्रेण्या चेवमवगाहते द्वौ परमाणू द्वयोराकाशप्रदेशयोः समश्रेणिव्यवस्थितयोः द्वौ तयोरेवाधः समश्रेणिव्यवस्थितयोराकाशप्रदेशयोः श्रेणिद्वयमध्यभागसमश्रेणिस्थे चैकस्मिन्नाकाशप्रदेशे द्वाविति तदा द्विप्रदेशावगाढद्व्यणुकस्कन्धवदुपरितनद्विप्रदेशावगाढौ द्वौ परमाणू एकश्चरमो द्वाबधःस्तनाविति चरमौ द्वावेकप्रदेशावगाढौ परमाणु वदेकोऽवक्तव्यः, चतुर्दशश्चरमौ चावक्तव्यौ च, तत्र यदा स एव षट्प्रदेशकः स्कन्धः षट्स्वाकाशप्रदेशेषु समश्रेण्या विश्रेण्या चैवमवगाहते द्वौ परमाणू द्वयोराकाशप्रदेशयोः समश्रेण्या व्यवस्थितयोः द्वौ तयोरेवाधः समश्रेणिव्यवस्थितयोराकाशप्रदेशयोरेको विश्रेणिह्रयमध्यभागसमश्रेणिस्थे प्रदेश एक उपरितनयोः द्वयोः विश्रेणिस्थे तदा द्वावुपरितनावेकश्चरमौ द्वावधस्तनाविति चरमौ द्वौ चावक्तव्यकाविति, एकोनविंशतितमश्चरमश्चाचरमश्चावक्तव्यश्च, स चैवम्-यदा स षट्प्रदशकः स्कन्धः षट्स्वाकाशप्रदेशेषु एकपरिक्षेपेणु विश्रेणिस्थैकाधिकमवगाहते तदा एकवेष्टकाश्चत्वारः परमाणवः, प्रागुक्तयुक्तेरेकश्चरम एकोऽचरमो मध्यवर्ती एकोऽवक्तव्यो यश्च विंशतितमश्चरमश्चाऽचरमश्चावक्तव्यौ च स सप्तमप्रदेशस्यैवोपपद्यते, न षट्प्रदेशकस्य, योऽप्येकविंशतितमश्चरमश्चाचरमौ चावक्तव्यश्च सोऽपि सप्तप्रदेशस्यैवोपपद्यते न षट्प्रदेशकस्य, यस्तु द्वाविंशतितमः चरमश्चारमौ चावक्तव्यौ च सोऽष्टप्रदेशकस्यैवेति त्रयोऽत्र्येकोनविंशत्यादयोऽत्र प्रतिषिद्धाः, यश्च त्रयोविंशतितमश्चरमौ चाचरमश्चावक्तव्यः स च एव, यदा स एव षट्प्रदेशकः स्कन्धश्चतुर्ष्वाकाशप्रदेशेष्वेवमवगाहते द्वौ २ परमाणू द्वयोराकाशप्रदेशयोरेकस्तयोरेव समश्रेणिस्थे तृतीये आकाशप्रदेशे एको विश्रेणिस्थे इति तदा आद्यप्रदेशावगाढौ द्वौ परमाणू चरमस्तृतीयप्रदेशावगाढश्चरमो द्वितीयप्रदेशावगाढौ द्वौ परमाणू चरमौ विश्रेणिस्थोऽवक्तव्यः, चतुर्विंशतितमः चरमौ चाचरमश्चावक्तव्यौ च, तत्र यदा स एव षट्प्रदेशात्मकः स्कन्धः पञ्चस्वाकाशप्रदेशेषु समश्रेण्या विश्रेण्या चैवमवगाहते त्रिष्वाकाशप्रदेशेषु समश्रेण्या व्यवस्थितेष्वाद्ये एको द्वितीये एकस्तृतीये द्वौ द्वयोर्विश्रेणिस्थोरेकैक इति तदा आद्यन्तप्रदेशावगाढौ चरमौ मध्यवागाढौ अचरमौ विश्रेणिस्थौ प्रदेशद्वयावगाढौ अवक्तव्यौ पञ्चविंशतितमश्चरमौ चाऽचरमौ चावक्तव्यश्च, यदा स एव षट्प्रदेशा-त्मकः स्कन्धः पञ्चसु प्रदेशेषु समश्रेण्या विश्रेण्या चैवमवगाहते चतुर्ष्वा-काशप्रदेशेषु समश्रेणिव्यवस्थितेष्वाद्यप्रदेशत्रये एकैकश्चतुर्थे द्वौ पञ्चमे विश्रेणिस्थे एकः तदा आद्यन्तप्रदेशवर्तिनौ चरमौ मध्यप्रदेशद्वयवर्तिनौ द्वावचरमौ विश्रेणिप्रदेशस्थ एकोऽवक्तव्यः षट्र्विंशतितमः चरमौ चावक्तव्यौ, स

चैवम्- यदा स षट्प्रदेशकः स्कन्धः षट्स्वाकाशप्रदेशेषु समश्रेण्या विश्रेण्या चैवमवगाहते तदा आद्यन्तप्रदेशावगाढौ द्वौ चरमौ, द्वौ मध्यप्रदेशावगाढावचरमौ, द्वौ च विश्रेणिस्थप्रदेशद्वयावगाढाववक्तव्याविति।

सत्तपदेसिए णं भंते ! खंधे पुच्छा ? गोयमा ! सत्तपएसिए णं खंधे सिय चरमे १ नो अचरमे २ सिय अवत्तव्वए ३ नो चरमाइं ४ नो अचरमाइं ५ नो अवत्तव्वयाइं ६ सिय चरमे य अचरमे य ७ सिय चरमे य अचरमाइं च ८ सिय चरमाइं च अचरमे य ९ सिय चरमाइं च अचरमाइं च १० सिय चरमे य अवत्तव्वए य ११ सिय चरमे य अवत्तव्वयाइं च १२ सिय चरमाइं च अवत्तव्वए य १३ सिय चरमाइं च अवत्तव्वयाइं च १४ नो अचरमे य अवत्तव्वए य १५ नो अचरमे य अवत्तव्वयाइं च १६ नो अचरमाइं च अवत्तव्वए य १७ नो अचरमाइं च अवत्तव्वयाइं च १८ सिय चरमे य अचरमे य अवत्तव्वए य १९ सिय चरमे य अचरमे य अवत्तव्वयाइं च २० सिय चरमे य अचरमाइं च अवत्तव्वए य २१ नो चरमे य अचरमाइं च अवत्तव्वयाइं च २२ सिय चरमाइं च अचरमे य अवत्तव्वए य २३ सिय चरमाइं च अचरमे य अवत्तव्वयाइं च २४ सिय चरमाइं च अचरमाइं च अवत्तव्वए य २५ सिय चरमाइं चअचरमाइं च अवत्तव्वयाइं च २६ ॥

"सत्तपएसिए णं भंते ! खंधे" इत्यादि प्रश्नसूत्रं प्रश्नसूत्रं प्राग्वत्। निर्वचनमाह-"गोयमा ! सत्तपएसिए णं खंधे सिय चरमे नो अचरमे" इत्यादि। इह द्वितीयचतुर्थपञ्चमषष्ठपञ्चदशषोडशसप्तदशाष्टादशद्वाविंशतितमरूपा नव भङ्गाः प्रतिषेध्याः, शेषा उपादेयाः, वक्ष्यति च-"विचउक्क पंच छट्ठं, पण्णर सोलं च सत्तरट्ठारं। वज्जिय बावीसईमं, सेसा भंगा उ सत्तमए" ॥१॥ तत्र द्व्यादीनामष्टादशपर्यन्तानां प्रतिषेधकारणं प्रागुक्तमनुसर्तव्यं न केवलमत्र किं तु सर्वेष्वनुत्तरेषु स्कन्धेषु यस्तु द्वाविंशतितमः सोऽष्टप्रदेशकस्यैव घटते, न सप्तप्रदेशकस्येत्युक्तं प्राक्, तत इह प्रतिषेधः,शेषास्तु प्रथमादयः षड्विंशतितमपर्यन्ताः सप्तदश भङ्गाः षट्प्रदेशकस्कन्धस्यैव भावनीयाः, केवलं विनेयजनानुग्रहाय स्थापनामात्रेणोपदर्श्यन्ते, प्रथमो भङ्गश्चरमभङ्गः, तृतीयोऽवक्तव्यः, सप्तमश्चरमश्चाचरमश्च, अष्टमश्चरमश्चाचरमौ च, नवमश्चरमौ चाचरमश्च, दशमश्चरमौ चाचरमौ च, एकादशश्चरमश्चावक्तव्यश्च, द्वादशश्चरमश्चावक्तव्यौ च, त्रयोदशश्चरमौ चावक्तव्यश्च, चतुर्दशश्चरमौ चावक्तव्यौ च, एकोनविंशतितमश्चरमश्चाचरमश्चावक्तव्यश्च, विंशतितमश्चरमश्चाचरमश्चावक्तव्यौ च, एकविंश तितमश्चरमश्चाचरमौ चावक्तव्यश्च, त्रयोविंशतितमश्चरमौ चाचरमश्चावक्तव्यश्च, चतुर्विंशतितमश्चरमौ चाचरमश्चावक्तव्यौ च, पञ्चविंशतितमश्चरमौ चाचरमौ चावक्तव्यश्च, षड्विंशतितमश्चरमौ चाचरमौ चावक्तव्यौ। इह यस्मात् सप्तप्रदेशिकः स्कन्धः एकस्मिन्नाकाशप्रदेशेऽवगाहते द्वयोरपि त्रिष्वपि यावत्सप्तस्वपि, तत एवं भङ्गाः सम्भवन्ति।

अट्ठपएसिए णं भंते ! खंधे पुच्छा ? गोयमा ! अट्ठपएसिए खंधे सिय चरमे १ नो अचरमे २ सिय अवत्तव्वए ३ नो चरमाइं ४ नो अचरमाइं ५ नो अवत्तव्वयाइं ६ सिय चरमे य अचरमे य ७ सिय चरमे य अचरमाइं च ८ सिय चरमाइं च अचरमे य ९ सिय चरमाइं च अचरमाइं च १० सिय चरमे य अव्वत्तवए य ११ सिय चरमे य अवत्तव्वयाइं च १२ सिय चरमाइं च अवत्तव्वए य १३ सिय चरमाइं च अवत्तव्वयाइं च १४ नो अचरमे य अवत्तव्वए य १५ नो अचरमे य अवत्तव्वयाइं च १६ नो अचरमाइं च अवत्तव्वए य १७ नो अचरमाइं च अवत्तव्वयाइं च १८ सिय चरमे य अचरमे य अवत्तव्वए य १९ सिय चरमे य अचरमे य अलत्तव्वयाइं च २० सिय चरमे स अचरमाइं च अवत्तव्वए य २१ सिय चरमे य अचरमाइं च अवत्तव्वयाइं च २२ सिय चरमाइं च अचरमे य अवत्तव्वए य २३ सिय चरमाइं च अचरमे य अवत्तव्वयाइं च २४ सिय चरमाइं च अचरमाइं च अवत्तव्वए य २५ सिय चरमाइं च अचरमाइं च अवत्तव्वयाइं च २६ संखेज्जपदेसिए असंखेज्जपदेसिए अणंतपदेसिए खंधे जहेव अट्ठपदेसिए तहेव पत्तेयं भाणियव्वा।

"अट्ठपएसिए णं भंते ! खंधे" इत्यादि पृच्छासूत्रं प्राग्वत्। निर्वचनसूत्रम्-"अट्ठपएसिए णं खंधे सिय चरमे" इत्यादि। अत्र द्वितीयचतुर्थपञ्चमाऽष्टपञ्चदशषोडशसप्तदशाऽष्टादशरूपा अष्टौ भङ्गाः प्रतिषेध्याः, शेषास्तु ग्राह्याः। वक्ष्यति च-"विचउक्क पंच छट्ठं, पन्नर सोलं च सत्तरट्ठारं। एए वज्जियभंगा,सेसा सेसेसु खंधेसु॥१॥ "सुगमा, नवरं" सेसा सेसेसु खंधेसु इति" शेषा भङ्गाः शेषेषु सप्तप्रदेशकात् स्कन्धादितरेषु अष्टप्रदेशादिकेषु सर्वेषु स्कन्धेषु द्रष्टव्याः। अन्ये त्वेवमुत्तरार्द्धं पठन्ति-"एए वज्जिय भंगा, तेण परमवड्डिया भंगा। सेसा" सुगमम्, ते च प्रथमादयो भङ्गाः षड्विंशतिपर्यन्ता अष्टादशभावनात् स्थापनातश्च प्राग्वद्भावनीयाः, नवरं चरमश्चाचरमौ चावक्तव्यौ चेत्येवंरूपो द्वाविंशतितमो भङ्गः, तत एवम्, अथ द्विप्रदेशकादिषु स्कन्धेष्ववक्तव्याविति येवंरूपं षष्ठो भङ्गः कस्मात्प्रतिषिध्यते, तस्याऽपि युक्तितः सम्भवभावात्। तथाहि-यदा एकः परमाणुरेकस्मिन्नाकाशप्रदेशे द्वितीयो विश्रेणिस्थे प्रदेशतया एकोऽप्यवक्तव्यो द्वितीयोऽप्यवक्तव्य इति भवत्यवक्तव्याविति भङ्गास्त्रिप्रदेशकचिन्तायामेकस्मिन्नेकपरमाणुरपरस्मिन्द्वौ, चतुःप्रदेशकचिन्तायां प्रत्येकं द्वौ २ परमाणू इत्यादि। सत्यमेतत्, केवलमेवंरूपं जगति द्रव्यमेव नास्ति। कथमेतदवसितमिति चेत् ?, उच्यते-अत एव प्रतिषेधवचनात्, यदि हि तथारूपं द्रव्यं सम्भवेन्न चायं प्रतिषेधं कुर्यादिति, यदि वा सम्भवेऽपि जातिपरनिर्देशात् तृतीयभङ्गक एवान्तर्भावो वेदितव्यः, यथा चाष्टप्रदेशकं स्कन्धे भङ्गः प्रतिषेध्या विधेयाश्चोक्तास्तथा संख्यातप्रदेशकेऽसंख्यातप्रदेशके च प्रत्येकं वक्तव्याः। तथा चाह-"संखेज्जपएसिए असंखेज्जपएसिए" इत्यादि पाठसिद्धं, नवरम् इयं सर्वत्र भावना, यस्मादेकादिष्वपि आकाशप्रदेशेष्वष्टप्रदेशकादीनां स्कन्धानामवगाहो भवति तथा घटन्ते, यथोक्ताः सर्वेऽपि भङ्गः। नन्वसंख्यातप्रदेशात्मकस्यानन्तप्रदेशात्मकस्य च स्कन्धस्य कथमेकस्मिन्नाकाशप्रदेशेऽवगाहः ? उच्यते-तथा तथा महात्म्यात्, न

चैदनुपपन्नं, युक्तितः संभाव्यमानत्वात् । तथाहि-अनन्तानन्ता द्विप्रदेशकाः स्कन्धाः, यावदनन्तानन्ता सङ्ख्येयप्रदेशात्मकाः स्कन्धाः, अनन्तानन्ता असङ्ख्येयप्रदेशात्मकाः स्कन्धाः, अनन्तानन्ता अनन्तप्रदेशात्मकाः लोकश्च सर्वात्मनाऽप्यसङ्ख्येयप्रदेशात्मकः, ते च सर्वेऽपि लोक एवावगाढानालोके ततोऽवसीयते, सन्त्येकस्मिन्नप्याकाशप्रदेशेऽवगाढा बहवः परमाणवो, बहवो द्विप्रदेशकाः स्कन्धाः, यावद् बहवोऽनन्तप्रदेशात्मकाः स्कन्धाः । तथा चात्र पूर्वसूरयः प्रदीपदृष्टान्तमुपवर्णयन्ति-यथैकस्य प्रदीपस्य गृहमध्ये प्रज्वलितस्य प्रभापरमाणवः सर्वमेव गृहं प्राप्नुवन्ति, तथा प्रत्येकं प्रदीपसहस्रस्यापि, न च प्रतिप्रदीपप्रभापरमाणवो न भिन्नाः, प्रतिप्रदीपे पुरुषस्य मध्यस्थितस्य छायाभेददर्शनात्, ततो यथेति स्थूला अपि प्रदीपप्रभापरमाणव एकस्मिन्नप्याकाशप्रदेशे बहवो मान्ति, तथा परमाण्वादयोऽपि, इति न कश्चिद्दोषः, आकाशस्य तथा तथाऽवकाशदानस्वभावतया वस्तूनां च विचित्रपरिणमनस्वभावतया विरोधाभावात् ।

परमाणुम्मि य तइओ, पढमो तइओ य होइ दुपदेसे ।
पढमो तइओ नवमो, एक्कारसमो य तिपदेसे ॥१॥
पढमो तइओ नवमो, दसमो एक्कार बारसमो ।
भंगा चउप्पदेसे, तेवीसइमो य बोद्धव्वो ॥२॥
पढमो तइओ सत्तम, णव दस एक्कार वार तेरसमो ।
तेवीस चउव्वीसम, पणवीसइमो य पंचमए ॥३॥
वि चउत्थ पंच छट्ठं, पन्नर सोलं च सत्तरऽट्ठारं ।
वीसेक्कवीस बावी-सगं च वज्जेज्ज छट्ठम्मि ॥४॥
वि चउत्थ पंच छट्ठं, पन्नर सोलं च सत्तरऽट्ठारं ।
बावीसइमविहूणा, सत्तपदेसम्मि खंधम्मि ॥५॥
वि चउत्थ पंच छट्ठं, पन्नरं सोलं च सत्तरऽट्ठारं ।
एते वज्जियं भंगा, सेसा सेसेसु खंधेसु ॥६॥

"परमाणुम्मि य तइओ" इत्यादि पाठसिद्धम्, भावितार्थत्वात्। नवरं षट्प्रदेशादिचिन्तायां प्रतिषेध्या भङ्गाः स्तोका इति, लाघवार्थं त एव संगृहीताः । इहानन्तरं स्कन्धानां चरमाचरमादिवक्तव्यतोक्ता, स्कन्धाश्च यथायोगं परिमण्डलादिसंस्थाने च भवन्ति । (प्रज्ञा०)

परिमंडले णं भंते ! संठाणे संखेज्जपदेसिए संखेज्जपदेसोगाढे किं चरमे, अचरमे, चरमाइं, अचरमाइं, चरमंतपदेसा, अचरमंतपदेसा ? गोयमा ! परिमंडले णं संठाणे संखेज्जपदेसिए संखेज्जपदेसोगाढे नो चरमे, नो अचरमे, नो चरमाइं, नो अचरमाइं, नो चरमंतपदेसा, नो अचरमंतपदेसा, नियमा अचरमं चरमाणि य १, चरमंतपदेसा य अचरमंतपदेसा य २, एवं० जाव आयते ॥ परिमंडले णं भंते ! संठाणे असंखेज्जपदेसिए संखेज्जपदेसोगाढे किं चरमे पुच्छा ? गोयमा ! असंखेज्जपदेसिए संखेज्जपदेसोगाढे जहा संखेज्जपदेसिए एवं० जाव आयए ॥ परिमंडले णं भंते ! संठाणे असंखेज्जपदेसिए असंखेज्जपदेसोगाढे किं चरमे पुच्छा ? गोयमा ! असंखेज्जपदेसिए असंखेज्जपदेसोगाढे नो चरमे, जहा संखेज्जपदेसोगाढे एवं० जाव आयाए ॥ परिमंडले णं भंते ! संठाणे अणंतपदेसिए संखेज्जपदेसोगाढे क चरमे पुच्छा ? गोयमा ! तहेव० जाव आयते ॥ अणंतपदेसिए असंखेज्जपदेसोगाढे जहा संखेज्जपदेसोगाढे एवं० जाव आयते ॥

संख्यातप्रदेशासंख्यातप्रदेशानन्तप्रदेशपरिमण्डलादिसंस्थानचरमाचरमादिचिन्तायां निर्वचनसूत्राणि रत्नप्रभाया इव प्रत्येतव्यानि, अनेकावयवविभागात्मकत्वाविवक्षायामचरमं च चरमाणि चेति निर्वचनं प्रदेशविवक्षयां चरमान्तप्रदेशाश्चा-चरमान्तप्रदेशाश्च ।

सम्प्रति संख्यातप्रदेशस्य संख्यातप्रदेशावगाढस्य परिमण्डलादेशचरमाचरमादिविषयमल्पबहुत्वमभिधित्सुराह-

परिमंडलस्स णं ! भंते संठाणस्स संखेज्जपदेसियस्स संखेज्जपदेसोगाढस्स अचरमस्स य चरमाण य चरमंतपदेसाण य अचरमंतपदेसाण य दव्वट्ठयाए पदेसट्ठयाए दव्वट्ठपदेसट्ठयाए कयरे, कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ? गोयमा ! सव्वत्थोवे परिमंडलस्स संठाणस्स संखेज्जपदेसियस्स संखेज्जपदेसोगाढस्य दव्वट्ठयाए एगे अचरमे, चरमाइं संखेज्जगुणाइं, अचरमं च चरमाणि य दो वि विसेसाहियाइं, पदेसट्ठयाए सव्वत्थोवा, परिमंडलस्स संठाणस्स संखिज्जपदेसियस्स संखेज्जपदेसोगाढस्य चरिमंतपदेसा अचरिमंतपदेसा संखेज्जगुणा, चरमंतपदेसा य अचरमंतपदेसा दो वि विसेसाहिया, दव्वट्ठपदेसट्ठयाए सव्वत्थोवे, परिमंडलस्स संठाणस्स संखेज्जपदेसियस्स संखेज्जपदेसोगाढस्स दव्वट्ठयाए एगे अचरमे, चरमाइं संखेज्जगुणाइं, अचरमं च चरमाणि य दो वि विसेसाहियाइं, चरमंतपदेसा संखेज्जगुणा अचरमंतपदेसा संखेज्जगुणा, चरमंतपदेसा य अचरमंतपदेसा य दो वि विसेसाहिया ॥ एवं वट्टतंसचउरं सआयएसु वि जोएयव्वं ॥ परिमंडलस्य णं भंते ! संठाणस्स असंखेज्जपदेसियस्स संखेज्जपदेसागाढस्स अचरमस्स य चरमाण य चरमंतपदेसाण य अचरमंतपदेसाण य दव्वट्ठयाए पदेसट्ठयाए दव्वट्ठपदेसट्ठयाए कयरे, कयरेहिंतो अप्पा वा०४ ? गोयमा ! सव्वत्थोवे परिमंडलस्य संठाणस्स असंखेज्जपदेसियस्स संखेज्जपदेसोगाढस्स दव्वट्ठयाए एगे अचरमे, चरमाइं संखेज्जगुणाइं, अचरमं च चरमाणि य दो वि विसेसाहियांइ, पदेसट्ठयाए सव्वत्थोवा, परिमंडलस्स संठाणस्स असंखेज्जपदेसियस्स संखेज्जपदेसोगाढस्स चरमंतपदेसा अचरमंतपदेसा संखेज्जगुणा, चरमंतपदेसा य अचरमंतपदेसा य दो वि विसेसाहिया, दव्वट्ठपदेसट्ठयाए सव्वत्थोवे, परिमंडलस्स संठाणस्स असंखेज्जपदेसियस्स संखेज्जपदेसोगाढस्स दव्वट्ठयाए एगे अच-

रमे चरमाइं संखेज्जगुणाइं, अचरमं च चरमाणि य दो वि विसेसाहियाइं, चरमंतपदेसा अचरमंतपदेसा संखेज्जगुणा, चरमंतपदेसा य अचरमंतपदेसा य दो वि विसेसाहिया वा। एवं० जाव आयते।

"परिमंडलस्स णं भंते !" इत्यादि सुगमं, नवरं द्रव्यार्थताचिन्तायां चरमाणि। (संखेजगुणाइं इति) सर्वात्मना परिमण्डलसंस्थानस्य संख्यातप्रदेशात्मकत्वात्, असंख्यातप्रदेशस्याऽसंख्यातप्रदेशावगाढस्य अल्पबहुत्वं रत्नप्रभाया इव भावनीयम्, अनन्तप्रदेशकस्याऽप्यसंख्यातप्रदेशाऽवगाढस्य नवरं संक्रमे अनन्तगुणा इति, क्षेत्रचिन्तातो यदा द्रव्यचिन्तां प्रति संक्रमणं तदा तानि चरमाण्यनन्तगुणानि वक्तव्यानि। तद्यथा "सव्वत्थोवे एगे अचरमे चरमाइं, खेत्तओ असंखेज्जगुणाइं, दव्वओ अणंतगुणाइं अचरमं चरमाणि य दोवि विसेसाहियाइं" इति, तदेवं संस्थानान्यपि चरमाचरमा-दिविभागेन चिन्तितानि।

(७) संप्रति जीवादीन् चरमाचरमविभागेन गतिं चिन्तयति-

जीवे णं भंते ! गतिचरमेणं किं चरमे, अचरमे ? गोयमा ! सिय चरमे, सिय अचरमे।

गतिपर्य्यायरूपं चरमं गतिचरमं, तेन जीवो भदन्त ! चिन्त्यमानः किं चरमोऽचरमः ? भगवानाह-गोतम ! स्याच्चरमः, स्यादचरमः, कश्चिच्चरमः कश्चिदचरम इत्यर्थः तत्र यः पृच्छासमये सामर्थ्यान्मनुष्यगतिरूपे पर्याये वर्तमानानन्तरं न किमपि गतिपर्यायमवाप्स्यति किं तु मुक्तौ एव भविता, स गतिचरमः, शेषस्त्वगतिचरम इति।

नेरइए णं भंते ! गतिचरमेणं किं चरमे, अचरमे ? गोयमा ! सिय चरमे, सिय अचरमे, एवं निरंतरं० जाव वेमाणिया। नेरइया णं भंते ! गतिचरमेणं किं चरमा, किं अचरमा ? गोयमा ! चरमा वि अचरमा वि, एवं निरंतरं० जाव वेमाणिया॥

"नेरइए णं भंते ! गइचरमे" इत्यादि। नैरयिका भदन्त ! गतिचरमेण सामर्थ्यान्नरकगतिपर्यायरूपेण चरमेण चिन्त्यमानः किं चरमोऽचरमो वा ? भगवानाह-गौतम ! स्याच्चरमः स्यादचरमो, नरकगतिपर्यायादुद्वृत्तो न भूयोऽपि नरकगतिपर्यायमनुभविष्यति स चरमः, शेषसत्वचरमः। एवं चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण निरन्तरं तावद्वक्तव्यं यावद्वैमानिकसूत्रम्। बहुवचनदण्डकसूत्रे निर्वचनम् (चरमा वि अचरमा वि इति) पृच्छासमये केचन नैरयिकास्तेषां मध्येऽवश्यं केचन नैरयिकगतिपर्यायेण चरमाः, इतरे त्वचरमास्तत एकमेवेदमत्र निर्वचनम्-चरमा अपि अचरमा अपि, एवं सर्वस्थनेष्वपि तां तां गतिमधिकृत्य भावनीयम्। प्रज्ञा०१० पद। भ०। स्था०।

(८) स्थितिचरमे -

नेरइए णं भंतें ! ठितिचरमेणं किं चरमे, अचरमे ? गोयमा ! सिय चरमे, सिय अचरमे। एवं निरंतरं० जाव वेमाणिया। नेरइया णं भंते ! ठितिचरमेणं किं चरमा, अचरमा ? गोयमा ! चरमा वि, अचरमा वि एवं निरंतरं० जाव वेमाणिया। नेरइए णं भंते ! भवचरमेणं किं चरमे, किं अचरमे ? गोयमा ! सिय चरमे, सिय अचरमे, एवं निरंतरं० जाव वेमाणिया। नेरइया णं भंते ! भवचरमेणं किं चरमा, अचरमा ? गोयमा ! चरमा वि अचरमा वि, एवं निरंतरं० जाव वेमाणिया॥

"नेरइए णं भंते ! ठिइचरमेणं" इत्यादि। नैरयिको भदन्त ! तत्रैव नरकेषु चरमसमये स्थितिपर्यायरूपे चरमेण चिन्त्यमानः किं चरमोऽचरमो वा ? भगवरनाह-स्याच्चरमः, स्यादचरमः। किमुक्तं भवति ? यो भूयोऽपि नरकमागत्य स्थितिचरमसमयं प्राप्स्यति सोऽचरमः, शेषस्तु चरमः। एवं निरन्तरं यावद्वैमानिकः। बहुत्वदण्डचिन्तायाम्-(चरमा वि अचरमा वि इति) इह यः पृच्छासमये स्थितिचयरमसमयं प्राप्स्यति सोऽचरमः, शेषस्तु चरमः, एवं निरन्तरं यावद्वैमानिकः। बहुत्वदण्डकचिन्तायाम्-(चरमा वि अचरमा वि इति) इह ये पृच्छासमये स्थितिचरमसमये वर्तन्ते ते चिन्त्यन्ते, इत्येतन्न, अन्यथा उद्वर्त्तनाया विरहस्यापि सम्भवात्, एकादीनामपि चोद्वर्त्तनाया भावात्, "चरमा वि अचरमा वि" इत्युभयत्राप्यवश्यंभाविनां बहुवचनेन निर्वचनं नोपपद्येत, किं तु ये पृच्छातमये वर्तन्ते ते क्रमेण स्वस्वस्थितिचरमसमयं प्राप्तः सन्तस्तेन रूपेण चरमा अचरमा वा इत्येतच्चिन्तनेन उपपद्यते, यथोक्तं निर्वचनमिति भवचरमसूत्रगतिचरमसूत्रवत् प्रज्ञा०१० पद।

भाषोच्छ्वासः-

नेरइए णं भंते ! भासाचरमेण किं चरमे, अचरमे ? गोयमा! सिय चरमे, सिय अचरमे, एवं निरंतरं० जाव वेमाणिया। नेइया णं भंते ! भासाचरमेणं किं चरमा, अचरमा ? गोयमा! चरमा वि अचरमा वि, एवं एगिंदियवज्जं० जाव वेमाणिया। नेरइए णं भंते ! आणापाणुचरमेणं किं चरमे, अचरमे ? गोयमा ! सिय चरमे, सिय अचरमे, एवं निरंतरं० जाव वेमाणिए। नेरइया णं भंते ! आणापाणुचरमेणं किं चरमा, अचरमा ? गोयमा ! चरमा वि, अचरमा वि, एवं निरंतरं० जाव वेमाणिया। नेरइए णं भंते ! आहारचरमेणं किं चरमे, अचरमे ? गोयमा ! सिय चरमे, सिय अचरमे, एवं निरंतरं० जाव वेमाणिए। नेरइएणं भंते ! आहारचरमेणं किं चरमा, अचरमा ? गोयमा ! चरमा वि, अचरमा वि, एवं निरंतरं० जाव वेमाणिया। नेरइए णं भंते ! भावचरमेणं किं चरमे, अचरमे ? गोयमा ! सिय चरमे, सिय अचरमे, एवं निरंतरं० जाव वेमाणिए। नेरइया णं भंते ! भावचरमेणं किं चरमा, अचरमा ? गोयमा ! चरमा वि, अचरमा वि, एवं निरंतरं० जाव वेमाणिया। नेरइए णं भंते ! वन्नचरमेणं किं चरमे, अचरमे ? गोयमा ! सिय चरमे, सिय अचरमे, एवं निरंतरं० जाव वेमाणिए। नेरइया णं भंते ! वन्नचरमेणं किं चरमा, अचरमा ? गोयमा ! चरमा वि, अचरमा वि, एवं निरंतरं० जाव-

वेमाणिया। नेरइए णं भंते ! गंधचरमेणं किं चरमे, अचरमे ? गोयमा ! सिय चरमे, सिय अचरमे, एवं निरंतरं० जाव वेमाणिए। नेरइया णं भंते ! गंधचरमेणं किं चरमा, अचरमा? गोयमा ! चरमा वि, अचरमा वि, एवं निरंतरं० जाव वेमाणिया। नेरइए णं भंते ! रसचरमेणं किं चरमे, अचरमे ? गोयमा ! सिय चरमे, सिय अचरमे, एवं निरंतरं० जाव वेमाणिए। नेरइया णं भंते ! रसचरमेणं किं चरमा, अचरमा ? गोयमा ! चरमा वि, अचरमा वि, एवं निरंतरं० जाव वेमाणिया। नेरइए णं भंते ! फासचरमेणं किं चरमे, अचरमे ? गोयमा ! सिय चरमे, सिय अचरमे, एवं निरंतरं० जाव वेमाणिए। नेरइया णं भंते ! फासचरमेण किं चरमा, अचरमा ? गोयमा ! चरमा वि, अचरमा वि, एवं० जाव वेमाणिया। संगहणीगाहा-"गति ठिति भवे य भासा, आणापाणू चरमे य बोधव्वा। आहारभावचरमे, वन्नरसे गंधफासे य" ॥१॥

भाषाचरमं चरमा भाषा, ततोऽयमर्थः-नैरयिको भदन्त। चरमयाऽचरमया भाषया किं चरमोऽचरमो वा १। शेषं सुगमम्। बहुवचनसूत्रे प्रश्नभावार्थः-ये पृच्छासमये नारकास्ते स्वकालक्रमेण चरमां भाषां प्राप्ताः सन्तः तया चरमाया भाषया चरमा अचरमा वा इति। ततो निर्वचनसूत्रमप्युपपन्नम्। एवमुच्छ्वासाहारसूत्रे अपि भावनीये, भाव औदयिकः, शेषं सुगमम्। प्रज्ञा०१० पद।

(६) जीवदयो जीवभावेन चरमा अचरमा वेत्याहारादि-विशेषणन प्रश्नाः

जीवे णं भंते ! जीवभावेणं किं चरिमे, अचरिमे ? गोयमा ! णो चरिमे अचरिमे। णेरइए णं भंते ! णेरइयभावेणं पुच्छा ? गोयमा ! सिय चरिमे, सिय अचरिमे, एवं० जाव वेमाणिए, सिद्धे जहा जीवे। जीवाणं पुच्छा ? गोयमा ! जीवा णो चरिमा, अचरिमा, णेरयइया चरिमा वि, अचरिमा वि, एव० जाव वेमाणिया सिद्धा जहा जीवा। आहारए सव्वत्थ एगत्तेणं सिय चरिमे, सिय अचरिमे, पुहत्तेणं चरिमा वि अचरिमा वि, अणाहारओ जीवो सिद्धो एगत्तेणं वि पोहत्तेणं वि णो चरिमो, अचरिमो, सेसट्ठाणेसु एगत्तपुहत्तेणं आहारओ भवसिद्धीओ जीवपदे एगत्तपोहत्तेणं चरिमे, णे अचरिमे, सेसट्ठाणेसु जहा आहारओ, अभवसिद्धीओ सव्वत्थ एगत्तपुहत्तेणं णो चरिमे, अचरिमे, णो भवसिद्धी य, णो अभवसिद्धी य, जीवा सिद्धा य एगत्तपुहत्तेणं जहा अभवसिद्धीओ, सण्णी जहा आहारओ एवं असण्णी वि, णो सण्णी णो असण्णी जीवपदे सिद्धपदे य अचरिमो, मणुस्सपदे चरिमो, एगत्तपुहत्तेणं सलेस्सो० जाव सुक्कलेस्सा, जहा आहारओ, णवरं जस्स जा अत्थि अलेस्सा, जहा णो सण्णी णो असण्णी सम्मद्दिट्ठी, जहा अणाहारओ मिच्छद्दिट्ठी, आहारओ, सम्मामिच्छद्दिट्ठी एगिंदियविगलिंदियवज्जं सिय चरिमे, सिय अचरिमे। पुहत्तेणं चरिमो वि, अचरिमो वि, संजओ जीवो मणुस्सो जहा आहारओ, असंजओ वि तहेव। संजयासंजओ वि तहेव, णवरं जस्स जं अत्थि, णो संजया णो असंजया णो संजयासंजया जहा णो भवसिद्धी य णो अभवसिद्धीओ सकसाई० जाव लोभकसायी सव्वट्ठाणेसु जहा आहारओ, अकसायी जीवपदे सिद्धपदे य णो चरिमो, अचरिमो, मणुस्सपदे सिय चरिमो, सिय अचरिमो, णाणी जहा सम्मद्दिट्ठी सव्वत्थ आभिणिबोहियणाणी० जाव मणपज्जवणाणी जहा आहारओ, णवरं जस्स जं अत्थि, केवलणाणी जहा णो सण्णी णे असण्णी, अण्णाणी० जाव विभंगणाणी जहां आहारओ। सजोगी० जाव कायजोगी जहा आहारओ जस्स जो जोगो अत्थि, अजोगी जहा णो सण्णी णो असण्णी। सागारोवउत्तो अणागारोवउत्ते य जहा अणाहारओ। सवेदो० जाव णपुंसगवेदओ जहा आहारओ, अवेदओ जहा अकसायी, ससरीरी० जाव कम्मगसरीरी जहा आहारओ, णवरं जस्स जं अत्थि, असरीरी जहा णो भवसिद्धी य णो अभवसिद्धी य पंचहिं पज्जत्तीहिं पंचहिं अपज्जत्तीहिं जहा आहारओ सव्वत्थ एगत्तपुहत्तेणं दंडगा भाणियव्वा।

"जीवे णं" इत्यादि। जीवो भदन्त ! जीवभावेन जीवत्वपर्यायेण किं चरमः, किं जीवत्वस्य प्राप्तव्यचरमभागः, किं जीवत्वं मोक्ष्यतीत्यर्थः। (अचरमे त्ति) अविद्यमानजीवत्वचरमसमयोजीवत्वमत्यन्तं न मोक्ष्यतीत्यर्थः। इह प्रश्ने आह-नो नैव चरमः प्राप्तव्यजीवत्वावसानो, जीवत्वस्याव्यवच्छेदादिति। "नेरइए णं" इत्यादि। (सिय चरिमे सिय अचरिमे त्ति) यो नारको नारकत्वादुद्वृत्तः सन् पुनः नरकगतिं न यास्यति सिद्धिगमनात् स चरमोऽन्यस्त्वऽचरमः। एवं यावद्वैमानिकः (सिद्धे जहा जीवे त्ति) अचरम इत्यर्थः। न हि सिद्धः सिद्धतया विनङ्क्ष्यतीति। "जीवा णं" इत्यादि पृथक्त्वदण्डकः तथाविध एवेति। अहारकद्वारे-(आहारए सव्वत्थ त्ति) सर्वेषु जीवादिपदेषु (सिय चरमे सिय अचरमे त्ति) कश्चिच्चरमो यो निर्वास्यति, अन्यस्त्वचरम इति। अनाहारकपदे अनाहारकत्वेन जीवः सिद्धश्चाऽचरमो वाच्योऽनाहारकत्वस्य तदीयस्यापर्यवसितत्वाज्जीवश्चेह सिद्धावस्थ एवेति। एतदेवाह-"अणाहारओ" इत्यादि। (सेसट्ठाणेसु त्ति) नारकादिषु पदेषु (जहा आहारओ त्ति) स्याच्चरमः, स्यादचरम इत्यर्थः। यो नारकादित्वेनाऽनाहारकत्वं पुनर्न लप्स्यते स चरमो, यस्तु तल्लप्स्यतेऽसावचरम इति। भव्यद्वारे-"भवसिद्धिओ" इत्यादि। भव्यो जीवो भव्यत्वेन चरमः, सिद्धिगमनेन भव्यत्वस्य चरमत्वप्राप्तेः, एतच्च सर्वेऽपि भवसिद्धिका जीवाः सेत्स्यन्तीति वचनप्रामाण्यादभिहितमिति। (अभवसिद्धिओ सव्वत्थ त्ति) सर्वेषु जीवादिपदेषु। (नो चरमेत्ति) अभव्य-

स्य भव्यत्वेनाभावात्। "नो भवे" इत्यादि। उभयनिषेधवान् जीवपदे सिद्धपदे वा भवसिद्धिकवदचरमः, तस्य सिद्धत्वासिद्धत्वस्य च सिद्धत्वपर्यायानपगमादिति। संज्ञिद्वारे-(सण्णी जहा आहारओ त्ति) सञ्ज्ञित्वेन स्याच्चरमः, स्यादचरम इत्यर्थः एवमसंज्ञ्यपि, उभयनिषेधवाँश्च जीवः सिद्धश्चाचरमो, मनुष्यस्तु चरमः उभयनिषेधवतो मनुष्यस्य केवलित्वेन पुनर्मनुष्यत्वस्यालाभादिति। लेश्याद्वारे-"सलेसा" इत्यादि। (जहा आहारओ त्ति) स्याच्चरमः, स्यादचरम इत्यर्थः। तत्र ये निर्वास्यन्ति ते सलेश्यत्वस्य चरमाः, अन्ये त्वचरमा इति। दृष्टिद्वारे-(सम्मद्दिट्ठी जहा अणाहारओ त्ति) जीवः सिद्धश्च सम्यग्दृष्टिरचरमः, यतो जीवस्य सम्यक्त्वं प्रतिपतितमप्यवश्यंभावि, सिद्धस्य तु न प्रतिपतत्येव, मनुष्यस्तु अकषायितोपेतं मनुष्यत्वं यः पुनर्न लप्स्यते स चरमो, यस्तु लप्स्यते सोऽचरम इति। ज्ञानद्वारे-(नाणी जहा सम्मद्दिट्ठी) अयमिह सम्यग्दृष्टिदृष्टान्तलब्धोऽर्थः जीवः सिद्धश्चाऽचरमो, जीवो हि ज्ञानस्य सतः प्रतिपातेऽप्यवश्यं पुनर्भावेनाचरमः सिद्धत्वक्षीणज्ञानभाव एव भवतीत्यचरमः। शेषास्तु ज्ञानोपेतनारकत्वादीनां पुनर्लाभासंभवे चरमाः, अन्यथा त्वऽचरमा इति (सव्वत्थ त्ति) सर्वेषु जीवादिसिद्धान्तेषु पदेष्वेकेन्द्रियवर्जितेष्विति गम्यम्। ज्ञानभेदापेक्षयाऽऽह-"आभिणिबोहिय" इत्यादि। "जहा आहारओ त्ति" करणात् स्याच्चरमः, स्यादचरम इति दृश्यम्। तत्रा भिनिबोधिकादिज्ञानं यः केवलज्ञानप्राप्त्या पुनरपि न लप्स्यते स चरमोऽन्यस्त्वचरमः। (जस्स जं अत्थि त्ति) यस्स जीवनारकादेर्यत्राभिनिबोधि-काद्यस्ति तस्य तद्वाच्यं, तच्च प्रतीतमेव, केवलज्ञान्यऽचरमो वाच्य इति भावः। "अन्नाणी" इत्यादि। अज्ञानी सभेदः स्याच्चरमः, स्यादचरम इत्यर्थः। यो ह्यज्ञानं पुनर्न लप्स्यते स चरमो, यस्तु अभव्यो ज्ञानं न लप्स्यत एवा सावचरम इति। एवं यत्र यत्राहारकतिदेशः तत्र तत्र स्याच्चरमः स्यादचरम इति व्याख्येयम्। शेषमप्यनयैव दिशाऽभ्यूह्यमिति। भ०१८ श०१ उ०। ('गोसालग' शब्देऽत्रैव भागे १०२६ पृष्ठे तत्प्ररूपितान्यष्टचरमाण्युक्तानि) चरमाण्यचरमाणीति प्रश्नमुद्दिश्य प्रवृत्ते दशमे प्रज्ञापनापदे, प्रज्ञा०१ पद।

(१०) अल्पस्थितौ –

अत्थि णं भंते ! चरिमा वि णेरइया, परमा वि णेरइया ? हंता ! अत्थि। से णूणं चरिमेहिंतो णेरइएहिंतो परमा णेरइया महाकम्मतराए चेव महाकिरियतराए चेव महासवतराए चेव महावेयणतराए चेव परमेहिंतो वा णेरइएहिंतो चरमा णेरइया अप्पकम्मतरा चेव अप्पकिरियतरा चेव अप्पासवतरा चेव अप्पवेयणतरा चेव ? गोयमा ! चरमेहिंतो णेरइएहिंतो परमा० जाव महावेयणतरा चेव परमेहिंतो णेरइएहिंतो चरमा णेरइया० जाव अप्पवेयणतरा चेव। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ० जाव अप्पवेयणतरा चेव ? गोयमा ! ठितिं पडुच्च, से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ० जाव अप्पवेयणतरा चेव। अत्थि णं भंते ! चरमा वि असुरकुमारा, परमा वि असुरकुमारा ? एवं चेव, णवरं विवरीयं भाणियव्वं, परमा अप्पकम्मा, चरमा महाकम्मा, सेसं तं चेव० जाव थणियकुमारा ताव एमेव। पुढवीकाइया० जाव मणुस्सा, एए जहा णेरइया वाणमंतरजोइसिय वेमाणिया जहा असुरकुमारा।

"अत्थि णं" इत्यादि (चरमा वि त्ति) अल्पस्थितयोऽपि। (परमा वि त्ति) महास्थितयोऽपि। (ठिइं पहुच्च त्ति) येषां नरकाणां महती स्थितिस्ते इतरेभ्यो महाकर्मतरादयोऽशुभकर्म्मापेक्षया भवन्ति, येषां त्वल्पा स्थितिस्ते इतरेभ्योऽल्पकर्मतरादयो भवन्तीति भावः। असुरसूत्रे-(नवरं विवरीयं ति) पूर्वोक्तापेक्षया विपरीतं वाच्यम्। तच्चैवम्-"से नूणं भंते ! चरमोहिंतो असुरकुमारेहिंतो परमा असुरकुमारा अप्पकम्मतरा चेव अप्पकिरियतरा चेव" इत्यादि। अल्पकर्मत्वं च तेषामसाताद्यशुभकर्मापेक्षम्, अल्पक्रियत्वं च तथाविधकायिक्यादिकष्टक्रियापेक्षम्, अल्पास्रवत्वं तु तथाविधकष्टक्रियाजन्यकर्म्मबन्धापेक्षम्। अल्पवेदनत्वं च पीडाभावापेक्षमवसेयमिति। भ०६ श०५ उ०। चरमोऽनन्तरभावी भवो यस्या सौ चरमः। "अभ्रादिभ्यः ॥७।२।४६॥ इति मत्वर्थाऽच् प्रत्ययः। यस्य नारकादिभवश्चरमः पुनस्तेनैव नोत्पत्स्यते सिद्धिगमनादिति तादृशे नैरयिकादौ वैमानिकपर्यन्ते, दर्शितं चैतदधुनैव। स्था०२ ठा०२ उ०।

चरमजहापवित्तिकरण न० (चरमयथाप्रवृत्तिकरण)। अन्तिमयथाप्रवृत्तिकरणे, तच्च परमार्थतोऽपूर्वकरणमेवेति योगविन्दौ व्यवस्थापितम्। तथा च, तदग्रन्थः-"अपूर्वास-न्नभावेन, व्यभिचारवियोगतः। तत्त्वतोऽपूर्वमेवेदमिति योगविदोविदुः" ॥१॥ ध०१० अधि०।

चरमंत पुं० (चरमान्त)। इह च विवक्षयाऽऽदिरप्यन्तो भवति तदव्यवच्छेदार्थं चरमग्रहणम्। चरमः पर्यन्तवर्ती अन्तो न पुनरादिभूत इति पर्यन्तवर्तिनोऽन्ते, विशे०। "लोगस्स य चरिमंतो, चरिमंतो होइ भासाए।" विशे०। (लोकचरमान्तो 'लोक' शब्दे एव व्याख्यास्यते)

सर्वेषां चरमान्तानां वक्तव्यता -

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए पुरच्छिमिल्ले चरिमंते किं जीवा पुच्छा ? गोयमा ! णो जीवा, एवं जहेव लोगस्स तहेव चत्तारि वि चरिमंता० जाव उवरिल्ले, जहा दसमसए विमला दिसा तहेव णिरवसेसं हेट्ठिल्ले चरिमंते, जहेव लोगस्स हेट्ठिल्ले चरिमंते तहेव णवरं देसे पंचिंदिएसु भंगो, सेसं तं चेव, एवं जहा रयणप्पभाए चत्तारि चरिमंता भणिया एवं सक्करप्पभाए वि, उवरिमहेट्ठिल्ला जहा रयणप्पभाए हेट्ठिल्ला, एवं० जाव अहे सत्तमाए, एवं सोहम्मस्स वि० जाव अच्चुयस्स, गेवेज्जगविमाणाणं एवं चेव, णवरं उवरिमहेट्ठिल्लेसु चरिमंतेसु देसेसु पंचिंदियाण वि मज्झिल्लविरहिओ, सेसं तहेव, एवं जहा गेवेज्जगविमाणा तहा अणुत्तरविमाणा वि, ईसिप्पभारा वि। परमाणुपोग्गले णं भंते लोगस्स पुरच्छिमिल्लाओ चरिमंताओ पच्चच्छिमिल्लं चरिमंतं एगसमएणं गच्छइ, पच्चच्छिमिल्लाओ चरिमंताओ पुरच्छिमिल्लं चरिमंतं एगसमएणं गच्छइ, दाहिणिल्लाओ चरिमंताओ उत्तरिल्लं० जाव गच्छइ, उत्तरिल्लाओ दाहि-

णिल्लं० जाव गच्छइ, उवरिल्लाओ चरिमंताओ हेट्ठिल्लं चरिमंतं एग० जाव गच्छइ, हेट्ठिल्लाओ चरिमंताओ उवरिल्लं चरिमंतं एगसमएणं गच्छइ । हंता गोयमा ! परमाणुपोग्गलेणं लोगस्स पुरच्छिमिल्लं तं चेव० जाव उवरिल्लं चरिमंतं गच्छइ ॥

"इमीसे णं" इत्यादि। (उवरिल्ले जहा दसमसए विमला दिसा तहेव निरवसेसं ति) दशमशते यथा विमला दिगुक्ता तथैव रत्नप्रभोपरितनचरमान्तो वाच्यो निरवशेषं यथा भवतीति। स चैवम्-"इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए उवरिल्ले चरिमंते किं जीवा० ? गोयमा ! नो जीवा"। एकप्रदेशिकप्रतरात्मकत्वेन तत्र तेषामनवस्थानात्। "जीवादेसा वि, जे जीवदेसा ते नियमा एगिंदियदेसा" सर्वत्र तेषां भावात्। "अहवा एगिंदियदेसा य वेइंदियस्स य देसे, अहवा एगिंदियदेसा य वेइंदियस्स य देसा, अहवा एगिंदिय-देसा य बेंदियाण य देसा ३।" रत्नप्रभा हि द्वीन्द्रियाणामाश्रयः, ते चैकेन्द्रियापेक्षयाऽतिस्तोकाः, ततश्च तदुपरितनचरमान्ते तेषां कदाचिद्देशः स्याद्देशा वेति, एवं त्रीन्द्रियादिष्वप्यनिन्द्रियान्तेषु तथा-"जीवप्पएसा ते नियमा एगिंदियपएसा, अहवा एगिंदियपएसा वि बेंदियस्स य पएसा १, अहवा-एगिंदियपएसा च बेंदियाण य पएसा २।" एवं त्रीन्द्रियादिष्वप्यनिन्द्रियान्तेषु तथा, "जे अजीवा ते दुविहा पण्णत्ता। तं जहा-रूविअजीवा य अरूविअजीवा य। जे रूविअजीवा ते चउव्विहा पण्णत्ता। तं जहा-खंधा जीवा परमाणु पोग्गला। जे अरूविअजीवा ते सत्तविहा पण्णत्ता। तं जहा-नो धम्मत्थिकाए धम्मत्थिकायस्स देसे धम्मत्थिका-यप्पएसा, एवं अधम्मत्थिकायस्स वि, आगासत्थिकायस्स वि, अद्धासमए त्ति" अद्धासमयो हि मनुष्यक्षेत्रान्तर्वर्तिनि रत्नप्रभोपरितनचरमान्तेऽ-स्त्येवेति। "हिट्ठिल्ले चरिमंते" इत्यादि। यथाऽधश्चरमान्तो लोकस्योक्त एवं रत्नप्रभापृथिव्या, स चानन्तरोक्त एव। विशेषस्त्वयम्-लोकाधस्तनचरमान्ते द्वीन्द्रियादीनां देशभङ्गकत्रयं मध्यमरहितमुक्तमिह तु रत्नप्रभा धस्तनचरमान्ते पञ्चेन्द्रियाणां परिपूर्णमेव तद्वाच्यं, शेषाणं तु द्वीन्द्रियादीनां मध्यमरहितमेव, यतो रत्नप्रभाऽधस्तनचरमान्ते पञ्चेन्द्रियाणां गमागमद्वारेण देशो देशाश्च संभवन्त्यतः पञ्चेन्द्रियाणां तत्तत्र परिपूर्णमेव भवति, द्वीन्द्रियादीनां तु रत्नप्रभाऽस्तनचरमान्ते मारणान्तिकसमुद्घातेन गतानामपि तत्र देश एव सम्भवति, न देशाः, तस्यैकप्रतररूपत्वेन देशानेकत्वाऽहेतु-त्वादिति, तेषां तत्तत्र मध्यमरहितमेवेति। अत एवाह-"नवरं देसे" इत्यादि। (चत्तारि चरिमंत त्ति) पूर्वदक्षिणपश्चिमोत्तररूपाः (उवरिमहिट्ठिल्ला जहा रयणप्पभाए हेट्ठिल्ले त्ति) शर्कराप्रभाया उपरितनाधस्तनचरमान्तौ रत्नप्रभाऽधस्त-नचरमान्तवद्वाच्यौ, द्वीन्द्रियादिषु पूर्वोक्तयुक्तेर्मध्यमभङ्गरहितं, पञ्चेन्द्रियेषु तु परिपूर्ण देशभङ्गत्रयं, प्रदेशचिन्तायां तु द्वीन्द्रियादिषु सर्वेष्वाद्यभङ्गकरहितत्वेन शेषभङ्गकद्वयम्, अजीवचिन्तायां तु रूपिणां चतुष्कम्, अरूपिणां त्वद्धासमयस्य तत्राभावेन षट्कं वाच्यमिति भावः। भ०१६ श०८ उ०।

चरमकाल पुं० (चरमकाल)। मरणसमये, पं० व०४ द्वार।

चरमणिदाहसमय पुं० (चरमनिदाघसमय)। जेष्ठमासपर्यन्ते, जी०३ प्रति०।

चरमतित्थयर पुं० (चरमतीर्थकर)। अन्तिमतीर्थकरे, यथाऽवसर्पिण्यां महावीरः। स्था०१ ठा०१ उ०।

चरमभव त्रि० (चरमभव)। चरम एव भवो यस्य प्राप्तस्तिष्ठति, देवभवो वा चरमो यस्य सः, चरमभवो भविष्यति यस्य सः।
अन्तिमभवे, प्रति०।

चरमवण्ण पुं० (चरमवर्ण)। अधमवर्णे, यथा ब्राह्मणेन क्षत्रियायां जातः क्षत्रियो भवति इति चरमवर्णव्यपदेशः। आचा०२ श्रु०१ अ०।

चरमसमय पुं० (चरमसमय)। सयोग्यवस्थान्तिमसमये, नं०।

चरमसमयभवत्थ पुं० (चरमसमयभवस्थ)। चरमसमये भवस्य जीवितस्य तिष्ठति यः स तथा। आयुषश्चरमसमये स्थिते, भ०७ श०१ उ०।

चरमाण त्रि० (चरत्)। सेवमाने, स्था०५ ठा०३ उ०।

चरवलय पुं० (चरपलक)। श्रावकरजोहरणरूपे, तत्स्वरूपमागमे न क्वाप्युलब्धमिति न दर्शितम्। (राजेन्द्रसूरिः)

चरिऊण अव्य० (चरित्वा)। आसेव्येत्यर्थे, आ०म०प्र०।

चरिगा स्त्री० (चरिका)। परिव्राजिकायाम्, ओघ०। आ०म०।

चरित्त न० (च(चा)रित्र)। **'चर' गतिभक्षणयोरित्यस्य "अर्तिनलूधू-सूखनसहचरइञ्रः" ।३।२।१८४।** इति इत्रप्रत्ययान्तं चरित्रमिति भवति। चरन्त्यनिन्दितमनेनेति। चरित्रम् चारित्रमोहनीयक्षयोपशमे, दश०१ अ०। आव०। व्य०। 'चर' गतिभक्षणयोः, चरन्ति गच्छन्ति अनिन्दितमनेनेति चरित्रम्। "खनसहलूधूचरर्त्तेः" इति (५।२।८७) इत्रप्रत्ययः। चरित्रमेव चारित्रं, किमुक्तं भवति ? अन्यजन्मोपा-त्ताष्टविधकर्मसञ्च-यापचाय चरणं, सर्वसावद्य योगनिवृत्तिरूपं चारित्रमिति। आ० म० प्र०। चरन्त्यनिन्दितमनेनेति चारित्रम, अष्टविधकर्म-चयरिक्तीकरणाद् वा चारित्रम्। सर्वविरतिक्रियायाम्, विशे०। चर्यते मुमुक्षुभिरासेव्यते तदिति, चर्यते वा गम्यते अनेन निर्वृताविति चारित्रम्, अथवा चयस्य कर्मणां रिक्तीकरणाच्चरित्रं, निरुक्तन्यायादिति। (स्था०) चारित्रमोहनीयक्षयाद्याविर्भूते आत्मनो विरतिरूपे परिणामे, (स्था०) "एगे चरित्ते" तदेकं वक्ष्यमाणानां सामायिका दितद्भेदानां विरतिसामान्यान्तर्भावादेकस्य चैकदा भावाद्वेति, एतेषां च ज्ञानादीनामयमेव क्रमो, यतो नाऽज्ञातं श्रद्धीयते, नाश्रद्धिं तं सम्यगनुष्ठीयत इति। स्था०१० ठा०। सूत्र०। चर्यते आसेव्यते अनेन वा, चर्यते गम्यते मोक्ष इति चारित्रम्। मूलोत्तरगुणकलापे, स्था०२ ठा०१ उ०। आश्रवनिरोधे, व्य०१ उ०। अनुष्ठाने, ज्ञा०१ श्रु०२ अ०। स्था०। अज्ञानोपचितस्य कर्मव्रजस्य रिक्तीकरणे, नि० चू०१ उ०। सर्वसंवरे, सूत्र०२ श्रु०१ अ०। चारित्रमोहनीयक्षयक्षयोपशमजे जीवपरिणामे, भ०८ श०२ उ०। सावद्ययोगनिवृत्तौ, प्रश्न०३ संव० द्वार। बाह्यसदनुष्ठाने, रा०। क्रियाचेष्टादिके, उत्त०२८ अ०।

कुम्भदृष्टान्तेन चत्वारि चरित्राणि-

चत्तारि कुंभा पन्नत्ता। तं जहा-भिन्ने, जज्जरिए, परि-

स्साई, अपरिस्साई । एवामेव चउव्विहे चरित्ते पन्नत्ते तं जहा-भिन्ने० जाव अपरिस्साई ।

तथा भिन्नः स्फुटितो, जर्जरितो राजीयुक्तः, परिश्रावी दुष्पक्वत्वात् क्षरकः, अपरिश्रावी कठिनत्वादिति । चारित्रं तु भिन्नं मूलप्रायश्चित्तापत्त्या, जर्जरितं छेदादिप्राप्त्या, परिश्रावि सूक्ष्मातिचारतया, अपरिश्रावि निरतिचारतयेति । इह च पुरुषाधिकारेऽपि यच्चारित्रलक्षणं पुरुषधर्मभणनं तद्धर्मधर्मिणोः कथञ्चिभेदादनवद्यमवगन्तव्यमिति । स्था०४ ठा०४ उ० । (सामायिकदिशब्देषु पृथग्व्याख्यानम्)

सामायिकादि पञ्चविधं चारित्रम् –

सामाइयऽत्थ पढमं, छे ओवट्ठावणं भवे बीयं ।
परिहारविसुद्धीअं, सुहुमं तह संपरायं च ॥१२६०॥
तत्तो य अहक्खायं, खायं सव्वम्मि जीवलोगम्मि ।
जं चरिऊण सुविहिया, वच्चंतऽयरामरं ठाणं ॥१२६१॥

(एषां पदानां व्याख्या स्वस्वस्थाने)

विस्तरार्थं तु भाष्यकृदाह–

सव्वमिणं सामइयं, छेयाइविसेसओ पुणो भिन्नं ।
अविसेसियमाइमयं, ठियमिह सामण्णसन्नाए ।१२६२॥
सावज्जजोगविरइ, त्ति तत्थ सामाइयं दुहा तं च ।
इत्तरमावकहं ति य, पढमं पढमंतिमजिणाणं ॥१२६३॥
तित्थेसुमणारोविय-वयस्स सेहस्स थोवकालीयं ।
सेसाणमावकहियं, तित्थेसु विदेहवाणं च ॥१२६४॥

सर्वमपीदं चारित्रमविशेषतः सामायिकमेव, एतदेव च छेदादिविशेषैर्विशिष्यमाणमर्थतः संज्ञातश्च नानात्वं प्रतिपद्यते, तत्राद्यं विशेषणाभावात्सामान्यसंज्ञायामेवावतिष्ठते सामायिकमिति । तत्र सावद्ययोगविरतिस्वरूपमेतत्सामायिकम् । तच्च द्विधा-इत्वरं, यावत्कथितं च । तत्रेत्वरं स्वल्पकालीनं भरतैरावताद्यचरमतीर्थकरतीर्थयोरेवानारोपितमहाव्रतस्य शिष्यकस्य दृष्टव्यम् । यावत्कथिकं यावज्जीविकं भरतैरावतप्रथमचरमवर्जशेषतीर्थकरतीर्थसाधूनां महाविदेहजानां च साधूनामवसेयमिति ॥१२६४॥

अथ प्रेरकः प्राह -

नणु जावज्जीवाए, इत्तरियं पि गहियं मुयंतस्स ।
होइ पइन्नालोवो, जहाऽऽवकहियं मुयंतस्स ॥१२६५॥

आह-ननु करोमि भदन्त ! सामायिकं यावज्जीवमित्येवं व्रतग्रहणकाले इत्वरमपि सामायिकं गृहीतमुपस्थापनायां मुञ्चतः प्रतिज्ञालोपः प्राप्नोति, यावत्कथितपरित्याग इव ।

अत्रोत्तरमाह -

नणु भणियं सव्वं चिय, सामाइयमिणं विसुद्धिओ भिन्नं ।
सावज्जविरइमइयं, को वयलोवो विसुद्धीए ॥१२६६॥

ननूक्तं सर्वमेवेदं चारित्रमविशेषतः सावद्ययोगविरतिसामान्यात् सामायिकमेव छेदादिविशुद्धिविशेषैर्विशेष्यमाणमन्यथात्वं प्रतिपद्यते, ततः को नाम विशिष्टतरायां विशुद्धौ प्रतिपद्यमानायां व्रतलोपः ? न कश्चिदित्यर्थः ॥१२६६॥

कुत इत्याह -

उन्निक्खमओ भंगो, जो पुण तं चिय करेइ सुद्धयरं।
सन्नामित्तविसिट्ठं, सुहुमं पि व तस्स को भंगो ॥१२६७॥

उन्निष्क्रामतः प्रव्रज्यात्यागमेव कुर्वतो व्रतभङ्गो भवति, यस पुनस्तदेव प्राक् गृहीतं चारित्रं विशुद्धतरं संपादयति, संज्ञामात्रेण तु चारित्रं विशिष्टं भिन्नं, तस्य भङ्गो न भवति, किं तु सुतरामेव व्रतनैर्मल्यं संपद्यते, यथा सामायिकसंयतस्य (सुहुमंति) सूक्ष्मसंपरायं प्रतिपद्यमानस्य, छेदोपस्थापनीयस्य वा परिहारविशुद्धिकमङ्गीकुर्वतो व्रतनिर्मलत्वमिति ॥१२६७॥

छेदोपस्थापनीयस्य व्याख्यानमाह -

परियायस्स य छेओ, जत्थोवट्ठावणं वएसु च ।
छेओवट्ठावणमिह, तमणइआरेयरं दुविहं ॥१२६८॥
सेहस्स निरइयारं, तित्थंतरसंकमे च तं होज्जा ।
मूलगुणघाइणो सा-इयारमुभयं च ठियकप्पे ॥१२६९॥

(जत्थ त्ति) यत्र चारित्रे पूर्वपर्यायस्य छेदो व्रतेषु चोपस्थापनं विधीयते, तदिह छेदोपस्थापनं, तत्र द्विधा-सातिचारमनतिचारं च । तत्र शिष्यकस्योपस्थापनायां, तीर्थान्तरसंक्रान्तौ वा यदारोप्यते तन्निरतिचारं भवेत्, यत्तु मूलगुणघातिनः पुनरपि समारोप्यते तत्सातिचारम् । एतच्चोभयमपि स्थितकल्प एव भवति, न स्थितास्थितकल्पे, तत्र भरतैरावतप्रथमचरमतीर्थकरसाधूनां स्थितकल्पः । विशे० । प्रव० । आतु० । सूत्र० । पं० भा० । आ० म० । ('सामाइय' आदिशब्दे पृथक् २ व्याख्यानम्) (केषां कषायाणामुदये चारित्रमतिचर्यते इति 'अइयार' शब्दे प्रथमभागे ८ पृष्ठे उक्तम्)

अथ तत्क्षयोपशमादिभ्यश्चारित्रप्राप्तिमभिधित्सुराह -

वारसविहे कसाए, खविए उवसामिए व जोगेहिं ।
लब्भइ चरित्तलंभो, तस्स विसेसा इमे पंच ॥१२५४॥

द्वादशविधे द्वादशप्रकारेऽनन्तानुबन्धादिभेदभिन्ने, कषाये, जातावेकवचनं, क्रोधादिलक्षणे, क्षपिते विध्यातामितुल्यतां नीते, उपशमिते भस्मच्छन्नदहनकल्पतां प्रापिते, वाशब्दात् क्षयोपशमे चार्धविध्यातज्वलनसमतामुपकल्पिते, योगैर्मनोवाक्कायरूपैः प्रशस्तैर्हेतुभिर्लभ्यते चारित्रलाभः, तस्य च सामान्येन चारित्रस्य विशेष भेदा एते वक्ष्यमाणाः पञ्च । इति निर्युक्तिगाथार्थः ॥१२५४॥

भाष्यम् -

खविए उवसमिए वा, वासद्धेणं खओवसमिए वा ।
वारसविहे कसाए, पसत्थझाणाइजोगेहिं ॥१२५५॥

गतार्थाः नवरं प्रशस्तध्यानं प्रशस्तं मनः ॥१२५५॥

क्षीणादिकषायस्वरूपमाह -

खीणा निव्वायहुआ-सण्णो वा छारपिहिय व्व उवसंता ।
दरविज्झायविहाडिय-जलणोवम्मा खओवसमा ॥१२५६॥

व्याख्यातार्था, नवरम् अर्द्धविध्यातविघट्टितज्वलनोपमाः क्षायोपशमिककषायाः क्षयोपशमावस्थेषु कषायेषु दलिकस्य वेदनमप्यस्ति, तच्च विघट्टितवह्निकल्पमिति ॥१२५६॥

अथ कस्य चरित्रस्यं कथं लाभ इत्याह -

खयओ वा समओ वा, खओवसमओ व तिन्नि लब्भंति ।

सुहुम अहक्खायाइं, खयओ समओ व नण्णत्तो ॥१२५७॥

सामायिकच्छेदोपस्थापनीयपरिहारविशुद्धिकलक्षणान्याद्यानि त्रीणि चारित्राणि श्रेणिद्वयादन्यत्र कषायक्षयोपशमात् पूर्वप्रतिपन्नानि प्रतिपाद्यमानानि च लभ्यन्ते, अनिवृत्तिबादरस्य पुनरुपशमश्रेणौ तदुपशमात्पूर्वप्रतिपन्नानां तेषां लाभः, क्षपकश्रेणौ तु क्षयादिति। सूक्ष्मसंपरायययाख्यातचरित्रे तूपशमश्रेणौ कषायोपशमात्, क्षपकश्रेणौ तु तत्क्षयाल्लभ्येते, नान्यतः, क्षयोपशमान्न प्राप्यत इत्यर्थः ॥१२५७॥

आह-ननु ''तस्स विसेसा इमे पंच'' (१२५४) इत्यत्र किं सामान्यं चारित्रमात्रं तच्छब्दस्य वाच्यम्, आहोस्वित् द्वादशानां कषायाणां क्षयादिभ्यो यदनन्तरमेवोक्तं तदेवेत्याशङ्क्याह –

लब्भइ चरित्तलाभो, खयाइओ वारसण्ह नियमोऽयं।
न उ पंचविहनियमणं, पंच बिसेस त्ति सामण्णं ॥१२५८॥

द्वादशानां कषायाणां क्षयादितः क्षयक्षयोपशमोपशमेभ्य एव लाभश्चारित्रस्य, नान्यथा इत्येवमेवेह नियमो द्रष्टव्यो, न तु पञ्चविधनियमनं, द्वादशकषायाणामेव क्षयादितो लब्धस्य चारित्रस्य पञ्चैते विशेषा इत्येवंभूतो नियमोऽत्र न कर्तव्य इत्यर्थः। किं तर्हि ?, द्वादशानामधिकानां वा कषायाणां क्षयादितो लब्धस्य तस्य सामान्येनैव चारित्रस्यैते वक्ष्यमाणाः पञ्च विशेषा इत्येवं सामान्यं चारित्रमात्रं तच्छब्दस्य संबध्यत इति ॥१२५८॥

अथ कस्माद्वादश कषायाणामेव क्षयादितो लब्धस्य चारित्रस्य पञ्चैते विशेषा इत्येवंभूतो नियमोऽत्र न क्रियते इत्याह-

जं तिण्णि वारसण्णं, लब्भंति खयाइओ कसायाणं।
सुहमं पन्नरसण्हं, चरिमं पुण सोलसण्हं पि ॥१२५९॥

यतः सामायिकच्छेदोपस्थापनीयपरिहारविशुद्धिकलक्षणानि त्रीण्येव चारित्राणि द्वादशकषायाणां क्षयादितो लभ्यन्ते, इति कथं तत्क्षयादिलभ्यस्य चारित्रस्य पञ्चविधत्वं स्यात् ? सूक्ष्मसंपरायचारित्रं तु संज्वलनलोभवर्जितानां शेषपञ्चदशकषायाणां क्षयादुपशमाद्वा लभ्यते। चरमं तु यथाख्यातचारित्रं षोडशानामपि कषायाणां क्षयात्, उपशमाद् वा प्राप्यते। एवं च सति सामान्यस्यैव चारित्रस्य पञ्च विशेषा भवन्ति। इति गाथापञ्चकार्थः ॥१२५९॥ (चरित्राद्देव मोक्ष इति 'किरिया णय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ५५४ पृष्ठे उपपादितम्) चरित्ररहितं ज्ञानं दर्शनं वा न स्वातन्त्र्येण मोक्षसाधनम्। आव०२ अ०।

साम्प्रतमसहायदर्शनपक्षे दोषा उच्यन्ते। यदुक्तं-"ने सेणिओ आसि" इत्यादि। तन्न। तत्त्वत एवासौ नरकमगमत्, असहायदर्शनयुक्तत्वात्, अन्येऽप्येवंविधा दसारसिंहादयो नरकमेव गता इत्याह -

दसारसीहस्स य सेणिअस्स, पेढालपुत्तस्स य सच्चइस्स।
अणुत्तरा दंसणसंपया तया, विणा चरित्तेण हरागइं गया ॥९४॥

दसारसिंहस्य अरिष्टनेमिपितृव्यपुत्रस्य, श्रेणिकस्य च प्रसेनजितपुत्रस्य, पेढालपुत्रस्य च सत्यकिनः, अनुत्तरा प्रधाना, क्षायिकीत्युक्तं भवति का ? दर्शनसंपत्, तदा तस्मिन् काले, तथापि विना चारित्रेण धरागतिं गता नरकगतिं गताः, नरकगतिं प्राप्ता इति वृत्तार्थः ॥९४॥

किं च-

सव्वाओ विगईओ, अविरहिआ नाणदंसणधरेहिं।
ता मा कासि पमायं, नाणेण चरित्तरहिएणं ॥९५॥

सर्वा अपि नारकतर्यङ्नरामरगतयः अविरहिता अवियुक्ताः कैः ?, ज्ञानदर्शनधरैः, यतः सर्वास्वेव सम्यक्त्वश्रुतसामायिकद्वयमस्त्वेव, न नरकगतिव्यतिरेकेण अन्यासु मुक्तिः, चारित्राभावात्, तस्माच्चारित्रमेव प्रधानं मुक्तिकारणं, तद्भावभावित्वादिति, यस्मादेवं (ता मा कासि पमायं ति) तत्तस्मान्मा काषीः प्रमादं ज्ञानेन चारित्रम्, एतेन तस्येष्टकलासाधकत्वात्। ज्ञानग्रहणं च दर्शनोपलक्षणार्थमिति गाथार्थः ॥९५॥

इतश्चारित्रमेव प्रधानं, नियमेन चारित्रयुक्ते एव सम्यक्त्वसद्भावादाह च-

सम्मत्तं अचरित्त-स्स हुज्ज भयणाइ निअमसो नत्थि।
जो पुण चरित्तजुत्तो, तस्स उ निअमेण सम्मत्तं ॥९६॥

सम्यक्त्वं प्राङ्निरूपितस्वरूपम्, अचारित्रस्य चारित्ररहि-तस्य प्राणिनः, भवेत् भजनया विकल्पनया, कदाचिद् भवति कदाचिन्नेति नियमशो नास्ति नियमेन न विद्यते, प्रभूता नां चारित्ररहितानां मिथ्यादृष्टित्वात्, यः पुनश्चारित्रयुक्तः सत्त्वस्तस्यैव, तुशब्दस्यावधारणार्थत्वात् नियमेनावश्यंतया सम्यक्त्वमतः सम्यक्त्वस्यापि नियमतश्चारित्रयुक्त एव भावात्प्राधान्यमिति गाथार्थः ॥९६॥

किञ्च -

जिणवयणबाहिरा मा-वणाहि उव्वट्टणं अयाणंता।
नेरइअतिरिअएगिं-दिएहि जह सिज्झई जीवो ॥९७॥

जिनवचनबाह्या यथावस्थितागमपरिज्ञानरहिताः, प्रत्येकं ज्ञानदर्शननयाऽवलम्बिनः (भावणाहिं ति उक्तेन न्यायेन ज्ञानदर्शनभावनाभ्यां सकाशान्मोक्षमिच्छतीति वाक्यशेषः उद्वर्तनामजानानां नारकतीर्यगेकेन्द्रियेभ्यो यथा सिद्ध्यति जीवस्तथोद्वर्तनामजानाना इति योगः। इयमत्र भावनाज्ञानदर्शनाभावेऽपि न नारकादिभ्योऽनन्तरमनुष्यभावमप्राप्य सिद्ध्यति कश्चित्, चरणाभावात्, तेन तयोः केवलयोरहेतुत्वमोक्षं पतितेभ्य एवैकेन्द्रियेभ्यश्च ज्ञानादिरहितेभ्योऽप्युद्वृत्तो मनुष्यत्वमपि प्राप्य चारित्रपरिणाम एव सिद्ध्यति, नायुक्तो अकर्मभूमिकादिरत इयमुद्वर्तना कारणावैकल्यं सूचयतीति गाथार्थः ॥९७॥)

पुनरपि चारित्रमेव पक्षं समर्थयन्नाह -

सुट्ठु वि सम्मद्दिट्ठी, न सिज्झई चरणकरणपरिहीणा।
जं चेव सिद्धिमूलं, मूढो तं चेव नासेइ ॥९८॥

सुष्ठवप्यतिशयेनाऽपि, सम्यग्दृष्टिर्न सिद्ध्यति, किंभूतः ? चरणकरणपरिहीनः, तद्वादमेव च समर्थयति, किमिति ? यदेव सिद्धिमूलं तदेव मोक्षकरणं सम्यक्त्वं, मूढस्तदेव नाशयति, केवलं तद्वादसमर्थनेन "एक्कं पि असद्दहंतो, मिच्छत्तं" इति वचनात्। अथवा-सुष्ठवपि सम्यग्दृष्टि, क्षायिकसम्यग्दृष्टिरपीत्यर्थः। न सिद्ध्यति चरणकरणपरिहीनः श्रेणिकादिवत्, किमिति ? यदेव सिद्धिमूलचरणकरणमूढस्तदेव नाशयति, अनासेवयेति गाथार्थः ॥९८॥

किं चायं केवलदर्शनपक्षो न भवत्येवागमत्रिदः सुसाधोः, कस्य तर्हि भवत्यत आह -

दंसणपक्खो सावएँ, चरित्तभट्ठे अ मंदधम्मे अ।
दंसणचरित्तपक्खो, समणे परलोअकंखम्मि ।९९॥

दर्शनपक्षः श्रावकेऽप्रत्याख्यानकषायोदयवर्तिनि, चारित्रभ्रष्टे च कस्मिंश्चिदव्यवस्थितपुराणे, मन्दधर्म्मे च पार्श्वस्थादौ दर्शनचारित्रपक्षः श्रमणे भवति, किंभूते ?, परलोककाङ्क्षिणि सुसाधावित्यर्थः। प्राकृतशैल्या चेह सप्तमी षष्ठ्यर्थएव द्रष्टव्या, दर्शनग्रहणाच्च ज्ञानमपि गृहीतमेव द्रष्टव्यमतो दर्शनादिपक्षस्त्रिरूपो वेदितव्य इति गाथार्थः ॥९९॥

अपरस्वाह-यद्येवं बह्वीभिरुपपत्तिभिश्चारित्रं प्रधानमुपवर्ण्यते भवता, ततश्च ते देवास्त्वलं ज्ञानदर्श-नाभ्यामिति न तस्यैव, तद्व्यतिरेकेणासंभवात्।

आह च-

पारंपरप्पसिद्धी, दंसणनाणेहि होइ चरणस्स।
पारंपरप्पसिद्धी, जह होइ तहऽन्नपानेहिं ॥१००॥
जम्हा दंसणनाणा, संपुन्नफलं न दिंति पत्तेअं।
चारित्तजुआ दिंति उ, विसिस्सए तेण चारित्तं ॥१०१॥

पारम्पर्य्येण प्रसिद्धिः पारम्पर्य्यप्रसिद्धिः स्वरूपासत्ता, एतदुक्तं भवति-दर्शनं ज्ञानं, चारित्रम्, एवं पारम्पर्य्येण चरणस्वरूपसत्ता, सा दर्शनज्ञानाभ्यां सकाशाद्भवति चरणस्यातस्तद्भावभावित्वाच्चरणस्य त्रितयमप्यस्तु। लौकिकन्यायमाहपारम्पर्य्यप्रसिद्धिर्यथा भवति तथाऽन्नपानयोर्लोकेऽपि प्रतीतैवेति क्रिया, तथा चान्नार्थं स्थालीन्धनाद्यपि गृह्णाति, पानार्था च द्राक्षाऽऽद्यतस्त्रितयमपि प्रधानमिति गाथार्थः ॥१००॥ आह-यद्येवमतस्तुल्यबलत्वे सति ज्ञानादिना किमित्यस्थानपक्षपातमाश्रित्य चारित्रं प्रशस्यते भवतेत्यत्रोच्यते-यस्माद् दर्शनज्ञानेसंपूर्णफलं मोक्षलक्षणं न दत्तः न प्रयच्यतः प्रत्येकं, चारित्रयुक्ते दत्त एव, विशेष्यते तेन चारित्रं, तस्मिन् सति फलभावात्, इति गाथार्थः ॥१०१॥

आह-विशिष्यतां चारित्र किं तु-

उज्जममाणस्स गुणा, जह होंति ससत्तिओ तवसुएसु।
एमेव जहासत्ती, संजममाणे कहं न गुणा ?।१०२।

'उज्जमाणस्स' उद्यच्छत उद्यमं कुर्वतः, क्व ?, तपः श्रुतयोरिति योगः। गुणास्तपोज्ञानाद्यग्निनेर्जरादयो यथा भवन्ति स्वशक्तितः स्वशक्त्युद्यमवत एवमेव यथाशक्ति, शक्त्यनुरूपमित्यर्थः। (संजममाणे कहं णं गुणा त्ति) संयममाने संयमं पृथिव्यादिसंरक्षणादिलक्षणं कुर्वति सति साधौ, कथं न गुणाः ?, गुणा एवेत्यर्थः। अथवा-कथं गुणा येनाविकलसंयमानुष्ठानरहितो विराधकः प्रतिपद्यते इत्यत्रोच्यते-

अणिगूहंतो विरिअं, न विराहेइ चरणं तवसुएसु।
जइ संजमे वि विरिअं, न निगूहिज्जा न हाविज्जा ॥१०३॥
संजमजोगेसु सया, जे पुण संतविरिआ विसीअंति।
कह ते विसुद्धचरणा, बाहिरकरणालसा हुंति ॥१०४॥

अनिगूहन् वीर्य्यं प्रकटयन् सामर्थ्यं यथाशक्त्या, क्व ?, तपः श्रुतयोरिति योगः, किं ?, न विराधयति चरणं न खण्डयति चारित्रं, यदि संयमेऽपि पृथिव्यादिसंरक्षणादिलक्षणे, वीर्य्यं सामर्थ्यं, उपयोगादिरूपतया न निगूहयेत् न प्रच्छादयेत्, मातृस्थानेन (न हावेज्ज त्ति) ततो न हापयेदिति संयमं न खण्डयेत्, स्यादेवं संयमगुण इति गाथार्थः संयमयोगेषु पृथिव्यादिसंरक्षणादिव्यापारेषु, सदा सर्वकालं, ये पुनः प्राणिनः (संतविरिया विसीयंति त्ति) विद्यमानसामर्थ्या अपि नोत्सहन्ते, कथं ते विशुद्धचरणा भवन्ति ? इति, योगेनैवेत्यर्थः। बाह्यकरणाल साः सन्तः, प्रत्युपेक्षणादिबाह्यचेष्टारहिता इति गाथार्थः ॥१०४॥

आह-ये पुनरालम्बनमाश्रित्य बाह्यकरणालसा भवन्ति तेषु का वार्तेति ?, उच्यते -

आलंवणेण केणइ, जे मन्ने संजमं पमायंति।
न हु तं होइ पमाणं, भूअत्थगवेसणं कुज्जा ॥१०५॥

आलम्बत इत्यालम्बनं प्रयततां साधारणस्थानं, तेनालम्बनेन केनचित्, अव्यवस्थित्यादिना ये प्राणिनः, मध्ये इत्येवमहं मन्ये, संयमम् उक्तलक्षणं, प्रमादयन्ति परित्यजन्ति (न हु तं होइ पमाणं) नैव तदालम्बनमात्रं भवति प्रमाणम् आदेयं, किं तु भूतार्थगवेषणं कुर्यात्तत्त्वार्थान्वेषणं कुर्यात्। किमिदं पुष्टमालम्बनमाहोस्विन्नेति, यद्यपुष्टमविशुद्धचरणा एव ते, अथ पुष्टं वि शुद्धचरणा इति गाथार्थः। आव०३ अ०। ध०।

एवममुना प्रकारेण चरित्रे विद्यते शोधिः, तदाददतः कुर्वतश्च शोधिमेवमुक्तप्रकारेण दृश्यते, यदपि चोक्तं दर्शनज्ञानाभ्यां तीर्थं याति तदप्ययुक्तं यथा भवति तथा शृणुत।

अयुक्ततामेव कथयति -

एवं तु भणंतेणं, सेणियमादी वि थाविया समणा।
समणस्स य जुत्तस्स य, नत्थी नरएसु उववातो ॥

यदि नाम ज्ञानदर्शनाभ्यां तीर्थं, तर्हि प्रवचनं, तच्च श्रमणेषु व्यवस्थितं, तत एवं भणता त्वया श्रेणिकादयोऽपि श्रमणा व्यवस्थापिताः, तेषामपि ज्ञानदर्शनिभावात्, न चैतदुपपन्नम्, यतः श्रमणस्य, श्रमणगुणैर्युक्तस्य च नास्ति नरकेषूपपातः। तच्च न श्रेणिकादीनामसंभवात्।

जंपित्त हु एक्कवीसं, वाससहस्साणि होहि तित्थं तु।
तं मिच्छा सिद्धी वि य, सव्वगतीसुं च होज्जाहि ॥

यदपि सूत्रे च भणितम्- एकविंशतिवर्षसहस्राणि तीर्थमनुवर्तमानं भविष्यति इति, तदपि त्वन्मतेन मिथ्या प्राप्नोति, षट्स्वपि समासु ज्ञानदर्शनभाविनश्चिरकालमपि तीर्थानुवज्जनप्रसक्तेः। यथा सर्वास्वपि च गतिषु सिद्धिरप्येवमनिवारितप्रसरा भवेत्। सम्यग्दर्शनज्ञानयुक्तानां चारित्ररहितानां सर्वगतिष्वपि जीवानां भावात्, ये चानुत्तरोपपातिनो देवास्ते नियमतस्तद्भवसिद्धिगामिनो भवेयुः, तेषामनुत्तरज्ञानदर्शनोपेतत्वात्, न चैदिष्टम्, तस्मादिदमागतम्-"पच्छित्तम्मि असंतम्मि, तित्थे नो सचरित्तया।" असति अविद्यमाने प्रायश्चित्ते चारित्रं न तिष्ठति, प्रायश्चित्तमन्तरेण चारित्रस्य शुद्धिर्न भवेत्, चारित्रे चासति तीर्थस्य न सचरित्रता।

अचरित्तयाएँ तित्थस्स, निव्वाणम्मि न गच्छइ।

निव्वाणम्मि असंतम्मि, सव्वा दिक्खा निरत्थया ॥

तीर्थस्याचारित्रतायां साधुर्निर्वाणं न गच्छति। असति च निर्वाणे सर्वा दीक्षा निरर्थका। व्य०१० उ०। पञ्चा०। ('उवसम' शब्दे द्वितीयभागे १०२८ पृष्ठे चारित्रमो हनीयस्योपशमताऽभिहिता) "नाणेण होइ करणं, करणं नाणेण फासियं होइ। दुण्हं पि समाओगे, होइ विसोही चरित्तस्स ॥" द०प०। केषाञ्चित्कषाणामुदये चरित्रस्य लाभ एव न भवति, केषाञ्चित् पुनर्लब्धमपि अतिचरति प्रतिपतति च। आ० चू०१ अ०। वीतरागाणां चरित्रं न वर्द्धते, नापि हानिमुपगच्छति, कषायाणामभावात्, *किन्त्ववस्थितमेकमेव परमप्रकर्षप्राप्तं संयमस्थानमिति, सरागसंयतानां तु केषाञ्चिद् वर्धते, केषाञ्चिद्धीयते।* व्य०१० उ०। *व्यवहारनयमते* देशभङ्गेऽपि सर्वभङ्गाभावः चारित्रमवतिष्ठत एव। व्य०१ उ०। वस्तुतो योगस्थैर्यरूपं चारित्रं महाभाष्यस्वरससिद्धमिति महता प्रबन्धेनोपपादितमध्यात्ममतपरीक्षायाम्। प्रति०। "चारित्रमात्मचरणाद्, ज्ञानं वा दर्शनं सुनेः। शुद्धज्ञाननये साध्यक्रियालाभात् क्रियानयः ॥३॥" अष्ट०१३ अष्ट०। "सम्मत्तं आचरितस्स हुज्ज भयणाएँ नियमसो नत्थि। जो पुण चरित्तजुत्तो, तस्स हु नियमेण सम्मत्तं ॥१॥" संथा०। सम्मत्तम्मि उ लद्धे, पलियपुहत्तेण सावओ होज्जा। चरणोवसमवयाणं, सायरसंखंतरा हुंति ॥" श्रा०।

आधिक्यस्थैर्यसिद्ध्यर्थं, चक्रभ्रामकदण्डवत्।
असौ व्यञ्जकताऽप्यस्य, तद्बलोपनतिक्रिया ॥२६॥

आधिक्यं सजातीयपरिणामप्राचुर्यं, स्थैर्यं च पतनप्रतिबन्धः, तत्सिद्ध्यर्थं चक्रभ्रामकदण्डवदसावुपदेशे उपयुज्यते। यथाहि दण्डो भ्रमतश्चक्रस्य दृढीभ्रम्यर्थं, भग्नभ्रमेर्वा भ्रम्याधानार्थमुपयुज्यते, न तूचितभ्रमवत्येव, तत्र तथोपदेशोऽपि गुणप्रारम्भाय, तत्प्रतिबन्धाय चोपयुज्यते, न तु स्थितिपरिणामं प्रतीति। तदुक्तमुपदेशपदे-"उवएसो वि हु सफलो, गुणठाणारंभगाण जीवाणं। परिवडमाणाण तहा, पायं न उ तट्ठियाणं पि" ॥१॥ व्यञ्जकताऽप्यस्योपदेशस्य तद्बलेन परिणामबलेनोपनतिक्रिया सन्निधानलक्षणा, अन्यथा घटादौ दण्डादेरपि व्यञ्जकत्वापत्तेरिति भावः ।२६। द्वा०१७ द्वा०। द्रव्यस्तवं निर्दूषणं प्रसाधय-"'अलमित्थपसंगेणं, एवं खलु होइ भावचरणं तु। परिसुज्झस्सतंऽण्णे, भावे जिअकम्मजोएणं ॥" इत्यादि। अथवाऽत्र द्रव्यचरणम्- "भावचरणमुग्गविहारणा य दव्वच्चणं तु जिणपूजा। पढमा जइ ण दुण्णि वि, जइ णं पढमं चिय पसत्था ॥१॥ कंचणमाणस्सुसिए सुवण्णतले जो कारवेज्ज जिणहरं, तओ वि संजमतवो अणंतगुणो, तवसंजमेण बहुभवसमज्जिअपाव-कम्ममलपवहं निट्ठविऊणं अइसासयसुखं वए सुखं काउं जिणायणेहिं मंडिअं सयलमेइणीवट्टं दाणाइचोक्केण वि सुट्ठु वि गच्छिज्ज इअ भूयं न परओ त्ति।" प्रति०। (चारित्रस्य निन्दा प्रशंसा च 'अवुसराइय' शब्दे प्रथमभागे ८११ पृष्ठे उक्ता) (चारित्रस्यावर्णं वदतीति 'अवण्णवाय' शब्दे ७६३ पृष्ठे व्याख्यातम्)

न चरित्रं विराधयेत-

जया विसए उदिज्जंति, पमणाऽसणविसं पि वा।
काऊवंधिऊण मरियव्वं, नो चरित्तं विराहए ॥

अह एयाइं न सक्केज्जा, तो गुरुणो लिंगं समप्पिय।
विदेसे जत्थ नागच्छे, पउत्ती तत्थ गंतूणं ॥
अणुव्वयं तु पालिज्जा णो भविया णिद्धम्मो।
महा०५ अ०।

विइयचरिमव्वयाइं, पइं चरित्तमिह सव्वदव्वेसु" इति 'सामाइय' शब्दे प्रपञ्चयिष्यते) आहारशुद्धिरेव मुख्यश्चारित्रहेतुरुद्घुष्यते। यदुक्तम्- "पिंडं असोहयंतो, अचरित्ती इत्थ संसओ नत्थि। चारित्तम्मि असंते, सव्वा दिक्खा निरत्थीया ॥" ध०२०। इदानीमप्यस्ति चारित्रं पञ्चयाम-*चातुर्यामचिन्तां कृत्वा, ननु तर्हि द्वाविंशतिजिनयतीनां ऋजुप्राज्ञानां भवतु धर्म्मः, परं प्रथमजिनयतीनां ऋजुजडानां कुतो धर्मः ?*, अनवबोधात्, तथा च वक्रजमानां वीरयतीनां तु सर्वथा धर्मस्य अभाव एव, मैवम्, ऋतुजडानां प्रथमजिनयतीनां जडत्वेन स्खलनासद्भावेऽपि भावस्य विशुद्धत्वाद् भवति धर्मः तथा वक्रजडानामपि वीरजिनय-तीनां *ऋजुप्राज्ञापेक्षया अविशुद्धो भवति, परं सर्वथा धर्मो च भवति इति न* वक्तव्यम्, तथावचने हि महान् दोषः। यदुक्तम्- "जो भणइ नत्थि धम्मो, न य सामइयं न चेव य वयाइं सो समणसंघवज्झो, कायव्वो समणसंघेण" ॥१॥ कल्प०१ क्षण। दर्श०। पञ्चा०। एष एवार्थः पुष्करिण्यादिदृष्टान्तेन भावनीयः। यथापूर्वकाले पुष्करिण्यादयो महापरिमाणा आसन्, इदानीं तु न तथा, तथापि पुष्करिण्य एवेत्येवमिदानीं हीनमपि चारित्रत्वं न विजहाति, किन्तु यावत्प्रायश्चित्तं तावत्प्रायश्चित्तम्।

न विणा तित्थ नियंठे-हि नियंठा वा अतित्थगा चेव।
छक्कायसंजमो जा-व ताव अणुसज्जणा दोण्हं।

निर्ग्रन्थैर्विना तीर्थं न भवति, तेनापि विना निर्ग्रन्था अतीर्थकास्तीर्थरहिता भवन्ति, परस्परव्यवच्छिन्नतया एकस्याऽपरस्य भावात्, तिर्ग्रन्थग्रहणं संयतानामुपलक्षणं, तदेतदपि द्रष्टव्यमसंयतैर्विना न तीर्थं, नापि तीर्थमन्तरेण संयता निर्ग्रन्थाः, संयताश्च प्रथमभवनेन चतुर्दशपूर्वधरव्यवच्छेदेऽपि विद्यन्ते, यतो यावत् षट्कायसंगमस्तावत् द्वयानामनुषज्जनाऽनुवर्त्तमाना समस्ति, षट्कायसंयमश्च प्रत्यक्षत्वोऽद्याप्युपलभ्यते, ततः सन्ति निर्ग्रन्थाः, सन्ति संयता इति प्रतिपत्तव्यं, तत्सत्त्वं प्रतिपत्तव्य, तत्सत्त्वप्रतिपत्तौ च तीर्थं सचारित्रमित्यपि, प्रत्येकभव्यं चारित्रे सति प्रायश्चित्तमस्त्येव ॥

सव्वण्णूहिँ परूविय, छक्काय महव्वया य समितीओ।
स चेव य पन्नवणा, संपतिकाले वि साहूणं ॥
तेनोववन्न तित्थं, दंसणनाणेहिँ एव सिद्धं तु।
निज्जवगा वोच्छिन्ना, जं पि य भणियं तु तन्न तहा ॥

पूर्वसाधूनां सर्वज्ञैश्चारित्रस्य प्रतिपत्तयो रक्षणाय च षट्कायानां महाव्रतानि समितयश्च प्ररूपिताः, सैव च प्रतिज्ञापना सम्यगाराध्यतया संप्रतिकालेऽपि साधूनामस्ति, तत उपपन्नं सम्प्रत्यपि चारित्रमस्ति, एवं च सिद्धं न तीर्थं ज्ञानदर्शनाभ्यां व्रजति, किं तु ज्ञानदर्शनचारित्रैरिति। व्य०१० उ०।

तच्चाकल्किराजपर्यन्तम् -

"से भयवं ! उड्ढं पुच्छा ? गोयमा ! तओ परेणं उड्ढं हीयमाणे कालसमये, तत्थ णं जे केइ छक्कायसमारंभविवज्जं से णं धन्ने

पुन्ने वंदे पूए नमंसणिज्जे जीवियं सुजीवियं तेसिं" ॥ महा०५ अ०।

"अह दूसमारसेसे, होहा नामेण दुप्पसह समणो।
अणगारो गुणगारो, धम्मागारो तवोऽगारो ॥१३॥
सो किर आयारधरो, अपच्छिमो होइ ताव भरहवासे।
तेण समं आयारो, नस्सिहि सम्मं चरित्तेणं ॥१४॥" ति०।

(मूलगुणोत्तरगुणयोरेकस्य नाशे द्वयोरपि नाश इति 'अइयार' शब्दे प्रथमभागे ६ पृष्ठे उक्तम्) अत्र चोदक आह-यदि मूलगुणानां नाशे उत्तरगुणानामपि नाशः, उत्तरगुणानां नाशे मूलगुणानामपि स्यात् ततो न खलु नैव मूलगुणाः सन्ति, नाप्युत्तरगुणाः, यस्मान्नास्ति स संयतो यो मूलोत्तरगुणानामन्यतमं गुणं न प्रतिसेवते अन्यतमगुणप्रतिसेवने च द्वयानामपि मूलोत्तरगुणानामभावः, तेषामभावे सामायिकादि-संयमाभावः, तदभावे वकुशादिनिर्ग्रन्थानामभावः, ततः प्राप्तं तीर्थमचारित्रमिति।

सूरिराह -

चोयग छक्कायाणं, तु संजयं जाऽणुधावए ताव।
मूलगुण उत्तरगुणा, दोण्णि वि अणुधावए ताव ॥

चोदक! यावत् षट्जीवनिकायेषु संयमोऽनुधावति अनुगच्छति प्रबन्धेन वर्तते तावत् मूलगुणा उत्तरगुणाश्च द्वयेऽप्येते अनुधावन्ति प्रबन्धेन वर्तन्ते।

इत्तरसामइयच्छे-यसंजमा तह दुवे नियंठा य।
चउसु पडिसेवणा ता, अणुसज्जंते य जा तित्थं।

यावन्मूलगुणा उत्तरगुणाश्चानुधावन्ति तावदित्वरसामायिकच्छेद-संयमावनुधावतः, यावच्चेत्वरसामायिकच्छेदोपस्थानसंयमौ तावत् द्वौ निर्ग्रन्थावनुधावतः। तद्यथा-वकुशः, प्रतिसेवकश्च। तथाहि-यावद् मूलगुणप्रतिसेवना तावत्प्रतिसेवको, यावदुत्तरगुणप्रतिसेवना तावद्वकुशः, ततो यावत्तीर्थं तावद्वकुशाः, प्रतिसेवकाश्च अनुसज्जन्ति अनुवर्तन्ते, ततो नाचारित्रं प्रसक्तं प्रवचनमिति। अथ मूलगुणप्रतिसेवनायामुत्तर-गुणप्रतिसेवनायां वा चारित्रभ्रंशे अस्ति कश्चिद्विशेषः, उत नास्ति ? अस्ति इति ब्रूमः।

कोऽसावित्याह -

मूलगुणे दइयसगमे, उत्तरगुणे मंडवे सरिसवाई।
छक्कायरक्खणट्ठा, दोसु विसुद्धेसु चरणसुद्धी ॥

मूलगुणेषु दृष्टान्तो दृतिः, शकटं च। केवलमुत्तरगुणा अपि तत्र दर्शयितव्याः, उत्तरगुणेषु दृष्टान्तो मण्डपं, सर्वपादि, आदिशब्दात् शिलादिपरिग्रहः तत्राऽपि मूलगुणा अपि दर्शयितव्याः। इयमत्र भावना-एकेनापि मूलगुणप्रतिसेवनेन तत्क्षणादेव चारित्रभ्रंश उपजायते, उत्तरगुणप्रतिसेवनायां पुनः कालेन, अत्र दृष्टान्तो दृतिकः। तथाहि-यथा दृतिक उदकभृतः पञ्चामहाद्वारः, तेषां महाद्वाराणामेकस्मिन्नपि द्वारे मुत्कलीभूते तत्क्षणादेव रिक्तो भवति, सुचिरेण तु कालेन पूर्यते, एवं महाव्रतानामेकस्मिन्नपि महाव्रते अतिचर्यमाणे ततक्षणदेव समस्तचारित्र-भ्रंशो भवति; एकमूलगुणघाते सर्वमूलगुणानां घातात्। तथा च गुरवो व्याचक्षते-एकव्रतभङ्गे सर्वव्रतभङ्ग इति। एतन्निश्चयनयमतं, व्यवहारतः पुनरेकव्रतभङ्गे तदेवैकं भग्नं प्रतिपत्तव्यम्, शेषाणां तु भङ्गः क्रमेण यदि प्रायश्चित्तप्रतिपत्त्या नानुसंधत्ते इति। अन्ये पुनराहुः चतुर्थमहाव्रत-प्रतिसेवने तत्कालमेव सकलचारित्रभ्रंशः, शेषेषु पुनर्महाव्रतेष्वभीक्ष्ण-प्रतिसेवनया महत्यतिचरणे वा वेदितव्यः, उत्तरगुणप्रतिसेवनायां पुनः कालेन चरणभ्रंशो, यदि पुनः प्रायश्चित्तप्रतिपत्त्या नोज्झवालयति। एतदेव कुतोऽवसेयमिति चेत् ? उच्यते-शकटदृष्टान्तात्। तथाहि-शकटस्य मूलगुणा द्वे चक्रे, उद्धी, अक्षश्च, उत्तरगुणा वधकीलकलोहपट्टादयः। एतैर्मूलगुणैरुत्तरगुणैश्च सुसंप्रयुक्तं सत् शकटं यथा भारवहनक्षमं भवति, मार्गे च सुखं भवति, तथा साधुरपि मूलगुणैरुत्तरगुणैश्च सुसंप्रयुक्तः सन् अष्टादशशीलाङ्गसहस्रभारवहनक्षमो भवति, विशिष्ट उत्तरोत्तरसंय-माध्यवसायस्थानपथे च सुखं वहति। अथ शकटस्य मूलाङ्गानामेकमपि मूलाङ्गं भग्नं भवति तदा न भारवहनक्षमं, नापि मार्गे प्रवर्तते, उत्तराङ्गेषु कैश्चितद् विनाऽपि शकटं कियत्कालं भारक्षमं भवति, प्रवहति च मार्गे, कालेन पुनर्गच्छताऽन्यान्यपरिशटनादयोग्यमेव तदुपजायते। एवमिहापि मूलगुणानामेकस्मिन्नपि मूलगुणे हते न साधूनामष्टादशशीलाङ्गसहस्र-भारवहनक्षमता, नापि संयमश्रेणिपथे प्रवहणम्, उत्तरगुणेषु कैश्चिद-प्रतिसेवितैरपि भवति कियन्तं कालं चरणभारवहनक्षमता, स्त्रंयम-श्रेणिपथे प्रवर्तनं च, कालेन पुनर्गच्छता तन्नऽप्यन्यान्यगुणप्रतिसेवनातो भवति समस्तचारित्रभ्रंशः ततः शकटदृष्टान्तादुपपद्यते मूलगुणानामे-कस्यापि मूलगुणस्य नाशे तत्कालं चारित्रभ्रंशः, उत्तरगुणनाशे कालक्रमेणेति। इतश्चैतदेवं मण्डपसर्षपादिदृष्टान्तात्। तथाहि-एरण्डादिमण्डपे यद्येको द्वौ बहवो वा सर्षपाः, उपलक्षणमेतत्, तिलतण्डुलादयो वा प्रक्षिप्यन्ते, तथाऽपि न मण्डपो भङ्गमापद्यते, अतिप्रभूतैश्चाढकादिसंख्यैर्भज्यते। अथ तत्र महती शिला प्रक्षिप्यते, तदा तयैकयाऽपि तत्क्षणादेव ध्वंसमुपयाति। एवं चारित्रमण्डपोऽप्येक-द्वित्र्यादिभिरुत्तरगुणैरतिचर्यमाणैर्न भङ्गमुपयाति, बहुभिस्तु कालक्र-मेणातिचर्यमाणैर्भज्यते, शिलाकल्पेन पुनरेकस्यापि मूलगुणस्यातिचारे तत्कालं ध्वंसमुपगच्छतीति, तदेवं यस्मान्मूलगुणातिचरणे क्षिप्रमुत्तर-गुणातिचरणे कालेन चारित्रभ्रंशो भवति तस्मान्मूलगुणा उत्तरगुणाश्च निरतिचाराः स्युरिति षट्कायरक्षणार्थं सम्यक् प्रयतितव्यम्, षड्कायरक्षणे हि मूलगुणा उत्तरगुणाश्च शुद्धा भवति, तेषु च द्वयेष्वपि शुद्धेषु, (अत्र गाथायामेकवचनं प्राकृतत्वात्, प्राकृते हि वचनव्यत्ययोऽपि भवतीति) चरणशुद्धिः चारित्रशुद्धिः। व्य०१ उ०। नि० चू०। दर्श०।

चारित्रफलम् -

इह भविए भंते ! चरित्ते, परभविए चरित्ते ? गोयमा ! इह भविए चरित्ते, णो परभविए चरित्ते, णो तदुभय भविए चरित्ते, एवं तवे, संजमे।

चारित्रसूत्रे निर्वचने विशेषः। तथाहि-चारित्रमैहभविकमेव, न हि चारित्रवानिह भूत्वा तेनैव चारित्रेण पुनश्चारित्री भवति, यावज्जीवताऽवधिकत्वात्तस्य। किञ्चचारित्रिणः संसारे सर्वविरतस्य देशविरतस्य च देवेष्वेवोत्पादात्, तत्र च विरतेरत्यन्तमभावान्मोक्षगतावपि चारित्रसम्भवाभावात्। चारित्रं हि कर्मक्षपणायानुष्ठीयते, मोक्षे च तस्याऽकिञ्चित्करत्वात्, यावज्जीवमिति प्रतिज्ञासमाप्तेस्तदन्यस्याश्चाग्रहणात्, अनुष्ठानरूपत्वाच्च चारित्रस्य, शरीरभावे च तदयोगात्। अत एवोच्यते-"सिद्धेनो च

रित्ती नो अचरित्ती" नो अचरित्रीति च अविरतेरभावादिति। अनन्तरं चारित्रमुक्तम्। तच्च द्विधा-तपः संयमभेदादिति तयोर्निरूपणा-यातिदेशमाह-(एवं तवे संजमे त्ति) प्रश्ननिर्वचनाभ्यां चारित्रवत्तपः संयमौ वाच्यौ, चारित्ररूपत्वात्तयोरिति। भ०१ श०१ उ०।

अष्टादश चारित्रभवाः -

"आराहणा य एत्थं, चरणपडिवत्तिसमयओ पभिई। आवरणंतमजस्सं, संजमपरिपालण विहिण"॥१॥ इति। एवं चेह यद्यपि चारित्रप्रतिपत्तिभवा विराधनायुक्ता अग्निकुमारवर्जभवन-पतिज्योतिष्कत्वहेतुभवसहिता दश, अविराधनाभवास्तु यथोक्तसाधैर्मार्ददवेलाकेसवार्थसिद्धयुत्प-तिहेतवः सप्त, अष्टमश्च सिद्धिगमनभव इत्येवमष्टादश चारित्रभवाउक्ताः। श्रूयते चाष्टैव भवाँश्चारित्रं भवति। भ०१५ श०१ उ०। व्यवसायभेदे, चारित्रमपि समभावलक्षणो व्यवसाय एव, बोधस्वभावस्याऽऽत्मनः परिणतिविशेषत्वात्। स्था०३ ठा०३ उ०।

चरित्तगुणप्पमाण न० (च (चा)रित्रगुणप्रमाण)। चरत्यनिन्दितम-नेनेति चरित्रं, तदेव चारित्रं, चारित्रमेव गुणः। सावद्ययोगाविरतिरूपे गुणप्रमाणभेदे, तच्च पञ्चविधम्-"चरित्तगुणप्पमाणे पंचविहे पण्णत्ते। तं जहा-सामाइअचरित्तगुणप्पमाणे, छेआवेट्ठावणचरित्तगुणप्पमाणे, परिहारविसुद्धिअचरित्तगुणप्पमाणे, सुहुमसंपरायचरित्तगुणप्पमाणे, अहक्खायचरित्तगुणप्पमाणे"। अनु०।

चरित्तकप्प पुं० (चरित्रकल्प)। चारित्रप्रतिपादके शास्त्रे, पं० भा०।

.....,एत्तो वोच्छं चरित्तकप्पं तु।
जे तु विहाणचरित्ते, वतेसु गुरुलाघवं चेव॥
पंचविहम्मि चरित्त-म्मि वण्णिता जे जहि अणूभागा।
एसो चरित्तकप्पो, जहक्कयं होति विण्णेओ॥
सामाइयाहि पंचहिं, सव्वो वि भवे वहुत्तरं कंठा।
सव्वगुरुगा अहिंसा, तीसे सारक्खणट्ठ सेसाणि॥
मेहुणवयं च तत्तो, ततो अदत्तं मुसं तत्तो।
सव्वलहुओ परिग्गह, सव्वावत्थाऍ रागनिग्गहणं॥
लोगे पुण गरुगतरो, सव्वेसु भवे मुसावादो।
काऊण वि संधरणं, सुयवज्जणं तु सव्वभंगे वि॥
जे न पावंति धम्मं, सुएसु अह मिच्छो ते उ।
सोतुं मिच्छवतारा, विणयं काऊण हिट्ठए आह॥
अज्जप्पभिई अम्हं, वुड्ढो सड्ढा वते देह।
मुसवज्जा वाएमो, धारेमो गिण्हितुं वते तेण॥
वीसत्थमित्तगाणं, मुसितविहारं समोढत्ता।
मिच्छत्त वें ति तेणे, घेत्तुं सिक्खावयाणि मा अज्जो॥
भंजह लंवंति जहा, तेणा ऊवज्जसमणेसु।
सद्धम्मो गुरुलाघव-वक्खाणं सोहिकारणाभिहितं॥
पत्तम्मि कारणम्मि तु, लहुयतरं पुव्व सेवेज्जा।
काणि पुण कारणाणी, जेसुं पत्तेसु जयणपडिसेवा॥
भण्णइ ताण इमाइं, कित्तेऽहं भे समासेणं।
गच्छाणुकंपयाए, आयरिय गिलाणे आवतीए य॥
पडिसेवा खलु भणिता, एते खलु कारणा ते उ।
तेहि य तेणादीसुं, गच्छस्स ट्ठाणसेवणा होति॥
आयरियाण व अट्ठा, विभासवित्थारदुऍ एत्थं।
णातुं तवं विणासं, अरगा साहारणेण एवं तु॥
आयरियस्स विणासे, गच्छविणासो धुवं एवं।
आगाढे गेलण्णे, कंदातिविभास आवती वसुभा॥
देव्वावति तह भोगा, वतीवग्गओ तह भागओ चेव।
एतेहि कारणेहिं, अप्पत्तेहि जो तु सेवेज्ज॥
सुहसीलयाऍ जो ऊ, आवज्जति ण वि य सुज्झती सो उ।
जो पुण पत्ते कारणे, जयणा आसेवणं करेज्ज ह॥
तस्स सेवणा वि जा सा, लोगे सव्वे जिणेहि तं इणमो।
गच्छाणुकंपयाए, आयरियगिलाण आवदि वि देन्न॥
जत्थेव य पडिसेहो, सचरित्ताऽऽसेवणा तत्थ।
पुरिमस्स पच्छिमस्स य, मज्झिमगाणं तु जिणवरिंदाणं॥
आवेवणा य सचरि-त्तया य अत्थेण अणुगम्मा।
वयभंगं पि करें तो, जह सचरित्ती कहं तु अत्थेणं॥
अणुगंतव्वं एयं, भन्नाति आगाढकारणतो।
जे के अवराहपदा, कण्हा सुक्का भवे पवयणम्मि॥
णिघरिसपरिच्छाणाए, दुगंठाणेणं मुणेयव्वो।
पडिसेहें अणुन्ना वा, पायच्छित्ते य ओह णिच्छइए॥
ओहेण उ सट्ठाणं, अत्थविरेगेण वोगडियं।
हिंसादवराहपदा, किण्हे अणुघाति सुक्किला लहुगा॥
णिप्परिसपरिच्छण्णे, जह कणगं ताव णिहसेसु।
एवं परिच्छिऊणं, आयवयं गच्छमावती जं तु॥
णित्थारयम्मि पत्ते, जयणाए णिसेव सचरित्ती।
दुट्ठाणा मूलुत्तर-दप्पे अजए य होति पडिसेहो॥
कप्पे जयणाऽणुण्णा, जो पुण निक्कारणाऽऽसेवे।
पायच्छित्ते पावति, तं दुविहं ओहियं च णेच्छइयं॥
ओहं च जमावण्हं, तं दिज्जति तम्मि सट्ठाणं।
णेच्छइयं अत्थेणं, वीमंसेत्ता तु देज्जती तं तु॥
एयं अत्थविरेगं, वोगडियं छव्विहं इणमो।
कस्स कहं व कहिंतं, वोकडिया कम्मि किच्चे वा॥
छट्ठाणपदविभत्तं, अत्थपदं होति वोगडियं।
कस्स त्ति गीतगीत-स्स वा विकह जयणऽजयणाए॥
कह अद्धाण वसंतो, दिया णु सुब्भिक्खदुब्भिक्खे।
अहवा दिव राओ वा, कम्मि त्ती करणे व इतरे वा॥
कम्मि च पुरिसजाते, आयारादीण अन्नतरे।
केच्चिर कतिवारे खलु, केवइकालं व सेवियं होज्जा॥
एवं छट्ठाणेहिं, सुद्धासुद्धे असुद्धितरो।
संघयणधितिजुताणं, सड्ढणअरुहं तु दिज्जए तत्थ॥

असहू अथिरादीणं, दिज्जति वाएति जं वोहुं ।
सोत्तूण कप्पियपदं, करेति आलंबणं मतिविहूणो ।।
रहसं च अणरहस्सं, करेति मतिसूयओ पुरिसो ।
माइट्ठाणविमुक्कं, अकप्पियं जो तु सेवते भिक्खू ।।
तं तस्स कप्पति पदं, मायासहिते चरणभेदो । पं० भा० ।

इयाणिं चरित्तकप्पो, गाहा-(पंचविहम्मि) तं पुण चरित्तं पंचविहं सामाइअमाई, अणुभागो नाम सामाइओ दुविहोइरित्तओ, आवकहिओ, छेओवट्ठावणिओ घेत्तूण परियागं परिहारविसुद्धि निव्विसमाणे निव्विट्ठो य, एवं सव्वे वि भाणियव्वा, जो जस्स अणुभागो तम्मि पुण चरित्ते गुरुलाघवं नायव्वं, पंचसु वि एएसु कयरं भारियतरं वा ? उच्यते-सव्वगुरुइया अहिंसा, तस्स सारक्खणत्थं सेसाणि, तयणंतरं मेहुणं, ततश्चादत्तं, ततो मोसं, सव्वलहुओ परिग्गहो, सव्वावत्थासु रागदोसाणि अवणेऊणं तु, न विणा रागेण लोए पुण मुसावाओ भारिओ, जहा दव्वत्ति य सड्ढेहिं कवडेण मुसावायवज्जाणि सिक्खापयाणि घेत्तूण विहारो विलओ लिओ, एसा पुण गुरुलाघवा विसोही कारणे कीरइ । पढमं जं लहुयं तं सेविज्जइ । त पुणो कत्थ सेविज्जइ ? गाहा-(गच्छाणुकंपयाए) वोहियाइसु वालवुड्ढाओ ण गच्चदकुलाइकज्जे वा , आयरियाणं गिलाणाइअज्जाइकज्जसु वा दव्वखेत्तकालभावा वइसु वा एएसु गच्छाणुकंपयाइसु कारणेसु अयत्तेसु सुहसीलयाए वयाणि पेल्लेइ, सो आवज्जइ तट्ठाणपच्छित्तं । गाहा-(गच्छाणुकंप) सो पुण एएसु गच्छाणुकंपाइसु कारणेसु पत्तेसु गुरुलाघवविसोही य वयाणि पेल्लेइ, जाणि चेव पडिसेवियाणि चेव पडिसेवइ सो सुद्धो । गाहा-(पुरिमस्स) एवं पुरिमपच्छिममज्झिमाणं तित्थगराणं कारणे पत्तेयाऽऽसेवणाइ भवइ, पडिसेवियपयाणं सचरित्तया य । कहं पुण, अत्थओ अणुगमित्ता । गाहा-(जे के अवराहपया) हिंसादया किण्ह त्ति गुरुया, सुक्किल त्ति लहुया सुवन्न निघसमिव परिच्छियव्वा, अवधारणीयमिति कट्टु के य जयणपुरिसकारो तुलासमो नाणदरिसण चरित्तट्ठी, दुयट्ठाणं नाम मूलगुणा उत्तरगुणा य, ते कप्पंति । एवं सव्वत्थ वि पडिसेहे भुज्जो अणुण्णा कया । गाहा-(पडिसेहें अणुण्णा) पायच्छित्तं पुण दुविहं ओहियं निच्छइयं च ओहेण जं चेव आवन्नो तं चेव दिज्जइ, निच्छयओ पुण अत्थेण विरेत्तूण विणिच्छएणं ति भणियं होइ, तो दिज्जइ, विरेगो पुण छव्विहो, तत्थ गाहा-(कस्स कहं) कस्स वा ?, गीयत्थस्स वा, गीयत्था आयरिया, उवज्झाया, भिक्खू वा, आयरियउवज्झाया नियमा गीयत्था, ते पुणो कयकरणा वा, कयकरणाणं तदाणुरूवं दिज्जइ, भिक्खू अभिगयं अणभिगयं थिराथिरकयकरणा य भयणीओ कहंति, जयणाए अजयणाए वा पडिसेवियं कहें ति, अद्धाणे वा जणवए वा पडिसेवियां । कइया ?, सुभिक्खे, दुब्भिक्खे वा, दिया, राओ । कम्मि ? कारणे अकारणे वा । केचिरं कइवारे कालं वा, एवं छहिं ठाणेहि वोकमे जं ण दिज्जइ, तत्थ जइ सुद्धेण सुद्धा चेव सुद्ध त्ति, कारणे सुद्धा अकारणे सेवियं अगीयत्थासुं वा असुद्धं, तस्स पुण सहु असहु त्ति विज्जइ, स दओ थिरसंजमो जेण । गाहा-(सोत्तूण कप्पियपयं) कप्पियपदमिति अववाओ, सव्वत्थ एवं कायव्वं ति मण्णइ मइविहूणो त्ति । मइविहूणत्तणेण आलंवणेण करेइ, रहस्साणि अरहस्साणि करेइ । मइसुयगो नाम सो पावो । गाहा-(माइट्ठाणविमुक्कं) गाहा सिद्धमेव । एष चरित्तकप्पो । पं० चू० ।

चरित्तट्ठाया स्त्री० (चारित्रार्थता) । सदनुष्ठानरूपेऽर्थे, स्था०५ ठा०३ उ० । वर्षास्वपि अन्यत्र गच्छेत्- "चारित्तट्ठयाए" चारित्रार्थतया तु तस्य क्षेत्रस्यानेषणा स्त्र्यादिदोषदुष्टतया तद्रक्षणार्थम् । स्था०५ ठा०२ उ० ।

चरित्तट्ठवणा स्त्री० (चारित्रस्थापना) । ६ त० । चारित्रास्यानिर्बा-ह्यत्वेन न्यासे, यथा-"सज्झायरकप्पट्ठी चरित्तट्ठवणा" शय्यातरस्य कल्पस्थिकायामाचार्येण चारित्रस्य स्थापना कृता प्रतिसेवते इति भावः । बृ०४ उ० ।

चरित्तधम्म पुं० (चारित्रधर्म्म) । चरित्रं क्षयोपशमरूपं, तस्य भावश्चारित्र-मशेषकर्मक्षयाय चेष्टेत्यर्थः । ततश्चारित्रमेव धर्मश्चारित्रधर्म इति । श्रमणधर्मे, "चरित्तधम्मो समणधम्मो त्ति" वचनात् । दश०१ अ० । स्था० । स च क्षान्त्यादिरूपो दशधा । नं० । चारित्रं मूलोत्तरगुणकलापः, तदेव धर्मश्चारित्रधर्मः । स्था०२ ठा०१ उ० । क्षान्त्यादिश्रमणधर्मः । अयं च द्विविधोऽपि द्रव्यभावभेदे धर्म्मे भावधर्म्म उक्तः । यदाह-"दुविहो उ भावधम्मो, सुयधम्मो खलु चरित्तधम्मो य । सुयधम्मो सज्झाओ, चरित्तधम्मो समणधम्मो ॥१॥ त्ति" स्था०२ ठा०३ उ० । प्राणातिपातादिनिवृत्तिरूपे धर्मभेदे, दश०४ अ० । "दुविहं चरित्तधम्मं" द्विविधं देशसर्वचारित्रभेदात् द्विप्रकारं, चर्यते मुमुक्षुभिरासेव्यते तदिति, चर्यते वा गम्यतेऽनेन निर्वृताविति चरित्रम् । अथवा-चयस्य कर्मणां रिक्ती-करणाच्चरित्रं, निरुक्तान्यायादिति । चारित्रमोहनीयक्षयायावर्तत आत्मनो विरतिरूपः परिणामस्तल्लक्षणो धर्मः श्रेयश्चारित्रधर्मस्तम् । पा० । चारित्रं मूलोत्तरगुणकलापस्तदेव धर्मश्चारित्रधर्मः । स्था० ।

चरित्तधम्मे दुविहे पन्नत्ते । तं जहा-अगारचरित्तधम्मे चेव, अणगारचरित्तधम्मे चेव । अणगारचरित्तधम्मे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-सरागसंजमे चेव, वीयरागसंजमे चेव । सरागसंमे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-सुहुमसंपरायसरागसंजमे चेव, बादरसंपराय-सरागसंजमे चेव । सुहुमसंपरायसरागसंजमे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-पढमसमयसुहुमसंपरायसरागसंजमे चेव, अपढमसमयसुहुम-संपरायसरागसंजमे चेव । अहवा चरमसमयसुहुम-संपरायसराग-संजमे, अचरमसमयसुहुमसंपरायसरागसंजमे । अहवा-सुहुमसंपरायसरागसंजमे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-संकिलेसमाणए चेव, विसुज्झमाणए चेव । बादरसंपरायसरागसंजमे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-पढमसमयबादरसंपरायसरागसंजमे, अपढमसमय-बादरसंपरायसरागसंजमे । अहवाचरमसमयबादरसंपराय-सरागसंजमे, अचरमसमयबादरसंपरायसरागसंजमे । अहवाबायर-संपरायसरागसंजमे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-पडिवातिए चेव, अपडिवातिए चेव । वीयरागसंजमे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-उवसंतकसायबीयरागसंजमे चेव, खीणकसायवीयरागसंजमे चेव । उवसंतकसायवीयरायसंजमे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-पढमसमयउवसंतकसायवीयरागसंजमे चेव, अपढमसमय-उवसंतकसायवीयरागसंजमे चेव । अहवा-चरमसमय-

उवसंतकसायवीयरायसंजमे, अचरमसमयउवसंतकसायवीयरायसंजमे। खीणकसायवीयरायसंजमे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा-छउमत्थखीणकसायवीयरायसंजगे चेव, केवलिखीणकसायवीयरायसंजमे चेव। छउमत्थखीणकसायवीयरायसंजमे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा-सयंबुद्धाछउमत्थखीणकसायवीयरायसंजमे, बुद्धवोहियछउमत्थखीणकसायवीयरायसंजमे। सयंबुद्धछउमत्थखीणकसायवीयरायंसंजमे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा-पढमसमयसयंबुद्धछउमत्थखीणकसायवीयरायसंजमे, अपढमसमयसंबुद्धछउमत्थखीणकसायवीयरायसंजमे चेव। अहवाचरमसमयसयंबुद्धछउमत्थखीणकसायवीयरायसंजमे, अचरमसमयसंयबुद्धछउमत्थखीणकसायवीयरागसंजमे। बुद्धवोहियछउमत्थखीणकसायवीयरागसंजमे दुविहे पन्नत्ते। तं जहा-पढमसमयबुद्धवोहियछउमत्थखीणकसायवीयरायसंजमे, अपढमसमयबुद्धवोहियछउमत्थखीणकसायवीयरागसंजमे। अहवा-चरमसमयबुद्धवोहियछउमत्थखीणकसायवीयरायसंजमे, अचरमसमयबुद्धवोहियछउमत्थखीणकसायवीयरायसंजमे। केवलि-खीणकसायवीयरायसंजमे दुविहे पन्नत्ते। तं जहा-सजोगिकेवलिखीणकसायवीयरायसंजमे, अजोगिकेवलिखीणकसायवीयरायसंजमे। सजोगिकेवलिखीणकसायवीयरयसजमे दुविहे पन्नत्ते। तं जहा-पढमसमयसजोगिकेवलिखीणकसायवीयरायसंजमे, अपढमसमयसजोगिकेवलिखीणकसायवीयरागसंजमे। अहवा-चरमसमयसजोगिकेवलिखीणकसायवीयरागसंजमे, अचरमसमयसजोगिकेवलिखीणकसायवीयरायसंजमे। अजोगिकेवलिखीणकसायवीयरायसंजमे दुविहे पन्नत्ते। तं जहा-पढमसमयअजोगिकेवलिखीणकसायवीयरायसंजमे, अपढमसमयअजोगिकेवलिखीणकसायवीयरायसंजमे। अहवा-चरमसमयअजोगिकेवलिखीणकसायवीयरायसंजमे, अचरमसमयअजोगिकेवलिखीणकसायवीयरायसंजमे।

"चरित्तेत्यादि"। अगारं गृहं, तद्योगादागारा गृहिणस्तेषां यश्चरित्रधर्म्मः सम्यक्त्वमूलाणुव्रतादिपालनरूपः स तथा। एवमितरोऽपि, नवरमगारं नास्ति येषां तेऽनगाराः साधव इति। चारित्रधर्मश्च संयमोऽतस्तमेवाह-"दुविहे" इत्यादि। सह रागेण अभिष्वङ्गेण मायादिरूपेण यः स सरागः, स चासौ संयमश्च, सरागस्य वा संयम इति वाक्यम्। वीतो विगतो रागो यस्मात्, स चासौ संयमश्च, वीतरागस्य वा संयम इति वाक्यम्। "सराग" इत्यादि। सूक्ष्मोऽसंख्यातकिट्टिकावेदनतः सम्परायः कषायः, सम्परैति संसरति संसारं जन्तुरनेनेति व्युत्पादनात्। आह च-"कोहाइसंपराओ, तेण जओ संपरीइ संसारं।" स च लोभकषायरूप औपशमिकस्य क्षपकस्य वा यस्य सः सूक्ष्मसंपरायः साधुस्तस्य सरागसंयमविशेषणसमासो वा भणनीय इति। बादराः स्थूलाः सम्परायाः कषायाः यस्य साधोर्यस्मिन् वा संयमे स तथा, सूक्ष्मसम्परायप्राचीनगुणस्थानकेषु, शेषं प्राग्वदिति। "सुहुमे" इत्यादि। सूत्रद्वये प्रथमसमयादिविभागः केवलज्ञानवदिति। "अहवा" इत्यादि। शङ्क्लिश्यमानकः संयम उपशमश्रेण्या प्रतिपततो विशुद्ध्यमानस्ताम् उपशमश्रेणिं, क्षपकश्रेणिं वा समारोहत इति। बादरेत्यादिसूत्रद्वयम् बादरसंपरायसरागसंयमस्य प्रथमाप्रथमसमयता संयमप्रतिपत्ति-कालापेक्षया, चरमा चरमसमयता तु यदनन्तरं सूक्ष्मसम्परायता; असंयतत्वं वा भविष्यति तदपेक्षयेति। "अहवा" इत्यादि। प्रतिपाती उपशमकस्यान्यस्य वा, अप्रतिपाती क्षपकस्येति सरागसंयम उक्तः। अतो वीतरागसयममाह-"वीयराय" इत्यादि। उपशान्ताः प्रदेशतोऽप्यवेद्यमानाः कषाया यस्य यस्मिन् वा स तथा, साधुः संयमो वेति एकादशगुणस्थानवर्तीति, क्षीणकषायो द्वादशगुणस्थानवर्तीति। "उवसंत" इत्यादि सूत्रद्वयं प्रागिव। "खीणे" इत्यादि। छादयत्यात्मस्वरूपं यत्तच्छद्म, ज्ञानावरणादि घातिकर्म्म, तत्र तिष्ठति इति छद्मस्थोऽकेवली, शेषं तथैव, केवलमुक्तरूपं ज्ञानं च दर्शनं चास्यास्तीति केवलीति। "छउमत्थ" इत्यादि। स्वयम्बुद्धादिस्वरूपं प्रागिवेति "सयंबुद्ध" इत्यादि नव सूत्राणि गतार्थान्येवेति। स्था०२ ठा०१ उ०। चरति मोक्षं प्रति याति येन तच्चरित्रं, तच्च तद्धर्मश्चेति चरित्रधर्मः, चरित्रशब्देन श्रुतस्य व्यवच्छेदः। प्रत्याख्याने, "पच्चक्खाणं नियमो, चरित्तधम्मो य होति एगट्ठा॥" पञ्चा०५ विव०।

चरित्तधम्मआराहणा स्त्री० (चारित्रधर्माराधना)। आराधनाभेदे, स्था०३ ठा०१ उ०। (व्याख्या 'आराहणा' शब्दे द्वितीयभागे ३८४ पृष्ठे उक्ता)

चरित्तपडिवत्ति स्त्री० (चारित्रप्रतिपत्ति)। चारित्रस्य वैराग्यतया शुद्धौ, पं० चू०।

चरित्तपरिणाम पुं० (चारित्रपरिणाम)। चारित्रमेव परिणामः। परिणामभेदे, प्रज्ञा०१२ पद। स्था०।

चरित्तपायच्छित्त न० (चारित्रप्रायश्चित्त)। प्रायश्चित्तभेदे, स्था०३ ठा०४ उ०। ('पच्छित्त' शब्देऽस्य व्याख्या)

चरित्तपुरिस पुं० (चरित्रपुरुष)। तद्वति, स्था०३ ठा०१ उ०। (व्याख्या 'णाणपुरिस' शब्दे द्रष्टव्या)।

चरित्तबल न० (चारित्रबल)। चारित्रानुपालसामर्थ्ये, यद् दुष्करमपि सकलसङ्गवियोगं करोत्यात्मा, यच्चानन्तमबाधमैकान्तिकमात्यन्तिकमात्मायत्तमानन्दमाप्नोति। स्था०१० ठा०। दृढचरित्रे, प्रज्ञा०९ पद।

चरित्तभावणाय त्रि० (चारित्रभावनाक)। चारित्रेण सामायिकादिना भावना वासना यस्य स चारित्रभावनाकः। चारित्रवासनायुक्ते, प्रश्न०१ संव० द्वार।

चरित्तभेइणी स्त्री० (चारित्रभेदिनी)। चारित्रभेदकारिण्यां विकथायाम्, (स्था०) न सम्भवन्तीदानीं महाव्रतानि साधूनां प्रमादबहुलत्वादतिचारप्रचुरत्वादतिचारशोधकाचार्यतत्कारकसाधुशुद्धीनामभावादिति ज्ञानदर्शनाभ्यां तीर्थं प्रवर्तत इति ज्ञानदर्शनिकर्त्तव्येष्वेव यत्नो विधेय इति। भणितंच-"सोहि य नत्थि न वि दितकरेंता न वि य केइ दीसंति। तित्थं च णा-

णदंसण-निज्जवगो चेव वोच्छिन्न त्ति ॥१॥" इत्यादि । अनया हि प्रतिपन्नचारित्रस्यापि तद्वैमुख्यमुपजायते, किं पुनस्तदभिमुखस्येति चारित्रभेदिनीति। स्था०७ ठा०।

चरित्तमोहणिज्ज न० (चारित्रमोहनीय)। मोहनीयकर्मभेदे, कर्म०१ कर्म०। (षोडश कषाया नव नोकषायाश्चेति द्विविधमेतत् 'मोहनीय' शब्दे वक्ष्यते)

चरित्तरक्खणट्ठ न० (चारित्ररक्षणार्थ)। पञ्चप्रकारं चारित्रं सामायिकाद्यमथाख्यातपर्यवसानं, तस्य रक्षणार्थम्। भूतरक्षायाः परिपालनार्थे, पं० चू०। "चारित्तरक्खणट्ठा, सूयगमस्सुवरि ठविताइं॥" पं० भा०।

चरित्तलंभ पुं० (चारित्रलाभ)। चारित्रस्याऽन्यजन्मोपात्ताष्टविधकर्मसंचयापचयाय सर्वसावद्ययोगनिवृत्तिरूपस्य लाभे, आ० म० प्र०।

चरित्तविणय पुं० (चारित्रविनय)। चारित्राद् विनयश्चारित्रविनयः। चारित्रेण विनीतकमतायाम्, (दश०)

चारित्रविनयमाह -

अट्ठविहं कम्मचयं, जम्हा रित्तीकरेइ जयमाणो।
नवमन्नं च न वंधइ, चरित्तविणीओ हवइ तम्हा ॥८५॥

अष्टविधमष्टप्रकारं कर्मचयं कर्मसङ्घातं प्राग्बद्धं यस्माद्रिक्तं करोति तुच्छताऽऽपादनेनापनयति यतमानः क्रियायां यत्नपरः, तथा नवमन्थं च कर्मवयं न बध्नाति यस्माच्चारित्रविनय इति, चारित्राद्विनयश्चारित्रविनयश्चारित्रेण विनीतकर्म्मा भवति तस्मादिति गाथार्थः ॥८५॥ दश० नि०६ अ०१ उ०। औ०।

चरित्तविराहणा स्त्री० (चारित्रविराधना)। चारित्रं सामायिकादीनि, तेषां विराधना खण्डना। स०३ सम०। व्रतादिखण्डने, ध०३ अधि०।

चरित्तवीरिय न० (चारित्रवीर्य)। अशेषकर्मविदारणसामर्थ्ये, क्षीरादिलब्ध्युत्पादनसामर्थ्ये च नि० चू०१ उ०।

चरित्तसंपण्णया स्त्री० (चारित्रसंपन्नता)। यथाख्यातचारित्रयुक्तत्वे, उत्त०१० अ०।

तत्फलम् -

चरित्तसंपन्नयाए णं भंते ! जीवे किं ज णयइ ? चरित्तसंपन्नयाए णं सेलेसीभावं जणयइ, सेलेसिपडिवन्ने य अणगारे चत्तारि केवलकम्मं से खवेइ, तओ पच्छा सिज्झइ, वुज्झइ, मुच्चइ, परिनिव्वायइ, सव्वदुक्खाणमंतं करेइ।६१॥

हे स्वामिन् ! चारित्रसम्पन्नतया चरित्रेण चरित्रेण यथाख्यातचारित्रेण सम्पन्नता, तया यथाख्यातचारित्रसहितत्वेन जीवः किं जनयति ? तदा गुरुराह-हे शिष्य ! चारित्रसम्यन्नयथाख्यातचारित्रसहितत्वेन शैलेशीभावं जनयति, शैलानां पर्वतानां ईशः शैलेशो मेरुस्तस्येयं अवस्था शैलेशी, तन्या भवनं शैलेशीभावः, तमुत्पादयति मेरुपर्वतस्य स्थैर्यं प्राप्नोति, शैलेश्यवस्थां प्रतिपन्नोऽनगारश्चतुरः कर्मांशान् क्षपयति, अंशशब्दः सत्तार्थवाचकः चतुर्दशगुणस्थानं भजते, ततः पश्चात्सिध्यति सकलकर्माणि क्षपयित्वा सिद्धिं प्राप्नोति, बुध्यति तत्त्वज्ञो भवति, मुच्यते कर्मभ्यो मुक्तो भवति, परिनिर्वाति कषायाग्नेरुपशमाच्छीतलो भवति, सर्वदुःखानामन्तं करोति ॥६१॥ उत्त० २६ अ०।

चरित्तसुद्धि स्त्री० (चारित्रशुद्धि)। चरणविशुद्धतायाम्, पिं०। (तस्या बाह्यमान्तरं च कारणद्वयम् 'उग्गम' शब्दे द्वितीयभागे ६६ पृष्ठे दर्शितम्)

चरित्ताचरित्त न० (चरित्राचरित्र)। चरित्रं तदचरित्रं चेति चरित्राचरित्रम्। संयमाऽसंयमे, भ०८ श०२ उ०।

चरित्तायार पुं० (चरित्राचार)। चारित्रिणां समित्यादिपालनात्मके व्यवहारे, स०१०० सम०।

इयाणिं चरित्तायारो भण्णति-

पणिधाणजोगजुत्तो, पंचहिं समितीहिं तिहि य गुत्तीहिं।
एस चरित्तयारो, अट्ठविहो होति णायव्वो ॥३५॥

पणिहाणं ति वा अज्झवसाणं ति वा चिंतंति वा एगट्ठा। जोगा मणवइकाया परिहाणजोगेहिं पसत्थेहिं जुत्तो पणिहाणजोगजुत्तो, तस्स य पणिहाणजोगजुत्तस्स पंच समितीओ, तिण्णि गुत्तीओ भवंति, ताइ समितिगुत्तीओ इमाइरियासमिई, भासासमिई, एसणासमिती, आयाणसमिई, भंगमत्तणिक्खेवणासमिई, परिट्ठावणियासमिई, मणगुत्ती, वयगुत्ती, कायगुत्ती। जीवसंरकखणट्ठजुगमेत्तंतरदिट्ठस्स अप्पमादिणो संजमोवकरणुप्पायणणिमित्तं जा गमणकिरिया सा इरितासमिती, कक्कसणिट्ठुरकडुयफरुसअसंबद्धबहुप्पला-वदोसवज्जिता हियमणवज्जमिता संदेहणभिद्दोहधम्मणो भासासमिती, सुत्तानुसारेण रयहरणवत्थपादासणपाणाणिलओसहण्णेसणं एसणासमिती, जं वत्थपायसंथारकफलगपीठकारणट्ठगहणिक्खेवकरणं पडिलेहिय पमज्जिय सा आदाणणिक्खेवणासमिती, जं मुत्तमलसिलेसपुरीसमुक्काण जं वा वि वेगारुहाणं संसत्ताणं भत्तपाणादीण जंतुविरहिए थंमिले विहिणा विवेगकरणं सा परिच्चागसमिती ५, कलुसकिलिट्ठमप्पसंतसावज्जमणकिरियसंकप्पणगोवणं मणगुत्ती, चावल्लफरुसपिसुणसावज्जप्पवत्तणणिग्गहकरणं मणे वा सा वयगुत्ती, गमणागमणप चलणादाणण्णप्पंदणादिकिरियाण गोवणं कायगुत्ती समितिगुत्तीणं विसेसो भण्णति-

"समितो नियमा गुत्तो, गुत्तो समियत्तणाम्मि तियव्वो।
कुसलवइ उदीरेंतो, जं वइगुत्तो वि समिओ वि॥
तणुगतिकिरियासमिती, तणुकिरियागोवणं तु तणुगुत्ती।
वागोवण वागुत्ती, समितिपयारो वि तस्सेव॥
संकप्पकिरियगोवण, मणगुत्ती भवति समितिसु पयारो।
भणिता अट्ठ व माता, पवयणवत्तफलं ण तत्ता तो" ॥
गाहापच्छद्धं कंठं॥

समितीण य गुत्तीण य, एसो ते दो तु होइ णायव्वो।
समिती पयाररूवा, गुत्ती पुण उभयरूवा वि ॥३६॥
समितो नियमा गुत्तो, गुत्तो समियत्तणम्मि तइयव्वो।
कुसलवति उदीरेंतो, जं वइगुत्तो वि समिओ वि ॥३७॥
समिती पयाररूवा, गुत्ती पुण होति नयरूवा।
कुसलवति उदीरेंतो, तेणं गुत्तो वि समिओ वि ॥३८॥
गुत्तो पुण जो साधू, अप्पवियाराएँ णाम गुत्तीए।

सो ण समिओ त्ति वुच्चति, तीसे तु वियाररूवत्ता ॥३६॥

नि० चू०१ उ० । स्था० ।

(चारित्रातिचारे प्रायश्चित्तं 'पच्छित्त' शब्दे वक्ष्यते)

चरित्ताराहणा स्त्री० (चारित्राराधना) । "तिविहा चरित्ताराहणा पण्णत्ता । तं जहा-उक्कोसा, मज्झिमा, जहण्णा ।" स्था०३ ठा०४ उ० ।

चारित्तारिय पुं० (चारित्रार्य) । चारित्रेणार्थे, (प्रज्ञा०)

तद्भेदाः -

से किं तं चरित्तारिया ? चरित्तारिया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-सरागचरित्तारिया, वीतरागचरित्तारिया से किं तं सरागचरित्तारिया ? सरागचरित्तारिया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-सुहुमसंपरायसरागचरित्तारिया य, बायरसंपरायसरागचरित्तारिया य । से किं तं सुहुमसंपरायसरागचरित्तारिया ? सुहुमसंपराय-सरागचरित्तारिया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा- पढमसमयसुहुमसंपरायसरागचरित्तारिया, अपढमसमयसुहुमसंपरायसरागचरित्तारिया य । अहवा-चरिमसमयसुहुमसंपरायसरागचरित्तारिया, अचरिमसमयसुहुमसंपरायसरागचरित्तारिया य । अहवा-सुहुमसंपरायसरागचरित्तारिया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-संकिलिस्समाणाय, विसुज्झमाण य । सेत्तं सुहुमसंपराय-सरागचरित्तारिया ॥ से किं तं बायरसंपरायसरागचरित्तारिया ? बायरसंपरायसरागचरित्तारिया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-पढसमयबालरसंपरायसरागचरित्तारिया, अपढसममयबायर-संपरायसरागचरित्तारिया य । अहवा-चरिमसमयबायरसंप-रायसरागचरित्तारिया अचरिमसमयबायरसंपरायसरागच-रित्तारिया य । अहवा-बायरसंपरायसरागचरित्तारिया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-पडिवाई य, अपडिवाई य । सेत्तं बायर संपरायचरित्तारिया ? सेत्तं सरागचरित्तारिया ॥ से किं तं वीतरागचरित्तारिया? वीतरागचरित्तारिया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-उवसंतकसायवीतरागचरित्तारिया, खीणकसायवीत-रागचरित्तारिया य । से किं तं उवसंतकसायवीतरागचरित्तारिया ? उवसंतकसायवीतरागचरित्तारिया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-पढमसमयउवसंतकसायवीतरागचरित्तारिया, अपढमसमयउव-संतकसायवीतरागचरित्तारिया य । अहवा-चरिमसमयउवसंत-कसायवीतरागचरित्तारिया, अचग्मिसमयउवसंतकसाय-वीतरागचरित्तारिया य । सेत्तं उवसंतकसायवीतरागचरित्तारिया ॥ से किं तं खीणकसायवीतरागचरित्तारिया ? खीणकसायवीत-रागचरित्तारिया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-छउमत्थखीणक-सायवीतरायचरित्तारिया, केवलिखीणकसायवीयरागचरित्तारिया य । से किं तं छउमत्थखीणकसायवीयरागचरित्तारिया ? छउमत्थखीणकसायवीयरायचरित्तारिया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-सयंबुद्धछउमत्थखीणकसायवीतरागचरित्तारिया, बुद्धबोहियचउमत्थखीणकसायवीतरायचरित्तारिया य । से किं तं सयंबुद्धबउमत्थखीणकसा यवीतरागचरित्तारिया ? सयंबुद्धछउमत्थखी । णकसायवीतरागचरित्तारिया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-पढमसमयसयंबुद्धखीणकसायवीतराग-चरित्तारिया, अपढमसमयसयंबुद्धछउमत्थखीणकसायवीत-रागचरित्तारिया य । अहवा-चरिमसमयसयंबुद्धछउत्थखीक-सायवीतरागचरित्तारिया, अचरिमसमयसयंबुद्धछउमत्थखी-णकसायवीतरागचरित्तारिया य । सेत्तं सयंबुद्धछउमत्थखीण-कसायवीतरागचरित्तारिया ॥ से किं तं बुद्धबोहियछउमत्थखी-णकसायवीतरागचरित्तारिया ? बुद्धबोहियछउमत्थखीणक-सायवीतरागचरित्तारिया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-पढमसमय-बुद्धबोहियछउमत्थखीणकसायवीतरागचरित्तारिया, अपढम-समयबुद्धबोहियछउमत्थखीणकसायवीतरागचरित्तारिया य । अहवा-चरिमसमयबुद्धबोहियछउमत्थखीणकसायवीत-रागचरित्तारिया, अचरिमसमयबुद्धबोहियछउमत्थखीणकसा-यवीतरागचरित्तारिया य । सेत्तं बुद्धबोहियछउमत्थखीण-कसायवीतरागचरित्तारिया । सेत्तं छउमत्थखीणकसा-यवीतरागचरित्तारिया ॥ से किं तं केवलिखीणकसायवीत-रागधरित्तारिया ? केवलिखीणकसायवीतरागचरित्तारिया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-सजोगिकेवलिखीणकसायवीतरागचरित्तारिया अजोगिकेवलिखीणकसायवीतरागचरित्तारिया य । से किं तं सजोगिकेवलिखीणकसायवीतरागचरित्तारिया ? सजोगिकेव-लिखीणकसायवीतरागचरित्तारिया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-पढमसमयसजोगिकेवलिखीणकसायवीतरागचरित्तारिया, अपढमसमयसजोगिकेवलिखीणकसायवीतरागचरित्तारिया य । अहवा-चरिमसमयसजो गिकेवलिखीणकसायवीतराग-चरित्तारिया य, अचरिमसमयसजोगिकेलिखीणकसायवीत-रागचरित्तारिया य । सेत्तं सजोगिकेवलिखीणकसायवीतराग-चरित्तारिया ॥ से किं तं अजोगिकेवलिखीणकसायवीतराग-चरित्तारिया ? अजोगिकेवलिखीणकसायवीतरागचरित्तारिया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-पढमसमयअजोगिकेवलिखीणकसायवीतराग-चरित्तारिया य, अपढमसमयअजोगिकेवलिखीणकसायवीतरागच-रित्तारिया य । अहवा-चरिमसमयअजोगिकेवलिखीणकसायवीत-रागचरित्तारिया य, अचरिमसमयअजोगिकेवलिखीणकसायवीत-रायचरित्तारिया य । सेत्तं अजो गिके वलिखीणक सायवीत-रागचरित्तारिया । सेत्तं के वलिखीणक सायवीतरागचरि-

त्तारिया । सेत्तं खीणकसायवीतरागचरित्तारिया । सेत्तं वीतरागचरित्तारिया ॥ अहवा-चरित्तारिया पंचविहा पण्णत्ता । तं जहा-सामाइयचरित्तारिया, छेओवट्ठावणीयचरित्तारिया, परिहारविसुद्धिचरित्तारिया, सुहुमसंपरायचरित्तारिया, अहक्खायचरित्तारिया य । से किं तं सामाइयचरित्तारिया ? सामाइयचरित्तारिया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-इत्तरियसामाइयचरित्तारिया, आवकहियसामाइयचरित्तारिया य । सेत्तं सामाइयचरित्तारिया ॥ से किं तं छेओवट्ठावणीयचरित्तारिया ? छेओवट्ठावणीयचरित्तारिया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-साइयारा छेओवट्ठावणीयचरित्तारिया, निरइयारा छेओवट्ठावणीयचरित्तारिया । सेत्तं छेओवट्ठावणीयचरित्तारिया ॥ से किं तं परिहारविमुद्धियचरित्तारिया ? परिहारविसुद्धियचरित्तारिया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-निविस्समाणपरिहारविसुद्धियचरित्तारिया, निव्विट्ठकाइयपरिहारविसुद्धियचरित्तारिया य । सेत्तं परिहारविसुद्धिअचरित्तारिया ॥ से किं तं सुहुमसंपरायचरित्तारिया ? सुहुमसंपरायचरित्तारिया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-संकिलिस्समाणसुहुमसंपरायचरित्तारिया, विसुज्झमाणसुहुमसंपरायचरित्तारिया य । सेत्तं सुहुमसंपरायचरित्तारिया ॥ से किं तं अहक्खायचरित्तारिया ? अक्खायचरित्तारिया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-छउमत्थअहक्खायचरित्तारिया, केवलिअहक्खायचरित्तारिया य । सेत्तं अहक्खायचरित्तारिया । सेत्तं चरित्तारिया । प्रज्ञा०१ पद ।

चरित्ति (ण्) त्रि० (चारित्रिन्) । संयते, पं० व०१ द्वार अनु० ।

चरित्तंद पु० (चारित्रेन्द्र) । यथाख्यातचारित्रे, स्था०३ ठा०१ उ० । (व्याख्या 'इंद' शब्दे द्वितीयभागे ५३४ पृष्ठे उक्ता)

चरित्तोवघाय पुं० (चारित्रोपघात) । समितिभङ्गादिभिश्चारित्रस्योपघाते, स्था०१० ठा० ।

चरिमपच्चक्खाण न० (चरमप्रत्याख्यान) । अन्तिमप्रत्याख्याने, चरमं चरिमोऽन्तिमो भागः । स च दिवसस्य, भवस्य चेति द्विधा । तद्विषयं प्रत्याख्यानमपि चरमं, तच्च प्रत्याख्यानं च । इह भवचरमं यावज्जीवं, तत्र द्विविधेऽपि चत्वार आकारा भवन्ति । यत्सूत्रम्-"दिवसचरिमं भवचरिमं वा पच्चक्खाइ चउव्विहं पि आहारं असणं पाणं खाइमं साइमं अन्नत्थाऽणाभोगेणं सहसागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तिआगारेणं वोसिरइ ।" ननु दिवसचरमप्रत्याख्यानं निष्फलम्, एकाशनादिप्रत्याख्यानेनैव गतार्थत्वात् । नैवम्- एकाशनादिकं ह्यष्टाद्याकारमेव, एतच्च चतुराकारमत आकारणां संक्षेपकरणात् सफलमेव, अत एवैकाशनादिकं दैवसिकमेव भवति, रात्रिभोजनस्य त्रिविधत्रिविधेन यावज्जीवं प्रत्याख्यातत्वात्; गृहस्थापेक्षया पुनरिदमादित्योद्गमान्तं दिवसस्याहोरात्रमिति पर्यायतयाऽपि दर्शनात् । तत्र च येषां रात्रिभोजनं नियमोऽस्ति तेषामपि इदं सार्थकमनुवादत्वेन स्मारकत्वात् । भवचरमं तु द्व्याकारमपि भवति, यदा जानाति महत्तरसवसमाधिप्रत्ययरूपाभ्यामाकारभ्यां न प्रयोजनं, तदा अनाभोगसहसाकाराकारौ भवतः, अङ्गुल्यादेरनाभोगेन सहसाकारेण वा मुखप्रक्षेपसंभवात् । अत एवेदमनाकारमप्युच्यते, आकारद्वयस्यापि परिहार्यत्वात् । ध०२ अधि० । पंचा० । आव० ।

चरिमसगलसुयणाणि त्रि० (चरमसकलश्रुतज्ञानिन्) । चरममपश्चिममित्यर्थः । सकलं कृत्स्नं, निरवशेषमित्यर्थः । पं० चू० । ज्ञानं यस्य सः । भद्रबाहुस्वामिनि, पं० भा० ।

चरिय त्रि० (चरित) । सेविते, प्रश्न०३ आश्र० द्वार । चेष्टिते, पं० व०३ द्वार । प्रश्न० । सत्ये उदाहरणे, तत् चरितमभिधीयते यदृत्तं, तेन कस्यचिद्दार्ष्टान्तिकार्थप्रतिपत्तिर्जन्यते । तद्यथा-दुःखाय निदानं यथा ब्रह्मदत्तस्य । दश०१ अ० । नं० ।

चरियव्व त्रि० (चरितव्य) । आसेवितव्ये, भ०६ श०३३ उ० । आ०म० ।

चरिया स्त्री० (चरिका) । नगरप्राकारयोरन्तरेष्वष्टहस्तप्रमाणे मार्गे, प्रश्न०१ आश्र० द्वार । ज्ञा० । जी० । रा० । स० । अनु० । बृ० औ० । गृहप्राकारान्तरे हस्त्यादिप्रचारमार्गे, भ०५ श०७ उ० ।

चर्या स्त्री० । 'चर' गतिभक्षणयोः । **"गदमदचरचमश्चानुपसर्गे" ॥३।१।१००॥** (पाणि०) इत्यनेन कर्मणि भावे वा यत्प्रत्ययः । चर्यते चरणं वा चर्या । आचा०१ श्रु०५ अ०१ उ० । आव० । आ० चू० । गमने, साधुना हि सति प्रयोजने युगमात्रदृष्टिना गन्तव्यम् । सूत्र०१ श्रु०१ अ०४ उ० । ग्रामादिष्वनियतविहारित्वे, स०२२ सम० । भिक्षादिके, सूत्र०१ श्रु०६ अ० । चर्या द्रव्यतो ग्रामानुग्रामविहरणात्मिका, भावतस्त्वेकस्थानमधितिष्ठतोऽप्यप्रतिबद्धता । प्रव०८६ द्वार । वाहने, स्था०४ ठा०३ उ० ।

चरियापरीसह पुं० (चर्यापरीषह) । चरणं चर्या ग्रामानुग्रामविहरणात्मिका, सैव परीषहश्चर्यापरीषहः । उत्त०२ अ० । प्रश्न० । वर्जितालस्यो ग्रामनगरकुलादिषु अनियतवसतिर्निर्ममत्वः प्रतिमासं चर्यामाचरेदिति । आव०४ अ० । इत्येवंरीत्या ग्रामान्तरा-दिष्वप्रतिबद्धतया सञ्चरणकरणे, भ०८ श०८ उ० ।

"ग्रामाद्यनियतस्थायी, स्थानाबन्धविवर्जितः ।
चर्यामेकोऽपि कुर्वीत, विविधाभिग्रहैर्युतः ॥ ध०३ अधि० ।
"ग्रामाद्यनियतस्थायी, सदा चाऽनियतालयः ।
विविधाभिग्रहैर्युक्तश्चर्यामेकोऽप्यधिश्रयेत् ॥" आ० म० द्वि० ।

एतदेव सूत्रकृदाह -

एग एव चरे लाढे, अभिभूय परीसहे ।
गामे वा नगरे वा वि, निगमे वा रायहाणिए ॥१८॥

एक एव रागद्वेषविरहितश्चरेदप्रतिबद्धविहारेण विहरेत्सहायवै-कल्यतो चैकस्तथाविधगीतार्थः । यथोक्तम्-"ण वा लभिज्जा निउणं सहायं, गुणाहियं वा गुणओ समं वा । एको वि पावाइँ विवज्जयंतो, विहरेज्ज कामेसु असज्जमाणो ॥" (लाढे त्ति) लाढयति प्राशुकैषणीयाहारेण साधुर्गुणैर्वा आत्मानं यापयतीति लाढः । प्रशंसाभिधायि वा देशीपदमेतत् पठ्यते (एग एष चरे लाढे त्ति) तत्र चैकोत्सहायः प्रतिमाप्रतिपन्नादिः, स चैको रागादिवैकल्यादभिभूय निर्जित्य परीषहान् । क्व पुनश्चरेत् ? इत्याह-

ग्रामे चोक्तरूपे, नगरे वा करविरहितसन्निवेसे, अपिः पूरणे, निगमे वा वणिग्निवासे, राजधान्यां वा प्रसिद्धायामुभयत्र वाशब्दानुवृत्तेः, मङम्बाद्युपलक्षणं चैतत्, आग्रहाभावं चानेनाहेति सूत्रार्थः।

पुनः प्रस्तुतमेवाह-

असमाणो चरे भिक्खू, नेय कुज्जा परिग्गहं।
असंसत्तो गिहत्थेहिं, अणिकेओ परिव्वए॥

न विद्यते समानोऽस्य गृहिष्वाश्रयामूर्च्छितत्वेनान्यतीर्थिकेषु चानियतविहारादित्वेनासमानोऽसदृशो, यद्वा-समानः साहङ्कारो, न तथेत्यसमानः। अथ वा-"समाणो त्ति" प्राकृतत्वादसन्निवासन् यत्राऽऽस्ते तत्राप्यसन्निहित इति हृदयम्। सन्निहितो हि सर्वः स्वाश्रयस्योदन्तमावहत्ययं तु न तथेत्येवंविधः संश्चरेदप्रतिबद्धविहारितया विहरेद् भिक्षुर्यतिः। कथमेतत् स्यादित्याह नैव कुर्यात्परिग्रहं ग्रामादिषु ममत्वबुद्ध्यात्मकम्, अत्राह च-"गामे कुले वा नगरे च देसे, ममं ति भावं न कहिंचि कुज्जा"। इति। इदमपि यथा स्यात्तथाऽऽहअसंसक्तोऽसंबद्धो गृहस्थैर्गृहिभिरनिकेतोऽविद्यमानगृहो नैकत्र वद्धास्पदः परिव्रजेत, सर्वतो विहरेत्, न नियतदेशादौ, गृहिसंपर्क एकत्र वद्धास्पदत्वे, नियतदेशादिविहारितायां वा स्यादिपि ममत्वबुद्धिः, तदभावे तु निरवकाशैवेयमिति भाव इति सूत्रार्थः।

अत्र च शिष्यद्वारमनुसरन् "असमाणे चरे"

इत्यादिसूत्रसूचितमुदाहरणमाह -

कोल्लइरे वत्थव्वो, दत्तो सीसो य हिंडतो तस्स।
उवहरइ धाइ पिंडं, अंगुलिजलणा य सा दिव्वं॥

उत्त० नि०१ खण्ड।

(कोल्लइरे) 'कोल्लइर' नाम्नि नगरे वास्तव्यः, आचार्य इति शेषः। दत्तः शिष्यश्च हिण्डकः, तस्य उपहरति धात्री पिण्डम्, अङ्गुलिज्वलनाच्च सा देव्यमिति गाथाऽक्षरार्थः। भावार्थस्तु वृद्धसंप्रदायादवगन्तव्यः। स चायम्- कोल्लागपुरे सङ्घमस्थविरा बहुश्रुता यथास्थितोत्सर्गापवादनिपुणाः दुर्भिक्षे गणं देशान्तरे प्रेष्य स्वयं नगरं नवभागीकृत्य व्यवस्थिताः, नगरदेवता च तेषां गुणैः रञ्जिता, अन्यदा तत्र गुरुवन्दनार्थं दत्तनामा शिष्यः समायातः, तद्वक्त्यर्थं गुरवः सपात्रं तं सार्धं लात्वा भिक्षायां गताः, एकस्येभ्यस्य भद्रप्रकृते गृहे बालो व्यन्तरेण गृहीतः सदा रोदिति, उपायशतसहस्रकरणेऽपि व्यन्तरदोषोशान्तिर्न जाता, गुरवस्तद्गृहे गताः, चप्पुटिकाकरणपूर्वं मा रुद बालेत्युक्तम्, आचार्यतपस्तेजसा व्यन्तरोनष्टः, तुष्टास्तन्मातृपितृप्रभृतिस्वजनास्तेभ्यो मोदकादिकमाहारं गाढाऽऽग्रहेण दत्तवन्तः, ते मोदकास्तस्यैव शिष्यस्य गुरुभिर्दत्ताः, स्वयं तु अन्तप्रान्तमाहारं विहृत्य भुक्तवन्तः, प्रतिक्रमणाऽवरे तस्य शिष्यस्य पिण्डदोषमालोचयेति गुरुभिरुक्तम्। शिष्यः चिन्तयति-असौ धात्रीपिण्डं सदा भुङ्क्ते मम त्वेवं कथयतीति चिन्तनसमये एव तद्भावनार्थं देवतयाऽन्धकारं विकुर्वितं, सा भृशं बिभेति। गुरुं प्रति वक्ति-अहमत्र दूरस्थो बिभेमि, गुरवः प्राहुः-एहि मत्समीपे। स वक्ति-अस्मिन् घोरान्धकारे नाहमागन्तुं शक्नोमि। गुरुभिः थूत्कृतलिप्ता स्वाङ्गुली दर्शिता, तदुद्द्योतेन सोऽत्रायातः, परं चिन्तयति-गुरवो दीपकं रक्षयन्ति, एवं चिन्तयन्नेवासौ देवतया चपेटाभिस्तर्जितः। ज्ञातस्वरूपैर्गुरुभिस्तस्य क्षेत्रनवभागीकरणादिकं स्वस्वरूपं प्रकाशितम्। यथा सङ्घमस्थविरैर्विहारक्रमापरपर्यायश्चर्यापरीषहोऽध्यासितः, तथा ग्लानत्वाऽवस्थायामपि क्षेत्रनवभागीकरणेनाऽपि चर्यापरीषहोऽन्यैरध्यासितव्यः। उत्त०२ अ०। ('परीसह' शब्देऽन्यद् द्रष्टव्यम्)

चरियापरीसहविजय पुं० (चर्यापरीषहविजय)। अधिगतबन्धमोक्षतत्त्वस्य पवनवन्निःसङ्गतामादधानस्य देशकालप्रमाणोपेतसंयमविरोधिमार्गगमनं प्रति मासकल्पमागमानुसारेण चर्य्यामाचरतः परुषशर्कराकण्टकादिवेधजातचरणखेदस्यापि सतः पूर्वसेवितयानवाहनादिगमनास्मरणे, पं० सं०४ द्वार।

चरियापविट्ठ त्रि० (चरिकाप्रविष्ट)। अभिनिचारिकानिमित्तं व्रजिकादिषु प्रविष्टे, (व्य०)

बहवे साहम्मिया इच्छेज्जा एगयओ अभिणिचारियं चारए, णो ण्हं कप्पइ थेरे अणापुच्छित्ता एगयतो अभिनिचारियं चारए० जाव ण्हं थेरे आपुच्छित्ता एगयतो अभिणिचारियं चारए, से अंतरा छेए वा परिहारे वा॥१८॥ व्य० सू०।

बहवस्त्रिप्रभृतिकाः, साधर्मिकाः साम्भोगिकाः, इच्छेयुरेकतः सहिता इत्यर्थः। अभिनिचारिकाःआभिमुख्येन नियता चरिका सूत्रोपदेशेन बहुवर्जिकासु दुर्बलानामप्यायनिमित्तं पूर्वाह्णे काले समुत्कृष्टसमुदानं गमनं अभिनिचारिका, तां, चरितुं समाचरितुं, कर्तुमित्यर्थः। एवमेतेषामिच्छतां, कल्पते नो "ण्हं" इति वाक्यालङ्कारे, स्थविरान् आचार्यानापृच्छ्य एकतः संहतानामभिनिचारिकां चरितुं, यदि पुन स्थविरान् अनापृच्छ्य व्रजनित ततः प्रायश्चित्तं मासलघु, स्वच्छन्दचारित्वात्। यावदग्रहणादेवं परिपूर्णपाठो द्रष्टव्यः-"कप्पति ण्हं थेरे आपुच्छित्ता एगतो अभिनिचारियं चारए, थेरा य से वियरेज्ज, एवं ण्हं कप्पइ एगतो अभिनिचारियं चारए, थेरा य से नो वियरेज्जा, एवं ण्हं नो कप्पइ एगतो अभिनिचारियं चारए, जं तत्थ थेरेहिं अविदिण्णे एगतो अभिनिचारियं चरंति, से अंतरा छेदे वा, परिहारे वा।" अस्य व्याख्यायत एवं स्वच्छन्दचारितायां मासलघु तस्मात् कल्पते "ण्हं" इति पूर्ववत् स्थविरानापृच्छ्य एकतोऽभिनिचारिकां चरितुम्, आपृच्छायामपि कृतायां यदि स्थविरा वितरेयुरनुजानीयुः, "एवं ण्हं" इति प्राग्वत्। कल्पते अभिनिचारिकां चरितुं, स्थविराश्च न वितरेयुर्नानुजानीयुः प्रत्यपायं पश्यन्तः, प्रयोजनाभावतो वा, ततो न कल्पते एकतोऽभिनिचारिकां चरितुं, यत्पुनस्तत्रं स्थविरैश्चितीर्णेअननुज्ञाते एकतोऽभिनिचारिकां चरन्ति, तन्निमित्तं 'से' तेषां प्रत्येकमन्तरात्, अन्तरं नाम तस्मात्स्थानादप्रतिक्रमणं तस्मात् छेदः, परिहारो वा, उपलक्षणमतदन्यद्वा तपः प्रायश्चित्तमिति। व्य०४ उ०।

चरियापविट्ठे भिक्खू० जाव चउराया पंचरायातो थेरा पासेज्जा, से चेव आलोयणा, से चेव पडिक्कमणा, से चेव उग्गहस्स पुव्वाणुण्णवणा निट्ठति अहालंदमवि जाव उग्गहे॥१९॥

"चरियापविट्ठे भिक्खू" इत्यादि। चरिकनिमित्तं ये व्रजिका-

दिषु प्रविष्टास्तेषामेकतम परिगृह्येदमुच्यतेचरिकाप्रविष्टो भिक्षुर्यावत्-परिमाणावधारणे। ततोऽयमर्थः-एकरात्रं द्विरात्रं त्रिरात्रं चतूरात्रं पञ्चरात्रं यावत् व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिरिति द्वितीयं तृतीयमपि पञ्चाहं यावदिति द्रष्टव्यम्, स्थविरान् पश्येत्। कुत्र पश्येदिति चेत् ? उच्यते-अभिनिचारिकां गन्तुमुत्कलोऽपि तेनाचार्येण यत्र संदेशको दत्तः, तत्स्थविरैः सह मिलितानां सैवालोचना तिष्ठति, या अन्यस्मात् गणादागतेनोपसंपद्यमानेन वितीर्णा, तदेव च प्रतिक्रमणं, यदवसन्नादागत्य तस्मिन् गच्छे उपसंपन्नेन तस्मात् स्थानात्प्रतिक्रान्तं, सैव चावग्रहणस्य पूर्वाऽनुज्ञापना तिष्ठति, या अन्यस्मात् गणादागतेनोपसंपद्यमानेन साधर्म्मिकावग्रहस्यानुज्ञापना कृता यथालान्दम्। अपिशब्दोऽत्र संभावने, न केवलं यथाकालं, किन्तु चिरमपि यथाकालं यावत् ततो गच्छात्तस्य भावो न विपरिणमति, तावदवग्रहः, अवग्रहस्य सैव पूर्वाऽनुज्ञापना तिष्ठति। एतच्चान्तर्दीपकमतो यथालन्दमप्यालोचना प्रतिक्रमणं च द्रष्टव्यम्। व्य०४ उ०।

चरियापविट्ठे भिक्खू परं चउराया पंचरायाओ थेरे पासेज्जा, पुणो आलोएज्जा, पुणो पडिक्कमेज्जा, पुणो य परिहारस्स उवट्ठाएज्जा, भिक्खुभावस्स अट्ठाए दोच्चं पि उग्गहे अणुण्णवेयव्वे सिया, कप्पइ से एवं वदित्तए अणुजाणह भंते ! मितोग्गहं अहालंदं धुवं णियतं णेच्छइयं विउट्टियं ततो पच्छा कायसंफासं, एवं नियट्टे वि दो गमा ॥२०॥

चरिकां प्रविष्टो भिक्षु चतूरात्राद्व अत्रापि व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिस्तत इद द्रष्टव्यम-यदि तस्य भावो विपरिणतो यथा कोऽत्र स्थास्यति इति, ततश्चतूरात्रात् पञ्चरात्राद्वा आरतः परतो वा स्थविरान् पश्येत्, पुनरपि च तस्य भावो जातो-यथा तिष्ठाम्यत्र तत्रैवोपसंपदा, तथा प्रथमोपसंपदीव पुनरालोचयेत् पुनः प्रतिक्रामेत, पुनश्छेदस्य परिहारस्य वा उपतिष्ठेत्। किमुक्तं भवति-विपरिणते अविपरिणते वा भावे यत् किञ्चित् आपन्नं प्रायश्चित्तस्थानं तस्मिन् आलोचिते य आचार्येण छेदः परिहारो वा निर्दिष्टस्तस्य सम्यकश्रद्धायत्तस्य कारणार्थमभ्युत्तिष्ठेत्, भिक्षुरुपपातस्य आज्ञाया अर्थाय, पाठान्तरं-भिक्षुभावस्य भिक्षुत्वस्यार्थाय, मे यथावस्थितं भिक्षुत्वं भूयादित्येवमर्थः। द्वितीयमपि वारमवग्रहोऽनुज्ञातव्यः स्यात्। कथमित्याह-अनुजानीत भदन्त। परमकल्याणयोगिन् मितमवग्रहं, अवग्रहग्रहणं गमनादीनामुपलक्षणं, मितं गमनं मितमवस्थानां मितं स्थाननिषीदनत्वग्वर्त्तनादि अनुजानीत, यथालन्दं यथाकालं ध्रुवं यदव इयं कर्त्तव्यं नियतं यावन्नावधावामि तावदवश्यमहापनीयं, नियतं यावत्सहायान्न लभे तावदवश्यमनुष्ठेयम्: यथा व्यावृत्तम्। किमुक्तं भवति-व्यावृत्य यद्बहूधा उपपातप्रतिच्छन्नं तत् अनुजानीत, ततो गुरुणा अभ्युपगते कायस्य क्रमयुगलक्षणस्य शिरसा संस्पर्श करोति। अथवा-कृतिकर्म्मादिष्वागमने निर्गमने च यः कायसंस्पर्शस्तमप्यनुजानीत, "एवं नियट्टे वि दो गमा" इति। एवमनुना प्रकारेण यथा चरिकाप्रविष्टौ गमावुक्तौ द्वे सूत्रे अभिहिते, तथा चरिकानिवृत्तेऽपि द्वौ गमौ वक्तव्यौ।

तौ चैवम् -

चरियानियट्टे भिक्खू० जाव चउरायपंचरायातो थेरे पासेज्जा, स चेव आलोयणा, स चेव पडिक्कमणा, स चेव उग्गहस्स पुव्वाणुण्णवणा चिट्ठति अहालंदमवि उग्गहे ॥ चरियानियट्टे भिक्खू परं चउरायपंचरायातो थेरे पासेज्जा पुणो आलोइज्जा, पुणो पडिक्कमेज्जा, पुणो छेयस्स परिहारस्स वा उवट्ठाएज्ज, भिक्खुभावस्स अट्ठाए दोच्चं पि उग्गहे अणुण्णवेयव्वे सिया, अनुजाणह भंते ! मितोग्गहं अहालंदं धुवं नियय निच्छइयं विउट्टियं ततो पच्छा कायसंफासमिति ॥

अस्य च सूत्रद्वयस्याप्यर्थः स एव यश्चरिकाप्रविष्टसूत्रद्वयस्य, यद्येवं किमर्थमनयोरुपादानं, चरिकाप्रविष्टसूत्राभ्यामेव गतार्थत्वात्। तथाहि-थैव चरिकाप्रविष्टानां सामाचारी सैव चरिकातो निवृत्तानामपीति। सत्यमेतत्, केवलमनुच्चारिते निवृत्तसूत्रद्वये यैव चरिकाप्रविष्टानां समाचारी सैव चरिकातो निवृत्तानामपीति न लभ्यते, सूत्रेऽनुपात्तत्वात्, किं त्वन्यत्किमपि कल्पते, ततः कल्पनान्तरं मा भूदिति निवृत्तसूत्रद्वयमपि, सूत्रपञ्चकसंक्षेपार्थः।

संप्रति भाष्यकृद्विषमपदविवरणं चिकीर्षुः प्रथमतो यच्चरिकाप्रविष्टाद्यसूत्रेऽभिहितं "जाव चउरायपंचरायतो थेरे पासेज्जा"

इति तद्व्याख्यानार्थमाह-

पंचाहग्गहणं पुण, बलकरणं होइ पंचहि दिणेहिं।
एगदुगतिण्णपणगा, आसज्ज वलं विभासाए॥

सूत्रे "जाव चउरायपंचरायाओ" इत्यत्र यत् पञ्चाहग्रहणं पुनर्विशेषतः कृतमाचार्येण, पुनःशब्दो विशेषे, ततः पञ्चभिर्दिनैर्बलकरणं भवतीति ज्ञापनार्थम्। उक्तं च-"एगपणगद्धमासं, सट्ठीसुणमणुयगोणहत्थीणं।" अथ पञ्चभिर्दिनैः कथमपि बलं न भवतीति ततो द्वितीयमपि पञ्चाहं यावत्। तथाचाह-एकद्वित्रिपञ्चकदिवसानां बलमाश्रित्य विषयाविकल्पेन एकं वा द्वौ वा त्रीन् वा यावदित्येवंरूपेण, सूत्रे चैवं पञ्चात्रग्रहणमुपलक्षणं व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिरतो न भाष्यसूत्रयोर्विरोधः।

संप्रति "स चेव आलोयणे" इत्यादिपदव्याख्यानार्थमाह -

उपसंपज्जमाणेन, जा दत्ताऽऽलोयणा पुरा।
अवसन्नेहि आगम्म, पडिक्कंतो उ भावतो॥
जा याणुण्णवणा पुव्वं, कया साहम्मिउग्गहे।
संभावणाएँ साऽलंदं, जा भावो अणुवत्तती॥

याऽन्यस्मादगणादागतेनोपसंद्यमानेनाऽऽलोचना पुरा दत्ता च तिष्ठति, यच्च पूर्वमवसन्नेभ्य आगम्य भावतः प्रतिक्रान्तस्तदेव प्रतिक्रमणं तिष्ठति, या च पूर्वनन्यस्मात् गणादागतेन साधर्मिकावग्रहस्यानुज्ञापना कृता सैव तिष्ठति। अहाखंदमवि इत्यत्र योऽपिशब्दः तस्यार्थः-सा च एषा न केवलं तावनतं कालं किं तु चिरमपि कालं, यावज्जीवाऽधिकृतगच्छस्थायितयाऽनुवर्त्तते तावत् सैवावग्रहस्यानुज्ञापना तिष्ठति। यथालन्दमपि सैवालोचना, तदेव च प्रतिक्रमणमपि द्रष्टव्यम्।

अधुना द्वितीये चरिकाप्रविष्टसूत्रे यदुक्तम्-"परं चउरायपंचरायातो"

इत्यादि, तद्व्याख्यानार्थमाह -

परं परिणते भावे, परिभूतो उ सो पुणो।
न चोवसंपयाए व, तत्थाऽऽलोए पडिक्कमे॥

"पर चउरायपचरायातो" इत्यत्र परमिति व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिः। ततोऽयमर्थःपरिणते गच्छान्मया निष्क्रमितव्यमित्येवं परिणते भावे, अत एव गच्छात्परिभूतः सन् चतूरात्रात्पञ्चरात्राद्वा परत आरतो वा स्थविरान् पश्येत्, भावश्च पुनर्गच्छावस्थायितया यदि प्रत्यावृत्तोऽजायत ततः स पुनर्भूयो न चोपसंपदीव तत्प्रथमतयोपसंपदीव तत्र तेषु स्थविरेषु पार्श्वे आलोचयेत्, प्रतिक्रामेच्च।

जइ पुण किंचापण्णो, तस्स उ आलोइउं उवट्ठाति।
विप्परिणयम्मि भावे, एमेव अविप्परिणयम्मि॥

विपरिणते भावे यदि किञ्चित् प्रायश्चित्तस्थानमापन्नः, तस्य प्रथमत आलोचयितुमालोचनां दातुमाचार्याणामुपतिष्ठते, *एवमेव अविपरिणतेऽ*-पि द्रष्टव्यम्। किमुक्तं भवति ? अविपरिणतेऽपि भावे यदि किञ्चिदापन्नः प्रायश्चित्तस्थानं ततः सूत्राण्यालोचयति, एवमाचार्याणामुपतिष्ठते, ततो विपरिणते अविपरिणते वा भावे प्रायश्चित्तस्थानापत्तावालोचितायामा-चार्याय छेदं परिहारं वा प्रयच्छन्ति। तस्य श्रद्धापूर्वकं कारणायाभ्युत्तिष्ठति।

"भिक्खुभावस्य अट्ठाए" इत्यत्र पाठान्तरम्-"भिक्खू उववायस्स अट्ठाए" इति। तत्रोपपातशब्दव्याख्यानार्थमाह-

उववाओ निद्देसो, आणा विणओ य होंति एगट्ठा।
तस्सट्ठाए पुणरवि, मितोग्गहोवासगाऽणुण्णा॥

उपपातो निर्देश आज्ञा विनय इत्येतानि भवन्त्येकार्थानि, ततोऽयमर्थः-भिक्षुस्तस्योपपातस्य आज्ञाया अर्थाय करणाय पुनरपि द्वितीयमपि वारं मितावग्रहानुज्ञा। किमुक्तं भवति ? मिता चासावनुज्ञा, एतेन मितावग्रहपदव्याख्यानं कृतम्।

मितावग्रहणं सूत्रे मितगमनादीनामुपलक्षणमतस्तदुप-दर्शयति -

मितगमणचेट्ठणातो, मियभाव मियं च मोयणं भंते !
मज्झ धुवं अणुजाणह, जा य धुवा गच्छमज्जाया॥

मितं गमनं प्रयोजनवशतः तस्य करणात् मितम् (चिट्ठण त्ति) अवस्थानं से तस्य यत् प्रवृत्तत्तया विश्रामनिमित्तं, तस्य कियत्कालं भावात्, मितं भाषितं, कार्ये समापतिते तस्यावसरभावात् मितं भोजनम, एककुक्षि-पूरणमात्रस्य भगवताऽनुज्ञानात्। भदन्त। परमकल्याणयोगिन् मम ध्रुवमभुजानीत, या च ध्रुवा गच्छमर्यादा, तामप्यनुजानीते, इह ध्रुव नैत्थिकमिति त्रयोऽप्येकार्थाः, तथाऽप्यर्थभेदोऽस्ति, तत्र या ध्रुवा गच्छमर्यादेत्य नेन ध्रुवशब्दार्थो व्याख्यातो, ध्रुवमवश्यकरणीयमिति।

संप्रति नियतनैश्चयिकशब्दव्याख्यानार्थमाह-

निययं च न हाविस्सं, अहमवि ओहाणिया इ जा मेरा।
निच्चं जाव सहाए न लभामि इहावसे ताव॥

यावदवधावनिका मर्यादा तावदहमपि नियतं न हापयिष्याम्यवश्यकर-णीयम्। किमुक्तंभवति ? नियतमवधावनमर्यादातोऽवश्यमहापनीयमिति। तथा नित्यमिति कोऽर्थः-यावत्सहायान्न लभे तावदिहावसामीति, सहायलाभमर्यादाकमावसनं यावदवश्यमनुष्ठेयं, नित्यमित्यर्थः।

अधुना "वेउट्टियं" इत्यस्य भावार्थं कथयति-

दिवसे दिवसे वेउ-ट्टिया उ पक्खे य वंदणादीसु।
पट्ठवणमादिएसुं, उववायपडिच्छणा बहुधा॥

दिवसे दिवसे, प्रतिदिवसमित्यर्थः। पक्षे पाक्षिकदिने, चशब्दाच्चा-तुर्मासिकदिने, सांवत्सरिकदिने च, वन्दनादिषु, आदिशब्दात् क्षामणकादिपरिग्रहः। तथा प्रस्थापनादिषु स्वाध्यायप्रस्थापनादिषु, अत्रादिशब्दात् उद्देशसमुद्देशादिपरिग्रहः। यद्बहुधा अनेकप्रकारमुपपात-प्रतिच्छन्नं तदनुजानीत।

सम्प्रति "कायसंफासं" इति व्याख्यानार्थमाह-

अब्भुवगए उ गुरुणा, सिरेण संफुसति तस्स कमजुयलं।
कितिकम्ममादिएसु य, नितमर्निते य जे फासा॥

अनुज्ञापनायां कृतायां गुरुणाऽभ्युपगते दृष्टः सन् तस्य गुरोः क्रमयुगलमात्मीयेन शिरसा संस्पृशति, प्रणमतीत्यर्थः। तदेवं ततः पश्चात्कायसंस्पर्शं कुरुते इति व्याख्येयम्। अथवाऽयमर्थः-ततः पश्चात्कायसंस्पर्शमनुज्ञापयति। तथा चाह-कृतिकर्म्मादिषु, कृतिकर्म्म वन्दनकं, विश्रामणादिकं वा, आदिशब्दात्क्षामणादिपरिग्रहः, तेषु कर्त्तव्येष्वागच्छति गच्छति वा ये स्पर्शाः कायस्पर्शाः तान्, अनुजानीतेति वाक्यशेषः।

सम्प्रति यत्पाठान्तरं भिक्खुभावस्सेति तद्व्याख्यानार्थमाह-

भिक्खूभावो सारण-वारणपडि वोयणा जहा पुव्विं।
तह चेव इयाणिं पी, निज्जत्तुत्ती सुत्तकासे-सा॥

भिक्षुभावो नाम सारणा, वारणा, प्रतिचोदना। अत्र प्रतिचोदनाग्रहणं चोदनाया उपलक्षणं,तत्र विस्मूतेऽर्थे स्मारणा, अनाचारस्य प्रतिषेधनं वारणा, स्खलितस्य पुनः शिक्षणं वोदगा, पुनः पुनः स्खलितस्य भिक्षु शिक्षापणं प्रतिचोदना। एताभिर्यथावस्थितो भिक्षुभाव उपजायते, ततः कारणे कार्यापचारादेता एव भिक्षुभाव इत्युक्तं तदर्थायेति। किमुक्तं भवति ? यथा पूर्वमेता स्मारणादय आसीरन् तथा इदानीमपि स्युरित्येवमर्थः, तदेवं कृता विषमपदव्याख्या भाष्यकृता, साम्प्रतमेषा वक्ष्यमाणा सूत्रस्य स्पर्शिका निर्युक्तिः।

तामेव प्रथमप्रसाधर्मिकसूत्रविषयामाह-

आकिण्णो सो गच्छो, सुहदुक्खपडिच्छएहि सीसेहिं।
दुव्वलखमगगिलाणे, निग्गमसंदेसकहणे य॥

बहवः साधर्म्मिका इच्छेयुरेकतो अभिनिचारिकां चरितुमित्युक्तम्। तत्र पर आह-केन कारणेन तेषां निर्गमेच्छा ? निर्युक्तिकृदाह-सुखदुःखप्रतीच्छिकैः सुखदुःखार्थमुपसंपन्नैः प्रतीच्छिकैः शिष्यैश्च स गच्छ आकीर्णः समाकुलः आकीर्णत्वेन स नगरे स्थितोऽन्यत्र स्थितानामेषणीयभक्तपानासंभवात्, तव च तृतीयस्यां पौरुष्यां भिक्षावेला, चिरं च हिण्डितव्यं, धान्याम्लक्षारादिकं च तत्र भैक्षं, तत्रः केचित्साधवो दुर्बला जाताः, क्षपका अपि पारणके प्रायोग्यालाभतो दुर्बला अभवन्, ग्लाना अप्यधुनोत्थिताः सीदन्ति, एतैः कारणैर्निर्गन्तुमिच्छन्ति। दृष्ट्वा चाचार्यं पृच्छन्ति, ते चाचार्येण तान् दुर्बलान् ज्ञात्वा मुत्कलनीयाः, ये पुनर्निष्कारणं गन्तुकामा आपृच्छन्ति ते न मुत्कलनीयाः, ये चानुज्ञाता व्रजतेति तेषामाचार्यः संदेशं कथयति।

कथमित्याह -

अहमवि एहामो वा, अण्णत्थ इहेव मं मिलिज्जाह ।
अतिदुव्वले य नाउं, विसज्जणा नत्थि इतरेसिं ॥

यत्र यूयं गमिष्यथ अहमपि इतः स्थानात् तत्र एष्यामि आगमिष्यामि अथवा-अन्यत्र मम सकाशे आगन्तव्यम्, यदि वा-अत्रैव मा यूयं मिलेयुर्यथा वा यैः संदिश्यते तथा तैःकर्त्तव्यम्, आचार्येणाप्यतिदुर्ब्लान् तान् तेषां विसर्जना मुत्कलेन कर्त्तव्या, इतरेषां निष्कारणं गन्तुमनसां विसर्जना नास्ति। एतेन विरतणमवितरणं च सूत्रोपात्तं व्याख्यातम्।

तं चेव पुव्वभणियं, आपुच्छणे मास दोच्चऽणापुच्छा ।
उवओगे तहिं सुणणा, साहूसण्णीगिहत्थेसु ॥

यदि निर्गन्तुमनसोऽनापृच्छया व्रजन्ति तदा प्रायश्चित्तं मासलघु, पृच्छायामपि कृतायां यदेव पूर्वभणितं तदेवाधिकृत्य गमनकाले द्वितीयं वारमापृच्छा कर्त्तव्या। यदि पुनर्द्वितीयं वारं नापृच्छन्ति तदाऽपि प्रायश्चित्तं मासलघु, किं कारणं द्वितीयमपिवारमापृच्छा कर्त्तव्येति चेत् ?, अत आह-"उवओगे" इत्यादि। यदा पूर्वमापृष्टं तदाऽऽचार्योऽनुपयुक्त आसीत्, पश्चादुपयुक्तो जातः, उपयुक्तेन च तत्राशिवादयो दोषा ज्ञाताः। अथवा-(सुणण त्ति) पश्चादाचार्येण विचारादिनिमित्तं बहिर्निर्गतेन श्रुतं, यथा-तत्र बहवो दोषा इति, यदि वा साधुना केनापि संज्ञिना श्रावकेण गृहस्थेन वा, केन वा मिथ्यादृष्टिना भद्रकेण कथितमाचार्याणाम्, यथा-तत्र बहवो दोषा इति, तस्मात् द्वितीयवारमवश्यं प्रष्टव्यं, पृच्छायां च कृतायां यद्यपि तत्र न केचनापि दोषा आचार्येण विज्ञातास्तथाऽपि तत्र क्षेत्रप्रत्युपेक्षकाः पूर्वं प्रेषणीयाः।

तथा चाह -

नाऊण य निग्गमणं, पडिलेहण सुलभ दुल्लभं भिक्खं ।
जे अ गुणा, आपुच्छा, जे वि य दोसा अणापुच्छा ॥

तेषां साधूनां निर्गमनं ज्ञात्वाऽऽचार्येण साधुभिस्तस्य क्षेत्रस्य प्रतिलेखनं कारयितव्यं, येन सुलभं दुर्लभं वा भैक्षं ज्ञायते। किं च ये गुणा द्वितीयवारमापृच्छायां भवन्ति ते प्रतिलेखनेऽपि द्रष्टव्याः, येऽपि च दोषा द्वितीयवारमनापृच्छायां, ते दोसा अप्रत्युपेक्षणेऽपि।

के ते ?, इत्याह -

पच्चंत सावयाइं, तेणा दुब्भिक्ख तावसीतो य ।
नियगपविट्ठद्धाणा, पप्फुडणा हरियपण्णी य ॥

प्रत्यन्ताः सीमावर्तिनो म्लेच्छा लोकानामुपप्लवोत्पादनायोत्थिता वर्त्तन्ते, स्वापदानि व्याघ्रादीन्यपान्तराले सन्ति, स्तेना वा शरीरवहारिण उपध्यपहारिणो वा समन्तत उत्थिताः, दुर्भिक्षं वा तत्र जातं० तापस्यो वा प्रचुरास्तत्र भूयस्या ब्रह्मचर्योपद्रवाय प्रभवन्ति, निजका वा अभिनवप्रव्रजितं साधुमुत्प्रव्राजयेयुः, प्रविष्टो वा तत्र कश्चिदुपस्थितः, (उद्धाण त्ति) उद्धसितो वा स कदाचित् दोषो भवेत् (फप्फुडण त्ति) तत्र या वसतिः प्रागासीत् सा केनचिदपनीता स्यात्, (हरितपन्नी य त्ति) तत्र दुर्भिक्षप्रायमतः शाकादिहरितं बाहल्येन भक्ष्यते, तच्च साधूनामकल्पम्। अथवा-"हरितपण्णी ति" नाम-तत्र देशे केषुचित् गृहेषु राज्ञा दण्डं दत्वा देवतायै बल्यर्थं पुरुषो मार्यते, स च प्रव्रजितादिर्भिक्षाप्रविष्टः सन् "तत्र गृहस्योपरि आर्द्रवृक्षशाखाचिह्नं क्रियते," तत्रागृहीतस केतो विनश्यतीति।

संप्रति चरिकाप्रविष्टादिसूत्राणां चतुर्णामपि सामान्यतो निर्युक्तिमाह-

अण्णत्थ तत्थ विप्परि-णते य गेलण्णे होइ चउभंगो ।
फिडियागतागतेसु य, पुण्णा-पुण्णेसु वा दोच्चं ॥

अन्यत्र चरिकाप्रवेशे तत्र चरिकातो निवृत्तौ विपरिणते विपरिणामे जाते यदाऽऽभवति यच्च न भवति, तेषां तद्वक्तव्यमिति शेषः। तथा ··गन्ये भवति चतुर्भङ्गी, तस्यां च चतुर्भङ्गयामगवेषणादौ यदाऽऽभवति प्रायश्चित्तं, तद्वाच्यमित्युपस्कारः। तथा स्फिटिताः त्रिपरिणताः, तेषां गतागतेषु आचार्यस्य समीपमागता इत्येवरूपेषु यावत्तं कालमधिकृताः, तस्मिन् अपूर्णे पूर्णे वा यदि द्वितीयमपि वारम् अवग्रहमनुज्ञापयति ततो यद्विपरिणतैर्लब्धं तदाचार्यो न लभते, किं तु यदा तेषां तथारूपं चित्तमजायत, यथा-द्वितीयमपि वारमवग्रहमनुज्ञापयामः, ततः प्रभृति यल्लब्धं तदाचार्यस्याऽऽभवति। एष गाथार्थः।

साम्प्रतमन्यत्र तत्र वा विपरिणते यत् आभाव्यं तदुपदर्शयति-

अवरोपरस्स निस्सं, जइ खलु सुहदुक्खिया करेज्जाहि ।
ओहब्भंतर सेहं, लभति गुरू पुणो न लभई य ॥

यदि चरिकाप्रविष्टा यदि चरिकातो निवृत्ता विपरिणामे किमस्माकमाचार्येण वयमेव परस्परं सुखदुःखनिश्रां कुर्म इत्येवंरूपे जाते अपरस्परस्य परस्परं सुखदुःखितां खलु निश्रां कुर्युः, तदा यावानवधिः कृतस्तस्याभ्यन्तरे तस्मिन्नपूर्णे पूर्णे वा यत् शैक्षं, शैक्षग्रहणमुपलक्षणं शैक्षप्रभृतिकं सचित्तादिकमुत्पादयन्ति तत्तेषामेव भवति, गुरुराचार्यः पुनर्न लभते, चशब्दस्तूचितमर्थं "हट्ठेण" इत्यादिना व्याख्यास्यति। तदेवं तत्रान्यत्र विपरिणते इति भावितम्।

इदानीं "गेलण्णे होइ चउभंगो" इति भावयति -

गेलण्णे चउभंगो, तेसिं अहवा वि होज्ज आयरिए ।
दोण्हं पी होज्जाही, अहव न होज्जहि दोण्हं पि ॥

ग्लान्ये ग्लानत्वे चतुर्भङ्गी भवति। तद्यथा-तेषां विपरिणतानां ग्लानो, नाचार्यस्य इति प्रथमो भङ्गः। अथवा-आचार्ये आचार्यस्य भवति ग्लानो, न तेषामिति द्वितीयः। "दोण्हं पि होज्जाहीति" द्वयानां विपरिणतानामाचार्यस्य भवति ग्लान इति तृतीयः। अथ द्वयानामपि न भवति ग्लान इति चतुर्थः।

अत्र प्रायश्चित्तविधिमाह -

आयरिएँ अपेसेंते, लहुओ अकरेंते चउ गुरू होंति ।
परितावणादिदेसा, तेसिं अप्पेसणे एवं ॥

प्रथमभङ्गे तेषां ग्लानो नाचार्यस्येत्येवंरूपे, यद्याचार्यो गवेषणया न कमपि साधुसंघाटं प्रेषयति प्रायश्चित्तं लघुको मासः। अथ प्रेषणे कृते तैर्वा कथिते यदि ग्लानकृत्यं न किमपि करोति तदा तस्मिन्नकुर्वति चत्वारो गुरुका भवन्ति। येऽपि चानागाढपरितापनादयो दोषास्तन्निमित्तमपि च गुरुलघ्वादि चरमपर्यन्तं तस्य प्रायश्चित्तमापद्यते। द्वितीये भङ्गे आचार्यस्य ग्लानो, न तेषामित्येवंरूपे, तैरपि ग्लानस्य गवेषणाय साधुप्रेषणा-

दि कर्तव्यम्, यदि पुनर्न कुर्वन्ति तदा तेषामप्यप्रेषणे, उपलक्षणमेतदकरणेन एवमुक्तप्रकारेण प्रायश्चित्तमव्रसातव्यम्। तथाहि-यदि ते गवेषणाय साधुसंघाटं न प्रेषयन्ति तदा मासलघु, अथ कृतेऽपि प्रेषणे आचार्येण वा ज्ञापिते यदि ग्लानकृत्यं न कुर्वन्ति तदा चत्वारो गुरुकाः प्रायश्चित्तम्।

अहवा दोण्ह वि हुज्जा, संथरमाणेहि तह वि गवेसणया।
तं चेव य पच्छित्तं, असंथरंता भवे सुद्धा॥

अथवा द्वयानामपि आचार्यस्व तेषां च, प्रत्येकं ग्लानो भवेत्, तथाऽपि यदि संस्तरन्ति ततः संस्तरद्भिः परस्परं ग्लानस्य गवेषणा कर्त्तव्या। अथ न कुर्वन्ति तदा तदेव प्रायश्चित्तं यदनन्तरमुक्तम्। तथाहि-परस्परमप्रेषणे मासलघु, ग्लानकृत्याकरणे चतुर्गुरुकम्। अथ द्वयेऽपि प्रत्येकं न संस्तरन्ति, द्वयानामपि च प्रत्येकं ग्लानस्तत आह-असंस्तरंतो गवेषणोद्यकुर्वन्तोऽपि भवति शुद्धा न प्रायश्चित्तविषयाः।

सम्प्रति "गुरुपुण्णेण लभते च" इत्यत्र चशब्दसूचितमर्थमुपदर्शति-

हट्ठेणं न गविट्ठा, अतरंतोॅण ते य विप्परिणयाओ।
तत्थ वि न लहइ सेहे, लभइ य कज्जे विपरिणया वि॥

ते सुखदुःखोपसंपन्नकाश्चरिकागता अतरन्तो यदि कथमप्याचार्येण हृष्टेन नीरोगेण, प्रयोजनान्तराव्याकुलितेन च सता न गवेषिताः, अतरन्तो न च ते विपरिणताः-यथा वयमतरन्तो वर्तामहे तथाऽप्याचार्येण न गवेषितास्ततः किमस्माकमाचार्येणेति, तत्रापि हृष्टेना गवेषणेऽपि, आस्तां परस्परनिश्रायामित्यपिशब्दार्थः, न लभते गुरुः शैक्षात्, किमुक्तं भवति-ते तथा विपरिणताः सन्तो यत्सचित्तादिकमुत्पादयन्ति तदाचार्यो न लभते। अथ कार्ये कस्मिन्नपि व्याकुली भवनेन आचार्येण तेऽतरन्तो न गवेषितास्तर्हि यद्यपि ते विपरिणता अपि यत्ते सचित्तादिकमुत्पादयन्ति, तत्ते न लभन्ते, किं तु लभते आचार्यः।

लद्धुं अविप्परिणते, कहिंति भावम्मि विप्परियणम्मि।
इति मायाए गुरुओ, सचित्तादेसगुरुया वा॥

यदि अविपरिणते भावे सचित्तादि लब्ध्वा विपरिणम्य कथयन्ति-इदं विपरिणते भावेऽस्माभिर्लब्धमिति तदा 'मायाए' उपसंपदं लोपयन्तीति मायानिष्पन्नं प्रायश्चित्तं गुरुको मासः। अचित्ते समुत्पादिते तत्प्रत्ययमुपधिनिष्पन्नं प्रायश्चित्तं, सचित्ते समुत्पादिते तत्प्रत्ययं चतुर्गुरुकमादेशान्तरेण प्रायश्चित्तमनवस्थाप्यम्। तथा आचार्यो निष्कारणं यदि तान् गवेषयति तदा तस्या प्रायश्चित्तं मासलघु।

सुहदुक्खिया गविट्ठा, सो चेव य उग्गहो य सीसा य।
विप्परिणमंतु मा वा, अगविट्ठेसुं तु सो न लभे॥

ते सुखदुःखिताः सुखदुःखेपसंपन्नका आचार्येण गवेषिताः, स एवावग्रहो वर्त्तते, अद्यापि विपरिणामाकथनात्, ते शिष्याः यदि विपरिणमन्तु यदि वा मा विपरिणमन्तु तथापि यत्तैरुत्पादितं सचित्तादि तदाचार्यो लभते, न पुनस्तत्तेषामिति। अथ न गवेषिता आचार्येण विपरिणताश्च ते ज्ञातास्ततस्तैरगवेषितैर्विपरिणतैश्च यल्लब्धं सचित्तादि तत्स आचार्यो न लभते, किं तु तत्तेषामेव।

विप्परिणयम्मि भावे, लद्धं अम्हेहिं वेंति जइ पुट्ठा।
पच्छा पुणो वि जातो, लभंति दोच्चं अणुण्णवणा॥

यदि पुनस्ते पृष्टाः सन्तो ब्रुवते-एतद्विपरिणते भावेऽस्माभिर्लब्धं, तत्तेषामेव, नाचार्यस्य, अथ पश्चात्पुनरपि भावो जातो द्वितीयमपि वारमवग्रहस्यानुज्ञापना कर्त्तव्या, तदा तथारूपाद्भावात् ज्ञातादारतो यत्ते लभन्ते तदाऽऽचार्यस्य भवति, न ते षामिति।

आगयमणागयाणं, उउवद्धे सो विही उ जो भणितो।
अद्धाण सीसगम्मि वि, एस विही पट्ठिएँ विदेसं॥

य एषोऽनन्तरमुक्तो विधिः स एव ऋतुबद्धे काले आगतानां चरिकातो निवृत्तानामनागतानां चरिकाप्रविष्टानामवसेयः। एष पुनर्वक्ष्यमाणो विधिर्विदेशं प्रस्थिते, उपलक्षणमेतत् स्वदेशेऽपि दूरं गन्तुकामे अध्वशीर्षके ग्रामे स्थिते वेदितव्यः।

तमेवाह -

सत्थेणं सालंवं, गयागयाण इह मग्गणा होइ।
तत्थऽन्नत्थ गिलाणे, लहु गुरु लहुगा चरिम जाव।

सार्थेन सह विदेशेऽपि वा दूरं गन्तुकामा सालम्बं गता यथायदि अध्वशीर्षके ग्रामे परतो गमनाय सार्थं लप्स्यामहे ततो यास्यामः, अथ न लप्स्यामः, उदन्तं च परस्परं वक्ष्यामः। एवं येसार्थेन सहाध्वशीर्षके ग्रामे गताः, ये च न गतास्तेषामिह आभवत्वनाभवति सचित्तादौ विषये मार्गणा वक्ष्यमाणा भवति, तथा तत्रान्यत्र च ग्लाने चतुर्भङ्गी भवति। तद्यथा-अन्यत्राध्वशीर्षके ग्रामे स्थितानां ग्लानो न तत्र १ आचार्यपार्श्वे न तेषामिति द्वितीयः। द्वयानामपि पार्श्वे ग्लान इति तृतीयः। न द्वयानामपीति चतुर्थः। तत्र यद्याचार्यस्तेषां गवेषणं न करोति मासलघु, अथ ज्ञाते ग्लाने तस्य कृत्यकरणाय न यत्नमाधत्ते ततश्चतुर्गुरुकं, यद्यानागाढपरितापनादिनिमित्तं चतुर्लघ्वादि यावच्चरमं पाराञ्चितं तदपि प्राप्नोति। तदेवं प्रथमभङ्गे प्रागभिहितमपि प्रायश्चित्तं विनेयजनानुग्रहाय भूय उक्तम्, एवं द्वितीये तृतीयेऽपि भङ्गे वाच्यम्।

संप्रत्याभवत्यनाभवति च सचित्तादौ विषये मार्गणां चिकीर्षुराह-

पुण्णे व अपुण्णे वा, विपरिणएसु जा हो अणुण्णवणा।
गुरुणा वि हु कायव्वा, संका लद्धे विपरिणते उ॥

यतो विदेशेऽपि वा दूरं गन्तुकामाः सङ्केतं कृतवन्तो, यदि वयमेतावद्भिर्दिवसैर्न प्रत्यागच्छामस्तदा ज्ञातव्यं गता इति, अन्यथा नेति, तस्मिन्नवधौ पूर्णे अपूर्णे वा यदि ते विपरिणता जातास्ततः पुनरपि तैरवग्रहस्य द्वितीयं वारमनुज्ञापना कर्त्तव्या गुरुणाऽपि, या तेषु तथा विपरिणतेष्वनुज्ञापना भवति सा प्रतिपत्तव्या, यदि पुनरपूर्णेऽवधौ तेषां शैक्षः प्रत्युत्पन्नस्ततो जाता शङ्का, यद्यपूर्णेऽवधावेष समुत्पन्न इति कथयिष्यते तत्र आचार्यस्य भविष्यति, तस्मादाचार्यस्य मा भूदिति प्रत्यागतास्ते आलोचयन्ति, पूर्णे संकेतकाले लब्धोऽयमस्माभिः शैक्ष इति तदा तेषां प्रायश्चित्तं मासगुरु, तस्मात्सत्यभूतेन भावेनाऽऽलोचयितव्यम्, तथा पूर्णेऽवधौ शैक्षे लब्धे प्रत्यागत्य तथैवालोचयति, गुरुणाऽपि शङ्का न कर्तव्या, यथा अपरिपूर्णेऽप्यवधौ लब्धेशैक्षे शैक्षलोभेन विपरिणय इति सत्यभावेनालोचनात् तच्च परभावोपलक्षकैरे कांशेन ज्ञातव्यमिति तदेवमुपसंपन्नानां यद्वक्तव्यं तदुक्तम्।

इदानीमुपसंपद्यमानानधिकृत्याह -

पारिच्छनिमित्तं वा, सब्भावेणं व वेति तु पडिच्छे ।
उवसंपज्जितुकामे, मज्झं तु अकारकं इहइं ।
अण्ण गवेसह खेत्तं, पाउग्गं जं च होइ सव्वेसिं ।
वालगिलाणादीणं, सुहसंथरणं महगणस्स ॥

परीक्षानिमित्तं वा, सद्भावेन वा प्रतीच्छिकानुपसंपत्तुकामान् गुरुर्ब्रूते- आर्याः ! इहास्मिन् क्षेत्रे मम अकारकं भक्तपानादि, तस्मादन्यत् क्षेत्रं मम प्रायोग्यं यच्च भवति सर्वेषां वा ग्लानादीनां प्रायोग्यं महतो गणस्य सुखसंस्तरणं सुखेन निस्तारहेतुस्तत् गवेषयथ प्रतिलेखयथ।

कयसज्झाया एते, पुव्वं गहियं पि णासते अम्हं ।
खेत्तस्स अपडिलेहा, अकारगा तो विसज्जेइ ॥

एवं संदिष्टाः सन्तो यदि ते भाषन्ते-एते युष्माकं शिष्याः कृतस्वाध्यायास्तस्मादेतान्प्रेषयथ, अस्माकं पुनः क्षेत्रप्रत्युपेक्षणार्थं गतानां पूर्वगृहीतमपि नश्यति । एवमुक्ता यदि ते क्षेत्रस्य प्रत्युपेक्षका अप्रत्युपेक्षका विनयवैयावृत्यादेरकारकाश्च ततस्तान्विसर्जयति।

सव्वं करिस्सामोॅससत्तिजुत्तं,
इच्चेवमिच्छंतेॅपडिच्छिऊणं ।
निव्वेसबुद्धीऍ न यावि भुंजे,
तं चागिली पूरति तेसि इच्छं ॥

ये पुनः संदिष्टाः सन्त एवं ब्रुवते-यथा सर्वं स्वशक्तियुक्तं स्वशक्त्युचितं करिष्यामः, तान् एवमिच्छतः प्रतीच्छेत् । प्रतीच्छ्य च तान्, न चापि नैव, निर्वेशबुद्ध्या कर्म्म मया पुरा कृतमेवं वेदयितव्यमिति बुद्ध्या, भुङ्क्ते परिभोगं नयति, किं तु स्वपरयोर्निर्जराबुद्ध्या यया वेच्छया ते उपसंपद्यन्ते चेच्छां तेषामगिलया निर्जराबुद्ध्या पूरयति, न परोपरोधात् चित्तनिरोधेन । अथ तेषां प्रतीच्छिकानां कियन्तं कालं प्रतीच्छको भवति ?

तत्राह-

निट्ठिय महल्ल भिक्खे, कारण उवसग्गऽगारिपडिबंधो ।
पढमचरिमाइ मोत्तुं, निग्गम सेसेसु ववहारो ॥

निष्ठितं नाम, येन कारणेनोपसंपन्नस्तत्र सूत्रार्थलक्षणं कारणं निष्ठितं समाप्तं ततो निर्गच्छति, (महल्ल त्ति) महती सूत्रमण्डली, भक्तमण्डली वा, तत्र सूत्रमण्डल्यां चिरेणालापके आगच्छति भक्तमण्डल्यां महत्यां भागागतं, तत्र यथा अन्ये साधवोऽध्वास ते तथा तेनाऽप्यध्यासितव्यम्, अनध्यासितश्च निर्गच्छति, तथा दुर्लभं तत्र क्षेत्रे भैक्षं, तत्र यथाऽन्ये साधवौ यापयन्ति तथा तेनापि प्रतीच्छितेन यापनीयं, यापनां चासहमानः कोऽपि निर्गच्छति, कारणमशिवादिकं, तस्मिन् समुत्पन्ने सर्वैरेव निर्गन्तव्यम्। उपसर्गा द्विविधाःदंशमशकादयः, स्वजनादयश्च । तत्र दंशमशकादिषु सर्वैर्निर्गन्तव्यम्, स्वजनादिकृतेषु तूपसर्गेषु गच्छसाधवो निर्गच्छन्ति वा, न वा, प्रतीच्छितेन पुनरवश्यं निर्गन्तव्यम्, आगारीप्रतिबन्धो नाम यत्रागार्या विषये आत्मपरोभयसमुत्था दोषास्तत्रावश्यं तेन निर्गन्तव्यम्, अत्र प्रथमं चरमं कारणं मुक्त्वा शेषेषु कारणेषु निर्गम आभवद्व्यावहारश्च स यथा भवति तावद्वक्ष्ये।

एतदेव व्याचिख्यासुराह -

सम्मत्तम्मि निग्गमो, तस्स होति इच्छाए।
मंडलि महल्ल भिक्खे, जह अण्णे तह जावए ॥

यस्स श्रुतस्यार्थेनोपसंपन्नस्तस्मिन् समाप्ते श्रुते तस्स निर्गम इच्छया भवति; यदि प्रतिभासते तर्हि तिष्ठति नो चेन्निर्गच्छति । तथा महत्यां भक्तमण्डल्यां दुर्लभे च भैक्ष्ये यथाऽन्ये साधवो यापयन्ति तथा सोऽपि यापयेत् । यापनां चासहमानः कोऽपि गच्छेत्, सूत्रमण्डलल्यामपि चारणालापमागच्छन्तमनवेक्षमाणस्त्वरया कोऽपि निर्गच्छति ।

कारणे असिवादिम्मि, सव्वेसिं होइ निग्गमो ।
दंसमादी उवस्सग्गे, सव्वेसिं एवमेव उ ॥

अशिवादौ करणे समुत्थिते सर्वेषां भवति निर्गमः । एवमेव अनेनैव प्रकारेण दंशादिके दंशमशकादिके उपसर्गे समुपस्थिते सर्वेषां भवति निर्गमः ।

नीयल्लएहि उवसग्गे, जइ गच्छंति नेतरे ।
निग्गच्छति ततो एगो, पडिबंधो वि भावतो ॥

निजकैरपि स्वजनैरप्युपसर्गे क्रियमाणे यदि इतरे गच्छसाधवो न गच्छन्ति ततः स एक एकाकी प्रतीच्छिको निर्गच्छति। यदि वा-भावतः स्वजनेषु महान्प्रतिबन्धः, ततो निर्गच्छति।

आयपरोभयदोसे-हिँ जत्थऽगारीऍ होज्ज पडिबंधो ।
तत्थ न संचिट्ठेज्जा, नियमेण उ निग्गमो तत्थ ॥

यत्रात्मपरोभयदोषैरगार्या उपरि भवेत् प्रतिबन्धस्तत्र न संतिष्ठेत। किन्तु नियमतस्तत्थेति प्राकृतत्वात्तस्मादित्यर्थे । तस्मात्स्थानान्निर्गमः ।

पढमचरिमेसुऽणुण्णा, निग्गम सेसेसु होइ ववहारो ।
पढमचरमाण निग्गमे, इमा उ जयणा तहिं होइ ।

प्रथमे चरमे च करणे नियमेन निर्गमे अनुज्ञा भवति, शेषेषु तु कारणेष्वनाभोगतो निर्गमे भवत्याभवद्व्यवहारश्च, तत्र प्रथमचरमाणां प्रथमचरमकारणोपेतानां निर्गमे इयं वक्ष्यमाणा तत्र यतना भवति ।

तामेवाऽऽह -

सरमाणे उभए वा, काउस्सग्गं तु काउ वच्चेज्जा ।
पम्हुट्ठो दोण्ण वि ऊ, आसन्नातो नियट्टेज्जा ॥

प्रथमे चरमे च कारणे समुपजाते उभयस्मिनन्नप्याचार्ये प्रतीच्छिके च विधिं स्मरति, छिन्ना संप्रत्युपसंपदिति ज्ञापनार्थं कायात्सर्गं कृत्वा स प्रतीच्छिको व्रजेत । अथ प्रतीच्छिकस्य विस्मृतं तत आचार्येण स्मारयितव्यं, यथा कुरुच्छिन्नोपसंपन्निमित्तं कायोत्सर्गमिति । अथाऽनाभोगतो द्वयोरपि (पम्हुट्ठमिति) एकान्तेन विस्मृतं, ततो द्वयोरप्येकान्तेन विस्मृतावकृते कायोत्सर्गे संप्रस्थितो यथाऽऽसन्ने प्रदेशे स्मरति तत आसन्नात् प्रदेशान्निवर्तेत, निवृत्य च कायात्सर्गो विधेयः ।

दूरगएण उ सरिए, साहम्मिं दट्ठु तस्सगासम्मि ।
काउस्सग्गं काउं, लद्धं जं तं च पेसेइ ॥

अथ दूरं गत्वा स्मृतवान्, ततो दूरगतेन स्मृते साधर्म्मिकं

दृष्टवा तस्य सकाशे समीपे कायोत्सर्गः करणीयः, संदशश्च प्रेषणीय आचार्यस्य, यथा-तदानीं युष्मत्समीपे कायोत्सर्गकरणं विस्मृत-मिदानीममुकस्य साधर्मिकस्य समीपे कृतः कायोत्सर्ग इति, कायोत्सर्गं च कृत्वा यदकृते कायोत्सर्गे सचित्तादिकमुत्पन्नं तत्प्रेषयति।

पढमचरमाण एसो, निग्गमणविही समासतो भणितो।
एत्तो मज्झिमल्लाणं, ववहारविहिं तु वुच्छामि॥

प्रथमचरमाणा प्रथमचरमकारणोपेतानामेष निर्गमनविधिः समासतो भणितः। इत ऊर्द्धंव मध्यमानां मध्यमकारणोपेतानां व्यवहारविधिं प्रायश्चित्तव्यवहारविधिं च वक्ष्यामि।

प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति -

सज्झायभूमिं बोलंते, जोए छम्मासपाहुमे।
सज्झायभूमि दुविहा, आगाढा चेवऽणागाढा॥

स्वाध्यायभूमिं प्रतिपन्नः सन् तामनिक्षिप्य यो व्यतिक्रामति तस्मिन् आभवद्व्यवहार उच्यते। अथ स्वाध्यायभूमिरिति किमभिधीयते ? उच्यते-प्राभृतं नाम यदिष्टः श्रुतस्कन्धस्तस्मिन् ये योगाः सा स्वाध्यायभूमि; सा चागाढयोगमधिकृत्योत्कर्षतः षण्मासाः। एतदेव द्वैविध्येनाह-स्वाध्यायभूमिर्द्विविधा, योगो द्विविध इत्यर्थः। आगाढा अनागाढा च।

जहण्णेण तिण्णि दिवसा, अणगाढुक्कोम होइ वारसओ।
एसा दिट्ठीवाए, महकप्पसुयम्मि वारसमा॥

अनागाढा स्वाध्यायभूमिर्जघन्येन त्रयो दिवसाः, यथा-नन्द्यादिकस्या-ध्ययनस्य, उत्कर्षतो भवति द्वादश वर्षाणि, एषा द्वादशवर्षप्रमाणा उत्कृष्टा स्वाध्यायभूमिर्दृष्टिवादे, साऽपि दुर्मेधसः संप्रतिपत्तव्या, प्राज्ञस्य तु वर्षम्। उक्तं च-"अणागाढो जहण्णेणं तिण्णि दिवसा, उक्कोसेण बरिसं, जहा दिट्ठिवायस्स वारस बरिसणि दुम्मेहस्सेति।" महाकल्पश्रुते द्वादश वर्षाण्युत्कृष्टा स्वाध्यायभूमिः।

अत्राभवद्व्यवहारमाह -

संकंता पवहंतो, काउस्सग्गं तु छिन्न उवसंपा।
अकयम्मी उस्सग्गे, जा पढती तं सुयक्खंधं॥

योगं वहन् गणान्तरमन्यत्र संक्रामन् छिन्नमुपसंपदिदानीमिति प्रतिपत्त्यर्थं कायोत्सर्गं कृत्वा व्रजेत्। अथ कथमपि तस्य विस्मृतं भवति, तत आचार्येण स्मारयितव्यः-यथा कुरु कायोत्सर्गम्, अथ द्वयोरपि विस्मरणतः सोऽकृतकायोत्सर्गो याति तर्हि यावत्सोऽन्त्र गतोऽपि तं श्रुतस्कन्धं पठति।

ता लाभो उद्दिसणा-यरियस्स जइ वहइ वट्टमाणिं से।
अवहंतम्मि व लहुगा, एस विही होइ अणगाढे॥

तावत् यत्किमपि स लभते सचित्तादिकं स समस्तोऽपि लाभ उद्देशनाचार्यस्ययेनोद्दिष्टः स श्रुतस्कन्धस्तस्य पूर्वाचार्यस्याऽऽभवति, केवलं यदि स पूर्वतन उद्देशनाचार्यः 'से' तस्यान्यत्र गतस्य सतो वर्तमानां सारां वहति। अथ स तस्याकृतकायोत्सर्गस्य सतोऽन्यत्र गतस्य सारां न वहति ततस्तस्मिन् सारामवहत्युद्देशनाचार्ये प्रायश्चित्तं चत्वारो लघुकाः, यच्च सचित्तादिकं स प्रतीच्छको लभते तदपि तस्याऽऽभवति, एषोऽनन्तरोदितो विधिर्भवत्यवागाढे योगे।

संप्रत्यागाढे विधिमभिधित्सुरिदमाह -

आगाढो वि जहन्नो, कप्पियऽकप्पादि तिण्णऽहोरत्ता।
उक्कोसो छम्मासे, वियाहपण्णत्ति आगाढे॥

आगाढोऽपि योगो जघन्यतस्त्रयोऽहोरात्राः, यथा कल्पिकाकल्पि-कादेरुत्कर्षत आगाढ आगाढयोगः षण्मासान् यथा विवाहप्रज्ञप्तेः पञ्चमाङ्गस्य।

अत्राभवद्व्यवहारमाह -

तत्थ वि काउस्सग्गं, आयरियविसज्जियम्मि छिण्णओ।
संसरमसंसरं वा, अकएँ तु सूरीए॥

तत्राप्यागाढयोगे पूर्णे अपूर्णे वा आचार्येण यस्य सकाशे योगः प्रतिपन्नस्तेन सूरिणा विसर्जिते विसर्जने कृते छिन्ना उपलदिति ज्ञापनार्थं संस्मरन् कायोत्सर्गं कुर्यात्, असंस्मरन् वा आचार्येण स्मारयितव्यः। तत्र भूमौ स्वाध्यायभूमावागाढे योगे अपरिपूर्णे आचार्येण विसर्जितः। कृते कायोत्सर्गे यदि व्रजति तर्हि स व्रजन् यत्किमपि लभते सचित्तादिकं तत्तस्यैवाऽऽभवति, नोद्देशनाचार्यस्य, अथाऽकृते कायोत्सर्गे व्रजति, तर्हि यावदन्यत्र गतोऽपि तं श्रुतस्कन्धं पठति, सारां चोद्देशनाचार्यस्तस्य करोति, तावद् यत् किमपि सचित्तादिकमुत्पादयति, तत्सर्वमुद्देशना-चार्यो लभते।

पुनरितरः -

तीरिएँ अकए उ गते, जा अन्नं न पढएउ ता पुरिमे।
आसण्णाउ नियत्तइ, दूरगतो वा वि अप्पाहे॥

तीरिये समाप्तिं नीते आगाढयोगे श्रुतस्कन्धे च भक्तिपुरस्सरमाचार्यादि-क्षमणया तोषिते यदि कथमपि गमनवेलायामनाभोगतोऽकृते कायोत्स-र्गे याति तर्हि स गतः सन् यावदन्यत्र पतितुमारभ्यते तावद्यत्किमपि लभते तत्पूर्वस्याचार्यस्याभवति, न तस्य, तस्य चास्मरणतोऽकृते कायोत्सर्गे गतस्येयं सामाचारी, यदि आसन्ने प्रदेशे गत्वा स्मृतं तत आसन्नान्निवर्तते। अथ दूरं गतेन स्मृतं तर्हि तत्र यं साधर्मिकं पश्यति तस्य समीप कायोत्सर्गे तु कृत्वा 'अप्पाहे ति' संदेशं कथयति यथा मया कृतोऽमुकस्य समीपे कायोत्सर्ग इति।

अवितोसितेँपाहुमिते, छेद पडिच्छे चऊगुरुया।
जो वि य तस्स उ लाभो, तं पि य न लभे पडिच्छंतो॥

प्राभृते श्रुतस्कन्धे, अतोषिते समाप्त्यनन्तरं भक्तिबहुमाना-दिपुरस्स-रमाचार्यादिक्षमणया तोषमनीते, यदि निर्गच्छति तर्हि तस्मिन् प्रायश्चित्तं छेदः। प्रायश्चित्तं पाठयितुं प्रतीच्छति, तस्मिन् प्रतीच्छके प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः, योऽपि च तस्य निर्गत स्यान्यप्रविष्टस्य लाभस्तमपि न लभते प्रतीच्छकः, किमुक्तं भवति-? स तथा निर्गतो यत्किमप्युत्पादयति सचित्तादिकं तत्पूर्वतनस्याचार्यस्याऽऽभवति, न तु तस्य, नापि यस्तं पाठयति तस्य, प्रतीच्छत इति, तदेवं गच्छान्निर्गतानां विधिरुक्तः।

संप्रत्यनिर्गतानां तमभिधित्सुराह -

तत्थ वि य अत्थमाणे, गुरुलहुया सव्वभंग जोगस्स।
आगाढमणागाढे, देसे भंगे उ गुरुलहुओ॥

तत्रापि गच्छे तिष्ठन् यदि योगं वक्ष्यमाणप्रकारेण भनक्ति

देशतः सर्वतो वा, तदा तस्मिन् योगस्यागाढस्य सर्वतो भङ्गे प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः, अनागाढस्य सर्वतो भङ्गो चत्वारो लघुकाः। तथा आगाढे आगाढस्य देशतो भङ्गे गुरुकः, सर्वतो भङ्गे लघुकः।

अथ कथं देशतः सर्वतो वा योगस्य भङ्गस्तत आह-

आयंविलं न कुव्वइ, भुंजति विगतीउ सव्वभंगो उ।
चत्तारि पगारा पुण, होंति इमे देसभंगम्मि ॥

आचामाम्लं परिपाट्या समापतितं न करोति विकृतीर्वा भुक्ते, एष योगस्य सर्वभङ्गः, देशभङ्गे पुनरिमे वक्ष्यमाणाश्चत्वारः प्रकाराः। तानेवाह-

न करेति भुंजिऊणं, करेइ काउं सयं च भुंजति तु।
वीसज्जेह ममं ति य, गुरु लहु मासो विसिट्ठो उ ॥

आचार्येण संदिष्टो विकृतिग्रहणायकायोत्सर्गं कृत्वा विकृतीः भोक्तुम्, तत्रैकोऽकृते कायोत्सर्गे विकृतीर्भुङ्क्ते, न च भुक्त्वाऽपि करोति कायोत्सर्गं, तस्य प्रायश्चित्तं मासलघु, तपसा कालेन चतुर्गुरुकं, तत्र तपसा अष्टमादिना, कालेन ग्रीष्मादिना, अन्यस्तथा संदिष्टः सन् विकृतीर्भुक्त्वा विकृतिग्रहणाय कायोत्सर्गं करोति, तस्य प्रायश्चित्तं मासलघु। (काउं सयं च भुंजति उ) तृतीयस्तथा संदिष्टः सन् स्वयं कायोत्सर्गं कृत्वा विकृतीर्भुङ्क्ते, तस्य प्रायश्चित्तं मासलघु, तच्च तपसा लघु, चतुर्थादिना तस्य करणात्, कालेन वा गुरु, वसन्तादौ तस्य वहनाभ्यनुज्ञानात्, चतुर्थो विकृतिं लब्ध्वा भूरीन् ब्रूते-संदिशत कायोत्सर्गं कृत्वा विकृतिं भुञ्जेऽहमिति, तस्य मासलघु तपःकालाभ्यां लघु। तथा चाह-चतुर्ष्वपि लघुमासो, गुरु पुनर्यथायोगं तपःकालाभ्यां विशिष्टः सन्, एवमनागाढे योगे देशभङ्गः। आगाढे पुनर्नास्त्यपरिपूर्णेऽनुज्ञा विसर्जनस्य, न केवलमेतेषु चतुर्षु प्रकारेषु यथोक्त प्रायश्चित्तं, किं त्वाज्ञादयोऽपि दोषाः।

तथा चाह-

एक्केक्के आणादी, विराहणा होइ संजमाऽऽयाए।
अहवा कज्जे उ इमे, दंडुं जोगं विसज्जेज्जा ॥

एकैकस्मिन्प्रकारे आज्ञादय आज्ञाऽनवस्थाप्यमिथ्यात्वविराधनारूपा दोषाः, तथा ग्लानत्वे भावतो देवताछलनतो वा संयमस्यात्मनश्च विराधना भवति। अथवा इमानि वक्ष्यमाणानि ग्लानत्वादीनि कार्याणि दृष्ट्वा योगं विसर्जयेत्, नास्ति तत्र देशतः सर्वतो वा भङ्गः।

तान्येव कारणान्याह -

दट्ठु विसज्जण जोगे, गेलण्ण चए महद्धाणे।
आगाढे नवगवज्जण, निक्कारणे कारणे विगती ॥

दृष्ट्वा ग्लानमतरन्तं चयति व्रजिकायां विकृतिलाभं, तथा महामहानिन्द्रमहादीन् अध्वानं छिन्नाध्वानमुपलक्षणमेतत् अवमौदर्यं राजप्रद्विष्टं च दृष्ट्वा योगो योगस्य विसर्जनं कर्त्तव्यं, तथा आगाढे विकृतिनवकस्य वर्जनं, दशमायाः पक्वरूपाया भजना। तथा निष्कारणे योगं निक्षिप्य विकृतयो न कल्पन्ते, कारणे तु कल्पन्ते। एष द्वारगाथासंक्षेपार्थः।

संप्रत्येषा विवरीतव्या, तत्र प्रथमं ग्लानमधिकृत्याह -

जोगो गेलण्णम्मि य, आगाढियरे य होति चउभंगो।
पढमो उभयागाढो, बितिओ तइओ य एक्केणं ॥

योगे ग्लानत्वे च प्रत्येकमागाढेनाभवति चतुर्भङ्गी, गाथायां पुंस्त्वनिर्देशः प्राकृतत्वात्। सा चैवम्-आगाढो योग आगाढं ग्लानत्वम् १, आगाढो योगोऽनागाढं ग्लानत्वम् २, अनागाढो योग आगाढं ग्लानत्वम् ३, अनागाढो योगोऽनागाढं ग्लानत्वम् ४। तथा चाह-प्रथमे भङ्गे उभयागाढ उभयमागाढं यस्मिन् स तथा। द्वितीय आगाढ आगाढयोगेन। तृतीय आगाढ आगाढग्लानत्वेनेत्यर्थः। चतुर्थ उभयस्याप्यागाढस्याभावे॥

तत्र प्रथमभङ्गमधिकृत्याह -

उभयम्मि वि आगाढे, दद्धे पक्कएहि तिण्णि दिणे।
मक्खंते अठायंते, पच्चंते घरे दिणा तिन्नि ॥

उभयस्मिन्नपि योगे ग्लानत्वे चागाढे तं प्रतिपन्नागाढग्लानं दग्धेन पक्वेन वा तैलेन। यदि वा-पक्वेन शतपाकादिना तैलेन त्रीणि दिनानि म्रक्षयन्ति तथाऽप्यतिष्ठति ग्लानत्वे यत्र पच्यते पक्वान्नं तत्र त्रीणि दिनानि यावत् नीत्वा पर्यन्ते म्रियते, येन तद्गन्धपुद्गलाघ्राणत आप्यायितो भवति।

जत्तियमेत्ते दिवसे, विगइं सेवइ न उद्दिसे तेसु।
तह वि य अठायमाणे, निक्खिवणं सव्वहा जोगे ॥

यावन्मात्रां विकृतिमुक्तप्रकारेण सेवते तेषु तावन्मात्रेषु दिवसेषु सूत्रं नोद्दिशेत् तथापि च दिनत्रय पर्यन्त धारणेनाप्यतिष्ठत्यनिवर्तमाने ग्लानत्वे सर्वथा प्रायोग्यस्य निक्षेपणं कर्त्तव्यम्।

जइ निक्खिप्पइ दिवसे, भूमीए तत्तिए उपरि वड्ढे।
अपरिमियं उद्देसो, भूमीएँ ततो परं कमसो ॥

यदि यावत्प्रमाणान् मत्वा योगो निक्षिप्यते तावन्मात्रान् दिवसान् भूमेः स्वाध्यायभूमेरुपरि वर्द्धयेत्। किमुक्तं भवति ? यावति पठिते स्थितः स्वाध्यायः स्वाध्यायभूमिसूत्रं यावतो दिवसान् चेद्धो योगो निक्षिप्यते तावतो दिवसान् भूयोऽपि योगमुत्क्षिप्य योगोद्वहनेन स्वाध्यायभूमेरुपर्यवमेवातिवाहयेत्। अथ यस्मिन् दिने योगः प्रथममुत्क्षिप्तस्तस्य विस्मृतेर्दिवसपरिमाणं प्रतिनियतं कर्त्तुं न शक्यते, तत आह-परिमितं यदि दिवसपरिमाणं तत उद्देशो ग्राह्यः, स स्वाध्यायभूमेरुपर्येव योगवहनेनातिबाह्यते तावन्मात्रदिवसातिवाहनतः, परं क्रमशः, सूत्रपाठानुसारेण वहेत्। गतः प्रथमभङ्गः।

संप्रति द्वितीयभङ्गमधिकृत्याह-

गेलण्णमणागाढे, रसवति नेहोव्वरे असति पक्का।
तह वि य अठायमाणे, आगाढतरं तु निक्खिवणा ॥

ग्लानत्वे अनागाढे रसवत्यां शालनकादौ यः स्नेह उद्धरितः स म्रक्षणाय प्रदीयते, तथाप्यसत्यतिष्ठति ग्लानत्वे यानि शतपाकादिना पक्वानि घृततैलानि तानि म्रक्षणाय दातव्यानि, तथाऽप्यतिष्ठति ग्लानत्वे ग्लानमागाढतरं ज्ञात्वा योगस्य सर्वथा निक्षेपणं कर्तव्यम्। गतो द्वितीयो भङ्गः।

संप्रति तृतीयमाह-

तिण्णि तिगेगंतरिए, गेलण्णागाढ निक्खिण परेणं।
तिण्णि तिगा अंतरिया, चउत्थ भंगे य निक्खिवणा।

अनागाढे योगे ग्लानत्वे त्रीन् दिवसानां त्रिकान् एकान्तरिकान् कारयेत्, तथाप्यतिष्ठति ततः परेण योगस्य निक्षेपः कर्त्तव्यः। इयमत्र भावना-एकस्मिन् दिवसे विकृतिग्रहणाय कायोत्सर्गः।

कृतो द्वितीयेऽपि दिवसे पुनः कृतः कायोत्सर्गः, एवं तृतीयेऽपि। चतुर्थे दिवसे कृतं निर्विकृतिकम्। पुनः पञ्चमषष्ठसप्तमेषु कायोत्सर्गः ततो भूयोऽष्टमे दिवसे निर्विकृतिकं, नवमे दिवसे कायोत्सर्गः, एवं कृतेऽपि यदि न सिथतं ग्लानत्वं, ततो दशमे दिवसे योगनिक्षेपः। गतस्तृतीयोऽपि भङ्गः।

संप्रति चतुर्थमाह-

"तिण्णि तिगा" इत्यादि। त्रयस्त्रिका न दिवसा इत्यर्थः। अन्तरिता एकान्तरिताश्चतुर्थे भङ्गे कर्तव्याः, तथाप्यतिष्ठति ग्लानत्वे योगस्य निक्षेपणम्। अत्रापीयं भावना-एकस्मिन् दिवसे कायोत्सर्गो, द्वितीयदिवसे निर्विकृतिकं, तृतीयदिवसे कायोत्सर्गः, चतुर्थे निर्विकृतिकम्। एवमेकान्तरिते कायोत्सर्गनिर्विकृतिकेन नव दिवसान् यावत्कारयेत्तथाप्यतिष्ठति ग्लानत्वे दशमे दिवसे योगो निक्षिप्यते, तत्रापि प्रतिदिवसं ग्लानप्रायोग्यस्यालाभे तत्परिवासयितव्यं भवति तत्रापि योगो निक्षिप्यते। अथ कदाचित् क्षीरदिभिर्ग्लानस्य प्रयोजनमजायत तदा स्वग्रामे तन्मार्गायितव्यम्, असति स्वक्षेत्रे परग्रामादप्यानेतव्यं, तथाऽप्यसति क्षेत्राद् बहिरपि गत्वा समानेतव्यम्। अथ कदाचित्तत्राप्यलाभस्तर्हि व्रजिकामपि ग्लानं गमयेत्, पतितं द्वितीयं व्रजिकाद्वारम्।

तत्रेयं यतना -

वइया अजोगि जोगी, व अदढ अतरंतगस्स दिज्जंते।
निव्विगियं आहारो, अंतर विगतीऍ निक्खिवणं॥

व्रजिकाया गोकुले गन्तुकामस्य (अतरंतगस्स त्ति) ग्लानस्य वा ग्लानत्वेन विना दुर्बलस्य द्वितीया दीयन्ते अयोगवाहिनः, तदभावे योगवाहिनो वा, तत्राहारो निर्विकृतिकमन्तरा च कायोत्सर्गतः। अथ लभ्यते प्रतिदिवसं विकृतिस्तदा योगस्य निक्षेपणम्। अत्रेयं भावना-ग्लानस्य दृढस्य वा व्रजिकागन्तुकस्य द्वितीया दीयन्ते अयोगवाहिनः अथ ते न सन्ति तदा अनागाढयोगवाहिनो दातव्याः, तत्र गता विकृतीः परिहरन्ति निर्वृकृतिकमाहारमाहारयन्ति। अथ न लभ्यते दिनेदिने निर्विकृतिकं तदाऽन्तराऽन्तरा विकृतिग्रहणाय कायोत्सर्गं कुर्वन्ति। अथ दिने दिने विकृतिरेव प्रायो लभ्यते नान्यत्तदा योगस्तेषां निक्षिप्यते।

संप्रति निर्विकृतिकमाहारमहारयतां विधिमाह -

आयंविलस्सऽलंभं, चउत्थमेगंगियं च तक्कादी।
असतेयरमागाढे, निक्खेवणुद्देस तहि चेव॥

यद्याचाम्लके आचाम्लप्रायोग्यं न लभ्यते तदा चतुर्थमभक्तार्थं कुर्वन्ति। अथ न शक्नुवन्त्यभक्तार्थं कर्तुं तदा एकाङ्गिकं तक्रहारयन्ति, तक्रमाचामाम्लं कुर्वन्तीत्यर्थः। आदिशब्दात् एकाङ्गिकंकाष्ठमूलमाहारयन्तीति द्रष्टव्यम्। अथ न सन्त्यनागाढयोगवाहिनो द्वितीयास्तत इतरे आगाढयोगवाहिनो द्वितीया दीयन्ते, तत्र यदि तेषां प्रायोग्यं लभ्यते ततः सुन्दरम्, अथ न लभ्यते केवलं तत्र क्षीरादीनि लभ्यन्ते तदा योगो निक्षिप्यते, निक्षेपान्तरं च पुनरुद्देशस्तथैव यथाऽधस्ताद्गणितम्।

जति निक्खिवप्पइ दिवसे, भूमीए तत्तिए उवरिवट्टे।
अपरिमियं तुद्देसो, भूमीए तउ परं कमसो॥

गतं व्रजिकाद्वारम्।

इदानीं महामहद्वारमाह -

सक्कमहादीसुं वा, पमत्त मा णं सुरा छले ठवणा।
पिण्णिज्जंतु व अदढा, इतरे न दिसंति न पढंति॥

महामहाः शक्रमहादयः, आदिशब्दात्सुग्रीष्मकमहादिपरिग्रहः। तेषु (ठवण त्ति) अनागाढयोगप्रतिपन्नाः, तेषां योगो निक्षिप्यते, किं कारणमिति चेत् ? अत आह-मा तं प्रथमतः सन्तं काचित् मिथ्यादृष्टिर्देवता छलयेत्। अन्यच्च तेषु दिवसेषु विकृतयो लभ्यन्ते, ततो ये अदृढा दुर्बलाः सन्ति तैर्विकृतिपरिभोगत आप्यायन्तामिति योगनिक्षेपणम्, ये पुनरितरे आगाढयोगवाहिनस्तेषां योगो न निक्षिप्यते, केवलमन्यत् नो दिशन्ति नापि पठन्ति। गतं महामहद्वारम्।

इदानीमध्याऽऽवमराजद्विष्टलक्षणं द्वारत्रयमाह -

अद्धाणे जोगीणं, एसियं तु सेसगाण पणगादी।
असतीऍ अणागाढे, निक्खिवमच्चासती इयरे॥

अध्वनि ग्रामानुग्रामिके योगं वहति, अथ छिन्नाध्वकं तदा यत एषितं, प्रासुकमित्यर्थः। ततो योगिनां योगवाहिनां दीयते, शेषाणां पञ्चकादि दातव्यम्। किमुक्तं भवति-शेषाः पञ्चकपरिहाण्या पञ्चकादिषुयतन्ते। अथ सर्वे योगवाहिनो न संस्तरन्ति ते प्रासुकेन, तत आह-असति सर्वेषां तेषां योगवाहिनां प्रासुके अनागाढे योगवाहिनां योगस्य निक्षेपः करणीयः। अथ सर्वथा तच्च प्रासुकं न लभ्यते। तत आह-सर्वेषां प्रासुकस्यासत्यभावे इतरेऽप्यागाढयोगवाहिनो निक्षिप्यन्ते। एवमवमौदर्यराजद्विष्टेऽपि च भावनीयम्।

साम्प्रतमागाढे नवकवर्जनमिति व्याख्यानार्थमाह -

आगाढम्मि उ जोगे, विगतीउ नव विवज्जणीओ व।
दसमाऍ होइ भयणा, सेसग भयणा वि इयरम्मि॥

आगाढयोगे पक्कविकृतिव्यतिरेकेण शेषा नवापि विकृतयो विवर्जनीयाः, दशम्याः पुनः पक्षविकृतेर्भवति भजना विकल्पना आगाढं ग्लानत्वमधिकृत्य पूर्वप्रकारेण तस्याः सेवना भवति, शेषकालं नेति भावः। इतरस्मिन्नागाढयोगे शेषकाणमपि क्षीरादीनां विकृतीनां भजना विकल्पना, आगाढग्लानस्यानागाढग्लानस्य चेतरा विकृतिग्रहणाय कार्योत्सर्गस्याधिकरणाभ्यनुयाज्ञानात्।

संप्रति "निक्कारणे कारणे विगती" इति व्याख्यानयति -

निक्कारणे न कप्पंति, विगतीतो जोगवाहिणो।
कप्पंति कारणे भोत्तुं, अणुण्णाया गुरूहिं उ॥

योगवाहिन आगाढयोगवाहिनो वा निष्कारणे ग्लानत्वादिकारणाभावे विकृतय : पूर्वप्रकारेण भोक्तुं न कल्पन्ते, कारणे पुनरनुज्ञाता गुरुभिर्भोक्तुं कल्पन्ते, नवकारणे योगनिक्षेपेऽपि दोषः।

तथा चाह-

विगतीकएण जोगं, निक्खिवए दढदुव्वले।
से भावतो अनिक्खित्ते, निक्खित्ते वि य तम्मि उ॥

यः संहननेन दृढोऽपि सन् शरीरेण दुर्बल इति कृत्वा विकृतिकृतेन विकृतिपरिभोगाय योगं निक्षिपति। 'से तस्य निक्षिप्तेऽपि तस्मिन् योगे भावतः स योगोऽनिक्षिप्त एव, गुर्वाज्ञया निक्षेपणात्।

विगतीकएण जो जोगं, निक्खिवे अदढे वले।

से भावतो अनिक्खित्ते, उववाएण गुरूण उ ॥

यो बलो बलवानपि संहननेनादृढ इति कृत्वा विकृतिकृतेन योगं निक्षिपति स योगस्तस्य भावतोऽनिक्षिप्त एव। कुत इत्याह-गुरूणामुपपातेन आज्ञया "उववातो निद्देसो, आणा विणओ य होंति एगट्ठा" इति वचनात् निक्षेपणादिति वाक्यशेषः। न च तथा योगनिक्षेपणे योगस्य सर्वथा भङ्गः।

यत आह-

सालंवो विगतिं जो उ, आपुच्छित्ताण सेवए।
स जोगे देसभंगो उ, सव्वभंगो विपज्जए ॥

सालम्बो विकृतिभिः प्राणितः सन् क्षिप्रं ज्ञानादि ग्रहीष्यामीत्यालम्बनसहितो यो गुरुमापृच्छ्य विकृतीः सेवते परिभुङ्क्ते, स योगे योगस्य देशभङ्गो भवति, न सर्वभङ्गः, विपर्यये आलम्बनाभावे गुर्वनापृच्छायां च सर्वभङ्गः।

अथ साक्षाद्योगं निक्षिपति न च सर्वभङ्ग इति का वाचोयुक्तिः ? आह-

जह कारणे असुद्धं, भुंजंतो न उ असंजतो होइ।
तह कारणम्मि जोगं, न खलु अजोगी ठवेंतो वि ॥

यथा कारणे छिन्नाध्वकादावशुद्धमपि भुञ्जानो न तु नैवासंयतो भवति, तथा कारणे दुर्बलत्वादिलक्षणे सति योगं स्थापयन्नपि खलु नैवायोगी भवति ततो न सर्वभङ्गः।

अण्णो इमो पगारो, पडिच्छयस्स उ अहिज्जमाणस्स।
मायानियमीजुत्ते, ववहारो सचित्तमादिम्मि ॥

प्रतीच्छकस्याधीयानस्यायं वक्ष्यमाणः प्रकारः। तमेवोपदर्शयति-सचित्तादिके सचित्तादिकविषये यो मायानिकृतियुक्तो माया वञ्चनाऽभिप्रायो निकृतिस्तदनुरूपं बहिराकाराच्छादनं ताभ्यां युक्तस्तस्मिन् व्यवहार आभवद्व्यवहारः प्रायश्चित्तव्यवहारश्च भणनीयः।

तमेवाभिधित्सुराह -

उप्पण्णे उप्पण्णे, सचित्ते जो उ निक्खिवइ जोगं।
सव्वेसि गुरुकुलाणं, उवसंपज्ज लोविया तेण ॥

उत्पन्ने उत्पन्ने सचित्ते, उपलक्षणमेतदचित्ते वा, यो योगं निक्षिपति। किमुक्तं भवति-यदा यदा तस्य सचित्तादिकमुत्पन्नं भवति तदा तदा गुरुं विज्ञपयति-अस्ति किञ्चित्प्रयोजनं साधयितव्यमतो निक्षिपामि योगमिति, एवं मायाबहुलतया योगं निक्षिपति। तेन पापीयसा सर्वेषां गुरुकुलानां श्रुतोपसंपल्लोपिता।

वहिया य अणापुच्छा, विहीऍ आपुच्छणाऍ मायाए।
गुरुवयणे पच्छक्कमो, अब्भुवगमे तस्स इच्छाए ॥

बहिरुद्भ्रामकभिक्षाचर्या गतो, यत् सचित्तादिकमुत्पन्नं, यस्य सकाशेऽधीते तमनापृच्छ्य निजाचार्याणां प्रेषयति, तेनापि सर्वगुरुकुलानां श्रुतोपसंपन्नोऽपि "विहीए आपुच्छणाए मायाए" इति यदा सचित्तादिकमुत्पन्नं तदैतच्चिन्तयति-मा ममैतद् गुरवो हरिष्यन्ति ततो मायाया विधिना गुरूनापृच्छति-स्वजनवर्गं वन्दापयितुं व्रजामि, तेनापि सर्वगुरुकुलानां श्रुतोपसंपल्लोपिता, अमीषां च त्रयाणामपि मायानिष्पन्नं प्रायश्चित्तं मासगुरु, सचित्तविषयं जघन्यमध्यमोत्कृष्टोपधिनिष्पन्नं (गुरुवयणे पच्छकडो त्ति) ये त्रिभिः प्रकारैरपहृताः शिष्यास्ते कदाचित्स्नानादिषु समवसरणादौ मिलन्ति गुरुणा च पृष्टाः सन्तो यथावन्निवेदयन्ति, ततो व्यवहारे जाते स आचार्यवचनेन पश्चात् क्रियते पराजीयते, तस्य सत्कं सर्वमाचार्यस्याऽऽ-भवतीत्यर्थः (अब्भुवगमे तस्स इच्छाए त्ति) यदि पुनस्तेन पराजितेनाभ्युगतः क्रियते यथा न सर्वं मया सुन्दरं कृतं मिथ्या दुष्कृतं ममेति तदा तस्यैवमभ्युपगमे इच्छया करोतु मा वा तदुत्पादितस चित्ताद्यपहरणमिति।

साम्प्रतमेतदेव गाथाद्वयोक्त व्याख्यानयति -

अहिज्जमाणे सचित्तं, उप्पण्णं तु जया भवे।
जोगो निक्खिखप्प तं भंते !, कज्जं मे किंचि वेति उ ॥

अधीयाने अधीयानस्य सतो यदा यदा सचित्तमुत्पन्नं भवति तदा तदा गुरुसमीपं गत्वा ब्रूते-भदन्त ! मम किञ्चित्कार्यं योजनमस्ति भोः ! निक्षिप्यतां योग इति।

अधुना "वहिया य अणापुच्छा" इति व्याख्यानायाह -

वहिया य अणापुच्छा, उब्भामे लभिय सेहमादिं तु।
नेइ सयं पेसति वा, आसन्नठियाण उ गुरूणं ॥

बहिरुद्भ्रामे उद्भ्रामकभिक्षायां गतः शैक्षकादि लब्ध्या यस्य सकोशेऽधीते तमनापृच्छ्य आसन्नस्थितानामनन्तरक्षेत्र-स्थितानां गुरूणां निजाचार्याणां स्वयं नयति, अन्यैर्वा स्वगुरुकुलसत्कैः प्रेषयन्ति।

"विहीऍ आपुच्छणाऍ मायाए" इति व्याख्यानार्थमाह-

अहवुप्पण्णे सचित्ते, मा मेतं वा गुरूहिं अच्छित्ती।
मायाए आपुच्छइ, नायविहिं गंतुमिच्छामि ॥

अथवेति मायायाः प्रकारान्तरोपदर्शने, उत्पन्ने सचित्तादिके चिन्तयति-मा ममेदं सचित्तादिकमुत्पन्नमेतैर्गुरुभिः (अच्छित्ती इति) अपह्रियतामिति मायया आपृच्छति-ज्ञातिविधिं स्वजनवर्गं वन्दापयितुं गन्तुमिच्छामि।

पच्चावेउं तहियं, नालमनाले य पत्थवे गुरुणो।
आगंतुं च निवेयण लद्धं मे नालवद्धं ति ॥

तत्र गत्वा नालबद्धान् नालसंबद्धान् अनालबद्धान् वा प्रव्राज्य गुरोः स्वचार्यस्य प्रेषयति। प्रेष्य च पुनरध्यायपितुः समीपे समागच्छति, समागत्य च निवेदयति-यथा मया लब्धा नालबद्धा इति तत्र प्रेषिताः ॥

ण्हाणादिसु इहरा वा, दट्ठुं पुच्छा कयासि पव्वइआ।
अमुएण अमुयकाले, इह पेसविया निया वा वि ॥

ये ते त्रिभिः प्रकारैरपहृताः शिष्यास्तान् जिनस्नानादिषु समवसरणे इतरथा वा अन्यत्र वा मिलित्वा दृष्ट्वा आचार्येण पृच्छा-यथा कदा कथं वा प्रव्रजिता अभवन्। ततस्ते तत् क्षेत्रं च कालं च पुरुषं कथयन्ति-यथा अमुकेनामुके काले इह अस्मिन् क्षेत्रे प्रव्राजितास्तथा एवमन्यैः सह प्रेषिताः, स्वयं वा तत्र नीताः, एवं निवेदिते व्यवहारो जातः, तस्मिंश्च व्यवहारे स पराजितः।

तत आचार्येण यत्कर्त्तव्यं तदाह-

सो उ पसंगणवत्था-निवारणट्ठाएँ मा हु अण्णो वि।
काहिति एवं होउं, गुरुयं आरावेणं देइ ॥

स आचार्यो मा एवं भूत्वा अन्योऽप्येवं कार्षीदिति प्रसङ्गानवस्थानिवारणार्थं गुरुकभारोपणं मासगुरुप्रभृतिकं पूर्वोक्तं ददाति।

अधुना "अब्भुवगमें तस्स इच्छाए" इति-

व्याख्यानयति -

अब्भुवगयस्स सम्मं, तस्स उ पणिवइयवच्छलो कोइ।
वियरति ते चिय सेहे, एमेव य वत्थपत्तादी ॥

सत्यं मयाऽसुन्दरं कृतं तस्मान्मिथ्या मे दुष्कृतमिति सम्यगभ्युपगतस्य प्रतिपन्नस्य तस्य कोऽप्याचार्यः प्रणिपतितवत्सलो ये शैक्षास्तेन दीक्षितास्तानेव वितरिति प्रयच्छति, एवमेव वस्त्रपात्रादिकमपि तदुत्पादितं तस्यैव प्रयच्छति।

उपसंहारमाह-

एवं तु अहिज्जंते, ववहारो अभिहितो समासेण।
अभिधारंते इणमो, ववहारविहिं पवक्खामि ॥

एवमनेन प्रकारेण, तुर्भिन्नक्रमः, स चाग्रे योक्ष्यते, अधीयाने व्यवहारः समासेन संक्षेपेणाभिहितः। इमं पुनर्व्यवहारविधिमभिधारयति प्रवक्ष्यामि।

प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति -

जं होति नालबद्धं, घाडियनाती व जो व तह लंभो।
एहिंति विमग्गंतो, चिंधं सेसेसु आयरिओ ॥
वल्ली संतरणंतर, अणंतरा छज्जणा इमे हंति।
माया पिया य भाया, भगिणी पुत्तो य धूया य ॥

यद्भवति नालबद्धं, वल्लीबद्धमित्यर्थः। सा च वल्ली द्विधा-अनन्तरा, सान्तरा च। तत्रानन्तरा इमे षड्जनाः। तद्यथा-माता पिता भ्राता भगिनी पुत्रो दुहिता च। सान्तरा पुनरियम्- मातुर्माता १ पिता २ भ्राता ३ भगिनी च ४, तथा पितुः पिता १ माता २ भ्राता ३ भगिनी च ४, तथा भ्रातुरपत्यं भ्रात्रिव्यो, भ्रात्रिव्या वा, भगिन्या वा अपत्यं भागिनेयो भागिनेयी वा, पुत्रस्यापत्यं पौत्रः, पौत्री वा, दुहितुरपत्यं दौहित्रो, दौहित्री वा। उक्तं च- "माउम्माया य पिया, भाया भगिणिएँ य एव पिउणो वि। भाउभगिणीणऽवच्चा, धूयापुत्ताण वि तहेव ॥" परम्परवल्लिका एषा। अन्ये तवाहुःप्रपौत्रपौत्री इत्यादिरपि परम्परवल्ली यावत्स्वाजन्यस्वीकारः। (घाडियनाती व त्ति) यो वा घटितज्ञातिः, दृष्टाभिलषित इत्यर्थः। या वा तत्र नालबद्धे घडितज्ञातौ वा लाभः। एतेनैते अनन्तरोदिताश्चिह्नं विमार्गयन्तः सन्तोऽभिधारयन्ति। अभिधारयत आभाव्या भवन्ति, शेषेषु पु नरनभिधारयत्स्वाचार्यः श्रुतगुरुस्वामी भवति, शेषा अनभिधारयन्तः श्रुतगुरोराभाव्या भवन्ति इत्यर्थः। उक्तं च-"जइ ते अभिधारंती, पडिच्छते वा पडिच्छगस्सेव। अह नो अभिधारंती, सुयगुरुणो तो उ आभव्वा ॥" इयमत्र भावना-ये नालबद्धा एव घटितज्ञातयो, ये वा ते दीक्षितास्तैः सह संकेतः पूर्वं कृतो, यथा-यूयममुकस्याचार्यस्य पार्श्वे व्रजताऽहं पुनरागमिष्यामि, एवं संकेतं कृत्वा ते पूर्वमुपस्थापितास्ते चाभिधारयन्तो वर्तन्ते-यथाऽमुकोऽमुककाले समागमिष्यति, सोऽपि च पञ्चादागतः सन् तथैव निवेदयति। चिह्नान्यपि च सर्वाण्यपि मिलन्ति, तदा पूर्वमुपस्थापितस्य सर्वे। उक्तं च-"संगारो पुव्वकतो, पच्छा पाडिच्छओ उ सो जातो। तेणं निवेदयव्वं, उवट्ठिया पुव्वसेहा से ॥" यदि पुनः कालतश्चिह्नैश्च विसंवादस्तदा गुरोराभाव्या इति।

एतदेव व्याख्यानयन्नाह -

उवसंपज्जए जत्थ, तत्थ पुच्छा भणाति तु।
वयं चिंधेहिँ संगार, वण्ण सीए यऽणंतगं ॥

यत्रोपसंपद्यते स पश्चात्तत्र तैः पृच्छ्यते-केन कारणेन त्वमागतोऽसि ? स प्राह-सूत्रार्थानामर्थायोपसंपत्तुमेवमुक्त्वा तेन सद्भावः कथनीयो यथा उपसंपद्ये इति। परिणामात्पूर्वकालमपि युष्माकं पार्श्वे ये नालबद्धा घटितज्ञातयस्ते दीक्षिता वा पूर्वमुपस्थितास्तेषां मया संकेतः कृतो यथाऽहं पश्चात् शीते शीतकाले, चशब्दादन्यस्मिन्वा काले उपसंपत्स्ये, तेषां चैतावद्वय एवंभूतस्य शरीरस्य वर्णः, इत्थंभूतं च शीतकालप्रायोग्यमनन्तकं वस्त्रमेवं वयसा चिह्नैश्च संकेतं स्पष्टयति। उक्तंच-"एवइएहि दिणेहिं, तुब्भ सगासं अवस्स एहामो ॥ संगारो एव कतो, चिंधाणि य तेसिं चिंधेइ ॥"

अत्राभाव्यविधिमाह -

नालबद्धा उ लब्भंते, जया तमभिधारए।
जे यावि चिंधकालेहिं, संवयंति उ घट्टिया ॥

यदा तमुपसंपत्स्यमानमभिधारयन्ति नालबद्धाः पूर्वोपस्थिता यथा सोऽत्र सत्वरमुपसंपत्स्यते, तदा ते नालबद्धास्तेन लभ्यन्ते, ये चाऽपि घटितज्ञातयो नालबद्धादिदीक्षिताः चिह्नैः कालेन च, तेऽपि तस्याभवन्ति, विसंवदन्तस्तु गुरोः, अथ चिह्नैः संवादोऽस्ति न कालतः। तथाहि-यस्मिन्काले पूर्वमुपस्थिताः कथिता न ते तस्मिन् काले आयाताः किन्तु कालान्तरे, सोऽपि च संकेतदिवसे नायातस्ततः स ते वा पृच्छ्यन्ते, तत्र यदि केनाऽपि कारणेन ग्लानत्वादिना स ते वा नायातास्तदाऽस्ति तत्त्वतः कालसंवाद इति ते तस्याभाव्याः।

एतेदेवाह-

अण्णकाले वि आयाया, कारणेण उ केण वि।
ते वि तस्साभवंति उ, विवरीयायरियस्स उ ॥

ये कारणेन ग्लानत्वादिना केनचित्पूर्वमुपस्थिता अन्यकालेऽपि यस्तेनोपसंपद्यमानेन कालो निर्दिष्टस्तस्मादन्यस्मिन्नपि काले आयातास्तेऽपि तस्याभवन्ति। विपरीतास्तु कारणमन्तरेण कालविसंवादिन आचार्यस्याभाव्याः। उपलक्षणमेतत्- सोऽपि यदि कारणेन विनिर्दिष्टकालादन्यस्मिन्काले समायातस्तथापि तस्याभवन्ति, विपरीतास्तु कारणमन्तरेणोपसंपद्यमानकाल-विसंवादभाज आचार्यस्याभाव्याः।

विप्परिणयम्मि भावे, जइ भावो सिं पुणो वि उप्पण्णो।
ते होंताऽऽयरियस्स उ, अहिज्जमाणे य जो लाभो ॥

संकेतकरणादनन्तरं यदि तेषां पूर्वमुपस्थितानां भावो विपरिणतो यथा नामाऽमुकस्य पार्श्वे उपसंपत्तव्यं, तस्मिन्विपरिणते

भावे पश्चात् पुनरपि केनापि कारणेन उपसंपद्यमानस्याभिप्राय उत्पन्नस्तदा ते पूर्वमुपस्थिता भवन्त्याचार्यस्य, अधीयानेषु तेषु, गाथायामेकवचनं प्राकृतत्वात् "प्राकृते हि वचनव्यत्ययोऽप्यस्ति," यो लाभः सोऽप्याचार्यस्य, उपलक्षणत्वादेतदपि द्रष्टव्यम्- संकेतकरणदूर्द्धं यदि तस्य पश्चादुपसंपद्यमानस्य भावो विपरिणतः पश्चात्पुनरपि कालान्तरेण जातस्तदा ते पूर्वोपस्थिता गुरोराभाव्याः यश्च तेषां लाभः सोऽपि गुरोः। तथा च पश्चादुपसंपद्यमानमधिकृत्य पञ्चकल्पेऽभिहितम्-

"कालेण य चिंधेहि य, अविसंवादीहिँ तस्स गुरुणिहरा।
कालम्मि विसंवदिए, पुच्छिज्जइ किं नु आतो सि।
संगारयदिवसेहिं, जइ गेलण्णादिदीवए तो उ।
तस्स च ऊ अह भावो, विपरिणतो पच्छ पुण जातो॥
तो होइ गुरुस्सेव उ, एवं सुयसंपदाए उ।
जे यावि वत्थपायादी-चिंधेहिं संवयंति उ॥
आभवंति उ ते तस्सा, विवरीयाऽऽयरियस्स उ॥"

यान्यपि च वस्त्रपात्रादीनि चिह्नैः संवदन्ति, यथा-अमुकस्य पार्श्वेऽमुकस्येदृशाकृति वस्त्रं पात्रं यावदभून्मदीयमित्यादि, तान्यपि, गाथायां पुंस्त्वं प्राकृतत्वात्, तस्याभवन्ति, विपरीतानि तु चिह्नविसंवादभाञ्जि आचार्यस्य।

आभवंताहिगारे उ, वट्टंते तत्पसंगया।
आभवंता इमे अण्णे, सुहसीलादि आहिआ॥

आभवदधिकारो वर्तमाने तत्प्रसङ्गादाभवदधिकारप्रसङ्गादिमे वक्ष्यमाणा अन्ये आभवन्तः सुखशीलादयः सुखशीलादिप्रयुक्ता आख्याताः।

तानेव द्वारगाथया संगृह्णान आह -

सुहसीलऽणुकंपाऽऽय-ट्ठिए य संबंधि खमग गेलण्णे।
सचित्ते-ससिहाओ, पकड्ढए धारएँ दिसाउ॥

सुखशीलेन, भावप्रधानोऽयं निर्देशः, सुखशीलतया, अनुकम्पया, आत्मस्थितस्य संबन्धिनः स्वज्ञातेः, क्षपकस्य ग्लानस्य वा ये प्रेषिताश्च सचित्तेष्वशिखाकोऽन्यस्य प्रेषित एतान् स्वकुलसंबन्धी स्वगणसंबन्धी वा प्रकर्षयति, आकर्षयतीत्यर्थः, धारयति च दिशात आत्मीये इत्येष द्वारगाथासंक्षेपार्थः।

साम्प्रतमेनामेव विवरीषुः प्रथमतः सुखशीलद्वारमाह-

सुहसीलयाएँ पेसे-इ कोइ दुक्खं खु सारवेउं जो।
देइ व आयट्ठीणं, सुहसीलो दुट्ठसीलो त्ति॥

दुःखं खलु साधून् सारयितुमिति मन्यमानः कोऽपि सुखशीलतया कमपि साधुमन्यस्य प्रेषयति। यदि वा-कोऽपि सुखशील आत्माश्रितानां दुष्टशीलोऽयमिति प्रकाश्य ददाति।

तणुगं पि नेच्छए दुक्खं, सुहमाकंखए सया।
सुहसीलतए वावी, सायागारवनिस्सितो॥

तनुकमपि स्तोकमपि नेच्छत्यात्मनो दुःखं, किं तु केवलं सदा सुखमाकाङ्क्षति। ततः सुखशीलतया सातगौरवनिश्रितः स्वयं साधुना दत्ते सर्वे ते भवन्त्याचार्यस्याभाव्याः। गतं सुखशीलद्वारम्।

साम्प्रतमनुकम्पाद्वारमाह -

एमेव य असहाय-स्स देति कोइ अणुकंपयाए उ।
नेच्छइ परमायट्ठी, गच्छा निग्गंतुकामो वा॥
पेसेइ सो उ अन्नत्थ, सिणेहा नायगस्स वा।
खमए वेज्जवच्चट्ठा, देज्ज ता तहि कोइ तु॥

स्वसंविधत्वादिकारणव्यतिरेकेणापि, असहायस्य सतः कोप्यनुकम्पया ददाति। गतमनुकम्पाद्वारम्। आत्मस्थितद्वारमाह-आत्मार्थी आत्माश्रितार्थी सन् परं नेच्छति, ततः कमप्यास्थितं करोति। यदि वा-गच्छान्निर्गन्तुकामः स आत्मार्थी अन्यत्र यस्य यास्यति तत्र कमपि साधुं प्रेषयति। गतमास्थितद्वारम्। संबन्धिद्वारमाह-स्नेहात् ज्ञातस्य वा स्वजनस्य वा सोऽन्यत्र प्रेषयति। क्षपकद्वारमाह-तत्रान्यत्र वा प्रसिद्धे क्षपके कोऽपि वैयावृत्यार्थं कमपि साधुं दद्यात्।

संप्रति ग्लानद्वारं सशिखाकद्वारं चाह-

पेसेति गिलाणस्स व, अहव गिलाणो सयं अचायंतो।
पेसंतस्स असीहो, ससिहो पुण पेसितो जस्स॥

ग्लानस्य वा कोऽपि वैयावृत्यकरणाय प्रेषयति साधुम्। अथवा-स्वयं ग्लानः सन्नशक्नुवन् करोति। सर्वेऽप्येते आचार्यस्याभाव्याः। तथा यदि सशिखाकः परस्मै प्रेष्यते तर्हि स यस्य प्रेषितस्तस्यैवाभवति। अथाशिखाकः परस्मै प्रेषितस्तर्हि प्रेषवितुरेवाभाव्यो, न परस्य। तथा चाह-"पेसंतस्स असीहो, ससिहो पुण पेसितो जस्स"।

अत्र परः प्रश्नमाह-

चोदेती कप्पम्मी, पुव्वं भणियं च होति पेसितो जस्स।
ससिहो वा असिहो वा, असंथरे सो उ तस्सेव॥

चोदयति प्रश्नं करोति-ननु पूर्वं कल्पे भणितं यस्य सशिखो वा अशिखो वा प्रेषितः स तस्यैवासंस्तरे असंस्तरणे सति भवति। ततः कथमत्राशिखाकः प्रेषयितुराभाव्योऽभिहित इति।

अत्रोत्तरमाह-

भण्णइ पुव्वुत्तातो, पच्छा वुत्तो विही भवे वलवं।
कामं कप्पेऽभिहियं, इह असिहं दाउ न लभति तु॥

भण्यते अत्रोत्तरं दीयते-पूर्वोक्ताद् विधेः पश्चादुक्तो विधिर्बलवान् भवति, ततो यद्यपि कामं कल्पेऽभिहितं तथापीहाशिखं दातुं न लभते।

अन्यच्च -

संविग्गाण विही एसो, असंविग्गे न दिज्जए।
कुलिच्चो वा गणिच्चो वा, दिण्णं पी तं तु कड्ढए॥

एष दानविधिः संविग्नानां भणितः। असंविग्नस्य पुनः सर्वथा न दीयते न दातव्यः। अथ कथमपि केनापि दत्तो भवति तर्हि तं दत्तमपि कुलसत्को वा गणसत्को वा कर्षयति।

खेत्ताती आउरे भीते, अदिसत्थी व जं दए।
सचित्तादि कुलादी तु, भुज्जो तं परिकड्ढए॥

क्षिप्तादिः, आदिशब्दात् दृप्तयक्षाविष्टादिपरिग्रहः, आतुरो मरणचिह्नान्युपलभ्यात्याकुलो, भीतः किमपि मे राजप्रद्विष्टादिकं करिष्यति न विद्म इति भयाकुलो, अतिगीतार्थो वाऽधिकृतां दिशं यद्ददाति परस्मै सचित्तादिकं तत् भूयः कुलादिः, आदिशब्दात् गणपरिग्रहः, परिकर्षयति। तदेतत्प्रतीच्छिकानधिकृत्योक्तम्।

अधुना शिष्यानधिकृत्याह -

नालवद्धे अनाले वा, सीसम्मि उ नत्थि मग्गणा।
दोक्खरखरदिट्ठंता, सव्वं आयरियस्स उ॥

शिष्ये स्वदीक्षिते अयं नालवद्धोऽनालबद्ध इति विषयविभागेन नास्ति मार्गणा, किं तु यत्ते शिष्या लभन्ते सचित्तादि, तत्सर्वमाचार्यस्याऽऽभवति। केन दृष्टान्तेनेत्याह-द्व्यक्षरखरदृष्टान्तेन, तत्र द्व्यक्षरो दासः खरो गर्दभस्तददृष्टान्तात्, दासेन मे खरः क्रीतो, दासोऽपि मे, खरोऽपि मे, इत्येवं लक्षणात्सूत्रम्। व्य०४ उ०।

चरियारय त्रि० (चर्यारत)। भिक्षारते, आचा०२ श्रु०२ अ०२ उ०।

चरु पुं० (चरु)। हव्यात्रे होमार्थं पाच्यान्ने, "अनवखाविता-नन्तरूष्मपाक ओदनश्चरुः" इति याज्ञिकाः। वाच०। स्थालीविशेषे, औ०। तत्र पच्यमानं द्रव्यमपि चरुरेव। वली, नि०३ वर्ग। आ० म०।

चल त्रि० (चल)। अस्थिरे, भ०५ श०४ उ०। स्था०। भङ्गुरे, स्था०५ ठा०३ उ०। श्लथे, स्था०४ ठा०२ उ०। नि० चू०। अनियते, विशे०। चपले, नि० चू०४ उ०। अनियतविहारिणि, आचा०१ श्रु०६ अ०५ उ०।

चलइत्ता अव्य० (चलयित्वा)। स्थानात् स्थानान्तरं नीत्वेत्यर्थे, "चलइत्ता आहरे पाणभोयणे" चलयित्वाऽऽहरेदानीय दद्यादित्यर्थः। दश०५ अ०१ उ०।

चलंत त्रि० (चलत्)। पतति, भ्रश्यति, अनु०। "चलंतघुम्मंत-जंगलसमूहं" औ०। ईषत्कम्पमाने, जं०१ वक्ष०।

चलचल पुं० (चलचल)। घृते निष्कास्यमानेषु त्रिषु घाणेषु, "ताव पढमं जं घयं खित्तं तत्थ अण्णं अपक्खिवंती आदिमे जे तिन्नि घाणा ते चलचलेति" नि० चू०४ उ०।

चलचवल त्रि० (चलचपल)। अतिशयेन चपले, "चलचवलचित्तकीडनदवप्पिया" चलचपलमतिशयेन चपलं यच्चित्रं नानाप्रकारं क्रीडनं यश्च चित्रो नानाप्रकारो द्रवः परिहासस्तौ प्रियौ येषां ते चलचपलचित्रक्रीडनद्रवप्रियाः। जी०३ प्रति०। स०।

चलचित्त त्रि० (चलचित्त)। वानरवच्चपलाभिप्राये, तं०। नि० चू०।

अथ चलचित्तद्वारमतिदेशेनैवाह -

चलचित्तो भावचलो, उस्सग्गऽववायतो तु जो पुव्विं।
भणितो सो चेव इहं, गाणंगणियं अतो वोच्छं॥

चलचित्त इह भावचलोऽपरापरशास्त्रपल्लवग्राही गृह्यते, स च उत्सर्गतोऽपवादतश्च यः पूर्वमचञ्चलद्वारे भणितः स एवेहापि भणितव्यः। बृ०१ उ०। **"रस्य लो वा"** ॥८।४।३२६॥ इति चूलिकापैशाचिकेऽपि *रस्य लः। प्रा०४ पाद।*

चलण पुं० (चरण)। **"हरिद्रादौ लः"** ॥८।१।२५४॥ इति रस्य लः। प्रा०१ पाद। जं०। औ०। ज्ञा०। व्रतश्रमणधर्मेत्यादिसप्ततिस्थानरूपे **चरणे**, प्रव०४० द्वार।

चलन न०। कर्मणः संचरणे, विशे०। "चलमाणे चलिए" इत्याद्यर्थनिर्णयार्थे चलनविषये व्याख्याप्रज्ञप्तेः प्रथमोद्देशके, भ०१ श०१ उ०। हस्तशरीरयोश्चालने, ध०३ अधि०।

चलणकम्मगइ स्त्री० (चलनकर्मगति)। चलनं स्पन्दनं, तेन कर्मगतिर्विशिष्यते। चलनाख्यायां कर्मगतौ, दश०१ अ०। ('गइ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ७७५ पृष्ठे व्याख्योक्ता)

चलणगइ स्त्री० (चलनगति)। चलिरियं परिस्पन्दने वर्तते। चलनं स्पन्दनमित्येकोऽर्थः। चलनं च तद्गतिश्च सा चलन गतिः। गमनक्रियायाम्, दश०१ अ०।

चलणमालिया स्त्री० (चरणमालिका)। पादाभरणभेदे, प्रश्न०५ सम्ब० द्वार।

चलणा स्त्री० (चलना)। स्फुटतरस्वभावायामेजनायाम्, (भ०)

कइविहा णं भंते ! चलणा पण्णत्ता ? गोयमा ! तिविहा चलणा पण्णत्ता। तं जहा-सरीरचलणा, इंदियचलणा, जोगचलणा। सरीरचलणा णं भंते ! कइविहा पण्णत्ता ? गोयमा ! पंचविहा पण्णत्ता। तं जहा-ओरालियसरीरचलणा जाव कम्मगसरीरचलणा। इंदियचलणा णं भंते ! कइविहा पण्णत्ता ? गोयमा ! पंचविहा पण्णत्ता। तं जहासोइंदियचलणा० जाव फासिंदियचलणा। जोगचलणा णं भंते ! कइविहा पण्णत्ता ? गोयमा ! तिविहा पण्णत्ता। तं जहा-मणजोगचलणा, वइजोगचलणा, कायजोगचलणा। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-ओरालियसरीरचलणा, ओरालियसरीरचलणा ? गोयमा ! जं णं जीवा ओरालियसरीरे वट्टमाण ओरालियसरीरप्पाओग्गाइं दव्वाइं ओरालियसरीरत्ताए परिणामेमाणे ओरालियसरीरचलणं चलिंसु वा, चलंति वा, चलिस्संति वा। से तेणट्ठेणं० जाव ओरालियसरीरचलणा, ओरालियसरीरचलणा। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ वेउव्वियसरीरचलणा, वेउव्वियसरीरचलणा ? एवं चेव, णवरं वेउव्वियसरीरे वट्टमाणे एवं० जाव कम्मगसरीरचलणा। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-सोइंदियचलणा, सोइंदियचलणा ? गोयमा ! जं णं जीवा सोइंदिए वट्टमाणा सोइंदियप्पाओग्गाइं दव्वाइं सोइंदियत्ताए परिणामेमाणे सोइंदियचलणं चलिंसु वा, चलिंति वा, चलिस्संति वा, से तेणट्ठेणं० जाव सोइंदियचलणा, सोइंदियचलणा एवं० जाव फासिंदियचलणा। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-मणओ गचलणा, मणजोगचलणा ? गोयमा ! जं णं जीवा मणजोए वट्टमाणा मणजोगप्पाओग्गाइं दव्वाइं मणजोगत्ताए परिणामेणाणा मणचलणं चलिंसु वा, चलंति वा, चलिस्संति वा, से तेणट्ठेणं० जाव मणजोगचलणा मणजोगचलणा। एवं वयजोगचलणा, एवं कायजोगचलणा वि। भ०१६ श०६ उ०।

चलणिया स्त्री० (चलनिका)। साध्वीनां कट्युपकरणभेदे, "जाणुप्पमाण चलणी, असिव्वियालंखियाए व्व"। चलनिकाऽपि अर्धोरुकवत्, नवरमधोजानुप्रमाणाऽस्यूतलङ्घिकापरिधानवत् वंशाग्रनर्तकी चलनकवन्मन्तव्या। बृ०३ उ०। नि० चू०। ध०।

चलणी स्त्री० (चलनी)। चलनमात्रस्पर्शिनि कर्दमे, जी०३ प्रति०। चलनप्रमाणः कर्दमश्चलनीत्युच्यते। भ०७ श०६ उ०।

चलणोववायकारिया स्त्री० (चलनोपपातकारिका)। पादसेवाविधायिन्यां दास्याम्, ज्ञा०१ श्रु०६ अ०।

चलमण त्रि० (चलमनस्)। चलितचित्ते, ज्ञा०१ श्रु०६ अ०।

चलमाण त्रि० (चलत्)। स्थितिक्षयादुदयमागच्छति विपाकाभिमुखीभवति कर्मणि, "चलमाणे चलिए" भ०१ श०१ उ०। ("चलमाणे चलिए त्ति" 'कज्जकारणभाव' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १६७ पृष्ठे व्याख्यातः)

चलसत्त त्रि० (चलसत्त्व)। चलमस्थिरं परीषहादिसम्पाते ध्वंसात्सत्त्वं यस्य स चलसत्त्वः। अस्थिरसत्त्वे, स्था०४ ठा०३ उ०। भङ्गुरसत्त्वे पुरुषजाते, स्था०५ ठा०३ उ०।

चलसभाव त्रि० (चलस्वभाव)। चञ्चलस्वाभिप्राये, "समुद्दवीची विव चलसभावाओ"। तं०। भ०।

चलाचल त्रि० (चलाचल)। स्थूणादौ, आचा०२ श्रु०५ अ०१ उ०। अप्रतिष्ठितेऽस्थिरे, दश०५ अ०१ उ०।

चलिंदिय त्रि० (चलेन्द्रिय)। इन्द्रियविषयनिग्रहे रूपापातं प्राप्याऽसमर्थ, आ०चू०१ अ०।

चलिय त्रि० (चलित)। ईषत्कम्पमाने, रा०। कम्पिते, आ०म० प्र०। स्वस्थानगमनापन्ने, प्रश्न०३ आश्र० द्वार। गन्तुं प्रवृत्ते, औ०। "जं एतेसिं चेव ठाणाणं जहासंभवं चलियद्वितो पासत्तो पिट्ठतो वा जुज्झति, तं छट्ठं चलियं णाम ठाणं" नि० चू०२०उ०।

चलियरस त्रि० (चलितरस)। चलितो विनष्टो रसः स्वादः, उपलक्षणत्वाद् वर्णादिर्यस्य तच्चलितरसम्। कुथिताभपर्युषितद्विदलपूपिकादौ, केवलजलराद्धकूरादावनेकजन्तुसंसक्तत्वात् पुष्पितोदनपक्वान्नादिदिनद्वयातीतदध्यादौ च। ध०२ अधि०।

चलुय पुं० (चलुक)। स्तनाग्रभागे, प्रति०।

चलेमाण त्रि० (चलत्)। गच्छति, आचा०१ श्रु०८ अ०१ उ०।

चलोवगरणट्ठया स्त्री० (चलोपकरणार्थता)। चलोपकरणलक्षणोयोऽर्थस्तद्भावश्चलोपकरणता। तस्याम्, भ०५ श०४ उ०।

चल्ल धा० (चल)। संचलने, **"स्फुटिचलेः ॥८।४।२३१॥** इति लस्य द्वित्वम्। 'चल्लइ' चलति। प्रा०४ पाद।

चव धा० (च्यु)। च्यवने, **"उवर्णस्याऽवः" ॥८।४।२३३॥** इत्युवर्णस्यावादेशः। 'चवइ' च्यवते। प्रा०४ पाद।

च्यव पुं०। च्यवने, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०।

चवण न० (च्यवन)। चारित्रात्प्रतिपतने, बृ०१ उ०।

चवणकप्प पुं० (च्यवनकल्प)। च्यवनं चारित्रात्प्रतिपतनं तस्य कल्पः प्रकारश्चयवनकल्पः। पार्श्वस्थादिविहारे, बृ०१ उ०।

चवल त्रि० (चपल)। आकुले, आ० म० प्र०। कायचपलोपेततया (भ०३ श०१ उ०) मनोवाक्कायास्थैर्यात् (स०) स्वरूपतो वा (औ०) संभ्रमवशादेव (आ०म०प्र०) आकुले, आ०म०प्र०। औ०। अनवस्थिताचित्ते, प्रज्ञा०२ पद। इतस्ततः कम्पमाने, कल्प०१ क्षण। यत्किञ्चनकारिणि, सूत्र०२ श्रु०२ अ०। चञ्चले, ज्ञा०१ श्रु०८ अ०। उत्त०। प्रश्न०। ध०। उत्सुकतयाऽसमीक्षिते, प्रश्न०२ सम्ब० द्वार। हस्तग्रीवादिरूपकायचलनवति, प्रश्न०३ सम्ब० द्वार। पारदे, मीने, विकले, दुर्विनीते च। त्रि०। वाच०।

चवल पुं०। धान्यभेदे, जं०३ वक्ष०। स्था०। "चबलचंचलुच्चायप्पमाणकल्लोलोलंततोयं" अतिचपला इति यावत्, तथा उच्चमात्मप्रमाणं येशामेवंविधा ये कल्लोलास्तैः लौलत् पुनरेकीभूय पृथक् भवत् एवंविधं तोयं पानीयं यस्य सः। कल्प०३ क्षण।

चवलक्ख पुं० (चपलाक्ष)। चक्षुरिन्द्रियलोले, चक्षुरिन्द्रियविपाके, ग०२ अधि०।

चवला स्त्री० (चपला)। विद्युति, लक्ष्म्याम्, पुंश्चल्याम्, पिप्पल्ल्याम्, विजयायाम्, जिह्वायाम्, आर्य्याभेदे च। वाच०। दे० ना०। चपलेव चपला क्रोधविशिष्टस्येव श्रमाऽसंवेदात्, जी०३ प्रति०। रा०। कायचापल्यवत्यां देवगतौ, कल्प०२ क्षण। भ०।

चविडा स्त्री० (चपेटा)। **"एत इद् वा वेदनाचपेटादेवरकेसरे ॥"८।१।१४६॥** इत्येकारस्य वेत्त्वम्। विस्तृताङ्गुलिके हस्ते, प्रतले च। प्रा०१ पाद।

चावेयव्व न० (च्योतव्य)। च्यवनीये, कर्त्तव्ये च्यवने, "चवियव्वं भविस्सइ" स्था०३ ठा०३ उ०।

चविया स्त्री० (चविका)। वनस्पतिविशेषे, प्रज्ञा०१७ पद।

चविला स्त्री० (चपेटा)। **"चपेटापाटौ वा" ॥८।१।१६८॥** इति टस्य वा लः। प्रा०१ पाद। **"एत इद्वा वेदनाचपेटादेवरकेसरे" ॥८।१।१४६॥** इतीत्वम्। प्रा०१ पाद। करतलघाते, उत्त०१ अ०।

चवेडी देशी (.. रसंपुटे), दे० ना०३ वर्ग।

चवेण देशी (वचनीये), दे० ना०३ वर्ग।

चव्वाइ (ण्) त्रि० (चार्वाकिन्)। चर्वणाशीले, "रोमंथयते कज्जं, चव्वागी नीरसंच विसने त्ति।" यथा वृषनेत्रं वृषसागारिकं नीरसमपरो वृषमश्चर्वयति, एवं यः कार्यं रोमन्थायमानो निष्फलं रचयन् तिष्ठेत्, चर्वणाशीलश्चार्वाकी दुर्व्यवहारी। व्य०३ उ०।

चव्वाग पुं० (चार्वाक)। लौकायतिके, (सूत्र०) चार्वाकास्त्वेवमभिहितवन्तः। यथा-नास्ति कश्चित्परलोकयायी भूतपञ्चकाद्व्यतिरिक्तः पदार्थो, नाऽपि पुण्यपापे स्त इत्यादि, एवं चाङ्गीकृत्यैते लोकायतिकाः मानवाः पुरुषाः सक्ताः गृद्धा अध्युपपन्नाः कामेष्विच्छामदनरूपेषु। तथा चोचुः-

"एतावानेव पुरुषो, यावानिन्द्रियगोचरः।
भद्रे! वृकपदं पश्य, यद्वदन्त्यबहुश्रुताः ॥१॥
पिव स्वाद च साधु शोभने!,

यदतीतं वरगात्रि ! तन्न ते।
न हि भीरु ! गतं निवर्तते,
समुदयमात्रमिदं कलेवरम् ॥२॥" सूत्र०१ श्रु०१ अ०१ उ०।

प्रमाणं चात्र प्रत्यक्षमेव, नानुमानादिकम् -

संति पंच महब्भूया, इह मेगेसिमाहिया।
पुढवी आउ तेऊवा, वाउ आगास पंचमा ॥७॥

सन्ति विद्यन्ते महान्ति च तानि भूतानि च महाभूतानि, सर्वलोकव्यापित्वान्महत्वविशेषणम्, अनेन च भूताभाववादिनिराकरणं द्रष्टव्यम्। इहास्मिम् लोके एकेषां भूतवादिनामाख्यातानि प्रतिपादितानि तत्तीर्थकृता तैर्वा भूतवादिभिर्बार्हस्पत्यमतानुसारिभिराख्यातानि स्वयमङ्गी-कृत्यान्येषां च प्रतिपादितानि। तानि चामूनि-(सूत्र०टी०) पृथ्वी १ आपो जलं २ तेजो बह्निः ३ वायुः४ आकाशं पञ्चमं येषां तानि। ननु सांख्यादिभिरपि भूतानि मन्यन्त एव तत् कथं चार्वाकमतापेक्षयैव भूतोपन्यास इति चेत् ?, उच्यते-साङ्ख्यादिभिर्हि प्रधानाहङ्कारादिकं तथा कालदिगात्मादिकं चान्यदपि वस्तुजातमङ्गीक्रियते। चार्वाकैस्तु भूतव्यतिरिक्तं नात्मादि किञ्चिन्मन्यत इति तन्मताश्रयणेनैवायं सूत्रोपन्यास इति। (सूत्र०दी०)

यथा चैतत् तथा दर्शयितुमाह -

एए पंच महब्भूया, तेब्भो त्ति आहिया।
अह तेसिं विणासेणं, विणासो होइ देहिणो ॥

"एए पंच महब्भूया" इत्यादि। एतान्यनन्तरोक्तानि पृथिव्यादीनि पञ्च महाभूतानि यानि तेभ्यः कायाकारपरि-णतेभ्य एकः कश्चिच्चिद्रूपो भूताव्यतिरिक्त आत्मा भवति, न भूतेभ्यो व्यरिक्तोऽपरः कश्चित्परपरिकल्पितः परलोकानुयायी सुखदुःखभोक्ता जीवाख्यः पदार्थोऽस्तीत्येवमाख्यातवन्तस्ते। तथाहि एवं प्रमाणयन्ति-न पृथिव्यादिव्यतिरिक्त आत्माऽस्ति, तद्ग्राहकप्रमाणाभावात्। सूत्र०१ श्रु०१ अ०१ उ०। आच०। ('आता' शब्दे द्वितीयभागे १८० पृष्ठे चैतदात्मनः साम्परायिकत्वसिद्धिर्न्यक्षेणोपापादि)

चव्वागि (ण्) त्रि० (चार्वाकिन्)। 'चव्वाइण' शब्दार्थे, व्य०३ उ०।

चसग पुं० (चषक)। सुरापानपात्रे, जं०५ वक्ष०।

चाइ (ण्) त्रि० (त्यागिन्)। सङ्गत्यागवति, भ०२ श०१ उ०। पं० व०। आजीविकादिभयप्रव्रजितः संक्लिष्टचित्तो द्रव्यक्रियां कुर्वन्नप्यश्रमण एवाऽत्यागयेव, कथम् ?, यत आह सूत्रकारः-

वत्थगंधमलंकारं, इत्थीओ सयणाणि य
अच्छंदा जे न भुंजंति, न से चाइ त्ति वुच्चइ ॥२॥

वस्त्रगन्धालङ्कारानित्यत्र वस्त्राणि चीनांशुकादीनि, गन्धाः कोष्ठपुटादयः, अलङ्काराः कटकादयोऽनुस्वारोऽलाक्षणिकः, स्त्रियोऽनेकप्रकाराः, शयनानि पर्यङ्कादीनि, चशब्द आसनाद्यनुक्तसमुच्चयार्थः। एतानि वस्त्रादीनि किम् ?, अच्छन्दा अस्ववशाः, ये केचन, न भुञ्जते नासेवन्ते। बहुवचनोद्देशेऽप्येक वचननिर्देशः। विचित्रत्वात्सूत्रगतेः, विपर्ययश्च भवत्येवेति कृत्वा आह-नाऽसौ त्यागीत्युच्यते सुबन्धुवन्नासौ श्रमण इति सूत्रार्थः। कः पुनः सुबन्धुरित्यत्र कथानकम्-"जया णंदो चंदगुत्तेण णिच्छूढो, तया तस्स दारेण निगाच्छंतस्स दुहिया चंदगुत्ते दिट्ठि वंधइ। एयं अक्खाणयं जहा आवस्सए-जाव विंदुसारो राया जाओ, णंदसंतिओ य सुवंधू णाम अमचो। से चाणकस्स पट्ठे समावण्णो छिद्दाणि मग्गति। अण्णया रायाणं विन्नवेइ-जदि वि तुम्हे अम्हं वित्तं ण देह, तहा वि अम्हेहिं तुम्ह हियं वत्तव्वं। भणियं च-तुम्ह माया चाणक्केण मारिया। रन्ना धाती पुच्छिया। आमं ति। कारणं ण पुच्छियं। केण वि कारणेणं रन्नो य सगासं चाणक्को आगओ, जाव दिट्ठि णोदेति ताव चाणिक्को चिंतेतिरुट्ठो एस राया। अहं गताउ त्ति काउं दव्वं पुत्तपपुत्ताणं दाऊणं संगोवित्ता य गंधा संजोइया, पत्तयं च लिहिऊण सो वि जोगो समुग्गे बूढो। समुग्गो य चउसु मंहूसासु बूढो, तासु छुब्भित्ता पुणो गंधो वरए बूढो, तंबहूहिं कीलियाहिं सुघडियं करेत्ता दव्वजायं णातवग्गं च धम्मे णिउइत्ता अडवीए गोकुलट्ठाणे इंगिणिमरणं अब्भुवगओ। रण्णा य पुच्छियं-चाणक्को किं करेइ ? धाती य से सव्वं जहावत्तं परिकहेइ। गहियपरमत्थेण य भाणियं-अहो ! मया असमिक्खियं कतं, सव्वंतेउरजीहवलसमग्गो खामेउं णिग्गतो, दिट्ठो अणेण करीसब्भट्ठिओ, खामियं सबहुमाणं, भणिओ अणेण-णगरं वच्चामो। भणति-मए सव्वपरिच्चाओ कओत्ति, तओ सुवंधुण राया विण्णविओ, अहं से पूयं करेमि अणुजाणह, अणुण्णाए धूवं डहिऊणं तम्मि चेव एगप्पदेसे करीसस्सोवरि ते अंगारे परिट्ठवेति। सो य करीसो पलित्तो, दड्ढो चाणक्को। ताहे सुवंधुणा राया विण्णविओ-चाणक्कस्स संतियं घरं ममं अणुजाणह, अणुण्णाए गओ पच्चुविक्खमाणेण य घरं दिट्ठो, अपरवरको घट्ठिओ। सुबंधू चिंतेइ-किमवि अच्छति। कवामे भंजित्ता उग्घाडिउ मंजूसं पासइ। सा वि उग्घाडिया जाव समुग्गं पासइ। मघमघंतगंधयं पत्तयं पेच्छति। तं पत्तयं वाएति। तस्स य पत्तयस्स एसो अत्थो-जो एयं चुन्नयं अग्घाएति-सो जइ ण्हाइ वा, समालभइ वा, अलंकारेइ सीओदगं च पिवति महतीए सिज्झाए सुवति जाणेण गच्छइ गंधव्वं वा सुणेइ, एवमादी अन्ने वा इट्ठे विसए सेवेति। जहा साहुणो अच्छंति तह सो जदि ण अच्छेइ तो मरति। ताहे सुवंधुणा विणासणत्थं अण्णो पुरिसो अग्घावित्ता सद्दाइणो विसए भुंजाविओ, मओ य, तओ सुवंधू जीवियट्ठी, अकामो साहू जहा अत्थंतो वि ण साहू।" एवमधिकृतसाधुरपि न साधुरतो न त्यागीत्युच्यते, अभिधेयाऽर्थाभावात्।

यथा चोच्यते तथा अभिधातुकाम आह-

जे य कंते पिए भोए, लद्धे विपिट्ठि कुव्वइ।
साहीणे चयई भोए, से हु चाइ त्ति वुच्चइ ॥३॥

चशब्दस्य अवधारणार्थत्वात् य एव कान्तान् कमनीयान्, शोभनानित्यर्थः। प्रियानिष्टान्, इह कान्तमपि किञ्चित् कस्यचित् कुतश्चिन्निमित्तान्तरादप्रियं भवति। यथोक्तम्- "चउहिं ठाणेहिं संते गुणे णासेज्जा। तं जहा-रोसेणं, पडिनिवेसेणं, अकयण्णुयाए, मिच्छत्ताभिनिवेसेणं।" अतो विशेषणं प्रियानिति, भोगान् शब्दादीन्विषयान्, लब्धान् प्राप्तान्, उपनतानिति यावत्। (विपिट्ठि कुव्वइ त्ति) विविधमनेकैः प्रकारैः शुभभावनादिभिः, पृष्ठतः करोति, परित्यजतीत्यर्थः। स च न बन्धनबद्धः प्रोषितो वा, किं तु स्वाधीनोऽपरायत्तः, स्वाधीनानेव त्यजति भोगान्। पुनस्त्यागग्रहणं प्रतिसमयं त्यागपरिणामवृद्धिसंसूचनार्थम्। भोगग्रहणं तु संपूर्णभोगग्रहणार्थं, त्यक्तोपनतभोगसूचनार्थं वा। ततश्च य ईदृशः हुशब्दस्यावधारणार्थत्वात्, स एव त्यागीत्युच्यते, भरहतादिवादिति। अत्राह-"जदि भरजंवुनामादिणो संपुण्णे जे संते

भोगे परिच्चयंति, ते परिच्चाइणो, एवं ते भणंतस्स अयं दोसो भवति-जे केइ अत्थसारहीणा दमगाइणो पव्वइऊण भावओ अहिंसादिगु-णजुत्ते सामण्णे अब्भुज्जुया, ते किं अपरिच्चाइणो हवंति ? आयरिअ आह-ते वि तिण्णि रयणकोडीओ परिचइऊ ण भावओ पव्वइया-अग्गी, उदयं, महिला, तिण्णि रयणाणि लोगसाराणि परिचइऊण पव्वइया। दिट्ठंतो-एगो धम्मिपुरिसो सुधम्मसामिणो सगासे कट्ठहारओ पव्वइओ, भिक्खं हिंडंतो लोएण भण्णति-एसो सो कट्ठहारओ पव्वइओ, सो सेहत्तेण आयरियं भणति-मयं अन्नत्थ णेह, अहं न सक्केमि अहियासित्तए। आयरिएहिं अभओ आपुच्छिओ-वच्चामो त्ति। अभओ भणति मासकप्पपाउग्गं खित्तं किं एयं न भवति, जेण अच्छक्के अन्नत्थ वच्चह ? आयरिएहिं भणियं-जहा सेहनिमित्तं। अभओ भणति-अत्थह वीसत्था, अहमेयं लोगं उवाएण निवारेमि। ठिओ आयरिओ। वितिए दिवसे तिन्नि रयणकोडीओ ठवियाओ, उग्घोसावियं नयरे-जहा अभओ दाणं देति। लोगो आगतो। भणियं च णेण-तस्साइं एयाओ तिन्नि कोडीओ देमि, जो एयाइं तिन्नि परिहरइ-अग्गी, पाणियं, महिलियं य। लोगो भणति-एतेहिं विणा किं सुवन्नकोडीहिं। अभओ भणति तो किं भण्णह-दमओ त्ति पव्वइओ। जो वि णिरत्थओ पव्वइओ तेण वि एयाओ तिन्नि सुवन्नकोडीओ परिचत्ताओ। सच्चं सामि ! ठिओ लोगो पत्तीओ। तम्हा अत्थपरिहीणो वि संजमे ठिओ तिन्नि लोगसाराणि-अग्गी उदयं महिलाओ य परिचयंतो चाइ त्ति लब्भति।" कृतं प्रसङ्गेति सूत्रार्थः। दश०२ अ०। अष्ट०।

चाउंडा स्त्री० (चामुंडा)। **"यमुनाचामुण्डाकामुकातिमुक्तके मोऽनुनासिकश्च"** ॥८।१७८।१॥ इति मस्य स्थानेऽनुनासिकः। चण्डमुण्डविधातिन्याम्, प्रा०१ पाद।

चाउक्कोण त्रि० (चतुष्कोण)। चत्वारः कोणा अस्रयो यस्य सः। चतुरस्रे, जी०३ प्रति०।

चाउघंट त्रि० (चतुर्घण्ट)। चतस्रो घण्टाः पृष्ठतोऽग्रतः पार्श्वतश्चाल-म्बमाना यस्य सः। नि०१ वर्ग। जं०। ज्ञा०। चतुर्घण्टोपेते, भ० श०३३उ०।

चाउज्जाम न० (चातुर्याम)। चतुर्णां परिग्रहविरत्यन्तर्भूतब्रह्मचर्यत्वेन चतुः सङ्ख्यानां यामानां समाहारश्चतुर्यामम्। पञ्चा०१७ विव०। पं० भा०। स्था०। तदेव चातुर्यामम्। प्रव०७७ द्वार। नि० चू०। चतुर्महाव्रत्याम्, स्था०।

भरहेरवएसु णं वासेसु पुरिमपच्छिमवज्जा मज्झिमगा बावीसं अरहंता भगवंता चाउज्जामं धम्मं पन्नविंति। तं जहा-सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं, एवं मुसावायाओ, अदिन्नादाणाओ, सव्वाओ बहिद्धादाणाओ वेरमणं, सव्वेसु णं महाविदेहेसु अरहंता भगवंता चाउज्जामं धम्मं पन्नवयंति। तं जहा-सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं० जाव सव्वाओ बहिद्धादाणाओ वेरमणं॥

द्वाविंशतिरिति। चत्वारो यमा एवं यामा निवृत्तयो यस्मिन् स तथा। (बहिद्धादाणाओ त्ति) बहिद्धा मैथुनं, परिग्रहविशेषः, आदानं च परिग्रहः, तयोर्द्वन्द्वैकत्वम्। अथवा-आदीयत इत्यादानं परिग्राह्यं वस्तु, तच्च धर्मोपकरणमपि भवतीत्यत आह-बहिस्ताद्धर्म्मोपक-रणाद्बहिर्यदिति, इह च मैथुनं परिग्रहेऽन्तर्भवति, न ह्यपरिगृहीता योषित् भुज्यत इति। प्रत्याख्येयस्य प्राणातिपातादेश्चतुर्विधत्वाच्चतुर्यामता धर्मस्येति। इयं चेह भावना-मध्यमतीर्थकराणां वैदिहिकानां च चतुर्यामकधर्म्मस्य पूर्वपश्चिमतीर्थकरयोश्च पञ्चयामधर्मस्य प्ररूपणा शिष्यापेक्षया। परमार्थतस्तु पञ्चयामस्यैवोभयेषामप्यसौ, यतः प्रथमपश्चिमतीर्थक-रतीर्थसाधव ऋजुजडाः, वक्रजडाश्चेति, तात्त्वादेव परिग्रहो वर्जनीय इत्युपदिष्टो मैथुनवर्जनमवबोद्धुं पालयितुं च न क्षमाः, मध्यमविदेहज-तीर्थकरतीर्थसाधवस्तु ऋजुप्राज्ञास्तद्बोद्धुं वर्जयितुं च क्षमा इति।

भवतश्चात्र श्लोकौ -

"पुरिमा उज्जुजडाओ, वंकजडाओ य पच्छिमा।
मज्झिमया उज्जुपण्णओ, तेण धम्मे दुहा कए॥१॥
पुरिमाणं दुव्विसोज्झो उ, चरिमा दुरणुपालए।
कप्पे मज्झिमगाणं तु, सुविसोज्झे सुपालए त्ति॥२॥" स्था०

४ ठा०१ उ०। "अज्जा वि णं सुपासा पासावच्चेज्जा आगमेस्साए उस्सप्पिणीए चाउज्जामं धम्मं पन्नवित्ता सिज्झिहिंति० जाव अंतं काहिति"॥ स्था०९ ठा०। पञ्चयामचतुर्यामधर्मविचारः केशिनं प्रति गौतमेनोद्भावितः। उत्त०२३ अ०। 'कप्पट्ठिइ' शब्दे आस्मिन्नेव भागे २३३ पृष्ठे 'अकप्पट्ठिइ' शब्दे च प्रथमभागे ११७ पृष्ठे चातुर्यामिकपञ्च-यामिकानां कल्पाऽकल्पविधिरुक्तः)

चाउत्थिय पुं० (चातुर्थिक)। चतुर्थे चतुर्थेऽह्नि जायमाने रोगभेदे, जी०३ प्रति०।

चाउद्दसी स्त्री० (चातुर्दशी)। प्रतिपद आरभ्य चतुर्दशेऽहोरात्रे, ज्यो०३ पाहु०। द०प०। "चाउद्दसिं पन्नरसिं, वज्जेज्जा अट्ठमिं च नवमिं च।" विशे०।

चाउम्मास पुं० (चातुर्मास)। चत्वारो मासाः समाहृताश्चतुर्मासं, तदेव चातुर्मासम्। मासचतुष्के, यथा आषाढ्याः कार्तिकीं यावत् उत्कृष्टः पर्युषणाकल्पः। पञ्चा०१७ विव०। प्रव०। चतुर्षु मासेषु भवे, पञ्चा०१५ विव०। चतुर्मासकत्रयाद्धा श्राद्धिका कुत उपविशतीति प्रश्ने, उत्तरम्-सप्तमीतः उपविसति, परं पूर्णिमावासरे सुपर्वतिथित्वादात्मन इति। १५५ प्र० सेन०४ उल्ला०। अथ वटपल्लीयपन्यासपद्मविजयगणिकृतप्रश्ना-स्तदुत्तराणि च यथा-सामाचार्या चत्वारि पञ्च वा योजनानि गन्तुमागन्तुं च कल्पते इत्युक्तमस्ति, तद्गमनागमनमाश्रित्य, किं वा गमनमा-श्रित्यैवेति प्रश्ने, उत्तरम्- चतर्मासकमध्ये ग्लानौषधादिकारणे चत्वारि पञ्च वा योजनानि गच्छति, तान्येवागच्छति, न तु ग्लानौषधादिकार्ये संपूर्णे सति क्षणमात्रमपि तत्र तिष्ठति, तथा यत्सक्रोशं योजनमस्ति तद्गमनागमनाभ्यां ज्ञेयमिति। ३५७ प्र० सेन०३ उल्ला०।

चाउम्मासिय पुं० (चातुर्मासिक)। कृत्याविशेषे, पाक्षिकचातुर्मासिका-दितपः कियता कालेन प्राप्यते इति प्रश्ने, उत्तरम्-यथा शक्त्या तत्तपः त्वरितमेव पूर्णीभवति तथा विधीयते, कालनियमस्तु ग्रन्थे ज्ञातो नास्तीति। ३४ प्र० सेन०४ उल्ला०।

चाउम्मासी स्त्री० (चातुर्मासी)। चातुर्मास्ये, ध०। ('पज्जुसणा' शब्दे साधूनां सामाचारी वक्ष्यते) श्रावकाणां तु चातुर्मासीकृत्यानि यथा-पूर्वप्रतिपन्नव्रतेन प्रतिचतुर्मा-

सकं तन्नियमाः संक्षेप्याः, अप्रतिपन्ननियमेन तु यथास्वं प्रति चतुर्मासकं नियमा ग्राह्यः, वर्षाचतुर्मास्यां पुनर्ये नित्यनियमाः सम्यक्त्वाधिकारे प्रागुक्तास्ते विशिष्य ग्राह्याः । तथाहि-त्रिर्द्विर्वा देवपूजाऽष्टभेदादिका संपूर्णदेववन्दनं चैत्ये सर्वबिम्बानामर्चनं वन्दनं वा स्नात्रमहोमहापूजाप्रभावनादि गुरोर्बृहद्वन्दनम्, अङ्गपूजनप्रभावा स्वस्तिकरचनादिपूर्वं व्याख्यानश्रवणं विश्रामणा अपूर्वज्ञानपाठाद्यनेकविधस्वाध्यायकरणं प्रासुकनीरपानं सचित्तत्यागस्तदशक्तावनुपयोगितत्यागः गृहहट्टभित्तिस्तम्भखट्टाकपाटपट्टपट्टिकासिक्थकघृततैलजलादिभाजने न्यूनधान्यादिसर्ववस्तूनां पनकादिसंसक्तिरक्षार्थं चूर्णकरक्षादि खरण्टनमलापनयनातपमोचनशीतलस्थापनादिना जलस्य द्विस्त्रिर्गालनादिना स्नेहगुडतक्रजलादीनां सम्यग्गृस्थगनादिनाऽवश्रावणं स्नानजलादीनां पनकाद्यसंसक्तरजोबहुलभूमौ पृथक् पृथक् त्यागेन चुल्लीदीपादेरनुद्घाटमोचनेन पेषणरन्धनवस्त्रभाजनादिक्षालनादौ सम्यक् प्रत्युपेक्षणेन चैत्यशालादेरपि विलोक्यमानसमारचनेन गृहे च व्यापारणस्थानचन्द्रोदयबन्धनेन यथार्हं यतना अभ्याख्यापैशुन्यपरुषवचननिरर्थकमृषावर्जनं कूटतुलादिनाऽव्यवहरणं ब्रह्मचर्यपालनं तथा शक्तौ *पर्वतिथिपालनं शेषदिनेषु दिवाऽब्रह्मत्यागो रात्रौ परिमाणकरणं च* इच्छापरिग्रहपरिमाणसंक्षेपतरः सर्वदिग्गमननिषेधस्तदशक्तावनुपयोगिदिग्गननियमः यथाशक्ति स्नानशिरोगुम्फनदन्तकाष्ठोपानहादित्यागः भूखननवस्त्रादिरञ्जनशकटखेटनादिनिषेधः वार्दलाब्दवृष्ट्यादिना इलिकादिपाते राजादनाम्रत्यागादिच पर्युषितद्विदलपूपिकादिपर्पटवटिकादिशुष्कशाकन्दुलीयकादिपत्रशाकनागवल्लीदलटुप्परकखर्जूरद्राक्षाखण्डशुण्ठ्यादीनां फुल्लिकुन्थ्वलिकादिसंसक्तिसंभवात् त्यागः, ओषधादिशेषकार्ये तु सम्यग् शोधनादियतनतयैव तेषां ग्रहणं खरकर्मव्यापारवर्जनं जलक्रीडादिनियमनं स्नानोद्वर्तनरन्धनादिपरिमाणकरणं देशावकाशिकसामायिकपौषधव्रतानां विशेषतः पर्वसु करणं नित्यं पारणे वाऽतिथिसंविभागः यथाशक्त्युपधानमासादिप्रतिमाकषायेन्द्रियसंसारतारणाष्टाहिकापक्षक्षपणमासक्षपणादिविशेषतयोविधानं रात्रौ चतुर्विधाहारस्य त्रिविधाहारस्य वा प्रत्याख्यानं दीनानाथाद्युद्धरणमित्यादीनि। एतदर्थसंवादिन्यश्चतुर्मास्यभिग्रहप्रतिपादिकाः पूर्वाचार्यप्रणीता गाथाः श्राद्धविधिवृत्तौ । तथाहि-

"चाउम्मासिअभिग्गह, नाणे तह दंसणे चरित्ते अ।
तवविरिआयारम्मि अ, दव्वाइ अणेगहा हुंति ॥१॥
परिवाडी सब्भाओ, देसणसवणं च चिंतण चेव।
सत्तीए कायव्वं, सिअपंचमि-नाणपूआ य ॥२।
संमज्जणोवलेवण-गूहलियामंमणं चइयभवणे।
चेइअपूआवंदण-निम्मलकरणं च विवाणं ॥३॥
चारित्तम्मि जलूआ, जूआगंडोलपाडणं चेव।
वणकीडखारदाणं, इंधणजलणऽन्नतसरक्खा ॥४॥
वज्जइ अब्भक्खाणं, अक्कोसं तह य रुक्खवयणं च।
देवगुरुसवहकरणं, पेसुन्नं परपरीवायं ॥५॥
पिइमाइदिट्ठिवंचण-जयणं निहि सुंकपडिअविसयम्मि।
दिणें बंभरयणिवेला-परनरसेवाइपरिहारो ॥६॥
धणधन्नाईनवविह-इच्छामाणम्मि निअमसंखेवो।
परपेसणसंदेसय, अह गमणाईएँ दिसि माणे ॥७॥
न्हाणंगरायधूवण-विलेवणाहरणफुल्लतंबोलं।
घणसारागुरुकुंकुम-पोहिसमयमाहिपरिमाणं ॥८॥
मंजिट्ठलक्खकोसुं-भगुलियरागाण वत्थपरिमाणं।
रयणं वज्जे मणिकणग-रुप्पमुत्ताइपरिमाणं ॥९॥
जंवीरजंवजंबुअ-नारिंगगवीजपूराणं।
कक्कडिअक्खोमवायम-कविट्ठटिंवरुअविल्लाणं ॥१०॥
खज्जूरदक्खदाडिम-उत्तत्तिअनालिकेरकेलाइं।
चिंचिणिअवोरविल्लुअ-फलचिब्भडचिब्भमीणं च ॥११॥
कयरकरमंदयाणं, भोरडनिंबूअअंविलीण च।
अत्थाणं अंकूरिअ-नाणाविहफुल्लपत्ताणं ॥१२।
सचित्तं बहुवीअं, अणंतकायं च वज्जए कमसो।
विगई विगइगयाणं, दव्वाणं कुणइ परिमाणं ॥१३॥
असुअधोअणुलिपण-खत्तक्खणणं च न्हाणदाणं च।
जूआकड्ढणमन्ह-स्स खित्तकज्जं च बहुभेअं ॥१४॥
खंडणपीसणमाई-ण कूडसक्खाइ कुणइ संखेव।
जलजिल्लन्नणरंधण-उव्वट्टणमाइआणं च ॥१५॥
देसावगासिअवए, पुढवीखणणे जलस्स आणयणे।
तह चीरधोअणे न्हा-णपिअणजलणस्स जालणए ।१६॥
तह दीबवोहणे वा-यवीअणे हरिअछिंदणे चेव।
अणिवद्धजंपणे गुरु-जणेण य अदत्तए गहणे ॥१७॥
पुरिसासणसयणीए, तह संभासणपलोवणाईसु।
ववहारे परिमाणं, दिसि माणं भोगपरिभोगे ॥१८॥
तह सव्वणत्थदंभे, सामाइअपोसहे तिहि विभागे।
सव्वेसु वि संखेवं, काहं पइदिवसपरिमाणं ॥१९॥
खंडणपीसणरंधण-भुंजणविक्खणवत्थरयण च।
कत्तणपिंजणलोढण-धवलणलिंपणयसोहणए ॥२०॥
वाहणरोहणलिक्खा-इजोअणे वाणपरिभोगे।
निंदणलूणणउंछण-रंधणदलणाइकम्मे अ ॥२१॥
संवरणं कायव्वं, जहसंभवमणुदिणं तहा पढणे।
जिणभवणदंसणे सुण-णगुणणजिणभवणकिच्चे अ ॥२२॥
अट्ठमिचउहसीसुं, कल्लाणतिहीसु तवविसेसेसु।
काहामि उज्जममहं, धम्मत्थं वरिसमज्झम्मि ॥२३॥
धम्मत्थं मुहपोत्ती-जलछाणण ओसहाइदाणं च।
साहम्मिअवच्छल्लं, जहसत्ति गुरूण विणओ अ ॥२४॥
मासे मासे सामा-इअं च वरिसम्मि पोसहं तु तहा।
काहामि ससत्तीए, अतिहीणं संविभागं च"॥२५॥

इति चतुर्मासीकृत्यानि। ध०२ अधि०। आव०। ('पडिक्कउण' शब्दे चातुर्मासिकप्रतिक्रमणम्)

चाउरंगिज्ज न० (चातुरङ्गीय)। उत्तराध्ययनेषु चतुर्थेऽध्ययने, तत्र हि मानुष्यं १ श्रुतिः २ धर्मः ३ श्रद्धा ४ चेति चत्वारि परमाङ्गाणि दुर्लभत्वेनोक्तानि। स०५१ सम०। अनु०।

चाउरंत त्रि० (चातुरन्त)। चत्वारोऽन्ताः पर्यन्ताः पूर्वदक्षिणपश्चिमसमुद्रहिमवल्लक्षणा यस्याः पृथिव्याः सा चतुरन्ता, तस्या अयं स्वामित्वेनेति चातुरन्तः । स्था०४ ठा०१ उ० । चत्वारोऽन्ता भूमिभागाः पूर्वसमुद्रादिरूपा यस्य स तथा, स एव चातुरन्तः। चक्रवर्त्तिनि, प्रश्न०४ आश्र० द्वार।

चतुरन्त न०। चतसृणां गतीनां नारकतिर्यङ्नरामरलक्षणानामन्तो यस्यास्तच्चतुरन्तम्, समृध्यादित्वादात्त्वम् । ध०२ अधि० । चत्वारोऽन्ता गतयो यस्य स तथा । चतुर्गतिके, सूत्र०२ श्रु०२

अ०२ उ० । प्रश्न० । दिग्भेदगतिभेदाभ्यां चतुर्विभागे, प्रश्न०२ आश्र० द्वार ।

चाउरंतचक्कवट्टि (ण्) पुं० (चातुरन्तचक्रवर्तिन्) । चत्वारोऽन्ताः समुद्रत्रयहिमवल्लक्षणा यस्याः सा चतुरन्ता पृथ्वी, तस्या अयं स्वामी चातुरन्तः, स चासौ चक्रवर्ती चेति । स्था०५ ठा० । चतुर्षु पूर्वापरदक्षिणोत्तररूपेषु अञ्चेषु वनितुं शीलमस्येति । रा० । जी० । चतुरन्ताया भरतादिपृथिव्या एते स्वामिन इति चातुरन्ताः, चक्रेण वर्त्तनशीलत्वाच्च चक्रवर्त्तितः, ततः कर्मधारयः । चतुरन्तग्रहणेन च वासुदेवादीनां व्युद । भ०१२ श०६ उ० । चतुरन्तायाः पृथिव्या ईश्वरेषु चक्रवर्त्तिषु चतुर्भिर्हयगजरथपदातिभिः सेनाङ्गैरन्तोऽरीणां विनाशो यस्य सः चतुरन्त एव चातुरन्तः । आसमुद्रमा हिमालयं विविधविद्याधरवृन्दगीतकीर्तितया एकच्छत्रषड्खण्डराज्यपालके, उत्त० ११ अ० ।

चाउरंतसंसारकंतार पुं० (चातुरन्तसंसारकान्तार) । चतुरन्तं चतुर्विभागं नरकत्वादिभेदेन, तदेव चातुरन्तं, तच्च तत्संसारकान्तारं चेति । चतुर्गतिके संसाराऽरण्ये, स्था० । "तिहिं ठाणेहिं संपन्ने अणगारे अवाईयं अणवदग्गं दीहमद्धं चाउरंतसंसारकंतारं विईपवज्जा । तं जहा-अणिदाणयाए, दिट्ठिसंपन्नयाए, जोगवाहियाए" । स्था०१ ठा०३ उ० ।

चाउरक्कगोखीर न० (चातुरक्यगोक्षीर) । चतुःस्थानपरिणामपर्यन्ते गोक्षीरे, (जी०) तच्चैवम्- गवां पुण्ड्रदेशोद्भवेक्षुचारिणीनामनातङ्कानां कृष्णानां यत् क्षीरं तदन्याभ्यः कृष्णगोभ्य एव यथोक्तगुणाभ्यः पानं दीयते तच्छीरमप्येवंभूताभ्योऽन्याभ्यस्तत्क्षीरमप्यन्याभ्य इति चतुःस्थानपरिणामपर्यन्तम्, एवं भूतं यत् चातुरक्यं गोक्षीरम् । जी०३ प्रति० । आ० म० ।

चाउल पुं० (तण्मुल) । शालिव्रीह्यादेस्तण्डुले, आचा०२ श्रु०१ अ०१ उ० । दे० ना०३ वर्ग ।

चाउलपलंब न० (तण्डुलप्रलम्ब) । 'चाउलाः' तण्डुलाः शालिव्रीह्यादेस्त एव चूर्णीकृतास्तत्कर्णिका वा । आचा०२ श्रु०१ अ०१ उ० । अर्द्धपक्वशाल्पादिकाणिकादिके, आचा०२ श्रु०१ अ०६ उ० । भग्नशाल्यादितण्डुलेषु, आचा०२ श्रु०१ अ०११ उ० ।

चाउलपिट्ठ न० (तण्डुलपिष्ट) । तन्दुलसत्कपिष्टे, आचा०२ श्रु०१ अ०८ उ० ।

चाउलोदग न० (तण्डुलोदक) । अड्डिकरके, "तंडुलोदगं अहुणा धोयं च वज्जए" दश०५ अ० । ब० । तण्डुलधावनोदके (ग०) "चाउलउदगं बहुपसन्नं" चाउलोदकं तण्डुलोदकमबहुप्रसन्न नातिस्वच्छीभूतं, मिश्रमित्यर्थः । अबहुप्रसन्नमित्यत्रादावकारलोपः, आर्षत्वात् ।

आदेशत्रिकमेव दर्शयति -

भंडगपासगलग्गा, उत्तेमा बुब्बुया य न समें ति ।
जा ताव मीसगं तं-मुला य रज्झंति जावऽन्ने ॥२१॥

तण्डुलोदके तण्डुलप्रक्षालनभाण्डादन्थस्मिन् भाण्डे प्रक्षिप्यमाणे ये त्रुटित्वा भाण्डकस्य पार्श्वेषु 'उत्तेडा' विन्दवो लग्नास्ते यावन्न शाम्यन्ति विध्वंसमुपयान्ति तावत् तत् तण्डुलोदकं मिश्रमित्येके । अपरे पुनराहुः-तण्डुलोदके तन्दुलप्रक्षालनभाण्डकादपरस्मिन् भाण्डके प्रक्षिप्यमाणे ये तन्दुलोदकस्योपरि समुद्भूता वुदवुदास्ते यावदद्यापि न शाम्यन्ति न विनाशमियंति तावत् तन्दुलोदकं मिश्रमिति । अन्ये पुनरेवमाहुः-तन्दुलप्रज्ञालनानन्तरं तन्दुला रन्धुमारब्धास्ततस्ते यावन्न राध्यन्ति, यावन्नाद्यापि सिध्यन्तीति भावः । तावत् तन्दुलोदकं मिश्रमिति ।

एषां त्रयाणमप्यादेशानां दूषणान्याह -

एए उ अणाएसा, तिण्णि वि कालनियमस्सऽसंभवओ ।
लुक्खेयरभंडगपव-णसंभवासंभवाईहिं ॥२२॥

एते त्रयोऽप्यनादेशा एव, तुशब्द एवकारार्थो भिन्नक्रमश्च, कुतोऽनादेशा इत्याह-कालनियमस्यासंभवात्, न खलु विन्द्वपगमे, वुद्वुदापगमे, तण्डुलपाकनिष्पत्तौ वा, सदा सर्वत्र प्रतिनियत एव कालो, येन प्रतिनियतकालसंभविनो मिश्रत्वादूर्द्धमचित्तत्वस्याष्य-भिधीयमानस्य न व्यभिचारसंभतः । कथं प्रतिनियतः कालो न घटते ? इति कालनियमासंभवमाह-"लुक्खेयर" इत्यादि । स्नेक्षेतरभाण्डपवन-संभवासंभवादिभिः । अत्रादिशब्दाच्चिरकालसलिलभिन्नत्वादिपरिग्रहः । इयमत्र भावना-इह यदा पाकतः प्रथममानीतं, चिरानीतं वा स्नेहजलादिना न भिन्नं भाण्डं तत् रूक्षमुच्यते, स्नेहादिना तु भिन्नं स्निग्धं, तत्र रूक्षे भाण्डे तण्डुलोदके प्रक्षिप्यमाणे ये विन्दवः पार्श्वेषु लग्नास्ते भाण्डस्य रूक्षतया झटित्येव शोषमुपयान्ति, स्निग्धे तु भाण्डे भाण्डमस्य स्निग्धतया चिरकालम् । ततः प्रथमादेशवादिनां मते रूक्षे भाण्डे विन्दूनामपगमे परमार्थतो मिश्रस्याप्यचित्तत्वसंभावनया ग्रहणप्रसंगः । स्निग्धे तु भाण्डे परमार्थतोऽचित्तस्यापि विन्दुनामपगमे मिश्रत्वेन संभावनया न ग्रहणमिति । तथा वुट्ठुदा अपि प्रचुरखरपवनसंपर्कतो झटिति विनाशमुपगच्छन्ति, प्रचुरखरपवनसंपर्काभावे तु चिरमप्यवतिष्ठन्ते, ततो द्वितीयादेशवादिनामपि मतेयदा खरप्रचुरपवनसंपर्कात् झटिति विनाशमैयरुवुद्वुदास्तदा परमार्थतो मिश्रस्याऽपि तन्दुलादेकस्याचित्तत्वेन संभावनया ग्रहणप्रसङ्गः । यदा तु खरप्रचुरपवनसंपर्काभावे चिरकालमप्यवतिष्ठन्ते वुद्वुदास्तदा परमार्थतोऽचित्तभूतस्यापि तन्दुलोदकस्य वुदवुददर्शनतो मिश्रत्वशङ्कायां न ग्रहणमिति । येऽपि तृतीयादेशवादिनस्तेऽपि न परमार्थे पर्यालोचित्रवन्तः, तन्दुलानां चिरकालपानीबभिन्नाभिन्नत्वेन पाकस्य नियतकालत्वात् । तथाहि-येचिरकालसलिलभिन्नास्तन्दुला न च नवीना इन्धनादिसामग्री च परिपूर्णा ते सत्वरमेव निष्पद्यन्ते, शेषासु मन्दं, *ततस्तेषामपि मतेन* कदाचिन्मिश्रस्याप्यचित्तत्वसंभावनया ग्रहणप्रसङ्गः कदाचित्पुनरचित्तीभूतस्यापि मिश्रत्वशङ्कासंभवादग्रहणमिति त्रयोऽप्यनादेशाः ।

संप्रति यः प्रवचनाविरोधी आदेशः प्रागुपदिष्टस्तं विभावयिषुराह -

जाव न वहु प्पसन्नं, ता मीसं एस इत्थ आएसो ।
होइ पमाणमचित्तं, बहुप्पसन्नं तु नायव्वं ॥२३॥

यावत्तन्दुलोदकं न वहु प्रसन्नं नातिस्वच्छीभूतं तावन्मिश्र

मवगन्तव्यम्। एषोऽत्र मिश्रविचारप्रक्रमे भवत्यादेशः प्रमाणं, न शेषं, यत्तु बहुप्रसन्नमतिस्वच्छीभूतं तदचित्तं ज्ञातव्यम्। ततोऽचित्तत्वेन तस्य ग्रहणे न कश्चिद्दोषः। पिं०। कल्प०। आचा०।बृ०।

चाउल्लग न० (देशी)। पुरुषपुत्तलके, नि० चू०१ उ०।

चाउव्वण्ण न० (चातुर्वर्ण)। चत्वारो वर्णाः प्रकाराः श्रमणादयो यस्मिन् स तथा स एव स्वार्थिकाण् विधानाच्चातुर्वर्ण्यम्। स्था०५ ठा०२ उ०। श्रमणश्रमणीश्रावकश्राविकाचतुष्टयरूपे सङ्घे, स्था०५ ठा०२ उ०। ब्राह्मणादिलोके, भ०१५ श०१ उ०।

चाउव्वण्णाइण्ण त्रि० (चातुर्वर्णाकीर्ण)। चत्वारो वर्णाः श्रमणादयः समाहृता इति चतुर्वर्ण, तदेव चातुर्वर्ण्यम्। तेनाकीर्ण आकुलश्चातुर्वर्णाकीर्णः। अथवा-चत्वारो वर्णाः प्रकारा यस्मिन्स्त तथा, दीर्घत्वं प्राकृत्वात्, चतुर्वर्णश्चासावाकीर्णश्च क्षमाज्ञानादिभिर्महागुणैरिति चतुर्वर्णाकीर्णः। तथाविधे सङ्घे, "समणस्स भगवओ महावीरस्स चाउव्वन्नाइन्ने संघे। तं जहा-समणा, समणीओ, सावगा, साविगाओ।" स्था०१० ठा०। भ०।

चाउव्वेज्ज न० (चातुर्वेद्य)। चतुर्णां विद्यानां समाहारे, स्या०१ श्लो०।

चाग पुं० (त्याग)। प्राज्झने, पं० व०।

त्यागशब्दार्थं व्याचिख्यासुराह -

चागो इमेसि सम्मं, मणवयकाएहिँ अप्पवित्तीओ।
एसा खलु पव्वज्जा, मुक्खफला होइ निअमेणं ॥८॥

त्यागः प्रोज्झनम्, अनयोरारम्भपरिग्रहयोः, सम्यक् प्रवचनोक्तेन विधिना मनोवाक्कायैः त्रिभिरप्यप्रवृत्तिरेव, आरम्भे परिग्रहे च मनसा वाचा कायेन प्रवर्त्तनमिति भावः। एषा खल्विति। एषैव प्रव्रज्या यथोक्तस्वरूपा मोक्षफला भवति, मोक्षः फलं यस्याः सा मोक्षफला भवति नियमेनावश्यंतया, भावमन्तरेणारम्भादौ मनः प्रवृत्त्यसंभवादिति गाथार्थः ॥८॥

अधुनैतत्पर्यायानाह-

पव्वज्जा निक्कमणं, समया चाओ तहेव वेरग्गं।
धम्मचरणं अहिंसा, दिक्खा एगट्ठियाइं तु ॥९॥

प्रव्रज्या निरूपितशब्दार्था, निष्क्रमणं द्रव्यभावसङ्गात्, समता सत्त्वेष्विष्टानिष्टेषु, त्यागो बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहस्य, तथैव वैराग्यं विषयेषु, धर्म्मचरणं क्षान्त्याद्यासेवनम्, अहिंसा प्राणिघातवर्जनं, दीक्षा सर्वसत्त्वाभयप्रदानेन भावत्वम्। एकार्थिकानि तु एतानि प्रव्रज्याया एकार्थिकानि, तुर्विशेषणार्थः शब्दनयाभिप्रायेण, समभिरूढनयाऽभिप्रायेण तु नानार्थान्येव, अभिन्नप्रवृत्तिनिमि-तत्वात्सर्वशब्दानामिति गाथार्थः। पं० व०१ द्वार।

अथ त्यागाष्टकम् -

"संयतात्मा श्रयेच्छुद्धो-पयोगं पितरं निजम्।
धृतिमम्बां च पितरौ, तन्मां विसृजत ध्रुवम् ॥१॥
युष्माकं संयमोऽनादि-र्बन्धवो नियतात्मनाम्।
ध्रुवैकरूपान् शीलादि-बन्धूनित्यधुना श्रयेत् ॥२॥
कान्ता मे शमता चैका, ज्ञातयो मे समक्रियाः।
बाह्यवर्गमिति त्यक्त्वा, धर्मसंन्यासवान् भवेत् ॥३॥
धर्मास्त्याज्याः सुसङ्गोत्थाः, ज्ञायोपशमिका अपि।
प्राप्य चन्दनगन्धाभं, धर्मसंन्यासमुत्तमम् ॥४॥
गुरुत्वं स्वस्य नोदेति, शिक्षा स्वात्म्यवे यावता।
आत्मतत्त्वप्रकाशेन, तावत् सेव्यो गुरूत्तमः ॥५॥
ज्ञानाचारादयोऽपीष्टाः शुद्धस्वस्वपदावधि।
निर्विकल्पे पुनस्त्यागे, न विकल्पो न वा क्रिया ॥६॥
योगसंन्यासतस्त्यागी, योगानप्यखिलाँस्त्यजेत्।
इत्येवं निर्गुणं ब्रह्म, परोक्तमुपपद्यते ॥७॥
वस्तुतस्तु गुणैः पूर्ण-मनन्तैर्भासते स्वतः।
रूपं त्यक्ताऽऽत्मनः साधो-र्निरभ्रस्य विधोरिव" ॥८॥
इति त्यागाष्टकम्। अष्ट०८ अष्ट०। परिहारे, पञ्चा०२ विव०।

चागाणुरूव त्रि० (त्यागानुरूप)। परिहारोचिते, द्वा०१८ द्वा०।

चामुकर त्रि० (चाटुकर)। प्रियवादिनि, औ०। प्रियम्वदे, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०। प्रश्न०।

चाडो देशी मायाविनि, दे० ना०३ वर्ग।

चाणक्क पुं० (चाण (णि)क्य)। चणकग्रामे जातः, चणकस्य द्विजस्यापत्यं वा चाणक्यश्चाणिक्यो वा।

तदुत्पत्तिश्चैवम् -

गोल्लासदेशेऽस्ति चणक-ग्रामस्तत्र चणी द्विजः।
श्रावकः स च तद्गेहे, विद्यन्ते साधवः स्थिताः ॥१॥
सदनतोऽस्य सुतो जातः, सूरिपादेषु पातितः।
तैरूचेऽसौ नृपो भावी, स दध्यौ पापकृन्नृपः ॥२॥
घृष्टा तस्य रदा नाख्यद्, गुरूणां तेऽभ्यधुः पुनः।
भविष्यति तथाऽप्येष, बिम्बान्तरितराज्यकृत् ॥३॥
विद्यास्थानानि सोऽध्यापि, पाठयोग्यश्चतुर्दश।
व्यवाहि च सुतां वैंप्रीं, पिताऽथ प्राप पञ्चताम् ॥४॥
चाणिक्यस्य प्रियाऽथागाद्, बन्धूद्वाहे पितुर्गृहम्।
स्वसारोऽन्याः पुनस्तस्याः, अलङकृतविभूषिताः ॥५॥
आयाता गौरवं प्राप्ताः, सा पुनः कर्मकारिका।
खिन्ना सा स्वगृहेऽथागात्, पत्या पृष्टाऽऽदराज्जगौ ॥६॥
स दध्यौ निःस्वभार्येत्य-भिभूता तैः स्वपुत्र्यपि।
ददाति पाटलीपुत्रे, नन्दस्तत्राथ सोऽगमत् ॥७॥
ततः कार्तिकराकायां, प्रगे न्यस्तान्युपाविशत्।
नन्दाऽर्थं चास्ति तन्नयस्तं, निमित्ती नन्दमूचिवान् ॥८॥
द्विजोऽयं नन्दवंशस्य, छायामाक्रम्य तस्थिवान्।
दास्यूचेऽत्राऽऽस्यतां विप्र ! सोऽमुचत्तत्र कुण्डिकाम् ॥९॥
तृतीये दण्डिकां न्यस्था चतुर्थे जपमालिकाम्।
धृष्टोऽयमिति विज्ञाय, कृष्टो धृत्वा पदेऽथ सः ॥१०॥
सोऽथ कुद्धो विप्रोऽवादीत्-
कोशैश्च भृत्यैश्च निबद्धमूलं,
पुत्रैश्च मित्रैश्च विवृद्धाशाखम्।
उत्पाट्य नन्दं परिवर्त्तयामि,
महाद्रुमं वायुरिवोग्रवेगः ॥११॥
दध्यौ गुरुभिरुक्तोऽस्मि, बिम्बान्तरितराज्यकृत्।
राज्ययोग्यस्य कस्यापि, प्रेक्षार्थं सोऽथ निर्ययौ" ॥१२॥ आ० क०। आ० म०। नं०। आचा०। संथा०। आ० म०। आ० चू०। स्था०। विशे०। ती०। सूत्र०। आव०। (नन्दं वञ्चयित्वा चन्द्रगुप्तं राज्ये प्रतिष्ठापितवान् इति 'चंदगुत्त' शब्देऽस्मिन्नवे भावे १०६८ पृष्ठे समुक्तम्)

चाणिक्क पुं० (चाणक्य)। 'चाणक्क' शब्दार्थे, आ० क०।

चामर न० (चामर)। चमरपुच्छे, ज्ञज्ञ०१६ अ०। प्रकीर्णके, स०३४ सम०। ज्ञा०। औ०। रा०।

चामरज्झय पुं० (चामरध्वज)। चामरयुक्तध्वजायाम्, औ०।

चामरधारपडिमा स्त्री० (चामधारप्रतिमा)। चामरधारिण्यां प्रतियामाम्, जिनप्रतिमानां प्रत्येकमुभयोः पार्श्वयोर्द्वे द्वे चामरधारप्रतिमे प्रज्ञप्ते। जी १ प्रति०। रा०।

चामरा स्त्री० (चामरा)। चमरीपुच्छे, भ० "णाणामणिकणगरयण-विमलमहरिहतवणिज्जुज्जलविचित्तदंडाओ चिल्लियाओ संखककुंददग-रयअमियमहियफेणपुंजसण्णिगासाओ धवलाओ चामराओ गहाय सलीलं वीयमाणीओ २ चिट्ठंति" यद्यपि चामरशब्दो नपुंसकलिङ्गे रूढस्तथापीह स्त्रीलिङ्गतया निर्दिष्टः, तथैव क्वचिद्रूढत्वादिति। भ०६ श०३३ उ०। जी०॥

चामीकर न० (चामीकर)। कनके, दर्श०। आ० म०।

चामीकररइय त्रि० (चामीकररचित)। सुवर्णरचिते सुवर्णमये, कल्प०२ क्षण।

चामुंडराय पुं० (चामुण्डराज)। ९०० शके वर्त्तमाने जिनसेनभट्टारकशिष्ये दिगम्बराचार्ये, जै० इ०।

चामुंडा स्त्री० (चामुण्डा)। निहतचण्डमुण्डायां भगवत्याम्, विशे०। आ० म०।

चायंत त्रि० (शक्नुवत्)। समर्थे, सूत्र०१ श्रु०३ अ०१ उ०।

चार पुं० (चार)। चरणं चारः। अनुष्ठाने, आचा०१ श्रु०५ अ०३ उ०। नि० चू०। प्रश्न०। संचरणे, औ०। चरन्ति भ्रमन्ति ज्योतिष्कविमानानि यत्र स चारः। समस्ते ज्योतिष्कक्षेत्रे, व्युत्पत्त्यर्थमात्रानपेक्षणेन शब्दप्रवृत्ति-निमित्ताश्रयणात्। स्था०२ ठा०२ उ०। परिभ्रमणे, स०१२ सम०। मण्डलगत्या परिभ्रमणे, सु० प्र०१० पाहु० ('जोइसिय' शब्देस्य विस्तरः)

चारो चरिया चरणं, एगट्ठं वंजणे तहिं छक्कं।
दव्वं तु दारुसंकम-जलथलचारादियं वहुहा ॥४५॥

(चार इति) 'चर' गतिभक्षणयोः, भावे घञ् (चर्येति) **"गदमदचरम-श्चानुपसर्गे" ॥३।१।१००॥** इत्यनेन कर्म्मणि भावे वा यत्, (चरणमिति) भावे ल्युट्, एकोऽभिन्नोऽर्थोऽस्येत्येकार्थम् किं तद् ? व्यञ्जन-व्यज्यते आविष्क्रियते अर्थोऽनेनेति व्यञ्जनं शब्द, इत्येतत् पूर्वोक्तं शब्दत्रयमेकार्थम्, एकार्थत्वाच्च न प्रथमनिक्षेपः, तत्र चारनिक्षेपे षट्कंचारस्य, षट्प्रकारो निक्षेप इत्यर्थः। तद्यथा-नामस्थापनेत्यादि। तत्र सुगमत्वात् नामस्थापने अनादृत्य ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं द्रव्यचारं गाथाशकलेन दर्शयति-(दव्वं तु त्ति) तुशब्दः पुनः शब्दार्थे, द्रव्यं पुनरेवंभूतं भवति-दारुसंक्रमश्च जलस्थलचारश्च दारुसंक्रमजलस्थलचारौ, तावादी यस्य तद्दारुसंक्रमजलस्थल-चारादिकं, बहुधा अनेकधा, तत्र दारुसंक्रमो जले सेत्वादिः क्रियते, स्थले वा गर्तालङ्गनादिकः, जलचारो नावादिना, स्थलचारोरथादिना, आदिग्रहणात्प्रासादादौ सोपानङ्क्त्यादिरिति, गज्जले सेत्वादिना देशान्तरावासये द्रव्यं स द्रव्यचारा इति गाथार्थः ॥४५॥

सम्प्रति क्षेत्रादिकमाह -

खेत्तं तु जम्मि खित्ते, कालो काले जहिं भवे चारो।
भावम्मि नाणदंसण-चरणं तु पसत्थमपसत्थं ॥४६॥

क्षेत्रं पुनर्यस्मिन्क्षेत्रे चारः क्रियते, यावद्वा क्षेत्रं चर्यते, स क्षेत्रचारः, कालस्तु यस्मिन्काले चरति, यावन्तं वा कालं, स कालचारः, भावे तु द्विधा चरणं-प्रशस्तमप्रशस्तं च। तत्र प्रशस्तं ज्ञानदर्शनचरणान्य-तोऽन्यदप्रशस्तं गृहस्थान्यतीर्थिकाणामिति गाथार्थः ॥४६॥

तदेवं सामान्यतो द्रव्यादिकं चार प्रदर्श्य प्रकृतो-पयोगितायाः यतेर्भावचारं प्रशस्तं प्रश्नद्वारेण दर्शयितुमहा-

लोगे चउव्विहम्मी, समणस्स चउव्विहो कहं चारो ?
होइ धिती तहिगारो, विसेसओ खित्तकालेसु ॥४७॥

लोके चतुर्विधे द्रव्यक्षेत्रकालभावरूपे श्रमणस्य श्रोष्यतीति श्रमणो यतिस्तस्य, कथंभूतो द्रव्यादिश्चतुर्विधश्चारः स्यादिति प्रश्ननिर्वचन-माह-भवति धृतिरित्येषोऽधिकारः, द्रव्ये तावदर सविरसप्रान्तरूक्षादिके धृतिर्भावयितव्या, क्षेत्रेऽपि कुतीर्थि कभाविते प्रकृत्यभद्रके वा नोद्वेगः कार्यः, कालेऽपि दुष्कालादौ यथालाभसन्तोषिणा भाव्यं, भावेऽप्याक्रोशोपहसनादौ नोद्दीपितव्यम्, विशेषतस्तु क्षेत्रकालयारेरवमयोरपि धृतिर्भाव्या, द्रव्यभावयोरपि प्रायशस्तन्निमित्तत्वात् ॥४७॥

पुनरपि द्रव्यादिकविशेषतो यतेश्चारमाह-

पावोवरए अपरि-ग्गहे य गुरुकुलनिसेवए जुत्ते।
उम्मग्गवज्जए रा-गदोसविरए य से विहरे ॥४८॥

पापोपरतः पापात् पापहेतोः सावद्यानुष्ठानात् हिंसाऽनृताऽदत्ता-ऽऽदानाऽब्रह्मरूपादुपरतः पापोपरतः, तथा न विद्यते परिग्रहो अस्येत्यपरिग्रहः। पापोपरतोऽपरिग्रहश्चेति द्रव्यचारः। क्षेत्रचारमाह-गुरोः कुलं गुरुसान्निध्यं, तत्सेवने युक्तः समन्वितो यावज्जीवं गुरूपदेशादिनेत्यनेन कालचारः प्रदर्शितः। सर्वकालं गुरूपदेशविधाय-त्वोपदेशाद्भावचारमाह-उद्गतो मार्गादुन्मार्गोऽकार्याचरणं तद्वर्जकः, तथा रागद्वेषविरतः स साधुर्विहरेत् संयमानुष्ठानं कुर्यादिति गता निर्युक्तिः। आचा०१ श्रु०५ अ०१ उ०। कलाभेदे, जं०२ वक्ष०। वृक्षविशेषे, येषु चारकुतिका उत्पद्यते। अनु०। तत्फले, न०। प्रज्ञा०१६ पद।

चारग न० (चारक)। वन्दिप्रभृतीनामवस्थापनार्थं गृहविशेषे, दशा०६ अ०। कल्प०। कारागृहे, आव०१ अ०। गुप्तिगृहे, स्था०६ ठा०। व्य०। भरतस्य साम्राज्यानुभवनकाले चतुर्विधा दण्डनीतिरभूत्, तत्र तृतीया चारकलक्षणा भरतेन माणवकविधिं परिभाव्य प्रवर्तिता, सा गुरुतरापराधविषया। आ० म० प्र०। गुप्तौ, औ०। आ० म०।

चारगपरिसोहण न० (चारकपरिशोधन)। चारकशब्देन कारागृहमुच्यते, तस्य शोधनं शुद्धिः। वन्दिविमोचने, भ०११ श०११ उ०। कल्प०।

चारगपाल पुं० (चारकपाल)। गुप्तिरक्षके, विपा०१ श्रु०६ अ०।

चारट्ठिइय पुं० (चारस्थितिक)। चारे ज्योतिश्चक्रे क्षेत्रे स्थितिरेव येषां ते चारस्थितिकाः। समयक्षेत्रबहिर्वर्तिषु घण्टाकृतिषु ज्योतिष्केषु, स्था०२ ठा०२ उ०। भ०। चारस्य यथोक्तस्वरू-

पस्य स्थितिरभावो येषां ते चारस्थितिकाः अपगतचारेषु, सू० प्र०१६ पाहु०। जी०।

चारण पुं० (चारण)। चरणं गमनं तद् विद्यते येषां ते चारणाः। **"ज्योत्स्नादिभ्योऽण्"** ॥७।२।३४॥ इति मत्वर्थीयोऽण् प्रत्ययः। तत्र गमनमन्येषामप्यस्ति ततो विशेषणान्यथाऽनुपपत्था चरणामिह विशिष्टम् आकाशे गमनमागमने वाऽभिगृह्यतेऽत एवातिशयितो मत्वर्थीयोऽयम्, यथा रूपवती कन्येत्यत्र। अतिशयितगमनागमन-लब्धिसपन्नेषु, आ० म० प्र०। आव०। नं०। आ० चू०। भ०। साधुविशेषेषु, विशे०। औ०।

कइविहा णं भंते ! चारणा पण्णत्ता ? गोयमा ! दुविहा चारणा पण्णत्ता। तं जहा-विज्जाचारणा य, जंघाचारणा य। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ - विज्जाचारणा, वि०२ ? गोयमा ! तस्स णं छट्ठं छट्ठेणं अणिक्खित्तेणं तओकम्मेणं विज्जाएसु उत्तरगुणलद्धिखम-माणस्स विज्जाचारणलद्धी णामं लद्धी समुप्पज्जइ, से तेणट्ठेणं० जाव विज्जा चारणा, वि०२। विज्जाचारणस्स णं भंते ! कहं सीहागई, कहं सीहे गइविसए पण्णत्ते ? गोयमा ! अयं णं जंबुद्दीवे दीवे० जाव किंचि विसेसाहिए परिक्खेवेणं देवेणं महिड्ढीए० जाव महेसक्खे० जाव इणामेव त्ति कट्टु केवलकप्पं जंबुद्दीवं दीवं तिहिं अच्छिराणिवाएहिं तिक्खुत्तो अणुपरियट्टित्ता णं हव्वमागच्छेज्जा। विज्जाचारणस्स णं तहा सीहागई तहा सीहे गइविसए पण्णत्ते। विज्जाचारणस्स णं भंते ! तिरियं केवइयं गतिविसए पण्णत्ते ? गोयमा ! से णं एगेणं उप्पाएणं माणसुत्तरे पव्वए समोसरणे करेइ, करेइत्ता तहिं चेइयाइं वंदइ, वंदइत्ता वितिएणं उप्पाएणं णं दिस्सरवरदीये समोसरणं करेइ, करेइत्ता तहिं चेइयाइं वंदइ, वंदइत्ता तओ पडिणियत्तइ, पडिणियत्तइत्ता इहमागच्छइ, मागच्छइत्ता इहं चेइयाइं वंदइ, विज्जाचारणस्स णं गोयमा ! तिरियं एवइए गतिविसए पण्णत्ते। विज्जाचारणस्स णं भंते ! उड्ढं केवइए गतिविसए पण्णत्ते ? गोयमा ! से णं इओ एगेणं उप्पाएणं णंदणवणे समोसरणं करेइ, करेइत्ता तहिं चेइयाइं वंदइ, वंदइत्ता तओ पडिणियत्तइ, पडिनियत्तइत्ता इहमागच्छइ, मागच्छइत्ता इहं चेइयाइं वंदइ, विज्जाचारस्स णं गोयमा ! उड्ढं एवइयं गइविसए पण्णत्ते। से णं तस्स ट्ठाणस्स अणालोइयपडिक्कंते कालं करेइ, णत्थि तस्स आराहणा। से णं तस्स ट्ठाणस्स आलोइयपडिक्कंते कालं करेइ, अत्थि तस्स आराहणा। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-जंघाचारणा, जं०२। गोयमा ! तस्स णं अट्ठमं अट्ठमेणं अणिक्खित्तेणं तओकम्मेणं अप्पाणं भावेमाणस्स जंघाचारणलद्धी णामंलद्धी समुप्पज्जइ, से तेणट्ठेणं० जाव जंघाचारणा, जंघा०२। जंघा चारणस्स णं भंते ! कहं सीहागती, कहं सीहे गतिविसए पण्णत्ते ? गोयमा ! अयं णं जंबुद्दीवे दीवे एवं जहेव विज्जाचारणस्स, णवरं तिसत्तक्खुत्तो अणुपरियट्टित्ता णं हव्वमागच्छेज्जा, जंघाचारणस्स णं गोयमा ! तहा सीहागई तहा सीहे गतिविसए पण्णत्ते, सेसं तं चेव। जंघाचारणस्स णं भंते ! तिरियं केवइए गतिविसए पण्णत्ते ? गोयमा ! से णं इओ एगेणं उप्पाएणं रुयगवरे दीवे समोसरणं करेइ, करेइत्ता तहिं चेइयाइं वंदइ, वंदइत्ता तओ पडिणियत्तमाणे वितिएणं उप्पाएणं णंदीसरवरे दीवे समोसरणं करेइ, करेइत्ता तहिं चेइयाइं वंदइ, वंदइत्ता इहं हव्वमागच्छइ, इहं चेइयाइं वंदइ, जंघाचारणस्स णं गोयमा ! तिरियं एवइए गइविसए पण्णत्ते। जंघाचारणस्स णं भंते ! उड्ढं केवइए गतिविसए पण्णत्ते ? गोयमा ! से णं इओ एगेणं पंडगवणे समोसरणं करेइ, करेइत्ता तहिं चेइयाइं वंदइ, वंदइत्ता तओ पडिणियत्तमाणे वितिएणं उप्पाएणं णंदणवणे समोसरणं करेइ, करेइत्ता तहिं चेइयाइं वंदइ, वंदइत्ता इहमागच्छइ, मागच्छइत्ता इह चेइयाइं वंदइ, जंघाचारणस्स णं गोयमा ! उड्ढं एवइए गतिविसए पण्णत्ते। से णं तस्स ट्ठाणस्स अणालोइयपडिक्कंते कालं करेइ, णत्थि तस्स आराहणा। से णं तस्स ट्ठाणस्स आलोइयपडिक्कंते कालं करेइ, अत्थि तस्स आराहणा। सेवं भंते ! भंते त्ति ॥

ते च द्विभेदाःजङ्घाचारणाः, विद्याचारणश्च। तत्र ये चारित्रतपोविशेष-प्रभावतः समुद्भूतगमनागमनविषयलब्धिसंपन्नास्ते जङ्घाचारणाः। ये पुनर्विद्यावशतः समुत्पन्नगमनागमनलब्धयस्ते विद्याचारणाः। जङ्घाचारणाश्च रुचकवरद्वीपं यावत् गन्तुं समर्थाः, विद्याचारणा नन्दीश्वरं, तत्र जङ्घाचारणा यत्र कुत्रापि गन्तुमिच्छवस्तत्र रविकरानपि निस्त्रीकृत्य गच्छन्ति, विद्याचारणास्त्वेवमेव। जङ्घाचारणश्च रुचकवरद्वीपं गच्छन् एकेनैवोत्पातेन गच्छति, प्रतिनिवर्तमानस्त्वेकेनै-वोत्पातेन नन्दीश्वरमायाति, द्वितीयेन स्वस्थानं, यदि पुनर्मेरुशिखरं जिगमिषुस्तर्हि, प्रथमेनैवोत्पातेन पण्डकवनमधिरोहति, प्रतिनिवर्त्तमा-नस्त्वेकेनेति प्रथमेनोत्पातेन नन्दनवनमागच्छति द्वितीयेन स्वस्थान-मिति, जङ्घाचारणो हि चारित्रातिशयप्रभावतो भवति, ततो लब्ध्युप-जीवेन औत्सुक्यभावतः प्रमादसंभवात् चारित्रातिशयनिबन्धना लब्धिरपि हीयते, ततः प्रतिनिवर्तमानो द्वाभ्यामुत्पाताभ्यां स्वस्थान-मायाति, विद्याचारणः पुनः प्रथमेनोत्पातेन मानुषोत्तरं पर्वतं गच्छति, द्वितीयेन तु नन्दीश्वरं, तत्र च गत्वा चैत्यानि वन्दते, ततः प्रतिनिवर्त्तमान-स्त्वेकेनैवोत्पातेन स्वस्थानमायाति। तथा मेरुं गच्छन् प्रथमेनोत्पातेन नन्दनवनं गच्छति, द्वितीयेन पण्डकवनं, तत्रैव चैत्यानि वन्दित्वा ततः प्रतिनिवर्तमान एकेनैवोत्पातेन स्वस्थानमायाति। विद्याचारणो हि विद्याशयाद्भवति, विद्या च परिशील्यमाना स्फुटा स्फुटतरोपजायते ततः प्रतिनिवर्त्तमानस्य शक्त्यतिशयसंभवादेकेनैवोत्पातेन स्वस्थानाग-मनमिति।

उक्तं च -

"अइसयचरणसमत्था, जंघाविज्जाहि चारणा मुणयो।
जंघाहि जाइ पढमो, नीसं काउं रविकरे वि॥
एगुप्पाएण गतो, रुयगवरमितो ततो पडिनियत्तो।
विइएणं नंदिस्सर-मिहं ततो एइ तइएणं॥
पढमेण पंडगवणं, विइउप्पाएण नंदणं एइ।
तइउप्पाएण ततो, इह जंघाचारणो होइ॥
पढमेण माणुसोत्तर-नगम्मि नंदिस्सरं तु विइएणं।
एइ तओ तइएणं, कयचेइयवंदणो इहइं॥
पढमेण नंदणवणे, बीउप्पाएण पंडगवणम्मि।
एइ इहं तइएणं, जो विज्जाचारणो होइ" ॥ आ० म० प्र० । विशे० । प्रज्ञा० । जी० । पा० । स्था० । आ० चू० । अन्येऽपि बहुभेदाश्चारणा भवन्ति । तद्यथा-आकाशगामिनः पर्यङ्कासनावस्थानिषण्णाः कायोत्सर्गशरीरपादोत्- क्षेपयनिक्षेपक्रमादिना व्योमचारिणः, केचित्तु जलजङ्घाफलपुष्पपत्रश्रेण्यग्निशिखाधूमनीहारावश्यायमेघवारि-धारामर्कटकतन्तुज्योतीरस्मिपवनव्यालम्बनगतिपरिणामकुशलाः । तथाहि-जलमुपेत्य वापीनिम्नगासमुद्रादिष्वप्कायिकजीवानविराधयन्तो जले भूमाविव पादोत्क्षेपकुशलाः जलचारणाः १, भुव उपरि चतुरङ्गुलप्रमिते आकाशे जङ्घानिक्षेपोत्क्षेपनिपुणाः जङ्घाचारणाः २, नानाद्रुमफलान्युपादाय फलाश्रयप्राण्यविरोधेन फलतले पादोत्क्षेप-निक्षेपकुशलाः फलचारणाः ३, नानाद्रुमलतागुल्मपुष्पाण्युपादाय पुष्पसूक्ष्मजीवानविराधयन्तः कुसुमतलदलावलम्बनसंसर्गतया पुष्पचारणाः ४, नानावृक्षगुल्मबीरुल्लतावितानप्रवालतरुणपल्ल-वालम्बनेन पर्णसूक्ष्मजीवानविराधयन्तः चरणोत्क्षेपनिक्षेपपटवः पत्रचारणाः ५, चतुर्योजनशतोच्छ्रितस्य निषधस्य नीलस्य वाऽद्रेष्टङ्कछिन्ना श्रेणिमुपादायोपर्यधो वा पादनिक्षेपोत्क्षेपपूर्वकमुत्तर-णावतरणनिपुणाः श्रेणिचारणाः६, अग्निशिखामुपादाय तेजः कायिकानविराधयन्तः स्वयमदह्यमानाः पादविहारनिपुणा अग्निशिखा-चारणाः ७, धूमवर्ति तिरश्चीनामूर्द्ध्वगां वा आलम्ब्यास्खलितगमना-स्पन्दिनो धूमचारणाः ८, नीहारमवष्टभ्याप्कायिकपीडामजनयन्तो गतिमसङ्गामश्नुवाना नीहारचारणाः ९, अवश्यायमाश्रित्य तदाश्रय-जीवानुपरोधेन यान्तोऽवश्यायचारणाः १०, नभोवर्त्मनि प्रविततजल-धरपटलपटास्तरणे जीवानुपघातिचङक्रमणप्रभवा मेघचारणाः ११, प्रावृष्येण्यादिजलधरादेर्विनिर्गतवारिधाराऽवलम्बनेन प्राणिपीडा-मन्तरेण यान्तो वारिधाराचारणाः १२ कुब्जवृक्षान्तरालभाविनभः प्रदेशेषु कुब्जवृक्षादिसंबद्धमर्कटतन्त्वालम्बनपादोद्धरणनिक्षेपावदाना मर्कटतन्तूनच्छिन्दयन्तो मर्कटकतन्तुचारणाः १३, चन्द्रार्कग्रहनक्षत्रा-द्यन्यतमज्योतीरस्मिसंबन्धेन भुवीव पादविहारकुशला ज्योतीरस्मि-चारणाः १४, पवनेष्वनेकदिग्मुखोन्मुखेषु प्रतिलोमानुलोमवर्तिषु तत्प्रदेशावलीमुपादाय गतिमस्खलितचरणविन्यासा नभसि यान्तो वायुचारणाः १५। इति चारणाश्च सातिरेकानि सप्तदशयोजनसहस्राणि ऊर्द्धमुत्पत्य पश्चात्तिर्यगागच्छन्ति । उक्तं च समवायाङ्गे-"इमीसे णं रयणप्पभाए पुढवीए बहुसमरमणिज्जाओ भूमिभागाओ साइरेगाइं सत्तरस जोअणसहस्साइं उड्ढं उप्पइत्ता तओ पच्छा चारणाणं तिरियं गती य वत्तति त्ति" ग०२ अधि०।

चारणगण पुं० (चारणगण)। श्रीगुप्तार्यान्निर्गते स्वनामख्याते वीरतीर्थी-यानामेककक्रियावाचनानां साधूनां समुदाये, स्था०९ ठा०।

थेरेहिंतो णं सिरिगुत्तोहिंतो हारियसगोत्तेहिंतो इत्थ णं चारणगणे नामं गणे निग्गए। तस्स णं इमाओ चत्तारि साहाओ, सत्त य कुलाइं एवमाहिज्जंति। से किं तं साहाओ ? एवमाहिज्जंति। तं जहा-हारिअमालागारी १, संकासिआ २, गवेधुआ ३, वज्जनागरी ४, सेत्तं साहाओ। से किं तं कुलाइं ? एवमाहिज्जंति। तं जहा-

"पढमित्थ वच्छलिज्जं, बीअं पुण पीइधम्मिअं होइ।
तइअं पुण हालिज्जं, चतुत्थयं पूसमित्तिज्जं॥१॥
पंचमगं मालिज्जं, छट्ठं पुण अज्जवरेयं होइ।
सत्तमगं कण्हसहं, सत्त कुला चारणगणस्स २" कल्प०८ क्षण।

चारणपुंगव पुं० (चारणपुङ्गव)। चारणप्रधाने, प्रति०।

चारणभावणा स्त्री० (चारणभावना)। ब० व० चारणशब्दे चारणस्योक्तं स्वरूपम्, चारणस्वरूपं भाव्यते सविस्तरं प्रतिपाद्यते यासु ताश्चारण-भावनाः। अङ्गबाह्यकालिकश्रुतभेदे, पा०। ताश्च षोडशवर्षपर्यायस्य दीयन्ते। पं०व०२ द्वार।

चारणलद्धि स्त्री० (चरणलब्धि)। लब्धिभेदे, यद्वशाच्चारणलब्धिर्विद्या-धरलब्धिश्च जायते। आ० चू०१ अ०। प्रव०।

चारणसमण पुं० (चारणश्रमण)। बहुविधैश्वर्यभूतलब्धिकलापोपेते महातपस्विनि, सूत्र०२ श्रु०२ अ०। तथा योगशास्त्रवृत्तिगतवसुराजा-धिकारे चारणश्रमणानां निशि गमनागमनं दृश्यतेऽतो निशि चारणश्रमणा व्योम्नि गमनागमनं कुर्वन्ति न वेति प्रश्ने, उत्तरम्- चारणश्रमणा निशि व्योम्नि गमनागमनं कुर्वन्ति, श्रीपार्श्वनाथचरित्रादावपि तथैव दर्शनादिति। ६५ प्र० सेन०१ उल्ला०।

चारपुरिस पुं० (चारपुरुष)। गुप्तिरक्षकेषु, आ०म०प्र०।

चारभड पुं० (चारभट)। राजपुरुषे, बृ०१ उ०। प्रश्न०। नि० चू०। चौरग्राहे, प्रश्न०३ आश्र० द्वार। आ० क०।

चारि स्त्री० (चारि)। भोजनसंपत्तौ, ध०३ अधि०। विशे०। नं०।

चारिचरकसंजीव-न्यचरकचारणविधानतश्चरमे।
सर्वत्र हिता वृत्ति-र्गाम्भीर्यात्समरसापत्त्या॥११॥

चारेश्चरको भक्षयिता, संजीवन्या औषधरेचरकोऽनुपभोक्ता, तस्य चारणमभ्यवहरणं, तस्य विधानं संपादनं, तस्माच्चारिचरकसं-जीवन्यचरकचारणविधानतः, चरमे भावनामयज्ञाने सति, सर्वत्र सर्वेषु जीवेषु हिता वृत्तिः हितहेतुः प्रवृत्ति, न कस्य चिदहिता। गाम्भीर्यादा-शयविशेषात् समरसापत्त्या सर्वानुग्रहरूपया, कयाचित् स्त्रिया कस्यचित् पुरुषस्य वशीकरणार्थं परिव्राजिकोक्तायथेमं मम वशवर्तिनं वृषभं कुरु, तया च किल कुतश्चित्सामर्थ्यात् स वृषभः कृतस्तं चारयन्ती पाययन्ती चास्ते, अन्यदा च वटवृक्षस्याऽधस्तान्निषण्णे तस्मिन् पुरुषगवे विद्याधरीयुग्ममाकाशमागमत्। तत्रैकयोक्तम्- अयं स्वाभाविको न गौः।

द्वितीययोक्तम्- कथमयं स्वाभाविको भवति ? तत्राद्ययोक्तम्-अस्य वटस्याधस्तात् संजीवनी नामौषधिरस्ति, यदि ता चरति तदाऽयं स्वाभाविकः पुरुषो जायते। तच्च विद्याधरीवचनं तया स्त्रिया समाकर्णितं, तया चौषधिं विशेषतो अजानानया सर्वामेव चारिं तत्प्रदेशवर्तिनीं सामान्येनैव चारितः, यावत्संजीवनीमुपभुक्तवान्, तदुपभोगानन्तरमेवासौ पुरुषः संवृत्तः। एवमिदं लौकिकमाख्यानकं श्रुयते। यथा तस्याः स्त्रियास्तस्मिन् पुरुषगवे हिता प्रवृत्तिः, एवं भावनाज्ञानसमन्वितस्यापि सर्वत्र भव्यसमुदाये अनुग्रहप्रवृत्तस्य हितैव प्रवृत्तिरिति॥ षो०११ विव०।

चारिसंजीवनीचार-न्याय एष सतां मतः।
नान्यथाऽत्रेष्टासिद्धिः स्यात्, विशेषेणाऽऽदिकर्मणाम्॥११६॥

चारेः प्रतीतरूपाया मध्ये संजीवन्यौषधिविशेषश्चारिसंजीवनी, तस्याश्चारश्चरणं, स एव न्यायो दृष्टान्तश्चारिसंजीवनीचारन्यायः एषोऽविशेषेण देवतानमस्कणीयतोपदेशः सतां शिष्टानां मतोऽभिप्रेतः ॥११६॥ यो० विं०॥

चारित्त न० (चारित्र)। श्रामण्ये, संथा०। अष्टादशशीलाङ्गसहस्रनिष्प्रतिपत्तौ, पं० चू०। पं० ब०। स्थूलसूक्ष्मप्राणातिपातादिविरमणपरिणामाऽऽत्मके, आ० म० द्वि०। आचा०। क्रियारूपेऽर्थे, आव०६ अ०। सर्वसावद्ययोगकपरिहारनिरवद्ययोगसमाचाररूपेऽर्थे, ध०३ अधि०। बाह्ये सदनुष्ठाने, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०। निष्कारणं सदोषभुजां जघन्यतोऽपि चारित्रं स्यान्न वेति प्रश्ने, उत्तरम्-"जं किंचि वि पूइकडं, सट्ठीमागंतु ईहितं। सहस्संतरिअं भुंजे, दुपक्खं चेव सेवई॥१॥" इत्थादिश्रीसूत्रकृताङ्गादिवचनप्रामण्यान्मुख्यतस्तदभावः, परं सशूकनिःशूकादिपरिणामभेदेन गूढागूढालम्बननिरालम्बनक्त्वेन केषाञ्चित्कथमपि स्यादपि, न स्यादपि केषाञ्चिदत एव पार्श्वस्थादिष्वपि देशसर्वभेदेन भूयानधिकारः सिद्धान्ते प्रोक्तोऽस्तीति।१०१। प्र० सेन०२ उल्ला०। तथैकेन केनचिच्चारित्रं ब्रह्मचर्यादिव्रतं गृहीतं पश्चात्कर्मवशाद्भग्नम, अपरेण तु तद्भङ्गभयादेव न गृहीतं, तयोर्मध्ये को गुरुः कश्च लघुरिति साक्षरं प्रसाद्यमिति प्रश्ने, उत्तरम्- येन व्रतग्रहणवेलायां शुभाध्यवसायेन यत्कर्मार्जितं बोधिलाभस्वर्गायुर्बध्नाति तदर्जितमेव गौतमप्रतिबोधितहालिकवत् कर्मवशाच्च तद्भङ्गेऽपि निन्दागर्हाऽऽदिना नन्दिषेणादिवत शुद्धोऽपि स्थात्तदपेक्षया स लघुकर्मा, येन तु तद् भङ्गभयादेव न गृहीतं स गुरुकर्मा, तद्ग्रहणलाभाभावादिति, अन्यथा तु व्रतभंगे गुरुदोसो, थेरस्स वि पालणा गुणकरी अगुरुलाघवं च नेअं" ६७ प्र० सेन०३ उल्ला०।

चारित्तगिरिपज्जिया स्त्री० (चारित्रगिरिपद्धिका)। चारित्रं सर्वसावद्ययोगपरिहारनिरवद्ययोगसमाचाररूपं, तदेव गिरीः पर्वतस्तस्य पद्धिकेव पद्धिका। गृहिधर्मे, ध०। पद्धारोहेण पुमान् यथासुखेन महाशैलमारोहति तथा निष्कलङ्कानुपालितश्रमणोपासकाचारः सर्वविरतिं सुखेनावगाहत इति भावः। ध०२ अधि०

चारित्ततह न० (चारित्रतथ्य)। तपसि द्वादशविधे संयमे सप्तदशविधे सम्यगनुष्ठाने, सूत्र०२ श्रु०।

चारित्तपज्जव पुं० (चारित्रपर्यव)। ६त०। सर्वविरतिरूपपरिणामस्य बुद्धिकृते अविभागपलिच्छेदाविषयकृते वा पर्याये, भ०२५ श०६ उ०।

चारित्तपरिणाम पुं० (चारित्रपरिणाम)। सर्वविरतिपरिणतौ, पञ्चा०२ विव०। प्रव्रज्यास्थतत्त्वे, पं० व०४द्वार।

चारित्तपालण न० (चारित्रपालन)। चयरिक्तीकरणं चारित्रं तस्य पालनं यत्तत्तथा। सकलसमितिगुप्तिप्रत्युपेक्षणाद्यनुष्ठानकरणे, दर्श०।

चारत्तब्भस पुं० (चारित्रभ्रंश)। भ्रष्टचारित्रत्वे, (ग०)

अथ वाङमात्रेणापि भ्रष्टचारित्रस्य दण्डप्रतिपादनद्वारेण प्रस्तुतमेवाह-

वायामित्तेण वि ज-त्थ भट्ठचरियस्स निग्गहं विहिणा।
वहुलद्धिजुअस्सावी, कीरइ गुरुणा तयं गच्छं॥७१॥

वाङमात्रेणापि, किं पुनः कायेनेत्यपिशब्दार्थः। यत्र गच्छे भ्रष्टचरितस्य खण्डितचारित्रस्य साधोः (निग्गहं ति) नपुंसकत्वं प्राकृतत्वात् निग्रहो दण्डो विधिनाऽऽगमोक्तप्रकारेण, कथंभूतस्य बहुलब्धियुतस्यापि अनेकलब्धिसमन्वितस्यापि, क्रियते विधीयते, गुरुणाऽऽचार्येण, क्षुल्लकस्येव पित्रा, स गच्छः स्यादिति। ग०२ अधि०।

चारित्तभाव पुं० (चारित्रभाव)। चरणपरिणामे, पञ्चा०१७ विव०।

चारित्तभावणा स्त्री० (चारित्रभावना)। चारित्रस्य फलपर्यालोचनायाम्, आव०४ अ०। ("नवकम्माणायाणं, पोराणं णिज्जरं सुभादाणं। चारित्तस्य व णाए, झायमयत्तेण य समेइ॥३२॥" इति 'झाण' शब्दे व्याख्यास्यते)

चारित्तभेइणी स्त्री० (चारित्रभेदिनी)। कुतीर्थकज्ञानादिरूपायां विकथायाम्, न संभवन्तीदानीं महाव्रतानि साधूनां, प्रमादबहुलत्वादतिचारशोधकाचार्यतत्कारकशुद्धीनामभावादित्यादिरूपा। ध०३ अधि०। ग०।

चारित्तरसायण न० (चारित्ररसायन)। चरणशरीरस्य पुष्टिकरणात् रसायनोपमिते, पञ्चा०१० विव०।

चारित्तवंत त्रि० (चारित्रवत्)। साधौ, षो०१ विव०।

चारित्तविणय पुं० (चारित्रविनय)। चारित्रमेव विनयः, चारित्रस्य वा श्रद्धानादिरूपो, विनयश्चारित्रविनयः। विनयभेदे, "सामाइयादि चरण-स्स सद्दहणया तहेव कायेणं। संफासणं परूवण-मह परओ भववसत्ताणं।" स्था०७ ठा०। "से किं चारित्तविणए ? चारित्तविणए पंचविहे पण्णत्ते। तं जहा-सामाइअचारित्तविणए छेदोवट्ठावणिअचारित्तविणए परिहारविसुद्धिचारित्तविणए सुहुमसंपरायचारित्तविणए अहक्खायचारित्तविणए, से त्तं चारित्तविणए"॥ औ०॥

चरित्तविसोहि स्त्री० (चारित्रविशोधि)। चारित्रस्याचारपरिपालनतो विशुद्धौ, स्था०१० ठा०।

चारित्तसंका स्त्री० (चारित्रशङ्का)। पद्मचरिते जनन्या जैनरथकर्षणाभिग्रहप्राप्तदूननिर्गततापसाश्रमावस्थितजनमेजयनृपसुतामदनाबल्ल्यनुरागादिसकलचरित्रं हरिषेणचक्रिणः प्रोचे, श्रीउत्तराध्ययनवृत्तिश्राद्धविध्यादौ च महापद्मचक्रिचरित्रमिति कथमेतेषां संगतिर्विचारणीया, तत्कारितप्रासादस्य दर्शनेन हरिषेणसांनिध्यमेव संगतिमङ्गति, परमन्यपक्षे बहुग्रन्थ

सम्मतिरिति बह्वाऽऽरेका समुत्पद्यत इति प्रश्ने, उत्तरम्- अत्र मतान्तरमवसीयत इति ॥ ६० प्र० सेन०१ उल्ला०।

चारित्तसमाहि पुं० (चारित्रसमाधि)। अभ्युद्यतविहारमरणयोः चारित्रसमाधावपि विषयसुखनिस्पृहतया निष्किञ्चानोऽपि परं समाधिमाप्नोति। तथा चोक्तम्- "तणसंथारणिसण्णे, वि मुणिवरो भट्ठरागमयमोहो। जं पावइ मुत्तिपहं, कत्तो तं चक्कवट्टी वि॥" सूत्र०१ श्रु०१० अ०।

चारित्तायार पुं० (चारित्राचार)। समितिगुप्तिरूपे आचारभेदे, स्था०२ ठा०३ उ०। पञ्चा०। ध०। नं०।

पणिहाणजोगजुत्तो, पंचहि समिईहिँ। तिहिं च गुत्तीहिं।
एस चरित्तायारो, अट्ठविहो होइ नायव्वो॥१९१॥

प्राणिधानं चेतःस्वास्थ्यं तत्प्रधाना योगा व्यापाराः तैर्युक्तः समन्वितः प्रणिधानयोगयुक्तः। अयं चौघतोऽविरतसम्यग्दृष्टिरपि भवति। अत आह- पञ्चभिः समितिभिस्तिसृभिश्च गुप्तिभिर्यः प्रणिधानयोगयुक्तः एतद्योगयुक्त, एतद्योगवानेव। अथवा-पञ्चसु समितिषु तिसृषु गुप्तिष्वस्मिन् विषये एता आश्रित्य प्रणिधानयोगयुक्तो यः, एष चारित्राचारः, आचाराचारवतोः कथञ्चिदव्यतिरेकात् अष्टविधो भवति ज्ञातव्यः, समितिगुप्तिभेदात्। समितिगुप्तिरूपं च शुभप्रवीचाराप्रवीचाररूपं यथा प्रतिक्रमणे इति गाथार्थः। उक्तश्चारित्राचारः॥१९१॥ दश० ३ अ०।

चारित्ति (ण्) पुं० (चारित्रिन्)। शीलवति, पं० व०१ द्वार। निरतिचारचारित्रवति, ध०२ अधि०।

चारित्रिणः स्वरूपत आह -

मग्गणुसारी सड्ढो, पण्णवणिज्जो कियापरो चेव।
गुणरागी सक्कारं-भसंगओ तह य चारित्ती॥६॥

मार्गं, तत्पथमनुसरत्यनुयातीत्येवंशीलो मार्गानुसारीनिसर्गतस्तत्त्वानुकूलप्रवृत्तिः, चारित्रमोहनीयकर्मक्षयोपशमात्। एतच्च तत्त्वावाप्तिं प्रत्यबन्ध्यकारणं, कान्तारगतविवक्षितपुरप्राप्तिसद्योग्यतायुक्तस्येव, तथा श्राद्धःतत्त्वं प्रति श्रद्धावान्, तत्प्रत्यनीकक्लेशहासातिशयादवाप्तव्यमहानिधानतद्ग्रहणविधानोपदेशश्रद्धालुनरवत् विहितानुष्ठानरुचिर्वा तथा, अत एव कारणद्वयात् प्रज्ञापनीयःकथञ्चिदनाभोगादन्यथाप्रवृत्तौ तथाविधगीतार्थेन संबोधयितुं शक्यः, तथाविधकर्मक्षयोपशमादविद्यमानासदभिनिवेशः प्राप्तव्यमहानिधितद्ग्रहणादन्यथाप्रवृत्तसुकरसंबोधननरवत्तथा, अत एव कारणात्क्रियापरःचारित्रमोहनीयकर्मक्षयोपशमान्मुक्तिसाधनानुष्ठानकरणपरायणः तथाविधनिधानग्राहकवत्, चशब्दः समुच्चये, एवशब्दोऽवधारणे, एवं चानयोः प्रयोगः क्रियापर एव नाक्रियापरोऽपि सत्क्रियारूपत्वाच्चारित्रस्य, तथा गुणरागीविशुद्धाध्यवसायतया स्वगतेषु परगतेषु वा गुणेषु ज्ञानादिषु रागः प्रमोदो यस्यास्त्यसौ गुणरागी, निर्मत्सर इत्यर्थः। तथा शक्यारम्भसङ्गतः-कर्तुं शकनीयानुष्ठानयुक्तो, न शक्ये प्रमाद्यति, न चाशक्यमारभत इति भावः। तथा चेति समुच्चयार्थः। ततश्च मार्गानुसारितादिगुणयुक्तः शक्यारम्भसंगतश्चेति स्यात् चारित्री, सर्वतो देशतो वा चारित्रयुक्तो भवतीति गम्यमिति गाथार्थः॥६॥ पञ्चा०३ विव०।

चारिय पुं० (चारिक)। हैरिके, प्रश्न०२ आश्र० द्वार। बृ०। भाण्डिके, नि० चू०१ उ०।

चारु त्रि० (चारु)। शोभने, सू० प्र०२० पाहु०। उपा०। षो०। औ०। चारु शोभनमुल्लपितं च मन्मनभाषितादि, तत्सहगतमुखा-दिविकारोपलक्षणमेतत्, प्रेक्षितं चार्द्धकटाक्षवीक्षितादि, उल्लपितप्रेक्षितम्। उत्त०१६ अ०। औ०। चं० प्र०। विशिष्टचङ्क्रिमोपेते, रा०। तृतीयतीर्थकरस्य प्रथमशिष्ये, स०। नि०। प्रहरणविशेषे, जी०३ प्रति०।

चारुणिया स्त्री० (चारुणिका)। चारुणदेशोत्पन्नायां दास्याम्, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०।

चारुदत्त पुं० (चारुदत्त)। कुक्कुटेश्वरतीर्थकारकस्य ईश्वरनृपस्य जीवे, ती०५५ कल्प। ब्रह्मदत्तचक्रवर्त्तिना परिणीतायाः कात्यायनीनाम्न्याः कन्यायाः पितरि, उत्त०१३ अ०।

चारुदत्तदृष्टान्तश्चायम् -

अत्थिऽत्थ पवरनयरी, चंपा लुंपागलोगपरिमुक्का।
तत्थ य सिट्ठी भाणू, भाणू इव सुयणकमलाणं॥१॥
तस्स सुभद्दा गिहिणी, अइनिम्मलसीलधम्मवरधरणी।
पुत्तो य चारुदत्तो, सुदंतिदंतु व्व विमलगुणो॥२॥
मित्तेहि सह रमंतो, पयाणुसारेण खयरमिहुणस्स।
स कयावि कयलिगेहे, पत्तो पिच्छेइ असिफलगं॥३॥
तत्थ दुमेणं सद्धिं, दट्ठुं सव्वंगकीलियं खयरं।
तस्सासिकोसमज्झे, ओसहितियगं तहा तेण॥४॥
निस्सल्लो रूढवणो, सचेयणो ताहिँ ओसहीहिँ कओ।
सो जंपइ वेयड्ढे, गिरिम्मि सिवमंदिरपुरम्मि॥५॥
पुत्तो महिंदविक्कम-नरवइणोऽमियगइ त्ति खयरोऽहं।
धूमसिहवयस्सेणं, जुत्तो सेच्छाएँ कीलंतो॥६॥
हरिमंतपव्वयगओ, हिरण्णसोमस्स माउलस्स सुयं।
सुकुमालियं ति दट्ठुं, मयणत्तो तो गओ सपुरं॥७॥
मित्ताउ तयं नाउं, पिउणा परिणाविओ य तस्स सुयं।
अह धूमसिहो तीए, अहिलासी सो मए नाओ॥८॥
सुकुमालियाएँ तेण य, समन्निओ तह य आगओ इहयं।
सो म पमत्तयं की-लिऊण हरिउं गओ भज्जं॥९॥
तुमए वि मोइओ ते-ण तुज्झ नाइं भवामि रिणमुक्को।
इय भणिय गओ खयरो, सिट्ठिसुओ नियगिहं पत्तो॥१०॥
सव्वट्ठमाउलसुयं, पिउणा उव्वाहिओ स मित्तवइं।
तह वि हु नीरागमणो, खित्तो दुल्ललियगोट्ठीए॥११॥
पत्तो गणियाएँ गिहे, वसंतसेणाएँ तीऐं आसत्तो।
सोलससुवन्नकोडी, वारसवरिसेहिँ सो देइ॥१२॥
अक्काएँ निद्धणु त्ति य, गिहाउ निस्सारिओ गओ सगिहं।
नाउं पिऊण मरणं, गाढयरं दूमिओ चित्ते॥१३॥
भज्जाएँ भूसणेहिं, माउलसहिओ गओ वणिज्जेणं।
नयरे उसीरवत्ते, कप्पासो तत्थ वहु किणिओ॥१४॥
जंतस्स तामलित्तिं, मग्गे दड्ढो देवण सो सयलो।
निब्भग्गसेहरो त्ति य, माउलण्णावि सो चत्तो॥१५॥
आसारूढो गच्छइ, पच्छमदिसि तयणु से मओ तुरगो।
छुत्तण्हपरिकिलंतो, तत्तो पत्तो पियंगुपुरं॥१६॥
सिट्ठी सुरिंददत्तो, पिउमित्तो तत्थ तस्सगासाओ।
वुड्ढीएँ दव्वलक्खं, गहिउं सो पायेमारूढो॥१७॥

पत्तो जमुणादीवं, तस्स पुरेसुं गमागमेणं च ।
अज्जेइ चारुदत्तो, कहमवि कणगऽट्ठकोडीओ ॥१८॥
अह तस्स नियययदेसा-भिमुहं इंतस्स पवहणं फुट्टं ।
तो फलगगओ सत्तहिं, दिणेहिं किच्छेण उत्तिन्नो ॥१९॥
उव्वरवइवेलतमे, पत्तो रायपुरवाहिरुज्जाणे ।
तत्थ तिदंडी दिणकर-पहनामो तस्स संमिलिओ ॥२०॥
तेणं सह सो पत्तो, रसहेउं पव्वयस्स कूवीए ।
मंचीएँ ठिओ तुंबय-सहिओ रज्जूएँ ओइन्नो ॥२१॥
ता केण वि भणियमियं, को सि तुमं तयणु तेण इय वुत्तं ।
वणिओ मि चारुदत्तो, तिदंडिएणित्थ पक्खित्तो ॥२२॥
सो भणइ पुणो वणिओ, इमिणा खिविओ पि इत्थ मे देहो ।
अद्धो रसेण खद्धो, तुम पि ता इत्थ मा विससु ॥२३॥
इय भणिऊणं तेणं, समप्पियं तस्स भरियरसतुंबं ।
रज्जूएँ कापियाए, तिदंडिणा करिसिओ सो उ ॥२४॥
मग्गइ रसतुंबं तं, नो तारइ तेण तो रसो चत्तो ।
अह लिंबगणा स खित्तो, पडिओ रसकूवियाएँ तमे ॥२५॥
तो वणिणा सो वुत्तो, गोहापुच्छेण उत्तरिज्जासु ।
एवमिमो उत्तरिओ, सुमिरंतो पंचनवकारं ॥२६॥
जा गिरिकुहराउ बहिं, निक्खंतो ताव धाविओ महिसो ।
तो सो सिलाएँ उवरिं, आरूढो जाव चिट्ठेइ ॥२७॥
ता निग्गओ अयगरो, तेसिं जुज्झंतयाण सो नट्ठो ।
मिलिओ माउलपुत्तो, अहन्नया रुद्दत्तो सो ॥२८॥
भंडं अलत्तयाइं, घित्तुं चलिया सुवन्नभूमुवरिं ।
तरिउं वेगवइनइं, गिरिकूमे ते गया दो वि ॥२९॥
तो चित्तवणे तत्तो, टंकणदेसम्मि तत्थ दो मेसा ।
किणिउं तेसुं चडिउं, पंथो अइलंघिओ बहुओ ॥३०॥
रुद्देण तओ वुत्तं, अओ परं नत्थि भूमि चारु त्ति ।
तो मेसे मारेउं, उच्छल्लेउं च पविसामो ॥३१॥
तो पललब्भंतीए, भारुडविहंगमेहिं उक्खित्ता ।
वच्चिस्सामो अम्हे, सुवन्नभूमिं सुहेणावि ॥३२॥
अह तेणुत्तो रुहो, जेहिं उत्तारिया विसमभूमिं ।
ते मेसे कह हणिमो, हियजणए परमबंधु व्व ? ॥३३॥
रुद्दो भणइ न एसिं, तं सामी तेण मारिओ मेसो ।
निहओ वीओ य पुणो, तरलच्छो नियइ भाणुसुयं ॥३४॥
तो वुत्तो तेण इमं, ताउमसत्तो तुमं किमु करेमि ? ।
जिणधम्मं पडिवज्जसु, सरणं विहुरे वि बंधुसमं ॥३५॥
दिन्नो नवकारो त-स्स चारुदत्तेण, अह हओ छगलो ।
रुद्देण, तओ दुन्नि वि, तब्भत्थासुं पविट्ठा ते ॥३६॥
छुरियाहत्था विहगे-हि उट्ठिआ एगआमिसत्थीणं ।
तेसिं जुज्झंताणं, भाणुसुओ सरवरे पडिओ ॥३७॥
छुरियाएँ छित्तु भत्थं, निस्सरिऊणं गओ नगं एगं ।
दिट्ठो तत्थुस्सग्गे, ठिओ मुणी वंदिओ तेण ॥३८॥
पारियकाउसग्गो, भणइ मुणी धम्मलाभ मह दाउं ।
कहमित्थ भूमिगोयर-अविसयसेले तुमं पत्तो ॥३९॥
खयरोऽहं अमियगई, तइया तुमए वि मोइओ पत्तो ।
अट्ठावयगिरिपासे, मं दट्ठं सो अरी नट्ठो ॥४०॥
ता हं नियभज्जं गि-णिहऊण सिवमंदिरम्मि संपत्तो ।
रज्जे मं ठविऊणं, भज्झ पिया गिण्हए दिक्खं ॥४१॥
पुत्तो मे सीहजसो, पत्तीएँ भणोरमाएँ संजाओ ।
बीओ वराहगीवो, मम तुल्ला विक्कमबलेहि ॥४२॥
गंधव्वसेणधूया, तह जाया विजयसेणपत्तीए ।
रज्जं जुवरज्जमहं, दाउं पुत्ताण पव्वइओ ॥४३॥
कक्कोमगसेलोऽयं, लवणजले कुंभकंठगे दीवे ।
अहमित्थ तवेमि तवं, तुमं पि साहसु नियमबंधं ॥४४॥
सिद्धिसुएणा वि सव्वो, नियवुत्तंतो मुणिस्स तो कहिओ ।
अह साहुसुया ते दो, पत्ता तेहिं मुणी नमिओ ॥४५॥
भणिया ते वरमुणिणा, पुत्ता सो एस चारुदत्तु त्ति ।
इत्थंतरे महिड्ढी, तत्थेगो आगओ तिवसो ॥४६॥
तेण नओ सो पढमं, पच्छा साहू तओ य खयरेहिं ।
पुट्ठो साहइ देवो, हेउं वंदणविवज्जासे ॥४७॥

तथाहि-

सुलसा तह य सुभद्दा, ससाउ चरियाउ आसि कासीसु ।
वेयंगपारगाओ, तीहि जिया वाइणो बहवे ॥४८॥
अह जण्णवायपरिवा-यगेण सुलसा जिया कया दासी ।
बहुसो संसग्गीए, तेण य तीए सुओ जाओ ॥४९॥
लोगोवहासभीया-णि ताणि तं मुत्तु पिप्पलस्स अहे ।
नट्ठाणि सुभद्दाए, दिट्ठो मुहपडियपिंपो सो ॥५०॥
कयपिप्पलायनामो, तीए संवड्ढिओ गहियविज्जो ।
पियमायमहपमुहे, जन्ने पन्नविय ते हणइ ॥५१॥
तस्स विणेओ वड्ढलि-नामाऽहं पसुवहाइ बहु जन्ने ।
काउं नरयम्मि गओ, पंचभवे तो पसू जाओ ॥५२॥
हणिओ दिएहिं जन्ने, छट्ठभवेऽणेण दित्तणवकारो ।
सोहम्मे उववन्नो, तो पुव्वमिमो मए नमिओ ॥५३॥
इय भणिय चारुदत्तं, नमिउं च गओ सुरो सट्ठाणम्मि ।
खयरेहि तेहि सो पुण, नीओ सिवमंदिरे नयरे ॥५४॥
सक्कारिओ य संमा-णिओ य अइगरुयगउरवेण तहिं ।
खयरेहि तेहि सद्धिं जा चलिओ नियपुरीसमुहं ॥५५॥
ता तत्थ सुरवरो सो, पत्तो तव्विहियवरविणम्मि ।
आरूढो सिद्धिसुओ, समागओ झत्ति चंपाए ॥५६॥
बहुयाउ कणयकोडी-उ दाउमह सो सुरो गओ सग्गं ।
नमिऊण चारुदत्तं, खयरा वि गया सठाणम्मि ॥५७॥
सव्वट्ठमाउलो तह, मित्तवई सा वसंतसेणा य ।
सव्वे वि तस्स मिलिया, फुरिया विमला तहा कित्ती ॥५८॥
अह सो अत्थमणत्थि-क्कमंदिरं जाणिउं विसुद्धमणो ।
परिगहपरिमाणजुअं, गुरुमूले लेइ गिहिधम्मं ॥५९॥
जहजुग्गं नियदव्वं, सव्वं ववविऊण सत्तखित्तेसु ।
मुच्छामच्छरचत्तो, स चारुदत्तो गओ सुगइं ॥६०॥
एवं ज्ञात्वा चारुदत्तस्य वृत्तं,
नित्यं शिष्टाः ! सुष्ठु संतुष्टिपुष्टीः ।
अर्थे ऽनर्थक्लेशसंबन्धबद्धे,
धर्मक्षोभं मा स्म धत्त प्रलोभम् ॥६१॥ ध० र० ।

चारुपाणि त्रि० (चारुपाणि) । चारु प्रहरणविशेषः पाणौ येषां ते चारुपाणयः । करेण चारुनामकप्रहरणधारके, जी०१ प्रति० । रा० ।

चारुपेहिणी स्त्री० (चारुपेक्षणी) । चारु प्रेक्षितुमवलोकितुं शीलमस्या-श्चारुप्रेक्षिणी । अधोदृष्टितादिदोषादुष्टायाम्, उत्त०१अ० सुन्दरावलोकनायां, सुन्दरनयनायां वा । उत्त०२२ अ० ।

चारुरूव त्रि० (चारुरूव) । मनोहररूपे, कल्प०३ क्षण ।

चारुवण्ण त्रि० (चारुवर्ण) । सत्कीर्तौ, शौर्य्यादिशरीरवर्णयुक्ते, औ०

चारुवेस त्रि० (चारुवेष)। चारुर्वेषो नेपथ्यं सत्प्रज्ञा वा यस्य सः। जी०३ प्रति०। मनोहरनेपथ्ये, जं०१ वक्ष०।

चारोवग पुं० (चारोपग)। चारयक्ते ज्योतिष्के, सू० प्र०१६ पाहु०।

चारोववण्णग पुं० (चारोपपन्नक)। चारो मण्डलगत्या परिभमणं, तमुपपन्नाश्चारोपपन्नाः। चारमाश्रितवत्सु ज्योतिष्केषु, जी०३ प्रति०। जं०। स्था०।

चालण न० (चालन)। स्थानात्स्थानान्तरनयने, ज्ञा०१ श्रु०३ अ०।

चालणा स्त्री० (चालना)। गोचरमर्द्धगोचरं वा दूषणं चाल्यते आक्षिप्यते यया वचनपद्धत्या सा चालना। बृ०१ उ०। सूत्रस्यार्थस्य वाऽनुपत्त्युद्भावने, एषैव चालनाऽऽवश्यके सामायिकव्याख्याऽवसरे स्वस्थाने विस्तरवती द्रष्टव्या। अनु०। स्था०। विशे०। अधिकृतानुपपत्तिचोदनायाम्, यया अस्त्विति प्रार्थना न युज्यते, तन्मात्रादिष्टासिद्धेः। ल०।

चालणी स्त्री० (चालनी)। (चालनी) तितऔ, आ०क०। आ०म०। विशे०।

चालणीपडिवक्ख न० (चालनीप्रतिपक्ष)। चालनीप्रतिपक्षभूते वंशदलनिर्मापिते तापसभाजने, ततो हि विन्दुमात्रमपि न प्रस्रवति। उक्तं च-"तावसखउरकढिणयं, चालणिपडिवक्ख न सवइ दव्वं पि॥" आ०म०प्र०।

चालित्तए अव्य० (चालयितुम्)। भङ्गकान्तरं कर्तुमित्यर्थे, उपा०२ अ०।

चालेमाण त्रि० (चालयत्)। शरीरस्य मध्यभागे संचरति, जी०३ प्रति०।

चाव पुं० (चाप)। धनुषि, औ०। आ० म०। जं०। उपा०। जी०। भ०। ज्ञा०। प्रश्न०।

चावपाणि त्रि० (चापपाणि)। चापं पाणौ येषां ते चापपाणयः। धनुर्हस्तेषु, जी०३ प्रति०। रा०।

चावल्ल न० (चापल्य)। आत्मपरिणतीनां स्वस्वकार्याकरणे परभावोन्मुखप्रवर्त्तमरूपे अस्थैर्ये, अष्ट०३ अष्ट०।

चावाली स्त्री० (चावाला)। स्वनामख्याते ग्रामे, सा चोत्तरदक्षिण-भेदाद् द्विधा-"सामी दाहिणचावालीओ उत्तरचावालिं वच्चति"। आ० म० द्वि०। आ० चू०। आ० क०।

चाविअ त्रि० (च्यावित)। परिभ्रसिते, अनु०।

चामेडी स्त्री० (चापेटी)। विद्याभेदे, ययाऽन्यस्य चपेटायां दीयमानायामातुरः स्वस्थीभवति। व्य०५ उ०।

चास पुं० (चाष)। किकीदिविनि, प्रश्न०१ आश्र० द्वार। पक्षिविशेषे, रा०। जी०। प्रव०। प्रज्ञा०। ज्ञा०। उत्त०।

चासपिच्छ न० (चाषपिच्छ)। चाषपक्षे, रा०।

चिअ अव्य०। **"णइ-चेअ-चिअ-च्च अवधरणे"** ।८।२।१८४। इति अवधारणे चिअशब्दः। अवधारणे, प्रा०२ पाद। **"सेवादौ वा"** ।८।२।१६। इति वा द्वित्वम्। 'तं चेअ' 'तच्चअ'। प्रा०२ पाद।

चित त्रि०। व्याप्ते, अनु०।

चिआग पुं० (त्याग)। संयतेभ्यो वस्त्रादिदाने आव०४ अ०।

चिइ स्त्री० (चिति)। 'चिञ्' चयने इत्यस्य स्त्रियां क्तिम्। कुशलकर्मण उपचयकरणे, प्रव०२ द्वार। कारणे कार्योपचाराद्रजोहरणाद्युपधिसत्तो, चीयतेऽस्याविति वा व्युत्पत्तेः। आव०३ अ०। इष्टकादिचये, उत्त०६ अ०।

चिइकम्म (ण्) न (चितिकर्मन्)। कृतिकर्मणि वन्दनके, आव०३ अ०। चितिकर्मापि द्विधैव-द्रव्यतो, भावतश्च। द्रव्यतस्तापसादिलिङ्गग्रहकर्म, अनुपयुक्तसम्यग्दृष्टे रजोहरणादिकर्म च, भावतः सम्यग्दृष्ट्युपयुक्तरजोहरणाद्युपधिक्रियेति। (अत्र क्षुल्लकदृष्टान्तः 'किइकम्म' शब्देऽत्रैव भागे ५०७ पृष्ठे उक्तः)

चिइच्छा स्त्री० (चिकित्सा)। **"स्वरादनतो वा"** ॥८।४।२४०॥ इत्यनतः पर्युदासान्न ह्रस्वः। प्रा०४ पाद। **"ह्रस्वात् थ्य-श्च-त्स-प्साम-निश्चले"** ।८।२।२१। इति त्सभागस्य छः। रोगप्रतिकारे, प्रा०२ पाद।

चिइवंदणा स्त्री० (चैत्यवन्दना)। पूजापूरःसरमहद्विम्बवन्दने, पञ्चा०१ विव०। ध०।

चिउर पुं० (चिकुर)। पीतरामद्रव्यविशेषे, जं०१ जं०१ वक्ष०। आ०म० प्रज्ञा०। रा०। गन्धद्रव्यविशेषे, रा०। प्रज्ञा०। 'चि' इत्यव्यक्तं शब्दं कुरति कुर-कः। केशे, वृक्षभेदे, पर्वते, सरीसृपे, चपले, तरले, चञ्चले च। त्रि०। वाच०।

चिउरंगराग पुं० (चिकुराङ्गराग)। चिकुरसंयोगनिमित्ते वस्त्रादौ रागे, रा०। आ० म०।

चिउरबंध पुं० (चिकुरबन्ध)। केशबन्धपरिज्ञानलक्षणे स्त्रीकलाभेदे, कल्प०७ क्षण।

चिउरराग पुं० (चिकुरराग)। पीतद्रव्यविशेषनिष्पादिते वस्त्रादौ रागे, प्रज्ञा०१७ पद।

चिंचइओ देशी (मण्डिते), चलिते, दे० ना०३ वर्ग।

चिंचा स्त्री० (चिञ्चा)। अम्लिकायाम्, बृ०१ उ०। व्य०। ल०प्र०। पं० व०।

चिंतग पुं० (चिन्तक)। अप्रमादेन ध्यातरि, आव०४ अ०।

चिंतण न० (चिन्तन)। अनुस्मरणे, पर्यालोचने, आव०४ अ०। चेतसि स्मरणे, परिभावने, उत्त०३२ अ०।

चिंतणिया स्त्री० (चिन्तनिका)।अनुप्रेक्षायाम्, स्था०५ ठा०३ उ०।

चिंतयंत त्रि० (चिन्तयत्)। स्मरति, संथा०। मन्यमाने, सूत्र०१ श्रु०१२ अ०।

चिंता स्त्री० (चिन्ता)। चिन्तनं चिन्ता। नं०। मनश्चेष्टायाम् आव०४ अ०। विचारे, उत्त०२३ अ०। पर्यालोचने, सूत्र०१ श्रु०१२ अ०। दश०। स्वरूपपर्यालोचनरूपायां कथायाम्, आव०४ अ०।

चिंताजोग पुं० (चिन्तायोग)। अतिसूक्ष्यसंयुक्तिचिन्तनसंबन्धे, षो०११ विव०।

चिंताणाण न० (चिन्ताज्ञान)। क्षीररसास्वादतुल्ये, षो०११ विव०।

चिंतामणि पुं० (चिन्तामणि)। चिन्तामात्रेणैवार्थप्रदे मणिभेदे, मन्त्रभेदे, षो०२ विव०।

चिंतामय त्रि० (चिन्तामय)। चिन्तानिर्वृत्ते, षो०१२ विव०।

चिंतावग त्रि० (चिन्तापक)। अनुभावके, आ० म० द्वि०।

चिंतासोगसागरप्पविट्ठा स्त्री० (चिन्ताशोकसागरप्रविष्टा)। चिन्तैव शोकसागरश्चिन्तांप्रधानो वा शोकसागरश्चिन्ताशोकसागरस्तं प्रविष्टः शोकाधिनिमग्ने, सूत्र०२ श्रु०१ अ०।

चिंतिय न० (चिन्तित)। स्मरणे, भ०६ श०३३ उ०। नि०। औ०। नि० चू०। भ०। विपा०। चिन्ता सञ्जाताऽस्मिन्निति चिन्तितः। चिन्ताऽऽत्मके, जी०३ प्रति०। रा०। औ०। विपा०। सूत्र०। परेण हृदि स्थापिते, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०।

चिंतियव्व त्रि० (चिन्तितव्य)। मनसा विकल्पनीये, तं०। परिभावनीये, पञ्चा,०२ विव०।

चिंतितुं अव्य० (चिन्तयित्वा)। स्मृत्वेत्यर्थे, पं० व० द्वार।

चिंध नं० (चिह्न)। चिह्नयते ज्ञायतेऽनेनेति चिह्नम्। सूत्र०१ श्रु०४ अ०७ उ०। **"चिह्नेन्धो वा"** ।८।२।५०।। चिह्ने संयुक्तस्यनधो वा भवति। ण्हाऽपवादः, पक्षे सोऽपि। 'चिन्धं' चिण्हं, लाञ्छने, ज्ञा०१ श्रु०१६ अ०। लिङ्गे, पञ्चा०१ विव०।

चिंधगय त्रि० (चिह्नगत)। चिह्नानि लक्षणानि गतः। औ०। चिह्नप्राप्ते, औ०।

चिन्धज्झय पुं० (चिह्नध्वज)। चिह्नभूतगरुडसिंहवराहाङ्कितध्वजादौ, ज्ञा०१ श्रु०८ अ०।

चिंधज्झयपमाग त्रि० (चिह्नध्वजपताक)। चिह्नध्वजा गरुमादि चिह्नयुक्ताः केतवः पताका यस्य स तथा। चिह्नयुक्तध्वजपताकोपेते, विपा०१ श्रु०१ अ०।

चिंधणिप्पण्णा त्रि० (चिह्ननिष्पन्न)। लिङ्गिते, "लिंगियं ति वा चिंधणिप्पण्णं ति वा करणणिप्पण्णं ति वा णिमित्तियणिप्पण्णं ति वा एगट्ठा" आ० चू०६ अ०।

चिंधपड पुं० (चिह्नपट)। ६ ब०। वीरतासूचके नेत्रादिवस्त्रामवपट्टोपेते, औ०।

चिंधपुरिस पुं० (चिह्नपुरुष)। पुरुषचिह्नैः श्मश्रुप्रभृतिभिरुपलक्षिते नपुंसके पुरुषवेदे, तेन चिह्नयते पुरुष इति कृत्वेति पुरुषवेषधारिणी स्त्र्यादौ। आह च-"पुरिसाकिई नपुंसो, वेओ वा पुरुसवेओ वा"। स्था०३ ठा०१ उ०। विशे०।

चिंधित्थी स्त्री० (चिह्नस्त्री)। चिह्नयते ज्ञायतेऽनेनेति चिह्नं, स्तननेपथ्यादिकम्। सूत्र०१ श्रु०४ अ०१ उ०। चिह्नमात्रेण स्त्रियाम्,('इत्थी' शब्दे द्वितीयभागे ५६५ पृष्ठे चैतदुक्तम्)

चिंफुल्लणी देशी स्त्रीणामर्धोरुचकवस्त्रे, दे०ना०३ वर्ग।

चिक्कण त्रि० (चिक्कण)। श्लक्ष्णस्कन्धनिष्पन्ने, भ०१७ श०१ उ०। पिच्छिले, तं०। दुर्विमोचे, प्रश्न०१ आश्र० द्वार। आश्लेषवति, प्रश्न०१ आश्र० द्वार। दारुणे, "कम्म बंधेइ चिक्कणं" दश०६ अ०।

चिक्कणंग न० (चिक्कणाङ्ग)। चिगचिगायमाने शरीरे, तं०।

चिक्कणीकय त्रि० (चिक्कणीकृत)। तथाविधमृत्पिण्डवत् सूक्ष्मकर्मस्कन्धानां सरसतया परस्परं गाढसंबन्धकरणतो दुर्भेदीकृते कर्मणि, भ०६ श०१ उ०।

चिक्खल्ल न० (चिक्खल्ल)। चिच्च करोति खल्लं च भवति चिक्खल्लम्। अनु०। प्रबलकर्दमे, प्रश्न०१ आश्र० द्वार। बृ०। स्था०। भाव०। प्रज्ञा०।

चिक्खल्लय न० (चिक्खल्लक)। उज्जयन्तशैले स्वनामख्याते नगरे, "चिक्खल्लयम्मि नयरे, मउयहरं अत्थि सेलगं दिव्वं। तस्स य मज्झम्मि ठिओ, गणवइरस्स कुंडओ उवरिं॥" ती०२ कल्प।

चिक्खिल्ल न० (चिक्खिल्ल)। कर्दमे, प्रश्न०३ आश्र० द्वार। स०। औ०।

चिंच-चिंचय-चिंचिल्ल-मण्डि-धा० इदित् चुरा० भूषावाम्। भूषाणाम्, **मण्डेश्चिञ्चचिञ्चअचिञ्चिल्लरीडटिविडिक्काः"** ॥८।४।११५। इति मण्डेञ्चिञ्चाद्यादेशः॥ "चिञ्चइ, चिञ्चयइ, चिञ्चिल्लइ" मण्डयति। प्रा०४ पाद।

चिच्चणा देशी (घरट्टिकायाम्,) दे० ना० ३ वर्ग।

चिच्चरो देशी (चिपिटनासायाम्) दे० ना०३ वर्ग।

चिच्चा अव्य० (त्यक्त्वा)। हित्वेत्यर्थे, उत्त०१८ अ०। सूत्र०।

चिच्चि अव्य० (चिच्चि)। चीत्कारे, विपा०१ श्रु०२ अ०।

चिच्चो देशी चिंपिटनासायाम, दे० ना०३ वर्ग।

चिच्चं देशी रमणे, दे० ना०३ वर्ग।

चिट्ठ धा० (स्था)। ऊर्ध्वस्थानेनापेवशेने, **"स्थष्ठाथक्कचिट्ठनि-रप्पाः"** ॥८।४।१६॥ इति तिष्ठतेरादेशः। प्रा०४ पाद। **"तिष्ठेश्चिट्ठः"** ॥८।४।२६८। इति मागध्यां तिष्ठतेश्चिष्ठादेशः। 'चिट्ठइ'-तिष्ठति। प्रा०४ पाद। ऊर्ध्वस्थानेन, (भ०११ श०११ उ०) तिष्ठति, चिट्ठइत्ता भवति स्थाता भवति। दशा०३ अ०।

चिट्ठण स्त्री०न० (स्थान)। अवस्थाने, "पतिट्ठा ठावणा ट्ठाणं, ववत्था संठिती ठिती अवट्ठाणं अवत्था य, एगट्ठा चिट्ठणा वि य" ॥ बृ०६ उ०। (उदकतीरे स्थाननिषेधः "दगतीर" शब्दे वक्ष्यते)

चिट्ठमाण त्रि० (चेष्टमान)। अनुष्ठानं विदधति, पञ्चा०२ विव०। तिष्ठत्-त्रि०। अवस्थाने, वाच०।

चिट्ठा स्त्री (चेष्टा)। कायव्यापारे, आचा०२ श्रु०२ चू०। नि० चू०। बृ०। देहावस्थायाम्, आव०४ अ०।

चिट्ठिण अव्य० (स्थित्वा)। **स्थष्ठाथक्कचिट्ठनिरप्पाः"** ॥८।४।१६॥ इति स्थाधातोश्चिट्ठादेशः। प्रा०४ पाद। ऊर्ध्वस्थानेनोपविश्येत्यर्थे, स्था०३ ठा०२ उ०।

चिट्ठित्ता अव्य० (स्थित्वा)। 'चिट्ठिण' शब्दार्थे, प्रा०४ पाद।

चिट्ठिय न० (चेष्टित)। भावे क्तः। सकाममङ्गप्रत्यङ्गावयवप्रदर्शन-पुरःसरे प्रियस्य पुरतोऽवस्थाने, चं० प्र०२० पाहु०। सू०प्र०। हस्तन्यासादौ, प्रश्न०४ संव० द्वार। कृतचेष्टोपेते, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०।

चिट्ठिंसु-क्रिया-स्थितवति, आचा०१ श्रु०१ श्रु०३ अ०४ उ०।

चिट्ठियव्व न० (स्थातव्य)। निष्क्रमप्रवेशादिवर्जितस्थाने संयमात्म-प्रवचनबाधापरिहारेणोर्ध्वस्थानेनोपवेष्टव्ये, भ०२ श०१ उ०।

चिणंसु-क्रिया-अतीतकाले चिन्वति, स्था०२ ठा०४ उ०। गृहीतवति, स्था०९ ठा०।

चिणिज्जंत त्रि० (चीयमान)। 'चिव्वंत' शब्दार्थ, प्रा०४ पाद।

चिण्ण त्रि० (चीर्ण)। चर-क्त-इट्। चीर्णे, प्रोषितव्रतमित्यादिरूढितः साधुत्वम्। अन्यथा चरितमिति युक्तम्। उत्त०१३ अ०। पञ्चा०। अङ्गीकृते, निषेविते, उत्त०३१ अ०। हारिते, भ०१९ श०३ उ०। सू० प्र०। पञ्चा०। "सव्वं सुचिण्णं सफलं नराणं", सुचीर्णं सम्यक् प्रकारेण कृतं संयमतपःप्रमुखं सर्वम्। उत्त०१३ अ०।

चित्त त्रि० (चित्र)। आश्चर्यभूते, विपा०१ श्रु०६ अ०। नानाप्रकारे, प्रव०४ द्वार। जी०। अनेकविधे, स्था०१० ठा०। द्वा०। प्रज्ञा०। स०। औ०। विशे०। उत्त०। दर्श०। रा०। आश्चर्यकारिणि, कल्प०३ क्षण। अतिरम्यतयाऽद्भुते, औ०। शोभनाऽद्भुतभूते, तं०। अनेकरूपवति, सू० प्र०१८ पाहु०। विचित्रे, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०। चित्रकारिणि, कल्प०१ क्षण। चित्रवति, उत्त० १८ अ०। भ०। ज्ञा०। भित्त्यादिलेख्ये, "चित्रमेव हि संसारो, रागादिक्लेशवासितम्"॥द्वा०३१ द्वा०। विशे०। औ०। कर्बुरे, ज्ञा०१ श्रु०८ अ०। आलेखने, रा०। आ०म० वेणुदेववेणुदारिणोः प्रथमे लोकपाले, स्था०४ ठा०१ उ०। भ०। शङ्खराजस्य भागिनेये, आ०म०द्वि०। प्रदेशिराजदूते, श्वेतव्यां नगर्य्यां चित्रनामा दूतः प्रदेशिराज्ञा प्रेषितः श्रावस्त्यां नगर्य्यां जितशत्रुसमीपे स्पगृहान्निर्गत्य गतः। नि०१ वर्ग काम्पिल्यनगरे ब्रह्मदत्तचक्रिपूर्वभवजीवस्य सम्भूतस्य चाण्डाल योनेर्भ्रातरि, उत्त०१३ अ०। (स च यतिर्भूत्वाऽनिदान एव मृतः पुरिमतालनगरे श्रेष्ठिकुले उत्पन्नः प्रव्रव्राजेति 'बंभदत्त' शब्दे वक्ष्यते) ब्रह्मदत्तचक्रवर्तिनो राजमहिष्योः विद्युन्मालाविद्युन्मत्योः पितरि, उत्त०१३ अ०।

चित्त न०। अन्तः करणे, आव०४ अ०। आचा०। चित्तं मनो विज्ञानमिति पर्यायाः। अनु०। भ०। मानसे, औ०। आतु०। भावे, पञ्चा०२ विव०। चेतनास्वभावे, षो०१३ विव०। चेतयति येन तत् चित्तम्। ज्ञाने, आचा०१ श्रु०१ अ०५ उ०। मतौ, आव०४ अ०। आचार्याभिप्राये, आचा०१ श्रु०५ अ०४ उ०। सामान्योपयोगे, अनु०। चित्तं चेतना संज्ञानमुपयोगोऽवधानमिति पर्यायाः। आव०६ अ०। गत्यागतिस्थितिसकलव्यवहारनिबन्धनस्य बुद्धेराधारे, दर्श०। चित्तमुपयोगो ज्ञानम्। सूत्र०१ श्रु०१ अ०१ उ०। दृढाऽध्यवसाये, बृ०।

तत् त्रिविधम् -

कायादितिहिक्किकं, चित्तं तिव्वं मउयं च मज्झं च।
जह सीहस्स गतीओ, मंदा य पुता दुया चेव॥

पुनर्दृढाध्यवसायात्मकं चित्तं त्रिधा-कायिकं, वाचिकं, मा नसिकं च कायिकं नाम-यत्कायव्यापारेणोपयुक्तो भङ्गकचारणिकां करोति, कूर्मवद्वा संलीनाङ्गोपाङ्गस्तिष्ठति। वाचिकं तुमयेदृशी निरवधा भाषा भाषितव्या, नेदृशी साचद्येति विमर्शपुरस्सरं यद्भाषते। यद्वा-विकथादिव्युदासेन श्रुतपरावर्त्तनादिकमुपयुक्तः करोति तद्वाचिकम्। मानसं त्वेकस्मिन् वस्तुनि चित्तस्यैकाग्रता। पुनरेकैकं त्रिविधम्- तीव्रं, मृदुकं च, मध्यं च। तत्रतीव्रमुत्कटं, मृदुकं च मन्दं, मध्यं च-नातितीव्रं नातिमृदुकमित्यर्थः। यथा सिंहस्थ गतयस्तिस्रो भवन्ति। तद्यथा-मन्दा च, प्लुता च, द्रुता च। तत्र मन्दाविलम्बिता, प्लुतानातिमन्दा नातित्वरिता, द्रुता चातिशीघ्रवेगा स्यात्। बृ०१ उ०। आव०। (जं थिरमज्झवसाणं, तं झाणं जं चलं तयं चित्तं। तं हुज्ज भावणा वा, अणुपेहा वा अहव चिंता॥ इति ध्यानाच्चित्तस्यभेदो 'झाण' शब्दे वक्ष्यते)

चित्तउत्त पुं० (चित्रगुप्त)। षोडशे भविष्यज्जिने, स०। ती०। प्रव०। यमभेदे, चित्रगुप्ताय वै नम इति तर्पणमन्त्रः। वाच०।

चित्तंग पुं० (चित्राङ्ग)। चित्रस्यानेकविधस्य, विवक्षायाः प्राधान्यात्, माल्यस्य कारणत्वाच्चित्राङ्गाः। स्था०७ ठा०। सुषमसुषमायां कर्मभूमिषु सदा चाकर्मभूमिषु युगलिमनुष्यसमये जायमानेषु कल्पद्रुमभेदेषु, आ०म०प्र०। स०। जी०। "चित्तंगे सु य मल्लं" चित्राङ्गेषु माल्यमनेकप्रकारसरससुरभिनानावर्णकुसुमदामरूपं भवति। तं०। श्रीऋषभदेवस्याष्टमे पुत्रे, कल्प०७ क्षण।

चित्ततरलेस्सा पुं० (चित्रान्तरलेश्या)। चित्रमन्तरं लेश्या च येषां ते तथा। तथाविधेषु ज्योतिष्केषु, यथा चित्रमन्तरं सूर्य्याणां, चन्द्रान्तरितत्वात्, चित्रलेश्या चन्द्रमसां शीतरश्मित्वात्, सूर्याणामुष्णरश्मित्वात्। जं०७ वक्ष०। सू० प्र०।

चित्तकट्ठर न० (चित्रकट्ठर)। चित्रशब्देन कलिञ्जादिकं वस्तु किञ्चिदुच्यते। तस्य कट्ठरः खण्डः। चित्रखण्डे, अनु०।

चित्तकण्णगा स्त्री० (चित्रकनका)। द्वितीयायां विद्युत्कुमारीमहत्तरिकायाम्, जं०५ वक्ष०। स्था०। विदिग्रुचकाद्रिवासिन्यां दिक्कुमारिकायाम्, द्वी०। आ० क०। ति०।

चित्तकम्म (ण्) न० (चित्रकर्मन्)। चित्रलिखित्तरूपके, अनु०। ग०। आचा०।

चित्तकर पुं० (चित्रकर)। चित्रकारे शिल्पिनि, आव०४ अ०। अनु०। परिनिष्ठितश्चित्रकारोऽमाप्यापि रेखादिकं प्रमाणयुक्तं चित्रं करोति, तावन्मात्रं वा वर्णकं गृह्णाति यावन्मात्रेण समाप्यते। आ० म० द्वि०।

चित्तकह त्रि० (चित्रकथ)। नानाकथाकथके, उत्त०३ अ०।

चित्तकूड पुं० (चित्रकूट)। चित्राणि चित्ररूपाणि कूटानि यस्य सः। नि०। जम्बूद्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य सीताया महानद्या उत्तरमूले वक्षस्कारपर्वते, स्था०४ ठा०२ उ०। स०। 'दो चित्तकूडा' स्था०२ ठा०३ उ०।

कहि णं भंते ! जंबुद्दीवे दीवे महाविदेहे वासे चित्तकूडे णामं वक्खारपव्वए पण्णत्ते ? गोयमा ! सीआए महाणईए उत्तरेणं णीलवंतस्स वासहरपव्वयस्स दाहिणेणं कच्छविजयस्स पुरच्छिमेणं सुकच्छविजयस्स पच्चच्छिमेणं एत्थ णं जंबुद्दीवे दीवे महाविदेहे वासे चित्तकूडे णामं वक्खारपव्वए पण्णत्ते। उत्तरदाहिणाए पाईणपडीणविच्छिन्ने सोलस जोअणसहस्साइं पंच य छाणउए जोअणसए दुण्णि-

अ एगूणविंसइभाए जोअणस्स आयामेणं पंच जोअणसयाइं विक्खंभेणं नीलवंतवासहरपव्वयं तेणं चत्तारि जोअणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं चत्तारि गाउअसयाइं उव्वेहेणं तयाऽणंतरं च णं मायाए २ उस्सेहोव्वेहपरिवुड्ढीए परिवुड्ढमाणे २ सीआमहाणईअंतेणं पंच जोअणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं पंच गाउअसयाइं उव्वेहेणं आसखंधसंठाणसंठिए सव्वस्यणामए अच्छे सण्हे० जाव पडिरूवे उभओ पासिं दोहिं पउमवरवेइआहिं दोहि अ वणसंमेहिं संपरिक्खित्ते वण्णओ दुण्हं, वि चित्तकूडस्स णं वक्खारपव्वयस्स उप्पिं बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते० जाव आसयंति । चित्तकूडे णं भंते ! वक्खारपव्वए कति कूडा पण्णत्ता ? गोयमा ! चत्तारि कूडा पण्णत्ता । तं जहा-सिद्धाययणकूडे १ चित्तकूडे २, कच्छकूडे ३, सुकच्छकूडे ४, समा उत्तरदाहिणेणं परुप्परं पढमं सीआए उत्तरेणं चउत्थयं नीलवंतस्स वासहरपव्वयस्स दाहिणेणं एत्थ णं चित्तकूडे णामं देवे महिड्ढिए० जाव रायहाणी ॥

अथ यतोऽयं पश्चिमायामुक्तस्तं चित्रकूटवक्षस्कारं लक्षयन्नाह-'कहि णं' इत्यादि सुलभम्, नवरम् आयामे षोडशसहस्रयोजनादिरूपोविजयसमान एव, विजयानां विजयवक्षस्काराणां च तुल्ययामत्वात् तेन तत्करणं प्राग्वदेव, विष्कम्भेन पञ्च योजनानीति विशेषस्तेन तानि कथमित्युच्यते जम्बूद्वीपपरिमाणविष्कम्भात् षण्णवतिसहस्रेषु शोधितेषु अवशिष्टानि चत्वारि सहस्राणि एकस्मिन् दक्षिणे भागे उत्तरे वाऽष्टौ वक्षस्कारगिरयः, ततोऽष्टभिर्विभज्यन्ते ततः सम्पद्यते वक्षस्काराणां प्रत्येकं पूर्वोक्तो विष्कम्भः, इह हि विदेहेषु विजयान्तर्नदीमुखवनमेर्वादिव्यतिरेकेणान्यत्र सर्वत्र वक्षस्कारगिरयस्ते पूर्वापरविसृताः सर्वत्र तुल्यविस्ताराः, ततोऽस्य करणस्यावकाशः, तत्र विजयषोडशकपृथुत्वं पञ्चत्रिंशत्सहस्राणि चत्वारि शतानि षडुत्तराणि ३५४०६ अन्तरनदीषट्पृथुत्वं सप्तशतानि पञ्चाशदधिकानि ७५० मेरुविष्कम्भपूर्वापरभद्रशालवनायामपरिमाणं चतुःपञ्चाशत्सहस्राणि ५४००० । मुखवनद्वयपृथुत्वमष्टापञ्चाशच्छतानि चतुश्चत्वारिंशदधिकानि ५८४४ । सर्वमीलने जातानि षण्णवतिसहस्राणि ९६००० । इति तथा नीलवद्वर्षधरपर्वतसमीपे चत्वारि योजनशतान्यूर्द्धोच्चत्वेन चत्वारि गव्यूतशतानि उद्वेधेन, तदनन्तरं च मात्रया २ क्रमेण २ उत्सेधोद्वेधपरिवर्द्धमानः २ यत्र यावदुच्चत्वं तत्र तच्चतुर्थभाग उद्वेध इति द्वाभ्यां प्रकाराभ्यामधिकतरो भवतीत्यर्थः । शीतामहानद्यन्ते, पञ्चयोजनशतान्यूर्द्धोच्चत्वेन पञ्चगव्यूतशतान्यूर्द्धोद्वेधेन, अत एव च स्कन्धसंस्थानः प्रथमतोऽग्रे तुङ्गत्वात्, क्रमेणान्ते तुङ्गत्वात् सर्वरत्नमयः, शेषं प्राग्वत् । अथास्य शिखरसौभाग्यमावेदयन्ति-"चित्तकूडस्स णं" इत्यादि व्यक्तम् ॥ अथात्र कूटसङ्ख्यार्थं पृच्छति-"चित्तकूडे" इत्यादि ॥ पदयोजना सुलभा । भावार्थस्त्वयम्- परस्परमेतानि चत्वार्यपि कूटानि उत्तरदक्षिणभावे न समानि, तुल्यानीत्यर्थः । तथाहि-प्रथमं सिद्धायतनकूटं द्वितीयस्य चित्रकूटस्य दक्षिणस्यां, चित्रकूटं सिद्धायतनकूटस्योत्तरस्याम् । एवं प्राक्तनं प्राक्तनमग्रतनादग्रेतमाद्दक्षिणस्याम्, अग्रेतनमग्रेतनं प्राक्तनात् प्राक्तनादुत्तरस्यां ज्ञेयं, तर्हि शीतानीलवतोः *कस्यां दिशि इमानीत्याह-प्रथमकं शीताया उत्तरतः चतुर्थकं नीलवतो वर्षधरपर्वतस्य दक्षिण इति सूत्रपाठोक्तक्रमबलात् द्वितीयं चित्रनामकं* प्रथमानन्तरं ज्ञेयं, तृतीयं कच्छनामकं चतुर्थादर्वाग् ज्ञेयमिति । चित्रकूटादिषु वक्षस्कारेष्वेवं कूटनामनिवेशे पूर्वेषां संप्रदायः-सर्वत्राद्यं सिद्धायतनकूट, महानदीसमीपतो गण्यमानत्वात्, द्वितीयं स्वस्ववक्षस्कारनामकं, तृतीयं पाश्चात्यविजयनामकं, चतुर्थं प्राच्यविजयनामकमिति अथास्य नामार्थं प्ररूपयति-"एत्थ णं" इत्यादि । अत्र चित्रकूटनामा देवः परिवसति, तद्योगात् चित्रकूट इति नाम अस्य राजधानी मेरोरुत्तरतः शीताया उत्तरदिग्भाविवक्षस्काराधिपतित्वात् । एवमग्रेतनेष्वपि वक्षस्कारेषु यथासंभवं वाच्यमिति गतः प्रथमो वक्षस्कारः । जं०४ वक्ष ।

देवकुरुषु चित्रविचित्रकूटौ नामकौ द्वौ पर्वतौ स्थानतः पृच्छति-

कहि णं भंते ! देवकुराए चित्तविचित्तकूडा णामं दुवे पव्वया पण्णत्ता ? गोयमा ! णिसहस्स वासहरपव्वयस्स उत्तरिल्लाओ चरिमंताओ अट्ठचोत्तीसे जोअणसए चत्तारि अ सत्तभाए जोअणस्स अवाहाए सीआए महाणईए पुरच्छिमपच्चच्छिमेणं उभओ कूले एत्थ णं चित्तविचित्तकूडा णामं दुवे पण्णत्ता, एवं जच्चेव जमगपव्वयाणं सच्चेव एएसिं रायहाणीओ दक्खिणेणं ॥

"कहि णं भंते ! देवकुराए चित्तविचित्तकूडा" इत्यादि व्यक्तं, नवरम् एवमुक्तन्यायेन यैव यमकपर्वतयोः, वक्तव्यता इति शेषः, सैवैतयोश्चित्रविचेत्रकूटयोः, एतदधिपतिचित्रदेवयोः राजधान्यो दक्षिणेनेति । जं०४ वक्ष० ।

चित्तकोकिल पुं० (चित्रकोकिल) । नानारूपे कोकिलपक्षिणि, "चित्रोऽन्यः कोकिलो यत्तद्, द्वादशाङ्गी प्रवक्ष्यसि" । इत्युत्पलं प्रति वीरजिनः । आ० क० ।

चित्तगुत्ता स्त्री० (चित्रगुप्ता) । रुचकपर्वते विहरणशीलायां दिक्कुमारीमहत्तरिकायाम्, द्वी० । ज० । आ० क० । आ०म० । स्था० । चमरस्यासुरेन्द्रस्यासुरकुमारराजस्य सोमस्य महाराजस्याग्रमहिष्याम्, भ०१० श०५ उ० । स्था० ।

चित्तघरग न० (चित्रगृहक) । चित्रप्रधाने गृहके, जं०७ वक्ष० । रा० । जी० ।

चित्तचमक्कय न० (चित्तचमत्कृत) । मनआश्चर्यविगाहित्वे, "जायइ चित्तचमक्कं, देविंदाणं पि तं गच्छं" । महा०५ अ० ।

चित्तणिबंधणसमुब्भव त्रि० (चित्रनिबन्धसमुद्भव) । नानाप्रकारकरणादुत्पन्ने, पं० व०१ द्वार ।

चित्तण्णास पुं० (चित्तन्यास) । मनोनिक्षेपे, पञ्चा०२ विव० ।

चित्तणिवाइ (ण्) पुं० (चित्तनिपातिन्) । चित्तमाचार्याभिप्रायः, तेन नियतितुं क्रियायां प्रवर्त्तितुं शीलमस्येति चित्तनिपाती । गुरुच्छन्दानुवर्तिनि, आचा०१ श्रु०५ अ०४ उ० ।

चित्तादोस पुं० (चित्तादोष) । खेदादिषु चित्तं दूषयत्सु, (षो०)

खेदोद्वेगक्षेपोत्थानभ्रान्त्यन्यपुद्गलासङ्गैः। युक्तानि हिचित्तानि, प्रबन्धतो वर्जयेन्मतिमान् ॥१॥" षो०१३ विव०।

चित्तधणप्पभूय त्रि० (चित्तधनप्रभूत)। प्रभूतं बहु चित्रमाश्चर्यमनेकप्रकारं वा धनमस्मिन्निति प्रभूतचित्रधनम्। प्राकृतत्वात्प्रभूतशब्दस्य परनिपातः। उत्त०। नानाप्रकारचित्रधनशालिनि, "इमं गिहं चित्तधणप्पभूयं"। उत्त०१३ अ०।

चित्तपक्ख पुं० (चित्रपक्ष)। चतुरिन्द्रियजीवभेदे, जी०१ प्रति०। प्रज्ञा०। सुवर्णकुमाराणामिन्द्रयोर्वेणुदेववेणुदारिणोस्तृतीये लोकपाले, भ०३ श०८ उ०। स्था०।

चित्तप्पभव त्रि० (चित्तप्रभव)। प्रभवत्यस्मादिति प्रभवः, चित्तहेतुकत्वाच्चित्तं, चित्तं चासौ प्रभवश्च चित्तप्रभवः। तथाविधे धर्मे, "धर्मश्चित्तप्रभवो, यतः क्रिया कारणाश्रयं कार्यम्"। षो०३ विव०।

चित्तपयजुय त्रि० (चित्रपदयुत)। नानाविधार्थ्यप्रतिपादकाभिधानयुक्ते, पञ्चा०१६ विव०।

चित्तपरिच्छेय पुं० (चित्तपरिच्छेक)। लघौ, "'चित्तपरिच्छेयपच्छाए," चित्रपरिच्छेको लघुः प्रच्छदो वस्त्रविशेषो यस्य स तथा। भ०७ श०६ उ०। औ०।

चित्तफलग न० (चित्रफलक)। चित्रयुक्ते फलके, "चित्तफलगहत्थागए" चित्रफलकं हस्ते गतं यस्य। भ०१५ श०१ उ०।

चित्तबहुल पुं० (चेत्रबहुल)। चैत्रमासस्यान्धकारपक्षे, जं०२ वक्ष०।

चित्तमित्ति स्त्री० (चित्रमित्ति)। चित्रगतायां स्त्रियाम्, दश०८ अ०।

चित्तभेय पुं० (चित्रभेद)। बहुप्रकारे, पञ्चा०३ विव०।

चित्तमंत त्रि० (चित्तवत्)। चित्तं जीवलक्षणं तदस्यास्तीति चित्तवत्। सजीवे, दश०४ अ०। सचेतने, दश०४ अ०। पा० आव०। आचा०।

चित्तमाणंदिय त्रि० (चित्तानन्दित)। चित्तेनानन्दितः। ज्ञा०१ श्रु०१ अ०। चित्तमानन्दितं स्फीतीभूतं ('टु नदि' समृद्धाविति वचनात्) यस्य स चित्तानन्दितः। भार्यादिदर्शनात्पाक्षिको निष्ठानतस्य परनिपातः। मकारः प्राकृतत्वादलाक्षणिकः। चेतसा प्रहृष्टे, जी०३ प्रति०।

चित्तय पुं० (चित्रक)। (चीता) द्वीपिभेदे, आ०म०प्र०। रोमार्थं चित्रका बध्यन्ते। आचा०। अशोकवृक्षे, एरण्डवृक्षे, कुष्ठभेदे, वाच०।

चित्तरयण न० (चित्तरत्न)। चित्तं मनस्तद्रत्नमिव चित्तरत्नं, निर्मलस्वभावत्वोपाधिजनितविकारत्वादिसाधर्म्यात्। हा०२४ अष्ट०। प्रकारशस्वभावसाधर्म्यान्मनोमाणिक्ये, पञ्चा०२ विव०।

चित्तरस पुं० (चित्ररस)। चित्रां विचित्रा रसा मधुरादयो मनोहारिणो येभ्यः सकाशात्संपद्यन्ते ते चित्ररसाः। स्था०७ ठा०। भोजनाङ्गेषु, स्था०१० ठा०। विशिष्टदलिककलमशालिसालनकपक्वान्नप्रभृतिभ्योऽपि चापरिमितस्वादुतादिगुणोपेतेन्द्रियबलपुष्टिहेतुस्वादुभाजनपदार्थपरिपूर्णः फलमध्यौर्विराजमानेषु (तं०) भोजनदायिषु, स०१० सम०। अनेकबहुविश्रसा परिणतेन भोजनविधिनापपेतेषु, जी०३ प्रति०। युगलिकमनुष्योपभोग्यकल्पवृक्षेषु, आ०म०प्र०।

चित्तराग पुं० (चित्रराग)। विविधरागरञ्जिते, प्रश्न०४ आश्र० द्वार।

चित्तल त्रि० (चित्रल)। शबले, आव०४ अ०। व्य०। आरण्ये जीवविशेषे, जी०१ प्रति०।

चित्तलय त्रि० (चित्रलक)। कः प्रत्ययः स्वार्थिकः, प्राकृतलक्षणवशात्। विचित्रे पञ्चवर्ण(गुल्लादि) रचनोपेते रजोहरणे, ग०३ अधि०। हरिणाकृतौ द्विखुरविशेषे, प्रश्न०१ आश्र० द्वार।

चित्तलि (ण्) पुं० (चित्रलिन्)। मुकुलिसर्पभेदे, प्रज्ञा०१ पद **चित्तवल्लि** स्त्री० (चित्रवल्लि)। गन्धप्रधाने वल्लीभेदे, कल्प०७ क्षण।

चित्तविचित्तजमगपव्वय पुं० (चित्रविचित्रयमकपर्वत)। देवकुरुषु शीतोदाया उभयपार्श्वतश्चित्रकूटश्च पर्वतः, तथा उत्तरकुरुषु शीताभिधाया नद्या उभयतो यमकाभिधानौ पर्वतौ स्तः। तेषु, भ०१४ श०८ उ०।

चित्तविणास पुं० (चित्तविनाश)। चित्तभेदे, चित्तकालुष्ये, षो०७ विव०।

चित्तविण्णस पुं० (चित्तविन्यास)। मानसावेशने, पञ्चा०३ विव०।

चित्तविब्भम पुं० (चित्तविभ्रम)। चित्तभ्रमकारणे, तं०। आ०म०। चित्तस्य विभ्रमो विशेषेण भ्रमणमनवस्थानं यस्मात्। उन्मादरोगे, वाच०।

चित्तविप्पुइ स्त्री० (चित्तविप्लुति)। चित्तविप्लवे, चित्तविप्लुतेरकार्यप्रवृत्तिरिति चित्तविप्लुत्या प्रेरितः स्त्रीसेवादौ प्रवर्तते। दर्श०।

चित्तवीणा स्त्री० (चित्रवीणा)। आकारविशेषवत्यां वीणायाम्, रा०।

चित्तसंभूइय न० (चित्रसंभूतीय)। चित्रसम्भूतयोश्चाण्डालयोनिजातयोराख्यानकप्रतिबद्धे उत्तराध्ययनानां द्वादशेऽध्ययने, (उत्त०) चित्रसंभूतीयमिति नाम, अतश्चित्रसंभूतनिक्षेपाभिधानायाऽऽह निर्युक्तिकृत्-

चित्ते संभूयम्मि य, निक्खेवा चउक्कउ दुहा दव्वे।
आगम-नोआगमतो, नोआगमतो य सो तिविहो ॥६४॥
जाणगसरीरभविए, तव्वइरित्ते य सो पुणो तिविहो।
एगभवियबद्धाउय-अभिमुहओ नामगोए य ॥६५॥

"चित्ते संभूतीओ, वेइत्तो भावओ उ नायव्वो। तेसुं इति च" पाठे तयोः समुत्थितमिति भवं चित्रसंभूतीयम्। **"वृद्धाच्छः" ॥४।२।११४॥** इति (पाणि०) छप्रत्ययः, वृद्धसंज्ञा तु-"वा नामधेयस्स" इति वचनात्।

साम्प्रतिकाविमौ चित्रसंभूतौ, केन चानयोरधिकार इत्याशङ्क्याऽऽह-

साएए चंदवडिं-सयस्स पुत्तो उ आसि मुणिचंदो।
सो वि य सागरचंद-स्स अंतिए पव्वए समणो ॥६६॥

तण्हाछुहाकिलंतं, समणं दट्ठूण अडविनिहुयंतं ।
पडिलाभणा य बोही, पत्तो गोवालपुत्तेहिं ॥६७॥
तत्तो दुन्नि दुगंछं, काउं दासा दसन्ने आयाया ।
दोन्नि य उसुयारपुरे, अहिगारो बंभदत्तेण ॥६८॥

गाथात्रयस्याप्यक्षरार्थः स्पष्ट एव नवरम् (पव्वए समणत्ति) प्राव्राजीत्, समानं मनोऽस्येति समनाः, सर्वत्रारक्ताद्विष्टचित्तः सन्। यद्वा-श्राम्यतीति श्रमणः तपस्वी सन्, निश्चयनयोपेक्षं चैतत्, "नेरइए नेरइएसु उववज्जइ" इत्यादिवत्। तथा (अडविनिहुयंतं ति) अटवीनिःसृतमरण्यान्निष्क्रान्तमित्यर्थः। भावार्थस्तु कथानकगम्यः। तच्चेदम्- अस्ति कोशलाऽलङ्कारभूतं साकेतं नाम नगरं, तत्र चाभूदधिगतजीवाजीवादितत्त्वश्चन्द्रावतंसको नाम राजा, तस्य च धारिणी देवी, तदङ्गजो मुनिचन्द्रः, स च राजा अन्यदा समुत्पन्नसंवेगस्तमेव सुतं राज्येऽभिषिच्य प्रव्रज्यामशिश्रियत्, प्रतिपाल्य च प्रव्रज्यामपगतमलकलङ्कोऽपवर्गमगमत्। अन्यदा च सागरचन्द्राचार्या बहुशिष्यपरिवृतास्तत्रागताः, निर्गतश्च चन्द्रनृपतिस्तद्वन्दनाय, दृष्टाश्चानेन सूरयः स्तुत्वा च तानुपविष्टस्तदन्तिके, श्रुतश्च तत्कथितो विशुद्धो धर्मः समुत्पन्नश्चास्य तत्करणाभिलाषः, ततः स्वसुतं राज्ये निवेश्य प्रतिपन्नोऽसौ श्रामण्यं, गृहीता चानेन ग्रहणासेवनोभयलक्षणा शिक्षा, प्रवृत्ताश्चान्यदा सुसार्थेन सगच्छाः सागरचन्द्रसूरयोऽध्वानम्, मुनिचन्द्रमुनिश्च तैः समं व्रजन् गुरुनियोगादेकाक्येव भक्तपाननिमित्तं क्वचित्प्रत्यन्तग्रामे प्राविशत्, प्रविष्टे चास्मिन् प्रवृत्तः सार्थो गन्तुं, प्रचलिताः सहानेन सूरयः, विस्मृतश्चायमेषाम्, प्रस्थितश्च क्षणान्तरेण गृहीतभक्तपानस्तदनुकारिणीं विन्ध्याटवीम्, तत्र चासौ परिभ्रमन् गिरिकन्दराण्यतिक्रामन्नतिनिम्नोन्नतभूभागान् पश्यन् भयानकानेकद्वीपितरक्षुभल्लादिस्वापदानुत्तीर्णः, तृतीयदिने तदा च क्षुतक्षामकुक्षिः शुष्कोष्ठकण्ठतालुरेकत्र वृक्षच्छायायां मूर्छावशनष्टचेष्टो दृष्टश्चतुर्भिर्गोपालदारकैः, उत्पन्नाऽमीषामनुकम्पा, ते त्वरितमागत्य गोरसोन्मिश्रदृतिजलेन पायितोऽसौ, तदैव समाश्वस्तश्च नीतो गोकुलं, प्रति जागरितः तत्कालोचितकृत्येन, प्रतिलाभितः प्रासुकान्नादिना, कथितस्तेषामनेन जिनप्रणीतधर्म्मो, गृहीतश्चायमेतैर्भाविगर्भ, गतश्चासौ विवक्षितस्थानं, तं च मलसंदिग्धदहेमवलोक्य द्वयोः समजनि जुगुप्सा, तदनुकम्पातः सम्यक्त्वानुभवतश्च निर्वर्त्तितं चतुर्भिरपि देवायुः, जग्मुश्च देवलोकं ततश्चयुतौ चाकृतजुगुप्सौ कतिचिद्भवान्तरितौ द्वाविषुकारपुरे द्विजकुले जातौ, (तद्वक्तव्यता च इषुकारीयनाम्न्यनन्तराध्ययनेऽभिधास्यते) वौ च द्वौ जुगुप्सकौ तौ दशार्णजनपदे ब्राह्मणकुले दासतयोत्पन्नौ, तयोश्च य इह ब्रह्मदत्तो भविष्यति, तेनात्राधिकारो, निदानस्यैवात्र वक्तुमुपक्रान्तत्वात्, तेनैव च तद्विधावात्, द्वितीयस्य तु प्रसङ्गत एवाभिधीयमानत्वात्, इह च नामनिष्पन्ननिक्षेपेऽपि प्रस्तुते प्रसङ्गतोऽर्थाधिकारोऽप्युक्त इति गाथात्रयभावार्थः। उत्त०१२ अ०। स०। (ब्रह्मदत्तकथानकं 'बंभदत्त' शब्दे वक्ष्यते)।

चित्तसंविआ स्त्री० (चित्तसंवित्)। स्वपरचित्ततरागादिज्ञाने, "हृदये चित्तसंवित्"। हृदये शरीरप्रदेशविशेषेऽधोमुखस्वल्पपुण्डरीकारे संयमाच्चेतसः संवित् स्वपरचित्तगतवासनारानादिज्ञानं भवति। द्वा०२६ द्वा०।

चित्तसभा स्त्री० (चित्रसभा)। चित्रकर्मवन्मण्डपे, प्रश्न०१ आश्र० द्वार। आव०। ज्ञा०।

चित्तसमाहिट्ठाण *न०* (*चित्रसमाधिस्थान*)। *६त०। मनसः समाधिपदेषु,* (दशा०) येषु सत्सु चित्तस्य प्रशस्तपरिणतिर्जायते।

तानि दश-

सुयं मे आउसंतेणं भगवया एवमक्खायं इह खलु थेरेहिं भगवंतेहि दस चित्तसमाहिट्ठाणा पण्णत्ता, कतराइं खलु ताइं थेरेहिं भगवंतेहिं दस चित्तसमाहिट्ठाणाइं पण्णत्ताइं ? इमाइं खलु थेरेहिं दस चित्तसमाहिट्ठाणाइं पण्णत्ताइं। तं जहा-तेणं कालेणं तेण समएणं वाणियगामे णगरे होत्था; एवं नगरवण्णओ भाणियव्वो। तस्स णं वाणियगामस्स नगरस्स बहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए दूतिपलासए नामं चेइए होत्था; चेइयवण्णओ भाणियव्वो। जितसत्त राया, तस्स णं धारिणी देवी, एवं समोसरणं भाणियव्वं० जाव पुढविसिल्लवट्टए सामी समोसढो, पडिस्स निग्गया, धम्मो कहितो, परिसा पडिगता, अज्जा ! इति समणे भगवं महावीरे समण निग्गंथा य निग्गंथी य आमंतेत्ता एवं वयासी-इह खलु अज्जो ! णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा इरियासमिताणं भासासमिताणं एसणासमिताणं आदाणभंडमत्तणिक्खेवणासमिताणं उच्चारपासवणखेलसिंघाणजल्लपारिट्ठावणियासमिताणं मणसमिताणं वयसमिताणं कायसमिताणं मणगुत्ताणं वइगुत्ताणं कायगुत्ताणं गुत्तिंदियाणं गुत्तबंभयारीणं आयट्ठीणं आयहिताणं आयजुतीणं आयपरक्कमाणं पक्खियपोसहिएसु समाहिपत्ताणं झियायमाणाणं इमाइं दस चित्तसमाहिट्ठाणाइं असमुप्पण्णपुव्वाइं समुप्पज्जिज्जा। तं जहा-धम्मचिंता वा से असमुप्पण्णपुव्वा समुप्पज्जेज्जा सव्वं धम्मं जाणित्तए १ सुविणदंसणे वा से असमुप्पण्णपुव्वे समुप्पज्जेज्जा अहातच्चं सुविणं पासित्ते जाइसरणेण वा से असमुप्पण्णपुव्वे समुप्पज्जेज्जा अप्पणो पोराणि य जाइं सुमरित्तए अह सरामि२, देवदंसणे वा से असमुप्पण्णपुव्वे समुज्जेज्जा ३, दिव्वं देवड्ढिं दिव्वं देवजुइं दिव्वं देवाणुभावं पासित्तए ४, ओहिणाणे वा से असमुप्पण्णपुव्वे समुप्पज्जेज्जा ओहिणा लोयं जाणित्तए ५, ओहिदंसणे वा से असमुप्पण्णपुव्वे समुप्पज्जेज्जा ओहिणा लोयं पासित्तए ६, मणपज्जवणाणे वा से असमुप्पण्णपुव्वे समुप्पज्जेज्जा अंतो मणुस्सखित्तेसु अड्ढाइज्जेसु दीवसमुद्देसु सण्णीणं पंचिंदियाणं पज्जत्तगाणं मणोगते भावे जाणित्तए ७, केवलनाणे वा से असमुप्पण्णपुव्वे समुप्पज्जेज्जा केवलकप्पं लोयालोयं जाणित्तए ८, केवलदंसणे वा से असमुप्पण्णपुव्व समुप्पज्जेज्जा केवलकप्पं लोयालोयं पासित्तए ९, केवलमरणे वा से अ-

समुप्पण्णपुव्वे समुप्पज्जेज्जा सव्वदुक्खप्पहीणाए ॥१०॥
ओयं चित्तं समादाय, झाणं समणुपस्सति।
धम्मट्ठितो अविमणे, निव्वाणमभिगच्छति ॥१॥
ण इमं चित्तं समादाय, भुज्जो लोयंसि जायति।
अप्पणो उत्तमं ठाणं, सण्णी णाणेण जाणति ॥२॥
जहा तच्चं तु सुविणं, खिप्पं पासति संवुडे।
सव्वं च ओहं तरती, दुक्खादो य विमुच्चति ॥३॥
पंताइं भयमाणस्स, विवित्तं सयणासणं।
अप्पाहारस्स दंतस्स, देवा दंसेंति तातिणो ॥४॥
सव्वकामविरत्तस्स, खमंतो भयभेरवं।
तओ से ओही भवति, संजतस्स तवस्सिणो ॥५॥
तवसा अवहमस्स, दंसणा परिसुज्झति।
उड्ढमहयं तिरियं च, सव्वं समणुपस्सति ॥६॥
सुसमाहितलेसस्स, अवितक्कस्स भिक्खुणो।
सव्वतो विप्पमुक्कस्स, आया जाणति पज्जवे ॥७॥
जदा से णाणवरणं, सव्वं होति खतं गतं।
तदा लोगमलोगं च, जिणो जाणति केवली ॥८॥
जया से दरिसणावरणे, सव्वं होइ स्वयं गयं।
तओ लोगमलोगं च, जिणो पासइ केवली ॥९॥
पडिमाए विसुज्झाए, मोहणिज्जे खयं गते।
आससं लोगमलोगं च, पासंति सुसमाहिते ॥१०॥
जहा य मत्थियसूयीए, हत्थाए हण्णती तले।
एवं कम्माणि हण्णंति, मोहणिज्जे खयं गते ॥११॥
सेणावतिम्मि णिहते, जहा सेणा पणस्सति।
एवं कम्मा पणस्संति, मोहणिज्जे खयं गते ॥१२॥
धूमहीणो जहा अग्गी, खीयती से निरंधणे।
एवं कम्माणि खीयंति, मोहणिज्जे खयं गते ॥१३॥
सुक्कमूले जधा रुक्खे, सिच्चमाणे ण रोहति।
एवं कम्मा न रोहंति, मोहणिज्जे ,खयं गते ॥१४॥
जहा दड्ढाण वीयाणं, ण जायंते पुण अंकुरा।
कम्मदीएसु दड्ढेसु, ण जायंति भवंकुरा ॥१५॥
चिच्चा उरालियं बोंदिं, नाम गोत्तं च केवली।
आउयं वेयणिज्जं च, छित्ता भवति णीरये ॥१६॥
एवं अभिसमागम्म, चित्तमादाय आउसो।
सेणिसोधिमुवागम्म, आता सोधिमुवागइ त्ति वेडि ॥१७॥

"सुयं मे" इत्यादि प्राग्वत्, ननु कृत एव मङ्गलोपचारस्तर्हि किमर्थं भूयोऽपि तदुपादानं पौनरुक्त्यस्यात् इति चेत् ? उच्यते-"यावच्छक्यं तदाचरेत्" इति वाक्यात् पुनर्नमस्कारेण न पुनरुक्तताऽऽशङ्कनीया इति, नवरं चित्तस्य मनसः समाधिस्थानानि, समाधिपदानीति यावत्। तद्यथा-"ते णं कालेणं ते णं समए णं" इत्यादि। ननु स्थविरैरेवामूनि दश चित्तसमाधिस्थानान्युक्तानि इति पूर्वमुक्तं, किमर्थं तर्हि भूयोऽपि भगवद्वचनानुवादपूर्वकम् "ते ण काले णं" इत्यादि सूत्रम्। उच्यते - स्वमनीषिकापरिहारायेदमुक्तम्। यद्वा-स्वयमेव स्थविरैरेवाऽमून्युक्तानि भविष्यन्ति न पुनस्तीर्थकरैरित्यविश्वास पिशाची निराकरणायेदं सूत्रम्। तत्र यस्यां नगर्यां यस्मिन्नुद्याने यथा भगवांस्त्रिलोकीपतिर्दश चित्तसमाधिस्थानानि व्यागृणाति स्म, तथोपदिदर्शयिषुः प्रथमतो नगर्युद्यानाभिधानपुरस्सरं सकलवक्तव्यतोपक्षेपं वक्तुकाम इदमाह-"ते णं काले णं" इत्यादि। 'ते' इति प्राकृतशैलीवशात्तस्मिन्निति, यस्मिन् समये भगवान् प्रस्तुतां चित्तसमाधिस्थानवक्तव्यतामचकथत् तस्मिन् समये, वाणिजग्राम इति नाम्ना नगरमभवत्। नन्विदानीमपि तन्नगरं वर्त्तते, ततः कथमुक्तमभवदिति ? उच्यते-वक्ष्यमाणवर्णकग्रन्थोक्त-विभूतिसमन्वितं तदैवाभवत्। ननु विवक्षितं ग्रन्थविधानकाले, एतदपि कथमव सेयमिति चेत् ? उच्यते-अयं कालोऽवसर्प्पिणी, अवसर्पिण्यां च प्रतिक्षणशुभभावादीनि हानिमुपगच्छन्ति। एतच्च सुप्रतीतं जिनवचन-वेदिनामतोऽभवदित्युच्यमानं न विरोधभाक्। "एत्थ" इत्यत्र नगरवर्णको ज्ञेयः। स चायम्-"रिद्धित्थमियसमिद्धे पमुइयजणजाणवए" इत्यादि औपपातिकग्रन्थप्रतिपादितः समस्तोऽपि वर्णको वाच्यः, स चेह ग्रन्थगौरवभयान्न लिख्यते, केवलं तत एवोपपातिकादवसेयः। "तस्स णं" इत्यादि। तस्स वाणिजग्रामनगरस्य बहिरुत्तरपौरस्त्यां हि उत्तरपूर्वो रुपो दिग्विभागः, ईशानकोण इत्यर्थः। एवकारो मागधभाषा-ऽनुरोधतः प्रथमैकवचनप्रभवः। यथा-"कयरे आगच्छइ दित्तरूये" इत्यादौ। दूतीपलाशमिति नाम चैत्यमभवत्। चितेर्लेप्यादिचयनस्य वा भावः कर्म वा चैत्यम् तच्च संज्ञाशब्दत्वाद् देवताप्रतिबिम्बे प्रसिद्ध। ततस्तदाश्रयभूतं यद्देवस्य गृहं तदप्युपचायाराच्चैत्यम्। "चैत्यमायतनं तुल्ये"। तच्चेह व्यन्तरायतनं द्रष्टव्यं, न तु भगवतामर्हतामायतनम्। 'होत्था' इत्यभवत् (चेइयवण्णओ भाणियव्वो त्ति) चैत्यवर्णको भणितव्यः; सोऽप्यौपपातिकग्रन्थादवसेयः। (जियसत्तु राया, तस्य त्ति) तस्स जितशत्रुराज्ञो धारिणी नाम्नी देवी समस्तान्तः पुरप्रधाना भार्या (एवं समोसरणं भाणियव्वं ति) एवमित्यमुनौपपातिकग्रन्थानुसारेण सर्वं निरवशेषं समवसरणं भगवदागमनपरिषन्निर्गमनधर्मकथादिरूपं भणनीयम् "जाव पुढविसिलावट्टए समोसढे" "जाव त्ति" यावत्करणात्-"जेणेव वाणियग्गामे नगरे जेणेव दूतिपलासए चेइए जेणेव पुढविसिलावट्टए तेणेव उवागच्छइ" इत्यादि औपपातिकोक्तं पाठसिद्धं सर्वमवसेयम्। संज्ञामात्रमत्रैव दर्शयति-पृथिवीशिलापट्टके स्वामी समवसृतः, पर्षन्निर्गता (धम्मो कहिओ ति) स्वामिना पर्षदग्रे, "अत्थि लोए" इत्यादि भावप्रदर्शनरुपो धर्मः कथितः। साम्प्रतं विवक्षितं प्रदर्शयति -(अज्जो ! इति) हे आर्याः। इत्यामन्त्रणवचनं श्रमणो भगवान् महावीरः श्रमणान् निर्ग्रन्थान् निर्ग्रन्थ्यश्च आमन्त्रयित्वा एवमवादीत्-"इह खलु" इत्यादि। इह खलु इति निपातौ इति। इह लोके, प्रवचनेवा। खल्ववधारणे। निर्ग्रन्थानामिति। निर्ग्रन्था निर्गतान्तरान्मिथ्यात्वादेर्बाह्याच्च धर्मोप-करणवर्ज्जाद्धनादेर्निर्ग्रन्थाः, तेषां निर्ग्रन्थानाम्, एवं निर्ग्रन्थीनाम्। कथ भूतानामित्याह-(इरियाणं ति) समेकीभावेनेति निश्चेष्टा समितिरीर्यायां विषये समितिः, शकटादिवाहनाक्रान्तेषु सूर्यरश्मि-प्रतापितेषु प्रासुकविविक्तेषु युगमात्रदृष्टिभिर्यतिभिर्गमनं कर्त्तव्यं, तद्युक्ताः तेषाम्। एवं भाषासमितासंदिग्धतैषणासमितिभिर्गोचर-

गतैः साधुभिः सम्यगुपयुक्तैर्नवकोटीविशुद्धं ग्राह्यम्। (आयाणे इत्यादि) आदानं ग्रहणं, निक्षेपणा मोचनं, भाण्डमात्रं सर्वोपकरणं, मध्ये स्थितो भाण्डमात्रशब्दः काकाक्षिगोलकन्यायेनोभयत्रापि संबध्यते, ततश्च भाण्डमात्राद्यादाने निक्षेपणायां च समितिः प्रेक्षणप्रमार्जितपूर्विका सुन्दरचेष्टा, तया युक्तानाम्, उच्चारादीनां परिष्ठापना पुनर्ग्रहणतयोपन्यासः, तत्र भवा पारिष्ठापनिका, सा चासौ समितिश्च प्रत्युपेक्षणादिपूर्वा चेष्टा, तया समितानां, तत्रोच्चारः पुरीषं, प्रस्रवणं मूत्रं, खेलो निष्ठीवनं, सिङ्घाणं नाशिकाश्लेषा, जल्लो मलं, तेषां परिष्ठापने समितिः, श्रीउत्तराध्यनोक्तदशगुणं स्थण्डिलं, तथा (मणसमिताणं ति) ममसा समितानाम्। एवं वाचा, कायेनेति च स्यात्, तया समितानां गवेषणे (मणगुत्ताणं ति) गोपनं गुप्तिः, तया गुप्तानाम् एवं वचसा, कायेन, अतएव गुप्तेन्द्रियाणां गुप्तब्रह्मचरिणां, भूयः कथंभूतानामित्याह-आयतो *दीर्घकालावस्थितिकत्वान्मोक्षस्तस्यार्थिनस्तेषाम्, आत्महिता*-आत्मनो हितमिव हितम आत्महितं, हिताहितं च शरीरे आत्मनि च भवति, तत्र शरीरे हिताहितं पथ्यापथ्याहारादिकम्, आत्मनि तु हिंसादिप्रवृत्तिनिवृत्ति। अथवा-आत्मनो हितानि त्रिषष्टानि पाखण्डिकशतानि, तदपनयनं, तदस्ति येषां ते आत्महिताः, तेषाम् (आयजोगीणं ति) आत्मयत्तत्ताः स्ववशे वर्त्तमानाः योगा मनोवाक्कायलक्षणा येषां ते आत्मयोगिनः, आत्तयोगिनो वा, तेषां, तथा येषां ते आत्मपराक्रमास्तेषां, तथा (पक्खियपोसहिए सुसमाहिपत्ताणं ति) पक्षे भवं पाक्षिकम् अर्द्धमासिकं पर्व, तत्र पोषधः पाक्षिकपोषधः, सोऽस्ति येषां ते पाक्षिकपाषेधिकाः। यत श्चूर्णिः-"पक्खियं पक्खियमेव, पक्खिए पोसहो पक्खियपोसहो चाउद्दसिअट्ठमीसु वा"। अत्रापि स एवार्थः यथा पक्षे अर्द्धमासे भवं पाक्षिकं, तत्र पाक्षिके पोषधः पाक्षिकपोषधः, अत्र च नियतः पोषध उवासरूपः। यतः श्रीउत्तराध्ययनबृहद्वृत्तौ-"सर्वेष्वपि तपोयोगः, प्रशस्तः कालपर्वसु। अष्टम्यां पञ्चदश्यां च, नियतः पोषधं वसेत्" ॥१॥ तथा श्रीआवश्यकचूर्णौ-"सव्वेसु कालपव्वे-सु पसत्थो जिणमते तवो जोगी। अट्ठमिपन्नरसीसुं, नियमेण हविज्ज पोसहिओ ॥१॥" इति वचनात् पाक्षिकेऽवश्यं तपः कार्यम्। उपलक्षणं चैतच्चतुर्दश्यष्टम्योः, तत्रापि तपः कार्यम् इति। अतएवोक्तं चूर्णिकृता-"चाउद्दसिअट्ठमीसुं वा।" अत्र वाशब्दः समुच्चयार्थे अनुक्तपर्वसंग्राहको व्यावर्णितश्चूर्णिकृता, तत्र तपोविशेश्चतुर्यादिरूपस्तेन युक्तानां साधूनां मध्ये (समाहिपत्ताणं ति) समाधिप्राप्तानां ज्ञानदर्शनचारित्ररूपसमाधिमतां (झियायमाणाणं ति) धर्मशुक्लं ध्यानं ध्यायमानानाम् (इमाइं ति) इमानि अनन्तरवक्ष्यमाणस्वरूपाणि दश चित्तसमाधिस्थानानि (असमुप्पण्णपुव्वाइं ति) असमुत्पन्नपूर्वाणि, कदाऽप्यतीतकाले न समुत्पन्नपूर्वाणि इत्यर्थः समुत्पद्येरन्निति शेषः। तद्यथा-(धम्मेत्यादि) 'से त्ति' निर्देशे, तस्य एवं गुणजातीयस्य निर्ग्रन्थस्य निर्ग्रन्थ्या वा (धम्मचिंत त्ति) धर्म्मो नाम स्वभावः जीवद्रव्याणामजीवद्रव्याणां च, तद्विषया चिन्ता, कथंरूपा ?-अमी नित्या उत्तानित्याः, रूपिण उतारूपिण इत्यादिरूपा (असमुप्पण्णपुव्व त्ति) प्राग्वत्, सत्यं धर्म ज्ञातुम्। अथवा धर्मचिन्ता-यथा सर्वे कुसमया अशोभना अनिर्वाहकाः पूर्वापरविरुद्धा अतः सर्वधर्म्मेषु शोभनतरोऽयं धर्म्मो जिनप्रणीत एवंरूपा इत्येकम् १ (सण्णीत्यादि) सं सम्यग्जानातीति संज्ञः, तस्य यन् ज्ञानं संज्ञानं, यथा पूर्वोल्ले गां दृष्टवा पुनरपराह्णे प्रत्यभिजानीते-असौ गौरिति। "असमुपण्णे" इत्यादि प्राग्वत्। (अहं सरामीति) अहं स्मरामीति-अमुकोऽहं पूर्वभवे आसं, सुदर्शनादिवत् इति २। (सुमिणेत्यादि) स्वप्नदर्शनं यथा-भगवतो वर्द्धमानस्वामिनः प्रज्ञप्त्यां प्रतिपादितं स्वप्नफलं तथा, अथ स्त्रीं पुरुषां वा एकां महतीं हयपङ्क्तिम् (अहातच्चं ति) यथतथ्यं फलं स्वप्नद्रष्टुर्जातिस्मरणम्, *आत्मनः पौराणिकीं जातिं स्मर्तुं चिन्ता उत्पद्यते ३*। तत्र (देवदंसणे व त्ति) तं यस्यासाविति कृत्वा देवाः 'से' तस्य आत्मानं दर्शयति *दिव्यां देवर्द्धिं दिव्यां देवद्युतिं दिव्यं देवानुभावं द्रष्टुम् ४*। (ओहिनाणे वा से त्ति) अवधिज्ञानं ५, शेषवक्तव्यता देवावधिदर्शनं ६, मनःपर्यवज्ञानम् (अंते त्ति) अन्तर्मध्ये मनुष्यपक्षेत्रस्त अर्द्धतृतीयेषु द्वीपसमुद्रेषु जम्बूद्वीपधातकीखण्डपुष्करार्द्धेषु संज्ञिनां मनोलब्धिमताम्, एवंविधानां *पञ्चेन्द्रियाणां पर्याप्तकानां पर्याप्तिषट्कसमेतानां मनसि गतान् मतोगतान् भावान् परिणामस्वरूपान् ज्ञात्रमिति ७*। 'केवलनाणे' इत्यादि व्यक्तम्, नवरं केवलकल्पमिति केवलं ज्ञानवत् परिपूर्णं सकेलस्वांशसंपूर्णं लोकालोकं ज्ञातुम् ८। एवं केवलदर्शनम् ९। (केवलमरणमिति) केवलज्ञानेन यद् मरणं केवलमरणम् (सव्वदुक्खप्पहीणाए त्ति) सर्वदुःखप्रक्षेपार्थम् १०॥ साम्प्रतं गद्योक्तमेवार्थं श्लोकैर्दर्शयति-(ओयं ति) ओजं नाम रागद्वेषरहितं चित्तं उच्यते, शुद्धम् एकमेव सम्यक् आदाय गृहीत्वा (झाणं ति) ध्यानं धर्मं पश्यति करोति, धातूनामनेकार्थत्वात्, सम्यक् यथा भवति तथा भवति, तथा अन्यैर्दृष्टम् अनु पश्चात्पश्यति, पुनःपुनर्वा पश्यति करोति समनुपश्यति, पुनः कथंभूतः ?-(धम्मट्ठिउ त्ति) धर्म्मे स्थितः-धर्म्मे यथार्थोपलम्भके ज्ञानक्रियारूपे स्थितो धर्मस्थितः। पुनःकथंभूतः ?-(अविमणो) अविमनाःपरसमयेषु मनो यस्य न याति सोऽविमनाः। अथ वा-शङ्कादि जिनवचने न करोतीत्यविमनाः, स एवं पूर्वोक्तगुणविशिष्टो निर्वाणं कषायदाहोपशमलक्षणं, मोक्षं च अभिगच्छति। य एव गत्यर्थास्त एव ज्ञानार्था इति वचनात् वाति इति गाथार्थः ॥१॥ (ण इमं ति) न इति प्रतिषेधे, (इमं ति) एतत् चित्तं ज्ञानं, सम्यक् आदाय गृहीत्वा, किं तत् ज्ञानम् ? उच्यते-जातिस्मरणादि, भूयो भूयः लोके संसारे जायते उत्पद्यते, आत्मनः(उत्तमं ति) प्रधानं स्थानं यो हि परभवे "आसम अमकत्रैवं रूपम्"। अथवा-उत्तमः संयमो मोक्षो वा, यतो ज्ञातं कर्म वा न विद्यते। अथवा-उत्तमं श्रेष्ठं निर्वाहकं हितं वा आत्मनः, तज्जानीते ॥२॥ "जहा तच्चं तु" यथातथ्यम् अविसंवादिफलं यत्तत् यथातथ्यमित्युच्यते, यथा चरमतीर्थकृता दश स्वप्नदृष्टाः, क्षिप्रं च फलमजनि, तथा क्षिप्रफलं पश्यति, संवृतात्मा निरुद्धाश्रवद्वारः, सर्वं निरवशेषं, चशब्दः स्वगतानेकभेदसूचकः। 'आहं' सततं प्रसृतप्रवाहं संसारसमुद्रमिव समुद्रम्, अप्राप्य पारम्। एवविधं तरति-न पुनः संसारी भवति, (दुक्खादो य त्ति) दुःखात् दुःखोत्पादककर्मणः शारीरमानसिकाद्वा दुःखात्, सांसारिकाद्वा विविधादनेकप्रकारान्मुच्यते इति गाथार्थः ॥३॥ (पंताइं ति) प्रान्तानि कल्प्यामूल्यानि जीर्णानि भजमानस्य सेवमानस्य (विवित्तं सयणासणं ति) विविक्तं रहस्यभूतं स्त्रीपशुपण्डकसंसर्गरहितम्। अथवा-(विवित्तं) 'विचिर' पृथग्भावे, पृथिव्यादिजीवेभ्यः पृथग्भूतानि, तदपि सेवमानस्येति संबन्धनीयम्। पुनः कथंभूतस्य १-अल्पाहारस्य ब्रह्मचर्यगुप्तिरक्षणार्थं स्वल्पाहारिणः, दान्तस्येन्द्रियदमनतत्परस्य, एवंगुणविशिष्टस्य साधोः, देवाः वैमानिका आत्मानं दर्शयन्ति-यथास्थितं देवस्वरू-

पयुक्तम् (तातिणो त्ति) आत्मत्राता, परत्राता, उभयत्राता, तस्य ॥४॥ (सव्व त्ति) सर्वे च ते कामाश्च सर्वकामाः शब्दादयः, तेभ्यो विरक्तः, सर्वकामविरक्तस्तस्य भयेन भैरवं रौद्रं भयभैरवं, सिंहव्याघ्रपिशाचशिवादिक्षतं, क्षमतः सहतः, ततस्तस्यैवंगुणजातीयस्य (ओही त्ति) अवधिर्भवति, पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् अवधिज्ञानं भवति। कथंभूतस्य ? सयमवतः (तवस्सिणो त्ति) तपस्विन इति गाथार्थः ॥५॥ (तवस त्ति) तपसा द्वादशप्रकारेण अपहृतकृष्णादिलेश्यात्रयस्यावधिदर्शनं परिशुद्ध्यति विशुद्धतरं भवति। आह-तेन किं पश्यति ? उच्यते ऊर्द्धमधस्तिर्यक् सर्वं सम्यग् अनुपश्यति। तत्र-ऊर्द्धमित्यूर्द्धलोकम्, अधोलोकं च, तथा तिर्यगसंख्येयद्वीपसमुद्रात्मकं लोकं पश्यति। कोऽर्थः-ये तत्र भावः जीवादयः कर्माणि वा, यैर्वा जीवैर्यत्र गम्यते पुद्गलालोके यथापरिणामस्तथा सर्वं सर्वात्मना सर्वासु च दिक्षु ॥६॥ "सुसमाहित" इत्यादि। सुष्ठुतिशयेन समाहिताः स्वचेतसि स्थापिता लेश्यास्तेजःपद्माशुक्लाख्या येन स सुसमाहितलेश्यः तस्य सुसमाहितलेश्यस्य (अवितक्कस्स त्ति) वितर्को नाम-ऊहो विमर्श इति पर्यायः। सोऽस्ति विद्यते यस्य स वितर्कः, न विद्यते वितर्कोऽश्रद्धानक्रियाफलदेहरूपो यस्य सोऽवितर्कः, तस्य (भिक्खुणो त्ति) भिक्षणशीलो भिक्षुः तस्य भिक्षोः (सव्वतो त्ति) सर्वतः सर्वबाह्याभ्यन्तरभेदाभिन्नपरिग्रहाद्, विविधैर्ज्ञातिभावनादिभिःप्रकर्षेण परीषहादिसहिष्णुतया मुक्तस्य, एवंविधस्य साधोरात्मा जीवो, ज्ञानेन मनःपर्यायलक्षणेन, पर्यायान् जीवस्य मनोगतान्, जानीते ॥७॥ अथ कीदृशं केवलज्ञानं भवति ? तदाह-"जहा से" इत्यादि। यदा यस्मिन्नवसरे, सेत्यनिर्दिष्टनाम्नो जीवस्य ज्ञानावरणं विशेषावबोधरूपप्रस्तावात् केवलज्ञानावरणं, सर्वं निरवशेषं क्षयं गतं भवति। ननु केवलज्ञानं तदैवोत्पद्यते यदा सर्वावरणविगमो भवतीत्यर्थादागते किमर्थं सर्वग्रहणमित्याशङ्का ? तत्रोच्यते-सर्वग्रहणं ज्ञानान्तरभेद-सूचकं ज्ञेयं, यावदावरणविगमे ज्ञानान्तरव्यपदेशो दर्शितः, ततो न निरर्थकता आशङ्कनीया, (तदा इति) तदा लोकं चतुर्दशरज्ज्वात्मकम्, अलोकं चानन्तं, जिनो जानाति केवली लोकालोकं च सर्वं, नान्यतरमित्यर्थः ॥८॥ "जया" इत्यादि व्यक्तं, नवरं दर्शनं सामान्यावबोधरूपम् ॥९॥ "पडिमाए" इत्यादि। प्रतिमायाम् "सप्तम्यर्थे तृतीया"। विशुद्धायाम्, प्रतिमा तु द्वादशभिक्षुप्रतिमारूपा। अथवा-इयमेव रजोहरणतद्ग्रहणधारणरूपा। अथवा-मोहनीयकर्मविवर्जित आत्मा च वसति, सैव प्रतिमाप्रतिरूपता। अथवा-इहलोकपरलोकानाश्रितत्वेन विशुद्धा प्रतिज्ञा, मोहनीये च कर्मणि क्षयं गते सति, शेषं व्यक्तं, नवरम्-(सुसमाहिए त्ति) सुष्ठुतिशयेन समाधिनः समाधिमन्तः ॥१०॥ "जहा" इत्यादि। यथा मस्तकसूची हन्यते करतलेन, तदा करतलोऽपि हतो भवति, एवं कर्माणि हन्यन्ते, 'हन' हिंसागत्योः। ततो हन्यन्ते घातमाप्नुवन्ति, क्व सति ? मोहनीये कर्मणि क्षयं गते सति इति गाथार्थः ॥११॥ (सेणावतिम्मि) सेनापतौ कटकनायके (हते त्ति) यथा सेना प्रणश्यति, एवं कर्माणीति, सर्वं सुगमम् ॥१२॥ "धूम" इत्यादि। धूमहीनो यथाऽग्निः क्षीयते स निरन्धनो नाम-इन्धनरहितः, एवं व्यक्तम् ॥१३॥ (सुक्कमूले त्ति) शुष्कमूलो यथा वृक्षः सिच्यमानो न रोहति-न वृद्धिमाप्नोति, एवं व्यक्तम् ॥१४॥ जह इत्यादि। यथा-दग्धेषु बीजेषु न जायन्ते नोत्पद्यन्ते पुनरङ्कुराः, तथा कर्मबीजेषु इति व्यक्तम् ॥१५॥ "चिच्चा" इत्यादि। त्यक्त्वा औदारिकं बोन्दि शरीरं, तत्र औदारिकं नाम उदारं, प्राधान्यं चास्य तीर्थकरगणधरशरीरापेक्षया, ततोऽन्यस्यानुत्तरसुरशरीरस्याप्यनन्तगुणहीनत्वात्। अथवा "उराल" नाम-विस्तरवत्, विस्तरवत्ता चास्यावस्थितस्वभावस्य सातिरेकयोजनसहस्रमानत्वात्। चशब्दात् तैजसं, कार्मणं च। उक्तं च-"ओरालियतेयाकम्मायाइं सव्वाहि विप्पजण्णाहिं विप्पजहत्ति" च पुनर्नामगोत्रं, तत्र नामयति गत्यादिपर्यायानुभवनं प्रति प्रवणयति जीवमिति नाम, तथा गूयते शब्द्यते उच्चावचैः शब्दैर्यत् तद् गोत्रम्-उच्चनीचकुलोत्पत्तिलक्षणः पर्यायविशेषः, तद्विपाकवेद्यं कर्मापि गोत्रं, कार्ये कारणोपचारात्। यद्वा-कर्मणोऽपादानविवक्षा-गूयते शब्द्यते उच्चावचैः शब्दैरात्मा यस्मात्कर्मण उदयात्तद्गोत्रं चेत्सुत्तरेण सह संटङ्कः केवलीति केवलज्ञानवान्, तथा-(आउयमिति) एति आगच्छति च प्रतिबन्धकतां स्वकृतकर्मबाह्यनरकादिकुगति निष्क्रमितुमनसो जन्तोरित्यायुः। अथवा-आ समन्तादधिगच्छति भवाद्भवान्तरसंक्रान्तौ विपाकोदयमित्यायुः, उभयत्राप्यौणादिक उसप्रत्ययः। तथा (वेयणिज्जं च त्ति) चकारोऽत्र क्रमदर्शकः, वेद्यते आहादादिरूपेण यदनुभूयते तद्वेदनीयमत्र कर्मण्यनीयः। यद्यपि च सर्वं कर्म वेद्यते तथापि पङ्कजादिशब्दवत् वेदनीयशब्दस्य रूढिविषयत्वात्, छित्त्वेति आत्मप्रदेशेभ्यः कर्मदलिकान् पातयित्वा (भवति णीरए त्ति) भवति नीरजाः कर्मरजोरहितः ॥१६॥ "एवं" इत्यादि। एवमवधारणे, अभिराभिमुख्ये, समेकीभावे, 'आङ्' मर्यादाभिविध्योः। 'गम्लृ' 'सिपृ' गतौ, सर्व एव गत्यर्था ज्ञानार्था ज्ञेयाः। अभिसमागत्य आभिमुख्यं सम्यग् ज्ञात्वेत्यर्थः। किं कर्त्तव्य मित्याह-(चित्तमादाय त्ति) चित्तशब्देन ज्ञानम्, आदाय गृहीत्वा, एतावता रागादिकालुष्यवर्जितं ज्ञानं प्रगृह्य (आउसो त्ति) आयुष्मन्नित्यामन्त्रेण। एतानि च दश चित्तसमाधिस्थानानि समादाय, किं कर्त्तव्यम् ? उच्यते-(सेणिसोधिमुवागम्य त्ति) श्रेणिशोधिं उपागम्य। श्रेणिर्द्विधा-द्रव्यश्रेणिर्भावश्रेणिश्च ! द्रव्यश्रेणिः-प्रासादानां श्रेणिर्नाम सोपानपङ्क्तिरुच्यते यया आरुह्यते। भावश्रेणिरपि द्विधा-विशुद्धा, अविशुद्धा च। संसारय अविशुद्धा, मोक्षाय विशुद्धा, तस्याः शोधिरिति शुद्धिः, कर्मणां शुद्धिर्येन भवति सा शुद्धिरित्यभिधीयते। शोधिग्रहणात् संग्रमश्रेणिर्गृहीता भवति। उक्तं च-"अकलेवरसेणिसुस्सिआइ त्ति" उपागम्य ज्ञात्वा, उप सामीप्ये आगम्य प्राप्य, किं भवति ? उच्यते-आत्मनः शोधिरात्मशोधिस्तां, तपसा (उवेइ त्ति) पश्यति, य एवं करोति ॥१७॥ दशा०५ अ०। स्था०।

चित्तसमाहिय त्रि० (चित्तसमाहित) चित्तेनातिप्रसन्ने, दश०१० अ०।

चित्तसहाव त्रि० (चित्रस्वभाव) नानास्वभावे, पं० व०१ द्वार। **चित्तसाहु** पुं० (चित्रसाधु) भवान्तरे चाण्डालपुत्रःचित्राख्यो भूत्वा सार्थवाहपुत्रीभूय प्रव्रजिते ब्रह्मदत्तचक्रिणो मित्रसाधौ, सूत्र०१ श्रु०३ अ०२ उ०।

चित्तसेणग पुं० (चित्रसेनक) ब्रह्मदत्तचक्रिराइयाः भद्रायाः पितरि, उत्त०१३ अ०।

चित्ता स्त्री० (चित्रा) नक्षत्रभेदे, जं०६ वक्ष०। सू० प्र०। ज्यो०। विशे०। अनु०। स्था०। "दो चित्ताओ" स्था०२ ठा०३ उ०।

द्वी०। विदिग्रुचकाद्रिवासिन्यां विद्युत्कुमारीमहत्तरिकायाम्, ति०। स्था०। आ०म०। आ०क०। जं०। शक्रस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य सोममहाराजस्थाग्रमहिष्याम्, स्था०४ ठा०१ उ०। भ०।

चित्ताणुय त्रि० (चित्तानुग) आचार्यचित्तानुगामिनि, उत्त०२ अ०।

चित्ति स्त्री० (चिति) भित्त्यादेश्चयने, मृतकदहनार्थं दारुविन्यासे च। प्रश्न०११ आश्र० द्वार।

चित्तिया स्त्री० (चित्रिका) व्याघ्रविशेषस्त्रियाम्, प्रज्ञा०११ पद।

चित्ति (ण्) पुं (चित्रिन्) चित्रं चित्रकर्म तत् कर्त्तव्यतया विद्यते यस्य च चित्री। चित्रकरे, कर्म०१ कर्म०।

चित्तिसम न० (चित्रिसम) चित्री चित्रकरस्तेन समं सदृशं चित्रिसमम्। चित्रकारोपमिते नामकर्मापि यथा हि-चित्री चित्रं चित्रप्रकारं विविधवर्णयुक्तं करोति, तथा नामकर्मापिजीवं नारकोऽयं तिर्यग्योनिकोऽयमेकेन्द्रियोऽयं द्वीन्द्रीयोऽयमित्यादिव्यपदेशैरनेकधा करोति चित्रसममिदमिति। कर्म०१ कर्म०।

चित्तुस्साह पुं० (चित्तोत्साह) मनःसमुत्साहे, षो०६ विव०।

चिद् स्त्री० (चित्) चित् -सम्प० क्विप्। ज्ञाने, वाच०। चैतन्यशक्तौ, स्था०। प्राकृते एतादृशः शब्दो न प्रयुज्यते व्यस्तः। "चिदानन्दघनस्य" चिद् ज्ञानमानन्दः सुखं, तद्घनः तत्सन्दोहरूपस्तस्य। अष्ट०१८ अष्ट०। "चिदाणंदमकरंद-महुव्वए" ज्ञानानन्दस्य मकरन्दं रहस्यं तस्य मधुव्रतो रसास्वादी। अष्ट०२१ अष्ट०। "चिदाणंदसुहालिहे," चिज्ज्ञानं तस्यानन्दः स एव सुधाऽमृतं तां लेढीति। अष्ट०३० अष्ट०।

चिद्दप्पण पुं० (चिद्दर्पण) चिद् ज्ञानं सर्वपदार्थपरिच्छेदकं, तदेव दर्पणः। ज्ञानादर्शे, अष्ट०४ अष्ट०।

चिद्दविओ (देशी) निर्नाशिते, दे० ना०३ वर्ग।

चिद्दीव पुं० (चिद्दीप) ज्ञानप्रदीपे, अष्ट०३२ अष्ट०।

चिप्पिडय पुं० (चिप्पिटक) चपलसदृशे धान्यभेदे, दशा०६ अ०। स्था०।

चिप्पिण पुं० (चिप्पिन) केदारवति तटवति वा देशे, केदारे च। भ०५ श०७ उ०।

चिब्भडियामच्छ पुं० (चिर्भटिकामत्स्य) मत्स्यभेदे, जी०१ प्रति०।

चिमिढ पुं० (चिपिट) निम्ने, "चीणचिमिढणासाओ"। ज्ञा०१ श्रु०८ अ०।

चिमिणो (देशी) रोमशे, दे० ना०३ वर्ग।

चिम्मंत त्रि० (चीयमान) चि-कर्मणि भावे वा यकि शानच्। **"म्मश्चेः" ८।४।२।२४३।।** इति धातोः कर्मणि भावे चान्ते वा म्माऽऽदेशः। चयं नीयमाने, प्रा०४ पाद।

चिम्मेत्त न० (चिन्मात्र) ज्ञानमात्रे, अष्ट०२ अष्ट०।

चिय त्रि० (चित) शरीरे, चयं गते, भ०१ श०१ उ०। उपचिते स्था०४ ठा०४ उ०। इष्टकादिरचिते प्रासादपीठादौ, अनु०।

चिय अव्य० एवकारार्थे, स्था०२ ठा०१ उ०। पञ्चा०।

चियत्त त्रि० (त्यक्त) प्रीत्या दत्ते, पा०। अप्रीत्यकरणे, स्था०३ ठा०। प्रीतिकरे, औ०। रा०। अभिमते, सूत्र०२ श्रु०३ अ०।

चियत्तंतेउरघरप्पवेस पुं० (त्यक्तान्तःपुरगृहप्रवेश) "चियत्तंतेउरघरप्पवेसा चियत्तो त्ति" लोकानां प्रीतिकर एवान्तः पुरे वा गृहे वा प्रवेशो येषां ते तथा, अतिधार्मिकतया सर्वत्रानाशङ्कनीयास्त इत्यर्थः। अन्ये त्वाहुः-(चियत्तो त्ति) नाप्रीतिकरोऽन्तः पुरगृहयोः प्रवेशः शिष्टजनप्रवेशनं येषां ते तथा, अनीर्ष्यालुताप्रतिपादनपरं चेत्थं विशेषणमिति। अथवा-(चियत्तो त्ति) त्यक्तः अन्तः पुरगृहयोः परकीययोर्यथाकथञ्चित् प्रवेशो यैस्ते तथा। भ०२ श०५ उ०। तथाविधे अतिधार्मिके, तथा सर्वत्रानाशङ्कनीये श्रावके, दशा०१० अ०।

चियत्तकिच्च त्रि० (त्यक्तकृत्य) त्यक्तानि कृत्यानि दशविधचक्रवालसामाचारीरूपाणि सर्वाणि येन सः। जीत०। कृत्यं करणीयं, त्यक्तं कृत्यं येन सः। त्यक्तचारित्रे, नि० चू०१ उ०। पं० चू०।

चियत्तदेह त्रि० (त्यक्तदेह) त्यक्तो वधबन्धाद्यवारणात्, अथवा चियत्तः सम्मतः प्रीतिविषयो, धर्मसाधनेषु प्रधानत्वाद्देहस्येति। भ०१० श०२ उ०। परीषहसहनात् वा देहो यस्य। अभिग्रहविशेषयुक्ते, कल्प०६ क्षण। व्य०।

संप्रति "चियत्तदेहे त्ति" व्याख्यायते। तच्च त्यक्तं द्विधा-द्रव्यतो भावतश्च! तत्र द्रव्यत आह-

जुज्झपराजिय अट्टण, फलहियमल्ले निरुत्तपरिकम्मे।
गूहण मच्छियमल्ले, तइयदिणे दव्वतो चत्तो।।

इदं कथानकं प्रबन्धेनावश्यकटीकायामुक्तम्, इह तु ग्रन्थकगौरवतया न लिख्यते, ततस्तस्मादवधारणीयम्। अक्षरयोजनात्त्वेवम-अट्टनो नाम मल्ल उज्जयिनीवास्तव्यः सोपारे पत्तने वृद्धतया युद्धे पराजितः, तेनान्यः फलहीमल्लो नाम मल्लो मार्गितः। स सोपारके मात्सिकमल्लेन सह युद्धं दत्तवान्। तत्र फलहीमल्ले निरुक्तं निरवशेषं, परिकर्म क्रियते। इतरस्तु मात्सिकमल्लो गर्वाध्माततया शरीरपीडां गूहयन् न किमपि परिकर्म कारितवान्। ततः परिकर्माकरणतः तृतीयदिने मारितस्तेन, परिकर्माकरणतो यस्त्यक्तो देहः स द्रव्यतस्त्यक्तः।

भावतस्त्यक्तमाह -

वंधेज्ज व रुंभेज्ज व, कोई व हणेज्ज अहव मारेज्ज।
वारेइ न सो भयवं, वि चत्तदेहो अपडिवद्धो।।

स प्रतिमाप्रतिपन्नो भगवान्, शरीरेऽप्यप्रतिबद्धो यदि कोऽपि बध्नीयात्, अथवा-रुन्ध्यात्, यदि वा हन्यात्, मारयेद्वा, तथापि तं न निवारयति। एष भावतस्त्यक्तदेहः। व्य०१० उ०।

चियमंससोणियत्त न० (चितमांसशोणितत्व) धातूद्रेके, पं० व०३ द्वार।

चियलोहिय त्रि० (चितलोहित) चितमुपचयं प्राप्तं लोहितं शोणितमस्येति चितलोहितः। लोहितमिति शेषधातूपलक्षणम्। उद्रिक्तधातौ, उत्त०६ अ०।

चिया स्त्री० (चिता) शवदाहार्थं चितेन्धनाग्नौ, सूत्र०१ श्रु०५ अ०२ उ०।

चियाग पु० (त्याग) त्यजनं त्यागः। संविग्नैकसं भोगिकानां भक्तादिदाने, स्था०५ ठा०१ उ०। श्रमणधर्मे, स्था०१० ठा०१ उ०। त्यागो द्विधा-द्रव्यत्यागो, भावत्यागश्च। द्रव्यत्यागो नामआहारोपधिशय्यादीना-मप्रायोग्याणां परित्यागः, प्रायोगयाणां यतिजनेभ्यो दानम्। भावत्यागः क्रोधादीनां विवेको, ज्ञानादीनां यतिजनेभ्यो वितरणम्। आ०म०प्र०। प्रव०।

चियायमंत त्रि० (त्यागवत्) दानीशीले, स च स्तोकादपि स्तोकं ददानो गणस्य बहुमानभाग्भवति इति स गच्छोपग्रहयोग्यः। व्य०३ उ०।

चिर न० (चिर)। दीर्घकाले, व्य०१ उ०। प्रभूतकाले, आतु०। सूत्र०। आव०।

चिरंजीविय न० (चिरंजीवित) दीर्घे आयुषि, स्था०१० ठा०।

चिरंतण त्रि० (चिरन्तम) पुराणे, आव०४ अ०।

चिरजुसिय त्रि० (चिरजुषित) चिरसेविते, 'जुषी' प्रीतिसेवनयोरिति वचनात्। भ०१४ श०७ उ०।

चिरट्ठितिय त्रि० (चिरस्थितिक) चिरं प्रभूतकालं स्थितिरवस्थानं येषां ते तथा। सूत्र०१ श्रु०५ अ०१ उ०। प्रभूतकालस्थितिकेषु, सूत्र०१ श्रु०५ अ०३ उ०। एकद्व्यादिसागरोपमस्थितिकेषु, स्था०८ ठा०। तथाहि-उत्कृष्टतस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि, जघन्यतो दशवर्षसहस्राणि तिष्ठन्ति देवा नारकाश्च। सूत्र०१ श्रु०६ अ०। दशा०। "एयाइ फासाइँ फुसंति वालं, निरंतरं तत्थ चिरट्ठितीयं।" सूत्र०१ श्रु०५ अ०२। उ०।

चिरदिक्खिय त्रि० (चिरदीक्षित) प्रभूतकाले प्रव्रजिते, व्य०४ उ०।

संप्रति चिरप्रव्रजितद्वारमाह -

चिरपव्वइओ तिविहो, जहन्नओ मज्झिमो य उक्कोसो।
तिवरिस पंचम मज्झो, वीसतिवरिसो य उक्कोसो॥

चिरप्रव्रजितस्त्रिविधः। तद्यथा-जघन्यो मध्यम उत्कृष्टः। तत्र त्रिवर्षप्रव्रजितो जघन्यश्चिरप्रव्रजितः, पञ्चवर्षप्रव्रजितो मध्यमो, विंशतिवर्षप्रव्रजित उत्कृष्टः॥

अथ केन बहुश्रुतेन चिरप्रव्रजितेन चाधिकार इत्यत आह-

बहुसुयचिरपव्वओ, एत्थ मज्झेसु होति अहिगारो।
एत्थ उ कमे बिभासा, कम्हाउ बहुस्सुओ पढमं॥

अत्र बहुश्रुतचिरप्रव्रजितयोर्मध्ये ताभ्यामधिकारः, गाथायां सप्तमी तृतीयार्थे। अत्र क्रमे क्रमविषये, विभाषा कर्तव्या। सा चैवम्- कस्मात् प्रथमं बहुश्रुत उक्तः ? यतः श्रुतं ततः प्रथमं प्रव्रज्या भवति, ततः प्रथमं चिरप्रव्रजितस्योपदानं युज्यते ? नैष दोषः नियमविशेषप्रदर्श-नार्थं ह्येवमुपादानं, यो बहुश्रुतः स नियमाच्चिरप्रव्रजितो, येन त्रिवर्षप्रव्रजितस्य निशीथमुद्दिश्यते, पञ्चवर्षप्रव्रजितस्य कल्पव्यहारौ, विंशतिवर्षप्रव्र-जितस्य दृष्टिवादस्तेन न दोष इति। बृ०१ उ०।

चिरपरिचिय त्रि० (चिरपरिचित) पुनःपुनर्दर्शनतः परिचिते, भ०१४ श०७ उ०।

चिरपोराण त्रि० (चिरपुराण) चिरप्रतिष्ठितत्वेन पुराणे, भ०३ श०७ उ०।

चिरपव्वइ पुं० (चिरप्रव्रजित) चिरदीक्षिते, बृ०१ उ०।

चिरप्पवास पुं० (चिरप्रवास) चिरवियोगे, पं० चू०।

चिरया (देशी) कुट्याम्, दे० ना०३ वर्ग।

चिरसंथुत त्रि० (चिरसंस्तुत) चिरं बहुकालमतीतं यावत्संस्तुतः चिरस्नेहात्प्रशंसिते, भ०१४ श०७ उ०।

चिरसंसिट्ठ त्रि० (चिरसंसृष्ट) चिरं बहुकालं यावत् चिरे वाऽतीते प्रभूते काले संश्लिष्टः। चिरस्नेहात्संबद्धे, भ०१४ श०७ अ०।

चिराइय त्रि० (चिरादिक) चिरश्चिरकाल आदिर्निवेशो यस्य तच्चिरादिकम्। नि०५ वर्ग। औ०। ज्ञा०। चिरकालिके, विपा०१ श्रु०१ अ०।

चिराणुगय त्रि० (चिरानुगत) ममानुगतिकारित्वात् चिरमनुगते, भ०१४ श०७ उ०।

चिराणुवत्ति त्रि० (चिरानुवृत्ति) चिरमनुवृत्तिरनुकूलवर्तिता यस्यासौ चिरानुवृत्तिः। प्रभूतकालमनुकूलतया संजाते, "चिरपरिचितो सि मे गोयमा ! चिरजुसिओ सि मे गोयमा !, चिराणुगओ सि मे गोयमा ! चिराणुवत्ती सि मे गोयमा !" भ०१४ श०७ उ०।

चिरादण त्रि० (चिरंतन) प्राचीने आचार्यपरम्परागते, बृ०३ उ०।

चिरिचिरा (देशी) जलधारायाम्, दे० ना०३ वर्ग।

चिरिचिरा (देशी०) जलधारायाम्, दे० ना०३ वर्ग।

चिरट्ठिहिल्ल (देशी) दध्नि, दे० ना०३ वर्ग।

चिरोववण्णग त्रि० (चिरोपपन्नक) चिरजाते, आव०५ अ०।

चिलाइया स्त्री० (किरातिका) किराताख्यानार्यदेशोत्पन्ना-यांदास्याम्, नि०१ वर्ग। रा०। आ०चू०। दशा०। भ०।

चिलाई स्त्री० (किराती) किराताख्यानार्यदेशोत्पन्नायां चेट्याम्, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०।

चिलाईपुत्त पुं० (किरातीपुत्र) धनश्रेष्ठिदास्याः किरात्याः पुत्रे, आ०क०।

"विद्वन्मानी द्विजन्मैको, जिनशासनीहीलकः।
वादेऽधिसभमाचार्यं-र्जित्वा शिष्यीकृतो बलात्॥१॥
स्थिरोऽभूद्देवतावाक्याद्, जुगुप्सां तु मुमोच न।
भार्याऽदात्कार्मणं प्रेम्णा, मृतस्तेन दिवं गतः॥२॥
तन्निर्वेदेन साऽप्यात्त-व्रताऽनालोच्य तन्मृता।
दिवं ययौ स पूर्णायु-र्द्विजदेवस्ततश्च्युतः॥३॥
पुरे राजगृहे श्रेष्ठी, धनश्चेटी चिलातिका।
तस्याः स्तनंधयो नाम्ना, चिलातीपुत्र इत्यभूत्॥४॥
तत्प्राग्जमप्रियाऽप्यब्दैः, कियद्भिः सुंसुमाऽभिधा।
उपरिष्टात् पञ्चपुत्र्याः, धनस्यैव सुताऽभवत॥५॥
स बालो धारकस्तस्या-श्चेटोऽथ श्रेष्ठिऽन्यदा।
तच्चिहे विक्रियां कुर्वन्, दृष्ट्वा निःसारितो गृहात्॥६॥
गतः सिंहगुहापल्ल-मिष्टः पल्लीपतेरभूत्।
गुणैः कैश्चित् ततस्तं स, मुमूर्षुः स्वपदेऽकरोत्॥७॥

सोऽवक् चौरान् राजगृहे, धनसार्थपतेर्गृहम्।
मुष्णीमोऽभ्येत्य वो द्रव्यं, तत्पुत्री सुंसुमा मम ॥८॥
हत्वाऽथ रक्षिणं प्राप्तो, मुषितुं धनवेश्म तत्।
धनो नष्टः सपुत्रोऽपि, सोऽगादादाय सुंसुमाम् ॥९॥
धनेनोक्तास्तलारक्षाः, निवर्तयत मे सुताम्।
धनं वो मे सुता तेऽथा-ऽधावन् भग्नाश्च तस्कराः ॥१०॥
निवृत्तास्ते गृहीत्वा स्वं, श्रेष्ठी पञ्चसुतान्वितः।
नयन्तं सुंसुमां चेट-मन्वधावत् कृतान्तवत् ॥११॥
चेटोऽप्यशक्तस्तां वोढुं, गृहीत्वा तच्छिरोऽव्रजत्।
तस्थौ श्रेष्ठी सपुत्रोऽथ, शोकार्तोऽथ क्षुधार्दितः ॥१२॥
हत्वा मां खादतेत्यूचे, पुत्रान् यातोथ पतनम्।
तन्नैषुः किं तु तेऽप्याहुः, श्रेष्ठिवत्सर्व एव हि ॥१३॥
श्रेष्ठ्युवाच पुनः पुत्रान्, सर्वेषां मृत्युरस्तु मा।
एतदेव वपुः पुत्र्याः, खादित्वा गम्यते पुरे ॥१४॥
तदेतैः कारणे गाढे, पुत्रीमांसादनं कृतम्।
एवं साधुभिराहारो, ग्राह्यो महति कारणे ॥१५॥
तेनाहारेण ते याताः, संजाता भोगभोगिनः।
स्यादेवं कारणाहारात्, साधुवर्गोऽपि सिद्धिभाक् ॥१६॥
स च शीर्षसिभृद्गच्छन्, साधुमातापनापरम्।
दृष्ट्वाऽचष्ट समासेन, धर्ममाख्याहि मेऽधुना ॥१७॥
नो चेदपि शिरश्छेत्स्ये, साधुर्धर्मोऽयमित्यवक्।
समासाद्धो उपशमो, विवेकः संवरस्तथा ॥१८॥
एकान्तेऽस्थात्प्रतिमया, सोऽपि तां त्रिपदीं स्मरन्।
जज्ञावुपशमः स्याद-क्रोधस्येत्यत्यजत् क्रुधम् ॥१९॥
विवेकः स्यादसङ्गस्य, खड्गशीर्षे ततोऽमुचत्।
संवृतेन्द्रियचित्तस्य, संवरस्तं तथाऽकरोत् ॥२०॥
तदा लोहितगन्धेन, वज्रतुण्डाः पिपीलिकाः।
शैलं भित्त्वौत्थिताश्चक्रु-श्चालनीमिव तद्वपुः ॥२१॥
दुष्कर्मनिर्गमे द्वार-कारकाः कीटिका इमे।
उपकर्त्र्यो ममेत्येवं, तासु ध्यानं बबन्ध सः ॥२२॥आ०क०।

एतदेव सप्रपञ्चं सूत्रकृदाह -

जइ णं भंते ! समणेणं भगवया महावीरेण० जाव संपत्तेणं सत्तरसमस्स णं णायज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते, अट्ठारसमस्स णं भंते ! णायज्झयणस्स समणेणं भगवया महावीरेणं के अट्ठे पण्णत्ते ? एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे नामं नयरे होत्था, वण्णओ, तस्स णं रायगिहस्स णयरस्स बहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसिभाए एत्थ णं गुणसिलए णामं चेइए होत्था, वण्णओ रिद्धित्थिए समिद्धे, तत्थ णं धण्णे नाम सत्थवाहे परिवसइ, भद्दा नामं भारिया, तस्स णं धण्णस्स सत्थवाहस्स पुत्ता भद्दाए अत्तया पंच सत्थवाहदारगा होत्था। तं *जहा-धणे, धणपाले, धणदेवे, धणगोवे, धणरक्खिए। तस्स णं धण्णस्स सत्थवाहस्स धूआ भद्दाए अत्तया पंचण्हं पुत्ताणं* अणुमग्गं जाइया सुंसुमा नामं दारिया होत्था सुकुमालपाणिपाया। तस्स णं धण्णस्स सत्थवाहस्स चिलाए नामं दासचेडए होत्था अहीणपंचिंदिअसरीरे मंसोवचिए बालकीलावणकुसले यावि होत्था सुकुमालपाणिपाया। तए णं से चिलाए दासचेडए सुंसुमाए दारियाए बालग्गाहे जाए यावि होत्था, सुंसुमं दारियं कडीए गेण्हइ, गेण्हइत्ता बहुहिं दारएहि य दारियाहि य डिंभएहि य डिंभियाहि य कुमारएहि य कुमारियाहि य सद्धिं अभिरममाणे २ विहरइ। तए णं से चिलाए दासचेडए तेसिं बहूणं दारयाण य ६ अप्पेगइआणं खुल्लए अवहरइ, एवं वट्टए अंडोलीयाओ त्ति दूसए त्ति पोत्तुल्लए साडोल्लए अप्पेगइयाणं आभरणमल्ललंकारं अवहरइ, अप्पेगइया णं आउसइ, एवं अवहसइ, निच्छोमेइ, निब्भत्थेइ, तज्जेइ, तालेइ। तए णं ते बहवे दारगा य ६ रोयमाणा य कंदमाणाय य विलवमाणाा य साणं २ अम्मापिउणं णिवेयंति। तए णं तेसिं बहुणं दारगाण य ६ अम्मापियरो जेणेव धण्णे उत्थवाहे, तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छंतित्ता धण्णं सत्थवाहं बहुहिं खिज्जणाहि य रुंटणाहि य उवलंभणाहि य खिज्जमाणा य रुंटमाणा य उबलंभमाणा य धण्णस्स सत्थवाहस्स एयमट्ठं णिवेयंति। तए णं से धण्णे सत्थवाहे चिलायं दासचेडयं एयमट्ठं भुज्जो २ निवारेइ, नो चेव णं चिलाए दासचेडे उवरमइ। तए णं से चिलाए दासचेडए तेसिं बहुणं दारगाण य ६ अप्पेगतियाणं खुल्लए अवहरति० जाव तालेइ। तए णं ते बहवे दारगा य ६ रोयमाणा य० जाव अम्मापिउणं निवेएंति। तए णं ते आसुरत्ता०५ जेणेव धण्णे सत्थवाहे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छंतित्ता बहुहिं खिज्जणाहि य० जाव एयमट्ठं णिवेयंति। तए णं से धण्णे सत्थवाहे बहुणं दारगाणं० ६ अम्मापिउणं अंतिए एयमट्ठं सोच्चा आसुरत्ते०५ चिलायं दासचेडयं उच्चावयाहिं आओसणाहिं आउसइ, उद्धंसेइ, णिब्भत्थेइ, निच्छोमेइ, तज्जेति, उच्चावयाहिं तालणाहि तालेति, साओ गिहाओ णिच्छुभइ। तए णं से चिलाए दासचेडए साओ गिहाओ णिच्छूढे समाढे रायगिहे णयरे सिंघाडग० जाव पहेसु देवकुलेसु य सभासु य पवासु य जयखलएसु य वेसाघरएसु य पाणघरएसु य सुहं सुहेणं परिवड्ढइ। तए णं से चिलाए दासचेडए अणाहट्ठिए अणिवारिए सच्छंदगई सइरप्पचारी मज्जप्पसंगी चोरप्पसंगी मंसप्पसंगी जूयप्पसंगी वेसप्पसंगी परदारप्पसंगी जाए यावि होत्था। तए णं रायगिहस्स नगरस्स अदूरसामंते दाहिणपुरच्छिमे दिसिभाए एत्थ णं सीहगुहा णामं चोरपल्ली होत्थाविसमगिरिकडगकोडंवसंनिविट्ठा वंसीकलंगपागारपरिक्खित्ता छिन्नसेलगविसमप्पवायफलिहोवगूढा एकदुवारा अनेकखंडी विदितजणनिग्गमप्पवेसा अब्भितरपाणिया सु-

दुल्लभजलपेरंता सुबहुस्स वि कुवियस्स बलस्स आगयस्स दुप्पवेसा वि होत्था। तत्थ णं सीहगुहाए चोरपल्लीए विजए नामं चोरसेणाहिवई परिवसइ, अहम्मिए अहम्मक्खाई अधम्मिट्ठे अधम्माणुए अहम्मपलोई अहम्मासीलसमुदारे० जाव अहम्मकेउसमुट्ठिए बहुणमरनिग्गयजसे सूरे दढप्पहारी साहसिए सद्दवेही, से णं तत्थ सीहगुहाए चोरपल्लीए पंचण्हं चोरसयाणं आहेवच्चं० जाव विहरइ। तए णं से विजयतक्करे चोरसेणावई बहुणं चोराण य पारदानमाण य खत्तखणगाण य गंठिछिंदगाण य संधिच्छेदगाण य रायावराहाण य अणधारगाण य सुणभंजगाण य वालधायगाण य वीसंभघायगाण य जूयकाराण य खंडरक्खाण य अण्णेसिं च बहुणं छिण्णभिण्णवाहिराहयाणं कुडंगे यावि होत्था। तए णं से विजयतक्करे चोरसेणाहिवई रायगिहस्स णयरस्स दाहिणपुरच्छिमं जणवयं बहूहिं गामघाएहि य नगरघाएहि य गोग्गहणेहि य वंदिग्गहेणेहि य पंथकुट्टणाहि य खत्तखणणेहि य उववीलेमाणे २ विद्धंसेमाणे नित्थाणं निद्धणं करेमाणे विहरइ। तए णं से चिलाए दासचेडे ए रायगिहे णयरे बहुहिं अत्थाभिसंकीहि य चारियाभिसंकीहि य दाराभिसंकीहि य धणिएहि य जूयकरेहि य परिभवमाणा २ रायगिहाओ णयराओ णिग्गच्छति, णिग्गच्छतित्ता जेणेव सीहगुहा चोरपल्ली तेणेव उवागच्छति, उवागच्छतित्ता विजयं चोरसेणाहिवइं उवसंपज्जित्ता णं विहरइ। तए णं से चिलाए दासचेडए विजयस्स चोरसेणाहिवइस्स अग्गअसिलट्ठिग्गाहे जाए यावि होत्था। जाहे वि य णं से विजएए चोरसेणाहिवई गामघायं वा० जाव पंथकोट्टं वा काउं वयंति, ताहे वि य णं से चिलाए दासचेडे सुबहुं पि य कुवियबलं हयमहिय० जाव पडिसेहेइ, पुणरवि लद्धट्ठे कयकज्जे अणहसमग्गे सीहगुहं चोरपल्लि हव्वमागच्छइ। तए णं से विजए चोरसेणाहिवई चिलायं तक्करं बहुओ चोरविज्जाओ य चोरमंते य चोरपाउयाओ य चोरमायाओ य चोरणिगडीओ य सिक्खावेइ। तए णं से विजयचोरसेणाहिवई अन्नया कयाइं कालधम्मुणा संजुत्ते होत्था। तए णं से ताइं पंचचोरसयाइं विजयस्स चोरसेणाहिवइस्स मइया २ इड्ढीसक्कारसमुदएणं णीहरणं करेंति, करेंतित्ता बहुइं लोइयाइं मयकिच्चाइं करेइ, काले णं०जाव विगयसोया जायासा यावि होत्था। तते णं ताइं पंचचोरसयाइं अन्नमन्नं सद्दावेइत्ता एवं वयासी-एवं खलु देवाणुप्पिया! विजए चोरसेणाहिवई कालधम्मुणा संजुत्ते, अयं च णं चिलाए तक्करे विजएणं चोरसेणावइणा बहुओ चोरविज्जाओ० जाव सिक्खावियं, ते सेयं खलु अम्हं देवाणुप्पिया! चिलायं तक्करं सीहगुहाओ चोरपल्लीओ चोरसेणाहिवइत्ताए अभिसिंचित्तइए त्ति कट्टु अन्नमन्नस्स एयमट्ठं पडिसुणेति, चिलायं सीहगुहाए चोरपल्लीए चोरसेणाहिवइत्ताए अभिसिंचंति। तए णं से चिलाए चोरसेणाहिवई जाए अहम्मिए० जाव विहरति। तए णं से चिलाए चोरसेणाहिवई चोरणयगे० जाव कुंडगे यावि होत्था। से णं तत्थ सीहगुहाए चोरपल्लीए पंचण्ह य चोरसयाण य एवं जहा विजओ तहेव सव्वं० जाव रायगिहस्स णं णगरस्स दाहिणपुरच्छिडिल्लं जणवयं० जाव निद्धणं करेमाणे विहरइ। तए णं से चिलाए चोरसेणाहिवई अन्नया कयाइं विउलं असणं०४ उवक्खडावेति, ताए पंचचोरसए आमंतेइ, तओ पच्छा ण्हाए० जाव भोयणमंडवंसि तेहिं पंचहि चोरसएहिं सद्धि विउलं असणं०४ सुरं च० जाव पसण्णं च आसाएमाणे विहरइ। जिमियभुत्तुत्तरागए ते पंचचोरसए विउलेणं धूवगंधमल्लालंकारेण सक्कारेइ, संमाणेइ, एवं वयासी-एवं खलु देवाणुप्पिया! रायगिहे णयरे धण्णे नामं सत्थवाहे अड्ढे, तस्स णं धूआ भद्दाए अत्तया पंचण्हं पुत्ताणं अणुमग्गं जाइया सुंसुमा नाम दारिया होत्था अहीणा० जाव सुरूवा। तं गच्छामो णं देवाणुप्पिया! धण्णस्स सत्थवाहस्स गिहं विलुंपामो, तुब्भं विपुलेणं धणकणग० जाव सिलप्पवाले, मम सुंसुमा दारिया। तए णं ते पंच चोरसया चिलायस्स एयमट्ठं पडिसुणेति, तए णं से चिलाए चोरसेणाहिवई तेहिं पंचचोरसएहिं सद्धिं अल्लचम्मदुरूहइ, पुव्वावरण्हकालसमयंसि पंचचोरसएहिं सद्धिं सन्नद्ध० जाव गहिआउहपहरणे माइयगोमुहएहिं फलएहिं निकट्ठाहिं असिलट्ठाहिं आसगएहिं तोणेहिं सजीवेहिं धणुएहि समुक्खित्तेहिं सरेहिं समुल्लालियाहिं दाहाहिं ओसारियाहिं जलघंटियाहिं ऊरूघंटियाहिं छिप्पत्तूरेहिं वज्जमाणाहिं महया २ छक्किट्ठसीहणायचोरकलकलरवं० जाव समुद्दरवभूयं करेमाणा पुव्वावरण्हकालसमयंसि सीहगुहाओ चोरपल्लीओ पडिणिक्खमति, पडिणिक्खमइत्ता, जेणेव रायगिहे णयरे तेणेव उवागच्छति, उवागच्छतित्ता रायगिहस्स णयरस्स अदूरसामंते एगं महं गहणं अणुप्पविसंति, अणुप्पविसंतित्ता दिवसं खवेमाणा २ चिट्ठंति, तए णं से चिलाए चोरसेणाहिवई अद्धरत्तकालसमयंसि णिसंतं पडिणिसंतम्मि पंचहिं चोरसएहिं सद्धिं माइयगोमुहेहिं फलएहिं० जाव मुइयाहिं ऊरूघंटियाहिं जेणेव रायगिहे णगरे पुरच्छिमिल्ले दुवारे तेणेव उवागच्छति, उवागच्छतित्ता उदगवत्थि परामुसइ, परामुसइत्ता-

आयंते ३ तालुग्घाडणिं विज्जं आवाहइ, आवाहइत्ता रायगिहस्स णयरस्स दुवारकवाडे उदएण अच्छोहेइ, अच्छोमेइत्ता कवाडं विहामेइ, विहामेइत्ता रायगिहं अणुपविसइ, अणुपविसइत्ता मइया २ सद्देण उग्घोसेमाणे उग्घोसेमाणे एवं वयासी-एवं खलु अहं देवाणुप्पिया ! चिलाए नामं चोरसेणावई पंचहिं चोरसएहिं सद्धिं सीहगुहाओ चोरपल्लीओ इहं हव्वमागए धण्णस्स सत्थवाहस्स गिहं वाउकामे, तं जो णं णवियाए माउयाए दुद्धं पाउकामे, से णं णिग्गच्छउ इति कट्टु जेणेव धण्णस्स सत्थवाहस्स गिहे तेणेव उवागच्छति, उवागच्छतित्ता धण्णस्स गिहं विहाडेइ, तए णं से धण्णे सत्थवाहे चिलाएणं चोरसेणाहिवइणा पंचहि चोरसएहिं सद्धिं गिहं घाइज्ज माणं पासइ, पासइत्ता भीए तत्थेव पंचहिं पुत्तेहिं सद्धिं एगंते अवक्कमइ। तए णं से चिलाए चोरसेणाहिवई धण्णस्स सत्थवाहस्स गिहं घाएइ, घाएइत्ता सुबहुं णं धणकणगं० जाव सावएज्जं सुंसुमं च दारियं गिण्हति, गिण्हतित्ता रायगिहाओ पडिणिक्खमति, पडिक्खमतित्ता जेणेव सीहगुहा पल्ली तेणेव उवागच्छति पहारेत्थगमणाए, तए णं से धण्णे सत्थवाहे जेणेव सए गिहे, तेणेव उवागच्छति, उवागच्छतित्ता सुबहुं धणकणगं, सुसुमं च दारियं अवहरियं च जाणित्ता महत्थं० जाव पाहुडं गहाय जेणेव नगरगुत्तिया, तेणेव उवागच्छति, उवागच्छतित्ता तं महत्थं० जाव पाहुडं उवणेति, एवं वयासी- एवं खलु देवाणुप्पिया ! चिलाए चोरसेणाहिवई सीहगुहातो चोरपल्लीतो इहं हव्वमागम्म पंचहिं चोरसएहिं सद्धिं मम गिहं घाएत्ता सुबहुं धणकणगं, सुसुमं च दारियं गहाय० जाव पडिगए, तं इच्छामो णं देवाणुप्पिया ! सुंसुमाए दारियाए कूवं गमित्तए तुब्भ णं देवाणुप्पिया ! से विउले धणकणगं, मम सुसुमा दारिया। तए णं ते नगरगुत्तिया धण्णस्स सत्थवाहस्स एयमट्ठं पडिसुणंति सण्णद्धबद्ध० जाव गहियाउहप्पहरणा महया २ उक्किट्ठसीहणायं करेमाणा समुद्दरवभूयं पिव करेमाणा रायगिहाओ नगराओ निक्खमंति, निक्खमंतित्ता जेणेव चिलाए चोरसेणाहिवई, तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छंतित्ता चिलएणं चोरसेणावतिणा सद्धिं संपलग्गा यावि होत्था। तते णं ते नगरगुत्तिया चिलायं चोरसेणावइं हतमहिय० जाव पडिसेहेति। तते णं ते पंच चोरसया नगरगुत्तिएहिं हतमहिय० जाव पडिसेहिया समाणा तं विपुलं धणकणगं विच्छूडेमाणा य विप्पकिरमाणा य सव्वओ समंता वि पलाइत्था। तते णं ते नगरगुत्तिया तं विपुलं धणकणगं गिण्हंति, गिण्हंतित्ता जेणेव रायगिहे नगरे, तेणेव उवागच्छंति। तते णं से चिलाए तं चोरसेणं तेहिं नगरगुत्तिएहिं हयमहियपवरभीते तत्थे सुंसुमं दारियं गहाय एगं महं आगामियं दीहमद्धं अडविं अणुप्पविट्ठे। तते णं से धण्णे सत्थवाहे सुंसुमं दारियं चिलाएणं अडविमुहं अवहीरमाणिं पासित्ता पंचहिं पुत्तेहिं सद्धिं अप्पछट्ठे सन्नद्धबद्धचिलायस्स पदमग्गविहिं अणुगच्छमाणे अभिगज्जंते अणुगिज्झमाणे इक्कारेमाणे पुक्कारेमाण अभितज्जेमाणे अभित्तासेमाणे पिट्ठओ अणुगच्छंति। तते णं ते चिलाए तं धण्णं सत्थवाहं पंचहिं पुत्तेहि अप्पछट्ठं सन्नद्धबद्धसमणुग्गम्माणं पासति, पासतित्ता अत्थामे अबले०४ जाहे नो संचाइए सुसुमं दारियं निव्वाहेत्तए, ताहे संते तंते परितंते नीलुप्पलमसिं परामुसति, परामुसतित्ता सुंसुमाए दारियाए उत्तमंडं छिंदति, छिंदतित्ता तं गहाय आगामियं अडविं अणुपविट्ठे। तते णं से चिलाए तीसे आगामियाए तण्हाए अभिभूते समाणे पम्हुट्ठदिसाभाए सीहगुहं चोरपल्लिं असंपत्ते अंतरा चेव कालगए, एवामेव समणाउसो० ! जाव पव्वइए समाणे इमस्स उरालियस्स सरीरस्स वंतासवस्स० जाव विद्धंसणधम्मस्स वन्नहेउं वा० जाव आहारं आहारेइ, से णं इह लोए चेव बहूणं समणाणं ४ हीलणिज्जे० जाव अणुपरियट्टिस्सइ, जहा वा से चिलाए तक्करे, तते णं से धण्णे सत्थवाहे पंचहिं पुत्तेहिं अप्पछट्ठे चिलायं तीसे आगामियाए सव्वओ समंता परिधाडेमाणे २ संते तंते तरितंते नो संचाएइ चिलायं चोरसेणावइं साहत्थिं गिण्हित्तए, से णं तओ पडिनियत्तए जेणेव सुंसुमा दारिया चिलाएणं जीवियाओ ववरोविआ तेणेव उवागच्छति, उवागच्छतित्ता सुंसुमं दारियं चिलाएणं जीवियाओ ववरोवियं पासति, (पासतित्ता) परसुणियत्तेव चंपगपायवे, तते णं से धण्णे सत्थवाहे पंचहिं पुत्तेहिं सद्धिं अप्पछट्ठे आसत्थे कूयमाणे कंदमाणे विलवमाणे महया महया सद्देण कुहुकुहस्स परुण्णे सुचिरं कालं वाहमोक्खं करेति। तते णं से धण्णे सत्थवाहे पंचहिं पुत्तेहिं अप्पछट्ठे चिलायं तीसे आगामियाए सव्वतो समंता परिधावेमाणे २ तण्हाए छुहाए य पराभूए समाणे तीसे आगामियाए अडवीए सव्वतो समंता उदगस्स मग्गणगवेसणं करेति, संते तंते परितंते निव्विण्णे तीसे आगामियाए अडवीए उदगस्स मग्गणगवेसणं करेमाणे णो चेव णं उदगं आसाएइ। तए णं उदगं अणासाएमाणे जेणेव सुंसमा दारिया जीवियातो ववरोविया, तेणेव उवागच्छति। तए णं से धण्णे सत्थवाहे जेट्ठं पुत्तं सद्दावेति, सद्दावेत्तित्ता एवं वयासी-एवं खलु पुत्ता ! सुंसुमाए दारियाए अट्ठाए चिलायं तक्करं सव्वतो समंता परिधाडेमाणे-

तण्हाए छुहाए अभिभूआ समाणा इमीसे आगामिआए अडवीए उदगस्स मग्गणगवेसणं करेमाणा नो चेव णं उदगं आसादेमो, तए णं उदगं अणासाएमाणा णो संचाएमो रायगिहं संपावित्तए। तए णं तुब्भे णं ममं देवाणुप्पिया ! जीवियाओ ववरोवेह, ममं मंसं च सोणियं च आहारेह, तेणं आहारेणं अवधट्ठा समाणा ततो पच्छा इमं आगामियं अडविं नित्थरिहेह, रायागिहं च संपाविहिह, मित्तणाइणियगं अभिसमागच्छिहिह, अत्थस्स य धम्मस्स य पुन्नस्स य आभागी भविस्सह। तते णं से जेट्ठपुत्ते धण्णेणं सत्थवाहेणं एवं वुत्ते समाणे धण्णं सत्थवाहं एवं वयासी-तुब्भे णं ताओ अम्हं पिआ गुरुजणा य देवयभूया ठवका पतिट्ठवका संरक्खगा संगोवगा, तं कहं णं अम्हे ताओ तुज्झे जीवियातो ववरोवेमो, तुब्भे णं मंसं च सोणियं च आहारेमो, तं तुब्भे णं ताओ ममं जीवियातो ववरोवेह, मंसं च सोणियं च आहारेह, आगामियं अडविं नित्थरह, तं चेव सव्वं भणति०जाव अत्थस्स ३ आभागी भविस्सह। तते णं धण्णं सत्थवाहं दोचे पुत्ते एवं वयासी-मा णं ताओ अम्हं जेट्ठभायरं गुरुदेवयं जीवियाओ ववरोवेमो, तुब्भे णं ताओ ममं जीवियाओ ववरोवेह० जाव आगामी भवस्सह, एवं० जाव पंचमे पुत्ते। तते णं से धण्णे सत्थवाहे पंचपुत्ताणं हियइच्छियं जाणित्ता ते पंचपुत्ते एवं वयासी-मा णं अम्हे पुत्ता एगमवि जीवितातो वयरोवेमो, एस णं सुंसुमाए दारियाए सरीरे निप्पाणे० जाव जीवआओ विप्पजढे, तं सेयं खलु पुत्ता ! अम्हे सुंसुमाए दारियाए मंसं च सोणियं च आहरित्तए। तते णं अम्हे तेणं आहारेणं अवधट्ठा समाणा रायगिहं णयरं संपा उणियस्सामो। तए णं ते पंच पुत्ता धण्णेणं सत्थवाहेणं एवं वुत्ता समाणा एयमट्ठं पडिसुणंति। तते णं से धण्णे सत्थवाहेणं पंचपुत्तेहिं सद्धिं आरिणिं करेति, अरिणिं करेतित्ता सरगं करेति, सरएणं अरणिं महेति, महेतित्ता अग्गिं पाडेति, अग्गि पाडेतित्ता अग्गिसंधुक्कं करेति, करेतित्ता दारूयाइ पक्खिवइ, पक्खिवइत्ता अग्गिं पज्जालेति, अग्गिं पज्जालेतित्ता सुंसुमाए दारियाए मंडं च सोणियं च आहारेति, तेण आहारेणं अबधट्ठा समाणा रायगिहं नगरं संपत्ता मित्तनातिं अभिसमन्नागया, तस्स य विपुलस्स धणकणमरयण० जाव आभागी जाया। तते णं धण्णे सत्थवाहे सुंसुमाए दारियाए बहुइं लोइयाइं० जाव विगयसोए जाए यावि होत्था। तेण कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे जेणेव गुणसिलए चेइए, तेणेव समोसढे, सेणिओवि राया णिग्गओ। तए णं से धण्णे सत्थवाहे धम्मं सोच्चा० जाव पव्वइया, एक्कारसंगविऊ मासियाए संलेहणाए० जाव कालमोस कालं किच्चा सोहम्मे कप्पे देवत्ताए उववण्णे, ताओ देवलोगाओ महाविदेहे वासे सिज्झिहिंति० जाव अंतं करेहिंति, जहा वि य ण जंबू ! धण्णे सत्थवाहे णो वन्नहेउं वा नो रूवहेउं वा नो बलहेउं वा नो विसयहेउं वा सुंसुमाए दारियाए मंसं सोणियं च आहारिए, नन्नत्थ एगाए रायगिहं संपावणट्ठयाए, एवामेव समणाउसो ! जो अम्हं निग्गंथो वा निग्गंथी वा इमस्स ओरालियसरीरस्स पंतासवस्स पित्तासवस्स सुक्कासवस्स सोणियासवस्स० जाव अवस्सविप्पजहियव्वस्स नो वन्नहेउं वा नो रूवहेउं वा नो बलहेउं वा नो विसयहेउं वा आहारं आहारेति, नन्नत्थ एगाए सिद्धिगमणसंपावणट्ठयाए, से णं इह भवे चेववहूणं समणाणं०४ अच्चणिज्जे० जाव वीईवइस्सइ, एवं खलु जंबू ! समणेणं भगवया महावीरेणं० जाव संपत्तेणं अट्ठारसमस्स णायज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते त्ति वेमि। ज्ञा०१ श्रु०१८ अ०॥

आसी चिलाइपुत्तो, मुइंगलियाहि चालणि व्व कओ।
सो वि तह खज्जमाणो, पडिवन्नो उत्तमं अट्ठं ॥८४॥

आसीच्चिलातिपुत्रः सुंसुमाज्ञाते प्रसिद्धः (मुइंगलियाहिं ति) कीटिकाभिः, पद्भ्यां शोणितगन्धेन प्रसृताभिर्भक्षयन्तीभिः शिरो यावच्चालनीव कृतः सोऽपि ततभिस्तथा भक्ष्यमाणः प्रतिपन्न उत्तमार्थम्। संथा०।

तथा चामुमेवार्थं प्रतिपिपादयिषुराह -

जो तिहि पएहि सम्मं, समभिगओ संजमं समभिरूढो।
उवसमविवेगसंवर-चिलाइपुत्तं नमंसामि ॥२१०॥

यस्त्रिभिः पदैः सम्यक्त्वं समभिगतः प्राप्तः, तथा संजमं समारूढः, कानि पदानि ? उपशमविवेकसंवराः, उपशमः क्रोधादिनिग्रहः, विवेकः स्वजनसुवर्णादित्यागः, सम्बर इन्द्रियनोइन्द्रियगुप्तिरिति। तमित्थंभूतम् उपशमविवेकसम्बचिलातिपुत्रं नमस्ये, उपशमादिगुणा अनन्यत्वाच्चिलातिपुत्रे एवोपशमविवेक सम्बर इति, स चासौ चिलातिपुत्रश्चेति समानाधिकरण इति गाथार्थः। आव २ अ०। संथा०।

अहिसरिओ पाएहिं, सोणिअगंधेण जस्स कीडीओ।
खायंति उत्तमंगं, तद्दुक्करकारयं वंदे ॥२११॥

अभिसृताः पादाभ्यां शोणितगन्धेन कीटिकाः यस्य अविचलिताध्यवसायस्य भक्षयन्त्युत्तमाङ्गं, पद्भ्यां शिरोवेधगता इत्यर्थः। तं दुष्करकारकं वन्दे इति गाथार्थः।

धीरो चिलाइपुत्तो, मुइंगलिआहि चालिणि व्व कओ।
जो तहवि खज्जमाणो, पडिवन्नो उत्तमं अट्ठं ॥२१२॥

धीरसत्त्वसंपन्नश्चिलातिपुत्रः (मुइंगलियाहि) कीटिकाभिर्भक्ष्यमाणश्चालनीव कृतस्तथापि खाद्यमानः प्रतिपन्नः उत्तममर्थम्, शुभपरिणामापरित्यागादिति हृदयम्॥

अड्ढाइज्जेहि राइं-दिएहिं पत्तं चिलाइपुत्तेणं।
देविंदामरभवणं, अच्छरगणसंकुलं रम्मं ॥२१३॥

अर्द्धतृतीयैः रात्रिन्दिवैः प्राप्तं चिलातिपुत्रेण देवेन्द्रस्येव अमर भवनम्, अप्सरोगणसंकुलं रम्यमिति गाथार्थः। आव०२ अ०। आ०म०।

चिलाय पुं० (किरात) सिन्धुमहानदस्य पश्चिमायामविदूरे बलूचिस्तान इति ख्याते म्लेच्छदेशभेदे, तज्ज मनुष्वजातौ च। ये हि भरतेन महाराजेन आपाना नाम किराताः पराजिताः। प्रज्ञा०१ पद। जं०। स्था०। कोटीवर्षस्याधिपतौ राजनि, आव०४ अ०। आ०क०। आ० चू०। (मूलगुणप्रत्याख्याने कथा)

चिलायपुत्त पुं० (किरातपुत्र) किरातीपुत्रे, व्य०१ उ०।

चिलिचिलं (देशी) आर्द्रे, दे० ना०३ वर्ग।

चिलिमिली स्त्री० (चिलिमिलि) जवनिकायाम् व्य०८ उ०। आचा०। प्रच्छादनपट्यां, सूत्र०२ श्रु०२ अ०।

कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा चेलचिलिमिलियं धारित्तए वा।

अस्य संबन्धमाह -

सागारिपच्चयट्ठा, जह घडिमत्तो तहा चिलिमिली वि।
रतिं च हेट्ठऽणंतर, इमाउ जयणा उभयकाले ॥

सागारिको गृहस्थः, तत्प्रत्ययार्थं यथा घटीमात्रकः, तथा चिलिमिलिरपि धारयितव्या, तदधस्तात् सूत्रं, ततोऽनन्तरं तस्मिन्नपावृतद्वारोपाश्रयसूत्रे रात्रौ चिलिमिलिकादिप्रदानयतना भणिता, इयं तु उभयकाले-रात्रौ दिवा च कर्त्तव्या इति। अनेन संबन्धेनाऽऽयातस्यास्य व्याख्या-कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा चेलचिलिमिलिकां धारयितुं वा। एष सूत्राक्षरार्थः।

अथ भाष्यविस्तरः -

धारणया उ अभोगो, परिहरणा तस्स होइ परिभोगो।
चेल उ पहाणतर तो, गहणं तस्सेव नऽन्नासिं ॥

धारणता तु अभोगो अव्यापारणं, परिहरणा तु-तस्य चिलिमिलिकाख्यस्योपकरणस्य परिभोगो व्यापारणमुच्यते। आह-वस्त्ररथकटबल्कदण्डभेदात् पञ्चविधा चिलिमिलिका वक्ष्यते, तत्कथं सूत्रे चेलचिलिमिलिकाया एव ग्रहणमिति ? आह-चेलं तु वस्त्रं रऽऽवादीनां मध्ये बहुतरोपयोगित्वात् प्रधानतरं, ततस्तस्यैव सूत्रे ग्रहणं कृतं, नान्यासां रज्जुचिलिमिलिकादीनाम्।

अथ चिलिमिलिकाया एव भेदादिनिरूपणाय द्वारगाथामाह-

भेदो य परूवणया, दुविह पमाणं च चिलिमिलीणं तु।
उवभोगो उ दुपक्खे, अगहणऽधरणे य लहु दोसा ॥

प्रथमतः चिलिमिलिकाभेदो वक्तव्यः, ततस्तासामेव प्ररूपणा कर्त्तव्या, ततो द्विविधं प्रमाणं गणनाप्रमाणभेदात् चिलिमिलिकानाम-भिधातव्यम्, चिलिमिलिकाविषय उपभोगो द्विपक्षे संयतीपक्षद्वयस्य वक्तव्यः चिलिमिलिकाया अग्रहणे अधारणे च चतुर्लघुकाः प्रायश्चित्तं, दोषाश्चाज्ञादयो भवन्ति। एतद्द्वारगाथासंक्षेपार्थः।

अथैनामेव प्रतिद्वारं विवरीषुराह -

सुत्तमई रज्जुमई, वग्गमई दंडकड्डगमई य।
पंचविह चिलिमिलि पुण, उवग्गहकरी भवे गच्छे ॥

सूत्रमयी रज्जुमयी वल्कमयी दण्डमयी कटकमयी चेति पञ्चविधा चिलिमिली, एषा पुनर्गच्छे गच्छवासिनामुपग्रहकरी भवति। उक्तो भेदः। अथ सूत्रप्ररूपणा क्रियते-सूत्रस्य विकारः सूत्रमयी, सा च वस्त्रमयी वा, कम्बलमयी वा प्रतिपत्तव्या, रज्जोर्विकारो रज्जुमयी, ऊर्णादिमयो दवरक इत्यर्थः। वल्कं नाम्र-शरणादिवृक्षत्वगरूपं, तेन निर्वृत्ता वल्कमयी, दण्डको वंशवेत्रादिमयी यष्टिस्तेन निर्वृत्ता दण्डकमयी, कटो वंशकटादिस्तन्निष्पन्ना कटकमयी। गता प्ररूपणा।

अथास्याः पञ्चविध्या अपि चिलिमिलिकाया -

यथाक्रमं गाथात्रयेण द्विविधं प्रमाणमाह-

हत्थपणगं उ दीहा, ति हत्थ रुंदोन्नियाणऽसइ खोमा।
एतप्पमाण गणणे-क्कमेक्क गच्छं व जा वेट्ठे ॥

प्रमाणगणनाभेदाद् द्विविधं प्रमाणं, तत्र प्रमाणमाश्रित्य सूत्रमयीचिलिमिलिका हस्तपञ्चकं दीर्घा, त्रीन् हस्तान् रुन्दाविस्तीर्णा भवति। एष चोत्सर्गतस्तावदौर्णिकी, ऊर्णिक्या असत्यलाभे क्षौमिकी ग्रहीतव्या। वल्कचिलिमिलिकाया अप्येतदेव प्रमाणम्। गणनाप्रमाणं पुनरधिकृत्य एकैकस्य साधोः, एकैकस्यां यावन्त्यो वा गच्छं वेष्टयन्त्यो भवन्ति, या वा प्रातिहारिकी गच्छं सकलमपि वेष्टयति सा गणनयैका, प्रमाणेन च नियता।

असतोण्णि खामरज्जू, एक्क पमाणेन जा उ वेटेइ।
कटहूवग्गादीहिं, पोत्तेऽसइ भए व वग्गमई ॥

रज्जुचिलिमिलिका पूर्वमौर्णिकदवरकरूपा, तस्या अभावे क्षौमिकदवरिका, सैकाऽपि कर्तव्या, सा च सर्वेषामपि साधूनां प्रत्येकं गणनयैकैका, प्रमाणेन तु हस्तपञ्चकदीर्घा भवति, गणावच्छेदिकहस्ते वा एक एव दवरको भवति, यः सकलमपि गच्छं शातादिरक्षायै वेष्टयति। कमहू नाम-वृक्षविशेषः, तस्य यद्वल्कम्, आदिशब्दात्पालाशीशणा-दिसबन्धि, वल्केन निर्वृत्ता वल्कमयी, सा च (पोत्तेऽसइ त्ति) वस्त्रचिलिमिलिकाया अभावे, भये वा स्तेनादिसमुत्थे गृह्यते।

देहाधिओ गणणेक्को, दुवारगुत्ती भए व दंडमथी।
संचारिम चतुरो वा, भय माणे कडमसंचारं।

तस्य प्रमाणदधिको यो दण्डः स देहाधिकः, स च गच्छपरिभाषया देहाच्चतुरङ्गुलाधिकप्रमाणा नालिका भण्यते, एतावता प्रमाणमुक्तम्। स च देहाधिको दण्डको गणनयैकैकस्त्वाधारकैको भवति, तैश्च दण्डकैः श्वापदादिभये द्वारगुप्तिः-द्वारस्य स्थगनं क्रियते। एष दण्डमयो द्रष्टव्यः। एताश्चादिमाश्चतस्रश्चिलिमिलिका वस्रतेर्वसतिक्षेत्रात् क्षेत्रं संचरन्तीति संचारिमा उच्यन्ते, कटकमयी तु असंचारिमा, माने च प्रमाणे द्विविधे तां कटकमयीं चिलिमिलीं भज विकल्पय, अनियतप्रमाणेत्यर्थः तत्र प्रमाणङ्गीकृत्य यावत्या वक्ष्यमाणं कार्यं पूर्यते तावत्प्रमाणा कटकचिलिमिली, गणनया तु यद्येकः कटः कार्यं न प्रतिपूरयति ततो द्वित्र्यादयोऽपि तावत्संख्याकाः ग्रहीतव्या यावद्भिस्तत्कार्यं पूर्यते। गतं द्विविधं प्रमाणम्।

अथोपभोगो द्विपक्षे इति पदं विवृणोति -

सागारिएँ सज्झाए पाणदएँ गिलाणेँ सावयभए वा।

अद्धाणमरणवासा-सु चेव सा कप्पए गच्छे ।।

सागारिके पश्यति, स्वध्याये विधातव्ये, प्राणदयायां विधेयायां, ग्लानार्थं, श्वापदभये वा उत्पन्ने, अध्वनि, मरणे, वर्षासु चैव, सा चिलिमिलिका कल्पते, गच्छे गच्छवासिनां साधूनां परिभोक्तुम्। एष निर्युक्तिगाथासमासार्थः।

अथैनामेव प्रतिपदं विवृणोति-

पडिलेहोभयमंडलि, इत्थीसागारियट्ठ सागरिए।
घाणालोगज्झाए, मज्छियमोलाइपाणेसु ।।

प्रतिलेखनां कुर्वतो द्वारे चिलिमिलिकां कुर्वतो मा सागारिका उत्कृष्टोपधिं द्राक्षुः, मा वा उडुम्बकान् कार्षुरिति कृत्वा, (उभयमंडलि त्ति) ससुद्देशनमण्डल्यां स्वाध्यायमण्डल्यां चोद्धतरक्षणार्थं, स्त्रीरूप-प्रतिबद्धायां च वसतौ स्त्रीसागारिकाणामालोको मा स्तादिति एतदर्थं चिलिमिलिं दीयते (सागारिए त्ति) सागारिकद्वारे चिन्त्यमाने एतत्का-रणजातं चिलिमिलिकाग्रहणे द्रष्टव्यम्। (घाणालोगज्झाए त्ति) यत्र मूत्रपुरीषादेरशुभा घ्राणिरागच्छति, शोणितचर्चिकाणां वा यत्रालोकः, चेटरूपाणि वा यत्र कुतू हलेनालोकन्ते तत्र चिलिमिलीं दत्त्वा स्वाध्यायः क्रियते, मक्षिकामोलादयो वा प्राणिनो यत्र बहवः प्रविशन्ति मोलास्तिका उच्यन्ते, तत्र प्राणदयार्थमेतासामेव चिलिमिलिकानामुपभोगः कर्तव्य इति।

उभओसहकज्जे वा, देसे वीसत्थमाइ गेलन्ने।
अद्धाणे छन्नासइ, उवहीए सावए तेणे ।।

उभयं संज्ञाकायिकीलक्षणं चिलिमिलिकया आवृतो ग्लानः सुखं व्युत्सृजति, ओषधकार्ये वा आषेधं तस्य प्रच्छन्ने दातव्यं, मा मृगा अवलोकन्तामिति कृत्वा, अतः चिलिमिलिका दातव्या। एवं (देसे त्ति) यत्र देशे शाकिन्या उपद्रवाः संभवन्ति तत्र ग्लानः प्रच्छन्ने धारयितव्यः, विश्वस्तो ग्लानः प्रच्छन्ने सुखमपावृतस्तिष्ठति। आदिशब्दात् दुग्धादिकं ग्लानार्थमेव गीतार्थेन स्थापितं, तच्च दृष्ट्वा ग्लानो यदा तदा वा अभ्यवहरेदिति कृत्वा तत्रान्तरे चिलिमिलिका दीयते, यथाऽसौ तन्न पश्येत्, एवमादिके ग्लानत्वे चिलिमिलिकानामुपभोगः। अध्वनि प्रच्छन्नस्थानस्याभावे चिलिमिलिकां दत्त्वा समुद्दिशन्ति वा, सारोपधिं वा प्रत्युपेक्षन्ते। श्वापदेभ्यो वा यत्र भयं, स्तेनेभ्यो वा यत्रोपधेरपहरण-शङ्का, तत्र दण्डकचिलिमिलिकया कटकचिलिमिलिकया वा दृढं द्वारं पिधाय स्थीयते (बृ०)

तथा-

बंभव्वयस्स गुत्ती, दुहत्थसंघाडिए सुहं भोगो।
वीसत्थचिट्ठणादी, दुराहिगमा दुविह रक्खा य ।।

उपाश्रये वर्तमाना आर्यिका चिलिमिलिकया नित्यकृतया तिष्ठति, यतो ब्रह्मव्रतस्य गुप्तिरेवं कृता भवति। द्विहस्तविस्तरायाः अपि सङ्घाटिकायाः सुखं भोगो भवति, प्रतिश्रये हि तिष्ठन्त्यो द्विहस्तविस्तरामेव सङ्घाटिकां प्रावृण्वते, न त्रिहस्तां न वा चतुर्हस्ताम्। ततः चिलिमिलिकया बहिर्बद्धया यतनयाऽपि प्रावृतया विश्वस्ता निःशङ्काः सत्यः सुखं स्थाननिषदनत्व-ग्वर्तनादिकाः क्रियाः कुर्वन्ति, दुरधिगमाश्च दुःशीलानामगम्या भवन्ति, द्विधा च रक्षा कृता भवति; संयम आत्मा च रक्षितो भवतीति भावः। बृ०१ उ०। पं० भा०। पं० वा०। नि० चू०।

जे भिक्खू सोत्तियं वा रज्जुयं वा चिलिमिलिं वा सयमेव करेइ, करंतं वा साइज्जइ ।।१२।।

जे भिक्खू सोत्तियेत्यादि सभाष्यं पूर्ववत्। नि०चू०३ उ०।

चिलीण त्रि० (चिलीन) मनसः कलिमलपरिणामहेतौ, जी०३ प्रति०।

चिल्ल पुं० (चिल्ल) वृक्षविशेषे, प्रज्ञा०१६ पद।

चिल्लग त्रि० (चिल्लक) देदीप्यमाने, प्रश्न०४ आश्र० द्वार। चं० प्र०। ज्ञा०। श्वापदभेदे, प्रज्ञा०११ पद। शिष्ये, "एगस्स आयरियस्स चिल्लओ अविणीओ" आ०म०द्वि०।

चिल्लम पुं० (चित्रक) व्याघ्रे, आचा०२ श्रु०३ अ०३ उ०।

चिल्लणा स्त्री० (चिल्लणा) वैशालिकपुराधिपतेश्चेटकराजस्य कन्यायां श्रेणिकमहाराजस्य भार्यायाम्, आ०क०। अन्त०। आ०म०। नि०। ज्ञा०। (तत्परिणयश्च 'सेणिय' शब्दे वक्ष्यते)

चिल्लल न० (चिल्लव) चिक्खल्लमिश्रोदके जलाशयविशेषे, भ०५ श०७ उ०। प्रज्ञा०। ज्ञा०। आरण्यके पशुविशेषे, जी०३ प्रति०। खरविशेषे, प्रश्न०१ आश्र० द्वार। ज्ञा०। जं०।

चिल्लिया स्त्री० (चिल्लिलिका) चिल्ललाख्यपशुजाती-यस्त्रियाम्, प्रज्ञा०११ पद।

चिल्ला (देशी) शकुनिकाख्ये, दे० ना०३ वर्ग।

चिल्लिय (देशी) देदीप्यमाने, जी०३ प्रति०। कल्प०। भ०। जं०। लीने, दीप्ते च। औ०।

चिल्लिरी (देशी) मशके, दे० ना०३ वर्ग।

चिल्लूरं (देशी) मुसले, दे०ना० ३ वर्ग।

चिल्लो (देशी) बाले, दे० ना०३ वर्ग।

चिवट्टी (देशी) तृणे, दे० ना०३ वर्ग।

चिव्वंत त्रि० (चीयमान) चि-कर्मणि भावे वा यक्। **"न वा कर्मभावे व्यः क्यस्य च लुक्"** ॥८।४।२४२॥ इति चिधातोः कर्मणि भावे वा द्विरुक्तो वकारः। उपचीयमाने, प्रा०४ पाद।

चिहुर पुं० (चिकुर) **"निकषस्फटिकचिकुरे हः"** ॥८।१।१८६। इति ककारस्य हकारः। प्रा०१ पाद। रागद्रव्यविशेषे, जी०३ प्रति०।

चिहुरंगराय पुं० (चिकुराङ्गराग) चिकुरसंयोगनिमित्ते वस्त्रादौ रागे, जी०३ प्रति०।

चीड पुं० (चीड) गन्धप्रधाने वृक्षभेदे, ल०प्र०।

चीण पुं० (चीन) श्रीऋषभजिनस्य द्वादशे सुते, तद्राज्ये च। कल्प०७ क्षण। म्लेच्छदेशविशेषे, प्रव०२७४ द्वार। सूत्र०। प्रश्न०। बृ०। प्रज्ञा०। ह्रस्वे, त्रि०। 'चीणचिमिढवंकभग्गणास' चीना ह्रस्वा (चिमिढ त्ति) चिपिटा निम्ना बंका वक्रा भग्नेव भग्ना, अयोघनकुट्टितेवेत्यर्थः, नासिका यस्य स तथा। ज्ञा०१ श्रु०८ अ०। कङ्गुतुल्यव्रीहिभेदे, मृगभेदे च। पताकायां, सीसके चा न०। वाच०।

चीणंसुय न० (चीनांशुक) स्वनामख्यातः कोशिकारः तज्जे, चीन-

विषये निष्पन्ने वस्त्रभेदे च। चीनांशुको नाम कोशिकाकोऽप्यस्ति, तस्माज्जातं चीनांशुकम्। यद्वा-चीनो नाम जनपदस्तत्र यः श्लक्ष्णतरः पट्टस्तस्माज्जातं चीनांशुकम्। बृ०१ उ०। कल्प०। स्था०। आ०म०। चीनांशुकानिनानादेशेषु प्रसिद्धानि दुकूलविशेषरूपाणि, पूर्वोक्तस्यैव वल्कस्य यान्यन्तरहीरैर्निष्पाद्यन्ते सूक्ष्मतराणि च भवन्ति तानि चीनांशुकानि। जं०२ वक्ष०। नि०चू०। चीनदेशे आमिषपुञ्जाः क्रियन्ते, तदर्थिनः कीटीरागत्य लालां मुञ्चन्ति, तत्सूत्रं भवति, तन्निष्पन्नं वस्त्रं चीनांशुकमित्युच्यते इति वृद्धाः।अनु०।

चीणपिट्ठ पु० (चीनपिष्ट) लोहितवर्णे वस्तुविशेषे (रा०) लोकप्रसिद्धे, प्रज्ञा०१७ पद। चीनदेशजं सिन्दूरमिति प्रतीयते। वाच०।

चीमूय पुं० (जीमूत) **'चूलिकापैशाचिके तृतीयतुर्ययोराद्यद्वितीयौ ॥८।४।३२५॥** इति जस्य चः। मेघे, पा०।

चीरकं डूसगपट्ट पुं० (चीरकण्डूसकपट्ट) रजोहरणबन्धभेदे, "चीरकंडूसगबंधो णाम-जाहे रयहरणं तिभागपएसे खोमिएण ओणिएण वा चीरेणं वेढयं भवति, ताहे उन्निदोरेण तिपासियं करेति, तं चीरकंडूसगपट्टओ भण्णति" नि० चू०५ उ०।

चीरग पुं० (चीरक) रथ्यापतितचीवरपरिधाने लिङ्गिनि, ग०२ अधि०।

चीरत्थल न० (चीरस्थल) मथुरास्थे स्थलभेदे, ती०६ कल्प।

चीरल्ल पुं० (चीरल्ल) पक्षिविशेषे, प्रश्न०१ आश्र० द्वार।

चीरिय पुं० (चीरिक) रथ्यापतितचीवरपरिधाने, चीरोपकरणे वा पाखण्डिसाधौ, ज्ञा०१ श्रु०१४ अ०। अनु०।

चीवंदण न० (चैत्यवन्दन) 'चेइयवंदणं' इति प्राप्ते आर्षत्वात्तथारूपम्। विधिपूर्वं देववन्दने, प्रा०१ पाद।

चीवर न० (चीवर) वस्त्रे, स्था०५ ठा०२ उ०। उत्त०।

चीवरधारि (ण्) त्रि० (चीवरधारिन्) वस्त्रधारिणि, कल्प०८ क्षण।

चुअ त्रि० (च्युत) विनष्टे, आचा०१ श्रु०१ अ०१ उ०। उच्छासनिःश्वासजीवितादिदशविधप्राणेभ्यः परिभ्रष्टे, अनु०। देवलोकादवतीर्णे, कल्प०१ क्षण।

चुइ स्त्री० (च्युति) च्यवने, वैमानिकज्योतिष्काणां मरणे, स्था०१ ठा०१ उ०।

चुइसमय पुं० (च्युतिसमय) इहभवपरभवशरीरायुः पुद्गलपूर्वपरिशाटसमये, आ०म०द्वि०। (अस्मिन् समये किम् इह भवः, किं वा परभवः ? इति विवेचितं 'करण' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ६२ पृष्ठे)

चुंचुण पुं० (चुञ्चुन) इभ्यजातिभेदे, स्था०६ ठा०। प्रज्ञा०।

चुंचुय पुं० (चुञ्चुक) म्लेच्छजातिभेदे, प्रश्न०१ आश्र० द्वार।

चुंबण न० (चुम्बन) वक्त्रसंयोगे, प्रव१६६ द्वार। चुम्बनविकल्पः सम्प्राप्तकामभेदः। दश०६ अ०।

चुक्क धा० (भ्रंश) अधः पतने, दिवा०-पर०-अनिट्। **"भ्रंशेः फिडाफिट्टफुडफुट्टचुक्कभुल्लाः" ॥८।४।१७७॥** इति भ्रंशेश्चुक्कादेशः। 'चुक्कइ' भ्रश्यति। प्रा०४ पाद। आव०। विस्मृते, बृ०४ उ०। मुष्टौ, दे० ना०३ वर्ग।

***भ्रष्ट** त्रि० पतिते, "गिहत्थधम्माउ चुक्कंति"। गृहस्थधर्मादर्थाद्यतिधर्मात्संविग्नपाक्षिकपथाच्चुक्कति, भ्रष्टः संसारपथत्रयान्तर्वर्तीत्यर्थः। ग०१ अधि०।

चुक्क न० चक-रक्-अत उत्वं च। अम्लवेतसे, चुक्रपालङ्क-श्याकभेदे, शुक्तभेदे च। स्वार्थे कन् (आमरुल) शाके, तिन्तिण्यां च। स्त्री०। वाच०।

चुक्कखलित न० (भ्रष्टस्खलित) अनाभोगे, "अणाभोगो चुक्कखलितो भण्णति" नि०चू०२० उ०।

चुक्खभुत्त त्रि० (चोक्षभुक्त)। शुचिसमाचारे, बृ०१ उ०।

चुच्चुय न० (चूचुक) स्तनाग्रभागे, रा०। प्रश्न०।

चुच्छ त्रि० (तुच्छ) **"तुच्छे तश्चछौ वा" ॥८।१।२०४॥** इति तकारस्य चकारः। हीने, अल्पे च। प्रा०१ पाद।

चुडल न० (चुटल) जीर्णतायाम्, पिं०।

चुडली स्त्री० (चुटली) प्रदीप्ततृणपूलिकायाम्, भ०१ श०५ उ०। तं०। वन्दनदोषभेदे, "चुडलि व्व गिण्हिऊणं, रयहरणं होइ चुडलिं तु"। चुटली नाम-उल्का, उल्कामिवालातमिव पर्यन्ते रजोहरणं गृहीत्वा भ्रामवन् यत्र वन्दते तच्चुटलिकम्। द्वात्रिंशत्तमे वन्दनदोषे, प्रव०२ द्वार। ध०। आ० चू०। बृ०। आव०। (स च दोषः 'चुण्णपिंड' शब्दे वक्ष्यते)

चुण्ण पुं० (चूर्ण) **"ह्रस्वः संयोगे" ॥८।१।८४॥** प्रा०१ पाद। यवादीनाम् (आचा०२ श्रु०२ अ०१ उ०) वदरादिकानाम् (नि० चू० १४ उ०) मोदकादिखाद्यकचूरौ, बृ०१ उ०। आचा०। प्रज्ञा०। गन्धद्रव्यसम्बन्धिनि रजसि, भ०३ श०७ उ०। वशीकरणादिफले द्रव्यसंयोगे, बृ०१ उ०। अन्तर्धानादिफले नयनाञ्जनादौ, ध०३ अधि०। ग०।

जे भिक्खू अंगादाणं कक्केण वा लोद्धेण वा पउमचुण्णेण वा ण्हाणे वा चुण्णेहिं वा वण्णेहिं वा उव्वट्टेइ वा, परिवट्टेइ वा, उव्वट्टंतं वा परिवट्टंतं वा साइज्जइ ॥५॥

कक्कं उव्वलणयं, द्रव्यसंयोगेन वा कक्कं क्रियते, किंचिल्लोद्रं हट्टद्रव्यं, तेण वा उव्वट्टेति, पद्मचूर्णेन वा ण्हाणं-ण्हाणमेव, अहवा उवण्हाणयं भण्णति। तं पुण माषचूर्णादिसिणाणं गंधियावणे अंगाघसणयं वुच्चति। चुण्णओ जो सुगंधो, चंदणादिचूर्णानि, जहा वट्टमाणचुण्णो पडवासादिवासनिमित्तं तहेव उव्वट्टेति, एक्कस्सि परिवट्टेति पुणो पुणो। नि०चू०१ उ०।

चौर्ण नं० पदभेदे, (दश०)

चौर्ण पदमाह-

अत्थबहुलं महत्थं, हेउनिवाओवसग्गगंभीरं।
बहुपायमवोच्छिन्न, गमणयसुद्धं तु चुन्नपयं ॥१८०॥

अर्थो बहुलो यस्मिन् तदर्थबहुलम्। "क्वचित् प्रवृत्तिः क्वचिदप्र-

वृत्तिः, क्वचिद्विभाषा क्वचिदन्यदेव। विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य, चतुर्विधं बाहुलकं वदन्ति ॥१॥" ततश्चैभिः प्रकारैः बह्वर्थम्। महान् प्रधानो हेयोपादेयप्रतिपादकत्वेनार्थो यस्मिन् तन्महार्थम्। हेतुनिपातोपसर्गैः गम्भीरम्। तत्राऽन्यथाऽनुपपत्तिलक्षणो हेतुः। यथा मदीयोऽयमश्वो, विशिष्टचिह्नोपलक्षितत्वात्। चवाणल्वादयो निपाताः। पर्युतसमवादय उपसर्गाः। एभिरगाधम्। बहुपादम्- अपरिमितपादम्। अव्यवच्छिन्नं- श्लोकवद्विरामरहितम्। गमनयैः शुद्धम् गमास्तदक्षरोच्चारणप्रवणा भिन्नार्थाः। यथा "इह खलु छज्जीवणिया; कयरा खलु सा छज्जीवणिया ?" इत्यादि। नयाः नैगमादयः प्रतीताः, तुरवधारणे, गमनयशुद्धमेव चौर्ण पदं ब्रह्मचर्याध्ययनपदवदिति गाथार्थः। दश०२ अ०।

चुण्णकोसग न० (चूणकोशक) चूणभृते कोशकाकृतौ भक्ष्यभेदे, प्रश्न०५ संब० द्वार।

चुण्णपेसि (ण्) त्रि० (चूर्णपेषिन्) ताम्बूलचूर्णस्य गन्धद्रव्यचूर्णस्य वा पेषणकारके, भ०११ श०११ उ०।

चुण्णगुंडियगाय त्रि० (चूर्णगुण्ठितगात्र) गैरिकक्षोदाबगुण्ठितशरीरे, विपा०१ श्रु०२ अ०।

चुण्णजुत्ति स्त्री० (चूर्णयुक्ति) कोष्ठादिसुरभिद्रव्येषु चूर्णीकृतेषु तदुचित-द्रव्यमेलने, जं०२ वक्ष०। एषाहि स्त्रीकलाभेदः। कल्प०७ क्षण। ज्ञा०। औ०।

चुण्णजोग पुं० (चूर्णयोग) स्तम्भनादिकर्मकारिणि द्रव्यचूर्णानां योगे, ज्ञा०१ श्रु०१४ अ०। अदर्शीकरणाद्यञ्जने मोहबचूर्णयोगेनाहार-ग्रहणरूपे चतुर्दशे उत्पादनदोषे, उत्त०२४ अ०।

चुण्णपिंड पुं० (चूर्णपिण्ड) चूर्णमञ्जनादि, तत्प्रयोगेण लब्धः पिण्डः। जी०१ प्रति०। वशीकरणाद्यर्थं द्रव्यचूर्णादिवाप्ते पण्डिे, आचा०२ श्रु०१ अ०६ उ०। पञ्चा०।

अस्य स्वरूपं सोदाहरणम्-

चुन्ने अंतद्धाणे, चाणक्के पायलेवणाजोगे।
मूले विवाहे दो दं-डणीउ आधाणपरिसाडे ॥

चूर्णे अन्तर्द्धाने लोकदृष्टिपथतिरोधानकारके दृष्टान्तौ-चाणक्यविदितौ द्वौ क्षुल्लकौ। पादे पादलेपनरूपे योगे दृष्टान्ताःसमितसूरयः। तथा मूले मूलकर्मणि अक्षतयोनेः क्षतयोनिकरणरूपे युवतिद्वयं दृष्टान्तः। विवाहविषये मूलकर्मणि युवतिद्वयमुदाहरणम्। तथा गर्भाधानपरिसाटरूप *मूलकर्मणि द्वे दण्डिन्यौ नृपपत्न्यायुदाहरणम्।*

तत्र "चुन्ने अंतद्धाणे चाणक्के" इत्यवयवं भाष्यकृत् गाथात्रयेण व्याख्यानयति-

जंघाहीणा ओमे, कुसुमपुरे सिस्सजोगे रहकरणं।
खुड्डागंऽजणसुण्णा, गमणं देसंतरे सरणं ॥
पेक्खं परिवाहं तो, थेराणं देसे ओमे ऽदताण।
सहभुज्ज चंदगुत्ते, ओमोयरिएण दोव्वल्लं ॥
चाणक्क पुच्छ एट्ठा-लचुन्न दारं पिहित्तु धूमे य।
दट्ठुं कुच्छ पसंसा, थेरसमीवे उपालंभो ॥

कुसुमपुरे नगरे चन्द्रगुप्तो नाम राजा, तस्य मन्त्री चाणक्यः, तत्र च जङ्घाबलपरिहीनाः सुस्थिताभिधाः सूरयः। अन्यदा च तत्र दुर्भिक्षमपतत्। ततः सूरिभिश्चिन्तितम्- अमुं समृद्धाभिधानं शिष्यं सूरिपदे स्थापयित्वा सकलगच्छसमेतं सुभिक्षे क्वापि प्रेषयामि, ततस्तस्मै योनिप्राभृतमेकान्ते व्याख्यातुमारब्धे, तत्र च क्षुल्लकद्वयेन कथमप्य-दृश्यीकरण निबन्धनमञ्जनं व्याख्याने शुश्रुवे, यथा-अनेनाञ्जनेना-ञ्जितचक्षुर्न केनापि दृश्यते, इति योनिप्राभृतव्याख्यानसमर्थनानन्तरं समृद्धाभिधोऽन्तेवासी सूरिपदे स्थापितः, मुत्कलितश्च सकलगच्छ-समेतो देशान्तरे, स्वयमेकाकिनस्तत्रैवावतस्थरे सूरयः, कतिपयदिना-नन्तरं चाचार्यस्नेहतस्तत् क्षुल्लकद्वयमाचार्यसमीपे समाजगाम। आचार्या अपि यत्किमपि भिक्षया लभन्ते तत् समं विविच्य क्षुल्लकद्वयेन सह भुञ्जते, तत आहाराऽपरिपूर्णतया सूरीणां दौर्बल्यमभवत्। चिन्तितं क्षुल्लकद्वयेन-अवमोदरता सूरीणाम्, ततो वयं पूर्वश्रुतमञ्जनं कृत्वा चन्द्रगुप्तेन सह भुञ्जावहे, इति तथैव कृतम्। ततश्चन्द्रगुप्तस्याहारस्तो-कतया भूमा शरीरे कृशता। चाणक्येन पृष्टम् किं ते शरीरदौर्बल्यम् ? स प्राह-परिपूर्णाहारालाभतः। ततश्चाणक्येन चिन्तितम्- एतावत्याहारो परिवेष्यमाणे कथमाहारस्यापरिपूर्णता ? तन्नूनमञ्जनसिद्धः कोऽपि समागत्य राज्ञा सह भुङ्क्ते। ततस्तेनाञ्जनसिद्धग्रहणाय भोजनमण्डपे-ऽतीवश्लक्ष्णेष्टकाचूर्णे विकीर्णे दृष्टानि मनुष्यपदानि। ततो निश्चिक्ये-नूनं द्वौ पुरूषावञ्जनसिद्धावायातः। ततो द्वारं पिधाय मध्येऽतिबहुलो धूमो निष्पादितः। धूमबाधितनयनयोश्च तथोरञ्जनं नयनाश्रुभिः सह विरालितम्। ततो बभूवतुः प्रत्यक्षौ क्षुल्लकौ, कृता चन्द्रगुप्तेनात्मनि जुगुप्सा-अहो ! विटालितोऽहमाभ्यामिति। ततश्चाणक्येन तस्य समाधाननिमित्तं, प्रवचनमालिन्यरक्षार्थं च प्रशंसितो राजा। यथा-धन्यस्त्वमसि यो बालब्रह्मचारिभिः यतिभिः पवित्रीकृत इति। ततो वन्दित्वा मुत्कलितौ द्वावपि क्षुल्लकौ। चाणक्येन रजन्यां वसतावागत्य सूरय उपालब्धाः-यथैतौ युष्मतक्षुल्लकावुड्डाहं कुरुतः। ततः स एवोपालब्धः। य एवात्र विद्यायामञ्जनोक्ता दोषास्त एव वशीकरणादि-चूर्णेष्वपि द्रष्टव्याः। सूत्रे चात्र तृतीया सप्तम्यर्थे। तथा चूर्णे प्रयुज्यमाने एकस्य चूर्णस्य प्रयोक्तुरनेकेषां वा साधूनासमुपरि द्वेषं कुर्यात्, ततस्तत्र भिक्षालाभाद्यसंभवः। "पयत्थारओ वा पि" नाशो वा भवेत्। तदेवं "चुन्ने अंतद्धाणे चाणक्के" इति व्याख्यातं, तद्व्याख्यानाच्च चूर्ण इति द्वारं समर्थितम्।

जे भिक्खू चुण्णयपिंडं भुंजइ, भुंजंतं वा साइज्जइ ॥७२॥

"जे चुण्णपिंडं" इत्यादि। वसीकरणणदिया चुण्णा, तेहिं जो पिंडं उप्पादेति तस्स आणादिया दोसा, चउलहुं च से पच्छित्तं।

ते भिक्खू चुण्णपिंडं, भुंजेज्ज सयं तु अहव सातिज्जे।
सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराहणं पावे ॥१९६॥

कंठा। जे विज्जामंतेहिं दोसा, ते चेव वसीकरणमादिएहिं चुण्णेहिं दोसा, रागारापदोसपत्थारदोसा य; असिवादिकारणेहिं वा वसीकरणमादि-चुण्णेहिं पिंडं उप्पादेज्जा। नि० चू०१३ उ०।

चुण्णपमोला स्त्री० (चूर्णपटोला) शस्यभेदे, प्रज्ञा०१ पद।

चुण्णभेय पुं० (चूर्णभेद) चूर्णभेदे, स्था०१० ठा०।

चुण्णय न० (चूर्णक) सन्त्रस्ते, विपा०१ श्रु०२ अ०।

चुण्णवास पुं० (चूर्णवास) चूर्णलक्षणे वासे, ज्ञा०१ श्रु०६ अ०। "अमयवासं च चुण्णवासं च" आचा०२ श्रु०३ चू०।

चुण्णिय अव्य० (चूर्णयित्वा) चूर्णनं कृत्वेत्यर्थे, भ०१ श०८ उ०।

चुण्णियाभेद पुं० (चूर्णिकाभेद) तिलादिचूर्णवद्द्रव्यभेदे, भ०५ श०४ उ०। "से किं तं चुण्णियाभेदे ? चुण्णियाभेदे जण्णं तिलचुन्नाण वा मुखचुन्नाण वा मासचुन्नाण वा पिप्पलीचुन्नाण वा मरियचुन्नाण वा सिंगवेरचुन्नाण वा चुन्नियाए भेदे भवति सेत्तं चुण्णियाभेदे"। प्रज्ञा०११ पद।

चुम्ब धा० (चुम्ब) 'चुबि' वक्त्रसंयोगे, अन्ते **"व्यञ्जनाददन्ते"** ॥८।४।२३६। इति अकारः। 'चुम्बइ' चुम्बति। प्रा०४ पाद।

चुंबिवि अव्य० (चुम्बित्वा) 'चुब्' चुम्बने। **"क्त्व इ इउ इविअवयः"** ॥८।४।४३६॥ इति इव्यादेशः क्त्वाप्रत्ययस्थाने। चुम्बितं कृत्वेत्यर्थे, "रक्खइ सा विसहारिणी, ते करचुम्बिवि जीउ"। प्रा०४ पाद।

चुय त्रि० (च्युत) कुतोऽप्यनाचारात्स्वपदात्पतिते, ज्ञा०१ श्रु०३ अ०। परिभ्रष्टे, आ०म०प्र०। जन्मान्तरं गते, सूत्र०१ श्रु०१० अ०। स०। कालान्तरेण च्युते, अ०।

चुयधम्म (ण्) त्रि० (च्युतधर्मन्) धर्मात्प्रभ्रष्टे, व्य०१० उ०।

चुयसामि त्रि० (च्युतस्वामिन्) उत्सन्नस्वामिके, व्य०२ उ०।

चुलणी स्त्री० (चुलनी) काम्पिल्यपुरे ब्रह्मदत्तचक्रवर्तिनो मातरि, उत्त०१३ अ०। द्रुपदमहाराजस्य स्त्रियाम्, ज्ञा०१ श्रु०१६ अ०। तं०। आव०। स०।

चुलणीपिया पुं० (चुलनीपितृ) वाराणसीवास्तव्ये स्वनामख्याते गृहपतौ, चुलनीपितृनामा गृहपतिर्वाराणसीनिवासी तथैव प्रतिबद्धः प्रतिपन्न-प्रतिमो विमर्शकदेवेन मातरं त्रिखण्डां क्रियमाणां दृष्ट्वा क्षुभितश्चलित-प्रतिज्ञो देवनिग्रहार्थमुहधाव, पुनः कृतालोचनस्तथैव दिवं गत इति वक्तव्यताप्रतिथद्धे तृतीये उपासकदशानामध्ययने, स्था०१० ठा०।

एतदेव सूत्रकृदाह -

उक्खेवो तइयस्स-एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं वाणारसी णामं नयरी, कोट्ठए चेइए, जियसत्तू राया महड्ढिए, तत्थ णं वाणारसीए चुलणीपिया णामं गाहावई परिवसइ अड्ढे० जाव अपरिभूए, सोमा भारिया, अट्ठ हिरण्णकोडीओ णिहाणपत्ताओ वुड्ढिपवित्थरपत्ताओ अट्ठव्वया दसगोसाहस्सिएणं वएणं जहा आणंदो ईसर० जाव सव्वकज्जवड्ढावए यावि होत्था, सामी समोसढे, परिसा निग्गया, चुलणीपिया वि जहा आणंदो तहा निग्गओ, तहेव गिहिधम्मं पडिवज्जइ। गोयमपुच्छा तहेव सेसं जहा कामदेवस्स० जाव पोसहसालाए। पोसहिए बंभचारी समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मपण्णत्तिं उवसंपज्जित्ता णं विहरइ। तए णं तस्स चुलणीपियस्स समणोवासयस्स पुव्वरत्तावरत्तकालसमए एगे देवे अंतियं पाउब्भए। तए णं से देवे एगं नीलुप्पल० जाव असिं गहाय चुलणीपियं समणोवासयं एवं वयासी-हंभो चुलणीपिया ! जहा कामदेवे० जाव न भंजसि तओ अहं अज्ज जेट्ठपुत्तं साओ गिहाओ णीणेमि १, तव अग्गओ घाएमि २, तओ मंससोल्ले करेमि, करेमित्ता आदाणभरियंसि कडाहयंसि अद्दहेमि तव गातं मंसेण य सोणिएण य आइच्छामि, जहा णं तुमं अट्टदुहट्टवसट्टे अकाले जीवियाओ ववरोवेज्जसि। तओ चुलणीपिया समणो० तेणं देवेणं एवं वुत्ते अभीए० जाव विहरइ। तं से देवे चुलणीपियं समणं अभीयं० जाव पासइ, पासइत्ता दोच्चं पि तच्चं पि चुलणीपियं एवं वयासी-हंभो चुलणीपिया ! तं चेव भणइ सो० जाव विहरइ। तं से देवे चुलणीपियं अभीयं० जाव पासित्ता आसुरुत्ते०४ चुलणीपियस्स समणोवासयस्स जेट्ठपुत्तं गिहाओ णीणेइ, णीणेइत्ता अग्गओ घाएइ, अग्गओ घाएइत्ता तओ मंससोल्लित्ते करेइ, करेइत्ता आदाणभरियंसि कडाहंसि अद्दहेइ, अद्दहेइत्ता चुलणीपियस्स समणोवासयस्स गायं मंसेण य सोणिएण य आइंचइ। तए णं से चुलणीपिया समणो० तं उज्जलं० जाव अहियासेइ। तए णं से देवे चुलणीपियं अभीयं० जाव पासइ, पासइत्ता दोच्चं पि तच्चं पि चुलणीपियं समणोवासयं एवं वयासी-हंभो चुलणीपिया ! अपत्थियपत्थिया० जाव ण भंजसि तओ अहं अज्ज मज्झिमं पुत्तं साओ गिहाओ णीणेमि, णीणेमित्ता तव अग्गओ घाएमि जहा जेट्ठपुत्तं तहेव भणइ, तहेव करेइ, एवं कणीयसं पि० जाव अहियासेइ। तं से देवे चुलाणीपियं अभीयं० जाव पासइ। चउत्थं० जाव चुलणीपियं समणोवासयं स एवं वयासी-हं भो चुलणीपिया ! अपत्थियपत्थिया०४ जइ णं तुमं० जाव न भंजसि तओ अहं अज्ज जा इमा माता भद्दा सत्थवाही देव तं गुरुं जणणिं दुक्करदुक्करकारियं तं से साओ गिहाओ णीणेमि, णीणेमित्ता तव अग्गओ घाएमि, घाएमित्ता तओ मंसलोल्लए करेमि, करेमित्ता आदाणभरियंसि कडायंसि अद्दहेमि, तव गातं मंसेण य सोणिएण य आइंचामि, जहा णं तुमं अट्टदुहट्ट० अकाले चेव ववरोविज्जसि। तए णं से चुलणीपिया सावया तेणं देवेणं एवं वुत्ते अभीए० जाव विहरइ। तए णं से देवे चुलणीए अभीअं० जाव विहरमाणं पासइ। चुलणीपियं दोच्चं पि एवं वयासी-हंभो चुलणीपिया ! तहेव० जाव ववरोविज्जसि। तए णं तस्स चुलणीपियस्स तेणं देवेणं दोच्चं पि एवं वुत्ते समाणस्स इमे यारूवे० जाव अब्भत्थिए०४, अहो णं इमे पुरिसे अणारिए-

अणारियबुद्धी अणारियाइं पावाइं कम्माइं समाचरए, जेण ममं जेट्ठपुत्तं साओ गिहाओ णीणेमि, मम अग्गओ घाएइ, घाएइत्ता जहा कयं तहा वि चिंतेइ० जाव गायं आइंचइ, जेणेव मम मज्झियं पुत्तं साओ गिहाओ० जाव सोणिअं आइंचइ, जेणेव मम कणीयसं पुत्तं साओ गिहाओ तहेव० जाव आइंचइ, जा वि य णं इमं माता भद्दा सत्थवाही देवतं गुरुं जणहिं दुक्करकारियं तं पि य णं इच्छइ, साओ गिहाओ णीणेत्ता ममं अग्गओ घाइत्तए, तं सेयं खलु ममं एयं पुरिसं गिण्हेत्तए त्ति कट्टु उट्ठाति, ते से वि य आगासिए उप्पतिए तेण य खंभे आसादिए महया महया सद्देणं कोलाहले कए, तए णं सा भद्दा सत्थवाही तं कोलाहलसद्दं सोच्चा निसम्म जेणेव चुलणीपिया समणोवासया तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता चुलणीपियं एवं वयासी-किं णं पुत्ता ! तुमे महया महया सद्देणं कोलाहले कए ? तए णं से चुलणीपिया अम्मयं भद्दं सत्थिवाहिं एवं वयासी-एवं खलु अम्मो ! न जाणामि के वि पुरिसे आसुरुत्ते०५ एगं महं नीलुप्प० असिं गहाय ममं एवं वयासी-हंभो चुलणीपिया ! अपत्थियपत्थिया०४ वज्जिया जइ णं तुमं० जाव ववरोविज्जसि, तए णं अहं तेणं देवेणं एवं वुत्ते समाणे अभीए० जाव विहरामि । तए णं से देवे मम अभीयं० जाव विहरमाणं पासइ, पासइत्ता ममं दोच्चं पि तच्चं पि एवं वयासी-हंभो चुलणीपिया ! तहेव गायं आइंचइ, तए णं अहं तं उज्जलं० जाव अहियासेमि, एवं तहेव उच्चारेयव्वं० जाव कणीपसं० जाव आइंचइ, अहं तं उज्जलं० जाव अहियासेमि । तए णं से देवे ममं अभीयं० जाव पासइ, पासइत्ता ममं चउत्थं पि एवं वयासी-हंभो चुलणीपिया ! अपत्थियपत्थिया० जाव न भंजसि तओ ते अज्ज जा इमा माता गुरु० जाव ववरोविज्जसि, तए णं अहं तेणं देवेणं एवं वुत्ते समाणे अभीए० जाव विहरामि । तए णं से देवे दोच्चं पि तच्चं पि ममं एवं वयासी-हंभो चुलणीपिया ! अज्ज० जाव ववरोविज्जसि, तए णं अहं तेणं देवेणं एवं वुत्तस्स समाणस्स इमेयारूवे अभत्थिए अहो णं इमे पुरिसे अणारिए० जाव समायरए जेणं ममं जेट्ठपुत्तं सओ गिहाओ तहेव० जाव कणीयसं० जाव आइंचइ, तुब्भे वि य णं इच्छइ साओ गिहाओ० जाव णीणेत्ता, मम अग्गओ घाएत्तए तं सेयं खलु ममं एवं पुरिसं गिण्हित्तए त्ति कट्टु उट्ठाति, ते से वि य आगासे उप्पतिते ममए वि य खंभे आसादिते महया महया सद्देणं कोलाहले कए, तए णं सा भद्दा चुलणीपियं समणोवासयं एवं वयासी-नो खलु केइ पुरिसे तव० जाव कणीयसं पुत्तं साओ गिहाओ णीणेइ, णीणेइत्ता तव अग्गओ घाएइ । एस णं केइ पुरिसे तव उवसग्गं करेइ, एस णं तुमे वि दरिसणे दिट्ठे, तए णं तुमं इत्थाणिं भगवया भग्गणियमे भग्गपोसहे विहरसि, तेणं तुमं पुत्ता ! एयस्स ठाणस्स आलोहि० जाव पडिवज्जेहि । तए णं से चुलणीपिया समणोवासया अम्माए भद्दाए स० तह त्ति एयमट्ठं विणएणं पडिसुणेइ, पडिसुणेइत्ता तस्स ठाणस्स आलोएइ० जाव पडिवज्जेइ । तए णं से चुलणिपिया स० पढमं उवासगपडिमं उवसंपज्जित्ता णं विहरइ । पढमं उवासगअहासुत्तं जहा आणंदो० जाव एक्कारस वि तए णं से चु० तेण उरालेण जहा कामदेवे० जाव सोहम्मे कप्पे सोहम्मवडिंसयस्स महाविमाणस्स उत्तरपुच्छिमेणं अरुणप्पभे णामं विमाणे देवत्ताए उववण्णे चत्ता रि पलिओवमाइं ठिई महाविदेहे वासे सिज्झिहिंति० ५ । उपा०३ अ० ॥

चुलसीइ स्त्री० (चतुरशीति) चतुरधिकायामशीतौ, जं०२ पक्ष० । स० । प्रज्ञा० । प्रश्न० ।

चुलसीइसमज्जिय त्रि० (चतुरशीतिसमर्जित) एकत्र समये समुत्पद्यमानानां येषां राशिः चतुरशीतिसमर्जितः स्यात् तेषु नैरयिकादिषु, भ०२० श०१० उ० । उपा० ('उववाय' शब्दे द्वितीयभागे ६१५ पृष्ठे उक्तं चैतत्)

चुलसीय त्रि० (चतुरशीत) चतुरशीत्यधिके, "चुलसीयं मंमलसतं चरति' सू० प्र०१ पाहु० ।

चुलुक्क पुं० (चुलुक्य) क्षत्रियकुलविशेषे, यस्मिन् सिद्धराजादय आसन्, कुमारपालराज आसीत् । "अहो चौलुक्यपुत्रीणां, साहसं जगतोऽधिकम् । पत्युर्मृत्यौ विशन्त्यग्निं, याः प्रेमरहिता अपि" ॥१॥ स्था०४ ठा०२ उ० ।

चुलचुल धा० (स्पन्द) किञ्चिच्चलने, **"स्पन्देश्चुलचुलः"** ॥८।४।१२७॥ इति स्पन्देश्चुलचुलादेशः । "चुलचुलइ" स्पन्दते । प्रा०४ पाद ।

चुल्ल त्रि० (क्षुद्र) महदपेक्षया लघौ, स्था०२ ठा०४ उ० ।

चुल्लकप्पसुय न० (क्षुद्रकल्पश्रुत) अल्पग्रन्थे, अल्पार्थे च सविरादिकल्पप्रतिपादके उत्कालिकश्रुते, नं० ।

चुल्लग (देशी) भोजने, मनुष्यत्वलाभे चुल्लग (भोजन) दृष्टान्तः । आ० क० ।

चुल्लपिउ पुं० (क्षुद्रपितृ) लघुपितरि, विपा०१ श्रु०३ अ० । "अज्जए पज्जए वा वि, वप्पो चुल्लपिउ त्ति य" । दश०७ अ० ।

चुल्लमाउया स्त्री० (क्षुद्रमातृका) लघुमातरि, नि०१ वर्ग । "कूणियस्स रण्णो चुल्लमाउया" अन्त०८ वर्ग । ज्ञा० ।

चुल्लसयय पुं० (क्षुद्रशतक) महाशतकापेक्षया लघुः शतकश्चुल्लशतकः । स्वनामख्याते गृहपतौ, स चाऽलम्भिकाभिधाननगरनिवासिदेवोपसर्गकारिणा द्रव्यमुपह्रियमाणमुपलभ्य चलितप्रतिज्ञः पुनर्निरतिचारः सन् दिवमगमदिति यथा तथा यत्राभिधीयते तस्मिन् उपासकदशानां चतुर्थेऽध्ययने, स्था०१० ठा० ।

एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं वाणारसीए णयरीए कोट्ठए चेइए, जियसत्तू राया, सुरादेवगा हावई अड्ढे दित्ते छ हिरण्णकोडीओ पिहाणपत्ताओ० जाव छव्वया दसगोसाहस्सिएणं वएणं, धण्णा भारिया, सामी समोसढो, जहा आणंदो तहेव पडिवज्जइ गिहिधम्मं, जहा काम देवो० जाव समणस्स भगवओ महावीरस्स पण्णत्तिं उवसंपज्जित्ता णं विहरइ। तए णं तस्स सुरादेवस्स समणोवासयस्स पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि एगे देवे अंतियं पाउब्भवित्था। से देवे एगं महं नीलुप्पल० जाव असिं गहाय सुरादेवं समणोवासयं एवं वयासी-हंभो सुरादेवा ! अपत्थियपत्थिया ४ जइ णं तुमं सीलाइ० जाव न भंजसि तओ जेट्ठपुत्तं साओ गिहाओ णीणेमि, तव अग्गओ घाएमि, एवं मंससोल्लए करेमि। आयाणभरियंसि कडाहगंसि अद्दहेमि, अद्दहेमित्ता तव गायं मंसेण य सोणिएण य आइंचामि, जहा णं तुमं अकाले० जाव ववरोविज्जसि। एवं मज्झिमयं कणीयसं एक्केक्के पंच सोल्लया तहेव करेइ जहा चुलणीपियस्स, नवरं एक्केक्के पंच सोल्लया। तए णं से देवे सुरादेवं चउत्थं पि एवं वयासी-हंभो सुरा० ! अपत्थियपत्थिया० जाव न परिभंजसि तओ ते अज्ज सरीरस्स जमगसमगमेव सोलसरोगायंके पक्खिवामि। तं जहा-सासे कासे० जाव कोढे, जहा णं तुमं अट्टदुहट्ट० जाव ववरोविज्जसि। तओ से सुरा० जाव विहरइ, एवं देवो दोच्चं पि तच्चं पि भणइ० जाव ववरोविज्जसि। तए णं तस्स सुरादेवस्स तेणं देवेणं दोच्चं पि तच्चं पि एवं वुत्तस्स समाणस्स इमेयारूवे अब्भ०४ अहो णं इमे पुरिसे अणारिए० जाव समारयइ जेणं ममं जेट्ठपुत्तं० जाव कणीयसं० जाव आइंचइ, जे वि य मे सोलस रोगायंका ते वि य इच्छइ मम सरीरगंसि पक्खिवित्तए; तं सेयं खलु ममं एयं पुरिसं गिण्हित्तए त्ति कट्टु उट्ठाएइ, से वि य आगासे उप्पतिते तेण य खंभे आसाइए, महया महया सद्देणं कोलाहले कए, तए णं सा धन्ना भारिया कोलाहलं सुच्चा निसम्म जेणेव सुरादेवे समणोवासए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता एवं वयासी किं ण्णं देवाणुप्पिया ! तुब्भे णं महया सद्देणं कोलाहले कए ? तए णं से सुरादेवे धण्णं भारियं एवं वयासी-एवं खलु देवाणुप्पिया ! के वि पुरिसे तहेव कहइ जहा चुलणिप्पिया धन्ना वि पडिभणइ० जाव कणीयसं णो खलु देवा० ! तुब्भं केइ पुरिसे सरीरंसि जमगसमगं सोलसरोगायंके पक्खिवइ, एस णं के वि पुरिसे तुब्भं उवसग्गं करेइ सेसं जहा चुलणीपियस्स भद्दा भणइ णिरवसेसं० जाव सोहम्मे कप्पे अरुणकंते विमाणे चत्तारि पलिओवमाइं ठिई महाविदेहे वासे सिज्झिहिंति ५ (उपा०४ अ०) एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं आलहिया णयरी, संखवणे उज्जाणे, जियसत्तू राया, चुल्लसयए गाहावई अड्ढे० जाव छ हिरण्णकोडीओ० जाव छव्वया दसगोसाहस्सिएणं वएणं, बहुला भारिया, सामी समोसढो, जहा आणंदो तहा गिहिधम्मं पडिवज्जइ, सेसं जहा कामदेवे० जाव धम्मपण्णत्तिं उवसंपज्जित्ता विहरइ, तए णं तस्स चुल्लसयगस्स पुव्वरत्तावरत्तकाले एगे देवे अंतियं० जाव असिं गहाय एवं वयासी-हं भो चुल्लस० ! जाव ण भंजसि तओ अज्ज जेट्ठपुत्तं गिहाओ णीणेमि एवं जहा चुलणीपियं, णवरं एक्केक्कसत्तमंससोल्लया० जाव कणीयसं० जाव आइंचामि; तए णं से चुल्ले० जाव विहरइ। तए णं से देवे चुल्लस्स चउत्थं पि एवं वयासी-हंभो चुल्ल० ! जाव न भंजसि तो ते अज्ज इमाओ छ हिरण्णकोडीओ णिहाणपत्ताओ छ वड्ढि० छ पवित्थरपत्ताओ ताओ साओ गिहाओ णीणेमि, णीणेमित्ता आलहियाण णयरीए सिंघाडग० जाव पहेसु सव्वओ समंता विप्पइरामि, जहा णं तुमं अट्टदुहट्ट० अकाले जीवियाओ ववरोविज्जसि। तए णं से चुल्लसए तेणं देवेणं एवं वुत्ते समाणे अभीए० जाव विहरइ। तए णं से देवे चुल्लस० अभीयं० जाव पासित्ता दोच्चं पि तच्चं पि एवं वुत्ते तहेव० जाव ववरोविज्जसि। तए णं तस्स चुल्लसएणं देवेणं दोच्चं पि तच्चं पि एवं वुत्तस्स अयमेयारूवे अब्भत्थिए ४ अहो णं इमे पुरिसे अणारिए, जहा चुलणीपिया तहा चिंतेइ० जाव कणीयसं० जाव आइंचइ। जाओ वि य णं इमाओ ममं छ हिरण्णकोडीणिहाणपत्ताओ वड्ढि० पवित्थरपचाओ ताओ वि य णं इच्छेइ ममं साओ गिहाओ णीणित्ता आलहियाए णयरीए सिंघाडग० जाव विप्परित्तए; तं सेयं खलु मम एयं पुरिसं गिण्हित्तए त्ति कट्टु उट्ठाइए जहा सुरादेवे तहेव भारिया पुच्छइ, तहेव कहेइ, सेसं जहा चुलणीपियस्स० जाव सोहम्मे कप्पे अरुणसिद्धे विमाणे उ० ठिइसेसं ताव जाव महाविदेहे वासे सिज्झिहिंति। उपा०५ अ०।

चुल्लहिमवंत त्रि० (क्षुद्रहिमवत्) महदपेक्षया लघुर्हिमवान् चुल्लहिमवान्। स्था०२ ठा०३ उ०। वर्षधरपर्वतभेदे, स्था०७ ठा०। स०।

स च क्व कियन्मान इत्याह -

कहि णं भंते ! जंबुद्दीवे दीवे चुल्लहिमवंते णामं वासहरपव्वए पण्णत्ते ? गोयमा ! हेमवयस्स वासस्स दाहिणेणं भरहस्स वासस्स उत्तरेणं पुरच्छिमलवणसमुद्दस्स पच्चच्छिमेणं पच्चच्छिमलवणसमुद्दस्स पुरच्छिमेणं एत्थ णं जंबुद्दीवे दीवे-

चुल्लहिमवंते णामं वासहरपव्वए पण्णत्ते, पाईणपडीणायए उदीणदाहिणविस्थिण्णे दुहा लवणसमुद्दं पुट्ठे पुरच्छिमिल्लाए कोडीए पुरच्छिमिल्लं लवणसमुद्दं पुट्ठे पच्चच्छिमिल्लाए कोडीए पच्चच्छिमिल्लं लवणसमुद्दं पुट्ठे एगं जोअणसयं उड्ढं उच्चत्तेणं पणवीसं जोअणाइं उव्वेहेणं एगं जोअणसहस्सं वावणं च जोअणाइं दुवालस य एगूणवीसइभाए जोअणस्स विक्खंभेणं ति तस्स तस्स वाहा पुरच्छिमपच्चच्छिमेणं पंच जोअणसहस्साइं तिण्णि अप्पण्णासे जो अणसए पण्णरस्स य एगूणवीसइभाए जोअणस्स अद्धभागं च आयामेणं तस्स जीवा उत्तरेणं पाईणपडीणायए० जाव पच्चच्छिमिल्लाए कोडीए पच्चच्छिमिल्लं लवणसमुद्दं पुट्ठा चउव्वीसं जोअणसहस्साइं णव य वत्तीसए जोअणसए अद्धभागं च किंचि विसेसूणा आयामेण पण्णत्ता ॥

क्व भदन्त ! जम्बूद्वीपे द्वीपे क्षुल्लः क्षुद्रो वा महाहिमवदपेक्षया लघुर्हिमवान् क्षुद्रहिमवान् नाम नाम्ना वर्षधरपर्वतः प्रज्ञप्तः । वर्षे उभयपार्श्वस्थिते द्वे क्षेत्रे धरतीति वर्षधरः, क्षेत्रद्वयसीमाकारी गिरिरित्यर्थः । स चासौ पर्वतश्च वर्षधरपर्वतः, आख्यातस्तीर्थकृद्भिरिति, शेषं सुगमं, नवरमेकयोजनशतमूर्द्धोच्चत्वेन पञ्चविंशतियोजनानि उद्वेधेन भूगतत्वेन, उच्चत्ववतुर्थभागस्यैव भूगतत्वात्, एकं योजनसहस्रं, द्विपञ्चाशच्च योजनानि, द्वादश चैकोनविंशतिभागान् योजनस्य विष्कम्भेण । अस्योपपत्तिरस्तुद्विगुणितजम्बूद्वीपव्याससंख्यं, तस्य नवत्यधिकशतेन भागहरणेन भवति, क्षुद्रहिमवतो भरताद् द्विगुणत्वात् । अत्र च करणविधिर्भरतवर्षविष्कम्भ इव ज्ञेयः । अथास्य वाहे आह-"तस्स वाहा" इत्यादि । तस्य क्षुद्रहिमवते वाहे प्रत्येकं पूर्वपश्चिमयोः पञ्च योजनसहस्राणि, त्रीणि च योजनशतानि पञ्चाशदधिकानि, पञ्चदशयोजनस्यैकोनविंशतिभागान् एकस्य योजनैकोनविंशतितमभागस्यार्द्धं च यावदायामे प्रज्ञप्ते । सूत्रे च वचनव्यत्ययः प्राकृतत्वात् । स्थापना यथा-योजन ३५५० कला १५।१/२। अस्य व्याख्यानं वैताढ्याधिकारसूत्रतो ज्ञेयम्, प्रायःसमसूत्रत्वात् । अथैतस्य जीवामाह-"तस्य जीवा" इत्यादि । तस्य क्षुद्रहिमवतो जीवा उत्तरतो ह्यप्राचीनप्रतीचीनायता "जाव पच्चच्छिमिल्लाए" इत्यादि प्राग्वत्, यावत्पदात्-"पुरच्छिमिल्लाए कोडीए पुरच्छिमिल्ललवणसमुद्दं पुट्ठाइ त्ति" ग्राह्यम् । आयामेन चतुर्विंशतियोजनसहस्राणि नवद्वात्रिंशदधिकानि योजनशतानि अर्द्धभागं च कलार्द्धं प्रज्ञप्ता, किञ्चिद्विशेषोना किञ्चिदूना इत्यर्थः । किञ्चिदूनत्वं चास्या आनयनाय वर्गमूले कृते शेषोपरितनराश्यपेक्षया द्रष्टव्यम्।

अथास्याः परिधिमाह -

तीसे धणुपिट्ठे दाहिणेणं पणवीसं जोअणसहस्साइं दोण्णि अ तिंसजोअणसए चत्तारि अ एगूणवीसइभाए जोअणस्स परिक्खेवेणं पण्णत्ते ॥

"तीसे" इत्यादि । तस्याः क्षुद्रहिमवज्जीवायाः धनुःपृष्ठं दक्षिणतो दक्षिणपार्श्वे पञ्चविंशतियोजनसहस्राणि, द्वे च त्रिंशदधिके योजनशते, चतुरश्च एकोनविंशतिभागान् योजनस्य परिक्षेपेण परिधिना प्रज्ञप्तम् । यच्चात्र "तीसे" इति शब्देन जीवानिर्देशस्तत् स्वस्वजीवापेक्षया स्वस्वधनुःपृष्ठस्य यथोक्तमानतोपपत्त्यर्थम्, अन्यथा न्यूनाधिकमानसंभवात्।

अथ पर्वतं विशेषणैर्विशिनष्टि -

रुअगसंठाणसंठिए सव्वकणगामए अच्छे सण्हे छण्हे तहेव० जाव पडिरूवे उभयो पासिं दोहिं पउमवरवेइआहिं दोहिं अ वणसंडेहिं संपरिक्खित्त दुण्ह वि माणं वण्णगो त्ति ।

"रुअग" इत्यादि । रुचकसंस्थानसंस्थितः सर्वकनकमय इत्यादि प्राग्वत्, नवरं द्वयोरपि पद्मवरवेदिकावनखण्डयोः प्रमाणं वर्णकश्च ज्ञातव्य इति शेषः ।

अथास्य शिखरस्वरूपमाह -

चुल्लहिमवंतस्स वासहरपव्वयस्स उवरिं बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते; से जहाणामए आलिंगपुक्खरेइ वा० जाव बहवे वाणमंतरा देवा य देवीऊ अ आसयंति० जाव विहरंति ॥

"चुल्लहिमवंत" इत्यादि प्राग् व्याख्यातार्थं, नवरं बहुसमत्वं चात्र नदीस्थानादन्यत्र ज्ञेयम्। अन्यथा नदीस्रोतसा संसरणमेव न स्यात्।

अथैतन्मध्यवर्तिह्रदस्वरूपनिरूपणमाह -

तस्स णं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभाए, इत्थ णं इक्के महं पउमद्दहे णामं दहे पण्णत्ते, पाईणपडीणायए उदीणदाहिणविस्थिण्णे इक्कं जोअणसहस्सं आयामेणं पंच जोअणसयाइं विक्खंभेणं दस जोअणाइं उव्वेहेणं अच्छे सण्हे रययामयकूले० जाव पासाइए० जाव पडिरूवे० ४ ।

"तस्स णं" इत्यादि। तस्य क्षुद्रहिमवतो बहुसमरमणीयस्य भूमिभागस्य बहुमध्यदेशभागे अत्राऽवकाशे एको महान् पद्मद्रहो नाम द्रहः पद्महदो नाम ह्रदो वा प्रज्ञप्तः, पूर्वापरायत उत्तरदक्षिणविस्तीर्ण एकं योजनसहस्रमायामेन पञ्च योजनशतानि विष्कम्भेण दश योजनान्युद्वेधेन उच्चत्वेन, अच्छोऽनाविलजलत्वात्, श्लक्ष्णः सारवज्रादिमयत्वात्, रजतमयकूल इति व्यक्तम्। जं०४ वक्ष०। पं०वं०।

से णं एगाए पउमवरवेइआए एगेण व पणसंमेण य सव्वओ समंता संपरिक्खित्ते वेइआवणसंडवण्णओ भाणियव्वो, तस्स णं पउमद्दहस्स चउद्दिसिं चत्तारीति सोवाणपडिरूवगा पण्णत्ता, वण्णावासो भाणिअव्वो, तेसि णं ति सोवाणपडिरूवगाणं पुरओ अ पत्तेअं पत्तेअं तोरणा पण्णत्ता, तेणं तोरणा णाणामणिमया, तस्स णं पउमद्दहस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं महं एगे पउमे पण्णत्ते, जोअणं आयामविक्खंभेणं अद्धजोअणं बाहल्लेणं दस जोअणाइं उव्वेहेणं दो कास ऊसिए जलंताओ साइरेगाइं दस जोअणाइं सव्वगो णं पण्णत्ता ॥

"से णं" इत्यादि। स पद्मद्रह एवं यावत् पद्मद्रहवरवेदिकाया एकेन च वनखण्डेन सर्वतः समन्तात् संपरिक्षिप्तः, वेदिकावनख-

णमवर्णको भणितव्यः, प्राग्वदित्यर्थ। ''तस्स णं'' इत्यादि व्यक्तम्। ''तेसि णं'' इत्यादि सर्वं प्राग्वत्, नवरं (णाणामणिमये त्ति) वर्णकैकदेशेन पूर्णस्तोरणवर्णको ग्राह्यः। अथात्र पद्मस्वरूपमाह–''तस्स णं'' इत्यादि। तस्य पद्मद्रहस्य बहुमध्यदेशभागे अत्रान्तरे महदेकं पद्मं प्रज्ञप्तम्, एकं योजनमायामतो, विष्कम्भतश्च अर्द्धयोजनं, बाहुल्येन पिण्डेन दश योजनान्युद्वेधेन जलावगाहेन द्वौ क्रोशावुच्छ्रितं जलान्ताज्जलपर्यन्तात् एवं सातिरेकाणि दश योजनानि सर्वाग्रेण प्रज्ञप्तानि, जलावगाहोपरितनभागसत्ककमलमानमीलने एतावतामेव संभवात्।

से णं एगाए जगईए सव्वओ समंता संपरिक्खित्ते जंबुद्दीवजगइप्पमाणा गवक्खकडए वि तह चेव पमाणेणं।।

'से णं' इत्यादि। तत्पद्ममेकया जगत्या प्राकारकल्पया सर्वतः समन्तात् संपरिक्षिप्तं, सा च जगती जम्बूद्वीपजगतीप्रमाणा वेदितव्या, एतच्च प्रमाणं जलादुपरिष्टाद् ज्ञेयं, दशयोजनात्मकजलावगाहप्रमाणस्याऽविवक्षितत्वात्। गवाक्षकटकोऽपि जालकसमूहोऽपि तथैव प्रमाणेनोच्चत्वेनार्द्धयोजनपञ्चधनुःशतानि विष्कम्भेणेत्यर्थः।

अथ पद्मवर्णकमाह–

तस्स णं पउमस्स अयमेआरूवे वण्णावासे पण्णत्ते। तंजहा–वइरामया मूलां, करिट्ठामए कंदे, वेरुलिआमए णाले वेरुलियानया काहिरपत्ता, जंबूणयमया अब्भिंतरपत्ता, तवणिज्जमया केसरा, णाणामणिमया पोक्खरच्छिसया, कणगमई कण्णिगा, सा णं अद्धजोअणं आयामविक्खंभेणं, कोसं बाहल्लेणं सव्वकणगामई अच्छा, तीसे णं कण्णिआए उप्पिं बहुसमरमणिज्जभूमिभागे पण्णत्ते, से जहा णामए आलिंग तस्स णं बहुसमरम णज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं महं एगे भवणे पण्णते, कोसं आयामेणं, अद्धकोसं विक्खंभेणं, देसूणगं कोसं उड्ढं उच्चत्तेणं अणेगखंभसयसण्णिविट्ठे जाव पासाईदरसणिज्जे ४ तस्स णं भवणस्स तिदिसिं तओ दारा पण्णत्ता, ते णं दारा पंचधणुसयाइं उड्ढं, अड्ढाइज्जाइं धणुसयाइं विक्खंभेणं, तावतिअं चेव पवेसेण, से आवरकणगथूभिअंगा जाव वणमालाओ णेअव्वाओ, तस्स णं भवणस्स अंतो बहुसमरडणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते, से जहाणामए आलिंग० तस्स णं बहुमज्झदेसभाए एत्थं महईए गामणिपेढिआ पण्णत्ता, सा णं मणिपेढिआ पंचधणुसयाइं आयामविक्खंभेणं अड्ढाइज्जाइं धणुसयाइं बाहुल्लेणं सव्वमणिमई अच्छा, तीसे णं मणिपेढिआए उप्पिं एत्थ णं महं एगे सयणिज्जे पण्णते, सयणिज्जवण्णओ भाणिअव्वो।।

(तस्स त्ति) तस्य पद्मस्यायमेतद्रूपो वर्णव्यासः प्रज्ञप्तः। तद्यथा–वज्रमयानि मूलानि कन्दादधस्तिर्यग्निर्गतजटासमूहावयवरूपाणि, अरिष्टरत्नमयः कन्दो मूलनालमध्यवर्ती ग्रन्थिः, वैडूर्यमयं नालं कन्दोपरि मध्यवर्त्यवयवः, वैमूर्यमयानि बाह्यपत्राणि। अत्राऽयं विशेषो बृहत्क्षेत्रविचारवृत्त्यादौ बाह्यानि चत्वारि पत्राणि वैडूर्यमयानि, शेषाणि रक्तसुवर्णमयानि जाम्बूनदमीषद्रक्तस्वर्णं, तन्मयानि अभ्यन्तरपत्राणि, सिरिनिलयमितिक्षेत्रविचारवृत्तौ तु–पीतस्वर्णमयान्युक्तानि, तपनीयमयानि रक्तस्वर्णमयानि, केसरकर्णिकायाः परितोऽवयवाः नानामणिमयाः पुष्करास्थिभागाः कमलबीजविभागाः, कनकमया कर्णिका बीजकोशः। अथ कर्णिकामानाद्याह–''सा णं'' इत्यादि। सा कर्णिका अर्द्धयोजनमायामेन, विष्कम्भेण च क्रोशं, बाहुल्येन पिण्डेन सर्वात्मना कनकमयी, अत एव कनकमयानि पूर्वापरविशेषणान्यवयवविभागेऽपि कनकमयत्वं स्यादित्याशङ्का निरस्ता। ''अच्छा'' इत्येकदेशेन ''सण्हाइ'' इत्यादि पदान्यपि ज्ञेयानि। तेषां व्याख्या च प्राग्वत्। ''तीसे णं'' इत्यादि। एतानि सर्वाण्यपि निगदसिद्धानि। शयनीयवर्णकश्चायं जीवाभिगमोक्तः– ''तस्स णं देवसयणिज्जस्स अयमेआरूवे वण्णावासे पण्णते। तं जहा –णाणामणिपडिपाया सोवण्णिआ पाया णाणामणिमयाइं पायसासगाइं जंबूणयमयाइं गत्ताइं वइरामया संधी णाणामणिमए विच्चे रययामई तूली लोहिअक्खमयाइं विब्बोअणाइं तवणिज्जमईउ गंडोवहाणियाय इति से णं सयणिज्जे सालिंगणवट्टिए उभओ विब्बोअणे उभओ उण्णए मज्झे णए गंभीरे गंगापुलिणवालुआउदालसालिसए उअविअखोम–दुगुल्लपट्ट-पडिच्छयणे आईणगरुपचूरणणीयतूलफासे सुविरइअरयत्ताणे रत्तंसुअसंवुडे सुरम्मे पासादीए कए त्ति''। अत्र व्याख्यातस्य देवशयनीस्यायमेतद्रूपो वर्णव्यासः प्रज्ञप्तः। तद्यथा–नानामणिमयाः प्रतिपादाः, मूलपादानां प्रति विशिष्टोपष्टम्भकरणाय पादाः प्रतिपादाः, सौवर्णिकाः सुवर्णमयाः पादा मूलपादाः, जाम्बूनदमयानि गात्राणि ईषादीनि, वज्रमया वज्ररत्नपूरिताः सन्धयः।, (नानामणिमए विच्चे इति) विच्चं नाम व्यूतं, विशिष्टं वातमित्यर्थः। रजतमया तूली, लोहिताक्षमयानि (विब्बोअणाइ त्ति)उपधानकानि, उच्छीर्षकाणीति यावत्, तपनीयमय्यो गण्डोपधानिकाः, गल्लमसूरकाणीत्यर्थः। तपनीयं सह आलिङ्गनवर्त्या शरीरप्रमाणेनोपधानेन यत् तत्तथा। उभयत उभौ शिरोऽन्तपादान्तावाश्रित्य ''विब्बोअणे'' उपधाने यत्र तत्तथा, उभयत उन्नतं मध्ये नतं च तत् नम्रत्वात् गम्भीरं च महत्वात् तत्तथा, गङ्गापुलिनवालुकाया अवदालो विदलनं पादादिन्यासे अधोगमनमिति तेन सा (सालिसइ ति) सदृशकं तथा (उअविअ त्ति) विशिष्टं परिकर्मितं क्षौमं कार्पासिकं दुकूलं वस्त्रं, तदेव पट्टः, स प्रतिच्छादनमाच्छादनं यस्य तत्तथा। ''आईणग'' इत्यादि प्राग्वत्। सुविरचितं रजसाणमाच्छादनविशेषोऽपरिभोगावस्थवा यत्र तत्तथा, रक्तांशुकेन मशकदंशादिनिवारणार्थकमशकगृहाभिधानवस्त्रविशेषेण संवृतमत एव सुरम्यम्, ''पासादीए'' इत्यादि पदचतुष्कं प्राग्वत्।

अथास्य प्रथमपरिक्षेपमाह–

से णं पउमे अण्णेण अट्ठसएणं पउमाणं तदद्धुच्चत्तप्पमाणमित्ताणं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ते। तेणं पउमा अद्धजोअणं आयामविक्खंभेणं, कोसं बाहल्लेणं, दस जोअणाइं उव्वेहेणं, कोसं ऊसिआ जलंताओ साइरेगाइं दस जोअणाइं उच्चत्तेणं, तेसि णं पउमाणं अयमेआरूवे वण्णावासे पण्णत्ते। तं जहा–वइरामया मूला० जाव कणगामई क–

णिणआ, सा णं कण्णिआ कोसं आयामेणं, अद्धकोसं बाहल्लेणं सव्वकणगामई अच्छा, तीसे णं कण्णिआए उप्पिं बहुसमरमणिज्जे जाव मणीहिं उवसोभिए। तस्स णं पउमस्स अवरुत्तरेणं उत्तरपुरच्छिमेणं एत्थ णं सिरीए देवीए चउण्हं सामाणिअसाहस्सीणं चत्तारि पउमसाहस्सीओ पण्णत्ताओ। तस्स णं पउमस्स पुरच्छिमेणं एत्थ णं सिरीए देवीए चउण्हं महत्तरिआणं चत्तारि पउमा पण्णत्ता। तस्स णं पउमस्स दाहिणपुरच्छिमेणं एत्थ णं सिरीए देवीए अब्भिंतरिआए परिसाए अट्ठण्हं देवसाहस्सीणं अट्ठपउमसाहस्सीओ पण्णत्ताओ । दाहिणेणं मज्झिमपरिसाए दसण्हं देवसाहस्सीणं दस पउमसाहस्सिओ पण्णत्ताओ, दाहिणपच्चच्छिमेणं बाहिरिआए परिसाए बारसण्हं देवसाहस्सीणं बारसए पउमसाहस्सीओ पण्णत्ताओ। पच्चच्छिमेणं सत्तण्हं अणिआहिवईणं सत्त पउमा पण्णत्ता। तस्स णं पउमस्स चउद्दिसिं सव्वओ समंता इत्थं णं सिरीए देवीए सोलसण्हं आयरक्खदेवसाहस्सीणं सोलस पउमसाहस्सीओ पण्णताओ। से णं पउमवरपरिक्खेवेहिं सव्वओ समंता परिक्खित्ते। तं जहा–अब्भिंतरके णं मज्झिमएणं बाहिरएणं अब्भितरपउमपरिक्खेवे बत्तीसं पउमसयसाहस्सीओ पण्णत्ताओ, मज्झिमए, पउमपरिक्खेवे चत्तालीसं पउमसयसाहस्सीओ पण्णत्ताओ। बाहिरए पउमपरिक्खेवे अडयालीसं पउमसयसाहस्सीओ पण्णत्ताओ। एवामेव सपुव्वावरेणं तिहिं पउमपरिक्खेवेहिं एगा पउमकोडी वीसं च पउमसयसाहस्सीओ भवंतीति अक्खायं।।

''से णं'' इत्यादि। तत् पद्ममन्येनाष्टशतेन पद्मानां तदर्द्धोच्चत्व-प्रमाणमात्राणां तस्य मूलपद्मप्रमाणस्यार्द्धमर्द्धरूपा उच्चत्वे उच्चत्वोच्छ्राये प्रमाणे चायामविस्तारबाहुल्यरूपे मात्रं प्रमाणं येषां तानि तथा, तेषां, सर्वतः समन्तात् संपरिक्षिप्तम्। अत्र जलोपरितनभागे उच्चत्वस्य व्यवहारप्राप्तस्य विवक्षाणादर्द्धप्रमाणं संभवत्यन्यथा जलावगाहसहितो-च्चत्वविवक्षायामुत्तरसूत्रे सातिरेकं पञ्चयोजनानि इति वक्तव्यं स्यात्, सामान्यत उक्तमेव मानं व्यनक्ति–''तेणं'' इत्यादि प्रागुक्तप्रायम्। एषां वर्णकमाह–''तेसि णं'' इत्यादि व्यक्तम्। ''सा णं'' इत्यादि इदमपि व्यक्तम्। ''तीसे णं '' इत्यादि व्यक्तम्। एषु च श्रीदेव्या भूषणादिवस्तूनि तिष्ठन्ति इति सूत्रानुक्तोऽपि विशेषो बोध्यः।। अथ द्वितीयपद्मपरिक्षेपमाह–''तस्स णं'' इत्यादि । तस्य मूल पद्मस्यापरोत्तरस्यां वायव्यकोणे, उत्तरस्याः, उत्तरपूर्वस्यामीशानकोणे च, सर्वसंकलनया तिसृषु दिक्षु, अत्रान्तरे श्रिया देव्याश्चतुर्णां सामानिक सहस्राणां चत्वारि पद्मसहस्राणि प्रज्ञप्तानि।तस्य पद्मस्य पूर्वस्यां दिशि, अत्र श्रियाश्चतसृणां महत्तरिकाणां चत्वारि पद्मानि प्रज्ञप्तानि। अत्र प्राग्व्यावर्णितविजयदेव-सिंहासनपरिवारानुसारेण पार्श्वद्यादिपद्मसूत्राणि वक्तव्यानि, सुगमत्वाच्च न विद्रियन्ते, यावत्पश्चिमायां सप्तानिकाधिपतीनां सप्त पद्मानि।। अत्र तृतीयपद्मपरिक्षेपसमयः–''तस्स णं'' इत्यादि। तस्य मुख्यपद्मस्य, चतसृणां दिशां समाहारश्चतुर्दिक्, तस्मिन् चतुर्दिशि, सर्वतः समन्तात् अत्रान्तरे श्रिया देव्याः षोमशानामात्मरक्षकदेवसहस्राणां षोडश पद्मसहस्राणि। तथाहि–चत्वारि पूर्वस्यां, चत्वारि दक्षिणस्याम्, एवं पश्चिमोत्तरयोः। अथोक्तव्यतिरिक्ता अन्येऽपि त्रयः परिवेषाः सन्तीत्याह–''से णं पउमे'' इत्यादि। तत्पद्म त्रिभिरुक्तव्यतिरिक्तैः पद्मपरिक्षेपैः समन्तात् संपरिक्षिप्तम्। तच्चाभ्यन्तरकेणाभ्यस्तरभवेन, मध्यभवेन, बाहिरकेन, बहिर्भवेन, एतदेव व्यनक्तिअभ्यन्तरपद्मपरिक्षेपे द्वात्रिंश-त्पद्मानां शतसहस्राणि लक्षाणि, मध्यमके चत्वारिं शत्कपद्मलक्षाणि, बाह्येऽष्टचत्वारिंशत्पद्मलक्षाणि प्रज्ञप्तानि। इदं च पद्मपरिक्षेप त्रिकम् अभियोगिकदेवसंबन्धि बोध्यम्, अत एव भिन्नत्रिकख्यापनपरं सूत्रं निर्दिष्टम्। अन्यथा सूत्रकृत् चतुर्थपञ्चमषष्ठपरिक्षेपा इत्येवाऽकथयिष्यत। ननु तर्हि अभियोगिकजातानामेक एवात्मरक्षकाणामिव वाच्यम्। उच्यते–उच्चमध्यनीचकार्यनियोज्यत्वेनानियोगिकानां भिन्नेन परिक्षेपस्यापि भिन्नत्वात्। अथ परिक्षेपत्रिकस्य पद्मसर्वाग्रमाह–''एवामेव'' इत्यादि। एवमेवोक्तन्यायेन सपूर्वापरेण पूर्वापरसमुदायेन त्रिभिः पद्मपरिक्षेपैरेका पद्मकोटी विंशतिश्च पद्मलक्षाणि भवन्तीत्याख्यातं मयाऽन्यैश्च तीर्थकृद्भिः। संख्यानयनं च स्वयमभ्युह्यम्, षण्णां पद्मपरिक्षेप्राणां मुख्यपद्मेन सह मीलने सैव संख्या पञ्चासत्सहस्त्रैकशत-विंशत्यधिका ज्ञातव्या। स्थापना यथा–५०१२०। ननु कमलानि कमलिन्याः पुष्परूपाणि भवन्ति, मूलं कन्दश्च कमलिन्या एव भवतः, न तु कमलस्य तत् कथमत्र मूलकन्दावुक्तौ? उच्यते–कमलान्यत्र न वनस्पतिपरिणामान, किं तु पृथवीकायपरिणामरूपाणि, कमलाकारवृ–क्षाणामेतेषामिमौ न विरुद्धाविति, अत्राद्यपरिक्षेपपद्मानां मूलपद्मादर्द्ध-मानं सूत्रकृता साक्षादुक्तम्, उत्तरोत्तरपरिक्षेपपद्मानां तु पूर्वपूर्वपरिक्षेप-पद्मेभ्योऽर्द्धार्द्धमानतायुक्तितः संगच्छते, देवप्रासाद–उक्तेरिव, अन्यथाऽल्पर्द्धिकमहर्द्धिकदेवानामाश्रयतारतम्यं, चतुर्थादिमहापरिक्षेप-पद्मानामवकाशः, शोभमानिस्थितिकत्वं च न संभवेयु। अर्द्धार्द्धमानता चैवम्–मूलपद्मं योजनप्रमाणम्, आद्ये परिक्षेपे पद्मानि द्विक्रोशमानानि, द्वितीये कोशमानानि, तृतीयेऽर्ध्दक्रोशमानानि, चतुर्थे पञ्चधनुः-शतमानानि, पञ्चमे सार्द्धद्विशतधनुर्मानानि, षष्ठे सपादशतधनुर्मानानि। तथा मूलपद्मापेक्षया सर्वपरिक्षेपेषु जलादुच्छ्रयभागोऽप्यर्द्धार्द्धक्रमेण ज्ञेयः। यथा मूलपद्मे जलात् क्रोशद्वयमुच्छ्रय आद्ये परिक्षेपक्रोश उच्छ्रयः, द्वितीये क्रोशार्द्धं , तृतीये क्रोशचतुर्थांशः, चतुर्थे क्रोशाष्टांशः, पञ्चमे क्रोशषोड्शांशः षष्ठे क्रोशद्वात्रिंशांश इति। एवमेव मूलपद्मापेक्षया पद्मानां बाहल्यमप्यर्द्धार्द्धक्रमेण वाच्यं, ननु षट्परिक्षेपा इति विचार्यं, योजनात्मना सहस्त्रत्रयात्मकस्य धनुरात्मना द्विकोटिद्विचत्वारिं-शल्लक्षप्रमाणस्य द्रहपरमपरिधेः षष्ठपरिक्षेपपद्मानां षष्टिकोटिधनुःक्षेत्र-मायतानाम् एकया षड्क्त्या कथमवकाशः संभवति?, एवं प्रथम परिक्षेपवर्जं शेषपरिक्षेपाणामपि तत्तत्परिधिमाने पद्मानं परिभाव्य वाच्यम्। उच्यते–षट्परिक्षेपा इत्यत्र षट्जातीयाः परिक्षेपा इति ग्राह्यम्। आद्या मूलपद्मार्द्धमाना जातिः, द्वितीया तत्पादमाना, तृतीया तदष्टमभागमाना, चतुर्था तत् षोडशभागमाना, पञ्चमी तद्द्वात्रिंशत्तम-भागमाना, षष्ठी तश्चतुःषष्टितमभागमाप्ततश्चतत्परिधिक्षेत्रपरिक्षेपपद्म-संख्यापद्मविस्तारान् परिभावय-यत्र यावत्यः षड्क्त्रयः संभ-वन्ति गणितज्ञेन करणयोस्तत्र तावतीभिः षड्क्तिभिरेक एव परि–

क्षेपो ज्ञेयः, पद्मानामेकजाती यत्वात्। किमुक्तं भवति?–महापरि क्षेप एकया पङ्क्त्या न समानि, इह परिधिक्षेत्रस्याल्पत्वात्, पद्मानां च बहुत्वात्, ततः पङ्क्तिभिः पद्मानि पूरणीयानि, एवं परिक्षेपः पूर्णा भवति, द्रहपरिधेश्च प्रतिपरिक्षेपं भिन्नमानकत्वात् स पद्मपरिक्षेपो भिन्न एव लक्ष्यते इति। न च द्रहक्षेत्रस्याल्पमिति वाच्यम्, अत्र गणितपदक्षेत्रस्य पञ्चलक्षयोजनप्रमाणत्वात्, सहस्रयोजनप्रमाणायामस्य पञ्चशत-योजनविष्कम्भेन गुणने एतावतामेव लाभात्, पद्मावगाढक्षेत्रं तु सर्वसंख्या विंशतिः सहस्राणि पंचाधिकानि योजनानां, षोडशभागीकृतस्यैकस्य योजनस्य त्रयोदश भागाः २००५ १३/१६। तथाहि–मूलपद्मावगाहो योजनमेकं, जगती च द्वादशयोजनानि मूले पृथुरिति जगती पूर्वापरभाग-स्थमूलव्यासपद्मव्यासयोर्मीलनेन पञ्चविंशतिर्योजनानीति। तथा तत्परिधौ प्रथमः परिक्षेपोऽष्टोत्तरशतपद्मानां तदवगाहक्षेत्रं सप्तविं-शतिर्योजनानि, अर्द्धयोजनप्रमाणत्वेन तेषामेकस्मिन् योजने चतुर्णामवकाशाच्चतुर्भिरष्टोत्तरशतैर्भक्ते एतावतामेवलाभात्। ननु योजनार्द्धमानवतां तावतां चतुःपञ्चाशयोजनानिसंभवेयुरिति? सत्यम्क्षेत्रबहुत्वादेकपङ्क्त्या व्यवस्थितत्वेन प्रत्येकं योजनचतुर्था-शावगाहकत्वे च उक्तसंख्यैव समुचित; अत्र पद्मरुद्धक्षेत्रस्यैव भणनादिति, तथा द्वितीयः परिक्षेप एकादशाधिकचतुस्त्रिंशत्सहस्राणां तदवगाहक्षेत्रं द्वे सहस्रे पंचविंशत्यधिकंशतं च योजनानां, एकादश च भागा योजनस्य षोडशभागीकृतस्य २१२५ ११/१६। उपपत्तिस्तुयोजनपादप्रमाणत्वा-दिमानी षोडशमानानीति ३४०।११। इत्ययं परिक्षेपपद्मराशिः १६ षोडशभिर्भज्येते आगच्छत्यनन्तरोक्तो राशिः। अस्यां च परिक्षेपजातौ पङ्क्त्यःसूत्रोक्तस्वस्वदिशि निवेशनीयपद्मनिवेशनेन विषमवृत्ताः संभाव्यन्ते, पद्मानां विषमसंख्यात्वादिति। अथ तृतीयपरिक्षेपः षोड्शसहस्रपद्मानां तदवगाहक्षेत्रं द्वे शते पञ्चाशदधिके योजनानाम् २५०। उपपत्तिस्तु अभूमि योजनाष्टमभाग प्रमाणत्वाद्योजने चतुःषष्टि मान्तीति चतुःषष्ट्याः १६००० प्रमाणः पद्मराशिर्भज्येते, उपतिष्ठते चायं राशिः। अत्र च पङ्क्तयः समवृत्ता एव निवेशनीयाः, यथेच्छं चतुर्दिक्षु पद्मानां निवेशनादिति। अथ चतुर्थः परिक्षेपःद्वात्रिंशल्लक्षपद्मानां त-दवगाहक्षेत्रं द्वादश सहस्राणि पञ्चशताधिकानि योजनानाम् १२५००, आनयनोपायस्तु–एषां योजनषोडशभागप्रमाणत्वाद्योजने २५६ मान्तीति षट्पञ्चाशदधिकशतद्वयेन ३२००००० इत्ययं पद्मराशि-र्भज्यते, ततो यथोक्तो राशिरायातीति। तथा पंचमपरिक्षेपः– चत्वारिंशल्लक्षपद्मानां तदवगाहक्षेत्रं त्रीणि सहस्राणि नवशतानि च षमधिकानि योजनानां चत्वारश्च षोडश भागा योजनस्य ३९०६ ४/१६। उपपत्तिस्तु–एषां योजनद्वत्रिंशत्तमांशप्रमाणत्वादमूनि योजने १०२४ मान्तीति चतुर्विंशत्यधिकसहस्त्रेण ४०००००० रूपस्य पद्मराशेर्भागह-रणेन प्राप्यते यथोक्तराशिरिति। अष्टषष्ठपरिक्षेपोऽष्टचत्वारिंशल्लक्षपद्मानां तदवगाहक्षेत्रम् एकादशशतानि एकसप्तत्याधिकानि योजना नां, चतुर्दश च षोडशभागा योजनस्य ११७१ १४/१६, उपपत्तिश्चात्राऽमीषां योजनचतुःषष्टितमांशप्रमाणत्वाद्योजने ४०६६ मान्तीति षण्णवत्यधि-कचतुसहस्त्रैः४८००००० इत्यस्य पद्मराशेर्भागहरणात् यथोक्तो राशिरुपपद्यते इति पूर्वापरपद्मक्षेत्रयोजनमीलनेन च पूर्वोक्तं सर्वाग्रं संपद्यते, परिक्षेपाश्चात्र वृत्ताकारेण बाह्याः क्षेत्रस्य बहुत्वात् संभवन्तीति, पंङ्क्तयश्चात्र द्रहक्षेत्रस्यायतचतुरस्त्रत्वेन आयामविस्तारयोर्विष्म-हत्वेऽपि पञ्चशतयोजनमर्यादयैव कर्तव्या, ततः परं व्याससत्कपञ्चशत-योजनानां पर्ववसितत्वात् शोभमानाश्चोक्तरीत्यैव भवन्तीति। किं चइमानि पद्मानि शाश्वतानि पार्थिवपरिणामरूपत्वात्, वानस्पतान्यपि बहूनि तत्रोत्पद्यन्ते। यदाहुः श्री उमास्वातिवाचकपादाः स्वापज्ञ–जम्बूद्विपसमासप्रकरणेनीलोत्पलपुण्डरीकशतपत्रसौगन्धिकादि-पुष्पार्चित इति। अन्यथा श्रीवज्रस्वामिपादाः श्रीदेवतासमर्पितानुपमे महापद्मानयनेन पुरिकापुर्य्यां कथं जिनप्रवचनप्रभावनामकार्षुरिति?, एतानि च शाश्वतानि, तत्रत्यश्रीदे–वतादिभिरवचीयमानत्वात्। यदूचुः श्रीहेमचन्द्रसूरयः स्वोपज्ञपरिशिष्टपर्वणि–''तदा च देवपूजार्थ–मवचित्यैकमम्बुजम्। श्रीदेव्या देवतागारं, यान्त्या वज्रर्षिरैक्षयत''॥१॥ इति। नन्वयमनन्तरोक्तार्थः कथं प्रत्येतव्यः? उच्यते–इदमेव द्वितीय-परिक्षेपसूत्रं प्रत्यायकम्। तथाहि–अत्रैकादशाधिकचतुस्त्रिंशत्सहस्त्र-कमलानि उक्तदिशमापयितव्यानि, तानि च क्रोशमानानि एकपंङ्क्तया च तदावकाश लभरेन, यदा द्वितीयपद्मपरिधिरेकादशाधिकचतु–स्त्रिंशत्सहस्त्रकोशप्रमाणः स्थात्। स च तदा स्याद्यदामूलक्षेत्राया-मव्यासौ साधिकषम्विंशति-शतप्रमाणौ स्यातां, तौ प्रस्तुते न स्तः, तेन यथासंभवं पङ्क्तिभिर्द्वितीयपरिक्षेपपद्मजातिः पूरणीयेति तात्पर्यम्। एवमन्यपरिक्षेपेष्वपि यथासंभवं भावना कार्येति। अथ कथमयमर्थः सिद्धन्ततां प्रापित इति? उच्यते अन्यथानुपपत्त्या, न हि यथाऽक्ष-रमात्रसंनिवेशं सूरयः सूत्रव्याख्यानपरा भवन्ति, किं तु प्राक्परार्थाऽ-वरोधेन। यदुक्तम्–''जं ह सुत्ते भणिअं, तहेव तं जइ विआलणा नत्थि। किं कालिआणुभो– गो, दिट्ठो दिट्ठिप्पहाणेति॥१॥'' अलं प्रसङ्गेनेति। जं ४ वक्ष०। (गङ्गासिन्धुवक्तव्यता स्वस्वस्थाने द्रष्टव्या)

अथास्य नामान्वर्थं व्याचिख्यासुराह–

से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ–चुल्लहिमवंते वासहरपव्वए चुल्ल हिमवंते वासहरपव्वए? गोयमा! महाहिमवंतवास हरपव्वयं पणिहाय आयामुच्चत्तुव्वेहविक्खंभपरिक्खेवं पडुच्चईसि खुड्डतराए चेव हस्सतराए चेव णीअतराए चेव चुल्लहिमवंते अ इत्थ देवे महिड्ढीए० जाव पलिओवमठिईए परिवसइ,से एएणट्ठेणं गोयमा! एवं वुच्चइ–चुल्लहिमवंते वासहरपव्वए चुल्लहिमवंते वास–हरपव्वए, अदुत्तरं च णं गोसासए णामधेज्जे पण्णत्ते॥

''से केणट्ठेणं'' इत्यादि। अथ केनार्थेन भदन्त! एवमुच्यतेक्षुल्लहिम-वद्वर्षधरपर्वतः क्षुल्लहिमद्वर्षधरपर्वतः? गौतम! महाहिमवद्वर्षधरपर्वतं प्रणिधाय प्रतीत्याश्रित्येत्यर्थः। आयामाच्चत्वोद्वेधविष्कम्भपरिक्षेपम्। अत्र समाहारद्वन्द्वः, तने सूत्रे एकवचनम्, प्रतीत्य प्रेक्ष्य ईषत्क्षुद्रतरक एव लघुतरक एव यथासंभवं योजना–या विधेयत्वेनायामाद्यपेक्षया हस्वतरक एवोद्वेधापेक्षया नीचतरक एवोच्चत्वापेक्षया, अन्यच्च क्षुल्लहिमवांश्चात्र देवो महार्द्धिका यावत्पल्योपस्थितिकः परिवसति। ज्ञेषं प्राग्वत्। जं०४ वक्ष०। क्षुद्रहिमवद्वर्षधरपर्वतदेवे च। ''दो चुल्लहिमवंता'' स्था० ग० ३ उ०।

चुल्लहिमवंतकूड– न० (क्षुद्रहिवत्कूट) क्षुद्रहिमवतो भरतकूटस्य पूर्वं सिद्धायतनकूटस्य पश्चिमे कूटभेदे, तदधिपे देवे

च। जं० ४ वक्ष०। स्था०।('कूड'शब्दे ऽस्मिन्नेव भागे ६१७ पृष्ठे वक्तव्यतोक्ता)

चुल्लहिमवंतगिरीकुमार पु० (क्षुद्रहिमवद्गिरीकुमार) क्षुद्रहिमवद्व-र्षधरपर्वतकूटदेवे, तस्य क्षुद्रहिमवती नाम राजधानी। जं०४ वक्ष(सा च 'कूड' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ६१७ पृष्ठे दर्शिता) भरतविजयाधिकारे, ''तओ चुल्लिहिमवंत--गिरिकुमारं देवं उयवेइ, तत्थ वावत्तरिजायणाइं सरो उवरिं हुत्तो वच्चति।'' आ० म०प्र०। आ०चू०।

चुल्लि स्त्री०(चुल्लि(ल्ली)) चुल्ल--इन् वा ङीष्। पाकार्थमग्निस्था-पनस्थाने, (चूला)''चुल्ली चिरं रोदिति'' इत्युद्भटः। अच् चुल्लाऽप्यत्र। वाच०। आचा०।

चुल्ली स्त्री०(चुल्लि(ल्ली))'चुल्लि' शब्दार्थे, आचा०२ श्रु० २ चू०।

चूल्लो(देशी) शिशौ, दासे च। दे० ना० ३ वर्ग।

चूचूसाय पुं०(चूचूशाक) लोकप्रसिद्धे शाकभेदे, उपा० १ अ०।

चूय पुं० (चूत) आम्रे, विशे । स्था०। सहकारे, औ०। जं०। नि० चू०। आचा०। ''जइ फुल्ला कणियारआ, चूयग! अहिमासगम्मि घुट्ठम्मि। तुह न खमं फुल्लेउं , जइं पच्चंता करंति डमराइं''॥१॥ चूत एव चूतकः, संज्ञायां कन्, तस्यामन्त्रणं हे चूतक! आव०४अ०। विजयराजधान्यां चूतवनखण्डस्वामिनि देवे, जी० ३प्रति०।

चयमंजर स्त्री०(चूतमञ्जरी) आम्रमञ्जर्याम्, जं०३ वक्ष०।

चूयवडिंसग न०(चूतावतंसक)-- विमानमध्यगानां पञ्चानामवतंसका-नामन्यतमे, रा०। ती०।

चूयवडिंसगा स्त्री० (चूतावतंसिका) स्वनामख्यातायां शक्राग्रमहिष्याम्, जी०३ प्रति० ।ती०।

चूयवण न०(चूतवन) चूतप्रधाने वने, रा०।

चूया स्त्री०(चूता) स्वनामख्यातायां शक्राग्रमहिष्याम्, स्था० ठा० २ उ०। ती०।

चूला स्त्री०(चूमा)शिखरे, नं० ('दिट्ठिवाय'शब्दे तच्चूलिकाः)

चूमानिक्षेप तत्र चूमाशब्दार्थमेवाभिधातुकाम आह--

दव्वे खेते काले, भावम्मि अ चूलिआऍ निक्खेवो।
तं पुण उत्तरतंतं, सुअगहियत्थं तु संगहणी॥२६॥

नामस्थापने क्षुण्णत्पादनदृत्याह--द्रव्ये क्षेत्रे काले भावे च द्रव्यादिविषयः चूमायाः निक्षेपो न्यास इति। तत्पुनश्चूडाद्वयमुत्तरतन्त्रमुत्तरसूत्रम्, दशवैकालिकस्याचारपञ्चचूमावत्। एतच्चोत्तरतन्त्रं श्रुतिगृहीतार्थमेव--दशवैकालिकाख्यश्रुतेन गृहीतोऽर्थोऽस्येति विग्रहः। यद्येवमपार्थकमिदम् ?, नेत्याहसंग्रहणी तदुक्ताउक्तार्थसंक्षेप इति गाथार्थः॥२६॥

द्रव्यचूमादिव्याचिख्यासयाऽऽह--

दव्वे सचित्ताई, कुक्कुडचुडामणऊराइ।
खेत्तम्मि लोगनिक्कुड--मंदरचुडा कूडाइ॥२७॥

(द्रव्य इति) द्रव्य चूडा आगमनोआ गमज्ञशरीरेतरादिव्यतिरीक्ता त्रिविधा सचिताद्या। सचित्ता अचित्ता मिश्रा च। यथासंख्यमाह--कुक्कुटचूडा सचित्ता,मणिचूडा अचित्ता, मयूरशिखा मिश्रा(क्षेत्र इति) क्षेत्रचूडा लोकनिष्कुटा उपरिवर्तिनः, मन्दरचूडा च पाण्डुकम्बला, चूडादयश्च तदन्यपर्वतानां क्षेत्रप्राधान्यात्। आदिशब्दादधोलोकस्य सीमन्तकः, तिर्यग्लोक स्व मन्दरः, उर्द्धवलोकस्येषत्प्राग्भार इति गाथार्थः ॥२७॥

अइरित्त अहिगमासा, अहिगा संवच्छरा अ कालम्मि।
भावे खओवसमिए, इमा उ चूडा मुणेयव्वा ॥५८॥

अतिरिक्ता उचितकालात्समधिका, अधिकमासकाः प्रतीताः, अधिकाः संवत्सराश्च षष्ट्यब्दाद्यपेक्षया, काल इति कालचूडा, भाव इति भावचूडा, क्षायोपशमिके भावे इयमेव द्विप्रकारा चूडा, मन्तव्या विज्ञेया, क्षायोपशमिकत्वाच्छ्रुतस्येति गाथार्थः॥२८॥ द०१ चू०। आचा०। नि० चू०।

इयाणिं चूले ति दारं--

णामं ठवणा चूला,दव्वे खेत्ते य काले भावे य।
एसो खलु चूलाए, णिक्खेवो छव्विहो होइ॥ ६३॥

णिक्खेवगाहा कंठा। णामठवणाहो गयाओ, दव्वचूला दुविहाआगमतो णोआगमतो य। आगमओ जाणए अणुवउत्ते,णोआगमतो जाणयभव्व-सरीरं, जाणयभव्वसरीरइरित्ता।

तिविधा य दव्वचूला सचिता मीसगा य अचिता।
कुक्कडसिहमोरसिहा, चूलामणि अग्गकुंतादी॥६४॥

पुव्वद्धं कंठं। पढमो चसद्दोऽवधारणे, बितिओ समुच्चये, पच्छद्धे जहासंखम्मि उदाहरणा, सचित्तचूडा--कुक्कुडचूला सीमंसपेसी चेव केवला लोकप्रतीता, मीसा--मोरसिहा, तस्स मंसपेसीए रोमाणि भवंति। अचित्त--चूलामणि, कुंतग्गं वा, आदिसद्दाओ सीहकण्णपासदथू-भअग्गाणि। दव्वचूला गया।

इदाणिं खेत्तचूला, सा तिविहा--

अहतिरिउड्ढलोगा--ण चूलिया हों ति-- मा उ खेत्तम्मि।
सीमंत मंदरे वी, ईसीपब्भारणामा य॥६५॥

अह इति अधोलोकः, तिरिय इति तिरियलोकः उड्ढ इति उड्ढलोकः, लोगस्य सद्दो पत्तेगं, चूला इति सिहा, होंति भवंति। इमा इति प्रत्यक्षः, तुशब्दः क्षेत्रावधारणे, अहोलोगादीण पच्छद्धेण जहासंखं उदाहरणं सीमंतग इति, सीमंतगो णरगो रयणप्पभाए पुढवीए पढमो, से अहलोगस्स चूला। मंदरो मेरु, सो तिरियलोगस्स चूला, तिरियलोगे चूला तिरियलोगातिक्रान्तत्वात्, अहवातिरियलोगपतिट्ठियस्स मेरोरुवरि चत्तालीसं जोयणा चूला, सा तिरियलोगचूला। चसद्दो समुच्चये, पायपूरणे वा। ईसि ति अप्पभावे, प इति प्रायोवृत्त्या, भारइति भारक्कंतस्स पुरिसस्स गायं पायसो ईसिं णयं भवति, जा य एवं ठिता सा पुढवी ईसिप्पब्भारा, णाम इति एतमभिहाणं तस्स, सा य दव्वट्ठसिद्धिविमाणाओ उवारें बारसेहिं जोयणेहिं भवति, तेण सा उड्ढलोगचूला भवति। गता खेत्तचूला।

इयाणिं कालभावचूलाओ दो वि एगगाहाए भण्णंति--

अहिमासओ तु काले, भावे चूला तु होइ--मा चेव।
चूला विभूसणं ति य, सिहरं ति य हों ति एगट्ठा ॥६६॥

वाससमासपमाणवरिसाओ अहिओ मासो अहिमासौअहियट्ठियव रिसे भवति। सो य अधिकत्वात् कालचूला भवति। तुसद्दोऽर्थप्पदरिसणे, ण केवलं अधिको कालो कालचूला भवति अेतो वि वड्ढमाणो कालो कालचूलाए भवति। एवं जहा ओसप्पिणीए अंते अंतिदूसमाए सा उस्सप्पिणी कालस्स चूला भवति। कालचूला गता। इयाणिं भावचूला– भवणं भावः, पर्याय इत्यर्थः । तस्स चूला भावचूला। सा य दुविहा– आगमओ य, नो आगमओ य। आगमओ जाणए उवउत्तेःणो आगमओ य इमा चेव। तुसद्दो खओवसमभावविसणे दट्ठव्वो। इमा इति पकप्पज्झयणा चूला। एगसद्दोऽवधारणे, चूलेगट्ठिती। चूलं ति वा विभूसणं ति वा सिहरं ति वा एते एगट्ठा। चूल त्ति दारं गयं। नि० चू० १ उ०। उक्तशेषानुवादिन्यां ग्रन्थपद्धतौ, आचा०१ श्रु० १अ० १ उ०।

चूलाकम्म न०(चूडाकर्मन्) बालानां चूलके मुण्मने, आ०म०प्र०।

चूलामणि पुं० (चूडामणि) सकलपार्थिवरत्नसर्वसारे देवेन्द्रमूर्धकृत निवासेनिःशेषापमङ्गलाऽशान्तिरोगप्रमुखदोषापहारकारिणी प्रवरलक्ष– णोपेते परममङ्गलभूते आभरणविशेषे, रा०। जं०। आ०म०।उत्त०।औ०। ''चूलामणिमउभ–रयणभूसणा''चूडामणिर्नाम मुकुटरत्नं चिन्हभूतं येषां ते तथा,असुरकुमारभवनवासिनश्चूडामणिमुकुटरत्नाः। प्रज्ञा० २ पद।

चूलियंग न०(चूलिकाङ्ग) चतुरशीत्या लक्षैर्गुणिते प्रयुते, अनु० जी० स्था०।

चूलिया स्त्री०(चूलिका) चतुरशीत्या लक्षैर्गुणिते चूलिकाङ्गे, जी० ३ प्रति०। भ०। अनु०। जं०। स्था०। उक्तानुक्तार्थसंग्रहात्मिकायां ग्रन्थपद्धतौ, नं०। यथा दृष्टीवादे परिकर्मसूत्रपूर्वगतानुयोगोक्तार्थानु– क्तसंग्रहपरा ग्रन्थपद्धतयः। स०। ('आयार' 'दिट्ठिवाय' प्रभृतिशब्देषु तत्संख्या)

चूलियावत्थु न०(चूलिकावस्तु) चूलारूपे आचाराङ्गऽध्ययन कल्पे परिच्छेदविशेषे, यथा–दत्पादपूर्वस्य चत्वारि चूलिकावस्तूनि। स्था०४ ठा०४ उ०।

चेअ अव्य०। अवधारणे, **''णइ चेअ चिअ च अवधारणे''** ॥ ८।२।१८४॥ इति सूत्रात् निपातम्। प्रा० २ पाद।

चेइय न०(चैत्य (त्य)) चितिः पत्रपुष्पफलादीनामुपचयः। चित्या साधु चित्यं, चित्यमेव चैत्यम्। उद्याने, ''मिहिलाएँ चेइए वच्छे, सीअच्छाए मणोरमे।'' उत्त० ३ अ०। चित्तमन्तःकरणं, तस्य भावे कर्मणि वा ''वर्णदृढादिभ्यः ष्यञ्च''॥५।१।१२३॥ (पाणि०) इति ष्यञ्। आव० १ अ०। ध०। प्रति०। **''स्याद्भव्यचैत्य–चौर्यसमेषु यात्''॥८।२।१०७॥** इति यात् पूर्व इत्। प्रा०१ पाद। प्रशस्तमनस्त्वे, तद्धेतुत्वात् जनबिम्बे, कारणे कार्योपचारात्।

(१) चैत्यशब्दस्यार्थाः।
(२) चैत्यभेदपुरस्सरं प्रतिमासिद्धिः।
(३) भावैकनिक्षेपवादिन उपहासं विधाय भावाचार्यनिष्पत्तिः।
(४) ब्राह्मीं लिपिमाश्रित्य नामस्थापनाभ्यां प्रतिमायाः सिद्धिः।
(५) चारणकृतवन्दनां निरूप्य तत एवास्या दृढतरं प्रामाण्यम्।
(६) चैत्यशब्दस्य ज्ञानार्थकतानिराकरणम्।
(७) देवकृतवन्दनाधिकारः।
(८) वन्दनादौ मौनेन भगवदनुमतिकरणं दृढतरयुक्तयुपपत्तिभिः प्रतिपाद्यानुमोदने हिंसाया अभावप्रतिपादनम्।
(९) साधोर्द्रव्यपूजादावनधिकारः।
(१०) द्रव्यस्तवे गुणाः।
(११) महानिशीथप्रामाण्यपूर्वकं द्रव्यस्तवस्थापनम्।
(१२) जिनपूजां तद्वैयावृत्त्यं चोपपाद्य चैत्यपूजायामपि जिनवैयावृत्यम्।
(१३) जिनपूजायां हिंसादोषवादिनां निराकरणम्।
(१४) आरम्भविचारं निरूप्य सच्छ्रावकस्यात्राधिकारविचारः।
(१५) द्रव्यस्तवे सिंहावलोकितेन हिंसाऽस्तीत्येतन्निरस्य कूपनिदर्शनेन हिंसाऽभावप्रतिपादनम्।
(१६) पूजायां हिंसासंभवोक्तिविकल्पदूषणम्।
(१७) अर्थदण्डत्वविचारः।
(१८) प्रतिमापूजायां द्रौपदीभद्रासार्थवाहीसिद्धार्थराजानामुदा हरणानि।
(१९) ऊर्ध्वलोकादिषु जिनप्रतिमायाः स्थितिः।
(२०) प्रतिमायाः फलदत्वम्।
(२१) चैत्यानां पूजासत्कारादिस्तुतयः।
(२२) द्रव्यस्तवे मिश्रपक्षत्वविचारः।
(२३) प्रतिमायाः प्रामाण्यनिरूपणम्।
(२४) जिनभवनकारणबिधिं निरूप्य जीर्णोद्धारकारणफलवर्णनम्।
(२५) बिम्बकारणविधिः
(२६) जिनबिम्बप्रतिष्ठाविधिः।
(२७) जिनपूजाविधिस्तत्फलनिरूपणं च।
(२८) चैत्यविषये हीरविजयसूरिपूज्यपादकृतोत्तराणि।
(२९) चतुर्विंशतिकापट्टविचारः।
(३०) जिनचैत्ये व्यन्तरायतनविधानम्।

(१) चैत्यशब्दस्यार्थाः–

चितेर्लेप्यादिचयनस्य भावः कर्म वा चैत्यं, संज्ञाशब्दत्वाद् देवताप्रति– बिम्बे, 'चिती' संज्ञाने काष्ठकर्मादिषु प्रतिकृतिं दृष्ट्वा संज्ञानमुत्पद्यते इति। अर्हत्प्रतिमायां देवबिम्बे, संघा०१ प्रस्ता०। आ० चू०। ल०। ज्ञा०। बृ०। इष्टदेवताप्रतिमायाम्, औ०। आव०। ''कल्लाणं मंगलं चेइयं पज्जुवासेत्ता'' दीर्घायुर्भवति । स्था०३ ठा०१ उ०। ''कल्लाणं मंगलं चेइयं पज्जुवासामो''चैत्यमिवेष्टदेवताप्रतिमामिव पर्युपासे। औ०। कर्म०। चैत्यमिष्टदे–वप्रतिमा, चैत्यमिव चैत्यं पर्युपासयामः। भ० २श०१ उ०। उपा०। अर्हत्प्रतिमायाम्, आव० २अ०। जं०।

(२) चैत्यभेदपुरस्सरं प्रतिमासिद्धिः–

भत्ती–मंगल–चेइय, निस्सकमेऽणिस्स–चेइए वा वि।
सासय चेइय पंचम–मुवइट्ठं जिनवरिंदेहिं॥६६६॥
गिहजिणपडिमाए भ–त्तिचेइयं उत्तरंगघडियम्मि।
जिणबिंबे मंगलचे–इयं ति समयन्नुणो विंति॥६६७॥
निस्सकमं जं गच्छ–स्स संतियं तदियरं अनिस्सकडं।

सिद्धाययणं च इमं, चेइयपणगं विणिद्दिट्ठं ।।६६८।।

(भत्तीति)चैत्यशब्दस्य प्रत्येकमभिसंबन्धात् भक्तिचैत्यम्, मङ्गलचैत्यम् निश्राकृतं चैत्यम्, अनिश्राकृतं चैत्यम् शाश्वतचैत्यं च पञ्चममुद्दिष्टं नामतः कथितं जिनवरेन्द्रैरिति।६६६। एतान्मनव्याचष्टे–''मिहजिण'' इत्यादिगाथाद्वयम् । गृहे जिनप्रतिमायां यथोक्तलक्षणाद्युपेतायां प्रतिदिनं त्रिकालपूजावन्दनाद्यर्थं कारितायां भक्तिचैत्थम् । तथा उत्तराङ्गस्य गृहद्वारो–परिवर्तितिर्यक्काष्ठस्य मध्यभागे घटिते निष्पादिते जिनबिम्बे मङ्गलचैत्यमिति समयज्ञाः सिद्धान्तवेदिनो ब्रुवते वदन्ति। मथुरायां हि नगर्थां गृहे कृते मङ्गलनिमित्तमुत्तराङ्गेषु प्रथममर्हत्प्रतिमाः प्रतिष्ठाप्यन्ते, अन्यथा तद् गृहं पतति । तथा चाचोचामः स्तुतिषु–''जम्मि सिरिपासपडिमं, संतिकए करेइ पडिगिहदुवारे । अज्ज वि जणो विपूरित–महुरमहन्ना न पस्संति।।''तथा निश्राकृतं यद्गच्छस्य कस्यापि सत्कं, स एव गच्छस्तत्र प्रतिष्ठादिप्रयोजनेष्वधिक्रियते, अन्यः पुनस्तत्र किञ्चित्प्रतिष्ठादिकं कर्तुं न लभते इत्यर्थः। तथा– (तदियरं ति)तस्मान्निश्राकृतात् इतरदिति अनिश्राकृतम्। यत्र सर्वेऽपि गच्छाः प्रतिष्ठाप्रव्राजनकमालारोपणादीनि प्रयोजनानि कुर्वते इति। तथा सिद्धायतनं च शाश्वतजिनायतनं च, इदं चैत्यपञ्चकं विनिर्दिष्टं विशेषेण कथितमिति।।६६८।।

अथवा–अन्येन प्रकारेण पञ्च चैत्यानि भवन्ति। तत्राह–

नीयाई सुरलोए, भत्तिकयाइं च भरहमाईहिं ।
निस्सा ऽनिस्सकथाई, मंगलकयमुत्तरंगम्मि।।६६९।।
वारत्तयस्स पुत्तो, पडिमं कासी य चेइए रम्भे ।
तत्थ य थली अहेसी, साहम्मियचेइयं तं तु ।।६७०।।

''नीया'' इत्यादिगाथाद्वयम्। नित्यानि शाश्वनि चैत्यानि, तानि च सुरलोके देवभूमौ, उपलक्षणत्वान्मेरुशिखरे कूटनन्दीश्वररुचकवरादिषु च भवन्ति । तथा भक्तिकृतानि भरतादिभिः कारितानि, मकारोऽयमलाक्षणिकः । तानि निश्राकृतानि अनिश्राकृतानि चेति द्विधा । तथा मङ्गलार्थं कृतं मङ्गलकृतं चैत्यं मथुरादिपुरीषु उत्तराङ्गप्रतिष्ठापितम् ।।६६९।। तथा वारत्तकमुनेः पुत्रो रम्ये रमणीये चैत्ये देवगृहे प्रतिमां तस्यैव वारत्तकमुनेः प्रतिकृतिमकाषित्। तत्र च स्थलीति रूढिरभूत् । तत्तु साधर्म्मिकचैत्यमिति । भावार्थस्तु कथानकादवसेयः । तच्चेदमवारत्तकं नगरम्, अभयसेनो राजा, तस्य च वारत्तको नाम मन्त्री । एकदा च धर्म्मघोषनामा मुनिभिक्षार्थं तस्य गेहं प्रविष्टः, तद्भार्या च तस्मै भिक्षादानाय दान्तस्त्रेण्भसंमिश्रपायसपरिपूर्णं पात्रमुत्पाटितवती, अत्रान्तरे च कथमपि तत्खण्डसंमिश्रो घृतबिन्दुर्भूमौ पतितः, ततःस महात्मा धर्म्मघोषमुनिर्भगवदुपदिष्टभिक्षाग्रहणविधिविधानविहितोद्यमश्छर्दितदोषदुष्टेयं भिक्षा, तस्मान्न कल्पते ममेति मनसि विचिन्त्य भिक्षामगृहीत्वा गृहान्निर्जगाम। वारत्तकमन्त्रिणा च मत्तवारणोपविष्टेन दृष्टो भगवान्निर्गच्छन्, चिन्तितं च–किमनेन मुनिना मदीया भिक्षा न गृहीतेति ? एवं च यावच्चिन्तयति तावत्तं भूमौ निपतितं खण्मयुक्तं घृतबिन्दुं मक्षिकाः समेत्याशिश्रियन्, तासां च भक्षणाय प्रधाविता गृहगोधिका, तस्या अपि वधाय प्रधावितः सरटः, तस्या ऽपि च भक्षणाय प्रधावति स्म मार्जारी, तस्या अपि च वधाय प्रधावितः प्राघूर्णकः श्वा, तस्यापि च प्रतिद्वन्द्वी प्रधावितो वास्तव्यः श्वा, ततो द्वयोरपि तथोः शुनोरभूदन्योऽन्यं युद्धम्; निजनिजशुनकपराभवपीडया च प्रधावितयोर्द्वयोरपि तत्स्वमिनोरभूत्परस्परं लकुटालकुटि महायुद्धं, दृष्टं चैतत् सर्वमपि वारत्तकमन्त्रिणा, परिभावितं च–घृता–दैर्बिन्दुमात्रेऽपि भूमौ पतिते यत एवं–विधाऽधिकरणप्रवृत्तिरत एवाधिकरणभीरुर्भगवान् भिक्षां न गृहीतवान् अहो! शुद्धो भगवतो धर्म्मः। को हि तं भगवन्तं वीतरागमन्तरेणैवमनपादधर्ममुपदेष्टुमलंभविष्णुः, ततो ममापि स एव देवता, तदुक्तमेवानुष्ठानमनुष्ठातुमुचितमिति विचिन्त्य संसारसुखविमुखः शुभध्यानोपगतसंजातजातिस्मरणो देवतार्पितसाधुलिङ्गो दीर्घकालं संयममनुपाल्य केवलज्ञानमासादितवान्। कालक्रमेण च सिद्धः । ततस्तत्पुत्रेण स्नेहात्परीतमानसेन देवगृहं कारयित्वा रजोहरणमुखपोत्तिकापरिग्रहधारिणी पितृप्रतिमा तत्र स्थापिता, सत्रशाला च तत्र प्रवर्तिता । सा च साधर्मिकस्थलीति सिद्धान्ते भण्यते। प्रव०–६ द्वार।

अथैनामेव विवरीषुः प्रथमतश्चैत्यस्वरूपं व्याख्याति–

साहम्मियाण अट्ठा, चतुव्विहे लिंगं तु जह कुमुंबी ।
मंगल सासय भत्ती–एँ जं कयं तत्थ आदेसो ।।

चैत्यानि चतुर्विधानि । तद्यथा–साधर्मिकचैत्यानि, मङ्गल चैत्यानि शाश्वतचैत्यानि, भक्तिचैत्यानि चेति। तत्र साधर्मिकाणासर्थाय यत् कृतं तत् साधर्मिकचैत्यम्। साधर्मिकश्च द्विधा–लिङ्गतः, प्रवचनतश्च । तत्रेह लिङ्गतो गृह्यते। स च यथा कुटुम्बी । कुटुम्बी नाम प्रभूतपरिचारकलोकपरिवृतो रजोहरणमुखपोत्तिकादिलिङ्गधारी वारत्रकप्रतिच्छदः । तथा मथुरापुर्यो गृहेषु कृतेषु मङ्गलनिमित्तं यन्निवेश्यते तन्मङ्गलचैत्यं, पुरलोकादौ नित्यस्थायि शाश्वतं चैत्यम्। यत्तु भक्त्या मनुष्यैः पूजावन्दनाद्यर्थं कृतं, कारितमित्यर्थः, तद्भक्तिचैत्यम्। तेन च भक्तिचैत्येनादेशोऽधिकारः, अनुयानादिमहोत्सवस्य तत्रैव संभवादित्येषा निर्युक्तिगाथा।

अथैनामेव विभावयिषुः साधर्मिकचैत्यं भवेदाह–

वारत्तगस्स पुत्तो, पडिमं कासी य चेइयघरडिम।
तत्थ य थली अहेसी, साहम्मियचेइयं तं तु।।

इदावश्यके योगसङ्ग्रहेषु '' वारत्तपुरे अभयसेणवारत्ते'' इत्यत्र प्रदेशे प्रतिपादितचरितो यो वारत्तक इति नाम्ना महर्षिः, तस्य पुत्रः स्वपितरि भक्तिभरापूरिततया चैत्यगृहं कारितवान्, ततो रजोहरणमुखवस्त्रिकाप्रतिग्रहधारिणीं पितुः प्रतिमामस्थापयत्। तत्र च स्थली सत्रशाला तेन प्रवर्त्तिता आसीत्, तदेतत् साधर्मिकचैत्यम्। अन्यस्य चार्थाय कृतमस्माकं कल्पते।

अथ मङ्गलचैत्यमाह–

अरहंत पइट्ठाए, महुरानगरीएँ मंगलाइं तु ।
गेहेसु चच्चरेसु य , छन्नउईगामअद्धेसुं ।।

मथुरानगर्यां गृहे कृते मङ्गनिमित्तमुत्तराङ्गेषु प्रथममर्हत्प्रतिमाः प्रतिष्ठाप्यन्ते, अन्यथा तद् गृहं पतति । मङ्गलचैत्यानि तानि च तस्यां नगर्यां गेहेषु चत्वरेषु च भवन्ति, तानि न केवलं तस्यामेव किं तु तत्पुरप्रतिबद्धा ये षण्णवतिसंख्याका ग्रामार्द्धाः तेष्वपि भवन्ति । इहोत्तरापाथानां ग्रामस्य ग्रामार्द्ध इति

संज्ञा। आह चूर्णिकृत्–''गामद्धेसु त्ति देसण त्ति छन्नउईगामेसु त्ति भणियं होइ, उत्तरावहाणं एसा भणिइ त्ति ।''

शाश्वतचैत्यभक्तिचैत्यानि दर्शयति–

निच्चाइं सुरलोए, भत्तिकयाइं तु भरहमाईहिं ।
निस्सानिस्सकयाइं, जहिँ आएसो चयसु निस्सं ।।

नित्यानि शाश्वतचैत्यानि सुरलोके भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्क–वैमानिकदेवानां भवननगरविमानेषु, उपलक्षणत्वात् मेरुशिखर–वैताढ्यादिकूटनन्दीश्वररुचकादिष्वपि भवन्तीति, तथा भक्त्या भरतादिभिर्यानि कारितानि तानि, अन्तर्भूतण्यर्थत्वाद्भक्तिकृतानि। अत्र च (जहिं आएसो त्ति) येन भक्तिचैत्येनादेशः प्रकृतं, तद् द्विधानिश्राकृतं गच्छप्रतिबद्धम, अनिश्राकृतं तद्विपरीतं, (चयसुनिस्स त्ति) निश्राकृतं तत् त्यज् परिहर, अनिश्राकृतं तु कल्पते। गतं चैत्यद्वारम्।बृ० १ उ०।

अथार्हत्प्रतिमाया आममोपपतिभ्यां युक्तता प्रदर्श्यते ।

तत्रेदं प्रतिमाविषयाशङ्कानिकारणस्य चिकीर्षिता–

र्थत्वात् प्रतिमास्तुतिरूपमिष्टवीजप्रणिधान–

पुरस्सरमाद्यपद्यमाह–

ऐन्द्रश्रेणिनता प्रतापभवनं भव्यांङ्गिनेत्रामृतं,
सिद्धान्तोपनिषद्विचारचतुरैः प्रीत्या प्रमाणीकृता।
मूर्तिः स्फूर्तिमती सदा विजयते जैनेश्वरी विस्फुर–
न्मोहोन्मादघनप्रमादमदिरामत्तैरनालोकिता।।१।।

जैनेश्वरी मूर्तिः सदा विजयते इत्यन्वयः। जिनेश्वराणामियं जैनेश्वरी, मूर्तिः प्रतिमा, सदा शक्त्या प्रवाहतश्च निरन्तरं, विजयते सर्वोत्कर्षेण वर्त्तते, अत्र जयतेरर्थ उत्कर्षः, ''पराभवे तथोत्कर्षे जयत्यन्ते त्वकर्मक'' इत्याख्यातचन्द्रिकावचनात्। सर्वाधिकत्वं च वेरुपसर्गस्येति बोध्यम्। मूर्तिः कीदृशी?,(ऐन्द्र इति) इन्द्राणामियमैन्द्री, सा चासौ श्रेणिश्चेति कर्मधारयः। तया नता नमिकर्मीकृता, एतेनैतदपलापकारिणो भगवत्प्रतापमैन्द्रः शापो ध्रुव इति व्यज्यते। पुनः कीदृशी?, प्रतापस्य कोशदण्डस्य तेजसो भवनं गृहम्, उक्ततेजः स्थाप्यगतं स्थापनायामुपचर्य व्याख्येयम्, तेनैतदपलापकारिणो भगवत्प्रतापदहननैवाहता भविष्यन्ति इति व्यज्यते। पुनः कीदृशी? भव्याङ्गिनाम् –आसन्नसिद्धिकप्राणिनां, नेत्रयोरमृतं पीयूषं, सकलनेत्ररोगापनयनात्परमानन्दजननाच्च। एतेनैदर्शनात् येषां नयनयोर्नानन्दस्तेऽभव्या दुरभव्या इत्यभिव्यज्यते। पुनः कीदृशी?, प्रमाणीकृताप्रमाणत्वेनाभ्युपगता। कैः? सिद्धान्तोपनिषद्विचारचतुरैः, सिद्धान्तानामुपनिषद्रहस्यं तद्विचारे ये चतुरास्तैः, कया ?, प्रीत्या स्वरसेन, न तु बलायियोगादिना, एतेन सिद्धान्तप्रतिमाप्रामाण्याभ्युपगमयोर्नान्तरीयकत्वात्स्वरसतःप्रतिमाप्रामाण्याभ्युपगन्तै शिष्टो नान्य इत्यादि सूचितं भवति, तदनभ्युपगन्ता च सिद्धान्तानभिज्ञ इति। पुनः कीदृशी? स्फूर्त्तिमतीस्फूर्तिः प्रतिक्षणं प्रवर्द्धमानकान्तिः, संनिहितप्रातिहार्यत्वं वा, तद्वती। एतेन तदाराधकानामेव बृद्धिस्फूर्तिर्भवति, नान्यस्येति सूच्यते। पुनः कीदृशी?, अनालोकिता, सादरमवीक्षितेत्यर्थः। अनालोकितपदस्य सादरमनालोकितत्वेऽर्थान्तरसंक्रमितवाच्यत्वात्, अन्यथा चक्षुष्मतः पुरस्थितवस्तुनोऽनालोकितत्वानुपपत्तेः। कैः? विस्फुरन् विविधं परिणमन्, यो मोहोन्मादो घनप्रमादश्च, तावेव ये मदिरे, ताभ्यां ये मत्तास्तैः। न च प्रमादस्य मोहेनैव गतार्थत्वादाधिक्यम्, अनाभोगमतिभ्रंशादिरूपस्य ग्रहणात्। न चान्वयपरिसमाप्तावस्य विशेषणस्योपादानात्समाप्तपुनरात्तदोषदुष्टत्वमत्रेति शंकनीयम्, सर्वोत्कृष्टत्वेन सर्वादरणीयत्वे लब्धे यदि सर्वैरादृयते कथं न लुम्पकैरित्याशंकानिवारणायैतद्विशेषणम्। ते हि मोहप्रमादोन्मत्ता इति तदनादरेऽपि सर्वप्रेक्षावदादरणीयत्वाक्षतिरित्युक्तदोषाभावात्, प्रकृतानुपपादविशेषणस्य पुनरुपादान एव तद्दोषव्यवस्थितेः। अत एव–''दीधितिमधिचिन्तामणि, तनुते तार्किकशिरोमणिः श्रीमान्।'' इत्यत्र श्रीमद्विशेषणेन न समाप्तपुनरात्तत्वम्, श्रीर्विस्तरानुगुणज्ञानसमृद्धिरित्यस्य प्रकृतोपपादकत्वादिति समाहितं तार्किकैः। या सेत्यध्याहृत्य वाक्ये, यैर्यैः सा नेक्षिता ते मन्दभाग्या इति ध्वनिः, आनन्तर्ये तुनानुपपत्तिलेशोऽपीति ध्येयम्। इत्येवमाद्यपद्ये प्रतिमाया निखिलप्रेक्षावदादरणीयत्वमुक्तम्।

(३) भावैकनिक्षेपवादिन उपहासं विधाय भावा–

चार्यनिष्पत्तिः–

नामादित्रयमेव भावभगवत्ताद्रूप्यधीकारणं,
शास्त्रात्स्वानुभवाच्च शुद्धहृदयैरिष्टं च दृष्टं मुहुः।
तेनार्हत्प्रतिमामनादृतवतां भावं पुरस्कुर्वता–
मन्धानामिव दर्पणे निजमुखालोकार्थिनां का मतिः?।।२।।

(नामादित्रयमित्यादि) त्रयमेव, नामादिपदस्य नामादिनिक्षेपरत्वात् कृदाभिहितन्यायान्निक्षिप्यमाणं नामादित्रयमेवेत्यर्थः। भावभगवतो निक्षेप्यमाणभावार्हतस्ताद्रूप्याधियोऽभेदबुद्धेः कारणं, शास्त्रादागमप्रमाणात्, स्वानुभवात् स्वगतप्रातिभप्रमाणाच्च, मुहुर्वारं वारमिष्टं च दृष्टं च, शास्त्रादिष्टम्, अनुभवाच्च दृष्टमित्यर्थः। मुहुरिच्छया मननं, मुहुर्दृष्ट्या च ध्यानमुपनिबद्धं, तेन तत्त्वप्रतिपत्युपायसाम्ग्र्यमावेदितम्। तदाह–''आगमेनानुमानेन, ध्यानाभ्यासरसेन च। त्रिधा प्रकल्पयन् प्रज्ञां, लभते तत्त्वमुत्तमम् '' ॥ १ ॥ इति। तेन भावनिक्षेपाध्यात्मोपनायकत्वेन नामादिनिक्षेपत्रयस्यार्हत्प्रतिमास्थापनानिक्षेपस्वरूपत्वेनानादृतवतां भावं भावनिक्षेपं पुरस्कुर्वतां वाङ्मात्रेण प्रमाणयतां दर्पणे निजमुखालोकार्थिनामन्धानामिव का मतिः? न काचिदित्यर्थः। निक्षेपत्रयानादरे भावोल्लासस्यैव कर्तुमशक्यत्वात्, शास्त्र इव नामादित्रये हृदयस्थिते सति भगवान् पुर इव परिस्फुरति, हृदयमिवानुप्रविशति, मधुरालापमिवानुवदति, सर्वाङ्गीणमिवानुभवति, तन्मयीभावमिवापद्यते, तने सर्वकल्याणसिद्धिः।

तदाह–

''अस्मिन् हृदयस्थे सति हृदयस्थस्तत्त्वतो मुनीन्द्र इति ।
हृदयस्थिते च तस्मि–न्नियमात्सर्वार्थसंसिद्धिः।।
चिन्तामणिः परोऽसौ, तेनेयं भवति समरसापत्तिः।
सैवेह योगमाता, निर्वाणफलप्रदा प्रोक्ता।।'' इति ।।

तत्कथंनिक्षेपत्रयादरं विना भावनिक्षेपादरः, भावोल्लासस्य तदधीनत्वात्। न च नैसर्गिक एव भावोल्लास इत्येकान्तोऽस्ति जैनमते, तथा सति सर्वव्यवहारोच्छेदप्रसङ्गादिति स्मर्तव्यम्। अत्र निरुक्तविशेषणविशिष्टेषु लुम्पकेषु निरुक्तविशेषणविशिष्टान्यरुपोत्प्रेक्षा, कल्पितोपमान्मादायोपमा वेति यथोचित्येन योजनीयं तत्तदलंकारग्रन्थानिपुणैः। स्यादेतत्। भावार्हदर्शनं यथा भव्यानां स्वगतफलंप्रत्यव्यभिचारि, तथा न निक्षेपत्रयप्रतिपत्तिरिति तदनादृर इति। मैवम्। स्वगतफले स्वव्यति–

रिक्तभावनिक्षेपस्याप्यव्यभिचारित्वाभावात्। न हि भावार्हत दृष्ट्वा भव्या अभव्या वा प्रतिबुध्यन्त इति । स्वगतभावोल्लासनिमित्तभावस्तु निक्षेपचतुष्टयेऽपि तुल्य इति । एतेन स्वगताध्यात्मोपनायकतागुणेन वन्द्यत्वमपि चतुष्टयविशिष्टमित्युक्तं भवति। शिरश्चरणसंयारूपं हि वन्दनं भावभगवतोऽपि शरीर एव संभवति, न तु भावभगवत्यरूपे, आकाश इव तदसंभवात्। भावसंबन्धाच्छरीरसंबद्ध वन्दनं भावस्यैवायातीति तत एव नामादिसंबद्धमपि भावस्यकिं न प्राप्नोतीति परिभावय? कश्चिदाह कुमतिव्युद्ग्राहितःकिमेताभिर्युक्तिभिः?, महानिशीथ एव भावाचार्यस्य तीर्थकृत्तुल्यत्वमुक्तं, निक्षेपत्रयस्य चाकिञ्चित्करत्वामिति भावनिक्षेपमपि पुरस्कुर्वतां क इवापराधः? तथा चोक्तं तत्र पञ्चमाध्ययने–''से भयवं! किं तित्थयरसंतियं आणं नाइक्कमिज्जा, उयाहु आयरियसंतियं ? गोयमा! चउव्विहा आयरिया पण्णत्ता ।ते जहा– नामायरिया, ठवणायरिया, दव्वायरिया, भावायरिया। तत्थं णं जे ते भावयरिआ, ते तित्थयरसमा चेव दट्ठ व्वा, तेंसि संतियं आणं नाइक्कमिज्जा। से भयवं! कयरे णं ते भावायरिआ भण्णंति? । गोयमा! जे अज्जप्पव्वाइए वि आगमविहीए एयं पए २ अणुसंचरंति ते भावायरिए, जे उ वासलयदिक्खिए वि हुत्ता णं वायामित्तेण पि आगमओ वाहिं करिंति, ते णामट्ठवणाहिं णिउइयव्वेति।''। अत्र ब्रूमः–परमशुद्धभावग्राहिकनिश्चयन यस्यै–वायं विषयः, यन्मते एकस्यापि गुणस्य त्यागे मिथ्यादृष्टित्वमिष्यते। तदाहुः– ''जो जह वा०यं न कुणइ, मिच्छादिट्ठी तओ हु को अन्नो?'' त्ति। तन्मते निक्षेपान्तरानादरेऽपि नैगमादिनयवृन्देन निक्षेपानां प्रामाण्यभ्युपगमात्क इव व्यामोहो भवतः, सर्वनयसंमतस्यैव शास्त्रार्थत्वात्, अन्यथा सम्यक्त्वचारित्रैक्यग्राहिणा निश्चयनयेनाप्रमत्तसंयत एव सम्यक्त्वस्वाम्युक्तो, न प्रमत्तान्त इतिश्रेणिकादीनां बहूनां प्रसिद्धं सम्यक्त्वं न स्वीकरणीयं स्याद्देवानांप्रियेण। उक्तार्थप्रतिपादकं त्विदं सूत्रमाचाराङ्गे पञ्चमाध्ययने तृतीयोदेशके –''जं सम्मं ति पासहा तं मोणं ति पासहा, जं मोणं ति पासहा तं सम्मं ति पासहा''(प्रति०) अथवा यावत्या निर्वृत्त्या भावाचार्यनिर्वृतिस्तावत्या द्रव्याचार्यसंपत्तिः, सा च सापेक्षत्वे भावयोग्यतयेति भावाचार्यनामस्थापवनावत् प्राशस्त्येनातिक्रामति, अन्त्यविकल्पं विना द्रव्यभावसङ्करस्याविश्रामात् प्रशस्तनामस्थापनावत्। अप्रशस्तभावस्याङ्गारमर्दकादेर्द्रव्यं तु तन्नामस्थापनावदप्रशस्तमेवेति प्रागुक्तमहानिशीथसूत्रे नियोजनीयार्थः।

तदवदाम गुरुतत्त्वनिश्चये–

''नत्थि य एगो एसो, जं दव्वं होइ सुद्धभावस्स।
तण्णामागिइतुल्लं, तं सुहमियरं तु विवरीयं ।।१।।
जह गोयमाइआणं, णामाइ तिण्णि हुंति पावहरा ।
अंगारमहगस्स बि, णामाइ तिण्णि पावयरा।।२।।''

इति प्रशस्तभावसंबन्धिनां सर्वेषां निक्षेपाणां तु प्रशस्तमेवेति निर्व्यूढम्। अपि च–''जो जिणदिट्ठे भावे, चउव्विहे सद्दहाइ सयमेव। सयमेव न ण्णह त्ति य, स निओगरुई त्ति णायव्वो ।।१।।'' इति उत्तराध्ययनवचनाच्चतुर्विधशब्दस्य नामस्थापनाद्रव्यभावेभेदभिन्नत्वेन व्याख्यानिक्षेपचतुष्टयस्यापि यथौचित्येनाराध्यत्वमविरुद्धम्। अत एवाप्रस्तुतार्थापाकरणात् प्रस्तुतार्थव्याकरणाच्च निक्षेपः फलवानिति शास्त्रस्य मर्यादा। किं च नामनिक्षेपस्यारा ध्यत्वं तावत्'चोवीसत्थएणं दंसणविसोहिं जणयइ'' इति सम्यक्त्वपराक्रमाध्ययनोपदर्शितचतुर्विंशतिस्तवाराध्य तयैव सिद्धं, तत्रोत्कीर्तनस्यार्थाधिकारित्वात्तेन च दर्शनाराधनस्योक्तत्वात्, ''महाफलं खलु तहारूवाणं भगवंताणं णामगोत्तस्स वि सवणयाए एवं खलु तहारूवाणं भगवंताणं णामगोत्तस्स वि सवणयाए'' इत्यादिना भगवत्यादौ महापुरुषनामश्रवणस्य महाफलवत्वोक्तेश्च। नामआपनानिक्षेपस्वाराध्यता च–''थयथुइमंगलेणं भंते! जीवे किं जणयइ ? थयथुइमंगलेणं भंते!नाणदंसणचरित्तवोहिलाभं जणयइ। नाणदंसणचरित्तवोहिलाभंसंपत्ते णं भंते! जीवे अंतकिरियं कप्पविमाणोबवत्तिअं आराहणं आराहेइ'' इति वचनेनैव सिद्धा। अत्र स्तवः स्तवनं स्तुतिः स्तुतित्रयं प्रसिद्धं, तत्र द्वितीया स्तुतिः स्थापनार्हतः पुरतः क्रियते। चैत्यवन्दनावसरतया च ज्ञानदर्शनचारित्रबोधिलाभतो निरर्गलस्वर्गापवर्गसुखलाभ इति शेषाक्षराण्यपि स्फुटिभविष्यन्त्यनुपदमेव। द्रव्यनिक्षेपाराध्यता च सूत्रयुक्त्या स्फुटैव प्रतीयते। तथाहि– श्रीआदिनाथवार के साधूनामावश्यकक्रियायां कुर्वता चतुर्विंशतिस्तवाराधने त्रयोर्विंशतिर्द्रव्यजिना एवाराध्यतामास्कन्दयेयुरिति। न च ऋलभजिनादिकाले एकस्तवद्विस्तवादिप्रक्रियाऽपि कर्त्तुं शक्या, शाश्वताध्ययनपाठस्य वेशेनापि परावृत्त्या कृतान्त कोपस्य वज्रलेपत्वात्। न च नामोत्कीर्त्तनमात्रे तात्पर्यादविरोधोऽर्थोपयोगरहितस्योत्कीर्त्तनस्य राजविद्विष्टसमत्वेन योगिकुलजन्मबाधकत्वात्, अत एवद्रव्यासकस्य निषेधः सूत्रे,''उपयोगश्च द्रव्यम्'' इति शतश उद्घोषितमनुयोगद्वारादौ। अर्थोपयोगे तु वाक्यार्थतथैव सिद्धा द्रव्यजिनाराध्यतेति, एतेन द्रव्याजिनस्याराध्यत्वे करतलपरिकलितजलचुलुकवर्त्तिजीवानामप्याराध्यत्वापत्तिः, तेषामपि कदाचिज्जिनपदवीमाप्तिसंभवादिति शासनविडम्बकस्य लुम्पकस्योपहासः। ''तिरक्खो, ''द्रव्यजिनत्वनियामकपर्यायस्य तत्रापरिज्ञानात्। मरीचिस्तु स्वाध्यायध्यानपरायणो महात्मा भगवतो नाभिनन्दनस्य चन्दनप्रतिमया गिरा परिकलितादृशपर्यायपुलकितगात्रेण भक्तिपात्रेण भरतचक्रवर्त्तिना वन्दित एवेति प्रसिद्धमावश्यकनिर्युक्तौ, पुरश्चकार च वन्दननिमित्तं द्रव्यजिनपर्यायं, न त्वौदयिकभावम्। तथाहि–''ण वि ते पारे चक्कं, वंदामि अहं ण ते इहं जम्मं। जह होहिसि तित्थयरो, अपिच्छनो तेण वंदामि।'' इति पापिष्ठत्वादुक्तमिदं निर्युक्तौ, परं न सूत्र इति निर्युक्तिकमेवेति तस्य दुष्टस्य शिरसि ऋषभादिवारकेचतुर्विंशतिस्तवसूत्रपा–ठानुपपत्तिरेव प्रहारः। यदि द्रव्यजिनतां पुरस्कृत्य 'भरतेन मरीचिवत्' वन्द्या कथं न साधुभिरित्यत्र तु विशेष्य वन्दने तद्यवहारानुपपत्तिरेव समाधानम्। सामान्यतस्तु–''जेअईआ सिद्धा'' इत्यादिना गतमेव। अथ द्रव्यत्वस्य द्रव्यसंख्याद्यधिकारेऽनुयोगद्वारादिषु एकद्विकवद्धायुष्काभिमुखनामगोत्रभेद भिन्नस्यैवोपदेशाद्भावजिनादतिव्यवहितपर्यायस्य मरीचेर्द्रव्यजिनत्वमेव कथं युक्तमिति चेत्?, सत्यम्। आयुष्कर्मघटितस्य द्रव्यत्वस्यैकभविकादिभेदनियत्वेऽपि फलीभूतभावार्हत्पदनमनयोग्यतारूपस्य प्रस्यकदिदृष्टान्तेन दूरेऽपि नैगमनयाभिप्रायेणाश्रयणात्, योग्यता विशेषे च ज्ञानिवचनादिनाऽवगते दोषमुपेक्ष्यापि तेषां वन्दनवैयावृत्या-दिव्यवहारः संगच्छत एवाऽतिमुक्तकार्ये वीरवचनाद्भाविभद्रतामवगम्य स्थविरैर्व्रतस्खलितमुपेक्ष्याऽग्लान्या वैयावृत्यं निर्ममे। किं च–''नमो सुअस्स'' इत्यादिनाऽपि द्रव्यानिक्षेपस्या–

राध्यत्वं सुप्रतीतम् । अक्षरादिश्रुतभेदेषु संज्ञाव्यञ्जनाक्षरादीनां भावश्रुतकारणत्वेन द्रव्यश्रुतत्वात्, पत्रकपुस्तकलिखितस्य ''तं दव्वसुअं जं पत्तयपोत्थयलिहिअं'' इत्यागमेन द्रव्यश्रुतत्वप्रसिद्धेः । भावश्रुतस्यैव वन्द्यत्वे तत्पर्यायजिनवागपि न नमनीया स्यात्, केवलज्ञानेन दृष्टानामर्थानां जिनवाग्योगेन सृष्टायास्तस्याः श्रोतृषु भावश्रुतकारणत्वेन द्रव्यश्रुतत्वात् । तदार्षम्–''केवलनाणेणत्थे, णाउं जे तत्थ पण्णवणजोगा । ते भासइ तित्थयरो, वयजोगो सुअं हवइ सेसं ।।'' इति । वाग्योगः श्रुतं भवति शेषमप्रधानं, द्रव्यभूतमिति तुरीयपादार्थः । भगवन्मुखोत्सृष्टैव वाणी वन्दनीया नान्येति वदन् स्वमुखेनैव व्याहन्यते, केवलायास्तस्याः श्रवणायोग्यत्वेन श्रोतृषु भावश्रुताजननात् द्रव्यश्रुरूपताया अप्यनुपपत्तेः, मिश्रायाः श्रवणेऽपि वक्त्रिणि स्थिता एवागात् । पराघातवासितायाः ग्रहणे च जिनवागप्रयोज्यायाः अन्यायाः अपि यथास्थितवाचः आराध्यत्वाक्षतेः । एतेन सिद्धालादेराराध्य-त्वमपि व्याख्यातं, ज्ञानदर्शनचारित्ररूपभावतीर्थहेतुत्वेनास्य द्रव्यतीर्थत्वादनन्तकोटिसिद्धस्थानत्व स्यान्यत्र विशेषेऽपि स्फुटप्रतीयमानतद्भावेन तीर्थस्थापनयैवात्र विशेषात्, अनुभवादिना तथासिद्धौ श्रुतपरिभाषाभावस्य तन्त्रत्वात् । अन्यथा चतुर्वर्णश्रमणसङ्घे तीर्थत्वं, तीर्थकरे तु तद्ग्राह्यत्वमित्यपि विचारकोटिं नाटीकेत, व्यवहारविशेषाय यथा परिभाषणमपरिभाषणं च न व्यामोहाय विपश्चितामिति स्थितम् । भावोनिक्षेपेतुन विप्रतिपत्तिरिति चतुर्णामपि सिद्धमाराध्यत्वम् ।।२।। (प्रति०)

(४) ब्राह्मी लीपिरिव प्रतिमा सूत्रन्यायेन वन्द्येति तदपह–

वकारिणां मूढतामाविष्करोति–

लुप्तं मोहविषेण किं किमु हतं मिथ्यात्वदम्भोलिना,
मग्नं किं कुनयावटे किमु मनो लीनं नु दोषाकरे ।
प्रज्ञासौ प्रथमं नतां लिपिमपि ब्राह्मीमनालोकयन्,
वन्द्याऽर्हत्प्रतिमा न साधुभिरिति ब्रूते यदुन्मादवान् ।।३।।

(लुप्तमिति) प्रज्ञासौ प्रथमभादौ वचने नतां सुधर्मस्वामिना ब्राह्मीं लिपिमनालोकयन्नवधारणाबुद्ध्याऽपरिकल्पयन् ''अर्हत्प्रतिमा साधुभिर्न वन्द्या'' इति यदुन्मादवान् मोहपरवशो ब्रूते, तत्किं त–स्य मनो मोहविषेण लुप्तं व्याकुलितम्? किमु मिथ्यात्वदम्भोलिना मिथ्यात्ववज्रेण हतं चूर्णितम्? अथवा–किं कुनयावटे दुर्नयकूपे मग्नम? यद्वा नु इति उत्प्रेक्षायां, दोषासमूहाभिन्ने दोषाकरे लीनम् ? ''छायाश्लेषेण मनश्चन्द्रं विशति'' इति श्रुतेर्मृतमित्यर्थः । अत्र ''लिम्पतीव तमोऽङ्गानि''इत्यादौ लेपनादिना व्यापनादेरिव विषकर्तृकलुप्तवादिना लुम्पकमनोमूढताया अध्यवसानात् स्वरूपोत्प्रेक्षायाः किमादिर्द्योतिकः ''संभावनमथोत्प्रेक्षा, प्रकृतस्य समेन यत्'' इति काव्यप्रकाशकारः । अन्यधर्मसमानेवादिद्योत्योत्प्रेक्षेति हेमचन्द्राचार्याः । अयं भावः–''नमो बंभीए लिवीए'' इति पदं यद् व्याख्याप्रज्ञप्तेरादावुपन्यस्तं, तत्र ब्राह्मी लिपिरक्षरविन्यासः, सा यदि श्रुतज्ञानस्याऽऽकारस्थापना तदा तद्वन्द्यत्वे साकारस्थापनाया भगवत्प्रतिमायाः स्पष्टमेव साधूनां वन्द्यत्वम्, तुल्यन्यायदिति । तत्प्रद्वेषे प्रकृत प्रद्वेष एव । यत्तु प्रतिमाप्रद्वेषसाधनाऽन्धकारितहृदयेन धर्मशृगालेन प्रलपितम्–ब्राह्मी लिपिरिति प्रस्थकदृष्टान्तप्रसिद्धनैगमनयभेदेन तदा दिप्रणेता नाभेयदेव एवेति, तस्यैवायं नमस्कार इति । तन्महामोहविलसितम्। ऋषभनमस्कारस्य 'नमोऽर्हद्भ्यः' इत्यत एव सिद्धेः, प्रतिव्यक्ति ऋषभादिनमस्कारस्य त्वविवक्षितत्वात्, अन्यथा चतुर्विंशतिनामोपन्यासप्रसङ्गात्। श्रुतदेवतानमस्कारानन्तरमृषभन मस्कारोपन्यासानौचित्यात् । शुद्धनैगमनये ब्राह्म्या लिपेः कर्तुः लेखकस्य नमस्कारप्राप्तेश्चेति न किञ्चिदेतत् । एतेनाकाररश्लेषादलिप्यै लपरहितायै ब्राह्मवै जिनवाण्यै नम इत्यादि तत्कल्पनाऽपि परास्ता, वाणीनमस्कारस्य 'नमः श्रुतदेवतायै' इत्यनेनैव गतार्थत्वात्, वक्रमार्गेण पुनरुक्तौ बीजाभावात् । ''बंभीए णं लिवीए अट्ठारसविहे लिविविहाणे पन्नत्ते'' इति समवायाङ्गप्रसिद्धं प्रकृतपदस्य मौलमर्थमभ्रङ्ख्य विपरीतार्थकरणत्वोत्सूत्रप्ररुपणव्यसनं विना किमन्यत्कारणं धर्मशृगालस्येति वयं न जानीमः? केचित्तु पापिष्ठा नेदं सूत्रस्थं पदं,''रायगिहचलण'' इत्यत एवारभ्य भगतीसूत्रप्रवृत्तेः, किन्त्वन्यैरेवोपन्यस्तमित्याचक्षते ; तदपि तुच्छम । नमस्कारादीनामेव सर्वसूत्राणां व्यवस्थितेरेतस्य मध्यपदत्वात् । प्रति०(नमस्कारस्य स्वस्थानने युक्तता) एवं च नमस्कारादौ प्रज्ञप्तिसूत्रे स्थितम्– ''नमो बंभीए लिवीए'' इति पदं प्रतिमास्थापनायात्यन्तोपयुक्तमेवेति मन्तव्यम्।

''हित्वा लुम्पकगच्छसूरिपदवीं गार्हस्थ्यलीलोपमां,
प्रोद्यद्बोधिरतः पदादभजत श्रीहीरवीरान्तिकम् ।
आगस्त्यागपुनर्व्रतग्रहपरो यो भाग्यसौभाग्यभूः,
स श्रीमेघमुनिर्न कैः सहृदयैर्धर्मार्थिषु श्लाघ्यते? ।।१।।
एकस्मादपि समये पदादनेके,
संबुद्धा वरपरमार्थरत्नलाभांतूं ।।
अम्भोधौ पतितपरस्तु तत्र मूढो,
निर्मुक्तप्रकरणसंप्रदायपोतः ।।२।।'' ३।।

अथ नामप्रतिमावन्द्यां स्थापनां स्थंपियति–

किं नामस्मरणेन न प्रतिमया किं वा भिदा काऽनयोः,
संबन्धः प्रतियोगिना न सदृशो भावेन किं वा द्वयोः? ।।
तद्वन्द्यं द्वयमेव वा जमभते! त्याज्यं द्वयं वा त्वया,
स्यात्तर्कादत एव लुम्पकमुखे दत्तो मषीकूर्चकः ।। ४ ।।

''किं नाम'' इत्यादि । किं नामस्मरणेन चतुर्विंशतिस्तवादिमन्नामानुचिन्तनेन? नाम्नः पुद्गलात्मकत्वेनात्मानुपकारित्वान्नाम्नः स्मरणेन नाभिस्मरणे तदुपसमापत्त्या फलमिति चेदत्राहप्रतिमया किं वा न स्यात?, अमुद्रगुणसमुद्रलोकोत्तरमुद्रालङ्कृतभगवत्प्रति मादर्शनादपि सकलातिशायिभगवद्गुणध्यानस्य सुतरां संभवात्।

तदुक्तम्–

''प्रशमरसनिमग्नं दृष्टियुग्मं प्रसन्नं,
वदनकमलमङ्कः कामिनीसङ्गशून्यः ।
करयुगमपि यत्ते शस्त्रसंबन्धवन्ध्यं,
तदसि जगति देवो वीतरागस्त्वमेव'' ।।१।। इति ।

बोध्युदयोऽपि प्रतिमादर्शनाद् बहूनां सिद्ध एव । तदुक्तं दशवैकालिकनिर्युक्तौ–''सिज्झंभवं गणहरं, जिणपडिमादंसणेण पडिबुद्धं मणगपिअरं दशकालिअस्स णिज्जूहगं वंदे'' ।१। इत्यादिनिर्युक्तिश्च सूत्रान्नतिभिद्यत इति व्यक्तमेव । विवेचयिष्यते चेदमुपरिष्टात् । नाम्नो नामिना सह वाच्यवाचकभावसंबन्धोऽस्ति, न स्थापनाया इत्यस्ति विशेष इतिचेत्, अत्राह–प्रतियोगिनेतरनिःक्षेपानिरूपकेनभावनिक्षेपेण सह, द्वयोनभितस्थापनोः, संबंन्धः किं सदृशो न?, सदृशवचने न मिथः किञ्चिद्वैषम्यमित्यर्थः । एकत्र

वाचकभावस्यान्यत्र स्थापकभावस्य संबन्धस्यापि विशेषात्, तादात्म्यस्य तु द्रव्यादन्यत्रासंभवात्; अनया प्रतिवन्द्या दुर्वादिनमाक्षिपतितस्मात्कारणात् हे जडमते! त्वया द्वयमेव नामस्थापनालक्षणमविशेषेण वन्द्यम्, द्वयोरपि भगवदध्यात्मोपनायकत्वाविशेषात्। अन्तरङ्गप्रत्यासत्त्यभावादुपेक्ष्यत्वे तु द्वयमेव त्वया त्याज्यं स्यात्, तच्चानिष्टम्, नाम्नः परेणाप्यङ्गीकरणात्, अत एव तर्कातलुम्पकमुखे मषी कूर्चको दत्तः स्यात्, मालिन्यापादनादिति भावः। अत्र मषीकूर्चकत्वेन मौनदानविवक्षायां 'कमलमनम्भसि ' इत्यादाविव रूपकगर्भा यथाश्रुतविवक्षायां त्वसंबन्धं संबन्धरूपाऽतिशयोक्तिः। अथात्र स्थापना यद्यवन्द्या स्यात्तदा नामाप्यवन्द्यं स्यादित्येतस्य न तर्कत्वम्, आपाद्यापादकयोर्भिन्नाश्रयात्वादिति चेत्, आपाद्यापादकान्यथानुपपत्तिमर्यादयैव विपर्ययपर्यवसायकत्वेनात्र तर्कोक्तेः। अत एव यद्ययं ब्राह्मणो न स्यात्ततस्तत्पिता ब्राह्मणो न स्यात्, उपरि सविता न स्याद् न भूमेरालोकवत्त्वं न स्यादित्यादयस्तर्काः सुप्रसिद्धाः। विपर्ययपर्यवसानं च परेषामनुमितिरूपमस्माकं स्वतन्त्रप्रमितिरूपमित्यन्देतत्। भावनिक्षेपो यद्यवन्द्यस्थापनानिक्षेपप्रतियोगी स्यादवन्द्यनामनिक्षेपप्रतियोग्यपि स्यादित्येवं तर्कस्य व्यधिकरणत्वं निरसनीयम्, अनिष्टप्रसङ्गरूपत्वात्, प्रतिवन्द्यो चात्र स्वातन्त्र्येण तर्क इति विभावनीयं तर्कनिष्णातैः।

प्रतिवादीनेव भङ्ग्याऽऽक्षिपंस्तदाराधकानभिष्टौति–

(५) चारणकृतवन्दनाधिकारः। चारणदेववन्दितत्वम्स्वान्तं ध्वान्तमयं मुखं विषमयं दृग् धूमधारामयी, तेषां यैर्न नता स्तुता न भगवन्मूर्तिर्न वा प्रेक्षिता।

देवैश्चारणपुङ्गवैः सहृदयैरानन्दितैर्वन्दिता।
ये त्वेनां समुपासते कृतधियस्तेषां पवित्रं जनुः ॥४॥

''सवान्तमित्यादि''। यैर्भगवन्मूर्त्तिर्न नता तेषां स्वान्तं हृदयं ध्वान्तमयमन्धकारप्रचुरं, हृदये नमनप्रयोजकालोकाभावादेवात्तन्नमनोपपत्तेः, यैर्भगवन्मूर्त्तिर्न स्तुता तेषां मुखं विषमयं, स्तुतिसूक्तपीयूषाभावस्य तत्र विषमयत्व एवोपपत्तेः, यैर्भगवन्मूर्तिः, वा अथवा,न प्रेक्षिता तेषा दृग् धूमधारामयी, जगद्दृशाममृतसेचनकतत्प्रेक्षणाभावस्य धूमधारावृतनेत्रत एवोपपत्तेः, ध्वान्तत्वादिना दोषविशेषा एवाध्यवसीयन्ते इत्यतिशयोक्तिः, सा चोक्तदिशा काव्यलिङ्गानुप्राणिताऽवसेया। ये तु कृतधियः पण्डिता एनां भगवन्मूर्तिं समुपासते तेषां जनुः जन्म पवित्रं, नित्यं मिथ्यात्वमलपरित्यागात्। कीदृशी?, देवैः सुरासुव्यन्तरज्योतिष्कैः, चारणपुङ्गवैःचारणप्रधानैः जङ्घाचारणविद्याचारणैः सहृदयैर्ज्ञानतत्त्वैरानन्दितैर्जातानन्दैर्वन्दिता, हेतुगर्भं चेदं विशेषणम्, देवादिवन्दितत्वेन शिष्टाचारात्तत्समुपासनं जनानां पावित्र्यायेति भावः। (प्रति०) (अत्र 'चारण' दृश्योऽस्मिन्नेव भागे ११७३ पृष्ठे)

उक्तमेव स्वीकारयंस्तत्र कुमतिकल्पिताशङ्कां निरस्यन्नाह–

प्रज्ञप्तौ प्रतिमानतिर्न विदिता किं चारणैर्निर्मिता,
तेषां लब्ध्युपजीवनाद्विकटनाभावात्त्वनाराधना।
सा कृत्याकरणादकृत्यकरणाद्भग्नव्रतत्वं भवे–
दित्येता विलसन्ति सन्नयसुधासारा बुधानां गिरः ॥६॥

(प्रज्ञप्ताविति) भगवतीसूत्रे किं चारणैः जङ्घाचारणविद्याचारणश्रमणैर्नमिता प्रतिमानतिः न विदिता न प्रसिद्धा?: अपि तु प्रसिद्धैव। सुधर्मस्वामिना कण्ठरवेणोक्तस्य तत्र तरणिप्रकाशतुल्यस्य कुमतिकौशिकवाङ्मात्रेणापह्नोतुमशक्यत्वात्। ननु यदुक्तं तद्यक्तमेव, परं चैत्यवन्दननिमित्तालोचनाभावे नाराधकत्वमुक्तमिति तेषां चैत्यनतिं स्वारसिकीं नाभ्युपगच्छाम इत्याशङ्कायामाह–(तेषामि ति)तेषां जङ्घाचारणविद्याचारणानां लब्ध्युपजीवनात्, तस्य प्रमादरूपत्वात्तु पुनर्विकटनाभावादालोचनाभावात् ''आलोयणा वियडणेति'' निर्युक्तिवचनाद्विकटनाशब्दस्यालोचनाऽर्थः। अनाराधना, तदन्यतो निमित्तात्तदाह–साऽनाराधना कृत्यस्य प्रमादालोचनस्याकरणात्, अकृत्यकरणं चैत्यवन्दने मिथ्यात्वकरणं , तत् पुरस्कृत्यानाराधनायामुच्यमानायां भग्नव्रतत्वं भवेत्, मिथ्यात्वसहचारिणामनन्तानुबन्धिनामुदयेन चारित्रस्य मूलत एवोच्छेदात, ''मूलछेज्जं पुण होइ बारसण्हं कसायाणं'' इति वचनात्। तच्च नालोचनामात्रतोऽपि शोधयितुं शक्यमित्ययं भारो मिथ्याकल्पकस्यशिरस्यस्त्वित्येताः, सन्नयः समीचीननयः, स एव मिथ्याकल्पनाविषविकारनिरासत्वात्सुधा पीयूषं, तेन साराः, बुधानां सिद्धान्तपारदृश्वनां गिरः वाचः ।।६।। प्रति०।

ननु चारणानां यावान् गतेर्गोचार उक्तस्तावहेशगमनपरिक्षायामेव मुख्य उद्देशः, तेभ्यः क्रियमाणा या तत्तच्चैत्यानामपूर्वाणां दर्शनाद्विस्मयोद्बोधेन तन्नतिर्न तु स्वरसत इति, तदाचरणं न शिष्टाचार इति सर्वेषां साधूनां न तद्वन्द्यता तदृष्टान्तेनेति कुमतिमतमाशङ्क्य निषेधति–

तेषां न प्रतिमानतिः स्वरसतो लीलानुषङ्गात्तु सा,
लब्ध्याप्तादितिकालकूटकवलोडारा गिरः पाप्मनाम्।
हन्तैवं न कथं नगादिषु नतिर्व्यक्ता कथं वेह सा,
चैत्यानामिति तर्ककर्कशगिरा स्यात्तन्मुखं मुद्रितम् ॥७॥

(तेषामिति)तेषां जङ्घाचारणविद्याचारणानां प्रतिमानतिः स्वरसतो न, स्वरसः श्रद्धाभक्तिसंतुलितः परिणामः। तु पुनः लब्ध्याप्तात् लीलानुषङ्गात्, लब्धिप्राप्तलीलां दिदृक्षया प्रवृत्तानां तत्रापूर्वदर्शनी संनिधिकदर्शनतयेत्यर्थः। न तु अस्वारसिकनत्या काऽपि क्षतिः, स्वारसिककृत्यकरणस्यैव दोषत्वात्, इत्येताः पाप्मनां लुम्पाकदुर्गतानां गिरः कालकूटकवलोद्गाराः, उद्गीर्यमाणकालकुटकला इत्यर्थः। भक्षितमिथ्यात्वकालकूटानामीदृशनामिवोद्गाराणां संभवात्। तत्रोत्तरम्–हन्तेति निर्देशे, एवं लीलाप्राप्तस्य विस्मयेन साधूनां वन्दनसंभवे कथं नगादिषु मानुषोत्तरनन्दीश्वररुचकमेरुतदारामदिविषये न चारणानां नतिः, तत्राप्यपूर्वदर्शनजनितविस्मयेन तत्संभवात्। कथं चेह भरतविदेहादौ ततः प्रतिनिवृत्तानां चैत्यानां प्रतिमानां सा नतिः इत्येवंभूता या तर्ककर्कशा गीस्तया तन्मुखं पाप्मवदनं मुद्रितम्, अनया गिरा ते प्रतिवक्तुं न शक्नुयुरित्यर्थः। कर्कशपदं तर्कस्य निविडमुद्राहेतुत्वमभिव्यनक्ति। अत्र यथा गोचरचर्याद्देशेनापि निर्गतेन साधुनोऽन्तरोपनताः साधवः खरसत एव वन्दनीयाः, तथा ऽऽगमगोचरदर्शनायामपि, एवं चारणैर्नन्दीश्वरादिप्रतिमानतिःस्वरसत एव अनभ्रोपनतपीयूषवृष्टिवत्परमप्रमोदहेतुत्वादित्युक्तं भवति।।७।।

(६) अथोक्तालापके–''तहिं चेइयाइं वंदइ'' इत्यस्यायमर्थः–यथा भगवद्भिरुक्तं, तथैव नन्दीश्वरा

दि दृष्टमिति, अहो!तथ्यमिदं भगवज्ज्ञानमित्यनुमोदते इत्यर्थः, चैत्यपदस्य ज्ञानार्थत्वादिति मुग्धधर्षदि मूर्धानमाधूय व्याख्यातुरुपहसन्नाह–

ज्ञानं चैत्यपदार्थमाह न पुनर्मूर्त्तिं प्रभोर्यो द्विषन्,
वन्द्यं तत्तदपूर्ववस्तुकलनाद् दृष्टार्थसंचार्यपि।
धातुप्रत्ययरूढिवाक्यवचनव्याख्यामजानन्नसो,
प्रज्ञावत्सु जमः श्रियं न लभते काको मरालेष्विव ॥८॥

योद्विषन् जिनशासने द्वेषं कुर्वन, प्रकृते चैत्यपदार्थं ज्ञानमाह, न पुनः प्रभोर्मूर्त्तिं, किंभूतं ज्ञानम्?, तस्य तस्यापूर्वस्य वस्तुनः कलनात्परिच्छेदाद् , वन्द्यमनुमोद्यमिति योगः। किंभूतमपि?, दृष्टार्थसंचार्यपि, इह लोके चैत्यवन्दनसंचरिष्णुभविष्णुशब्दार्थमपि, अपूर्वदर्शनेन विस्मयोत्पादकत्वाद् भगवज्ज्ञानस्य वन्द्यत्वे 'इह चेइआइं वंदइ'' इत्यस्यानुपपत्तिः इहापूर्वादर्शनात्, अपिना निपातेनानौचित्यं दर्शयति– असौ जडः, प्रज्ञावत्सु प्रेक्षावतां मध्ये, श्रियं सदुत्तरस्फूर्तिसमृद्धिं न लभते,केषु क इव, मरालेषु राजहंसेषु काका इव इत्युपमा। किं कुर्वन्?, अजानन्, कां?, धात्वादिव्याख्याम्। तथाहि–चैत्यानीत्यत्र 'चिती' संज्ञाने इति धातुः,कर्मप्रत्ययः। तथा चार्हत्प्रतिमा एवार्थः। 'चिती'संज्ञाने संज्ञानमुत्पद्यते काष्ठकर्मादिषु प्रतिकृतिं दृष्ट्वा–'जहा एसा अरिहंतपडिमत्ति' चूर्णिस्वरसादिति प्रकृते ज्ञानमर्थं वदन् प्रकृतिप्रत्याभिज्ञ एव। तथा रुढेरप्यनभिज्ञ एव, चैत्यशब्दस्य जिनगृहादावेव रुढत्वात्। ''चैत्यं जिनौकस्तद्बिम्बं, चैत्यो जिन सभातरुः''इति कोशात्। एतेन विपरीतव्युत्पन्नानामभेदप्रत्ययोगार्थोऽपि निरस्तः, योगाद् रूढेर्बलवत्वात्। अन्यथा पङ्कजशैवालदिबोधप्रसंगात । वाक्यसयापि । वाक्यं साकाङ्क्षपदसमुदायः–''इह चेइआइं वंदइ''इति। अत्रस्थानि चैस्यानि वन्दते इति हि वाक्यार्थः । स च चैत्यपदस्य ज्ञानार्थत्वे न घटते, भगवज्ज्ञानस्य नन्दीश्वरादिवृत्तित्वाभावात्, जगद्वृत्तित्वस्यान्यसाधारण्येनाविस्मापकत्वात्, तेन नन्दीश्वरादेः प्रतिमावाचकतयाः प्रामाण्यानिर्णये च प्राग् भगवद्वचनाविश्वासेन मिथ्यादृष्टित्वप्रसंगादिति। वचनस्य। ज्ञानस्यैकत्वात् ज्ञानार्थे चैत्यशब्दस्यापीष्टबहुवचनस्य कुत्राप्यननुशासनात्सिद्धान्तेऽपि तथा परिभाषणस्याभावात्। अन्यथा 'केवलनाणं'' इत्यत्र स्थले ''चेइआइं ति'' प्रयोगापत्तेः, यदि वा पूर्वभगवदुक्तार्थदर्शनस्थलेऽपीदृक् प्रयोगः स्यादिति कल्पते तदा गर्भगृहस्थमहाव्याधितमृगपुत्रस्य यथोक्तस्य दर्शिनो गौतमस्याधिकारेऽपि तथा प्रयोगः स्यादिति किमसंबद्धवादिना पामरेण सह विचारणया। ''तस्स ठाणस्स'' इत्यत्र तच्छब्दाव्यवहितपूर्ववर्त्तिपदार्थपरामर्शकत्वान्नन्दीश्वरादिचैत्यवन्दननिमित्तकाऽऽलोचनाप्रयुक्ताया एवाराधनाया अभिधानाद्विगीमेतदिति। मैवम्। तच्छब्देन व्यवहितस्याप्यत्पतन गमनस्यैवालोचनानिमित्तकालोचनानिमित्तस्य परामर्शात्,यतनयाऽऽहितेन न भोगमनेनाऽपि दोषाभावात्, अत एव च यतनया ग्रामानुग्रामं *विहरता गौतमस्वामिनाऽष्टापदरोहणाय जङ्घाचारणलब्धिं प्रयुज्य* तश्चैत्यवन्दने निर्दोषता, तद्वन्दनं चोक्तमुत्तराध्ययननिर्युक्तो–

''चरमसरीरो साहू, आरुहती णगवरं ण अण्णो त्ति।
एयं तु उदाहरणं, कासी य तहिं जिणवरिंदो ॥२५॥''
सोउण तं भगवओ, गच्छति तहिँ गोयमो पहितकित्ती।
आरुज्झ तं णगवरं, पभिमाओ वंदइ जिणाणं ॥२६॥ त्ति॥

उत्त०नि० १० अ०। ''भगवं च गोयमो जंघाचारणलद्धीए लूतातंतुम्मि णिस्साए उड्ढं उप्पइओ त्ति'' चूर्णिः। *न च लब्धिप्रयोगमात्रं प्रमादमग्लान्या* धर्मदेशनादिना तीर्थकृल्लब्धिप्रयोगेऽपि तत्प्रसंगात्, किं तु तत्कालीनमौत्सुक्यमिति, निरुत्सुकस्य नभोगमनेनापि चैत्यवन्दनेन दोष इति दृढतरमनुसंधेयम्। अत एव भगवत्यां तृतीयशतके पञ्चमोद्देशके सङ्घकृत्ये साधोर्वैक्रियकरणस्य विषयमात्रमुक्तम्। अनगारपूर्वमभियोगे चानालोचनायामभियोगेषु गतिरुक्ता प्रशस्तव्यापारेषु न किञ्चदेतत्। (तथा च तत्पाठः–''अणगारे णं भंते! आविअप्पा वाहिरए पोग्गले'': इत्यादि 'अणगार'शब्दे प्रथमभागे २७४ पृष्ठे उक्तः) (प्रति०)

(७) अथ देववन्द्यतामाधिकृत्य देवानां शरणीकरणीयां भगवन्मूर्त्तिमभिष्टौति–

अर्हच्चैत्यमुनीन्द्रनिश्रिततया शक्रासनक्षमावधि,
प्रज्ञप्तौ भगवान् जगाद् चमरस्योत्पातशक्तिं ध्रुवम्।
जैनीं मूर्तिमतो न योऽत्र जिनवज्जानाति नानातु क–
स्तं मर्त्यं वत षड् गपुच्छरहितं स्पष्टं पशुं पण्डितः ॥९॥

(अर्हदिति)अर्हन्तस्तीर्थकराः, चैत्यानि तत्प्रतिमाः, मुनीन्द्राः परमसौम्यभावनातः साधुचन्द्राः, तन्निश्रिततया तन्निश्राकरणेन हेतुना, भगवान् ज्ञातनन्दनः, चमरस्यासुरकुमारराजस्य, शक्रस्य चासनक्ष्माऽऽसनपृथ्वी, साऽवधिर्यत्र यस्यां क्रियायां तथा, चमरस्योत्पातस्य शक्तिं ध्रुवं निश्चितं, जगाद, अतः–अर्हदनागरमध्ये चैत्यपाठात्, योऽत्र जिनशासने, जैनी मूर्तिं जिनवत जिनतुल्यां न जानाति तं मर्त्यं मनुष्यं कः पण्डितः मोक्षानुगतप्रज्ञावान् जानाति?, न कोऽपीत्यर्थः। सर्वेषामपि प्रेक्षावतां स मनुष्यमध्ये न गणनीय इति तात्पर्यम्। कीदृशं तम्? अविवेकितया स्पष्टं प्रत्यक्षं पशुम्। कीदृशं पशुम?, शृङ्गपुच्छाभ्यां रहितं, शृङ्गपुच्छाभावमात्रेण तस्य पशुत्वेधर्म्यं नान्यदित्यर्थः। व्यतिरेलंकाङ्कारगर्भोऽत्राक्षेपः। प्रति०। ('असुरकुमार' शब्दे प्रथमभागे ८५२ पृष्ठे, 'चमर 'शब्दे अस्मिन्नेव भागे ११११२ पृष्ठे च तत्कृतवन्दन कपाठ उक्तः) अत्र लुम्पकः–''अरहंते वा अरिहंतचेइयाणि वा'' इति पदद्वयस्याऽर्थः, ''समणं चा माहणं वा'' इति पदद्वयस्यैव। अन्यथा–''तं महाडुक्खं खलु'' इत्यादौ अर्हतां भगवतामनागाराणं च भगवत्याशातनया महादुःखमत्रेत्याशातनाद्वयस्यैवोपनयादुपक्रमोपसंहारविरोधापत्तेरित्याह। *तत्तुच्छम्*। उक्तपदद्वयसयोपक्रमे एकार्थत्वे, उपसंहारेऽपि तव गले पादिक्या पदद्वयपाठप्रसङ्गात् अन्यथा शैलीभङ्ग वज्रलेपतानुपपत्तेः। कस्तर्हि विरोधपरिहारोपाय इति चेत्, आकर्णय कर्णामृतं सकर्णनम्, अकर्णो मा भूः। उपक्रमे त्रयाणां शरणीकरणीयत्वे तुल्यत्वे विवक्षासु प्रकृतिवद्धस्य शक्रस्योपहारे वाऽर्हच्चैत्याशातनया अर्हदाशातनायामेवान्तर्भावाद् विवक्षितानां त्रयस्त्रिंशत एव परिगणनादविरोध इति। यदपि भावार्हतां *भावसाधूनां च ग्रहणान्मध्ये चैत्यग्रहणमयुक्तमिति कल्पते, तदपि* सिद्धान्तापरिज्ञानविजृम्भितं,छद्मस्थकालिकस्य भगवतो द्रव्यार्हत एवासुरकुमारराजेन शरणीकरणात्, द्रव्यार्हतः शरणीकरणे स्थापनार्हतः शराणाकरणस्य न्यायप्राप्तत्वात्, चैत्यशरणीकरणीयत्वे स्वस्थानादौ त–

त्सत्त्वान्महावीरः शरणमस्त्विति प्रयोजनं स्यादित्युफुल्लकण्ठवचनं तु महाविदेहे भावार्हतामपि सत्त्वान्नानतिक्रम्य द्रव्यार्हच्छरणीकरणं कथमित्याशङ्क्यैव निर्लञ्छनीयम्, एतेनात्र चैत्यशब्दस्य ज्ञानमर्थ इति मूढकल्पितार्थोऽपि निरस्तः । द्रव्यार्हतः केवलज्ञानाभावात् , अर्हतः पृथक् तद्ज्ञानस्य ग्रहे साधुभ्यः पृथगपि तद्ग्रहापत्तेः। तथा च ''अरिहंते वा अरिहंतचेइआणि वा भाविअप्पणा अणगारा अणगारचेइआणि वा '' इति पाठापत्तेरिति न किञ्चिदेतत्, उपसंहारे चैत्यपदविस्मृतेः। संभ्रमाद् न्यूनत्वं न दोषः । 'मा मासंस्पृश' इत्यादिनाऽलङ्कारानुयायिनः महावीरस्यैवाशातनाया उ टकोटिकसंशयरूपसंभावनामभिप्रेत्याशातनाद्वयस्यैव समावेशतात्पर्य अदोष इत्यन्ये।

अथाशातनाविनयेन देवैर्वन्दित। भगवन्मूर्त्तिः
कस्य सचेतसो न वन्द्येत्याशयेनाह–

मूर्त्तीनां त्रिदशैस्तथा भगवतां सक्यां सदाशातना
त्यागो यत्र विधीयते जगति सा ख्याता सुधर्मा सभा।
इत्यन्वर्थविचारणाऽपि हरते निद्रां दृशोर्दुर्नय–
ध्वान्तच्छेदरविप्रभा जमधियं घूकं विना कस्य न ? ।१०।

(मूर्तीनामिति) यत्र मूर्तीनां सदाशातनात्यागो विधीयते सा सभा सधुर्मेति ख्यातेत्यन्वर्थविचारणाऽपि सुधर्मापदव्युत्पत्तिभावनाऽपि जडधियं लुम्पकं घूकमुलूकं विना कस्य दृशोर्निद्रां न हरते? अपि तु सर्वस्यैव दृशोर्निद्रां हरत इत्यर्थः। कीदृशी? दुनर्या एव ध्वान्तानि, तेषां छेदे रविप्रभा तरणिकान्तिः, रविसदृशीति न तु व्याख्येयं, तत्सदृशात् तत्कार्यानुपपत्तेः। अत्र विनोक्तिरूपककाव्यलिङ्गान्यल ङ्काराः। (प्रति०) ('अग्गमहिसी'शब्दे प्रथमभागे १६६ पृष्ठे सभासु इन्द्रा मैथुनं कर्तुं न शक्नुवन्ति, स्तम्भितजिनशक्तिप्रभावादित्युक्तं दशमशते पञ्चमोद्देशके) एवं षष्ठे सूर्याभातिदेशेन शक्रसुर्माधिकारोऽपि प्रतिमापूजाप्रतिपादनाद् भावनीयः। तथा हि– ''कहि णं भंते! सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो सभा सुहम्मा पण्णत्ता? । गोयमा! जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स "दाहिणेणं इमीसे रयणप्पभाए पुढ० एवं जहा रायप्पसेणइज्ज" जाव पंचवडिंसया पण्णत्ता। तं जहा–असोगवडिंसए० जाव मज्झे सोहम्मवडिंसए, महाविमाणे अद्धतेरसजोयणसयसहस्साइं आयामविक्खंभेणं, एवं जहा सूरियाभे तहेव उववाओ। सक्कसिद्धायतणं पुरच्छिमिल्लेणं दारेण अणुप्पविसइ, जेणेव जिणपडिमा तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता जिणपडिमाणं आलोए पणामं करेइ, लोमहत्थगं गिण्हइ, जिणपडिमं लोमहत्थएणं पमज्जइ, जिणपडिमाओ सुरभिणा गंधोदएणं निहाइ त्ति० जाव आयरक्खति।''अर्चनिकायाः परो ग्रन्थस्तावद्धाच्यो याचदारक्षकाः। स चैवं लेशतः–''तते णं से सक्के देविंदे देवराया सभं सुहम्मं अणुपविसइ, सीहासणे पुरत्थाभिमुहे निसीयइ, ततेणं सक्कस्स देविंदस्स देवरायस्स अवरुत्तरेणं उत्तरेणं उत्तरपुरच्छिमेणं चोरासीसामाणिअसाहस्सीओ णिसीयंति, पुरच्छिमेणं अग्गमहिसीओ, दाहिणपुरच्छिमेणं अब्भिंतरिआए परिसाए बारसदेवसाहस्सीओ णिसीअंति, दाहिणेणं मज्झिमाए परिसाए चोद्दस देवसाहस्सीओ, दाहिणपच्चच्छिमेणं बाहिरियाए परिसाए सोलसदेवसाहस्सीओ णिसीयंति।'' इत्यादि। (प्रति०)

अथ सूर्याभाधिकारेण प्रतिमारीणां शासनार्थं स्तेनानां
कान्दिशीकतां प्रदर्शयंस्ता अभिनौति–

प्राक् पश्चाच्च हितार्थितां हृदि विदन् तैस्तैरुपायैर्यथा,
मूर्ती : पूजितवान् मुदा भगवतां सूर्याभनामाऽसुरः ।
याति प्रच्युतवर्णकर्णकुहरे, तप्तत्रपुत्वं नृप–
प्रश्नोपाङ्गसमर्थिता हतधियां व्यक्ता तथा पद्धतिः ।।११ ।।

''प्रागित्यादि'' । प्रागादौ, पश्चाच्चोत्तरं, तद्भावभवान्तर संबन्धिन्यायत्यां हितार्थितां श्रेयोऽभिलाषितां, हृदि स्वान्ते, विदन् जानन्, तैस्तैर्वक्ष्यमाणैरुपायैर्भक्तिसाधनप्रकारैः, यथा सूर्याभनामाऽसुरः भगवतां मूर्ती : पूजितवान्, तथा व्यक्ता प्रकटा, नृपप्रश्नोपाङ्गे राज–प्रश्नीयोपाङ्गे, समर्थिता सहेतुकं निर्णीता, पद्धतिः प्रक्रिया, हतधियां मूलोच्छिन्नबुद्धिनां, लुम्पकमतिवासितानां, प्रच्युतवर्णे प्रच्युतो वर्णो यस्मात्तादृशे, निरक्षरे इत्यर्थः। तेनाक्षरशक्तिप्रतिबन्धाभावादतिदाहसंभवो व्यज्यते। कर्णकुहरे श्रोत्रविले, नात्र संस्कृतत्वं व्यज्यते। तप्तत्रपुत्वं याति। तान्यक्षराणि दुर्मतिकर्णे तप्तत्रपुवत्स्वगतदोषादेव दाहं जनयन्तीत्यर्थः । आह च–''गुरुवचनमलमपि स्खलदुपजनयति श्रवणस्थितं शुलमभव्य स्येति ''। अत्र तप्तपुत्वं यातीति निदर्शना, 'अभवद्वस्तुसंबन्ध उपमां परिकल्प्य यः। निदर्शनेति'' मम्मटवचनात्। असंबन्धे संबन्धरूपातिशयोक्तिरित्यपरे । (उक्तार्थआलापकस्तु 'सूरियाभ'शब्दे वक्ष्यमाणतच्चरितादवसेयः) प्रति०। रा०।

नन्वत्र प्राक् पश्चाच्च हितार्थिता देवभवापेक्षयैव पर्यवस्यति, तथा चैहिकाभ्युदयमात्रं प्रतिमापूजनादिफलं सूर्याभस्य न मोक्षार्थिनामादरणीयं , देवस्थितेर्देवानामेवाश्रयणीयत्वादित्याशङ्क्य तन्निराकरणपूर्वं तादृशं कारणमाक्षिपन्नाह–

नात्र प्रेत्य हितार्थितोच्यत इति व्यक्ता जिनार्चा स्थितिः,
देवानां न तु धर्महेतुरिति ये पूत्कुर्वते दुर्द्धियः ।।
प्राक् पश्चादिव रम्यतां परभवश्रेयोऽर्थितासंगतां,
प्राक्पश्चाच्च हितार्थितां श्रुतमतां पश्यन्त्यहो ते न किम? ।१५।

(नात्रेति) नात्राधिकृते सूर्याभकृत्ये प्रेत्य हितार्थितोच्यते । ''एयं मे पेच्चाहिआए'' इत्यादिवचनात्। पच्छा पुरा हिआए'' इति वचन उपवचनकर्षणस्थलेऽप्युक्तत्वादिति जिनार्चा व्यक्ता प्रकटा, देवानां स्थितिः स्थितिमात्रं, न तु धर्मसाधनम् इति दुर्धियो दुष्टबुद्धयः पूत्कुर्वते शिरसि रजः क्षिपन्त इव वाढं प्रलपन्ति, ते श्रुतमतां प्राक् पश्चाद्रम्यतामिव प्राक् पश्चाच्च हितार्थितां परभवश्रेयोऽर्थितायां सङ्गतां सहिताम्, उभयलोकार्थितापरिणामीत्यर्थः। किं न पश्यन्ति?, तथाऽदर्शने तेषां महाप्रमाद इत्यर्थः। प्राक्पश्चाद्रम्यतावचनं चेदं राजप्रश्नीये–''तए णं केसीकुमारसमणे एएसिं –एवं वयासीमा णं तुमं पएसी पुव्वं रमणिज्जे पच्छा अरमणिज्जे भवेज्जासि'' (इत्यादि 'पएसी' शब्दे केशीकुमारसंवादे स्फुटी भविष्यति) प्रति०। रा०। अत्र यदेव भावजिनवन्दने फलं तदेव जिनप्रतिमावन्दनेऽप्युक्तम् । न चैतत्सूर्याभदेवस्य सामानिकदेववचनं न सम्यग् भविष्यति इत्याशङ्कनीयम्, सम्यग्दृशां देवानामप्युत्सूत्रभाषित्वाऽसंभवात्, तर्हि काऽप्यागमे–''किं पुव्विं''

करणिज्जं '' इत्यादिके सम्यग्दृष्टिना पृष्टोऽप्यैहिकसुखमात्रनिमित्ते स्त्रगचन्दनादिके ''हिआए सुहाए'' इत्यादिरूपेण केनाऽपि प्रत्युत्तरविषयीकृतं द्रष्टम्। श्रुते चाऽपि वन्दनाधिकारेऽपि क्वचित् ''पेच्चा हियाए'' इत्याद्येवोक्तम क्वचिच्च–''एअं णं इह भवे वा आ णुगामियत्ताए भविस्सइ'' त्ति नोक्तपाठवैषम्यकदर्थनाऽपि। किं च–''पच्छा कडुअ विवागा'' इत्यत्र यथा पश्चाच्छब्दस्य परभवविषयत्वं तथा प्रकृतेऽपीति किं न विभावयसि? एवम्–''जस्स नत्थि पुरा मज्झे, तस्स उक्कोसिया '' इत्राऽपि पुरा पश्चादिति वाक्यस्य त्रिकालविषयत्वं व्यक्तमिति प्रकृतेऽपि तद् योजनीयम् ।।१२।।

स्थितिविषयाशङ्कामेव समानधर्मदर्शनेन उपसंहरन्नाह–

वाप्यादेरिव पूजना दिविषदां मूर्तेर्जिनानां स्थितिः,
सादृश्यादिति ये वदन्ति कुधियः पश्यन्ति भेदं तु न।
एकत्वं यदि ते वदन्ति निजयोः स्त्रीत्वेन जायाऽम्बयो–
स्तत्को वा यततामसंवृततरं वक्त्रं पिधातुं बुधः? ॥१३॥

(वाप्यदेरिति) वाप्यादेर्नन्दापुष्करिण्यादेरिव, आदिशब्दतो महेन्द्रध्वजतोरणसंभाशालभञ्जिकादिपरिग्रहः। दिविषदां देवानां, जिनानां मूर्त्तेः पूजना, स्थितिः स्थितमात्रं, सादृश्यात् अर्चनशब्दाभिधानसाम्यदिति ये कुधियः कुत्सितबुद्धयो, वदन्ति, भेदं तु वक्ष्यमाणं न पश्यन्ति, ते यदि स्त्रीत्वेन स्त्रिलिङ्गमात्रेण निजयोः स्वकीययोर्जायाऽम्बयोः कान्ताजनन्योर्वदन्ति एकत्वं, तर्हि को वा को नाम, वक्त्रं मुखमर्थात्तदीयम्, असंवृततरम् अतिशयेनोद्घाटं, बुधः पण्डितः, पिधातुमाच्छादयितुं, यततां पराक्रमताम्, अशक्येऽर्थे पण्डितस्य यत्नकरणायोगात्, न कोऽपि यततामिति भावः। प्रतिवस्तूपमया दूरान्तरेऽपि यत्किञ्चित्साम्येन भ्राम्यतामुपहासो व्यज्यते।

तदुक्तम्–

''काकेकार्ष्ण्यमलौकिकं ,धवलिमा हंसे निसर्गस्थितो,
गाम्भीर्यं महदन्तरं, वचसि यो भेदः स किं कथ्यते?॥
एतावत्सु विशेषणेष्वपि पुनर्नैनमालोक्यते,
के काकाः सस्त्रि! के च हंसशिशवो देशाय तस्मै नमः ''॥ १३॥

भेदहेतुनैवोपदर्शयंस्तददर्शिनमाक्षिपन्नाह–

सद्धर्मव्यवसायपूर्वकतया शक्रस्तवप्रक्रिया–
भावभ्राजितहृद्यपद्यरचनाऽऽलोकप्रणामैरपि।
ईक्षन्तेऽतिशयं न चेज्जगवतां मूर्त्यर्चने स्वःसदां,
बालास्तत्पथि लौकिकेऽपि शपथप्रत्याथनीया न किम्? । १४।

(सद्धर्मेत्यादि) सद्धर्मव्यवसायपूर्वकत्वमेकं जिनप्रतिमाऽर्चनस्यानुषङ्गिकत्वाद्यर्चनतो भेदकं, व्यवसायनतासंभवेक्षायोपशमादिहेतुत्वात्तज्जिनशासनेनासिद्धम्। तदुक्तम्–''उदयक्ख–ओवसमिओ, ववसायं च कम्मुणा भणिया। दव्वं खित्तं कालं, भावं च भवं च संपप्प''।।१।। इति जीवाभिगमवृत्तौ विजयदेवाधिकारे प्रकृतस्थले विवृतमास्ते, तदालापकश्च प्रकृतालापकादाविशिष्ट इति न पृथग् लिखितः। अत्र पापिष्ठाः–ननु ''धम्मियं ववसायं गिण्हइ'' इत्यत्र धार्मिको व्यवसायः कुलस्थितिरूपधर्मविषय एव युक्तोऽत एव पुस्तके धर्म्य शास्त्रमित्यत्रापि धर्मशब्दार्थः कुलस्थितिधर्म एव। मुख्यव्यवसायस्तु देवानामसंभव्येव।''तिविहे ववसाए पण्णत्ते धम्मिए ववसाए, अधम्मिए ववसाए, धम्माधम्मिए ववसाए'' इति तृतीये स्थानके व्यवसायिनां धार्मिकाधार्मिकधार्मिकाधार्मिकाणां संयतासंयतसंयतासंयतलक्षणानां संबन्धित्वाङ्गेनोच्यमानस्त्रिधा भवन्तीति व्याख्यानाच्चारित्रिणामेव धार्मिकव्यवसायसंभवादिति प्राह। स प्रष्टव्यः– अरे दुष्ट! किमेवं देश संयतानां सामायिकाध्यवसायोऽपि न धार्मिकाध्यवसाय इति स्थापयितुक्षुद्यतोऽसि, तर्हि विषयभेदात् त्रैविध्यं व्याख्यास्यामोऽत एव संयमासंयमदेशसंयमलक्षणभेदाद्वेति पक्षान्तरेण वृत्तौ व्याख्यातमिति चेत्, एतदपि नैगमनयाश्रितपरिभाषाविशेषेणैव युज्यते, अन्यथाऽविरतसम्यग्दृष्टीनां सम्यक्त्वाध्यवसायः कुत्रान्तर्भवेदिति नेत्रे निमील्य विचारयन्तु देवानां प्रियाः। एकान्ताविरतादविरतसम्यग्दृष्टेर्विलक्षणत्वात्, त द्व्यवसायः कदाचिदपेक्षया तृतीयेऽन्तर्भावयिष्यत इति चेत्तर्ह्योकान्तेन त्रैराशिकमतप्रवेशापत्तिभिया पक्षत्रयस्य पक्षद्वय एवान्तर्भाविविवक्ष जिनपूजादिसम्यग्दृष्टिदेवकृत्यं धर्म एवेति वदतां का बाधा? अन्यथा त्वया देवानां जिनवन्दनाद्यपि कथं वक्तव्यं स्वात्? सर्वविरत्यादियोगक्षेमप्रयोजकान् व्यापारानेव धर्मादिशब्दवाच्यान् स्वीकुर्म इति चेत्। न। पदेतन्नैवं परिभाषन्ताम्, अनुगतो धर्मव्यवहारस्तु पुष्टिशुद्धिमक्षित्तानुगतक्रिये चतुर्थगुणस्थानक्रियाऽनुरोधादर्शनाचाररूपदर्शत्वावसायात्मके जिनार्चादि सिद्धान्ते चोक्तम्। तदुक्तं स्थानाङ्गे–''सामाश्यववसाए, तिविहे पण्णते। तं जहा–नाणववसाए, दंसणववसाए चरित्तववसाए त्ति''॥ द्वितीयभेदत्वं शक्रस्तवप्रक्रियाप्रसिद्धप्रणिपातदण्डकपाठ :। न हि वाप्यादिकं पूजयता वाप्यादेः पुरतः शक्रस्तवः पठितोऽस्ति किन्त्वर्हत्प्रतिमानां सकलसंपद्ववान्वितस्यिति मात्रत्वेऽन्यत्राप्यपठिष्यत। न च तारणस्त्वं तारकस्त्वमित्यादयो भावजिनप्रतिमातोऽन्यत्राभिनेतुं शक्यते, न च जिनयात्रादिव्यापारं विना शान्तरसास्वाद इति यत्र यदुचितं तत्रैव तत्प्रयोज्यं सहृदयैः। तथा भावैः पापनिवेदनप्रणिधानाद्यैर्भ्राजितानि यानि हृद्यानि पद्यान्यष्टोत्तरशतसङ्ख्यानि, तेषां स्वनामप्रतिमानां पुरस्तादपि तृतीयं भेदकं भावस्तुतिमङ्गलानां महोदयहेतुत्वेन सूत्रेऽभिधानात्तस्य धर्माक्षेपकत्वात् नहि वाप्यादेरग्रेकृतम्। तथा चतुर्थभेदकम्–आलोकप्रणामः, यत्र जिनप्रतिमास्तत्र ''आलोए पणामं करेइ'' इति पाठोऽन्यत्र तु नेति विनय विशेषोऽपि धर्माक्षेपकः। एवं तैरपि, स्वसदां देवानां, भगवतां मूर्त्यर्चने इति। चेत् यदि, अतिशयं विशेषं नेक्षन्ते तर्हि बाला विशेषदर्शनहेतुशक्तिविकला लुम्पकाः, लौकिकेऽपि पथि भोजनादौ, शपथेन कोशपानादिना, प्रत्याय–नीयाः विश्वासनीयाः किं न भवन्ति?, अपितु तथैव भवन्ति। का मिनीकरकमलोपरि स्थिते शिष्यानीते वा भोजने किमिदं पुरुषमन्नं वेति संशयात्ते न विरमेयुरित्यर्थः। न चायं वस्तुनोऽपराधः,किं तु पुरुषस्य, नह्ययं स्थाणोरऽपराधो यदेनमन्धो न पश्यतीति। कियदेषां महामोहशैलूषप्रवर्तितनाट्यबिभ्मितवर्णनीयमिति दिग्। ।१४।।

अथ स्थितिमभ्युपगम्याह–

भव्योऽभ्यग्रगबोधिरल्पभवभाक् सद्दृष्टिराराधको,
यश्चोक्तश्चरमोऽर्हता स्थितिरहो सूर्याभनाम्नोऽस्य या।

सा कल्पस्थितिवन्न धर्म्मपरतामन्वेति भावान्वयान्,
मा कार्षुर्भ्रममत्र केऽपि पिशुनैः शब्दान्तरैर्वञ्चिताः ।।१५।।

(भव्य इत्यादि) भव्यो भवसिद्धिकः, अभ्यग्रगबोधिः समीपगतबोधिः, सुलभबोधिक इति यावत्। अल्पभवं भजतीत्यल्पभवभाक्, परिमितसंसारिक इत्यर्थः। सती समीचीना दृष्टिर्यस्याऽसौ सद्दृष्टिः, सम्यग्दृष्टिरित्यर्थः। आराधको ज्ञानाद्याराधनकर्ता, च पुनर्यः चरमोऽपश्चिमभवोऽर्हता महावीरेणोक्तः, अहो! इत्याश्चर्ये, अस्य सूर्याभनाम्नो देवस्य या स्थितिः, सा कल्पस्थितिवन्न धर्मपरतां न धर्मव्यवहारविषयतामन्वेति अतिक्रमति। कस्माद्? भावान्वयात् क्षुभभावसंबन्धात्। अत्राधिकृते पिशुनैर्नीचैः शब्दान्तरैः स्थित्यादिशब्दैर्वञ्चिता व्यामोहं प्रापिता भ्रमं मा कार्षुः, न धर्मोऽयं किं तु स्थितिरित्तदिभ्रमभाजो मा भूवन्नित्यर्थः। सूर्याभस्य भव्यत्वादिनिश्चायक आलापको यथा–''अह णं भंते! सूरियाभदेवे किं भवसिद्धिए, अभवसिद्धिए, सम्मद्दिट्ठी, मिच्छाद्दिट्ठि परित्तंसारिए, अणंतसंसारिए, सुलभबोहिए, दुल्लभबोहिए, आराहए, विराहए, चरमे, अचरमे? समणे भगवं महावीरे सूरियाभं देवं एवं वयासी–सूरियाभा! तुमं णं भवसिद्धिएणो अभवसिद्धिए० जाव चरमे णो अचरमे त्ति।'' (भव सिद्धिए त्ति) भवे सिद्धिर्यस्यासौ भवसिद्धिक इत्यर्थः। तद्विपरीतोऽभव–सिद्धिकोऽभव्य इत्यर्थः। भव्योऽपि कश्चिन्मिथ्यादृष्टिर्भवति, कश्चित्सम्यग्दृष्टिस्तत आत्मनः सम्यग्दृष्टित्वनिश्चयाय पृच्छति। सम्यग्दृष्टिरपि कश्चित् परिमितसंसारो भवति, कश्चिदपरिमितसंसारः। उपशमश्रेणि शिरः प्राप्तानामपि केषाञ्चिदनन्तसंसारभावादतः पृच्छति–परिमितसंसारो वाऽनन्तसंसारिको वाऽनन्तसारभावात्। परिमितः स चासौ संसार परिमितसंसारः, सोऽस्यातीति परिमितसंसारिकः, ''अतोऽनेकस्वरात् ।७।२।६। इतीकप्रत्ययः। एवमनन्तश्चासौसंसारश्चानन्तसंसारः, स्योऽस्यास्तीत्यनन्तसंसारिकः। परिमितसंसारिकोऽपि कश्चित् सुलभबोधिको भवति। यथा–शालिभद्रादिकः। कश्चिद् दुर्लभबोधिकः। यथा–पुरोहितपुत्रजीवोऽतः पृच्छति। सुलभा बोधिर्भवान्तरे जिनधर्मप्राप्तिर्यस्यासौ सुलभबौधिकः एवं दुर्लभबोधिकः। सुलभबोधिकोऽपि कश्चिद्बोधिं लब्ध्वा विराधयति ततः पृच्छति। आराधयति सम्यक् पालयति विधिमित्याराधकः; इतरो विराधकः। आराधकोऽपि कश्चित्तद्भवमोक्षगामी न भवति, ततः पृच्छति। चरमोऽनन्तरभावी भवो यस्याऽसौ चरमः, ''अभ्रादिभ्यः'' ।७।२।४६। इति च मत्वथायोऽप्रत्ययः। तद्विपरीतोऽचरमः। एवमुक्ते सूर्याभदेवे श्रमणो भगवान्वीरस्तं सूर्याभं देवमेवमवादीत्–भोः सूर्याभ! त्वं भवसिद्धिकःयावच्चरम इति वृत्तिः। कल्पस्थितिसूत्राणि च–''छव्विहे कप्पट्ठिई,पण्णत्ता। तं जहासागर असंजयकप्पट्ठिई छेओवट्ठावणिम संजयकप्पट्ठिई, णिवसमाणकप्पट्ठिई, णिव्विट्ठकायअसंकप्पट्ठिई, जिण्कप्पट्ठिई थेरे कप्पट्ठिई'' इत्यादीनि तस्मादर्हत्प्रतिमार्च सूर्याभादीनां स्थितिरित्युच्यमानेऽपि सम्यग्दृष्टिस्थितित्वेन धर्मत्वमव्याहिमिति निर्व्यूढ द। यत्तु सूर्याभस्य तावत्सम्यग्दृष्टित्वं निश्चितं, परमष्टाह्निकादौ बहवो देवा जिनार्चनाद्युत्सवं कुर्वन्तीति जीवाभिगमेऽपि प्रसिद्ध, तत्र च थ्यिाद्दक्परिग्रहार्थं बहुशब्द इति सर्वदेवकृत्यत्वेन तत्स्थितिरिति चेत्। मैवम्। त्रत्रैकैकविमानस्थ संख्याताऽसंख्यातसम्यग्दृश एव जिनप्रतिमापूजादि परायणा इति ज्ञापनार्थं बहुशब्दप्रयोगसाफल्यात्। अन्यथा–''सव्वेसिं देवाणं'' इत्यादिपाठ प्रसंगात्। अधिकृततीवाभिगमसूत्रं चेदम्–''तत्थ देसे उत्तरिल्ले अंजण–पव्वए तस्स णं चोइसिं चत्तारि णंदापोक्खरिणीओ पराण्णत्ताओ। तं जहा–विजया०विजयंती, जयंती, अपरा–जिआ, सेसं तहेव० जाव सिद्धयतणा सव्वा चेइयघरवण्णणा णेयव्वा। तत्थ णं बहवे भवणवइयाणमंतरजोइसियवेमाणिया देवा चाउम्मासियपडिवएसु य संचच्छरेसु य अण्णेसु बहुजणनिक्ख–मणनाणुप्पायपरिनिव्वायणमाइएसु देवकज्जेसु देवसमुदएसु देवसमितीसु अ देवसवाएसु अ देवपओअणेसु एगंतओ साहिया समुवागया समाणा। पमुइयपकीलिया अट्ठाहियाओ महामहियाओ करेमाणा सुहं सुहेणं विहरंतीति चेइयघरण्णा ''इत्यत्र चैत्यगृहं जिनप्रतिमागृहमेव द्रष्टव्यम्, अर्हत्साधोस्तत्रासंभवादित्यवमपि लुम्पकस्यैव शिरसि प्रहारः। यद्यप्यभव्यानां चारित्राद्यनुष्ठानमिव मिथ्यादृशामपि जिनप्रतिमापूजादिकं संभवति, तथापि देवानां देवीनां चार्चनीया वन्दनीयाः पूजनीया इत्यादिप्रकारेण जिनप्रतिमावर्णनं मिथ्यादृगपेक्षया न युज्येते, नियमेन सम्यग्धर्मबुध्या जिनप्रतिमापूजावन्दनादेर्मिथ्यादृगादेर्बहिर्भूतत्वात् मातृस्थानादिं विना मिथ्यात्वलेशस्याऽप्ययोगात्, चक्रिणां देशसाधनाद्यर्थं पौषधस्येवैहिकफलस्याप्यश्रवणात्, विघ्नविनायकाद्युपशमस्य तेषां स्वतःसिद्धत्वात्, अन्यथा मिथ्यादृग्देवानां पुर इव यागभागादिवर्द्धनप्रसङ्गादिति दिक्। ननु यदा विमानाधिपतित्वेन मिथ्यादृष्टिरव देवतयोत्पद्यते, तदाऽऽत्मीयबुद्धया जिनप्रतिमां पूजयति, देवस्थितौ च शक्रस्तवं पठति, आज्ञातनां च त्याजयति, तद्वत्प्रकृतेऽपि स्यादिति चेत्। मैवम्। मिथ्यादृशां विमानाधिपतित्वेनोत्पादासंभवाद्, विमानाधिपतिः मिथ्यदृगपि स्यादित्वाविचनस्य क्वाप्यागमेऽनुपलम्भात्, ये च ज्योतिष्केन्द्राश्चन्द्रसूर्या अप्यसंख्यातास्तेऽपि सम्यग्दृष्ट्य एव स्युरिति।।१५।। प्रति०। (वैमानिकानां सम्यग्दृष्टित्वाचिन्ताऽन्यत्र)

(७) नन्वधार्मिका एव देवा उच्यन्ते, तत्कृत्यं न प्रमाणमित्याशङ्क्य निराचिकीषुराह–

सद्भक्त्यादिगुणान्वितानपि सुरान् सम्यग्दृशो ये ध्रुवं,
मन्यन्ते स्म विधर्मणो गुरुकुलभ्रष्टा जिनार्चाद्विषः।
देवाशातनयाऽनया जिनमताद् मातङ्गवल्लेभिरे,
स्थानाङ्गप्रतिषिद्धया विहितया ते सर्वतो बाह्यताम्।।१६।।

(सद्भक्त्यादीति) सतां चातुर्वर्णनीयस्थितानां भक्तिर्बाह्यप्रतिपत्तिरादिर्येषां बहुमानवैयावृत्यादीनां ते च ते गुणाश्च, तैरन्वितान् संयुतान् सम्यग्दृशः सुरानपि ये गुरुकुलाद्भ्रष्टास्त्यक्तगुरुकुलवासा यथाच्छन्दा। यथाच्छन्दविहारिणो जिनार्चाद्विषो जिनप्रतिमापूजादौ धृतद्वेषाः, लुम्पाकाः श्वपाकाः, विधर्माणः विगतो धर्मो धेम्यस्ते विधर्माणः, तादृशान् मन्यन्ते स्म,तेऽनयाऽवर्णवादरूपयाऽऽशातनया स्थानःङ्गप्रतिषिद्धयाऽकर्तृत्वेनोक्तया, विहितया प्रमाद्य कृतया, मातङ्गवच्चाण्डालवत्, सर्वतः सर्वस्माद् बाह्यतां लेभिरे। अनया तैः कर्मचाण्डालत्वं प्राप्तमिति व्यङ्ग्यप्रतीतेः पर्यायोक्तम्, व्यङ्ग्य स्योक्तिः पर्यायोक्त' इति हेमवचनात्। देवशातनयेत्यनन्तरसिवशब्दोल्लेखे तेषां सर्वतो बाह्यतायां हे तोरुत्प्रेक्षणात् गम्योत्प्रे–

क्षा चेति ध्येयम्। प्रति०। (''अवण्णवाय'' शब्दे प्रथमभागे ७९२ पृष्ठे सर्वेषामवर्ण उक्तः) देववर्णवादो यथा–''देवाण अहो सीलं, विसयविसविमोहिआ वि जिणभवणे। अच्छरसाहि पि समं, हासाई जेण न करिंति।।१।।'' इति। स्था० ५ठा०। ''वृत्तौ सविशेषण'' इत्यादिन्यायात्प्राग्भवनीयतपस्संयमयोरेव देववर्णनविधौ तात्पर्यमिति निरस्तम्, एकविधेरम्यतः सिद्धत्वेन चमरेन्द्रेशानेन्द्रादावतिप्रसङ्गेन च विशिष्टविधादेव तात्पर्यात् तस्माद् येऽवार्भिका देवा इति वदन्ति, तैस्तदवर्णवादस्य मूलत उपहसित्वात् स्वकरेण स्वशिरसि रजः क्षिप्यते इति ज्ञेयम्। अत एव सत्यप्यसंयतत्वे निष्ठुरभाषाभयोन्नोऽसंयतत्वमागमेतेषां परिभाषितं, नो धर्मेण इति तु कुमतिग्रस्तेः पूत क्रियमाणं न क्वापि श्रूयते, धर्मसामान्याभावप्रसङ्गेन तथा वक्तुमशक्यत्वात्। उपग्राहितं चैतन्महता प्रबन्धेन ''धर्मपरीक्षायाम्'' इत्यस्माभिरुपरम्यते।।१६।।

अथ देवेषु धर्मस्थापकान् गुणानेव दर्शयन् परानाक्षिपति–

शक्रेऽवग्रहदातृता व्रतभृतां निष्पापवाग्भाषिता,
सच्छर्माद्यभिलाषिता च गदिता प्रज्ञप्तिसूत्रे स्फुटम्।
इत्युच्चैरतिदेशपेशलमतिः सम्यग्दृशां स्वःसदां,
धर्मित्वप्रतिभूः खलस्खलनकृद्धर्मस्थितिं जानताम् ॥१७॥

(शक्र इत्यादि) शक्रे सौधर्मेन्द्रे व्रतभृतां साधूनामवग्रहदातृताऽवग्रहदानगुणः, तथा निष्पापवाग्भाषिता निरवद्यवाग्भाषकत्वगुणः, सतां साध्वादीनां शर्माद्यभिलाषिता अविनश्वरसुखादिकारित्वगुणः, चः समुच्चये, प्रज्ञप्तिसूत्रे भगवत्यां, स्फुटं प्रकटं, गदिता, एते गुणा व्यक्तं प्रतिपादिता इत्यर्थः। इति अमुना प्रकारेण, उच्चैरत्यर्थम्, अतिदेशेन सादृश्यग्राहकवचनेन, पेशला रमणीया मतिः, सम्यग्दृशां सम्यग्दृष्टीनां, स्वःसदां देवानां, तत्संबन्धिनीत्यर्थः। धर्मस्थितिं, धर्मव्यवस्थां, जानतां सहृदयानां, धर्मित्वप्रतिभूः धर्मित्वस्थापनाया ग्रहे तु साक्षिणी, कीदृग्?, खलस्खलनकृत् दुर्जयदुर्जनप्रतिवादिपराजयकृदित्यर्थः। अयं भावः–सम्यग्दृष्टिदेवेष्वेव नवग्रहदानादयो वन्दनवैयावृत्यादयश्चोभयसिद्धा गुणा दर्शनाचारस्य धर्मत्वेन विकृतिभूताः प्रकृतिवद्विकृतिरितिन्यायेन धर्मतयाऽकामेनाप्येष्टव्याः, तत्कथं तद्वन्तोऽप्यधर्मिण इति वदतां जिह्वा न परिशटते? अथ भगवद्वन्दनमेव तेषां धर्मो, वाचादिकमिति त्वर्द्धजरतीयग्रहणे विनाऽनन्तानुबन्धिनं हठान्नान्यत्कारणं पश्यामः। अक्षराणि चात्र–''तए णं से सक्के देविंदे देवराया समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मं सोच्चा णिसम्म हट्ठ० समणं भगवं महावीरं वंदइ, नमंसइ, वंदइत्ता एवं वयासी–कइविहे णं भंते! उग्गहे'' (इत्यादि ''उग्गह'' शब्दे द्वितीयभागे ६९९ पृष्ठे शक्रागमनावसरे पाठ उक्तः)।।१७।। प्रति०।

(८) मौनेन भगवदनुमतिः। यत्यननुमोद्यं देवानां भक्तिकृत्यं, तेन न धर्म इति गूढाशयस्य शङ्कामसिद्ध्या निराकुर्वन्नाह–

देवानां ननु भक्तिकृत्यमपि न श्लाघ्यं यतीनां यतः,
सूर्याभःकृतनृत्यदर्शरुचिप्रश्नोऽर्हताऽनादृतः।
हन्तेयं जडा! चातुरी गुरुकुले कुत्र त्वया शिक्षिता,
सर्वत्राऽपि हि पण्डितैरनुमतं येनानिषिद्धं स्मृतम् ॥१८॥

(देवानामित्यादि) ननु देवानां भक्ति०कृत्यमपि प्रतिमाऽर्चनादि, यतीनां न श्लाघ्यं नानुमोद्यं, ततश्च न धर्मो वन्दनादि, श्लाघ्यत्वात् धर्म एवा। अत एव ''पोराणमयं सूरियाभ'' इत्यादि प्रतिज्ञाय चतुर्विधा देवा अर्हतो भगवतो वन्दित्वा नमस्कृत्य स्वस्वनामगोत्राणि श्रावयन्तीत्येवं निगमनमिति द्रष्टव्यम्। इदंमित्थमेव। यतः सूर्याभःकृतो नृत्यविधिर्नृत्यकरणप्रश्नो येन स तथाऽर्हता श्रीमहावीरेण नादृतः तन्नृत्यकरणप्रश्नं नादृतवानित्यर्थः। तथा च सूत्रम्–''तते णं से सूरियाभे देवे समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठा जाव हियया उट्ठेइ, उट्ठेइत्ता समणं भगवं महावीरं वंदइ, णमंसइ, णमंसइत्ता एवं वयासीअहं णं भंते! सूरियाभे देवे किं भवसिद्धए० जाव अचरमे। तते णं से सूरियाभे देवे समणेणं एवं वुत्ते समाणे हट्ठतुट्ठचित्तमाणंदिए परमसोमणस्से समणं भगवं महावीरं वंदइ, णमंसइ, णमंसइत्ता एवं वयासी–तुब्भे णं भंते! सव्वं जाणह सव्वं पासह सव्वं कालं जाणह पासह सव्वे जाणह पासह जाणंति णं देवाणुप्पिया! ताव तं इच्छामि णं० जाव उवदंसित्तए। तते णं समणे भगवं महावीरे सूरियाभेणं देवेणं एवं वुत्ते समणे सूरियाभस्स देवस्स एयमट्ठं सोच्चा णो अट्ठाइ, णो परिजाणइ, तुसिणीए संचिट्ठइ! त ते णं से सूरियाभे देवे समणं भगवं महावीरं दोच्चं पि तच्चं पि एवं वयासीतुब्भे णं भंते! सव्वं जाणह० जाव उवदंसिए त्ति कट्टु समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ'' इत्यादि। प्रति०। रा०। अत्रोत्तरम्–हन्त इति खेदे, इयं चातुरी त्वया गुरुकुले कुत्र शिक्षिता, यत् मौनं निषेधमेव व्यञ्जअयतीति, येन कारणेन सर्वत्रापि सर्वस्मिन्नपि संप्रदायैः पण्डितैः अभिषिद्धमनुमतं स्मृतम्, अत एव स्वार्थमाहारादि निष्पादयन् गृही अप्रतिषेधानुमतिप्रसंभयादेव निषिध्यते, आनिषेधस्यानुमत्याक्षेपकत्वातिप्रसङ्गादिति। सोऽनुपदमेव निराकरिष्यते॥१८॥

तूष्णींभावे भवद्भिरपि किं वीजं वाच्यमित्या–

शङ्कायामाह–

इच्छा स्वस्य न नृत्यदर्शनविधौ स्वाध्यायभङ्गः पुनः,
साधूनां त्रिदशस्य चातिशयनी भक्तिर्भवध्वंसिनी।
तुल्यायव्ययतामिति प्रतियता तूष्णीं स्थितं स्वामिना,
बाह्यस्तत्प्रतिषेधको न कलयेत्तद्वंशजानां स्थितिम् ॥१९॥

(इच्छेति) स्वदर्शनविधौ नेच्छा, वीतरागत्वात्, साधूनां गौतमादीनां पुनर्नृत्यदर्शने स्वाध्यायभङ्गः, स चानिष्टः। तेषां त्रिदशस्य सूर्याभस्य च भक्तिः भवध्वंसिनी, नृत्यप्रदर्शने समुदायापेक्षया तुल्यायव्ययतां समानहानिवृद्धिकरत्वं, प्रतियता केवलज्ञानालोकेन कलयता स्वामिना श्रीवर्द्धमानस्वामिना तूष्णीं मौनेन स्थितं, प्रत्येकं तु यस्य यो भावो बलवांस्तदपेक्षया तस्य विधेर्भवत्येवानिष्टानुबन्धस्याबलत्वान्नयविशेषेण तदभावाद्वा तत्साम्राज्यात्। अन्यथाऽऽहारविरोधादिविधायिगतेः वाग्विषये तु संप्रदायक्रमनियामक इति तद्वंशजानां स्वामिवंशोत्पन्नानां स्थितिर्मर्यादा तां, बाह्यः, शासनबहिर्भूतो, न कल्पयेन्न जानीयात्, न ह्यन्यत्कुलमर्यादांतद्बहिर्वर्ती जानातीत्युक्तिः।।९।।

वाक्क्रमवैचित्र्य मेवोपदर्शयति। वालिमिव सावद्यं नानुमन्यते भगवान्–

सावद्यं व्यवहारतोऽपि भगवान् साक्षात्किलानादिशन्,

बल्यादि प्रतिमार्चनादि गुणकृन्मौनेन संमन्यते ।
नत्यादि द्युसदां तदा चरणतः कर्त्तव्यमाह स्फुटं,
योगेच्छामनुगृह्य वा व्रतमतिश्चत्रो विभोर्वाक्क्रमः ॥२०॥

(सावद्यमिति) यत्किल बल्पादि प्रतिमार्चनादि च व्यवहारतोऽपि-स्थूलव्यवहारेणऽपि सावद्यं सावद्यत्वव्यपदेशविषयः, तत्साक्षात् कण्ठरवेण अनादिशन् भगवान्मौनेन गुणकृत् संमन्यते, मौनाक्षिप्तविधिना तत्र प्रवर्तयतीत्यर्थः । अप्रमादसारो हि भगवदुपदेशोऽपुनर्बन्धकादौ स्वस्वौचित्येन विशेषे विश्राम्यतीति, तदाऽयं चातिशयविजृम्भितम् ! अत एव–''सव्वे पाणा सव्वे भूया'' इत्याद्युपदेशात् तदीयात् केचिच्चारित्रं केचिद्देशविरतिं केचित्केवलसम्पत्तवं, केचिन्मद्यमांसादिविरतिं प्रतिपन्नवन्तः ते ह्यप्रमादविधिशेषीभूतात् स्वस्वौचितविधानमाया-प्रतिभयाद्वा प्रतिसंधाय तत्तदर्थेऽप्रमादमेव पुरस्कुर्वते, तथा प्रवर्तते चेत्यर्थः । सिद्धमुपदेशपदे, द्युसदां देवानां, नत्यादि वन्दनादि, तदा चरणतः चरणमाश्रित्य स्फुटं कर्तव्यमाह । अत एवाऽऽह–''सूर्याभो-देवानुप्रियं वन्दे'' इत्याद्युक्तौ ''पोराणमेयं ''इत्याद्युक्तेर्भगवतां पुर एव नाट्यकरणादिपर्युपासनाथाअप्युपदेशः । अन्यथा–''जाव पज्जुवासामि'' इत्यद्योत्तराभावेन न्यूनतापत्तेः । न च नामयोत्रश्रावणविधिः स्वतन्त्र एव, तस्य सुखहान्यन्यतरत्वाभावेन फलविधित्वाभावात्, नाऽपि साधन-विधिः, पर्युपासनाया एव साधनत्वात् समक्षतया नामगोत्रश्रावणस्य साधनत्वासिद्धे :, किं तु चिकीर्षितसाधनानुकूलप्रतिज्ञाविधिशेषतया तस्योपयोगः, शेषेण आक्षेपः सुकर एवेति व्युत्पन्नानां न कश्चिदत्र व्यामोहः, व्रतं चारित्रं, स्फुटं प्रकटं, प्रवृत्तयोगिनं प्रत्याह–''एवं देवाणु-प्पिया गंतव्वं'' इत्यादिना इच्छायोगिनं प्रति च योगेच्छामनुगृह्य चाह–''अहासुहं देवाणुप्पिया! मा पडिबंधं करेह'' इतीच्छानुलोमभाषयाऽऽ-हेत्यर्थः, वाकारो व्यवस्थायाम् । एवं विभोर्भगवतो, वाक्क्रमो वचनरच-नानुक्रमः, चित्रो नानाप्रकारः । मौनमपि च विनीतमभिज्ञं पुरुषं प्रतीच्छानुलोमादिव्यञ्जकमेवेति तत्तात्पर्यप्रतिसंधानेनैव प्रेक्षावत्प्रवृत्तिः सुघटा । अत एव मौने स्वव्यवहारानुरोधेन कृतेऽपि पारिणामिक्या बुद्ध्या स्वकृतिसाध्यत्वेष्टसाधनत्वाद्यनुसंधाय नाट्यकरणमारब्धं सूर्याभेण देवेन । तदुक्तं राजप्रश्नीयवृत्तौ–''तए णं'' इत्यादि । ततः पारिणामिक्या बुद्ध्या तत्त्वगम्यमौनमेव भगवत उचितं, न पुनः किमपि वक्तुं, केवलं मया भक्तिरात्मीयोपदर्शनीयेति प्रमोदातिशयतो जातपुलकः सन् सूर्याभदेवः श्रमणं भगवं महावीरं वन्दते, स्तौति, नमस्यति कायेन वन्दित्वा नमस्कृत्य, '' उत्तरपुरच्छिमं'' इत्यादि सुगममिति ।।२०।।

एकाधिकारकितुल्यायव्ययत्वादेव भक्तिकर्मणि विभोर्मौ–
नमुचितमिति मतं निषेधयति–

दानादाविव भक्तिकर्मणि विभुर्दोषान्निषेधे विधौ,
मौनी स्यादिति गीर्मृषैव कुधियां दुष्टे निषेधस्थितेः ।
अन्यत्र प्रतिबन्धतोऽनभिमत्यागानुपस्थापनात,
प्रज्ञाप्ते विनयान्विते विफलताद्वेषोदयासंभवात् ॥२१॥

(दानादाविति) दानशालादिषु श्राद्धस्थानेषु दीथमाने दानादाविव भक्तिकर्मणि नाट्यजिनार्चादौ विभुर्निषेधे विधौ च दोषदुभयतः पात रज्जुस्थानी स्यात् । तथाहि–दानादिनिषेधेऽन्तराय भयं, तद्विधाने च प्राणिघातानुमतिरिति तत्र साधूनां मौनमेव युक्तम् ।

''जे तु दाणं पसंसंति, वहमिच्छंति पाणिणं ।
जे अ णं पत्तिसेहंति, विप्पिच्छेअं करंति ते ॥
दुहतो वि ते ण मासंति , अत्थि वा नत्थि वा पुणो ।
आयं रहस्सेॅ हिच्चा णं, निव्वाणं पाउणंति ते'' ॥

इति सूत्रकृतद्वचनात् । तथा भक्तिकर्मण्यपि निषेधे भक्तिव्याघात-भयं, विधौ च बहुप्राणिव्यापत्तिभयादिति मौनमेवोचितमिति भावः । इतीयं गीः कुधियां कुबुद्धिनां मृषैव । कुतः?दुष्टे दोषवति, निषेधस्थितेः निषेधव्यवस्थानात् । एतदपि कुतः? प्रतिबन्धतः प्रतिबन्धो व्याप्तिस्ततः । प्रतिबन्धाकारश्चायम् यद्यत्र येन दोषवता ज्ञायते तत्तत्र तेन निषेध्यमिति निषेधार्थः । पापजनकत्वमनिष्टजन्यशोधनत्वं तावत् यदि दोषवति न स्यात् तर्हि स्वप्रतिव्याघातदण्डे विपक्षबाधकतर्केण तद्ग्रहः । अथ दुष्टमशुद्धाहारदानं, तच्च व्याख्यानशक्त्यभावेऽनुकूल-प्रत्यनीकेन निषिद्धयत इति व्यभिचारः, तदाह– अन्यत्र तेनानभिमतो यस्त्यागस्तस्यानुपस्थापनमुपस्थापनानुकूलशक्यभावस्ततः । तदुक्त-माचारे सप्तमस्य द्वितीये–''ते फासे मुद्धो धीरो अहियाए अदुवा आयारगोयरमाइक्खे सक्खिपाणमणेलिसं अदुवा वयगुत्तीए गोयमस्स'' इत्यादि तर्कयित्वा पुरुषं, कोऽयं पुरुष इत्यनन्यस्य ह्यशमाचक्षीत, विकलेनानुवाग्गुप्तिर्विधेयत्याह–''अदुवा'' इत्याद्यर्थः । तथा चयद् दुष्टं तच्छक्तित्वे निषिद्धयतेति नियमो लभ्यते, तेन एकान्तदुष्टस्य निर्बतेन वादिनो निषेधेऽपि वाग्गुप्तिसमाध्य प्रतिरोधान्न दोषः । त दुक्तं तत्रैव–''अदुवा वायाओ चिउज्जंति । तं जहाअत्थि लोए, णत्थि लोए, धुवे लोए,अधुवे लोए, साइए लोए, अणाइए लोए, सपज्जवसिए लोए, अपज्जवसिए लोए, सुकमे त्ति वादुक्कमे त्ति वा कल्लाणे त्ति वा पवित्ति वा सार त्ति वा असार त्ति वा सिद्धि त्ति वा असिद्धि त्ति वा निरए त्ति वा अनिरए त्ति वा जमणिविप्पडिवन्ना मामगं धम्मं पन्नवेमाणा एत्थ विज्ञाए'' अकस्मात् ''एवं तेसिं णो सुअक्खाए णो सुपण्णत्ते धम्मे भवति । से जहेयं भगवया पवेइया आसुपण्णेणं जाणया पासया अदुवा गुत्तीए गोयमस्स त्ति बेमि।'' अस्तिनास्तिध्रुवाध्रुवाद्येकान्तवादमौलिकानां त्रयाणां त्रिषष्ट्य-धिकानां प्रावादुकशतानांवादेलब्धिमतांप्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तोपन्यासेन तत्पराजयापादनः सम्यगुत्तां देयम् । अथवा–गुप्तिर्वाग्गोचरस्य विधेये तदहं ब्रवीमीति फलितार्थः । तथा प्रज्ञाप्ये प्रज्ञापनीये, विनयान्विते पुरुष इत्यपि विशेषणीयम्, कुतः?, निषेधस्य विफलतायाः श्रोतुर्द्वेषोदयस्य चासंभवात् । तेन जमालिना विहारकर्त्तव्यतां पृष्टो भगवास्तंदुष्टतां जानानोऽपि यन्न निषिद्धवान्, किं तु मौनमास्थितवाँस्तत् न दोषः । अविनीते हि सत्यवचः प्रयोगेऽपि फललोऽसत्य एव । तदाह ''अविणीय-माणवं तो, किलिस्सई भासई मुसं चेव । घंटालोहं णाउं, को कमकरणे पवित्तज्जा ।।''त्ति । तत्प्रज्ञाप्ये विनीते सूर्याभे नाट्यकर्तव्यतां पृच्छति भगवतो मौनमनुमतिमेव व्यञ्जयतीति स्थितम् । यस्तु भक्तिनिषेधे 'जे तु दाणं' इत्यादिना प्रशंसाया अपि निषेधाद् दाननिषेधः सुतरामिति पापिष्ठेन दृष्टान्ततयोक्तः, सोऽप्ययुक्तः, ' जे तु दानं' इत्यादिसूत्रस्य दातृपात्रयोः दशाविशेषगोचरत्वात्, अपुष्टाऽलम्बनगोचरत्वादिति यावत् । पुष्टालम्बनं तु द्विजन्मने भगवद्वस्त्रदानवत् सुहस्तिनो रङ्कदानवत्साधू-नामपि गृहिणामनुकम्पादानं श्रूयतो ''गिहिणोवेयावडियं न कुज्जा'' इत्यादिना

तन्निषेधस्या प्युत्सर्गपरत्वात्। भवति हि तेन मिथ्यादृष्टेरप्यप्रमत्तसंयतगुणस्थानादिनिबन्धनाविरतसम्यग्दृष्ट्यादिगुणस्थानप्राप्तिलक्षणो गुणः प्राप्तदृढतरगुणस्थैर्यार्थम्। अपि च तदनुज्ञायते– 'उस्संनस्स गिहस्स व, जिणपवयणनिच्चभावियमइस्स। कीरइ जं अणवज्जं, दढसम्मत्तस्सऽवत्थासु।।'' इत्यादिना स्वनिष्ठं तु फलं ज्ञानिनां तीर्थकृत इव तथाविधौचितप्रवृत्तिहेतुशुभकर्मनिर्जरणमेव।(प्रति०)

अनिषेधात्तु संमतिमेव सदृष्टान्तमुपपादयति–

ज्ञातैः शल्यविषादिभिर्नु भरतादीनां निषिद्धा यथा,
कामा नो जिनसद्मकारणविधिर्व्यक्तं निषिद्धस्तया॥
तीर्थेशानुमते परानुमतर्द्रव्यस्तवे किं ततो,
नेष्टा चेज्ज्वरिणां ततः किमु सिता माधुर्यमुन्मुञ्चति?२२

(ज्ञातैरिति)'नु' इति निश्चये, शल्यविषादिभिर्ज्ञातैर्दृष्टान्तैः, यथा भरतादीनां कामा निषिद्धाः, तथा जिनसद्मकारणविधिर्व्यक्तं न निषिद्धः। श्रूयते चागमे–''थूभसंभाउआणं, अट्ठासीयं च जिणघरे कासी।'' इत्यादिना च यदि सदुष्टः स्यात्तदा कामादेरिवे निषिध्येत, न च तथा निषिद्धः, इत्यनुमतः इत्येवानु मीयते। आह च–''ताए अणुमउ व्विय अप्पभिसेहाओ तं जुज्जीए त्ति। तथा ''ओसरणे वलिमाइं, भरहाईण न निवारितं तेण। तह तेसिं चिय कामा, सल्लविसाईहिँ णाएहिं।।'' तीर्थेशानुमते द्रव्यस्तवे परानुमतेर्द्वेषाननुमोदनात् किं स्यात्?, न किञ्चिदित्यर्थः। इदमेव प्रतिवस्तूपमया दृढयतिचेद्यदि ज्वरिणां सिता शर्करा, नेष्टा नाभिमता, ततः किं माधुर्यं स्वभावसिद्धमधुरतागुणमुन्मुञ्चति?, नैवोन्मुञ्चति। तद्वद्भवउनुमतस्य द्रव्यस्तवस्यान्यद्वेषमात्रेण नासुन्दरत्वमिति गतार्थः।।२२।।

(६) अनुमोद्यत्वमेव द्रव्यस्तवस्य सूत्रनीत्या स्थापयन् परमाक्षिपती–

साधूनां वचनं च चैत्यनमनश्लाघार्चनोद्देशतः,
कार्यात्सर्गविधायकं ह्यनुमतिं द्रव्यस्तवस्याह यत।
तत्किं लुम्पक! लुम्पतस्तव भयं दुःखौघहालाहल–
ज्वालाजालमये भवाहिवदने पातेन नोत्पद्यते? ॥२३॥

(साधूनामित्यादि) साधूनां परमार्थतश्चारित्रवतां, चैत्यनमनश्लाघार्चनोद्देशतश्चैत्यवन्दनाद्युपदेशेन, कायोत्सर्गविधायकं कायोत्सर्गकरणप्रतिज्ञाप्रतिपादकं, हि निश्चितं, वचनं द्रव्यस्तवस्ययत् अनुमतिमनुमोदनमहो, हे लुम्पक! तद्वचनं, लुम्पतस्तव भवाऽहि वदने संसारभुजङ्गवक्त्रक्रोडे, पातेन कृत्वा भयं नोत्पद्यते?, अयुक्त–मेतत् तवेति व्यङ्ग्यम्। भवाऽहिवदने किं भूते?, दुःखौघ एव हालाहलं तस्य यत् ज्वालाजालं तन्मये। सूत्रे चेदं स्पष्टमेव–''अरिहंतचेइआणं'' इत्यादि। अस्यार्थः–अर्हतां भावार्हतां चैत्यानि चित्तसमाधिजनकानि प्रतिमालक्षणानि अर्हच्चैत्यानि, तेषां वन्दनानिमित्त कायोत्सर्गं करोमीति संबन्धः। कायोत्सर्गःस्थानमौनत्यागं विनाऽऽभ्यन्तरत्यागः, तं करोमि। किं निमित्तामित्याह–''वंदणवत्तियाए'' इत्यादि। वन्दनं प्रशस्तमनोवाक्कायप्रवृत्तिः, तत्प्रत्ययं तन्निमित्तं, यादृक् वन्दनात् पुण्यं स्यात्तादृक्कायोत्सर्गादपि भवत्वित्यर्थः। 'वत्तिआए त्तिआर्षत्वात्सिद्धम् 'पूअणवत्तिआए'पूजनं गन्धमाल्यादिभरभ्यर्चनं, तत्प्रत्ययम् 'सक्कारवत्तिआए' सत्कारौ वस्त्राभरणादिभिस्तत्प्रत्ययम्। नन्वेतौ पूजासत्कारौ द्रव्यस्तवत्वात् साधोः''छज्जीवकायसंजमो'' इत्यादिवचनप्रामाण्यात्कथं नानुचितौ?, श्रावकस्य तु साक्षात् कुर्वतः कायोत्सर्गद्वारेण तत्प्रार्थने कथं न नैरकर्थक्यम्? उच्यतेसाधोर्द्रव्यस्तवनिषेधः स्वयं करणमाश्रित्य न तु कारणानुमतिरप्यस्ति। युदक्तम्–''सुव्वइ अ वयररिसिणा, कारवणं पि य अणुट्ठियमिमस्स।'' ..... कामगंधे, सुअं गया देसणा चेव।'' श्रावकस्य त्वेतौ संपादयतो भक्त्यतिशयादाधिक्यसंपादनार्थं प्रार्थ्यमानस्यन नैरर्थक्यम्। एते भगवन्तोऽत्यादरेण वन्द्यमानाः पूज्यमाना अप्यन्तगुणत्वान्न सुवन्दितपूजिताः स्युः। अत्र दशार्णभद्रो दृष्टान्तः। तदेवंपूजासत्कारौ भावस्तवहेतुत्वाङ्गणनीयवेवेति। ''सम्माणवत्तिआए'' संमानः स्तवादिभिर्गुणोत्कीर्तनं, तत्प्रत्ययं अद्वैतभाववन्दनाद्यम्, तत् किमर्थमित्याह–''बोहिलाभवत्तियाए त्ति'' बोधिलाभःप्रेत्य जिनधर्मप्राप्तिः, तत्प्रत्ययम्। एषोऽपि किं निमित्तम्?–''निरुवसग्गवत्तियाए त्ति'' निरुपसर्गो जन्माद्युपसर्गरहितो मोक्षः, तत्प्रत्ययम्। अयं च कायोत्सर्गः श्रद्धादिरहितैः क्रियमाणोऽपि नेष्टसाधक इत्यत आह–''सद्धाए''इत्यादि। श्रद्धया स्वाभिप्रायेण, न बलाभियोगादिना, 'मेधया' हेयोपादेथपरिज्ञानरूपया, न जडत्वेन मर्यादावर्तितया वा नासर्चितेन तद्वैकल्येन वर्द्धमानयेति प्रत्येकं श्रद्धादिभिः संबध्यते। एवमेतैर्हे तुभिस्तिष्ठामि करोमि कायोत्सर्गमिति वृत्तिः द्रव्यस्तवानुमोदनादिति भावः। इति भावस्तवस्यापचयाय कायोत्सर्गद्वारा तदाश्रयणं युक्तम्, अनुमोद्यनिमित्तलोकोपचारविनयोपकर्षत्वाच्च तदत्यन्तोपयोगः दुर्गतरत्नाकररत्नलाभतुल्यत्वाद्वा यतीनां कृतप्रयत्नस्येति भावनीयं सुधीभिः।।२३।।प्रति०।

तन्त्रयुक्त्या द्रव्यस्तवे साधोरनुमोदनमस्तीत्येत–देव दर्शयन्नाह–

तंतम्भि वंदणाए, पूयणसक्कारहेउ उस्सग्गो।
जतिणो वि हु णिद्दिट्ठो, ते पुण दव्वत्थयसरूवे॥२९॥

तन्त्रे शास्त्रे, किंनामके? वन्दनायां चैत्यवन्दनाऽभिधाने, पूजनसत्कारहेतु पूजासत्कृतिनिमित्तम्, उत्सर्गः कायोत्सर्गः, यतेरपिभावस्तवरूढसाधोरपि, न केवलं गृहिणः, हुशब्दस्तथैव, निर्दिष्टोऽभिहितस्तीर्थकरादिभिः। यतस्तन्त्रसूत्रम्–''अरहंतचेइयाणं करेमि काउस्सग्गं वंदणवत्तियाए पूयणवत्तियाए सक्कारवत्तियाए'' इत्यादि। यद्येवं तदा प्रस्तुते किमायातम्?, इत्याह (ते पुण त्ति) ता पुनः पूजनसत्कारौ, (दव्वत्थयसरूवे त्ति) प्राकृतत्वात् द्रव्यस्त–वस्वरूपौ द्रव्यस्तवस्वभावौ भवतः। द्रव्यस्तवस्वरूपे वा एतौ वर्तेते। इदमुक्तं भवति०द्रव्यस्तवस्वरूपपूजादिप्रत्ययकायोत्सर्गप्रतिपादनात्साधौर्द्रव्यस्तवेऽनुमोदनमनुज्ञातं सूत्रे। इतिगाथार्थः।।२९।

अथ पूजनसत्कारयोर्द्रव्यस्तवताऽभिधानायाऽऽह–

मल्लाइएहिँ पूजा, सक्कारो पवरवत्थमादीहिं।
अण्णे विवज्जओ इह, दुहा वि दव्वत्थओ एत्थ॥३०॥

मालायां साधूनि माल्यानि ग्रथितकुसुमानि, तदादिभिः। आदिशब्दादग्रथितकुसुमग्रहः। पूजा पूजनं भवति सत्कारः सत्कृतिर्भवति प्रवरवस्त्रादिभिः प्रधानवसनप्रभृतिभिः, इह च मकारः प्रा–

कृतप्रभवः । आदिशब्दश्च कनकादिपरिग्रहार्थः । इत्येकीयं मतम् । अन्येऽपरे सूरयः, विपर्ययो व्यत्यासः, पूजा प्रवरवस्त्रादिभिः, सत्कारो माल्यादिभिरित्येवं लक्षणः । इहेति पूजासत्कारलक्षणे, इति मन्यन्ते इति वाक्यशेषः । प्रस्तुतयोजनार्थमाह–द्विधाऽपि द्वाभ्यामपि प्रकाराभ्यां, व्याख्यानद्वयेऽपित्यर्थः । द्रव्यस्तवोऽस्ति, अत्रेति पूजासत्कारयोः । इति गाथार्थः ॥३०॥

एवं तावत्तन्त्रतो द्रव्यस्तवे साधोरनुमोदनं दर्शितमथो–पपत्तितस्तदेव दर्शयन्नाह–

ओसरणे वलिमादी, ण चेह जं भगवया वि पडिसिद्धं ।
ता एस पणुण्णाओ, उचियाणं गम्मती तेण ॥३१॥

अवसरणे समवसरणे, देवसंस्कृत भगवद्व्याख्यानभूमौ, वल्याद्युपहारप्रभृति, आदिशब्दाद्गन्धमाल्यगीतवाद्यपरिग्रहः । न नैव, चशब्दो द्रव्यस्तवाऽनुमोदनस्य समर्थने कारणान्तरसमुच्चयार्थः । इहागमे, लोके वा, यद्यस्मात्कारणात्, भगवता जिनेनाऽपि । तेन हि किल तन्निरतिचारचारित्रतया निषेधनीयं स्यादित्यपिशब्दार्थः । प्रतिषिद्धं डिवारितम् । (ता इति) तस्मात्कारणात्, एष द्रव्यस्तवः वल्यादिविधानस्य द्रव्यस्तवत्वात्, अनुज्ञातोऽनुमतः, इति गम्यतेऽवसीयते, ''अप्रतिषिद्धमनुमतं'' इतिवचनात्, उचितानां तद्योग्यानां गृहस्थानां, राजादीनामित्यर्थः । तेन भगवता जिनेनेति । आह च–

''राया च रायमच्चो, तस्सासइ पउरजणवओ वा वि ।
दुब्बलिखंडियछड्डिय–तंदूलाणाढगं कलमा ।।१।।
भाइयपुण्णणियाणं, अखडंफुडिगाण फलगसरिसाण ।
कीरइ वली सुरा वि हु, तत्थेव बुहंति गंधाई ।।२।।''

इत्यादि । इति गाथार्थः ।।३१।।

अथ भवतु भगवतोऽनुमतोऽयं तदन्येषां तदनुमतिर्न युक्ता, अमुक्त्वङ्गत्वादिन्याशङ्क्याऽऽह–

ण य भगवं अणु जाणति, जोगं मुक्खविगुणं कदाचिदवि ।
ण य तयणुगुणो वि तओ, ण बहुमतो होति अणोसिं ॥३२॥

न च नैव, भगवानर्हन्, अनुजानाति अनुमन्यते, योगं व्यापारम् । किंविधम्?, मोक्षविगुणं निर्वाणाननुगुणम्, कदाचिदपि कचिदपि काले, पारमार्थिकपरोपकारकरणस्वरूपत्वाद्व्रतः । ततः किमित्याह–न च न पुनः, तदनुगुणोऽपि मोक्षानुकूलोऽपि, मोक्षविगुण एवाऽबहुमतो भवति इति सूचनार्थाऽपिशब्दः । तको योगः, न बहुमतो नानुमतो,बहुमत एव, भवति जायते, अन्येषां भगवतोऽपरेषां साधूनाम् । इति गाथार्थः ॥३२॥

ननु भगवतोऽपि चारित्रित्वात् द्रव्यस्तवानुमतिर्न युक्ते–त्वाशङ्क्याह–

जो चेव भावलेसो, सो चेव य भगवतो बहुमतो उ ।
ण तओ वि णेयरेणं, ति अत्थथो सो वि एमेव ॥३३॥

य एव भावलेशो भगवद्बहुमानरूपः, द्रव्यस्तवाद्भवतीति शेषः । (सो चेव य त्ति) स एवासावेव, नेतरः । चशब्द इदमपरं युक्त्यन्तरमिति सूचनार्थः । भगवतो जिनस्य, बहुमतोऽनुमतो, मुख्यवृत्त्या भगवतस्तथास्वभावत्यात् । तुः पूरणे । केवलं न नैव, तकोऽसौ भावलेशोऽपि, नेतरेण द्रव्यस्तवं विना भवति, इति हेतोः, अर्थतः सामर्थ्यात् , लोऽपि द्रव्यस्तपोऽपि, न केवणं भावलेश एव । एवमेव भावलेशवदेव, बहुमत एव । इति गाथार्थः ॥३३॥

भावलेशं बहु मन्यमानेन द्रव्यस्तवो बहुमत एवेति समर्थ–वन्नाह–

कज्जं इच्छंतेणं, अणंतरं कारणं पि इट्ठं तु ।
जह आहारजातित्तिं, इच्छंतेणेह आहारो ॥३४॥

कार्यं साध्यं भावलेशादिकम्, इच्छता अनुमन्यमानेन, अनन्तर–मव्यवहितं, न तु व्यवहितं कृष्यादिकं, तथैवानुभूतेः । कारणमपि हेतुरपि द्रव्यस्तवादिकः, न केवलं कार्यमेवेत्यपिशब्दार्थः । इष्टं त्वभिमतमेव, कारणाविनाभूतत्वात्कार्यस्य । किमिवेत्याह–यथा यद्वत्, आहारजतृप्तिं भोजनजनितबुभुक्षेपशमम्, इच्छता वाञ्छता, इह लोके, आहारो भोजनम्, इष्ट इति प्रक्रमः । इति गाथार्थः ॥३४॥

अथ वल्यादौ भवत्वनुमतिर्जिनस्य, जिनभवनादौ तु सा तस्य न भविष्यतीत्याशङ्कायामाह–

जिणभवणकारणाइ वि, भरहादीणं ण वारितं तेण ।
जह तेसिं चिय कामा, सल्लविसादीहिँ णाएहिं ॥३५॥

जिनभवनकारणाद्यपि अर्हदायतनविधापनप्रवृत्तिकमपि, न केवलं समवसरणे वल्यादि, आदिशब्दात् जिनबिम्बपूजादिग्रहः । भरतादीनां भरतचक्रवर्तिप्रभृतीनाम्, न वारितं न निषिद्धम्, तेन भगवताऽऽदिदेवेन । कथमित्याह–यथा यद्वत्, तेषामेव भरतादीनाम्, कामाःशब्दादिभोगाः, शल्यविषादिभिः शल्यविषचभृतिभिः, ज्ञातैर्निदर्शनैः, निषिद्धा इति प्रकमः । ज्ञातानि पुनरेवम्–''सल्लं कामा विसं कामा, कामा आसीविसोवमा । कामे य पत्थेमाणे तु, अकामा जंति दुग्गइं'' ॥१॥ अप्यमभिप्रायः–यदि जिनभवनविधापनादिकमननुमतमभविष्यद्भवत्तस्तदा कामवन्निषिद्धमभविष्यत् । इति गाथार्थः ॥३५॥

यहि तत्तेन तेषां न वारितं, ततः किमित्याह–

ता तं पि अणुमयं चिय, अप्पमिसेहाउ तंतजुत्तीए ।
इय सेसाण वि एत्थं, अणुमोयणमादि अविरुद्धं ॥३६॥

यतो जिनभवनादि न वारितं, तत्तस्मात्तदपि जिनभवनाद्यपि, अपिशब्दाद्वल्याद्वपि । अनुमतसेव बहुमतमेव, भगवतः । कुत एतदवसितमित्याह–अप्रतिषेधादनिवारणात् । अथ कथमप्रतिषेधमात्रादिदमवसितमित्याह–तन्त्रयुक्त्या शास्त्रीयोपपत्त्या, यदि तस्य तदननुमतमभविष्यतदा कामानामिव तन्निवेधमकरिष्यत्, न चाऽसौ कृतस्तेन, अतस्तस्य तदनुमतमित्येवं लक्षणया । यदि भगवतस्तनुमतं तदाऽन्येषां किमित्याहइत्येवं भगवन्न्यायेन, शेषणमपि भगवतोऽपरेषामपि साधूनां, न केवलं भगवत एव । अत्र जिनभवनविधापनदिद्रव्यस्तवे, अनुमोदनदिकं जिनबिम्बादिदर्शन समुल्ल सितप्रमोदतस्तत्कारकोपबृंहणतश्च याऽनुमतिस्तत्प्रभृतिकम् । आदिशब्दात्तदुचबृंहणेन तत्फलदेशनेन च बिम्बादि विधापनोत्साहसंपादनतस्तद्विधापनस्य परिग्रहः । अविरुद्धं संगतम्, मोक्षसाधनस्यैव, भावलेशस्य तत्र मुख्यवृत्त्योपादेयत्वादिति च प्राग् दर्शितम् । इति गाथार्थः ।।३६॥ पञ्चा० ६विव० पं० वं० ।

तदेवम्–''जइणो वि हु दव्वत्थय–भेओ अणुमोयणेणऽ–त्थि'' त्ति यदुक्तं, तत्समर्थितम् । अथ तदेव प्रकारान्तरेण समर्थयन्नाह–

जं च चउद्धा भणिओ, विणओ उनयारिओ उ जो तत्थ ।

सो तित्थगरे णियमा, ण होइ दव्वत्थयादण्णो ॥३७॥

यद्यस्मात्कारणात्, चशब्द उपपत्त्यन्तरसमुच्चयार्थः । चतुर्द्धा चतुर्भिःप्रकारैर्ज्ञानदर्शनचारित्रोपचारपलक्षणैः । भणितः साधूनां विधेयतया वर्णितो विनयसमाध्यध्ययनादौ । विनयः कर्मविनयनसमर्थोऽनुष्ठानविशेषः । (तत्थ त्ति) तत्र तेषु चतुर्षु विनयेषु मध्ये, उपचारो लोकव्यवहारः, पूजा वा, प्रयोजनमस्येत्यौपचारिको भक्तिरूपः । तुशब्दः पुनरर्थः । य इति विनयः, स इत्यसौ, तीर्थकरे अर्हद्विषये, नियमादवश्यंभावेन, न भवति न वर्तते, द्रव्यस्तवात्पूजादेः, अन्योऽपरः, द्रव्यस्तव एवासाविति भावः । तस्मात् द्रव्यस्तवानुविद्धो भावस्तव इति प्रकृतम् । औपचारिकविनयस्वरूपं चेदम्–

''तित्थयरसिद्धकुलगण–संघकिरियधम्मनणनाणीणं ।
आयरियथेरुवज्झा–यगणीणं तरेस पयाणि ॥१॥
अणसायणा य भत्ती, बहुमाणो तह य वण्णसंजलणा ।
तित्थयरादी तेरस, चउग्गुणा होंति वावण्णा'' ॥२॥

इति गाथार्थः ॥३७॥

यदि द्रव्यस्तवादन्यो नासौ, ततः किमित्याह–

एअस्स उ संपाडण–हेउं तेह चेव वंदणाए उ ।
पूजणमादुच्चारणमुववण्णं होइ जइणो वि ॥३८॥

एतस्य तु एतस्यैव द्रव्यस्तवरूपौपचारिकविनयस्य संपादनहेतुं संपादनार्थम्, (तह चेव त्ति) तथैव तेनैव प्रकारेण, कायोत्सर्गकरणलक्षणेन, वन्दनायां चैत्यवन्दनायाम्, तुशब्दः पादपूरणे । पूजनाद्युच्चारणं पूजाप्रभृतिपदाभिधानम् । आदिशब्दात्सत्कारादिपग्रहः । उपपन्नं सङ्गतम्, भवति वर्तते, यतेरपि भावस्तववतोऽपि, न केवलं गृहिण एव । इति गाथार्थः ॥३८॥

उक्तविपर्यये बाधकमुपदर्शयन् प्रकृतनिगमनायाऽऽह–

इहरा अणत्थगं तं, ण य तयणुच्चारणेण सा भणिता ।
ता अहिसंधारणओ, संपाडणमिट्ठमेयस्स ॥३९॥

इतरथाऽन्यथा द्रव्यस्तवसंपदनार्थं यदि पूजाद्युच्चारणं न भवति तदा, अनर्थकं निष्प्रयोजनम्, तत्पूजाद्युच्चारणं, पूजादीनामनिष्टत्वात् । न च निरर्थकं वाक्यमुच्चारयन्ति सन्तः, तत्वक्षतिप्रसङ्गात् । अथ न कुर्वन्त्येव वन्दनायां पूजासत्काराद्युच्चारणमित्याशङ्क्याह–न च नैव, तदनुच्चारणेन पूजासत्काराद्यनुच्चारणेन, सा वन्दना, भणिताअभिहिताऽऽगमे विधेयतया । (ता इति) यस्मादेवं तस्मात्, अभिसंधारणात्, कायोत्सर्गकरणद्वारेण पूजादिसंपादनाभिसंधेः । संपादनं करणम्, इष्टमिमतम्, एतस्य द्रव्यस्तवस्य, इति गाथार्थः ॥३९॥ पञ्चा०६०विव० ।

हिंसविचारः–

किं हिंसाऽनुमतिर्न संयमवतां द्रव्यस्तवश्लाघये–
त्येतल्लुम्पकलुब्धकस्य वचनं मुग्धे मृगे वागुरा ।
हृद्याधाय सरागसंयम इव त्यक्ताऽऽअवांशाः स्थिता–
भावाङ्गांशामदूषणा । इति पुनस्तच्छेदशस्त्रं वचः ॥२४॥

(किमिति) संयमवतां चारित्रिणां, द्रव्यस्तवश्लाघया द्रव्यार्चानुमोदनया, किं न हिंसानुमतिर्भवति?;अपि तु भवत्येव, पश्यन्तु दयारसिका इति भावः । एतद्वनं, लुम्पकलुब्धकस्य लुम्पकमृगयोः, मुग्ध आपाततः श्रुतबाह्यधर्माचारे, मृगे, वागुरा बन्धपाशः, इति व्यस्तरूपकं मुग्धपदमनभिज्ञरूपाऽर्थान्तरसंक्रमितवाच्यमिति । य एतद्वचनं श्रुणुयात् स मृगवद्धवेदिति व्यङ्ग्यम् । इति पुनस्तस्य पाशस्य छेदशस्त्रं वचोऽस्मत्सांप्रदायिकानाम् । इतीति किम्?, इह प्रक्रान्ते द्रव्यस्तवे द्रव्यभावोभयात्मके, भाव एवाङ्गभूतो योंऽशस्तं हृदि चित्ते, आधाय स्थापयित्वा, सरागसंयम इव त्यक्त उपेक्षितः, आश्रवांशः आश्रवभागो यैस्ते तथा, अदूषणा दोषरहिता वयं स्थिताः स्मः । अयं भावःसरागसंयमेऽनुमोद्यमाने यथा रागो नानुमोद्यकुक्षौ प्रविशति, तथा द्रव्यस्तवेऽनुमोद्यमाने हिंसांशोऽपि । संयमत्वेनानुमोद्यत्वे रागांशो नोपतिष्ठत एवेति, द्रव्यस्तवत्वेनानुमोद्यत्वे तु सुतरां हिंसानुमतेः स्थितिः । द्रव्यस्तवत्वशिरसाऽप्यघटकत्वात्तस्याः । इत्थमेव श्रीनेमिना राजसुकुमारस्य श्मशानप्रतिमापरिशीलनाननुज्ञाते तदर्थिना भावितच्छिरोज्वलनमनुज्ञातमित्युपपादयितुं शक्यते, द्रव्यस्तवे परप्राणव्यापादनानुकूलव्यापारत्वाद्विशेष इति चेत्, तथापि द्रव्यस्तवत्वं न हिंसात्वमिति न क्षतिः, वस्तुतो विहारादावतिव्याप्तिवारणाय प्रमादप्रयुक्तप्राणव्यपरोपणत्वं हिंसात्वे वाच्यं, न प्रकृतिरिति न दोषः । एवं सति सविशेष इत्यादिना यावत् प्रमादाप्रमादायोरेव हिंसारूपत्वात् बन्धमोक्षहेतुत्वे विशेष्यभागानुपादानं सस्यादिति चेत् । सत्यम् । प्रमादयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा, प्रमादायोगात् प्राणव्यपरोपणमहिंसेति लक्षणयोर्व्यवहारार्थमेवाचार्यैरनुशास्त्रनाद्बन्धमोक्षहेतुतायाश्च निश्चयतः प्रमादत्वाप्रमात्वाभ्यामेव व्यवस्थितेः, बाह्यहेतूत्कर्षादपि फलोत्कर्षाभिमानिना व्यवहारनयेन तु विशेष्यभागोऽप्याद्रियत इति सर्वमवदातज्ञानम् ॥२४॥

अनुपदेश्यत्वादनद्युमोद्यत्वं द्रव्यस्तवस्येत्यत्राऽऽह–

मिश्रस्यानुपदेश्यता यदि तदा श्राद्धस्य धर्मस्तथा,
सर्वः स्यात्सदृशी नु दोषघटना सौत्रक्रमोल्लङ्घनात् ।
तत्सम्यग्विधिभक्तिपूर्वमुचितद्रव्यस्तवस्थापने,
विद्वो नापरमत्र लुम्पकमुम्लानिं विना दूषणम् ॥२५॥

(मिश्रस्येति) 'मिश्रस्येति' हेतुगर्भविशेषणम्, मिश्रत्वादिति यावत् । यदि अनुपदेश्यता साधूनामुपदेशविषता द्रव्यस्तस्य त्वया प्रतिज्ञायते, तदा श्राद्धस्य धर्मः सर्वस्तथाऽनुपदेश्यः सयात्, तस्य मिश्रतायाः कण्ठरवेण सूत्रकृताऽभिधानात्, इष्टापत्तिरत्र । सर्वविरतिरूपस्यैव धर्मस्य शास्त्रेऽभिधानादंशे स्वकृत्यसाध्यताप्रतिसंधाने स एव तस्यार्थः, सिद्धदेशरूपविरतित्वात् । ''जं सक्कइ तं कीरइ'' इत्यादिव्युत्पत्तिमतां तत्र प्रवृत्तिसंभवादिति चेत् । न । द्वादशव्रतादिविभागस्य विशेषविधिते विना उपपत्तेरिति देशेन स्वेच्छया ग्रहणे श्रमणलिङ्गस्यापि श्राद्धेन ग्रहणप्रसङ्गात् । दृश्यत एव केषाञ्चित् श्राद्धानां भिक्षाग्रहणादिकं यतिव्रतमपि देशप्राप्तमिति चेत्, दृश्यते तदद्रष्टव्यमुखानां, न तु मार्गवर्त्तिनाम्, अनुचितप्रवृत्तैर्महामोहबन्धहेतुत्वाद्भिक्षुशब्दप्रवृत्तिनिबन्धनस्य श्राद्धानुपपत्तेरान्दादिभिनादरणात्, अम्बडस्य तु परिवादलिङ्गत्वेन भिक्षायाम् अनौचित्याभावात्, ततः श्राद्धधर्मवद् द्रव्यस्तवस्य नानुपदेश्यता, अप्रतिषेधानुमत्याक्षेपपरिहारयोरुभयत्र तुल्ययोगक्षेमत्वात्, यतिधर्मानभिधानात् प्रागनभिधानस्प्युभ–

यत्र तथात्वात्, यतिधर्मस्य प्रागभिधाने श्रोतुस्तदशक्तत्वात्तेन प्रतिश्राद्धधर्मप्ररूपणं यथाऽवसरसङ्गत्या, तथा भावस्तवस्य प्रागभिधाने तदशक्तिप्रकाशकं प्रत्येव द्रव्यस्तवाभिधानमिति क्रमस्यैव रूढत्वात्। अत एव गृहपतित्वं वन्दिग्रहविमोक्षणन्यायः सूत्रसिद्धः। तदिदमाह– सौत्रस्य सूत्रसिद्धस्य क्रमस्योल्लङ्घनादुल्लङ्घनमाश्रित्य, न इति निश्चये, दोषघटना दोषसङ्गतिः, सदृशीतुल्या, क्रमप्राप्तेरुपदेशे न तु कोऽपि दोष इति अत्युपन्नं प्रति क्रमविरुद्धोपदेशे सुकररुचेरुत्कटत्वेनाप्रतिषेधानुमतिः प्रसङ्गदोषावढा, सम्यग्दृष्टिं प्रति तु यथायोग्योपदेशेऽपि न दोष इत्यनुव्यवहारादिग्रन्थार्णवसंप्लवव्यसनिनां प्रसिद्धः पन्थाः। तत्तस्मात्कारणात्, सम्यगवैपरीत्येन, विधिभक्तिपूर्वमुचितस्य द्रव्यस्तवस्य स्थापने उपदेशे, जातप्रतिभाऽऽख्यनिग्रहस्थानस्य लुम्पकस्य मुखम्लानिं विना परं दूषणं वयं न विद्मो न जानीमः। विनोक्तिरङ्गारः ।।२५।। प्रति०।

मिश्रस्यानुपदेश्यताऽऽशङ्का–

नाशंसाऽनुमतिर्दयापरिणतिस्थैर्यार्थमुद्यच्छतां,
संवासानुमतिस्त्वनायतनतो दूरस्थितानां कथम् ?।।
हिंसाया अनिषेधनानुमतिरप्याज्ञास्थितनां न यत्,
साधूनां निरवद्यमेव तदिदं द्रव्यस्तवश्लाघनम् ।।२६।।

द्रव्यस्तवे हिंसाऽनुमतेर्यत् विशेषाभावात् सामान्याभाव इत्यनुशास्ति भगवापूजादर्शनाद्बहवो जीवाः सम्यग्दर्शननैर्मल्यमासाद्य चारित्रप्राप्त्या सिद्धिसौधमध्यासतामिति भावनया पूजा कर्तव्येति दयापरिणतेः स्थैर्यार्थमुद्यच्छताम् उद्यमं कुर्वाणानां साधूनां नाशंसाऽनुमतिर्भवति, उपदेशफलेच्छाया हिंसाया अविषयत्वात्, संवासानुमतिस्तु अनायतनतो हिंसायतनाद् दूरस्थितानां कथं भवति? पुष्पाद्यायतनमेवानायतनमिति चेत्, तर्हि समवसरणस्थितानामनानायतनवर्तित्वप्रसङ्गः। न च देवगृहेऽपि स्तुतित्रयकर्पणात्परतोऽवस्थानमनुज्ञातं साधूनामिति विधिवन्दनाद्यर्थमवस्थाने नोक्तदोषः। आज्ञास्थितानां क्रमाद्विरुद्धोपदेशाद्याज्ञावर्तिनां हिंसाया अनिषेधनानुमतिरपि यद्यस्मान्न भवति, तत्तस्मात्कारणादिदं द्रव्यस्तवस्य श्लाघनं माहात्म्यप्रकाशनं साधूनां निरवद्यमेव शुभानुबन्धित्वादिति निष्कर्षः।।२६।।

कश्चिदाह–स्वातन्त्र्येण साधवःकिं न कुर्वन्ति, द्रव्यस्तवो यदि साधूनाअनुमोद्यस्तदा तेषां कर्तव्यः स्यादिति चेत्किमिदं स्वतन्त्रं, साधने प्रसङ्गापादनं वा? नाश्वः साधुकर्त्तव्यः, तस्यानाश्रितत्वेनासाध्यत्वादन्त एवाह–

साधूनामनुमोद्यमित्यथ न किं कर्त्तव्यमर्चादिकं,
सत्यं केवलसाहचर्यकलनान्नेष्टानुमानप्रथा।
व्याप्तिः क्वाऽपि गता स्वरूपपनिरघाचारादुपाधेस्तव,
क्लीवस्येव वृथा वधूनिधुवने तद्वालतर्के रतिः ।।२७।।

साधूनामप्यनुमोद्यमिति हेतोः साधूनामर्चादि किं न कर्तव्यम्, यद्यनुमोद्यं स्यात्कर्तव्यं स्यात्, न च कर्त्तव्यमस्ति, अतो नानुमोद्यमिति विपर्ययपर्यवसानम्। तथा चैतत्तर्कसहकृतान्मिश्रत्वादिहेतोरननुमोद्यत्वसिद्धेरित्यर्थः। अत्रोत्तरम्–सत्यम्; यत्त्वयाऽऽपाततः प्रसञ्जनं कृतं, परं केवलस्य साहचर्यस्य कलनात् पुरस्करणादनुमानप्रथा प्रसङ्गापादाननिष्ठा, नेष्टा, न हि साहचर्यमात्रं व्याप्तिः, पार्थिवत्वलोहलेख्यत्वयोरपि तत्प्रसंगात्। तथा च तर्कमूलव्याप्त्यसिद्धेर्मूलशैथिल्यदोष इत्यर्थः। यद्यदनुपमोद्यं तत्तत् कर्तव्यम, नियतसाहचर्याद् व्याप्तिरस्त्येवेत्यत्राह व्याप्तिःक्वापि गता दूरे नष्टा, कस्मात्? स्वरूपनिरघाचारात् स्वरूपनिरवद्या–चारादुपाधेः, यत्र साधु कर्त्तव्यत्वं तत्र स्वरूपतो निरवद्यत्वं, यत्र च तदनुमोद्यं तत्र स्वरूपतो निरवद्यत्वमिति नास्ति कारणे विहितानां वर्षाविहारादीनां नद्युत्तरादीनां संयत्यवलम्बनादीनां चानुमोद्यत्वेऽपि स्वरूपत्वनिवद्यत्वात्। तथा चानौपाधिकसहचाररूपव्याप्त्यभावान्मूलशौथिल्यं वज्रलेप इति भावः। एवं च शुष्क एव वलीवर्दस्य तर्के मुखं प्रवेशयत उपहासमाह–तत्तस्मात्कारणात् हे बाल! अविवेकिन! तव तर्के रितः वृथा, त्वद्गत शक्त्यभावात्, कस्य?, क्लीबस्य वधूनिधुवन इव कान्तारससंमर्द इव! न च विद्यामुखचुम्बनमात्राद् भोगसौभाग्यमाविर्भवति। यतस्तूक्तम्–''वेश्यानामिव विद्यानां, मुखं कैः कैर्न चुम्बितम्। हृदयग्राहिणस्तासां, द्वित्राः सन्ति न सन्ति वा'' ।।१।। इति। किं च–अचेलकादीनामेकचेलाद्याचारस्यानुमोद्यत्वेऽपि तदकर्त्तव्यत्वात् सूत्रनीत्या व्यक्त एव दोषः। यदार्षम्–''जो विदुच्छति वत्था, एगेण अचेलगो व संथरइ। तेण हु हीलंति परं, सव्वे वि अ ते जिणाणाए।।'' त्ति। प्रति०। दर्श०।

अत्र हरिभद्रसूरिः। यदि नाम यतिना संधारणतो द्रव्यस्तवः संपाद्यत, तदा साक्षादेव कस्मात् न क्रियते?, इत्याशङ्क्याह–

सक्खा उ कसिणसंजम–दव्वाभावेहिँ णो अयं इट्ठो।
गम्मइ तंतछितीए, भावपहाणा हि मुणउ त्ति ।।०।।

साक्षात्तु स्वयं करणतः पुनः कृतस्नसंयमश्च सर्वथा प्राणवधविरतिः, द्रव्याभावश्च निष्परिग्रहत्वेनार्थासत्ता, कृत्ससंयमव्यभावौ ताभ्याम्। पाठान्तरेण–'कृत्स्नसंयमद्रव्ययभावाभ्याम्' तत्र द्रव्यभावोऽप्रधानत्वं द्रव्यस्तवस्येति। नो नैव, अयं द्रव्यस्तवः, इष्टोऽभिमतो, यतीनां विधेयतया इति। गम्यतेऽयसीयते। कथम्?, तन्त्रस्थित्या आगमनीत्या। तन्त्रं हि साधूनां स्त्रानादिपरिहारप्रतिपादनपरं, निर्ग्रन्थताऽभिधायकं च। युज्यते च स्वयमकरणं द्रव्यस्तवस्येति। आह च– भावप्रधाना भावपूजापराः, म द्रव्यप्रधानाः, हिर्यस्मादर्थः। मुनयो यतयो, भवन्तीत्यतो भावत एव पूजा तेषां युक्ता, तदभिसंधारणं पुनर्भाव एव। इति शब्दो वाक्यार्थसमाप्तौ। इति गाथार्थः।।४०।।

केषां तर्हि द्रव्यस्तवस्य साक्षात्करणमिष्टमित्यत्राह–

एएहिं तो अणे, जे धम्महिगाहिणो उ तेंसि तु।
सक्खं चिय विण्णेओ, भावंगतया जतो भणितं ।।१।।

एतेभ्यो मुनिभ्योऽन्येऽपरे, ये इत्यत्रोत्तरस्य पुनरर्थस्य तुशब्दस्य संबन्धाद् ये पुनः, धर्माधिकारिणो धार्म्मिकाः, तेषां तु तेषामेव, साक्षादेव च स्वयंकरणतोऽपि, विज्ञेयो विधेयतया ज्ञातव्यः। द्रव्यस्तव इति प्रक्रमः। कथमित्याह– भावाङ्गतया शुभभावकारणतया, भावस्तवाङ्गतया वा, इहार्थे शास्त्रप्रमाणतयोपदिशन्नाह–यता तस्मात्कारणाद्, भखितमभिहितं निर्युक्तौ इति गाथार्थः ।।४१।।

यद्भणितं तद्दर्शयन्नाह–

अकसिणपवत्तयाणं, विरयाविरयाण एस खलु जुत्तो ।

संसारपयणुकरणे, दव्वत्थएँ कूव दिट्ठंतो ॥४२॥

अकृत्स्नमपरिपूर्णं, संयमं प्रवर्तयन्ति विदधति ये ते अकृत्स्नप्रवर्तकाः, तेषाम्। अत् एव विरताश्च ते निवृत्ताः स्थूलादिविशेषणेभ्यः प्राणातिपातादिभ्यः, अविरताश्चानिवृत्ताः सूक्ष्मादिविशेषणेभ्यस्तेभ्य एवेति विरताविरताः, तेषाम्। एष द्रव्यस्तवः। खलुरवधारणे भिन्नक्रमश्च। युक्त एव संगत एव। किंफलोऽस मित्याह–संसारं भवं प्रतनुमल्पं करोतीति संसारप्रतनुकरणः। इह च विशेषणस्य परनिपातः सिद्धसेनाचार्य इत्यादिविन दृष्टः। सुप्रभावप्रत्ययाद्वा संसारप्रतनुताकरण इति द्रष्टव्यम्। ननु कथञ्चित्सावद्यतया सदोषत्वेनानाश्रयणीयत्वादस्य कथं संसारप्रतनुकारित्वमित्याशङ्क्याऽऽहद्रव्यस्तवे श्राभथणीयतया साधुवितुमिष्टे, कूपदृष्टान्तोऽवटस्थननज्ञातमस्तीति। तत्प्रयोगश्चैवम्–सदोषमपि यद् गुरुकगुणान्तरकारणं तदाथयणीयं, यथा कूपखननं, तथा च द्रव्यस्तव इति द्रष्टव्यम्। दृष्टान्तद्वारेण भावना तु प्राग्वत्। इति गाथार्थः ।।४२॥

अथ ''अकसिणपवत्तयाणं'' इत्यत्र गाथायां पुष्पाहिरेव द्रव्यस्तवोऽभिहितः, इह च प्रकरणे जिनभवनादिरसावुक्तः, तत्कथमियामिहत्यसंवदाय स्या– दित्येतदाशङ्क्य परिहन्नाह–

सो खलु पुप्फाईओ, तत्थुत्तो न जिणभवणमाई वि।
आईयद्दावुत्तो, तयभावे कस्स पुप्फाई ॥४३॥

स द्रव्यस्तवः, खवुरवधारणे, तस्य च प्रयोगो दर्शयिष्यते, पुष्पादिकएव कुसुमधूपदीपप्रभृतिरेव, तत्र ''अकसिणपवत्तगाणं'' इत्यत्र चतुर्विंशतिस्तवनिर्युक्तिगाथायाम्, उक्तोऽभितः, ''दव्वत्थउ पुप्फाती, संतगुणुक्कित्तणाभावे।'' इति प्रक्रमपतितत्वादस्याः। न नैव, जिनभवनाद्यपि। जिनभवनकरणप्रभृतिरपि। इह मकारः प्राकृतशैलीप्रभवः। अपशब्दः समुच्चयार्थत्वेनोक्त इति क्रियाभिसंबन्धार्थः। इहाक्षेपे समाधिमाआदिशब्दात् ''दव्वत्थ पुप्फाई'' इत्यत्रोपन्यस्तादुक्तो भणितः, जिनभवनादिद्रव्यस्तव इति प्रक्रमः। विपर्यये बाधकमाहआदिशब्देन जिनभवनादिनामनभिधानं चेत्, तदा तेषामद्रव्यस्तवत्वेनाकरणप्रसङ्गात्। अभावे जिनभवनबिम्बाद्यभावे कस्य?, न कस्यापि। पुष्पादिः कुसुमवल्ल्यादिर्द्रव्यस्तवः स्यान्निर्विषयत्वादिति भावना। इति गाथार्थः ॥४३॥

ननु जिनभवनादिर्द्रव्यस्तवो भवतु, किं त्वसावागमे यतेर्निर्षिद्धस्तत्कथं भावस्तवोद्रव्यस्तवानुगतः?, इत्याशङ् क्य परिहरन्नाह–

णणु तत्थेव य मुणिणो, पुप्फाइनिवारणं फुडं अत्थि।
अत्थि तयं सयकरणं, पडुच्च नऽणुमोयणाई वि ॥४५॥

मन्विति परमताशङ्कायास्, तत्रैव च ग्रन्थे, यत्र विरतानां द्वयस्तव्यस्य साक्षात्करणमुपदिष्टम्। मुनेः साधोः, पुष्पादिनिवारणं कुसुमवल्ल्यादिनिषेधनम्, स्फुटं व्यक्तम्, अस्ति विद्यते। यतस्ववोक्तम्–''छज्जीवकायसंजयमें, दव्वत्थएँ सो विरुज्झए कसिणो। तो कासिणसंजमविज्झ, पुप्फाईयं न इच्छंति।।१।।'' अतः कथं पूजादिद्रव्यस्तवानुमोदनविधापने भवदभ्युगते साधोः सङ्गते इति परमतम्। समाधिश्चैवम्–अस्ति विद्यते, तद् मुनेः पुष्पादिनिवारणम्, केवलं स्वयंस्वकरणम् आत्मना पूजा दिविधानम्, प्रतीत्याश्रित्य, न पुनरनुमोदनाद्यपि पुष्पपूजादेरनुमतिविधापनप्रभृतिष्वकमपि प्रतीत्य, अपिशब्दः समुच्चयार्थः। इह यद्यप्याचार्येणाऽपि विशेषेण द्रव्यस्तवं प्रति साधोर्विधापनमुनम्युनगतं तथाऽपि द्रव्यस्तफलस्वरूपप्ररूपणद्वारेण तद्वद्भिरिष्यते, न पुनः साक्षात्कारेण। यथात्वं जिनभवनं कुरु, तदर्थं च भूमिं खन, मृत्तिकां वह, जलमानय, इत्यादि विभाषा। नह्येवं स्वयंकरणस्य कारणस्य च महान् विशेषोऽस्ति। इति गाथार्थः ॥४॥

अथ द्रव्यस्तस्यानुमोदनं साधोर्युक्तं, ज्ञापकैस्तस्य समर्थितत्वात्। कारणं त्वयुक्तं, ज्ञापका– भावात, इत्याशङ्क्याह–

सुव्वइ य वइररिसिणा, कारवणं पि हु अणुट्ठियमिमस्स।
वायगगंथेसु तहा, एयगया देसणा चेव ॥५॥

श्रूयते समाकर्ण्यते आवश्यकनिर्युक्तौ, चशब्दो युक्त्यन्तरसमुच्चयार्थः, वैरऋषिणा वैराभिधानमुनिपतिना, कारापणमपि देवैर्विधापनमपि, न केवलमनुमोदनं, यद्भतामनभिमतं कारापणं, तदपीत्यर्थः। हुर्वाक्यालङ्कारे। अनष्ठितमासेवितम्, अस्य पुष्पादिद्रव्यस्तवस्य। यतस्तत्रोक्तम्–''माहेसरीउ सेला, पुरिं पनीया हुयासणगिहाओ। गयणयलमइवइत्ता, वइरेण महाणुभावेण ॥१॥'' किलैकदा भगवान् वैरस्वामी पुरिकाभिधानायां नगर्यां विहरति स्म। तत्र च तदा श्रमणोपासकैर्बुद्धोपासकैश्च परस्परस्पर्द्धया स्वकीयदेवानां माल्यारोपणानि विधीयन्ते स्म। सर्वत्र च बुद्धोपासकाः पराजीयन्ते स्म। राजा च तेषामनुकूलः, ततस्तैर्नृपोऽभ्यर्थितः, तेन च श्रमणोपासकानां कुसुमानि निषेधितानि। पर्युषणादिने च तद्भावात् श्रावका विषण्णाः। सबालवृद्धाश्च ते वैरस्वामिनसुपस्थिताः, भणितवन्तश्च–''यदि युष्माभिर्जाथैः प्रवचनमभाज्यते, तदनया यूयमेव यद्भवति तज्जानीथेति''। ततश्च समुत्पत्त्य माहेश्वरीं नगरी मगमद्भगवान्, तत्र च हुताशनं नाम व्यन्तरगृहम्, तदारामे प्रतिदिनं पुष्पाणां कुम्भ उत्पद्यते। तत्र च वैरस्वामिनः पितृसुहृक्षिन्तकोऽभवत्, स च भगवन्तसुपलभ्य ससंभ्रमवादीत्–किमागमनप्रयोजनम्? ततो भगवानुवाचपुष्पैः प्रयोजनमस्ति। ततोऽसावुवाच–अनुग्रहो नो गृहीतैतानि। भगवानऽवादीत्–बन्धीत एतानि तावद् यूयं यावद्गत्वाऽहमागच्छमि, ततः समुत्पत्त्य हिमवन्महागिरौ श्रीदेवतायाः समीपे जगाम। श्रिया च चैत्यार्चनाग्र तदा पद्मं चिच्छिदे। ततो वन्दित्वा तया तेन निमन्त्रितः। तश्च गृहीत्वा हुताशनगृहमाजगाम। तत्र च तेन विमानं विरचितम्। तत्र पुष्पकुम्भं क्षिप्त्वा जृम्भकदेवगणपरिवृतो दिव्येन गन्धर्वगीतनिनादेनाम्बरतलमापूरयन्महेश्वर्याः पुरीमागतवान्। तृतीयवर्णिकाश्च जृम्भकनिकायाकीर्णमाकशमवलोक्य वितर्क्यामासुःअस्माकमिदं प्रातिहार्यं देवा विधति, इत्यर्घमादाय स्वकीयदायतनेभ्यस्तदभिमुखं निर्गतवन्तः। भगवाँस्तु देवसमुदायपरिवृतो जिनायतनमगमत्। तत्र च देवा महान्तं महिमानमकार्षुः। जिनशासनं प्रति च लोकस्यातीव बहुमानः समजनि। राजाऽपि चावर्जितः श्रमणोपासको बभूवेति। तथा वाचकग्रन्थेषु वाचकः पूर्वधरोऽभिधीयते। स च श्रीमानुमास्वातिनामा महातार्किकः प्रकरणपञ्चशतीकर्ताऽऽचार्यः सुप्रसिद्धोऽभवत्, तस्य प्रकरणेषु, तथेति वाक्योपक्षेपे । स च

वाक्यस्यादौ द्रष्टव्यः। एतद्गता द्रव्यस्तवविषया देशना प्ररूपणा। तथा हि–

''यस्तृणमयीमपि कुटीं, कुर्याद्विद्यात्तथैकपुष्पमपि।
भक्त्या परमगुरुभ्यः, पुण्योन्मानं कुतस्तस्य? ॥१॥''

तथा–

''जिनभवनं जिनबिम्बं, जिनपूजां जिनमतं च यः कुर्यात्।
तस्य नरामरशिवसुख–फलानि करपल्लवस्थानि ॥१॥'' इति।

अनया हि देशनया श्रोता द्रव्यस्तवं कारितो भवति। ततो वाचकमुख्यस्यापि द्रव्यस्तवकारणमस्तीति भावः। चैवेति समुच्चयार्थः। तदेवं स्वयंकरणमेवाश्रित्य पुष्पादिनिषेधनं साधोः, न पुनरसमोदनाद्वपीति प्रकृतमिति। इह च गद्यप्याचार्येण वैरादाहरणतो द्रव्यस्तवकारणं साधोरविशेषेण विधेयतया दर्शितम्, तथाऽप्यापवादिकमेवेदमित्यवसेयम्, वन्दनकनिर्युक्त्या तस्य भग्नशुभपरिणामलम्बनतयोपदिष्टवात्।

तथाहि–

''निया वासविहारं, चेश्यभत्तिं च अज्जियालाभं।
बिगईसु य पडिबंधं, निद्दोसं चोश्या वेंति'' ॥१॥

तत्र चैत्यभक्तिं प्रत्युक्तम्–

''चेइयकुलगणसंघे, अन्नं वा किं पि काउ निस्साणं।
अहवा वि अज्जवइरं, तो सेवंती अकरणिज्जं ॥१॥
वेश्यपूआ कि वइ–रसामिणा भुणियपुव्वसारेणं।
न कया पुरियाइ ततो, मोक्खंगं सा वि साहूणं ॥२॥''

इहं चायं समाधिरस्तत्रैवोक्तः–

''ओभावणं परेसिं, सतित्थउब्भावणं च वच्छल्लं।
न गणेंति गणेमाणा, पुव्वुचियपुप्फमहिमं च ॥१॥''

(गणेमाण त्ति)आलमब्नानि गणयन्तः। अपवादतस्तु स्वयं करणं कारणं चानुमतमेव। यतः कल्प उक्तम्–

''सीलेह मंखफलप, इयरे चोयंति तंतुमाईसु।
अह जोइंति सवित्तिसु, अणिच्छफेडिंति दीसंता ॥१॥''

(मंजफलए त्ति) मङ्खफलकानीव मङ्ख फलकानि निर्वाहहेतुचैत्यानि। तथा–

''अन्नाभावे जयणा–ऐं मग्गनासो भवेज्ज मा तेण।
पुव्वकया य यणाई, ईसिं गुणसंभवे इहरा ॥१॥
चेइयकुलगणसंघे, आयरियाणं च पवयण सुए य।
सव्वेसु वि तेण कयं, तवसंजममुज्जमंतेणं'' ॥२॥ इति।

तथा वाचकमुख्यस्यापि द्रव्यस्तवफलाद्यभिधानायैव देशना; फलार्थिनस्तु स्वत एव तत्र प्रवर्तन्ते; यदि पुनः साक्षात् परप्रवतनाय् सा स्यात्तदा साक्षादेव तत्र तत्प्रवर्तनमपि विधेयं स्यात्। तथा च – वैरस्वामिचरितावलम्बनस्य पुष्टत्वमेव स्याद्, अपुष्टत्वं च तस्यावेदितमिति। द्रव्यस्तवादिश्रावकधर्मप्ररूपणं च यतिधर्मासमर्थस्यैव शिष्यस्य विधेयम्, अन्यथा आरम्भेषु प्रवर्तनदोषसंभवात्।

आह च–

''जइधम्मम्मिऽसमत्थे, जुज्जइ तहेसणं पि साहूणं।
तदहिगदोसनिवित्ती–फलं ति कायाणुकंण्ठा ॥१॥'' इति गाथार्थः ॥ ४५ ॥ पञ्चा० ६विव०। ध०।

ननु यदि द्रव्यस्तवानुमतिर्भावस्तवोपचयायापेक्ष्यते तदा द्रव्यार्चैव कर्थ नापेक्ष्यते ?। तत्राह–

दुग्धं सर्पिरक्षते न तु तृणं साक्षाद्ययोत्पत्तये,
द्रव्यार्चानुमतिप्रभृत्यपि तथा भावस्तवो न त्विमाम्।
इत्येवं शुचितशास्त्रतत्वमविदन् यत्किञ्चिदापादयन्,
किं मत्तोऽसि पिशाचकी किमयवा किं वातकी पातकी? ।२८।

(दुग्धमिति) सर्पिर्घृतमथोत्पत्तये दुग्धं क्षीरमपेक्षते, क्षीरादेवाव्यवधानेन सर्पिष उत्पद्यमानस्योपलम्भात्, न तु तृणम्,गवाभ्यहारेण तथापरिणम्यमानमपि व्यवधानात्। तथा भावस्तव उपचितावयविस्थानियो, द्रव्यार्चानुमतिप्रभृत्यपि स्वावयवभूतं कारणमुक्तयाऽपेक्षते,न त्विमां द्रव्यर्चां, वयवधानात्। अत एव द्रव्याग्निकारिकावयुदासेन भावाग्निकारिकैवानुज्ञाता साधूनाम्।प्रति।

द्रव्यार्चा–

द्रव्यार्चामवलम्बते न हि मुनिस्तर्तुं समर्थो जलं,
बाहुभ्यामिव काष्ठमत्र विषमं नैतावता श्रावकः।
बाहुभ्यां भववारि तर्तुमपटुः काष्ठोपमां नाश्रयेद्,
द्रव्यार्चामपि विप्रतारकगिरा भ्रान्तीरनासादयन्? ॥५५॥

(द्रव्यामार्चामिति) अत्र जगति बाहुभ्यां जलं तर्तुं समर्थः विषमं सकण्टकं काष्ठमिव मुनिर्भुजेन भवजलतरणक्षमः, तर्हि नैव द्रव्यार्चामवलम्बते, स्वरूपः सावद्यायास्तस्याः सकण्टककाष्ठस्थानीयाया अवलम्बनायोगात्। नैतावता कुश्रुतादिदोषेण स्वौचित्यमविदन् श्रावकः बाहुभ्यां भववारि संसारमुद्रं तर्तुमपटुः सन काष्ठोपमां विषमकाष्ठतुल्यां द्रव्याचामाश्रयेत्?, किं कुर्वन् प्रतारकस्य गिराऽपि भ्रान्तीः विषययान् अनासादयन् अप्राप्नुवन्, तदा ननु स्वौचित्यापरिज्ञाने स्यादेव तदनाश्रयणं मूढस्येति भावः ॥२६॥

अक्षीणाविरतिज्वरा हि गृहिणो द्रवयस्तवं सर्वदा,
सेवन्ते कटुकौषधेन सदृशं नानीदृशाः साधवः।
इत्युर्चैरधिकारिभेदमविदन् बालो वृया खिद्यते,
नैतस्य प्रतिमाद्विषो व्रतशतैर्मुक्तिः परं विद्यते ॥३०॥

''अक्षीणेत्यादि''। हि निश्चितम्, अक्षीणोऽविरतिरेव ज्वरो येषां ते तथा, गृहिणः, ज्वरापहारिणा कटुकौषधेन सदृशद्रव्यस्तवं सर्वदा सेवन्ते, अनीदृशा क्षीणाविरतिज्वराः साधवो न सेवन्ते, न नीरोवैद्योक्तम् औषधं रोगवान्न सेवत इति लोकेऽपि सिद्धमिति। इत्यचैरतिशयेनाधिकारिभेदं मलिनारम्भ तदितराधिकारिविशेषमविदन् बालोऽज्ञानी वृया खिद्यते मुधा खेदं कुरूते। एतस्य प्रतिमाद्विषः प्रमाणशत्रोः परं केवलं मुक्तिर्न विद्यते, प्रवचनार्थिन एकमत्राश्रद्धानवतो योगशतस्य निष्फलत्वम्। तदुक्तमाचारे–''वितिगिच्छसमावण्णेणं अप्पाणेणं णो लभइ समाहिं'' त्ति। अत्र प्रत्यवतिष्ठन्तेननु यतिरत्र कस्मान्नाधिकारी, यतः कर्मलक्षणो व्याधिरेको द्वयोरपि यतिगृहस्थयोः,अतस्तच्चिकित्साऽपि पूजादिलक्षणा समैव भवति ततौ यद्यस्याधिकारस्ततः कथं पुनस्तत् प्रतिपिद्धम्?–

''स्नानमुद्वर्तनाभ्यङ्गनखकेशादिसंस्क्रियाम्। गन्धं माल्यं च धूपं च, त्यजन्ति ब्रह्म चारिणः।१।'' इति वचनान्मुनेः स्नापूर्वकत्वोवार्चनस्य तस्मिन्नाधिकारः। नैवम्। भूतार्थस्यैव तसय निषेधात्। यदि यतिः सावद्यान्निवृत्तस्ततः को दोषो यत् स्नानं कृत्वा देवतार्चनं न करोति? यदि हि स्नानपूर्वकदेवार्चने साधद्ययोगः स्यात् तदाऽसौ

गृहस्थस्यापि तुल्य इति तेनाऽपि तन्न कर्त्तव्यं स्यात्। अथ गृहस्थः कुटुम्बाद्यर्थे सावद्ये प्रवृत्तस्तेन तत्रापि प्रवर्तनम्, वतिस्तु तत्राप्रवृत्तत्वाकथं स्नानादौ प्रवर्तते इति?ननु यद्यपि कुटुम्बाद्यर्थं गृही सावद्ये प्रवर्तते, तथाऽपि तेन धर्मार्थं तत्र न प्रवृत्तिः तर्ह्यकं पापमविरतविरत्याऽन्यदप्या चरितव्यम्। अथ कुपोदाहरणात् स्नानादि युक्तम्, एवं यतेरपि तद् युक्तमेव, एवं च कथं स्नानादौ यतिर्नाधिकारीति? अत्रोच्यतेयतयः सर्वथा सावद्यव्यापारान्निवृत्ताः, ततश्च कूपोदाहरणेनापि तत्र प्रवर्तमानानां तेषामवद्यमेव चित्ते सफुरति, न धर्मस्तत्र सदैव शुभध्यानादिप्रवृत्तत्वात्। गृहस्थास्तु सावद्ये स्वभावतः सततमेव प्रवृत्ता न पुनर्जिनाचिनादिद्वारेण स्वपरोपकारात्मकधर्मे, तेन तेषां स एव चित्ते लगति निरवद्य इति कर्तृपरिणामवशादधिकारीतरौ मन्तवयाविति स्नानादौ गृहस्थ एवाधिकारी, न यतिरित्यष्टकवृत्तिकृतः। अत्र द्रव्यस्तवे प्रवृत्तिकाले स्फुरणं साधोः किमबद्यसद्भावात्, अग्रिमकालऽवद्यस्य स्वशोधत्व-ज्ञानात्, स्वप्रतिज्ञोचितधर्मविरुद्धत्वज्ञानात्, आहार्यारोपाद् बा? नाद्यद्वितीयौ। गृहितुल्ययोगक्षेमत्वादुभयासिद्धेः। न तृतीयः। गृहिणाऽपि योगादिनिषेधाय धर्मार्थं हिंसा न कर्तव्येति प्रतिज्ञातकरणाद्विरुद्धवज्ञाने स्फुरितावद्यत्वेन द्रव्यस्तवाकरणप्रसङ्गात्। अध्यात्मानयनेन द्रव्यस्तवीहिंसाया अहिंसीकरणेनाविरोधस्याप्युभयोस्तौल्यात्। नापि तुर्यः। अवद्याहार्यारोपस्येतरेणापि कर्तुं शक्यत्वात्; तेन् द्रव्यस्तवत्याग-स्यापि प्रसङ्गादिति। मालिनारम्भस्याधिकरिविशेषस्याभावादेव न साधोर्देवपूजायां प्रवृत्तिः ,मलिनागारम्भी हि तन्निवृत्तिफलायां तत्राधि-क्रियते दुरितवानिव तन्निवृत्तिफले प्रायश्चिते। तदाह हरिभद्रः– ''असरदारं भपवित्ता, जं गिहिणो तेण तेसि बिन्नेया। निव्वित्तिफला एसा, तहा परिभावइयव्वमिणं ॥१॥'' अत एव स्नानेऽपि साधोर्नाधि-कारः तस्य देवपूजाङ्गात्वात्। प्रधानाधिकारिण एव चाङ्गेऽधिकारो, नान्वस्य, स्वतन्त्रोपगतभङ्गप्रसङ्गादिति युक्तं पश्यामः। असदारम्भ–निवृत्तिफलत्वं च द्रव्यस्तवस्य चारित्रमोहक्षयोपशमजननद्वारा फलतः शुभयोगरूपतया स्वरूपतश्चात एव ततो नारम्भिकी क्रिया शुभयोगे प्रमत्तसंयतस्यानारम्भकतायाः प्रज्ञाप्तौ दर्शितत्वात्, अर्थनातिदेशेन देशविरेष्वितरालाभात्। प्रति । 'किरिया' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ५४४ पृष्ठे क्रियाऽधिकार उक्तः) (अविज्ञोपचितादि चतुर्विधं कर्म नोपचीयते इति 'कम्म' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २५६ पृष्ठे समुक्तम्) तन्निष्कर्षस्त्वेवम्– ''सतनातो न च हिंसा, यस्मादेषैव तन्निवृत्तिफला। तदधिकनिवृत्ति-भावाद्, विहितमतो दुष्टमेतदिति''।।१।। इति मूल एव विस्तरेणाभिधा-स्यते चैतदुपरिष्टादित्यलं प्रसङ्गेन।

''इयं प्रोक्ता सम्यक् य इह समये वाचकवरैः,
क्रियाया निष्कर्षं कलयति कृति शान्तमनसा।
यशःश्रीस्तस्योश्चैरुपचलति भव्यस्य गुणिनो,
गुणानां बाल्लभ्यात्परमरसिकेव प्रणयिनी'' ॥१॥३०॥

(१०) द्रव्यस्तवे गुणानुपदर्शयति–

वैतृष्णयादपरिग्रहस्य दृढता दानेन धर्मोन्नतिः,
सद्धर्मव्यवसायतश्च मलिनारम्भानुबन्धच्छिदा।
चैत्यानत्युपनम्रसाधवचसामाकूर्णनात्कर्णयो–
रक्षणोश्चामृतमज्जनं जिनमुखज्यात्स्नासमालोकनात् ॥३१॥

(वैतृष्ण्यादिति) वैतृष्णवाद् धनतृष्णाविच्छेदादपिरग्रहस्यापि–रिग्रहव्रतस्य दृढता भवति। तथा दानेन कृत्वा धर्मोन्नतिर्भवति। विहितं च तज्जिनभवनकारणे पूर्वाङ्गम्–''अत्रासन्नो विजनः, संबन्ध्यपि दानमानसत्कारैः। कुशलाशयवान् कार्यो, नियमाद् बोध्यङ्गमयमस्य'' ।१। इत्यादिना। तथा मलिनारम्भानुबधस्य छिदा प्रासादादिकर्तव्यता-ऽऽनुसंधाने सदारम्भाध्यवसायस्यैव प्राधान्यादितरस्यानुषङ्गिकत्वात्, तत्प्रवाहप्रवृत्त्यैव वंशतरणोपपत्तेः। आह च–''अक्षयनीत्या ह्येवं, ज्ञेयमिदं वंशतरकाण्डम्'' इति। तथा चैत्यानत्वर्थमुपनम्रा उपनमनशिला ये साधवस्तेषामेकदेशे देशनोद्यतानां यानि वचांसि तेषामाकर्णनात् कर्णयोरमृतमज्जनम्। तथा–जिनमुखस्यभगवत्प्रतिमावन्दनादौ ज्योत्स्नाया लावण्यसमालोकन्द्यदहणोर्नयाश्चामृतमज्जनम्, विगलित-वेद्यान्तरोऽभयानन्दात्मा शान्तरसोद्बोध इति यावत्।।३१।।

नानासङ्गसमागमात् सुकृतवत्द्वन्धहिस्तव्रज–
स्वस्तिप्रश्नपरम्परापरिचयादप्यद्भुतोज्ञावना।
वीणाबेणुमृदङ्गसंगमचमत्काराच्च नृत्योत्सव–
स्फारार्हद्गुणलीनताऽभिनयनाद् भेदभ्रमप्लावना ॥३५॥

(नानेति) नानाप्रकाराः स्वदेशीयान्यदेशीया ये सङ्गस्तेषां समागमात्सु-कृतवन्तो ये सन्त एव गन्धहस्तिनो गन्धमात्रेण परवादिगजभञ्जकत्वात्, तेषां व्रजःसमूहः, तत्र या स्वस्तिप्रश्नस्य परम्परा, तस्याः परिचयादप्य-द्भुतरसस्योद्भावनोद्बोधः, ततश्च सद्योगवञ्चकादिक्रमेण परमः समाधि-लाभ इति। च पुनः वीणावेणुमृदङ्गमेन तौर्यत्रिकसंपत्त्या यश्चमत्कारः, ताते नृत्योत्सवे स्फारा येऽर्हद्गुणास्तल्लीनता विभावानुभावीभूतं यदिभिनयनं तस्ताद्भेदभ्रमस्य भेदविपर्ययस्य प्लावना परिगलनम्। तथा च समापत्त्यादिभेदेनार्हद्दर्शनं सयादिति भावः। समापत्तिलक्षणमिदम्– ''मणेरिवाऽभिजात्यस्य, क्षीणवृत्तेरसंशयम्। तावत् स्यात्तदञ्जनत्वा-त्समापत्तिः। प्रकीर्तिता ॥१॥'' इति। आपत्तिस्तीर्थकृन्नामकर्मबन्धः; संपत्तिस्तद्भावाभिमुख्यमिति योगग्रन्थे प्रसिद्धम् ॥३२॥

पूजापूजकपूज्यसंगतगुणध्यानावधानक्षणे,
मैत्री सत्त्वगणेष्वनेन विधिना भव्यः सुखी स्तादिति।
वैरव्याधिविरोधमत्सरमदक्रोधैश्च नाप्लवः,
तत्को नाम गुणो न दोषदलनो द्रव्यस्तवोपक्रमे? ॥३३॥

(पूजेति) पूजापूजकपूज्यसंगतास्त्रयान्वयिनो गुणाः, तेषां यदद्गष्टेः-समापत्तिसमाधिफलं ध्यानं, ततो यद् अवधानमनुपेक्षा, तत्क्षणे तदवसरे, अनने विधिना द्रव्यस्तवविधिना भव्यः सर्वोऽपि सुखी स्तादिति सत्त्वगणेशु प्राणिसमूहेषु मैत्री भवति। अत एवाल्पबाधया बहुप्रकारादनु-कम्पोपत्तिरिति पञ्चलिङ्गीकारः। तथा वैरं च व्याधिश्च विरोधश्च मत्सरश्च मदश्च क्रोधश्च तैः कृत्वोपप्लव उपद्रवो न भवति, तत्तस्मा-त्कारणात् द्रव्यस्तवोपक्रमे–उपक्रम्यमाणे द्रव्यस्तवे, दोषदलनो दोषोच्छेदकारी को नाम गुणो न भवति? अपि तु भूयानेवव भवतीति भावः ॥३३॥

उक्तशेषमाह–ज्ञावयज्ञोऽयं द्रव्यस्तवो नाऽत्र हिंसादोषः–

सतन्त्रोक्तदशत्रिकादिकाविधौ सूत्रार्थमुद्राक्रिया–

योगेषु प्रणिधानतो व्रतभृजां स्याद्भावयज्ञो ह्ययम्।
भावापद्विनिवारणोचितगुणा ह्यप्यत्र हिंसामति–
मूढानां महती शिला खलु गले जन्मोदधौ मज्जताम् ॥३॥

(सत्तन्त्रेति) सत्तन्त्रे सच्छास्त्रे उक्तः पूजापूर्वापराङ्गी भूतो ''दहतिगअहिगमपणगं'' इत्यादिनाऽभिहितो दशत्रिकादिक विधिस्तस्मिन्विषये, सूत्रं च अर्थश्च मुद्रा च क्रिया च तल्लुप्तणेषु योगेषु, प्रणिधानतो, हि निश्चितम्, अयं द्रव्यस्तवः भावयज्ञः स्यात्, अभ्युदयनिश्चयहेतुयज्ञरूपत्वात्तदाह–एतदिह भावयज्ञः सद्गृहिणो जन्मफलमिदं परममभ्युदयविच्छित्त्या नियमादपवर्गतरुबीजमिति। हि निश्चितमत्र द्रव्यस्तवे, जिनविरह–प्रयुक्तत्तद्विघ्नयासंपत्तिरूपाया भावापद्विनिवारणोचितो गुणो यत्र तादृशाऽपि हिंसामतिः, सा खलु मूढानां विपर्यस्तानां जन्मोदधौ संसारसमुद्रे मज्जतां गले महती शिला। मज्जतां हि पापानां गले शिलारोप उचित एवेति सममलङ्कारः। ''समं योग्यनयाद् योगो, यदि संभावितः क्वचित्।'' इति काव्यप्रकाशकारः। इदं पुनरत्र विचारणीयम्–भावोपपदः स्तवशब्द इव भावोपपदो यज्ञशब्दश्चारित्रमेवाचष्ट इति कथं द्रव्यज्ञतवे भावयज्ञपदप्रवृत्तिः?, द्रव्यस्तवशब्दस्यैव प्रवृत्तेरौचित्यात्। यज्ञशब्दो लौकिकयोगे प्रसिद्ध इति व्यावर्त्तनेन भावपदयोगः प्रकृते प्रवर्त्तयिष्यते, तर्हि स्तवशब्दोऽपि स्तुतिमात्रे प्रवृत्तो भावशब्दयोगेन प्रकृते प्रवर्त्तताम्, ''संतगुणाकित्तणाभावे'' त्ति निर्युक्तिस्वारस्यात्। गुणवत्तया ज्ञानजनकव्यापारमात्रे शक्रस्तवपदं भावपदयोग आज्ञाप्रतिपत्तिरूपे विशेषे एव पर्यवसायमतीति तत्कारणे द्रव्यस्तवपदप्रवृत्तिरेव युक्तेति चेत्, तर्हि– ''महाजयं जयइ जन्नमिट्ठं'' इत्यागमात् भावयज्ञपदस्यागमे चारित्र एव प्रसिद्धेर्द्रव्यस्तवपदप्रवृत्तेरेवौचित्यमिति देवतोद्देशकत्यागे ओगशब्दस्य प्रयोगः प्राप्नुयात्। भावपदोपसंदानेन वीतरागदेवतापूजया तत्प्रवृत्तिपर्यवसानमिति तु युक्तम्। आह च–''देवोद्देशेनैतद्ग्राहिणां कर्त्तव्यमित्यलं शुद्धः। अनिदानः खलु भावः, स्वाशय इति गीयते तद्ज्ञैः।।'' इति देवतोद्देशेन त्यागत्वनिश्चयत आत्माद्देशेनैव, देवतात्वं वीतरागत्वमिति रागात्सममर्षितस्य स्वात्मन्युपनयनात्॥ योगास्तु देवतात्वं मन्त्रकरणकहविर्निष्ठफलभामित्वेनोद्देश्यत्वम्, अतश्चतुर्थी विनाऽपीन्द्रादेर्देवतात्वं, हविर्निष्ठफलं स्वगतमतो न यागजन्यस्वर्गरूपफलश्रयकर्त्तर्यव्याप्तिः। न च मन्त्रं विनेन्द्राय स्वाहेत्यनेन त्यागे देवतात्वं न स्यादिति वाच्यम्, मन्त्रकरणकत्यागान्तरमादाय देवतात्वात्, स्वाहास्वधाऽन्तस्यैव प्रकृते मन्त्रत्वात्। पित्रादीनां स्वधया त्यागे देवतात्वम्, न तु प्रेतस्य, नमः पदेनैव तदा त्यागाशुद्धात्, अपि तु देवतात्व च ब्राह्मणपठितस्वमन्त्रात् ब्राह्मणाय स्वाहेत्यनेन ब्राह्मणाय त्यागेऽपि स्वाहेत्यस्य न ब्राह्मणस्वत्वहेतुत्वं, तद्विनाऽपि प्रतिग्रहमात्रादेव तत्सत्त्वसंभवात्। अदृष्टजनकत्वेन वा त्यागो विशेषणीयः, स्वाहेत्यनेन ब्राह्मणाय त्यागो नादृष्टहेतुः, पामरेण मन्त्रं विनाऽपीश्वराय त्यागे ईश्वरस्य देवतात्वं, मन्त्रकरणकं त्यागान्तरमत एव उद्देश्यत्वं उद्देश्यतावच्छेदकावच्छिन्नोपलक्षकं, केवलमैन्द्रया देवतात्ववारणाय विशिष्टत्वेनोद्देश्यत्वाद्विशिष्टस्यैव देवतात्वा–दित्वाहुः। तद्बालचापलमात्रम्। योगिनामुपासनीयाया वीतरागदेवताया एव प्रसिद्धेरहङ्कारममकारात्मकस्वत्वस्य तन्निरूपितस्य कुतोऽपि क्वचिदपादानासंभवात्, सरागेश्वरदेवतायाश्च रागविडम्बितैरेवाभ्युपगन्तुमर्हत्वात्। वीतरागोद्देशेन। कृतात्समन्त्रात्कर्मणोऽध्यवसायानुरोधिफलाभ्युपगमे तु मन्त्रकरणकोपसनेतिकर्त्तव्यता लम्बनत्वमेव देवतात्वमिति युक्तम्। संसारिदेवत्वं च देवगनामकर्मोदयवत्त्वं, संसारिषु संसारगामिनामितरेषु चेतरेषां भक्तिः स्वरससिद्धेति तु योगतन्त्रप्रासिद्धम्। तदुक्तं योगदृष्टिसमुच्चये–''संसारिषु हि देवेषु, भक्तिस्तत्कायगामिनाम्। तदतीते पुनस्तत्त्वे, तदगीतार्थयायिनाम् ॥१॥ '' इति स्वाहास्वधान्यतरस्यैव मन्त्रत्वमित्ययमपि नैकान्तः; मन्त्रन्यासे नमः पदस्यापि तत्त्वश्रवणात्। तदुक्तम्– ''मन्त्रन्यासस्तु तथा, प्रणवनमःपूर्वकं च तन्नाम। मन्त्रः परमो ज्ञेयो, मननात् त्राणे ह्यतो नियमात्।१।'' इति। मीमांसकस्तु इन्द्रविश्वतेनस्य सतोऽपि न देवतात्वं, तद्धि देशनादेशितचतुर्थ्यन्तपदनिर्देश्यत्वम्। आह्यरणाय दद्यादित्यादौ ब्राह्मणादेर्देवतात्वरणाय देशनादेशितेति। देशना वेदः तेन यत्र यागे हविषि वा चतुर्थ्यन्तपदनिर्देश्यतया यो बोधितः स तत्र देवता। ऐन्द्रं दधि भवतीत्यादौ देवतातद्धितविधानादिन्द्रोऽस्य देवतेत्यर्थः। देवतात्वमत्र चतुर्थ्यन्तपदनिर्देश्यमत्वमेवेति नान्याऽन्याश्रयः। इन्द्राय स्वाहेत्यादौ तु चतुर्थ्या देशनादेशितचतुर्थ्यन्तपदनिर्देश्यत्व मर्थः। इन्द्रपदं स्वपरतादृशनिर्देश्यत्ववदिन्द्रपदकस्त्याग इति वाक्यार्थः। अत एव ब्राह्मणाय स्वाहेत्यादि न प्रयोगः, स्वाहा दिपपदयोगे देवताचतुर्थ्या एव साधुत्वेन ब्राह्मणादेर्निरुक्तदेवतात्वाभावात्। तत्र हि संप्रदानत्वबोधकचतर्थ्यैव।एवं पृथक् सूत्रप्राणयनमेव, आकाशाय स्वाहेत्यादिसंप्रदानचतुर्थ्यभावेऽपि ''नमः स्वस्ति'' ॥२।३।१६॥ इत्याद्युपपदचतुर्थी संभवः। मन्त्रलिङ्गादिना च यत्र देवत्वावगमः तत्र ततस्तथाश्रुत्युन्नयनाद्देशनादेशितत्वम्। इत्थमेवेन्द्राय स्वाहेत्येव प्रयोगो, न तु शक्राय स्वाहेति पर्यायान्तरेऽपीत्यनेन चेतनैव देवतात्वम्, अग्नेय प्रजापतये चेत्यादौ देवताद्वयकल्पने गौरवाद्वाक्यभेदप्रसङ्गाच्च चकारवलाच्च विशिष्टस्यैव देवतात्वम्, अग्निप्रजाततिभ्यां स्वाहेत्येव प्रयोगात्। धृतिहोमे 'धृतिर्वो देवता रक्षायै ' चतुर्थ्यन्तेति चतुर्थ्यन्तेत्यर्थकः धृति स्वाहेत्यादौ प्रथमाया एव चतुर्थीविधानात्। अथ देवोद्देशेन क्रियमाणत्वात् ब्राह्मणोद्देशेकत्यागवात् घृतोद्देशेन क्रियमाणे दधि व्यभिचारवारणाय सत्यन्तम्। तत्परिशेषात् स्वामित्वादिति सिद्धं देवता चैतन्यमिति चेत्। न। अप्रयोजकत्वात्। तन्निष्ठकिञ्चिदुदेशनायं क्रियताम् न त्वस्योपाधित्वच्च। न हि हविस्त्यागो देवतानिष्ठकिञ्चिदुद्देशेन क्रियते, किं तु स्वनिष्ठफलोद्देशेन। शिवाय गां दद्यादित्यादौ तूद्देश्यत्वेनोक्ता चतुर्थी, ददातिस्त्यागमात्रपर इति नानुपपत्तिरित्याह। तदसत्। चतुर्थ्यन्तपदस्य देवतात्वे भावाभावात्, चतुर्थी विनाऽपीन्द्रो देवतेति व्यवहारात्, अग्नये कव्यवहायेत्यादौ देवताद्वयप्रसङ्गात्। ''इन्द्रः सहस्राक्षः'' इत्यार्थ-वादस्य इन्द्रमुपासीतेति विशेष्यतया स्वर्गार्थिवादवत् प्रामाण्यात्, इन्द्रायेत्यदौ श्रुतपदेनेव त्यागस्य फलहेतुताया वचनसिद्धवात्, ''तिर्यग्पङ्क्तिरुधार्धेय-देवतानामधिकारः'' इति जैमनिसूत्रस्यैव देवताचैतन्यसाधकत्वात अचैत्यन्येऽधिकाराप्रसक्त्या तन्निषेध्यानौचित्वात्। सूत्रार्थश्चैवम्ऋचां विशिष्टान्तः संज्ञाविरहात्, पङ्क्तेः प्रचरणाभावात्, तिस्त्रो दृष्टिश्रुतिवाच आर्षेया ऋत्विग्योग्यास्त्रिमूख्या येषामन्धबधिरमूकानां दर्शनश्रवणोच्चारणासमर्थानां तिस्त्रार्षेयाणामिति त्रिप्रवराणामेवाधिकारो, न त्वेकाद्विचतुः प्रवरादीनां देवतानामनाधिकारित्वाभेदेन संप्रदानत्वायोगादिति। एतेन देशनादेशितचतुर्थ्यन्तपदनिर्देश्यत्वस्य

तादृशपदबोध्यत्वरूपस्येन्द्रादिपदे संभवात्, तादृशपदविशिष्ट इन्द्रादिश्चेतन एव देवता, विशेषणस्येन्द्रादिपदस्येन्द्रादश्चेतन एव देवतात्वे नानाभावात् तत्तद्बीजाक्षराणामानन्त्येन तेषां चतुर्थ्यन्तत्वाभावेन देवतात्वायोगात्। न च तथाऽपि देवताशरीराणामानन्त्यम्, बालादिना भिन्नशरीरेषु चैत्रत्वादिवदिति वाच्यम्, चैतन्यसिद्धे देवतात्वे दन्द्रत्वजातेरदृष्टाविशेषोपग्रहितत्वस्य चानुगतत्वात्। ईश्वरे च देवतात्वे मानाभावात्, ईश्नादेः कर्मफलं भोक्तुं जीवभूतस्यैव देवतात्वात्, ईश्वरीयाहूतिश्रुतेरपीशानपरत्वात्, आकाशाहूतिश्रुतिरपि तदाधिष्ठातृदेवपरेति न्यायमालायाम्। अदृष्टविशेषोपग्रहो देवगतिनामर्मोदयो देवताव्यवहारप्रयोजकः, तीर्थकरनामकर्मोदयश्च देवाधिदेवव्यवहारप्रयोजकः उपासनाफलप्रयोजकश्च मन्त्रमयदेवता, नयश्च समभिरूढनयभेदः तदुपजीव्युपचारोपायमादाय संयतानामपि देवतानमस्कारौचित्यमित्ययं संप्रदायाविरुद्धोऽस्माकं मनीषोन्मेषः। तत्सिद्धमेतत्–वीतरागोद्देशेन द्रव्यस्तवोऽपि भावयज्ञ एवेति ॥३४॥

भावापद्विनिवारणगुणेन कृतां स्थपनामेव द्रढयति–

सम्यग्दृष्टिरयोगतो भगवतां सर्वत्र भावापदं,
भेत्तुं तद्भवने तदर्चनविधिं कुर्वन्नदुष्टो भवेत्।
वाहिन्युत्तरणोद्यतो मुनिरिव द्रव्यापदं निस्तरन्,
वैषम्यं किमिहेति हेतुंविकलः शून्यं परं पश्यतु? ॥३५॥

सम्यग्दृष्टिः भगवतां तीर्थकृताम्, अयोगतो विरहात्, सर्वत्र सर्वस्थाने भावापदं भेक्षु तद्भने भगवदायतने च तदर्चनविधिं विहितां भगवत्पूजां कुर्वन्नदुष्टो न दोषवान् भवेत, क इव?, रूव्यापदमन्यतो विहारायोरूपां निस्तरन्निस्तरणकामः, वाहिन्यां नद्यां तत्तदधिकार्यौचित्ये च तुल्यत्वादेकन्न नित्यत्वं, कारणनित्यत्वात्, अन्यत्र नैमित्तिकत्वं च, निमित्तमात्रापेक्षणादित्यस्योपपत्तेरिति। इतिः पर्यनुयोगे, हेतुविकलः प्रत्युत्तरदानासमर्थः, परं केवलं, शून्यं पश्यतु, दिग्मूढस्तिष्ठत्वित्यर्थः।।३५॥

वैषम्यहेतुमाशङ्क्य निराकरोति–

नो नद्युत्तरणे मुनेर्नियमनाद् वैषम्यमिष्टं यतः,
पुष्टालम्बनकं न न्नियमितं किं तु श्रुते रागजम्।
अस्मिन् सत्त्ववधे वदन्ति किल ये ऽशक्यप्रतीकारतां,
तैर्निन्दामि पिवामि चाम्भ इति हि न्यायः कृतार्थः कृतः।३६।

सुनेः नद्युःत्तरणे नियमनात् संख्यानियमाभिधानात् श्राद्धस्य पूजायां तदभावाद्वैषम्यमिष्टमिति नो नैव वाच्यं, यतः तन्नद्युत्तरणं पुष्टालम्बनकं ज्ञानादिलाभकारणं, न नियमितं,किं तु श्रुते सिद्धान्ते, रागजं रागप्राप्तम् इत्थमेव, नखनिर्दलनप्राप्तावघातनिषेधार्थप्रोक्षरणविधेरिव रागप्राप्तनद्युत्तरणनिषेधार्थं, प्रकृतस्य नियमविधित्वोपपत्तेः। द्रव्यस्तवविधिस्तु गृहिणोऽपूर्व एवेति सामान्यययोगात्, पुष्टालम्बनं तु वर्षास्वपि ग्रामानुग्रामं विहारकरणमप्यनुतातउतमिति कस्तत्र संख्यानियमः? तथा च स्थानाङ्गसूत्रम्–'वासावासं पज्जोसवियाणं नो कप्पइ निग्गंथाण वा गामाणुग्गामं दूइज्जित्तए। पंचहिं ठाणेहिं कप्पइ। तं जहा–णाणट्ठयाए दंसणट्ठयाए चारित्तट्ठयाए आयरिअउवज्झायवासे वीसमेज्जा आयरियउज्झायाणं वा बहिया अेयावश्चकरणयाए त्ति''। तत्र च मालवादावेकदिनमध्येऽपि वहुशो नद्युत्तरेणं संभवतीति अशक्यपरिहारसमाधिमाश्रित्याऽऽहअस्मिभद्युत्तरणे, सत्त्ववधे जलादिघाते येऽशक्यप्रतीकारतां वदन्ति तैः अम्भो जलं निन्दामि पियामि चेति न्यायः कृतार्थः कृतः, सत्ववधनात्रस्य निन्दनान्नद्युत्तरणं संभविनश्च तस्याश्रयणात्। शक्यं ह्येवं प्रतिमार्चनेऽपि वक्तुम्। भक्तिसाधनीभूतपुष्पादिसत्त्ववधस्य शक्यपरिहारत्वात्तत्करणे तत्परिहारः शक्य इति चेत्, नद्युत्तरणे तज्जीववधपरिहारः शक्य इति तुल्यम्। साधुना कुलाद्यप्रतिबद्धेन विहारस्तावदवश्यं कर्तव्यः, स च नद्युत्तरणं विना न संभवतीत्यवश्यगत्यैव नद्युत्तरणमिति चेत्, साधुधर्माशक्तस्य श्राद्धस्याऽवश्यं कर्तव्या भगवद्भक्तिः प्रतिमाऽर्चनं विना न संभवतीत्यत्राप्यनन्यगतिः तुल्या। एतेनैकत्रैव प्रतिक्रमणस्यासाधकत्वात् ''नइसंतरणे पडिक्कमइ'' इत्यागमे तत्सिद्धेः। यदि त्वधिकराज्ञानिरपेक्षेर्यापथिक्येव नदीप्राणयधशोधिकारी स्यात्तदा साधुदानोद्यतः श्राद्धेऽनाभोगादिना सचित्तस्पर्शमात्रेणाऽश्राद्धोऽपि तां प्रतिक्रम्य शुद्धः स्यात्। यथा प्रत्याख्यानस्य सर्वसावद्यानां साधूनां पानादिगतानेकजलादिजन्तुघातोत्पन्नं पातकमपाक्रियते, तथा गृहिणोऽनाभोगतः सचित्तस्पर्शमात्रजन्यपातकापाकरणमीषत्करमेवेति, संख्यानियमोऽपि न कल्पते। द्विवारादिनिषेधे एकश उत्तारविधायिनः षड्जीवनवधपातकस्य वा परिहार्यत्वात्, शवलत्वकनिषेधाय तदादरणस्याप्याज्ञामात्रशरणत्वात्। संख्यानियमेनैव पातकित्वे च सांवत्सरिकप्रतिक्रमणेऽतिप्रसंगः। किं चलुम्पकाभिमते शास्त्रे क्रापीर्यापथिकी नद्युत्तारे नोक्ता, किं तु ''हत्थसयादागंतुं'' इत्यादि निर्युक्तिगाथैवेति किमनेनाभिधानेनालजालकल्पेन? अथ भगवतामेव नद्युत्तारे ईर्याप्रतिक्रान्तिर्न द्रव्यस्तवे इत्यत्र को हेतुरिति पृच्छामीति चेत्, यदि वकोऽसि तर्हि व्रतभङ्गजमहापातकशेधकस्याप्रतिपन्नशोधनेऽशक्तत्वान्महातरून्मूलकस्य तृणोओन्मूल इवेत्युत्तरमाकलय। वस्तुत ईयां प्रतिक्रम्यैव तद्विधानात् तत्र वर्तमानः श्रावकः साधुर्वा सचित्तादिसंघाटे चर्यातोऽतिरिक्तामीर्यां प्रतिक्रामेत्, द्विविधं त्रिविधेन प्रत्याख्यालक्षणस्य सामायिकपौषधादेस्त्रिविधं त्रिविधेन प्रत्याख्यालक्षणस्य सामायिकच्छेदोपस्थापनीयादिचारित्रस्यातिचारलक्षणं मालिन्यं मा भूदित्याभिप्रायादित्यर्थः। तथेर्यापथिकस्य सामायिकादिव्रतान्येव न पुनरानुषङ्गिकं पृथिव्याद्यारम्भवद्धर्मानुष्ठानमानम्, अन्यथाऽभिगमनादावपि तदभिधानप्रसंगात्। अत एव कृतसामायिको मुनिरिव भावकः पुष्पादिभिर्जिनपूजां न करोतीति जिनाज्ञा, न पुनरितरोऽपि, कृतसामायिकस्य तदवाप्तपूर्तिकालं यावत्सचित्तादिस्पर्शरहितस्यैव व्रतपालकत्वात्, जिनपूजां चिकीर्षुस्तु सचित्तपुष्पादिवस्तून्युपादायैव तां करोति, तद्विना पूजाया एवाऽसंभवात्। प्रति कार्यं कारणस्य भिन्नत्वादिति बोध्यम्। लोकेऽपि यथा गृहप्रवेशेऽभ्युपगमलक्षणं नापणप्रवेशे, तथा लोकोत्तरेऽपि सामायिकेऽर्थे जानति थादासादाविति भावः। ''अपभिक्कंताए इरियावहियं न कप्पइ चेव किंचि काउं'' इत्यत्र न किञ्चिदिति विशेषः, ''परमेव चेइवंदणसज्झाए'' इत्यग्रिमपरदेनैव तदभिव्यक्तेरिति बोध्यम्॥३६॥

दृष्टान्तीकृते नद्युत्तरणे दुष्टत्वं न्यायेन साधयति–

यन्नद्युत्तरणं प्रवृत्तिविषयो ज्ञानादिलाभार्थिनां,

दुष्टं तद् यदि तत्र कः खलु विधिव्यापारसारस्तदा ।
तस्तादीदृशकर्मणीहितगुणाऽधिक्येन निर्दोषतां,
ज्ञात्वाऽपि प्रतिमार्चनात् पशुरिव त्रस्तोऽसि किं दुर्मते ! ।३७।

(वदिति) यद् ज्ञानादिलाभार्थिनां प्रवृत्तिविषयो नद्युत्तरणं, तद् यदि दुष्टं स्यात्तदा तत्र, खल्विति निश्चये, विधिव्यापारस्य विध्यर्थस्य सारः कः तात्पर्यं किम्? विध्यर्थो हि बलवदनिष्टाननुबन्धीष्टसाधनत्वे सति कृतिसाध्यत्वं, पापे च बलवत्यनिष्टं जायमाने तत्र विध्यर्थबाधक एव स्यादित्यर्थः । तस्मादीदृशे आधिकार्युचिते, नद्यतारादिकर्मणि, ईहितस्येष्टस्य गुणस्याधिक्येन निर्दोषतां स्वरूपतः सावद्यत्वेऽपि बलवदनिष्टाननुबन्धितां विहितत्वेनैव ज्ञात्वाऽवि तद्दृष्टान्तेनैव चेतःशुद्धिसंभवात्। हे दुर्मते दुष्टबुद्धे! प्रतिमार्चनात् पशुरिव किं त्रस्तोऽस्ति भयं प्राप्तोऽसि?, विशेषदर्शितत्रासप्रयोजककुमतिनिरासस्यायं नाश इति भावः। प्रति ।(उत्सर्गापवादसूत्रं पञ्चमहार्णवसूत्रं 'णईसंतार' शब्दे वक्ष्यते) अत्र हि संख्यानियमोऽपोद्वत्वनस्य यतनया कल्पनाशतच्छन्ना-प्रयोजकत्वमिति यावत्, परतस्त्वाज्ञाभङ्गानवस्थाभ्यां यतनयाऽपि न तथात्वमिति बोध्यम् । तदेवं पुष्टालम्बनेनापवादेऽपि त्रासौचित्यमिति स्थितम्। ।३७।। प्रति ।

दृष्टान्तान्तरेण समर्थनमाह–

गर्त्तादङ्गविघर्षणैरपि सुतं मातुर्यथाऽहेर्मुखात्,
कर्षन्त्या न हि दूषणं ननु तथा दु खानलार्चिर्भृतात् ।
संसारादपि कर्षतो बहुजनान् द्रव्यस्तवोद्योगिन–
स्तीर्थस्फातिकृतो न किञ्चन मतं हिसांशतो दूषणम् ॥३८॥

(गर्त्तादिति) यथा गर्त्ताद्विवरादतित्वरयाऽङ्गस्य विघर्षणैरपि कृत्वाऽ-हेर्मुखात्सर्पस्य वदनात्सुतं कर्षन्त्याः मातुर्न हि, नैव, दूषणं, ननु निश्चये, तथा दुःखानलार्चिर्भृतादसुखानिलज्वालापूरितात् संसारादपि बहुजनानन् बीजाधानद्वारेण कर्षतो द्रव्यस्तवे उद्योगिन उद्यमवतस्तीर्थ-स्फातिकृतो जिनशासनोन्नतिकारिणः हिंसाशतोऽपि हिंसांशेन न किञ्चन दूषणं मतं, स्वरूपहिंसाया दोषस्यावलत्वादुद्देश्यफलसाधनतयाऽनु-बन्धतो दोषतादवस्थ्यात् ॥३८॥

एतत्समर्थितदृष्टान्तन्यायं प्रकृते योजयितुमाह–

एतेनैव समर्थिता जिनपतेः श्रीनाभिभूपान्वय–
व्योमेन्दोः सुतनीवृतां विभजना शिल्पादिक्षाऽपि च ॥
अंशोऽस्यां बहुदोषवारणमतिश्रेष्ठो हि नेष्टोऽपरो,
न्यायोऽसावपि दुर्गतद्रुभवनप्रोद्दामदावानलः ॥३९॥

(एतेनैवेति) एतेनोपदर्शितेन सुतकर्षणदृष्टान्तेनैव श्रीनाभिभूपरय योऽन्वयो वंशस्तदेव व्योमाऽतिविशालत्वातत्रेन्दुः परमसौम्यलेश्यत्वा-ज्जगन्नेत्रा सेचनकत्वात् च तस्य विशेषणेनैव झटित्युपस्थितेर्विशेषा-नुपादानान्न न्यूनत्वम्। जिनपतेस्तीर्थकरस्य, श्री ऋषभदेवस्येत्यर्थः। सुतनीवृतां सुतदेशानां विभजना विभज्य दानं, शिल्पादीनां शिक्षाऽपि च, प्रजानामिति शेषः। समर्थिता निर्दोषतयोपदर्शिता, नीवृदन्वितस्य सुतपदस्य शिक्षायां पृथगनन्वये सुतेभ्य इत्यध्याहारावश्यकत्वेऽन्यथा विधेयाविमर्शदोषानुद्धारे सुष्ठ शोभना ता लक्ष्मीर्यत्रेति नीवृत्समानाधि-करणविशेषणमेव व्याख्येयम् । अस्यां सुतनीवृद्विभजनायां शिल्पादिशिक्षायां च बहुदोषस्यरथा मात्स्यन्यायेनान्यायप्रवृत्ति-लक्षणस्य वारणमतिश्रेष्ठोऽधिकारिणा भगवता अत्यन्तमभिप्रेतः, हि निश्चतमपरोऽनयोंऽशोऽनुषङ्ग हिंसारूपो नेष्टः, उपेक्षित इति यावत्। तस्य स्वापेक्षयाऽवलवद्दोषत्वाभावेन प्रवृत्तव्याघातकत्वाद सावपिन्यायो निर्देशलक्षणः दुर्मते द्रव्यस्तवानभ्युपगते द्रुभवने वृक्षसमूहे प्रोद्दामः प्रवरतरो दावानलो दावाग्निः, एतन्मायोपस्थितौ प्रतीतस्यापि दुर्मतस्य त्वरितमेव भस्मी भावात्, द्रव्यस्तवेऽप्यधिकारिणो गृहिणो भक्त्युद्रेकेण बोधिलाभहेतुत्वस्यैवांशस्यैवेष्टत्वादितरस्योपेक्षणीयत्वादिति भावः । प्रति० ।

(११) महानिशीथाक्षराणि तत्प्रामाण्यज्ञापनपूर्वं दर्शयति–

किं योग्यत्वकृत्स्नसंयमवतां पूजासु पूज्या जगुः,
श्राद्धानां न महानिशीथसमये भक्त्या त्रिलोकीगुरोः ।
नन्दीदर्शितसूत्रवृन्दविदितप्रामाण्यमुद्राभृतो,
निद्राणेषु पतन्ति मिणिगमडमत्कास इवैता गिरः ॥४०॥

(किं योग्यत्वमिति) किमकृत्स्नसंयमवतां देशविरतानां श्राद्धाना भक्त्याऽतिशयेन रागेण त्रिलोकीगुरोस्त्रिभुवनधर्माचार्यस्य पूजासु पुष्पादिनाऽर्चनेषु पूज्या गणधरा महानिशीथसमये महासिद्धान्ते योग्यत्वं न जगुः? अपि तु जगुरेव ।प्रति ।

दव्वत्थवा उ भाव–त्थवं तु दव्वत्थउ बहुगुणो भवउ ।
तम्हा वुहजणबुद्धी–हिँ छकायाहियं तु गोयमाऽण्णुट्ठे ॥
अकसिणपवत्तगाणं, विरयाविरयाण एस खलु जुत्तो ।
जे कसिणंसंजमविऊ, पुप्फादीयं न कप्पए तेसिं ॥
किं मन्ने गोयम! ए–सा वित्ती सदाणुट्ठिए जम्हा ।
तम्हा उभयं पि अणु–ट्ठिज्जेत्थं न वुज्जसी विणओ ॥
गामावंतं तेसिं, भावत्थवऽसंभवो तह य ।
भावच्चणा य उत्तम, दसन्नभद्देणुयाहरणं ॥
तह चेव चक्कहरभा–णुससिदत्तदमगादिहि विणिदेसो ।
पुच्छं ते गोयम! ता–व जं संरिंदेहिँ भत्तीओ ॥
सव्विड्ढिएँ अण्णण्णसा–मपूयासक्कारए कए ।
ता किं तं सव्वसावज्जं, तिविहं विरएहिँऽणुट्ठियं ॥
उआहु सव्वथामेसु, सव्वहाऽविरएसु उ ।
भयवं! सुरवरिंदेहिं, सव्वथामेसु सव्वहा ॥
अविरइएहि सुभत्तीए, पूयासक्कारए कए ।
जइ एवं तओ वुज्ज,! गोयमा! मनिसेसयं ॥
देसविरयऽविरयाणं, विणिओगमुभयत्थविसयमेव ।
सव्वातित्थंकरेहिं, जं गोयम! संसमायरियं ॥
कसिणट्ठकम्मखका–रियं तु भावत्थयमणुचिट्ठे ।
भवती उ गमागमजं, तु फरिसणाइ पमट्ठणं तत्थ ॥
सपरहिओवरयाणं, ण मणं पि पवत्तए तत्थ ।
ता सपरहिआवरएहिं सव्वहा णेसियव्वं विसेसं ॥
जं परमसारभूयं, विसेसवंतं च अणुट्ठेयं ।
ता परमासरभूयं, बिसेसवंतं * च साहुवग्गस ॥
एगंतहियं पत्थं, सुहावहं एय परमत्थं ।

* अणुण्णवगस्स इत्यपि पाठः ।

तं जह मेरूतुगे, मणिमंमएँ कंचणमएँ परमरम्मे ॥
नयणमणाणंदकरे, पभूयविन्नाणसाइसए।
सुसिलिठसुल–द्धछंदसुविभत्तए मुणीवेसे ॥
बहुसिंहग्गतघंटा–द्धयाउले पवरतारेणसणाहे।
सुविसाले सुविथिन्ने, पए पए पिच्छियव्वएँ सिरिए ॥
मघमग्घंतंउज्झं–तबगरुकप्पूरचंदणामोए।
बहुविहविचित्तबहुपु–प्फमाइपूयारिहे सुपूए य ॥
णच्चपरिचरणाउय–सयाउले महुरमुखसद्दाले।
कुट्टंतरासमणसय–समाउले जिणकहाखितचित्ते ॥
पकहंतकहगणच्चं, तत्थगतं भव्वनिग्घोसे।
एमादिगुणोवेए, पए पए सव्वमेइणीवट्टे ॥
नियभुयनिविट्ठपुन्न–त्थिएण नायागएण अत्थेणं।
कंचणमणिसोपाणे, थंभसहस्सूसिए सुवन्नतले ॥
जे कारवेज्ज जिणहरे, तओ वि तवसंजमो अणंतगुणो।
तवसंजमेण बहुभव–समज्जियं पावकम्ममललेवं ॥
निट्ठविऊणं अइरा, अणंतसोक्खं वए मोक्खं।
काउं जिणायणेहिं, सुमंडियं सव्वमेइणीवट्टं ॥
दाणाइचउक्केणं, सट्ठु वि गच्छेज्ज अच्चुयं न परं। महा ३ अ ।

उभयत्रद्रव्यस्तवे भावस्तवे चेत्यर्थः। नन्द्यां नन्दीसूत्रे, दर्शितं यत् सूत्रवृन्दं, तन्मध्ये विदिता प्रसिद्धा या प्रामाण्यमुद्य महानिशीथप्रमाणदार्ढ्यं; तद्विभ्रति याद्दश्य , एताः संप्रदायसार्वभौमानां गिरः, निद्राणेषु सुप्तप्रमत्तेषु, डिण्डिगमस्य पटहस्य, ममत्कारा इव पतन्ति। यथा गाढसुप्ताः परिमोषिण आकस्मिभयङ्करभेरीझाङ्कशब्दश्रवणेन सर्वस्वनाशोपस्थित्या कान्दिशीका भवन्ति, तथोक्तमहानिशीथशब्दश्रवणेन लुम्पका अपीति। न च वाडद्यात्रेण महानिशीथप्रमाणमित्यपि तैर्वक्तुं शक्यम्, यत्र सूत्रे आचारादीनि प्रमाणतया दर्शितानि तत्रैव महानिशीथस्यापि दर्शनात्; अतो विरोधस्य च बहुषु स्थानेषु दर्शनाद्विवेकिनः समाधिसौकर्यस्य च सर्वत्र तुल्यत्वादिति ॥४०॥

अभ्युच्चयमाह–

यद्वानादिचतुष्कतुल्यफलतासंकीर्तनं या पुन–
र्द्वौ श्राद्धस्य परो मुनेः स्तव इति व्यक्ता विभागप्रथा।
यच्च स्वर्णजिनौकसः समधिकौ प्रोक्तौ तपःसंयमौ,
तत्सर्वं प्रतिमार्चनस्य किमु न प्राग्धर्मताख्यापकम् ॥१॥

यत् दानादिचतुष्कस्य दानादिचतुष्टस्य, तुल्यफलतायाः संकीर्तनं, या पुनः द्वौ द्रव्यस्तभावस्तवौ, श्राद्धस्योचितौ, परो भावस्तव एक एव मुनेः साधोरिति व्यक्ता विभागस्य प्रथा विस्तारः। यत् स्वर्णजिनौकसः सुवर्णजिनभवनकारणोत्कृष्टद्रव्यस्तवादपि, तपः संयमौ समधिकौ प्रोक्तौ, तत्सर्वं प्रतिमार्चनस्य किमु प्राग् धर्मतायाः भावस्तवेनानुचीयमानधर्मतायाः, ख्यापकं सूचकं न?, अपि तु ख्यापकमेव। उत्कृष्टतमावधेरुत्कृष्टतरस्यैव युक्तत्वात् हीनावधिकोत्कर्षोक्तेरस्तुतित्वात्, नहि सामान्यजनादाधिक्यवर्णनं चक्रवर्तिनः स्तुतिः, अपि तु महानरपतेरिति। अक्षराणि च–

''भावच्चणमुग्गविहारणा थ दव्वच्चणं तु जिणपूजा।
पढमा जइ ण दुण्णि वि, जइणं पढमं चिय पसत्था ॥
कंचणमणिसोपाणे, थंभसहस्सूसिए सुवण्णतले।
जो कारवेज्ज जिणहरे, तओ वि संजमतओ अणंतगुणो।
तवसंजमेण बहुभव–समज्जिअं पावकम्ममलपवहं।
निट्ठविऊणं अहरा, सासयसुक्खं वए मुक्खं।
काउं जिणायणेहिं, सुमंडिअं सयलमेइणीवट्टं।
दाणाइचउक्केणं, सट्ठु वि गच्छिज्ज अच्चुयं न परं'' ॥

न च प्रथमाया एव प्रशस्त्वत्वाभिधानेनाद्याया अप्रशस्तत्वाद–नादरणीयत्वम, एवं सति ''सारो चरणस्स निव्वाणं'' इत्याभिधानान्मोक्षस्यैव स्वरसत्वाभिधानाश्चारित्रस्याप्यनादरणीयताऽऽपत्तेः। सारोपायत्वेन सारत्वं तत्राविरुद्धमिति चेत्, प्रशस्तभावाचार्थोपायत्वेन द्रव्यर्चाया अपि प्राशस्त्यादादरणीयत्वाक्षतेः ॥४१॥''

महानिशीथेऽस्मदुक्ताऽप्रामाण्यऽभ्युपगमं, कुमतिनो दूषयन्नाह–

प्रामाण्यं च महानिशीथसमये प्राचामपीत्यप्रियं,
यत्तुर्याध्ययने न तत्परिमितैः केपाञ्चिदालापकैः।
वृद्धास्त्वाहुरिदं न सातिशयमित्याशङ्कनीयं क्वचित्,
तत्किंपाप! तवापदः परगिरां प्रामाण्यतो नोदिताः? ॥४२॥

(प्रामाण्यमिति) महानिशीथसमये प्राचामपि प्राचीनयुष्मत्सांप्रदायिकानां प्रामाण्यम् इति वचः अप्रियमरणीयं, यद् यस्मात्तुर्याध्ययने केषाञ्चिदाचार्याणां परमितैर्द्वित्रैरालापकै स्तप्रामाण्यं नास्ति। वृद्धास्त्वाहुः– इदं महानिशीथं सातिशयं, अतिप्रभावमतिगम्भीरार्थं चेति क्वचिदपि स्थले नाशङ्कनीयम्, तस्मात्कारणात् हे पाप! परगिरामुत्कृष्टवाचामस्मत्संप्रदायशुद्धनां प्रामाण्यतः प्रामाण्याभ्युपगमे तवादपदो नोदिताः? अपि तूदिता एव। अभ्युपगमसिद्धास्वीकारे च तन्त्रसिद्धान्तभङ्गप्रसङ्गादजां निष्काशयतः क्रमेलकागमन्यायापातात्। तथा चोक्तं चतुर्थाध्ययनप्रान्ते–अत्र चतुर्थाध्ययने बहवः सैद्धन्तिकाः केचिदालापकान्न सम्यग् श्रद्दधत्येवं तैरश्रद्दधानैरस्माकपि न सम्यक् श्रद्धानमित्याह हरभिद्रसूरिः, न पुनः सर्वमेवेदं चतुर्थाध्यायनम्, अन्यानि वाऽध्ययनानि, अस्यैव कतिपयैः परिमितैलापकैरश्रद्धानमित्यर्थः। यतःस्थानसमवायजीवभिगमप्रज्ञानादिषु किञ्चिदेवमाख्यातं यथा प्रतिसंतापस्थलमस्ति, तद् गुहावासिनश्च मनुजास्तत्र च परमाधार्मिकाणां पुनः पुनः सप्ताष्टवारान् यावदुपपातः, तेषां च तैर्दारुणैर्वज्रशिलाघट्टसंपुऽर्गिलितानां परिपीड्यमानानामपि संवत्सरं यावत्प्राणव्यापत्तिर्न भवतीति। वृद्धावादस्तु पुनर्यथातावदिदमार्षं सूत्रं, विकृतिर्न तावदत्र प्रविष्टा, प्रभूताश्चात्र श्रुतस्कन्धेऽर्थाः सुष्ठवतिशयेन सातिशयानि गणधरोक्तानि चैव वचनानि, तदेवं स्थिते न किञ्चिदाशङ्कनीयमिति। विरोधमानं च वेदनीयस्य जघन्या स्थितिरन्तर्मुहूर्तमुत्तराध्ययनेषूक्ता, प्रज्ञापनायां तु द्वादश मुहूर्त्ता इत्यादौ संभवन्त्येव ''हेऊदाहरणासंभवे पि'' इत्यादिना प्रामाण्याभ्युपगमोऽप्युभयत्र तुल्य इति दिग्। ॥४२॥

महानिशीथ एवाऽन्यथा वाचनमाशङ्कते–

भ्रष्टैश्चैत्यकृत्येऽर्थितः कुवलयाचार्यो जिनेन्द्रालये,
यद्यप्यस्ति तथाऽप्यदः सतम इत्यक्त्वा भवं तीर्थवान्।
एतत्किं नवनीतसारवचनं नो मानमायुष्मतां,
यत् कुर्वन्ति महानिशीथबलतो द्रव्यस्तवस्थापनम्? ॥४३॥

भ्रष्टैर्लिङ्गमात्रोपजीवितैः, चैत्यकृत्ये स्वाभिमतचैत्यालयासंपाद–

नाय अर्थितः कुवलयाचार्यः, पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात्' कुवलयप्रभाचार्यःयद्यप्येतच्चैत्यालये वक्तव्यमस्ति तथाऽपि सतमः सपापम्, इत्युक्त्वा, भवं संसारार्णवं, तीर्णवान् एतत् किं नवनीतसाराध्ययनवचनम्, आयुष्मतां प्रशस्तायुषां भवतां, नो मानं न प्रमाणं?, यन्महानिशीथबलतः महानिशीथमष्टभ्य, द्रव्यस्तस्थापनं कुर्वन्त्यायुष्मन्तः। यत्र हि वाङ्मात्रेणापि द्रव्यस्तवप्रशंसनं निषिद्धं, तत्र कथं तत्करणकारणादि विहितं भविष्यतीति।।४३।।

उत्तरयति–

भ्रान्त! प्रान्तधिया किमेतदुदितं पूर्वापरानिश्चयात्,
येन स्वश्रमकल्पचैत्यममता मूढात्मनां लिङ्गिनाम।
उन्मार्गस्थिरता न्यषेधि न पुनश्चैत्यस्थितिः सूरिणा,
वाग्भङ्गि किमु यद्यपीति न मुखं वक्रं विधत्ते तव? ॥४४॥

हे भ्रान्त! विपर्ययाभिभूत! पूर्वापरग्रन्थतात्पर्यानिश्चयात् प्रान्तधिया हीनबुद्ध्या, त्वयैतत्किमुदितं कुत्सितमुक्तम्? येनोक्तवचनेन, स्वश्रमकल्पानि यानि चैत्यानि तेषु या ममता तत्र मूढ आत्मा येषां ते तथा, तादृशां लिङ्गिनां, सूरिणा कुवलयाचार्येण, मनसि निश्चितचैत्यकर्त्तव्यतागोचरतत्प्रतिज्ञां गलहस्तयता उन्मार्गस्थिरता अनायतनप्रवृद्धिदार्ढ्यं न्यषेधि, न पुनश्चैत्यस्थितिः सम्यग्भाविचैत्यप्रवृत्तिव्यवस्था, इहार्थे यद्यपीति वाग्भङ्गी वचनरचना, किमु तव मुखं वक्रं न विधत्ते?, अपि तु विधत्त एव। अप्राकरणिकस्य संबोध्यमुखवक्रीकरणस्य कार्यस्याभिधानेन प्रकृतवक्रोक्त्यभिधानादप्रशंसालङ्कारः। ''अप्रस्तुतप्रशंसा तु, या सैव प्रस्तुताश्रया।।'' इति लक्षणम्। तथा च–''जइ वि जिणालयं तह वि सावज्जमिणं।'' न स्वभावतश्चैत्यस्थितेर्दुष्टत्वमाह, किं तु सर्वप्रवृत्यु पाधिनेत्येव श्रद्धेयम्, न हि यद्यपि पायसं तथाऽपि न भक्ष्यामिति वचनं विषमिश्रताद्यपुधिसमावेशं विनोपपद्यत इति भावनीयं सूरिभिः ॥४४॥

एवं व्याख्यातमेवान्यत्रापि सूत्रस्य पिःशङ्कितत्वकरणेन प्रव्रज्यासार्थतोपपत्तिरित्यनुशास्ति–

यत्कर्मापरदोशमिश्रिततया शास्त्रे विगीतं भवेत्,
स्वाभीष्टार्थलवेन शुद्धमपि तल्लुम्पन्ति दुष्टाशयाः।
मध्यस्थास्तु पदे पदे धृतधियः संबन्ध्य सर्वं बुधाः,
शुद्धशुद्ध विवेकतः स्वसमयं निःशल्यमातन्वते ॥४५॥

(यत्कर्मेति) यत्कर्म स्वरूपतः शुद्धमपि अपरदोषेण मिश्रिततया शास्त्रे विगीतं निषिद्धं भवेत् तत् स्वाभीष्टार्थलवेन स्वभिमतार्थलेशप्राप्त्या शुद्धमपि दुष्टाशया लुम्पन्ति, छिद्रान्वेषिणामीदृशो बलस्य सुलभत्वात्, यथा वेदोद्वेगादिदोषमिश्रितमावश्यकादि निषिद्धमिति दुष्पालत्वादावश्यकमेवैदंयुगीनानामकर्तव्यमित्याध्यात्मिकादयो वदन्ति। विधिभक्ति–विकलो द्रव्यस्तवो निष्फलः स्यात्तदाह–''जं पुण एयविछत्तं, एगंतेणेव भावसुन्नं ति। तं वि समयम्मि णितओ, भावत्थवहेउओ णेयं'' ।।१।। यदनुष्ठानम्, एतदौचित्यं भावे बहुमानविषयेऽपि वीतरागेऽपि विधीयमानं तको द्रव्यस्तवः, तथा प्रकृतेऽपि मठमिश्रितदेवकुलादिकं नाचार्येणानुमतम् इत्यादिकं पुरस्कृत्य द्रव्यस्तव एव न कार्यमिति लुम्पका वदन्ति। मध्यस्थास्तु गीतार्थाः, पदे पदे स्थाने स्थाने, धृतधियः संमुखीकृतविमार्शाः, सर्वं ग्रन्थं, शनैःशनैः मन्दं मनदं, श्रोत्रे प्रज्ञाऽनुसारेण संबन्ध्य शुद्धाशुद्धयोर्विवेको विनिश्चयः, ततः स्वसमय स्वसिद्धान्तं निःशल्यं शल्यरहितमातन्वते तात्पर्यविवेचनेन सूत्रं प्रमाणयन्ति, न तु शङ्कोद्भावनेन मिथ्यात्वं वर्द्धयन्तीति भावः ॥४५॥

एतने प्रदेशान्तरविरोधोऽपि परिहृत इत्याह–

तेनाकोविदकल्पितश्चरणभृद्यात्रानिषेधोद्यत–
श्रीवज्रार्यनिदर्शनेन सुमुनेर्यात्रानिषेधो हतः।
स्वाच्छन्द्येन निवारिता खलु यतश्चन्द्रप्रभस्याऽऽनतिः,
प्रत्यज्ञायि महोत्तरं पुनरियं सा तैः स्वशिष्यैः सह ॥४६॥

(तेनेति) तेनोक्तहेतुना कोविदेन तात्पर्यज्ञेन कल्पितश्चरणभृतां यात्रानिषेधे उद्यता ये श्रीवज्राचार्याः श्रीवज्रसूरयस्तेषां निदर्शनेन दृष्टान्तेन सुमुनेः सुसाधोः यात्रानिषेधो हतो निराकृतः; यतस्तत्र ग्रन्थे स्वाच्छन्द्येनाज्ञारहिततया गुरुभिः चन्द्रप्रभस्य चन्द्रप्रभस्वामिन आनतिर्निषिद्धा, महोत्तरं सङ्घयात्रोत्सवनिवृत्यनन्तरं, पुनरियं चन्द्रप्रभयात्रा तैराचार्यैः, स्वशिष्यैः सह, प्रत्यज्ञायि कर्त्तव्येति प्रतिज्ञाविषयी कृता। अत्राऽप्यविधियात्रानिषेधमेवोपश्रुत्य यात्रामात्रं मूढैर्निषिद्धं तद् दूषित तात्पर्यज्ञैरिति बोध्यम्। प्रति"। (अत्र सावद्याचार्यवज्राचार्यसंबन्धौ श्रोतृणामुपकाराय महानिशीथगतावभिधास्येते 'सावज्जायरिअ' शब्दे ''कुवलप्रभवज्रमुनीशयोश्चरितयुग्ममिदं विनिशम्य भोः। कुमंतिभिर्जनितं मतिविभ्रमं, त्यजत युक्तमदुक्तविभावकाः॥१॥'' प्रथमे ह्यनधिकारिकर्तृकत्वाविशिष्टचैत्यप्रवृत्त्यनुमोदने तार्त्प, द्वितीये चाविधियात्रानिषेध इति। न च यात्रायामेवासंयमाभिधानात्तन्माखनिषेधे स्वस्थानावधिकतीर्थप्राप्तिफलकव्यापाररूपायास्तस्या निषेधे संयतसार्थेन तन्निषेधापत्त्या संयतसार्थेन तन्निषेधस्यैव फलितत्वात्, अत एव साधूनामवधानभृतां कदालम्बनीभूतैव चैत्यभक्तिश्चैत्यवासिनामावश्यकेऽपि निषिद्धा–

''नीया वासविहारं, चेइअभत्तिं च अज्जियालाभं।
विगइसु अप्पभिबंधं निहोसं चोआ विं ति॥
चेइयकुलगणसंघं, अन्नं वा किंचि काउ निस्साणं।
अहवा वि अज्जवइरं, तो सेवंती अकरणिज्जं''॥ इत्यादि।
तस्मादावश्यकमहानिशीथाद्येकवाक्यतया साधुलिङ्गस्यैव चैत्यभ–क्तिर्निषिद्धा, श्राद्धानां तु शतशो विहितैवेति अद्धेयम्॥४६॥

सिंहावलोकितेन बिम्बमनानुकूलव्यापारे यात्रापदार्थबोधमाशङ्क्य परिहरति–

नो यात्रा प्रतिमानतिर्व्रतभृतां साक्षाइनादेशनात्,
तत्प्रश्नोत्तरवाक्य इत्यपि वचो मोहज्वरावेशजम्।
मुख्यार्थः प्रथिता यतो व्यवहृतिः शेषान् गुणान् लक्षयेत्,
सामग्र्येण हि यावताऽस्ति यतना यात्रा स्मृता तावता ॥४७॥

(नो इति) प्रतिमानितिः यात्रा न भवति। केषाम्?, व्रतभृतां चारित्रिणाम् कुतः?, तत्प्रश्नोत्तरवाक्ये शुकसोमिलादिकृतयात्रापदार्थप्रश्नानां थावचापुत्रभगवदाद्युत्तरवाक्ये साक्षात्कण्ठपाछेनाऽनादेशनात्! बिम्बप्रणतरेनुपदेशात्, इत्यापि वचः, कुमतिनां मोहरूपो यो ज्वरस्तदावेशस्तत्पारवश्यप्रलापजनितम्, यतः मुख्यार्थः प्राथिता प्रसिद्धा, व्यवहृतिः शब्दप्रयोगरूपा, शेषान् उक्तावशिष्टान् गुणा लक्षयेत्। हि यतः, यावता सामग्र्येण

यावत्या सामग्र्या, यतना भवति तावता यात्रा स्मृता। तथा च–''किं ते भंते! जत्तासु आगमे तवणियमसंजमसज्झाणावस्सयमाइस्सु जयणा'' इत्यत्रादिपदस्वरसात् यत्याअमोचितयोगमात्रयतनायां यात्रापदार्थो लभ्यते। यथा ''परेषां यज्ञेन'' इत्यादिसूत्रं शतपथविहितकर्मवृन्दोलक्षकम्, अत एव सोमप्रश्नोत्तरे यथाश्रुतार्थबोधे फलोपलक्षकत्वं व्याख्यातम्। तथा चात्र भगवतीवृत्तिः–एतेषु च यद्यपि भगवतो न तदानीं किञ्चिदस्ति तथाऽपि तत्फलसद्भावात्तदस्तीत्यवगन्तव्यमिति। अयं च एवंभूतनयार्थः, प्रागुक्तस्तु शब्दसमाभिरूढयोरिति विवेकः।।४७।।

साक्षादादेशगतिमप्याह–

वैयावृत्यतया तपो भगवतां भक्तिः समग्राऽपि वा,
वैयावृत्यमुदाहृतं हि दशमे चैत्यार्थमङ्गेस्फुटम्।
नैतत् स्यादशनादिनैव भजनाद्वाराऽपि किं त्वन्यथा,
सङ्घादेस्तदुदीरणे वत कथं न व्याकुलः स्यात्परः? ॥४८॥

वा अथवा, समग्राऽपि सर्वाऽपि, भगवतां भक्तिः कृतकारितानुमतिरुपा, स्वाधिकारौचित्येन तप एव, तथा च तपःपदेन यात्रायाःसाक्षादुपदेश एवेति भावः। वैयावृत्यमस्याः कुतः सिद्धमत आह–हि निश्चितं, दशमेऽङ्गे प्रश्नव्याकरणाख्ये, स्फुटं प्रकटं, चैत्यार्थं वैयावृत्यमुदाहृतम्। तथा च तत्पाठः–''अह केरिसए पुणाऽऽइं आराहए वयमिणं? जे से उवहिभत्तपाणदाणसंगहणकुसले अचंतबालदुव्वलगिलाणवृड्ढचावगपवित्तिआयरियउवज्झायसेहसाहम्मियतवस्सिकुलगणसंघचेइयट्ठो णिज्जरट्ठी वेआवच्चं अणिसिस्सयं दसविहं बहविहं पकरेइ त्ति।'' (अह किरिसए त्ति) अथ परिप्रश्नार्थः, कीदृशः पुनः ''आइं ति'' अलंकारे, आराधयति व्रतमिदम्?। इह प्रश्ने उत्तरमाह–''जे से इत्यादि। योऽसावुपधिभक्तपानानां दानं च संग्रहणं च, तयोः कुशलो विधिर्ज्ञेयः,–सतथा,बालश्चेत्यादेः समाहारद्वन्द्वः। ततोऽत्यन्तं यद् बालग्लानवृद्धक्षपकं तत्तथा। तत्र विषये वैयावृत्यं करोतीति योगः। तथा प्रवृत्त्याचार्योपाध्याये, इह द्वन्द्वैकत्वात्प्रवृत्यादिषु, तत्र प्रवृत्तिलक्षणमिदम्–''तवसंजमजोगेसुं, जो जुग्गो तत्थ तं पवत्तेइ। असहू य णियत्तेई, गणतत्तिल्लो पवित्ती तो'' ।१। व्य०१ उ० इतरौ प्रतीतौ, तथा 'सेहे' शैक्षेऽभिनवप्रव्रजिते, साधर्मिके समानधर्मिके लिङ्गप्रवचनाभ्यां, तपस्विनि चतुर्थभक्तादिकारिणि, तथा कुलं गणसमुदायरूपं चान्द्रादिकं, गणः कुलसमुदायः कोटिकादिकः सङ्घस्तत्समुदायरुपः, चैत्यानि जिनप्रतिमाः, एतासां योऽर्थः प्रयोजनं स तथा। तत्र निर्जरार्थी कर्मक्षयकामः, वैयावृत्यं व्यावृतकर्मरूपमुपष्टम्भनमित्यर्थः। अनिश्चितं कीर्त्यादिनिरपेक्षं, दशविधं दशप्रकारम्। आह–

''वेयावच्चं वावभ–भावो इह धम्मसाहणणिमित्तं।
अन्नाइआण विहिणा, संपायणमेस भावत्थो।।
आयरियउवज्झाए, थेरतवस्सीगिलाएसेहाणं।
साहम्मिकुलगणसं–घसंगयं तहनिहायव्वं''॥

बहुविधं भक्तपानादिदानभेदेनानेकप्रकारं करोतीति वृत्तिः। ननु चैत्यानि जिनप्रतिमा इत्यत्र वृत्तिकृत्तोक्तं, परं विचार्यमाणं न युक्तम्, अशनादिसंपादनेस्यैव वैयावृत्यस्योक्तत्वेन प्रतिमासु तदर्थायोग्यत्वात्। अत आहन एतद्वैयावृत्यम्, अशनादिनैवाशनादिसंपादनेनैव स्यादिति तत्किं तु भजनाद्वाराऽपि भक्तिद्वारेणाऽपि प्रत्यनीकनिवारणरूपे भक्तिव्यापारेऽपि ''जक्खाहु वेयावमियं करें ति, तमाहु एए निहया कुमारा।'' इत्यादौ वैयावृत्यवादप्रयोगस्य सूत्रे दर्शनान्न वादिपदग्राह्यं पानादिकमेव, किं तु भक्त्यादिकमपि। अत एव तपस्व्यादीनां तपोयोगप्रभृतिकालेऽशनादिसंपादनस्यायोगाद्भक्त्याद्युचितनित्यव्यापारसंपादनसंभवाभिप्रायेण योगविभागात्समासः, बालादीनां शैक्षसाधर्मिकयोश्च कथञ्चित्तुल्यतयेति भावनीयम्। एतदेवाहअन्यथोक्तवैपरीत्ये, सङ्घादेस्तदुदीरणे वैयावृत्योद्यारे, परः कुमतिः कथं न व्याकुलो व्यग्रः स्यात्, कुलगणसङ्घादीनां सर्वेण सर्वदा सामग्र्येणाशनादिसंपादनस्य कर्तुमशक्यत्, यावद्बाधं प्रामाण्यं तूभयत्र वक्तुं शक्यमिति दिक्।।४८।।

अथैन्तिवादमधिकृत्याह–

ज्ञानं चैत्यपदार्थं वदतः प्रत्यक्षबाधैकतो,
धर्मिद्वारतया मुनावधिकृते त्वाधिक्यधीरन्यतः।
दोषायेति परः परः शतगुणप्रच्छादनात्पातकी,
दग्धां गच्छतु पृष्ठतश्च पुरतः कां कान्दिशीको दिशम्?४९

(ज्ञानमिति) अत्र प्रश्नव्याकरणप्रतीके, चैत्यपदार्थं ज्ञानं वदतो लुम्पकस्यैकस्मिन्पक्षे प्रत्यक्षबाधा प्रत्यक्षप्रमाणबाधः, परिदृष्टविश्रामणदिवैयावृत्यस्य ज्ञानेऽनुपपत्तेः। धर्मिद्वारतया धर्मिणि धर्मोपचाराभिप्रायेण, मुनौ साधौ, अवधिकृते वत्साग्रहीते तु, अन्यतः पक्षान्तरे, अधिक्यधीर्दोषाय, मनुर्बालादिपदैर्गृहितत्वाच्चैपदस्य पौनरुक्त्यमित्यर्थः। चैत्यपदेनोपचारस्याप्योगात्, एवं सति चैत्यार्थपदस्य चैत्याप्रयोजनममुना चार्थान्तरसंक्रमितवाच्यताया एव युक्तत्वात्। ''चेइयकुलगणसंघे, आयरियाणं च पवयणसुए अ। सव्वेसु वि तेण कर्थे, तवसंजममुज्जमंतेण''।१। इत्यादिना तपःसंजमयोः चैत्यप्रयोजनप्रयोजकत्वस्य सिद्धान्तसिद्धत्वात् बालादि पदैकवाक्यतया चैत्यपदस्यैककार्यत्वसङ्गत्यैव ग्रहणौचित्यात्। उपसंहरति–इत्येवं, परः कुमतिः, परः शतानां गुणानां चैत्यशब्दनिर्देशप्रयुक्तानां, प्रच्छादनान्निह्नवात्पातकी दुरितवान्, कान्दिशीको भयद्रुतः सन्, पृष्ठतः पुरतश्च दग्धां कां दिशं गच्छतु मिथ्यभिशङ्की?, न कुत्राऽपि गच्छतीति भावः। अत्र दग्धदिग्त्वेन पूर्वोत्तरपक्षद्वयाध्यवसानादतिशयोक्तिः।।४९।।

(१२) निश्चितार्थेऽनुपपत्तिमाशङ्क्यनिराकरोति–

वैयावृत्यमथैवमापतति वस्तुर्ये गुणस्थानके,
यस्माद्भक्तिरभङ्गुरा भगवतां तत्रापि पूजाविधौ।
सत्यं दर्शनलक्षणेऽत्र विदितेऽनन्तानुबन्धिव्ययात्,
नो हानिं त्वयि निर्मलां धियमिव प्रेक्षामहे कामपि ॥५०॥

(वैयावृत्यामियादि) अथैवं चैत्याभक्तेर्वैयावृत्यत्वेन, वः युष्माकं, तुर्ये चतुर्थे गुणस्थानके, वैत्यावृत्यमापतति प्रसज्यते, यस्मात्तत्र भगवतामर्हतां, पूजाविधौ विहितार्चनेऽभङ्गुराऽव्याप्या भक्तिर्वर्तते। सत्यमित्यर्द्धाङ्गीकारे, अत्र चतुर्थगुणस्थानके, दर्शनलक्षणे सम्यक्त्वलक्षणीभूते वैयावृत्ये विदिते ''सुस्सूसधम्मराओ, गुरुदेवाणं जहा समाहीए। वेयावच्चे णियमो, वा पडिवत्ती अभयणाओ''।१। इत्यादिप्रसिद्धेऽनन्तानुबन्धिनां व्ययात् क्षयोपशमान्नकामपिहानिं प्रेक्षामहे। कुत्र कामिव, त्वयि निर्मलां निःशङ्कितांधियमिव बुद्धिमिव, यथा त्वयि निर्मलां धियं न प्रेक्षामहे,

तथाऽस्मुदुक्तार्थे न हानिं प्रेक्षामहे इत्युपमा । चारित्रमोहनीयभेदादनन्तानुबन्धिव्ययजायमानस्य वैयावृत्यगुणस्याविरतसम्यग्दृशामपि संभवे बाधकाभावादित्यर्थः ।।५०।।

तथा सति तेषां चारित्रलेशसंभवेऽविरतत्वानुपपत्तिरेव बाधिकेत्यत्राह–

श्राद्धानां तपसः परं गुणतया सम्यक्त्वमुख्यत्वतः,
सम्यक्त्वाङ्गमियं तपस्विनि मुनौ प्राधान्यमेषाऽश्नुते ।
धीर्लीलाङ्गतयोपसर्जनविधां धत्ते यथा शैशवे,
तारुण्ये व्यवसायसंभृततया सा मुख्यतामञ्चति ।।५१।।

श्राद्धानां दर्शनश्रावकाणां, परं केवलं, तपसो गुणतया मनुष्यतया, इयं भक्तिः, सम्यक्त्वाङ्गं सम्यक्त्वप्रधानस्याङ्गीभूता, सम्यक्त्वफलेनैव फलवतीत्यर्थः ।फलवत्संनिधानफलं तदङ्गमिति न्यायात्, तथा च तावता नाविरतत्वहानिः, कार्षापणमात्रधनेन धनवानेकगोमात्रेण गोमानिति पञ्चाशकवृत्तावभयदेवसूरयः । कषायविशेषव्यय एवाविरतत्वहानिप्रयोजको, न तु प्रथमानुदयमात्रं, तेनोपेक्षिकोपशमादिनां सम्यक्त्वगुणानामेव जनकत्वादिति निष्कर्षः । आह ''पढमाणुदयाभावो, एसस्स जओ भवे कसायाणं । ता कह एसो एवं, भन्नइ य तज्जियसवेरवाइत्ति'' ।।१।। प्रधानीभूतास्तूपशमादयोऽपि चारित्रिण एव घटन्ते । तदाह– 'णिच्छयसम्मत्तं चागिहिस्स सुत्तभणियतिउणरूवं तु । एवंविहो णिओगो, होइ इमेहिं तवन्नु त्ति'' ।।१।। इति विंशिकायाम् । एतदेवाभिप्रेत्याह– तपस्विनि प्रधानतपोयुक्ते, मुनौ चारित्रिणि, एषा भक्तिः प्राधान्यं प्राप्नोति । अत्र दृष्टान्तमाह– यथा शैशवे बाल्ये धीर्बुद्धिः लीलायाः प्रधानीभूतायाःक्रीमायाः अङ्गतया उपसर्जनविधा गौणभावं धत्ते, तारुण्ये यौवनकाले च सा बुद्धिः, व्यवसायसंभृततया बलपराक्रमसधीचीनतया, मुख्यतां मुख्यभावमञ्चति प्राप्नोति ।।१।।

अत्र सूत्रनीत्या हिंसामाशङ्क्योद्वेगमभिनयति परः–

अर्थं काममपेक्ष्य धर्ममथवा निघ्नन्ति ये प्राणिनः,
प्रश्नव्याकरणे हि मन्दमतयस्ते दर्शिताः स्तत्कथम् ।
पुष्पाम्भोदहनादिजीववधतो निष्पाद्यमानां जनैः,
पूजां धर्मतया प्रसह्य वदतां जिह्वा न नः कम्पताम् ।।५२।।

(अर्थमिति) अर्थम्, कामम् । अथवा–धर्ममपेक्ष्य ये प्राणिनो निघ्नन्ति, ते प्रश्नव्याकरणे, हि निश्चितं, मन्दमतयो दर्शिताः, तत्कथं स्यात्? पुष्पाम्भोदहनादिजीवानां यो वधस्ततो, जनैः, केवलितत्त्वज्ञैरित्यर्थः । निष्पाद्यमानां कार्यमाणां, पूजां प्रसह्य हठा–त्, धर्मत्वेन वदतां नः– अस्माकं जिह्वा कथं न कम्पताम्?, अपि तु कम्पताम् । धर्मिणां जिह्वैव मृषा भाषितुं कम्पत इत्युक्तिः? ।५२।

(१३) अत्रोत्तरदातुः स्वस्य वैद्यताभिनयाभिव्यक्तये भेषजमुपदर्शयति–

(धर्माङ्गं हिंसा न दोषाय)

भोःपापाः! भवतां भविष्यति जगद्वैद्योक्तिशङ्कातां,
किं मिथ्यात्वमरुत्प्रकोपवशतः सर्वाङ्गकम्पोऽपि न ।
यो धर्माङ्गतया वधः कुसमये दृष्टोऽत्र धर्मार्थिका,
साहिंस्स न तु सत्क्रियास्थितिरिति श्रद्धैव सद्भेषजम् ।।५३।।

(भो इति) भोः पापा ! पापान्वेषिणः कुमतयः! भवतां जगद्वैद्यस्य भगवतः, उक्तौ शङ्कातां, मिथ्यात्वरूपो यो महद्वायुस्तस्य प्रकोपवशतः किं सर्वाङ्गकम्पोऽपि न भविष्यति? तत्र प्रकम्पे प्रतीकारकवैद्यवचनविचिकित्सकस्य रोगिणो ब्रह्माणा प्रतिकर्तुमशक्यत्वात् । न सुवैद्योक्तिविचिकित्सावन्तो भविष्याम उक्तरोगौषधमुपदिश्यतामिति विवक्षायामाहयो वधः कुसमये कुशास्त्रे धर्माङ्गतया धर्मकारणतया दृष्टः, अत्र परीक्ष्यलोके, सा धर्मार्थिका हिंसा न तु सत्क्रियास्थितिरप्रमत्तयोगेन हिंसायामुपरमात्, इतीयं श्रद्धैव सत् समीचीनं भेषजम् । अन्यथा सद्भूतभावाभिगमनायैकोनपञ्चाशता दिनैः परिपाकशोभ्यादुदकरत्नं कृतवान् तथा राज्ञा कारितश्च सुबुद्धिर्नहाहिंसको मन्दबुद्धिश्च स्यात् । तथा च सूत्रम्–'तते णं सुबुद्धिस्स इमेयारूवे अब्भत्थिए समुपज्जित्था, अहो णं जियसत्तू तवे तहिए अवितहे सब्भूए जिणपन्नत्ते भावेणोवलंभितं सेयं खलु ममं जियसत्तुस्स रण्णो सताणं तवाणं तहियाणं अवितहाणं सब्भूयाणं जिणपण्णत्ताणं भावाणं अभिगमणट्ठयाए समट्ठं उवयणावित्तए एवं सेपेहेइ । संपेहेइत्ता पंचसएहिं पुरिसेहिं सीद्ध अंतरापणाओ नवए घडे गिएहइ । गिण्हइत्ता संझाकालसमयंसि पयिरलवणुस्संसि णिसंतपडिणिसंतंसि जेणेव परिहोदए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता, तं परिहोदगं गेण्हावेति, नवएसु घमेसु गालावेति, नवएसु घमेसु पक्खिवावेति, सज्जखारं पक्खिवावेइ, पक्खिवावेइत्ता लंछियमुद्दिए करावेइ, करावेइत्ता तं परिसावेति, परिसावेतित्ता तच्चे पि नवएसु घमेसु जाव संवसावेति, अंतरा गालाबेमाणा २ अंतरा पक्खिवावेमाण २ अंतरा वसावेमाणा २ सत्त सत्त राइंदियाइं परिसावेइ, परिसावेइत्ता ततेणं से परिहोदए सत्तयंति सत्तयंसि परिणममाणंसि उदगरयणे जाए आवि हुत्था''ह्ण तदा वायुकायदिविराधनाया अवर्जनीयत्वादकरणपरिहारस्य च तदुक्तरीत्यैव संभवात्। एतेन ''एवमादी संते सत्त परिवज्जिया उवहणंति, अवसाहणंति, दड्ढमूढदारुणमइ कोहा माणा माया लोभा हासरती सोयवेदछज्जीवकायत्थधम्महेउं सवसा अवसा अट्ठा अणट्ठा य तसपाणा थावरे य दीसंति, मंदबुद्धी सवसा हणंति, अवसा हणंति, सवसा अवसा दुहओहणंति, अट्ठा हणंति, अणट्ठा हणंति, अट्ठा अणट्ठा दुहओ हणंति,हस्सा हणंति, वेरा हणंति, रतीए हणंति हस्सा वेरा हणंति, कुद्धा हणंति, मुद्धा हणंति, लुद्धा हणंति, कुद्धा मुद्धा लुद्धा हणंति, अत्था हणंति, धम्मा हणंति, कामा हणंति, अत्था धम्मा कामा हणंति।'' त्ति प्रश्नसूत्रमपि व्याख्यातक्रोधादिकारणैर्हन्तॄणां स्ववश्याद्यर्थं प्रपञ्चितानां मन्दबुद्धितयोक्तत्वेऽपि, स्वाम्यधिकारे–''कयरे ते, जे सोयरियमच्छबंधा साउणेया वाहा कूरकम्मा'' इत्याद्युपक्रम्य ''सण्णी य असण्णी णो पज्जत्ता असुभलेसस्स परिणामा एते अण्णे य एवमादी करेंति पाणाइवाकरणं'' इत्यतिदेशाभिधानेन शुभलेश्यानामेव प्राणातिपातकर्तृत्वोपदेशाद्, भक्तिरागोपबृंहितसम्यग्दर्शनोल्लासेन प्रशस्तलेश्याकानां देवपूजाकर्तॄणां हिंसालेशस्याप्यनुपदेशात्, कथं च श्रृङ्गग्राहिकयाऽतिदेशनैव तेषां हिंसकानुक्तावपि तथा प्रलापकारिणां नानन्तसंसारित्वं, शासनोच्छेदकारिणामनन्तानुबन्धिनीमायाविसद्दत्रलापस्यासंभावात्। तदुक्तम्–''जइ वि य ण गिणे'' इत्यादि । किं च–येऽर्थाय कामाय धर्माय घ्नन्ति मन्दबुद्धय इति पराऽभिमत उद्देश्यविधेयभावोऽप्ययुक्तः, अर्थाय घ्नतामानन्दादीनामपि मन्दबुद्धित्वप्रसङ्गात । किंतु ये मन्दबुद्धय उक्तकारणैः घ्नन्ति, ते प्राणा–

तिपातफलं दुस्तरं प्राप्नवन्तीति मन्दबुद्धित्वमुद्देश्यतावच्छेदके प्रवेश्ये प्रयोगो युक्त इति विवेके न चाशङ्का, न चोत्तरमिति श्रद्धेयम् ॥५३॥

एतदेव षोडशके हरिभद्रसूरिः।

स्नानादिषु जीवकायवधमाङ् क्याह–

स्नानादौ कायवधो, न चोपकारे जिनस्य कश्चिदपि।
कृतकृतश्च स भगवान्, व्यर्था पूजेति मुग्धमतिः ॥१३॥

(स्नानादावित्यादि) स्नानादौ स्नानविलेपनसुगन्धिपुष्पादौ पू–वौक्ते, कायवधो जलवनस्पत्यादिवधः परिदृष्टरूप एव, न चोपकारः सुखानुभवरूपस्तपदनुभोगेन, जिनस्य वीतरागस्य मुक्तिव्यवस्थितस्य, कश्चिदपि कोऽपि, कृतकृत्यश्च निष्ठितार्थश्च, स भगवान्, न किञ्चित् तस्य करणीयमस्त्यपरैरेवं व्यर्था पूजा निरर्थिका पूजेत्येवं मुग्धमतिरव्युत्पन्नमतिर्मूढमतिर्वा पर्यनुयुङ्क्ते ॥१३॥ षो०६ विवि०। पञ्चवस्तुके चैत्यहिंसाया अदूष्यत्वं वैदिकाहिंसाया दूष्यत्वं विस्तरतोऽप्युक्तमस्मत्वादत्रोपेक्षितम्। प्रति०। पं०व०।

यागधर्माङ्गतयेत्याद्युक्तमेवोपपादयति–

यागीयो वध एव धर्मजनकः प्रोक्तः परैः स्वागमै,
नास्मिन्नोधनिषेधदर्शितफलं कार्यान्तरार्थाश्रिते?
दाह ह्यापि यथा सुवैद्यकबुधैरुत्सर्गतो वारिते,
धर्मत्वेन धृतोऽप्यधर्मफलको धर्मार्थिकोऽयं बधः ॥५४॥

''यागीय इत्यादि''। यागीयो यागस्थलीयो वध एव हि, परैर्वैदिकैः स्वागमे धर्मजनकः प्रोक्तः, ''भूतिकामः पशुमालभेत'' इत्यादिवचनात्। अस्मिन् ओघनिषेधेन सामान्यनिषेधेन, दर्शितफलं निषेध्यप्रयोजनं दुर्गतिगमनलक्षणम्। न इति न, कीदृशेऽस्मिन्कार्यान्तरम् ओघानियुक्तमुक्तरूपफलभिन्नं, कार्यं च न प्राप्तिलक्षणं, तदर्थमाश्रिते। तदाह–उत्सर्गनिषेधानुगुणं दुःखरूप फलं न भवतीति न। अयं धर्मार्थको वधः धर्मत्वेन धृतोऽपि भ्रान्तिविषयीकृतोऽपि, अधर्मफलकोऽधर्महेतुः। आह च–'मिथ्यादृष्टिभिराम्नातो, हिंसा–द्यैः कलुषीकृतः। स धर्म इतिचित्तोऽपि, भवभ्रमणकारणम्।।१।।'' इति। तस्मात् धर्मार्थं हिंसा यागादावेव, न तु जिनप्रातिमापूजायामिति श्रद्धेयम् ॥५॥

ननु भवतामपि सामान्यतो निषिद्धाया हिंसायः फलं कथं न पूजास्थलीयहिंसायमित्याह–

अस्माकं त्वपवादनाकलयतां दोषोऽपि दोषान्तरो–
च्छेदी तुच्छफलेक्ष्छया विरहितश्चोत्सर्गरक्षाकृते।
यागादावपि सत्वशुद्धिफलतो नेयं स्थितिदुर्हतः,
श्येनादेरिव सत्वशुद्ध्यनुदयात्तत्संभवादन्यतः ॥५५॥

अस्माकं त्वपवादमाकलयताम्, उत्सर्गिकाधिकारिकमपवादं निम्नोन्नतन्यायेन तुल्यसंख्याकमभ्युपगच्छतामित्यर्थः। दोषोऽपि द्रव्यस्तवेऽधिकारिविशेषणीभूतोऽयमिति नारम्भस्तत्कालीनः सदारम्भो वा, दोषान्तरस्यानुवन्धाहिंसारूपस्योच्छेदी, तुच्छफलस्य भूत्यादिलक्षणस्येच्छया विरहितश्चोत्सर्गरक्षाकृत एवोत्सर्गरक्षार्थमेव प्रवर्तत इति विरोधः। परेषां तु सामान्यनिषेध उत्सर्गो मुमुक्षोरपवादश्च यागीयहिंसाविधिलक्षणो भूति कामस्येति भिन्नविषयत्वादुत्सर्गापवादभावानुपपत्तिरेव। तदुक्तं हेमसूरिभिः–''नोत्सृष्टमन्यार्थमपोद्यते च'' इति। ननु यागादौ प्रतिपदोक्तफलकामानया मा भूदेवमुत्सर्गापवादभावः, ''तमेवं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन'' इत्यादिश्रुतेः प्रतिपदोक्तफलत्यागेन शतपथविहितकर्मवृन्दस्य विविदिषायां सत्वशुद्धिद्वारा संभविसमुश्चयेनोपयोगो भविष्यतीत्यत आह–''यागादावपीति''यागादावपि सत्वशुद्धिफलमाश्रित्य, नेयमस्मदुक्तजातीया, स्थितिमर्यादा, कुतः? दुष्टतः स्वरूपतो दुष्टात् श्येनादेरिव श्येनयागादेरिव, सत्वशुद्ध्यनुदयात् मनःशुद्धेः कर्तुमशक्यत्वात्, ये हि प्रतिपदोक्तफलत्यागेन वेदोक्तमिति कृत्वा ज्योतिष्टोमादि सत्वशुद्धर्थमाद्रियन्ते, तैः श्येनयागोऽप्यतिचारफलत्यागेन सत्त्वशुद्ध्यर्थमादरणीय इति भावः। अवदाम च ज्ञानसागरप्रकरणे–''वेदोक्तत्वान्मनःशुद्ध्या, कर्मयज्ञोपयोगिनः। ब्रह्मयज्ञा इतीत्थं नः, श्येनयागंत्यजन्ति किम्''१ ॥ इति।। तथाऽन्येतो गायत्रीजपादेः, तत्सं भवात्सत्त्वशुद्धिसंभवान्नेयं स्थितिरित्यवधेयः। अस्माकं त्वनन्यगत्याऽऽश्रयव्ययतुलनया वादाश्रयणे सत्वशुद्धेर्नासंभवः।।५५।।

अनन्यगतिकत्वे पूजादावन्यथासिद्धिं शङ्कते–

नन्वेवं किमु पूजयाऽपि भवतां सिद्ध्यत्यवद्योज्झिता–
द्भावापद्विनिवारणोचितगुणः सामाथिकादेरपि।
सत्यं योऽधिकरोति दर्शनगुणोल्लासाय वित्तव्यये,
तस्येयं महते गुणाय विफलो हेतुर्न हेत्वन्तरात् ॥५६॥

ननु एवं सत्वशुद्धेरनयतः संभवे, भवतां स्वरूपतः साद्यावया पूजयाऽपि किं जनैरहिप्रयुक्तया, भावपद्विनिवारणे जिन उचितो गुणः अवद्योज्झितात् पापरहितात् सामायिकादेरपि सिद्ध्यति, तस्य पारमार्थिकविनयरूपत्वात्। आह च–''पुष्पामिषस्तुतिप्रतिपत्तीनां यथोत्तरं प्रामाण्यम्'' इति। उत्तरमाह(सत्यमिति)सत्यमित्यर्द्धाङ्गीकारे, यो दर्शनगुणोल्लासाय सम्यक्त्वगुणवृद्ध्यर्थं वित्तक्षये कृते धनव्ययायाऽधि करोति अधिकारभाग्भवति, तस्येयं पूजा महते गुणाय भवति, अधिकारिविशेषेण कारणविशेषात् फलविशेषस्य न्याय्यत्वाद् भूम्ना तत्प्रवृत्तेश्चात एव द्रव्ययस्तवः श्राद्धानां शरीरे हस्ततुल्यः, भावस्तवश्च तेषां किञ्चित्कालीनसामायिकादिद्रू पस्तदक्षितुल्या इति तत्र स्थितम्। तुल्यफलत्वेऽष्याहेत्वन्तराद्धेतुर्विफलो न। तथा च दानादीनां सामायिकादीनां देवपूजायाश्च श्राद्धोचितफले ''तृणारणिमणि'' न्यायेन कारणत्वान्न दोषः। अत एव श्रमणमधिकृत्याप्युक्तम्–''संवरनिर्जररूपो, बहुप्रकारस्तपोविधिः सूत्रे। रोगचिकित्साविधिरिव, कस्याऽपि कथञ्चिदुपकारी'' ॥१॥५६॥

आरम्भशकायामात्र दोषानाह–

अन्यारम्भवतो जिनार्चनविधावारम्भशङ्काभृतो,
मोहः शासननिन्दनं च विलयो बोधेश्च दोषाः स्मृताः।
सङ्काशादिवदिष्यते गुणनिधिर्धर्मार्थिमृद्धयर्जनं,
शुद्धालम्बनपक्षपातनिरतः कुर्वन्नुपेत्यापि हि ॥५७॥

(अन्यारम्भ इति) अन्यारम्भो जिनगृहातिरिक्ता ऽऽरम्भस्तद्वतो जिनार्चनविधौ विहितजिनपूजायामारम्भशङ्कां बिभर्तीत्यारम्भशङ्काभृतस्य मोहोऽनाभोगः स्वार्थभ्रंशात् शासननिन्दनं च– कीदृश एतेषां शासने धर्मा ये स्वेष्टदेवतामपि श–

ङ्कितकलुषिता नाराधयन्तीति, ततो बोधेर्विलयश्च, अनुचितप्रवृत्त्या शासनमालिन्नपादनस्य तत्फलत्वात् । आह च– ''यःशासनस्य मालिन्येनाभोगेनाऽपि वर्तते । बन्धाति स तु मिथ्यात्वं, महा– नर्थनिबन्धनम्'' ।१। इति। एते दोषाः स्मृताः। नन्वेवमन्यारम्भप्रवृत्तः पूजार्थमारम्भे प्रवर्ततामित्यर्थादागतम्। तथा च–''धर्मार्थं यस्य वित्तेहा, तस्यानी हा गरीयसी। प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य, दूरादस्पर्शनं वरम् ॥१॥'' इत्यनेन विरोध इति चेत्। न। सर्वविरतापेक्ष्याऽस्य श्लोकस्याधी– तत्वेनाविरोधात्, गृहस्थापेक्षया तु सावद्यप्रवृत्तिविशेषस्य कूपदृष्टान्त– त्वेनानुज्ञातत्वान्न केवलं तस्य पूजाङ्गीभूतपुष्पावचयादारम्भप्रवृत्तिरिष्टा, अपि तु वाणिज्यादिसावद्यप्रवृत्तिरपि, कस्यचिद्विषविशेषपक्षपात– रूपत्वेन पापक्षयगुणबीजलाभहेतुत्वात् । तदिदमाह–संकाशादिवत् संकाशश्रावकादिरवि धर्मार्थम्, ऋद्ध्यर्जनं वित्तोपार्जनम्, उपेत्यापि अङ्गीकृत्याऽपि, हि निश्चितम्, कुर्वन्, शुद्धालम्बने यः पक्षपातस्तत्र निरत इति हेतोर्गुणानिधिनमिश्यते । संकाशश्रावको हि प्रमादाद्ध– क्तितःचैत्यद्रव्ययनिबद्धलाभान्तरायादि क्लिष्टकर्मा चिरपर्यटितदुरन्त– संसारकान्तारोऽनन्तकालाल्लब्धमनुष्यभावो दुर्गतनरशिरःशेखररूपः पारगतसमीपोपलब्धस्वकीयपूर्वभववृतान्तः पारगतोपदेशतो दुर्गतत्व– निबन्धनकर्मक्षपणाय यदहमुपार्जयिष्यामि द्रव्यं प्रास्वाच्छादनवर्जे सर्वं जिनायतनादिषु नियोजयिष्यामि, कालेन च निर्वाणमवाप्तवानिति । अथैतदित्थं संकाशस्यैव युक्तं, तथैव तत्कर्मक्षयोपपत्तेः, न पुनरन्यस– येत्यादिग्रहणमफलमन्यथा शुद्धागमैर्यथालाभमित्याद्यभिधानानु– पपत्तेरिति चेत् । न । व्युत्पन्नाशयाविशेषभेदेनान्यस्याप्यादिना ग्रहणौचित्यात्, अन्यथा–''सुव्वइदुग्गयनारी'' इत्यादिवचनव्या– घातापत्तेः, न हि तया यथा–लाभं न्यायोपात्तवित्तेन वा तानि ग्रहीतानि, तथा चैत्यसंबन्धितया ग्रामादिप्रतिपादनानुपपत्तेश्च।

दृश्यते च तत्प्रतिपादनं कल्पभाष्यादौ–

''चोइए चेश्याणं, रुप्पसुवणगाइ गामगोवइ।
लग्गंतस्स हु मुणिणो, तिगरणसुद्धी कहं णु भवे ।।
भण्णइ इत्थ विभासा, जो एवाइ सयं वि मग्गिज्जा।
न हु होज्ज तस्स सुद्धी, अह होई रज्जणायारे ।।
सव्वत्थामेण तहिं, संघेण य होइ सगियव्वं तु।
संचरित्तचरित्तीए , एयं सव्वेसि कज्जे तु''॥

शुद्धागमैर्यथालाभमित्यादि तु न स्वयं पुष्पत्रोटननिषेधनपरं, किं तु पूजाकालोपस्थिते मालिके दर्शनप्रभावनाहे तोर्वणिग्–ग्लानप्रोक्तवयय– स्यार्थस्य व्याख्यापनपरमित्यदोष इति । ।५७ । ।

(१४)नन्वेवं मलिनारम्भो नाधिकारिविशेषणं, किं तु सादारम्भेऽप्येवेति (सच्छाद्धयनाधिकारः)

यतेरप्याधिकारः स्यादत आह–

यः श्राद्धोऽपि यतिक्रियारतमतिः सावद्यसंक्षेपकृत्,
भीरुः स्थावरमर्दनाद्य यतनायुक्तः प्रकृत्यैव च।
तस्यात्रानधिकारितां वयमपि ब्रूमो वरं दूरतः,
पङ्कास्पर्शनमेव तत्कृतमप्रक्षालनापेक्षया ॥५८॥

(य इति) यः श्राद्धोऽपि यतिक्रियायां रता कर्त्तव्यत्वेनोत्सुका मतिर्यस्य स तथा। सावद्यसंक्षेपकृत् सर्वसावद्यवर्जनार्थं, स्थावराणां पृथिव्यादीनां मर्दनाद्भीरुः, प्रकृत्यैव स्वभावेनैव च यतनायुक्तः, तस्यत्र पूजायामनधि– कारितां वयमपि धूमः, अमलिनारम्भस्य नाशनीयस्यामावादनारम्भ– फलस्य च चारित्रेच्छायोगत एवोपपत्तेः । तत्कृतः पङ्कस्पर्शकृतो यो मलस्तस्य प्रक्षालनापेक्षया हि दूरतः पङ्कास्पर्शनमेव वरं,तस्मात्सदार– म्भेच्छो मलिनारम्भश्चेत्युभयमेवाधिकारिविशेषणं श्रद्धेयमित्यर्थः। उक्तं च द्वितियाष्टकवृत्तौगृहिणोऽपि प्रकृत्या पृथिव्याद्युपमर्दनभीरोर्यतनावतः सावद्यसंक्षेपरुचेर्यतिक्रियानुरागिणो न धर्मार्थं सावद्यारम्भप्रवृतिर्युक्तेति। हन्तेवंसति क्रियाभ्यासेन श्रमणोपासकत्वमिदानींतनानां मुनीना– मनुमतं स्यात्तदा न स्वस्य सवमतिविकल्पितत्वेनाबहुमतत्वान्निर– पेक्षस्य संयतस्यैव भवितुमुचितत्वात्। आह–''णिरविक्खसस्स उ जुत्तो, संपुन्नो संजमो चेव'' त्ति। द्रव्यस्तवभावस्तवोभयभ्रष्टस्य दुर्लभबोधि– त्वात्। तदुक्तं धर्मदासगणिक्षमाश्रमणैः–''जो पुण निरवणुवि य सरीरसुहकज्जमित्तत्तच्छीलो । तस्स ण य वाहिलाभो, ण सुग्गई णेव परलोगो ॥१॥ ''त्ति। कस्तर्हि सावद्यसंक्षेपकृच्छ्राद्धः''एवं वि जयं चित्तो, सावगधस्मो बहुप्पगारो।'' इत्यादिवचनादित्येवाह। इच्छया तु धर्मसंकरे क्रियमाणो न किञ्चत्फलमित्युक्तमेव ॥५८॥ प्रति० ॥ द्वा० ।

अत एव यतियोगापेक्षयाऽस्य तुच्छतामेव दर्शयन्नाह–

सव्वत्थ निरभिसंग–त्तणेण जइजोगमो महं होइ।
एसो उ अभिस्संगा, कत्थइ तुच्छे वि तुच्छे उ ॥१९॥

सर्वत्र समस्तेषु द्रव्यक्षेत्रादिषु, निरभिष्वङ्गत्वेन साधूनां सङ्गर–हिततया, यतियोगः स्वाध्यायादिसाधुव्यापारः, मकारः पूर्ववत् । महान् गुरुर्द्रव्यस्तवापेक्षया भवति । एष तु भवं पुनर्द्रव्यस्तवः, अभिष्वङ्गाद् द्रव्यस्तवकारिणां प्रति बन्धात्। कचितकुत्रचित् देहगेहपुत्रमित्रकलत्रादौ, तुच्छेऽऽसारेऽपि ,परलोकानुपकारित्वात्। अपिशब्दः तुच्छे सङ्गकरण– स्यानुचितत्वद्योतनार्थः। तुच्छस्त्वसार एव यतियोगापेक्ष्या न महानिति गाथार्थः ।।१८।।

अथ कथमभिष्वङ्गदपि तुच्छत्वं द्रव्यस्तवस्येत्यत्राह–

जम्हा नु अभिस्संगो, जीवं दूसेइ णियमता चेव।
तद्दूसियस्स जोगो, विसघारियजोगतुल्लो त्ति ॥१९॥

यस्मात्, तुशब्दो भावनार्थः। येन हि कारणेन, अभिष्वङ्गः तथाविधव– स्तुसङ्गः, जीवं प्राणिनम्, स्वभावतः स्फटिकोपलशकलधवलमपि, दूषयति कयुषयति, नियमतश्चैव नियमादेव, ततः किमित्याह– तद्दूषितस्याभिष्वङ्गकलुषितस्य, योगो व्यापारः, विषघारितयोगतुल्यो हालाहलव्याप्तपुरुषव्यापारसदृशोऽस्पष्टचेतनत्वादल्प इत्यर्थः । इतिशब्दो वाक्यार्थसमाप्तौ। इति गाथार्थः ॥१९॥

इहैवार्थे व्यतिरेकमाह–

जइणो अदूसियस्सा, हेयाओ सव्वहा णियत्तस्स।
सुद्धो उ उवादेए, अकलंको सव्वहा सो उ। २०॥

यतेः साधोः, अदूषितस्याभिष्वङ्गेणाकलुषितस्य, अत एव हेयात् परिहर्त्तव्यात् हिंसादेः, सर्वथा सर्वप्रकारैः करणकारणादिभीर्निवृत्तस्य। किमित्याह–शुद्धस्तु शुद्ध एवाभिष्वङ्गादूषित एव भवति, योग इति प्रक्रमः। उपादेयवस्तुनि महाव्रतादौ विषये आज्ञाप्रवृत्तेः। अतोऽकलङ्कोऽ– पेतदोषकलङ्कः, सर्वथा सर्वप्रकारैः, स तु स एव, यतियोग एव भवती–

त्यतो विचित्रयतियोगतुल्यत्वाभावेन न द्रव्यस्तवो भावस्तव एवेति स्थितम्। इति गाथार्थः ॥२०॥

अथ दृष्टान्तेन द्रव्यस्तवभावस्तवयोर्विशेषमाह–

असुहत्तरंमुत्तरण–प्पाओ दव्वत्थओऽसमत्तो य।
णदिमादिसु इयरो पुण, समत्तवाहुत्तरणकप्पो ॥२१॥

अशुभमशोभनं, कण्टकादियोगादसुखं वा, तत एव दुःखहेतुत्वात्। तच्च तत्तरण्डं च काष्ठादि, तेन यदुत्तरणं पारगमनं, तत्प्रायस्तत्कल्पो, यः स तथा, मनागवद्यसंकीर्णत्वात्। कोऽसावित्याहद्रव्यस्तवः प्रतीतः। तथा असमाप्तःअपर्याप्तश्च, तत् एव सिध्दयसिद्धेः। केषु यत्तरण्डोत्तरणमित्याहनद्यादिषु नदीह्रदप्रभृतिषु तरणीयेषु, इतरो भावस्तवः पुनरिति विशेषद्योतनार्थः। समाप्तः पर्याप्तः स चासौ बाहूत्तरणकल्पश्च भुजपारगमनतुल्यः, समाप्तबाहूत्तरणकल्पः। तत्र समाप्तत्वं भावस्तवस्य द्रव्यस्तवानपेक्षस्याऽपि संसारसागरपारप्रापणप्रवणत्वात् बाहूत्तरणकल्पत्वं चात्मपरिणामरूपत्वेन बा–ह्यानपेक्षत्वात्। इति गाथार्थः ॥२१॥

अत्रैव दृष्टान्तन्तरमाह–

कडुगोसहादिजोगा, मंथररोगसमसण्णिहो वा वि।
पढमो विणासहेणं, तक्खयतुल्लो य वितिओ उ ॥२२॥

कटुकौषधादियोगान्नागराद्यौषधसंबन्धात्, आदिशब्दात् क्षारशरीवेधादिग्रहः। मन्थरो विलम्बितो दीर्घकालभावी, यो रोगशमो व्याधिशमनमात्रं, न तु सर्वथा क्षयः, तत्संनिभस्तत्तुल्यो यः स तथा। वाऽपीति प्रागुक्तदृष्टान्तापेक्षया समुच्चयार्थः। कोऽसावेवंविध इत्याह–प्रथमो द्रव्यस्तवः, प्रथमत्वं चाऽस्य सूत्रक्रमप्रामाण्याद्, आदितः प्रायःप्राप्तेर्वा, इह चावद्यलेशयुक्ततया कर्मरोगोपशमहेतुतया च यद्यपि द्रव्यस्तवः, कटुकौषधादितुल्यो मन्थररोगोपशमतुल्यः पुनर्दीर्घकालभाविद्रव्यस्तवजन्यः कर्मशमस्तथापि कर्मशमस्य द्रव्यस्तवव्यपदेशत कार्ये कारणोपचारान्मन्थररोगशमसन्निभो द्रव्यस्तव इत्युक्तम्। तथा विनौषधेन औषधं कटुकमधुरादिरूपं, तेन विनैव, तत्क्षयतुल्यश्च रोगात्यन्तिकनाशतुल्य एव, चशब्दोऽवधारणे, द्वितीयस्तु भावस्तवः पुनः। अयमभिप्रायःभावस्तव आत्मपरिणामरूप एव, न तु द्रव्यस्तववद् बाह्यद्रव्य–सव्यपेक्षः, तथा भावस्तवादेवात्यन्तिकः कर्म्मक्षयो भवतीति कृत्वा विनौषधेन तत्क्षयतुल्य इत्युक्तम्। तथा यद्यपीह कटुकौषधाभावकल्पो भावस्तवो, रोगक्षयतुल्यश्च भावस्तवसाध्यः कर्मक्षयः तथाऽपि कर्मक्षयस्य भावस्तवव्यपदेशतः 'कार्ये कारणोपचारात्' क्षयतुल्यो भावस्तव इत्युक्तम्। इति गाथार्थः ॥२२॥

अथैतयोरेव हेतुफलभावतो भेदमाह–

पढमाओ कुसलबंधो, तस्स विवागेण सुगइमादीया।
तत्तो परंपराए, वितिओ वि हु होइ कालेणं ॥२३॥

प्रथमादिति द्रव्यस्तवात्, कुशलबन्धः पुण्यानुबन्धिपुण्यकर्मबन्धनं भवति। तस्य कुशलस्य कर्मणः, विपाकेनोदयेन, सुगत्यादयः सुदेवत्वसुमानुषत्वलक्षणसद्गतिप्रभृतयो भवन्ति। आदिशब्दात् शुभसत्वसंहननौदार्यसंपदादिग्रहः। ततः सुगत्याद्यनन्तरम्, परम्परया विच्छिन्नसंतानया सुगत्यादीनामेव। द्वितीयो भावस्तवोऽपि, न केवलं सुगत्यादय एव। हुशब्दोऽलङ्कारे। भवति जायते, कालेन समयेन, कियताऽप्यतिक्रान्तेन, कालस्य तथाभव्यत्वपरिपाकहेतुत्वादेवमभिधानम्। इति गाथार्थः ॥२३॥

द्वितीयोऽपि भवति कालनेत्युक्तमथ तस्यैव द्वितीयस्य स्वरूपप्रतिपादनायाऽऽह–

चरणपडिवत्तिरूवो, थोयव्वोचियपवित्तिओ गुरुओ।
संपुण्णाऽऽणाकरणं, कयकिच्चे हंदि उचियं तु ॥२४॥

चरणप्रतिपत्तिरूपः चारित्राभ्युपगमस्वभावः, भावस्तव इति प्रकृतम्। स्तोतव्ये पूजनीये भगवति वीतरागे विषयभूते या उचिता सङ्गता प्रवृत्तिः, प्रवर्त्तनंसा स्तोतव्योचितप्रवृत्तिः, तस्याः स्तोतव्योचितप्रवृत्तेर्हेतोः, गुरुको गरीयान्, द्रव्यस्तवापेक्षया। अथोचितप्रवृत्तितो द्रव्यस्तवोऽपि गुरुकोऽस्तु। नैवम्। यतः– संपूर्ण सर्वविरतिप्रतिपत्तितोऽखण्डं यदाज्ञाकरणमाप्तवचनानुपालनं, तत्संपूर्णाज्ञाकरणं, तदेवं। कृतकृत्ये विहितनिखिलकर्त्तव्ये सिद्धप्रयोजने भगवति वीतरागे, हन्दीत्युपप्रदर्शने। उचितं संगतम्, पुष्पादीनां तु द्रव्यस्तवाङ्गानां कृतकृत्यत्वेन तस्यानुपयोगित्वात्। तुशब्दोऽवधारणार्थो योजितश्च। इति गाथार्थः ॥२४॥

सम्पूर्णाज्ञाकरणं च साधोरेव भवति, नेतरस्येति दर्शयन्नाह–

णेयं च भावसाहुं, विहाय अण्णो चएइ काउं जे।
सम्मं तग्गणणाणा–भावा तह कम्मदोसा य ॥२५॥

न नैव, इदं संपूर्णाज्ञाकरणम्, चशब्दः पुनरर्थः। भावसाधुं पारमार्थिकयतिं, विहाय विमुच्य, अन्योऽपरः, (चएइ त्ति) शक्नोति, कर्त्तुं विधातुम्। 'जे' २ इति पादपूरणे निपातः। कुत एतदेवमित्याह–सम्यक् यथावत्, तद्गुणज्ञानाभावात् आज्ञाकरणगुणोपलम्भावात्। न हि यथा भावयतिराज्ञाकरणगुणान् वेत्ति, तथाऽन्यः, तस्यैव तत्र विशेषाधिकारित्वात्। तथा कर्मदोषाच्च कथञ्चिदाज्ञाकरणगुणपरिज्ञानेऽपि चारित्रमोहनीयकर्म्मविपाकाच्चेति, अतो भावसाधोरेव कर्त्तुं शक्यत्वेन संपूर्णाज्ञाकरणरूपो भावस्तवो गुरुकः। इति गाथार्थः ॥२५॥

भावस्तवस्याचार्यान्तरैरपि गुरुत्वमिष्टामित्यावेदयन्नाह–

एत्तो च्चिय फुल्लामिस–थूइपडिवत्तिपूयमब्झम्मि।
चरिमा गरुई इट्ठा, अण्णेहि वि णिच्चभावाओ ॥२६॥

इत एव संपूर्णाज्ञाकरणस्य भावसाधुसाध्यत्वादेव। (फुल्लामि सथूइपडिवत्तिपूयमज्झम्मि त्ति)पुष्पाणि जात्यादिकुसुमानि, उपलक्षणत्वाद्वस्त्ररत्नादीनामिहैवान्तर्भावो वेदितवयः। आमिषमाहारः, इहाऽपि तथैव फलादिसकलनैवेद्यपरिग्रहो दृश्यः। स्तुतिर्गुणोत्कीर्तनम्, प्रतिपत्तिश्चरणाभ्युपगमः, एता एव पूजाः, तासां मध्यमबहिर्भावः, पुष्पामिषस्तुतिप्रतिपत्तिपूजामध्यं, तत्र। चरमा प्रतिपत्तिपूजा, गुर्व्वी ज्येष्ठा, इष्टा मता, अन्यैरपि ग्रन्थकारैः। इहार्थे साधनमाह–नित्यभावात्सर्वदा सद्भावात्तस्याः, सा हि यावज्जीविकी, शेषास्तु कदाचित्क्रियाः। इति गाथार्थ ॥२६॥

एवं भिन्नावपि परस्परानुगतरूपावेताविति दर्शयन्नाह–

दव्वत्थयभावत्थय–रुवं एयमिह होति दट्ठव्वं।
अण्णोण्णसमणुबद्धं, णिच्छयतो भणियविसयं तु ॥२७॥

द्रव्यस्तवभावस्तवयोः रूपं स्वभावो द्रव्यस्तवभावस्तवरूपम्,

एतदित्यत्रोत्तरतुशब्दयोगादेतत्तु एतत्पुनः, प्रागुपदर्शितं जिनभ–वनादिविधानं चरणप्रतिपत्तिलक्षणम्, इह स्तवाधिकारे, भवति वर्त्तते, द्रष्टव्यं बोद्धव्यम् । किंभूतमित्याह–अन्योऽन्यसनुविद्धं परस्परानुगतम्, निश्चयतः परमार्थतः, भणितः प्रागभिहितो, विषयो गोचरः प्रायो गृहिसाधुलक्षणो यस्य तत्तथा । तुशब्दो व्याख्यात एव । इति गाथार्थः ॥२७॥

तत्र भावस्तवरुपं द्रव्यस्तवेन समनुबिद्धमिति तावद्दर्श–

यन्नाह–

जइणो वि हु दव्वत्थय–भेदो अणुमोयणेण अत्थि त्ति ।
एयं च एत्थ णेयं, इय सुद्धं तंतजुत्तीए ॥२८॥

यतेरपि भावस्तवारूढसाधोरपि, न केवलं गृहिण एव । हुशब्दोऽलङ्कृतौ । द्रव्यस्तवभेदो द्रव्यस्तविशेषः । अनुमोदनेन जिनपूजादिदर्शनजनितप्रमोदप्रशंसादिलक्षणयाऽनुमत्या, अस्तिविद्यते । इतिशब्दो वाक्यसमाप्तौ । अथ साधोर्द्रव्यस्तवे अनुमोदनमसिद्धमित्याशङ्क्याह–एतच्चैतत् पुनरनुमोदनम्, अत्र द्रव्यस्तवे, ज्ञेयं ज्ञातव्यम्, इत्यनया वक्ष्यमाणया, शुद्धमनवद्यम्, तन्त्रयुक्त्या शास्त्रगर्भोपपत्त्या । इति गाथार्थः ।।२८।। पञ्चा० ६विव० । दर्श० ।

तं नत्थि भुवप्पमज्झे, पूयाकम्मं न जं कयं तस्स ।
जेणेह परमआणा, न खंडिया परमदेवस्स ॥१२॥

तत्किमपि नास्ति न विद्यते, भुवनमध्ये त्रिभुवनेऽपि, पूजाकर्म्म पूजाविधानं, यन्न कृतं यन्न निष्पादितं, येन केनचिदनिर्दिष्टनाम्ना, इहेति पूजाविधानविचारे, परमोत्कृष्टाज्ञा परमाऽऽज्ञा, परमत्वं चाऽस्याः सकलकल्मषनिर्मूलनत्वेन सकलसुखविधायित्वात्; किं, न खण्डिता नोल्लङ्घिता । कस्येत्याह–परमदेवस्य वीतरागस्येत्यर्थः । अयमत्राभिप्रायः–यद्यपि साधुः पुष्पपूजादौ न प्रवर्त्तते तथाऽपि समस्तप्रतिपत्तिमूलसर्वज्ञाऽऽज्ञायाः परिपालनात्पूजादिविषये चोचितदेशनादौ प्रवर्तनादनुमोदनाच्च दर्शनशुद्धिर्भवत्येवेति । प्रयोगश्चात्रपुष्पपूजादिव्यतिरेकेणापि सर्वसम्बरवत्साधुसमाजानां दर्शनशुद्धिरूपजायते, भावस्तवहेतुकत्वात्पुष्पादिपूजायाः, घटोत्पत्तौ मृत्पिण्डवत् । न चास्य हेतोर्भावस्तवोत्पत्तिहेतुत्वेऽपि दर्शनशुद्धावसिद्धतोद्भावनीयेति; भावस्तवस्य दर्शनशुद्धिव्यतिरेकेणात्यन्तासद्भावात् । अथ चेत्तं प्रयुज्येते तस्य हि भगवतः समस्तजगतीतलविख्यातकीर्त्तिसकलातिशयसंपन्नस्य त्रिभुवनोदरविवरभासुरसकलसुरासुराविन्नरनरखचरशेखरपरमपूजनीयस्य, सर्वमपि यात्रास्नात्रविलेपाभरणगीतनृत्यपुष्पाद्यारोहणादिकं पूजाकर्म्म कृतमेव, तदविकलाज्ञाकरणतः सर्वसम्बरारुढैः साधुभिरपि सकलक्लङ्कविकलकेवलज्ञानोत्पत्तिदर्शनात् प्रसन्नचन्द्रमहामुनिभरतेश्वरचक्रवर्तिवदिति गाथार्थः ॥१२॥

कष्टेतरसाध्ययोर्भावस्तवद्रव्यस्तवयोस्तयोरन्तरं फलं च प्रतिपादयन् गाथाद्वयमाह–

मेरुस्स सरिसवस्स य, जत्तियमेत्तं तु अंतरं होइ ।
भावत्थयदव्वथया–ण अंतरं तत्तियं नेयं ॥१३॥
उक्कोसं दव्वथयं, आराहिय जाइ अच्चुयं जाव ।
भावत्थएण पावइ, अंतमुहुत्तेण निव्वाणं ॥१४॥

तत्र मेरोः समस्तलोकनाभिभूतलक्षयोजनप्रमाणस्य, सर्षपस्य च राजिकामात्रस्य, यावन्मात्रं यावत्प्रमाणमन्तरं व्यवधानं, भवतीति गम्यते । उपलक्षणं चैतत् समुद्रविन्द्वाद्युदाहरणानाम्, तावन्मात्रं ज्ञेयम्; किम्?, भावस्तवद्रव्यस्तवयोरन्तरमिति । यत उत्कृष्टमिति प्राकृतवशात्, यत उत्कृष्टतोऽपि द्रव्यस्तवमाराध्य, याति गच्छति, अच्युतं द्वादशमं देवलोकं यावत् । भावस्तवेन, तुशब्दस्य लुप्तस्येह दर्शनात् पुनः प्राप्नोति लभते, अन्तर्मुहूर्त्तेन, निर्वाणं मोक्षमिति गाथार्थः ॥१४॥

अतः किम्–

मोत्तूणं भावथयं, जो दव्वत्थएँ पवट्टए मूढो ।
सो साहू वत्तव्वो, गोयम! अजओ अविरओ य ॥१५॥

यो मौढ्याद्विषयलाम्पट्याद्वा महामोहग्रस्तबहुजनप्रवृत्तिदर्शनाद्वा, मुक्त्वा परित्यज्य, भावस्तवं सर्वसावद्यनिवृत्तिलक्षणं, द्रव्यस्तवे सर्वसावद्यनिबन्धनरूपे, प्रवर्तते, मूढः परमार्थमजानानः, स साधुर्वक्तव्यो भणनीयो, गौतम! इन्द्रभूते! अयतोऽविरतश्च । चशब्दात् एतदपि द्रष्टव्यम्–असंयताविरताऽप्रतिहतपापकर्ता देवार्चक इति वा देवभोजक इति । अयमाशयः–यो हि भवपरम्पराभिरनेकाभिर्दुरापमक्षेपेण मोक्षसुखसाधकं सर्वसम्बरस्वभावं संयमं प्राप्यापि मोहात्तस्य परित्यागेन पुष्पपूजादौ प्रवर्त्तते, स उभयत्र भ्रष्टतयाऽकिञ्चित्कर एवेति गाथार्थः ।।१५।।

अन्यच्च तस्यातिमूर्खत्वप्रतिपादनायाऽऽह–

मंसनिवित्तिं काउं, सेवति दंतिक्कयंति धणिभेआ ।
इय चइउणाऽऽरंभं, परववएसा कुणइ बालो ॥१६॥

मांसं पिसितं, तस्यापि पापहेतुत्वाद् निवृत्तिं विरतिं कृत्वा विधाय । पश्चाज्जिह्वादोषात्सेवते भजते, तदपि खादतीत्यर्थः । लोकलज्जया ध्वनिभेदं शब्दमात्रभेदं विधाय, केनोल्लेखेन? (दंतिक्कयं ति त्ति) दन्तिकमिदं नेदं मांसमिति, इत्यनेन हेतुना स्वयमात्मना समस्तजनप्रत्यक्षं त्यक्त्वा आरम्भं भूतोपमर्दनं, तृतीयार्थे पञ्चमी । ततोऽपरव्यपदेशेन तीर्थकृतां भगवतामहं भक्त इति करोति विधते, बालोऽज्ञ इति गाथार्थः ॥१६॥

ननु कथमसौ बालः?, स हि धर्म्मार्थितया तीर्थकरानुदिशा प्रवर्त्त–

तेऽतो युक्तमिवेति यो मन्येत, तं प्रत्याह–

तित्थयरुद्देसेण वि, सिढिलिज्ज न संजमं सुगइमूलं ।
तित्थगरेण वि जम्हा, समयम्मि इमं विणद्दिट्ठं ॥१७॥

तीर्थङ्करोद्देशेनापि, न केवलमन्योद्देशेनेत्यऽपिशब्दार्थः । शिथिलयेत् शिथिलं विदध्यात्, न नैव, कमित्याह–संयमं सर्वविरतिं सुगतिमूलं मोक्षस्यैकान्तप्रापकं, तीर्थकरेणापि यदुद्देशेन सावद्यानुष्ठाने प्रवृत्तिर्विधीयते तेनापीत्यपिशब्दार्थः । यस्मात्समये सिद्धान्ते, इदं विनिर्दिष्टं प्रतिपादितमिति गाथार्थः ॥१७॥

तदेवाह–

सव्वरयणामएहिं, विभूसियं जिणहरेहि महिवलयं ।
जो कारेज्ज समग्गं, तओ वि चरणं महिड्ढीयं ॥१८॥

सर्वाणि च तानि रत्नानि, यद्वा–सर्वतो रत्नानि, सर्वरत्नैर्निष्पन्नानि सर्वरत्नमयानि, तैः सर्वरत्नमयैः, सर्वतो महामाणिक्य शिलासंचयचितिरित्यर्थः । न केवलं सामान्यपाषाणेष्टका–

विविनिर्मितं विभूषितं मणिमतं, जिनगृहैरर्हदायतनैर्महीबलयं समस्त-धरणीतलं, यः कश्चिदतिशयमाहपुण्यप्राग्भारश्चकवर्त्यादिः, कारयें -त्समग्रंपरिपूर्णं, ततोऽपि तस्मादपि, सर्वोत्तमद्रव्ययं यावदपीत्यर्थः। चरणं चारित्रं सर्वविरतिस्वभावं, महर्द्धिकं विशिष्टतरतमं, यतस्तैऽपि तादृग्विध-सर्वोत्तमद्रव्यस्तवविधायिनोऽपि सर्वसम्भवन्त एव शिवसुखसाधका भवन्तीति गाथार्थः।।१८।। दर्श० ३ तत्त्व।

(१५) सिंहावलोकितेन हिंसाऽस्तीति तामेव द्रव्यस्तवे निरस्यति–

धर्मार्थं सृजतां क्रियां बहुविधां हिंसा न धर्मार्थिका,
हिंसांशे न यतः सदाशयभृतां वाञ्छा क्रियांशे परम्।
न द्रव्याश्रवतश्च बाधनमपि स्वाध्यात्मभावोन्नते–
रारम्भादिकमिष्यते हि समये योगस्थितिव्यापकम् ॥५६॥

(धमार्थमिति) धर्मार्थं बहुविधां बहुप्रकारां, क्रियां पूजादिरूपां, सृजतां तदर्थिका धर्मार्था हिंसा न, यतः सदाशयभृतां शुभभावानां, हिंसांशे वाञ्छा न, परं केवलं क्रियांशे वाञ्छा, तथा चानुबन्धहिंसानिरासः, सदाशयश्च यतनोबृंहितो ग्राह्य इति हेतुहिंसाऽपि निरस्तैव, तथा च स्वरूपहिंसैवास्ति। तत्राहद्रव्याश्रवतश्च स्वय योऽध्यात्मभावस्तदुन्नतेः बाधनमपि ''अब्भत्थे चेव बंधप्पमोक्खे'' इत्याचारवचनात्। इदमेव कथमात्राह–हि यतः, समये सिद्धान्ते , योगस्थितिव्यापकं, यावत् योगास्तिष्ठन्ति तावदित्यर्थः। इष्यते मन्यते, ''जावं च णं एयइ वेयइ, तावं च णं आरंभइ संरंभइ समारंभइ'' इत्यादिवचनात् आरम्भाद्यन्य-तरत्वेन योगव्यापकतालाभात्। यदि च द्रव्याश्रवमात्राद् बन्धः स्यात्तदा त्रयोदशगुणस्थानेऽपि स्यात्, न चैवमस्ति, समितगुप्तस्य द्रव्याश्रवसत्त्वे–षूपादानकारणानुसारितथैव बन्धवैचित्र्यस्याचारवृत्तिचूर्ण्यादौ व्यवस्थि-तत्वात्। न च द्रव्यतया परिणतिरपि सूक्ष्मैकेन्द्रियादेरिव बन्धजननीति धर्मार्णवमतमन्द्रि युक्तम्। एकेपिद्रयादीनामपि सूक्ष्मबन्क्षस्योपादान-सूक्ष्मताऽपेक्षित्वादप्रमत्तसाधोर्द्रव्याश्रवसंपन्नस्य तन्निमित्तस्य परमाणु-मात्रस्यापि बन्धनिषेधात् ''ण हु तस्स तणिणमित्तो, बंधो सुहुमो वि देसिओ समए।'' इत्यागमात्, प्रपञ्चितं चेदं धर्मपरीक्षायां महता ग्रन्थेन ॥५६॥

एवं व्यवस्थिते कूपनिदर्शनचिन्त्यतामाविर्भावयति–

पूजायां खलु भावकारणतया हिंसा न बन्धावहा,
गौणीत्थं व्यवहारपद्धतिरियं हिंसा वृथा निश्चये।
भावः केवलमेक एव फलदो बन्धो विरत्यंशज–
स्त्वन्यः कूपनिदर्शनं तत इहाशङ्कापदं कसयचित् ॥६०॥
अत्रास्माकमिदं हृदि स्फुरति यद् द्रव्यस्तवे दूषणं,
वैगुण्येन विधेस्तदप्युपहतं भक्त्येति हि ज्ञापनम्।
कूपज्ञातफलं यतो विधियुताऽप्युक्तक्रिया मोक्षदा,
भक्त्यैव व्यवधानतः श्रुतधराः शिष्टाः प्रमाणं पुनः ॥६१॥

(पूजायमिति) पूजायां, खल्विति निश्चये, भावस्य द्रव्यस्तवका-रणाध्यवसायरूपस्य, कारणतया हिंसा बन्धावहा न भवति। एषा स्थापयति हि स्नानादिसामग्री द्रव्यस्तवेऽधिकारिणम्, न च सा हिंसा कर्मणा बध्यते, दुर्गतनार्या देवलोकगमनानुपपत्तेः। बन्धावहा चेत्पुण्यबन्धावहे चोक्तभावेन प्रशस्तीकरणात् प्रशस्तरागवत् पुष्पादिसंघट्टनादिरूपोऽसंयमस्तत्र हेतुरुक्त इति चेत्, सोऽपि पर्युदासेन संयमयोगविरुद्धयोगरूप एव स्यात्। तस्यापि च भावेन प्रशस्तीरणे किं हीयते?, उत्तरकालिक एव भावः प्रशस्तीकर्तुं समर्थः, न पौर्वकालिक इति चेत्। न। दुर्गतनारीदृष्टान्तेन विहितोत्तरत्वात्। कश्चायं मन्त्रो यः पूर्वापरभावेन न्यूनाधिकभावं नियमयतीति सूक्ष्मेक्षिकायां प्रशस्तहिंसा पुण्यावहाऽपि न स्यादिति चेत्। इदमित्थम्, इयं व्यवहारपद्धतिर्व्यवहा-रनयसरणिर्गौणी, प्रशस्तपुण्यबन्धहेतुत्वस्याऽपि ''घृतं दहतीति'' न्यायेनेष्टवात्, निश्चये निश्चयनये तु विचार्यमाणे, हिंसा वृथैव, अन्यतरबन्धस्याप्यहेतुत्वात्। केवलम् एक एव भावः फलदः, प्रशस्तोऽ-प्रशस्तो वा, प्रशस्तमप्रशस्तं वा फलं जनयितुं समर्थइत्यर्थः। अत एव कामभोगानाश्रित्योत्तराध्ययनेषूक्तम्–''न कामभोगा समयं उवेंति, ण यावि भोगा विगइं उवेंति। जो तप्पओसी य परिग्गही य, समो य जो तेसु स वीअरागो ॥१०१॥'' त्ति। उत्त० ३२अ०। अत एव च विषयेष्वपि सतत्वचिन्तयाऽभिसमन्वागमबन्धकारणमुक्तमाचारे। एवं विधः समाधिः पूर्वभूमिकायां न भवत्येवेति चेत्। न। सर्वथाऽभावस्य वक्तुमशक्यत्वात्। सम्यग्दर्शनसिद्धियोगकाल एव प्रशमलक्षणलिङ्गसिद्धेरनुकम्पादीना-मिच्छाद्यनुभवत्वात्।

तदुक्तं विंशिकायाम्–

''अणुकंपा णिव्वेओ, संवेगो तह य होइ पसुमुत्ती।
एएसिं अणुभावा, इच्छाईणं जहासंखं ॥१॥'' इति।

अणुभावाः कार्याणि, इच्छादीनां इच्छाप्रवृत्तिस्थिरसिद्धियोगानां, समाधिजनितश्च भावोऽभ्युत्थानकालेऽपि संस्कारशेषतया मैत्र्याद्युप-बृंहितोऽनुवर्तत एव, अन्यथा क्रियासाफल्यासिद्धेः, ''भावाऽयमनेने विना, चेष्टा द्रव्यक्रिया तुच्छा'' इति वचनात्। एवं विविक्तविवेके विरतसम्यग्दृष्टेरपि पूजायां न बन्धः, विरत्यंशजस्तु बन्धोऽन्यः पूजायोगाप्रयुक्तः, अन्यथा जिनवन्दनादवपि तदापत्तिः। तत इह कूपनिदर्शनं कूपज्ञातं कस्यचित् यथा श्रुतज्ञस्याऽऽशङ्कापदं आशङ्कास्थानम्। एवं हि तदावश्यके द्रव्यस्तवीयप्रसङ्गसमाधानस्थले व्यवस्थितम्। प्रति०। षो०। आव०।

''अकसिणपवत्तयाणं, विरयाविरयाण एस खलु जुत्तो।
संसारपयणुकरणे, दव्वत्थऐं कूवदिट्ठंतो ॥४२॥''

अकृत्स्न प्रवर्त्तयन्तीति, संयममिति सामर्थ्याद् गम्यते, अकृत्स्न-प्रवर्त्तकाः, तेषां, विरताविरतानामिति श्रावकाणाम्, एष खलु युक्तः–एष द्रव्यस्तवः, खलुशब्दस्यावधारणार्थत्वात् युक्त एव। किंभूतोऽय-मित्यत आह–संसारप्रतनुकरणः संसारक्षयकारक इत्यर्थः। द्रव्यस्तवः हेयः प्रकृत्यैवासुन्दरः, स कथं श्रावकाणामपि युक्त इत्यत्र कूपदृष्टान्त इति। ''जहा नवनवनगरादिसनिवेसे केइ पभूअजलाभावतो तणहावि-परिगता तदपनोदार्थं कूवं खणंति, तेसिं च जइ वि तणहादिया फिहंति, महिआ कद्दमाइ भिज्जंति, तहा वि तदुब्भवेणं चेव पाणिएणं ति सिंचते, एहाइआ सा य मलो पुव्वगो य फिट्टंति, सेसकालं च तदन्ने य लोगा सुभयाइणो भवंति, एवं दव्वत्थए जइ विसंजमो तहा वि तओ चेव सो परिणामसुद्धी भवति, जातं असंजमोपज्जियं अन्नं च निरवसेसं खवेति त्ति, तमाह–विरया-विरएहिं एस दव्वत्थवो कायव्वो सहाणुबंधी य पभूतणिज्जराफलो य

त्ति काऊणं'' इति गाथार्थः ।।४२।। अथ कीर्त्यादयर्थमपि द्रव्यस्तवे प्रवृत्त्या शुभाध्यवसायव्यभिचारश्चारित्रक्रियायामपि तुल्यः, शुभाध्यवसायस्यैव तथात्वान्न कारणत्वेन पुष्पाद्यभ्यर्चने त्वेवं चारित्रभावेन तत्क्रियायास्तथात्वापत्तिभावान्नैकान्तम्। नित्यस्मृत्यादिना भावनयोत्पादाप्रतिपादगुणवृद्ध्यादिकमपिव्रतग्रहणादिक्रियया तुल्यम्, ''एसा छिई उ इत्थं, ण उ गहणादेव जायई णियमा। गहणोवायं पि जायइ, जाओ वि अ वेइकम्मुदया।। तम्हा णिस्संचइए, '' इत्यादिवचनात्। उपरितनानुपादेयत्वमपि तथैव, प्रमत्तस्थविरकल्पिकादेः क्रियाया अप्रमत्तजिनकल्पिकादिनाऽनुपादेयत्वात्, द्रव्यस्तवजनितपरिमाणशुद्धया द्रव्यस्तवस्थलीयासंयमोपार्जितस्यान्यस्य च निरवशेषस्य कर्मणः क्षपणभिधानमपि चारित्रक्रियाजनितपरिमाणशुद्धया तदिति–चारजनितान्यनिरवेशषकर्मक्षपणाभिधानतुल्यं, सर्वस्या अपि प्रव्रज्याया भवद्व्यकृतकर्मप्रायश्चित्तरूपतायास्तत्र तत्र व्यवस्थितत्वात्, जिनशासविहितेत्यत्रापि शुभयोगे तदतिदेशात् ''जोगे जोगे जिणसासणाम्मि दुक्खक्खया पउंजंता। इक्कक्कम्मि अणंता, वट्टंता केवली जाया।'' इत्युक्तवचनात् द्रव्यस्तवे क्रियमाण एव च भावशुद्धया नागकेतृप्रभृतीनां कैवल्योत्पादश्रवणात् शुभानुबन्धिप्रभूततरनिर्जराफलत्वोपदर्शनमेव द्रव्यस्तवेऽल्पस्यापि पापस्थानं न सहन्त इति शुद्धाभावस्य निर्विषयः कूपदृष्टान्तः। तत्र पुष्पाद्यभ्यर्चनवेलायां शुभभावसंभवेन निश्चयनयेन तस्य व्यवहारनयेन च तदन्विक्रियाया विशिष्टफलहेतुत्वेऽपि ततः पूर्वं तद्विषयसंभव इति वाच्यम्, प्रस्थकन्यायेन पूर्वपूर्वतरक्रियायामपि शुभभावानवयतत्फलोपपत्तेः। नैगमनयाभिप्रायेणात एव पूजार्थं स्नानादिक्रियायामपि यतनया अधिकारसंपत्त्या शुभभावान्वय उपदर्शिश्चतुर्थपञ्चाशके। तथाऽऽह–

''ण्हाणाइ वि जयणाए, आरंभवओ गुणाय णियमेणं।
सुहभावहेउओ खलु, विण्णेयं कूवनाएणं'' ।।१०।। त्ति।

स्नानाद्यपि देहशौचप्रभृतिकमपि, आस्तां तद्वर्जनं, पूजा वा। आदिशब्दाद्विलेपनादिग्रहः। गुणायेति योगः। यतनया रक्षयितुं शक्यजीवरक्षणरूपतया, तत्किं साधोरपीत्याशङ् क्याहआरम्भवतः स्वजनधनगेहादिनिमित्तं कृष्यादिकर्मभिः पृथिव्यदिजीवोपमर्दनयुक्तस्य, गृहिण इत्यर्थः। न पुनः साधो, तस्य सर्वसावद्ययोगविरतत्वाद्भावस्तवारूढत्वात्। भावस्तवारूढस्य हि स्नानादिपूर्वकद्रव्यस्तवोऽनादेय एव, भावस्तवार्थमेव तस्याश्रयणीयत्वात्, तस्य च स्वत एव सिद्धत्वात्। इमं चार्थं प्रकरणान्तरे स्वयमेव वक्ष्यतीति। गुणाय पुण्यबन्धलक्षणोपकाराय, नियमेनावश्यंभावेन। अथ कथं स्वरूपेण सदोषमप्यारम्भिणो गुणायेत्याह–(सुभभाव–हेउओ त्ति) लुप्तभावप्रत्ययत्वेन निर्देशस्य शुभभावहेतुत्वात्प्रशस्तभावनिबन्धनत्वाज्जिनपूजार्थस्नानादेरनुभवन्ति च केचि त् स्नानपूर्वकं जिनार्चनं विदधानाः शुभभावमिति। खलुर्वाक्यालङ्कारे! विज्ञेयं ज्ञातव्यम्। अथ गुणकरत्वमस्य शुभभावहेतुत्वात्कथमिव ज्ञेयमित्याह–कूपज्ञातेनावटोदाहरणेन। इह चैवं साधनप्रयोगःगुणकरमधिकारिणः किञ्चित्सदोषमपि स्नानादि, विशिष्टशुभभावहेतुत्वात्, विशिष्टशुभभावहेतुभूतं यत्तद्गुणकरं दृष्टम्। यथा कूपखननम्। विशिष्टशुभभावहेतुश्च यतनया स्नानादि, ततो गुणकरमिति। कूपखननपक्षे शुभभावः तुष्णादिव्युदासेनानन्दाद्यवाप्तिरिति। इदमुक्तं भवति यथा कूपखननं श्रमतृष्णाकर्दमोपलेपादिदोषदुष्टमपि जालत्पत्तावनन्तरोक्तदोषानपोह्य स्वोपकाराय परोपकाराय किल भवतीत्येवं स्नानादिकमप्यारम्भदोषमपोह्य शुभाध्यवसायस्योत्पादनेन विशिष्टाशुभकर्मनिर्जरणपुण्यबन्धकारणं भवतीति। इह केचिन्मन्यन्तेपूजार्थं स्नानादिकरणकालेऽपि निर्मलजलकल्पशुभाध्यवसायस्य विद्यमानत्वेन कर्दमलेपादिकल्पपापाभावाद्विषममिदमित्थमुदाहरणम्। तत्किलेदमित्थं योजनीयम् यथा कूपखननं स्वपरोपकाराय भवत्येवं स्नानपूजादिकं करणानुमोदनद्वारेण स्वपरयोः पुण्यकारणं स्यादिति। न चैतदागमानुपाति। यतो धर्मार्थप्रवृत्तावप्यरम्भजनितस्याल्पस्य पापस्येष्टत्वात्, कथमन्यथा भगवत्यामुक्तम्–''तहारुवं समणं वा माहणं वा पडिहयपच्चक्खायपावकम्मं अफासुएणं अणेसणिज्जेणं असणं पाणं खाइमं साइमं पमिलाभेमाणे भंते! किं कज्जइ।?गोयमा! अप्पे पावे कम्मे बहुतरिआ से णिज्जरा कज्जइ।'' तथा ग्लानप्रतिचाराणानन्तरं पञ्चकल्याणकप्रायश्चित्तप्रतिपत्तिरपि कथं स्यादित्यलं प्रसङ्गेनेति समासार्थः ।।१०।। यतनया विहितस्य स्नानादेः शुभभवाहेतुत्वं प्रागुक्तम्। अथ यतनां स्नानगतां शुभभावहेतुतां च यतनाकृतां स्नानस्य दर्शयन्नाह–

''भूमीपेहणजलछा–णणाइ जयणा उ होइ एहाणओ।
एत्तो विसुद्धभावो, अणुहवसिद्धे चिय बुहाणं ।।११।।''

भूमेः प्रेक्षणं च स्नानभुवः प्राणिरक्षार्थं चक्षुषा निरीक्षणं, जलच्छाणणं च पूतरकपरिहारार्थं नीरगालनम्, आदिःप्रमुखं यस्य व्यापारवृन्दस्य तद्भूमिप्रेक्षणजलच्छाणणादि। आदिशब्दात् मक्षिकारक्षणादिग्रहः। तत्किमित्याह–यतना प्रयत्नविशेषः। तुशब्दः पुनरर्थः। तद्भावना चैवम्–स्नानादि यतनया गुणकरं भवति। यतना पुनर्भूमिप्रेक्षणजलछणणादि; भवति वर्तते, क्वेत्याह–स्नानादावधि कृते देहशौचविलेपनजिनार्चनप्रभृतिनचि, इह प्राकृते औकारश्रुतेरभावात् ''एहाणओ'' इत्येवं पठ्यते इति। (एत्तो त्ति) इतः पुनर्यतनाविहितस्नानादेर्विशुद्धभावः शुभाध्यवसायोऽनुभवसिद्ध एव स्वसंवेदनप्रतिष्ठित एव, बुधानां बुद्धिमतामनेन च शुभभावहेतुत्वादित्यस्य पूर्वोक्तहेतोरसिद्धताऽऽशङ् का परिहृतेति गाथार्थः ।।११।। अत्राभयदेवसूरिव्याख्याने धर्मार्थेप्रवृत्तावप्यारम्भजनितदोषस्याल्पस्य यदिष्टत्वमुक्तम्, तदू ग्रन्थकर्तुः क्व सरससिद्धं ? षोडशके–''यतनातो न च हिंसा'' इत्याद्यभिधानात् यतनया भावशुद्धिमतः पूजायां कायवधासंभवस्यैव दर्शितत्वात्, पूजापञ्चाशकेऽपि कायबधात्कथं पूजा परिशुद्धेति प्रश्नोत्तरे–'भण्णइ जिणपूयाए, कायवहो जइ वि होइ उ कहिं वि। तह वि तई परिसुद्धा, गिहीण कूवाहरणजोगा ।।४२।।'' इत्यत्र कथञ्चित् केनाचित् प्रकारेण यत–नाविशेषेण प्रवर्तमानस्य सर्वथा न भवतीति प्रदर्शनार्थं कथञ्चिद् ग्रहणमिति तपस्विनां स्वयमेव व्याख्यानात्, ''देहादिणिमितं पि हु, जे कायवहंसि तह पयट्टंति। जिणपूआकायवहम्मि तेसिमपवत्तणं मोहो।।४५।।'' इति ग्रन्थनाग्रे ग्रन्थाकृतैवाधिकारिणो जिनपूजा कायवधम् उपेत्य प्रवृत्तेर्दर्शितेन हिंसास्वरूपस्य च यतनयैव त्याजनाभिप्रायात् समाधियोगेनेत्यादिलक्षणासिद्धेः। न च पुण्यजनकाध्यवसायेन योगने चाल्पस्याषि पापस्य बन्धसंभवः, अध्ययवसायानां योगानां वा शुभाशुभैकरूपाणामेवोक्तत्वात्, तृतीयराशेरायमे प्रसिद्धेरेतदुपपादयिष्यत उपरिष्टात् भाष्यसंमत्या, भगवत्यां सुपात्रे शुद्धदानेऽल्पपापबहुतरनिर्जराभिधानं च निर्जराभिधानं च निर्जरा विशेषमुपलक्षयति। स च शुद्धदानफलावधिकापकर्षात्मकः, प्रकृते च चारित्रफलावधिकापकर्षात्मको दानादिचतुष्कफलासमशीलः सोऽधिक्रियत

इति कथङ्कारमशुद्धदानेन शुद्धपूजायां तुल्यत्वमुपनीयमानं विपश्चित-श्चमत्कारसारं चेतो रमयितुं प्रत्यलम्? अशुद्धदानं हि अतिथिसंविभागव्रतस्याऽतिचारभूतं, शुद्धपूजा च समग्रश्राद्धधर्मस्य तिलकीभूतोत्तरगुणरूपेति च। आह वाचकचक्रवर्ती –''चैत्याय–तनप्रस्था–पनानि कृत्वा च शक्तितः प्रयतः। पूजाश्च गन्धमाल्याधिवासधूपप्रदीपाद्याः'' ॥ इत्यादि। अथ शुद्धदानविधिरुत्सर्गः, अशुद्धदानविधिश्चापवादः, उत्सर्गापवादौ च स्वस्थाने द्वावपि बलवन्तावित्यपवादविधिविषयीभूताशुद्धदानतुल्यत्वं देवपूजायामुच्यमानं न दोषायेत्यभिप्रायः, तर्ह्यशुद्धपददानं कस्य विभीषकायै स्वरूपतोऽशुद्धतायाः स्वरूपत आरम्भवत्तायाश्चानतिदोषत्वात्। वस्तुतोऽप्रासुकदानदृष्टान्तो लुब्धकदृष्टान्तभावितदानापेक्षयैव भावितो भगवतीवृत्ताविति, परव्युत्पन्नकृतजिनपूजायां विपरीतव्युत्पन्नकृतदानतुल्यत्वमभिधीयमानं कथं घटेत? ग्लानप्रतिचारणानन्तरं पञ्चकल्याणकप्रायश्चित्तप्रतिपत्तिरपि गीतार्था द्यन्यतरपद वैकल्या एवेति। सर्वपदसाकल्ये प्रायश्चित्तकरणं कल्पमात्रस्वरूपतः सदोषतयैतददुष्टम्, तावद्दम्भेन जिनपूजां कृत्वाऽपि प्रायश्चितं कर्त्तव्यं स्यात्, तच्च नैर्यापथिकीमात्रमप्युक्तम्, अशुद्धदानेऽपि श्राद्धजीतकल्पादावुक्तमिति वृथा वल्गनमेतदभिन्नसूत्राभिमानिनामतिचारजनकक्लिष्टभावशोधनमपि तुल्याधिकशुद्धाध्यवसायेनैव, अन्यथा ब्राह्म्यायादीनां स्वल्पमायया अशुभविपाके प्रमत्तसाधूनामिदानीं चारित्रं कथं निर्वहेदित्यर्थः। पदभावेन प्रपञ्चितं पञ्चवस्तुक एवेति यतनाभावशुद्धस्याधिकारिणः क इवात्तोपलेप इति केषाञ्चिन्मतं नानागामिकमाभाति, पूजेतिकर्त्तव्यतासंपत्तिरेव च तन्मते कूपोत्पत्तिः तत्प्राक्कालीन एवारम्भः। प्रतिपन्नगृहस्थधर्मप्राणपदद्रव्यस्तवस्य कूपखननस्थानीयः, तत्कालार्जितद्रव्येणैव द्रव्यस्तवसंभवात्त्रिवर्ग-विरोधिनस्ततः प्रथमवर्गस्याऽपि सिद्धे सदारम्भार्जितकर्मनिर्जरणमेव च द्रवयस्तवसंभाविनी भावेनेति, अन्योक्तपूर्वपक्षे ''अस्माकमिदं यदि स्फुरति यत् द्रव्यस्तवे दूषणं'' तद्विधिवैगुण्येन भक्तिमात्रैकतानतासंभविविधिवैकल्येन प्राक्कालसंभवव्याप्यारम्भदोषस्य फलेन समारोपेण तच्छोधने तत्राऽपि कूपदृष्टान्ताभिधानापत्तिरिति प्राचीनपक्षे स्वरसः स्नानादावारम्भश्चित्ते लगतीत्याभिमानिक आरम्भदोषस्त्वनधिकारिणो न संगतः। अभिधानस्य भावदोषत्वादल्पदोषस्य च विरूपस्यैवेष्टत्वादभिधानस्य विपर्ययस्य विपर्ययरूपदोषस्याल्पस्य वक्तुमशक्यत्वादुपरितनानां तत्र दोषत्वाभिमानस्तु न विपर्ययाद्, स्याद्वादमार्गे वस्तुन आपेक्षिकत्वात्। स्थविरकल्पकस्य यो मार्गः स जिनकल्पिकापेक्षया न मार्ग इति तदुपपत्तेः, तदपि विधिवैकल्यप्रयुक्तं, द्रव्यस्तवदूषणमपि भक्त्याऽधिकतरभक्तिभावेनोपहतं भवति, इति हि ज्ञानं कूपज्ञानस्य फलरूपज्ञानेनैतद् ज्ञाप्यते इत्यर्थः। पूजाविधिवैगुण्यस्थलीयेऽप्युपलेपे भक्तिप्राबल्यस्य प्रतिबन्धकत्वम्, कूपे खन्यमाने कर्दमोपलेपादाविव मन्त्रविशेषस्येति भावः। यतोऽवधियुताऽपि क्रिया व्यवधानेनातिपारम्पर्येण भक्त्यैव कृत्वा मोक्षदोक्ता, शिष्टा पुनरत्रार्थे शिष्टैकवाक्यतयाऽभूदत्र स्वकपोलकल्पितत्वमात्रमिति भावः। इत्थं चाऽभयदेवसूरिवचनाना मुक्तानां शेषाणां च भक्तिमात्रप्रयुक्तपूजैव विषय इति सर्वोऽपि प्राचीननवीनपन्थास्तिरस्कृतो भवति। इत्थं विवेचका एव सुज्ञानाः सुप्ररूपकाः शङ्कितार्थं पुनः सूत्रे व्याख्याते भविकाः। उक्तं च सम्मतौ गन्धहस्तिना–''ण उ सासणभत्तीमित्तए सिद्धंतजाणगो होइ। ण वि जाणगो वि समए, पन्नवणा णिच्छिओ णेओ'' त्ति न परीक्षां विना स्थेयं, प्राचीनप्रणयात्परमविमृश्यरुचिस्तत्र निरस्ता गन्धहस्तिना। तथाहि–

''अयं जनोऽन्यस्य मृतः पुरातनः,
पुरातनैरेव समो भविष्यति।
पुरातनेष्वित्यनवस्थितेषु कः,
पुरातनोक्तान्यविमृश्य रोचयेत् ॥१॥''

प्राचीनं त्वनवीनमप्यनेकान्तगर्भितं तत्तात्पनर्यभेदेन तन्त्रेनातिप्रसञ्जकं कूपदृष्टान्तं विशदीकरणेऽधिकमादरात्, प्रपञ्चेनोक्तमस्माभिस्तदवधार्यताम् ॥६१॥

(१६) पूजाया हिंसासंभवोक्तिविकल्पं दूषयन्नाह–

धर्मार्थिः प्रतिमार्चनं यदि वधः स्यादर्थदण्डस्तदा,
तत्किं सूत्रकृते न तत्र पठितो भूताहियक्षार्थवत्।
या हिंसा खलु जैनमार्गविहिता सा स्यान्निषेध्या स्फुटं,
नाधाकर्मिकवन्निहन्तुमिह किं दोषं प्रसङ्गोद्भवम्? ॥६२॥

(धर्मार्थमिति) यदि पूजायां हिंसा कुमतिना वाच्या, तदा किमनर्थदण्डरूपा वा स्यादर्थदण्डरूपा वा? नाद्यः पक्षः क्षोदक्षेमः, प्रयोजनराहित्यासिद्धेः। अन्त्ये त्वाह–यदि प्रतिमार्चनं धर्मार्थो वधः स्यात्तदाऽर्थदण्डः स्यादर्थदण्डत्वेन व्यवहार्यः स्यात्। इष्टापत्ता–वाह–तदर्थदण्डश्चेत्तदा सूत्रकृतेऽर्थदण्डाधिकारे किं न पठितः। किंवत्? भूताहियक्षार्थो यथा दण्डः पठितस्तद्वत्। इदं हि तत्सूत्रम्–''पढमे दंडसमादाणे अट्ठादंडवत्तिए त्ति आहिज्जइ, से जहा नामए केइ पुरिसे आयहेउं वा आगारहेउं नित्तहेउं वा णागहेउं वा भूयहेउं वा जक्खहेउं वा दंडतसथावरेहिं सयमेव णिस्सरइ, अण्णेहि वा णिसिरावेइ, अन्नं वा णिसिरंतं समणुजाणइ, एवं खलु तस्स तप्पत्तिअं सावज्जं ति आहिज्जइ त्ति''। यदि हि जिनप्रतिमापूजार्थोऽपि वधोऽत्राकृतः स्यात्तदा–''जिणपडिमाहेतुं जिणहेतुं च'' इत्यप्यभणिष्यत् सूत्रकारः। न च सर्वोऽपि दण्डो गृहस्थानामगारार्थ इत्यगारविषयकेच्छाप्रयोज्येच्छाया हेतोरुक्तशेषे संभवान्न न्यूनत्वमिति रामदासादिपामरोक्तं श्रद्धेयम्। एवं सति–''परिवारहेउं'' इत्यादेराधिक्यापत्तेः, परिवाराद्यर्थस्यापि तत्त्वतो गृहार्थत्वादिति यत्किञ्चिदेतत्। अथ विवक्षात एव तत्पाठ इत्यत आहया खलु जैनमार्गविहिता हिंसा सा किं प्रसङ्गोद्भवं दोषं निहन्तुं वारयितुं स्फुटं नामग्राहं निषेध्या न स्यात्?, अपि तु स्यादेव। ननु प्रतिलोममेतत्, एवं सत्यर्थदण्काधिकारे पूजार्थवधस्याधार्मिकस्येव पाठोपत्तेरिति चेत्। सत्यम, तर्हि भगवत्यादावाधाकर्मिकस्येव तस्य स्फुटं निषेधौचित्यमन्यत्र प्रपञ्चितनिरूपितस्यैवात्रोपलक्षणसंभवादित्यत्र तात्पर्यात्, तत्त्वे तदशिक्षितोपालम्भमात्रम्।'' तत्थ खलु भगवया परिण्णा पवेइयाइमस्स चेव जीवियस्स परिवंदणमाणणापूअणाए दुक्खपडिघातहेतुं'' इत्याचारे प्रथमाध्ययने जातिमरणमोचनर्थं प्राणातिपातस्य दर्शितत्वात्, तस्य च कटुविपाकोदर्शनाज्जिनपूजादेरपि भगवदभ्युपगमेन मुक्त्यर्थं प्रसिद्धेरर्थदण्डतया साक्षान्निषेधादिति चेत्। न। एतदूव्याख्यानपर्यालोचनायां त्वन्मनोरथस्य लेशेनाप्यसिद्धेः। तथाहि–तत्र कर्मणि भगवता परिज्ञानं परिज्ञा प्रत्याख्यानं च प्रवेदिता, अथ किमर्थमसौ कटुकविपाकेषु कर्माश्रवभूतेषु क्रियाविशेषेषु प्रवर्त्तनेत्याह–''इमस्सेत्यादि''।

(१७) अर्थदण्डत्वविचारः–

आनन्दस्य हि सप्तमाङ्गवचसा हित्वा परिव्राट्वर–
श्राद्धस्य प्रथितौपपातिकगिरा चैत्यान्तरोपासनाम्।
अर्हच्चैत्यनतिं विशिष्य विहितां श्रुत्वा न यो दुर्मतिं,
स्वान्तान्मुञ्चति नाश्रितप्रियतया कर्माणि मुञ्चन्ति तम् ॥६३॥

(आनन्दमिति) हि निश्चितम्, आनन्दस्य आनन्दोश्रमणोपासकस्य, सप्तमाङ्गवचसा उपासकदशाङ्गवचनेन, तथा परिव्राट् वरः प्रधानो यः श्राद्धः अम्बडः श्रमणोपासकः, तस्य, प्रथिता प्रसिद्धा औपपातिकगिरौपपातिकोपाङ्गवाक्, तथा, चैत्यान्तरोपासनाम्–अन्यतीर्थिकचैत्यतत्परिगृहीतार्थचैत्योपासनां, हित्वा त्यक्त्वा, स्थितस्येति शेषः, ''मत्प्रसूतिमनाराध्य'' इत्यन्नेव, अन्यथा भिन्नकर्तृकक्त्वाप्रत्ययानुपपत्तेः। अथवाऽन्तर्भूतण्यर्थत्वाद् हित्वेत्यस्य हापयित्वेत्यर्थः। एवं ह्यभिमतानभिमतविधानहापनयोरेककर्तृत्वेन क्त्वाप्रत्ययानुपपत्तिः! अर्हच्चैत्यानामर्हत्प्रतिमानां, नतिं विशिष्य नामग्राहं विहितां कर्त्तव्यत्वेनोक्तां श्रुत्वा यो दुर्मतिं प्रतिभाऽनाराध्येति दुष्टमतिं न त्यजति, तम्, आश्रितस्यातिप्रियतयाऽत्यन्ताभीष्टतया, इवेत्यस्य गम्यमानत्वादुपमोत्प्रेक्षे। आश्रिताः प्रिया वस्य तत्तयेति व्याख्याने गुणप्रिय इत्यादाविव विशेषणपरनिपातः। कर्माणि ज्ञानावरणीयादीनि न मुञ्चन्ति। तत्र सप्तमाङ्गालापको यथा–''तते णं से आणंदे गाहावती समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए पंचाणुवयस्स सत्त सिक्खावयं दुवालसविहं गिहिधम्मं पडिवज्जइ, समणं भगवं महावीरं वंदइ, णमंसइ, णमंसइत्ता एवं वदासीनो खलु मे भंते! कप्पइ अज्जप्पभिए अण्णउत्थिया वा अण्णउत्थियदेवयाणि वा अण्ण उत्थियपरिग्गहियाइ वा अरिहंतचेइआइं वंदित्तए वा णमंसित्तए वा''। प्रति०। ('सम्मत्त'शब्दे तद्ग्रहणप्रस्तावे व्याख्या) ('आणंद' शब्दे द्वितीयभागे १०६ पृष्ठे सूत्रमुक्तम्) अत्रान्ययूथिकपरिगृहीतचैत्यनिषेधे मिश्रितार्हच्चैत्यवन्दनादिविधिः स्फुट एव। न चात्र चैत्यशब्दार्थे ज्ञानं मूर्खोक्तं घटते। अर्हद्ज्ञानस्यान्यतीर्थिकपरिगृहीतत्वानुपपत्तेः, नापि साधुः, श्रुतवत् तस्यान्यपरिगृहीतत्वासिद्धेः। सिद्धौ वा स्वतीर्थिक एव सः। अन्यागमस्याप्यन्यपरिग्रहेणैव व्यवस्थितेः भृशं स दुर्बुद्धिपरिग्रहाच्च ब्रूमः। ''तदन्यागममप्रमाणम्'' इति वचनात्। अथ–''अण्णउत्थिया वा'' इत्यादिपदत्रयमेकार्थमेव ''समणं वा माहणं वा'' इति पदद्वयवत्। अन्यथा ''तेंसि असरणं च'' इत्याद्यनुपपत्तेः। तत्पदस्याव्यवहितपूर्वोक्तपदार्थपरामर्शकत्वात् चैत्यानामेव वाच्यव्यवहितपूर्वोक्तत्वात्तेषां दानाद्यप्रसङ्गेन तन्निषेधानुपपत्तेरिति चेत्। न। प्रशक्तानां त्रयाणां नत्यादेरवश्यनिषेध्यत्वात्पदत्रयस्यैकार्थतायाः वक्तुमशक्यत्वात्, तेन तदा यावदुक्तपरामर्शस्यैव युक्तत्वाच्च वस्तुतोऽव्यवहितप्राक्कालीनशाब्दोबोधापनुकूलव्यापारविषयत्वं वाच्यम्। तथा च –पूर्वमनालपितेनेत्यत्रान्यतीर्थिकैरित्यध्याहारस्यावश्यकत्वात् तेषामिति तत्पदेन त्वव्यवहितपूर्वोक्तान्यतीर्थिकपरामर्शे युक्त इति मदुत्प्रेक्षां प्रमाणयन्तु प्रामाणिकाः। औपपातिकालापको यथा–''अम्मडस्स णं णो कप्पइ अण्णउत्थिए वा अण्णउत्थियदेवयाणि वा अण्णउत्थियपरिग्गाहिआणि य अरिहंतचेइआणि वा वंदि–त्तिए वा णमंसित्तए वा जाव पज्जुवसित्तए वा एण्णत्थ अरिहंतेहिं वा अरिहंतचेइआणि वा वंदित्तिए।''तदवृत्तिर्यथा–''अण्णउत्थिए त्ति'' अन्ययूथिका आर्हत्–तत्समयापेक्षया ऽन्ये शाक्यादयः। ''चेइआइं त्ति'' अर्हच्चैत्यानि जिनप्रतिमाः, ''नन्नत्थ अरहंतेहिं व त्ति'' न कल्पते, इह योऽयं नेति प्रतिषेधः, सोऽन्यत्रार्हद्भ्यः, अर्हतो वर्जयित्वेत्यर्थः। न हि किल परिव्राजकवेषधारकोऽतोऽन्ययूथिकदेवतावन्दनादिनिषेधोऽर्हतामपि वन्दनादिनिषेधो मा भूदितिकृत्वा''नन्नत्थ'' इत्यधीतम् अति। अत्रार्हच्चैत्येऽम्बडस्य ''कण्ठ एव विहिता'' इति न्यायाद्यनभिज्ञस्यापि सुज्ञानम्। इत्थं च सम्यक्त्वालापक एवार्हच्चैत्यानां वन्दननमस्करणयोर्विहितत्वात्पूजाद्याप्यधिकारिणां सिद्धमिति सिद्धान्ते स्फुटमर्हच्चैत्यपूजाविधानं न पश्यामः। सम्यक्त्वपराक्रमाध्ययने स्फुटं फलानभिधानादिति लुम्पकमतं निरस्तम्। न पश्याम इत्यस्य स्वापराधत्वात्। न ह्यं स्थाणोरपराधः, यदेनमन्धो न पश्यतीति। सम्यक्त्वालापक एव सूक्ष्मदृष्टया दर्शनात्सम्यक्त्वपराक्रमाध्ययनेऽपि गुरुसाधर्मिकशुश्रूषाफलाभिधानेनैव पूजाफलाभिधनादिति भावनीयं सूरिभिः ॥६३॥

सुवर्णगुलिका। आह च–

प्रश्नव्याकरणे सुवर्णगुलिकासंबन्धनिर्द्धारणे,
शस्ते कर्मणि दिग्द्वयग्रहरहःख्यातौ तृतीयाङ्गतः।
सम्यग्भावितचैत्यसाक्षिकमपि स्वालोनाज्ञाश्रुतौ,
सूत्राच्च वयवहारतो भवति नः प्रीतिर्जिनेन्द्रे स्थिरा ॥६॥

प्रश्नव्याकरणे सुवर्णगुलिकायाः संबन्धनिर्द्धारणे सत्यसंबद्धस्यानभिधेयत्वात्संबन्धाभिधानस्यावश्यकत्वे वृत्तिस्थस्य तस्य सौत्रत्वादिति भावः। तथा तृतीयाङ्गतः स्थनाङ्गतः, शस्ते प्रशस्ते कर्मणि दिग्द्वयस्य पूर्वोत्तरदिग्रूपस्य, यो ग्रहः पुरस्कारः, तस्य यो रहःख्यातिस्तात्पर्यप्रतिपत्तिः, तस्यां, च पुनः, व्यवहारतः सूत्रात्सम्यग्भावितान्ययतनारूपवर्जनया सद्भावं प्रापितानि यानि चैत्यानि तानि साक्षीणि यत्र यस्यां क्रियायां, तथा स्वालेचना सुष्ठु समीचीना याऽऽलोचना, तस्याः श्रुतौ विधिश्रवणे सति, नः श्रअस्माकं, प्रीतीजिनेन्द्रे स्थापनाजिने स्थिरऽप्रतिपातिनीभवति, स्थपनाजिनस्य जिनेन्द्रत्वं भावजिनवत्सद्यःसमुपासनाफलदानसमर्थतयाऽव्याभिचारेणाध्यात्मिकभावाक्षेपकत्वादवसेयम्। तत्र तुर्याश्रवद्वारि–''सुवन्नगुलिआए त्ति'' प्रतिके वृत्तिः–यथा सुवर्णगुलिकायाः कृते संग्रामोऽभूत्। तथाहि–सिन्धु–सौवीरेषु जनपदेषु विदर्भकनगरे उदायनस्य राज्ञः प्रभावत्या देव्याः सकाशे देवदत्ताभिधाना दारस्यभूत्। सा च देवनिर्मितां गोशीर्षचन्दनमयीं श्रीमन्महावीरप्रतिमां राजमन्दिरान्तर्वर्ति–चैत्यभवन–व्यवस्थितां प्रतिचरति स्म, तद्वन्दनार्थं च श्रावकः कोऽपि देशात् संचरन् समायातः, तत्र चागतोऽसौ रोगेणाऽपटुशरीरो जातः, तया च सम्यक् प्रतिचरितः। तुष्टेन च तेन सर्वकामिकमाराधितदेवतावितीर्णगुलिकाशतमदायि। तथाऽनया कुब्जा विरूपा, सरूपाभूयासमिति मनसि विभाव्य एका गुटिका भक्षिता, ततःप्रभावात् सा सुवर्णवर्णा जातेति सुवर्णगुलिका नाम्ना प्रसिद्धिमुपगता। ततोऽसौ चिन्तितवतीजाता मे रूपसंपद्, एतया च किं भर्तृविहीनया, तत्र तावदयं राजा पितृतुल्यो न कामयितव्यः शेषस्तु पुरुषमात्रमतः किं तैः?, तत् उज्जयिन्याः पतिं चण्डप्रद्योतराजं मनस्याधाय गुटिका भक्षिता, ततोऽसौ देववचनात्तां विज्ञाया तदानयनाय हस्तिरत्नमारुह्य तत्रायातः। आकारिता च तेन सा, तयोक्तम्–आगच्छामि यदि प्रतिमां नयसि, ते

नोक्तमतामहं श्वो नेष्यामि । ततोऽसौ स्वनगरीं गत्वा तद्रूपां प्रतिमां कारयित्वा रचित्वा तामादाय तत्रैव रात्रावायातः, स्वकीयदप्रतिमां देवतानिर्मितप्रतिमास्थाने विमुच्य तो सुवर्णगुलिकां च गृहीत्वाऽऽगतः। प्रभाते च चण्डप्रद्योतगन्धहस्तिविमुक्तमूत्रपुरीषगन्धेन विमदान् स्वहस्तिनो विज्ञाय ज्ञातचण्डप्रद्योतागमोऽवगतुप्रतिमासुवर्णगुलिकानयनोऽसावुदायनराजः परं कोपमुपमातो दशभिर्महाबलैः राजभिः सहोज्जयिनीं प्रति प्रस्थितः । अन्तरा पिपासाबाधितसैन्यस्त्रिपुष्करकरणेन देवतया निस्तारितसैन्योऽक्षेपेणोज्जयिन्या बहिःप्राप्तः, रथारूढश्च धनुर्वेदकुशलतया सन्नद्धहस्तिरत्नारूढं चण्डप्रद्योतं । प्रजिहिर्षुं मणडल्या भ्रमन्तं चरणतलशरव्यथितहस्तिनो भुवि निपातनेन वशीकृतवान् दासीपतिरिति लबाटपट्टे मयूरपिच्छेनाङ्कितवानिति । प्रति० । प्रश्न० ४ आश्र० द्वार । दिग्द्वयोर्निग्रहे स्थनाङ्गालापको द्वितीयस्थाने प्रथमोद्देशके यथा–''दो दिसाओ अभिगिज्झ कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा पव्वावित्तए पाईणं चेव उदीणं चेव एवं मुंमवित्तए सिक्खावित्तए उवट्ठावित्तए संभुंजित्तए संवसित्तए सज्झायं उद्दिसित्तए सज्झायं पदिसित्तए संज्झायं अणुजाणित्तए आलोइत्तए पडिक्कमित्तए णिंदित्तए गरहित्तए विउट्टित्तए विसोहित्तए अकरणयाए अब्भुट्ठित्तए अहारिहं पायच्छित्तं तवोकम्मं पडिवज्जित्तए, दो दिसाओ अभिगिज्झ कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा अपच्छिममारणंतियसंलेहणाझूसिधाणं भत्तपाणपडिआइक्खियाणं पाओवगयाणं कालं अणवकंखमाणाणं विहरित्तए तं पाईणं चेव उदीएं चेव त्ति''। प्रति० । स्था० अत्र हि दिग्द्वयाभिमुखीकरणमर्हच्चैत्यानां भुग्नाभिमुखीकरणायैवेति तद्विनयसर्वकर्मपूर्वाङ्गत्वाद् गृहस्थस्याधिकारिणो लोकोपचारतद्विनयात्मकपूजायाः प्रधानवस्तूचितमेवेति तात्पर्यम्। प्रति० उक्तं च–''पुव्वाभिमुहो ठिच्चा, दिज्जा अहवा पडिच्छिज्जा। जाए जिणादओ वा, जिणिंदवरचेइयाइं वा''॥१॥ प्रति० । व्यवहारलापको यथा आलोचनासूत्रे–''जत्थेव समं भावियाइं पासेज्जा० जाव पडिक्कमिज्जा, णो चेव सम्मं भावियाइं वहिआ गामस्स० जाव सन्निवेसस्स पाईणाभिमुहे वा उदीणाभिमुहे वा करयलपरिग्गहियं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु एवं वदिज्जाएवइआ मे अवराहा एवइक्खुत्तो अहं अवरद्धो अरहंताण सिद्धाणं अंतिए आलोइज्जा पडिक्कमेज्जा निंदिज्जा पायच्छित्तं पडिवज्जिज्ज त्ति वेमि ।'' प्रति । अथाऽग्रेतनस्याप्यभावे यत्रैव सम्यग्भावितानि जिनवचनवासितान्तःकरणानि दैवतानि पश्यति, तत्र गत्वा तेषामन्तिके आलोचयेत्, दैवतानि हि भृगुकच्छगुणशिलादौ भगवत्समवत्तरे एकाशे विधीयमानानि शोधिकरणानि दृष्ट्वा विशोधिदानसमर्थानि भवन्ति, महाविदेहेषु गत्वा तीर्थङ्करानापृच्छय वाचाऽहमेनाकम्प्य पुरत आलोचयेत् । तासामपि देवतानामभावेऽर्हत्प्रतिमानां पुरतः स्वप्रापितदानपरिज्ञाकुशलमालोचयति, ततः स्वयमेव प्रतिपाद्यते प्रायश्चितम्, तासामप्यभावे ग्रामादेर्वहिः प्राचीनादिदिगभिमुखः, करतलाभ्यां परिगृहीतं तथा शिरसाऽवर्तो यस्य तम्। अलुक्समासः । अञ्जलिं कृत्वा एवं वदेत्–एतावन्ते मेऽपराधाः, एतावत् कृत्वाऽहमपराद्धः । एवमर्हतां सिद्धानामन्तिके आलोचयेत् । प्रायश्चित्तदानविधिं विद्वानालोच्य च स्वयमेव प्रतिपद्यते प्रायश्चित्तं, स च तथा प्रतिपद्यमानः शुद्ध एव, सूत्रोक्तविधिना प्रवृत्तेः । यदपि च विराधितं तत्रापि शुद्धः, प्रायश्चित्तप्रतिपत्तेरिति । अत्र''सम्मं भाविआइं ''इति विशेषणेनैव देवतानां चैत्यानां च ''अहं च भोयरायस्स'' इत्यत्र 'पुत्र्याम्' इवाक्षेपात् विशेषणद्वयानुरोधेनावृत्तिं कृत्वा व्याख्येम् । सम्यग्भावितप्रतिमापुरस्कारश्च मनःशुद्धेर्विशेषायैव दिग्द्वयपरिग्रह इवेति न्यायोपेतमेव। यद्युच्यते कुमतिभिःसम्यग्भावितपदेनाविरतसम्यग्दृष्टेरेव पारिशेष्येण ग्रहान्न प्रतिमास्पर्श इति। तदस्पृशास्पर्शस्य भूषणत्वान्न दूषणम्, आलोचनादानार्हस्य गीतार्थे संभवेऽध्यात्मशुद्धे प्रतिमाश्रयणस्यैव शास्त्रार्थत्वात् । अर्हत्सिध्दपुरकारस्य कथमिदमुत्सर्गतामवलम्बतामिति चेत्, सद्भावाभ्यामत्रापि विशेषं विभावय । एतेन पर्यन्तोक्तत्वाज्जघन्यं प्रतिमाश्रयणमित्यपि दुर्वचनं निरस्तम्, ततोऽप्यग्रेऽर्हत्सिद्धपुरस्कारस्योक्तेरिति किमिति पल्लवितेन ॥६४॥

(१८) द्रौपद्यधिकारः । प्रतिमापूजायां द्रौपदीभद्रासार्थवाहीसिद्धार्थराजानामुदाहरणानि–

तीर्थेशप्रतिमार्चनं कृतवती सूर्याभवद्भक्तितो,
यत् कृष्णा परदर्पमाथि सुदिदं षष्ठाङ्गविस्फूर्जितम् ।
सच्चक्रे खलु या न नारदमृषिं मत्वाऽव्रतासंयतं,
मूढानामुपमुजायते कथमसौ न श्राविकेति भ्रमः? ॥६८१॥

कृष्णा द्रौपदी, सूर्याभवत् राजप्रश्नीयोपाङ्गाभिहितव्यतिकरसूर्याभदेववत्, भक्तितो भक्त्या, तीर्थेशानां भगवतां, प्रतिमार्चनं प्रतिमापूजनं, कृतवती, तदिदं तदेव तदर्थाभिधायकम्, न परं, षष्ठाङ्गस्य ज्ञाताधर्मकथाध्ययनाङ्गस्य, विस्फूर्जितं सम्यग्व्याख्यानविलसितं, परेषां कुवादिनां, दर्पमहङ्कारं मआतीत्येवंशीलम्, ते हि वदन्ति–पञ्चमगुणस्थानवृत्त्या पूजा कृतेति सूत्रे कुत्राऽपि व्यक्ताक्षरं नोपलभ्यते, गते प्रसिद्धे षष्ठाङ्ग एव च तदक्षरोपलब्धेरिति कथं नोत्तानदृशो दर्पप्रतिघातः । ननु द्रोपद्याऽर्हत्प्रतिमापूजा कृतेति षष्ठाङ्गेऽभिहितमिति वयमपि नापह्नुमः, तस्याः पञ्चमगुणस्थानं नास्तीत्येवं तु ब्रूम इति चेत्, अत्राह–या तं नारदमृषिं व्रतासंयतं मत्वा न सच्चक्रे न सत्कृतवती, असौ श्राविका नेति भ्रमः कथमुपजायते?, प युक्तोऽयं भ्रमः । एवमापद्याचाम्लान्तरिप्रषष्ठादिकरणमपि श्राविकात्वमेवार्थापयतीति द्रष्टव्यम्। अत्रालापको ज्ञातावृत्तौ–''तए णं सा दोवई रायवरकन्नगा जेणेव मज्जणघरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता मज्जणघरं अणुपविसइ, अणुपविसइत्ता एहाया कयवलिकम्मा कयकोउयमंगलपायच्छित्ता सुद्धप्पावेसाइं मंगलाइं वत्थाइं पवरपरिहिया मज्जघराओ पडिनिक्खमइ, पडिनिक्खमइत्ता जेणेव जिणघरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छाइत्ता जिणघरं अणुपविसइ, जिणपडिमाणं आलोए पणामं करेइ, करेइत्ता वंदइ, नमंसइ, नमंसइत्ता लोमहत्थेणं परामुसति, परामुसइत्ता एवं जहा सूरियाभो जिणपडिमाओ अच्चेति तहेव भाणियव्व जाव धूवं महति, महतित्ता वामं जाणुं अंचेइ, दाहिणं जाणुं धरणितलंसि साहहु तिक्खुत्तो मुद्धाणं धरणितलंसि निवेसेइ, निवेसेइत्ता ईसिं पच्चुन्नमइ, करयल जाव कट्टु एवं वयासिणमोऽत्थु णं अरिहंताणं भगवंताणं० जाव संपत्ताणं वंदइ, णमंसइ, नमंसइत्ता जिणघराओ पडिनिक्खमइ, जेणेव अंतेउरे तेणेव उवागच्छइ''। ज्ञा० १६ अ० अत्र यावत्करणात् अर्थतो दृश्यं, लोमहस्तकेन जिनप्रतिमाः प्रमार्ष्टि, सुरभिगन्धोदकेन स्नपयति, गोशीर्षचन्दनेनानुलिम्पति, वस्त्रा–

णि निवासयति, ततः पुष्पाणां माल्यानां, ग्रथितानामित्यर्थः। गन्धनां चूर्णानां वस्त्राणामाभरणानां चारोपणं करोति स्म। माकलापावलम्बनं पुष्पप्रकरं तन्दुलैर्दर्पणाद्यष्टमङ्गलकाले रचनं करोति। (वामं जाणु अंचेइ त्ति) उत्क्षिपतीत्यर्थः (दाहिणं जाणुं धरणितलंसि निहट्टु) निहत्य स्थापयित्वेत्यर्थः। (तिक्खुत्तो मुद्धाणं धरणितणंसि णिवेसेइ त्ति) निवेशयतीत्यर्थः। (इसिं पच्चुन्नमति २ करतलपरिग्गहियं अंजलिं मत्थए कट्टु एवं वयासी–नमोऽत्थु णं अरिहंताणं जाव संपत्ताणं वंदति, णमंसति, णमंसित्तित्ता पडिनिक्खमइ त्ति) तत्र वन्दते चैत्यवन्दनविधिना प्रसिद्धेन, नमस्यति पश्चात्प्रणिधानयोगेनेति वृद्धाः, न च द्रौपद्याः प्राणिपातण्दडकमात्रं चैत्यवन्दनमभिहितं सूत्रेइति सूत्रमात्रप्रामाण्यादन्यस्यापि श्रावकादेस्तावदेतद् मन्तव्यम्। अन्यथा सूर्याभादिदेववक्तव्यतायां बहूनां शास्त्रादिवस्तूनामर्चनं श्रूयते इति, तदपि विधेयं स्यात्, किञ्चविरतानां प्रणिपातदण्डकमात्रमपि चैत्यवन्दनं संभाव्यते, यतो वन्दते नमस्यतीति पदद्वयस्य वृद्धान्तरव्याख्यानमेवमुपदर्शितं जीवभिगमवृतिकृताअविरतिमतामेव प्रसिद्धचैत्यवन्दनविधिर्भवति, अन्येषां तथाऽभ्युपगमपुरस्सरं कायोत्सर्गासिद्धेः, ततो वन्दते सामान्येन, नमस्करोति आशयवृद्धेरभ्युत्थानरूपनमस्कारेणेति। किं च–''समणेण सावएण य, अवस्सकायव्वयं हवइ जम्हा। अंतो अहो णिसियस्स य, तम्हा आवस्सयं णाम ॥१॥'' तथा ''जं णं समणो वा समणी वा सावओ वा साविया वा सचित्ते तम्मणे तल्लेसे उभओ कालं आवस्सएण चिट्ठंति, तं लोयउत्तरियं भावावस्सयं'' इत्यादिरनुयोगद्वारवचनात्। तथा सम्यग्दर्शन संपन्नः प्रवचनभक्तिमान् षड्विधाश्यकनिरतः षट्स्थानयुक्तश्च श्रावको भवतीत्युमास्वातिवाचकवचनात् श्रावकस्य षड्विधावश्यकस्य सिद्धावश्यकाऽन्तर्गतं प्रसिद्धं चैत्यवन्दनं सिद्धमेव भवतीति वृत्तौ। यच्च ''जिणपडिमाणं अच्चणं करेइ'' त्ति एकस्यां वाचनायामेतावदेव दृश्यते इति वृत्तावेवं प्रागृक्तं, तत्रापि वृद्धाशयात्सम्पूर्णो विधिरिष्यत एव, जिनप्रतिमार्चनस्य प्रणिधानस्तवेनैव विरतिमतां निर्वाहात्। यदपि ''ताव संपत्ताणं ति'' असंपूर्णदण्डकदर्शनाश्वास इति प्रतिमाऽरिणोच्यते। तदपि स्तम्भतीर्थचिरकालीनतामपत्रीयपुस्तकसंपूर्णदण्मकप्रदर्शनेने बहुशो निराकृतमस्माभिः। सम्पूर्णचैत्यवन्दनविधौ चापुनर्बन्धकादयोऽधिकारिणः स्थाणोरर्थालम्बनतदन्ययोगपरा इति सिद्धमेव। योगग्रन्थे तु श्राविका तु द्रौपद्यानन्दादिवत्प्रत्याख्याता अन्यतीर्थिकादिरुपत्वादिव सिद्धा। तथाहि ज्ञातावृत्तौ–''तए णं पंच पंडवा दोवईदेवीए सद्धिं कल्लाकल्लिं वारं वारेणं उरालाइं भोगभोगाइं जाव विहरंति। तते णं से पंमुराया अण्णया कयाइं पंचपंडवेहिं कुंतीए देवीए दोवइए देवीए सद्धिं अंतेउरपरियालसद्धिंसंपरिवुडे सीहासणवरगए यावि विहरति। इमं च णं कच्छुलनारए दंसणेणं अइभद्दए विणिए अंतो य कलुसहियए मज्झत्थोवत्थिए अ अल्लीणसोमपियदंसणे सुरूवे अमइलसगलपरिहिए कालमियचम्मउत्तरासंगइअवत्थे दंडकमंडलुहत्थे जडामउडदित्तसिरए जण्णोवइअगले ति अमुंजमेहलवलगलधरे हत्थकयकभीए पिअगंधव्वे धरणिगोअरप्पहाणे संवरणावरणउवयणुप्पयणिलेसिणीसु य संकामणिआभिओगपण्णत्तिगमणीथंभणीसु य बहुसु विज्जाहरीसु विज्जास्सु विसुयजसे इट्ठे रामस्स य केसवस्स य पज्जुन्नपइवसंवअनिरुद्धनिसढउस्सुयसारणगयसुमुहदुम्मुहाईणं जायवाणं अद्धट्ठाण य कुमारकोडीणं हियय इदए संथवए कलहयुद्धकोलाहलप्पिए भंडणाभिलासी बहुसुयमसमसुयसंपराए सुदंसणए संमतओ कलहं सदक्खिणं अणुगवेसमाणे असमाहिकरे दसावरवीरपुरिसतेल्लुक्कबलवग्गणं आमंतेऊणं ते भगवतिं पक्कमाणिं गयणगमहत्थं उप्पइओ गगणतलमहिलंघयंतो गामागरनगरखेडकव्वडमडंवदोणमुहपट्टणसंवाहसहस्समंडियं थिमियमेइणीतलं सुहं ओलोयंतो रम्मं इत्थिणाउरं नयरं उवागए पंडुरायभवणंसि अइवेगेणं समोवयइ, तए णं से पंडुराया कच्छुल्लनारयं एज्जमाणं पासइ, पासइत्ता पंचहिं पंडवेहिं कुंतीए देवीए सद्धिं आसणाओ अब्भुट्ठेइ, कच्छुल्लनारयं सत्तट्ठपयाइं पच्चुग्गच्छइ, पच्चुग्गच्छइत्ता तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेति, करेइत्ता, वंदइ, णमंसइ, णमंसइत्ता महरिहेणं आसणेणं उवनिमंतेइ। तते णं से कच्छुल्लनारए उदगपरिचरफासियाए दब्भोवरिए वत्थआए भिसिआए निसीयइ, निसीयइत्ता पंडुरायं रज्जे अ जाव अंतेउरे य कुसलोदंतं पुच्छति। तते णं से पंडुराया कुंती देवी पंच पंडवा कच्छुल्लनारयं आढंति जाव पज्जुवासंति; तते णं सा दोवती कच्छुल्लनारयं अस्संजयं अविरयअप्पडिहयअपच्चक्खायपावकम्म त्ति कट्टु नो आढाइ० जाव णो पज्जुवासति त्ति''। प्रति०। ज्ञा०।

भद्रा सार्थवाही–

''तते णं से भद्दा सत्थवाही धणेणं सत्थवाहेणं अब्भुण्णा या समाणी हट्ठतुट्ठ० जाव हिययाविउलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खमावेइ, उवक्खडावेइत्ता सुबहुपुप्फवत्थगंधमल्लालंकारे गेह्णति, रसायउ गिहाणि गच्छइ, रायगिहं नगरं मज्झं मज्झेणं णिग्गच्छइ, णिग्गच्छइत्ता जेणेव पुक्खरिणी तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता पुक्खरिणीए तीरेसु बहुपुप्फ जाव मल्लालंकारं ठवेइ, ठवेइत्ता पुक्खरिणिं ओग्गहइ, ओग्गहइत्ता जलमज्जणं करेइ, करेइत्ता जलकीडं करेइ, जलकीडं करेइत्ता ण्हाया कयवलिकम्मा उल्लपडिसामिग्गजाइं तत्थ उप्पलाइं० जाव सहस्सपत्ताइं गिण्हइ, गिण्हइत्ता पुक्खरिणीओ पच्चोरुहइ, पच्चोरुहइत्ता तं पुप्फवत्थगंधमल्लं गेण्हइ, गेण्हइत्ता जेणेव नागघरए जाव वेसमणघरए य तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता तत्थ णं नागपडिमाण य० जाव वेसमसमणपडिमाण य आलोए पणामं करेइ, करेइत्ता पच्चुन्नमइ, पच्चुन्नमइत्ता लोमहत्थगं परामुसइ, नागपडिमाआ० जाव वेसणपडिमाओ य लोमहत्थएणं पमज्जइ, उदगधाराए अब्भुट्ठेइ पम्हलसुयालाए गंधकासाइए गायाइं लूहेइ, महरिहं वत्थारुहणं च गंधारुहणं च वन्नारुहणं च करेइ, करेइत्ता धूवं डहइ, रज्जन्नु पायपडिया एवं वयासी–जइ णं अहं दारगं वा पयमित्तो णं अहं जायं च० जाव अणुवड्ढेमि त्ति कए ओवाइयं करेइ, जणेव पुक्खरिणी तेणेव उवागच्छइ, विउलं असणं पाणं खाइमं साइयं आसाएमाणा० जाव विहरति।'' न च द्रौपद्या जिनप्रतिमार्चनकालवरोपयाचितं कृतं श्रूयते, प्रत्युत ''जिणाण जावयाणं'' इत्यादिना भगवतद्गुण-प्रणिधानमेव कृतमस्तीति कथं विशेषं न पश्यति सचेताः। इत्थं प्रणिधानेनैव च महापूजा, अन्यथा तु पूजामात्रमिति शास्त्रगतार्थः। तदाह–''देवगुणप्रणिधानात्तद्भवानुगतमुत्तमं विधिना। स्यादादरादियुक्तं, यत्तद्देवार्चनं चेष्टम्'' ॥१॥ इति। प्रति०। आचा० कल्प०।

(सिद्धार्थराजस्य) आह च–

एतेनैव समर्थिताऽभ्युदयिकी धर्म्या च कल्पोदिता,
श्री सिद्धार्थनृपस्य यागकरणप्रौढिर्दशाहोत्सवे।
श्राद्धः खल्वयमदिमाङ्ग विदितो यागं जिनार्चां विना,
कुर्यान्नान्यमुदाहृता व्रतभृतां त्याज्या कुशास्त्रस्थितिः ॥६६॥

(एतेनेति) एतेनैव द्रौपदीचरितसमर्थनेनैव, आभ्युदयिकी अभ्युदय–*निर्वृत्ता, धर्म्या च धर्मादनपेता च, कल्पोदिता कल्पसूत्रप्रोक्ता,* श्रीसिद्धार्थनृपस्य श्रीसिद्धार्थनाम्नो राज्ञो भगवत्पितुः, दशाहोत्सवे दशदिवसमहे, यागकरणस्य प्रौढिः प्रौढता समर्थिता उपपादिता। न च यागशब्दार्थोऽन्यः स्यादिति ततमाह–खलु निश्चितं, अयं सिद्धार्थराज आदिमाङ्गविदितः आचाराङ्गप्रसिद्धः श्राद्धः श्रीपार्श्वपत्यीयश्रमणोपासकः, जिनार्चां विनाऽन्यं लोकप्रसिद्धं यागं, न कुर्यात्। यतः व्रतभृतां कुशास्त्रस्थितिस्त्याज्या। अन्यश्च यागः कुशास्त्रीयः। कल्पसूत्रपाठो यथा–''तए णं सिद्धत्थे राया दसाहियाए ठिइवडियाए पवट्टमाणीए सइए अ साहस्सिए अ सयसाहस्सिए अं.....लंभेमाणे ये पडिच्छमाणे य पडिच्छवेमाणे य एवं च णं विहरइ।'' व्याख्या–(दसाहिए त्ति) दशाहिकायां दशदिवसमानायां, स्थितौ कुलमर्यादायां, पतितायां गतायां, पुत्रजन्मोत्सवप्रक्रियायां तस्यां प्रवर्त्तमानायां, शतिकान् शतपरिमाणान् साहस्त्रिकान् सहस्त्रप्रमाणान् शतसाहस्त्रिकान् लक्षप्रमाणान् यागान् देवपूजाः दानान्पर्वदिवसादौ दानादीन् भागान् ददत् दापयन् लाभयन् प्रतीच्छन् गृह्णन् प्रतिग्राहयन् विहरन्नस्ति। एवं श्रीसिद्धार्थनृपेण परमश्राद्धेन देवपूजा कृता चेदन्येषां कथं न कर्तव्या? तस्य श्रमणोपासकत्वे आचारालापकश्चायम्–''समणस्स भगवओ महावीरस्स अम्मापियरो पासावच्चिज्जा समणोवासया आवि हुत्था। तेणं बहूइं वासाइं समणोवासगपरिआइं पालइत्ता छण्हं जीवनिकायाणं सरक्खणनिमित्तं आलोइता णिंदित्ता गरहित्ता अहारिहं उत्तरगुणपायच्छित्तं पडिवज्जित्ता कुससंथारं दुरुहित्ता भत्तं पच्चक्खाइति, पच्चक्खाइत्ता अपच्छिमाए मारणंतियाए सरीरसंलेहणाए झूसियसरीरा काले मासे कालं किच्चा तं सरीरं विप्पजहेत्ता अच्चुए कप्पे देवत्ताए उववन्ना। *तओ णं आउक्खएणं चइत्ता महाविदेहे वासे चरिमेणं ऊसासेणं* सिज्झिस्संति, परिनिव्वाइस्संति, सव्वदुक्खाणमंतं करिस्संति'' त्ति। यथा च सिद्धार्थराजव्यतिकरे यागशब्देन पूजा कृतेति समर्थितं, तथा महाबलादिव्यतिकरेऽपि दृश्यम्। अपि चशाश्वताशाश्वततीर्थान्याचार्यादींश्च प्रत्यभिगमनसङ्ग पूजनादिना सम्यक्त्वनैर्मल्यं स्यादित्युक्तमाचारनिर्युक्तौ।

तथाहि–

''तित्थयराण भगवउ–पवयणपावणिअइड्ढियड्ढीणं।
अहिगमणनमणदरिसण–कित्तणसंपूअणत्थुणणा ॥१॥
जम्माभिसेयनिक्खम–णचरणनाणुप्पयाणनिव्वाणे।
दियलोअभवणंदर–नंदीसरभोमनगरेसु ॥२॥
अट्ठावयमुज्जिंते–गयग्गपयधम्मचक्के य।
पासरहावत्तं चिय, चमरुप्पायं च वंदामि ॥३॥''

वृत्तिर्यथा–दर्शनभावनार्थमाह–'तित्थयरगाहा'। तीर्थकृतां भगवतां, प्रवचनस्य द्वादशाङ्गस्य गणिपिटकस्य, तथा प्रावचनिकानामाचार्यादीनां युगप्रधानानाम्, तथाऽतिशयिनामृद्धिमतां केवलिमनःपर्यायावधिमच्चतुर्दशपूर्वविदां, *तथाऽऽमर्षौषध्यादिप्राप्तर्द्धीनां, यदभिमुखगमनं,* गत्वा च नमनं, नत्वा च दर्शनं, तथा गुणोत्कीर्तनं, संपूजनं गन्धादिना, स्तोत्रैः स्तवनमित्यादिका दर्शनभावना, तया हि दर्शनभावनया दर्शनशुद्धिर्भवतीति।।१।। किं च –''जम्माभिसेयगाहा'' ''अट्ठावयगाहा'' तीर्थकृतां *जन्मभिषेकभूमिषु* तथा निष्क्रमणचरणज्ञानोत्पत्तिनिर्वाणभूमिषु, *तथा देवलोकभवनेषु मन्दरेषु नन्दीश्वरद्विपादौ* भौमेषु पातालभवनेषु यानि शाश्वतानि चैत्यानि तानि वन्देऽहमिति द्वितीयगाथान्ते क्रिया। इत्येवमष्टापदे, तथा श्रीमदुज्जयन्तगिरौ, गजाग्रपदे दशार्णकूटवर्तिनि, तथा तक्षशिलायां धर्मचक्रे, तथाऽहिच्छत्रायां श्रीपार्श्वनाथास्य धरणीन्द्रमहिमास्थाने, एवं रथावर्त्तप्रवर्तने वैरस्वामिना यत्र पादपोपगमनं कृतम्, यत्र च श्रीवर्द्धमानस्वामिनमाश्रित्य चमरेन्द्रेणोत्पतनं कृतम्। एतेषु यथासंभवमभिगमनवन्दनपूजनोत्कीर्त्तनादिकाः क्रियाः कुर्वतो दर्शनशुद्धिर्भवतीति।

तथा–

''अरिहंतसिद्धचेइय–गुरुसुअधम्मे य साहुवग्गे य।
आयरिएँ उवज्झाए, पवयणए सव्वसंघे य।।१।।
एएसु भत्तिजुत्ता, पूअंता अहारिहं मणुण्णमणा।
सासणमणूसरंता, परित्त–संसारिआ भणिआ''॥२॥ द०प०।

इति भरणसमाधिप्रकीर्णके, तथा भावनमस्कारं प्रतिपाद्यमानो दर्शनमोहनीयादिक्षयोपशमेन अर्हत्, अर्हत्प्रतिमा, अर्हन्तः, अर्हत्प्रतिमाः, साधुरर्हत्प्रतिमा चेति युगद्वयम्, साधुर्जिनप्रतिमाश्च, साधवो जिनप्रतिमा च, साधवो जिनप्रतिमाश्च, इत्यष्टस्वपि भङ्गेषु लभ्यते। उक्तम्–''नाणावरणिज्जस्स उ, दंसणमोहस्स तह खओवसमे। जीवमजीवे अट्ठसु, भंगेसु अ होइ सव्वस्स'' ॥१॥ इति गाथया नमस्कारनिर्युक्तौ–''तित्थयरा जिणचउदस, संविग्गा वाअसंविग्गा। सारूवियवयदंसपडिमाओ भावगामा उ'' ॥१॥ इति कल्पभाष्येण च, जिनप्रतिमादर्शनाद्याभावेऽपि केषाञ्चित्सम्यक्त्वलाभदर्शनाद्यभिचार इति नाशङ्नीयम्, चित्रभव्यत्वपरिपाकयोग्यतया प्रतिभव्यं सम्यक्त्वहेतूनां वैचित्र्यात्,तथात्वे कस्य चित् तीर्थकृत्, कस्यचिद्गणधरः, कस्यचित्साधुः, कस्यचिज्जिनप्रतिमादिकमित्येवं वैचित्र्यात् स्वजनभव्यत्वपरिपाकद्वारेण व्यभिचाराभावात्। अन्यथा तीर्थकृतोपि सम्यक्त्वहेतवो न भवेयुः,तीर्थकरमन्तरेणापि गौतमादिबोधितानां बहूनां सम्यक्त्वलाभप्रतीतेरन्वयव्यतिरेकसिद्धश्चायमर्थः। अत एव सम्यग्दृष्टिपरिग्रहिताः सम्यग्भाविता अपि दृष्टा भव्यजीवस्या–र्द्रकुमारादेरिव सम्यग्दर्शनाद्युदयमानमुपलभ्यते। ततः 'कारणे कार्योपचारः'' इति कृत्वा ता अपि भावग्रामा भण्यन्ते इति, तथा षडावश्यकान्तर्गतश्रावकप्रतिक्रमणसूत्रे साक्षादेव चैत्याराधनमुक्तम्–''जावंति चेइआइं, उड्ढे अ अहे अ तिरियलोए अ। सव्वाइं ताइँ वंदे, इह संतो तत्थ संताइं'' ॥४४॥ इति चतुश्चत्वारिंशत्तमगाथया। एतच्चूर्णिर्यथा–''एवं चउवीसाए जिणाणं वंदणं काउं संपइ सम्मत्तविसुद्धिणिमित्तं तिलोअगयाणं सासयासासयाणं वंदणं भण्णइ–(जावंति)''।।प्रति०।

(१६) ऊर्द्धवलोकादिषु जिनप्रतिमास्थितिः–

''इत्थ लोओ तिविहो–उड्ढलोओ, अहोलोओ, तिरियलोओ अ। तत्थउड्ढलोगो सोहम्मीसाणाइया दुवालसदेवलोगा;

हिट्ठिमाइया नवगेविज्जा विजयाईणि पंचाणुत्तरमाईणि।
एएसु विमाणाणि पत्तेयं–
''वत्तीसऽट्ठावीसा, बारसगं चउरो य सयसहस्सा।
आरेण बंभलोगा, विमाणसंखा भवे एसा।।
पंचासचत्तछच्चे–व सहस्सा लंतसुक्कसहसारे।
सयचउरो आणयपा–णएसु तिन्नारणच्चुयए।।
सक्कारसत्तरं हि–ट्ठिमेसु सत्तुतरं च मज्झिमए।
सयमेयं उवरिमए, पंचेव य अणुत्तरविमाणा।।
सव्वग्गचुलसिसयसह–ससत्तणउई भवे सहस्साइं।
तेवीसं च विमाणा, विमाणसंखा भवे एसा''।।
तहा अहोलोए मेरुस्स उत्तरदाहिणओ असुराइआ दस निकाया। तेसु वि भवणसंखा–
''सत्तेव य कोडीओ, हवंति बावत्तरि सयसहस्सं।
जावंति विमाणाइं, सिद्धायतणाइ तावंति''।।
तहा तिरियलोगो, तत्थ जिनायतनानि–
''नंदिसरे बावन्ना, जिणहरा सुरगिरीसु तह असीई।
कुंडलनगमणुसुत्तर–रूअगवलएसु चउ चउरो।।
उसुयारेसु चत्तारि, असीइ वक्खारपव्वयेसु तहा।
वेयड्ढे सत्तरिसय, तीसं वासहरसेलेसु।।
वीसं गयदंतेसू, दसजिणभवणाइ कुरुनगवरेसुं।
एवं च तिरियलोए, अडवण्णा हुंति सयचउरो।।
वंतरजोइसिआणं, असंखसंखा जिनालयाइं वा।
गामागरनगराइं, एएसु कया बहू संति।।
एयं च सासयासा–सयाइँ वंदामि चेइआइं ति।
इत्थ पदेसम्मि ठिओ, संता तत्थ प्पदेसम्मि''।।
इति समस्तद्रव्यार्हद्वन्दनादिवेदकगाथासमसार्थः।

अत्र जिनप्रतिमानां यद् द्रव्यार्हत्वमुक्तं, तद्भावाऽर्हत्परिज्ञानहेतुमतामधिकृत्य, अन्यथा तासां स्थापनाजिनत्वात्। कश्चिदाह–एतत् श्रावकप्रतिक्रमणसूत्रं न गणधरकृतं, किं तु श्रावककृतम्। तत्रापि ''तस्स धम्मस्स'' इत्यादिगाथादशकं केनचिदर्वाचीनेन क्षिप्तमित्यादि निर्बीजम्, सहसाऽज्ञातकथने तीर्थकरादीनां महाशातनाप्रसङ्गात्। न हि क्वाप्येतत्सूचकं प्रवचनमुपलभामहे। न चाविच्छिन्नपरम्परागत–वृद्धवचनमीदृक् केनचित् श्रुतम्, किं तु यस्य सूत्रादेः कर्तृनाम न ज्ञायते, प्रवचने च सर्वसंमतं यत्तत्कर्त्ता सुधर्मस्वाम्येवेति वृद्धवादः। भणितं च तथा विचारामृतसंग्रहेऽपि–''नियदव्वेण कयासुं, जिणिंदभवणविंबवरपइट्ठासु। वियरइपसत्थपुत्थयसुतित्थतित्थयरपूजासुं''।।१।। इति। भक्तप्रकीर्णके–''संवच्छरचाउम्मासिएसु अट्ठाहिआसु अ विहीसुं। अच्चायरेण लग्गइ, जिणिंदपूआ तवगुणेसु।।''इत्यादि। किं बहुना उपदेशमालायाम्–''वाक्येनावगृहीतसंगतनृणां वाच्यार्थवैशिष्ट्यतः,
सद्बोधं प्रतिमाः सृजन्ति तदिमा ज्ञेयाः प्रमाणं स्वतः।
तत्तत्कर्मनियोगभृत्परिकरैः सेव्याः परोपस्करै–
रेता एव ही राजलक्षणभृतो राजन्ति नाकेष्वपि।।१।।'' प्रति०।

तथा च–

तत्थ णं देवच्छंदए अट्ठसयं जिणपडिमाणं जिणुस्सेहप्पमाणमित्ताणं संनिक्खित्तं चिट्ठति, तासि णं जिणपमिमाणं अयमेयारूवे वण्णावासे पन्नत्ते। तं जहा–तवणिज्जमया हत्थतला पायतला अंकामयाइं नखाइं अंतो लोहियक्खपडिसेयाइं कणगामया पाया कणगामया गोफा कणगामईओ जंघाओ कणगामया जाणू कणगामया ऊरूकणगामईओ गायलट्ठीओ तवणिज्जमईओ नाभीओ रिट्ठमईओ रोमराजीओ तवणि–ज्जमया चूचुआ तवणिज्जमयसिरिवच्छा कणगामईओ गीवाओ कणगामईओ बाहाओ रिट्ठामए मंसू सिलप्पवालमया ओट्ठा फलिहम–या दंता तवणिज्जमईओ जीहाओ तवणिज्जमया तालुआ कणगमईओ नासाओ अंतो लोहियक्खपडिसेयाओ अंकामयाइं अच्छीणि अंतो लोहियक्खपरिसेइआइं पुलकमईओ दिट्ठीओ रिट्ठामईओ तारगाओ रिट्ठामयाइं अच्छिपत्ताइं रिट्ठामईओ भमुहा ओकणगामया कवोला कणगामया सवणा कणगामया णिडाला वइरामईओ सीसघडीओ तवणिज्जमईओ केसंतकेसभूमीओ रिट्ठायया उवरि मुध्दया, तासि णं जिणपडिमाणं पच्छिओ पत्तेयं पत्तेयं छत्तधारगपडिमाओपण्णत्ताओ, ताओ णं छत्तधारपडिमाओ हिमरययकुं ददुप्पगासाइं कोरिंटमल्लदामाइं धवलाइं आतपत्ताइं सलीलं ओहारेमाणीओ ओहारेमाणीओ चिट्ठंति, तासि णं जिणपडिमाणं उभओ पासिं पत्तेयं पत्तेयं चामरधारगपडिमाओ पण्णत्ताओताओ णं चामरधरगपडिमाओ चंदप्पहवेरुलियनाणामणिकणगरयणविमलमहरिहतवणिज्जलविचित्तदंडाओ चिल्लियाओ संखंककुंददगरयअमयमहितएफेण–पुंजसंनिकासाओ सुहुमरययदीहवालाओ धवलाओ चामराओ सलीलंओहारेमणीओ २ चिट्ठंति। तासि णं जिणपाडिमाणंपुरओ दो नागपडिमाओ जक्खपडिमाओ भूतपडिमाओ कुंडधारपडिमाओ विणओणयाओ पंजलिपुडाओ (पायवडियाओ) सन्निक्खित्ताओ चिट्ठंति। सव्वरययामईओ अच्छाओ सण्हाओ लण्हाओ घट्ठाओ मट्ठाओ नीरयाओ णिप्पंकाओ जाव पडिरुवओ, तासि णंजिणप–डिमाणं पुरओ अट्ठसयं घंटाणं अट्ठसयं चंदणकलसाणं अट्ठसयं भिंगारगाणं थालणं णायंसगाणं पातीणं सुपइट्ठगाणं मणगुलियाणं वायकरगाणं वित्तारयणकरंडगाणंहयकंठाणं० जाव उसभकंठगाणं पुप्फचंगेरीणं० जावलोमहत्थचंगेरीणं पुप्फपडलगाणं अट्ठसयं तेलसमुग्गाणं०जाव धूवकडुच्छुगाणं संनिक्खित्तं चिट्ठंति। जी० ३ प्रति०।

तत्थ णं जे से उवरिमविडिमग्गसाले एत्थ णं एगे महंसिद्धायतणे पण्णतेकोसं आयामेणं, अद्धकोसं विक्खंभेणं, देसूणं कोसं उड्ढं उच्चत्तेणं अणेगसतसन्निविट्ठे, वण्णओ तिदिसिं तओ दारा पंचधणुसता अट्ठाइज्जधणुसयं विक्खंभेणं मणिपेढिया पंचधणुसतिया देवछंदओ पंचधणुसतविक्खंभो सातिरेगं पंचधणुसयं उड्ढं उच्चत्तेणं, तत्थ णंदेवच्छंइए अट्ठसयं जिणपडिमापणं जिणुस्सेहप्पमाणाणं एवं

सव्वसिद्धाययणवत्तव्वया भाणियव्वा० जाव धूवकडुच्छुयाउत्ति पागारा सोलसविहेहिं रयणेहिं उवेए तहेव।।

(जी० ३ प्रति०) अष्टशतं ध्वजानामित्यादि। एवंविधराजचिह्नयुक्तो–चितव्यापारनियुक्तनागादिप्रतिमासेव्यमानाः चङ्गेर्यादिपूजोपकरणसमन्विताश्च प्रतिमाः शाश्वतभावेन स्वत एवात्मनो जगत्पूज्यत्वं ख्यापयन्ति, अन्यथा तथाविधचिह्नापेतत्वासंभवात्। एवं विधव्यतिकरमाकर्ण्याऽपि ये जिनप्रतिमामाराध्यत्वेन नाङ्गीकुर्वते ते क्लिष्टकर्मोदयवन्तो मन्तव्याः। न चैवं परिवारोपेताः शाश्वतप्रतिमाः भवन्तीति नान्या इति वाच्यम्। अष्टपदाऽद्रौ भरतकारितानामृषभादिवर्द्धमानान्तानां चतुर्विंशतेरपि जिनप्रतिमानां तथा परिवारोपेतत्वात्, जीवाभिगमोक्तात् 'परिवारयुक्ताः' इति वचनात्। किं च–देवलोकादावपि ''जेणेव देवच्छंदए'' इत्यागमाज्जिनप्रतिमानां त एव शाश्वतभावेन देवशब्दवाच्याः सन्ति, न तथाऽन्यतीर्थिकाभिमतशब्दवाच्याः तेषां देवानामतथात्वात्।

''देवाधिदेवप्रतिमाःप्रभुत्वं, स्वतः प्रतिष्ठोपममाश्रयन्ति।
शङ्कामतिस्थाप्य गतो विशेषो, न स्थापनायाः किमु निर्विपक्षः''॥

अथ स्तवपरिज्ञाया प्रथमदेशनादेशितो,
गुरोर्गरिमसारया स्तवविधिः परिष्ठूयते।
इदं खलु समीहितं सरसदृष्टिवादादितः,
श्रुतेर्विरतमुत्तमं समयवेदिभिर्भण्यते'' ॥२॥ प्रति०

(अत्र स्तवपरिज्ञा टीकाकृता दर्शिता, तामहमन्ते दर्शयिष्यामि)

सर्वलुम्पकमतमुपसंहरन्नाह–

इत्येवं शुचिसूत्रवृन्दविदिता निर्युक्तिभाष्यादिभिः,
सन्न्यायेन समर्थिता च भगवन्मूर्तिः प्रमाणं सताम्।
युक्तिस्त्वन्धपरम्पराश्रयहता मा जाघटीद्दुर्धिया–
मेतद्दर्शनवञ्चिता दृगपि किं शून्येव न भ्राम्यति?, ॥६७॥

इत्येवं उक्तरीत्या, शुचिना निर्दोषेण, सूत्रवृन्देन विदिता, निर्युक्तिनाप्यादिभिः, आदिना चूर्णिवृत्तिसर्वोत्तमप्रकरणपरिग्रहः। सन्न्यायेन सद्युक्त्या च, समर्थिता निष्कलङ्कनिश्चयविषयीकृता, भगवन्मूर्तिः, सतां शिष्टानां प्रमाणमाराध्यत्वादिना, युक्तिस्तु दुष्टबुद्धीनामन्धपरम्पराऽऽश्रयणीयेत्यभ्युपगमरूपा, तया हता सती, मा जाघटीत् मा सुतरां घटिष्ट, युक्तिनिरासपरम्परायां युक्तिग्रहणस्यानुपपत्तित्वात्। एतद्दर्शनेन भगवन्मूर्तिदर्शनेन, वञ्चिता दृगपि दृष्टिरपि, किं शून्येव न भ्राम्यति? अपि तु भ्राम्यतीति।

''तिलकयुतललाटभ्राजमानाः स्वभाग्या–
ङ्कुरमिव समुदीतं दर्शयन्ते जनानाम्।
स्फुरदगुरुसुमालासौरभोद्गारसाराः,
कृतजिनवरपूजा देवरूपा महेभ्याः ॥१॥
आनन्दमान्तरमुदारमुदाहरन्ती,
रोमञ्चिते वपुषि सस्पृहमुल्लसन्ती।
पुंसां प्रकाशयति पुण्यरमासमाधि–
सौभाग्यमर्चनकृतां निभृता दृगेव॥२॥
स्पृशति तिलकशून्यं नैव लक्ष्मीर्ललाटं,
मृतसुकृतमिव श्रीः शौचसंस्कारहीनम्।
अकलितभजनानां वल्कलान्येव वस्त्रा–
ण्यपि च शिरसि शुक्लं छत्रमप्युग्रभारः ॥३॥
अकृतार्हत्प्रपूजस्य, तस्करस्येव लोचने।
शोचनेनैव संस्पृष्टे, गुप्तपातकशङ्किते ॥४॥''

(२०) अनुपकारे कथं फलदत्वं प्रतिमायाः–

प्राप्या नूनमुपक्रिया प्रतिमया नो काऽपि पूजाकृता,
चैतन्येन विहीनया तत इयं व्यर्थेति मिथ्यामतिः।
पूजा भावत एव देवमणिवत् सा पूजिता शर्मदे–
त्येतत्तन्मतगर्वपर्वतभिदावज्रं बुधानां वचः ॥६८॥

''प्राप्या नूनमुपक्रिया'' इत्यादि सर्वमवगतार्थम्।

''एवं युक्त्या शंभोर्भक्त्या सूत्रे व्यक्ता लुम्पाका–
श्चित्तोद्रिक्ता मायासिक्ताः क्लृप्तारिक्ताः किम्पाकाः।
एतत्पुण्यं शिष्टैर्गुण्यं निर्वैगुण्यं सद्बोधै–
स्तत्त्वं बोध्यं नीत्या शोध्यं नैवायोध्यं निःक्रोधैः ॥१॥
आत्मारामे शुक्लाश्यामे हृद्विश्रामे विश्रान्ता–
स्त्रुट्यद्बन्धाः श्रयःसन्धाश्चित्संबन्धादभ्रान्ताः।
अर्हद्भक्ता युक्तौ रक्ता विद्याऽऽसक्ता येऽधीता–
निष्ठा तेषामुच्चैरेषा तर्कोल्लेखा निर्णीता ॥२॥'' प्रति०। द्वा। षो०।

(नमस्कारशब्दे फलप्रयोजनोपदर्शनाऽवसरे व्याख्यास्यते) अविधिकृतत्वेऽपि तृषोदन्वदनुसारिणो मतमुपन्यस्य दूषयति

वन्ध्याऽस्तु प्रतिमा तथापि विधिना सा कारिता मृग्यते,
स प्रायो विरलस्तथा च सकलं स्यादिन्द्रजालोपमम्।
हन्तैवं यतिधर्मपौषधमुखश्राद्धक्रियादेर्विधे–
र्दार्लभ्येन तदस्ति किं तव न यत् स्यादिन्द्रजालोपमम्।६९।

ननु प्रतिमा वन्ध्याऽस्तु, उक्ताक्षरशतैस्तथाव्यवस्थितेः, तथापि सा विधिना कारिता मृग्यते, सम्यग्भावितानामेव प्रतिमानां भावग्रामत्वेनाभिधानात्स विधिः प्रायो विरलः ऐदंयुगीनानां प्रायोऽविधिप्रवृत्तत्वस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वात्। तथा च सकलं प्रतिमागतं पूजाप्रतिष्ठावन्दनादिकम्, इन्द्रजालोपमं स्यात्, महतोऽप्याडम्बरस्यासत्यालम्बनत्वात्। हन्तेति प्रत्यवधारणे। एवं प्रतिमावदेव, यतिधर्मश्चारित्राचारः, पौषधः श्राद्धानां पर्वदिनानुष्ठानं, तन्मुखा तदादिर्या श्राद्धक्रिया, तदादेर्यो विधिः, आदिनाऽपुनर्बन्धकाद्युचिताचारपरिग्रहः। तस्य, दुःषमायां दुर्लभत्वेन तत्किमस्ति यच्चेन्द्रजालोपमं न स्यात्?, न्यायस्य समानत्वात्। न चेयं प्रतिवन्दिः, सा च कर्त्रनुकूलपरिवारसम्पत्तिराराधनात्मभैव समानसौलभ्यस्य विवक्षितत्वात् ॥६९॥

तदाह–

योगाराधनशंसनैरथ विधेर्दोषः क्रियायां न चेत्,
तत् किं न प्रतिमास्थलेऽपि सदृशं प्रत्यक्षमुद्वीच्यते।
किं चोक्ता गुरुकारितादिविषयं त्यक्त्वाऽऽग्रहं भक्तितः,
सर्वत्राऽप्यविशेषतः कृतिवरैः पूज्याऽऽकृतेः पूज्यता ॥७०॥

(योगेत्यादि) योगो विधिः कर्त्रनुकूलपरिवारसंपत्तिः, आराधनमात्मनैव निर्वाहः, शंसनं च बहुमानमुपलक्षणत्वाद् द्वेषश्च, तैः, विधेः, अथ क्रियायां चेद् न दोषः, तत्किं योगादिनाऽदुष्टत्वं प्रतिमास्थलेऽपि सदृशं नोद्वीक्ष्यते?, उद्विक्षणीयमिदमपि।

तदुक्तम्–

''विहिसारं चिय सेवइ, सद्धालुसचित्तमं अणुट्ठाणं।
दव्वाइदोसनिहओ, विपक्खबुद्धाय वहइ तम्मि ॥१॥

धन्नाणं विहिजोगो, विहिपक्खारागा **सया** धन्ना।
विहिबहुमाणी धन्ना, विहिपक्खअदूसगा धन्ना ॥२॥
भवसिद्धिआण विहिणा, परिणामो होइ समकालं।
विहिवाओऽविहिभत्ती, अभव्वजियदूरभव्वाणं ॥३॥

सर्वत्र सम्यग्विधिर्ज्ञेयः कार्यश्च सर्वशक्त्या पूजादिपुण्यक्रियायां, प्रान्ते च सर्वत्राविध्याशातनानिमित्तं मिथ्यादुष्कृतं दातव्यमिति श्राद्धविधौ विधिभक्त्युपयोगादिसाचिव्ये, देवपूजादिकममृतानुष्ठानमेव, ततो विध्यद्वेषस्यापि सत्त्वे प्रथमयोगाङ्ग संपत्त्यनुबन्धतो विधिरागसाम्राज्ये– ''एतद्रागादिदं हेतुश्रेष्ठं योगविदो विदुः'' इति च तद्वदनुष्ठानरूपं, तत् द्वयमपि चादेयं भवति, विषगरानुष्ठानानामेव हेयत्वादित्यध्यात्म-चिन्तात्मकाः। अत एव भोगानाभोगाभ्यां द्रव्यस्तवस्य यद्वैविध्यमुक्तं तान्त्रिकैस्तदुपपद्यते। यदाहुः–

''देवगुणपरिण्णाणा, तब्भावाणुगयमुत्तमं विहिणा।
आयरसाइं जिणपू–अणेण आभोगदव्वथओ ॥१॥
एत्तो चरित्तलाभो, होइ लहू सयलकम्मणिद्दलणो।
ता एत्थ सम्ममेव हि, पयट्टिअव्वं सुदिट्ठीहिं ॥२॥
पूआविहिविरहाओ, अपरिन्नाणाउ जिणगयगुणाणं।
सुहपरिणामकयत्ता, एसोऽणाभोगदव्वथओ ॥३॥
गुणठाणठाणगत्ता, एसो एवं पि गुणकरो चेव।
सुहसुहयरभावाओ, विसुद्धिहेऊ उ वोहीओ ॥४॥
असुहच्चएण धणियं, धन्नाणं आगमे सि भद्दाणं।
असुणिय गुणे वि तूणं, विसएऽपीई समुच्छलइ ॥५॥
यथा शुकमिथुनस्यार्हद्विम्बे।
होइ पओसो विसएऽगुरूकम्माणं भवातिणीदाणं।
पत्थम्मि आउराण व, उवट्ठिए निच्छिए मरणे ॥६॥
एत्तो चिय धम्मन्नू, जिणबिंबे जिणवरिंदधम्मे वा।
असुहज्झासभयाओ, पओसलेसं पि वज्जंति'' ॥७॥

परजिनद्वेषे शकुन्तलाज्ञातम्। अभ्युदयमाह– किं च गुरुकारिता–दिविषयम् आग्रहं त्यक्त्वा भक्तितो भक्तिमात्रेण, सर्वत्राऽपि चैत्येऽविशेषतो विशेषौदासीन्येन कृतवरैर्मुख्यपण्डितैः पूज्याकृतेः भगवत्प्रतिमायाः, पूज्यतोक्ता, कालाद्यालम्बनेनेत्थमेव बोधिसौ–लभ्योपपत्तेः। तथा च श्राद्धविधिपाठे प्रतिमाश्च विविधाः, तत्पूजाविधौ सम्यक्त्वप्रकरणे इत्युक्तम्–

''गुरुकारियाएँ केई, अन्ने सयकारियाएँ तं विंति।
विहिकारियाएँ अन्ने, पडिमाए पूअणविहाणं'' ॥१॥

व्याख्या–गुरवो मातृपितृपितामहार्हदादयस्तैः कारितायाः केचित्, अन्ये स्वयं कारितायाः, विधिकारितायास्त्वन्ये प्रतिमायाः, तत्पूर्वाभिहितं पूजाविधानं ब्रुवन्ति। कर्त्तव्यमिति शेषः। अथवाऽव–स्थितपक्षस्तु–गुर्वादिकृतस्यानुपयोगित्वाग्रहरहितेन सर्वप्रतिमा अविशेषेण पूजनीयाः, सर्वत्र तीर्थकृताकारोपलम्भनबुद्धे रुपजाय–मानत्वात्। अन्यथा हि स्वाग्रहवशादर्हद्बिम्बेऽप्यवज्ञामाचरतो दुरन्तसंसारपरिभ्रमणलक्षणो बलाद् दण्डः समाढौकते। न चैवम्, अविधिकृतामपि पूजयतस्तदनुमतिद्वारेणाज्ञाभङ्गलक्षणदोषोपपत्तिः, आगमप्रामाण्यात्। तथाहि श्रीकल्पभाष्ये–

''निस्सकडमनिस्सकडे, अ चेइए सव्वहिं थुई तिन्नि।
वेलं च चेइआइँ य, णाउं इक्किक्कया वावि ॥१॥''

निश्राकृते गच्छप्रतिबद्धे, अनिश्राकृते च तद्विपरीते चैत्ये, सर्वत्र तिस्रः स्तुतयो दीयन्ते। तत्र प्रतिचैत्यं स्तुतित्रये दीयमाने वेलाया अतिक्रमो भवति, भूयांसि वा तत्र चैत्यानि, ततो वेलां चैत्यानि वा ज्ञात्वा प्रतिचैत्यमेकैकाऽपि स्तुतिर्दातव्येति। अत्रावस्थितपक्षो यद्यप्युत्सर्गतो विधिकारितत्वमेव, गुरुकारितस्वयंकारितयोर्द्वयोरपि तद्विशेषरूप–योरेवोपभ्यासात्। अत एव विषयविशेषे पक्षपातोल्लसद्वीर्यवृद्धि–हेतुभूततया तदन्यथात्वे त्रयाणामपि पक्षाणां भजनीयत्वमुक्तं विंशति–काप्रकरणे हरिभद्रसूरिभिः। तथाहि– ''रंगाइ सोवओआ, साहरणाणं च इट्ठफला। किंचि विसेसेणित्ते, सव्वे चिय ते विभइयव्वा'' ॥१॥ त्ति। विधिकारितसंपन्नापवादस्त्वाकारसौष्ठवमवलम्ब्य मनःप्रसत्तिरा–पादनीया, न चैवमविध्यनुमतिः अपवादालम्बनेन तन्निरासात्, क्रम–देशनायां स्थावरहिंसाननुमतिवत् भक्तिव्यापारप्रदर्शने दोषोप–स्थितिप्रतिरोधाद्वा काव्यव्यक्तिप्रदर्शनेन शास्त्रस्थितिः। अत एवोक्तं व्यवहारभाष्ये–''लक्खणजुत्ता पडिमा, पासाइठिआ सरस्सतंकारा। पल्हायइ जह य मणं, तह णिज्जरमो विआणाहि ॥१॥'' त्ति ॥७०॥

चैत्यानां पूजासत्कारादिस्तुतयः–

इज्यादेर्न च तस्या–उपकारः कश्चिदत्र मुख्य इति।
तदतत्त्वकल्पनैषा, बालक्रीडासमा भवति ॥७॥

इज्या पूजा, तदादेः सत्काराभरणस्नात्रादेः, न च नैव, तस्या देवतायाः प्रस्तुतायाः, उपकारः सुखानुभवसंपादनलक्षणः, कश्चिदत्र मुख्य इति। न कश्चिन्निरुपचरितो मुख्यदेवताया उपकारः संभवति। तत्तस्मा–दतत्त्वकल्पनैषाऽपरमार्थकल्पनैषा मुक्तिगतदेवतोपकारविषया, बालक्रीडासमा भवति बालक्रीडया तुल्येयं वर्त्तते। यथा बालो नानाविधैरुपायैः क्रीडासुखमनुभवति तथा तदुपकारार्थमिष्यमाणैः पूजासत्कारादिभिर्देवताविशेषोऽपि परितोषमनु–भवतीति। बालक्रीडातुल्यत्वमुपकारपक्षे दोषः, ये त्वात्मश्रेयोऽर्थं कुर्वते पूजासत्कारादि, न तेषामयं दोषो भवतीति भावः ॥७॥ षो० ८ विव०।

एतत्सर्वं मनसिकृत्याह–

चैत्यानां खलु निश्रितेतरया भेदोऽपि तन्त्रे स्मृतः,
प्रत्येकं लघुवृद्धवन्दनविधिः साम्ये तु यत्सांप्रतम्।
इच्छांकल्पितदूषणेन भजनासङ्कोचनं सर्वतः,
स्वाऽभीष्टस्य च वन्दनं तदपि किं शास्त्रार्थबोधोचितम् ॥७१॥

(चैत्यानामिति) खल्विति निश्चये, चैत्यानां निश्रितेतरतया निश्रितानिश्रितवान् भेदोऽपि तन्त्रे शास्त्रे प्रत्येकं लघुवृद्धवन्दनविधिः स्मृतः, साम्ये तु प्रायस्तुल्यत्वे यत् सांप्रतं विषमदुःषमाकाले, इच्छाकल्पितं यद् दूषणमन्यगच्छीयत्वादिकं, तेन भजनायाः सेवा–यायाः, संकोचनं संक्षेपणं, बहुभिरंशैर्लुम्पकसमाने, नापर्यवसायि, स्वाभीष्टस्य स्वेच्छामात्रविषयस्य च, वन्दनम्, तदपि किं शास्त्रार्थ–बोधस्योचितम्?, नैवोचितम्, कतिपयमुग्धवणिग्धनमात्रफलत्वादिति भावः ॥७१॥

उक्तार्थं काकुव्यङ्गमेव कण्ठेन स्पष्टीकर्तुमाह–

चैत्यानां न हि लिङ्गिनामिव नतिर्गच्छान्तरस्योचिते–
त्येतावद्वचसैव मोहयति यो मुग्धान् जनानाग्रही।
तेनावश्यकमेव किं न ददृशे वैषम्यनिर्णायकं,
लिङ्गे च प्रतिमासु दोषगुणयोः सत्त्वादसत्त्वात्तथा ॥७२॥

(चैत्यानां न हिति) गच्छान्तरस्य चैत्यानां नतिर्नो चिता, केषामित्?, लिङ्गिनामिव, गच्छान्तरस्येति संबध्यते । अवयवद्वप्रदर्शनादत्र पञ्चावयवप्रयोग एवं कर्त्तव्यः गच्छान्तरीया प्रतिमा न वन्दनीया, गच्छान्तरपरिगृहीतत्वात्, यो यो गच्छान्तरपरिगृहीतः स स अवन्दनीयः, यथा अन्यगच्छसाधुरिति । एतद्वचसैव यः मृग्धान् जनान् मोहयति विपर्यासयतिप्रमाणपाठिभिरस्मद्गुरूभिर्यदुक्तं तत् सत्यमिति । यः किदृशः?, आग्रही अभिनिवेशमिथ्यात्ववान्,तेन किमावश्यकनिर्युक्त्याख्यशास्त्रमेव न ददृशे न दृष्टम्, कीदृशं तत्?, लिङ्गे च दोषगुणयोः सत्त्वात् तथा प्रतिमासु तयोरसत्त्वाद्वैषम्यनिश्चायकं वैसदृश्यनिर्णयकारि, लिङ्ग इत्यत्र व्यञ्जकत्वाख्यविषयत्वे सप्तमी । अत्राह–मोक्षोपसमाधानग्रन्थ आवश्यके एवमुपपद्यते, तद्विहारिगते विधौ प्रतिपादिते सत्याह चोदकः–किमनने पर्यायान्वेषणेन, सर्वथा भावशुद्ध्या कर्मापनयनाय जिनप्रणीतलिङ्गमेव युक्तं, तद्गतगुणविचारस्य निष्फलत्वात् । न हि तद्गतगुणप्रभावान्नमस्कर्तुर्निर्जरा, अपि त्वात्मीयाध्यात्मशुद्धिप्रभवा। प्रति० ।

(तथाहि ''तित्थयरगुणा पडिमा''(५८) आव० ३ अ० । इत्यादि 'किइकम्म'शब्देऽत्रैव भागे ५१६ पृष्ठे व्याख्यातम्)

उक्तमेव विवेचयन् वादिनो मुग्धतां दर्शयति–

लिङ्गे स्वप्रतिबद्धबुद्धिकलनाद्भाव्या भवेद्वन्द्यता,
सैकान्तात् प्रतिमासु भावभगवद्भूयोगुणोद्बोधनात ।
तुल्ये वस्तुनि पापकर्मरहिते भावोऽपि चारोप्यते,
कूटद्रव्यतया धृतेऽत्र न पुनर्मोहस्ततः कः सताम्? ॥७३॥

(लिङ्ग इति) लिङ्गे स्वप्रतिबद्धः स्वसंबन्धी यो धर्मः तद्बुद्धिकलनात् तद्धीस्मरणात् ''एकसंबन्धिज्ञानेऽपरसंबन्धिज्ञानस्य स्मारकत्वादिति सद्धर्मोपस्थितौ तदालम्बनतया विन्द्यतेत्यर्थः, तथाऽसद्धर्मोपस्थितौ च तदालम्बनतया निन्द्यतेत्यर्थः । प्रतिमासु सा सावद्यता एकान्तात्, कस्मात् ?, भावभगवत्संबन्धिनो ये भूयांसो गुणास्तेषामुद्बोधनात्, एकेन्द्रियदलनिष्पन्नत्वादेश्च बन्धगतस्य भगवत्कायगतौदारिकवर्गणनिष्पन्नत्वादेरिवानुद्भूतदोषस्याप्रयोजकत्वाद्गच्छान्तरीयसाधुवत्तादृशप्रतिमाया अवन्द्यत्वमित्यप्ययुक्तम्, तदध्यारोपविषयसद्भावात् । तदाह–तुल्ये वस्तुन्युभयाभावेनाकारसाम्यवति, पापकर्मरहिते सावद्यचेष्टारहिते, भावोऽपि गुणोऽप्यवाप्यते। अत्र वस्तुनि कूटद्रव्यतया धृते चारोप्यतेऽङ्गारमर्दक इव भावचार्यगुणः, तत्र कः सतां शिष्टानां मोहो, यदुत स्वगच्छीयैव प्रतिमा वन्द्येति, नान्या, अन्यसाधुवदिति । द्रव्ये हि कतिपयगुणवत्यपि संपूर्णगुणवदध्यारोपो युक्तः, प्रतिमायां त्वाकारसाम्येनेत्यागोपालाङ्गनाप्रतितत्वात् ॥७३॥

एवं सति प्रतिष्ठावैयर्थ्यमित्याशङ्क्य समाधत्ते–

नन्वेवं प्रतिमैकतां प्रवदतामिष्टा प्रतिष्ठाऽपि का,
सत्यं साऽऽत्मगतैव देवविषयोद्देशेन मुख्योदिता ।
यस्याः सा वचनानलेन परमा स्थाप्ये समापत्तितो,
दग्धे कर्ममले भवेत्कनकता जीवायसः सिध्दता ॥७४॥

(नन्वेवमित्यादि) ननु एवमाकारमात्रेण प्रतिमाया एकतां वन्द्यताप्रयोजिकां प्रवदतां युष्माकं प्रतिष्ठाऽपि का इष्टा?, न काचिदिति, तद्विधिवैयर्थ्यं स्यादिति। अत्रोत्तरम्–सत्यं, सा प्रतिष्ठा, देवविषयोद्देशेन आत्मगतैवाऽऽत्मनिष्ठैव, मुख्या उदिता प्रतिपादिता, विधिना जनितस्यात्मगतातिशयस्यादृष्टांशस्य पूजाफलप्रयोजकत्वात्, प्रतिष्ठाध्वंसेनैव तदन्यथासिद्धौ संस्कारध्वंसेनानुभवस्य दानादिध्वं सः । न चादृष्टस्य तदापत्तेर्देवतासान्निध्यमपि न फलम्, अहङ्कारममकारान्यतररूपस्य सान्निध्यस्य वीतरागदेवतानयेऽसंभवात्। न च चाण्डालादिस्पर्शनाश्या प्रतिष्ठाजनिता प्रतिमागता शक्तिरेव कल्पनीयेति, आत्मनिष्ठफलोद्देशेन क्रियमाणस्यात्मगतकिञ्चिदतिशयजनकत्वकल्पनाया एवौचित्यात् । अत एवाऽऽत्मगतातिशयस्य समानाधिकरणपापान्तिकमुक्तिफलकत्वमप्युपपते । तदा यस्याः प्रतिष्ठाया सकाशात्परमा सा प्रतिष्ठा, भवेत्स्यात्, किंस्वरूपा?, जीवायसो जीवरूपलोहस्य, सिद्धतारूपा कनकता, कस्याः?, स्थाप्ये परमात्मनि समापत्तितः समापत्तिमासाद्य, कस्मिन् सति?, कर्ममले दग्धे सति, केन?वचनानलेन नियोगवाक्यहुताशनेन ॥७४॥

नन्वेवमात्मनः प्रतिष्ठितत्वेऽपि प्रतिमाया अप्रतिष्ठितत्वं स्यात, प्रतिष्ठाकर्तृगतादृष्टक्षये प्रतिमायाः पूज्यताऽनापत्तिश्चेत्यत आह–

बिम्बेऽसावुपचारतो निजहृदो भावस्य संकीर्त्यते,
पूजा स्याद्विहिता विशिष्टफलदा द्राक् प्रत्यभिज्ञाय या ।
तेनास्यामधिकारिता गुणवतां शुद्धाऽऽशयस्फूर्त्तये,
वैगुण्ये तु ततः स्वतोऽप्युपनतादिष्टं प्रतिष्ठाफलम् ॥७५॥

बिम्बेऽसौ प्रतिष्ठा, निजहृदो निजहृदयसंबन्धिनो, भावस्याध्यवसायस्य, उपचारात्संकीर्त्यते प्रतिष्ठाजनिताऽऽत्मगता समापत्तिरेव स्वनिरूपकस्थाप्यालम्बनाध्यवसायसंबन्धेन प्रतिष्ठितत्वव्यवहारजननीत्यर्थः । या द्राक् शीघ्रं प्रत्यभिज्ञाय पूजा विहिता विशिष्टफलदा स्यात्, विशिष्टं फलामाकारमात्रालम्बनाध्यवसाफलातिशायि तथा, च प्रतिष्ठितविषयकं यथार्थं प्रत्यभिज्ञानमेव पूजाफलप्रयोजकमिति । तेनास्यां प्रतिष्ठायां, गुणवतां प्रशस्तगुणबतामधिकारिता, शुद्धस्य विशिष्टस्याशयस्य स्फूर्तये उपस्थितये, विशिष्टगुणवत्प्रतिष्ठितेयमिति प्रत्यभिज्ञाने विशिष्टाध्यवसायस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वात् । वैगुण्ये तु प्रतिष्ठाविधिसामग्र्यसंपत्तौ तु, प्रत्यभिज्ञनात् स्वतोऽपि उपनताद् बाह्यसामग्रीं विना मनसोऽप्युपस्थितात् प्रतिष्ठाफलम् इष्टम् । तदुक्तं विंशिकायाम्–

''थंमिल्ले वि हु एसा, मणवयणाए पसंसिया चेव।
आगासगोमयाइहि, पत्थवणाईहि सामग्गी'' ॥

स्थापना मनसि स्थापनं, यदुक्तं न्यायसमये–''यत् तु सम्यक्सिद्धानुस्मरणपूर्वकमसङ्गम्। उक्तं तत्स्थापनमिव, कर्त्तव्य स्थापनं मनसि'' ॥ इति, इत्थं च बाह्यकरणानुपपत्तौ, प्रतिष्ठाकर्तुर्गुणानां प्रायो दुर्लभत्वे वा, कटुकदिगम्बरप्रतिष्ठितद्रव्यालिङ्गद्रव्यनिष्पन्नव्यतिरिक्ताः सर्वा अपि प्रतिमा वन्दनीया इति वचनकलापस्य हेतुत्वान्न्यायविदस्त्रयानादरोऽपि कर्तृगतोत्कटदोषशब्दाशयापरिस्कृतेः । अत एव साधुवासक्षेपादवन्दनीयास्तिस्रोऽपि वन्दनीयतां नातिक्रामन्तीति सूरिचक्रवर्तिनां श्रीहरिनामधेयानामाज्ञातः शुद्धाशयस्फूर्तेरप्रतिहतत्वादिति दिग् ॥७५॥

एतनैव शङ्काशेषोऽपि निरस्त एवेत्याह–

चैत्येऽनायतनत्वमुक्तमथ यत्तीर्थान्तरीयग्रहात्,

तत्किं तन्ननु दुर्मतिग्रहवशाद् दुष्टं श्रयामीति चेत्।
साम्राज्ये घटमानमेवदखिलं चारित्रभाजां भवेत्,
पार्श्वस्यस्त्वसती सतीचरितवन्नो वक्तुमेतत् प्रभुः ॥७६॥

(चैत्येनेत्ति) अथ यत् यस्मात्कारणात्, तीर्थान्तरीस्य ग्रहः परिग्रहः, तस्मात्, अनायतनत्वमुक्तम्, ''नो कप्पइ अण्णउत्थियपरिग्गहिआइं अरिहंतचेइआइं वा'' इत्यादिना। तत्तर्हि, नन्वित्याक्षेपे, दुर्मतीनां दुर्बुद्धानां पार्श्वस्थादीनां, यो ग्रहः परिग्रहस्तद्वशाद् दुष्टं दोषवत् चैत्यं किं श्रयामि? अन्यतीर्थिकपरिग्रहवद्भ्रष्टाचारपरिग्रहस्याप्यनायतनत्वहेतुत्वादिति भावः। इति चेत एतदखिल त्वयोच्यमानं, चारित्रभाजां साम्राज्ये सम्राडभावे प्रवर्त्तमाने, घटमानं युक्तं भवेत्। तदोद्यतविधिभिरिति तर्जितसकलभयैराचार्यादिः पुरुषैः शुद्धाशुद्धविवेके क्रियमाणे विधिगुणपक्षपातस्य सर्वेषामसुकरत्वेन भावोल्लासस्यावश्यकत्वात्। आह–''जो जो उत्तममग्गो, पहओ सो दुक्करो न सेसाणं। आयरिअम्मि जयंते, तयणुचरा केणु सीअंति'' ॥१॥ इत्यादि। पार्श्वस्थस्य तु भावोल्लासस्यावश्यकत्वादाहपार्श्वस्थस्तु भवान् पार्श्वस्थमध्यवर्ती, एतत् निर्दिष्टम्, असती सतीचरितवत् सतीचरित्रवद्, नो वक्तुं प्रभुः, अशक्यस्य स्वकृतिसाध्यतोक्तावसतीयत्वप्रसङ्गात्, प्रायस्तुल्यत्वे एकतरपक्षपातेनेतरभक्तिसंकोचप्रद्वेषादिना महापातकप्रसङ्गात् ॥७६॥

उपसंहरति–

सर्वासु प्रतिमासु चाग्रहकृतं वैषम्यमीक्षामहे,
पूर्वाचार्यपरम्परागतगिरा शास्त्रीययुक्त्याऽपि च।
इत्थं चाविधिदोषतापदलनं शक्ता विधातुं विधि–
स्वैरोज्जागररागसागरविधुज्योत्स्त्रेव भक्तिप्रथा ॥७७॥

सर्वासु निश्रितानिश्रितादिभेदभिन्नासु प्रतिमासु, आग्रहकृतं स्वमत्योत्प्रेक्षितं, वैषम्यं विषमत्वम्, इक्षामहे प्रमाणयामः। तथा च सर्वत्र साम्यमेव प्रमाणयाम इति पर्यायोक्तम्। कया? पूर्वाचार्यपरम्परागतया गिरा, परम्परागमेनेत्यर्थः। शास्त्रीया या युक्तिस्तयाऽपि, च शब्देन तदुपजीविनाऽनुमानादिप्रमाणेनेत्यर्थः। भक्त्युल्लासप्राधान्येन चात्र विध्यनुमतिरनुत्थानोपहतेत्याह– इत्थं च एवं व्यवस्थिते चाविधिदोषतापस्य परितापकारिणो विध्यनुमोदनप्रसङ्गस्य, दलनं, विधातुं कर्तुं, विधौ विधाने, स्वैरोज्जागरो यथेच्छप्रवृत्तिमान्, राग एव सागरः, तत्र विधुज्योत्स्नेव चन्द्रचन्द्रिकेव, भक्तिप्रथा शक्ता समर्था ॥७७॥

उपस्थिता भक्त्या प्रणुन्न इव भगवत्प्रतिमामेवाभिष्टौति–

उत्फुल्लामिव मालतीं मधुकरो रेवामिवेभः प्रियां,
माकन्ददुममञ्जरीमिव पिकः सौदर्यभाजं मधौ।
नन्दच्चन्दनचारुनन्दनवनीभूमीमिव द्योःपति–
स्तीर्थेशप्रतिमां न हि क्षणमपि स्वान्ताद्विमुञ्चाम्यहम् ॥७८॥

(उत्फुल्लामिति) अहं तीर्थेशप्रतिमां क्षणमपि स्वान्ताद् न विमुञ्चामि न त्यजामि, किं तु विषयान्तरसंचारविरहेण सदा ध्यायामीति ध्वन्यते। कां का इव?, उत्फुल्लां मालतीं मधुकर इव, भ्रमर एव हि मालतीगुणज्ञः, तदसंपत्तावपि तत्पक्षपातं न परित्यजति, तथा प्रियां मनोहारिणीं रेवामिवेभो हस्ती, तस्य तद्वतक्रीडयैव रत्युत्पत्तेः। तथा माकन्ददुममञ्जरीं सहकारतरुमञ्जरीं, कीदृशीम्?, मधौ वसन्ते सौन्दर्यं भजतीत्येवं शीलां, तां, पिक इव कोकिल इव, सहकारमञ्जरीकषायकण्ठः कलकाकलीकलकलैर्मदयति च यूनां मन इति। तथा द्योः पतिरिन्द्रः, नन्दच्चन्दनैश्चार्वी नन्दनवनीभूमिमिव, स हि प्रियाविरहतापं तच्चारित्रचमत्कारदर्शनाद्विस्मरतीति। अत्र रसनोपमाऽलङ्कारः ॥७८॥

जैनी मूर्तिरुपास्यताम्–

मोहोद्दामदवानलप्रशमने पाथोदवृष्टिः शम–
स्रोतोनिर्झरणी समीहितविधौ कल्पद्रुवल्लिः सताम्।
संसारप्रबलान्धकारमथने मार्त्तण्डचण्डद्युति–
र्जैनी मूर्तिरुपास्यतां शिवसुखे भव्याः! पिपासाऽस्ति चेत् ७९

(मोहोद्दामेति) मोह एव य उद्दामो दवानलः, तस्य प्रशमने शान्तिकर्मणि, पाथोदवृष्टिः वारिदधारासंपातः, सकलप्लोषकशमनत्वात्। तथा शमतारूपप्रवाहस्य निर्झरणी नदी, एवं समीहितस्य वाञ्छितस्य, विधौ विधाने, सतां शिष्टानां, कल्पद्रुवल्लिः सुरतरुलता, अविलम्बेन सर्वासिद्धिकरत्वात्। तथा संसार एव यः प्रबलान्धकार उत्कटं तमः, तस्य मथनेऽपनयने, मार्त्तण्डस्य सूर्यस्य, चण्डद्युतिस्तीव्रप्रभा, विवेकसरतारुण्ये मोहच्छायाया अप्यनुपलम्भात्। एतादृशी जैनी जिनसंबन्धिनी मूर्तिः, उपास्यतां सेव्यतां, भो भव्याः! शिवसुखे मुक्तिशर्मणि, यदि वः युष्माकं, पिपासोत्कटेच्छाऽस्ति। रूपकमलङ्कारः ॥७९॥

(२२) द्रव्यस्तवे मिश्रपक्षत्वविचारः। एवं वृत्तद्वयेन भगवन्मूर्तिं स्तुत्वा वादान्तरमारभते–

श्राद्धेन स्वजनुःफले जिनमतात्सारं गृहित्वाऽखिलं,
त्रैलोक्याधिपपूजने कलुषता मोक्षार्थिना मुच्यताम्।
धृत्वा धर्मधियं विशुद्धमनसा द्रव्यस्तवे त्यज्यतां,
मिश्रोऽसाविति लम्बितः पथि परैः पाशोऽपि चाशोभनः ॥८०॥

(श्राद्धेनेति) श्राद्धेन श्रद्धावता, जिनमतात् जैनप्रवचनात्, सारं तात्पर्यमखिलं गृहीत्वा त्रैलोक्याधिपस्य त्रिजगतोऽधिकरक्षितुः, अत एव सर्वाराध्यत्वात् पूजने, कीदृशे?, स्वजनुषो मनुजावतारस्य फले, मोक्षार्थिना सता, कलुषता कल्मषता, मुच्यतां त्यज्यतां, तथा द्रव्यस्तवे धर्माधियं धर्मत्वबुद्धिं धृत्वा, विशुद्धेन मनसा, मिश्रो धर्माधर्मोभयरूपोऽसौ द्रव्यस्तव इति पररैन्यमतिभिः, पथि मार्गे, लम्बितोऽशोभनः पाशोऽपि त्यज्यतां, पाशचन्द्राभ्युपगमस्य पाशत्वेनाध्यवसानं मुग्धजनमृगपातनद्रव्यमभिव्यनक्ति ॥८०॥

भावेन क्रिययो तयोर्न तु तयोर्मिश्रत्ववादे चतु–
र्भङ्ग्यां नादिम एकदाऽनभिमतं येनोपयोगद्वयम्।
भावो धर्मगतः क्रियेतरगतेत्यल्पो द्वितीयः पुन–
र्भावादेव शुभात् क्रियागतरजोहेतुस्वरूपक्षयात् ॥८१॥

उक्तमिश्रत्ववादे चतुर्भङ्ग्यां भङ्गीचतुष्टये, आदिमः पक्षो, भावेन भावस्य मिश्रत्वाकारो न घटते, कुतः?, येन एकदा उपयोगद्वयम् अनभिमतम् अनिष्टम्, द्रव्यस्तवारम्भोपयोगयोर्*यौगपद्याभावान्न भावयोर्मिश्रत्वम्। अमारम्भे हि यत्नान्तरम्भे* उपयुज्यते, स्थैर्यातिचारयोरप्येकदाऽभावादिति सूक्ष्मदृष्ट्या–

भावनीयम्। भावो धर्मगतः, क्रियेतरगताऽधर्मगता, इत्यपि द्वितीयः पुनर्भङ्गोऽल्पः, अक्षोदक्षम इत्यर्थः। कुतः?, शुभाद्भावादेव, कियागतं यद्रजेहितुस्वरूपं अशुभभावद्वारकत्वं, तस्य क्षयात्। क्रिया ह्यशुभभाव–द्वाराऽधर्मस्य, शुभावद्वारा धर्मस्य कारणम, न च स्वरूपतः ॥८१॥

द्वितीयपक्षाभ्युपगम एव वादिनामिष्टापत्तिमाह–

वाहिन्युत्तरणादिके परपदे चारित्रिणामन्यथा,
स्वान्मिश्रत्वमपापभावमिलितां पापक्रियां तन्वताम्।
किञ्चाऽऽकेवलिनं विचार्य समये द्रव्याश्रयं भाषितं,
शुद्धं धर्ममपश्यतस्तनुधियः शोकः कथं गच्छति? ॥८२॥

(वाहिनीत्यादि) अन्यथोक्तानभ्युपनमस्वरूपत एवाश्रवत्वाभि–मतस्याधर्मे चोक्तयैक्यादिति, उत्तरणादिके नद्युत्तारप्रमुखे, परपदेऽप-वादमार्गे, चारित्रिणां भावसाधूनाम्, अपापो धर्मैकस्वभावो यो भावः पुष्टालम्बनाध्यवसायः, तेन मिलितां पापक्रियां नद्युत्तारादिरूपां, तन्वतां, कुर्वतां, मिश्रत्वं मिश्रपक्षाश्रयणं, स्यात्,न चेष्टं परस्यापि, साधूनां धर्मैकप्रक्षाभ्युपगतत्वात्, तस्माद् धर्मभावे स्वरूपतः सावद्यक्रियाया मिश्रणं द्रव्यस्तव इत्यर्थः। अभ्युच्चयमाह–किञ्च, आकेवलिनं केवलिपर्यन्तं, समये सिद्धान्ते, ''जावं च णं एस जीवे एयइ वेयइ तावं च णं आरभइ'' इत्यादिना द्रव्याश्रयं भाषितं विचार्य, तदेव शुद्धं धर्ममपश्यतस्तदनुचिते ऐदम्पर्यानालोचने तनुबुद्धेः शोको धर्मपक्ष-स्थानोच्छेदजनितवैक्लव्यलक्षणः, कथं गच्छतु ?, न कथञ्चित्। अत एव सुन्दरर्षिः–''अयोगिकेवलिन्येव, सर्वतः संवरो मतः।'' इति।

नदीतरणादौ वादिप्रसङ्गं समाधत्ते–

वाहिन्युत्तरणादिकेऽपि यतनाभागे विधिर्न क्रिया–
भागेऽप्राप्तविधेयता हि गदिता तन्त्रेऽखिलैस्तान्त्रिकैः।
हिंसा न व्यवहारतश्च गृहिवत्साधोरितीष्टं तु नो,
मिश्रत्वं ननु नो मते किमिह तद्दोषस्य संकीर्त्तनम् ॥८३॥

(वाहिन्युत्तरणादिकेऽपीति) वाहिन्युत्तरणादिके कर्मणि, यतनाभागे विधिः, अप्राप्तत्वात्, न तु क्रियाभागेऽपि, यतः, अखिलैस्ता–न्त्रिकैरप्राप्तविधेयता गदिता, 'अप्राप्तप्रापणं विधिः', अनधिगतार्थाधि-गन्तृ प्रमाणम्, इत्यनादिमीमांसाव्यवस्थितेः, अयं च न्यायोऽ–स्माभिराश्रीयते। अत्र हि यतनाभाग इति यतना न तेन मिश्रिता, अन्ये–नैव मिश्रणसंभवात्, तर्हि नद्युत्तारादिक्रियायैव मिश्रता स्यात्, तत्राह–गृहिवत् साधौर्व्यवहारतो व्यवहारतया नद्युत्तारादिक्रियायै हिंसा न, गृहिसाध्वोर्यतनाऽयतनाभ्यामेव व्यवहारविशेषादिति, ततो हिंसा मिश्राऽभावा, नो तु नैव, मिश्रत्वम् इष्टम्, नन्वित्याक्षेपे, नोऽस्मकं मते किमिह तद्दोषस्य कीर्त्तनं, भवतां द्रव्यस्तवे तु साधुयतनाऽ–भावादवर्जनीयैव हिंसेति मिश्रपक्षो दुष्परिहर इति भावः ॥८३॥

एतद् दूषयति–

हिंसा सद्व्यवहारतो विधिकृतः श्राद्धस्य साधोश्च नो,
सा लोकव्यवहारतस्तु विदिता बाधाकरी नोभयोः।
इच्छाकल्पनयाऽभ्युपेत्य विहिते तथ्या तदुत्पादनो–
त्पत्तिभ्यां तु भिदा न कापि नियतव्यापारके कर्मणि ॥८४॥

(हिंसेति) विधिकृतः श्राद्धस्य साधोश्च सह्यवहारतः सिद्धान्त–व्युत्पन्नजनव्यवहारेण, हिंसा नैव भवति, प्रमत्तयोगे प्राणव्यपरोपणस्यैव तन्मते हिंसात्वात्, स्वगुणस्थानोचितयतनया प्रमादपरिहारस्य चोभयोरविशेषादुपरितनेनाधःप्रमादपर्यवसायकतायाश्चातिप्रसङ्ग-त्वात् अधिकारिभेदेन न्यूनाधिकभावस्याप्यमुक्तिसंभवात्। अन्यथा संपूर्णाचारश्चतुर्दशोपकरणधरः स्थविरकल्पिको जिनकल्पिकमपेक्ष्य यतो न्यूनश्च स्यात्, न चैवमस्ति, रत्नाकरदृष्टान्तेन द्वयोस्तुल्यताप्रति-पादनात्। तस्मात्स्वविषये गृहिणः साधोश्च धर्मकर्मणि हिंसा नास्त्येवेति। लोकव्यवहारतस्तु बाह्यलोकव्यवहारापेक्षया, सा परप्राण-व्यपरोपणरूपा हिंसा, उभयोर्गृहिसाध्वोर्बाधाकरी न, मिश्रपक्ष-प्रवेशकरा न, व्यधिकरणतया मिश्रणासंभवात्। स्वानुकूलव्यापारसंबन्धे तस्याः सामानाधिकरणस्य च योगमादाय केवलिमतेऽप्रमत्तभावस्थले वस्तुमशक्यत्वात् सह्यव्यवहारपर्यवसानाच्चेति, न किञ्चिदेतत्। प्राण्युपमर्दनस्तावध्दर्मकर्मण्यपि हिंसैव, ग्रहीतुं तां करोति, साधोस्तु सा कथञ्चिद्भतीत्यस्ति विशेष इत्यत्राऽऽहइच्छाकल्पनया स्वरसपूर्वये-च्छयाऽभ्युपेत्थ विहिते नियतव्यापरके वर्जनयहिंसासंबन्धे कर्मणि तदुत्पादनोत्पत्तिभ्यां भिदा काऽपि तथ्या न, अपि तु स्वकल्पनया मुग्धमनोविनोदमात्रमिति भावः। तथाहि–हिंसाऽनुषक्तधर्मव्यापारे साध्यत्वाख्यविषयहिंसाऽनुकूलकृतिमत्त्वं गृहिणश्चेत्, साधोः न कथम्?, यतनया परिहारश्चेदुभयत्र समानाकृतौ हिंसात्वावच्छिन्नसा-ध्यत्वाख्यविषयताभावोऽप्युभयोस्तुल्यः, अशक्यपरिहारोऽपि प्रसक्ताकरणप्रत्यवायभिया द्वयोः शास्त्रीय इति सूक्ष्ममीक्षणीयम्॥८४॥

अपवादप्राये कर्मणि न विधिः, किं तु यतनाभाग एव,

स्वच्छन्दप्राप्तया तत्र मिश्रत्वं स्यादत्राऽऽह–

पूर्णेऽर्थेऽपि विधेयता वचनतः सिद्धा लिङर्थात्मिका,
भागे बुद्धिकृता यतः प्रतिजनं चित्रा स्मृता साऽऽकरे।
नो चेज्जैनवचः क्रियानयविधिः सर्वश्च मिश्रो भवे–
दित्थं भेदभयं न किं तव मतं मिश्राद्वयं लुम्पति? ॥८५॥

(पूर्णे इति) पूर्णेऽर्थेऽपि विधीयमाने यतनाविशिष्टे कर्मणि लिङर्थात्मिका लिङर्थस्वरूपा विधेयता, वचनतः श्रुतिमात्रेण सिद्धा, प्रवर्त्तनाया एव तदर्थत्वात्, तस्याश्च प्रवृत्तिहेतुधर्मात्मकत्वात्, ''प्रवृत्तिहेतुं धर्मे तु, प्रवदन्ति प्रवर्त्तनाम्''इत्यभियुक्तोक्तेस्तस्य तत्त्वात् इष्टसाधनत्वरूप-त्वात्। तथा च प्रवृत्तिहेत्विच्छाविषयतापर्याप्त्यधिकरणधर्मत्वं यद्धर्मावच्छिन्ने बोध्यते, तद्धर्म्मावच्छिन्नस्य विधेयत्वमिति प्रकृते यतनाविशिष्टद्रव्यस्तवस्य विधेयत्वमबाधितमेव, ततो विनिगमना-विरहेणाऽपि तथासिद्धे लिङर्थत्रयस्यैव विनिगमकत्वम्। बुद्धिकृता विधेयता विषयताविशेषरूपा, सा भागे भवतु, न तावता क्षतिः। यतः सा प्रतिजनं प्रतिप्राणि चित्रा, आकारे स्याद्वादरत्नाकरे, स्थिता व्यवस्थिता, ''स्वपरव्यवसायि ज्ञानं प्रमाणम्'' इत्यत्र विशेषणविशे-ष्यान्यतराप्रसिद्धौ तदन्यभागस्य विधेयत्वाप्रसिद्धया उभयस्यैव विधेयत्वमिति तत्राक्तेः। रक्तं पटं वय, ब्राह्मणं स्नातं भोजयेत्या-दावेकविधे द्विविधे त्रिविधे च दर्शनात्। नो चेद् यतनाक्रियाभ्यामेव च मिश्रत्वे, तदा तत्प्रतिपादकं जैनवचः क्रियानय विधिश्च सर्वोऽपि मिश्रो भवेत्, इत्थं च धर्मपक्षोऽपि ताभ्यां भागाभ्यांमिश्रो भवे–

दिति मिश्राद्वयं स्यात्, इतरद्वयलोपेन एकशेषात् तन्मिश्राद्वयं तव मतं भेदमयं पक्षत्रयप्रतिपादकं कथं न लुम्पति?, ''स्वशस्त्रं सोपघाताय'' इति न्यायस्तवापन्न इति भावः ॥८५॥

तृतीयपक्षमधिकृत्याह—नदीतरणादौ वादिप्रसङ्गं समाधत्ते—

भावो धर्मगतः क्रियेतरगतेत्यत्रापि भङ्गे कथं,
मिश्रत्वं तमधर्ममेव मुनयो भावानुरोधाद्विदुः ।
भक्त्याऽर्हत्प्रतिमाऽर्चनं कृतवतां न स्पृशमानः पुन—
र्भाविश्चित्तमिवाग्रहाविलधियां पापेन संलक्ष्यते ॥८६॥

भावो धर्मगतः क्रियेतरगता इत्यत्रापि तृतीयाख्ये भङ्गे मिश्रत्वं कथम्?, यतः—भावानुरोधात्तमधर्ममेव मुनयो विदुः । दुष्टभावपूर्विकाया विहितक्रियाया अपि प्रत्यवायबहुलत्वेनाधर्मत्वात्, अतएव निह्नवादीनां निर्ग्रन्थरूपस्य दुरन्तसंसारहेतुत्वेनाधर्मत्वम् । ''इच्चेया—दिट्ठिओ, जाइजरामरणगब्भवसहीणं । मूलं संसारस्स उ, वहंति निग्गंथरूपेण'' ॥१॥ इत्यादिनाऽव्यवस्थापितदृष्टीनां नियतोत्सूत्रप्ररूपकाणामेव तत्फलं, निर्ग्रन्थरूपेण इत्यत्रोपलक्षणे तृतीयेति नाशङ्कनीयम्, चरम-ग्रैवेयकपर्यन्तफलहेतोर्निह्नवश्रद्धामुपगताचारस्यैवात्र दृष्टिपदार्थत्वात्, निर्ग्रन्थरूपेणेत्यत्र धान्येन धनमितिवदभेदार्थाश्रयणात् विषगराद्यनुष्ठा-नानाधर्मत्वेनैव बहुशो निषेधादिति दिक्। न च मिश्रणीयो धर्मगतो भावः प्रकृतस्थले संभवतीत्यत्राह—भक्त्येति । भक्त्या, उपलक्षणाद्विधिना च, अर्हत्प्रतिमार्चनं कृतवतां भावः, पापेन स्पृश्यमानः संलक्ष्यते । व्यतिरेकदृष्टान्तमाह—किमिव?, आग्रहाविलधियाम् अभिनिवेशमलीम-सबुद्धीनां चित्तमिव; तद्यथा पापेन स्पृश्यमानं संलक्ष्यते, तथा न भक्तिकृतां भाव इति योजना। अथ पुष्पाद्युमर्दयामि ततः प्रतिमां पूजयामि इति भावः पापस्पृष्टो लक्ष्यत एवेति चेत्तर्हि, नदीजलजीवाद्युपमर्दयामि ततो नद्यामुत्तीर्य विहारं कुर्वे, इति साधोरपि दुष्टः स्यात्। कृताऽनुषङ्गि-के नो द्वेश्यत्वाख्यविषयतासाध्यत्वाख्यविषयता यतमानस्य न निषिद्धरूपाऽवस्थितेति चेत्, तुल्यमेतदुभयोरपीति किमाग्रेडितेन? ॥८६॥

तुरीय विकल्पमपाकुर्वन्नाह—

धर्माधर्मगते क्रिये च युगपद्धत्तो विरोधं मिथो,
नाऽप्येते प्रकृतस्थले क्वचिदतस्तुर्योऽपि भङ्गो वृथा ।
शुद्धाशुद्ध उदाहृतो ह्यविधिना योगोऽर्चनाद्याश्रयः,
सोऽप्येको व्यवहारदर्शनमतो नैव द्वयोर्मिश्रणात् ॥८७॥

(धर्माधर्मगते इति) धर्माधर्मगते च क्रिये युगपद्विरोधतः भिन्नविषय-क्रियाद्वस्यैककालावच्छेदेनैकत्रानवस्थाननियमात् । ''भिन्नविसयं निसिद्धं, किरियादुगमेगसंठाणे'' इति वचनात्। प्रकृतेऽसिद्धिश्चेदित्य-त्राह—नाप्येते धर्माधर्मगते क्रिये, प्रकृतस्थले द्रव्यस्तवस्थाने, क्वचिदतः कारणात् तुर्योऽपि भङ्गो वृथा मिश्रपक्षसमर्थनाय मृषोपन्यासः। शुद्धाशुद्धो योगः शास्त्रोक्त एवेति, तत्र तुर्यभङ्गावकाशः किं न स्यादित्यत्राह—शुद्धाशुद्ध इति। अविधिना जिनार्चनाद्याश्रयः, हि निश्चितं, शुद्धोशुद्धो योग उदाहृतः, सोऽपि व्यवहारदर्शनमतः, एकः, अंशे भ्रमप्रमादरूपे एकज्ञानवदंशे शुद्धाशुद्धविषयमनुबद्धयोः शद्धाशुद्धयोर्योगयोर्मिश्रणात्त-योर्विरोधादेवेति दत्तो मिश्रपक्षस्य जलाञ्जलिः, शुद्धाशुद्धविषयत्वं च योगाभिव्यापारानुबन्धिविषयतानयेन, स्वतो योगस्य निर्विषयत्वादिति स्मर्त्तव्यम् ॥८७॥

निश्चयतस्तु शुद्धाशुद्धयोगो नाऽस्त्येवेत्याह—

भावद्रव्यतया द्विधा परिणतिप्रस्पन्दरूपा स्मृताः,
योगास्तत्र तृतीयराश्यकथनादाद्येषु नो मिश्रता ।
नैवान्त्येष्वपि निश्चयादिति विषोद्गारः कथं ते भ्रमो,
निष्पीता किमु न क्षमाश्रमणगीः सद्राष्यसिन्धोः सुधा? ॥८८॥

(भावेत्यादि) परिणतिप्रस्पन्दलक्षणा योगा भावद्रव्यतया द्विधा स्मृताः, तत्राद्येषु भावयोगेषु, नो नैव, मिश्रता भवति, कस्मात्?, तृतीयरा-शेरकथनात्, शुभान्यशुभानीति द्विविधान्येवाध्यवसायस्थाना न्युक्तानि, न तु तृतीयोऽपि राशिरिति।अंन्त्येषु द्रव्ययोगेष्वपि निश्चयात् नैव मिश्रता, तन्मते द्रव्ययोगे मिश्राणामभावात् । तदंशप्राधान्ये शुभाशुभान्यतरस्यैव पर्यवसानाभिश्च योगव्यवहारेणापि तथ व्यवहरणात् । अत एवाशोकप्रधानं वनमशोकवनमिति विवक्षया मिश्रभाषापत्तिः । कथं तर्हि श्रुतभावभाषायां तृतीयभेदस्यापरिगणनं, द्रव्यभावनाभाषायां तु नेति चेत्, एकत्र निश्चयनयेन धर्मिणोऽर्पणादन्यत्र व्यवहारनयेनेति गृहाण। सर्वत्र निश्चयनयेन धर्म्यर्पणे तु भाषायां द्वावेव भेदौ० न चत्वारः। इदमेव भाषारहस्ये—''सा चउविह त्ति ववहारनयाउ सुअम्मि पत्ताणं। सच्चामुस त्ति भासा, दुव्विह च्चिय हंदि निच्छयओ'' ॥१॥ त्ति। एवं विशदीकृतेऽर्थे भ्रान्तोक्त्या कथं व्यामोहः कार्य इत्याहइत्येवं, ते तव, कथं भ्रमो भ्रान्तप्रयोगो विषोद्गारः, किं तु सद्राष्यं यद्विशेषावश्यकं, तदेव सिन्धुः समुद्रस्तस्य सुधाऽमृतं क्षमाश्रमणगीः—जिनभद्रगणिश्रमण-वाणी, न निष्पीता?, अन्यथा भ्रमो विषोद्गारो न स्यादेव, असदृशत्वा-दुद्गारस्य, किं तु कुमतिपरिगृहीतश्रुताऽऽभासविषयः, तस्यैवेदं विलसितमिति संभावयामः ॥८८॥

किं च संकीर्णकर्मरूपफलाभावादपि संकीर्णयोगो नास्तीति द्रव्यस्तवे मिश्रपक्षोक्तिप्रौढिः खलताविस्तार इत्याह—

मिश्रत्वे खलु योगभावविधया कुत्रापि कृत्ये भवे—
न्मिश्रं कर्म न बध्यते च शबलं तत्सं क्रमात्स्यात्परम् ।
तत् द्रव्यस्तवमिश्रतां प्रवदता किं तस्य वाच्यं फलं,
स्वव्युद्ग्राहितमूढपर्षदि मदान्मूर्द्धानमाधुन्वता ॥८९॥

(मिश्रत्वे इति) खल्विति निश्चये, कुत्रापि कृत्ये योगभावविधया मिश्रत्वेऽङ्गीक्रियमाणे, फलत्वेनाङ्गी क्रियमाणं मिश्रं कर्म भवेत्; तत्तु बन्धतो नास्ति इत्याह—न बध्यते च शबलमिति, शबलं मिश्रं कर्म न बध्यते। कथं तर्हि मिश्रमोहनीयं प्रसिद्धं, तत्राह—परं केवलं, तत् मिश्रं, संक्रमात्स्यात्, तस्माद् तत् द्रव्यस्तवमिश्रतां प्रवदता तस्य द्रवयस्तवस्य फलं बंध्यमानं कर्म शुभं भाववन्न भवति, अननुरूपत्वात्, मिश्रं च बध्यमानमभ्युपगच्छता कृतान्तः कुप्येदित्यत्र तूष्णीमेव स्थेयं त्वया, कीदृशेन?, स्वेन व्यद्ग्राहिता ये मूढाः, तेषां पर्षदि मदाद् बृद्धिगौरवा-न्मूर्द्धानं शिरसमाधुन्वता कम्पयता, अनुभावो मदस्य व्याधेरेव पर्यवसान इति जानीहि ।

अत्रेयमुक्तभाष्यवाणी, कुमतपाशकृपाणी प्रगल्भते—

''न य साहारणरूवं, कम्मं तक्कारणाभावा।''

न च साधारणरूपं संकीर्णस्वभावं पुण्यपापात्मकमेकं कर्मास्ति, तस्यैवंभूतस्य कर्मणः कारणाभात्। अत्र प्रयोगःनास्ति संकीर्णोभयरूपं कर्म, असंभाव्यमानैवंविधिकारणत्वात्, बन्ध्यासुतवदिति।

हेतोरसिद्धतां परिहरन्नाह—

''कम्मं जोग णिमित्तं, सुभोऽसुभो वा स एगसमयम्मि।''

होज्ज ण उ उभयरूवो, कम्मं पि तओ तयणुरूवं''॥१६३५॥

मिथ्यात्वविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतव इति पर्यन्ते योगाभिधात् सर्वत्र कर्मबन्धहेतुत्वस्य योगाविनाभावात्, योगानामेव बन्धहेतुत्वमिति कर्मयोगनिमित्तमित्युच्यते। स च मनोवाक्कायात्मको योग एकस्मिन्समये शुभोऽशुभो वा भवेत्, न तूभयरूपोऽतः कारणानुरूपत्वात् कार्यस्य कर्माऽपि तदनुरूपं शुभं पुण्यरूपं, अशुभं वा पापरूपं बध्यते, न तु संकीर्णस्वभावमुभयरूपमेकदैव बध्यत इति॥१६३५॥

प्रेरकः प्राह–

''नणु मणवइकाउग्गा, सुभसुभा वि समयम्मि दीसंति।
दव्वम्मि मीसभावो, हवेज्ज ण उ भावकरणम्मि'' ॥१६३६॥

ननु मनोवाक्काययोगाः शुभा अशुभाश्च, मिश्रा इत्यर्थः। एकस्मिन्समये दृश्यन्ते, तत्कथमुच्यते–''सुहो असुहो वा स एगसमयम्मि त्ति''?। तथाहि –किञ्चिदविधिना दानादिकं वितरणं चिन्तयतः शुभाशुभो मनोयोगः, तथा किमप्यविधिनैव दानादिधर्ममुपदिशतः शुभाशुभो वाग्योगः, तथाकिमप्यविधिनैव जिनपूजावन्दनादिकायचेष्टां कुर्वतः शुभाशुभः काययोग इति। तदेतदयुक्तम्। कृत इत्याह–''दव्वम्मि'' इत्यादि। इदमुक्तं भवति–इह द्विविधो योगोद्रव्यतो भावतश्च। तत्र मनोवाक्काययोगप्रर्वतकानि द्रव्याणि, मनोबाक्कायपरिस्पन्दात्मको योगश्च द्रव्ययोगः, यस्त्वेतदुभयरूपयोगहेतुरध्यवसायः स भावयोगः, तत्र शुभाशुभरूपाणां यथोक्तचिन्तादेशनाकायचेष्टानां प्रवर्त्तके द्रव्ययोगे द्विविधेऽपि व्यवहार–नयदर्शनविवक्षामात्रेण भवेदपि शुभाशुभत्वलक्षणो मिश्रभावः, न तु मनोवाक्काययोगनिबन्धनाध्यवसायरूपेभावकरणे भावात्मके योगे, अयमभिप्रायःद्रव्ययोगो व्यवहारनयदर्शनेन शुभाशुभरूपोऽपि इष्यते, निश्चयनयेन तु सोऽपि शुभोऽशुभो वा केवलः समस्ति, यथोक्तचिन्तादेशनादिप्रवर्तकद्रव्ययोगानामपि शुभाशुभरूपमिश्राणां तन्मतेनाभावात्, मनोवाक्काययोगनिबन्धनाध्यवसायरूपे तु भावकरणे भावयोगे, शुभाशुभरूपो मिश्रभावो नास्ति, निश्चयनयदर्शनस्यैवागमेऽविवक्षितत्वात्। न हि शुभान्यशुभानि वाऽध्यवसायस्थनानि मुक्त्वा शुभाशुभाध्यवसायस्थानरूपस्तृतीयो राशिरागमे क्वचिदपीष्यते, येनाध्यवसायरूपेषु भावयोगेषु शुभाशुभत्वं स्यादिति भावः। तस्माद्भावयोगे एकस्मिन्समये शुभोऽशुभो वा भवति, न तु मिश्रः। ततः कर्मापि तत्प्रत्ययं पृथक् पुण्यरूपं पापरूपं वा बध्यते, न तु मिश्ररूपमिति स्थितम्॥१६३६॥

एतदेव समर्थयन्नाह–

''झाणं सुभमसुभं वा, न उ मीसं जं च झाणविरमम्मि।
लेसा सुहाऽसुहा वा, सुहमसुहं वा तओ कम्मं'' ॥१६३७॥

ध्यानं यस्मादागमे एकदा धर्मशुक्लध्यानात्मकं शुभम्, आर्त्तरौद्रात्मकमशुभं वा निर्दिष्टं, न तु शुभाशुभात्मकं, यस्माच्च ध्यानोपरमेऽपि लेश्या तैजसीप्रमुखा शुभा, कापोतीप्रमुख। च अशुभा एकदा प्रोक्ता, न तु शुभाशुभरूपाः ध्यानलेश्यात्मकाश्च भावयोगाः, ततस्तेऽप्येकदा शुभा अशुभा वा भवन्ति, न तु मिश्राः। ततो भावयोगनिमित्तं कर्माऽप्येकदा पुण्यात्मकं शुभं बध्यते, पापात्मकमशुभं वा बध्यते, न तु मिश्रमपि॥१६३७॥

अपिच–

''पुव्वगहियं च कम्मं, परिणामवसेण मीसयं नेज्जा।
इयरेयरभावं वा, सम्मामिच्छाइँ न उ गहणे''॥१६३८॥

वेति अथ वा, एतदद्यापि संभाव्यते, यत्पूर्वं गृहीतं पूर्वं बद्धं मिथ्यात्वलक्षणं कर्म परिणामवशात् पञ्जत्रयं कुर्वन्मिश्रतां सम्यग्मिथ्यात्वपुञ्जरूपतां नयेत्प्रापयेदिति, इतरेतरभावं वा नयेत सम्यक्त्वं मिथ्यात्वं वेति। इदमुक्तं भवतिपूर्वबद्धान् मिथ्यात्वपुद्गलान् विशुद्धपरिणामः संशोधयित्वा सम्यक्त्वरूपतां नयेत्, अविशुद्धपरिणामस्तु रसमत्कर्षं नीत्वा सम्यक्त्वपुद्गलान्मिथ्यात्वपुञ्जे संक्रमय्य मिथ्यात्वरूपतां नयेदिति पूर्वगृहीतस्य सत्तासर्तिनः कर्मण इदं कुर्यात्। ग्रहणकाले पुनर्न मिश्रं पुण्यपापरूपतया संकीर्णस्वभावं कर्म बन्धाति, नापीतरदितररूपतां नयतीति॥१६३८॥

सम्यक्त्वं मिथ्यात्वे संक्रमय्य मिथ्यात्वरूपतां नद्यतीत्युक्तम्, ततः संक्रमविधिमेव संक्षेपतो दर्शयति–

''मोत्तूण श्राउयं खलु, दंसणमोहं चरित्तमोहं च।
सेसाणं पयडीणं, उत्तरविहिसंकमो भज्जो''॥१६३९॥

इह ज्ञानावरणादिमूलप्रकृतीनामन्योन्यं संक्रमः कदापि न भवत्येव, उत्तरप्रकृतीनां तु निजनिजमूलप्रकृत्यभिन्नानां परस्परं संक्रमो भवति। तत्र चायं विधिः–''मोत्तूणं आउयं'' इत्यादि। ''आउयं''इति जातिप्रधानो निर्देश इति बहुवचनमत्र द्रष्टव्यम्, चत्वार्यायूंषि मुक्त्वेति। एकस्या आयुर्लक्षणाया निजमूलप्रकृतेरभिन्नानामपि चतुर्णामायुषामन्योऽन्यं संक्रमो न भवतीति तद्वर्जनम्। तथा दर्शनमोहं चारित्रमोहं च मुक्त्वा, एकस्या मोहनीयलक्षणायाः स्वमूलप्रकृतेरभिन्नयोरपि दर्शनमोहचारिमोहयोरन्योऽन्यं संक्रमो न भवतीत्यर्थः। उक्तशेषाणं तु प्रकृतीनां, कथम्भूतानामित्याह–''उत्तरविहि त्ति''। विधयो भेदाः, उत्तरे च ते विधयश्चोत्तरविधय उत्तरभेदाः, तद्भूतानाम् उत्तरप्रकृतिरूपाणामिति तात्पर्यम्। किमित्याह–संक्रमो भाज्यो भजनीयः। भजना चैवं द्रष्टव्याया: किल ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणनवककषायषोडशकमिथ्यात्वभयजुगुप्सातैजसकार्मणवर्णादिचतुष्कागुरूलघूपघातनिर्माणान्तरायपञ्चकलक्षणाः सप्तचत्वारिंशत् ध्रुवबन्धिन्य उत्तरप्रकृतयः, तासां निजैकमूलप्रकृत्यभिन्नानामन्योन्यं संक्रमः सदैव भवति। तद्यथा–ज्ञानावरणपञ्चकान्तर्वर्तिनि मतिज्ञानावरणे श्रुतज्ञानावरणादीनि, तेष्वपि मतिज्ञानावरणं संक्रामतीत्यादि। यास्तु शेषा अध्रुवबन्धिन्यस्तासां निजैकमूलप्रकृत्यभेदवर्तिनीनामपि वध्यमानायामबध्यमानाः संक्रामन्ति, न त्वबध्यमानायां बध्यमाना यथा साते बध्यमानेऽसातमबध्यमानं संक्रामति, न तु बध्ययानमबध्यमाने, इत्यादि वाच्यमित्येष प्रकृतिसंक्रमे विधिः, शेषस्तु प्रदेशादिसंक्रमविधिः ''मूलप्रकृत्यभिन्नासु, वेद्यमानासु संक्रमः। भवति'' इत्यादिना स्थानान्तरादवसेयमित्यलं प्रसङ्गेनेति॥१६३९॥

ननु मिश्रयोगाध्यवसायाभावाद् मा भून्मिथप्रकृतिबन्धापत्तिः, तथाऽपि द्रव्याश्रवादन्ततो ध्रुवबन्धि पापमपि फलमवर्जनीयमिति चेत् ।न। ध्रुवबन्धित्वादेव तस्यातत्प्रत्ययत्वात्। अन्यथाऽतिप्रसङ्गाद् ग्रहणसमय एव गुणाश्रयाभ्यां कर्मणि शुभत्वस्याशुभत्वस्य रसाद्यपेक्षया जननात्।

तदाह–

''अविसिट्ठं चिय तं सो, परिणामासयसभावओ खिप्पं।
कुरुते सुभमसुभं वा, गहणे जीवो जहाहारं''॥१६४३॥

परिणामो जीवस्याध्यवसायस्तद्धशाज्जीवो ग्रहणसमये कर्मणः

शुभत्वमशुभत्वं वा जनयति, आश्रवः कर्मणो जीवः, तस्य स कोऽपि स्वभावो येन शुभान्यतः परत्वेन परिणमयन्नेव कर्म गृह्णाति, तथा शुभाशुभत्वयोः कर्म, तस्यापि स कोऽपि स्वभावः येन शुभाशुभपरिणामान्वितेन जीवेन गृह्यमाणमेव तद्रूपतया परिणमयति। उपलक्षणमेतत्—प्रदेशाल्पबहुभागवैचित्र्यादेः।

उक्तं च कर्मप्रकृतिसंग्रहिण्याम्—

''गहणसमयम्मि जीवो, उप्पाएई गुणे सपच्चयओ।
सव्वजिआनंतगुणे, कम्मपएसेसु सव्वेसु''॥
आउयभागो थोवो'' इत्यादि ॥१६४३॥
''परिणामासयवसओ, धेणए जह पओ विसमहिस्स।
तुल्लो वि तदाहारो, तह पुण्णपुण्णपरिणामो॥१६४४॥
जह वेगसरीरम्भि वि, सारासारपरिणामयामेति।
अविसिट्ठो आहारो, तह कम्मसुहासुहविवागो''॥१६४५॥

ननु न्यायस्तावमुग्धानां कूटपाशप्राय इत्यभिन्नसूत्रादेशेन श्राद्धानां मिश्रपक्षोऽस्त्येवेति पश्यतस्तदधिकृतद्रव्यस्तवस्य मिश्रत्वं रोचयाम इति चेत्, अहो दुराशयसिद्धान्ततात्पर्यपरिज्ञानमनुपासितगुरुकुलस्य तव कथंकारं संभवति? तथाहि— व्यवहारनयादेशेन बन्धानौपयिकं पक्षत्रयोपवर्णनं कृतं, संग्रहनयादेशेन तु फलापेक्षया द्वैविध्यमेवेति पूजापोषधयोः को वा विशेषः?॥८६॥

श्राद्धानां मिश्रपक्षस्य भेदोऽस्त्येतदभिप्रायवानाह—

सिद्धान्ते परिभाषितो हि गृहिणो मिश्रत्वपक्षस्ततो,
बन्धानौपयिको विरत्यविरतिस्थानात्तदुत्प्रेक्षया,
अन्तर्भावित एव सोऽपि पुरतो धर्मे फलापेक्षया,
पूजापोषधतुल्यताऽस्य किमु न व्यक्ता विशेषेक्षिणाम्? ।६०

(सिद्धान्त इति) सिद्धान्ते सूत्रकृताख्ये, हि निश्चितं, ततो मिश्रत्वपक्षो बन्धनौपयिकः बन्धाननुगुणः विरत्यविरतिस्थानात् योऽनुगमस्तदुत्प्रेक्षया, स्वरूपमात्रेणेति यावत्। परिभाषितः संकेतितः, सोऽपि परिभाषितमिश्रपक्षोऽपि, पुरतोऽग्रे फलापेक्षया धर्मेऽन्तर्भावितः, ततोऽस्य गृहिणः, विशेषेक्षिणां विशेषदर्शिनां, पूजापोषधयोस्तुल्यता, किमु न व्यक्ता?, अपि तु व्यक्ता। वाग्व्यवहारतो मिश्रपक्षस्य, निश्चयतश्च धर्मत्वस्य, सूत्रकृते हि पक्षत्रयव्याख्यानावसरे—''अदुत्तरं च णं पुरिसविजयं विभंगमाइक्खिस्सामि, इह खलु नाणापन्नाणं नाणाछंदाणं नाणासीलाणं नाणादिट्ठीणं नाणारुईणं णाणारंभाणं नाणाझवसायसंजुत्ताणं नाणाविहपावसुअज्झयणं एवं भवति। तं जहा—भोमं उप्पायं।'' इत्यादिना पापश्रुताध्ययनाद्यर्थं तत्प्रयोगेण सुरकिल्विषादिभावनया तल्लोकोत्पादितश्रुतस्येडमूकादिभावोत्पादेन गृहिणां चात्मस्वजनाद्यर्थचतुर्दशभिरसदनुष्ठानैः; तथाहि—कश्चिदकार्याध्यवसायेनानुगच्छतीत्यनुगामिको भवति, तं गच्छन्तमनुगच्छतीत्यर्थः। अथवा—तस्यापकारावसरापेक्ष्युपचारको भवति, अथवा तस्य प्रतिपथिको भवति, प्रतिपंथं संमुखनमागच्छतीति। अथवा स्वजनाद्यर्थं संधिच्छेदको भवति, खात्रखननादिकर्त्ता भवतीत्यर्थः। अथवा घुर्घुरादिना ग्रन्थिच्छेदकभावं प्रतिपद्यते, अथ सौरभ्रमैषैश्चरतीति। सौरभ्रिकः, अथवा शौकारिको भवति, अथवा शकुनिभिश्चरति शाकुनिकः अथवा वागुरया मृगादिबन्धनरज्ज्वा चरति वागुरिकः, अथवा मत्स्यैश्चरति मात्स्यिकः, अथवा गोपालकभावं प्रतिपद्यते, अथवा गरघातकः स्यात्, अथवा श्वभिश्चरति, सोऽवनिशुनां परिपालको भवतीत्यर्थः। अथवा 'सोवणिअंतए' श्वभिः पापर्द्धिं कुर्वन्मृगादीनामन्तं करोतीत्यर्थः। इति अन्यहननतया सापराधगृहपतिदानादिना तत्संबन्ध्युष्ट्रजङ्घाच्छेदादिना तच्छा—लादाहादिनात्रत्संबन्धिकुण्डलाद्यपहारेण वा पाषण्डिकोपरि क्रोधेन तदुपकरणापहारतदाहारदाननिषेधादिना निर्मितमेव गृहपतिक्षेत्रं दानादिनाऽभिग्रहिकमिथ्यादृष्टितयाऽपशकुनधिया श्रमणानां दशनोपघातापसरणेन तद्दृष्टावसरास्फालनेन च, स्फटिकादानेनेत्यर्थः। परुषवचनप्रहारैः परेषां शोकाद्युपादनादिना महारम्भादिना भोगभवाश्लाघया चैश्वर्यात्, अत्र भावे महातृष्णावतामधर्मपक्ष उक्तः। उपसंहृतश्च—''एसट्ठाणे अणारिए अकेवले अपडिपुन्ने असंसुद्धे अणेयाउए असल्लगत्तणे असिद्धिमग्गे अमुत्तिमग्गे अणिव्वाणमग्गे अणिज्झाणमग्गे असव्वदुरकप्पहीणमग्गे एगंतमिच्छे असाहू एस खलु पढमस्स ठाणस्स अहम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिए त्ति''॥ अदः स्थानमनार्यमनाचीर्णत्वात्, नास्ति केवलं यत्रेत्यकेवलमशुद्धमित्यर्थः। अपरिपूर्णं सद्गुणविरहात्, इत्थमनैयायिकमसन्न्यायवृत्तिकम—सल्लगत्वमिन्द्रियासंवरणरूपम्, 'रगि लगि संवरणे ' इति धातोः शोभनो लगः सल्लगस्तद्भावस्तत्त्वं, नास्ति स यत्रेतिव्युत्पत्तेः। यद्वा—शल्यं गायति कथयतीति शल्यगः, तद्भावस्तत्त्वं, नास्ति तद् यत्र तदशल्यगत्वम्, सिद्धिः स्थानविशेषो, मुक्तिरशेषकर्मक्षयः, निर्वाणं निःशेषतया भवपरित्यागेन यानं, निर्ध्यानमात्मस्थानापत्तिः, सर्वदुःखस्य प्रक्षीणं प्रत्यक्षः, तन्मार्गाभावादसिद्धिमार्गादिपदानि व्याख्येयानि। कृत एवमित्यत्र ''आहरणं च'' इत्यादि एकान्तेनैव तत्स्थानं, यतो मिथ्याभूतं मिथ्यात्वोपहतबुद्धिस्वामिकत्वात् अन्तरसाध्वसवृत्तित्वात्। तदयं प्रथमस्य स्थानस्याधर्मपाक्षिकस्य पापोपादानभूतस्य विभङ्गो विशेषः, स्वरूपमिति यावत्, एवमाहृत एवमुपदर्शितः। धर्मपक्षस्त्वेवमतिदिष्टः ''अहावरे दोच्चस्स ठाणस्स धम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिज्जइइह खलु पाईणं वा पडीणं वा० संतेगइआ मणुस्सा भवंति। तं जहाआरिआ वेगे अणारिया वेगे उच्चागोआ वेगे, नीआगोआ वेगे, कायमंता वेगे, हस्समंता वेगे, सुवण्णा वेगे, दुवण्णा वेगे, सुरुवा वेगे, दुरूवा वेगे। तेसिं च खेत्तवत्थूणि परिगहिआइ भवंति। एसो आलावगो जहा पुंडरीए तहा णेयव्वो, तेणेव अभिलावेण० जाव सव्वोवसंता सव्वत्ताए परिनिव्वुम त्ति वेमि। एसट्ठाणे आरिए केवले जाव सव्वदुक्खपहीणभग्गे एगंतसम्मे साहू दोच्चस्स ठाणस्स धम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिए त्ति।'' तृतीयं स्थानमधिकृत्य एवं सूत्रं प्रवृत्तम्—''अहावरे तच्चस्स ट्ठाणस्स मीसगस्स विभंगे एवमाहिज्जइ, जे इमे भवंति आरन्निया आवसहिया गामणिअंतिया कण्हुई हस्सिया०जाव ते तओ विप्पमुच्चमाणा भुज्जो एलमूयत्ताए पच्चायंति, एस ट्ठाणे अणारिए अकेवले जाव असव्वदुक्खप्पहीणमग्गे असाहू एस खलु तच्चस्स ठाणस्स मीसगस्स विभंगे एवमाहिए त्ति।'' साम्प्रतं धर्माधर्मयुक्तं तृतीयस्थान-माश्रित्याह—''अहावरे'' इत्यादि। अथाऽपरस्तृतीयस्थानस्य मिश्रकाख्यस्य विभङ्गो विभागः स्वरूपमाख्यायते। अत्र चाधर्मपक्षेण युक्तो धर्मपक्षो मिश्र इत्युच्यते, तत्राधर्मस्येह भूयस्त्वादधर्मपक्ष एवायं द्रष्टव्यः। एतदुक्तं भवति—यद्यपि मिथ्यादृष्टयः काञ्चित्तथाप्रकारां प्राणातिपातादिनिवृत्तिं विदधति, तथाऽप्याशयाशुद्धत्वादभिनवेऽपि तदन्ये सति शर्करामिश्रक्षी

रपांनवदूखरप्रदेशवृष्टिवदिति तीर्थासाधकत्वान्निरर्थकत्वमाशवा–शुद्धत्वादभिनवेऽपि ते तथा मिथ्यात्वानुभावात् मिश्रपक्षोऽप्यधर्मपक्ष एवावगन्तव्यः, इत्येतदेव दर्शयितुमाह–''जे इमे भवंतीत्यादि''। ये इमे अनन्तरमुच्यमाना आरण्यिकाः कन्दमूलफलासिनस्तापसादयो, ये चावसथिका आवसथो गृहं, तेन चरन्तीत्यावसथिका गृहिणस्तु कुतश्चित्पापस्थानान्निवृत्ता अपि प्रबलमिथ्यात्वोपहतबुद्धयस्ते यदुपवासादिना महता कायक्लेशेन देवगतयः केचन भवन्ति, तथाऽपि ते आसुरीयेषु स्थानेषु किल्विषिकेषूत्पद्यन्ते इत्यादि सर्वं पूर्वोक्तं भणनीयम्, यावदेकान्तमिथ्याभूतं सर्वथैतदसाध्विति तृतीयस्थानस्य मिश्रकस्याऽयं विभङ्गो विभागः स्वरूपमाख्यातनिति । उक्तान्य–धर्ममिश्रस्थानानिासाम्प्रतं तेनाश्रिताः स्थानिनोऽभिधीयन्ते । यदि वा प्रकृतमेवान्येन प्रकारेण विशेषतरमुच्यते इति संगत्याऽग्रिममालापकत्रयं योजितम्–''अहावरे पढमस्स ठाणस्स अहम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिज्जइ–इह खलु पाईणं वा० संतेगइआ मणुस्सा भवंति–गिहत्था महिच्छा महारम्भा महापरिग्गहा अधम्मिया अधम्माणुआ अधम्मिट्ठा अधम्मक्खाई अधम्मपलोई अधम्मपावजीविणो अधम्मवलज्झणा अधम्मसीलसमुदायारा अधम्मेणं चेव वित्तिं कप्पेमाणा विहरंति । हण छिंद भिंद विगत्तगा लोहिअपाणी चंडा रुद्दा खुद्दा साहस्सिआ उक्कं–चणवंचणमायाणियडिकूडकवडसाइसंपओगबहुला दुस्सीला दुव्वया दुप्पडिआणंदा असाहु सव्वाओ पाणाइवायाओ अप्पडिविरया जावजीवाए सव्वओ कोहाओ० जाव मिच्छादंसणसल्लाओ अप्पडिविरया सव्वओ ण्हाणच्चणुम्मद्दणवण्णगंधविलेवण–सद्दफरिसर-सरूवगंधमल्लालंकाराओ अप्पडिविरया जावजीवाए सव्वाओ सगडरहजाणजुग्गिल्लिथिल्लिसिआ संदमाणिया सयणासणजाण-वाहणभोगभोअणपवित्थरविहीओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए० जाव सव्वाओ कूडतुलकूडमाणाओ अप्पडिविरया० सव्वाओ आरंभसमा-रंभाओ अप्पडिविरया० सव्वाओ करणकारणाओ अप्पडिविरया जावजीवाए सव्वाओ पयणपायाणाओ अप्पडिविरया०सव्वाओ कुट्टणपिट्टणतज्जणतालणवहबंधणपरिकिलेसाओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए जे आवन्ने तहप्पगारा सावज्जा अवोहिआ कम्मंता परपाणपरिआवणकरा जे अणारिएहिं कज्जंति तओ वि अप्पडिविरया जावजीवाए, से जहाणामए केइ पुरिसे कलमसूर० जाव एवमेव ते इत्थिकामेहिं मुच्छिआ गिद्धा गढिया अज्झोववन्ना० जाव वासाइं चउपंचमाइं वा छद्दसमाइं वा अप्पतरो वा भुज्जतरो वा कालं भुंजित्तु भोगभोगाइं पविसुइत्ता वेरायतणाइं संचितणित्ता बहूइं पावाइं कम्माइं उस्सन्नाइं संभारकडेण कम्मुणा से जहाणामए अयगोलइ वा सेलगोलइ वा उदगंसि पक्खित्ते समाणे उदगतलमइवइत्ता अहे धरणितलपइट्ठाणे भवति । एवमेव तहप्पगारे पुरिसजाते वज्जबहुले धूतबहुल० जाव अयसबहुले उस्सन्नतसपाणाइवाई काले मासे कालं किच्चा धरणितलमइवइत्ता अहे णरगतलपइट्ठाणे भवति । तेणं णरगा अंतोवट्टा बाहिं चउरंसा अहे खुरप्पसंठाणसंठिया णिच्चंधगारतमसा ववगयगहचंदसूरनरक्खत्तजोइसप्पहामेदवसामंसरुहिरपूयप–डलचिक्खललिताणुलेवणतला असुई वीसा परमदुब्भिगंधा० जाव असुभा णरगा असुभा णरएसु वेदणाओ । नो चेव णं णरगेसु नेरइआ णिद्दाइंति पलायंति वा सूतिं वा रतिं वा धितिं वा मतिं वा उवलभंते, तेणं तत्थ उज्जलं विउलं पगाढं कडुअं कक्कसं चंडं दुक्खं दुग्गं तिव्वं दुरहिआसं णेरइआ वेयणं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति । से जहाणामए रुक्खसिया पव्वयग्गे जाए मूले छिन्ने अग्गे गरुए जओ णित्तं जतो विसमं जतो दुग्गं ततो पवडंति, एवमेव तहप्पगारे पुरिसजाए गब्भाओ गब्भं जम्माओ जम्मं माराओ मारं णरगाओ णरगं दुक्खाओ दुक्खं दाहिणगामिए णेरइए कण्हपक्खिए आगमिस्साणं दुल्लहबोहिए आवि भवइ, एसट्ठाणे अणारिए अकेवले० जाव असव्वदुक्खप्पहीणमग्गे एगंतमिच्छे असाहू पढमस्स ठाणस्स अहम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिए । अहावरे दोच्चस्स ठाणस्स धम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिज्जइ–इह खलु पाईणं वा० संतेगइआ मणुस्सा भवंति। तं जहा– अणारंभा अपरिग्गहा धम्मिया धम्माणुगा धम्मट्ठा० जाव जे आवन्ने तहप्पगारा सावज्जा अबोहिआ कम्मंता परपाणडिपरियावणकरा कज्जंति, तओ वि पडिविरया जावज्जीवाए, से जहाणामए अणगारा भगवंतो इरिआसमिआ भाससमिआ अणगारवण्णओ० जाव सव्वगायपडिकम्मविप्पमुक्का चिट्ठंति । तते णं एएणं विहारेणं विहरमाणा बहुइं वासाइं सामन्नपरिआगं पाउणंति वहु२ आबाहंसि वा उप्पण्णंसि वा अणुप्पण्णंसि वा बहुइं भत्ताइं पच्चक्खित्ता वहुइं वासाहिं अणसणाहिं छेदंति २ जस्सट्ठाए कीरइ णग्गभावे मुंडभावे अण्हाणभावे अदंतवण्णगे अछत्तए अणूवाहणए भूमिसेज्जाफलगसेज्जा० जाव केसलोए बंभचेरवासे परघरप्पवेसे लद्धा अलद्धामाणावमाणणाओ हीलणाओ णिंदणाओ गरहणाओ खिंसणाओ तज्जणाओ तालणाओ उच्चावया गामकंटया बावीसं परीसहोवसग्गा अहिआसिज्जंति तमट्ठमाराहेंति, तमट्ठमाराहेत्ता चरमेहिं उस्सासनीसासेहिं अणंतं अणुत्तरं निव्वाघायं निरावरणं कसिणं पडिपुन्नं केवलवरनाणदंसणं समुप्पाडेंति, समुप्पाडेंतित्ता तओ पच्छा सिज्झंति बुज्झंति मुच्चंति परिनिव्वायंति० जाव सव्वदुरकाणमंतं करेंति, एगच्चाए पुण एगे भयंतारो भवंति अवरे० पुव्वकम्मावसेसेणं कालमासे कालं किच्चा अणुत्तरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति, तं जहा–महड्ढिएसु० जाव महिड्ढीया महज्जुइआ०जाव महासुखाहारविहाराइअवत्था कडगतुडियथंभिअभुया पगयकुंडलम-ट्ठगंडयलकण्णपीठधारी विचित्तवत्थाभरणा विचित्तमालामउलिमउडा कल्लाणगंधपवरवत्थपरिहिआ कल्लाणगपवरमल्लाणुलेवणधरा भासुरबोंदिपलंबवणमालधरा दिव्वेणं रूवणं दिव्वेणं वण्णेणं दिव्वेणं फासेणं दिव्वेणं संघाएणं दिव्वेणं संठाणेणं दिव्वाए इड्ढिए दिव्वाए जुईए दिव्वाए पभाए दिव्वाए छायाए दिव्वाए अच्चाए दिव्वेणं तेएणं दिव्वाए लेसाए दसदिसाओ उज्जोवेमाणा पभासेमाणा गतिकल्लाणा ठितिकल्लाणा आगमेसिं भद्दया वि भवंति, एसट्ठाणे आरिए० जाव सव्वदुक्खप्पहीणमग्गे एगंतसम्मे साहू दोच्चस्स ठाणस्स धम्मपरकस्स विभंगे एवमाहिए। अहावरे तच्चस्स ठाणस्स मीसगस्स विभंगे एवमाहिज्जइ, इह खलु पाईणं वा० संतेगाइआ मणुस्सा भवंति । तं जहा–अप्पेच्छा० जाव सुपडिआणंदा साहु० जाव परपाणपरितावणकरा कज्जंति, तओ वि एगच्चाओ अप्पडिविरया से जहाणामए समणोवासगा भवंति। अभिगयजीवाजीवा उवलद्धपुण्णपावा० जाव अप्पाणं भावेमाणा विहरंति । तेणं एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणा वहुइं वासाइं समणोवासपरिआयं पाउणेंति, पाउणेंतित्ता अवाहंसि उप्प–

ण्णंसि वा अणुप्पण्णंसि वा वहुइं भत्ताइं अणसणाए पचरकाएंति, पच्चरकाएंतित्ता बहुइं अणसणाइं छेदेंति, छेदेंतित्ता आलोइअपडिक्कंता समाहिपत्ता कालमासे कालं किच्चा अण्णयरेसु देवलोएसु उववत्तारो भवंति । तं जहा–महड्ढिएसु महज्जुइएसु० जाव महासुखेसु सेसं तहेव० जाव एसट्ठाणे आयरिए०जाव एगंतसम्मे साहू तच्चस्स ठाणस्स मिस्सगस्स विभंगे एवमाहिए'' त्ति । अथ स्थानत्रयमुपसंहारद्वारेण संक्षेपतो विभणिषुराह–''अविरइं पडुच्च वाले आहिज्जइ, विरइं पहुच्च पंडिए आहिज्जइ, विरताविरतिं पडुच्च वालपंडिए आहिज्जइ, तत्थ णं जा सा सव्वतो अविरतिए एसट्ठाणे आरंभट्ठाणे अणारिए०जाव सव्वदुक्खप्पहीणमग्गे एगंतसम्मे साहू, तत्थ णं जा सा सव्वतो विरताविरती एसट्ठाणे आरंभाणारंभट्ठा आरिए० जाव सव्वदुक्खप्पहीणमग्गे एगंतसम्मे साहू, एवामेव समणुगम्ममाणा इमेहिं चेव दोहिं ठाणेहिं समो अवतरंति । तं जहा–धम्मे चेव अधम्मे चेव उवसंते चेव अणुवसंते चेव।'' (सूत्र०२श्रु०२ अ०) आह च– मिश्रपक्षो मिथ्यादृशामधर्मपक्ष एव, सम्यग्दृशां श्राद्धानामपि स धर्मपक्ष एवेति व्यक्तं फलत : प्रतीयते, साधुश्राद्धमार्गयोः सर्वदुःखप्रक्षीणमार्गत्वात् । यथा च मिथ्यादृष्टेः द्रव्यतो विरतिरपि सम्यक्त्वाभावादविरतिरेव बालशब्दव्यपदेशनिबन्धनं स्यात्, तथा सम्यग्दृष्टेः धर्मकर्मणि द्रव्यतोऽविरतिरपि विरतिकार्यांशिकपाण्डित्यव्यपदेशप्रतिबन्धिका न स्यात्, द्रव्यतयैव निष्फलत्वादिति सूक्ष्ममीक्षणीयम् । अविरतिविषयाणामष्टादशानामपि स्थनानामेकतरांशस्य सत्त्वेऽपि तत्प्रतिपक्षस्य धर्माशस्योत्कटत्वेधर्मपक्ष एव विजयते; अन्यथाऽविरतिसम्यग्दृष्टिकस्याऽपि पक्षस्य स्थानं न स्यात् । ततश्च यन्निष्कृष्योक्तम्–''तत्थ णं जे से पढमस्स ठाणस्स अहम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिज्जइ तस्स णं इमाइं तिन्नि तेवट्ठाइं पावाओ असयाइं भवंति त्ति अक्खाइयं । जहाकिरियावाईणं, आणाणियवाईणं, वेणइअवाईणं ति'' तद्विमर्शे परस्य गगनमालोकनीयं स्यात् । न हि तीर्थकृद्दृष्टानुगत आचारो धर्मः स्वसमयानुगतश्च धर्मः प्रतीयते इति॥९०॥

एतत्सर्वमभिप्रेत्य भक्तिरागप्रतिवन्द्याद् द्रव्यस्तवे धर्मपक्षबलात्परमङ्गीकारयन्नाह–

हिंसांशो यदि दोषकृत्तव जड! द्रव्यस्तवे केन त –
न्मिश्रत्वं यदि दर्शनेन किमु तद्भोगादिकालेऽपि न ।
भक्त्या चेत् न तु साऽपि का यदि मतो रागो भवाङ्गं तदा–
हिंसायामपि शस्तता तु सदृशीत्यत्रोत्तरं मृग्यते ॥९१॥

(हिंसांश इति) हे जड! यदि द्रव्यस्तवे हिंसांशो दोषकृन्मिश्रत्वकृत्, तदा केन तन्मिश्रत्वं कृतं स्यात्? चेत् यदिभक्त्या मिश्रत्वं त्वयोच्यते तर्हि साऽपि भक्तिरपि रागो मतस्तदा भवाङ्गम्, रागद्वेषयोरेव संसारमूलत्वात्तदाऽऽभ्यां संसारान्तर्गताभ्यां धर्मपक्षश्चोत्कटः स्यादिति को मिश्रावकाशः?प्रशस्तरागत्वाद्भक्तिर्भवाङ्गमिति चेत्, तर्हि द्रव्यस्तवानुगतहिंसायामपि शस्तता सदृशी; अत्र तव किमुत्तरमिति मृग्यते? अत्र च सम्यगुत्तरं वर्षसहस्रेणापि न परेण दातुं शक्यमिति मोक्षार्थिभिरस्मदुक्त एव पन्थाः श्रद्धेयः । एतेन षट्पुरुषीप्रदर्शनेन श्रमणोपासकानां न द्रव्यस्तवाधिकार इति का पुरुषस्य पार्श्वस्थस्य मतं निरस्तम् । एवं हि तत्–सर्वतो विरतः१, अविरतः, २,विरताविरतः ३, सर्वतो विरताविरतः ४, श्रमणोपासको देशविरतः ५, सर्वविरतश्च ६ इति तावत् षट् पुरुषा भवन्ति । तत्र सर्वतो विरतः स उच्यते, यः कुगुरुकुदेवकुधर्मश्रद्धावान् सम्यक्त्वलेशेनाऽप्युत्सृष्टमनाः, यमुद्दिश्य–''इह खलु पाइणं वा० ४ संतेगइआ मणुआ भवंति । तं जहा महिच्छा महारंभा'' इत्यादि सूत्रं वृत्तम्।१। अविरतस्तु स उच्यते, यः सम्यक्त्वालङ्कृतोऽपि मूलोत्तरभेदभिन्नो विरतिं पालयितुमसमर्थो जिनप्रतिमामुनिवैयावृत्त्यकरणाशातनापरिहारादिना भूयः प्रकटितभक्तिरागः ।२। विरताविरतश्च स उच्चते, यः पूर्णसम्यक्त्वाभाववानपि स्वोपचितान् सर्वव्रतनियमान् विभर्ति ।३। सर्वतो विरताविरतश्च स उच्यते, यस्य मनसि ''तमेव निस्संतु णीसंकं, जं जिणेहिं पवेइअं ।'' इति परिणामः स्थिरो भवति, परं मनसः प्रमादपारतन्त्राद् भूम्ना साधुसङ्गमाभावात्परिपूर्णं जिनभाषितं न जानीते, कुलक्रमावतां च विरतिं पालयति, पूर्वं संयमज्ञानाभावादारम्भेन जिनपूजां करोति भक्तिरागपारवश्यात्, तत एव संयमवानयमिति वा यावता कृत्येन संयमः पालयितुं न शक्यते तावानेवाविरतिभागः श्रुते भणित इति। यमुद्दिश्येदं सूत्रम्–'' इह खलु पाइणं वा संतेगइआ मणुआ भवंति । तं जहा–अप्पिच्छा अप्पारंभा'' इत्यादि। चतुर्थभङ्गस्त्वविरत्यपेक्षया स्तोकस्याविरत्या तृतीयो भङ्ग इति विवेकः॥४॥ श्रमणोपाशको देशविरतश्च स उच्यते, यः श्रमणोपासनमहिम्ना प्रतिदिनप्रवर्द्धमानसंवेगो यावज्जीवं सूक्ष्मबादरादिभेदपरिज्ञानवान् तत एवास्थिमज्जप्रेमानुरागरक्तचित्तो देशविरतिं गृहीत्वा पालयति सम्यक्त्वसहितव्रतग्रहोत्तमभङ्गरङ्गश्चोभयकालआवश्यकं कुरुते, स एव संयमं जानीते। उक्तं चानुयोगद्वारसूत्रे–''समणेण सावएण य, अवस्स्कायव्वयं हवइ जम्हा । अंतो अहोणिसीए, तम्हा आवस्सयं नाम''॥१॥ दशवैकालिके च–''जो जीवे वि वियाणेइ, अजीवे वि वियाणइ। जीवाजीवे वियाणंतो, सो हु णाहिइ संजमं ॥'' एनमेवोद्दिश्य– ''से जहाणामए समणोवासगा भगवंता अभिगयजीवाजीवा'' इत्यादि सूत्रं प्रवर्त्तते। अयमेव शुद्धजिनप्रतिमानुचितं संयममादियते, हिंसां परिहृत्य जिनविरहे जिनप्रतिमां पूजयति, संयमज्ञो ह्यसौ षट्कायहिंसां परिहरति । अत एवोक्तं महानिशीथे–''अकसिणपवत्तगाणं, विरया–विरयाण एस खलु जुत्तो । जे कसिणसंयमविऊ पुप्फाईअं न कप्पए तेसिं॥१॥'' आवश्यकनिर्युक्तावपि–''जे कसिणसंयमविऊ, पुप्फाईअं ण इच्छंति ।'' इत्यत्र साधुश्रावकयोर्द्वयोरविशेषेण कृत्स्नसंयमज्ञत्वपुष्पादिपरिहारेण पूजाधिकारे तादवस्थ्यमुक्तम्, तत्रैकतरपक्षपातो न श्रेयान्, किं चात्र कारणमिति विचारणीयम्। यदीन्द्राभिषेककरणे सुपर्वाणोऽहमहमिकमौदारिकजलपुष्पसिद्धार्थादीनि गृह्णन्ति, जिनपूजां तु तेनोपचारेण कुर्वन्तीति सुरपुष्पेष्वत्र संभवोऽम्लानत्वं च हेतुश्चेद्, हिंसापरिहार एवायं धर्माभ्युदयाय प्रगल्भा, समवसरणे च वैक्रियाण्येव पुष्पाणि देवाः प्रभोरग्रे देशनावसरे व्याकिरन्ति, मण्यादिरचनाप्यचित्तैवोक्तं राजप्रश्नीयोपाङ्गे–''पुप्फवद्दलयं विउव्वं ति'' इत्यादि नवकमलरचनाप्यचित्तैव ज्ञेया तथामाना, वन्दनाद्यधिकारे पञ्चविधाभिगमविधौ सचित्त द्रव्योज्झनमुक्तमस्ति, जिनभवनप्रवेशेऽपि चैत्यवन्दनभाष्यादावयं विधिरुक्तोऽस्तीति, ततो निरवद्यपूजैव देशविरतस्य संभवतीति श्रद्धेयम्। सर्वविरतश्च स उच्यते–योगृहीतपञ्चमहाव्रतः

समितिगुप्तिसंपन्नो घोरपरीषहोपसर्गसहनदृढशक्तिमान् संन्यस्तसर्वारम्भपरिग्रहः सदानिरवद्योपदेशदाता वाङ्मात्रेणाऽपि सावद्यतन्मिश्रानुमोदकः परडगभीरचेताः संप्राप्तभवपार इति। एतद् हताशस्य डतम्। संमूर्च्छिताऽन्येक्षितघातयतोः सर्वविरताविरतयोरत्यन्तभेदाभावाद् बालत्वव्यपदेशनिबन्धनाविरतेरुभयत्राऽविशेषात् पापस्थानत्वविभाजकोपाधिव्याप्यविषयताका विरतिः सर्वतोऽप्यविरतत्वे द्रव्यतो हिंसादिव्यावृत्तमिथ्यादृष्टिष्ववव्याप्तेः, सम्यक्त्वाभावस्यैव सर्वतोऽविरतत्वपरिभाषणे च सम्यग्दृष्टिव्यावृत्तावप्येकभेदानुगुण्याभावात्फलासिद्धेः। किं चैवं सम्यग्दृष्टिरपि मिथ्यादर्शनविरत्यविरतिभ्यां मिश्रपक्षपातः। इष्टापत्तिस्त्र–''एगच्चाओ मिच्छादंसणसल्लाओ पडिविरियाए० जाव अप्पडिविरियाए जाओ अप्पडिविरया'' इति पाठस्वरसादिति चेत्। न। तस्याकारानाकारादिविषयत्वेन मूलगुणविरत्यभावापेक्षयैवाविरतेर्व्यवस्थापितत्वात्, सम्यक्त्वाभावेन विरतिरेवेति तु कृतमेव भाषितं, का तवाऽऽहोपुरुषिका? एतेन तृतीयभङ्गोऽपि विलूनशीर्षः, संपूर्णश्रद्धाने चाविरतेरेवैकस्याः साम्राज्यात्। यत्किञ्चिदर्थाश्रद्धाने तु ''एकस्मिन्नप्यर्थे संदिग्धेऽर्हति तु निश्चयो नष्टः'' इति न्यायात् संपूर्णश्रद्धानाभावान्मिथ्यात्वस्यैवावस्थितेः। चतुर्थे भङ्गे तु सैव मिथ्यादिसंक्षेपरुचिसम्यक्त्वाभावाद्देशतो विरत्या देशविरतिः संपन्नेति केयं वाचोयुक्तिर्यदुत सर्वतो विरताविरतिः? ननु देशविरतिविशेषपरिज्ञानाभावेऽपि तादृशसम्यक्त्वेन माषतुषादीनां सर्वविरतिरप्यखण्डा प्रसिद्धेति किमपराद्धं देशविरत्या? येनास्य तद्वता न भवेत्। एवं वदतश्च सिद्धान्तलेशमपि नाघ्रातवान् हताशः। तथा चोक्तं भगवत्याम्–''से नूणं भंते! तमेव सच्चं णीसंकं, जं जिणेहिं पवेइअं?' हंता गोयमा! तमेव सच्चं। से नूणं भंते! एवं मणे धारेमाणे एवं पकरेमाणे आणाए आराहए भवति? हंता गोयमा! तं चेव''त्ति। जीवविशेषपरिज्ञानाभावेन मूलतः सम्यक्त्वाभावोक्तौ षट्काय–परिज्ञानवतोऽपि स्याद्वादसाधनानभिज्ञस्य न सम्यक्त्वमित्युपरितनोद्दिष्टं तव सर्वमिन्द्रजालायते। तदुक्तं सम्मतौ–''छज्जीवनिकाए सद्दहमाणो न सद्दहइ भावा। इंदी अपज्जवेसुं, सद्दहणा होइ अविभत्ता''।१। प्रकरणोक्तिरियमिति चेत्, किमुत्तरादावपि नाराधितां स्पृशति। तदुक्तम्–''दावाण सव्वभासा, सव्वयमाणेहि जस्स उवलद्धा। सव्वाहि णयविहीहिं, विरतरुई य त्ति णायव्वो''॥१॥ त्ति। विशेषाभावेऽपि सामान्याक्षतिश्चावयोस्तुल्या। एवं ''ण इमं सक्कमागारमावसंतेहिं'' इत्यादिनाऽपि न व्यामोहः कार्यः। सूत्रस्य नयगम्भीरत्वान्नयगतेश्च विचित्रत्वात्। इह तु तव दुस्तरवारिब्रुडनभयं स्यात्। यदेतत् भक्तिरागेण देवपूजाप्रवृत्तावारम्भात् संयमक्षत्या कथं देशविशतित्वेन भक्तिरागेण संजमापरिगणनाद्विरत्या-विरतिरेव न देशविरतिरिति, तत्तु महामोहाभिनिवेशेनागणितपरलोक-भयस्य तवैव दुस्तरवारिकृताय, असदारम्भपरित्यागेन सदारम्भप्रवृत्तौ शुभयोगः, संयमक्षतिभयाभावात्, भक्तिरागस्य प्रशस्तत्वे दोषाभावात्त-स्यैव च दोषत्वेन विदुषोऽपि बलात्प्रवृत्तिप्रसङ्गात्। न हि विद्वानपि रागौत्कट्याददंयमे न प्रवर्त्तते, श्रमणोपसकानां देशविरतानां पृथग्गुणवर्णनाद्विरताविरतेभ्यस्तेऽतिरच्यन्ते इति चेत्, अहो बालिश! केनेदं शिक्षितम्? किं करुणया विप्रलब्धोऽसि, स्वकर्मणा वा? सूत्रे हि– ''एगच्चाओ पाणाइवायाओ अपमिविरया जावाजीवाए'' ''एगच्चओ अप्पडिविरया''इत्यन्वयः। ''से जहानामए समणोवासगा भवंति'' श्रमणोपासकगुणवतो विरताविरतगुणवद्व्यापकत्वस्यैव लाभाद्भस्तुतः श्रमणोपासकपदेन विरताविरतपरिचरणाद् गुणस्थानविशेषावच्छिन्ने शक्तिग्रहतात्पर्यं श्रमणोपासकपदाद् बुद्धिविशेषानुगतैर्गुणविशेषैरेव बोधे विरतप दादपि व्युत्पत्तिविशेषात्तथैव बोधः समभिरूढनयाश्रयणेन विरताविरतश्रमणोपासकपदार्थभेदस्त्वयाऽभ्युपगम्यते चेदेवं घटकुम्भादिपदार्थभेदोऽपि किं नाभ्युपगम्यत एव, परविभाजकोपाधिभेदाप्रयुक्तत्वेन विभागाननुकूल इति चेत्, प्रकृतेऽपि दीयतां दृष्टिः, ''अकसिणपवत्तगाणं'' इत्यादिमहानिशीथप्रवचनाद् द्रव्यस्तंवाधिकारिणो विरताविरताः, न देशविरताः इति चेत् महानिशीथध्वान्तविलसितमेतद्देवानां प्रियस्य। तत्र हि विशिष्य देशविरतकृत्यमेतद्दानादिचतुष्कं तुल्यफलं चेति व्यक्तमुपदर्शितमेवाधस्तात्। यत्तु कृत्स्नसंयमविदां पुष्पाद्यर्चने नाधिकारात् श्रमणोपासका अपि न तदधिकारिण इति तदधिकारित्वेनोक्ता विरताविरता एवेति चेत्, अहो भवान् पामरादपि पामरोऽस्ति, यः कृत्स्नसंयमविद इत्यस्य वृत्तिकृदुक्तमर्थमपि न जानाति। कृत्स्नसंयमाश्च ते विदो विद्वांस इत्येव हि वृत्तिकृता विवृतमिति। यदि च श्रमणोपासकमहिमलब्धकृत्स्नसंयमपरिज्ञानेन देशविरताः पुष्पाद्यर्चनेनाधिकुर्युः, तदा देवा अपि कृतजिनादिसेवाः पुस्तकरत्नवाचनोपलब्धधर्मव्यवसायाः सम्यक्त्वोपबृंहितनिर्मलावधिज्ञानेनागम्य व्यवहारप्रियाः कथं तन्नाऽपि कुर्युः? अत एवार्चितपुष्पा–दिभिरेव ते जिनपूजां कुर्वन्तीति चेत्, अहो लुम्पकमातृष्वसः! केनेदं तव कर्णे सूचितं, यन्नदीपुष्करिणीकमलादीन्यचित्तान्येवेति सचित्तपुष्पादिना पूजाध्यवसाये द्रव्यतः पापाभ्युपगमेऽचित्तपुष्पादिना ततो भावतः पापस्य दुर्निवारत्वात् महिषव्यापादन इव शौकरिकस्य किमिति मुग्धबन्धनार्थं कृत्रिमपुष्पादिना पूजां व्यवस्थापयसि। एवं हि स्नानजलादिनैवाभिषेकोऽपि वाच्यः, मूलत एव निषेधे किं न भाषसे दुरन्तसंसारकारणं धर्मारम्भशङ्काम्? तदाहुः श्रीहरिभद्रसूरयः अण्णत्थारंभवओ, धम्मेणारंभओ अणाभोगा। लोए पवयणवसा, अवोहिबीयं ति दोसाय॥१॥'' *इन्द्राभिषेके जलादिग्रहणं जिनपूजार्थं तु तत्रत्यस्यैवेत्यत्र* तु कारणं मङ्गलार्थत्वनित्यभक्त्यर्थत्वादिनी, मा विप्रियं कुरु, अभिगमवचनं तु योग्यतया भोगाङ्गं सचित्तपरिहारविषयं, यथा घटमाहरेत्यत्र घटपदं योग्यतया छिद्रेतरविषयम्। अन्यथा सबालकस्त्रियो मुनिवन्दने नाभिगच्छेयुः। चैत्यवन्दनभाष्यादौ चाभिगमेऽचित्तद्रव्योज्झनं श्राद्धानां पुष्पादिना पूजाविधानां चोक्तमिति किमुपजीव्य विरोधेनाभिगम इति खड्गच्छत्रोपानत्प्रभृति चिह्नद्रव्यं ध्वजादिरपरित्याज्यं स्यात्, प्रवचनशोभानुगुणाचित्तद्रव्योपादानमेव द्वितीयार्थ इति चेत्, पूजाद्यवसारे तदनुपयोगिसचित्तद्रव्योज्झनमेव प्रथमार्थ इति किं न दीयते दृष्टिः, येन शाकिनीव वाक्बलमेधाममन्वेषयसि, पुष्पवद्दलविकुर्वणमपि विकरणमात्रसंपादनार्थम्, अधोवृत्तजलस्थलजपुष्पविकरणस्यैव पाठसिद्धत्वात्पूजाङ्गे सचित्तशङ्का तद् दृष्टान्तेनानेया। एते न यदुत्प्रेक्षितं जातिसङ्करवता पूजायामादौ पुष्पाद्युपमर्दादधर्म एव, तदनन्तरं शुभभावसंपत्त्या तु धर्म इति धर्माधर्मसंकर एवेति। तन्निरस्तम्। एवं हि यागे हिंसया प्रागधर्ममुत्तराङ्गदानदक्षिणादिना त्वनन्तरं धर्मं वदतः सब्रह्मचारिता–

पातात्, यत्तत्कात्कालीनासंयमोज्झनं शुभभावेनोक्तं तद्विधिभक्त्यन्तरवैगुण्य एव। अन्यथा स्वरूपासंयमस्य द्रव्यस्तवान्निरेकेणोज्झितुमशक्यत्वादनुबन्धिसंयमस्य चानुद्भवोपहतत्वाद्, द्रव्यस्तवस्याप्रधानत्वमपि स्वरूपत एव विधिभक्तिवसाद्, गुणोपबृंहितभावप्रवृत्तौ भावस्तवस्यैव साम्राज्यात्।

इत्थमेव महाबुद्धिशालिना हरिभद्राचार्येणाऽभिहितं,
तथाऽपि यस्य स्थूलबुद्धेर्मनसि नायाति तदनुकम्पार्थं तद्ग्रन्थपङ्क्तिरत्र लिख्यते–

''दव्वथओ भावथओ, दव्वथओ बहुगुणो त्ति वुद्धि सिया।
अनिउणमइवयणमिणं, छज्जीवहिअं जिणा विंति''॥१॥

द्रव्यस्तवो भावस्तव इत्यत्र द्रव्यस्तवो बहुगुणः प्रभूततरगुण इति एवं बुद्धिः स्यात्, एवं चेन्मन्यसे इत्यर्थः। तथाहि–किलास्मिन् क्रियमाणे वित्तपरित्यागात् शुभ एवाध्यवसायः, तीर्थस्योन्नतिकरणं दृष्ट्वा तं च क्रियमाणमन्येऽपि प्रतिबुध्यन्ते इति स्वपरानुग्रहः, सर्वमिदं सप्रतिपक्षमिति चेतसि निधाय द्रव्यस्तवो बहुगुण इत्यस्यासारताख्यापनायाह–अनिपुणमतिवचनमिदमिति। अनिपुणमतेर्वचनमनिपुणमतिबचनम्, इदमिति द्रव्यस्तवो बहुगुणमिति गम्यते। किं च–षड्जीवहितमित्यत आह–षड्जीवहितं जिना ब्रुवते षण्णां पृथिवीकायादीनां जीवानं हितं, जिनास्तीर्थकरा ब्रुवते। प्रधानं मोक्षसाधनमिति गम्यते।

किं च षड्जीवहितमित्यत आह–

''छज्जीवकायसंजमे, दव्वत्थए सो विरुज्झए कसिणो।
तो कसिणसंजमविऊ, पुप्फाईआ ण इच्छंति''॥१॥

षड्जीवकायसंयम इति, षण्णां जीवनिकायानां पृथिव्यादिलक्षणानां, संयमः संहननादिपरित्यागः षड् जीवकायसंयमः। असौ हि यदि नामैवं ततः किमित्यत आह–द्रव्यस्तवे पुष्पादिसमभ्यर्चनलक्षणे, षड्जीवकायसंयमः, किम्? विरुध्यते न सम्यक्संपद्यते, कृत्स्नः संपूर्ण इति, पुष्पादिसंलुञ्चनसंघटनादिना कृत्स्नसंयमानुपपत्तेः। ततश्चैवं न स्यात्, कृत्स्नसंयमविद्वांस इति, कृत्स्नसंयमप्रधाना विद्वांसस्ततः साधव उच्यन्ते। कृत्स्नसंयमग्रहणमकृत्स्नसंयमविदुषां श्रावकाणां व्यपोहार्थम्। ते किम्? अत आह–पुष्पादिकं द्रव्यस्तवं नेच्छन्ति, यदुक्तं द्रव्यस्तवे क्रियमाणे सचित्तपरित्यागात् शुभ एवाध्यवसाय इत्यादि, तदपि यत्किञ्चिद्यभिचारात् कस्यचिन्दसत्त्वस्याविवेकिनो वा शुभाध्यवसायानुपपत्तेः। दृश्यते च कीर्त्यार्थमपि सत्त्वानां द्रव्यस्तवे प्रवृत्तिरिति शुभाध्यवसायभावेऽपि तस्यैव भावस्तवत्वादितरस्य च तत्कारणत्वेनाप्रधानत्वमेव, ''फलप्रधानाः समारम्भाः'' इति न्यायात्। भावस्तवत एव तस्य सम्यक्त्वादिति पूज्यत्वात्तमेव दृष्ट्वा क्रियमाणमन्येऽपि सुतरां प्रतिबुद्ध्यन्ते शैक्षा इति स्वपरानुग्रहोऽपीहैवेति गाथार्थः।

आह–यद्येवं किप्रयं द्रव्यस्तव एकान्तत एव हेयो वर्तते,
अहोस्विदुपादेयोऽपि। उच्यते–साधुना हेय एव, श्रावकेणोपादेयोऽपि। तथा चाह भाष्यकारः–

''अकसिणपवत्तगाणं, विरयाविरयाण एस खलु जुत्तो।
संसारपयणुकरणो, दव्वत्थए कूवदिट्ठंतो''॥४२॥

अकृत्स्नं प्रवर्तयन्तीति, संयममिति सामर्थ्याद् गम्यते, अकृत्स्नप्रवर्तकाः, तेषां विरताविरतानामिति श्रावकाणामेष खलु युक्तः, एष द्रव्यस्तवः, खलुशब्दस्यावधारणार्थत्वात् युक्त एव। किंभूतोऽयमित्यत आह–संसारप्रतनुकरणः, संसारक्षयकारक इत्यर्थः। द्रव्यस्तवो हेयः प्रकृत्यैवासुन्दरः, स कथं श्रावकाणामपि युक्त इत्यत्र कूपदृष्टान्त इति। ''जहा णवणगराइसन्निवेसे केइ पभूयजलाभावतो तण्हाविपरिगता तदपनोदार्थं कूपं खणंति, तेसिं जइ वि तण्हादिया वड्ढंति, मट्टिकाकद्दमाईहिं अ मलिणइज्जंति, तहा वि तदुब्भवेणं चेव पाणिएणं तेसिं तण्हादीनां सो अ मलो पुव्वगो य फिट्टइ त्ति, सेसकालं च ते तदण्णे य लोगा सुहभागिणो भवंति, एवं दव्वत्थए जइ वि असंजमो तहा वि तओ चेव सा परिणामसुद्धी भवति। जा तं असंजमोवज्जियं अण्णं च णिरवसेसं खवेति त्ति, तम्हा विरताविरतेहिं एस दव्वत्थओ कायव्वो सुभाणुबंधी पभूतणिज्जराफलो अतिका–ऊणम्'' इति गाथार्थः।

अत्र हि द्रव्यस्तभावस्तवक्रिययोः स्वजन्यपरिणामशुद्धिद्वारा तुल्यवन्मोक्षकारणत्वमास्तां ततफलकालव्यवधानाभ्यां तु विशेषः क्रियायाः सत्त्वशुद्धिकारणतावच्छेदकोटौ च प्रणिधानादिना तत्पूर्वकत्वं निवेश्यते ''भावोऽयमनेन विना, चेष्टा द्रव्यक्रिया तुच्छा'' इति वचनात्। ऋजुसूत्रादेशेनापि क्रियायामतिशयाधानभावेनेवेति या द्रव्यक्रिया तुच्छेति शुभानुबन्धे प्रभूतनिर्जरां जनयेत् सा कथमसंयममिति विचारणीयम्। न चैकत्वात् प्रदीपरूपप्रकाशकार्यद्वयदुत्पत्तिकारणान्तराननुप्रवेशात् न हि पापपुण्योपादानकारणशुभाशुभाध्यवसायस्थानयौगपद्यं संभवति, तस्मात्कथञ्चित्पदद्योत्ययतनासमावेशादेव तत्रासंयमोपपत्तिस्तच्छोधनमपि परिणामशुद्ध्या भवतीति सम्यग्मनस्यनियतं, यथा द्रव्यस्तवस्य गृहाश्रमरूपधर्माधिकारितावच्छेदकासदारम्भकर्मापनयनसदारम्भक्रियाव्यक्तिरिति कूपदृष्टान्तोपादानमत्र, नापवादपदादौ मुनयः, प्रधानाधिकारिण एवाङ्गेऽधिकारादिति तत्त्वम्।

''अयमिति विशदो विचारमार्गः,
स्फुरति हृदि प्रतिभावतां मुनीनाम्।
जड मतिवचनैस्तु विप्रलब्धाः,
कति न जडास्तदहो कलिर्बलीयान्॥१॥
निजमतिरुचितप्रकल्पितेऽर्थे,
विबुधजनोक्तितिरस्क्रियापराणाम्।
श्रुतलवमतिदृप्तपामराणां,
स्फुरितमतं समुदीक्ष्य विस्मिताः स्मः॥२॥
विधिवदनुपदं विवृण्वते ज्ञो,
नयगमभङ्गगभीरमाप्तवाक्यम्।
कथमिव मलिनाद्विनिश्चितार्थं,
तदिदमहो न पुनर्जनैर्गृहीतम्?॥३॥
शिष्ये मूढे गुरौ मूढे, श्रुतं मूढमिवाखिलम्।
इति शङ्कापिशाचिन्यः, सुखं खेलन्तु बालिशैः॥४॥
स्फुटोदर्के तर्के स्फुटमभिनवे स्फूर्जति सता–
मियं प्राचां वाचां न गतिरिति मूढः प्रलपति।
न जानीते चित्रां नयपरिणतिं नापि रचनां,
वृथागर्वग्रस्तश्छलमखिलमन्वेति विदुषाम्॥५॥
शोभते न विदुषां प्रगल्भता,
पल्लवज्ञजडसंज्ञिपर्षदि।
पञ्जरे बहुलकाकसंकुले,
संगता न हि मरालालाना॥६॥
कृष्णतासिततयोः स्फुटेऽन्तरे,
गीर्गभीरिमगुणे च भेदिनि।

यस्य हंसशिशुकाकशङ्किता,
तं धिगस्तु जननीं च तस्य धिक्।७॥
अस्तु वस्तु नयतो यथा तथा,
पण्डिताय जिनवाग्विदे नमः।
शासनं सकलपापनाशनं,
यद्वशं जयति पारमेश्वरम्'' ॥८॥६१॥

(२३) प्रतिमायाः प्रामाण्यनिरूपणम्। अत्रातिदेशेन कुमतशेषं निराकुर्वन्नाह—

एतेनेदमपि व्यपास्तमपरे यत्प्राहुरज्ञाः परे,
पुण्यं कर्म जिनार्चनादि न पुनश्चारित्रवद् धर्मकृत्।
तद्वत्तस्य सरागतां कलयतः पुण्यार्जनद्वारतो,
धर्मत्वं व्यवहारतो हि जननान्मोक्षस्य नो हीयते ॥६२॥

एतेन शुद्धजिनपूजाया धर्मत्वव्यवस्थापनेन, इदमपि व्यपास्तं निराकृतं, यत् परे अज्ञा अनधिगतसूत्रतात्पर्याः प्राहुः।किं प्राहुः? जिनार्चनादि पुण्यं कर्म न पुनश्चारित्रवद् धर्मकृत् धर्मकारणम्, व्यापासनहेतुगतिदेशप्राप्तं स्फुटयतिहि यतः, तस्य जिनार्चनादिकर्मणः, तद्वत् चारित्रवत्, सरागतां रागवत्तां कलयतो रागसहितस्य पुण्यार्जनद्वारतः शुभाश्रवव्यापारकत्वेन मोक्षस्य जननाद् व्यवहारतो धर्मत्वं न हीयते। अयं भावः— जिनार्चनादिकं पुण्यं कर्म स्वर्गादिकामनवा करणादिति साधनं न युक्तम्, भ्रान्तकरणे व्यभिचारात्। अभ्रान्तेरिति विशेषणे च विशेष्यासिद्धिः, न हि तादृशा जिनार्चनादिकं स्वर्गाय कुर्वन्ति, किं तु मोक्षायैवेति। अयं च मोक्षायैव तु घटते विशिष्टमतिरुत्तमः पुरुष इति स्वर्गार्थितया विहितत्वादिति हेतुरितिन्नाधिकारिणो विवेकिनः, *सर्वत्र मोक्षार्थिन एवार्थसिद्धेः, क्वचित्साधारण्येनैव फलोपदेशाच्च*, आह वाचकः— ''जिनभवनं जिनबिम्बं, जिनपूजां जिनमतं च यः कुर्यात्। तस्य नरामरशिवसुख—फलानि करपल्लवस्थानि ॥१॥'' इति। एतेषामभ्युदयैकफलकत्वं *हेतुरप्यस्ति असिद्धेः रागानुप्रवेशेन तत्त्वस्य च चारित्रेऽपि सत्त्वात्*, स्वरूपतस्तत्त्वस्य चोभयत्रासिद्धः; निरवच्छिन्नयद्धर्मावच्छेदेनाभ्युदय-जनकता तद्धर्मावच्छेदे त्वर्थचारित्रस्य सरागत्वेनाभ्युदयजनकता, न स्वरूप इति न दोष इति चेत्। न। द्रव्यस्तवत्वेनापि चारित्रजनकताघटित-रूपेणाभ्युदयजनकत्वात्; विजातीययोगत्वेनैव द्रव्यस्तवस्य स्वर्गजन-कतेति चारित्रस्याऽपि तथैव तत्वमिति तत्तुल्यतया पुण्यत्वे काङ्क्षति। अथ शिवहेतवो न भवहेतवो हेतुसङ्करप्रसङ्गादिति निश्चयनयपर्या-लोचनायां सरागचारित्रकालीना योगा एव स्वर्गहेतवः, तच्चारित्रं घृतस्य दाहकत्वं तद्व्यहारनयेनैव चारित्रस्वर्गजनकत्वोक्तेरित्यस्ति विशेष इति चेत्। न। द्रव्यस्तवस्थतोऽपि निश्चयतो योगानामेव स्वर्गहेतुत्वं, न मोक्षहेतोद्रर्व्यस्तवस्येति वक्तुं शक्यत्वाद्दानादिक्रियास्वपि सम्यक्त्वा—नुगमजिनातिशयेन मुक्तिहेतुत्वात्। तदुक्तं विंशतिकायाम्—''दाणाइआउ *एभम्मि चेव सुद्धा न हुंति किरिया उ। एयाओ विहु जम्हा, मोक्खफलाओ* पराओ य ॥१॥'' अन्यथा च तत्रापि योगानामेव निश्चयतः स्वर्गहेतुत्व-मवशिष्यत इति चारित्रं शुद्धोपयोगरूपं योगेभ्यो भिन्नमित्यनुक्तनिश्चय-विवेकोपपत्तिः, पूजादानादिकं तु न योगभिन्नमिति तदनुपपत्तिरिति चेत्। न। भावयया पूजादानादेरपीच्छाद्युपयोगरूपत्वात्। अत एव पूजादा-नादिकं मानसप्रत्यक्षगम्यो जातिविशेष इति परेऽपि सङ्गिरन्ते। वस्तुतो योगस्थैर्यरूपं चारित्रं महाभाष्यस्वरससिद्धमिति महता प्रबन्धेनोपपा-दितमध्यात्ममतपरीक्षायामस्माभिः। तथा च स्थिरयोगरूपस्य चारित्रस्य मोक्षहेतुत्वं, तदवान्तरजातीयस्य च स्वर्गहेतुत्वं वैजात्यद्वारा कल्पनीयं तत्पूजादावपि तुल्यमिति ॥६२॥

आचार्य अप्येनां शंसति। लोकोत्तरलौकिकत्वाभ्यां धर्मपुण्यरूपत्वं तु पूजायामिष्यते इत्याह—

या ज्ञानाद्युपकारिका विधियुता शुद्धोपयोगोज्ज्वला,
सा पूजा खलु धर्म एव गदिता लोकोत्तरत्वं श्रिता।
श्राद्धस्याऽपि सुपात्रदानवदितस्त्वन्यादृशीं लौकिकी—
माचार्या अपि दानभेदवदिमां जल्पन्ति पुण्याय नः ॥६३॥

या ज्ञानादेः, आदिना सम्यक्त्वादिग्रहः; उपकारिका पुष्टिकारिणी, विधियुता विधिसहिता, तथा शुद्धोपयोगेन 'इमां भवतरणे नाविकरूपां भगवत्पूजां दृष्ट्वा बहवः प्रतिबुद्धयन्तां, षट्कायरक्षकाश्च भवन्त्वित्या-द्याकारेणोज्ज्वला, सा पूजा खलु भावपूर्विका असंमोहपूर्विका चेति धर्म एव गदिता, यतः लोकोत्तरत्वं श्रिता, एतादृशगुणप्रणिधानात् पूजाया आगमैकविहितत्वात्, कस्याऽपि?, श्राद्धस्याऽपि, किंवत्?, सुपात्रदानवत्। इतस्त्वन्यादृशीं लौकिकीं सामान्यधर्मवचनप्राप्तां, नः अस्माकं, दानभेदवद्दानविशेषवत्, पुण्या जल्पन्ति, इच्छन्ति।

तदुक्तं बिम्बसाधनमाश्रित्य षोडशप्रकरणे—

''एवंविधेन यद्बिम्ब कारणं तद्वदन्ति समयविदः।
लोकोत्तरमन्यदतो, लौकिकमभ्युदयसारं च ॥१४॥
लोकोत्तरं तु निर्वा—णसाधकं परमफलमिहाश्रित्य।
अभ्युदयोऽपि हि परमो, भवति त्वत्रात्रानुषङ्गेण ॥१५॥
कृषिकरण इव पलालं, नियमादत्रानुषङ्गिकोऽभ्युदयः।
फलमिह धान्यावाप्तिः, परमं निर्वाणमिव बिम्बात् ॥१६॥''
(षो० ७विव०)

एतच्चावाधकं, क्षमाऽऽदिभेदानामप्यलौकिकानामेवोत्तमक्षमणादेवेति सूत्रेण धर्ममध्ये ग्रहणादन्येषामर्थतः पुण्यत्वसिद्धेः लौकिकत्वाभिधाना-देवेत्थमुपपन्नम। आह—''उवगारवगारिविवागवयणधम्मुत्तरा भवे खंती। साविक्खं अइरेगं, लोगिगमिहरं दुगं जइणो ॥१॥'' दानविशेषस्य पुण्यात्वं चानुकम्पादानादौ अल्पतरपापबहुतरनिर्जराकारणत्वेन सूत्रोपदिष्टस्य वादादिपुण्यमध्ये प्रोक्तं धर्ममध्येऽपि, तद्वत्पूजाऽपि स्यादिति परमार्थः ॥६३॥

ननु पूजादानप्रवचनवात्सल्यादिकं सरागकृत्यं, तपश्चारित्रादि—कं तु वीतरागकृत्यमिति विविक्तविभागः, तत्राद्यं पुण्यम्, अन्त्यं धर्मः स्यात्, अत एव धर्मपदार्थो द्विविधः, एकः सं ज्ञानयोगलक्षणो, अन्यः पुण्यलक्षण इति शास्त्रवार्तासमु च्चये हरिभद्रसूरिभिरुक्तं, ततो वाग्भौमिकस्य देवपूजादिकर्मणः कथं धर्मत्वं रोचयामः?

तत्राह

पुण्यं कर्म सरागमन्यदुदितं धर्माय शास्त्रेष्विति,
श्रुत्वा शुद्धनयं न चात्र सुधियामेकान्तधीर्युज्यते।
तस्माच्छुद्धतरं चतुर्दशगुणस्थाने हि धर्मं नयः,

किं ब्रूते न तदङ्गतां त्वधिकृतेऽप्यभ्रान्तमीक्षामहे ॥६४॥

(पुण्यं कर्मेति) पुण्यं सरागकर्म, अन्यदरागकर्म, शास्त्रेषु धर्मायोदितं परिभाषितम्, इति शुद्धनयार्थं श्रुत्वा, न चात्र एवार्थो भिन्नक्रमश्च, नात्रैवेत्यर्थः । सुधियां पण्डितानाम्, एकान्तधीरेकान्ताभिनिवेशो युज्यते, एकनयाभिनिवेशस्य मिथ्यात्वरूपत्वादन्यनयविवारेण तस्य मूलोक्तवचनाच्च ''धम्मकंखिए, पुण्णकंखिए'' इत्यादि धर्मः श्रुतचारित्रलक्षणः, पुण्यं तत्फलभूतं शुभं कर्मेति विवृण्वता वृत्तिकृता साधकफलेच्छाभेदेन भेदेऽपि श्रुतचारित्रभावान्यतरानुगतक्रियाणां धर्मत्वेनैव निश्चययोगव्यवहारनयेनाभ्युपगमत्वात्, गुडजिह्विकया स्वर्गादीच्छाया अप्युपेयमोक्षेच्छाव्याघातकत्वेनाऽदोषत्वात् । प्रयाणभङ्गाभावेन शाश्वतसुखसमो हि सम्यग्दृशां स्वर्गलाभ इति योगमर्मविदः । यद् चोक्तम्–निश्चय एव रुचिः, साऽपि न युक्ता । हि यतः, तस्मादुक्तावान्तरनिश्चयात् (शुद्धतरमिति) शुद्धो नयो निश्चयः, चतुर्दशगुणस्थाने तच्चरमसमये इत्यर्थः । किं धर्मं न ब्रूते, तथा चैकान्ताभिनिवेशे ततोऽर्वाग् सर्वत्राप्यधर्मः स्यात् । स चातिहँस्तत्राऽपीति भावः । शुभः निश्चयाऽभिमतधर्माङ्गभावेन प्रागपि धर्मं व्यवहारनयेनाऽभ्युपगतो ''उभयक्खयहेऊओ, सेलेसीचरमसमयभावी जो । सेसो पुण णिच्छयओ, तस्सेव य साहगो भणिओ''॥१॥ इति धर्मसंग्रहणीप्रतीकपर्यालोचनादिति चेत्, तर्हि त्यक्तस्त्वया एकान्ताभिनिवेशः, आयातोऽसि मार्गेण, प्रत्यपद्यस्व द्रव्यस्तवेऽपि निश्चयधर्मप्रसाधकतया व्यवहारधर्मत्वं, माभूत्तव भ्रान्तिकृद्दूरासन्नत्वदिति भावः । प्रस्थकादिभावः प्रस्थकादिदृष्टान्तभावितविचित्रनैगमनयप्रवृत्तेश्चासद्धेतुत्वात् । तदाह–तदङ्गतां तु शुद्धनिश्चयांभिमतधर्माङ्गतां तु, अधिकृते द्रव्यस्तवेऽपि, अभ्रान्तं भ्रान्तिरहितमीक्षामहेऽतो विशेषदर्शितामस्माकं वचनेनैव त्वयैतत् तत्त्वं ध्येयमित्युपदेशे तात्पर्यम् । अयं च निश्चयनयः परिणतिरूपभावग्राहकाकाष्ठाप्राप्तैवंभूतरूपः, येन शैलेशीचरमक्षणे शुद्धो धर्म उच्यते, अर्वाक् तु तदङ्गतया व्यवहारान् कुर्वद्रूपत्वेन हेतुताऽभ्युपगमश्चास्यर्जुसूत्रतरुपप्रशाखारूपत्वात् । आह गन्धहस्ती ''मूलनिमेणं पज्जवणयस्स उज्जसुअवयणविच्छेदो । तस्स उ सद्दाईआ साहयसाहासुहुमभेया'' ॥१॥ उपयोगरूपं भावग्राहकनिश्चयनयस्तु द्रव्यस्तवकेऽपि शुद्धं धर्मस्वातन्त्र्येणैवाभ्युपैति, रागाद्यकलुषस्य वीतरागगुणलयात्मकस्य धर्मस्य तदाप्यानुभविकत्वात्, तन्मते हि शुद्धोपयोगो धर्मः, शुभाशुभौ पुण्यपापात्मकाविति । यैरप्यात्मस्वभावो धर्म इत्युच्यते, तेषां यदि घटादिस्वभावो घटत्वादिधर्म इति मतं तदाऽनादित्वेनापुरुषार्थत्वापत्तिः । यदि तु स्वकीयो नागन्तुकोऽनुपाधिर्भावो धर्म इति, तदा वर्तमानः स्वकीयः शुभः परिणाम ऋजुसूत्रविषयः स जिनपूजायामप्यक्षत इति कथं न तत्र निश्चयशुद्धो धर्मः? शब्दनयेन सामायिकवद्देशविरतानां धर्मो नेष्यत इति चेत्, किं तावता समभिरूढेनषष्ठगुणस्थानेऽप्यनभ्युपगमाद्वह्निपरिणतोऽयःपिण्डो वह्निरिति तद्भावपरिणत आत्मैव धर्मः, स्वभावपदप्रवृत्तिरपि तत्रैव स्वो भावः पदार्थ इति व्युत्पत्तेः । आह च–''परिणमविनेण दव्वं, तक्कालं तम्मयं ति पण्णत्तं । तम्हा धम्मपरिणओ, अदो धम्मो मुणेअव्वो'' ।१ । इति । एतदप्यधिकृते संबन्धमेव इदं तु वितन्यते, आत्मनो धर्मिणो द्रव्यस्य निर्देशे धर्मद्वारा धर्मत्वम्, अन्यथाऽऽराध्यत्वमितिसंकरः कथं वारणीयः, प्रशान्तवाहिताख्यस्य पर्यायप्रवचनस्यैव निवेशे तु प्रागुक्तो भेदधर्मः किं द्रव्यं पर्यायो वेति जिज्ञासायामित्थमुच्यते इति चेल्लक्षणाधिकारि नेदमुपयोगि, न चिन्ताधिकारी, नयद्वयनिर्देश एव युक्तेनैकनयनिर्देशः तूभयनिग्रहस्थानप्रसङ्गात् । यथोक्तं भगवता भद्रबाहुस्वामिना सामायिकमधिकृत्य–''किं दारे जीवो गुणपडिवन्नो णयस्स दव्वट्ठियस्स । सामाइअ सो चेवं पज्जवणयट्ठियस्स एस गुणो ।''त्ति । एतदर्थप्रपञ्चोऽकृतानेकान्तव्यवस्थायाम्, एकनयेनैव धर्मलक्षणे चाभिधातव्ये व्यवहारनयेन तत्प्रणयनमुचितं, निश्चयनयाभ्यां प्रत्ययपरिणामैकान्तपरिणामकत्वेन दुष्टत्वात् । अत एव मूढ ''तइअं कालियं'' इत्याद्युक्तं, सर्वाशङ्कानिराकरणाय च नयद्वेन तत्प्रणयनं न्याय्यं, यथा प्रमादयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसेति तन्वार्थशास्त्रे हिंसालक्षणमभिहितम्, इत्थं विचार्यमाणे च क्रियाहेतुः मुष्टिशुद्धिमच्चित्तं धर्म इति हरिभद्रोक्तं लक्षणमतिव्याप्त्यादिदोषाकलङ्कितं सर्वत्रानुगतं निरवद्यं संगच्छते, अधर्मश्चित्तप्रभव इत्यादि षोडशकं, तद्वृत्तिश्चास्मत्प्रणीता योगदीपिकानाम्नी अनुसरणीया, यावानुपाधिविगमस्तावान् धर्म इत्यप्युभयोपाधिविगमो, नोभयनयानुगतं सर्वत्र सङ्गम्यमानं रमणीयमेव । ''सेवंतो कोहं च माणं च मायं च लोभं च एस नासगस्स दंसणं'' इत्यादिसूत्रमप्यत्र प्रमाणमेव ।

''द्रव्यस्तवे तदिह भक्तिविधिप्रणीते,
पुण्यं न धर्म इति दुर्मतिनां कुबुद्धिः ।
तत्तद्नयैस्तु सुधियां विविधोपदेशः,
संक्लेशभाग् यदि जडस्य किमत्र चित्रम्? ॥१॥
अधर्मः पूजेति प्रलपति स लुम्पाकमुखरः,
श्रयन्मिश्रं पक्षं तमनुहरते पाशकुमतिः ।
विधिभ्रान्तः पुराणं वदति तपगच्छोत्तमबुधः,
सुधासारां वाणीमभिदधति धर्मो ह्ययमिति॥२॥'' ॥६४॥

गम्भीरविचारे गुरुपारतन्त्र्येणैव फलवत्तां दर्शयन्नुपदेशसर्वं स्वमाह–

**इत्येवं नयभङ्गहेतुगहने मार्गे मनीषोन्मिषेद्,
मुग्धानां करुणां विना न सुगुरोरुद्यच्छतां स्वेच्छया ।
तस्मात्सद्गुरुपादपद्मयुगः स्वं संविदानो बलं,
सेवां तीर्थकृतां करोतु सुकृती द्रव्येण भावेन वा ॥६५॥**

इत्येवममुना प्रकारेण, नया नैगमादयो, भङ्गाः संयोगाः, हेतवश्च उत्कृष्टाद्यपेक्षया दशपञ्चाद्येकावयववाक्यानि, तैर्गहने गम्भीरे, मार्गे स्वेच्छा स्वोत्प्रेक्षया, उद्यच्छतामुद्यमं कुर्वतां मुग्धानां, मनीषा बुद्धिः, सुगुरोः करुणां विना नोन्मिषेदत्र निराकाङ्क्षतया विश्रामे च तस्मात्सुद्गुरुपादपद्मे मधुपः सन्, गुर्वाज्ञामात्रवर्त्ती सन्नित्यर्थः । स्वं बलं यौग्यतारूपं संविदानो जानन् । परस्मैपदिनः प्रत्ययस्य रूपमिदम्, पराभिसन्धिमसंविदानस्वत्येत्रेवेति बोध्यम् । द्रव्येण गृही भावेन सुकृती साधुस्तीर्थकृतां सेवां करोतु, यथाधिकारं भगवद्भक्तेरेव परधर्मत्वात् ॥६५॥

एतत्सर्वं प्रतिमाविषये भ्रान्तमिव दूषणं पुर इव परिस्फुरन्तंहृदयमिवानुप्रविशन्तं सर्वाङ्गीणमिवालिङ्गन्तं समापत्यैकतामिवोपगतं श्रीशङ्खेश्वरपुराधिष्ठितं पार्श्वपरमेश्वरं संबोध्याभिमुखीकृत्यैव यत्रापि वादी संबोध्यस्तत्राप्यार्थिकी भगवतसंबुद्धिर्मयैवं तन्मतामृबाह्यो दूष्यत इति स्फुरितेयं पर्यवसन्नेति तत्रैव नयभेदमुदर्शयति–

सेयं ते व्यवहारभक्तिरुचिता शङ्खेश्वराधीश! यद्,
दुर्वादिव्रजदूषणेन पयसा शङ्कामलक्षालनम्।।
स्वात्माऽऽरामसमाधिबाधिनभवैर्नास्माभिरुन्नीयते,
दूष्यं दूषकदूषणस्थितिरपि प्राप्तैर्नयं निश्चयम्।।६६।।

हे श्रीशङ्खेश्वराधीश! सेयं ते तव उचिता व्यवहारभक्तिः व्यवहारनयोचिता भक्तिः, कृता इत्यर्थः। विधेयप्राधान्यानुरोधात् स्त्रीत्वनिर्देशः। यद् दुर्वादिनां व्रजः समूहस्तद्दूषणरूपेण, पयसा नीरेण, शङ्कारूपमलस्य क्षालनं व्यवहरन्तीहशिष्टाः, परसमयदूषणपूर्वं स्वसमयस्थापनस्य भगवद्यथार्थवचनगुणस्तुत्यो वासनं च । तदाहुः श्रीहेमसूरयः– ''अयं जनो नाथ! तव स्तवाय, गुणान्तरेभ्यः स्पृहयालुरेव । विगाहतां किन्तु यथार्थवादमेकं परिक्षाविधिदुर्विदग्धः''॥२॥ उदयनोऽपि सर्वप्रसिद्धमीश्वरमुद्दिश्य उपासनात्वेनैव करणीयतामाह। तदुक्तं न्यायकुसुमाञ्जलौतदेवं जातिगोत्रप्रवरचरणकुलधर्मादिवदासंसारं प्रसिद्धानुभवे भगवति किं निरूपणीयम्? तथाऽपि ''न्यायचर्चेयमीशस्य, मनन्वयपदेशभाक्। उपासनैव क्रियते, श्रवणानन्तरागता ''॥३॥ यदीयं व्यवहारभक्तिस्तदा निश्चयभक्तिः का? उच्यताम्, इत्याकाङ्क्षायामाहस्वात्मेति। स्वात्मैवाऽऽरामोऽत्यन्तसुखहेतुत्वानन्दनवनसदृशः, स्वात्मानमारामयति समन्तात् क्रीडयति तादृशो वा यः समाधिः शुभोपयोगरूपः संप्रज्ञातः, अपश्चिमविकल्पनिर्वचनद्रव्यार्थिकोपयोगजनितलेशतो वा संप्रज्ञातो लयरूपः, तेन बाधितो बाधितानुवृत्त्या स्थापितः, संसारो यैः, कुतस्तत्त्रितयानुगतो वादग्रन्थ इति ध्यानदशायां निश्चयभक्तिस्थितानामस्माकं सर्वत्र समये च परिणामो, व्युत्थाने व्यवहारभक्तौ तु परपक्षदूषणमसंभावनाविपरीतभावनानिरासायैव, एतेन रागद्वेषकालुष्यमित्यु–चितत्वमात्रं वेदितं भवति ॥६६॥

अथ साक्षात् स्तुतिमेवाह कतिपयैः–

दर्शं दर्शमवापमव्ययमुदं विद्योतमाना लस–
द्विश्वासं प्रतिमामकेन रहित! स्वान्ते सदानन्द! याम्।
सा धत्ते स्वरसप्रसृत्वरगुणस्थामो चितामानमद–
विश्वा संप्रति मामके नरहित! स्वान्ते सदानं दयाम् ॥६७॥

(दर्शं दर्शमिति) अकेन रहित सर्वदुःखविप्रमुक्त, अत एव सदानन्द! संप्रति योग्यानन्द,! ते तव प्रतिमां मूर्तिम्। कीदृशीम्, सद्भावस्थापना–मित्यर्थः । यां दर्शं दर्शं दृष्ट्वा २ प्रतिप्रवर्द्धमानशुभपरिणामोऽहम्, अव्ययमुदं विगलितवेद्यान्तरपरब्रह्माऽऽस्वादसोदरशीतरसास्वादमवापं प्रापम्, कुत्र? स्वान्ते हृदये, कथम्? लसद्विश्वासं लसन् विश्वासो यत्र यस्यां क्रियायाम्, अविश्वस्तस्य रमणीयदर्शनेनापि सुखानवाप्तेर्धर्मोऽपि सर्विचिकित्सस्य समाध्यलाभात्। तथा परमार्षम्–''मिच्छासमावन्नेणं अप्पाणेणं '' न लभते समाधिरिति। हे नरहित ! मनुष्यहितकारिन्,! सा तव प्रतिमा, संप्रतिदर्शनजन्यभावनाप्रकर्षकाले, मयि सदानं दयां धत्ते,अभयदानसहितं दयावृत्तिं पोषयति, ज्ञानोत्कर्षस्य निश्चयचारित्रस्य परमेश्वरानुग्रहजनितस्य तदुभयस्वरूपात, ज्ञानोत्कर्षश्चातिशयिता भावेनैवेति । दयां कीदृशीम्? स्वरसप्रसृत्वरं मनुष्यादि प्रवर्त्तमानं, यद्गुणस्थानं, तदुचितां तदनुरूपाम्, अनुग्राह्यानुग्राहकयोग्ययोर्द्वयोस्तुल्यवृत्तित्वात् । अत एव ''अनियोगपरोऽप्या गमः'' इति योगाचार्यः। यन्मतपक्षप्रवृत्तौ निश्चयतश्चारित्रवान्, तेन चारित्रं लभ्यते इत्यर्थः। सा किदृशी? आनमद्विश्वा नमन् विश्वो यस्यां सा तथा, अत एव विद्योतमाना विशेषेण भ्राजमाना। यमकालङ्कारः॥६७॥

त्वद्बिम्बे विधृते हृदि स्फुरति न प्रागेव रूपान्तरं,
त्वद्रूपे तु ततः स्मृते भुवि भवेन्नो रूपमात्रप्रथा।
तस्मात् त्वन्मदभेदबुद्ध्युदयतो नो युष्मदस्मत्पदो–
ल्लेखः किञ्चिदगोचरं तु लसति ज्योतिः परं चिन्मयम् ॥६८॥

त्वद्बिम्बे हृदि विशेषेण धृते सति, प्रागेव सुतरां रूपान्तरमाकारान्तरं, न स्फुरति न स्मृतिकोटिमाटीकते, सदृशदर्शनविधावस्मारके त्वद्बिम्बे तदन्यस्य स्मृतिपथारोहायोगात्, त्वद्बिम्बमेव च तादृशं प्रकृतिरमणीयं, येनान्यबिम्बमेव दृक्पथं नागन्तुं दीयते, कुतस्तरां तदाकारिणि देवत्वम्, उपनीतदोषेणापि भावात्।

अवदानाष्टसहस्रीविवरणे–

''यदेवैतद्रूपं प्रथममिह सालम्बनतया,
तदेव ध्यानस्थं घटयति निरालम्बनसुखम्।
रमागौरीगङ्गावलयशरकुन्तासिकसिकतं,
कथं लीलारूपं स्फुटयतु निराकारपदवीम्॥१॥
अतर्क्या लीलाऽस्येत्यपि कपिकुलाधीतचपल–
स्वभावोद्भ्रान्तत्वं विदधति परीक्षां हि सुधियः।
न यद् ध्यानस्याङ्गं तदिह भगवद्रूपमपि किं,
जगल्लीलाहेतुर्बहुविधमदृष्टं जनयति ?॥२॥'' इति

ततस्त्वद्बिम्बालम्बनध्यानानन्तररूपे ध्याते सति भुवि रूपमात्रप्रधानं भवेत्, सर्वेषां रूपाणां ततो निकृष्टत्वात्, सर्वोत्कृष्टत्वेनैव भगवद्रूपस्य ध्येयवात्।

तदाहुः–

''सर्वजगद्धितंमतिशय–संदोहसमृद्धिसंयुक्तम्।
ध्येयं जिनेन्द्ररूपं, सदसि गदनतत्परं चैव॥१॥
सिंहासने निविष्टं, छत्रत्रयकल्पपादपस्याधः।
सत्त्वार्थसंप्रवृत्तं, देशनया कान्तमत्यर्थम्॥२॥
आधीनां परमौषध–मव्याहतमखिलसंपदां बीजम्।
चक्रादिलक्षणयुतं, सर्वोत्तमपुण्यनिर्माणम्॥३॥
निर्वाणसाधनं भुवि, भव्यानामतुलमाहात्म्यम्।
सुरसिद्धयोगिवन्द्यं, वरेण्यशब्दाभिधेयं च'' ॥४॥ इति

तस्मात् त्वद्रूपध्यानाद् यद् द्रव्यगुणपर्यायसादृश्यं तेन यतस्त्वन्मदभेदबुद्ध्युदयः स्यात्। तदुक्तम्–''जो जाणदि अरहंते'' इत्यादि। ततः, युष्मदस्मत्पदोल्लेखो न भवति, ध्यातृध्यानध्येयानां त्रयाणामेकत्वप्राप्तेः। ततः किञ्चिदगोचरं, चिन्मयं ज्योतिः, परमनुपमं, लसति, तद्ध्याने च क्षीणकिल्विषत्वान्नैश्चयिकद्रव्यगुणपर्यायसाम्यपर्यालोचनायां त्वमहं च लिख्येते, ततश्च भिन्नत्वेन ज्ञातयोरभेदस्यायोग्यत्वाज्ज्ञानयुष्मदस्मत्पदयोर्वेदान्तरीत्याऽखण्डब्रह्मणि जहदजहल्लक्षणायामतुलं यद् निर्विकल्पकसाक्षात्काररूपज्ञानमाविर्भवति, भेदतया, अर्थव्युत्क्रान्ताभेदग्राहिद्रव्यार्थोपयोगेन वा, सोऽयमनालम्बनयोगश्चरमावञ्चकयोगप्राप्तिहिम्नि यद्दर्शनात्तद् भवति, सा भगवत्प्रतिमा परमोपकारिणी, तद्गुणवर्णने योगीन्द्रा अपि न क्षमाः, इत्यावेदितं भवति । ननु कथमर्वाग्दृशां भगवत्प्रतिमादर्शनाज्जातप्रमोदानां प्राणिनां संभवति, इषु–

पातज्ञानेन केवलज्ञानादर्वाग् तदभिधानात्। उक्तं च—''द्रागस्मात्तद्दर्शनमिषुपातमात्रतो ज्ञेयम्। एतद्धि केवलं तद्, ज्ञानं यत्तत्परं ज्योतिः''॥१॥ इति। सत्यम्। तत्त्वतस्तदानीमेव संभवेऽपि योग्यतया प्रागप्युक्तौ बाधकाभावात्। शुक्लध्यानवत्, योगानुभवश्चात्र साक्षीति किं वृथाऽऽडम्बरेण ॥९८॥

उक्तमेव भावयन्नभिष्टौति—

किं ब्रह्मैकमयी किमुत्सवमयी श्रेयोमयी किं किमु,
ज्ञानानन्दमयी किमुन्नतिमयी किं सर्वशोभामयी।
इत्थं किं किमिति प्रकल्पनपरैस्त्वन्मूर्तिरुद्वीक्षिता,
किं सर्वातिगमेव दर्शयति सद्ध्यानप्रसादान्महः ॥९९॥

किं ब्रह्मैकमयी ब्रह्मैव एकं प्रचुरं स्यां सा, ब्रह्मणैकमयी ब्रह्मैकमयी, स्वरूपोत्प्रेक्षेयम्। एवमग्रऽपि किमुत्सवमयीत्यादौ उत्सवादयोऽपि ब्रह्मविवर्ता एव उत्प्रेक्षिताः, तेन नाक्रमदोषः, उत्प्रेक्षिते क्रमस्यातन्त्रत्वात्। यथा मनोराज्यमेव तत्र क्रमप्रवृत्तेः, 'ब्रह्माद्वयस्यान्वभवत्प्रमोदम्' इत्यादाविति बोध्यम्। इत्थममुना प्रकारेण, किं किमिति प्रकल्पनपरैः कविभिः, त्वन्मूर्तिरुद्वीक्षिता सती, ज्ञानानिवर्तकस्य रूपस्य कुत्राप्यलाभात्, सद्ध्यानप्रसादान्निर्विकल्पकलयाऽधिगमात् किंशब्दमवगच्छति यत्तादृशं महः स्वप्रकाशज्ञानं दर्शयति। उक्तं च सिद्धस्वरूपं परमार्षे—''सव्वे सरा णियट्टंति तक्का जत्थ णावि एज्ज एयइ तत्थ एगाहिआओ एअप्पइट्ठाणस्स से यन्नेसेण सद्देण रूवेण'' इत्यादि स्वतःसिद्धता, तत्र च जिज्ञासेति सकलप्रयोजनमौलिभूतपरब्रह्मास्वादप्रदत्वाद् भगवन्मूर्तिदर्शनं भव्यानां परमहितमिति द्योत्यते ॥९९॥

प्रागर्थगर्भा स्तुतिमाह—

त्वद्रूपं परिवर्ततां हृदि मम ज्योतिःस्वरूपं प्रभो!,
तावद्यावदरूपमुत्तमपदं निष्पापमाविर्भवेत्।
यत्रानन्दघने सुरासुरसुखं संपिण्डितं सर्वतो,
भागेऽनन्ततमेऽपि नैति घटनां कालत्रयीसंभवि ॥१००॥
स्वान्तं शुष्यति दह्यन्ते च नयनं अस्मीभवत्याननं,
दृष्ट्वा त्वत्प्रतिमामपीह कुधिया मित्याप्तलुप्तात्मनाम्।
अस्माकं त्वनिमेषविस्मितदृशां रागादिषां पश्यतां,
सान्द्रानन्दसुधानिमज्जनसुखं व्यक्तीभवत्यन्वहम् ॥१०१॥
मन्दारद्रुमचारुपुष्पपिकरैर्वृन्दारकैरर्चितां,
सद्वृन्दाभिनतस्य निर्वृतिलताकन्दायमानस्य ते।
निस्यन्दात् स्नपनामृतस्य जगतीं पान्तीममन्दाया—
वस्कन्दात्प्रतिमां जिनेन्द्र! परमानन्दाय वन्दामहे ॥१०२॥

(त्वद्रूपमिति) हे प्रभो! मम हृदि त्वद्रूपं तव रूपं परिवर्ततामनेकधा येन केन प्रकारेण परिणमतु, किंवत्? यावद् क्षीणकिल्विषमरूपं रूपरहितं, उत्तमपदं फलीभूतं साधनीभूतमप्रतिपाति, ध्याने नाविर्भवेत्तावत्, उत्तमपदमभिष्टौतियत्र यस्मिन्नानन्दघने आनन्दैकरसे, कालत्रयीसंभवि सर्वतः संपिण्डितमेकराशीकृतं सुरासुरसुखमनन्ततमेऽपि भागे घटनां नैति, अनन्तानन्तमित्यर्थः। यदार्षम्—''सुरासुरसुहसमत्तं, सव्वद्धा पिंडियं अनंतगुणं। ण वि पावे मुत्तिसुहं—ऽणंतेहि विवेगवग्गेहिं ''॥१॥ तथा—''सिद्धस्स सुहोरासी, सव्वद्धापिंडिओ जह हविज्जा। सोऽणंतवग्गभइओ, सव्वागासेण माइज्जा''॥ अत्र सर्वाद्धासंपिण्डनमनन्तवर्गभजनं, सर्वाऽऽकाशमानं चानन्तानन्तरूपप्रदर्शनार्थं, व्यावाधाक्षयसंजातसुखलवानामत्र मेलनाभावाद्वास्तवस्य निरतिशयसिद्धसुखस्य कालेन भेदस्य कर्तुमशक्यत्वात्, न हि न्यासीकृतधनकोटिसत्ता धनिनः कालभेदेन भिद्यते।

तदाहुर्यौगिकाः—

''वावाहक्खयसंजा—यसुहलवभावमेल्लिज्जा।
तत्तो अणंतरुत्तर—खयभावो वा तहा णयो ॥१॥
ण उ तह भिन्नाणं चिय, सुखलवाणं तु एस समुदाओ।
ते तह भिन्ना संभा—व खउवसम जाव जं हुंति ॥२॥
ण य तस्स इमो भावो, ण हु सुखं पि हु परं तहा होइ।
बहुविसलवसंजुत्तो, अमयं पि न केवलं अमयं ॥३॥
सव्वद्धासंपिंडण—मणंतवग्गभयणं जइत्थ सव्वग्गो।
सव्वागासेण माणं, अणंतगुणदंसणत्थं तु ॥४॥
तिन्नि चिय एस रासी, एगाणं तु ठाविया हुंति।
हंदि विसेसेण तहा, अणंतयाऽणंतया सम्मं ॥५॥
तुल्लं च सव्वहेयं, सवेसिं होइ कालभेएण।
जह तं कोडीसत्तं, तह तं णाइसइ सुहुमाणं ॥६॥
सव्वं पि कोडिकप्पिय—मसभद्दवणाइ जं भवे ठविर्यं।
तत्तो तस्सुहसामी—ण होइ इह भेअओ कालो ॥७॥
जइ तत्तो अहिगं खलु, होइ सरूवेण किं वि तो भेओ।
ण हु अज्ज वासकोडी, समयाण पि सो होइ'' ॥८॥

फलस्यानन्दघनत्वेन साधनस्यापि तथात्वं बोध्यम्, इत्थं चारूपध्यानरूपनिरालम्बनयोगायैव रूपस्तुतिरित्यावोदितं भवति। तथा च—''प्रतिमा स्वल्पबुद्धीनाम्'' इत्यादिदर्शनेनाऽपि न व्यामोहः कार्यः, निरालम्बनयोगादर्वाक् स्वल्पबुद्धीनामित्यादि तदधिकारसिद्धेः, सालम्बनयोगसंपादकत्वेनैव तस्याश्चारितार्थत्वात्। अन्यथा केवलज्ञानकालाननुवर्ति श्रुतज्ञानमप्यनुपजीव्यं स्याद् देवानां प्रियस्येति न किञ्चिदेतदित्यर्थः॥१०२॥ प्रति०॥

इति दर्शितं जिनप्रतिमाया आगमोपपत्तिभ्यां युक्तत्वम्।

(२४) तत्र जिनभवनकारणविधिः—

नमिऊण वद्धमाणं, वोच्छं जिणभवणकारणविहाणं।
संखेवओ महत्थं, गुरूवएसाणुसारेणं ॥१॥

नत्वा प्रणम्य, वर्द्धमानं महावीरम्, वक्ष्ये भणिष्यामि, जिनभवनकारणविधानमर्हदायतनविधापनविधिम्, संक्षेपतः समासेन, न पुनर्विस्तरतः पूर्वसूरिवत्, महार्थं बृहदभिधेयं, न तु संक्षिप्तत्वेनाल्पसूत्रतयाऽल्पार्थम्, गुरूपदेशानुसारेण आचार्यशिक्षाऽनुरूप्येण, न तु स्वोत्प्रेक्षिततया, व्यभिचारित्वाशङ्क्या तस्यानादेयताप्रसंगादिति गाथार्थः॥१॥

'जिनभवनकारणविधानं वक्ष्ये' इत्युक्तं, जिनभवनं च येन कारयितव्यं, तमादौ तावन्निरूपयन्नाह—

अहिगारिणा इमं खलु, कारेयव्वं विवज्जए दोसो।
आणाभंगाउ चिय, धम्मो आणाऍ पडिबद्धो ॥२॥

अधिकारिणा तत्कारणयोग्यतावतैव, इदं जिनभवनम्, खलुरवधारणे। तस्य च प्रयोगः प्रागुपदर्शित एव। कारयितव्यं विधापयितव्यम्। अथ किमित्यधिकारिणैवेत्युच्यते? इत्याह—

विपर्यये विपरीतत्वे, अनधिकारिकारण इत्यर्थः। दोषो दूषणमशुभ–कर्मबन्धलक्षणम् । ननु संसारसरित्तरणतरकाण्डकल्पद्रव्यस्तव–विधावपि कथं दोष इत्याह–आज्ञाभङ्गादेव आप्तवचनोल्लङ्घनादेव; आज्ञा चैवं द्रव्यस्तवं प्रति व्यवस्थिता–''अकसिणपवत्तगाणं, विरयाविरयाण एस खलु जुत्तो। संसारपयणुकरणे, दव्वत्थएँ कूवदिट्ठंतो ॥१॥'' अथाज्ञाभङ्गेऽपि कथं दोष इत्याह–धर्मो द्रव्यस्तवादिरूपः, आज्ञायामाप्तवचने, प्रतिबद्धो नियतो वर्त्तते यतोऽतस्तद्भङ्गे दोष एव, धर्माभावलक्षण इति गाथार्थः ॥२॥

आज्ञाप्रतिबद्धत्वमेव धर्म्मस्य दर्शयन्नाह–

आराहणाएँ तीए, पुण्णं पावं विरहणाए उ।
एयं धम्मरहस्सं, विण्णेयं बुद्धिमंतेहि ॥३॥

आराधनया पालनया, पञ्चमीसप्तम्योर्वैकवचनं व्याख्येयम्। तस्या आज्ञायाः, पुण्यं शुभकर्म भवति। पुण्यं च धर्म एव, तद्धेतुकत्वात् पुण्यस्य। पापमशुभं कर्म भवति। विराधनया तु बाधया पुनः, आज्ञाया एव धर्म्मनिमित्ततां प्रति पुरस्करणायाऽऽह–एतदनन्तरोक्तमाराधनावि-राधनारूपं विधिनिषेधद्वारेण, धर्मरहस्यं कुशलकर्मगुह्यम्, विज्ञेयं ज्ञातव्यम्, बुद्धिमद्भिः पण्डितैः, यतः पारलौकिकेषु विधिष्वाज्ञात एव प्रवृत्तिनिवृत्ती भवतः, प्रत्यक्षादीनां तत्राप्रवृत्तेः, अनाप्तवचनस्य च व्यभिचारित्वादिति। आह च–''यस्मात्प्रवर्त्तकं भुवि, निवर्त्तकं चान्तराऽऽत्मनो वचनम्। धर्मश्चैतत्संस्थो, मौनीन्द्रं चैतदिह परमम् ॥१॥'' इति गाथार्थः ॥३॥

तदेवं जिनभवनकारणविधानाधिकारिणं प्रस्ताव्य तमेव गाथायुग्मेन निदर्शयन्नाह–

अहिगारी उ गिहत्थो, सुहसयणो वित्तसंजुओ कुलजो।
अक्खुद्दो धिइबलिओ, मइमं तह धम्मरागी य ॥४॥
गुरुपूयाकरणरई, सुस्सूसाइगुणसंगओ चेव।
णायाऽहिगयविहाण–स्स धणियमाणप्पहाणो य ॥५॥

अधिकारी तु योग्यः पुनर्जिनभवनविधौ गृहस्थोऽगारी, न तु साधुः विशेषप्रतिज्ञारूढत्वात्तस्य। सोऽपि न सामान्यः, इत आह–शुभस्व–जनोऽसंक्लिष्टबान्धवः। अशुभस्वजनो हि स्वजनानां लोकध–र्म्मविरुद्धचारित्वेन न शुभभाववृद्धिमवाप्नोति, न च प्रवचनं प्रभाव–यितुमलम्। एतद् द्वयार्थमेव हि जिनभवनारम्भो विवेकिनामिति। सोऽपि वित्तसंयुक्तो द्रव्यपतिः, अनीदृशस्य हि तदारब्धमपि न सिद्ध्यति, तदसिद्धौ च खेदभाजनं भवति, पराभ्यर्थनाद्वारेण तत्सा–धयन्नपि जनहास्यो भवति–''अहो जिनभवनकारणव्याजेनायं कुटुम्बं पुष्णाति'' इतिसंभावनाहेतुत्वादिति। सोऽपि कुलजः प्रशस्यकुलजातोऽनिन्द्य-कुलजातो वा। अन्यथाविधेन हि विहितं तन्नात्यन्तं लोकादेयं स्यादिति। सोऽप्यक्षुद्रोऽकृपणः, कृपणो ह्यौचित्येन द्रव्यव्ययकरणाशक्तत्वान्न तत्साधनाय, शासनप्रभवनाय चालम्। अथवाऽ क्षुद्रोऽक्रूरः। क्रूरेण हि परोपतापित्वाज्जनद्वेष्येण कृतं तदायतनं, तन्मत्सरेण जनद्वेष्यं स्यादिति। सोऽपि धृतिबलिकः चित्तसमाधानलक्षणसामर्थ्ययुक्तः। धृतिबलविहीनो हि द्रव्यव्यये पश्चात्तापान्न पुण्यभाजनं भवति। सोऽपि मतिमान् बुद्धियुक्तः, मतिविहीनो ह्यनुपायप्रवृत्तेर्न दृष्टादृष्टफलभाक् भवति। तथेति समुच्चये। सोऽपि धर्मरागी श्रुतचारित्रलक्षणधर्मानुरक्तः, धर्मानुरागी ह्ययुक्तगुणकलापोपेतो न जिनभवनविधाने प्रवर्तते, प्रवृत्तावपि नाभिप्रेतफलसिद्धिभागिति नासावधिकारी। चशब्दः समुच्चयार्थ एवेति ॥ तथा गुरवः पूज्याः, लौकिका लोकोत्तराश्च। लौकिकाः पित्रादयो वयोवृद्धाश्च, लोकोत्तरास्तु धर्माचार्यादयः। तेषां पूजाकरणे यथोचितविनयाद्यर्चाविधौ, रतिरासक्तिर्यस्य स तथा, गुरुपूजाकरणरतो वा, एवंविधो हि जनप्रियत्वेन ससहायतया समारब्धसाधनसमर्थो भवति। तथा शुश्रूषादिगुणसङ्गत एव च, शुश्रूषा श्रोतुमिच्छा, तदादयोऽष्टौ गुणाः। तद्यथा–'' शुश्रूषा श्रवणं चैव, ग्रहणं धारणं तथा। ऊहापोहोऽर्थविज्ञानं, तत्त्वज्ञानं तु धीगुणाः ॥१॥''तैः समन्वित एव च। चैवशब्दो समुच्चयावधारणार्थौ नियोजितावेव। एवंविधो हि शास्त्रसंस्कृतबुद्धित्वेनोपायज्ञतयेप्सितार्थसाधको भवति। अस्यैव विशेषमाहज्ञाता विद्वान्, कस्येत्याह–अधिकृतविधानस्य जिनभवन-कारणविधेः, एवंविधेन हि क्रियमाणं तद्विवक्षितार्थसाधकं भवति। तथा धनिकमत्यर्थम्, आज्ञाप्रधानश्चागमपरतन्त्रश्च; एतेन हि तत्कारितं लोकोत्तरक्रियत्वेन निर्वाणाङ्गं भवति। चशब्दः समुच्चयार्थः। इति गाथाद्वयार्थः ॥५॥

अथ कस्मादस्यैव गुणगणो मृग्यत इत्याह–

एसो गुणड्ढिजोगा, अणेगसत्ताण तीएँ विणिओगा।
गुणरयणवियरणेणं, तं कारितो हियं कुणइ ॥६॥

एषोऽनन्तरोक्तो जिनभवनविधानाधिकारी, गुणर्द्धियोगादनन्तरो–क्तगुणश्रीयुक्तत्वात्, अत एव तस्या गुणर्द्धेर्विनियोगात् स्वकीये स्वकीये कार्ये व्यापारणाद्, अत एव गुणरत्नवितरणेन सम्यक्त्वबीजसम्य-ग्दर्शनादिलक्षणगुणमाणिक्यविश्राणनेन अनेकसत्त्वानामिति संबन्ध-नीयम्। तज्जिनभवनं, कारयन् विधापयन्, हितं श्रेयः, करोति विदधाति, अनेकसत्त्वानामात्मनो वेति। अतो हितहेतुत्वाद् गुणगणोऽन्विष्यते। इति गाथार्थः ॥६॥

गुणरत्नवितरणेनेत्युक्तं तत्पुरनरस्य यथा स्यात्तथा दर्शयन्नाह–

तं तह पवत्तमाणं, दट्ठुं केइ गुणरागिणो मग्गं।
अण्णे उ तस्स बीयं, सुहभावाओ पवज्जंति ॥७॥

तं जिनभवनकारणाधिकारिणम्, तथा तेन प्रकारेणोक्तगुणानुरूपल–क्षणेन, प्रवर्त्तमानं जिनभवनविधौ घटमानम्, दृष्ट्वा उपलभ्य, केचिदेक–तमे जीवाः। किंविधाः? गुणरागिणो गुणपक्षपातिनः, तदन्येषां मार्गादिप्रतिपत्तेरसंभवात् मार्गं सम्यग्दर्शनादिकं मोक्षपथम्, प्रतिपद्यन्त इति योगः। अन्ये तु मार्गप्रतिपत्तृभ्योऽपरे पुनः, तस्य मार्गस्य, बीजं हेतुप्रवचनप्रशंसादिकम्। कुत इत्याह–शुभभावात् शोभनपरिणामाद् गुणानुरागरूपात्, प्रतिपद्यन्ते समाश्रयन्ति, इति गाथार्थः ॥७॥

शुभभावाद् बीजं प्रतिपद्यन्त इति यदुक्तं तत्समर्थनार्थमाह–

जो च्चिय सुहभावो खलु, सव्वन्नुमयम्मि होइ परिसुद्धो।
सो च्चिय जाइय बीयं, वोहीए तेणणाएणं ॥८॥

य एव जघन्यादिरूपतयाऽसामान्या, शुभभावः प्रशस्तपरि–

णामः प्रशंसादिरूपः, खलुवाक्यलङ्कारे, सर्वज्ञमते सर्ववेदिप्रवचन-विषये, तदन्यविषयस्यातथाविधत्वात्। भवति जायते, परिशुद्धः, न पुनः परानुवृत्त्यादिदूषणोपेतत्वेनापरिशुद्धः, स एवासावेव, परिशुद्धः। शुभभाव एव, जायते संपद्यते, बीजमिव बीजं कारणम्, बोधेः सम्यग्दर्शनस्य; अयं चार्थः कथं समर्थनीय इत्याह—स्तेनज्ञातेन चौरोदाहरणेन। तच्चेदम्—

''इहाभूतां नरौ कौ चि—दन्योऽन्यं दृढसौहृदौ।
युवानौ साहसोपेतौ, चौरौ स्वबलगर्वितौ ॥१॥
भोगलुब्धौ समस्तेच्छा—पूरकद्रव्यवर्जितौ।
तौ च चौर्यं व्यधासिष्टां, भोगवाञ्छाविडम्बितौ ॥२॥
दण्डपाशिकलोकेन, संप्राप्तावन्यदा तकौ।
नीयमानौ च तौ तेन, वध्यस्थानं तपस्विनौ ॥३॥
दृष्टवन्तौ मुनीन् मान्यान्, मानिमानवसंहतेः।
साधूनां सत्क्रिया दृष्ट्वा, तयोरेको व्यचिन्तयत् ॥४॥
अहो धन्यतमा एते, मुनयो विमलक्रियाः।
स्वकीयगुणसंदोहात्, जगतां पूज्यतां गताः ॥५॥
वयं पुनरधन्यानाम—धन्या धनकाङ्क्षया।
विदधाना विरुद्धानि, वध्यतां प्रापिता जनैः ॥६॥
धिक्कारोपहतात्मानो, यास्यामः कां गतिं मृताः।
ही जाता दुःस्वभावेन, लोकद्वयविराधकाः ॥७॥
तदेवं साधु साधूनां, वृत्तं वारितकल्मषम्।
विपरीतो मतोऽस्माक—मस्मात् कल्याणकं कुतः? ॥८॥
अन्यः पुनरुदासीनो, भवति स्म मुनीनभि।
गुणरागादवापैको, बोधिबीजं न चापरः ॥९॥
ततस्तनुकषायत्वा—द्ज्ञानशीलतया च तौ।
नरजन्मोचितं कर्म्म, बद्धवन्तावनिन्दितम् ॥१०॥
मृत्वा च तौ समुत्पन्नौ, कौशाम्ब्यां पुरि वाणिजौ।
जातौ चानिन्दिताराचारौ, वणिग्धर्मपरायणौ ॥११॥
जन्मान्तरीयसंस्कारा—दाबालत्वात्तयोरभूत्।
अत्यन्तमित्रताभावो, लोकाश्चर्यविधायकः ॥१२॥
रोचते च यदेकस्य, तदन्यस्याऽपि रोचते।
ततो लोक गतौ ख्याति— मेकचित्ताविमाविति ॥१३॥
ततः कुलोचितं कर्म,कुर्वतोर्यान्ति वासराः।
अन्यदा भुवनानन्दी प्राप्तस्तत्र जिनेश्वरः ॥१४॥
भगवान् श्रीमहावीरः, इक्ष्वाकुकुलनन्दनः।
वाग्नीरैर्जनसंताप—शमनेऽम्भोदसन्निभः ॥१५॥
विदधुस्तस्य गीर्वाणाः, व्याख्याभूमिं मनोहराम्।
तत्राऽसौ धर्ममाचख्यौ, सनरामरपर्षदि ॥१६॥
तमागतं समाकर्ण्य, कौशाम्बीवासिनो जनाः।
राजादयः समाजग्मु—र्वन्दितुं तत्पदाम्बुजम् ॥१७॥
तावपि श्रेष्ठिसत्सूनू, कुतूहलपरायणौ।
जनेन सार्द्धमायातौ, जिननायकसन्निधौ ॥१८॥
जिनस्तु देशयामास, मोक्षमार्गं सनातनम्।
सत्त्वानां सर्वकल्याण—कारणं करुणापरः ॥१९॥
ततस्तयोर्वणिक्सून्वो—रेकस्य तज्जिनोदितम्।
श्रध्दानमार्गमायाति, भाव्यतेऽथ स मानसे ॥२०॥
स्फाराक्षो मस्तकं धुन्वन्, कर्णपर्णपुटार्पितम्।
रोमाञ्चितः पिबत्युच्चै—र्जिनवाक्यं यथाऽमृतम् ॥२१॥
तदन्यस्य तदाभाति, बालुकाकवलोपमम्।
अन्योऽन्यस्य च तौ भावं, लक्षयामासतुस्तराम् ॥२२॥
व्याख्याभुवः समुत्थाय, जग्मतुर्भवनं निजम्।
तत्रैको व्याजहारैव, यातस्त्वं भावितः किल ॥२३॥
जैनवाचा न चाऽहं भोः! तदत्र किमु कारणम्?
एकचित्ततयाऽऽख्याता—वावां लोक इयच्चिरम् ॥२४॥
इदानीमत्र संजातं, विभिन्नं चित्तभावयोः।
तदत्र कारणं किं स्या—दन्यो वक्ति स्म विस्मितः ॥२५॥
सत्यमेवं ममाप्यत्र, विकल्पः संप्रवर्तते।
केवलं केवली नूनं, निश्चयं नः करिष्यति ॥२६॥
स एव प्रश्रितोऽत्रार्थे, तद्यातास्वस्तदंन्तिके।
एवं तौ निश्चयं कृत्वा, प्रातर्यातौ तदन्तिकम् ॥२७॥
पप्रच्छतुस्तमाराध्यं, विनयेन स्वसंशयम्।
सोऽप्युवाच पुरैकेन, साधवो वां प्रशंसिताः ॥२८॥
न चान्येन तदेकस्य, जातं बीजस्य तत्फलम्।
तद्बोधरूपमन्यस्य, बीजत्वेन न चाभवत् ॥२९॥
एवं पूर्वभवासेवां, जिनेनोक्तां सविस्तराम्।
निशम्यैकस्य संजातं, जातेः संस्मरणं क्षणात् ॥३०॥
ततौऽसौ प्रत्यये जाते, जातः संवेगभावितः।
भावतश्च जिनोद्दिष्टं, प्रपेदे शासनं शुभम् ॥३१॥
तत्प्रतिपत्तिसामर्थ्यात्, शुभकर्मानुबन्धतः।
सिद्धिं यास्यत्यसौ काले, परःसंसारमेव हि ॥३२॥
ततः स्थापितमेतेन, भावो जैनमताश्रयः।
स्वल्पोऽपि जायते बीजं, निर्वाणसुखसंपदाम् ॥३३॥
इति गाथार्थः ॥८॥

एवं जिनभवनकारणाधिकारी सप्रसङ्गोऽभिहितोऽथाधिकृ-तमेव जिनभवनविधिमुपदर्शयन्नाह—

जिणभवणकारणविही, सुद्धा भूमी दलं च कट्ठाई।
मियगाणइसंधाणं, सासयवुड्ढी य जयणा य ॥९॥

जिनभवनकारणविधिरुक्तशब्दार्थः, किंविध इत्याह—शुद्धा निर्दोषा, काऽसौ? भूमिः क्षेत्रं, तथा दलं चोपादानकारणं, किं—भूतम? काष्ठादि दारुपाषाणप्रभृति, शुद्धमिति प्रक्रमः। तथा भृतकानां कर्मकरा-णामनतिसन्धानमवञ्चनं भृतकानतिसन्धानम्। तथा स्वाशयस्य शोभनाध्यवसायस्य, स्वकीयाध्यवसायस्य वा, वृद्धिर्वर्द्धनं स्वाश-यवृद्धिः, सा च। तथा यतना च यथाशक्ति गुरुदोषत्यागेतरदोषाश्रय-णम्, सा च। च शब्दाः समुच्चयार्थाः। इह भूम्यादीनि जिनभवनविधेर-ङ्गानीत्यङ्गाङ्गि नोरभेदोपचारात् जिनभवनविधिर्भूम्यादीनीति समानाधिकरणेनोक्तम्। इति द्वारगाथासमासार्थः। पञ्चा० ७ विव० षो० ध० द्वा०।

शुद्धा भूमिरित्युक्तमतस्तां दर्शयन्नाह—

दव्वे भावे य तहा, सुद्धा भूमी पएसऽकीला य।
दव्वेऽपीतिगरहिया, अण्णेसिं होइ भावे उ ॥१०॥

द्रव्ये द्रव्यमाश्रित्य, भावे भावमाश्चित्य, चशबदः समुच्चये। तथा तेन वक्ष्यमाणप्रकारेण विशिष्टप्रदेशादिलक्षणेन, किमित्याह शुद्धा भूमिर्निर्दोषा जिनभवनोचितभूः, द्विविधा भवति। तत्राऽऽद्या तावदाहप्रदेशे विशिष्टजनोचितभूभागे, तथा अकीला च शङ्कुरहिता। उपलक्षणत्वादस्थ्यादिशल्यरहिता च,

द्रव्ये द्रव्यतः, शुद्धा भूमिर्भवतीति प्रकृतम्। अथ द्वितीयामाहअ–प्रीतिकरहिता अप्रीतिवर्जिता। इहाप्रीतिकशब्दस्यान्येषामित्येत्प–दसापेक्षस्यापि समासः, तथा दर्शनादिति। अन्येषां परेषाम्, भवति वर्त्तते, भावे तु भावतः पुनः, शुद्धा भूमिरिति प्रस्तुतमेवेति गाथार्थः ॥१०॥

विशिष्टजनाऽऽकीर्णप्रदेशे जिनभवनभूमिर्द्रव्यतः शुद्धा भवतीत्युक्तमन्यत्र पुनरशुद्धा भवति, दोषसंभवात्।

अथैतद्दर्शयन्नाह–

अपदेसम्मि ण वुड्ढी, कारवणे जिणघरस्स ण य पूजा।
साहूणमणणुवाओ, किरियाणासो उ अववाए ॥११॥

अप्रदेशे, नञः कुत्सार्थत्वादलाक्षणिकत्वेनाशिष्टजनाकीर्णत्वेन वा कुत्सिते प्रदेशे, (कारवणे त्ति) कारणे विधापने, जिनगृहस्याऽर्हन्नि–वासस्य, न वृद्धिर्नानुदिनं स्फातिर्भवति, अपलक्षणसामर्थ्यदसज्जन–सामर्थ्याच्च। अत एव न च नैव, पूजा अर्चा तस्य भवति। जिनबिम्बपूजाऽपि जिनभवनपूजा विवक्षिता, बिम्बानां तदाश्रितत्वेनोपचारादिति। तथा साधूनां संयतानाम्, अननुपातोऽनागमनं, चैत्यवन्दनाद्यर्थं वेश्याषिङ्गा-दिभ्यो धर्मभ्रंशयात्, अथापतन्ति ते तत्र तदा यद्भवति तदाहक्रियानाशः स्वाचारभ्रंशो विटचेष्टादर्शनवचनश्रवणादिभिः साधूनां भवति। तुशब्दः पुनरर्थो भिन्नक्रमश्च। अवपाते तु तत्रागमने पुनः। इति गाथार्थः ॥११॥

तथा–

सासणगरिहा लोए, अहिगरणं कुच्छियाण संपाए।
आणादीया दोसा, संसारणिबंधणा घोरा ॥१२॥

शासनगर्हा प्रवचननिन्दा, ''एवंप्राया एव ह्येते जैनाः, ये वेश्यापाटक–मद्यापणपाटकद्यूतखलकमत्स्यबन्धादिपाटकादिषु जिनायतनं विधा–पयन्ति'' इत्येवंरूपा। लोके जनमध्ये, तथाऽधिकरणं कलहो भवति, कुत्सितानां निन्द्यानां मद्यपप्रभृतीनां, संपाते समागमे सति। ते हि निवार्यमाणाः कलहायोत्तिष्ठन्ते। तथा अत्रैवाऽऽज्ञादयः, आज्ञाभङ्गान–वस्थाप्यमिथ्यात्वविराधना दोषा भवन्ति। किंभूताः? संसारनिबन्धनाः भवहेतवः, घोरा दारुणाः। इति गाथार्धः ॥१२॥

अकीला चेत्युक्तं, तत्र सकीलायां दोषमाह–

कीलादिसल्लजोगा, होंति अणिव्वाणमादिया दोसा।
एएसि वज्जणट्ठा, जइज्ज इह सुत्तविहिणा उ ॥१३॥

कीलदिशल्ययोगात् शिवकाङ्गारास्थिकप्रभृतिशल्यसंबन्धाद्, भवन्ति जायन्ते, अनिर्वाणादयोऽनिवृत्त्यर्थहान्यर्थासिद्धिप्रभृतयः, दोषा दूषणानि, यस्मादेवं तस्मात्, एतेषामनिवृत्त्यादीनामुक्तदोषाणां, वर्जनार्थं परिहारार्थम्, यत्नं कुर्यात्। इह जिनभवनं प्रति द्रव्यतो भूमिशुद्धौ, सूत्रविधिना तु आगमनीत्यैवोक्तलक्षणयेति गाथार्थः ॥१३॥

द्रव्यतो भूमिशुद्धिरुक्ता, अथ भावतस्तामाश्रित्य यदुक्तमप्रीतिकरहितेति तत्र कारणमाह–

धम्मत्थमुज्जएणं, सव्वस्सापत्तियं ण कायव्वं।
इय संजमोऽवि सेओ, एत्थ य भयवं उदाहरणं ॥१४॥

धर्मार्थं जिनभवनोद्देशेन कर्मक्षयनिमित्तम्, उद्यतेनोद्यमं कुर्वता, सर्वस्य समस्तस्य जघन्यादिजनस्य, अप्रीतिकमप्रेम, न कर्तव्यं न विधातव्यं, धर्मविरुद्धत्वादस्याप्रीतिनियोगाच्च जिनभवनविघातादिप्रवृत्तौ दीर्घसंसारभाजनं भवन्तीत्यताऽप्रीतिकरहिता भावतः शुद्धा भवति भूमिरिति हृदयम्। न केवलं जिनभवनविधिरूपं धर्ममिच्छता पराप्रीतिकं न कार्यं, किं तु इत्येवमप्रीतिवर्जनेन, संयमोऽप्याश्रवनिरोधोऽपि, आस्तां जिनभवनम्, श्रेयान् प्रशस्यः, अथ कथमयमर्थः सिद्ध इत्याह–अत्र च इह पुनः, पराप्रीतिपरिहारेण संयमस्य श्रेयस्त्वे प्रत्येतव्ये, भगवान महावीरः, उदाहरणं ज्ञातम्। उदाहरणप्रयोगश्चैवम्–ये संयमार्थिनस्ते पराप्रीतिकं न कुर्वन्ति, संयमार्थित्वादेव, यथा भगवान्। इति गाथार्थः ॥१४॥

एतदेव दर्शयन्नाह–

सो तावसासमाओ, तेसिं अप्पत्तिअं मुणेऊणं।
परमं अबोहिबीयं, ततो गतो हंतऽकाले वि ॥१५॥

स भगवान्, यः पूर्वगाथायामुदाहरणतयोक्तः, तापसाश्रमात्पाखण्डि–कविशेषनिवासात्, तेषां तापसानाम्, अप्रीतिकप्रीतिम्, (मुणेऊणं ति)ज्ञात्वा, परममात्यन्तिकम्, अबोधिबीजं सम्यग्दर्शनाभावहेतुम्, ततस्तस्माद्यत्र तापसाश्रमे वर्षावासः कर्तुमारब्धः, गतो निर्गतः, ''हंतेति'' कोमलामन्त्रणे, प्रत्यवधारणे वा। अकालेऽपि साधूनां विहारा-समयेऽपि, प्रावृषीत्यर्थः। विहारकालश्चासौ, यदाह–''नो कप्पइ निग्गंथाए वा निग्गंथीण वा पढमपाउसंसि गामाणुगामं दूइज्जित्तए।'' तथा–''दगबाहल्लत्तणओ, हरियतणाणं च बीहियाईसु। आयाविरा-हणाओ, न जई वासासु विहरंति ॥१॥'' काल एव किल गच्छन्ति साधव इत्यर्थसंसूचकोऽपिशब्दः, इत्यक्षरार्थः। भावार्थः कथानमगम्यः। तच्चेदम्–

''जिनः श्रीमान् महावीरो, वारितान्तरशात्रवः।
प्राज्यं राज्यं परित्यज्य, प्रव्रज्यां प्रतिपद्य च ॥१॥
निःसङ्गोऽतिमहासत्त्वः, सत्त्वानां रक्षणोद्यतः।
ग्रामादिसंकुलां पृथ्वीं ,छद्मस्थो विहरन्नसौ ॥२॥
मथुराकाभिधं ग्रामं, संप्राप्तस्तत्र चाश्रयः।
दूयमानाभिधानानां, पाखण्डिगृहिणामभूत् ॥३॥
तेषां कुलपतिर्मित्र–मासीद्भगवतः पितुः।
महावीरमसौ दृष्ट्वा, संभ्रमेण समुत्थितः ॥४॥
स्नेहादालिङ्गनार्थाय, श्रीजिनस्य ततो जिनः।
बाहुं प्रसारयामास, तं प्रति प्राक् प्रयोगतः ॥५॥
सोऽवोचत्सस्ति वेश्मानि, योग्यान्यत्राश्रमे तव।
ततःकुमार! तिष्ठ त्व–मत्राथ जिननायकः ॥६॥
एकां तत्र स्थितो रात्रि–मन्यत्र गतवाँस्ततः।
गच्छन्तं च जिनं स्नेहा–दवोचत्तापसाधिपः ॥७॥
यद्यत्र रोचते तुभ्यं, तदागत्य विधीयताम्।
वर्षावासो जनस्यास्या–नुग्रहार्थं त्वया मुने! ॥८॥
मासानष्टौ विहृत्याथ, तं ग्राममगमज्जिनः।
उपागतासु वर्षासु, मठं चैकमुपाश्रितः ॥९॥
प्रारम्भे प्रावृषस्तत्र, प्राप्नुवन्ति नवं तृणम्।
गोरूपाणि मठानां तत्, प्रचखादुः पुरातनम् ॥१०॥
तापसा वारयन्ति स्म, तानि ते दण्डपाणयः।

भट्टारकः पुनस्तानि, निःसङ्गत्वादुपेक्षते ॥११॥
ततस्ते तापसाः स्वस्य, नायकस्य न्यवेदयन्।
यथैव भवतामिष्टो, गोभ्यो नावति नो मठम् ॥१२॥
ततः कुलपतिर्गत्वा, बभाण श्रीजिनं प्रति।
कुमार भो! न युक्तं ते, मठस्योपेक्षेणं यतः ॥१३॥
शकुन्तोऽपि निजं नीडं, रक्षत्येव यथाबलम्।
ततो गावो निवार्यास्ते, नाशयन्त्यो मठं तकम् ॥१४॥
इत्येवं शिक्षयामास, सपिपासमसौ जिनम्।
ततः स्वामी तदप्रीतिं, ज्ञात्वा निर्गतवांस्ततः ॥१५॥
प्रावृषोऽतिगते पक्षे, अस्थिकग्राममाययौ।
अप्रीतिपरिहाराय, यतेतैवं यथा जिनः ॥१६॥ इति गाथार्थः ॥१५॥

इदमेव निदर्शनमङ्गीकृत्योपदिशन्नाह–

इय सव्वेण वि सम्मं, सक्कं अप्पत्तियं सइ जणस्स।
णियमा परिहरियव्वं, इयरम्मि सतत्तविंता उ ॥१६॥

इत्येवं, भगवतेवेत्यर्थः। सर्वेणाऽपि समस्तेनाऽपि, जिनभवनादिविधानार्थिना संयमार्थिना च, न केवलमेकतरेणैवेत्यपिशब्दार्थः। अप्रीतिकं परिहर्त्तव्यमिति योगः। कथं ? सम्यग् भावशुद्धया। किंभूतं तदित्याह–शक्यं शक्यपरिहारत्वे न शकनीयं, नाशकनीयमपि, तस्य परिहर्त्तुमशक्यत्वादेव, (अप्पत्तियं ति) अप्रीतिरेवाप्रीतिकं, सकृत्सदा, जनस्य लोकस्य, नियमादवश्यंतया, परिहर्त्तव्यं वर्ज्जनीयम्, इतरस्मिन्नशक्यपरिहारेऽप्रीतिके, स्वतत्त्वचिन्ता तु स्वस्वभावपर्यालोचनमेव विधेयम्।

तथाहि–

''ममैवाऽयं दोषो यदपरभवे नार्जितमहो,
शुभं यस्माल्लाको भवति मयि कुप्रीतिहृदयः।
अपापस्यैवं मे कथमपरथा मत्सरमयं,
जनो याति स्वार्थं प्रति विमुखतामेत्य साहसा'' ॥१॥

इति गाथार्थः।।१६।। व्याख्यातं शुद्धा भूमिरिति द्वारम्। पञ्चा० ७ विवा०। द्वा०। षो०।

अथ दलद्वारमधिकृत्याऽऽह–

कट्ठादी वि दलं इह, सुद्धं जं देवतादुवधणाओ।
णो अविहिणोवणीयं, सयं च कारावियं जं णो ॥१७॥

काष्ठादि दारुपाषाणप्रभृतिकम्, अपि शब्दस्योत्तरत्र संबन्धः। दलमपि जिनभवनोपादानद्रव्यम्, अपिशब्दो भूम्यपेक्षया समुच्चयार्थः। (इहेति) जिनभवनविधौ, शुद्धमनवद्याम्, किं विधमित्याहयदिति दलम्, (देवयादुववणाउ त्ति) इहादिशब्दस्यान्यत्र दर्शनाद्देवतोपवनादेरिति द्रष्टव्यम्। तेन देवतोपवनाद् व्यन्तरकाननात्, आदिशब्दात्तद्भवनादिपरिग्रहः, तदानयने हि तस्याः प्रद्वेषसंभवात्, जिनायतनस्य तत्कारकादीनां व्याघातसंभवादिति। नो नैव, उपनीतमुपहितम्, तथाऽविधिना द्विपदचतुष्पदानां शरीरादिसंतापजननद्वारेण, तथा स्वयं चात्मना च, कारितं वृक्षच्छेदेष्टकापचनादिभिर्विधापितम्, यद्दलम्, नो नैव, तत् शुद्धमिति। उक्तं च–''दलमिष्टकादि तदपि च, शुद्धं तत्कारिवर्गतः क्रीतम्। उचितक्रयेण यत्स्यादानीतं चैव विधिना तु'' ॥१॥ इति गाथार्थः ॥१७॥

अथ दलस्यैव 'शुद्धाशुद्धत्वपरिज्ञानोपायं दर्शयन्नाह'–

तस्स वि य इमो णेओ, सुद्धासुद्धपरिजाणणोवाओ।
तक्कहगहणादिम्मी, सउणेयरसण्णिवातो जो ॥१८॥

तस्य दलस्यापि, चेतिशब्दात् भूमेश्च, अयमेव वक्ष्यमाणः, ज्ञेयः ज्ञातव्यः, शुद्धाऽशुद्धपरिज्ञानोपायो निर्दोषसदोषत्वाधिगमहेतुः, तयोर्दलभूम्योः कथा च ग्रहणाय पर्यालोचो, ग्रहणं च परतः स्वीकरणं,तदादिर्यस्यानयनादेस्तत्तथा तत्र तत्कथाग्रहणादौ, शकुनेतरसन्निपातः साधकासाधकस्वीकृतादिनिमित्तः संबन्धो, यः स उपाय इति प्रकृतम्। इति गाथार्थः ॥१८॥

शकुनाशकुनयोरेव स्वरूपोद्देशमाह–

णंदादिसुहो सद्दो, भरिओ कलसोऽत्थ सुंदरा पुरिसा।
सुहजोगाइ य सउणो, कंदियसद्दादि इतरो उ ॥१९॥

नन्द्यादिर्नन्दीप्रभृतिः, तत्र नन्दी द्वादशतूर्यनिर्घोषः। तद्यथा–

''भंभा मउंद मद्दल, कलंब झल्लरि हुडुक्क कंसाला।
वीणा वंसो पडहो, संखो पणवो य बारसमो'' ॥१॥

आदिशब्दात् घण्टाशब्दादिपरिग्रहः। शुभः प्रशस्तः, स्वतन्त्र एव वा सिद्ध इन्द्र इत्यादिशास्त्रप्रसिद्धः। तथाहि–''सिद्धे इंदे चंदे, सूरनरिंदे तहेव गोविंदे। सेलसमुद्दे गयवस–ह सीह जह मेहसद्दे य''।।१।। शब्दो ध्वनिः, तथा भृतो जलपरिपूर्णः कलशो घटः अत्र व्यतिकरे, सुन्दराः प्रशस्ताकारनेपथ्याः, पुरुषा नराः, शुभयोगादि प्रशस्तचेष्टाप्रभृति, शुभचन्द्रनक्षत्रादि, संबन्धादि वा, चशब्दः समुच्चये। शकुनो विवक्षितार्थसिद्धिसूचकं निमित्तम्; क्रन्दितशब्दादि आक्रन्दध्वनिप्रतिषेधवचनप्रभृति, तु पुनः इतरोऽशकुन इत्यर्थः। तुशब्दः पुनरर्थः। स च संबन्धित एवेति गाथार्थः ॥१६॥

दलगतमेव विधिशेषमाह–

सुद्धस्स वि गहियस्स, पसत्थदियहम्मि सुहमुहुत्तेणं।
संकामणम्मि वि पुणो, विण्णेया सउणमादीया ॥२०॥

शुद्धस्याऽपि शकुनसन्निपातने निश्चितानवद्यत्वस्याऽपि, अशुद्धस्य ग्रहणमेव नास्तीति प्रतिपादनपरोऽपिशब्दः। गृहीतस्य स्वीकृतस्य, दलस्येति प्रकृतम्। कदा गृहीतस्येत्याह–प्रशस्तदिवसे नन्दादिकायां तिथौ, शुभमुहूर्त्तेन भद्राऽऽदिना शुभकालविशेषेण करणभूतेन, संक्रामणेऽपि गृहस्थानात् स्थानान्तरनयनेऽपि, न केवलं ग्रहण एव। पुनरपि भूयोऽपीत्यर्थः। विज्ञेया ज्ञातव्याः, निरूपणीया इत्यर्थः। शकुनादयः–शकुनप्रभृतयः, आदिशब्दात् शुभदिनादिपरिग्रहः। इति गाथार्थः ॥२०॥ गतं दलद्वारम्। पञ्चा० ७ विव०। दर्श०। द्वा०। षो०।

अथ भृतकानतिसंधानद्वारं प्रतिपादयन्नाह–

कारवणे वि य तस्सिह, मितगाणतिसंधणं ण कायव्वं।
अवि याहिगप्पदाणं, दिट्ठादिट्ठप्फलं एयं ॥२१॥

कारापणे विधापने, अपि चेत्यस्य समुच्चयार्थत्वाद् दलग्रहणानयनादावपि चेति व्याख्येयम्। तस्य जिनभवनस्ज्ञय, इह द्रव्यस्तवाधिकारे, भृतकानां कर्मकराणां सूत्रधारादीनाम्, अतिसंधानं वञ्चनं देयद्रव्यापेक्षया, न कर्त्तव्यं नैव विधेयम्, अपि चेति विशेषप्रतिपादनार्थः। अधिकप्रदानं: प्रतिपन्नवेतनापेक्षया

समलतरद्रव्यवितरणम, कर्त्तव्यमिति प्रक्रमः। यतो दृष्टादृष्टफलमुपलभ्य प्रयोजनम्, एतदधिकप्रदानमिति गाथार्थः ॥२१॥

दृष्टफलप्रतिपादनायाऽऽह–

ते तुच्छगा वराया, अहिगेण दढं उविंति परितोसं।
तुट्ठा य तत्थ कम्मं, तत्तो अहिगं पकुव्वंति ॥२२॥

ते भृतकाः, तुच्छका अगम्भीराः, वराकास्तपस्विनः, यतोऽतः, अधिकेन प्रतिपन्नवेतनापेक्षया समग्रलेन द्रव्येण, दत्तेनेति गम्यम्। दृढमत्यर्थम्, उपयान्त्युपगच्छन्ति, परितोषमानन्दम्। ततः किमित्याह– तुष्टाश्च हृष्टाः पुनः तव चिकीर्षितजिनभवने, कर्म भृतकोचितव्यापारं, ततोऽधिकदानानान्तरम्, अधिकदानं विना वा कृतं यत्कर्म ततस्तस्मात्सकाशात्। अधिकं समग्रलं, प्रकुर्वन्ति विदधति, इति गाथार्थः ॥२२॥

एवं तावदधिकदानस्य दृष्टसाधकतां प्रतिपाद्यादृष्टफलसाधकतां प्रतिपादनायाऽऽह–

धम्मपसंसाएँ तहा, केइ णिवंधंति वोहिबीयाइं।
अण्णे उ लहुयकम्मा, एत्तो चिय संपवुज्झंति ॥२३॥

धर्मप्रशंसया जिनशासनश्लाघया, तथेत्यधिकदानोद्भवसंतोषप्रभवया, केचिदेके भृतकाः, तदन्ये वा भृतकविषयाधिकदानदर्शनाऽऽवर्जितहृदयाः, निबध्नन्त्युपार्जयन्ति, बोधिबीजानि सम्यग्दर्शनकारणानि, अन्ये तु बोधिबीजबन्धकेभ्योऽपरे पुनर्भृतकाः, तद्दानदर्शिनो वा, लघुकर्माणो बोधिबीजबन्धकापेक्षया अल्पावरणाः, इत एवाधिकदानात्, संप्रबुद्ध्यन्ते सम्यग्बोधमुपयान्तीति गाथार्थः ॥२३॥

लोगे य साहुवाओ, अतुच्छभावेण सोहणो धम्मो।
पुरिसुत्तमप्पणीतो, पभावणा चेव तित्थस्स ॥२४॥

लोके शिष्टजने, चशब्दो गुणान्तरसमुच्चये। साधुवादो वर्णवादो भवति। केनेत्याह–अतुच्छभावेनोदाराशयेन जिनभवनकारयितृगतेन करणभूतेन। किंभूतः साधुवाद इत्याहशोभनः प्रधानः, उदारत्वाज्ज्ञेनानाम्। धर्मो जिनप्रवचनरूपः, पुरुषोत्तमप्रणीत उत्तमपुरुषगदितः, तथा प्रभावनोद्भावना, चः समुच्चये। एवमनेन न्यायेन, अनुस्वाराश्रवणं चेह गाथाऽनुलोम्यात्। तीर्थस्य जिनप्रवचनस्य भवति। इति गाथार्थः ॥२४॥

अथ स्वाशयवृद्धिद्वारमाह–

सासयवुड्ढी वि इहं, भुवनगुरुजिणिंदगुणपरिण्णाए।
तब्बिंबठावणंत्थं, सुद्धपवित्तीएँ णियमेण ॥२५॥

स्वाशयवृद्धिरपि कुशलपरिणामवर्द्धनमपि, न केवलं भृतकानतिसंधानमित्यपिशब्दार्थः। इह जिनभवनविधाने, भवतीति गम्यम्। कथमित्याह–भुवनगुरुजिनेन्द्रगुणपरिज्ञया त्रिलोकगौरवजिनेश्वरसर्वज्ञत्वसंसारकान्तारोत्तारणसामर्थ्यादिगुणपरिज्ञानेन करणभूतेन, तद्बिम्बस्थापनार्थं जिनेन्द्रप्रतिमाप्रतिष्ठानिमित्तं, या शुद्धप्रवृत्तिर्निरवद्यक्रिया, तस्याः शुद्धप्रवृत्तेः सकाशात्, नियमेन नियोगेन, इति गाथार्थः ॥२५॥

तथा–

पेच्छिस्सं इत्थमहं, वंदणगणिमित्तामागए साहू।
कयपुण्णे भगवंते, गुणरयणणिही महासत्ते ॥२६॥

प्रेक्षिष्ये द्रक्ष्यामि, अत्र जिनभवने, अहमित्यात्मनिर्देशे, वन्दनकानिमित्तं चैत्यवन्दनार्थम्, आगतानायातान्, स्थानान्तरेभ्यः। साधून् मुनीन्, कृतपुण्यानुपार्जितशुभकर्मणः, भगवतः परमेश्वरान्, गुणरत्ननिधीन् ज्ञानादिमाणिक्यनिधानानि, महासत्त्वान् सत्त्वाधिकान्, इति गाथार्थः ॥२६॥

तथा–

पडिबुज्झिसंति इतं, दट्ठूण जिणिंदविंवमकलंकं।
अण्णे वि भव्वसत्ता, काहिंति ततो परं धम्मं ॥२७॥

प्रतिभोत्स्यन्ते बोधिं लप्स्यन्ते इह जिनभवने, दृष्ट्वाऽवलोक्य, जिनेन्द्रबिम्बं वीतरागप्रतिमाम्, अकलङ्कं शस्त्रस्त्र्यादिकलङ्करहितम्, अन्येऽप्यस्मत्तोऽपरे, अहं तु प्रतिबुद्ध एवेत्यपिशब्दार्थः। भव्यसत्त्वाः मुक्तियोग्यजीवाः, करिष्यन्ति विधास्यन्ति, ततः परं प्रतिबोधकालात् परतः, धर्मं कुशलानुष्ठानमिति गाथार्थः ॥२७॥

ततः किमित्याह–

ता एयं मे वित्तं, जमेत्थमुवओगमेति अणवरयं।
इय–चिंताऽपतिवडिया; सासयवुड्ढी उ मोक्खफला ॥२८॥

यस्मादिह जिनभवने सति तद्बिम्बस्थापनं साधुदर्शनं भव्यप्रतिबोधश्च भविष्यति, तत्तस्माद्धेतोः, एतदिदमेव, अवधारणं च काकुपाठात्। मे मदीयम्, वित्तं द्रव्यम्, अन्यत्परमार्थतः परकीयमेव। यत्किंविधमित्याह– यदत्र जिनभवने, उपयोगं विनियोगम्, एति याति, अनवरतं सततम्, इत्येवं प्रकारा, चिन्ता विकल्पः, अप्रतिपतिता अविच्छिन्ना। किमित्याह–स्वाशयवृद्धि कुशलपरिणामवर्द्धनम्, भवतीति गम्यम्। तुशब्द एवकारार्थः, उत्तरत्र च संबन्धोऽस्य। सा च मोक्षफला सिद्धिप्रयोजनैव। इति गाथार्थः ॥२८॥ उक्तं स्वाशयवृद्धिद्वारम्।

अथ यतनाद्वारमाह–

जयणा प पयत्तेणं, कायव्वा एत्थ सव्वजोगेसु।
जयणा उ धम्मसारो, जं भणिया वीयरागेहिं ॥२९॥

यतना च जलगालनादिजीवरक्षणोपायविशेषलक्षणा, चशब्दः स्वाशयवृद्धपेक्षया समुच्चयार्थः। प्रयत्नेनात्यादरेण, कर्त्तव्या विधेया, अत्र जिनभवनविधौ, सर्वयोगेषु समस्तव्यापारेषु दलानयनभूशोधनभित्तिचयनादिषु, कस्मादेवमित्याह–यतना तु यथाशक्तिजीवरक्षैव, धर्मसारो धर्मोत्कर्षः, यद्यस्माद्भणिता वीरागैरर्हद्भिः, इति गाथार्थ ॥२९॥

अथ यतनाया धर्मसारतामेव समर्थयन्नाह–

जयणा उ धम्मजण्णी, जयणा धम्मस्स पालणी चेव।
तव्वुड्ढिकरी जयणा, एगंतसुहावहा जयणा ॥३०॥

यतना तु यथाशक्ति जन्तुरक्षणोपाय एव, धर्मजननी कुशलमाता, तथा यतनैव धर्मस्य पालनी, जनितस्य सतः पुत्रस्येवापायेभ्यो रक्षिका, चशब्दः समुच्चयार्थः, एवशब्दोऽवधारणार्थः, तस्य च संबन्ध प्रागेव दर्शितः। तद्वृद्धिकरी धर्मोपचयकरणशीला यतना, मातेव पुत्रस्य। किं बहुनोक्तेन ? एकान्तेन सर्वथैव, सुखावहा शर्मप्रापिका, एकान्तसुखाव

हा एकान्तसुखं वा सिद्धिसुखं, तदावहा। यतनोक्तलक्षणा, इह च यतना–शब्दस्य पुनः पुनरुपादानं न दुष्टम्, आदरकृतत्वात्। आह च–''वक्ता हर्षभयादिभिराक्षिप्तमनाः स्तुवँस्तथा निन्दन्। यत्पदमसकृत् ब्रूया–त्तत्पुनरुक्तं न दोषाय ॥१॥'' इति गाथार्थः ॥३०॥

तथा–

जयणाऍ वट्टमाणो, जीवो सम्मत्तणाणचरणाणं।
सद्धाबोहासेवण–भावेणाराहगो भणितो ॥३१॥

यतनया करणभूतया, वर्त्तमानो व्याप्रियमाणो, विधियोगेषु यतनायां वा वर्त्तमानः, जीवो जन्तुः, सम्यक्त्वज्ञानचरणानां मोक्षपथानाम्, क्रमेण श्रद्धाबोधासेवनानां रुच्यवगमानुष्ठानानां, यो भावः सद्भावः स तथा, तेन यतनायाः श्रद्धाभावेन सम्यक्त्वस्य, बोधभावेन ज्ञानस्य, आसेनभावेन चरणस्य, आराधकः साधकः, भणितोऽभिहितः, जिनैरिति गम्यते। इति गाथार्थः ॥३१॥

नन्वस्याः कथञ्चिदारम्भरूपत्वात्कथमनया वर्तमानस्य चर–णाराधकत्वं निवृत्तिरूपत्वाच्चरणस्येत्याशङ्क्याऽऽह–

एसा य होइ णियमा, तदहिगदोसविणिवारणी जयणा।
तेण णिवित्तिपहाणा, विण्णेया बुद्धिमंतेहिं ॥३२॥

एषा च इयं पुनर्यतना, भवति जायते, नियमादवश्यंतया, तदधिकदोष–विनिवारिणी तस्माद्यतनागतारम्भदोषादधिको बहुतरो यो दोष आरम्भान्तररूपस्तं विनिवारयति इति तदधिकदोषविनिवारिणी। येन यस्मात्कारणात्तेन तस्मात्कारणात्, निवृत्तिप्रधाना आरम्भान्तर–निवर्तनसारा, विज्ञेया ज्ञातव्या इति। बुद्धिमद्भिः पण्डितैः, एषा। इति गाथार्थः ॥३२॥

तामेव स्वरूपणे दर्शयन्नाह–

सा इह परिणयजलदल–विसुद्धिरूवा उ होइ णायव्वा।
अण्णारंभणिवित्ती–ऍ अप्पणाऽहिट्ठणं चेवं ॥३३॥

सा पुनर्यतना, इह जिनभवनविधाने, अन्यत्र पुनरनीदृश्यपि परिणतं प्रासुकं यज्जलं पानीयं दलं च दार्वादि, तयोर्या विशुद्धिरनवद्यता त्रसरहि–तत्वादिलक्षणा, सैव रूपं स्वभावो यस्याः सा परिणतजलदलविशुद्धिरूपा। तुशब्दः पुनरर्थः। सा तु सा पुनरित्येवं संबन्धित एव, अवधारणार्थो वाऽयं, तेन एवंविधैव सामान्यरूपा, भवति वर्त्तते, ज्ञातव्या ज्ञेया। तथा अन्यारम्भनिवृत्त्या कृष्याद्यारम्भत्यागेन, आत्मना स्वयमेव, अधिष्ठानं जिनभवनारम्भाणामध्यासनम्, एवं चैषा यतना, भवति ज्ञातव्येति प्रकृतम्। जिनभवनारम्भाणां हि स्वयमधिष्ठायकत्वं प्रतिपन्नो यथोचितं जीवान् रक्षयन् कर्मकरॉंस्तदारम्भेषु प्रवर्त्तयति, निरधिष्ठायकास्तु ते यथाकथञ्चित्तेषु प्रवर्त्तन्ते, इत्यात्माऽधिष्ठायकत्वं यतना। इति गाथार्थः ॥३३॥

निवृत्तिप्रधाना यतनेति यदुक्तं, तदेव समर्थयन्नाह–

एवं च होइ एसा, पवित्तिरूवा वि भावतो णवरं।
अकुसलणिवित्तिरूपा, अप्पबहुविसेसभावेणं ॥३४॥

एवं चानेन पुनः प्रकारेण परिणतजलाद्याश्रयणजिनभवनारम्भाधिष्ठा–यकत्वलक्षणेन, भवति जायते, एषा यतना, प्रवृत्तिरूपाऽपि सती, आस्तामप्रवृत्तिरूपा, भावतः परमार्थेन, नवरं केवलम्, अकुशल–निवृत्तिरूपा सपापारम्भोपरमणस्वभावा। ननु यतनायामपि अल्पीयसां पृथिव्याद्यारम्भाणां विद्यमानत्वात्कथमकुशलारम्भनिवृत्तिरूपाऽसा–वित्याह–(अप्पबहुविसेसभावेणं ति) इह भावप्रत्ययस्य लुप्तस्य दर्शनादल्पत्वबहुत्वलक्षणौ यौ विशेषौ परस्परभेदौ जिनभवनविषयाणां यतनारम्भाणां तदन्यारम्भाणां च तयोर्यो भावः सद्भावः स तथा, तेनाल्पबहुविशेषभावेन। इदमुक्तं भवति–जिनभवनारम्भाणामल्पदोषा–णामाश्रयणेन तदन्येषां बहुदोषाणां त्यागादकुशलनिवृत्तिरूपा यतना भवतीति गाथार्थः ॥३४॥

नन्वादिदेवस्य सकललोकव्यवहारप्रवर्त्तनमयुक्तं, भूतोपघा–तरूपत्वादित्येवं पूर्वपक्षं जिनभवनयतनाद्वारप्र–सङ्गेन परिहरन्नाह–

एत्तो चिय णिद्दोसं, सिप्पाविविहाणमो जिणिंदस्स।
लेसेण सदोसं पि हु, बहुदोसणिवारणत्तेण ॥३५॥

(एत्तो चिय त्ति) यतोऽल्पबहुत्वविशेषभावेनाकुशलनिवृत्तिरूपा जिनायतना भवति, अत एव कारणात्। निर्दोषं निरवद्यम्, शिल्पादि–विधानं शिल्पकलाराजनीतिप्रभृतिपदार्थोपदर्शनम्, 'ओ' इति निपातः। जिनेन्द्रस्य नाभिनन्दनस्य, किंभूतं तदित्याह–लेशेन मात्रया, सदोषमपि सावद्यमपि, निर्दोषमेवेत्यपिशब्दार्थः। हुशब्दोऽलङ्कृतौ। केन कारणे–नेत्याह– बहुदोषनिवारणत्वेनाऽन्योऽन्यहननधनहरणाद्यनेकविधाऽनर्थ निषेधकतया, इति गाथार्थः ॥३५॥

भगवतः शिल्पादिविधाने निर्दोषतामेव समर्थन्नाह–

वरबोहिलाभओ सो, सव्वुत्तमपुण्णसंजुओ भयवं।
एगंतपरहियरतो, विसुद्धजोगो महासत्तो ॥३६॥
जं बहुगुणं पयाणं, तं णाऊणं तहेव दंसेइ।
ते रक्खंतस्स ततो, जहोचितं कह भवे दोसो ॥३७॥

वरः प्रधानोऽप्रतिपातित्वाद्बोधिलाभः सम्यग्दर्शनावाप्तिर्यस्य स वरबोधिलाभको, वरबोधिलाभाद्वा हेतोः स जिनः। किमित्याह– सर्वोत्तमपुण्यसंयुतः अत्यन्तप्रकृष्टतीर्थकरनामादिलक्षणशुभकर्मसंयुक्तः, तथा भगवान् परमेश्वरः, तथैकान्तपरहितरतः सर्वथा परोपकारनिरतः, तथा विशुद्धयोगो निरवद्यमनोवाक्कायव्यापारः, तथा महासत्त्व उत्तप्रसत्त्व इति। ततः किमित्याह–यच्छिल्पादि, बहुगुणं प्रभूतोपकारं, किञ्चिद् दुष्टमपि, प्रजानां लोकानां, तच्छिल्पादिकम्, ज्ञात्वाऽवगम्य, तथैव यथा लोकोपकारम्, दर्शयति प्रकाशयति, (ते त्ति) तान् प्रजाशब्दपर्यायान लोकान्, रक्षतो बहुतराऽनर्थेभ्यः पालयतः, ततः शिल्पादिप्रकाशनात्, यथोचितमौचित्येन, उचितं चावश्यवेद्यशुभवेदनीयचारित्रमोहादि–कर्मोदये वर्त्तमानस्य कलादिदर्शनत एव प्राणिसंरक्षणम्, ततः विरतिप्रतिपत्तौ तु संयमः, ज्ञानोत्पत्तौ च तीर्थप्रवर्त्तनादेवेति। कथं केन प्रकारेण? भवेज्जायेत, दोषो दूषणम्। न कथञ्चिदित्यर्थः। इति गाथाद्वयार्थः ॥३६॥३७॥

ननु शिल्पादिविधानेऽप्यारम्भदोषो दृष्ट एवास्त्यतः कथं तत्र दोष इत्याशङ्क्याऽऽह–

तत्थ पहाणो अंसो, बहुदोसनिवारणाउ जगगुरुणो।
णागादिरक्खणे जह, कडुणदोसे वि सुहजोगो ॥३८॥

तत्र शिल्पादिविधाने, प्रधानः प्रवरः, अपेक्षणीय इत्यर्थः। अंशोऽवयवः, किंरूपः, बहुदोषनिवारणात् अन्योऽन्यवधादिलक्षणप्रभूतदूषण–निषेधनेनैव, जगद्गुरोर्भुवननायकस्य; स्यात् आरम्भदोषेऽपि भगवतः शुभ एव योग इति हृदयम्। एनमेवार्थं दृष्टान्तेन समर्थयतिनागादिरक्षणे सर्पादिभ्यः पुत्रादेरवने, यथा यद्वत्, कर्षणं पुत्रादेराकर्षणं तदेव तस्मिन् वा दोषो दूषणं शरीरघर्षणादिः कर्षणदोषः, तत्र कर्षणदोषेऽपि सति, आस्तां दोषाभावे, शुभयोगो मात्रादेः शोभन एव व्यापारः। इति गाथार्थः ॥३८॥

नागादिरक्षणज्ञातमेवाह–

खड्डातमम्मि विसमे, इट्ठसुयं पेच्छिऊणं कीलंतं।
तप्पच्चवायभीया, तदाणणट्ठा गया जणणी ॥३९॥
दिट्ठो य तीऍ णागो, तं पति एंतो दुतो उ खड्डाए।
तो कड्ढितो तगो तह, पीडाऍ विसुद्धभावाए ॥४०॥

गर्तातटे श्वभ्रतट्याम्, किंविधे? विषमे निम्नोन्नतादिरूपे, इष्टसुतं वल्लभपुत्रम्, प्रेक्ष्य दृष्ट्वा, क्रीडन्ते रममाणम्, तत्प्रत्यपायभीता गर्तप्रपातरूपसुतानर्थचकिता, तदानयनार्थं पुत्रानयनार्थम्, गता प्रस्थिता, जननी मातेति। ततो दृष्टोऽवलोकितः, चः समुच्चये, तया जनन्या, नागो भुजगः, तं प्रति पुत्रं प्रति, (एंतो त्ति) आयन्नागच्छन्, द्रुतस्तु शीघ्रगतिरेव, (खड्डाए त्ति) गर्ताश्वभ्रात्, (तो त्ति) ततो नागदर्शनान्तरम्, (कड्ढिओ त्ति) कृष्ट आकृष्टः, तकः पुत्रकः, तथा पीडायामपि आकर्षणजनितदेहसमुत्थवेदनायामपि संभवन्त्याम्, पीडासंभवेनाऽकर्षणीयतासूचनार्थोऽपिशब्दः। शुद्धभावया उपकारक–रणाध्यवसायोपेतया, इति गाथाद्वयार्थः ॥३९॥४०॥

दृष्टान्तार्थस्यैव निरवद्यतां दर्शयन्नाह–

एयं च एत्थ जुत्तं, इहराऽहिगदोसभावतोऽणत्थो।
तप्परिहारेऽणत्थो, अत्थोचिय तत्तओ णेओ ॥४१॥

एतच्च एतत्पुनः पीडयाऽपि पुत्राकर्षणम्, अत्र जननीज्ञाते, युक्तं संगतम्, इतरथा पुत्रस्याकृष्यमाणस्य पीडा भविष्यतीत्यनाकर्षणे, अधिकदोष-भावतः आकर्षणजन्यपीडापेक्षया समग्रलतरस्य सर्पभक्षणजन्यपीडा-लक्षणस्य दूषणस्य सद्भावात्, अनर्थः सुतमरणलक्षणोऽपायः, तस्याऽनर्थस्य सुतमरणलक्षणस्य परिहारो वर्जनं तत्परिहारस्तत्र, योऽनर्थो घर्षणेन पीडोत्पत्तिलक्षणः, सोऽर्थ एव गुण एव, तत्त्वतः परमार्थतो मरणलक्षणमहादोषरक्षणतः ज्ञेयो ज्ञातव्यः। अथवा दार्ष्टान्तिकमर्थमाश्रित्यैवं गाथा व्याख्येया। तत्र 'एवं च' इति भगवतः शिल्पादिविधानम्, शेषं तथैव। इति गाथार्थः ॥४१॥

अथ यतनाद्वारं निगमयन्नाह–

एव निवित्तिपहाणा, विण्णेया भावओ अहिंसेयं।
जयणावओ उ विहिणा, पूजादिगया वि एमेव ॥४२॥

एवमुक्तेन प्रकारेणानन्तरोक्तदृष्टान्तलक्षणेन, निवृत्तिप्रधाना बहुतर-सत्वघातनिवर्त्तनसारा, यतो विज्ञेया ज्ञातव्या, भावतः परमार्थतः, अहिंसा हिंसानिवृत्तिरिति, इयमिति प्रक्रमाज्जिनभवनविषया प्रवृत्तिः, किं सर्वस्यैव? नेत्याह–यतनावत स्तु यतनावत एव, मान्यस्य। तथा विधिना भूमिशुद्ध्यादिलक्षणेन, नान्यथा। अथ किं जिनभवनविषय-प्रवृत्तिरेव बहुतरसत्त्वघातनिवृत्तिप्रधानत्वादहिंसेति ज्ञेया, उताऽन्या-पीत्याशङ्क्याहपूजादिगताऽपि जिनाचनयात्राप्रभृतिविषयाऽपि, न केवलं जिनभवनविषया, प्रवृत्तिरिति गम्यम्। एवमेव एवं प्रकारैवाहिंसैवेत्यर्थः। अथवा–पूर्वार्द्धेन भगवतः शिल्पादिषु प्रवृत्तेरहिंसात्वमुक्तम्, उत्तरार्द्धेन तु जिनभवनप्रवृत्तेः, पूजादीन्यादिग्रहणेन जिनभवनग्रहणात्,– इति गाथार्थः ॥४२॥ उक्तं यतनाद्वारम्। उक्तश्च जिनभवनकारणविधिः। पञ्चा०७ विव०। षो०। प०व०।

अथ तदुत्तरविधिमाह–

णिप्फाइऊण एवं, जिणभवणं सुंदरं तहिं बिंबं।
विहिकारियमह विहिणा, पइट्ठवेज्जा लहुं चेव ॥४३॥

निष्पाद्य निर्माप्य, एवमनन्तरोक्तविधिना, जिनभवनं प्रतीतम्, ततः सुन्दरं शोभनम्, तत्र जिनभवने, बिम्बं प्रतिमां, प्रक्रमाज्जिनस्यैव। विधिकारितं शास्त्रनीतिविधापितम्। अथानन्तरम्, विधिना शास्त्रनीत्या, प्रतिष्ठापयेल्लघु शीघ्रमेव। यदुक्तम्–"निष्पन्नस्यैवं खलु, जिनबिम्बस्योदिता प्रतिष्ठा तु। दशदिवसाभ्यन्तरतः, तद्भवनं स्फातिमद् भवति ॥१॥" इति। चैवेत्यवधारणार्थः। इति गाथार्थः ॥४३॥

अथ जिनभवनकारणविधेः फलोपदर्शनार्थमाह–

एयस्स फलं भणियं, इय आणाकारिणो उ सड्ढस्स।
चित्तं सुहाणुबंधं, णिव्वाणंतं जिणिंदेहिं ॥४४॥

एतस्य समस्तस्य जिनभवनविधानस्य, फलं प्रयोजनम्, भणितमुक्तम्, इत्येवमुक्तनीत्या, आज्ञाकारिणस्तु आप्तोपदेशेविधायिन एव, श्राद्धस्य श्रद्धावतः, श्रावकस्येत्यर्थः। चित्रं विचित्रं देवमनुजजन्मसु तथाविधाभ्यु-दयरूपम्, शुभानुबन्धमविच्छिन्नकल्याणसन्तानम्, निर्वाणान्तं मुक्तिपर्यवसानम्, जिनेन्द्रैःसर्वज्ञैः, इति गाथार्थः ॥४४॥

एतदेव विभागेनाह–

जिणाबिंबपइट्ठावण–भावज्जियकम्मपिरणतिवसेणं।
सुगतीइ पइट्ठावण–मणहं सदि अप्पणो चेव ॥४५॥

जिनबिम्बप्रतिष्ठापनमर्हत्प्रतिमास्थापनं, तस्मिन् यो भावः स्वाशय-वृद्धिरूपः, "सासयवुड्ढी वि इहं, भुवणगुरुजिणिंदगुणपरिण्णाए। तब्बिं-बठावणत्थं, सुद्धपवित्तीऍ नियमेणं ॥१॥" इति प्रागुक्तगाथाभिहितः, तेन यदिर्जितमुपात्तं कर्म पुण्यानुबन्धिपुण्यरूपं, तस्य या परिणति-र्विपाकः, तस्या यो वशः सामर्थ्यं, स तथा तेन जिनबिम्बप्रतिष्ठा-पनभावार्जितकर्मपरिणतिवशेन, किमित्याह–सुगतौ देवगत्यादौ, प्रतिष्ठापनं व्यवस्थापनम्, अनघमनवद्यं, तत्कालीनदोषाऽऽगामिदोषा-गोचरत्वात्। असकृत्सदा। कस्येत्याह–आत्मन एव स्वजीवस्यैव। भवति, इति गाथार्थः ॥४५॥

तथा–

तत्थ वि य साहुदंसण–भावज्जियकम्मतो उ गुणरागो।
काले य साहुदंसण–महक्कमेणं गुणकरं तु ॥४६॥

तत्रापि च स्वस्य सुगतिप्रतिष्ठापनेऽपि च पूर्वकाले, गुणराग

आसीदेवेत्यपिशब्दार्थः। साधुदर्शने मुनिजनावलोकने, यो भावोऽध्यवसायः स्वाशयवृद्धिरूप एव, ''पेच्छिस्सं एत्थ अहं, वंदणगनिमित्तमागए साहू। कयपुण्णे भगवंते, गुणरयणनिही महासत्ते ॥१॥'' इति प्रागुक्तगाथोक्तः, तेन यदुपार्जितं कर्म्म पुण्यरूपं तत्तथा तस्मात्साधुदर्शनभावार्जितकर्मतः, तुशब्दः पुनरर्थः, गुणरागो गुणपक्षपातो, भवति स्वरूपेणैव। ततः काले चावसरे पुनः। साधुदर्शनं मुनिपुङ्गवावलोकनम्, ततएव जायते। किंभूतम्? यथाक्रमेण यथापरिपाटि। अथवा अथाऽनन्तरं, क्रमेण परिपाट्या, गुणकरं तु गुणकरणशीलमेव, इति गाथार्थः ॥४६॥

पडिवुज्झिस्संतन्ने, भावज्जियकम्मओ य पडिवत्ती।
भावचरणस्स जायति, एगंतसुहावहा णियमा ॥४७॥

प्रतिभोत्स्यन्ते बोधिं लप्स्यन्ते, अन्येजिनभवनविधायकापेक्षयाऽपरे, इत्यादिरूपो यो भावोऽध्यवसायः स्वाशयवृद्धिरूप एव, ''पडिवुज्झिस्संति इहं, दट्ठूण जिणिंदबिंबमकलंकं। अन्ने वि भव्वसत्ता, काहिंति तओ परं धम्मं ॥१॥'' इति प्रागुक्तगाथोक्तः, तस्माद्यदर्जितं कर्म्म कुशलानुबन्धिपुण्यस्वरूपं तत्तथा तस्मात्प्रतिभोत्स्यन्तेऽन्ये भावार्जितकर्म्मतः सकाशात्, चशब्दः पुनरर्थ, प्रतिपत्तिरभ्युपगमः, भावचरणस्य पारमार्थिकचारित्रस्य, जायते भवति, एकान्तसुखावहा मोक्षशर्मावहा, अव्यभिचारतो वा सुखावहा, नियमादवश्यंतया, इति गाथार्थः ॥४७॥

अपतिवडिमयसुहचिंता–भावज्जियकम्मपरिणतीए उ।
गच्छति इमीइ अंतं, ततो य आराहणं लहइ ॥४८॥

अप्रतिपतिता स्थिरा या शुभचिन्ता प्रशस्तानुचिन्तनं स्वाशयवृद्धिरूपा ''ता एयं मे वित्तं, जमेत्थमुवओगमेइ अणवरयं। इय चिंतापरिवडिया, सासयवुड्ढीउ मोक्खफला ॥१॥'' इति प्रागुक्तगाथाऽभिहिता, तल्लक्षणो यो भावः, तेनार्जितं यत्कर्म कुशलरूपं, तस्य या परिणतिः सा तथा, तस्या अप्रतिपतितशुभचिन्ताभावार्जितकर्म्मपरिणतेः सकाशात्, तुशब्दः पुनरर्थः। गच्छति याति, अस्याश्चरणप्रतिपत्तेः, अन्तमवसानम्, अप्रतिपतितां पालयतीत्यर्थः। ततश्चरणप्रतिपत्त्यन्तगमनात्पुनः, आराधनां चरणाराधकत्वम्, लभते प्राप्नोति, विशुद्धचरणाराधको भवतीत्यर्थः। अप्रतिपतितचरणस्यैव हि चरणाराधना भवति, इति गाथार्थः ॥४८॥

एतदेव दर्शयन्नाह–

णिच्छयणया जमेसा, चरणपडिवत्तिसमयतो पभिति।
आमरणंतमजस्सं, संजमपरिपालणं विहिणा ॥४९॥

निश्चयनयान्नयविशेषमतेन, व्यवहारनयात्तु मरणावसरचरणासेवनमात्रमाराधनेत्यभिप्रायेण निश्चयनयात् इत्युक्तम्। यद्यस्मात्, एषा प्रागुक्ताऽऽराधना भवति। कुतः कथं तदित्याह–चरणप्रतिपत्तिसमयतः चारित्राभ्युपगमकालात्, प्रभृति तदादितः, आमरणान्तं मृत्युलक्षणावसानं यावत्, न पुनस्तदारात्। अजस्रमनवरतं, संयमपरिपालनमहिंसाद्याराधनम्, विधिनाऽऽगमोक्तन्यायेन। अतस्तदन्त आराधनां लभते इति युक्तम्। इति गाथार्थः ॥४९॥

यद्याराधनां लभते ततः किं स्यादित्याह–

अ राहगो य जीवो, सत्तट्ठभवेहिँ पावती णियमा।
जम्मादिदोसविरहा, सासयसोक्खं तु णिव्वाणं ॥५०॥

आराधकश्च ज्ञानाद्याराधनावान्, चशब्दः पुनरर्थः। जीवः प्राणी, सप्ताष्टभवैः सप्तभिरष्टाभिर्जन्मभिरित्यर्थः। इदं च जघन्याराधनामाश्रित्योक्तम्, अन्यथा तद्भव एव कश्चित्सिद्ध्यतीति। एते च सप्ताष्टौ वा भवा आराधनायुक्ता द्रष्टव्याः। इतरथा तु सप्तैव प्राप्नुवन्तीत्याराधकस्य मनुष्येष्वनुत्पादादिति। प्राप्नोति लभते, नियमादवश्यंतया, कुतः किंविधं किमित्याह–जन्मादिदोषविरहाज्जातिजरामरणप्रभृतिदूषणवियोगात्, एतच्च पदं शाश्वतसौख्यमित्यनेनं प्राप्नोतीत्यनेन वा संबन्धीनयम्। शाश्वतसौख्यं तु नित्यसुखमेव, न तु स्वास्थ्यमात्रम्, निर्वाणं निर्वृतिम्, इति गाथार्थः ॥५०॥ उक्तो जिनभवनविधिः। पञ्चा०७ विव०।

जीर्णोद्धारे त्वेवं विशिष्योपक्रम्यम्; यतः–

''नवीनजिनगेहस्य, विधाने यत्फलं भवेत्।
तस्मादष्टगुणं पुण्यं, जीर्णोद्धारेण जायते ॥१॥
जीर्णे समुद्धृते यावत्, तावत्पुण्यं न नूतने।
उपमर्दो महांस्तत्र, स्वचैत्यख्यातिधीरपि'' ॥२॥

तथा–

''राया अमच्च सिट्ठी, कोडुंबीए वि देसणं काउं।
जिण्णे पुव्वायतणे, जिण–कप्पी वा वि कारवइ ॥१॥
जिणभवणाइं जे उ–द्धरंति भत्तीइ सडियपडिआइं।
ते उद्धरंति अप्पं, भीमाओ भवसमुद्दाओ ॥२॥''

जीर्णचैत्योद्धारकारणपूर्वकमेव चे नव्यचैत्यकारापणमुचितम्, तत एव संप्रतिनृपतिना एकोननवतिसहस्रा जीर्णोद्धाराः कारिताः, नवचैत्यानि तु षट्त्रिंशत्सहस्रा एव। एवं कुमारपालवस्तुपालाद्यैरपि नव्यचैत्येभ्यो जीर्णोद्धारा एव बहवो व्यधाप्यन्त इति। चैत्ये च कुण्डिकाकलशौ रसप्रदीपादिसर्वाङ्गीणोपस्करणकारणं यथाशक्ति कोशदेवदायवाटिकादियुक्तिकरणं च, राजादेस्तु विधापयितुः प्रचुरतरकोशग्रामगोकुलादिदानं, यथाऽविच्छिन्ना पूजा प्रवर्त्ततम् इति द्वारम्। इत्थं च चैत्ये निष्पन्ने शीघ्रमेव प्रतिमां स्थापयेत्। यदाह षोडशके श्रीहरिभद्रसूरिः–''जिनभवने जिनबिम्बं, कारयितव्यं द्रुतं तु बुद्धिमता। साधिष्ठानं ह्येवं तद्भवनं वृद्धिमद्भवति ॥१॥'' ध० २ अधि०।

(२५) जिनबिम्बकारणविधिः–जिनभवनं च जिनबिम्बाध्यासितमेव भवतीति तद्बिम्बप्रतिष्ठाविधिं प्रतिपिपादयिषुर्मङ्गलादिप्रतिपादनायाऽऽह–

नमिऊण देवदेवं, वीरं सम्मं समासओ वोच्छं।
जिणबिंबपइट्ठाए, विहिमागमलोयणीतीए ॥१॥

नत्वा प्रणम्य, देवदेवं पुरन्दरादिदेवानामाराध्यम्, वीरं वर्द्धमानस्वामिनम्, सम्यग्भावशुद्ध्या, वक्ष्ये इत्येतत्क्रियायाः वेदं विशेषणम्। ततश्च सम्यगवैपरीत्येन, समासतः संक्षेपेण, वक्ष्ये अभिधास्ये, जिनबिम्बप्रतिष्ठायाः प्रतीतायाः, विधिं विधानम्, आगमनलोकनीत्यो जिनप्रवचनन्यायेन, लौकिकन्यायेन चैत्यर्थः। लोकग्रहणेन चेदं दर्शयतिलोकनीतिरपि क्वचिज्जिनमताविरुद्धाश्रयणीया, अत एव प्रासादादिलक्षणं तदुक्तमप्याश्रीयते, इति गाथार्थः ॥१॥

जिनबिम्बस्याकारितस्य प्रतिष्ठा न भवतीति तत्कारणविधिमभिधित्सुस्तत्प्रस्तावनाऽऽह–

जिणबिंबस्स पइट्ठा, पायं कारावियस्स जं तेण।
तक्कारवणम्मि विहिं, पढमं चिय वण्णिमो ताव ॥२॥

जिनबिम्बस्य जिनप्रतिमायाः, प्रतिष्ठा प्रतिष्ठापना, प्रायः प्रायेण, प्रायोग्रहणं चाकारितस्याऽपि स्वयंकृतस्य क्रीतस्य च प्रतिष्ठा भवतीति प्रतिपादनार्थम्। यदिति यस्माद्धेतोः, तेन तस्मात्, (तक्कारवणम्मि त्ति) जिनबिम्बविधापने, विधिं कल्पम्, प्रथममेव पूर्वमेव, प्रतिष्ठाभिधानात्, वर्ण्णयामो भणामः, तावदिति प्रक्रमार्थः। इति गाथार्थः ॥२॥

अथ बिम्बकारणविधिमेवाभिधित्सुस्तत्प्रवर्तकशुद्धबुद्धिस्वरूपं तावद्गाथाचतुष्केणाऽऽह–

सोउं णाऊण गुणे, जिणाण जायाएँ सुद्धबुद्धीए।
किच्चमिणं मणुयाणं, जम्मफलं एत्तियं चेव ॥३॥
गुणपगरिसो जिणा खलु, तेसिं विंवस्स दंसणं पि सुहं।
कारावणेण तस्स उ, अणुग्गहो अत्तणो परमो ॥४॥
मोक्खपहसामियाणं, मोक्खत्थं उज्जएण कुसलेणं।
तग्गुणबहुमाणादिसु, जइयव्वं सव्वजत्तेणं ॥५॥
तग्गुणबहुमाणाओ, तह सुहभावेण वज्झती णियमा।
कम्मं सुहाणुबंधं, तस्सुदया सव्वसिद्धि त्ति ॥६॥

श्रुत्वा गुरुणाऽभिधीयमानानाकर्ण्य, तथा ज्ञात्वाऽवगम्य, कान्? गुणान् रागादिवैरिवारविदारणप्रवचनप्रवर्तनादीन्, केषाम्? जिनानामर्हताम्, जातायां प्राप्तायां सत्यां भूतायामित्यत्र पुनर्व्याख्याने एककर्तृकत्वाभावात् क्त्वाप्रत्ययस्यानुपपत्तिः स्यादिति प्राप्तायामिति व्याख्यातम्। अथवा–गुणगुणिनोर्बुद्धिजीवयोरभेदात् श्रवणज्ञानक्रियाऽपेक्षया बुद्धिजननक्रियाया एककर्तृकत्वमेवेति, ततो जातायामुत्पन्नायाम्, शुद्धबुद्धौ निर्मलबोधे, किमित्याह–कृत्यं विधेयम्, इदं जिनबिम्बम्, मनुजानां नृणाम्, तथा जन्मफलं जननसाध्यम्, एतावदेव नाधिकम्, अत्र मनुष्यभवे ॥३॥ तथ–गुण–प्रकर्षो गुणातिशयः, जिना एवार्हन्त एव, धर्मधर्मिणोरभेदाच्च गुणप्रकर्षो जिना इत्युक्तम्। अन्यथा गुणप्रकर्षो जिनानामिति वक्तव्यं स्यादिति। खलुरवधारणे। अत एव तेषां जिनानां, बिम्बस्य प्रतिमायाः, दर्शनमप्यवलोकनमपि, आस्तां तद्वन्दनादि। सुखं शुभं वा वर्तते, तद्धेतुत्वात्। ततः किमित्याह–कारणेन विधापनेन, तस्य बिम्बस्य, तुशब्दः पुनरर्थः, अनुग्रह उपकारो भवति, आत्मनः स्वकीयस्य, परम उत्कृष्टः ॥४॥ ततश्च मोक्षपथस्वामिकानां सिद्धिमार्गप्रभूणां, तदुपदर्शकत्वाज्जिनानां, मोक्षार्थं सिद्धिनिमित्तम्, उद्यतेन प्रयत्नपरेण, कुशलेन निपुणेन, स एव मोक्षो गुणः फलं येषां बहुमानादीनां ते तद्गुणाः, ते च ते बहुमानादयश्च। अथवा–ते च ते असाधारणा गुणाश्च तद्गुणास्तेषु बहुमानादयः प्रीतिपूजाप्रभृतयः तद्गुणबहुमानादयः। अथवा ते च ते गुणा बहुमानादयश्चेति समा–सोऽतस्तेषु, तेषां मोक्षपथस्वामिकानां गुणबहुमानादय इति तु न व्याख्यातम्, तच्छब्दस्य गतार्थत्वात्तत्संस्पर्शनीयस्य साक्षादेवोक्तत्वात्। अथवा–तदिति लुप्तषष्ठीबहुवचनान्तं, तेन तेषां जिनानामिति व्याख्येयमिति। यतितव्यं प्रवृत्तिर्विधेया, सर्वयत्नेन समस्तादरेण ॥५॥ अथ कस्मादेवमित्याहतद्गुणबहुमानात् मोक्षपथस्वामिगुणपक्षपातात्, तथा तत्प्रकारेण मोक्षपथस्वामिगुणबहुमानोद्भवेन, शुभभावेन शोभनपरिणामेन, बध्यते उपादीयते, नियमादवश्यंतया, कर्मादृष्टं, शुभानुबन्धं कुशलानुबन्धि। ततश्च तस्य शुभानुबन्धिकर्मण उदयाद्विपाकात्, सर्वसिद्धिः समस्तेप्सितकार्यनिष्पत्तिर्भवति। इतिशब्दः शुद्धबुद्धिस्वरूपोक्तिसमाप्तिसूचनार्थः। इति गाथाचतुष्कार्थः ॥६॥ चतुर्भिः कलापकम्।

अथ जिनबिम्बकारणविधिमाह–

इय सुद्धबुद्धिजोगा, काले संपूइऊण कत्तारं।
विभवोचियमप्पेज्जा, मोल्लं अणहस्स सुहभावो ॥७॥

इति शुद्धबुद्धियोगादेवमनन्तरगाथाचतुष्कोक्तनिर्मलबोधसंबन्धात्, काले तदुचितावसरे, संपूज्य संमानयित्वा, कर्तारं जिनबिम्बविधायकं, सूत्रधारकमित्यर्थः। विभवोचितं स्वसमृद्ध्यनुरूपम्, अर्पयेत् समर्पयेत्, मूल्यं वेतनम्, अनघस्य निर्दोषस्य, अनौचित्येन द्रव्यविनाशकत्वात्। शुभभाव उदारतया प्रवर्द्धमानप्रशस्ताध्यवसायः, कारयिता। इति गाथार्थः ॥७॥

अनघशिल्पिनोऽसद्भावे यद्विधेयं तदाह–

तारिसयस्साभावे, तस्सेव हि तत्थ मुज्जुओ णवरं।
णियमेज्ज बिंबमोल्लं, जं उचियं कालमासज्ज ॥८॥

तादृशकस्यानघस्येत्यर्थः, कर्तुरिति प्रक्रमः। अभावे अप्राप्तौ, तस्यैव कर्तुरेव, हितार्थं श्रेयोनिमित्तम्, बिम्बार्थकल्पितद्रव्यभक्षणतो यत्तस्य संसारगर्तपतनं, तद्रक्षणद्वारेण उद्यतः प्रयतः, नवरं केवलम्। नियमयेन्नियन्त्रयेत्, बिम्बमूल्यं प्रतिमावेतनम्, यथेयता द्रव्येण यद् बिम्बं विधातव्यं भवता यथाबहुशो मूल्यं च दास्यामीति। यदिति मूल्यम्, उचितं योग्यं प्रतिमाऽपेक्षया, कालमवसरम् आश्रित्य प्रतीत्य, यतः क्वचित्काले लघावपि बिम्बे मूल्यं प्रचुरं स्यात्कदाचिदल्पम्। इति गाथार्थः ॥८॥

यदि पुनरनघस्यैवेतरस्यापि मूल्यमर्पयति, ततः को दोषः स्यादित्यत आह–

देवस्सपरीभोगो, अणेगजम्मेसु दारुणविवागो।
तस्मि स होइ णिउत्तो, पावो जो कारुओ इहरा ॥९॥

देवस्वस्य जिनबिम्बनिर्मापणार्थं कल्पितत्वेन जिनदेवद्रव्यस्य, परीभोगो भक्षणं, देवस्वपरीभोगः। उपचारात्तद्धेतुकं कर्म देवस्वपरीभोग उक्तः। स चानेकजन्मस्वनन्तभवेषु, दारुणविपाको नरकादिदुःखकारणत्वेन घोरोदयो भवति, ततश्च तस्मिन् देवस्वपरीभोगे, स इति कारुकः, भवति स्यात्, नियुक्तो व्यापारितः, पापः सदोषो, यः कारुकः शिल्पी, इतरथाऽन्यथा, बिम्बमूल्यनियमनाभावे इत्यर्थः। न च परोपकारणप्रवणान्तःकरणानां सतां दारुणविपाके कर्मणि परव्यापारणं युक्तम्। इति गाथार्थः ॥९॥

अथ देवस्वपरीभोगो दारुणविपाको यदि कारुकस्य भविष्यति, ततः किमस्माकमित्यभिप्रायवन्तं शिक्षयितुमाह–

जं जायइ परिणामे, असुहं सव्वस्स तं न कायव्वं।

सम्मं णिरूविज्जणं, गाढगिलाणस्स वाऽपत्थं ॥१०॥

यदनुष्ठानम्, जायते संपद्यते, परिणामे आयत्याम्, असुखम्, असुखहेतुत्वात्, असौख्यमशुभं वा, सर्वस्य समस्तस्याऽऽत्मनः परस्य वा, न पुनरात्मन एव। सतां परोपकारकरणप्रवणान्तःकारणत्वात्। आह च—''जयन्तु ते सदा सन्तः, सत्त्वीयाः सद्गुणान्विताः। ये कृतार्थाः स्वयं सन्तः, परार्थे विहितश्रमाः ॥१॥'' तदित्यनुष्ठानम्, न कर्तव्यं न विधेयम्, सम्यगविपरीततया, निरूप्यालोच्य, सम्यग्निरूपणाभावे हि परिणामस्य दुरवसेयत्वं स्यादिति। अत्रार्थे दृष्टान्तमाहगाढग्लानस्य सन्निपाताद्यभिभूततया तीव्रातुरस्य, वाशब्द इवशब्दार्थः, अपथ्यमयोग्यभोजनम्, अपथ्यदानेन हि गाढग्लानो विनाशितो भवति, इति गाथार्थः ॥१०॥

ननु यद्यनवद्यकारुकस्यविशेषेण मूल्यार्पणे सदोषस्य वा तन्नियमनेऽपि देवद्रव्यक्षतिः स्या—त्तदा का वार्तेत्याशङ्क्याऽऽह—

आणागारी आरा—हणेण तीए ण दोसवं होति।
वत्थुविवज्जासम्मि वि, छउमत्थो सुद्धपरिणामो ॥ ११ ॥

आज्ञाकारी आप्तोपदेशवर्त्ती, यथोक्तजिनबिम्बमूल्यविधिविधायीत्यर्थः। किमित्याह—आराधनेन बिम्बमूल्यनियमनादिद्वारेण पालनया, तस्या आज्ञायाः, न नैव, दोषवान्विपाकदारुणदेवस्वपरिभोगप्रवर्त्तकलक्षणदूषणयुक्तः, भवति जायते, वस्तुनो यथोक्तमूल्यार्पणविधानेन देवद्रव्यरक्षणलक्षणस्य, विपर्यासः स्वभाववैपरीत्यं, वस्तुविपर्यासस्तस्मिन्नापि, देवद्रव्यस्य कारुकेण भक्षणेऽपीत्यर्थः, अविपर्यासे निर्दोष एवेत्यपिशब्दार्थः। छद्मस्थो निरतिशयज्ञानः, अनेन च वस्तुविपर्यासस्य बीजमुक्तं, तस्यैव मोहसंभवात्। अथ कथमसावाज्ञाकारी न दोषवानित्याह—यतः शुद्धपरिणामो निरवद्याध्यवसायः कर्ता। इति गाथार्थः ॥११॥

अथ कथं वस्तुविपर्यासेऽप्याज्ञाकारिणः शुद्धपरिणामो भवतीत्यत आह—

आणापवित्तिओ चिय, सुद्धो एसो ण अण्णहा णियमा।
तित्थगरे बहुमाणा, तदभावाओ य णायव्वो ॥ १२ ॥

आज्ञाप्रवृत्तित एवाऽऽप्तोपदेशपरतन्त्रप्रवर्त्तनादेव, शुद्धो विशुद्धः एष परिणामो बिम्बविधायको वा, ज्ञेय इति योगः। न नैव, अन्यथा अपरया, आज्ञाया अपारतन्त्र्यप्रवृत्तेरित्यर्थः। नियमादवश्यंतया, शुद्धो ज्ञेयो भवतीति प्रकृतमेव। अथ कुत एतदपि द्वयमित्याह—तीर्थंकरे जिने बहुमानात्पक्षपातात् आज्ञाप्रवृत्तिकः शुद्ध। तदभावात्तीर्थकरे बहुमानाभावात् अनाज्ञाप्रवृत्तिकस्त्वशुद्धः, चशब्दः समुच्चयार्थः, ज्ञातव्यो ज्ञेय इति संबन्धितमेव, इति गाथार्थः ॥ १२ ॥

अथ किमेवमाज्ञायाः प्राधान्यमुद्घुष्यते इत्याह—

समतिपवित्ती सव्वा, आणावज्झ त्ति भवफला चेव।
तित्थगरुद्देसेण वि, ण तत्तओ सा तदुद्देसा ॥ १३ ॥

स्वमतिप्रवृत्तिः आत्मबुद्धिपूर्विका चेष्टा, सर्वा समस्ता द्रव्यस्तवभावस्तवविषया, आज्ञाबाह्या आप्तोपदेशशून्या, इति हेतोः, भवफलैव संसारनिबन्धनमेव, आज्ञाया एव भवोत्तारहेतुषु प्रमाणत्वादि ति। ननु या तीर्थकरानुद्देशवती सा भवफला युक्ता, न त्वितरा, जिनपक्षपातस्य महाफलत्वादित्याशङ्क्याह— तीर्थकरोद्देशेनाऽपि जिनालम्बनेनापि, आस्तां ततोऽन्यत्र स्वमतिप्रवृत्तिर्भवफलैवेति प्रकृतम्। कुत एवम्? यतो न तत्त्वतो न परमार्थेन, सा तीर्थकरोद्देशवती स्वमतिप्रवृत्तिः, तस्मिन्स्तीर्थकरे उद्देशः प्रणिधानं यस्यां सा तदुद्देशा, य एव ह्याज्ञया प्रवर्तते स एव हि जिनमुद्दिश्य प्रवर्त्तत इत्यभिधीयते, नापर इति गाथार्थः ॥ १३ ॥

आज्ञोल्लङ्घनेन जिनमुद्दिश्य जिनभवनबिम्बतत्पूजाऽऽदिप्रवृतान् बहूनुपलभ्योपालम्भयन्नाह—

मूढा अणादिमोहा, तहा तहा एत्थ संपयट्टंता।
तं चेव य मण्णंता, अवमण्णंता ण याणंति ॥ १४ ॥

मूढा मूर्खाः, कुत इत्याह—अनादिमोहात् आदिरहिताज्ञानात्, अनादिर्वा मोहो येषां ते तथा। तथा तथा तेन तेन प्रकारेणाऽऽज्ञोल्लङ्घनतो बिम्बपूजादिलक्षणेन, अत्र तीर्थकरविषये, संप्रवर्त्तमाना व्याप्रियमाणाः, (तं चेव य त्ति) तमेव च तीर्थकरं, मन्यमानास्तत्पूजादिकरणत आराध्यतयाऽभ्युपगच्छन्तः, अवमन्यमानास्तमेव परिभवन्त आज्ञोल्लङ्घनेन, न जानन्ति नावगच्छन्ति, अनादिमोहमूढत्वादिति हृदयम्। इति गाथार्थः ॥ १४ ॥

प्रस्तुतमेवार्थं निगमयन्नाह—

मोक्खत्थिणा तओ इह, आणाए चेव सव्वजत्तेणं।
सव्वत्थ वि जइयव्वं, संमं ति कयं पसंगेण ॥ १५ ॥

मोक्षार्थिना सिद्धिकामेन, (तओ त्ति) यतः स्वमतिप्रवृत्तिः भवफला ततो हेतोः, इह प्रक्रमे, आज्ञयैवाप्तोपदेशेनैव, सर्वयत्नेन सर्वादरेण, सर्वत्रापि समस्तेऽपि परलोकसाधनविधौ, आस्तामेकत्र; यतितव्यं चेष्टितव्यं, सम्यग् भावशुद्ध्या, इतिशब्दः परिसमाप्तौ, कृतमलम्, प्रसङ्गेन प्रसङ्गापन्नभणितेन; इति गाथार्थः ॥ १५ ॥ पञ्चा० ८ विव०।

जिनभवने तद्बिम्बं, कारयितव्यं द्रुतं तु बुद्धिमता।
साधिष्ठानं ह्येवं, तद्भवनं वृद्धिमद्भवति ॥ १ ॥

जिनभवने जिनायतने, तद्बिम्बं जिनबिम्बं, कारयितव्यं कारणीयं, द्रुतं तु शीघ्रमेव, बुद्धिमता बृद्धिसंपन्नेन किमिति। द्रुतं कारयितव्यमित्याह—हि यस्मात्साधिष्ठानं साधिष्ठातृकमेव, जिनबिम्बेनैव, तद्भवनं प्रस्तुतं वृद्धिमद्भति वृद्धिभाग् भवति ॥ १ ॥

तद्बिम्बकारणविधिमाह—

जिनबिम्बकारणविधिः, काले पूजापुरस्सरं कर्तुः।
विभवोचितमूल्यार्पण—मनघस्य शुभेन भावेन ॥ २ ॥

जिनबिम्बकारणविधिः, अभिधीयते इति वाक्यशेषः। काले अवसरे, पूजापुरस्सरं भोजनपत्रपुष्पफलपूजापूर्वकं, कर्तुः शिल्पिनः विज्ञानिकस्य, विभवोचितस्य मूल्यस्य धनस्यार्पणं समर्पणमनघस्याव्यसनस्य, शुभेन प्रशस्तेन भावेनान्तःकरणेन ॥ २ ॥

अनघस्येत्युक्तं तद्व्यतिरेकेणाह—

नार्पणमितरस्य तथा, युक्त्या वक्तव्यमेव मूल्यमिति।
काले च दानमुचितं, शुभभावेनैव विधिपूर्वम् ॥ ३ ॥

(नार्पणमित्यादि) इतरस्य स्त्रीमद्यद्यूतदिव्यसनवतो, नार्पणं तथा क्रियते यथा अनघस्य, युक्त्या लोकन्यायेन, वक्तव्यमेव मूल्यमिति इति एवंस्वरूपं मूल्यमिदं वक्तव्यं, काले च प्रस्तावे च दानमुचितं, मूल्यस्येति गम्यते। शुभभावेनैव न अशुभभावेन, विधिपूर्वमविधिपरिहारेण ॥ ३ ॥

सव्यसनं प्रति किमेवमुपदिश्यत इत्याह–

चित्तविनाशो नैवं, प्रायः संजायते द्वयोरपि हि।
अस्मिन् व्यतिकर एष, प्रतिषिद्धो धर्मतत्त्वज्ञैः ॥ ४ ॥

चित्तविनाशः चित्तकालुष्यं, नैवम् उक्तनीत्या, प्रायो बाहुल्येन, संजायते, द्वयोरपि हि कारयितृवैज्ञानिकयोः, अस्मिन् प्रस्तुते, व्यतिकरे संबन्धे, एष चित्तविनाशश्चितभेदः, प्रतिषिद्धो निराकृतो, धर्मतत्त्वज्ञैर्धर्मस्वरूपवेदिभिः ॥ ४ ॥

अस्मिन् व्यतिकर इत्युक्तं तमेवाश्रित्याह–

एष द्वयोरपि महान्, विशिष्टकार्यप्रसाधकत्वेन।
संबन्धमिह क्षुण्णं, न मिथः सन्तः प्रशंसन्ति ॥ ५ ॥

(एष इत्यादि) एष योगो, द्वयोरपि पूर्वोक्तयोर्महान् गुरुर्विशिष्टकार्यप्रसाधकत्वेन जिनबिम्बनिर्वर्तकत्वेन, इह संबन्धं, क्षुण्णं वैकल्यं, न मिथः परस्परं, सन्तः सत्पुरुषाः, प्रशंसन्ति स्तुवन्ति ॥ ५ ॥

जिनबिम्बकारणे भावप्राधान्यमुररीकृत्याऽऽह–

यावन्तः परितोषाः, कारयितुस्तत्समुद्भवाः केचित्।
तद्बिम्बकारणानी–ह तस्य तावन्ति तत्त्वेन ॥ ६ ॥

(यावन्त इत्यादि) यावन्तो यत्परिमाणाः, परितोषाः प्रीतिविशेषाः, कारयितुरधिकृतस्य, तस्य समुद्भवा बिम्बसमुद्भवाः, केचित्केऽपि, चिच्छन्दोऽप्यर्थे, तद्बिम्बकारणानि जिनबिम्बनिर्वर्तनानीह प्रक्रमे, तस्य कारयितुः, तावन्ति तत्परिमाणानि, तत्त्वेन परमार्थेन ॥ ६ ॥

चित्तविनाशोऽत्र प्रतिषिद्ध इत्युक्तं, तमाश्रित्याह–

अप्रीतिरपि च तस्मिन्, भगवति परमार्थनीतितो ज्ञेया।
सर्वापायनिमित्तं, ह्येषा पापा न कर्तव्या ॥ ७ ॥

(अप्रीतिरित्यादि) अप्रीतिरपि च चित्तविनाशरूपा, तस्मिन् शिल्पिनि क्रियमाणा, भगवति जिने, परमार्थनीतितः परमार्थन्यायेन, कारयितुर्ज्ञेया सर्वापायनिमित्तं, हि यतः, सर्वेषामपायानां प्रत्यवायानां निमित्तमप्रीतिः, तस्मादेषा पापाऽप्रीतिः, न कर्तव्या न विधेया ॥ ७ ॥

कथं पुनः तत्कारयितव्यमित्याह–

अधिकगुणस्थैर्नियमात्, कारयितव्यं स्वदौर्हृदैर्युक्तम्।
न्यायार्जितवित्तेन तु, जिनबिम्बं भावशुद्धेन ॥ ८ ॥

(अधिकेत्यादि) अधिकगुणस्थैरधिकगुणवर्त्तिभिः, प्राक्तनकालापेक्षया, नियमाद् नियमेन, कारयितव्यं कारणीयं, स्वदौर्हृदैः स्वमनोरथैः, शिल्पिगतैः, युक्तं सहितं, न्यायार्जितवित्तेन तु न्यायोपात्तद्रविणेन तु करणभूतेन, जिनबिम्बं जिनप्रतिमारूपं, भावशुद्धेन भावेन सदन्तःकरणलक्षणेन शुद्धं यन्न्यायार्जितवित्तं तेन ॥ ८ ॥

स्वदौर्हृदैर्युक्तमित्युक्तं तद्विवरीषुराह–

अत्रावस्थात्रयगा–मिनो बुधैर्दौर्हृदाः समाख्याताः।
बालाद्याश्चैता य–त्तत्क्रीडनकादि देयमिति ॥ ९ ॥

(अत्रेत्यादि) अत्र जिनबिम्बकारणे, अवस्थात्रयगामिनो बालकुमारयुवलक्षणावस्थात्रयगामिनो, बुधैर्विद्वद्भिर्दौर्हृदा मनोरथाः, समाख्याताः कथिताः, बालाद्याः चैत्ता यत् चित्ते भवाश्चैत्ताः शिल्पिचित्तगताः, यद्यस्मात्तु वर्तन्ते तत्तस्माच्चैत्तबालाद्यवस्थात्रयमनोरथसंपत्तये, क्रीडनकादि क्रीडनकं विस्मयकारि भोगोपकारणजातं, देयमुपढौकनीयम्, इति एवंप्रकारम्। इदमुक्तं भवति–शिल्पी बालो युवा मध्यमवया वा प्रतिमानिर्माणे व्याप्रियते, तस्य तदवस्थात्रयमनादृत्य प्रतिमागतावस्थात्रयदर्शिनश्चैत्ता ये दौर्हृदाः समुत्पद्यन्ते, तत्परिपूर्णाय यतितव्यम् ॥ ९ ॥

भावशुद्धेनेत्युक्तं, तदुपदर्शनायाऽऽह–

यद्यस्य सत्कमनुचित–मिह वित्ते तस्य तज्जमिह पुण्यम्।
भवतु शुभाशयकरणा–दित्येतद्भावशुद्धं स्यात् ॥ १० ॥

यत् स्वरूपेण यन्मात्रं, यस्य सत्कं यस्य संबन्धि, वित्तमिति गम्यते, अनुचितमयोग्यम्, इह वित्ते मदीये कथञ्चिदनुप्रविष्टं, तस्य पुरुषस्य, तस्माज्जातं तज्जम्, इह बिम्बकरणे, पुण्यं पुण्यकर्म, भवतु अस्तु, शुभाशयकरणात् शुभपरिणामकरणात्, इत्येवमुक्तनीत्या, एतत् न्यायार्जितं वित्तं पूर्वोक्तं भावशुद्धं, स्यात्। परकीयवित्तेन स्ववित्तानुप्रविष्टेन पुण्यकारणानभिलाषाद्भावेनान्तःकरणेन शुद्धं भवेत् ॥ १० ॥

जिनबिम्बकारणविधिरभिधीयत इत्युक्तं, तद्गतमेव विशेषमाह–

मन्त्रन्यासश्च तथा, प्रणवनमःपूर्वकं च तन्नाम।
मन्त्रः परमो ज्ञेयो, मननत्राणे ह्यतो नियमात् ॥ ११ ॥

मन्त्रन्यासश्च तथा जिनबिम्बे कारयितव्यतयाऽभिप्रेते मन्त्रस्य न्यासो विधेयः। कः पुनः स्वरूपेण मन्त्र इत्याह–'प्रणवनमः–पूर्वकं च तन्नाम। मन्त्रं परमो ज्ञेयः ' प्रणव ओङ्कारो, नमःशब्दश्च, तौ पूर्ववादी यस्य तत्प्रणवनमःपूर्वकं, तस्य विवक्षितस्य ऋषभादेर्नाम तन्नाम, मन्त्रः परमः प्रधानो, ज्ञेयो वेदितव्यः। किमित्याह–'मननत्राणे ह्यतो नियमात्' हिर्यस्मादतः प्रणवनमः पूर्वकान्नाम्नः सकाशात् ज्ञानरक्षणे नियमाद्भवत इति कृत्वा मन्त्र उच्यते तन्नामैवेति ॥ ११ ॥

ननु च रत्नकनकादिभिः सुरूपमहाबिम्बकरणैर्विशिष्टं फलं किमाहोस्वित्परिणामविशेषादित्याशङ्क्याऽऽह–

बिम्बं महत्सुरूपं, कनकादिमयं च यः खलु विशेषः।
नास्मात्फलं विशिष्टं, भवति तु तदिहाशयविशेषात् ॥ १२ ॥

बिम्बं प्रतिमारूपं, महत्प्रमाणतः, सुरूपं विशिष्टाङ्गोपाङ्गावयवसन्निवेशसौन्दर्यं, कनकादिमयं च चतुर्वर्णरत्नादिमयं च, यः खलु विशेषो बाह्यवस्तुगतः नास्मात्फलं विशिष्टमस्मादेव विशेषान्न फलविशेषो न फलमधिकं, नैतदविनाभावि फलमित्यर्थः। भवति तु भवत्येव, तद्विशिष्टं फलम्, इह प्रक्रमे, आशयविशेषात् यत्र भावोऽधिकस्तत्र फलमप्यधिकमिति हृदयम् ॥ १२ ॥

आशयविशेषात् विशिष्टं फलमित्युक्तं, स एव आशयविशेषोयादृक्षः प्रशस्तो भवति तादृक्षमाह–

आगमतन्त्रः सततं, तद्भक्त्यादिलिङ्गसंसिद्धः।
चेष्टायां तत्स्मृतिमान्, शस्तः खल्वाशयविशेषः ॥ १३ ॥

(आगमेत्यादि) आगमतन्त्र आगमपरतन्त्र आगमानुसारी; सततमनवरतं, स आगमो विद्यते येषां ते तद्वन्तस्तेषु, भक्त्यादीनि भक्तिबहुमानविनयपूजनादीनि यानि लिङ्गानि तैः संसिद्धो निश्चितः, तद्भक्त्यादिलिङ्गसंसिद्ध, चेष्टायां व्यापारकरणे, तत्स्मृतिमानागमस्मृतियुक्तः, शस्तः खलु प्रशस्तो भवत्याशयविशेषः परिणामभेदः ॥ १३ ॥

एवमाशयविशेषमभिधाय तेन बिम्बकरणं समर्थयन्नाह–

एवंविधेन यद् वि–म्बकारणं तद्वदन्ति समयविदः ।
लोकोत्तरमन्यदतो, लौकिकमभ्युदयसारं च ॥ १४ ॥

(एवमित्यादि) एवंविधेनाऽऽशयेन यद् बिम्बकारणं पूर्वोक्तं, तद्वदन्ति प्रतिपादयन्ति, समयविदः शास्त्रज्ञाः, लोकोत्तरमागमिकमन्यदतो लौकिकमतोऽस्मादाशयविशेषसमन्वितात् जिनबिम्बकारणाद्, अन्यद् लौकिकं वर्त्तते, अभ्युदयसारं च तद्भवति ॥ १४ ॥

लौकिकमभ्युदयसारमित्युक्तं, लोकोत्तरं तु कीदृगित्याह–

लोकोत्तरं तु निर्वाणसाधकं परमफलमिहाश्रित्य ।
अभ्युदयोऽपि हि परमो, भवति त्वत्रापनुषङ्गेण ॥ १५ ॥

लोकोत्तरं तु पुनर्निर्वाणसाधकं मोक्षसाधकं, परमफलमिहाश्रित्य प्रकृष्टफलमङ्गीकृत्याऽभ्युदयोऽपि हि स्वर्गादिः, परमः प्रधानो भवति त्वत्रानुषङ्गेण भवत्येवात्र प्रसङ्गेन, न मुख्यवृत्त्या ॥ १५ ॥

प्रधानानुषङ्गिकप्रतिपत्त्यर्थं दृष्टान्तमाह–

कृषिकरण इव पलालं, नियमादत्रानुषङ्गिकोऽभ्युदयः ।
फलमिह धान्यावाप्तिः, परमं निर्वाणमिव बिम्बात् ॥ १६ ॥

कृषिकरण इव, पलालं प्रतीतं, नियमादत्र जिनबिम्बकारणे, आनुषङ्गिकोऽभ्युदयः स्वर्गादिः फलमिह दृष्टान्ते, धान्यावाप्तिः सस्यलाभः, परमं निर्वाणमिव बिम्बात् धान्यनिर्वाणावाप्त्योः साम्यं दर्शयति । षो०७ विव० ।

जिनबिम्बस्य तावद्विशिष्टलक्षणलक्षितस्य प्रसादनीयस्य वज्रेन्द्रनीलाञ्जनचन्द्रकान्तसूर्यकान्तारिष्टकर्केतनविद्रुमसुवर्णरूप्यचन्दनोपलमृदादिभिः सारद्रव्यैर्विधापनम् । यदाह–

''सन्मृत्तिकाऽमलशिलातलरूप्यदारु–
सौवर्णरत्नमणिचन्दनचारु बिम्बम् ।
कुर्वन्ति जैनमिह ये स्वधनानुरूपं,
ते प्राप्नुवन्ति नृसुरेषु महासुखानि ॥ १ ॥''

तथा–

''पासाईआ पडिमा, लक्खणजुत्ता समत्तलंकरणा ।
जह पल्हाएइ मणं, तह णिज्जरमो विआणाहि'' ॥१ ॥ ध०२ अधि० ।

प्रतिमाश्च वास्तुशास्त्रोक्तविधिनिष्पन्नाः सुलक्षणा अत्राप्यभ्युदयगुणहेतवः । यतः–

''अन्यायद्रव्यनिष्पन्ना, परवास्तुदलोद्भवा ।
हीनाधिकाङ्गा प्रतिमा, स्वपरोन्नतिनाशिनी ॥ १ ॥
मुहनक्कनयणनाही–कडिभंगे मूलनायमं चयह ।
आहरणवत्थपरिगर–चिंधाउहभंभें पूइज्जा ॥ २ ॥
वरिससयाओ उड्ढं, जं बिंबं उत्तमेहि संठविअं ।
विअलंग वि पूइज्जइ, तं बिंबं निक्कलं न जओ ॥ ३ ॥
बिंबपरिवारमज्झे, सेलस्स य वन्नसंकरं न सुहं ।
समअंगुलप्पमाणं, न सुंदरं होइ कइया वि ॥ ४ ॥
इक्कंगुलाइपडिमा, इक्कारस जाव गेहें पूइज्जा ।
उड्ढं पासाएँ पुणो, इअ भणिअं पुव्वसूरीहिं ॥ ५ ॥
निरयावलिसुत्ताओ, लेवोवलदंतकट्ठलोहाणं ।
परिवारमाणरहिअं, घरम्मि नो पूअए बिंबं ॥ ६ ॥
गिहपडिमाणं पुरओ, वलिवित्थारो न चेव कायव्वो ।
निच्चं न्हवण तिसंझं, मज्जणयं भावओ कुज्जा '' ॥ ७ ॥

प्रतिमा मुख्यवृत्त्या सपरिकराः सतिलकाद्याभरणाश्च कारयितव्याः, विशिष्य च मूलनायकः, तथैव विशेषशोभातज्जनितविशेषपुण्यानुबन्धिपुण्यादिसंभवात् । उक्तं च–''पासाईआ पडिमा'' इत्यादि द्वारम् । अथैवंनिष्पन्नस्य बिम्बस्य सद्यः प्रतिष्ठा विधाप्या । यदुक्तं षोडशके–''निष्पन्नस्यैवं खलु, जिनबिम्बस्योदिता प्रतिष्ठा तु । दशदिवसाभ्यन्तरतः, सा च त्रिविध सगासेन ॥१ ॥''इत्यादि । वृहद्भाष्येऽपि–''वत्तपइट्ठा एगा, खित्तपइट्ठा महापइट्ठा य । एगचउवीससत्तरिसयाण सा होइ अणुकमसो ॥१ ॥'' प्रतिष्ठाविधिश्च सर्वाङ्गीणतदुपकरणमीलननानास्थानश्रीसङ्घगुर्वाज्ञाकारणप्रौढप्रवेशमहादितत्स्वागतकरणभोजनवसनप्रदानादि सर्वाङ्गीणं सप्रकारेण वन्दिमोक्षकारणमारिनिवारणाऽवारितसत्रवितरणसूत्रधारसत्कारणस्फीतसङ्गीताद्यभिनवाद्भुतोत्सवावतारणादिरष्टादशस्नात्रकारणादिश्च प्रतिष्ठाकल्पादेर्ज्ञेयः । ध०२ अधि० ।

(२६) अथ तत्प्रतिष्ठाविधिमभिधातुमाह–

णिप्फण्णस्स य सम्मं, तस्स पइट्ठावणे विही एस ।
सुहजोएण पवेसो, आयतणे ठाणठवणा य ॥ १६ ॥

निष्पन्नस्य च सिद्धस्य पुनः, सम्यक् यथावत्, इदं पदं प्रतिष्ठापन इत्यनेन, निष्पन्नस्येत्यनेन वा संबध्यते । तस्य जिनबिम्बस्य, प्रतिष्ठापने संस्थापने, विधिर्विधानम्, एष वक्ष्यमाणः । तमेवाह–शुभयोगेन साधकचन्द्रनक्षत्रादिसंबन्धेन प्रशस्तमनःप्रभृतिव्यापारेण वा, प्रवेशःप्रवेशनं, बिम्बस्य कर्त्तव्य इति शेषः । आयतने भवने, स्थानस्थापना च उचितस्थानन्यासश्च, बिम्बस्यैव । इति गाथार्थः ॥ १६ ॥

तथा–

तेणेव खेत्तसुद्धी, हत्थसयादिविसया णिओगेण ।
कायव्वो सक्कारो, य गंधपुप्फादिएहि तहिं ॥ १७ ॥

तेनैव शुभयोगेन, क्षेत्रशुद्धिर्भूमिशोधनं, हस्तशतादिर्विषयो गोचरो यस्याः शुद्धेः सा हस्तशतादिविषया, आदिशब्दाद् बहुतरविषया, अल्पतरविषया वा । इयं च समन्ततो द्रष्टव्या, शोधनीयं च तत्रास्थिमांसाशुच्यादिद्रव्यमिति । नियोगेनावश्यंतया, कार्येति गम्यम् । तथा कर्तव्यो विधेयः, सत्कारश्च गन्धपुष्पादिभिः प्रतीतैः, आदिशब्दाद् धूपादिग्रहः । तस्मिन् जिनभवने, प्रतिष्ठावसरे च, इति गाथार्थः ॥ १७ ॥

दिसि देवयाण पूजा, सव्वेसिं तह य लोगपालाणं ।
ओसरणकमेणऽण्णे, सव्वेसिं चेव देवाणं ॥ १८ ॥

दिग्देवताऽऽदीनामिन्द्रादीनाम्, पूजाऽर्चनं, सर्वेषां समस्तानाम्, तथा चेति समुच्चये, लोकपालानां सोमवमवरुणकुबेराणां, शक्र–

संबन्धिना पूर्वादिदिक्षु क्रमेण व्यवस्थितानां, क्रमेणैव तु खड्गदण्डपाशगदाहस्तानामिति, अवसरणक्रमेण समवसरणन्यायेन द्वितीयप्रकरणवर्णितेन, अन्येऽपरे सूरयः, सर्वेषां चैव समस्तानामेव, देवानां सुराणाम्, पूजा कार्येत्याहुरिति शेषः। इति गाथार्थः ॥ १८ ॥

अथ किमेषामसंयतानां पूजादि क्रियत इत्याह–

जमहिगयबिंबसामी, सव्वेसिं चेव अब्भुदयहेऊ।
ता तस्स पइट्ठाए, तेसिं पूयादि अविरुद्धं ॥ १९ ॥

यद्यस्मादधिकृतबिम्बस्वामी, जिनपतिरित्यर्थः। सर्वेषामेव समस्तानामपीन्द्रादिदेवानाम्, अभ्युदयहेतुः कल्याणनिमित्तम्, तत्तस्मात्, तस्याधिकृतबिम्बस्वामिनः, प्रतिष्ठायाम्, तेषां दिक्देवतादीनाम्, पूजादि पूजासत्कारप्रभुति क्रियमाणम्, अविरुद्धं संगतमेव, इति गाथार्थः ॥ १९ ॥

साहम्मिया य एए, महिड्ढिया सम्मदिट्ठिणो जेण।
एत्तो च्चिय उचियं खलु, एतेसिं एत्थ पूजादी ॥ २० ॥

साधर्मिकाः समानधार्मिकाः, आर्हतत्वात्तेषाम्। एते दिग्देवतादयः, तथा महर्द्धिका महेश्वराः, तथा मिथ्यादृशोऽपि साधर्मिका द्रव्यतो भवन्तीत्याह सम्यग्दृष्टयः सम्यग्यदर्शनधराः, येन कारणेन, (एतो च्चिय त्ति) अत एव कारणत्रयादेव, उचितं खलु सङ्गतमेवेति, एतेषां दिग्देवतादीनाम्, अत्र प्रतिष्ठाऽवसरे, पूजादि पूजासत्कारप्रभृति। इति गाथार्थः ॥ २० ॥

तत्तो सुहजोएणं, सट्ठाणे मंगलेहिँ ठवणा उ।
अहिवासप्पमुचिएणं, गंधोदगमादिणा एत्थ ॥ २१ ॥

ततो दिग्देवताऽऽदिपूजानन्तरम्, शुभयोगेन प्रशस्तचन्द्रनक्षत्रलग्नादिसंबन्धेन, स्वस्थानेऽधिवासनोचितदेशे, मङ्गलैर्मेयविशेषैः चन्दनादिभिर्वा। स्थापना तु न्यासश्च, बिम्बस्य विधेयेति गम्यम्। ततश्चाभिवासनमधिवासनं वा, शुद्धिविशेषापादनेन बिम्बप्रतिष्ठायोग्यताकरणं प्रतिष्ठाकल्पप्रसिद्धम्, उचितेन योग्येन, गन्धोदकादिना सद्गन्धद्रव्योन्मिश्रजलप्रभृतिना, आदिशब्दात्कषायमृत्तिकाऽऽदिपरिग्रहः, अत्र प्रतिष्ठायाम्। इति गाथार्थः ॥ २१ ॥

तथा–

चत्तारि पुण्णकलसा, पहाणमुद्दाविचित्तकुसुमजुया।
सुहपुण्णचत्तचउतं–तुगोत्थया होंति पासेसु ॥ २२ ॥

चत्वारश्चतुःसंख्याः, पूर्णकलशा घटाजलपरिपूर्णा अखण्डाश्च, प्रधानमुद्रया रूप्यसुवर्णरत्नस्वरुपया विचित्रकुसुमैश्च नानाविधपुष्पैर्युता युक्ता ये ते तथा। शुभपूर्णचत्रचतुस्तन्तुकावस्तृताः, पूर्णसूत्रकुक्कुटिकापूरितं, यच्चत्रं तर्कुः, तस्य संबन्धि यच्चतुस्तन्तुकं तन्तुकचतुष्टं तत्तथा। शुभं च तन्निरवद्यं पूर्णचत्रचतुस्तन्तकं चेति समासः, तेनावस्तृता आच्छादिताः कण्ठदेशेषु ये ते तथा, भवन्ति, विधेया इति शेषः। पार्श्वेषु चतसृषु दिक्षु, पुरस्तात्प्रतिष्ठाप्यप्रतिमायाः, इति गाथार्थः ॥ २२ ॥

किं चान्यत्–

मंगलदीवा य तहा, घयगुलपुण्णा सुभिक्खुभक्खा य।
जवबारयवण्णयसत्थिगादि सव्वं महारम्मं ॥ २३ ॥

मङ्गलदीपा माङ्गल्यप्रदीपाः, चः समुच्चयार्थः, तथेति तेनैव प्रकारेण, घृतगुडपूर्णाः घृतगुडसमन्विता भवन्ति, तत्र तथा शुभाः प्रशस्ता इक्षव इक्षुयष्टिखण्डानि, भक्ष्याणि च खण्डखाद्यकादीनि, येषु दीपेषु ते तथा। चः समुच्चये। अथवा–स्वतन्त्रायैव शुभेक्षुभक्ष्याणि च भवन्ति। ''सुभेक्खुरुक्ख त्ति'' पाठान्तरम्। तत्र शुभा इक्षवो वृक्षाश्च कदल्यादयः। तथा यववारकाः शरावादिरोपितयवाङ्कुराः, वर्णकश्चन्दनं श्रीखण्डादि, स्वस्तिकः प्रसिद्ध एव, वर्णकस्य वा स्वस्तिका वर्णकस्वस्तिकास्ते आदिर्यस्य नन्दावर्त्तादिवस्तुजातस्य तत्तथा। सर्वं समस्तम्, महारम्यमतिरमणीयं, भवति, तत्र विधेयमित्यन्वयः। इति गाथार्थः ॥ २३ ॥

मंगलपडिसरणाइं, चित्ताइं रिद्धिविद्धिजुत्ताइं।
पढमदियहम्मि चंदण–विलेवणं चेव गंधड्ढं ॥ ४ ॥

मङ्गलप्रतिसरणानि मङ्गलकङ्कणानि, चित्राणि विचित्राणि, ऋद्धिवृद्धियुक्तानि ऋद्धिवृद्ध्यभिधानौषधीसनाथानि, प्रथमदिवसे आद्यदिने, अधिवासनादिने इत्यर्थः। चन्दनविलेपनमेव च मलयजानुलेपनमेव च, गन्धाढ्यं कर्पूरकस्तूरिकादिगन्धैः पूर्णं विधेयम्, इति गाथार्थः ॥ २४ ॥

चउणारीओमिणणं, णियमा अहिगासु एत्थि उ विरोहो।
णेवत्थं च इमासिं, जं पवरं तं इहं सेयं ॥ २५ ॥

चतुःसंख्या नार्यः स्त्रियश्चतुर्नार्यस्ताभिर्मङ्गल्याभिः, (ओमिणणं ति)अवमानं प्रोञ्छणकं लोकशास्त्रसिद्धम्, चतुर्नार्यवमानं भवति तत्र कर्त्तव्यम्। नियमादवश्यंतया, अधिकासु चतसृभ्योऽर्गलतरासु, नास्ति तु न भवत्येव, विरोधः शास्त्रबाधः, नेपथ्यं च वेषः, आसामवमानकारिणीनां नारीणां, यत्प्रवरं यत्प्रधानं प्रशस्तं च, तदिहावमानप्रस्तावे, श्रेयः कल्याणभूतं समाश्रयणीयं च, इति गाथार्थः ॥ २५ ॥

ननु प्रवरनेपथ्यस्य रागहेतुत्वात्कथं श्रेयस्त्वमित्याह–

जं एयवइयरेणं, सरीरसक्कारसंगयं चारु।
कीरइ तयं असेसं, पुण्णणिमित्तं मुणेयव्वं ॥ २६ ॥

यत्प्रवरनेपथ्यादि, एतद्व्यतिकरेण जिनबिम्बप्रतिष्ठासंबन्धेन, शरीरसत्कारसंगतं देहभूषानुगतं, चारु शोभनम्, क्रियते विधीयते, धार्मिकजनेन। तत्तदशेषं सर्वम्, पुण्यनिमित्तं शुभकर्मनिबन्धनम्, (मुणेयव्वं ति)ज्ञेयं, सत्पक्षपातरूपत्वात्तत्परिणामस्येत्यर्थः। श्रेय एव तासां नेपथ्यविशेषः, इति गाथार्थः ॥ २६ ॥

अथ कुतस्तत्पुण्यनिमित्तमित्याह–

तित्थगरे बहुमाणा, आणाआराहणा कुसलजोगा।
अणुबंधसुद्धिभावा, रागादीणं अभावा य ॥ २७ ॥

तीर्थकरे जिने, बहुमानात् पक्षपातात्, तथा आज्ञाऽऽराधनादाप्तोपदेशानुपालनात्, कुशलयोगात् प्रशस्तव्यापारात् शास्त्रोक्तत्वेन। अनुबन्धशुद्धिभावात् सातत्येन कर्मक्षयोपशमेनात्मनो निर्मलत्वसद्भावात्, रागादीनां रागद्वेषप्रभृतीनाम्, अभावात् अविद्यमानत्वात्, रागाऽऽद्यभावश्चानपरतन्त्रत्वादेव, च–शब्दःसमुच्चये, पुण्यनिमित्तं प्रवरनेपथ्यादि विज्ञेयमिति प्रकृतम्; इति गाथार्थः ॥ २७ ॥

ऐहलौकिकमेवावमानफलमाह–

दिक्खियजिणोमिणओ, दाणाओ सत्तिओ तहेयम्मि।
वेहव्वं दारिद्दं, च होंति ण कयाति नारीणं ॥ २८ ॥

दीक्षितजिनावमानतोऽधिवासितजिनप्रोङ्क्षणकाद् लोकप्रसिद्धत्, तथा दानाद्वित्तवितरणात्, शक्तितः शक्तिमाश्रित्य, यथाशक्तीत्यर्थः। तथा तेन प्रकारेण प्रोङ्क्षणकोद्देशलक्षणेन, एतस्मिन् भगवति विषयभूते, वैधव्यं मृतभर्तृकत्वम्, दारिद्र्यं च दौर्गत्यं च, भवति जायते, न कदाचिन्न जातुचित्, नारीणां स्त्रीणां प्रोङ्क्षणककारिणीनाम्, इति गाथार्थः ॥२८॥

अधिवासनगतं विध्यन्तरमाह–

उक्कोसिया य पूजा, पहाणदव्वेहिँ एत्थ कायव्वा।
ओसहिफलवत्थसुण्णमुत्तरयणाइएहिं च ॥ २९ ॥

उत्कर्षिका उत्कर्षवती, चशब्दः पुनरर्थः, पूजा पूजनमर्हद्बिम्बस्य। प्रधानद्रव्यैः प्रवरपूजाङ्गैश्चन्दनागरुकर्पूरपुष्पादिभिः, अत्राधिवासनावसरे, कर्तव्या विधेया, ओषधिफलवस्त्रसुवर्णमुक्तारत्नादिकैश्च प्रतीतैरेव, नवरमोषध्यो ब्रीह्यादयः, फलानि नालिकेरदाडिमादीनि। इति गाथार्थः ॥ २९ ॥

चित्तवलिचित्तगंधे–हिँ चित्तकुसुमेहिँ चित्तवासेहिं।
चित्तेहिँ विऊहेहिं, भावेहिं विहवसारेण ॥ ३० ॥

चित्रबलिचित्रगन्धैः, पूजा कर्तव्येति प्रकृतम्। तत्र चित्रा नानाविधा बलय उपहारा गन्धास्तु कोष्ठपुटपाकादयः। चित्रकुसुमैर्विचित्रपुष्पैः, चित्रवासैः सुगन्धिद्रव्यचूर्णरूपैर्वस्त्वन्तरवासकस्वभावैः, चित्रैर्विविधैः, (विऊहेहिं ति) व्यूहै रचनाविशेषैः, भावैश्चरचनागतैः प्रक्रिमितप्रमुदितालिङ्गितादिभिर्भक्तिसारैर्वा, विभवसारेण विभूत्युत्कर्षेण, इति गाथार्थः ॥ ३० ॥

अथ कस्मादेवमत्यादरः पूजायां विधीयत इत्याह–

एयमिह मूलमंगल, एत्तो चिय उत्तरा वि सक्कारा।
ता एयम्मि पयत्तो, कायव्वो बुद्धिमंतेहिं ॥ ३१ ॥

एतदुत्कृष्टपूजादिकम्, इह जिनबिम्बविषये, मूलमङ्गलमादिकल्याणम्, ततः किमित्याह–(एत्तो चिय त्ति) इत एव मूलमङ्गलात्, उत्तरेऽप्युत्तरकालभाविनोऽपि सत्कारा अधिकृतबिम्बपूजाविशेषा भवन्ति, निमित्तभूतत्वात् मूलमङ्गलस्य। 'ता' इति। यस्मादेवं तत्तस्माद्, एतस्मिन् मूलमङ्गले उत्तरोत्तरसत्कारहेतौ, प्रयत्न उद्यमः, कर्तव्यो विधेयः, बुद्धिमद्भिर्धीमद्भिः, इति गाथार्थः ॥ ३१ ॥

पूजाद्यनन्तरं यत्कर्त्तव्यं तदाह–

चितिवंदनथुतिवुड्ढी, उस्सग्गो साहु सासणसुराए।
थय सरण पूय काले, ठवणा मंगलगपुव्वा उ ॥ ३२ ॥

चैत्यवन्दना प्रतीता कर्तव्या, स्तुतिवृद्धिः प्रवर्धमानस्तुतिपाठरूपा विधेया, उत्सर्गः कायोत्सर्गो विधेयः, साधु यथा भवति, असंमूढतयेत्यर्थः। कस्या आराधनायेत्याह शासनसुरायाः प्रवचनदेवतायाः, स्तवस्मरणं चतुर्विंशतिस्तवानुचिन्तनं, कायोत्सर्गे कार्यम्। अथवा–चतुर्विंशतिस्तवः पठनीयः, स्मरणं चेष्टगुर्वादीनामिति। ततः पूजा पूजनं विधेया, जिनबिम्बस्य, प्रतिष्ठाकारकस्य वा। स्तवस्मरणपूजापदयोश्चानुस्वाराश्रवणं, ह्रस्वता च प्राकृतत्वादिति। ततः काले लग्नस्याभिमतांशे, स्थापना प्रतिष्ठा जिनबिम्बस्य, मङ्गलपूर्वा तु पञ्चनमस्कारपूर्वैव, मङ्गलान्तरपूर्वैव वा कर्त्तव्या, इति गाथार्थः ॥ ३२ ॥

पूया वंदणमुस्स–ग्गपारणा भावथेज्जकरणं च।
सिद्धाचलदीवसमु–द्दमंगलाणं च पाठो उ ॥ ३३ ॥

ततः पूजा पुष्पादिभिरर्चनं प्रतिष्ठितबिम्बस्य विधेया, ततो वन्दनं चैत्यवन्दनं विधेयम्, तत उत्सर्गः कायोत्सर्गो निरुपसर्गनिमित्तं विधेयः, प्रतिष्ठा देवताया इत्यन्ये। ततः पारणा परिसमाप्तिः तस्यैव विधेया। भावस्थैर्यकरणं च चित्तस्थिरतासंपादनम्, भावेन वा आशीर्वचनहेतुभूतेन प्रतिष्ठास्थैर्यकरणं च विधेयम्। अत एवाह–सिद्धाचलद्वीपसमुद्रमङ्गलानां च सिद्धाद्युपमोपेतमङ्गलगाथानां वक्ष्यमाणरूपाणाम्, पाठोऽभिधानं विधेयः, तुशब्दो गाथापूरणार्थः, इति गाथार्थ ॥ ३३ ॥

सिद्धादिमङ्गलान्येवाह–

जह सिद्धाण पतिट्ठा, तिलोगचूडामणिम्मि सिद्धिपदे।
आचंदसूरियं तह, होउ इमा सुप्पतिट्ठ त्ति ॥ ३४ ॥

यथा यद्वत, सिद्धानां निर्वृतानां, प्रतिष्ठा अवस्थानम्, त्रिलोकचूडामणौ त्रिभुवनशिरोरत्नकल्पे, सिद्धिपदे निर्वाणरूपे आस्पदे, आचन्दसूर्यं चन्द्रसूर्यौ यावत्, तथा तत्, भवतु अस्तु, इयमधिकृता, सुप्रतिष्ठा शोभनावस्थानम्, इतिशब्दः परिसमाप्तौ, इति गाथार्थः ॥ ३४ ॥

शेषा मङ्गलगाथा अतिदेशत आह–

एवं अचलादीसु वि, मेरुप्पमुहेसु होति वत्तव्वं।
एते मंगलसद्दा, तम्मि सुहनिबंधणा दिट्ठा ॥३५ ॥

एवमनेनैव सिद्धमङ्गलन्यायेन, अचलादिष्वपि अचलद्वीपसमुद्रेष्वपि, न केवलं सिद्धविषय एव। किंभूतेष्वचलादिषु? मेरुप्रमुखेषु मेरुजम्बूद्वीपलवणोदधिप्रभृतिषु, भवति जायते, वक्तव्यं भणनीयं, तथाविधगाथाभिधानद्वारेण। तथाहि–

''जह मेरुस्स पइट्ठा, जम्बूदीवस्स मज्झयारम्मि।
आचंदसूरिय तह, होइ इमा सुप्पइट्ठ त्ति ॥ १ ॥
जम्बूदीवपइट्ठा, जह सेसयदीवमज्झयारम्मि।
आचंदसूरियं तह, होउ इमा सुप्पइट्ठ त्ति ॥ २ ॥
जह लवणस्स पइट्ठा, सव्वसमुद्दाण मज्झयारम्मि।
आचंदसूरियं तह, होउ इमा सुप्पइट्ठ त्ति ॥ ३ ॥''

एवमन्या अपि मङ्गलगाथा न विरुद्धा इति। अथ कस्मादेताः पठ्यन्ते इत्यत्र कारणमाह–एते अनन्तरोक्ताः सिद्धादयो, मङ्गलशब्दाः माङ्गल्यध्वनयः, तस्मिन् जिनप्रतिष्ठावसरे, शुभनिबन्धनाः शुभहेतवः, दृष्टा निश्चिताः समयज्ञैः, इति गाथार्थः ॥ ३५ ॥

शुभनिबन्धनत्वमेवैतेषां समर्थयन्नाह–

सोउं मंगलसद्दं, सउणम्मि जहा उ इट्ठसिद्धि त्ति।
एत्थं पि तहा सम्मं, विण्णेया बुद्धिमंतेहिं ॥ ३६ ॥

श्रुत्वा आकर्ण्य, मङ्गलमित्येवंरूपो मङ्गलभूतो वा विजयसिद्ध्यादिशब्दो मङ्गलशब्दस्तम्, शकुने शकुनविषये, यथा तु यद्वदेव, इष्टसिद्धिरभिमतार्थनिष्पत्तिः, भवतीति गम्यम्, इत्ये तत्,

ज्ञायत इति शेषः । अत्रापि प्रतिष्ठायामपि, न केवलं शकुनविषय एव; तथा तद्वदिष्टसिद्धिः, सम्यग्यथावत्, विज्ञेया ज्ञातव्या, बुद्धिमद्भिर्मतिमद्भिः, इति गाथार्थः ॥ ३६ ॥

इहाऽऽचार्यान्तरमतमाह–

अण्णे उ पुण्णकलसा–दिठावणे उदहिमंगलादीणि ।
जंपंतऽण्णे सव्व–त्थ भावतो जिणवरा चेव ॥ ३७ ॥

अन्ये त्वपरे पुनः सूरयः, पूर्णकलशादिस्थापने पूर्णकलशमङ्गलदीपानां न्यासे, उदधिमङ्गलादीनि समुद्रज्वलनमङ्गलप्रभृतीनि, जल्पन्ति भणन्ति, पठनीयतयेति। अन्येऽपरे पुनः, सर्वत्र सर्वप्रयोजनेषु प्रतिष्ठागतेषु, भावतः परमार्थतः, मङ्गलमिति गम्यम् । जिनवरा एव जिनेन्द्रा एव, न मङ्गलान्तरमतस्तन्नामैव सर्वत्र ग्रहीतव्यम् । इति गाथार्थः ॥ ३७ ॥

प्रतिष्ठाऽनन्तरं यद्विधेयं तदाह–

सत्तीऐं संघपूजा, विसेसपूजाउ बहुगुणा एसा ।
जं एस सुए भणिओ, तित्थयराऽणंतरो संघो ॥ ३८ ॥

शक्त्या यथाशक्तीत्यर्थः, सङ्घपूजा चतुर्वर्णश्रीश्रमणसङ्घाभ्यर्चनं, विधेया, यस्माद्विशेषपूजातो धर्माचार्यादितद्विशेषार्चनायाः सकाशात्, बहुगुणा महाफलेत्यर्थः । एषा सङ्घपूजा, एतदपि कुत इत्याह–यद्यस्माद्, एषोऽयं सङ्घः । श्रुते सिद्धान्ते, भणितोऽभिहितः, तीर्थकरेभ्योऽनन्तरो द्वितीयस्थानवर्त्ती तीर्थकरानन्तरः, पूज्यत्वेनेति शेषः । अथवा–अविद्यमानमन्तरं विशेषो यस्य सोऽनन्तरः, तीर्थकराणामनन्तरस्तीर्थकरतुल्य इत्यर्थः । तेषामपि तस्य पूज्यत्वात् । अथवा–तीर्थकरोऽनन्तरो यस्मात्स तथा, सङ्घपूर्वकं हि तीर्थकरस्य तीर्थकरत्वम् । सङ्घ इति संबन्धितमेव, इति गाथार्थः ॥ ३८ ॥

अमुमेवार्थं समर्थयन्नाह–

गुणसमुदाओ संघो, पवयण तित्थं ति होंति एगट्ठा ।
तित्थयरो वि य एणं, णमए गुरुभावतो चेव ॥ ३९ ॥

गुणसमुदायोऽनेकप्राणिस्थज्ञानादिगुणसमूहः, (संघो त्ति) सङ्घ उच्यते । तस्य च प्रवचनं तीर्थमिति चैतौ शब्दौ, भवतो वर्तेते, एकार्थावभिन्नार्थौ । यद्यपि प्रकृष्टं प्रशस्तं वा वचनं प्रवचनं द्वादशाङ्गी, तथा तरन्ति येन भवोदधिमिति तीर्थं, द्वादशाङ्गमेव, तथाऽप्याधाराधेययोरभेदविवक्षणात्प्रवचनं तीर्थं च सङ्घ उच्यत इति, ततश्चानपेक्षितपुरुषादिभावतया गुणसमुदायरूपताया एवापेक्षणात् । तीर्थकरोऽपि च जिनोऽपि च, आस्तामितरजनः, एतं सङ्घम्, नमति वन्दते, धर्मकथाऽऽरम्भे–''नमो–तित्थस्स'' इति भणनात् । कुत इत्याह–गुरुभावतः''गुरुरयं गुणात्मकत्वात्'' इत्येवंरूपो यो भावोऽध्यवसायः स गुरुभावस्तस्मात् । अथवा–गुरुभावतो गुरुत्वाद्गौरवार्हत्वात्, चैवेत्यवधारणार्थः, इति गाथार्थः ॥ ३९ ॥

अथ तीर्थकरनमनीयत्वं सङ्घस्यागमेन दर्शयन्नाह–

तप्पुव्विया अरिहया, पूजितपूया य विणयकम्मं च ।
कयकिच्चो वि जह कहं, कहेति णमते तहा तित्थं ॥ ४० ॥

तत्पूर्विका तीर्थहेतुका, तीर्थं च सङ्घः, (अरिहय त्ति) अर्हता तीर्थकरत्वं प्रवचनवात्सल्यादिलभ्यत्वात्तस्याः । तथा पूजितस्य सतः पूज्यैर्या सङ्घस्य पूजा सा पूजितपूजा, सा च प्रवर्त्तता, पूजितपूजकत्वाल्लोकस्य । तथा विनयकर्म्म च वैनयिककृत्यं च, कृतज्ञताधर्मगर्भं कृतं भवतु, विनयमूलो धर्म्म इत्याविष्करणार्थम्, इत्येवं कारणत्रयान्नमति तीर्थमिति योगः । अथ कृतकृतस्य किं तीर्थनमनेनेत्यत आह–कृतकृत्योऽपि निष्ठितार्थोऽपि, आस्तामितरः, यथा यद्वत्, कथां धर्म्मदेशनाम्, कथयति करोति, नमति प्रणमति, तथा तद्वत्, तीर्थं सङ्घं, तीर्थकरनामकर्मोदयादौचित्यप्रवृत्तेरिति गाथार्थः ॥४० ॥

तदेव–

एयम्मि पूजियम्मि, णऽत्थि तयं जं ण पूजियं होइ ।
भुअणे वि पूयणिज्जं, ण गुणट्ठाणं ततो अण्णं ॥ ४१ ॥

एतस्मिन् सङ्घे पूजिते सति, नास्ति न–विद्यते, तफत्पूज्यम्, यन्न पूजितमर्चितं भवति, सर्वमेव पूजितं भवतीति भावः । कुत एतदेवमित्याह–भुवनेऽपि लोकेऽपि, पूजनीयं पूज्यम्, न नैव, गुणस्थानं गुणास्पदं, ततः सङ्घात्, अन्यदपरमस्ति, इति गाथार्थः ॥ ४१ ॥

अथ सङ्घैकदेशपूजैव कर्त्तुं शक्या, न सङ्घपूजा, तस्य सकलसमयक्षेत्राश्रयत्वादित्याशङ्क्याऽऽह–

तप्पूयापरिणामो, हंदि महाविसयमो मुणेयव्वो ।
तद्देसपूयणम्मि वि, देवयपूयादिणाएण ॥ ४२ ॥

तत्पूजापरिणामः सङ्घपूजनाध्यवसायः, ''संघमहं पूजयामि'' इत्येवंरूपः, हन्दीत्युपप्रदर्शने, महाविषयो बृहद्गोचरः, मकारः प्राकृतत्वात्, (मुणेयव्वो त्ति) ज्ञातव्यः, तद्देशपूजनेऽपि सङ्घैकदेशार्चनेऽपि, अपिशब्दः परोक्ताभ्युपगमसूचनार्थः । कथमेतत्सिद्धमित्याह–दैवतपूजादिज्ञातेन देवतार्चनप्रभृत्युदाहरणेन । यथा हि–दैवतस्य राज्ञो वा मस्तकपादाद्येकदेशपूजनेऽपि तत्पूजापरिणामाद्दैवतादिः पूजितो भवति, एवमेकदेशपूजनेऽपि सङ्घ पूजितो भवति, इति गाथार्थः ॥ ४२ ॥

सङ्घ पूजामेव गाथात्रयेण स्तुवन्नाह–

आसण्णसिद्धियाणं, लिंगमिणं जिणवरेहिँ पण्णत्तं ।
संघम्मि चेव पूया, सामण्णेणं गुणणिहिम्मि ॥ ४३ ॥
एसा उ महादाणं, एस च्चिय होति भावजण्णो त्ति ।
एसा गिहत्थसारो, एस च्चिय संपयामूलं ॥ ४४ ॥
एत्तीएँ फलं णेयं, परमं णेव्वाणमेव णियमेण ।
सुरणरसुहाइँ अणुसं–गियाइँ इह किसिपलालं व ॥ ४५ ॥

आसन्नसिद्धिकानां समासन्नीभूतनिर्वृतीनां, जीवानाम् । लिङ्गं चिह्नम्, इदमेतत्, जिनवरैः तीर्थकृद्भिः, प्रज्ञप्तमुक्तम्, यतः किमित्याह–सङ्घेश्रीश्रमणसङ्घे, चैवशब्दोऽवधारणार्थः । स चोत्तरत्र संभन्त्स्यते, पूजाऽर्चना, कथम् ? सामान्येनैव, न तु परिचयस्वाजन्यादिविशेषेण, विशेषापेक्षया हि गुणानामुपसर्जनभावो भवति, स्वाजन्यादिविशेषस्यैव च प्रधानता स्यादिति । गुणनिधौ ज्ञानादिगुणरत्ननिधाने, गुणनिधानवत्वादिति भावः, इति ॥ ४३ ॥ एषा तु इयमेव सङ्घपूजा, महादानमुत्तमविश्राणनम् । एषैव च, भवति जायते, भावयज्ञः परमार्थयागः, इतिः समाप्तौ, एषा संघपूजा गृहस्थसारो गृहिणां सार इव सारः सर्वस्वम्, ईप्सितार्थसाधकत्वात् । गृहस्थधर्म्मसारो वा । एषैव च संपन्मूलं श्रीकारणम् ॥ ४४ ॥ एतस्याः सङ्घपूजायाः, फलं साध्यम्, ज्ञेयं

ज्ञातव्यम्, परमं प्रधानम्, निर्वाणमेव निर्वृत्तिरेव, नियमेनावश्यन्तया, सुरनरसुखानि प्रतीतानि, आनुषङ्गिकाणि प्रासङ्गिकानि, न परमाणीत्यर्थः । इह सङ्गपूजायां, फलविचारे वा, किंवादित्याह–कृषौ कर्षणे पलालं वुसं कुषिपलालं तदिव तद्वदिति गाथात्रयार्थः ॥४५॥

सङ्गपूजाप्रकरणमुपसंहरन्नाह–

कयमेत्थ पसंगेणं, उत्तरकालोचियं इहऽण्णं पि ।
अणुरूवं कायव्वं, तित्थुण्णतिकारगं णियमा ॥ ४६ ॥

कृतमलम्, अत्र प्रतिष्ठाऽधिकारे, प्रसङ्गेन प्रसङ्गभणितेन, पूजाविषयेण । उत्तरकालोचितं प्रतिष्ठोत्तरसमयानुरूपम्, इह प्रतिष्ठापर्वणि, अन्यदप्युक्तातिरिक्तमपि, अमारिघोषणादि । अनुरूपमुचितम्, कर्त्तव्यं विधेयम्, तीर्थोन्नतिकारकं प्रवचनप्रभावनाकारि, नियमादवश्यंतया । इति गाथार्थः ॥ ४६ ॥

उचिओ जणोवयारो, विसेसओ णवरि सयणवग्गम्मि ।
साहम्मियवग्गम्मि य, एयं खलु परमवच्छल्लं ॥ ४७ ॥

उचितो योग्यः, जनोपचारो लोकपूजा सामान्यतो विधेयः, विशेषतो विशेषेण, नवरं केवलम्, स्वजनवर्गे स्वकीयलोके, प्रत्यासन्नतरत्वात्, साधर्म्मिकवर्गे च स्वजनातिरिक्तसमानधार्मिकजने च, धर्मबहुमानात् विशेषत इति प्रकृतम् ।कस्मादेवमित्याह–एतत्खलु एतदेव, पाठान्तरेणैवं खलु, इत्थमेवेत्यर्थः । प्रतिष्ठोद्देशकृतोपचाररूपम् । परमवात्सल्यं प्रधानगौरवं च, स्वजनसाधर्मिकाणाम्, इति गाथार्थः ॥ ४७ ॥

अट्ठाहिया य महिमा, सम्मं अणुबंधसाहिता केइ ।
अन्ने उ तिण्णि दियहे, णिओगओ चेव कायव्वा ॥ ४८ ॥

अष्टाह्निका अष्टदैवसिकी, चशब्दः समुच्चये, महिमा महोत्सवः, महिमाशब्दश्च स्त्रीलिङ्गोऽपि दृश्यते । सम्यग्भावतः, साध्वनुबन्धसाधिका पूजाविच्छेदगमिका भवतीति केचिदाचार्या वदन्ति । अन्ये त्वपरे पुनराचार्याः,त्रीन् दिवसान् यावत् महिमा । नियोगत एव नियमेनैव, चैवशब्दोऽवधारणार्थः । कर्त्तव्या विधेया इति गाथार्थः ॥ ४८ ॥

तत्तो विसेसपूया–पुव्वं विहिणा पडिस्सरोम्मुयणं ।
भूयबलिदीणदाणं, एत्थं पि ससत्तिओ किं पि ॥ ४९ ॥

ततो महिमाऽनन्तरम्, विशेषपूजापूर्वं प्राक्तनदिनापेक्षया विशिष्टतरार्चनपुरःसरम्, विधिना शास्त्रोक्तेन, साम्प्रदायिकेन वा । प्रतिसरोन्मोचनं कङ्कणमोचनं विधेयम् । तथा भूतबलिः प्रेतोपहारः पत्रपुष्पफलाक्षताद्यः सुरभिगन्धोदकोन्मिश्रः सिद्धान्नप्रक्षेपरूपः, दीनदानं कृपणेभ्योऽनुकम्पावितरणं, ततः पदद्वयस्य समाहारद्वन्द्वः । अत्रापि कङ्कणमोचने, न केवलं प्रतिष्ठानन्तरमेवेत्यपिशब्दार्थः । स्वशक्तितः स्वकीयं चित्तवित्तसामर्थ्यमाश्रित्य, किमपि प्रतिष्ठाऽवसरापेक्षया स्तोकम्, इति गाथार्थः ॥ ४९ ॥

अथ प्रकरणार्थोपसंहारार्थमाह–

तत्तो पडिदिणपूया–विहाणओ तह तहेह कायव्वं ।
विहिताणुट्ठाणं खलु, भवविरहफलं जहा होति ॥ ५० ॥

ततः कङ्कणोन्मोचनानन्तरम्, प्रतिदिनपूजाविधानतोऽनुदिवसार्चनकरणेन, तथा तथा तेन तेन प्रकारेण, विचित्ररूपतयेत्यर्थः । इह जिनबिम्बे प्रतिष्ठिते सति, कर्तव्यं विधेयम्, विहितानुष्ठानं पूजावन्दनयात्रास्नानादि, खलुरवधारणे, स चोत्तरत्र संभन्त्स्यते। भवविरहफलमेव संसारवियोगसाधकमेव, यथेति तथाशब्दस्य वीप्सायं प्रयुक्तत्वाद्यथाशब्दोऽपि वीप्सायामेव द्रष्टव्यः, तेन यथा यथा येन येन प्रकारेण भवति जायत इत्युपदेशः, इति गाथार्थः ॥५०॥ पञ्चा०८ विव० । इति प्रतिष्ठाविधिः । ध० । षो० ।

श्रावककृतबिम्बप्रतिष्ठाविधिः–

दव्वत्थओ त्ति केई, बिंबपइट्ठं भणंति सड्ढस्स ।
तह कप्पे भणियमिणं, सम्म पइट्ठवणवयणाओ ॥

द्रव्यं वासकुसुमधूपकषायमृत्तिकातैलोन्मीलनकारि लक्षणम्, तत्प्रधानः स्तवो द्रव्यस्तवो, भावप्रधानत्वान्निर्देशस्य, ततो द्रव्यस्तवत्वात् कारणात्, इतिहेतौ, स च दर्शित एव । केचनैके, बिम्बप्रतिष्ठां सर्वज्ञप्रतिनिधेस्तद्गुणाध्यारोपलक्षणां, भणन्ति जल्पन्ति, श्राद्धस्य श्रावकस्य । अयं तेषामाशयः–यतिधर्मो हि भावस्तवप्रधानः, स च प्रतिष्ठायां क्रियमाणायां पूर्वोक्तद्रव्यव्यापारणतो न सम्यग् जाघटीति, तथा प्रकारेण, कल्पे छेदग्रन्थविशेषे, भणितं प्रतिपादितम, इदं प्रतिष्ठाविधानं, सम्यक् प्रतिष्ठापनवचनात्–''सावओ कोइ पढमं जिणपडिमाए पइट्ठवणं करेइ'' त्ति भणनात् । श्रावकः कश्चित्प्रथमम् आद्यं, जिनप्रतिमाया जिनमूर्तेः, प्रतिष्ठापनं प्रतिष्ठां, करोति विदधाति । गाथायां च प्रथमकरोत्यादिशब्दानुपादानं छन्दोवशात् न कृतं, सूचनाच्च सूत्रस्येति । अतः स्थितमेतत्–कारणद्वयादुक्तलक्षणात् श्रावक एव प्रतिष्ठां करोति, न साधुरिति ।

साम्प्रतं पूर्वपक्षार्थी प्रथमपक्षस्य परिहारं दातुका–

मस्तदनुष्ठानेनैव चोत्तरं गाथाऽर्द्धेनाऽऽह–

सयमामिलाण दामं, खिवंति सड्ढीण खंधदेसम्मि ॥

स्वयमात्मना, अम्लानां सार्द्रां, दाम मालां, क्षिपन्त्यङ्गापयन्ति, श्राद्धीनां श्राविकाणां, स्कन्धदेशे ग्रीवायाम् । अयमभिप्रायः– यदि द्रव्यस्तवभीतैर्भवद्भिः प्रतिष्ठा न क्रियते, किमित्युपधानविधौ मालाऽऽरोपणं विधीयते? अम्लानादित्वेनास्यापि साध्वनुचितद्रव्यस्तवत्वात्,इदमपि कर्तुं न युज्यत इति ।

एवमुक्तः परः स्वमतस्थित्यर्थं यद्वदिष्यति, तत्

तृतीयपादेनाह–

अह सत्थे भणियमिणं, ति

अथेत्याचार्यवचनानन्तर्यार्थम्, शास्त्रे महानिशीथाख्ये, भणितमुक्तम्, इदं मालारोपणविधानम्, इतिर्हेतावतो विधीयत इति ।

अस्यापि न्यायत उत्तरं चरमपादेनऽऽह–

तत्थिमा जुत्ति वत्तव्वा ॥

तत्र शास्त्रभणने,(इम त्ति) इयं वक्ष्यमाणा, युक्तिरवितथभणितिः, वक्तव्या वाच्येति गाथार्थः ।

तामेवाह–

सत्थं पि बहुमयं ते, रइयं जं पुव्वसूरिपवरेहिं ।
ताणाऽऽयरणं नणु मू–ढ! होइ गज्झं विसेसेण ॥

शास्त्रमेव महानिशीथादिलक्षणम, अपिशब्द एवकारार्थः, स च दर्शित एव; बहुमतमतीवाभीष्टं, ते तव, रचितं कृतं, यत् यस्मात्, पूर्वसूरिप्रवरैश्चिरन्तनाचार्यप्रधानैः, तेषामाचार्यवृन्दारकाणाम्, आचरणं चेष्टितं, *नन्वित्यक्षमायां, मूढ !मन्दमते!, भवति जायते, ग्राह्यं स्वीकर्त्तव्यं,* विशेषेणाऽऽदरेण । इदमत्र तत्त्वम्यदि तव पूर्वाचार्यवचनं शास्त्रस्थितं प्रमाणं, ततस्तच्चेष्टितं विशेषतः कर्तुं युज्यते, न हि ते अनुचितं कुर्वन्ति, अत्र बहुवचनप्रक्रमेऽपि यदेकवचनेन निगमनं कृतं, तद् ''ब्रह्मादेशेऽपि एकादेशः'' इति वचनाद् अदुष्टं मन्तव्यम्, एवमन्यत्रापीति गाथार्थः ।

अत्र यदि परो ब्रूयात्–न मम तदाचरितं प्रमाणम–

तस्तत्साधनाय गाथाऽर्द्धमाह–

असढेहि समाइन्नं, इच्चाइवयणओ तयं सिद्धं ।

अशठैरमायिभिः, समाचीर्णमासेवितम्, इत्यादिवचनत एवं प्रभूतिभणनात्, तकं तत् पूर्वाचार्यानुष्ठितं, सिद्धं प्रतिष्ठितम् । आदिग्रहणादेवं दृश्यम्–''जं कत्थइ केणइ वा, असावज्जमणुट्ठिअं तेण । अनिवारियमन्नेहिं, बहुमणुमयमेवमायरियं''।१। सुगमं च। एतच्च पराभिप्रायमभ्युपगम्यास्माभिरुक्तम्, वस्तुतस्तु द्रव्यस्तव एवेयं बिम्बप्रतिष्ठा न भवति, निरवद्याचार्यमन्त्राद्यनुष्ठानपूर्वकजिनगुणाध्यारोपणेन भावस्तवत्वादस्याः । किं च–आचार्यप्रतिष्ठाकरणे श्रीमदुमास्वातिवाचकसमुद्रसूरिहरिभद्राचार्यादिरचिताः प्रतिष्ठाकल्पा दृश्यन्ते, श्रावकप्रतिष्ठाकरणविधौ तु न किमपि दृश्यते विधानम्, ततः कथं ते तां कुर्वन्तु? मा वा भवतु, यदि श्रावकेण कुत्रचित् कदापि च कृता भवति भवद्वचनात्पूर्वप्रतिष्ठा, ततो युज्येतेदमपि वक्तुम् । यदप्युच्यते–अष्टापदजैनालये कृता भविष्यति, तदपि युक्तं स्यात् यदि साधुव्युच्छितौ निष्पन्नं तत्स्यात्। किञ्चावश्यकचूर्ण्या तत्करणविधिः सर्वः प्रतिपादतो, न तु साधुना श्रावकेण वा प्रतिष्ठा कृतेत्युक्तम्। यच्च संप्रतिराजनि राजनिर्मापितानार्यदेशचैत्येषु साध्वभावात्कृता भविष्यति, तत्रापि पश्चाद्गतैः, साधुभिः प्रतिष्ठा कृता भविष्यतीत्ये, *तदपि वक्तुं शक्यते, तस्मात्किमेभिः कुशकाशावलम्बनैरिति ?*

द्वितीयविकल्पशोधनायोत्तरार्द्धमाह–

कप्पम्मि वि जं भणियं, तं अणुजाणाहिगारम्मि ।

कल्पेऽपि न केवलं प्रथमविकल्पेन तव न किञ्चित्समीहितं जातं, द्वितीयेनापि नेत्यपिशब्दार्थः, यद् वचनं भणितं तद्वचनमनुयानाधिकारे रथस्य पृष्ठतोऽनुव्रजनेन प्रतिष्ठाधिकार इति गाथार्थः ।

अस्यैवार्थस्य सुखावगमार्थं संबन्धपूर्वकमिदानीं कल्पोक्तं तदक्षरैर्लिख्यते । तत्र रथयात्रादौ प्रभूतजनसम्मर्दात् कुलेषु साधुभिर्न प्रवेष्टव्यम् उत्सर्गतः, किं कारणम्? गच्छतां मार्गे ईर्याशुद्धिर्न भवति, भक्तादिशुद्धिश्च न भवति, प्राप्तानां च तत्स्थाने श्रावकादिलोकैरवरुद्धानि गृहाणि भवन्ति ततो देवगृहेऽपि स्थातव्यं स्यात्, तथा स्त्र्यादिसंघट्टनतो रागद्वेषौ स्यातामेवमाद्यर्थप्रतिपादिका विस्तरेण द्वारगाथा प्रतिपादिता, सा चाऽत्र ग्रन्थविस्तरभयान्न लिखिता ।

अपवादमाह–

इमेहिं पुण कारणेहिं पविसियव्वं, जइ ण पविसइ, तो चउगुरुयं पच्छित्तं । काणि य कारणाणि?–

''चेइयपूया राया–णिमंतणं सन्निवाइखवगधम्मकही ।
संकियपत्तपभावण–पवित्तिकज्जा य उड्डाहो'' ॥ १ ॥

चेइयपूया रायानिमंतणं दो वि दारे एगट्ठे ।

वक्खाणेइ पविसंते इमे गुणा भवंति–

''सद्धावुड्ढी रन्नो, पूयाएँ थिरत्तणं पभावणया ।
पडिघाओ य अणत्थे, अत्था य कया हवइ तित्थे'' ॥ १ ॥

रन्नो सद्धा वड्ढिया भवइ, चेइयपूया थिरीकया हवइ, तीर्थं प्रभावितं भवति, ये चाऽर्हच्छासनप्रत्यनीका बहुजने दोषान् ख्यापयन्ति, एवंविधानामनर्थानां प्रतिघातः कृतो भवति । आस्था नाम–स्वपक्षाणामर्हत्कृते तीर्थे बहुमानत्वमुत्पादितं भवति ।

निमंतणं सन्नि त्ति सावगा वाई, एए दो वि दारे पगिद्धे वक्खाणेइ–

''एमेव य सन्नीण वि, जिणाण पडिमासु पढमपट्ठवणे ।
मा परवाई विग्घं, करेज्ज वाई तओ वि सई'' ॥ १ ॥

कंठा । सावओ कोइ पढमं जिणपडिमाए पइट्ठवणं करेइ णाइपगिद्धेण । इमे गुणा परवाइनिग्गहं दट्ठुं–

''तवधम्माण थिरत्तं, पभावणा सासणे य बहुमाणो ।
अभिगच्छंति य विग्घा, पूयाएँ सपक्खसेयाए'' ॥ १ ॥

कंठा । (सेयाए त्ति) अविग्घेण पूआए, कयाए सपक्खस्स इहलोए एयं सेयं–इहलोए असिवाई उवट्ठवा न हवंति, परलोए तित्थगरुपूयाए दरिसणविसुद्धी तव्वत्तिया भवइ ।

खवग त्ति दारमियाणिं–

''आयाविंति तवस्सी, ओभावणया परप्पवाईणं ।
जे इ परिसा वि महिमं, उवेंति कारिंति सड्ढा य'' ॥ १ ॥

(कारिंति सड्ढायं त्ति) जइ परिसा तवस्सिणो उवेंति, तओ सावगा महिमं करिंति, कारविंति य ।

इयाणिं धम्मकहिं ति दारं–

''आयपरसमुत्तारो, तित्थविवड्ढी य होइ कहयंतो ।
अन्नोन्नाभिगमेण य, पूयाथिरया सबहुमाणो'' ॥ १ ॥

इयाणिं संकियं ति दारं–

''निस्संकियं च काहिइ, उभए जं संकियं सुयहरेहिं''।

पत्तदारमियाणिं–

''अव्वोच्छित्तिकरं वा, लज्जइ पत्तं दुपक्खाओ'' ॥ १ ॥

पभावणदारमियाणिं–

जाइकुलरूवधणबल–संपण्णा इड्ढिमंत निस्संका ।
जयणाजुत्ता य जई–णमेव तित्थं पभासिंति'' ॥ १ ॥

उक्तं च–

''प्रावचनी धर्मकथी, वादी नैमित्तिकस्तपस्वी च ।
जिनवचनरतश्च कविः, प्रवचनमुद्भवयन्त्येते'' ॥ १ ॥

'' जो जेण गुणा गहिओ, जेण गुणा वा न सिज्झए जं तु ।
सो तेण धम्मकज्जे, सव्वत्थामं न दावेइ'' ॥ १ ॥

इयाणिं पवित्तिदारं–

''साहम्मियागयाणं, खेमसिवाणं व लज्जइ पवित्तिं ।
गच्छंति हिताइं वा, होहिंति न वा वि अत्थइ वा'' ॥ १ ॥

इयाणिं कज्जदार–उड्डाहदारे–

''कुलमाईणं कज्जइ, इमाहिं सलिंगिणो य सस्सिस्सा ।
जं लोगविरुद्धाइं, करिंति लोगुत्तराइं वा'' ॥ १ ॥

समाप्ता द्वारगाथा ।

अत्र संज्ञिद्वारेणैव प्रयोजनं तदर्थं व्याख्यानायाऽऽह–

तत्थ य पढमं ठवणं, पढमं गसणं भणंति समयविऊ ।

पुव्वं पइट्ठियाए, रहम्मि अणुयाणअहिगारा ॥

तत्र संज्ञिद्वारव्याख्याने, चः पुनरर्थः, प्रथमं स्थापनं प्रथमं न्यासमारोपणमिति यावत्, भणन्ति जल्पन्ति, समयविदः सिद्धान्तज्ञाः, पूर्वं प्रथमं, प्रतिष्ठितायाः, क्त्वान्यसनम्? रथे जिनस्यन्दने अनुयानाधिकारात् उक्तलक्षणाद्धेतोरिति गाथार्थः ।

स्यान्मत्तं, कथमिदं ज्ञायते यदुतास्यायमर्थो न पुनर्मयोक्त

अत आह–

जइ पुण पइट्ठअत्थो, हवेज्ज तो महुरणयरिगेहेसु ।
मंगलपडिमाणं पि हु, तुम्ह मया पावइ पइट्ठा ॥

यदि पुनरिति पराभिप्रायात् स्वाऽसमानार्थः, प्रतिष्ठालक्षणोऽर्थोऽभिधेयो, भवेत् जायेत, ततो मथुरानगरीगेहेषु मथुराभिधानपत्तनसदनेषु, मङ्गलप्रतिमानामपि, न केवलं तव संमतानामित्यपिशब्दार्थः । 'हुः' पूरणे । युष्माकं भवतां, मतादभिप्रायात्, प्राप्नोति प्रतिष्ठा, न च निष्पादिता भवति भवत्संमता, अत्र प्रतिष्ठाशब्दस्य विद्यमानत्वादित्याभिप्रायः । मङ्गलप्रतिमाश्चेह ता उच्यन्ते यासामकरणे गृहस्योपद्रवादिकं भवति, यथा तु देशरुच्या गृहद्वारस्योपरि विनायकमूर्तिः वास्तुविद्योपदेशाश्च क्रियते । तथा मथुरायां गृहे गृहे पार्श्वनाथजिनप्रतिमा ब्राह्मणादिभिरपि गृहद्वारस्योपरि कार्यन्ते । यदि न क्रियन्ते, ततो गृहाणां पतनादिकं भवति । तथा च तत्रैव कल्पे भणितं मङ्गलचैत्यप्ररूपणावसरे–''महुराए नयरीए, जिणपडिमाउ गिहे गिहे पइट्ठविज्जंति'' प्रतिष्ठाप्यन्ते न्यस्यन्ते इति भवतोऽपि सम्मतं, न हि तासां मिथ्यादृष्टिभिस्तव मतसंमतं प्रतिष्ठाविधानं क्रियते । एतदिहाकूतमप्रतिष्ठाशब्दस्यात्र न्यसनमेव वाच्यम् । किं च–प्रथमशब्दस्य नैरर्थक्यं प्राप्नोति, नह्येकस्या एव प्रतिमाया द्वितीया प्रतिष्ठा क्रियते, येन तद्व्युच्छित्तये प्रथमशब्दोपादानं क्रियते । अस्मत्पक्षे तु प्रथमं रथारोपणं संभवत्येव । पूज्यास्तु व्याचक्षते–अत्र करोतेर्भणनेऽपि कारापणं दृश्यम् । ततश्च साधुभ्यः सकाशात् श्रावकः प्रतिष्ठां कारयतीत्यर्थः । यथोमास्वातिवाचकोक्तायामस्याम्–''जिनभवनं जिनबिम्बं, जिनपूजां जिनमतं च यः कुर्यात् । तस्य नरामरशिवसुख फलानि करपल्लवस्थानि ॥१ ॥'' अत्र कुर्यादित्युक्तेऽपि कारयेदिति द्रष्टव्यं, न हि श्राद्धः स्वयं जिनमन्दिरं तत्प्रतिमां वा करोति । एवमत्रापि प्रथमशब्दसाफल्यं त्वेवं कथयन्ति–तेन श्रावकेण प्रथममेव प्रतिमा कारिता निष्पाद्यमाना सापायं तेषां दूषणं स्थाने स्थाने प्रतिपादितमेवेति गाथार्थः ।

एवं भणित्वा प्रतिपद्यमानसापायदूषणमाह–

तह कासद्दहसिरिमिल्लमालसच्चउरबिंबमाईणं ।
अपमाणयं कुणते–हिँ तेहिँ अप्पा भवे खित्तो ॥

तथेति दूषणान्तरसमुच्चयार्थः, काशह्रदश्रीमालसत्यपुरबिम्बादीनां, तत्र नगरमासापल्लिपत्तनादूरवर्त्ति, श्रीमालं साम्प्रतं यत् भिन्नमालमिति रूढम् । सत्यपूरम्, तत्रस्थराजबलदर्पभञ्जनलब्धमाहात्म्यश्रीमहावीरजिनसदनमण्डितम्, तत एषां द्वन्द्वः तेषु बिम्बानि सर्वज्ञप्रतिमाः । आदिशब्दाच्छत्रुञ्जयगिरिमहातीर्थाऽश्वावबोधमहातीर्थमोटेरपुरमथुराऽर्बुदगिरिस्तम्भनस्थादिपरिग्रहः, तासाम् । तदिह हृदयम्–एताः साधुभिः प्रतिमाः प्रतिष्ठिताः, तथा च काशह्रदीयजिनस्तोत्रे पठ्यते–''नमिविनमिकुलान्बयिभिर्विद्याधरनाथकालिकाचार्यैः । काशह्रदशङ्खनगरे, प्रतिष्ठितो जयति जिनवृषभः ॥ १ ॥''शेषास्तु सर्वजिनप्रतिमाः । अपमानताम्–आचार्यप्रतिष्ठितत्वेनाविधिप्रतिमा एता इति प्ररूपणतो मुग्धजनैर्भाविसारदनौचित्यलक्षणां, कुर्वद्भिः विदधानैस्तैः श्रावकप्रतिमाप्रतिपादनरैरात्मा जीवो भवे संसारे क्षिप्तः प्रणुन्नः । इति गाथार्थः ।

ननु किमेतावता एतावान् दण्डो भवति? भवत्येवेत्यस्यार्थस्य साधनाय सिद्धान्तोक्तमाह–

कप्पुत्तमेवमाई, अवि पडिमासु वि तिलोयणाहाणं
पडिरूवमकुव्वंतो, पावइ पारंचियं ठाणं ॥

कल्पस्य छेदग्रन्थस्योक्तं संवादकवचनम्, परमेतावान् विशेषस्तत्र 'अन्न वा' इत्यादौ गाथायां पठ्यते तीर्थकराशातनाधिकारे । एवमादिः पूर्वोक्तप्रकारः, अपीति संभावने । संभवत्येवैतत्–प्रतिमास्वपि जिनमूर्त्तिष्वपि, न केवलं साक्षाद्भावतीर्थकृतामित्यपिशब्दार्थः । प्रतिरूपं यथोक्ताशातनादिवर्ज्जनमकुर्वन्नविदधानः, प्राप्नोति लभते, पाराञ्चिकं प्रायश्चितं (ठाणमिति) तिष्ठन्त्यस्मिन्निति कर्म्माणि प्रायश्चित्तानावरणत इति स्थानं कर्माधारः कर्मभिश्च भवः । अतः सिद्धमिदम्–''तेहिं अप्पा भवे खित्तो त्ति'' किं च–आचारङ्गनिर्युक्तां दशैनविशुद्धिं वर्णयता श्रुतकेवलिना भणितम्–चिरन्तनचैत्यवन्दने दर्शनशुद्धिर्भवति । तच्चेदम्–

''तित्थगराण भयवओ, पवयणपावणिअइसइड्ढीणं ।
अभिगमणनमणदरिसण–कित्तणसंपूअणत्थुवणा ॥ १ ॥
जम्माऽभिसेयनिक्खम–णचरणनाणुप्पयाणणिव्वाणे ।
दियलोयभवणमंदर–नंदीसरभोमणगरेसु ॥ २ ॥
अट्ठावयामुज्जंते, गयग्गपयधम्मचक्के य ।
पासरहावत्तं चिय, चमरुप्पायं च वंदामि ॥ ३ ॥
गणियनिमित्ता जुत्ती, संदिट्ठी अवितहं चेयं ।
[illegible]॥४॥
गुणमाहप्पं इसिनामकित्तणं सुरनरिंदपूया य ।
पोराणचेइयाण य, इय एया दंसणे होइ'' ॥ ५ ॥

चिरन्तनचैत्यानि च पूजयतो दर्शनशुद्धिर्भवति, न केवलं पूर्वगाथोक्तं कुर्वतः, अतः स्थितमिह–चिरन्तनचैत्यानामवर्णवादादि न कार्यम् । ननु किमेवं बहुश्रुतवचनसन्दर्भश्रवणेऽपि ते एवंभूतं प्रतिपादयन्ति? उच्यते–विकृत्याद्यर्थाः ।

तथा चोक्तं व्यवहारे यथाच्छन्दलक्षणं कथयता–''सच्छंदमइविगप्पियं काउं तं पन्नवेइ, तओ तस्स गुणेणं विगईओ लहइ, सा य पडिच्छंदा सुह इच्छइ । तेण य सच्छन्दकप्पिएण पहविएणं समाहिओ समाणो पूइउं जाति इत्थिमाइगारेवहिं सरुइ'' इत्यादि, एतच्चायतनेष्वप्यधिकारेषु यथासंभवं योज्यमिति गाथार्थः ।

इदानीं पूर्वोक्तार्थनिगमनगर्भं जीवोपदेशमाह–

जह समयण्णू जंपति, मुणसु तह जीव! समयवयणाइं ।
पुव्वुत्तदोसजालस्स जेण नो भायणं होसि ॥

यथा येन प्रकारेण, समयज्ञाः सिद्धान्तविदः, जल्पन्ति वदन्ति, (मुणसु) जानीहि, तथा तेन प्रकारेण, न स्वमत्यनावाधेन, जीव! आत्मन्, समयवचनानि सिद्धान्तवाक्यानि, यैः पूर्वोक्तदोषजालस्य भवपातादिदूषणव्रातस्य,

येन कारणेन, नो नैव, भाजनं पात्रं, भवसि जायसे । इति गाथार्थः । जीवा० १ अधि० । हा० ।

पार्श्वस्थकृतचैत्यं न पूज्यम्–

सावयजणस्स धम्म–स्सा फसए के वि विंति चेइहरे ।
पासत्थाईविहिए, नो सक्काराइयं कुज्जा ॥

श्रावकजनस्य धर्मस्य दानादेः ''फसए त्ति'' देशीभाषया त्रशकाः केऽप्यके, ब्रुवते भणन्ति, चैत्यगृहे जिनसदने, पार्श्वस्थादिविहिते अवसन्नादिकृते, नो नैव, सत्कारादिकं वस्त्राभरणपूजादिकं, कुर्याद्विधेयादिति गाथार्थः ।

अन्यच्च त एव यद्वदन्ति तत्सोत्तरं गाथया प्राह–

ते वि हु तट्ठाणाओ, सइ सत्तीए निगासणिज्जाओ ।
नेयं पि सुविहियाणं, जुज्जइ वोत्तुं जओ भणियं ॥

तेऽपि पार्श्वस्थादयो, यैर्देवकुलानि कारितानीति शेषः । आशातनाकारित्वात्तेषामित्याशयः । हुस्तथैव, तत्स्थानात् देवकुलादेः, सत्यां विद्यमानायां, शक्त्यां सामर्थ्ये, निष्काशनीया एव, न नैव, इदमपि पूर्वोक्तं, सुविहितानां साधूनां, युज्यते घटते, वक्तुं भणितुं, यतो भणितं तदनन्तरगाथायां भणिष्यतीति गाथार्थः ।

तदेव गाथापञ्चकेनाह–

ववहारछेयगंथे, ओसन्नविहारिणीऍ वइणीए ।
कारवियं चेइहरं, तत्थ य तप्पेरियजणेहिं ।
विउले सक्कारम्मी, महिए वट्टंतयम्मि पत्ते य ।
विहरंती तत्थ पवि–त्तिणी उ पत्ता तहिं सा उ ॥ २ ॥
अप्पुज्जमिती भणिया, अत्थि न वा कोइ एइ चेइहरे ।
सुस्सूसयरो जंपइ, नऽत्थि च्चिय भणइ गुरुणी उ ॥ ३ ॥
उज्जमिउं नो कुज्जइ, अविज्जमाणम्मि तम्मि तुह भद्दे! ।
होइ अभत्ती जम्हा, इय करणे चेइयाणं ति ॥ ४ ॥
अह पुण अविज्जमाणे, सुस्सूसयरे उ उज्जमा विंति ।
तो पच्छित्तं भणिडं, पयमं ववहारगंथम्मि ॥ ५ ॥

सुगमाः । तथा च व्यवहारे भणितम्–

''अणुसट्ठ उज्जमंती, विज्जंते चेइयाण सारवए ।
पडिवज्जंते गरुया, अणवट्ठप्पा अभत्तीए'' ॥

ननु तेषां तत्करणपुण्यं भवति, न वेत्याह–

''होउ व मा होउ व तिऍं, पुन्नं तक्कारयाण सव्वन्नू ।
जाणति ते ववहारउ, ओजस्साइं इमं वयणं'' ॥

सुबोधा ।

तदेवोक्तं गाथाद्वयेनाऽऽह–

''समयपवित्ती सव्वा, आणावज्झ त्ति भवफला चेव ।
तित्थयरुद्देसेण वि , न तत्तओ वा तदुद्देसा'' ॥

तथा छेदग्रन्थे भणितम्–

''दुब्भिगंधमलस्सावि, तणुरप्पेसहाणिया ।
उभओ वाउवाहे वा, ण चिट्ठति न वेइए'' ॥

सुगमा ।

श्रावकाणां पुनस्तत्र किमित्याह–

सड्ढाण पुणो चेइय–हरं तु जह तह व होउ निप्फन्नं ।
पूइज्जं तप्फलयं, मयमेयं आगमन्नूणं ॥

श्रावकाणां श्राद्धानां, पुनश्चैत्यगृहं जिनसदनं, तुः पूरणे । यथा तथा वा पार्श्वस्थादिकृतम्, श्रावकादिकृतं वा, भवतु, निष्पन्नं तन्निष्ठां गतं, पूज्यमानमर्च्यमानं, फलदमीप्सितकारि, मतमेतत् सम्मतमिदम्, आगमज्ञानां सिद्धान्तविदामिति गाथार्थः ॥

इति विदिते आत्मनः शिक्षामाह–

रे जीव! जीववच्छल्लकारओ तं सि जइ फु डं ता मा ।
वारेसु सावयजणे, इय पूयंते उ चेइहरे ॥

रे जीव! भो आत्मन! जीववात्सल्यकारको भव्यप्राण्युपकारकर्त्ता, त्वमसि भवसि, यदि स्फुटं प्रकटं, ततो मा वारय निषेधय, श्रावकजनान् श्राद्धलोकान्, इत्येवं, पूजयतोऽर्चयमानान्, तुः पूर्ववत्, चैत्यगृहान् जिनमन्दिरानिति गाथार्थः । जीवा० ३ अधि० । उक्ता प्रतिष्ठा, तदनन्तरं च यात्रा वक्तव्या भवति ''जिणभवणबिंबठावण–जत्ता पूयाइ सुत्तओ विहिणा'' इति द्रव्यस्तवक्रमायातत्वाज्जिनयात्राऽत्र वक्तव्या । (सा च 'अणुजाण'शब्दे प्रथमभागे ३६७ पृष्ठे उक्ता, यात्राविषयं दानद्वारं च प्र०भा०'अणुकंपा' शब्दे ३६० पृष्ठे च गतम्)

(२७) अथ जिनपूजा प्रोच्यते–

नमिऊण महावीरं, जिणपूजाए विहिं पवक्खामि ।
संखेवओ महत्थं, गुरुवएसाऽणुसारेणं ॥१ ॥

नत्वा प्रणम्य, महावीरं वर्द्धमानजिनम्, जिनपूजाया अर्हदर्चनस्य, विधिं विधानम्, प्रवक्ष्यामि भणिष्यामि, संक्षेपतः समासतः । विस्तरतस्तु पूर्वसूरिभिरेव तस्योक्तत्वाद्, एवं तर्ह्यल्पार्थं तद्भविष्यतीत्याशङ्क्याह–महार्थं बृहदभिधेयम्, बृहत्प्रयोजनं वा । स्वयमुत्प्रेक्षितमेतदित्याशङ्क्याऽऽदेयमिदं मा भूदित्याह–गुरूपदेशानुसारेणाऽऽचार्यशिक्षाऽनुवर्त्तनेनेति गाथार्थः ॥ १ ॥

अथ पूजाविधिभणने किं प्रयोजनमित्याह–

विहिणा उ कीरमाणा, सव्व च्चिय फलवती भवति चेट्ठा ।
इहलोइया वि किं पुण, जिणपूया उभयलोगहिया ॥२ ॥

विधिनैव यथोक्तविधानेनैव, तुशब्द एवकारार्थः, क्रियमाणा विधीयमाना, सर्वैव समस्ताऽपि, फलवती साध्यसाधिका, भवति जायते, चेष्टा क्रिया, ऐहलौकिक्यपीहलोकप्रयोजनाऽपि, कृष्यादिकाऽपीत्यर्थः । किं पुनरिति विशेषद्योतनार्थः, सुतरामित्यर्थः । जिनपूजाऽर्हदर्चनम्, किंभूता? उभयलोकहिता इहलोकपरलोकयोर्हितकरीति । उभयलोकहितत्वाद्विशेषतो जिनपूजा विधिनैव विधीयमाना फलवती भवति, ततस्तद्विधिः प्ररूपणीयो भवतीति गाथार्थः ॥ २ ॥

अथ विधिमाह–

काले सुइभूएणं, विसिट्ठपुप्फाइएहिँ विहिणा उ ।
सारथुइथोत्तगरुई, जिणपूजा होइ कायव्वा ॥३ ॥

काले समये, वक्ष्यमाणस्वरूपे । कर्त्तव्येति संबन्धः । तथा शुचिभूतेन भूतशब्दस्य प्रकृतिमात्रार्थत्वात् शुचिना, अथवा भावप्रत्ययस्य लुप्तस्य दर्शनाद् भूतशब्दस्य प्राप्त्यर्थत्वाच्च शुचितां प्राप्तेन । अथवा–शुचिश्चासौ भूतश्च संवृतः प्राणी वा शुचि–

भूतः, तेन विशुद्धिमतेत्यर्थः । तथा विशिष्टपुष्पादिभिः प्रधानसुमनःप्रभृतिभिः करणभूतैः । आदिशब्दार्थं स्वयमेव वक्ष्यति । तथा विधिना वक्ष्यमाणविधानेनेति, तुशब्दः समुच्चयार्थः, तथा सारस्तुतिस्तोत्रगुर्वी प्रधानस्तुतिस्तोत्रमहती, स्तुतिश्चैकश्लोकप्रमाणा, स्तोत्रं तु बहुश्लोकमानम्, जिनपूजाऽर्हदर्चनं, भवति वर्त्तते, कर्त्तव्या विधेया । इति द्वारगाथासमासार्थः ॥ ३ ॥ पञ्चा० ४ विव० ।

सम्यक् स्नात्वोचिते काले, संस्नाप्य च जिनान् क्रमात् ।
पुष्पाहारस्तुतिभिश्च, पूजयेदिति तद्विधिः ॥ ६१ ॥

उचिते जिनपूजाया योग्ये, कालेऽवसरे, सम्यग् विधिना, स्नात्वा स्वयं स्नानं कृत्वा, च पुनर्जिनानर्हत्प्रतिमाः, संस्नाप्य सम्यक् स्नपयित्वा, क्रमात् पुष्पादिक्रमेण, न तु तमुल्लङ्घ्य, पुष्पाणि कुसुमानि, पुष्पग्रहणं च सुगन्धिद्रव्याणां विलेपनगन्धधूपवासादीनामङ्गन्यसनीयानां च वस्त्राभरणादीनामुपलक्षणम् । आहारश्च पक्वान्नफलाक्षतदीपजलघृतपूर्णपात्रादिरूपः, स्तुतिः शक्रस्तवादिसद्भूतगुणोत्कीर्तनरूपा, ततो द्वन्द्वः, ताभिः, पूजयेदिति । तस्य चैत्यपूजनस्य विधिरिति क्रियाकारकसंबन्धः । ध०२ अधि० ।

अथ जिनपूजायां कालः किमित्याश्रीयते इत्याह–

कालम्मि कीरमाणं, किसिकम्मं बहुफलं जहा होइ ।
इय सव्व च्चिय किरिया, णियणियकालम्मि विण्णेया ॥ ४ ॥

काले प्रावृडादिसमये, निजे इति शेषः । क्रियमाणं विधीयमानम्, कृषिकर्म क्षेत्रकर्षणक्रिया, बहुफलं प्रभूतधान्यादिसाधकम्, यथा येन प्रकारेण, भवति जायते, इत्येतेनैव प्रकारेण, (सव्व च्चिय त्ति) सर्वाऽपि समस्ताऽप्यास्तां जिनपूजा, क्रिया कर्म, निजनिजकाले स्वकीयस्वकीयावसरे, क्रियमाणा बहुफलेति शेषः । विज्ञेया ज्ञातव्या भवति इति । अतो जिनपूजायाः करणे कालः समाश्रयणीयः । इति गाथार्थः ॥ ४ ॥

अथ पूजाकालं विशेषतो दर्शयन्नाह–

सो पुण इह विण्णेओ, संझाओ तिण्णि ताव ओहेण ।
वित्तिकिरियाविरुद्धो, अहवा जो जस्स जावइओ ॥ ५ ॥

स इति यः सर्वक्रियासु बहुफलनिबन्धनत्वेन प्रागुपदिष्टोऽसौ कालः, पुनरिति विशेषप्रतिपादनार्थः, इह जिनपूजायां विषये, विज्ञेयो ज्ञातव्यः, किंभूत इल्लाह–सन्ध्याः कालवेलाः, तिस्रस्तिस्रसंख्याः, तावदिति वक्ष्यमाणापवादिककालापेक्षया प्रथमोऽयमिति क्रमभावसूचनार्थं । ओघेन सामान्येन, उत्सर्गत इत्यर्थः । अथापवादमाह–वृत्तिर्जीवनं, तदर्थाः क्रिया : कर्माणि राजसेवावाणिज्यादीनि, तासामविरुद्धोऽबाधको वृत्तिक्रियाविरुद्धः, अथवेति विकल्पार्थः । ततश्चापवादत इत्युक्तं भवति । यः पूर्वाह्णादिः,यस्य राजसेवकवाणिज्यकादेः, (जावइओ त्ति) यत्परिमाणो यावान्, स एव यावत्को मुहूर्तादिपरिमाणः, स तस्य तावत्कः पूजाकालो भवति; न पुनः सन्ध्यात्रयरूप एवेति गाथार्थः ॥ ५ ॥

अथ किमर्थमापवादिककालप्ररूपणमित्याशङ्क्याऽऽह–

पुरिसेणं बुद्धिमया, सुहवुड्ढिं भावओ गणंतेणं ।
जत्तेणं होयव्वं, सुहाणुबंधप्पहाणेण ॥ ६ ॥

पुरुषेण नरेण, नरग्रहणं चेह प्रायः पुरुषस्य प्राधान्यात् । अथवा–पूः शरीरं, तत्र शयनात्पुरुषो जीवः, तेन बुद्धिमता धीमता, बुद्धिमानेव हि औचित्येन वर्तत इति बुद्धिमद्ग्रहणम् । किंकुर्वता तेनेत्याह–शुभवृद्धिं कल्याणोपचयं, सुखबन्धनं वा । भावतः परमार्थतः, गणयताऽऽत्मनोऽच्छता सता, किमित्याह–यत्नेनाऽऽदरेण, भवितव्यं भाव्यम् । शुभानुबन्धप्रधानेन कुशलाविच्छेदपरेण, यथा कल्याणसन्तानो वर्धते, तथा यत्नो विधेयः । वृत्तिक्रियाविरुद्धसमये च पूजासेवनेनासौ व्यवच्छिद्यते; अतः पूजायामापवादिककालः समाश्रीयते; इति गाथार्थः ॥ ६ ॥

अथ कथमापवादिककालानाश्रयणे शुभसन्तानव्यवच्छेदः स्यात्? वृत्तिव्यवच्छेदादिति ब्रूमः । एतदेवाह–

वित्तीवोच्छेयम्मि य, गिहिणो सीयंति सव्वकिरियाओ ।
निरवेक्खस्स उ जुत्तो, संपुण्णो संजमो चेव ॥ ७ ॥

वृत्तिव्यवच्छेदे जीविकाविघाते, वृत्तिक्रियाविरुद्धपूजाकालाश्रयणे कृते; चशब्दो विशेषद्योतकः पुनश्शब्दार्थः; तस्य चैवं भावना–वृत्तिक्रियाविरुद्धकालाश्रयणे वृत्तिव्यवच्छेदो भवति । वृत्तिव्यवच्छेदे पुनः किमित्याह–गृहिणो गृहस्थस्य, सीदन्ति न प्रवर्तन्ते, सर्वक्रिया धर्मलोकाश्रिताः समस्तव्यापाराः । अथ सीदन्तु ताः सकलकल्मषविभोषपरपरमुनिपदपङ्कजपूजनप्रवृत्तस्य किं ताभिरित्यत्राह–निरपेक्षस्य तु वृत्तिनिस्पृहस्य पुनः, पुरुषस्य । युक्तः सङ्गतो विधेयतया, संपूर्णः सर्वविरतिरूपतया परिपूर्णः । संयमश्चैव साधुधर्म्म एव साधोरिवान्यथा सर्वथा निरपेक्षत्वासिद्धेरिति गाथार्थः ॥ ७ ॥

अथ कालद्वारं निगमयन्नाह–

तासिं अविरोहेणं, आभिग्गहिआ इहं मओ कालो ।
तत्थावोच्छिण्णो जं, णिच्चं तक्करणभावो त्ति ॥ ८ ॥

तत्तस्मादासां वृत्तिक्रियाणां, तासां वा, अविरोधेनानाबाधया, अभिग्रहश्चैत्यवन्दनमकृत्वा मया न भोक्तव्यं, न वा स्वप्तव्यमित्यादिरूपो नियमः प्रयोजनमस्येत्याभिग्रहिकः, इह जिनपूजायां विषये, मतो विदुषां सम्मतः, कालोऽवसरः, अथ कथमभिमतोऽसौ, यतोऽभिग्रहेण बलात्तत्र काले पूजायां प्रवर्ततेऽसौ, स्वरसप्रवृत्तिरेव च गुणकरीत्याशङ्क्याऽऽह–तत्राभि–ग्रहे सति, अविच्छिन्नोऽत्रुटितः । यद्यस्मात्, नित्यं प्रतिदिनम्, तत्करणभावः पूजाविधानाध्यवसायो भवति, तत्परिणामाव्यवच्छेदस्य चाव्यवच्छिण्णजपुण्यबन्धहेतुत्वादभिमत एवाभिग्रहिकः पूजाकाल इति भावः । इतिशब्दो वाक्यार्थसमाप्ताविति गाथार्थः ॥ ८ ॥ उक्तं कालद्वारम् ।

अथ शुचिद्वाराभिधानायाऽऽह–

तत्थ सुइणा दुहा वि हु, दव्वे ण्हाएण सुद्धवत्थेण ।
भावे उ अवत्थोचिय–विसुद्धवित्तिप्पहाणेण ॥ ९ ॥

(तत्थ त्ति)शुचिभूतेनेति यत् द्वारमुक्तं तत्रेदमुच्यते, शुचिना शुचिमता प्राणिना, द्विधाऽपि द्वाभ्यामपि प्रकाराभ्याम् आस्तामेकधा इत्यपिशब्दार्थः । 'हु' शब्दः समुच्चये, तत्प्रयोगश्च दर्शयिष्यते । जिनपूजा कर्त्तव्येति प्रक्रमः । द्वैविध्यं चद्रव्यभावापेक्षम्, एतदेवाऽऽहद्रव्ये द्रव्यशौचविषये, स्नातेन जल–

क्षालितदेहेन, देशतः सर्वतो वा। तत्र देशतो विहितकरचरणमुखदेशौचेन, सर्वतस्तु जलक्षालितसर्वशरीरेणेति। तथा शुद्धवस्त्रेण च शुचिनिवसनोत्तरीवाससा च सिग्धवस्त्रेण, भावे तु भावशौचे पुनर्विषयभूते, अवस्थोचिता देशकालविशिष्टावस्थापेक्षया स्वभूमिकायोग्या, विशुद्धा निरवद्यप्राया, वृत्तिर्जीविका, तया प्रधानः शोभनो यः, सा वा प्रधाना यस्य, स तथा, तेन न्यायोपात्तवित्तयुक्तेनेति भावः। न्याय एव हि भावतः शौचं, कर्म्ममलपटलक्षालनजलकल्पत्वात्तस्य। इति गाथार्थः ॥ ६ ॥ पञ्चा० ४० विव०। (श्रावकस्य स्नानविधिरन्यत्र विस्तृतः)

''कृत्वेदं यो विधानेन, देवताऽतिथीपूजनम्।
करोति मलिनारम्भी, तस्यैतदपि शोभनम् ॥'' ॥१ ॥

विधानेन विधिना, अतिथिः साधुः, मलिनारम्भी गृहस्थः।

द्रव्यस्नानस्य शोभनत्वे हेतुमाह–

''भावशुद्धेर्निमित्तत्वा–त्तथाऽनुभवसिद्धितः।
कथञ्चिद्दोषभावेऽपि, तदन्यगुणभावतः'' ॥२ ॥ युग्मम्।

दोषोऽप्कायविराधनादि, तस्माद्दोषादन्यो गुणः सद्दर्शनशुद्धिलक्षणः। यदुक्तं–''पूआए कायवहो, पडिकुट्ठो सो उ किंतु जिणपूआ। सम्मत्तसुद्धिहेउ, त्ति भावणीआ उ णिरवज्जा ॥१ ॥'' अन्यत्राप्युक्तम्–द्रव्यस्नानादिके यद्यपि षट्कायोपमर्दादिका काचिद्विराधना स्यात्, तथापि कूपोदाहरणेन श्रावकस्य द्रव्यस्तवःकर्तुमुचितः। यदाहुः–''अकसिणपवत्तयाणं, विरयाविरयाण एस खलु जुत्तो। संसारपयणुकरणे, दव्वत्थए कूवदिट्ठंतो ॥१ ॥'' इदमुक्तं भवति–यथा कूपखननं श्रमतृष्णाकर्दमोपलेपादिदोषदुष्टमपि जलोत्पत्तावन्तरोक्तदोषानपोह्य स्वोपकाराय परोपकाराय च किल भवतीत्येवं स्नानादिकमप्यारम्भदोषमपोह्य शुभाध्यवसायोत्पादनेन विशिष्टाशुभकर्मनिर्जरणपुण्यबन्धकारणं भवति। इह केचिन्मन्यन्ते पूजार्थं स्नानादिकरणकालेऽपि निर्मलजलकल्पशुभाध्यवसायस्य विद्यमानत्वेन कर्दमलेपादिकल्पपापाभाद्विषममिदमित्थमुदाहरणम्, ततः किलेदमित्थं योजनीयम्–''यथा कूपखननं स्वपरोपकाराय भवति एवं स्नानपूजादिकं करणानुमोदनद्वारेण स्वपरयोः पुण्यकारणं स्यादिति, न चैतदागमानुपाति, यतो धर्म्मार्थप्रवृत्तावप्यारम्भजनितस्याल्पपापस्येष्टवात्, कथमन्यथा भगवत्यामुक्तम्–'तहारूपं वा समणं वा माहणं वा पडिहयपच्चक्खायपावकम्मं अफासुएणं अणेसणिज्जेणं असणं पाणं खाइमं साइमं पडिलाभेमाणे भंते! किं कज्जइ ? गोयमा ! अप्पे पावे कम्मे बहुअरिआ से णिज्जरा कज्जइ''। तथा ग्लानप्रतिचरणानन्तरं पञ्चकल्याणकं प्रायश्चित्तप्रतिपत्तिरपि कथं स्यादिति पञ्चाशकवृत्तौ तत्सूत्रमपि–''ण्हाणाइ वि जयणाए, आरंभवओ गुणा य नियमेणं। सुहभावहेउओ खलु, विण्णेअं कूवणाएण ॥ १ ॥'' इत्यलं प्रसङ्गेन। एवं च देवपूजाद्यर्थमेव गृहस्थस्य द्रव्यस्नानमनुमतं, तेन द्रव्यस्नानं पुण्यायेति यत्प्रोच्यते तन्निरस्तं मन्तव्यम्। भावस्नानं च शुभध्यानरूपम्, यतः–''ध्यानाराम्भसा तु बीजस्य, सदा यच्छुद्धिकारणम्। मलं कर्म समाश्रित्य, भावस्नानं तदुच्यते ॥ १ ॥'' इति। कस्यचित्स्नाने कृतेऽपि यदि गण्डूक्षतादि स्रवति, तदा तेनाङ्गपूजां स्वपुष्पचन्दनादिभिः परेभ्यः कारयित्वाऽग्रपूजा भावपूजा च स्वयं कार्या, वपुरपावित्र्ये प्रत्युताशातनासंभवेन स्वयमङ्गपूजाया निषिद्धत्वात्। उक्तं च– ''निःशूकत्वादशौचेऽपि, देवपूजां तनोति यः। पुष्पैर्भूपतितैर्यश्च, भवतः श्वपचाविमौ ॥ १ ॥'' इति। तत्र स्नानानन्तरं पवित्रमृदुगन्धकाषायिकाद्यंशुकेनाङ्गरूक्षणं तथा पोत्तिकमोचनपवित्रवस्त्रान्तरपरिधानादियुक्त्या क्लिन्नाङ्गिभ्यां भूमिस्पृशन् पवित्रस्थानमागत्योत्तरामुखः संव्ययते दिव्यं नव्यमकीलितं श्वेतांशुकद्वयम्। यतः–

''विशुद्धं वपुषः कृत्वा, यथायोगं जलादिभिः।
धौतवस्त्रे वसीत द्वे, विशुद्धे धूपधूमिते'' ॥ १ ॥

लोकेऽप्युक्तम्–

न कुर्यात्सन्धितं वस्त्रं, देवकर्मणि भूमिप!।
न दग्धं न तु वै छिन्नं, परस्य तु न धारयेत् ॥ २ ॥
कटिस्पृष्टं तु यद्वस्त्रं, पुरीषं येन कारितम्।
समूत्रमैथुनं वाऽपि, तद्वस्त्रं परिवर्जयेत् ॥ ३ ॥
एकवस्त्रो न भुञ्जीत, न कुर्याद्देवताऽर्चनम्।
न कञ्चुकं विना कार्या, देवार्चा स्त्रीजनेन तु'' ॥ ४ ॥

एवं हि पुंसां वस्त्रद्वयं, स्त्रीणां च वस्त्रत्रयं विना देवपूजनादि न कल्पते, धम्यै वस्त्रं च मुख्यवृत्त्याऽतिविशिष्टं क्षीरोदकादिकं श्वेतमेव कायम्। उदायननृपराज्ञीप्रभावतीप्रभृतीनामपि धौतांशुकं श्वेतं निशीथादावुक्तं दिनकृत्यादावपि–''सेअवत्थनिअंसणो त्ति'' क्षीरोदकाद्यशक्तावपि दुकूलदिधौतिकं विशिष्टमेव कार्यम्। यदुक्तं पूजाषोडशके–''सितशुभवस्त्रेण'' इति। तद्वृत्तिर्यथासितवस्त्रेण च, शुभवस्त्रेण शुभमिह शुभ्रादन्यदपि पट्टयुग्मादि रक्तपीतादिवर्णं परिगृह्यते इति, ''एगसामिअं उत्तरासंगं करेइ'' इत्यागमप्रामाण्यादुत्तरीयमखण्डमेव कार्यम्, न तु खण्डद्वयादिरूपं, तच्च वस्त्रद्वयं भोजनादिकार्ये म व्यापार्यं, प्रस्वेदादिनाऽशुचित्वापत्तेः, व्यापारचैलमेव व्यापार्यं, परसत्कमपि च प्रायो वर्ज्यं, विशिष्य च बालवृद्धस्त्र्यादिसत्कं, न च ताभ्यां प्रस्वेदश्लेष्मादि स्फेटनीयं, व्यापारितवस्त्रान्तरेभ्यश्च पृथग् मोच्यमिति सम्यग् स्नात्वेत्यंशः प्रदर्शितः। अथ जिनं संस्नाप्येत्यंशः प्रदर्शनीयः, तत्र जिनस्नपनादिविधिश्च समस्तपूजा सामग्रीमेलनपूर्वकः। सा चेयम्। तथाहि–शुभस्थानात्स्वयमारामिकादिकं सुमूल्यार्पणादिना संतोष्य पवित्रभाजनाच्छादनहृदयाग्रस्थकरसंपुटधारणादिविधिना पुष्पाद्यानयेत्, वैश्वासिकपुरुषेण वाऽऽनाययेत्, जलमपि च तथा, तथोष्ट्रपुटोत्तरीयप्रान्तेन मुखकोशं विदध्यात्। यतो दिनकृत्ये–''काऊण विहिणा ण्हाणं, सेअवत्थनिअंसणो। मुहकोसं तु काऊणं, गिहबिंबाणि पमज्जए'' ॥ १ ॥ त्ति। तमपि च यथासमाधि कुर्यान्नासाबाधे तु नापि। यतः पूजापञ्चाशके–''वत्थेणं बंधिऊणासं अहवा जहासमाहीए'। एतंद्वृत्तिर्यथावस्त्रेण वसनेन, बद्ध्वा आवृत्य, नासां नासिकाम्। अथवेति विकल्पार्थो यथासमाधि समाधानानतिक्रमेण, यदि हि नासाबन्धे असमाधानं स्यात्तदा तामबध्वापीत्यर्थः। सर्वं यत्नेन कार्यमित्यनुवर्त्तते इति, युक्तिमच्च मुखे वस्त्रबन्धनं, भृत्या अपि स्वामिनोऽङ्गमर्दनश्मश्रुरचनादिकं कुर्वन्ति। यदुक्तम्–''बंधिता कासवयो वयणं अट्ठगुणाएँ पोत्तीए। पत्थिवमुवासए खलु, वित्तिनिमित्तं सया चेव'' ॥ १ ॥ त्ति। ध०२ अधि०।

स्नानादौ यतना–यतनया विहितस्य स्नानादेः शुभभाव–हेतुत्वं प्रागुक्तम्, अथ यतनां स्नानगतां शुभभावहे–तुतां च यतनाकृतां स्नानस्य दर्शयन्नाह–

भूमीपेहणजलछा –णणाइ जयणा उ होइ ण्हाणाओ।

एत्तो विसुद्धभावो, अणुहवसिद्धो चिय वुहाणं ॥ ११ ॥

भूमेः प्रेक्षणं च स्नानभुवः प्राणिरक्षार्थं चक्षुषा निरीक्षणं, जलच्छाणनं पूतरकपरिहारार्थं नीरगालनमादिः प्रमुखं यस्य व्यापारवृन्दस्य तद्भूमिप्रेक्षणजलच्छाणनादि । आदिशब्दान्मक्षिकारक्षणादिग्रहः । तत्किमित्याह–यतना प्रयत्नविशेषः, तुशब्दः पुनरर्थः । तद्भावना चैवम्–स्नानादि यतनया गुणकरं भवति, यतना पुनर्भूमिप्रेक्षणजलच्छाणनादिर्भवति वर्त्तते । क्वेत्याहस्नानादावधिकृते, देहशौचविलेपनजिनार्चनप्रभृतिनि च, इह च प्राकृते औकाराश्रुतेरभावात् (ण्हाणाओ) इत्येवं पठ्यत इति । (एत्तो त्ति) कृतः पुनर्यतनाविहितस्नानादेर्विशुद्धभावः शुभाध्यवसायोऽनुभवसिद्ध एव स्वसंवेदनप्रतिष्ठित एव, बुधानां बुद्धिमताम्, अनेन च शुभभावहेतुत्वा दित्यस्य पूर्वोक्तहेतोरसिद्धताशङ्का परिहृता, इति गाथार्थः ॥ ११ ॥

आरम्भवतो यतनया स्नानादि गुणायेति यत् प्रागुक्तं तत्र कश्चिदाह–आरम्भवानपि यद्यधिकतरपापभीरुतया धर्मार्थं स्नानादि न करोति, तदा न क्षुण्णमुत्पश्याम इत्याशङ्क्याऽऽह–

अण्णत्थारंभवओ, धम्मेऽणारंभओ अणाभोगो ।
लोए पवयणखिंसा, अवोहिवीयं ति दोसा–य ॥ १२ ॥

अन्यत्राधिकृतस्नानादेरपरत्र विविधदेहगेहादिकर्म्मसु, आरम्भवतो भूतोपमर्दनकारिणः सतो दे हिनो, धर्मे धर्म्मविषये, जिनादिनिमित्तमित्यर्थः । (अणारंभओ त्ति) अनारम्भ एवानारम्भको, भूतोपदमर्दनपरिहारः । किमित्याह–अनाभोगो ज्ञानाभावो वर्त्तते, अनाभोगकार्यत्वादनारम्भस्य । अथवा अनारम्भतोऽनारम्भादनाभोगोऽवसीयते । ज्ञानाभाव एव हि शास्त्रानुमतोऽपि जिनार्चनादिगत आरम्भोऽकृत्यतयाऽवभासाते । तथा लोके शिष्टजने, तन्मध्य इत्यर्थः । प्रवचनखिंसा जिनशासनाश्लाघा–''पूजाविधानाप्रतिपादनपरं जिनशासनम्, अन्यथा कथमार्हताः शौचादिव्यतिरेकेणापि जिनं पूजयन्ति'' इत्यादिरूपा भवति । सा चाबोधेर्जन्मान्तरे जिनधर्माप्राप्तेर्बीजमिव बीजं हेतुरबोधिबीजम् । इत्येतावनन्तरोक्तौ दोषौ दूषणे भवतः । च शब्दोऽनाभोगापेक्षया समुच्चयार्थः । अथ वा–दोषाय भव प्राप्तिलक्षणाय तदबोधिबीजं संपद्यते । इतिशब्दः समाप्तौ । ततो द्रव्यतः स्नातेन शुद्धवस्त्रेण च जिनपूजा विधेयेति स्थितमिति गाथाऽर्थः ॥ १२ ॥

अथ भावशौचानाश्रयणे दोषाभिधानायाऽऽह–

अविसुद्धा वि हु वित्ती, एवं चिय होइ अहिगदोसा उ ।
तम्हा दहा वि सुइणा, जिणपूजा होइ कायव्वा ॥ १३ ॥

अविशुद्धा अवस्थाया औचित्येन सावद्या, अपिशब्दो भिन्नक्रमः । हुशब्दो वाक्यालङ्कारे, वृत्तिरपि जीविकाऽपि न केवलं स्नानाद्यभाव एव । (एवं चिय त्ति) एवमेवानेनैव प्रकारेण, स्नानादिद्रव्यशौचाकरणप्रदर्शितेन, भवति संपद्यते, अधिकदोषा तु द्रव्यशौचाभावापेक्षया प्रचुरदूषणैव । यतोऽनाभोगादयो द्रव्यशौचाभावोक्ता दोषास्तावदशुद्धवृत्त्यां भवन्त्येव, अन्ये च राजनिग्रहादयो भवन्ति, अन्याययरूपत्वात्तस्याः । अथ शूचिभूतेनेत्येतद्वारोपसंहाराय(तम्ह त्ति) यस्मात् द्रव्यशौचभावशौचाभावे एते दोषा भवन्ति, तस्माद्धेतोः, द्विधाऽपि द्रव्यभावभेदात्प्रकारद्वयेनाऽपि, आस्ताम् एकप्रकारेण । शुचिना शुचिभूतेन, जिनपूजाऽर्हदर्चनम्, भवति वर्त्तते, कर्त्तव्या विधेयेति गाथार्थः ॥ १३ ॥ उक्तं शुचिभूतेनेति द्वारम् ।

अथ विशिष्टपुष्पादिभिरित्येतत्द्वारप्रतिपादनायाऽऽह–

गंधवरधूवसव्वो–सहीहिँ उदगाइएहिँ चित्तेहिं ।
सुरहिविलेवणवरकुसु –मदामवलिदीवएहिं च ॥ १४ ॥
सिद्धत्थयदहिअक्खय–गोरोयणमाइएहिँ जहलाभं ।
कंचणमोत्तियरयणा–इदामएहिं च विविहेहिं ॥ १५ ॥ युग्मम् ।

द्वारगाथायां पुष्पादिभिरित्येवं द्वारस्य निर्दिष्टत्वाद् गन्धेत्यादि न युक्तम् । अत्रोच्यते–पुष्पादिभिरित्यत्रादिशब्दस्य प्रकारार्थत्वेन पुष्पादिभिः पुष्पप्रकारैरिति व्याख्यानान्न दोषः । वरधूपः प्रधानधूपो, गन्धवरो वा गन्धप्रधानो धूपः कृष्णागरुप्रभृतिगन्धयुक्तिप्रसिद्धः, सर्वौषधयो लोकरूढाः, एतेषां द्वन्द्वः । ताभिर्जिनपूजा भवति, कर्त्तव्येत्यनेन द्वारगाथोक्तेन योगः । तथोदकादिभिर्जलप्रभृतिभिरादिशब्दादिक्षुरसघृत–दुग्धादिपरिग्रहः । चित्रैर्विविधैः, एभिः पुनःपूजा जिनबिम्बस्य स्नपनद्वारेण पुरतः स्थापनाद्वारेण यथारूढि स्यात्, उभयथाऽपि पूजात्वेनाविरुद्धत्वात् । अथ जीवाभिगमादिषु इक्षुरसादीनां पूजात्वेनाप्रदर्शितत्वान्न युक्तं तेषामादिशब्दोपादानव्याख्यानम्, नैवम्, जीवाभिगमाद्यप्रदर्शितानामपि बलिदीपगोरोचनादीनामिहोक्तत्वेन तदुपदर्शितस्य पूजाविधानस्याव्यापकत्वात् । अत एव जीवाभिगमे नन्दापुष्करिणीजलेन स्नानोक्तावपि जम्बूद्वीपप्रज्ञप्त्यां नानाविधैर्जलैर्मृत्तिकातुवरादिद्रव्यैश्च स्नपनमुक्तम् । अथ घृतादिभिः स्नपनं न युक्तं, विगन्धित्वात्तेषां को वा किमाह, यतो यानि गन्धादिभिः सुन्दराणि घृतादिद्रव्याणि शोभावहानि कर्तृद्रष्टृणां भावोल्लासकारीणि, तैरेव च तद्विधेयम् । यतो वक्ष्यति–''जह रेहति तह सम्मं, कायव्वमणण्णचेट्ठेणं''ति । तथा सुरभिविलेपनं सुरभिश्रीखण्डाद्यनुलेपनं, वरकुसुमदामानि प्रधानपुष्पमालाः बलिरुपहारः, दीपकः प्रदीपकः, एतेषां द्वन्द्वोऽतस्तैः । चशब्दः समुच्चये । सिद्धार्थकाः सर्षपाः, दधि च प्रतीतम्, अक्षताश्च तन्दुलाः, दध्यक्षतं, गोरोचना गोपित्तजा; एषां द्वन्द्वोऽतस्तदादिभिरेतत्प्रभृतिभिः, आदिशब्दाच्छेषमङ्गल्यवस्तुपरिग्रहः । यथालाभं यथासंपत्ति । काञ्चनमौक्तिकरत्नादिदामकैश्च कनकमुक्ताफलमाणिक्यमालाभिश्च, विविधैर्बहुप्रकारैरिति गाथाद्वयार्थः ॥१४–१५ ॥

अथ कस्माद्विशिष्टपुष्पादिभिरेवं पूजा विधीयते इत्याशङ्क्याह–

पवरेहिँ साहणेहिं, पायं भावो वि जायए पवरो ।
ण य अण्णो उवओगो, एएसि सयाण लट्ठयरो ॥ १६ ॥

प्रवरैरुत्कृष्टैः साधनैः पूजाकारणद्रव्यैः, प्रायो बाहुल्येन, कस्यापि क्लिष्टकर्म्मणः प्रवरसाधनैरपि न जायते प्रवरभावस्तस्यान्यस्यातिशुभकर्मणः प्रवरद्रव्याणि विनैव प्रवरभावो जायते, इत्येतदर्थसूचनाय प्रायोग्रहणम् । भावोऽप्यवसायोऽपि, न केवलं द्रव्याण्येव प्रवराणीत्यपिशब्दार्थः । जायते संपद्यते, प्रवरः प्रधानोऽशुभकर्मक्षयहेतुः । भवति च द्रव्यविशेषाद्भावविशेषः । यदाह–''गुणभूइट्ठे दव्वम्मि जेण मित्तो हियत्तण भावे । इय वत्थूओ इच्छति, ववहारो निज्झरं विउलं ॥ १ ॥'' इत्येकं प्रवरद्रव्योपादाने कारणम् । अथ कारणान्तरमाह–न नैव,

चः समुच्चये, अन्यो जिनपतिपूजातोऽपरः, उपयोगो विनियोगस्थानम्, एतेषां प्रवरसाधनानाम्, सतां विद्यमानानाम्, लष्टतरः प्रधानतरो भवति। यदाह—''देहः पुत्रः कलत्रं वा, संसारायैव सत्कृतः। वीतरागस्तु भव्यानां, संसारोच्छित्तये भवेत् ॥१॥'' इत्यतः प्रवरपुष्पादिभिः पूजा विधेया, इति गाथार्थः ॥ १६ ॥

अमुमेवार्थं भावयन्नाह—

इहलोयपारलोइय—कज्जाणं पारलोइअं अहिगं।
तं पि हु भावपहाणं, सो वि य इय कज्जगम्मो त्ति ॥ १७ ॥

ऐहलौकिकपारलौकिककार्ययोर्वर्तमानभवपरभवप्रयोजनयोः साध्ययोर्मध्ये, पारलौकिकं पारभविकम्, अधिकं प्रधानतरं, विशेषतस्तस्य साधनीयत्वात्, तदसाधने बहुतमानर्थसंभवात्। पारलौकिककृत्यं च जिनपूजेत्यतो नान्यदुपयोगस्थानं लष्टतरं प्रवरसाधनानामिति। तत्र च यत्प्रधानं तद्दर्शयितुमाह—(तं पि हु त्ति) तत्पुनः पारलौकिकं कार्यम्। भाव आत्मपरिणामः प्रधानः साधकतयोत्तमो यस्मिँस्तद्भावप्रधानं, शुभभावसाध्यम्। अतोऽसौ भावविशेषो विशिष्टपारलौकिककार्यार्थिना समाश्रयणीय इति हृदयम्। यदि भावप्रधानं ततः किमित्याह—(सो वि य त्ति) स पुनः पारलौकिककार्यहेतुभूतो भावः। इति कार्यगम्य इत्येवंविधमनन्तरोक्तं यत्कार्यं भावस्य कृत्यं पूजार्थं प्रवरपुष्पाद्युपादानुरूपं, तेन यो गम्यो निश्चेतव्यः स इति कार्यगम्यः, इतिशब्दः समाप्तौ। इदमुक्तं भवति—परलोकसाधनहेतुभूतशुभभावकार्यत्वात्प्रवरसाधनोपादानस्य शुभभावं सफलयद्भिस्तद्विधेयं भवति, इति गाथार्थः ॥ १७ ॥

अथाधिकृतद्वारं निगमयन्नाह—

ता नियविहवऽणुरूवं, विसिट्ठपुप्फाइएहिँ जिणपूजा।
कायव्वा बुद्धिमया, तम्मी बहुमाणसारा य ॥ १८ ॥

(ता इति) यस्मात्प्रवरसाधनैः प्रवरो भावो भवतीत्याद्युक्तं, तत्तस्माद्धेतोर्निजविभवस्य स्वकीयविभूतेरनुकूलं स्वभावो यस्य पूजाकरणस्य तन्निजविभवानुरूपम्। कर्त्तव्येति क्रियाया विशेषणमिदम्। विशिष्टपुष्पादिभिरुक्तस्वरूपैः, जिनपूजाऽर्हदर्चनम्, कर्त्तव्या विधेया, बुद्धिमता धीमता। बुद्धिमानेव ह्युपादेयोपादानक्षमो भवतीति बुद्धिमतेत्युक्तम्। तथा तस्मिन् जिने बहुमानसारा प्रीतिप्रधाना। तद्यथा—''अनुपकृतपरहितरतः, शिवदस्त्रिदशेशपूजितो भगवान्। पूज्यो हितकामानां, जिननाथो नाथताहेतुः'' ॥ १ ॥ चशब्दः पूर्वोक्तविशेषणापेक्षया समुच्चयार्थः, इति गाथार्थः ॥ १८ ॥ पञ्चा०४ विव०।

अथ विधिद्वारनिरूपणायाऽऽहप्रमार्जितपवित्रावघर्षऽसंसक्तशोधित—जात्यकेसरकर्पूरादिमिश्रश्रीखण्डं संघर्ष्य भाजनद्वये पृथगुद्धारयेत्। तथा संशोधितजात्यधूपघृतपूर्णप्रदीपाऽखण्डचोक्षादिविशेषाक्षतपूगफलविशिष्टानुच्छिष्टनैवेद्यहृद्यफलनिर्मलोदकभृतपात्रादिसामग्रीं संयोजयेदेवं द्रव्यतः शुचिता। भावतः शुचिताऽनुरागद्वेषकषायैरैहिकामुष्मिकस्पृहाकौतुकव्याक्षेपादित्यागेनैकाग्रचित्तता। उक्तं च—

''मनोवाक्कायवस्त्रोर्वी —पूजोपकरणस्थितेः।
शुद्धिः सप्तविधा कार्या, श्रीअर्हत्पूजनक्षणे'' ॥ १ ॥

एवं द्रव्यभावाभ्यां शुचिः सन् गृहचैत्ये—

''आश्रयन् दक्षिणां शाखां, पुमान् योषित्त्वदक्षिणाम्।
यत्नपूर्वं प्रविश्यान्तर्दक्षिणेनांहिणा ततः ॥ २ ॥
सुगन्धिमधुरैर्द्रव्यैः, प्राङ्मुखो वाऽप्युदङ्मुखः।
वामनाड्यां प्रवृत्तायां, मौनवान् देवमर्चयेत्'' ॥ ३ ॥

इत्याद्युक्तेन नैषेधिकीत्रयकरणप्रदक्षिणात्रयचिन्तनादिकेन च विधिना देवताऽवसरप्रमार्जनपूर्वं शुचिपट्टकादौ पद्मासनासीनः पूर्वोत्सारित—द्वितीयपात्रस्थचन्दनेन देवपूजासत्कचन्दनभाजनाद्वा पात्रान्तरे हस्ततले वा गृहितचन्दनेन कृतभालकण्ठहृदुदरतिलको रचितकर्णिकाङ्गदहस्तकङ्कणादिभूषणः चन्दनचर्चितभूषितभुजो लोमहस्तकेन श्रीजिनाङ्गा—*न्निर्माल्यमपनयेत्। निर्माल्यं च—''भोगविणट्ठं दव्वं, निम्मल्लं विंति* गीअत्था''। इति वृहद्भाष्यवचनात् यज्जिन बिम्बारोपितं सद्विच्छायीभूतं विगन्धं जातं दृश्यमानं च निःश्रीकं न भव्यजनमनःप्रमोदहेतुस्तन्निर्माल्यं ब्रूवन्ति बहुश्रुता इति सङ्गाचारवृत्त्युक्तेश्च भोगविनष्टमेव, न तु विचारसारप्रकरणोक्तप्रकारेण ढौकिताक्षतादेर्निर्माल्यत्वमुचितम्, शास्त्रान्तरे तथा दृश्यमानत्वादक्षोदक्षमत्वाच्च, तत्त्वं पुनः केवलिगम्यम्। वर्षादौ च निर्माल्यं विशेषतः कुन्थ्वादिसंसक्तेपृथग् पृथग् जनानाक्रम्य शुचिस्थाने त्यज्यते, एवमाशातनाऽपि न स्यात्। स्नात्रजलमपि तथैव, ततः सम्यक् श्रीजिनप्रतिमाः प्रमार्ज्य उच्चैः स्थाने भोजनादावव्यापार्यपवित्रपात्रे संस्थाप्य च करयुगधृतशुचिकशादिनाऽभिषिञ्चेज्जलं च पूर्वं घुसृणाद्युन्मिश्रं कार्यं, यतो दिनकृत्ये—''घुसिणकप्पूरमीसं, काउं गंधोदगं वरं। तओ भुवणनाहस्स, ण्हावेई भत्तिसंजुओ'' ॥ १ ॥ घृश्रृणं कुङ्कुमं, कर्पूरो घनसारस्ताभ्यां मिश्रं, तुशब्दात्सर्वौषधिचन्दनादिपरिग्रह इति तद्वृत्तिः। स्नपनकाले च—''बालत्तणम्मि सामिअ,! सुमेरुसिहरम्मि कणयकलसेहिं। तिअसासुरेहिँण्हविओ, ते धन्ना जेहिं दिट्ठो सि'' ॥ १ ॥ इत्यादि विचिन्त्य पूजाक्षणे च मुख्यवृत्त्या मौनमेव कार्यं, तदसक्तौ सावद्यं त्याज्यमेव, अन्यथा नैषेधिकीकरणनैरर्थक्यापत्तेः, कण्डूयनाद्यपि हेयमेव। यतः—''कायकंडूअणं वज्जे, तहा खेलविगिंचणं। थुइथुत्तभणणं च, पूअंतो जगबंधुणो ॥ १ ॥'' ततः सुयत्नेन बालककूर्चिकां व्यापार्यै केनाङ्गरूक्षणेन सर्वतो निर्जलीकृत्य द्वितीयेन च धूपितमृदूज्ज्वलेन तेन मुहुः २ सर्वतः स्पृशेत, एवमङ्गरूक्षणद्वयेन सर्वप्रतिमा निर्जलीकार्या। यत्र स्वल्पोऽपि जलक्लेदस्तिष्ठति, तत्र २ श्यामिका स्यादिति सा सर्वथा व्यपास्येत, न च पञ्चतीर्थीं चतुर्विंशतिपट्टकादौ मिथः—

''.....,सूरिआभदेवस्स।
जीवाभिगमे विजया—पुरीऍ विजयाइदेवाणं ॥ १ ॥
भिंगाइलोमहत्थय—लूहणया धूवदहणमाईअं।
पडिमाणं सकदाणय—पूआए इक्कयं भणिअं ॥ २ ॥
निव्वुअजिणंदसकहा—सगसमुग्गेसु तिसु वि लोएसु।
अन्नोन्नं संलग्गा, ण्हवणजलाईहिँ संपुट्ठा ॥ ३ ॥
पुव्वधरकालविहिआ, पडिमाई संति केसु वि पुरेसु।
वत्तक्खा १ खेत्तक्खा २ महक्खया, ३ गंथें दिट्ठा य ॥ ४ ॥''
(गंथें दिट्ठ त्ति) ग्रन्थे प्रतिष्ठाषोडशकादौ दृष्टा। (ध०)
''मालाइआधराण वि, धुवणजलाई फुसेइ जिणबिंबं।
पुत्थयपत्ताईण वि, उवरुवरिं फरिसणाईअं ॥ ५ ॥
ता नऽज्ज नो दोसो, करणे चउवीसवट्टयाईणं।
आयरणाजुत्तीओ, गंथेसु अदिस्समाणत्ता ॥ ६ ॥''

बृहद्भाष्येऽप्युक्तम्—

जिणरिद्धिदंसणत्थं, एगं कारेइ कोइ भत्तिजुओ।

पायाडेअपाडिहेरं, देवागमसोहिअं चेव ॥ १ ॥
दंसणनाणचरित्ता–राहणकज्जे जिणत्तिअं कोइ ।
परिभद्विनमोक्कारं, उज्जमिउं कोइ पंच जिणा ॥ २ ॥
कल्लाणतवमहत्था, उज्जमिउं भरहवासभावि त्ति ।
बहुमाणविसेसाओ, कोई कारिंति चउवीसं ॥ ३ ॥
उज्जोसं सतरिसयं, नरलोए विहरइ त्ति भत्तीए ।
सत्तरिसयं पि कोई, बिंबाणं कारइ धणड्ढो ॥ ४ ॥

तस्मात्त्रितीर्थीपञ्चतीर्थीचतुर्विंशतिपट्टादिकारणं न्याय्यमेव दृश्यते, तथा सति तत्प्रक्षालनाद्यपि निर्दोषमेव, अङ्गरूक्षणं हस्तादि च पृथक् भाजनस्थशुद्धजलेन क्षाल्यं, न तु प्रतिमाक्षालनजलेन, चन्दनादिवत्। इति जिनस्नपनविधिः ।

अथ पूजाविधिः–

पूजा चाङ्गाग्रभावभेदात् त्रिधा । तत्र स्नपनमङ्गपूजैव, ततः ''अंहि २ जानु २ करां ६ सेषु, ८ मूर्द्धिन ९ पूजां यथाक्रमम्'' इत्युक्तेर्वक्ष्यमाणत्वात्सृष्ट्या नवाङ्गेषु कर्पूरकुङ्कुमादिमिश्रगोशीर्षचन्दनान्यर्चयेत् । केऽप्याहुः– पूर्वं भाले तिलकं कृत्वा नवाङ्गपूजा कार्या । श्रीजिनप्रभसूरिकृतपूजाविधौ तु–''सरससुरहिचंदणेणं देवस्स दाहिणजाणुदाहिणखंधनिडालवामखंधवामजाणुलक्खणेसु पंचसु हिअएहिं सहत्थेसु वा अंगेसु पूअं काऊण पच्चग्गकुसुमेहिं गंधवासेहिं च पुएइ'' इत्युक्तम् । ततः सद्वर्णैः सुगन्धिभिः सरसैरभूपतितैर्विकाशिभिरशटितदलैः प्रत्यग्रैश्च प्रकीर्णनानाप्रकारग्रथितैर्वा पुष्पैः पूजयेत् । पुष्पाणि च यथोक्तान्येव ग्राह्याणि । यतः–

''न शुष्कैः पूजयेद्देवं, कुसुमैर्न महीगतैः ।
न विशीर्णदलैः स्पृष्टैर्नाशुभैर्नाऽविकाशिभिः ॥ १ ॥
कीटकोशापविद्धानि, शीर्णपर्युषितानि च ।
वर्जयेदूर्णनाभेन, वासितं यदशोभितम् ॥ २ ॥
पूतिगन्धीन्यगन्धीनि, अम्लगन्धीनि वर्जयेत् ।
मलमूत्रादिनिर्माणा–दुच्छिष्टानि कृतानि च'' ॥ ३ ॥

सति च सामर्थ्ये रत्नसुवर्णमुक्ताभरणरौप्यसौवर्णपुष्पादिभिश्चन्द्रोदयादिविचित्रदुकूलादिवस्त्रैश्चाप्यलङ्कुर्यात् । एवं चान्येषामपि भाववृद्ध्यादि स्यात् । यतः–''पवरेहिँ साहणेहिं, पायं भावो वि जायए पवरो । न य अन्नो उवओगो, एएसि सयाण लट्ठयरो'' ॥१ ॥ त्ति । श्राद्धविधिवृत्तौ–''ग्रन्थिम १ वेष्टिम २ पूरिम ३ संघातिम ४ रूपचतुर्विधप्रधानाम्लानविध्यानीतशतपत्रसहस्रपत्रजातीकेतकचम्पकादिविशिष्टपुष्पैर्माला १ मुकुट २ शिरस्कं ३ पुष्पगृहादि विरचयेदिति विशेषः । चन्दनपुष्पादिपूजा च तथा कार्या यथा जिनस्य चक्षुर्मुखाच्छादनादि न स्यात्, अश्रीकत्वातिरेकश्च स्यात्, तथैव द्रष्टॄणां प्रमोदवृद्ध्यादिसंभवात् । अन्याऽप्यङ्गपूजाप्रकारः कुसुमाञ्जलिमोचनपञ्चामृतप्रक्षालनशुद्धोदकधाराप्रदान कुङ्कुमकर्पूरादिमिश्रचन्दनविलेपनाङ्गीविधानगोरोचनमृगमदादिमगतिलकपत्रभङ्गयादिकरणप्रमुखो भक्तिचैत्यप्रतिमापूजाधिकारे वक्ष्यमाणो ग्रन्थतोऽवसेयः । तथा जिनस्य हस्ते सौवर्णबीजपूरनालिकरपूगीफलनागवल्लीदलनाणकमुद्रिकादिमोचनं कृष्णागुर्वादिधूपोत्क्षेपसुगन्धवारिप्रक्षेपादयोऽपि सर्वमङ्गपूजायामन्तर्भवन्ति । तथोक्तं बृहद्भाष्ये–''ण्हवणविलेवणआहरणवत्थफलगंधधूवपुप्फेहिं । कीरइ जिणंगपूआ, तत्थ विही एस नायव्वो'' ॥ १ ॥ त्ति । तत्र धूपो जिनस्य वामपार्श्वे कार्य इत्यङ्गपूजा । ततो घृतपूर्णं प्रदीपैः शाल्यादितन्दुलाक्षतैर्बीजपूरादिनानाफलैः सर्वनैवेद्यैर्निर्मलोदकभृतशङ्खादिपात्रैश्च पूजयेत् । तत्र प्रदीपो जिनस्य दक्षिणपार्श्वे स्थाप्यः, अक्षतैश्चाखण्डै रौप्यसौवर्णैः शालेयैर्वा जिनस्य पुरतो दर्पण १ भद्रासन २ वर्द्धमान ३ श्रीवत्स ४ मत्स्ययुग्म ५ स्वस्तिक ६ कुम्भ ७ नन्द्यावर्त्त ८ रूपाष्टमङ्गलानालेखयेत् । अन्यथा वा ज्ञानदर्शनचारित्राराधननिमित्तं सृष्ट्या पुञ्जत्रयेण पट्टादौ विशिष्टाक्षतान् पूगादिफलं च ढौकयेत् । नवीनफलागमे तु पूर्वं जिनस्य पुरतः सर्वथा ढौक्यं, नैवेद्यमपि सति सामर्थ्ये कूराद्यशनशर्करागुडादिपानफलादिखाद्यताम्बूलादिखाद्यान्, ढौकयेत् । नैवेद्यपूजा च प्रत्यहमपि सुकरा, महाफला च धान्यस्य च विशिष्य, आगमेऽपि राद्धधान्यस्यैव प्रतिपादनात्; यत आवश्यकनिर्युक्तौ समवसरणाधिकारे ''कीरइ बलीति,'' निशीथेऽपि–''तओ पभावईए देवीए सव्वं बलिमाई काउं भणिअं–देवाहिदेवो वद्धमाणसामी तस्स पडिमा कीरओ त्ति वाहिओ कुहाडो दुहा जायं पिच्छइ सव्वालंकारविभूसिअं भगवाओ पडिमं'' निसिथपीठेऽपि–(बलि त्ति)''असिवोवसमानिमित्तं कूरो किज्जइ'' । महानिशीथेऽपि तृतीयाध्ययने–''अरिहंताणं भगवंताणं गंधमल्लपईवसंमज्जणोवलेवणविच्छित्तिबलिवत्थधूवाईएहिं पूआसक्कारेहिं पइदिणमब्भच्चणं पकुव्वाणा तित्थुत्थप्पणं करामो त्ति'' । ततो गोशीर्षचन्दनरसेन पञ्चाङ्गुलितलैर्मण्डलालेखनादि पुष्पप्रकराऽऽरात्रिकादिगीतनृत्यादि च कुर्यात् । सर्वमप्येतदग्रपूजैव; यद्भाष्यम्–''गंधव्वनट्टवाइअलवणजलारत्तिआइ दीवाई । जं किंचं तं सव्वं, पि ओ अरइ अग्गपूआए' ।१ । इत्यग्रपूजा । भावपूजा तु जिनपूजाव्यापारनिषेध-रूपतृतीयनैषेधिकीकरणपूर्वं जिनाद्दक्षिणदिशि पुमान्, स्त्री तु वामदिशिं, आशातनापरिहारार्थं जघन्यतोऽपि संभवे नवहस्तमानादसंभवे तु हस्तहस्तार्द्धमानाद्युत्कृष्टतस्तु षष्टिहस्तमानादवग्रहाद् बहिः स्थित्वा चैत्यवन्दनां विशिष्टस्तुत्यादिभिः कुर्यात् । आह च–''तइआ उ भावपूआ, ठाउं चिइवंदणोचिए देसे । जहसत्ति वित्तथुइ थु–त्तमाइणा देववंदणयं ॥ १ ॥'' निशीथेऽपि–''सो उ गंधारसावओ थयथुईहिं थुणंतो तत्थ गिरिगुहाए अहोरत्तं निवसिओ'' । तथा वसुदेवहिण्डौ–''वसुदेवो पच्चूसे कयसमत्त-सावयसामाइआइनिओ गहिअपच्चक्खाणो कयकाउस्सग्गथुइवंदणो त्ति'' । एवमनेकत्र श्रावकादिभिरपि कायोत्सर्गस्तुत्यादिभिश्चैत्यवन्दना कृतेत्युक्तम् । (ध०) (स्तुतिभेदनिरूपणम् 'थुइ शब्दे वक्ष्यते') गीतनृत्या-द्यग्रपूजायामुक्तं भावपूजायामप्यवतरति; तच्च महाफलत्वान्मुख्यवृत्त्या स्वयं करोत्युदायननृपराज्ञी प्रभावती यथा । यन्निशीथचूर्णिः'' पभावईए-हाया कयबलिकम्मा कयकोउअमंगल्ला सुक्किल्लवासपरिहिआ० जाव अट्ठमी चउद्दसी सुअभत्तिरागेण य सयमेव राओ नहोवयारं करेइ, राया वितयाणुवित्तीए मरुयं वाएइ'' इति । पूजाकरणावसरे चार्हतश्छद्मस्थकेवलिस्थसिद्धस्थावस्थात्रयं भाव्ययेत् । यद्भाष्यम्–''ण्हवणच्चगेहि छउमत्थवत्थपडिहारगेहिँ केवलिअं । पलिअंकुच्चगेहि अ, जिणस्स भाविज्ज सिद्धत्तं ॥१॥'' स्नापकैः परिकरोपरिघटितगजारूढकरकलितकलशैरमरैरर्चकैश्च तत्रैव घटितमालाधारैः कृत्वा जिनस्य छद्मस्थावस्थां भावयेत् । छद्मस्थावस्था त्रिधाजन्मावस्था, १ राज्यावस्था २, श्रामण्यावस्था च ३ । तत्र स्नपनकारैर्जन्मावस्था १, मालाधारै राज्यावस्था २, श्रामण्यावस्था भगवतोऽपगतकेशशीर्षमुखदर्शना–

त्सुज्ञानैव, प्रातिहार्येषु परिकरोपरितनकलशोभयपार्श्वघटितैः पत्रैः कङ्केल्लिः १, मालाधारैः पुष्पवृष्टिः २, वीणावंशकरैः प्रतिमोभयपार्श्ववर्तिभिर्दिव्यो ध्वनिः ३, शेषाणि स्फुटान्येव । इति भावपूजा । अन्यरीत्याऽपि पूजात्रयं बृहद्भाष्याद्युक्तं यथा–

''पंचोवयारजुत्ता, पूआ अट्ठोवयारकलिआ य ।
रिद्धिविसेसेणं पुण, नेआ सव्वोवयारा वि ॥ १ ॥
तत्थ य पंचुवयारा, कुसुमऽक्खयगंधधूवदीवेहिं ।
कुसुमक्खयगंधपई–वधूवनेवेज्जफलजलेहिँ पुणो ॥ २ ॥
अट्ठविहकम्मदलणी, अट्ठुवयारा हवइ पूआ ।
सव्वोवयारपूया, ह्वणऽच्चणवत्थभूसणाईहिं ॥ ३ ॥
फलबलिदीवाईहिं, नट्टगिआरत्तिआहिं ति ॥''

शास्त्रान्तरे चानेकधाऽपि पूजाभेदा उक्ताः सन्ति ।

तद्यथा–

''सयमाणयणे पढमा, बीआ आणावणेण अन्नेहिं ।
तइआ मणसा संपा–मणेण वरपुप्फमाईणं'' ॥ १ ॥

इति कायवाङ्मनोयोगितया करणकारणानुमतिभेदतया च पूजात्रिकम् । तथा–''पूअं पि पुप्फामिसथुइपडिवत्तिभेअओ चउव्विहं पि जहासत्तीए कुज्जा'' । ललितविस्तारादौ तु पुष्पामिषस्तोत्रप्रतिपूजानां यथोत्तरं प्राधान्यमित्युक्तं, तत्राऽऽमिषमशनादिभोग्यवस्तुप्रतिपत्तिः, पुनरविकलाज्ञोपदेशपरिपालना इत्यागमोक्तं पूजाभेदचतुष्कम् ।

तथा–

''दुविहा जिणिंदपूआ, दव्वे भावे अ तत्थ दव्वम्मि ।
दव्वेहिं जिणपूआ, जिणआणापालणं भावे'' ॥ १ ॥

इति भेदद्वयेऽपि । तथा सप्तभेदा यथा–

''ह्वण विलेवण अंग–म्नि चक्खुजुअलं च वासपूआए ।
पुप्फारुहणं माला–रुहणं तह वन्नयारुहणं ॥ १ ॥
चुन्नारुहणं जिणपुं–गवाण आहरणारोहणं चेव ।
पुप्फगिहपुप्फपगरो, आरत्ती मंगलपईवो ॥ २ ॥
दीवो धूवुक्खेवो, नेवज्जं सुहफलाण ढोअणवं ।
गीअं नट्टं वज्जं, पुआभेआ इमे सतरा'' ॥ ३ ॥

एकविंशतिभेदास्त्वनुपदमेव वक्ष्यमाणा ज्ञेयाः । एते सर्वेऽप्यङ्गादिपूजात्रये सर्वव्यापकेऽन्तर्भवन्ति ।

अङ्गादिपूजात्रयफलं त्वेवमाहुः–

''विग्घोवसामगेगा, अब्भुदयसाहणी भवे बीआ ।
निव्वुइकरणी तइआ, फलया उ जहत्थनामेहिं ॥ १ ॥''

सात्विक्यादिभेदैरपि पूजात्रैविध्यमुक्तं यतो विचारामृतसंग्रहे–

''सात्विकी राजसी भक्ति–स्तामसीति त्रिधाऽथवा ।
जन्तोस्तत्त्वादभिप्राय–विशेषादर्हतो भवेत् ॥ १ ॥
अर्हत् सम्यग्गुणश्रेणि–परिज्ञानैकपूर्वकम् ।
अमुञ्चता मनोरङ्ग–मुपसर्गेऽपि भूयसि ॥ २ ॥
अर्हत्संबन्धिकार्यार्थं, सर्वस्वमपि दित्सुना ।
भव्याङ्गिना महोत्साहात्, क्रियते या निरन्तरम् ॥ ३ ॥
भक्तिः शक्त्यनुसारेण, निःस्पृहाशयवृत्तिना ।
सा सात्विकी भवेद्भक्ति–र्लोकद्वयफलावहा ॥ ४ ॥
यदैहिकफलप्राप्ति–हेतवे कृतनिश्चया ।
लोकरञ्जनवृत्त्यर्थं, राजसी भक्तिरुच्यते ॥ ५ ॥
द्विषदां यत्प्रतीकारकृते, या कृतमत्सरम् ।
दृढाशयं विधीयेत, सा भक्तिस्तामसी मता ॥ ६ ॥
रजस्तमोमयी भक्तिः सुप्रापा सर्वदेहिनाम् ।
दुर्लभा सात्विकी भक्तिः, शिवावधिसुखावहा'' ॥ ७ ॥

अत्र च प्रागुक्तमङ्गाग्रपूजाद्वयं चैत्यबिम्बकारण–यात्रादिश्च द्रव्यस्तवः । यदाह–

''जिणभवणबिंबठावण–जत्तापूआइ सुत्तओ विहिणा ।
दव्वत्थओ त्ति नेओ, भावत्थयकारणत्तेणं ॥ १ ॥
निच्चं चिअ संपुन्ना, जइ वि हु एसा न तीरए काउं ।
तह वि अणुचिट्ठिअव्वा, अक्खयदीवाइदाणेणं ॥ २ ॥
एगं पि उदगबिंदू, जह पक्खित्तं महासमुद्दम्मि ।
जायइ अक्खयमेअं, पूआ वि हु वीअरागसु ॥ ३ ॥
एएणं वीएणं, दुक्खाइ अपाविऊण भवगहणे ।
अचंतुदारभोए, भोत्तुं सिज्झंति सव्वजिआ ॥ ४ ॥
पूआए मणसंती, मणसंतीए अ उत्तमं झाणं ।
सुहझाणेण य मुक्खं, मुक्खे सुक्खं निराबाधं'' ॥ ५ ॥ इति ।

पूजादिविधिसंग्राहकं प्रसिद्धोमास्वातिवाचककृतं प्रकरणं चैवम्–

''स्नानं पूर्वाऽऽमुखीभूय, प्रतीच्यां दन्तधावनम् ।
उदीच्यां श्वेतवस्त्राणि, पूजा पूर्वोत्तरामुखी ॥ १ ॥
गृहे प्रविशतां वाम–भागे शल्यविवर्जिते ।
देवताऽवसरं कुर्यात्, सार्द्धहस्तोद्धर्वभूमिके ॥ २ ॥
नीचैर्भूमिस्थितं कुर्य्याद्, देवताऽवसरं यदि ।
नीचैर्नीचैस्ततो वंशः, संतत्याऽपि सदा भवेत् ॥ ३ ॥
पूजकः स्याद्यथा पूर्व–उत्तरस्याश्च संमुखः ।
दक्षिणस्या दिशो वर्ज्यं, विदिग्वर्जनमेव हि ॥ ४ ॥
पश्चिमाभिमुखं कुर्यात्, पूजां जैनेन्द्रमूर्तये ।
अन्यत्र संततिच्छेदो, दक्षिणस्यां न सन्ततिः ॥ ५ ॥
आग्नेय्यां तु यदा पूजा, धनहानिर्दिने दिने ।
वायव्यां संततिर्नैव, नैर्ऋत्यां च कुलक्षयः ॥ ६ ॥
ऐशान्यां कुर्वतां पूजां, संस्थितिर्नैव जायत ।
अंहि २ जानु २ करां ६ सेषु, मूर्द्धिन् ९ पूजा यथाक्रमम् ॥ ७ ॥
श्रीचन्दनं विना नैव, पूजा कार्या कदाचन ।
भाले कण्ठे हृदम्भोजो–दरे तिलक कारणम् ॥ ८ ॥
नवभिस्तिलकैः पूजा, करणीया निरन्तरम् ।
प्रभाते प्रथमं वास–पूजा कार्या विचक्षणैः ॥ ९ ॥
मध्याह्ने कुसुमैः पूजा, संध्यायां धूपदीपकृत् ।
वामांशे धूपदाहः स्या–दग्रतूरं त सन्मुखम् ॥ १० ॥
अर्हतो दक्षिणे भागे, दीपस्य विनिवेशनम् ।
ध्यानं तु दक्षिणे भागे, चैत्यानां वन्दनं तथा ॥ ११ ॥
हस्तात्प्रस्खलितं क्षितौ निपतितं लग्नं क्वचित्पादयो–र्यन्मूर्द्धन्योपगतं ध्रुवं कुवसनैर्नाभेरधो यद् भृशम् ।
स्पृष्टं दुष्टजनैर्घनैरभिहतं यद् दूषितं कीटकै–स्त्याज्यं तत्कुसुमं दलं फलमथोभक्तैर्जिनप्रीतये ॥ १२ ॥
नैकपुष्पं द्विधा कुर्याद्, न छिन्द्यात्कलिकामपि ।
चम्पकोत्पलभेदेन, भवेद्दोषो विशेषतः ॥ १३ ॥
गन्धधूपाक्षतैः स्रग्भिः, प्रदीपैर्बलिवारिभिः ।
प्रधानैश्च फलैः पूजा, विधेया श्रीजिनेशितुः ॥ १४ ॥
शान्तौ श्वेतं तथा पीतं, लाभे श्यामं पराजये ।

मङ्गलार्थे तथा रक्तं, पञ्चवर्णं च सिद्धये ॥ १५ ॥
पञ्चामृतं तथा शान्तौ, दीपः स्यात् सघृतैर्गुडैः ।
वह्नौ लवणनिक्षेपः, शान्त्यै तुष्ट्यै प्रशस्यते ॥ १६ ॥
खण्डिते संधिते छिन्ने, रक्ते रौद्रे च वाससि ।
दानपूजातपोहोम–संख्यादि निष्फलं भवेत् ॥ १७ ॥
पद्मासनसमासीनो, नासाऽग्रन्यस्तलोचनः ।
मौनी वस्त्रावृतस्थोऽयं, पूजां कुर्याज्जिनेशितुः ॥ १८ ॥
स्नात्रं विलेपनविभूषणपुष्पवास–
धूपप्रदीपफलतन्दुलपत्रपूगैः ॥
नैवेद्यवारिवसनैश्चमराऽऽतपत्र–
वादित्रगीतनटनस्तुतिकोशवृद्ध्या ॥ १९ ॥
इत्येकविंशतिविधा जिनराजपूजा,
ख्याता सुरासुरगणेन कृता सदैव ।
खण्डीकृता कुमतिभिः कलिकालयोगा–
द्यद्यत्प्रियं तदिह भाववशेन योज्यम् ॥ २० ॥''इति ।

एवमन्यदपि जिनबिम्बवैशिष्ट्यकरणचैत्यगृहप्रमार्जनसुधाधवलनजिनचरित्रादिविचित्रचित्ररचनसमग्रविशिष्टपूजोपकरणसामग्रीरचनपरिधापनिकाचन्द्रोदयतोरणप्रदानादिसर्वमङ्गादिपूजायामन्तर्भवति; सर्वत्र जिनभक्तेरेव प्राधान्यात् । गृहचैत्योपरि च धौतिकाद्यपि न मोच्यं, चैत्यवत्तत्रापि चतुरशीत्याशातनाया वर्जनीयत्वात् । अत एव देवसत्कपुष्पधूपदीपजलपात्रचन्द्रोदयादिना गृहकार्यं किञ्चिदपि न कार्यमेव, नापि स्वगृहचैत्यढौकितचोक्षपूगीफलनैवेद्यादिक्रियोत्थद्रव्यं व्यापार्यम् । चैत्यान्तरे तु स्फुटंतत्स्वरूपं सर्वेषां पुरतो विज्ञाप्यारोप्यम्, अन्यथाऽर्पणे च मुधा जनप्रशंसादिदोषप्रसङ्गः । गृहचैत्यनैवेद्याद्यप्यारामिकस्य मुख्यवृत्त्या मासदेयस्थाने न देयं, शक्त्यभावे च आदावेव नैवेद्यार्प्पणेन मासदेयोक्तौ तु न दोषः । इति पूजाविधिः । ध० २ अधि० ।

प्रस्तावितद्वारमेवोपदर्शयन्नाह–

सारा पुण थुइथोत्ता, गंभीरपयत्थविरइया जे उ ।
सब्भूयगुणुक्कित्तण–रूवा खलु ते जिणाणं तु ॥ २४ ॥

साराणि प्रधानानि, पुनःशब्दो विशेषद्योतनार्थः । तच्चैवम्–सारैः स्तुतिस्तोत्रैर्गुर्वी पूजा कर्त्तव्या; साराणि पुनस्तानि कानीत्युच्यते, यानि त्वित्येतस्येह दर्शनाद्यान्येव गम्भारैरतुच्छैः पदानां शब्दानामर्थैरभिधेयैर्विरचितानि दृब्धानि गम्भीरपदार्थविरचितानि । तद्यथा–''पडिवण्णचरिमतणुणो, अइसयलेसं पि जस्स दट्ठूणं । भवहुत्तमणा जायं–ति जोइणो तं जिणं नमह'' ॥ १ ॥ 'जे उ त्ति' व्याख्यातमेव । अतुच्छपदार्थयुक्तान्यपिकानिचिदसद्भूतगुणकीर्त्तनरूपाणि स्युः । यथा–

क्षेमाय मर्त्यजगतस्तल एव शङ्के,
शाकम्भरीनृप! गतं न भवद्यशोभिः ।
गायन्ति तानि यदि तत्र भुजङ्गयोषाः,
शेषः शिरांसि धुनुयान्न मही स्थिरा स्यात्'' ॥ १ ॥

इत्येतद्व्यवच्छेदायाऽऽह– सद्भूतगुणोत्कीर्त्तनरूपाणि विद्यमानगुणग्रहणस्वभावान्येव, खलुरवधारणे, तानि स्तुतिस्तोत्राणि, जिनानां तु आप्तानामेव । तद्यथा–''आणा जस्स विलइया, सीसे सव्वेहि हरिहरेहिं पि । सो वि तुह झाणजलणे, मयणो मयणं व पविलीणो'' ॥ १ ॥ इति गाथार्थः ॥ २४ ॥

अथ कथं स्तुत्यादिप्रधानपूजाया गुर्वीत्वमित्यत्रोच्यते,
स्तुत्यादीनां कुशलपरिणामहेतुत्वादेतदेवाऽऽह–

तेसिं अत्थाहिगमे, णियमेणं होइ कुसलपरिणामो ।
सुंदरभावा तेसिं, इयरम्मि वि रयणणाएण ॥ २५ ॥

तेषां साराणां स्तुत्यादीनामर्थाभिगमेऽभिधेयाऽवगमे सति, नियमेनावश्यंभावेन, भवति जायते, कुशलपरिणामः शुभाध्यवसायः, अर्थाधिगमस्य प्रायः कुशलपरिणामकारकत्वादिति भव्यस्तोतृणामिति गम्यते । एवं तर्ह्यर्थाधिगमवतामेव स्तुत्यादिभिर्गुर्वी पूजा स्यान्नान्येषामित्यत्रोच्यते– सुन्दरभावात् शुभभावत्वात्, तेषां स्तुत्यादीनाम्, इतरस्मिन्नपि तदर्थानवगमेऽपि, आस्तां तदर्थाधिगमे, कुशलः परिणामो भवतीति प्रकृतम् । अथ कथमिदमवसीयते इत्याह–रत्नज्ञातेन माणिक्योदाहरणेन, यथा रत्नमज्ञातगुणमपि सुन्दरस्वभावतया गुणकरमेवमेतान्यपीति गाथार्थः ॥ २५ ॥

अधिकृतमेव ज्ञातं ज्ञापनीये योजयन्नाह–

जरसमणाई रयणा, अण्णायगुणा वि ते समिंति जहा ।
कम्मजराई थुइमा–इया वि तह भावरयणाओ ॥ २६ ॥

ज्वरशमनादीनि ज्वरापहारप्रभृतीनि, आदिशब्दाच्छूलप्रमादिग्रहः, रत्नानि माणिक्यानि, अज्ञातगुणान्यपि रोगिभिरविदितज्वरादिशमनसामर्थ्यान्यपि, न केवलं ज्ञातगुणान्येव तान् ज्वरादिरोगान् शमयन्ति नाशयन्ति, यथा येन प्रकारेण, सुन्दररूपतालक्षणेन, कर्मज्वरादीन् कर्मलक्षणज्वरादिरोगान् स्तुत्यादीन्यपि स्तुतिस्तोत्राण्यपि, न केवलं रत्नान्येव, (तह इति) अत्रोत्तरस्यावधारणार्थस्य तुशब्दस्य संबन्धात्, तथैव तेनैव प्रकारेण, किंभूतानि स्तुत्यादीनि? भावरत्नानि पारमार्थिकमाणिक्यानि, शमयन्तीति प्रकृतमिति गाथार्थः ॥ २६ ॥

सारस्तुतिस्तोत्रद्वारनिगमनम् तथा यदुक्तम्–''सारथुइथोत्तसहिया, उ तह य चिइवंदणाउं ति'' । पञ्चा० ४ विव० ।

पूजा अविच्छेदतोऽस्य कर्तव्येत्युक्तं सैव स्वरूपतोऽभिधीयते कारिकाद्वयेन–

स्नानविलेपनसुसुगन्धिपुष्पधूपादिभिः शुभैः कान्तम् ।
विभवानुसारतो यत्, काले नियतं विधानेन ॥ १ ॥
अनुपकृतपरहितरतः, शिवदस्त्रिदशेशपूजितो भगवान् ।
पूज्यो हितकामाना–मिति भक्त्या पूजनं पूजा ॥ २ ॥

स्नानं गन्धद्रव्यसंयोजितं, स्नात्रं वा, विलेपन चन्दनकुङ्कुमादिभिः, सुष्ठु सुगन्धिपुष्पाणि जात्यादिकुसुमानि । तथा सुगन्धिधूपो गन्धयुक्तिप्रतीतः, तदादिभिरपरैरपि शुभैर्गन्धद्रव्यविशेषैः, कान्तं मनोहारि, विभवानुसारतो विभवानुसारेण, यत् पूजनमिति संबन्धः । काले त्रिसंध्यं स्ववृत्त्यविरुद्धे वा, नियंत सदा, विधानेन शास्त्रोक्तेन ॥ १ ॥ उपकृतमुपकारो, न विद्यते उपकृतं येषां ते इमेऽनुपकृताः, अकृतोपकारा इत्यर्थः । ते च ते परे च तेभ्यो हितं तस्मिन् रतोऽभिरतः, प्रवृत्तोऽनुपकृतपरहितरतो निष्कारणवत्सलः, शिवं ददातीति शिवदस्त्रिदशानामीशास्तैः पूजितो, भगवान् समग्रैश्वर्यादिसंपन्नः, पूज्यः पूजनीयो, हितकामानां हिताभिलाषिणां, सत्त्वानामित्येवंविधेन कुशलपरिणामेन, भक्त्या विनयसेवया, पूजनं पूजोच्यते ॥ २ ॥

तामेव भेदेनाऽऽह—

पञ्चोपचारयुक्ता, का चिच्चाष्टोपचारयुक्ता स्यात्।
ऋद्धिविशेषादन्या, प्रोक्ता सर्वोपचारेति ॥३॥

पञ्चोपचारयुक्ता पञ्चाङ्गप्रणिपातरूपा, का चिच्चाष्टोपचारयुक्ता स्यात् अष्टाङ्गप्रणिपातरूपा, ऋद्धिविशेषादन्या ऋद्धिविशेषो दशार्णभद्रादिगतः, तस्मादपरा प्रोक्ता, सर्वोपचारेति सर्वैः। प्रकारैरन्तःपुरहस्त्यश्वरथादिभिरुपचारो विनयो यस्यां सा सर्वोपचारा। तत्राद्या—"दो जाणू दोण्णि करा, पंचमयं होइ उत्तमंगं तु"। एवमेभिः पञ्चभिरुपचारयुक्ता, अथवा—आगमोक्तैः पञ्चभिर्विनयस्थानैर्युक्ता। तद्यथा—"सच्चित्ताणं दव्वाणं विउसरणयाए, अच्चित्ताणं दव्वाणं अविउसरणयाए एगसाडिएणं उत्तरासंगेणं चक्खुफासे अंजलिपग्गहेणं मणसा एगत्तीभावकरणेणं" ॥ द्वितीया त्वष्टभिरङ्गैः शरीरावयवैरुपचारो यस्याम्। तानि चामून्यङ्गानि—"सीसमुरोयरपिट्ठी, दो बाहू ऊरुया य अट्ठंगा।" तृतीया तु देवेन्द्रन्यायेन, यथोक्तमागमे—"सव्वबलेणं सव्वसमुदएणं सव्वविभूईए सव्वविभूसाए सव्वायरेण" इत्यादि ॥ ३ ॥

इयं च यादृशेन वित्तेन कार्या पुरुषेण च तदाह—

न्यायार्जितेन परिशो—धितेन वित्तेन निरवशेषेयम्।
कर्त्तव्या बुद्धिमता, प्रयुक्तसत्सिद्धियोगेन ॥४॥

न्यायर्जितेन न्यायोपात्तेन, परिशोधितेन भावविशेषात्, वित्तेन द्रव्येण, निरवशेषा सकलेयं पूजा, कर्तव्या करणीया, बुद्धिमता प्रज्ञावता, प्रयुक्तसत्सिद्धियोगेन प्रयुक्तः वर्तितः सत्सिद्धियोगः सत्साधनव्यापारो येन स तथा ॥ ४ ॥

कीदृक्प्रयत्नेन पुनः पुंसा करणीयेयमित्याह—

शुचिनाऽऽत्मसंयमपरं, सितशुभवस्त्रेण वचनसारेण।
आशंसारहितेन च, तथा तथा भाववृद्ध्योचैः ॥ ५ ॥

शुचिना द्रव्यतः स्नानेन देशसर्वस्नानाभ्यां, देशस्नानं हस्तपादमुखप्रक्षालनं, सर्वस्नानं शिरसा स्नातत्वे सत्यागमप्रसिद्ध्या भावतः शुचिना भावस्नानेन, विशुद्धाध्यवसायेनेत्यर्थः। आत्मसंयमपरम्—आत्मनः शरीरस्य संयमः संवृताङ्गोपाङ्गेन्द्रियत्वं तत्परं तत्प्रधानं यथा भवत्येवं पूजा कर्त्तव्या। सितशुभवस्त्रेण सितवस्त्रेण शुभवस्त्रेण च, शुभमिह सितादन्यदपि पट्टयुग्मादि रक्तपीतादिवर्णं परिगृह्यते, वचनसारेणाऽऽगमप्रधानेन, आशंसारहितेन च—इहपरलोकाद्याशंसाविकलेन च, तथा तथा भाववृद्ध्योचैर्येन येन प्रकारेण पुष्पवस्त्रादिविरचनागतेन भाववृद्धिः संपद्यते तेन तेन प्रकारेणेत्यर्थः ॥ ५ ॥

प्रतिष्ठाऽनन्तरं पूजा प्रस्तुता, सा च पुष्पामिषस्तोत्रादिभेदेन बहुधा, तत्र पुष्पादिपूजामभिधाय स्तोत्रपूजां कारिकाद्वयेनाऽऽह—

पिण्डक्रियागुणगतै—र्गम्भीरैर्विविधवर्णसंयुक्तैः।
आशयविशुद्धिजनकैः, संवेगपरायणैः पुण्यैः ॥ ६ ॥
पापनिवेदनगर्भैः, प्रणिधानपुरस्सरैर्विचित्रार्थैः।
अस्खलितादिगुणयुतैः, स्तोत्रैश्च महामतिग्रथितैः ॥ ७ ॥

पिण्डं शरीरमष्टोत्तरलक्षणसहस्त्रलक्षितं, क्रिया समाचारश्चरितं, तच्च सर्वातिशायि दुर्वारपरीषहोपसर्गसमुत्थभयविजयित्वेन, गुणाः श्रद्धाज्ञानविरतिपरिणामादयो जीवस्य सहवर्त्तिनोऽविनाभूताः सामान्येन, केवलज्ञानदर्शनादयस्तु विशेषेण, तद्गतैस्तद्विषयैस्तत्प्रतिबद्धैः गम्भीरैः सूक्ष्ममतिविषयभावाभिधायिभिरन्तर्भावप्रवर्तितैश्च, विविधवर्णसंयुक्तैः विचित्राक्षरसंयोगैश्छन्दोलङ्कारवशेन, आशयविशुद्धिजनकैर्भावविशुद्ध्याऽऽपादकैः, संवेगपरायणैः—संवेगः संसारभयं, मोक्षाभिलाषो वा, परमयनं गमनं येषु तानि परायणानि, संवेगे परायणानि संवेगपरायणानि, तैः पुण्यहेतुत्वात् पुण्यानि, तैः ॥ ६ ॥ पापानां रागद्वेषमोहकृतानां, स्वयंकृतत्वेन निवेदनं परिकथनं, तद्गर्भो हृदयान्तर्गतभावो येषां तानि तैः पापनिवेदनगर्भैः, प्रणिधानमैकाग्र्यं, तत्पुरःसरैः, उपयोगप्रधानैरिति यावत्। विचित्रार्थैर्बहुविधार्थैः, अस्खलितादिगुणयुतैरस्खलितमिलितमव्यत्याम्रेमितमित्यादिगुणयुक्तैरभिव्याहारमाश्रित्य स्तोत्रैश्च स्तुतिविशेषैश्च, महामतिग्रथितैः महाबुद्धिपुरुषविरचितकन्दर्भैः, इयं पूजा कर्तव्येति पश्चात्संबन्धनीयम् ॥ ६–७ ॥

कथं पुनः स्तोत्रेभ्यः पूजा भवतीत्याह—

शुभभावार्थं पूजा, स्तोत्रेभ्यः स च परः शुभो भवति।
सद्भूतगुणोत्कीर्त्तन—संवेगात् समरसाऽऽपत्त्या ॥ ८ ॥

(शुभेत्यादि) शुभभावार्थं पूजा शुभभावनिमित्तं पूजा, सर्वाऽपि पुष्पादिभिः स्तोत्रेभ्यः स्तुतिभ्यः, स च भावः, परः प्रकृष्टः, शुभो भवति शुभहेतुर्जायते, एवं च पुष्पवस्त्रादीनामिव स्तोत्राणामपि प्राक्तनाध्यवसायापेक्षया शुभतरपरिणामनिबन्धनत्वे पूजाहेतुत्वं सिद्ध्यति। कथं पुनः स्तोत्रेभ्यः शुभो भाव इत्याह—सद्भूतगुणोत्कीर्त्तनसंवेगात्, सद्भूतानां विद्यमानानां तथ्यानां च गुणानां ज्ञानादीनां यत्कीर्त्तनं तेन संवेगो मुक्त्यभिलाषस्तस्मात्, समरसापत्त्या समभावे रसोऽभिलाषो यस्यां सा समरसा, सा चासावापत्तिश्च प्राप्तिरधिमतिरधिगम इत्यनर्थान्तरम्। तया हेतुभूतया समरसापत्त्या परमात्मस्वरूपगुणज्ञानोपयोगरूपया, परमार्थतस्तद्भवनेन तदुपयोगानन्यवृत्तितया स्तोत्रेभ्य एव शुभो भावो भवतीति तात्पर्यम् ॥८॥

अधुना अन्यथा पूजाया एव भेदत्रयमाह—

कायदियोगसारा, त्रिविधा तच्छुद्ध्युपात्तवित्तेन।
या तदतिचाररहिता, सा परमाऽन्ये तु समयविदः ॥ ९ ॥

(कायेत्यादि) कायादयो योगाः कायादीनां वा, तत्सारा तत्प्रधाना, त्रिविधा त्रिप्रकारा पूजाकाययोगसारा, वाग्योगसारा, मनोयोगसारा च, तच्छुद्ध्युपात्तवित्तेन तेषां कायादियोगानां शुद्धिः कायादिदोषपरिहारः, तयोपात्तं यद्वित्तं तेन करणभूतेन, या तदतिचाररहिता शुद्ध्यतिचारविकला, सा परमा प्रधाना पूजा, अन्ये तु समयविदः अपरे त्वाचार्या इत्थमभिदधति ॥ ९ ॥

कायादियोगसारा त्रिविधा पूजेत्युक्तं तदेव त्रैविध्यमाह—

विघ्नोपशमन्याद्या, गीताऽभ्युदयप्रसाधिनी चान्या।
निर्वाणसाधसनीति च, फलदा तु यथार्थसंज्ञाभिः ॥ १० ॥

(विघ्नेत्यादि) विघ्नानुपशमयतीति विघ्नोपशमनी, आद्या का—

ययोगसारा, गीता कथिता, अभ्युदयं प्रसाधयतीत्यभ्युदयप्रसाधनी चान्याऽपरा वाग्योगप्रधाना, निर्वाणं साधयतीति निर्वाणसाधनीति च मनोयोगसारा, स्वतन्त्रा वा त्रिविधा, फलदा तु फलदैवैकैका यथार्थसंज्ञाभिरन्वर्थाभिधानैः ॥ १० ॥

तिसृष्वपि यद् भवति तदाह–

प्रवरं पुष्पादि सदा, चाद्यायां सेवते तु तद्दाता।
आनयति चान्यतोऽपि हि, नियमादेव द्वितीयायाम् ॥ ११ ॥
त्रैलोक्यसुन्दरं यद्, मनसाऽऽपादयति तत्तु चरमायाम्।
अखिलगुणाधिकसद्यो–गसारसद्ब्रह्मयागपरः ॥ १२ ॥

प्रवरं प्रधानं, पुष्पादिपुष्पगन्धमाल्यादि, सदा च सर्वदैव आद्यायां प्रथमायां, सेवते तु सेवते एव ददात्येव, तद्दाता तस्याः पूजायाः कर्त्ता दाता, आनयति च वचनेनाऽन्यतोऽपि हि क्षेत्रान्तरात् प्रस्तुतं पुष्पादि, नियमादेव नियमेनैव, द्वितीयायां पूजायाम् ॥ ११ ॥ त्रैलोक्यसुन्दरं त्रिषु लोकेषु प्रधानं, यत् पारिजातकुसुमादि नन्दनादिवनगतं, मनसाऽन्तःकरणेन, आपादयति संपादयति, तत्तु तदेव, चरमायां निर्वाणसाधन्यां, तद्दातेत्यत्राप्यभिसंबध्यते । अयमेव विशिष्यते–अखिलैर्गुणैरधिकं सद्योगानां सद्धर्म्मव्यापाराणां सारं फलकल्पमजरामरत्वेन धर्मस्य सारोऽमरत्वमिति तत्त्वम् । सद्योगसारं यत् सद् ब्रह्म परमात्मस्वरूपं, तस्य यागो यजनं, पूजनं तत् तत्परस्तत्प्रधानः प्रस्तुतस्तद्दाताऽखिलगुणाधिकसद्योगसारसद्ब्रह्मयागपर उच्यते ॥ १२ ॥ षोः६ विव० ।

अक्षतादिपूजास्तत्र दृष्टान्ताश्च । जिनप्रतिमापूजाविधिमाह–

कुसुमऽक्खयधूवेहिं, दीवयवासेहिँ सुंदरफलेहिं।
पूया धयसलिलेहिं, अट्ठविहा तस्स कायव्वा ॥ २४ ॥

कुसुमाक्षतधूपैः पुष्पशाल्याद्यखण्डतन्दुलकृष्णागुरुसारधूपैः, दीपः प्रदीपो, गन्धाः सुगन्धिसारद्रव्यनिष्पन्नानेकभेदभिन्नास्तैः, सुन्दरफलैः–पवित्रसुगन्धिमनोहरातिवर्णाढ्यनारङ्गामलीजपूरकादिभिः, पूजा सपर्या, घृतं सर्पिः, उपलक्षणं चैतत्–सम–ष्टनैवेद्यपक्वान्नादेः । सलिलं जलं, ताभ्याम्, अष्टविधाऽष्टभेदा । उपलक्षणं चैतत्–काञ्चनरत्नप्रादेः । तस्य मिश्रामिश्रादिभेदभिन्नजिनभवनमध्यगतभावार्हद्गुणगणाध्यारोपणसहार्हद्बिम्बस्य कर्त्तव्या कार्या भवतीति गाथार्थः ॥ २४ ॥

अथैतस्या एवाष्टविधपूजायाः फलोपदर्शनप्रतिबद्धानि ग्रन्थान्तरोपरिचितानि भविकजनात्यन्तादरातिशयोत्पादनार्थं सन्ति कथानकानि । दर्श० । (तानि च ग्रन्थगौरवभयादत्र न प्रदर्शयामः । तद्दिदृक्षुणा दर्शनशुद्धिग्रन्थो निरीक्ष्यः)

''गन्धैर्माल्यैर्विनिर्यद्बहुलपरिमलैरक्षतैर्धूपदीपैः,
सान्नाद्यैः प्राज्यभेदैश्चरुभिरुपहितैः पाकपूतैः फलैश्च ।
अम्भःसंपूर्णपात्रैरिति हि जिनपतेरर्चनामष्टभेदां,
कुर्वाणा वेश्मभाजः परमपदसुखस्तोममाराल्लभन्ते'' ॥ १ ॥

न च जिनबिम्बानां पूजादिकरणे न काचित्फलप्राप्तिरिति वाच्यम्, चिन्तामण्यादिभ्य इव तेभ्योऽपि फलप्राप्त्यविरोधात् ।

यदुक्तं वीतरागस्तोत्रे श्रीहेमसूरिभिः–

''अप्रसन्नात्कथं प्राप्यं फलमेतदसङ्गतम् ।
चिन्तामण्यादयः किं न, फलन्त्यपि विचेतनाः''? ।१। ध० २ अ धि० ।

(स्नात्रविधिः) राजादिना कार्य्या विधिना जिनपूजा ततो विधिना जिनगृहे त्रिविधप्रतिमाऽपेक्षया भक्तिचैत्यरूपे, पञ्चविधचैत्यापेक्षया तु निश्राकृतेऽनिश्राकृते वा गत्वा विधिना जिनस्य भगवतः पूजनं पुष्पादिभिरभ्यर्चनं, वन्दनं स्तुतिर्गुणोत्कीर्त्तनमित्यर्थः । तच्च जघन्यतो नमस्कारमात्रमुत्कर्षतश्चैर्यापथिकीप्रतिक्रमणपूर्वकशक्रस्तवादिभिर्दण्डकैरिति । अत्र विधिना जिनगृहे गमनमुक्तम् । तद्विधिश्च यदि राजा महर्द्धिकस्तदा–''सव्वाए इड्ढीए सव्वाए जुईए सव्वबलेणं सव्वपोरिसेणं ''इत्यादिवचनात् प्रभावनानिमित्तं महर्द्धया देवगृहे याति । अथ सामान्यविभवस्तदौद्धत्यपरिहारेण यथाऽनुरूपाऽम्बरं बिभ्रन् मित्रपुत्रादिपरिवृतो याति; तत्र गतश्चपुष्पताम्बूलादिसचित्तद्रव्याणां परिहारेण १, किरीटवर्जशेषाऽऽभरणाद्यचित्तद्रव्याणामपरिहारेण २, कृतैकपृथुलवस्त्रोत्तरासङ्गः; एतच्च पुरुषं प्रति द्रष्टव्यम्; स्त्री तु सविशेषप्रावृताङ्गी विनयावनततनुलतेति ३, दृष्टे जिनेन्द्रे अञ्जलिबन्धं शिरस्यारोपयन्–''नमो जिणाणं'' इति भणनप्रणमने ४ । अयमपि सङ्गाचारवृत्तौ स्त्रीणां निषिद्धः । तथा च तत्पाठः–''एकशाटकोत्तरासङ्गकरणं जिनेन्द्रदर्शने शिरस्यञ्जलिबन्धश्चेति द्वौ पुरुषमाश्रित्योक्तौ; स्त्रीतु सविशेषप्रावृताङ्गी विनयावनततनुलतेति'' ॥ तथा चागमः–''विणओणयाए गायलट्ठीए'' त्ति । तावता शक्रस्तवपाठादावप्यासां शिरस्यञ्जलिन्यासो न युज्यते, तथाकरणेऽङ्गादिदर्शनप्रसक्तेः । यत्तु–''करयल० जाव कट्टु एवं वयासी'' इत्युक्तं द्रौपदीप्रस्तावे, तद्भक्त्यर्थं न्युञ्छनादिवदञ्जलिभ्रमणसूचनपरं, न तु पुरुषैः सर्वसाम्यार्थं, न च तथा स्थितस्यैव सूत्रोच्चारख्यापनपरं वा, अन्यदपि नृपविज्ञपनादावप्यादौ तथा भणनात्, इत्याद्युक्तप्रायं परिभाव्यमत्रागमाविरोधेनेति; मनसश्चैकाग्र्यं कुर्वन्निति पञ्चविधाभिगमेन नैषेधिकीपूर्वं प्रविशति । यदाह–''सचित्ताणं दव्वाणं विउसरणयाए १, अचित्ताणं दव्वाणं अविउसरणयाए २, एगल्लसाडएणं उत्तरासंगेणं ३, चक्खुप्फासे अंजलिपगाहेणं ४, मणसो एगत्तीकरणेणं ति''५ । राजादिस्तु चैत्यं प्रविशँस्तत्कालं राजचिह्नानि त्यजति । यतः–''अवहट्टु रायककुआ–इँ पंचवररायककुआइं । खग्गं छत्तोवाणह, मउडं तह चामराओ अ ॥ १ ॥'' अग्रद्वारे प्रवेशे मनोवाक्कायैर्गृहव्यापारो निषिध्यते इति ज्ञापनार्थं नैषेधिकीत्रयं क्रियते, परमेकैवैषा गण्यते, गृहादिव्यापारस्यैकस्यैव निषिद्धत्वात्; कृतायां च नैषेधिक्यां सावद्यव्यापारवर्जनमेव न्याय्यम्; अन्यथा तद्वैयर्थ्यापत्तेः । यतो दिनकृत्ये–''मिहो कहाओ सव्वाओ, जो वज्जेइ जिणालए । तस्स निसीहिआ होइ, इइ केवलिभासिअं'' ॥ १ ॥ इति । ततो मूलबिम्बस्य प्रणामं कृत्वा सर्वं हि प्रायेणोत्कृष्टं वस्तु श्रेयस्कामैर्दक्षिणभाग एव विधेयमित्यात्मनो दक्षिणाङ्गभागे मूलबिम्बं कुर्वन् ज्ञानादित्रयाराधनार्थं प्रदक्षिणात्रयं करोति ।

उक्तं च–

''तत्तो नमो जिणाएं, ति भणिअ अद्धोणयं पणामं च ।
काउं पंचंगं वा, भत्तिभरनिब्भरमणेणं ॥ १ ॥
पूअंगपाणिपरिवा–रपरिगओ गहिरमहुरघोसेणं ।
पढमाणो जिणगुणगण–निबद्धमंगल्लथुत्तीइं ॥ २ ॥
करधरिअजोगमुद्दो, पयपाणिरक्खणाउत्तो ।
दिज्जा पयाहिणतिगं, एगग्गमणो जिणगुणेसु ॥ ३ ॥''

गिहचेइएसु न घडइ, इअरेसु वि जइ वि कारणवसेणं।
तह वि न मुयइ मइमं, सया वि तक्करणपरिणामं ॥ ४ ॥''

प्रदक्षिणादाने च समवसरणस्थचतूरूपं श्रीजिनं ध्यायन् गर्भागारदक्षिण-पृष्ठवामदिक्त्रयस्थबिम्बत्रयं वन्दते; अत एव सर्वस्यापि चैत्यस्य समवसृतिस्थानीयतया गर्भगृहबहिर्भागदिक्त्रये मूल बिम्बनाम्ना बिम्बानि कुर्वन्ति। एवं च—''वर्जयेदर्हतः पृष्ठम्'' इत्युक्तोऽर्हत्पृष्ठनिवास-दोषोऽपि चतुर्दिक्षु निवर्त्तते, ततश्चैत्यप्रमार्जनपोतकलेख्यकादिवक्ष्य-माणयथोचितचिन्तापूर्वं विहितसकलपूजासामग्रीको जिनगृहव्यापार-निषेधरूपां द्वितीयां नैषेधिकीं मुखमण्डपादौ कृत्वा मूलबिम्बस्य प्रणामत्रयपूर्वकं पूर्वोक्तविधिना पूजां कुरुते।

यद्भाष्यम्—

''तत्तो निसीहिआए, पविसित्ता मंडवम्मि जिणपुरओ।
महिनिहिअजाणुपाणी, करेइ विहिणा पणामतिगं ॥ १ ॥
तयणु हरिसुल्लसंतो, कयमुहकोसो जिणिंदपडिमाणं।
अवणेइ रयणिवसिअं; निम्मल्लं लोमहत्थेणं ॥ २ ॥
जिणगिहपमज्जणंतो, करेइ कीरेइ वा वि अन्नेणं।
जिणबिंबाण पुअंतो, विहिणा कुणई जहाजोगं'' ॥ ३ ॥

अत्र च विशेषतः शुद्धगन्धोदकप्रक्षालनकुङ्कुममिश्रगोशीर्षचन्दनविले-पनाङ्गीरचनगोरोचनमृगमदादिपत्रभङ्गकरणनानाजातीयपुष्पमाला-रोपणचीनांशुकवस्त्रपरिधापनकृष्णागुरुमिश्रकर्पूरदहनानेकदीपोद्योतन-स्वच्छाखण्डाक्षतास्टमङ्गलालेखनविचित्रपुष्पगृहरचनादि ध्येयं; यदि च प्राक् केनाऽपि पूजा कृता स्यात्तदा विशिष्टान्यपूजासामग्र्यभावे तां नोत्सारयेत्; भव्यानां तद्दर्शनजन्यपुण्यानुबन्धिपुण्यबन्धस्यान्तराय-प्रसङ्गात्, किं तु तामेव विशेषयेत्।

यद् बृहद्भाष्यम्—

''अह पुव्वं चिअ केणइ, हविज्ज पूआ कया सुविहवेण।
तं पि सविसेससोहं, जह होइ तहा तहा कुज्जा ॥ १ ॥
निम्मल्लं पि न एवं, भन्नइ निम्मल्ललक्खणाभावा।
भोगविणट्ठं दव्वं, निम्मलं बिंति गीअत्था ॥ २ ॥
इत्तो चेव जिणाणं, पुणरवि आरोवणं कुणंति जहा।
वत्थाहरणाईणं, जुगलिअकुंडलिअमाईणं ॥ ३ ॥
कहमन्नह एगाए, कालाईए जिणिंदपडिमाणं।
अट्ठसयं लूहंता, विजयाई वण्णिआ समए'' ॥ ४ ॥

एवं मूलबिम्बस्य विस्तरपूजानन्तरं सृष्ट्वा सर्वापरबिम्बपूजा यथायोगं कार्या, द्वारबिम्बसमवसरणबिम्बपूजाऽपि मुख्यबिम्बापूजाद्यनन्तरं गर्भगृहनिर्गमसमये कर्त्तव्या संभाव्यते, न तु प्रवेशे, प्रणाममात्रं त्वासन्ना-र्चादीनां पूर्वमपि, एवमेव तृतीयोपाङ्गादिसंवादिन्यां सङ्घाचारोक्तविजय-देववक्तव्यतायामित्थमेव प्रतिपादनात्।

तथाहि—

''तो गंतु सुहम्मसहं, जिणस्स कयदंसणम्मि पणमित्ता।
उग्घाडित्तु समुग्गं, पमज्जए लोमहत्थेणं ॥ १ ॥
सुरहिजलेणिगवीसं, वारा पक्खालिआऽणुलिंपित्ता।
गोसीसचंदणेणं, ता कुसुमाईहिँ अच्चेइ ॥ २ ॥
तो दारपडिमपूअं, सहासुहम्माइसु वि करइ पुव्वं।
दारच्चणाइ सेसं, तइअउवंगाउ नायव्वं'' ॥ ३ ॥

तस्मान्मूलनायकस्य पूजा सर्वेभ्योऽपि पूर्वं सविशेषा हि कार्या।

उक्तमपि—

''उचिअत्तं पूआए, विसेसकरणं तु मूलबिंबस्स।
जं पडइ तत्थ पढमं, जणस्स दिट्ठी सह मणेण ॥ १ ॥''

शिष्यः—

''पूआवंदणमाई, काऊणेगस्स सेसकरणम्मि।
नायगसेवगभावो, होइ कओ लोगनाहाणं ॥ २ ॥
एगस्सायरसारा, कीरइ पूआऽवरेसिँ थोवयरी।
एसा वि महावन्ना, लक्खिज्जइ निउणबुद्धीहिं ॥ ३ ॥''

आचार्यः—

नायगसेवगबुद्धी, न होइ एएसु जाणगजणस्स।
पिच्छंतस्स समाणं, परिवारं पाडिहोराई ॥ ४ ॥
ववहारो पुण पढमं, पइट्ठिओ मूलनायगो एसो।
अवणिज्जइ सेसाणं, नायगभावो न उ णतेणं ॥ ५ ॥
वंदणपूआबलिढो—अणेसु एगस्स कीरमाणेसु।
आसायणा न दिट्ठा, उचिअपवित्तस्स पुरिसस्स ॥ ६ ॥
जह मिम्मपडिमाणं, पूआ पुप्फाइएहिँ खलु उचिआ।
कणगाइनिम्मिआणं, उचिअतमा मज्जणाई वि ॥ ७ ॥
कल्लाणगाइ कज्जा, एगस्स विसेसपूअकरणा वि।
नावन्नापरिणामो, जल धम्मिजणस्स सेसेसु ॥ ८ ॥
उचिअपवित्त एवं, जहा कुणंतस्स होइ नावन्ना।
तह मूलबिंबपूआ, विसेसकरणे वि तं नऽत्थि ॥ ९ ॥
जिणभवणबिंबपूआ, कीरंति जिणाण नो कए किं तु।
सुहभावणानिमित्तं, बुहाण इयराण बोहत्थं ॥ १० ॥
चेईहरेण केई, पसंतरूवेण केइ बिंबेणं।
पूआएँ सया अन्ने, अन्ने बुज्झंति उवएसा ॥ ११ ॥''

इति पूर्वं मूलबिम्बपूजा युक्तिमेत्येवेत्यलं प्रसङ्गेन। सविस्तरपूजाऽवसरे च नित्यं विशेषतश्च पर्वसु त्रिपञ्चसप्तकुसुमाञ्जलिप्रक्षेपादि पूर्वं भगवतः स्नात्रं विधेयम्।

तत्रायं विधिः योगशास्त्रवृत्तिश्राद्धविधिवृत्तिलिखितः—

प्रातः पूर्वं निर्माल्योत्सारणं प्रक्षालनं संक्षेपपूजा आरात्रिकं मङ्गल-प्रदीपश्च, ततः स्नात्रादिसविस्तरद्वितीयपूजाप्रारम्भे देवस्य पुरःसकुङ्-कुमजलकलशः स्थाप्यः।

ततः—

''मुक्ताऽलङ्कारसारं सौम्यत्वकान्तिकमनीयम्।
सहजनिजरूपनिर्जित—जगत्त्रयं पातु जिनबिम्बम्'' ॥ १ ॥

इत्युक्त्वाऽलङ्कारोत्तारणम्।

''अवणिअकुसुमाहरणं, पयइट्ठिअमणोहरच्छायं।
जिणरूवं मज्जणपी—ठसंठिअं वो सिवं दिसउ'' ॥ २ ॥

इत्युक्त्वा निर्माल्योत्तारणम्। ततः प्रागुक्तकलशढालनं, पूजा च। अथ धौतधूपितकलशेषु स्नात्रार्हसुगन्धिजलक्षेपः, श्रेण्या तेषां व्यवस्थापनं, सद्वस्त्रेणाच्छादनं च, ततः स्वचन्दनधूपादिना कृततिलकहस्तक-ङ्कणहस्तधूपनादिकृत्याः श्रेणिस्थाः श्रावकाः कुसुमाञ्जलिहस्ताः पाठान् पठन्ति।

तत्र—

''सयवत्तकुन्दमालइ—बहुविहकुसुमाइँ पंचवन्नाइं।
जिणनाहण्हवणकाले, दिंति सुरा कुसुमंजलीहत्था ॥ ३ ॥''

इत्युक्त्वा देवस्य मस्तकेषु पुष्पारोपणम्।

''गंधाइड्ढिअमहुअर–मणहरझंकारसद्दसंगीआ।
जिणचलणोवरि मुक्का, हरउ तुह कुसुमंजली दुरिअं'' ॥ १ ॥

इत्यादिपाठैः प्रतिगाथादिपाठं जिनचरणोपरि श्रावकेण कुसुमाञ्जलिपुष्पाणि क्षेप्याणि, सर्वेषु कुसुमाञ्जलिपाठेषु तिलकपुष्पपत्रधूपादिविस्तरो ज्ञेयः। अथोदारमधुरस्वरेणाधिकृतजिनजन्माभिषेककलशपाठः, ततो घृतेक्षुरसदुग्धदधिसुगन्धिजलपञ्चामृतैः स्नात्राणि, स्नात्रान्तरालेषु च धूपो देयः, स्नात्रकालेऽपि जिनशिरः पुष्पैरशून्यं कार्यम्।

यदाहुर्वादिवेतालाः श्रीशान्तिसूरयः–

''आस्नात्रपरिसमाप्ते–रशून्यमुष्णीषदेशमीशस्य।
सान्तर्द्धानाद् धारा–पातं पुष्पोत्तमैः कुर्यात्'' ॥ १ ॥

स्नात्रे च क्रियमाणे निरन्तरं चामरसंगीततूर्याद्याडम्बरः सर्वशक्त्या कार्यः, सर्वैः स्नात्रे कृते पुनरकरणाय शुद्धजलेन धारा देया।

तत्पाठश्चायम्–

''अभिषेकतोयधारा, धारेव ध्यानमण्डलाग्रस्य।
भवभवनभित्तिभागान्, भूयोऽपि भिनत्तु भागवती ॥ १ ॥''

ततोऽङ्गरूक्षणविलेपनादिपूजा प्राक्पूजातोऽधिका कार्या, सर्वप्रकारैर्धान्यपक्वान्नशाकविकृतिफलादिभिर्बलिढौकनं, ज्ञानादिरत्नत्रयाढ्यस्य लोकत्रयाधिपतेर्भगवतोऽग्रे पुञ्जत्रयेणोचितं स्नात्रपूजादिकं पूर्वश्रावकैर्वृद्धलघुव्यवस्थया, ततः श्राविकाभिः कार्यं, जिनजन्ममहेऽपि पूर्वमच्युतेन्द्रः परिवारयुतः, ततो यथाक्रममन्ये इन्द्राः स्नात्रादि कुर्वन्ति, स्नात्रजलस्य च शेषावत् शीर्षादौ क्षेपेऽपि न दोषः संभाव्यः।

यदुक्तं हेमश्रीवीरचरित्रे–

''अभिषेकजलं तत्तु, सुरासुरनरोरगाः।
ववन्दिरे मुहुः सर्वाङ्गीणं च परिचिक्षिपुः ॥ १ ॥''

श्रीपद्मचरित्रेऽप्येकोनत्रिंशे उद्देशे आषाढशुक्लाष्टम्या आरभ्य दशरथनृपकारिताष्टाह्निकाचैत्यस्नात्रमहाधिकारे–

''तं ण्हवणसंतिसलिलं, नरवइणा पेसिअं सभज्झाणं।
तरुणवलयाहि नेउं, बूढं चिअ उत्तमंगेसु ॥ १ ॥
कंचुइहत्थोवगयं, जाव य गंधोदयं चिरावेइ।
ताव य वरगा महिसी, पत्ता सोगं च कोहं च ॥ २ ॥
सा कंचुइणा कुद्धा, अहिसित्ता तेण संतिसलिलेणं।
तिच्चविय माणसग्गी, पसन्नहिअया तओ जाया'' ॥ ३ ॥

बृहच्छान्तिस्तवेऽपि शान्तिपानीयं मस्तके दातव्यमित्युक्तम्। श्रूयतेऽपि जरासन्धमुक्तजरयोपद्रुतं स्वसैन्यं श्रीनेमिगिरा कृष्णेनाराद्धनागेन्द्रात्पातालस्थश्रीपार्श्वप्रतिमां शङ्खेश्वरपुरे आनाय्य तत्स्नपनाम्बुना जिनदेशनासद्मनि नृपाद्यैः प्रक्षिप्तं, क्रूररूपं बलिमर्धपतितं देवा गृह्णन्ति, तदर्द्धार्द्धं नृपः, शेषं तु जनाः, तत्सिक्थेनाऽपि शिरसि क्षिप्तेन व्याधिरुपशाम्यति, षण्मासाँश्चान्यो न स्यादित्यागमेऽपि, ततः सद्गुरुप्रतिष्ठितः प्रौढोत्सवानीतो दुकूलादिमयो माहाध्वजः प्रदक्षिणात्रयादिविधिना प्रदेयः, सर्वैर्यथाशक्ति परिधापनिका च मोच्या। अथाऽऽरात्रिकं समगङ्गलदीपमर्हतः पुरस्तादुद्द्योत्यम्, आसन्नं च वह्निपात्रं स्थाप्यम्। तत्र लवणं जलं च पातयिष्यते।

''उवणेउ मंगलं वो, जिणाण मुहलालिजालसंवलिआ।
तित्थपवत्तणसमए, तिअसविमुक्का कुसुमवुट्ठी'' ॥ १ ॥

इत्युक्त्वा प्रथमं कुसुमवृष्टिः।

ततः–

''उअहपडिभग्गपसरं, पयाहिणं मुणिवइं करेउणं।
पडइ सलोणत्तणल–ज्झिअं च लोणं हुअवहम्मि'' ॥ १ ॥

इत्यादिपाठैर्विधिना जिनस्य त्रिः पुष्पलवणजलोत्तारणादि कार्यं, ततःसृष्ट्या पूजयित्वा आरात्रिकसधूपोत्क्षेप उभयत उच्चैः सजलधारं परितः श्राद्धैः प्रकीर्यमाणपुष्पप्रकरं–

''मरगयमणिघडिअविसा–लथालमाणिक्कमंडिअपईवो।
ह्रवणपरकरुक्खित्तो, भमउ जिणारत्तिअं तुम्हं'' ॥ ४४ ॥

इत्यादिपाठपूर्वं प्रधानभाजनस्थं सोत्सवमुत्तार्यते त्रिवारम्।

यदुक्तं त्रिषष्टीयादिचरित्रे–

''कृतकृत्य इवाथाऽप–सृत्य किञ्चित्पुरन्दरः।
पुरोभूयः जगद्भर्तु–रारात्रिकमुपाददे ॥ १ ॥
ज्वलद्दीपत्विषा तेन, चकासामास कौशिकः।
भास्वदोषधिचक्रेण, श्रृङ्गेणैव महागिरिः ॥ २ ॥
श्रद्धालुभिः सुरवरैः, प्रकीर्णकुसुमोत्करम्।
भर्तुरुत्तारयामास, ततस्त्रिदशपुङ्गवः'' ॥ ३ ॥

मङ्गलप्रदीपोऽप्यारात्रिकवपूज्यते–

''कोसंबिसंठिअस्स य, पयाहिणं कुणइ मउलिअपईवो।
जिण! सोमदंसणे दिण–यरु व्व तुह मंगलपईवो ॥ १ ॥
भामिज्जंतो सुरसुं–दरीहिँ तुह नाह! मंगलपईवो।
कणयायलस्स नज्जइ, भाणु व्व पयाहिणं दिंतो'' ॥ २ ॥

इति पाठपूर्वं तथैवोत्तार्यते, देदीप्यमानो जिनचरणाग्रे मुच्यते, आरात्रिकं तु विध्याप्यते, तेन न दोषः, प्रदीपारात्रिकादि च मुख्यवृत्त्या घृतगुडकर्पूरादिभिः क्रियते, विशेषफलत्वात्।

लोकेऽप्युक्तम्–

''पुरः प्रज्ञातदेवस्य, कर्पूरेण तु दीपकम्।
अश्वमेधमवाप्नोति, कुलं चैव समुद्धरेत्'' ॥ १ ॥

अत्र मुक्तालङ्कारेत्यादिगाथाः श्रीहरिभद्रसूरिकृताः संभाव्यन्ते, तत्कृतसमरादित्यचरित्रग्रन्थस्यादौ–''उवणेउ मंगलं वो,'' इति नमस्कारदर्शनात्। एताश्च गाथाः श्रीतपापक्षादौ प्रसिद्धा इति न सर्वा लिखिताः, स्नात्रादौ सामाचारीविशेषेण विविधविधिदर्शनेऽपि न व्यामोहः कार्यः, अर्हद्भक्तिफलस्यैव सर्वेषां साध्यत्वात्। गणधरादिसामाचारीष्वपि भूयांसो भेदा भवन्ति, तेन यद्यद् धर्माद्यविरुद्धमर्हद्भक्तिपोषकं तत्तत्र केषामप्यसंमतम्। एवं सर्वधर्मतत्त्वेष्वपि ज्ञेयम्। इह लवणारात्रिकाद्युत्तारणं संप्रदायेन सर्वगच्छेषु परदर्शनेष्वपि च सृष्टौ च क्रियमाणं दृश्यते।

श्रीजिनप्रभसूरिकृतपूजाविधौ त्वेवमुक्तम्–

''लवणाईणुत्तरणं, पलित्तयं सुरिमाइपुरिसेहिं।
सिंहारेण अणुन्ना–यं समए सिट्ठिअं सम्मं'' ॥ १ ॥ इति।

स्नात्रकरणे च सर्वप्रकारसविस्तरपूजाप्रभावनादिसंभवेन प्रेत्य प्रकृष्टफलं स्पष्टं, जिनजन्मस्नात्रकर्तृचतुःषष्टिसुरेन्द्राद्यनुकारकरणादि चात्रापीति स्नात्रविधिः। ध० २ अधि०।

विवसनैः सहाभरणविषयकः शास्त्रार्थः–

यदपि भगवत्प्रतिमाया न भूषा आभरणादिभिर्विधेयेति स्वाग्रहावष्टब्धचेतोभिर्दिगम्बरैरुच्यते, तदप्यर्हत्प्रणीताऽऽगमापरिज्ञानस्य विजृम्भितमुपलक्ष्यते, तत्करणस्य शुभभा–

वनिमित्ततया कर्मक्षयाबन्ध्यकारणत्वात् । तथाहि–भगवत्प्रतिमाया भूषणाद्यारोपणं कर्मक्षयकारणं कर्तुर्मनःप्रसादजनकं, कुङ्कुमाद्यालेपनवत् न च व्रतावस्थायां भगवता भूषणादरेनङ्गीकृतत्वात् न तत्प्रतिकृतौ तद्विधेयं, संमज्जनाङ्गरागपुष्पादिधारणस्यापि तथावस्थायां भगवताऽनाश्रितत्वान्न तत् तत्र विधेयं स्यात् । अथ मेरुमस्तकादिषु तदभिषेकादाविन्द्रादिभिस्तस्य विहितत्वात् अस्मदादिभिरपि कृतानुकरणादिभिः प्रयोजनैस्तत्तत्र विधीयते, तर्हि तत एवाऽऽभरणादिभिर्विभूषादिकमपि विधेयम्, कृतानुकरणादेः समानत्वात् । एवमन्यदप्यागमबाह्यं स्वमनीषिकया परपरिकल्पितमागमयुक्तिप्रदर्शनेन प्रतिषेद्धव्यं, न्यायदिशः प्रदर्शितत्वात् । तदेवमनधीताश्रुतयथावदपरिभावितागमतात्पर्या दिग्वाससः एवाज्ञां विगोपयन्तीति व्यवस्थितम् । सम्म० २ काण्ड ।

विविधप्रतिमाऽर्चनम्–

प्रतिमाश्च विविधास्तत्पूजाविधौ सम्यक्त्वप्रकरण इत्युक्तम्–

''गुरुकारिआइ केई, अन्ने सयकारिआइ तं बिंति ।
विहिकारिआइ अन्ने, पडिमाए पूअणविहाणं ॥ १ ॥''

गुरवो मातृपितृपितामहोदयः, तैः कारितायाः केचित्, अन्ये स्वयं कारितायाः, विधिकारितायास्त्वन्ये प्रतिमायाः, तत्पूर्वाभिहितं, पूजाविधानं ब्रुवन्ति, कर्त्तव्यमिति शेषः । अवस्थितपक्षस्तुगुर्वादिकृतत्वस्यानुपयोगित्वान्ममत्वाग्रहरहितेन सर्वप्रतिमा अविशेषेण पूजनीयाः । न चैवमविधिकृतामपि पूजयतस्तदनुमतिद्वारेणाऽऽज्ञाभङ्गलक्षणदोषाऽऽपत्तिः, आगमप्रामाण्यात् ।

तथाहि श्रीकल्पबृहद्भाष्ये–

''निस्सकडमनिस्सकडे, चेईए सव्वहिं थुई तिन्नि ।
वेलं व चेइआणि अ, नाउं इक्किक्किआ वा वि ॥ १ ॥''

निश्राकृते गच्छप्रतिबद्धे, अनिश्राकृते तद्विपरीते, चैत्ये सर्वत्र तिस्रः स्तुतयो दीयन्ते । अथ प्रतिचैत्यं स्तुतित्रये दीयमाने वेलाया अतिक्रमो भवति, भूयांसि वा तत्र चैत्यानि, ततो वेलां चैत्यानि च ज्ञात्वा प्रतिचैत्यमेकैकाऽपि स्तुतिर्दातव्या ॥ १ ॥

अयं चैत्यगमनपूजास्नात्रादिविधिः सर्वोऽपि ऋद्धिप्राप्तमाश्रित्योक्तः, तस्यैवैतावद्योगसंभवात् । अनृद्धिप्राप्तस्तु श्राद्धः स्वगृहे सामायिकं कृत्वा केनापि सह ऋणविवादाद्यभावे ईर्याद्युपयुक्तः साधुवच्चैत्यं याति, स च पुष्पादिसामग्न्यभावाद् द्रव्यपूजायामशक्तः सामायिकं पारयित्वा कायेन यदि पुष्पग्रथनादि कर्त्तव्यं स्यात् तदा तत् करोति । न च सामायिकत्यागेन द्रव्यस्तवस्य करणमनुचितमिति शङ्क्यम्, सामायिकस्य स्वायत्ततया शेषकालेऽपि सुकरत्वाच्चैत्यकृत्यस्य च समुदायायतत्वेन कादाचित्कत्वात्, द्रव्यस्तवस्यापि शास्त्रे महाफलत्वेन प्रतिपादनाच्च ।

यतः पद्मचरित्रे–

''मणसा होइ चउत्थं, छट्ठफलं उट्ठिअस्स संभवइ ।
गमणस्स पयारम्भे, होइ फलं अट्ठमोवासो ॥ १ ॥
गमणे दसमं तु भवे, तह चेव दुवालसं गए किंचि ।
मज्झे पक्खुववासो, मासुववासं च दिट्ठम्मि ॥ २ ॥
संपत्तो जिणभवणे, पावइ छम्मासिअं फलं पुरिसो ।
संवच्छरिअं तु फलं, दारुद्देसट्ठिओ लहइ ॥ ३ ॥
पायक्खिणेण पावइ, वरिससयं तं फलं तओ जिणे महिए ।
पावइ वरिससहस्सं, अणंतपुण्णं जिणे थुणिए ॥ ४ ॥
सयं पमज्जणे पुण्णं, सहस्सं च विलेवणे ।
सयसाहस्सिआ माला, अणंतं गीअवाइअं'' ॥ ५ ॥ इति ।

प्रस्तावे च तस्मिन् क्रियमाणे विशेषपुण्यलाभः ।

यदागमः–

''जीवाण बोहिलाभो, सम्मद्दिट्ठीण होइ पियकरणं ।
आणा जिणिंदभत्ती, तित्थस्स पभावणा चेव'' ॥ १ ॥
एवमनेके गुणाः, ततस्तदेव कर्त्तव्यम्, यदुक्तं दिनकृत्ये–
'' एवं तु विहिओ सव्वो, रिद्धिमंतस्स देसिओ ।
इअरो निअगेहम्मि, काउं सामाइयं वयं ॥ १ ॥
जइ न कस्सइ धारेइ, न वि वाओ वि विज्जए ।
उवउत्तो सुसाहु व्व, गच्छए जिणमंदिरे ॥ २ ॥
काएण अत्थि जइ किंचि, कायव्वं जिणमंदिरे ।
तओ सामाइअं मोत्तुं, करेज्ज करणिज्जए ॥ ३ ॥

अत्र च सूत्रे विधिना जिनस्य पूजनं वन्दनं चेत्युक्त्वा दशत्रिकादिचतुर्विंशतितमद्वारैर्भाष्याद्युक्तः संपूर्णो वन्दनाविधिरुप–लक्षितः । ध०२ अधि० । ('चेइयवंदण' शब्दे व्याख्यास्यते चैत्यवन्दनम् । अष्टपुष्पीपूजा 'अट्ठपुप्फी'शब्दे प्रथमभागे २४५ पृष्ठे व्याख्याता । 'आसायणा' शब्दे द्वितीयभागे ४७८ पृष्ठे चैत्यस्योत्कृष्टमध्यमजघन्या आशातना उक्ताः)

जिनेन्द्रस्य पुरतः सिद्धबलिविधानम्–

अमलियछेयग्गंधा, केइ निसेहंति सिद्धवलिकरणं ।
तं पि न जुत्तं जम्हा, भणिअं कप्पाइचुन्नीसु ॥ १ ॥

अमलितच्छेदग्रन्था अनभ्यस्तोच्छास्त्राः, केऽपि निषेधयन्ति, सिद्धबलिकरणं जिनेशबिम्बस्य पुरतो राद्धबलिविधानं, तदपि न युक्तं न सङ्गतं, यस्माद् भणितमुक्तं कल्पादिचूर्णौ, आदिशब्दादावश्यकचूर्णिपरिग्रह इति गाथार्थः ॥ १ ॥

तदुक्तमेवार्थत आह–

तं सित्थं जस्स सिरे, दिज्जइ पसमंति तस्स बाहीओ ।
पुव्वुप्पन्ना उ नवा, न हुंति अन्ना तु छम्मासं ॥ २ ॥

तत्सर्वज्ञाग्रे बलिकृतगृहीतं, सिक्थं जनप्रतीतं, यस्य चेदनिर्दिष्टनाम्नः, शिरसि मस्तके, दीयते स्थाप्यते, प्रशाम्यन्ति उपशमं यान्ति, तस्य शिरसि सिक्थविधातुः, व्याधयो रोगाः, किंविशिष्टा इत्याह–पूर्वोत्पन्नाश्चिरप्ररूढाः; नवा नूतनाः, न भवन्ति न जायन्ते, अन्ये पूर्वविलक्षणाः, कियत्कालं यावदित्याह– षण्मासं जनप्रतीतम् । तथा च तत्रैवं त आहुः–''जं तंदुलाण सित्थं देवमच्चू रायमच्चू वा'' इत्यादि यावत् ''तं तु सित्थं जस्स मत्थए छुब्भइ, तस्स पुव्वुप्पन्ना वाही उवसमति'' इत्यादि । अयमभिप्रायः–यदि राद्धं न स्यात् तत्सिक्थमिति नाभणिष्यत् । न च सिक्थं लवमात्रमिति वाच्यं, तत्रस्थग्रन्थव्याहतेः । तथाहि–तत्र''दुव्वालिखंमिय'' इत्यादि सर्वं निष्पादनविधिं प्रतिषाद्योक्तं तत्र ''सिद्धबलिं काऊण त्ति'' अत्र सिद्धशब्देन रन्धनमेव वाच्यं, न पुनरनिष्पन्नं, विधेः सर्वस्य पूर्वं प्रतिपादितत्वात्, तस्मात् स्थितमत्र सिद्धो बलिः सर्वज्ञपुरतो विधीयते उत्सर्गत इति गाथार्थः । जीवा०१० अधि० ।

(२८) अथ डुङ्गरपुरस्थसंघकृतप्रश्नानां हीरविजयकृतोत्तराणिजिनप्रतिमानां तान्येवाभरणानि प्रतिदिनं परिधाप्यन्ते, अथ तेषां निर्माल्यता कथं न भवति? इत्येतदाश्रित्य शास्त्रमध्ये

एवं कथितमस्ति यद्भोगविनष्टं द्रव्यं तद् निर्माल्यमिति, तेनाभरणानां भोगविनष्टत्वाभावेन निर्माल्यता न भवतीति ज्ञेयमिति २ प्र० । ही० ४ प्रका० ।

परचैत्यवन्दनोन्मोके–

तपापक्षीयः श्राद्ध स्वकीयेषु परकीयेषु वा चैत्येषु वन्दनादि करोति, तत्र स्वकीयेषु यथा लाभस्तथा श्रीपरमगुरुपादैरादेयतयाऽऽदिष्टेषु परकीयेष्वपि लाभ एव ज्ञातोऽस्ति, न तु पापम् ।१४ प्र० । ही० १ प्रका० ।

काजकोद्धरणम्–

अन्यच्च चतुर्मासकमध्ये जिनगृहे देववन्दनं साधूनां श्राद्धानां च काजकोद्धरणपूर्वकमेव युक्तिमत् ॥ ४ ॥ जिनगृहे रात्रौ नाट्यादिविधेर्निषेधो ज्ञायते । यत उक्तम्–''रात्रौ न नन्दिर्न बलिः प्रतिष्ठा, न स्त्रीप्रवेशो न च लास्यकीला ॥'' इत्यादि । किं च क्वाऽपि तीर्थादौ तत्क्रियमाणं दृश्यते, तत्तु कारणिकमिति बोध्यम् ।५ प्र० । ही० २ प्रका० ।

प्रतिमानां चक्षुरादिकरणम्–

जिनप्रतिमानां चक्षुरादिसंयोजनमाश्रित्य ये निपुणाः श्राद्धाः सन्ति तैः रालतैले मेलयित्वा भूयो वर्त्तयित्वा तद्रसेन चक्षुरादि संयोजयन्ति, न तूष्णलाक्षारसेन; तथाकरणे आशातनादोषप्रसङ्गादिति । २प्र० । ही० ३ प्रका० ।

साधारणप्रासादे प्रतिमाः–

साधारणप्रासादे प्रतिमायां कार्यमाणायां ग्रामनाम्ना प्रतिमा विलोक्यते, उत सङ्घराशिनाम्ना? यदि सङ्घराशिनाम्ना, तदा सर्वग्रामसङ्घानामेकमेव राशिनाम विद्यते, तेन यथा युक्तं भवति तथा प्रसाद्यमिति प्रश्ने, उत्तरम्–अत्र साधारणप्रासादे प्रतिमायां कार्यमाणायां ग्रामनाम्ना प्रतिमा विलोक्यत इति युक्तं ज्ञायते इति । २५ प्र० । ही० ४ प्रका० ।

गुर्वाज्ञया चैत्यपूजा–

चैत्यादिधर्मकार्यं कुर्वता तेषां तपागणसंबन्धी शक्तिमान् श्राद्ध सांनिध्यम्, माध्यस्थ्यम्, विकारं वा भजते, तदा लाभो भवति, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्–चैत्यादिधर्मकार्यं कुर्वतां तेषां श्रीपरमगुरुपादैरादेयतयाऽऽदिष्टचैत्यादिधर्म्मकार्ये सांनिध्यकरणमायाति सुन्दरं, तदितरकार्ये तु माध्यस्थ्यमेव, न तु क्वापि वैपरीत्यकरणेन विरोधोत्पादनं श्रेयसे । ही० १ प्रका० ।

रात्रावारात्रिकम्–

श्राद्धानां रात्रौ जिनालये आरात्रिकोत्तारणं युक्तं, न वा? इति प्रश्ने, उत्तरम्–श्राद्धानां जिनालये रात्रौ आरात्रिकोत्तारणं कारणे सति युक्तिमद्, नान्यथा ॥ १ ॥ ही० २ प्रका० ।

कार्योत्सर्गस्थितजिनप्रतिमानां चरणादिपरिधापनविचारः–

कायोत्सर्गस्थितजिनप्रतिमानां चरणादिपरिधापनं युक्तं, नवेति प्रश्ने, उत्तरम्–जिनप्रतिमानां चरणादिपरिधापनं तु सम्प्रति न व्यवहारेण युक्तियुक्तं प्रतिभाति । ही० २ प्रका० ।

आरात्रिकमङ्गलप्रदीपविचारः–

आरात्रिकमङ्गलप्रदीपः सृष्ट्या संहारेण वोत्तार्यते, तदुत्तारणपाठश्च क इति प्रश्ने, उत्तरम्–अत्र जिनप्रतिमाग्रे आरात्रिकमङ्गलप्रदीपः सृष्ट्योत्तार्यते, न तु संहारेण, पूर्वाचार्यप्रणीतग्रन्थमध्ये क्वापि संहारोत्तारणस्याप्यक्षराणि सन्ति, परमिदानी श्राद्धविधिजिनप्रभसूरिकृतपूजाप्रकरणयोः सृष्टयैवोत्तारणमुक्तमस्ति, तेन तथैव क्रियते । तदुत्तारणगाथा च–

''मरगयमणिघडिसविसा–लथालमाणिक्कमंडियपईवो ।
ह्वणपरकरुक्खित्तो, भमउ जिणाऽऽरत्तियं तुम्हं'' ॥ ४४ ॥

ही० ४० प्रका० । (चैत्यायतनं कारितवत्या निर्ग्रन्थ्याः क्षताचाराया उद्धरणं 'खयाचार' शब्दे अस्मिन्नेव भागे ७१८ पृष्ठे उक्तम्) (ग्रामशब्दे अस्मिन्नेव भागे ८६८ पृष्ठे तन्निषेधे जिनप्रतिमानां भावग्रामत्वम्) (भरते चतुरशीतिजिनप्रतिमाः 'जिनपडिमा' शब्दे वक्ष्यन्ते)

(२६) प्रकीर्णकरूपा वार्त्ताः । चतुर्विंशतिकापट्टविचारः–

चउवीसवट्टयाई, पडिमा उ जिणाण केइ वारिंति ।
तं पि ण जुत्तं जम्हा, एए दोसा पसज्जंति ॥ १ ॥

चतुर्विंशतिपट्टकादौ, आदिशब्दाज्जिनत्रयादिपरिग्रहः । प्रतिमा जिनप्रतिकृतीः, जिनानां तीर्थकृतां, केऽपि, न सर्वे । वारयन्ति निषेधयन्ति, नैताः तैः क्रियन्त इत्यर्थः । तदपि, न केवलं पूर्वोक्तमित्यपेरर्थः; नेति निषेधे, युक्तं सङ्गतं, यस्मादेते वक्ष्यमाणाः, दोषा दूषणानि, प्रसज्यन्ते भवन्तीति गाथार्थः ॥ १ ॥

तानेवाह–

पुव्वायरणाभंगो, जिणाण आसायणा विपडिवत्ती ।
सद्धाभंगो मुद्धा–ण होंति एमाइया दोसा ॥ २ ॥

पूर्वाचरणाभङ्गः–बहोः कालादियं प्रवृत्तिस्तस्या विनाशः, जिनानां सर्व्वज्ञानाम्, आशातना पूर्वकथितप्रकारेण विप्रतिपत्तिर्विरोध । एको भणतिमदीया श्रेष्ठा प्रतिष्ठा; अन्यश्च मदीयेत्येवं लक्षणा । श्रद्धभङ्गो भक्तिनाशश्च, मुग्धानां मन्दमतीनाम्; तेह्येवमध्यवस्यन्ति–हा किमस्माभिर्मन्दभाग्यैर्विधिमजानद्भिरेवं प्रतिष्ठा कारितेति । भवन्ति जायन्ते, एवमादय उक्तप्रकारादयः, आदिग्रहणात् तदबहुमानपूजाद्यभावाख्याः । चकारोऽत्र प्राकृतात्लुप्तो द्रष्टव्य इति गाथार्थः ॥ २ ॥

सूत्रेणैव संबद्धां गाथामाह–

किंचऽत्थ अत्थि जुत्ती, वि पयडहरिभद्दसूरिवयणाओ ।
तं भणणं तिविहा खलु, होइ पइट्ठा जिणिंदाणं ॥ ३ ॥

किञ्चेत्यभ्युच्चये, अस्ति विद्यते, अत्र चतुर्विंशतिपट्टकादिकरणे, युक्तिरपि घटमानवाक्यमपि, न केवलमादरणेत्यपिशब्दार्थः । प्रकटहरिभद्रसूरिवचनात् प्रसिद्धहरिभद्राभिधानाचार्यभणनात्, तदेवार्थत आह–तत्पुनर्भणनमिदं वक्ष्यमाणम्–त्रिविधा त्रिप्रकारा, खलुवाक्यालङ्कारे, भवति, प्रतिमाप्रतिष्ठा जिनगुणाद्यारोपलक्षणा, जिनेन्द्राणां मुनीशानामिति गाथार्थः ॥ ३ ॥

तदेव त्रैविध्यमाह.–

पढमा वत्तिपइट्ठा, खेत्तपइट्ठा पुणो भवे बीया ।
तइया महापइट्ठा, तासिं वक्खाणमेवं तु ॥ ४ ॥

प्रथमाऽऽद्या, व्यक्तिप्रतिष्ठा, क्षेत्रप्रतिष्ठा पुनर्भवेद् द्वितीया, महाप्रतिष्ठा तृतीया, तासां प्रतिष्ठानां व्याख्यानं विवरणम्, एवं वक्ष्यमाणप्रकारमेव, तुरेवकारार्थः, स च दर्शित इति गाथार्थः ॥ ४ ॥

तदेव गाथाद्वयेनाऽऽह–

हवति विसेसो एग–स्स जा उ पडिमा भवे जिणिंदस्स ।
खेत्ते मरहे उसभा–इयाण सव्वाण बीया उ ॥ ५ ॥
सव्वेसु वि खेत्तेसुं, जित्तियमित्ता भवंति तित्थयरा ।
सत्तरसयसंखाए, महापइट्ठा इमा भणिया ॥ ६ ॥

सुगमे। यत एवम् अत उक्तिप्रत्युक्तिगाथामाह–

तो णज्जइ चउवीसं–ट्ठयाएँ करण अह विभिन्नकरणे वि।
सहलं हविज्ज सच्चं, वित्ताइअभावकरणेव ॥ ७ ॥

तस्माद् ज्ञायते चतुर्विंशतिपट्टकादेः करणं विधानम्, आदिशब्दात् शेषप्रतिष्ठाग्रहः। तिकारवकारौ अत्र प्राकृतलक्षणेन् लुप्तौ। अथेति पराभिप्रायदर्शकः, तेन चतुर्विंशतिपट्टकरणं, विभिन्नकरणेऽपि पृथक् निष्पादनेऽपि पृथक् निष्पादनेऽपि, न केवलमेकत्र विधानेऽपि, इत्यपि-शब्दार्थः। सफलं चरितार्थं भवेत्, सत्यमवितथं, किं तु वित्ताद्यभावात् द्रव्यापरिपूर्णात्, आदिशब्दात्करस्याचिदेव समाधानादिपरिग्रहः, करणं विधानम्, एवमुक्तप्रकारेण, अनुस्वारश्चात्र लुप्तो दृश्यः, पूर्वोक्तार्थसंवादस्तु उक्तषोडशाख्यप्रकरणोक्तश्लोकैरोभिर्बोद्धव्यः–

''व्यक्त्याख्या खल्वेका, क्षेत्राख्या चापरा महाख्या च।
यस्तीर्थकृत् यदा किल, तस्य तदाऽऽद्येति समयविदः ॥ २ ॥
ऋषभाद्यानां तु तथा, सर्वेषामेव मध्यमा ज्ञेया।
सप्तत्यधिकशतस्य तु, चरिमेह महाप्रतिष्ठेति'' ॥ ३ ॥
''भावरसेन्द्रात्तु ततो, महोदयाद् जीवतास्वरूपस्य।
कालेन भवति परमाऽप्रतिबद्धा सिद्धकाञ्चनता ॥ ८ ॥
वचनानलक्रियातः, कर्मेन्धनदाहतो यतश्चैषा।
इतिकर्त्तव्यतयाऽतः, सफलैषाऽप्यत्र भावविधौ'' ॥ ९ ॥
इति गाथार्थः ॥ ७ ॥

अत्रैवार्थे अन्यमतमुत्क्षिप्य परिहरन्नाह–

जं पि अहरुत्तरेणं, करणा आसायणं भणंतऽन्ने।
तं पि न जुत्तं सव्वे, तुल्लगुणा जेण तित्थयरा ॥ ८ ॥

यदपि अधरोत्तरेण आधाराधेयरूपेण, करणाद्विधानात्, आशातनां ज्ञानादित्रुटिरूपां, भणन्ति वदन्त्यन्येऽपरे, तदपि न केवलं पूर्वोक्तं, नेति निषेधे, युक्तं सङ्गतं, यस्मात्सर्वे समस्ताः, तुल्यगुणा अहीनातिरिक्त-गुणाः, तीर्थकराः सर्वज्ञाः। सर्वज्ञप्रतिमाकरणे तु विप्रतिपत्तिरेव नास्त्यतो न तत्करणं प्रति विचार इति गाथार्थः ॥ ८ ॥

एवं स्थिते जीवोपदेशमाह–

मइमोहं ता मा कुण–सु जीव! वंदसु जिणिंदपडिमा उ।
जह तह पइट्ठिया उ, इच्छंतो सासयं सोक्खं ॥ ९ ॥

प्रकटार्था। नवरं शाश्वतसौख्यं निर्वाणसातमिति गाथार्थः। चतुर्विंशतिपट्टकादिविचारः समाप्तः। जीवा० ८ अधि०।

(चौरहृतचैत्यद्रव्यं क्रीतं न कल्पते) पुनरन्यथा परः प्रश्नयति–

चेइयदव्वं विभया, करेज्ज कोई नरो सयट्ठाए।
समणं वा सोवहियं, विक्केज्जा संजयट्ठाए ॥ ६२ ॥

चैत्यद्रव्यं चौराः समुदायेनापहृत्य तन्मध्ये कश्चिन्नर आत्मीयेन भागेन स्वयमात्मनोऽर्थाय मोदकादि कुर्यात्, कृत्वा च संयतानां दद्यात्। यो वा संयतार्थाय श्रमणं सोपधिकं विक्रिणीयात्, विक्रीय च तत्प्रासुकं वस्त्रादि संयतेभ्यो दद्यात्।

एयारिसम्मि दव्वे, समणाणं किं णु कप्पई घेत्तुं।
चेइयदव्वेण कयं, मोल्लेण व जं सुविहियाणं ॥ ६३ ॥
तेणपडिच्छा लोए, वि गरहिया उत्तरे किमंग! पुणो।
चेइयजइपडिणीए, जो गेण्हइ सो वि हु तहेव ॥ ६४ ॥

एतादृशेन द्रव्येण, गाथायां सप्तमी तृतीयार्थे, यत् आत्मार्थं कृतं तत् श्रमणानां किं नु ग्रहीतुं कल्पते? सूरिराह–यत् चैत्यद्रव्येण, यच्च वा सुविहितानां मूल्येनात्मार्थं कृतं, तदीयमानं न कल्पते। किं कारणामिति चेत्? उच्यते–स्तेनानीतस्य प्रतीच्छा प्रतिग्रहणं, लोकेऽपि गर्हिता, किमङ्ग! पुनरुत्तरे, तत्र सुतरां गर्हिता, यतश्चैत्ययतिप्रत्यनीके चैत्ययतिप्रत्यनीकस्य हस्तात् यो गृण्हाति, सोऽपि, हु निश्चितं, तथैव चैत्यघातिप्रत्यनीक एव। व्य०९ उ०। (जिनप्रतिहार्याणि स्वस्थाने)

(३०) व्यन्तरायतनम्–

व्यन्तरायतने, यथा राजगृहे गुणशिलकम्। नि० १वर्ग। स०। चम्पानगर्य्या बहिः पूर्वस्मिन् पूर्णभद्रम्। नि० १ वर्ग। ज्ञा०। सू०प्र०। चं० प्र०। विपा०। आमलकल्पायामाम्रशालवनम्। ''आमलकप्पाए णयरीए दाहिणपुरच्छिमे अंबसालवणे चेइए।'' चैत्यं संज्ञाशब्दत्वाद्देवताप्रतिबिम्बे प्रसिद्धं, ततस्तदाश्रयभूतं यद् देवताया गृहं, तदप्युपचाराच्चैत्यं, तच्चेह व्यन्तरायतनं द्रष्टव्यं, न तु भगवतामर्हतामायतनम्। रा०।

तद्वर्णकश्चैवम्–

चंपाए णयरीए बहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसिभाए पुण्णभद्दे णामं चेइए होत्था। चिराईए पुव्वपुरिसपण्णत्ते पोराणे सद्दिए वित्तिए (कित्तिए) णायए सछत्ते सज्झए संघटे सपडाग पडागाइपडाग-मंडिए सलोमहत्थे कयवेयद्दिए लाउल्लोइयमहिए गोसीससरसरत्तचंदणदद्दरदिण्णपंचंगुलितले उवचियचंदणकलसे चंदणघडसुकयतोरणपडिदुवारदेसभाए आसत्तोसत्तविउल-वट्टवग्घारियमल्लदामकलावे पंचवण्णसरससुर हिमुक्कपुप्फ-पुंजोवयारकलिए कालागुरुपवरकुं दुरुक्कतुरुक्कधूवमघम-घंतगंधुद्धुयाभिरामे सुगंधवरगंधगंधिए गंधिवट्टिभूए णडणट्टक-जल्लमल्लमुट्ठियवेलंबयपवगकहकलासकआइक्खलंख-मंखतूणइल्लतुंबवीणियभुयगमागहपरिगए बहुजणजाणवयस्स विस्सुयकित्तिए बहुजणस्स आहुस्स आहुणिज्जे पाहुणिज्जे अच्चणिज्जे वंदणिज्जे नमंसणिज्जे पूयणिज्जे सक्कारणिज्जे सम्माणणिज्जे कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं विणएणं पज्जुवासणिज्जे दिव्वे सच्चे सच्चोवाए सच्चप्पभावे सण्णिहियपाडिहेरे जागसहस्स-भागपडिच्छए बहुजणो अच्चेइ आगम्म पुण्णभद्दं चेइयं, से णं पुण्णभद्दे चेइए एक्केणं महया वणसंडेणं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ते॥

चम्पायां नगर्य्याम्, (उत्तरपुरच्छिम त्ति) उत्तरपौरस्त्ये, उत्तपूर्वायामित्यर्थः। (दिसिभाए त्ति०) दिग्भागे, पूर्णभद्रं नाम चैत्यं व्यन्तरायतनम् (होत्थेत्ति) अभवत्। (चिराईए पुव्वपुरिसपण्णत्ते) चिरं चिरकालम्, आदिर्निवेशे यस्य तच्चिरादिकम्। अत एव पूर्वपुरुषैरतीतनरैः प्रज्ञप्तमुपादेयतया प्रकाशितं पूर्वपुरुषप्रज्ञप्तम्। (पोराणे त्ति) चिरादिकत्वात्पुरातनं (सद्दिये त्ति) शब्दप्रसिद्धः स संजातो यस्य तच्छब्दितम्। (वित्तिए त्ति) वित्तं द्रव्यं तदस्ति यस्य तद्वित्तिकं, वृत्तिं वाऽऽश्रितलोकानां ददाति यत्तद्वृत्तिकम् (कित्तिए त्ति) पाठान्तरं तत्र जनेन कीर्तितं, समुत्कीर्त्तितं वा (णायए त्ति) न्यायनिर्णायकत्वात्थ

न्यायज्ञः । तथा ज्ञातसामर्थ्यमनुभूतं तत्प्रसादेन लोकनेति । सच्छत्रं सध्वजं सघण्टमिति व्यक्तम् (सपडागपडागाइपडागमंडिए) सह पताकया वर्त्तत इति सपताकं, तच्च तदेकां पताकामतिक्रम्य या पताका सा अतिपताका, तया मण्डितं यत्तत्तथा । वाचनान्तरे–(सपडाए पडागाइपडागमंडिए त्ति)(सलोमहत्थे) लोममयप्रमार्जनकयुक्तम् (कयवेयद्दिए) कृतवितर्दिकं, रचितवेदिकम् । (लाउल्लोइयमहिए) ''लाइयं'' यद् भूमेः छगणादिनोपलेपनम् । (उल्लोइयं) कुट्यमानानां सेटिकादिभिः संमृष्टीकरणं, ततस्ताभ्यां महितमिव महितं पूजितं यत्तत्तथा । (गोसीससरसरत्तचंदणदद्दरदिण्णपंचंगुलितले) गोशीर्षेण सरससरक्तचन्दनेन च दर्दरेण बहुलेन चपेटाप्रकारेण वा दत्ताः पञ्चाङ्गुलहस्तका यत्र तत्तथा (उवचियचंदणकलसे) उपचिता निवेशिताः चन्दनकलशा मङ्गलघटा यत्र तत्तथा । (चंदणघडसुकय–तोरणपडिदुवारदेसभाए) चन्दनघटाश्च सुष्ठु कृततोरणनि च द्वारदेशभागं प्रति यस्मिँस्तच्चन्दनघटं सुकृततोरणप्रतिद्वारदेशभागं, देशभागाश्च देशा एव । (आसत्तोसत्तविउलवट्टवग्घारियमल्लदामकलावे) आसक्तो भूमौ संबद्धः, उत्सक्त उपरि संबद्ध विपुलो विस्तीर्णः वृत्तो वर्तुलः (वग्घारिओ त्ति) प्रलम्बमानः माल्यदामकलापः पुष्पमालासमूहो यत्र तत्तथेति (पंचवण्णसरससुरहिमुक्कपुप्फपुंजोवयारकलिए) पञ्चवर्णेन सरसेन सुरभिणा मुक्तेन क्षिप्तेन पुष्पपुञ्जलक्षणेनोपचारेण पूजया कलितं यत्तत्तथा (कालागुरुपवरकुंदुरुक्कतुरुक्कधूवमघमघंतगंधद्धुयाभिरामे) कालागुरुप्रभृतीनां धूपानां यो मघमघायमानो गन्ध उद्धूत उद्भूतस्तेनाभिरामं यत्तत्तथा । तत्र (कुंदुरुक्कं ति) क्रीडा (तुरुक्कं ति) सिह्लकं (सुगंधवरगंधगंधिए) सुगन्धा ये वरगन्धाः प्रवरवासास्तेषां गन्धो यत्रास्ति तत्तथा । (गंधिवट्टभूए) सौरभ्यातिशेषाद्रन्धद्रव्यगुटिकाकल्पमित्यर्थः । ''नडनट्टेत्यादि'' पूर्ववन्नवरमिह–'भुयगा' भुजङ्गाः, भोगिन इत्यर्थः । भोजका वा तदर्च्चका मागधा भट्टा इति । (बहुजणजाणवयस्स विस्सुयकित्तिए) बहोर्जनस्य पौरस्य जानपदस्य च जनपदभवलोकस्य विश्रुतकीर्तिकं प्रतीतख्यातिकम् । (बहुजणस्स आहुस्स त्ति) आहितुर्दातुः । क्वचिदिदं न दृश्यते । (आहुणिज्जे त्ति) आहवनीयं सम्प्रदानभूतम् (पाहुणिज्जे त्ति) प्रकर्षेण आहवनीयम् (अच्चणिज्जे) चन्दनगन्धादिभिः (वंदणिज्जे) स्तुतिभिः । (नमंसणिज्जे) प्रणामतः (पूयणिज्जे) पुष्पैः (सक्कारणिज्जे) वस्त्रैः (सम्माणणिज्जे) बहुमानविषयतया (कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं विणएणं पज्जुवसणिज्जे) कल्याणमित्यादि बुद्ध्या विनयेन पर्युपासनीयं, तत्र कल्याणमर्थहेतुर्मङ्गलमनर्थप्रतिहेतिहेतुः, दैवतं देवः, चैत्यमिष्टदेवताप्रतिमादि दिव्यं प्रधानं (सच्चे) सत्यं, सत्यादेशत्वात् (सच्चोवाए) सत्याभिलाषं सत्यसेवं, सेवायाः सफलीकरणात् (सण्णिहियपाडिहेरे) विहितदेवताप्रातिहार्यम् । (जागसहस्सभागपडिच्छए) यागाः पूजाविशेषाः, ब्राह्मणप्रसिद्धाः, तत्सहस्राणां भागमंशं प्रतीच्छति अभव्यत्वात् यत्तत्तथा । वाचनान्तरे–(जागभागदायसाहस्सपडिच्छए) यागाः पूजाविशेषाः, भागाविंशतिभागादयो, दायाः सामान्यदानानि, एषां सहस्राणि प्रतीच्छति यत्तत्तथा । ''बहुजणो'' इत्यादि सुगमं, नवरम्–''पुणभद्दं चेइयं'' इत्यत्र द्विर्वचनं भक्तिसंभ्रमविवक्षयेति (सव्वाओ समंता इति) सर्वतः सर्वदिक्षु, समन्ताद्विदिक्षु । औ० । स्वनामख्याते सन्निवेशविशेषे, यत्र पूर्वभवे भगवान् वीरस्वामी, अग्न्यार्य्यो नाम्ना जातः । आ०चू० १ अ० । आ० म० । ग्रामादिप्रसिद्धे महावृक्षे जनानां सभास्थतरौ, चिताचिद्दे, जनसभायां, यज्ञस्थाने, जनानां विश्रामस्थाने च । वाच० । क्षेत्रप्रत्युप्रेक्षणायाम्, बृ० १ उ० ।

जिनालये जिनदृष्टौ स्वस्य तिलके क्रियमाणे कि पटान्तरं क्रियते, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्–अत्र पटान्तरं विना तिलके क्रियमाणे कि पटान्तरं क्रियते । ।१६ प्र० । सेन०१ उल्ला० ।

जेसलमेरुनगरे मेदिनीद्रङ्गे चोपाश्रयमध्ये श्रीहीरविजयसूरिप्रतिमाया मस्तक स्योपरि श्रीवीरप्रतिमाऽस्ति, तस्मात्तमुपाश्रयं केचन चैत्यं कथयन्ति, तत्र किमुत्तरमिति प्रश्ने–उत्तरम् यथा श्राद्धानां गृहस्य जिनप्रतिमासत्त्वेऽपि न चैत्यत्वं तथाऽत्रापीति ज्ञेयम् ।३५ प्र० । सेन० ४ उल्ला० ।

श्रीहीरविजयसूरीश्वरप्रसादितद्वादशजल्पपट्टकमध्ये अवन्दनीयचैत्यत्रयं विनाऽन्येषां सर्वेषां चैत्यानि वन्दनपूजनयोग्यानि कथितानि सन्ति, किन्तु केचन तन्निषेधं ब्रुवन्तः श्रूवन्ते, तत्कथमिति प्रश्ने, उत्तरम्–केवलश्राद्धप्रतिष्ठितचैत्य १–द्रव्यलिङ्गीद्रव्यनिष्पन्नचैत्य २–दिगम्बरचैत्यानि ३ विना सर्वेषां चैत्यानि वन्दनार्हाणि पूजार्हाणि च ज्ञेयानि, अथ च पूर्वोक्तानि निषिद्धान्यपि चैत्यानि साधुवासक्षेपेण वन्दनपूजनयोग्यानि भवन्तीति, अन्यथा परपक्षकृग्रन्था अप्यमान्या भवेयुः । तथा भव्यपार्श्वस्थादिदीक्षिनाः साधवः केव लिनश्चावन्दनीयाः स्युः, तथा चासमञ्जसमापद्येत, यतस्तत्कृतस्तोत्रादिग्रन्था आत्मीयपूर्वाचार्यै रङ्गीकृताः सन्ति, पार्श्वस्थादिदीक्षितसाधवश्च वन्दनीयतया शास्त्रे प्रोक्ताः सन्तीति स्वयमेव ध्येयमिति । १०४ प्र० । सेन० ४ उल्ला० ।

चेइयकड न० (चैत्यकृत) वृक्षस्याधो व्यन्तरादिस्थानके, आचा० २ श्रु० ३ अ० ३ उ० । स्वाभिमतचैत्यालयसंपादने, प्रति० ।

चेइयखंभ पुं० (चैत्यस्तम्भ) जिनसक्थ्यायतनरूपे स्तम्भे, यथा सुधर्मायां सभायां माणवको नाम चैत्यस्तम्भः, तत्र वज्रमयेषु सिक्ककेषु वज्रमयेषु समुद्गकेषु बहूनि जिनसक्थीनि निक्षिप्तानि तिष्ठन्ति । सू० प्र० १८ पाहु० । रा० । जी० ।

चेइयजत्ता स्त्री० (चैत्ययात्रा) श्रृङ्गारितप्रवररथे जिनप्रतिमां संस्थाप्य समहं स्नात्रपूजादिपुरस्सरं समस्तनगरे पूजाप्रवर्तनादिरूपायां रथयात्रायाम्, ध०३ अधि० । स्था० । (सा च 'अणुजाण' शब्दे प्रथमभागे ३६७ पृष्ठे दर्शिता)

चेइयट्ठ पुं० (चैत्यार्थ) जिनप्रतिमानां प्रयोजने, प्रश्न० ३ सम्ब० द्वार ।

चेइयणुइ स्त्री (चैत्यनुति) देववन्दने, ध० ३ अधि० ।

चेइयथूभ पुं० (चैत्यस्तूप) सिद्धायतनस्य प्रत्यासन्ने स्तूपे, चित्ताह्लादके च । स्था० ४ ठा० २ उ० ।

तासि णं मणिपेढियाणं उप्पिं पत्तेयं पत्तेयं चेइयथूभा पण्णता । तेणं चेतियथूभा दो जोयणाइं आयामविक्खंभेणं सातिरेगाइं० दो जोयणाइ उड्ढं उच्चत्तेणं सेया संखंककुंददगरयअमतमहितफेणपुंजसन्निकासा सव्वरयणामया अच्छा० जाव पडिरूवा, तेसि णं चेइयथूभाणं उप्पिं अट्ठट्ठ–

मंगलगा बहुकिन्हचामरज्झया पण्णत्ता छत्तातिच्छत्ता। तेसि णं चेतियथूभाणं चउदिसिं पत्तेयं पत्तेयं चत्तारि मणिपेढियाओ पण्णत्ताओ। ताओ णं मणिपेढियाओ जोयणं आयामविक्खंभेणं अद्धजोयणं बाहल्लेणं सव्वमणिमया० जाव तासि णं मणिपेढियाणं उप्पिं पत्तेयं पत्तेयं चत्तारि जिणपडिमाओ जिणुस्सेहपमाणपित्ताओ पलियंकणिसण्णाओ थूभाभिमुहीओ सन्निक्खित्ताओ चिट्ठंति। तं जहा–उसभबद्धमाणचंदाणण-वारिसेणा। तेसि णं चेतियथूभाणं पुरओ तिदिसिं पत्तेयं पत्तेयं मणिपेढियाओ पण्णत्ताओ। (जी०) जेणेव चेइयथूभे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छंतित्ता लोमहत्थगं गेण्हंति, गेण्हंतित्ता चेइयथूभं लोमहत्थएणं पमज्जंति, पमज्जंतित्ता दिव्वाए, उदगरसेणं पुप्फारुहणं आसत्तोसत्त० जाव धूवं दलयंति। जी० ३ प्रति०।

चेइयदव्व न०(चैत्यद्रव्य) जिनद्रव्ये, जिनार्थं सङ्गृहीते द्रव्ये, दर्श०।

अधुना जिनद्रव्यभक्षणादिद्वारं प्रतिपादयन् गाथाचतुष्टयमाह–

भक्खेइ जो उवेक्खेइ, जिणदव्वं तु सावओ।
पन्नाहीणो भवे जो उ, लिप्पई पावकम्मुणा॥ ५४॥
आयाणं जो भंजइ, पडिवन्नं धणं ण देइ देवस्स।
नस्संतं समुवेक्खइ, सो वि हु परिभमइ संसारे॥ ५५॥
चेइयदव्वं साहा–रणं च जो दुहइ मोहियमईओ।
धम्मं व सो न जाणइ, अहवा बद्धाउओ नरए॥ ५६॥
चेइयदव्वविणासे, तद्दव्वविणासणे दुविहभेए।
साहू उवेक्खमाणो, अणंतसंसारिओ भणिओ॥ ५७॥

भक्षयति यः स्वयमात्मसात्करोति, उपेक्षते अन्येन विलुप्यमानं, जिनद्रव्यम्, तुशब्दः समुच्चयार्थः। ततः श्रावकोऽन्यो वा यथा भद्रकप्रत्यनीकादिः, प्रज्ञाहीनो भवेद् यः, तुशब्दोऽपिशब्दार्थः। ततः प्रज्ञाहीनतया जिनभवनादौ प्रवर्तमानो यदि द्रव्यं प्रणश्यति, तदा सोऽपि लिप्यते श्लिष्यते पापकर्म्मणा, पातकेनेत्यर्थः। ततः सम्यगागमविधि विज्ञाय सर्वत्र प्रवर्त्तितव्यम्। तथाऽऽदानं राजाऽमात्यादिना विहितमा-भाव्यं, यो भनक्ति विलुम्पति, प्रतिपन्नं यन्नियमेनोपेतम्, इतरथा वा पूजादिनिमित्तम्–यथाऽहमेतद् दास्यामि, धनं द्रव्यं, तस्य वाऽदीयमाने सति सामर्थ्ये, समुपेक्षतेकिमेभिः स्वजनादिभिः प्रकोपितैरित्याशय-वानुपेक्षां विधत्ते, सोऽपि, न केवलं पूर्वोक्ताः, हुशब्दस्यैवकारार्थत्वा-दखादन्नपि, जिनाज्ञाऽकरणात्, परिभ्रमति पर्यटति संसारे, तथा चैत्यद्रव्यं, साधारणं च सर्वसामान्यं द्रुह्यति मोहितमतिकः, धर्म्मं वा स न जानाति, बद्धायुष्को वा नरके, चैत्यद्रव्यविनाशे प्रतिमानिष्पात्तिनिमित्तं यत् तदुपचाराश्चैत्यद्रव्यं तद्विनश्यति। तद्द्रव्यविनाशने द्विभेद इति, तस्य चैत्यसंबन्धित्वेन द्रव्यं तद्द्रव्यं पूजादिकसकलप्रयोजनयोग्यं, परिभुक्तनिर्माल्यद्रव्यं च, तस्मिन् द्विभेदेऽपि, विनश्यति सति, साधुरपि सर्वसम्वररतः सामर्थ्यवानुपेक्षां कुर्वन्ननन्तसंसारिको भणितः प्रतिपादित आगमे। यत उक्तम्–''सचरित्तऽचरित्तीणं, एयं सव्वेसि कज्जं ति।'' इति गाथाचतुष्कसंक्षेपार्थः॥५७॥ व्यासार्थं कथानकादवसेयम्। दर्श० १ तत्त्व। द्वा०। (तच्च कथानकं 'जिणदव्व' शब्दे वक्ष्यते)

जिनद्रव्योत्वादवर्णनम्–

नियइंतरायमगणिय–मेने जंपंति कुग्गहगहगहिया।
जिणपडिमाणं पूया, पुप्फाईएहिँ कायव्वा॥ १॥
वत्थाईएहिँ नो पुण, जेणं तद्दव्वभक्खणे को वि।
पडिही भवंधकूवे, अम्हनिमित्तं इयमईए॥ २॥

निजकान्तरायमगणित्वाऽविभाव्य एके केचन, सकारोऽलाक्षणिकः, जल्पन्ति वदन्ति। अयमाशयः– एवं भणन्तं महदन्तरायो भवति। किंविशिष्टाः? कुग्रहग्रहगृहीता अबोधिपिशाचस्वीकृताः, जिनप्रतिमानां सर्वज्ञप्रतिकृतीनां, पुष्पादिभिः कुसुमवासादिभिः, पूजा, कर्त्तव्या विधेया, वस्त्रादिकैर्वसनालङ्कारादिभिः, नो नैव पुनः, येन तद्द्रव्यभक्षणे वस्त्रादिवित्तादने, कोऽप्यनिर्दिष्टनामा, पतिष्यति भवान्धकूपे संसारविषमावटे, अस्मन्निमित्तमस्मत्कारणम्, इतिमत्या अनेन बोधेनेति गाथाद्वयार्थः॥ १–२॥

एतन्निराकरणार्थं गाथाद्वयमाह–

आगममग्गुत्तिन्नो, इय बोहा जेण सुविहियजणो वि।
बहु मन्नइ, सङ्घकयं, वत्थाईपूयणं बहुहा॥ ३॥
सक्कारवत्तियाई–वयणेणं सो उ वत्थमाईहिं।
भणिओ तो तक्करणं, तहा य ववहारउत्तं च॥ ४॥

आगममार्गोत्तीर्णः सिद्धः तपोऽविभ्रष्ट इत्येवं बोधात् येन सुविहितजनो-ऽपि सुसाधुलोकोऽपि, न केवलमन्य इत्यपेरर्थः। बहु मनुतेऽनुमोदते, श्राद्धकृतं श्रावकविहितं, वस्त्रादिपूजनं वसनालङ्काराद्यभ्यर्चनं, बहुधाऽनेकधा॥ ३॥ सत्कारप्रत्ययमित्यादिवचनेन, स पुनःसत्कारो, वस्त्रादिभिः, मकारः पूर्ववत्, भणित उक्तः। तथा चोक्तम्–''मल्ला-इएहिँ'' पूया, सक्कारो पवरवत्थमाईहिं। अन्ने विवज्जओ इह, दुहा वि दव्ववत्थओ एसो''॥ १॥ ततस्तत्करणं सत्कारविधानं, तथाच परं व्यवहारोक्तं च छेदग्रन्थभणितमिति गाथाद्वयार्थः॥ ४॥

तदेवाह–

लक्खणजुत्ता पडिमा, पासाईया समत्तलंकारा।
पल्हायइ जह य मणो, तह निज्जरमो विआणाहि॥ ५॥

लक्षणयुक्ता परिपूर्णाङ्गादिसहिता, प्रासादिका द्रष्टृणामतिप्रमोद-जनिका, समस्तालङ्कारा निःशेषभूषणा, प्रह्लादयति सुखयति, यथा येन प्रकारेण, मनः, तथा तेन प्रकारेण, निर्ज्जरा कर्म्महासलक्षणा, ओ इति निपातः पादपूरणार्थो, विज्ञानीहि बुद्ध्यस्व, समस्तालङ्कारभण-नाद्बन्मतव्यवच्छेद इति गाथार्थः॥ ५॥

सूत्रणैव विहितपातनां गाथामाह–

किं च जइ एव भीरू, तुम्हे ता मा करेह चेइहरं।
पडिमाओ पूयं पि हु, होहिंति जओ इमे दोसा॥ ६॥

किञ्चाऽभ्युच्चये, यद्येवमित्थमस्मन्निमित्तं कर्म्मबन्धो मा भवत्विति भीरवः, (तुम्हे त्ति) यूयं, ततो, मेति निषेधे कुरुत विधत्त, चैत्यगृहं जिनमन्दिरम्, प्रतिमाः

जिनबिम्बानि, पूजामपि सपर्यामपि, 'हुः' पूरणे, भविष्यन्ति उत्पत्स्यन्ते, यतो यस्मात्, अमी वक्ष्यमाणाः, दोषा दूषणानि, इति गाथार्थः ॥ ६ ॥

तानेवाऽऽह–

भज्जज्ज व अवणेज्ज व, कोई तुम्हाण कम्मबंधो उ ।
तम्हा बुज्झह पुन्नं, पावं वा नियपरिणामा ॥ ७ ॥

भञ्जयेद् विनाशयेद् वाऽपनयेत् स्थानान्तरे कुर्यात्; वाशब्दौ समुच्चयार्थौ, उपलक्षणत्वाद् मठादिकं वा तदुपरि विदध्यात्, कोऽप्येकः, ततः (तुम्हाण त्ति) युष्माकं भवतां, कर्म्मबन्ध एव ज्ञानावरणीयाद्युपश्लेषः, तुरेवकारार्थो, भवन्निमित्तत्वादिति हृदयम् । तस्माद् बुध्यध्वं जानीत, पुण्यं शुभकर्म्म, पापं तद्विपरीतं, वाशब्दः समुच्चये । निजकपरिणामात् स्वाभिप्रायादिति गाथार्थः ॥ ७ ॥

परिणाममेव व्यक्तीकुर्वन्नाह–

दत्तस्स पुन्नमउलं, भक्खंतस्स य पुणो महापावं ।
कुसलेयरभावाओ, एवं चिय जिणमहाइसु वि ॥ ८ ॥

ददतः प्रयच्छतः, भव्यस्य जिनाय वस्त्रादीति शेषः । पुण्यं शुभमतुलमनन्यसदृशं, भक्षयतश्च पुनरश्नतो, महापापं गुप्तकिल्विषम्, कुशलेतरभावात् प्रधानेतरान्तःकरणात्, एवमित्थम्, जिनमहादिष्वपि सर्वज्ञमन्दिरप्रतिमादिकरणादिष्वपीति गाथार्थः ॥ ८ ॥

व्यतिरेकमाह–

जइ पुण तह कायव्वं, जह दव्वं नेव होइ चेइहरे ।
ता कह सहलं वयणं, एयं सिद्धंतसुपसिद्धं ॥ ९ ॥

यदि पुनस्तथा कर्त्तव्यं यथा नैव भवति द्रव्यं चैत्यगृहे, ततः कथं सफलं चरितार्थं वचनम्, एतत्–उपदेशपदपठितम्; अर्थतः सिद्धान्तसुप्रसिद्धमिति गाथासंक्षेपार्थः ॥ ९ ॥

तदेव गाथात्रयेणाऽऽह–

जिणपवयणविद्धिकरं, पभावणं नाणदंसणगुणाणं ।
रक्खंतो जिणदव्वं, परित्तसंसारिओ होइ ॥ १० ॥
जिणपवयणविद्धिकरं, पभावणं नाणदंसणगुणाणं ।
वड्ढंतो जिणदव्वं, वित्थरपत्ताइयं लहइ ॥ ११ ॥
जिणपवयणविद्धिकरं, पभावणं नाणदंसणगुणाणं ॥
भक्खंतो जिणदव्वं, अणंतसंसारिओ होइ ॥ १२ ॥

सुगमाः । अयमाशयः–त्वन्मते जिनद्रव्याभावात्कथं रक्षणवर्द्धनभक्षणसंभवः । तथा तत्रैव दर्शनशुद्धिप्रथमतत्त्वे–

चेइयदव्वं साहा–रणं च जो दुहइ मोहियमईओ ।
धम्मं च सो न जाणइ, अहवा बद्धाउओ नरए ॥ ५६ ॥
चेइयदव्वविणासे, तद्दव्वविणासणे दुविहभेए ।
साहू उविक्खमाणो, अणंतसंसारिओ भणिओ ॥ ५७ ॥''

तथा पञ्चकल्पे भणितम्–''जया पुण पुव्वपदत्ताणि खेत्तहिरण्णाणि दुपयचउप्पवाई जइ भंडं वा वेडं वा चेइयाणं लिंगत्था वा चेइयघराओ जिणदव्वोऽयं ति रायभडाई वा छेदेज्जा, तया तवनियमसंपउत्तो वि साहू जइ न मोएइ, तया तस्स सुद्धी न हवइ, आसायणा य भवइ'' । एतच्च कथं सार्थकं, किं च–कृतकत्वाद्देवगृहभङ्गकाले तद् द्रव्याभावात्कथं पुनरुद्धारः क्रियते इति ॥ १२ ॥

सूत्रासंबद्धां गाथामाह–

अन्नं चाऽसुहतरयं, कुणंतओ वि हु सुहाओ भावाओ ।
पावइ पुण्णं सल्लुद्धरो व्व वीरस्स किं तु सुहं ॥ १३ ॥

अन्यच्चापरं चाशुभकर्मतिशयानिष्टं, कुर्वाणो विदधानो, 'हुः' पूरणे, शुभात्प्रशस्तात्, भावादन्तःकरणात्, प्राप्नोति लभते, पुण्यं शुभं, शल्योद्धारवत् श्रवणकीलिकापनेतृश्वत्, वीरस्य चरमतीर्थकरस्य, किं तु पुनः, शुभं प्रशस्तम् । अयमाशयः–येन कीलिका भगवच्छ्रवणात् निष्कासिता, तेन महती व्यथोत्पादिता, येन तु क्षिप्ता, तेन स्तोकतरा, परं शुभेतराशयादेकस्य स्वर्गोऽपरस्य नरक इति गाथार्थः ॥ १३ ॥

इत्थमवस्थिते जीवोपदेशमाह–

सुपसत्थवत्थकणया–इवत्थुवित्थाररेहिरं पडिमं ।
कारावसु देसंतो, रे जिय! जई महसि मइट्ठं ॥ १४ ॥

सुप्रशस्तानि अतिशयरम्याणि, तानि च तानि वस्त्रकनकादिवस्तूनि च सचामीकरालङ्कारकर्पूरादिद्रव्याणि, तेषां विस्तारः प्रपञ्चस्तेन ''रेहिरं ति'' देशीभाषया शोभमानां, प्रतिमां जिनबिम्बं, कारय विधापय, दिशन् धर्म्मकथां कुर्व्वन्, रे जीव! भो आत्मन! यदि महसि वाञ्छसि, मत्यर्थं चित्ताऽभिप्रेतम् । अयमाशयः–जिनवस्त्रादिनिवारणान्तरायकर्म्मवश अभीष्टभावस्तव न भविष्यति, इति गाथार्थः ॥ १४ ॥ जीवा० २८ अधि० ।

समर्थः सन् चैत्यद्रव्यपीडामनिवारयन् विसंभोग्यः–

अहुणा चेतिनिमित्तं, जं कायव्वं तगं वोच्छं ।
जो देइ चेतियाणं, खेत्तहिरण्णे व गामगावादी ॥
लग्गंतस्स वि जतिणो, तिकरणसोही कहं णु भवे ?
भण्हति इत्थ विभासा, जो एयाइँ सयं वि मग्गेज्जा ॥
तस्स ण होती सोही, अह कोति हरिज्ज एयाइं ।
तत्थ करेंत उवेहं, जा सा भणिता तु तिगरणविसोहि ॥
सा य ण होति अभत्ती–ऍ तस्स तम्हा णिवारेज्जा ।
सव्वत्थामेण तहिं, संघेणं होति लग्गियव्वं तु ॥ पं०भा० ।

चेइयपरिवाडी स्त्री० (चैत्यपरिपाटी) जिनयात्राक्रमवर्णने, ध०२ अधि० । कल्प० । (चैत्यपरिपाटीकरणादिमहोत्सवः 'अणुजाण' शब्दे प्रथमभागे ३६७ पृष्ठे उक्तः)

चेइयभत्ति स्त्री० (चैत्यभक्ति) चैत्यादिभक्तौ, आव० ३ अ० । ('आलंबण' शब्दे द्वितीयभागे ३९२ पृष्ठे विस्तार उक्तः)

चेइयमह पुं० (चैत्यमह) चैत्यमहोत्सवे, आचा० २ श्रु० १ अ० २ उ० ।

चेइयरुक्ख पुं० (चैत्यवृक्ष) बद्धपीठवृक्षेषु येषामधस्तात्तीर्थकृतां केवलान्युत्पन्नानि । स० । ('चेइयरुक्खं चलेज्जा' इत्यादि 'मणुस्सलोय' शब्दे वक्ष्यते)

भवनपतीनां दश चैत्यवृक्षाः–

एएसि णं दसविहाणं भवणवासीणं देवाणं दस चेइयरुक्खा पण्णत्ता । तं जहा–
''अस्सत्थसत्तवन्ने, सामलिउंबरसिरीसदहिवन्ने ।
बंजुलपलासवप्पा–यए य कण्णियाररुक्खे य ॥ १ ॥''

असुरकुमारादीनां क्रमेणाश्वत्थादयश्चैत्यवृक्षा ये सिद्धायतनादिद्वारेषु श्रूयन्ते।

व्यन्तराणामष्टौ–

एएसि णं अट्ठण्हं वाणमंतराणं देवाणं अट्ठ चेइयरुक्खा पण्णत्ता। तं जहा–

''कालंबो उ पिसायाणं, वडो जक्खाण चेइयं।
तुलसी भूयाण भवे, रक्खसाणं च कंडओ ॥१॥
असोगो किण्णराणं च, किंपुरिसाणं च चंपओ।
नागरुक्खो लुयंगाणं, गंधव्वाणं तु तिंदुओ ॥२॥''

तेषां चैत्यवृक्षाः मणिपीठिकानामुपरिवर्तिनः सर्वरत्नमया उपरि च्छत्रध्वजादिभिरलङ्कृताः सुधर्मादिसभानामग्रतो ये श्रूयन्ते ते एत इति संभाव्यन्ते। ये तु–''चिंधाइ कलंबझए; तुलस वडे तह य होइ खट्टंगे। आसोऐं चंपए वा, नागे तह तुंदुए चेव'' ॥१॥ ति। ते चिह्नभूता एतेभ्योऽन्य एवेति ''कालंबो उ'' इत्यादि श्लोकद्वयं कण्ठ्यम्। स्था० ८ ठा०।

वाणमन्तराणां चैत्यवृक्षमानं, वर्णकश्चैवम्–

वाणमंतराणं देवाणं चेइयरुक्खा अट्ठ जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं पण्णत्ता। स० १ सम०। जी०। तासि णं मणिपेढियाणं उप्पिं पत्तेयं पत्तेयं चेतियरुक्खा पण्णत्ता। ते णं चेतियरुक्खा अद्धजोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धजोयणं उव्वेहेणं दो जोयणाइं खंधा अद्धजोयणं विक्खंभेणं छज्जोयणाइं विडिमा बहुमज्झदेसभाए अद्धजोयणाइं आयामविक्खंभेणं सातिरेगाइं अद्धजोयणाइं सव्वग्गेणं पण्णत्ताइं। तेसि णं चेतियरुक्खाणं अयमेतारूवे वण्णावासे पण्णत्ते। तं जहा– वइरामयमूलरयसुपइट्ठियविडिमा रिट्ठामयविपुलकंदा वेरुलियरुचिलक्खंधा सुजायवरजायरूवपढमगविसालसाला णाणामणिरयणविविहसाहप्पसाहवेरुलियपत्ततवणिज्जपत्तवेंटा जंबूणयरत्तमउयसुकुमालपवालपल्लववरंकुरग्गधरा विचित्तमणिरयणसुरभिकुसुमफलभरियणमियसाला सच्छाया सप्पभा ससिरिया सउज्जोया अमयरससमरसफला अहियणयणमणणिव्वुतिकरा पासाईया दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा। ते णं चेइयरुक्खा अन्नेहिं बहूहिं तिलयलवयछत्तोवगसिरीससत्तवन्नदहिवन्नलोद्धयधवचंदण–नीवकुडयकयंवफणसतालतमालपियालपियंगुपारावयरायरुक्खनंदिरुक्खेहिं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ता। ते णं तिलय० जाव नंदिरुक्खा मूलवंतो कंदवंतो० जाव सुरम्मा। ते णं तिलया० जाव नंदिरुक्खा अण्णेहिं बहूहिं पउमलयाहिं० जाव सामलयाहिं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ता। ताओ णं पउमलताओ० जाव सामलयाओ निच्चं कुसुमियाओ० जाव पडिरूवाओ। तेसि णं चेतियरूक्खाणं उप्पिं अट्ठट्ठमंगला बहवे कण्हचासरज्झया० जाव पडिरूवा। तेसि णं चेतियरूक्खाणं पुरओ पत्तेयं २ मणिपेढियाओ पण्णत्ताओ। ताओ मणिपेढियाओ जोयणं आयामविक्खंभेणं अद्धजोयणं बाहल्लेणं सव्वमणिमईओ अच्छाओ० जाव पडिरूवाओ॥

तेषां च चैत्यवृक्षाणामयमेतावद्रूपो वर्णावासः प्रज्ञप्तः। तद्यथा–''वइरामयेत्यादि।'' वज्राणि वज्रमयानि मूलानि येषां ते वज्रमूलाः, तथा रजता रजतमयी सुप्रतिष्ठिता विडिमा बहुमध्यदेशभागे उर्ध्व विनिर्गता शाखा येषां ते रजतसुप्रतिष्ठितविडिमाः, ततः पूर्वपदेन कर्मधारयःसमासः। ''रिट्ठामय'' इत्यादि। रिष्टमयः कन्दः, तथा वैडूर्यो वैडूर्यरत्नमयो रुचिरः स्कन्धो येषां ते तथा, ततः पूर्वपदेन कर्मधारयः समासः। ''सुजात'' इत्यादि। सुजातं मूलद्रव्यशुद्धं वरं प्रधानं यद् जातरूपं तदात्मका प्रथमका मूलभूता विशाला शाला शाखा येषां ते सुजातवरजातरूपप्रथमकविशालशालाः। ''नाणामणिरयण'' इत्यादि। नानामणिरत्नानां नानामणिरत्नात्मिका विविधाः शाखाः प्रशाखा येषां ते तथा, तथा वैडूर्याणि वैडूर्यमयाणि पत्राणि येषां ते तथा, तपनीयानि तपनीयमयानि पत्रवृन्तानि येषां ते तथा, ततः पूर्ववत् पदद्वयमीलनेन कर्मधारयः। जाम्बूनदा जाम्बूनदनामकसुवर्णविशेषमया रक्ता रक्तवर्णा मृदवो मनोज्ञाः सुकुमाराः सुकुमारस्पर्शा ये प्रवाला ईषदुन्मीलितपत्रभावाः, पल्लवाः संजातपरिपूर्णप्रथमपत्रभावरूपाः वराङ्कुराः प्रथममुद्भिद्यमाना अङ्कुराः, तान् धरन्तीति जाम्बूनदरक्तमृदुसुकुमारप्रवालपल्लवाङ्कुरधराः। क्वचित्पाठः–''जंबूणयरत्तमउय'' इत्यादि। तत्र जाम्बूनदानि रत्नानि, मृदूनि अकठिनानि, सुकुमाराणि अकर्कशस्पर्शानि, कोमलानि मनोज्ञानि, प्रबालपल्लवाङ्कुरा यथोदितस्वरूपाः अग्रशिखराणि च येषां ते तथा। ''विचित्तमणिरयण'' इत्यादि। विचित्रमणिरत्नानि विचित्रमणिरत्नमयानि यानि सुरभीणि कुसुमानि फलानि च तेषां भरेण नमिता नम्राः शालाः शाखा येषां ते तथा, सती शोभना छाया येषां ते सच्छायाः, तथा सती शोभना प्रभा कान्तिर्येषां ते सत्प्रभाः, अत एव सश्रीकाः, सह उद्द्योतेन वर्तते मणिरत्नानामुद्द्योतभावेन सोद्द्योताः, अमृतरससमरसानि फलानि येषां ते अमृतरससमफलाः। अधिकमतिशयेन नयनमनोनिर्वृतिकराः, ''पासाईया'' इत्यादि विशेषणचतुष्टयं प्राग्वत्। ''ते णं चेइयरुक्खा'' इत्यादि। तच्चैत्यवृक्षा अन्यैर्बहुभिस्तिलकलवच्छत्रोपगशिरीषसप्तपर्णदधिपर्णलोध्रकवचन्दननीपकुटजकदम्बपनसतालतमालप्रिया-लप्रियङ्गुपारापतराजवृक्षनन्दिवृक्षैः सर्वतः समन्तात् संपरिक्षिप्ताः। ''ते णं तिलगा'' इत्यादि। ते तिलका यावन्नन्दिवृक्षा मूलवन्तः कन्दवन्त इत्यादि वृक्षवर्णनं प्राग्वत् तावद् वक्तव्यं यावदनेकशकटरथयानशिबिकास्यन्दमानिकाप्रतिमोचनाः सुरम्या इति। ''ते णं तिलगा'' इत्यादि। ते तिलका यावन्नन्दिवृक्षा अन्याभिर्बहुभिः पद्मलताभिः नागलताभिरशोकलताभिश्चम्पकलताभिश्चूतलताभिर्वनलताभिर्वासन्तिकालताभिरतिमुक्तकलताभिः कुन्दलताभिः श्यामलताभिः सर्वतः समन्तात् सम्परिक्षिप्ताः। ''ताओ णं पउमलयाओ जाव सामलयाओ निच्चं कुसुमियाओ'' इत्यादि लतावर्णनं तावद् वक्तव्यं यावत् ''पडिरूवाओ'' इति। व्याख्या चास्य पूर्ववत्। ''तेसि णं'' इत्यादि। तेषां चैत्यवृक्षाणामुपरि अष्टावष्टौ मङ्गलकानि बहवः कृष्णचामरध्वजा इत्यादि पूर्ववत्तावद् वक्तव्यं यावद् बहवः सहस्रपत्रहस्तकाः सर्वरत्नमया यावत् प्रतिरू–

पका इति। ''तेसि णं'' इत्यादि। तेषां चैत्यवृक्षाणां पुरतः प्रत्येकं प्रत्येकं मणिपीठिकाः प्रज्ञप्ताः। ताश्च मणिपीठिका योजनमायाम-विष्कम्भाभ्यामर्द्धयोजनं बाहल्येन सर्वात्मना मणिमय्य अच्छा इत्यादि प्राग्वत्। जी०३ प्रति०।

चेइयवंदण न०स्त्री० (चै(त्य)त्यवन्दन) चित्तस्य भावाः कर्माणि वा ''वर्णदृढादिभ्यः ष्यञ्च'' ॥५।१।१२३॥ (पाणि०) इति ष्यञि चैत्यानि जिनप्रतिमाः, ता हि चन्द्रकान्तसूर्यकान्तमरकतमुक्ताशैलादिदल-निर्मिता अपि चित्तस्य भावेन कर्मणा वा साक्षात्तीर्थकरबुद्धिं जनयन्तीति चैत्यान्यभिधीयन्ते। तेषां वन्दनं स्तवनं कायवाङ्मनः प्रणिधानं चैत्यवन्दनम्। प्रव०१ द्वार। चित्तं प्रस्तावात् प्रशस्तं मनस्तद्भावश्चैत्यं तद्धेतुत्वाज्जिनबिम्बा अपि चैत्यानि, कारणे कार्योपचारात्। तेषां वन्दना पूर्वोक्तशब्दार्था चैत्यवन्दना।

उक्तं च–

''चित्तं मणो पसत्थं, तब्भावो चेइय त्ति तज्जणगं।
जिणपडिमाओ तेसिं, वंदणमभिवायणं तिविहं॥ १॥''

यद्वा–चितेर्लेप्यादिचयनस्य भावः कर्म वा चैत्यम्, तच्च संज्ञाशब्दत्वात् देवताप्रतिबिम्बे प्रसिद्धम्। चूर्णौ तु–'चिती' संज्ञाने, काष्ठकर्मादिषु प्रतिकृतिं दृष्ट्वा संज्ञानमुत्पद्यते। यथा अर्हदादिप्रतिमेति। शेषं प्राग्वत्। ननु भावार्हदादीनामप्येवं वन्दना क्रियते, तत्कथं चैत्यवन्दनेत्युच्यते? सत्यम्–प्रायेणास्याश्चैत्याग्रे करणात्।

तथा च बृहद्भाष्यम्–

''भावजिणप्पमुहाण वि, सव्वेसि वि जइ वि वंदणा तह वि।
चेइयअग्गे काउं, तीरेई वंदणा तेणं॥ २॥
जिणबिंबाभावे पुण, ठवणा गुरुसक्खिया वि कीरंति।
चिइवंदण च्चिय इमा, तत्थ वि परिमिट्ठिठवणाओ॥ ३॥
अहवा जत्थ व तत्थ व, पुरओ परिमिट्ठिठवणाओ।
कीरइ बुहेहिं एसा, नेया चिइवंदणा तम्हा''॥ ४॥
करणत्रिकेण देवप्रणिधाने, संघा० १ प्रस्ता०।

विषयसूची–

(१) अधिकारसंग्रहः।
(२) दश त्रिकाणि।
(३) नैषेधिकीत्रम्।
(४) तत्र भुवनमल्लकथानकम्।
(५) पूजात्रिकम्।
(६) भावनाः।
(७) त्रिदिङ्निरीक्षणवर्जने गन्धारश्रावककथानकम्।
(८) स्तुत्यक्षराणि।
(९) मुद्रात्रिकप्ररूपणम्।
(१०) प्रणिधानम्।
(११) अभिगमः।
(१२) चैत्यवन्दनदिक्।
(१३) अवग्रहः।
(१४) त्रिविधवन्दना।
(१५) स्तुतिविचारः।
(१६) चैत्यवन्दनविधिः।
(१७) जघन्यवन्दनाविचारः।
(१८) अपुनर्बन्धकादयोऽधिकारिणः।
(१९) अधिकारिता।
(२०) नमस्कारद्वारम्।
(२१) संपद्द्वारम्।
(२२) प्रणिपातदण्डके वाराः।
(२३) चतुर्विंशतिस्तवः।
(२४) सिद्धस्तुतिः।
(२५) श्रुतस्य स्तुतिः।
(२६) वीरस्तुतिः।
(२७) वैयावृत्ये स्तुतयः।
(२८) द्वादश अधिकाराः।
(२९) शरणीयद्वारम्।
(३०) जिनद्वारम्।
(३१) यो यत्र स्तूयते।
(३२) येऽधिकारा यत्संमताः स्तुतयः संस्कृतकाव्यानि।
(३३) षोडश आकाराः।
(३४) स्तोत्रलक्षणम्।
(३५) कतिबेलाश्चैत्यानि वन्देत्।
(३६) चैत्यवन्दनकरणविधिः।
(३७) प्रकीर्णकवार्ताः।

(१) तद्विधिं विभणिषुरधिकारसङ्ग्रहमाह–

इह च प्रतिदिनानुष्ठेयं चैत्यवन्दनादिकं संघस्याचारविधिं वक्ष्यामीत्युक्तम्। तत्र तावत्–

''साहूण गिहत्थाण य, सव्वाणुट्ठाणमूलमक्खायं।
चिइवंदणमेव जओ, ता तम्मि वियारणा जुत्ता''॥ १॥

इति वचनात् ''सामाइयट्ठिएहि वि, चउवीसं पुव्वया चेव'' इत्यावश्यकचूर्णिवचनाच्च, प्रथमं चैत्यवन्दनाविधिं बिभणिषुर्भाष्यकारः शास्त्रमुखापरपर्यायं तद्द्वारगाथाचतुष्टमाह–

दहतिय १ अहिगमपणगं, २
दुदिसि ३ तिहुग्गह ४ तिहा उ वंदणया ५।
पणिवाय ६ नमुक्कारं ७,
वण्णा सोलसयसीयाला ८॥ २॥

इह सामान्येन साधुश्रावकादिबहुसमानजिनभवनप्रवेशादिसमयविधीयमाननैषेधिक्यादिप्रणिधानपर्यवसानसकलचैत्यवन्दनाविधानप्रतिपादनप्रधानं त्रिःसंस्थानकनिबद्धं दशत्रिकाख्यं प्रथमद्वारम्–(दहतिय त्ति) दशेति दशसंख्यानि त्रिकाणि नैषेधिकीत्रयादिरूपाणि यत्र द्वारे तद्दशत्रिकम्। वक्ष्यति च–''तिन्नि निसीही'' इत्यादि। अत्र च सर्वत्र विभक्तिलोपादिकं प्राकृतलक्षणवसादवसातव्यम्।१। पुनः ऋद्ध्यवाप्तानृद्धिप्राप्तश्राद्धानधिकृत्य विशेषतश्चैत्यादिप्रवेशविध्यभिधायकं द्वितीयमभिगमद्वारम्– (अहिगमपणगं ति) अभिगमानां चैत्यादिप्रवेशे विधिविषयद्वारं, शेषाणां पञ्चकमभिगमपञ्चकम्। भणिष्यति च–''सचित्तदव्वाओ ज्झाण'' इत्यादि। २। प्रविश्य जिनगृहे विहितयथोचितनैषेधिक्यादिकरणैर्नरनारिगणैर्भावपूजादिविधित्सया स्वस्वोचिता दिग् ज्ञेयेति तृतीयं दिग्द्वारम्–(दुदिसि त्ति) द्वे वामदक्षिणलक्षणे दिशौ काष्ठे क्रमतः स्त्रीपुंसयोर्योग्यतया वन्दनामधिकृत्य समाहृते वर्णिते वा यत्र तद् द्विदिग्। अभिधास्यति च–''वंदंति जिणे दाहिण'' इत्यादि।३। वामेतरदिक्स्थैश्च तैर्जिनात्तु कियत् दूरे वन्दना विधेयेति दिगनन्तरं चतुर्थमवग्रहद्वारम्–(तिहुग्गह त्ति) त्रिधा जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदात् त्रिप्रकारोऽवग्रहो मूलबिम्बवन्दनास्थानाभ्यन्तरालभूभा–

गरूपः । गदिष्यति च-"नवकरजहन्न" इत्यादि ॥४॥ उक्तरूपा च गृहस्थैश्च कियद्भेदा वन्दना कार्येति तद्भेदानभिधाय चैत्यवन्दनाद्वारम्-(तिहा उ वंदण य त्ति) त्रिधा जघन्यादिभेदात्त्रिभेदा। केत्याह-वन्दनेति। "भामा सत्यभामेति" न्यायात् चैत्यवन्दना पूर्वोक्तशब्दार्था। प्रतिपादयिष्यते च-"नवकारेण जहण्णा" इत्यादि। तुशब्दो विशेषणार्थः। तेन ग्रन्थान्तरप्रसिद्धजघन्यादिभेदान्नवधाऽपि, एवमवग्रहोऽपि शास्त्रान्तरोक्तो द्वादशधाऽवसातव्यः। एतच्चोपरिष्टाद् दर्शयिष्यते ॥५॥ चैत्यवन्दना च प्रायः प्रणिपातपूर्वा निरूपितेति तत्स्वरूपनिरूपकं षष्ठं प्रणिपातद्वारम्-(पणिवाय त्ति) प्रणिपातः प्रमाणः, स चात्रोत्-कृष्टतः पञ्चाङ्गो ज्ञातव्यः, नाऽष्टाङ्गः। तस्य प्रवचनेऽप्रसिद्धत्वात्। अध्येष्यन्ति च-"पणिवाओ पंचंगो" इत्यादि ॥६॥ कृतप्रणिपातैश्च प्रथमतो नमस्कारा भणनीयाः, अतः सप्तमं नमस्कारद्वारम् (नमुक्कार त्ति) नमस्कारो जिनगुणोत्कीर्त्तनपरा वचनपद्धतयो, मङ्गलवृत्तानीति यावत्। ते चात्रोत्कृष्टतः पुरुषानाश्रित्याऽष्टोत्तरं शतं ज्ञेयम्। निरूपयिष्यति च-"सुमहत्थनमुक्कार" इत्यादि ॥७॥ नमस्काराश्च वर्णात्मका इति वर्णसंख्याद्वारमष्टमम्-वर्णेत्यदि। यद्वा-सर्वमप्यनुष्ठानमहीनातिरिक्ताक्षरं करणीयं, विपरीते दोषसंभवात्। तथा चागमः-

"अहिए कुणालकइणो, हीणे विज्जाहराइदिट्ठंता।
बालाउराण भोयण-भेसज्जविवज्जओ उभए ॥१॥"

अहीनाद्यक्षरत्वं च वर्णसंख्यापरिज्ञाने सति भवतीत्यष्टमं वर्णसंख्याद्वारम् (वण्णा सोलसयसीयाल त्ति) वर्णा अक्षराणि, ते च सामान्यतोऽत्र चैत्यवन्दनाधिकारे नमस्कारक्षमाश्रमणादिषु नवसु स्थानेष्वपुनरुक्ता ध्रुवं भणनीयाश्च षोडशशतानि सप्तचत्वारिंशदधिकानि ज्ञातव्याः।

तथाहि-

"अडसट्ठि ६८ अट्ठवीसा २८,
नवनउअसयं च १९९ दुसयसगनउया २८७॥
दोणुतीस २२९ दुसट्ठा २६०,
दुसोल २१६ अडनउयसअ १९८ दुवन्नसयं १५२॥१॥
इअ नवकार १ खमासम-
ण३ इरिय ३ सक्कत्थवाइदंमेसु ८।
पणिहाणेसु य ९, अडरु-
त्तवण्णसोलसयसीयाला ॥२॥"

यदिह नवकारादिवर्णपरिसंख्यानं तत्तदादिमूलत्वात्सर्वधर्म्मस्येति ज्ञापनार्थम्। एवं पदादिष्वपि वाच्यम्।

इगसीयसयं तु पया, सगनउई संपयाउ पण दंडा।
वारसऽहिगार चउ वं-दणिज्ज सरणिज्ज चतुहजिणा॥

वर्णेश्च पदानि स्युरिति वर्णद्वारानन्तरं नवमं पदद्वारम् "इगसीय" इत्यादि। एकाशीत्यधिकं शतं पदान्यत्रौघतो नमस्कारदिस्था-नसप्तके ज्ञातव्यानि। तुर्विशेषणे। विशेषश्चायम्- यद्यपि "क्षमाश्रमण, जे य अईया सिद्धा" इत्यादिगतान्यतिरिक्तान्यपि पदान्यप्यत्र सन्ति तथाऽपि पूर्वबहुश्रुतैः संपदादिकं किमपि कारणान्तरमधिकृत्यैव पदानि स्वस्वभाष्यादिषूक्तानीति तन्मार्गानुगामितयाऽस्माभिरप्यत्रैतावन्त्येव तान्युक्तानि, नाधिकानीति। तथा चोक्तं लघुमाष्ये -

"नव वत्तीस तितीसा, ति चत्त अडवीस सोल वीस पया।
मंगलइरिया सक्क-त्थयाइरुं एगसीइसयं ॥१॥"

एवमन्यत्रापि न्यूनाधिकत्वे कारणं वाच्यम् ॥६॥ द्वित्र्यादिभिश्च पदैः संपादा भवन्तीति दशमं संपद्द्वारम्-(सगनउइसंपयाइउ त्ति) सप्तनवतिसंपदोऽर्थविश्रामस्थानानि साङ्गत्येन पद्यते परिच्छिद्यतेऽर्थो याभिरिति व्युत्पत्तेः, संगतार्थपदपद्धतय इत्यर्थः। ताश्चैव सप्तसु स्थानेषूच्यन्ते -

"अट्ठट्ठ नवट्ठय अ-ट्ठवीस सोलस य वीस वीसामा।
मंगल इरिआ सक्क-त्थयाइदंडेसु सगनउई" ॥१॥

तुशब्दो नामस्तवादिषु प्रायो विशेषार्थपरिच्छेदार्थः, परिच्छेदाभावेऽपि संगतपदत्वेन-"पायसमा ऊसासा" इतिवचनाच्च सामान्येन संपदो विश्रामस्थानानि ज्ञेयानीति विशेषयति ॥१०॥ संपदश्च दण्डादिका अत एकादशं दण्डकद्वारम् (पणदंड त्ति) यथोक्तमुद्राभिरस्खलितं भण्डमानतवाद् दण्डा इव दण्डाः, सरला इत्यर्थः। ते चात्र पञ्च शक्रस्तवादयः। प्रतिपादयिष्यति च-"पण दंडा सक्कत्थय" इत्यादि। यदत्र वन्दनाया एव दण्डकाः परिज्ञापिताः नान्येषां, तदस्या एवात्र मुख्यतया प्रस्तुतत्वादिति। एवमधिकार्यादिष्वपि वाच्यम् ॥११॥ दण्डेषु चैकद्व्यादिका अर्थाधिकाराः सन्तीति तत्संख्याख्यापकं द्वादशमधिकारद्वारम्- (वारसऽहिगार त्ति) अधिकारा भावार्हदाद्यालम्बनविशेषस्थानानि, ते च द्वादश दण्डकपञ्चके भवन्ति। अभिधास्यति च-"दो इग दो पंच य" इत्यादि ॥१२॥ अधिकाराश्चाधिकार्यविनाभाविनः, आधेयाभावे आधारव्यपदेशाभावात्, घृताद्यभावे घृतघटादिव्यपदेशाभाववत्। अतोऽधिकारिण आलम्बनापरपर्याया अत्र ज्ञेयाः। ते च द्विधा, वन्दनीयस्मरणीयभेदात्। तत्र प्रथमं सामान्यतः सकलवन्दनीयप्रतिपादकं त्रयोदशं वन्दनीयद्वारम्-(चउवंदणिज्ज त्ति) चत्वारो वक्ष्यमाणा जिनादयोऽत्र वन्दनीयाः प्रमाणार्चार्हाः। निरूपयिष्यति च-"चउवंदणिज्ज जिणमुणिसुयसिद्ध त्ति" ॥१३॥ अधिकारप्रस्तावादेव चतुर्दशं स्मरणीयद्वारम्-(सरणिज्ज त्ति) स्मरणीयाः क्षुद्रोपद्रवविद्रावणादितदुष्टानुचिन्तनादिनोपबृंहणीयाः; सूचनीया इति यावत्। यद्वा-स्मरणीयाः प्रमादादिना विस्मृतं तत्करणीयं तत् सङ्घादिकार्यं च ज्ञापनीयाः। अथवा-सारणीवाः प्रभावनादौ। तत्र हि ते कार्ये प्रवर्तनीयाः; ते चात्राधिकारितया सम्यग्दृष्टयो देवा ज्ञातव्याः, तेषामेव स्मरणाद्यर्हत्वात्। अर्हदादीनां तु वन्दनीयत्वेन प्रागुक्तत्वात् स्मारणादिकर्तृत्वाच्च। भणिष्यति च-"इह सुरा य सरणिज्ज त्ति" ॥१४॥ एवं च सामान्येनाधिकारिण उक्ता इति विशेषतस्तदभिधानार्थं पञ्चदशं जिनद्वारम्- (चउह जिण त्ति) अथवा जिनादयोऽत्र वन्दनीया इत्युक्तम् जिनाः कतिविधा इति तद्भेदोद्भावकं पञ्चदशं जिनद्वारम्-(चउह जिण त्ति) जिना दुर्वाररागाद्यन्तरवैरिवारजेतारः, ते च चतुर्द्धा वक्ष्यमाणनामजिनादिभेदेन चतुःप्रकाराः। वक्ष्यति च-"चउह जिणा नाम" इत्यादि ॥१५॥

चउरो थुई निमित्त-ऽट्ठ वार हेऊ य सोल आगारा।
गुणवीस दोस उस्स-ग्गमाण थुत्तं च सगवेलाः॥

जिनादयः स्तुत्यादिभिः स्तूयन्ते इति जिनद्वारानन्तरं षोडशं स्तुतिद्वारम्। सङ्ग।०। (ताः कति दीयन्तेऽत्र विचा-

रोऽस्मिन्नेव शब्देऽग्रे करिष्यते) कायोत्सर्गानन्तरं स्तुतयो दीयन्त इत्युक्तम्। अथोत्सर्गा एवात्र किमर्थं क्रियन्त इति तत्फलनिरूपकं सप्तदशं निमित्तद्वारम्-(निमित्तऽट्ठ त्ति) निमित्तानि प्रयोजनानि, फलानीति यावत्। अष्टौ अष्टसंख्यानि, इदमत्र हृदयम्-संपूर्णायामस्यां क्रियमाणायां पापक्षपणादीन्यष्टौ फलानि भवन्तीति। प्रतिपादयिष्यति च-"पावक्खवणत्थमिरिया" इत्यादि। यदत्रैर्यापथिक्या अपि फलमुपादर्शि तदीर्यापथिकीप्रतिक्रमणपूर्विकैव परिपूर्णचैत्यवन्दनेति प्रतिपादनार्थम्। एवं तद्धे तु प्रमाण वर्णादीनामपि निरूपणे कारणं वाच्यम् ॥१७॥ फलाष्टकार्थं कायोत्सर्गाः कार्या इत्यभाणि, तत्र न कारणमन्तरेण कार्यप्ररोहसंभावना, बीजेन विनाऽङ्कुरप्रादुर्भावाभाववदिति निमित्तद्वारानन्तरमष्टादशं हेतुद्वारम्- (वार हेऊ व त्ति) हेतवश्च फलसाधनयोग्यानि कारणान्यत्र वक्ष्यन्ते। यथा-तस्स उत्तरीकरण इत्यादि। चशब्दो निमित्तहेतुभिः कश्चित्कथंचन कतिचिन्मन्यत इतिवाचनान्तरप्रदर्शनार्थः। तच्चाग्रे दर्शयिष्यते। इति निमित्तहेतुभिः कृतोऽप्युत्सर्गो नाकारैर्विना निरतिचारः शक्यः पालयितुमित्याकारद्वारमेकोनविंशतितमम्- (सोल आगार त्ति) षोडश आकारा अपवादाः कायोत्सर्गकरणे ज्ञातव्याः। वक्ष्यति च- "अनुच्छयाइ वारस" इत्यादि ॥१६॥ कृते चोत्सर्गे दोषा वर्ज्या इति विंशतितमं दोषसंख्याद्वारम्-(गुणवीस दोस त्ति) एकोनविंशतिर्दोषाः कायोत्सर्गस्थैर्वर्जनीयाः। अभिधास्यति च-"थोडगलय" इत्यादि ॥२०॥ कियन्तं च कालमेवमुत्सर्गः कार्य इत्येकविंशं प्रमाणद्वारम्-(उस्सग्गमाणु त्ति) कायोत्सर्गप्रमाणमत्र ज्ञेयम। वक्ष्यति च-"इरिओस्सग्गपमाण" इत्यादि ॥२१॥ चैत्यवन्दना हि स्तुतिस्तवादिस्वरूपा, तत्र स्तुतयो वन्दनामध्ये दीयमानत्वात् तद्द्वारं षोडशमुक्तम्। स्तवस्तु वन्दनापर्यन्तभावी 'चेइयाइं वंदिऊंति, तओ पच्छा संतिनिमित्तं अजियसंतित्थओ परियट्टिऊइ।" इत्यावश्यकचूर्णिवचनात्, तथैव सकलसङ्घेन क्रियमाणतया करणविधौ समायातत्वाच्च। तथा चावश्यकवृत्तावप्युक्तम्- "चेइआइं वंदिऊंति, तओ संतिनिमित्तं अजियसंतित्थओ कड्ढिऊइ" इत्यतो द्वाविंशं स्तवद्वारम्-(थुत्तं ति) स्तोत्रं चतुःश्लोकादिरूपम्-"चउसिलोगाए परेणं थओ भवइ" इति व्यवहारचूर्णिवचनात् तदत्र भणनीयम्। वक्ष्यति च-"गंभीरमहुरसद्दं" इत्यादि। चशब्दो विशेषकः। तेनात्र पदैकश्लोकादिकं भगवद्गुणोत्कीर्त्तनपरं चैत्यवन्दनायाः पूर्वं भण्यते, ततो मङ्गलवृत्तापरपर्याया नमस्कारा इत्युच्यन्ते। यद्भाष्यम् -

"उद्दामसयं वेया-लि उच्च पढिऊण सुकइबद्धारं।
मगंलचेताइं तउ ,पणिवायथयं पढइ सम्मं ॥१॥"

इति पूर्वं भणनीयत्वादेव नमस्काराणां तद्द्वारं पूर्वं सप्तममुक्तम्। यत्तु कायोत्सर्गानन्तरं भण्यते तत् स्तुतय इति रूढाः, चैत्यवन्दनापर्यन्ते च स्तोत्रमिति,अयमेव चैतेषां परस्परं विशेषः, अन्यथा भगवत्कीर्त्तनरूपतया सर्वेषामप्येषामेकस्वरूपापत्तेः। भणितं चागमे त्रितयमप्येतत्-नमस्कारस्तुतिस्तवा इति। तथा चोत्तराध्ययनसूत्रम्- "थयथुइमंगलेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? थयथुइमंगलेणं नाणदंसणचरित्ताणि, बोहिलाभं च जणयइ। नाणदंसणचरित्तसंपन्नेणं जीवे अंत किरियं कप्पविमाणोववत्तिअं आराहणं आराहेइ।" इत्यादि विमर्शनीयमिदं सूक्ष्मधियेति ॥२२॥ इयं च चैत्यवन्दना दिनमध्ये क्रियन्तो वारानाघतो विधेयेति वेलाप्रमाणप्ररूपकं त्रयोविंशतितमं द्वारम् (सगवेल त्ति) सप्तवेलाः सप्तवारान् दिनान्तरोघतोऽपि वन्दना कार्येति। कथयिष्यति च-"पडिकमणे चेइयजिणमचरिम" इत्यादि ॥२३॥

दसआसायणचाओ, एवं चिइवंदणाइठाणाणि।
चउवीसदुवारेहिं, दुसहस्सा हुंति चउसयरा ॥

चैत्यवन्दनां विदधता विशेषत आशातनाः परिहार्या इति चतुर्विंशतितममाशातनाद्वारम्-(दसआसायणचाओ त्ति) दशानामाशातनानाम् -

"जिणभवणम्मि अवण्णा, पूयाइअणायरो तहा भोगो।
दुप्पणिहाणं अणुचिय-वित्तिं आसायणा पंच ॥१॥"

इति बृहद्भाष्योक्ताऽवज्ञादिपञ्चप्रकाराऽऽशातनाऽन्तर्वर्तिभोगाभिधानतृतीयाऽऽशातनाभेदानां ताम्बूलपानीयादीनां, त्यागः परिहारः कार्यो, जिनगृह इत्युपस्कारः। वक्ष्यति च- "तंबोलपानभोयण" इत्यादि। एतासां चोपलक्षणत्वात् , तुला दण्डन्यायेन वा मध्यग्रहणेनाऽऽद्यन्तयोरपि ग्रहणाच्चतुरशीत्युत्तरभेदावज्ञादिरूपं पञ्चप्रकाराऽप्याशातना वर्ज्येति। एतच्च एतद्दारव्याख्याऽवसरे भणिष्यामः। एवं पूर्वोक्तप्रकारेण चैत्यवन्दनायां स्थानानि भवन्तीति योगः। कै ? चतुर्विंशतिद्वारैः। तत्राद्यगाथायामष्टौ, द्वितीयस्यां सप्त, तृतीयायामष्टौ, चतुर्थ्यामेकं द्वारमिति ।कियन्ति स्थानानि भवन्तीत्याह-द्वौ सहस्रौ चतुःसप्तत्यधिकौ। तत्राद्यद्वारे त्रिंशत्, द्वितिये पञ्च, तृतीये द्वौ, चतुर्थे त्रीणि, पञ्चमे त्रीणि, षष्ठे एकम्, सप्तमे एकम्, अष्टमे षोडशशतानि सप्तचत्वारिंशदधिकानि, नवमे एकाशीत्याधिकं शतम्, दशमे सप्तनवतिः, एकादशे पञ्च, द्वादशे द्वादश, त्रयोदशे चत्वारि, चतुर्दशे एकम्, पञ्चदशे चत्वारि, षडशे चत्वारि, सप्तदशे अष्टौ, अष्टादशे द्वादश, एकोनविंशतितमे षाडश, विंशतितमे एकोन विंशतिः, एकविंशतितमे एकम्, द्वाविंशतितमे एकम्, त्रयोविंशे सप्त, चतुर्विंशतितमे दश। सर्वे मिलिताश्चतुःसप्तत्यधिकसहस्रा भवन्तीति द्वारगाथाचतुष्टयार्थः। सङ्घा०१ प्रका०।

(२) दश त्रिकाणि-

अथ "यथोद्देशं निर्देशः" इति न्यायात् प्रथमं द्वारं व्यचिख्यासुः दशत्रिकप्रचिकटयिषया शास्त्रप्रतिमुखरूपाणि प्रतिद्वाराणि चिरन्तनगाथाद्वयेनाऽऽह-

तिन्नि निसीही तिन्नि य, पयाहिणा तिन्नि चेव य पणामा।
तिविहा पूया य तहा, अवत्थतियभावणं चेव ॥

तिस्रो नैषेधिक्यो गृहादिव्यापारपरिहाररूपाः, जिनगृहादिस्थाने प्रविशता कर्त्तव्या इति क्रिया ऽध्याहारः। एवमन्यत्रापि-"यश्च निम्बं परशुना, यश्चैनं मधुसर्प्पिषा। यश्चैनं गन्धमाल्याभ्यां, सर्वस्य कटुरेव सः ॥१॥" इत्यादिवद् यथाऽनुरूपा क्रियाऽध्याहार्येति प्रथमं त्रिकम्।१॥ तिस्रश्च प्रदक्षिणा दातव्याः, तत्र प्रकर्षेण सर्वासु दिक्षु विदिक्षु च परिभ्रमतां दक्षिणमात्मनो दक्षिणाङ्गभागवर्ति मूलबिम्बंज्ञानादित्रयानुकूल्यकृते यत्र प्रतिपत्तौ सा प्रदक्षिणेति द्वितीयं त्रिकम् ॥२॥ त्रयश्च प्रणामाः प्रकर्षेण-

शीर्षादिना भूस्पर्शादिलक्षणेन नामा नमनानि प्रह्वीभावा जिनस्याग्रे विधेयाः, नमस्कारकरणकाले भक्त्यतिशयख्यापनार्थं त्रीन् वारान् शिरोनमनादि विधेयं, न त्वेकमपि वारमित्येवशब्दो नियुक्तः। यदागमः-"तिक्खुत्तो मुद्धाणं धरणितलंसि नमेइ" त्ति ॥३॥ शिरसा त्रिर्भूमिं स्पर्शयतीत्यर्थः। एकः चशब्दः समुच्चयते, द्वितीयस्तु विशेषणे। स चैकाङ्गादिकमपि प्रणामं कुर्वद्भिर्भूम्याकाश-शिरःप्रभृतिष्वपि सर्वत्र शिरःकराञ्जल्यादि त्रिःपरावर्तनीयमिति विशिनष्टि। एवं च-"पणिवाओ पंचंगो इत्यप्युच्यमानं न विरुध्यते, प्रणिपातभेदाङ्गव्यक्तिख्यापनपरत्वात्तस्याः। यद्वा-भूमौ जानुन्यासशिरः स्पर्शशिरोऽञ्जलिकरणरूपास्त्रयः प्रणामाः शक्रस्तवादौ विधेयाः। उक्तं च-"वामं जाणुं अंचेइ" इत्यादि। अथवाअञ्जलिबन्धोऽद्धावनतता, पञ्जाङ्गश्चेति। अत्रैव वक्ष्यमाणलक्षणास्त्रयः प्रणामा इति तृतीयं त्रिकम् ॥३॥ त्रिविधा च त्रिप्रकारा अङ्गाग्रभावाऽऽत्मिका पुष्पामिषस्तुत्यादिनिर्माप्यस्वभावा पञ्चप्रकाराऽष्टप्रकारसर्वप्रकाररूपा वाऽत्रैव वक्ष्यमाणस्वरूपा पूजाऽर्चा विधेया। तथेत्यागमादुक्तनीत्या तदुक्ताशेषतत्पूजाभेदा-नामत्रान्तर्भावरूपया। उक्तं चैतच्चूर्णौ"तिविहा पूया पुप्फेहिं नेवज्जेहिं थुईहिं, सेसभेया इत्थ चेव पविस्संति त्ति"। यद्वा-तथेति "सयमाणयणे पढमा" इत्यादिस्थानान्तराप्रसिद्धाऽनेकधापूजा-त्रयाणां ख्यापकः, तानि चाग्रे दर्शयिष्यामः। इति चतुर्थं त्रिकम् ॥४॥ अवस्थात्रिकस्य छद्मस्थकेवलिसिद्धत्वरूपस्य, भावनं पुनः पुनश्चिन्तनं, "भावयेद् ज्योतिरान्तरमिति" वचनात्। पिण्डस्थपदस्थरूपातीतध्यानकृते कर्त्तव्यमेवेति, एवशब्दोऽवधारयति। तथैव पिण्डस्थादिध्यानसिद्धेस्तदर्थत्वाच्च सर्वस्याऽपि सद्धर्मानुष्ठानस्योपक्रमस्य, रूपस्थध्यानं तु दर्शनमात्रादपि सिद्ध्यति। उक्तं च-"पश्यति प्रथमं रूपं, स्तौति ध्येयं ततः पदैः। तन्मयः स्यात्ततः पिण्डे, रूपातीतः क्रमाद्भवेत् ॥१॥" इति पञ्चमं त्रिकम् ॥५॥

तिदिसिनिरक्खणविरई, पअभूमिपमज्जणं च तिक्खुत्तो ॥
वन्नाइतियं मुद्दा-तियं च तिविहं च पणिहाणं ॥

तिसृणामूर्ध्वाधस्तिर्यग्रूपाणां वामदक्षिणपाश्चात्यलक्षणानां वा दिशां, निरीक्षणस्यालोकस्य विरतिर्वर्जनं, विदध्यात्। तत्रानुपयोगे वन्दनस्यानादरतादिदोषप्रसङ्गात्, यस्यां दिशि तीर्थकृद्बिम्बं तत्संमुखमेव निरीक्ष्येतेत्यर्थः। यदागमः-"भवणेक्कगुरुजिणिंद-पडिमासु विणिवेसियनयणमाणसेण० जाव चेइए वंदियव्वे" षष्ठं त्रिकम् ॥६॥ पद्भूमेर्निजचरणन्यासभूमेः, सत्त्वादिरक्षार्थं सम्यग् चक्षुषा निरीक्ष्य प्रमार्जनं च त्रिःकृत्वस्त्रीन् वारान् कुर्यात्। उक्तं चागमे "जेइ तिन्नि वारा उ चलणाणं हिट्ठगं भूमिं न पमज्जिज्जा, तो पच्छित्तं" इति सप्तमं त्रिकम् ॥७॥ वर्णादित्रिकं चैत्यवन्दनागताक्षरार्थालम्बनरूपया परिज्ञान सम्यगुच्चारचिन्तनात्रयेणएव एकाग्रतां मनसश्चिन्तयेत्। इत्यष्टमं त्रिकम् ॥८॥ मुद्राणां हस्ताद्यङ्गविन्यासविशेषलक्षणानां त्रयं च योगमुद्राजिनमुद्रामुक्ताशुक्तिमुद्रात्मकं सूत्रपाठसमकभावितया मूलमुद्रात्रयरूपं समस्तप्रत्यूहव्यूहव्यपोहार्थं, सकलसमीहितसंपादनार्थं च, यथा महामान्त्रिको मन्त्रादि स्मरन् वज्रमुद्राकृष्टीमुद्रादिका मुद्राः प्रयुङ्क्ते, तथा चैत्यवन्दनासूत्रोच्चारावसरेऽवश्यं सत्यापनीयत या ज्ञातव्यम्, तदविनाभावित्वात्सूत्रोच्चारस्य, "थयणढो होइ जोगमुद्दाए" इत्यादिवचनात्। दृष्टश्च समुद्रं सूत्रपाठोऽन्यत्राऽपि मन्त्रवेदादौ, परममन्त्रवेदादिकल्पं च सर्वं जिनागमसूत्रम्। "कस्स वि स परममंतो" इति। "अट्ठारस पयसहस्सी उ वेओ" इत्यादिवचनात् अञ्जलिमुद्रापञ्चाङ्गीमुद्रादयस्तु अत्र न परिज्ञाताः, उत्तरमुद्रारूपत्वात्तासामनियतत्वात्, सूत्रपाठसमये अनुपयुज्यमानत्वात्, तथाऽनुक्तत्वात्। सूत्रोच्चारकालात्पूर्वा-परकालभावित्वाद्विनयविशेषदर्शनमात्रफलत्वाच्चैत्यादिवद् अत्र परिज्ञेयमिति नवमं त्रिकम् ॥९॥ त्रिविधं च त्रिभेदं चैत्यवन्दनामुनिवन्दनाप्रार्थनाभेदात् प्रणिधानं, चैत्यवन्दनाऽवसाने विदध्यादिति शेषः। तथा चागमः-"वंदइ नमंसइ" त्ति सूत्रस्य वृत्तिः-वन्दते ताः प्रतिमाश्चैत्यवन्दनाविधिना प्रसिद्धेन, नमस्करोति पश्चात्प्रणिधानादियोगेनेति दशमं त्रिकम्। इति प्रतिद्वारगाथाद्वयसमासार्थः ॥१०॥ उक्तो दशत्रिकाक्षरार्थः।

संघा०१ प्रस्ता०। प्रव०। दर्श०।

(३) नैषेधिकीत्रयम्। अथ भावार्थ उच्यते-तत्र प्रथमं नैषेधिकीत्रिकं भावयन् भाष्यकृदाह -

घरजिणहरजिणपूजा-वावारच्चायओ निसीहितिगं।
अग्गद्दारे मज्झे, तइया चिइवंदणासमए ॥

गृहं च मन्दिरम्, उपलक्षणत्वादादापणादिपरिग्रहः। जिनगृहं च देवगृहम्, जिनपूजा च पुष्पादिभिर्जिनाभ्यर्चनं, तेषां व्यापारस्तद्गतकार्यकारणाचिन्तनादिलक्षण आरम्भः, तस्य त्यागाद्वर्जनाद् नैषेधिकी त्रयं पूर्वोक्तशब्दार्थं, यथार्थनामकं भवतीति गम्यते। तत्र प्रथमा नैषेधिकी-अग्रद्वारे बलानकप्रवेशसमये विधेया। द्वितीया तु मध्ये मुखमण्डपादौ। तृतीया पुनश्चैत्यवन्दनाविधनसमये। इत्यक्षरार्थः। भावार्थस्त्वयम्-जिनभवनादिबहिर्भूतगृहहट्टादिगतक्रयविक्रयादिव्यवहाररूपसावद्यारम्भविधानषेधनिष्पन्ना प्रथमा नैषेधिकी, सा चाग्रद्वारे जिनभवनबलानके वक्ष्यमाण पञ्चविधाऽभिगमविधानपुरस्सरं प्रविशता भुवनमल्लनरेन्द्रवत्कार्या सा। यदुक्तं भाष्ये -

"पंचविहाभिगमेणं, पविसंतो वलाणए निसिहितिगं।
कुज्जा बहि वावारं, न काहमिहिं ति भावितो ॥१॥"

अत्र मनोवचःकायैर्गृहादिव्यापारो निषेध्य इति ज्ञापनार्थमुक्तम्। (निसिहितिगं कुज्ज त्ति) परमेकैवैषा गण्यते, जिनगृहादिबहिर्भावितैकरूपस्यैव गृहादिव्यापारस्य निषिद्धत्वात्। तथा च लघुभाष्यम्-"तणुवयणमाणसाणं, निसीह विसया निसीहियाति त्ति"।

अत्र भुवनमल्लनरेन्द्रकथानकं चैवम् -

"कुसुमपुरी अत्थि पुरी, बहुचउरयणाहि एगचउरयणं।
एगहरिं भूरिहरिहिं, परिहवइ अमरनयरिं जा ॥१॥
हेमप्पहो हरि इव, तत्थऽत्थि निवो गवाहिवो स जओ।
भज्जा य तस्स रंभा, पुत्तो पुण भुवणमल्लु त्ति ॥२॥
सूरो रणम्मि सोमो, नयम्मि वक्को रिउम्मि जो उ बुहो।
सत्थम्मि मईऐं गुरू, नीईऐं कई अघे मंदो ॥३॥
कइया निवं सहत्थं, वित्ती विन्नवइ देव ! बहि एगो।
पुरिसो दट्ठुं इच्छइ, पहुं कहेइ न अ सो अप्पं ॥४॥
मुंच त्ति निवुत्ते जा, मुक्को पत्तो य रायदिट्ठिपहं।

ता हसिअ निवो भणई , किं अप्पं करह ! गोवेसि ॥५॥
सो भणइ कयपणामो, पहु ! कीरउ भेऽवयारणं करहो ।
कह चिरदिट्ठो ओल-क्खिओ मि नामं च सरियं मे ॥६॥
भणइ निवो उवयारी, वीसरसी तुमं जमप्पिया तुमए ।
रम्भा दिवे विवाहे, थविय कणयपाउया मज्झ ॥७॥
इ संभासिय पुट्ठो, आगमणपओअणं निवेण इमो ।
भणइ पहु ! अत्थि सिरिसे-णनिवइधूया रयणमाला ॥८॥
सा कुंदरयणमाला, सुरयणमाल व्व वरगुणसमेया ।
जो कुणइ राहवेहं, स मे वरो इय कयपयन्ना ॥९॥
राया तु भुवणमल्लं, इच्छइ स भयणिसुअं वरं न वरं ।
कुमरीगिरमवमन्नइ, जाणंतो कुमरकोसल्लं ॥१०॥
इअ पेसिओ निव ! इहं, ता कुमरो तिच्चवेउ यऽविलंवं ।
नियदंसणामएणं, सिरिसेणनरिंदमणनयणे ॥११॥
नियइ निवो गणयमुहं, तो स भणइ पवरमज्ज जुत्तदिणं ।
चिंतइ निवो धुवा कुम-रभद्दसेणी सविहलग्गा ॥१५॥

यत उक्तम् -

लघुस्थानान्यविघ्नानि, संभवत्साधनानि च ।
कथयन्ति पुरः सिद्धिं, कारणान्येव कर्मणाम् ॥१३॥

मणपवणसउणपरियण-अणुकूलत्तेण तो भुवणमल्लो ।
चंपापुरीअभिमुहं, चलिओ चउरंगबलकलिओ ॥१४॥
सिद्धत्थपुरसमीवे, जा पत्तो ता नरेहिं तप्पहुणा ।
विन्नत्तो जह कीरउ, वीर ! सरवणे इहावासो ॥१५॥
तत्थावसिउ कुमारो, नियइ वणं विम्हिओ समंता जा ।
ता पिच्छइ हयनयरह-सुहमसमूहं समूहमितं ॥१६॥
किमियं ति कुमरपुट्ठा, भणंति सिद्धत्थपुरनिवनरा ते ।
न मुणेसु परं संभा-विज्जइ सिरिमूलदेवनिवो ॥१७॥
जं तुम्हागमइत्तणं-समया स मन्नइ खणं पि ।
वरिससमं ति इमे जा, कहंति ता विन्नवइ वित्ती ॥१८॥
सिद्धत्थपुरनिवो पहु !, गयउत्तिन्नो पएहिं एइ त्ति ।
तो कुमरो अत्थइ जा, पत्तो ता स झ त्ति तहिं ॥१९॥
अइरूववविजियमारं, दट्ठु कुमारं घस त्ति धराणंवरो ।
मुच्छावसा स पडिओ, हा हा सद्दो पुणुच्छलिओ ॥२०॥
कुमरेण संसभममह, चंदणसेयाइणोवयारेण ।
संलद्धचेयणो किं, वाहइ तुम्हं ति सो पुट्ठो ? ॥२१॥
ओणयवयणो न देइ, उत्तर नियइ बलिरदिट्ठीए ।
कंडूअइ स य कन्नं, पायंगुट्ठेन लिहइ भुवं ॥२२॥
किमियं ति कुमरपुट्ठो, सिरिसेहरमंतिनंदणो सीहो ।
कुमरवयं सो साहइ, पहु ! इह न मुणिज्जई किं पि ।
नवरं इओ अदूरे, गम्मिज्जउ देव ! जेण वरणाणी ।
सिरिअभयघोससूरी,ख समागओ अत्थि इह जो उ ॥२४॥
मेरु व्व महियजलही, सूरो विव निहयविसमतक्खरणो ।
दोसुम्मूलणरसिओ, रवि व्व हारु व्व पवरगुणो ॥२५॥
सव्वपरिग्गहरहिओ, विरइयसारंगसंगहो सयया ।
विहियसयलक्खविजओ, एगसंसारभयभीओ ॥२६॥
तो कुमारो सो य निबो, गंतूणं तत्थ नमिय सूरिपए ।
उवविसइ उचियठाणे, तो सिरि कहइ इय धम्मं ॥२७॥
लहिउं सुदुल्लहं पुर-भवाइसामग्गिमित्थ भवहरए ।
सद्दंसणपरिभट्ठा, मा दुहिया भमह कुम्म व्व ॥२८॥
हरपरिमियत्तणा अवि, लहिज्ज ससिदंसणाइ सो कुम्मो ।
न उ पुण वि जओ बोहिं, भवऽणंतत्ता अकयसुकओ ॥२९॥
ता सोतुमिमं सम्मं, अरिहं देवो सुसाहुणो गुरुणो ।
जिणपण्णत्तं तत्तं, इत्थ पहाण ति कुणइ मइं ॥३०॥

भणियं च-

मुत्तूण जिणं मुत्तू-ण जिणमयं जिणमए वि ए मुत्तुं ।
संसारकन्नधारं, चिंतिज्ज तं जगं सेसं ॥३१॥
सद्दंसणसुद्धिकए, कायव्वा वंदणा जिणाण सया ।
तिनिसीहाईदसगं, तत्थ य नेयं जहा विहिणा ॥३२॥
अह भणइ भुवणमल्लो, भयवं ! कह मुच्छिओ ममं दट्ठुं ।
स मयणरमणिवियारे, कहं व पुरिसो वि कुणइ इमो ? ॥३२॥
भणइ गुरू भद्द ! पुरा, सीहपुरे आसि रयणसारनिवो ।
गंग व्व सुई सुदया, तस्स पिया मयणरेह त्ति ॥३४॥
अलियविलीयविरत्ते, कइआइ निवम्मि साऽणुरत्ता वि ।
उव्वंधेऊण मया, अवमाणदुहं असहमाणा ॥३५॥

जओ -

अलियाववायअभिदू-मीययजीवस्स सुद्धहियय्यस्स ।
होइ वहं तस्स पुणो, चंदणरससीयलोऽग्गी वि ॥३६॥
देवच्चणदाणदया-इसुद्धभावा उ सा इहुप्पण्णा ।
सिद्धत्थपुरे सुंदर-निवधूआ मूलनक्खत्ते ॥३७॥
अह सहसा कालगओ, राया जं मे इमीइ तो कुणई ।
सुमइअमच्चो पयडिय-पुत्तत्तं रज्जअभिसेयं ॥३८॥
मरिऊण रयणसारो, जाओ सि तुम इहागए दिट्ठे ।
पइपुव्वभवब्भासा, एई एए सरिउ नेहो ॥३९॥
किं मह इमम्मि पीई, एवं ति इमेइ विमरिसंतीए ।
जाए जाईसरणे, तं जायं जं तए पुट्ठं ॥४०॥
भुत्तं संसारसुहं, नाउं दइयस्स नेहपरिणामो ।
दिट्ठो मालवदेसो, खद्धा मंडा य अग्घाणा ॥४१॥
इह भणइ मूलदेवा, मुणिवइवयणा उ जायवेरग्गो ।
पडिवज्जइ पव्वज्जं, रज्जं दाउं कुमारस्स ॥४२॥
कुमरो पुण संमत्तं, गिण्हइ चिइवंदणाइनियमजुयं ।
अह गुरुणा गुरुकरुणा-परेण एवं स अणुसिट्ठो ॥४३॥
लब्भंति सुरसुहाइं, लब्भंति नरिंदपवररिद्धीओ ।
न उणो सुबोहिरयणं, लब्भइ मिच्छत्ततमहरणं ॥४४॥
जह गहणाण गवनां, आहारो रोहणो य रयणाणं ।
सिंधूण जहा जलही, चाउव्विहविणयसीलमित्थीणं ।
तह सम्मत्तं गिहिणो, जइणो वि विभूसणं परमं ॥४६॥
ता मा कासि पमायं, सम्मत्ते सव्वदुक्खनासणए ।
जं सम्मत्तपइट्ठा-इँ नाणतवविरियचरणाइं ॥४७॥
इत्थं ति भणिय कुमरो, तो भन्नतो कयत्थमप्पाणं ।
बहु बहुमाणं नमिउं, गुरुपयपउमं गओ सिबिरं ॥४८॥
सिद्धत्थपुरे गंतुं, सुमइअमच्चं तहिं ठविय रज्जे ।
चलिओ पुरओ पत्तो, अडविं कालिंजरं जाओ ॥४९॥
खग्गाभिघायभज्जं-तमत्तमायंगवियड कुंभयडा ।
विलसिरससकुंतसरच-क्कवायया संगरधर व्व ॥५०॥
तत्थ दसजोअणंते, आवासी य जाव वरुणनइतीरे ।
कुमरो नियइ वणाइं, ता पिच्छइ रिसहजिणभवणं ॥५१॥
तो तत्थ निसीहितिगं, काउं जा पविसइ नियइ ताव ।
जिणपूयवावडाओ, अमरीओ भत्तिनमिराओ ॥५२॥
अह दट्ठुं निप्पडिमं, कणगमयं रिसहसामिणो पडिमं ।
कुमरो वियसियवयणो, वंदिअ विहिणा थुणइ एवं ॥५३॥

विश्वत्रयैकदर्शन ! सहस्रदर्शननतक्रम ! जिनेन्द्र !।
सवणंतपत्तदंसण !, अणंतदंसण ! चिरं जयसु ॥५४॥
पूर्वाकृतसुकृतानां, पूर्वाशीलितविसुद्धशीलानाम्।
अविहियतघाव पुव्विं, न होइ तुह दंसणं चेव ॥५५॥
भवशतकृतमपि पापं, त्वद्दर्शनतो विलीयते नाथ !।
पिंडीभूअं पि घयं, दुअं जहा जलिरजलणाओ ॥५६॥
समयोऽयमेव शस्यः सलक्षणोऽसौ क्षणस्तदहरनघम्।
पक्खो वि सो सपक्खो, जयवधव ! दीससे जत्थ ॥५७॥
द्रष्टमदृष्टे वाञ्छा, दृष्टे त्वयि नाथ ! विरहजं दुःखम्।
इय जइ दुहा वि न सुहं, तहा वि सुह दंसणं होतु ॥५८॥
पूर्वोर्जितसुकृतकृतं, भाविशुभनिबन्धनं हरति चैनः।
इय कालत्तयसुहयं, जिणाण तुह दंसणं दुलहं ॥५९॥
स्वामिन् ! स्वदर्शनं कुरु, तथा यथा स्यात्पुनर्न तदभावः।
जच्चधवेयणाओ, चक्खुक्खयवेयणा दुसहा ॥६०॥
नामाऽपि नाथ ! यस्ते, वरमन्त्रसधर्म कीर्तयति तस्य।
मिच्छादंसणदोसो, लहु नासइ किं परं भणिमो ? ॥६१॥
य इति जिन ! त्वामन्यू-नदर्शनान्यूनदर्शनं नौति।
स विशुद्धदर्शनः श्रय-ति सत्वरं सर्वदर्शिंत्वम् ॥६२॥
इय थोउ चेइयं जा, सविम्हयं नियइ सव्वओ कुमरो।
ता पिच्छइ पच्छिमदिसि, कमलललामं च पुक्खरिणिं ॥६३॥
गंतु तत्थ जलेणं, महुरेणं सीयलेण विमलेणं।
गुरुवयणेण व अप्पं, सोहिय जा विस्समइ सुत्थो ॥६४॥
ता गुजाहलहारो, सलसइसालाकरो हलिद्दनिहो।
एगो समागओ तत्थ वानरो वानरीजुत्तो ॥६५॥
समणुयगिराइ कुमरं, पणमिय भणइ पहु ! असरण्णसरण !।
सुदय ! पवण्णसुदक्खिण, ! कुमर ! मह सुणसु वित्तंतं ॥६६॥
इह अडवीइ सया वि हु, वानरजूहाहिवत्तमासी मे।
एसा उ वल्लहा तह, पाणेहि वि वल्लहा निच्चं ॥६७॥
तं मह जूहं इण्हिं, वणंतरगयस्स वानरेण बला।
अवहरिओ अत्तेणं, तं तु समत्थो वि णिग्गहिउं ॥६८॥
नवरं न देइ मह तेण जुज्झिउं नेहकायरा एसा।
अहमवि इमं न सक्के-मि इत्थ एगागिणिं मुत्तुं ॥६९॥
संपइ तुमं महायस !, मणनयणूसवकरो सुबंधु व्व।
परउवयारिक्कपरो, दिट्ठो पुण्णोदएण मए ॥७०॥
ता जाव अहं रिउवा नरं लहुं निहणिऊण एमि इहं।
ता नेहभीरु एसा, निरुद्दवा ठाउ तुह पासे ॥७१॥
इय भणिय तइ मुत्तुं, गओ इमो चिंतए तओ कुमरो।
कह मणुअगिरा एसो, वयइ पवन्न इव मईपुव्वं ॥७२॥
बलिअरिउणा पियं जा, निहयं न सुणामि ता मम वि जुत्तं।
मरणं ति भणिय कुमर-स्स वानरी पडइ वाविं तो ॥७३॥
न हु मह इमीइ सरणा गयाइ मरणं उविक्खिउं उचिअं।
इह ताइ कड्ढणत्थं, झंपावइ तत्थ जा कुमरो ॥७४॥
तावन्न वावि न जलं, न वानरी तत्थ किं तु अप्पाणं।
वरमणिमयपासाए, पल्लकगयं नियइ कुमरो ॥७५॥
अह अ नियंता कुमरं, भिच्चा गंतु कहंति मंतीणं।
ते वि हु सन्निहियबला, तं कयजत्ता गवेसंति ॥७६॥
आगम्मनाग एगो, अह कुमरं पइ पयंपइ इहं भो !।
मा किं पि चिंतियऽन्नं, कारणओ तं मयाऽऽणीओ ॥७७॥
को तं किमाणिओ हं, इअ कुमरुत्ते नरो भणइ सुणसु।
अमिअगई असुरोऽहं, कीलाभवणं च मह एयं ॥७८॥
कइआ दइआसहिओ, उज्जिंते समएँ केवलिं जंतुं।
चलिओ निएमि मग्गे, जोगिअभिक्कं मसाणंते ॥७९॥
रत्तंदणकयतिलयं, परिहियमिगवम्मचित्ततयदुप्पं।
कसिणाहि जोगवट्टं, मिल्हत्तं गरुयहुंकारं ॥८०॥
तस्सऽग्गे जलिरानिल-कुंडं यामम्मि कन्नगं चेव।
रुच्चमाणिं रत्तंदण लित्तं कणवीरमालिन्नं ॥८१॥
तं जा खिविही जलणे, स मए ता तज्जिओ अरे पाव !।
असमंजसमिअ काउं, कत्थिण्हिं वच्चसि ह्ययास ! ॥८२॥
तो सो भीओ कन्नं, मुत्तु नट्ठो दया इमे मुक्को।
पत्तो अहं पि रवेय गिरिम्मि तं बालिअं नहिउं ॥८३॥
तत्थ सुरिसुमइकेवलि मुणिणो कमकमलममलमहं।
पणमित्ता आसीणो, सुणामि इय दंसणं अणहं ॥८४॥
"कोहो अप्पीइकरो, उव्वेयकरो य सुगइमिद्दलणो।
वेराऽणुबंधजणणो, जलणो वरगुणगणवणस्स ॥८५॥
कोहंधा निहणंति य, पुत्तं मित्तं गुरुं कलत्तं च।
जणयं जणिं च अप्पिं, पि निग्घिणा किं च ण कुणंति ॥८६॥
कोहऽग्गीपज्जलिओ, न केवलं डहइ अप्पणो देहं।
संताविइ य परं पि हु, पहवइ परभवविणासाय ॥८७॥
ता कोहमहाजलणो, विज्झवियव्वो खमाजलेण सया।
अन्नह दुसहं दुक्खं, देइ जह इमीइ बालाए ॥८८॥"
भयवं कोहवसेणं, इमीइ पत्तं दुहं कहं ति मया।
पणमिय पुट्ठो स कहे-इ केवली असुर ! निसुणेहि ॥८९॥
कयमंगलापुरीए, धणसिट्ठिसुया उ बालविहवाऽऽसी।
जयसुंदरी ति तीसे, भत्तिजुया भायरा पंच ॥९०॥
जिट्ठस्स पुणो भज्जा, न वट्टए तीइ सह सया सम्मं।
तं परिणावइ अन्नं, कन्नं सा मच्छरिल्लमणा ॥९१॥
तीइ कयं जं किं पी, दूसइ तह दुहइ दुट्ठवयणेहिं।
गयलज्जा संमुहमुत्तरं दयइ भाउजाया बि ॥९२॥
जिणभवणमागयाओ, वि परुप्परविलियभासणेण इमा।
अन्नाण वी निसीहियभंगाइं कुणंति विकहतए ॥९३॥

जओ-

जो होइ निसिद्धप्पा, निसीहिया तस्स भावओ होइ।
अनिसिद्धस्स निसीहिय, केवलमित्तं भवइ सद्दो ॥९४॥
मिहो कहाओ सव्वाओ, जो वज्जेइ जिणालए।
तस्स निस्सिहिया होइ, इह केवलिभासियं ॥९५॥
इह अट्ठवसट्ठओ, परुप्परं दो वि कलहमाणाओ।
विज्झए दड्ढाओ, मरिउं, जायाओ वग्घीओ ॥९६॥
पुव्वब्भासा अन्नुन्नदंसणा जायतिव्वरोसाओ।
जुज्झिय मरिउं तत्तो, पत्ताओ तइयनरयम्मि ॥९७॥
तत्तो उवट्टिय गयउरम्मिपुव्वभवविहियसुकयवसा।
भाउज्जायाजीवो, जाया सिरिसूरनिवजाया ॥९८॥
तीसे गब्भें धुयत्ताइ नणंदजिओ उ उप्पन्नो।
अरई मणसंतावं, उव्वेयं जणइ अइगरुअं ॥९९॥
विहिएसु वि तप्पाडणहेछसएसुं न जाव सा पडिया।
तो जाया पयमेउं, मय त्ति दासीएँ छड्डविया ॥१००॥
तद्दिवसपसूयाए, तीए पुण अप्पियाएँ धूयाए।
तत्थ य पालिज्जंती, सा बाला वड्ढिया एत्तो ॥१०१॥
कीलंती डिंभेहिं, अहऽन्नया जोगिएण भोलविउं।
अइरुद्दमंतसाहणहेउं नीया मसाणे सा ॥१०२॥
जा छिविही सा जलणे, ता तुमए मोइउं इहाणीया।
इअ नाउं भो अप्पा, कसाइयव्वो न थोवं पि ॥१०३॥

भणियं च-

अणथोवं वणथोवं, अग्गीथोवं कसायथोवं च।
न हु भे विस्ससिअव्वं, थोवं पि हु तं बहुं होइ ॥१०४॥
दासत्तं देइ अणं, अइरा मरणं वणो विसप्पंतो।
सव्वस्स दाहमग्गी, दिंति कासाया भवमणंतं ॥१०५॥
सा भणइ सरियजाई, भयवं ! सव्वं पि मेऽणुभूयमिणं।
ता इण्हिं कुण करुणं, दुहा वि जह होमि निस्संगा ॥१०६॥
भणइ मुणी गिहिधम्मस्स इण्हि उचिया तुमं जओ अत्थि।
पुव्वकयदेवपूया-इसुकयसंभूयभोगफलं ॥१०७॥

जओ-

देवच्चणेण रज्जं, भोगा दाणेण रूवमभएणं।
सोहग्गं सीलेणं, तवेण मणवंछिया सिद्धी ॥१०८॥
सा भणइ तुम्ह सव्वं, पच्चक्खं नाह ! नवरि मज्झ कहं।
अविरयसुराण मज्झट्ठयाइ निव्वट्टिइ गिहिधम्मो ॥१०९॥
तो केवलिण भणियं, भद्दे ! कालिंजराइ अडवीए।
सिरिरिसहनाहभवणम्मि तुज्झ पूयं रयंतीए ॥११०॥
हेगप्पहरायसुओ, तत्थ समागच्छिही भुवणमल्लो।
जिणनमणत्थं विहिणा, काउं निस्सीहियातियगं ॥१११॥
तेण समं रज्जसुहं, माणित्ता पालिउं च गिहिधम्मं।
पडिवज्जिय पव्वज्जं, लहिही अइराऽमरट्ठाणं ॥११२॥
अह तीए गिहिधम्मे, पडिवन्ने नमिअ केवलिस्स मए।
इच्छाए णं विहियं, विजयपयम त्ति से नामं ॥११३॥
अह कुमर ! अज्ज एसा, जाव गया चेइयम्मि पूयत्थं।
ता कयनिसीहियतिगो, जिणनमणत्थं तुमं पत्तो ॥११४॥
निस्सीहियं कुणंतं, दट्ठु इमा सूरीहिं भणिय त्ति।
जो केवलिणा कहिओ, धुवं इमो भुवणमल्लो सो ॥११५॥
अह ताहिं वाविपमुहं, काउ पवंचं तुमं इहाऽऽणीओ।
ता तिइ पाणीगहणेण कुन्नसु मह पत्थणं सहलं ॥११६॥
कुमरो भणइ पमाणं, आएसो नवरि गम्मउ बलम्मि।
न विरहिओ परियणो, दुहेण गमिही खणं पि जओ ॥११७॥
आरोविउं विमाणे, कुमरं सिविरम्मि नेइ जा असुरो।
ता सहसा उल्लोअं, हट्ठु सचिवाइणो विंति ॥११८॥
भो दुं पि ता तए जा, हरिओ जेण कुमरो तओ क्खोहं।
चइयह वहसल्ला साहसस्स दइवो वि न हु किं पि ॥११९॥

यतः -

सत्त्वैकतानमनसां, स्फूर्जदूर्जस्वितेजसाम्।
दैवोऽपि शङ्कते चैषां, किं पुनर्मानवो जनः ॥१२०॥
इय ते जा साडोवा, हुंति सुणंति त्ति ताव अमरगिरं।
सत्तप्पहाण अवितहभिहाण जय सिरीभुवणमल्ल ॥१२१॥
परउवयारपरायण, पुरिसेसुं तुब्भ दिजए लेहा।
पसुमित्तस्स वि कज्जे, गणेसि पाणे तिणसमाणे ॥१२२॥
इय सुणिय जायहरिसा, ते ओयरियं विमाणओ कुमरं।
पणमंति तयं असुरं, देवीसहियं तु तुट्ठमणा ॥१२३॥
तो सो असुरो हिट्ठो, कुमरेण विवाहए तयं धूयं।
सप्पणयं भणइ तहा, वच्छे सुण मज्झ वयणमिणं ॥१२४॥
निर्व्याजा दयिते ननान्दृषु नता श्वश्रूषु नम्रा भवेः,
स्निग्धा बन्धुषु वत्सला परिजने स्मेरा सपत्नीष्वपि।
पत्युर्मित्रजने सनर्मवचना, खिन्ना च तद्वेषिषु,
स्त्रीणां संवननं ननूचितमिदं चित्तौषधं भर्तृषु ॥१२५॥

आमं त्रि ती वुत्ते, असुरो सपियस्स भुवणमल्लस्स।
वत्थाभरणाइ बहुं, दाउं पत्तो सठाणम्मि ॥१२६॥
कुमरो वि तओ चलिओ, पत्तो चंपाइ तमह वुत्तंतं।
सिरिसेणनिवो सोउं, इय चिंतइ हरिसिओ हियए ॥१२७॥
तम्मि कुले उप्पत्ती, सो विणओ तं कलासु कोसल्ल।
सोको वी पुण पब्भारपगरिसो अत्थ एयस्स ॥१२८॥
जेणं लीला इंधिय, धुवं करिस्सिही राहवेहं ति।
निव्वुयहियओ राया, कुमरं संठवइ वरभुवणे ॥१२९॥
अह सज्जिअ राहावे-हमंडवे रयणथंभसोहिल्ले।
मंचोवरि वरसीहासणोवविट्ठेसु निवईसु ॥१३०॥
कुमरो असुरऽप्पियए, वरवत्थआहरणभूसियसरीरो।
परिहारदंसियम्मि, णिवसइ सीहासणे रम्मे ॥१३१॥
इत्तो य रयणमाला, कुमरी सियसिचयसारलंकारा।
सिवियारूढा पत्ता, तत्थुवविट्ठा पिउच्छंगे ॥१३२॥
अह सिरिसेणनिवेणं, घ्रणियं भो भो निवा ! निवइपुत्ता !।
जो राहमिणं विंधइ, सो कन्नाए इमाइ वरो ॥१३३॥
जा मंडवमज्झे सुदिट्ठकणयथंभोवरि अहोवण्णा।
वरकंचणपुत्तलिया, ठविया तीसेउ हिट्ठम्मि ॥१३४॥
चउ चउ चक्काई दाहिणेण वामेण वेगभरियाइं।
तेसिं अहो भूमीए, तिल्लजुआ कुंडिया ठविया ॥१३५॥
तत्थ पडिविंबयाए, पंचालीए अहो नियंतेणं।
विधेयव्वा वामच्छितरिया सावहाणेण ॥१३६॥
तह इह पत्ताण मए, सव्वेसिं खत्तियाण नामाइं।
भुज्जेसु लिहावेउं, मिम्मयगोलेसु खित्ताइं ॥१३७॥
ठवियाइं ताइ इह सायकुंभकुंभम्मि संति कड्ढंते।
अम्हं पुरोहियम्मी, गोलो किर नीहरइ जस्स ॥१३८॥
सो राहावेहम्मी, ववसायं कुणइ इय ववत्थ त्ति।
तत्थ पुरोहियहत्थे, अह पढमे गोलए चलिए ॥१३९॥
नामम्मि वाइए तह, अउज्झनयरीएँ पहु जस्स अंगरुहो।
मयरद्धयकुमरो वट्ठिऊण सक्के करेइ धणुं ॥१४०॥
पुव्वभणिएण विहिणा, मुक्को वि हु अप्पडित्तु अयरम्मि।
सुचरणमुणिहियए इव, भग्गो मयरद्धयस्स सरो ॥१४१॥
एवं राहावेहे, विहियारंभेसु खत्तिअवरेसु।
उट्ठेइ भुवणमल्लो, कुमरो इह अवसरे पत्ते ॥१४२॥
सज्जीकयधण्णुगुणो, अंतरमह लहिय मुक्कअसमसरो।
राहावेहं साहइ, गंठीभेयं व भव्वजिओ ॥१४३॥
जयतालादाणपरे, जणम्मि कुमरेठ हट्ठतुट्ठमणो।
तो सिरिसेणनरिंदो, परिणावइ रयणमालं तं ॥१४४॥
कयसंमाणे अन्ने, नियनियठाणे निवे विसज्जेइ।
कुमरो वि कइचि दिवसे, सुहेण तत्थेव ठाऊण ॥१४५॥
सिरिसेणनिवमणुन्नविय बहुयपरिवारपणइणीसहिओ।
पत्तो नियम्मि नयरे, पिऊण पणमेइ पयपउमं ॥१४६॥
भुत्तुत्तरं च सीहो, कुमरवयंसो कहेइ सव्वं पि।
रण्णो जं जह वित्तं, ता जाव इहागओ कुमरो ॥१४७॥
धम्मत्थिणा अह निवेणाहूय कयाइ सव्वदंसणिणो।
पुट्ठा धम्मं तेहि उ, कहिए चिंतइ इमं राया ॥१४८॥
जत्थ न विसयविराओ, न संगवाओ जिएसु विणिवाओ।
किह हुज्ज सो वि धम्मुत्ति चिंतिउं ते विसज्जेइ ॥१४९॥
कहइ कुमारो इच्छा, धम्मं जइ णाउ ताय ! जइणो वि।
ता पुच्छय मुणिणो रक्खियंगिगयसंगजियऽणंगा ॥१५०॥

निवआएसा तो वित्तिणा उ खुड्डो समाणिओ एगो।
स निवेणुत्तो खुड्डय ! जइ धम्मं मुणसि ता कहसु ॥१५१॥
ता सो अक्खुहियमणो, धम्मरहस्सं इमं ति भणमाणे।
सुक्कुल्लमट्टिगोलयदुगं निवग्गे खिवइ कुड्डे ॥१५२॥

राजा -

खुड्डय ! इय खुड्डम्मि, धम्मरहस्सं न किं पि बुज्झामो।

क्षुल्लकः -

नरवर ! ता एगमणो, सुण भणियं जमिह गोलेहिं ॥१५३॥
उल्लो सुक्को य दो छूढा, गोलया मट्टिया मया।
दो वि आवडिया कुड्डे, जो उल्लो सो वि लग्गई ॥१५४॥
एवं लग्गंति दुम्मेहा, जे नरा कामलालसा।
विरत्ता उ न लग्गंति, जहा से सुक्कगोलए ॥१५५॥
विम्हइयमणो निवई, मुणिसत्तम ! सुट्ठु उवइट्ठं।
इय थोऊणं तह नमिय खुड्डयं तो विसज्जेइ ॥१५६॥
अह वीयदिणे राया, रज्जं दाऊण भुवणमल्लस्स।
सिरिअभयघोसगुरुणो, पासे दिक्खं पवज्जेइ ॥१५७॥
हेमप्पहरायरिसी, दुवालसंगीसु पत्तसूरी उ।
बोहइ रवि व्व वसुहासरसीऍं भवियसरसिरुहे ॥१५८॥
अह निवइभुवणमल्लो, पयाविओ चेव विजियरिउमल्लो।
साहम्मियवच्छल्लं, करेइ वंदेइ जिणचंदे ॥१५९॥
पवयणपवभावणपरो, तिन्निनीसीहीपमुक्खसुयविहिणा।
पविसिय चेइहरेसुं, अच्चाओ जिणाण अच्चेइ ॥१६०॥
रहजत्तपत्तसोहं, अट्ठाहियमहमहणीयजणमोहं।
सयलं पि णियं रज्जं, सुणइ सुराणं पि कयभुज्जं ॥१६१॥
तत्थाऽऽगयहेमप्पह गुरूणो वयणं सुणो वि कइया वि।
पुत्तम्मि ठविय रज्जं, विजयपडायाऍं संजुत्तो ॥१६२॥
पडिवज्जइ पव्वज्जं, निसेहिउं तिविहसव्वसावज्जं।
अब्भसइ दुविहसिक्खं, सो मुणिसीहो भुवणमल्लो ॥१६३॥
इच्छा मिच्छा तहका-र आवसी तह निसीहिया पुच्छा।
पडिपुच्छच्छंदेण निमं-तणा य उपसंपया दसमा ॥१६४॥
इय सामायारिपुरो, निसेहिउं सयलअंतरारिबलं।
तो स निसेहियकिरिओ, सिवं गओ सविजयपडागो ॥१६५॥

श्रुत्वेतिवृत्तमनिवृत्तवरेण्यपुण्य -
पण्याऽऽपणं भुवनमल्लनरेश्वरस्य।
त्रैकालवित् त्रिजगदीशजिनस्य गेहे,
नैषेधिकीत्रिककृतौ कृतिनो ! यतध्वम्" ।१६६। सङ्घा०१ प्रस्ता०।

अथ वलानकप्रवेशसमयविहितनैषेधिकीत्रयानन्तरं जिनदर्शने "नमो जिनेभ्यः" इति भणित्या प्रणामं च कृत्वा सर्वं हि प्रायेणोत्कृष्टं वस्तु कल्याणकामैर्दक्षिणभाग एव विधेयमित्यात्मनो दक्षिणाङ्गभागे मूलबिम्बं कुर्वन् ज्ञानादित्रयाराधनार्थं प्रदक्षिणात्रयं करोति। उक्तं च-

"तत्तो नमो जिणाणं, ति भणिय अद्धोणयं पमाणं च।
काउं पंचंगं वा, भत्तिभरनिब्भरमणेणं ॥१॥
पूअंगपाणिवा-रपरिगओ गहिरमहुरघोसणं।
पढमाढो जिनगुणगण-निबद्धमंगल्लथुत्तीइं ॥२॥
करधरियजोगमुद्दो, पए पए पयणिरक्खणाउत्तो।
दिज्जा पयाहिणतिगं, एगग्गमणो जिणगुणेसु" ॥३॥

अवि य -

मुत्तूण जं किंचि वि देवकज्जं, नो अन्नमट्ठं तु विचिंतइज्जा।
इत्थीकहं भत्तकहं विवज्जा, देसस्स रन्नो न कहं कहिज्जा ॥१॥
मम्माणुवेहं न वइज्ज वक्कं, न जम्मकम्माणुगयं विरुद्धं।
नालीयपेसुन्नसुकक्कसं वा, थोवं हियं धम्मपरं लविज्जा ॥२॥
गिहचेइएसु न घडइ, इयरेसु वि जइ वि कारणवसेण।
तह वि न मुंचइ मइमं, सया वि तक्करणपरिणामं ॥३॥

यथा च चैत्येषु भावार्हत्वमारोप्य शक्रस्तवपाठः, पञ्चयिधाभिगमश्चेति भावार्हत्प्रतिपत्तिर्विधीयते, तथा तत्र प्रदक्षिणात्रयमपि दातव्यं, दत्ताश्च तिस्रः प्रदक्षिणा विजयदेवेन निजराजधानीसिद्धायतने, व्याख्यातं चैतत्तृतीयोपाङ्गजीवाभिगम-विवरणे श्रीहरिभद्रसूरिभिः। तथा अमिततेजः खेचरेश्वरचैत्यगृहे चारणश्रमभ्यां ताः प्रदत्ताः, बालचन्द्रया च विद्याधर्या वैताढ्योपरितने सिद्धायतने कृताः, वसुदेवेन हरिकूटपर्वतोपरितन-सिद्धायतने विहिताः। एतच्च सर्वं वसुदेवहिण्डौ प्रतिपादितम्। सङ्घा०१ प्रस्ता०। (हरिकुटादिसम्बन्धो 'वसुदेव' शब्दे)

जिनगृहप्रवेशे प्रणामत्रिकम् -

प्रदक्षिणात्रयानन्तरं च देवगृहलेपकपोतकपाषाणादिघटापनकर्म्म-करसारादिकरणेत्यादिजिनगृहविषयव्यापारपरम्पराप्रतिषेधरूपां द्वितीयां नैषेधिकीं मध्ये मुखमण्डपादौ कृत्वा मूलबिम्बसंमुखं प्रणामत्रिकं करोति।

यद्भाष्यम् -

"ततो निसीहियाए, पविसित्ता मंमवम्मि जिणपुरओ।
महिनिहियजाणुपाणी, करेइ विहिणा पणामतियं ॥१॥
तयणु हरिसुल्लसंतो, कयमुहकोसो जिणिंदपडिमाणं।
अवणेइ रयणिवसियं, निम्मल्लं लोमहत्थेणं ॥२॥
जिणबिंबहेपमज्जणंतो, करेइ कारेइ वा वि अन्नेणं।
जिणबिंबाणं पूयं-तो विहिणा कुणाइ जहजोगं ॥३॥
अह पुव्वं चिअ केणई, हविज्ज पूया कया सुविहवेण।"

तां च विशिष्टान्यपूजामन्यसामग्र्यभावे नोत्सारयेत्, भव्यानां तद्दर्शनजन्यपुण्यानुबन्धिपुण्यानुबन्धस्यान्तरायप्रसङ्गात्।

किं तु -

"तं पि सविसेससोहं, जह होइ तहा तहा कुज्जा ॥४॥
निम्मल्लं पि न एवं, भन्नह निम्मल्ललक्खणाभावा ॥
भोगविणट्ठं दव्वं, निम्मल्लं विंति गीयत्था" ॥५॥

यज्जिनबिम्बारोपितं सद्विच्छायीभूतं विगन्धिसंजातं दृश्यमानं च निःश्रीकतया न भव्यजनमनःप्रमोदहेतुस्तन्निर्माल्यं ब्रुवन्ति बहुश्रुताः।

एवमङ्गपूजां वक्ष्यमाणां चाग्रपूजां कृत्वा चैत्यवन्दनां चिकीर्षुस्त्वेवं-विधं निर्माल्यमेवं च नेत्येवं निर्णयो न क्वाऽपि दृश्यते।

"इत्तो चेव जिणाणं, पुणरवि आरोवणं कुणंति जहा।
वत्थाहरणाईणं, जुगलियकुंडलियमाईणं ॥६॥"

नैवं चेत् -

"कहमन्नह एगाए, कालाईए जिणिंदपडिमाणं।
अट्ठसयं लूहंता, विजयाई वन्निया समए" ॥७॥

आगमेऽर्हदर्थसार्थसमानयनादिरूपो जिनपूजाविषयोऽपि सावद्य-व्यापारो देववन्दनाऽवसरे न कार्यः, यथोचितदिगवग्रहस्थस्तृतीयां जिनपूजाकरण-व्यापारपरित्यागरूपां नैषेधिकीं करोति। पुष्पफल-पानीयनैवेद्यप्रदीपप्रमुख एव "सव्वत्थव तिवारं, सिराइ नमणे पणामतियं।" यद्वा भावितम्- "तिन्निनिसीही तिन्नि य पयाहिणं" इत्यर्थः। तत्र यदुक्तम्- "करेइ

विहिणा पणामतियं ति। तत्प्रणामस्वरूपनिरूपिकेयं गाथा "अजलिबंधो अद्धोणओ य पंचगओ य तिपणामो"। अञ्जलिबन्धरूप इत्यरयायमर्थः- स्वाम्यादिदर्शनविज्ञापनादिसमये भक्तिकृते करद्वययोजनेति त्रिकद्वयम्। संप्रति "तिन्नि चेव पणामेत्ति" तृतीयं त्रिकं भावयन्नाह-"अंजलिबंधो गाहा" प्रक्षेपा सोपयोगा चेति व्याख्यायते-इहैकः प्रणामोऽञ्जलिकरणं, शीर्षादौ वा अञ्जलिना करणं, तत्र च परिभ्रम्य विज्ञापनाकृते मुखादिप्रदेशे संस्थापनम्। यथाऽऽगमः "चक्खुप्फासे अंजलिपग्गहणं"। तथा- "अंजलिमउलियहत्थे तित्थयराभिमुहे सत्तट्ठपयाइं अभिगच्छइ"। तथा- "सिरसावत्तं दसनहं मत्थए अंजलिं कट्टु एवं वयासी।" तथा-"सिरसावत्तं दसनहं मत्थए अंजलिं कट्टु जएणं विजएणं बद्धावेइ, वद्धावित्ता एवं वयासी" इत्यादि। उपलक्षणमेतदेकहस्तस्याप्यूर्द्ध्वी-करणादेः नौरवाद्यर्हप्रतिपत्तये तथाकरणस्य लोके दर्शनात्। अन्यस्त्वर्द्धावनतरूप ऊर्द्ध्वादिस्थानस्थितैः किञ्चिच्छिरोनमनं शिरःकरादिना भूपदादिस्पर्शनं चैत्यादिस्वरूपः। उक्तं चागमे-"आलोए जिनपडिमाणं पमाणं करेइ।"

तथा बृहद्भाष्ये -

"तत्तो नमो जिणाणं, ति भणिय अद्धोणयं पणामं च।
काउं पंचंगं वा, भत्तिभरनिब्भरमणेण ॥१॥" त्ति।

एकाङ्गादि चतुरङ्गान्तं प्रणामम्, उपलक्षणमिदम्- अर्द्धानि न सर्वाणि, प्रकृताङ्गमध्यादङ्गान्यवनतानि यत्र प्रणामे सोऽर्द्धावनत इति व्युत्पत्तेः। अपरस्तु पञ्चाङ्ग पञ्च न चत्वार्यपि, अङ्गानि जानुद्वयादीनि भूस्पृष्टानि यत्र स पञ्चाङ्गः। उक्तं च-

"दो जाणू दुन्नि करा, पंचमगं होइ उत्तमंगं तु।
संमं संपणिवाओ, नेओ पंचंगपणिवाओ" ॥१॥

एते त्रयः प्रणामाः सर्वत्र वा भूम्याकाशशिरः प्रभृतिषु उक्तप्रणामेषु वा प्रणामकरणकाले त्रीन् वारान् शिरःकराञ्जल्यादेर्नमनावर्तन्त-दिना प्रणामत्रिकं भवति कर्त्तव्यं, विजयदेववत्। विशेषविषयस्त्वत्र एव द्वारावसरव्याख्यानतो, बहुश्रुतपर्युपास्तेश्च ज्ञातव्यः॥ सङ्गा १ प्रस्ता०। प्रव० (पूर्वसूचितविजयदेवसम्बन्धोऽन्यत्र)

(५) उक्तम्-"तिन्नि निसीही तिन्नि य, पयाहिणा तिन्नि चेव य पणामे" त्ति त्रिकत्रयम्। संप्रति चतुर्थं पूजात्रिकं सकलगाथयाऽनेकधा भावयन्नाह-

अंगग्गभावभेया, पुप्फाहारत्थुईहि पूयतिगं।
पंचोवयार अट्ठो-वयार सव्वोवयारा वा॥

अङ्ग च जिनप्रातिमागात्रम्, अग्रं च तत्पुरोभागः, भावश्च चैत्यवन्दनागोचर आत्मनः परिणामविशेषः। कैः कुत्वेत्याह-पुष्पहारस्तुतिभिर्यथाक्रममिति गम्यम्।

यदुक्तं बृहद्भाष्ये -

"अंगम्मि पुप्फपूआ, आमिसपूआ जिणग्गओ बीया।
तईया थुइथुत्तगया, तासि सरूवं इमं होई"॥

चैत्यवन्दनाचूर्णावप्युक्तम्-"तिविहा पूआ पुप्फेहिं नेविज्जोहिं थुईहिं य, सेसभेया इत्थ चेव पविसंति त्ति।" उत्तराध्ययनेषु पुनरेवम्- "तित्थयरा भगवंतो, तस्स चेव भत्ती कायव्वा, सा पूआ वंदणाईहिं हवइ, पूयं पि पुप्फामिसथुईपडिवत्तिभेयं चउव्विहं पि जहासत्तीए कुज्ज त्ति" ललितविस्तरादौ तु-पुष्पामिषस्तोत्रप्रतिपत्तिपूजानां यथोत्तरं प्राधान्यमिति। सङ्गा०१ प्रस्ता०। (एताश्चैत्यशब्दे दर्शिता अपि विस्तरभिया तत्रानुक्ता अपि सदृष्टान्ताः सङ्गाचारात वसेयाः) त्रिदिग्निरिक्षणविरतिः-यस्यां दिशि तीर्थकृत्प्रतिमा तत्संमुखमेव निरीक्षणं विधेयं, न पुनरन्यादिकत्रयसंमुखं, चैत्यवन्दनस्यानादरतादिदोषप्रसङ्गात्। यथा चैत्यवन्दनं कर्तुकामेन सत्त्वादेः रक्षणनिमित्तं सम्यक् चक्षुषा निरीक्ष्य निजचरणनिक्षेपभूमेः प्रमार्जनं त्रिवारं विधेयं, तच्च ग्रहिणा वस्त्राञ्चलेन, व्रतिना तु रजोहरणेनेति।

"वन्नाइतियमिति" विवृणोति-

"वन्नत्थालंवणओ, वन्नइतियं वियाणेज्ज त्ति"।

वर्णा अकारककारादयः, अर्थः शब्दाभिधेयम्, आलम्बनं प्रतिमादिरूपमेतस्मिन् त्रितये उपयुक्तेन भवितव्यम्।

तत्रालम्बनं यथा-

"अष्टाभिः प्रातिहार्यैः कृतसकलजगद्विस्मयः कान्तकान्तिः, सिञ्चन् पीयूषपूरैरिव सदसि जनं स्मेरदृष्टिप्रपातैः॥
निःशेषश्रीनिदानं निखिलनरसुरैः सेव्यमानः प्रमोदादर्हन्नालम्बनीयः स्फुरदुरुमहिमा वन्दमानेन देवान्॥१॥"

"मुद्यातिगं चेति" व्याचष्टे -

"जिणमुद्दजोगमुद्दा, मुत्तासुत्ती उ तिन्नि मुद्दाओ त्ति"।

जिनमुद्रा, योगमुद्रा, मुक्ताशुक्तिमुद्रा चेति मुद्रात्रयं ज्ञातव्यम्। प्रव०१ द्वार।

(६) उक्तम्-"तिविहा पूया य तह त्ति" चतुर्थं पूजात्रिकम्। पूजां च कुर्वतो भगवतोऽवस्थात्रिकं भावनीयमिति पञ्चमं त्रिकं पर्यायाभ्यामाह-

भाविज्ज अवत्थतियं, पिंडत्थपयत्थरूवरहियत्तं।
छउमत्थ केवलित्तं, सिद्धत्थं चेव तस्सऽत्थो॥

भावितार्था। ननु च-"पिण्डस्थं च पदस्थं च, रूपस्थं रूपवर्जितम्। ध्यानं चतुर्विधं ज्ञेयं, संसारार्णवतारकम्" ॥१॥ इति चतुर्धा ध्यानवेदिभिर्ध्यानमुच्यते। अत्र त्ववस्थात्रिकेण ध्यानत्रयमुक्तामतोऽत्र चतुर्थं ध्यानं कथं स्यात्? उच्यते-रूपस्थध्यानं हि जिनविम्बादिदर्शनतः प्रथममेव संजायते। यत उक्तम्-"पश्यति प्रथमं रूपं, स्तौति ध्येयं ततः पदैः। तन्मयः स्यात्ततः पिण्डे, रूपातीतः क्रमाद्भवेत्॥१॥" इति स्यादेव यथोक्तध्यानसिद्धिः। सङ्गा०१ प्रस्ता० (अवस्थात्रयभावना सङ्गाचारात् विस्तरेण ज्ञेया)

प्ररूपिता सिद्धावस्था, तत्प्रतिपादनेन च निरूपितमवस्थात्रिकभावनमिति पञ्चमं त्रिकम्। तच्च दिक्त्रयालोकनवर्जनेन सम्यक् स्थादित्यतः "तिदिसिनिरिक्खणविरइ" त्ति षष्टत्रिकस्वरूपनिरूपणार्थं गाथामाह-

उच्चाहो तिरियाणं, तिदिसाण निरिक्खणं चइज्जऽह वा।
पच्छिमदाहिणवामा - ण जिणसंमुहत्थदिट्ठिजुओ॥

प्रेक्षपा सुगमा च। नवरं तुर्यपदस्येयं भावना-

"आलोयबलं चक्खुं, मणुओ तं दुक्करंथिरं काउं।
रूवेहिं तहिं खिप्पइ, सभावओ वा सयं चलइ॥१॥
तह वि हु नामियगीवो, विसेसओ दिसितियं न पेहिज्जा।
तत्थुवओगाभावे, दंसणपरिणामहाणी उ॥२॥"

उक्तं च महानिशीथे-"भुवणेक्कगुरुजिणिंदपडिमाविणिवेसिय-

नयणमाणसेण धण्णो हं सपुण्णो हं ति जिणवंदणाए सहलीकयजम्मु त्ति मन्नमाणेण विरइयकरकमलंजलिणा हरियतणुबीयजंतुविरहि-भूमीए निहिओभयजाणुणा सुपडिपुडसुविदियनीसंकजहत्थसु-त्तत्थोभयं पए पए भावमाणेणं० जाव चेइए वंदियव्वे"। सङ्घा०१ प्रस्ता०। ध०।

(७) गन्धारश्रावककथा-

"वेयड्ढगिरिस्स समा-सन्ने गंधारजणवए।
गंधसमिद्धे नथरे, गंधारो नाम सावओ ॥१॥

सो उ पव्वइउकामो पव्वइएहिं दुक्खेण तित्थाइ नमिज्जंति त्ति सव्वतित्थयराणं जम्मणनिक्खमणनाणुप्पत्तिनिव्वाणभूमीओ दट्ठुं निग्गओ।

तत्थ -

जम्मपुरि दो वि णीया, सावत्थी दो अउज्झ कोसंबी।
वाणारसि चंदउरी, कायंदी भद्दिलपुरं च ॥२॥
सीहपुरचंपकंपि-ल्लकज्झरयणउर ति गयपुरमिहिला।
रायगिहमिहिलसोरिय-पुर वाणरसी य कुंडपुरं ॥३॥
उसभस्स पुरिमताले, नाणं वीरस्स जंभियाएँ बही।
नेमिस्स रेवए व य, नाणो सेसाण जम्मपुरे ॥४॥
अट्ठावयम्मि उसभो, वीरो पावाएँ रेवए नेमी।
चंपाएँ वासुपुज्जो, सम्मेए सेसजिण सिद्धा ॥५॥

इति तित्थाइं दट्ठुं पडिनियत्तो जाव पव्वयामि त्ति लाहे वेअड्ढगिरिगुहाए उसहाइसव्वतित्थयराणं सव्वरयणचिंचइयाओ कणगपडिमाओ साहुसगासे सुणित्ता ताओ दच्छामि त्ति तत्थ गओ, तत्थ देवयाराहणं करित्ता विहाडियाओ पडिमाओ, तत्थेगो सावगो थयत्थुईहिं थुणंतो अहोरत्तं नियसिओ"। इति निशीथे।

तत्र स्तोत्रम् -

"नम्राऽऽखण्डलमौलिमण्डलमिलन्मन्दारमालोच्छल-
त्सान्द्रामन्दमरन्दपूरसुरभीभूतक्रमाम्भोरुहान्।
श्रीनाभिप्रभवप्रभुप्रभृतिकॉस्तीर्थङ्करान् शङ्करान्,
स्तोष्ये साम्प्रतकाललब्धजननान् भक्तया चतुर्विंशतिम् ॥१॥
नन्द्यान्नाभिसुतः सुरेश्वरनतः संसारपारं गतः,
क्रोधाद्यैरजितं स्तुवेऽहमजितं त्रैलोक्यसंपूजितम्।
सेनाकुक्षिभवः पुनातु विभवः श्रीसंभवः शंभवः,
पायान्मामभिनन्दनः सुवदनः स्वामी जनानन्दनः ॥२॥
लोकेशः सुमतिस्तनोतु विनतश्रेयःश्रियं सन्मति-
र्दम्भद्रोः कलभं मदेभशरभं प्रस्तौमि पद्मप्रभम्।
श्रीपृथ्वीतनयं सुपार्श्वमभयं वन्दे विलीनामयं,
श्रेयस्तस्य न दुर्ल्लभं शशिनिभं यः स्तौति चन्द्रप्रभम् ॥३॥
बोधिं नः सुविधे ! विधेहि सुविधे ! कर्म्मद्रुमौघप्रधे,
जीयादम्बुजकोमलक्रमतलः श्रीमान् जिनः शीतलः।
श्रीश्रेयांसजयः स्फुरद्गुणचयः श्रेयःश्रियामाश्रयः,
संपूज्यो जगतां श्रियं वितनुनां श्रीवासुपूज्यः सताम् ॥४॥
मोक्षं वो विमलो ददातु विमलो मोहाम्बुवाहानिलो-
ऽनन्तोऽनन्तगुणः सदा गतरणः कुर्यात्क्षयं कर्म्मणः।
धर्म्मो मे विपदश्च्युतं शिवपदं दद्यात्सुखैकास्पदं,
शान्तिस्तीर्थपतिः करोत्विभगतिः शान्तिं कृतान्तःक्षितिः ॥५॥
कुन्थुर्मेघरवो भवादवतु बो मानेभकण्ठीरवो,
भक्तया नम्रनरामरं जिनवरं प्रातःस्मरं नौम्यरम्।
श्रीमल्लेखनतक्रमोज्झिततमो मल्लेऽस्तु तुभ्यो नमो,
विश्वार्च्यो भवतः स पातु भवतः श्रीसुव्रतः सुव्रतः ॥६॥
लोभाम्भोजनमेश्वरोपम ! नमे ! धर्मे धियं धेहि मे,
वन्देऽहं वृषगामिनं प्रशमिनं श्रीनेमिमं नेमिनम्।
श्रीमत्पार्श्वजितं स्तुवेऽस्तवृजिनं दान्ताक्षदुर्वाजिनं,
नौमि श्रीत्रिशलाऽङ्गजं गतरुजं मायालताया गजम् ॥७॥
इत्थं धर्म्यवचोवितारनरचितं वर्यं स्तवं मुद्वतः,
सद्धर्मद्रुमसेकसंवरमुचां भक्त्याऽर्हतां नित्यशः।
श्रेयः कीर्तिकरं नरः स्मरति यः संसारमाकृत्य सोऽ-
तीतार्तिः परमे पदे चिरमितः प्राप्नोत्यनन्तं सुखम् ॥८॥
(कर्तृनामगर्भीष्टदलकमलम्)
जिन तव गुणकीर्त्ते विश्वविघ्ने सुकीर्ते,
विगलदपरकीर्तेर्यद्दिगरा धर्म्मकीर्त्ते,
सितकरसितकीर्तेः सुद्धधर्म्मैककीर्ते।
स्तुतिमहमचिकीर्तें तक्षितानङ्गकीर्ते ॥१॥
जय वृषभ जिनाभिष्टूयसे निस्तनाभि-
र्जडिमरविसनाभिर्यः सुपर्वाङ्गनाभिः।
नुम इह किल नाभिक्षोणिभृत्सूनुनाभि-
हृतभुवनमनाभिः, क्षान्तिसंपत्कनाभिः ॥२॥
प्रकटितवृषरूप त्यक्तानिःशेषरूप-
प्रभृतिविषयरूप ज्ञानविश्वस्वरूप।
जय चिरमसरूपः पापपङ्काम्बुरूप,
त्वमजित निजरूपप्राप्तसज्जातरूपः ॥३॥
जय मदगजचारिः संभवान्तर्भवारि-
व्रजभिदहितवारिश्रीर्न केनाप्यवारि।
यदधिकृतभवारि श्रंस नः श्रीभवारिः,
प्रशमशिखरिचारिप्राणमद्वानवारिः ॥४॥
अकृतशुभनिवारं योऽत्र रागादिचारं,
सुविनतमघवारं संचरद्दुःखवारम्।
मदनदहनचारं दोलितान्तर्भवारं,
नमत सपरिवारं तं जिनं सर्वदाऽरम् ॥५॥
तव जिन ! सुमते न प्रत्यहं तद्यतेन,
स्तुतिरिति सुमतेन कृत्तमो निष्कृतेन।
यदिह जगति तेन द्राग् मया संमतेन,
धुवमितदुरितेन श्रीश ! भाव्यं हितेन ॥६॥
परिहृतनृपसद्म श्रीजिनाधीश पद्म-
प्रभ सदरुणपद्मद्युत् तपोहंसपद्म।
त्वदखिलभविपद्मव्रातसंबोधषद्म,
स्वजनगतविपद्मय्येतु शर्माङ्गपद्म ॥७॥
दुरितमिभगमोहं पूर्विकार्च्यक्रमो ह-
न्त्यसमतमशमोऽहङ्कारजिद् यः समोहम्।
कृतकरणदमो हन्तास्तलोभं तु मोहं,
मतिहृतमसमोऽहं तं सुपार्श्वं तमोहम् ॥९॥
समतृणमणिभावः ज्ञातनिःशेषभावः,
प्रहतसकलभावप्रत्यनीकप्रभावः।
कृतमदपरिभावः श्रीशचन्द्रप्रभाव,
द्विजपतितनुभाव त्यक्तकामस्वभाव ॥९॥
जिनपतिसुविधे यः स्यात्त्वदाज्ञाविधेय-
प्रवहण इह धेयः प्रस्फुरद्भागधेयः।
त्रिजगदनभिधेय श्लाध्यसन्नामधेय,
अयति शुभविधेयस्तम्भसद्रूपधेय ॥१०॥

य इह निहतकामं मुक्ताराज्यादिकामम्,
प्रणतसुरनिकामं त्यक्तसद्भोगकामम्।
नमति स निजकामं प्राप्यते त्वां प्रकामं,
श्रयत कृतमकामं सार्विका श्रीः स्वकामम् ॥११॥
विषमविशिखदोषा चारिवारप्रदोषा,
प्रतिविशति सदोषाऽप्यस्य किं कालदोषा।
य इह वदनदोषाषार्चिषाऽक्षालिदोषा,
तनुकमलमदोषा श्रेयसा शस्तदोषा ॥१२॥
कृतकुमतपिधानं सत्त्वरक्षाविधानं,
विहितदमविधानं सर्वलोकप्रधानम्।
असमशमनिधानं शं जिनं संदधानं,
नमत सदुपधानं वासुपूज्याभिधानम् ॥१३॥
भवदवजलवाहः कर्म्मकुम्भाज्यदाहः,
शिवपुरपथवाहस्त्यक्तलोकप्रवाहः।
विमलजयसुवाहः सिद्धिकान्ताविवाहः,
शमितकरणवाहः शान्ततृम्हव्यत्राहः ॥१४॥
जिनवरविनयेन श्रीविशुद्धाशयेन,
प्रवरतरनयेन त्वं नतोऽनन्त ! येन ॥
भविकमल चयेन स्फूर्जदूर्जस्वनेन,
द्विरदगतिनयेन तेन भाव्यं नयेन ॥१५॥
जडिमरविस धर्म्म प्रोक्तदानादिधर्म्म,
विदितनिखिलधर्म न्यक्कृताप्राज्ञधर्म्म।
जय जिनवरधर्म त्यक्तसंसारिधर्म्म।
प्रतिनिगदितधर्म्म द्रव्यमुख्यार्थधर्म्म ॥१६॥
यदि नियतमशान्तिं नेतुमिच्छोपशान्तिं,
समभिलपत शान्तिं तद् द्विधा दत्त शान्तिम् ॥
विहितकलशान्तिं जन्मतोऽप्यात्तशान्तिं,
नमत विगतशान्तिं हे जनाः ! देवशान्तिम् ॥१७॥
ननु सुरवरनाथ ! त्वं सदाऽनाथनाथ,
प्रथितविगतनाथः किं त्वहं कुन्थुनाथ ! ॥
प्रकुरु जिन ! सनाथ ! स्यां यथाऽऽद्योपनाथ।
प्रणतविबुधनाश्च ! प्राज्यसच्छिष्यनाथ ! ॥१८॥
अवगमसवितारं विश्वविश्वेशितारं,
तनुरुचिजिततारं सद्दयासान्द्रतारम्।
जिनमभिनमतारं भव्यलोकावतारं,
यदि पुनरवतारं संसृतौ नेच्छतारम् ॥१९॥
अनिशमिह निशान्तं प्राप्य यः सन्निशान्तं,
नमति शिवनिशान्तं मल्लिनाथं प्रशान्तम्।
अधिपमिह विशान्तं श्रीर्गता चावशान्तं,
अयति दुरितशान्तं प्रोज्झय नित्यं च शान्तम् ॥२०॥
नमन तमथवा सत्प्रोल्लसच्छुद्धवासः,
परिहृतगृहवासस्यांशके यस्य वासः।
विहित शिवनिवासः प्रत्तमोहप्रवासः,
स मन इह भवासः सुव्रतो मेऽध्युवास ॥२१॥
समनमयत वालः शात्रवान् योऽप्यबाल-
प्रकृतिरसितवालः स्रस्तरुग्चक्रवालः।
जयतु नमिरवालः सोऽधरास्तत्प्रवालः,
श्वसितविजितबालः पुण्यवल्ल्यालवालः ॥२२॥
जिन मदनमुने मे नानिशं नाथ नेमे,
निरुपमशमिनेमे ये न तुल्यं विनेमे।
निकृतिजलधिनेमेः सीरमोहद्रुनेमे,
प्रणिदधति न नेमे ते नरा अप्यनेमे ॥२३॥
अहिपतिनृपपार्श्वं छिन्नसंमोहपार्श्वं,
दुरितहरणपार्श्वं संनमद्यक्षपार्श्वम्।
अशुभतमनुपार्श्वं न्यक्कृतामंशुपार्श्वं,
वृजिनविपिनपार्श्वं श्रोजिनं नौमि पार्श्वम् ॥२४॥
त्रिदिशविहितमानं सप्तहस्ताङ्गमानं,
दलितमदनमानं सदगुणैर्वर्द्धमानम्।
अनवरतममानं क्रोधमत्यस्यमानं,
जिनवरमसमानं संस्तुवे वर्द्धमानम् ॥२५॥
विगलितबृजिनानां नौमि राजि जिनानां,
सरसिजनयनानां पूर्णचन्द्राननानाम् ॥
गजवरगमनानां वारिवाहस्वनानां,
हतमदमदनानां मुक्तजीवासनानाम् ॥२६॥
अविकलकलतारा प्रीणताथांशुतारा-
भवजलनिधितारा सर्वदा विप्रतारा ॥
सुरनरविनतारा त्वार्हतीगीर्वतारा-
दनवरतमितारा ज्ञानलक्ष्मीं सुतारा ॥२७॥
नयनजितकुरङ्गीमिन्दुसद्रोचिरङ्गी-
मिह कुलमनुरङ्गीकृत्य चिन्तातरङ्गी।
स्मृतिरिह सुचिरं गीर्देवतां यस्तरङ्गी,
कुरुत इममरङ्गीत्यादि कृद्बन्धुरङ्गी ॥२८॥

(इति द्विवर्णमितांह्रियत्यष्टकस्तुतयः)

"तस्स निम्मलरयणेसु न मणागमवि लोभो जगओ, देवया चिंतेइ-अहो माणुसमलुद्धंति। तुट्ठा देवया, वूहि वरं भणंति उवट्ठिया। तओ संवेगेण लवियं-नियच्चो हं माणुस्सएसुं कामभोगेसु किं वरेण कज्जं ति। अमोहं देवयादरिस्रणं ति भणित्ता देवया अट्ठसयं गुलिआणं जहाचिंतिय-मणोरहाणं पणमेइ, तओ य निग्गओ। सुयं च णेण-

"वीयभए नयरे वी, सव्वालंकारभूसिया दिव्वा ॥
देवावयारिया सा, एगा मणतोसिणी पडिमा।
तं पडिमं दच्छामि ति, तत्थ गओ वंदिया पडिमा ॥४१॥
तत्थ गओ स गिलाणो, जाओ पडिचारिओ य कुज्जाए।
अट्ठसयं गुलियाणं, तीए दाउं स पव्वइओ ॥४२॥
अह एगगुलियभक्खण-पभावओ सा सुवन्नाभा।
जाया तप्पभिइजणे, सुवन्नगुलिय त्ति विक्खाया ॥४३॥
भक्खित्तु वीयगुलियं, चिंतइ सा मे पिउ व्व एस निवो।
सेसा गोहसमा तो, मह भत्ता हवउ पज्जोओ ॥४४॥
सो देवयाणुभावा, तीइऽणुरत्तो विसज्जए दूयं।
सा भणइ दंसउ निवं, पज्जोयस्साह सो गंतुं ॥४५॥
नलगिरिमारुहिय इमो, निसि पत्तो तत्थ तीइ अभिरुइओ।
जियपडिमं सह गिण्हसु, एमि तहा अन्नहा नेव ॥४६॥
अह गंतु सो सनयरं, पडिरूवं काउ तो तहिं पत्तो।
तं मुत्तुं जियपडिमं, दासिं गहिउं गओ सपुरिं ॥४७॥
गोसे स करी सोउं, नट्ठमए चेडियं अवहडं च।
कुविओ उदायणनिवो, जा जोयावेइ जियपडिमं ॥४८॥
तो तम्मिलणे पुव्वं, मल्लं दट्ठुं दसमउडबद्धनिवसहिओ।
पज्जोयनिवस्सुवरिं, चलिओ काले निदाघम्मि ॥४९॥
पत्तो मरुम्मि सिन्ने, भिसं तिसापीडिए सरइ राया।
झ त्ति पभावइदेवं, स विउव्वइ पुक्खरतिगं तो ॥५०॥

तहिं तहिं पाउं सलिलं, सुत्थे सिन्ने सुरो गओ सपयं।
राया उदायणो वि हु, उज्जेणिपुरं कमा पत्तो ॥५१॥
तत्थ उदायणरन्नो, अवंतिनाहस्स दूयवयणेण।
अचिरा परुप्परेणं, रहसंगरसंगरो जाओ ॥५२॥
तयणु धणुद्धरपवरो रहमारुहिउं उदायणो पत्तो।
गुणटंकार मुदारं, कुणमाणो समरभूमीए ॥५३॥
नायरहाजेयमुदा-यणं निवं नलागिरिं चडिय पत्तो।
रणभुवि पज्जोओ पुण, बववंते का नणु पइन्ना ? ॥५४॥
नलगिरिगयमारूढं, तं दट्ठुमुदायणो भणइ रुट्ठो।
पाविट्ठ ! भट्ठसंधो-सि तह विणट्ठोऽसि रे धिष्ठ ! ॥५५॥
इय भणिय मंडलीए, रएण नीओ रहं निवो भमाडंतो।
निसियसरेहिं बिंधइ, वीसुं करिणो पयतलाइं ॥५६॥
तो लहु हत्थी पडिओ, धरिऊण उदायणेण पज्जोओ।
मम दासीवइदासो, त्ति अंकिओ कोवविवसेणं ॥५७॥
गंतुं तओ विदिसाए, अत्थि य देवाहिदेवपडिमं जा।
उप्पामइ नरनाहो, ता भणइ सुरो अहो भूव ! ॥५८॥
मा नेसु इओ पडिमं, वीयभए पंसुवद्दवो होही।
तो राया सविसाओ, नमिय तयं सपुरमभिचलिओ ॥५९॥
बुट्ठीइ सिवनइतमे, खलिओ सिविरं निहित्तु तत्थ ठिया।
काऊण धूलिवप्पे, दस वि निवा तस्स रक्खट्ठा ॥६०॥
अह पज्जुसणादिवसे, कयउववासे उदायणे सूओ।
पत्थइ पज्जोयनिवं, का तुह कारी उ रसवइ त्ति ॥६१॥
सो चिंतइ नूणमिणं, मारिउकामो विसाइणा तत्तो।
जंपेइ सूय किरइ, किमज्ज मे विसू य आहारो ? ॥६॥
सूओ जंपइ सामी न, उ सपरियरो य भत्तट्ठी।
जं अज्ज पज्जुसवणा, तो तुह साहेमि आहारं ॥६३॥
सो आह साह तुमए, जेण मिणं मब्भ सारियं सूय !।
अज्जुववासो मज्झ वि, जं पियरो मह परमसड्ढो ॥६४॥
तं सूओ साहइ गं-तुदायणे सो वि भणइ जाणम्मि।
से सड्ढं जाणइ, धुत्तो पुण वइसगं काउं ॥६५॥
काराइ ठीइ एय-म्मि जारिसे तारिसे वि न हु सुद्धा।
मह होइ पज्जुसवणा, इय तं मुंचेइ नरनाहो ॥६६॥
दाउं अवंतिदेसं, स महप्पा कुणइ तेण खामणयं।
दासंकगोवणट्ठा, वियरइ कणगपट्टं च ॥६७॥
तप्पभिइ पट्टबद्धा, निवा पुरा आसि मउमबद्ध त्ति।
वित्ते वरिसारत्ते, उदायणो नियपुरं पत्तो ॥६८॥
जे लाभत्थी वणिया, समागया तत्थ ववहरणहेउं।
तेहिं चिअ वसमाणं, तं खायं दसपुरं नयरं ॥६९॥
इउ य मह निव्वाणं, निसाएँ गोयम ! पालइ निवो अवंतीए।
होहि पाडलिपहू सो, असुअ उदाइनिवमरणे ॥७०॥
पालइ रज्जं सट्ठिए-ण पणसयं नृवण्ह नंदाणं।
नव मोरियऽट्ठसयं स-सवरिस पूसमित्तस्स ॥७१॥
बलमित्तभाणुमित्ताऽण सट्ठि नरवाहणस्स चालीसा।
तेर निव गद्दभिल्ले, कलिकालएँ उणियसगे चउरो ॥७२॥
सुन्नमुणिवेयजुत्ता, जिणकाला विक्कमो वरिससट्ठी।
धम्माइच्चो चत्ता, भाइलसगवीसनाहडे अट्ठ ॥७३॥
तह वि धुंधमार तिस लहु-विक्कमाइच्चबारसयवरिसे।
दस वुव्वमित्त अंधो, हेययबंसी असीभेओ ॥७४॥
अह जिणपडिमं भाइल-निवो निसाए कयाइ पूअंतो।
बहि आगए सुअ सुरे, दट्ठु निग्गओ कुड्डउर साह ॥७५॥
वरसु वरं ति सुरुत्तो, भणइ मया हुज्जमिह पसद्धोऽहं।
होही एवं ति परं, मिच्छत्तं गच्छिही तिव्वं ॥७६॥
जं अद्धकयाइ तुमं, पूथाइ विणग्गउ त्ति वुत्तु सुरा।
झ त्ति गया अह झूरइ, निवो बहु दुट्ठु बिहियं मे ॥७७॥
भाइलसामी तु तओ, पसिद्धमज्ज वि समत्थि अवंतीए।
जियपडिमुप्पत्ति पइ-न्नगा सेसं तु नायव्वं ॥७८॥
इह निसि थुईहि वंदण-देवयकरकणयगुलियरज्जाई।
भणियं भवियहियट्ठा, तिदिसिं आणाइ पुण पगयं ॥७९॥
गान्धारेयश्रावस्येत्तिं वृत्तं,
चित्ते श्रुत्वैकाग्रतो सन्निमित्तम्।
नित्यं भव्याः ! भवयभावेन देवान्,
वन्दध्वं भो दिग्त्रयेक्षोज्झनेन" ॥८०॥
इति त्रिदिग्निरीक्षणवर्जने गन्धारश्रावकसंबन्धः। सङ्घा०१ प्र०।

भावितं "तिदिसिं निरिक्खणविरइ" त्ति षष्ठं त्रिकम्। सप्तमस्य तु त्रिकस्य "पयभूमिपमज्जणं च तिक्खुत्तो" इत्यस्येयं भावना सर्वमपि धर्मानुष्ठानं दयाप्रधानमेव क्रियमाणं सफलतां धत्ते। आह च-"पठितं श्रुतं च शास्त्रं, गुरुपरिचरणं गुरु तपश्चरणम्। घनगर्जितमिव विजलं, विफलं सकलं दयाविकलम्" ॥१॥ इति। तथा-"जयणा उ धम्मजणणी, जयणा धम्मस्स पालणी चेव। तह वुड्ढिकरी जयणा, एगंतसुहावहा जयणा" ॥१॥ इति। सङ्घा०१ प्रस्ता०।

से भयवं ! केणं अट्ठेणं एवं वुच्चइ, जहा णं पंचमंगलं महासुअक्खंधमहिज्जित्ता णं पुणो इरियावहियं अहीए ? गोयमा ! जो णं एस आयासेणं जया गमणागमणाई परिणामपरिणए अणेगजीवपाणभूयसत्ताणं अणुवउत्तए भत्ते संघट्टणं अवद्दावणं किलामणं काऊणं अणालोइय अपडिक्कंते चेव असेसकम्म-क्खयट्ठाए किंचि चिइवंदणसज्झायज्झाणाइएसु अभिरमेज्जा, तया से एगग्गचित्ता समाही हवेज्जा, न वा जओ णं गमणागमणा-इअणेग-अन्नवावारपरिणामासत्तचित्तयाए केइ पाणी तमेव भवांत रमच्छड्डिय अट्टदुहट्टज्झवसिए कंचि कालं खणं विरत्तेज्जा, ताहे तं तस्स फलेणं विसंवएज्जा, जया पुण कहिं वि अन्नाणमोह-पमाय-दोसेणं सहसा एगिंदियाईणं संघट्टणं परितावणं वा कयं हवेज्जा, तया य पच्छा हा हा हा दुट्ठु कयमम्हेहिं ति य घणरागदो-समोहमिच्छत्त अन्नाणंधेहिं अदिट्ठपरलोगपचवाएहिं कूरकम्मा निग्घिणोऽहं ति परमसंवेगमापन्ने सुपरिफुडं आलोएत्ता णं निंदित्ता णं गरिहित्ता णं पायच्छित्तमगुचरित्ता णं निसल्ले अणाउलचित्ते असुहकम्मक्खयट्ठा किंचि आयहियं चेइवंदणाई अणुट्ठिज्जा, तया तयट्ठे चेव उवउत्ते से हवेज्जा, तया तस्स णं परमेगग्गचित्तसमाही हवेज्जा, तया चेव सव्वजगजीववाणभूयसत्ताणं अदिट्ठफलसंपत्ती भवेज्जा, ता गोयमा ! अप्पडिक्कंताए इस्सिआवहिआए न

कप्पइ चेव काउं किंचि चिइवंदणसज्झायज्झाणाइयं फलासायमभिकंखुगाणं, एएणं अट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ जहा णं गोयमा ! सुत्तत्थोभयं पंचमंगलं थिरपरिचयं काऊणं तओ इरियावहियं अहीए ॥ महा०३ अ०।

दशवैकालिकद्वितीयचूलिकावृत्तौ तु ईर्यापथिक्या प्रतिक्रमणं विना न कल्पते किमपि कर्तुमिति, इत्यागमप्रामाण्यादीर्यापथिकीपूर्वमेव सर्वमपि धर्मानुष्ठानमनुष्ठेयम्, इत्थमेव चित्तोपयोगेनानुष्ठानस्य साफल्यभणनात्। अन्यथा प्रायश्चित्तैकाग्रताया अप्यभावात् सूत्रप्रामाण्याच्च पुष्कलिना शङ्खं प्रति श्रावकवन्दनस्यापि तथैव विधानाच्च। संघा०१ प्रस्ता०। अथ चेर्यापथिकीप्रतिक्रमणपूर्वकं चैत्यवन्दमिति पूर्वमुक्तं, तच्च युक्तं, यतो महानिशीथे-"इरिआवहिए अपडिक्कंताए न किंचि कप्पइ चेइअवंदण-सज्झायाऽऽवस्सयाइ काउं" इति। अन्या अपि प्रतिक्रमणादिक्रिया एतत्प्रतिक्रमणपूर्विकाः शुद्ध्यन्ति।

यतो विवाहचूलिकायाम् -

"दिव्विड्ढि कुसुमसेहर, सुचइ दिव्वाहिगारमज्झम्मि।
ठवणायरिअं ठविउं, पोसहसालाएँ तो सोही ॥१॥
उम्मुक्कभूसणो सो, इरिआइपुरस्सरं च मुहपुत्तिं।
पडिलेहिऊण तत्तो, चउव्विहं पोसहं कुणइ ॥२॥" त्ति॥

तथाऽऽवश्यकचूर्णावपि-"तत्थ दढरो नाम सावओ सरीरचिंतं काऊण पडिस्सयं वच्चइ, वाहे तेण पूरएण तिन्नि निसीहिआओ कयाओ, एवं सो इरिआई दड्ढरेण सरेण करेइ" त्ति। तथा च "ववहारावस्सयमहानिसीहभगवईविवाहचूलासु पडिक्कमणचुन्नि-माइसु पढमं इरियापडिक्कमणं" इत्याद्युक्तेरतः प्रथममीर्यापथिकीसूत्रं व्याख्यायते। तच्च-"इच्छामि पडिक्कमिउं" इत्यादि "तस्स मिच्छामि दुक्कमं" इत्यन्तरम्। ध०२ अधि०। एवमालोचनाप्रतिक्रमणरूपं द्विविधं प्रायश्चित्तं प्रतिपद्य कायोत्सर्ग-लक्षणप्रायश्चित्तेन पुनरात्मशुद्ध्यर्थमिदं पठति-"तस्स उत्तरीकरणेणं" इत्यादि "ठामि काउस्सग्गं" इति पर्यन्तम्। ध०२ अधि०। सं०। संपूर्णकायोत्सर्गश्च-"नमो अरिहंताणं" इति नमस्कारपूर्वकं पारयित्वा चतुर्विंशतिस्तवं संपूर्णं पठति। ध०२ अधि०। "पयभूमिपमज्जणं च तिक्खुत्तो" इति सप्तमत्रिकभावार्थः।

(८) स्तुत्यक्षराणि। अथ वर्णादित्रयमित्यष्टमं त्रिकं गाथापूर्वार्द्धेन भाष्यकृद्विवृण्वन्नाह-

वन्नतिअं वन्नत्था-लंवणमालंवणं तु पडिमाई।

वर्णत्रिकमुच्यते, किमित्याह-वर्णार्थालम्बनानि, तत्र वर्णाः स्तुनिद-ण्डादिगतान्यक्षराणि, ते च स्फुटसपदच्छेदसुविशुद्धान्यूना-तिरिक्ता उच्चार्याः। यदवादि भाष्ये -

"थुइदंडाई वन्ना, उच्चारियव्वा फुडा सुपरिसुद्धा।
सरवंजणाइभिन्ना, सपयच्छेया उचियघोसा ॥१॥"

अर्थश्च तेषामेवाभिधेयः, स यथापरिज्ञानं चिन्त्यः।

न्यगादि च-

"चिंतेयव्वो सम्मं, तेसिं अत्थो जहापरिन्नाणं।
सुन्नहियत्तमिहरिहा, उत्तमफलस्साहगं न भवे ॥१॥"

आलम्बनं तु स्वयमेव भाष्यकृद् व्याख्यानयति "आलम्बणं तु पडिमादीनि" आलम्बनं पुनर्देवान् वन्दमानस्य चन्द्रनरेन्द्रस्येवा-श्रयणीयं, किं तत् प्रतिमादि; आदिशब्दाद् भावार्हदादिपरिग्रहः।

यदभाणि-

"भावारिहंतपमुहं, सरिज्ज आलंवणं पि दंडेसु।
अहवा जिणविंबाई, जस्स पुरा वंदणाइ त्ति" ॥१॥ सङ्घा०१ प्रस्ता०। (अत्र चन्द्रनरेन्द्रकथा सङ्घाचारदवसेया)

(९) अथ नवमं मुद्रात्रिकं नामतो गाथोत्तरार्द्धेनाऽऽह-

जोगजिणमुत्तसुत्ती-मुद्दाभेएण मुद्दतियं।

मुद्राशब्दः पृथग् योज्यते, ततश्च योगमुद्राजिनमुद्रामुक्ताशुक्तिमुद्रा-भेदान्मुद्रात्रिकं भवतीत्यर्थः।

आसां स्वरूपमाह-

**अन्नुन्नंतरिअंगुलि-कोसागारेहिँ दोहिँ हत्थेहिं।
पिट्ठो वरि कुप्परसं-ठिएहिँ तह जोगमुद्द त्ति ॥१२॥**

उभयकरजोडनेन परस्परमध्यप्रविष्टाङ्गुलिभिः कृत्वा पद्मकुड्मला-काराभ्यां, द्वाभ्यां हस्ताभ्यां, तथा उदरस्योपरि कुहणिकया व्यवस्थि-ताभ्यां, योगो हस्तयोर्योजनविशेषः, तत्प्रधाना मुद्रा योगमुद्रा इत्येवं स्वरूपा भवतीति गम्यम्॥१२॥

**चत्तारि अंगुलाइं, पुरओ ऊणाइ जत्थ पच्छिमओ।
पायाणं उस्सग्गो, एसा पुण होइ जिणमुद्रा ॥१३॥**

चत्वार्यङ्गुलानि स्वकीयान्येव पुरतोऽग्रतस्तथा ऊनानि किञ्चिच्च-त्वार्यंगुलानि यत्र मुद्रायां पश्चिमतः पश्चाद्भागे, एवं पादयोरुत्सर्गः परस्परसंसर्गत्यागोऽन्तरमित्यर्थः। एषा पुनर्भवति जिनानां कृतकायो-त्सर्गाणां सत्का, जिना वा विघ्नजैत्री मुद्रा जिनमुद्रेति॥१३॥ भवति च यथा स्थानस्थापितमुद्रात्रयचैत्यवन्दनाकरणतोऽत्रामुत्रापि विघ्नसङ्घा-तविघातः; उक्तं चैत्यवन्दना पञ्चाशकवृत्तौ॥

**मुत्तासुत्तीमुद्दा, जत्थ समा दो वि गब्भिया हत्था।
ते पुण निडालदेसे, लग्गा अन्ने अलग्गंति ॥१४॥**

मुक्ताशुक्तिरिव मुद्रा हस्तविन्यासविशेषो मुक्ताशुक्तिमुद्रा, सा चैवं समावन्योन्यान्तरिताङ्गुलितयाऽविषमौ द्वावपि न त्वेको गर्भितावि गर्भितावुन्नतमध्यौ, न तु नीरन्ध्रौ, चिपिटाविति्यर्थः। हस्तौ, तौ पुनरुभयतोऽपि सोल्लासौ करौ भालमध्यभागेन लग्नौ संबद्धौ कार्याविति्येके सूरयः प्राहुः। अन्ये पुनस्तत्रालग्नाविति्येवं वदन्ति, नेत्रमध्यभागवर्त्याकाशसङ्गताविति्यर्थः॥१४॥

आसां विषयविभागमाह-

**पंचंगो पणिवाओ-चयपादो होइ जोगमुद्दाए।
वंदण जिणमुद्दाए, पणिहाणं मुत्तसुत्तीए ॥१५॥**

पञ्चाङ्गानि जान्वादीनि विवक्षितव्यापारवन्ति यत्र स पञ्चाङ्ग प्रतिपातः प्रणामः प्रणिपातदण्डकः। पाठस्यादाववसाने च कर्त्तव्यतथा, स चोत्कर्षतः पञ्चागः कार्यः। यदुक्तमाचाराङ्गचूर्णौ-"कइ नमंति सिरिपंचमेण काएणं" ति। यत्पुनः "वामं जाणुं अंचेइ" इत्याद्युक्तं, तत्प्रभुत्वादिकारणा-श्रितत्वात्र यथोक्तविधिबाधकतया प्रभवितुमर्हति, चरितानुयादत्वाच्च। यद्यपीह पञ्चाङ्ग प्रणिपात इत्युक्तम्, तथापि पञ्चाङ्गमुद्रया प्रणिपातः कार्य इति द्रष्टव्यम्; मुद्राणमेवाधिकृतत्वात्। युक्तं च पञ्चाङ्ग्या अपि मुद्रात्वमङ्गविन्यासविशेषरूपत्वात्, योगमुद्रादिति। आह-नन्वेवम्-"मुद्दातियं" इति उक्ते संख्याविघातप्रसङ्गः, नैतदेवम् अभिप्रायापरि-

ज्ञानात्। उक्तं हि प्राक् योगमुद्रादयो ह्येवं परिसंख्याताः, सूत्रोच्चारभावितया मूलमुद्रात्रयरूपत्वात्। मुकुटाञ्जलिपञ्चाङ्गीमुद्रादयस्तु प्रणामकरणकालभावित्वेनोत्तरमुद्रारूपत्वान्न परिज्ञाताः उत्तरमुद्रात्वं चासां सूत्रोच्चारसमये समकमनुपयुज्यमानत्वात्तथाऽनुक्तत्वादनियतत्वात् सूत्रोच्चारकालात्पूर्वापरकालभावित्वात्। यदपि-"करयलपरिग्गहियं सिरसावत्तं दसनहं मत्थए अंजलिं कट्टु एवं वयासी" इत्युक्तं दृश्यते, तदपि सूत्रोच्चारस्यादौ विनयविशेषदर्शनं परं, न पुनस्तथास्थितस्यैव सूत्रोच्चारख्यापनपरम्। अन्यथाऽपि नृपादीनां भगवत्यादौ तथा प्रतिपत्तेर्भणनात्, तथास्थितस्य विज्ञापनादेरदर्शनात्पूर्वकालभाविविधिवाचिनः कृत्वेत्यत्र क्त्वाप्रत्ययस्योत्तरकालभाविविध्यन्तरसूचकत्वाच्च अक्षिणी निमील्य हसतीत्यादिवत्तुल्यकर्तृकत्वायोगान्निमील्यादौ कृगस्त्वग्रहणात्। किं च-यद्येवंस्थितस्यैव सूत्रपाठः क्रियते, ततोऽपिहितमुखत्वेन धर्मरुचिसाध्वादीनामपि सावद्यभाषाऽऽपत्तिः। तथा च भगवत्यामुक्तम्-"सक्केणं भंते ! देविंदे देवराया किं सावज्जं भासं भासइ, अणवज्जं भासं भासइ ? गोयमा ! सावज्जं पि भासं भासइ, अणवज्जं पि भासं भासइ। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ, जहा णं -सक्के देविंदे देवराया सावज्जं भासं भासइ, अणवज्जं पि भासं भासइ ? गोयमा ! जाहे णं सक्के देविंदे देवराया सुहुमकायं अणिज्जुहित्ता णं भासं भासइ, ताहे णं सक्के देविंदे देवराया सावज्जं भासं भासइ। जाहे णं सक्के देविंदे देवराया सुहुमकायं निज्जुहित्ता णं भासं भासइ, ताहे णं सक्के देविंदे देवराया अणवज्जं भासं भासइ। से एएणं अट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ, जहा णं सक्के देविंदे देवराया सावज्जं पि भासं भासइ, अणवज्जं पि भासं भासइ"। तस्मान्मुकुटाञ्जलिमुद्रादीनां विनयविशेषदर्शनफलत्वेन सूत्रोच्चारकालात्पूर्वापरकालभावितया च न योगमुद्रादीनामिव मूलमुद्रारूपत्वम्। ततश्च "मुद्दातियं" इति न यथोक्तसंख्याविघातः, पर्युपास्या इत्यर्थे बहुश्रुताः। यत्र चरितानुवादे जीवाभिगमादिषु विजयदेवादिभिः "आलोए जिणपडिमाणं पमाणं करेइ"। तथा "वामंजाणुं अंचेइ,दाहिणं जाणुं धरणितलंसि निहट्टु तिक्खुत्तो मुद्धाणं धरणितलंसि निवेसेइ" त्ति एकाङ्गश्चतुरङ्गश्च प्रणामः कृतो दृश्यते, तन्मध्यमप्रणामत्वादर्द्धावनताख्यद्वितीयप्रणामान्तर्द्धष्टव्यमिति, भावितार्थं चैतत्प्रणामत्रयव्याख्याऽवसरे। तथा स्तवपाठः शक्रस्तवादिभणनं, भवति कर्तव्य इति शेषः। योगमुद्रया पूर्वोक्तस्वरूपया। तत्र चायं विधिः-इह साधुः श्रावको वा चैत्यगृहादावेकान्ते प्रयतः परित्यक्तान्यकर्तव्यः सकलसत्त्वानपायिनीं भुवं निरीक्ष्य परमगुरुप्रणीतेन विधिना त्रिः प्रमृज्य च क्षितितलनिहितजानुयुगलः करकमलसत्स्थापितयोगमुद्रं प्रणिपातदण्डकं पठतीति। यदुक्तं महानिशीथतृतीयाध्ययने-"भुवणेक्कगुरुजिणिंदपडिमाविणिवेसियनयणमाणसेण धन्नोऽहं सपुन्नोऽहं ति जिणवंदणाए सहलीकयजम्मु त्ति मन्नमाणेण विरइकरकमलंजलिणा हरियतणुबीयजंतुविरहियभूमीए निहिओभयजाणुणा सुपरिफुडसुविदियनिस्संकजहत्थसुत्ततथोभयं पए पए भावेमाणेणं० जाव चेइए वंदियव्वे" त्ति। तत्रैव चोक्तम्- "सक्कत्थयाइयं चेइयवंदणयं ति"। यत्पुनर्ज्ञाताधर्म्मकथादिषु धर्मरुचिसाध्वादिचरितानुवादे भणितम्-"पुरत्थाभिमुहे संपलिअंकनिसन्ने करयले" इत्यादि, तदशक्त्यादिकरणश्रितम, न पुनः "भूमिनिहिओभयजाणुणा" इत्यादिविधिबाधाविधायी भवति, चरितानुवादविहितत्वात्। चरितानुवादविहितानि हि नोत्सर्गनिधविधिवादस्य बाधकानि साधकानि वा भवितुमर्हन्ति, कारणाश्रितत्वेन द्वितीयपादान्तर्वर्तित्वात्तेषाम्, अन्यथा वा यथाऽऽम्नायं सुधीभिः समाधेयम्। तथा वन्दनम्-"अरिहंतचेइयाणं" इत्यादिदण्डकैः प्रसिद्धैर्जिनबिम्बादीनां जिनमुद्रया पूर्वोक्तशब्दार्थया विघ्नजेत्र्या कर्तव्यं भवति, द्रौपद्यादिवत्। तथा च षष्ठाङ्गे-"तए णं सा दोवई रायवरकन्ना० जाव धूवं डहइ, वामं जाणुं अंचेइ, करयल० जाव कट्टु एवं वयासीनमोऽत्थु णं० जाव संपत्ता णं वंदइ, नमंसइ।" अत्र जीवाभिगमोक्तंविवरणम्। ततो विधिना प्रणामं कुर्वन् प्रणिपादण्डकं पठति-"नमोऽत्थु णं अरिहंताणं" इत्यादि, यावत् "नतो जिणाणं जियभएणं" इति। दण्डकार्थश्चैत्यवन्दनाविवरणादवसेयः। "वंदइ नमंसइ" त्ति। वन्दते ताः प्रतिमाश्चैत्यवन्दनविधिना प्रसिद्धेन, नमस्करोति पश्चात्प्रणिधानादियोगेनेति। "परिग्गहियं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु एवं वयासीनमोऽत्थु णं अरिहंताणं" इत्यादि। ततोऽस्य पाठे विविधविधिदर्शनात् सर्वेषां च प्रमाणग्रन्थोक्तत्वेन विनयविशेषकृतत्वेन च निषेद्धुमशक्यत्वात्। योगमुद्रयाऽपि शक्रस्तवपाठो न विरुध्यते, विचित्रत्वाद् मुनिमतानाम्। न चैतानि परस्परमतिविरुद्धानीति वाच्यम्, सर्वैरपि विनयस्य दर्शित्वात् इत्यलं प्रसङ्गेन। तथा वन्दनम्-"अरिहंतचेइयाणं" इत्यादिदण्डकपाठेन जिनबिम्बादिस्तवनं जिनमुद्रया। इयं च पादाश्रिता, दण्डकानामपि स्तवरूपत्वात्, योगमुद्राऽपि स्तवसङ्गतैव, सा च हस्ताश्रिता, अत उभयोरप्यनयोर्वन्दने प्रयोगः।

उक्तं च-

"उट्ठिय जिणमुद्दंचिय-चलणो करधरियजोगमुद्दो य।
जिणवणयनिहियदिट्ठी, ठवणे जिणदडयं पढई॥१॥"

तथा प्रणिधानं-"जय वीयराय" इत्यादि यथेष्टप्रार्थनारूपं, यद्यस्य तीव्रसंवेगहेतुरिति यावत्, तीव्रसंवेगाच्च अत्राऽशुभाविनी विशुद्धयोगसंप्राप्तिः, तच्च मुक्ताशुक्त्या, मुद्रया कार्यमिति शेषः। सङ्घा०१ प्रस्ता०। ल०। पञ्चा०। दर्श०।ध०। (अत्र धर्मरुचिद्रौपदीकथाऽन्यत्र)

(१०) प्रणिधानम्-

उक्तं मुद्रात्रिकमिति नवमं त्रिकम्। संप्रति "तिविहं च पणिहाणं" इति दशमं त्रिकं गाथापादत्रिकेणाऽऽह-

पणिहाणतिगं चेइय-मुणिवंदणपत्थणासरूवं वा।
मणवइका-एगत्तं,

यदिह मुक्ताशुक्त्या मुद्रया क्रियते, तदेतत्प्रणिधानत्रिकम्। किमित्याह चैत्यमुनिवन्दनाप्रार्थनास्वरूपम्। अत्रापृथक् वन्दनाशब्दयोगात् प्रथमं प्रणिधानं चैत्यवन्दनारूपम्-"जावंति चेइआइं" इत्यादि। द्वितीयं मुनिवन्दनालक्षणम्- "जावंति के वि साहू" इत्यादि। तृतीयां प्रार्थनास्वरूपम्- "जय वियराय" इत्यादि।

उक्तं च बृहद्भाष्ये-

"अन्न पि तिप्पयारं, वंदणयपरं तब्भवियपणिहाणं।
जम्मि कए संपुन्ना, उक्कोसा वंदणा होइ॥१॥
चेइयगय साहुगयं, नेयव्वं तह य पत्थणारूवं।

एयस्स पुण सरूवं, सविसेसं उवरि वुच्छामि ॥२॥"

ननु यदेतत्प्रणिधानत्रिकमुक्तं तत्किल वन्दनाऽवसाने विधीयते "अन्नं पि तिप्पयारं वंदणयपरं तभावि" इत्यादिभाष्यवचनात्। ततः शेषा वन्दना प्रणिधानरहितेति प्राप्तमित्याशङ्क्याऽऽह-"चेइय त्ति"। अथवा द्वितीयमपि प्रणिधानत्रिकमस्ति यत्समस्त चैत्यवन्दनायां विधीयते। किं तदित्याह-मनोवचःकायानामैकाग्र्यम्, अकुशलरूपाणां निवर्त्तनम् समाधिः रागद्वेषाभावोऽनन्योपयोगितेति यावत्। आह च -

"इह पणिहाणं तिविहं, मणवइकायाण जं समाहाणं।
रागद्दोसाभावो, उवओगित्तं न अन्नत्थ ॥१॥
एअं पुण तिविहं पि हु, वंदंतेणाऽऽइओ उ कायव्वं।
चिइवंदणमुणिवंदण-पत्थणरूवं तु पञ्जंते ॥२॥"

अत्र चेयं भाष्योक्ता भावना-

"चिंतइ न अन्नकज्जं, दूरं परिहरइ अट्टरुद्दाइ।
एगग्गमणो वंदइ, मणपणिहाणं हवइ एयं ॥१॥
बिगहाविवायर हिओ, वज्जंतो मूयढड्डुरं सद्दं।
वंदइ सपयच्छेयं, वाया पणिहाणमेयं तु ॥२॥
पेहंतमपञ्जंतो, उट्ठाणनिसीयणाइये कुणई।
वावारंतररहिओ, वंदइ इय कायपणिहाणं" ॥३॥

पञ्चाशकेऽप्युक्तम्-

"सव्वत्थ वि पणिहाणं, तग्गयकिरियाऽभिहाणवंन्नेसु।
अत्थे विसए य तहा, दिट्ठंतो छिन्नजालाए ॥१॥"

अस्या अर्थः-सर्वत्रापि समस्तायामपि चैत्यवन्दनायां, न केवलं तदन्त एवं प्रणिधानं कार्यं, नरवाहणनरेन्द्रवत्। क्व विषये ? तद्गताश्चैत्यवन्दनागताः, क्रिया सुखस्थगनमुद्रान्यासादिकाः, तासु, तथा अभिधानानि पदानि, वर्णा अक्षराणि, तेषु तेषु, तथाऽर्थोऽर्हदादिपदाभिधेयः, तस्मिन्, विषयो वन्दनागोचरो भावार्हदादिः, दृष्टिगोचरो वा चैत्यबिम्बप्रभृतिकः, तस्मिन्, तथाशब्दात् "जय वीयराय" इत्यादिप्रार्थनायामपि, 'दिट्ठंतो छिन्नजालाए' इति तुर्यपदस्यैवं भावना। प्रेरकः प्राह-

"वन्नाइसु उवओगो, जुयवं कह घडइ एगसमयम्मि।
दो उवओगा समए, केवलिणो वि हु न जं इट्ठा ॥१॥"

आचार्यः -

"कमसो वि संभवंता, जुगवं नज्जंति ते वि भिन्ना वि।
चित्तस्स सिग्घकारि-त्तणेण एगत्तभावाओ" ॥२॥

अत्र दृष्टान्तश्छिन्नज्वालया उल्मुकेन। यथा हि तद्भ्राम्यमाणं छिन्नज्वालमपि शीघ्रतया चक्राकारं प्रतिभासते। यद्वा -

"केवलिणो उवओगो, वच्चइ जुगवं समत्थनेएसु।
छउमत्थस्स वि एवं, अभिन्नविसयासु किरियासु ॥३॥"

तथा चागमः -

"भिन्नविसयं निसिट्ठं, किरियादुगमेगया न एगम्मि।
जोगतिगस्स वि भंगिय-सुत्ते किरिया जओ भणिया ॥४॥
मणसा चिंतइ भंगे, वयसा उच्चरइ लिहइ काएण।
एवं जोगतिगस्स वि, भंगिअसुत्तम्मि वावारे" ॥५॥ सङ्घा०१ प्रस्ता०। प्रव०।

प्रणिधानफलम् -

फलति चैतदचिन्त्यचिन्तामणेर्भगवतः प्रभावेन। सकलशुभानुष्ठाननिबन्धनमेतत्, अपवर्गफलमेव प्रणिधानं, तल्लक्षणयोगादिति दर्शितम्। असङ्गतासक्तचित्तव्यापार एष महान्। न च प्रणिधानादृते प्रवृत्यादयः। एवं कर्त्तव्यमेवैतादिति प्रणिधानप्रवृत्तिविघ्नजयफलविनियोगानामुत्तरोत्तरभावात् आशयानुरूपः कर्मबन्ध इति। न खलु तद्विपाकतोऽस्यासिद्धिः स्यात्ः युक्त्यागमसिद्धमेतत्। अन्यथा प्रवृत्याद्ययोगः उपयोगाभावादिति। न अनधिकारिणमिदम्। अधिकारिणश्चास्य य एव वन्दनाया उक्ताः। तद्यथा-एतद्बहुमानिनो विधिपरा उचितवृत्तयश्चोक्तलिङ्गाः एव। प्रणिधानलिङ्गं तु विशुद्धभावनादि। यथोक्तम् -

"विशुद्धभावनासारं, तदर्थार्पितमानसम्।
यथाशक्ति क्रियालिङ्गं, प्रणिधानं मुनिर्जगौ ॥१॥"

इति स्वल्पकालमपि शोभनमिदं, सकलकल्याणाक्षेपात्, अतिगम्भीरोदाररूपमेतत्, अतो हि प्रशस्तभावलाभाद्विशिष्टक्षयोपशमादिभावतः प्रधानधर्मकार्यादिलाभः। तत्रास्य सकलोपाधिमुक्तदीर्घकालनैरन्तर्यसत्काराद्यासेवनेन श्रद्धाचार्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञावृद्ध्या न हि समग्रसुखभाक् तदङ्गहीनो भवति, तद्वैकल्येऽपि तद्भावहेतुकत्वप्रसङ्गात्। न चैतदेवं भवतीति योगाचार्यदर्शने, सेयं भवजलधिनौः प्रशान्तवाहितेति परैरपि गीयते। अयमज्ञातज्ञापनफलः सदुपदेशो हृदयानन्दकारी परिणमत्येकान्तेन। ज्ञाते त्वखण्डनमेव भावतः अनाभोगतोऽपि मार्गगमनमेव। सदन्धन्यायेनेत्यात्मचिन्तकाः। तदेव शुभफलप्रणिधानं पर्यन्ते चैत्यवन्दनं तदन्वाचार्यादीनभिवन्द्य यथोचितं करोति, कुर्वन्ति वा कुग्रहविरहेण। ल०। (नरवाहननरेन्द्रवृत्तं सङ्घाचारग्रन्थादवसेयम्) इत्युक्तं प्रतिधानत्रिकमिति दशमं त्रिकम्॥

अथ श्रोतुं त्वरमाणः शिष्यः प्राह-अत्र तावद्भगवद्भिः षडेव त्रिकाणि व्याख्यातानि, शेषाणां तु का वार्त्तेत्याशङ्काशङ्कुसमुद्धरणाय गाथाचतुर्थपादमाह -

सेसतियऽत्थो उ पयड त्ति ॥१६॥

शेषत्रिकाणां प्रदक्षिणात्रिकप्रणामत्रिकदिगत्रयनिरीक्षणविरतित्रि-कत्रिः पद भूमिप्रमार्जनत्रिकलक्षणानामर्थस्तु पुनः, प्रकटः सुगम एवेति। भाष्ये नोक्तं, विवृतौ तु यथाप्रस्तावं भावितमेवेति समाप्तानि दशाऽपि त्रिकाणि।

एषां चैव कारणफले लघुभाष्योक्ते -

"कम्माण मोहणीयं, जं वलियं तिसंठाणगनिबद्धं।
तक्खवणट्ठा एयं, तिगदसगं होइ नायव्वं ॥१॥
इय दहतियसंजुत्तं, वंदणयं जो विएग तिक्कालं।
कुणइ नरो उवउत्तो, सो पावइ सासयं ठाणं ॥२॥"

इति व्याख्यातं दशत्रिकाख्यं प्रथमद्वारम्। सङ्घा०१ प्रस्ता०।

(११) अभिगमः -

अत्र च प्राक् साधुश्रावकादिः सामान्येनेत्याद्युक्तं, तत्र चैत्यादिवन्दितुकामः श्रावक कश्चिन्महर्द्धिको भवेत, श्रीषेणनृपादिवत्; कश्चित्सामान्यविभवः श्रीपतिश्रेष्ठीवत्। तत्र यदि राजादिस्तदा "सव्वाए इड्ढीए सव्वाए दित्तीए सव्वाए जुईए परियणसहिए सव्वपोरिसेणं" इत्यादिवचनात् प्रभावनानिमित्तं महर्ध्या चैत्यादिषु याति। अथ सामान्यविभवस्तदौद्धत्यादिपरिहारेण लोकोपहासं परिहरन् व्रजति। तत्र च चैत्ये प्रविशन् पञ्चविधामिगमं करोतीत्येतत्संबन्धायातः द्वितीयाभिगमः।

"पणग" त्ति द्वारं विवृण्वन्नाह-

सचित्तदव्वउज्झणमचित्त अणुज्झणं मणेगत्तं।
इगसाडिउत्तरासंगु अंजली सिरसि जिणदिट्ठे ॥१७॥

सचित्तद्रव्याणां स्वाङ्गाश्रितानां कुसुमताम्बूलादीनामुज्झनं परित्यागः ।१। अचित्तानां कटककुण्डलकेयूरहारादीनां, द्रव्याणामित्यत्रापि योज्यम्। अनुज्झनमपरित्यागः ।२। मनऐकाग्र्यम्- रागद्वेषाभावेन मनः समाधिः, अनन्योपयोगितेति यावत् ।३। एकशाटक उत्तरासङ्गः ।४। एकशाटको देशान्तरप्रसिद्धः उत्तरासङ्गो यदुपरितनं वस्त्रं, प्रावरणवस्त्रमित्यर्थः। उक्तं चाचाराङ्गचूर्णौ -"एगसामो यदुक्तं भवति एगपावरणु त्ति, तेन कृत्वोत्तरासङ्गम् उत्तरियकरणं।" कल्पचूर्णावप्युक्तम्- "उत्तरिज्जं नाम पावरणं।" क्वचिच्च-"उत्तरिज्जं नाम पंगुरणं" इति पाठः। एवं च-"परेण पंगुरणवत्थेण उत्तरासंगो किज्जइ त्ति भणियं होइ।" अनेन च निवसनवस्त्रेणोत्तरासङ्गकरणनिषेधमाह, निवसनवसनस्यान्तरीयशब्दवाच्यत्वात्। तथा च कल्पनिशीथचूर्णिः-"अंतरिज्जं नाम नियसणं ति।" एकग्रहणं पुनरुत्तरासङ्गेऽनेकवस्त्रनिषेधार्थं, न तु सर्वथोपरितनप्रावरणवस्त्रस्य। एवं च परिहितैकवस्त्रो द्वितीयेन वस्त्रेण उत्तरासङ्गं कुर्यादित्युक्तं भवति। यदुक्तं पञ्चाशकवृत्तौ-एकेन चोपरितनवस्त्रेण कृतोत्तरासङ्ग इति। मार्कण्डेयपुराणेऽप्युक्तम्- नैकवस्त्रेण भुञ्जीत, न कुर्याद्देवताऽर्चनम्।" इत्यादि। एतौ च पुरुषमाश्रित्योक्तौ, स्त्री तु विशेषप्रावृताङ्गी विनयावनततनुः। तथाचाऽऽगमः-"विणओणया एगचेलट्ठिइ त्ति"। वृद्धसंप्रदायात्तु संप्रति स्त्रीणां वस्त्रत्रयं विना देवार्चादि कर्तुं न कल्पते। तथाऽन्यैरप्युक्तम्- "न कञ्चुकं विना कार्या, देवार्चा स्त्रीजनेन तु।" इति। "अंजलि त्ति" अञ्जलिबन्धश्च कार्यः शिरसि मस्तके, जिनदृष्टे जिनबिम्बदर्शने सतीति गाथार्थः ॥१७॥

इय पंचविहाऽभिगमो, अहवा मुच्चंति रायचिंधाइं।
खग्गं छत्तोवाणह-मउडं चमरे च पंचमए ॥१८॥

इति पूर्वोक्तप्रकारेण, पञ्चप्रकारोऽभिगमो भवति। उक्तं च श्रीपञ्चमाङ्गे- "पंचविहेणं अभिगमेणं अभिगच्छइ। तं जहा-सचित्ताणं दव्वाणं विउसरणयाए १ अचित्ताणं दव्वाणं अविउसरणयाए २ एगसाडएणं उत्तरासंगकरणेणं ३ चक्खुप्फासे अंजलिपग्गहेण ४ मणसो एगत्तीभावकरणेणं ५" त्ति। क्वचित्तु "अचित्ताणं दव्वाणं विउसरणयाए" त्ति पाठः, तत्राचित्तानां छत्रादिनां, व्यवसरणेन व्युत्सर्जनेनेत्यर्थः। अन्यत्राप्युक्तम्-

"पुप्फतंबोलमाईणि, सचित्ताणि विवज्जए।
छत्तवाहणमाईणि, अचित्ताणि तहेव य ॥१॥"

एतदर्थप्रतिपादनार्थमाह-"अहवा" इत्यादि। यद्वायो महर्द्धिको राजादिश्चैत्यं प्रविशति स पञ्चविधाऽभिगमसमये राजचिह्नान्यपि मुञ्चतीत्यत आह-"अहवा" इत्यादि। अथवा विकल्पान्तरसूचको, न केवलं सचित्तान्येव द्रव्याणि मुच्यन्ते, किं तर्ह्यचित्तान्यपि द्रव्याणि मुच्यन्ते, दूरीक्रियन्ते। कानि ? राजचिह्नानि राजलक्षणानि। तान्येवाह- खड्गः कृपाणः ।१। छत्रमातपत्रः ।२। उपानहौ पादुके ।३। मुकुटं किरीटम् ।४। चामराः बालव्यजनानि ५ पञ्चमका इति। तथा सिद्धान्तः-"अहवट्ठ रायककुहाइ पंचवररायककुहभूयाई 'खग्गं छत्तोवाणह-मउडं तह चामराओ य" त्ति। सङ्घा०१ प्रस्ता०। प्रव०। (अत्र श्रीषेणनृपतिश्रीपतिश्रेष्ठिकथे सङ्घाचाराज्ञातव्ये) प्ररूपितमभिगमपञ्चकविधिरिति द्वितीयं तत्प्ररूपणेन च प्रदर्शितो जिनभवनादिप्रवेशविधिः।

(१२) चैत्यवन्दनदिक्। सम्प्रति चैत्यवन्दनाकरणविधिरुच्यते-तत्र यैर्यद्दिक्संस्थैश्चैत्यवन्दना विधेया तत्प्रतिपादनाय तृतीयं द्विदिगिति दिग्द्वारं गाथापूर्वार्द्धेनाऽऽह-

वंदंति जिणे दाहिणदिसि-द्विया पुरिस वामदिसि नारी।

वन्दन्ते स्तुवन्ति प्रणमन्ति च, जिनान् जिनप्रतिमाः, दक्षिणदिशि मूलबिम्बदक्षिणदिग्भागस्थिताः, पुरुषप्रधानत्वाद् धर्म्मस्य, तथा वामदिशि मूलबिम्बवामदिग्भागे स्थिता नार्यो वन्दन्ते, जिनानित्यत्रापि योज्यमिति ह्यौत्सर्गिकम्। विधिप्रधानमेव च विधीयमानं सर्वमपि चैत्यवन्दनकादि धर्म्मानुष्ठानं महाफलं भवेत्। अन्यथा सातिचारतया श्रीदत्ताया इव कदाचिदनर्थमपि जनयेत्। आह च-"धर्मानुष्ठानवैतथ्यात्प्रत्यपायो महान् भवेत्। रौद्रदुःखौघजनको, दुःप्रयुक्तादिवौषधात् ॥१॥" इति। अत एव चाविधिनाऽस्य विधाने सातिचारत्वात् प्रायश्चित्तमप्युक्तमागमे। तथा च महानिशीथसप्तमाध्ययनसूत्रम् - "अविहीए चेइयाइं वंदित्ता तस्स णं पायच्छित्तं उवइसिज्जा, जओ अविहीए चेइयाइं वंदमाणो अन्नेसिं असद्धं जाणइ इइ काऊणं।" अपि च-इदमेव चावैतथ्येन विशुद्धधर्म्मानुष्ठानकरणं श्रद्धालोर्लक्षणम्। तथा चोक्तम् -

"विहिसारं चिअ सेवइ, सिद्धालू सत्तिमं अणुट्ठाणं।
दव्वाइदोसनिहओ, विपक्खवायं वहइ तम्मि ॥१॥" त्ति।

ललितविस्तरायामप्युक्तम्- एवं हि कुर्वता आराधितं वचनं, बहुमतो लोकनाथः, परित्यक्ता लोकह्रीः, अङ्गीकृता लोकोत्तरा प्रवृत्तिः, समासादिता धर्मचारितेति। अतोऽन्यथा विपर्ययः। आलोचनीयमिदं सूक्ष्मधियामेव, शास्त्रोक्तमुपदेशमुल्लङ्घ्य पुरुषमात्रप्रवृत्तोऽपरोऽपि हितानुपायः स्यात्। ननु तर्हि चैत्यवन्दनादिविधिरेवादौ गतानुगतिरूपः स्यात्। नैवम्। यत उक्तम्- अपवादोऽपि सूत्राज्ञाबाधया गुरुलाघवालोचनपरोऽधिकदोषनिवृत्त्या शुभाशुभानुबन्धि-महासत्त्वासेवित उत्सर्गभेद एव, उत्सर्गस्थानापन्नत्वेनोत्सर्गफलहेतुत्वात्। यदागमः -

"उन्नयमविक्ख विन्न-स्स पसिद्धि उन्नयस्स निन्नं च।
इअ अन्नुन्नावेक्खा, उस्सग्गऽववाएँ दो तुल्ला" ॥१॥

अत एवोक्तम् -

"अविहिकया वरमकयं, असूयवयणं भणंति समयन्नू।
पायच्छित्तं अकए, गुरुयं वि तहा कए लहुयं ॥१॥"

न पुनः सूत्रबाधया गुरुलाघवचिन्ता, किन्त्वभावेन। तद्धि परमगुरुलाघवकारि क्षुद्रसत्त्वविजृम्भितं संसारओतसि कुशकाशावलम्बनप्रायमहितमिति भाव्यम्। सर्वथा निरूपणीयं प्रवचनगाम्भीर्यं यतितव्यमुत्तमनिदर्शनेष्विति श्रेयोमार्गः॥ सङ्घा०२ प्रस्ता०। ध०। (अत्र श्रीदत्ताकथा सङ्घाचारादवसेया)

(१३) अवग्रहः-

संप्रति द्विदिक्स्थितैरपि मूलबिम्बस्य कियत्यवग्रहे देवा

वन्दनीया इत्याशङ्कायां चतुर्थमवग्रहद्वारं गाथोत्तरार्द्धेनाऽऽह-

नवकर जहन्नु सट्ठिक-र जिट्ठु मज्झुग्गहो सेसो ॥१६॥

मूलबिम्बात् नवहस्तान् जघन्योऽवग्रहः जघन्यत उच्छासनिः-इवासादिजनिताऽऽशातनापरिहाराय नवहस्तबहिःस्थितैः देववन्दना कार्या। षष्टिहस्तान् ज्येष्ट उतकृष्टोऽवग्रहः, तत्परत उपयोगसंभवाद् मध्यो मध्यमः, शेषो नवकरेभ्य उर्द्धं षष्टेरवधि, अवग्रहो मूलबिम्बवन्दनास्थानाभ्यन्तरालभूभाग इति। अन्यैः पुनर्द्वादशधाऽयमुक्तः। तथा च पञ्चस्थान.केऽभिहितम्-

"उक्कोसमट्ठिपन्ना, चत्तार तिसा दसद्ध पणदसगं।
दस नव ति दु एगऽद्धं, जिणुग्गहं वारसविभेयं" ॥१॥

एतावता चार्द्धहस्तादारभ्य षष्टिहस्तेभ्यश्चार्वाक् गृहचैत्ये चैत्य गृहे वा यथा जिनबिम्बस्याऽऽशातना न भवति तथा यथासमयमवग्रहबहिःस्थितैरमिततेजः खचरेश्वद्वेववन्दना कार्येत्युक्तं भवति। सङ्घा०२ प्रस्ता०। (अमिततेजःखेचरेश्वरकथा सङ्घाचारादवसेया) निगदितं त्रिधाऽवग्रह इति चतुर्थं द्वारं, तद्गणनेन च प्रदर्शितः चैत्यवन्दनाकरणविधिः। सङ्घा०२ प्रस्ता०।

(१४) त्रिविधा वन्दना -

संप्रति कतिप्रकारा चैत्यवन्दनेत्याशङ्कायां तत्स्वरूपाभिधित्सया "तिहाउ वंदणय त्ति" पञ्चमं द्वारं विवृण्वन्नाह-

नवकारेण जहन्ना, चिइवंदण मज्झ दंडथुइजुयला।
पणदंडयुइचउक्कग-थयपणिहाणेहिँ उक्कोसा ॥

नमस्कारेण अञ्जलिबन्धशिरोनमनादिलक्षणप्रमाणमात्रेण। यद्वा "नमो अरिहंताणं" इत्यादिना। अथवा "पुरवरकवाडवच्छे, फलिहभुए दुंदुहिथणियघोसे। सिरिवच्छंकियवच्छे, वंदामि जिणे चउव्वीसं"॥१॥ इत्यादिनैकेन श्लोकादिरूपेण नमस्कारेणेति, जातिनिर्देशाद्वा बहुभिरपि नमस्कारैः। अभिधास्यति च-"सुमहत्थनमुक्कारा इगदुग" इत्यादि। यद्वा-नमस्कारेण प्रणतिपातापरनामतया प्रणिपातदण्डकेनैकेनेति यावत्, जघन्या स्वल्पा, पाठक्रिययोरल्पत्वात्, चैत्यवन्दना, भवति इति गम्यम्।

एतावता -

"एगनमुक्कारेणं, चिइवंदणया जहन्नयजहन्ना।
बहुहि नमुक्कारेहि य, नेया उ जहन्नमज्झमिआ ॥१॥
सच्चिअसक्कथयंता, जहन्नउक्कोसिया मुणेयव्वा" ॥

इति त्रिविधोक्ता जघन्यवन्दना व्याख्याता। ईर्यापथिकीनमस्कारोऽपि प्रणिधानान्तेनापि शक्रस्तवेन जघन्यचैत्यवन्दनेति तात्पर्यार्थः। सङ्घा०२ प्रस्ता०। पञ्चा०। ध०।

(१५) स्तुतिविचारः -

एतावताऽप्यवस्थात्रयभावनासिद्धैतदर्थमेव चात्र शक्रस्तवान्ते-"जे य अइया" इत्यादिगाथापाठाद्। उक्तं च लघुभाष्ये

"जे यऽइआ गाहाए, वीयहिगारेण दव्वअरिहंते।
पणमामि भावसारं, छउमत्थे तिसु वि कालेसु ॥१॥"

एषाऽपि यदैकदण्डकस्तुत्यादिसहिता स्यात्तदा मध्यमा भवतीयत आह-"मज्झदंडपुइजुयला" मध्या मध्यमाश्च जघन्योत्कृष्टाः, पाठक्रिययोस्तथाविधत्वात्। दण्डकश्च-"अरिहंतचेइयाणं" इत्यादिरेकस्तुतिश्च श्लोकादिरूपा प्रतीता चूलिकात्मिका एका तदन्त एव या दीयते। ते एव युगलं युग्मं यस्यां सा दण्डस्तुतियुगला, चैत्यवन्दनेत्यत्रापि योज्यं घण्टालालान्यायेन। एतच्च-"चेइअदंमगथुइएगसंगया सव्वमज्झिमिया"। तथा "नमुक्कराई चियदंडगथुइमज्झिमजहन्ना" इत्याद्युक्तितो व्याख्यातम्, अन्यथा-"सक्कत्थवाइयं चेइयवंदणं" इत्यागमोक्तप्रामाण्यात् शक्रस्तवोऽप्यत्रादौ भण्यते। तथा च बृहद्भाष्येऽपि-"मंगलसक्कत्थयचिइ-दंडगथुइहिँ मज्झमज्झिमिया"। अथवा दण्डश्च चैत्यस्तवरूप एकं स्तुतियुगलं च वक्ष्यमाणनीत्या चूलिकेतरस्तुतिद्वयरूपं यत्र सा दण्डस्तुतियुगला। चैत्यदण्डकः कायोत्सर्गोनन्तरदीयमानश्लोकादेकचूलिका स्तुतिः"लोगस्सुज्जोयगरे" इत्यादि। सङ्घा०२ प्रस्ता०।

(१६) अथ चैत्यवन्दनविधिमाह-

निस्स (कम) मनिस्सकमे वा, वि चेइए सव्वहिं थुई तिन्नि।
वेलं व चेइयाणि व, णाउं इक्किक्कया या वि ॥

निश्राकृते गच्छप्रतिबद्धे, अनिश्राकृते च तद्विपरीते, चैत्ये सर्वत्र तिस्रः स्तुतयो दीयन्ते। अथ प्रतिचैत्यं स्तुतित्रये दीयमाने वेलाया अतिक्रमो भवति, भूयांसि वा तत्र चैत्यानि, ततो वेलां चैत्यानि वा ज्ञात्वा प्रतिचैत्यमेकैकाऽपि स्तुतिर्दातव्येति। बृ०१ उ०।

"णवकारेण जहण्णा, दंडगथुइजुअलमज्झिमा णेया।
संपुण्णा उक्कोसा, विहिणा खलु वंदणा तिविहा ॥२॥"

(इति वन्दनपञ्चाशकद्वितीयगाथायाम्) संपूर्णा परिपूर्णा, सा च प्रसिद्धदण्डकैः पञ्चभिः स्तुतित्रयेण प्रणिधानपाठेन च भवति, चतुर्थस्तुतिः किलार्वाचीनेति। किमित्याह-उत्कृष्टत इत्युत्कर्षा उत्कृष्टा। इदं च व्याख्यानमेके -

"तिन्नि वा कड्ढई जाव, थुईओ तिसिलोगिआ।
ताव तत्थ अणुण्णायं, करणेण परेण वि" ॥१॥

इत्येतां कल्पभाष्यगाथां "पणिहाणं मुत्तसुत्तीए" इति वचनमाश्रित्य कुर्वन्ति ॥ पञ्चा०३ विव०। इति व्याख्यानात् ताश्चतस्त्रोऽपि ध्रुवाध्रुवस्तुतिभेदेन द्वे भवतः, ते च युगलशब्देनोच्येते इति स्तुतियुगलं स्तुतिचतुष्टयमुक्तम्। तथा तुलादण्डवद् मध्यग्रहणाद्यन्तयोरपि ग्रहणमिति न्यायादिह यथाऽऽदौ शक्रस्तवचैत्यदण्डककायोत्सर्गादि नियतं भण्यते तथाऽन्तेऽपि चतुर्थकायोत्सर्गस्तुत्यन्ते शक्रस्तवादि ध्रुवं भणनीयं, करणविधौ तथायातत्वात्। उक्तं च पञ्चवस्तुके-

"सेहमिह वामपासे, ठवित्तु तो चेइए पवंदंति।
साहूहि संम गुरवोः थुइवुड्ढी अप्पणा चेव" ॥१॥

आचार्या एव छन्दःपाठाभ्यां वर्द्धमानाः तुतीर्ददति। "वंदिय पुण ट्ठिआणं, गुरुणा ता वंदणं समं दाउं। सेहो भणई इच्छाकारेणं संदिसावेह" ॥१॥ वन्दित्वा द्वितीयप्रणिपातदण्डकावसाने। तथा ललितविस्तरायां चतुर्थकायोत्सर्गसूत्रस्तुतीर्व्याख्यायोक्तं, व्याख्यातं सिद्धेभ्य इत्यादिसूत्रं, पुनः संवेगभावितमतयो विधिनोपविश्य पूर्ववत्प्रणिपातदण्डकं पठित्वा स्तवपाठं पूर्ववत्। चतुर्थकायोत्सर्गसूत्रस्तुतिस्तुसूत्राद्युक्तत्वादवश्यमेव भणनीया। तथा च ललितविस्तरायामुक्तम्- केचित्तु अन्या अपि पठन्ति, न च तत्र नियम इति न तत्र व्याख्यानं क्रियते। असमर्थः-अन्या २ अपीति उक्तानुक्तादिसंग्रहरूपत्वेनात्र पञ्चमदण्डके तत्तत्पाठेऽपि सूत्रसन्धानादिदोषानापत्तेः।

सङ्घा०२ प्रस्ता०। ल०। ध०। न च तत्र नियमः-एका द्वे तिस्र इत्यादि। क्षेत्रकालाद्यपेक्षया क्वाऽपि तीर्थे कासाञ्चित्पाठादित्यनियतत्वात् तद्व्याख्यानाभावः। एतावता यदत्र व्याख्यातं च तन्नियमेन भणनीयमिति प्रतिपादितम्। व्याख्यातं च सिद्धाधिकृततीर्थशस्तुतिवत्सूत्रतया नियमभणनीयत्वेन-"वेयावच्चगराणं" इत्यादि चतुर्थकायोत्सर्गसूत्रस्तुत्यादि। तत्र यथा एवमेतत् "सिद्धाणं" इत्यादि पठित्वोपचितपुण्यसंभारा उचितेषूपयोगफलमेतदिति ज्ञापनार्थं पठन्ति, "वेयावच्चगराणं" इत्यादिकायोत्सर्गविस्तरः पूर्ववत्, स्तुतिश्च, नवरमेषां वैयावृत्यकराणां तथा तद्भाववृद्धिरित्युक्तप्रायः प्रशंसितः, प्रस्तुत कार्यायि प्रोत्सहत इति प्रसिद्धमेवेत्यर्थः। तदपरिज्ञानेऽप्यस्मात्तच्छुभसिद्धाविदमेव वचनं सूत्रं ज्ञापकम्। न चासिद्धम्, एतदभिचारकादौ मन्त्रवादे तथेक्षणात्, सदौचित्यप्रवृत्त्या सर्वत्र प्रवितितव्यमित्यैदम्पर्यमस्य। एष ध्रुवं भणनीया चतुर्थी चूलिकास्तुत्यन्ता पञ्चमदण्डकरूपा। तृतीया सूत्रस्तुतिः संपूर्णा चैत्यवन्दनाचूलिका वाऽप्येतदन्तं व्याख्यायोक्तम्। यथा-"सिद्धत्थयदंडयविवरणं संमत्तं"। तथा पाक्षिकचूर्णौ-"विरइपडिवत्तिकाले चिइवंदणमाइणोवयारेण आवस्सं अहासंनिहियदेवयासंनिहाणम्मि भवइ, अतो देवसक्खियं भणियं"। इहाऽपि वन्दनामध्ये देवाद्युपचारः तत्कायोत्सर्गस्तुत्यादि विना कोऽन्य इति पाक्षिकाद्यागमोक्तत्वान्नियतसुदृष्टिदेवताकायोत्सर्गस्तुत्यादि" सिद्धाणं बुद्धाणं" इतिनाम्न्यास्तृतीयसूत्रस्तुत्या अन्तेऽवश्यं भणनीयम्। उक्तानुक्ताऽऽदिसंग्राहिकत्वादस्याः सिद्धस्तवापरनाम्न्याः सूत्रस्तुतेः। एषैव चैवंसूत्ररूपसुदृष्टिस्मरणाभिधद्वादशाधिकारान्ता पञ्चमदण्डक उच्यते।

भणितं च -

"इह ललिअवित्थरावित्तिमाइवक्खायसुत्तअणुसारा।
सुत्तुत्त नवऽहिगारा, दुदस इगारस सुताचरणा॥१॥"

आवश्यकचूर्णिकारादिबहुश्रुतसंमता इत्यर्थः।

आह च-

"आवस्सगचुण्णीए, जं भणियं सेसया जहिट्ठाए।
तेणं उज्जंताइ वि, अहिगारा सुअमया चेव॥१॥"

एतावता भाष्योन्तरोक्तजघन्यादिभेदा मध्यमाऽपि व्याख्याता।

तथा बृहद्भाष्ये -

"उक्कोसा तिविहा वि हु, कायव्वा सत्तिओ उभयकालं।
सेसा पुण छब्भेया, चेइयपडिवाडिमाईसु॥१॥"।

भणितं च कल्पभाष्ये-"निस्सकडमनिस्सकडं" इत्यादि। एवं प्रागुक्तयुक्त्या-"निस्सकड" इति गाथया मध्यमा चैत्यवन्दना भणिता दण्डकस्तुतियुगलपाठरूपेति स्थितम्। अन्यत्राप्युक्तम्-

"चिइवंदणं तु नेयं, सुत्तत्थुवओगओ समाहीए।
अक्खलिआइगुणजुअं, दंडगपंचगसमुच्चरणं॥१॥"

नैवं चेत्ततोऽन्त्यकायोत्सर्गादिवदादिशक्रस्तवकायोत्सर्गाद्यप्यभणनीयं स्यात्, "निस्सकड" इत्यादावनुकूलत्वात्। एवं चान्यत् स्तुतिस्तोत्रप्रणिधानादि सर्वमध्यभणनीयं प्राप्नोति, भवता चैत्यमध्ये उक्तयुक्तेरेव। उक्तं च-

"जइ इत्तिअमित्तं चिय, जिणवंदणमणुमयं सुएहुं तं।
थुइथुत्ताइपवित्ती, निरत्थिआ हुज्ज सव्वाऽवि॥१॥"

परिभाव्यमत्र सम्यक् कुग्रहविरहेण। यदागमः-

"जं जह सुत्ते भणिअं, तहेव तं जइ विआरणा नऽत्थि।
किं कालिआणुओगो, दिट्ठो दिट्ठिप्पहाणेहिं॥१॥"

इह च सर्वत्राप्यादौ प्रथममीर्यादिपथिकी प्रतिक्रमितव्या। तथा चागमः-"ता गोअमा! णं अप्पडिक्कंताए इरियावहिआए न कप्पइ चेव किंचि चिइवंदणसज्झायज्झाणाइ अ फलासायमभिकंखुगाणं।" दशवैकालिकेऽपि द्वितीयचूलिकायाम्-"अभिक्खणं काउस्सग्गकारि" इति सूत्रस्य वृत्तिः-अभीक्ष्णं गमनागमनादिषु कायोत्सर्गकारि भवेत्। ईर्यापथप्रतिक्रमणमकृत्वा न किञ्चिदन्यत्कुर्यात्, तदशुद्धताऽऽपत्तेरिति भावः। यदि परमत्रोत्कृष्टशब्दवर्जिते बहुश्रुतसमाचारितां निरुम्भति, नान्यदिति॥ उक्ता सप्रभेदा मध्यमाऽपि वन्दना। इयमेव च स्तवप्रणिधानादिपर्यन्तोत्कृष्टा भवतीति। उक्तं च बृहद्भाष्ये "उक्कोसजहन्ना पुण, सच्चियसक्कत्थयाइपज्जंता"। एतदर्थप्रतिपादनायाऽऽह-"पणदंडथुइचउक्कगथुयपणिहाणेहिं उक्कोसा" त्ति पञ्चार्द्धं पञ्चभिर्दण्डकैः शक्रस्तवादिसुदृष्टिकायोत्सर्गपर्यन्तैः स्तुतिचतुष्केन वन्दनाऽनुशास्तितस्तु तिरूपचूलिकास्तुतिचतुष्टयेन द्वितीयदण्डकादिकायोत्सर्गचतुष्कान्तदातव्येन स्तवेन जघन्यतोऽपि चतुःश्लोकादिमानेन "चउसिलोगाइपरेणं धओ भवइ त्ति" व्यवहारचूर्णिभणितात् द्वितीयशक्रस्तवान्ते भणनीयेन तदादौ भण्यमानस्य नमस्कारताऽऽपत्तेः; प्रणिधानैश्च वक्ष्यमाणस्वरूपैर्वन्दनान्ते विधेयैरुत्कृष्टा संपूर्णा चैत्यवन्दनेत्यत्रापि योज्यम्। उक्तं च चैत्यवन्दनाचूर्णौ - "सक्कत्थवाइदंडगपंचगथुइचउक्कगपणिहाणकरणाओ उक्कोसा" त्ति। तथाऽऽन्यत्र-

"सक्कत्थवाइदंडग-पणगथुइचउक्कपुत्तपणिहाणा।
संपुन्ना चेइअवं-दणाउ हवई जओ भणियं॥
दुब्भिगंधमलस्सा वि, तणुरप्पेसणाणिया।
उभओ उवहो चेव, तेण इंति न चेइए॥
तिन्नि वा कड्ढई जाव, थुईओ तिसिलोहआ।
ताव तत्थ अणुन्नायं, कारणेण परेण वि"॥

एतयोर्भावार्थः-साधवश्चैत्यगृहे न तिष्ठन्ति। अथवा-चैत्यवन्दनान्त्यशक्रस्तवाद्यनन्तरं तिस्रः स्तुतीः श्लोकत्रय प्रमाणाः प्रणिधानार्थं यावत्कर्ष्यन्ते, प्रतिक्रमणानन्तरमङ्गलार्थं स्तुतित्रयपाठवत्। तावच्चैत्यगृहे साधूनामनुज्ञातं निष्कारणं, न परतः।

शालिसूरीयभाष्येऽऽप्युक्तम् -

"दंडगपंचगथुइजुय-लपाठपणिहाणसहिअउक्कोसा।
अहव पणिवायदंडग-पंचगजुअविहिजुआ चेसा"॥

प्रथममतं चैवम्। उक्तात् "तिन्नि वा कड्ढई जाव" इत्यादि भावार्थः प्रागुक्त एव। सिद्धादिश्लोकत्रयमात्रान्तपाठे तु संपूर्णवन्दनाया भाव एव, प्रथमस्तुतिश्लोकत्रयपाठान्तरं चैत्यगृहेऽवस्थानानुगतेन प्रणिधानासद्भावात्। भणितं चागमे वन्दनान्ते प्रणिधानम्। यथा-"वंदइ नमंसइ" त्ति सूत्रवृत्तिः-वन्दते ताःप्रतिमाश्चैत्यवन्दनविधिना प्रसिद्धेन, नमस्करोति पश्चात्प्रणिधानादियोगेनेति। वन्दनान्ते तिस्रस्तुतयोऽत्र प्रणिधानरूपा ज्ञेयाः। सर्वथा परिभाव्यमत्र पूर्वापराविराधेन प्रवचनगम्भीर्यं मुक्त्वाऽभिनिवेशमिति। यद्वा-पञ्चदण्डकैर्द्विरुक्तैरिति गम्यम्। स्तुतिचतुष्केण स्तुतियुगलद्वयगतेन एकैकयुगले वन्दनाऽनुशास्तिस्तुतिरूपस्तुतिद्वयगणनेन युगलद्वये स्तुतिचतुष्टयभावात्, शेषं प्राग्वत्, उत्कृष्टा वन्दना इति।

उक्तं च-

"जा थुइजुगलदुगेणं, दुगुणियचिइवंदणाइ पुणो।

उक्कोसमज्झिमा सा,....." ।

अथवा-पञ्चदण्डकैः शक्रस्तवरूपैः स्तुतिचतुष्केण प्रागुक्तनीत्या स्तुतियुगलद्वयगतेन शेषं प्राग्वदुत्कृष्टा वन्दना। भणितं च

".....,उक्कोसुक्कोसिया य पुण नेया।
पणिवायपणगपणिहा-णतियगथुत्ताइँ संपुन्ना॥
सक्कत्थओ य इरिआ, दुगुणिअचियवंदणाइ तह तिन्नि।
कतपणिहाणसक्क-त्थओ य इय पंच सक्कथया॥"

एतावता "तिहा उ वंदणा" इत्याद्यद्वारगाथागततुशब्दसूचितं नवविधत्वमप्युक्तं द्रष्टव्यम्।

उक्तं च बृहद्भाष्ये -

"चिइवंदणा तिभेया, जहन्निआ मज्झिमा य उक्कोसा।
इक्किका वि तिभेया, जहन्नमज्झिमियउक्कोसा॥
नवकारेण जहन्ना, इच्चाई जं च वण्णिओ तिविहा।
नवभेयाणमिमेसिं, नेयं उवलक्खणं तं तु॥
एसा नवप्पयारा, आइण्णा वंदणा जिणमयम्मि।
कालोचियकारीणं, अणुग्गहाणं सुहा सव्वा॥" रत्नसारनरेन्द्रवत्।
"बहुभेया पुण एसा, भणिय त्ति बहुस्सुएहिं पुरेसेहिं।
संपुन्नमवायंतो, मा कोइ चइज्ज सव्वं पि॥"

भणियं च -

"वित्तिकिरियाविरोहो, अववायनिबंधणं गिहत्थाणं।
किरिअंतरकाला वि-क्खयाइभावो सुसाहूणं॥
अहवा चिइवंदणया, निच्चा इअर त्ति होइ दुविहा तु।
निच्चा उ उभयसंझं, इयरा चेइअगिहाईसुं।
निच्चा संपुन्न च्चिअ, इयरा जहसत्तिओ य कायव्वा।
तव्विसयमिमं सुत्तं, मुणंति गीआ उ परमत्थं॥
उप्पन्नसंसया जे, सम्मं पुच्छंति नेव गीयत्थे।
चुक्कंति सुद्धमग्गा, ते पल्लवगाहिपंडिच्चा"॥

किं च -

"गीयत्था विहिरसिया, संविग्गतमा य सूरिणो पुरिसा।
कह ते सुत्तविरुद्धं, सामायारिं परूवंति"।१। संघा०२ प्रस्ता०।

(अत्र पूर्वसूचितरत्नसारनरेन्द्रकथा संघाचाराज्ज्ञातव्या)

(१७) जघन्यवन्दनाविचारः -

इह च केचिन्मन्यन्ते शक्रस्तवमात्रमेव वन्दनं श्रावकस्य युक्तं, जीवाभिगमादिषु तन्मात्रस्यैव तस्य देवादिभिः कृतत्वे न प्रतिपादितत्वात्, ततस्तदाचरितप्रामाण्यात्तदधिकतरस्य च गणधरादिकृतसूत्रेऽनभिधानान्न शक्रस्तवातिरिक्तं तदस्तीति। अत्रोच्यतेयदुक्तमाचरितप्रामाण्यादिति। तदयुक्तम्। यतो यदिदं जीवाभिगमादिसूत्रं तद्विजयदेवादिचरितानुवादपरमेवेति, न ततो विधिवादरूपाधिकृतवन्दनाछेदः कर्तुं शक्यः। तेषां ह्यविरतत्वात्प्रमत्तत्वाच्च तावदेव तत् युक्तम्, तदन्येषां पुनरप्रमादविशेषवतां विशेषभक्तिमतां तदधिकत्वेऽपि न दोषः। यदि पुनराचरितमवलम्ब्य प्रवृत्तिः कार्या, तदा बृहन्नयदपि कर्तव्यं स्याद्विधेयतयाऽङ्गीकृतमपि वर्जनीयं स्यादिति। यच्चोक्तम्-तदधिकतरस्यानभिधानादिति। तदयुक्तम्। "तिण्णि वा कड्ढई जाव, थुईओ तिसिलोइआ। "इत्यादिव्यवहारभाष्यवचनश्रवणात्। साध्वपेक्षया तदिति चेत्। नैवम्। साधुश्रावकयोर्दर्शनशुद्धेः कर्तव्यत्वाद्दर्शनशुद्धिनिमित्तत्वाच्च वन्दनस्य तथा संवेगादिकारणात्वादशठसमाचरितत्वाज्जीतलक्षणस्यो होपपद्यमानत्वात्चैत्यवन्दनभाष्यकारादिभिरेतत्करणस्य समर्थितत्वाच्च तदधिकतरमपि नायुक्तमित्यलं प्रसङ्गेन। ध०२ अधि०।

अथ वाचनान्तरोक्तत्रैविध्यादिप्रदर्शनपरं
भव्यजनानुग्रहाय किंञ्चिदुच्यते -

"अन्ने विंति इगेणं, सक्कथएणं जहन्नवंदणया।
इगदुगतिगेण मज्झा, उक्कोसा चऊहिँ पंचहिँ वा।
हत्थसयाओ मज्झे, इरिआवहिआ-अभवओ दुन्नि।
एवं उक्कोसाएँ, चउरो सक्कत्थए नेया॥२॥
भणिऊण नमुक्कारे, सक्कत्थयदंडयं अपरिऊणं।
इरिअं पडिक्कमंते, दो चउरो वा वि पणिवाया॥३॥
इरिआए, पुव्वं वा, पणिहाणंते व सक्कथयभणणे।
दुगुणचिइवंदणंते, व हुंति सक्कत्थया तिन्नि॥४॥
इगवारवंदणे पु-व्व पच्छ सक्कत्थएहिँ ते चतुरो।
दुगुणिअवंदणाए वा, पुविं पच्छा व सक्कथए॥५॥
सक्कत्थओ अ इरिया, दुगुणियचिइवंदणाइ तह तिन्नि।
थुत्तपणिहाणसक्क-त्थओ य इय पंच सक्कथया॥६॥
पाढकिरियाणुसारा, भणिया चिइवंदणा इमा नवहा।
तिविहाऽहिगारिभावा, तिहा वि सा इय भवे नवहा"॥७॥
संघा०२ प्रस्ता०।

अधिकारिभेदाद् वन्दनाभेदाः। अथ प्रकारान्तरेण
वन्दनायास्त्रैविध्यमाह-

अहवा वि भावभेया, ओघेणं अपुणबंधगाईणं।
सव्वा वि तिहा णेया, सेसाणमिमी ण जं समए॥३॥

अथवाऽपीति निपातः पूर्वोक्तप्रकारापेक्षया प्रकारान्तरत्वद्योतनार्थः। भावभेदात्परिणामविशेषाद् गुणस्थानकविशेषसंभवात्प्रमोदमात्ररूपाद्वा वन्दनाऽधिकारिजीवगतात् त्रिधा विज्ञेयेति संबन्धः। ओघेन सामान्येनापविवक्षितपाठक्रियाऽल्पत्वादितयेत्यर्थः। केषामित्याह-अपुनर्बन्धकादीनामपुनर्बन्धकप्रभृतिकानां वन्दनाधिकारिणां, तत्रापुनर्बन्धको व्याख्यातपूर्वः, आदिशब्दादविरतसम्यग्दृष्टि-देशसर्वविरतग्रहः। सर्वाऽपि नमस्काररादिभेदेन जघन्यादिप्रकारा अपि, आस्तामेका काचिदिति। तत्रापुनर्बन्धकस्य जघन्या, तत्परिणामस्य विशुद्ध्यपेक्षया जघन्यत्वात्, अविरतसम्यग्दृष्टेर्मध्यमा, तत्परिणामस्य विशुद्धिमङ्गीकृत्य मध्यमत्वात्। सामान्यविरतस्य तूत्कृष्टा, तत्परिणामस्य तथाविधत्वादेवेति। अथवाऽपुनर्बन्धकस्यापि त्रिधा, प्रमोदरूपभावत्रैविध्यात्, एवमितरयोरपीति। अथापुनर्बन्धकादीनामिति कस्मादुक्तम् ? मार्गाभिमुखादेरपि भावभेदसद्भावादित्यत्राह-शेषाणामपुनर्बन्धकादिव्यतिरिक्तानां सकृद्बन्धकमार्गाभिमुखमार्गपतिततदितर-मिथ्यादृशाम्। (इमी ति) इयमधिकृता भावभेदेन भेदवती वन्दना। पाठादिभेदवती तु स्यादपि, न नैव यद्यस्मात् समये सिद्धान्ते, भणितेति शेषः। तेषां तद्योग्यताविकलत्वादिति गाथार्थः। पञ्चा०३ विव०। ध०।

(१८) अपुनर्बन्धकादीनां स्वरूपमभिहितम्, अथ तेषामेव
भाववन्दनायामधिकारितां शेषाणां
चानधिकारितां दर्शयन्निदमाह -

एतेऽहिगारिणो इह, ण उ सेसा दव्वओ वि जं एसा।
इयरीएँ जोग्गयाए, सेसाण उ अप्पहाण त्ति॥७॥

एतेऽनन्तरोक्तस्वरूपा अपुनर्बन्धकादयः, अधिकारिणः तद्यो

न्यत्वेनाधिकारवन्तः, इह भाववन्दनायां, न तु शेषाः न पुनरपुनर्बन्धकादिभ्योऽपरे, मार्गाभिमुखमार्गपतितसकृद्बन्धकतदन्यमिथ्यादृशोऽधिकारिण इति प्रकृतम्। कुत एतदेवमित्याह-द्रव्यतोऽपि भावव्यतिरेकेणापि, आस्तां भावतः, यद्यस्मात्कारणात्, एषा वन्दना, द्रव्यवन्दनाऽपीत्यर्थः। इतरस्या भावतो वन्दनायाः, योग्यतायाम् अर्हतायां, सत्यां भवति नान्यथा; अतः कथं शेषा भाववन्दनाधिकारिणो भवन्तीति। ननु भाववन्दनाया अयोग्यतायामपि केषाञ्चिद् द्रव्यवन्दनेष्यते, अतः कथमुक्तं भाववन्दनाऽनर्हाणां द्रव्यवन्दनाऽपि न भवतीत्यत्राह-शेषाणां तु शेषाणां पुनरपुनर्बन्धकादिभ्योऽन्येषां सकृद्बन्धकादीनाम्, अप्रधानाऽनुत्तमा द्रव्यवन्दना भवति, न तु प्रधाना, भाववन्दनाया अकारणत्वात्तस्याः। दइमुक्तं भवति-द्रव्यशब्दो योग्यतायामप्राधान्ये च वर्त्तते, तत्र शेषायां भाववन्दनायोग्यत्वेन या प्रधाना द्रव्यवन्दना सा न भवति। तदयोग्यतया त्वप्रधानद्रव्यवन्दना स्यादपि। इतिशब्दो वाक्यार्थसमाप्तौ। इति गाथार्थः ॥७॥

अथ यदुक्तं शेषाणामप्रधानेति तत्समर्थनार्थमाह-

ण य अपुणबंधगाओ, परेण इह जोग्गया वि जुत्त त्ति।
ण य ण परेण वि एसा, जमभव्वाणं पि णिद्दिट्ठा ॥८॥

न च नैव, अपुनर्बन्धकादुक्तस्वरूपात्, परेण परतः, सकृद्बन्धकादीनामित्यर्थः। इह भाववन्दनायां, योग्यताऽप्यर्हताऽपि, आस्तां भाववन्दना, युक्ता संगता, संसारभूयस्त्वात्तेषाम्। इति शब्दो वाक्यार्थसमाप्तौ। तथा न च नैव, न परेणापि न परतोऽपि, सकृदबन्धकादेरप्येषा द्रव्यवन्दना भवति, भवत्येवेत्यर्थः। कुत एतदेवमित्याह-यद्यस्मात्कारणात्, अभव्यानामपि सिद्धिगमनायोग्यानामपि, आस्तां सकृद्बन्धकादीनाम्। निर्दिष्टा निदर्शिता आगमे। आर्हतदीक्षासाध्यस्य ग्रैवेयकोपपातस्यानन्तशो भव्यानामुक्तत्वात्, अतः शेषाणां भाववन्दनाऽनर्हत्वेन द्रव्यवन्दनाया अभावत्वात्, तस्याश्च तेषामुक्तत्वादप्रधानासेति स्थितम्। इति गाथार्थः। पञ्चा०३ विव०।

(१६) अधिकारिता-

यद्येवमुच्यतां के पुनरस्याधिकारिण इति ? उच्यते-एतद्बहुमानिनो विधिपरा उचितवृत्तयश्च। न हि विशिष्टकर्मक्षयमन्तरेणैवंभूता भवन्ति। क्रमोऽप्यमीषामयमेव, न खलु तत्त्वत एतद्बहुमानिनो विधिपरा नाम, भावसारत्वाद्विधिप्रयोगस्य, न चायं बहुमानाभावे इति, न चामुष्मिकविधावप्यनुचितकारिणोऽन्यत्रोचितवृत्तय इति विषयभेदेन तदौचित्याभावात्, अप्रेक्षापूर्वकारिविजृम्भितं हि तत्, तदेतेऽधिकारिणः परार्थप्रवृत्तैर्लिङ्गतोऽवसेयाः, मा भूदनधिकारिप्रयोगे दोष इति। लिङ्गानि चैषां तत्कथाप्रीत्यादीनि। तद्यथा-तत्कथाप्रीतिः, निन्दाऽश्रवणम्, तदनुकम्पा, चेयसो न्यासः, परा जिज्ञासा, तथा गुरुविनयः, सत्कालापेक्षा, उचितासनं, युक्तस्वरता, पाठोपयोगः, तथा लोकप्रियत्वम्, अगर्हिता क्रिया, व्यसने धैर्यं, शक्तितस्त्यागः, लब्धलक्षत्वं चेति। एभिस्तवाधिकारितामवैत्यैतदध्यापने प्रवर्त्तेत, अन्यथा दोष इत्युक्तम्। आह-कइवानधिकारिप्रयोगे दोष इति ? उच्यते-स ह्यचिन्त्यचिन्तामणिकल्पमनेकभवशतसहस्रोपात्तानिष्टदुष्टाष्टकर्म्मराशिजनितदौर्गत्यविच्छेदकमपीदमयोग्यत्वादवाप्य न विधिवदासेवते, लाघवं चास्यापादयति, ततोऽविधिसमासेवकः कल्याणमिव महदकल्याणमासादयति। उक्तं च-"धर्मानुष्ठानवैतथ्यात्प्रत्यपायो महान्। रौद्रदुःखौघजनको, दुःप्रयुक्तादिवौषधात्" ॥१॥ इत्याद्यतोऽनधिकारिप्रयोगे प्रयोक्तृत्वमेव न स्वतः तदकल्याणमिति लिङ्गैः तदधिकारितामवैत्यैतदध्यापने प्रवर्त्तेत। एवं हि कुर्वता आराधितं वचनं, बहुमतो लोकनाथः, परित्यक्ता लोकसंज्ञा, अङ्गीकृतं लोकोत्तरयानं, समासेविता धर्मचारितेति। अतोऽन्यथा विपर्यय इत्यालोचनीयमेतदतिसूक्ष्मभावेन। न हि वचनोक्तमेव विधानमुल्लङ्घ्याऽपरो हिताद्युपायः, न चानुभवाभावे पुरुषमात्रप्रवृत्तेस्तथेष्टफलसिद्धिः। अपि च-लाघवापादनेन शिष्टप्रवृत्तिनिरोधतस्तद्विघात एव। अपवादोऽपि सूत्राबाधया गुरुलाघवालोचनपरोऽधिकदोषनिवृत्त्या शुभः शुभानुबन्धी महासत्त्वसेवित उत्सर्गभेद एव। ननु सूत्रबाधया गुरुलाघवचिन्ताभावेन हितमहितानुबन्ध्यसमञ्जसं परमगुरुलाघवकारि क्षुद्रसत्त्वविजृम्भितमिति। एतदङ्गीकरणमप्यनात्मज्ञानां संसारसरिच्छ्रोतसि कुशकाशावलम्बनमिति परिभावनीयम् सर्वथा निरूणीयं प्रवचनगाम्भीर्यं, विलोकनीया तन्त्रान्तरस्थितिः, दर्शनीयं ततोऽस्याधिकत्वम्, यतितव्यमुत्तमनिदर्शन इति श्रेयोमार्गः, व्यवस्थितश्चायं महापुरुषाणां क्षीणप्रायकर्म्मणां विशुद्धाशयानां भवाबहुमानिनाम् अपुनर्बन्धकादीनामिति। अन्येषां पुनरिहानधिकार एव, शुद्धदेशनाऽनर्हत्वात्। शुद्धदेशना हि क्षुद्रसत्त्वमृगयूथसन्त्रासनसिंहनादः, ध्रुवस्तावदतो बुद्धिभेदः, तदनु सत्त्वलेशचलनं, कल्पितफलाभावापादनात् अशस्तमहामोहवृद्धिः, ततोऽधिकृतक्रियात्यागमकारी संत्रासः, भवाभिनन्दिनां स्वानुभवसिद्धमप्यसिद्धमेतदचिन्त्यमोहसामर्थ्यादिति। न खल्वेतानधिकृत्य विदुषा शास्त्रसद्भावः प्रतिपादनीयो, दोषभावादिति। उक्तं च "अप्रशान्तमतौ शास्त्रसद्भावप्रतिपादनम्। दोषायाभिनवो दीर्णे, शमनीयमिव ज्वरे ॥१॥" इति कृतं विस्तरेण, अधिकारिण एवाधिकृत्य पुरोदितान्, अपक्षपातत एवं निरस्येतरात् प्रस्तुतमभिधीयत इति। ल०।

"एएहिं लिंगेहिं नाऊणऽहिगारिणं तओ सम्मं।
चिइवंदणपाठाइ वि, दायव्वं होइ विहिणा उ ॥१७॥

भणियं च -

अत्थो विहिकहणं च, अत्थउ चिइवंदणाइदूरेण।
पाढो वि तओ देई, अहिगारिणि अपुणबंधाई ॥१८॥
दिन्ना उ अणहिगारिणि, अविहिअवन्नाइसेवणा जस्स।
दुपउत्त ओसहं पि व, होइ अकल्लाणजणगं ति ॥१९॥
तम्हा उ अपुणबंधग, अविरयविरयएहि होइ कायव्वा ॥
विहिउचियवित्तिबहुमा-णभत्तिकलएहिं सयकालं ॥२०॥
साहूहिं गिहत्थेहि य, अणन्न चिट्ठेइ जलयत्तकलिएहिं।
जहसंभवं गहाहिं, कयजिणपूयोवयारेहिं ॥२१॥
तह दव्वभावभेया, दुहा इमा दव्वओ पुणो दुविहा।
अपहाणा य पहाणा, होऊ भाविस्सिह पहाणा ॥२२॥
तत्थ पहाणा, एसा, होऊ पुण बंधगाईणं।
अपहाणं चित्र सेसा-ण इत्थ सइबंधगाईणं ॥२३॥
ता उण सइबंधगाणं, मग्गाभिमुहाण मग्गवडिआणं।
इयराण वि अपहाणा, चिइवंदण दव्वओ होइ ॥२४॥
उवओगअत्थचिंतण, गुणराया लाहबिम्हओ चेव।
लिंगाण विहिअभंगो, भावे दव्वे विवज्जइओ ॥२५॥
वेलाविहाणतग्गय-मणतणुवयणाणि तह य लिंगाणि।

रोमंचभाववुड्ढी इ भावचिइवंदणाइ भवे ॥२६॥
सुत्ते एगविह चिय, भणिआ तोऽणेगसाहणामजुत्तं।
इय थूलमई कोइ, भन्नइ सुत्तं इमं सरिउं ॥१५॥
तिन्नि वा कड्ढई जाव, थुईओ तिसिलोइआ।
ताव तत्थ अणुन्नायं, कारणेण परेण वि ॥१६॥
भणई गुरु तं सुत्तं, चिइवंदणविहिपरूवगं न भवे।
निक्कारणजिणमंदिरपरिभोगनिवारगत्तेण ॥१७॥
जं वासट्ठो पयडो, पक्खंतरसूयगो तहिं अत्थि।
संपुन्नं वा वंदइ, कड्ढइ वा तिन्नि उ थुईओ ॥१८॥
एसो वि हु भावत्थो, संभाविज्जइ इमस्स सुत्तस्स।
तो अन्नत्थं सुत्तं, अन्नत्थ न जोइउं जुत्तं ॥१९॥

किं च-

जइ इत्तियमित्तं चिय, जिणवंदणमणुमयं सुएहुं तं।
थुइथुत्ताइपवित्ती, निरत्थिया हुज्ज सव्वा वि ॥२०॥

अन्नच -

गीयत्था विहिरसिया, संविग्गतमा य सूरिणो पुरिसा।
कह ते सुत्तविरुद्धं, सामायारिं परूविंति ॥२१॥
अहवा चिइवंदणया, निच्चा इयर त्ति होइ दुविहा उ।
निच्चा उ उभयसंझं, इयरा चेइयगिहाईसु ॥२२॥
निच्चा संपुन्न चिय, इयरा जहसत्तिओ वि कायव्वा।
तव्विसयमियं सुत्तं, सुणंति गीया उ परमत्थं ॥२३॥
सम्मवियारिऊणं, सओ य परओ य समयसुत्ताइं।
जो पणयणं वि गोवइ, सो नेओ उ बहुसंसारी ॥२४॥
दूसमदोसा जीवो, जं वा तं वा मिसंतरं पप्प।
चेइयबहु करणिज्जं, थोवं पडिवज्जइ सुहेण ॥२५॥
इक्कं न कुणइ मूढो, सुयमुद्दिसिउ नियकुदोहम्मि।
जणमन्नं पि पवन्नइ, एवं बीयं महापावं ॥२६॥
उप्पन्नसंसया जे, सम्मं पुच्छंति नेव गीयत्थे।
चुक्कंति सुद्धमग्गा, ते पल्लवगाहिपंडिच्चा ॥२७॥
बहुभेया पुण एसा, भणिय त्ति बहुस्सुएहि पुरिसेहिं।
संपुन्नमचायंतो, मा कोइ चइज्ज सेसत्थं ॥२८॥

इत्याद्यभिहितं त्रिधा वन्देनेति पञ्चमद्वारम्।
तत्र जघन्या वन्दना प्रणिपातनमस्कारैरित्युक्तमतस्तद्वात्
प्रणिपातस्वरूपाभिधित्सया षष्ठं द्वारं गाथापूर्वार्द्धे -

नाऽऽह -

पणिवाओ पंचंगो, दो जाणू करदुगुत्तमंगं च।

अथवा प्राक् "अंजलिबंधो अद्धोणओ य पंचंगओ य तिपणामा।" इति जघन्यादिभेदेन प्रणामत्रयमुक्तम्। तत्र तृतीयः प्रणामः किमेकाङ्गादिपञ्चप्रकारः, उत भूस्पर्शाङ्गपञ्चलक्षण इति जिज्ञासायां तद्व्यक्त्यर्थमिदमाह। यद्वा- ननु लोकेऽष्टाङ्गप्रणामोऽपि श्रूयते, तत्कथं पञ्चाङ्ग एव उत्कृष्ट इत्याशङ्कायां जिनसमयप्रसिद्धासिद्ध्य-र्थमेवमभिधीयते प्रणिपातः प्रणामः, पञ्चाङ्गः पञ्चाङ्गानि शरीरावयवा नम्राणि यत्र स पञ्चाङ्गप्रणामः, सुरेन्द्रदत्तकुमारवत्। पञ्चभिरङ्गैर्भूमिः स्पर्शनीयेत्यर्थः। तथा चोक्तमाचाराङ्गचूर्णौ-"कहं नमंति सिरपंचमेणं काएणं ति।" कानि तानीत्याह द्वे जानुनी अष्टावती, करद्विकं हस्ततलद्वयं, उत्तमाङ्गं च मस्तकं चेति शिरःप्रभृत्येकाङ्गयोगतः। यद्वा प्रणिपातः पञ्चाङ्गः पञ्चप्रकारः, एतेन सिद्धान्ताप्रसिद्धात्वादित्यष्टाङ्गो न्यषेधि। उक्तं भाष्ये-"पूयं अट्ठोवयारं, भणंति अट्ठंगमेव पणिवायं। सो पुण एतदसिट्ठं, न इ अइचिण्णो जिणमयम्मि ॥१॥" इति एकाङ्गादिभेदात्। यदुक्तम्-

"एकाङ्गः शिरसो नामे, सङ्ख्यङ्गः करयोर्द्वयोः।
प्रयाणानमने त्र्यङ्गः, करयोः शिरसस्तथा ॥१॥
चतुर्णां करयोर्जान्वो र्नमने चतुरङ्गकः।
शिरसः करयोर्जान्योः, पञ्चाङ्गः पञ्चमो मतः" ॥२॥ सङ्घा०२ प्रस्ता०। (सुरेन्द्रदत्तकथाऽन्यत्र)

(२०) इति भणितं प्रणिपात इति षष्ठं द्वारम्। संप्रति नमस्कार इति सप्तमं द्वारं गाथोत्तरार्द्धेनाऽऽह-

सुमहत्थ नमुक्कारा, इग दुग तिग जाव अट्ठसयं ॥२१॥

सुमहार्थाः शोभनो वैराग्यादिजनको महाँश्च श्लाघ्योपमारूपकक्रियागुप्तकयमकानुप्रासविरोधालङ्कारादिगोचरो विचित्रोऽतिशाय्यर्थो येषां ते सुमहार्थाः, नमस्कारा मङ्गलवृत्तानि। कियन्तश्चैते भण्यन्ते इत्याह- एको द्वौ त्रयो यावदुत्कर्षतोऽष्टोत्तरं शतम्। तथा चागमः- "अट्ठसयविसुद्धग्गधजुत्तेहिं अत्थजुत्तेहिं अपुणरुत्तेहिं महावित्तेहिं संथुणइ।" विजयकुमारवत्। (संघा०) इत्युक्तं नमस्कार इति सप्तमं द्वारम्। एवं च भणितं चैत्यवन्दनास्वरूपम्। सङ्घा०२ प्रस्ता०।

सम्प्रति चैत्यवन्दनासूत्रार्थावसरः-

(२१) संपदद्वारम् -

अक्षराणि च पदसंपद्गतानीत्यतोऽक्षरपदसंपदिति द्वारत्रयम्। सङ्घा०३ प्रस्ता०। (पञ्चपरमेष्ठिसूत्रसंपदो 'णमुक्कार' शब्दे) ईर्य्याप्रतिक्रमणसूत्रमारभ्यात्र दर्शयिष्यन्ते साम्प्रतमीर्यापथिकी व्याख्यायते, पाठक्रमायातत्वात्। ईर्यापथिकीप्रतिक्रमणपुरस्सरं च सकलस्याऽपि चैत्यवन्दनादेर्धर्मानुष्ठानस्योक्तत्वात्; इत्थमेव च चित्तोपयोगेनानुष्ठानस्य साफल्यत्वात्, अन्यथा प्रायश्चित्तैकाग्रताया अभावात् सूत्रप्रामाण्याच्च। सङ्घा०३ प्रस्ता०। पूर्वमत्रैवोक्तम्-एवं च सिद्धान्ताद्युक्तत्वादीर्यापथिकीप्रतिक्रमणपूर्विकैव चैत्यवन्दना चैत्यायाता। वृद्धाः पुनरेवमाहुः-उत्कृष्टा चैत्यवन्दना ईर्यापथिकीप्रतिक्रमणपुरस्सरैव कार्येति। ईर्यापथिकीं च क्षमाश्रमणपूर्विका प्रतिक्रम्यते, इति तदक्षरसंख्याप्रतिपादक समर्थिकं गाथापादमाह -

पणिवायअक्खराई, अट्ठावीसं -

इह प्रणिपातशब्देन क्षमाश्रमणमुच्यते, प्रायस्तत्पूर्वकत्वात्, तस्मात्ततश्च प्रणिपाते क्षमश्रमणेऽष्टाविंशतिरक्षराणि। तथा च तत्सूत्रम् - "इच्छामि खमासमणो वंदिउं जावणिज्जाए निसीहियाए मत्थएण वंदामि" ॥ सङ्घा०३ प्रस्ता०। तदनन्तरम् -"उट्ठित्तु असंभंतो, वितिहं पायंतरं पमज्जित्ता। जिणमुद्दंचियचलणो, इरियावहियं पडिक्कमइ" ॥१॥ तत ईर्यापथिक्या वर्ण्णपदसंपत्प्रतिपादनाय गाथापादत्रयमाह-

तहा य इरियाए।

नवनउयअक्खरसयं, दुतीसपयसंपया अट्ठ ॥२३॥

तथा ईर्यापथिक्खां नवनवत्यधिकमक्षराणां शतम्। "ठामि काउस्सग्गं" इति यावत्। एतदन्तत्वादष्टम्याः संपदः। उक्तं

च-"अट्ठमी तस्स उत्तरी" इत्यादि, "ठामि काउस्सग्गं" इति पर्यन्तमिति। परतः कायोत्सर्गदण्डकत्वाच्च तद्वर्णसहितानि तु त्रीणि शतानि चत्वारिंशदधिकानि भवन्ति। उक्तं च-"नवनवइसया इरियावहिआए होइ वन्नपरिमाणं। उस्सग्गवन्नसहिआ, ते तिन्नि सया च चालीसा ॥१॥" अपरे तु-"मिच्छा मि दुक्कडं" इति पर्यवसानं "वन्नाणं सङ्कसयं" इति भणन्ति। तथाऽत्र द्वात्रिंशत्पदानि, अष्टौ संपदो महापदानीति॥

अथ यस्यां संपदि यावन्ति पदानि सन्ति तत्संख्या आद्यपदपरिज्ञाने च शेषपदानि सुखेन ज्ञायन्ते, इत्याद्यपदानि च ईर्यापथिकीसंपदां प्रतिपिपादयिषुराह -

दुग दुग इग चउ इग पण, इगरस छग इरियसंपयाइ पया।
इच्छाइरिगमपाणा, जे मे एगिंदी अभि तस्स ॥२४॥

द्वे च द्वे चेत्यादि द्वन्द्वः। ततो द्वित्र्येकचतुरेकपञ्चैकादशषट्पदानि यासु ताश्च ता ईर्यापथिकीसंपदश्च **"ते लुग्वा" ॥३।२।१०८॥** इति पदपथिकीशब्दयोर्लोपः, तासामाद्यपदानि। यथा इच्छा च, इरिश्चेत्यादिद्वन्द्वः। इत्यक्षरघटना। एवमन्यत्रापि कार्या। भावार्थस्त्वयम् - इच्छेतिवर्णद्वयसूचिताऽऽद्यपदा "इच्छामि १ पडिक्कमिउं २" इति पदद्वयपरिमाणा प्रथमा संपत्। इरीत्यक्षरद्वयघटिताद्यपदा "इरियावहिआए १ विराहणाए २" इति पदद्वयनिष्पन्ना द्वितीया संपत्। गमेत्याद्यक्षरद्वयलक्षणा-"गमणागमण" इत्येकपदैव तृतीया संपत्। "पाणे त्ति" द्विवर्णवर्ण्यादिमपदा "पाणक्कमणे बीयक्कमणे हरियक्कमणे ३ ओसा उत्तिंगपणगदगमट्टीमक्कडासंताणासंकमणे ४" इति पदचतुष्टयनिष्ट-ङ्किता चतुर्थी संपत्। "जे मे" इत्याद्यव्यञ्जनद्वयव्यञ्जिता "जे मे जीवा विराहिया" इत्येकपदपरिमिता पञ्चमी संपत्। 'एगिंदीति' अक्षरसूचिताऽऽद्यपदा-"एगिंदिया १ बेइंदिया २ तेइंदिया ३ चउरिंदिया ४ पंचिंदिया ५" इति पदपञ्चकपरिनिष्ठिता षष्ठी संपत्। 'अभीति' वर्णद्वयवर्णिताद्यपदा "अभिहया १ वत्तिआ २ लेसिआ ३ संघाइआ ४ संघट्टिआ ५ परियाविआ ६ किलामिआ ७ उइविआ ८ ठाणाओ ठाणं संकामिया ९ जीविआओ ववरोविआ १० तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ११" इत्येकादशपदपरिच्छिन्ना सप्तमी संपत्। "तस्स त्ति" आद्यपदालिङ्गिता "तस्स उत्तरीकरणेणं १ पायच्छित्तकरणेणं २ विसोहीकरणेणं ३ विसल्लीकरणेणं ४ पावाणं कम्माणं निग्घायणट्ठाए ५ ठामि काउस्सग्गं।" इतिपदषट्कघटिताऽष्टमी संपत्। परतः कायोत्सर्गसूत्रत्वाद्भाष्यान्तरेऽन्यपदालिङ्गनेनास्या एतदन्तभणनाच्च। उक्तं च-"जीवा विराहिया पंचमी उ पंचिंदिया भवे छट्ठी। मिच्छा मि दुक्कडं सत्तमी अट्ठमि ठामि काउस्सग्गं ॥१॥" एवं चासां पदैः परिगणनमर्थसाङ्गत्येन यथार्थतापरिज्ञानात्। उच्यते-"अब्भुवगमो १ निमित्तं २, ओहे ३ यरहेण ४ संगहे ५ पंच। जीव ६ विराहण ७ पडिकमणभेयओ तिन्नि चूलाए ॥१॥" अस्या अर्थ उक्तानुसारेणोन्नेयः। वाचनान्तराणि त्वर्थसाङ्गत्याभावेन यादृच्छिकानि चेति मत्वोपेक्षितानि। अत्र चैवं बृहद्भाष्योक्तो विधिः-"संनिहिअं भावगुरुं, आपुच्छित्ता खमासमणपुव्वं। इरिअं पडिक्कमिज्जा, ठवणा जिणसरिकायं इहरा ॥१॥" ननु जिनबिम्बस्यापि पुरतः स्थापनाचार्यः स्थापनीयः, तीर्थकरे सर्वपदभणनात् तद्बिम्बेऽपि सर्वपदस्थापना अवसीयत एव।

उक्तं च व्यवहारभाष्ये -

"आयरियग्गहणेणं, तित्थयरो इत्थ होइ गहिओ अ।
किं न भवइ आयरिओ, आयारं उवइसंतो य॥
निदरिसणमित्थ जह खंदएण पुट्ठो य गोयमो भयवं।
केण तुहं सिट्ठं ति य, धम्मायरिएण पंचाह॥
स जिणो जिणाइसइओ, सो चेव गुरू गुरूवएसाओ।
करणाय विणयणाउं, सो चेव मतो उवज्झाओ॥" इति।

आचाराङ्गचूर्णावप्युक्तम्- "आयरिया तित्थयरा गुणे आयरिय असंजमए" त्ति। सूत्रचूर्णिः-"आयरिया तित्थयर त्ति।" संघा०३ प्रस्ता०। ईयाप्रतिक्रमणसूत्रमत्रैव प्रागुक्तम् (अत्र स्कन्दकमुनिकथानकं सङ्गाचाराज्ज्ञेयम्) ई०प्र० अनन्तरम्-एतदर्थश्चैत्यस्तवदण्डके अभिधास्यते-"इरियउस्सग्गपमाणं, पणविंसुस्सासस" इति वचनात् पञ्चविंशत्युच्छ्वासपूरणार्थं "चंदेसु निम्मलयरा" इत्यन्तं चतुर्विंशतिस्तवं मनसा विचिन्त्य "नमो अरिहंताणं" इति भणन् कायोत्सर्गं पारयित्वा पुनश्चतुर्विंशतिस्तवं सकलं वाचोच्चरति। सङ्गा०३ प्रस्ता०। "नमोऽत्यु णं अरिहंताणं भगवंताणं" इत्यादि। (अस्य व्याख्या अर्हदादिशब्देषु)

तत्र शक्रस्तवसंपदां पदसंख्यामाद्यपदानि च प्रतिपिपादयिषुराह-

दु ति चउ पण पण दु चउ ति, प्पयसक्कत्थयसंपयाइपया।
नमुआइगपुरिसो लो-गुअभयधम्मऽप्पजिणसव्वं ॥३२॥

अक्षरघटना प्रागुक्तानुसारेण कार्या। भावार्थः पुनरयम्- "नमोऽत्थु णं अरिहंताणं" इत्याद्यपदा पदद्वयप्रमाणा प्रथमा संपत्। "आइगरेणं" इत्यादिपदत्रयनिष्पन्ना द्वितीया।२। "पुरिसुत्तमाणं" इत्यादिपदचतुष्कचर्चिता तृतीया।३। "लोगुत्तमाणं" इत्यादिपञ्चपदपूरिता चतुर्थी।४। "अभयदयाणं" इत्यादिपदपञ्चकपरिमाणा पञ्चमी।५। "धम्मदयाणं" इत्यादिपदपञ्चकनिष्पन्ना षष्ठी।६। "अप्पमिहय" इत्यादिपदद्वयनिर्वर्तिता सप्तमी।७। "जिणाणं" इत्यादिपदचतुष्टयघटिताऽष्टमी।८। "सव्वन्नूणं" इत्याद्यत एकत्रिकपरिकलिता "जियभयाणं" इति पर्यन्ता नवमी संपत्।९।

अथास्यैव वर्णादिसंख्यार्थं गाथापूर्वार्द्धमाह -

दोसयनउआ वन्ना, नव संपय पय तिसीस सक्कथए।

द्वे शते सप्तनवत्यधिके, वर्णा अक्षराणि, शक्रस्तवदण्डके इति योगः। "सव्वे तिविहेण वंदामि" इति यावत्; एतदन्तस्यैव वर्णवृद्धिसम्प्रदायेन प्रणिपातदण्डकतया रूढत्वात्। तथा च चैत्यवन्दनाचूर्णौ-"तिविहेण वंदामि" इत्येतदन्तं व्याख्याय भणितम्- "सक्कत्थयं विवरणं सम्मत्तं"। श्रीलघुभाष्येऽप्युक्तम्- "दो दो चउ चउ तिसया, सग नवइ तिसनवइ अप्पहिआ। अडतीसा छायाला, दंडेसु जहक्कम्मं वन्ना" ॥१॥

अस्यार्थः स्थापनातोऽवसेयः। तथा नव संपदः, पदानि च त्रयस्त्रिंशत् शक्रस्तवे। सङ्गा०३ प्रस्ता०। ध०। प्रव०।

भरतचरिते तु तस्य चक्ररत्ने उत्पन्ने -

"सो विणयमो ठवगओ, काऊण पयाहिणं च तिक्खुत्तो।
वंदइ अभित्थुणंतो, इमाहि महुराहिँ वग्गूहिं ॥४६॥
लाभा हु ते सुलद्धा, जंसि तुमं धम्मचक्कवट्टीणं।
होहिसि दस चतु दसमो, अ पच्छिमो वीरनामो त्ति ॥४७॥
एवं णं थोऊणं, काऊण पयाहिणं च तिक्खुत्तो।

आपुच्छिऊण पियरं, विणियानयरिं अह पविट्ठो ॥४८॥

श्रुत्वैवं भरताधिपेन विहितां द्रव्यार्हतो वन्दनां,
श्रीनाभिप्रभवप्रभोर्वचनतश्चाष्टापदे स्थापनाम्।
तद्भो भव्यजनास्त्रिकालभविनामेषां सदा वन्दनां,
कुर्वीध्वं प्रतिमाश्च भावजनिताध्यारोपतो यत्नतः" ॥४९॥

तदेवं द्रव्यार्हतां नमस्करणीयत्वात् भाष्यकारादिभिः समर्थित्वादावश्यकचूर्णिकृद्व्याख्यातार्थत्वात्संवेगादिकारणत्वात्सम्यक्त्वनैर्मल्यहेतुत्वाद् अशठबहुबहुश्रुतपूर्वाचार्यचरितत्वात् जीतकल्पानुपातित्वाच्च युक्तेः "जे य अईया" इतिगाथेति। एष द्रव्यार्हद्वन्दनार्थं द्वितीयोऽधिकारः। शक्रस्तवविवरणं समाप्तमिति चूर्णिः। एवं शक्रस्तवाख्यप्रथमदण्डकेन भावद्रव्यार्हतोऽभिवन्द्य स्थापनार्हद्वन्दनार्थमुत्थाय साधुः श्रावको वा चैत्यस्तवदण्डकं विधिवद्भणति। उक्तं च-

"उठिय जिणमुद्दंचियचलणो विहियकरजोगमुद्दो य।
चेइयगयथिरदिट्ठी, ठवणाजिणदंडयं पढइ" ॥१॥ सङ्घा०३ प्रस्ता०।

(२२) प्रणिपातदण्डके वाराः -

एताभिर्नवभिः संपद्भिः प्रणिपातदण्डक उच्यते, तत्पाठानन्तरं प्रणिपातकरणात्। सङ्घाचारवृत्तौ तुआदावन्ते च त्रीन् वारान् प्रणिपातः कर्त्तव्यः। तथा च तद्ग्रन्थः-"कहं नमंति सिरपंचमेणं काएणं "इत्याचाराङ्गचूर्णिवचनात् पञ्चाङ्गप्रणामं कुर्वता "तिक्खुतो मुद्धाणं धरणितलंसि निवेसइ" इत्यागमात् त्रीन् वारान् शिरसा भूमिं स्पृष्ट्वा भूमिनिहितजानुना करधृतयोगमुद्रया शक्रस्तवदण्डको भणनीयः, तदन्ते च पूर्ववत् प्रणामः कार्यः, इति जिनजन्मादिषु स्वविमानेषु तीर्थप्रवृत्तेः पूर्वमपि शक्रोऽनेन भगवतः स्तौतीति शक्रस्तवोऽपयुच्यते। अयं च प्रायेण भावार्हद्विषयो, भावार्हदध्यारोपाच्च स्थापनार्हतामपि पुरः पठ्यमानो न दोषाय।

"तित्तीसं च पयाइं, नवसंपयवन्नदुसयवासट्ठा।
भावजिणत्थवरूवो, अहिगारो एस पढमो त्ति" ॥१॥

अतोऽनन्तरं त्रिकालवर्त्ति द्रव्यार्हद्वन्दनार्थमिमां गाथां पूर्वाचार्याः पठन्ति -

"जे य अईया सिद्धा, जे य भविस्संऽतणागए काले।
संपयइ य वट्टमाणा, सव्वे तिविहेण वंदामि" ॥१॥ कण्ठ्या।

ननु कथं द्रव्यार्हन्तो नरकादिगतिं गता अपि भावार्हद्वन्दनार्हा इति चेत ? उच्यते सर्वत्र तावन्नामस्थापनाद्रव्यार्हन्तो भावार्हदवस्थादि व्यवस्थाप्य नमस्कार्या इति द्रव्यार्हद्वन्दनार्थोऽय द्वितीयोऽधिकारः। ध०२ अधि०। संपदः-"जे य अईआ सिद्धा" इति गाथा, साऽप्यवश्यं भणनीया शक्रस्तवान्ते, पूर्वैर्महाश्रुतधरैरभिहितत्वात्, न पुनरौपपातिकादिषु, "नमो जिणाणं जियभयाणं" इति पर्यन्तस्य शक्रस्तवस्य पठितत्वान्नेयं गाथाऽस्माभिः स्वयं भण्यते, इति कुबोधाऽऽग्रहग्रस्तमानसैर्नवनवान्यविकल्पकल्पनकुशलैराधुनिकैरिव कौश्चिन्न पठनीया, प्राक्तनैरशठैरनभिमानैः गीतार्थैः सूरिभिरादृतस्य पक्षस्यादरणीयत्वादिति। प्रव०१ द्वार। तदेतदसौ साधुः श्रावको वा यथोदितं पठन् पश्चाङ्गप्रणिपातं करोति। भूयश्च पादपुच्छनादिनिषण्णो यथा भव्यस्थानवर्णार्थालम्बतगतचित्तः सर्वासाराणि यथाभूतान्यसाधारणगुणसंगतानि भगवतां दुष्टालङ्कारविरहेण प्रकृष्टशब्दानि भाववृद्धये परयोगव्याघातवर्जितेन परिशुद्धामापादयन् योगवृद्धिमन्येषां सद्विधानतः सर्वज्ञप्रणीतवचनोन्नतिकराणि भावसारं परिशुद्धगम्भीरेण ध्वनिना तु निभृताङ्गः सम्यगनभिभवन् गुरुध्वनिं तत्प्रवेशात् अगणयन् दंशमशकादीन् देहे योगमुद्रया रागादिविषपरममन्त्ररूपाणि महास्तोत्राणि पठति। एतानि च तुल्यान्येव प्रायशोऽन्यथा योगघातः, तदज्ञस्य तदपरश्रवणम्। एवमेव श्रुतवित्तलाभः तद्व्याघातोऽन्यथेति योगोचर्याः। योगसिद्धिरेवात्र ज्ञापकं द्विविधमुक्तम्शब्दोक्तमर्थोक्तं च। तदेतदर्थोक्तं वर्तते, शुभवित्तलाभार्थतवाद्वन्दनाया इति। एवं च सति तन्न किञ्चिद्यदुच्यते परैरुपहासबुद्ध्या प्रस्तुतस्यास्यादरतापादनाय। अलमनेन क्षपणकवन्दनाकालादकल्पेनाभाविताभिधानेन, उक्तवदभाविताविधानायोगात्, स्थानादिगर्भतया भावसारत्वात्। तदपरस्यागमबाह्यत्वात्। पुरुषप्रवृत्त्या तु तद्बाधायोगात्। अन्यथाऽतिप्रसङ्गादिति न किञ्चिदेतत्। एवंभूतैः स्तोत्रैर्वक्ष्यमाणप्रतिज्ञोचितं चेतोभाषमापाद्य पञ्चाङ्गप्रणिपातपूर्वकप्रमोदवृद्धिजनकानभिवन्द्याचार्यादिना गृहीतभावः सहृदयनटवत् अधिकृतभूमिका संपादनार्थं चेष्टते, वन्दनासंपादनाय स चोत्तिष्ठति, जिनमुद्रया पठति चैतत्सूत्रम्- 'अरिहंतचेइयाणं' इत्यादि। संपदः। ल०।

तत्रास्य संपद्गतपदसंख्यापरिज्ञानार्थमाह -

दु छ सग नव तिय छच्चन-छप्पयचिइसंपयापया पढमा।
अरिहां वंदण सद्धा, अन्न सुहुम एव जा ताव ॥

अक्षरघटना प्राग्वत्। भावार्थस्त्वयम्- "अरिहंतचेइयाणं" इत्याद्यपदद्वयप्रमाणा प्रथमा संपत्। "वंदणवत्तियाए" इत्यादिपदषडकपरिमाणा द्वितीया संपत्। "सद्धा" इत्यादि सप्तपदपरिमाणा तृतीया संपत्। "अन्नत्थ ऊससिएणं" इत्यादिपदनवकनिर्मिता चतुर्थी संपत्। "सुहुमेहिं" इत्यादिपदत्रययुता पञ्चमी संपत्। "एवमाइएहि" इत्यादिषट्पदपूरिता षष्ठी संपत्। "जाव अरिहंताणं" इत्यादिपदचतुष्कमित्यादि सप्तमी संपत्। "ताव कायं " इत्यादिपदषट्कघटिताऽष्टमी इति। सङ्घा०३ प्रस्ता०। प्रव०। ध०।

(२३) चतुर्विंशतिस्तवः -

"अरिहं वंदण सद्धा, अन्न सुहुम एव जा ताव।
अडसंपयतेआला, पयवन्ना दुसयतीसऽहिआ ॥१॥"

एष स्थापनार्हद्वन्दनाख्यस्तृतीयोऽधिकारः, द्वितीयो दण्डकः कायोत्सर्गश्चाष्टोच्छ्वासमात्रः। न त्वत्र ध्येयनियमोऽस्ति, कायोत्सर्गान्ते च यद्येक एव, ततः "नमो अरिहंताणं" इति नमस्कारेण परयित्वा यत्र चैत्यवन्दनां कुर्वन्नस्ति, तत्र यस्य भगवतः संनिहितं स्थापनारूपं तस्स स्तुतिं पठति। अथ बहवः, तत एक एव स्तुतिं पठति। अन्ये तु कायोत्सर्गस्थिता एव शृण्वन्ति यावत् स्तुतिसमाप्तिः ततः सर्वेऽपि नमस्कारेण पारयन्तीति, तदनन्तरं तस्यामे वावसर्पिण्यां ये भारते वर्षे तीर्थकृतोऽभूवन्, तेषामेकैकक्षेत्र निवासादिना आसन्नोपकारित्वेन कीर्त्तनाय चतुर्विंशतिस्तवं पठति, पठन्ति वा-"लोगस्सुज्जोयगरे, धम्मतित्थयरे जिणे। अरिहंते कित्तइस्सं, चउवीसं पि केवली"।१। ध०२ अधि०। ल०। यदुक्तं कीर्तयिष्यामीति तत्कीर्त्तनं कुर्वन्नाह -

"उसभमजिअं च वंदे, संभवाभिणंदणं च सुमहं च।

पउमप्पहं सुपासं, जिणं च चंदप्पहं वंदे ॥१॥
सुविहिं च पुप्फदंतं, सीअल सिज्जंस वासुपुज्जं च।
विमलमणंतं च जिणं, धम्मं संतिं च वंदामि ॥२॥
कुथुं अरं च मल्लिं, वंदे मुणिसुव्वयं नमिजिणं च।
वंदामिऽरिट्ठनेमिं, पासं तह वद्धमाणं च" ॥३॥ ध०२ अधि०।

कीर्त्तनं कृत्वा चैतःशुद्ध्यर्थं प्रणिधानमाह-

"एवं मए अभिथुआ, विहूयरयमला पहीणजरमरणा।
चउवीसं पि जिणवरा, तित्थयरा मे पसीयंतु" ।१। ध०२ अधि०।

तत्र प्रथममस्य लाघवार्थं च श्रुतस्तवादेरस्यैकयैव गाथया संपदादिप्रमाणमाह -

नामथवाइसु संपय-पयसम अडवीस सोल वीस कमा।
अदुरुत्त वन्न दोसय, दुसयं सोलऽट्ठनउय सयं ॥

नामस्तवश्चतुर्विंशतिस्तवः, आदिशब्दात् श्रुतस्तवसिद्धस्तवग्रहः। एषु दण्डकेषु, संपदो विश्रामाः, पदसमाः दण्डकादिचतुर्थभागसमानाः, यावन्ति पदानि तावन्त्य एवं संपदः। तत्र अष्टाविंशतिर्नामस्तवे, एकश्लोकगाथाषट्कमानत्वात्। षोडश श्रुतस्तवे, गाथाद्वयवृत्तद्वयत्वात्। विंशतिः सिद्धस्तवे, गाथापञ्चकप्रमाणत्वात्। क्रमेण यथाक्रमं, तथा अद्विरुक्ता अपुनरुक्ता ये एकवेलया गणितास्ते पुनर्न गण्यन्ते। इति भावः। वर्णा अक्षराणि, दण्डकत्रये क्रमेण भवन्ति। तत्र द्वे शते षष्ट्यधिके नामस्तवदण्डके, "सव्वलोए" इत्यक्षरचतुष्कस्याक्षेपात्। अग्रतनवर्णानाम् अर्हच्चैत्यस्तवे गणितत्वाद्द्विरुक्ता इति प्रतिज्ञातात्र। एवमग्रेऽपि भाव्यम्।१। तथा द्वे शते षोडशाधिके श्रुतस्तवदण्डके, "सुयस्स भगवओ त्ति" सप्ताक्षरसहितगणनात् दण्डकान्तः पातित्वादेषाम्। तथा अष्टनवत्यधिकं शतं सिद्धस्तवदण्डके, "समदिट्ठी समाहिगराणं " इतियावत् पञ्चाधिकारप्रमाणत्वात् पञ्चमदण्डकस्य "सिद्धत्थए पंच अहिगारा" इति वचनात्। शेषभावना प्राग्वत्। संघा०३ प्रस्ता०।

(२४) सिद्धस्तुतिः-

"कित्तिय वंदिय महिया, जे ए लोगस्स उत्तमा सिद्धा।
आरुग्ग बोहिलाभं, समाहिवरमुत्तमं दिंतु ॥१॥" ध०२ अधि०। ल०।
"चंदेसु निम्मलयरा, आइच्चेसु अहियं पयासयरा।
सागरवरगंभीरा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु" ॥१॥ ध०२ अधि०।ल०। सङ्घा०। नामाऽर्हद्वन्दनाधिकाररूपश्चतुर्थोऽधिकारस्तृतीयो दण्डकः। एवं चतुर्विंशतिस्तवमुक्त्वा सर्वलोक एवार्हच्चैत्यानां वन्दनाद्यर्थं कायोत्सर्गकरणायेदं पठति, पठन्ति वा-"सव्वलोए अरिहंत चेइयाणं करेमि काउस्सग्गं" इत्यादि, "वोसिरामीति" यावत्। ध०२ अधि०। ल०। नवरं सर्वलोके उर्ध्वाधस्तिर्यग्रूपे, त्रैलोक्य इत्यर्थः तत्रोर्ध्वलोके सौधर्म्मादिस्वर्गागतविमानेषु। यथा-"बत्तीसलक्खचेइयं सो हम्मे" (इत्यादि 'चेइय' शब्दे अस्मिन्नेव भागे १२४२ पृष्ठे गतम्) व्याख्या पूर्ववत्, नवरं सर्वश्वासौ लोकश्च अधउर्ध्वतिर्यग्भेदः, तस्मिँस्त्रैलोक्य इत्यर्थः। अधोलोके हि चमरादिभवनेषु, तिर्यग्लोके द्वीपाचलज्योतिष्कविमानादिषु, उर्ध्वलोके सौधर्मादिषु सन्ति बाऽर्हच्चैत्यानि। ततश्च मौलचैत्यं समाधिकारणमिति मूलप्रतिमायाः प्राक् स्तुतिरुक्ता। इदानीं सर्वे अर्हन्तस्तद्वुणा इति सर्वलोकग्रहः। तदनुसारेण सर्वतीर्थकरसाधारणा स्तुतिः। अन्यथा अन्यकायोत्सर्गं अन्या स्तुतिरिति न सम्यक्, अतिप्रसङ्गात्। अति सर्वतीर्थकराणां स्तुतिरुक्ता। एष सर्वलोकस्थानार्हतस्तवरूपः पञ्चमोऽधिकारः।

इदानीं येन ते भगवन्तः तदभिहिताश्च भावाः स्फुटमुपलभ्यन्ते, तत्प्रदीपस्थानीयं सम्यक् श्रुतमर्हति कीर्तनं तत्राऽपि तत्प्रणेतॄन् भगवतस्तत्प्रथमं स्तौति -

"पुक्खरवरदीवड्ढे, धायइखंडे य जंबुदीवे य।
भरहेरवयविदेहे, धम्माइगरे नमंसामि" । ध०२ अधि०। ल०। एवं श्रुतधर्मादिकराणां स्तुतिरुक्ता, एष षष्ठोऽधिकारः।

इदानीं श्रुतधर्मस्याऽह -

"तमतिमिरपडलविद्धं-सणस्स सुरगणन-रिंदमहिअस्स।
सीमाधरस्स वंदे, पप्फोडिअमोहजालस्स" ॥१॥
ध०२ अधि०। ल०।

इत्थं श्रुतमभिबन्ध तस्यैव गुणोपदर्शनद्वारेणाप्रमादगोचरतां प्रतिपादयन्नाह -

"जाईजरामरणसोगपणासणस्स,
कल्लाणपुक्खलविसालसुहावहस्स।
को देवदाणवनरिंदगणच्चिअस्स,
धम्मस्स सारमुवलब्भ करे पमायं ॥१॥" ध०२ अधि०। संघा०।

यतश्चैवमतः -

"सिद्धे भो पयओ णमो, जिणमए नदी सया संजमे,
देवं नागसुवन्नकिन्नरगणस्सब्भूअभावच्चिए॥
लोगो जत्थ पइट्ठिओ जगमिणं तेलुक्कमच्चासुरं,
धम्मो वड्ढउ सासओ विजयओ धम्मुत्तरं वड्ढउ" ॥१॥ ध०२ अधि०। ल०। सङ्घा०।

(२५) श्रुतस्य स्तुतिः-

प्रणिधानमेतन्मोक्षबीजकल्पं परमार्थतो नाशंसारूपमेवेति प्रणिधानं कृत्वा श्रुतस्यैव वन्दनाद्यर्थं कायोत्सर्गार्थं पठति, पठन्ति वा-"सुअस्स भगवओ करेमि काउस्सग्गं" इत्यादि, "वोसिरामीति" यावत्। ध०२ अधि०। नवरं श्रुतस्येति प्रवचनस्य सामायिकादिचतुर्दशपूर्वपर्यन्तस्य, भगवतः समग्रैश्वर्यादियुक्तस्य, सिद्धत्वेन समग्रैश्वर्यादियोगः; न ह्यतो विधिप्रवृत्तः फलेन वञ्च्यते, व्याप्तश्च सर्वप्रवादाः, एतेन विधिप्रतिषेधानुष्ठानपदार्थाविरोधेन च वर्त्तन्ते। स्वर्गकैवलार्थिना तपो ध्यानादि कर्त्तव्यम्, "सर्वे जीवा न हन्तव्याः" इति वचनात्। "समितिगुप्तिद्धा" क्रिया ,"असपत्नो योगः" इतिवचनात्। 'उत्पादविगमध्रौव्ययुक्तंसत्' । एवं द्रव्यमनन्तपर्यायमर्थः" इति वचनादिति कायोत्सर्गप्रपञ्चः प्राग्वत्। तथैव च स्तुतिः, यदि च परं श्रुतस्य समानजातीयवृन्दकत्वात्। अनुभवसिद्धमेतत्। तत्स्थानात् चलति समाधिरन्यथेति प्रकटम्। ऐतिह्यं चैतदेवमतो न साधनीयमिति। ल०।

ततः कायोत्सर्गकरणं पूर्ववत्यापारयित्वा श्रुतस्य स्तुतिं पठति-

"सुअनाणत्थयरूवो, अहिगारो होइ एस सत्तमओ।
इह पयसंपयसोलस, नमुत्तरा वन्न दुन्नि सया ॥१॥" ध०२ अधि०। संघा०। व्याख्यातं 'पुष्करवरद्वीपार्द्धे' इत्यादि सूत्रम्। पुनरनुष्ठानपरम्परफलभूतेभ्यः तेभ्यस्तथाभावेन तत्क्रियाप्रयोजकेभ्यश्च सिद्धेभ्यो नमस्करणायेदं पठति, पठन्ति वा-"सिद्धाणं" इत्यादि सूत्रम्। ल०। ध०। सङ्घा०। एष सिद्धस्तुतिरूपोऽष्टमोऽधिकारः।

(२६) इत्थं सामान्येन सर्वसिद्धनमस्कारं कृत्वा आसन्नोपकारित्वाद्वर्त्तमानतीर्थाधिपतेः श्रीमन्महावीरवर्द्धमानस्वामिनः स्तुतिं करोति-

"जो देवाण वि देवो, जं देवा पंजली नमसंति।
तं देवदेवमहिअं, सिरसा वंदे महावीरं" ॥१॥ ध०२ अधि०। ल०।

इत्थं स्तुतिं कृत्वा पुनः परोपकारायाऽऽत्मभाववृद्धये च फलप्रदर्शनपरमिदं पठति -

"इक्को वि नमुक्कारो, जिणवरवसहस्स वद्धमाणस्स।
संसारसागराओ, तारेइ नरं व नारिं व" ॥१॥ ध०२ अधि०। ल०। संघा०। एष नवमोऽधिकारः। एतास्तिस्रः स्तुतयो गणधरकृतत्वान्नियमेनोच्यन्ते। केचित्तु अन्या अपि स्तुतीः पठन्ति। यदाहावश्यकचूर्णिकृत्-"सेसा जहिच्छाए त्ति।"

ता यथा-

"उज्जिंतसेलसिहरे, दिक्खा नाणं निसीहिआ जस्स।
तं धम्मचक्कवट्टिं, अरिट्ठनेमिं नमंसामि" ॥१॥

कण्ठ्या, नवरं (निसीहिअ त्ति) सर्वव्यापारनिषेधाद् नैषेधिकी युक्तिः। एष दशमोऽधिकारः।

"चत्तारि अट्ठ दस दो, अ वंदिया जिणवरा चउव्वीसं।
परमट्ठनिट्ठिअट्ठा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु" ॥१॥

(परमट्ठनिट्ठिअ त्ति) परमार्थेन, न कल्पनामात्रेण, निष्ठिता अर्था येषां ते तथा। शेषं व्यक्तम्। एष एकादशोऽधिकारः। ध०२ अधि०। संघा०।

(२७) वेयावच्चस्तुतिः-

एतास्तिस्रः स्तुतयो नियमेनोच्यन्ते, केचित्तु अन्या अपि पठन्ति, न तत्र नियम इति, न त ह्युपाख्यानक्रिया। एवमेतत्पठित्वोपचितपुण्यसंभारा उचितेषूपयोगफलमेतदितिज्ञापनार्थं पठन्ति-"वेयावच्चगराणं, संतिगराणं सम्मद्दिट्ठिसमाहिगराणं करेमि काउस्सग्गं" इत्यादि, यावद् "वोसिरामि"। व्याख्या पूर्ववत्। नवरं वैयावृत्यकराणां प्रवचनार्थं व्यापृतभावानां यक्षाम्बाकूष्माण्ड्यादीनां शान्तिकराणां क्षुद्रोपद्रवेषु सम्यग्दृष्टीनां सामान्येनान्येषां समाधिकराणां स्वपरयोस्तेषामेव स्वरूपमेतदेवैषामितिवृद्ध संप्रदाय एतेषां संबन्धिनम्। सप्तम्यर्थे वा षष्ठी। एतद्विषयम्, एतान्वाऽऽश्रित्य करोमि कायोत्सर्गमिति, कायोत्सर्गविस्तरः पूर्ववत् स्तुतिश्च; नवरमेषां वैयावृत्यकराणां तथा तद्भाववृद्धेरित्युक्तप्रायम्। तदपरिज्ञानेऽप्यस्मात्ततः शुभसिद्धाविदमेव वचनं ज्ञापकम। न चासिद्धमेतत् अभिवारकादौ तथेक्षणात् सदौचित्यप्रवृत्त्या सर्वत्र प्रवर्तितव्यमित्यैदम्पर्यमस्य। तदेतत् सकलयोगबीजं वन्दनादिप्रत्ययमित्यादि न पठ्यते, अपि त्वन्यत्रोच्छ्वसितेनेत्यादि, तेषामविरतत्वात्। सामान्यप्रवृत्तेरित्थमेवोपकारदर्शनाद् वचनप्रामाण्यादिति व्याख्यातं 'सिद्धेभ्यः' इत्यादि सूत्रम्। ल०।

अथ बृहद्भाष्यम् -

"पारिय काउस्सग्गो, परमिट्ठीणं च कयनमुक्कारो।
वेयावच्चगराणं, देइ थुई जक्खपमुहाणं ॥१॥
संवेगभावियमणो, वंदिय संनिहियचेइआणेवं।
अवसेसचेइयाणं, वंदणपणिहाणकरणत्थं ॥२॥
पुव्वविहाणेण पुणो, भणितु सक्कत्थयं तओ कुणइ।
जिणचेइयपणिहाणं, संविग्गो मुत्तसुत्तीए ॥३॥"

"जावंति चेइयाइं" इत्यादि। यावन्ति यत्प्रमाणानि, चैत्यानि आधाराधेयरूपत्वेन जिनानां गृहाणि, बिम्बानि च। क्व ? ऊर्ध्वाधश्च तिर्यग्लोके च। तत्र जिनगृहाण्येवम् -

"सगकोडिलक्खविसयरि, अहो अ तिरिए दुतीसपणसयरा।
चुलसिलक्खा सगनवइ, सहस्सतेविंसुवरिलोए" ॥१॥

प्रतिमास्तु -

"तेरसकोडिसयाको-मिग णवइसट्ठिलक्ख अहलोए।
तिरिअं तिलक्ख तिणवइ, सहस्सपडिमा दुसयचत्ता ॥२॥
वावन्नं कोडिसयं, चउ णउई लक्खसहस चउआला।
सत्तसया सट्ठिजुया, सासयपडिमा उवरिलोए ॥३॥"

किमित्याह-सर्वाणि तानि वन्दे। यथा -

"सव्वे वि अट्ठकोडी लक्खा सगवंतदुसयअडनउया।
तिहुयणचेइअ बंदे, असंखदहिदीवुजोइवणे ॥४॥
पन्नरसा कोडिसया, कोडीबायाललक्ख अडवन्ना।
अडतीससहस वंदे, सासयजिणपडिम तिअलोए ॥५॥"

कथम् ? इह स्वस्थाने सन् तिष्ठन् तत्र ऊर्द्धलोकादिषु सन्ति विद्यमानानि।

"सक्कथएण इमिणाए, एयाइं चेइयाइँ वंदामि।
बियसक्कत्थयभणणे, एयं खु पओयणं भणियं ॥६॥
पुणरुत्तं पि न दुट्ठं, दव्वत्थमिणं जिणागमन्नूहिं।
जिणगुणथुररूवत्ता, कम्मक्खयकारणत्तेणं ॥७॥
जह विसविघायणत्थं, पुणो पुणो मंतसुमरणं सुहयं।
तह मिच्छत्तविसहरं, विन्नेयं वंदणाई वि ॥८॥
तत्तो य भावसारं, दाऊणं थोभवंदणं विहिणा।
साहुगयं पणिहाणं, करेइ एयाएँ गाहाए" ॥९॥

"जावंति केइ साहू"। इत्यादि। यावन्तः केचित् उत्कृष्टतो, जघन्यतश्च। यथा -

"नवकोडि सहस साहू, उक्कोसं केवली उ सयकोडी।
वंदे दुकोडि केवलि, दुकोडि सहसा मुणिजहण्णं ॥१॥

लोकविरुद्धेत्यादि। साधवः। क्व ? भरतैरवते महाविदेहे च, पञ्चदशकर्मभूमिष्वित्यर्थः। किम् ? सर्वेषां तेषां प्रणतो नम्रः, त्रिविधेन कायवाङ्मनोभिः त्रिगण्डविरतानां मनोदण्डादिरहितानां, भावसाधूनामित्यर्थः।

"तत्तो अतत्तचित्तो, जिणिंदगुणवंदणेण भुज्जो वि।
सुकइनिबद्धं सुद्धं, थयं च वुत्तं च वज्जरइ ॥१॥
सक्कयभासाबद्धो, गंभीरत्थो थओ निविक्खाउ।
पाइयभासावट्टं, थुत्तं विविहेहिँ छंदेहि ॥२॥
चिइवंदणकिइकिच्चो, पमोयरोमंचचचियचसरीरो।
इट्ठफलपत्थणपरं, इय पणिहाणं कुणइ तइयं" ॥३॥

सङ्घा०२ प्रस्ता०। नवरं स्तुतिर्वैयावृत्यकराणां, पुनस्तेनैव विधिनोपविश्य पूर्ववत्प्रणिपातदण्डकं पठित्वा मुक्ताशुक्तिमुद्रया प्रणिधानं कुर्वन्ति। यथा -

"जय वीयराय जगगुरू, होउ ममं तुह पभावओ भयवं।
भवनिव्वेओ मग्गा णुसारिआ इट्ठफलसिद्धि ॥१॥
लोगविरुद्धच्चाओ, गुरुजणपूआ परत्थकरणं च।
सुहगुरुजोगो तव्वय-णसेवणा आभवमखंडा ॥२॥" ध०२ अधि०।

चैत्यवन्दनसमाप्तौ यद्विधेयं तदाह-

एयस्स समत्तीए, कुसलं पणिहाणमो उ कायव्वं ।
तत्तो पवित्ति-विग्घज-य-सिद्धि तह य त्थिरीकरणं ॥२९॥

एतस्यानन्तरोक्तचैत्यवन्दनस्य, समाप्तौ, उत्तरस्य पुनःशब्दार्थस्य तुशब्दस्येह संबन्धनिष्ठायां पुनः, कुशलं शुभम्, न तु भवहेतुपदार्थ-प्रार्थनादिवदशुभम्। प्रणिधानं प्रार्थनागर्भमैकाग्र्यम्, 'ओ' इति निपातः पादपूरणार्थः। तुशब्दः सम्बन्धित एव, कर्त्तव्यं विधेयम्। अथ कस्मादिदं कर्त्तव्यम् ? अत्रोच्यते-यस्मादितः सत्प्रवृत्त्यादयो भवन्तीत्येतदेवाह, ततः प्रागुक्तप्रणिधानात्, प्रवृत्तिः सद्धर्मव्यापारेषु प्रवर्त्तनं, भवति हि जातमनोरथानां शक्तौ सत्यां तदुपाये प्रवृत्तिरिति। तथा विघ्नजयो मोक्षरूपपथप्रवृत्तप्रत्यूहस्य जघन्यमध्यमोत्कृष्टस्याशुभभावरूपस्य प्रणिधानजनितशुभभावान्तरेणाभिभवः, तथा सिद्धिर्विघ्नजयात्प्रस्तुत-धर्मव्यापाराणां निष्पत्तिः, एतस्य च प्रवृत्त्यादिपदत्रयस्य समाहारद्वन्द्वः। (तह य त्ति) तथैव, समुच्चयार्थश्चायम्। (थिरीकरणं ति) स्वगतपरगत-धर्मव्यापाराणां स्थिरीकरणं स्थिरत्वाधानमिति, अतः प्रवृत्त्यादीनि वाञ्छता प्रणिधानमवश्यं करणीयं, तदभावे प्रवृत्त्याद्यसिद्धेरिति गाथार्थः ॥२९॥

ननु प्रणिधानं प्रार्थनारूपत्वान्निदानवत्परिहार्थं स्यात्, नैवं, कुशलमितिविशेषणेन तस्य निदानरूपतया व्यपोहितत्वात्, अकुशल-स्यैव निदानत्वात्। इदं च विशेषणफलमनवधारयतो मन्दमतिशिष्यस्य निदानत्वाऽऽशङ्काव्यपोहायाऽऽह-

एत्तो च्चिय ण णियाणं, पणिहाणं बोहिपत्थणासरिसं ।
सुहभावहेउभावा, णेयं इहराऽपवित्ती उ ॥३०॥

(एत्तो च्चिय त्ति) यत एव कुशलं, प्रवृत्त्यादिहेतुर्वा, अत एव कारणात्, न नैव, निदानमार्त्तध्यानविशेषो भवति। किं तत् ? प्रणिधानं चैत्यवन्दना-वसानकृत्यं, निदानस्याकुशलत्वात्प्रवृत्त्याद्याशयविशेषानुत्पादक-त्वाद्वा। तर्हि किंभूतमिदमित्याह-बोधिप्रार्थनासदृशम् "आरोग्गं बोहिलाभं" इत्यादिप्रार्थनातुल्यं, यथा बोधिप्रार्थनं न निदानं तथेदमपीत्यर्थः। कुत एतदेवमित्याह-शुभभावहेतुभावात्प्र-शस्ताध्यव-सायस्य कारणत्वात्। यथा हि बोधिप्रार्थनं शुभभावहेतुरेवमिदमपि, ज्ञेयं ज्ञातव्यम्। निदानरूपत्वे चास्य यत्स्यात्तदाह-इतरथाऽन्यथा, निदानरूपतायामित्यर्थः। अवृत्तिस्तु अप्रवर्त्तनमेव, चैत्यवन्दनान्ते प्रणिधानस्याकरणमेव स्यात्, निदानस्यागमे निषिद्धत्वादिति गाथार्थः ॥३०॥

अथ भवत्वस्याप्रवृत्तिः को दोषः ? इत्याशङ्कां परिहरन्नाह -

एवं तु इट्ठसिद्धी, दव्वपवित्ती उ अण्णहा णियमा ।
तम्हा अविरुद्धमिणं, णेयमवत्थंतरे उचिए ॥३१॥

एवं तु काक्वा ध्येयम् एव पुनः प्राणिधानप्रवृत्तौ पुनः, इष्टसिद्धि-रभिमतार्थनिष्पत्तिर्भवति, अन्यथा प्रणिधानस्य परिहार्यतायां प्रणिधानशून्यं ह्यनुष्ठानं द्रव्यानुष्ठानमेवेति निमादवश्यंभावेन (तम्ह त्ति) यस्मादिष्टार्थसिद्धिनिबन्धनं प्रणिधानं तस्माद्धेताः, अविरुद्धं संगतम्, इदं प्रणिधानम्, ज्ञेयं ज्ञातव्यम्। किं सर्वावस्थासु ? नेत्याह-अवस्थान्तरे भूमिकाविशेषे, उचिते प्रणिधानस्य योग्ये, अप्राप्तप्रार्थनीये गुणावस्थायाम-प्राप्ततत्प्रकर्षावस्थायां वेति भावना। इति गाथार्थः ॥३१॥

प्रणिधानकरणविधिमाह-

तं पुण संविग्गेणं, उवओगजुएण तिव्वसद्धाए ।
सिरणमियकरयलंजलि, इय कायव्वं पयत्तेणं ॥३२॥

तदिति प्रणिधानम्, पुनरिति विशेषद्योतने, संविग्नेन मोक्षार्थिना, भवभीतेन वा। उपयोगयुतेनावहितमनसा, *तीव्रश्रद्धया आत्यन्तिक्या* सदनुष्ठानकरणरुच्या, अनेन च मानसो विधिरुक्तः। अथ शारीरं विधिमाह-शिरसि मस्तके, नमितो निवेशितः, करतलयोर्हस्तयोरञ्ज-लिर्हस्तविन्यासविशेषो यत्र करणे तत्तथा। कर्त्तव्यमित्येतत्क्रिया-विशेषणमिदम्, इति अनेन च वक्ष्यमाणेन पाठक्रमेण प्रयत्नेनादरेणेति, गाथार्थः ॥३२॥ पञ्चा०४ विव०। ल०। 'जय वीयराग' संघा०। अत्र वर्णसंख्या। अथ प्रणिधानत्रिकवर्णसंख्याख्यापनाय गीतिगाथाप्रथम पादमाह -

पणिहाणि वावनसयं,.....।

(पणिहाणि त्ति) जातावेकत्वं, ततश्च त्रिप्रणिधानेषु द्विपञ्चाशदधिकं शतं, वर्णानां भवति। तत्र "जावंति" इत्यादिजिन वन्दनारूपे प्रथमे प्रणिधाने पञ्चत्रिंशत् 'जावंति के' इत्यादिके द्वितीये मुनिवन्दनालक्षणोऽ-ष्टत्रिंशत्, "जय वीराय" इत्यादि गाथाद्वयात्मके तृतीये प्रार्थनास्वरूपे त्वेकोनाशीतिः, सर्वमिलिते द्विपञ्चाशं शतमिति। एषा च चैत्यवन्दना गुरुलघुवर्णपरिज्ञानमन्तरेण क्रियमाणा न विशुद्धा स्यात्। आह च-"गुरुलघुभेदज्ञानं, न विद्यते यस्य सर्वथा चित्ते। स विचक्षणोऽपि रक्षां, न व्रतभेदस्य कर्त्तुमलम् " ॥१॥ किं च-व्यञ्जनभेदादर्थभेदोऽर्थभेदे च नाभीष्टसिद्धिः, प्रत्युतानर्थप्राप्तिः स्यात्, कुणाल कुमारवत्। ततोऽवश्यं गुरुलघुत्वं वर्णानां ज्ञातव्यम्। एकस्य च परिज्ञाने द्वितीयं सुखेन परिज्ञायते।

तत्र बाल्यत्वाद् गुरुवर्णसंख्याख्यापनार्थं गीतिगाथापादत्रयमाह-

.....,कमेसु सग ति चउवीस तित्तीसा।
गुणतीस अट्ठवीसा, चउतीसि तितीस वार गुरुवन्ना ॥२९॥

(व्याख्याऽस्या अन्यत्र) सङ्घा०३ प्रस्ता० (अत्र कुणालकुमारकथा सङ्घाचारात् ज्ञातव्या)

दण्डकस्तवमानम् "वन्ना सोलस सगनउइ संपया ऊ असीयाला। इगसीयसयं तु पया, सगनउई संपयाओ व॥" त्ति "अट्ठमनवमदसमेति" द्वारत्रयम्।

सम्प्रति "पणदंडं" इत्येकादशद्वारगाथापूर्वार्द्धेनाऽऽह-

पण दंडा सक्कत्थव-चेइयनामसुयसिद्धथय इत्थं ।

दण्डकाः प्रागुक्तशब्दार्थाः ते च पञ्चाऽत्र चैत्यवन्दनायां, गुणसागर-नृपतिवत् सत्यापनीयाः। तत्र प्रथमो दण्डकाः शक्रस्तवः "नमोऽत्थु णं" इत्यादि, "सव्वे तिविहेण वंदामि" इत्येतदन्त। यतश्चैत्यवन्दना-चूर्णौ चैतत्सर्वं व्याख्याय भणितम्- "एवं पणिवायदंडगं भणित्ता तओ पंचंगपणिवाइयं करेइ" त्ति।१। द्वितीयश्चैत्यस्तवः "अरिहंतचेइया णं" इत्यादि।२। तृतीयो नामस्तवः "लोगस्सुज्जोयगरे" इत्यादि।३। चतुर्थः श्रुतस्तवः "पुक्खरवरदीवे" इत्यादि।४। पञ्चमस्तु दण्डकः सिद्धस्तवरूपः "सिद्धाणं बुद्धाणं" इत्यादि, यावत् "अप्पाणं वोसिरामि" इत्येतत्पर्यन्तः। तथा श्रीहरिभद्रसूरिपूज्यैर्ललितविस्तरायामेतदन्तं व्याख्याय भणितम्।

यथा-व्याख्यातं सिद्धेभ्य इत्यादि सूत्रमिति । संघा०३ प्रस्ता० । इत्याद्यभिहितं "पणदंड" इत्येकादशं द्वारम् । (अथ गुणसागरनृपकथा सङ्घाचाराद् ज्ञातव्या)

(२८) अथ द्वादशाधिकाराः । साम्प्रतं "वार अहिगार" त्ति द्वादशं द्वारं गाथोत्तरार्द्धे नाऽऽह -

दो एग दो दो पंच य, अहिगारा वारस कमेण ॥३०॥

पूर्वार्द्धोक्त इत्थशब्द इहापि संबध्यते, ततश्च (इत्थ त्ति) एषु दण्डकेष्वधिकाराः स्तोतव्यविशेषाः प्रस्तावविशेषाः, अधिक्रियन्ते समाश्रियन्ते, वन्दनां कर्त्तुकामैरिति व्युत्पत्तेः । ते च द्वादश क्रमेण भवन्ति । तत्र प्रणिपातदण्डके द्वावधिकारौ, एकोऽर्हच्चैत्यस्तवदण्डके, द्वौ नामजिनस्तवदण्डके, द्वौ श्रुतस्तवदण्डके, पञ्च सिद्धस्तवदण्डके च।

एतानेवाद्यपदोल्लिङ्गनया दर्शयति -

नमु जेइ य अरिहं लो-गसव्वपुक्खतमसिद्धजोदेवा ।
उज्जिं चत्ता वेया-वच्चग अहिगारपढमपया ॥३१॥

इह सर्वत्र पदैकदेशे पदसमुदाय उपचरितव्यः । ततश्च-"नमोऽत्थु णं" इतिभावार्हद्वन्दनाख्यस्य प्रथमाधिकारःप्रथमम् । एवमन्यत्रापि यथान्यायं प्रयोज्यम् ॥१॥ "जे य अईया सिद्ध" त्ति द्वितीयस्य ॥२॥ "अरिहंतचेइयाणं" इति तृतीयस्य ॥३॥ "लोगस्स उज्जोयगरे" इति चतुर्थस्य ॥४॥ "सव्वलोए अरिहंत त्ति" पञ्चमस्य। "पुक्खरवरदीव" इति षष्ठस्य ॥६॥ "तमतिमिरपडल" इति सप्तमस्य ॥७॥ "सिद्धाणं बुद्धाणं" इत्यष्टमस्य ॥८॥ "जो देवाण बि" इति नवमस्य ॥९॥ "उज्जिंतसेलसिहरे" इति दशमस्य ॥१०॥ "चत्तारि अट्ठदेसे" इत्येकादशस्य ॥१०॥ "वेयावच्चगराणं" इति द्वादशस्य । एतानि किमित्याह-अधिकाराणां प्रागुक्तशब्दार्थानां, प्रथमपदान्युल्लिङ्गनपदानि इत्यर्थः । संघा०३ प्रस्ता० । ध० ।

इत्युक्तं "वार अहिगार" त्ति द्वादशं द्वारम् ।

सम्प्रति "चउ वंदणिज्ज" त्ति त्रयोदशं द्वारं समधिकपूर्वार्द्धपदेनाऽऽह-

चउ वंदणिज्ज जिणमुणिसुयसिद्धा अह.....।

चत्वारो वन्दनीयाः मङ्गलोत्तमशरणविधायित्वेन स्तुतिप्रणामाद्यर्हाः के ते ? इत्याह-जिनाश्चतुर्विधा वक्ष्यमाणस्वरूपाः, मुनयश्च साधवो गच्छगतादिभेदभिन्नाः, आचार्योपाध्याययोरप्यत्यभिचारात्साधुग्रहणाद् ग्रहः ।

उक्तं च -

"साहत्तसुद्दिया जं, आयरियाई तओ य ते साहू ।
साहुगहणेण गहियं,....." ॥१॥

श्रुतं च अङ्गनङ्गप्रविष्टम्, सिद्धा क्षपिताशेषकर्म्माणः । इहेति संपूर्णचैत्यवन्दनायां, जिनशासने वा । यद्वा-त्रैलोक्येऽपीति ॥ सङ्घा०३ प्रस्ता० । (अत्र सुमतिकथा सङ्घाचारादवसेया) इत्युक्तं चत्वारो वन्दनीया इति त्रयोदशं द्वारम् ।

(२९) शरणीयद्वारम्-देवस्तुतिः । सम्प्रति "सरणिज्ज" त्ति चतुर्दशं द्वारं गाथाचतुर्थपादार्द्धेनाऽऽह-

.....,(इह) सुरा य सरणिज्जा ॥३२॥

इहशब्दः पूर्वद्वारे संयोजितोऽपि डमरुकमणिन्यायेनात्रापि संबध्यते । ततश्च इहेति संपूर्णचैत्यवन्दनायां क्रियमाणायां, सुराश्च सुर्यश्चेति **"पुरुषः स्त्रिया" ॥३।१।१२६॥** इत्येकशेषे सुराः, ते चात्र यक्षाम्बाप्रभृतयः सम्यग्दृष्टिदेवता ज्ञातव्याः, न त्वर्हन्तः, तेषां प्राग्वन्दनीयत्वेनाभिहितत्वादनुशासकत्वात्सारकत्वाच्च । एते च किमित्याह-(सरणिज्ज त्ति) स्मरणीयास्तत्तद्गुणानुचिन्तनोत्कीर्त्तनादिनोपबृंहणीयाः, स्तवनीया इत्यर्थः । श्लाघ्यश्च जिनप्रवचनस्थः स्वल्पगुणोऽपि, सम्यग्दृष्टिप्रशंसायाः कर्म्मक्षयकारणत्वात् । उक्तं च-"गुणपगरिसबहुमाणो, कम्मक्खयकारणं जेण ॥" इति । नैवं चेत् तदोत्तरोत्तरसंयमस्थानवर्त्तिभिः साधुभिर्जघन्यजघन्यतरादिसंयमस्थानवर्त्तिनः साधवोऽप्यनुपबृंहणीयाः स्युः तैः सुनियमादिसुदृढाः श्रावकाः, न चैतदागमे दृष्टमिष्टं वा, यद्गुणिनां गुणा न प्रशंस्याः, दर्शनमालिन्याद्यवाप्तेः ।

आह च-

"नो खलु अप्परिवडिए, निच्छओ अमलिनए य सम्मत्ते ।
होइ तओ परिणामो, जुत्तो अणुववूहणाई य" ॥१॥ त्ति ।

देशविरतानां वा अविरतसम्यग्दृष्टयः श्राद्धाः सत्कारार्हा नस्युः, तथा च सति, "तम्हा सव्वपयत्तेणं, जो नमुक्कारधारओ । सावओ सो वि दट्ठव्वो, जहा परमबंधवो" ॥१॥ इत्याद्यपार्थकं स्यात् । एवं च सकलागमव्यवहारलोपाद्विमर्शनीयमिदं सूक्ष्मधियेति । यद्वा-स्मारणीयाः स्मारणादिषु प्रेरणार्हाः । तत्र "पम्हट्ठे गाहा" । अयमर्थःवैयावृत्त्यादिकारका गीयन्ते, तत्र चानादरता भवता तत्किं स्वकृत्यमपि विस्मृतम्, न युक्तमत्र प्रमादयितुम्, दुलर्भा हि पुनरियं सामग्री, दुःखदःप्रमादारिः, दुरन्तो भवोदधिविनिपातः, स्वनामैवं सत्यापयतेत्यादिव्यङ्ग्यार्थगर्भतद्विशेषणद्वारेण स्मारणादि क्रियते । अथवा-सारणीयाः सङ्घादिकृते वैयावृत्यप्रभावनादावुभयलोकसुखावहे प्रेरणार्हास्तत्करणशक्तियुक्तत्वात्तेषाम् । इदमुक्तं भवति-"यदाऽमुकं सङ्घे प्रभावनादि करिष्येऽथ तदहममुकं कायोत्सर्गादिकं पारयिष्यामि" इत्यादिना सुदर्शनप्रिया मनोरमा इव तत्र तत्र सङ्घकृत्ये प्रवर्त्तयितव्यम् । अथवाऽयं निशीथचूर्ण्युक्तो विधिः-"पुव्वं अणुसट्ठी किज्जइ, थुइ त्ति भणियं होइ, "अणुसट्ठी थुइ त्ति एगट्ठे" त्ति भाष्यवचनात् । "साहु कयं ते एवं वुच्चइ, जहा-चंपाए सुभद्दा नागरजणेण अणुसट्ठा-धण्णा सपुण्णा सि त्ति, तओ उवालंभो दिज्जइसा णूणं उवएसपया ण कीरइ त्ति वुत्तं भवइ, पच्छा से उवग्गहो किज्जइ" ।

भणियं च-

"दाणे दवावणे कारणे य करणे य कयमणुण्णए ।
उवहियमणुवहियं वा, जाणाहि उवग्गहं एयं" ॥१॥ इति ।

सङ्घा०३ प्रस्ता० । (अत्र सुदर्शनश्रेष्ठिप्रियामनोरमाकथा भावनीया सङ्घाचारात्) इति निगदितं "सुरा य सरणिज्जत्ति" चतुर्दशं द्वारम् ।

(३०) जिनद्वारम् । अथ "चउह जिण" त्ति पञ्चदशं द्वारं विभावयिषुर्गाथोत्तराऽर्द्धमाह -

चउह जिणा नामंठवणदव्वभावजिणभेएणं ॥

चतुष्प्रकारा जिनाः । कथमित्याह-"नाम" इत्यादि । जिनशब्दो पृथक् पृथक् संबध्यते । ततश्च नामजिनस्थापनाजिनद्रव्यजिनभावजिनभेदेन नामजिनादिप्रकारेणेति ।

एताननेकभेदान् विभावयिषुराह -

नामजिणा जिणनामा, ठवणजिणा पुण जिणिंदपडिमाओ ।

दव्वजिणा जिणजीवा, भावजिणा समवसरणत्था ॥३३॥

नामैव नामप्रधानतया वा जिना नामजिनाः। कानीत्याह-जिनः, अर्हन्, पारगत इत्यादि नामानि। यद्वा-जिनानां तीर्थकृतां नामानि "उसभ अजित" इत्यादीनि। स्थापनया लेप्यकर्म्मादिरूपया जिना स्थापनाजिनाः, जिनेन्द्राणां प्रतिमाः, बिम्बानीत्यर्थः। पुनः शब्दोऽक्षादिन्यस्तनिकारस्थापनाजिनपरिग्रहार्थः। द्रव्यं दलिकं भूतभाविभावकारणं, तदाश्रित्य जिना द्रव्यजिनाः, येऽईत्पदवीं प्राप्य सिद्धाः, ये च तां प्राप्स्यन्ति। सङ्घा०३ प्रस्ता०। (अत्रेश्वरनरेन्द्रकथा सङ्घाचाराद् ज्ञातव्या) उक्त "चउहजिण" त्ति पञ्चदशं द्वारम्। एवं च द्वारे उक्ता द्वादशाऽधिकाराः। त्रयोदशचतुर्दशपञ्चदशेतिद्वारत्रयेऽधिकारिणश्च प्रतिपदिताः। (३१) अथ यत्राधिकारे यः स्तूयते तत्प्रतिपादनाय गाथात्रयमाह-

पढमऽहिगारे वंदे, भावजिणे वीययम्मि दव्वजिणे।
इगचेइयठवणजिणे, तइयँ चउत्थम्मि नामजिणे ॥३४॥

प्रथमे आद्ये शक्रस्तवरूपेऽधिकारे स्तोतव्यविशेषस्थाने, वन्दे सद्भूतगुणोत्कीर्त्तनेन स्तवीमीति भावजिनान् भावार्हतश्चतुस्त्रिंशदतिशयादिमत्त्वमर्हद्भावं प्राप्तानुत्पन्नकेवलज्ञानान् समवसरणस्थाँ - स्तीर्थकृत इत्यर्थः। तत्रैव संपूर्णार्हद्भावभावात्। भणितं च-"भावजिणा समवसरणत्थं" ति। तथा द्वितीये "जे य अईय" त्ति गाथालक्षणेऽधिकारे, वन्दे इति सर्वत्रापि योज्यम्। द्रव्यजिनान् द्रव्यार्हतोऽष्टमहाप्रातिहार्यादिकां तीर्थकृल्लक्ष्मीं प्राप्य सिद्धाः, ये च तस्मिन्नन्यस्मिन्वा भवे तां प्राप्स्यन्ति, न च तदानीं प्राप्तवन्तस्तानर्हत्वद्रव्यान्, जिनजीवानित्यर्थः।

उक्तं च -

"भूतस्य भाविनो वा, भावस्य हि कारणां तु यल्लोके।
तद्द्रव्यं तत्त्वज्ञैः, सचेतनाचेतनं कथितम्" ॥१॥

तथा एकचैत्यस्थापनाजिनान् - यत्र देवगृहादौ चैत्यवन्दनं कर्तुमारब्धं तत्र स्थपितानि यानि जिनबिम्बानीत्यर्थः, तृतीये "अरिहंतचेइयाणं" इति दण्डकरूपे; तथा चतुर्थे चतुर्विंशतिमपि जिनात्मके नामजिनान् जिननामानि। अस्यामवसर्पिण्यां भरतक्षेत्रवर्तितयाऽऽसन्नत्वादिनोपकारित्वाच्चतुर्विंशतिमपि जिनान्नामोत्कीर्त्तनेन स्तौमीत्यर्थः ॥३४॥

तिहुयणे ठवणजिणे पुण, पंचमए विहरमाण जिणछट्ठे।
सत्तमए सुयनाणं, अट्ठमए सव्वसिद्धथुई ॥३५॥

त्रिभुवने ऊर्द्धाधस्तिर्यग्लोके, स्थापनाजिनान् शाश्वताशाश्वतचैत्यस्थापिताऽर्हत्सिद्धप्रतिमारूपान्, पञ्चमके "सव्वलोए अरिहंतचेइयाणं" इति कायोत्सर्गदण्डकलक्षणेऽधिकारे, वन्दे इति योज्यम्। अत्र चार्हत्सिद्धप्रतिमारूपानिति प्रकारान्तरसूचक पुनःशब्दाद् व्याख्यातम्, भणितं चावश्यकचूर्णिकारेण सिद्ध प्रतिमानामपि वन्दनपूजनादि। तथा च प्रतिक्रमणाध्ययने-"सव्वलोए अरिहंतचेइयाणं" इति दण्डकचूर्णिः। "जे सव्वलो ए सिद्धाई अरिहंता चेइयाणि य तेसिं चेव "प्रतिकृतिलक्षणानि, 'चिती' संज्ञाने, संज्ञानमुत्पद्यते काष्ठकर्मादिषु प्रतिकृतिं दृष्ट्वा "जहा अरिहंतपडिमा एस त्ति," सिद्धादिप्रतिमेत्यर्थः। अन्ये भणन्ति-"अरिहंता तित्थयरा तेसिं चेइयाणि, अरिहंतचेइयाणि " अर्हत्प्रतिमेत्यर्थः। अत्र च अन्ये भणन्ति-"अरहंता तित्थयरा" इत्यादिभणता चूर्णिकृता पूर्वव्याख्याने सिद्धप्रतिमाः पृथग् स्पष्टं निष्टङ्किताः, अन्यथा द्वितीयव्याख्यानं निष्फलं स्यात्। एवं च सिद्धप्रतिमासिद्धौ तासां वन्दनपूजाद्यपि करणीयमायातम्, तत्प्रत्ययं च कायोत्सर्गाद्यपि। उक्तं चैतदावश्यकचूर्णौ। तथाहि-पूज्यत्वात् तेषां पूजनार्थं कायोत्सर्गं करोमि, श्रद्धादिभिर्वर्द्धमानैः सद्गुणसमुत्कीर्तनपूर्वकं कायोत्सर्गस्थाने पूजनं करोमीत्यर्थः। "जहा कोइ गंधचुण्णावासमल्लाइएहिं" समभ्यर्चनं करोतीति। "एवं सक्कारवत्तियाए सम्माणवत्तियाए विभावेयव्वं, नवरं सक्कारो जहा वत्थाभरणाइ त्ति सक्कारणं संमाणो संमं मणणं ति"। एतावता च सिद्धप्रतिमानामप्यग्रे "अरिहंतचेयाणं" इत्यपि दण्डकः पाठाय संगच्छते, शब्दार्थयोरत्रापि समानत्वात्। पर्युपास्या इहार्थे बहुश्रुताः। यथा श्रीजिनभद्रगणिक्षमाश्रमणैरपि विशेषावश्यके साक्षेपं स्थापिता सिद्धपूजा।

तथा च -

"कुज्जा जिणाण पूया, परिणामविसुद्धिहेउओ निच्चं।
दाणादओ व मग्गप्पभावणाओ व कहणं च ॥१॥"

कार्या जिनसिद्धपूजास्तत्परिणामविशुद्धिहेतुत्वात् दानादिक्रियावत्। अथवा-कार्या जिनसिद्धपूजा मार्गप्रभावनात्मकत्वात् धर्मकथावत् ॥१॥

चोदकः -

"पूया फलप्पया नो, तहं च कोवप्पसायविरहाओ।
जिणसिद्धा दिट्ठंतो, बेहं च मणं निवाईया ॥२॥"

आचार्यः -

"कोवप्पसायरहियं, पि दीसए फलयमन्नपाणाइ।
कोवप्पसायरहिय, त्ति निप्फला तो अणेगंतो ॥१॥" इत्यादि। पूजिता च मरुदेवा स्वामिनी प्रथमसिद्ध इति कृत्वा देवैः, कारिताश्च सिद्धप्रतिमा भरतेनाऽष्टापदोपरि एतयोः (संघा०३ प्रस्ता०।) तथा विहरमाणजिनान् षष्ठे पञ्चदशकर्मभूमिषु विहारं कुर्वाणान्, सूत्रार्थकथनपरायणान् भावार्हत इत्यर्थः। उक्तं च "पढमे छट्ठे नवमे, दसमे एगारसे य भावजिणे"। वन्दे इति प्रकृतम्। ते च मघन्यतो विंशतिरुत्कृष्टतः सप्तविंशतिर्भवन्ति।

आह च -

सत्तरिसयमुक्कोसं, जहन्नओ विहरमाणजिणवीसं।
जम्मं पइ उक्कोसं, वीसं दस हुंति उ जहन्न त्ति ॥१॥"

आवश्यकचूर्णौ तु द्रव्यार्हन्तोऽप्यत्र व्याख्याताः। तथा चोक्तम् "छक्कोसएणं सत्तरि तित्थयरसयं, जहण्णपएण वीसं तित्थयरा, एए ताव एगकाले भवंति, अईया अणागया अणंता, ते तित्थगरे नमंसामि त्ति"। षष्ठे-"पुक्खरवरदीवड्ढे" इति-गाथात्मकः। तथा सप्तमे-"तमतिमिर" इत्यादिस्वरूपे श्रुतज्ञानमङ्गानङ्गप्रविष्टं सिद्धान्तं, वन्दे इति पूर्वगाथातो योज्यम्। तथाऽष्टमे "सिद्धाणं बुद्धाणं" इतिगाथायां सर्वेषां तीर्थसिद्धातीर्थसिद्धादिभेदभिन्नानां नामस्थापनादिरूपाणां वा सिद्धानां क्षपितकर्मांशानां स्तुतिः क्रियत इति गम्यम् ॥३५॥

तित्थाहिववीरथुई, नवमे दसमे य उज्जयंतथुई।
इगदसमे अट्ठावय, सुदिट्ठिसुरसुमरणा चरिमे ॥३६॥

तीर्थाधिपस्य वर्त्तमानतीर्थस्य प्रवर्तकत्वान्नाथस्य, वीरस्य वर्द्धमानस्वामिनः स्तुतिर्विधीयते, आसन्नतरतया महोपकारित्वात्। नवमेऽधिकारे "जो देवाण वि" इत्यादिगाथाद्वयरूपे। तथा दशमे च "उज्जिंतसेल" इतिगाथाप्रमाणे "उज्जयंत त्ति" तात्स्थ्यात्तद्व्यपदेश इति

न्यायात् उज्जयन्तपर्वतालङ्करणस्य श्रीनेमिनाथस्य स्तुतिर्विधीयते, चशब्दो विशेषकः, तेनायं जिनस्तुतित्वात् दर्शनविशोधकात्कर्मक्षयादिकारकत्वात् संवेगादिकारणत्वात् अशठसमाचरितत्वात् बहुबहुश्रुतानिवारितत्वात् जीतष्यवहारानुपातित्वात् भाष्यकारादिभिः व्याख्यातत्वात् आवश्यकचूर्णिकृतोऽप्यनुमतत्वात् अनिषिद्धत्वात्पारम्पर्यागतस्यार्थस्य स्वमत्या निषेद्धुमशक्यत्वात् निषेधे निह्नवमार्गानुपातित्वात् आज्ञाप्रकारत्वाश्च्च इत्यतो युक्तमेवायमधिकारः । एवमग्रेतनोऽपि । तथा एकादशे चत्वारि "अट्ठादस" इतिगाथास्वरूपे, "अट्ठावय" त्ति सूचनात् अष्टापदपर्वतोपरि भरतनिर्मापितवर्त्तमानचतुर्विंशतिजिनस्तुतिः क्रियते, निगमनार्थत्वादस्येति। यद्वा-"अट्ठावय त्ति" उपलक्षणं, तेनान्यत्रगा अपि जिना अनया गाथया वन्द्यन्ते । तत्र यथेयं वृद्धैर्व्याख्याता तथा भव्यानां भाववृद्धे किञ्चिद्दर्श्यते -

"चत्तारि अट्ठ दस दो, य वंदिया जिणवरा च उव्वीसं।
परमट्ठनिट्ठियट्ठा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु" ॥१॥

दाहिणदुआरे चत्तारि, पच्छिमे अट्ठ, उत्तरे दस, पुव्वओ दो य, एवं अट्ठावए चउवीसं जिणवरा वंदिज्जंति । अन्ने भणंति-उवरिममेहलाए चत्तारि, मज्झिमाए अट्ठ, हिट्ठिमाए दस दो य, मिलियाओ चउवीसं जिणपडिमाओ अट्ठावए वंदिज्जंति, चत्ता अरओ जेहिं ते चत्तारओ पयविसेसेणं अट्ठ ८ दस १० दो य २ एवं वीसं २० । चतुःशब्दौ विशेषज्ञापकाद्यर्थेषु यथायोगं योज्यौ । "एए सम्मेयपव्वए वंदिया परमट्ठेण उवयारेण निट्ठियट्ठा" समाप्तप्रयोजनाः, सिद्धाः शिवं गताः, 'षिधू' गत्यामिति वचनात् २ "चत्तारि पयं पुव्वं च अट्ठदससु मिलिया १८ दोयत्ती जाया" स्वर्गपा इन्द्रा इत्यर्थः, "तेहिं वंदिया चउवीसं भइया, लद्धा पंच, ते अट्ठारस मेलिया तेवीसं, एएसिं तुज्झे वंदिज्जंति, कहं परा पहाणा मा लच्छी समोसरणाइया, तत्थ ठिया, समोसरिया इत्यर्थः । निट्ठियट्ठा संपन्नफला केवलनाणसंपत्तीए । "यदागमः "जस्सट्ठाए कीरइ नग्गभावे मुण्डभावे अण्हाणए अदंतधवणे" इत्यादि, सिद्धाः शास्तारो वभूवुः, मङ्गलभूताश्च, 'षिधू' शास्त्रमाङ्गल्ययोरिति वचनात्। "चऊहिं अट्ठगुणिया ३२, दोहि य दस २० मिलिय वावन्ना, नंदिसरजिणा य बंदिज्जंति, चसद्दा मयंतरे पुण वीसं, अहवा चउरहिया वीसं, एए नंदिसरसोहम्मेसाणिंदगमहिसीरायहाणीसु संति, मयंतरे पुण चउवीसं, परं अट्ठसहिया ३२ । एवं नंदिसरे दीवे ५२। २० वा, रायहाणिसु १६ । ३२ वा, परमट्ठेण" न वर्णनामत्रेण, "निट्ठिया" निष्ठां प्राप्ता, आस्था आस्थानं, रचनेत्यर्थः । येषां ते तथा, सिद्धा नित्याः, अपर्यवसानस्थितिकत्वात्। "चत्तारि जंबुदीवे अट्ठ धायइसंमे दस नवरं दो य रहिया पुक्खरवरद्धे, एवं वीसं जिण संपइ जहन्नओ विहरमाणा वंदिज्जंति, जम्मं पइ उक्कोसओ वा" चतुःशब्दौ प्राग्वत्। "परमट्ठनिट्ठियट्ठा" भाविनि भूतवदुपचारात् सिद्धाः प्रख्याता भव्यैरुपलब्धगुणसंदोहत्वात् । "चत्ता अरी जेहि ते चत्तारि" कज्जमाणे कडे" इति वचनात्। "के अरी अट्ठ कम्माणि, के चत्तारि दस ते उ दो य ति दुहिं भेएहिं हुंति जहन्ना जम्मपयभरहेरवय-दसगविहरमाणजिणभेएहिं"। चः पूरणे। (उव्वीसं ति) उर्वीशाः पृथ्वीस्वामिनः, शेषं प्राग्वत् । ६ "अट्ठदसहि गुणिया ८० सा दोहि गुणिया १६०, सेसं पुव्वं वा, एवं सव्वविहरमाण जिणवंदिया ७ अट्ठ, अट्ठहि गुणिया ६४ दस, दसहिं १००, तओ चत्तारि दो य दो य, सव्वे मेलिया जायं सप्ततिशतम् १७० । एए पन्नरस कम्मभूमी उक्कोसओ विहरमाणा वंदिज्जंति ८ अट्ठ दस १८ चऊहिं गुणिया ७२ एएहिं तिन्नि चउवीसीओ भवंति, ताओ य इह भरहे अभीयाऽणागयवट्टमानचउवीसगा तिगस्स रूवा तित्थयरा वंदिज्जंति ९ चत्तारि अट्ठमीलिया १२, ते य दस गुणिया १२०, एए पंचचउवीसिओ पंचसु भरहेसु वट्टमाणाओ वंदिज्जंति १०, अट्ठदसहिं गुणिया ८०, ते चेव दस मिलिया ९०, सा चउहिं गुणिया ३६०, एए पन्नरस चउवीसीओ पंचसु भरहेसु कालत्तयसंभवाओ वंदिज्जंति ११, एए चेव तिन्नि पगारा। जहा ७२।१२०।३६०। दोहिं गुणिज्जंति, जाया १४४।२४०।७२०। चउवीसी किज्जंति, जाया उ ६।१०।३०। चउवीसीओ ताओ कमसो पुव्वभणियअत्थेण भरहेरवएसु समग्गं वंदिज्जंति १२। अणुत्तरेसु १ गेविज्जेसु २ कप्पेसु ३ जोइसिएसु य ४, एवं उड्ढं चत्तारि भेया, अहो य वंतरेसु अट्ठभेएसु अट्ठ ८ दसभेएसु भुवणवासीसु दस १० महियले सासयअसासयभेया दो य २ । एवं तिहुयणे जिणाययेणेसु चउवीसं जिणवरा वंदिया १३ । जहा पुण जंबुद्दीवे ६३५, धायइसंडे १२७२, पुक्खरवरद्धे १२७६, मणुयलोयबहिं ९२, तिरियलोए वा सव्वसंखाए ३२७५, चेइयसयाइ, ताइं सयमेव तहा नियनियसंखाए आणिऊणं वंदियव्वाणि" । विस्तरभयाच्च नोच्यन्ते । "एवं अणेगहा एगारसमे अहिगारेजिणबरा वंदिज्जंति ११।" तथा सुदृष्टिसुराणां सम्यग्दृष्टिदेवतानां स्मरणात् तत्प्रवचनादिविषयवैयावृत्यादिकार्यविधनोपयोगप्रभृतिगुणगणानुचिन्तनोत्कीर्तनादिनोपबृंहणा । यथा धन्याः पुण्यवन्तो लब्धजीवितादिफला भवन्तो, यदेवं सदनुष्ठानोद्यताः, युक्तमेवेदं भवादृशां, सुस्थानविनियोगफ-लत्वात्संपदः।

उक्तं च -

"तं नाणं तं च विन्नाणं, तं कलासु य कोसलं।
सा बुद्धी पोरिसं तं च, देवकज्जेण जं वए" ॥१॥

इत्यादिप्रशंसाद्वारेण तत्कृत्यप्रोत्साहनेत्यर्थः । अथवा-स्मारणासङ्गादिविषये प्रमादिनां श्लथीभूतवैयावृत्यादितत्कृत्यानां संस्मारणम्, चरमे द्वादशेऽधिकारे "वेयावच्चगराणं" इत्यादिकाषो-त्सर्गकरणं, तदीयस्तुतिदानपर्यन्ते क्रियते इति शेषः । औचित्यप्रवृत्तिरूपत्वात् धर्मस्य, अवस्थानरूपव्यापाराभावे गुणाभावापत्तेः । यतः -

"औचित्यमेकमेकत्र, गुणानां कोटिरेकतः।
विषायते गुणग्रामः, औचित्यपरिवर्जितः" ॥१॥

अपि च-अनौचित्यप्रवृत्तो महानपि "मथुराक्षपकवत् कुवेरदत्तायाः" भवत्यल्पानामपि प्रत्युच्चारणादिभाजनम् ।

आह च -

आ रङ्कात् भूपतिं यावदौचित्यं न विदन्ति ये।
स्पृहयन्तः प्रभुत्वाय, खेलनं ते सुमेधसाम् ॥१॥"

इदमत्र तात्पर्यम् सर्वदाऽपि स्वपरावस्थानुरूपया चेष्टया सर्वत्र प्रवर्त्तितव्यमिति। उक्तं च-सदौचित्यप्रवृत्त्या सर्वत्र प्रवर्त्तितव्यमित्येदंपर्यमस्येति। (मथुराक्षपककुवेरदत्तादेव्योः संबन्धः सङ्गाचाराद् ज्ञेयः)

(३२) येऽधिकारा यत्समताः। अथ येऽधिकारा यत्प्रमाणेन भण्यन्ते तदसंमोहार्थं प्रकटयन्नाह-

नव अहिगारा इह ललि-यवित्थराविति्तिमाइ अणुसारा।
तिन्नि, सुयपरंपरया, बीओ दसमो इगारसमो ॥३७॥

इह द्वादशस्वधिकारेषु मध्ये, नव अधिकाराः-प्रथमतृतीयचतुर्थपञ्चमषष्ठसप्तमाष्टमनवमद्वादशस्वरूपाः, या ललितविस्तराख्या चैत्यवन्दनामूलवृत्तिः, तस्या अनुसारेण तत्र व्याख्यासूत्रप्रामाण्येन, भण्यन्त इति शेषः। तथा च तत्रोक्तम्- एतास्तिस्रः स्तुतयो नियमेनोच्यन्ते, केचित्त्वन्या अपि पठन्ति, न च तत्र नियम इति न तद्व्याख्यानक्रिया, एवमेतत्पद्वित्वा उपचितपुण्यसंभारा उचितेषूपयोगफलमेतदिति ज्ञापनार्थं पठन्ति- "वेयावच्चगराणं" इत्यादि। अत्र च एता इति "सिद्धाणं बु०१ जो देवाण वि०२ इक्को वीति०"३। अन्या अपीति-"उज्जिंतसेल०१, चत्तारि अट्ठ०२ तथा-जे य अईया" इत्यादि ३। अत एवाऽत्र बहुवचनं संभाव्यते, अन्यथा द्विवचनं दद्यात्। पठन्तीति-"से सा जहिच्छाए" इत्यावश्यकचूर्णिवचनादित्यर्थः। न च तत्र नियम इति, न तद्व्याख्यानक्रियेति तु भणन्तः श्रीहरिभद्रसूरिपादा एवं ज्ञापयन्ति यदत्र यदृच्छया भण्यते तन्न व्याख्यायते, यत्पनर्नियमतो भणनीयं तद्व्याख्यायते, व्याख्यातं च "वेयावच्चगराणं" इत्यादि सूत्रम्। तथा चोक्तम्- एवमेतत्पठित्वेत्यादि, यावत् पठन्ति "वेयावच्चगराणं" इत्यादि। ततश्च स्थितमेतद् यदुत "वेयावच्चगराणं" इत्थप्यधिकारोऽवश्ये भणनीय एव, अन्यथा व्याख्यानासंभवात्। यदि पुनरेषोऽपि वैयावृत्यकराधिकार उज्जयन्ताद्यधिकारवत्कै-श्चिद्भण-नीयतया यादृच्छिकः स्यात्तदा 'उज्जिंतसेल' इत्यादिगाथावदयमपि न व्याख्यायेत्, व्याख्यातश्च नियमभणनीयसिद्धादिगाथाभिः सहायमनुविद्धसंबन्धेनेत्यतोऽव्युटितसंबन्धायातत्वात् सिद्धाद्यधिकारवदनुस्यूत एव भणनीयः। अथाक्रमेण तत्र व्याख्यातं सूत्रमिति चेत्, एवं तर्हि हन्त सकलचैत्यवन्दनाक्रमाभावप्रसङ्गः, तत्रैवास्या एवं क्रमस्य दर्शितत्वात्। तदन्यत्र तथा व्याख्यानाभावाद् व्याख्यानेऽप्येतदनुसारित्वात्तस्य पश्चात्कालप्रभवत्वाद् नव्यकरणस्य तु सुन्दरस्याऽपि भवनिबन्धनत्वात् तत्रोक्तस्य तूपदेशायाततया स्वच्छन्दकल्पितापावादिति परिभावनीयं बह्वत्र माध्यस्थ्यमनसा, विमर्शनीयं सूक्ष्मधिया, विचिन्तनीयं सिद्धान्तरहस्यं, पर्युपासनीयं श्रुतवृद्धानां प्रवर्त्तितव्यम्, असदाग्रहविरहेण यतितव्यं निजशक्त्याऽनुकूल्यमिति। एवं च द्वितीयदशमैकादशवर्जिताः शेषाः प्रथमाद्या द्वादशपर्यन्ता नव अधिकारा उपदेशायाताललितविस्तराव्याख्यातस्तत्र सिद्धा इति सिद्धम। आदिशब्दात्पाक्षिकसूत्रचूर्ण्यादिग्रहः। तत्र सूत्रम् -देवसक्खियं" इति। अत्र चूर्णिः-"विरइपडिवत्तिकाले चिइबंदणाइणोवयारेण अवस्सं अहासंनिहयदेवयासंनिहाणम्मि भवइ, अओ देवसक्खियं भणियं" इति। अयमत्र भावार्थः-तावद्गणधरैर्दार्ढ्यार्थं पञ्चसाक्षिकं धर्म्मानुष्ठानं प्रतिपादितं, लोकेऽपि व्यवहारदार्ढ्यस्य तथा दर्शनात्। तत्र देवा अपि साक्षिण उक्ताः, ते च चैत्यवन्दनाद्युपचारेणसन्नी भूताः साक्षितां प्रतिपद्यन्ते; चैत्यवन्दनामध्ये च तेषामुपचारः कायोत्सर्गस्तुतिदानादिना क्रियते, अन्यस्य तत्रासंभवादश्रुतत्वाच्च, ततश्चैवमायातं, तथा चैत्यवन्दनामध्ये देवकायोत्सर्गादि करणीयमेव, अन्यथा तत्रान्यत्तदुपचाराभावे देवसाक्षि-कत्वासिद्धेः, चूर्णिकारेण तथैव व्याख्यातत्वान्निश्चीयते चैतत् "देवसक्खियं" इति सूत्रप्रामाण्यात्। एवमेव पूर्वापरविरोधाभावादुक्तं च सूत्रत्वं ललितविस्तरायामप्यस्य। तथा चोक्तम-व्याख्यातं "सिद्धेभ्यः" इत्यादि सूत्रमिति। तथा इदमेव वचनं ज्ञापकमिति, वचनं सूत्रं च पर्यायौ। एवं च सूत्रसिद्धा अप्येते नव अधिकारा इति सिद्धम्। ननु च ज्ञातं तावत् प्रथमतृतीयचतुर्थपञ्चमषष्ठसप्तमाष्टमद्वादशेति नवाधिकाराः, एवं सिद्धान्ताद्यनुसारेण भण्यन्ते, परं भवद्भिः "वार अहिगार" इति प्राक् प्रतिज्ञातम्, ततः शेषाः कुतः प्रामाण्यात् पठ्यन्ते, इत्याशङ्क्याऽऽह "तिन्नि सुय" इत्यादि। त्रयोऽधिकाराः पुनः (सुय त्ति) **"तै लुप्ता"** ॥३।२।१०८॥ इति पूर्वपदस्य बहुशब्दस्य लोपात् बहुश्रुताः, तेषां पारम्पर्येण गीतार्थपूर्वाचार्यसंप्रदायेन भण्यन्ते, पारम्पर्यागतस्यार्थ-स्य सुमत्या निषेधयितुमशक्यत्वात्, तन्निषेधे निह्नवमार्गानुयानापत्तेः। उक्तं च द्वितीयाङ्गे निर्युक्तौ आयरियपरंपरएण आगयं जो उ अप्पबुद्धीए। को वेइ छेइ वाई, जमालिना स स नासिहिइ" ॥१॥त्ति। अशठाचरितेन च आज्ञारूपत्वात्, तथाऽपि निषेधे जिनाशातनाप्रसङ्गाच्च। तथा च कल्पभाष्यम्- "आयरणा वि हु आणा, अविरुद्धा चेव होइ आण त्ति। इहरा तित्थयरासायण त्ति तल्लक्खणं चेयं ॥१॥" इत्यादि। अथवा-(सुयपरंपरय त्ति) यथा श्रुतस्य व्याख्यानं निर्युक्तिः, ततोऽपि भाष्यचूर्ण्यादयः, एवं श्रुतपारम्पर्येण। अयमर्थः-यथा सूत्रे चैत्यवन्दना ततः श्रुतस्तवं यावदुक्तो, निर्युक्तौ तु "सिद्धाण थुई किइकम्मं" ति श्रुतस्तवस्योपरि सिद्धस्तुतिर्भणिता। चूर्णौ तु सिद्धस्तुतेरप्युपरि श्रीवीरस्तुतिद्वयं व्याख्याय भणितम्- "जहा एए तिन्नि सिलोगा भन्नंति, सेसा जहिच्छाए" त्ति। ततश्च यथा निर्युक्त्यादिव्याख्याताः सिद्धादिगाथास्तिस्रो भण्यन्ते, तथा उज्जयन्ताद्यपि भण्यते, चूर्णिकारेणाऽनिषिद्धत्वादिच्छाद्वारेणानु-ज्ञातत्वाच्च। तथा हि-"सेस त्ति" अनेन उज्जयन्तादिगाथास्तित्वं प्रतिपादितम्, असतो भणनाभावात्। "जहिच्छाए" इत्यनेन तु वन्दनकरणेच्छावतां "उज्जिंत" आदिगाथाभणने स्वाभिमतत्वं दर्शयति, अनभिमतस्येच्छाऽयोगात्। येषां हि उज्जयन्तादि वन्दितुमिच्छतिशयः, ते भणन्तु नाम, उज्जयन्तादिगाथाभणनतया कर्मक्षयहेतुत्वात् प्रवृत्तिरित्यर्थः। अथ के ते त्रयोऽधिकारा एवं श्रुतपारम्पर्येण भण्यन्ते, इत्याह-"बीओ" इत्यादि द्वितीयः "जे य अईया" इत्यादिरूपः, दशमः "उज्जिंत" इत्यादिलक्षणः एकादश चत्तारि "इत्यादिस्वरूपः"। एते त्रय इत्यर्थः ॥३७॥

अमुमेवार्थं भाष्यकृत्स्पष्टयन्नाह-

आवस्सयचुण्णीए, जं भणियं सेसया जहिच्छाए।
तेणं उज्जिंताइ वि, अहिगारा सुयमया चेव ॥३८॥

आवश्यकचूर्णौ प्रतिक्रमणाध्ययने, यद्यस्माद्भणितमिदम्, तद्भणितमेव दर्शयति-(सेसया जहिच्छाए) भणन्तीति प्रकृतम्। शेषाः "सिद्धाणं०१ जो देवाण वि०२ इक्को वि०३" इति गाथाभ्योऽन्या गाथा "उज्जिंतसेल" इत्यादिका यदृच्छया भण्यन्ते। या या इच्छा यदृच्छा। अयमर्थः-यस्य यस्य भावेनातिशयतो नेमिनाथादि वन्दितुं वाञ्छा वर्द्धते, स भणतु नामैता गाथाः, न दोषः, सं-

वेगादिकारणत्वेन दर्शनविशुद्धिहेतुत्वात्तस्याश्च मोक्षाङ्गतया कर्त्तव्यत्वात्। मोक्षस्य चाक्षेपेण प्राप्तुमिष्टत्वात्तदर्थमेव च सकलधर्म्मानुष्ठानप्रवृत्तेः, यतश्चैवं शेषा गाथाश्चूर्णिकृता भणितास्तेन कारणनेदं निश्चीयतेयदुत पूर्वोक्ता नवाधिकारास्तावत्सूत्रसिद्धा एव। येऽपि चोज्जयन्तादयोऽधिकाराः, तेऽपि श्रुते चूर्ण्यादिरूपो श्रुतविवरणे पदेऽपि पदसमुदायोपचारात् मता एव अभिमताः, इच्छायां भणितत्वात्, अनभिमते सतां प्रवर्त्तयितुं योगाभावात्। अन्यथाऽनाप्तत्वप्रसङ्गत् अनिषिद्धत्वाच्च ॥३८॥

आह-"उज्जिंताइ" इत्यत्रादिशब्देन "चत्तारि" इत्येकादश एवाधिकारा अनुमीयन्ते, क्रमानुविद्धत्वान्न पुनर्द्वितीयः, तस्यान्यत्र पाठादतः स कथं भण्यते ?, इत्याशङ्कयाह-

बीओ सुयत्थयाई, अत्थउ वणिओ तहिं चेव।
सक्कथयंते पढिओ, पुव्वयरिएहिं पयडत्थो ॥३९॥

न केवलं दशमैकादशावधिकारौ चूर्णिकारभणितत्वात् भण्येते, किं तु द्वितीयोऽपीत्यपिर्गम्यः "जे य अईया" इत्यादिलक्षणोऽप्यधिकारः श्रुतस्तवस्य चतुर्थदण्डकस्य, आदौ "पुक्खरवरदी०" इतिगाथायामर्थतोऽर्थमाश्रित्व वर्णितो व्यावर्णितः, तत्रैव आवश्यकचूर्णावेव। अयमत्र भावार्थः-द्वितीयाधिकारार्थो द्रव्यार्हद्वन्दना, सा च तत्र भणिता। तथाहि-"उक्कोसपएणं सत्तरं तित्थयरसयं, जहण्णपएणं वीसं तित्थयरा, एए ताव एगकालेणं भवंति। अईया अणागया अणंता, ते तित्थयरे वमंसामि" इति। एव चूर्णिव्याख्यातार्थस्वरूपत्वेन चूर्ण्युक्त एवायमपीति भण्यते। ननु यद्येवं चूर्ण्युक्तार्थतयाऽयं भण्यते, तहिं तत्रैव भण्यतां, किमन्यत्र पाठेनेत्याह शक्रस्तवान्ते प्रणिपातदण्डकानन्तरं, पठितो भणितः, पूर्वाचार्यैः पूर्वैरनुयोगकृद्भिः, शक्रस्तवान्तेऽस्य स्थानात्, भावार्हद्वन्दनाऽनन्तरं द्रव्यार्हद्वन्दनायाः क्रमप्राप्तत्वात् प्रथमाधिकारेऽपि नवमसंपदि किञ्चितद्वर्णनात्, अस्य तु तद्विस्तरार्थत्वादित्थमेव च बहुभव्योपकारदर्शनात्, भावप्राधान्याश्रयेण च पश्चानुपूर्व्या चैत्यवन्दनायाः प्रारम्भः, तस्या अप्यागमेऽनुज्ञातत्वात्। श्रुतस्तवादौ त्वस्य पाठे अनानुपूर्व्या अप्यसंभवात्, तन्मध्यपाठेऽपि व्यत्याम्रेडितदोषप्रसङ्गत्, शक्रस्तवान्तभणने तु दोषासंभवात्, दण्डकान्तेऽन्यस्यापि स्तुतिस्तवादेर्भणनादित्येवं निर्दोषत्वेन पूर्ववृद्धैः शक्रस्तवान्तेऽयं पठितः, तथैव च भण्यते, वृद्धाचरितस्य जीतव्यवहाररूपत्वात्। उक्तं च-"जीयं ति वा करणिज्जं ति वा आयरणिज्जं ति वा एगट्ठा"।

तथा-

"वत्तऽणुवत्तपवत्तो, बहुसो आसेविओ महाणेण।
एसो य जीयकप्पो, पंचमओ होइ ववहारो ॥१॥
वत्तो नामं इक्कसि, अणुवत्तो जो पुणो विइयवारं।
तइयट्ठाणपउत्तो, सुपरिग्गहिओ महाणेण" ॥२॥ इति।

वृत्त एकदा नवो जातः पात्रबन्धग्रन्थादिवदित्यादि। तथा प्रकटार्थः सुगमार्थः, कृत इति शेषः। बालादीनामप्येवं शुभभाववृद्धेः। चूर्ण्युक्तमर्थं हि केचिदेव जानते, एवं तु पाठे मन्दमतीनामपि भवति। यथा वयं त्रिकालभाविनो जिनानमुना वन्दामहे, ततश्च सुलभ एव शुभभाववृद्धिः, बोधनिमित्तत्वात्तस्याः। इत्यलं प्रसङ्गन ॥३६॥

एवं द्वादशाधिकारस्वरूपं निरूप्य तद्वर्णनेन तात्पर्यार्थं, प्ररूपयन्नाह-

असढाइण्णऽणवज्जं, गीयत्थअवारियं ति मज्झत्या।
आयरणा वि हु आण, त्ति वयणं तु सुबहु मन्नंति ॥४०॥

अशठेन निर्मायेन, एतेन चास्याविप्रतारकत्वमाह, 'आ' इति मर्यादया, सूत्रोक्तया गुरुलाघवचिन्तयेत्यर्थः। अनेन चाचीर्णकर्तुः प्रमाणत्वं दर्शयति, अगीतार्थस्य प्रमाणत्वायोगात्, आचरितस्य तु सूत्रानुसारित्वं गुरुलाघवचिन्तया कृतस्य सूत्रेण सह पूर्वापरविरोधाभावात्। चीर्णं चरितं, देशकालाद्यपेक्षया गुणानुविधायित्वेन बहुभव्योपकारीति कृत्वा अशठाचीर्णम्, तथा अनबद्यं निर्दोषं, जिनस्तुत्यादिरूपतया कर्मक्षयहेतुत्वात्। तथा गीतार्थैस्तदन्यैस्तत्कालवर्त्तिभिर्न निवारितं, शोभनत्वादेव दर्शनादिविशोधकत्वात्, जिनस्तुत्यादेः। इति एवं, यत् बहुबहुश्रुतं, संविग्नपूर्वाचार्यसंमतामित्यर्थः। ततः सुबहु मन्यन्ते, इतिगाथान्ते संबन्धः। के इत्याह-मध्यस्थाः कुग्रहकलङ्ककलुषितचेतोवृत्तित्वेन रागाद्यस्पृष्टाः।

उक्तं च-

"जो न वि वट्टइ रागे, न वि दोसे दुण्ह मज्झयारम्मि।
सो हवई मज्झत्थो, सेसा सव्वे अमज्झ त्ति" ॥१॥

अन्यथा धर्मानर्हत्वात्। आह च-

"रत्तो दुट्ठो मुद्धो, पुव्विं कुग्गहिओ य चत्तारि।
एए धम्मअणरिहा, अरिहो पुण होइ मज्झत्थो" ॥१॥ इति।

आचरणाऽपीतिन केवलं सूत्रोक्तमात्रमेवाज्ञा, किं तु आचरणाऽपि संविग्नगीतार्थाचरितमपि, आज्ञैव, हुरेवार्थे, सूत्रोपदेश एव, अतीर्थानुवृत्तिजीताख्यपञ्चमव्यवहाररूपत्वात्।

आह च-

"बहुसुयकमाणुपत्ता, आयरणा धरइ सुत्तविरहे वि।
विज्झाए वि पईवे, नज्जइ दिट्ठं सुदिट्ठीहिं ॥१॥
जीवियपुव्वं जीवइ, जीविस्सइ जे उ धम्मियजणम्मि।
जीयंसि तेण भन्नइ, आयरणा समयकुसलेहिं ॥२॥
तम्हा अनायमूले, हिंसारहिएऽसुया ण जणणीया।
सूरिपरंपरपत्ता, सुत्तं च पमाण आयरणा ॥३॥"

इत्येवं, यद्वचनं सूत्रम्। तथा च कल्पनिर्युक्तिः-

"आयरणा वि हु आणा, अविरुद्धा चेव होइ आण त्ति।
इहरा तित्थयरासा–यण त्ति तल्लक्खणं चेयं ॥१॥
असढेण समाइण्णं, जं कत्थइ केण इ असावज्जं।
न निवारियमन्नेहिं, बहु मणुमयमेवमाइज्जं" ॥२॥ इति।

तस्मात्तद्वचनप्रामाण्याम्, सुष्ठु याथातथ्यपूर्णाद्यतिशयेन बहु मन्यन्ते भावसारं प्रतिपद्यन्ते, "बहुमानो मानसी प्रीतिः" इति वचनात्। यत उक्तम्-

"अवलंबिऊण कज्जं, जं किंची आयरंति गीयत्था।
थोवावराह बहुगुण, सव्वेसिं तं पमाणं ति" ॥१॥

यतः-

संविग्गा विहिरसिया, गीयत्थतमा उ सूरिणो पूरिसा।
न य ते सुत्तविरुद्धं, सामायारिं परूविंति" ॥२॥

अवि य-

जं बहु खायं दीसइ, न य दीसइ कह वि भासियं सुत्ते।
पडिसेहो वि न दीसइ, मोणंवि य तत्थ गीयाणं" ।३। इत्यादि।

सांप्रतम् "चउरो थुइ" त्ति षोडशं द्वारं विवृण्वन्नाह-

अहिगयजिण पढमथुई, बीया सव्वाण तइय नाणस्स ।
वेयावच्चगराण उ, उवओगत्थं चउत्थथुई ॥४१॥

यस्य मूलबिम्बादेः पुरतश्चैत्यवन्दना कर्तुमारभ्यतेऽसावधिकृतजिन उच्यते । तमाश्रित्य प्रथमा स्तुतिर्दातव्या, तन्नामादिगर्भा, सामान्येन जिनगुणोत्कीर्त्तनपरा वेत्यर्थः । उक्तं च ललितविस्तरायाम् । अत्रैवं वृद्धा वदन्ति यत्र किलाऽयतनादौ वन्दनं चिकीर्षितं, तत्र यस्य भगवतः संनिहितं स्थापनारूपं, तं पुरस्कृत्य प्रथमः कायोत्सर्गः स्तुतिश्च, तथा शोभनभावजनकत्वेन तस्यैवोपकारित्वादिति ॥१॥ तथा द्वितीया स्तुतिः सर्वेषां जिनानां प्रायो बहुवचनादिगर्भा, सर्वजिनसाधारणेत्यर्थः । अन्यथाऽन्यकायोत्सर्गेऽन्या स्तुतिरिति न सम्यक्, अतिप्रसङ्गादिति, तथा तृतीया स्तुतिर्ज्ञानस्य श्रुतज्ञानमाहात्म्यवर्णनपरेत्याम्नायः । तथा च ललितविस्तराया ऐतिह्यमेतादिति वृत्तिः । पञ्जिकासंप्रदायश्चायम्- यदुत तृतीया स्तुतिः श्रुतस्येति ३ । चतुर्थी स्तुतिः पुनर्वैयावृत्यकराणां यक्षाम्बाप्रभृतीनां सम्यग्दृष्टिदेवतानाम्, किमर्थमित्याह-उपयोगार्थं स्वकृत्येषु तेषां सावधानतानिमित्तं, भवति च गुणोपबृंहणतस्तद्भाववृद्धिः, ततश्च स्वार्थकारित्वोपयुक्तता । जगत्प्रसिद्धमेतत्यत्प्रशंसा तत् सोत्साहं कार्यकरणादर इति । तुशब्दो विशेष, तेन याः श्रुताङ्गीशासनदेवतादिविषया स्तुतयस्ताः सर्वा अपि चतुर्थस्तुतौ निपतन्ति, गुणोपबृंहणद्वारेण तासामप्युपयुक्ततादिफलत्वात्, स्तुतियुगलेषु तथानिबन्धनात् गुणोत्कीर्त्तनाख्यद्वितीयस्तुतिरूपत्वात् । तथाहि- जिनज्ञानस्तुतिवन्दनाद्यात्मकत्वादेका गण्यते, वैयावृत्यकरादिस्तुतयस्तु द्वितीया, गुणोत्कीर्तनादिरूपत्वात् । एवमेव च युगलत्वसिद्धे, भावितं चैतत्पञ्चमे वन्दनाद्वारे । अत एव क्वचिद्युगले चतुर्थी स्तुतिः, सर्वे यक्षाम्बिकेत्यादिवैयावृत्तिकराणां क्वापि च भूयासुः, सर्वदा देवा देवीभिरित्यादि सामान्यतः सर्वदेवतानां, कुत्रापि गौरी सैरभेति विद्यादेवतानाम् । अन्यत्र-"निष्पङ्कव्योमनील" इति देवविशेषविषया, एकत्र 'विकटदशना' इति देव्या एव, कुत्रचिच्च-"आमूलालोलधूली" इत्यादि श्रुतदेवताया इत्यादि । परिभावनीयमिदं सूक्ष्मधिया कुग्रहग्रहविहरेण, कायोत्सर्गविषयेऽपि बहु विमर्शनीयम् । यतो दैवसिकावश्यकमध्ये सामान्यतो वैयावृत्यकरान् विमुच्य केवलश्रुतदेवतादेः कायोत्सर्गकरणम् , पाक्षिकादौ तु भुवनदेव्यादेः, दीक्षादौ तु शासनदेव्यादीनामपीत्यलं प्रसङ्गेन । तत्त्वं तु परमर्षयो विदन्तीति। सङ्ग्रा०।

स्तुतयः संस्कृतकाव्यानि-

"जिनं यशःप्रतापास्त पुष्पदन्तं समन्ततः ॥
संस्तुवे यत्क्रमौ पुष्पदन्तं समन्ततः ॥१॥
प्रातस्तेऽहिद्वयी येन, सरोजास्यसमा नता ।
तस्यास्तु जिनधर्म्माद्य, सरोजास्यसमानता ॥२॥
वन्दे देवं च्युतोत्पत्ति व्रतकेबलनिर्वृतिम् ।
विश्वार्चितच्युतोत्पत्ति नुतकेवलनिर्वृतिम् ॥३॥
चतुरास्यं चतुःकायं, चतुर्धा वृषसेवितम् ।
प्रणमामि जिनाधीशं, चतुर्धा वृषसेवि तम् ॥४॥
जिनेन्द्रानञ्जनश्यामान्, कल्याणाश्चहिमप्रभान् ।
चतुर्विंशतिमानोऽस्य, कल्याणश्चहिमप्रभान् ॥५॥
विलोक्य विकचाम्भोज काननं नाभिनन्दनम् ।
द्रष्टुमुत्कायते कोऽपि, काननं लाभि नन्दनम् ॥६॥
भवानिशं सदा यस्या जिननिष्कोपनाथति ।
अहितो निहितं स्वाभा जितनिंष्कोपनाथति ॥७॥
सनातनाय सेनाङ्ग भवशम्भवसंभवः ।
भगवन् ! भविकानाम भवशंभवसंभवः ॥८॥
दुष्कृतं मे मनोहंस मानसस्याभिनन्दन ! ।
श्रीसम्बरधराधीश !, मानसस्याऽभिनन्दन ! ॥९॥
त्वां नमस्यन्ति येऽङ्गस्थपद्मपद्मप्रभेश ! ते ।
त्रैलोक्यस्य मनोहारी, पद्मपद्मप्रभे शते ॥१०॥
....., ।
....., ॥११॥
सद्भक्त्वा यः सदा स्तौति, सुपार्श्वमपुनर्भवम् ।
सोऽस्तजातिमृतिर्याति, सुपार्श्वमपुनर्भवम् ॥१२॥
सहर्षा ये समीक्षन्ते, मुखं चन्द्रप्रभाङ्ग ! ते ।
विदुः सकलसौख्यानां, सुखं चन्द्रप्रभां गते ॥१३॥
सदा स्वपादसंलीनं, सुविधे् सुविधेहि तम् ।
येन ते दर्शनं देव !, सुविधे सुविधे हितम् ॥१४॥
यथा त्वं शीतल ! स्वामिन्, सोमः सोमाननोहरः ।
भव्यानां न तथाऽऽभाति, सोमः सोमाननोहरः ॥१५॥
तं वृणोति स्वयंभूष्णः, श्रेयान् संबहुमानतः ।
जिनेशं नौति यो नित्यं, श्रेयांसं बहुमाऽऽनतः ॥१६॥
वाक्यं यस्तव श्रुश्राव, वासुपूज्य ! सनातन ! ।
भवे कुर्यात्तमोदाव वाः सुपूज्य ! सनातन ! ॥१७॥
कस्य प्रमोदमन्यत्र, विमलात्परमात्मनः ।
हृदयं भजते देवा द्विमलात्परमात्मनः ॥१८॥
दृष्ट्वा त्वान्तरजि द्भावपराजितमनोभवम् ।
भविनां नाधतामेत्य, पराजितमनोऽभवम् ॥१९॥
श्रीधर्मेण क्षमाराम प्रकृष्टतरवारिणा ।
सनाथोऽस्मि तृषावल्ली प्रकृष्टतवारिणा ॥२०॥
त्वया द्वेधाऽरिवर्गो यत् पादौ श्रीशान्तिनाथ ! ते ।
....., श्री शान्तिनाऽथ ते ॥२१॥
वीतरागं स्तुवे कुन्थुं, जिनं शंभुं स्वयंभुवम् ।
सरागत्वात्पुनर्नान्यं, जिनं शंभुं स्वयं भुवम् ॥२२॥
विजिग्ये लीलया येन, प्रद्युम्नो भवतादर ।
भविनां भवनाशाय, प्रद्युं नो भवतादर ॥२३॥
स स्यान्मल्लेन मल्लोखा, मल्लस्य प्रतिमल्यते ।
क्रमो मनसि यो मोह-मल्लस्य प्रतिमल्यते ॥२४॥
विधत्ते सर्वदा यस्ते, स सुव्रतसमुन्नतिम् ।
समासादयते स्वामिन् !, स सुव्रत ! समुन्नतिम् ॥२५॥
दृष्ट्वा समवसृत्यन्तर्नमि ! तं चतुराननम् ।
पश्येत्कोऽजितसन्धिं मां, नमितं चतुराननम् ॥२६॥
श्रीनेमिनाथमानौमि, समुद्रविजयाङ्गजम् ।
हेलानिर्जितसंप्राप्तां, समुद्रविजयां गजम् ॥२७॥
शिवार्थी सेवते ते श्री पार्श्व! नालिककोमलौ ।
न क्रमावनिशं नम्र पार्श्वनालिककोमलौ ॥२८॥
वरिवस्यति यः श्रीमन्महावीरं महोदयम् ।
सोऽश्नुते जितसंमोह महावीरं महोदयम् ॥२९॥
श्रीसीमन्धरतीर्थेशं, सादरं नुत निर्जरम् ।
योऽज्ञानं विदधे भस्म, सादरं नुतनिर्जरम् ॥३०॥
यैर्वन्दतेऽर्हतो भार तैरावतविदेहकान् ।
प्राप्यते प्रवरोदर्कानैरावतविदेहकान् ॥३१॥

सप्ततिशतं जिनाना मुत्कृष्टपदवर्त्तिनाम् ।
वन्दे मनुष्यलोकेऽह मुकृष्टपदवर्त्तिनाम् ॥३२॥
श्रीमन्नन्दीश्वरद्वीपे, प्रतिमाप्रणताच्युताः ।
द्विपञ्चाशति चैतेषु, प्रतिमाप्रणताच्युताः ॥३३॥
यद्यात्मीच्छसि स्थान मकृत्रिममकृत्रिमम् ।
जैनबिम्बव्रजं तद्धै मकृत्रिममकृत्रिमम् ॥३४॥
ये जिनेन्द्रान्नमस्यन्ति, साम्प्रतातीतभाविनः ।
दुष्कृतात्ते विमुच्यन्ते, साम्प्रतातीतभाविनः ॥३५॥
परात्मानो जिनेन्द्रा यै र्नीयन्ते मानसं प्रति ।
पदं यान्ति जगन्मान नीयं ते मानसं प्रति ॥३६॥
सोऽस्तु मोक्षाय मे जैनो, नयसंगत आगमः ।
अपि यं बुध्यते विद्वो, नयसंगत आगमः ॥३७॥
त्वं नामाज्ञानभिद्धर्म्म कीर्तये श्रुतदेवते ।
यन्न कोऽपि तदग्रे स्व कीर्त्तये श्रुतदेव ! ते ॥३८॥
यक्षाम्बाद्याः सुराः सर्वे, वैयावृत्यकरा जिने ।
भद्रं कुर्वन्तु सङ्घाय, वैयावृत्यकराजिने"॥३९॥
उक्तं "चउरो थुइ" त्ति षोडशं द्वारम् ॥४१॥

निमित्तार्थं ४ स्तुतिः-

अधुना "निमित्तट्ठ" त्तिसप्तदशं द्वारं विवृण्वन्नाह-

पावखवणत्थइरियाइ वंदणावत्तियाइ छनिमित्ता ।
पवयणसुरसरणत्थं, उस्सग्गो इय निमित्तट्ठं ॥४२॥

पापानां गमनागमनादिसमुत्थानां, क्षपणार्थं निर्घातनार्थम्, ईर्यापथिक्याः, कायोत्सर्ग इति योगः । यदागमः "गमणागमणविहारे, सुत्ते वा सुमिणदसणे राओ । नावा नइसंतारे, इरियावहियाएँ पडिकमणं" ॥१॥ गमनागमनादिसमुत्थपापक्षयरूपं फलमीर्यापथिक्याः कायोत्सर्गाद्भवतीति। तथा वन्दनप्रत्ययादीनि षट् निमित्तानि फलानि येभ्यस्ते, तथ त्रय उत्सर्गा इति शेषः । वन्दनपूजनसत्कारसंमानबोधिलाभनिरुपसर्गेति षट् फलानि चैत्यवन्दनादिकायोत्सर्गेभ्यः स्युः ।

तत्र-

सुमरणथुइनमणाइसुभमणवइतनुपवित्ति वंदणयं ।
पुप्फाईहिं पूयणमिह वत्थाईहि सक्करो ॥१॥
संमाणो मणपीईइ विणयपडिवत्ति बोहिलाभो उ ।
तिव्वजिणधम्मसंपत्ति निरुवसग्गो उ निव्वाणं ॥२॥
अरिहाइवंदणीएँसु, जं पुन्नफलं हवेउ तं मज्झ ।
उस्सग्गाउ चिय तप्फलेहि बाहि तउ वि सिवो" ॥३॥

तथा प्रवचनसुराः सम्यग्दृष्टयो देवाः, तेषां स्मरणार्थं वैयावृत्यकरेत्यादिविशेषणद्वारेणोपबृंहणार्थं क्षुद्रोपद्रवविद्रावणादिकृते तत्तद्गुणप्रशंसया प्रोत्साहनार्थमित्यर्थः यद्वा- तत्कर्त्तव्यानां वैयावृत्यादीनां प्रमादादीनाश्लथीभूतानां प्रवृत्त्यर्थम, अश्लथीभूतानां तु स्थैर्याय च स्मारणा ज्ञापना, तदर्थं, सारणार्थं वा, प्रवचनप्रभावनादौ हितकार्ये प्रेरणार्थम् । किम् ? उत्सर्गः कायोत्सर्गः, चरम इति शेषः । इत्येतानि निमित्तानि प्रयोजनानि फलानि इति यावदष्टौ, चैत्यवन्दनाया भवन्तीति शेषः । इह च यद्यपि वैयावृत्याकरादयः स्वस्मरणाद्यर्थं क्रियमाणं कायोत्सर्गं न जानते, तथाऽपि तद्विषयककायोत्सर्गकर्तुः श्रीगुप्तश्रेष्ठिन इव विघ्नोपशमादिषु शुभसिद्धिर्भवत्येव, आप्तोपदिष्टत्वेनाव्यभिचारत्वात् । यथा स्तम्भनीयादिनिष्परिज्ञानेऽप्यप्तोपदेशेन स्तम्भनादिकर्म्मकर्तुः स्तम्भनाद्यभीष्टफलसिद्धिः ।

उक्तं च चूर्णौ -

"तेसिमविन्नाणे वि हु, तव्विसउस्सग्गओ फलं होइ ।
विग्घजयपुन्नबंधा इकारणं मंतनाएणं" ॥१॥ इति ।

ज्ञापयति चैतदिदमेव कायोत्सर्गप्रवर्त्तकम् "वेयावच्चगराणं" इत्यादि सूत्रम्, अन्यथाऽभीष्टफलसिद्धादौ प्रवर्त्तकत्वायोगात् । उक्तं च ललितविस्तरायां तदपरिज्ञानेऽयस्मात् तच्छुद्धिसिद्धाबिंदमेव वचनं ज्ञापकमिति । सङ्घा०३ प्रस्ता० । (अत्र श्रीगुप्तश्रेष्ठिकथा सङ्घाचारादवसेया)

इत्युक्तं "निमित्तट्ठ त्ति" सप्तदशं द्वारम् ॥४२॥

चतुर्हेतुकद्वारम् "तस्स उत्तरीकरणेणं" इति। साम्प्रतं "वारहेओ य" त्ति अष्टादशं द्वारं व्याख्यानयन्नाह-

चतु तस्स उत्तरीकरणपमुह सद्धाइया य पण हेऊ ।
वेयावच्चगरत्ताइ तिन्नि इय हेउ वारसगं ॥४३॥

चत्वारो हेतवः, तस्योत्तरीकरणप्रमुखाः "तस्स उत्तरीकरणेणं विसोहिकरणेणं विसल्लीकरणेणं" इति रूपाः, कायोत्सर्गसिद्धये भवन्तीति शेषः।

तत्र -

"तस्सालोयणपमिकमणमाइणा सोहियाइयारस्स ।
उत्तरकरणईहिं, हेऊहिं करेमि उस्सग्गं ॥१॥
पडिबंधपलेवाई, जह सालागाएँ सोहियवणस्स ।
हाणाइ गयमलस्स व, जहा विलेवाइ सक्कारो ॥२॥
आलोयणाइणा तह, सुद्धऽइयारस्स उत्तरीकरणं ।
कीरइ पच्छित्तेण व, जह सगडरहंगगेहाणं ॥३॥
पच्छित्तं पुण उस्सग्गलक्खणं पंचमं इह विसोही ।
अइयाराण अभावो, मायाएँ विणा विसल्लत्तं" ॥४॥

तथा श्रद्धादिकाः-"सद्धाए मेहाए धिईए धारणए अणुप्पेहाए वड्ढमाणी" इत्यात्मकाः पञ्च हेतवः ।

तत्र -

"सद्धा निआभिलासो, न पराणुग्गहलाभिओगाई ।
मेहा हेओपादे यबुद्धिपडुया न य जडित्तं ॥१॥
मेहा वा मज्झाया, जिणभणिया नासमंजसत्तं पि ।
मणपणिहाणा पीई, धिई न रागाइआउलया ॥२॥
धारण अरिहाइगुणा विस्सरणं न उण सुन्नचित्तत्तं ।
अणुपेहा अत्थाई चिंता न पवित्तिमित्तं तु ॥३॥
पंचसु वि इमेसु पुढो, संवज्झइ वड्ढमाणय त्ति जहा ।
सद्धाई वहमाणी इ वासि उस्सग्गमिच्चाई ॥४॥
इय पाढो लाभकमा, एसिं सद्धासईइ जहा महा ।
तो विधिई इच्चाई, वुड्ढी वि इमाण एमेव ॥५॥
कारणरहियं कज्जं, घडाइयं जह न सिज्झइ कया वि ।
इय सद्धाईहि विणा, काउस्सग्गस्स न हु सिद्धी" ॥६॥

तथा वैयावृत्यकरादयश्च त्रयो हेतवः ।

उक्तं च -

"पवयणवेयावच्चं, पवयणसंतिं च पवयणसमाहिं ।
सम्मद्दिट्ठी देवा, करंति जे तेसिमुस्सग्गं ॥१॥
पवयणवेयावच्चाइवत्तियाईहिं ठामि हेऊहिं ।
अविरयभावा तेसिं, न उ वंदणवत्तियाईहिं ॥२॥
वेयावच्चं संघाइरक्खणापमुहकिच्चमिह संति ।

उवसग्गाइविणासो, मणाइँ दुहवारणसमाहि" ॥३॥

(सद्धाइ य त्ति) चशब्दादुत्तरीकरणाद्याः पापक्षपणादिफलेर्यापथिक्यादिकायोत्सर्गस्य, सामान्येन श्रद्धाद्या वन्दनादिप्रत्यस्य, वैयावृत्यकृत्यादयस्तु सुदृष्टिसुस्मरणादिफलोत्सर्गस्येति ज्ञेयम्। सङ्घा०३ प्रस्ता०। (अत्र सुदर्शनकथा संघाचाराद् ज्ञातव्या) इति प्ररूपितम् "चार हेओ य" त्ति अष्टादशं द्वारम् ॥४३॥

(३३) इदानीं "सोल आगार" त्ति एकोनविंशतितमं द्वारमाविष्कुर्वन्नाह

अन्नत्थआइ वारस, आगारा एवमाइया चउरो।
अगणी पणिंदिछिंदण बोहियखोभाइ डक्को य ॥४४॥

"अन्नत्थ त्ति" भणनात् "अन्नत्थुस्ससिएणं" आदिशब्दात् "नीससिएणं" इत्यादि ग्रहः, यावत् "दिट्ठिसंचालेहिं ति"।

एतदर्थः -

"अन्नत्थयबावारे, काउस्सग्गं करेमि इय जोगो।
ऊससियं सासगहो, नीससियं सासमोओ य॥
पयडा खासखुयं जं भमुड्डए वायणीसग्गो।
.....,अहो वाओ ॥
भमलीइ अकम्हाओ, भमंतमहिदंसणं व निवडं वा।
पित्तोदयाउ मुच्छा, विचेयणत्तं भमणरहियं च॥
सुहुमाणूससियाणुम्मुक्कं पायाइअंगसंचारो।
खेले कफाइअंते, दिट्ठीइ निमेसमाईया॥
ऊसासाइनिरोहे, मरणाई तेण सुहुम ऊससइ।
पवणमसगाइरक्खण हेऊ सासाइसु य हत्थो॥
उड्डयवायनिसग्गे सु सद्दजयणा वि भमलिमुच्छासु।
निवसइ विग्गहणभया, रोमुक्कंपाइदुनिवारा" ॥

एते च द्वादश आकाराः कायोत्सर्गापवादप्रकाराः साक्षात् सूत्रे प्रतिपादिताः। तथा-(एवमाइय त्ति) "एवमाइएहिं" इति पदेन चत्वारः सूचिताः। तानेवाह-"अगणि" इत्यादि। अग्निविंद्युद्वीपादिस्पर्शनम्, प्रदीपनकमन्ये, पञ्चेन्द्रियैर्नरमार्जारादिभिश्छिन्दनं स्वस्य कायोत्सर्गालम्बनस्य च गुर्वादेन्तराले भुवोऽतिक्रमणं, बोधिका मानुषचौराः, क्षोभः सुराष्ट्रकृतः, आदि शब्दाद् वन्दिकराजभयभीतिपातादिग्रहणम्, दष्टश्च सर्पादिना स्वः परो वा साध्वादिः, चशब्दात्सर्पादिरेव संमुखमासन्नं वाऽऽगच्छति।

अत्र यतना -

"फुसणम्मी गहणाछिं दणे अ तह तग्गहत्थकरणाई।
चारणपलायणाई, बोहियखोभाइडक्केसु" ॥१॥
उभयेऽपि मीलिताः षोडश। संघा०३ प्रस्ता०।

(अत्र नरसुन्दरनृपतिदृष्टान्तः सङ्घाचाराद् ज्ञातव्यः) (कायोत्सर्गे दोषाः "काउस्सग्ग" शब्देऽस्मिन्नेव भागे) ४२६ पृष्ठे उक्ताः। उच्छ्वासमानमपि ४२४ पृष्ठे उक्तम्)

(३४) स्तोत्रलक्षणम् -

इदानीं "थुत्तं च" त्ति द्वाविंशं द्वारमाविष्कुर्वन् गाथोत्तरार्द्धमाह-

गंभीरमहुरसद्दं, महत्थजुत्तं हवइ थुत्तं ॥

गम्भीरा व्यङ्ग्यार्थान्योक्तिवक्रोक्तिकठोरोक्त्यादिगर्भाः, मधुराः सुश्लिष्टाक्षराः शब्दा यत्र तत्तथा। यद्वा-मधुरो मालवकैशिक्यादिग्रामरागानुगतः शब्दः स्वरो यत्र। सङ्घा०३ प्रस्ता०। (अत्र विजयश्रेष्ठिकथा सङ्घाचारादवसेया)

प्ररूपितम् "थुत्तं च" इति द्वाविंशं द्वारम्।

(३५) कतिवेलाश्चैत्यानि वन्देत साम्प्रतं "सगवेल" त्ति त्रयोविंशं द्वारं प्रकटयन्नाह -

पडिकमणे चेइयजिम णचरिमपडिकमणसुवणपडिबोहे।
चिइवंदण इइ जइणो, सत्त उ वेला अहोरत्ते ॥४५॥

यतेः साधोः, इति पूर्वार्द्धोक्तरीत्या, अहोरात्रमध्ये सप्त वेला जघन्यतोऽपि चैत्यवन्दना कर्त्तव्यैव, अन्यथाऽतिचारसंभवात्तदकरणे प्रयश्चित्तस्य भणनादागमप्रामाण्यात् अधिके त्वनिषेधः। पर्वादिषु विशेषतो वन्दनाभणनात्, प्रतिषेधे प्रायश्चित्तापत्तेश्च। तथा चाऽऽगमः-"जेण चेइए वंदमाणस्स वा संथुवेमाणस्स वा पंचप्पयारं च सज्झायं पयरेमाणस्स वा विग्घं करिज्जा पच्छित्तं"। एतच्च तुशब्दो विशेषयति, तत्र (पडिकमणे त्ति) प्राभातिकावश्यकावसाने एका चैत्यवन्दना। तथा च मूलावश्यकटीका-"तओ तिन्नि थुईओ जहा थुत्तं, नवरमप्पसद्दगं दिंति, जहा घरकोइलाइसत्ता न उट्ठंति, तओ देवे वंदंति, तओ बहुवेलं संदिसावंति त्ति" ॥ (चेइय त्ति) द्वितीया चैत्यवन्दना चैत्यगृहवेलायां भक्तादिग्रहणार्थमुपयोगकरणपूर्वमित्यर्थ उक्तं च महानिशीथे सप्तमाध्ययने यतिदिनचर्याप्रस्तावे-"चेइएहिं अवंदिएहिं उवओगं करिज्जा पच्छित्तं।" तथा मूलावश्यके कायोत्सर्गनिर्युक्तिवृत्त्योर्दिवसातिचारालोचनार्थमुक्तम् -

"काउस्सग्गं मोक्खपहदेसिओ जाणिऊण तो धीरा।
दिवसाइयारजाणणठयाइ ठायंति उस्सग्गं॥१॥"

मोक्षपथस्तीर्थकरस्तदुपदेशकत्वेन कारणे कार्योपचारात् साम्प्रतं यदुक्तं दिवसातिचारज्ञापनार्थमिति, तत्रोच्यते-विषयद्वारेण तमतिचारं दर्शयन्नाह -

"सयणासणन्नपाणे, चेइयजइसिज्झकायउच्चारे।
समिई भावणगुत्ती, वितहायरणे अईयारो" ॥१॥

(चेइय त्ति) चैत्यवितथाचरणे सत्यतिचारः, चैत्यविषयं च वितथाचरणमविधिना वन्दनकरणे अकरणे चेत्यादि। (जइ त्ति) यतिवितथाचरणे सत्यतिचारः, यतिविषयं च वितथाचरणं यथार्हं विनयाद्यकरणमिति। एषा च त्रिकालचैत्यवन्दनामध्ये प्राभातिकसेध्याकालवन्दनोच्यते। यतो यतिनामपि दिवामध्ये त्रिसंध्यं चैत्यवन्दनाया अवश्यं कर्त्तव्यतोक्तत्वात्। तथा महानिशीथसूत्रम् -"गोयमा ! जे केइ भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे दिया पभिइओ अणुदियहं जावजीवाभिग्गहणं सुविसत्थतत्तनिब्भरे जहुसविहीए सुत्तत्थमणुसरमाणे अणुन्नमणे एगग्गचित्ते तग्गयमणस्स सुहज्झवसाए थयथुईहिं न तिकालियं चेइए वंदिज्जा, तस्स णं पायच्छित्तं उवइसिज्जा" ॥ (जिमण त्ति) चैत्यवन्दनां कृत्वा भोक्तव्यम्। तथा चोक्तम्- "चेइएहिं साहूहि य अवंदिएहिं पडिक्कमिज्जा पच्छित्तं"। एषा च मध्यान्हचैत्यवन्दना गण्यते। (चरिम त्ति) संचरणप्रत्याख्यानानन्तरं देवान् वन्देत। उक्तं च-"संचरित्ता णं चेइयस्स साहूणं वंदणं न करिज्जा, तो पच्छित्तं" एषा सायं सन्ध्या चैत्यवन्दनायां निपतति। एवं च दिवामध्ये त्रिकालवन्दना यतिनां भवति। (पडिक्कमणत्ति) दैवसिकप्रतिक्रमणात्पूर्वं देवा वन्दनीयाः। तथा च महानिशीथे -"चिइवंदणपडिक्कमणगाहा।" तथा "चेइएहिं अवंदिएहिं पडिक्कमिज्जा पच्छित्तं" (सुवण त्ति) देवान् वन्दित्वा

स्वप्तव्यं, नान्यथा। यदागमः-"चेइएहिं अवंदिएहिं जाव संथारम्मि ठाइज्जा पच्छित्तं"॥ (पडिबोहे त्ति) प्रभाते प्रतिबुद्धः सन् देवादीन् वन्देत। उक्तं च-"इरिया कुसुमिणमग्गो, जिणमुणिवंदण तहेव सज्झायं" इति ॥७॥ एवं च साधूनाश्रित्य वेलासप्तकनियता चैत्यवन्दना प्रदर्शिता ॥४८॥

अथ गृहस्थानाश्रित्याऽऽह -

पडिकमओ गिहिओ विहु, सगवेला पंचवेल इयरस्स।
पूयासु तिसंझासु य, होइ तिवेला जहन्नेण ॥४९॥

प्रतिक्रामत उभयसन्ध्यमावश्यकं कुर्वाणस्य, गृहिणः श्रावकादेः, सप्तवेलाश्चैत्यवन्दना भवत्यहोरात्रमध्ये। यथा- द्वे द्वयोरावश्यकयोः, द्वे च स्वापावबोधयोस्त्रिकालपूजाऽनन्तरं तथा जघन्येन च तिस्रश्चेति सप्त। अपिः संभावने। सभाव्यते ह्येतदेवम्। अन्यथाऽऽवश्यककरणे षट् स्वापादिसमयावन्दने पञ्चादिरपि, प्रभूतदेव गृहादौ वा अधिकाअपि। पञ्चवेला इतरस्याप्रतिक्रामतः। यथाऽधिस्वापावबोधयोस्तिस्रः तत्प्रतिसंध्यं पूजानन्तरं, तथा जघन्येन श्रावकस्य तिस्रो वेलाश्चैत्यवन्दना भवति, कर्त्तव्येति शेषः। कथम् ? त्रिसंध्यासु यास्तिस्रः पूजास्तासु, तदनन्तरमित्यर्थः एतेन श्राद्धस्य त्रिकालपूजाऽप्यावेदिता, चशब्द उक्तानुक्तसमुच्चयार्थः। तेन यदाऽपि पूजा न संभवति तथाऽपि वेलात्रयं देवा वन्दनीयाः, तथा या पूर्वाह्णे गृहचैत्यचैत्यगृहादिषु वन्दनास्ताः प्रातः संध्यावन्दनायां निपतन्ति, तदनन्तरं मध्याह्निक्यां, ततस्तु प्रदोषसंध्यायाम्। यथा चागमः- "भो भो देवाणुप्पिया ! अज्जप्पभिईए जावजीवं तिकालियं अणुतावलेगग्गचित्तेणं चेइए वंदियव्वे इणमेव भो मणुयत्ताओ असुइअसासयखणभंगुराओ सारं ति, तत्थ पुव्वण्हे ताव उदगपाणं न कायव्वं जाव चेइए साहू य न वंदिए, तहा मज्झण्हे ताव श्रसणकिरियं न कायव्वं जाव चेइए न वंदिए, तहा अवरण्हे चेव तहा कायव्वं जहा अवंदिएहिं चेइएहिं नो सिज्जालयमइक्कमिज्ज त्ति। "सड्ढ।०३ प्रस्ता०। "संवरित्ता णं चेइयसाधूणं वंदणं ण करेज पुरिमड्ढं" महा०७ अ० (अत्र कान्तिश्रीकयानकं संघाचाराद् ज्ञातव्यम्) चैत्यगृहे आशातना "आसायणा" शब्दे द्वि० भा०४७८ पृष्ठे उक्ताः) (अत्रप्रभावतीदेवीकुमारनन्दिकथा स्वस्थानोक्ता दृश्या) इति प्ररूपितं "दस आसायणश्चओ" त्ति चतुर्विंशतितमं द्वारं, तन्निरूपणेन च प्रदर्शितम् "एवं चिइवंदणाइं ठाणाइं चउवीसदुवारेहिं दुसहस्साइं हुंति चउसयर" त्ति प्राक् प्रतिज्ञातं सप्रपञ्चमपि चैत्यवन्दनाविधानम्।

(३६) साम्प्रतं चैत्यवन्दनाकरणविधिप्रदर्शनार्थमाह -

इरिअं १ नमुक्कारं २ नमोऽत्थु ३अरिहंत ४ थुइ ५ लोग ६ सव्व ७ थुइ ८ पुक्ख ९ थुइ १० सिद्धा ११ वेया १२ थुइ १३ नमोऽत्थु १४ जावंति १५थय १६ जयवीय० १७ इति। तत्र "ता गोयमा ! णं अपडिक्कंताए इरियावहियाए न कप्पइ चेव किंचि चिइवंदणसज्झाइयं काउं फलमभिकंखुगाणं" इत्यागमप्रामाण्यात्। "इरिय त्ति" प्रथममीर्यापथिकीप्रतिक्रमणे तत्कायोत्सर्गे च "चंदेसु निम्मलयर" त्ति यावत् नामस्तवस्य पञ्चविंशत्युच्छ्वासमानं कृत्वा "नमो अरिहंताणं" इति भणतः पारयित्वा मुखेन सकलोऽपि चतुर्विंशतिस्तवो भणनीय इति वृद्धाः। ततः क्षमाश्रमणपूर्वम् "इच्छाकारेण संदिसह भगवन् ! चैत्यवन्दनं करोमीति भणित्वा "नमुक्कार" त्ति-

"श्यामौ नेमिमुनी उभौ विमलतः षट् पञ्च नाभेयतः,
श्रेयोवीरसुपार्श्वशीतलनमीवैरोचिषः षोडश।
द्वौ चन्द्रप्रभसद्विधी सितरुची द्वौ पार्श्वमल्ली सिती,
द्वौ पद्मप्रभवासुपूज्यजिनपौ रक्तौ विरक्तौ स्तुवे ॥१॥
देवेन्द्रादिभिरर्हितो नरहितः स्तौम्यर्हतः सन्मुदा,
विद्यानन्तमुखाद्यनन्तसुगुणैः सिद्धान् समृद्धान् सदा।
आचार्यान् यतिधर्मकीर्त्तितसमाचारादिचारून् महो-
पाध्यायान् श्रुतधर्म्मघोषणपरान् साधून् विधेः साधकान् ॥२॥
अर्हन्तो मम मङ्गलं विदधतां देवेन्द्रवन्द्यक्रमाः,
विद्यानन्दमयास्तु मङ्गलमलं कुर्वन्तु सिद्धा मयि।
मह्यं मङ्गलमस्तु साधुनिकरे सद्धर्म्मकीर्त्तिस्थितौ,
मङ्गल्यं श्रुतधर्मघोषणपरं धर्म्मं सुदृग्भिः श्रये" ॥३॥

इत्यादिरूपा यथारुचि यथाप्रस्तावमेकद्वित्र्यादिनमस्करा भणनीयाः। ततः "कहं नमंति सिरपंचमेणं काएण" इत्याचाराङ्गचूर्णिवचनात् पञ्चाङ्गं प्रणामं कुर्वता "तिक्खुत्तो मुद्धाणं धरणितलंसि निवेसेइ" इत्यागमात् त्रीन् वारान् शिरसा भूमिं स्पृष्ट्वा "नमोऽत्थु णं तिभुवणिक्कगुरुजिणिंदपडिमाविणिवोसियनयणमाणसेण धन्नोऽहं सपुन्नोऽहं ति जिणवंदणाए सहलीकयजम्मु त्ति मन्नमाणेण विरइयमउलियंजलिणा हरियतणबीयजंतुविरहियभूमीए निहिओभयजाणुणा सुपरिफुडसुविदियनीसंकजहत्थसुत्तत्थोभयं पए पए भावेमाणेणं जाव चेइए वंदिज्ज" त्ति। तथा- "सक्कत्थयाई चेइयवंदणं, "महानिशीथे तृतीयाध्ययनोक्तविधिप्रामाण्याद् भूनिहितोभयजानुनाकरधृतयोगमुद्रया शक्रस्तवदण्डको भणनीयः। तदन्ते च पूर्ववत् प्रणामं कृत्वा समुत्थाय जिनमुद्राञ्चितचरणो योगमुद्रया "अरिहंतचेइयाणं" इत्यादि चैत्यस्तवदण्डकं पठति।

उक्तं च -

"उट्ठियजिणमुद्दंचियचरणो करधरियजोगमुहो य।
चेइयगयथिरदिट्ठी, ठवणजिणदंडयं पढइ" ॥१॥

कायोत्सर्गऽत्रोच्छ्वासा "अट्ठ सेसेसु" त्ति वचनात् अष्टौ, उच्छ्वासपूरणार्थमिष्टसंपदं नवकारं चिन्तयित्वा तं पारयति।

ततः "थुइ त्ति" अधिकृतजिनस्तुतिं ददाति।

तत्रायं बृहद्भाष्योक्तो विधिः -

"अट्ठुस्सासपमाणा, उस्सग्गा सव्व एव कायव्वा।
उस्सग्गसमत्तीए, नवकारेणं तु परिज्जा ॥१॥
परमिट्ठिनमुक्कारं, सक्कयभासाइ पुण भणइ पुरिसो।
चरिमाइमथुइपढणं, पाइयभासाइ वि न इत्थी ॥२॥
जइ एगो देइ थुई, अहऽणेगो ता थुई पढइ एगो।
सेसा उस्सग्गछिआ, सुणंति जा सा परिसमत्ता ॥३॥
बिंबस्स जस्स पुरओ, पारद्धा वंदणा थुई तस्स।
चेइयगेहे सामन्नवंदणे मूलबिंबस्स ॥४॥
अत्थि य पुरिसथुईए, वंदइ देवे चउव्विहो संघो।
इत्थी थुइंएँ दुविहो, समणीओ साविया चेव ॥५॥"

ततो "लोग त्ति" लोगस्सुज्जोअगरेणं" भणंता "सव्व त्ति" "सव्वलोएअरिहंतचेइयाणं" इत्यादिना प्राग्वत् कायोत्सर्गः क्रियते, पारयित्वा "चउथुइ त्ति" द्वितीया स्तुतिः सर्वजिनाश्रिता दीयते, ततः "पुक्खर त्ति" पुक्खरवरदीवड्ढे" दण्डको भणनीयः, तत्कायोत्सर्गानन्तरं च "थुइ त्ति" तृतीया स्तुतिः सिद्धान्तसत्का भणनीया। ततः "सिद्ध त्ति" "सिद्धाण" इत्यादि भणित्वा

"वेय त्ति" "वेयावच्चगराणं" इत्यादिना कायोत्सर्गः कार्यः, ततः "थुइ त्ति" वैयावृत्यकरादिविषयैव चतुर्थी स्तुतिर्दीयते, ततः प्राग्वत् प्रणामपूर्वकं जानुद्वयं भूमौ विन्यस्य करधृतयोगमुद्रया "नमोऽत्थु" त्ति पुनः शक्रस्तवदण्डको भणनीयः, तदन्ते प्रणामं कृत्वा "जावंति" त्ति सर्वजिनवन्दनाप्रणिधानरूपा "जावंति चेइयाइं" इत्यादिगाथा भणनीया। उक्तं च पञ्चवस्तुकेवन्दित्वा द्वितीयप्रणिपातदण्डकावसाने इत्यादि। ततः क्षमाश्रमणं दत्त्वा "जावंति केइ साहू" इत्यादिना द्वितीयं मुनिवन्दनास्वरूपं प्रणिधानं करणीयं, पुनः क्षमाश्रमणं दत्त्वा "इच्छाकारेण संदिसह भगवन्! स्तवनं भणितुम्" इति भणित्वा स्तोत्रं भणनीयम् ततो मुक्ताशुक्तिमुद्रया "जय वीरविराय" इत्यादि तृतीयं प्रार्थनालक्षणं प्रणिधानं विधेयमिति। "पणदंमथुइचउक्कग-थुइपणिहाणेहि उक्कोस" त्ति प्रागुक्तक्रमप्रतिपादिका गाथा भणनीया। उक्तं चाक्षरार्थः।

अथ भाष्यकृत् सद्गुरुबहुमानातिशयतः स्वगुरुनामज्ञापना-गर्भं प्रकृष्टफलदर्शनद्वारेण निगमयन्नाह -

सव्वोवाहि विसुद्धं, एवं जो वंदए सया देवे।
देविंदविंदमहियं, परमपयं पावइ लहुं सो ॥३०॥

सर्वे श्रावकादिविषया ऋद्धिमदनृद्धिमद्गोचरा देशकालाद्यनुगता द्रव्यस्तवभावस्तवस्वरूपा वन्दनीयस्तवनीयादिविषयप्रणिधान-लक्षणाश्च उपाधयो धर्मानुविद्धश्चिन्ताः "उपाधिर्धर्मचिन्तनम्" इतिवचनात्, न पुनः सावद्यैहिकप्रयोजनविषयाः, लोके स्वभावसिद्धा हि ते, इति नोपदेशपराः, अप्राप्ते हि शास्त्रमर्थवत्। न हि मलिनः स्नायात्, बुभुक्षितो वाऽश्रीयादित्यत्र तत्। परमं च तत्पदं च परमपदं, तीर्थकरपदवीमित्यर्थः।

यदागमः -

"सामंतो चक्कहरं, चक्कहरो सुरवइत्तणं कंखे।
इंदो तित्थयरत्तं, तित्थयरे पुण तिजयसुहए ॥१॥
तम्हा जं इंदेहि वि, कंखिज्जइ एगबद्धलक्खेहिं।
इय साणुरायहियएहिं उत्तमं तं न संदेहो" ॥२॥

प्राप्नोति समासादयति, लघु शीघ्रं स यथोपाधिचैत्यवन्दनाकर्ता।

उक्तं चागमे -

"जो पुण दुहउव्विग्गो, सुहतण्हालू अलि व्व कमलवणे।
थयथुइमंगलजइसद्दवावमो हु ण मुणे किं पि ॥१॥
भत्तिभरनिब्भरो जिणवरिंदपायारविंदजुगपुरओ।
भूमिनिहियसिरो, कयंजलीवावडो भत्तो ॥२॥
इक्कं पि गुणं हियए, धरिज्ज संकाइसुद्धसंमत्तो।
अक्खंडियवयनियमो, तित्थयरत्ताइ सो सिज्झे" ॥३॥

ततश्च यावत्तीर्थकरत्वं स्यात्तावन्मेघरथचक्रीन्द्रत्वाद्यनुभवति। अथवा परमपदं मुक्तिपदं, परमज्ञानादिचतुष्टययोगात्, शेषं प्राग्वत्।

तथा चागमः -

"नामं पि सयलकम्मट्ठमलकलंकेहिं विप्पमुक्काणं।
तियसिंदचियचलणाण जिणवरिंदाण जो सरइ ॥१॥
तिविहकरणोवउत्तो, खणे खणे सीलसंजमुज्जुत्तो।
अविराहियवयनियमो, सो वि हु अइरेण सिज्झिज्जा ॥२॥"

सङ्घा०३ प्रस्ता०। पञ्चा०। (मेघरथकथा सङ्घाचाराद् ज्ञातव्या)

अथ शुद्धवन्दनस्यैव मोक्षहेतुत्वम्। अथ शुद्धवन्दनैव मोक्षहेतुरिति दर्शयितुमाह -

इत्तो उ विभागाओ, अणादिभवदव्वलिंगओ चेव।
णिउणं णिरूवियव्वा, एसा जह मोक्खहेउ त्ति ॥३१॥

इतस्त्वस्मादेवानन्तरोक्ताद्, विभागात्प्रथमकरणस्योपरि शुद्धवन्दना भवतीत्येवं लक्षणात्, तथा अनादिभवे निष्प्राथम्यसंसारे, यानि द्रव्यलिङ्गानि, भावविकलत्वेनाप्रधानप्रव्रजितादिनेपथ्य-वरणलक्षणानि तानि, तथा तेभ्यस्ततोऽनादिभवद्रव्यलिङ्गतः, चशब्दः समुच्चये, एवशब्दोऽवधारणे, स चान्यत्र योक्ष्यते। निपुणं सुनिश्चितं यथा भवतीत्येवं निरूपयितव्या पर्यालोचनीया। कथम्? यथेति यदुत, एषा एषैव शुद्धवन्दनैव, नेतरा, मोक्षहेतुर्निर्वाणबीजम्। अथवा इत एव विभागादनादिभवद्रव्यलिङ्गतश्च यस्मादियममोक्षहेतुरपि स्यादतस्तथा निरूपयितव्या। एषा वन्दना यथा मोक्षहेतुः स्याच्छुद्धा विधेयेत्युपदेशः। इतिशब्दो वाक्यार्थसमाप्तौ। अयमभिप्रायः-प्रथमकरणाभ्यन्तरे अनादिभवद्रव्यलिङ्गेषु चेयमनन्तशोऽवाप्तापि न मोक्षहेतुर्जाता, अशुद्धत्वात्, अतोऽधुना तथा निरूपणीयेयं यथा मोक्षहेतुः स्यात्, शुद्धा विधेयेति भावः। इति गाथार्थः ॥३१॥

अनादिभवद्रव्यलिङ्गत इत्यनेनानन्तशः प्राप्तिरस्या उक्ता, सा चाशुद्धाया एव, न तु शुद्धाया इत्येतद्दर्शयितुमाह-

णो भावओ इमीए, परो वि हु अवड्ढपोग्गला अहिगो।
संसारो जीवाणं, हंदि पसिद्धं जिणमयम्मि ॥३२॥

नो नैवं, भावतः शुद्धाध्यवसायतः, शुद्धायामित्यर्थः। (इमीए त्ति) अस्यां वन्दनायां सत्यां, परोऽप्युत्कृष्टोऽपि, आस्तामितरः। हुशब्दोऽलङ्कारे। (अवड्ढपोग्गल त्ति) इह पुद्गलशब्देन भीमादिन्यायेन पुद्गलपरावर्तोऽभिप्रेतः ततश्चार्द्धं पुद्गलपरावर्तस्येत्यर्द्धपुद्गलपरावर्तः। अप इत्यपकृष्टः किञ्चिन्न्यूनोऽर्धपुद्गलपरावर्तोऽपार्धपुद्गलपरावर्तः। तस्मादधिकोऽर्गलः, संसारो, जीवानां जन्तूनां, भवतीति गम्यम्। कथमिदं सिद्धमित्याह-हन्दीत्युपप्रदर्शने। प्रसिद्धं प्रख्यातं, जनमतेऽर्हत्सिद्धान्ते। यदाह-"कालमणंतं च सुए, अद्धापरियट्टओ य देसूणो। आसायणबहुलाणं, उक्कोसं अंतरं होइ ॥१॥" इति। अतो द्रव्यत एषाऽऽसीत्, अनादौ भवे निरर्थिका चेति गाथार्थः ॥३२॥

प्रकृतार्थं निगमयन्नाह --

इय तंतजुत्तिओ खलु, णिरूवियव्वा बुहेहिं एस त्ति।
ण हु सत्तामेत्तेणं, इमीऐं इह होइ णेव्वाणं ॥३३॥

इत्यनन्तरोक्तायास्तन्त्रयुक्तेस्तन्त्रयुक्तित आगमाश्रितोपपत्तिमाश्रित्य, अथवा तन्त्रं युक्तिं चाऽऽश्रित्य, खलुर्वाक्यालङ्कारे, निरूपयितव्या आलोचनीया, मोक्षहेत्वहेतुभ्याम्। बुधैर्विद्वद्भिर्निर्वाणार्थिभिरित्यर्थः। एषा अनन्तरोक्ता वन्दना। इतिशब्दो वाक्यार्थसमाप्तौ। अथ कस्माद् निरूपणमस्या उपदिश्यत इत्याह- न हु नैव, सत्तामात्रेण सद्भावेनैव, (इमीए) अस्या वन्दनया, इह वन्दनाविचारे, भवति जायते, निर्वाणं निर्वृतिः, किं तु शुद्धयाऽनया तत् जायते; अतस्तस्यां यतितव्यमिति हृदयम्। इति गाथार्थः ॥३३॥

इहैव वन्दनायाः शुद्धाशुद्धत्वविचारे अभ्युच्चयमाह -

किं चेह छेयकूडग रूवगणायं भणंति समयविऊ ।
तं तेसु चित्तभेयं, तं पि हु परिभावणीयं तु ॥३४॥

किञ्चेत्यभ्युच्चयार्थः, इहशब्दोऽन्यत्र संभवत्स्यते, छेकश्चासौ शुद्धः कूटकश्च कथञ्चिदशुद्धश्छेककूटकः, स चासौ रूपकश्च छेककूटकरूपकः, स एव, तस्य वा, ज्ञातं निदर्शनं, छेककूटकरूपकज्ञातं, तद् भणन्ति वदन्ति, समयविदः सिद्धान्तवेदिनो मद्रबहुस्वामिप्रभृतयः, तन्त्रेष्वावश्यकनिर्युक्त्यादिशास्त्रेषु। तथाहि-"रुप्पं टंकं विसमाहयक्खरं तइयरूवओऽछेओ । दोण्हं पि समाओगे, रूवो छेयत्तणमुवेति ॥१॥ "चित्रभेदं बहुप्रकारं, चतुर्विकल्पमित्यर्थः। इह स्थाने यदिति शेषो दृश्यः, तदपि छेककूटकरूपकज्ञातमपि, न केवलं द्रव्यलिङ्गग्रहणानन्त्येनाशुद्धत्वमस्या भावनीयमित्यपिशब्दार्थः। हुशब्द एवकारार्थो, भिन्नक्रमश्चैति । इहेति वन्दनायां, परिभावनीयमेव पर्यालोचयितव्यमेव, इतिशब्दो वाक्यार्थसमाप्तौ, इति गाथार्थः ॥३४॥

चित्रभेदमित्युक्तं, तदेव दर्शयन्नाह -

दव्वेणं टंकेण य, जुत्तो छेओ हु रूवगो होइ ।
टंकविहूणो दव्वे, वि ण खलु एगंतछेओ त्ति ॥३५॥

द्रव्येण रूप्यसुवर्णादिनोचितेन, टङ्केन च चित्रविशेषेण च, युक्तः समन्वितो यः स छेक एव विशुद्ध एव, हुशब्द एवकारार्थः, रूपको द्रम्मो, भवति वर्तते इत्येको भेदः। तथा टङ्कविहीन उचितचित्रविकलो यः स द्रव्येऽपि रूप्यादावप्युचिते सति, न खलु नैव, एकान्तच्छेकः सर्वथा विशुद्धः, टङ्काभावेन देशतः कूटत्वात्। इतिशब्दो द्वितीयभेदप्ररूपणासमाप्त्यर्थः। इति गाथार्थः ॥३५॥

अथ तृतीयभेदमाह -

अद्दव्वे टंकेण वि, कूडो तेण वि विणा उ मुद्द त्ति ।
फलमेत्तो एवं चिय, मुद्धाण पयारणं मोत्तुं ॥३६॥

अद्रव्ये रूपाद्युचितद्रव्याभावे सति, टङ्केनाऽपि चित्रविशेषेणापि युक्तः, आस्तां टङ्काभावे इत्यपिशब्दार्थः। कूटोऽशुद्ध एव रूपको भवतीति प्रक्रमः। अथ चतुर्थमाह तेनापि टङ्केनापि, अपिशब्दात् द्रव्येणाप्युभयाभाव इत्यर्थः। विना तु वियुक्तः पुनः । रूपको मुद्रेति चिह्नमात्रमिति व्यपदिश्यते । अथोपदर्शितरूपकचतुष्टयस्य फलमतिदेशत आह- फलमिष्टार्थप्राप्तिलक्षणं प्रयोजनम्, इतोऽनन्तरोक्ताच्चतूरूपकात्, एवमेव रूपकस्वरूपवदेव भवति । तच्च क्रमेण पूर्णमीषदपूर्णं विवक्षितफलाभावः, सर्वथा फलाभावश्चेति । किमन्त्यद्वययात्किञ्चिदपि फलं न भवतीत्यत्राह मुग्धानां मूढानां, प्रतारणं वञ्चनं, मुक्त्वाविरहय्य, अन्यत् फलं न भवति, तत्पुनर्भवतीति। अथवा- सामान्यतो दृष्टान्तयोजनामाह-(एत्तो त्ति) वन्दनायाः सकाशादिति । अतिप्रसङ्गं वारयन्नाह-"मुद्धेत्यादि" । रूपकात्प्रतारणं स्याद्वन्दनायास्तु नेति गाथार्थः ॥३६॥

आद्यव्याख्यापक्षे पातनैवम्, अथ तेनैव फलेन तत्फलवद्भविष्यतीत्याह-

तं पुण अणत्थफलदं, णेहाहिगयं जमणुवओगि त्ति ।
आयगयं चिय एत्थं, चिंतिज्जइ समयपरिसुद्धं ॥३७॥

तत्पुनर्मुग्धप्रतारणलक्षणं रूपकान्त्यभङ्गकद्वयजन्यं फलं, किमित्याह अनर्थफलकम् अनर्थफलदं वा स्वपरयोरपकाररूपफलदायकम्। अत एव न नैव, इह रूपकविचारे, अधिकृतं प्रस्तुतम्। किमिति नाधिकृतामित्याह- यद्यस्मात्, अनुपयोगि निष्प्रयोजनं, न हि सतामनर्थफलदेन परप्रतारणेन प्रयोजनमस्ति। इतिशब्दः समाप्तौ। तर्हि किमिहाधिक्रियत इत्याह- आत्मगतमेव स्वविषयमेव, क्रायकलभ्यमित्यर्थः। न तु परविषयं प्रतारणादि, आयगतं वा रूपकविनिमयेन योऽभिप्रेतवस्तुलाभस्तद्गतमेवअत्र रूपकविचारे, चिन्त्यते विचार्यते समयपरिशुद्धं शिष्टव्यवहारविशुद्धं, न त्वसद्व्यवहारगतं परप्रतारणमपीति । व्याख्यान्तरे त्वेवम्ननु वन्दनातोऽपि प्रतारणं दृष्टमत आह-(तं पुणेत्यादि) "नेह त्ति" नात्र वन्दनालक्षणे दार्ष्टान्तिकेऽधिकृतम् । (आयगयं चिय त्ति) जीवविषयमेव (समयपरिसुद्धं ति) आगमानुगतं मोक्षादि, शेषं तथैवेति गाथार्थः॥३७॥

एवं दृष्टान्तं सफलमभिधाय दार्ष्टान्तिकं सफलमाह-

अथवा सामान्यतो दार्ष्टान्तिकयोजनामभिधाय विशेषतस्तामेवाह-

भावेणं वण्णादिहिं , चेव सुद्धेहिं वंदण छेया ।
मोक्खफल चिय एसा, जहोइयगुणा य णियमेणं ॥३८॥

भावेनापुनर्बन्धकाद्युचितश्रद्धानभक्तिरूपेण द्रव्योपमेन, वर्णादिभिरेव चाक्षरप्रवृत्तिभिरेव टङ्ककल्पैः, आदिशब्दात्तद्धतक्रियाऽऽलम्बनादिग्रहः। चैवशब्दो व्याख्यात एव। शुद्धैर्निरवद्यैः करणभूतैः, या वन्दना, सा छेका शुद्धा प्रथमरूपकोपमा, किंफलेयमित्याह- मोक्षफलैव निर्वाणप्रयोजनैव प्रधानफलापेक्षया, न पुनः संसारफलेति । एषा वन्दना ऐहलौकिकफलापेक्षया, पुनरियं किंविधेत्याह- यथा येन प्रकारेणोदितोऽभिहितस्तथैव गुणः फलं यस्याः सा यथोदितगुणा, यथोचितगुणा वा । गुणश्चायम् -"पायं इमीऍ जत्ते, ण होइ इहलोगिया वि हाणि त्ति" चशब्दः समुच्चये। नियमेनावश्यन्तयेति गाथार्थः ॥३८॥

अथ द्वितीयरूपकयोजनामाह -

भावेणं वण्णादिहिं , तहा उ जा होइ अपरिसुद्ध त्ति ।
बीयगरूवसमा खलु, एसा वि सुह त्ति णिद्दिट्ठा ॥३९॥

भावेनोक्तपरिणामेने द्रव्योपमेन, युक्तेति शेषः। तथाशब्दस्य समुच्चयार्थस्येह संबन्धात्, तथा वर्णादिभिरक्षरप्रभृतिभिः। तुशब्दः पुनरर्थः। तस्य चैवं संबन्धः-या पुनर्वन्दना, भवति वर्तते । अपरिशुद्धा सदोषा, इत्येवंप्रकारा, द्वितीयरूपसमा द्रव्ययुक्त टङ्कविहीनरूपकतुल्या, खलुर्वाक्यालंकारे, एषाऽप्यसावपि, न केवलमाद्यरूपकसमा । शुभा प्रशस्ता, मोक्षाभ्युदयफलसाधकत्वात् इतिशब्दः उपप्रदर्शने। निर्दिष्टा तीर्थकरादिभिरभिहिता, भावप्राधान्यात्। आह च-"क्रियाशून्यश्च यो भावो, भावशून्या च या क्रिया। अनयोरन्तरं ज्ञेयं, भानुखद्योतयोरिव ॥१॥" इतिगाथार्थः ॥३९॥

अथ रूपकचरमभङ्गकद्वययोजनायाऽऽह-

भावविहूणा वण्णा इएहिं सुद्धा वि कूडरूवसमा।
उभयविहूणा णेया, मुद्दप्पाया अणिट्ठफला ॥४०॥

भावविहीना अपुनर्बन्धकाद्युचितश्रद्धानभक्तिरहिता या सा,

वर्णादिभिरक्षरप्रभृतिभिः, शुद्धाऽपि निरवद्याऽपि, आस्तां सावद्या, कूटरूपसमा द्रव्यरहितटङ्कयुक्ततृतीयरूपकतुल्या, तथा उभयविहीना भाववर्णोदिशुद्धिरहिता या सा, ज्ञेया ज्ञातव्या, मुद्राप्राया मुद्राकल्पा। चरमभङ्गकद्वयस्यापि फलमाह-अनिष्टफला अनभिमत-प्रयोजनाऽनर्थफलेति यावत्। इति गाथार्थः ॥४०॥

इयं चान्त्यभङ्गकद्वयवन्दना केषां किंफला च विशेषण भवतीत्याह-

होइ य पाएणेसा, किलिट्ठसत्ताण मंदबुद्धीणं।
पाएण दुग्गइफला, विसेसओ दुस्समाए उ ॥४१॥

भवति च संपद्यते पुनः, प्रायेण बाहुल्येन, प्रायोग्रहण-मक्लिष्टसत्त्वानामपि कदाचिदनुपयोगावस्थायामियं भवतीति ख्यापनार्थम्। एषा अनन्तरोक्ता रूपकचरमभङ्गकद्वयोपडिता, वन्दना प्रायः क्लिष्टसत्त्वानां संक्लेशबहुलजीवानां, क्लिष्टं वा सत्त्वं येषां ते तथा तेषां, मन्दबुद्धीनां जडधियां मिथ्यात्वोपहतत्वात्। तथा प्रायेण बाहुल्येन, प्रायोग्रहणं च केषाञ्चिन्मुद्राप्रायाऽपि सती सा संपूर्णवन्दनाहेतुत्वेन सुगतिफलाऽपि भवतीति ज्ञापनार्थम्। दुर्गतिफला कुदेवत्वादिप्रयोजना, विशेषत इत्यत्रोत्तरस्य पुनःशब्दार्थस्य तुशब्दस्य संबन्धाद्विशेषेण पुनः, दुःषमायां दुःषमाकाले कालदोषादेव, इति गाथार्थः ॥४१॥

इहैवाऽर्थे मतान्तरमाह -

अण्णे उ लोगिग च्चिय, एसा णामेण वंदणा जइगी।
जं तीइ फलं तं चिय, तीए ण उ अहिगयं किंचि ॥४२॥

एके तावदियमनिष्टफलेत्याहुः। अन्ये तु अपरे पुनराचार्याः साक्षादनर्थफलतामपश्यन्तोऽस्याः प्राहुः-यदुत लौकिक्येव सामान्यलोकसंबन्धिन्येव, न पुनर्जैनी। एषाऽनन्तरोक्ता, अन्त्यभङ्गकद्वयवन्दना। नन्वर्हद्वन्दनेतीयं प्रसिद्धा, न शिवादिवन्दनेत्यतः कथं नार्हतीत्याह-नाम्ना अभिधानेनैव, न तु फलतः। वन्दना चैत्यवन्दना, जैनी जिनसंबन्धिनी। अथ कथमिदमवसीयते इत्याह-यत इति वाक्यशेषः। यदिति यदेव तस्या लौकिकवन्दनायाः फलं साध्यं तदेव नान्यत्तस्या अन्त्यभङ्गकद्वयगतजैनवन्दनायाः, न तु न पुनरधिकृतं प्रस्तुतं जिनवन्दनोचितं मोक्षादि। अथवा अधिकमर्गलतरं लौकिकवन्दनापेक्षयेति, किञ्चित्किमप्यल्पीयोऽपीति गाथार्थः ॥४२॥

एतस्यैवाचार्यान्तरमतस्याभ्यनुज्ञानार्थमाह-

एयं पि जुज्जइ च्चिय, तदणारंभाओ तप्फलं व जओ।
तप्पच्चवायभावो, वि हंदि तत्तो ण जुत्त त्ति ॥४३॥

एतदप्यनन्तरोक्तमाचार्यान्तरमतेन कुवन्दनाया लौकिकत्वमपि, न केवलमस्मदुक्तमनिष्टफलत्वमेव। युज्यत एव घटत एव। तत्रोपपत्तिमाहतदनारम्भाज्जैनबन्दनाऽनासेवनात्। अन्त्यवन्दनाद्वये हि अपुनर्बन्धकादिभावाभावाज्जैनवन्दनाया अनारम्भ एव, तत्फलमिव जैनवन्दनाऽऽराधनाजन्यस्वर्गापवर्गसंपत्तिक्षुद्रोपद्रवहान्यादिलक्षणफलमिव यतो यस्माद्धेताः, तस्या जैनवन्दनाया अविधिकृतायाः सकाशात्प्रत्यपाया उन्मादरोग धर्मभ्रंसलक्षणा अनर्थास्तत्प्रत्यपायाः, तेषां भावस्तप्रत्यपायभावः। सोऽपि, अपिशब्दादिष्टार्थभावोऽपि, हन्दीत्युपप्रदर्शने, ततः कुवन्दनातः, अथवा-(तत्तो त्ति) तत एव जैनवन्दनाऽनारम्भादेव, अवधारणं चेह काकुपाठात्प्रतीयते। न युक्तो न घटमानः स्यात्, इतिशब्दो वाक्यार्थसमाप्तौ। इदमुक्तं भवति-यथा जैनवन्दनाऽनारम्भान्मुद्राप्रायवन्दनायामिष्टफलं न युक्तम्, एवं जैनवन्दनाऽनारम्भादेव तज्जन्यानर्थोऽपि न युक्तः स्यात्, दृश्यते च मुद्राप्रायवन्दनायामनर्थाभावः यतो अतोऽसौ जैनी न भवत्यपि तु लौकिक्येवेति गाथार्थः ॥४३॥

अमुमेवार्थं भावयन्नाह -

जमुभयजणणसभावा, एसा विहिणेयरेहिं ण उ अण्णा।
ता एयस्साभावे, इमीऍ एवं कहं वीयं ? ॥४४॥

यद्यस्माद्धेतोरुभयजननस्वभावा इष्टानिष्टार्थोत्पादनबीजकल्पा, एषा जैनवन्दना। अथ कथमेकैवोभयजननस्वभावेत्याह (विहिणेयरेहिं ति) विधानेन क्रियमाणेनेष्टफला, इतरैर विधिभिस्तु प्रत्यपायफला लौकिक्यप्येवंभूतेति चेदित्यत्राहन त्वन्या न पुनरपरा, लौकिकीत्यर्थः। लौकिकत्वादेव। ततः किमित्याह (ता इति) यत एवं तत्तस्मादेतस्य प्रागदृष्टान्तीकृतस्येष्टफलस्याभावेऽभवने, अस्यां द्विविधकुवन्दनायाम्, एवममुना न्यायेन विधीतराभ्यां सत्फलप्रत्यपाय-जनकत्वलक्षणेन, कथं केन प्रकारेण, न कथञ्चिदित्यर्थः। द्वितीयं प्रत्यपायलक्षणं फलमित्यर्थः। अतः सुष्ठूक्तं तत्फलमिव तत्प्रत्यपायभावोऽपि न युक्त इति। यत्र च प्रत्यपायोऽपि न भवति, सा जैनी न भवतीति। अथवा तस्मादेतस्येष्टानिष्टफललक्षणस्योभयस्याभावाऽस्यां कथं बीजमिव बीजं जैनीत्वं, जैनी ह्यर्थानर्थबीजम्। अथवा-कथं बीजं कथमपुनर्बन्धकादित्वं, तद्धि वन्दनाजन्यार्थानर्थबीजम्, अतो बीजाभावादेषा लौकिक्येवेति युक्तमेव। इति गाथार्थः ॥४४॥

इदमेव निगमयन्नाह-

तम्हा उ तदाभासा, अण्णा एस त्ति णायओ णेया।
मोसाभासाणुगया, तदत्थभावा णिओगेणं ॥४५॥

यस्मादस्याः प्रत्यपायाभावाज्जैनीत्वं नास्ति, तस्माद्धेतोः। तुशब्दोऽवधारणे। तस्य च प्रयोगो दर्शयिष्यते। तदाभासा जैनीसदृशी, जिनादिशब्दानामुपाननादन्यैव लौकिक्येव, एषा अधिकृतदुर्वन्दना, इतिशब्द उपप्रदर्शने, न्यायत उपपत्त्या, न्यायश्चानन्तरगाथोक्त एव, ज्ञेया ज्ञातव्या, पुनः किंभूतेत्याह- स्वाभाषानुगता असत्यवादान्विता। कथमित्याह-तदर्थे वन्दनाऽभिधेयवस्तुनि, भावस्य सच्छ्रद्धानाद्यध्यवसायस्यानियोगोऽव्यापारस्तदर्थभावानियोगः, तेन। यदा हि-"ठाणेणं मोणेणं झाणेणं" इत्यादिपदानि तदर्थे भावमनियुञ्जानः समुच्चारयति, तदा मृषावाद एव स्यात्, ध्यानादीनामसंपादनात्। अथवा तदर्थाभावाद्वन्दनाप्रयोजनाभावान्नियेणिनावश्यंतया, इति गाथार्थः ॥४५॥

एवं तावदन्त्यभङ्गकद्वयगतवन्दना फलत उक्ता, अथाद्यभङ्गकद्वयगतवन्दनाया अभव्यानां दुर्लभताप्रतिपादनायाऽऽह-

सुहफलजणणसभावा, चिंतामणिमाए वि णाभव्वा।
पावंति किं पुणेयं, परमं परमपयबीयं ति ॥४६॥

शुभफलानामभिमतप्रयोजनानां, विशिष्टाभ्युदयादीनां सुखलक्षणफलानां वा, जननमुत्पादनं, स्वभावः स्वरूपं येषां ते तथा, तान्, चिन्तामण्यादिकानपि चिन्तारत्नप्रभृतिकानपि, आदिशब्दात्-

केल्पद्रुमादिपरिग्रहः । मकारस्त्वागमिकः । अपिशब्दार्थं तूत्तरार्द्धेन वक्ष्यति, न नैव, अभव्या अयोग्याः, प्राप्नुवन्त्यासादयन्ति, किं पुनरिति पदमप्राप्तिविशेषद्योतकं, सुतरां न प्राप्नुवन्तीत्यर्थः । एतां वन्दनाम्, परमां प्रधानामाद्यभङ्गकद्वयगताम्, परमपदबीजं निर्वाणहेतुम्, इतिशब्दो हेत्वर्थः । तेन परमामेतां परमपदबीजत्वादिति । समाप्त्यर्थो वाऽयमिति गाथार्थः ॥४६॥

अभव्यास्तावदिमां न प्राप्नुवन्ति, भव्या अपि न सर्व एवेति दर्शयन्नाह -

भव्वा वि एत्थ णेया, जे आसन्ना ण जाइमेत्तेणं ।
जमणाइ सुए भणियं, एयं ण उ इट्ठफलजणगं ॥४७॥

भव्या अपि योग्या अपि, अभव्यास्तावदयोग्या एवेत्यपिशब्दार्थः । अत्र परमवन्दनाप्राप्तौ, ज्ञेया ज्ञातव्याः, य एव केचिदासन्नाः, परमपदस्येति गम्यम् । व्यतिरेकमाह-न जातिमात्रेण न जात्यैव, भव्या इति प्रक्रमः । कुत एतदेवमित्याह- यद्यस्मादनादिकालीनं, श्रुते सिद्धान्ते, भणितमुक्तम्, एतद्भव्यत्वं, न तु न पुनर्विद्यमानमपीष्टफलजनकमभिमतार्थसाधकं, मोक्षप्रापकमित्यर्थः । सर्वभाव्यानां निर्वाणाप्राप्तेरिति गाथार्थः ॥४७॥

तत्र ये तावदेतां विधिना सेवन्ते, तद्विधिं वा श्रद्दधति, ते आसन्नाभव्याः, ये तु तां न द्विषन्ति तेऽप्यासन्ना एवेति दर्शयन्नाह-

विहिअपओसो जेसिं, आसण्णा ते वि सुद्धिपत्त त्ति ।
खुद्दमिगाणं पुण सुद्धदेसणा सीहणायसमा ॥४८॥

विधौ विधाने सम्यक्करणे, वन्दनाया इति प्रक्रमः । प्ररूप्यमाणे अप्रद्वेषोऽमत्सरो, माध्यस्थ्यं भवति । येषां भव्यानाम्, आसन्ना निकटवर्त्तिनः, परमपदस्येतिगम्यम् । तेऽपि, न केवलमासेवाश्रद्धानवन्त एवेति । कुत एवमित्याह-शुद्धिप्राप्ता अवाप्तक्लिष्टकर्मक्षयोपशमा इति कृत्वा, न हि क्लिष्टकर्मणां मार्गं प्रति माध्यस्थ्यमपि जायते । एतदेव दर्शयति-क्षुद्रमृगाणां क्लिष्टकर्मसत्त्वहरिणानां, पुनःशब्दो विशेषणार्थः, शुद्धदेशना विशुद्धप्रज्ञापना, विधिविषय उपदेश इत्यर्थः । सिंहनादसमा केशरिशब्दतुल्या, त्रासहेतुत्वादनिष्टेत्यर्थः । इति गाथार्थः ॥४८॥

एवं वन्दनां प्रति विध्यविध्योः फलमुपदर्श्य विधेर्विधेयतामुपदिशन्नाह-

आलोचिऊण एवं, तंतं पुव्वावरेण सूरिहिं ।
विहिजत्तो कायव्वो, मुद्धण हियट्ठया सम्मं ॥४९॥

आलोच्य विमृश्य, एवं पूर्वोक्तन्यायेन, तन्त्रं प्रवचनं, कथमित्याह-पूर्वश्च तन्त्रस्य पूर्वो भागोऽपरश्च तस्यैवापरो भागः पूर्वापरे, तेन सप्तम्यर्थे वा एनप्रत्यये सति पूर्वपरेणेति स्यात्, पूर्वापरभागयोरित्यर्थः, तयोरविरोधेनेति यावत् । अनेन चालोचनमात्रस्य व्यवच्छेदः, तस्य तत्त्वावबोधासमर्थत्वादिति सूरिभिराचार्यैः, पण्डितैर्वा, विधौ विधाने वन्दनागते वेलाद्याराधनरूपे, यत्न उद्यमो विधियत्नः, स कर्त्तव्या विधातव्यः । विमुक्तालस्यैः स्वयं वन्दना कार्या, अन्यैरपि विधिनैव सा विधापयितव्या इत्यर्थः । किमर्थमेतदेवमित्याह- मुग्धानामव्युत्पन्नबुद्धीनाम्, हितं श्रेयः, तद्रूपो योऽर्थो वस्तु स हितार्थः तस्मै हितार्थाय । सम्यगविपरीततया, यदा हि गीतार्था विधिना स्वयं वन्दनां विदधति, अन्यांश्च तथैव विधापयन्ति, तदा मुग्धबुद्धयोऽपि तथैव प्रवर्तन्ते, प्रधानानुसारित्वात् मार्गाणाम् । आह च-"जो उत्तमेहिं मग्गो, पहओ सो दुक्करो न सेसाणं । आयरियम्मि जयंते, तयणुचरो केण सीएज्जा" ॥१॥

तथा -

"जे जत्थ जया जइया, बहुस्सुया चरणकरणउज्जुत्ता ।
जं ते सामग्गरंती, आलंवणतिव्वसद्धाणं ॥१॥

(जय त्ति) दुःषमादौ (जइय त्ति) दुर्भिक्षादाविति । तथा प्रवृत्ताश्च ते वन्दनाराधनजन्यं हितमासादयन्ति, तद्विराधनाजन्यप्रत्यपायेभ्यश्च मोचिता भवन्तीति । अयं चोपदेशोऽसमञ्जसतया स्वयं वन्दनां विदधानांस्तथाऽनवाप्तापुनर्बन्धकाद्यवस्थेभ्यस्तथाविधजिज्ञासादितल्लिङ्गविकलेभ्यो जनेभ्यस्तां प्रयच्छतः सूरीन् वीक्ष्याचार्येण विहितः । एवं हि तत्प्रवृत्तौ तेषामन्येषां चाऽनर्थोऽसमञ्जसक्रियाजन्या च शासनाऽपभ्राजना मा भूदित्यभिप्रायेण । इति गाथार्थः ॥४९॥

उपदेशशेषमाह -

तिव्वगिलाणादीणं, भेसजदाणाइयाइँ णायाइं ।
दट्ठव्वाइँ इहं खलु, कुग्गहविरहेण धीरेहिं ॥५०॥

टीका सुगमा । पञ्चा०३ विव० ।

(३७) अत्र हीरविजयसूरिकृतप्रश्नोत्तरकदम्बकम्-

स्वकीयेतरकल्पे देवाश्चैत्यानि वन्दन्ते, न वा ? देवा यदा स्वकीयेतरकल्पे यान्ति, तदा तत्रत्यचैत्यवन्दननिषेधी ज्ञातो नास्तीति । ही०४ प्रका० ।

चैत्यालये चैत्यवन्दनकरणम् ईर्यापथिकीप्रतिक्रमणपुरस्सरमेव, अन्यथाऽपि वा ? चैत्यालये ईर्यापथिकीपुरस्सरं चैत्यन्दनकरणविषये एकान्तो नास्तीति ज्ञायते । ही०३ प्रका० । शीतोष्णकालयोर्गृहस्थानां जिनालये देववन्दनं काजोद्धरण पूर्वकं, किं वा प्रमार्जनेन ? शीतोष्णकालयोर्गृहस्थानां जिनालये देववन्दननिमित्तं काजोद्धरणस्य नियमो नास्ति, तेन यदि कश्चित् करोति तदा करोतु । ही०२ प्रका० । गृहस्थाचारधरो यतिवेषवान् प्रतिक्रमणं कर्तुकामः किं सामायिकग्रहणपूर्वकं करोति, अथवा चैत्यवन्दनतः ? गृहस्थाचारधरो यतिवेषवान् मुख्यवृत्त्या सामायिकग्रहणं कृत्वा प्रतिक्रमणं करोति ॥ ही०२ प्रका० । सप्तदशभेदपूजादौ श्रीजिनगृहे चैत्यवन्दनं कृत्वा यदोपविश्यते तदा किमीर्यापथिकीप्रतिक्रमणपूर्वकमेवान्यथा वेति प्रश्ने, उत्तरम्-मुहूर्त्ताद्यवस्थानसंभावनायामैर्यापथिकी प्रतिक्रम्यते, अन्यथा तु यथाऽवसरमिति । ३६४ प्र० । सेन०३ उल्ला० । श्राविका जिनालये चैत्यवन्दना विधायोर्ध्वं स्थिता सत्येकनमस्कारकायोत्सर्गं कृत्वा चैकां स्तुतिं कथयत्येतद्विधिः क्वास्तीति प्रश्ने, उत्तरम्-एतद्विधिर्भाष्यावचूरिमध्ये चैत्यवन्दनाधिकारे कथितोऽस्ति, परमेतद्विधिकरणप्रवृत्तिरधुना श्राविकामध्ये न दृश्यत इति । २६ प्र० । सेन०४ उल्ला० ।

अथ पं० सत्यसौभाग्यग० कृतप्रश्नः, तदुत्तरं च । यथा उत्कृष्टचैत्यवन्दनविधावुत्तरोत्तरं स्तुतयो वर्णैर्वृद्धा विधीयन्ते, न त्वल्पा इति रूढिः सत्याऽसत्या वेति प्रश्ने, उत्तरम्-उत्कृष्टचैत्यवन्दनविधावुत्तरोत्तरं स्तुतयः प्रायो वर्णैर्वृद्धा एव विधेया इति परम्परा वर्तते, तेन रूढिः सत्यैवावसीयते, परम्परामूलं तु नमोऽस्तु वर्धमानायेत्यस्याधिकारे "ताओ अ थुईओ एगसिलोगादिवड्ढंतिआओ पयक्खरादीहिं वा सरेण वा वड्ढंतेण

तिन्नि भणिऊणं" इत्याद्यावश्यकचूर्ण्यक्षरदर्शनमिति संभाव्यत इति।४०२ प्र०। सेन०३ उल्ला०।

चेइयवास पुं० (चैत्यवास) जिनालये, यतीनामाबासे, दर्श०।

अथ यद्यपि स्वावस्थानेनार्यरक्षितैर्नानुज्ञातं, तथाऽपि तत्र प्रासुकैषणीयस्तत्र निवसतां को दोष इत्याह -

दुग्गंधमलिणवत्थस्स खेलसंघाणजल्लजुत्तस्स।
जिणभवणे नो कप्पइ, जइणो आसायणाहेओ ॥

दुष्टो गन्धो दुरभिगन्धो यस्यासौ दुर्गन्धः, मलिनानि वस्त्राणि यस्यासौ मलिनवस्त्रः, दुर्गन्धश्चासौ मलिनवस्त्रश्च दुर्गन्धमतिनवस्त्रः, तस्य खेलो निष्ठीवनं, सिङ्घानो नासिकामलम्, जल्लो देहप्रभवपङ्कः, एभिर्युक्तस्य समन्वितस्य, जिनभवने तीर्थकृद्वेश्मनि, न कल्पते, अवस्थानं कर्तुमिति शेषः। कस्येत्याह- यतेः साधोः, न तु गृहस्थस्य, तस्य स्वत एव गृहसत्त्वेन निवासासंभवात्, इतरस्य तु प्रवृत्तिदर्शनतो निषिध्यते इति। किमर्थमित्याह- आशातनाहेतोराशातना सर्वधर्महानिर्मा भूदिति। अयमत्र भावार्थः-यस्य हि भगवतो चैत्यगृहे देवा आशातनाभीरुतया संवृतात्मानो विशन्ति, तत्र कथं मलाविलशरीराणां मुखदेहप्रक्षालनारहितानां सदोद्भूधः समीरणप्रचारवतां स्थानताम्बूलविलेपभोगरहितानां निवसितुं युज्यत इति, भक्तिश्च कथं कृता स्यादिति। अत एवोक्तम्- "जइ वि न आहाकम्मं, कत्तिकयं तह विवज्जियं ते हु। भत्ती खलु कोइ कया, इहरा आसायणा परमा ॥१॥" ननु यद्युत्पन्नसकलावरणविरहितकेवलवलावलोकितविश्वविश्वस्वभावाना भावार्हतामवग्रहे सर्वसाधूनां निर्जराऽस्ति, तत्किं स्थापनार्हतामवग्रहे तिष्ठतां कर्म्मबन्ध इति प्रयोगश्चान्वायुज्यते। स्थापनाऽर्हदवग्रहे यतेर्निवासः कर्तुं निर्जरासंभवात्, भावार्हदवग्रहनिवासिसाधुवदित्यत्रोच्यते। यदुक्तं भावार्हतामित्यादि, तत्रान्य एव भावार्हतां कल्पः, स्थापनार्हतामन्य एवेति। तथा भगवतां भावार्हतां सर्वसम्बरारूढत्वादेव सुसाधव एव समस्तमपि वैयावृत्यं प्रकुर्वन्ति, भक्तपानादिकं च प्रयच्छन्ति, न तु गृहस्थाः, तथा तन्निमित्तनिवासादिकं न विधीयते। अन्यच्च गृहस्था अपि पूजोपचारकृते तेषां वस्त्राभरणपुष्पविलेपनस्नानं कुर्वन्ति अतो भावार्हत्कल्पत्वान्निषेधाभावाच्च युक्तमेव भावार्हदवग्रहावस्थानम्। तथा यदुक्तम्- प्रयोगश्चेत्यादि, तत्र निर्जराहेतोरसिद्धत्वात्। असिद्धता चास्य स्थापनार्हत्कल्पभेदात् तथा, यथा हि साधवो वैयावृत्यादिकं प्रत्यनधिकारिणः, एवं तदवग्रहावस्थानं प्रत्यपि, शास्त्रनिषिद्धाचरणाच्च। यत उक्तम्- "देवस्स य परिभोगो, अणंतजम्मे च दारुणविवागो। जं देवभोगभूमिसु, वुद्धी न हु वट्टइ चरित्ते ॥१॥" प्रयोगश्च जिनभवनावस्थानं साधूनामयुक्तमेवेति, पापहेतुत्वात्, सावद्यानुष्ठानवदिति गाथार्थः॥ दर्श०३ तत्त्व०।

चेइयसण्णिवेस पुं० (चैत्यसन्निवेस) स्वनामख्याते सन्निवेशे, यत्राष्टमे भवे वीरजिनः षष्टिलक्षपूर्वायुरग्निद्योतो नाम विप्रस्त्रिदण्डी भूत्वा मृतो नवमे सुरो जातः। कल्प०२ क्षण।

चेइयसिहराइ त्रि० (चैत्यशिखरादि) जिनभवनशिखरकलशध्वजप्रभृतिषु, पञ्चा०१२ विव०।

चेइयहर न० (चैत्यगृह) देवसदने, (जी०) जिनमन्दिरे, जी०१ प्रति०।

चेट्ठण न० (स्थान) अवस्थाने, व्य०४ उ०।

चेट्ठा स्त्री० (चेष्टा) क्रियायाम्, पञ्चा०४ विव०। व्यापारकरणे, षो०७ विव०। पराक्रमे, पं०सं०५ द्वार।

चेड पुं० (चेट) पादमूलिके, औ०। भं०। दासे, कल्प०३ क्षण। कुमारके, ज्ञा०१ श्रु०२ अ०।

चेडग पुं० (चेटक) हैहयकुलजाते स्वनामख्याते वैशालिकापुराधिपतौ आ०क०। आ० चू०। विशे०। कल्प०। ('सेणिय' शब्दे सर्वा वक्तव्यता) (चेल्लणा श्रेणिकस्य भार्या बभूव चेति 'चेल्लणा' शब्दे १३३६ पृष्ठे वक्ष्यते) "समणे भगवं महावीरे भगवओ माया चेडगस्स भगिणी भोई।" आचू०१ अ०। चेटकेन हल्लविल्लौ रक्षितौ, कूणिकेन सह रथमुशलमहाकण्टकशिलासंग्रामनामानौ संग्रामौ कृतौ। भ०७ श०९ उ०।

चेडरूव त्रि० (चेटरूप) कुमारकल्पे, बृ०१ उ०।

चेडिय न० (चेषित) चेष्टायाम्, औ०। सकाममङ्गप्रत्यङ्गोपाङ्गदर्शनादौ, जी०३ प्रति०।

चेडियाचक्कवाल न० (चेटिकाचक्रवाल) दासीसमूहे, "चेडियाचक्कवालवरिसधरथेरकंचुइज्जमहत्तरयविंदपरिक्खित्ता" चेटीचक्रवालेनाऽर्थात् स्वदेशसम्भवेन वर्षधराणां वर्द्धितकरणेन नपुंसकीकृतानामन्तःपुरमहल्लकानाम्। भ०९ श०३३ उ०। दशा०।

चेडी स्त्री० (चेटी) दास्याम्, आ०म०प्र०। बाले, दे० ना०३ वर्ग।

चेत्त पुं० (चैत्र) चैत्रीपूर्णिमाघटिते मासे, चित्रानक्षत्रान्विता पूर्णिमा चैत्री। चित्रान्वितायां पूर्णिमायाममायां च। स्त्री०। जं०७ वक्ष०। चं० प्र०। "चेत्तस्स पुन्निमाए पउमाभजिणस्स चित्ताहिं" आ०म०प्र०।

चेत्त त्रि० शिल्पिचित्तगते, षो०८ विव०।

चेत्तगण पुं० (चैत्रगण) चैत्रगच्छे, बृ०६ उ०।

"श्रीजैनशासननभस्तलतिग्मरश्मिः,
श्रीपद्मचन्द्रकुलपद्मविकाशकारी।
स्वज्योतिरावृतदिगम्बरडम्बरोऽभूत्,
श्रीमान् धनेश्वरगुरुः प्रथितः पृथिव्याम्॥७॥
श्रीमच्चैत्रपुरैकमण्डनमहावीरप्रतिष्ठाकृत -
स्तस्माच्चैत्रपुरप्रबोधतरणिः श्रीचैत्रगच्छोऽजनि"॥

बृ०६ उ०। ग०।

चेय न० (चेतस्) अन्तःकरणे, दश०५ अ०१ उ०। मनसि, स्था०९ ठा०२ उ०।

चेयकड न० (चेतःकृत) जीवस्वरूपभूतया चेतनया बद्धे, जीवानां किं चेतःकृतानि कर्माणि, अचेतःकृतानि कर्माणि वा ? भ०।

जीवा णं भंते ! किं चेयकडा कम्मा कज्जंति, अचेयकडा कम्मा कज्जंति ? गोयमा ! जीवा णं चेयकडा कम्मा कज्जंति, णो अचेयकडा कम्मा कज्जंति ।

"जीवा णं" इत्यादि। (चेयकडा कम्म त्ति) चेतश्चैतन्यं, जीवस्वरूपभूतचेतनेत्यर्थः। तेन कृतानि बद्धानि चेतः कृतानि कर्माणि। (कज्जंति त्ति) भवन्ति। भ०१६ श०२ उ०।

चेयण पुं० (चेतन) सचित्ते, व्य०१ उ०। सूत्र०। जीवे, स्था०४ ठा०४ उ०। विशे०। (भूतधर्म एव चैतन्यमिति लौकायतिकानां मतम् 'आता' शब्दे द्वितीयभागे १८० पृष्ठे उपपाद्य खण्डितम्)

चेयणत्त न० (चेयनत्व) मनसि अनुभतौ, द्रव्या०११ अध्या०।

चेयणा स्त्री० (चेतना) संज्ञाने, उपयोगे, अवधाने, आव०६ अ०। ("आता" शब्दे द्वितीयभागे १८० पृष्ठे अभौतिकत्वसिद्धिरुक्ता) करणे च। अत एव "सेज्जं ठाणं वा जहिं चेइए" यत्र चेतयते, 'चिती' संज्ञाने, अनुभवरूपतया विजानाति, वेदयते इत्यर्थः। अथवा- चेतयते करोति इति, धातूनामनेकार्थत्वात्। आ०म०द्वि०। आचा०।

चेयण्ण न० (चैतन्य) साकारनिराकारोपयोगे, द्रव्या १५ अध्या०।

चेर न० (चर्य) चरणे, नि० चू०१ उ०। ('बंभचेर' शब्दे व्याख्या)

चेल न० (चैल) वस्त्रे, आव०१ अ०। नि० चू० दश०। प्रश्न०। आचा०। स्था०। बृ०। उत्त०। ज्ञा०। औ०। सूत्र०। कल्पादौ, व्य०७ उ०।

चेलकण्ण पुं० (चैलकर्ण) वस्त्रकर्णे, आचा०२ श्रु०१ अ०७ उ०।

चेलकरण पुं० (चैलकरण) चैलैकदेशे, दश०४ अ०।

चेलगोल न० (चैलगोल) वस्त्रात्मके कन्दुके, सूत्र०१ श्रु०४ अ०२उ०।

चेलट्ठ न० (चैलार्थ) वस्त्रार्थे, बृ०३ उ०।

चेलपाय न०(चैलपात्र) वस्त्रनिर्मितपात्रे, आचा०२ श्रु०६ अ०१ उ०।

चेलपेडा स्त्री० (चैलपेटा)वस्त्रमञ्जूषायाम्, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०। नि०। तं०।

चेलपोट्टलिया स्त्री० (चैलपोट्टलिका) चैलानि वस्त्राणि तेषां पोट्टलिका इव सुसंगृहीताः सुरक्षितः। तस्याम्, दशा०१० अ०।

चेलुंप (देशी) मुशले, दे० ना०३ वर्ग।

चेलुक्खेव पुं० (चैलोत्क्षेप) तीर्थकृद्भक्तिकार्यदर्शनाद्देवकृते प्रमोदभरेण वस्त्राणामूर्द्धक्षेपे, रा०। आ०क०। कल्प०। स्था०।

चेल्लअ पुं० (चेलक) शिष्ये, "चेल्लओ भणति मिच्छा मि दुक्कडं"। दश०१ अ०। "चेल्लगं रिदेज्जा"। आ०चू०४ अ०।

चेल्लणा स्त्री० (चेल्लणा) चेटकराजस्य दुहितरि, आ० चू०४ अ०। दश०। श्रेणिकमहाराजस्य भार्यायाम्, आ०म०प्र०।

चेल्लणापास पुं० (चेल्लणापार्श्व) टिंपुरीनगर्यां दक्षिणे स्वनामपूजितपार्श्वनाथप्रतिमायाम्, ती०१ अ०। (तत्कल्पः 'टिंपुरी'शब्दे वक्ष्यते)

चेल्लय पुं० (चेल्लक) आरण्ये जीवविशेषे, आचा०२ श्रु०१ अ०५ उ०। दीप्यमाने, ती०३३ कल्प।

चेव अव्य० (चैव) च-एव-समासः। समुच्चयमात्रे, स्था०२ ठा०१ उ०। दर्श०। पञ्चा०।

चोअअ त्रि० (चोदक) प्रेरके, अनु०।

चोइज्जंत त्रि० (चोद्यमान) परेण पृच्छ्यमाने, सूत्र०१ श्रु०३ अ०३ उ०। शिष्यमाणे, व्य०७ उ०। नोद्यमाने, सूत्र०१ श्रु०३ अ०३ उ०।

चोइय त्रि० (चोदित) प्रेरिते, सूत्र०१ श्रु०५ अ०१ उ०। उत्त०। बिद्धे, दश०६ अ०२ उ०।

चोक्ख त्रि० (चोक्ष) शुद्धे, ज्ञा०१ श्रु०६ अ०। शूचीकृते, बृ०१ उ०। परमशुचीभूते, कल्प०५ क्षण। अपनीताशुचिद्रव्ये, भ०६ श०३३ उ०। अशुचिद्रव्यापगमात् (भ०११ श०६ उ०) विवक्षितमलापनयनात् (औ०) लेपशिक्थाद्यपनयनेन (भ०३ श०१ उ०। ज्ञा०। विपा०। आ० चू०) पवित्रे, रा०। "आयंते चोक्खे परमसुइभूए" विमलदेहनेपथ्ये, "अम्हे चोक्खा चोक्खायारा सुई सुईसमायारा औ०।

चोक्खवत्थ न० (चोक्षवस्त्र) रजकपार्श्वादतीवोज्ज्वलीकारितवस्त्रे, बृ०१ उ०।

चोक्खा स्त्री० (चोक्षा) स्वनामख्यातायां परिव्राजिकायाम्, याहि दानशौचधर्मानाख्यातवती तीर्थकृद्मल्लिपराजिता काम्पिल्यनगरे जितशत्रुं राजानं तद्वृत्तं संदिष्टवती। ज्ञा०८ अ०। ('मल्लि' शब्देऽस्या कथा)

चोक्खायार त्रि० (चोक्षाचार) निरवद्यव्यवहारे, औ०।

चोग्गुण त्रि० (चतुर्गुण) **"न वा मयूखलवणचतुर्गुणचतुर्दशचतुर्वारिसुकुमारकुतूहलोदूखलोलूखले"** ॥८।१।१७१। इति वा ओत्। चतुरवृत्तेऽर्थे, प्रा०१ पाद।

चोज्जपसंगि (ण्) त्रि० (चौर्यप्रसङ्गिन्) चौर्यप्रशक्ते, ज्ञा०१ श्रु०१८ अ०।

चोण्ण त्रि० (चौर्ण) कर्मणि, "कम्मं ति वा खहं ति वा चोण्णं ति वा कलुसं ति वा वेज्जं ति वा वेरं ति वा।" नि० चू०२० उ०। काष्ठहारादिके अधमकर्मणि, सूत्र०२ श्रु०२ अ०।

चोत्तीस स्त्री० (चतुस्त्रिंशत्) चतुरधिकायां त्रिंशत्संख्यायाम्, "चोत्तीसं बुद्धवयणतिसेसा पण्णत्ता"। रा०।

चोत्थ त्रि० (चतुर्थ) **"न या मयूखलवणचतुर्गुणचतुर्दशचतुर्वारिसुकुमारकुतूहलोदूखलोलूखले"** ॥८।१।१७१॥ इति सूत्रेण वा ओत्वम्। चतुःसंख्यापूरणे, प्रा०१ पाद।

चोदग त्रि० (चोदक) पृच्छके, "आयरिओ भणइहे चोदग। अकाले तुमं पढंतो अतिसिरिमिच्छसि ?" नि० चू०१ उ०।

चोद्दसपुव्वि (ण्) पुं० (चतुर्दशपूर्विन्) सम्पूर्णश्रुतधरे, उत्त०५ अ० आ०म० । नं० । स्था० । नि० चू० । ("चउद्दसपुव्वि" शब्देऽत्रैव भागे १०४६ पृष्ठे वृत्तमुक्तम्)

चोद्दसमभत्त न० (चतुर्दशभक्त) उपवासषट्के, पञ्चा०१६ विव०।

चोद्दसी स्त्री० (चतुर्दशी) **"न वा मयूखलवणचतुर्गुणचतुर्थचतुर्दश-चतुर्वारसुकुमारकुतूहलोदूखलोलूखले"।८।१।१७१॥** इति सूत्रेण वा ओत्। अमायाः पूर्णिमायाश्च पूर्वतिथौ, प्रा०१ पाद।

चोप्पड धा० (म्रक्ष) संम्रक्षणे (चोपडना) **"म्रक्षेश्चोप्पडः"।८।४।१६१।** इति म्रक्षेः 'चोप्पड' आदेशः। 'चोप्पडइ' म्रक्षते। प्रा०४ पाद।

चोप्पाल न० (चतुष्पाट) मत्तवारणे, जं०२ वक्ष०। जी०। नि०चू०।

चोय स्त्री० (त्वक्) हीरच्छल्लीरूपे वृक्षावयवे, "चोयं तु होति हीरो, सगलं पुण तस्स बाहिरा छल्ली"। नि० चू० १६ उ०। ज्ञा०। भ०। बृ०। प्रश्न०। जं०। गन्धद्रव्यविशेषे, आ०म०प्र०। अनु०। जी०। रा०। 'चोओ' उपलविशेषे, अनु०।

चोयग पुं०,त्रि० (चोदक) प्रश्नं चोदयतीति चोदकः। नं०। पीलिते-क्षुच्छोटिके, आचा०२ श्रु०१ अ०१८ उ०। उपपन्नप्रश्नकारिणी, व्य०१ उ०। सूत्र०। गन्धद्रव्यविशेषे, जी०३ प्रति०।

त्वक्क नं० छल्ल्याम्, आचा०२ श्रु०७ अ०२ उ०।

चोयणा स्त्री० (चोदना) प्रेरणे, ध०२ अधि०। प्रोत्साहकरणे, व्य०१ उ०। आ०म०। चक्रवालसामाचारीं हापयतो नोदनायाम्, बृ०१ उ०। वैदिकविधिवाक्ये, सम्म०१ काण्ड। ("चोदनालक्षणो धर्मः" इति मीमांसका 'सद्द' शब्दे निराकरिष्यन्ते)

चोयणिज्जाससार पुं० (चोयनिर्यासिसार) चोयनामगन्धरसप्रधाने आसवे, जी०१ प्रति०। जं०।

चोयपुड पुं० (चोयपुट) चोयनामगन्धद्रव्यपुटे, रा०। पत्रादिमये त्वग्भाजने, ज्ञा०१ श्रु०१७ अ०।

चोयाल स्त्री० (चतुश्चत्वारिंशत्) चतुराधिकायां चत्वारिंशति, प्रज्ञा०२ पद।

चोयासव पुं० (चोयासव) चोयसारनिष्पन्ने आसवे, जी०३ प्रति०।

चोर पुं० (चौर) स्तेने, ध०२ अधि०। प्रश्न०। सूत्र०। गवादिहारिणि, बृ०१ उ०। चौरशब्दोऽन्यत्र तस्करे रूढो दाक्षिणात्यानामोदने, स्या०। अनु०।

चोरग्गाह पुं० (चौरग्राह) चौरग्राहके राजपुरुषे, प्रश्न०१ आश्र० द्वार।

चोरद पुं० चौरद हरीतकवनस्पतिभेदे, प्रश्न०१ आश्र० द्वार।

चोरपउर त्रि० (चौरप्रचुर) दोषभेदे, यत्र बहवश्चौरा उद्गच्छन्ति। व्य०३ उ०।

चोरप्पओग पुं० (चौरप्रयोग) चौराणां प्रयोजनं व्यापारणं चौरप्रयोगः। हरत यूयमिति हरणक्रियायाः प्रेरणा। अथवा चौराणां प्रयोगा उपकरणानि कुत्सिकाकर्त्तरिकाघर्घरिकादीनि, तेषामर्पणं विक्रयणं वा उपचाराच्चौर-प्रयोगः। किमधुना यूयं निर्व्यापारास्तिष्ठथ। यदि भवतां भोजनादि नास्ति, तद्ददामि, भवदानीतमोषस्य वा विक्रापको न विद्यते तदाऽहं तं विक्रेष्ये इत्येवंविधवचनैश्चौराणां व्यापारणे, प्रव०६ द्वार।

चोरसंघ पुं० (चौरसङ्घ) पदातिरूपचौरसमूहे, प्रश्न०३ आश्र० द्वार।

चोरण पुं० (चौराक) स्वनामख्याते सन्निवेशे, यत्र प्रतिमास्थितभगव-तस्तपःप्रभावाद् गोशालो मण्डपं ददाह। आ०म०द्वि०।

चोराणीय त्रि० (चौरानीत) चौरेरानीते कनकवसनादौ, तच्च मूल्येन मुधिकया वा प्रच्छन्नं गृह्णतस्तृतीयाणुव्रतमतिचर्यते। प्रव०६ द्वार।

चोरिअ न० (चौर्य) **"स्याद् भव्यचैत्यचौर्यसमेषु यात्"।८।२।१०७।** इति यात्पूर्व इत्। प्रा०४पादः स्तये, स्था०३ ठा०४ उ०। अदत्तादाने, स्था०१ ठा०१ उ०।

चोरिक्क न० (चौरिक्य) चोरणं चौरिका, सैव चोरिक्यम्। प्रथमे गौणादत्तादाने, प्रश्न०३ आश्र० द्वार।

चोरिय त्रि० (चौरिक) परद्रव्यापहारके, प्रव०४१ द्वार। आ०म०। प्रणिधिपुरुषे, प्रश्न०१ आश्र० द्वार।

चोरिया–स्त्री०(चोरिका) चोरणे, प्रश्न०१ आश्र० द्वार।

चोल पुं० (चोड) देशभेदे, तद्राज्यसम्पादके ऋषभदेवपुत्रे, कल्प०७ क्षण। ती०।

चोल पुं० पुरुषचिह्ने, प्रव०६१ द्वार। ध०।

चोलइ न० (चोलक) चूडोपनयने, बालकप्रथममुण्डने, प्रश्न०२ आश्र० द्वार। आ० म०।

सम्प्रति चूलाद्वारमाह -

विहिणा चूलाकम्मं, बालाणं चोलयं नाम।

चूडा नाम विधिना शुभनक्षत्रतिथिमुहूर्तादौ च धवलमङ्गलेष्टदेवतापूजा-स्वजनभोजनादिलक्षणेन बालानां चूडाकर्म्म, तदपि तदा प्रवृत्तम्। आ० म० प्र०।

चोलपट्ट पुं० (चोलपट्ट) चोलस्स पुरुषचिह्नस्य पट्टः प्रावरणवस्त्रं चोलपट्टः। प्रव०।

इदानीं चोलपट्टकप्रमाणप्रतिपादनायाऽऽह -

दुगुणो चउग्गुणो वा, हत्थो चउरंस चोलपट्टो उ।
थेरजुवाणट्ठा वा, सण्हे थुल्लम्मि य विभासा॥४२०॥

द्विगुणश्चतुर्गुणो वा कृतः सन् हस्तप्रमाणश्चतुरस्रश्च भवति, तथा चोलस्य पुरुषचिह्नस्य पट्टः प्रावरणवस्त्रं चोपलपट्टः कार्यः। किमर्थं द्विगुणश्चतुर्गुणो चेत्याह-(थेरजुवाणट्ठ त्ति) क्रमेण स्थविराणां यूनां च साधूनामर्थाय प्रयोजनाय स्थविराणां द्विहस्तः, तदिन्द्रियस्य प्रबलसामर्थ्याभावादल्पेनाप्यावरणात्, यूनां च चतुर्हस्तश्चोलपट्टकः करणीय इति भावः। (सण्हे थुल्लम्मि य विभास त्ति) श्लक्ष्णे स्थूले च चोलपट्टे विभाषा विविधा भाषा, अयं भेदो-यदुत

स्थविराणां श्लक्ष्णः करणीयः, तदिन्द्रियस्य स्पर्शेन चोलपट्टस्योपघाताभावात्, यूनां तु स्थूल इति। प्रव०६१ द्वार।

किमर्थमसौ चोलपट्टकः क्रियत इत्यत आह -

वेउव्व वाउडे, वा, हियए अइखद्ध पज्झणे चेव।
तेसिं अणुग्गहत्था, लिंगुदयट्ठा य पट्टो उ॥४५॥

यस्य साधोः प्रजननं वैक्रियं भवति, विकृतमित्यर्थः। यथा दाक्षिणात्यपुरुषाणां चोयार्थं विध्यते प्रजननं, तच्च विकृतं भवति। ततश्च तत्प्रसादनार्थमनुग्रहाय चोलपट्टकः क्रियते, तथा अप्रावृते कश्चित् वातिको भवति, वातेन तत्प्रजनम् उच्छन्नं भवति, ततश्च तदनुग्रहाय अनुज्ञातः। तथाहीको लज्जालुः कश्चिद्भवति तदर्थं ते (खद्धं ति) बृहत्प्रमाणं स्वभावेनैव कस्यचित् प्रयोजनं भवति। ततश्चैतेषामनुग्रहार्थं, तथा लिङ्गो दयार्थे कदाचित् स्त्रियं दृष्ट्वा लिङ्ग स्योदयो भवति। अथवा-तस्या एव स्त्रिया लिङ्गं दृष्ट्वा उदयश्च लिङ्ग स्य भवति, तं प्रति अभिलाषो भवतीत्यर्थः। ततश्चैतेषामनुग्रहार्थं चोलपट्टकग्रहणमुपदिष्टम् ॥४५॥ ओघ०। ध०। प्रश्न०। आचा०। पं० व०।

चोलुक्क पुं० (चौलुक्य) स्वनामख्याते वंशे, यत्र श्रीकुमारपालादयो जज्ञिरे। ती०५ कल्प।

चोलो (देशी) वामने, दे० ना०३ वर्ग।

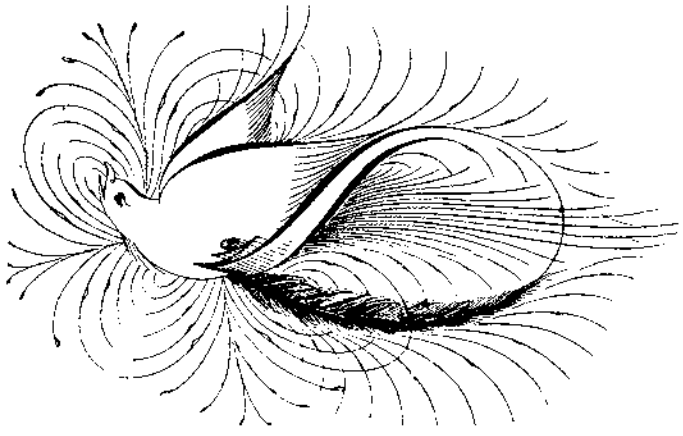
चोलोवणग न० (चौलोपनक) चूडाधारणे, भ०११ श०११ उ०।

चोल्लग पुं० (चोल्लक) परिपाटीभोजने, उत्त०३ अ०। आ० म०। मानुषत्वदुर्लभत्वे चोल्लकदृष्टान्तः। तत्र चोल्लको ब्रह्मदत्तचक्रवर्तिमित्र-कल्याणभोजनम्। आ० म० द्वि०।

चोवत्तरि स्त्री० (चतुःसप्तति) चतुरधिकसप्ततिसंख्यायाम्, स०७२ सम०।

चोव्वार पुं० (चतुर्वार) **"न वा मयूखलवणचतुर्गुणचतुर्थचतुर्दशचतुर्वारसुकुमारकुतूहलोदूखलोलूखले"**। ।८।१।१७१॥ इति वा ओत्। चतुरावृत्ते, प्रा०१ पाद।

इति श्रीमत्सौधर्मबृहत्तपागच्छीय-कलिकालसर्वज्ञ कल्पप्रभु-श्रीमद्भट्टारक-जैन श्वेताम्बराचार्यश्रीश्री १००८ श्री विजयराजेन्द्रसूरिविरचिते अभिधानराजेन्द्रे चकारादिशब्दसङ्कलनं समाप्तम्।



छकार

छ पुं० (छ) छो-कः। छदने, सर्पे, छागे, शक्तिधरे, छदे, सूते, प्रवाले, मन्त्रस्य विभागे, अक्षरविभागे, आच्छादने, वलित्वे च। न०। नित्ये, निर्मले च। त्रि०। एका०। सूर्ये, सोमे, नैर्मल्ये, छेदे, स्वच्छे, ज्ञातरि, छन्दानुवर्तिनि, पुं०। निम्नगायाम्, गिरायाम्, स्त्री०। एका०। "छ त्ति य दोसाण ठायणे होइ" आ०म०द्वि०। 'छ' इत्ययं वर्णो दोषाणामसंयम-योगलक्षणानामाच्छादने भवति। आ०म०द्वि०। छेदनकर्तरि, तरले, त्रि०। गृहे, न०। वाच०।

षट् त्रि० एकाधिकपञ्चसंख्यायाम्, बृ०६ उ०। "छण्हं मासाणं।" भ०१ श०८ उ०।

छअ न० (क्षत) **"छोऽक्ष्यादौ" ।८।२।१७।।** इति क्षस्य छः। व्रणे, प्रा०२ पाद।

छइअ त्रि० (क्षयित) क्षयमापन्ने, **"छोऽक्ष्यादौ" ।८।२।१७।** इति क्षस्य छः। प्रा०२ पाद।

छइपुत्त पुं० (छायापुत्र) छायासुते, सोऽप्रतिष्ठाने नरके उत्पन्नः। जी०३ प्रति०।

छउम न० (छद्मन्) छादयतीति छद्म। छादयति ज्ञानादिकं गुणमात्मन इति छद्म। पं०सं०१ द्वार। कर्म०। ल०। छादयत्यात्मस्वरूपं यत्तत् छद्म। स्था०२ ठा०१ उ०। छाद्यते केवलज्ञानं केवलदर्शनं चात्मनोऽनेनेति छद्म। ग०१ अधि०। दर्श०। स्था०। **"पद्मछद्ममूर्खद्वारे वा" ।।८।२।११२।।** इति दस्य उत्वम्। प्रा०२ पाद। पिधाने, तच्च ज्ञानादीनां गुणानामावारकत्वाज्ज्ञानावरणादिलक्षणं घातिकर्मचतुष्टयम्। आव०४ अ०। आ० म०। शठत्वे, आवरणे स०१ सम०। भ०। उपधौ, छद्मनि, मायायाम्, दश०६ अ०। ज्ञानावरणदर्शनावरणमोहनीयान्तरायकर्मोदये सति तस्मिन् केवलस्यानुत्पादात् तदापगमानन्तरं चोत्पादात्। कल्प०२ क्षण।

छउमत्थ पुं० (छद्मसथ) छद्मनि तिष्ठति इति छद्मस्थः। आ०म०प्र०। छद्मनि ज्ञानदर्शनावरणमोहनीयान्तरायात्मके तिष्ठतीति छद्मस्थः। आचा०१ श्रु०६ अ०४ उ०। पं०सं०। कर्म०। स्था०। उत्त०। छद्मनि स्थितः छद्मस्थः। नि०चू०२उ०। निरतिशयज्ञानयुक्ते, औ०। पञ्चा०। नि०चू०। अर्वाग्दृशि, द्वा०१६ द्वा०। अकेवलिनि, आव०४ अ०। सकषाये, स्था०५ ठा०१ उ०। अतीन्द्रियज्ञानाभाववति, जी०१ प्रति०। प्रज्ञा०। (छद्मस्थो मनुष्यो निर्जरापुद्गलानां मानत्वादि न जानातीति तु "निज्जरापोग्गल" शब्दे वक्ष्यते) (छद्मस्थो मनुष्यो केवलीभूत्वैव सिद्ध्यतीति उक्तं "केवलि" शब्देऽत्रैव भागे ६५३ पृष्ठे) (तीर्थकृतां छद्मस्थपर्यायाः "तित्थयर" शब्दे वक्ष्यन्ते) (पञ्चभिः स्थानैः छद्मस्थः परीषहं सहते इति "परिसह" शब्दे वक्ष्यते)

षट् स्थानानि छद्मस्थो न जानाति -

छ ट्ठाणाइं छउमत्थे सव्वभावेणं ण जाणइ, ण पासइ तं जहा-धम्मत्थिकायधम्मात्थिकायं आगासं जीवमसरीरप्पडिबद्धं परमाणुपोग्गलं सद्दं, एयाणि चेव उपण्णणाणदंडणधरे अरहा जिणे० जाव सव्वभावेणं जाणइ, पासइ। तं जहा- *धम्मत्थिगायं०* जाव सद्दं॥

छद्मस्थो विशिष्टावध्यादिविकलो न त्वकेवली, यतो यद्यपि धर्माधर्माकाशान्यशरीरं जीवं च परमावधिर्न जानाति, तथाऽपि परमाणुशब्दौ जानात्येव, रूपित्वात्तयोः, रूपिविषयत्वाच्चावधेरिति। एतच्च सूत्रं सविपर्ययं प्राग् व्याख्यातप्रायमेव, इति छद्मस्थस्य धर्मास्तिकायादिषु ज्ञानशक्तिर्नास्तीत्युक्तम्। स्था०६ ठा०।

छद्मस्थः सर्वभावेन सप्त स्थानानि न जानाति -

सत्त ट्ठाणाइं छउमत्थे सव्वभावेणं न जाणइ, व पासइ। तं जहा-धम्मत्थिकायं अहम्मत्थिकायं आगासत्थिकायं जीवं असरीरं परमाणुपुग्गलं सद्दं गंधं, एयाणि चेव उप्पन्ननाणे० जाव जाणइ, पासइ। तं जहा-धम्मत्थिकायं० जाव गंधं। स्था०७ ठा०।

सप्तभिः स्थानैर्हेतुभूतैश्च छद्मस्थं विजानीयात् -

सत्तहिं ठाणेहिं छउमत्थं जाणेज्जा। तं जहा-पाणे अइवाएत्ता भवइ, मुसं विदित्ता भवइ, अदिन्नमाइत्ता भवइ, सद्दफरिसरसरूवगंधे आसदेत्ता भवइ, पूयासक्कारमए उवूहेत्ता भवइ, इमं सावज्जं ति पण्णवेत्ता पडिसेवेत्ता भवइ, णो जहा वादी तहा कारी यावि भवइ।

"सत्तहिं ठाणेहिं" इत्यादि सप्तभिः स्थानैः हेतुभूतैः छद्मस्थं जानीयात्। तद्यथा- प्राणानतिपातयिता तेषां कदाचित् व्यापादनशीलो भवति। इह च प्राणातिपादनमिति वक्तव्येऽपि "धर्मधर्मिणोरभेदात्" अतिपातयितेति धर्मी निर्दिष्टः, प्राणातिपातनात् छद्मस्थोऽयमित्यवसीयते, केवलीहि क्षीणचारित्रावरणत्वान्निरतिचारसंयमत्वान्न कदाचिदपि प्राणानामतिपातयिता भवतीति, इत्येवं सर्वत्र भावना कार्या। तथा मृषावादिता भवति, अदत्तमादाता ग्रहीता भवति, शब्दादीनां स्वादयिता भवति, पूजासत्कारं पुष्पार्चनवस्त्राद्यर्चने अनुवृंहयिता परेण स्वस्य क्रियमाणस्य तस्यानुमोदयिता, तद्भावे हर्षकारीत्यर्थः। तथेदमाधाकर्मादि सावद्यं सपापमित्येवं प्रज्ञाप्य तदेव प्रतिषेधिता भवति, तथा सामान्यतो नो यथावादी तथाकारी, अन्यथा अभिधायान्यथा कर्ता भवति, वाऽपीति समुच्चये। स्था०७ ठा०।

अष्टौ स्थानानि छद्मस्थो न जानाति -

अट्ठ ट्ठाणाइं छउमत्थे सव्वभावेणं न जाणइ, न पास तं जहा-धम्मत्थिकायं० जाव गंधं वायं, एयाणि चेव उ-

ण्णनाणदंसणधरे अरहा जिणे केवली जाणइ, पासइ० जावस गंधं वायं ॥

"अट्ठ ट्ठाणेत्यादि" व्याख्यातं प्राग्, नवरं यावत्करणात् "अधम्मत्थिकायं जीवमसरीरपडिबद्धं परमाणुपुग्गलं सद्दं" इति द्रष्टव्यमिति। एतान्येव जिनो जानातीति। आह च-"एयाणि" इत्यादि सुगमम्। स्था०८ ठा०।

दश स्थानानि छद्मस्थो न जानाति-

दस ठाणाइं छउमत्थे सव्वभावेणं न जाणइ, न पासइ। तं जहा-धम्मत्थिकायं० जाव वायं, अयं जिणे भविस्सइ वा, न भविस्सइ, अयं सव्वदुक्खाणमंतं करिस्सइ वा, ण वा करिस्सइ, एयाणि चेव उप्पण्णनाणदंसणधरे जाणइ, पासइ० जाव अयं सव्वदुक्खाणमंतं करिस्सइ वा, न करिस्सइ।

छद्मस्थ इह निरतिशय एव द्रष्टव्योऽन्यथाऽवधिज्ञानी परमाण्वादि जानात्येव (सव्वभावेणं ति) सर्वप्रकारेण स्पर्शरसगन्धरूपज्ञानेन घटमिवेत्यर्थो धर्मास्तिकायम्, यावत्करणाद धर्मास्तिकायमाकाशास्तिकायं जीवमशरीरप्रतिबद्धं परमाणुपुद्गलं शब्दं गन्धमिति। अयमित्यादि द्वयमधिकमिह, तत्रायमिति प्रत्यक्षज्ञानसाक्षात्कृतो जिनः केवली भविष्यति, न वा भविष्यतीति नवमं, तथाऽयं "सव्व" इत्यादि प्रकटं, दशममिति। एतान्येव छद्मस्थानवबोध्यानि सातिशयज्ञानादित्वाज्जिनो जानातीति। आह च-"एयाइं" इत्यादि। यावत्करणात्-"जिणे अरिहा केवली सव्वण्णू सव्वभावेणं जाणइ, पासइ। तं जहा-धम्मत्थिकायं" इत्यादि यावद्दशमं स्थानं, तच्चोक्तमेवेति। स्था०१० ठा०।

पञ्च स्थानानि छद्मस्थः सर्वभावेन न जानाति, न पश्यति-

पंच ठाणाइं छउमत्थे सव्वभावेणं ण जाणइ, ण पासइ। तं जहा-धम्मत्थिकायं अधम्मत्थिकायं आगासत्थिकायं जीवं असरीरपडिबद्धं परमाणुपोग्गलं, एयाणि चेव उप्पण्णनाणदंसणधरे अरहा जिणे केवली सव्वभावेणं जाणइ,पासइ, धम्मत्थिकायं० जाव परमाणुपोग्गलं ॥

"छउमत्थ" इत्यादि सुगमं, नवरं छद्मस्थ इहावध्याद्यतिशयविकलो गृह्यते, अन्यथा अमूर्तत्वेनाधर्मास्तिकायादीनजानन्नपि परमाणुं जानात्येवासौ मूर्तत्वात्तस्याऽथ सर्वभावेनेत्युक्तम्, ततश्च तं कथञ्चिज्जानन्नपि अनन्तपर्यायतया न जानातीति, एवं तर्हि संख्यानियमो व्यर्थः स्याद्धटादीनां सुबहूनामर्थानामकेवलिना सर्वपर्यायतया ज्ञातुशक्यत्वादिति। (सव्वभावेणं ति) साक्षात्कारेण श्रुतज्ञानेन त्वसाक्षात्कारेण जानात्येव जीवमशरीरप्रतिबद्धं देहमुक्तं, परमाणुश्चासौ पुद्गलश्चेति विग्रहः, द्व्यणुकादीनामुपलक्षणमिदम्। स्था०५ ठा०३ उ०। "छन्तव्यं कस्य संमोहः, छद्मस्थस्य न जायते"। आव०६ अ०। भ०।

छउमत्थकालिय पुं० (छद्मस्थकालिक) "छउमत्थकालियाए त्ति" प्राकृतत्वात् स्त्रीत्वम्। छद्मस्थकाले, स्था१० ठा०।

छउमत्थखीणकसायवीयरागदंसणारिय पुं० (छद्मस्थक्षीणकषायवीतरागदर्शनार्थ) वीतरागदर्शनार्यभेदे, प्रज्ञा०१ पद।

छउमत्थमरण न० (छद्मस्थमरण) छद्मस्थानां सतां मरणे, "मणपज्जवबोहिणाणी, सुतमण्णाणी मरंति जे समणा। छउमत्थमरणमेयं," उत्त० नि०१ अ०। मनःपर्यायनिर्देशो विशुद्धिकृतप्राधान्यमङ्गीकृत्य चारित्रिण एव, तुदपजायत इति स्वामिकृतप्राधान्यापेक्षया वा, एवमवध्यादिष्वपि यथायोगं स्वधियैव हेतुरभिधेयः। उत्त०५ अ०।

छउमत्थवीयराय पुं० (छद्मस्थवीतराग) छद्मनि आवरणद्वयरूपे अन्तराये च कर्मणि तिष्ठतीति छद्मस्थोऽनुत्पन्नकेवलज्ञानदर्शनः, स चासौ वीतरागश्च, उपशान्तमोहत्वात् क्षीणमोहत्वाद्वा विगतरागोदय इत्यर्थः। स्था०७ ठा०। "छउमत्थवीयरागेणं मोहणिज्जवज्जाओ सत्त कम्मपयडीओ वेएइ। तं जहा-णाणावरणिज्जं दंसणावरणिज्जं वेयणियं आउडं नामं गोयमंतराइयं।" एकादशद्वादशगुणस्थानवर्तिनि जीवे, उत्त०२ अ०।

छउमत्थावक्कमण न० (छद्मस्थापक्रमण)६त०। छद्मस्थानां सतां गुरुकुलान्निर्गमने, भ० ६ श०३३ उ०।

छद्मस्थावस्था स्त्री० (छद्मस्थावस्था) छद्मस्थावस्था त्रिधाजन्मावस्था, राज्यावस्था, श्रामण्यावस्था च। छद्मस्थकाले, ध०२ अधि०।

छउलुग पुं० (षडुलूक) पहलूकगोत्रे पुरुषे, "छउल्लुगो य गोत्तेणं तेण छउलुओ त्ति जीवो।" आ०चू०१ अ०। वैशेविकमतप्रवर्तके रोहगुप्ते, विशे०।

ननु रोहगुप्त इत्येवास्य नाम, तत्कथं षडुलूक इत्यसकृत् प्रागुक्तोऽसावित्याह-

नामेण रोहगुत्तो, गोत्तेणालप्पए स चोलूओ।
दव्वाइछप्पयत्थो वएसणाओ छउलूओ त्ति ॥२॥

नाम्नाऽसौ रोहगुप्तो, गोत्रेण पुनरूलूकगोत्रसंभूतत्वादसाबुलूक इत्यालप्यते, द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायलक्षणषट्पदार्थप्ररूपणेन तु षट्पदार्थप्रधान उलूकः षडुलूक इत्ययं व्यपदिश्यत इति। विशे०। उत्त०। आ० म०। स्था०। कल्प०।

छंद पुं० (छन्द) छन्दनं छन्दः। अभिप्राये, ध०२ अधि०। प्रश्न०। प्रव०। दश०। आव०। आ० चू०। ज्ञा०। सूत्र०। आचा०। स्था०। उत्त०। गुरोरभिप्राये, आ०म०प्र०। परानुवृत्त्या भोगाभिप्राये, आचा०१ श्रु०२ अ०४ उ०। स्वकीयाऽभिप्रायविशेषे, स्था०१० ठा०। "छंदेणं अज्जो तुब्भं छंदेणं ति" स्वाभिप्रायेण यथेष्टमित्यर्थः। भ०१ श०८ उ०। गुर्वादेशं विनैव प्रवर्तने, उत्त०४ अ०। इच्छायाम् व्य०१ उ०। दश०। आयासे, नि०चू०१उ०। अनालोचितपूर्वापरविषयाऽभिलाषे, आचा०१ श्रु०१ अ०७ उ०। प्रार्थनाऽभिलाषे, इन्द्रियाणां स्वविषयाऽभिलाषे वा। सूत्र०१ श्रु०१० अ०। वसे, उत्त०४ अ०।

उपदेशान्तरमाह-

छंदेण पले इमा पया, बहुमाया मोहेण पाउडा।
वियमेण पलिंति माहणे, सीउण्ह वयसाऽहियासए ॥२॥

(छंदेणेत्यादि) छन्दोऽभिप्रायः, तेन तेन स्वकीयाभिप्रायेण कुमतिगमनैकहेतुवा इमाः प्रजा अयं लोकः, तासु गतिषु प्र-

लीयते। तथाहि-छागादिवधमपि स्वाभिप्रायग्रहग्रस्ता धर्मसाधनमित्येवं प्रगल्भमाना विदधति। अन्ये तु सङ्घादिकमुद्दिश्य दासीदासधनधान्यादिपरिग्रहं कुर्वन्ति। तथाऽन्ये मायाप्रधानैः कुक्कुटैरसकृदुत्प्रेक्षमाणश्रोत्रस्पर्शनादिभिर्मुग्धजनं प्रतारयन्ति। तथाहि-"कुक्कुटसाध्यो लोको, न कुक्कुटतः प्रवर्तते किञ्चित्। तस्माल्लोकस्याऽर्थे, पितरमपि सकुक्कुटं कुर्यात् ॥१॥" तथेयं प्रजा बहुमाया कपटप्रधाना। किमितियतो मोहोऽज्ञानं तेन, प्रावृताऽऽच्छादिता, सदसद्विवेकविकलेत्यर्थः। तदेवमवगम्य (माहणे त्ति) साधुर्विकटेन प्रकटेनाऽमायेन कर्मणा मोक्षे संयमे वा प्रकर्षेण लीयते प्रलीयते, शोभनभावयुक्तो भवतीति भावः। तथा शीतं च उष्णं च शीतोष्णम् शीतोष्णे वा, अनुकूलप्रतिकूलपरीषहाः, तान् वाचा कायेन मनसा च करणत्रयेणाऽपि सम्यगधिसहेत इति ॥२२॥ सूत्र०१ श्रु०२अ०२ उ०।

***छन्दस्** पुं०न० **"वाऽक्ष्यर्थवचनाद्याः" ।८।१।३३।**इति प्राकृते वा पुंस्त्वम्। वेदस्य चतुर्थऽङ्गे, आव०३ अ०। आ०चू०। अनु०। पद्यवचनलक्षणे शास्त्रे, औ०। कल्प०। सूत्रे, उत्त०४ अ०। द्वासप्ततिकलाभेदे, कल्प०७ क्षण। वाच०। आचा०।

छंदणा स्त्री० (छन्दना) छदि सम्वरणे इत्यस्यानेकार्थत्वात् कुरु ममानुग्रहं, परिभुङ्क्ष्व ममेद मित्येव पूर्वानीतासनादिपरिभोगविषये साधूनामुत्साहनायाम्, अनु०। पूर्वागृहीतेनाशनादिना साधूनामभ्यर्थनायाम्, बृ०१ उ०। पञ्चा०।

अथ च्छन्दनामाह -

पुव्वगहिएण छंदण, गुरुआणाए जहारिहं होति।
असणादिणा उ एसा, णेयेह विसेसविसय त्ति ॥३४॥

पूर्वगृहीतेन छन्दनाऽवसरापेक्षया प्राक्कालोपात्तेन, अशनादिनेति योगः। या निमन्त्रणा, सेति गम्यम्। छन्दना भवतीतियोगः। कथं ? गुर्वाज्ञया, न रत्नाधिकादेशेन, स्वातन्त्र्येण, तत्रापि यथाऽर्हं बालग्लानादितद्योग्यानतिक्रमेण।

यदाह -

"इयरो संदिसह त्ति य, पाहुणखमए गिलाणसेहे य।
अह राइणियं सव्वे, उ चियत्तेणं निमंजिज्जा ॥१॥"

(इयरो त्ति) मण्डल्यनुपजीवी (चियत्तेणं ति) प्रीत्या, भवति स्यात्। अशनादिना अशनपानकप्रभृतिना, तुशब्दः पुनरर्थः। स च भिन्नक्रमः। ननु किं सर्वेषां साधूनामियं विधेयेत्याशङ्क्याऽऽह-एष तु इयं पुनः छन्दना, ज्ञेया ज्ञातव्या, इह सामाचारीविषये, विशेषविषया साधुविशेषगोचरा, न तु सामान्यतः, इतिशब्दो वाक्यार्थसमाप्ताविति गाथार्थः ॥३४॥

विशेषविषयतामेवास्या दर्शयन्नाह -

जो अत्तलद्धिओ खलु, विसिट्ठखमगो व पारणाइत्तो।
इहरा मंडलिभोगो, जतीण तह एगभत्तं च ॥३५॥

यः साधुः आत्मन एव सत्का लब्धिर्भक्तादिलाभो यस्यासावात्मलब्धिकः, खलुरेवकारार्थः, तस्य च य एवेत्येवं प्रयोगो दृश्यः, विशिष्टक्षपको वा अष्टमादितपस्वी वा सन्, वाशब्दो विकल्पार्थः। (पारणाइत्तो त्ति) पारणकवान् भोक्ता असहिष्णुत्वादिना मण्डल्या बहिर्भोजनकारीति हृदयम्। असौ छन्दनां करोति, अन्येषामिति प्रक्रमः। उक्तविपर्ययमाह-इतरथा अन्यथा आत्मलब्धिकत्वादिकारणं विना मण्डलीभोगः साधुमण्डल्यामेव भोजनं, यतीनां साधूनां, भवति। तथेति वाक्यान्तरोपक्षेपार्थः। एकभक्तं च एकाशनकं च, अतः पूर्वगृहीतभक्ताद्यभावात् छन्दना नास्ति, चशब्दः समुच्चयार्थः। इति गाथार्थः ॥३५॥

अथात्मलब्धिकादिरात्मोपयोग्येव भक्तादि
ग्रहीष्यतीत्यधिकस्य तस्याभावात् कथं छन्दनां
करिष्यतीत्याशङ्क्याऽऽह-

नाणादुवग्गहे सति, अहिगे गहणं इमस्सऽणुण्णायं।
दोण्ह वि इट्ठफलं तं, अतिगंभीराण धीराण ॥३६॥

ज्ञानाद्युपग्रहे साधुगतज्ञानप्रभृतिगुणोपष्टम्भे, सति भवति, अधिके स्वपोषातिरिक्ते, भक्तादौ विषये, ग्रहणमुपादानम्, अधिकग्रहणमिति पाठान्तरम्। अस्य सलब्धिकादेरनुज्ञातमनुमतं, जिनैः। कस्मादेवमित्याह-द्वयोरपि छन्दकछन्दनीययोः साध्वोरिष्टं वाञ्छितं फलं साध्यं यस्य तदिष्टफलं, तच्छन्दनागतं भक्तस्य दानं ग्रहणं वा, किं सर्वत्र, नेत्याहअतिगम्भीरयोरतीवातुच्छाशययोः धीरयोराशङ्कावर्जितयोर्बुद्धिमतोर्वाः तत्र दायकस्य गम्भीरतागुणोपष्टम्भाभिप्रायात् कर्मनिर्जरार्थित्वात् कीर्तिप्रत्युपकारस्वाजन्याद्यनपेक्षत्वाच्च ग्रहीतुः पुनरयं कर्मक्षयभाग् भवतु। मम च स्वाध्यायाद्यविच्छेदोऽस्तु, इत्येवमभिप्रायात्। धीरता तु दातुर्मोदरापूर्तिर्भविष्यतीति भयत्यागात्, ग्रहीतुः पुनः प्रतिदातव्यं भविष्यतीत्याशङ्काया अभावादिति गाथार्थः ॥३६॥

ननु यद्यसौ गृह्णाति तदैव दातुर्दानस्येष्टफलता ज्ञानाद्युपष्टम्भनाद् नान्यथेत्याशङ्कायामाह-

गहणे वि णिज्जरा खलु, अग्गहणे वि य दुहा वि बंधो य।
भावो एत्थ णिमित्तं, आणासुद्धो असुद्धो य ॥३७॥

ग्रहणेऽपि छन्दकसाधूनां दीयमानस्य भक्तादेरादनेऽपि, आस्तां दाने, निर्जरा खलु, कर्मनिर्जरणमेव भवति। तथा अग्रहणेऽपि चानादानेऽपि च, अपि चेति समुच्चये, निर्जरैव, दातुरिति प्रक्रमः। तथा द्विधाऽपि प्रकारद्वयेऽपि ग्रहणाग्रहणरूपे, बन्धश्च कर्मबन्धश्च भवति, चशब्दो निर्जरापेक्षया समुच्चयार्थः। अथ कस्मादेवामित्याह-भाव आत्मपरिणामः, अत्र निर्जरायां, बन्धे च, निमित्तं कारणं, न ग्रहणाग्रहणमात्रम्। अथ कथं भाव एव परस्परविरुद्धस्य कार्यद्वयस्य निमित्तं भवतीत्याह-आज्ञया आप्तवचनेन, शुद्धोऽनवद्यो, न स्वाभिप्रायत इत्याज्ञाशुद्धः, आशुद्धश्च सदोषः, आज्ञयैवागमाभिप्रायेणेत्यर्थः। क्रमेण निर्जराबन्धयोर्निमित्तमिति प्रक्रमः। उक्तं च-"परमरहस्समिसीणं, समत्तगणिपिडगझरियसाराणं परिणामियं पमाणं, निच्छयमबलंबमाणाणं" ॥१॥ तथा-"इच्छेज्ज न इच्छेज्ज च, तह वि य पयओ निमंतए साहू। परिणामविसुद्धीए, उ निज्जरा होइऽगहिए वि"॥१॥ इति गाथार्थः ॥३७॥ पञ्चा०१२ विव०। जीत०। स्था०। ग०। ध०। आ०म०। बृ०। भ०। उत्त०।

छंदणिरोह पुं० (छन्दोनिरोध) छन्दोऽवशस्तस्य निरोधः। स्वच्छन्दतानिरोधे, उत्त०४ अ०। गुर्वादेशं विनैव प्रवर्तनं छन्दस्तस्य निरोधो निवारणम्। गुर्वाज्ञया प्रवर्तने, उत्त०३ अ०।

छंदरागाभिणिविट्ठ त्रि० (छन्दोरागाभिनिविष्ट) छन्दः स्वाभिप्रायः, रागो नाम स्नेहरागादिः, तत्राभिनिविष्टः । छन्दोरागप्रत्यर्पितदृशि, दशा०५ अ०।

छंदा स्त्री० (छन्दा) छन्दात् स्वकीयादभिप्रायविशेषाद् गोविन्दवाचकस्येव सुन्दरीनन्दनस्येव वा परकीयाद्वा भ्रातृवशभवदत्तस्येव या सा छन्दा। प्रव्रज्याभेदे, स्था०२ ठा०२ उ०।

गोमेगें चोर पडिया, वत्थहिरन्नादि गिण्हितुं ते य।
संपट्ठिते य पल्लिं, रूववती माहेलिया भणति ॥
किं न हरह महिलाओ, चोरा चिंतिंति इत्थिया महिला।
णेतुं पल्लीवइणो, उवणीया तेण पडिवन्ना ॥
तीएँ धवो सयणेणं, भणितो किं वंदिगं ण मोएसि।
गंतूण चोरपल्लिं, थेरीओ लग्गए पयओ ॥
किं ओलग्गसि पुत्ता, चोरेहिं भारिया इहाणीया।
विरहे तीएँ कहेंति, इहागतो तुज्झ भत्त त्ति ॥
कहिए तु चोरअहिव-म्मि पउत्थे भणति अज्ज रत्तीए।
पविसतु चोरअहिवो कं-पविट्ठें सेणावतीआओ ॥
हेट्ठाऽसंदिपवेसो, चोरहिवं भणति वुत्ति इणमो तु।
जदि एज्ज मज्झ भत्ता, तस्स तुमं किं करिज्जासि ? ॥
चोराहिवाऽऽह सक्का-रइत्तु तुम दिज्ज तो करे मिउडिं।
आह ततो चोरहिवो, दारे थंभम्मि उल्लेहिं ॥
वन्नेहिं वेढिज्जा, तुट्ठा सण्णे ति हेट्ठसंदीए।
णीणातुं चोरहिवो, खंभे वज्झेहिं वेढेइ ॥
सुणएण खइयवज्झे, पासित्ता णं व चोरअहिवस्स।
अह असिणा छेत्तूणं, सीसं गहि इत्थिओ भणति ॥
णीणिज्जंती सीसं, चोरहिवस्सा तु सा गहेतूणं।
गालंतीओ रुहिरं, अहिगछतो मग्गतो तस्स ॥
जाहे जातब्भासं, ताहे सीसं तयं पमोत्तूणं।
दसिया वी राइणिया, सामें ति जाति चिंधट्ठा ॥
जाहे पणिट्ठिताइं, ताहे तणपूलियाउ वच्चंति।
वच्चति अवएक्कंती, पुणो पुणो मग्गतो सा तु ॥
गोसे य पभायम्मी, सेणहिवं घाइयं ततो दट्ठुं ।
लग्गा कुढेण चोरा, पासंति य ताणि चिंधाणि ॥
रुहिरदसगा दियाइं, अणिच्छिया णिअइ त्ति मन्नंता।
तुरियं धावे कुढिया, ताणि वि य पभायकालम्मि ॥
पंथस्स गए पासे, ठियाणि कुढिएहिं जाव दिट्ठातिं।
तं खीलेहिं वितड्डिय, महिलं घेत्तूण ते पगता ॥
ते चोरा तं णेउं, चोराहिवभातिगस्स उवर्णे ति।
सा तेणं पडिवन्ना, चोराहिवपट्टबंधम्मि ॥
इतरो वि खीलएहिं, वितड्डिओ अत्थती उ अडवीए।
जूहाहिवणिज्जूढो, अह एति अणीहुतो ताहियं ॥
तो कहितो दट्ठूणं, कहि सन्ने एस दिट्ठपुव्वो त्ति।
चिंतेऊणं सुचिरं, संभरिभाणियगजाती तु ॥
अहमेतस्स तिगिच्छी, आसि विसल्लोसहीएँ तं सोए।
सा रोहणीएँ पतओ, संरोहित्ता वणे तस्स ॥
लिहितक्खरा अणिहुओ, सोऽहं विज्जो तवासि पुव्वभवे।
संभारियसंभिन्ना, णतो उ तो वाणरो कहते ॥
तह जूहा निज्जूढो, साहज्जं मज्झ कुणसु वरमित्त ! ।
आमं ति तेण भणितो, जूहं गंतूण ते लग्गा ॥
दोण्ह विसेसमणातुण, ण वि कासी य सो हु साहज्जं।
णट्ठो भुत्तविलुत्तो, लिहति ततो अक्खरा पुरतो ॥
किं साहज्जं न कतं, पुरिसाह ण जाण दोण्ह वि विसेसं।
तो तुट्ठो वाणरतो, वणसालं अप्पणो विलए ॥
लग्गे सेगपहारे-ण मारितुं चोरपल्लिमतिगंतु।
रत्तिं मारिय चोरा-हिवं तु तं गेण्हितुं इत्थिं ॥
सग्गामं आणेत्ता, इत्थिं उवणेतु सयणवग्गस्स।
वेरग्गसमाजुत्तो, थिरत्थु इत्थीहिँ जे भोगा ॥
मज्झत्थं अत्थंतं, जंपति तु झायसे किं तु ।
किं वाऽसि कज्जकामो, भणती कह अप्पणो छंदं ॥
थेराणं ति य धम्मं, सोउं पव्वज्जमज्झुवेसी य।
एसा छंदा भणिता,.....। पं० भा०। पं०चू० ॥

छंदाणुवट्टय पुं० (छन्दोऽनुवर्तक) छन्दोऽनुवर्तिनि, ज्ञा०१ श्रु०३ अ०। सूत्र०।

छंदाणुवत्तण न० (छन्दोऽनुवर्तन) अभिप्रायाराधने, देशकालदाने, कटकादौ विशिष्टनृपतेः प्रस्तावदाने, दश०९ अ०१ उ०। स०।

छंदाणुवत्तय पुं० (छन्दोऽनुवर्तक) "छंदाणुवट्टय" शब्दार्थे, ज्ञा०१ श्रु०३ अ०। सूत्र०।

छंदाणुवत्ति (ण्) त्रि० (छन्दोऽनुवर्तिन्) गुरोश्छन्दानुवर्तिनि, गुरोरभिप्रायानुयायिनि, गुरोरभिप्रायानुवर्तिनि, ग०२ अधि०।

छंदाणुवत्तिता स्त्री० (छन्दोऽनुवर्तिता) छन्दो गुरूणामभिप्रायः, तमनुवर्तते आराधयतीत्येवंशीलश्छन्दोऽनुवर्ती, तद्भावश्छन्दोऽनुवर्तिता। विनयभेदे, व्य०।

संप्रति छन्दोऽनुवर्तितामाह -

कालसहावाणुमया, आहारुवहीउवस्सया चेव।
नाउं ववहरइ तहा, छंदं अणुवत्तमाणो उ ॥

आहारं पिण्डः उपधिः कल्पादिः, उपाश्रयो वसतिः, एते कालस्वभावानुमता इति, अनुमतशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते। कालानुमता ये यस्मिन् काले सुखहेतुतया मताः प्रकृतिः स्वभावः । स चार्थादिह गुरोः प्रतिगृह्यते । तदनुमताः तदनुकृताः, तान्, तथा ज्ञात्वा छन्दो गुरोरभिप्रायमनुवर्तमानो व्यवहरितं संपादयति । एष छन्दोऽनुवर्तिताविनयः । व्य०१ उ०।

छंदिय त्रि० (छन्दित) अनुजाते, ओघ० । निमन्त्रिते, नि० चू०२ उ०।

छन्दित्वा अव्य० निमन्त्रयित्वेत्यर्थे, दश०१० अ०।

छंदोणिबद्ध न० (छन्दोनिबद्ध) पद्ये, सूत्र०१ श्रु०१ अ०१ उ०।

छंदोवणीय त्रि० (छन्दोपनीत) छन्दः स्वाभिप्रायः इच्छामात्रम्, अनालोचितपूर्वापरविषयाभिलाषो वा, तेन छन्दसोऽपनीतः "आरंभमाणा विणेयं वयंति छंदोवणीया अज्झोवधण्णा"। अभिप्रायानुवर्तिनि, आचा०१ श्रु०१ अ०७ उ०।

छंमुह पुं० (षण्मुख) **"ङञणनो व्यञ्जने"** ।८।१।२५। इति णकारस्यानुस्वारः । प्रा०१ पाद। **"स्यमोरस्योत्"** ।८।४।३३१। इति अकारस्योकारः । प्रा०४ पाद । **"षट्शमीशावसुधासप्तपर्णेष्वादेश्छः"** ।८।१।२६५। इति षस्य छः । कार्तिकेये, प्रा०१ पाद।

छक्क त्रि० (षट्क) षट्परिमाणमस्येति षट्कः । षट्परिमिते, उत्त०१ अ० । आव० । नि०चू० । पिं० ।

षट्कप्ररूपणामाह -

नागं ठवणा दविए, खेत्ते काले तहेव भावे अ ।
एसो उ छक्कगस्स, निक्खेवो छव्विहो होइ ॥२२६॥ दश० नि० ।

तत्र नामस्थापने क्षुण्णे, द्रव्यषट्कं षड्डू द्रव्याणि सचित्ताचित्तमिश्राणि। पुरुषकार्षापणालङ्कृतपुरुषलक्षणानि, क्षेत्रषट्कं षडाकाशप्रदेशाः, यद्वा-भरतादीनि, कालषट्कं षट् समयाः षड् वा ऋतवः । तथैव भावे चेति भावषट्कं, षड् भावा औदयिकादयः । अत्र च सचित्तद्रव्यषट्केनाधिकार इति गाथाऽर्थः ।

आह-अत्र द्वयाद्यनभिधानं किमर्थम् ? उच्यते-एकषडभिधानत आद्यन्तग्रहणेन तद्गतेरिति व्याख्यातं षट्कपदम्। दश०४अ०।

छक्कजीवणिगाय पुं० (षट्कजीवनिकाय) दशवैकालिस्य तृतीयेऽध्ययने, दश०।

जीवाहारो भन्नइ, आयारो तेणिमं तु आयातं ।
छज्जीवणियज्झयणं, तस्सऽहिगारा इमे होंति ॥२२२॥

जीवाधारो भण्यते आचारः, तत्परिज्ञानपालनद्वारेणेति भावः । येनैतदेवं, तेनेदमायातम् अवसरप्राप्तं, किं तदित्याह-षड्जीवनिकाध्य-यनमत्रान्तरे अनुयोगद्वारोपन्यासावसरः । तथा नाह-तस्य षड्जीवनिकाध्ययनस्य, अर्थाधिकारा एते भवन्ति वक्ष्यमाणलक्षणाः । इति गाथार्थः ॥२२२॥

तानाह-

जीवाजीवाहिगमो, चरित्तधम्मो तहेव जयणा य ।
उवएसो धम्मफलं, छज्जीवणियाएँ अहिगारा ॥२२३॥

जीवाजीवाभिगमो जीवाजीवस्वरूपम्, अभिगम्यतेऽस्मिन्निति अभिगम इति कृत्वा, स्वरूपे च सत्यभिगम्यत इति भावः । तथा चारित्रधर्मः प्राणातिपातादिनिवृत्तिरूपः, तथैव यतना च पृथिव्यादिष्वारम्भपरिहारयत्नरूपा, तथा उपदेशः-यथाऽऽत्मा न बध्यते इत्यादिविषयः । तथा धर्मफलमनुत्तरज्ञानादि, एते षड्जीवनिकाया अधिकाराः । इति गाथार्थः ॥२२३॥

अत्रान्तरे गत उपक्रमः । निक्षेपमधिकृत्याऽऽह-

छज्जीवणियाए खलु, निक्खेवो होइ नामनिप्फन्नो ।
एएसिं तिण्हं पि उ, पत्तेयपरूवणं वोच्छं ॥२२४॥

दश० नि०४ अ० । आ०म० ।

छक्कट्ठय न० (षट्काष्ठक) गृहस्य बाह्यालन्दके षड्दारुके, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०।

छक्कम्म न०पुं० (षट्कर्म) यजनादिषट्कर्मसु, स्था०५ ठा०३ उ० । यजनं, याजनम्, अध्ययनम्, अध्यापनं, दानं, प्रतिग्रहश्चेति। नि० चू०१३ उ०।

छक्कम्मणिरय त्रि० (षट्कर्मनिरत) यजनादिषट् कर्मनिरते, स्था०५ ठा०३ उ० । नि० चू०।

छक्कल्लाणगवाइ (ण्) त्रि० (षट्कल्याणकवादिन्) श्रीमहावीरस्वामिनः षण्णां कल्याणकानां वादिनि खरतरगच्छीये, कल्प०१ क्षण । (तेषामुपपत्तिः 'कल्लाणग' शब्देऽत्रैव भागे ३८४ पृष्ठे निराकृता)

छक्कसमज्जिय त्रि० (षट्कसमर्जित) षट् प्रमाणमस्येति षट्कं वृन्दं, तेन समर्जिताः पिण्डिताः षट्कसमर्जिताः । षट्कवृन्देनोत्पद्यमानेषु, ये एकत्र समये समुत्पद्यन्ते, तेषां राशिः षट्प्रमाणो यदि स्यात् तदा ते षट्कसमर्जिता उच्यन्ते । भ०२० श०१० उ० । (अत्र दण्डकः 'उववाय' शब्दे द्वि० भा० ६२२ पृष्ठे उक्तः)

छक्काय न० (षट्काय) षण्णां कायानां समाहारः षट्कायम् । संथा० षट्कायेषु ते यथा षट्कायाः, पृथ्वीजलानलवायुवनस्पतिभेदात्। पृथ्वीकायजलकायानलकायवायुकायवनस्पतिकायत्रसकालक्षणा इत्यर्थः । प्रव०१५२ द्वार । दश० । स्था० । सूत्र० ।

छक्कायपमद्दण पुं० (षट्कायप्रमर्दन) पृथिव्याद्यारम्भके, पञ्चा०६५ विव० । पृथिव्याद्युपमर्दके, दश०१० अ०।

छक्कायमुक्कजोग त्रि० (षट्कायमुक्तयोग) षट्कायेषु मुक्तो योगो यतनालक्षणो व्यापारो याभिस्ताः षट्कायमुक्तयोगाः । षट्कायारम्भनिरतेसु, ग०३ अधि० ।

छक्कायवग्गहत्था स्त्री० (षट्कायव्यग्रहस्ता) षट्काययुक्तहस्तायाम्, पिं०।

छक्कायवह पुं० (षट्कायवध) षण्णां कायानां पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसलक्षणानां वधो हिंसा । षट्कायहिंसायाम्, पं० सं०३ द्वार।

छक्कायविराहणा स्त्री० (षट्कायविराधना) षट्कायविराधनायाम्, अष्टम्प्रतिमावाही यथा षट्कायविराधना न भवति तथा परिवेषयति तदा निषेधो ज्ञातो नास्तीति ।६०प्र० । सेन०४ उल्ला० ।

छक्कायसमारंभ पुं० (षट्कायसमारम्भ) षण्णां कायानां भूदकाग्निवायुवनस्पतित्रसरूपाणां समारम्भे परितापने, ध०२ अधि०।

से भयवं किं णं अट्ठेणं आऊतेऊमेहुण त्ति अवोहिदायगे समक्खाए ? गोयमा ! णं सव्वमवि छक्कायसमारंभे महापावट्ठाणे किं तु आउकायसमारंभेणं अणंतसत्तोवघाए, ते-

उकायसमारंभेणं अणंतसत्तोवघाए मेहुणासेवणेणं तु संखेज्ज-सत्तोवघाए घणरागदोसमोहाणुगए, एत्थ अप्पसत्थज्झवसायत्त-मेव जम्हा णं एवं तम्हा उ गोयमा ! एतेसिं संसारमासेवणं परिभो-गादिसु वट्टमाणे पाणी पढममहव्वयमेव ण धारेज्जा, ते य अभावे अवसे समहव्वयसंजमाणुट्ठाणस्स अभावमेव जम्हा, तम्हा सव्वहा विराहिए समाणे, जओ एवं तओ णं पवित्तियसंममाय-णासित्तेणा व गोयमा ! तं किं पि कम्मं न बंधिज्जा, जेणं तु नरतिरियकुमाणुसेसु अणंतहुत्तो पुणो ह धम्मो त्ति अक्खराइं सिमिणे वि णं अलभमाणं परिभमिज्जा, एएणं अट्ठे णं आऊतेऊमेहुणे अबोहिदायगे गोयमा ! समक्खाय त्ति ॥ महा०२ चू०।

छग न० (छग) पुरीषे ओघ०।

छगण न० (छगण) गोमये, पञ्चा०१३ विव०। नि० चू०।

छगणपीठय न० (छगणपीठक) गोमयपीठके, नि०चू०१२ उ०।

छगणियच्छार न० (छगणिकक्षार) गोमयक्षारे, ओघ०।

छगणिया स्त्री० (छगणिका) गोमयप्रतरे, अनु०।

छगल पुं० (छगल) छागे, औ०।आ०म०। प्रव०। प्रज्ञा०। प्रश्न०।

छगलय पुं० (छगलक) पशुविशेषे, अनु०।

छगलगगलबालग पुं० (छगलकगलबालक) शास्त्राध्ययनविकलेषु, यद्वा-छगलकस्य गलं ग्रीवां वलयन्ति मोटयन्ति। छगलकग्रीवामोटकेषु मुण्डितेषु सत्सु कुटुम्बिषु सौद्धोदनीयेषु, पि०।

छगलपुर न० (छगलपुर) नगरभेदे, यत्र शकटो जन्मान्तरे छागलिको जातः। स्था०१० ठा०। विपा०।

छगलिका स्त्री० (छगलिका) अजायाम, प्रव०६३ द्वार।

छगुणकालग पुं० (षड्गुणकालक) षड्भिर्गुणितकालके पुद्गले, स्था०६ ठा०। नि० चू०।

छगुणलुक्ख पुं० (षड्गुणरूक्ष) षड्गुणरूक्षे पुद्गले, स्था०६ ठा०।

छग्गुरु पुं० (षड्गुरु) अशीत्यधिके उपवासानां शते, उपवासत्रये च। षड्गुरुशब्देन शतमशीत्यधिकमुपवासानामुच्यते स्म, साम्प्रतकाले तु तद्विपरीतेनैव षड्गुरुशब्देनोपवासत्रयमेव संकेत्यते, जीतकल्पव्यवहारानुसारात्। स्था०२ ठा०१ उ०।

छग्गोयरहिंडग पुं० (षड्गोचरहिण्डक) गोरिव चरणं गोचरः। यथा गौरुच्चावचतृणेषु मुखं वाहयँश्चरत्येवं यदुच्चावचगृहेषु साधोर्भिक्षार्थं चरणं स गोचरः, ततः षड्भिर्गोचरैर्हिण्डत इति षड्गोचरहिण्डकः। पेटाऽर्द्धपेटागोमूत्रिकापतङ्गवीथिकासंवुक्कवृत्तागत्वाप्रत्यागताख्यैः षड्भिर्गोचरैर्हिण्डके, पञ्चा०१८ विव०।

छच्छर पुं० (झर्झर) झर्झ-अरन्। **"चूलिकापेशाचिके तृतीयतुर्ययो-राद्यद्वितीयौ"** ।८।४।३२५। इति झकारस्य छकारः। प्रा०४ पाद। "झाँझ" इतिख्याते वाद्यभेदे, पटहे, कलियुगे, नदभेदे, गद्यभेदे, स्त्री०। डीप्। वाच०।

छज्ज धा० (राज) भ्वा० उ०। **"राजेरग्घछज्जसहरीररेहाः** ।८।४।१००। इति राजेश्छज्जादेशः। दीप्तौ, प्रा०४ पाद।

छज्जा स्त्री० (छाद्या) छाद्यते उपरि स्थग्यते इति छाद्या। स्थगनके 'ढक्कन' इतिख्याते, रा०।

छज्जिया स्त्री० (छाद्यिका) छाद्या एव छाद्यिका। रा०।

छज्जीवणिकाय पुं० (षड्जीवनिकाय) षटू च ते पृथिव्यप्तेजोवायुवन-स्पतित्रसस्वभावा जीवाश्च, तेषां निकायः। पृथिव्यादिजीवषट्के, दश०३ तत्त्व। षड्जीवनिकायप्रतिपादकमध्ययनं षड्जीवनिकाया-ध्ययनम्। विपा०२ श्रु०१ अ०। दशवैकालिकस्य तृतीयेऽध्ययने, तत्र षड्जीवनिकायाध्ययनोक्तजीवाजीवाभिगमस्यैकदेशमात्रम्।

सुअं मे आउसंतेण भगवया एवमक्खायं-इह खलु छज्जीवणिया नामऽज्झयणं समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया सुअक्खाया सुपन्नत्ता, सेयं मे अहिज्जिउं अज्झयणं धम्मपन्नत्ती।

श्रूयते तदिति श्रुतं, प्रतिविशिष्टार्थप्रतिपादनफलं वाग्योगमात्रं भगवता निसृष्टमात्मीयश्रवणकोटरप्रविष्टं क्षायोपशमिकभावपरिणामाविर्भाव-कारणं श्रुतमित्युच्यते। श्रुतमवधृतमवगृहीतमिति पर्यायाः। मयेत्यात्म-परामर्शः। आयुरस्यास्तीति आयुष्मान्। कः कमेवमाहसुधर्मास्वामी जम्बुस्वामिनामिति। तेनेति भुवनभर्तु परामर्शः, भगः समग्रैकश्वर्यादिल-क्षण इति। उक्तं च-"ऐश्वर्यस्य समग्रस्य, रूपस्य यशसः श्रियः। धर्मस्याथ प्रयत्नस्य, षण्णां भग इतीङ्गना" ॥१॥ सोऽस्यास्तीति भगवाँस्तेन भगवता, वर्द्धमानस्वामिनेत्यर्थः। एवमिति प्रकारवचनः शब्दः। आख्यातमिति केवलज्ञानेनोपलभ्यावेदितं, किमत आह-इह खलु षड्जीवनिकायनामाध्ययनमस्तीति वाक्यशेषः। इहेति लोके प्रवचने वा, खलुशब्दादन्यतीर्थकृत्प्रवचनेषु च षट्जीवनिकायेति पूर्ववत्, नामेत्यभिधानम्, अध्ययनमिति पूर्ववदेव। दश०४ अ०। तत्र इह खलु षड्जीवनिकायिका नामाध्ययनमस्तीत्युक्तम्। अत्राह-एषा षड्जीवनिकायिका केन प्रवेदिता प्ररूपिता वेत्यत्रोच्यते-तेनैव भगवता, यत आह-"समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया सुअक्खाया सुपन्नत्ते त्ति।" सा च तेन श्रमणेन महातपस्विना भगवता समग्रैश्वर्या-दियुक्तेन महावीरेण, शूर वीर विक्रान्ताविति कषायादिशत्रुजया-न्महाविक्रान्तो महावीरः। उक्तं च-"विदारयति यत्कर्म, तपसा च विराजते। तपो वीर्येण युक्तश्च, तस्माद्वीर इति स्मृतः ॥१॥" महाँश्चासौ वीरश्च महावीरः, तेन महावीरेण, काश्यपेनेति काश्यपसगोत्रेण, प्रवेदिता नान्यतः, कुतश्चिदाकर्ण्य ज्ञाता, किं तर्हि स्वयमेव केवलाऽऽलोकेन प्रकर्षेण वेदिता प्रवेदिता, विज्ञातेत्यर्थः। तथा स्वाख्यातेति सदेवमनुष्यासुरायां पर्षदि सुष्ठु आख्याता स्वाख्याता, तथा सुप्रज्ञप्तेति सुष्ठ प्रज्ञप्ता यच्चैवाख्याता तथैव सुष्ठु सूक्ष्मपरिहारासेवनेन प्रकर्षेण सम्यगासेवितेत्यर्थः। अनेकार्थत्वाद् धातूनां ज्ञपिरासेवनार्थः तां चैवंभूतां षड्जीवनिकायिकां श्रेयो मेऽध्येतुं, श्रेयः पथ्यं हितं ममेत्यात्मनिर्देशः। छान्दसत्वात्सामान्येन ममेत्यात्मनिर्देश इत्यन्ये, ततश्च श्रेय आत्मनोऽध्येतुम्, अध्येतुमिति पठितुं श्रोतुं भावयितुम्। कुत इत्याह-अध्ययनं धर्मप्रज्ञप्तिः "निमित्तकारणहेतुषु

सर्वासां विभक्तीनां प्रायो दर्शनम्" इति वचनात् हेतौ प्रथमा। अध्ययनत्वात् अध्यात्मानयनात् चेतसो विशुद्ध्यापादनादित्यर्थः। एतदेव कुत इत्याह-धर्मप्रज्ञप्तेः प्रज्ञपनं प्रज्ञप्तिः, धर्मस्य प्रज्ञप्तिः धर्मप्रज्ञप्तिः, ततो धर्मप्रज्ञप्तेः कारणाच्चेतसो विशुद्ध्यापादनाच्च श्रेय आत्मनोऽध्येतुमिति। अन्ये तु व्याचक्षतेअध्ययनं धर्मप्रज्ञप्तिरिति पूर्वोपन्यस्ताध्ययनस्यैवोपपादेयतयाऽनुवादमात्रमेतदिति।

शिष्यः पृच्छति -

कयरा खलु सा छज्जीवणिया णामऽज्झयणं समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया, सुअक्खाया, सुपन्नत्ता सेयं मे अहिज्जिउं धम्मपन्नत्ती॥

सूत्रमुक्तार्थमेवानेनैतद्दर्शयति-विहायाभिमानं संविग्नेन शिष्येण सर्वकार्येष्वेव गुरुः प्रष्टव्य इति।

आचार्य आह-

इमा खलु सा छज्जीवणिया नामऽज्झयणं समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया, सुअक्खाया, सुपन्नता, सेयं मे अहिज्जिउं अज्झयणधम्मपण्णत्ती।

सूत्रमुक्तार्थमेवानेनाप्येतद्दर्शयति-गुणवते शिष्याय गुरुणाऽप्युपदेशो दातव्य एवेति।

तं जहा-पुढविकाइया आउकाइया तेउकाइया वाउकाइया वणस्सइकाइया तसकाइया। दश०४ अ० । आचा०।

(पृथिव्यादीनां व्याख्या स्वस्वस्थाने। षड्जीववधकारिणामभावादिदशविषयादितन्निवृत्तिकारिणां संपूर्णमुनिभावप्रदर्शनमन्यत्र वक्ष्यते) "दोहिं जीवनिकायेहिं" आव०४ अ०।

साम्प्रतं चारित्रधर्मस्तत्रोक्तसंबन्धमेवेदं सूत्रम् -

इच्चेसिं छण्हं जीवनिकायाणं नेव सयं दंडं समारंभिज्जा, नेवऽन्नेहिं दंडं समारंभाविज्जा, दंडं समारभंते वि अन्ने न समणुजाणामि जावज्जीवाए॥१२॥

सर्वे प्राणिनः परमधर्माण इत्यनेन हेतुना एतेषां षण्णां जीवनिकायानामिति "सुपां सुपो भवन्ति" इति वचनात् सप्तम्यर्थे षष्ठी। एतेषु षट्सु जीवनिकायेषु अनन्तरोदितस्वरूपेषु नैव स्वयमात्मना दण्डं संघट्टनपरितापनादिलक्षणं समारभेत प्रवर्तयेत्, तथा नैवान्यैः प्रेष्यादिभिर्दण्डमुत्क्षलक्षणं समारम्भयेत, कारयेदित्यर्थः। दण्डं समारभमाणानप्यन्यान् प्राणिनो न समनुजानीयात्, नानुमोदयेदिति विधायिकं भगवद्वचनम् यतश्चैवमतो यावज्जीवमित्यादि, यावद् व्युत्सृजामीत्यादि इत्येवमिदं सम्यक् प्रतिपद्येत इत्यैदंपर्यम्, पदार्थस्तु जीवनं जीवः। यावद्जीवो यावज्जीवम्-आप्राणोपरमादित्यर्थः।

किमित्याह -

तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि, न कारवेमि, करंतं वि अन्ने न समणुजाणामि, तस्स भंते ! पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि॥१३॥

त्रिविधं त्रिविधेनेति तिस्रो विधा विधानानि कृतादिरूपा अस्येति त्रिविधः, दण्ड इति गम्यते। तं त्रिविधेन करणेन, एतदेवोपन्यस्यति-मनसा, वाचा, कायेन, एतेषां स्वरूपं प्रसिद्धमेव। अस्य च करणस्य कर्म उक्तलक्षणो दण्डः, तं वस्तुतो निराकार्यतया सूत्रेणैवोपन्यस्यन्नाह-न करोमि स्वयं, न कारयाम्यन्यैः, कुर्वन्यमप्यन्यं न समनुजानामीति, तस्य भदन्त ! प्रतिक्रमामीति। तस्येत्यधिकृतो दण्डः संबध्यते, संबन्धलक्षणा अवयवलक्षणा वा षष्ठी। योऽसौ त्रिकालविषयो दण्डः, तस्य संबन्धिनमतीतमवयवं प्रतिक्रमामि, न वर्तमानमनागतं वा, अतीतस्यैव प्रतिक्रमणात्। प्रत्युत्पन्नस्य संवरणादनागतस्य प्रत्याख्यानादिति। भदन्तेति गुरोरामन्त्रणम्। भदन्त ! भवान्त ! भयान्त ! इति साधारणा श्रुतिः। एतच्च गुरुसाक्षिक्येव व्रतप्रतिपत्तिः साध्वीति ज्ञापनार्थम्, प्रतिक्रमामीति भूतदण्डाद् निवर्तेऽहमित्युक्तं भवति। तस्माच्च निवृत्तिर्यत्तदनुमतोर्विरमणमिति। तथा निन्दामि गर्हामीत्यत्रात्मसाक्षिकी निन्दा, परसाक्षिकी गर्हा। जुगुप्सोच्यते-आत्मानमतीतदण्डकारिणमश्लाघ्यं व्युत्सृजामीति विविधार्थो विशेषार्थो वा विशब्दः, उच्छब्दो भृशार्थः, सृजामीति त्यजामि। ततश्च विविधं विशेषेण वा भृशं त्यजामि व्युत्सृजामि इति। आह-यद्येवमतीतदण्डप्रतिक्रमणमात्रस्यैदंपर्यम्, न प्रत्युत्पन्नसंवरणमनागतप्रत्याख्यानं चेति। नैतदेवम्। न करोमि इत्यादिना तदुभय सिद्धेरिति। (दश०)

महार्था षड्जीवनिकायिकेति विधिनोपसंहरन्नाह -

इच्चेअं छज्जीवणियं, सम्माट्ठिट्ठी सया जए।
दुल्लहं लहित्तु सामन्नं, कम्मुणा न विराहिज्जासि।
इति बेमि॥२९॥

इत्येतां षड्जीवनिकायिकाम् अधिकृताध्ययनप्रतिपादितार्थरूपां, न विराधयेदिति योगः। सम्यग्दृष्टिर्जीवः तत्त्वश्रद्धावान् सदा यतः सर्वकालं प्रयत्नपरः सन्, किमित्याह-दुर्लभं लब्ध्वा श्रामण्यं दुष्प्रापं प्राप्य श्रमणभावं षड्जीवनिकायसंरक्षणैकरूपं, कर्मणा मनोवाक्काय क्रियया प्रमादेन न विराधयेत् न खण्डयेत्, अप्रमत्तस्य तु द्रव्यविराधना यद्यपि कथञ्चिद् भवति, तथाऽप्यसावविराधनैवेत्यर्थः एतेन "जले जीवाः स्थले जीवाः, आकाशे जीवामालिनि। जीवमालाकुले लोके, कथं भिक्षुरहिंसकः ? ॥१॥" इत्येतत्प्रत्युक्तम्, तथा सूक्ष्माणां विराधनाभावाच्च। ब्रवीमीति पूर्ववत्।

अधिकृताध्ययनपर्यायशब्दप्रतिपादनायाऽऽह

निर्युक्तिकारः-

जीवाजीवाभिगमो, आयारो चेव धम्मपन्नत्ती।
तत्तो चरित्तधम्मो, चरणे धम्मे य एगट्ठा॥२९७॥

जीवाजीवाभिगमः, सम्यग् जीवाजीवाभिगमहेतुत्वात्, एवमाचारश्चैवाचारोपदेशत्वात्, धर्मप्रज्ञप्तिर्यथावस्थितधर्मप्रज्ञापनात्, ततश्चारित्रधर्मस्तन्निमित्तत्वात्, चरणं चरणविषयत्वात्, धर्मश्च श्रुतधर्मस्तत्सारभूतत्वात् एकार्थिका एते शब्दा इति गाथार्थः। अन्ये त्विदं गाथासूत्रमनन्तरोदितं सूत्रस्याधो व्याख्यानयन्ति, तत्राप्यविरुद्धमेव। उक्तोऽनुगमः। साम्प्रतं नयास्ते च पूर्ववदेव। दश०४ अ०।

छज्जीवणिकायवह पुं० (षड्जीवनिकायवध) षड्जीवनिकायानां पृथिवीकायाप्कायतेजस्कायवायुकायवनस्पतिकायत्रसकायलक्षणषड्विधप्राणिगणानां वधे विनाशे, पा०।

छज्जीवणिकायसंजम पुं० (षड्जीवनिकायसंयम) षण्णां जीवनिकायानां पृथिव्यादिलक्षणानां संघट्टनादिपरित्यागे, प्रति०। "छसु जीवनिकाएसु, जे वूहे संजते सया। सो चेव होति विण्णेयो, परमत्थेणावि संजए॥१॥" दश०१ अ०।

छट्ठ त्रि० (षष्ठ) षण्णां पूरणः। षष् - डट् - थुक् च। **"कगटडतदपशषस ⌧क⌧पामूर्ध्वं लुक्"** ॥८।२।७७॥ इति षस्य लुक्। प्रा०२ पाद। येन षट् सङ्ख्या पूर्यते तस्मिन्, स्त्रियां ङीप्। वाच०। एकस्मिन्नहनि एकं भक्तं विधाय पुनर्दिनद्वयमभुक्त्वा चतुर्थेऽह्न्येकभक्तमपि विधत्ते, ततश्चाद्यन्तयोरेकभक्तदिनयोर्भक्तद्वयं मध्यदिवसयोश्च भक्तचतुष्टयमित्येवं षण्णां भक्तानां परित्यागात् षष्ठं भवतीति। षष्ठभक्ते, "अहवा अट्ठमेणं दसमेणं छट्ठेणमेगया भुंज"। आचा०१ श्रु०६ अ०४ उ०। तथा षष्ठकरणशक्त्यभावे पञ्चम्युपवासः पञ्चम्यां विधीयतेऽथवा पर्युषणाचतुर्थ्यामिति प्रश्ने, पर्युषणायामुपवासे कृतेऽपि शुद्ध्यति हीरविजयसूरिप्रसादितप्रश्नोत्तरसमुच्चयेऽपि तथैवोक्तत्वादिति। ८१ प्र०। सेन०२ उल्ला०।

छट्ठंग न० (षष्ठाङ्ग) ज्ञाताधर्मकथाऽध्ययननाम्नि अङ्गे, प्रति०।

छट्ठतव न० (षष्ठतपस्) पाक्षिकायां षष्ठं विधाय वीरषष्ठमध्ये क्षिप्यते, पाक्षिकोपवासस्तु स्वाध्यायादिना पूर्यते तदा स षष्ठस्तन्मध्ये आयाति, न वेति प्रश्ने, अल्पशक्तिमता यदि पाक्षिकषष्ठो वीरषष्ठमध्ये क्षिप्यते, तदा स आयाति पाक्षिकं तप उपवासादिना पृथग् त्वरितं पूर्यते इति। ३६ प्र०। सेन०४ उल्ला०।

छट्ठपारणग न० (षष्ठपारणक) वीरषष्ठपारणके ह्यनशनादि विधीयते किं वा यथाशक्त्येति प्रश्ने, यथाशक्त्या विधीयत इति। ३७ प्र०। सेन०४ उल्ला०।

छट्ठभत्त न० (षष्ठभक्त) षष्ठं भक्तं भोजनं वर्जनीयतया यत्र तत् षष्ठभक्तम्। उपवासरूपे तपसि, तत्र उपवासद्वये चत्वारि भक्तानि वर्ज्यन्ते, एकाशनेन च तदारभ्यते तेनैव च निष्ठां यातीत्यत्र षड्भक्तवर्जनरूपं तदिति। इयं चाहोरात्रिकी दिनत्रयेण याति, अहोरात्रस्यान्ते षष्ठभक्तकरणात्। यदाह-"अहोराइया तिहिं पच्छा छट्ठं करेइ त्ति" धर्म०३ अधि०। पञ्चा०।

छट्ठभत्तिय पुं० (षष्ठभक्तिक) दिनद्वयमुपोषिते, प्रश्न०१ संव० द्वार।

छट्ठाण न० (षट्स्थान) षट्स्थानाख्ये षष्ठेऽध्ययने, स्था०६ठा०। षण्णां स्थानानां वृद्धौ, हानौ च। प्रव०।

संप्रति 'छट्ठाणवुड्ढिहाणि' त्ति षष्ठ्यधिकद्विशततमं द्वारमाह-

वुड्ढी वा हाण। वा, अणंतअस्संखसंखभागेहिं।
वत्यूण संखअस्सं-खऽणतगुणणेण य विहेण॥४३२॥

अनन्तासंख्यातसंख्यातभागैः संख्यातासंख्यातानन्तगुणनेन च वस्तूनां पदार्थानां वृद्धिर्वा हानिर्वा विधेया। इह हि षट्स्थानके त्रीणि स्थानानि भागेन भागाहारेण वृद्धानि हीनानि वा भवन्ति, त्रीणि च स्थानानि गुणेन गुणकारेण "भागो तिसु गुणणा तिसु" इति वचनात्। तत्र भागहारेऽनन्तासंख्यातलक्षणः क्रमो, गुणकारे च संख्यातासंख्यातानन्तरलक्षण इति। अयमर्थः-सर्वविरतिविशुद्धिस्थानादीनां वस्तूनां वृद्धिर्वा हानिर्वा चिन्त्यमाना षट्स्थानगता प्राप्यते। तद्यथा-अनन्तभागवृद्धिः, असंख्यातभागवृद्धिः, संख्यातभागवृद्धिः, संख्यातगुणवृद्धिः, असंख्यातगुणवृद्धिः, अनन्तगुणवृद्धिश्च। एवं हानिरपि, तत्र किञ्चित्सुगमत्वात् सर्वविरतिशुद्धिस्थानान्येवाश्रित्य लेशतो भाव्यते। इह हि सर्वोत्कृष्टादपि देशविरतिविशुद्धिस्थानात्सर्वजघन्यमपि सर्वविरतिविशुद्धिस्थानमनन्तगुणम्। अनन्तगुणता च सर्वत्रापि षट्स्थानकचिन्तायां सर्वा जीवानन्तकप्रमाणेन गुणकारेण द्रष्टव्या। इयमत्र भावना-सर्वजघन्यमपि सर्वविरतिविशुद्धिस्थानं केवलिप्रज्ञाछेदनकेन छिद्यते, छित्त्वा च निर्विभागाः भागाः पृथक् क्रियन्ते; ते च निर्विभागाः भागाः सर्वसंकलनया विभाज्यमाना यावन्तः सर्वोत्कृष्टदेशविरतिविशुद्धिस्थानगता निर्विभागाः सर्वजीवानन्तकरूपेण गुणकारेण गुण्यमाना जायन्ते, तावत्प्रमाणाः प्राप्यन्ते। अत्राप्ययं भावार्थः-इह किलासत्कल्पनया सर्वोत्कृष्टस्य देशविरतिशुद्धिस्थानस्य निर्विभागा भागा दश सहस्राणि १०००० सर्वजीवानन्तकप्रमाणश्च राशिः शतं, ततस्तेन शतसंख्येन सर्वजीवानन्तकमानेन राशिना दशसहस्रसंख्याः सर्वोत्कृष्टदेशविरतिविशुद्धिस्थानगता निर्विभागा भागा गुण्यन्ते जाता दश लक्षाः १०००००। एतावन्तः किल सर्वजघन्यस्यापि सर्वविरतिविशुद्धिस्थानस्य निर्विभागा भागा भवन्ति। एते च सर्वजघन्यचारित्रसत्कविशुद्धिस्थानगतनिर्विभागा भागाः समुदिताः सन्तः सर्वजघन्यसंयमस्थानं भण्यते, तस्मादनन्तरं यद् द्वितीयं संयमस्थानं तत्पूर्वस्मादनन्तभागवृद्धम्। किमुक्तं भवति ? प्रथमसंयमस्थानगतनिर्विभागभागापेक्षया द्वितीयसंयमस्थानेन निर्विभागा अनन्ततमेन भागेनाधिका भवन्तीति, तस्मादपि यदनन्तरं तृतीयं तत्ततोऽनन्तभागवृद्धम्। एवं पूर्वस्मात् पूर्वस्मादुत्तरोत्तराणि निरन्तरमनन्तभागवृद्धानि संयमस्थानानि, अङ्गुलमात्रक्षेत्रासंख्येयभागगतप्रदेशराशिप्रमाणानि वाच्यानि, एतानि च समुदितानि संयमस्थानान्येकं खण्डकं वण्डकं नाम समयपरिभाषया अङ्गुलमात्रक्षेत्रासंख्येयभागगतप्रदेशराशिप्रमाणा संख्याऽभिधीयते। उक्तं च-"कडुंति इत्थ भत्ताइ, अंगुलभागो असंखेज्जो"। तस्माच्च खण्डकात्परतो यदनन्तरं संयमस्थानं तत्पूर्वस्मादसंख्येयभागाधिकम्। एतदुक्तं भवति-पाश्चात्यकण्डकसत्कचरमसंयमस्थानगतनिर्विभागाभागापेक्षया कण्डकादनन्तरसंयमस्थाननिर्विभागभागगताः प्रदेशा असंख्येयतमेन भागेनाधिकाः प्राप्यन्ते। ततः पराणि पुनर्यान्यन्यानि संयमस्थानानि अङ्गुलमात्रक्षेत्रासंख्येयभागगतप्रदेशराशिप्रमाणानि तानि यथोत्तरमनन्तभागवृद्धान्यवसेयानि। एतानि च समुदितानि द्वितीयं कण्डकं, तस्य च द्वितीयकण्डकस्योपरि यदन्यत् संयमस्थानं तत्पुनरपि द्वितीयकण्डकस्य सत्कचरम-संयमस्थानगत-निर्विभागभागापेक्षयाऽसंख्येयभागवृद्धं, ततो भूयोऽपि ततः पराणि कण्डकमात्राणि संयमस्थानानि यथोत्तरमनन्तभागवृद्धानि भवन्ति, ततः पुनरप्येकमसंख्येयभागवृद्धं संयमस्थानम्, एवमनन्तभागाधिकैः कण्डकप्रमाणैः संयमस्थानैर्व्यवहितान्यसंख्येयभागाधिकानि संयमस्थानानि तावन्त्यानि अपि कण्डकमात्राणि भवन्ति, चरमादसंख्येयभागाधिकसंयमस्थानात्पराणि यथोत्तरमनन्तभागवृद्धानि कण्डकमात्राणि संयमस्थानानि वाच्यानि, ततः परमेकं संख्येयभागाधिकं संयमस्थानं, ततो मूलादारभ्य यावन्ति स्थानानि प्रागतिक्रान्तानि तावन्ति भूयोऽपि तेनैव

क्रमेणभिधाय पुनरप्येकं संख्येयभागाधिकं संयमस्थानं वाध्यन, इदं च द्वितीयं संख्येयभागाधिकं स्थानं, ततोऽनेन क्रमेण तृतीयं वाच्यम्। अमूनि चैवं संख्येयभागाधिकानि संयमस्थानानि तावद्वाच्यानि यावत्कण्डकमात्राणि भवन्ति, तदस्तेनैव च क्रमेण भूयोऽपि संख्येयभागाधिकस्थानप्रसङ्गे संख्येयगुणाधिकमेकं स्थानं वक्तव्यं, ततः पुनरपि मूलादारभ्य यावन्ति संयमस्थानानि प्रागतिक्रान्तानि तावन्ति भूयोऽपि तथैव वाच्यानि, ततैः पुनरप्येकं संख्येयगुणाधिकं स्थानं वाच्यम्, ततो भूयोऽपि मूलादारभ्य तावन्ति संयमस्थानानि तथैव वाच्यानि, ततः पुनरप्येकं संख्येयगुणाधिकं स्थानम्, अमून्यप्येवं संख्येयगुणाधिकानि संयमस्थानानि वाच्यानि यावत्कण्डकमात्राणि भवन्ति। ततस्तेनैव क्रमेण पुनः संख्येयगुणाधिकस्थानप्रसङ्गेऽसंख्येयगुणाधिकस्थानं वाच्यम्, ततः पुनरपि मूलादारभ्य यावन्ति संयमस्थानानि प्रागतिक्रान्तानि तावन्ति तथैव भूयोऽपि वाच्यानि, ततः पुनरप्येकमसंख्येयगुणाधिकं संयमस्थानं, ततो भूयोऽपि मूलादारभ्य तावन्ति संयमस्थानानि तथैव वाच्यानि, ततः पुनरप्येकमसंख्येगुणाधिकं वाच्यम्, अमूनि चैवमसंख्येयगुणाधिकानि संयमस्थानानि तावद् वाच्यानि, यावत्कण्डकमात्राणि, ततः पूर्वपरिपाट्या पुनरप्यसंख्येयगुणाधिकस्थानप्रसङ्गेऽनन्तगुणाधिकं संयमस्थानं वाच्यम्, ततो भूयोऽपि मूलादारभ्य यावन्ति संयमस्थानानि प्रागुक्तानि तावन्ति तथैव वाच्यानि, ततो भूयोऽप्येकमनन्तगुणाधिकं स्थानम्, ततः पुनरपि मूलादारभ्य तावन्ति स्थानानि तथैव वाच्यानि, ततः पुनरप्येकमनन्तगुणाधिकं स्थानम्, एवमनन्तगुणाधिकानि संयमस्थानानि तावद्वाच्यानि यावत्कण्डकमात्राणि भवन्ति, ततो भूयोऽपि तेषामुपरि पञ्चवृद्ध्यात्मकानि संयमस्थानानि मूलादारभ्य तथैव वाच्यानि, यत्पुनरनन्तगुणवृद्धिस्थानं तत्र प्राप्यते, षटस्थानकस्य परिसमाप्तत्वात्। इत्थंभूतान्यसंख्येयानि कण्डकानि समुदितानि एकं षट्स्थानकं भवति। अस्माद्य षट्स्थानकादूर्ध्वमुक्तक्रमेणैव द्वितीयकं षट्स्थानकं तिष्ठति। एवमेव च तृतीयम्। एवं षट्स्थानकान्यपि तावद्वाच्यानि यावदसंख्येयलोका-काशप्रदेशप्रमाणिनि भवन्ति। उक्तं च-"छट्ठाणगअवसाने, अन्नं छट्ठाणयं पुणो अन्नं। एवमसंखा लोगा, छट्ठाणाणं मुणेयव्वा" ॥१॥ अस्मिँश्च षट्स्थानके यादृशोऽनन्ततमो भागोऽसंख्येयतमः संख्येयतमो गृह्यते, यादृशस्तु संख्येयोऽसंख्येयो न ततो वा गुणकारः सन्निरूप्यते, तत्र यदपेक्षयाऽसंख्येयानन्तगुणवृद्धता, तस्य सर्वजीवसंख्याप्रमाणेन राशिना भागो ह्रियते, हृते च भागे यल्लब्धं सोऽनन्ततमो भागः, तेनाधिकमुत्तरं संयमस्थानम्, किमुक्तं भवति? प्रथमस्य संयमस्थानस्य ये निर्विभागा भागास्तेषां सर्वजीवसंख्याप्रमाणेन राशिना भागे हृते सति ये लभ्यन्ते तावत्प्रमाणैर्निर्विभागैर्भागैर्द्वितीयभागसंयमस्थाने निर्विभागा भागा अधिकाः प्राप्यन्ते, द्वितीयसंयमस्थानस्य ये विभागास्तेषां सर्वजीवसंख्याप्रमाणेन राशिना भागे हृते सति यावन्तो लभ्यन्ते तावत्प्रमाणैर्निर्विभागभागैरधिकास्तृतीये संयमस्थाने निर्विभागा भागाः प्राप्यन्ते, एवं यद्यसंयमस्थानमनन्तभागं वृद्धमुपलभ्यते तत् पाश्चात्यस्य संयमस्थानस्य सर्वजीवसंख्याप्रमाणेन राशिना भागे हृते सति यद्यल्लभ्यते तावत्प्रमाणेन अनन्ततमेन भागेनाधिक्यमवगन्तव्यम्। असंख्येयभागाधिकानि पुनरप्येवं पाश्चात्यस्य २ संयमस्थानस्य सत्कानां निर्विभागभागानामसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणेन राशिना भागेहृते सति यद् यल्लभ्यते स सोऽसंख्येयतमो भागस्ततस्तेनासंख्येयतमेन भागेनाधिकान्यसंख्येयभागाधिकानि स्थानानि वेदितव्यानि। संख्येयभागाधिकानि त्वेवम् - पाश्चात्यस्यासंयमस्थानस्योत्कृष्टेन संख्येयेन भागे हृते सति यल्लभ्यते स संख्येयतमो भागः, ततस्तेन तेन संख्येयतमेन भागेनाधिकानि स्थानानि वेदितव्यानि। संख्येयगुणवृद्धानि पुनरेवम् - पाश्चात्यस्य संयमस्थानस्य ये ये निर्विभागा भागास्ते ते उत्कृष्टेन संख्येयमानेन राशिना गुण्यन्ते, गुणिते च सति यावन्तो भवन्ति तावत्प्रमाणानि संख्येयगुणाधिकानि स्थानानि द्रष्टव्यानि। एवमसंख्येयगुणवृद्धान्यनन्तगुणवृद्धानि च भावनीयानि, नवरमसंख्येयगुणवृद्धौ पाश्चात्यस्य २ संयमस्थानस्य निर्विभागा भागा असंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणेनासंख्येयेन गुणयन्ते, अनन्तगुणवृद्धौ तु सर्वजीवप्रमाणेनानन्तकेनेति। अयं च षट्स्थानकविचारः स्थापनां विना मन्दबुद्धिभिः सम्यगवबोद्धुं न शक्यते, सा च स्थापना कर्मप्रकृतिपटेभ्यः प्रतिपत्तव्या, विस्तरभयात्तु नेह प्रदर्श्यते, केवलं कियन्तमपि स्थापनाशून्यार्थं स्थापनाप्रकारं प्रकाशयामः। तथाहि-प्रथमं तावत् तिर्यक्षडङ्कौ चत्वारो बिन्दवः स्थाप्यन्ते, तेषां च कण्डकमिति संज्ञा, सर्वेषामपि चैतेषामन्योन्यमनन्तभागवृद्ध्या वृद्धिरवसेया। ततस्तेषामग्रतोऽसंख्यातभागवृद्धिसंज्ञक एकः स्थाप्यते, ततो भूयोऽपि चत्वारो बिन्दवः, तत एकक इत्यादि तावदवसेयं यावद्विंशतिर्बिन्दवः, चत्वारश्चैककाः जाताः, तदनु संख्यातभागवृद्धिसंज्ञको द्विकः स्थाप्यते। ततः पुनरपि विंशतिः बिन्दवः, चत्वारश्चैककाः, ततो द्वितीयो द्विकः। एवं विंशतेर्विंशतोर्बिन्दूनामन्तराऽन्तरा चतुर्णां चतुर्णामेककानामवसाने तृतीयचतुर्थावपि द्विकौ क्रमेण स्थाप्यौ। तदनु भूयोऽपि चतुर्थद्विकस्याग्रे विंशतिर्बिन्दवः, चत्वारश्चैककाः। एवं च जातं बिन्दूनां शतम्, एककानां विंशतिश्चत्वारश्च द्विकाः। अत्रान्तरे चतुर्णां बिन्दूनामग्रतः संख्यातवृद्धिसंज्ञिकप्रशस्त्रिकः संस्थाप्येते, ततः पुनरपि बिन्दूनां शतादेककानां विंशतेर्द्विकानां चतुष्टयात्तु परतो द्वितीयस्त्रिकः स्थाप्यते। एवं बिन्दूनां शते २, एककानां विंशतौ, द्विकानां चतुष्टये चतुष्टयेऽतिक्रान्ते तृतीयचतुर्थावपि त्रिकौ स्थाप्यौ, तदनु चतुर्थत्रिकस्याप्यग्रे बिन्दूनां शतमेककानां विंशतिर्द्विकानां चतुष्टयं स्थाप्यते, ततो जातानि पञ्च शतानि बिन्दूनां, शतमेककानां विंशतिर्द्विकानां चत्वारश्च त्रिकाः। अत्रान्तरे चतुर्णां बिन्दुनामग्रतोऽसंख्यातगुणवृद्धिसंज्ञिकः प्रथमचतुष्कः स्थाप्यते, ततो भूयोऽपि पञ्च शतानि बिन्दूनां शतमेककानां विंशतिर्द्विकानां चत्वारश्च त्रिकाः प्रागिव स्थाप्यन्ते। ततो द्वितीयश्च-तुष्कः स्थाप्यः। एवं बिन्दूनां श्यातपञ्चके एककानां शते द्विकानां विंशतौ त्रिकाणां चतुष्टये चतुष्टये चान्तिकान्ते तृतीयचतुर्थावपि चतुष्कौ क्रमेण स्थाप्यौ। ततश्चतुर्थचतुष्कस्याग्रे पञ्चमचतुष्कयोग्यं दलिकं स्थापयित्वा अनन्तगुणवृद्धिसंज्ञिकः प्रथमः पञ्चको न्यस्यते। एवमनेनैवानन्तरोक्तेन क्रमेण द्वितीयतृतीयचतुर्था अपि पञ्चका न्यसनीयाः। ततश्चतुर्थपञ्चकस्याग्रे पञ्चमपञ्चकयोग्यं दलिकं लिख्यते, नव पञ्चकाः स्थाप्यन्ते। ते आद्यन्तयोः प्रत्येकं बिन्दुचतुष्टयेन प्रथमं षट्स्थानं समाप्यते, यदा पुनः प्रथमानन्तरं द्वितीयं षट्स्थानकं स्थापयितुमिष्यते, तदा तदपेक्षया प्रथमं पृथक्-

चत्वारो बिन्दवः स्थाप्यन्ते, तदनन्तरमेककादिः सर्वोऽपि पूर्वोक्तो विधिः क्रमेण कर्तव्य इति । सांप्रतमङ्कानां बिन्दूनां च सर्वसंख्या कथ्यते- तत्रैकस्मिन् षट्स्थानके चत्वारः पञ्चकाभवन्ति, ततः पञ्चभिर्गुणयेदिति करणवशाच्चतुर्णां पञ्चकानां पञ्चभिर्गुणने लब्धा विंशतिश्चतुष्का । एतेषामपि पञ्चभिर्गुणने लब्धं शतं त्रिकाणाम् १०० । एतेषामपि पञ्चभिर्गुणने लब्धानि पञ्चशतानि द्विकानां ५००, तेषामपि पञ्चभिर्गुणने लब्धानि पञ्चविंशतिशतानि एककानां २५०, तेषामपि च पञ्चभिर्गुणने लब्धानि द्वादश सहस्राणि सार्द्धानि बिन्दूनाम् १२५०० । इयमेकस्मिन् षट्स्थाने सर्वसंख्या । एवं शेषेऽपि षट्स्थानकेषु प्रतिपत्तव्यमिति ॥ प्रव०२६० द्वार ।

छट्ठितंत न० (षष्टितन्त्र) षष्टिः पदार्था यस्मिन् शास्त्रे तन्त्र्यन्ते तत् षष्टितन्त्रम् । सांख्यशास्त्रे, "सप्तत्यां किल येऽर्थाः, तेऽर्थाः कृत्स्नस्य षष्टितन्त्रस्य ।" तच्च मरीचिशिष्येण कपिलेन ब्रह्मलोके कल्पे देवत्वेनोत्पन्नेव कथितमिति समयविदः । आ०म०प्र० । (इति 'कविल' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ३८६ पृष्ठे उक्तम्)

छट्ठी स्त्री० (षष्ठी) षण्णां पूरणी । षष् - मट् -थुट् ङीप् । तिथिभेदे, ज्यो०३ पाहु० । विशे० । द०प० । विभक्तिभेदे, नं० । स्वस्वामिभावसंबन्धे, तस्यास्य गतस्य भृत्यादेरिति । अनु० । स्था० । आ० म० । आचा० । षष्ठी द्विविधा दृष्टा-भेदषष्ठी. अभेदषष्ठी चेति । तत्र भेदषष्ठी, यथा- देवदत्तस्य गृहम् । अभेदषष्ठी, यथा-तैलस्य धारा, शिलापुत्रकस्य शरीरकमिति । ओघ० ।

छट्ठोवास पुं० (षष्ठोपवास) प्रथमदिवसोपवासं चतुर्विधाहारं कृत्वा द्वितीयदिने त्रिविधाहारोपवासं करोतीत्येवं कृतषष्ठो वीरषष्ठमध्ये आयाति, न वेति प्रश्ने द्वाभ्यामुपवासाभ्यां पृथककृताभ्यां निष्पन्नषष्ठो वीरषष्ठमध्ये नायाति, यत एकेन त्रिंशदधिका द्विशतषष्ठाः तपउच्चरणबेलायां संबद्धा उच्चार्यन्ते, आलोचनामध्ये सषष्ठ आयातीति॥६६ प्र० । सेन०४ उल्ला० ।

छड धा० (त्यज) भ्वा०-पर०-सक०-अनिट् । हानौ, दाने च । वाच० । 'छडति' त्यजति । संथा० । "सुविहिया सरीरं पि छडंति संथा० । 'ण परिछड्डेज्जा' सर्वं भुञ्जीत, न परित्यजेत् । आचा०२ श्रु०१ अ०६ उ० ।

छडक्खर (देशी) स्कन्दे, दे० ना०३ वर्ग ।

छडा स्त्री० (छटा) छो-अटन्- किच्च । दीप्तौ, परम्पराभ्यां च । वाच० । "आसिक्त उदकच्छटया" । आ०म०प्र० । विद्युति, दे०ना०३वर्ग ।

छडिय त्रि० (छटित) कण्डिते, छडिकया छटितानां तण्डुल्लानाम् । आ०म०प्र० ।

छड्ड धा० (मुच) तु०-मुचादि०-उभ०-सक०-अनिट् । त्यागे, वाच० । **"मुचेश्छड्डावहेडमेल्लोसिक्करेअवणिलुञ्छधंसाडाः"॥८।४।६१॥** इति मुञ्चतेः छड्डादेशः । 'छड्डइ' । प्रा०४ पाद । "छड्डेउ गामं पविट्ठिओ" । आ०म०प्र० । "छड्डेउ कामाए सामी पविट्ठो" । आ०म०प्र० । त्याजने, विशे० ।

छर्द धा० चुरा०-उभ०-सक०-सेट् । वमने, वाच० "छड्डिज्जा" छार्दं विदध्यात् । आचा०२ श्रु०१ अ०२ उ० ।

छड्डण न०पुं० (छर्दन) छर्द्-णिच्-ल्युट् । मदनवृक्षे, निम्ब वृक्षे च । भावे ल्युट्-वमने, वाच० । छर्दने, द्रवादिद्रव्यप्रयोगकृते, विपा०१ श्रु०८ अ० । उत्सर्गे, आव०५ अ० ।

छड्डाविय त्रि० (मोचित) मोचनं प्रापिते, "गहीया सा तं वेउं छड्डाविया" आ०म०द्वि० ।

छर्दापित माचिते, बृ०१उ० ।

छड्डि स्त्री० (छर्दि (र्दी)) छर्दयति । छर्द-हेतौ णिच् इन् । वमनरोगे **"सम्मर्द्दवितर्दिविछर्दिछर्दिकपर्दमर्दितेर्द्दस्य"।८।२।३६।** इति र्दस्य ड्डः । प्रा०२ पाद ।

अथातः छर्दिप्रतिषेधमध्यायं व्याख्यास्वामः -

"अतिद्रवैरतिस्निग्धै-रहृद्यैर्लवणैरपि ।
अकाले चातिमात्रैश्च, तथाऽसात्म्यैश्च भोजनैः ॥
श्रमात्क्षयात्ययोद्वेगा-दजीर्णात् कृमिदोषतः ।
नार्याश्चापन्नसत्त्वायाः, तथाऽतिद्रुतमश्नतः ॥
बीभत्सैर्हेतुभिश्चान्यै-र्द्रुतमुक्तक्लेशितो बलात् ।
छादयन्नाननं वेगै-रर्दयन्नङ्गभञ्जनैः ॥
निरुच्यते छर्दिरिति, दोषो वक्त्रं प्रधावितः ।
दोषानुदीरयन् वृद्धा-नुदानो व्यानसंगतः ॥
ऊर्द्धमागच्छति भृशं, विरुद्धाहारसेविनाम् ।
हल्लासोद्गाररोधौ च, प्रसेको लवणस्तनुः ।
द्वेषोऽन्नपाने च भृशं, वमीनां पूर्वलक्षणम् ॥
प्रच्छर्दयेत् फेनिलमल्पमल्पं,
शूलार्दितोऽभ्यर्दितपार्श्वपृष्ठः ।
श्रान्तः सघोषं बहुशः कषायं,
जीर्णोऽधिकं साऽनिलजा वमिस्तु ॥
योऽम्लं भृशं वा कटुतिक्तवक्त्रः,
पीतं सरक्तं हरितं वमेद् वा ।
सदाहचोषज्वरवक्त्रशोष-
मूर्च्छान्विता पित्तनिमित्तजा सा ॥
यो हृष्टरोमा मधुरं प्रभूतं,
शुक्लं हिमं सान्द्रकफानुविद्धम् ।
अभक्तरुग्गौरवसादयुक्तो,
वमेद् वमी सा कफकोपजा स्यात् ॥
सर्वाणि रूपाणि भवन्ति यस्यां,
सा सर्वदोषप्रभवा मता तु ।
बीभत्सजा दौर्हृदजाऽऽमजा च,
याऽसात्म्यतो वा कृमिजा च या हि ॥
सा पञ्चमी ताश्च विमावयेत्तु,
दोषौच्छ्रयेणैव यथोक्तमादौ ।
आमाशयोत्क्लेशभवाश्च सर्वा-
स्तस्माद्धितं लङ्घ मेव तासु ॥
शूलहृत्कासबहुला, कृमिजा च विशेषतः ।
कृमिहृद्रोगतुल्येन, लक्षणेन च लक्षिता ॥
क्षीणस्योपद्रवैर्युक्तां, सासृक्पूयां सतन्द्रिकाम् ।
छर्दिं प्रसक्तां कुशलो, नारभेत चिकित्सितुम् ॥
वमीषु बहुदोषासु, छर्दनं हितमुच्यते ।
विरेचनं वा कुर्वीत, यथादोषोच्छ्रयं भिषक् ॥
संसर्गाश्चानुपूर्व्येण, यथास्वं भेषजाय तान् ।
लघूनि परिशुष्काणि, सात्म्यान्यन्नानि वा चरेत् ॥

यथास्वं च कषायाणि, ज्वरघ्नानि प्रयोजयेत्।
कासः श्वासो ज्वरो हिक्का, तृष्णा वैचित्यमेव च।
हृद्रोगस्तमकश्चैव, ज्ञेयाश्छर्देरुपद्रवाः॥" तत्रार्थे,
"आमाशयोत्क्लेशभवा हि सर्वा-
च्छर्द्यो मता लङ्घन एव तस्मात्॥" वाच०। आचा०२ श्रु०२ अ०१ उ०।

छड्डिकुमार पुं० (छर्दिकुमार) अभुक्तभोगिनि, बृ०१ उ०।

छड्डिणिरोह पुं० (छर्दिनिरोध) वमनाभिघाते, छर्दिनिरोधे कृच्छ्रोत्पत्तिः। पं० चू०

छड्डित्तु अव्य० (छर्दयित्वा) परित्यज्येत्यर्थे, व्य०२ उ०।

छड्डिय न० (छर्दित) परिसाटिमति दशमे एषणादोषे, पञ्चा०१३ विव०। ग०। स्था०। छर्दितं दीयमानस्यान्नादेः पृथ्वीकायादिसंसक्तादि छर्दितं सता दश एषणादोषाः। जीत०। पिं०।

अथ छर्दितद्वारमाह -

सचित्ते अचित्ते, मीसग तह छड्डुणे य चउभंगो।
चउभंगे पडिसेहो, गहणे आणाइणो दोसा॥

छर्दितमुज्झितं, त्यक्तमिति पर्यायाः। तच्च त्रिधा। तद्यथा-सचित्तमाचित्तं, मिश्रं च। तदपि च कदाचित् छर्द्यते सचित्ते सचित्तमध्ये, कदाचिदचित्ते, कदाचिद् मिश्रे, तत एवं छर्दितानां सचित्ताचित्तमिश्रद्रव्याणामाधारभूतानामाधेयभूतानां च संयोगतश्चतुर्भङ्गी भवति। अत्र जातावेकवचनम्। ततो यदर्थस्तिस्रश्चतुर्भङ्गयो भवन्ति। तद्यथा-सचित्तमिश्रपदाभ्यामेका, सचित्ताचित्तपदाभ्यां द्वितीया, मिश्राचित्तपदाभ्यां तृतीया, तत्र सचित्ते छर्दितं, मिश्रे सचित्तं, सचित्ते मिश्रं, मिश्रे मिश्रमिति प्रथमा। सचित्ते सचित्तम्, अचित्ते सचित्तं, सचित्ते अचित्तम्, अचित्ते अचित्तमिति द्वितीया। मिश्रे मिश्रं, अचित्ते मिश्रं, मिश्रे अचित्तं, अचित्तेऽचित्तमिति तृतीया। सर्वसंख्यया द्वादश भङ्गाः। सर्वेषु च भङ्गेषु सचित्तः पृथिवीकायमध्ये छर्दित इत्यादिरूपतया स्वस्थानपरस्थानाभ्यां षट्विंशत् षट्विंशत् विकल्पाः, ततः षट्त्रिंशत् द्वादशभिर्गुणितानि जातानि चत्वारि शतानि, द्वात्रिंशदधिकानि। एतेषु च सर्वेषु भङ्गेषु प्रतिषेधो भक्तादिग्रहणे निवारणं, यदि पुनर्ग्रहणं कुर्यात्तत आज्ञादयः-आज्ञाऽनवस्थाप्यमिथ्यात्वविराधनारूपा दोषाः। इह आद्यन्तग्रहणेन मध्यस्यापि ग्रहणमिति न्यायादौद्देशिकादिदोषदुष्टानामपि भक्तादीनां ग्रहणे आज्ञादयो दोषा द्रष्टव्याः।

संप्रति छर्दितग्रहणे दोषानाह -

उसिणस्स छड्डुणे दें-तओ व डज्झेज्ज कायदाहो वा।
सीयपडणम्मि काया, पडिए महुबिंदु आहरणं॥

उष्णस्य द्रव्यस्य छर्दने समुज्झने, ददमानो वा भिक्षां, दहेत भूम्याश्रितानाम्, वा अथवा कायानां पृथिव्यादीनां दाहः स्यात् शीतद्रव्यस्य भूमौ पतने भूम्याश्रिताः कायाः पृथिव्यादयो विराध्यन्ते। अत्र पतिते मधुबिन्दूदाहरणम्-"रैवतपुरं नाम नगरं, तत्राभयसेनो नाम राजा, तस्यामात्यो वरत्रकोन्यदा त्वरितमचपलमसंभ्रान्तमेषणासमितिसमितो धर्मघोषनामा संयतो भिक्षामटन् तस्य गृहं प्राविशत्, तद्भार्या च तस्मै भिक्षादानात् प्राग् घृतखण्डसंमिश्रपायसभृतं स्थलमुत्प्राटितवती ? अत्रान्तरे च कथमपि ततः खण्डसंमिश्रो घृतबिन्दुर्भूमौ निपतितः, ततो भगवान् धर्मघोषो मुक्तिपदैकनिहितमानसो जलधिरिव गम्भीरो मेरुरिव निष्प्रकम्पो वसुधेव सर्वसहः शङ्ख इव रागादिभिरनञ्जनो महासुभट इव कर्मरिपुविदारणनिबद्धकक्षो भगवदुपदिष्टभिक्षाग्रहणविधिविधानकृतोद्यमो भिक्षेयं छर्दितदोषदुष्टा, तस्मान्न मे कल्पते, इति परिभाव्य ततो निर्जगाम। वारत्रकेण चामात्येन मत्तवारणस्थितेन दृष्टो भगवान् निर्गच्छन्। चिन्तयति च स्वचेतसिकिमनेन भगवता न गृह्यते स्म मे गृहे भिक्षेति, एवं यावच्चिन्तयति तावत् तु भूमौ निपातितं खण्डयुक्तं घृतबिन्दुं मक्षिकाः समागत्याऽशिश्रियन्। तासां च भक्षणाय प्रधाविता गृहगोधिका, गृहगोधिकाया अपि विधाताय प्रतिधावितः सरटः। अस्यापि च भक्षणाय प्रधावति स्म मार्जारी, तस्या अपि च बधाय प्रधावितः प्राघूर्णकः श्वा, तस्यातपि च प्रतिद्वन्द्वी प्रधावितोऽन्यो वास्तव्यः श्वा, ततो द्वयोरपि तयोः शुनोरभूत्परस्परं कलहः, ततः स्वस्वसारमेयपराभवदुर्मनस्कतया प्रधावितयोर्द्वयोरपि तत्स्वामिनोरभूत्परस्परमतुलं युद्धम्। एतच्च सर्वं वारत्रकामात्येन परिभावितं, ततश्चिन्तयति स्वचेतसिघृतादेर्बिन्दुमात्रेऽपि भूमौ निपतिते यत एवमाधिकरणप्रवृत्तिरत एवाधिकरणभीरुर्भगवान् घृतबिन्दुं भूमौ निपतितमवलोक्यभिक्षां न गृहीतवान्। अहो सुदृष्टो भगवतो धर्मः, को हि नाम भगवन्तं सर्वज्ञमन्तरेणेत्थमनपायिनं धर्ममुपदेष्टुमीशः, न स्वल्वन्धोरूपविशेषं जानाति, एवमसर्वज्ञोऽपि नेत्थं सकलकालमनपायं धर्ममुपदेष्टुमलम्, तस्माद्भगवानेव सर्वज्ञः, एवमेव जिनो देवता, तदुक्तमेवानुष्ठानं मयाऽनुष्ठातव्यमित्यादि विचिन्त्य संसारविमुखो मुक्तिवनिताऽऽश्लेषसुखलम्पटः सिंह इव गिरिकन्दराया निजप्रासादाद्विनिर्गत्य धर्मघोषस्य साधोरुपकण्ठं प्रव्रज्यामग्रहीत्। स च महात्मा शरीरेऽपि निःस्पृहो यथोक्तभिक्षाग्रहणादिविधिसेवी संयमानुष्ठानपरायणः स्वाध्याये भावितान्तः करणो दीर्घकालं संयममनुपाल्य जातप्रतनुकर्मा समुच्छलितदुर्निवार्यवीर्यप्रसरः, क्षपकश्रेणिमारुह्य घातिकर्मचतुष्टयं समूलघातं हत्वा केवलज्ञानलक्ष्मीमासादितवान्, ततः कालक्रमेण सिद्ध इति। उक्तमेषणाद्वारम्। पिं०। उत्त०। आचा०। प्रव०। छर्दिते प्रायश्चित्तं पुरिमार्द्धम्। जीत०।

उड्डेउ अव्य० (छर्दयित्वा) अपरिष्ठाप्येत्यर्थे, व्य०१ उ०।

छण पुं० (क्षण) क्षणोति दुःखम्। क्षण-अच्। उत्सवे, इन्द्रोत्सवादिके महे, भ०९ श०३३ उ०। "छणो जत्थ विसिट्ठं अन्नपाणं उवसाहिज्जति।" नि० चू०१६ उ०। दे० ना०३ वर्ग। क्षणु हिंसायाम्। क्षणनं क्षणः हिंसनम्। यत् किमपि प्राण्युपघातकारि तस्मिन् कर्मणि, आचा०१ श्रु०२ अ०६ उ०।

छणंत त्रि० (क्षण्वत्) घ्नति, घ्नन्तमन्यन्न समनुजानीत। आचा०१ श्रु०३ अ०२ उ०।

छणण न० (क्षणन) हिंसने, आचा०१ श्रु०२ अ०६ उ०।

छणपय न० (क्षणपद) हिंसापदे प्राण्युपमर्दजनिते, आचा०१ श्रु०२ अ०६ उ०।

छणवय न० (क्षणपद) 'छणपय' शब्दार्थे, आचा०१ श्रु०२ अ०६ उ०।

छण्ण त्रि० (छन्न) छद-चुरा०क्तः। आच्छादिते, निर्जने, रहसि, न०। वाच०। व्याप्ते, रा०। अव्यक्तस्वरे, ध०२ अधि०। अप्रकाशे, नि० चू०१ उ०। दर्भादिभिराच्छादिते, आचा०१ श्रु०२ अ०२ उ०। कल्प०। प्रच्छन्ने, अतिलज्जालुतयाऽव्यक्तवचने, भ०२५ श०६ उ०। मायायाम्, तस्याः स्वाभिप्रायप्रच्छादनरूपत्वात्। सूत्र०१ श्रु०२अ०२ उ०। षष्ठे आलोचनादोषे, "छण्णं तह आलोए, जह नवरं अप्पणा सुणइ।" इति। स्था०१० ठा०। प्रच्छन्नम् आलोचयति। किमुक्तं भवति ? लज्जालुतामुपदर्श्यापराधानल्पशब्देन तथाऽऽलोचयति यथा केवलमात्मैव शृणोति, न गुरुरित्येष षष्ठ आलोचनादोषः। व्य०१ उ०। "जं छन्नं तं न वत्तव्यं, एसा आणा णियंटिया।" " 'छणु' हिंसायाम्। हिंसाप्रधाने, तद्यथा-वध्यतां चौरोऽयम्, लूयन्तां केदाराः, दम्यन्तां गोरथका इति। यदि वा (छन्नं ति) प्रच्छन्नं यल्लोकैरपि प्रच्छाद्यते तत्सत्यमपि न वक्तव्यम्, इति। सूत्र०१ श्रु०६ अ०।

छण्णउइच्छेयणदायरासि पुं० (षण्णवतिच्छेदनदायराशि) योराशिर्द्वेनार्द्धेन विद्यमानः षण्णवतिवारान् छेदं सहते, पर्यन्ते सकलमेकस्वरूपं पर्यवसितं भवति। तस्मिन्, प्रज्ञा०१२ पद। (एष च 'सरीर' शब्दे दर्शयिष्यते)

छण्णंग न० (छन्नाङ्ग) स्त्रीणां कुक्षरकुचोरुभुतिषु गुप्ताङ्गेषु, बृ०१ उ०।

छण्णपय न० (छन्नपद) कपटे, मातृस्थाने, गुप्ताभिमाने, सूत्र०१ श्रु०४ अ०१ उ०।

छण्णपयोपयजीवि (ण्) त्रि० (छन्नपदोपजीविन) मातृस्थानोपजीविनि, सूत्र०२ श्रु०६ अ०।

छण्णमाय त्रि० (छन्नमातृक) प्रच्छन्नमातृके, तं०।

छण्णय पुं० (छन्नक) जन्मान्तरशकटजीवे, स्था०१० ठा०। व्य०।

छण्णसामत्थ त्रि० (छन्नसामर्थ्य) परलिङ्गग्रहणेनाऽऽच्छादितस्वस्वरूपे, व्य०१ उ०।

छण्णाम न० (षण्नामन्) षण्णामर्थानामभिधायके शब्दे, अनु०।

से किं तं छन्नामे ? छन्नामे छव्विहे पण्णत्ते। तं जहा उदइए उवसमिए खइए खओवसमिए परिणामिए संनिवाइए॥

"से किं तं छन्नामे" इत्यादि। अत्रोदयिकादयः षड् भावाः प्ररूप्यन्ते। तथा च सूत्रम्-"उदइए" इत्यादि। अत्राह-ननु नाम्नि प्रक्रान्ते तदभिधेयानामर्थानां भावलक्षणानां प्ररूपणमयुक्तमिति। नैतदेवम्। नामनामवतोरभेदोपचारात्तत्प्ररूपणस्याप्यदुष्टत्वात्, एवमन्यत्रापि यथासंभवं वाच्यम्। अनु०।

छण्णाल न० (षड्नाल) त्रिकाष्ठिकायाम्, औ०।

छण्णालिय न० (षड्नालिक) त्रिकाष्ठिकायाम्, भ०२ श०१ उ०। ज्ञा०।

छत्त न० (छत्र) 'छद्' अपवारणे। आतपं छादयति इति छत्रं प्रसिद्धम्। तदाकारो योगोऽपि छत्रम्। तस्मिन्, सू०प्र०१२ पाहु०। रा०। प्रश्न०। अष्टत्रिंशे ३८ द्वासप्ततिपुरुषकलाभेदे, जं०२ वक्ष०। नवमे चतुर्दशरत्नभेदे, प्रव०। छत्रम् चक्रवर्तिहस्तसंस्पर्शप्रभावसंजातद्वादशयोजनाऽयामविस्तरं सत् वैताढ्यनगोत्तरविभागवर्त्तिम्लेच्छानुराधितमेघकुमाराद् वृष्टाम्बुभरनिरसनसमर्थनं च भवति, सहस्रकाञ्चनशलाका-परिमण्डितं निर्व्रणप्रशस्तकाञ्चनमयोदण्डदण्डं वस्तिप्रदेशे पञ्जरविराजितं राजलक्ष्मीचिह्नमर्जुनाऽभिधानपाण्डुरस्वर्णप्रत्यवस्तृतपृष्ठदेशं शारदसंपूर्णपूर्णिमामृगाङ्कमण्डलमनोहरं तपनाऽऽतपवातवृष्टिप्रभृतिदोषक्षयकारकम्। प्रव० २१२ द्वार। प्रज्ञा०। आतपत्रे, षो०१५ विव० आ० म०। पञ्चा। सूत्र०। आचा०। भ०। अनु०। उत्त०। छात्रे, आ०म०प्र०। नि० चू०।

छत्रवर्णक एवं दृश्यते -

"अब्भपडलपिंगलुज्जलेण" अभ्रपटलमिव मेघवृन्दमिव बृहच्छायाहेतुत्वात् अभ्रपटलं, पिङ्गलं च कपिशं सुवर्णकञ्छिकानिर्मितत्वात् उज्ज्वलं निर्मलं यत्तत्तथा। अथवा-अभ्रमभ्रकं पृथिवीकायपरिणामविशेषः, तत्पटलमिव पिङ्गलं चोज्ज्वलं च तत्तथा, तेन। "अविरलसमसहियचंदमंडलसमप्पभेणं" अविरलं घनश्लाकाबन्धेन, समं तुल्यं शलाकायोगेन (सहिय त्ति) संहतमनिम्नोन्नतशलाकायोगात् चन्द्रमण्डलसमप्रभं च यद्दीप्त्या तत्तथा, तेन। "मंगलसमयभत्तिच्छेयविचित्तियखिंखिणिमणिहेमजा-लविरइयपरिगयपेरंतकणगघंटियापयलियकिणिकिणिकिणितसुति-सुहसुमहुरसद्दालसोहिएणं" मङ्गलाभिर्माङ्गल्याभिः, शतभक्तिभिः शतसंख्यविच्छित्तिभिः, छेकेन निपुणेन शिल्पिना, विचित्रितं यत्तत्तथा, किङ्किणीभिः क्षुद्रघण्टिकाभिः, मणिहेमजालेन च रत्नकनकजालकेन विरचितेन कृतेन, विशिष्टरतिदेन वा, परिगतं परिवेष्टितं यत्तत्तथा, पर्यन्तेषु प्रान्तेषु कनकघण्टिकाभिः प्रचलिताभिः किणिकिणायमानाभिः श्रुतिसुखसुमधुरशब्दवतीभिश्च 'आल' प्रत्ययस्य मत्वर्थीयत्वात्, शोभितं यत्तत्तथा। ततः पदत्रयस्य कर्मधारयोऽतस्तेन। "सप्पयरवरमुत्तदामालंबंतभूसणेणं" सप्रतराणि आभरणविशेषयुक्तानि यानि वरमुक्तादामानि वरमुक्ताफलमालाः (लंबंत त्ति) प्रलम्बमानानि तानि भूषणानि यस्य तथा, तेन। "नरिंदवामप्पमाणरुंदपरिमंडलेणं" नरेन्द्रस्य तस्यैव राज्ञो व्यामप्रमाणेन प्रसारितभुजयुगलमानेन रुंदं विस्तीर्णं परिमण्डलं वृत्तभागो यस्य स तथा, तेन। "सीयाययवायवरिसविसदोसविनास-णेन" शीतातपवातवृष्टिविषजन्यदोषाणां शीतादिलक्षणदोषाणां विनाशनं यत्तत्तथा, तेन। "तमरयमलबहलपमलधामणप्पभाकरेण" तमोऽन्धकारं, रजो रेणुर्मलः प्रतीतः, एषां बहुलं घनं, यत् पटलं वृन्दं तस्य धाङ्नी नाशनी या प्रभा कान्तिस्तत्करणशीलं यत्तत्तथा, तेन। अथवा-रजोमलतमोबहुलपटलस्य व्रीडने प्रभाकरइव यत्तत्तथा। "उउसुहसिवच्छायसमणुबद्धेणं" ऋतौ २ कालविशेषे, सुखा सुखहेतुः ऋतुसुखा, शिवा निरुपद्रवा, छाया आतपवारणलक्षणा, तया समनुबद्धमनवच्छिन्नं यत्तत्तथा, तेन। "वेरुलियदंडसन्निएणं ति" वैडूर्यमयदण्डे सन्नितं वितानितं यत्तत्तथा, तेना "वइरामयवत्थिनिउणजोइयअट्ठसहस्सवरकंचणसलागनिम्मिएणं" वज्रमय्यां वस्तौ शलाकानिवेशनस्थाने, निपुणेन शिल्पिना, योजिताः संबन्धिताः, (अट्ठसहस्स त्ति) अष्टोत्तरसहस्रसंख्याः या वरकाञ्चनशलाकाः, ताभिर्निर्मितं यत्तत्तथा, तेन। "सुनिम्मलरययसुच्छएणं ति" सुनिर्मलो रजः, तस्य संबन्धी सुच्छदः शोभनप्रच्छादनपटो यत्र तत्तथा, तेन।

"निउणोचियमिसिमिसिंतमणिरयणसूरमंडलवितिमिरकरनिग्गयग्ग-पडिहयपुणरविपच्चापडंतचंचलमरीइकवयविणिंमुयंतेणं" निपुणेन शिल्पिना, निपुणं वा यथा भवति एवम् -(उचिय त्ति) परिकर्मितानि (मिसिमिसिंत त्ति) दीप्यमानानि यानि मणिरत्नानि तानि मणिरत्नानि, तथा सूरमण्डलादादित्यबिम्बात्, ये वितिमिरा हतान्धकाराः करनिर्गताः किरणविनिर्गताः, तेषां यान्यग्राणि तानि प्रतिहतानि निराकृतानि, पुनरपि प्रत्यापतन्ति च प्रतिवर्तमानानि यस्माच्चञ्चलमरीचिकवचात्तत्तथा। अथवा-सूरमण्डलाद् वितिमिरकराणां निर्गतानामग्रैः प्रतिहतं पुनरपि प्रत्यापतच्च तच्च तच्चञ्चलमरीचिकवचं च चपलरश्मिपरिकर इति समासः। निपुणोचितमिसिमिसायमानमणिरत्नानां यत्सूरमण्डलवितिमिर-करनिर्गताग्रप्रतिहतं पुनरपि प्रत्यापतच्चञ्चलमरीचिकवचं यत्तत्तथा, तद्विनिर्मुञ्चता विसृजता "सपडिदंडेणं" अतिभास्विकतया एकदण्डेन दुर्वहत्वात् सप्रतिदण्डेन "धरिज्जमाणेणं आयवत्तेणं विरायंते" इति व्यक्तम्। अधिकृतवाचनायां तु चतुश्चामरबालबीजिताङ्ग इति व्यक्तम्। औ०। छत्रवन्मध्ये उन्नतं उत्तमाङ्गं यासां ताः। प्रश्न०४ आश्र० द्वार।

छत्तंतिया स्त्री० (छत्रान्तिका) छत्रवत्वाद् राजरूपे पर्षद्भेदे, बृ०१ उ०। ("परिसा" शब्दे एतत्स्वरूपं वक्ष्यते)

छत्तक न० (छत्रक) आतपवारणे, प्रश्न०४ सम्ब० द्वार। एतन्मदीयं तावच्छत्रकादि गृहाण। आचा०२ श्रु०३ अ०२ उ०२।

छत्तकार पुं० (छत्रकार) छत्ररचनाशीले शिल्पिभेदे, अनु०।

छत्तधारपडिमा स्त्री० (छत्रधारप्रतिमा) जिनप्रतिमानामुपरि छत्रधरिणः प्रतिमायाम्, जी०।

तत्स्वरूपम् -

तासि णं जिणपडिमाणं पच्छिओ पत्तेयं पत्तेयं छत्तधारपडिमाओ पण्णत्ताओ। ताओ णं छत्तधारपडिमाओ हिमरयतकुंदुप्पगासाइं कोरिंटमल्लदामाइं धवलाइं आयवत्तातिं सलीलं ओहरिमाणीओ ओहरिमाणीओ चिट्ठंति।

तासां जिनप्रतिमानां पृष्ठत एकैका छत्रधारप्रतिमा हइमरजतकुन्देन्दु-प्रकाशं सकोरिण्टमाल्यदामधवलमातपत्रं बृहीत्वा सलीलं धरन्ती तिष्ठति। जी०३ प्रति०।

छत्तपडागा स्त्री० (छत्रपताका) छत्रेण सहिता पताका छत्रपताका, छत्रोपरि वा पताका छत्रपताका। तस्याम्, औ०। भ०। ज्ञा०।

छत्तपलासय न० (छत्रपलाशय) "कयंगला" कृताङ्गलानगर्यां स्वनामख्याते चैत्ये, भ०२ श०१ उ०।

छत्तभंग पुं० (छत्रभङ्ग) छत्रस्य भङ्गो यत्र। नृपनाशे, वैधव्ये, अस्वातन्त्र्ये च। वाच०। स्था०।

छत्तमग्ग पुं० (छत्रमार्ग) यत्र छत्रमन्तरेण गन्तुं न शक्यते तस्मिन् मार्गे, सूत्र०१ श्रु०११ अ०।

छत्तय पुं० (छत्रक) छत्रमिव कायति कै-कः। वृक्षे, मत्स्यरङ्गे, पक्षिणि च। स्वार्थे कः। छत्रे, न०। वाच०। आतपत्रे, आचा०२ श्रु०६ अ०१ उ०। भ०। सूत्र०।

छत्तरयण न० (छत्ररत्न) चक्रवर्तिनामत्युत्कृष्टे छत्रे, स्था०७ ठा०। स०। जं०। (वर्णकोऽस्य 'भरत' शब्दे विजययात्राऽधिकारे)

छत्तल न० (षट्तल) षट् तलानि यत्र तत्षट्तलम्। मध्यखण्डषट्कयुक्ते, अनु०। स्था०।

छत्तलक्खण न० (छत्रलक्षण) षट्त्रिंशत्तमे अष्टत्रिंशत्तमे कलाभेदे, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०। सूत्र०। स०। औ०।

छत्तसंठिया स्त्री० (छत्रसंस्थिता) छत्रस्येव संस्थितं संस्थानं यस्याः सा। छत्राकारसंस्थिते पदार्थे, चं०प्र०४ पाहु०।

छत्तहर पुं० (छत्र (धा) धर) छत्रं धरति धारयति वा अच्- अण्- वा। छायाकरणाय नियुक्ते दासभेदे, वाच०। आ० म० द्वि०।

छत्तहार पुं० (छत्रधार) 'छत्तहर' शब्दार्थे, आ०म०द्वि०।

छत्ता स्त्री० (छत्रा) स्वनामख्यातायां नमर्याम्, यत्र पूर्वभवे श्रीमहावीर-स्वामी जितशत्रुनृपतेर्भद्रादेव्या नन्दनो नाम कुमार उत्पन्न इति। आ०म०प्र०।

छत्ताइच्छत्त न० (छत्रातिच्छत्र) छत्रमतिक्रम्य छत्रं छत्रातिच्छत्रम्। स्था०७ ठा०। स०। रा०। सू०प्र०। छत्राद् लोकप्रसिद्धाद् एकसंख्याकादति-शायीनि छत्राणि उपर्यधोभागेन द्विसंख्यानि त्रिसंख्यानि वा छत्रातिच्छत्राणि। रा०। जी०। आ०म०। छत्रं प्रसिद्धं, तदाकारो योगोऽपि छत्रं, छत्रात् सामान्यरूपात् उपर्यन्यान्यच्छत्रभावतोऽतिशायि छत्रं छत्रातिच्छत्रम्। सू०प्र०१२ पाहु०। रा०। उपर्युपरि स्थिते आतपत्रे, जी०३ प्रति०। चं०प्र०। रा०। चन्द्रेण युज्यमाने दशसु योगेषु षष्ठे योगे, सू०प्र०१२ पाहु०। रा०।

छत्तागारुत्तमंगदेस न० (छत्राकारोत्तमाङ्गदेश) छत्राकार उत्तमाङ्गरूपो देशो येषां ते छत्राकारोत्तमाङ्गदेशाः। जी०३ प्रति०। तथाविधशिरस्केषु युगलिकमनुष्येषु, छत्राकारोत्तमाङ्गदेशः, उन्नतत्वसाधर्म्यात्। औ०।

छत्तातिच्छत्तसंठाणसंठिय त्रि० (छत्रातिच्छत्रसंस्थानसंस्थित) छत्रमतिक्रम्य छत्रं छत्रातिच्छत्रं, तथासंस्थानमाकारोऽधस्तनं छत्रं महदुपरितनं लघ्विति तेन संस्थितं छत्रातिच्छत्रसंस्थानसंस्थितम्। महदधस्तनोपरितनलघौ, स्था०७ ठा०।

छत्ताय न० (छत्राक) छत्राऽतिच्छत्रेव कायति कै-कः। शिलीन्ध्रे, जालवर्वुरकक्षे, पुं०। गौरादित्वात् ङीष्। रास्नायाम्, स्त्री०। वाच०। स०।

छत्तार पुं० (छत्रकार) छत्रनिर्मापके शिल्पिभेदे, प्रज्ञा०१ पद।

छत्ति (ण्) त्रि० (छत्रिन्) छत्रमस्यास्तीति छत्री। छत्रयुक्ते, अनु०।

छ त्ति छकारपविभत्ति न०,पुं० (छ इति छकारप्रविभक्ति) छकारवर्णस्व-रूपवर्णाकृतिनाट्यभेदे, रा०।

छत्तिया स्त्री० (छत्रिका) छत्रापुर्याम्, कल्प०२ क्षण।

छत्तिवण्ण पुं० (सप्तपर्ण) सप्त सप्त पर्णान्यस्य प्रतिपर्णम्। वाच०। **"सप्तपर्णे वा"** ।८।१।४६। इति द्वितीयस्यात इत्वं वा। प्रा०१ पाद। **"षट्शमीशाव-सुधासप्तपर्णेष्वादेश्छः"** ।८।१।२६५। इत्यादेर्वर्णस्य छः। प्रा०१ पाद।

छातिमवृक्षे, "सप्तपर्णो व्रणश्लेष्म-वातकुष्ठास्रजन्तुजित्। दीपनः श्वासगुल्मघ्नः, स्निग्धोष्णस्तुवरः स्मृतः"॥१॥ लज्जालुलतायाम्, स्त्री०। ङीप्। "द्राक्षादाडिमखर्जूर-मृदिताम्रं सशर्करम्। लाजाचूर्ण समध्वाज्यं, सप्तपर्णमुदाहृतम्"॥१॥ उक्ते खाद्यभेदे, न०। वाच०।

छत्तीस स्त्री० (षट्त्रिंशत्) षडधिका त्रिंशत्। शाक०। संख्याभेदे, तत्संख्याऽन्विते च। वाच०। "छत्तीसा पट्ठाणेहिं, जो होति परिणिट्ठितो। अलमत्थो तारिसो होई, ववहारं ववहरित्तए"॥१॥ व्य०१० उ०। "एए खरपुढवीए, भेया छत्तीसमाहिया"। उत्त०१ अ०। प्रज्ञा०।

छत्तोय न० (छत्रोकष्) कुहडभेदे, प्रज्ञा०१ पद।

छत्तोवग पुं० (छत्रोपक) वृक्षभेदे, रा०।

छत्तोह पुं० (छत्रौघ) वृक्षभेदे, प्रज्ञा०१ पद। भ०।

छद्दवण न० (छर्दापन) त्याजने, छर्दापनं नाम तद् छलादपि साधुपार्श्वादन्यत्र तं शवं परित्यजेयुः। बृ०६ उ०।

छद्दसहा अव्य० (षट्दशधा) षोडशप्रकारे, व्य०४ उ०।

छद्दी (देशी) शय्यायाम्, दे०ना०३ वर्ग।

छद्दोसविप्पमुक्क न० (षड्दोषविप्रमुक्त) षड्भिर्दोषैर्विप्रमुक्ते गेये, ते च षट् दोषा अमी-"भीयं दुयमुप्पिच्छं" उत्तालकाकस्वरमनुनासं च। उक्तं च-"भीयं दुयमुप्पिच्छमु-त्तालं कमसो मुणेयव्वं। काकस्सरमणुनासं, छद्दोसा होंति गेयस्स"॥१॥ जी०३ प्रति०।रा०।

छधणुसहस्स न० (षड्धनुःसहस्र) क्रोशत्रये, स्था०६ ठा०।

छन्नउइ स्त्री० (षण्णवति) षडधिकनवतिसंख्यायाम्, तत्संख्यान्विते च। त्रि०। वाच०। ज्यो०।

छप्पइया स्त्री० (षट्पदिका) यूकायाम्, आव०६ अ०। महा०। आ०म०। नि०चू०।

छप्पएसिय पुं० (षट्प्रदेशिक) प्रदेशषड्निष्पन्ने पुद्गलस्कन्धे, "छप्पएसिया णं खंधा अणंतो पण्णत्ता"। स्था०६ ठा०।

छप्पएसोगाढ पुं० (षट्प्रदेशावगाढ) षट्सु आकाशप्रदेशेषु अवगाढे पुद्गले, "छप्पएसोगाढा पोग्गला अणंता" स्था०६ ठा०।

छप्पण्ण त्रि० (षट्पञ्चाशत्) षडधिकाः पञ्चाशत्। शाक०। संख्याभेदे, तत्संख्यान्विते च। वाच०। "छप्पन्नं गणहरा होत्था"। स०५६ सम०।

छप्पतिगिल्ल त्रि० (षट्पदिकावत्) यस्य षट्पदिकाः प्राचुर्येण सम्मूर्च्छन्ति। तस्मिन् षट्पदिकाऽऽवृते, बृ०३ उ०।

छप्पद पुं० (षट्पद) **"षड् शमीशावसुधासप्तपर्णे ष्वादेश्छः"॥८।१।२६५।** इति षस्य छः। भ्रमरे, स्त्रियां ङीप्। यूकायाम। वाच०।

षट्पदैः भ्रमरैः परिभुज्यमानानि कमलानि,

उपलक्षणमेतत्-कुमुदानि च, यासु ताः षट्पदपरिभुज्यमानकमलाः। जी०३ प्रति०। रा०। जं०। औ०। कल्प०। नि०। चू०।

छप्पय पुं० (षट्पद) छप्पद शब्दार्थे, प्रा०१ पाद।

छप्पुरिमा स्त्री० (षट्पुरिमा) षड्वारप्रस्फोटनात्मिकायां प्रत्युपेक्षणायाम्, तत्र वस्त्रस्य चक्षुषा निरूप्यार्वाग्भागं त्रयः पुरिमाः कर्तव्याः। तथा परावर्त्यापरभागं निरूप्य पुनरपि त्रयः पुरिमाः कर्तव्याः। एवमेतेषु पुरिमाः षट्वाराः, प्रस्फोटनानीत्यर्थः। ओघ०। नि० चू०। ध०। स्था०।

छप्पुलओ (देशी) सप्तच्छदे, दे०ना०३ वर्ग।

छमा स्त्री० (क्ष्मा) क्षम-अङ्। **"क्षमायां कौ"।८।२।१८।** इति क्षस्य छः। लाक्षणिकस्याऽपि क्ष्मादेशस्य छः। प्रा०२ पाद। **"क्षमाश्लाघारत्नेऽन्त्यव्यञ्जनात्"।८।२।१०१।** एषु संयुक्तस्य यदन्त्यं व्यञ्जनं तस्मात्पूर्वोऽद् भवति इत्यदागमः। पृथिव्याम्, प्रा०२ पाद।

छमासम त्रि० (क्षमासम) पृथ्वीसमे, द्वा०२६ द्वा०।

छमी स्त्री० (शमि-(मी)) शम-इन्-वा ङीप्। वाच०। **"षट्शमीशावसुधासप्तपर्णेष्वादेश्छः"।८।१।२६५।** इति शस्य छः। प्रा०१ पाद। (खेजडी) वृक्षभेदे, वाच०। "शमी तिक्ता कटुः शीता, कषाया रेचनी लघुः। कम्पकासश्रमश्वास-कुष्ठार्शः कृमिजित्स्मृता"॥१॥ वाच०।

छम्माणि पुं० (षण्मानि) स्वनामख्याते ग्रामे, यत्र गोपेन श्रीमहावीरस्वामिनः कर्णयोः कटकशलाके प्रवेशिते। कल्प०६ क्षण। आ० चू०। आ० म०।

छम्मास पुं० (षण्मास) मासषट्कात्मके कालपरिमाणविशेषे, पञ्चा०१० विव०। भ०। सू० प्र०।

छम्मासिय न० (षाण्मासिक) षष्ठे मासे भवः ठञ्। मृतस्य एकाहोनषष्ठमासे कर्तव्ये श्राद्धभेदे, "आद्यं षाण्मासिके तथेति" स्मृतिः। एकाहन्यूनषण्मासे तस्य विधानम्। वाच० आचा०। नि०चू०। आ० चू०।

छम्मासियभिक्खुपडिमा स्त्री० (षाण्मासिकाभिक्षुप्रतिमा) षण्मासपरिमाणे साधुप्रतिज्ञाविशेषे, तत्र हि षण्मासान् यावत् षट् दत्तयो भक्तस्य, षडेव च पानकस्येति। औ०।

छम्मुह पुं० (षण्मुख) श्रीविमलजिनस्य यक्षे, स च श्वेतवर्णः शिखिवाहनो द्वादशभुजः फलचक्रबाणखड्गपाशाक्षसूत्रयुक्तदक्षिणपाणिषट्को नकुलचक्रधनुः फलकाङ्कुशाभययुक्तवामपाणिषट्कश्च। प्रव०२६ द्वार।

छय त्रि० (क्षत) पीडिते, सूत्र०१ श्रु०२ अ०२ उ०।

छरियगइ त्रि० (छटितगति) मायया लोकावर्जनाय मन्दगामिषु, बृ०१ उ०।

छरु पुं० (त्सरु) त्सर-उत्। खड्गमुष्टौ, जं०२ वक्ष०। प्रश्न०। औ०।जी०।तं०।

छरुप्पवाय पुं० (त्सरुप्रवाद) एकषष्टिकलायाम् जं०२ वक्ष०। ज्ञा०। क्षुरिकादिग्रहणोपायजाते, प्रश्न०५ आश्र० द्वार। त्सरुः खड्गमुष्टिः, तदवयवियोगात् त्सरुशब्देनाऽत्र खड्ग उच्यते। अवयवे समुदायोपचारः, तस्य प्रवादो यत्र शास्त्रे तत् त्सरुप्रवादम्। खड्गशिक्षाशास्त्रे, जं०२ वक्ष०। औ०।

छरुय पुं० (त्सरुक) मुष्टिग्रहणस्थाने, ज्ञा०१ श्रु०१६ अ०।

छल धा० (छल) कृतौ, सक० सेट्-छलयति। वाच०। "छलिज्जति" नि०चू०१उ०। "अकाले पढमाणो पंतदेवयाए

छलिञ्जहिसि। "नि० चू०१ उ०। "छलिञ्जसि" छल्यसे। पं० व०२ द्वार।

छल न० व्याजे, यथार्थगूहने, कूटयुद्धादिना तन्मर्यादायाश्चलने, शाठ्ये, कापट्ये, वाच०। वचनविघाते, स्या०। तत्त्रिधा-वाक्छलए, सामान्यच्छलम्, उपचारच्छलं चेति। तत्र साधारणे शब्दे प्रयुक्ते वक्तुरभिप्रेतादर्थादर्थान्तरकल्पनया तन्निषेधो वाक्छलम्। यथा-नवकम्बलोऽयं माणवक इति नूतनविवक्षया कथिते परः संख्यामारोप्य निषेधति-कुतोऽस्य नव कम्बला इति ? संभावनयाऽतिप्रसङ्गिनोऽपि सामान्यस्योपन्यासे हेतुत्वारोपणेन तन्निषेधः सामान्यच्छलम्। यथाऽहो *नु खल्वसौ ब्राह्मणो विद्याचरणसंपन्न इति ब्राह्मणस्तुतिप्रसङ्गे* कश्चिद्वदति-संभवति ब्राह्मणे विद्याचरणसंपदिति, तच्छलवादी ब्राह्मणत्वस्य हेतुतामारोप्य निराकुर्वन्नभियुङ्क्ते-यदि ब्राह्मणे विद्याचरणसंपद्भवति, तर्हि व्रात्येऽपि सा भवेत्। व्रात्योऽपि ब्राह्मण एव इति। औपचारिके प्रयोगे मुख्यप्रतिषेधेन प्रत्यवस्थानम् उपचारच्छलम्। यथा-मञ्चाः क्रोशन्ति इत्युक्ते परः प्रत्यवतिष्ठते-कथमचेतना मञ्चाः क्रोशन्ति ? मञ्चस्थास्तु पुरुषाः क्रोशन्ति इति। स्या०। बृ०। आ० म०। विषा०। अनु०। अथ छलम्- अर्थविघातोऽर्थविकल्पोपपत्तेरिति। तत्रार्थविशेषे विवक्षितेऽभिहिते वक्तुरभिप्रायादर्थान्तरकल्पना वाक्छलम्। यथा-नवकम्बलोऽयं देवदत्तः। अत्र च नवः कम्बलोऽस्येति वक्तुरभिप्रायः। विग्रहे च विशेषो, न समासे। तत्रायं छलवादी नव कम्बलोऽस्येत्येतद्भवताऽभिहितमिति कल्पयति, न चाऽयं तथेत्येवं प्रतिषेधयति। तत्र छलमित्यसदर्थाऽभिधानम्। तद्यदि छलं न तर्हि तत्त्वं, तत्त्वं चेत्र तर्हि छलं, परमार्थरूपत्वात्तस्येति। सूत्र०१ श्रु०१२ अ०।

छलंस न० (षमस्र) षट्कोटिके, स्था०८ ठा०।

छलण न० (छलन) प्रक्षेपणे, आचा०२ श्रु०३ अ०१ उ०।

छलणा स्त्री० (छलना) व्यापादने, सा च द्विधा-द्रव्यतो, भावतश्च। द्रव्यतश्छलना खड्गादिभिः, भावतः परीषहोपसर्गाद्यैः। व्य०२ उ०। आ० चू०। आव०। ('परिहार' शब्दे व्याख्यास्यते)

छलायतन न० (षमा (छला)) आयतनषट्कयुक्ते, "आहंसु छलायतणं च कम्मं।" छलायतनं छलं, नवकम्बलो देवदत्त इत्यादिकमाहुरुक्तवन्तः। चशब्दादन्यच्च दूषणाभाषादिकम्। तथा कर्म च एकपक्षद्विपक्षादिकं प्रतिपादिवन्त इति। यदि वा-षडायतनानि उपादानकारणानि अश्रावद्वाराणि श्रोत्रेन्द्रियादीनि यस्य कर्मणस्तत् षडायतनं कर्मेत्येवमाहुरिति। सूत्र०१ श्रु०१२ अ०।

छलिय न० (छलित) शृङ्गारकाव्ये, बृ०१ उ०। व्यसितेऽनर्थं प्रापिते, ज्ञा०१ श्रु०६ अ०। सिण्टिते, तस्करसंज्ञायाम्, तत्करणे साधोः प्रायश्चितं चतुर्थम्। जीत०। आव०।

छल्ली स्त्री० (छल्ली) अभ्यन्तरवल्कले, स्था०४ ठा०१ उ०। प्रव०। आ०म०। जं०। ज्ञा०। दे० ना०३ वर्ग।

छवडा (देशी) चर्मणि, दे० ना०३ वर्ग।

छवि स्त्री० (छवि (वी)) छ्यति आसारं छिनत्ति, तमो वा। छो-वि-किच्च वा ङीप्। शोभायां, कान्तौ च। वाच०। कल्प०। शरीरे, ध०२ अधि०। प्रश्न०। आव०। स्था०। आचा०। त्वचायाम्, जी०३ प्रति०। स्था०। त्वग्योगादौदारिकशरीरं, तद्वती नारी, तिरश्ची वा, तद्वान्नरस्तिर्यङ् वा छविरित्युच्यते। स्था०४ ठा०१ उ०। वल्लचवलकादिफले, दश०७ अ०। अलङ्कारविशेषे, अनु०।आ०म०।

छविकर पुं० (छविकर) षष्ठे प्रशस्तमनोविनयभेदे, स्था०७ ठा०।

छविच्छेय पुं० (छविच्छेद) गौणप्राणातिपातवृत्तेरतिचारविशेषे, ध०२ अधि०। भरतचक्रवर्तिकाले प्रवर्तितायां चतुर्थ्यां दण्डनीतौ, सा च-"छविच्छेयाइ भरहस्स" छविच्छेदादिका, आदिशब्दाच्छिरः कर्तनादिपरिग्रहः। "पलितोपमऽट्ठभागे, सेसम्मि य कुलगरुप्पत्ती"। इति वचनात् तत्र पल्योपमं किलासत्कल्पनया चत्वारिंशद्भागं परिकल्पते, तस्याऽष्टमो भागः पञ्च च विधिं परिभाव्य प्रवर्तिता, सा गुरुतरापराधाविषया चतुर्थी छविच्छेदादिका। आ०म०प्र०। आव०। श्रा०। पञ्चा०। ध०२०। स्था०। आ०चू०। प्रव०। उत्त०। ध०। प्रश्न०।

छविच्छेयण न० (छविच्छेदन) अवयवकर्तने, प्रश्न०१ आश्र० द्वार।

छवित्ताण न० (छवित्राण) देहचर्माच्छादने, उत्त०२ अ०।

छविदोस पुं० (छविदोष) छविरलङ्कारविशेषस्तेजस्विता वा। तद्रहिते, विशे०। अनु०। आ०म०।

छविपत्र त्रि० (छविप्राप्त) छविं जाते, स्था०२ ठा०३ उ०।

छविपव्व न० (छविपर्व) छविसन्धिबन्धने, स्था०।

दोण्हं छविपव्वा पण्णत्ता। तं जहा-मनुस्साणं चेव, पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं चेव॥

(दोण्हं छविपव्व त्ति) द्वयानामुभयेषां (छवि त्ति) मतुब्लोपात् छविमन्ति त्वग्वन्ति (पव्व त्ति) पर्वाणि संधिबन्धनानि छविपर्वाणि। क्वचित् "छवियत्त" त्ति पाठः। तत्र छवियोगात् छविः, स एव छविकः, स चासौ (अत्त त्ति) आत्मा च शरीरं छविकात्मेति। "छविपन्न" त्ति पाठान्तरे छविः प्राप्ता, जातेत्यर्थः। गर्भस्थानामिति सर्वत्र संबन्धनीयः। स्था०२ ठा०३ उ०।

छविमंत त्रि० (छविमत्) त्वग्वति, स्था०२ ठा०३ उ०।

छवियत्त पुं० (छविकात्मन्) छवियोगात् छविः, स एव लविकः, स चासौ आत्मा च शरीरम्। छवियुक्ते, स्था०२ ठा०३ उ०।

छवियद्ध न० (छविकार्द्र) स्निग्धत्वग्द्रव्ये, मुक्ताफलरक्ताशोकादिके, सूत्र०२ श्रु०६ अ०।

छव्वग न० (छवक) पटलिकादिरूपे भाजने, पिं०। आचा०।

छव्विहकालगुणकम्मजुत्त त्रि० (षड्विधकालगुणकर्मयुक्त) षड्विधस्य कालस्य ऋतुषट्करूपस्य कालस्य ये गुणाः कार्याणि तैः क्रमेण परिपाट्या संगतं यत्तत्तथा। षडर्तुकार्यपरिपाट्या युक्ते, प्रश्न०४ आश्र० द्वार।

छव्वीस स्त्री० (षड्विंशति) षडधिकायां विंशतौ, आव०४ अ०।

छसमयट्ठिइय पुं० (षट्समयस्थितिक) समयषट्कस्थायिनि पुद्गले, स्था०६ ठा०।

छस्सीइसत्थ न० (षडशीतिशास्त्र) देवेन्द्रसूरिविरचिते षडशीतिसंख्यागाथाप्रमाणे कर्मग्रन्थे, (कर्म०)

"यद्भाषितार्थलवमाप्य दुरापमाशु,
श्रीगौतमप्रभृतयः शमिनामधीशाः ।
सूक्ष्मार्थसार्थपरमार्थविदो बभूवुः,
श्रीवर्द्धमानविभुरस्तु स वः शिवाय ॥६॥
निजधर्माचार्येभ्यो, नत्वा निष्कारणैकबन्धुभ्यः ।
श्रीषडशीतिकशास्त्रं, विवृणोमि यथागमं किञ्चित्" ॥२॥

तत्रादावेवाभीष्टदेवतास्तुत्यादिप्रतिपादिकामिमां गाथामाह- "नमिय जिणं जियमग्गण-गुणठाणुवओगजोगलेसाओ । बंधऽप्पबहूभावे, संखिज्जाई किमवि वुच्छं ॥१॥"

जिनं नत्वा, जीवस्थानादि वक्ष्ये इति संबन्धः । कर्म०४ कर्म०।

छाइओ (देशी) मातरि, दे० ना०३ वर्ग।

छाइल्ल पुं० (छायावत्) **"आल्विल्लोल्लालवन्तमन्तेत्तेरमणा मतोः" ।८।२।१५६।** इति मतोरिल्लादेशः । छायायुक्ते, प्रा०२ पाद । सदृशे, इने, सरूपे, प्रदीपे च। दे०ना०३ वर्ग।

छाउमत्थियसमुग्घाय पुं० (छाद्मस्थिकसमुद्घात) समुद्घात भेदे, स०।

संप्रति कति छाद्मस्थिकाः समुद्घाता इति निरूपणार्थमाह-

कति णं भंते ! छाउमत्थिया समुग्घाया पण्णत्ता ? गोयमा ! छ छाउमत्थिया समुग्घाया पण्णत्ता । तं जहा-वेयणासमुग्घाए कसायसमुग्घाए मारणंतियसमुग्घाए वेउव्वियसमुग्घाए तेयसमुग्घाए आहारसमुग्घाए। प्रज्ञा०३६ पद।

छद्मस्थोऽकेवली, तत्र भवाश्छाद्मस्थिकाः, समेकीभावेनोत्प्राबल्येन च घातानि निर्जरणानि समुद्घाताः, वेदनादिपरिणतो हि जीवो बहून् वेदनीयादिकर्मप्रदेशान् कालान्तरानुभावयोग्यानुदीरणेनाक्रियोदये प्रक्षिप्यानुभूय निर्जरयति आत्मप्रदेशैः संश्लिष्टान् शातयतीत्यर्थः । ते चेह वेदनादिभेदेन षड्डक्ताः । तत्र वेदनासमुद्घातः-असावद्यकर्माश्रयः । कषायसमुद्घातः-कषायाख्यचारित्रमोहनीयकर्माश्रयः । मारणान्तिकसमुद्घातः-अन्तर्मुहूर्तशेषायुष्ककर्माश्रयः । वैकुर्विकतैजसाहारकसमुद्घाताः शरीरनामकर्माश्रयाः । स०१ सम०।

अथ कति केषां छाद्मस्थिकास्समुद्घाता इति-
चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण निरूपयति -

नेरइयाणं भंते ! कइ छाउमत्थिया समुग्घाया पण्णत्ता ? गोयमा ! चत्तारि छाउमत्थिया समुग्घाया पण्णत्ता । तं जहा-वेदणासमुग्घाए कसायसमुग्घाए मारणंतियसमुग्घाए वेउव्वियसमुग्घाए।

नैरयिकाणामाद्याश्चत्वारो वेदनादिसमुद्घाताः, तेषां तेजोलब्ध्याहारकलब्धभावतस्तैजससमुद्घाताहारकसमुद्घातासंभवात्।

असुरकुमाराणं पुच्छा ? पंच समुग्घाया छाउमत्थिया पण्णत्ता । तं जहा-वेदणासमुग्घाए कसायसमुग्घाए मारणंतियसमुग्घाए वेउव्वियसमुग्घाए तेयसमुग्घाए।

असुरकुमारादीनां सर्वेषामपि देवानामाहारकसमुद्घातवर्जाः शेषाः पञ्च समुद्घाताः, तेजोलब्धिसंभवात्तैजससमुद्घातस्याऽपि संभवात् । यस्त्वाहारकसमुद्घातः, स तेषां न संभवति, चतुर्दशपूर्वाधिगमाभावतो भवप्रत्ययाच्च तेषामाहारकलब्ध्यभावात् ।

एगिंदियविगलिंदियाणं पुच्छा ? गोयमा ! तिन्नि छाउमत्थिया समुग्घाया पण्णत्ता । तं जहा-वेयणा० कसाय० मारणंतिय०, नवरं वाउकाइयाणं चत्तारि समुग्घाया पण्णत्ता। तं जहा-वेदणा० कसाय० मारणंतियस० वेउव्वियसमुग्घाए ।।

वायुकायवर्जकैकेन्द्रियविकलेन्द्रियाणामाद्या वेदनाकषायमरणलक्षणाः त्रयः समुद्घाताः, तेषां वैक्रियाहारकतेजोलब्ध्यभावतः तत्समुद्घातासंभवात् । वायुकायिकानां पूर्वे त्रयो वैक्रियसमुद्घातसहिताश्चत्वारः, तेषां बादरपर्याप्तानां वैक्रियलब्धिसंभवतो वैक्रियसमुद्घातस्यापि संभवात्।

पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ? गोयमा ! पंच समुग्घाया पन्नत्ता । तं जहा-वेदणा० कसाय० मारणंतिय० वेउव्वियसमु० तेयगसमुग्घाए ।।

पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकानामाहारकसमुद्घातवर्जाः शेषाः पञ्च छाद्मस्थिकाः समुद्घाताः, यस्त्वाहारकसमुद्घातः स तेषां न संभवति, चतुर्दशपूर्वाधिगमाभावतस्तेषामाहारकलब्ध्यसंभवात् ।

मणुस्साणं कइ छाउमत्थिया समुग्घाया पन्नत्ता ? गोयमा ! छ छाउमत्थिया समुग्घाया पण्णत्ता । तं जहा-वेदणासमुग्घाए कसायसमु० मारणंतियसमु० वेउव्वियसमु० तेयगसमु० आहारगसमुग्घाए ।।

मनुष्याणां षडपि मनुष्येषु सर्वभावसंभवात्, तदेवं यावन्तो येषां छाद्मस्थिकाः समुद्घातास्तावन्तः तेषां निरूपिताः । प्रज्ञा०३६ पद। भ०।

छाओ (देशी) बुभुक्षिते, कशे च। दे० ना०३ वर्ग।

छागल त्रि० (छागल) अजासंबन्धिनि, कुतपश्छागलकिट्टजम्। स्था०५ ठा०२ उ०।

छागलतक्क न० (छागलतक्र) अजादधिनिष्पन्नतक्रे, तं०।

छाण न० (छादन) दर्भादिमये पटले, भ०८ श०६ उ०।

"सर्व्वश्वेते रजते रजमये पुञ्छनीनामुपरि कवेल्लुकानामध आच्छादने, जी०३ प्रति०।

छाणविच्छुय पुं० (छगणवृश्चिक) चतुरिन्द्रियभेदे, जी०१ प्रति०।

छाणी स्त्री० (छगणी) गोमयपिण्डे, पञ्चत्रिंशत्तमे आशातनाभेदे, ध०२ अधि०।

छाणं (देशी) धान्यादिमलने, गोमये, वस्त्रे च। दे०ना०३ वर्ग।

छाय त्रि० (छात) छो-क्तः । छिन्ने, दुर्बले, वाच०। बुभुक्षिते, ओघ०। ज्ञा०। व्य०।

छायण न० (छादन) दर्भादिना आच्छादने, ग०१ अधि०। आचा०। सूत्र०। प्रश्न०।

छाया स्त्री० (छाया) छो-णः । पचाद्यित्वादच् । छद्यति छिनत्ति वाऽऽतपमिति छाया। उत्त०१ अ०। आतपाभावे, प्रतिबिम्बे, सूर्यपत्नीभेदे, संज्ञाप्रतिकृतौ, कान्तौ च। पालने,

उत्कोचे, पङ्क्तौ, कात्यायन्याम, वाच०। दीप्तौ, औ०। प्रज्ञा०। स०। रा०। प्रभायाम्, जं०२ वक्ष०। नि० चू०। स०। शोभायाम्, औ०। शरीरशोभायाम्, "छाउज्जोइयंगमंगा"। जं०३ वक्ष०। छायया शरीरप्रभया उद्द्योतितमङ्गमङ्गम् अङ्गप्रत्यङ्गं येषां ते तथा। जी०३ प्रति०। शरीरप्रभायाम्, तं०। प्रतिबिम्बे, उत्त०२ अ०। स्था०। समुदायशोभायाम्, जी०३ प्रति०। आतपविरुद्धे पुद्गलपरिणामे, सूत्र०१ श्रु०१ अ०१ उ०। उत्त०। छाया वृक्षादीनाम्। स्था०२ ठा०४ उ०। ज्ञा०। औ०। आदित्यकरावरणजनितायामदीप्तौ, ज्ञा०१ श्रु०२ अ०।

छायामानम् -

ता अवड्ढपोरिसीणं छाया दिवसस्स किंगए वा, सेसे वा ? ता तिभागे गए वा, सेसे वा। ता पोरिसीणं छायाए दिवसस्स किं गए, सेसे वा? ता चउभागगए वा, सेसे वा। ता वियड्ढपोरिसीणं सूरिए पोरिसीणं छाया दिवसस्स किं गए वा, सेसे वा ? ता पंचभागगए वा, सेसे वा। एवं अद्धपोरिसीणं छाया-पुच्छा ? दिवसस्स भागं छोहुं २ दिवसस्स वागरणं० जाव। जा अद्धअउणसट्ठिपोरिसीया छाया दिवसस्स किं गए वा, सेसे वा ? ता एकुणवीससयभागे गए वा, सेसे वा। ता अउणसट्ठिपोरिसाणं छाया दिवसस्स किं गए वा, सेसे वा ? ता बीससयभागगए वा, सेसे वा। सातिरेगअउणसट्ठिपोरिसीणं छाया दिवसस्स किं गए वा, सेसे वा ? ता नत्थि किं वि गए वा, सेसे वा।

"ता अवड्ढे" इत्यादि। अपगतमर्द्धं यस्याः सा अपार्द्धा, सा चासौ पौरुषी च अपार्द्धपौरुषी, छाया, पुरुषस्योपलक्षणत्वात् सर्वस्यापि प्रकाशस्य वस्तुनोऽर्द्धप्रमाणा छाया। एवमुत्तरत्राप्युपलक्षणव्याख्यानं द्रष्टव्यम्, दिवसस्य किंगते कतितमे भागे गते, शेषे वेति कतितमे भागे शेषे भवति ? भगवानाह-"ता" इत्यादि। ता इति पूर्ववत्, दिवसस्य त्रिभागे गते भवति, दिवसस्य त्रिभागे वा शेषे। "ता" इत्यादि, पौरुषी पुरुषप्रमाणा, प्रकाशस्य वस्तुनः प्रमाणा इत्यर्थः। छाया किंगते कतितमे भागे, शेषे वा भवति ? भगवानाह-दिवसस्य चतुर्भागे गते, शेषे वा। इयं च दिवसस्य चतुर्भागे गते, चतुर्भागे शेषे वा प्रकाशस्य वस्तुनः स्वप्रमाणभूता छाया अन्यत्र ग्रन्थान्तरे सर्वाभ्यन्तरमण्डलमधिकृत्योक्ता। तथा च नन्द्यध्ययनचूर्णिग्रन्थः-"पुरिस त्ति संकु पुरिससरीरं वा, ततो पुरिसे निप्फण्णा पोरिसी, एवं सव्वस्स वत्थुणो यदा स्वप्रमाणा छाया भवति तदा पोरिसी हवइ, एयं पोरिसियमाणं उत्तरायणस्स अंते, दक्खिणायनस्स आइए एकं दिणं भवइ, अतो परं अट्ठ एगसट्ठिभागा अंगुलस्स दक्खिणायणे वड्ढं ति, उत्तरायणे हस्सं ति, एवं मंडले मंडले अण्णपोरिसी" इति। तत इदं सकलमपि पौरुषीविभागे प्रमाणप्रतिपादनं सर्वाभ्यन्तरं मण्डलमधिकृत्यावसेयम्। तथा-ता इति पूर्ववत्, क्व्यर्द्धपौरुषी सार्द्धपुरुषप्रमाणा छाया दिवसस्य किं भागे कतितमे भागे गते भवति, किं शेषे वा कतितमे भागे शेषे ? भगवानाह-"ता" इति पूर्ववत्, दिवसस्य पञ्चमे भागे गते वा भवति, शेषे वा पञ्चमे भागे। 'एवं' इत्यादि। एवमुक्तेन प्रकारेणमर्द्धपौरुषीम् अर्द्धपुरुषप्रमाणां छायां क्षिप्त्वा २, पृच्छा पृच्छासूत्रं द्रष्टव्यम् (दिवसस्स भागं ति) पूर्वपूर्वसूत्रापेक्षया एकैकदिवसमधिकं दिवसस्य भागं क्षिप्तवा २ व्याकरणमुत्तरसूत्रं ज्ञातव्यम्। तच्चैवम्-"विपोरिसीणं छाया किं गए वा, सेसे वा ? ता छब्भागगए वा, सेसे वा। ता अड्ढाइज्जपोरिसीणं छाया किं गए वा, सेसे वा ? ता सत्तभागगए वा, सेसे वा" इत्यादि। एतच्च तावत्, यावत् "ताउ गुणसट्ठि" इत्यादि सुगमम्। सातिरेकैकोनषष्टिपौरुषी तु छाया दिवसस्य प्रारम्भसमये, पर्यन्तसमये वा ? तत आह-"ता नऽत्थि किं वि गते वा, सेसे वा" इति।

संप्रति छायाभेदान् व्याचष्टे -

तत्थ खलु इमा पणवीसतिविहा छाया पण्णत्ता। तं जहा-खंभच्छाया रज्जुच्छाया पागारच्छाया पोसायच्छाया उवगच्छाया उच्चत्तच्छाया अणुलोमच्छाया पडिलोमच्छाया आरुमिया उवहिया समावडिहया खीलच्छाया पंखच्छाया पुरओ उदग्गा पडिउदग्गा पुरिसकंठभागोवगया पच्छिमकंठभागोवगया छायाणुवादिणी छाया छायच्छाया विकंपेवेहा कडसमच्छाया गोलच्छाया।

"तत्थ" इत्यादि। तत्र तस्यां छायायां विचार्यमाणायां खल्वियं पञ्चविंशतिविधा छाया प्रज्ञप्ता। तद्यथा-"खंभच्छाया" इत्यादि प्रायः सुगमम्। विशेषव्याख्यानं चामीषां पदानां शास्त्रान्तरात्, यथासंप्रदायाद्वा वाच्यम्।

'गोलच्छाया' इत्युक्तम्, ततस्तामेव गोलच्छायां भेदत आह -

तत्थ खलु इमा अट्ठविहा गोलच्छाया पण्णत्ता। तं जहा-गोलच्छाया अवड्ढगोलच्छाया गोलगोलच्छाया अवड्ढगोलगोलच्छाया गोलावलिच्छाया अवड्ढगोलावलिच्छाया गोलपुंजच्छाया अवड्ढगोलपुंजच्छाया।

"तत्थ" इत्यादि। तत्र तासां पञ्चविंशतिच्छायानां मध्ये खल्वियं गोलच्छाया अष्टविधा प्रज्ञप्ता। तद्यथा-गोलच्छाया गोलमात्रस्य या छाया, अपार्द्धस्य अपार्द्धमात्रस्य गोलस्य छाया अपार्द्धगोलछाया, गोलैर्बहुभिर्मिलित्वा यो निष्पादित एको गोलस्तस्य छाया गोलगोलच्छाया। अपार्द्धमात्रस्य गोलगोलस्य छाया अपार्द्धगोलगोलच्छाया। गोलानामावलिर्गोलावलिस्तस्य छाया गोलावलिच्छाया, अपार्द्धो या गोलावलिच्छाया अपार्द्धगोलावलिच्छाया, गोलानां पुञ्जो, गोलोत्कर इत्यर्थः, तस्य छाया गोलपुञ्जच्छाया, अपार्द्धस्य गोलपुञ्जस्य छाया अपार्द्धगोलपुञ्जच्छाया। चं०प्र०६ पाहु०।

(छायाया द्रव्यत्वसिद्धिः 'तम' शब्दे वक्ष्यते)

छायागइ स्त्री० (छायागति) छायामनुसृत्य तदुपष्टम्भेन वा समाश्रयितं गतौ, प्रज्ञा०।

से किं तं छायागती ? छायागती जेणं हयच्छायं वा गयच्छायं वा नरच्छायं वा किन्नरच्छायं वा महोरगच्छायं वा गंधव्वच्छायं वा रहच्छायं वा छत्तच्छायं वा उवसंपज्जित्ता णं गच्छति, सेत्तं छायागति॥

छायागतिः छायामनुसृत्य तदुपष्टम्भेन वा समाश्रयितुं गतिः छायागतिः। प्रज्ञा०१६ पद।

छायाघाय पुं० (छायाघात) प्रभापरिभ्रंशे, बृ०१ उ०।

छायातो अव्य० (छायातम्) छायाया इत्यर्थे, "छायातो सीयंति" छायातः शीतकाले शीतमिति कृत्वा सीदन्ति। दशा०७ अ०।

छायापास पुं० (छायापार्श्व) हिमाचलस्थायां श्रीपार्श्वनाथ-प्रतिमायाम्, हिमाचले छायापार्श्वो मन्त्राधिराजः श्रीस्फुलिङ्गः १७। ती०४५ कल्प।

छायापासणाह पुं० (छायापार्श्वनाथ) माहेन्द्रपर्वतस्थायां पार्श्वनाथ-प्रतिमायाम्, माहेन्द्रपर्वते छायापार्श्वनाथः ८। ती०४५ कल्प।

छायालीस स्त्री० (षट्चत्वारिंशत्) षडधिकचत्वारिंशत् संख्यायां, तत्संख्याऽन्विते च। जी०३ प्रति०। प्रज्ञा०।

छायासमणुबद्ध पुं० (छायासमनुबद्ध) छायया युक्ते, रा०।

छायोवग पुं० (छायोपग) छायामुपगच्छतीति छायोपगः। बहुलच्छाये वृक्षे, तद्वत् अनुवर्तनापायसंरक्षणादिना सत्त्वोपेते सव्ये पुरुषजाते च। स्था०४ ठा०३ उ०।

छायोवय पुं० (छायोपग) 'छायोवग' शब्दार्थे, स्था०४ ठा०३ उ०।

छार त्रि० (क्षार) क्षर-ज्वला०-वा णः। क्षरणशीले, लवणरसे, धूर्ते, लवणे, पुं०। गुमे, टङ्कणे, सर्जिकाक्षारे, पुं०। विमलवणे, यवक्षारे च। वाच०। भूतौ, ओघ०। भस्मनि, आव०४ अ०। ज्ञा०। आ०म०। बृ०। परस्परमग्निपरिणामिते इन्धने, नि० चू०१ उ०। "अभिणवडङ्गं अपुंजकयं छारो भण्णति" नि० चू०३ उ०। मात्सर्ये, न०। जी०३ प्रति०।

छारयं (देशी) इक्षुशल्के, मुकुले च। दे०ना०३ वर्ग।

छारिय न० (क्षारिक) भस्मनि, भ०५ श०२ उ०।

छारो (देशी) अच्छभल्ले, दे० ना०३ वर्ग।

छाल पुं० (छाग) **"छागे लः"** ।८।१।१६१। छागे गस्य लो भवति। प्रा०१ पाद। **"छस्य श्चोऽनादौ"** ।८।४।२६५। मागध्यामनादाविति पर्युदासाच्छस्य इचो न। अजे, प्रा०४ पाद।

छाव पुं० (शाव) शव-घञ्। **"षट्शमीशावसुधासप्तपर्णेष्वादेइछः"** ।८।२।२६५। इति शस्य छः। प्रा०२ पाद। शिशौ, स्वार्थे कस्तत्रैव। शवस्येदीम् अण्। शवसंबन्धिनि, त्रि०। "त्रिरात्रं शावमाशौचम्" इति स्मृतिः। वाच०।

छावग पुं० (शावक) शिशौ, सूत्र०१ श्रु०१४ अ०।

छावण न० (छादन) दर्भादिभिराच्छादने, बृ०१ उ०। आचा०। नि०चू०।

छावपोयग पुं० (शावपोतक) शाव एव अतिलघुत्वात्पोतः पोतकः शावपोतकः। शिशौ, व्य०१ उ०।

छासी (देशी) तक्रे, दे० ना०३ वर्ग।

छाहा स्त्री० (छाया) **"छायायां होऽकान्तौ वा"** ।८।१।२४६॥ इति यस्य हः। प्रा०१ पाद। 'छाया' शब्दार्थे, उत्त०१ अ०।

छाही (देशी) गगने, दे० ना०३ वर्ग।

छि स्त्री० (छि) छो-वा किः। गर्हायाम्, वाच०। छले, पुं०। "छिः पुंसि प्रोच्यते छले," एका०।

छिंडिया स्त्री० (छिण्डिका) अपवादे, ध०२ अधि०।

'अगारं ति' विवृण्वन्नाह -

रायाभिओगो य गणाभिओगो,
बलाभिओगो य सुराभिओगो ॥
कंतारवित्ती गुरुनिग्गहो य,
छ छिंडियाओ जिणसासणम्मि ॥६५३॥

तत्राभियोजनमनिच्छतोऽपि व्यापारणमभियोगः, राज्ञो नृपतेरभियोगो राजाभियोगः, गणः स्वजनादिसमुदायः, तस्याभियोगे गणाभियोगः; बलं बलवतो हठप्रयोगः, तेनाभियोगो बलाभियोगः; सुरस्य कुलदेवतादेरभियोगः सुराभियोगः, कान्तारमरण्यम्, तत्र वृत्तिर्वर्तनं निर्वाहः कान्तारवृत्तिः। यद्वा-कान्तारमपि बाधाहेतुत्वादिह बाधात्वेन विवक्षितं, ततः काननारेण बाधया वृत्तिः प्राणवर्तनरूपा कान्तारवृत्तिः, कष्टेन निर्वाह इति यावत्। गुरवो मातृपितृप्रभृतयः। यदुक्तम् -"माता पिता कलाचार्य, एतेषां ज्ञातयस्तथा। वृद्धा धर्मोपदेष्टारो, गुरुवर्गः सतां मतः"॥१॥ तेषां निग्रहो निर्बन्धः। तदेताःषट् छिण्डिका अपवादाः, जिनशासने भवन्ति। इदमत्र तात्पर्यम्- प्रतिपन्नसम्यक्त्वस्य परतीर्थिकवन्दनादिकं यत् प्रतिषिद्धं तद्राजाभियोगादिभिरेतैः षड्भिः कारणैः भक्तिवियुक्ते द्रव्यतः समाचरन्नपि सम्यक्त्वं नातिचरतीति। प्रव०१४८ द्वार।

छिंडी स्त्री० (छिण्डी)। वृत्तिछिद्ररूपायां छिण्डिकायाम्, ज्ञा०१ श्रु०२ अ०।

छिंदित्ता अव्य० (छित्त्वा) द्विधा कृत्वेत्यर्थे, स्था०३ ठा०२ उ०। आचा०। क्षुरप्रादिना कूष्माण्डकमिव श्लक्ष्णखण्डीकृत्येत्यर्थे, भ०१४ श०८ उ०।

छिंदिय अव्य० (छित्त्वा) 'छिंदित्ता' शब्दार्थे, ठा०३ ठा०२ उ०।

छिंदियव्व अव्य० (छेत्तव्य) द्वैधीकरणे, प्रश्न०३ आश्र० द्वार।

छिंपक पुं० (छिम्पक) वस्त्रेषु नानाजातीयमुद्राकर्तरि जातिविशेषे, स्था०८ ठा०।

छिक्क न० (छुप्त) **"मलिनोभयशुक्तिछुप्ताऽरब्धपदातेर्मइलावहसिप्पिछिक्कढत्तपाइक्कं"** ।८।२।१३८। इति 'छिक्क' आदेशः। प्रा०२ पाद।

छिक्का स्त्री० (छिक्का) छिक् इत्यव्यक्तं शब्दं करोति। क्षुते, वाच०। छिक्कृते, आ० म० द्वि०। रात्रौ छिक्कायां प्रायश्चित्तमुपस्थापनम्। महा०७ अ०।

छिक्किय न० (छिक्कित) छीत्कृतौ, नि० चू०१ उ०।

छिक्कोअणो (देशी) असहने, दे० ना०३ वर्ग।

छिक्कं (देशी) स्पृष्टे क्षुते च। दे० ना०३ वर्ग।

छिच्छइ स्त्री० (पुँश्चली) पुंसो भर्तुः सकाशाच्चलति पुरुषान्तरं गच्छति। अच्- गौरा० ङीष्। पुंसोऽन्त्यलोपे अम्परे खयि रुस्तस्य संपुंकानां सः। वा० स०। श्चुत्वम्। **"गोणादयः"** ।८।२।१७४। इति निपातः पुँश्चली-शब्दस्य 'छिच्छइ' आदेशः। प्रा०२ पाद। असत्यां स्त्रियाम्, उपचारात्पारदारिके पुरुषेऽपि, पुं०। वाच०।

छिच्छि अव्य० (धिक्धिक्) वीप्सायां द्वित्वम्। **"गोणादयः"** ।८।२। १७४। इति धिग्धिगित्थस्य स्थाने 'छिछि' इत्यादेशो निपातनात्। प्रा०२ पाद। निन्दायाम्, एतद्योगे निन्दावाच काच्छब्दाद् द्वितीया। "धिक् धिक् शक्रजितं प्रबोधितवता किं कुम्भकर्णेन वा!" वाच०।

छिच्छिक्कार पुं० (धिक्धिक्कार) पुनःपुनर्धिक्कारे, स्था०५ ठा०३ उ०।

छिज्ज न० (छेद्य) छेत्तुं योग्ये, सूत्र०२ श्रु०५ अ०।

छिज्जउं अव्य० (छेत्तुं) द्विधा कर्तुमित्यर्थे, तं०।

छिज्जमाण त्रि० (छिद्यमान) खड्गादिभिः खण्ड्यमाने, उपा०७ अ०। छिद्यमानं छिन्नम्। भ०१ श०१ उ०। प्रश्न०। विपा०।

छिड्ड न० (छिद्र) छिद्-रक्। छिद्र-अच् वा। दूषणे, गर्ते, अवकाशे, ज्योतिषोक्ते लग्नतोऽष्टमस्थाने, वाच०। प्रवेशद्वारे, प्रश्न०३ आश्र० द्वार। नि०चू०। राजव्यापारविरलत्वे, विपा०१ श्रु०२ अ०। अल्पपरिवारत्वे, विपा०१ श्रु०१ अ०। छिदश्छेदनस्यास्तित्वाच्छिद्रम्। भ०२ श०२ उ०।

छिड्डगुड पुं० (छिद्रगुड) फाणिते, नि० चू०१३ उ०।

छिड्डघाति पुं० (छिद्रघातिन्) छिद्रे अवसरे घ्नन्तीत्येवंशीला ये ते तथा। सत्थवसरे घातकारिषु, प्रश्न०३ आश्र० द्वार। "छिड्डे परिसेवति"। "छिड्डाते पुणो लोए चोप्पालए भण्णंति" नि० चू०१ उ०।

छिड्डपाणि पुं० (छिद्रपाणि) सप्तविधपात्रनिर्योगसमन्विते जिनकल्पिके, आचा०२ श्रु०१ अ०३ उ०।

छिण्ण त्रि० (छिन्न) छिद्-क्तः। कृतच्छेदने, लूने, व्रणभेदे, वाच०। त्रुटिते, आतु०। निराकृते, आ० म० द्वि०। आचा०। अपनीते, सूत्र०१ श्रु०८ अ०। अपगते, उत्त०२ अ०। विभक्ते, ज्ञा०१ श्रु०१८ अ०। विपा०। "वाहच्छिन्ना व गद्दभा"। छिन्नाः कर्षितास्त्रुटिताः। सूत्र०१ श्रु०३ अ०४ उ०। त्रोटिते, सूत्र०१ श्रु०११ अ०। छिद्यते इति छिन्नम्। वस्त्रादीनां मूषकादिना दशने, उत्त०१५ अ०। द्विधा कृते, नं०। आचा०। उत्त०। प्रश्न०।विपा०। औ०। निर्धारिते, बृ०१ उ०। आरे, दे०ना०३वर्ग।

छिण्णकहंकह त्रि० (छिन्नकथंकथ) छिन्ना अपनीता कथं कथमपि या कथा रागकथादिका विकथारूपा येन स छिन्नकथंकथः। यदि वा कथमिङ्गितमरणप्रतिज्ञां निर्वहिष्ये इत्येवंरूपा या कथा सा छिन्ना येन स छिन्नकथंकथः। दुष्करानुष्ठानविधायिनि, आचा०२ श्रु०८ अ०६ उ०।

छिण्णग्गंथ त्रि० (छिन्नग्रन्थ) छिन्नो ग्रन्थो धनधान्यादिः, तत्प्रतिबद्धो वा येन सः। छिन्नस्त्यक्तो हिरण्यादिग्रन्थो येन स तथा। निर्ग्रन्थे, स्था०९ ठा०। ज्ञा०। कल्प०। प्रश्न०।

छिण्णच्छेय त्रि० (छिन्नच्छेद) छिन्नो द्विधाकृतः पृथक्कृतः छेदः पर्यन्तो येन स छिन्नच्छेदः। प्रत्येकं कल्पितपर्यन्ते, नं०।

छिण्णच्छेयणअ पुं० (छिन्नच्छेदनय) यो नयः सूत्रं छेदेन छिन्नमेवाभिप्रैति, न द्वितीयेन सूत्रेण सह संबन्धयति तस्मिन्नयविशेषे, यथा-"धम्मो मंगलमुक्किट्ठं" इति श्लोकम्। तथा ह्ययं श्लोकः छिन्नच्छेदनयमतेन व्याख्यायमानो न द्वितीयादीन् श्लोकानपेक्षते, नापि द्वितीयादयः श्लोका अमुम्। अयमत्राभिप्रायः तथा कथञ्चनाप्यमुं श्लोकं पूर्वसूरयः छिन्नच्छेदनयमते व्याख्यान्ति स्म, यथा न मनागपि द्वितीयादिश्लोकानामपेक्षा भवति, द्वितीयादीनपि श्लोकान् तथा व्याख्यानयन्ति स्म, यथा न तेषां प्रथमश्लोक स्यापेक्षा, तथा सूत्राण्यपि यन्नयाभिप्रायेण पारस्परं निरपेक्षाणि व्याख्यान्ति स्म स छिन्नच्छेदनयः। छिन्नो द्विधाकृतः पृथक्कृतः छेदः पर्यन्तो येन स **छिन्नच्छेदः**, प्रत्येकं कल्पितपर्यन्त इत्यर्थः। स चासौ नयश्च छिन्नच्छेदनयः। नं० आ० म०। स०।

छिण्णच्छेयणइय त्रि० (छिन्नच्छेदनयिक) छिन्नछेदनयोऽस्त्यस्य **"अतोऽनेकस्वरात्"** ।७।२।६।। इतीकप्रत्ययः। छिन्नच्छेदनयवति, तथा दृष्टिवादे ऋजुसूत्रादीनि द्वाविंशतिः सूत्राणि छिन्नच्छेदनविकानि। नं०। स०।

छिण्णजाला स्त्री० (छिन्नज्वाला) इन्धनस्थाग्नित्रुटितार्चिर्षि, पञ्चा०१३ विव०।

छिण्णऽद्धाणंतर न० (छिन्नाध्वान्तर) पथिभेदे, यत्र ग्रामनगरपल्लीव्रजिकानां किञ्चिदेकतरमपि नास्ति, सर्वथैव शून्यत्वात्। बृ०१ उ०।

छिण्णपुव्व त्रि० (छिन्नपूर्व) पूर्वं द्विधा कृते, उत्त०१६ अ०।

छिण्णबंधण पुं० (छिन्नबन्धन) छिन्नमपनीतं बन्धनं कषायात्मकं येन स छिन्नबन्धनः। ममत्वरहिते, सूत्र०२ श्रु०८ अ०। व्य०।

छिण्णमडंव न० (छिन्नमडम्ब) अनासन्नवसत्यन्तरे, "छिण्णमडंवं णाम जस्स गामस्स णगरस्स वा उग्गदे सव्वासु दिसासु अण्णो गामो णऽत्थि गोकुलं वा तच्छिण्णमडंवं, तं च अखेत्तं भवति" नि०चू०१० उ०।

छिण्णरुह पुं० (छिन्नरुह) छिन्नः सन् रोहति। रुह-कः। तिलकवृक्षे, गुडूच्याम्, स्त्री०। स्वर्णकेतक्याम्, शल्लक्यां च। स्त्री०। वाच०। छित्त्वा गृहाद्यानीतं शुष्कताद्यवस्थां प्राप्तमपि जलादिसामग्रीं प्राप्य गुडूच्यादिवत्पुनरपि यत्प्ररोहति तच्छिन्नरुहम्। तदेतैर्लक्षणैः साधारणं शरीरं ज्ञेयमनन्तकायिकमित्यर्थः। प्रव०४ द्वार। प्रज्ञा०।

छिण्णसोय त्रि० (छिन्नशोक) नष्टशोके, ओघ०। प्रश्न०।

छिन्नस्रोतस् त्रि० छिन्नान्यपनीतानि स्रोतांसि संसारावतरणद्वाराणि यथाविषयमिन्द्रियवर्तनानि प्राणातिपातादीनि वा आश्रवद्वाराणि येन सः। सूत्र०९ श्रु०१५ अ०। स्रोतो द्विविधम्- द्रव्यस्रोतो, भावस्रोतश्च। तत्र द्रव्यस्रोतो नद्यादिप्रवाहः। भावस्रोतश्च संसारसमुद्रपात्यशुभो लोकव्यवहारः, स छिन्नो येन स तथा। त्रुटितद्रव्यभवप्रवाहे, प्रश्न०५ सम्ब० द्वार। औ०। सूत्र०। उत्त०।

छिण्णाल पुं० (छिन्नाल) तथाविधदुष्टजातौ, "छिन्नाले छिंदई सेल्लिं" उत्त०२७ अ०। बृ०। जारे, दे० ना०३ वर्ग।

छिण्णावाय त्रि० (छिन्नापात) छिन्नोऽपगत आपातोऽन्योऽन्यत आगमनात्मकोऽर्थार्जनस्य येषु ते छिन्नापाताः। विविक्ते

षु मार्गेषु, उत्त०२ अ०। व्यवच्छिन्नसमागमेषु, बृ०४ उ०। छिन्ना आपाताः सार्थगोकुलादीनां यस्यां सा तथा। स्था०४ ठा०२ उ०। व्यवच्छिन्न-सार्थघोषाद्यापातायाम्, भ०१५ श०१ उ०।

छित्त न० (क्षेत्र) स्थाने, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०।

***स्पृष्ट** न० **"क्तेनाप्कुण्णादयः"।८।४।२५८।** इति स्पृष्ट इत्यस्य 'छित्त' आदेशः। प्रा०४ पाद। दे० ना०३ वर्ग।

छित्तर न० (छित्वर) वंशादिमये छादनाधारभूते किलिञ्जे, भ०८ श०६ उ०।

छिद्द न० (छिद्र) रन्ध्रे, भ०१२ श०४ उ०। प्रज्ञा०। आव०। तं०। अल्प-परिवारत्वे, विपा०१ श्रु०६ अ०। पं० सू०। "खलः सर्षपमात्राणि, परच्छिद्राणि पश्यति। आत्मनो बिल्वमात्राणि, पश्यन्नपि न पश्यति ॥१॥" उत्त०३ अ०। लघुमत्स्थे, दे० ना०३ वर्ग।

छिद्दपेहि (ण्) पुं० (छिद्रप्रेक्षिन्) छिद्राणि प्रमत्ततादीनि प्रेक्षते इति। पाराञ्चितयोग्यप्रमत्ततादिरूपप्रतिसेवनाकर्तरि, स्था०५ ठा०१ उ०।

छिन्द धा० (छिद) द्वेधीकरणे, **"छिदिमिदो न्दः"।८।४।२१६।** इति छिदेर्दस्य 'न्द' आदेशः "छिन्दइ" छिनत्ति। प्रा०४ पाद।

छिन्दवण न० (छेदन) वनस्पत्यादीनामन्यैश्छदेने, 'छपणं' प्रायश्चित्तं चतुर्थमाचामाम्लमेकाशनकं निर्विकृतिकं वा। महा०७ अ०।

छिप्प धा० (स्पृश) तुदा० पर० सक० अनिट्। स्पर्शे, वाच०। **"स्पृशेश्छिप्पः"।८।४।२५७।** स्पृशतेः कर्मभावे 'छिप्प' आदेशो वा भवति, क्यलुक् च। 'छिप्पइ' स्पृश्य ते। प्रा०४ पाद।

छिप्प (देशी) न० भिक्षायां, पुच्छे च। दे० ना०३ वर्ग। विपा०।

छिप्पंत त्रि० (क्षिप्यमाण) तूर्यभेदे, आ०चू०१ अ०।

छिप्पंती (देशी) व्रतभेदे। उत्सवे च। दे० ना०३ वर्ग।

छिप्पतूर न० (क्षिप्रतूर्य) द्रुतं वाद्यमाने तूर्ये, ज्ञा०१ श्रु०१६ अ०। "छिप्पतूरेणं वज्जमाणेणं" विपा०१ श्रु०३ अ०।

छिप्पदूर (देशी) गोमयखण्डे विषमे, दे०ना०३ वर्ग।

छिप्पोल्ली स्त्री० (छिप्पोल्ली) वर्करादिलेण्डे, नि० चू०१ उ०।

छिरा स्त्री० (शिरा) **"शिरायां वा"।८।१।२६६।** शिरा शब्दे आदेशछः। प्रा०१ पाद। नाडीषु, शिरा नाड्यः। भ०६ श०३३ उ०।

छिलिय न० (सिण्टित) सीत्कारकरणे, प्रश्न०३ आश्र० द्वार।

छिल्लवण न० (पलाशवन) मथुरास्थे पलाशवने, ती०२ कल्प।

छिव धा० (स्पृश) प०-सक०-अनिट्। स्पर्शे, **"स्पृशः फासफंसफरिसछिवछिहालुंखालिहाः"।८।४।१८२।** इति स्पृशतेः 'छिव' आदेशः। प्रा०४ पाद। श्लक्ष्णे, ज्ञा०१ श्रु०२ अ०। 'छिवन्ति' छुवन्ति धारयन्ति, हस्ताञ्जलिभिरिति गम्यते। प्रश्न०४ आश्र० द्वार।

छिवण न० (स्पर्शन) छुपने, जीवा०१७ अधि०।

छिवा स्त्री० क्षिपा श्लक्ष्णचर्मकशायाम्, विपा०१ श्रु०६ अ०।

छिवाडिआ स्त्री० (छेदपाटी) वल्लादिफलिकायाम्, जं०१ वक्ष०।

छिवाडियपोत्थय न० (छेदपाटीपुस्तक) "छिवाडिए ताहे। तणुपब्भूसि-यरूवा, होइ छेवाडी वुहा वेंति ॥४॥ दीहो वा हस्सो वा, जो पिहुलो होइ अप्पबाहल्लो। तं मुणिय समयसारा, छिवाडिपोत्थं भणंतीह ॥५॥" (छिवाडिए त्ति) तनुभिः पत्रैरुच्छिूतरूपः किञ्चिदुन्नतो भवति छेदपाटी-पुस्तक इति। स्था०४ ठा०२ उ०।

छिविअ (देशी) न० इक्षुखण्डे, दे० ना०३ वर्ग।

छिविऊण अव्य० (स्पृष्ट्वा) स्पर्शं कृत्वेत्यर्थे, महा०७ अ०।

छिव्व (देशी) न० कृत्रिमे, दे०ना०३ वर्ग।

छिह धा० (स्पृश) प०-तुदा०-सक०-अनिट्। स्पर्शे, **"स्पृशः फास-फंसफरिसछिवछिहालुङ्खालिहाः"।८।४।१८२।** इति स्पृशेः 'छिह' आदेशः। प्रा०४ पाद।

छिहंड स्त्री० (छिहली) शिखायाम्, बृ०४ उ०। आव०।

छिहंड न० (शिखण्ड) मथूरशिखायाम्, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०।

छिहंडअ (देशी) न० दधिसरे, दे० ना०३ वर्ग।

छिहंडि (ण्) पुं० (शिखण्डिन्) शिखण्डोऽस्त्यस्य इति। मयूरे, वाच०। शिखावति, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०।

छिहा स्त्री० (स्पृशा) स्पृश-कः। **"इत्कृपादौ"।८।१।१२८।** कृपा इत्यादिषु शब्देष्वादेर्ऋत इद्वा भवति इति इत्त्वम्। प्रा०१ पाद। **"स्पृहायाम्"।८।२।२३।** स्पृहाशब्दे संयुक्तस्य छो वा भवति इति छः। प्रा०२ पाद। सर्पघातिनी (कङ्कालिका) वृक्षे, कण्टकार्याम्, स्त्री०। गौरा० ङीष्। वाच०।

छी स्त्री० (श्री) बिल्ववृक्षे, वृक्षलक्ष्म्याम्, एका०।

छीय न० (क्षुत्) क्षवणं क्षुतम्। **"छोऽक्ष्यादौ"।८।२।१७।** इति छः। प्रा०२ पाद। **"ईः क्षुते"।७।१।११२।** इति आदेरुत ईत्वम्। प्रा०२ पाद। छिक्कायाम्, नि० चू०१ उ०। ल०। आ० म०। आ०चू०। आव०। नं०। विशे०।

छीयमाण पुं० (क्षुवत्) क्षुतं कुर्वति, आचा०२ श्रु०२ अ०३ उ०।

छीण त्रि० (क्षीण) क्षि-क्तः। **"क्षः खः क्वचित्तु छमौ"।८।२।३।** इति क्षस्य छः। प्रा०२ पाद। दुर्बले, क्षामे च। वाच०।

छीर पुं०न० (क्षीर) क्षि-क्रन्- दीर्घश्च। 'घस' अदने-इरन् किच्च उपधालोपे, चर वा अर्द्धर्चा०। वाच०। **"छोऽक्ष्यादौ"।८।२।१७।** इति क्षस्य छः। प्रा०२ पाद। दुग्धे, जले, सरलद्रव्ये, वाच०।

छीरविरालिया स्त्री० (क्षीरविडालिका-क्षीरविदारिका) क्षीरभिव शुभ्रा विहारी। श्वेतभूमिकूष्माण्डे, वाच०। क्षीरप्रधाना विदारी। शुक्लकृष्णयोर्भूमिकूष्माण्डयोः। वाच०। जीवा०। भ०।

छीरुल पुं० (क्षीरल) भुजपरिसर्पविशेषे, प्रश्न०१ आश्र० द्वार।

***छु** छु अनुकरणशब्दः। दुष्टजीवनिवारणे, बृ०१ उ०।

छुई (देशी) वलाकायाम्, दे० ना०३ वर्ग।

छुंछुंमुसय (देशी) रणरणके, दे० ना०३ वर्ग।

छुंदं (देशी) बहुनि, दे० ना०३ वर्ग।

छुक्कारण न० (धिक्कारण) धिक्कारे, पुनः पुनर्धिक्कारे च। बृ०२ उ०।

छुच्छुक्करंत त्रि० (छुच्छुकुर्वत्) छुच्छुगितिशब्देन कुक्कुरान् निवारयति, आ०म० द्वि०। आचा०।

छुज्जमाण त्रि० (क्षुद्यमान) पीड्यमाने, संथा०।

छुडु त्रि० (छुटित) मुक्ते,, आव०४ अ०।

छुड्डिया स्त्री० (क्षुद्रिका) आभरणाविशेषे, प्रश्न०५ सम्ब० द्वार।

छुण्ण त्रि० (क्षुण्ण) क्षुद-क्तः। **"छोऽक्ष्यादौ" ।८।२।१७।** इति क्षस्य छः। प्रा०२ पाद। अभ्यस्ते, विहते, चूर्णीकृते च। वाच०। पिष्टे, संथा०। आचा०।

छुण्णादुण्ण त्रि० (क्षुण्णाक्षुण्ण) पिष्टापिष्टे, संथा०।

छुत्त त्रि० (छुप्त) स्पृष्टे, आचा०१ श्रु०१ अ०४ उ०। सूत्र०।

***सुप्त** न० स्वप-भावे क्तः। संप्रसारणम्। निद्रायाम्, शयने, सुषुप्तौ, कर्तरि-क्तः। निद्रिते, त्रि०। वाच०।

छुद्दहीर (देशी) न० शिशौ, विधौ च। दे० ना०३ वर्ग।

छुन्द पुं० (आक्रम) आ-क्रम-घञ्- अवृद्धिः। **"आक्रमेरोहावोत्थारच्छुन्दाः"।८।४।१६०।** इत्याक्रमेः 'छुन्द' आदेशः। प्रा०४ पाद। बलेनातिक्रमणे, वाच०।

छुप्प धा० (क्षुप्) तुदा०-पर०-सक०-अनिट्। **"गमादीनां द्वित्वम्" ।८।४।२४६।** गमादीनामन्त्यस्य कर्मभावे द्वित्वं वा भवति, तत्सन्नियोगे क्यस्य च लुक्, इति पस्य द्वित्वम्। 'छुप्पइ-छुविज्जइ' क्षुप्यते। प्रा०४ पाद।

छुप्पंत त्रि० (क्षिपत्) प्रक्षिपति, नि० चू०१ उ०।

छुमा स्त्री० (क्षमा) भूमौ, दश०१ चू०।

छुर धा० (छुर) तुदा०-पर०-सक०-सेट्। छुरति, अच्छुरीत्, चुच्छोर, छुरितः। लेपने, वाच०। भ्वा०-पर०-सक०-सेट्। छोरति, अच्छोरीत्, चुच्छोर। छेदे, वाच०।

क्षुर पुं० क्षुर-कः, क्षु-रक् वा। **"छोऽक्ष्यादौ"।८।२।१७।** इति क्षस्य छः। प्रा०२ पाद। नापितास्त्रे, पश्वादीनां शफे, (खुर) कोकिलाक्षे, गोक्षुरे, महापिण्डीतके, वाणे च। खट्वादिपादुकायाम्, वाच०।

छुरघरय न० (क्षुरगृहक) नापितस्य चर्मोर्णादिमये क्षुरकर्तर्याद्याधारे उपकरणे, नि० चू०१ उ०।

छुरमड्डि (देशी) क्षुरहस्ते, दे० ना०३ वर्ग।

छुरमुंड पुं० (क्षुरमण्ड) क्षुरमुण्डितशिरसि, पञ्चा०१० विव०।

छुरिया स्त्री० (छुरिका) छुर-छेदे, स्वार्थे कः, टापि अत इत्वम्। स्वनामख्याते अस्त्रभेदे, वाच०। आचा०। आ०म०। उत्त०। मृत्तिकायाम्, दे० ना०३ वर्ग।

छुह धा० (क्षिप) दिवा० पर० सक० अनिट्। **"क्षिपेर्गलत्थामक्खसोल्लपेल्लणोल्लछुहहुलपरीघत्ताः"।८।१४३।** इति क्षिपेः 'छुह' आदेशः। 'छुहइ'। प्रा०४ पाद। प्रेरणे, वाच०। 'छुहइति' प्रवेशयति। व्य०१ उ०। 'छुहंति' प्रक्षिपन्ति। आ०म०प्र०।

छुहा स्त्री० (क्षुधा) **"छोऽक्ष्यादौ" ।८।२।१७।** इति क्षस्य छः। प्रा०२ पाद। बुभुक्षायाम्, पं० सू०३ सूत्र। आ०म०। उत्त०। "पंथसमा नऽत्थि जरा, दारिद्दसमो य परिभवो नऽत्थि। मरणसमं नऽत्थि भयं, छुहासमा वेयणा नऽत्थि"॥१॥ गच्छा०२ अधि०। "क्षुधार्तः साधु-रेषणां नातिलङ्घयेत्। यात्रामात्रोदिता विद्वानदीनो वल्कलश्चरेत् ॥१॥" आ०म०द्वि०।

सुधा स्त्री० **"षट्शमीशावसुधासप्तपर्णेष्वादेश्छः"।८।१।२६५।** इति सस्य छः। प्रा०१ पाद। अमृते, लेपन (कलीचून) द्रव्ये, वाच०।

छुहिअ (देशी) लिप्ते, दे० ना०३ वर्ग।

छूढ त्रि० (क्षिप्त) क्षिप-क्तः। **"वृक्षक्षिप्तयो रुक्खछुढौ"।८।२।१२७।** इति क्षिप्तस्य 'छूढ' आदेशः। प्रा०२ पाद। **"नदीर्घानुस्वारात्"।८।२।९२।** दीर्घानुस्वाराभ्यां लाक्षणिकाभ्यामलाक्षणिकाभ्यां च परओः शेषादेशयोर्द्वित्वं न भवति। प्रा०२ पाद। प्रेरिते, त्यक्ते, विकीर्णे, अवज्ञाते, रागद्वेषादिवशाद्विषयाऽऽसक्तचित्ते, वायुरोगग्रस्ते च। वाच०। नि० चू०। व्य०। उत्त०।

छेओ (देशी) अन्ते, देवरे च। दे० ना०३ वर्ग।

छेओवट्ठावण न० (छेदोपस्थापन) छेदेन पूर्वपर्यायनिरोधेन उपस्थापनमारोपणं महाव्रतानां यत्र तच्छेदोपस्थापनम्। संयमभेदे, पञ्चा०११ विव०। अनु०। "छेत्तूण तु परियागं, पोराणं तो ठवित्ति अप्पाणं। धम्मम्मि पंचजामे, छेआवेट्ठावणे स खलु"॥ पं० भा०।

छेओवट्ठावणिय पुं० (छेदोपस्थपनिक (नीय)) छेदस्य पूर्वपर्यायस्योपस्थापनं च व्रतेषु यत्र तच्छेदोपस्थापनम्। तदेव छेदोपस्थापनिकम्। ते वा विद्यते यत्र तच्छेदोपस्थापनम्। अथवा- पूर्वपर्यायच्छेदेन उपस्थाप्यते आरोप्यते यन्महाव्रतलक्षणं चारित्रं तच्छेदोपस्थापनीयम्। तदपि द्विधा-अनतिचारं, सातिचारं च। तत्रानतिचारम् - यदित्वरसामायिकस्य शिष्यकस्यारोप्यते पार्श्वनाथसाधोर्वा पञ्चयामधर्मप्रतिपत्तौ। सातिचारं-यन्मूलप्रायचित्तप्राप्तस्येति। इहापि गाथे -

"परियायस्य च्छेओ, जत्थोवट्ठावणं वएसु च च्छेदो।
छेदोवट्ठावणमिह, तमणइयारेतरं दुविहं ॥१॥
सेहस्स निरइयारं, तित्थंतरसंकमेव तं होज्जा।
मूलगुणघाइणो सा-इयारमुभयं च ठियकप्पे" ॥२॥

प्रथमपश्चिमतीर्थयोरित्यर्थः। स्था०५ ठा०२ उ०। भ०। पञ्चा०। अनु०। विशे०। उत्त०। कर्म०। पं० सं०। स्था०। आ० म०।

अथ छेदोपस्थापनाय साधूनां कल्पस्थितिमाह -

दसठाणठितो कप्पो, पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स।
एसो धुतरयकप्पो, दसठाणपतिट्ठितो होति ॥

दशस्थानस्थितः कल्पः पूर्वस्य च पश्चिमस्य च जिनस्य तीर्थक-

रस्य, छेदोपस्थापनीयसाधूनां मन्तव्यः। तदेवम् एष धूतरजाः कल्पो दशस्थानप्रतिष्ठितो भवति।

तान्येव दश स्थानानि दर्शयति -

आचेलक्कुद्देसिय-सिज्जायररायपिंडकितिकम्मे।
वतजेट्ठपडिक्कमणे, मासप्पज्जोसवणकप्पो॥

आचेलक्यमौद्देशिकं शय्यातरपिण्डो राजपिण्डकृतिकर्मव्रतानि (जेट्ठत्ति) पुरुषज्येष्ठो धर्मप्रतिक्रमणं मासकल्पः पर्युषणाकल्पश्चेति द्वारगाथासमासार्थः। बृ०६ उ०। विशे०। स्था०। आव०। औ०।

छेओवट्ठावणियचरित्तलद्धि स्त्री० (छेदोपस्थापनिकचरित्रलब्धि) छेदे प्राक्तनसंयमस्य व्यवच्छेदे सति यदुपस्थापनीयं साधावारोपणीयं तच्छेदोपस्थापनीयम्, पूर्वपर्यायच्छेदेन महाव्रतानामारोपणमित्यर्थः। तच्च सातिचारमनतिचारं च। तत्रानतिचारं यदित्वरसामायिकस्य शिक्षकस्यारोप्यते, तीर्थान्तरसंक्रान्तौ वा। यथा-पार्श्वनाथतीर्थाद्वर्द्धमानस्वामितीर्थं संक्रामतः पञ्चयामधर्मप्राप्तौ। सातिचारं तु-मूलगुणघातिनो यद् व्रतारोपणं तच्च तच्चरित्रं च छेदोपस्थापनीयचरित्रं, तस्य लब्धिः छेदोपस्थापनीयचरित्रलब्धिः। चरित्रलब्धिविशेषे, भ०८ श०२ उ०।

छेज्ज त्रि० (छेद्य) छेत्तुं योग्यः कर्मणि योग्यार्थे ण्यत्। भेत्तुं योग्ये, "शीर्षच्छेद्यमतोऽहं त्वाम्" भट्टिः। वाच०। पत्रछेद्यादौ ग्रथितभेदे, दश०२ अ०।

छेमा (देशी) शिखायाम्, नवमालिकायाम, दे० ना०३ वर्ग।

छेंडी (देशी) लघुरथ्यायाम्, दे० ना०३ वर्ग।

छेत्त न० (क्षेत्र) **"छोऽक्ष्यादौ"** ।८।२।१७। इति संयुक्तस्य छः। प्रा०२ पाद। स्थाने, ओघ० रा०।

छेत्तरं (देशी) जीर्णे, दे० ना०३ वर्ग।

छेत्तसोवणय (देशी) न० क्षेत्रजागरणे, दे० ना०३ वर्ग।

छेत्ता त्रि० (छेतृ) छेदकर्तरि, छेत्ता भवति कर्णनासाविकर्तनतः। आचा०१ श्रु०२ अ०१ उ०।

छेत्तुमण त्रि० (छेत्तुमनस्) उन्मूलयिषौ, आचा०१ श्रु०२ अ०१ उ०।

छेधो (देशी) स्थासके, चौरे च। दे० ना०३ वर्ग।

छेभओ (देशी) स्थासके, दे० ना०३ वर्ग।

छेय पुं० (छेक) छो-वा-मेकन्। गृहाशक्ते मृगपक्ष्यादौ, नागरविदग्धे, त्रि०। विदग्धप्रिये शब्दालङ्काररूपे अनुप्रासभेदे, मत्तायां स्त्रियाम्, स्त्री०। वाच०। प्रयोगज्ञे, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०। अनु०। भ०। उपा०। निपुणे, सूत्र०१ श्रु०१३ अ०। ज्ञा०। प्रश्न०। रा०। औ०। जी०। दक्षे, आ०म०प्र०। विशे०। ज्ञा०। जं०। "छेयलाघवपहारसाधिया" छेका दक्षा लाघवप्रहारेण दक्षतायुक्तघातेन साधिता निर्मिता यैस्ते तथा। प्रश्न०३ आश्र० द्वार। अवसरज्ञे, कल्प०३ क्षण। विघ्नपरिहारदक्षे, कल्प०२ क्षण। जीवा०। आ०म०। अवसरज्ञे सप्ततिकलापण्डिते, औ०। "इय च्छेयओ इति" छेका इत्येवमुपलभ्यमानाद्भुतप्रकारेण, एवमन्यत्रापि छेकाः प्रशस्तकाः प्रस्तवज्ञाः कलापण्डिता इति वृद्धा व्याचक्षते। उपा०७ अ०।

छेद पुं० छिद-भावे घञ्, अच्- वा। छेदने, छेदके, भाजके "छेदं गुणं गुणं छेदम्" इति लीलावती। कर्मणि घञ्। खण्डे, त्रि०। खण्डार्थस्य तु त्रिलिङ्गत्वेन स्त्रियां गौरा० ङीष्, ततो नित्यमर्हति ठञ् छेदिकम्। नित्यच्छेदार्हे वेतसादौ, वाच०। पर्यन्ते, नं०। प्रश्न०। विनाशे, आ०म० द्वि०। विभजनाङ्के, मण्ड०। करपत्रादिभिः पाटने, आव०६ अ०। आचा०। तपसा दुर्दमस्याहोरात्रपञ्चकादिना क्रमेण श्रमणपर्यायच्छेदने, पञ्चा० १६ विव०। ध०। "माईसु पंचराया-इ पज्जायछेदणं छेदो"। ग०१ अधि०। यस्मिन् पुनरापतिते प्रायश्चित्ते संदूषितपूर्वपर्यायदेशावच्छेदः शेषपर्यायरक्षानिमित्तं द्रव्यादिसंदूषितशरीरकैदेशच्छेदनमिव शेषशरीरावयवपरिपालनाय क्रियते भवे छेदार्हत्वाच्छेदः। व्य०१ उ०।

संप्रति लाघवमपेक्ष्यमाणश्छेदार्हमपि प्रायश्चित्तमत्रैव विषये प्रतिपादयति -

एएसिं अण्णयरं, निरंतरं अतिचरेज्ज तिक्खुत्तो।
निक्कारणमगिलाणे, पंच उ राइंदिया छेदो॥

एतेषामनन्तरोदितानां रात्रिन्दिवपञ्चकप्रायश्चित्तविषयाणां स्थानानामन्यतरस्थानमग्लानो निष्कारणं यो निरन्तरमतिचरेत् त्रिःकृत्वस्त्रीन् वारान्, तदा तत्पर्यायस्य छेदः क्रियते पञ्च रात्रिन्दिवानि, उपलक्षणमेतत्-येष्वनन्तरोदितेषु स्थानेषु मासलघुकानि प्रायश्चित्तान्युक्तानि तेषामन्यतरस्थानमग्लानो निष्कारणं यदि निरन्तरं त्रीन् वारान् अतिचरति, तदा तत्पर्यायस्य छेदो मासिक इति द्रष्टव्यम्। व्य०१ उ०। सप्तमे प्रायश्चित्ते, स्था०४ ठा०१ उ०। आव०।

छेयकर पुं० (छेदकर) अप्रशस्तमनोविनये, औ०। आचा०।

छेयकूडगरूवग पुं० (छेककूटकरूपक) छेकश्चासौ शुद्धः कूटकश्च कथञ्चिदशुद्धश्छेककूटकः, स चासौ रूपकश्च छेककूटकरूपकः। शुद्धाशुद्धमुद्रायाम्, वन्दनायाः शुद्धाशुद्धविचारे, पञ्चा०३ विव०। (छेककूटकरूपकदृष्टान्तः 'चेइयवंदण' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १३३२ पृष्ठे द्रष्टव्यः)

छेयगंथ पुं० (छेदग्रन्थ) उत्सारकशास्त्रे, जीवा०११ अधि०। जीतकल्पनिशीथादौ, प्रव०१० द्वार। ते च षट्-निशीथं, महानिशीथं, दशाश्रुतस्कन्धो, बृहत्कल्पः व्यवहारः पञ्चकल्पश्चेति। ही०२ प्रका०।

छेयण न० (छेदन) 'छिद' भावे ल्युट्। द्विधा करणे, ज्ञा०१ श्रु०१८ अ०। अनु०। उत्त०। प्रश्न०। परिच्छेकारिवचसि, बृ०१ उ०। जीवत एव हृदयोत्कर्तने, दशा०६ अ०। बृ०। नि० चू०। उत्तरोत्तरशुभाध्यवसायारोहणात् स्थितिह्रासजनने, आचा०१ श्रु०८ अ०८ उ०। "एगे छेयणे" छदनं शरीरस्यान्यस्य वा खड्गादिना। स्था०१ ठा०१ उ०।

छेयणग न० (छेदनक) शस्त्रादौ, सूत्र०२ श्रु०३ अ०। राशेरर्द्धीकरणे, अनु०। अवजीवभेदे, सूत्र०२ श्रु०३ अ०। सूक्ष्मावयवे, बृ०१ उ०।

छेयबुद्धि स्त्री० (छेकबुद्धि) निपुणबुद्धौ, सूत्र०१ श्रु०१३ अ०।

छेययर पुं० (छेदकर) व्यवच्छेदकारिणि, पञ्चा०३ विव०।

छेयवाइ (ण्) पुं० (छेकवादिन) निपुणोऽहमित्येवं वादिनि पण्डिताभिमानिनि, सूत्र०१ श्रु०१३ अ०।

छेयमारहि (ण्) पुं० (छेकसारथिन) प्राजितरि, आ०।

छेयसुत्त न० (छेदसूत्र) कल्याऽऽदौ, आ०म०द्वि०। महा०।

(छेदसूत्रव्युच्छित्तिकालस्तु 'वोच्छित्ति' शब्देऽग्रे वक्ष्यते)

"परिणाम अपरिणामा, अइपरिणामा य तिविह पुरिसा तु। णातूण छेदसुत्तं, परिणामगे होति दायव्वं॥" पं० भा०।

('अइपरिणामग' शब्दे प्रथमभागे ४ पृष्ठे चैतद् व्याख्यातम्)

छेयसुद्धि स्त्री० (छेयशुद्धि) पदे पदे तद्योगक्षेमकारिक्रियोपदर्शने, ध०१ अधि०। विधिप्रतिषेधयोरबाधकस्य सम्यक् तत्यालनोपायभूतस्यानुष्ठानस्योक्तौ, हारि०१ अष्ट०।

तत्स्वरूपं यथा-

तत्संभवपालनावेष्टोक्तिश्छेद इति। तयोर्विधिप्रतिषेधयोरनाविर्भूतयो संभवः, प्रादुर्भूतयोश्च पालना रक्षारूपा, ततस्तत्संभवालनार्थं या चेष्टा भिक्षाऽटनाऽदिबाह्यक्रियारूपा, तस्या उक्तिः छेदः। यथा-कषशुद्धावप्यान्तरामशुद्धिमाशङ्कमानाः सौवर्णिकाः सुवर्णगोलिकाऽऽदेः छेदमाद्धियन्ते, तथा कषशुद्धावपि धर्मस्य छेदमपेक्षन्ते, स च च्छेदो विशुद्धबाह्यचेष्टारूपो, विशुद्धा चेष्टा सा, यत्रासन्तावपि विधिप्रतिषेधावबाधितरूपौ स्वात्मानं लभेते, लब्धाऽऽत्मानौ चातीचारलक्षणोपचारविरहितौ उत्तरोत्तरं वृद्धिमनुभवतः, सा यत्र धर्मे चेष्टा सप्रपञ्चा प्रोच्यते, स धर्मः छेदशुद्ध इति। ध०१ अधि०। "वज्झाणुट्ठाणेणं, जेण न बाहिज्जए तयं णियमा। संभवइ य परिसुद्धं, सो पुण धम्माम्मि छेउ त्ति" ॥२॥ स्था०३२ श्लो० टी०।

छेदमधिकृत्याऽऽह -

सइ अप्पमत्तयाए, संजमनोएसु विविहभेएसु।
जा धम्मिअस्स वित्ती, एअं वज्झं अणुट्ठाणं ॥७२॥

सदा अप्रमत्ततया हेतुभूतया, संयमयोगेषु कुशलव्यापारेषु विविधभेदष्वनेकप्रकारेषु, या धर्मिकस्य साधोः वृत्तिर्वर्तना, एतद् बाह्यमनुष्ठानमिहाधिकृतमिति गाथार्थः ॥७२॥

एएण न बाहिज्जइ, संभवइ अ तं दुगं पि निअमेण।
एसवयणेण सुद्धो, जो सो छेएण सुद्धो त्ति ॥७३॥

एतेनानुष्ठानन न बाध्यते, संभवति च वृद्धिं याति, तद् द्वयमपि विधिप्रतिवेधरूपं नियमेन एतद्वचनेन यथोदितानुष्ठानोक्त्या शुद्धो य आगमः स छेदेन शुद्ध इति गाथार्थः ॥७३॥

इहैवोदाहरणमाह -

जह पंचसु समिईसुं, तीसु अ गुत्तीसु अप्पमत्तेण।
सव्वं चिय कायव्वं, जइणा सइ काइगाई वि ॥७४॥

यथा पञ्चसु सामितिष्वीर्यासमित्यादिरूपासु, तिसृषु च गुप्तिषु मनोगुप्त्यादिरूपासु, अप्रमत्तेन सता सर्वमेवानुष्ठानं कर्तव्यं यतिना साधुना, सदा, कायिकाऽऽद्यपि, आस्तां तावदन्यदिति गाथार्थः ॥७४॥

तथा-

जे खलु पमायजणगा, वसहाई ते वि वज्जणिज्जा उ।
महुअरवित्तीऐं तहा, पालेअव्वो अ अप्पा णो ॥७५॥

ये खलु प्रमादजनकाः परम्पराया वसत्यादयः, आदिशब्दात् स्थानदेश परिग्रहः तेऽपि वर्जनीया एव सर्वथा, मधुकरवृत्त्या बृहिकुसुमपीडापरिहारेण, तथा पालनीय एवाऽऽत्मा, नो काले स्वाज्य इति गाथार्थः ॥७५॥

अत्र व्यतिरेकमाह-

जत्थ उ पमत्तयाए संजमजोएसु विविहभेएसु।
नो धम्मिअस्स वित्ती, अणणुट्ठाणं तयं होइ ॥७६॥

यत्र तु प्रमत्ततया हेतुभूतया, संयमयोगेषु संयमव्यापारेषु, विविधभेदेषु विचित्रेष्वित्यर्थः। नो धर्मिकस्य तथाविधयतेः, वृत्तिर्वर्तना, अननुष्ठानं वस्तुस्थित्या तद्भवति, तत्कार्यासाधकत्वादिति गाथार्थः ॥७६॥

एएणं वाहिज्जइ, संभवइ अ तं दुगं न णिअमेण।
एअवयणोववेओ, जो सो छेएण नो सुद्धो ॥७७॥

एतेनानुष्ठानेन बाध्यते, संभवति च वृद्धिमुपगच्छति च, तद् द्वयं विधिप्रतिषेधरूपं न नियमेन, एतद्वचनोपेत इत्थंविधानुष्ठानवचनेन युक्तो य आगमः स छेदेन प्रस्तुतेन न शुद्ध इति गाथार्थः ॥७७॥

अत्रैवोदाहरणमाह -

जह देवाणं संगी-अगाइकज्जम्मि उज्जमो जइणो।
कंदप्पाई करणं, असब्भवयणामिहाणं च ॥७८॥

यथा देवानां संगीतकाऽऽदिकार्यनिमित्तमुद्यमो यतेः प्रव्रजितस्य। यथोक्तम्- "संगीतकेन देवस्य, प्रतराऽऽवरणवाधः। तत्प्रीत्यर्थमतो यत्नः, तत्र कार्यो विशेषतः ॥१॥" तथा कन्दर्पाऽऽदिकरणं भ्रूक्षेपाऽऽदिना, तथाऽसभ्यवचनाभिधानं च ब्रह्मधातकोऽहमित्यादि। एवं किल तद्वेदनीयकर्मक्षय इति गाथार्थः।

तह अन्नधम्मियाणं, उच्छेओ भोअणं गिहे गंतं।
असिधाराइ अ एअं, पावं बज्झं अणुट्ठाणं ॥७९॥

तथा अन्यधर्मिकाणां तीर्थान्तरीयाणामुच्छेदो विनाशः। यथोक्तम्- "अन्यधर्मस्थिताः सत्त्वाः, असुरा इव विष्णुना। उच्छेदनीयास्तेषां हि, विधिदोषोन विद्यते ॥१॥" इति। ततो भोजनं गृह एवैकान्तं तदनुग्रहाय, तथा असिधाराऽऽदिबधं प्रकृष्टेन्द्रियजयाय, एतत्पापं पापहेतुत्वाद्, बाह्यमनुष्ठानमशोभनमिति गाथार्थः ७९ ॥ पं० व०३ द्वार।

छेयस्सुय न० (छेदश्रुत) छेदश्रुतानि कल्पव्यवहाराऽऽदीनि। तेषु, व्य०१ उ०। (छेदश्रुतानि श्रमण्योऽपि व्याख्यास्यन्तीति 'आलोयणा' शब्दे द्वितीयभागे ४२८ पृष्ठे उक्तम्। श्रावकाः छेदसूत्राणि न पाठयितव्या इति श्रावकपाठनाधिकारे व्याख्यास्यते)

छेयायरिय पुं० (छेकाचार्य) शिल्पाऽऽचार्ये, भ० ७श० ६ उ०। रा०। "छेयायरियउवएसमइकप्पणाविगप्पेहिं छेको य न पुणो" आचार्यः शिल्पोपदेशदाना, तस्योपदेशाद् मतिर्बुद्धिः, तस्या या कल्पनाविकल्पाः क्लृप्तिभेदास्ते तथा तैः। भ०७ श०६ उ०।

छेयारिड न० (छेदाई) यथा शेषाङ्ग रक्षार्थं व्याधिदूषितमङ्ग छिद्यते, एवं व्रतशेषपर्यायरक्षार्थमतीचारानुमानेन दूषितः पर्यायोयत्र छिद्यते तच्छेदार्हः। जीत०। पर्यायच्छेदयोग्ये सप्तमे प्रायश्चित्ते, स्था०१० ठा०।

इदानीं छेदार्हप्रायश्चित्तं गाथात्रयेणाऽऽह -

तवगव्विओ तवस्स य, असमत्थो तवमसद्दहंतो य।
तवसा च जो न दमइ, अइपरिणाम-प्पसंगी य ॥८०॥
सुबहुत्तरगुणभंसी, छेयावत्तिसु पसज्जमाणो य।
पासत्थाई जो वि य, जईण पडितप्पओ बहुसो ॥८१॥

उक्कोसं तवभूमिं, समईओ मावसेमचरणो य।
छेयं पणगाईयं, पावइ जा धरेइ परियाओ ॥८२॥

त्रिभिविशेषकम्। तपोगर्वितः षण्मासक्षपणकोऽन्यो वा विप्रकृष्टपः करणक्षमः तपसश्चासमर्थोऽसहिष्णुः-ग्लानो, बालो, वृद्धो वा, तपोऽअद्दधानश्च, तपसा वा पुनर्दीयमानेनाऽपि न दम्यते, अतिपरिणामिकोऽपवादैकप्रशक्तः आतप्रसंगी च यो मुहूर्मुहुस्तदेवातिचारपदं सेवते, बहुतरं वा अतिचारस्थानं से बते ॥८०॥ सुबहुनुत्तरगुणान् पिण्डविशुद्ध्यादीन् भ्रंशयति विनाशयतीत्येवंशीलः सुबहूत्तरगुणभ्रंशी छेदाऽऽपत्तिषु प्रमञ्जँश्च येनातिचारेणछेदाऽपत्तिर्भवति तमवातिचारं पुनः पुनः यः करोति, योऽपि च पार्श्वस्थाऽऽदिः, आदिशब्दादवसन्नः कुशीलः ससक्तो नित्यवासी वा, यतीनां साधूनां संविग्नानां बहुशोऽनेकशः परितर्पको वैयावृत्यकरः ॥८१॥ तथा उत्कृष्टा तपोभूमिरादिजिनतीर्थे संवत्सरे, मध्यमजिनतीर्थेष्वष्टौ मासाः, श्रीवीरतीर्थे षण्मासाः, तां तपोभूमिं समतीतः प्रतिक्रान्तः तदधिकप्रायश्चित्तयोग्यमतीचारजातं कृतवानित्यर्थः। सावशेषचरणश्च क्रियमाणेऽपि पर्यायच्छेदे यस्य सावशेषश्चरणपर्यायो भवति स साधुः, पूर्वगाथाद्वयोक्तश्च तपोगर्विताऽऽदिः तपोऽर्हगप्रायश्चित्ताऽऽपत्तावपि पञ्चकाऽऽदिकम् आदिाब्दाद्दशकपञ्चदशकाऽऽदिकम्, अतीचारानुमानेन, छेदं व्रतपर्यायच्छेदनरूपं प्राप्नोति, यावत्पर्यायं धरति, सर्वपर्यायच्छेदो यावन्न भवतीत्यर्थः। सर्वच्छेदे हि मूलं स्यादिति। उक्तं च छेदार्हम्। जीत०।

छेल (देशी) छागे, दे० ना०३ वग।

छेल अं (देशी) छागे, दे० ना०३ वर्ग।

छेलावण (य) न० (छेलापन (क)) देशी-हर्षनादाऽऽदौ, आ०म०प्र०।

संप्रति छेलापनकद्वारमाह -

छेलावणमुक्किट्ठा-इ बालकीलावणं च सूटाइ।

"छेलापनकम्" इति देशीवचनम्, तच्चानेकार्थम्; तथा चाह- "उक्किट्ठाइ" इत्यादि। उत्कृष्टं नाम हर्षवशात् उत्कर्षेण नन्दनम्। आदिशब्दात्सिंहनादिताऽऽदिपरिग्रहः। यदि वा बालक्रीडन, छेलापनकम, अथवा सेण्टितादि। आ०म०प्र०। आ० चू०।

छेलिय न० (सेण्टित) सेण्टनेऽनक्षरश्रुतभेदे, आ०म०प्र०। नं०।बृ०। आ०चू०।

छेली (देशी) अल्पप्रसूनायां मालायाम्, दे० ना०३ वर्ग।

छेवग त्रि० (क्षेपक) मारौ, व्य०५ उ०। आशवे, नि० चू०१ उ०।

छेवट्टसंघयण न० (सेवार्तसंहनन) सेवामार्त्त सेवामागतमिति सेवार्तम्। सेवया ऋतं व्याप्तं सेवार्तम् तच्च संहननं च सेवार्तसंहननम्। अस्थिद्वयपर्यन्तस्पर्शनलक्षणे षष्ठे संहनने, स्था०६ ठा०। यत्र परस्परपर्यन्तस्य स्पर्शलक्षणां सेवामागतान्यस्थीनि भवन्ति स्नेहाभ्यवहारतैलाभ्यङ्गविश्रामणाऽऽदिरूपां च परिशीलनां नित्यमपेक्षन्ते। कर्म०१ कर्म०। पं० सं०। स०। शक्तिविशेषपक्षे त्वेवविधदार्वादेरिव दृढत्वं संहननमिति। स्था०६ ठा०।

***छेदट्टत्तसंहनन** न० प्राकृते दकारस्य क्षुप्तस्य दर्शनात्, छेदानामस्थिपर्यन्तानां वृत्तं परस्परं संबन्धघट्टनालक्षणं वर्तनं वृत्तिर्यत्र तच्छेदवृत्तम् तच्च संहननं च तथा। कीलिकामर्कटबन्धरहितेऽस्थिपर्यन्तमात्रसंस्पर्शिनि षष्ठे संहनने, कर्म०१ कर्म०।

छेवट्टसंघयणणाम न० (सेवार्तसंहननानामन्) सेवार्तसंहननानिबन्धनं नाम यदुदयाच्छरीरे सेवार्तसंहननं भवति। सेवार्तसंहननानामकर्मभेदे, कर्म०१ कम०। पं० सं०।

छेवट्टिसंघयण न० छेदवर्तिसंहनन यत्रास्थीनि परस्परं छेदेन वर्तन्ते न कीलिकामात्रेणाऽपि बन्धः। षष्ठे संहनने, तच्च प्रायो मनुष्याऽऽदीना नित्यं स्नेहाभ्यङ्गाऽऽदिरूपां परिशीलनामपेक्षते। जी०१ प्रति०।

छेवाडी स्त्री० (छेदपाटी) पुस्तकभेदे, प्रव०।

इदानीं वक्ष्ये छेदपाटी पुस्तकम्। यथा-तनुभिः स्तोकैः पत्रैरूच्छ्रितरूपः किञ्चिदुन्नतो भवति छेदपाटीपुस्तक इति बुधा ब्रुवते। लक्षणान्तरमाह -

दीहो वा हस्सो वा, जो पिहुलो होइ अप्पबाहल्लो।
तं मुणियसमयसारा, छेवाडिपुत्थं भणंतीह ॥६७५॥

दीर्घो वा महान्, ह्रस्वो वा लघुर्पः पृथुलो विस्तृतोऽल्पबाहल्यश्च स्वल्पपिण्डो भवति, तं ज्ञातसमयसाराः छेदपाटीपुस्तकं भणन्तीह शासने, न चैतत्स्वमनीषिकया व्याख्यायते। प्रव०८० द्वार। ध०। आचा०। आव०। दश०। बृ०। स्था०। जीत०।

"उणुपत्तेहिं उस्सीओ छेवाडी"। नि० चू०१२ उ०। वल्लाऽऽदिफलिकायाम्, जीवा०३ प्रति०। आ०म०। ठा०।

छोइअ (देशी) दासे, दे० ना०३ वर्ग।

छोडिय त्रि० (छोटित) मुक्तबन्धने, तं० आ०म०। छादते, आव०१ अ०।

छोडिया स्त्री० (छोटिका) छुट्- ण्वुल्। तर्जन्यङ्गुष्ठध्वनौ, वाच०। आव०।

छोमुं अव्य० (छुटित्वा) पिधायेत्यर्थे, नि० चू०१ उ०।

छोब्भ (देशी) पिशुने, दे० ना०३ वर्ग।

छोब्भत्थ (देशी) अप्रिये, दे० ना०३ वर्ग।

छोब्भाइत्ती (देशी) अस्पृश्य याम्, अद्वेष्यायां च। दे० ना०३ वर्ग।

छोभ पुं० (क्षोभ) निस्सहाये, क्षोभणीये च। प्रश्न०३ आश्र० द्वार। अभ्याख्याने, बृ०१ उ०।

छोभग न० (छोभक) अभ्याख्याने, व्य०२ उ०।

छोभगदिण्ण त्रि० (छोभकदत्त) छोभकमभ्याख्यानं दत्तं यस्मिन् स छोभकदत्तः। क्तान्तस्य परनिपातः प्राकृतत्वात्, सुखादिदर्शनाद्वा। अभ्याख्याते, व्य०२ उ०।

छोभवंदण न० (छोभवन्दन) आरभट्या वन्दने, आव०२ अ०।

छोल्ल धा० (तक्ष) भ्वा०-पर०-सक०-सेट्। **"तक्ष्यादीनां छोल्लाऽऽदयः"।८।४।३९५।** अपभ्रंशे तक्षप्रभृतीनां धातूनां 'छोल्ल' इत्यादय आदेशा भवन्ति "जइ शाश छोल्लिजंतु"। यदि शशिनं तदन्तु। प्रा०४ पाद। ग्रहणे, संवरणे च। वाच०।

छोल्लण न० (तक्षण) तक्ष-भावे ल्युट्। (चाँल्लना) (छोलना) व्यापारे, वाच। निस्तुषीकरणे, ज्ञा०१ श्रु०७ अ०।

छोहा (देशी) समूहे, विक्षेपे च। दे० ना०३ वर्ग।

✱**क्षोभ** पुं० क्षुभ-घञ्। **"क्षः खः क्वचित्तु छझौ" ८।२।३।** इति सूत्रे क्वचिदितिनिर्देशादत्र छः यथा- 'छीणं'। **"खघथधभाम्" ॥८।१।१८७।** इति अनादिभूतस्य भस्य हः। यथा-'सहाओ' इति। सचलने, "सनूपुरक्षोभपदाभिरासीत्।" "रथक्षोभपरिश्रान्तः"। विकारे, "क्षोभमाशु हृदयं न यदूनाम्"। क्षुभ-ण्वुल्। क्षोभ कारके, त्रि०। क्षुभ-णिच्-ल्युट्। क्षोभजनके, त्रि०। कामबाण विशेषे, पुं०। विष्णौ, पुं०। भावे-ण्वुल। क्षोभे, वाच०। संभ्रमे, स्तेनकेभ्यः क्षोभे, राजाऽऽदिक्षोभे वा, तत्रास्था-नेऽपि उच्चारयतो न कायोत्सर्गभङ्गः। आव०५ अ०। "जातो छोहो, न नज्जइ केन हरिय त्ति ?" आ०म०१ अ०१ खण्ड। निःसहाये, क्षोभणीये च। प्रश्न०३ आश्र० द्वारः अभ्याख्याने, बृ०१ उ०। जं०।रा०।

''मत्तभ्रान्तविपक्षदन्तिदमने पञ्चाऽऽननग्रामणी-
राजेन्द्राभिधकोशसंप्रणयनात् संदीप्तजैनाऽऽगमः।
संघस्योपकृतिप्रयोगकरणे नित्यं कृती तादृशो,
कोऽन्यः सूरिपदाङ्कितो विजयराजेन्द्रात् परोऽन्योऽस्ति कः ? ॥१॥''

इति श्रीमत्सौधर्मबृहत्तपोगच्छीय–कलिकालसर्वज्ञकल्पप्रभु–
श्रीमद्भट्टारक–जैनश्वेताम्बराऽऽचार्य श्री श्री १००८
श्रीमद् विजयराजेन्द्रसूरीश्वरविरचिते 'अभिधानराजेन्द्रे'
छकाराऽऽदिशब्द सङ्कलनं समाप्तम्।

तत्समाप्तौ च समाप्तोऽयं तृतीयो भागः।

